काल विधान
काल विज्ञान का क्रमिक वर्णन

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्रा

वेदों एवं पुराणादि में सृष्टि-प्रलयात्मक अनादि एवं अनन्त काल प्रवाह के परिज्ञान तथा ब्रह्म की उत्पत्ति एवं उनकी आयु की गणना, कल्प, ब्राह्मदिन, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, मनु, मास, पक्ष, तिथि, वार, घटी, पल, निमेष काष्ठादि सूक्ष्म एवं स्थूल काल परिमाणों का वर्णन किया गया हैं। इस काल गणना के नियामक सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की स्थिति गति एवं निरूपण में सहायक नक्षत्रों एवं राशियों का भी विवरण उपलब्ध होता है। पुराणों में ब्राह्म दिवसादि के अतिरिक्त वैष्णव एवं रौद्र काल का भी वर्णन हुआ है जो ब्राह्म काल की अपेक्षा अति दीर्घकाल का संकेत करता है।

१-ब्रह्मा

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।" इस वाक्य में विधाता ब्रह्मा द्वारा सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रहों, नक्षत्रों तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पूर्वानुकल्पीय रचना का वर्णन किया गया है।

विष्णु पुराण के प्रथम अंश के तृतीय अध्याय में ब्रह्मा की उत्पत्ति एवं उनकी आयु आदि का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। तदनुसार "मैत्रेय ने प्रश्न किया कि जो ब्रह्मा निर्गुण अप्रमेय शुद्ध और निर्मलात्मा है उसका सर्गादि का कर्ता होना कैसे कहा जा सकता हैं ? इसके उत्तर में पाराशर ने कहा समस्त भाव पदार्थो की शक्तियाँ ज्ञान की विषय होती है। अतः अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचना रूप शक्तियाँ स्वाभाविक है। उनके अपने काल मान से उनकी आयु सौ वर्ष की कही जाती है। उस सौ वर्ष के काल का नाम 'पर' है। इसका आधा परार्द्ध कहलाता है। विष्णु के काल स्वरूप द्वारा उस ब्रह्मा की तथा अन्य और भी जो पृथ्वी, पर्वत, समुद्र एवं चराचर जीव हैं उनकी आयु का परिमाण ज्ञात किया जाता है। वह इस प्रकार है-पन्द्रह निमिष को काष्ठा कहते है। तीस काष्ठा की एक कला तथा तीस कला का एक मुहूर्त होता हैं। तीस मुहूर्त का मनुष्य का एक अहोरात्र होता हैं। उतने ही दिन रात के दो पक्षों का एक मास तथा छः महीनों का एक अयन होता है। दक्षिणायन और उत्तरायण इन दो अयनों का एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओं की रात्रि है और उत्तरायण दिन। देवताओं के बारह हजार वर्षो का एक महायुग होता है जिसमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग नामक चार युग होते हैं।

कल्प

कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है। दिन के तुल्य ही (१ कल्प की) रात्रि होती है- १. श्वेतवाराह २. नीललोहित ३. वामदेव ४. गाथान्तर ५. रौरव ६. प्राण ७. बृहत्कल्प

८. कन्दर्प ९. सत्य १०. ईशान ११. ध्यान १२. सारस्वत १३. उदान १४. गरुड़ १५. कौर्म (कौर्म को ब्रह्मा की पूर्णमासी का दिन कहा जाता हैं।), १६. नारसिंह १७. समाधि १८. आग्नेय १९. विष्णुज २०. सौर २१. सोमकल्प २२. भवन २३. सुप्रमाली २४. वैकुण्ठ २५. आर्चिष २६. वल्मीक २७. वैराज २८. गौरी कल्प २९. माहेश्वर ३०. पितृकल्प।

तीस कल्पात्मक दिनों से ब्रह्मा का एक मास होता है। ऐसे बारह महीनों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षो की ब्रह्मा की परमायु होती है। इस विवरण के अनुसार वर्तमान ब्रह्मा की आयु के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

मन्वन्तर (मनु)

७१ महा युगों (चतुर्युगों) का एक मनु होता है आर्थात् एक मनु (मन्वन्तर) में; (७१ × १२००० दिव्य वर्ष) = ८५२००० दिव्य वर्ष तथा मानवीय मान (सौर वर्ष) के अनुसार ३०६७२०००० वर्ष होते हैं। इसी प्रमाण वाले कुल १४ मनु होते हैं। मनुओं के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं।

१-स्वायम्भुव २-स्वारोचिष ३-उत्तम ४-तामस ५- रैवत ६- चाक्षुष। इन छः मनुओं का काल व्यतीत हो चुका है। सम्प्रति ७-वें वैवस्वत मनु का काल चल रहा है। तदनन्तर ८-सावर्णि ९-दक्षसावर्णि १०-ब्रह्मसावर्णि ११-धर्मसावर्णि १२-रुद्रसावर्णि १३-देवसावर्णि तथा १४-इन्द्रसावर्णि।

वेद एवं ब्राह्मणों वचनों में युग के प्रसंग में कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त संहिता एवं ब्राह्मण वचनों में अनेकत्र संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर नामक पञ्चवत्सरों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदांग ज्योतिष एवं महाभारत में इस पाँच संवत्सरात्मक युग का वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में वर्णित सृष्टिक्रम के प्रसंग में उल्लिखित कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग नामक लाखों वर्षो वाले चार युगों के उल्लेख से यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि यह चतुर्युगी कल्पना सृष्टिकाल के विस्तृत अवधि के मापनार्थ निरूपित है। किन्तु पञ्चसंवत्सरात्मक युग की कल्पना पञ्च वर्षव्यापी किसी वैदिक याग की अवधि को निरूपित करती है। मानव वर्ष के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, एवं कलियुग का कालपरिमाण क्रमशः निम्न प्रकार है-

सत्ययुग	-	१७२८००० सौर वर्ष
त्रेतायुग	-	१२९६००० मानव वर्ष
द्वापर युग	-	८६४००० मानव वर्ष
कलियुग	-	४३२००० मानव वर्ष

यज्ञीय दृष्टि से परिकल्पित युग में क्रमशः संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर

एवं इद्वत्सर नामक पाँच वर्षो की आवृत्ति मानी जाती है। इसके लिये युग का प्रयोग औपचारिक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः ''युग'' शब्द 'चार' संख्या का द्योतक होता हैं। अत एव कृत आदि के अर्थ में ही 'युग' शब्द रूढ़ हो गया हैं।

संवत्सर

भारतीय संवत्सर पाँच प्रकार के हैं। सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और बार्हस्पत्य। इनमें नाक्षत्र और बार्हस्पत्य संवत्सर का उपयोग ज्योतिष विषयक गणना में प्रमुख रूप से होता है। अन्य तीन संवत्सरों का विवरण क्रमशः निम्नांकित हैः-

सावन वर्ष-यह वर्ष ३६० दिनों का होता हैं। एक दिन का मान सूर्योदय से सूर्योदय तक होता है। संवत्सर की स्थूल गणना इसी के अनुसार होती है। इसमें एक महीना तीस दिनों का होता है।

चान्द्र वर्ष-यह वर्ष ३६० चान्द्र दिनों (प्रायः ३५४ सावन दिनों) का होता है। अधिक मास का निर्धारण इसी संवत्सर के अनुसार माना जाता है। अधिक मास होने पर इसमें १३ मास अन्यथा १२ मास होते हैं। इसमें एक मास शुक्ल प्रति पदा से अमावस्या तक अथवा कृष्ण प्रतिपदा से पूर्णिमा तक माना जाता है। प्रथम को अमान्त मास एवं द्वितीय को पूर्णिमान्त मास कहते हैं। दक्षिण भारत में अमान्त मास एवं उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास प्रचलित हैं।

सौर वर्ष-यह वर्ष ३६० सौर दिनों (प्रायः ३६५ सावन दिनों) का होता हैं। यह सूर्य की मेष संक्रान्ति के आरम्भ से प्रारम्भ होता है और पुनः मेष संक्रान्ति आने तक चलता है। सूर्य प्रतिदिन १ अंश की गति से चलता प्रतीत होता है। सूर्य के एक अंश का भोग काल एक सौर दिन होता हैं।

भारत के व्रत-उत्सवादि में प्रायः चान्द्र संवत्सर ही उपयोग में आता है किन्तु बंगाल, पंजाब, नेपाल तथा कहीं-कहीं अन्यत्र सौर वर्ष भी व्यवहृत होता है।

अस्तु, भारतवर्ष में प्रायः चान्द्र एवं सौर यही दो संवत्सर सम्प्रति उपयोग में आते हैं। स्थूल दृष्टि से ३६० दिनों के संवत्सर की चर्चा की जाती है। किन्तु व्यवहार में प्रायः इसका उपयोग नहीं होता है। क्योंकि व्यवहार में दिन के रूप में सावन दिन तथा वर्ष के रूप में सौर-वर्ष ही लिए जाते हैं। अतः एक वर्ष में सावन दिनों की संख्या ३६५ दिन १६ घटी के आसन्न मानी जाती हैं।

''संवसन्ति ऋतवोऽस्मिन् संवत्सरः'' (क्षीर स्वामी, अमरकोश, कालवर्ग २०) तथा ''संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि''।[1] निरुक्त की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार ऋतुओं

१. निरुक्त अ-४ पा० ख-२६

के परिवर्तन (चक्कर) को संवत्सर या वत्सर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी ऋतुयें जब एक बार समाप्त हो जाती हैं और जब उनका दूसरा चक्कर आरम्भ होता है, तब एक संवत्सर पूर्ण होकर दूसरा संवत्सर आरम्भ होता है। इसीसे यह कहा जाता है कि संवत्सर के भीतर सभी ऋतुयें रहती हैं। सभी प्राणियों की आयु की गणना भी इन्हीं संवत्सरों के द्वारा होती है। अतएव यह भी कहा गया है कि जिसमें सभी प्राणी रहते हैं उस काल-विभाग का नाम संवत्सर हैं। वस्तुतः यदि मानव को संवत्सर का ज्ञान न होता तो वह न ऋतु विभाग को समझता और न प्राणियों के आयु की गणना ही कर पाता।

यह संवत्सर अर्थात् ऋतु-विभाग सूर्य के परिभ्रमण से सम्बन्धित हैं। सूर्य के परिभ्रमण के विषय में मतभेद है। आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। किन्तु प्राचीनों का यह मत है कि 'सूर्य' ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इसी से संस्कृत के कोशों में पृथ्वी के पर्यावाची शब्द 'अचला' एवं 'स्थिरा' पाये जाते हैं। भारतीय ज्योतिष में दोनों प्रकार के मत पाये जाते हैं। अस्तु, ''सूर्य के परिभ्रमण'' का अर्थ ''पृथ्वी द्वारा सूर्य का परिभ्रमण'' इस प्रकार का अर्थ करने से दोनों प्रकार के मतों का समन्वय हो जाता है। सूर्य संवत्सर अथवा काल का अधिदेवता कहा जाता है। क्योंकि यदि सूर्य न हो तो न संवत्सर रहे और न काल-विभाग। प्रकृत में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है।

''सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।[1]

अर्थात् एकाकी विचरण करने वाले एक पहिये वाले रथ (अर्थात् सूर्य) को सात (वर्ण वाली) रश्मियां अपने साथ जोड़ती हैं। अकेला सब को व्याप्त करने वाला वह सूर्य सात रश्मियों से रस लेता हुआ अथवा सप्तर्षियों से स्तुति किया जाता हुआ जा रहा है। यह (ग्रीष्म, वर्षा, और हेमन्त इन) तीन नाभियों वाला कभी जीर्ण न होने वाला और किसी के सहारे न चलने वाला चक्र (संवत्सर) हैं। इसमें यह सब लोक स्थित हैः- ''संवत्सर-प्रधान उत्रोऽधर्चः''[2] ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य का एवं उत्तरार्धमें संवत्सर का वर्णन किया गया हैं।

सौर और चान्द्र वर्ष के सदृश भारतीय ज्योतिष में बृहस्पति की गति के कारण एक बार्हस्पत्य वर्ष भी माना जाता है। दैनिक व्यवहार में इस वर्ष का कोई महत्व नहीं है। किन्तु संहिता-प्रकरण की दृष्टि से वर्ष के शुभाशुभ का निर्धारण करने में इस संवत्सर का विशेष उपयोग होता है। बार्हस्पत्य वर्षो के नाम निम्न प्रकार से हैं।

१. ऋग्वेद-२।२६४।२
२. निरुक्त अ-४ पा० ४ ख-२६

१. प्रभव २. विभव ३. शुक्ल ४. प्रमोद ५. प्रजापति ६. अंगिरा ७. श्रीमुख ८. भाव ९. युवा १०. धाता ११. ईश्वर १२. बहुधान्य १३. प्रभाथी १४. विक्रम १५. वृष १६. चित्रभानु १७. सुभानु १८. तारण १९. पार्थिव २०. व्यय २१. सर्वजित् २२. सर्वधारी २३. विरोधी २४. विकृतः २५. खर २६. नन्दन २७. विजय २८. जय २९. मन्मथ ३०. दुर्मुख ३१. हेमलम्ब ३२. विकारी ३३. शर्वरी ३४. प्लव ३५. शुभकृत् ३६. शोभन ३७. क्रोधी ३८. विश्वावसु ३९. पराभव ४०. प्लवंग ४१. कीलक ४२. सौम्य ४३. साधारण ४४. विरोधकृत ४५. परिधावी ४६. प्रमाथी ४७. आनन्दो ४८. राक्षस ४९. नल ५०. पिंगल ५१. कालयुक्त ५२. सिद्धार्थ ५३. रौद्र ५४. दुर्मति ५५. दुन्दुभि ५६. रुधिरोद्गारी ५७. रक्ताक्ष ५८. क्रोधन एवं ५९. क्षय।

इनकी गणना प्राचीन काल में 'प्रभव' से न होकर 'विजय' संवत्सर से होती थी।

अयन

सूर्य की गति को अयन कहते हैं। "अयने द्वे गतिरुदग् दक्षिणार्कस्य" (अमरकोश, काल वर्ग १३)। "इण्" धातु से भावार्थक ल्युट् प्रत्यय करने से "अयन" शब्द बनता है। इस का अर्थ "गति" होता हे। अयन दो होते हैं:- दक्षिणायन और उत्तरायण। कर्क संक्रान्ति से लेकर धनु संक्रान्ति तक अर्थात् सौर श्रावण से सौर पौष ये छः महीने होते हैं। इसी प्रकार मकर संक्रान्ति से मिथुन संक्रान्ति पर्यन्त उत्तरायण होता है। इसमें माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छः मास होते हैं। "तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण"[1]।

'अयन' शब्द का अर्थ "गति और मार्ग" होता है। सूर्य सदा पूर्व दिशा के मध्य विन्दु पर नहीं रहता। अपितु चैत्र (मेष संक्रान्ति) से श्रावण (कर्क संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के दक्षिण भाग से उत्तर की ओर आता है। इसी प्रकार श्रावण से कार्तिक (तुला संक्रान्ति) के आरम्भ तक लौटकर पूर्व के मध्य-विन्दु पर आ जाता है। कार्तिक से माघ (मकर संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के उत्तर भाग से दक्षिण में बढ़ता है। पुनः वहाँ से लौटकर वैशाख (मेष संक्रान्ति) के आरम्भ में पूर्व के मध्य बिन्दु पर आ जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रावण से लेकर पौष तक जिन मासों में उत्तर के अन्तिम छोर से दक्षिण के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ महीनों का दक्षिणायन और माघ से आषाढ़ तक जिन महीनों में दक्षिण के अन्तिम छोर से उत्तर के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ मासों को उत्तरायण कहते हैं।

उत्तरायण में दिन बड़ा होता हैं। अतः समय प्रकाश की अधिकता रहती हैं। दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होने से अन्धकार की अधिकता रहती है। शास्त्रों में प्रकाश को

१. तै०स० ६.५.३

देव तत्व और अन्धकार को असुरतत्व कहा गया है। अतः उत्तरायण को देवताओं का दिन और दक्षिणायन को देवताओं की रात्रि मानते हैं।

ऋतु

संवत्सर के प्रकरण में यह लिखा गया है कि ऋतुओं के परिवर्तन का नाम ही संवत्सर है। तात्पर्य यह कि ऋतुएं ही संवत्सर या काल का परिज्ञान कराती हैं। वस्तुतः ऋतुओं का ज्ञान न होने पर समय या काल का परिज्ञान असम्भव प्राय होता है। अतः यह कहना सर्वथा यथार्थ है कि ऋतुएँ ही समय का स्वरूप अथवा लक्षण हैं।

'ऋतु' शब्द "ऋ गतौ" धातु से निष्पन्न है। अमरकोश के टीकाकार क्षीर स्वामी ने लिखा है "इयर्ति ऋतु" एवं पाणिनि के उणादि प्रकरण के अनुसार "अर्तेश्च तुः (१-७१)" इस प्रकार ऋतु शब्द की निष्पत्ति होती हैं।

"ऋग्वेद के "त्रिनाभिचक्रं (२-३-१४)" इस अंश की व्याख्या निरुक्त में है। "ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति" अर्थात् सवत्सर में तीन ऋतुएं ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त होती है। वस्तुतः ऋतुएं तीन ही होती है। कालान्तर में इन तीनों के दो-दो विभाग होकर छः ऋतुएं मानी गयी। यथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त एवं शिशिर। वेदों में कहीं-कहीं पाँच ऋतुएं भी मानी गयी है। यथा "पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने"[1] इति पञ्चर्तुतया। यथा "पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम्। हेमन्तशिशिरयोः समासेन"[2] "पञ्च शारदीयेन यजेत। पञ्च वा ऋतवः, संवत्सर"[3] पाँच ऋतुओं की गणना में हेमन्त एवं शिशिर नामक ऋतुओं का संयुक्त नाम हेमन्त माना गया है। किन्तु इन दोनों ऋतुओं से लक्षित होने वाली विशेषताओं के कारण दोनों की पृथक् गणना की जाने लगी।

चैत्र और वैशाख इन दो महीनों को वसन्त, ज्येष्ठ आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण, भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्तिक को शरद, मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त एवं माघ फाल्गुन को शिशिर कहते हैं। शास्त्रों में ऋतु के अनुसार ही वस्तुओं का परिणाम बताया गया है। प्रत्येक प्राणी, वृक्ष, लता इत्यादि का विकास ऋतु के अनुसार ही होता है। अस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ऋतुओं को काल का लक्षण कहा जाना यथार्थ प्रतीत होता हैं। वेदों में चन्द्रमा को ऋतुओं का विधाता (निर्माणकर्ता) कहा गया है।

पूर्वापरं चरतो माययैतो शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः।।[4]

उपर्युक्त ऋचा के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा दोनो ऋतुओं के विधाता हैं। वस्तुतः चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। अतः चन्द्रमा की गति के अनुसार पृथ्वी को प्रतिदिन सोमरस

१. ऋ०स० १-१६४-१३, २. नि० ४-४-२६, ३. तै०ब्रा० २/६/१०, ४. ऋग्वेद १०-८५-१०

समानरुप से प्राप्त होता रहता है किन्तु सूर्य का प्रभाव पृथ्वी पर सदा समान नहीं पड़ता। उत्तरायण में सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सीधी पड़ने से सोम के प्रभाव को क्रमशः कम करती है। अतः उष्णता की वृद्धि होती जाती है। उष्णता एवं शीत के इस न्यूनाधिक्य के कारण ही ऋतुयें बनती हैं।

जब हम एक वर्ष में तीन ऋतुओं को ही ग्रहण करते हैं तब एक-एक ऋतु का एक-एक चातुर्मास्य होता है। फाल्गुन से ज्येष्ठ तक चार महीनों की ग्रीष्म ऋतु, आषाण से आश्विन तक वर्षा ऋतु तथा कार्तिक से माघ तक हेमन्त ऋतु होती हैं। जिस ऋतु में सूर्य की किरणें रसों को ग्रसित करती है उसे ग्रीष्म कहते हैं। जब मेघ बरसते हैं उस काल को वर्षा कहते है। जिस ऋतु में हिम (शीत अथवा बर्फ) रहता है उसे हेमन्त कहते हैं।

ऋतुओं के नामों की सार्थकता

वसन्त

'मधु' एवं "माधव" ये दोनों ही शब्द मधु से निष्पन्न है। 'मधु' का अर्थ होता है एक प्रकार का रस। यह वृक्ष, लता तथा प्राणियों को मत्त करता है। इस रस की जिस ऋतु में प्राप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं। अतएव यह देखा जाता है कि इस ऋतु में वृष्टि के बिना ही वृक्ष, लतादि पुष्पित होते हैं एवं प्राणियों में मदन-विकार होता है। अतएव क्षीर स्वामी ने कहा है "वसन्त्यस्मिन् सुखम्" अर्थात् जिसमें प्राणी सुख से रहते हैं। निष्कर्ष यह कि जिस ऋतु में सर्वत्र आनन्द एवं माधुर्य की व्याप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं।

ग्रीष्म

"शुक्रः शोचतेः। शुचिः शोचतेर्ज्वलित कर्मणः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शुक्र' व शुचि' शब्द "शुच्" धातु से निष्पन्न हैं। शुच्' का अर्थ है जलना या सुखाना। अस्तु जिस ऋतु में पृथ्वी का रस (जल) सूखता या जलता है उस ऋतु का नाम "ग्रीष्म" हैं। है। अतः यह देखा जाता है कि ग्रीष्म ऋतु में वसन्त के उत्पन्न फल, पुष्प आदि में जल के आधिक्य से जो कोमलता होती है उसे त्याग कर वे परिपक्व हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी भी शुष्क हो जाती हैं। अतएव ग्रीष्म उस ऋतु को कहते हैं जो पदार्थो को सुखाती एवं परिपक्व करती है।

वर्षा

"नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा मन एव स्याद्विपरीतः। न भातीति वा[1] अर्थात् नभ का अर्थ आदित्य होता है। (सूर्य) जब पूर्ण

निरुक्त २/४/१४

रूप से प्रकाशित नहीं होता उस काल को 'नभस्' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थ के द्वारा 'रस' अर्थत् जल पहुँचाया जाता है अथवा जो प्रकाश को अवरुद्ध करता है उस तत्व का नभस् है। जिस ऋतु में प्रकाश का आच्छादक तत्त्व प्रधान रहता है उस ऋतु को वर्षा ऋतु कहते हैं। अभिप्राय यह कि आठ महीने तक जो जल सूर्य की किरणों से वाष्प बनकर आकाश में अव्यक्त रूप से स्थित रहा उसे व्यक्त रूप में लाकर जल का स्वरूप देने वाले तत्त्व अर्थात् सूर्य को आच्छादित करने वाले तत्त्व को 'नभस्' कहते हैं। यह तत्त्व जिस काल में क्रियाशील रहता है उस ऋतु का नाम वर्षा हैं। यथाः-

"अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते।।[1]

शरद्

"सा नो मन्द्रेषमूर्ज दधाना[2] इस ऋगंश की व्याख्या में कहा गया है "इषम् अन्नम् ऊर्जम् पयोघृतादि रूपं रसं च"। जिस ऋतु में अन्न और घृत एवं दुग्ध इत्यादि रस का परिपाक एवं प्राप्ति होती है उस ऋतु को शरद् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि जिस ऋतु में औषधियाँ (फसलें) पक जाती हैं अथवा जल निर्मल हो जाता है उसे शरद् ऋतु कहते हैं। "शारच्छता अस्यामोषधयो भवन्ति, शीणां आप इति।[3]

हेमन्त

"सहस्" शब्द का अर्थ निघण्टु[4] में बल किया गया है। क्योंकि सहन करना प्रकारान्तर से बल का कार्य हैं। 'सहाः' और 'सहस्य' शब्द इसी 'सहस्' शब्द से बने हैं। तात्पर्य यह कि जिस ऋतु में अन्न-पानादि के उपयोग से बल की वृद्धि होती है उस ऋतु को हेमन्त कहते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि अन्नपानादि अन्य ऋतुओं की अपेक्षा हेमन्त में अधिक बलप्रद होते हैं एवं प्राणियों की कार्य क्षमता भी हेमन्त में अधिक हो जाती हैं।

शिशिर

"शिशिरं श्रृणारोः शम्नातेर्वा"[5] 'तपस्' शब्द "तप सन्तापे" धातु से बना है। अभिप्राय यह कि जिस ऋतु में उष्णता की वृद्धि होने से वृक्षादि के पत्रादि पक कर गिरते हैं उसे शिशिर कहते हैं। अस्तु "शीर्यन्ते पर्णानि अस्मिन्निति शिशिरः" यह भी व्युत्पत्ति की गयी है।

१. श्रीमद्भागवत १०/२०/५, २. ऋ. ६/७/५, ३. निरुक्त ४/४/२५, ४. निघण्टु २/६/१६
५. निरुक्त १/३/१०.

निष्कर्ष यह कि काल अथवा समय के कारण वर्ष में जो विभिन्न परिणाम भिन्न-भिन्न अन्तराल पर दिखलायी पड़ते हैं उसका कारण ऋतु नामक काल का अवयव ही होता है। ये परिणाम जब अपना रूप दिखलाकर अपनी पुनरावृत्ति करते हैं तब सब ऋतुएँ समाप्त हो जाती है और नवीन संवत्सर का आरम्भ होता है। अतः काल के स्वरूप को यथार्थतः प्रकट करने वाली ऋतुयें ही होती हैं। अतएव भारतीय व्रतोत्सवों में ऋतुओं को प्रधानता प्राप्त हैं।

मास

'मास' शब्द का अर्थ होता है ''चन्द्रसम्बन्धी''। अमरकोश के टीकाकार श्री क्षीरस्वामी ने कहा है ''माश्चन्द्रः तस्यायं मास'' अर्थात मा (चन्द्र) का जो हो उसे ''मास'' कहते हैं। चन्द्रमा से ही मास का ज्ञान होता है एवं चान्द्रमास ही मुख्य हैं। यही कारण है कि मासों के चैत्रादि प्रचलित नाम पूर्णिमा को जिस नक्षत्र पर चन्द्रमा की स्थिति रहती है उसी के अनुसार पड़ा है। अमरकोश के निम्न श्लोक से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है।

''पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा।
नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशापरे।।

अर्थात् जिस पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर रहता है उस पूर्णिमा का नाम पौषी है एवं वह पूर्णिमा जिस मास में हो उसे ''पौष'' कहते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र ''सास्मिन् पौर्णमासीति (४/२/२१) से ''पौषी'' से ''अण्'' प्रत्यय होकर ''पौष'' शब्द निष्पन्न होता हैं। इसी प्रकार माघ इत्यादि अन्य ग्यारह मास भी होते हैं। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि:-

- **चैत्र**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''चित्रा नक्षत्र'' पर स्थित हो।
- **वैशाख**-उस मास का नाम है जिसकी पूणिमा के दिन चन्द्रमा ''विशाखा नक्षत्र'' पर हो।
- **ज्येष्ठ**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''ज्येष्ठा नक्षत्र'' पर हो।
- **आषाढ़**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''आषाढ़ा नक्षत्र'' पर हो।
- **श्रावण**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''श्रवण नक्षत्र'' पर हो।
- **भाद्रपद**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''भाद्रपद नक्षत्र'' पर हो।
- **आश्विन**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''अश्विनी नक्षत्र'' पर स्थित हो।

- **कार्तिक**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''कृत्तिका नक्षत्र'' पर स्थित हो।
- **मार्गशीर्ष**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''मृगशिरा नक्षत्र'' पर स्थित हो।
- **पौष**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''पुष्य नक्षत्र'' पर स्थित हो।
- **माघ**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''मघा नक्षत्र'' पर स्थित हो।
- **फाल्गुन**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ''उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र'' पर स्थित हो।

मासों का उपर्युक्त विवरण पूर्णिमा के दिन विभिन्न नक्षत्रों पर चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार है। किन्तु, वैदिक-विज्ञान के अनुसार मासों का विवरण किञ्चित् भिन्न प्रकार से होता है। यथा तैत्तिरीय संहिता[१] में इन नामों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है।

''मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि स सर्पोस्य हस्पत्याय त्वा।।''

अर्थात् है सोम। उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत तुम हो, माधव हो, शुक्र हो, शुचि हो, नभ हो, नभस्य हो, ऊर्ज हो, सह हो, सहस्य हो, तप हो एवं तपस्य हो तथा संसर्प और अंहस्पति हो। इस मन्त्र में मधु आदि बारह मासों के अतिरिक्त अधिमास के लिये संसर्प तथा क्षयमास के लिये अंहस्पति नाम का प्रयोग हुआ है। अस्तु वैदिक नामों के अनुसार चैत्रादि मासों का विवरण निम्न प्रकार से होगा। यथाः-

- **चैत्रः** इस महीने का नाम 'मधु' है। इस मास में मधु रस की उत्पत्ति होती है जिससे वृक्षादि पुष्प एवं फल से युक्त हो जाते हैं। मधु मक्खियाँ इस मास से प्रायः मधु सञ्चय करती देखी जाती हैं।
- **वैशाखः** इस मास को 'माधव' कहते हैं। क्योंकि इस समय चैत्र मास में उत्पन्न होने वाले मधुरस का परिपाक होता हैं।
- **ज्येष्ठः** इस महीने का नाम शुक्र हैं। क्योंकि इस मास में सूर्य की उष्णता बढ़ती हैं।
- **आषाढ़ः** इस मास का नाम ''शुचि'' है। इस मास में सूर्य के ताप से उत्पन्न परिणाम की प्रतीति होती है। इस काल में आम्रादि फल परिपक्व हो जाते हैं। तथा उष्णता की अधिकता के फलस्वरुप वृष्टि के आरम्भ की सूचना प्राप्त होती हैं।
- **श्रावण** : इस महीने का नाम 'नभस्' है। इस मास में जल को रोकने वाले तत्वों का विनाश होता है।

---

१. १/४/१५

- **भाद्रपद** : इस मास का नाम 'नभस्य' है। इस समय जल को अवरुद्ध करने वाले तत्वों के विनाश का परिणाम प्रतीत होता है।
- **आश्विन**- इस महीने का नाम 'इष' है क्योंकि इस मास में नवीन अन्न परिपक्व होता है।
- **कार्तिक**-इस मास का नाम ''ऊर्जा'' हैं। इस समय अन्न-तृण आदि से गौ इत्यादि प्राणियों में घृत-दुग्ध आदि रसों का परिपाक होता है।
- **मार्गशीर्ष**-इस मास का नाम ''सहस्'' है। इस समय बल की वृद्धि होती है।
- **पौष**-इस मास का नाम ''सहस्य'' है। इस मास में प्राणियों का बल स्थिर होता है।
- **माघ**-इस मास का नाम 'तपस्' है। इस महीने में ताप की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। अतः शीतकालीन सस्य का परिपाक प्रारम्भ होता हैं।
- **फाल्गुन**- इस महीने का नाम 'तपस्य' है। क्योंकि इस मास में 'जौ, गेहूँ, चना आदि का परिपाक होता है।
- **मधु**-माधव आदि नामों के अतिरिक्त पूणिमाओं के आधार पर प्रचलित ''चैत्रादि'' महीनों के नामों का भी उल्लेख वेदों में हुआ है।

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता[१] में फाल्गुनी पूर्णमास और चित्रापूर्णमास का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[२], शतपथ ब्राह्मण[३] में भी 'फाल्गुनी पौर्णमासी का वर्णन हैं। इसी प्रकार सांख्यायन ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण में फल्गुनी, रौहिणी (ज्येष्ठी) और पौषी पूर्णमासी का उल्लेख है। कौषीतकि ब्राह्मण[४] में तैषस्य (पौषस्य) एवं माघस्य तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[५] में फाल्गुन एवं गृह्य सूत्र[६] में श्रावण्याम् पौर्णमास्याम् और मार्गशीर्ष्याम् चतुर्दश्याम्[७] तथा पारस्कर गृह्य सूत्र[८] में 'मार्गशीर्ष्याम् पौर्णमास्याम्' का उल्लेख हुआ है। वैदिक-संहिताओं एवं गृह्य सूत्रों के सदृश ही महाभारत, पुराण एवं मनुस्मृत्यादि में भी यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी आजकल की तरह चैत्रादि मासों का प्रचलन था।

पक्ष-विचार

एक मास में दो पक्ष होते हैं। शुक्लपक्ष एवं कृष्ण पक्ष। प्रत्येक पन्द्रह दिनों (तिथियों) का होता है। शुक्ल पक्ष को पूर्वपक्ष एवं कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष कहते हैं। यद्यपि महीने के दोनों पक्षों में प्रकाश और अन्धकार समान ही रहता है। किन्तु जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि के कारण प्रतिदिन प्रकाश की वृद्धि होती है उस पक्ष को शुक्ल पक्ष एवं

१. ६/४/८, २. १/१/२/८, ३. २/६, ४. १६/२/३, ५. ५/६/६, ६. २/१/१, ७. २/३/१ ८. ३/१२

जिस पक्ष में चन्द्रमा की कला में ह्रास होने से अन्धकार की वृद्धि होती है उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। अमावस्या के बाद पूर्णिमा के १५ दिनों का शुक्ल पक्ष एवं पूर्णिमा के बाद अमावस्या तक के १५ दिनों का कृष्ण पक्ष होता है।

तिथि-विचार

भारतवर्ष में दो प्रकार की तिथियाँ प्रचलित हैं। सौर तिथि एवं चान्द्र तिथि। सूर्य की गति के अनुसार मान्य तिथि को सौर तिथि तथा चन्द्रगति के अनुसार मान्य तिथि को चान्द्र तिथि कहते हैं।

सौर-तिथिः सौर तिथि दो प्रकार से मानी जाती है। एक प्रकार यह है कि जिस-जिस दिन सूर्य की संक्रान्ति लगती है उस दिन को प्रथम तिथि मानी जाय। दूसरा प्रकार यह है कि संक्रान्ति के दूसरे दिन से प्रथम तिथि मानी जाय। बंगाल एवं पञ्जाब में इन तिथियों का प्रयोग विशेष रूप से होता है। अन्यत्र भी सौर तिथि के नाम से इनका प्रचलन है। किन्तु, भारत में प्रचलित व्रतों एवं उत्सवादि में इन तिथियों का प्रयोग प्रायः कम ही होता हैं।

चान्द्र तिथि-भारत के धार्मिक कर्यो में विशेषरूप से चान्द्र तिथियों का ही प्रयोग होता है। इन तिथियों का नाम क्रमशः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं कृष्ण पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को अमावस्या तथा शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवी तिथि को पूर्णिमा कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा जिस दिन एक बिन्दु पर आ जाते हैं उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी ने कहा है ''अमा सह सवतोऽस्यां चन्द्रार्कौ''। इसी प्रकार जिस तिथि को सूर्य एवं चन्द्रमा परस्पर आमने-सामने रहते हैं, उस तिथि को पूर्णिमा या पौर्णमासी कहते हैं। सामान्यतः अमावस्या या पूर्णिमा में पन्द्रह दिन का अन्तर रहना चाहिए। किन्तु, प्रत्येक तिथि एक दिन-रात अर्थात् २४ घण्टे अथवा ६० घटी में समाप्त नहीं होती। अतएव अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या कभी १५ दिनों के अन्तर पर कभी १४ दिनों, कभी १६ दिनों अथवा कभी १३ दिनों के अन्तर पर आती हैं।

इस अन्तर का कारण यह है कि तिथियाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की गति से सम्बन्धित होती है। अतः जब सूर्य एवं चन्द्रमा की गति का अन्तर अधिक रहता है तब चन्द्रमा १५ दिनों की अपेक्षा १४ दिनों में ही सूर्य के सामने से साथ अथवा साथ से सामने आ जाता है। यदि गति का अन्तर मन्द रहता है तो १६ दिन लग जाते हैं। इसे ही तिथियों की क्षय-वद्धि अर्थात् घटना और बढ़ना कहा जाता है।

स्पष्टार्थ यह कि अमावस्या के दिन चन्द्रमा और सूर्य एक राशि पर समान अंशादि में रहते हैं। अतएव अमावस्या को सूर्येन्दु संगम भी कहा जाता हैं।

चन्द्रमा को पुनः उसी स्थान पर पहुँचने में प्रायः ३६ दिन लगते है। प्रायः इतने ही दिनों में सूर्य अपनी एक राशि समाप्त कर पाता है। इस प्रकार सूर्य के दूसरी राशि पर चन्द्रमा पुनः सूर्य के साथ सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ यदि चैत्र मास की अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा मीन राशि पर थे तो वैशाख की अमावस्या के दिन उन दोनों को मेष राशि पर होना चाहिये। इस प्रकार सूर्य से पुनः मिलने के लिये चन्द्रमा को तेरह राशियों का चक्कर लगाना पड़ेगा। यह चक्कर उपर्युक्त प्रकार से ३० दिनों में पूर्ण होगा।

एक राशि में ३० अंश होते हैं। इस प्रकार अमावस्या से अमावस्या अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक चक्कर लगाने के लिये चन्द्रमा को ३० × १२ = ३६० अर्थात् ३६० अंश चलना पड़ेगा। इन ३६० अंशो को यदि ३० तिथियों में विभाजित किया जाय तो एक तिथि में प्रायः १२ अंश होते है। अस्तु, सूर्य से चन्द्रमा के १२ अंश हटने को एक तिथि कहते है। यह १२ अंश जब कभी चन्द्रमा शीघ्र चलता है तो ५४ घटी में ही समाप्त हो जाता है। और जब चन्द्रमा की गति मन्द होती है तो उक्त १२ अंशो के समाप्त होने में ६५ घटी का समय लगता है। अर्थात् चन्द्रमा को सूर्य से १२ अंश आगे जाने में कभी २१ घण्टे या २२ घण्टे और कभी २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे लगते है। इसी ह्रासवृद्धि को धर्मशास्त्र में ''बाणवृद्धि रसक्षय'' कहा गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब चन्द्रमा सूर्य से १२ अंश आगे बढ़ता है। तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा समाप्त होती है एवं २४ अंश आगे बढ़ने पर द्वितीया समाप्त होती है। इसी क्रम से दिन-रात की की जितनी घटियों पर प्रत्येक १२ अंश समाप्त होते रहते है तदनुसार ही प्रतिपदा एवं द्वितीयादि तिथियाँ क्रमशः समाप्त होती हैं।

तिथियों के क्षय-वृद्धि का क्रम

उपर्युक्त रीति से यदि चन्द्रमा शीघ्र चलता रहा और अपनी गति से दो-दो घण्टे कम किये तो १२ दिनों में २४ घण्टे क़म होगें। इस प्रकार एक अहोरात्र पूर्व ही अर्थात् बारहवें दिन ही चन्द्रमा की गति का (१२ अंशो वाला) तेरहवाँ भाग समाप्त हो जायेगा। इसे ही त्रयोदशी का क्षय कहेंगे। क्योंकि साधारण गणना के अनुसार तो प्रत्येक अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में तेरहवाँ अंश आना चाहिये। परन्तु जब यह देखा जाता है कि तेरहवें अहोरात्र में तेरहवें भाग का कोई स्थान नहीं है अपितु, उस दिन प्रातः काल से ही चौदहवाँ भाग आरम्भ हो गया है तो इस प्रकार बारहवें अहोरात्र में ही तेरहवें भाग के समाप्त हो जाने से त्रयोदशी का क्षय होना कहा जाता हैं।

इसी प्रकार यदि चन्द्रमा मन्दगति से चला और उसने १२ अंश वाला भाग २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे में समाप्त किया तो ये २-२ घण्टे बचते-बचते अपने यथासंख्य

अहोरात्र से आगे बढ़ जायेंगें। यदि १२-१२ अंशो का चतुर्थ भाग चौथे अहोरात्र में समाप्त न होकर पाँचवे अहोरात्र में कुछ शेष रह गया तो इसे चतुर्थी की वृद्धि कहा जायेगा, क्योंकि वह भाग चतुर्थ अहोरात्र में तो रहा ही तथा पञ्चम अहोरात्र के सूर्योदय के समय भी वही रहा। यह नियम है कि सूर्योदय के समय १२-१२ अंशो वाले भाग में से जिस संख्या का भाग चल रहा होगा वही उस दिन की तिथि होगी। अस्तु पहले सूर्योदय को भी चतुर्थी रही और दूसरे दिन के सूर्योदय के समय भी चतुर्थी रही। इस प्रकार दो चतुर्थियाँ हो जाती है। इसे ही तिथि की वृद्धि कहते हैं।

उपलब्ध वैदिक संहिताओं में तिथियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। किन्तु वेदों के ब्राह्मण भाग में तिथियों का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद ज्योतिष, यजुर्वेद ज्योतिष एवं अथर्ववेद ज्योतिष के वचनों में भी तिथियों का उल्लेख प्राप्त होता है-

''तृतीयां नवमीञ्चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम्
षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्यां समं वैतू।।३३।।
चतुर्दशीमुपवसथस्तथोदितचन्द्रमाः।।''[1]
तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्।। ६०।।[2]

वार-विचार

''वार'' शब्द का अर्थ अवसर अर्थात् नियमानुसार प्राप्त समय होता है। तद्नुसार ''वार'' शब्द का प्रकृत अर्थ यह होता है कि जो अहोरात्र (सूर्योदय से आरम्भ कर २४ घण्टे अथवा ६० घटी अर्थात् पुनः सूर्योदय होने तक) जिस ग्रह के लिये नियमानुसार प्राप्त होता है अर्थात् जो ग्रह जिस अहोरात्र का स्वामी है उसी ग्रह के नाम से वह अहोरात्र अभिहित होता है। उदाहरणार्थ जिस अहोरात्र का स्वामी रवि है वह रविवार एवं जिस अहोरात्र का स्वामी सोम है वह सोमवार इत्यादि होगा। यह खगोल में ग्रहों की स्थिति के अनुसार नहीं है।

इस असंगति का समाधान यह है कि खगोलीय क्रम के अनुसार ग्रहो की होराये होती है न कि पूर्ण अहोरात्र। प्रत्येक होरा ढाई घटी अर्थात् ६० मिनट की होती है। इस प्रकार एक अहोरात्र में २४ होरायें होती है। इस क्रम में पहली होरा अहोरात्र के स्वामी की होती है बाद में उसी पूर्वोक्त खगोलीय क्रम के अनुसार क्रमशः निम्नवर्ती ग्रह की होरा आती हैं। उदाहरणार्थ यदि प्रथम होरा रवि की हुयी तो उस के निम्नवर्ती ग्रहों के अनुसार शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु मंगल की होरायें होंगी। पचीसवें घण्टे में अर्थात् दूसरे दिन प्रातः काल

१. ऋग्वेद ज्योतिष, (भारतीय ज्योतिष), २. अथर्ववेद ज्योतिष (भारतीय ज्योतिष)

चन्द्र की होरा होगी। तद्नुसार रविवार के दूसरे दिन चन्द्रमा की, तीसरे दिन मंगल की, चतुर्थ दिन बुध की, पञ्चम दिन गुरु की, छठवें शुक्र की एवं सातवें दिन पुनः रवि की होरा होगी।

निष्कर्ष यह कि प्रातःकाल जिस ग्रह की होरा होती है वही ग्रह उस अहोरात्र का स्वामी माना जाता है। अतः वह अहोरात्र उसी ग्रह का 'वार' माना जाता है। यहाँ पर शंका हो सकती है कि उपर्युक्त क्रम मानकर यदि ऊपर से चला जाय तो प्रथम दिन शनिवार होना चाहिये एवं यदि नीचे से चला जाय तो प्रथम वार सोमवार होना चाहिये। किन्तु व्यवहार में रविवार को ही प्रथम वार माना जाता है। इसका समाधान भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में निम्न प्रकार से दिया हैं-

''लंका नगर्यामुदयाच्च भानोस्तथैव वारो प्रथमो बभूव।
मधोः सितादेर्दिनमास-वर्ष-युगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः।।

अर्थात् लंका नगरी में सर्वप्रथम सूर्योदय रविवार को हुआ। अतः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से दिन, मास, वर्ष एवं युगादि की एक साथ प्रवृत्ति हुयी। निष्कर्ष यह कि काल गणना का आरम्भ ही रविवार से हुआ। अतः रविवार को ही प्रथम वार मानना युक्तिसंगत हैं।

यद्यपि ऋग्वेद ज्योतिष में वारों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं। किन्तु अथर्वज्योतिष में स्पष्ट रूप से वाराधिपों का उल्लेख किया गया है।

''आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपाः।। ६३।।

अर्थात् आदित्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति भार्गव (शुक्र) एवं शनि ये क्रमशः वारों के स्वामी होते हैं।

नक्षत्र-विचार

नक्षत्र २७ हैं। अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा एवं रेवती। उत्तराषाढ़ा के चतुर्थ चरण एवं श्रवण के प्रथम चरण को मिलाकर अभिजित के नाम से अट्ठाइसवाँ नक्षत्र भी माना गया है। किन्तु व्यवहार में प्रायः सत्ताइस नक्षत्रों का ही उपयोग होता है। इसका उपयोग पञ्चशलाका चक्र, सप्तशलाका चक्रादि की गणना एवं कुछ अन्य कार्यो में ही होता हैं।

प्रत्येक ग्रह खगोल की परिधि में पूर्ण परिभ्रमण के बाद पुनः उसी स्थान पर आ जाता है जहाँ से वह चलता है। इस भ्रमण को एक भगण कहा जाता है। इस प्रकार एक ग्रह

का एक अण्डाकार मार्ग बन जाता है। इसे ही उस ग्रह की कक्षा वृत्त कहते हैं। सूर्य के कक्षा वृत्त को क्रान्ति वृत्त कहते हैं तथा उसके बारह भागों का नाम मेषादि राशियाँ हैं। क्रान्ति वृत्त क्षेत्र में आने वाले तारा समूहों को २७ भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक खण्ड का मान १३°.२०' का माना जाता हैं। इस क्षेत्र में आने वालों तारों को समूह को एक नक्षत्र कहते है। उनके सर्वाधिक तेजस्वी तारा को योगतारा कहा जाता है तथा वही नक्षत्र का प्रधान विन्दु होता है जहाँ से उसकी गणना होती हैं।

पञ्चागों में प्रतिदिन उल्लिखित नक्षत्र इन्हीं तारा समूहों के निकट चन्द्रमा की स्थिति को सूचित करते हैं। तात्पर्य यह कि जिस दिन चन्द्रमा जिस तारा समूह के निकट रहता है उस दिन वह उसी नक्षत्र पर स्थित माना जाता है।

ग्रहों के पूर्णवृत्त को सुविधानुसार अश्विनी आदि २७ तारा समूहों में विभक्त किया गया हैं। चन्द्रमा की गति के अनुसार क्रान्तिवृत्त का सत्ताइसवाँ भाग जितने समय में समाप्त होता है अर्थात् चन्द्रमा एक तारक-समूह से दूसरे तारक समूह तक जाता है उसे उस-उस नक्षत्र का भाग कहते हैं। यह भाग भी तिथि के अनुसार २४ घण्टे या ६० घटी में एवं कभी-कभी उससे अधिक या अल्प समय में चन्द्रमा पार करता है। इस प्रकार जब उक्त सत्ताइसों भाग समाप्त हो जाते हैं तब चन्द्रमा आकाश में पुनः उसी स्थान पर आ जाता हैं।

कालगणना की कुछ अन्य रीतियाँ

पूर्व में ब्राह्म दिन अर्थात् कल्प एवं युगादिके क्रमानुसार कालगणना का दिग्दर्शन हुआ है। किन्तु इनके अतिरिक्त ध्रुव नक्षत्र एवं सप्तर्षि-नक्षत्र के द्वारा भी काल गणना का उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-ऋग्वेद (१/२४/१०), (१०/८२/२ एवं १०/१०६/४) के मन्त्रों में सप्तर्षिमण्डल का विवरण हैं। अतएव यह माना जा सकता है कि वेदों में सप्तर्षियों के परिभ्रमण से भी कालगणना की जाती रही है। ऋग्वेद (१०/१४/११) में सौरमण्डल के विशालतम ग्रह बृहस्पति और शुक्र की अश्विनी संज्ञा होने के अतिरिक्त उन्हें यमगृह के दो श्वान कहा गया हैं।

पुराणों में भी अनेक स्थलों पर सप्तर्षि से कालगणना का उल्लेख प्राप्त होता हैं। उदाहरणार्थ वायु पुराण[१], ब्रह्माण्ड पुराण[२], मत्स्य पुराण[३], भागवतपुराण[४], एवं विष्णु पुराण[५] के अंशों को देखा जा सकता हैं।

पार्जिटर के अनुसार एक-एक नक्षत्र पर सप्तर्षियों की स्थिति सौ-सौ वर्षों की मानी जाती है। इनका पूर्ण परिभ्रमण सात दिव्य वर्ष और छह दिव्य माहों का माना जाता है।

१. ६६/४१८-४२३, २. ३/७४/२२५-२३६, ३. २७२/३८-४३, ४. १२/२/२७-३१
५. ४/२४/१०५-११६.

यह अवधि मानव वर्षों में २६०० वर्षों के तुल्य हैं। किन्तु पुराणों में सप्तर्षि संवत्सर ३०३० वर्षों का बताया गया है। तीन सप्तर्षि संवत्सरों के व्यतीत होने पर एक क्रौञ्च अर्थात् ध्रौव संवत्सर पूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि स्वायंभव मनु के पुत्र उत्तानपाद ने उत्कृष्ट तपस्या से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उसी समय क्रौञ्च संवत्सर (तीन सप्तर्षि संवत्सरों की पूर्ति होने पर) पूर्ण हुआ। अतएव उस संवत्सर को ध्रौव संवत्सर कहा जाने लगा।

अधर्व ज्योतिष में तिथि, नक्षत्र, वार, करण, योग, तारा तथा चन्द्रमा के बलाबल का विचार करने का उल्लेख किया गया है।

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वाराश्चाष्टगुणाः प्रोक्ताः करणं षोडशान्वितम्।।६०।।
द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्ठिसमन्विता।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्।।६१।।

तद्नुसार ही भारतीय पञ्चांगों में प्रतिदिन योग एवं करणों का विवरण दिया जाता है। योग सत्ताइस हैं। इनका नाम क्रमशः १. विष्कम्भ २. प्रीति ३. आयुष्मान् ४. सौभाग्य ५. शोभन ६. अतिगण्ड ७. सुकर्मा ८. धृति ९. शूल १०. गण्ड ११. वृद्धि १२. ध्रुव १३. व्याघात १४. हर्षण १५. वज्र १६. सिद्धि १७. व्यतीपात १८. वरीयान १९. परिघ २०. शिव २१. सिद्ध २२. साध्य २३. शुभ २४. शुक्ल २५. ब्रह्म २६. ऐन्द्र एवं २७. वैधृति हैं।

करण

तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं। करणों के नाम निम्न हैं। यथाः-१. बव २. बालव ३. कौलव ४. तैतिल ५. गर ६. वणिज ७. विष्टि ८. शकुनि ९. चतुष्पद १०. नाग ११. किंस्तुघ्न। इन करणों में प्रथम सात चरकरण एवं अन्तिम चार स्थिर करण कहे जाते हैं।

राशिवर्णन

क्रान्तिवृत्त के ३६० अंशों को तारा समूहों के आधार पर बारह भागों में विभक्त किया गया है। इन तारा समूहों को ही राशि कहते हैं। राशियों के नाम क्रमशः निम्न हैं। यथाः-

१. मेष २. वृष ३. मिथुन ४. कर्क ५. सिंह ६. कन्या ७. तुला ८. वृश्चिक ९. धनु १०. मकर ११. कुम्भ एवं १२. मीन।

वेद एवं वेदांग ज्योतिष में राशियों का नाम नहीं मिलता किन्तु पुराणों में राशियों के आधार पर शुभा-शुभत्व का निर्णय किया गया है।

ब्राह्म दिनादि के सदृश ही विष्णु एवं रुद्र के समय का वर्णन भी ज्योतिष की गणना में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है।

"चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिकास्मृता।।
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते।
रुद्रस्यार्बुदसंख्याभिस्ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्।।"

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस प्रकार ब्रह्मा के सहस्र वर्षों के तुल्य विष्णु की एक घटी होती है। इस परिमाण से श्री विष्णु के बारह लाख वर्षों के बराबर रुद्र की आधी कला होती है तथा रुद्र के एक अरब वर्षों के बराबर अक्षर ब्रह्म का दिवस होता है।

●●●

ग्रहण चन्द्र सूर्य पृथ्वी

डॉ. पी.वी.वी. सुब्रह्मण्यम्

ग्रहणसाधनप्रयोजन

ग्रहण खगोलीयपिण्डों के भ्रमण वश आकाश में उत्पन्न होने वाली एक अद्भुत घटना है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। भूकेन्द्र से इन कक्षाओं की दूरी भी विलक्षण हैं। अर्थात् ग्रह कक्षाओं का केन्द्र बिन्दु पृथ्वी पर नहीं है। इसलिए एक तरफ वृत्त की परिधि के अत्यन्त सन्निकट तथा दूसरी ओर अत्यन्त दूरी पर है। ये सभी ग्रह एक दूसरे से ऊर्ध्वाधः स्थित कक्षाओं में पूर्वाभिमुख भ्रमण करते हैं। यद्यपि इन ग्रहों की योजनात्मिका गति समान है तथापि भूकेन्द्र से विलक्षण अन्तरालों में स्थित होने के कारण इनकी अंशात्मक या कोणीय गति भी विलक्षण है। अतः ये ग्रह एक दूसरे से पूर्वापरान्तर से भी अन्तरित रहते हैं।

सन्दर्भानुसार यहां रैखिक (परिधिगत, योजनात्मक या मीलात्मक) गति एवं कोणीय गति का सामान्य विचार प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विषय का ज्ञान सुगम होगा। भूकेन्द्र से ग्रहभ्रमण मार्गों की या कक्षाओं की दूरी भिन्न-भिन्न है यह पूर्व में ही स्पष्ट किया गया है। दूरी में भिन्नता के कारण उन कक्षाओं के प्रमाणों में भी भिन्नता है। कक्षाओं की परिधि और व्यास का प्रमाण ऊर्ध्वोर्ध्व क्रम से बढ़ता जाता है। भूकेन्द्र से दूरी में भिन्नता होने पर भी ये सभी ग्रह आकाश में एक ही तल पर दृश्य होते हैं। जिसे दृश्य क्षितिज कहा जाता है। वे दृश्य ग्रह ही अभीष्ट कार्य सम्पादन हेतु उपर्युक्त स्पष्ट ग्रह माने जाते हैं। जब दृश्यमान ग्रहों की स्थिति एक ही है तो उनके भिन्न दूरी का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु कक्षा भेद से दूरी के कारण दृश्यमान ग्रह की गति में अन्तर तो होता ही है। दृश्यमानस्थिति वास्तव स्थिति से अलग होने के कारण वास्तविक ग्रहों की अपनी अपनी कक्षाओं में जो गति होती है वह ग्रहसाधन हेतु निरुपयुक्त है। ग्रहों की स्व कक्षा गति के कारण दृश्य (स्पष्ट) ग्रहों के स्थान में जो अन्तर आता है वही ग्रह की गति मान्य होती है। अर्थात् ग्रह अपने कक्षा में आगे बढ़ते हुये दृश्यमान ग्रहबिम्ब के स्थान में जो कोण उत्पन्न करता है वही ग्रह की वास्तव गति है। और इस गति से ग्रह जो राश्यादि स्थान प्राप्त करता है वही कालसाधन हेतु या कार्यसम्पादन हेतु उपयुज्यमान स्पष्ट ग्रह है। ग्रह जहां दृष्टिपथ में आता है उसे राशिचक्र कक्षावृत्त या काल्पनिक दृग्वृत्त भी कहते हैं। प्रथम पौरुष सिद्धान्त ग्रन्थकार आर्यभट के अनुसार वही काल्पनिक दृग्वृत्त है जहाँ एक स्वस्थ पुरुष आकाशस्थ समस्त ज्योतिष्पिण्डों को उनके ऊपर नीचे की अन्तर के बावजूद एक स्थान में देखता हैं। अतः ग्रहों की अपने अपने कक्षाओं की गति के अपेक्षा उनके चलने से भूकेन्द्र में उत्पन्न होने वाले कोण ही महत्वपूर्ण होते हैं जिसे हम कोणीयगति कहते हैं।

भूकेन्द्र से ग्रहों की दूरी भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके कक्षाओं का प्रमाण भी भिन्न-भिन्न होता है। पृथ्वी से जैसे-जैसे ग्रह की दूरी बढ़ती है वैसे-वैसे ग्रह कक्षा का प्रमाण भी बढ़ता जाता हैं। जिस ग्रह की कक्षा बड़ी होती है उसे भोगने के लिये उस ग्रह को अधिक समय की आवश्यकता होती है। जिसका ग्रह की कक्षा का प्रमाण कम होता हैं वह अल्प समय में ही अपने कक्षा का भोग कर लेता है। यही ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने का मुख्य कारण हैं।

ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने के कारण, ग्रहकक्षा में उच्च पात आदि कालमूर्तियों के कारण स्पष्टग्रहसाधन जटिल होता है। उच्च पातादि के कारण स्पष्टग्रहसाधन हेतु अनेक उपकरणों का साधन करना पड़ता है। जैसे त्रैराशिक से मध्यमग्रह, वेध एवं गणित के माध्यम से मन्द एवं शीघ्रपरिधि, वेध से अन्त्यफलज्या आदि। इनके साधन में स्थानवश अथवा उपयुज्यमान वेधयन्त्रवश, अथवा प्रक्रिया की स्थूलता के कारण इनकी सहायता से साधित ग्रह शास्त्रोक्त स्पष्टग्रहलक्षण से रहित हो सकता है। शास्त्रोक्त स्पष्टग्रह का लक्षण है दृग्गणितैक्य होना। अर्थात् गणितागत ग्रह एवं वेधादिना साधित ग्रह में दृक्तुल्यता या एकरूपता होना अनिवार्य है तभी वह स्पष्ट ग्रह कहा जाता है। उसी स्पष्टग्रह के ऊपर लग्न और लग्न के ऊपर ज्योतिषशास्त्र का फल निर्भर होता है। यात्रा विवाहोत्सवजातकादि कार्यो का सम्पादन भी स्पष्टग्रह से ही हो सकता हैं।

उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि प्रयोग में लेने से पहले साधित स्पष्टग्रहों की प्रमाणिकता सिद्ध होनी चाहिये। अतः साधित ग्रहों को उपपन्न या सिद्ध करने हेतु प्रत्यक्षगोचर सूर्य और चन्द्र का प्रयोग किया जाता है। समय समय पर सूर्य और चन्द्र के कारण उत्पन्न होने वाला खगोलीय दृग्विषय के अतिरिक्त इस कार्य में सहायक और कुछ भी प्राप्त नहीं है। ये खगोलीय दृग्विषय शास्त्रज्ञ एवं शास्त्रज्ञान से रहित सामान्य जन के लिये भी अनुभव योग्य होता है। इसी विषय को लगधाचार्य का यह वचन स्पष्ट करता है कि 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ''।

संहितास्कन्ध के अनुसार भी इन ग्रहणों का साधन आवश्यक हैं। जहाँ निरवशेष शास्त्रविषय का विचार होता है और जहाँ समष्टि रूप से जनकल्याण हेतु खगोलीय घटनाओं के आधार पर शुभाशुभ प्रगट किया जाता है वह संहितास्कन्ध है। यह त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषशास्त्र का एक मुख्य और प्राचीन स्कन्ध है। ग्रहण के समय में स्नान दान जपादि के महत्व का वर्णन इस स्कन्ध में उपलब्ध है। 'प्रकृतेर्वै परीत्यमुत्पातः' इस वचन में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध जो घटना घटती है उसे उत्पात कहते हैं और उत्पात जन कल्याण और लोककल्याण के विरुद्ध फल देने वाले होते हैं। अतः इस कारण से भी ग्रहण का साधन वा विचार करना अनिवार्य हैं।

(२) ग्रहयुद्ध

ग्रहों में ऊपर नीचे का अन्तर रहने पर भी जब ये राशिवृत्त में अथवा दृश्यमानवृत्त (दृश्यक्षितिज) में एक स्थान में आ जाते है तो उसे ग्रहयुद्ध कहते हैं। ग्रह बिम्बों के एक स्थान में आने पर होने वाले ये युद्ध भी भेद, उल्लेख, अंशुमर्दन और अस्त नाम से चार प्रकार का होता है। ग्रहों के बीच में युद्ध होना शुभ नहीं माना जाता हैं। यदि दोनों बिम्ब एक ही स्थान में आ जाते हैं अर्थात् दोनों बिम्ब मिलकर एक ही बिम्ब लगता है तो उसे भेद नामक युद्ध कहते है। यह भेद संज्ञक ग्रहयुद्ध अनावृष्टि और मित्र राजाओं में कलह उत्पन्न करता है। यदि दो बिम्बों के परिधियों का स्पर्श होता है तो उसे उल्लेख कहते हैं जो शस्त्रों से भय, मन्त्रियों में विरोध और दुर्भिक्ष का भय उत्पन्न करता है। आसन्नवर्ति ग्रहों के किरणों के एक दूसरे से मर्दन होने पर अंशुमर्दन नामक ग्रहयुद्ध होता है जो राजाओं में युद्ध उत्पन्न करता है और जनों को शस्त्र रोग और क्षुधा से पीड़ित करता हैं। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रहबिम्बों का एक स्थान में रहना, जिसे हम ग्रहयुद्ध कहते हैं, शुभफलदायी नहीं होता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भिन्न भिन्न प्रकृति के ये ग्रह एक दूसरे से मिलने पर विकृत हो जाते है। फलस्वरुप प्राणियों को इनके विपरीत फल भोगना पड़ता हैं। यह सर्वविदित है कि पृथ्वी को अधिक रूप से प्रभावित करने वाले दो ग्रह हैं। वे है सूर्य और चन्द्रमा। सूर्य किरणों के अभाव में कोई भी प्राणी इस पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकता है। अतः सभी प्राणियों को जीवित रखने के कारण तथा काल का नियमन करने के कारण सूर्य को काल की आत्मा माना जाता हैं। मन को प्रभावित करने वाला चन्द्रमा हैं। अतः दोनों का ग्रहण होने से उनका विकृत फल प्राप्त होने के कारण संहिता स्कन्ध में इनका होना अशुभ माना गया हैं। अतः ग्रहणकाल में ग्रस्त ग्रह के विमोचन हेतु, उत्पन्न होने वाले अशुभ को भंग करने हेतु स्नानादि की व्यवस्था की गई है। ज्योतिर्निबन्धकार के अनुसार स्पर्शकाल में स्नान, मध्यस्थिति में जप होम और सुरार्चन, मोक्ष के आसन्न स्थिति में दान और विमुक्ति में (स्नान) करना चाहिये। महर्षि पराशर के अनुसार ग्रहण समय में जन्मलिया जातक दरिद्र अथवा विकलांग आदि होता है। अतः आचार्य ग्रहण के कारण वा सूर्य चन्द्र राहु वा केतु के कारण उत्पन्न सकल अरिष्ट के शमन हेतु प्रयास करने का निर्देश स्वकीय ग्रन्थ बृहत्पराशरहोराशास्त्र में दिये हैं। इसी प्रकार की चर्चायें अन्य होरा ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। अतः शान्ति की कामना वाले या अपनी सन्तानों का शुभ चाहने वाले व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इस आपदा से बचना चाहते हैं। इस उद्देश्य से भी सूर्य एवं चन्द्रग्रहण का साधन आवश्यक हो जाता है। भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्त शिरोमणि में ग्रहणसाधनविधि के वर्णन के पहले ग्रहण प्रयोजन का इस प्रकार का वर्णन किया है "ग्रहणसमय में जप दान हवनादि बहुफल को देने वाला है ऐसे स्मृति और पुराण के वेत्ता कहते हैं, और चमत्कार भी है जो जानने की इच्छा को उत्पन्न करता है अतः मैं सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण को कह रहा हूँ।"

ग्रहणपरिचय

'ग्रह् उपादाने' धातु से ग्रहण शब्द निष्पन्न है। ग्रहण का अर्थ स्वीकार करना है। आकाशीय ग्रहपिण्डों के द्वारा दूसरे ग्रहपिण्डों को स्वीकारना या अपने में समाहित करना (तात्कालिक रूप से) ही यहाँ ग्रहण कहा जाता है। ग्रहण के समय ग्रस्त बिम्ब भूमिस्थित द्रष्टा को नहीं दिखाई देता है। इस अदृश्य होने की स्थिति को ग्रहण कहते हैं। दूसरे ग्रहपिण्ड के द्वारा स्वीकार करने पर भी यदि ग्रहबिम्ब जनों को दिखाई देता है तो वह ग्रहण नहीं कहा जाता है। खगोलीयपिण्डों के स्थिति के अनुसार एवं पृथ्वी से उनकी दूरी के अनुसार दूसरे ग्रहों वा तदुत्पन्न छाया के द्वारा स्वीकार करने के बाद न दृश्य होने वाले वा अनुभव में न आने वाले ग्रहबिम्ब दो ही है। वे है सूर्य और चन्द्रमा। अतः ज्योतिष शास्त्र में सूर्य और चन्द्रमा के ही ग्रहण वर्णित है। यद्यपि ग्रहण की स्थिति प्रायः सभी ग्रहों के साथ होती है तथापि सामान्यदृष्टिगोचर होने के कारण सूर्य और चन्द्र के ही ग्रहण स्वीकार किये गये है। इसी प्रकार पृथ्वी का भी ग्रहण होता है। छादक चन्द्रमा छाद्य पृथ्वी को आच्छादित करने के कारण चन्द्रकक्षा के ऊपर स्थित लोगों को अथवा चन्द्रकक्षोपरि प्रदेश की स्थिति के अनुसार पृथ्वी का कुछ भाग अथवा पूरी पृथ्वी आच्छादित होती है जिसे पृथ्वीग्रहण कहते है। यह सत्य है कि पृथ्वी पर स्थित लोगों को यह ग्रहण दृश्य नहीं होता है।

ग्राह्य और ग्राहक

ग्रहण के समय में जो ग्रहबिम्ब ग्रहण का कारण होता है अथवा जो दूसरे बिम्ब को आच्छादित करता है उसे ग्राहक या छादक और ग्रस्त होने वाले बिम्ब को ग्राह्य अथवा छाद्य बिम्ब कहते है। सूर्यग्रहण में ग्राहक चन्द्रमा और ग्राह्य सूर्य होते हैं। सूर्य बिम्ब को चन्द्रबिम्ब मेघ की तरह आच्छादित कर देता है। चन्द्रग्रहण में ग्राह्य चन्द्र ग्राहक भूभा में पूर्वाभिमुख प्रवेश कर लेता है। स्वाभाविक बात यह है कि ग्राहक के द्वारा ग्राह्य को स्वीकार करने के लिये दोनों बिम्बों को एक स्थान में रहना अनिवार्य होता है। उस प्रकार दोनों बिम्बों के एक स्थान में रहने वाले समय में ही ग्रहण सम्भव हो सकता है।

ग्रहणसम्भवकाल

सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा की कक्षा पृथ्वी के समीप है। चन्द्रमा का कोणीय वेग भी सूर्य की अपेक्षा अधिक है। सूर्य और चन्द्रमा के गति का दैनिक अन्तर १२ अंश का होता है जिस को एक चान्द्र दिन कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के १८० अंश के अन्तर में दोनों ग्रह एक सरलरेखा के दो अन्तिम बिन्दुपर रहते है या आमने सामने रहते है। यह स्थिति चन्द्र के पन्द्रहवें दिन

के अन्त में सम्भव होती है। इस पन्द्रहवे दिन को पूर्णिमा कहते है। सूर्य बिम्ब के प्रकाश के कारण सूर्य के विरुद्ध दिशा में पृथ्वी की सूच्याकार छाया बनती है जिसको कुभा भूभा इत्यादि नामों से व्यवहार करते है। सूर्य बिम्ब की पृथुता के कारण उससे अल्प भूगोल की छाया आरम्भ में स्थूल एवं बाद में सूची का आकार धारण करती है। यह छाया सर्वदा सूर्य से भार्ध (१८०°) में सूर्य की समान गति से भ्रमण करती है। सूर्य से भार्ध (१८०° अंश के दूर) में चन्द्रमा इस छाया में ही प्रवेश करता है जिससे उसका अदर्शन भूवासियों के लिये होता है, और इसी दृग्विषय को चन्द्रग्रहण कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा की युवि अमान्त को होती है। अर्थात् अमान्त को सूर्य और चन्द्रमा एक ही दृक्सूत्र में स्थित होते हैं। उस स्थिति में चन्द्र सूर्य के नीचे मेघ जैसे रहने के कारण वहां के लोगों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है जिसे सूर्य ग्रहण कहते है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सूर्यग्रहण अमान्त को चन्द्रग्रहण पूर्णिमान्त को लगता है।

पात वा राहु विचार

ग्रहण हर एक अमान्त और पूर्णिमान्त को नहीं लगता है। प्रत्येक पूर्णिमा को और अमान्त को ग्राहक और ग्राह्य के बीच में पूर्वापरान्तर तो शून्य हो जाता है किन्तु उन दोनों के बीच में दक्षिणोत्तरान्तर रहने के कारण ग्राहक ग्राह्य का ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता है। इसका विवरण इस प्रकार है। ग्राहक और ग्राह्य की कक्षा स्थिति एक धरातल में नहीं होती है। भिन्न धरातलों में कक्षाओं की स्थिति के कारण दोनों बिम्बों में दक्षिणोत्तरान्तर रहता है। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योग बिन्दु में शून्य रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं के योगबिन्दुओं को पात कहते है और इनका सम्पात भी नाम है। इनमें पूर्व सम्पात को राहु और पश्चिम सम्पात को केतु भी कहते हैं।

पौराणिक गाथाओं में तो स्पष्ट रूप में उपलब्ध है कि ग्रहण का कारण सिंहिका का पुत्र राहु और केतु है। ये राहु और केतु एक ही शरीर के दो भाग है ऐसा कहा जाता है। राहु नामक असुर को भगवान विष्णु अमृतवितरण के समय में चक्र से संहार करने का प्रयास करते हैं किन्तु तब तक राहु के द्वारा अमृत निगलने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती है और शिर और धर अलग अलग प्राण से युक्त रह जाते हैं। अमृत वितरण के समय में राहु का देवताओं की पंक्ति में अमृत लेने की बात विष्णु को सूर्य और चन्द्रमा ने बतलाया था। अतः ये दोनों सूर्य और चन्द्रमा को अवसर मिलने पर निगलते एवं छोड़ते रहते है।

इसी गाथा का शास्त्रीय विश्लेषण इस प्रकार है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं का दो सम्पात बिन्दु होता है। उनमें एक सम्पात को पार करने के बाद चन्द्र सूर्य कक्षा के धरातल के ऊपर विचरण करने लगता है। अतः इस सम्पात को आरोहण सम्पात कहते

हैं। और इसी बिन्दु की संज्ञा सिद्धान्तज्योतिष में राहु है। भास्कराचार्य के अनुसार यद्यपि ग्रहण का कारक यह सम्पात बिन्दु है तथापि परम्परागत विचारों की पुष्टि हेतु इसे राहु कहने में कोई आपत्ति नहीं है। दो वृत्तों का अधिकाधिक सम्पात दो बिन्दुओं में हो सकता है और वे दोनों बिन्दु एक दूसरे से वृत्तार्ध की दूरी पर सर्वदा रहते है। अतः इस राहु नामक आरोहण सम्पात से १८० अंशों के अन्तराल में दूसरा सम्पात होता है जिसे प्राप्त कर चन्द्रमा सूर्य की कक्षा के धरातल के नीचे चला जाता है। अतः इसे अवरोहण सम्पात कहते है और इसी की संज्ञा है केतु। दोनों एक दूसरे से सर्वदा भार्ध में रहने के कारण और दोनों में तुल्यलक्षण और तुल्य गति के कारण इनको एक ही शरीर के दो अंग मानने में भी आपत्ति नहीं होती है। अतः हमारी परम्परा में, जनमानस में निर्विवाद स्थान प्राप्ति हेतु एवं जनसामान्य को सुलभरूप से अवगत कराने हेतु हमारे पूर्वजों ने इन गाथाओं को जन्म दिया है। जिनके कारण भारतवर्ष की जनसामान्य शास्त्रीय विषयों को न जानते हुये भी ग्रहण का कारण पीढ़ियों से जानता आ रहा है।

अब विचार करने योग्य विषय यह है कि ये राहु और केतु ग्रहण के कारक कैसे होते हैं? सूर्य और चन्द्रमा की कक्षायें एक धरातल में नहीं रहने के कारण दोनों के बीच में दक्षिणोत्तरान्तर उत्पन्न होता है। ग्रह सभी पूर्वाभिमुख भ्रमण करते है अतः इनके भ्रमण मार्ग भी पूर्वापरस्थिति में ही रहते है। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योगबिन्दु में शून्य रहता है उस योगबिन्दु के दोनों धरातलों में उभयनिष्ठ होने के कारण। ग्राहक बिम्ब के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का ग्रहण करने हेतु दोनों के बीच में सभी प्रकार के अन्तरों का अभाव होना अनिवार्य होता है। अतः जिस पूर्णिमान्त और अमान्त में यह राहु वा केतु नामक सम्पात बिन्दु भी उसी सूर्य वा चन्द्रमा के साथ रहते हैं उसी पूर्णिमान्त का अमान्त को चन्द्र और सूर्य के ग्रहण लग सकते हैं। अतः प्रत्येक पूर्णिमान्त और अमान्त को राहु वा केतु की स्थिति सूर्य और चन्द्र के साथ नहीं होती है और इस कारण से ग्रहण नहीं लगता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वापरान्तर प्रत्येक मास में एक बार शून्य होने पर भी सम्पाताभाव के कारण ग्रहण लगने से वंचित हो जाता है। अतएव ग्रहण के मुख्य कारक ये राहु और केतु नामक सम्पात ही माने जाते है।

गोलविदों को यह बात स्पष्ट है कि ग्रहण का कारण राहु नामक कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यदि इस बात का सरासर खण्डन किया जाय तो स्मृतिपुराणों में बतायी गयी बात असत्य सिद्ध होगी। यह स्थिति परम्परा एवं धर्म को संकटग्रस्त कर सकती है। अतः अधिकतर सिद्धान्तकार सामंजस्य बैठाने का प्रयास करते है। उनमें से कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्तकार है ग्यारहवीं सदी के आचार्य भास्कर जो सिद्धान्तशिरोमणि के प्रणेता हैं, धीवृद्धिद के रचयिता आचार्य लल्ल जो आर्यभट के शिष्य माने जाते हैं, और सिद्धान्तशेखर के प्रणेता श्री श्रीपति। इन आचार्यों का विचार इस प्रकार है-

ब्रह्मा से वरदान प्राप्त राहु चन्द्रग्रहण के समय में भूच्छाया में प्रवेश करके चन्द्रमा का ग्रहण करता है और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा में प्रवेश करके सूर्य को आच्छादित कर देता है। अर्थात् इस प्रकार के विचार से गोलयुक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है और स्मृति पुराणवचन भी पुष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं यह बात इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि स्मृतिपुराण ज्योतिषपरक ग्रन्थ नहीं होने के कारण अत्यन्त दुष्कर गोलविज्ञानयुक्तियों को न बताकर जनसामान्य को अवगमन कराने हेतु महर्षियों का यह एक अद्‌भुत प्रयास है जो आज भी जनमानस में निर्द्वन्द्व है।

ग्रहणसम्भवस्थिति

ग्रहण गणित में ग्रहों के बिम्ब मानकर प्रमाण योजनों में न लेकर कलाओं में लेते हैं। ग्रहण में योजनात्मक ग्रह बिम्ब का प्रयोग नहीं होकर कलात्मक बिम्ब का प्रयोग होता है। सूर्य योजनात्मक बिम्ब के रूप में चन्द्रमा से अधिक होने पर भी वह पृथ्वी से चन्द्र की अपेक्षा अधिक दूरी में स्थित होने के कारण चन्द्र से छोटा दिखाई देता है। ग्रहण में दृश्य बिम्ब का महत्व होता है। इन ग्राहक (छादक) और ग्राह्य (छाद्य) बिम्बों के व्यासार्धों के योग को मानयोग दल कहते हैं। मानयोगदल और शर दोनों के मान तुल्य होने पर दोनों बिम्बों को परिधियाँ स्पर्श करती हैं। ज्यों-ज्यों शर अल्प होता जायेगा छादक बिम्ब छाद्य बिम्ब को ढकता जायेगा (आच्छादित करेगा) इस प्रकार शर पर दोनों के केन्द्रान्तर अन्तर शून्य न होकर कम होने पर भी ग्रहण हो सकता है। किन्तु इस स्थिति में ग्राहक ग्राह्य को पूर्ण रूप से न ढक कर जितना भाग ढक पाता है उतने का ही ग्रहण करता है। इस प्रकार ग्रह जब खण्डित रूप में दिखाई देता है या ग्रह का कुछ अंश अदृश्य होता है तो उस ग्रहण को खण्ड ग्रहण कहते हैं।

ग्राहक एवं ग्राह्य के बीच में पूर्वापरअन्तर और दक्षिणोत्तरअन्तरों का पूर्ण रूप से अभाव होने पर पूर्णग्रहण लगता है। पूर्णग्रहण की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। १. वलय, २. खग्रास। १. यदि ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से कलादिक मान में अधिक होता है तो वलयाकार ग्रहण होता है। यह ग्रहण केवल सूर्य में होता है। इस ग्रहण में परिधि प्रकाश मान तथा मध्य भाग काला होता है। जब ग्राहक बिम्ब ग्राह्य बिम्ब से बड़ा होता है तब बिम्ब के साथ-साथ आकाश का भी कुछ भाग ढक जाता है इस प्रकार के ग्रहण को खग्रास या खच्छन्न कहा जाता है।

ग्रहणसम्भवविचार

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हुआ है कि ग्राहक एवं ग्राह्य के पूर्वापरान्तर का अभाव हो और उनके साथ पात की स्थिति हो तो ग्रहण लग सकता है। किन्तु वह कितने अन्तर पर लग सकता है इस बात का विचार यहां पर प्रस्तुत है। ग्राहक ग्राह्य बिम्बों के केन्द्रों

का दक्षिणोत्तरान्तर शर कहा जाता है। और यह शर सम्पात बिन्दु में शून्य होता है। दोनों बिम्बों के मानैक्यार्ध (दोनों बिम्बों के व्यासार्धों के योग) तुल्यान्तर में दोनों बिम्बों का स्पर्श होता है। अर्थात् मानैक्यार्धतुल्य शर में ग्रहण का प्रारम्भ हो जाता है। यदि इस स्थिति के बाद वह अन्तर क्रमशः अल्प होता है तो शर का मान मानैक्यार्ध से अल्प हो जाता है। अर्थात् ग्राहक के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का कुछ अंश ग्रस्त (ढक) जाता है। यदि वह अन्तर कम होते-होते शून्य हो जाता है तो दोनों बिम्बों का केन्द्र भी एकत्र हो जाने से सर्वग्रहण (खग्रास) का सूचक होता है। इससे स्पष्ट है कि मानैक्यार्ध से अल्प शर होने पर ही ग्रहण सम्भव होता है।

ग्रहण सम्भव की सीमा निर्धारित करते हुये आचार्यों ने कहा है कि पर्वान्त में मानैक्यार्ध से शर अल्प हो तो राहु रहित सूर्य का भुजांश भी १४ अंश से अल्प हो तो चन्द्रग्रहण सम्भव होता है।

इस प्रकार-सूर्य से साधित क्रान्त्यंश को अक्षांश से संस्कृत करने पर नतांश प्राप्त होते हैं। उन नतांशों के छठें भाग से संस्कृत सपातसूर्य (राहु+सूर्य) के भुजांश स्पष्ट होंगे। यदि ये भुजांश ७ अंश से कम होते है तो सूर्यग्रहण सम्भव होता है अन्यथा नहीं। सूर्यग्रहण में सूर्य और चन्द्रमा का मानैक्यार्ध मध्यमान से ३२ कला होता है। उस मान के बराबर शर सपातार्कभुजांश के ७ अंश से कम रहने पर उत्पन्न होता है।

किन्तु सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं में ऊर्ध्वाधरान्तर के कारण षृष्टीयचन्द्रमा गर्भीय चन्द्रमा से लम्बित होता है जिससे उपयुक्त परिस्थिति होने पर भी कभी-कभी ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है। उसका कारण इस प्रकार है। भूगर्भ से ग्रह बिम्बों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को गर्भीय दृक्सूत्र कहा जाता है तथा भू पृष्ठ स्थान से ग्रहबिम्बों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को पृष्ठीय दृक्सूत्र कहते हैं। अमान्त के समय में चन्द्रमा के केन्द्र से होते हुये निर्गत दृक्सूत्र क्रान्तिवृत्त में जहां स्पर्श करता है वहां चन्द्रमा का क्रान्तिवृत्तीय स्थान होता है। अमान्त काल में सूर्यबिम्ब और चन्द्रबिम्ब दोनों के केन्द्र भूगर्भीय दृक्सूत्र में रहने पर भी भूपृष्ट स्थिल द्रष्टा चन्द्र बिम्ब के स्थान को क्रान्तिवृत्त में सूर्य बिम्ब से पृथक् देखता हो अर्थात् गर्भीय दृक्सूत्र में दोनों बिम्ब एक ही स्थान पर रहते हुये भी पृष्ठीय दृक्सूत्र के अनुसार अन्तरित हो जाते हैं। क्रान्ति वृत्त में इस अन्तर को लम्बन कहा जाता है। दृक्सूत्रस्थ चन्द्रमा के लम्बित होने पर वह सूर्य बिम्ब को मेघवत् आच्छादित करने में असमर्थ रहता है ऐसी स्थिति में ग्रहण सम्भव नहीं होता। अतः सूर्यग्रहण हेतु लम्बनाभाव भी आवश्यक है। एक ही समय में किसी पृष्ठस्थान में शून्य लम्बन तथा किसी स्थान में परमलम्बन हो भी सकता है। अतः जिस अमान्त में जिस स्थान में चन्द्रमा लम्बित नहीं होता (लम्बन नहीं होता) उस स्थान में सूर्यग्रहण देखा जा सकता है। यही कारण है सूर्य ग्रहण सभी स्थानों में एक समान नहीं देखा जा सकता। लम्बन के समय में गर्भपृष्ठाभिप्रायक

बिम्बों के उपरिगत कदम्बप्रोतवृत्तों में जो दक्षिणोत्तरअन्तर होता है उसे 'नति' कहते हैं। सूर्य के मध्यलग्न के बराबर होने पर अर्थात खमध्य में रहने पर लम्बन का अभाव तथा क्षितिज के असान्न परम लम्बन होता है। इससे विपरीत खमध्य में नति का परमत्व तथा क्षितिजमें नति का अभाव होता है।

संहितास्कन्ध के अन्तर्गत ग्रहण का विचार

संहिताग्रन्थ में भी ग्रहण बहुधा वर्णित है। इन विचारों के अवलोकन से समसामयिक विषयों का एवं उस समय के ज्योतिषशास्त्र की स्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में ग्रहण का वर्णन विस्तृत रूप से उपलब्ध है। भिन्न प्रकार के ग्रहणों का भिन्न प्रदेशों में भिन्नफल, मास की दृष्टि से ग्रहण का फल आदि बहुत विषय इस स्कन्ध में प्रस्तुत है।

राहु की कल्पना के सन्दर्भ में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर लोकश्रुति-स्मृति एवं संहिताओं में सामञ्जस्य रखने के लिये राहु को ग्रह मानने की बात कही। इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ग्रहण काल में आचरित हवन जप दान आदि का अंश प्राप्त करने का वरदान राहु को ब्राह्मा ने दिया था। उसी राहुचाराध्याय में आचार्य मिहिर ने लोक में प्रचलित अनेक तर्कविहीन बातों का वर्णन कर उनका खण्डन भी किया है। यथा जल में तेल डाल कर ग्रहण के स्पर्श मोक्ष की दिशाओं का ज्ञान, वेलाहीन तथा अतिवेला ग्रहण आदि अनेक प्रसङ्गों को उद्धृतकर उनका खण्डन किया है। वराह मिहिर का स्पष्ट दृष्टिकोण रहा है कि गणितगत परिणामों में लोकश्रुति को कोई स्थान नहीं है गणित स्वयं प्रमाण है। सिद्धान्ततः ग्रहण की स्पर्श और मोक्ष की दिशायें सुनिश्चित हैं।

एकमास में दो ग्रहण

संहितास्कन्ध के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण यदि एक ही मास में लगते है तो राजा अपने बल सहित नष्ट हो जाता है और उस स्थान में शस्त्र कोप होता है। इसी विषय की चर्चा महाभारत में भी प्राप्त होती है। इसी का उद्धरण आचार्य भटोत्पल ने अपनी बृहत्संहिता की व्याख्या में की है। कुरूक्षेत्र संग्राम के पहले धृतराष्ट्र को दिये उपदेश में आचार्य व्यास के कुछ वचनों से यह बात स्पष्ट होती है। व्यासवचनों के अनुसार युद्ध के पूर्व कार्तिकपूर्णिमा में चन्द्रग्रहण और उससे आगे वाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था। एकमास में दो ग्रहण लगना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु दोनों का एक स्थान में दीखना कम सम्भव होता है। यदि ऐसा हुआ तो उसे उत्पात माना जाता है।

ग्रहण की विभिन्न स्थितियाँ

ग्रहण में स्पर्श सम्मीलन मध्यग्रहण उन्मीलन मोक्ष ये पांच स्थितियाँ होती हैं। मानैक्यार्धतुल्य शर के होने पर ग्राहक एवं ग्राह्य के आमने सामने स्थित पालियों का स्पर्श

चन्द्रग्रहण

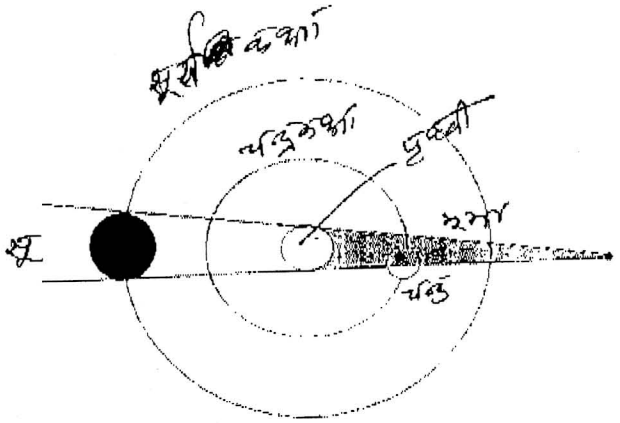

सूर्यग्रहण

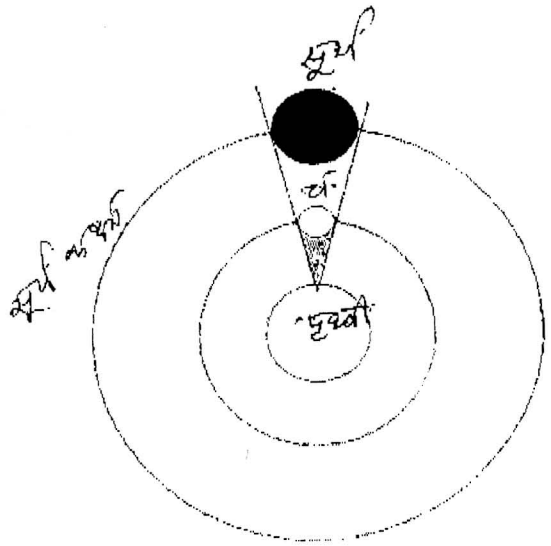

मध्यग्रहण (चन्द्र)

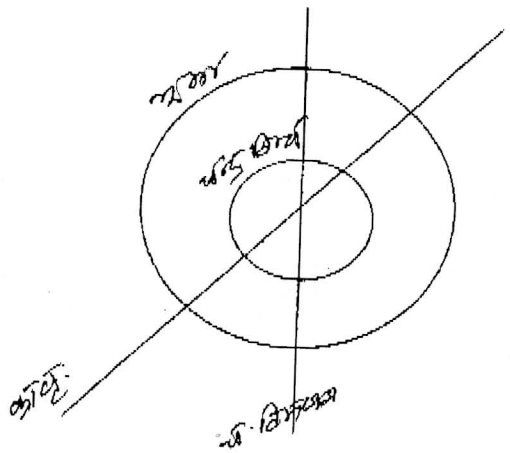

सूर्यग्रहण
उन्मीलन

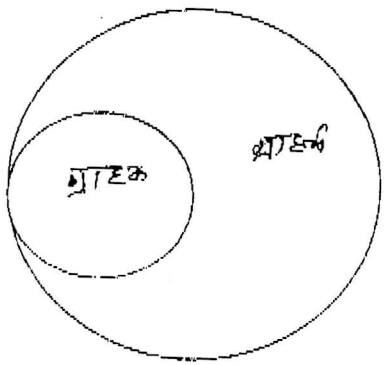

मोक्ष

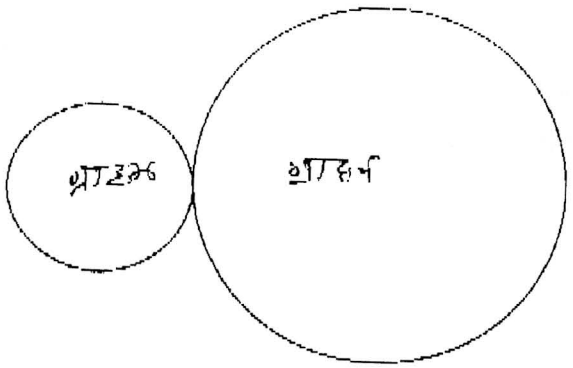

पृथ्वीग्रहण

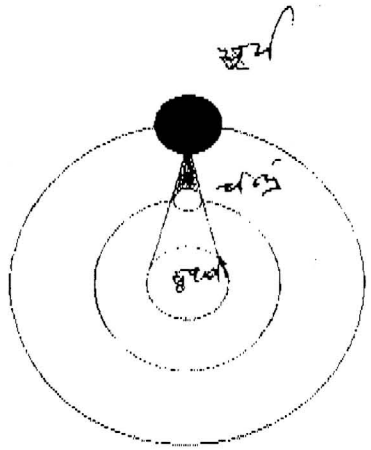

स्पर्श

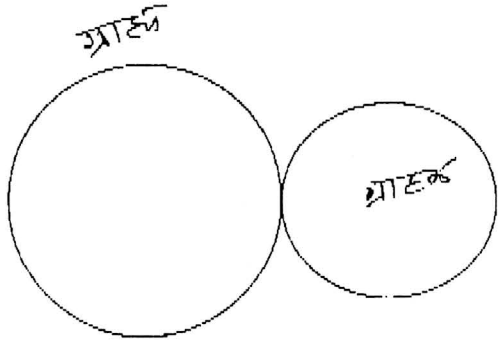

सम्मीलन

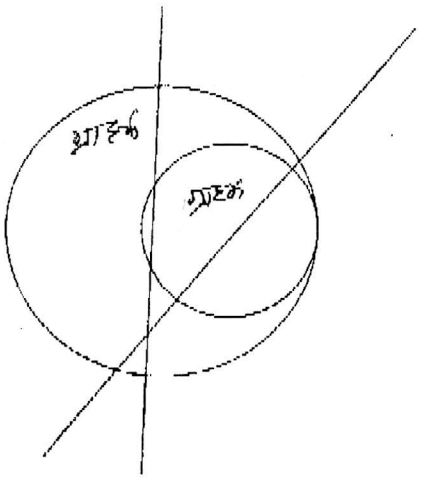

होता है जो ग्रहण की प्रारम्भिक दशा होती है। इसे स्पर्श कहते है। उसके बाद जब ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब में पूर्ण रूप से प्रवेश कर लेता है किन्तु उसका एक पाली ग्राहक बिम्ब की पाली से युक्त रहती है, इस स्थिति को सम्मीलन कहते हैं। जब दोनों बिम्बों के केन्द्रों की युति होती है तो उसे मध्यग्रहण कहते हैं। ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से बाहर आने के प्रयास में जब उसकी पाली ग्राहक की दूसरी पाली को स्पर्श करती है तो उसे उन्मीलन कहते हैं। उन्मीलन के बाद ग्राह्य बिम्ब का ग्राहक बिम्ब से बाहर आने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। सम्पूर्ण ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से बाहर आ जाता है किन्तु उसकी एक पाली अभी भी ग्राहक की पाली को स्पर्श कर रही होती हो तो उस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। यह ग्रहण की अन्तिम स्थिति होती है। इसके बाद ग्रहण समाप्त माना जाता है।

ग्रहण में स्पर्श से लेकर मोक्ष तक जो समय लगता है उसे स्थिति काल कहते हैं और उसके अर्धभाग को स्थित्यर्ध कहते है। इसी प्रकार सम्मीलन से लेकर उन्मीलन कालपर्यन्त जो समय लगता है उसे विमर्दकाल कहते है और उसका जो अर्थभाग होता है उसकी विमर्दार्ध संज्ञा है।

पृथ्वीग्रहण

सूर्यग्रहण की स्थिति के समय जिस प्रदेश के जनों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है उस प्रदेश का दर्शन सूर्य के पृष्ठ में भी नहीं हो सकता है, जिसे पृथ्वीग्रहण कहा जाता है। यह पृथ्वी ग्रहण का साधन शास्त्र पटुता को प्रगट करता है। यह ग्रहण भी संक्षेप में कमलाकर भट्ट जैसे महान खगोल विदों के द्वारा वर्णित है।

जो विचार सूर्यग्रहण के लिये प्रस्तुत किये गये हैं तथा जो विशेष परिस्थितियाँ सूर्यग्रहण के अन्तर्गत बताई गयी है वे सभी पृथ्वीग्रहण में भी होती है। इस ग्रहण में भी ग्राहक चन्द्र ग्राह्य पृथ्वी को मेघवत आच्छादित कर लेता है। परिणामतः चन्द्रग्रहण की भाँति पृथ्वी भी चन्द्रच्छाया में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो जाती है। इस स्थिति में चन्द्रकक्षा से ऊपर स्थित किसी भी कक्षा में भ्रमण करने वाले किसी भी खगोलीय पिण्ड के पृष्टभाग में स्थित द्रष्टा को पृथ्वी का दर्शन नहीं होगा। अतः इसे पृथ्वीग्रहण कहते है। ग्राहक ग्राह्य बिम्बों के कक्षा भिन्न होने के कारण लम्बन आदि अन्तर यहां भी विचारणीय हो सकता है, किन्तु चन्द्रग्रहण की भांति यहाँ भी चन्द्रच्छाया में पृथ्वी प्रविष्ट होकर ग्रहण ग्रस्त होगी। इस प्रकार पृथ्वी और चन्द्रच्छाया दोनों ही एक कक्षागत हो जायेगी। अतः गणित पूर्णतः चन्द्रग्रहण की तरह ही होता है। स्थिति स्थित्यर्ध विमर्द विमर्दार्ध मध्यग्रहण आदि जो स्थितियाँ उपर्युक्त ग्रहणों में वर्णित है वे सभी स्थितियाँ पृथ्वीग्रहण में भी उत्पन्न होती हैं।

ग्रास

ग्राहक बिम्ब के द्वारा ग्राह्य बिम्ब का जो भाग आच्छादित किया जाता है उसे ग्रास कहते है। अर्थात् ग्रहण के समय में बिम्ब का जो भाग अदृश्य होता (ढक जाता) है उसे ग्रास कहते हैं। ग्राह्य और ग्राहकबिम्बों के योगार्ध से शर को घटाने (रहित करने) पर जो शेष होता है उसे ग्रासमान कहते हैं। अर्थात् उतना ही भाग ग्रसित होता है।

ग्रहण का वर्ण

यदि चन्द्रमा का ग्रस्तभाग अर्धाल्प होता है। तब धूम्रमय वर्ण होता है। यदि अधिक बिम्ब ग्रस्त होता है तो ग्रस्त भाग का वर्ण कृष्णवर्ण होता है। मोक्षाभिमुख ग्रस्त चन्द्रबिम्ब का वर्ण कृष्णताम्र होता है और चन्द्र का सम्पूर्ण ग्रहण लगने पर बिम्ब का वर्ण कपिल अर्थात हल्का पीतवर्ण होता हैं। ग्रस्त सूर्यबिम्ब का वर्ण सर्वदा कृष्णवर्ण होता है।

एक वर्ष में ग्रहणों की संख्या

एक वर्ष में ग्रहणों की अधिकतम संख्या ७ होती है जिसमें ५ सूर्यग्रहण एवं २ चन्द्रग्रहण अथवा ४ सूर्यग्रहण और ३ चन्द्रग्रहण होते हैं।

●●●

भारतीय पञ्चाङ्ग

प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी

विभिन्न आकाशीय सूचनाओं से युक्त विस्तृत तिथि पत्र एवं कालदर्शक को पञ्चाङ्ग कहा जाता है। इसमें तिथि, वार नक्षत्र योग और करण ये पाँच प्रमुख अंग होते है। इन्हीं पाँच अंगों के कारण इसे 'पञ्चाङ्ग' कहा भी जाता है। तिथि नक्षत्र आदि का साधन चन्द्रमा और सूर्य के योगांशों से किया जाता है। इसलिए भारतीय पञ्चांगों को चान्द्र-सौर पञ्चांग भी कहा जाता है अमान्त को आकाश में चन्द्र एवं सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक पूर्वापरान्तराभाव होता है। उसके पश्चात् सामान्यतया अपनी अधिक गति के कारण चन्द्र, सूर्य से आगे जाता हुआ प्रतीत होता है। जब चन्द्र एवं सूर्य के मध्य १२° का अन्तर होता है तब एक तिथि की पूर्ति होती है। इसलिए एक चान्द्रमास में (३६०° भ्रमण करने में) ३० तिथियां होती हैं। वार का मान एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त होता है। नक्षत्रमण्डल अथवा क्रान्तिवृत्त को आठ सौ कलाओं से विभक्त करने पर २७ समान भाग होते हैं। प्रत्येक भाग को नक्षत्र और उसे भोगने में चन्द्र को जितना समय लगता है, उसे नक्षत्र मान कहते हैं। सूर्य एवं चन्द्र के भोगांशों को जोड़ने से योग नामक अंग का साधन होता है। सूर्य एवं चन्द्र की गति को योग ८०० कला होने में जितना समय लगता है उसे योग मान कहते हैं। इनकी संख्या २७ होती है। 'करण' नामक अंग तिथि का आधा माना गया है। कह सकते हैं कि सूर्य एवं चन्द्र में ६ अंश का अंतर जितने समय में पड़ता है उसे करण कहते हैं। वस्तुतः करण का अलग से साधन नहीं किया जाता है अपितु तिथिकाल के आधे को करणकाल कहा जाता है। उपर्युक्त पांच अंगों के अतिरिक्त सम्प्रति पञ्चाङ्ग पत्रकों में दैनिक व्यवहारोपयोगी दिनमान, ग्रहों के उदयास्त, ग्रहण विवरण, दैननन्दिन स्पष्ट ग्रह, दिनांक आदि सामग्रियां भी दी जाती हैं।

भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति निरयण चान्द्र सौरात्मक हैं। वर्ष प्रमाण निरयण सौरवर्ष के अनुसार तथा मास चान्द्रमान के अनुसार दिये जाते हैं किन्तु सौर एवं चान्द्र वर्षो में प्रायः ११ दिन का अन्तर प्रत्येक वर्ष परिलक्षित होता है। इसलिए लगभग प्रति तृतीय वर्ष (३२ मास १६ दिन ४ घटी पर) एक अधिमास प्रक्षेपण का आविष्कार हमारे चिन्तकों ने किया है, जिसके कारण ऋतुओं एवं मासों में सामंजस्य बना रहता हैं। इस प्रकार भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति में सौर चान्द्रमासों का संतुलन स्वयमेव होता रहता हैं।

पञ्चाङ्ग की आवश्यकता

सम्प्रति संपूर्ण विश्व के साथ-साथ भारत में भी ख्रीष्टीय सौर पञ्चाङ्ग का प्रचलन अधिक है जिससे अतिसामान्य दिनांक वार-मास एवं वर्ष की ही गणना की जाती है, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के लिए भारतीय पञ्चाङ्गों की उपादेयता अधिक है। हमारे

व्रतपर्वोत्सव प्रायः चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सह संबंध पर आश्रित है। यज्ञोत्सव-व्रत-पर्वादि के सम्यक् निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती है। जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, होली, दीपावली आदि पर्वमहोत्सव, एकादशी, चतुर्थी, पूर्णिमा आदि व्रत, ग्रहणकाल, संक्रान्ति, महावारुणी, कुम्भयोगादि, पितरों के श्राद्धतिथिज्ञान, नवरात्रि में घटस्थापनादि, यात्रा-वास्तु-गृह प्रवेश आदि मुहूर्त्त, षोडशसंस्कार, भद्रा-रिक्ता-पञ्चक गण्डमूलादि दोषों का ज्ञान आदि सभी पञ्चाङ्ग की सहायता से निर्धारित होते हैं। ग्रामीण अञ्चलों में वृष्टि का पूर्वानुमान तिथि-नक्षत्र वारादिकों में वायु सञ्चारण के अनुसार ही ग्रामीण जन कर लिया करते हैं। सामाजिक कार्यो में भी जैसे जलाशय-खनन-भवननिर्माणादि के लिए शुभ काल का ज्ञान एवं सामाजिक महोत्सवों के निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती हैं। इसलिए भारत सरकार द्वारा भी 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' का प्रकाशन प्रतिवर्ष किया जाता हैं।

पञ्चाङ्ग का उद्भव

धर्मपरायण भारत वर्ष में पञ्चाङ्ग का व्यवहार अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पञ्चाङ्ग का प्रचलन उस काल से आरम्भ हुआ जिस काल में ज्योतिष विषयक ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में रहा होगा। वस्तुतः पञ्चाङ्ग का उद्भव किस समय हुआ तथा किस कालखण्ड में उसका व्यवहार में सर्वप्रथम प्रचलन हुआ, यह कहना अति कठिन है किन्तु वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों का विस्तृत एवं विकसित वर्णन से अनुमान किया जाता है कि यह ज्ञान वैदिक काल से ही विद्यमान रहा होगा। अपने प्रारंभिक अवस्था में पञ्चाङ्ग के पाँचों अंग न होकर विकास क्रम में एकाङ्ग, द्वयङ्ग, त्र्यङ्ग एवं चतुरंग रहे होंगे। यद्यपि वे प्राचीन कालदर्शकपत्रक आज के मुद्रित पञ्चाङ्गों की भांति शुद्ध, स्पष्ट एवं विस्तृत नहीं रहे होंगे तथापि तत्कालीन परिस्थितियों एवं ज्ञान के अनुकूल यह एक महान उपलब्धि रही होगी। लिपि ज्ञान से पूर्व सम्भवतया यह ज्ञान भी मौखिक रूप से विद्यमान रहा होगा। हमारे देश में प्राचीन काल से ही **श्रुतिपरम्परा** रही है।

आकाश का अवलोकन करने पर सर्वप्रथम सूर्य एवं चन्द्र ने ही मनुष्य को प्रभावित किया होगा। प्रतिदिन सूर्य के उदय के साथ ही धरती पर प्रकाश का साम्राज्य एवं उसके अस्त होने पर अन्धकार का होना तथा रात्रि में चन्द्रमा के शीतल प्रकाश के साथ उदय होना, **चन्द्रमा का** प्रतिदिन स्वरूप परिवर्तन करना कभी अदृश्य हो जाना तथा कभी पूर्ण **विम्ब में दिखाई देना निश्चय** ही मानव मस्तिष्क को आपने विषय में सोचने के लिए विवश **किया होगा। परिणामतः मनुष्य** सूर्य एवं चन्द्र को आश्चर्य एवं कौतूहल दृष्टियों से देखते **देखते इनके उदय अस्त के** रहस्यों को समझने का प्रयास किया होगा तथा सूर्योदयों की

गणना प्रारंभ की होगी। वस्तुतः चन्द्र के अनियमित उदयों की गणना की अपेक्षा सूर्य के नियमित उदयों की गणना अधिक स्वाभाविक एवं सरल हैं। अतः सर्वप्रथम पञ्चाङ्गों में 'सावन दिन' का ज्ञान हुआ होगा। सम्प्रति सावन दिन के स्थान पर 'वार' का प्रयोग होता है। सावनगणना से ही सर्वप्रथम ३० सावन दिनों का १ मास एवं १२ सावन मासों का १ वर्ष। इस प्रकार ३६० सावन दिनों का १ वर्ष प्रचलित हुआ होगा। सूर्य के उदयों की गणना के कारण संभवतया सर्वप्रथम १ सावन वर्ष को ही सौरवर्ष कहते रहे होंगे। वेदों में ३६० दिवसात्मक संवत्सर का वर्णन प्राप्त होता हैं।[1] तत्पश्चात् चन्द्रमार्ग में आने वाले नक्षत्रों का ज्ञान हुआ। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। शंकर बाल कृष्ण दीक्षित जी का कथन है[2] कि वेदांग ज्योतिष काल (लगभग १४०० वर्ष शकपूर्व) तक तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र ये दो ही अंग प्रचलन में थे। तत्पश्चात् 'करण' नामक अंग का ज्ञान हुआ। वस्तुतः करण तिथि के ही भाग होते हैं। 'तिथ्यर्धम् करणम्' अर्थात् तिथि का आधा एक करण होता है। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। रवि आदि सात बारों की गणना पञ्चाङ्गों में ६०० शकवर्ष के बाद ही हुई।

इस प्रकार पञ्चाङ्ग के पाँचों अंगों का प्रचार एक साथ न होकर विकास क्रम से हुआ। सर्वप्रथम वर्ष एवं मास सावनात्मक ही रहे होंगे। धीरे-धीरे सावन मास एवं सावन वर्ष के स्थान पर चान्द्रमास एवं सौरवर्ष की स्थापना हुई होगी। भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति 'चान्द्रसौरात्मक' हुई। वस्तुतः वैदिक काल से ही पञ्चाङ्ग का ज्ञान विद्यमान था। यद्यपि उसमें सभी (पाँचो) अंगों का समावेश न रहा हो। फिर भी वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों की चर्चा हमें इस ज्ञान के अत्यन्त प्राचीन होने के अनुमान को बल प्रदान करती है।

पञ्चाङ्ग का वैदिककालीन स्वरूप

वैदिकसाहित्य में उपलब्ध पञ्चाङ्ग विषयक वर्णन से अनुमान होता है कि उस काल में चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग प्रचलन में था। काल के संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, मुहूर्त्तादि विभाग व्यवहार में थे।

एक वर्ष में १२ मास एवं १३ मास दोनों का ही वर्णन[3] चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग पद्धति का समर्थन करता है। चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सामंजस्य के लिए अधिमास प्रक्षेपण की कोई विधि अवश्य ही उस काल में विकसित रही होगी। उस काल में मासों की 'मधु, माधव आदि संज्ञा[4] तथा पर्यायरूप में 'अरुणरज आदि संज्ञाएं[5] मिलती हैं किन्तु चैत्र वैशाख

१. ऋ० सं० १/१६४/११ एवं १/१६४/४, २. भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ ५१७
३. द्र० तै० सं. ५/६/७, ४. तत्रैव ४/४/११ तथा वाजसनेयि संहिता अ० १३,१४,१५
५. ३ तै० ब्रा० ३!१०/१

आदि संज्ञायें प्राप्त नहीं होती। पूर्णिमान्त एवं अमान्त दोनों ही मासान्तों का प्रचलन होते हुए भी पूर्णिमान्त मान का ही वर्चस्व दिखाई देता है। मास के शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के पर्याय रूप में 'पूर्व' एवं पर पक्ष का वर्णन प्राप्त होता हैं। पञ्चाङ्गों में तिथि नामक अंग का साम्प्रतिक अर्थ वेदों में प्राप्त नहीं होता किन्तु वहाँ 'एकाष्टका, व्यष्टका, पूर्णमासी, अमा, उदृष्टा, इत्यादि तिथिसंज्ञक शब्द मिलते हैं। संभवतया वे रात्रिवाचक रही होंगी। बहुत समय के बाद वे 'तिथिवाचक' रूप में प्रयुक्त होने लगी होंगी। अमावस्या को चन्द्र सूर्य में प्रवेश करता हैं।[1] इस वचन से अमावस्या को चन्द्र सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक मिलन का आशय प्रकट होता है। वेदो में सप्तवारों, योग एवं करणों की चर्चा प्राप्त नहीं होती। किन्तु नक्षत्रों के विषय में विशद रूप से वर्णन प्राप्त होता है। नक्षत्रों की संज्ञा उनके देवता, उनकी तारासंख्या आदि के विषय में मनोहारी वर्णन अनेक स्थलों में प्राप्त होते हैं। साथ ही सप्तर्षितारामण्डल, नौतारापुञ्ज, श्वानतारापुञ्ज आदि के विषय में भी सुन्दर वर्णन मिलता है। सूर्य चन्द्र के अतिरिक्त शुक्र एवं गुरु का भी स्पष्ट वर्णन अनेक स्थानों में प्राप्त होता है जिससे 'पञ्चग्रहों[2] के ज्ञान का अनुमान होता है।

खग्रास सूर्यग्रहण की चर्चा वहाँ सामान्य रूप से मिलती हैं।[3] इससे ग्रहण गणित का उत्तम ज्ञान परिलक्षित होता है। अत्रिकुलोत्पन्न लोग अथवा अत्रिशिष्य ग्रहण गणित में निष्णात थे। ग्रहण चक्र के उल्लेख से अनुमान होता है कि ग्रहगति विषयक ज्ञान भी उस काल तक हो चुका था। दीक्षित महोदय के अनुसार वैदिक काल की उत्तर सीमा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व है।[4]

वेदाङ्ग काल में पञ्चाङ्ग

वेदांग काल की मर्यादा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व से २०० वर्ष शकपूर्व तक मानी जा सकती है।[5] वेद के षडङ्ग माने गये हैं-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द। इनमें ज्योतिष नामक वेदांग की महात्मा लगध प्रणीत वेदाङ्गज्योतिषम् नामक पुस्तक मिलती है। वेदाङ्ग ज्योतिष के भी ३ विभाग हैं।

१. ऋग्वेद ज्योतिष या आर्च ज्योतिष (३६ श्लोक)
२. यजुर्वेद ज्योतिष या याजुष ज्योतिष (४३ श्लोक)
३. अथर्ववेद ज्योतिष या आथर्वणज्योतिष (१६५ श्लोक)

इनमें आर्च एवं याजुष ज्योतिष में लगभग ३० श्लोक दोनों में एक जैसे हैं। आथर्वण ज्योतिष दोनों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं।

१. ऐ० ब्रा० ४०/५.
२. ऋ० सं. १/१०५/१० द्रष्टव्य-भगण समीक्षा पृष्ठ १८.
३. ऋ० सं. ५/४०/५-६.
४. भा० ज्यो० दीक्षित (हि०अनु०) पृष्ठ १६२.
५. वही पृष्ठ १६६.

वेदाङ्गज्योतिष पद्धति की प्रमुख विशेषता 'पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति है। यद्यपि इसके बीज वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। पञ्चसंवत्सरात्मक युग का आरंभ माघ शुक्ल प्रतिपदा एवं युग की समाप्ति पौष कृष्णामान्त को होती है।[1] उस समय यद्यपि विषुव एवं अयन का ज्ञान था किन्तु अयन-चलन की चर्चा प्रायः नहीं दिखाई देती। वेदांग युग में सौर, चान्द्र, सावन, नक्षत्र एवं आर्क्षमानों का व्यवहार में प्रचलन था।[2] मास मुख्य रूप से चान्द्र थे किन्तु सौरमास का भी प्रचार था। युग में २ अधिमासो की व्यवस्था सौरचान्द्रमासों में सामंजय करने हेतु थी।[3] ऋत्वारम्भ सूर्य नक्षत्र के अनुसार होता था। अमान्तमान का प्रचलन तथा पूर्णिमा एवं अमावस्या की पर्वसंज्ञा उस काल की विशेषता थी।

उस काल में पञ्चाङ्ग के २ अंग तिथि एवं नक्षत्र का ही प्रचलन मिलता है। यद्यपि अथर्वणज्योतिष में वार एवं करणों का भी वर्णन मिलता है किन्तु उसकी रचना प्रायः वेदांग काल की उत्तरमर्यादा के आसपास की हैं। ऋग्यजुर्वेदज्योतिष काल में 'कालदर्शक पञ्चाङ्ग पत्रक में दिनमान, सावनदिन, तिथि, सूर्यनक्षत्र एवं चन्द्र नक्षत्र ही मुख्य अंग थे।

वेदांग ज्योतिषकाल में सूर्य व चन्द्र की मध्यमागति का ही ज्ञान था। अन्य ग्रहों एवं मेषादिराशियों का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय सूर्यचन्द्र की स्थिति का निरूपण भी नक्षत्र के अनुसार ही किया जाता था। धनिष्ठादि नक्षत्र सामान्य व्यवहार में कृतिकादिगणना थी। वेदांग ज्योतिष पद्धति के अनुसार यदि एक बार ५ वर्ष का पञ्चाङ्ग निर्माण किया जाय तो प्रत्येक पञ्चवर्षीय युग के लिए वह उपयुक्त होगा, ऐसा ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है किन्तु वेदांग ज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान में त्रुटियों के कारण वह पञ्चाङ्ग शीघ्र ही अनुपयोगी हो जायेगा।[4] इस पद्धति में क्षयतिथि, अधिकमास, नक्षत्रवृद्धि इत्यादि सभी कुछ हमेशा एक रूप हैं किन्तु वास्तविक रूप में उपर्युक्त गणनाएं एकरूप नहीं हैं उनमें ह्रासवृद्धि होती रहती है। वस्तुतः पंचसंवत्सरात्मक युग में गणना के लिए सरलता देखकर वेदांग ज्योतिषकार ने ३६६ दिन स्वीकार किये किन्तु कुछ समय बाद ही वह पद्धति प्रत्यक्ष रूप से स्थूलता का प्रदर्शन करने लगी किन्तु अन्य मनीषियों ने यथायोग्य स्थलों पर संशोधन करते हुए भी इस पद्धति को आगे भी प्रचलित रहने दिया। अतः अपने मूल स्वरूप से कुछ भिन्न रूप में भी बहुत समय तक वेदांग ज्योतिष पद्धति प्रचलित रही। इसी कारण गर्गादि ऋषियों के लेखों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। समीक्षात्मक हष्टि से देखा जाय तो वेदांग ज्योतिष, जैन पद्धति के ग्रन्थों एवं पितामहसिद्धान्त के अति सन्निकट हैं।

अन्य वेदांगों में यद्यपि ज्योतिषीय पारिभाषिक शब्द प्राप्त नहीं होते किन्तु उनमें नक्षत्र तिथि मेषादि राशियों का वर्णन प्राप्त होने से स्पष्ट है कि उस काल में भी सामान्य जन

१. द्रष्टव्यं या. ज्यो. ५, २. या० ज्यो० २८-३१, ३. ३ या० ज्यो० १३
४. द्रष्टव्यं भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ १३१-१३३

पञ्चाङ्ग पत्रकों का प्रयोग करते थे। अनुमान होता है कि वेदांग काल के उत्तर में पञ्चवर्षात्मकयुगपद्धति के स्थान पर कल्पादि युग व्यवस्था धीरे-धीरे स्वीकृत होने लगी। निरुक्त[1] के वर्णन से कल्पादि युगपद्धति के प्रचलन का आभास होता है। उस समय मुहूर्त्त नाड़ी अहोरात्र-पक्ष मास-अयन-ऋतु वर्ष इत्यादि काल विभागों के ज्ञान का अनुमान होता है। वस्तुतः वेदांग काल में पञ्चाङ्ग ज्ञान विकासशील अवस्था में था।

स्मृति-पुराण एवं महाकाव्यों में पञ्चाङ्ग

स्मृति-पुराण-रामायण-महाभारतादि धर्मग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। फिर भी स्मृतिग्रन्थों, रामायण एवं महाभारत का रचनाकाल ५०० वर्ष ई० पू० से अर्वाचीन नहीं है। पुराणों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ५०० ईसा तक मानी जा सकती है। इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन धर्मो का मुख्य प्रचलन काल एवं प्राचीन ग्रन्थों का लेखन काल भी ५०० ईसा तक स्वीकार किया जा सकता हैं। वस्तुतः यह समय वेदांगकाल एवं प्रसिद्ध सिद्धान्त युग का संक्रमण काल हैं।

स्मृतिग्रन्थों में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रथम मनुस्मृति में ही पुराण-सिद्धान्तज्योतिष ग्रन्थोक्त युग पद्धति का पूर्ण वर्णन मिलता हे।[2] यद्यपि व्यतिपात नामक योग[3] का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु उसका वर्णन 'क्रान्तिसाम्य' के कारण किया गया प्रतीत होता है। अन्य योगों की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। ऋग्गृह्यपरिशिष्ट एवं आथर्वण ज्योतिष में करणों की चर्चा है, परन्तु याज्ञवलक्य स्मृति में उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि वारज्ञान का अनुमान होता है। इसी प्रकार मेषादि संज्ञाएं प्रचलित न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त की द्वादशविभाग कल्पना प्राप्त होती है। ग्रहगति एवं ग्रहयुति के प्रति जिज्ञासा दिखलाई देती है। इस प्रकार स्मृति काल में पञ्चाङ्ग विज्ञान बाल्यावस्था से शैशव काल में पदार्पण करता हुआ सा आभासित होता है।

रामायण एवं महाभारत दोनों के काल में संवत्सर-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-तिथि-अहोरात्र मुहूर्त्त आदि काल विभागों के वर्णन कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। रामायण में यद्यपि 'पञ्चसंवत्सरात्मकयुगपद्धति' नहीं प्राप्त होती किन्तु महाभारत में मनुस्मृति में उक्त युगपद्धति के साथ-साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति का भी वर्णन मिलता हैं। दोनों में चान्द्रमास का ही व्यवहार है साथ ही उनका संबंध ऋतुओं के साथ भी परिलक्षित होता है। तिथियों की संज्ञा तथा मध्यम तिथि गणना का भी उल्लेख प्राप्त होता हैं। महाभारत में पूर्णान्त एवं आमान्त दोनों मासान्तों का प्रचलन उपलब्ध होता है किन्तु रामायण में इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। पञ्चाङ्गों में वार, योग एवं करणों की चर्चा दोनों ही में नहीं मिलती। यद्यपि तिथि व नक्षत्रों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। रामायण में कुछ स्थलों

१. निरुक्त १४/४, २. मनु०स्मृ० प्रथमा० ६८-७६, ३. या० स्मृ० आचाराध्या० २६७-२६८

पर राशि संज्ञा मिलती है किन्तु विद्वान् उन स्थलों को क्षेपक मानते है। महाभारत में कहीं भी राशियों की चर्चा प्राप्त नहीं होती, फिर भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश विभाग कल्पना अवश्य परिलक्षित होती है। प्रायः ग्रहों की स्थिति का निरूपण दोनों ग्रन्थों में नक्षत्र के आधार पर किया गया है। ग्रह, ग्रह युद्ध, वक्रत्व तथा ग्रहण आदि का वर्णन दोनों ही ग्रन्थों में मिलता हैं किन्तु आश्चर्यजनक है कि दोनों ही ग्रन्थों में 'अपर्व' के ग्रहण की भी चर्चा मिलती है। महाभारत में १३ दिवसात्मक पक्ष की चर्चा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूक्ष्मग्रहगणित का ज्ञान नहीं था तथापि स्थूलरूप से स्पष्ट गति का ज्ञान अवश्य था। महाभारत में मासादिकों के क्षयज्ञान के वर्णन से इसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः काल के सूक्ष्म विभाग परिकल्पना, ग्रहोदयास्त वर्णन इत्यादि विषय उस काल में ज्योतिश्शास्त्र की उन्नत अवस्था को संसूचित करते हैं। पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर,[१] आग्निपुराण तथा नारदपुराण[२] में अन्यपुराणों की अपेक्षा ज्योतिष का विकसित शास्त्रीय स्वरूप दिखाई देता है। कालमान विभाग में मुख्यतया मुहूर्त्त के नीचे के कालमानों को लेकर पुराणों में परस्पर मतवैभिन्य है। यद्यपि मुहूर्त्त से कल्पपर्यन्त कालमान में सभी में एकवाक्यता है। ब्रह्मा की आयुप्रमाण में भी कुछ मतभेद है। इसमें विष्णुपुराण[३] का क्रम प्रायः सभी पुराणों में स्वीकृत है। इसी प्रकार दिन के ५ विभाग प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्ण एवं सायांह्न इनकी चर्चा[४] वर्तमान युग पद्धति के साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युग पद्धति,[५] मासों के चैत्र वैशाखादि नाम के साथ मधुमाधवादि वेदोक्त संज्ञाएं भी प्राप्त होती हैं।[६] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत[७] नारदपुराण[८] मार्कण्डेयपुराण[९] भविष्यपुराण[१०] ब्रह्मवैवर्तपुराण[११] लिंगपुराण[१२] स्कन्दपुराण[१३] प्रभृति सभी महापुराणों में कालमान की चर्चा प्राप्त होती है।

पुराणों में नक्षत्रों का ९ वीथियों में विभाजन मिलता है। इन्हीं वीथियों में ग्रहभ्रमण की पुराणों की मान्यता है परन्तु इन वीथियों के नाम, नक्षत्रों का वीथियों में निवेशक्रम सभी पुराणों में अलग-अलग प्रकार से किया गया है, जिनमें विष्णुधर्मोत्तर पुराण[१४] देवीभागवत[१५] मत्स्यपुराण[१६] आदि प्रमुख हैं। पुराणकाल में ज्योतिषीय दृष्टिकोण से ग्रहों का निरीक्षण, विशेष रूप से किया जाता था। साथ ही ज्योतिष का परीक्षण भी किया जाता था। द्वादश राशि, २७ नक्षत्रों की तारासंख्या, नक्षत्रों के प्रकाशवर्णों की भी चर्चा पुराणों में प्राप्त होती है। पुराणों में सप्तवारों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। इस प्रकार तिथि वार नक्षत्रों का स्पष्ट वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है।

---

१. वि०ध०पु० पितामहसिद्धान्त २/१६६-१७८, २. ना०पु०अ० ५४-५६, ३. वि०पु० १/३/७-२७
४. वही २/८/६१-६३ ५. वही २/८/७०-७२, ६. वही २/८/०९, ७. श्रीमद्भागवत् ३/११/१-७
८. ना०पु०पूर्वार्द्ध ५४/६१-६३, ९. मा०पु० ४३/२३-४४, १०. भवि०पु० १/५३-५४
११. ब्रह्मवै०पु० ५/५-१५, १२. लिङ्ग पुराण पूर्वार्द्ध अ०४, १३. स्क०पु०ना०हा०मा०२७२/३-७
१४. वि०ध०पु०/८५/२-६, १५. दे०भा०पु० ८/१५/१-९, १६. मत्स्य पुराण १२३/५२:५९

पुराणकाल के साथ ही जैन एवं बौद्ध धर्मों का उत्थानकाल भी प्रारम्भ होता है। जैन ग्रन्थों में प्रायः वेदाङ्ग ज्योतिष पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु जैन ग्रन्थों में २ सूर्य २ चन्द्र ५६ नक्षत्र इत्यादि की भी चर्चा मिलती है। जैन ग्रन्थों में नक्षत्र गणना प्रायः अभिजित् नक्षत्र से प्रारंभ होती है। वहाँ ८८ महाग्रहों का वर्णन भी मिलता है। दिन-मास-पक्ष-अयनादि की पर्याप्त चर्चा जैनग्रन्थों में स्वीकृत है। बौद्ध धर्म में ज्योतिश्शास्त्र को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। फलतः इस शास्त्र की समृद्धि में बौद्धों का सहयोग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रायः ५०० ईसावर्ष तक का यह काल ज्योतिष शास्त्र का संक्रमण काल था जिसमें सिद्धान्तों एवं गणितीय प्रविधि में क्रमशः विकासशीलता दिखलाई देती है। भारतीय ज्योतिष के प्रसिद्ध त्रिस्कन्धज्योतिर्विद महर्षियों[१] में से अधिकांश का काल भी इसी समयावधि में माना जा सकता हैं।

प्रथम सिद्धान्तकालीन युग में पञ्चाङ्ग

भारतीय ज्योतिष का यह युग स्वर्णिम युग कहा जाता है। इसकी कालावधि प्रायः ५ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक मानी जा सकती है। इस काल में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीधर, मुञ्जाल, श्रीपति, भास्कराचार्य प्रभृति विद्वानों ने अपने गणितीय कौशल से ज्योतिष शास्त्र एवं पञ्चाङ्ग विज्ञान् को समृद्ध बनाया। प्रसिद्ध वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का काल भी इसी समयावधि के बीच विद्वान् लोग मानते हैं। वर्तमान युग पद्धति का सुदृढ़ीकरण, ग्रहगतियों का नभनिरीक्षण द्वारा सत्यापन, ग्रहभगणों के मानों का संशोधन, वेधपरम्परा का विकास, पञ्चाङ्ग के गणितीय नियमों की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न इत्यादि इस सिद्धान्तकालीन युग की प्रमुख विशेषता थी।

सर्वप्रथम आर्यभट्ट प्रथम ने अपने 'आर्यभटीयम्' नाम ग्रन्थ (४२१ शक) में पृथ्वी के स्वाक्षभ्रमण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[२] अपने वेधों के द्वारा ग्रहभगणों के मूल्यांकों में संशोधन कर उन्होंने पञ्चाङ्ग पद्धति को 'दृक्प्रत्यपद' करने की चेष्टा की। ग्रहण गणित एवं उसके कारणों की व्याख्या भी उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से की। वराहमिहिर (४२७ शक) ने अपने समय में प्रचलित पाँच प्रमुख सिद्धान्तों-पितामह-वासिष्ठ-रोमक-पोलिश एवं सूर्य सिद्धान्तों के गुण दोषों का सम्यक् समीक्षा कर 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक करणग्रन्थ की रचना की जिसमें उक्त पाँच सिद्धान्तों के नियमों का प्रतिपादन मिलता है। उन्होंने अपने काल में 'सूर्यसिद्धान्त' को सर्वाधिक स्पष्ट एवं 'दृक्प्रत्यपद' कहा है। स्मरणीय है कि वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त, वराहोक्त सूर्यसिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। दोनों के मूल्यांको एवं अन्य गणितीय प्रविधियों में अन्तर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। सम्भवतया

---

१. आर्यभट्टीय २. आर्यभट्टीय

नभनिरीक्षण द्वारा निरन्तर प्राचीन सूर्यसिद्धान्त को संशोधित कर 'दृक्प्रत्यपद' करते हुए वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का संस्करण तैयार हुआ होगा। कुछ विद्वानों का कथन हैं कि वर्तमान सूर्य सिद्धान्त 'लाटदेव' द्वारा परिष्कृत हैं। इसलिए वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल इसी कालावधि के अन्तर्गत है। प्रो० सेनगुप्त का कथन है कि 'वराहमिहिर के द्वारा सूचित सूर्यसिद्धान्त ने खगोल विद्या के तत्वों को आर्यभट्ट से लिया और इस समय प्रचलित सूर्य सिद्धान्त ने ब्रह्मगुप्त से अपने तत्वों को लिया।[1] किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत हैं कि वराह द्वारा सम्पादित सूर्यसिद्धान्ता आर्यकष्ट और ब्रह्मगुप्त से भी प्राचीन हैं। आज भी सूर्यसिद्धान्त भारतीय ज्योतिषों द्वारा अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता है तथा प्राचीन पञ्चाङ्ग पद्धति का मुख्य ग्रन्थ इसे ही माना जाता हैं।

ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की। इसे ही 'ब्रह्मसिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने ग्रहभगणों एवं वर्षादिकों के मानों में प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध मान द्वारा संशोधन किया। इस प्रकार सिद्धान्त युग में सौर, आर्य एवं ब्राह्म इन तीन पञ्चाङ्ग पक्षों की स्थापना हुई। इसके बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने इन तीनों पक्षों में से ही एक का आश्रय लेकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। जैसे आर्यसिद्धान्त का पक्ष लेकर लल्ल ने शिष्यधीवृद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त पक्षीय, भास्वतीकरण, ब्राह्मपक्षीय-राजमृगाङ्क' 'करणकमलमार्तण्ड, आर्यपक्षीय 'करणप्रकाश' प्रभृति करणग्रन्थ इस काल के प्रमुख करणग्रन्थ हैं। मुञ्जाल (८५४ शक) ने सर्वप्रथम अयन-चलन के संपूर्ण भ्रमण की बात कही। इस प्रकार यह सिद्धान्त युग वस्तुतः भारतीय ज्योतिष का स्वर्णयुग है जिसमें निरन्तर वेध परम्परा गणित कुशलता एवं पञ्चाङ्गीय पद्धतियों का विकास दृष्टिगोचर होता है।

उत्तरसिद्धान्तकालीन युग

इसकी कालावधि प्रायः १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी पर्यन्त मानी जा सकती है। यह काल भारतीय ज्योतिष की दृष्टि से अन्वेषण एवं शोध के ह्रास का काल है। यद्यपि मकरन्द, केशव, गणेश, कमलाकर, प्रभृति, उद्भट विद्वान् इस काल में हुए तथापि इस काल के अधिकांश ज्योतिर्विदों ने अपना परिश्रम प्रायः उपपत्ति, पञ्चाङ्ग सारिणीनिर्माण एवं अपने-अपने पक्ष का अभिमानी ग्रन्थ लिखने में ही लगा दिया। नवीन शोध एवं अन्वेषण इस काल में कम ही हुए जबकि इसी काल के उत्तार्ध से यूरोप में ज्योतिर्विज्ञान संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त होने लगी। मकरन्दरचित सूर्यसिद्धान्त की पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी सारिणी मकरन्द-प्रकाश सौर पक्षीय प्रमुख सारिणी ग्रन्थ है। इसमें सूर्यसिद्धान्त के भगणों का संस्कार किया गया है। इस काल में केशवाचार्य और गणेशदैवज्ञ दोनों पिता

१. उद्धृत-पञ्चाङ्ग सुधार समिति का प्रतिवेदन हि.अनु. पृ. ४७६.

पुत्र प्रमुख ज्योतिर्विद हुए। इन्होंने वेध द्वारा ग्रहों के भगणादिकों का शुद्ध मान स्थिर किया तथा क्रमशः 'ग्रहकौतुक' एवं 'ग्रहलाघव' नामक करण ग्रन्थों की रचना की, किन्तु केशव का 'ग्रहकौतुक' ग्रन्थ अपने पुत्र गणेश के 'ग्रहलाघव' के सामने अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पाया। इस का एक मात्र कारण यही है कि ग्रहलाघव ज्या चाप आदि गणितीय जटिलताओं से मुक्त था। अत्यन्त सरल होने के कारण ही यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। आज भी कतिपय स्थानों में ग्रहलाघव के अनुसार पञ्चाङ्ग बनते हैं किन्तु लाघव के कारण आज इसके ग्रहादिकों में अत्यधिक अन्तर आचुका है। गणेशादैवज्ञ ने 'तिथि चिन्तामणि' नामक सारिणी ग्रन्थ की भी रचना की। गणेशदैवज्ञ के उपरान्त प्रायः ज्योतिर्विदों ने ग्रहलाघव आदि ग्रन्थों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी सारिणियों के निर्माण पर ही अधिक बल दिया। यद्यपि कमलाकर, मुनीश्वर सदृश ज्योतिर्विदों ने कुछ सिद्धान्तग्रन्थों की रचना की किन्तु पञ्चाङ्ग निर्माण के क्षेत्र में तथा वेध परम्परा में कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ।

अर्वाचीन काल

इस काल का प्रारंभ प्रायः १७ वीं शताब्दी से माना जा सकता है। इस काल में सर्वप्रथम आमेर के राजा जयसिंह (राज्याभिषेक शक १६१५) ने पञ्चाङ्ग के क्षेत्र में सुधार हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय यवन एवं तत्कालीन यूरोपियन ज्योतिषग्रन्थों से दृक्प्रत्यय न होता देखकर इन्होंने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, काशी एवं मथुरा में वेधाशालाएं बनवाई। जयप्रकाशयन्त्र, सम्राट्यन्त्र, भित्तियन्त्र वृत्तषष्ठांश राम यन्त्र दिगंशयन्त्र, चक्रयन्त्र आदि कुछ नवीन यन्त्रों का निर्माण करवाया तथा उत्तम ज्योतिषज्ञों के द्वारा कई वर्षों तक वेध कराकर अरबी में जिजमहम्मद (शक १६५०) तथा संस्कृत में पण्डित जगन्नाथ द्वारा सिद्धान्त सम्राट् नामक (१६५३) ग्रन्थों की रचना करवाई[1]। यह गर्व की बात है कि तत्कालीन यूरोपियन ग्रन्थागत ग्रहगति स्थिति की अपेक्षा जयसिंह की गणना अधिक सूक्ष्म होती थी। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि उनके बाद उनकी वेधशालाओं का उपयोग बन्द हो गया। न तो उनके ग्रन्थ प्रचलित हुए न उनके अनुसार दृक् पञ्चाङ्ग निर्माण परम्परा प्रारंभ हुई यद्यपि पाश्चात्य ज्योतिष का प्रवेश भारत में इसी समय होने लगा था। बापूदेव शास्त्री, विनायक केरो, लक्षमण छत्रे, विराजी लेले, रघुनाथ चिंतामणि, शंकरबाल कृष्ण दीक्षित, बालगंगाधर तिलक प्रभृति विद्वानों ने नाटिकल अल्मनाक के आधार पर पञ्चाङ्ग निर्माण कर नवीन पद्धति का सूक्ष्म पञ्चाङ्ग प्रचलित करने का प्रयास किया। इसी दिशा में चन्द्रशेखर सिंह सामन्त (१७५७ शक) ने स्वनिर्मित स्थूल यन्त्रों की सहायता से 'दृक्प्रत्ययद' परिणाम प्राप्ति हेतु ग्रहों के मूल्यांकों का संशोधन कर 'सिद्धान्त दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। वेंकटेशबाबूजी केतकर ने ग्रहलाघवीय ढंग पर संस्कृत श्लोकों

१. उद्धृत भा०ज्यो० दीक्षित (हि०अनु०) पृष्ठ ४०१

में अर्वाचीन ज्योतिष के आधार पर पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी 'केतकी ग्रहगणित' नामक ग्रन्थ की रचना १८६८ शक में की। इसके गणितीय परिणाम पर्याप्त शुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने नाटिकल अल्मनाक के आधार पर ही पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी ज्योतिर्गणित नामक कोष्ठक सारणी ग्रन्थ, वैजयन्ती पंचांग नामक सारणी ग्रन्थ, 'सौरार्यब्राह्मपक्षीय-तिथिगणितम्' प्रभृति अनेक ग्रन्थों की रचना की। केतकर मुख्यतया 'चित्रापक्षीय अयनांश' के समर्थक थे। शक १६५१ में ग्रहलाघव के ढंग पर ही गोविन्द सदाशिव आप्टे महोदय ने नाटिकल आल्मनाक के आधार पर ही 'सर्वानन्द करण' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये 'रैवतपक्षीय आयनांश के समर्थक तथा केतकर के चित्रापक्षीय अयनांश के प्रबल विरोधी थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के समय विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मतानुसार पञ्चाङ्ग पत्रकों का निर्माण होता था जिस कारण व्रत पर्वोत्सवों के उचित निर्णय करने में अत्यन्त कठिनाई लगी। इसके अतिरिक्त सायन एवं निरयण पक्षाभिमानी अपने-अपने पक्षों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माण का आग्रह करने लगे थे। अतः भारत सरकार ने अखिल भारतीय पञ्चाङ्ग के बारे में सुझाव देने के लिए नवम्बर सन् १६५२ में प्रो० मेघनाद साहा की अध्यक्षता में पञ्चाङ्ग सुधार समिति का गठन किया। इस समिति ने सायन वर्ष सौर पञ्चाङ्ग एवं सायनवर्ष चान्द्र सौर पञ्चाङ्ग की संस्तुति की। सरकार द्वारा सायनवर्ष सौरपञ्चाङ्ग स्वीकृत कर २२ मार्च १६५७ ई० से 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' में गणित नाटिकल आल्मनाक पद्धति से किया जाता है। किन्तु पञ्चाङ्गकर्त्ताओं एवं पारम्परिक दैवज्ञों तथा धर्मशास्त्रियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे अपनी-अपनी पद्धतियों से पञ्चाङ्ग निर्माण करते रहे। फरवरी सन् १६८६ ई० में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग ने प्रो० एस० पी० पांड्या की अध्यक्षता में ''भारतीय पञ्चाङ्ग एवं अवस्थानिक खगोलशास्त्र समीक्षा'' समिति द्वारा जनवरी १६८७ में मुम्बई में एक विचार गोष्ठी आयोजित की जिसमें निश्चित दिनों वाले निरयण सौर महिनों तथा आधुनिक पद्धति के गणित की संस्तुति की गयी थी किन्तु समिति ने अन्तिम रिपोर्ट में ५ वर्ष की और अवधि राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के प्रचार-प्रसार के लिए देना उचित समझा। इससे राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के अपेक्षित उपयोग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अप्रैल सन् १६६४ में दिल्ली में श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली एवं महर्षि सन्दीपनी राष्ट्रीय वेद विद्यापीठ ने एक 'अखिल भारतीय पञ्चाङ्गकर्त्ता सम्मेलन' आयोजित किया[1] जिसमें विचार विमर्श के बाद निरयण सौर पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा पञ्चाङ्ग निर्माण धार्मिक एवं सामाजिक उपयोग के लिए युक्ति संगत स्वीकार किया गया।

१. देखिए पञ्चांग में काल गणना पृष्ठ १६-२५

आजकल प्रायः सम्पूर्ण भारत में निरयण पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा ही पञ्चाङ्ग निर्माण का प्राधान्य है।

सम्प्रति पञ्चाङ्गों की स्थिति

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि प्राचीन स्थूल पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को छोड़कर अधिकांश विद्वान अर्वाचीन सूक्ष्मपञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को अपना रहे हैं। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में मकरन्द सारिणी, ग्रहलाघवादि प्राचीन पद्धतियों द्वारा निर्मित पञ्चाङ्ग भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उन पञ्चाङ्गों में भी ग्रहण, ग्रहों के उदयास्त आदि अंश अर्वाचीन प्रद्धति से ही साधित होते हैं। यदि प्राचीन पद्धति से ग्रहणादि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली घटनाओं के काल का निर्धारण किया जाता है तो प्रत्यक्ष ही विषमता परिलक्षित होती हैं। इसी भय से प्रायः प्राचीन स्थूल पद्धति से निर्मित पञ्चाङ्गों में परीक्षणीय घटनाओं का निर्धारण अर्वाचीन गणित से ही दे दिया जाता हैं।

सम्प्रति अर्वाचीन पद्धति से निर्मित होने वाले पञ्चाङ्गों के मुख्यतया ३ पक्ष हैं। प्रथम-केतकरीय चित्रापक्षीयपद्धति, द्वितीय रैवतपक्षीय पद्धति एवं तृतीय सायनपद्धति। इसमें सायन पद्धति प्रत्यक्ष दृक्सिद्ध होती है। इसकी गणना वेधशालाओं एवं शुद्ध सारिणीयों द्वारा दी हुई है। रैवतपक्षीय पद्धति में रैवतीय अयनांश का संस्कार किया जाता है। केतकरीय पद्धति में चित्रापक्षीय अयनांश का संस्कार होता हैं। 'ज्योतिर्गणित', 'केतकी ग्रहगणित', 'ग्रहगणित मालिका', 'वैजयन्ती पञ्चाङ्गगणित' आदि इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं। सम्प्रति केतकरीय चित्रापक्षीय पद्धति अधिक प्रचलित है। निरयण पक्ष का भारतीय ज्योतिष में महत्व के कारण सायनपक्षीय पञ्चाङ्ग अत्यन्त प्रचलित हैं। ध्यातव्य है कि केतकरीय पञ्चाङ्ग गणना में भी प्रत्यक्ष दृक्प्रत्ययद निरयण गणना के सापेक्ष कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होने लगे हैं। अतः उचित संस्कार कर केतकरीय पद्धति से निर्मित पञ्चाङ् आज भी सामयिक एवं उपयोगी हो सकते हैं।

पञ्चाङ् के अवयवों के नाम एवं परिचय-

१. **तिथि**-चन्द्रमा की दैनिक गति की सूचक होती है। इसे सूर्य और चन्द्रमा के आन्तरांश को ६२ से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। तिथियाँ ३० होती हैं। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ तिथियाँ शुक्ल पक्ष में प्रतिप्रदा से अमावस्या तक १५ तिथियाँ कृष्ण पक्ष होती हैं। पूर्णिमा को १५ तथा अमावास्या को ३० संख्या से व्यक्त किया जाता है। पूर्णिमा और अमावास्या के आतिरिक्त शेष प्रतिपदा, द्वितीया, तृत्रीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी तथा चतुर्दशी दोनों में पक्षों में समान रूप से होते हैं।

२. **वार**- वार सात होते जिसके नाम क्रम से रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, तथा शनिवार हैं। इनके क्रम का निर्धारण भूमेन्द्रिक ग्रह कक्षा के आधार पर किया जाता है। शनि से आरम्भ कर अधोधः क्रम से चौथी-चौथी कक्षा का ग्रह वार का स्वामी होता हैं। यथा शानि से चौथी कक्षा सूर्य की अतः पहला वार रविवार रवि से चौथी कक्षा चन्द्र की अतः दूसरा वार सोमवार (चन्द्रवार), चन्द्रमा से चौथी कक्षा भौम अतः तीसरा वार भौमवार आदि।

३. **नक्षत्र**-नक्षत्र २७ होते हैं। इनके नाम क्रम से अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफल्गुनि, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभद्रा, रेवती। उत्तराषाढ़ा के अन्तिम तथा श्रवण के आदि के अंशों को अभिजित कहा जाता है। इसको सम्मिलित करने पर नक्षत्रों की संख्या २८ हो जाती है। एक नक्षत्र का मान नक्षत्र कक्षा में ८०० कला के तुल्य होता है।

४. **योग**-सूर्य और चन्द्र में भोगांशों के योग से योग साधित होता है। योग भी २७ होते हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-१. विष्कुम्भ, २. प्रीति, ३. आयुष्मान, ४. सौभाग्य, ५. शोभन, ६. अतिगण्ड, ७. सुकमी ८. धृतिः, ९. शूल, १०. गण्ड, ११. वृद्धि, १२. ध्रुव, १३. व्याघात, १४. हर्षण, १५. वज्र, १६. सिद्धि, १७. व्यतिपात १८. वरीयान, १९. परिध, २०. शिव, २१. सिद्धि, २२. साध्य, २३. शुभः २४. शुक्ल, २५. ब्रह्म, २६. ऐन्द्र, २७. वैधृति। इन्हें चर योग कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आनन्द, कालदण्ड, धूम्र, धाता आदि २८ स्थिर योग होते हैं किन्तु इनकी गणना पाँच अवयवों में नहीं है।

५. **करण**-एक तिथि के आधे भाग को एक करण कहते है। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। करण दो प्रकार के होते हैं-१. चर करण, २. स्थिर करण। चरकरण ७ होते हैं। क्रमशः इनके नाम हैं बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर बणिज, विष्टि। स्थिर करण-की संख्या चार होती है तथा इनके नाम हैं क्रमशः १. शकुनि, २. चतुष्पद, ३. नाग, ४. किंस्तुघ्न।

इन्हीं पाँचों अवयवों के संयुक्त विवरण ही पञ्चाङ्ग कहलाता है।

●●●

वराहमिहिर और पञ्चसिद्धान्तिका

डॉ. मोहन गुप्त

यच्छास्त्रं सविता चकार विपुलैः स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्यौतिषं
तस्योच्छित्तिभयात् पुनः कलियुगे संसृत्य यो भूतलम्।
भूयः स्वल्पतरं वराहमिहिर-व्याजेन सर्वं व्यधा-
दित्थं यं प्रवदन्ति मोक्षकुशलास्तस्मै नमो भास्वते।[1]

"विपुल तीन स्कन्धों से युक्त जिस ज्योतिष शास्त्र को भगवान भास्कर ने बनाया, कलियुग में उसमें विच्छेद न आ जाय, इस भय से सारी पृथ्वी का भ्रमण करके, वराह मिहिर रूपी सत्पात्र पाकर उसके व्याज से संक्षेप में जिन्होंने पूरा शास्त्र कह डाला, ऐसा जिनके बारे में मुमुक्षु जन कहते हैं उन भगवान् भास्कर को मेरा प्रणाम"।

१.१ ज्योतिष शास्त्र के भुवन दीपक सदृश आचार्य वराह मिहिर के विषय में उनके प्रशस्त टीकाकार आचार्य भट्टोत्पल ने उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता की टीका प्रारंभ करते समय ये विचार व्यक्त किये हैं। समुद्र की विशालता तथा गहराई को वास्तव में वही व्यक्ति समझ सकता है जिसने उसे पार किया हो। इसलिये यद्यपि आचार्य भट्टोत्पल की इस प्रशस्ति में कुछ अर्थवाद हो सकता है किन्तु आचार्य वराहमिहिर की जिस प्रतिभा का निदर्शन उनके ग्रन्थों से होता है, उस पर विचार कर यह यथार्थ ही लगता है। वराह मिहिर आधुनिक वैज्ञानिक ज्योतिष के आधार स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों-सिद्धान्त होरा तथा संहिता पर प्रामाणिक तथा सांगोपांग ग्रन्थों की रचना की। वे भारतीय ज्योतिष के प्रकाश स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के अतीत पर प्रकाश डाला अन्यथा पैतामह तथा वासिष्ठ जैसे अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त जो भारत में ज्योतिष के आविर्भाव की कहानी कहते हैं, विस्मृति के गर्त में चले जाते और विश्व के सन्दर्भ में ज्योतिर्विज्ञान के जनक के रूप में भारत की पहचान तिरोहित हो जाती। उन्होंने वर्तमान का शोधन किया। उनके समय के अनेकों पूर्वाचार्यों-प्रद्युम्न, विजयनन्दी, सिंहाचार्य, मणि, यवन, भद्रविष्णु, पादादित्य तथा आर्यभट आदि के मतों की समीक्षा की तथा अपने युग की ग्रहस्थिति को दृक्तुल्य बनाने के लिये मध्यम मान में बीज संस्कार दिये। गणित की प्रक्रिया को सरल तथा अधिक बोधगम्य बनाया एवं अनावश्यक बारीकियों को, जिनके न रहने से ग्रह गति स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, प्रक्रिया से अलग किया। उसके स्थान पर सरलतर प्रक्रिया देकर भविष्य के लिये दैवज्ञों तथा गणकों का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि

---

१. बृहत्संहिता : वराह मिहिर, भट्टोत्पल की टीका सहित-वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय। सं० अवध बिहारी त्रिपाठी (शक १८९० सन् १९६८) पृ० १.

आयुष्कामीय

१. आयु की परिभाषा– धर्म, अर्थ, सुख का साधन आयु है। इस आयु की जिस पुरूष को चाह हो वह आयुर्वेद के उपदेशों में श्रद्धा करें।

२. आयुर्वेद का अवतरण– सृष्टि से पूर्व आयुर्वेद का ज्ञान ब्रहा जी को था। सृष्टि उत्पत्ति उपरान्त ब्रह्माजी ने यह ज्ञान दक्ष प्रजापति को, दक्षप्रजापति ने अश्विन कुमारों को, अश्विन कुमारों ने इन्द्र को तथा इन्द्र से यह ज्ञान आत्रेय मुनियों को प्राप्त हुआ। इन मुनियों में पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश आदि हुये जिन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की व साथ ही यह ज्ञान अपने शिष्यों को भी दिया। इन्होंने चरक संहिता, अष्टांग संग्रह आदि संहिताये लिखी। इन्ही संहिताओ द्वारा आयुर्वेद का वह पौराणिक ज्ञान आज भी जाना जाता है।

३. अष्टांग हृदय बनाने का प्रयोजन– अग्निवेश आदि मुनियों ने अपने शास्त्रों को अतिशय विस्तृत बनाया है। उनमें विषय अत्यन्त बिखरे हुए है। इन शास्त्रों के उत्तम सार भाग लेकर, ना अति संक्षेप नाति विस्तार रूप में वर्णन कर अष्टांग हृदय की रचना की गई है।

४. आयुर्वेद के आठ अंग– प्रायोगिक दृष्टि से तीनों बृहत्त्रयी ने आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त किया है– काय चिकित्सा, बाल चिकित्सा, ग्रह चिकित्सा, उर्ध्वांग चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, दंष्ट्रा चिकित्सा, जरा चिकित्सा, वृष चिकित्सा।

५. त्रिदोष ज्ञान– आयुर्वेद मतानुसार हमारा शरीर तीन तत्वों से बना हुआ है– वात, पित्त, कफ। वात वह है जिससे शरीर में किसी भी प्रकार की गति होती है। पित्त वह है जिससे शरीर में उष्मा होती है। कफ वह है जिससे शरीर में किसी प्रकार का बंधन या चिकनाहट होती है। ये तीनों वात, पित्त, कफ प्राकृत अवस्था में शरीर का धारण, पोषण करते हैं परन्तु विकृत अवस्था में शरीर में विभिन्न रोग उत्पन्न करते हैं।

समस्त शरीर में ये तीनों व्याप्त हैं परन्तु मुख्यत: वात का स्थान नाभि के नीचे, पित्त का स्थान हृदय व नाभि के मध्य तथा कफ का स्थान हृदय के ऊपर माना गया है।

प्रधान दोष	अवस्था	दिन	रात्रि	भोजन
कफ	बाल्यावस्था	दिन का प्रारम्भ	रात्रि का प्रारम्भ	भोजन के तुरंत बाद
पित्त	युवावस्था	दिन का मध्य	रात्रि का मध्य	पच्यमानावस्था
वात	वृद्धावस्था	दिन का अन्त	रात्रि का अन्त	जीर्णावस्था

६. दोषों का अग्नि से सम्बन्ध–

वातवृद्धि में → विषम अग्नि (अग्नि कभी वृद्ध कभी मंद)

Scanned by CamScanner

पित्तवृद्धि में	→	तीक्ष्णाग्नि	(सदैव वृद्ध अग्नि)
कफवृद्धि में	→	मदांग्नि	(सदैव मंद अग्नि)
त्रिदोष समानावस्था	→	समाग्नि	(समान अग्नि)

७. दोषों का कोष्ठ से सम्बन्ध–

वातवृद्धि से	→ क्रूरकोष्ठ	(जिसमें विरेचन कठिनता से हो)
पित्तवृद्धि से	→ मृदु कोष्ठ	(,, ,, अति शीघ्र हो)
कफवृद्धि से	→ मध्यम कोष्ठ	(,, ,, सामान्य हो)
त्रिदोष समानावस्था से	→ मध्यम कोष्ठ	(,, ,, ,,)

८. प्रकृति– जन्म के समय शुक्र व आर्तव में स्थित वात पित्त कफ से मनुष्य में तीन प्रकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। वातज प्रकृति, पित्तज प्रकृति, कफज प्रकृति।

प्रकृतियां मनुष्यों को हानि नही पहुँचाती परन्तु वात प्रकृति पुरुष को वात जन्य, पित्त प्रकृति, पुरूष को पित्त जन्य, कफ प्रकृति पुरुष को कफ जन्य विकार विशेष रूप से होते हैं।

वातज प्रकृति	→ हीन	द्वन्दज प्रकृति	→ निन्दित	समदोषज	→ सम
पित्तज प्रकृति	→ मध्यम	(वात पित्तज)		प्रकृति	प्रकृति
कफज प्रकृति	→ उत्तम	(पित्त कफज)			(श्रेष्ठ)
		(वात कफज)			

९. दोषों के गुण–

वात– रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म, चंचल (खर-कठिन)

पित्त– ईषत् स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, विस्र, सर, द्रव

- ईषत् स्निग्ध– कम मात्रा में स्निग्ध
- विस्र– अप्रिय गंध युक्त
- सर– बहने वाला

कफ– स्निग्ध, शीत, गुरू, मंद, श्लक्ष्ण, मृत्स्न, स्थिर

- (मृत्स्न– मलने पर चिपकने वाला)
- (श्लक्ष्ण– चिकना)

११. दूष्यज्ञान– दोष जिनको दूषित कर शरीर में रोगोत्पत्ति करते हैं दूष्य कहलाते हैं। इनको धातुयें भी कहते हैं। ये प्राकृत अवस्था में शरीर का पोषण करता है। इनकी संख्या सात है।

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। इसी क्रम से इनकी उत्पत्ति होती है।

रस– Lymph मांस– Muscular tissue अस्थि– Bone tissue

Scanned by CamScanner

रक्त- Blood मेद- Adipose tissue मज्जा- Bone marrow
शुक्र- Reproductive tissue

११. मलज्ञान– ये शरीर को मलिन करने से मल कहलाते हैं। खाये हुये अन्न से जहाँ शरीर का पोषक रस उत्पन्न होता है वहाँ इसके सार भाग से मल की उत्पत्ति होती है। मल संख्या में तीन माने हैं- मूत्र, शकृद् (पुरीष), स्वेद
मल भी दोषो द्वारा दूषित होकर रोगोत्पत्ति करते हैं।

१२. रसज्ञान– आहार द्रव्य व औषध द्रव्य दोनों प्रकार के द्रव्य जो हम ग्रहण करते हैं उनमें उपस्थित वह गुण जिससे वो हमारी रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा द्वारा ग्रहण होते है रस कहलाता है। ये संख्या में ६ हैं-

मधुर, अम्ल लवण तिक्त ऊषण (कटु) कषाय
← बलवान

१३. रसों का दोषों से संबंध–

मधुर अम्ल लवण	→	कफवर्धक, वातनाशक
कटु तिक्त कषाय	→	वातवर्धक, कफनाशक
अम्ल लवण कटु	→	पित्तवर्धक
कषाय तिक्त मधुर	→	पित्तनाशक

१४. द्रव्य–

द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं।

शमन- दोषों को नष्ट । कम करने वाले द्रव्य।

कोपन- दोषों को प्रकुपित । बढाने वाले द्रव्य।

स्वस्थहित- स्वास्थ्य के लिये हितकारी द्रव्य।

१५. वीर्य– द्रव्य में उपस्थित उत्कर्ष (श्रेष्ठ) गुणों को वीर्य कहते हैं। ये संख्या में दो माने गये हैं।

१. उष्णवीर्य २. शीतवीर्य

बिना वीर्य के कोई भी द्रव्य क्रिया नही करते हैं। आचार्य चरक ने ८ वीर्य माने हैं- तीक्ष्ण, रूक्ष, मृदु, स्निग्ध, लघु, उष्ण, गुरु, शीतल।

१६. विपाक– आहार के परिपाक (पाचन) के कारण उत्पन्न दूसरा रस विपाक कहलाता है। यह जठराग्नि की सहायता से होता है। विपाक का अर्थ विशिष्ट पाक से होता है। इस पाक के उपरान्त फिर कोई पाक नही होता। कर्म की निष्ठा से विपाक का ज्ञान होता है। विपाक संख्या में तीन होते है। मधुर, अम्ल, कटु।

मधुर विपाक → मधुर रस व लवण रस के पाकोपरान्त उत्पन्न।

Scanned by CamScanner

अम्ल विपाक → अम्ल रस के पाकोपरान्त उत्पन्न।
कटु विपाक → कटु तिक्त व कषाय रस के पाकोपरान्त उत्पन्न।

१७. गुण– द्रव्य में आश्रित वह गुण जो स्वयं निर्गुण व निश्चेष्ट होते हुये भी किसी क्रिया को करने में कारण बनते हैं गुण कहलाते है। ये संख्या में बीस माने गये हैं–

गुण	–	लघु	सान्द्र	–	द्रव
मंद	–	तीक्ष्ण	मृदु	–	कठिन
हिम	–	उष्ण	स्थिर	–	चल
स्निग्ध	–	रूक्ष	सूक्ष्म	–	स्थूल
श्लक्ष्ण	–	खर	विशद	–	पिच्छिल

१८. रोग का कारण– काल, अर्थ, कर्म का हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग होना रोग का कारण बनता है।

काल का अर्थ परिणाम है। यहाँ ऋतुओं से अर्थ लिया जा सकता है। अर्थ का अर्थ इन्द्रियों के विषयों से हैं। कर्म का अर्थ कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म से है।

	हीनयोग	मिथ्यायोग	अतियोग
काल	अपने स्वभाव से कम होना	अपने स्वभाव से विपरीत होना	अपने स्वभाव से अधिक होना
अर्थ	इन्द्रिय का अपने विषय से कम संबंध	इन्द्रिय का अपने विषय से अनुचित संयोग	इन्द्रिय का अपने विषय से अधिक संयोग
कर्म	कर्मों का कम करना	अनुचित कर्म करना	अधिक कर्म करना

इसका कारण पीछे प्रज्ञापराध होता है जिसके कारण से ही मनुष्य हीनयोग, मिथ्यायोग या अतियोग करता है। (प्रज्ञापराध– विषम बुद्धि) काल, अर्थ, कर्म का सम्यक योग होना आरोग्य का कारण है।

१९. रोग व आरोग्य का लक्षण– दोषों की विषमता होना रोग का लक्षण है व दोषों की समता होना आरोग्य का लक्षण है अर्थात रोगी की उत्पत्ति तभी होगी जब किसी कारण से शरीर में दोषों की साम्यावस्था में कोई परिवर्तन होगा। और रोग ठीक तभी होगा जब दोषों की साम्यावस्था फिर से स्थापित की जायेगी।

२०. रोग के भेद– समस्त रोगों को दो भागों में विभाजित किया गया है निज तथा आगन्तुज।

निज– वह रोग जो शरीर के अन्दर दोषों की विषमता से उत्पन्न होते है।

आगन्तुज– वह रोग जो किसी बाहरी आघात कारणों से उत्पन्न होते हैं।

निज रोगो में दोषवैषम्य होकर फिर व्यथा आदि लक्षण होते हैं जबकि आगन्तुज रोगों में व्यथा आदि लक्षण पहले उत्पन्न होते हैं फिर दोष विषमता होती है। आगन्तुज रोग दोष साम्यता होने पर भी उत्पन्न हो करते हैं जैसे शस्त्र से चोट लगना आदि।

Scanned by CamScanner

२१. रोगों के अधिष्ठान– रोगों का आश्रय या अधिष्ठान शरीर तथा मन हैं।

शारीरिक रोग– ज्वर कास अतिसार आदि।

मानसिक रोग– उन्माद, अपस्मार आदि।

२२. मानसिक दोष–

मन को दूषित करने वाले दोष है रज और तम।

रज से मानसिक अनियमितता आदि होते हैं।

तम से मानसिक क्षमताओं का ह्रास आदि होते हैं।

रज व तम दोनो मे रज प्रधान दोष हैं।

२३. रोग ज्ञान के उपाय– रोग की परीक्षा करने के लिये आचार्य वाग्भट ने तीन उपाय बताये हैं–

दर्शन	→	देखकर
स्पर्शन	→	स्पर्श करके
प्रश्न	→	रोगी से सवाल पूछकर

साधारणत: परीक्षा इन्द्रियों की सहायता से और प्रश्न या अनुमान से करनी चाहिये। इस परीक्षा का फल रोगज्ञान और चिकित्सा कर्म है।

२४. रोगज्ञान के विशिष्ट उपाय– रोग विशेष जानने के आचार्य ने पाँच उपाय बताये हैं।

निदान	–	रोग का कारण
प्राग्रूप	–	रोग की उत्पत्ति से पहले के लक्षण
रूप	–	रोग के लक्षण
उपशय	–	सुखानुबंधी आहार औषध का प्रयोग
सम्प्राप्ति	–	रोग किस प्रकार उत्पन्न हुआ, यह ज्ञान करना

२५. देश– दो प्रकार माना गया है– भूमिदेश, देहदेश।

भूमिदेश– गाँव, शहर, देश आदि।

देहदेश– हमारा शरीर

भूमिदेश– जिस भूमिदेश का हमारा देहदेश होता है उस भूमिदेश की प्रकृति का हमारे देहदेश पर असर पड़ता है। इसी कारण से जितनी उपयोगिता देहदेश को जानने की है। उतनी ही उपयोगिता भूमिदेश को जानने की भी है।

भूमिदेश के तीन प्रकार माने गये हैं–

आनूप देश– कफ की प्रधानता होती है

Scanned by CamScanner

जांगल देश– वात की प्रधानता होती है

साधारण देश– तीनो दोष समान होते हैं।

आनूप देश में जल की अधिकता होने से कफ की वृद्धि रहती है। वहाँ के रहने वाले जीवजन्तु भी कफज प्रकृति वाले होते है। इसी प्रकार जांगल देश में जल की कमी व रूक्ष वायु के कारण वातवृद्धि रहती है। वहाँ के जीवजन्तु वातज प्रकृति वाले होते हैं।

२६. काल– काल दो प्रकार का होता है। एक समय यानि क्षणादि और दूसरा व्याधि की अवस्था। इनका उपयोग औषध के उपचार में किया जाता है। काल का अर्थ रोगी को औषध देने के समय से है। इसको क्रमशः नित्यग व आवस्थिक भी कह सकते हैं।

नित्यग काल की उपयोगिता– रोगी को कोई औषध पूर्वाह्न में ही देनी होती है, कोई मध्याह्न में ही। यही नित्यग काल की उपयोगिता है।

आवस्थिक काल की उपयोगिता– रोग की अवस्था जैसे नवीन, पुराण, आमावस्था, पच्यमानावस्था, पक्वावस्था आदि सभी अवस्थाओं में उपचार की प्रक्रिया अलग होती है यही आवस्थिक काल की उपयोगिता है।

२७. औषध के दो भेद– दोषों का नाश करने वाली द्रव्य औषध है। कार्य भेद से औषध के दो भेद होते हैं–

शमन– जो दोषों को शरीर में ही शान्त करती हैं।

शोधन– ,, ,, ,, से बाहर करती हैं।

२८. शारीरिक दोषों की परमौषध–

दोष	श्रेष्ठ शमन औषध	श्रेष्ठ शोधन औषध
वात	तैल	बस्ति
पित्त	घृत	विरेचन
कफ	मधु	वमन

२९. मानसिक दोषों की परमौषध– मानसिक दोषों के लिये सत्वावजय चिकित्सा की जाती है। परमौषध धी, धैर्य, आत्मादि माने गये हैं।

धी– बुद्धि– यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि।

धैर्य– धृति– नियन्त्रण करने वाली बुद्धि।

आत्मादि– मोक्ष के रास्ते का ज्ञान कराने वाली बुद्धि।

३०. चिकित्सा के चतुष्पाद– चिकित्साकर्म में पूर्ण सफलता हेतु चार गुणों का होना अति आवश्यक है। इन गुण में से किसी एक अनुपस्थित होना या पूर्ण गुणयुक्त न होना चिकित्सा कर्म की सफलता में बाधक होता है।

Scanned by CamScanner

चार पाट– भिषक् – वैद्य उपस्थता – परिचारक
द्रव्य – औषध रोगी – आतुर

इन चारों में वैद्य ही प्रमुख है क्योंकि इसके बिना ये तीनो पाद निरर्थक है और वैद्य योग्य हो तो इन निरर्थक या अयोग्य पादों से भी चिकित्सा कर्म सुयोग्य कर सकता है।

- **वैद्य के गुण–** दस, तीर्थात्तशास्त्रार्थ, दृष्टकर्मा, शुचि।
- **दक्ष–** चतुर, तीर्थात्तशास्त्रार्थ– शास्त्रों का सम्यक ज्ञान,
- **दृष्टकर्मा–** चिकित्साकर्म को भली प्रकार देखा हुआ।
- **औषध के गुण–** बहुकल्पं बहुगुणयुक्त सम्पन्न, योग्य।
- **वहुकल्प–** जिसकी बहुत सी कल्पनायें की जा सकें जैसे– चूर्ण, वटी, क्वाथ
- **सम्पन्न–** दूषित न हो।
- **परिचारक के गुण–** अनुरक्त शुचि दक्ष बुद्धिमान
  अनुरक्त– रोगी से स्नेह रखने वाला।

रोगी के गुण– आढ्य भिषगवश्य ज्ञापक सत्वान।

आढ्य– धनवान
भिषगवक्ष्य– वैद्य की बात मानने वाला
ज्ञापक– रोग का पूर्ण ज्ञान हो। उसे बता सके।
सत्ववान– धैर्य युक्त, अधिक सहनशक्ति युक्त

चतुष्पादों के चार-चार गुण बताये गये हैं जिन्हें कुल मिलाकर षोडशकला कहा जाता है। सुयोग्य चिकित्साकर्म हेतु चतुष्पाद षोडशकला युक्त होने चाहिये।

३१. चार प्रकार के रोग–

साध्यता - असाध्यता की दृष्टि से रोगों को मुख्यत: दो भेदों में विभाजित किया गया है– साध्य व असाध्य।

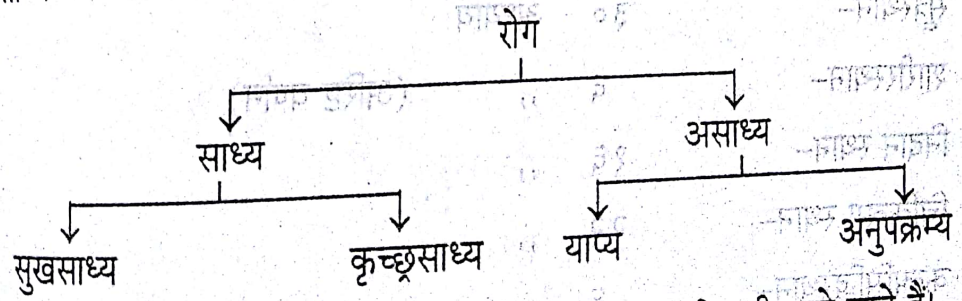

सुखसाध्य रोग– इस प्रकार के रोग चिकित्सा करने पर शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

- रोगी सर्व औषधों को सहन करने वाला होता है।
- रोगी युवा, संयमी हो, पुरूष लिंग हो।

Scanned by CamScanner

- रोग मर्मस्थल में न पहुँचा हो।
- रोग कम निदान, पूर्वरूप, रूप युक्त तथा उपद्रव रहित हो।
- दूष्य, देश, ऋतु, प्रकृति रोग के समान ना हो।
- चतुष्पाद षोडशकला युक्त हो।
- रोग एकमार्गगामी हो, नवीन हो
- ग्रहों के अनुकूल हो।

कृच्छसाध्य रोग– इस प्रकार के रोग कठिनाई से बहुत उपायों से, देर में ठीक होते हैं।

- सुखसाध्य के लक्षण विपरीत लक्षणों से मिश्रित हो- सकंर हो।
- शस्त्र, क्षार, अग्नि से साध्य रोग।

याप्य रोग– इस प्रकार के रोग चिकित्सा क्रिया करने तक शान्त रहते हैं मगर चिकित्सा समाप्त करते ही उत्पन्न हो जाते हैं।

- सुखसाध्य के लक्षण विपरीत होते हैं।
- पथ्य का अभ्यास करते रहने तक ही रोग शान्त रहता है।
- आयु शेष रहने के कारण रोग कम कष्टकारी प्रतीत होता है।

अनुपक्रम रोग– इस प्रकार के रोग समस्त चिकित्सा उपक्रम करने पर भी शान्त नही होते हैं। असाध्य रोग भी कहते हैं।

- सुखसाध्य के लक्षण अतिशय विपरीत हो।
- उत्सुकता का नाश, मोह की उत्पत्ति हो, बैचेनी हो, मृत्युसूचक चिह्न (अरिष्ट) उपस्थित हों, इन्द्रियाँ नष्ट हो गई हों।

अध्याय संग्रह– अष्टांग हृदय में छः स्थान है कुल १२० अध्याय है।

सूत्रस्थान–	३०	अध्याय	
शारीरस्थान–	६	,,	(अरिष्ट वर्णन)
निदान स्थान–	१६	,,	
चिकित्सा स्थान–	२२	,,	
कल्पसिद्धिस्थान–	६	,,	
उत्तर स्थान–	४०	,,	(कौमारभृत्य, भूतविद्या, विष, रसायन, वाजीकरण, शालाक्य, काय)
	१२०		

Scanned by CamScanner

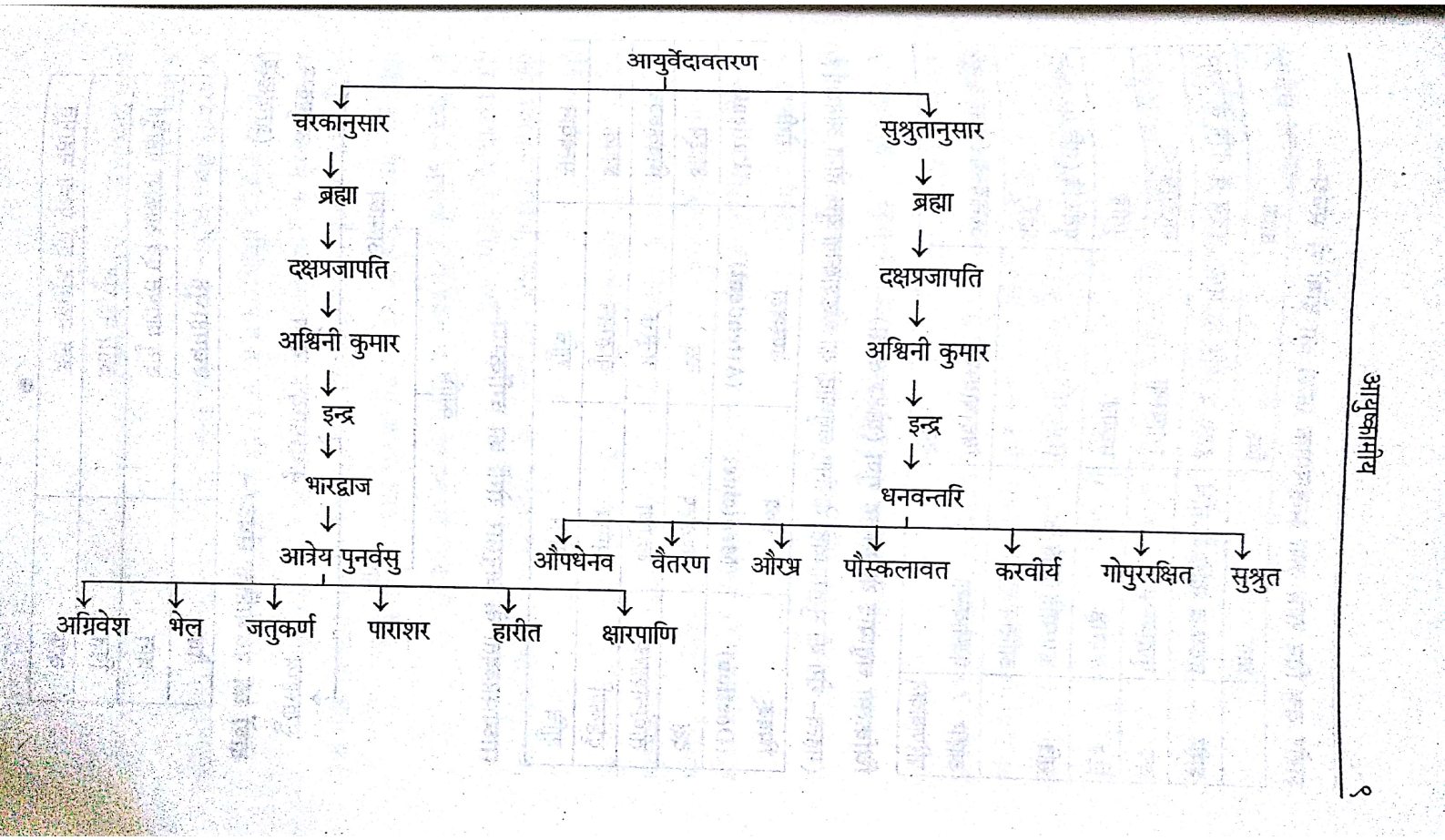

Scanned by CamScanner

शरीर वय दिन रात्रि तथा आहारपाक काल का दोषों से संबंध–

	वात	पित्त	कफ
शरीर	हृदय व नाभि के नीचे	हृदय व नाभि के मध्य	हृदय व नाभि के ऊपर
वय	वृद्धावस्था	युवावस्था	बाल्यावस्था
दिन	अपराह्न	मध्याह्न	पूर्वाह्न
रात्रि	अपररात्रि (रात्रि का अन्तिम प्रहर)	मध्य रात्रि	पूर्वरात्रि (रात्रि का पहला प्रहर)
आहार परिपाकवान	पक्वावस्था	विदग्धावस्था बाद)	आमावस्था (भोजन के तुरंत

चिकित्सा चतुष्पाद के सोलह गुण (षोडशकला)–

(महत्व– रोग की सुखसाध्यता के लिए चतुष्पादों का षोडशकला युक्त होना अनिवार्य है।)

भिषक् (Doction)	द्रव्य (Medicine)	उपस्थता (Attendent)	रोगी (Patient)
दक्ष	बहुकल्प	दक्ष	आढ्य
तीर्थात्लशास्त्रार्थ	बहुगुण	अनुरक्त	भिषक्वश्य
दृष्टकर्ण	सम्पन्न	बुद्धिमान	ज्ञापक
शुचि	योग्य	शुचि	सत्ववान

साध्यासाध्यता के अनुसार रोगों का वर्गीकरण–

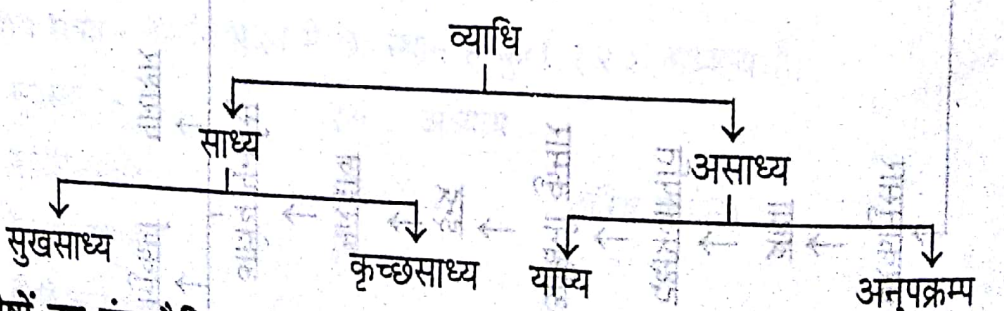

दोषों का पंचभौतिक संघटन–

दोष	पंचमहाभूत
वात	वायु महाभूत एवं आकाश महाभूत
पित्त	अग्नि महाभूत
कफ	जल महाभूत एवं पृथ्वी महाभूत

Scanned by CamScanner

द्वितीय अध्याय

दिनचर्या

आयुर्वेद का प्रयोजन– (१) स्वस्थ के स्वास्थ्य को बनाये रखना।

(२) रोगी के रोग को दूर करना।

इन दोनो प्रयोजनों की प्राप्ति हेतु आचार्यों ने दिनचर्या, ऋतुचर्या व रोगानुत्पादनीय अध्यायों की रचना की जो क्रमश: अध्याय २, ३ व ४ है। दिनचर्या अध्याय में मनुष्य के दैनिक क्रियाकलापों का विस्तृत वर्णन है जिससे ना केवल शारीरिक वल्कि मानसिक स्वच्छता व निरोगता बनाई जा सके।

१. ब्रह्ममुहुर्त– आयु की रक्षा के लिये ब्रह्ममूहुर्त में उठना चाहिये।

ब्रह्ममुहूर्त– रात्रि के अंतिम प्रहर का अंतिम मुहूर्त।

१. मुहूर्त= ४८ मिनट

२. दातुन– शरीर की जीर्णता अजीर्णता का विचार कर मलोत्सर्ग करें तदोपरान्त दातुन करें। दातौन- कनिष्ठिका अंगुलि के समान मोटी, सीधी होनी चाहिये। लंबाई– १२ अंगुल। अग्रभाग से कोमल होनी चाहिये। प्रात:काल व दोनो समय भोजनोपरान्त करनी चाहिये। कटु तिक्त कषाय रस वाली होनी चाहिये। अर्क, वट, खदिर, करंज, अर्जुन इन वृक्षों की होनी चाहिये।

दातौन निषेध– अजीर्ण, वमन, श्वासकास, ज्वर, अर्दित, तृष्णा, मुखपाक, हृदय, नेत्र, शिर व कर्णरोग से पीड़ित रोगी।

३. अंजन– आचार्य ने दो प्रकार के अंजन का उल्लेख किया है।

सौवीराञ्जन– नेत्रों के लिये हितकारी अंजन जिसका प्रतिदिन प्रयोग करें।

रसाञ्जन– नेत्र तेजोमयी जिनको विशेषकर कफ से अधिक तकलीफ होती है। अत: कफ को स्रवित करने के लिये रसांजन का प्रयोग सात रात्रि में एक बार करें।

अत: मनुष्य प्रतिदिन सौवीराञ्जन व हर सात रात्रि बाद रसांजन का प्रयोग करे।

४. नस्यादि सेवन विधि– अंजन के बाद क्रमश: नस्य → गण्डूष → धूमपान ताम्बूल से सेवन करे।

ताबूल निषेध– क्षत, रक्तपित्त, रूक्षप्रकृति, नेत्ररोगी, विष, मूर्च्छा, मद व शोष रोगी।

Scanned by CamScanner

५. अभ्यंग– अभ्यंग से बुढापा, थकान, वायु, नष्ट होती है। दृष्टि निर्मल होती है। शरीर पुष्ट होता है। आयु बढती है, नींद अच्छी आती है, त्वचा निर्मल होती है व शरीर पुष्ट होता है। अभ्यंग को मुख्यत: सिर, कर्ण व पैरों पर करना चाहिये।

निषेध– कफ पीड़ित, शोधन कर्म के पश्चात व अजीर्ण रोगी।

६. व्यायाम– व्यायाम से हल्कापन, कार्य सामर्थ्यता, अग्नितीव्रता, मेदनाश, शरीर के अंग दृढ हो जाते हैं।

- बलवान व स्निग्ध भोजन करने वाले को अर्धशक्ति से व्यायाम करना बताया है। शीतकाल व वसंत ऋतु में अर्धशक्ति से व अन्य ऋतुओं में इससे भी कम करना चाहिये।
- व्यायाम के पश्चात सम्पूर्ण शरीर का मर्दन करना चाहिये।
- अयोग्य– वात पित्त रोगी, बालक, वृद्ध व अजीर्ण पीड़ित।
- अतिव्यायाम से हानि– तृष्णा, क्षयरोग, प्रतमकश्वास, रक्तपित्त, थकान, क्लम, कास, ज्वर, वमनरोगी।

७. उद्वर्तन– कषाय आदि चूर्ण। कल्क से शरीर का मर्दन करना। उद्वर्तन से कफ का नाश, पेट का विलयन, अंगों की स्थिरता होती है। यह त्वचा का प्रसादन करने में श्रेष्ठ है।

८. स्नान– स्नान से अग्निदीप्ति, वृष्यता, आयुवर्धन, ऊर्जावर्धन, बलवर्धन होता है।

- यह कण्डु, मल, थकान, स्वेद, तन्द्रा, प्यास, दाह व पाप को नाश करने वाला होता है।
- गरम पानी से शरीर के निचले भागों का परिषेक करना चाहिये।
- ठडें पानी से शरीर के उत्तमांगों का परिषेक करना चाहिये। अन्यथा आंखो व वालों का बलनाश होता है।

स्नान निषेध– आर्दित, नेत्ररोग, कर्णरोग, मुखरोग, अतिसार, आध्मान, पीनस, अजीर्ण, भोजन पश्चात शीघ्र।

९. भोजन विधान– खाए हुऐ आहार के पाचन हो जाने पर ही हितकारी, पथ्य भोजन उचित मात्रा का विचार करके करें।

१०. अन्य विधान– मलमूत्रादि वेगों को बलपूर्वक प्रवृत्त ना कराये।

मलमूत्रादि वेगों को बलपूर्वक रोके नही।

साध्य रोगो को पहले शांत करें फिर कोई चर्या करें।

Scanned by CamScanner

११. धर्म व पाप विवेचन– सब प्राणियों की सब प्रवृत्तिया सुख प्राप्ति के लिए ही होती हैं। यह सुख विना धैर्य के नही मिलता इसलिये मनुष्य को धार्मिक होना चाहिये। दशविध पाप कभी न करें– हिंसा, चोरी, चुगली, कठिनवचन, झूठ, असम्बद्ध वचन, ईर्ष्या, नास्तिकता दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार, पर नारी से संबंध। ये दशों पाप मन, वच वंतन से मनुष्य को नही करने चाहिये।

१२. सदवृत– सदवृत का अर्थ है धर्म पालन का व्रत। इससे आचार्य ने सक्षेपत: चार बातो में ही सारा सार वर्णित किया है।

(१) सभी प्राणियों मे दयाभाव

(२) त्याग भावना

(३) शारीरिक, मानसिक व वाचिक चपलता का त्याग।

(४) दूसरे के कार्यों में भी अपने कार्यों जैसे समानता व कुशलता दिखाना। इन धर्मों में सब धर्मों का समावेश हो जाता है।

१३. स्वयं का विवेचन करना– हमेशा अपने क्रिया कलापों का विचार, दिनचर्या, रात्रिचर्या का समीक्षण करते रहना चाहिये। इससे हमारा जीवन व आयु सुखपूर्वक व्यतीत होती है।

Scanned by CamScanner

तृतीय अध्याय
ऋतुचर्या

वातावरण की प्रकृति का प्रभाव हमारे शरीर पर सीधे पड़ता है। जलवायु परिवर्तन से भूमि में होने वाला अनाज, फल, सब्जी आदि पर प्रभाव पड़ने से हमारे शरीर पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसी को समझने के लिए व ऐसी स्थितियों में हमारी दिनचर्या, आहार-विहार कैसी हो, इसका विस्तृत वर्णन आचार्य ने इस अध्याय मे दिया है।

षड़ऋतु वर्णन– एक वर्ष (संवत्सर) मे ६ ऋतुएं मानी गयी है।

एक वर्ष में दो अयन होते हैं– **उत्तरायण** व दक्षिणायन। उत्तरायण मे सूर्य बल अधिक होता है जिससे सूर्य मनुष्यों का बल अपनी ओर खींचकर उन्हें निर्बल बना देता है। **दक्षिणायन** ये सूर्य बल कम होने के कारण मनुष्य का बल अधिक होता है। यह प्रकृति के अपने स्वभाव से होता है।

उत्तरायण को आग्नेयकाल का आदानकाल भी कहते हैं जबकि दक्षिणायन को सौम्यकाल या विसर्गकाल भी कहते हैं।

उत्तरायण में तीन ऋतुये आती हैं– शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म दक्षिणायन ये बाकी तीन– वर्षा, शरद, हेमन्त।

उत्तरायण (आदान काल, आग्नेय काल)	शिशिर बसंत ग्रीष्म	सूर्य बलशाली वायु रूक्ष मनुष्य बल उत्तरोत्तर कम
दक्षिणायण (विसर्ग काल, सौम्यकाल)	वर्षा शरद हेमन्त	सूर्य कण बलवाला वायु शीतल मनुष्य बल उत्तरोत्तर अधिक

मनुष्य का बल– उत्तम– शिशिर, हेमन्त
मध्यम– बसन्त, शरद
निम्न– ग्रीष्म, वर्षा

ऋतु अनुसार रसों की प्रधानता–

शिशिर– तिक्त
बसंत– कषाय } रूक्ष, V↑
ग्रीष्म– कटु

वर्षा– अम्ल
शरद– लवण } रूक्ष, K↑
हेमन्त– मधुर

Scanned by CamScanner

१. हेमन्त ऋतु– (१) अग्नि अत्यधिक बढ़ी हुई होती है। अत: स्निग्ध रसों का सेवन करना चाहिए– मधुर, अम्ल, लवण।

(२) वातघ्न तैलो से मर्दन, अभ्यंग व उद्वर्तन करे।

(३) मांसरस, मद्य, सुरामण्ड सेवन करें।

(४) गेहूं, उड़द, गन्ने का रस, दूध का सेवन करें।

(५) निवात उष्णग्रह ये निवास करें।

(६) जेन्ताक स्वेदन कराएं।

(७) शरीर शुद्धि ये उष्णजल, पान दे शीतजल ले।

२. शिशिर ऋतु– हेमंत के समान ही होती है। परन्तु रूक्षता अधिक रहने के कारण अधिक स्निग्धकर व उष्ण द्रव्यों का सेवन करें।

३. बसंत ऋतु– (१) शीत ऋतु मे संचित कफ, बसन्त में सूर्य की किरणों से पिघलकर कफज विकारों को उत्पन्न करता है, वह मंदाग्नि करता है। इसीलिए कफनाशक कर्म करें।

(२) तीक्ष्ण वमन, नस्य आदि कफ नाशक कर्म करें।

(३) लघु व रूक्ष भोजन लें।

(४) व्यायाम, रूक्ष उद्धर्त्तन कराएं।

(५) कर्पूर, चन्दन, अगुरु व केशर का लेप करे।

(६) पुराना, गेहूँ, मधु, जांगलमांस, शूल्यमांस लें।

(७) विभिन्न आसव, अरिष्ट, सीधु, माध्वीक का सेवन करें।

(८) सोंठ, असन, मधु, मोथे से पकाया जल सेवन करने से अग्नि भी बढती है, व कफ का नाश भी होता है।

(९) त्याज्य– गुरु, शीतल, स्निग्ध भोजन ना करें। दिवास्वप्न ना करें। मधुर, अम्ल रस का त्याग करें।

४. ग्रीष्म ऋतु– (१) सूर्य अतितीक्ष्ण होकर मनुष्य के स्नेहों को नष्ट करता है, वातवृद्धि करता है।

(२) वातनाशक व कफवर्धक व पित्तनाशक कर्म करें।

(३) मधुर अन्न, लघु, शीतल, स्निग्ध द्रव पदार्थों का सेवन करें।

(४) शीतल जल स्नान के बाद शर्करा युक्त सत्तु लें।

(५) शालिधान्य को जांगलमांस रस से ले।

(६) शशांक किरण सेवन– कर्पूर के टुकड़ों से युक्त भोज्य पदार्थों को माहिष क्षीर से लें।

(७) चन्द्रमा की चांदनी में रात बिताए।

(८) त्याज्य– मद्य, लवण, कटु अम्लरस, व्यायाम व सूर्य की किरणें।

Scanned by CamScanner

५. वर्षा ऋतु– (१) तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं।

(२) अत्यधिक मंदाग्नि रहती है।

(३) साधारण विधि– तीनों दोष की नाशक हों– ऐसी विधि अपनाएं। अग्नि प्रदीप्त करने वाले कर्म करे।

(४) वर्षा का जल या कूएं का जल ही लें।

(५) भोजन मे मधु का प्रयोग अवश्य करे।

(६) अम्ल, लवण व स्नेह युक्त भोजन करें।

(७) पुराना गेहूँ, मद्य, अरिष्ट, सौवर्चल नमक, पंचकोल सिद्ध पेया लें।

(८) पैदल ना चलें। आस्थापन बस्ति लें।

(९) त्याज्य– नदी का जल, उदमंथ (जल के घोला सत्तु), दिवास्वप्न, परिश्रम, धूप से बचें।

६. शरद ऋतु– (१) वर्षा मे संचित पित्त प्रकुपित होकर पित्तज विकार उत्पन्न करता है।

(२) पित्तनाशक कर्म करें– तिक्तघृत, विरेचन व रक्तमोक्षण कराएं।

(३) पित्तशामक रसों (कषाय तिक्त मधुर) का सेवन करें, मूंग, चीनी, आंवला, मधु आदि लघु अन्न ले।

(४) हंसोदक– सूर्य की किरणों से तप्त व चन्द्रमा की किरणों से शीतल हुए पवित्र जल को हंसोदक कहते हैं। यह ना तो रूक्ष है ना अति स्निग्ध, तीनों दोषों को जीतने वाला होता है। आचार्य ने इस जल को अगस्त्य तारे की उपस्थिति मे ग्रहण करने को अतिफलदायक बताया है।

(५) रात्रि के प्रथम प्रहर की चांदनी को ग्रहण करे।

(६) त्याज्य– ओस, क्षार, पेट भर खाना, दही, तैल, वसा, धूप, तीक्ष्ण मद्य, दिवास्वप्न, पूरब दिशा की वायु।

ऋतुसंधि– एक ऋतु का अन्तिम सप्ताह व आने वाली ऋतु का पहला सप्ताह ये १४ दिन ऋतुसंधि कहे जाते हैं। इसमें जाने वाली ऋतु की चर्या को क्रमशः छोड़ते हुए आने वाली ऋतु की चर्या को क्रमशः अपनानी चाहिए। अन्यथा विभिन्न रोगो की उत्पत्ति हो जाती है।

ऋतुओं मे दोषों का संचय, प्रकोप, शमन–

दोष	संचय	प्रकोप (शोधन काल)	शमन
वात	ग्रीष्म	वर्षा (बस्तिकर्म)	शरद
पित्त	वर्षा	शरद (विरेचन)	हेमन्त
कफ	शिशिर	बसंत (वमन)	ग्रीष्म

Scanned by CamScanner

अंत मे आचार्य ने कहा है कि सभी ऋतुओं में सर्वरस सेवन करना है, परंतु प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु के अपने-अपने रस को अधिक मात्रा में लेना चाहिए।

Note– (१) प्राकृतिक आधार पर ऋतुचर्या का वर्णन माघ माह से प्रारंभ किया गया है। शिशिर व हेमन्त दो शीत ऋतुओ का वर्णन किया है।

: संशोधन परक– फाल्गुन माह से प्रारंभ किया गया है। शीतऋतु केवल एक हेमन्त पानी है तथा वर्षा ऋतु दो मानकर (प्रावृत व वर्षा) ऋतुओं की कुल संख्या ६ ही गयी है।

आदान काल एवं विसर्ग काल–

	प्राकृतिक भाव	आदान काल	विसर्ग काल
१.	सूर्य	उत्तरायण	दक्षिणायन
२.	वायु	तीव्ररूक्ष	अरूक्ष
३.	स्नेहांश	शोषण एवं हास	वृद्धि एवं पोषण
४.	स्वभाव	आग्नेय	सौम्य
५.	ऋतुएं	शिशिर वसंत ग्रीष्म	वर्षा शरद हेमंत
६.	रस	क्रमशः तिक्त कषाय कटु	क्रमशः अम्ल लवण मधुर

ऋतुओं के अनुसार प्राकृतिक स्थिति–

ऋतुएं	भारतीय मास	सूर्यबल	चन्द्रबल	स्वभाव	रस	प्राणीबल
शिशिर	माघ-फाल्गुन	पूर्ण	क्षीण	रूक्ष	तिक्त	श्रेष्ठ बल
बसन्त	चैत्र-वैशाख	पूर्णतर	क्षीणतर	रूक्षतर	कषाय	मध्यम बल
ग्रीष्म	ज्येष्ठ-आषाढ़	पूर्णतम्	क्षीणतम्	रूक्षतम्	कटु	अल्प बल
वर्षा	श्रावण-भाद्रपद	क्षीण	पूर्ण	स्निग्ध	अम्ल	अल्प बल
शरद	आश्विन-कार्तिक	क्षीणतर	पूर्णतर	स्निग्धतर	लवण	मध्य बल
हेमन्त	मार्गशीर्ष-पौष	क्षीणतम्	पूर्णतम्	स्निग्धतम्	मधुर	श्रेष्ठ बल

ऋतुओं के अनुसार दोषों का संचय, प्रकोप; शमन–

दोष	संचय (स्वस्थान वृद्धि)	प्रकोप (स्थानान्तरण)	शमन
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त
कफ	शिशिर	बसंत	ग्रीष्म

Scanned by CamScanner

चतुर्थ अध्याय

रोगानुत्पादनीय

''रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।''

अनुपस्थित वेगों को प्रवृत्त करने और उपस्थित वेगों को रोकने से ही सब रोग उत्पन्न होते हैं। क्योंकि इस श्रम से वायु का प्रकोप होता है और वायु ही सब रोगों का कारण है। आचार्य सुश्रुत ने इन्ही वेगों को धारण करने से होने वाले रोगों का नाम 'उदावर्त' बताया है। इसका प्रमुख कारण दोष वात बताया है।

अधारणीय वेग– आहार पाक क्रिया में दोष, धातु की उत्पत्ति के बाद मलों की उत्पत्ति होती है। इन मलों का शरीर से बाहर निकलना अत्यंत आवश्यक होता है। इन मलों की बर्हि प्रवृत्ति की क्रिया को ही 'वेग' कह सकते है। इन वेगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोककर, शरीर में मल संचय करने से वातवृद्धि हो जाती है तथा विभिन्न मल संचय जन्य विकार हो जाते है। अतः हमे इस स्वाभाविक प्रक्रिया को रोकना नही चाहिए।

संख्या– ये १३ प्रकार के माने गए हैं।

(१) वात (उर्ध्ववात, अधोवात)
(२) मल
(३) मूत्र
(४) छींक
(५) प्यास
(६) भूख
(७) निद्रा
(८) जृम्भा
(९) अश्रु
(१०) छर्दि
(११) कास
(१२) श्रमजनित श्वास
(१३) शुक्र

१. अधोवायु–

रोकने से– गुल्म, कोष्ठशूल, ग्लानि, वातमलमूत्र अवरोध, दृष्टिदौर्बल्य, अग्निनाश, हृद्रोग।

उपचार– स्नेहन, स्वेदन कर वातानुलोमक उपचार करें। फलवर्ति, वातनाशक आहार, उष्ण जलपान, बस्तिकर्म करें।

२. मलवेग–

रोकने से– पिण्डिलयों मे ऐठन, प्रतिश्याय, शिरशूल, वायु का ऊर्ध्वगमन, परिकर्त्तिका, हृदयसंरोध, मुख से मलप्रवृत्ति आदि।

उपचार– फलवर्ति, अभ्यंग, अवगाहन, स्वेदन बस्ति मलभेदी अन्न।

३. मूत्रवेग–

रोकने से– अंगभंग, अश्मरी, बस्ति, मेढ्र व वंक्षण में वेदना होती है।

Scanned by CamScanner

उपचार– फलवर्ति, अभ्यंग, अवगाहन, स्वेदन, बस्ति। भोजन के पूर्वघृतपान प्रशस्त है। व रात्रि के भोजन के जीर्ण होने पर उत्तम मात्रा में घृतपान दें। इन दोनों योजनाओं को **अवपीडक घृत** कहते हैं।

४. उद्गार वेग–

रोकने से– अरुचि, कम्प, हृदय व उर में जकड़ाहट, आध्मान, हिक्का व कास होता है।

उपचार– हिक्का के समान चि० करें।

५. छींक वेग–

रोकने से– शिर मे दर्द, इन्द्रियों में दुर्बलता, मन्यास्तंभ, अर्दित रोग।

उपचार– तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण नस्य, स्नेहन, स्वेदन, सूर्य को देखना।

६. प्यास वेग–

रोकने से– मुखशोष, हृदरोग, बधिरता, भ्रम, मोह, अंगसाद होता है।

उपचार– सम्पूर्ण शीतल क्रिया करें।

७. भूख का वेग–

रोकने से– अंगभंग, अरुचि, ग्लानि, कृशता, शूल, भ्रम होता है।

उपचार– लघु, स्निग्ध, उष्ण, अल्पमात्रा ये भोजन दे।

८. निद्रा वेग–

रोकने से– अंगमर्द, मोह, शिर व आंखों में भारीपन, आलस्य जृम्भा।

उपचार– नींद लेना, संवाहन (हाथ-पैर दबवांना)

९. कास वेग–

रोकने से– कास बढ़ जाता है, श्वास, अरुचि व हृदय रोग, हिक्का।

उपचार– कासनाशक चिकित्सा

१०. श्रम जनित श्वास वेग–

रोकने से– गुल्म, हृदरोग, मूर्च्छा।

उपचार– आराम करना चाहिए, वातनाशक उपचार करें।

११. जृम्भा वेग–

रोकने से– छींक के समान लक्षण- शिर मे दर्द, इन्द्रिय दुर्बलता, मन्यास्तंभ, अर्दित रोग।

उपचार– वातनाशक उपचार करें।

१२. आंसु वेग–

रोकने से– पीनस, नेत्ररोग, शिरोरोग, मन्यास्तंभ, अरुचि, भ्रम तथा गुल्म।

उपचार– नींद लेना, मद्यपान, प्रियकथा सुनना।

१३. छर्दिवेग–

रोकने से– विसर्प, कोठ, कुष्ठ, नेत्ररोग, कंडु, पांडु, ज्वर, कास, श्वास, जी मचलाना आदि।

Scanned by CamScanner

उपचार– गण्डूष, धूमपान, उपवास, रूक्षअन्नपान, वमन, व्यायाम, मोक्षण, विरेचन, तैलाभ्यंग।

१४. शुक्रवेग–

रोकने से– शुक्रस्राव, भेदन व वृषण में वेदना, शोथ, ज्वर, हृदपीड़ा, मूत्रावरोध, अंगमर्द वृद्धिरोग, पथरी, नपुंसकता।

उपचार– मुर्गा, सुरा, शालि, बस्ति, अभ्यंग, अवगाहन करें। बस्ति शोधन करने वाले द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध पान करें।

आचार्य वाग्भट ने अधोवायु व उद्गार को वात मे समाविष्ट करते हुए १३ प्रकार के अधारणीय वेगों का वर्णन किया है। अन्य आचार्यों ने कासवेग को ना मानकर अधोवायु व उद्गार को अलग-अलग मानकर १३ प्रकार के ही अधारणीय वेगों का वर्णन किया है।

- **वेग धारणजन्य रोगों की असाध्यावस्था–**

(१) प्यास से पीडित
(२) शूल से पीडित
(३) क्षीणधातु
(४) मल का वमन

- **वेग धारण जन्य रोगों का सामान्य चिकित्सा सूत्र–**

वेगों को धारण करने से वायु अनेक प्रकार से कुपित होती है। अत: इन रोगों में वायु का अनुलोमन करने वाला अन्नपान व औषध लें।

धारणीय वेग– मनुष्यों को जितेन्द्रिय रहकर लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, राग आदि वेगों को धारण करना चाहिए।

(मात्सर्य– दूसरों का शुभ होने पर द्वेष)

आगन्तुक रोग– जो रोग भूत, विष, वायु, अग्नि के कारण, क्षत लगने से, टूटने से उत्पन्न होते हैं तथा राग, द्वेष आदि से जो उत्पन्न होते हैं आगन्तुक रोग कहलाते हैं। इन रोगों में पहले रूजा आदि लक्षण होते है और बाद में दोष व धातु दुष्टि होती है।

चिकित्सा– प्रज्ञापराध का त्याग, सद्व्रत पालन आदि।

रोगों से बचने के उपाय–

शीतकाल में संचित दोष का अर्थात् (कफ) → बसंत में शोधन (वमन)
ग्रीष्मकाल में संचित दोष का अर्थात् (वात) → वर्षा में शोधन) (बस्ति)
वर्षा में संचित दोष का अर्थात् (पित्त) → शरद में शोधन (विरेचन)

Scanned by CamScanner

पंचम अध्याय

द्रवद्रव्यविज्ञानीय

आचार्य वाग्भट ने वर्गों में समस्त द्रव पदार्थों को विभाजित किया है।

तोयवर्ग, दुग्धवर्ग, तैलवर्ग, मद्यवर्ग, इक्षुवर्ग, मूत्रवर्ग, मधुवर्ग।

१. तोयवर्ग– इस वर्ग में विभिन्न प्रकार के जलों का वर्णन किया है।

गंगा का जल– लघु, जीवनदायक, अमृतसमान होता है।

समुद्र का जल– इसका पान सिर्फ अश्विनमास में बताया है।

नदियों का जल–

(१) पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का जल पथ्य बताया है, अन्य नही।

(२) हिमाचल से निकली नदि का जल → कृमि, श्लीपद, नदी का जल, हृदरोग, के रोग शिरोरोग

अवन्ती से पूर्व, पश्चिम देश से उत्पन्न नदि → अर्श रोग उत्पत्ति

महेन्द्र पर्वत → उदररोग, श्लीपद

सह्य, विध्याचल → कुष्ठ, पांडु, शिरोरोग

पारियात्र → दोशनाशक, बल दायक

सामुद्रजल → त्रिदोषकारक

- **कूपादि का जल–** कूप, तड़ाग आदि का जल आनूप, जांगल देश के समान समझना चाहिए।
- **नारियल जल–** स्निग्ध, शीत, वातपित्तनाशक, मूत्राशय शोधक होता है।
- **अंतरिक्ष जल–** वर्षा ऋतु में वर्षा का जल सर्वश्रेष्ठ है, नदी का जल हीन बताया है। अन्तरिक्ष जल को सभी जलों मे सर्वश्रेष्ठ बताया है।

शीतल जल के गुण– मूर्च्छा, गरमी, रक्त, पद, विष को दूर करता है।

उष्ण जल के गुण– दीपक, पालक, लघु, वात कफ नाशक, आध्मान मूत्राशय शोधक है।

क्वथित शीतल जल के गुण– अनभिष्यन्दी, लघु एव पित्तज विकारों मे सर्वश्रेष्ठ है।

Scanned by CamScanner

जल पीने के अयोग्य रोग– (१) शरद व ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं मे स्वस्थ मनुष्य को भी कम पानी ही पीना चाहिए।

(२) मंदाग्नि, गुल्म, शोथ, पाण्डु, उदररोगी, अतिसार, अर्श - ग्रहणी आदि रोगों मे कम पानी पीना चाहिए।

भोजन के प्रारंभ में जल पीने से शरीर कृश होता है।

भोजन के मध्य में जल पीने से शरीर समान रहता है।

भोजन के अंत में जल पीने से शरीर स्थूल होता है।

२. दुग्ध वर्ग–

सामान्य लक्षण– मधुर रस, मधुर विपाक, शीतवीर्य, वातपित्तनाशक, कफकारक, ओजोवर्धक वृष्य, स्निग्ध होता है।

दूध आठ प्रकार का होता है। गाय-भैंस, भेड़-बकरी, हाथी, ऊंटनी, स्त्री दुग्ध एक खुर वाली गधी। घोड़ी का दुग्ध।

- **गोदुग्ध–** जीवनीय, रसायन है। रक्तपित्त, जीर्णज्वर, श्वास कास आदि।
- **भैंस दुग्ध–** ज्यादा गुरु, शीतल है। तीक्ष्णाग्नि व अनिद्रा मे हितकर है।
- **बकरी दुग्ध–** लघु होता है। शोष, ज्वर, अतिसार, श्वास, रक्तपित्त।
- **भेड़ी दुग्ध–** मध्य, उष्ण, वातव्याधिकर, हिक्का, श्वास, कफ पित्त वर्धक।
- **हाथी दुग्ध–** अति स्थैर्यकर होता है।
- **ऊंटनी दुग्ध–** लवण रस, उष्ण, दीपन, अर्श शोफ उदर कृमि, वातकफ नाशक है।
- **स्त्री दुग्ध–** वात पित्त रक्त, अभिघातजन्य नेत्ररोग मे– तर्पण, नस्य, आश्च्योतन।
- **एकखुर दुग्ध–** अतिउष्ण, जड़ता देता है, श्वास वातहर, अमल लवण रस है।
- **कच्चा दुग्ध–** अभिष्यंदी, गुरु होता है।
- **पका दुग्ध–** अतिशय गुरु होता है।
- **धारोष्ण दूध–** अमृत के समान होता है।

दही– विपाक, रस में अम्ल, ग्राही, वातनाशक, शोफकृत, विषमज्वर, मूत्रकृच्छ्र, पीनस में लाभदायक है। रात मे नही खाएं। बसंत, ग्रीष्म, शरद मे नहीं खाएं।

नवनीत– शीतल, अग्निवर्धक, वृष्ण, ग्राही है। वात पित्त रक्त नाशक, अर्श, अर्दित, कास में लाभकारी है।

Scanned by CamScanner

घी– स्मृति, मेधा, बल, आयु, अग्नि वर्धक है। वात पित्तनाशक, उन्माद, शोष, ज्वर नाशक है। सभी स्नेहों मे सर्वश्रेष्ठ है। संस्कार करने पर हजारों कर्म कर सकता है।

पुराण घृत– अपस्मार, मूर्च्छा, शिरोरोग, कर्णरोग, योनिरोग मे लाभकारी है।

तक्र– रस- कषाय, अम्ल, वातकफ नाशक, दीपक, ग्रहणी, अर्श, उदररोग, गुल्म, घृतव्यापद, विष, पाण्डुरोग में हितकारी है।

दूध और घी में गाय के श्रेष्ठ है।
दूध और घी मे भेड़ के निकृष्ठ है।

३. इक्षु वर्ग–

गन्ने का रस– रेचक, स्निग्ध, रक्तपित्त नाशक, मधुरस, मधुर विपाक, मूत्रल, वृंहण करता है। वातनाशक है।

दंत पीड़ित– शर्करा के समान

यांत्रिक पीडित– विदाही, गुरु, विष्टम्भी होता है।

बासगन्ना → शतपर्वक → कान्तार → नैपाल → पौण्ड्रक
हीनतम — श्रेष्ठतम

गन्ने के रस की विकृतियाँ– ५

फाणित — गुड़ — मत्स्यण्डिका — खण्ड — शर्करा
हीन — श्रेष्ठ

फाणित– त्रिदोषकर है।

गुड़– कफ वर्धक, मूत्रमल को बाहर निकालता है। कृमि मज्जा, रक्त, मांस, मेद, कफ वर्धक है।

पुराण गुड़– हृद्य व पथ्य है।

नवीन गुड़– कफ वर्धक, अभिमांद्य करता है।

४. मधु वर्ग– रस-कषाय, मधुर।

- वातकारक, रक्तपित्त, कफ नाशक है। छेदक है।
- व्रण शोधक, रोपण, संधान करता है।
- प्रदेह, कुष्ठ, श्वास, कास, हिक्का ये लाभकारी है।
- योगवाही होता है। स्थूल तथा कृश दोनों के लिए हितकारी होता है।

Scanned by CamScanner

[मधु के भेद से मधु चार चरक व सुश्रुत- आठ प्रकार का होता है।

भ्रमर- शुक्लवर्ण

पौत्तिक- घृतवर्ण

क्षौद्र- कपिलवर्ण

माक्षिक- तैलाभं

उष्ण मधु के गुण- (१) उष्ण किया हुआ।

(२) उष्ण समय मे प्रयुक्त

(३) उष्ण द्रव्यों के साथ प्रयुक्त मधु इन तीनों ही स्थितियों में मधु मारक होता है।

५. तैल वर्ग- गुण → तीक्ष्ण, व्यवायी, सूक्ष्म, उष्ण, कफकारक नहीं है।

→ त्वग्दोषकर, चक्षु के लिए हानिकर है।

→ मल को बांधने वाला, कृमिनाशक है।

→ कृश को बृंहित व स्थूल को लंघित करता है।

→ संस्कार से सभी रोगों को जीत सकने की क्षमता रखता है।

→ तैल वातकफज रोगों की सर्वश्रेष्ठ शमन चिकित्सा है।

→ सभी तैलों मे तिलतैल सर्वश्रेष्ठ है।

- **एरण्ड तैल-** विरेचक, वातनाशक, शोथनाशक है।
- **सरसों तैल-** कुष्ठनाशक, व्रणनाशक, कृमिनाशक है।
- **बहेड़ा तैल-** शीतल, केश्य, वातपित्त नाशक है।
- **नीम तैल-** कुष्ठनाशक, कृमिनाशक, कफनाशक है।
- **कुसुम्भ, अलसी तैल-** त्वग्दोषकर, कफ, पित्त बढाते है।

वासादि के गुण- वसा-मज्जा वातनाशक है, कफपित्त कारक है। जिस प्राणी की वसा-मज्जा होता है, वह उस प्राणी के मांस व मेद के गुण के समान होती है।

६. मद्यवर्ग-

युक्तिपूर्वक मद्यपान-

- अम्लरस, अम्ल विपाक, तीक्ष्ण, उष्ण होता है।
- रक्तपित्त वर्धक, सर, लघु होता है।

Scanned by CamScanner

- रूक्ष, सूक्ष्म, स्रोतो शोधक है।
- वातकफ नाशक है।
- लवण को छोड़कर शेष सभी रस होते है।
- स्थूल कृश दोनों के लिए लाभकारी है।
- अनिद्रा तथा अतिनिद्रा दोनों में लाभकारी है।

अयुक्ति से पिया मद्य विष के समान माना गया है।

नूतन मद्य गुरू व दोषजनक है।

पुराण मद्य लघु व दोषनाशक है।

मद्य वर्ग में उन द्रव्यों का वर्णन किया गया जिनमें Fermentation क्रिया होती है।

- **सुरा–** मेद, रक्त, स्तन्य, मूत्र, कफ को बढाती है।
- **वारुणी–** हृद्य है। श्वास, कास, पीनस, विबंध नाश करती है।
- **अरिष्ट–** मद्य के गुण अधिकता से होते है। दीपन, वातकारक शोषघ्न है।
- **सीधु–** वातपित्तकर, स्नेहव्यापद, कफरोगों में लाभकारी है।
- **शुक्त–** रक्तपित्त, कफ का क्लेदन करता है, वातानुलोमक है। हृद्य है, शिशिर स्पर्श है।
- **शाण्डकी–** रोचक, लघु है।
- **कांजी–** शीत स्पर्श, दीपन, निरूह में प्रशस्त, लघु, वातकफहर, विरेचन होता है।

७. मूत्रवर्ग– आठ मूत्रों को समावेश किया गया है। गाय, भैंस, भेड़ बकरी, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गधा।

सामान्य गुण–

- पित्तवर्धक, रूक्ष, कटुरस, अनुरस लवण होता है। लघु, उष्ण होता है।

→ कृमि, शोफ, उदर, शूल, पाण्डु, कुष्ठ, अर्श को नाश करता है।

Scanned by CamScanner

दिव्य औषधीय, सुगन्धित एवं सौन्दर्यकरण पौध

डॉ० बी० डी० शर्मा, वैद्यराज आचार्य बालकृष्ण एवं आचार्य मुक्तानन्द

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट)

कृपालु बाग आश्रम, कनखल, हरिद्वार-249408

फोन :- 01334-240008, 244107, 246737

फैक्स :- 244805

e-mail : divyayoga@rediffmail.com

Visit us : www.divyayoga.com

ओ३म्

आरोग्य अध्यात्म संस्कृति संस्कार शिक्षण

दिव्य औषधीय सुगन्धित एवं सौन्दर्यकरण पौध

: सम्पादन :

डॉ0 बी0डी0 शर्मा, वैद्यराज आचार्य बालकृष्ण

एवं

आचार्य स्वामी मुक्तानन्द

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट)

कृपालु बाग आश्रम, कनखल,

हरिद्वार- 249408

दूरभाष : 01334-244107, 240008, 246737

e-mail : divyayoga@rediffmail.com

visit us at: www. divyayoga.com

ओ३म्

- प्रथम मुद्रण : 2004
- दिव्य औषधीय सुगन्धित एवं सौन्दर्यकरण पौध

- © सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

- ISBN : 81-09235-05-2

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत पुस्तक में निहित समस्त प्रकाशित सामग्री के कॉपीराइट दिव्य प्रकाशन, दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) के पास सुरक्षित है। अतः कोई भी व्यक्ति अथवा कम्पनी इस पुस्तक का नाम, कवर डिजाइन, प्रकाशित लेख इत्यादि को किसी भी तरह से तोड़-मरोड़कर, आंशिक या पूर्णरूप से किसी पुस्तक अथवा किसी सामयकि (न्यूजपेपर, मैगजीन इत्यादि) में प्रकाशक से लिखित अनुमति लिये बिना प्रकाशित करने की चेष्टा न करें, अन्यथा समस्त कानूनी हर्जे-खर्जे के स्वयं जिम्मेदार होंगे। किसी भी प्रकार के मुकदमे के लिए न्यायक्षेत्र हरिद्वार रहेगा।

प्रकाशक : **दिव्य प्रकाशन,**
दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट),
कृपालु बाग आश्रम, कनखल,
हरिद्वार- 249408

e-mail : divyayoga@rediffmail.com
visit us at: www. divyayoga.com

दूरभाष : 01334-244107, 240008, 246737
फैक्स- 01334-244805

एकमात्र वितरक: डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि.
X-30, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-II,
नई दिल्ली - 110020
फोन : 011-51611861, फैक्स : 011-51611866

e-mail : sales@diamondpublication.com
visit us at: www. diamondpublication.com

मुद्रक : ऋषि ऑफसैट प्रिंटर्स, वेद मन्दिर, गीता आश्रम,
ज्वालापुर, हरिद्वार, ☎ 01334-253846

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	प्राक्कथन	2 4
2.	घरेलू औषधीय पौधे	5 6
3.	ग्रीष्म व बरसात ऋतु के पौधे	7 25
4.	सर्दी के मौसम में होने वाले पौधे	26.....27
5.	बहुवर्षायु पौधे	28.....39
6.	हिमालय के ऊँचाई व ठण्डे क्षेत्रों के पौधे	40.....43
7.	सजावट व सौन्दर्यकरण पौधे	44.....46
8.	शब्दकोष	47.....61

प्राक्कथन

"दिव्य योग मंदिर" पिछले 9-10 वर्षों से जनसेवा में प्रयासरत है। यह जनसेवा कार्य पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर व्यापक होता जा रहा है। इसके दो पहलू विशेष हैं– (1) आयुर्वेद द्वारा कठिन व जटिल रोगों को उपचार व (2) यौगिक क्रियाओं द्वारा इस चिकित्सा-कार्य को और अधिक सक्षम व सर्वसुलभ बनाना। यह सब इस संस्था के विशेष संकल्प के अधीन अग्रसर हो रहा है। यह संकल्प है, भारत के जन-जन को स्वस्थ जीवन शैली प्रदान करना। यह पुनीत कार्य दिव्य योग मंदिर द्वारा कई तरह से किया जा रहा है। इसमें उल्लेखनीय हैं–

1. आयुर्वैदिक चिकित्सा कार्य के लिए गुणवत्तायुक्त औषधियों का निर्माण।
2. हिमालय के दुर्गम क्षेत्रों में भ्रमण कर औषधीय पौधों की सही पहचान सुनिश्चित करना।
3. विभिन्न औषधीय पौधों को इकट्ठा करके उद्यान में संरक्षित करना जिससे इन पौधों का औषधीय निर्माण कार्य में उपयोग किया जा सके।
4. सही पहचान वाले पौधों को खेती के रूप में उगाने के कार्यक्रम को क्रियारूप देने का भविष्य में प्रयास।
5. जन-जन को सर्व सुलभ औषधीय पौधों का ज्ञान प्रदान कर उन्हें इन पौधों का संरक्षण करने की चेतना देने का टी०वी० चैनलों के माध्यम से प्रचार एवं प्रसार करना।
6. अधिक उपयोगी पौधों को सुलभ करने का प्रयास आदि।

पूज्य स्वामी रामदेव जी तथा चिकित्सक शिरोमणि वैद्यराज बालकृष्ण जी के इस दिशा में किए गए व किए जा रहे प्रयासों से अधिकांश भारतवासी परिचित हैं। इन प्रयासों को आगे गति देने में बहुत से सहयोगी भी आगे आ रहे हैं।

हरिद्वार में 'हर्बल गार्डन' का महत्व तथा 'दिव्य योग मंदिर' का जन स्वास्थ्य में औषधीय पौधों को महत्व प्रदान में सहयोग-

हर भारतवासी के लिये 'हरिद्वार' गहरी धार्मिक आस्था को अन्तर्निहित किये हुये है। इसके अतिरिक्त यह स्थान अतिप्राचीन काल से ही अनेकों ऋषि, मुनि व तपस्वी जनों का भी प्रिय स्थान रहा है। यहाँ इन महान् आत्माओं की विशेष अदृश्य करुणा सदैव विद्यमान रहती है। यही नही इसके आसपास के जंगलों में अनेकों प्रकार की जड़ी-बूटियाँ

सुगमता से प्राप्त हो जाती हैं, जो नैसर्गिक गुणों से भरपूर होती हैं। गंगा जी का पवित्र जल भी इसमें योगदान दे रहा है।

'दिव्य योग मंदिर' में चिकित्सा हेतु आने वाले लोगों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जो आजकल 3000 से 4000 तक होती है। इसके अतिरिक्त पूज्य स्वामी रामदेव जी के सानिध्य में पूरे देश में योग शिविर का क्रम थमता नजर नहीं आ रहा है। सुगमता से उपलब्ध होने वाले औषधीय पौधों के विषय में टी०वी० के माध्यम से स्वमी रामदेव जी के द्वारा प्रवचन करने से एक बार फिर जनमानस में एक नयी चेतना व आस्था का संचार होने लगा है। उदाहरण के रूप में अश्वगंधा के पत्तों का शारीरिक भार कम करने की नई खोज व्यापक रूप से सराहना का केन्द्र है, विशेष रूप से जब इसका उपयोग यौगिक क्रियाओं जैसे प्राणायाम (कपालभाती, भस्त्रिका आदि) के साथ करने से अदभुत 20 किलो तक वजन प्रतिदिन कम करने के परिणाम सामने आए हैं। इसके अतिरिक्त गिलोय, पुनर्नवा, बला, भूंई आंवला, श्योनाक, दमा बूटी आदि के बारे में जन जागरण विशेष महत्व प्राप्त कर चुका है। वैद्य शिरोमणि बालकृष्ण जी महाराज ने हेपाटाइटिस-बी व सी के रोगियों, मधुमेह (Diabetes), उच्च-रक्तचाप (H.B.P.), जोड़ों के दर्द आदि के कष्टसाध्य रोगियों की सफल चिकित्सा करके, चिकित्सा-संसार में व जनमानस में एक नया उत्साह व आस्था का उदय किया है। लोगों में अब पुनः जड़ी-बूटी चिकित्सा के प्रति एक नई आस्था उमड़ पड़ी है। भारत के विभिन्न भागों से लोग केवल जड़ी-बूटी की जानकारी व प्राप्ति के लक्ष्य से 'दिव्य योग मंदिर' आश्रम में आ रहे हैं।

'दिव्य योग मंदिर' द्वारा अष्टवर्गीय औषधीय पौधों की पुनः प्रतिष्ठा (स्थापना)–

पिछले 4-5 वर्षों में हिमालयी दुर्गम क्षेत्रों की खोज-यात्राओं के फलस्वरूप अष्टवर्ग की सही पहचान कर ली गई है तथा इनके प्राप्ति-स्थलों का ज्ञान भी हो चुका है। इनके बारे में शीघ्र ही हिन्दी व अंग्रेजी भाषाओं में विवरण पुस्तकें छपवाई जा रही हैं। हिमालयी शीत प्रदेशों में यदि कहीं भूमि उपलब्ध हो सकी तो इनकी खेती करने के प्रयास हो सकेंगे, ऐसी आशा की जाती है।

सौन्दर्यकरण पौधों का एकत्रीकरण व प्रवर्धन–

इस क्षेत्र में भी 'दिव्य योग मन्दिर' तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। बहादराबाद स्थित कृषि क्षेत्र में एक पौधशाला मूर्त्तरूप लेने जा रही है, जो एक उदाहरणीय

प्रयास के रूप में उभरने वाली है। इस समय आश्रम के उद्यान में 100-150 प्रजातियाँ गुलदाउदी की, 90-100 प्रजातियाँऽहलिया की, 30-40 प्रजातियाँ गुलाब की, 20-25 प्रजातियाँ ग्लैडियोलाई की, 14-15 प्रजातियाँ वोग्नविलिया तथा अन्य कई प्रकार के फूल संरक्षण के रूप में यहाँ हैं। इस काम में सिद्धहस्त आचार्य मुक्तानन्द जी सराहनीय योगदान देने मे संलग्न हैं। आने वाले समय में इस क्षेत्र में विशेष प्रयास किये जाने की योजना अपने अंतिम रूप में है। पौधशाला में लगभग 50-60 प्रकार के पौधे तैयार किये जा चुके हैं। यह भी जनस्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

वानस्पतिक औषधीय पौधे तथा उनके गुण-धर्म व प्रयोग-

आयुर्वेद में कुल अनुमानित 45000 पौधों में से अभी लगभग 1500 पौधे ही ऐसे हैं जिनका औषधीय उपयोग किया जाता है, जबकि आयुर्वेद में लगभग 1500 पौधे, कुल अनुमानित 45000 पौधों में से औषधीय उपयोग में अभी होते हैं, जबकि ऐसा माना जाता है कि धरती पर होने वाला ऐसा कोई पौधा नहीं जो औषधीय गुणयुक्त न हो। यदि हम वैदिक काल के साहित्य का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि वेदों में व वेदांगो में 105 औषधीय पौधों का उल्लेख मिलता है। चरक संहिता में औषधीय पौधों की संख्या 400 है।

सर्वसाधारण की जानकारी व उत्सुकता के लिए आगे कुछ पौधों के हिन्दी व वानस्पतिक नाम के साथ उनके मुख्य गुणधर्म दिए जा रहे हैं। इसका मुख्य उद्देश्य सभी को जड़ी-बूटी सम्बन्धी जानकारी से अवगत कराना है तथा इनके संरक्षण व उपयोग के लिये प्रेरित करना है। हमारे गाँवों में बहुत-सी सर्वसुलभ ऐसी जड़ी-बूटियाँ हैं, जिनके उपयोग से बहुत रोगों का इलाज चमत्कारी असर दिखाता है और पैसे का दुरूपयोग भी बच जाता है। इस विवरणिका में बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है। आशा है कि जिज्ञासु सज्जन इससे प्रेरणा प्राप्त कर, अन्य स्रोतों से विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का प्रयास अवश्य करेंगे। इसमें घरेलू औषधीय पौधों के अतिरिक्त सर्वसुलभ विभिन्न मौसमों में उगने वाले व हमेशा मिलने वाले पौधों की सूची देने का अल्प प्रयास किया गया है।

(क) घरेलू औषधीय पौधे

1. **Allium Cepa Linn. प्याज**
   Cholera, Sciatica, Skin Problems, Epileptic Fits etc.
   व्रणशोथ, गृध्रसी, योषापस्मार, कास, चर्मरोग, शोथरोग, संधिवात।

2. **Allium Sativum Linn. लहसुन**
   Anti-inflammatory effect in arthritis, anti-bacterial, hypoglycemic, diaphoretic, diuretic, expectorant, effective as ear drops in oil, ear problems, lowers cholesterol and blood pressure anti-coagulant.
   पक्षाघात, गृध्रसी, हृदयरोगों में, अर्श, अजीर्ण, जीर्ण-कास आदि।

3. **Elettaria Cardamomum Maton. छोटी इलायची**
   Stimulant, masticatory, spice, diuretic.
   वातहर, शीतल, श्वास-कासहर, हृदय के लिय उत्तम, रोचन, दीपन।

4. **Ammomum Subulatum Roxb. बड़ी इलायची**
   Analgesic, Skin Problems, boils, carminative, diuretic, poison antidote, anti-pyretic, removes odour from mouth.
   विषघ्न, कफ-निःसारक, त्वग् दोषहर, दुर्गन्धनाशन, व्रणरोपण, दीपन, पाचन, अनुलोमन, वेदनास्थापन।

5. **Coriandrum Sativum Linn. धनिया**
   Brain tonic, carminative, digestive, wormicidal, diuretic.
   मस्तिष्क के लिये बल्य, रोचन, दीपन, पाचन, कृमिघ्न, मूत्रजनन।

6. **Curcuma Longa Linn. हल्दी**
   Anti-septic, useful in ulcers, wounds, cold, cough, bronchitis, conjuctivitis, liver diseases, sprain, painful oedema.
   सर्दी, खांसी-जुकाम, चर्मरोगहर, वर्ण्य, विषघ्न, शोथघ्न, चोट आदि में हितकर।

7. **Cuminum cyminum Linn. सफेद जीरा**
Carminative, digestive, anti-flatulent, wormicidal, antipyretic, tonic, diuretic, cardiac & blood disorders.
अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ग्रहणी, अर्श, कृमि, रक्तविकार, मूत्राघात, नवीन व पुराने ज्वरों में हितकारी, बलवर्धक, श्वेतप्रदर।

8. **Ocimum Sanctum Linn. Sacred basil. तुलसी**
Aromatic, Carminative, Antipyretic, diaphoretic, expectorant.
वातहर, कफहर, ज्वरहर, दीपन, श्वास-कासहर, विषघ्न, हृदय के लिये उत्तम।

9. **Ocimum Basilicum Linn. Sweet basil. बर्बरी तुलसी**
Carminative, cooling, cures kapha and vaata disorders, dyspepsia, cough, constipation, bronchitis, fever etc.
कफवातशामक, अरुचि, अग्निमांद्य, हृदय की कमजोरी, रक्तविकार, कास-श्वास, कण्डू, कष्टार्तव, पत्र तथा मूल विषहर।

10. **Piper Nigrum Linn. Black Pepper. काली मिर्च**
Alterative, stimulant, carminative, a valuable gastrointestinal stimulant, stomachic, congestive chills, indigestion, Kasahar, Pitkar.
कफवातजन्य रोगों में हितकर, यकृत्-विकार, अजीर्ण, अग्निमांद्य, प्रतिश्याय, कास-श्वास, रजोरोग, चर्मरोग, शीतज्वर, मूत्रकृच्छ।

11. **Zingiber Officinale Rosc. Ginger. अदरक**
Stimulant, carminative, much valued in atonic dyspepsia and flatulence, rub-efacient, relieves headache.
कफवातजन्य विकारों में, वातव्याधि में, कोष्ठवात, अग्निमांद्य, अरुचि, कास-श्वास, हिक्का, प्रतिश्याय, हृदय रोगों में, शोथ, आमवात आदि।

(ख) ग्रीष्म व बरसात ऋतु के पौधे

12. **Abelmoschus Esculentus Moench. Lady's finger. भिण्डी**
Nutritious, appetising, laxative, aphrodisiac, useful in chronic dysentery, difficulty in urination.
पित्तशामक, श्लेष्महर, बलदायक, रूचिकर, हाजमा बढ़ाने वाली।

13. **Abelmoschus Moschatus Medic. Musk Mallow. कस्तूरी भिण्डी**
Root and leaves useful in micturition and as aphrodisiac.
कफ पित्त के रोगों में, मुख दुर्गन्धिनाशक, रुचिकर, दीपन, हाजमा करने वाली, मूत्रल, वृष्य, हृदयोत्तेजक।

14. **Abrus Precatorius Linn. Crab's Eye. गुञ्जारत्ति**
Plant is bitter, emetic, tonic, vermifuge, demulcent, emollient, thermogenic, antihistaminic, antiseptic, aphrodisiac, beneficial for hair, root is emetic, alexiteric, diuretic, tonic, seeds are purgative, emetic, aphrodisiac, useful in nervous disorders.
बीज कफवातशामक, पत्र त्रिदोषहर, विशेषतः वात-पित्तशामक, वात व्याधि, पक्षाघात, बाल गिरने में, चर्मरोगों में, बीजों का प्रयोग शुद्ध करके, चौलाई के पत्तों का रस चीनी के साथ खाने से इसके बुरे प्रभाव को ठीक करता है।

15. **Abutilon Indicum Linn. Sweet. अतिबला**
Febrifuge, anthelmintic, antiinflammatory, piles, lumbago, convulsion, cramps, consumption, bronchitis.
वातपैत्तिक विकारों में, व्रणशोथ, नेत्ररोग, पक्षाघात, उरःक्षत, रक्तपित्त, प्रदर, शुक्रमेह, हृद्दौर्बल्य, क्षयरोग, कृशता।

16. **Achyranthes Aspera Linn. Pricklychaff. अपामार्ग**
Cardiotonic, Carminative, diuretic, ascite, enlargement of cervical glands, piles, urinary diseases, boils etc.

कफवात रोगों में, शोथ वेदनायुक्त विकारों में, गुहेरी, अर्श, पित्ताश्मरी, हृद्रोग, रक्तविकार, आमवात, शोथ रोग, अश्मरी, चर्मरोग, दौर्बल्य।

17. **Adiantum Philippense Linn. (=A. Lunalatum Burm) हंसपदी**
Alexiteric, blood diseases, burning sensation, eliptic, fits, dysentery, ulcers, atrophy, muscular pain, emaciation, fronds applied to gouty and other swellings.
कफपित्तशामक, विसर्प, लूताविष, व्रण, रक्तपित्त, दाहप्रशमन, विषघ्न।

18. **Aerva Lanata Juss. अश्माभेद, पाषाणभेद**
Cooling, diurectic, lithotriptic, diabetes, lithiasis.
मूत्रजनक, वेदनास्थापन, कासहर, अश्मरीघ्न (सर्वोत्तम दवा)

19. **Aloe Barbadensis Mill. घृतकुमारी, घीक्वार**
Cures Piles, Coughs, cold, stimulant for hair growth, useful in painful inflammation, chronic ulcer, skin problems.

20. **Althoea Officinalis Linn. खत्मी**
व्रणशोथ, स्तनशोथ में पत्तों का लेप, अन्य शोथ अन्त्रावरोध में बीज व मूल क्वाथ, मूत्रदाह, मूत्राघात आदि।

21. **Amaranthus Spinosus Linn. कांटा चौलाई**
Cooling, carminative, laxative, uterine pain, stops bleeding, leucorrhoea, habitual tendency for abortion, leaf poultice useful in boils, abscesses and burns.
कफपित्तशामक, रोचन, दीपन, हृदय, मूत्रल, दाह प्रशमन, विषघ्न, शोथ, स्तन व गर्भाशय की वेदना, अशक्ति, अत्यातर्व आदि।

22. **Amorphophallus Companulatus Blume. सूरण, जमींकद**
Arshoghna, Carminative, tonic, stomachic, restorative, cures piles, colic, abdominal tumours, obesity, asthma, improves action of liver, removes constipation.
कफवात विकारों में, सन्धिशोथ व अर्बुद लेप, अर्श, कास-श्वास आदि।

23. **Anacyclus Pyrethrum DC. Pellitory. जड़वाला अकरकरा**
Cordial, stimulant, sialgogue, used in rheumatism, roots used in toothache, tonic to nervous system, tonsilitis, pharyngitis.
कफवातजनित रोगों में, पक्षाघात, नाड़ी दौर्बल्य में तेल के रूप में, मूल क्वाथ, कुल्ला करने से दन्तकृमि, दन्तशूल, कंठशालुक शोथ, आमवात, शोथ।

24. **Andrographis Paniculata Nees. कालमेघ**
Cures bacillary dysentery, the ionotropic effect on heart, hepoprotective, antipyretic, promotes digestive functions.
कफपित्त विकारों में, यकृत-उत्तेजक, दीपन, शोथहर, ज्वरघ्न, कृमिघ्न, यकृत्-वृद्धि, विबन्ध, रक्तविकार, कामला, ज्वरोत्तर दौर्बल्य।

25. **Aristolochia Indica Linn. नाकुली, ईश्वरमूल**
Gastric stimulant in atonic dyspepsia, stimulant, tonic, emmenagogue, intermittent fevers, chronic skin ulcers, antisnake poison.
कफवात विकारो में, सर्पविष में, व्रणों में, शोथ वेदनायुक्त विकारों में, मानस रोगों में, उदरशूल, त्वचा रोगों में, विषम ज्वरों में, सभी प्रकार के विषों में।

26. **Artemisia Vulgaris Linn. दमनक, दोना नागदमन**
Stomachic, deobstruent, emmengogue, anthelmintic, antispasmodic, useful in cough, asthma, bronchitis, nervous and spasmodic affections, antilithic alexipharmic.
त्रिदोषजन्य विकारों में, शोथवेदनायुक्त रोगों में, व्रणशोथ, वातव्याधि, उदरशूल, यकृत्-विकार, पित्ताधिक्य, श्वास-कास।

27. **Andropogon Citratus (DC) Staps. Lemon Grass. रोहिषा**
Stimulant, diaphoretic, antispasmodic, antifungal, antibacterial, mosquito repellent, effective for Root and nemalodes.
कण्डू, कास, शूल, कफज्वर के लिये उपयोगी।

28. Anethum Sowa Roxb. Ex Flem., Sowa, Indian Dill
शुतपुष्पा, कड़वी सौंफ, चपटी सौंफ

Seeds are digestive, carminative, stimulant, stomachic, anthelmintic diuretic, emmengagogue, galactagogue, cough, cardiac debility, ulcers ammenrrhoea, dys menorrhoea.

कफवातजन्य विकारों में, अजीर्ण, अग्निमांद्य, हृद्दौर्बल्य, शोथ, कष्टार्तव, रजोरोध, कास-श्वास, उदरशूल, हिक्का, योनिशूल, ज्वर, अरुचि।

29. Apium Graveolens Linn. Celery अजमोद

Herb is antioxidant, prevents gout and rheumatic pains, used as tonic, carminative, diurectic, emmengogue, seeds stimulant. cordial, tonic, aphrodisiac, rheumatism, antispasmodic, sedative, urinary antiseptic, nervine.

कफवात रोगों में, वृष्य, बल्य, दीपन, उष्ण, हृद्य, हिक्का, आध्मान, अरुचि, नेत्ररोगहर, कृमिघ्न, आमपाचक, ग्राही, जठराग्नि, प्रदीपक, वीर्यविकारनाशक।

30. Arachis Hypogaea Linn. Peanut, Ground Nut मूँगफली

Pod (Unripe) galactogogue, decoction of pods with water hypotensive, oil aperient, emollient.

वातकफ करने वाली, अनुलोमक, व्रणरोपण, पौष्टिक।

31. Argemone Mexicana Linn. Yellow Thistle स्वर्णक्षीरी

Anthelimintic, antileprotic, tonic, diurectic, antidote, root is alterative, useful in chronic skin diseases, seeds laxative, emetic, narcotic, poisonous in large quantities.

कफपित्तहर, उष्ण, विरेचक, शोथहर, व्रणशोधन, मूत्रल, वेदनास्थापन, कृमिघ्न, अनाह, विषघ्न, रक्तशोधक, रोपण, विबन्ध।

32. Asclepias Curassavica Linn. Wild Ipecacunanha. काकतुण्डी

Used in phthisis, styptic, purgative, cardiotonic, root decoction used in cancer, leaf juice antidysentric, anthelmintic, sudorific and used in haemorrhages.

उष्ण, यकृत्-उत्तेजक, आमाशयोत्तेजक, स्वेदजनन, कफघ्न, अनुलोमक।

33. **Asparagus Officinalis Linn (=A. adscendens Roxb.)**
शतावरी, सहस्रपदी

Diuretic, demulcent tonic, cardiac, sedative, aphrodisiac, useful in chronic gout, flatulence, calculous.

शीत व स्निग्ध, वृष्य, पौष्टिक, पित्तदाह, श्रमहर, वातपित्तशामक, कफवर्धक, शूलघ्न, रसायन।

34. **Asparagus Racemosus Willd. शतावरी, शतपदी**

Contains saponins 10%, increases bleeding time, slight diuretic & hypotensive, antipepti ulcer, antioxytocic, antidiarrhoaic, antidysentric, antiseptic, nutritive & tonic.

पित्तघ्न, वातघ्न, कफकारक, वृष्य, बल्य, दीपन, वयःस्थापन, वेदनास्थापन, रसायन, स्तन्यकारी, शूलघ्न, व्रणरोपण।

35. **Bacopa Monnieri (Linn.) Wettzt. नीर ब्राह्मी, ब्राह्मी**

Alkaloids 0.25%, cardiotonic, tranquillizer, sedative, improves, learning & memory, diuretic, nervine tonic, antistress, brain tonic, useful in epilepsy, hysteria, nervous breakdown, enhances power of imagination.

कफवातज रोगों में, त्रिदोष, वात-पित्त शामक, दीपन, पाचन, शोथहर, स्वर्य्य, मेध्य, विषहर, ज्वरघ्न, वेदनाशामक, कफघ्न, कण्डहर, रसायन ।

36. **Barleria Cristata Linn. लाल कटसरैया, सहचर**

Antiseptic, Leaves used in toothache, urinary and paralytic problems

कटुपौष्टिक, कफवातनाशक, शोथ, तृष्णा, विदाह, खुजली, रक्तविकार, चर्मरोग, दन्तविकार, केशों को पुष्ट व काला करने वाला और बढ़ाने वाला है। पत्तों का रस पाँव के तलवों में लगाने से अधिक गर्म व सर्दी आदि का असर रुकता है।

37. **Barleria Strigosa Willd. नीला कटसरैया**

स्वर सुधारने वाला, पंचाग क्वाथ व घृत वातज क्षय रोग में उपयोगी।

38. Barleria Prionitis Linn. पीला कट सरैया, पिया वांसा

Antiseptic, infusion applied to soles to tolerate extreme heat, cold and rough soils, leaves useful in paralytic, urinary problems, lacerated soles, stomach disorders.

कफवातजन्य विकारों में, शोथ, विद्रधि, गण्डमाला, चर्मरोगों में, वातरक्त।

39. Banincasa Hispida (Thunb). Cogn. Ashgourd. पेठा

Fruit is laxative, diuretic, tonic, aphrodisiac, antiperiodic, specific for haemoptysis, fruit juice used in insanity, epilepsy, nutritious.

मेध्य, पित्तशामक, वात-शामक, सर्वदोषहर, मांस धातु बढ़ाने वाला।

40. Blumea Lacera DC. कुकरौंधा

Antipyretic, cures bronchitis, blood diseases, is liver tonic, digestive, diuretic, stimulant, useful in cholera.

कफपैत्तिक रोगों में, यकृत्-विकार, अर्श, उदर रोगों में, रक्त विकार, कुत्ते के विष में इसका स्वरस 10 ग्राम, ज्वर, प्रदर में उपयोगी है।

41. Boerhavia Diffusa Linn. Hogweed. पुनर्नवा, गदहपुरणा, इटसिट

Tridoshhar, stomachic, diuretic, diaphoretic, expectorant, cardiotonic, antiinflammatory, Jaundice, calculus, heart diseases, ascities, scanty urine, internal inflammations, antidote to snake venom, diabetes.

शोथहर, त्रिदोषहर, नेत्ररोगों में उरःक्षत, रक्तप्रदर, मूत्रकृच्छ, ज्वर, दौर्बल्य, सर्प, मूसा विषों में प्रयोग होता है।

42. Bryonia Laciniosa Linn. (Diplocyclos Palmatus Jaff). शिवलिंगी

Used in ague, enlarged spleen, ague, colic, convulsions, paralysis of tongue, carbuncle, tumour, constipation, sores.

कटु, उष्ण, रसायन, पुत्रदायक, रेचन, दिव्या, ज्वरघ्न, बल्य।

43. **Bryophyllum Pinnatum (Lam.) Kurz.**
पर्णबीज, पाषाणभेद, जख्मेहयात
(=Kalanchoe Pinnata Pers.)
Bruises, wounds, boils, bites of insects, burns, controls diabetes.
वातपित्तशामक, रक्तस्तम्भक, व्रणरोपण, रक्तप्रदरनाशक, रक्तपित्तशामक, अश्मरीहर, मूत्रकृच्छ्रघ्न।

44. **Calotropis Gigantea R. Br. आक, मदार**
Calotropis Procera (Ait). R. Br. सफेद आक, अलर्क
In small doses alterative, tonic, diaphoretic, purgative, cures leprosy, leucoderma, ulcers, tumours, piles, diseases of spleen, liver and abdomen.
कटुपौष्टिक, विषघ्न, कैंसर प्रतिरोधी, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न, जन्तुहन्, शोथहर, श्वासहर, दीपन-पाचन, रक्तशोधक।

45. **Capsicum Annuum Linn. Capsicum Frutescens Linn. लाल मिर्च**
Carminative, nerve stimulant, rheumatism, rubifacient, antiseptic, Spasmolytic, increases appetite, chronic ulcer, source of vit. C, useful in atonic dyspepsia.
कफवात विकारों में, आमवात, कटिशूल, गृध्रसी, सन्धिवात, अरुचि।

46. **Cassia Alata Linn. Ringworm Weed. चक्रमर्द**
Leaves are sour, cure vat, antiparasiatic, eczema, ringworm, antifungal, cure for herpes and other skin diseases.
कफ, श्वास, कुष्ठ, दाद आदि के लिये, विरेचक, खुजली, विष आदि का इलाज।

47. **Cassia Fistula Linn. Indian Laburinum, Purging Cassia.**
अमलतास, आरग्वध
Skin diseases, effective in pyoderma, fruit pulp mild laxative, cures heart diseases.
वातहर, पित्तहर, विरेचन, खुलजी दूर करने वाला, रक्तपित्तहर, हृद्रोगहर।

48. Cassia Occidentalis Linn. Negro Coffee. कासमर्द

Cough, asthma and other respiratory diseases, leaves and seeds useful for skin diseases, ringworm.

कफवातशामक, विसर्प, दाद, व्रण, पित्तविकार, कास-श्वास, उदर रोग।

49. Cassia Tora Linn. Foetid Cassia. पंवाड, चक्रमर्द

All types of skin diseases, carminative, laxative, vermifuge, cures eczema, dermatosis, itching, ulcers, cough, dyspnoea, anorexcia, obesity respiratory ailments.

कफवातशामक, विषघ्न, कफनिःसारक, मेदोहर, त्वचारोग, पक्षाघात।

50. Celastrus Paniculatus Willd. Stafftree. मालकंगनी

Seeds alterative, stimulant, nervine, intellect and memory enhancing, brain tonic, sedative, anticonvulsant, external use relieves rheumatism, gout, paralysis.

कफवातशामक, पक्षाघात, सन्धिवात, कटिशूल, मेध्य, हृदयमन्दता, नाड़ी, बलदायक, शोथहर, मूत्रल।

51. Centella Asiatica (Linn.) Urban Indian Pennywort. मंडूकपर्णी, ब्राह्मी

Nervine, cardio-tonic, improves memory & intellect, useful in dermatosis, cough, diabetes, anaemia, emaciation, insanity, severe headache, eye troubles, skin diseases.

कफपित्तशामक, मेध्य, प्रमेहघ्न, विविध चर्मरोग, आमपाचन, बल्य, वयःस्थापन, हृदय की दर्बलता व इससे होने वाली शोथ, श्वास-कास।

52. Cleome Viscosa Linn. Wild Mustard. हुलहुल, तिलपर्णी

Leaves rubifacient, vasicant, sudorific, heals wounds, ulcers, seeds carminative, vesicant, antiseptic, wormicidal.

कफवातजन्य विकारों में, कर्णशूल, अजीर्ण, उदरशूल, कृमिरोग, गण्डुपद।

53. Coccinia Grandis (Linn.) Voight. कुंदरू, बिम्बी

(=C. Indica W. & A.)

Antidiabetic, alterative, carminative, infective hepatitis, cures earpain.

कफपैत्तिक विकारों में, मधुमेह, चर्मरोग, कामला।

54. Cucumis Momordica Roxb. एरुवारू, फुट

(=C. Melo var. Momordica Drf.)

Ripe fruit causes biliousness, unripe fruit cures cough, biliousness

पित्तहर, वातप्रकोपी।

55. Curculigo Orchioides Gaertn. काली मूसली, तालमूली

Rejuvenative, aphrodisiac, tonic, viriligenic, diuretic, restorative, alterative, piles jaundice, asthma, dysuria, menstrual derangement, leucorrhoea, menorrhagia.

वातपैत्तिक विकारों में, अर्श, कामला, कास-श्वास, चर्मविकार, कृशता, रसायन।

56. Chlorophytum Borivilianum San. & Fer. सफेद मूसली

Ch. Arundinaceum Baker.

Tonic, aphrodisiac, used for general debility, rheumatic and nervous complaints and diabetes.

बल्य, वृष्य, आमवात, सन्धिवात आदि रोगों में, कमजोरी में।

57. Costus Speciosus (Koen. Ex Retz.) Sm. कुष्ठ, दीपन,पाचन, हृद्य

कफवित्तहर, ज्वरघ्न, कास, प्रमेहनाशक।

58. Curcuma Amada Roxb. Mango Ginger. आमाहल्दी

Diuretic, emollient, expectorant, antipyretic, appetiser anodyne, antirheumatic, carminative, cooling, stomachic.

कफपित्तशामक, वातकर, वातानुलोमन, दीपन, पाचन, वेदनास्थापन, शोथहर, सभी प्रकार की खाज-खुजली दूर करने वाली।

59. Curcuma Aromatica Salisb. Wild Turmeric. वनहल्दी

Tonic, stimulant, carminative, useful in leucoderma skin diseases, impurities of blood sprains & bruises.

कफघ्न, पित्तविरेचक, पित्तशामक, वर्ण्य, रक्तदोषहर, चर्मरोग दूर करने वाली, विष नष्ट करने वाली, पाण्डुरोग व खुजली नष्ट करने वाली।

60. Curcuma Zedoaria Rosc. Zedoary. कचूर

Stimulant diuretic, demulcent carminative, expectorant and rubifacient, useful in flatulence, antimicrobial, antifungal, bruises, pain. colds etc.

दीपन, रुचिकर, कफहर, वातहर, मूत्रजनन, कृमिघ्न, श्वासहर, अर्श।

61. Cymbopogon Martinii (Roxb.) Wats. Palmarosa. आज्ञाघास, रोंहिष

Oil 0.15 to 0.40% extensively used in perfumery industry.

कफवातशामक, कफनिःसारक, मूत्रजनन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, रोचन, दीपन, रक्तशोधक, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न, वेदनास्थापन।

62. Cynodon Dactylon (Linn). Pers. दूबघास

Used in dropsy, epilepsy, insanity, syphilis, cuts & wounds,

कटे घावों का खून रोकती हैं, मृगी, पागलपन आदि में प्रयोग होती है।

63. Cyperus Rotundus Linn. Nut Grass. मोथा, मुस्तक

Indigestion, sprue, diarrhoea, demulcent, nervine tonic, diaphoretic, anthelmintic, vermifuge, galactagogue.

पित्तकफशामक, वातवर्धक, अरुचिहर, रक्तपित्तहर, दीपन, पाचन।

64. Datura Metel Linn. Thorn Apple. काला धतूरा

Germicidal, anodyne, narcotic, sedative, antiseptic,

कफवातशामक, वेदनास्थापन, श्वासहर, शोथहर, त्वग्दोषहर, अम्लपित्त, वृक्कशूल।

65. Desmodium Gangeticum DC. शालपर्णी

Antipyretic, anticatarrhal, hazyvision, dysentery, cardiotonic, laxative, diuretic, nervous tonic, snake bite.

त्रिदोषज विकारों में, नाडीदौर्बल्य, वातव्याधि, अग्निमांद्य, अर्श, उरःक्षत।

66. Digitalis Purpurea Linn. Foxglove. तिलपुष्पी, डिजिटेलिस

Cardiac complaints, kidney diseases, urinary suppression, dropsy, cardictonic, acro-narcotic poison in large doses.

कफवातशामक, हृदय के अनेक रोगों में, कास-श्वास, हृद्दौर्बल्यजन्यशोथ।

67. Dioscorea Bulbifera Linn. वाराही कन्द

Tubers used in diabetes, intestinal worms, skin diseases, general tonic.

त्रिदोषज विकारों में, अग्निमांद्य, कृमि रोग, रक्त विकार, दौबर्ल्य, प्रमेह, चर्म विकारों में।

68. Dolichos Biflorus Linn. Horsegram. कुलथ

Diuretic, antipyretic, anthelmintic, tonic, abdominal complaints, asthma enlarged liver and spleen, stones from kidney, piles, eye diseases, inflammation.

शूलहर, नेत्रों के लिये हितकर, वातकफशामक, पथरी को दूर करने वाला।

69. Echinops Echinatus Roxb. Globe Thistle, Camel Thistle. ब्रह्मदण्डी, ऊँटकटारा

Alternative, diuretic, nerve tonic, hoarse cough, hysteria, dyspepsia, opthalmia, scrofula.

कफवातहर, रुचिकर, दीपन, पौष्टिक, वृष्य, मेहघ्न, रक्तशोधक।

70. Eclipta Alba Hassk. भृंगराज, भांगरा

Rejuvenator, good for hair and skin, expels intestinal worms, cures cough and asthma, strengthnes, body, jaundice.

कफवातहर, केश्य, चक्षुष्य, रसायन, चर्मरोगहर, नेत्ररोगहर, कामला।

71. **Eupatorium Purpureum Linn.(=E. Ayapan) Gravel Weed. अयापान**
कफपित्तशामक, रक्तरोधक, व्रणशोधन, विषघ्न, प्रतिश्याय, चर्मरोग।

72. **Elephantopus Scaber Linn. हस्तिपत्ता, गोजिह्वा**
Cardiac tonic, diuretic, alterative, febrifuge.
पित्तहर, सर्वविषहर, दन्तरोगघ्न, विषघ्न, रक्तपित्तहर, व्रणरोपण।

73. **Evolvulus Alsinoides Linn. विष्णुक्रांता, शंखपुष्पी**
Bitter tonic, alterative, antispasmodic, antiphlogistic, powerful brain stimulant, insanity, epilepsy etc.
दीपन, अनुलोमक, रसायन, मेध्या, वृष्य, मानसरोगहर, स्मृति कान्ति देने वाली।

74. **Gloriosa Superba Linn. कलिहारी, लांगली**
A good abortifacient, anthelmintic, germicidal, cures leprosy, swelling, piles, chronic ulcer, colic pain in bladder, snake bite, scorpion sting etc.
कफवातशामक, दीपन, बल्य, पित्तसारक, गर्भनाशन, अर्शोघ्न, कृमिघ्न, जन्तुघ्न, व्रणहर, शोथहर, वस्तिशोधक, रसायन, रक्तशोधक।

75. **Glycyrrhiza Glabra Linn. Liquorice. मुलेठी, जेठीमधु, यष्टिमधु**
Demulcent, expectorant, antitussive, laxative, Sweetener, refrigerant, tonic, alterative, sore throat, good for eyes, antiinflammatory agent in peptic ulcer, adrenal agent, antidiuretic.
वातपैत्तिक विकारों में, व्रणशोथ व विषों में, आमवात, बुद्धिवर्धक, वातानुलोमन, अम्लपित्त, रक्ताल्पता, रक्तपित्त, कास-श्वास, स्वरभेद, शुक्रमेह, चर्मरोगों में।

76. **Hedychium Spicatum Buch. Ham. Ex Smith. कपूर कचरी, शटी**
Useful in inflammations, asthma, pains, foul breath, hiccough, bronchitis, tonic to brain, carminative, stomachic, vomiting,
कफवातिक विकारों में, सन्धिशोथ, मुखदुर्गन्ध, बाल झड़ने में, अरुचि, रक्तविकार, कास-श्वास, तमक-श्वास, प्रतिश्याय, हिक्का, ज्वरों में।

77. **Hibiscus Cannabinus Linn. Kenaf Mesta. पटसन**
Fibre Crop, leaves purgative, juice of flowers with sugar and black pepper useful for constipation accompanied by acidity.
कफपित्तहर, विरेचक, रुचिकर, हृद्य, गले के रोग मिटाने वाली, अतिसारनाशक।

78. **Hibiscus Rosa - Sinensis Linn. Shoe flower. जपा कुसुम**
Flowers are demulcent, emollient, refrigerant, constipating, hypoglycaemic, aphrodisiac, used in alopacia, burning sensation in body, diabetes, piles etc.
कफपित्तशामक, अर्शोहर, केश्य, विषहर, हृद्य, खालित्य-पालित्य, उन्माद, हृद्रोग, रक्तप्रदर, प्रमेह, मस्तिष्क-दौर्बल्य, रक्तपित्त, केश बढ़ाने में।

79. **Holarrhena Antidysentrica (L.) Wall. कुटज**
पेचिश की प्रसिद्ध दवा।

80. **Hygrophilla Spinosa T. And. (=H. Auriculata Heine)**
कोकिलाक्ष, तालमखाना
Reputed remedy for arthritis, aphrodisiac, bladder stones, oedema etc.
पित्ताश्मरी, वृष्य, बल्य, रुचिकर, कफहर।

81. **Hypericum Perforatum Linn. St. John's Wort. वसन्त**
Sedative, used for depression, sciatica, wounds etc.
मानसिक अवसाद दूर करने वाली दवा।

82. **Ichnocarpus Frutescens R. Br. Black Creeper. कृष्णा सारिवा**
Bleeding gums, convulsions, cough, delirium, dysentery, glossites, haematuria, measles, night blindness, urinary calculi, anorexia.
त्रिदोषज विकारों में, ग्रहणी, वातरक्त, आमवात, पैत्तिक प्रमेह, दौर्बल्य, पाण्डु, शोथ।

83. Ipomoea Hederacea (Linn.) Jacq. (=I nil (L.)Roth). काला दाना

Seeds purgative, anthelmintic, blood purifier.

कफवातिक रोगों में, चर्म रोग, विबन्ध, कृमिरोग, आमवात, वातरक्त।

84. Justicia Gendarussa Linn. (=Gendrussa Vulgaris Nees).

काला वासा

Lung diseases, dyspepsia, tympanitis, inflammations, dislocated bones or fractures, facial paralysis.

कफपित्तविकार, आमवात, व्रणशोथ, रक्तविकार, कास-श्वास, चर्मविकार।

85. Kalanchoe Pinnata Pers. (=K. Laciniata DC).

पर्ण बीज, पाषाणभेद,

(=Bryophyllum Pinnatum Kurz.)

Bruises, wounds, boils, bites of insects, diabetes, burns.

वातपैत्तिक रोगों में, अभिघातजन्य शोथ में, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श, रक्तप्रदर।

86. Lagenaria Siceraria Standl. Bottle Gourd. लौकी (कटु) इक्ष्वाकु

(=L. Vulgaris Seringe)

Cooling, cardiotonic, cures oedema, pain, ulcers, cough, asthma

कफपैत्तिक रोगों में, कामला, वमन व रेचन के लिए, रक्तविकार, शोथ, विष।

87. Lavandula Angustifolia Mill. French Lavender.

कफवातिक विकारों में, मेध्य, मानसिक दुर्बलता, कमजोर हाजमा, अपस्मार।

88. Lawsonia Inermis Linn. मेंहदी

Leaves in bruises, sprains. burns, inflammations, headache; decoction of bark, leaves, flowers in epileptic fits, leaves used to colour hair, hands, nails etc.

कफपित्तजन्य रोगों में, केश्य, रक्तस्तम्भन, शोथहर, दाहप्रशमन, व्रणरोपण हाथ व केश रंगने के लिए।

89. **Leucas Aspera (Willd.) Link. द्रोणपुष्पी, गूमा**
(= Leucas Cephalotes Spreng.)
Leaf juice in psora, chronic skin eruptions, epilepsy, poisons, snake bite, antipyretic, insecticidal, wormifuge, jaundice.
कफवात विकारों में, जन्तुघ्न, विषघ्न, दीपन, अनुलोमन, रक्तशोधक, पित्तसारक।

90. **Luffa Acutanguta Roxb. Ridge Gourd.**
काली तोरी, झिंगा, कोशातकी
Demalcent, diuretic, bitter tonic, nutritive, Leaf juice in granular conjunctivitis.
कफपैत्तिक विकारों में, गुल्म (उदर), कास-श्वास, पाण्डु, रक्तविकार, विषों में।

91. **Mimosa Pudica Linn. लज्जालु, नमस्करी, लज्जावन्ती, छुईमुई**
Cooling, antiseptic, alterative, resolvent, carminative, blood purifier, scorpion sting, antiseptic, bleeding.
कफपित्तज विकारों में, क्षत, व्रण, उरःक्षत, रक्तपित्त, प्रदर, प्रवाहिका, प्रमेह।

92. **Mucuna Pruriens (Linn.) DC. Cowhage. कौंच, आत्मगुप्ता**
(=M. prurita Hook)
Seeds aphrodisiac, nervine tonic, alexipharmic, cure scorpion sting; leaves anthelmintic, aphrodisiac, tonic.
वातज-विकारों में, गण्डूपद, कृमि (Round Worms) के लिये फलियों का रोम गुड़ व मक्खन मिलाकर, बीज दौर्बल्य, कृशता, नाड़ी दुर्बलता में।

93. **Oxalis Corniculata Linn. Indian Sorrel. चांगेरी, खट्टी बूटी**
Useful in dysentry, dyspepsia, fever, scurvey, piles, rheumatism, diarrhoea and nervous complaints.
इसमें पोटाशिय और ऑक्जेलिक एसिड होता है। उष्ण, कफवातशामक, मदनाशक, रोचन, दीपन, यकृत्-उत्तेजक, रक्त स्तम्भक, लेखन, शोथहर, वेदनास्थापन, दाह प्रशमन, त्वचा के रोगों में, रक्तस्राव।

94. Origanum Majorana Linn. Sweet Majoram. मरूवक
(=O. hortensis Moench.)
Excellent for sprains, bruises, tonic to liver, carminative.
दीपन, रुचिकर, रक्तदोष, विषहर, हृद्य, पित्तकर, खुजली दूर करने वाला।

95. Operculina Turpethum (Linn.) Silva Manso. निशोथ
Root purgative, useful in meloncholia, rheumetic, paralytic, hepatic stimulant, ulcer, skin diseases.
अतिस्थौल्य, वातरक्त, आमवात, शोथ, कामला, अर्श।

96. Ocimum Gratissimum Linn. रामतुलसी
Used in rheumatism, paralysis, skin diseases.
कफवात विकारों में, प्रतिश्याय, वातहर, दुर्गन्धनाशक, दीपन-पाचन।

97. Plumbago Indica Linn. Fire Plant. लाल चित्रक
Reputed remedy for leucoderma and other skin diseases, Root is alterative, gastric stimulant, appetiser, vesicant.
रसायन, रुचिकर, शोथहर, अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक।

98. Plumbago Zeylanica Linn. Ceylone Leadwort. चित्रक
Abortizacient, vesicant, diuretic, caustic, expectorant, appetiser, skin diseases, dyspepsia, anasarca, piles.
कफवातजन्य विकारों में, श्लीपद, शोथ, सफेद कुष्ठ, चर्म विकार, वातव्याधि, अग्निमान्द्य, यकृत्-विकार, दीपन-पाचन, अर्श, जीर्ण प्रतिश्याय, रसायन, नाड़ी दौर्बल्य।

99. Rubia Cordifolia Linn. Indian Madder. मंजीठ
Efficient blood purifier & healing diabetic wounds, widely used against blood, skin and urinary diseases, alterative antiseptic, tonic, useful in ear, eye diseases, ulcers, swelling.
कफपैत्तिक विकारों में, चर्मरोगों में, आमदोष, अतिसार, रक्तविकार, रजोरोध, वर्ण्य, बल्य, रसायन, विषघ्न।

100. Ruta Graveolens Linn. Garden Rue, Ruta. सुद्दाब, सिताब

Resolvent, emmengogue, diuretic, stimulant, antispasmodic, useful in hysteria, ammenrrhoea, earache, toothache.

कफवातशामक, पित्तवर्धक, जन्तुघ्न, आक्षेपहर, आर्तवजनन, अपस्मार, शोथ।

101. Rumex Vesicarius Linn. Sorrel, Bladder Dock. चूका, अम्लवेतस

Astringent, sedative, used in lymphatic and glandular system, chronic skin eruptions, scurvy, stomachic, alcohdism.

अग्निदीपन, उष्ण, रुचिकर, रोचन, पाचन, भेदन, दाहहर, विषहर, वेदनास्थापन।

102. Sida Acuta Burm. वरियारा, खरेंटी, महाबला

(=S.Carpinifolia L.)

Cooling, bitter tonic, used in nervous and urinary complaints, chronic bowel complaints, blood & bite disorders, aphrodisiac.

धातुवृद्धिकर, बल्य, वृष्य, त्रिदोषहर, हृदयरोग और दाहहर, वातार्श, वेदनाशामक।

103. Sida Cordifolia Linn. कंघी, बला

Bleeding piles, strangury, chronic dysentry, leucorrhoea, cardiac.

बला जड़ यक्ष्मा, रक्तपित्त, वातरक्त, बहुमूत्र, फोड़ा, खून व यकृत रोग, बल-वीर्यवर्धक, शोथहर, वात को दूर करने वाली, स्नायुतन्त्र रोग।

104. Solanum Indicum Linn. Indian Night Shade. वृहती

(=Solanum anguivi Lam.)

Bitter, stimulant, digestive, anthelmintic, carminative, diaphoretic, expectorant; fruits digestive, laxative, alopecia.

कफवातिक विकारों में, हृदय-दुर्बलता, शोथ, रक्तविकार, अश्मरी, चर्मरोग।

105. Solanum Nigrum Linn. Black Night Shade. काकमाची, मकोय

Used in consumption, cough, skin diseases, rheumatism, gout, chronic enlargement of liver, ear & eye diseases, effect of old age. Sedative, alterative, diaphoretic, expectorant, emolient.

त्रिदोषजन्य रोग, मुख, गले, नाक, नेत्र व कर्ण रोगों में, यकृत्-विकार, हृदय रोग, शोथ, वातरक्त, आमवात, हिक्का, श्वास-कास, वृक्करोग, चर्मरोग, बल्य।

106. Solanum Xanthocarpum Schrad. &Wendl.
कंटकारी, छोटी कटेरी, भटकटैया
(=S. Surratense Burm. &.)
Astringent, stimulant, aperient, diuretic, digestive, laxative cardiotonic, expactorant, alterative, asthma, pain in chest.
कफवातिक रोगों में, अग्निमान्द्य, रक्तचाप, रक्तविकार, श्वास-कास, प्रतिश्याय, मूत्रकृच्छ्र, चर्मरोग, ज्वर।

107. Sphaeranthus Indicus Linn. गोरख मुण्डी, मुण्डी
Laxative, alterative, aphrodisiac, tonic, deobstruent, used in bronchitis, tumours, nervine ailments, bladder stone.
त्रिदोषज विकारों में, शोथ वेदनायुक्त रोगों में, अपस्मार, वातव्याधि, शिरःशूल, श्लीपद, जीर्ण कास, मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, विसर्प, दौर्बल्य, ज्वर।

108. Taraxacum Officinale Weber Ex Wiggers. दुधली
कफपित्तहर, जीर्णव्रण, कामला, यकृत्-वृद्धि, रक्तविकार, शोथ, विषों में, चर्मरोग।

109. Tephrosia Purpurea (L.) Pers. Wild Indigo. शरपुखा, सरफोंका
कफवात विकारों में, शूल, विबन्ध, यकृत्- विकार, प्लीहा-वृद्धि, कष्टार्तव, मूषक तथा धातुज विषों में, चर्मरोगों में।

110. Uraria Picta Desv. पृश्निपर्णी, पिठवन
Has fracture healing properties, used in heart troubles.
त्रिदोषनाशक, वृष्य, वातानुलोमन, रक्तातिसार, दाहहर, ज्वर, श्वास को दूर करने वाली।

111. Trichosanthes Cucumerina Linn. Wild Snake Gourd.
तिक्त पटोल
Cardiac tonic, alternative, febrifuge, useful in boils and intestinal worms.
पाचन, अग्निदीपन, पित्तनाशक, वृष्य, कफनाशक।

112. Tylophora Indica (Burm.&.) Merr. अनन्तमूल
(=T. Asthmatica W.C.A.)
Leaf decoction useful in dysentry, asthma and bronchitis.

113. Vernonia Cinerea Less. Purple Fleabane. सहदेवी
Febrifuge, diaphoretic, alterative, elephantiasis.
कफवातज विकारों में, रक्त विकार, श्लीपद, जीर्ण ज्वर, सिरदर्द, अश्मरी।

114. Vitex Negundo Linn. निर्गुण्डी, सम्भालु
Stomachic, germicidal, cures cough, asthma, fever, eye diseases, inflammatory, glandular & rheumatic swelling, ulcers, skin diseases, nervous disorders.
कफवात-जन्य विकारों में, सन्धि शोथ, आमवात, आमदोष, रसायन, कास।

115. Viola Odorata Linn. वनफसा
वातपित्त रोगों में, जन्तुघ्न, रक्तशोधक, वेदनाशामक, कास-श्वासहर।

116. Withania Somnifera (L.) Dunal. अश्वगन्धा, असगन्ध
Sedative, tonic, stimulant, aphrodisiac, used in child marasmus (malmutrition), deobstruent.
कफवातज विकारों में, भ्रम, अनिद्रा, रक्तभाराधिक्य, क्षय, शोथ, वालशोष।

117. Xanthium Strumarium Linn. Cocklebur. छोटा गोखरू
Diaphoretic, sedative, suderific, sialgogue, fruit cooling, demulcent.
पसीना लाने वाला, मूत्रजनन, शोथहर, शामक।

(ग) सर्दी के मौसम में होने वाले पौधे

118. Anethum Sowa Roxb. Ex Flem. Indian Dill, Sowa.

सोया, शतपुष्पा

(=Anethum Gravdedens L.Var. Sowa Roxb=A. Gravedens DC)
Seeds are acrid, bitter, digestive, carminative, stimulant, stomachic, anthelmintic, galactagogue, diuretic and emmengogue.

पित्त बढ़ाने वाली, वेदनास्थापन, दीपन, शोथहर, मूत्रल, पाचन, व्रणपाचन।

119. Ageratum Conzoides Linn. Goatweed. विषमुष्टी, ओसारी

Leaves styptic, antidysentric; useful in piles, boils, wounds, sores and in ague. Flower buds heal cancerous growth.

कफवातहर, रक्तपित्तशामक, ज्वरघ्न, रुचिकर, दीपन ।

120. Argemone Maxicana Linn. Mexican Prickly Poppy.

स्वर्णक्षीरी, सत्यनाशी

Anthelmintic, diuretic,antidote, antileprotic, tonic, used in chronic skin diseases.

पित्तकफनाशक, भेदनीय, विरेचक, मूत्रल, विषघ्न, अश्मरीहर, कृमिघ्न।

121. Brassica Campestris Linn. सरसों, सर्षप

Var. brown sarson, Var. yellow sarson
Stimulant, diuretic, emetic, chilblains etc.

कफवातनाशक, मूत्रजनक, दीपन, विदाही, कृमिघ्न।

122. Brassica Juncea (Linn.) Czern & Coss. राजिका, राई आसुरी

Indian Mustard, Laha, Mohari
Useful in inflammatory conditions of lungs, liver, bronchii etc.

कफवातहर, कण्डुनाशक, कृमिघ्न, रक्तपित्तकारक, शोथहर, अजीर्ण।

123. Cichorium Intybus Linn. Endive, Chicory. कासनी

Increases bile secretion, promotes digestion, stomachic, tonic in large doses, diuretic, carminative, checks enlargement of spleen.

कफपित्तहर, शोथहर, दाहप्रशमन, यकृत्-उत्तेजक, पित्तसारक, निद्राजनन, कटुपौष्टिक।

124. Lepidium Sativum Linn. Garden Cress. हालिम, चन्द्रशूर, हालों

Useful in bleeding piles, cough, asthma and bone fracture.

कफवातशामक, जन्तुघ्न, वेदनास्थापन, वातानुलोमन, रक्तशोधक, कफनिःसारक बल्य, कटिशूल, संधिवात।

125. Linum Usitatissmum Linn. Flax. तिसी, अलसी, अतसी

Seeds demulcent, laxative, useful in (as poultice) gouty and rheumatic swellings, abscesses, boils, inflamed surfaces etc.

वातविकारनाशक, कास-श्वासहर, कामोत्तेजक, व्रणशोथ आदि।

126. Sisymbrium Irio Linn. Hedge Mastard. खूबकलाँ

Seeds expectorant, carminative, tonic, diaphoretic.

वातशामक, कफनिःसारक, शोथहर, वेदनाशामक, वातानुलोमन, बल्य।

127. Trachyspermum Ammi (L.) Sprague. अजवायन, यवानी

Carminative, digestive stimulant, relieves colic pain, dyspepsia.

कफवातशामक, पित्तवर्धक, हृदयोत्तेजक, श्वासहर, शीतप्रशमन, विषघ्न।

128. Trichodesma Indicum R. Br. अधःपुष्पी, अन्धाहुली

Antidote, Antipyretic, diuretic, carminative, good for eyes.

कफवातजन्य विकारों में, शोथहर, चर्मरोग, विषघ्न, चक्षुष्य, मूत्रल, दीपन।

129. Trigonella Foenum-Graecum Linn. Fenugreek. मेथी

Seeds are aperient, diuretic, suppurative, emmengogue, carminative, tonic, antipyretic.

विशेषतः वातरोगों में, नाड़ीदौर्बल्य, कोष्ठगतवात, रक्तपित्त, पीड़ा, शोथ, कमजोरी।

(घ) बहुवर्षायु पौधे

130. Abroma Augusta Linn. F. Devil's Cotton Tree.

पिशाच कपास, उलट कम्बल

Utrine tonic, cure for congestive and nervous dysmenorrhoes, ammenorrhoea, sterility and other menstrual disorders.

गर्भाशय विशिष्ट क्रिया से रजोरोध, कष्टार्तव और अनियमित ऋतुस्राव में अतीव लाभप्रद।

131. Acacia Catechu Willd. खदिर, खैर

Source of Katha, which is astringent, digestive and useful in ailments of throat, mouth, gums, cough, diarrhoea.

कफपित्तशामक, रक्तप्रसादन, रक्तस्तम्भन, रक्तवर्धक, मेदोधातुशोषक, कण्डुघ्न।

132. Adhatoda Vassica Nees.

वासा, वासक, अडुसा, वांसा

(=Justicia adhatoda Linn.)

Reputed cure for cough, cold, bronchitis, respiratory disorders.

कफपित्त विकार, रक्तपित्त, रक्तविकार, कास-श्वास, चर्म-विकार आदि।

133. Adina Cordifolia Benth & Hook. F. हल्द, हल्दू

(F.Rubiaceac)

कुष्ठघ्न, वर्ण्य, व्रणशोधन, व्रणरोपण, दीपन, आमपाचन, कटुपौष्टिक।

134. Aegle Marmelos Corr. बिल्व, बेल

Useful in stomach pain, constipation, dysentry, nausea, cholera, diarrhoea, cramps, night fever.

पत्र शोथहर, वेदनास्थापन, कच्चाफल दीपन, पाचन, ग्राही, पकाफल मृदु विरेचन है।

135. Aerva Lanata Juss. गोरक्षगंजा, अश्मरीभेद, कपूरीमधुरी

Diuretic, lithontriptic, and useful in diabetes, urinary stones (lithiasis), flowers useful in kidney stone.

मूत्रल, अश्मरीभेदन, कफवातशामक।

136. Albizzia lebbec Benth. शिरीष, पीत सिरस

Useful in snake bite, scorpion sting; flowers used in chronic cough, bronchitis, asthma, bark strengthens,gums.

विषहर, वातहर, चर्मरोग, व्रणशोधन, विसर्पनाशक।

137. Alstonia Scholaris R. Br. Devil's Tree. सप्तपर्ण, छातिम

Used in headache, pain in legs and loins, rheumatism, cholera, bronchitis, haemoplegia, pleurisy, asthma.

व्रणशोधन-रोपण, विषमज्वरघ्न, उदर्द, कटुपौष्टिक, जीर्णव्रण।

138. Argyreia Specioosa Sweet. समुद्रशोष, विधारा, धावपत्ता

Used as antiviral and in skin diseases.

कफवातशामक, मेध्य, नाड़ीबल्य, व्रणपाचन, आमपाचन, रसायन।

139. Azadirachta Indica A. Juss. Margosa. निम्ब, नीम

Useful in skin diseases, reduces dental caries & inflamanation of mouth, leaf delays clotting time, used insecticide, antiviral, diuretic, swellings, scabies, ringworm.

कफपित्तनाशक, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणपाचन, कफघ्न, आमपाचन, चक्षुष्य।

140. Bauhinia Variegata Linn. कचनार

Useful in various glandular diseases and as poison antidote Bark of roots useful in flatulence, dyspepsia. flowers lexative, flower buds in piles, cough haematuria.

141. Terminalia Belliric Roxb. विभीतक, बहेड़ा

त्रिदोषजन्यविकारों में, विशेषतः कफविकारों में, वातव्याधि, अनिद्रा ।

142. Butea Monosperma (Lam.) Kuntze. पलास, ढाक, किंशुक

Very useful in vaginal diseases, hoemerrhages, worms.

कफवातशामक, यकृत्-उत्तेजक, बीज विषघ्न, संधानीय, पुष्प रक्तस्तम्भन, रसायन (पञ्चाङ्ग)।

143. Caesalpinia Bonducella Flemming. Fevernut, Physicnut.

कण्टकरञ्ज, लताकरञ्ज

(=C.Rista L.)

Bitter, germicidel, febrifuge, emmengogue, useful in Liver disorders, inflammatory swellings.

शोथहर, वेदनास्थापन, कफघ्न, रक्तशोधक, विषमज्वरघ्न, अर्श।

144. Callicarpa Macrophylla Vahl. प्रियंगु, गन्धफली, कंगु

Leaves useful in rheumatism and gout, oil from root is aromatic and stomachic; flowers and fruits bitter, sweet astringent, anodyne, digestive, constipating and febrifuge.

त्रिदोषशामक विशेषकर वातपित्तशामक, वेदनास्थापन, रक्तपित्तशामक, विषघ्न, कटुपौष्टिक, स्तम्भन, अनुलोमन, रक्त-विकार।

145. Carica Papaya Linn. Papaya एरण्ड कर्कटी, पपीता

Leaves tone heart, are diaphoretic and diuretic; ripe fruit stomachic, carminative, juice of unripe fruit very digestive, antipruritic, ulcer healer, cures freck less blamishes.

कफवातशामक, पकाफल पित्तशामक, कच्चेफल से अग्निमान्द्य, ग्रहणी, यकृत्-वृद्धि, प्लीहा-वृद्धि, अर्श आदि ठीक होती है। वातविकारों में बीज उत्तम, विषघ्न, बल्य।

146. Cassia Fistula Linn. Purging Cassia, Indian Laburnum.

अमलतास, आरग्वध

Skin diseases, respiratory problems, improves digestion clears throat and purifies blood. Leaves, roots & seed pulp mild laxative, flowers cure kapha & biliousness.

वातपित्तशामक, मृदुविरेचन, शोथहर, रक्तशोधक, हृद्य, कफ निःसारक, दाहप्रशमन।

147. Clerodendrum Serratum (Linn.) Moon. भारङ्गी

Antispasmodic, carminative, expactorant, febrifuge, tonic.

कफवातशामक, शोथहर, व्रणपाचन, आमपाचन, कास-श्वास, प्रतिश्याय, रक्तविकार।

148. Cordia Dichotoma Forst. F. लसोड़ा, श्लेष्मातक, उद्दालक

(=Cordia Myxa Roxb.)

Uricaria, anasaraca, cholera, dropsy. dysentry.

वातपित्तशामक, विषघ्न, रोपण, कफपित्तशामक, रक्तपित्तशामक, कटुपौष्टिक।

149. Crataeva Nurvala Buch.-Ham. Holy Garter Pear. वरूण

Useful in calculus, baldness, sores, hydrocele, diuretic,

कफवातशामक, पित्तवर्धक, पित्तसारक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, संक्रमण प्रतिरोधी।

150. Echinops Echinatus Roxb. Globe Thistle. उण्टकटारा, ब्रह्मदण्डी

Alterative, nervetonic, diuretic, useful in hoarse cough, hysteria, ophthalmia, scrofula, dys pepsia.

कफवातहर, वृष्य, पौष्टिक, मूत्रकृच्छ्रहर, रक्तदोषघ्न, दीपन, तृष्णाहर।

151. Embelia Ribes Burm.&. Embelia. वायविड़ंग, विड़ंग

Fruits carminative, anthelmintic, alterative, cures dental, oral and throat troubles, skin diseases and chest troubles.

कफवातशामक, मस्तिष्क व नाड़ियों के लिये बल्य, कृमिघ्न, वर्ण्य, दन्तशूल, वातरोग।

152. Emblica Officinalis Gaertn. Emblic Myrobalan

आमलकी, धात्री, आँवला

Adaptogen, antipeptic ulcer, antihyperacidity, rich in vit.C

त्रिदोषहर, मेध्य, नाड़ीबल्य, चक्षुष्य, केश्य, वृष्य, दाहप्रशमन, रसायन।

153. Erythrina Indica Lamk. Indian Coraltree.
पारिभद्र, मन्दार, कण्टकी-पलाश

Bark destroys pathogenic parasites, cures oedema, flatulence, arthritis anthelmintic, carminative, expectorant, galactagogue.

कर्णरोगघ्न, आक्षेपहर, निद्राजनन, रक्तप्रसादन, कृमिघ्न, मेदोनाशक, कासहर।

154. Eupatorium Purpureum Linn. Gravel Weed.
अजापर्ण, आयापान

(=E.Triplinerve Vahl.=E.ayapana Vent.)
Diuretic, diaphoretic, antiscorbutic, cathartic, foul ulcers, snake bite, wounds, burns etc.

कफपैत्तिक विकारों में, रक्तरोधक, विषघ्न, रक्तशोधक, कटुपौष्टिक, दीपन-पाचन।

155. Ficus Palmata. Fig. जंगली अंजीर

पके फल वातपित्तशामक, मृदु-विरेचक, रक्तपित्तहर, बल्य, बृंहण, वर्णविकार।

156. Ginkgo Biloba Linn. Living Fossil Tree Maiden Hair Tree.

Seeds vasodilator, antiasthmatic,sedative, Leaves insecticide, cures cerebral blood supply.

157. Gmelina Arborea Linn. Cashmere Tree. गम्भारी, कासमारी

Ingradient of dashmoola, bitter tonic, stomachic, cardio tonic, nervine tonic, laxative, overcomes giddiness, emaciation.

त्रिदोषशामक, मेध्य, वेदनास्थापन, रक्तपित्तनाशक, फल हृद्य व संधानीय बृंहण, रसायन, बल्य, उरःक्षत में लाभकारी।

158. Helicteres Isora Linn. East Indian Screw Tree. मरोड़फली

Root bark uterine tonic, useful in congestive & nervous dysmenorrhoea, ammenrrhoea, sterility and other menstrual disorders.

स्तम्भन, रक्तरोधक, कफपैत्तिक विकार, प्रवाहिका, व्रणरोपण।

159. Holarrhena Antidysentrica (Roxb. Ex Fleming) Wall.
कुटज, कुड़ा कलिंगा
All parts cure dysentry and diarrhoea and is useful in dysuria, urinary and skin ailments, bad ulcers, nausea, vomiting, pruritis.
दीपन, स्तम्भन, अर्शोघ्न, धातुशोषण, व्रणरोपण, अमीबिक प्रवाहिका नाशक, ज्वरघ्न, कफपित्तशामक।

160. Litsea Glutinosa (Lour.) C.B. Robins. मेदासक, मैदालकड़ी
वातशामक, छाल व तैल (बीज) शोथहर, वेदनास्थापन, आक्षेपहर।

161. Madhuca Indica J.F.Gmel. Butter Tree. मधूक, महुवा
Bark benficial in rheumatism, itches, bleeding & spongy gums, tonsilitis, diabetes mellitus, ulcers; flowers & seed oil useful.
वातव्याधि, चर्मरोग, बल्य, बृंहण, नाड़ी-दौर्बल्य, वेदनास्थापन, रक्तपित्तशामक।

162. Mallotus Philippinensis Muell.-Arg. कंपीलक, कमीला
Kamila powder highly beneficial for expelling intestinal worms in old and children and useful in freckles, ringworm and fruit useful in urinary calculus.
कफवातशामक, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, रेचन, कृमिघ्न, अश्मरीभेदन।

163. Melia Azadirachta Linn. Persian Lilac, Bead Tree.
महानिम्ब, वकायन, द्रेक
Wormicidal, used in skin ailments, fruits useful in piles.
रक्तशोधक, पीड़ाशामक, व्रणशोधन, अर्शोघ्न, कृमिघ्न, अर्श में वकायन फल की मज्जा प्रयोग की जाती है।

164. Moringa Oleifera Lam. Drum Stick, Horse Radish Tree.
शिग्रु, शोभांजन, सहिजन
Useful for heart, eye troubles, improves digestion & appetite, cardiac & circulatory tonic, chronic rheumatism.
शोथ वेदना प्रधान विकारों में, पक्षाघात, नाड़ी-दौर्बल्य, हृद्दौर्बल्य, मेदोरोग।

165. Myrica Nagi Thunb. Box Myrtle, Bayberry कटफल, कायफल
(=Myrica Esenlenta Buch-Ham)
Bark resolvent, carminative, tonic, antiseptic, useful in cough, ashthma.
कफवातजन्य विकारों में, छाल तीव्र छींक देने वाली, संधानीय, शोथहर, कफ निःसारक।

166. Nerium Indicum Mill. Indian Oleander. Rose laurel
करवीर, कनेर, अश्वमारक
Leaves and bark cadiotonic, leaves cutaneous eruptions.
हृदयरोग, रक्तविकार, अश्मरी, पत्रभस्म श्वास रोग में लाभप्रद।

167. Opuntia Dillenii Haw. Prickly Pear. नागफनी
(=O.Vulgaris Mill.)
The ripe fruits are good remedy in whooping and spasmodic cough and asthma.
दाहप्रशमन, कफघ्न, हृदयपोषक, दीपन, रोचन।

168. Oroxylum Indicum Vent. Indian Trumpet Flower. श्योनाक, अरलू
An ingradient (rootbark) of Dasamula, bark diaphoretic, used in rheumatism, amoebic dysentry, bitter tonic.
कफवातशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन, पाचन, कटुपौष्टिक, शोथवेदनायुक्त विकारों में, मूत्रल, कफघ्न।

169. Pongamia Pinnata (Linn.) Pierre. करन्ज, नक्तमाल
(=P.Glabra Vent.)
Leaves useful in skin diseases such as eczema, scabies, ulcers and leprosy, flowers as a remedy for diabetes. Oil (seeds) useful in scabies, sores, herpes.
छाल व पत्र जन्तुघ्न, कण्डुघ्न एवं शोथहर, तैल कृमिनाशक, व्रणरोपण, वेदनास्थापन।

170. Premna Mucronata Roxb. अग्निमन्थ, अरनी, गनियार

Used in Dasamula, obstinate fevers, cardiotonic, rheumatismes.

कफवातशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन-पाचन, कटुपौष्टिक, कफघ्न।

171. Pterocarpus Santalinus Linn. F.Red Sanders. लालचन्दन

Mild astringent, cooling and tonic and useful for skin.

कफपित्तशामक, दाहशामक, स्तम्भन, शोथहर, चर्मदोषहर, विषघ्न, शिरःशूल।

172. Punica Granatum Linn. Pomegranate. दाड़िम, दाडू

Flowers, bark and fruit rind astringent, stomachic, fruit rind combined with aromatics (Cloves), used in diarrhoea, dysentry.

त्रिदोषघ्न, कफवातशामक (अम्लफल), मेध्य, बलप्रद।

173. Randia Dumetorum Lam. Emetic Nut. मैनफल, मदनफल

Rootbark insecticidal, fruit emetic, carminative, aphrodisiac expectorant, antispasmodic, discutient, anodyne.

कफपित्त-संशोधक, सर्वोत्तम वामक, रक्तशोधक, लेखन, विषघ्न, कफनिःसारक।

174. Ricinus Communis Linn. Castor Oil plant. एरण्ड

Root bark, seeds and leaves purgative, oil useful in rheumatism root decoction beneficial in phlegm, swellings, hernia, pain in wrist, head & bladder.

आमवात, कटिशूल, हृदयशूल, वेदनास्थापन, बल्य, यकृत्, शोथरोग, कफघ्न, शुक्रविकार।

175. Santalum Album Linn. Sandle Wood Tree. चन्दन

Chandan is diaphoretic, diuretic, expectorant, useful in mucous diseases (inflammation of bladder etc.)

दुर्गन्धहर, दाहप्रशमन, वर्ण्य, मेध्य, पित्तशामक, रक्तपित्तशामक, कफनिःसारक।

176. Sapindus Trifoliatus Linn. Soapnut Tree. अरिष्टक, रीठा

Juice of fruit instilled in nostrils to remove fits, emetic.

त्रिदोषघ्न, वामक, रेचन, विषघ्न, रक्तशोधक, लेखन, शोथहर, वेदनास्थापन।

177. Saraca Asoca (Roxb.) Dewillde. अशोक

Uterine tonic, bark decoction used in bowel complaints, pimples, weakness, hoemorrhage, dropsy.

वेदनास्थापन, विषघ्न, रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक, अश्मरीनाशक, गर्भाशयरोगहर।

178. Sesbania Grandiflora (Linn.) Pers. अगस्तय, जयन्ती, अगाथी

Bark tonic, leaves aperient, tonic, diuretic, laxative, disinfect mouth, throat when chewed, flowers cure nasal catarrh, headache.

कफपित्तशामक, जन्तुघ्न, विषघ्न, दीपन, ग्राही, कण्ठ्य, रसायन, पत्रशाक बार-बार होने वाला जुकाम दूर करता है।

179. Spondias Pinnata Kurz. Indian Hog Plum. आम्रतक, अम्बारा

(=S. mangifera Willd.)

Fruit useful in bilious dyspepsia, antiscorbutic.

फल वातहर, भूख बढ़ाने वाला, विटामिन सी का अच्छा स्रोत (37 mg/ 100gm)।

180. Shorea Robusta Gaertn. Sal Tree. शाल, साल

Aromatic oleo-resin is 'Ral/ and is detergent, aphrodisiac, stimulant, useful in dysentry, bleeding piles, weak digestion.

छाल क्वाथ, अभिघात, व्रण आदि वेदना में, अतिसार, रक्तार्श, प्रदर, मेदोरोग।

181. Strychnos Nux-Vomica Linn. Nuxvomica Tree.
विषमुष्टी, कुचला, कुपीलु, विषतिन्दुक

Aphrodisiac, spinal stimulant, respiratroy cardiac stimulant.

कफवातजन्य विकारों में, वातरोगों में, आमदोष, हृदयरोगों (हृदयशैथिल्य, हृदयोदर, हृदय कपाल विकृति आदि), व्रण, अनिद्रा, पक्षाघात, फुफ्फुस-शोथ, दुर्बलता।

182. Symplocos Racemosa Roxb. लोध्र

Specific for uterine complaints, useful in elephantiasis, filaria, liver complaints, bowel complaints, eye diseases, spongy & bleeding gums.

कफपैत्तिक रोगों में, चर्मरोग, रक्तस्राव, स्तम्भन, रक्तपित्त, प्रदर, रक्तातिसार।

183. Syzygium Aromaticum (Linn.) Merr. & Perry Clove. लवंग, लौंग

Oil 15 to 20 %, stimulant, carminative, useful as carminative, dyspepsia, flatulent colic, toothache, spice, should not come in contact with iron & zinc.

पेटरोग, दन्तशूल, रक्तविकार, कफ की दुर्गन्ध, प्रतिश्याय, आमवात आदि।

184. Tamarindus Indica Linn. Tamarind. इमली, अमलीका

Reduce inflammations of ulcers, fruit digestive, carminative, antiscorbutic, antibilous, deranged bile.

रक्तपित्तशामक, त्रिदोषघ्न, दाहहर, अनुलोमक, दीपन-पाचन, रुचिकर।

185. Terminalia arjuna W. & A. Myrobalan अर्जुन

Bark cardiotonic, antidysentric, cures wounds, urinary diseases, hypertension, cirrhosis of liver, bone fracture.

रक्तस्राव रोकने के लिये, रक्तरोधक, हृद्रोग, रक्तपित्त, मेदोरोग, विषघ्न।

186. Terminalia Belerica Roxb. Belliric Myrobalan विभीतक, बहेड़ा

Fruit bark astringent, tonic, laxative, useful in coughs, hoarseness, eye diseases, piles, dyspepsia, headache.

श्वासनलिकाओं की शोथहर, श्वित्र, चर्मरोग, प्रतिश्याय, कफहर, सामान्य दौर्बल्य।

187. Terminalia Chebula Roxb. Myrobalan हरीतकी, हरड़

Fruit digestive, alterative, carminative, laxative, antiseptic.

त्रिदोषहर, वृष्य, हृद्य, शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, नाड़ीबल्य, रसायन।

188. Tinospora Cordifolia (Willd.) Miers Ex Hook.F. & Thoms.

Valuable tonic, used in fever, joundice, torpiduty of liver, skin diseases, rheumatism etc. Antibacterial, antifungel antiviral, antidiabetic, antirheumatic, antiinflammatory bronchodilator, adaptogen, antihepatotoxic, useful in fractures and acute dental infections.

त्रिदोषशामक, वेदनास्थापन, तृष्णानिग्रह, दीपनपाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न, अम्लपित्तहर, रक्तवर्धक, रक्तशोधक, हृद्य, वृष्य, प्रमेहहर, दाहप्रशमन, रसायन।

189. Toona Haxandra (Wall Ex Roxb.) Roemer Red Cedar.

नन्दीवृक्ष, तूनी

(=T.Ciliata Roemer)

Astringent, antiperiodic, tonic, useful in chronic infantile dysentry. Flowers used in menstrual disorders.

ग्राही, बल्य, वेदनास्थापन, गर्भाशयसंकोचक, श्वेतकुष्ठघ्न।

190. Vitex Negundo Linn. निर्गुण्डी, सम्भालु, निशिन्दा

Germicidal, stomachic, digestible, cures cough, asthma, fever, eye diseases, gladular and rheumatic swellings, inflammation, ulcers, skin diseases, nervous disorders, tonic, dispersing swellings, antiseptic.

कफवातशामक, वेदनास्थापन, शोथहर, केश्य, जन्तुघ्न, वातशामक, आमपाचन, कासहर, चक्षुष्य, मूत्रजनन, बल्य, रसायन, कण्डूघ्न, कर्णस्रावनाशक, आमवात, शिरःशूल मस्तिष्क दुर्बलता, त्वचारोग, फुस्फुसावरणशोथ आदि।

191. Woodfordia Fruticosa Kurz. Fire Flame. धातकी, धायफूल

Acrid, cooling anthelmintic, bilious sickness, toxic, uterine sedative, headache, fever, dysentry, diarrhoea.

कफपित्तशामक, रक्तस्तम्भन, जन्तुघ्न, संधानीय, रक्तपित्तशामक, योनिस्रावहर, अतिसार, प्रवाहिका, श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर, चर्मरोग, मूत्र साफ करने वाली।

192. Zanthoxylum Americanum Mill. Prickly Ash. **तुम्बरू, तेजोवती**

Remedy for toothache, anorexia, gastrointestinal diseases, Spleen diseases, antisickling, antimicrobial, anticancer, rheumatism, skin diseases, carminative.

पित्तवर्धक, जन्तुघ्न, कृमिघ्न, दन्तशोधन, दीपन, पाचन, कफघ्न, मधुमेहघ्न, कटुपौष्टिक।

193. Ziziphus Mauritiana Lamk. Jujube **बदर, बेर, बदरी**

(=Z. Jujuba Lam.)

Root cures kapha, biliousness, headache; leaves cooling cures kapha, diarrhoea and biliousness.

कफकारक, दीपन, अनुलोमन, दाहप्रशमन।

(ङ) हिमालय के ऊँचाई व ठण्डे क्षेत्रों के पौधे

194. Achillea Millefolium Linn. Y arrow, Melfoil. गन्धन, सहस्रपत्री

Aromatic, tonic, stimulant, diaphoretic, antispasmodic, emmenagogue, antiseptic, heart burn, hysteria, epilepsy, antiinflammatory, antiinfective.

वातपित्तहर, पौष्टिक, कासघ्न, अर्शोघ्न, रुचिकर, मूर्छा, मृगी ।

195. Aconitum Heterophyllum Wall. (Ex Royb). अतिविष, अतीस

Beneficial in kapha and pitta and is expectorant corminative antipyretic, antidysentric, antiemetic, antidiarrhoeal.

त्रिदोषहर, कफपित्तशामक, दीपन, पाचन, अर्शोघ्न, कृमिघ्न, आमपाचन, कटुपौष्टिक, मेदोधातु को कम करने वाला, प्रतिश्याय, कास निरोधक।

196. Aconitum Chasmanthum Stapf Ex Holmes.
शृंगी विष, मोहरी, श्याम मोहरी

रसायन, बल्य, वातरोग, कफरोग, शीत (ठण्ड), शोथ, अग्निमान्द्य, श्वास-कास, उदररोग, कण्ठरोग, मधुमेह, सन्निपात हरता है।

197. Aconitum Palmatum D.Don. विख्मा, प्रतिविषा, पतीस

अजीर्ण, पेटदर्द, अजीर्णजन्यवमन, अतिसार, कृमिरोग, जीर्णज्वर, हैजा।

198. Angelica Glauca Edgew. चोरक, चोरा

कफवातविकार, बल्य, मेध्य, दीपन, अनुलोमन, हृद्दौर्बल्य, वातिक श्वास-कास, कृमिघ्न, विषघ्न।

199. Bunium Persicum (Boiss.) Fedtch. कृष्ण जीरक, स्याह जीरा
(=Carum bulbocastanum W. Koch.)

कफवातशामक, दुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, उत्तम वातानुलोमन, हृद्य।

200. Crocus Sativus Linn. Safforon कुंकुम, केसर, जाफरान

त्रिदोषजन्य विकारों में, वर्णविकारों में, दृष्टिदौर्बल्य में गुलाबजल में घिस कर, मस्तिष्कदौर्बल्यजनित विकारों में, आमवात, रक्तविकार, मूत्ररोग, अजीर्ण आदि।

201. Ephedre Gerardiana Wall. सोम

कफवातजन्य विकारों में, मानसिक अवसाद व वातिक मनोरोग, श्वास रोग।

202. Gentiana Kurroo Royle त्रायमाण, कडू., नीलकंठ

त्रिदाषज विकारों में, रक्तविकार, आमदोष, यकृत्विकार, अर्श, उदररोग, चर्मरोग, पाण्डु, ज्वरोत्तर दुर्बलता, कष्टार्तव, विबन्ध, कृमि ।

203. Hedychium Spicatum Buch. Ham. Ex Smith. Spiked Ginger Lily कपूर कचरी, कचूर

Root stock acrid, bitter, pungent, astringent, used in foul breath, inflammations, asthma, pains, bronchitis, vomiting. hiccough, blood diseases.

कासघ्न, कफवातशामक, सन्धिशोथ, रक्तविकार, चर्मरोग, प्रतिश्याय, तमकश्वास, मुख दुर्गन्ध, हृदय-दुर्बलता, अरुचि, वमन, उदरशूल, अतिसार ।

204. Hypericum Perforatum Linn. St John's Wort वसन्त

Leaf tops: Tranquiliser, antiinflammatory, antidepressant, leaves very effective in wounds and bruises, Hummeriods.

205. Hyoscyamus Niger Linn. Henbane, Hog Bean खुरासानी, अजवायन

Seeds are sedative, useful in asthma, whooping cough.

कफवातिक विकार, शोथहर, वेदनास्थापन, कफघ्न, अश्मरीहर, रक्तस्राव, वात प्रधान उदररोगों में ।

206. Origanum Majorana Linn. Sweet Majoram. मरूआ, मरूवक

(=Majorana hortensis Moench or Origanum vulgare Linn.)

Indian sweet Majorana aromatic, carminative, antipyretic, diaphoretic, expectorant.

कफवातजन्य विकार, आमवात, शिरःशूल, दन्तशूल, उदररोग, कृमि, श्वासकास, सामान्य दुर्बलता, रजोरोध, बिच्छूदंश।

207. Peganum Harmala Linn. Harmalla, Isband-Lahauri, Syrian Rue. हरमल, इसबंद

Aphrodisiac, alterative, antiperiodic, stimulant, emimengogue, abortifacient.

पित्तवर्धक, कफवातशामक, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न, निद्राजनन, आर्तवजनन, शूल प्रशमन, मादक।

208. Ruta Graveolens Linn. Garden Rue. सिताब, सुद्दाब, सताप

Resolvent, diuretic, emmengogue, antispasmodic, stimulant, acro-narcotic, poison, irritant, abortifacient useful in hysteria and ammenorrhoea.

पित्तवर्धक, कफवातशामक, दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न, आक्षेपहर, कफघ्न, मूत्रल।

209. Picrorhiza Kurrooa Royle Ex Benth. तिक्ता, कटुका, कौड़, कुटकी

Adaptogan, Febrifuge, cholagogue, stomachic, mild laxative, liver ailments, jaundice, antispasmodic, bronchial asthma.

कफपित्तहर, रोचन, दीपन, यकृत्-उत्तेजक, रेचन, हृद्रोग, रक्तविकार, कटुपौष्टिक।

210. Podophylum Emodi Wall.Ex Hook.F.&Th. Indian Podophyllum. पटबेल, गिरीपर्पट

(=P. Hexandrum Royle)

Cholagogue, purgative, alterative, emetic, bitter tonic.

कफपित्तहर, यकृत्-उतेजक, विसर्प, दाह, अतिसारनाशक।

211. Rheume Officinale Baillon. Rhubarb. रेवन्दचीनी, गन्धिनी

(=R. emodi wall. ex Meissn.)

Tonic, mild laxative, used in dyspepsia, diarrhoea, anorexia, constipation, urticaria, septic wounds.

बल्य, मृदुविरेचनी, अजीर्ण, अतिसारनाशक, शीतपित्तनाशक।

212. Taxus Wallichii (=T. Baccata L.) तालीस पत्र, विरमी, थुनेर

Leaves and fruits sedative, antiseptic, emmengogue.

कैंसररोधक, श्वासरोग, कास, हिक्का, अजीर्ण, मृगी (Epilepsy), बल्य।

213. Thymus Serpyllum Linn. वन अजवायन

(=T. Linearis)

Useful in weak vision, stomach, oilments, menstrual troubles.

मूत्ररोग, बल्य, विषघ्न, दीपन-पाचन, चर्मरोग, दन्तरोग।

214. Valeriana Wallichii DC. तगर, सुगन्धबाला, मुश्कवाला

Roots stimulant, carminative, antiseptic, useful in hysteria, epilepsy, chorea, nervous break down.

कफवातजन्य विकार, आमवात, अस्थिभग्न, पक्षाघात, अर्दित आमवात, अपस्मार, कामला, उदरशूल, हृद्दुर्बलता, श्वासरोग, विष की स्थिति में।

215. Nardostachys Jatamansi DC. जटामांसी

सुगन्धित, कड़वी, बल्य, उत्तेजक, विषघ्न, अपस्मार, उन्माद, पेट रोगों में लाभप्रद।

(च) सजावट व सौन्दर्यकरण पौधे

1. Aurocaria cooki
2. Bixa arellana
3. Erythrina variegata
4. Gardenia latifolia
5. Junipers communis
6. Magnolia grandiflora
7. Michelia champaca
8. Michelia champaca var. Alba.
9. Mimusops elengi
10. Pinus longifolia
11. Plumeria obtusa
12. Plumeria rubra
13. Ravenola madagascariensis
14. Samenea Samon
15. Acalypha hispida
16. Allamanda nerifolia
17. Alternanthera dentata var. ruby
18. Beloperone guttata var. yellow queen
19. Baunfelsia americana
20. Brunfelsia calcyna
21. Dombeya wallichii
22. Erythrina crista-galli
23. Eranthemum bicolor

24. Eranthemum albo moginatum
25. Euphorbia colinifolia
26. Hamelia patens
27. Hibiscus mutabilis
28. Hibiscus rose sinensis var. Cooperi
29. Hibiscus rosa sinensis var. Daffodil
30. Hibiscus rosa sinensis var. Deeprose
31. Hibiscus rosa sinensis var. H.D. Maity
32. Hibiscus rosa sinensis var. Juno
33. Hibiscus rosa sinensis var. Kalyani
34. Lagerstroemia indica var. Candida
35. Muchlenbeckia plebiclada
36. Murraya exotica
37. Mussaenda tythrothrophylla var. rosea
38. Mussoneda luteola
39. Nerium oleander var. album
40. Nerium olearder var. carnea
41. Sanchezea nobilia
42. Strobilanthes dyecrauus
43. Tabernaemontana coronaria var. dwarf
44. Tabernaemontana coronaria var. floreplano
45. Tecoma goudi choudi
46. Vinca rosea = catharanthus rosea
47. Bougainvallea spectabilis
48. Asparagus setaceus var. pyramidalis

49. Begonia rex
50. Begonia var. cleopatra
51. Begonia var.moboniana
52. Calathea bella
53. Callusia repens
54. Chlorophytum comosum var. milky way
55. Chlorophytm comosum var. vittatum
56. Chrysanthemum 120 varieties
57. Dahlia 105 varieties
58. Rose 2000 variants
59. Nyctanthes arbor-tristis
60. Coleus blumei
61. Cuphea hyssopifilia

Climbers :

1. Allamanda cathartica
2. Bougainvillea buthiana
3. Gloriosa superba
4. Passiflora edulis
5. Thunbergia mysorensis

House Plants :

1. Begonia auriculata
2. Dracaena fragrans
3. Heliconia humilis
4. Pelargonium domesticum

शब्दकोष

1. **मेध्य (Brain tonic)**— मेधा (बुद्धि) को बढ़ाने वाला द्रव्य 'मेध्य' कहलाता है।
2. **मदकारी (Narcotic)**— जो द्रव्य बुद्धि को विकृत कर दे, उसे 'मदकारी' कहते हैं। जैसे- मद्य।
3. **संज्ञास्थापन**— संज्ञा (ज्ञान) को स्थापित करने वाले द्रव्य 'संज्ञास्थापन' कहलाते है।
4. **निद्राजनन (Hypnotic)**— निद्रा कफ (शरीरदोष) एवं तम (मानसदोष) के आधिक्य से होती है। अतः कफवर्धक एवं तमोदोषवर्धक द्रव्य 'निद्राजनन' कहलाते हैं। यथा-स्निग्ध तथा मधुर रस से युक्त भोजन आदि।
5. **निद्राशमन (Anti hypontic)**— तमोदोष तथा कफ का शमन करने वाले द्रव्य 'निद्राशमन' द्रव्य कहलाते हैं। जैसे- लंघन, रक्तमोक्ष आदि।
6. **वेदानास्थापन (Analgestic or anodynes)**— दुःखात्मक वेदना को शान्त कर सुखात्मक वेदना को स्थापित करने वाले द्रव्य 'वेदनास्थापन' कहलाते हैं।
7. **आक्षेपजनन (Conulsant)**— सुषुम्ना के पूर्वश्रृंग में स्थित चेष्टा-कोषाणुओं को क्षुब्ध कर, जो द्रव्य शरीर में अतिशयित अथवा अनियमित चेष्टायें उत्पन्न करते हैं, उन्हें 'आक्षेपजनन' कहते है।
8. **आक्षेपशमन (Anti -convulsant)**— जो द्रव्य सुषुम्ना के पूर्वश्रृंग में स्थित चेष्टाकोषाणुओं पर अवसादक प्रभाव डालते है और पेशियों के आक्षेप को शान्त करते हैं, उन्हें 'आक्षेपशमन' कहते है।
9. **चक्षुष्य**— चक्षु के लिए हितकर द्रव्य को 'चक्षुष्य' कहते हैं।
10. **तारकासंकोचक (Myotics)**— नेत्र-तारका को संकुचित करने वाले द्रव्य 'तारकासंकोचक' कहलाते है।

11. **कर्ण्य**— कर्ण के लिए हितकर द्रव्य को 'कर्ण्य' कहते है।

12. **शिरोविरेचन**— इसका प्रयोग मुख्यतः शिरोरोगों में होता है।

13. **स्वेदन (Diaphoretic)**— स्वेद की प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यों को 'स्वेदन' या 'स्वेदजनन' कहते हैं।

14. **स्वेदोपग**— स्वेदन कर्म में सहायक द्रव्यों को 'स्वेदोपग' कहते है। यथा एरण्ड, शोभाजन आदि।

15. **स्वेदापनयन**— स्वेद को कम करने या रोकने वाले द्रव्यों को 'स्वेदापनयन' कहते है।

16. **रोमसंजजन**— जो द्रव्य रोगों को पुनः उत्पन्न करें, उन्हें 'रोगसंजनन' कहते हैं।

17. **रोमशातन**— जो द्रव्य रोमों को साफ कर दें अर्थात् गिरा दें उन्हें 'रोमशातन' कहते हैं। यथा-शंखचूर्ण और हरताल का लेप।

18. **केश्य**— केश के लिए हितकर द्रव्य को 'केश्य' कहते है।

19. **केशरञ्जन**— केशों के वर्ण को प्राकृत (काला) रखने वाले, विशेषतः पके बालों को काला करने वाले द्रव्य केशरञ्जन कहलाते हैं।

20. **विदाही (Irritanis & counter-irritants)**— जो द्रव्य स्थानिक विदाह उत्पन्न कर आभ्यन्तर अङ्गों के शोथ को दूर करे, वह 'विदाही' कहलाता है।

21. **रक्तोत्क्लेशक (Rubefacient)**— जिन द्रव्यों का त्वचा पर लेप करने से रक्तसंचय के कारण त्वचा लाल हो जाती है ताकि लालिमा के साथ प्रायः कण्डू, दाह एवं वेदना हो उन्हें 'रक्तोत्क्लेशक' कहते हैं। यथा-राई आदि।

22. **स्फोटजनन (Vesicant)**— अतितीक्ष्ण विदाही द्रव्यों के प्रयोग से त्वचा में फोड़े निकल जाते हैं। ऐसे द्रव्यों को 'स्फोटजनन' कहते हैं। यथा-चित्रक आदि।

23. **पूतिस्फोटजनन** (Pustulants)— यदि अत्यधिक तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग किया जाय तो पूतिस्फोट निकल आते हैं। ऐसे द्रव्यों को 'पूतिस्फोटजनन' कहते हैं। यथा-जयपाल आदि।

24. **दाहक** (Caustics)— जो द्रव्य अङ्ग की जीवनी शक्ति को नष्ट कर दे तथा पार्श्ववर्ती अंङ्गों में भी शोध एवं व्रणशोध उत्पन्न करे, उसे 'दाहक' कहते हैं। यथा-क्षार।

25. **विम्लापन** (Anitplogistic)— जो द्रव्य व्रणशोध में प्रयुक्त होने पर उसे बिना प्रकोप ही दबा दे, उसे 'विम्लापन' कहते हैं। यथा-कुन्दरू आदि।

26. **पाचन**— पच्यमान व्रणशोण को जो द्रव्य शीघ्र पका दें, उन्हें 'पाचन' कहते हैं। यथा-तिल, सर्षप आदि।

27. **दारण**— जो द्रव्य पक्व व्रणशोध को विदीर्ण कर दे अर्थात् फाड़ दे, उसे 'दारण' कहते हैं। यथा-चित्रक आदि।

28. **प्रपीडन**— जो द्रव्य पक्व एवं विदीर्ण व्रणों को दबाकर उनका पूय बाहर निकालने में सहायता करें, उसे 'प्रपीडन' कहते है। यथा-जौ आदि।

29. **स्नेहन**— जो द्रव्य शरीर में स्निग्धता (चिकनाहट), द्रवत्व, एवं मृदुता उत्पन्न करे, उसे 'स्नेहन' कहते हैं।

30. **स्नेहोपग**— कुछ द्रव्य स्नेहन-द्रव्यों की शक्ति की बढ़ाते हैं। अतः उनके सहायक रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये द्रव्य 'स्नेहोपग' कहलाते हैं। यथा-मृद्वीका, मुलेठी आदि।

31. **रूक्षण**— जो द्रव्य शरीर में रूक्षता, काठिन्य तथा विशदता उत्पन्न करते हैं, उन्हे 'रूक्षण' कहते हैं।

32. **वर्ण्य**— जो द्रव्य शरीर के वर्ण को ठीक करे, उसे 'वर्ण्य' कहते ह।

33. **कण्डूघ्न**— जो द्रव्य कण्डू (खुजली) को दूर करे, उसे 'कण्डूघ्न' कहते हैं। यथा-चन्दन, उशीर, निम्ब आदि।

34. **कुष्ठघ्न**— आयुर्वेद में 'कुष्ठ' शब्द समस्त त्वग्-दोषों (Skin diseases) का वाचक है। अतः सामान्यः सभी त्वगदोषों में लाभकर द्रव्यों को 'कुष्ठघ्न' कहते हैं।

35. **उदर्दप्रशमन**— शीत वायु के स्पर्श से त्वचा पर बर्रे काटने के समान जो शोधयुक्त चकते उठ जाते हैं, उन्हें 'उदर्द' (Uritcaria) कहते हैं। इनको शान्त करने वाले द्रव्यों का 'उदर्दप्रशमन' कहते है।

36. **हृद्य (Cardiac tonics)**— हृदय को बल प्रदान करने वाले द्रव्य 'हृद्य' कहलाते है। यथा-अर्जुन, स्वर्ण, मुक्ता आदि।

37. **हृदयोत्तेजक (Cardiac Stimulauts)**— हृदय को उत्तेजित कर उसकी गति को बढ़ाने वाले द्रव्य 'हृदयोत्तेजक' कहलाते हैं। यथा-अद्रिनिलीन, सोत्र आदि।

38. **हृदयावसादक (Curdiac depressant)**— हृदय को अवसादित कर उसकी गति को कम करने वाले द्रव्य 'हृदयावसादक' कहलाते हैं। यथा-अहिफेन, हृत्यत्री आदि।

39. **रक्तभारवर्धक**— धमनियों में रक्तभार को बढ़ाने वाले द्रव्य 'रक्तभारवर्धक' कहलाते हैं। यथा-कुपीलु, हृत्पत्री आदि।

40. **रक्तभारशामक**-- रक्तभार को कम करने वाले द्रव्य 'रक्तभारशामक' कहलाते हैं। यथा-सर्पगन्धा आदि।

41. **रक्तस्म्भन या शोणितस्थापन (Styptic)**— स्थानीय प्रयोग से जो द्रव्य रक्तस्राव को बन्द करे, वह 'रक्तस्तम्भन' या 'शोणितस्थापन' कहलाता है।

42. **रक्तस्त्रावक**-- स्थानिक प्रयोग से जो द्रव्य रक्तस्राव को बढ़ा दे, उसे 'रक्तस्रावक' कहते है।

43. **शोथजनन**— जो द्रव्य शोथ उत्पन्न करे, उन्हें 'शोथजनन' कहते हैं।

44. **गण्डमालनाशक**-- जो द्रव्य रसग्रन्थियों की वृद्धि को दूर करे, उसे 'गंडमालानाशक' कहते हैं। यथा- काचनार, मुण्डी आदि।

45. **श्वसनकेन्द्रोत्तेजक (Drugs stimulating the respiratory centre)**— श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित कर श्वसन को बढ़ाने वाले द्रव्यों को 'श्वसनकेन्द्रोत्तेजक' कहते हैं। यथा-कुपीलु, कर्पूर आदि।

46. **श्वसनकेन्द्रावसादक (Drugs depressing the respiratory centre)**— श्वसनकेन्द्र पर अवसादक प्रभाव करके, जो द्रव्य श्वसन को कम करे, उसे 'श्वसनकेन्द्रावसादक' कहते हैं। यथा-अहिफेन, वत्सनाभ आदि।

47. **श्वसनोत्तेजक (Respiratroy stimulants)**— श्वसनकर्म को बढ़ाने वाले द्रव्य 'श्वसनोत्तेजक' कहलाते हैं। यथा-प्रांगार द्विजारेय आदि।

48. **छेदन (Expectorant)**— जो द्रव्य अपने प्रभाव से संचित कफादि दोषों को बाहर निकालता है, उसे 'छेदन' कहते हैं। यथा-यवक्षार, मरिच, हिंगु आदि।

49. **कासहर (Bronchial sedatives)** -- कास के वेग को शान्त करने वाले द्रव्य को 'कासहर' कहते हैं। यथा- द्रक्षा, हरीतकी आदि।

50. **श्वासहर (Bronchial antispasmodics)**— प्राणवायु का अधिक मात्रा में ऊर्ध्वगामी होना, जिसमें वक्षःस्थल आँधी के समान गति करे, 'श्वास' कहलाता है। इसे 'दम फूलना' भी कहते हैं। इस अवस्था को जो द्रव्य दूर करे, उसे 'श्वासहर' कहते हैं।

51. **हिक्कानिग्रहण**— जो द्रव्य हिक्का (हिचकी) को बन्द करे वह 'हिक्कानिग्रहण' कहलाता है।

52. **कण्ठ्य (Benefecial fro Throat)**— कण्ठ (स्वर) को ठीक करने वाले द्रव्य को 'कण्ठ्य' या 'स्वर्य्य' कहते हैं। यथा- सारिवा, मुलेठी आदि।

53. **श्लेष्मपूतिहर (Pulmonary antiseptics)**— जो द्रव्य श्लेष्मा की पूति (Sepsis) तथा तज्जन्य दुर्गन्ध को दूर करे, उसे 'श्लेष्मपूतिहर' कहते हैं। यथा- हिंगु, रसौन आदि।

54. **लालाप्रसेकजनन** (Sialagogues)— लाला स्राव (Salivary secretions) को बढ़ाने वाले द्रव्य 'लालाप्रसेकजनन' कहलाते हैं। यथा- तुम्बरू आदि।

55. **लालप्रसेकशमन** (Anti-sialagogue)— लालास्राव को कम करने वाले द्रव्य 'लालाप्रसेकशमन' कहलाते हैं।

56. **तृष्णानिग्रहण**— जो द्रव्य तृष्णा (प्यास) को कम करे, उसे 'तृष्णानिग्रहण' कहते हैं। यथा- नागमोथा, पित्तपापड़ा आदि।

57. **दुर्गन्धनाशन**— जो द्रव्य मुख की दुर्गन्ध दूर करते हैं, उन्हें 'मुखदुर्गन्धनाशन' कहते हैं। यथा- लवङ्ग, एला आदि।

58. **मुखवैशद्यकारक**— मुख की पिच्छिलता को दूर करने वाले द्रव्यों को 'मुखवैशद्यकारक' कहते है। यथा- ताम्बूल, पूग आदि।

59. **दन्तय** (Dentifrices)— दाँतों के लिए हितकर द्रव्य 'दन्त्य' कहलाते हैं।

60. **दन्तशोधन**— दाँतो को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाने वाले द्रव्यों को 'दन्तशोधन' कहते हैं।

61. **दन्तदाढ्र्यकर**— दाँतों को दृढ़ बनाने वाले द्रव्य 'दन्तदाढ्र्यकर' कहलाते हैं।

62. **तृप्तिघ्न**— 'तृप्ति' कफ का एक नानात्मज (विशिष्ट) विकार है, जिसमें आमाशय कफ से परिपूर्ण होने के कारण पेट भरा प्रतीत होता है। इस विकार को नष्ट करने वाल द्रव्य 'तृप्तिघ्न' कहलाते हैं। यथा- शुण्डी, चित्रक आदि।

63. **रोचन**— रुचि (Relish) वस्तुतः पुरुष के महास्रोत विशेषतः मुख तथा आमाशय की अवस्था से संबन्ध रखता है। इसमें भोजन तो आदमी कर लेता है, किन्तु उसमें स्वाद नहीं मालूम होता। इस विकार को 'अरुचि' कहते हैं। इसे दूर करने वाले द्रव्य 'रोचन' कहे जाते हैं।

64. **दीपन** (Stomachics)— जिन द्रव्यों से अग्नि (जठराग्नि) दीप्त होती है अर्थात् बढ़ती है, उन्हें 'दीपन' कहते हैं।

65. **विदाही**— जो द्रव्य पच्यमानावस्था में पित्त का अधिक प्रकोप एवं तज्जन्य विदाह उत्पन्न करता है, वह 'विदाही' कहलाता है।

66. **शामक** (Gastric sedatives)— जो द्रव्य आमाशय के विदाह क्षोभ को शान्त करे उसे 'शामक' कहते हैं। ये द्रव्य पित्तशामक होते हैं।

67. **अनुलोमन** (Carminatives)— जो द्रव्य वातनाड़ियों एवं पेशियो को प्रभावित कर आमाशय में उत्पन्न मलभूत वायु को बाहर निकालते हैं, वे द्रव्य 'अनुलोमन' कहलाते हैं।

68. **विष्टम्भी**— जो द्रव्य पच्यमानावास्था में अधिक प्रतिलोम वायु की उत्पत्ति करते हैं, वे 'विष्टम्भी' कहलाते हैं। यथा- कटहल, लोणिका आदि।

69. **वमन** (Emetics)— जो द्रव्य आमाशयस्थ अपक्व अन्न, श्लेष्मा एवं पित्त आदि दोषों को ऊर्ध्वभाग (मुखमार्ग) से बाहर निकाले, उसे 'वमन' या 'ऊर्ध्वभागहर' कहते हैं। यथा- मदनफल आदि।

70. **वमनोपग**— वमन में सहायक द्रव्यों को 'वमनोपग' कहते है। यथा- मधु, लवण, मुलेठी आदि।

71. **छदिनिग्रहण** (Anti-emetic)— जो द्रव्य वमन को रोके तथा कारणभूत दोष को शान्त करे, उसे 'छदिनिग्रहण' कहते हैं। यथा- जम्बू, आम्रपल्लव आदि।

72. **उपशोषण**— जो द्रव्य महास्रोत आमाशय और अन्त्र में स्थित द्रव पदार्थों को शोषण करता है, उसे 'उपशोषण' कहते हैं। यथा- कुटज आदि।

73. **पुरीषजनन**— जो द्रव्य पुरीष को अधिक मात्रा में उत्पन्न करें, उन्हें 'पुरीषजनन' कहते हैं। यथा- उड़द, यव आदि।

74. **रेचन (Purgatives)**— जो द्रव्य अधोमार्ग (गुदा) से दोषों को बाहर निकाले, उसे 'रेचन' या 'अधोभागहर' कहते हैं।

75. **विरेचनोपग**— विरेचन के साथ प्रयुक्त होने वाले उपयोगी द्रव्यों को 'विरेचनोपग' कहते हैं। यथा- द्राक्षा आदि।

76. **पुरीषसंग्रहणीय**— जो द्रव्य अति एवं द्रवरूप में आने वाले पुरीष को बांधे अर्थात् रोके एवं ठोस बनावे, उसे 'पुरीषसंग्रहणीय' कहते हैं।

77. **पुरीषविरजनीय**— जो द्रव्य पुरीष के दोषों को दूर कर उसके वर्ण को प्राकृत कर दे, उसे 'पुरीषविरजनीय' कहते हैं। यथा- जम्बू, मुलेठी आदि।

78. **शूलप्रशमन**— जो द्रव्य शूल (उदरशूल) को शान्त करे, उसे 'शूलप्रशमन' कहते हैं। यथा- पञ्चकोल आदि।

79. **आस्थापन**— जो द्रव्य शरीरगत दोषों विशेषतः वायु का संशाधोन कर शरीर को स्थापित करें अर्थात् दृढ़ बनाएं उन्हे 'आस्थापन' कहते हैं। यथा- पाटला आदि।

80. **आस्थापनोपग**— आस्थापन कर्म में सहायक द्रव्यों को 'आस्थापनोपग' कहते हैं। यथा- त्रिबत्, इन्द्रयव आदि।

81. **अनुवासन**— जो द्रव्य शरीर को स्निग्ध और दृढ़ बनाए, उसे 'अनुवासन' कहते हैं। यथा- तैल, घृत आदि।

82. **अनुवासनोपग**— जो द्रव्य अनुवासन कर्म में सहायक होते हैं, वे 'अनुवासनोपग' कहलाते हैं। यथा- रास्ना, देवदारु आदि।

83. **संशोधन**— जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग (मुखमार्ग) तथा अधोभाग (गुदामार्ग) दोनों मार्गो से दोषों को निकालें, उसे 'संशोधन' या 'उभयती-भागहर' कहते हैं। यथा- देवदाली।

84. **कृमिघ्न**— जो द्रव्य शरीर के बाह्य तथा आभ्यन्तर कृमियों को नष्ट करें तथा उन्हें बाहर निकालें, उसे 'कृमिघ्न' कहते हैं।

85. **पित्तस्रावक** (Choleretics)– जो द्रव्य यकृत् को उत्तेजित कर, पित्त का स्राव बढ़ाते हैं, वे 'पित्तस्रावक' कहलाते हैं। यथा- पित्तलवण, गरोचन आदि।

86. **पित्तसारक** (Cholagogue)– जो द्रव्य पित्ताशय से पित्त का निर्हरण करते हैं, वे 'पित्तसारक' कहलाते हैं।

87. **मधुरकजनन**– जो द्रव्य यकृत् में संचित शर्कराजनन को मधुरक (Glucose) में परिणत करते हैं, जिससे रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है, वे द्रव्य 'मधुरकजनन' कहलाते हैं। यथा- अद्रिनिलीन आदि।

88. **मधुरकशमन**– जो द्रव्य यकृत् के शर्कराजनन कार्य को अवसादित कर रक्तगत शर्करा की मात्रा को कम करते हैं, वे 'मधुकरशमन' कहलाते हैं। यथा- बीजक, कारवेल्लक आदि।

89. **अर्शोघ्न**– अर्श के कारण-दोष को शान्त कर अंकुरों को नष्ट करने वाले द्रव्यों को 'अर्शोघ्न' कहते हैं।

90. **प्रजास्थापन**– जो द्रव्य गर्भाशयगत दोषों को दूर कर गर्भधारण कराते हैं, वे द्रव्य 'प्रजास्थापन' कहलाते हैं। यथा- ब्राह्मी, लक्ष्मणा आदि।

91. **गर्भरोधक**– जो द्रव्य गर्भधारण में अवरोध उत्पन्न करते हैं, वे 'गर्भरोधक' कहलाते हैं। यथा- गुला, पाठा।

92. **गर्भाशयसंकोचक**– जो द्रव्य गर्भाशय में संकोचन उत्पन्न कर उसके अन्तर्गत पदार्थों को बाहर निकालता है, उसे 'गर्भाशयसंकोचक' कहते हैं।

93. **गर्भाशयशामक** (Uterine sedative)– जो द्रव्य गर्भाशय के संकोच को शान्त करे, उसे 'गर्भाशयशामक' कहते हैं। यथा- सूची आदि।

94. **आर्त्तवजनन** (Emmenagogue)– जो द्रव्य आर्त्तव का स्राव बढ़ाते हैं, उन्हें 'आर्त्तवजनन' कहते हैं।

95. **आर्त्तवशमन** (Anti-emmenagogue)– आर्त्तव के स्राव को कम करने वाले द्रव्य 'आर्त्तवशमन' कहलाते हैं। यथा- नागकेशर, लोध्र आदि।

96. **स्तन्यजनन** (Uterine sedative)— स्तनों मे स्तन्य (दूध) उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले द्रव्य 'स्तन्यजनन' कहलाते हैं। यथा- शतावरी, ईक्षुमूल आदि।

97. **स्तन्यशमन** (Anti-galactogoue)— जो द्रव्य स्तन्य (दूध) का स्राव कम करे, उसे 'स्तन्यशमन' कहते हैं। यथा- मल्लिका।

98. **स्तन्यशोधन**— दूषित स्तन्य (दूध) को शुद्ध करने वाले द्रव्य 'स्तन्यशोधन' कहलाते हैं।

99. **वाजीकरण** (Aphrodisiac)— जिस द्रव्य के सेवन से शुक्र, हर्ष एवं मैथुन-शक्ति की वृद्धि हो, उसे वाजीकरण या वृष्य कहते हैं।

100. **मूत्रविरेचनीय** (Diuretics)— जो द्रव्य मूत्र को अधिक मात्रा में लाते हैं, उन्हें 'मूत्रविरेचनीय' कहते है। इसे 'वस्तिशोधन' और 'मूत्रल' भी कहते हैं।

101. **मूत्रविरजनीय**— जो द्रव्य मूत्र के वर्ण को प्राकृत बनाएं, उन्हें 'मूत्राविरजनीय' कहते हैं। यथा- कमल के फूल, मूलेठी आदि।

102. **अश्मरीभेदन** (Urinary lithontriptics)— मूत्रवह-संस्थान में संचित अश्मरी को तोड़ने वाले द्रव्य 'अश्मरीभेदन' कहलाते हैं।

103. **मूत्रसंग्रहणीय** (Urinary astrinents)— जो मूत्र की प्रवृत्ति को कम करे उसे 'मूत्रसंग्रहणीय' कहते हैं। यथा- जामुन, आम आदि।

104. **मूत्रविशोधन** (Urinary antisetics)— जो द्रव्य मूगत्रत पूति (Sepsis) तथा जीवाणुओं को नष्ट कर मूत्र को शुद्ध बनाएं, उन्हें 'मूत्रविशोधन' कहते हैं।

105. **सन्तापहर** (Antipyretic)— जो द्रव्य ज्वर के सन्ताप को कम करें, वे 'सन्तापहर' कहलाते हैं।

106. **विषमज्वरघ्न** (Antiperiodic)— जो द्रव्य नियतकाल पर आने वाले ज्वरों को रोकते हैं, उन्हें 'विषमज्वरघ्न' कहते हैं। यथा- करञ्ज, सप्तपर्ण, कुनैन आदि।

107. **दाहप्रशमन** (Refrigerants)– जो द्रव्य बाह्य और आभ्यन्तर दाह को शान्त करे, वह 'दाहप्रशमन' कहलाता है। यथा- कमल, चन्दन आदि।

108. **शीतप्रशमन**– जो द्रव्य शीत (ठंडक) को दूर करे, वह 'शीतप्रशमन' कहलाता है।

109. **कोथप्रशमन** (Antiseptic)– जो द्रव्य जीवाणुओं की वृद्धि तथा तज्जन्य कोथ (सड़न) को रोकते हैं, किन्तु उसका नाश नहीं करते, उन्हें 'कोथप्रशमन' कहते हैं।

110. **रक्षोघ्न** (Disinfectant)– ये जीवाणुओं को नष्ट करते हैं, अतः व्रण एवं प्रसव आदि के रक्षाकर्म में प्रयुक्त होते हैं। यथा- सर्वप, निम्ब, गुग्गुल आदि।

111. **पूतिहर** (Deodorants)– ये द्रव्य दुर्गन्ध को नष्ट करते हैं। यथा- कोयला, लोषान आदि।

112. **व्रणशोधन**– जो द्रव्य व्रणों को शुद्ध करते हैं, उन्हे 'व्रणशोधन' कहते हैं। यथा- गांगेरूकी आदि।

113. **जीवनीय** (Nutrients)– जो द्रव्य जीवन का धारण करे, उसे 'जीवनीय' कहते हैं। शरीर क्रियाओं में निरन्तर जो शक्ति क्षीण होती रहती है, इन द्रव्यों से वह पूर्ण होती रहती है। यथा- विदारी, मुजातक आदि। दुग्ध जीवनीय द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है।

114. **सन्धानीय** (Union-promoters)– भग्न अर्थात् विच्छिन्न रक्त, मांस, अस्थि आदि धात्वयवों को जोड़ने में सहायक द्रव्य 'सन्धानीय' कहलाता है। यथा- मुलेठी आदि।

115. **बल्य** (Tonics)– जो द्रव्य शरीर के बल (शक्ति Vitality) को बढ़ाते हैं, उन्हें 'बल्य' कहते हैं।

116. **ओजोवर्धक**– ओज समस्त धातुओं का सारभाग है, जो समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और जिसके कारण शरीर का बल प्राप्त होता है। जो द्रव्य ओज को बढ़ाते हैं, उन्हें 'ओजोवर्धक' कहते हैं। यथा गोक्षीर।

117. **ओजोहासक (विकासी)**— जो द्रव्य ओज के विपरीत गुण होने से, ओज को क्षीण करते हैं तथा परिणामस्वरूप शरीर में शैथिल्य (दौर्बल्य) उत्पन्न करते हैं, वे 'ओजोहासक' कहलाते हैं। यथा- पूग, कोदी आदि।

118. **रसायन**— जो द्रव्य शरीर के रस-रक्तादि समस्त धातुओं को बढ़ा कर शरीर की शक्ति एवं आयु को बढ़ाए, उसे 'रसायन' कहते हैं।

119. **विष (Poisons)**— जो द्रव्य ओज का क्षय करके विषाद उत्पन करते हैं, उन्हें 'विष' कहते हैं। यथा- वत्सनाभ आदि।

120. **उपविष**— विषों की अपेक्षा जिनका प्रभाव न्यून होता है, उन्हें 'उपविष' कहते हैं। यथा- गुञ्जा आदि।

121. **विषघ्न (Antidotes)**— विषप्रभाव को नष्ट करने वाले द्रव्यों को 'विषघ्न' या 'अगद' कहते हैं। यथा- शिरोष आदि।

122. **रसवर्धन**— रस धातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'रसवर्धन' कहलाते हैं। यथा- क्षीर।

123. **रसक्षपण**— रस धातु को घटाने वाले द्रव्य 'रसक्षपण' कहलाते हैं। यथा- यव आदि।

124. **शोणितस्थापन**— जो द्रव्य रक्त को बढ़ावे तथा रक्तस्राव को रोके, उसे 'शोणितस्थापन' कहते हैं।

125. **रक्तवर्धन**— रक्त धातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'रक्तवर्धन' कहलाते हैं।

126. **रक्तकणवर्धक (Heamatinics)**— रक्तकणों के भीतर रक्तरक्षक पदार्थ (Haemeglobin) होता है, जो प्राणवायु का वहन करता है। ऐसे द्रव्य जो रक्तकणों की संख्या बढ़ाते हैं, वे 'रक्तकणवर्धक' कहलाते हैं। यथा- लौह, ताम्र आदि।

127. **श्वेतकणवर्धक**— जो द्रव्य रक्तगत श्वेतकणों को बढ़ाते हैं, उन्हें 'श्वेतकण वर्धक' कहते हैं।

128. **अम्लवर्धक**— जो द्रव्य रक्त में अम्ल की मात्रा बढ़ाते हैं, उन्हें 'अम्लवर्धक' कहते हैं। यथा- सोमल, स्फुरक आदि।

129. **क्षारवर्धक**— जो द्रव्य रक्त की क्षारीयता बढ़ाते हैं, उन्हें 'क्षारवर्धक' कहते हैं। यथा- अपामार्ग आदि।

130. **रक्तस्तम्भन** (Heamostatics)— रक्तस्राव को रोकने वाले द्रव्य 'रक्तस्तम्भन' कहलाते हैं। यथा- लोध्र, नागकेसर आदि।

131. **रक्तनाशन**— रक्तकणों को नष्ट करने वाले तथा रक्तधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'रक्तनाशन' कहलाते हैं। यथा- सोमल, स्फुरक आदि।

132. **रक्तदूषण**— रक्त को दूषित (प्रकुपित) करने वाले द्रव्य 'रक्तदूषण' कहलाते हैं।

133. **रक्तप्रसादन**— रक्त के विकारों को दूर कर उसे शुद्ध बनाने वाले द्रव्यों को 'रक्तप्रसादन' या 'रक्तशोधन' कहते हैं। यथा-सारिवा, मञ्जिष्ठा आदि।

134. **बृंहण**— शरीर को बढ़ाने वाले (पुष्ट=मोटा करने वाले) द्रव्य 'बृंहण' कहलाते हैं।

135. **लंघन**— जो द्रव्य शरीर को दुबला (कृश) बनावे तथा शरीर में हल्कापन लावे उसे लंघन कहते हैं। यथा- यव, वचा आदि।

136. **श्रमहर**— मांसपेशियों के श्रम (Fatigue) को दूर करने वाले द्रव्य 'श्रमहर' कहलाते हैं। यथा- द्राक्षा आदि।

137. **अङ्गमर्दप्रशमन**— जो द्रव्य अंगमर्द (मांसपेशियों की हल्की ऐंठन-पीड़ा) को शान्त करे, वह 'अंगमर्द-प्रशमन' कहलाता है। यथा- लघुपञ्चमूल, काकोली आदि।

138. **व्रणरोपण**— जो द्रव्य व्रणों का रोपण (Healing) शीघ्र करते हैं, उन्हें 'व्रणरोपण' कहते हैं। यथा- मांसरोहिणी आदि।

139. **उत्सादन**— शुष्क अल्प मांस वाले तथा गहरे व्रणों में मांस की वृद्धि कर उन्हें उठाने वाले द्रव्यों को 'उत्सादन' कहते हैं। यथा- अश्वगन्धा आदि।

140. **अवसादन**— अधिक उभरे हुए व्रणों में मांस को घटाने वाले द्रव्य 'अवसादन' कहलाते हैं। यथा- मनःशिला, तुत्थ आदि।

141. **मेदोवर्धन**— मेदोधातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'मेदोवर्धन' कहलाते हैं। यथा- घृत, वसा आदि।

142. **मेदःक्षपण**— मेदोधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'मेदःक्षपण' या 'मेदोनाशन' कहलाते हैं। यथा- गुग्गुलु, यव, चणक आदि।

143. **अस्थिवर्धन**— जो द्रव्य अस्थिधातु को विशेष रूप से बढ़ाते हैं, वे 'अस्थिवर्धन' कहलाते हैं। यथा- प्रवाल, मुक्ता आदि।

144. **अस्थिक्षपण**— अस्थिधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'अस्थिक्षपण' कहलाते हैं।

145. **अस्थिसन्धानीय**— भग्न अस्थि को जोड़ने वाले द्रव्य 'अस्थिसंधानीय' कहलाते हैं। यथा- अस्थिश्रृंखला।

146. **मज्जवर्धन**— मज्जाधातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'मज्जवर्धन' कहलाते हैं। यथा- मज्जा।

147. **मज्जक्षपण**— मज्जा धातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'मज्जक्षपण' कहलाते हैं।

148. **शुक्रवर्धन**— जो द्रव्य शुक्र को बढ़ाते हैं, वे 'शुक्रवर्धन' कहलाते हैं।

149. **शुक्रनाशन**— शुक्र को क्षीण बनाने वाले द्रव्य 'शुक्रनाशन' कहलाते हैं।

150. **प्रमाथी**— जो द्रव्य अपने वीर्य से स्रोतों के मल को मथ कर बाहर निकाल दे, उसे 'प्रमाथी' कहते हैं। यथा- मरिच, वचा आदि।

151. **अभिष्यन्दी**— जो द्रव्य अपने गुणों से स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करे उसे 'अभिष्यन्दी' कहते हैं।

152. **वातकोपन**— वातदोष को प्रकुपित करने वाले अर्थात् बढ़ाने वाले द्रव्य *'वातकोपन' कहलाते हैं। यथा- जम्बू, शुष्क शाक आदि।*

153. **वातशमन**— वातदोष को शान्त करने वाले अर्थात् घटाने वाले द्रव्य 'वातशमन' कहलाते हैं। यथा- देवदारू, कुष्ठ आदि।

154. **पित्तकोपन**— पित्त को बढ़ाने वाले द्रव्य 'पित्तकोपन' कहलाते हैं। यथा- चन्दन आदि।

155. **पित्तशमन**— पित्त को शान्त करने वाले द्रव्य 'पित्तशमन' कहलाते हैं। यथा- चन्दन आदि।

156. **कफकोपन**— कफ को प्रकुपित करने वाले द्रव्य 'कफकोपन' कहलाते हैं। यथा- माष, गोधूम आदि।

157. **कफशमन**— कफ को शान्त करने वाले द्रव्य 'कफशमन' कहलाते हैं। यथा- कुष्ठ आदि।

158. **संशमन**— जो द्रव्य बढ़े हुए दोषों को बाहर न निकाल कर, भीतर ही शान्त करें, उसे 'संशमन' कहते हैं। यथा- गुडुची आदि।

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) द्वारा प्रकाशित यौगिक साहित्य एवं ऑडियो-वीडियो कैसेट

पुस्तक का नाम	मूल्य
o योग साधना एवं योग चिकित्सा रहस्य (रंगीन चित्रों सहित विशिष्ट संस्करण) लेखकः पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज	125/-
o प्राणायाम रहस्य (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी) (रंगीन चित्रों सहित विशिष्ट संस्करण) लेखक : पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज	50/-
o दिव्य स्तवन (भजन) ऑडियो कैसेट (भाग-प्रथम, भाग-द्वितीय) दोनों का मूल्य (पूज्य स्वामी जी महाराज द्वारा योग शिविरों में गाये जाने वाले भजन)	50/-
o योगनिद्रा (ऑडियो कैसेट)	30/-
o गायत्री मन्त्र एवं महामृत्युञ्जय मन्त्र जप (पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज के स्वर में)	30/-
o वैदिक सन्ध्या व यज्ञ विधि (ऑडियो कैसेट) (पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज के स्वर में)	30/-
o दिव्य योग साधना (आसन-प्राणायाम) V.C.D. भाग-1-2	150/-
o औषध दर्शन (परिवर्धित संस्करण) (हिन्दी, अंग्रेजी)	30/-
o योगासन चार्ट भाग 1 (उदररोग, मोटापा, मधुमेह आदि)	10/-
o योगासन चार्ट भाग 2 (कमर दर्द, स्पोंडोलाइटिस एवं सूर्य नमस्कार)	10/-
o योग सन्देश (मासिक पत्रिका)	15/-
o वैदिक नित्यकर्म-विधि (पूज्य स्वामी जी महाराज के अमृत उपदेशों एवं भजनों सहित)	25/-
o दिव्य औषधीय सुगन्धित एवं सौन्दर्यकरण पौध	30/-

हरिद्वार की पुण्यभूमि पर

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) का बहुआयामी सेवा प्रकल्प

पतञ्जलि योगपीठ

उद्देश्य एवं संकल्प

हजारों बीघा भूमि पर स्थापित होने जा रहे पतञ्जलि योगपीठ का शिलान्यास ७ दिसम्बर २००३ को सम्पन्न हुआ है। इस बहु-आयामी योगपीठ पर लगभग सौ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। यह योगपीठ विश्व भर में अपने ही स्तर का विशालतम संस्थान होने का गौरव प्राप्त करेगा। इस सेवा प्रकल्प का महान् उद्देश्य है- योग, आयुर्वेद और वैदिक संस्कृति की गरिमा देश-विदेश में स्थापित करते हुए भारत को पुनः विश्व-गुरु के वर्चस्वी पद पर प्रतिष्ठित कराना जिससे विश्व-शान्ति और मानव-कल्याण का पथ प्रशस्त हो सके। पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष ही मानव के क्रमिक विकास का सनातन पथ है, जिसे पार करने के लिये शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हमें सबल बनना होगा, जिसमें योग, आयुर्वेद एवं वेद ही हमारे सम्बल, हमारे सहायक, हमारे प्रेरक और हमारे पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं। इन तीनों ही विधाओं पर गहन मंथन, अनुसंधान और प्रशिक्षण की व्यवस्था पतंजलि योगपीठ में प्रस्तावित है। इस महान् सारस्वत यज्ञ में विश्व-नागरिक की हैसियत से हर व्यक्ति की आहुति पड़नी चाहिए तभी यह यज्ञ सफल होगा।

साधन एवं साधना

साधना की इस तपोभूमि को स्वावलम्बी बनाने के लिये कुछ मूलभूत साधनों का जुटाना नितांत आवश्यक है। अतः पतंजलि योगपीठ में एक हजार साधकों के लिये सुविधाजनक आवास व्यवस्था, योगसाधना मन्दिर, अनुसंधान कक्ष, पुस्तकालय, चिकित्सालय, जड़ी-बूटी उद्यान, गोशाला, यज्ञशाला, प्रवचन भवन, फार्मेसी, प्रकाशन-गृह, मुद्रणालय, कर्मचारियों, स्वयंसेवकों, संतों व आगन्तुकों के लिये निवास, कार्यालय भवन, अन्नपूर्णा गृह आदि का विशाल भू-खण्ड पर निर्माण प्रस्तावित है। यह योगपीठ भविष्य में देश-विदेश के योगाचार्यों, आयुर्वेदाचार्यों, दार्शनिकों, अध्यात्मवादियों, वैज्ञानिकों और शोध-कर्त्ताओं का संगम स्थल सिद्ध होगी। भारतीय प्रज्ञा का देश-देशांतर में विविध भाषाओं में प्रचार-प्रसार का महत् कार्य इस योगपीठ द्वारा सम्पादित होगा। इस योगपीठ द्वारा प्रशिक्षित योग-साधक, धर्म-प्रचारक और वैद्य विश्वभर में योग, वेद और आयुर्वेद का वर्चस्व स्थापित कर सकेंगे। विशुद्ध रूप में यह योगपीठ ऋषिकल्प तपोभूमि का साकार एवं शाश्वत रूप ग्रहण कर मानव कल्याण एवं विश्व-शान्ति के लिये कार्य करेगा। अतः इस योजना में सहभागी बनना आपका अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य भी है। इस प्रकार के बहु-आयामी संस्थान से जुड़ना निश्चय ही हम भारतीयों के लिये गौरवशाली अनुभव होगा।

महायज्ञ में आपका सहयोग

आपने अपने परिवार व बच्चों के सुख के लिये लाखों कमाये व खर्च किये हैं, परन्तु जिस समाज से आपको सब कुछ मिला, उस समाज के लिये आपने क्या किया है? तो आइए! स्वार्थ के आवृत्त से बाहर निकल कर परमार्थ के प्रशस्त क्षेत्र में प्रवेश करें। समाज की सुरक्षा एवं सम्पन्नता में ही हमारे जीवन की सार्थकता निहित है। योगपीठ की सदस्यता व सहयोग की निर्धारित राशि इस प्रकार हैः

१. संस्थापक सदस्य- पाँच लाख रुपये
२. संरक्षक सदस्य- दो लाख इक्यावन हजार रुपये
३. आजीवन सदस्य- एक लाख रुपये
४. विशिष्ट सदस्य- इक्यायन हजार रुपये
५. सम्मानित सदस्य- इक्कीस हजार रुपये
६. सामान्य सदस्य- ग्यारह हजार रुपये

इसके अतिरिक्त भी यदि आप सहयोग देना चाहते हैं तो स्वागत है।

ओ३म्

आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य

आचार्य बालकृष्ण

Scanned by CamScanner

प्राक्कथन

विश्व की सभी संस्कृतियों में, भारत की संस्कृति न सिर्फ़ प्राचीन ही है बल्कि सर्वश्रेष्ठ और बेजोड़ भी है। हमारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूल स्रोत और आधार हैं वेद, जो कि मानव जाति के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेद चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। संसार का सबसे प्राचीन चिकित्सा एवं स्वास्थ्य संबंधी शास्त्र आयुर्वेद है जो कि अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है और यह पुस्तक, इस प्राचीनतम महानशास्त्र आयुर्वेद के सिद्धान्तों के रहस्यों के विषय में उपयोगी और प्रामाणिक जानकारी देने के लिए प्रस्तुत की जा रही है।

प्राचीन ऋषि मनीषियों ने आयुर्वेद को 'शाश्वत' कहा है और अपने इस कथन के समर्थन में तीन अकाट्य युक्तियां दी हैं यथा–

'सोयऽमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव नित्यत्वाच्च'

(चरक संहिता सूत्र. 30/26)

अर्थात् यह आयुर्वेद अनादि होने से, अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से और भावों के स्वभाव के नित्य होने से शाश्वत यानी अनादि अनन्त है। ऐसे शाश्वत शास्त्र आयुर्वेद को ब्रह्मा से प्रजापति ने अध्ययन किया, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, इनसे इन्द्र ने और इन्द्र से भारद्वाज ऋषि ने अध्ययन करके अन्य ऋषियों को आयुर्वेद का ज्ञान दिया जिनमें पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षार पाणि, सुश्रुत, धन्वन्तरि, वाग्भट आदि के नाम का उल्लेखनीय हैं।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पालन कर आत्मोन्नति करना और जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो कर प्रभु से मिलना, है और इन चारों पुरुषार्थ की सिद्धि व उपलब्धि का वास्तविक साधन और आधार है पूर्ण रूप से स्वस्थ शरीर क्योंकि **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'** के अनुसार धर्म का पालन करने का साधन स्वस्थ शरीर ही है। शरीर स्वस्थ और निरोग हो तो ही व्यक्ति दिनचर्या का पालन विधिवत कर सकता है, दैनिक कार्य और श्रम कर सकता है, किसी सुख–साधन का उपभोग कर सकता है, कोई उद्यम या उद्योग करके धनोपार्जन कर सकता है, अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा कर सकती है, आत्मकल्याण के लिए साधना और ईश्वर की आराधना कर सकती है इसीलिए जो सात सुख बतलाये/कहे गये हैं उनमें पहला सुख निरोगी काया यानी स्वस्थ शरीर होना कहा गया है। आयुर्वेद भी यही कहता है यथा –

'धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'

(चरक संहिता सूत्र. 1/15)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल आधार स्वास्थ्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता के विषय में प्रश्न प्रस्तुत किया गया है– **'किमर्थमायुर्वेदः'** अर्थात् आयुर्वेद का प्रयोजन यानी उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया –

'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।'

(चरक संहिता सूत्र. 30/26)

Scanned by CamScanner

यानी आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन अर्थात् उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आयुर्वेद का यह उद्देश्य, धन कमाने या यश प्राप्त कर वाह–वाही लूटने के लिए नहीं बनाया गया है बल्कि प्राणी मात्र के प्रति दया व करुणा की भावना रख कर बनाया गया यथा–

'धर्मार्थं चार्थ कामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्म परैरिच्छद्भिः
स्थानमक्षरम्।।

(चरक संहिता चिकित्सा 1–4/57)

अर्थात् धर्म कार्य में तत्पर और अक्षर पद प्राप्त करने की कामना करने वाले ऋषियों ने आयुर्वेद का प्रकाश धर्म पालन हेतु किया, धन कमाने या किसी विशिष्ट कामना की प्राप्ति के लिए नहीं। चिकित्सक की परिभाषा करते हुए इसीलिए आयुर्वेद ने कहा है–

'नाथार्थं नापि कामार्थमथ भूत दयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते।

(चरक संहिता चिकित्सा 1–4/58)

अर्थात् जो वैद्य धन या किसी विशिष्ट कामना को ध्यान में न रख कर, केवल प्राणिमात्र (रोगी) के प्रति दया–भाव रख कर ही कार्य करता है, वही वैद्य सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक होता है।

ऐसे श्रेष्ठ और उच्च आदर्श वाले नियम–सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र आयुर्वेद, विश्व का एकमात्र चिकित्सा शास्त्र है जो दवा इलाज से भी ज्यादा महत्त्व, पथ्य–अपथ्य के पालन करने को देता है और उस कारण को दूर करना चिकित्सा का पहला कदम बताता है जो रोग पैदा कर रहा हो यथा–

'संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्' अर्थात् रोग उत्पन्न करने वाले कारण का पहले त्याग करो। अपने प्रयोजन (उद्देश्य) को सिद्ध करने के लिए आयुर्वेद, स्वास्थ्य की रक्षा करने के उपाय भी बताता है और जिन कारणों से रोग उत्पन्न होता है, उन कारणों की भी जानकारी देता है।

स्वास्थ्य की रक्षा करने के उपाय बताते हुए आयुर्वेद कहता है–

'त्रय उपस्तम्भा इति– आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'

(चरक संहिता सूत्र. 11/35)

अर्थात् शरीर और स्वास्थ्य को स्थिर, सुदृढ़ और उत्तम बनाये रखने के लिए आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य– ये तीन उपस्तम्भ हैं। 'उप' यानी सहायक और 'स्तम्भ' यानी खम्भा। इन तीनों उप स्तम्भों का यथा विधि सेवन करने से ही शरीर और स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

इसी के साथ शरीर को बीमार करने वाले कारणों की भी चर्चा की गई है यथा–

'धी धृति स्मृति विभ्रष्टः कर्मयत् कुरुते ऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोष
प्रकोपणम्।।'

(चरक संहिता शरीर. 1/102)

अर्थात् धी (बुद्धि), धृति (धैर्य) और स्मृति (स्मरण शक्ति) के भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य जब अशुभ कर्म करता है तब सभी शारीरिक और मानसिक दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इन अशुभ कर्मों को प्रज्ञापराध कहा जाता है। जो प्रज्ञापराध करेगा उसके शरीर और स्वास्थ्य की हानि होगी और वह रोग ग्रस्त हो ही जाएगा।

Scanned by CamScanner

आयुर्वेद ने अपनी व्याख्या स्वयं करते हुए कहा है

'तदायुर्वेद यतीत्यायुर्वेदः'

(चरक संहिता सूत्र. 30/23)

अर्थात् जो आयु का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहा जाता है। और भी कहा है–

'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।'

(चरक संहिता सूत्र. 1/41)

अर्थात् जिस ग्रन्थ में हित आयु, अहित आयु, सुख आयु और दुःख आयु इन चार प्रकार की आयु के लिए हित (पथ्य), अहित (अपथ्य), इस आयु का मान (प्रमाण और अप्रमाण) और आयु का स्वरूप बताया गया हो, उसे आयुर्वेद कहा गया है। दरअसल आयुर्वेद, श्रेष्ठ व स्वस्थ जीवन–शैली का नाम है, जीवन के ज्ञान का नाम है और मनुष्य के जीवन (आयु) को स्वस्थ व सुखी बनाने वाले विज्ञान का नाम है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आयुर्वेद सिर्फ़ चिकित्सा विज्ञान और औषधियों या जड़ी बूटियों की जानकारी देने वाला शास्त्र ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जीवन का शास्त्र तथा जीवनदर्शन है। आतुर (रोगी) को स्वस्थ करने के लिए औषधियों का वर्णन है तो स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए दिनचर्या और ऋतु के अनुकूल ऋतुचर्या का वर्णन भी है जो वात पित्त कफ दोषों के आधार पर उचित और हितकारी आहार–विहार का विस्तृत विवरण देने वाला है। परस्पर विरोधी एवं सर्वथा असेवनीय पदार्थों का वर्णन है तो धारण करने योग्य वेगों का सूक्ष्म वर्णन भी किया गया है। वास्तिवक तथ्य यह है कि आयुर्वेद का आयाम इतना विशाल है कि इसके विषय को किसी सीमा में बांधा नहीं जा सकता। आयुर्वेद ने हरे पौधे, पत्ते, बीज, फल आदि को औषधि माना है। यथा –

'अनेनोपदेशेन नानौषधि भूतं जगति किंचिद्
द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य।'

(चरक संहिता सूत्र. 26/12)

अर्थात् इस संसार में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो औषधि न हो। भिन्न–भिन्न प्रयोजन के अनुसार प्रयोग करने पर प्रत्येक पदार्थ औषधि का काम करता है और प्रत्येक खनिज पदार्थ का शोधन करके औषधि के रूप में प्रयोग किया जा सकता है जो जीवन रक्षक सिद्ध हो सकता है। इसके साथ ही आयुर्वेद यह भी जानकारी देता है कि आहार–विहार, जल–वायु आदि का विधिपूर्वक सेवन करना प्राणदायक होता है, प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का बोध प्राप्त कर, जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष पद पाने का मार्गदर्शन करता है। हमारे ऋषि–मनीषियों द्वारा प्रस्तुत इस अद्भुत शास्त्र आयुर्वेद के मार्गदर्शन और उपदेशों का पालन करना सभी मनुष्यों के जीवन के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा इसमें कोई सन्देह नहीं इसलिए आज आवश्यकता है कि आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान का प्रचार–प्रसार विश्व के कोने कोने तक हो, नये नये अनुसन्धान और प्रयोग किये जाएं ताकि निरापद रूप से चिकित्सा की जा सके। आज भी देश में ऐसे योग्य चिकित्सक, परम्परागत रूप से काम कर रहे अनुभवी और कुशल वैद्य मौजूद हैं जो कष्ट साध्य तथा असाध्य समझे जाने वाले रोगों को भी दूर करने वाले सिद्ध हो रहे हैं परन्तु इन सबका परस्पर सम्पर्क व सहयोग न होने से विश्व स्तर पर आयुर्वेद के उपयोग की स्थिति नहीं बन पा रही है और न ही आयुर्वेद का

Scanned by CamScanner

सही उपयोग हो पा रहा है।

हमने ब्रह्मकल्प चिकित्सालय की स्थापना की और इसके माध्यम से लाखों रोगियों तथा पीड़ितों की सेवा की है और आयुर्वेद के उपयोग से आशातीत सफलता प्राप्त की है। हमारी मान्यता है कि आधुनिक समय में किये जा रहे अनुसन्धानों और शोधकार्यों की उपलब्धियों और आयुर्वेद को जोड़ कर कार्य करना अति आवश्यक है। इस आवश्यकता को बड़ी गहराई से समझा परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज ने, जिनकी अध्यक्षता में दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) द्वारा वृहत योजना के अन्तर्गत आयुर्वेद द्वारा प्रस्तुत उपदेशों के आधार पर स्वस्थवृत्त, उचित दिनचर्या, आहार–विहार एवं आचार–विचार आदि विषयों से सम्बन्धित उपयोगी और हितकारी जानकारी को प्रचारित और प्रसारित किया जाएगा।

आज व्यक्ति प्रकृति से विमुख होता जा रहा है, अपनी चेतना से विमुख होता जा रहा है जिससे अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था यानी स्वास्थ्य से वंचित हो गया है। इसे पुनः स्वस्थ शरीर, शुद्ध मन और चेतना से भरपूर बना कर स्वस्थ रखने के लिए आयुर्वेद का मार्गदर्शन आवश्यक है क्योंकि आयुर्वेद मनुष्य को प्रकृति से और अपनी चेतना से जोड़ता है और श्रेष्ठ जीवन शैली का ज्ञान देता है। ऐसे आयुर्वेद के अद्‌भुत, सारगर्भित तथा अनुपम रहस्यों से परिचित कराने के लिए यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

इस पुस्तक को लिखने में वैद्य भगवान दास की शिष्या बहन कंचन का सहयोग मिला है जिन्होंने आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके सारगर्भित सामग्री का संग्रह किया है। उनका बहुत साधुवाद।

कम्प्यूटर पर कम्पोज़ होने के बाद, प्रूफ़ रीडिंग एवं आवश्यक संशोधन के लिए हमने इस पुस्तक को, निरोगधाम के प्रधान सम्पादक रसवैद्य डॉ प्रेमदत्तजी पाण्डेय के पास इन्दौर भेजा था। अत्यन्त व्यस्त दिनचर्या के बावजूद उन्होने यथा शीघ्र प्रूफ़ रीडिंग और संशोधन करके पुस्तक भेज दी, यह उनके हार्दिक स्नेह और सक्रिय सहयोग का प्रमाण है। हम इस सहयोग के लिए श्री पाण्डेयजी को हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

लेखन कार्य में सहयोग करने वाले, आश्रम के सभी सहयोगियों, कनिष्ठ व वरिष्ठ चिकित्सकों को भी मैं धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूं, प्रभु सबको सेवा कार्य में और अधिक प्रवृति व अभिरुचि प्रदान करें। अन्त में, मै मेरे वरिष्ठ भ्राता परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज के प्रति नतमस्तक हो कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जो आश्रम के सेवा कार्यों में, मेरे लिए प्रेरणा के अहिर्निश स्रोत बने हुए हैं, मेरे प्रबल सहयोगी हैं और उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है जो मैं आज कुछ कर पा रहा हूं। मेरी सफलताएं और उपलब्धियां भी उन्हीं की तपस्या का प्रतिफल है। स्वामीजी आयुर्वेद के उन महान ऋषि–मुनियों के साकार स्वरूप हैं, वर्तमान युग में उनके प्रतिनिधि हैं जिनकी तपस्या से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव इस भूतल पर हुआ और प्रचार–प्रसार हुआ। मैं उन सभी महान ऋषि मुनियों व आचार्यों के प्रति नतमस्तक हूं जिन्होंने आयुर्वेद शास्त्र का रक्षण किया, पोषण किया और संवर्धन किया। उन सबके चरणों में प्रणाम करते हुए, उनकी परम्परा की वृद्धि व रक्षा करने के लिए, अध्यात्म, आयुर्वेद, योग तथा वैदिक संस्कृति के पथ के पथिक बनने का संकल्प ले कर हम सब आगे बढ़ रहे हैं और हमें सुदृढ़ विश्वास है कि इस पवित्र यज्ञ कार्य में हमें सबका आशीर्वाद और सहयोग प्राप्त होगा।

– आचार्य बालकृष्ण

Scanned by CamScanner

पुस्तक के प्रति दो शब्द

आचार्य श्री बालकृष्णजी ने जब फोन पर मुझको बताया कि उन्होंने **'आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य'** नामक एक पुस्तक लिखी है जिसे वे मेरे अवलोकन हेतु भेजना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि पुस्तक में कोई संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन करना चाहें तो अवश्य कर दें, साथ ही मैटर की प्रूफ़ रीडिंग करके भाषा के अशुद्ध शब्दों को शुद्ध करने का कष्ट भी करें। मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी यद्यपि मेरी दिनचर्या अत्यन्त व्यस्त रहती है तथापि परम पूज्य स्वामी रामदेवजी महाराज द्वारा संचालित किये जा रहे, महान क्रान्तिकारी यज्ञकार्य में मेरी हार्दिक रुचि रही है और निरोगधाम पत्रिका के माध्यम से मैं, उनके इस महान कार्य में, यथाशक्ति भरपूर सहयोग देता आ रहा हूं इसलिए मैंने इस गुरुतर दायित्व को स्वीकार करने में तनिक भी देर नहीं की और स्वामी रामदेवजी के दाहिने हाथ, दिव्य योग मन्दिर की गतिविधियों तथा कार्यक्रमों के प्रमुख संचालक और कर्ताधर्ता आचार्य श्री बालकृष्णजी का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार कर लिया।

पुस्तक प्राप्त होने पर, प्रूफ़ रीडिंग करते हुए मैं यह देख दंग रह गया कि इस पुस्तक को लिखने और इसमें प्रस्तुत की गई तथ्यपरक सामग्री जुटाने में आचार्यजी ने कितना घोर परिश्रम किया है। हर तथ्य और विवरण को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए आयुर्वेदिक ग्रन्थों के तत्सम्बन्धित श्लोक भी प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक पढ़ते हुए पाठक को व्यवधान का अनुभव न हो इस हेतु से श्लोक और सन्दर्भ ग्रन्थ के नाम, पृष्ठ के नीचे, फुट नोट के रूप में, अलग से प्रस्तुत किये गये हैं।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य के जीवन में काम आने वाली बातों को, अधिक से अधिक मात्रा में प्रस्तुत किया गया है और यह पुस्तक चूंकि आयुर्वेद पर आधारित है इसलिए आयुर्वेद के ढेर सारे सिद्धान्तों को इसमें युक्ति पूर्वक, बड़ी कुशलता से और प्रसंग के अनुकूल प्रस्तुत किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि भाषा सरल और सुबोध तथा शैली रोचक है इसलिए सामान्य व्यक्ति भी इस पुस्तक को पढ़ और समझ सकेगा। पुस्तक की विषय वस्तु, प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये गये आयुर्वेदिक श्लोक और उनकी सरल सुगम व्याख्या ने पुस्तक की उपयोगिता और महत्ता को कई गुना बढ़ा दिया है। मुझे विश्वास है कि आयुर्वेद के सिद्धान्तों और नियम क़ायदों से सुशोभित यह पुस्तक, देश के हर घर में पहुंचेगी, पढ़ी जाएगी और देशवासी इसका भरपूर लाभ उठाएंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि इस पुस्तक का देश–विदेश में भव्य स्वागत हो और इसके कई संस्करण प्रकाशित हों, शुभम् भवतु।

प्रेमदत्त पाण्डेय

रसवैद्य डॉ. प्रेमदत्त पाण्डेय

प्रधान सम्पादक–निरोगधाम

Scanned by CamScanner

विषय-सूची

अध्याय – 1

पृष्ठ

परिचय 1

- आयुर्वेद क्या है? 1
- आयुर्वेद चिकित्सा की विशेषताएँ 2
- आयुर्वेद का विषय क्षेत्र 6

काय चिकित्सा 7
शल्य चिकित्सा 7
शालाक्य चिकित्सा 7
अगद तन्त्र 8
भूत विद्या 8
बाल तन्त्र 8
रसायन तन्त्र 8
वाजीकरण तन्त्र 8

अध्याय – 2

आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त 9

- पांच महाभूत और आयुर्वेद 9

आकाशीय द्रव्य 9
वायव्य द्रव्य 9
तैजस द्रव्य 10
आप्य या जलीय द्रव्य 10
पार्थिव द्रव्य 10

- त्रिदोष सिद्धान्त 11

वायु या वात 12
पित्त 14
कफ 15
दोष और पंचमहाभूत 15
दोषों का आश्रय स्थान 16
दोष और ऋतुएँ 16
दोष और पाचक अग्नि 17
दोष और कोष्ठ 17

- वायु 20

वायु के स्वाभाविक गुण 20
वायु के गुण और व्यक्ति पर प्रभाव 20
प्रकुपित वायु के लक्षण 21
वायु के प्रकुपित होने के कारण 21
प्रकुपित वायु का उपचार 22
वायु-क्षय के लक्षण और उपचार 23
साम तथा निराम वायु 24
वायु के भेद और कार्य 25

- पित्त 26

पित्त के स्वाभाविक गुण 26
पित्त के गुणों का शरीर और स्वभाव पर प्रभाव 26
पित्त प्रकोप के लक्षण 28
पित्त-प्रकोप के कारण 28
प्रकुपित पित्त को शान्त करने के उपाय 28
पित्त-क्षय के लक्षण व उपचार 29
साम और निराम पित्त 29
पित्त के भेद व कार्य 30

- कफ अथवा श्लेष्मा 30

कफ के स्वाभाविक गुण 31
कफ के गुण और व्यक्ति पर प्रभाव 31
प्रकुपित कफ के लक्षण 32
कफ प्रकोप के कारण 32

Scanned by CamScanner

प्रकुपित कफ को शान्त करने के उपाय 33
कफ क्षय के लक्षण और उपचार 34
साम और निराम कफ 34
कफ के भेद व कार्य 35

• प्रकृति को पहचानें 35
विभिन्न प्रकृतियों की विशेषताएँ 37

• सात धातुएँ 39

1. रस धातु 40
2. रक्त धातु 41
3. मांस धातु 42
4. मेद धातु 43
5. अस्थि धातु 44
6. मज्जा धातु 45
7. शुक्र धातु 45

• ओजस् 47
ओज के कार्य व महत्व 48
ओज क्षय के लक्षण 48
ओज क्षय के कारण 48
ओज क्षय का उपचार 48

• उपधातु 49
उपधातुओं का पोषण 49
त्वचा 50
स्तन्य 50
आर्त्तव 51

• मल पदार्थ 51
पुरीष 52
मूत्र 53
स्वेद 54
अन्य मल-पदार्थ 55
दोष, धातु और मलों का परस्पर सम्बन्ध 55

• पाचन एवं चयापचय क्रियाएँ 56
अग्नि के प्रकार- 56
आम रस 62
साम रोगों या दोषों के लक्षण 62

• स्रोत 63
स्रोतों के कार्य 64
स्रोत और रोग की उत्पत्ति 64
स्रोतों की संख्या 65

• आत्मा 68
आत्मा क्या है? 68
आत्मा के गुण 68

• मन 69
मन का स्थान 70
मन का आकार तथा संख्या 71
मन का कार्य 71
मन के गुण और शक्तियाँ 71
मन और आयुर्वेद 72

अध्याय – 3 73

द्रव्य–परिचय (Drugs) 74

• रस (Tastes) 75
रस और पंच महाभूत 75
रस और दोष 76
रस और धातु 76
रस और मल

Scanned by CamScanner

रसों के दो विभाग 76
रसों की पहचान और गुण-कर्म 77
मधुर रस 77
अम्ल रस 78
लवण रस 79
कटु रस 79
तिक्त रस 80
कषाय रस 81
- गुण 82
- वीर्य 83
- विपाक 84
- प्रभाव 85
- कर्म के आधार पर द्रव्य के प्रकार 86

अध्याय — 4

स्वस्थवृत्त 89
- दिनचर्या 89
- रात्रिचर्या 110
- ऋतुचर्या 117
- वेग रोध से बचें 132

अध्याय — 5

भोजन सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य 138
- भोजन की आचार संहिता 138
- पथ्य आहार 142
- उदाहरण 143

अध्याय — 6

अनुपान एवं कुछ प्रमुख द्रव्यों के गुण कर्म 144
- जल 146

स्वच्छ और पीने योग्य जल 146
जल-सेवन का समय मात्रा और विधि 146
शीतल जल 148
गर्म जल 148
हंसोदक या अंशूदक 150
ऋतु-विशेष में उपयोगी जल 150
जल के पाचन में लगने वाला समय 150
- कच्चे नारियल का जल 152
- दूध 152

गाय का दूध 153
भैंस का दूध 153
बकरी का दूध 154
खोया 155
पनीर 155
छेना का पानी 155
- दही 155

सेवन की विधि 156
- तक्र 156

तक्र के सामान्य गुण 157
- मक्खन 158
- घी 158
- तेल 159

Scanned by CamScanner

तिल का तेल 160
सरसों का तेल 161
मूंगफली का तेल 161
नारियल का तेल 161
अलसी का तेल 161
• शहद 162

अध्याय – 7

विरुद्ध आहार एवं हितकारी संयोग 163
• हितकारी संयोग के उदाहरण 166

अध्याय – 8

मुख्य रोग एवं उनके लिए श्रेष्ठ औषधियाँ 168
• कुछ आहार-विहार व औषधियाँ और उनका प्रभाव 170

अध्याय – 9

शरीर की अवस्थाएँ और रसायन–चिकित्सा 175
• रसायन चिकित्सा के प्रयोग का उचित समय 178

अध्याय – 10

शारीरिक बल
• शक्ति अथवा बल क्या है? 182
• ओज या ओजस् 182
• बलशाली व्यक्ति के लक्षण 182
• बल के विकार 183
184

अध्याय – 11

अत्यधिक मोटापा और दुबलापन 185
• अतिस्थूलता- परिभाषा, निदान व कारण 185
• अतिकृशता - परिभाषा, लक्षण व कारण 186
• अतिकृशता की अपेक्षा अतिस्थूलता अधिक हानिकर 186
• अतिस्थूलता और अतिकृशता के लिए संक्षिप्त चिकित्सा सूत्र 187

स्वास्थ्य रक्षक – स्वर्णिम सूत्र 190

दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट–एक परिचय 191

Scanned by CamScanner

परिचय

1. आयुर्वेद क्या है?[1]

प्राय: सभी ने अनुभव किया होगा कि इस विश्व में मनुष्य तो क्या तुच्छ से तुच्छ जीव भी सदा दु:खों से बचने की कोशिश करता है और सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।[1] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि जब से सृष्टि की रचना हुई है, तभी से मनुष्य भूख, प्यास, नींद, आदि स्वाभाविक इच्छाओं को पूरा करने एवं शारीरिक रोगों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इसी क्रम में सबसे पहले 'आयुर्वेद का उद्‌भव हुआ'। आजकल हम ऐलोपैथी, होम्योपैथी, नैचुरोपैथी (प्राकृतिक चिकित्सा), रेकी, आदि अनेकों प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों को प्रयोग करते हैं, परन्तु आयुर्वेदिक पद्धति हमारे दिलों में बसी हुई है। हम अपने रोजमर्रा के जीवन में ही देखते सुनते है कि किसी को पेट दर्द होने पर या गैस होने पर अजवायन, हींग आदि लेने को कहा जाता है, खाँसी जुकाम, गला खराब होने पर कहा जाता है कि ठण्डा पानी न पीओ, अदरख[2] तुलसी की चाय, तुलसी एवं काली मिर्च या शहद और अदरख का रस, अथवा दूध व हल्दी ले लो, आदि।[3] अमुक चीज की प्रकृति ठण्डी है या अमुक की गर्म-इस प्रकार के सभी निर्देश आयुर्वेद[3] के ही अंग है, जो हम अपने बुजुर्गो के द्वारा अपनी रसोई के सामान में से ही सीखते चले आ रहे है। हमें अपने घर के आँगन अथवा रसोई घर में से ही ऐसे अनेकों पदार्थ मिल जाते है, जिन्हें हम ज्यों का त्यों औषधि के रूप में प्रयुक्त कर सकते है। इस प्रकार हम इस आयुर्वेद पद्धति को अपने से अलग कर ही नहीं सकते।

---

1. "सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।।"
"स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतं। वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशित:।।"
चरक सू. 1/46-47

2. "प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं आतुरस्य विकारप्रशमनं च।।" च.सू. 30/26
"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं - व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्ष: स्वस्थस्य रक्षणं च।।" सु.सू. 1/22

3. "सहस्रवेधि जतुकं बाहीकं हिंगु रामठम्। हिंगुष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासनुत्।।"
"शूलगुल्मोदरानाहकृमिध्नं पित्तवर्धनम्। स्त्रीपुष्पजननं बल्यं मूर्च्छापस्मारहृत् परम्।।" भा.प्र.
"रोचनं दीपनं वृष्यं आर्द्रकं विश्वभेषजम्। वातश्लष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते।।" च.सू. 27/166
"नागरं कफवातध्नं विपाके मधुरं कटु। वृष्योष्णं रोचनं सस्नेहं लघुदीपनम्।।" सु.सू. 46/226
"यवानी कटुतीक्ष्णोष्णा वातश्लेस्मद्विजामयान्।
हन्ति गुल्मोदरं शूलं दीपयत्याशु चानलम्।।" ध.नि.
"तुलसी लघुरूष्णा च रूक्षा कफविनाशिनी।
कृमिदोषं निहन्त्येषा रूचिकृत् बह्निदीपनी।।" ध.नि.

Scanned by CamScanner

प्रश्न उठता है कि जो आयुर्वेद हमारे जीवन में इतना घर कर चुका है, वह वास्तव में है क्या? इसको समझने के लिए आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति को जानना होगा। यह शब्द 'आयुष्+वेद' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'आयुष्' का अर्थ है-'जीवन, तथा 'वेद' का अर्थ है - ज्ञानविज्ञान'।

इस प्रकार, आयुर्वेद शब्द का अर्थ हुआ-जीवन से सम्बन्धित विज्ञान।[4] साधारण भाषा में कहे तो जीवन को ठीक प्रकार से जीने की कला ही आयुर्वेद है क्योंकि यह विज्ञान केवल रोगों की चिकित्सा या रोगों का ही ज्ञान प्रदान नहीं करता, अपितु जीवन जीने के लिए सभी प्रकार के आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति कराता है। बहुत सीमित अर्थ में ही हम इसे एक चिकित्सा प्रणाली भी कह सकते हैं, क्योंकि यह स्वास्थ्य और रोग, दोनों के लिए व्यवस्थित और क्रमबद्ध ज्ञान भी प्रस्तुत करता है। वास्तव में यह विज्ञान मनुष्य ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही उनके शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सभी पक्षों पर प्रभाव डालता है।[5] महर्षि चरक ने 'चरक संहिता' नामक ग्रन्थ में आयुर्वेद की परिभाषा देते हुए भी कहा है - 'जो विज्ञान जीवन के हित अहित (भलाई बुराई), सुख दुख, अवधि एवं लक्षण (प्रकृति) का ज्ञान कराता है, वह आयुर्वेद है[6] इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद के ये सिद्धान्त किसी विशेष व्यक्ति, जाति या देश तक सीमित नहीं है, ये सार्वभौमिक (सभी जगह लागू होने वाले) हैं। जिस प्रकार जीवन सत्य है, उसी प्रकार ये सिद्धान्त और नियम भी सभी स्थानों पर मान्य और सत्य है अत: शाश्वत और सार्वभौमिक हैं।[7] इनमें 'सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:' अर्थात 'सभी सुखी और निरोग हों' का भाव निहित है।

2. आयुर्वेद चिकित्सा की विशेषताएँ

आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा करते समय कुछ खास बातों पर ध्यान दिया जाता है तथा इस चिकित्सा प्रणाली में हमें कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। इन सबका सांकेतिक उल्लेख निम्नलिखित है:-

♦ एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की चिकित्सा

इस पद्धति के अनुसार चिकित्सा करते हुए वैद्य केवल रोगग्रस्त अंग अथवा केवल रोग के

---

4. ''आयुषो वेद: आयुर्वेद:। आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाडऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद:।।'' सु.सू. 1/23
''आयु: शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग:, तदस्मिनायुर्वेदे विद्यते ज्ञायते अनेनेति आयुर्वेद:।'' डल्हण

5. आयु: ''शरीरेन्द्रियसात्वात्म संयोगों धारि जीवितम'' च.सू. 1/42

6. हिताहितं सुखं दु:खमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद: स उच्यते।। च.सू. 1/41

7. ''सोयऽमायुर्वेद: शाश्वतो निर्दिश्यते। अनादित्वात्,
स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च।।'' च.सू. 30/26

Scanned by CamScanner

लक्षणों को ही नहीं देखता बल्कि इनके साथ-साथ रोगी के मन, शारीरिक प्रकृति, आत्मा एवं वात, आदि दोषों, मलों और धातुओं (रक्त आदि) की स्थिति को भी ध्यान रखता है।[8] यही कारण है कि एक ही रोग होने पर भी अलग-अलग रोगियों की औषधियों में भिन्नता पाई जाती है।

♦ रोगों का मनो–दैहिक स्वरूप

आयुर्वेद के अनुसार यह मान्यता है कि कोई भी रोग केवल शारीरिक अथवा केवल मानसिक नहीं हो सकता। शारीरिक रोगों का कुप्रभाव मन पर पड़ता है, तो मानसिक रोगों का कुप्रभाव शरीर पर। अतः किसी भी रोग की चिकित्सा करते समय मन और शरीर, दोनों को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सभी रोगों को मनो-दैहिक (psycho-somatic) रोगों के रूप में मानकर ही चिकित्सा की जाती है क्योंकि आचार्य चरक के अनुसार वातज, पित्तज, कफज तथा मानसिक सभी रोगों का एक ही मूल कारण होता है-प्रज्ञापराध![9]

आयुर्वेदीय औषधियों के उपयोग के पीछे हमारे ऋषियों का सैंकड़ों वर्षों का अनुभव है। इन औषधियों का मूल स्रोत वनस्पति जगत् (पेड़-पौधे), पशु जगत् से प्राप्त पदार्थ (गोमूत्र, गोदुग्ध, घी आदि) धातु, (metals) आदि प्राकृतिक पदार्थ हैं। इनमें किसी प्रकार के रासायनिक पदार्थों (chemicals) का प्रयोग नहीं किया जाता। अतः ये औषधियाँ हमारे शरीर पर किसी प्रकार का विषैला या बुरा प्रभाव नहीं डालती। आजकल एलोपैथिक चिकित्सक वर्ग, ताँबा, आदि धातुओं से तैयार इन औषधियों के प्रयोग में एक प्रकार का भय दिखाते हैं, परन्तु औषधियों में इन धातुओं एवं कुछ विषैले वानस्पतिक पदार्थों (कुचला, भिलावा, आक आदि) का प्रयोग सीधा इसी रूप में नहीं कर लिया जाता। औषधियों के रूप में प्रयोग करने से पहले अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से इन पदार्थों के विषैले प्रभाव को दूर किया जाता है तथा उन्हें इस योग्य बना लिया जाता है कि वे हमारे शरीर के सभी धातुओं में आसानी से घुल मिल जायें। इस प्रकार ये सब पदार्थ हानिकारक न होकर अधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं।[10]

♦ प्रत्येक औषधि एक रसायन का रूप

प्रत्येक आयुर्वेदीय औषधि अपने आप में एक टॉनिक अथवा रसायन का कार्य करती है, क्योंकि ये किसी न किसी रूप में मन एवं शरीर को पोषण प्रदान करती है। यही कारण है कि इन औषधियों का प्रयोग रोगी के साथ-साथ

---

8. "दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।" सु.सू. 15/3
9. "सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः, परस्परमनुबन्धन्ति, न चान्योन्येन् सह सन्देहमापद्यन्ते।।" च.सू. 20/6
- "ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषदयश्च ये। मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वेप्रज्ञापराधजाः।।" च.सू. 7/52

Scanned by CamScanner

स्वस्थ व्यक्ति भी कर सकता है। क्योंकि जहाँ ये रोगी के रोग को दूर करती है, वही स्वस्थ व्यक्ति का पोषण भी करती है और रोग प्रतिरोधी शक्ति का विकास करती है।'च्यवनप्राश'[11] 'चन्द्रप्रभा वटी'[12] आदि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

10.''हालाहलः कालकूटः श्रृङ्गकश्च प्रदीपनः।
सौराष्ट्रिको ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा।।
वत्सनाभ इतिज्ञेया विषभेदा नव।'' र.त. 24/7-8

* ''लांगली विषमुष्टिश्च करवीरो जया तथा।
नीलकः कनकोऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकाः।।'' र.र.स. 10/84

* ''ये दुर्गुणा विषेऽशुद्ध ते स्युर्हीना विशोधिते।
तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधितं योजयेद्भिषक्।।'' आ.प्र. 6/47-48

* ''रसकर्मणि शस्तोऽयं तद्धबन्धनविधावपि।
अयुक्त्या सेवितश्चायं मारयत्येव निश्चितम्।।'' र.र.स. 10/83

* ''रसे रसायनादौ च वत्सनाभः प्रशस्यते।'' र.त. 24/7-8

* ''विषतिन्दुकबीजं तु प्रत्यहं परिशीतलम्।
निहन्ति कुक्कुरविषं खलु मासैकमात्रतः।।'' र.त. 24/230

11. च्यवनप्राशः ''लेहं वह्निबलं दृष्ट्वा खादेत् क्षीणो रसायनम्।
बालवृद्धक्षतक्षीणा नारीक्षीणाश्च शोषिणः।।''
हृदोगिणः स्वरक्षीणा ये नरास्तेषु युच्यते।
कासं श्वासं पिपासां च वातसमुरसो ग्रहम्।।
वातपित्तं शुक्रदोषं मूत्रदोषं च नाशयेत्।
मेधा स्मृतिं स्त्रीषु हर्षं कान्ति वर्णप्रसन्नताम्।। शा.म.ख. 8/19-21
अस्य प्रयोगादाप्नोति नरो जीर्णविवर्जितः।''

12. चन्द्रप्रभावटीः 'चद्रप्रभेति विख्याता सर्वरोगप्रणाशिनी।
प्रमेहान् विंशति कृच्छ्रं मूत्राघातं तथाश्मरीम्।।
विबन्धाऽऽनाहशूलानि मेहनं ग्रन्थिमर्बुदं।
अन्त्रवृद्धिं कटिशूलं श्वास कासं विचर्चिकाम्।।
अण्डवृद्धि' तथा पाण्डु कमलां च हलीमकम्।
कुष्ठान्यर्शांसि कण्डूं च प्लीहोदरभगन्दरम्।।
दन्तरोगं नेत्ररोगं स्त्रीणामार्तवजां रूजम्।
पुंसा शुक्रगतान् दोषान् मन्दाग्निमरूचिं तथा।। शा.म.रज. 7/45-4
वायु पित्तं कफं हन्याद् बल्या वृष्या रसायनी।
चन्द्रप्रभाणां कर्षस्तु चतुःशाणो विधीयते।।''

Scanned by CamScanner

♦ रोग प्रतिरोधी औषधियों व पथ्य पर महत्त्व

इस पद्धति में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि व्यक्ति में रोग प्रतिरोधी शक्ति का विकास हो, जिससे उस पर रोग का आक्रमण ही न हो। यही कारण है कि स्वस्थ व्यक्ति के लिए आहार संहिता[13] (भोजन से सम्बन्धित नियम, आदि), आचार संहिता (विभिन्न ऋतुओं, दिन-रात आदि में आहार-विहार सम्बन्धित आचरण) आदि का वर्णन किया गया है।

♦ पथ्याहार एवं सात्म्य महत्त्व

आयुर्वेद में उन भोज्य एवं पेय पदार्थो के सेवन पर अधिक बल दिया गया है, जो रोगी की प्रकृति एवं स्वास्थ्य के अनुकूल हों तथा जो रोग को दूर करने में सहायक हों।[14] इसके विपरीत, उन पदार्थो के सेवन का निषेध किया है, जो रोगी की प्रकृति के अनुकूल न पड़ते हो तथा रोग को बढ़ाने वाले हो। इससे जहाँ स्वस्थ व्यक्ति रोगों के आक्रमण से बचा रहता है, वही रोगी का रोग शीघ्र दूर हो जाता है।

♦ निदान के सरल व सस्ते उपाय

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में तब तक रोग की चिकित्सा प्रारम्भ ही नहीं हो पाती, जब तक अनेक प्रकार के परीक्षण न करवा लिए जाएं। इससे जहाँ रोगी को शारीरिक एवं मानसिक परेशानी होती है, वहीं धन का भी बहुत व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत, आयुर्वेदिक पद्धति में तो एक कुशल वैद्य केवल नाड़ी, आदि का परीक्षण करके ही रोग का निदान कर लेता है, जिससे अनावश्यक शारीरिक-मानसिक परेशानियों व व्यय से बचा जा सकता है।[15]

---

13. ''आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवा:।'' **चरक सूत्र 28/45**

आहार- संहिता -

14. ''पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वश:।।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्ज च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्।।''

15. दर्शनस्पर्शन प्रश्नै: परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदान प्राग्पलक्षणोपशयाप्तिभि:।।'' **अ.सं.सू. 1/45**

अण्टविध परीक्षा -
रोगाक्रान्त: शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत।
नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दं स्पर्श दृगाकृति:।।'' **योग रत्नाकर**

षड्विध परीक्षा -
षड्विधा हि रोगाणां विज्ञानोपाय: - पञ्चभि: श्रोत्रादिभि: प्रश्नेन चेति। **सु.सू. 10/4**

दशविध परीक्षा -
तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहनन्तश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वातश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशतिश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेष ग्रहण हेतो: ।।
चरक विमान 8/94

Scanned by CamScanner

♦ रोग का जड़ से उन्मूलन

इस पद्धति के माध्यम से इस प्रकार से उपचार किया जाता है, जिससे रोग के मूल कारण को ही नष्ट कर दिया जाए। केवल रोग के लक्षणों को दूर करके ही रोगी को आराम नहीं पहुंचाया जाता। जब रोग का कारण ही नष्ट हो जाता है, तो रोग सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

♦ प्राचीन परम्परा का संरक्षण

आयुर्वेदीय चिकित्सा से हमारे ऋषियों की सहस्रों वर्ष पुरानी धरोहर सुरक्षित है। अत: हम अपनी संस्कृति का संरक्षण इस आयुर्वेदिक चिकित्सा के माध्यम से कर सकते है।

♦ औषधियों की सरलतापूर्वक उपलब्धि एवं कृत्रिमता से दूरी

चूंकि अनेक आयुर्वेदीय औषधियाँ हमारी रसोई और घर के बगीचे में ही उपलब्ध हो जाती है, अत: उनको प्राप्त करना सरल है। इसके अतिरिक्त इनके लिए हमें प्रकृति से जुड़ना पड़ता है। अत: कृत्रिम जीवन से दूर रहते है।

♦ विदेशी मुद्रा की बचत

अपने देश की अर्थव्यवस्था की दृष्टि से भी इन औषधियों का प्रयोग लाभकारी है। क्योंकि ये सभी औषधियाँ अपने ही देश में उपलब्ध हो जाती है, अत: इनको विदेशों से मँगवाने के लिए विदेशी मुद्रा को खर्च नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत, विदेशों में इनका प्रचलन होने के कारण विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

♦ योग व धर्म की पूरक

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आयुर्वेद वस्तुत: जीवन जीने का ज्ञान प्रदान करता है, अत: इसे हम अपने धर्म से अलग नहीं कर सकते। इसका उद्देश्य भी जीवन के उद्देश्य की भांति चार पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति ही है।[16] आयुर्वेद में बताये गये नियम और सिद्धान्त योग के अभ्यास में भी सहायक है।

इस प्रकार हम देखते है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रणाली अपने आप में सबसे भिन्न और हमारी जीवन पद्धति के अनुरूप है। इसे हम अपने से पृथक् नहीं कर सकते।

3. आयुर्वेद का विषय क्षेत्र

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है-आयुर्वेद का सम्बन्ध केवल मनुष्यों से नहीं, अपितु प्राणी मात्र के हित से है। अत: इसमें मनुष्यों के अतिरिक्त पशु जगत् से और यहाँ तक कि वृक्षों से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। अलग अलग सन्तों और ऋषियों ने इन सब पर अलग अलग ग्रन्थ भी लिखे, जो अश्वायुर्वेद (घोड़े से सम्बन्धित) गजायुर्वेद (हाथीसे

---

16. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगस्तस्यापहर्तार: श्रेयसो जीवितस्य च।।'

चरक सू. 1/15-16

Scanned by CamScanner

सम्बद्ध) गवायुर्वेद (गौ से सम्बद्ध) तथा वृक्षायुर्वेद (वृक्षों से सम्बद्ध) के नाम से जाने जाते है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयुर्वेद का विषय क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस विज्ञान में जहाँ कष्टसाध्य एवं असाध्य माने जाने वाले रोगों की विवेकपूर्ण चिकित्सा का वर्णन है वहीं इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि सामान्य मनुष्य अपने स्वास्थ्य को बनाए रखे और रोगों के आक्रमण से बचा रहे।[17,18] इसके लिए बहुत विस्तार से 'स्वस्थवृत्त' अर्थात् मनुष्य को दिन रात एवं विभिन्न ऋतुओं में किस प्रकार के खान-पान और आचार विचार का सेवन करना चाहिए और किससे बचना चाहिए - का वर्णन किया गया है।[19] प्राकृतिक आवश्यकता (भूख, प्यास आदि) की पूर्ति किस प्रकार की जाए तथा प्राकृतिक रोगों (जैसे - वृद्धावस्था में होने वाली तकलीफों) से किस प्रकार बचा जाए का भी इसमें विस्तृत विवरण है।

आयुर्वेद के व्यापक विषयों को आठ भागों में बाँटा गया है, जिन्हें आयुर्वेद की आठ शाखाएँ कहा जाता है। ये निम्नलिखित है[20]:

- **काय चिकित्सा** : औषधि सेवन द्वारा शरीर के भीतर के रोगों की चिकित्सा (Medicine)[21];
- **शल्य चिकित्सा** : सामान्य या गम्भीर रोगों की विशेष उपकरणों द्वारा या चीर-फाड़ द्वारा चिकित्सा (surgery)[22];
- **शालाक्य चिकित्सा** : सिर एवं गर्दन से सम्बन्धित रोगों की विधि इसमें आंख, कान, नाक, मुख, कण्ठ, आदि के रोग आ जाते है।[23]

---

17. ''साध्यासाध्य विभागज्ञो ज्ञानपूर्व चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्।।'' — च.सू. 10/7

18. प्रयोजनं चास्य (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। — चरक सू. 30/26
''इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं ..... स्वस्थस्य रक्षणं च।'' — सु.सू. 1/13

19. ''आहार मात्रा पुनराग्निबलापेक्षिणी।'' — चरक सूत्र 5/3
''ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किंचत।
तस्या शितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च।।'' — चरक सूत्र 6/51

20. ''कायवालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्य बाल दंष्ट्रा जरा वृषैः।'' — अ.सं.सू. 1/10
तद्यथा - शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूत विद्या,
कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्र मिति।। — सु.सू. 1/6

21. कायचिकित्सानाम सर्वाङ्ग संश्रितानां व्याधीनां ज्वर रक्त पित्त
शोषोन्मादपस्मार कुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्। — सु.सू. 1/3

22. ''शल्यं नाम विविधतृणकाण्ठपाषाण पांशुलोहलो-ष्टास्थिवालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भ
शल्याद्धरणार्थ यन्त्र क्षाराग्निप्रणिधानव्रण विनिश्चयार्थश्च।'' — सु.सू. 1/9

23. शालाक्य नामोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनवदन घ्राणादिसंश्रिताना व्याधिनामुपशमनार्थम्,
शलाकायन्त्रप्राणीधानार्य। — सु.सू. 1/2

Scanned by CamScanner

- **अगद तन्त्र** : विष से होने वाले रोगों की चिकित्सा (toxicology)[24]
- **भूत विद्या** : मानसिक रोगों एवं ग्रहों से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा (psychatric management, management of mental disorders);[25]
- **बाल तन्त्र** : कौमार भृत्य अर्थात नवजात शिशुओं और बच्चों में होने वाले रोगों की चिकित्सा (Pediatrics);[26]
- **रसायन तन्त्र** : शरीर को पुष्ट करने और वृद्धावस्था के विकारों से बचने के लिए चिकित्सा अथवा कायाकल्प चिकित्सा (rejuvenation therapy);[27]
- **वाजीकरण तन्त्र** : शुक्र वृद्धि के लिए तथा शुक्र से सम्बन्धित रोगों कि चिकित्सा (Science of aphrodisiac)[28]

इन सभी शाखाओं पर ऋषि-मुनियों ने अलग-अलग ग्रन्थ विस्तार से लिखे और प्राचीन काल में इन सभी प्रकार की चिकित्साओं का प्रचलन भी था। परन्तु मध्यकाल की प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव इन पर पड़ा। अनेकों ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये। कश्यप ऋषि के निर्देश में बाल रोगों पर विशेष निपुणता हासिल हुई। सुश्रुत ऋषि शल्य चिकित्सा में सिद्धहस्त थे, उनकी 'सुश्रुत संहिता' आज भी उपलब्ध है। उस समय शल्य (surgery) बहुत उन्नत अवस्था में थी। सिजेरियन ऑपरेशन द्वारा प्रसव, चर्म प्रतिरोपण या प्लास्टिक सर्जरी का विस्तृत विवरण मिलता है। 'प्लास्टिक सर्जरी' का जनक तो सुश्रुत को ही माना जाता है। भगन्दर, दिमाग का ट्यूमर आदि जैसे कठिन ऑपरेशन भी उस समय प्रचलित थे परन्तु बौद्ध धर्म की अहिंसा वृत्ति से उस समय इस पद्धति पर बुरा प्रभाव पड़ा और धीरे धीरे इसका प्रचलन बन्द हो गया क्योंकि ऐसा माना जाता था कि चीर फाड़, आदि से कष्ट अधिक होता है अर्थात हिंसा अधिक होती है। इसका कुप्रभाव दूसरी शाखा पर भी पड़ा और उनका प्रयोग भी कम हो गया। अब केवल 'काय-चिकित्सा', 'रसायन चिकित्सा' और 'वाजीकरण तन्त्र' इन तीन शाखाओं का ही प्रचलन है। अन्य शाखाएँ प्रायः लुप्त हो गयी हैं।

---

24. ''अंगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूता मूषिकादिदण्टविषव्यजनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च।'' सु.सू. 1/14
25. भूतविद्यानामदेवासुरगन्धर्वयक्षरक्षपितृपिशाचनागग्रहाघुपसृण्टचेतसांशान्तिकर्मवलि हरणादिग्रहोप शमनार्थम्।। सु.सू. 1/12
26. कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थदुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानांच व्याधीनामुपशमनार्थम्।। सु.सू. 1/13
27. रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थायनमायुर्मेधावलकरं रोगापहरणसमर्थश्च। सु.सू. 1/15
28. वाजीकरण तन्त्रं नामाल्पदुण्टक्षीणविशुष्करेत सामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तंप्तहर्षजननार्थश्च। सु.सू. 1/16

Scanned by CamScanner

आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त

1. पांच महाभूत और आयुर्वेद

विश्व के सभी विद्वानों की मान्यता है कि 'वेद' प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और आयुर्वेद का उद्भव इन्हीं वेदों से माना गया है। इसे 'अथर्ववेद' का उपवेद माना जाता है।[29] वैसे चारों वेदों में ही चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। अनेकों औषधियों और वनस्पतियों के अतिरिक्त त्रिदोष (वायु, पित्त, कफ), सात धातुओं (रस, रक्त आदि), पाचनक्रिया तथा चयापचय के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख भी इनमें मिलता है।[30] इसी प्रकार के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन भी हम वेदों में पाते हैं। इसी तरह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त हमारे दर्शन शास्त्रों की विचारधारा से मेल खाते हैं। विशेष रूप से सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा से। जिस प्रकार सांख्य और योग दर्शन सारे जड़ और चेतन जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल (अप्) और पृथ्वी) के सम्मिश्रण से मानते हैं, उसी प्रकार आयुर्वेद भी शरीर और शरीर के मूल आधारों -दोष, धातु, मल की उत्पत्ति इन्हीं पाँच महाभूतों से ही मानता हैं[31]। यद्यपि एक पदार्थ में ये पाँचों महाभूत विद्यमान होते है, तो भी किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है। इस प्रधानता के आधार पर ही आकाश महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय, वायु महाभूत की प्रधानता वाले वायव्य, तेज या अग्नि महाभूत की प्रधानता वाले आग्नेय, जल की प्रधानता वाले आप्य एवं पृथ्वी महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य पार्थिव कहलाते हैं। इनकी पहचान के लिए संक्षेप में इनकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है :

- **आकाशीय द्रव्य** : मुलायम, हलके, सूक्ष्म, समतल तथा शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता और छिद्रों की अधिकता होती है।[32]
- **वायव्य द्रव्य** : हलके, शीतल, रूखे, खुरदरे, चिपचिपे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं। इन पदार्थों के सेवन से शरीर में खुरदरापन, घृणा वृत्ति, गति, चिपचिपापन एवं फुर्तीलापन आता है।[33]

---

29. ''इह खल्वायुर्वेदनामुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्येव प्रज्ञाः।'' सु.सू. 1/6

30. ''आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातु संक्षेय।।'' अ.ह.चि. 10/91

31. ''पञ्चभूतात्म के देहे आहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान स्वान भिवर्धयेत।।'' सु.सू. 46/526

32. ''मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्ण शब्दगुण बहुलान्याकाशात्मकानि।
तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि।।'' च.सू. 26/11

33. ''श्लक्ष्णं मसृणम्। व्यवामीति समस्तदेहं व्याप्त पश्चात पाकं गच्छति विषमवद्यवत्।'' डल्हण

Scanned by CamScanner

- **तैजस द्रव्य** : गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हलके, रूक्ष, अचिपचिपे तथा रूप के गुणों से युक्त होते है। इनके सेवन से शरीर में जलन, चयापचय शक्ति, पाचन शक्ति, तेज, चमक एवं रंग की वृद्धि होती है।[34]
- **आप्य या जलीय द्रव्य** : तरल, स्निग्ध, ठण्डे, कोमल, चिपचिपापन, स्निग्धता, दृढ़ता, नमी, कोमलता तथा आनन्द की वृद्धि होती है।[35]
- **पार्थिव द्रव्य** : भारी, दृढ़, सख्त, स्थूल, अचिपचिपे, ठोस और गन्ध से पूर्ण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वज़न एवं स्थूलता में वृद्धि होती है।[36]

इन पंचभौतिक द्रव्यों के गुणों और शरीर की रचना को देखते हुए स्पष्ट होता है कि शरीर में मुख्यत: **पृथ्वी** और **जल** - ये दो महाभूत विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी से तथा द्रव भाग जल से बना है। खाली भाग मुख्य रूप से आकाश से और आंशिक रूप से वायु से बना है।[37] जो भोजन आदि पदार्थ हम खाते हैं उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि आदिधातुओं में परिवर्तित करने का काम 'अग्नि' महाभूत करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ 'वायु' महाभूत के कारण सम्पन्न होती हैं।

शरीर में विद्यमान तीन **दोष** (वायु, पित्त, कफ), **धातु** (रस, रक्त, आदि), तथा **मल** भी पाँच महाभूतों के मिश्रण से बने हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्यों से शरीर का पोषण होता है, वे खाद्य पेय पदार्थ और औषध द्रव्य भी इन पाँच महाभूतों से ही बनते हैं। इन्हें हम द्रव्यों के **रस** (taste), **गुण** (attributes), **वीर्य** (potency), **विपाक** (taste after digestion), आदि के आधार पर पहचान सकते हैं। किस दोष आदि में कौन-कौन सा महाभूत विद्यमान होता है, इसका विवेचन दोष, आदि का वर्णन करते हुए किया जाएगा। यहाँ इतना जान लेना उपयोगी रहेगा कि हमारे शरीर में जिस जिस महाभूत वाले तत्त्व (दोष, धातु, मल आदि) की कमी या वृद्धि हो जाए, तो उस महाभूत वाले द्रव्य या पदार्थ का क्रमशः अधिक या कम सेवन किया जाना चाहिए इससे उस महाभूत का सन्तुलन बना रहेगा।

---

34. ''उष्णतीक्ष्ण सूक्ष्मलघु रूक्षविषदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि।'' — च.सू. 26/11
* दहनं भस्मसात्करणम्। पचनमाहारदिपाकः। दारणं व्रणादेः।
पातनं शरीरादि संतापनम्। प्रकाशनमभिव्यक्तिः। प्रभा तेजः। वर्णो गौरादिः। — डल्हण

35. शीतस्तिभितास्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं
रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुरसप्रायमाप्यम्। — सु.सू. 41/5
बन्धनं परस्परयोजनम्। प्रहलादः शरीरेन्द्रिय तर्पणम्। — चक्रपाणि

36. ''तत्र द्रव्याणि गुरुखर कठिनमन्दस्थिर विशदसान्द्रस्थूल गन्ध गुणबहुलानि पार्थिवानि।'' — च.सू. 26/11

37. तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। — सु.सू. 42/5
वाय्वाखाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयंपित्तम्। अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा। — अ.सं.सू. 20/3

Scanned by CamScanner

2. त्रिदोष सिद्धान्त

आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए जब हम किसी वैद्य के समीप जाते हैं, तो हमें कहा जाता है कि शरीर में वायु बढ़ी हुई है, पित्त बढ़ा हुआ है, या कफ बढ़ा हुआ है परन्तु हम समझ नहीं पाते कि ये वायु, आदि तत्त्व हैं क्या ? आइए, हम इनका परिचय प्राप्त करते है।[38]

हमारे शरीर का निर्माण दोष, धातु और मल : इन तीन तत्त्वों के मेल से हुआ है।[39] अर्थात शरीर में जितने भी तत्त्व पाये जाते हैं, वे सब इन तीनों में ही अन्तर्निहित हैं। इनमें दोषों का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ये शरीर में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ये दोष संख्या में तीन हैं - 1. वायु, 2. पित्त और 3. कफ अतः त्रिदोष कहलाते है।[40] ये दोष ही शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण, अथवा शरीर के स्तम्भ माने जाते हैं। वैसे तो शुक्र और शोणित के संयोग से शरीर का जन्म माना जाता है,[41] परन्तु इन तीनों दोषों के सहयोग के बिना शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसके पश्चात् शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने और रोगों को समझने एवं उनकी चिकित्सा के लिए भी इन त्रिदोषों को समझना बहुत आवश्यक है। क्योंकि शरीर की भौतिक, रसायनिक और वैज्ञानिक सभी क्रियाओं का नियमन भी ये दोष ही करते हैं। जब ये दोष अपनी सामान्य स्थिति या साम्य अवस्था में होते है, तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं, परन्तु जब इनकी सामान्य अवस्था में किसी प्रकार का विकार या असन्तुलन (वृद्धि या कमी) आ जाता है, तो स्वास्थ्य भी असंतुलित हो जाती है[42] तथा कोई न कोई रोग जन्म ले लेता है। ये दोष सम अवस्था में होते हैं, तो धातु और मल भी साम्यावस्था में रहते हैं परन्तु जब दोषों की स्थिति गड़बड़ा जाती है तो धातु और मल की अवस्था भी गड़बड़ हो जाती है, जिससे रोग जन्म लेते हैं। चूंकि ये वायु, पित्त और कफ

---

38. " स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान बहून्।।
तस्माद्विकार प्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
समुत्थान विशेषांश्च बद्ध्वा कर्म समाचरेत्।।
यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्।" — च.सू. 18/45-47

39. दोषधातु मलमूलं हि शरीरम्।। — सु.सू. 15/3
दोषधातुमलामूलं-सदा देहस्य।। — अ.ह.सू. 11/1

40. वायु पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। — च.सू. 1/57
वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयोदोषाः समासतः।। — अ.ह.सू. 1/6

41. "शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृति विकार संमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते।। — सु.शा. 5/3

42. "रोगस्तु दोष वैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।" — अ.सं.सू. 1/43

Scanned by CamScanner

स्वयं दूषित होकर (अर्थात वृद्धि, प्रकोप या क्षय को प्राप्त होकर) विकार रहित धातुओं और मलों को भी दूषित करते और शरीर में रोग उत्पन्न करते है, अतः इन्हें दोष कहा जाता है।[43]

इन दोषों के दूषित होने के दो कारण हैं (।) इनके प्रमाण में अधिकता जिसे वृद्धि कहते हैं, तथा (।।) प्रमाण में कमी जिसे क्षय कहा जाता है। वैसे रोग की उत्पत्ति का मुख्य कारण तो किसी दोष में वृद्धि होना ही है क्योंकि जो दोष स्वयं ही क्षय (कमी) की अवस्था में होगा, उसमें स्वतः रोग उत्पन्न करने का बल ही नहीं होगा। हाँ, किसी दोष की क्षीणता आने से उसके स्वाभाविक गुण कर्म भी क्षीण (न्यून) रूप से ही कार्य करेंगे अर्थात पूरी तरह से अपना कार्य नहीं कर पाएंगे। दूसरे, जब किसी एक दोष में कमी होगी, तो उसके विरोधी गुणों में वृद्धि हो जाएगी, जिससे उस गुण वाले दोष में वृद्धि हो जाएगी। परिणामतः उससे सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो जाएंगे।[44] क्योंकि जब किसी दोष में वृद्धि होती है, तो वह दोष अपने आश्रय स्थान से विपरीत मार्ग में जाकर वहाँ के धातु, आदि को दूषित कर देता है जिससे रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए तीनों दोषों का सम अवस्था में होना अत्यावश्यक है क्योंकि तभी वे अपना-अपना कार्य सुचारू रूप से करके शरीर को धारण कर पाते है[45]

जिस प्रकार मन का प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त है, उसी प्रकार ये तीनों दोष भी सारे शरीर में व्याप्त हैं।[46] मन तो बालों, नाखूनों और अन्य मल पदार्थों में नहीं पहुंच पाता, परन्तु ये दोष इन मल पदार्थों में भी उपस्थित रहते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण तीनों दोषों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

♦ वायु या वात

यह तीनों दोषों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 'वायु' या 'वात' शब्द 'वा' धातु से बना है, जिसके अनुसार जो तत्व शरीर में गति या उत्साह उत्पन्न करें, वह 'वायु' या 'वात' कहलाता है।[47] इस प्रकार शरीर में सभी प्रकार

---

43. ''रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत्।।'' अ.सं.सू. 1/32

44. ''उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धि क्षयावपि।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।।'' अ.सं.सू. 1/24
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत्।। अ.सं.सू. 1/32

45. समपित्तनिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।
दूश्यन्ते वातलाः कैचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।।
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः
दोषानुशयिता ह्येषां देह प्रकृतिरुच्यते।। च.सू. 7/39-40

46. ''वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीर चराणां सर्वाणिस्रोतांस्ययन भूतानि।'' च.वि. 5/6
''वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।'' च.चि. 28/59

Scanned by CamScanner

की गतियाँ इसी वायु के कारण होती हैं। यह मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने अपने विषयों और कर्मो में नियुक्त करता है। शरीर की पाचक अग्नि और धात्वग्नियों को भी यही प्रदीप्त करता है। हमारे शरीर में जो विभिन्न स्रोत हैं उनके छोटे बड़े विवरों (खाली स्थानों) का निर्माण यह वायु करती है। रस, रक्त आदि प्रत्येक धातु की सूक्ष्म व स्थूल रचना, तथा शरीर के एक अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध का कारण भी यह वायु है। इसी के कारण गर्भ में स्थित भ्रूण का विकास व उसके आकार का निर्माण हो पाता है। नाड़ी मण्डल (Nervous System) की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण इसी वायु के अधीन है। वायु के बिना तो दूसरे दोनों दोष-पित्त और कफ - भी पंगु के समान निष्क्रिय है क्योंकि यह इन दोषों तथा मलों को अपने-अपने स्थान पर स्थिर रखता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्यत्र पहुंचाता है।[48] इस प्रकार मल, मूत्र, स्वेद आदि मलों को शरीर से बाहर निकालने वाला यह वायु दोष ही है। जब यह वायु अपनी साम्य अवस्था में रहता है, तो सभी दोषों, धातुओं और मलों को भी सम अवस्था में रखता है परन्तु जब यह दूषित या कुपित हो जाए, तो सभी दोषों, धातुओं, मलों और स्रोतों को भी दूषित कर देता है क्योंकि गतिशील होने के कारण यह किसी भी दोष को दूसरे स्थान पर पहुंचा देता है, जिससे उस स्थान पर पहले से ही विद्यमान दोष में वृद्धि हो जाती है और रोग उत्पन्न हो जाता है।[49]

इस प्रकार शरीर में सभी प्रकार के रोगों का मूल कारण इसी वायु का प्रकुपित होना ही है। जहाँ सामान्य दशा में वायु दोषों और दूष्यों (धातु, मलों, उपधातुओं) को अलग-अलग रखता है, वही कुपित होने पर इनको आपस में संयुक्त कर देता है, जिससे रोग उत्पन्न हो जाते है।[50]

वायु में एक गुण है - **योगवाहिता** अर्थात अन्य दोषों के संयोग से उनके गुणों को धारण करना। इस प्रकार, जब यह पित्त दोष के साथ मिलता है, तो उसमें दाह, उष्णता आदि पित्त के गुण आ जाते है, और जब कफ के साथ मिलता है, तो उसमें शीतलता क्लेदता (गीलापन), आदि गुण आ जाते है।[51] यह वायु स्थान और कर्म के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है - 1. प्राण

---

47. "सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते।।" च.सू. 17/118

48. पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्तिमेघवत्।। शा.पू. 5/25

49. सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायत्ते तेन चैवोपरुध्यते।। च.सू. 17/118

50. दौष त्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
वात पित्त कफा देहे सर्वस्रोताऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।।
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।
करोति।। च.चि. 28/59-60

Scanned by CamScanner

2. उदान 3. समान 4. अपान और 5. व्यान।[52] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वायु का योगदान होता है परन्तु केवल वायु के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले **नानात्मज रोग** संख्या में 80 माने गये हैं। इनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

♦ पित्त

पित्त शब्द 'तप्' धातु से बना है- 'तपति इति पित्तम्' अर्थात् जो तत्व शरीर में ताप (दाह) या गर्मी, (उष्णता) उत्पन्न करता है, वह पित्त कहलाता है।[53] यह शरीर में उत्पन्न होने वाले पाचक रसों (enzymes) और हार्मोन्स (hormones) का नियमन करता है। हम जो कुछ भी खाते-पीते या श्वास के रूप में वायु का ग्रहण करते हैं, उन्हें शरीर के तत्वों (दोषों, धातुओं अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा दोषों अर्थात् मल, मूत्र, पसीना आदि) के रूप में ढालने का कार्य यह 'पित्त' ही करता है। वैसे पित्त और अग्नि दोनों भिन्न-भिन्न तत्व हैं, तो भी शरीर में अग्नि का प्रतिनिधित्व यह पित्त ही करता है। अर्थात् अग्नि के समान ही यह शरीर के तापमान को बनाये रखता है, भोजन का पाचन करता है, रक्त, त्वचा आदि को रंग प्रदान करता है, रूप का ग्रहण और प्रकाशन करता है, हृदय में एकत्र श्लेष्मा को दूर करता है, मालिश आदि करने से त्वचा में जो स्निग्धता आती है उसका ग्रहण भी यह पित्त करता है। इसके अतिरिक्त मानसिक कार्यों, जैसे-मेधा, शौर्य, साहस, हर्ष आदि का संचालन भी यह दोष ही करता है।[54]

जब पित्त अपनी सम अवस्था में नहीं होता तो भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता, पाचक-अग्नि मन्द (कमज़ोर) हो जाती है जिससे कफज भाव की अभिवृद्धि होती है। इसके कारण उत्साह में कमी हो जाती है, तथा हृदय, फेफड़ों आदि में कफ इकट्ठा होने लगता है।

स्थान और कर्म के भेद से पित्त भी निम्नलिखित पाँच प्रकार का माना गया है: 1. पाचक पित्त, 2. रञ्जक पित्त, 3. साधक पित्त, 4. आलोचक पित्त, 5. भ्राजक पित्त।[55]

---

51. योगवाह परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत सोमसंश्रयात्।।
योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवहः।
परमितिअत्यर्थम्।। — च.चि. 3/38

चक्रपाणि चरक चि.के. तीसर अध्याय में

52. ''प्राणोदानसमानाव्यानापानैः'' स पञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहृतश्चरन्।।'' — च.चि. 28/5

53. पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः।। — अ.ह.सू. 12/51
उष्मा पित्ताहते नास्ति।। — अ.ह.सू. 1/16

54. तदुक्तं क्रोधशोक श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते।। — सु.नि. 13-36
बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्। साधकंहृदगतंपित्तं।। — अ.ह.सू. 12/13

Scanned by CamScanner

केवल पित्त के प्रकोप से होने वाले नानात्मज रोगों की संख्या 40 मानी गई है। इसकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

♦ कफ या श्लेष्मा

'कफ' शब्द का अर्थ है- जो जल से उत्पन्न होता है (केनजलेन फलति निष्पद्यते इति कफः) तथा 'श्लेष्मा' का अर्थ है- जो संयोग करता है या मिलता है (श्लिष्यति इति श्लेष्मा)[56]। यह दोष शरीर के सभी अंगों का पोषण करता है तथा दोनों दोषों वायु और पित्त को नियमित करता है। शरीर को स्निग्धता (चिकनाहट) और आर्द्रता (गीलापन) प्रदान करना, सन्धियों (हड्डियों के जोड़ों) को आपस में मिलाना। वृद्धि, काम-शक्ति, बल, उत्साह, घावों का भरना, रोगों के आक्रमण को रोकने की शक्ति, मानसिक और शारीरिक श्रम करने की क्षमता, क्षमा, धैर्य, ज्ञान, विवेक, मानसिक स्थिरता आदि सभी कार्य और गुण कफ के अधीन है।[57] यदि शरीर में पित्त की गर्मी और वायु का रूखापन बढ़ जाए, तो 'कफ' दोष ही स्निग्ध (चिकने) स्रावों की मात्रा बढ़ा कर ऊतकों (tissues) की रक्षा करता है। हमारी नींद का प्रमुख कारण इस कफ में उपस्थित तमोभाव ही है।

यदि किसी कारणवश शरीर में कफ की मात्रा में कमी आ जाए, तो उसके विरोधी दोषों- पित्त और वायु - की वृद्धि हो जाती है। इससे पित्त धातुओं का शोषण करने लगता है, जिससे कोषों के बीच (छिद्रता होने से) वायु एकत्र होने लगती है। इसी प्रकार, सन्धियों, हृदय व शरीर के दूसरे अंगों में भी वायु का प्रकोप होने लगता है जबकि सम अवस्था में यही कफ शरीर के कोषों को पुष्टि प्रदान करके उनमें छिद्रता नहीं रहने देता, जिससे वायु का संचार नहीं हो पाता।

अपने आश्रय स्थान और कार्यों के आधार पर कफ दोष के भी पाँच भेद माने गये है-
1.क्लेदक, 2.अवलम्बक, 3.बोधक, 4.तर्पक, और 5.श्लेषक।[58]

दोष और पंच महाभूत

अन्य पदार्थों की तरह वायु, आदि दोषों की संरचना भी पाँच महाभूतों से ही हुई है। विभिन्न दोषों में प्रधान महाभूतों का उल्लेख निम्नलिखित है:[59]

---

55. अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते पित्तस्य। सू.सू. 21/7
यकृतप्लीहानौहृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च।।

56. केन जलेन निण्यद्यते इति कफ।

57. "स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। च.सू. 18/51
क्षमा धृतिरलोमश्च कफकर्मविकारजम्।।" अ.सं.सू. 20/6

58. "अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्कत्वभेदैः श्लेष्मा।"

59. वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तम्। अ.सं.सू. 20/3
अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा।।

Scanned by CamScanner

दोष	प्रमुख महाभूत
1. वायु	आकाश, वायु
2. पित्त	अग्नि या तेजस्, जल या अप्
3. कफ	जल या अप्, पृथ्वी

दोषों का आश्रय स्थान

पहले बताया जा चुका है कि तीनों दोष सामान्यरूप से सारे शरीर में व्याप्त रहते है परन्तु सभी अंगों में कोई एक दोष मुख्य रूप से रहता है[60]

दोष	आश्रय स्थान
वायु	नाभि से नीचे का भाग, बस्ति छोटी व बड़ी आंतें, कमर, जंघाएं, टाँगें एवं हड्डियाँ।
पित्त	छाती व नाभि का मध्य भाग, स्वेद (पसीना), लसीका, रक्त एवं उदर।
कफ	कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, शिर, गर्दन, छाती, सन्धि (हड्डियों के जोड़) उदर का ऊपरी भाग एवं शरीर की मेद धातु।

♦ दोष और ऋतुएँ

वायु, आदि तीनों दोष स्वाभाविक रूप से ही सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहते। अपने ही गुणों के अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव इन पर पड़ता है। इसी कारण अलग-अलग ऋतुओं में, एक ही दिन के अलग-अलग भागों, शरीर की विभिन्न स्थितियों और यहाँ तक कि मानसिक दशा का प्रभाव इन पर पड़ता है और इनकी दशा में परिवर्तन आ जाता है।इस आधार पर दोषों की तीन दशाएँ मानी गई हैं- 1. चय या संचय अर्थात् अपने आश्रय स्थान पर ही एकत्र हो जाना, 2. प्रकोप-अनुकूल गुणों को

60. तत्र पक्वाशयः कटिः सक्थिथडनी पादावास्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वात स्थानानि। अत्र च पक्वाशयो विशेषेण।
नाभिरामाशयस्वेदो लसीका रुधिरं चक्षुः
स्पर्शनं च पित्त स्थानानि। अत्र नाभिर्विशेषेण।
उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण।

Scanned by CamScanner

पाकर प्रकुपित होना अर्थात् अपने आश्रय-स्थान से फैल जाना और 3. प्रशमन-प्रतिकूल या विपरीत गुणों या आहार-विहार के सेवन से शान्त हो जाना और अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाना।[61] वैसे तो अपथ्य और प्रतिकूल खान-पान या बिना किसी अपथ्य आदि के भी ये दोष निम्नलिखित तालिका में उल्लिखित ऋतुओं और वय (आयु), रात तथा भोजन से सम्बन्धित समयों में अपने आप ही संचित, प्रकुपित और शान्त होते रहते हैं। अतः इनको सम अवस्था में बनाये रखने के लिए विभिन्न ऋतुओं में विशेष प्रकार की सावधानियाँ बरतने और विशेष खान-पान आदि का प्रयोग करने के लिए कहा गया है।

♦ दोष और पाचक अग्नि

अग्नि भोजन को पचाने का कार्य करती है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ प्रसंगवश इतना बताना आवश्यक है कि दोषों के कारण अग्नि की तीव्रता में भी परिवर्तन आ जाता है। जैसे-

दोष	अग्नि की स्थिति
वायु	विषम (कभी तीव्र और कभी मन्द)
पित्त	तीक्ष्ण या तीव्र
कफ	मन्द या धीमी
समवायु, पित्त और कफ	सम अग्नि[62]

♦ दोष और कोष्ठ

यह देखा जाता है कि कुछ लोगों को मल बहुत आसानी से आ जाता है और क़ब्ज़ होने पर बहुत हलकी सी औषधि, यहाँ तक कि दूध से भी विरेचन हो जाता है जबकि कुछ लोगों को मध्यम प्रकार की औषधि (न बहुत हलकी और न बहुत तेज़) से विरेचन होता है, तो कुछ लोगों को बहुत बहुत तेज़ प्रभाव वाली औषधि लेनी

---

61. "चयोवृद्धिःस्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता।।" अ.सं.सू. 20/9

62. "तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः,
वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्न्याः,
पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णाः भवन्त्यग्न्यः,
श्लेष्मलानां-श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः।।" चरक विमान 6/12

Scanned by CamScanner

क्र. सं.	स्त्रोत का नाम व कार्य	उत्पति मूल	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
1.	प्राणवह स्रोतस् (जीवन-शक्ति व प्राण का वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व भोजन प्रणाली	क्षय, स्वाभाविक वेगों को दबाना, रूखे भोजन का अधिक सेवन, भूखे पेट व्यायाम।	रुकावट के साथ उथले रूप में व तेज गति से श्वसन क्रिया का होना। दमा रोग इसी के सम्बद्ध है।	श्वसन-सम्बन्धी रोगों (जैसे-दमा आदि) के समान चिकित्सा।
2.	उदकवह स्रोतस् (जल व द्रव तालू, क्लोम पदार्थो को वहन करने वाले स्रोतस्)	तालू, क्लोम	अधिक गर्मी व लू लगना, अपच, शराब का अधिक सेवन अत्यन्त रूक्ष भोजन का सेवन, अधिक प्यासा रहना।	तालू ओष्ठ, जिह्वा व कण्ठ का सूखना।	तृष्णा या अधिक प्यास की चिकित्सा
3.	अन्नवह स्रोतस् (मुख से ग्रहण किये गये अन्न को वहन करने वाले स्रोतस्)	आमाशय, बायाँ भाग	असमय में व अधिक मात्रा में भोजन करना, अपथ्य आहार का सेवन, मन्दाग्नि।	भूख का नष्ट होना, (अरुचि) अपच, उल्टी	आमदोष या अपच आदि के लिए बताई गई चिकित्सा
4.	रसवह स्रोतस् (आहार रस, लसीका आदि वहन करने वाले स्रोतस्)	हृदय व हृदय से सम्बन्धित दस वाहिनियाँ	चिन्ता एवं अत्यन्त भारी, शीत व अधिक स्निग्ध भोजन का सेवन।	अरुचि, जी मिचलाना भारीपन, तन्द्रा, बेहोशी, रक्ताल्पता, नपुंसकता।	लंघन चिकित्सा या उपवास आदि
5.	रक्तवह स्रोतस् (रक्त को विशेषत : हीमाग्लोबिन अंश का वहन करने वाले स्रोतस्)	यकृत, प्लीहा	तीखे, उष्ण व स्निग्ध भोजन का सेवन, धूप व आग का अधिक सेवन।	चमड़ी के भयानक रोग रक्त स्राव, व्रण, गुदा एवं जननांगों में सूजन	रक्त-मोक्षण (शरीर के रोग वाले भाग से रक्त निकलवाना)
6.	मांसवह स्रोतस् (मांस तन्तुओं के तत्वों को ले जाने वाले स्रोत)	कण्डराएँ त्वचा, अस्थिबन्ध का तन्तु (स्नायु)	भोजन के तुरन्त बाद सोना, बार-बार अधिक मात्रा में तथा गुरु व ठोस भोजन का सेवन।	अर्बुद, मांसार्बुद, अर्श, तालूशोथ, गलगण्ड, तुण्डीकेरी अन्य अर्बुद आदि (जिनमें कैंसर का अर्बुद भी हो सकता है।)	शल्य चिकित्सा, (चीर-फाड़ आदि) क्षार-कर्म तथा दहन क्रिया (जलाने की क्रिया)
7.	मेदोवह स्रोतस्	गुर्दे	दिन में सोना, व्यायाम	मूत्र-सम्बन्धी	अपतर्पण

63. स शीताभ्रप्रवातेषु धर्मान्ते च विशेषत:।
प्रत्यूषस्यपराह्णे च जीर्णऽन्ने च प्रकुप्यति।। सु.सू. 21/20

तत्त वर्षास्वोषधयस्तरूण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ता: क्षिति मलप्राया:। सु.सू. 6/11

"तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषत:।
मध्यान्हे चार्धरात्रे च जीर्यन्यन्ने च कुप्यति।।" सु.सू. 21/22

"ता एवौषधय: काल परिणामात् परिणतवीर्या वलवत्यो
हेमन्त भवन्त्यापश्च प्रशान्ता: स्निग्धा: अत्यर्थ गुर्व्यश्च।।" सु.सू. 6/11

"स शीतै: शीतकाले च वसन्ते च विशेषत:।
पूर्वाह्णे च प्रदोषु च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति।।" सु.सू. 21/24

Scanned by CamScanner

पड़ती है तब जाकर उन्हें विरेचन होता है। ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः मृदु कोष्ठ, मध्यम कोष्ठ और क्रूर कोष्ठ कहलाती है। कोष्ठ की इन अवस्थाओं का सम्बन्ध भी दोषों से है, जो इस प्रकार है:[64]

दोष	कोष्ठ
वायु	क्रूर
पित्त	मृदु
कफ	मध्यम
समान वायु, पित्त और कफ	मध्यम

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ दोष बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होते है, वहीं इनका प्रभाव शरीर के विभिन्न तत्वों और क्रियाओं पर भी पड़ता है। इनका यह प्रभाव इनके (दोषों के) गुण-कर्मो के कारण ही होता है। दोषों को सम अवस्था में बनाये रखने के लिए किस प्रकार के आहार-विहार का सेवन किया जाए और किसका न किया जाए, इसके लिए प्रत्येक दोष के गुण-कर्मो, क्षय, वृद्धि आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में ये तीनों दोष पाये जाते है, परन्तु कोई एक दोष या दो दोष प्रधान रूप से पाये जाते है, उस प्रधान दोष के गुणों के आधार पर ही उसके शरीर और स्वभाव आदि का निर्माण होता है। यदि दो दोष प्रधानता से पाये जाते है तो दोनों दोषों के संयुक्त गुणों के आधार पर उसके शरीर और स्वभाव का निर्माण होता है।[65] अतः व्यक्ति के शरीर की बनावट और स्वभाव आदि के आधार पर वैद्य निश्चय कर लेता है कि उस व्यक्ति के अन्दर कौन से दोष की प्रधानता है और कौन सा क्षीण है और उसे किस प्रकार की औषधियाँ, आहार विहार आदि के सेवन का निर्देश दिया जाना चाहिए। अब वायु आदि दोषों के गुण, उनका व्यक्ति पर प्रभाव, कुपित व क्षय अवस्था में उसके गुणों आदि का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

64. ''तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः।
कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।।'' अ.सं.सू. 1/26

- ''तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते,
बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्य,
समदोषो मध्यमः स साधारण इति''। सु.चि. 33/20

65. प्रकृतिः ''शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृर्तिजायते तेन।।'' सु.शा. 4/63

* ''कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका भवन्तीति तन्त्रान्तरे
शुक्रशोणितगतदोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः।। च.वि. 8/95
''प्रकृति जन्मभृति वृद्धो वातादिः।।'' चक्रपाणि

Scanned by CamScanner

3. वायु या वात – स्वाभाविक गुण

वायु रूक्ष, शीतल, लघु, चंचल, सूक्ष्म, विशद (चिपचिपाहट से रहित) और खर (खुरदराहट से युक्त) होती है।[66] ये रूक्षता आदि वायु के स्वाभाविक गुण है। जब वायु सम अवस्था में होती है तो, इन गुणों का अनुभव नहीं हो पाता है अपितु उत्साह, श्वास लेना और छोड़ना आदि कर्मो से ही वायु की उपस्थिति का पता चलता है। जब वायु प्रकुपित होती है तभी रूक्षता आदि लक्षण शरीर में प्रकट होते है।

	व्यक्ति पर प्रभाव
1. रूक्षता[67]	शरीर में रूक्षता, कृशता (दुबलापन), बौनापन, आवाज़ अटकी हुई, शुष्क, धीमी, क्षुब्ध एवं भारी तथा नींद की कमी।
2. लघुता[68]	शरीर में हलकापन, चाल, गति, भोजन-ग्रहण और वेग (speed) में लड़खड़ाहट।
3. चंचलता[69] (सरता)	सन्धियों की गति, आँखों, भौहों, ठोड़ी के जोड़, होंठ, जीभ, सिर, कन्धे, हाथ व टाँगों में अस्थिरता।
4. शीघ्रगामिता	निर्णय लेने में शीघ्रता, जल्दी क्रोधित होना व चिढ़ जाना, विकारों और रोगों को शीघ्र उत्पत्ति, शीघ्र डर जाना, किसी पदार्थ को शीघ्र पसन्द करना और शीघ्र ही नापसन्द कर देना, बात को जल्दी समझ कर जल्दी ही भूल जाना।
5. शीतलता[70]	शीतल पदार्थो को सहन न कर सकना, शीत-रोगों से जल्दी प्रभावित हो जाना, शरीर में कम्पन व जकड़ाहट की अधिकता।
6. खरत्व (खुरदरापन)[71]	सिर के बालों, चेहरे व शरीर के अन्य अंगों (नाखून, दाँत, मुख तथा हाथ-पैरों) का रूखापन और खुरदरापन।
7. विशदता (अचिपचिपाहट)[72]	फैलाने व मोड़ने पर सन्धियों से कट्-कट् की आवाज़ आना, अंगों की त्वचा का फटना और इनमें फड़फड़ाहट।
8. बहुलता (आधिक्य)	अधिक बोलना, शरीर में कण्डराओं और शिराओं की उभारों की अधिकता या उभरा होना।

Scanned by CamScanner

♦ प्रकुपित वायु के लक्षण

जब शरीर में वायु प्रकुपित हो जाती है, तो उससे शुष्कता, रूखापन अंगों व शरीर में जकड़ाहट, सुई की चुभन जैसा दर्द, सन्धि-शैथिल्य (हड़ियों के जोड़ों में ढ़ीलापन) सन्धि-च्युति (हड्डी का खिसकना), हड्डी का टूटना, कठोरता, अंगों में कार्य करने की अशक्ति, अंगों में कम्पन व अस्वाभाविक गति से अंगों का सुन्न पड़ना, शीतलता, कमज़ोरी, कब्ज, शूल (तेज पीड़ा), नाखून, दांतों और त्वचा के रंग का कुछ काला या फीका पड़ना, मुख का स्वाद कसैला या फीका होना आदि लक्षण प्रकट होते है।[73]

वायु का मूल स्थान पक्वाशय (आँत) है। अन्न का मल भाग जब पक्वाशय में पहुँचता है, तो वायु उत्पन्न होती है, जो दूषित या प्रकुपित वायु ही होती है।

♦ वायु के प्रकुपित होने के कारण

वेगरोधक अर्थात् मल-मूत्र, छींक आदि स्वाभाविक इच्छाओं को दबा कर रखना, खाये हुए भोजन

---

66 "तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।"
"उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम्।।" च.सू. 18/49

* "आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधान गुदालयः।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध में ।।"

67. "यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः।" हेमाद्रि
- "रूक्षं समीरणकरं परम् कफघ्नं मतम्।" भावप्रकाश

68. "लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कपुहनं शीघ्रपाकि च।" भावप्रकाश
- "लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा।" सु.सू. 46

69. "यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः।" हेमाद्रि
- सरस्तेषां प्रवर्तकः।" भा.प्र.

70. "स्तम्भने हिमः।" हेमाद्रि
- "ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।" सु.सू. 46

71. "यस्य लेखने शक्तिः स खरः।" हेमाद्रि
"कर्कशत्वं वायव्यः र.वै.अ.2 सू. 60

72. "यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः।" हेमाद्रि
"विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः।" सु.सू. 46
"क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः।" भा. प्र.

73. कार्श्यकार्ष्ण्योंगात्रकम्पस्फुरणणोण्णकामितासंज्ञानिद्रानाशवलेन्द्रियोपद्घातास्थिशूलमज्जाशोषमल सङ्गध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिर्भिर्वृद्धोवायुःपीडयति। अ.हृ.सू. 11/6

संङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः।।
खञ्ज्यप ङ्गुल्य कुब्जत्वं शोषोऽङ्गानाम निद्रता। च.चि. 28/20-21

Scanned by CamScanner

के पचने से पहले ही फिर कुछ खा लेना, रात को देर तक जागते रहना, ऊँचा बोलना, अपनी शक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक श्रम करना, लम्बी यात्रा के समय वाहन में धक्के लगना, रूखे, तीते (तिक्त), कड़वे और कसैले खाद्य-पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, सूखे मेवे अधिक खाना, बहुत अधिक चिन्ता करना, मानसिक परेशानी में रहना, अधिक सम्भोग करना, डरना, उपवास रखना, अधिक मात्रा में खाना तथा अधिक ठण्डा खाना, इन सब कारणों से शरीर में वायु दोष प्रकुपित हो जाता है। वर्षा ऋतु में तो इन कारणों के बिना भी वायु का प्रकोप स्वाभाविक रूप से हो जाता है। वात-प्रकृति वाले लोगों में तो बहुत अल्प कारणों से ही वायु का प्रकोप हो जाता है।[74]

♦ प्रकुपित वायु का उपचार

जिन कारणों से वायु का प्रकोप होता है, उन कारणों को दूर करने तथा उनके विरोधी खान-पान, औषधियों और साधनों का प्रयोग करने से वायु शान्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त वायु के जो अपने गुण-कर्म हैं, उनसे विपरीत (उल्टी) चिकित्सा करनी चाहिए। इस दृष्टि से निम्नलिखित उपायों का प्रयोग करना चाहिए।[75]

1. स्नेहन अर्थात् स्नेह पदार्थों (घी, तेल, वसा, मज्जा) का सेवन। उष्ण जल से स्नान करना तथा बस्ति या एनिमा देना।
2. स्वेदन या सेक (गर्म जल से तथा वायुनाशक औषधियों के काढ़े से स्नान व अवगाहन (काढ़े आदि में बैठना) एवं अन्य गर्म पदार्थों का प्रयोग करके पसीना लाना।
3. मृदु विरेचन अर्थात् स्निग्ध, उष्ण तथा मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे) तथा लवण (नमकीन) रस वाले, द्रव्यों से तैयार औषधि से हलका विरेचन कराना, जिससे मल बाहर निकल जाए।
4. रोग वाले अंगों पर पुल्टिस व पट्टी (कपड़े से) बाँधना, पादाघात अर्थात् पैर से दबाव, वातनाशक द्रव्यों का नस्य लेना नस्य (नाक में डाल कर ऊपर की ओर खींचना), उनका उबटन मलना, स्नान, संवाहन (हाथ से दबाना) और मालिश करना।
5. वायुहर औषधियों के काढ़े की धारा सिर पर डालना। (शिरोधारा परिषेक)
6. इन्हीं औषधियों से तैयार मदिरा व आसव आदि पिलाना।
7. पाचक, दीपक (पाचक अग्नि को तेज़ करने वाली), उत्तेजक (stimulant) वायु को शान्त करने वाली तथा विरेचक (मल को बाहर निकालने वाली) औषधियों से पकाये गये घी, तेल आदि स्नेह पदार्थों का प्रयोग

---

74. वेग संधारणादामादभिघाताद भोजनात्।। च.चि. 28/17
तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातप्लवनतरणरात्रि जागरणभारहरण .....। सु.सू. 21/19
तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। च.वि. 6/16

75. रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारूतः संप्रशाम्यति।। च.सू. 1/59

Scanned by CamScanner

करना, (खाना, पीना, मालिश आदि करना)।

8. गेहूँ और गुड़ से तैयार खाद्य-पदार्थो का सेवन।
9. स्निग्ध और उष्ण औषधियों से तैयार अनेक प्रकार के एनिमा का प्रयोग और
10. रोग व परिस्थिति के अनुसार मानसिक उपचार जैसे- रोगी को डराना, एकदम चौकाना तथा विस्मरण करवाना (जिस किसी विशेष घटना से रोगी परेशान हुआ हो, उसे भुलाने की कोशिश करना)।

स्निग्ध द्रव्यों में वायु की शान्ति के लिए तेल सबसे अधिक श्रेष्ठ है।[76] तिल का तेल और मांसाहारी लोगों के लिए मांस, मांसरस तथा वसा (fat) युक्त मांस तथा अनुवासन बस्ति (एक प्रकार का एनिमा) विशेष रूप से लाभकारी है। जैसा कि पहले कहा गया है, वायु मूल स्थान पक्वाशय (बड़ी आँत) है, अत: इसे शान्त करने के लिए तो निरूह और अनुवासन बस्तियाँ (एनिमा के दो प्रकार) सबसे उत्तम उपाय है क्योंकि यह एनिमा पक्वाशय में जल्दी प्रवेश कर सभी दूषित पदार्थो को बाहर निकाल देता है, जिससे वायु का प्रशमन हो जाता है।[77]

♦ वायु–क्षय के लक्षण और उपचार

यदि शरीर में वायु का क्षय (कमी) हो जाए, तो शरीर की विभिन्न क्रियाओं में कमी, बोलने में असमर्थता, हर्ष की कमी, अंगों में शिथिलता, ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त न कर सकना, वायु के स्वाभाविक कार्यो में कमी तथा कफज (कफ से उत्पन्न) रोगों जैसे- अग्निमन्द्य (पाचन की कमज़ोरी), जी मिचलाना आदि लक्षण दिखाई देते है।[78]

---

76. तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनय: स्नेहा:।। **अ.सं.सू. 13/3, अरुणदत्त**

- "मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।
  त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम्।।" **च.सू. 13/15**
- "तद्वस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे।
  अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये।।" **सु.सू. 45/113**
- "य स्नेहैर्दीयते स: स्यादनुवासननामक:।
  कषाय क्षीरतैलैर्यो निरुह: स निगद्यते।।" **शा.उ.ख. 5/2**
- "अनुवास्यस्तु रूक्ष: स्यात् तीक्ष्णाग्नि: केवलानिली:।" **शा.उ. 5/5**
- "वातव्याधावुदावर्ते वातासृग्विषमज्वरे।
  मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छाश्मरीषुच।।"
  "वृद्धासृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहरणम्।
  शूलेऽम्लपित्तेहृद्रोगेयोजयेद्विधिवद् बुध:।।" **शा.उ.ख. 6/6-7**

77. "वातविकारा: प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफल पलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्।।" **चरकसूत्र 20/13**

78. "तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च।।" **सु.सू. 15/11**

"प्रसेकारुचिहल्लाससंज्ञामोहल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभि: क्षीणो वायु: पीड्यति।" **अ.सं.सू. 21/9**

"लिंङ्ग क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसंभव:।।" **अ.ह.सू. 11/15**

Scanned by CamScanner

वायु का क्षय होने पर वायु को बढ़ाने (प्रकुपित करने) वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। जैसे- कटु (कड़वे), तिक्त (तीखे) कसैले रस वाले, लघु (हल्के), रूखे एवं शीतल (ठण्डे) द्रव्य वायु को बढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त वायुप्रकोपक कारणों में बताये गये आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।[79]

♦ साम तथा निराम वायु

जब वायु शरीर में 'आम-रस' (भोजन का ठीक प्रकार पाचन न होने पर जब अधपचे भोजन का अंश शरीर में रहता है, उसे आम-रस कहते हैं) के साथ मिल जाती है, तो उसे साम (आम के साथ युक्त) वायु कहते हैं। साम वायु होने पर शरीर में निम्नलिखित लक्षण दिखाई देते हैं :

- विबन्ध अर्थात् मल, मूत्र और अपान वायु का बाहर न निकलना,
- भोजन की पाचन-शक्ति में दुर्बलता,
- तन्द्रा-सुस्ती,
- आँत में गुड़गुड़ाहट की आवाज़,
- कमर आदि में दर्द,
- शोथ अर्थात् आमवात, गठिया आदि रोगों में जोड़ों में सूजन होना, तथा
- तोद (सुई चुभने के समान दर्द)।[80]

यदि इसकी चिकित्सा शीघ्र न की जाय तो यह साम वायु प्रकुपित होकर सारे शरीर में फैल जाता है और अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

जब वायु में आम नहीं होता अर्थात् निराम वायु रूक्ष (त्वक आदि अंगों में रूखापन लाने वाली), विशद (मुख, जीभ आदि को सुखाने वाली), विबन्ध से रहित और कम पीड़ा वाली होती है। इसके उपचय के लिए विपरीत गुणों वाले अर्थात् स्निग्ध (तैलीय) आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।[81]

♦ वायु के भेद

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वायु पाँच प्रकार की है। प्रत्येक प्रकार की वायु का आश्रय-स्थान और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। इन्हीं के आधार पर वायु को पाँच भेदों में बाँटा गया है। अलग-अलग वायु के प्रकोप से होने वाले रोग भी अलग-अलग है। इन सबका उल्लेख निम्नलिखित तालिका में किया जा रहा है :

---

79. ''तत्र (वातक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः।।'' सु.सू. 15/12
''वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्।।'' च.शा. 6/11

80. सर्व च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।
स्निग्धत्वरोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः।।
कटु रूक्षाभिलाषेण तद्विघोपशयेन च।
युक्तं विद्यान्निरामं तु तन्द्रादीनां विपर्ययात्।। अ.ह.नि. 16/29-30

* वायुः सामो विवन्धाग्निसादतन्द्रान्त्र कूजनैः।
वेदना शोफनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीऽयन्।।
विचरेधु गपच्चापि ग्रहलाति कुपितो भृशम्।
स्नोहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेदोदये निशि।। अ.ह.सू. 13/27

81. निरामो विशदो रूक्षो निर्विवन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीत गुणैः शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषतः।। अ.ह.सू. 13/28

Scanned by CamScanner

वायु के भेद और कार्य

क्र.सं.	वायु के भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	प्रकोप से होने वाले रोग
1.	प्राण[82]	सिर, जिह्वा, हृदय कण्ठ, मुख और नासिका	श्वासोच्छवास की क्रिया, मुख व नासिका द्वारा बाहरी वायु का शरीर में प्रवेश करा कर देह को धारण करना; थूकना; छींकना आदि।	हिक्का (हिचकी), कास (खांसी), श्वास (दमा), जुकाम, स्वर भंग (गला बैठना)
2.	उदान[83]	कण्ठ, नाभि (डायफ्रॉम), वक्षस्थल	कण्ठ का स्वर एवं बोलना; श्वास को ऊपर की ओर ले जाना; कार्य के लिए प्रयत्न उत्साह और बल	आँख, कान, नाक एवं गले के रोग (ऊर्ध्वजत्रुगत रोग)।
3.	समान[84]	आमाशय, पक्वाशय	पाचक रसों के सक्रिय होने से भोजन का पृथक्करण (अलग-अलग होना) और उनका विभिन्न धातुओं (रस, रक्त, मांस आदि) व मलों में वर्गीकरण; स्वेदवह, दोषवह एवं जलवह स्रोतों का नियन्त्रण।	अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अतिसार और दोषपूर्ण पृथक्करण।
4.	अपान[85]	बडी आँत, श्रोणि प्रदेश (pelvis) के अंग (पक्वाशय, गुदा, वृषण, मूत्रेन्द्रिय, मूत्राशय, नाभि एवं बस्ति प्रदेश)	मल, मूत्र तथा शुक्र (पुरुषों में) आर्तव एवं गर्भ (स्त्रियों में) को वेग न होने पर स्थिर रखना तथा धारण करना तथा वेगकाल में उन्हें निःसृत करना।	अश्मरी (पथरी) मूत्रकृच्छ्र, भगन्दर, गुदभ्रंश आदि मूत्राशय, मलाशय व अण्डकोषों के रोग और मूत्र सम्बन्धी कष्टसाध्य रोग (मधुमेह, प्रमेह आदि)
5.	व्यान[86]	सारा शरीर, विशेष रूप से हृदय	स्वेद (पसीना) की उत्पत्ति, नीचे झुकना, ऊपर उठना, आक्षेप, निमेषोन्मेष (पलक खोलना व झपकना), वीर्यग्गमन, आदि।	स्रोतों की संचरण क्रिया में शिथिलता, ज्वर, अतिसार रक्तपित्त, यक्ष्मा आदि सारे शरीर में पाये जाने वाले रोग।

---

82. ''स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठ (कर्ण) जिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूगार श्वासाहारादि कर्म च ।।'' च.चि. 28/6

83. ''उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक् प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च।। च.चि. 28/7

''उदानोनाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भ्राषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते।।
उर्ध्वजत्रु गतान् रोगान् करोति च विशेषतः।।'' सु.नि. 1/14/15

84. ''आमपक्वाशयचरः समानोवन्हिसंगतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि।।
गुल्माग्निसादातीसार प्रभृतीन् कुरुते गदान्।।'' सु.नि. 1/16/17

''स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतासि समधिष्टितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः।। च.चि. 28/8

Scanned by CamScanner

4. पित्त

तीनों दोषों में वायु के पश्चात् पित्त का स्थान आता है। इससे सम्बन्धित विविध पक्षों का वर्णन इस प्रकार है:

♦ पित्त के स्वाभाविक गुण :

पित्त दोष उष्ण (गर्म), कुछ स्निग्ध (चिकना), तीक्ष्ण (पाचन और दाह अर्थात जलाने वाला), शीघ्र (आशु), द्रव्य (तरल), विस्रगन्धि (कच्चे मांस जैसी गन्ध वाला) होता है।[87] निराम (आम से रहित-पक्व) दशा में पित्त-रस तिक्त स्वाद वाला तथा रंग में पीला होता है। जबकि साम (कच्ची-अपक्व) दशा में यह स्वाद में खट्टा (अम्ल) और रंग में नीला होता है।[88]

♦ पित्त के गुणों का शरीर और स्वभाव पर प्रभाव :

वायु के समान शरीर में विद्यमान पित्त भी शरीर की बनावट और स्वभाव के निर्माण में सहायक होते हैं। इसके विभिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है, जो निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है:

---

85. वृषणौ वस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरु वङ्क्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च।।
सृजत्यार्तवगर्भौ च, युक्ताः स्थान स्थिताश्च ते।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैर नामयः।। च.चि. 28/10-11

पक्वाधानालयोऽपानः कालेकर्षतिचाप्यम्।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्त्तवान्यधः च।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्ति गुदाश्रयान्।। सु.नि. 1/19-20

86. कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।।
स्वेदा सृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान प्रायशः सर्वदेहगान्।'' सु.नि. 1/17/18

''देहं व्याप्नोति सर्वतुव्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गति प्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा।।'' च.चि. 28/9

87. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पितं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।। च.सू. 1/60

कटिवति तिक्तम् ।। (गगांधर)
पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च ।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ।। सु.सू. 21/11

88. पित्तं हि विदग्धम्लतामुपैत्याग्नियत्वात् ।। सु.सू. 42/10

मार्धुयमन्नं गतमामसंज्ञं विदग्धसंज्ञ गतमम्लभावम्, किचिद् विपम्वं ।। सु.सू. 46/509

89. पित्तं बन्हिर्वन्हिंज वा पदस्मात् पितोद्रिक्त स्वाक्ष्णतृष्णावृमक्षः ।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः शुरो मानी पिङ्गकेशोडल्परोम ।।

Scanned by CamScanner

पित्त के गुण	व्यक्ति पर प्रभाव
1 उष्णता (गर्मी)[89]	उष्ण पदार्थो और गर्मी का सहन न कर पाना, चेहरे का उष्ण होना, शरीर का कोमल और स्वच्छ होना, शरीर पर हल्के भूरे धब्बे या चित्ती, काले तिल, मस्से व छाइयां होना, भूख व प्यास का अधिक लगना, त्वचा पर समय से पहले झुर्रियां आना, बालों का जल्दी ही सफेद हो जाना, गंजापन शीध्र ही आ जाना, सिर, चेहरे व शरीर के अन्य अंगों में कुछ कोमल और भूरे बालों का पाया जाना।
2 तीक्ष्णता[90]	शारीरिक शक्ति का अधिक प्रदर्शन, तीक्ष्णता (स्वभाव में) तीव्र पाचन शक्ति, खाद्य और पेय पदार्थो का अधिक मात्रा में सेवन करना, परिस्थितियों का मुकाबला करने में असमर्थता, लचीलापन।
3 द्रवता[91]	मांसपेशियों और हड्डियों के जोड़ों में कोमलता तथा शिथिलता (ढीलापन) पसीना, मल और मूत्र का अधिक मात्रा में बाहर निकलना ।
4 विस्रगंधिता[92]	बगल, मुख, सिर तथा शरीर के दूसरे अंगों से तेज़ दुर्गन्ध (कच्चे मांस जैसी गन्ध) आना।
5 कटुता (कड़वापन)[93] और अम्लता (खट्टापन)	शुक्र की मात्रा, सम्भोग की इच्छा तथा जनन शक्ति (सन्तान उत्पत्ति की शक्ति) में कमी।

जिस व्यक्ति में पित्त दोष अधिक मात्रा में पाया जाता है, वह पित्त-प्रधान प्रकृति का माना जाता है। पित्त की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर उसका बल, जीवन की अवधि, आध्यात्मिक औ भौतिक ज्ञान, धन एवं जीवन की अन्य सुविधाए मध्यम प्रकार की होती है।[94]

---

90. दयित माल्यविलेपश्मण्डनः सुचरित शुचिराश्रितवत्सलाः ।
विभवसाहस बुद्धिबलान्वितो भवति भीषु शतिद्विषातामपि ।।

91. मेधावी प्रशिथिल सन्धिवन्धमांसो नारीणामनमितोडल्पशुक्रमांमः ।
आवासः पलिलतरङ्गनीलिकानां मधुरकषायातिक्तशीतम् ।।

92. धर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धि भ्र्यूच्चारक्रोध्यानाशनेर्ष्यः ।

93. तननि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि ।
क्रोधेन मघेन श्वेश्च भासा रोगं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ।।
अ.ह.शा. 3/10-14

94. मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः ।
ब्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ।।
अ.ह.शा 3/15

Scanned by CamScanner

♦ पित्त प्रकोप के लक्षण :

जब किसी व्यक्ति के शरीर में पित्त दोष का प्रकोप (अधिकता) हो जाता है, तो थकावट, बल और नींद में कमी, अधिक पसीना, शरीर में जलन व तापमान की अधिकता, त्वचा का रंग पहले की अपेक्षा गाढ़ा हो जाना, अंगों से दुर्गन्ध आना, चिपचिपाहट, मुँह, गला आदि का पकना, क्रोध, मूर्च्छा (बेहोशी) तथा चक्कर आना, आदि लक्षण दिखाई देते हैं। त्वचा, मल, मूत्र, नाखूनों और नेत्रों का पीलापन, पित्त के प्रकोप के विशेष लक्षण हैं। मुँह का कड़वा और खट्टा स्वाद, एवं शीतल आहार-विहार की इच्छा भी पित्त की अधिकता के कारण होते हैं।[95]

♦ पित्त प्रकोप के कारण :

कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, विदाही (जलन पैदा करने वाले तथा तीखे (लाल मिर्च, आदि) पदार्थो एवं मादक द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में पित्त दोष बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त सूखी सब्जियां और क्षार पदार्थो का प्रयोग, धूप और अग्नि का अधिक सेवन, अधिक मैथुन, अनियमित रूप से भोजन करना (निश्चित समय पर भोजन न करना, या भूख न लगने पर भोजन करना, या भूख लगने पर भोजन न करना) अपच (बदहज़मी), क्रोध, भय, और निराशा के विचार भी शरीर में पित्त दोष को प्रभावित कर देते हैं, कुछ विशेष पदार्थ, जैसे- तिल का तेल, कुलत्थ, सरसों, हरीतक साग, दही, छाछ, कुर्चिका (दूध के नीचें की खुरचन), मस्तु, सौवीरक (काञ्जी-खट्टा सिरका), मद्य-पदार्थ, खट्टे फल, कट्वर तथा गोह मछली, भेड़ व बकरी का मांस-खाने से भी पित्त में वृद्धि होती है।[96]

♦ प्रकुपित पित्त को शान्त करने के उपाय :

सबसे पहले तो उन सब कारणों से दूर रहना चाहिए जिसके फलस्वरूप पित्त प्रकुपित हुआ है।

विरेचन : (पेट साफ करने की औषधि का सेवन) सर्वश्रेष्ठ उपाय है[97] क्योंकि यह मूल रूप से आमाशय और ग्रहणी में इकट्ठा होता है और विरेचन औषधि इन्हीं अंगों में पहुंच कर वहाँ एकत्र हुए पित्त को पूरी तरह बाहर निकाल देती है।

इसी प्रकार निरन्तर घी का सेवन (घृतपान) भी इस दृष्टि से बहुत उपयोगी रहता है क्योंकि

---

95. पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ।।
स्वेदः क्लेदः स्त्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ।
कटुकाम्लौ रसो वर्णः पाण्डुरारूण वर्जितः ।।
उष्मा पित्ताद्वते नास्ति ।।

अ.ह.सू. 12/41-42
अ.ह.नि. 1/16

96. क्रोध शोकभयासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकटवम्ललवण
तीक्ष्णोष्णम्लघुविदाहितिलतैल पिव्याककुलत्थ
सर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमां -
सदधितक्रकूर्चिकामस्तु सौवीरकः सुराविकाराम्लफलकट्वर
प्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ।।

97. विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठम्) ।।

सु.सू. 21/21
च.सू. 25/40

Scanned by CamScanner

इसमें पित्त-विरोधी मधुर, शीत और मन्द गुण पाये जाते है। पित्त के पुराने रोगों में तो अलग-अलग प्रकार से घी का सेवन कराया जाता है।[98]

♦ पित्त-क्षय के लक्षण व उपचार :

जब शरीर में पित्त का क्षय (कमी) हो जाता है, तो अग्निमान्द्य (पाचन शक्ति की कमी), शरीर के तापमान में कमी, मुख की कान्ति और चमक में कमी तथा ठण्ड की अनुभूति होती है । पित्त के जो अपने गुण कर्म है, वे भी कम मात्रा में कार्य करते है।[99]

पित्त की कमी होने पर, उपर्युक्त पित्त का प्रकोप करने वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे खाद्य पदार्थो और औषधियों को प्रयोग में लाना चाहिए, जो आग्नेय हों अर्थात् जिनमें अग्नि तत्त्व अधिकता से पाया जाए।

♦ साम और निराम पित्त :

जब पित्त आम दोष से युक्त होता है, तो वह दुर्गन्ध युक्त खट्टा, स्थिर (जल आदि तरल पदार्थो में डालने पर शीघ्र न फैलने वाला), गुरु (भारी अपेक्षाकृत गाढ़ा) तथा रंग में हरा या श्याम (कालिमा से युक्त) होता है । इस अवस्था में खट्टे डकार और छाती व गले में जलन होती है।[100]

जब पित्त आम से रहित होता है, तो बहुत उष्ण, तिक्त और कटु स्वाद वाला चल या अस्थिर (जल में शीघ्र मिलने वाला), कुछ लाल पीले रंग वाला होता है। यह भोजन में रुचि, और पाचन शक्ति को बढ़ाता है ।

साम पित्त का प्रकोप होने पर तिक्त रस वाले पदार्थो तथा निराम पित्त का प्रकोप होने पर मधुर और कसैले (कषाय) पदार्थो का सेवन करना चाहिए।[101]

♦ पित्त के भेद :

पहले बताया जा चुका है कि अलग अलग अंगों में रहने और अलग कार्य करने के कारण पित्त को पाँच भेदों में बाँटा गया है। इनके आश्रय, स्थान और कार्य आदि का उल्लेख निम्नलिखित तालिका में किया जा रहा है।

---

98. कट्वम्वलवणाः पितं (कोपयन्ति) ।। — च.सू. 1/67
कषायस्वादुतिक्तकाः । जयन्ति पित्तम् ।। — च.सू. 1/66
मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः ।।
कट्वम्ललवणाः पितं जनयन्तिः
मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति ।। — च.वि. 1/6
''स्तम्भ शैतया मियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुण्यकम्पगौरवनखनयन — अ.सं.सू. 11/16
शौकल्यादिभिः पित्तम् ।'' — सु.सू. 15/11

99. पितक्षये मन्दोमाग्निता निष्प्रभत्वं च ।। — अ.ह.सू 11/16
पिते (क्षीणे) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः ।।

*100. दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमग्लं धनं गुरु ।
अम्लीकाकण्ठहछाहकंर सायं विनिर्दिशेत् ।।

*101. आताम्रपतिमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्वं विगन्धि विज्ञेय रुचिपक्तिबलप्रदम् ।। — अ.ह.सू. 13/27/28 के मध्य प्रक्षेप

Scanned by CamScanner

पित्त के भेद व कार्य[102]

	पित का भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	प्रकोप से होने वाले रोग
1.	पाचक	आमाशय का अधोभाग व पक्वाशय का मध्यभाग	भक्ष्य, भोज्य लेह्य व पेय पदार्थो का पाचन, सार भाग (रस) व किट्टभाग (मल-मूत्र) का पृथ्क्करण, अपने स्थान पर ही स्थित रह कर शेष चार पित्त स्थानों व समग्र शरीर का गर्मी द्वारा पोषण करना क्षुधा व पिपासा की उत्पत्ति।	अजीर्ण एवं अपच।
2.	रञ्जक	यकृत और प्लीहा अन्य मतानुसार आमाशय	रस धातु का रञजन करके उसे रक्त वर्ण प्रदान करना अर्थात् रस को रक्त में परिवर्तित करना।	रक्ताल्पता, पीलिया आदि
3.	साधक	हृदय	हृदय के आवरक कफ व तमस् को दूर कर मन को स्वच्छ करना बुद्धि, मेधा, अभिमान, आदि द्वारा मन के इच्छित विषयों का ध्यान करना, स्मृति आदि।	मानसिक असन्तुलन, भय क्रोध, मोह आदि
4.	आलोचक	नेत्र	रूप का ग्रहण अथवा दर्शन	दृष्टि विकार ।
5.	भ्राजक	त्वचा	त्वचा को चमक एवं रंग प्रदान करना, शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा बनाए रखना, अभ्यंग (मालिश) लेप स्नान आदि में प्रयुक्त स्नेहन आदि पदार्थो का पाचन कर शरीर में उनका प्रभाव पहुँचाना।	श्वेतकुष्ठ व अन्य चर्म रोग।

5. कफ अथवा श्लेष्मा

दोषों में महत्त्व और क्रम की दृष्टि से कफ का स्थान तीसरा है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का वर्णन प्रस्तुत है ।

---

102. रागपक्ति तेजोमेधोष्मकृत पित्तं पञ्चध प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ।। सु.सू. 15/5

यददृष्टयां पित्तं तस्मिन्नालोचकोग्निरिति संज्ञा, स रुपगृहणाधिकृतः ।
यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा,
सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः ।। सु.सू. 21/10

वात पित कफ वायु सूर्य चन्द्र रूप है
सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ।। च.सू. 12/12

Scanned by CamScanner

♦ कफ के स्वाभाविक गुण :

कफ स्निग्ध (चिकना), मधुर, भारी, शीतल, मृदु (मुलायम) दृढ, स्थिर, पिच्छिल (चिपचिपा), मन्द तथा क्लिन्न (गीला स्वच्छ) होता है, यही इसके स्वाभाविक गुण हैं। इसका रंग सफेद तथा रस (स्वाद) मधुर होता है ।[103]

जिस व्यक्ति के शरीर में कफ दोष की अधिकता होती है, वह कफ प्रकृति वाला कहलाता है। ऐसे व्यक्ति पर ये गुण विशेष रूप से प्रभाव डालते है । कफ का कौन सा गुण क्या प्रभाव डालता है, इसका उल्लेख निम्नलिखित है :[104]

	कफ के गुण	व्यक्ति पर प्रभाव
1.	स्निग्धता	शरीर के अंगों में स्निग्धता (तैलीय प्रभाव)।
2.	श्लक्ष्णता या चिकनाहट	शरीर के अंगों में चिकनाहट।
3.	मृदुता या कोमलता	सुन्दरता, प्रसन्नवदन, कोमलता व गोरा रंग।
4.	मधुरता	वीर्य की अधिकता, सम्भोग की अधिक इच्छा और प्रजनन शक्ति की अधिकता।
5.	दृढता	शरीर में गठीलापन, स्थिरता और मज़बूती (दृढ़)।
6.	घनता	स्थूलता (मोटापे की प्रवृत्ति) और अंगों का गोल होना।
7.	मन्दता	क्रियाकलाप, भोजन के ग्रहण और चाल में धीमापन लाना।
8.	स्थिरता	किसी कार्य को आरम्भ करने में आलस्य, कम क्रोध, चिड़चिड़ापन ओर गम्भीर रोगों की उत्पत्ति परन्तु रोग गम्भीरता का धीरे धीरे प्रकट होना।
9.	गुरुता (भारीपन)	स्थिर तथा गम्भीर चाल, जिसमें पैर के तलुवों को भूमि पर पूरी तरह टिका कर चलना।
10.	शीतलता	भूख, प्यास तथा गर्मी कम लगना, और पसीना कम।
11.	चिपचिपाहट (पिच्छिलता)	जोड़ों में दृढ़ता और स्थिरता व सुडौल होना।

---

103. श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
माधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ।। — सु.सू. 21/15

गुरुशीत मृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ।। — च.सू. 1/61

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसार सान्द्रमन्दस्तिमित गुरुशीतविज्जलाच्छः ।। — च.वि. 8/96

Scanned by CamScanner

कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति में बल, धन, ज्ञान, शक्ति, शान्ति जैसे गुण अधिक मात्रा में पाये जाते है तथा वह दीर्घायु (लम्बी आयु वाला) होता है ।[105]

♦ प्रकुपित कफ के लक्षण :

जब शरीर में कफ दोष अधिक मात्रा में हो जाता है, तो तन्द्रा (सुस्ती), अधिक नींद, मुँह का मीठा स्वाद, त्वचा में सफेदी, शीतलता, स्निग्धता और खुजली होना, शरीर में भारीपन उपदेह अर्थात् शरीर से निकलने वाले मल पदार्थो जैसे मल, मूत्र, पसीना आदि में चिपचिपापन स्तिमतता अर्थात् ऐसा अनुभव होना जैसे कि शरीर या प्रभावित अंग गीले कपड़े से लिपटा हो, लेप अर्थात् ऐसा लगना जैसे कोई बाहर का पदार्थ शरीर से चिपका हो, सूजन, बलगम, आखों और नाक के मल आदि का अधिक मात्रा में स्राव, चिरक्रिया अर्थात शरीर पर किसी भी प्रतिक्रिया का देर से होना, अंगों में ढीलापन, श्वास, खाँसी तथा अवसाद (उदासी किसी कार्य करने में दिल न लगना) आदि लक्षण प्रकट होने लगते है।[105]

♦ कफ प्रकोप के कारण :

मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे), भारी, चिकने एवं क्लेदक खाद्य और पेय पदार्थो, माँस-मछली तिल से तैयार खाद्य पदार्थो, गन्ने, दूध, नमक और जलीय पदार्थो का अधिक मात्रा में सेवन करने से, आवश्यकता से अधिक मात्रा में खाने से, पहले खाये गये भोजन के पचे बिना फिर भोजन, दिन के समय सोने से आलस्य करने और व्यायाम न करने से शरीर में कफदोष प्रकुपित हो जाता है। वसन्त ऋतु, प्रातः काल, रात्रि के पहले प्रहर भोजन के बाद और बाल्य अवस्था में कफ स्वाभाविक रूप से ही प्रकुपित रहता है।

---

104. शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवाञ् जलदमृदङ्गसिंहघोषः ।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रकवाकान् सपंश्येदपि च
जलाश्यान् मनोज्ञान ।
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्वगुणोयन्नः ।
क्लेशक्षमो सामयितो गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ।।
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददातिबहु
परिनिश्चतवाक्यपदः सततं गुरुमानकरञ्च भवेत् स सदा ।
ब्रह्मरूद्रेन्द्रवरुणैः सिहांश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानुकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ।। सु.शा. 4/72-76

105. श्वैत्य शैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्ध
माधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं
श्लेष्मविकारमेवाध्यावस्येत् ।। च.सू. 20/18

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम् ।
बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः ।।
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता । अ.ह.सू. 12/53/54

Scanned by CamScanner

कुछ खाद्य पदार्थ जैसे दही दूध, कृशरा, (तिल और उड़द की खिचडी) खीर, कुछ विशेष जन्तुओं (पानी में रहने वाले आनूप प्रदेश में रहने वाले) का मांस, चर्बी, कमलनाल, सिंघाड़ा, नारियल, घीया, कद्दू आदि (जो लताओं पर उगते है) कफ को बढाते हैं ।[106]

♦ प्रकुपित कफ को शान्त करने के उपाय :

जिन उपर्युक्त कारणों से कफ दोष प्रकुपित होता है उन[107] कारणों को दूर करके कफ को शान्त किया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए-

1. तीक्ष्ण (तेज़) और उष्ण (गर्म प्रभाव वाले) औषधि द्रव्यों से वमन (उल्टी) और विरेचन क्रियाओं का उचित रूप से प्रयोग।
2. कफ विरोधी गुणों वाले पदार्थो, यथा-कटु, तिक्त और कषाय रसों वाले तथा रूक्ष (रूखे), तीक्ष्ण और उष्ण आहार-विहार का सेवन।
3. ऐसे द्रव्यों का सेवन जिनका वीर्य विपाक और प्रभाव कफ का विरोधी हो,
4. पुराने और तीव्र मद्य पदार्थो एवं पुराने शहद का सेवन,
5. औषधीय धूम्रपान और लंघन क्रिया (शरीर का वज़न कम करने वाले) का प्रयोग,
6. विविध प्रकार से स्वेदन (सेक), धूप सेकना, सूखी मालिश व उबटन मलना,
7. विभिन्न प्रकार के व्यायाम, जैसे -दौड़ना ऊँची व लम्बी कूद, कुश्ती, दण्ड बैठक, तेज़ी से टहलना, तैरना आदि।
8. अधिक सम्भोग, रात्रि को जागते रहना, युद्ध कला का अभ्यास आदि
9. गर्म वस्त्रों का अधिक प्रयोग,
10. नस्य या शिरोविरेचन (नाक में औषधीय तेल डाल कर ऊपर की ओर खींचना)
11. आराम तलबी की आदतों से दूर रहना तथा
12. किसी चिन्ता या शोक से ग्रस्त रहना ।[108]

---

106. दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीत स्निग्ध गुरुपिच्छिलाभिष्यान्दिहायनकथवकनैषधेकटमाष महामाष गोधमतिलपिष्ट विकृति दधिदुग्धकृशरा पायसेक्षुविकारानूपौदक मांसवसाविस मृणाल कसेरुक श्रृङ्गाटक मधुरवल्लीफल समशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।। — सु.सू. 21/23

107. सक्षेपतः क्रिया रोगः निदानम् परिर्वजनम् ।।

108. विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानिसंशोधनानि, रुक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरण जागरण नियुद्ध व्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादानानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानायुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, सुख प्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ।। छिन्ने वरोपुष्पफले प्ररोहा — च.वि. 6/18

Scanned by CamScanner

इनमें वमन क्रिया सबसे श्रेष्ठ उपाय है[109] क्योंकि यह कफ के मूल सहित आमाशय और उरःस्थल (छाती में प्रकुपित हुए कफ को जड़ से बाहर निकाल देती है। परन्तु यह वमन तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों से तैयार होना चाहिए।

♦ कफ क्षय के लक्षण और उपचार :

यदि शरीर में कफ की मात्रा कम (क्षय) हो जाए, तो शरीर में रूखापन, अन्दर से जलन, कफ के आश्रय स्थानों (फेफड़ों, हृदय, हड्डियों के जोड़ों और विशेषतः सिर में) खालीपन (शून्यता) महसूस होना, सन्धियों में ढीलापन, अत्यधिक प्यास, कमजोरी ओर नींद की कमी जैसे लक्षण प्रकट होने लगते है। कफ के स्वभाविक गुण और कर्मो में कमी आ जाती है।[110]

♦ साम और निराम कफ :

जब कफ आम से मिला होता है, तो अस्वच्छ (धुँघला-सा) तन्तुओं वाला (जिसमें तार जैसे बँधे हों) गाढ़ा गले में चिपकने वाला तथा दुर्गन्ध वाला होता है। यह कफ डकार को रोकता तथा भूख को कम करता है।[111] इसके विपरीत निराम (आम के बिना) कफ झाग वाला, जमा हुआ, हलका (जल में डालने पर फैलने वाला) और दुर्गन्ध से रहित होता है। यह गले में नहीं चिपकता तथा मुख को शुद्ध रखता है।

♦ कफ के भेद :

स्थान और कार्यो की भिन्नता के कारण कफ के भी पांच प्रकार माने गये हैं।[112] इन पांचों का उल्लेख निम्नलिखित तालिका द्वारा किया जा रहा है।

यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति ।
तथा हतेश्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ।। सु.चि. 33/13

मधु च (सतत मभ्यस्मानं) श्लेष्माणं जयति
रौक्ष्यात्तैक्ष्णात् कषायत्वाच्च ।
श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ।। च.वि. 1/14

109. वमनं श्लेष्महराणाम् (श्रेष्ठम्) ।। च.सू. 25/40
वमनं तु सवोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं
मन्यन्ते भिषजः । च.सू. 20/19

110. श्लेष्मक्षये रूक्षताअन्तदहि आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता
सन्धि शैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च ।। सु.सू. 15/11
तत्र (श्लेष्मक्षये) स्वयोनिर्वधनान्येव प्रतिकारः ।। सु.सू. 15/12

* ''भ्रमोद्वेष्टनानिद्राङ्गमर्दपरिप्लीष ले ददवदाहस्फोटनवेपन धूमायन सन्धि शैथित्य हृदयद्रव श्लेष्माशय शून्यता दिभिः श्लेष्मा ।।'' अ.सं.सू. 21/9

111. आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते ।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविधातकृत ।।

112. फेनवान पिण्डितः पाण्डुर्निः सारोऽगन्ध एव च ।
पक्वः स एवं विज्ञेयश्चेवान् वक्त्रशुद्धिकृत ।। अ.ह.सू. 13/27-28 के मध्य प्रक्षेप

Scanned by CamScanner

कफ के भेद व कार्य[113]

	कफ का भेद	आश्रय स्थान	सामान्य कार्य	कफ प्रकोप के कारण होने वाले रोग
1.	क्लेदक	आमाशय	भोजन को क्लिन्न (गीला) करना अतः भोजन पाचन में सहायक।	मन्दाग्नि (पाचन शक्ति की दुर्बलता), शरीर में भारीपन, प्रतिश्याय, हल्लास (जी मिचलाना)।
2.	अवलम्बक	उरस्थल	अन्नरस के साथ मिल कर त्रिक (ग्रीवा व बाहु की अस्थियों) हृदय व फुफफुस को कार्य करने की क्षमता प्रदान करना।	आलस्य।
3.	बोधक	जिव्हामूल व कण्ठ	स्वाद का बोध (ज्ञान) कराना।	स्वाद में गड़बड़।
4.	तर्पक	शिर	ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण (पोषण) करना।	स्मृतिनाश तथा ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं में शिथिलता।
5.	श्लेषक	अस्थि, सन्धियां	सन्धियों को जोड़ना व चिकना बनाना।	जोड़ों (सन्धियों) में दर्द एवं उनके कार्य में शिथिलता।

6. प्रकृति को पहचानें

आयुर्वेद की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति के स्वास्थ्य और रोगों की चिकित्सा में उसकी प्रकृति का विशेष योगदान रहता है। क्योंकि प्रकृति के आधार पर ही एक स्वस्थ व्यक्ति अपने अनुकूल आहार विहार को चुन सकता है और इसी के आधार पर रोगी को औषधि प्रदान की जाती है। प्रकृति का निश्चय किसी व्यक्ति की शारीरिक बनावट स्वभाव, चारित्रिक विशेषताओं आदि को देख कर किया जाता है। वस्तुतः इस प्रकृति का निर्धारण जन्म से पहले ही हो जाता है।

यह सार्वभौमिक नियम है कि बच्चे का जन्म माँ के गर्भाशय में अण्डाणु के साथ शुक्राणु के मिलने से होता है, इसके पश्चात भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) का विकास होता है। शुक्राणु और अण्डाणु के संयोग के समय, जो दोष (वायु, पित्त या कफ) विद्यमान होते हैं, उन्हीं के आधार पर बच्चे की शरीर की बनावट, उसका स्वभाव तथा मानसिक और चारित्रिक गुणों का विकास होता है। इन गुणों और विशेषताओं को ही आयुर्वेद में 'प्रकृति' कहा

---

113. अवलम्बकक्लेदबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा ।
स तूरस्थः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्न वीर्येण च
सह हृदयस्य च शेषणां च श्लेष्मस्थानानां
तत्रस्थ एवोदकर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते ।
अमाशयस्थितोन्नसङ्घातस्य क्लेदनात्क्लेदकः ।
रसनास्थ सम्यग्रसबोधनाद्बोधकः ।
शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात् तर्पकः ।
पर्वस्थोऽस्थिसन्धिश्लेषात् श्लेषक इति ।।

अ.स.सू. 20/6

Scanned by CamScanner

जाता है।[114] यदि इस अवस्था में तीनों दोष सम अवस्था में हैं, तो स्वस्थ बच्चे का जन्म होता है। यदि तीनों गुण बहुत अधिक असन्तुलित (विषम) हैं, तो इससे गर्भ ठहरेगा नहीं या गर्भ ठहरने पर भी भ्रूण का विकास नहीं होगा या विकास होने पर उसमें कोई न कोई विकार अवश्य होगा। यदि तीनों में कोई एक दोष अधिक मात्रा में विशेष सीमा तक विद्यमान है तो उस दोष के अनुसार ही बच्चे के गुण कर्म, स्वभाव और शारीरिक रचना होगी। यदि दो दोषों की अधिकता है, तो दोनों के गुणों का मिश्रण होगा और बच्चे के स्वभाव, आदि भी उसी के अनुरूप बनेंगे। इस आधार पर सात प्रकार की प्रकृतियाँ मानी गई है[115] :

1. वात–प्रकृति **2. पित्त–प्रकृति**

3. कफ–प्रकृति **4. वात–पित्त–प्रकृति**

5. पित्त कफ प्रकृति **6. वात–कफ–प्रकृति**

7. सम–प्रकृति

यहाँ यह तथ्य ध्यान रखने योग्य है कि जन्म के समय व अवस्था, समय आदि के अनुसार दोषों में वृद्धि या प्रकोप तो होता रहता है, परन्तु उसकी मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। एक विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति में उस विशेष दोष का प्रकोप बहुत जल्दी हो जाता है अर्थात् वात-प्रकृति के मनुष्य में थोड़ी सी भी अनियमितता से वायु एकदम बढ़ जाती है, तो कफ प्रकृति के मनुष्य में कफ, और पित्त-प्रकृति के मनुष्य में पित्त एकदम प्रकुपित हो जाता है । वस्तुत:[116] इस प्रकृति के निर्माण में दोषों के अतिरिक्त निम्नलिखित तत्त्व भी गौण रूप से सहायक होते है:

1. शुक्राणु और अण्डाणु की अवस्था
2. ऋतु की प्रकृति (गुण, कर्म आदि) और गर्भाशय के अन्दर का वातावरण,
3. गर्भावस्था के दौरान माँ द्वारा अपनाया गया आहार-विहार (खान-पान और अन्य आचरण)।
4. भ्रूण का संयोजन (मिलाने) करने वाले महाभूतों की विशेषताएँ, गुण और कर्म ।

ये सब तत्त्व होने वाले बच्चे की जाति (जैसे ब्राह्मण में पवित्रता, विद्वत्ता आदि, क्षत्रिय में वीरता, आदि) पारिवारिक विशेषताओं, स्थान

---

114. शुक्रशोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कट: ।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं श्रृणु।। सु.शा. 4/62
कालदयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्त: प्रकृतिजनका भवान्तीति तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगत दोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शित: ।। चक्रपाणि
प्रकृति जन्मप्रभृति वृद्धौ वातादि: ।। चक्रपाणि

115. सप्त प्रकृतयो भवन्ति –
दोषै: पृथग् द्विशै: सम्स्तैश्च ।। सु.शा. 4/61

116. एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेननिकैन वा समनुबद्धयन्ते,
तेन तेन दोषेण गर्भोऽनु बद्धयते,
तत: सासा दोषकृतिरूच्यते मनुष्याणांगर्भादिप्रवृता ।
तस्माच्छश्लेष्मला: प्रकृत्या केचित्,
पित्तला: केचित वातला: केचित् संसृष्टा केचित् ।। च.वि. 8/95

Scanned by CamScanner

(जैसे पर्वतीय क्षेत्र, सीमा क्षेत्र आदि), समय (ऋतु विशेष का माता पिता पर होने वाला प्रभाव), आयु (माता-पिता, विशेषकर माता की आयु) तथा बच्चे (जीव) की अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं (अपने पूर्व के संस्कारों आदि) से भी प्रभावित होता है।[117]

चूंकि अनेक प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित होने पर भी प्रकृति का मूल कारण दोष ही है, अतः इसका नाम वायु आदि के आधार पर रखा गया है। वैसे तो तीनों दोषों के गुणों और उनका शरीर पर होने वाले प्रभाव का उल्लेख पहले किया जा चुका है, अब यहाँ तीनों प्रकृतियों (वात-प्रकृति, पित्त-प्रकृति और कफ-प्रकृति) वाले की मुख्य विशेषताएँ बताई जा रही है।

विभिन्न प्रकृतियों की विशेषताएँ

	वात प्रकृति[118]	पित्त प्रकृति[119]	कफ प्रकृति[120]
1.	शुष्क और खुरदरी त्वचा	शुष्क और कोमल त्वचा तथा त्वचा का सफेद या पीला रंग	चिकनी, कोमल, मुलायम त्वचा गोरा रंग
2.	दुर्बल शरीर	मध्यम बल वाला शरीर	गठीला और मांसल शरीर शक्तिमान
3.	छोटा क़द	दुर्बल मांसपेशियाँ	और स्थूल (मोटा) शरीर
4.	बालों, नाखूनों दाँतों, पैर के तलुओं और हथेलियों में खुरदरापन	सन्धियों में शिथिलता	दृढ़ सन्धियाँ
5.	कण्डराओं और शिराओं का उभरा होना	अधिक काले तिल	माथा, छाती और भुजाएँ उभरी हुई
6.	शरीर के विभिन्न अंगों का फटा होना।	चेहरे तथा दूसरे अंगों में बहुत अधिक गर्मी का अनुभव होना	
7.	शरीर, दाढ़ी तथा सिर में बालों की कमी	कम मात्रा में तथा लालिमायुक्त भूरे बाल	घने घुंघराले और काले बाल
8.	किनारे से टूटे (दो मुखी) और भूरे बाल	समय से पूर्व त्वचा में झुरियाँ पड़ना और बालों का पकना, गंजापन	
9.	सूखे (शुष्क) और तन्द्रायुक्त या निद्रालु नेत्र	छोटे और लालिमायुक्त नेत्र, कम पलकें	बाहरी किनारों पर लाल रंग लिये हुए सफेद नेत्र, बड़े और सुन्दर नेत्र
10.		उत्साह की अधिकता	घनी पलकें
11.		शरीर से दुर्गन्ध आना	
12.		नाखूनों, नेत्रों, जिह्वा, तालु पैर के तलुवों, हथेलियों एवं अन्य अंगों का काले जैसा रंग।	

Scanned by CamScanner

मिश्रित प्रकृति वालों (जैसे - वात पित्त-प्रकृति, पित्त कफ-प्रकृति आदि) में दोनों प्रकृतियों की विशेषताएँ मिली होती हैं।[121] वात प्रकृति वाले व्यक्ति में वातिक रोग, पित्त प्रकृति वाले में पैत्तिक रोग, तथा कफ प्रकृति वाले में कफज रोग शीघ्रता से और आसानी से आक्रमण करते हैं। विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति को चाहिए कि उस विशेष दोष को बढ़ाने वाले आहार विहार का सेवन न करे। इसके विपरीत उस आहार विहार का सेवन करे जो उस दोष को शान्त करने वाला हो।

प्राय: देखा जाता है कि बल, जीवन (आयु की अवधि), संतान, ज्ञान, जीवन की सुविधाएं और धन आदि वात प्रकृति वाले व्यक्ति को कम मात्रा में, पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को मध्यम मात्रा में तथा कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को उत्तम मात्रा में होती है।

अपनी प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त करना जहाँ स्वयं व्यक्ति के लिए उपयोगी है वहीं चिकित्सक के लिए भी रोगी की प्रकृति को जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि किसी भी रोग का उपचार करते समय प्रकृति को ध्यान में रख कर ही औषधि, आहार-विहार आदि का निर्देश दिया जाता है। रोग के लक्षण एक समान होने पर जहाँ पित्त प्रकृति के व्यक्ति को शीतल गुण, वीर्य, विपाक वाली औषधियाँ व आहार आदि लेने का निर्देश चिकित्सक देता है, वहीं कफ प्रकृति के व्यक्ति को उष्ण गुण, वीर्य विपाक वाली औषधियाँ प्रदान करने का निर्देश देता है क्योंकि ऐसी औषधियाँ उस उस रोगी के लिए अधिक अनुकूल एवं लाभदायक होती हैं जबकि पित्त प्रकृति के व्यक्ति को गर्म औषधियाँ तथा कफ प्रकृति व्यक्ति को ठण्डी औषधियाँ ग्रहण कराने से रोग में वृद्धि अथवा कोई उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कुनैन (जिसका प्रयोग मलेरिया में किया जाता है) कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है। वात प्रकृति वाले के लिए अनुकूल नहीं हो सकती, परन्तु पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति में उपद्रव पैदा कर देती है। इस प्रकार प्रकृति का ज्ञान आयुर्वेदीय चिकित्सा का अत्यन्त आवश्यक अंग है।

---

117. प्रकोपे वाडन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वाभावेन जायते तु गतामुषः ।। सु.शा. 4/77

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।।
तद्वत्प्रकृवमो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ।। सु.शा. 4/78

118. अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः
आकाशचारी स्वपनेषु, वात प्रकृति को नरः ।। शा.पू. 6/20

119. अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमन स्वेदी च रोषणः ।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा, पित प्रकृतिको नरः ।। शा.पू. 6/21

120. गम्भीर बुद्धिः स्थूलाङ्ग स्निग्धकेशो महाबलः ।
स्वप्ने जलाश्या लोकी, श्लेष्म प्रकृति को नरः ।। शा.पू. 6/22

121. द्वयोर्वा तिसृणांवापि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजो वैद्यः प्रकृतीरभिनिद्विशेत् ।। सु.शा. 4/76

Scanned by CamScanner

7. सात धातुएँ

शरीर के निर्माण करने वाले तत्वों में धातुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर के मौलिक ऊतक तत्त्व (tissue-elements) हैं। चूंकि ये तत्त्व शरीर का पोषण और धारण करते हैं, तथा संयुक्त रूप से शरीर के मूलभूत रचना में सहायक होते है, अतः धातु कहलाते है।[122] ये संख्या में सात है :

1. रस अथवा लसीका (Chyle या Plasma)
2. रक्त का हीमोग्लोबीन अंश (Blood)
3. माँस (muscle tissue) तन्तु
4. मेद या वसा (fat tissue) चर्बी या चिकनाहट
5. अस्थि या हड्डी (Bone-marrow) अस्थि-तन्तु और कण्डराएँ
6. मज्जा या अस्थि मज्जा (Bone-marrow), हड्डी के अन्दर का भाग
7. शुक्र (पुरुषों में) शुक्राणु (sperm), एवं स्त्रियों में अण्डाणु या (ovum)

इन सातों धातुओं का निर्माण भी दोषों की भाँति पाँचों महाभूतों के मिश्रण से होता है, परन्तु सभी धातुओं में एक-एक महाभूत की प्रधानता होती है।[123]

धातुः रस रक्त मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र
प्रधान महाभूत जल तेजस् पृथ्वी पृथ्वी वायु
(अस्थि निर्माण) अग्नि जल आकाश (छिद्र खोखलापन) जाठराग्नि (पाचक-अग्नि)[124] से जो भोजन का पाचन होता है उसी क्रिया के फलस्वरूप इन धातुओं की उत्पत्ति होती है क्योंकि इस पाचक अग्नि (digestive enzymes) से भोजन दो भागों में बंट जाता है- सार और किट्ट (मल)। इनमें सार भाग ही व्यान वायु की सहायता से सारे शरीर में पहुंचता है, जिससे रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण और पोषण होता है अर्थात् भोजन के सार भाग से सबसे पहले रस धातु का निर्माण होता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से

---

122. देहधारणाद् धातवो.
धातुवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्चन्ते ।।
धातवो रस रक्त मांस मेदोयञ्जशुक्राणि तेषामपि शरीरधारकत्वात् ।।
रसासृङ्मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्राणि धातवः । सप्त दृष्याः।।

च.सू. 28/4 पर चक्रपाणि
-अ.सं.सू.1 में इन्दुस
सु.चि.5/21 पर हल्हण
अ.ह.सू. 1/13

123. तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पितस्याग्निः कफस्यापः रक्तं तेजाजलात्मंक, मांस पार्थिवं, मेदा जलपृथिव्यात्मकय्, अस्थि पृथिव्यतिलात्यंक, मज्जा शुकं चाप्यं ।

चक्रपाणि
सु.स् 14/11 हल्हण

124. तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसःप्रणियिता।
सप्तभिर्देहधातारो धातवो दिविध पुनः ।
यथास्वभग्निभिः पांक यान्ति किट्टप्रसादवत् ।।
रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थनो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।।

च.चि. 15/15-16

रसाद्रक्तं ततो मांस मांसन्मेदः प्रजायते ।
मेदेसाऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्र तु जायते ।।

सु.स्. 14/10

Scanned by CamScanner

मज्जा, मज्जा से शुक्र का निर्माण और पोषण होता है। दोषों की तरह यह धातु भी शरीर में एक निश्चित मात्रा में रहती है जब इनमें विषमता आती है, तो शरीर में विकार उत्पन्न होते है।

इन धातुओं में विषमता दोषों की विषमता से आती है। जब दोष प्रकुपित होकर किसी धातु को प्रभावित करता है, तो रोग की उत्पत्ति होती है। चूंकि दोष धातु को दूषित करता है, अतः धातु को दूष्य (दूषित करने वाला) कहा जाता है। जिस धातु के दूषित होने से रोग की उत्पत्ति होती है, वह रोग उसी नाम वाला कहलाता है। जैसे - रस के दूषित होने से रसज रोग, रक्त से रक्तज रोग, मांस से मांसज रोग, मेद से मेदोज रोग, अस्थि से अस्थिज रोग, मज्जा से मज्जा गत रोग, तथा शुक्र से शुक्रज रोग।[125]

इन सभी धातुओं के स्वाभाविक गुण कर्मों सहित इनके विकारों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है:

♦ रस धातु :

सामान्य कर्म : इसका मुख्य कार्य प्रीणन अर्थात् बढ़ाना है। यह सन्तुष्टि और प्रसन्नता प्रदान करता है तथा अपने अगले धातु रक्त का पोषण करता है।[126]

वृद्धि के लक्षण : कफ : प्रकोप के समान लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे-पाचन शक्ति की कमी, जी मिचलाना, अधिक लार टपकना, वमन (उलटी), आलस्य, भारीपन, अंगों का सफेद रंग, शीतलता, अवयवों में शिथिलता, श्वास, खाँसी और अधिक नींद।[127]

क्षय के लक्षण : मुख तथा दूसरे अंगों में शोष (सूखना), थकान, रूक्षता (रूखापन) अधिक प्यास, शब्द की असहिष्णुता (ऊँची आवाज सहन न कर पाना), हृदय की तेज़ गति, हृदय में दर्द, आमाशय, हृदय आदि अंगों में खालीपन महसूस होना, ग्लानि तथा सांस में तेज़ी, और अन्य धातुओं में कमी।[128]

---

125. दोष दूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा-रसजोऽयं, शोणितोजऽयं, मांसजेऽयं, मेदोजोऽयं अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति । सु.स. 24/8

126. रसस्तुष्टि प्रीणंन रक्त पुष्टि च करोति, सू.सू. 15/7
रसे रोदयं श्रमः शोषा ग्लानिः शास्दासहिष्णुता (अरुणदत्त)

127. रसोऽति वृद्धौ हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति ।। सु.स. 15/19
श्लेष्मा (वृद्धो)ऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ।
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वंश्वासकासातिनिद्रताः।।
रसोऽपि श्लेष्मवद्रक्तं विसर्पप्लीहाविद्रधीन् - अ.ह.स. 11/7-8
आलस्य अनुत्साहः । गौरवं दुर्वहाङ्गत्वम् । शैत्यं शीतस्पर्शम् ।
श्लथा ङ्गत्वम् अवयव शैथिल्यम् ।। अरूणदत्त

128. घदृते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवृति शूल्यते । च.सू. 17/64
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ।। सु.स. 15/13
रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च ।। अ.ह.स. 11/17
रसे (क्षीणे) रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता ।।

Scanned by CamScanner

रस धातु के प्रकोप और क्षय के कारण कफ दोष के प्रकोप और क्षय के कारणों के समान ही है।

रसज रोग : रस की वृद्धि से भूख न लगना, अरुचि (कुछ अच्छा न लगना), आस्यवैरस्य (मुँह का बुरा स्वाद), अरसज्ञता (स्वाद का पता न लगना) हल्लास (जी में पीड़ा), ज्वर, मूर्च्छा, स्रोतों में रुकावट, नपुंसकता, पीलापन, दुर्बलता, दुबलापन, अग्निनाश (पाचनशक्ति की कमी), त्वचा पर जल्दी झुर्रियां पड़ना, बालों का शीघ्र पक जाना।[129]

♦ रक्त धातु :

सामान्य कर्म : जीवन प्रदान करने वाला और प्राणों को धारण करने वाला है। यह रंग को निखारता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी रक्त के कारण ही सम्भव है। रक्त मांस धातु की पुष्टि करता है।[130]

वृद्धि के लक्षण : शरीर की त्वचा और नेत्रों में लालिमा तथा रक्तवाहिनियों की पूर्णता (परिणामतः उच्च रक्तचाप) के लक्षण दिखाई देते है।[131]

रक्त की वृद्धि होने पर रक्तमोक्षण और विरेचन कर्म का प्रयोग करना चाहिए।[132]

क्षय के लक्षण : रक्त वाहिनियाँ शिथिल और क्षीण हो जाती हैं। अग्निमान्द्य, वायु का प्रकोप तथा त्वचा रूक्ष, कान्तिहीन व सख्त होती है। रोगी को अम्ल और शीतल पदार्थ रुचिकर लगते है।[133]

जिन कारणों से पित्त का प्रकोप और क्षय होता है, उन्हीं कारणों से रक्त का भी प्रकोप और क्षय होता है।

---

129. अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता । हल्लासो गौरवं तन्द्रा सांङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ।।
पाण्डुत्वं स्त्रोतसां रोधः कैल्व्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽसेरथाकालं बलयः पलितानि च । रसप्रदोषजा रोगाः ।। च.सू. 27/9-10

130. रक्तं वर्णप्रसादं मांस पुष्टि जीवयति च । च.सू. 14/21
तेषां (धातूनां) क्षयवद्धी शोणितनिमित्ते ।।
तद्धिशुद्धं हि रूधिरं बलवर्णसुखायुषा । च.सू. 24/4
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ।।
धातूनां पूरंण वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।। सु.शा. 7/14
स्वाः शिराः सञ्जरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्याम् गुणानपि ।।
देहस्य रूधिरं मूलं रूधिरेणैव धार्य्यते । सु.सू. 14/44
तस्माघत्नेन सरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ।।

131. रक्तं रक्ताङ्गक्षितां सिरापूर्णत्वं चापादयति ।।

132. कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्त पित्तहरीं क्रियाम् । च.सू. 24/18
विरेकमुपवासंच स्त्रावणं शोणितस्य च ।।

133. धातुक्षयात् स्त्रुते रक्ते मन्दः सजांयतेऽनलः ।
पवनश्च परं कोप यति ।।

Scanned by CamScanner

रक्तज रोग :

कुष्ठ (कोढ़ आदि चमड़ी के रोग), विसर्प (लाल चकते या फफोले), पिडका (छोटे फोड़े फुंसियाँ), रक्तपित्त (शरीर के अंगों से रक्तस्राव), रक्त प्रदर (स्त्री के जनन अंगों से रक्तस्राव), मेढ्रपाक (लिंग का पकना), मुखपाक (मुँह में छाले आदि होना), प्लीहा वृद्धि (प्लीहा के आकार में वृद्धि), गुल्म (पेट में गोला), वद्रधि (बड़ा फोड़ा), नीलिका (तिल), कालक (काले तिल), झाइयां, दाद, चर्मदल (एक प्रकार की चमड़ी की बीमारी), श्वित्र (सफेद दाग या फुलबहरी), पामा (खुजली), कोठ (लग्न दाने, छाले आदि), अस्रमण्डल (लाल चकते), कामला (पीलिया), उपकुश (एक प्रकार का दांतों का रोग), वातरक्त (जोड़ों का एक प्रकार का रोग) और मूत्र में लालिमा होना।

इन रोगों की चिकित्सा के लिए रक्तमोक्षण (शरीर से रक्त स्राव कराना) तथा विरेचन श्रेष्ठ उपाय है।[134]

♦ मांस धातु :

सामान्य कर्म : मांस धातु का मुख्य कार्य है : लेपन अर्थात् उपदेह या मकान में सीमेंट या मिट्टी के लेप की तरह शरीर का लेपन करना। यह शरीर को पुष्टि प्रदान करता है। इससे अगली धातु मेद (चर्बी) का निर्माण होता है।[135]

वृद्धि के लक्षण :

गर्दन, नितम्बों (hips) गालों, होठों, जंघाओं, बाहुओं, टाँगों, पिण्डलियों, पेट, छाती, आदि में मांस बढ़ने से मोटापा आ जाता है और शरीर में भारीपन आता है।[136]

मांस की वृद्धि होने पर मांसहर क्रियाओं (जैसे- संशोधन क्रिया, रात्रि जागरण आदि) को अपनाना चाहिए और घी, तेल, वसा आदि स्निग्ध पदार्थो और चीनी व उससे बनी मिठाइयों आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।[137]

क्षय के लक्षण : ''मांस की कमी से उपर्युक्त अंगों में क्षीणता (दुबलापन), शरीर में रूक्षता (रूखापन), थकावट, चुभने की सी पीड़ा, धमनियों (रक्तवाहिनियों) की क्षीणता आदि उत्पन्न होते हैं।[138]

मांस वृद्धि के लिए प्रोटीन युक्त पदार्थ, जैसे दूध, दूध से बने पदार्थ, मूंग, चना आदि

---

134. कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्त पित्तहरी क्रियाम् ।
विरेकमुपवाससश्च स्त्रावणं शोणितस्य च ।। — च.सू. 24/18

135. मांस शरीरपुष्टि मेदसश्च (पुष्टिं करोति) ।। — सु.सू. 15/7 (1)

136. मांस (अतिवृद्धं) स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरूबाहुजङ्घानु
वृद्धिं गुरुगात्रतां च (आपादयति) ।। — सु.सू. 14/15

137. तेषां यथास्वं सशोधनं क्षपणञ्च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत । — सु.सू. 15/22

138. मांसक्षये स्फिग्गण्डोष्ठोपथोरुवक्षः कक्षापिण्डिकोदरग्रीवा
शुष्कतारौक्ष्य तोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च ।। — सु.सू. 15/13
मासक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ।। — च.सू. 17/65

Scanned by CamScanner

धान्यों के ताजे अंकुर लेने चाहिए। मांसाहारी लोगों के लिए मांस और मांस रस उपयोगी है।

मांसज रोग : ऊरुवृद्धि (जंघाओं के मांस में वृद्धि), गलगण्ड गण्डमाला (गले की ग्रन्थि में वृद्धि), जिह्वा, तालु, कण्ठ, आदि में अधिमांस (मांस के ऊपर मांस) गलशुण्डिका (टान्सिल्स), अर्बुद (ट्यूमर), कील (मस्से), उदरवृद्धि (पेट का बढ़ना), गण्ड (गिल्टियाँ), गलशालूक (भोजननली-ग्रसनी-का एक रोग) पूतिमांस (मांस का सड़ना), अलजी (चमड़ी का एक रोग)।[139]

चिकित्सा : मांसज रोगों की चिकित्सा के लिए शल्य कर्म (चीरफाड़ आदि), क्षार कर्म (alkalies) और अग्नि कर्म (Cauterization) उपयोगी है।

♦ मेद धातु :

सामान्य कर्म : इसका मुख्य कार्य स्नेहन अर्थात् शरीर में स्निग्धता (चिकनाहट) और उष्णता प्रदान करना है। यह हड्डियों में दृढ़ता और स्थिरता लाता है। इससे अगली धातु 'अस्थि' का निर्माण होता है।[140]

वृद्धि के लक्षण : शरीर में बहुत अधिक चिकनाहट और मांस वृद्धि जैसे लक्षण (गण्डमाला, उदरवृद्धि, आदि) उत्पन्न होते है। कास, थोड़े से परिश्रम से ही श्वास और थकान, नितम्ब, स्तन और पेट का लटकना, शरीर में से दुर्गन्ध आना आदि।[141]

मांस वृद्धि होने पर जो सावधानियाँ उल्लिखित है, उन्हें अपनाना चाहिए।

क्षय के लक्षण : सन्धियों में टूटने की सी पीड़ा और शून्यता की अनुभूति, मुरझाई सी आँखें, त्वचा, बालों और कान आदि अंगों के मार्गो में रूखापन, थकान, उदर व शरीर के दूसरे अंगों का पतला होना, कमर में स्पर्श का ज्ञान न होना, प्लीहा वृद्धि। रोगी की इच्छा वसायुक्त मांस का सेवन करने की होती है।[142]

कृशता (दुर्बलता) दूर करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।[143]

मेदज रोग : मुंह का मीठा स्वाद, हाथ-पैरों में जलन, बालों का उलझा होना या जटाएँ बन जाना, मुख, कण्ठ व तालु सूखना, आलस्य,

---

139. अधिमांसा र्बुदाशोंऽधिजिह्वोपजिह्वोपकगलशुण्डिकालनीमांससघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजा:।। सु.सू. 25/12
शोणित क्षये त्वक्पारुष्यमम्ल शीत प्रार्थना सिरा शैथिल्यंचा ।। सु.सू. 15/13
परुषा स्फुटिताम्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये ।। च.सू. 17/64

140. मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्यां च (करोति) ।। सु.सू. 15/7 (1)

141. मेदः (अतिवद्वं) स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धि कासश्वासादीन दौर्गन्ध्यंच।। सु.सू. 15/19

142. सधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वचोदरस्य च।। च.सू. 17/66

143. तत्रापि स्वयोनवर्धनद्रव्योपयोग:।। सु.सू. 6/10
मेदो मेदसा (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्य: शरीरधातुभ्य:)।। च.शा. 6/10

Scanned by CamScanner

बहुत अधिक प्यास, शरीर से मल पदार्थो (पसीना, आदि) का अधिक मात्रा में निकलना, शरीर के छिद्रों से अधिक स्राव, अंगदाह (शरीर में जलन), शरीर का सुन्न पड़ना आदि।[144]

उपचार : जब रोग मेद धातु की अधिकता से हों, तो स्थूलता (मोटापे) की अर्थात् अपतर्पण (उपवास आदि जिससे पतलापन आये) से चिकित्सा करनी चाहिए और मेद की कमी से उत्पन्न रोगों में कृशता (दुबलेपन) की संतर्पण चिकित्सा (अर्थात् वसा एवं स्निग्ध पदार्थो आदि का सेवन) करना चाहिए।

♦ अस्थि धातु :

सामान्य कर्म : शरीर को धारण करना। इसी के आधार पर शरीर व उसके अंगों के आकार का निर्माण होता है और शरीर खड़ा रहता है।[145]

वृद्धि के लक्षण : हड्डियाँ सामान्य आकार से अधिक मोटी और बढ़ी, बालों और नाखूनों में शीघ्र वृद्धि तथा अधिदन्त (अधिक दाँत)।[146]

क्षय के लक्षण : अस्थियों और सन्धियों में दर्द, सुन्नता तथा रूखापन, दातों और नाखूनों का टूटना व रूखापन, बालों, लोम (छोटे बालों) और दाढ़ी के बालों का झड़ना, तथा सन्धियों में ढीलापन।[147]

अस्थिजन्य रोग : अध्यस्थि (अधिक अस्थि या अस्थि में अधिक वृद्धि), अधिदन्त (दाँतों का असामान्य रूप से बढ़ना) हड्डियों और दातों में तेज़ पीड़ा, बाल, लोम और श्मश्रु (दाढ़ी) के रोग तथा नाखूनों के विकार।[148]

उपचार : अस्थि वृद्धि होने पर तिक्त द्रव्यों से तैयार बस्ति देनी चाहिए। अस्थिक्षय से होने वाले

---

144. ग्रन्थि वृद्विगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठ प्रकोप मधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेद प्रभृतयो मेदो दोषजाः।। सु.सू. 24/9

145. अभ्यन्तरगतै सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिना ध्रुवम् ।। सु.शा. 15/23

यस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मासेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ।। सु.शा. 5/21

146. अस्थि (अतिवृद्धं) अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्ताश्च (आपादयति) ।। सु.सू. 15/19 डल्हण

147. चकारात् केशनख्सोरति वृद्धिर्ज्ञेया ।।
अस्थिक्षयेऽस्थिशूलदो दन्तनखभङ्गो रोक्ष्यं च ।। सु.सू. 15/13
दन्तभङ्गोऽपि तत्प्रभवास्थिक्षयादेव ।। (चक्रपाणि)
रौक्ष्यं देहस्य दन्तनखानां च ; दन्तादीना मस्थिमयत्वाद् भङ्गः ।। (डल्हण)
केशलोमनखशमश्रु द्विजप्रपतनं श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिंङ्ग. सन्धिशैथिल्यमेव च ।। च.सू. 17/67
बालः सवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति ।
स फस्क इति विज्ञेयः ।। का.चि.

148. अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता ।
केशलोमनखशमश्रु दोषाश्चोस्थिप्रदोषजाः ।। च.सू. 28/16

Scanned by CamScanner

रोगों में दूध, मट्ठा, पनीर, तक्र (दही की लस्सी) सूखे मेवे, मूंग चना आदि दालें, ताज़े फल व पत्ते वाली सब्जियाँ, विटामिन डी एवं सूर्य की रोशनी, तिक्त द्रव्यों से पका दूध और घी उपयोगी है। मांसाहारी लोग अस्थि के समान पदार्थ (जैस - कछुए की पीठ की भस्म, आदि) ले सकते है।[149]

♦ मज्जा धातु :

सामान्य कर्म : सभी प्रकार की अस्थियों के अन्दर उनके खाली स्थानों और छिद्रों में मज्जा धातु भरी रहती है। दूसरे शब्दों में, इस धातु का कार्य अस्थियों का स्नेह से पूरण करना (भरना) है। इस प्रकार यह शरीर में स्निग्धता और बल की वृद्धि करता है।[150]

वृद्धि के लक्षण : सारे शरीर और विशेषकर नेत्रों में भारीपन तथा हड्डियों के जोड़ों में बड़े बड़े और कष्टसाध्य (कठिनाई से ठीक होने वाले) फोड़े फुसियाँ होना।[151]

क्षय के लक्षण : हड्डियों में खोखलापन, हड्डियों और जोड़ों का टूटना, आकार में छोटा और दुर्बल, चक्कर आना तथा आंखों के आगे अंधेरा छा जाना एवं शुक्र धातु की कमी।[152]

मज्जा जन्य रोग : अंगुलियों के जोड़ों में दर्द व उनके अन्दर फोड़े होना, चक्कर, मूर्च्छा (बेहोशी) तमस् (आँखों के आगे अन्धेरा छा जाना)।[153]

उपचार : मज्जा का क्षय होने पर मज्जा का पान करना चाहिए।

♦ शुक्र धातु :

सामान्य कर्म : शुक्र अन्तिम धातु और सब धातुओं का सार माना जाता है। इसका प्रमुख कार्य गर्भोत्पत्ति अर्थात् सन्तान-उत्पत्ति में सहायता करना है। धैर्य, शूरता, निडरता, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण (पुरुष का स्त्री और स्त्री का पुरुष के प्रति), उत्साह, पुष्टि, काम का वेग,

---

149. वस्तयः क्षीरसर्पीषि तिक्तकोपहितानि च ।। — च.सू. 28/26
अस्थिक्षयज्ञान् वस्तिभिः तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिभिः ।। — अ.संग्रह

150. मज्जा प्रीति (प्रीति) स्नेंह बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थनां च करोति — सु.सू. 15/7
मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च,
महत्सु च मज्जा भवति ।।
स्थूणास्थिषु विशेषण मज्जा त्वभ्यन्तरीश्रतः ।।

151. मज्जा (ऽविवृद्वः) सवह्नि.नेत्रगौरवं च (आपादयति) ।। — सु.सू. 15/19
तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूल मूलारूर्जन्यनेत्राभिष्यन्द प्रभृतयो यज्जदोषजाः ।। — सु.सू. 24/6

152. मज्जक्षयऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनि स्तोदोऽस्थिशून्यता च । — सु.सू. 15/13
शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघुनि च ।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जानि देहिनाम् । — च.सू. 17/68

153. रुक्र पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसतथा ।
अरूषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ।।
मज्जाप्रदोषात् ।। — च.सू. 28/17

Scanned by CamScanner

सम्भोग के समय सुखच्युति (आसानी से वीर्य का विसर्जन), आदि इसके अन्य कार्य हैं।[154]

वृद्धि के लक्षण : शुक्र की अधिक मात्रा में स्राव, कामवासना की अधिकता तथा शुक्राश्मरी (शुक्रमार्ग में पथरी) के लक्षण दिखाई देते हैं।[155]

क्षय के लक्षण : दुर्बलता, कार्य करने का सामर्थ्य न होना, मुख सूखना, रक्त की कमी (anaemia), थकान, नपुसंकता तथा सम्भोग के समय शुक्र का स्राव न होना। अण्डकोशों में अत्यधिक पीड़ा, लिंग में जलन।[156]

शुक्रज रोग : नपुंसकता, अहर्षण (मैथुन की इच्छा का अभाव), रोगी संतति (रोगी बच्चे की उत्पत्ति), क्लीव-संतति (नपुसंक बच्चे को जन्म देना), अल्पायु संतति (कम आयु वाले बच्चे को जन्म देना) तथा विरूप संतति (अपंग या विकृत बच्चे को जन्म देना)।[157]

उपचार : शुक्र की अधिकता होने पर अधिक सम्भोग तथा शुक्र को कम करने वाले (कटु, तिक्त रस वाले) पदार्थो का सेवन करना चाहिए तथा शुक्र की कमी होने पर वृष्य (शुक्र बढ़ाने वाले) पदार्थो और औषधियों (मधुर रस वाले) का सेवन करना चाहिए।

धातुओं की वृद्धि और क्षय : रस आदि सातों धातुओं की वृद्धि और क्षय पाचक अग्नि की स्थिति पर निर्भर करते हैं।[158] तेरह प्रकार की अग्नियों में सात धातु अग्नियाँ हैं। यदि ये धातु अग्नियाँ साम्यावस्था में होंगी, तो रस आदि धातुएँ भी सम अवस्था में रहेंगे।[159] यदि ये अग्नियाँ बहुत बढ़ी हुई (तीव्र) हैं, तो धातुओं का क्षय होने लगेगा क्योंकि तीव्र होने पर ये अग्नियाँ धातुओं का पाचन अधिक मात्रा में करेंगी। इसके विपरीत, यदि धातु अग्नियाँ मन्द

---

154. शुक्रं धैर्य च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्ष (करोति) बीजार्थञ्च ।। **सु.सू. 15/7**
धैर्य शौर्यं शूरत्वं, अत एवं क्लीवा अधीराः ।
देहबल मुत्साहोपचय लक्षणम् ।। **डल्हण**

155. शुंक्र (अतिवृद्वं) शुक्राश्मरीऽतिप्रादुर्भावं च (आपादयति) ।। **सु.सू. 15/8**

156. दौर्बल्य मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः ।
क्लैष्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीण शुक्रस्य लक्षणम् ।। **च.सू. 17/69**
शुक्रक्षये मेढ्रवृषण वेदनाऽशक्ति मैथुने चिराद्वा
प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्र दर्शनम् ।। **सु.सू. 15/13/ सु.शा. 4/12/13**

157. शुक्रस्य दोषात् क्लैव्यमहर्षणम् ।
रागि वा क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ।। **च.सू. 28/18**
न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्र हि दुष्टं सापत्यं सादंर बाधते नरम् ।। **च.सू. 28/19**
क्लैव्या प्रहर्ष शुकाश्मरी शुक्र दोषादयश्च तद्दोषजाः ।। **सु.सू. 24/7**

158. भौतिकाः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः ।
किवा, अप्रधान्यदन्यान्यकिविंत्कराणि नोक्तानि ।। **चक्रपाणि**

159. स्वस्थानस्य कायाग्नेरशां धातुषु संश्रिता।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातु वृद्धिक्षयोद्रवः ।। **अ.ह.सू. 11/34**

Scanned by CamScanner

(क्षीण) है तो इनसे धातुओं का पाचन ठीक प्रकार नहीं हो पाएगा, परिणामतः धातुओं की वृद्धि होगी। एक धातु की वृद्धि या क्षय होने पर उसके आगे वाली धातु में भी वृद्धि या क्षय के लक्षण दिखाई देंगे।[160] अतः धातु साम्य (धातुओं को सम अवस्था में रखने) के लिए धातु अग्नियों को सम अवस्था में रखना आवश्यक है।

8. ओजस्

उपर वर्णित रस धातु से लेकर शुक्र धातु के निर्माण की समस्त प्रक्रिया में एक सार तत्त्व उत्पन्न होता है, जो ओज कहलाता है।[161] यह ओज समस्त धातुओं का उत्कृष्ट तेज या सार माना गया है, चिकित्सकीय भाषा में इसे बल भी कहा जाता है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ फूलों के सार (पराग) से शहद एकत्र करती है,[162] ठीक उसी प्रकार पाचक पित्त और अग्नियाँ धातुओं के सार से ओज को एकत्र करती हैं। इसका पोषण भी धातुओं के समान आहार रस से ही होता है। यह शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी विशेष रूप से हृदय में रहता है[163] और हृदय से निकलने वाली धमनियों एवं उनकी शाखा प्रशाखाओं के माध्यम से सारे शरीर में फैल जाता है।

ओज स्निग्ध, सोम स्वरूप, रक्ताभ (लाली से युक्त), पीताभ (पीलापन लिए) व श्वेत वर्ण का होता है। यह दो प्रकार का माना गया है[164] 1. पर और 2. अपर । इसमें पर ओज की मात्रा आठ बिन्दु है और यह हृदय में रहता है। इसका पूर्णतः क्षय हो जाने से मृत्यु हो जाती है।[165] अपर

---

160. ''समदोषाः समाग्निश्च समधातुः मलक्रिया ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभीधीयते ।।'' **सु.सू. 15**

161. रसादीनां शुकान्तानां धातुनां यत्परं तेजस्तत्
खल्वोजस्वदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्र सिदान्तात् ।। **सु.सू. 15/23**

तदैव सर्वान् धातुननुप्रविष्टं तेषा प्रभावविशय -
मादधानं तत्तेज उच्यते ।। **अ.ह.सू. 11/37**

162. तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ।। **च.सू. 30/7**

तेन् भूलेन महता महामूला मता दश ।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ।।

163. भ्रमरैः फलपुल्पेभ्यो यथा सभ्रियते मधु ।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः सभ्रियते नृणाम् ।। **च.सू. 17/16**

164. रसवातादिमार्गाणां सत्वबुद्वीन्द्रियात्मनाम् ।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ।। **च.चि. 24/35**

165. प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृद्रयाश्रिताः इति
अर्धाज्जली परिमितस्यांजसो ध्मन्य एवं हृदयाश्रिताः स्थानम्

Scanned by CamScanner

ओज की मात्रा आधी अञ्जलि है और यह सारे शरीर में व्याप्त रहता है। इसके क्षय से बल उत्साह आदि की कमी और रोग उत्पन्न होते हैं।

♦ **ओज के कार्य व महत्त्व** : ओज से शरीर में कान्ति और बल उत्पन्न होता है। सभी धातुओं का सार होने के कारण ही इसके अभाव में धातु भी (चाहे वे सम अवस्था में हों) शरीर को धारण नहीं कर पाती।[166] यही सभी धातुओं को स्थिर रखता और उनका उत्तरोत्तर पोषण करता है। सभी शारीरिक, मानसिक, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य करने का सामर्थ्य तथा मन बुद्धि व अंहकार के संकल्प, आदि सभी कार्य इसी ओज के कारण सम्पन्न होते हैं। यह स्वर और वर्ण को अच्छा बनाता है। शरीर में रोग प्रतिरोधी शक्ति भी इसी ओज से उत्पन्न होती है। सुख, दुखः आदि द्वन्दों में धैर्य, उत्साह, आदि ओज से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में यह ओज प्राणों का आधार है।

कुछ विद्वान ओज को उपधातु भी मानते हैं क्योंकि यह रस आदि धातुओं के समान शरीर को धारण तो करता है, परन्तु अल्प मात्रा में होने के कारण किसी विशेष धातु का पोषण नहीं कर पाता।[167]

♦ **ओज क्षय के लक्षण** : ओज का क्षय होने पर रोगी डरता है और सदा दूसरों के आगे दबा रहता है। उसका शरीर और मन बलहीन, मन बिना कारण चिन्ता ग्रस्त, इन्द्रियों (हृदय आदि) में पीड़ा, इन्द्रियाँ थकी हुई, शरीर कान्तिहीन (निस्तेज), कृश और रूक्ष, तथा मन दूषित होने से उत्साहहीन हो जाता है।[168]

♦ **ओजक्षय के कारण** : क्रोध, चिन्ता, भय, शोक, आदि मानसिक आवेग धातु क्षय (एक या अधिक धातु, दोष या मल का क्षय), उपवास या कम भोजन, रूक्ष खाद्य और पेय पदार्थो का प्रयोग, अधिक श्रम, रात्रि जागरण, किसी कारण से कफ, रक्त, शुक्र और मलों का अधिक मात्रा में विसर्जन, रोग के कारण दुर्बलता एवं बाहरी आघात आदि से ओज का क्षय होता है।[169]

♦ **ओजक्षय का उपचार** : मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, लघु तथा सात्म्य (अनुकूल) आहार,

---

166. तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः
स्वरवर्ण प्रसादो बाह्यनाभाभ्यन्तराणां कारणानामात्मकार्य प्रतिपत्तिर्भवति ।। सु.सू. 15/25

167. एतच्चौच उपधातुरूप केचिदाहु; धातुर्हि धारणपोषणयोगाद् भवति, ओजस्तु
देहधारंक सदपि न देहपोषंक तेन नाष्टमो धातुरोजः ।। च.सू. 30/7 (चक्रपाणि)

ओजोक्षय के लक्षण -

168. ओजः संक्षीयते कोपक्षुद्व यानशोक श्रमादिभिः ।
विभेति दुर्वलोडभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रिय ।। 38 अ.स.

169. अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः ।।
ओजः सङ्क्षीयते ह्योम्यो धातु गृहणनि सृतम् ।। सु.सू. 15/28
धातवो गृहन्ते यैस्तानि धातुगृहणानि स्त्रोतासि ओजोवाहिनि ।
किवां धातुगृहणस्त्रोतः स्थानतया धातुगृहणं हृदयम् ।। चक्रपाणि

Scanned by CamScanner

दूध, मांसरस, जीवनीयगण की औषधियाँ, अश्वगन्धा आदि रसायन और वाजीकर (शुक्र को बढाने वाली) औषधियों का सेवन करने से ओज की मात्रा में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मन को हमेशा प्रसन्न रखने ओर अनुकूल आनन्ददायक आहार विहार के सेवन से भी ओज बढ़ता है।[170] इसके लिए पुरीष आदि मलों और धातुओं के स्रोतों को भी शुद्ध रखना चाहिए। ओज की वृद्धि होने पर शरीर की तुष्टि (सन्तोष) पुष्टि, प्रहर्ष और शक्ति बढ़ती है। इसकी अधिक मात्रा होने पर भी कोई विकार या रोग उत्पन्न नहीं होता।

बच्चों को ओज वर्धक आहार विहार विशेष रूप से देना चाहिए।

9. उपधातु

शरीर के वे अवयव जो शरीर का धारण तो करते हैं, परन्तु मात्रा में कम होने के कारण किसी अन्य धातु का पोषण नहीं करते, उपधातु कहलाते हैं जबकि धातु शरीर-धारण के अतिरिक्त अपने सार भाग से अगली धातु का पोषण भी करती हैं। धातुओं के साथ एक अंश में समता होने के कारण ही ये उपधातु कहलाते हैं।[171]

♦ उपधातुओं का पोषण :

जिस प्रकार रस धातु के सार (प्रसाद) भाग से अगले धातु रक्त का पोषण होता है, उसी प्रकार रस के इसी सार भाग से स्तन्य (दुग्ध) और आर्त्तव का भी पोषण होता है। अल्प मात्रा में होने के कारण आर्तव का पोषण एक मास में होता है, जबकि रक्त का पोषण तो सदैव होता रहता है।[172]

---

170. जीवनीयौषधक्षीररसाघास्तत्र भेषजम् ।। अ.ह.सू. 11/41

मधुरस्निग्धशीतानि लघुनि च हितानि च ।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तमाद्वा बालास्थताऽऽशयेत् ।। का.सू. 27/16

तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिक्षता ।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ।। च.सू. 30/13

ओजस्तु तेजो धातुनां शुक्रन्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् । अ.ह.सू. 11/37

देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देर्हिनाम् ।।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ।। सु.सू. 15/26

171. ते च स्तान्यादयो धात्वन्तरापोषणाच्छरीरपपोषका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते ।
रसादयस्तु शरीरधरकताया धात्वन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते ।। चक्रपाणी

172. रसात् स्तन्य ततो रक्तमसृज कण्डराः सिराः ।
मांसाद्वेसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ।। च.चि. 15/17

रसादेव स्त्रियां रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्तते सु.सू. 14/7

सिरा स्नायुरजः स्तन्य त्वचो गतिर्विवर्जिताः ।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तरमात्त उपधातवः ।। इति ।। चक्रपाणि

Scanned by CamScanner

इसी प्रकार रक्त धातु के सार अंश से मांस धातु के पोषण के साथ-साथ कण्डराओं (स्थूल स्नायुओं) और शिराओं का पोषण भी होता है। फिर मांस धातु के प्रसाद अंश से मेद धातु तथा मेद धातु के सार अंश से अस्थि धातु और उसके साथ-साथ सूक्ष्म स्नायुओं और सन्धियों का भी पोषण होता है।

इस प्रकार स्तन्य, आर्तव, कण्डराएँ, शिराएँ, वसा, त्वचा और स्नायु-ये सात उपधातु हैं। इन्हें उपधातु इसलिए भी कहा जाता है, क्योंकि ये धातुओं से उत्पन्न होती हैं। यहाँ महत्वपूर्ण तीन उपधातुओं त्वचा स्तन्य और आर्तव का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

♦ त्वचा[173]

त्वचा सारे शरीर को ढक कर रखती है। इसी की सहायता से शीत, उष्ण, भारी-हल्का, कठोर-मुलायम, आदि स्पर्शों का ज्ञान होता है।

♦ भौतिक रचना

पञ्चभौतिक होते हुए भी इसमें वायु महाभूत की प्रधानता होती है। यही कारण है कि यह वायु महाभूत के स्पर्श गुण को ग्रहण करती है।

♦ मुख्य कार्य :

स्पर्श का ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त त्वचा सारे शरीर को भी सामान्य बनाए रखती है। त्वचा लेप आदि द्रव्यों को शरीर के अन्दर पहुँचाती है और शरीर को कान्ति प्रदान करती है। स्वेद ग्रन्थियाँ भी त्वचा में ही रहती हैं।

♦ स्तन्य :

इस उपधातु का सम्बन्ध स्त्रियों से है। स्तन्य (स्त्री के स्तनों से उत्पन्न दूध) शिशुओं का सर्वोत्तम आहार और पोषण प्रदान करने वाला है अतः इसे जीवन कहा जाता है।[174] इसकी उत्पत्ति आहार-रस के मधुर (मीठे) रस वाले सार भाग से होती है और यह शुक्र के समान सारे शरीर में स्थित होता है। स्तन्य उत्पन्न होने पर स्त्री के स्तनों का आकार बढ़ जाता है। जो स्तन्य बर्तन में डालने पर जल में मिल जाता है, मधुर, पीलापन लिये हुए तथा गन्ध से रहित होता है, वह अच्छा, अविकृत (विकार से रहित), पोषक और स्वास्थ्य कारक माना जाता है। स्तन्य का क्षय होने पर कफज द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। जीरा, शतावरी आदि पदार्थ भी स्तन्य को बढ़ाते हैं। स्तन्य वृद्धि होने पर बढ़े हुए दूध का संशोधन (दबाकर या ब्रेस्टपम्प से निकालकर) करना चाहिए तथा लघु द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।[175]

---

173. एताः (त्वचः) षडंङ्ग शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ।।
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्हियगोचरम् ।। — च.शा. 7/4

174. स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति।।
जीवनं बलानां, तेषामेव स्त्रीक्षीरसात्मयत्वात्।। — सु.सू. 15/9 डल्हण

175. यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकि भवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्ण च प्रसन्न तद्विनिर्दिशेत्।।
स्तन्यसम्पत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्।
उदमपात्रे दुहनमानमुदकं व्येति प्रकृति भूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यं चेति।। — सु.नि. 10/26

Scanned by CamScanner

♦ आर्त्तव[176]

यह भी स्त्रियों से सम्बन्धित उपधातु है। बाहरवें वर्ष के पश्चात् हर मास युवतियों के योनिमार्ग से रक्त का स्राव होता है, जिसे आर्त्तव, रजोदर्शन या मासिक धर्म कहा जाता है। सामान्यतः यह तीन से पाँच दिन तक रहता है। 40 से 50 वर्ष की आयु के बीच यह स्राव बन्द हो जाता है, जिसे रजोनिवृत्ति (Menopause) कहा जाता है।

इसका विशेष कार्य गर्भ की उत्पत्ति करना है। इसके गुण रक्त के समान है।[177] जो आर्त्तव माह में एक बार आए, जिसमें जलन या दर्द न हो, मात्रा में न बहुत कम और न बहुत अधिक हो, जिसका रंग गुञ्जापफल, लाख के रंग या लाल कमल के समान हो, वस्त्र को धोने से जो आसानी से साफ हो जाए, जिसमें पिच्छ (श्लेष्म कला के अन्दर के खण्ड या द्विछले) न हों, तथा जो पांच दिन-रात से अधिक समय तक न रहे, वह शुद्ध आर्त्तव माना जाता है।[178]

अत्यधिक रक्तस्राव, शरीर में दर्द और दुर्गन्धयुक्त होने पर आर्त्तव की अधिकता मानी जाती है। इससे दुर्बलता और रक्तगुल्म होते हैं। इसके विपरीत कम रक्तस्राव या देर से आर्त्तव होने पर आर्त्तव क्षय हो जाता है इससे योनि में पीड़ा होती है।[179]

10. मल पदार्थ

जब शरीर में पाचक अग्नि के द्वारा भोजन का पाचन होता है तो भोजन के सार (प्रसाद) भाग से धातुओं का निर्माण और पोषण होता है, और असार (किट्ट) भाग से मल-पदार्थो (जैसे-पुरीष (मल), मूत्र, स्वेद, आदि) का निर्माण होता है। चूँकि ये पदार्थ शरीर को मलिन करते हैं, अतः ये मल कहलाते है।[180] वायु आदि दोषों से दूषित होने के कारण, इन्हें दूष्य भी कहा जाता है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए इन मल-पदार्थो का शरीर से बाहर निकलना बहुत आवश्यक है।

इन मल-पदार्थो में भोजन के असार भाग के अलावा चयापचय (Metabolic) क्रिया के बाद ऊतक-कोषों द्वारा निकाले गये व्यर्थ के पदार्थ, पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, मृत या निर्जीव

---

176. रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि ग्यंह स्त्रवेत्।
तद् वर्षाद् द्वदशादूर्ध्व याति पञ्चाशतः क्षयम्।। सु.स.

177. रक्तलक्षणमार्तव गर्भकृच्च।।

178. मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रनुबन्धि च।
नैवाति बहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्।। च.चि. 30/225

179. आर्तवम् (अतिवंद्व) अङ्ग.मर्दमति प्रवृति दौर्गन्ध्यं च (आपदयाति) च.सू. 15/16
आर्तव वृद्वतया वातरोधादङ्ग.मर्द करोति।। (चक्रपाणी)

180. मलिनीकरणादाहारमलल्वान्मला।। अ.ह.सू. 1/13

Scanned by CamScanner

हो गई धातुएँ, अत्यधिक बढ़े हुए वायु, पित्त या कफ दोष तथा शरीर के लिए हानिकर एवं व्यर्थ के तत्व भी शामिल होते है। वैसे मल-पदार्थो का यह स्वभाव ही है कि एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर ये स्वयं ही शरीर से बाहर निकलने के लिए विसर्जक अंगों (मलाशय, मूत्राशय, आदि) की ओर गति करने लगते है। पुरीष (मल), मूत्र, पसीना (स्वेद), नाखून, बाल, दाढ़ी-मूँछ, लोम (शरीर के छोटे बाल), तथा नाक, कान, आँखों, मुख, आदि से निकलने वाले मैल, बलगम, आदि सभी मल-पदार्थ हैं। इनमें पुरीष, मूत्र और स्वेद-ये तीन महत्वपूर्ण मल-पदार्थ हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।[181]

♦ पुरीष (Stool)

पुरीष का निर्माण भोजन के असार भाग के साथ-साथ शरीर की ऊतकों (Tissues) द्वारा निकाले गये व्यर्थ के तत्वों के मेल से होता है। यही कारण है कि जिस व्यक्ति ने बहुत दिनों से कुछ खाया न हो, उसमें तथा गर्भ के अन्दर बढ़ रहे शिशु (जो कुछ भी नहीं खाता) में भी पुरीष का निर्माण होता रहता है। अतः ऊतक कोषों को स्वस्थ रखने के लिए शरीर से इस पुरीष का बाहर निकलना बहुत आवश्यक है। इसका ठीक तरह से विसर्जन न होने पर पेट के रोगों के साथ-साथ कमर दर्द (Lumbago), आमवात (Rheumatism), गृध्रसी (Sciatica), पक्षाघात (अधरंग या Paralysis), लकवा, कास (Bronchitis), तथा दमा जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यहीं कारण है कि इन सभी रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा में रोगी को सबसे पहले पेट साफ करने की औषधि दी जाती है। इसके अतिरिक्त, मल का विसर्जन ठीक प्रकार से न होने पर, आँतों में अनेक प्रकार के कीड़ों को पनपने के लिए अनुकूल वातावरण मिल जाता है। ये कीड़े शरीर को स्वयं भी हानि पहुँचाते हैं और अनेक बार ये शरीर के लिए लाभकारी जीवाणुओं (Bacteria) की वृद्धि को भी रोक देते हैं। इससे मनुष्य इन जीवाणुओं से होने वाले लाभ से वंचित रह जाता है। अतः शरीर से इस मल का ठीक प्रकार से त्याग होना स्वास्थ्य के लिए जरूरी है।[182]

♦ पुरीष के कर्म

पुरीष केवल मात्र मल-पदार्थ ही नहीं है, यह देह, वायु और अग्नि को भी धारण करता है।

---

181. किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्त मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः।। — च.चि. 15/18

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः।। — सु.सू. 46/57

182. पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च। — सु.सू. 15/8
पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीड़ा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ सञ्चरणं च।। — सु.सू. 15/15

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारूतः।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति।। — च.सू. 17/70

Scanned by CamScanner

मनुष्य का जीवन पुरीष पर आधारित है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा के रोगी में सभी धातुओं का क्षय होने से उसके बल का पोषण पुरीष से ही होता है।[183] अतः पुरीष थोड़ा भी अधिक आने पर क्षय रोगी को बहुत अधिक दुर्बलता हो जाती है। इस कारण क्षय रोगी के लिए विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि अधिक मल न आये।

पुरीष अधिक मात्रा में आने पर पेट में शूल, अफारा, आँतों में गुड़गुड़ाहट तथा शरीर में भारीपन हो जाता है। अधिक भोजन खाने एवं अजीर्ण से पुरीष की मात्रा में वृद्धि होती है।[184]

जब पुरीष कम मात्रा में निर्मित होता है, तो वायु शब्द के साथ आँतों को ऐंठती हुई पेट में ऊपर की ओर जाती है। पुरीष का क्षय अतिसार (डायरिया), अधिक विरेचन (अधिक मल आना) और उपवास (कम खाने) से होता है।

पुरीष को बढ़ाने के लिए उड़द, जौ, पत्ते वाली सब्जियाँ, चोकर वाला आटा आदि रेशेवाले पदार्थो का सेवन करना चाहिए।[185]

♦ मूत्र (Urine)

मूत्र के माध्यम से शरीर के व्यर्थ के पदार्थ बाहर निकलते है। यह आहार के असार किट्ट या मल) भाग का तरल अंश होता है। यह शरीर की आवश्यकता से अधिक आर्द्रता (गीलेपन) को कम करता है तथा बस्ति को आर्द्र (गीला) और भरा रखता है।[186] स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए गर्मी और सर्दी, दोनों ऋतुओं में ही अधिक मात्रा में जल पीने पर बल दिया गया है ताकि व्यक्ति दिन में कम से कम छः बार मूत्र का त्याग अवश्य कर सके और इसके साथ हानिकारक पदार्थ भी शरीर से बाहर निकल जाएं।

बहुत अधिक मूत्र आना भी एक प्रकार का रोग है। मूत्र की अधिकता होने पर बस्ति में दर्द, भारीपन और बेचैनी, अधिक मात्रा में मूत्र आना, मूत्र का बार-बार वेग और बस्ति में अफारा हो जाता है। मूत्र के वेग को रोकने और मूत्र का वेग होने पर जल पीने से भी ये लक्षण प्रकट होते है।[187]

---

183. शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तञ्च जीवनम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्ये यक्ष्मिणो मलरेतसी।
पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च। — यो.र.भै.र. सु.सू. 15/8

184. पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च।
कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनं शकृत।। — सु.सू. 15/20 अ.ह.सू. 11/13

185. तत्रापि स्वयोनिवर्धन द्रव्योपयोगः प्रतिकारः।।
पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्।। — सु.सू. 15/14 च.शा. 6/11

186. आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जंल नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्।। — शा.पू. 6/6
पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति,
विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि।। — सु.सू. 21/10

187. मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं
बस्तितोदयमाध्मानं च। — सु.सू. 15/20

Scanned by CamScanner

मूत्र की मात्रा में कमी होने से बस्ति-प्रदेश में चुभन-सी पीड़ा, कम मात्रा में मूत्र का विसर्जन या रुक-रुक कर मूत्र-विसर्जन, मूत्र-त्यागते समय दर्द, मूत्र का रंग बदल जाना (प्रायः अधिक पीला होना) या रक्त से मिश्रित मूत्र, अधिक प्यास एवं मुँह सूखना-ये लक्षण दिखाई देते हैं।[188] गन्ने का रस, तरल पदार्थो, तथा मधुर, अम्ल व लवण रस वाले पदार्थो का सेवन करने से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है।[189]

♦ स्वेद या पसीना (Sweat)

स्वेद भी महत्वपूर्ण मल-पदार्थ है।[190] त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए पसीने का बाहर निकलना भी बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से भी बहुत से व्यर्थ के पदार्थो को शरीर से बाहर निकाला जा सकता है। पसीने की सहायता से ही त्वचा शरीर के तापमान को नियन्त्रण में रखती है और गर्मी व सर्दी, दोनों ऋतुओं में शरीर का तापमान एक-सा बना रहता है। अधिक श्रम, व्यायाम या गर्मी के कारण पसीना अधिक आता है। वायु लगने से त्वचा की गर्मी से यह पसीना भाप बन कर उड़ जाता है, जिससे त्वचा का तापमान कम हो जाता है। इसके विपरीत शीत ऋतु या शीत वातावरण में स्वेद कम आता है और शरीर का तापमान कम नही होता।

वैसे तो स्वेद का स्रवण हर मौसम में होता है, परन्तु अधिक स्राव होने पर और गर्मी वाले मौसम में ही इसका अनुभव होता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में पसीना आने पर त्वचा में दुर्गन्ध और खुजली होने लगती है[191] और कम मात्रा में पसीना आने से रोमकूपों में रुकावट, त्वचा में रुखापन और त्वचा का फटना, स्पर्श का ठीक ज्ञान न होना, एवं रोम गिरना-ये लक्षण दिखाई देते हैं।[192] मालिश, व्यायाम, वायु से रहित स्थान में निवास, स्वेदन या उष्ण द्रव्यों से सेक, मधु और स्वेदज द्रव्यों (जल, आदि) के सेवन से स्वेद की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है।[193]

---

188. मूत्रक्षये बस्तितोदो ल्पमूत्रता च।। — सु.सू. 15/15
मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति।। — च.सू. 17/71

189. अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः।। — सु.सू. 15/15
मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारूणी मण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्।। — च.शा. 6/11

190. मलः स्वेदस्तु मेदसः। — च.चि. 15/18
स्वेदवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च।। — च.वि. 5/8

191. स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च।। — सु.सू. 15/20

192. स्वेदक्षये स्तब्ध रोमकूपता त्वक्शोषः स्वर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च।
तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च।। — सु.सू. 15/15
स्पर्शवैगुण्यमिति स्वेदक्षये वृद्दवातेनज्ञेयम्।
स्तब्धरोमकूपता स्वेदक्षयेण तेषां शुष्कत्वात्।। — चक्रपाणि
स्वेदे रोमच्युतिः, स्तब्धरोमता, स्फुटनं त्वचः। — अ.सं.सू. 11/12

193. व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा।। — च.वि. 5/22

Scanned by CamScanner

स्पष्ट है कि व्यर्थ होते हुए भी ये मल-पदार्थ किसी न किसी रूप में शरीर को धारण करते है।

♦ अन्य मल–पदार्थ

इसी प्रकार, नाक, मुख, आँख, आदि अंगों में उत्पन्न मल-पदार्थो की स्थिति है। ये सब भी इतने प्रमाण में होने चाहिए, जिससे इन अंगों में आर्द्रता बनी रहे। यदि इनकी मात्रा में अधिक वृद्धि हो जाती है, तो इन अंगों से इनका स्राव अधिक मात्रा में होने लगता है तथा उस-उस अंग में भारीपन आ जाता है। इसके विपरीत, मात्रा में कमी होने से इन अंगों में शुष्कता (सूखापन), दर्द, खालीपन तथा हल्कापन महसूस होने लगता है। तथ्य यह है कि इन मलों के एकत्र होने से इनकी मात्रा में अधिक वृद्धि होने लगती है, जबकि अधिक विसर्जन से इनका क्षय होने लगता है।

यद्यपि इन मलों की अतिवृद्धि और क्षय होना-ये दोनों ही अवस्थाएँ हानिकारक हैं, तथापि वृद्धि की अपेक्षा इनका क्षय अधिक हानिकारक है क्योंकि मात्रा में कमी होने से ये शरीर को धारण करने का कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते।

वैसे तो मल-मूत्र, आदि मल-पदार्थो में स्वभावतः ही दुर्गन्ध पाई जाती है, परन्तु यह दुर्गन्ध यदि असह्य हो, तो समझना चाहिए कि कोई न कोई रोग है, जिसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

♦ दोष, धातु और मलों का परस्पर सम्बन्ध

चूंकि दोष, धातु और मल-ये तीनों ही तत्व शरीर के निर्माण और धारण का कार्य किसी न किसी रूप में करते है[194] अतः इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी अवश्य है। दोषों और धातुओं का परस्पर आश्रय और आश्रयी का सम्बन्ध है। जैसे- वायु (दोष) का आश्रय स्थान अस्थि धातु है, पित्त दोष का रक्त धातु और स्वेद, तथा कफ का आश्रय अन्य धातुएँ हैं। अतः दोषों की वृद्धि और क्षय के लिए जो चिकित्सा की जाती है, उसका समान प्रभाव उसकी आश्रय धातु पर भी पड़ता है। सामान्यतः दोषों और धातुओं की वृद्धि होने पर लंघन या अपतर्पण चिकित्सा एवं क्षय होने पर वृंहण या तर्पण चिकित्सा की जाती है, परन्तु वायु दोष और उसके आश्रय स्थान अस्थि धातु पर यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि वायु की वृद्धि होने पर वृंहण चिकित्सा एवं क्षय होने पर लंघन चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

---

194. दोष धातु मलमूलं हि शरीरम्।। — सु.सू. 15/3
दोष धातु मला मूलं सदा देहस्य।। — अ.ह.सू. 11/1
वृक्षस्य स्कन्धशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं।
तदारब्धत्वात्, तथा देहस्य दोष धातुमलाः।। — अरूणदत
त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च।
देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः।। — सु.उ. 66/6-7
दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीरसंबद्धं शरीरे दश्यते।
त एवं संयुक्तादेह इति यावत्।। — अ.स.सू. 16 में इन्

Scanned by CamScanner

11. पाचन एवं चयापचय क्रिया (Digestion & Metabolism)

हम भोजन या अन्य पदार्थों के रूप में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट्स, वसा विटामिन, आदि जिन तत्वों का सेवन करते हैं, उनसे ही शरीर में धातुओं की पुष्टि, बल, वर्ण, दीर्घायु, बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है परन्तु ये बल आदि शरीर को तभी प्राप्त हो सकते हैं, जब ये सभी बाहरी तत्व शरीर के तत्वों के रूप में परिवर्तित हो जाएं। भोजन को शरीर के अनुरूप ढालने की क्रिया को जो तत्व सम्पन्न करता है, उसे ही 'अग्नि' नाम से जाना जाता है और यह सम्पूर्ण क्रिया पाचन और चयापचय (Metabolic Process) कहलाती है।[195] ये अग्नियाँ इस पाचन-क्रिया को करने के लिए आमाशय, यकृत तथा धातु कोषों में अनेक प्रकार के पाचक-रसों को उत्पन्न करती हैं। इन्हीं रसों की सहायता से सभी प्रकार के (ठोस द्रव, आधे ठोस द्रव, चाटने योग्य द्रव) पदार्थ धातुओं, मलों आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। वैसे तो भोजन का पाचन होने पर सारे अंगों को पोषण पहुँचाने में व्यान वायु और भोजन रस को वहन करने वाले स्रोतों का भी हाथ है, परन्तु अग्नि (जाठराग्नि) का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि अग्नि न हो, तो न भोजन का पाक होगा और न उससे रस आदि धातुओं की उत्पत्ति ही होगी। अग्नि नष्ट हो जाए, तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। अग्नि के विकृत होने पर मनुष्य रोगी हो जाता है, और अग्नि सम होने पर मनुष्य निरोग रहकर दीर्घायु प्राप्त करता है।[196]

अग्नि के प्रकार

अग्नि अनेक प्रकार की अग्नियों का समूह है। इसमें तेरह प्रकार की अग्नियाँ सम्मिलित हैं-

1) एक जाठराग्नि

2-8) सात धात्वग्नियाँ और

9-13) पाँच भूताग्नियाँ।[197]

---

195. बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।। — च.सू. 27/342
अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यधीनाः। प्राणारिति वायवः।
यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः।। — च.चि. 15/5

196. रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ।। — अ.हृ.नि. 12/1
समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्।। — च.चि. 5/136

197. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।। — च.चि. 15/13
यथास्वेनोष्मणा पकां शरीरा यान्ति धातवः।
स्त्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुण्यति धातुतः।। — चरक

Scanned by CamScanner

♦ जाठराग्नि

यह संख्या में एक है। ऊपर जिस अग्नि का महत्व बताया गया है, वह यही अग्नि है। इसे पाचक-अग्नि या कायाग्नि भी कहा जाता है। यह आमाशय और पक्वाशय (छोटी आँत और बड़ी आँत) के बीच नाभि प्रदेश में रहती है।[198] जिस प्रकार, सूर्य अपनी किरणों की सहायता से कुँओं, तालाबों, नदियों आदि से जल सोखता है, उसी प्रकार नाभि प्रदेश में स्थित यह अग्नि भी अपनी किरणों की सहायता से शीघ्र ही भोजन का पाक करती है। .हम जितने भी पदार्थ खाते हैं, उन्हें शरीर के अनुरूप बनाने के लिए यह अग्नि उसे तोड़ कर सूक्ष्म खण्डों में बदल देती है।

इसी प्रकार जाठराग्नि पाक क्रिया द्वारा भोजन में आरम्भिक परिवर्तन करती है और आयु, वर्ण, स्वर, बल, ऊर्जा, शारीरिक वृद्धि, उत्साह, ओजस्, शारीरिक ताप और अन्य अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने में सहायता करती है।[199] इन सब कार्यों में सहायक बनने के लिए अग्नि का सम अवस्था में रहना आवश्यक है। जाठराग्नि की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हो सकती है:

I. विषमाग्नि

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की अग्नि कभी बहुत तेज हो जाती है, कभी मन्द (धीमी) और कभी सम। इससे भोजन का पाचन कभी तो सामान्य रूप से ठीक प्रकार हो जाता है, तो कभी बहुत धीरे और कभी बहुत शीघ्र। अग्नि की यह स्थिति वायु दोष की अधिकता से होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट में अफारा, शूल (तेज़ दर्द), उदावर्त (वायु की ऊपर की ओर गति), क़ब्ज़, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट की आवाज़, अतिसार तथा पेचिश जैसे विकार उत्पन्न हो सकते है।[200]

---

198. तत्र, पक्वामाशयमध्यगम्
तत्रस्थमेव पित्तांना शेषाणामप्यनुग्रहम्।।
करोति बलदानेन 'पाचकं' नाम तत्स्मृतम्।। अ.ह.सू.-12/10-12

यस्तं: चिकित्सेत् सीदन्तं सैव कायचिकित्सक: इति।
युक्तं चैतत्, यतो ज्वरातिसारादय:
कायचिकित्साविषया रोगा अग्निदोष देव भवन्ति।। च.सू. 30/28 शिवदाससेन

199. आयुर्बल स्थितिरिति अन्नपाचकाग्नि स्थितौ
आयुर्बलस्थित्या अत्येऽप्यातिप्रेया वर्णादयो लक्षणीया:।। चक्रपाणि
अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा।। च.सू. 27/342

200. विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावक:।। च.चि. 15/50

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।। च.चि. 15/51

Scanned by CamScanner

II. तीक्ष्णाग्नि

इस प्रकार की अग्नि बहुत तेज़ होती है, जो अधिक मात्रा में खाये भोजन का पाचन बहुत कम समय में ही कर देती है। व्यक्ति जो कुछ भी खाता जाता है, शीघ्र हज़म होता जाता है। अत: वह 'पेटू' (बहुत अधिक खाने वाला) हो जाता है। इस अवस्था को 'अत्यग्नि' या 'भस्मक' के नाम से भी जाना जाता है। जाठराग्नि की इस अवस्था में पित्त दोष की अधिकता होती है। रोगी के गले, होठों तथा तालु में शुष्कता (सूखापन) उत्पन्न हो जाती है। भोजन के पाचन के बाद यह अग्नि गले में शोष और दाह, होंठों में शोष (सूखापन) और दाह, तालु में जलन और सन्ताप (गर्मी और जलन की अनुभूति) को उत्पन्न करती है।

III. मन्दाग्नि

इस अवस्था में अग्नि बहुत मन्द (धीमी) होती है, अत: कम मात्रा में खाये गये सामान्य भोजन को भी ठीक प्रकार से पचा नहीं पाती। इस तरह की जाठराग्नि कफ दोष की अधिकता के कारण होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट और सिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, मुँह से लार बहना, उल्टी आना, शरीर में कमज़ोरी आदि विकार उत्पन्न होते हैं।[201]

IV. समाग्नि

इस प्रकार की जाठराग्नि समय पर और उचित मात्रा में ग्रहण किये गए सारे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से कर देती है। चूँकि इस अवस्था में जाठराग्नि में वायु, पित्त और कफ -तीनों दोष अपनी सम अवस्था में होते हैं, अत: यह अग्नि समाग्नि कहलाती है। इस समय भोजन के पाचन में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं होती।[202]

♦ भूताग्नियाँ

अग्नियों का यह समूह यकृत में रहता है। पाँच महाभूतों के आधार पर, ये अग्नियाँ भी पाँच है-1) भौमाग्नि, 2) आप्याग्नि, 3) आग्नेयाग्नि, 4) वायव्याग्नि, और 5) आकाशाग्नि।[203] ये

---

201. अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः।
उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते।। — च.चि. 15/52

मन्दास्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः।। — मा.नि. 6/1

202. समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्ने विषमाग्नेस्तु देहिनः।। — मा.नि. 6/3

मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्, समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते।। — मा.नि. 6/4

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्।। — च.नि. 6/11

203. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। — च.चि. 15/13

अत्र च यान्यान्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यवरूहानि भूताग्निष्वेव।
किंवा, अप्रधान्यादकिंचित्कराणि नोक्तानि। — चरक

Scanned by CamScanner

अग्नियाँ जाठराग्नि द्वारा खण्ड-खण्ड किये गये खाद्य-पदार्थो को शरीर के अनुरूप सजातीय रस में परिवर्तित करती है। इनमें से प्रत्येक अग्नि खाद्य-रस में पाये जाने वाले भूमि, जल आदि महाभूतों में से अपने-अपने महाभूत का पाचन करती है और शरीर के अनुरूप महाभूतों में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार, यकृत में विद्यमान अग्नियों की सहायता से भोजन पाँच श्रेणियों में बँट जाता है और शरीर के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले अपने-अपने महाभूत में मिल कर उस पोषण करता है।

♦ धात्वग्नियाँ

अग्नियों का यह तीसरे प्रकार का समूह है। जाठराग्नि और भूताग्नियों की सहायता से पाँच भूतों के रूप में परिवर्तित हुआ अन्नरस जब धात्वाशयों (रसवह, रक्तवह, आदि स्रोतों) में पहुँचता है, तो वहाँ विद्यमान अग्नियाँ इसका पुनः पाचन करती हैं। इससे यह अन्न-रस रस, रक्त आदि धातुओं में बदल जाता है। चूँकि धातुएँ संख्या में सात हैं, अतः इनकी अग्नियाँ भी सात हैं- 1) रसाग्नि, 2) रक्ताग्नि, 3) मांसाग्नि, 4) मेदोग्नि, 5) अस्थि अग्नि, 6) मज्जाग्नि, और 7) शुक्राग्नि (मनुष्यों में)[204] पाचन क्रिया करती है, तो इसके परिणामस्वरूप धातुओं के पोषण के साथ-साथ कुछ मल-पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं। धात्वग्नि मन्द होने से धातु की वृद्धि और तीव्र होने से धातु का क्षय होता है।

इस प्रकार, उपरोक्त तीनों प्रकार की अग्नियों से भोजन के पाचन की प्रक्रिया को संक्षेप में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

जब भोजन मुँह में पहुँचता है, तो जिह्वा और कण्ठ में स्थित लाला स्राव इसमें मिल जाता है, जिससे भोजन के स्वाद का ज्ञान होता है। यहाँ से भोजन आमाशय में पहुँचता है, जहाँ उसमें आमाशयिक (तरल और स्निग्ध) रस मिलने से ठोस भोजन तरल, झाग वाला, मुलायम और स्निग्ध बन जाता है। पाचन की इस प्रथम अवस्था में झागयुक्त कफ और मधुर रस उत्पन्न होते हैं।[205]

इस समय आमाशय में भोजन का पाचन ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी के साथ चावल पकाये जाते हैं।

इसके बाद, यह अधपका आहार-रस ग्रहणी (छोटी आँत का ऊपर वाला भाग) से होता हुआ पक्वाशय में पहुँचता है, जाठराग्नि समानवायु और पाचक पित्त के साथ अपना कार्य करती

---

204. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। च.चि. 15/15
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्।।

205. अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। च.चि. 15/6
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। च.चि. 15/9
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत् उदीर्यते।।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च। सु.सू. 21/13
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः।।

Scanned by CamScanner

है।[206] पाचक पित्त आहार रस के जलीय अंश को पूरी तरह सोख लेता है। इससे आहार रस ठोस रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसे 'पिण्ड' कहते है। इस अवस्था में कटु रस और वायु की उत्पत्ति होती है।[207] यहाँ भोजन दो भागों में विभक्त होता है- 1) सार या प्रसाद भाग, और 2) असार या किट्ट भाग। भोजन का जो भाग ठीक प्रकार से पच जाता है और तरल रूप में होता है, वही सार भाग कहलाता है। यही सार भाग शरीर की पहली धातु 'रस' भी है, जो जाठराग्नि के कारण मधुर और स्निग्ध हो जाता है। यही रस धातु अगली धातुओं का पोषण करता है। यदि जाठराग्नि मन्द है, तो उपरोक्त खाद्यरस का पाक ठीक प्रकार से नही होगा और यह रस मधुर न होकर कटु और अम्ल (खट्टा) होगा। यही 'आमरस' या 'आम' कहलाता है,[208] जो विषैला और रोगकारक होता है। भोजन का दूसरा भाग जो ठीक प्रकार नहीं पचता किट्ट या असार कहलाता है। इसमें से ठोस भाग पुरीष के रूप में तथा द्रव भाग मूत्र के रूप में परिवर्तित होकर मल के रूप में पक्वाशय के निचले भाग में एकत्र हो जाते है। इस स्थिति में पाँच भूताग्नियों की प्रक्रिया आरम्भ होती है। ये खाद्य-रस में विद्यमान अपने-अपने महाभूत पर प्रतिक्रिया करके उन्हें शरीर के सजातीय तत्वों में परिवर्तित कर देती है। इससे शरीर के विभिन्न अंगों में स्थित पृथ्वी महाभूत का पोषण होता है। अब यह आहार-रस रसधातु के रूप में रसवह स्रोतों के माध्यम से सारे शरीर में भ्रमण करता है। इस प्रकार, यह पोषक द्रव के रूप में सभी अंगों में पहुँचता है, जिसमें सातों धातुओं के पोषक तत्व मूलरूप में विद्यमान रहते हैं।

धात्वग्नियों की पाकक्रिया के फलस्वरूप, प्रत्येक धातु के साथ एक विशेष सार अंश की भी उत्पत्ति होती है, जिसे 'ओजस' कहा जाता है। इसका संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है।

भोजन की इस सम्पूर्ण पाचन-क्रिया में पित्त का विशेष महत्व है। यही कारण है कि बहुत से आयुर्वेदिक विद्वान, पित्त और अग्नि को एक ही तत्व मानते है। वैसे सातों धात्वग्नियों में पाचक-पित्त के अंश ही क्रियात्मक रूप में होते है, जो धात्वग्नियों को उनके कार्यो में मदद करते है। अग्नि में पित्त के अतिरिक्त अन्य गुण भी पाये जाते है, जिससे भोजन के पाचन की पूरी प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

इस खाद्य-रस पर सातों धात्वग्नियों की प्रतिक्रिया होती है, जिससे सात अलग-अलग धातुओं का निर्माण होता हैं। इन धातुओं के मूल रूप में तीन भाग माने गये हैं-

---

206. अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा।।
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।। — सु.शा. 4/19

207. पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य बह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः।। — च.चि. 15/10

208. सोऽन्नजो रस इति आमः।
अन्नरसव्यैवापकवल्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात् — च.चि. 15/11
मधुकोष व्याख्या

Scanned by CamScanner

1) स्थूल, 2) सूक्ष्म या अणु, और 3) मल। इनमें से स्थूल भाग उसी धातु का पोषण करता है, सूक्ष्म भाग अपने से अगली धातु का निर्माण करता है, तथा उससे उत्पन्न मल पदार्थ उसी मल-पदार्थ का पोषण करता है। इस प्रकार, प्रत्येक धात्वग्नि की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप किसी न किसी मल-पदार्थ या उपोत्पाद का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, खाद्यरस का सार भाग, जो रस धातु है, उस पर जब रस धात्वग्नि प्रतिक्रिया करती है, तो स्थूल भाग रस धातु का पोषण करता है, सूक्ष्मभाग रक्तधातु का निर्माण करता है, और मल भाग कफ (बलगम, थूक, आदि) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार अन्य धात्वग्नियों की प्रतिक्रिया से भी यही प्रक्रिया चलती है, जो निम्न प्रकार से है:

धात्वाग्नि[209]	पोषण (स्थूल भाग द्वारा)	निर्माण (सूक्ष्म भाग द्वारा)	मल-पदार्थ
1. रस	रस धातु	रक्त धातु	कफ (बलगम, थूक)
2. रक्त	रक्त धातु	मांस धातु	पित्त (मल में मिल जाता है)
3. मांस	मांस धातु	मेद धातु	सभी अन्य मल
4. मेद	मेद या स्नेह धातु	अस्थि धातु	पसीना, स्वेद
5. अस्थि	अस्थियाँ व कोमलास्थियाँ	मज्जा	बाल और नाखून
6. मज्जा	मज्जा धातु	शुक्र	आँखों की चमक तथा त्वचा में पाये जाने वाले स्निग्ध पदार्थ
7. शुक्र	शुक्र, शुक्राणु अथवा रज		

---

209. रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः।। — च.चि. 15/16

रसात्स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः।। — च.चि. 15/17

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।। — अ.हृ.

स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वः स्थूलोऽशः परः सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः।। — सु.सू. 14/10 (डल्हण)

स्वाग्निभिः पच्यमनेषु मलः षटसु रसादीषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः।।

Scanned by CamScanner

♦ आम रस

जाठराग्नि या धात्वग्नियों में से किसी भी अग्नि के मन्द होने से जब आमाशय और ग्रहणी में स्थित अन्नरस पूरी तरह से पचता नहीं है, तो यह अपक्व रस आम या आमरस कहलाता है। यह आम रस विषाक्त होने से शरीर में अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है[210] क्योंकि जब तक अन्नरस अपक्व या आमरस के रूप में रहता है, तब तक वह शरीर के सजातीय तत्वों के रूप में नहीं बदल पाता। अतः शरीर के धातु आदि तत्वों में मिल नहीं पाता। यह स्रोतों में ठीक प्रकार से गति न कर पाने के कारण शरीर के विभिन्न अंगों, जैसे-फुप्फुस, हृदय या किसी अन्य आशय में इकट्ठा हो जाता है। प्रायः यह शरीर की चार बड़ी गुहाओं (मस्तिष्क, छाती, उदर या बस्ति) से जुड़े अंगों में, विशेष रूप से उदर गुहा के किसी अंग में इकट्ठा हो जाता है। वहाँ अजीर्ण आदि विभिन्न विकार पैदा कर देता है। यह अन्य दोषों के साथ मिल कर किसी दूसरे अंग में पहुँच कर वहाँ तत्काल रोग की उत्पत्ति करता है, जैसे-तमकश्वास। धात्वग्नियों की दुर्बलता से जब आम (अपक्व) रस धातु उत्पन्न होती है, तो उससे अगली धातुओं का पोषण नहीं होता। इस प्रकार, अनेक रोग उत्पन्न होते है। चूंकि प्रायः रोग किसी न किसी रूप में आम दोष से ही उत्पन्न होते हैं, अतः रोग का एक नाम 'आमय' भी है। इस आम दोष का कुप्रभाव अग्नि पर पड़ता है, जिससे पुनः भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता और अपक्व अन्न रस स्रोतों में रुकावट पैदा कर देता है। यह आम दोष शरीर के किसी भी भाग में पैदा हो सकता है। जो अंग कमजोर होता है या जो महाभौतिक संरचना में आम के जैसा होता है वहाँ आम दोष के संचय होने की अधिक सम्भावना होती है।

♦ साम रोगों या दोषों के लक्षण

स्वेद, मूत्र आदि के स्रोतों में रुकावट, बल की कमी, शरीर में भारीपन, वायु का ठीक रूप से संचार न होना, आलस्य, अधिक थूक या बलगम आना, पुरीष आदि मलों का विसर्जन कम मात्रा में या बिल्कुल विसर्जन न होना, अरुचि, थकान आदि लक्षण साम रोगों या दोषों के लक्षण हैं। इसके विपरीत लक्षण स्रोतों की शुद्धि-आदि निराम रोगों या दोषों के है।[211]

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है पाचन-शक्ति की कमी के कारण ही आम दोष

---

210. आमाशयस्थः कायाग्नेदौर्बल्यादविपाचिन्तः
आद्य आहार धातुर्यः स आम इति कीर्तितः।। — मधुकोष
आमसन्नवरसं केचित् केचितु मलसञ्चयम्।
प्रथमां दोषदृष्टिं च के चिदामं प्रक्षयते।। — मधुकोष
अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुविच्छिलम्।
सदनं सर्वगात्राणाम् इत्यभिधीयते।। — मधुकोष

211. वायुरामान्वयः सर्तिराध्मानकृदसञ्चरः।। — चरक
आविलस्तन्तुमांस्त्यानः प्रतोपी पिच्छिलः कफ।। — चरक
उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाहामपाचितम्।।
दुष्टमामाश्यगंत रसमांम प्रचक्षते। — चरक
अन्ये दोषेभ्य एव। तिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात्।।

Scanned by CamScanner

की उत्पत्ति भी होती है। जिस स्रोत में आम या मल-पदार्थ एकत्र होने से रुकावट पैदा हुई है, यदि उस स्रोत के पाचक-रस या अग्नि को अधिक सक्रिय कर दिया जाए, तो इन आम, आदि पदार्थों को भी धातुओं में परिवर्तित किया जा सकता है अथवा मल-पदार्थों का निकास हो सकता है। आयुर्वेद की प्राय: सभी औषधियों में इस प्रकार के द्रव्य मिलाये जाते हैं जिनसे विभिन्न स्तरों पर इन पाचक-अग्नियों को तीव्र किया जाता है। वमन, विरेचन, आदि संशोधन क्रियाएं भी स्रोतों के अन्दर एकत्र हुए आम, मल-पदार्थों आदि को बाहर निकाल कर उन्हें स्वच्छ करती हैं। इससे अग्नियाँ ठीक प्रकार से कार्य करने लगती हैं।[212]

वैसे छोटी आयु में अग्नि मन्द (धीमी) होती है और ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, अग्नि भी तीव्र होती जाती है। फलस्वरूप पाचन एवं चयापचय क्रियाएँ भी अच्छी प्रकार से होती रहती हैं, जिससे शरीर के आकार और शक्ति में भी वृद्धि होती है। साधारणत: 40 वर्ष की आयु तक अग्नि बढ़ती रहती है। 40-60 वर्ष तक इसी स्थिति में रहती है। 60 वर्ष के पश्चात् अग्नि की शक्ति में कमी आने लगती है, जिससे शरीर को पूरे पोषक तत्व प्राप्त नहीं हो पाते। परिणामत: धातुओं की संख्या, आकार और गुणों में कमी आने लगती है। शरीर कमजोर होने लगता है और मल-पदार्थों का निर्माण भी अधिक मात्रा में होता है। व्यक्ति मानसिक रूप से भी निर्बलता अनुभव करता है। इसे ही जरावस्था या वृद्धावस्था कहा जाता है। रसायन चिकित्सा द्वारा यही प्रयत्न किया जाता है कि पाचक-अग्नियों और रसों में क्रियाशीलता बनी रहे और वृद्धावस्था में होने वाले रोगों से बचा जा सके।[213]

12. स्रोत

अब तक के वर्णन में अनेक बार 'स्रोत' शब्द का उल्लेख हुआ है तथा ज्ञात हुआ है कि स्वास्थ्य को बनाये रखने में इन स्रोतों का स्वस्थ या स्वच्छ होना अत्यावश्यक है। दोषों, मलों और धातुओं के समान ये भी शरीर का महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रश्न यह होता है कि स्रोत क्या है? तथा इनका क्या कार्य है? इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

वे अवयव जो आकाश महाभूत की प्रधानता वाले अर्थात् अन्दर से अवकाश युक्त (खाली या खोखले) तथा धातुओं (रस, रक्त, आदि) मलों, अन्न, जल, शब्द रूप आदि विषयों और मन आदि का स्रवण व वहन (धारण) करते हैं, स्रोत कहलाते हैं। ये अवयव धातुओं आदि को धारण

---

212. पाचनै दीपनै: स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्
सर्वदेहप्रविजृतान् सामान् दोषान् निर्हरेत्।। — चरक
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्दसानिव। — चरक
आश्रमस्य हि नाशय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वत।। — शार्ंगधर

213. "यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्"

Scanned by CamScanner

करके शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते हैं। चूंकि ये विभिन्न तत्वों का स्रवण करते हैं, अत: इन्हें 'स्रोत' कहा जाता है।[214]

अन्दर से खोखले या पोले ये अवयव विभिन्न आकारों के होते है। जैसे-कुछ वृत्ताकार (नलिका की-सी आकृति वाले) कुछ, चौड़े पतले, लम्बे तथा कुछ लताओं के समान शाखाओं और प्रशाखाओं वाले होते है। ये स्रोत दृश्य (दिखाई देने वाले) या अदृश्य (न दिखाई देने वाले), दोनो प्रकार के हो सकते है। ये जिस द्रव्य को धारण करते है, उसी के समान रंग वाले हो जाते है।

♦ स्रोतों के कार्य

अपनी-अपनी भौतिक रचना के अनुसार, ये स्रोत आहार, रस, रक्त आदि धातुओं, तीनों दोषों, मल-पदार्थो, प्राण आदि का वहन करते हैं। इनके प्रमुख कार्य निम्नलिखित है:[215]

1) जठरान्त्र-प्रणाली (आमाशय-gastro-intestine) में भोजन (खाद्य-रस) से निर्मित रस, रक्त आदि पदार्थो को ग्रहण करके उन्हें अपने-अपने धातुओं तक पहुँचाना अर्थात धातुओं का पोषण करना।
2) पुरीष, मूत्र, स्वेद, आदि मलों को वहन कर उन्हें अपने-अपने छिद्रों तक पहुँचाते है, जिससे वे शरीर से बाहर निकलते है और शरीर को निरोग रखते है।
3) प्राणों को धारण कर जीवन को स्थिर करते है।
4) शरीर में किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति (वृद्धि-पुष्टि) या क्षय स्रोतों के बिना नही हो सकती।
5) शरीर के विभिन्न वेगों (मल, मूत्र, आदि के), मन व चेष्टाओं के वेगों को धारण करते है

अत: शरीर की क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक है।

♦ स्रोत और रोग की उत्पत्ति

स्पष्टत: स्रोत बहुत महत्वपूर्ण कार्य करने में सहायक है। स्वस्थ रहने के लिए दोषों और धातुओं के समान इन स्रोतों का भी अपनी प्राकृत (स्वस्थ) अवस्था में रहना बहुत आवश्यक है

---

214. आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिरा: स्त्रोतांसि मार्गा: खं धमन्यो नाडय आशया:।। सु.शा. 9/3 पर डल्हण

स्त्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां।
धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।। च.वि. 5/3

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्त्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्।। सु.शा. 9/13
च.सू. 30/12

स्त्रवणात् स्त्रोतांसि।।

मूलात् खादिति हदृयादिच्छिद्रात्। प्रसृतम्,
अभिवहनशीलं, वदन्तरम् अवकाश:,
तत् स्त्रोतो विज्ञेयम्।। डल्हण

215. सर्वे हि भावा: पुरूषे नान्तरेण स्त्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाडप्यभिगच्छन्ति।। च.वि. 5/3
तदेतत् स्त्रोतसां प्रकृतिभूतव्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्।। च.वि. 5/6
स्त्रोतसा च यथास्वेन धातु:
पुष्यति धातुत:।। च.चि. 8/39

Scanned by CamScanner

अन्यथा, जब कोई एक भी स्रोत दूषित होता है, तो वह अपने समीप वाले दूसरे स्रोतों को भी दूषित करने लगता है। परिणामतः उस स्रोत से सम्बन्धित रोग भी उत्पन्न होने लगते है। जब स्रोत अदूषित या स्वस्थ अवस्था में होते है, तो उनमें दोष, धातुओं, उपधातुओं और मलों का संचार और विसर्जन (बाहर निकलना) ठीक प्रकार से होता रहता है[216] जबकि दूषित होने पर दूष्य (धातु, मल) और दोष दोनों ही दूषित हो जाते है और दूषित दोषों आदि के वहन करने से स्रोत फिर अधिक दूषित होने रहते है। यदि किसी स्रोत में गति करने वाला पदार्थ (मल, धातु, आदि) वहीं इकट्ठा हो जाता है और उससे उस धातु की चयापचय क्रिया ठीक प्रकार नहीं हो पाती तो इससे आस-पास के धातुओं के संचार में भी रुकावट उत्पन्न हो सकती है। परिणामतः 'आम' दोष उत्पन्न होता है। यह आम दोष दूसरे स्वस्थ स्रोतों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में जाकर रोगों को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, जुकाम होने पर दूषित नासा स्रोत से दोष चल कर कण्ठ के स्रोतों में पहुँच जाता है, जिससे खाँसी उत्पन्न होती है। इन स्रोतों से दोष कान में पहुँच कर कान में पीड़ा, बहरापन, भारीपन, आदि रोगों को, शिर के वाताशयों (साइनस) में जाकर शिरःशूल; प्राणवह स्रोतों (फेफड़ों) में जाकर यक्ष्मा (टी0बी0) को तथा प्राणवह स्रोतों में स्थित दोष महास्रोत में जाकर अतिसार (दस्त), आदि रोग उत्पन्न करते है अतः स्रोतों को स्वस्थ रखना आवश्यक है।

♦ स्रोतों की संख्या

हमारे शरीर में छोटे-बड़े असंख्य स्रोत है। कुछ स्रोत तो बड़े होते हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से देख सकते है, जैसे जठरान्त्र-प्रणाली, धमनियाँ, शिराएं, लसीका, जनन-मूत्र प्रणाली जबकि कुछ स्रोत बहुत सूक्ष्म है, जिन्हें अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से ही देखा जा सकता है, जैसे-सूक्ष्म कोशिकाएं।[217]

---

216. तानि दुष्टानि रोगाय विशुद्धानि सुखाय च।।
ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्थानस्थान् मार्गस्थोश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेपि तम् स्त्रोतासि च।
स्त्रोतांसि धातवश्च धातून्
तेषां सर्वेषामेव दूषिसितारो दुष्टा दोषाः।। — अ.ह.शा. 3/42

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्त्रोतसां स प्रदूषकः।। — अ.सं.शा. 6

अतिप्रवृतिः संङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्त्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।। — च.वि. 5/23

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संङ्ग खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।। — च.वि. 5/24

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृति तत्र खे वर्षमिव तोयदः।। — सु.सू. 24/19

प्रतिरोगमिति कुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते।। — च.चि. 15/37

— अ.ह.नि. 1/23

Scanned by CamScanner

क्र. सं.	स्रोत का नाम व कार्य	नियन्त्रक अंग	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
1.	प्राणवह स्रोत (जीवन शक्ति व प्राण का वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व भोजन प्रणाली	क्षय, स्वाभाविक वेगों को दबाना, रूखे भोजन का अधिक सेवन, भूखे पेट व्यायाम।	रुकावट के साथ उथले रूप में व तेज़ गति से श्वसन क्रिया का होना। दमा रोग इसी से सम्बद्ध है।	श्वसन-सम्बन्धी रोगों (जैसे-दमा आदि) के समान चिकित्सा।
2.	उदकवह स्रोत (जल व द्रव तालू, क्लोम पदार्थों को वहन करने वाले स्रोत)	तालू, क्लोम	अधिक गर्मी व लू लगना, अपच, शराब का अधिक सेवन अत्यन्त रूक्ष भोजन का सेवन, अधिक प्यासा रहना।	तालू ओष्ठ, जिह्वा व कण्ठ का सूखना।	तृष्णा या अधिक प्यास की चिकित्सा
3.	अन्नवह स्रोत (मुख से ग्रहण किये गये अन्न को वहन करने वाले स्रोत)	आमाशय, बाँया भाग	असमय में व अधिक मात्रा में भोजन करना, अपथ्य आहार का सेवन, मन्दाग्नि।	भूख का नष्ट होना, (अरुचि) अपच, उल्टी	आमदोष या अपच आदि के लिए बताई गई चिकित्सा
4.	रसवह स्रोत (आहार रस, लसीका आदि वहन करने वाले स्रोत)	हृदय व हृदय से सम्बन्धित दस वाहिनियाँ	चिन्ता एवं अत्यन्त भारी, शीत व अधिक स्निग्ध भोजन का सेवन।	अरुचि, जी मिचलाना भारीपन, तन्द्रा, बेहोशी, रक्ताल्पता, नपुंसकता।	लंघन चिकित्सा या उपवास आदि
5.	रक्तवह स्रोत (रक्त को विशेषत : हीमोग्लोबिन अंश का वहन करने वाले स्रोत)	यकृत, प्लीहा	तीखे, उष्ण व स्निग्ध भोजन का सेवन, धूप व आग का अधिक सेवन।	चमड़ी के भयानक रोग रक्त स्राव, व्रण, गुदा एवं जननांगों में सूजन	रक्त-मोक्षण (शरीर के रोग वाले भाग से रक्त निकलवाना)
6.	मांसवह स्रोत (मांस तन्तुओं के तत्वों को ले जाने वाले स्रोत)	कण्डराएँ त्वचा, अस्थिबन्ध के तन्तु (स्नायु)	भोजन के तुरन्त बाद सोना, बार-बार अधिक मात्रा में तथा गुरु व ठोस भोजन का सेवन।	अर्बुद, मांसार्बुद, अर्श, तालूशोथ, गलगण्ड, तुण्डिकेरी अन्य अर्बुद आदि (जिनमें कैंसर का अर्बुद भी हो सकता है।)	शल्य चिकित्सा, (चीर-फाड़ आदि) क्षार-कर्म तथा दहन क्रिया (जलाने की क्रिया)

217. प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति:,
वातपित्तश्लेष्मणां पुन: सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्त्रोतांस्ययनभूतानि
तद्वदतीन्द्रियाणां पुन: सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च।
तथाऽपराण्यन्त: स्त्रोतांसि जीविताथतननि त्रयोदश
प्राणोभान्नधातुमलानामायतनानि।। च.वि. 5/6 अ.सं.शा. 6

Scanned by CamScanner

क्र. सं.	स्रोत का नाम व कार्य	नियन्त्रक अंग	दूषित होने के कारण	लक्षण	चिकित्सा
7.	मेदोवह स्रोत (वसा तत्वों को वहन करने वाले स्रोत)	गुर्दे उदरगत मेद (चर्बी)	दिन में सोना, व्यायाम न करना, अधिक स्निग्ध भोजन व मदिरा का सेवन।	मूत्र-सम्बन्धी कष्टकर रोग, मधुमेह आदि।	अपतर्पण या दुर्बल करने वाली चिकित्सा
8.	अस्थिवह स्रोत (अस्थि के पोषक तत्वों का वहन करने वाले स्रोत)	कटि अस्थि, ऊतक, नितम्ब	अधिक व्यायाम, अस्थियों का आपस में रगड़ खाना, वातिक आहार का सेवन।	नाखूनों व दांतों का टूटना, हड्डियों में पीड़ा, बालों में परिवर्तन (क्योंकि बाल, अस्थि का (उत्पाद) या मल है)।	पञ्चकर्म विशेषरूप से तिक्त औषधियों से पकाये गये घी और दूध की वस्ति (एनिमा) देना
9.	मज्जावह स्रोत (मज्जा-अस्थियों व सन्धियों सम्बन्धी पौष्टिक तत्वों का वहन करने वाले स्रोत)	अस्थियां व सन्धियां	विरुद्धाहार (जैसे-मछली के साथ दूध, गर्म पदार्थो के साथ शहद) का सेवन, कुचले जाने या दबाव आदि से मज्जा में चोट लगना।	सन्धिशूल (जोड़ों में दर्द) भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिनाश, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना, गम्भीर विद्रधि आदि	मधुर और तिक्त रस वाले पदार्थो का सेवन, सम्भोग, व्यायाम एवं उचित समय और मात्रा में दोषों का विसर्जन कराना।
10.	शुक्रवह स्रोत (शुक्र व रजतथा उनके लिए पोषक तत्व ले जाने वाली वाहिनियाँ)	अण्डकोश व डिम्बाशय	असमय में तथा अप्राकृतिक ढंग से सहवास, सहवास का अधिक या सहवास की इच्छा को दबाना।	नपुंसकत्व, बन्ध्यत्व (बांझपन), गर्भपात विकृत गर्भ।	
11.	मूत्रवह स्रोत (मूत्र को वहन करने वाले स्रोत)	गुर्दे व बस्ति	मूत्र के वेग-काल में भोजन तथा पेय पदार्थो का सेवन व सहवास करना, मूत्र वेग को रोकना (विशेष रूप से क्षय ग्रसित रोगी द्वारा)	मूत्र-त्याग अधिक मात्रा में होना या बिल्कुल न होना, बार-बार मूत्र का होना, मूत्र का गाढ़ा होना।	मूत्रकृच्छ (कठिनता से मूत्रत्याग) के समान चिकित्सा।
12.	पुरीषवह स्रोत (पुरीष का वहन करने वाले स्रोत)	बडी आँत व मलाशय	पुरीष के वेग को रोकना, पहले किये गये भोजन के पचने से पूर्व दोबारा भोजन करना, मन्दाग्नि।	मल का अधिक मात्रा में होना या कम होना तथा कठिन मल का विसर्जन।	अतिसार (दस्त) के समान चिकित्सा
13.	स्वेदवह स्रोत (स्वेद का वहन)	वसा-तन्तु व रामकूप	व्यायाम अधिक करना, क्रोध शोक व भय से ग्रस्त रहना	पसीना अधिक आना या बिल्कुल न आना	ज्वर के समान चिकित्सा

Scanned by CamScanner

ओ३म्

आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य

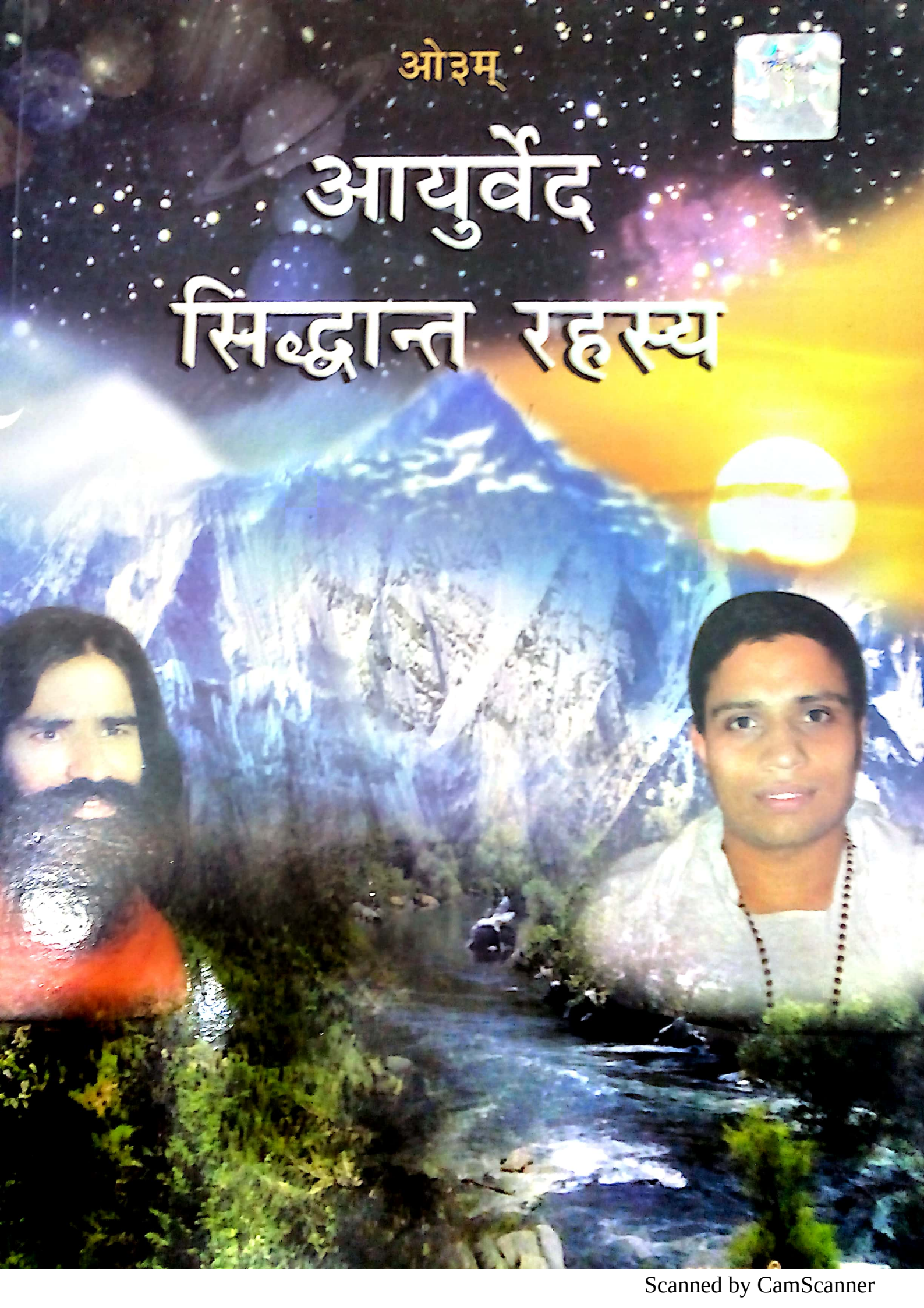

Scanned by CamScanner

13. आत्मा

आत्मा क्या है?

आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है- पुरुष अर्थात् शरीर को स्वस्थ रखना।[218] इस पुरुष का निर्माण केवल कुछ महाभूतों और रासायनिक जड़ पदार्थों के मिश्रण से ही नहीं हुआ है बल्कि पंच महाभूत, मन, बुद्धि और आत्मा के संयोग का नाम ही पुरुष या जीवन है।[219] पंचमहाभूतों के साथ-साथ उनसे निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन भी जड़ हैं। इनमें एक चेतन तत्व है- आत्मा।[220] इसे ही सब कर्मों का कर्ता और कर्म-फल का भोक्ता माना जाता है, क्योंकि सारी इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर भी यदि आत्मा निकल जाए, तो शरीर मृत कहलाता है। इस अवस्था में कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती और न ही शरीर किसी प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है अतः आत्मा को ही चेतना का अधिष्ठान (आधार) माना गया है।[221]

शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। यह नित्य है तथा शरीर से भिन्न है। मृत्यु के समय देह का नाश होने पर यह कर्मानुसार दूसरे देह में प्रवेश करता है। चेतन होते हुए भी, स्वतन्त्र रूप से शब्द, स्पर्श, रूप, आदि विषयों का ज्ञान-प्राप्ति के लिए इसके साथ करणों (अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियां) का संयोग होना आवश्यक है।[222] जब आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय विषय से जुड़ता है, तभी ज्ञान प्राप्त हो पाता है।[223]

♦ आत्मा के गुण

1- सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, श्वास-उच्छवास, (श्वास लेना और बाहर निकालना), निमेष-उन्मेष (पलक झपकना और खोलना), बुद्धि (विचार), मन का संकल्प, स्मृति, विज्ञान (शास्त्र का ज्ञान), इन्द्रियान्तर संचार (एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में जाना), शब्द आदि विषयों का ग्रहण, प्रेरणा,

---

218. "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकार प्रशमनं च।।" च.सू. 30/26
"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधि परिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणञ्च।।" सु.सू. 1/22

219. "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते।।" च.सू. 1/42

220. "तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः" च.सू. 30/22

221. "तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम्।।" च.शा. 6/4

222. "आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः।" (वैशेषिक दर्शन) 9/2/6
आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते। च.शा. 1/54

223. "मनः पुरः सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।
तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि।।" चरक सूत्र 8/7-8

Scanned by CamScanner

शरीर से स्वप्न में स्थानान्तर (दूसरे स्थान पर जाना), एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का दूसरी इन्द्रिय में पहुँचना (जैसे- बाईं आँख से देखी गई वस्तु का ज्ञान दाईं आँख को भी होना), धैर्य तथा अहंकार-ये सब गुण आत्मा के माने जाते हैं क्योंकि ये सब लक्षण केवल जीवित मनुष्य में ही मिलते हैं, मृत में नहीं। वस्तुत: आत्मा की विद्यमानता में ही सब इन्द्रियाँ और मन आदि करण कार्य करने में समर्थ होते हैं। आत्मा द्रष्टा रूप में ही स्थित रहता है।[224]

शरीर की चिकित्सा भी तभी तक की जाती है, जब तक उसमें आत्मा विद्यमान रहता है। आत्मा के निकल जाने पर मृत कहलाने वाले शरीर की चिकित्सा करना निरर्थक होता है।[225]

14. मन

शरीर में इन्द्रियाँ जो भी कार्य करती हैं, वे सब मन के सहयोग से ही करती हैं। मन के बिना कोई भी इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। अत: मन को महत्वपूर्ण अंग माना गया है।[226] इसकी गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में की जाती है, अत: यह उभयेन्द्रिय (दोनों प्रकार

---

224. प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गति:।
इन्द्रियान्तरसंचार: प्रेरणं धारणं च यत्।।
देशान्तरप्राप्ति: स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा।।
इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं प्रयत्नश्चेतना धृति:।
बुद्धि: स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मन:।।
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवत:।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षय:।।
शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते।।
प्राणापानावुच्छ्वासनि: श्वासौ।। — च.शा. 1/70-74

- "इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्, इति।" — चक्रपाणि च.शा. में न्याय दर्शन 1/1/10

प्राणोऽनिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा: — वै.द. 3/139
सुख दु:खेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।। — च.शा. 1/54
"आत्मा ज्ञ: करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते. — च.शा. 1/55
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा।"

225. "सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।।
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशित:।।" — च.सू. 1/46-47

226. "मन: पुन: सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति।।" — च.सू. 8/7
"अतिक्रान्तमिन्द्रियमतीन्द्रियम् चक्षुरादीनां यदिन्द्रियत्वं बाह्यज्ञानकारणत्वं, तद् त्रिकान्तमित्यर्थ: — चक्रपाणि

Scanned by CamScanner

की इन्द्रिय) कहलाता है।[227]

आयुर्वेद, योगशास्त्र और इससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों में मन (Mind) के लिए 'मनस' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह 'मन' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-वह साधन या उपकरण, जो किसी घटना या विचार के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार है। अर्थों में अन्तर होते हुए भी चित्, हृदय, स्वान्त: तथा हृद-ये सब 'मनस' के संस्कृत पर्यायवाची शब्द हैं।[228]

मन का महत्व इसलिए अधिक माना गया है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रियों और आत्मा को आपस में जोड़ने वाली कड़ी है, जिसकी सहायता से ज्ञान-प्राप्ति होती है।[229] यह निर्जीव (जड़) तत्व है, जिसमें रंग, स्पर्श आदि का ज्ञान और आनन्द, पीड़ा आदि की अनुभूतियाँ नहीं पाई जाती। हाँ, इन सब की अनुभूति तभी हो पाती है, जब यह मन आत्मा के संसर्ग में आता है। प्रत्येक आत्मा में मन होता है, जो उसका आन्तरिक सहायक माना जाता है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्त करने का बाहरी साधन है, उसी प्रकार 'मन' ज्ञान-प्राप्ति का आन्तरिक साधन है क्योंकि यह अन्त:करण के चार अंगों में एक प्रमुख अंग है।

आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी और मन लगाम है। विद्वानों ने इन्द्रियों को घोड़े, विषय को उसके आवागमन का मार्ग तथा मनोयुक्त जीवात्मा को इसके प्रयोगकर्ता के रूप में माना है। जो सदा ज्ञानरहित अर्थात अविवेक, बुद्धि एवं असंयमित मन युक्त रहता है उसकी इन्द्रियाँ बिना सारथी के दुष्ट घोड़े की भाँति हो जाती है।[230]

♦ मन का स्थान

मन का निवास हृदय और मस्तिष्क में माना गया है। ये दोनों ही अंग आपस में सम्बन्धित है, अत: इनके कार्य भी एक-दूसरे पर आधारित है आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'हृदय' को मन का निवास

---

227. "अतीन्द्रियं पुनर्मन: सत्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसंपत्तदायत्तचेष्टं चेष्टा प्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्।" च.सू. 8/4

228. "मन्यते अवबुध्यते ज्ञायते अनेन इति मन:।" "मननात् मन:" "चिन्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं, हृन्मानसं मन:।" अमरकोश

229. "लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।।" च.शा. 1/18

230. "आत्मानं रथिन विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथि विद्धि मन: प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहु: विषयांतेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:।।
यस्त्वविज्ञानवान भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे:।।" कठोपनिषद् 3/3-5

Scanned by CamScanner

स्थान कहा गया है, तो योग के ग्रन्थों में हृदय और मस्तिष्क दोनों को।[231]

♦ आकार तथा संख्या

आयुर्वेद के अनुसार, मन परमाणु आकार का है। यह संख्या में एक है तथा भौतिक है।[232]

♦ मन का कार्य

मन का प्रमुख कार्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा एकत्र किये गये उत्तेजकों का ज्ञान प्राप्त करना, तथा उस ज्ञान को अहंकार, बुद्धि आदि तक पहुँचाना है। मन ही प्रतिक्रिया के रूप में यह ज्ञान कर्मेन्द्रियों तक पहुँचाता है। इसके परिणामस्वरूप कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त कर पाती हैं।[233]

♦ मन के गुण और शक्तियाँ

शरीर में वायु आदि तीनों दोषों की ही भाँति मन में भी तीन प्रकार के गुण सभी मनुष्यों में पाये जाते है- 1)सत्त्व, 2)रजस्, और 3)तमस्। ये तीनों ही गुण सभी मनुष्यों में पाये जाते है, किन्तु किसी में कोई एक गुण अधिक मात्रा में पाया जाता है, तो किसी में कोई दूसरा।[234] सत्व गुण प्रकाश अथवा ज्ञान का संकेत करता है; रजस् गुण क्रियाशीलता (कार्य में प्रवृत्ति) का; और तमस् गुण जड़ता और आलस्य का प्रतीक है।

इन तीनों गुणों के आधार पर मानसिक शक्तियाँ भी तीन प्रकार की है- सात्विक, राजसिक और तामसिक। ये तीन ही मन की प्रकृतियाँ मानी जाती है। सात्विक प्रकार के मन में शुभ लक्षण, चेतना तथा पवित्रता आदि की अधिकता होती है। राजसिक प्रकार का मन क्रोधी एवं चंचल होता है, तो तामसिक प्रकार के मन में अज्ञानता और जड़ता अधिक पाई जाती है। इसी आधार पर तीनों प्रकार की प्रकृतियों वाले मनुष्यों में सामान्य लक्षण पाये जाते है, जो निम्नलिखित है:

I. सात्त्विक प्रकृति मनुष्य

सात्त्विक प्रकृति वाले मनुष्य में सत्त्व गुण की प्रधानता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता होती है। इस कारण उसमें विवेक, क्षमा, सन्तोष, मृदुता, दया, लज्जा, सरलता, मन तथा इन्द्रियों की निर्मलता, अनासक्ति, लघुता परोपकार, आदि गुण अधिक मात्रा में पाये जाते है।[235]

---

231. "षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेताश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।।" च.सू. 30/4

232. "अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।" च.शा. 1/19

233. "इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। च.शा. 1/21
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते।।" च.शा. 1/22
"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते..... दोषतोऽथवा।"

234. "तत् (सत्वं) त्रिविधमाख्यायते-शुद्धं, राजसं, तामस मिति।।" च.शा. 3/13
"यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरूषमनुवर्तते सत्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्।।" च.सू. 8/6

235. "सात्त्विकास्तु-आनृशस्यं संविभाग रूचिता तितिक्षा.
सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च।" सु.शा. 1/23

Scanned by CamScanner

II. राजसिक प्रकृति मनुष्य

राजसिक प्रकृति वाले मनुष्य में रजस् गुण की प्रधानता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता होती है। इस व्यक्ति मे चंचलता, द्वेष, तृष्णा, अहंकार, मद, लोभ, चुगली, शोक, विषयासक्ति तथा इन सबके परिणामस्वरूप दु:ख की प्राप्ति अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।[236]

III. तामसिक प्रकृति मनुष्य

तामसिक प्रकृति वाले मनुष्य में तमस् गुण की अधिकता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता पाई जाती है। इस प्रकृति के व्यक्ति में मिथ्या ज्ञान, अज्ञान, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, निष्क्रियता, दीनता, मोह एवं गुरुत्व (भारीपन) आदि विशेषताएँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।[237]

इन तीनों गुणों की मात्रा में न्यूनता और अधिकता होने तथा अलग-अलग अनुपात में इसका संयोग होने से मन की स्थिति असंख्य प्रकार की दिखाई देती है।

♦ मन और आयुर्वेद

यह अनुभूत तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक गुणों का प्रभाव उसके मन पर पड़ता है, तो उसके मानसिक गुणों का प्रभाव उसके शारीरिक गुणों पर भी पड़ता है। अत: आयुर्वेद में रोगों की चिकित्सा करते हुए रोगी के शरीर और उसकी मानसिक स्थिति को भी ध्यान में रखा गया है। वैसे आयुर्वेद में रोगों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है-

1) शारीरिक और

2) मानसिक।[238]

शारीरिक रोगों में रोग का मुख्य आधार शरीर को माना गया है, तो मानसिक रोगों में मन को परन्तु दोनों ही प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में मन का योगदान रहता है। शरीर की भौतिक और शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण मानसिक तत्व करते है तो मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण शारीरिक तत्व। अत: शरीर और मन का आपस में गहरा सम्बन्ध है इसीलिए शारीरिक रोगों की चिकित्सा में जहाँ मन को स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाता है, वहीं अनेक मानसिक उपायों का प्रयोग भी किया जाता है।

---

236. "राजसास्तु- दु:ख बहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकृत्वमकारूण्यं दम्भो मानो हर्ष: काम: क्रोधश्च।।" सु.शा. 1/24

237. "तामसास्तु - विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति।" सु.शा. 1/25

238. ''शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधिनामाश्रयो मत:।'' च.सू. 1/55

Scanned by CamScanner

द्रव्य – परिचय

पिछले अध्याय में हमने शरीर को धारण करने वाले विभिन्न तत्वों जैसे- दोष धातु, मल, स्रोत आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट हुआ कि शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए इन सभी तत्वों को एक उचित मात्रा में और स्वस्थ अवस्था में होना चाहिए। यदि किसी दोष, धातु आदि में आवश्यकता से अधिक वृद्धि या कमी हो जाती है तो उसे क्रमशः विपरीत अथवा समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन (भोजन या बाह्य प्रयोग) से सन्तुलित मात्रा में लाया जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान कैसे हो कि कौन सा द्रव्य किस दोष, धातु आदि के समान गुणों वाला है या कौन सा विपरीत गुणों वाला? इस सबको जानने के लिए हमें द्रव्य के विभिन्न पक्षों के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्माण्ड में प्रत्येक वस्तु की रचना पाँच महाभूतों के मिश्रण से हुई है।[239] शरीर में स्थित दोषों, धातुओं के समान ही प्रत्येक द्रव्य का निर्माण भी इन्हीं पाँच महाभूतों के मिश्रण से ही हुआ है। किसी भी द्रव्य के आकार अथवा रंग के आधार पर हम उसमें विद्यमान प्रधान महाभूतों के बारे में अनुमान नहीं लगा सकते, इसके लिए हमें उस द्रव्य में पाये जाने वाले रस, वीर्य, विपाक, गुण आदि के बारे में जानकारी होनी चाहिए। इसी के आधार पर कोई वैद्य रोगी की प्रकृति आदि के अनुसार औषधि-द्रव्यों और आहार-द्रव्यों को चुनता है।

सभी औषधि द्रव्यों को अनेक प्रकार के भेदों में बाँटा गया है। मुख्य रूप से इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है:[240]

1. पार्थिव द्रव्य : जो द्रव्य पृथ्वी पर अथवा पृथ्वी के भीतर पाये जाते हैं, वे इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। मिट्टी, सुधा (चूना), रेत, पत्थर, नमक, क्षार पदार्थ, अंजन, गेरू विभिन्न धातुएं (जैसे - लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि), पारा (Mercury), उपरस, विभिन्न प्रकार के मणि, रत्न आदि इस प्रकार के द्रव्य है।[241]

2. जांगम द्रव्य : इस श्रेणी में पशु-जगत् से प्राप्त विभिन्न औषधि-द्रव्य आते हैं। चर्म (चमड़ा) रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, दूध, पित्त, केश, लोम, नाखून, स्नायु, सींग, दाँत, खुर, कोष्ठ, अण्डाशय, पंख आदि।[242]

---

239. सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। — च.सू. 26/10

240. "तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम्। — च.सू. 1/69

241. सुवर्णसमलाः पञ्चलोहाः ससिकताः सुधा।
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने।। — च.सू. 1/71

242. मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जाऽसृगामिषम्।। — च.सू. 1/69
विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखाः खुराः।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः।। — च.सू. 1/70

Scanned by CamScanner

3. औद्भिद (भूमि को फाड़ कर बाहर निकलने वाले) द्रव्य[243] : इस श्रेणी में पेड़ पौधे व उनसे प्राप्त द्रव्य आते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, फल, फूल, जड़ें, पत्ते, बीज, कन्द, शाखाएँ, पेड़ों की छाल, निर्यास (पेड़ से निकलने वाला रस), गोंद आदि पदार्थ पाये जाते है।

सभी द्रव्यों को महाभूतों के आधार पर पाँच भागों में भी बाँटा जाता है। वैसे तो प्रत्येक द्रव्य में सभी महाभूत विद्यमान होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्य पृथ्वी का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति का कारण जल है तथा शेष तीन भूतों-अग्नि, वायु और आकाश के मिलने से इनकी पूरी रचना होती है और परस्पर भिन्नता आती है। परन्तु सभी में किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है। इस आधार पर इन्हें निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा गया है :

1. पार्थिव द्रव्य,
2. आप्य या जलीय द्रव्य,
3. वायव्य द्रव्य,
4. तैजस या आग्नेय द्रव्य, और
5. आकाशीय द्रव्य।

इन सभी प्रकार के द्रव्यों के गुणों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

आयुर्वेद की दृष्टि से द्रव्यों का विवेचन करने के लिए रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि में रस तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अतः सर्वप्रथम रस का विवेचन किया जा रहा है।

1. रस (Taste)

द्रव्यों में महाभूतों की विद्यमानता जानने के लिए रस आधारभूत तत्व है। किस द्रव्य में कौन सा रस है? यह जानने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। त्वचा से स्पर्श के ज्ञान की तरह ही जिह्वा के स्पर्श से किसी द्रव्य के रस का ज्ञान मिलता है।[244] किसी विशेष द्रव्य का, व्यक्ति के शरीर पर, क्या प्रभाव पड़ता है? इस आधार पर भी रस का अनुमान लगाया जा सकता है।

मूल रूप से रस छः प्रकार के माने गये है[245]- मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), तिक्त (तीता), कटु (कड़वा) और कषाय (कसैला)। इनमें सबसे पहला रस (मधुर) सबसे अधिक बल प्रदान करने वाला है और अगले-अगले रस अपेक्षाकृत क्रमशः कम बल प्रदानकरने वाले हैं। इस प्रकार कषाय रस सबसे कम बल प्रदान करने वाला है।

---

243. उद्भिद्य पृथिवीं जायते इति औद्भिदम् वृक्षादि। — च.द.

244. रसेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स रसः। — शि
रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। — च.द.
रसनार्थो रसस्तस्य। — च.सू. 1/64

245. स्वादुरम्लोऽथलवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः।। — च.सू. 1/65

Scanned by CamScanner

♦ रस और पंच महाभूत :

वैसे तो रस जल का स्वाभाविक गुण है, परन्तु जल में भी रस की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) तभी होती है, जब इसका संसर्ग अन्य महाभूतों के परमाणुओं के साथ होता है। अत: प्रत्येक रस में अलग-अलग महाभूतों की प्रधानता पाई जाती है, जो इस प्रकार है[246]

	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
रस :	मधुर	अम्ल	लवण	कटु	तिक्त	कषाय
महाभूत:	पृथ्वी	पृथ्वी	जल	वायु	वायु	वायु
	जल	अग्नि	अग्नि	अग्नि	आकाश	पृथ्वी

प्रत्येक रस में पाये जाने वाले प्रमुख महाभूतों के अनुसार ही उस द्रव्य का व्यक्ति के शरीर में विद्यमान दोषों, धातुओं आदि पर प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि मूल रूप से रस छ: हैं, परन्तु अलग-अलग प्रकार से भिन्न अनुपात में इनके मिश्रण से तो असंख्य रस बन जाते हैं। इस के अतिरिक्त एक अनुरस या उपरस भी होता है, जो जिह्वा पर पहले तो स्पष्टत: प्रकट नहीं होता, परन्तु बाद में हलका सा प्रकट होता है।[247]

♦ रस और दोष :

रसों में अलग-अलग महाभूतों की प्रधानता के अनुसार कोई एक रस, एक दोष में वृद्धि करता है, तो दूसरे दोष का क्षय करता है। जैसे:[248]

रस	दोषों में वृद्धि	दोष का क्षय
मधुर	कफ	वायु, पित्त
लवण	कफ, पित्त	वायु
अम्ल	पित्त, कफ	वायु

---

246. तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रस:,
पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्ल:, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवण:,
वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुक:, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्त:,
पवनपृथिवीव्यतिरेकात्कषाय इति।। — च.सू. 26/40

क्ष्माऽम्भोऽग्निक्ष्माम्बुतेज: खवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलै:।
द्वयोल्वणै: क्रमाद्धूतैर्मधुरादिरसोद्भव:।। — अ.ह.सू. 10/1

247. तत्र यो व्यक्त: स रस:,
यस्तु रसेनाभिभूतत्वान्न व्यज्यते व्यज्यते वा किंचिदन्ते सोऽनुरस:। — यो.

Scanned by CamScanner

रस	दोषों की वृद्धि	दोष का क्षय
कटु	पित्त, वायु	कफ
तिक्त	वायु	पित्त, कफ
कषाय	वायु	पित्त, कफ

रस और धातु :

छः रसों और धातुओं का भी आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्यतः -

मधुर, अम्ल, लवण रस	धातुओं के परिमाण में वृद्धि
कटु, तिक्त, कषाय रस	धातुओं के परिमाण में क्षय
तिक्त रस	मेदस्, मज्जा और लसीका का क्षय
अम्ल रस	शुक्र का क्षय

रस और मल :

मधुर, अम्ल, लवण रस	मल - पदार्थों के विसर्जन में सहायक (अतः कब्ज में उपयोगी)
कटु, तिक्त, कषाय रस	मल - पदार्थों को धारण करने में सहायक (अतः अतिसार में उपयोगी- कषाय रस विशेष रूप से)

♦ रसों के दो विभाग :

पाचन की दृष्टि से इन रसों को विदाही (हज़म होते समय खट्टी डकारें) तृषा या अत्यधिक प्यास, हृदय में जलन उत्पन्न करने वाले) और अविदाही (हजम होते समय जलन आदि उत्पन्न न करने वाले) तथा मूर्च्छा का शमन करने वाले) दो प्रकार का माना गया है।[249]

विदाही - कटु, अम्ल और लवण रस

अविदाही - मधुर, तिक्त और कषाय रस

---

248. स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः।। च.सू. 1/66

249. कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः।
स्वादुतिक्तकषायाः स्भुविदाहरहिता रसाः।। र.वै.धा.

Scanned by CamScanner

♦ रसों की पहचान और गुण–कर्म :

♦ मधुर रस :

जो रस खाने पर मुख में चिपचिपापन उत्पन्न करता है, शरीर को पोषण प्रदान करता है,[250] इन्द्रियों को स्वच्छ करता है तथा चींटी आदि का प्रिय होता है, वह मीठा या मधुर रस होता है।

मधुर रस से युक्त पदार्थ (औषधि और आहार द्रव्य) जन्म से ही सात्म्य (अनुकूल) होते हैं। अत: यह रस रस से शुक्र तक सभी धातुओं की वृद्धि करके बलवान् बनाते है और आयु को बढ़ाते हैं। ये पदार्थ शक्ति बढ़ाते और रंग को निखारते हैं। इनके सेवन से पित्त और वायु दोष शान्त होते हैं, विष का प्रभाव कम होता है। ये शरीर को स्थिरता, लचीलापन, शक्ति और सजीवता प्रदान करते हैं, नाक, गला, मुख, जीभ तथा होंठों को चिकना और मुलायम बनाते हैं। मधुर रस वाले पदार्थ स्निग्ध, शीत और भारी होते हैं। केश, इन्द्रियों और ओज के लिए उत्तम है, दूध बढ़ाने वाले और सन्धान कारक हैं। अत: दुबले-पतले और क्षीण शरीर वाले व्यक्तियों, बालकों, वृद्धों और रोग आदि से कमजोर हुए लोगों के लिए विशेष रूप से लाभकारी है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर भी मधुर रस वाले पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में कफ दोष बढ़ जाता है। परिणामत: मोटापा, आलस्य, अतिनिद्रा, शरीर में भारीपन, भूख न लगना, पाचन शक्ति की कमी, प्रमेह (मूत्र सम्बन्धी रोग मधुमेह आदि) मुख तथा गर्दन आदि में मांस का बढ़ना, मूत्रकृच्छ (मूत्र का रुक-रुक कर या कठिनाई से आना) खाँसी, जुकाम, जुकाम के साथ बुखार, मुँह का मीठा स्वाद, संवेदन (sensation) की कमी, आवाज़ में कमज़ोरी, गलगण्ड, गण्डमाला, गले में सूजन, गले में चिपचिपाहट, नेत्र-अभिष्यन्द (Conjuntivitis) जैसे रोग बहुत आसानी से आक्रमण कर देते हैं।[251] अत: मोटे, अधिक चर्बी वाले, मधुमेह से पीड़ित तथा पेट में कीड़े होने पर मधुर रस का सेवन कम से कम करना चाहिए।

---

250. तत्रमधुरोरस: शरीर सात्म्याद्रसरूधिर मांस मेंदोऽस्थिमज्जौज:,
शुक्राभिवर्धन आयुष्य: षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकर:,
पित्तविषमारूतघ्नस्तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्य: केश्य:कण्ठयो बल्य:
प्रीणनोजीवनस्तर्पणोबृंहण: स्थैर्यकर: क्षीणक्षनतसन्धानकरो,
घ्राणमुखकण्ठौष्ठजिह्वाप्रह्लादनी दाहमूर्च्छा प्रशमन:,
षट्पदर्पिपीलिकानामिष्टतम: स्निग्ध: शीतो गुरूश्च। — च.सू. 26/42
तत्रय: परितोषमुत्पादमति, प्रह्लादयति, तर्पयति, जीवयति,
मुखोपलेपंजनयति, श्लेष्माणंचाभिवर्धयति समधुर: — सू.सू. 42/11

251. अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निदीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति,
मनोबोधयति, इन्द्रियाणिदृढ़ीकरोति, बलंवर्धयति, वातमनुलोमयति।। — च.सू. 26/42
यो दन्तहर्षमुत्पादयति, मुखास्रांवजनयति, श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्ल:।। — सू.सू. 42/11

Scanned by CamScanner

द्रव्य : घी, सुवर्ण, गुड़, अखरोट, केला, नारियल, फालसा, शतावरी, काकोली, कटहल, बला, अतिबला, नागबला, मेदा, महामेदा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, जीवक, महुआ, मुलहठी, विदारी, वंशलोचन, दूध, गम्भारी, ईख, गोखरू, मधु और द्राक्षा : ये सब मधुर द्रव्य कहलाते हैं।

अपवाद : पुराना शालि धान्य (चावल), पुराने जौ, मूँग, गेंहूँ, शहद मधुर रस वाले होने पर भी कफ को नहीं बढ़ाते।

♦ अम्ल रस :

जिस रस का सेवन करने से मुख से स्राव होता है, जो रोमांच तथा दन्तहर्ष करता है और आँखों एवं भौहों को संकुचित करता (सिकोड़ता) है, वह अम्ल रस होता है।

यह रस पदार्थो को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाता है तथा भूख को बढ़ाता है। यह स्पर्श में शीतल होता है। इस रस वाले पदार्थ शरीर को पुष्ट और बलशाली बनाते हैं। मस्तिष्क को अधिक सक्रिय हृदय को पुष्ट और ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाते एवं शरीर को ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसका रस, भोजन को निगलने और उसे द्रवित (गीला) करने में सहायक होता है और गति बढ़ाकर अन्न को नीचे की ओर ले जाकर भी पाचन क्रिया को बढ़ाता है। अम्ल रस वाले पदार्थ ताज़गी प्रदान करने वाले, मूढ़वात, मूत्र तथा पुरीष (stool) के अनुलोमक (नीचे ले जाने वाले), लघु (पचने में हल्के) उष्ण तथा स्निग्ध होते हैं। कच्चे फलों में प्राय: अम्ल रस पाया जाता है।

अम्ल रस का अधिक सेवन करने से पित्तदोष में वृद्धि हो जाती है। इससे अधिक प्यास, रोमांच होना (horripilation) दाँतों में विकार (जैसे- दाँतों का खट्टा होना आदि), कफ का पिघलना, माँसपेशियों की टूट-फूट, दुर्बल शरीर वालों में सूजन, क्षीणता, कमज़ोरी आदि शरीर में शिथिलता, कण्डू, तिमिर (आँखों के सामने अन्धेरा), भ्रम (चक्कर), कण्डू (खुजली) त्वचा के रोग (विसर्प, विस्फोट आदि) चोट या कटने आदि से होने वाले घावों का पक जाना व उनमें पूय (pus) भर जाना, हड्टी का टूटना, गले, हृदय तथा छाती में जलन, ज्वर आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।[252] अत: त्वचा रोग, आघात, श्वास, खाँसी, गला खराब व जोड़ों में पीड़ा आदि होने पर रोगी को अम्ल रस वाले पदार्थो का सेवन नहीं करना चाहिए। कृश (पतले) और दुर्बल एवं स्निग्ध (चिकने) अन्न-पान का सेवन न करने वालों को भी अम्ल पदार्थो का सेवन कम से कम करना चाहिए।

अपवाद : अनार या अनारदाना और आंवला अम्ल रस होते हुए भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते।

द्रव्य : आंवला, इमली, नींबू, अम्लवेंतस, अनार, चाँदी, तक्र, चुक्र, दही, आम, आम्रातक, कमरख, कैथ और करौदा ये अम्ल द्रव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

---

252. दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांस विदहति; कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति च.सू. 26/42

Scanned by CamScanner

♦ लवण रस :

जो रस सेवन करने पर मुख से लार टपकाता है तथा गले और कपोल में जलन पैदा करता है, वह लवण रस कहलाता है।

लवण रस वाले पदार्थ वातानुलोमक (वायु की गति नीचे की ओर करने वाले), चिपचिपाहट पैदा करने वाले, तीक्ष्ण, पाचक, रुचि उत्पन्न करने वाले छेदक और भेदक होते हैं। ये अंगों की अकड़ाहट, शरीर के स्रोतों की रुकावट, जमी हुई चर्बी और मल पदार्थों के अधिक संचय को दूर करते हैं।[253] लवण रस वाले पदार्थ न बहुत अधिक चिकने, न अधिक गर्म होते हैं और न अधिक भारी होते हैं। यह रस अन्य रसों के प्रभाव को कम कर देता है।

अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह रस पित्त दोष के साथ रक्त को भी प्रकुपित करता है। इससे अधिक प्यास, अधिक गर्मी लगना, जलन, मूर्च्छा, रस रक्त आदि धातुओं का क्षय, कुष्ठ या अन्य चर्म रोग से पीड़ित स्थान की त्वचा का गलना- सड़ना मुखपाक, नेत्र पाक, सूजन, त्वचा के रंग में विकार, शरीर के अंगों से रक्तस्राव, दाँतों का हिलना, विषैले लक्षण, पौरुष में कमी, गंजापन, बालों का सफेद होना झुर्रियां पड़ना, विसर्प (Erysipelas -एक प्रकार का चर्म रोग), दाद, वातरक्त (gout), अम्लपित्त (hyper acidity), घाव में वृद्धि, बल और ओज का नाश आदि विकार उत्पन्न होते हैं।[254] लवण आँखों के लिए अपथ्य बताया गया है। यही कारण है कि किसी प्रकार के त्वचा के रोगी और उच्च रक्तचाप होने पर नमक का परहेज़ बताया जाता है।

द्रव्य : सेंधा नमक, सौर्वचल नमक, कृष्ण, बिड, सामुद्र और औद्भिद नमक, रोमक, पांशुज, सीसा और क्षार-ये लवण रस वाले द्रव्य हैं।

अपवाद : सेंधा नमक (सैंधव) उपरोक्त हानियाँ उत्पन्न नहीं करता।

♦ कटु रस :

सेवन करने पर यह रस मुख में चिमचिमाहट करता हुआ जीभ के अगले भाग को उत्तेजित करता है, आँख, नाक और मुख से स्राव करता है और कपोलों को जलाता है।

गुण–कर्म :

कटु रस वाले पदार्थ मुंह को स्वच्छ रखते हैं, शरीर में भोजन के आचूषण (absorption) में सहायक, भूख और पाचन शक्ति को बढ़ाते हैं। ये आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को निर्मल बना कर ठीक प्रकार से कार्य करने योग्य बनाते हैं। इनके सेवन से नाक व आँखों से मल-पदार्थों

---

253. पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरोविकास्यधः स्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसंघातविधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः — च.सू. 26/42
लवणः सशोधनः पाचनो विश्लेषणा क्लेदनः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति।। — सु.सू. 42/14

254. स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थुमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयीत, दारयति, कृष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि — च.सू. 26/42
स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्र कण्डूकोठशोफवैवर्ण्य पुंस्त्वोपघातेन्द्रयोपतापमुखाक्षिपाकरक्त पित्तवातशोणिताम्लिका प्रभृतिनापादयति। — सु.सू. 42/14

Scanned by CamScanner

का स्राव तथा स्रोतों से चिपचिपे मल-पदार्थों का निकास ठीक प्रकार से होता है। इस प्रकार ये पदार्थ अन्न, रस व रक्त के स्रोतों को खोलने वाले होते हैं। इस रस के सेवन से मोटापा, शीतपित्त (उदर्द), आँतों की शिथिलता, नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis), खुजली, घाव, पेट के कीड़े, संन्धियों की जकड़ाहट, गले के रोग, कुष्ठ, उदर्द, अलसक, आदि रोग दूर होते हैं। यह स्नेह, मेद, मांस और क्लेद को सुखाता है। कफ को शान्त करता है तथा जमे हुए रक्त का संचार करता है। ये पदार्थ भोजन को स्वादिष्ट बनाते हैं।[255]

अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये पदार्थ मूर्च्छा, घबराहट, तालू और होंठों में सूखापन, थकावट, श्वास, क्षीणता (कमज़ोरी), चक्कर, पौरुष, बल और वीर्य का क्षय करते हैं। इन पदार्थों में वायु और अग्नि महाभूत की अधिकता के कारण अधिक सेवन से टाँगों, हाथों व पीठ में जलन, ताप, फटने सा दर्द, चुभन और घाव जैसी पीड़ा कम्पन आदि विकार भी उत्पन्न होते हैं।[256]

द्रव्य : हींग, मरिच, विडङ्ग, पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलामूल, चव्य, चित्रक और शुण्ठी) और हरीतक वर्ग, सभी प्रकार के पित्त, मूत्र और भिलावा कटु रस वाले द्रव्य है।

अपवाद : सोंठ, पिप्पली और लहसुन कटुरस के अन्य पदार्थों के समान हानिकारक नहीं होते।

♦ तिक्त रस :

यह रस मुख से लिसलिसेपन को हटाता है और जीभ को जड़ बनाता है।

गुण–कर्म :

तिक्त रस स्वयं बुरे स्वाद वाला होते हुए भी अन्य पदार्थों को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाता है, इससे भोजन में रुचि बढ़ती है। तिक्त रस वाले पदार्थ विषैले प्रभाव, पेट के कीड़ों, कुष्ठ, खुजली, मूर्च्छा, जलन, प्यास, ज्वर एवं अन्य त्वचा के भयंकर रोगों को दूर करते है। ये वायु का अनुलोमन (नीचे की ओर गति) करते है शरीर में शुष्कता लाते है। अतः शरीर की नमी, चर्बी, मोटापा, मज्जा, लसीका (lymph), पूय, पसीना, मूत्र तथा पुरीष को सुखाते है, गले और यकृत को शुद्ध करते है और कार्य करने में समर्थ बनाते है। ज्वर और आम से उत्पन्न विषों का शीघ्र शोधन करता है। यह रस माँ के दूध को शुद्ध करता है एवं पित्त कफ दोषों को शान्त करता है। लघु, रूक्ष, शीत और स्निग्ध

---

255. कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तंशोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षु विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति — च.सू. 26/42

कटुकोदीपनःपाचनोरोचनःशोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनः, सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति।। — सु.सू. 42/15

256. पुंस्त्वमुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लापयति, कण्ठंपरिदहति शरीरतापमुपजनयति, बलंक्षिणोति, तृष्णांजनयति।। — च.सू. 26/42

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणापार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति।। — सु.सू. 42/15

Scanned by CamScanner

है तथा मेधा के लिए उत्तम है।[257]

अधिक मात्रा में सेवन करने से ये पदार्थ शरीर में रस (plasma), रक्त, वसा, मज्जा तथा शुक्र की मात्रा को कम कर देते हैं। इनसे स्रोतों में खुरदरापन और मुँह में शुष्कता, शक्ति में कमी, दुर्बलता, थकावट, चक्कर, बेहोशी, वातज रोग जैसे- मन्यास्तम्भ, अर्दित, शिर:शूल, भेद, छेद, तोद आदि उत्पन्न होते है।[258]

द्रव्य : पटोल, जयन्ती, सुगन्धबाला, खस, चन्दन, चिरायता, नीम, गिलोय, धमासा, महा पंचमूल, छोटी और बड़ी कटेरी, इन्द्रायण, अतीस और वच- ये सब तिक्त रस वाले पदार्थ है।

अपवाद : गिलोय, पटोल तिक्त रस वाले होने पर भी हानिकारक नहीं होते।

♦ कषाय–रस :

यह रस जिह्वा को जड़ बनाता है और कण्ठ एवं स्रोतों को अवरुद्ध करता है।

गुण–कर्म :

यह रस पित्त कफ दोषों का नाशक, रक्तपित्त (अंगों से रक्त स्राव) को शान्त करने वाला, व्रण (घाव) को शुद्ध करने और भरने वाला, सन्धानकर्ता (हड्डियों को जोड़ने वाला), शोषण (मेद द्रव धातुओं और मूत्र आदि को सुखाने वाला), स्तम्भन (अतिसार आदि में पुरीष को रोकने वाला) तथा लेखन (उभरे मांस को काटने वाला) गुणों से युक्त है। अत: कषाय रस वाले पदार्थों के सेवन से क़ब्ज़ (मल आदि के विसर्जन में रुकावट) व शरीर में कठोरता आती है। ये पदार्थ त्वचा को बहुत अधिक निर्मल करते है व पीडक (व्रण या फोड़े आदि) रुग्ण भाग पर दबाव डालने वाले है। शरीर के तरल अंश को सोख लेते है। यह रस रूक्ष, शीत और भारी होता है।[259]

कषाय रस वाले पदार्थ का अधिक मात्रा में सेवन करने से मुँह का सूख जाना, हृदय में पीड़ा, पेट में अफारा, बोलने में रुकावट, स्रोतों की सिकुड़न व रुकावट, रंग को काला करना, पौरुष का नाश, अधिक प्यास, शरीर में कमज़ोरी, थकावट, कठोरता, अधोवायु, मूत्र, पुरीष आदि मल-पदार्थ तथा शुक्र के निकास में बाधा आदि रोग उत्पन्न होते है। भारी होने से इन पदार्थों का पाचन धीरे-धीरे होता है। चूंकि कषाय रस वायु को प्रकुपित करता है, अत: इसके अधिक सेवन से पक्षाघात, लकवा, उद्वेष्टन

---

257. तिक्तो रस: स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नोविषघ्न: कृमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमन स्त्वङ्मांसयो: स्थिरीकरणो।। — च.सू. 26/42

तिक्तश्छेदनो रोचनोदीपन:शोधन: कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमन: स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति। — सु.सू. 42/16

258. रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रसरूधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषशयति गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिर:शूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति। — च.सू. 26/42, सु.सू. 42/16

259. कषायो रस: संशमन: संग्राही संन्धानकर: पीडनोरोपण: शोषण: स्तम्भन: श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमन: शरीरक्लेदस्योपयोक्ता रूक्ष: शीतोऽलघुश्च।। — च.सू. 26/43

कषाय: संग्राहकोरोपण: स्तम्भन: शोधनोलेखन: शोषण: पीडन: क्लेदोपशोषणश्चेति।। — सु.सू. 42/16

Scanned by CamScanner

(जकड़ाहट), आक्षेप (convulsion) आदि रोग हो सकते है।[260]

द्रव्य : हरड़, बहेड़ा, शिरीष, खैर, मधु, कदम्ब, गूलर, कच्ची खांड़, कमल-ककड़ी, पद्म, कमलादि गण के द्रव्य, मुक्ता (मोती), प्रवाल, अञ्जन और गेरू कषाय रस वाले द्रव्य है।

अपवाद : कषाय रस युक्त होने पर भी हरड़ अन्य कषाय द्रव्यों के समान शीतल और स्तम्भक (मल आदि को रोकने वाली) नही होती।

सभी आहार-द्रव्यों के गुणों का आधार ये रस माने गये है। औषधि द्रव्यों में वीर्य (potency) की प्रधानता होती है। वीर्य का निर्णय भी रस के आधार पर किया जाता है। उदाहरणत: मधुर रस वाले द्रव्यों का वीर्य शीत तथा अम्ल या कटु रस वाले द्रव्यों का उष्ण माना जाता है।

2. गुण (Attributes)

द्रव्यों में कुछ गुण पाये जाते है, जिनके माध्यम से ये शरीर पर अपनी क्रिया करते है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में विभिन्न द्रव्यों में विद्यमान इन गुणों का उल्लेख किया गया है। ये गुण मुख्यत: 20 है जो 10 जोड़ों में है। प्रत्येक का एक विपरीत गुण है।[261] ये निम्नलिखित है:

1. गुरु (heavy)	11. सान्द्र या ठोस (solid)
2. लघु (light)	12. द्रव (liquid)
3. मन्द (dull)	13. मृदु या कोमल (soft)
4. तीक्ष्ण (pungent)	14. कठिन या कठोर (hard)
5. स्निग्ध (oily. greasy)	15. सूक्ष्म (subtle)
6. रूक्ष (dry)	16. स्थूल (bulky)
7. शीत (cold)	17. स्थिर (stable)
8. उष्ण (hot)	18. सर या चल (tremulous)
9. श्लक्ष्ण (gummy)	19. विशद या अचिपचिपा (non-mucilaginous)
10. खर या खुरदरा (rough)	20. पिच्छिल या चिपचिपा (mucilaginous)

---

260. आस्यंशोषयति, हृदयंपीडमति, उदरमाध्मापयति, वाचंनिगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति हृत्पीडाऽस्यशोषोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमुचुमायनाकुञ्चनाक्षेपण प्रभृतीञ्जनयति॥ च.सू. 26/43 सु.सू. 42/17

261. गुरूलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशद पिच्छिलश्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्र द्रवा: विंशति:।

Scanned by CamScanner

ये सब गुण द्रव्यों में भौतिक दृष्टि से नहीं, अपितु औषधीय दृष्टि से पाये जाते हैं। अलग-अलग द्रव्यों का सेवन करने के पश्चात् शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है उसके आधार पर ही इन गुणों का निश्चय किया जाता है।[262] जैसे-यदि कोई पदार्थ हाथ में उठाने से भारी या गुरु लगता है, तो उस आधार पर हम उसे गुरु नहीं कह सकते। उसका गुरुत्व या लघुत्व तो पाचन में लगने वाले समय पर निर्भर करता है। जो पदार्थ देर से हजम होते हैं वे गुरु और जो शीघ्र हजम होते हैं, वे लघु कहलाते हैं। इसी प्रकार राई स्पर्श में शीतल होने पर भी गुण की दृष्टि से उष्ण है क्योंकि यह रस और रक्त के ताप को बढ़ाती है।

द्रव्यों के ये गुण उनमें विद्यमान प्रमुख महाभूतों के आधार पर पाये जाते हैं। जैसे - जिस द्रव्य में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है, वह गुरु गुण वाला होता है, जबकि जिस द्रव्य में आकाश महाभूत की प्रधानता होती है, वह लघु गुण वाला होता। पहले भी बताया जा चुका है कि द्रव्यों में विद्यमान रस और गुण के आधार पर उसका शरीर पर क्या कर्म या प्रभाव होगा इसका अनुमान लगाया जाता है। केवल रस के आधार पर द्रव्य के गुणों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

3. वीर्य (Potency)

किसी भी औषधि में अनेक प्रकार के गुण पाये जाते है परन्तु उन गुणों में से जो सबसे अधिक शक्तिशाली और सक्रिय होता है अर्थात् जो रोग के उपचार में मुख्य रूप से सहायक होता है, वह वीर्य कहलाता है।[263] वीर्य रस से अधिक शक्तिशाली है अतः यह रस के प्रभाव को गौण कर देता है। इस वीर्य के आधार पर ही औषध-द्रव्यों को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है- उष्ण और शीत। इसे ही लोक व्यवहार में गर्म या ठण्डी तासीर वाला कहा जाता है। रोगी की प्रकृति के अनुसार उष्ण या शीत वीर्य वाली औषधियों का चयन किया जाता है। इसी वीर्य के कारण ही ये औषधि-द्रव्य रोग का नाश करते है और स्वास्थ्य को बनाये रखते है।

औषधि-द्रव्य का सेवन करने पर पाचन-क्रिया के दौरान जब उस पर चयापचय क्रिया होती है तो उस द्रव्य की पांचभौतिक और रासायनिक संरचना भी बदल जाती है। इससे दोषों और धातुओं पर प्रतिक्रिया होती है। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मधुर, तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्य, शीतल प्रभाव उत्पन्न करते है अतः शीतवीर्य कहलाते है तथा उससे अम्ल, लवण और कटु रस वाले द्रव्य उष्ण (गर्म) प्रभाव उत्पन्न करते है अतः उष्णवीर्य कहलाते है।

शरीर पर प्रभाव

इनमें शीतवीर्य[264] द्रव्य शरीर पर शीतल प्रभाव डालते है और आर्द्रता (गीलापन) बढ़ाते है। इन द्रव्यों के सेवन से आयु, धातु, (विशेषतः शुक्र धातु)

---

262. कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रयाःगुणाः। — सु.सू. 46/513
263. वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। — च.सू. 26/65
264. शीतस्य द्रलदनविष्यन्दन स्थरीकरणप्रसादनक्लेदनजीवनानि।। — सु.सू. 41/11
शीतंह्लादनस्तम्भनजीवनरक्तपित्तप्रसादनादीनि।। — अ.स.सू. 17/16

Scanned by CamScanner

और जीवनीय शक्ति बढ़ती है अत: शीत वीर्य एक टॉनिक का कार्य करता है। यह पित्त का शमन करता है तथा वायु और कफ को कुपित करता है।

उष्णवीर्य[265] द्रव्य शरीर में गर्म प्रभाव डालते है। ये पाचन शक्ति, स्वेद, प्यास और कृशता (दुर्बलता) को बढ़ाते है। उष्ण वीर्य कफ और वायु दोष का शमन करता है तथा पित्त को कुपित करता है।

कुछ विद्वान इन शीत और उष्ण वीर्य के अतिरिक्त छ: अन्य वीर्य भी मानते है, जिनकी सहायता से किसी औषधि-द्रव्य में गुणों का निश्चय किया जाता है। वे 6 अन्य वीर्य है 1. स्निग्ध 2. रूक्ष 3. गुरु 4. लघु 5. मन्द और 6. तीक्ष्ण इस प्रकार शीत और उष्ण मिलाकर वीर्यो की कुल संख्या 8 मानी गई है[266] परन्तु मुख्यतया शीत और उष्ण वीर्य ही मान्य है।

जब ये दोनों वीर्य भी अधिक शक्तिशाली नही होते तो इन्हें वीर्य न कह कर गुण कहा जाता है। इस आधार पर कुछ औषधि-द्रव्यों में वीर्य नहीं भी पाया जाता। जिस तरह आहार द्रव्यों में रस की प्रधानता होती है उसी प्रकार औषधि द्रव्यों में वीर्य की प्रधानता होती है।

4. विपाक (After Taste)

जठराग्नि के संयोग से द्रव्यों के पाचन के बाद जो अन्य रस उत्पन्न होता है, उसे विपाक कहा जाता है।[267] इस प्रकार की अन्तिम स्थिति में किसी द्रव्य में जो रस उत्पन्न होता है, वही विपाक है। पाचन के दौरान जठरान्त्र-प्रणाली में खाद्य-पदार्थ में अनेक प्रकार के पाचक रस मिलते है। जिससे उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन आते है। भोजन अपने पाचन क्रिया के समय तीन अवस्थाओं से गुजरता है- प्रथम अवस्था में रस का स्वाद मधुर, द्वितीय अवस्था में अम्ल, तथा तीसरी अवस्था में कटु रस वाला होता है।

पाचन की अन्तिम अवस्था में द्रव्य का सार और किट्टभाग (मल भाग) अलग-अलग हो जाते है। मल भाग के अलग हो जाने पर सार भाग केवल रस के रूप में शेष रह जाता है। यह द्रव्य का नया ही रूप होता है और उसका रस भी नया उत्पन्न होता है, यही विपाक है।

विपाक के भेद

रस के आधार पर विपाक के तीन भेद है- मधुर, अम्ल और कटु। मधुर और लवण रसों का विपाक प्राय: मधुर, अम्ल रस का प्राय: अम्ल और कटु, तिक्त एवं कषाय रसों का विपाक प्राय: कटु होता है।[268] कभी-कभी इस नियम का अपवाद भी मिलता है। जैसे-

---

265. तत्रकर्माण्यष्युष्णस्य दहनपाचनमूर्च्छनस्वेदनवमनविरेचनानि उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ।। सु.सू. 41/11

266. मृदुतीक्ष्णगुरूलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधंकेचित्।। च.सू. 26/64

267. "जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत:।। वा.सू. 9
रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले,
यद्रसान्तरं रसविशेष: उदेति उत्पद्यते स विपाक:।। अ.द.

Scanned by CamScanner

द्रव्य	रस	विपाक
तैल	मधुर	कटु
सौवर्चल	लवण	कटु
आंवला	अम्ल	मधुर
शुण्ठी, पिप्पली	कटु	मधुर
हरीतकी	कषाय	मधुर
पटोल	तिक्त	मधुर

विपाक का प्रभाव :

विपाक का प्रभाव मधुर आदि रसों के अनुसार ही होता है।

मधुर विपाक : गुरु, मल-मूत्र का साफ करने वाला तथा कफ और शुक्र का पोषक होता है।[269]

अम्ल विपाक : लघु, मल-मूत्र को साफ करने वाला शुक्र नाशक और पित्तवर्धक होता है।[270]

5. प्रभाव (Specific Action)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि औषधि -द्रव्य रस, वीर्य या विपाक के आधार पर शरीर में कार्य करते है परन्तु कुछ द्रव्य इन रस आदि में से किसी के भी अनुरूप शरीर में कार्य नहीं करते, अर्थात् उनकी शरीर पर सर्वथा अलग प्रकार की प्रक्रिया होती है जिससे विशेष रोग शान्त होता है या बढ़ जाता है। जिस तत्व के आधार पर यह विशेष प्रकार की क्रिया होती है, वह तत्व ही प्रभाव कहलाता है।[271] दूसरे शब्दों में, दो द्रव्यों में रस, वीर्य, विपाक की समानता होने पर जो विशेष (भिन्न) कार्य प्रकट होता है, वही प्रभाव माना जाता है। प्रभाव के कारण ही रस आदि तत्व एक जैसे होने पर भी, एक औषधि किसी रोग में लाभदायक होती है, तो दूसरी उसी रोग में हानिकारक सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए, दन्ती (जमालगोटा) और चित्रक, दोनों का रस और विपाक कटु है तथा वीर्य-उष्ण है फिर भी दन्ती विरेचक है, चित्रक नही। मुलेठी और द्राक्षा-दोनों के रस, वीर्य, विपाक एक समान है, परन्तु मुलेठी वामक (उलटी कराने वाली) है, पर द्राक्षा बिल्कुल नहीं। इसी प्रकार घी और दूध के रस, वीर्य और विपाक भी

---

268. कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। च.सू. 26/58
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।। च.सू. 26/61

269. मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।। च.सू. 26/62

270. पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।

271. रसवीर्य विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। च.सू. 26/67
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः
रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।। अ.हृ. सूत्र 9/26
दन्ती रसाधैस्तुल्याऽपि चित्रकस्यविरेचनो।।

Scanned by CamScanner

समान है परन्तु घी अग्निदीपक (पाचक-शक्ति बढ़ाने वाला) है, जबकि दूध नहीं।

कुछ औषधियों को बाँधने या पहनने मात्र से ज्वर, अनिद्रा आदि रोग ठीक हो जाते हैं। जैसे- सहदेवी की जड़ को सिर पर बाँधने से ज्वर ठीक हो जाता है। ताबीज, मणि आदि पहनने, मन्त्र-जाप एवं अन्य धार्मिक कृत्यों को करने से जो रोग आदि दूर होते है उसका कारण भी उनमें विद्यमान प्रभाव ही है।

प्रभाव के आधार पर द्रव्यों को तीन प्रकार से जाना जा सकता है-

1. **शमन द्रव्य** : जो वायु आदि दोषों को शान्त करते है।
2. **कोपन द्रव्य** : जो द्रव्य वायु आदि दोषों और धातुओं को कुपित करते है।
3. **स्वास्थ्यहितकारी द्रव्य** : जो द्रव्य स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक होते है।

इस प्रकार द्रव्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए रस आदि तत्वों को जानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि ये द्रव्य रस, वीर्य, विपाक या प्रभाव के माध्यम से ही शरीर पर क्रिया करते है। इनमें जो-जो तत्व अधिक बलशाली होता है, वह दूसरे तत्वों के प्रभाव को दबा लेता है। इस दृष्टि से रस की अपेक्षा विपाक अधिक बलशाली है क्योंकि वह रस को हटा देता है, रस और विपाक की अपेक्षा वीर्य अधिक बलशाली है क्योंकि वीर्य इन दोनों के गुणों को नष्ट कर देता है। इस क्रम से द्रव्यों में रस सबसे कम बलशाली है, तो प्रभाव सबसे अधिक बलशाली :

रस - विपाक - वीर्य - प्रभाव

6. कर्म के आधार पर द्रव्य के प्रकार

इन रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव के माध्यम से द्रव्य शरीर में विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं, जिसे कर्म कहा जाता है। ये कर्म अनेक प्रकार के है। उसके अनुसार द्रव्य भी निम्नलिखित अनेक प्रकार के है :

---

272. अपक्वं पित्तश्लेष्मान्नं बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्।
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा।। भा.प्र.पूर्व.मिश्र. 6/219

273. विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा।। शार्ङ्गधर 4/7

274. दीपनं पाचनं यत्स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम्।
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली।। शार्ङ्गधर पू. 4/12

275. धातून्मलान्वा देहस्यविशोष्योल्लेखयेच्च यत् लेखनं।। शार्ङ्गधर पू. 4/11

276. पचत्यामं न बर्हिं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम्। शार्ङ्गधर पू. 4/2

277. न शोधयति न द्वेष्टि समान्दोषांस्तथोद्धतान्।
समीकरोति विषमाञ्शमनं तद्यथामृता।। शार्ङ्गधर पू. 4/3

278. कृत्वा पाकंमलानांयद्धित्वा बन्धमधोनयेत्।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी।। शार्ङ्गधर पू. 4/4

Scanned by CamScanner

वमन द्रव्य	ये उलटी (वमन) लाने में सहायक है तथा अपक्व कफ एवं पित्त को मुख के मार्ग से बाहर निकालते हैं।[272] जैसे - मदन फल (मैनफल)।
विरेचन द्रव्य	ये द्रव्य पुरीष में वृद्धि करके, पक्व और अपक्व, दोनों प्रकार के मलों को नीचे की ओर ले जाकर गुदामार्ग से बाहर निकाल देते हैं।[273] जैसे- त्रिवृत्, कर्षिका फल।
संग्राही द्रव्य	मल बांधने वाले या कब्जकारक द्रव्य;[274] जैसे - जीरा।
बृंहण द्रव्य	पुष्टि प्रदान करने वाले; जैसे - नया गुग्गुलु (गूगल)
लेखन द्रव्य	धातु और मलों का शोषण करके उन्हें शरीर से बाहर निकालने वाला द्रव्य; जैसे - पुराना गुग्गुलु।[275]
पाचन द्रव्य	आम या अपक्व रस का पाचन करने वाले (ये पाचक-अग्नि को तीव्र नहीं करते); जैसे - नागकेशर।[276]
शमन द्रव्य	केवल कुपित दोषों को शान्त करने वाले, जैसे - गिलोय।[277]
अनुलोमन द्रव्य	पेट में स्थित वायु को नीचे की ओर ले जाने वाले, जैसे - हरड़।[278]
स्रंसन द्रव्य	पके और बँधे हुए (ठोस) मल को नीचे की ओर ले जाकर गुदामार्ग से बाहर निकालने वाले, जैसे - अमलतास।[279]
भेदन द्रव्य	बँधे (ठोस) और द्रवरूप, दोनों प्रकार के मलों को गुदामार्ग से बाहर निकालने वाले, जैसे - कुटकी।[280]
छेदन द्रव्य	जमे हुए एकत्रित दोषों को बलपूर्वक जड़ से उखाड़ने वाले, जैसे - जल और शहद।[281]
ग्राही द्रव्य	दीपन और पाचन तथा क़ब्ज़ कारक, जैसे - जीरा।[282]
स्तम्भन द्रव्य	आसानी से पचने तथा कषाय रस होने से किसी भी प्रकार के स्राव को रोकने वाले, जैसे - वत्सक।[282]

279. पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्।
नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यातकृतमालकः।। शार्ङ्गधर पू. 4/5

280. मलादिकमबद्धं यद्बद्धं वा पिण्डितं मलैः।
भित्वाऽधः पातयति यद्भेदनं कटुकीयथा।। शार्ङ्गधर पू. 4/6

281. श्लिष्टान्कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात्।
छेदनं तद्यथा क्षारा मारिचानि शिलाजतु।। शार्ङ्गधर पू. 4/10

282. रौक्ष्याच्छैत्यात्कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत्।
वातकृत्स्तम्भनं तस्याद्यथा वत्सकटुण्टुकौ।। शार्ङ्गधर पू. 4/13

Scanned by CamScanner

रसायन द्रव्य	वृद्धावस्था के विकारों और रोगों को नष्ट करके दीर्घत्व प्रदान करने वाले, जैसे - आंवला, गुग्गुल।[283]
वाजीकर द्रव्य	काम वासना और काम सुख को बढ़ाने वाले, जैसे - दूध, उड़द, शतावरी, तालमखाना।[284]
शुक्रल द्रव्य	जो शुक्र की मात्रा में वृद्धि करते है, जैसे - अश्वगन्धा, मूसली, शतावरी।[285]
सूक्ष्म द्रव्य	जो द्रव्य पतले और सूक्ष्म स्रोतों और छिद्रों द्वारा भी शरीर में प्रवेश कर सकते है, जैसे - सेंधा नमक, शहद।[286]
व्यवायी द्रव्य	पाचन से पहले ही सारे शरीर में फैल जाने वाले, जैसे - अफीम (अफीम)
विकाशी द्रव्य	सन्धियों में स्थित स्नायुओं और हाथ-पैरों को शिथिल करने वाले, जैसे - सुपारी।[288]
प्रमाथी द्रव्य	अपने वीर्य के प्रभाव से स्रोतों में स्थित दोषों को दूर करने वाले, जैसे - काली मिर्च।[289]
अभिष्यन्दी द्रव्य	अपनी गुरुता और स्निग्धता के कारण रसवह स्रोतों में रुकावट पैदा करने वाले तथा शरीर में भारीपन लाने वाले, जैसे - दही[290]।

---

283. रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्।
यथा अमृतारूदन्ती च गुग्गुलश्च हरीतकी।। शार्ङ्गधर पू. 4/14

284. यस्माद द्रव्याद्भवेस्त्रीषु हर्षो वाजीकरं च तत्। शार्ङ्गधर पू. 4/15

285. यस्माच्छुक्रस्य वृद्धि स्याच्छुक्रलं हि तदुच्यते।
यथाऽश्वगन्ध मुशली शर्करा च शतावरी।। शार्ङ्गधर पू. 4/16

286. देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत्सूक्ष्ममुच्यते।
तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रूबूद्भवम्।। शार्ङ्गधर पू. 4/19

287. पूर्व व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति।
व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्।। शार्ङ्गधर पू. 4/20

288. सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान्यत्करोति विकाशि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुकोद्रवौ।। शार्ङ्गधर पू. 4/21

289. निजवीर्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोष संचयम्।
निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्यथा मरिचं वचा।। शार्ङ्गधर पू. 4/24

290. पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रूद्धवा रसवहाःशिराः।
धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि।। शार्ङ्गधर पू. 4/25

Scanned by CamScanner

स्वस्थवृत्त

(दिनचर्या और ऋतुचर्या)

आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगों से बचाव करना है।[291] स्वास्थ्य का बना रहना और बिगड़ना, शरीर में त्रिदोष की स्थिति पर निर्भर करता है।[292] पहले बताया जा चुका है कि दिन के अलग-अलग समय तथा वर्ष की अलग-अलग ऋतुओं में अलग-अलग दोषों का संचय, प्रकोप और शमन स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इन दोषों की साम्यावस्था बनाये रखने के लिए ही आयुर्वेद में दिन और रात्रि तथा विभिन्न ऋतुओं के आचरण (आहार-विहार) का उल्लेख किया गया है, जिसे स्वस्थवृत्त के नाम से जाना जाता है।[293] इस स्वस्थवृत्त को दिनचर्या (दिन और रात में सेवन करने योग्य और न सेवन करने योग्य आहार-विहार) और ऋतुचर्या-इन दो भागों में बाँटा गया है। इनके अनुसार आचरण करने से जहाँ स्वास्थ्य की रक्षा होती है वहीं रोगों के आक्रमण से भी बचा जा सकता है। इनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है:

1. दिनचर्या

♦ जागरण[294]

स्वस्थ व्यक्ति को ब्राह्म-मूहर्त में (सूर्योदय से दो घण्टे पूर्व) उठ जाना चाहिए। यह समय शुभ माना जाता है, क्योंकि वातावरण में सब जगह शान्ति व स्वच्छता और प्रसन्नता छाई रहती है। जागते ही अपने इष्ट देव का स्मरण करके प्रार्थना करनी चाहिए। इससे मानसिक शान्ति और प्रसन्नता बनी रहती है चूँकि इस समय बुद्धि, मन आदि सब ताजे होते हैं तथा थकान मिटी होती है अत: जो याद किया जाता है, वह स्मरण रहता है। इस समय उठने पर शौच, आदि नित्यकर्म करने का पर्याप्त समय भी मिल जाता है, अत: रोग नही होते और आयु की रक्षा होती

---

291. "प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।" च.सू. 30/26
"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च।" सु.सू. 1/13
सु.सू. 15/3

292. "दोष धातुमल मूलं हि शरीरम्।"

293. "मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा।
तमेव कारयेद्वैधो यत: स्वास्थ्यं सदेप्सितम्।।
दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम्।
आरचन् पुरूष: स्वस्थ: सदा तिष्ठति नान्यथा।।" भा.प्र.पू. 5/12-13
अ.स. सूत्र 3/3

294. "ब्रह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेज्जीर्णाऽजीर्ण निरूपयन्।"

Scanned by CamScanner

है। बिस्तर छोडने से पूर्व ही यदि दिन के सारे कार्यक्रमों पर विचार कर लिया जाए, तो काम ठीक समय पर और सफलतापूर्वक हो जाते है।

♦ मुख धोना

बिस्तर छोड़ने के तुरन्त बाद, सभी ऋतुओं में स्वच्छ जल से मुख धोना चाहिए। इससे आँख, नाक, मुख तथा चेहरे पर जमी हुई गन्दगी साफ हो जाती है तथा सुस्ती दूर होकर ताज़गी आती है। शीत ऋतु में गुनगुने जल से मुख धोया जा सकता है।[295]

♦ खाली पेट जल पीना

प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन और हर ऋतु में मुख धोने के पश्चात खाली पेट कम से कम एक गिलास और अधिक से अधिक चार गिलास जल अवश्य पीना चाहिए। यह जल रात को ही एक बर्तन में (विशेषकर ताँबे के बर्तन में) भरकर रख देना चाहिए और प्रात: इसी ठण्डे जल का पान करना लाभप्रद रहता है। इससे मल तथा मूत्र का त्याग ठीक प्रकार से होता है जिससे शरीर से अनेक प्रकार के विषैले तत्व बाहर निकलते है और अनेक रोगों से छुटकारा मिलता है। इसे ही उष:पान कहा जाता है।

कुछ लोग इस जल के स्थान पर चाय (Bed tea) का सेवन करते है। उनके कथनानुसार, इससे शौच क्रिया सुविधापूर्वक हो जाती है परन्तु इसका प्रभाव जल से भिन्न प्रकार से होता है। यह चाय आँतो पर दबाव डाल कर उन्हे उत्तेजित करती है। इसके परिणामस्वरूप मलत्याग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। वस्तुत: चाय एक उत्तेजक होने के कारण चाय आँतो में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न कर देती है और यह उत्तेजक प्रभाव कुछ दिनों के पश्चात् समाप्त होने लगता है इस प्रकार, व्यक्ति पुन: कब्ज का शिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त, चाय और कॉफी में पाया जाने वाला 'कैफीन' (Caffeine) नामक तत्व आमाशय तथा आँतों की ग्रन्थियों पर भी बुरा प्रभाव डालता है परन्तु ठण्डे जल के सेवन से किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं होता। हाँ, खाँसी, जुकाम एवं गला खराब होने पर इस जल को गुनगुना करके लेना चाहिए।

♦ शौच क्रिया[296]

इसके पश्चात् शौचक्रिया के लिए जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को प्रात: ही नियमित रूप से इसकी आदत बनानी चाहिए। आज के इस तनावपूर्ण और व्यस्त जीवन में बहुत से लोगों को नियमित रूप से तथा समय पर मल के वेग का अनुभव नही होता। इसके अनेक कारण है,

---

295. "स्पृष्ट्वा धातून् मलानश्रु वसाकेशनखांश्च्युतान्।
स्नात्वा भोक्तुमना भुक्त्वा सुप्त्वा क्षुत्वा सुरार्चने।।"
रथ्यामाक्रम्य चाचामेदुपविष्ट उदङ्.मुख:।
प्राङ्मुखो वा विविक्तस्थो न बहिर्जानु नान्यहक्।
अजल्पन्नुत्तरासङ्ग स्वच्छैरक्षुष्टमूलगै:।।
नोद्धतैर्नानतो नोर्ध्वं नाग्निपक्वैर्न पूतिभि:।
न फेनबुद्बुदक्षारैर्नैकहस्तार्पितैर्जलै:।।
नार्द्रैकपाणिर्नामेध्यहस्तपादो न शब्दवत्।

Scanned by CamScanner

जैसे-रात्रि में खाये गये भोजन का पाचन न होना, पूरी नींद न ले पाना, बहुत अधिक चिन्ताग्रस्त, क्रोधी, संवेदनशील और असन्तुलित स्वभाव का पाया जाना आदि। इन सब कारणों से अथवा वायुकारक भोजन (जैसे-भारी दालें, तले हुए पदार्थ) के सेवन से रात को आँतो में वायु जमा हो जाती है। इससे मलत्याग की गति में रुकावट पैदा होती है। परिणामत: थोड़ा मलत्याग करने पर लगता है कि पेट पूरी तरह साफ हो गया है परन्तु कुछ समय बाद फिर शौच क्रिया की आवश्यकता महसूस होती है। कुछ लोगों को तो पेट साफ करने के लिए प्रात:काल ही तीन-चार बार जाना पड़ता है।

दफ्तर या दुकान आदि के लिए जाने की जल्दी के कारण भी व्यक्ति मलत्याग की क्रिया की उपेक्षा करता है और पेट पूरी तरह साफ नहीं हो पाता। परिणामत: भूख समाप्त हो जाती है तथा गैस, अपच, सिरदर्द, उदासी, ग्लानि, बेचैनी, थकान, सुस्ती, नींद न आना, आदि शिकायतें उत्पन्न हो जाती है। अधिक वायु इकट्ठी होने से हृदय पर दबाव पड़ता है और दिल की धड़कन बढ़ जाती है। अधिक समय तक क़ब्ज़ रहने से जुकाम, दमा, बवासीर, जोड़ों का दर्द तथा गठिया जैसे भयंकर रोग भी आक्रमण कर सकते है अत: प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रतिदिन नियमित रूप से मलत्याग करना आवश्यक होता है। व्यक्ति को प्रतिदिन नियमित रूप से मलत्याग की क्रिया के लिए जाना चाहिए। कुछ सावधानियाँ बरतनी चाहिए, जैसे-वायुकारक पदार्थ (भारी दालें-राजमा, चने, उड़द व चने की दाल, तले हुए पदार्थ) कम से कम मात्रा में लेने चाहिए। पत्ते वाली सब्जियाँ (पालक, मेथी, बथुआ) घीया, तोरी, जिमीकन्द, पपीता तथा अन्य रेशेदार पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन करने चाहिए। एक से अधिक बार मल का वेग उपस्थित होने पर टालना नहीं चाहिए, मलत्याग के लिए अवश्य जाना चाहिए।

♦ दातून या दांत साफ करना

शौच क्रिया के पश्चात् दाँतों को साफ करना चाहिए।

1. कटु, तिक्त या कषाय रस वाले दातून लेने चाहिए क्योंकि यह विकार नाशक होती है। इसके विपरीत मधुर, अम्ल या लवण रस वाली दातून कफ को बढ़ाएगी उसका प्रयोग नही करना चाहिए। इस दृष्टि से करवीर, करंज, आक, मालती, असन, नीम तथा इसी प्रकार के गुण और रस वाले वृक्षों की टहनी को प्रयोग में लाया जा सकता है।[297]
2. इसकी लम्बाई 6'' के लगभग होनी चाहिए जिससे पकड़ने में सुविधा हो और दाँत से चीर कर जीभ भी साफ की जा सके। दातुन की मोटाई छोटी अंगुली के समान होनी चाहिए बहुत पतली या मोटी की कूँची ठीक नही बनती। मोटी दातुन से मसूड़े छिलने का भय भी रहता है। दातुन का अगला भाग मुलायम

296. जातवेग: समुत्सृजेत्।।
उदङ्.मुखो मूत्रशकृद्दक्षिणाभिमुखो निशि।
वाचं नियम्य प्रयत: संवीताङ्गोऽवगुण्ठित:।।
प्रवर्तयेत् प्रचलितं न तु यत्नादुदीरयेत्।

Scanned by CamScanner

होना चाहिए, सूखा या कड़ा नही, जिससे से दाँतों से चबा कर ब्रुश बनाया जा सकता है। यह सीधी होनी चाहिए, टेढ़ी-मेढ़ी नहीं।[298]

3. इस दातुन को एक-एक दाँत को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे को रगड़ना चाहिए। इससे दाँत भी अच्छी तरह साफ होते है और मसूड़ों को किसी प्रकार की हानि भी नहीं होती। दातून के साथ चूर्ण या मंजन का भी प्रयोग किया जा सकता है।[299]

इस प्रकार, दाँत और जीभ साफ करने से मुँह की दुर्गन्ध और जिह्वा दाँत और मुँह की मैल दूर होती है। इससे दाँत साफ और मज़बूत होते है और विभिन्न खाद्य-पदार्थो के स्वाद की अनुभूति भी ठीक प्रकार से होती है।[300]

आजकल दाँतों के लिए बने बनाये ब्रुश बाजार से मिलते है जिनका प्रयोग दाँत साफ करने के लिए किया जाता है। इसके साथ विभिन्न प्रकार के टूथपेस्ट प्रयोग में लाये जाते है।

दाँत साफ करने के बाद जीभ को साफ करना चाहिए क्योंकि जीभ के मूल में बहुत सी मैल जम जाती है, जिससे दुर्गन्ध आने लगती है और जीभ का स्वाद भी ठीक नहीं रहता।[301] उपर्युक्त दातुन को पीछे से चीर कर जीभ साफ की जा सकती है। इसके अतिरिक्त लकड़ी, सुवर्ण, चाँदी, ताँबे, पीतल या स्टील की धातु से भी जीभी (Tongue scraper) बनाई जाती है।[302] (जो आजकल बाज़ार में उपलब्ध है) ये जीभी कोमल, चिकनी और बीच में से घुमावदार होनी चाहिए। किनारे तीखे और नुकीले नहीं होने चाहिए, अन्यथा जीभ में घाव होने का भय रहता है।

---

297. "वटासनार्कखदिरकरञ्जकरवीरजम्।।
सर्जारिमेदायपार्गमालती ककुभोद्भवम्।
कषाय तिक्तकटुकं मूलमन्यदपीदृशम।।
विज्ञातवृक्षं क्षुण्णाग्रमृज्वग्रन्थि सुभूमिजम्।" अ.स.सू. 3/13-14-15
"निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा।
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा।।" सुश्रुत.चि. 24/6
"करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः।
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः।।" च.सू. 5/73

298. "तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशाङ्.गुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितम् व्रणम्।।" सु.चि. 24/4
"कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्च्चं द्वादशाङ्.गुलम्।" अ.स.सू. 3/15

299. "दन्तान् पूर्वमधो घर्षेत् प्रातः सिम्वेच्च लोचने।
तोयपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणा।।" अ.स.सू. 3/23

300. "निहन्ति गन्धं वैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम्।
निष्कृष्य रूचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम्।।" च.सू. 5/72
"तथास्य मलवैरस्यगन्धाजिह्वाऽऽस्यदन्तजाः।
रूचिवैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च।।" अ.स.सू. 3/18

301. "लिखेदनुसुखं जिह्वां जिह्वानिर्लेखनेन च।" अ.स.सू. 3/17

Scanned by CamScanner

अपच, श्वास, ज्वर, लकवा, तृष्णा (अधिक प्यास) मुखपाक और हृदय, नेत्र, सिर और कान के रोग होने पर दातुन करने की मनाही की गई है। इन अवस्थाओं में दातुन करने से रोग बढ़ने की आशंका रहती है।[303]

♦ गण्डूष या गरारे करना[304]

यदि यात्रा या अन्य किसी कारणवश दाँत साफ करने की सुविधा न हो, तो पानी से कुल्ले व गरारे भी किये जा सकते है। इससे भी कुछ हद तक जीभ और दाँतो में जमा हुआ मैल एवं मुँह की दुर्गन्ध दूर हो जाते है। इस अतिरिक्त मुँह का चिपचिपापन तथा गले और मुख में जमा कफ भी निकल जाता है। सामान्यता दाँत साफ करके मुख में तिल या सरसों का तेल दाँये-बाँये घुमाना (जिसे कवलग्रह कहते हैं) चाहिए। इससे दाँत और मसूड़े मज़बूत होते हैं, दाँत दर्द नहीं होता, ठण्डा-गर्म पदार्थ दाँतों में नहीं लगता, खटास से दन्तहर्ष नहीं होता, सख्त से सख्त पदार्थ भी चबाया जा सकता है, आवाज़ ऊँची और गम्भीर होती है, चेहरे पर कोमलता आती है, मुंह का स्वाद अच्छा रहता है और भोजन में रुचि बढ़ती है। नियमित रूप से कुल्ला, गरारे और कवल करने से गले का सूखना और होंठों के फटने की शिकायत भी दूर होती है।

कटु रस वाले द्रव्यों के साथ जल उबाल कर

---

302. "जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च।
तन्मलापहरं शस्तं मृदुश्लक्ष्णम् दशाङ्.गुलम्।।" सु.चि. 24/13

"सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च।
जिह्वानिर्लेखनानि स्युरतीक्ष्णान्यनृजूनि च।।
जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च।
दौर्गन्ध्यं भजते तेन तस्माज्जिह्वां विनिर्लिखेत्।।" च.सू. 5/74-75

303. "नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती।
तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्।।" अ.स.सू. 3/19

"न खादेद् गलताल्वोष्ठ जिह्वारोगसमुद्भवे।
अथास्य पाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च।।
दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्त्तो मदपीडितः।
शिरोरूजार्त्तस्तृषितः श्रान्तः, पाकक्लमान्वितम्।।
अर्दिती कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः।" सु.चि. 24/10-12

304. "मुखवैरस्यदौर्गन्ध्य शोफजाडयहरं सुखम्।
दन्तदार्ढ्यकरं रूच्यं स्नेहगण्डूषधारणम्।।" स.चि. 24/14

"हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनोपचयः परः। स्यात्परं च रसज्ञानमन्ने च रूचिरूत्तमा।।"
"न चास्य कण्ठशोषः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम्। न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृढमूला भवन्ति च।।"
"न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च।
परानपि खरान् भक्ष्यांस्तैलगण्डूषधारणात्।।" च.सू. 5/78-80

"ओष्ठस्फुटनपारूष्यमुखशोषद्विजामयाः।
न स्युः स्वरोपघाताश्च स्नेहगण्डूषधारणात्।।" अ.स.सू. 3/29-30

Scanned by CamScanner

व छान कर साधारण गर्म पानी से गरारे करने से मुख साफ हो जाता है और दुर्गन्ध दूर हो जाती है।

धूप में बैठ कर गण्डूष (गरारे) और कवल करने चाहिए। मुख में द्रव को भर कर (बिना पिये) मुख को तब तक कुछ ऊँचा रखना चाहिए जब तक मुख कफ से न भर जाये या नासिका और आँखों से कफ न बहने लगे। मुख में द्रव की इतनी मात्रा भरी जाय कि हिलाया-डुलाया न जा सके, यह गण्डूष कहलाता है और इतनी मात्रा भरी जाय कि हिलाया-डुलाया जा सके, वह कवल कहलाता है। कवल से शिरोरोग, कर्णरोग, जी-मचलाना, तन्द्रा (सुस्ती), अरुचि, पीनस(पुराना जुकाम, आदि) और मन्या रोग ठीक होते हैं।

♦ सिर पर तेल लगाना

नित्यप्रति सिर पर तेल लगाना चाहिए। नारियल या तिल का तेल लगाना चाहिए। इससे बालों का गिरना, सफेद या भूरा होना, गंजापन, सिरदर्द, सिर की त्वचा का फटना और अन्य वायु के रोग नष्ट होता है। सिर, नेत्र, कान आदि इन्द्रियाँ बलशाली बनती है, बाल लम्बे, काले और मज़बूत होते हैं, तथा चेहरे की त्वचा में चमक आती है। तिल का तेल सिर पर लगाने से नींद अच्छी और गहरी आती है। इसके बाद कंघी करने से बाल सुन्दर तथा स्वच्छ होते है।[305]

♦ तेल मालिश (अभ्यङ्ग)

जिस प्रकार घड़े, सूखी चमड़ी एवं रथ और मोटर-गाड़ियों के पास की धुरी में तेल लगाने या डालने से वे मुलायम और मज़बूत होते है, उसी प्रकार शरीर पर तेल की मालिश करने से शरीर शक्तिशाली और त्वचा मुलायम होती है। शरीर पर वायु से होने वाले रोग आक्रमण नहीं कर पाते। त्वचा वायु का स्थान है। त्वचा में रोमकूपों की अधिकता होती है, जिनमें पित्त की गर्मी होती है। इस गर्मी से त्वचा पर लगाया गया तेल शरीर में लीन हो जाता है और वायु शान्त होती है। इसके अतिरिक्त बुढ़ापा, थकान और त्वचा की झुर्रियाँ, खुरदरापन और शुष्कता नष्ट होते है, दृष्टि निर्मल, शरीर पुष्ट, त्वचा मुलायम, कोमल और आकर्षक बनती है। शरीर की दुर्गन्ध, मैल, खुजली, पसीने की बदबू, भारीपन और तन्द्रा भी दूर होती है।[306]

तेल की मालिश लोम की दिशा की ओर करनी चाहिए। इस मालिश को धीरे-धीरे करना चाहिए, बहुत जोर लगाने की आवश्यकता नहीं होती।

---

305. रथाक्षचर्मघट्वद् भवन्त्यभ्यङ्गतो गुणाः।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रयम्।।
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गो यस्मात् तं शीलयेदतः।
शिरः श्रवण पादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।।
स केश्यः शीलितो मूर्ध्नि कपालेन्द्रियतर्पणः।
"स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चचर्म स्नेहविमर्दनात्।
भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढ़ क्लेशसहो यथा।।
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्दृढ़ं सुत्वक् च जायते।
प्रशान्तमारूताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्।।"
"अभ्यंगो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः।।"

अ.स.सू. 3/57-59

च.सू. 5/85-86

स.चि. 24/30

Scanned by CamScanner

धूप मे अभ्यंग करने से तैल शरीर में जल्दी चला जाता है।

♦ कान में तेल डालना (कर्णपूरण)

कान में प्रतिदिन तेल डालना चाहिए। इससे ऊँचा सुनना, बहरापन, कान के रोग (वायु से होने वाले), मन्यास्तम्भ (Torticollis) तथा हनुस्तम्भ जैसे रोग नहीं होते। स्वस्थ अवस्था में कान में तेल डाल कर उसे सौ मात्रा तक धारण करना चाहिए। यदि कान में दर्द हो, तो तेल डालने के बाद कर्णमूल के स्थान को मलते हुए तब तक तेल रहने देना चाहिए जब तक दर्द समाप्त न हो जाए।[307]

♦ पैरों में तेल मालिश (पादाभ्यंग)

पैरों में प्रतिदिन तेल लगाने से भी बहुत लाभ होता है। इससे पैरों का खुरदरापन, रूखापन, शिथिलता, थकावट, सुन्न होना, पैरों का फटना, पैरों की रक्तवाहिकाओं और स्नायुओं की सिकुड़न, गृध्रसी (सियाटिका) तथा अनेक वातरोग ठीक होते हैं। आँखों की दृष्टि भी तेज़ होती है। यही कारण है कि पहले पण्डित आदि लोग इसे धर्म का अंग मान कर शौच के पश्चात्, मूत्रत्याग के बाद, भोजन से पहले, कितनी ही बार पैरों को धो कर पौंछते थे और प्रातःकाल स्नान से पहले तेल मलते थे।[308]

---

306. "नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते।।
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च।
बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते।।
दृढ़मूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च।
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।।
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात्।" — च.सू. 5/81-83
"केशप्रसाधिनी केश्या रजोजन्तुमलापहा।" — स्वस्थवृत्त सम्मुच्चय
"शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोभ्यङ्गोऽपकर्षति।
केशनां मार्दवं दैर्ध्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्।।
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्।।" — सु.चि. 24/25-26

307. "न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसङ्ग्रहः।
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्।।" — च.सू. 5/84
"हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम्।" — सु.चि. 24/29

308. खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्चपादयोः।
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्ग.निषेवणात्।।
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः।
दृष्टि प्रसादं लभते मारूतश्चोपशाम्यति।।
न च स्यादृगृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च।
न सिरास्नायुसंकोचः पादाभ्यंगेन् पादयोः।। — च.सू. 5/90-92
"निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत्।
पादात्वङ्.मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः।।" — सु.चि. 24/70

Scanned by CamScanner

♦ नस्य कर्म या नाक में तेल डालना

नाक को सिर का द्वार माना गया है अतः नाक में डाली गई औषधि सिर के एक-एक अणु तक पहुँच जाती है। सामान्यतः वर्षा, हेमन्त और बसन्त ऋतुओं में, जब आकाश में बादल न छाये हों, तो नाक में तेल की कुछ बूँदें डालनी चाहिए।[309] प्रातः सिर पर तेल आदि लगाने के बाद, मलत्याग, दन्तधावन आदि नित्यकर्म करने के पश्चात् यह क्रिया करनी चाहिए। सिर को कुर्सी आदि के सहारे पीछे टिका कर और थोड़ा-सा नीचे की और झुका कर ड्रापर से तेल (गर्म पानी में रखकर या वाष्प में गर्म करके) की कुछ बूँदें नाक में बारी-2 से एक-2 नासा में डालनी चाहिए और साँस ऊपर की ओर खींचना चाहिए। एक नासा में डालते समय दूसरे को बन्द करना चाहिए। इससे जो कफ या स्राव निकले उसे बाहर थूक देना चाहिए। नस्य के बाद सौ तक गिनती करने तक पीठ के बल लेटे रहना चाहिए, सोना नहीं चाहिए।[310] इस नस्य से गर्दन के ऊपर के सभी रोग दूर होते है। इसके लिए अणु तैल का प्रयोग करना चाहिए। वैसे बादाम रोगन और गाय का घी भी प्रयोग में लाया जा सकता है, जो अणु तैल की अपेक्षा कुछ कम प्रभावकारी है। मन्यास्तम्भ (Torticollis), लकवा, सिरदर्द, आधासीसी का दर्द, नाक में सूजन, सिर का काँपना, हनु-स्तम्भ (Lock-Jaw) आदि रोग भी ठीक होते हैं। बुढ़ापे में भी आयु का प्रभाव सिर आदि अंगों पर नहीं पड़ता तथा बाल सफेद नहीं होते।[311]

स्वस्थावस्था में नस्य का काल प्रायः शरद् और वसन्त ऋतु में (जिस समय अधिक सर्दी या गर्मी न हो) वह माना गया है अर्थात् शीतकाल में दोपहर के समय, ग्रीष्मकाल में प्रातः-सायं और वर्षाकाल में धूप (दोपहर) के समय देना चाहिए। इसी प्रकार, दोषों के अनुसार भी नस्य कर्म के काल को विभाजित किया गया है जैसे - कफ

---

309. "वर्षे वर्षेऽणुतैलं च कालेषु त्रिषु ना चरेत्।
प्रावृट्शरदूवसन्तेषु गतमेघे नभस्तले।।" च.सू. 5/56

310. "देशे वातरजोमुक्ते कृतदन्तनिघार्षणम्।।
विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नमालगलं तथा।
उत्तानशायिनं किंचित् प्रलम्बशिरसं नरम्।।
आस्तीर्णहस्तपादं च वस्त्राच्छादितलोचनम्।।
समुन्नमितनासाऽग्रं वैद्यो नस्येन् योजयेत्।।
कोष्णमच्छिन्नधारं च हेमतारादिशुक्तिभिः।
शुक्त्या वा यत्र युक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत्।।

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेत् नोच्छिदेन्न हसेत् तथा।।" शा.उ.ख. 8/47-51
पञ्चच सप्त दशैव स्युर्मात्रा नस्यस्य धारणे।।
उपविश्याथ निष्ठोवेन्नासावक्त्रगतं द्रवम्।
वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत् सम्मुखे न हि।।
नस्ये नीते मनस्तापं रजः क्रोधं च सन्त्यजेत्।
शयीत् निद्रां त्यक्त्वा च प्रोत्तानो वाक्शतं नरः।। शा.उ.ख. 8/54-56

Scanned by CamScanner

होने पर प्रात:काल, पित्त होने पर दोपहर और वायु की अधिकता होने पर सायंकाल। वायु से होने वाले शिरो रोग, हिचकी, अपतानक, मन्यास्तम्भ और स्वरभ्रंश (गला बैठना) में प्रतिदिन सायं और प्रात: नस्य देना चाहिए।[312]

♦ व्यायाम (Exercise)

वह क्रिया जो इच्छापूर्वक की जाती है तथा जिससे शरीर में थकान का अनुभव होता है, व्यायाम कहलाती है। यह व्यायाम शरीर में स्थिरता और बल प्रदान करता है।[313] व्यायाम नित्यप्रति, सब ऋतुओं में तथा अपनी शक्ति के अनसुार करना चाहिए। हेमन्त, शिशिर और बसन्त ऋतु में अपनी आधी शक्ति तक (अर्थात् जब माथे पर या बगल में पसीना अनुभव हो) तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरत् में इससे भी कम करना चाहिए क्योंकि ग्रीष्म, वर्षा, आदि में वायु का संचय और प्रकोप होता है, अत: कम करने का विधान है।[314] व्यायाम करने के बाद सारे शरीर को धीरे-धीरे मलना चाहिए, जिससे शरीर को कष्ट न पहुँचे। इससे व्यायाम से उत्पन्न थकावट दूर हो जाती है।

इस प्रकार, ठीक मात्रा और ठीक ढंग से व्यायाम करने से मांस-पेशियाँ दृढ़ बनती है। चर्बी घट जाने से पेट और छाती अलग-अलग दिखाई देते

---

311. न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते।
न स्यु:श्वेता न कपिला: केशा: शमश्रूणि वा पुन:।।
न च केशा: प्रमुच्यन्ते वर्धन्ते च विशेषत:।
मन्यास्तम्भ: शिर: शूलमर्दितम् हनुसंग्रह:।।
पीनसार्धावभेदौ च शिर:कम्पश्च शाम्यति।
सिरा: शिर: कपालानां सन्धय: स्नायुकण्डरा:।।
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽप्यधिकं बलं।
मुखं प्रसन्नोपचितं स्वर: स्निग्ध: स्थिरो महान्।।
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्।
न चास्य रोगा: सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजा:।।
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गे.षु जरा न लभते बलम्। — च.सू. 5/58-63
घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षस:।
सुगन्धिवदना: स्निधनि:स्वना विमलेन्द्रिया:।।
निर्मलीपलितव्यङ्ग.ा भवेयुर्नस्य शीलिन:। — अ.स.सू. 3/28-29

312. "कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके। — शा.उ. 8/3
दिने तु गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे।।"

313. "शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते।" — अ.स.सू. 3/62
"शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देह व्यायामसंङख्याता मात्रया तां समाचरेत्।।" — च.सू. 7/31

314. "अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभि: स्निग्धभोजिभि:। — अ.स.सू. 3/64
शीतकाले बसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा।।" — च.सू. 8/18
"प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी च स्यात्।"

Scanned by CamScanner

है।[315] व्यायाम को मालिश करने के बाद करना चाहिए, जिससे तेल शरीर में भली प्रकार प्रवेश कर जाता है। शरीर से पसीना निकलता है, जिससे हल्कापन और स्फूर्ति आती है। कार्य करने की क्षमता, स्थिरता व कष्ट सहन करने की शक्ति और पाचन-शक्ति बढ़ती है। चर्बी नष्ट होती है। कुपित हुए दोष, विशेषत: कफ-दोष शान्त होते है।[316]

शक्ति से अधिक व्यायाम करने से प्यास, प्रतमक श्वास (गम्भीर प्रकार का दमा), खाँसी, ज्वर, रक्तपित्त (शरीर के अंग से रक्तस्राव), क्लम (ज्ञानेन्द्रियों की कार्य करने में असमर्थता), श्रम (कर्मेन्द्रियों की कार्य करने में असमर्थता) तथा वमन आदि जैसे रोग उत्पन्न होना।[317] अति व्यायाम करने से व्यक्ति उसी प्रकार नाश को प्राप्त होता है, जिस प्रकार हाथी को खींचने से शेर नष्ट हो जाता है।[318]

♦ व्यायाम न करने योग्य व्यक्ति

वात-पित्त रोगी, बालक (16 वर्ष से कम), वृद्ध (70 वर्ष के बाद) अजीर्ण, भूख और प्यास से पीड़ित रोगियों को व्यायाम नहीं करना चाहिए। जो लोग अधिक यात्रा या पैदल चलने, बोझ उठाने या अधिक सम्भोग करने में दुर्बल हो गये हों, जो क्रोध, शोक, भय और थकान से ग्रस्त हों, उन्हें भी व्यायाम से दूर रहना चाहिए[319] क्योंकि व्यायाम से वायु और पित्त की वृद्धि होती है और उपरोक्त अवस्थाओं में प्राय: वायु या पित्त पहले से ही बढ़े रहते है बालक भी चंचल होने से प्राय: कुछ न कुछ करते रहते है, अत: उनके लिए भी कुश्ती आदि अधिक ज़ोर के व्यायाम की मनाही है।

♦ उबटन (उद्वर्तन)

चूर्ण या कल्क (Paste) से शरीर की मालिश करना उबटन कहा जाता है। स्नान से पहले इसका प्रयोग भी लाभकारी है। इससे क्लम का नाश, अंगों की स्थिरता और त्वचा की निर्मलता होती है। इससे रोम खुलते है, अत: अंग स्थिर होते है।[320] उबटन के लिए-सरसों का चूर्ण+दूध+बेसन+तेल, या दही की मलाई+तेल प्रयोग में लाये जा सकते है।

---

315. "लाघवं कर्मसाम्थ्र्यं दीप्तोऽग्निर्मेदस: क्षय:।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामदुपजायते।।" अ.स.सू. 62-63

316. "स्वेदागम: श्वासवृद्धिर्गात्रणां लाघवं तथा।
हृद्याद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्।।" च.सू. 7/33(1)
योगेन्द्रनाथसेन संभतोयम् पाठ:

317. "श्रम: क्लम: क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामक:।
अतिव्यायामत: कासोज्वरश्छर्दिश्चजायते।।" च.सू. 7/33

318. "व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया।।"
"एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते।
गजं सिंह इवाकर्षन् सहसा स विनश्यति।।" च.सू. 7/34-35

319. "वातपित्तामयी बालोवृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत्।" अ.स.सू. 3/63

Scanned by CamScanner

♦ मुख पर लेप

स्नान से पूर्व मुख पर लेप लगाना चाहिए। इससे चेहरे पर झुर्रिया, झाईयाँ, काले दाग, आदि नष्ट होते है मुख की त्वचा कोमल और निर्मल होती है, रंग में भी निखार आता है तथा नेत्र दृष्टि तेज़ होती है। इसके लिए ठण्डा लेप लगाना चाहिए अन्यथा वात या कफ होने पर गर्म लेप लगाना चाहिए। लेप लगाने पर जब वह गीला ही हो, तो हटा लेना चाहिए, सूख जाने पर गीला करके हटाना चाहिए। सूखे लेप को हटाने से कान्ति (चमक) नष्ट होती है। लेप करके दिन में सोना, बोलना, अग्नि या धूप, चिन्ता और क्रोध करना-इनका निषेध होता है। इससे चेहरे की त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ने का डर रहता है। अजीर्ण (अपच), हनुग्रह (ठोड़ी की हड्डी की जकड़न), पीनस (नाक की हड्डी में सूजन), अरुचि, नस्य लेने पर तथा रात्रि में मुख पर लेप नहीं करना चाहिए।

छः ऋतुओं में लगाये जाने वाले लेपों की अलग-अलग सूची नीचे दी जा रही है।

ऋतु	लेप
हेमन्त	बेर की गुठली, अडूसे की जड़, पीली सरसों।
शिशिर	कटेरी की जड़, काले तिल, दारू हल्दी की (छिलके सहित)।
बसन्त	दाभ की जड़, चन्दन, खस, शिरीष, सौफ कवल की कणियाँ।
ग्रीष्म	कुमुद, उत्पल, गुलाब फूल, दूब, मुलहठी चन्दन।
वर्षा	कालीयक, तिल, खस, जटामांसी,
शरद्	तालीस, पुण्डरीक, मुलहठी, तगर, अगरू।

---

320. "दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रा कण्डूमलमरोचकम्।
स्वेद वीभत्सां हन्ति शरीरपरिमार्जनम्।।" च.सू. 5/93

"उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।।
सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम्।
उद्धर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम्।।
उत्सादनात् भवेत् स्त्रीणां विशेषात्कान्तिमद्वपुः।" सू.चि. 24/51-53

"उद्धर्षण तु विज्ञेयं कण्डूकोठानिलापहम्।
ऊर्वोः सञ्जनयत्याशु फेनकः स्थैर्यलाघवे।।" सू.चि. 24/54-55

Scanned by CamScanner

♦ स्नान[321]

शरीर की स्वच्छता के लिए प्रतिदिन स्नान करना आवश्यक है। स्नान करते समय नाक, कान, पैर की अच्छी तरह सफाई करनी चाहिए। इससे मानव-शरीर को नव जीवन की प्राप्ति होती है। स्नान करने कूपों की अग्नि अन्दर प्रवेश कर जाती है, जिससे पाचक अग्नि बढ़ती है मन की प्रसन्नता बढ़ने से स्नान आयु को बढ़ाने वाला होता है, बल की वृद्धि करता है तथा थकावट, खुजली, त्वचा की गन्ध, पसीना, दुर्गन्ध, सुस्ती, प्यास और जलन को खत्म करता है।[322]

नेत्र, मुख और कान के रोग में, 'दस्त,' पेट में अफारा, पीनस एवं 'अजीर्ण होने पर, तथा भोजन के 'तुरन्त बाद' स्नान नहीं करना चाहिए। इससे रोग बढ़ने की आशंका रहती है।[323]

♦ वस्त्र–धारण

स्नान के पश्चात् सदा स्वच्छ सुन्दर और सभ्य के वस्त्र पहनने चाहिए। इससे शरीर की सुन्दरता और आकर्षण बढ़ता है और आयु की वृद्धि होती है। अच्छे वस्त्रों से प्रसन्नता, सभाओं आदि में उपस्थित होने की योग्यता और अच्छा व्यक्तित्व बनता है। अशुभ से तथा ऋतु के कुप्रभाव (सर्दी, गर्मी, वर्षा) से बचा जाता है। ऋतु के अनुसार ही वस्त्रों को धारण करना चाहिए, जैसे-गर्मियों में सफेद या हलके रंग के तथा हलके वस्त्र, और सर्दियों में गहरे रंग के और ऊनी (भारी) वस्त्र पहनने चाहिए।[324]

♦ इत्र व सुगन्धी (परफ्यूम्स) का प्रयोग

मनुष्य को समय एवं ऋतु के अनुसार

---

321. "पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसंधानं स्नानमोजस्करं परम्।।" च.सू. 5/94
"निद्रा दाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्।
हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम्।।
तन्द्रापाप्मोदशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्।।" सू.चि. 24/57-58
"नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च।
स्नानं समाच्चरेन्नियं गति प्रस्रवणेषु चं ।।" मनुः

322. "उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः।।
तेनैव तूत्तमाङ्ग.स्य बलहृत केशचक्षुषाम्।" अ.स.सू. 3/69-70
"उष्णेन् शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा।
शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत्।।" सू.चि. 24/59
"अशिरस्कं तदुष्णेन् बल्यं वातकफापहम्।"
(योगरत्नाकर)

323. "स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु।"
आध्मानपीनसार्जीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्।। अ.स.सू. 3/75
"तच्चातिसार ज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु।
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम।।" सू.चि. 24/62

Scanned by CamScanner

फूल-मालाओं और इत्रों (Perfumes) का प्रयोग भी करना चाहिए। इससे शरीर में सुगन्ध और आकर्षण के अतिरिक्त शक्ति एवं पुष्टि भी बढ़ती है। मन प्रसन्न रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आयु में वृद्धि होती व काम की इच्छा भी बढ़ती है।[325]

♦ आभूषण, मणि आदि धारण करना

सोने, चांदी आदि से बने आभूषण पहनने से शरीर की सुन्दरता और आकर्षण तो बढ़ता ही है। साथ में प्रसन्नता, सफलता शरीर व चेहरे की चमक, मंगल और आयु भी बढ़ते हैं। इन सबके परिणामस्वरूप मनुष्य की जीवनी शक्ति भी बढ़ती है।

इन आभूषणों के अलावा रत्न (हीरा, मरकत, गोमेद आदि), सिद्ध-मन्त्र तथा सहदेवी आदि औषधियों को भी धारण करते रहना चाहिए। इससे विष का भय तथा ग्रह-बाधा आदि से रक्षा होती है।[326]

♦ सुगन्धित पदार्थों को चबाना

मुख में सुगन्ध, अच्छा स्वाद व स्वच्छता बनाए रखने के लिए जायफल, सुपारी, छोटी इलायची, लौंग, पान के पत्ते और कपूर का सत्त्व आदि चबाना चाहिए। इससे मुख के रोग भी दूर होते हैं तथा भोजन में स्वाद भी बढ़ता है।[327]

---

324. "काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्।।" च.सू. 5/95

"कदाऽपि न जनः सद्भिधार्यं मलिनमम्बरम्।
तत्तु कण्डूकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम्।।" भा.प्र.पू. 5/93

"वासो न धारयेज्जीर्णं मलिनं रक्तमुल्वणम्।
नैव चान्येन् विधृतं वस्त्रं पुष्पमुपानहौ।।" अ.स.सू. 3/34-35

325. "वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम्।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्।।" च.सू. 5/96
"गन्धमाल्यादिकं वृष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रसादनम्।" अ.स.सू. 3/34

326. "धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद्व्यसनसूदनम्।
हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम्।।" च.सू. 5/97
"रसे रसायने दाने धारणे देवतार्चने।
सुलक्ष्माणि सुजातीनि सर्वाण्युक्तनि शोधयेत्।।"

327. धार्याण्यास्येन वैशद्यरूचिसौगन्ध्यमिच्छता।।
जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च ।
कक्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा।।
तथा कर्पूरनिर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च। च.सू. 5/76-77
"रूचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्।
जातीलवङ्गकर्पूरकंकोलकटुकैः सहः।।
ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम्।।" अ.स.सू. 3/36-37

Scanned by CamScanner

♦ चप्पल व जूते पहनना

पैरों में चप्पल व जूते पहनने से गर्मी, सर्दी आदि से पैरों की रक्षा होती है, पैरों को आराम मिलता है, काँटों, रेंगने वाले जन्तुओं व रोगाणुओं से सुरक्षा होती है, पैरों की त्वचा ठीक रहती व नेत्रों की रोशनी तेज़ होती है[328] परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये जूते, चप्पल आदि ठीक माप के और सुविधाजनक हों। अधिक ऊँची एड़ी वाले जूते, चप्पल असुविधाजनक होने के साथ-साथ कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न कर सकते हैं। ये जूते, चप्पल मौसम के अनुकूल होने चाहिए। इससे पैरों को बल मिलता है तथा व्यक्ति आसानी से चल-फिर सकता है।

♦ बालों और नाखूनों की देखभाल

हर मनुष्य को अपने दाढ़ी-मूँछ, सिर के बाल तथा नाखून आदि ठीक समय पर काटने और सँवारने चाहिए। नाखून अपवित्र अंग हैं। इनमें अनेक प्रकार के मल-पदार्थ इकट्ठे हो जाते हैं अतः जहां तक हो सके, इन्हें छोटा ही रखना चाहिए। इससे शरीर की स्वच्छता, निरोगता, सुन्दरता और ताज़गी के साथ-साथ शरीर पुष्टि, काम की इच्छा एवं आयु की वृद्धि भी होती है।[329]

♦ आँखों में सुरमा लगाना

आँखों को स्वस्थ बनाये रखने और आँखों की रोशनी बढ़ाने के लिए नियमित रूप से सुरमा, नेत्र-बिन्दु (Eye-drop), आदि डालने चाहिए। आँखों में अग्नि महाभूत मुख्य रूप से पाया जाता है और तेज (अग्नि) का विरोधी होने के कारण कफ दोष इन पर विशेष रूप से आक्रमण करता है। अतः नेत्रों को रोगों से बचाने के लिए तथा इन्हें स्वस्थ रखने के लिए कफ दोष दूर करने वाले अंजनों का प्रयोग बहुत लाभप्रद है[330] इसीलिए पाँच से आठ दिनों के बीच एक बार रसांजन (रसौत) आदि लगाना

---

328. "पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम्।
सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम्।।
अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरूपघातकृत्।
पादाभ्यामनुपानाद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्।।" सू.चि. 24/71-72
"पादुकाधारणं कुर्यात्पूर्वं भोजनंतः परम्।
पादरोगहरं वृष्यं चक्षुष्यं चायुषो हितम्।।"
"चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रम सुखं वृष्यं पादत्रधारणम्।।" च.सू. 5/100

329. "त्रिपक्षस्य केशश्मश्रुनखरोमणि वर्धयेत्।
न स्वहस्तैन दन्तैर्वा स्नानं चानुसभचरेत्।।" अ.स.सू. 3/55
"पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।" सू.चि. 24/73
"पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम्।।" च.सू. 5/99

Scanned by CamScanner

चाहिए। इसके प्रयोग से आँखों से बहुत-सा पानी निकलता है और ये स्वच्छ हो जाती हैं।[331] (रसौत या रसांजन बनाने की विधि-दारूहल्दी के काढ़े को एक-चौथाई बकरी का दूध मिलाकर पका लें और घना बना लें।) रसौत आँखों के लिए बहुत लाभदायक है। आंखों का दर्द होने पर इसका लेप करना चाहिए या शहद अथवा पानी में मिला कर इसकी बूंद आंखों में डालनी चाहिए। यह आँखों में लगती है और आँख से अश्रु भी निकालता है।

अंजन या सुरमे का प्रयोग करते समय एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि तेज़ सुरमे आदि का प्रयोग रात में ही किया जाए क्योंकि उस समय कफ की मात्रा कम होती है। दिन के समय इन्हें डालने से ज्यादा अधिक पानी निकलता है, जिससे नेत्र कमज़ोर हो जाते है। साथ ही, उन पर सूर्य की रोशनी का बुरा प्रभाव पड़ता है।[332] साधारणत: अंजन, काजल या सुरमा लगाने का समय प्रात:काल है। ये आँखों को निर्मल करते हैं। सरसों के तेल से जले दीये से काजल बना कर भी लगाया जाता है। यह काजल पलकों पर मक्खी, आदि जन्तु नहीं आने देता। इससे पलकों के बाल घने और लम्बे होते है।

♦ भोजन

स्वास्थ्य को बनाये रखने में भोजन का बहुत महत्व है। भोजन सदा ही सही मात्रा और उचित समय पर तथा अनुकूल पदार्थो के साथ करना चाहिए। भोजन की मात्रा आदि प्रत्येक व्यक्ति की पाचन शक्ति और चयापचय की शक्ति पर निर्भर करते है।

कुछ खाद्य-पदार्थ (जैसे-मूँग,साठी,शाली) स्वभाव से ही पचने में हल्के माने जाते है। इन हल्के पदार्थो में वायु और अग्नि महाभूत अधिकता से

---

330. "चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छलेष्मतो भयम्।
योजयेत् सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।।" अ.स.सू. 3/26

331. "सौवीराञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णो: प्रयोजयेत्।
पञ्चरात्रेऽटरात्रे वा स्रावणार्थे रसाञ्जनम्।।" च.सू. 5/15

332. "दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्।
विरेकदुर्बलादृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति।।
तस्मात् स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते।" च.सू. 5/17

"भुक्तवाञ्छिरसा स्नात: श्रान्तश्छर्दनवाहनै:।
रात्रौ जागरितश्चापि नाञ्ज्याञ्ज्वरित एव च।।" सू.चि. 24/20

अञ्जन लाभ:

"मुखं लघु निरीक्षेत दृढं पश्यति चक्षुषा।
मतं स्रोतोऽञ्जनम् श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्।।
दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरूजापहम्।
तेजोरूपावहं चैव सहते मारूतातपौ।।" सू.चि. 24/17-18

मात्राशी स्यात् आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।। च.सू. 5/3

"मात्रावद्भयशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति।" च.सू. 5/8

Scanned by CamScanner

पाये जाते है। ये पदार्थ भूख को बढ़ाते है तथा जल्दी हजम हो जाते है अतः यदि इनका सेवन कुछ अधिक मात्रा में भी कर लिया जाए, तो अधिक नुकसान नहीं करते परन्तु सीमा से अधिक मात्रा में लेने पर ये भी पाचन-शक्ति और चयापचय शक्ति पर कुप्रभाव डालते है। इसके विपरीत, कुछ पदार्थ (उड़द,पीठी,आदि) स्वभाव से ही पचने में भारी होते है तथा देर से हजम होते है। इनमें जल और पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है। ये भूख को भी कम करते है। अतः थोडी-सी भी अधिक मात्रा में लेने पर ये पाचन-क्रिया और चयापचय क्रिया पर बुरा प्रभाव डालते है।[333] हां, यदि किसी व्यक्ति की पाचकाग्नि तेज़ है, तो वह भारी पदार्थो को भी आसानी से पचा सकता है। सामान्यतः ये भारी खाद्य-पदार्थ उतनी मात्रा में ही खाने चाहिए, जिससे आधा या तीन-चौथाई पेट ही भरे, शेष आधा या एक-चौथाई पेट खाली रखना चाहिए। इस प्रकार ये पदार्थ भी हानि नहीं पहुँचाते।[334]

भोजन सदा पहले किये गये भोजन के पच जाने के बाद ही करना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रख कर किये गये भोजन से शरीर में वृद्धि होती है, रंग में निखार आता है, तथा आयु में वृद्धि होती है। इससे शरीर में तीनों दोष और धातु (रस,रक्त,आदि) भी सन्तुलित अवस्था में बने रहते है।[335]

♦ धूम्रपान

आयुर्वेद में सिर का भारीपन, सिरदर्द, नाक में सूजन, आधा सिर का दर्द कान व आँखों में पीड़ा, हिचकी, दमा, गले में रुकावट, दाँतों की पीड़ा और कमज़ोरी, कान, नाक व आँखों से पानी, आदि का स्राव होना, नाक व मुँह से दुर्गन्ध आना, भूख न लगना, हनु-स्तम्भ (ठोढ़ी की जकड़) मन्यास्तम्भ (Torticollis), खुजली, इन्फैक्शन, चेहरे का पीलापन, बालों का जल्दी पकना और गिरना, गंजापन, अधिक छींकें, बहुत अधिक नींद और सुस्ती, बेहोशी-सी होना, आवाज़ का भारीपन, नींद न आना, आदि अनेकों रोगों की चिकित्सा के लिए धूम्रपान बताये गये है।[336]

धूम्रपान के लिए अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों और वनस्पतियों से सिगार तैयार करने का वर्णन है। इनमें तम्बाकू व अन्य आदि नशीले पदार्थो का प्रयोग नहीं किया जाता। औषधियों से तैयार ये धूम्रपान बालों, मस्तिष्क की हड्डियों, आवाज़ और ज्ञानेन्द्रियों को भी शक्ति प्रदान करते है। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति वायु और कफ

---

333. "न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरूलाघवमकारणं मन्येत लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति, पृथ्वीसोमगुणबहुलानीतराणि, तस्मात् स्वगुणादपि लघून्यग्निसन्धुक्षणस्वाभावान्यल्पदोषाणि चोच्यन्तेऽपि सौहित्योपयुक्तानि, गुरूणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्यात् अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौहित्योययुक्तान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात; सैषा भवत्यग्निबलापेक्षिणी मात्रा।।" च.सू. 5/6

334. "न च नापेक्षते द्रव्यं, द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते, च.सू. 5/7

335. "कालस्तु ऋतुव्याध्यपेक्षो जीर्णाजीर्ण लक्षणश्च।" अ.स.सू. 10/11
"अजीर्णं हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेण संसृज्यमानः। सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु।।" अ.स.सू. 10/12

Scanned by CamScanner

दोषों से उत्पन्न होने वाले सिर एवं गर्दन के रोगों का शिकार नहीं होता।[337]

दिन में धूम्रपान के लिए आठ बार समय निर्धारित किया गया है।[338] स्नान, जिह्वा रगड़ने, दाँत साफ करने, भोजन करने, छींकों के बाद नाक में किसी औषधि को डालने (नस्य), आँखों में सुरमा डालने और सोने के बाद। इन आठ क्रियाओं के बाद धूम्रपान लेने से रोग नहीं होते। प्रत्येक धूम्रपान में तीन कश लेने को कहा गया है।[339]

ठीक प्रकार से धूम्रपान की क्रिया होने पर छाती, गले तथा सिर में हलकापन आता है, तथा कफ पिघल कर निकल जाता है[340] जबकि जरूरत से ज्यादा धूम्रपान होने पर तालु, गला और सिर गर्म एवं शुष्क हो जाते हैं। सभी ज्ञानेन्द्रियों में भी गर्मी आ जाती है। प्यास अधिक लगती है। बेहोशी तथा चक्कर आने लगते हैं। शरीर के किसी अंग से रक्तस्राव भी हो सकता है।[341] अतः सावधानी से उचित मात्रा में ही यह क्रिया करनी चाहिए।

♦ कैसा आचरण करें ?

जीवन में स्वस्थ और सुखी रहने के लिए प्रत्येक मनुष्य को धर्म का पालन करना चाहिए। धर्म, अर्थ (धन आदि) और काम (इच्छा की पूर्ति) का पालन और सेवन इस प्रकार करना चाहिए कि उनमें आपसी विरोध न हो। सदा सत्य बोलना चाहिए। चिऊँटी, कीड़े-मकोड़े, आदि तुच्छ जन्तुओं को भी अपने समान देखना चाहिए। निर्धनता, रोग और शोक पीड़ित लोगों की सहायता के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। याचक को निराश नहीं भेजना चाहिए न ही उसका तिरस्कार करना चाहिए। देवता, गाय,

---

336. गौरव शिरसः शूलं पीनसार्धावभैदकौ।।
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः। दन्तदौर्बल्यमास्रावःश्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः
पूतिर्घ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः। हनुमन्याग्रहः कण्डूः क्रिमयः पाण्डुता मुखे।।
श्लेष्म प्रसेको वैस्वर्य गलशुण्डयुपजिह्विका। खालित्यं पिञ्जरत्वं च केशानां पतनंतथा।।
श्रवथूश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता। धूमपानातप्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम्।।
शिरोरूहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च। न च वात कफात्मनो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजा।।
धूमवक्त्रकपानस्य व्याध्यः स्युः शिरोगताः। च.सू. 5/27-32 तक

337. नवनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्
तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः।। च.सू. 5/35
प्रयोगिकं ततो धूमं गन्धमाल्यादि चाचरेत्।
धूमादस्योर्ध्वजत्रूत्था न स्युर्वातकफामयाः।। अ.स.सू. 3/32

338. प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः संपरिकीर्तताः।।
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च।। च.सू. 5/33

339. रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रय स्त्रयः।

340. हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिर्लघुत्वं शिरसः शमः।
यथेरितानां दोषाणां सम्यकपीतस्य लक्षणम्।। च.सू. 5/37

341. बाधिर्यमान्ध्यमूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम्।।
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्। च.सू. 5/38

Scanned by CamScanner

ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा और अतिथि का आदर करना चाहिए।[342]

दूसरो की किसी वस्तु या सम्पत्ति पर अपना अधिकार नही जमाना चाहिए और न ही किसी की सम्पत्ति या स्त्री आदि की इच्छा करनी चाहिए।[343] किसी भी प्रकार के पाप कर्म से दूर रहना चाहिए। दुष्ट व्यक्ति के प्रति भी दुष्ट व्यवहार नही करना चाहिए।

दूसरो की गुप्त बातो और दोषो का खुलासा नही करना चाहिए। विश्वासघाती, कपटी, अधर्मी, दुराचारी, गर्भपात करने वाले, कंजूस और कुटिल स्वभाव वाले लोगो से दूर रहे। कल्याण करने वाले लोगो व मित्रो से सलाह लेनी चाहिए और अकल्याण करने वालो से सदा सावधान रहे।[344]

♦ कैसे आचरण से दूर रहें?

- ❖ पर्वत की ऊबड-खाबड ढलानों और पेड़ों पर नही चढ़ना चाहिए। खतरनाक वाहनों की सवारी तथा तेज खतरनाक बहाव वाली नदी में स्नान करना उचित नही।[345]
- ❖ ठीक प्रकार से न ढके हुए, तकिये से रहित, छोटे और असमतल बिस्तर पर न सोयें।[346]
- ❖ इन वस्तुओं व व्यक्तियों को न लाँघें-किसी सम्बन्धी, अच्छे वंश मे उत्पन्न व्यक्ति, अध्यापक, गुरू, पूज्य व्यक्ति, पवित्र वृक्ष एवं अवांछित व्यक्ति की परछाई को।[347]
- ❖ पूज्य व्यक्तियों एवं शुभ वस्तुओं को अपनी बाई ओर रख कर तथा अन्य व्यक्तियों व वस्तुओं की दाई और रख कर उनका

---

342. सत्यवादिनं क्रोधं निवृतं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायसं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।

343. जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राहणाचार्यगुरूवृद्धार्चने रतम्।।

344. देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्।
शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्म प्रवणेन्द्रियम्।।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्वान्नरं नित्यरसायनम्।। च.चि. 1-4/33-34

345. "न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत्।" च.सू. 8/19
पुरोवातातपरज्स्तुषारपुरूषानिलान्।।
अनजुः क्षवथुद्गारकासस्वप्नात्रमैथुनम्।
सशब्दमनिलं हस्तमूनेत्रोत्क्षेपवादितम्।।
कूलच्छायां सुरापानं व्यालंदष्ट्रिविषाणिनः।
हनिनार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः।।
सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वपनाध्ययनचिन्तनम्।
आरोग्यजीवितैश्यवर्य विद्यासुस्थिरमानिताम्।।
तोयाग्निपूज्यमध्येन यान धूमं वाश्रयम्।
मघातिसक्ति विश्रम्भस्वातन्त्रये स्त्रीषु च त्यजेत्।। च.अ.स. 3/108-111

346. "न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत्, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालसमं वा शयनं प्रपद्येत्।" च.सू. 8/19

Scanned by CamScanner

अतिक्रमण न करें।

- अशिष्ट व्यवहार न करें, जैसे-सभा में जोर से हँसना, अधोवायु (गैस) और डकार को ऊँची आवाज में छोड़ना, मुख को ढके बिना जम्भाई लेना, छींक, खाँसी करना और ज़ोर से हँसना, नासिका में खुजली करना, दाँत किटकिटाना, नाखूनों से आवाज़ निकालना, ज़मीन कुरेदना, हड्डियों से आवाज़ निकालना, मिट्टी के ढेले को कुचलना, हाथ-पैर आदि अंगो को अनुचित ढंग से रखना, हिलाना आदि।[348]
- टकटकी बाँधकर न देखें-किसी ग्रह एवं बहुत चमकीली, अनिच्छित, अपवित्र और निन्दित पदार्थ या वस्तु को।[349]
- रात के समय प्रवेश और निवास न करें-किसी मन्दिर, पवित्र माने जाने वाले वृक्ष सार्वजनिक प्रांगण, बाग-बगीचे, चौराहे, श्मशान एवं एकान्त स्थान में।[350]
- अकेले नहीं जाएँ-जंगल, वधस्थान में।
- इनके समीप जाना ठीक नहीं-साँपों व खरतनाक सींगों और दाँतों वाले जानवरों, मन को स्थिर किये बिना और भोजन के पश्चात् मुँह-हाथ धोए बिना अग्नि के समीप।
- बच कर रहें- पूर्व दिशा से आने वाली हवा, धूप, गिरते ओलों एवं आँधी से।
- अनुचित है- अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना और साहस दिखाना, आवश्यकता से अधिक सोना व स्नान करना, रात में जागना, अधिक मात्रा में पेय पदार्थो को पीना।[351]

अनुचित व अधार्मिक कार्य को करना, दुश्चरित्र व्यक्तियों, स्त्रियों व नौकर से मित्रता करना, सच्चरित्र व अच्छे लोगों से शत्रुता करना, अधिक समय तक घुटनों को ऊँचा करके बैठना, चारपाई, आदि के नीचे अग्नि रख कर तापना, थकावट में, कुल्ले और गरारे किये बिना तथा पूर्ण वस्त्रहीन होकर स्नान करना, स्नान के बाद पहले पहने हुए वस्त्र फिर पहनना।[352]

---

347. "नास्पृष्ट्वारत्नाज्यपूज्यमङ्ग.लसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, च.सू. 8/19
न पूज्यमङ्ग.लान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम्।"
"न वृद्धान्न गुरून्न गणान्न नृपान् वा अधिक्षिपेत्।" च.सू. 8/25

348. "नोच्चैर्हसेत् न शब्दवन्तं मारूतं मुञ्चेत्, च.सू. 8/19
ना नावृतमुखो जृम्भां क्षवथु हास्यं वा प्रवर्तयेत्।"

349. "सततं न निरीक्षेत् चलसूक्ष्माप्रियाणि च। अ.स.सू. 3/100
नाप्रशस्तं न विण्मूत्रं न दर्पणममार्जितम्।।" च.सू. 8/19
"ज्योतींष्यनिष्टंमेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत्।" च.स. 8/19

350. "न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः।" च.स. 8/19
"न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वर चतुष्पथो-पवनश्मशानाद्यातनान्यासेवेत
नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्।" च.सू. 8/19

351. "न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानान्यासेवेत्, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्।"

Scanned by CamScanner

♦ अध्ययन में सावधानी

समय के अनुसार तथा उचित प्रकाश में अध्ययन करना चाहिए। पढ़ते समय प्रकाश बाईं ओर से या पीछे से आना चाहिए। किसी स्थान के जलने की प्रतीति होने पर अग्नि का तेज़ उपद्रव होने पर, उल्का भूकम्प, सूर्य या चन्द्र ग्रहण तथा महत्वपूर्ण त्योहारों पर, और प्रातः एवं सायं की सन्धिबेला में पढ़ना नहीं चाहिए।[353] उचित मुद्रा में बैठ कर तथा पुस्तक को उचित दूरी पर (न बहुत समीप और न बहुत दूर-लगभग एक फुट की दूरी पर) रख कर ही पढ़ना चाहिए। लेट कर पढ़ने से आँखे कमज़ोर होती है। पढ़ते हुए ध्यान रखना चाहिए कि शब्द का उच्चारण अधूरे रूप में न हो, स्वर बहुत अधिक ऊँचा या बहुत धीमा नहीं होना चाहिए, आवाज रूखी और कठोर भी नहीं होनी चाहिए। शब्दों का उच्चारण उचित दबाव डाल कर, न बहुत शीघ्रता से और न बहुत धीमी गति से तथा न बहुत लटका कर किया जाना चाहिए।[354]

♦ सामान्य आचार–विहार

किसी भी व्यक्ति को सामान्य रूप से माने जाने वाले नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, और न ही समाज द्वारा मान्य आचार-संहिता को तोड़ना चाहिए।

- रात्रि में तथा अनुचित स्थानों पर घूमना उचित नहीं है।
- प्रातः और सायंकाल की सन्धिबेलाओं में खाना, अध्ययन करना, सोना तथा मैथुन क्रिया करना मना है।[355]
- मद्यपान, जुआ खेलना तथा वेश्याओं के प्रति झुकाव नहीं रखना चाहिए।[356]
- किसी भी व्यक्ति का अपमान करना अथवा अहंकार पूर्ण, अशिष्ट एवं अमित्रता का व्यवहार करना अनुचित है।
- चुगलखोरी तथा वृद्धों, अध्यापकों, समूह में बैठे लोगों और राजा के प्रति कठोर शब्द कहना असभ्यता है।
- बहुत बातूनी होना, असहिष्णुता (सहनशीलता न रखना) और अति साहस करना ठीक नहीं।
- अपने सेवकों की देख-भाल अच्छी प्रकार करनी चाहिए, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[357]
- हर व्यक्ति पर पूरा विश्वास करना, उसके

---

352. "नित्यं अनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्।" चरक सूत्र 8/18

353. "न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं।" च.स. 8/24

354. "न विस्वरं नानवस्थितपादं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यस्येत्।" च.स. 8/24

355. "सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययन चिन्तनम्।" अ.स.सू. 3/111

356. "न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्ग.रूचिः स्यात्, न गुह्यं विवृणुयात, न कञ्चिदवजानीयात्, नाहंमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः।" च.सू. 8/25

357. "न चातिब्रूयात्, न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान बहिष्कुर्यात्।" च.स. 8/25

Scanned by CamScanner

आश्रित रहना या हर किसी पर सन्देह करना उचित नहीं है।[358]

- कोई भी कार्य आरम्भ करने से पहले, उस कार्य के बारे में अच्छी प्रकार सोच-विचार कर लेना चाहिए परन्तु आरम्भ करने के बाद न तो उसे टालना चाहिए और न अधूरा छोड़ना चाहिए। दीर्घसूत्रता (टालना) की आदत को दूर करना चाहिए।[359]
- किसी कार्य में सफलता प्राप्त होने पर न तो फूल कर कुप्पा होना चाहिए और न अहंकार या अभिमान ही करना चाहिए। असफल होने पर बहुत दुःखी होना भी ठीक नहीं।
- बहुत खुशी या गुस्से में भावुक होकर कार्य नहीं करना चाहिए, और न ही छोटी-मोटी बातों के विषय में आवश्यकता से अधिक संवेदनशील होना चाहिए।
- मनुष्य को अपनी इन्द्रियों और मन का गुलाम नहीं होना चाहिए परन्तु इनको बहुत दबा कर भी नहीं रखना चाहिए।
- सदा अपने स्वभाव और प्रकृति को ध्यान में रख कर ही व्यवहार करना चाहिए।
- स्वाभिमानी होना ठीक है, परन्तु सदा अपने प्रति किये गए अपमान को ही याद नहीं करते रहना चाहिए।
- कारण और परिणाम के आपसी सम्बन्ध (जैसे-अच्छे कार्य का परिणाम अच्छा और बुरे का परिणाम बुरा होता है) पर विश्वास रखना चाहिए और उसी के अनुसार कार्य भी करना चाहिए।
- व्यक्ति का अपना चरित्र, आचार-व्यवहार तथा आदतें आपत्तिजनक नहीं होनी चाहिए। गुप्त अंगों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।[360]
- अपने सुख में दूसरों को भी शामिल करना चाहिए।

♦ मित्रता किन से करें?[361]

उन व्यक्तियों के साथ मित्रता करें जो-

- आयु, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, शुद्ध आचार-व्यवहार, धैर्य, स्मृति, एकाग्रता आदि गुणों से युक्त हों।
- जिन्होंने ज्ञान और परिपक्वता प्राप्त कर ली है अथवा जिनकी परिपक्व और अनुभवी लोगों के साथ संगति है।
- जो शान्त स्वभाव वाले, चिन्ताओं से मुक्त तथा मानवोचित स्वभाव को जानने वाले हैं।
- जो सबके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं तथा सदा सबका कल्याण के लिए तैयार रहते हैं।
- सच्चरित्र का पक्ष करने वाले तथा जिनका नाम और दर्शन शुभ माना जाता है।

---

358. "न सर्वविश्रम्भी न सर्वाभिशङ्की न सर्वकालविचारी।" च.स. 8/26
359. "न चातिदीर्घसूत्री स्यात्।" च.स. 8/27
360. "न गुह्यं विवृणुयात्।" च.स. 8/25
361. "निर्भीकः, ह्रीमान् धीमान् महोत्साहः दक्षः क्षमावान् धार्मिकः आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता।" चरक सूत्र 8/18

Scanned by CamScanner

♦ किन लोगों के साथ मित्रता न रखें?

जिन लोगों में ऊपर लिखित गुण न पाये जाएं तथा जो दूषित चरित्र वाले, पाप करने में रुचि रखने वाले, दूषित भाषा का प्रयोग करने व दूषित विचारों से युक्त है तथा जो दूसरों की निन्दा व चुगली करने वाले, झगड़ालु, लालची, दूसरों के गुणों से ईर्ष्या करने वाले, दूसरों को बदनाम करने वाले, चंचल मन व स्वभाव वाले, क्रूर, निर्दयी और अधर्मी लोग हैं, उनके साथ मित्रता कभी नहीं रखनी चाहिए।[362]

2. रात्रिचर्या

(रात में खान–पान और आचार–व्यवहार)

दिन और रात को मिलाकर 24 घण्टों की पूरी अवधि को ही दिन कहा जाता है। अतः रात्रिचर्या भी दिनचर्या का ही अंग होता है। दिन भर के सभी काम और परिश्रम करने के बाद रात्रि में विश्राम की आवश्यकता अनुभव होती है। चूंकि नींद या सोने की क्रिया ही रात में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, अतः रात्रिचर्या में सबसे पहले नींद के विषय में ही जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

♦ नींद या निद्रा :

सभी जानते हैं कि शरीर को स्वस्थ और ताज़ा बनाए रखने में ठीक प्रकार नींद लेना बहुत आवश्यक है। सारे दिन के कार्यों को करने के बाद जब शरीर और मस्तिष्क थक कर निष्क्रिय से हो जाते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ भी थक जाती है तो व्यक्ति नींद की अवस्था में आ जाता है।[363] इस प्रकार वह स्थिति जब मन का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से टूट जाता है तथा वे एकदम निष्क्रिय सी हो जाती हैं, नींद या निद्रा कहलाती है। नींद की स्थिति में शरीर में सांस लेना, छोड़ना, रक्त-संचार आदि बहुत महत्वपूर्ण कार्य ही चलते रहते हैं, शेष कार्य रुक जाते हैं। इससे शरीर की बहुत कम ऊर्जा ही खर्च होती है, शेष बची ऊर्जा (शक्ति) बल आदि को बढ़ाती है। यही कारण है कि सोने के बाद व्यक्ति अपने को स्वस्थ, तरोताज़ा और उत्साह से युक्त अनुभव करता है।

रात का समय नींद के अनुकूल पड़ता है क्योंकि रात में शरीर का कफ दोष और मन में तमस् दोष नींद लाने में सहायक होते है।[364] रात्रि में अन्धकार, शोर की कमी तथा दिन की अपेक्षा ठण्डक अधिक होने से ये दोनों दोष बढ़ जाते है अतः अच्छी नींद आने में सहायता मिलती है।

---

362. "न लोकभूपविद्विष्टैर्न सङ्गच्छेत नास्तिकैः।
कलि वैररूचिर्नं स्याद्धीरः सम्पद्विपत्तिषु।।" अ.सं.सू. 3/82

363. "यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विता।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।। च.सू. 21/35

Scanned by CamScanner

यह नींद भी दो प्रकार की होती है :

1. स्वप्न–अवस्था	इसमें व्यक्ति सोते-सोते सपने देखते रहता है। अवचेतन मन संकल्प-विकल्पों से घिरा रहता है। इस प्रकार यह नींद गहरी और पूरी तरह विश्राम देने वाली नहीं होती।[365]
2. सुषुप्त–अवस्था	इसमें मन और इन्द्रियाँ दोनों निष्क्रिय होते हैं।

सुषुप्त-अवस्था की कम समय की नींद भी मनुष्य के शरीर और मन को स्वस्थ एवं ताज़ा बना देती है[366] जबकि स्वप्न-अवस्था की अधिक नींद भी थकावट दूर नहीं करती और ताज़गी प्रदान नहीं करती।

अच्छी नींद लाने के लिए शारीरिक श्रम और थकावट के साथ-साथ मानसिक रूप से पूरी तरह शान्त होना (अर्थात् क्रोध, भय, शोक, चिन्ता आदि मानसिक विकारों से रहित) भी आवश्यक है। जिन व्यक्तियों को नींद नहीं आती वे 'अनिद्रा' रोग से ग्रस्त माने जाते हैं तथा अनेक प्रकार के मानसिक शारीरिक विकारों से पीड़ित रहते हैं।[367]

---

364. हृदयं चेतना स्थानमुक्तं सुश्रुता देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्राविशति देहिनम्।।
निद्रा हेतु स्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते।। सु.शा. 4/34

365. पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्लात्यर्थाञ्शुभाशुभान।।
करणानां तु वैकल्ये तमसाभि प्रवर्धिते।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते।। सु.शा. 4/36

366. "देह विश्रयते यस्मात्तस्मान्निदा प्रकीर्तिता।
निद्रांतु वैष्णवी पाप्मानमुपदिशन्ति, सा
स्वभावत एव सर्वप्रणिनोऽभि स्पृशति।। सु.शा. 1
सैव युक्ता पुनर्युङक्ते निद्रा देहं सुखायुषा। च.सू. 21/38
पुरुषं योगिनं सिद्धया सत्या बुद्धिरिवागता।।
भोजनान्तंर निद्रा वातं हरति पित्तद्वत्। भा.प्र. 5/220
कफं करोति वपुषः पुष्टिंसौख्यं तनोति हि।।

367. निद्रानाशादग्मर्द शिरोगौरवजृम्भिकाः। वा.सू. 7/63-64
जाड्यं ग्लानिभ्रमापक्तिन्द्रारोगाश्च वातजाः।। वा.सू. 7/65
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान्।।

Scanned by CamScanner

♦ अनिद्रा के कारण और उपाय

नींद न आने (अनिद्रा) के कुछ प्रमुख कारण होते हैं :

- ❖ मानसिक विकार, जैसे - भय, चिन्ता, शोक और क्रोध,
- ❖ अत्यधिक शारीरिक व्यायाम, परिश्रम और थकावट,
- ❖ रक्त-मोक्षण अर्थात् शरीर से रक्त निकलवाने की क्रिया,
- ❖ अति उपवास,
- ❖ धूम्रपान,
- ❖ असुविधाजनक बिस्तर व स्थान,
- ❖ सत्व गुण की अधिकता और तमोगुण की कमी,
- ❖ वृद्धावस्था तथा कुछ रोग विशेषकर वायु दोष से उत्पन्न शूल, पीड़ा आदि रोग।
- ❖ वमन (उल्टी) और विरेचन (दस्त) की क्रियाओं द्वारा सिर एवं शरीर में से दोषों का अधिक मात्रा में निकलना
- ❖ स्वाभाविक रूप से ही कम नींद आना।[368]

---

368. कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्।
चिन्ताक्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम्।।
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्य तमोजयः।
निद्राप्रसंगमहितं वारयन्ति समुत्थितम्।।
एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः।। च.सू. 21
कार्य कालो विकारश्च प्रकृति वायुरेव च।।
विरेकः कायशिरसोर्वमनं रक्तमोक्षणम्।।
धूमक्षुत्तृड्व्यथा हर्षशोक मैथुन भी क्रुधः।
चिन्तोत्कण्ठाऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्य तमोजयः।। अ.स.सू. 9/53
रुक्षान्नं चाहितां निद्रां वारयन्ति प्रसङ्गिनीम्। अ.स.सू. 9/54
कालशील क्षयो व्याधिर्वृद्धिश्चानिलपित्तयोः। अ.स.सू. 9/55

Scanned by CamScanner

उपाय :

अनिद्रा को दूर करने के लिए अर्थात् नींद लाने के लिए निम्न उपाय प्रयोग में लाये जा सकते है :

- ❖ मालिश, उबटन और स्नान व हाथ-पैर आदि अंगों को दबाना,
- ❖ स्निग्ध पदार्थो, दही के साथ शालि चावल, मादक द्रव्यों एवं दूध का सेवन,
- ❖ मानसिक रूप से प्रसन्न रहना,
- ❖ रुचि के अनुसार संगीत सुनना,
- ❖ आँखों, सिर और मुख के लिए आरामदायक मलहमों का प्रयोग करना,
- ❖ सोने के लिए आरामदायक बिस्तर और शान्त स्थान
- ❖ इत्र (perfume) एवं अन्य सुगन्धियों को सूंघना

♦ दिन के समय सोने की मनाही :

दिन में सोने से शरीर में कफ और पित्त दोष बढ़ जाते है जिससे रोग उत्पन्न हो सकते है अतः दिन के समय सोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। दिन के समय सोने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते है,[369] जैसे- हलीमक (खतरनाक प्रकार का पीलिया), सिर दर्द, शरीर का भारीपन, शरीर में दर्द, पाचन-शक्ति की कमज़ोरी, हृदयोपलेप (ऐसा महसूस होना जैसे हृदय पर बलगम जमी हो), सूजन, भोजन में अरुचि, उलटी अथवा उलटी की इच्छा, नाक में सूजन (नासाशोथ), आधे सिर में दर्द, शीत पित्त

---

369. अकालेऽतिप्रसगाच्च न च निद्रानिषेविता
सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवापरा।। — च.सू. 21/37
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन कफपित्तकरो हि सः।। — अ.स.सू. 9/45
मुक्तमात्रस्य च स्वपनास्द्वन्त्यग्नि कुपितः कफ। — मा.नि.
तस्मात्रजागृयाद्रात्रौ दिवास्वपनं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वपनं मितं चरेत्।। — सु.शा. 4/38

Scanned by CamScanner

पर छपाके, विस्फोट या छाले होना, फोड़े-फुंसियाँ, खुजली, तन्द्रा, (सुस्ती), खाँसी, गले के रोग[370], बुद्धि और स्मरण शक्ति की कमी, शरीर के रसवह, रक्तवह आदि स्रोतों में रुकावट, ज्वर, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में कमज़ोरी, कृत्रिम विषों का अधिक विषैला प्रभाव व इस प्रकार के अन्य रोग। अत: मोटे शरीर वाले, अधिक स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वाले, कफ प्रकृति वाले कफज रोगों से पीड़ित, जोड़ों के दर्द से ग्रस्त तथा कृत्रिम विष के शिकार लोगों को दिन में बिल्कुल नहीं सोना चाहिए।[371]

♦ अपवाद :

ग्रीष्म ऋतु में रात्रि की अवधि कम हो जाती है तथा शरीर में जलीय तत्वों का अधिक शोषण होने से वायु बढ़ जाती है अत: इस ऋतु में सभी मनुष्यों के लिए दिन में सोने की अनुमति है।[372] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थितियों में भी दिन के समय सोने की मनाही नहीं है, जैसे- संगीत, गायन, अध्ययन व मादक द्रव्यों के सेवन तथा अधिक चलने से थकान होने पर, क्षय, थकावट, प्यास, दस्त, शूल, दमा, हिचकी जैसे रोगों से पीड़ित होने पर, वृद्धावस्था और बाल्यावस्था में क्षीण देह होने पर, गिरने अथवा आक्रमण आदि से घायल होने पर किसी वाहन पर यात्रा करने, रात्रि जागरण, क्रोध, शोक एवं भय से थके होने पर दिन में सोने पर भी धातुएँ एवं शक्ति सन्तुलित स्थिति में रहते है। कुपित कफ दोष भी शरीर के अंगों का पोषण करता है तथा दीर्घायु होती है।[373]

♦ रात के भोजन के मुख्य नियम :

भोजन के पाचन और नींद का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।[374] भोजन ठीक प्रकार से हजम नहीं

---

370. हलीमक शिर:शूलंस्तैमित्य गुरुगात्रता:।।
ज्वरभ्रममतिभ्रंशंस्त्रोतोरोधाग्निमन्दता:।
शोफारोचक हल्लासपीनसाद्यविभेदक।।
कण्डूरुक्कोठपिटका कासतन्द्रागलमया:।
विषवेग प्रवृतिश्चा भवेदहितनिद्रया।।
अकालशयबान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसा:।
शिरोरुक्शो हल्लास स्त्रोतोरोधग्निमन्दता।। — च.स. 21/46, अ.स.सू. 9/50, अ.स.सू. 9/51, वा.सू. 9, च.सू.

371. बहुमेद: कफा: स्वप्यु: स्नेहनित्याश्च नाहनि।।
विषार्त्त: कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि। — अ.स.स. 9/48

372. ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्रयल्पभावत:
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि स:।। — अ.स.सू. 9/45

373. मुक्त्वातियाष्पयानाध्वमधस्त्री भारकर्मभि:।
क्रोधशोकभयै: क्लान्तान् श्वासहिध्माऽतिसारिण:।।
वृद्ध बालाबलक्षीणक्षततृट्च्छ्लपीडितान्।
अजीर्ण्य भिकृतोन्मतान दिवास्वप्नोचितानपि।।
धातुसम्यं तया ह्योषा श्लेष्मा चाङ्गनि पुष्यति। — अ.स.सू. 9/46, अ.स.सू. 9/47

Scanned by CamScanner

होता तो नींद में बाधा उत्पन्न हो सकती है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि रात के समय जितना सम्भव हो सके, भोजन जल्दी ही करना चाहिए। भोजन और सोने के समय के बीच कम से कम दो घण्टे का अन्तर तो अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रात्रि का भोजन सुपाच्य और हलका होना चाहिए। भोजन करने के बाद कुछ दूर पैदल भ्रमण के लिए भी जाना चाहिए। इससे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से हो जाता है और परिणामत: नींद अच्छी आती है।[375]

♦ रात के समय दही का सेवन क्यो न करें?[376]

सामान्यत: स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हुए भी दही अभिष्यन्दी (शरीर के स्रोतों में रुकावट करने वाला) होता है। इसी गुण के कारण आयुर्वेद में रात के समय दही खाने की मनाही है क्योंकि रात को भोजन करने के कुछ समय बाद ही सोना पड़ता है। भोजन-पाचन की प्रक्रिया सोते-सोते चलती रहती है, जो बहुत धीमी होती है। ऐसी स्थिति में स्रोतों में रुकावट की सम्भावना अधिक रहती है। परिणामस्वरूप नींद तथा चयापचय की क्रिया में भी बाधा उत्पन्न होती है। यही कारण है कि रात्रि के समय सामान्य मनुष्य के लिए भी दही सेवन की मनाही है। श्वास (दमा), खाँसी, जुकाम, जोड़ों के रोगों से पीड़ित रोगों के लिए तो रात के साथ दिन में भी दही खाने का निषेध किया गया है क्योंकि इस प्रकार के रोग तो स्रोतों में रुकावट होने के कारण ही पैदा होते है।

♦ रात्रि के समय पढ़ना :

आँखों को स्वस्थ बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि पढ़ते-लिखते समय प्रकाश की व्यवस्था उचित रूप से व पर्याप्त हो परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य का प्रकाश जितना अनुकूल है, कृत्रिम प्रकाश उतना अनुकूल नही है। इससे नेत्रों की दृष्टि धीरे-धीरे कम होती जाती है। इस लिए जहाँ तक सम्भव हो, रात के समय कम पढ़ना चाहिए।[377] लिखने से आँखों पर अधिक जोर पड़ता है, अत: रात्रि में लेखन कार्य न करें तो अच्छा है।

---

374. त्रय उपस्तम्भा इति आहार: स्वप्नो: ब्रह्मचर्यमिति। — च.सू. 11/35

375. रात्री तु भोजनं कुर्यात्प्रथमप्रहरान्तरे।
किञ्चिदूनं समश्नीयाद् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्।। — भा.प्र.
सायं भुक्त्वा लघु हितं समाहितमना: शुचि:।
शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाय संविशेत्।। — अ.स.सू. 3/120

376. न नक्तं दधि भुञ्जीत् न चाप्यघृतशर्करम।
नामुद्गयूंष नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।। — च.सू. 7/61
ज्वरासृकिपित्त वीसर्प कुष्ठ पाण्डुवयभ्रमान्।
प्राप्नुयात्- कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रिय:।। — च.सू. 7/62

377. न सन्धययोर्नामुखाद्गुरोर्नाविपतितं। — च.स. 8/24
न सन्ध्यास्वभ्य वहाराध्ययन-स्त्री स्वप्न सेवी स्यात्। — च.सू. 8/25

Scanned by CamScanner

◊ मैथुन अथवा सम्भोग क्रिया[378]

आयुर्वेद ने स्वास्थ्य एवं सामाजिक नियमों को देखते हुए मैथुन क्रिया के लिए भी कुछ सीमायें बांधी है। इस आधार पर निम्नलिखित परिस्थितियों में सम्भोग या मैथुन नहीं करना चाहिए :-

- ❖ स्त्री के मासिक धर्म के दौरान, किसी रोग या संक्रमण से पीड़ित होने पर तथा अपवित्र होने पर।
- ❖ बदसूरत, दुश्चरित्रा, अशिष्ट व्यवहार वाली तथा किसी प्रकार की कुल से रहित पर-स्त्री के साथ।
- ❖ मित्रवत् व्यवहार न होने पर, काम की इच्छा न होने पर, किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षित अथवा विवाहिता एवं दूसरी जाति की स्त्री के साथ।
- ❖ पवित्र माने जाने वाले वृक्षों के नीचे, सार्वजनिक स्थानों, चौराहे, उद्यान, श्मशान घाट, वधस्थल, जल, चिकित्सालय, औषधालय, मन्दिर एवं ब्राह्मण, गुरु या अध्यापक के निवास स्थान में।
- ❖ प्रातः एवं सांय की सन्धि वेला में, पूर्णमासी, अमावस्या, प्रतिपदा (पक्ष का पहला दिन) व अष्टमी तिथि में।
- ❖ पुरुष के अपवित्र स्थिति में होने पर, काम की तीव्र इच्छा या उत्तेजना न होने पर।
- ❖ दूध आदि किसी वृष्य पदार्थ का सेवन न करने पर।
- ❖ भोजन बिल्कुल नहीं अथवा आवश्यकता से अधिक मात्रा में करने पर।
- ❖ मूत्र का तीव्र वेग, थकावट, शारीरिक श्रम एवं उपवास की स्थिति में।
- ❖ विषम स्थान में तथा एकान्त स्थान न होने पर।[379]

---

378. ग्राम्यधर्म प्रवृतौ तु रजस्वलामनिष्टामनिष्टाचारा-
मशस्तामतिस्थूलामकृशां गर्भिणीं सूतिकामनुत्तानं
विकृताङ्गी गणिकामप्रजसं दुष्टयोनिमन्ययोनिमन्यस्त्रियं
विशेषाच्च वयो वर्णवृद्धां सगोत्रां । — अ.स.सू. 9/69
रजस्वलामकामाञ्च मलिनामप्रियां तथा।
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम्।। — सु.चि. 24/114

379. हीनांगी गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषसमन्विताम्। — सु.चि. 24/115
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि।।
तथा चैत्यचत्वर चतुष्पथोपवन श्मशानायतन
सलिलौषधिद्विजगुरूसुरनृपालयेष्वहनि-गोसर्गे, मध्यन्दिने-
ऽर्द्धरात्रे पर्वदिनेष्वनङ्गे, पिपासुरप्रणीत संकल्पो वा न गच्छेत।। — अ.स.सू. 9/69

Scanned by CamScanner

जनन इन्द्रिय के अलावा किसी अन्य इन्द्रिय के साथ भी सम्भोग करना निषिद्ध है। सम्भोग से पहले और बाद में एक गिलास दूध चीनी या शहद मिला कर अवश्य पीना चाहिए।[380]

3. ऋतुचर्या

(विभिन्न ऋतुओं में आचरण योग्य आहार–विहार)

हमारे शरीर पर खान-पान के अलावा ऋतुओं और जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। एक ऋतु में कोई एक दोष बढ़ता है तो कोई शान्त होता है, और दूसरी ऋतु में कोई दूसरा दोष बढ़ता और अन्य शान्त होता है। इस प्रकार, मनुष्य के स्वास्थ्य के साथ ऋतुओं का गहरा सम्बन्ध है। अत: आयुर्वेद में प्रत्येक ऋतु में दोषों में होने वाली वृद्धि, प्रकोप या शान्ति के अनुसार सब ऋतुओं के लिए अलग-अलग प्रकार के खान-पान और रहन-सहन (आहार-विहार) का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार आहार-विहार का पालन करने से स्वास्थ्य की रक्षा होती है तथा मनुष्य रोगों से बचा रहता है।[381] हमारे देश की भौगोलिक स्थिति के अनुसार एक वर्ष में मुख्य रूप से तीन ऋतुएँ (मौसम) आती हैं- गर्मी, सर्दी और वर्षा। इन तीनों मौसमों में शरीर के अन्दर अनेक प्रकार के परिवर्तन आते हैं। ये तीन मौसम भी छ: ऋतुओं में बँटे होते हैं।ये ऋतुएँ हैं- बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। इन ऋतुओं का आधार सूर्य की गति है, जिसे अयन कहा जाता है।[382] अयन दो प्रकार के हैं-

1. उत्तरायण अर्थात् जब सूर्य उत्तर दिशा की ओर गति करता है। यह आदान काल भी कहलाता है, क्योंकि इस समय सूर्य की किरणें और हवाएँ तीव्र गर्म और रूक्ष होती हैं और पृथ्वी के जलीय अंश को सोख लेती हैं अत: इसका प्रभाव सभी औषधियों के साथ-साथ मनुष्य के शरीर पर भी पड़ता

---

380. स्नानाङ्गरागव्यजनेन्दुपादमांसासवक्षीरसान् रसालाम्।
भक्ष्मान् सिताढ्यान् सलिलं सुशीतं
सेवेत् निद्रां च रतान्ततान्तः।। — अ.स.सू. 9/76
स्नानुलेपहिमाणिखण्डश्वाहाशीतम्बुदुम्धरसयूष सुराप्रसन्ना सेवेत् ..... — अन्य आचार्य

381. तस्याशिताद्यादाहाराद्बलं वर्णश्च वर्धते। — च.सू. 6/3
यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहार व्यपाश्रयम्।।
चरधातोर्गति भक्षणार्थस्य चर्यमिति रुपम्, — अ.स.सू. 4/डल्हण
तेन आहारो विहारा चर्यशस्देनीच्यते

382. इह खलु संवत्सर षडङ्गमृतुविभागेन् विद्यात्। — च.सू. 6/4
तत्रादित्यास्योदगयनमादानं च त्रीनृतु ञ्छिशिरादीन्
ग्रीष्मान्तात् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान्
दक्षिणायन विसर्ग च।।
त एते शीतोष्णबर्षा लक्षणाश्चन्द्रादित्यो: — च.सू.
कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च

Scanned by CamScanner

है। इससे शारीरिक शक्ति में कमी होने लगती है और व्यक्ति दुर्बलता का अनुभव करता है। इस अवधि में शिशिर बसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ आती है।[383]

2. दक्षिणायन अर्थात् जब सूर्य दक्षिण दिशा की ओर गति करता है। इस समय सूर्य की किरणें तथा हवाएँ आदान काल की तरह शुष्क, गर्म और रूक्ष नहीं होतीं। वातावरण में चन्द्रमा के सौम्य गुणों की प्रधानता होती है तथा ताप कम हो जाता है। हवाओं, बादलों और वर्षा में ठण्डक आ जाती है। सब जगह चन्द्रमा की शीतलता रहती है। यह विसर्ग काल कहलाता है। वातावरण की शीतलता के कारण औषधियों और खाद्य पदार्थों में स्निग्धता आ जाती है। इससे मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों की शारीरिक शक्ति में वृद्धि होती है।[384]

दक्षिण भारत में वर्षा अधिक होती है। अतः वर्षा ऋतु के दो भाग किये गये है - पहले भाग को प्रावृट् और दूसरे भाग को वर्षा ऋतु कहा गया है। जबकि उत्तर भारत में वर्षा कम होती है तथा ठण्ड अधिक पड़ती है। अतः यहाँ प्रावृट् ऋतु न मान कर शीतकाल की दो ऋतुएँ- हेमन्त और शिशिर मानी जाती हैं।

विसर्ग और आदान काल के प्रभावों के कारण आदान काल के अन्त और विसर्ग काल के प्रारम्भ में दुर्बलता अधिक रहती है। इन दोनों कालों के बीच के समय में मनुष्यों में बल भी मध्य प्रकार का अर्थात् न अधिक दुर्बलता और न अधिक शक्ति रहता है तथा विसर्ग काल के अन्त एवं आदान काल के आरम्भ में शरीर में बल की प्राप्ति अधिक होती है। समय की इन सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही आयुर्वेद ने सभी ऋतुओं में अलग-अलग आहार-विहार का वर्णन किया है।[385]

---

383. तत्र रविर्भाभिराददानो जगडतः स्नेहं वायवस्तीव्र रुक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरबसन्तग्रीष्मेषु यथाकमं रौक्ष्यमुत्पादयन्ते रुक्षान रसारितक्त कषाय कटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।। च.सू. 6/6

शीतांशुः कलेदयत्युर्वी विवस्वान्शोषय त्यापि। तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः।। सु.सू. 6/8

384. विसर्गस्तु सौम्यः। तस्मिन्नपि कालमार्गमेघवातवर्षाभिहत प्रभावे दक्षिणायनगेऽर्के शशिनिः चाव्याहतबले शिशिराभिर्भाभिः शश्वदाप्यायमाने माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगत्यरुक्षा रसाः प्रवर्धन्ते अम्ल लवण मधुराः यथाक्रमं बलं चोपचीयेते नृणामिति। अ.स.सू. 4/7

385. आदावन्ते च दौर्बल्य विसर्गादानयोनृणाम्। मध्येमध्य बलं, त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्।। च.सू. 6/8

हेमन्तेशिशिरे चाग्रयं विसर्गादानयोर्बलम्। शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः। अ.स.सू. 4/8

Scanned by CamScanner

♦ शीत (हेमन्त और शिशिर) ऋतु में आहार–विहार

स्वास्थ्य की दृष्टि से शीत काल की ये दोनों ऋतुएँ मनुष्य के लिए सबसे अधिक अच्छी मानी गई है। इस समय शरीर सबसे अधिक बलयुक्त होता है।[386] दिन छोटे तथा रातें लम्बी होने के कारण शरीर को आराम करने के साथ - साथ भोजन को हजम होने के लिए भी अधिक समय मिल जाता है। इन दोनों कारणों से सर्दी में अधिक पुष्टि मिलती है तथा भूख भी अधिक लगती है। इस प्रकार पाचन-शक्ति तेज होने से भारी और अधिक मात्रा में लिया गया आहार भी आसानी से पच जाता है। अत: इस काल मे भूखा रहना और रूख-सूखा भोजन खाना हानिकारक है। पर्याप्त मात्रा में भोजन रूपी ईधन न मिलने पर पाचक-अग्नि शरीर के पोषक द्रव्यों का ही भक्षण करने लगती है। इससे शरीर में वायु दोष बढ़ जाता है जिसमें शीतल और रूक्ष गुणों की अधिकता होती है।[387]

♦ पथ्य आहार

शीत ऋतु में चिकनाई, मधुर, लवण और अम्ल (खटाई) रस युक्त तथा पोषक तत्वों वाले पदार्थो का सेवन करना चाहिए। इन पदार्थो में शुद्ध घी, मक्खन, तेल, दूध, दूध-चावल की खीर, उड़द-दूध की खीर, मिश्री, रबड़ी, मलाई, ठण्डे दूध के साथ शहद, गन्ने का रस, दलिया, हलवा, ऑवले व सेव का मुरब्बा, पिट्ठी व मेवों से बने पदार्थ मिठाई आदि उपयोगी है। अनाजों में अंकुरित चना, मूँग, उड़द, गेंहूँ या चने की रोटी, कार्नफ्लैक्स, नये चावल, मौसमी फल जैसे- सेब, ऑवला, संतरा आदि। सब्जियों में - परवल, बैंगन, गोभी, जिमीकन्द, पके लाल टमाटर, गाजर, सेम, मटर, पालक, बथुआ, मेथी आदि हरे शाक, सोंठ, गर्म जल व गर्म पदार्थ स्वास्थ्य वर्धक और पोषक है।[388]

♦ पथ्य विहार

पथ्य आहार के साथ पथ्य विहार (रहन-सहन) का भी ठीक तरह से पालन करना ज़रूरी है। सबसे पहले, तो मन प्रसन्न और चिन्तारहित होना चाहिए। प्रात: काल सूर्योदय से पहले उठ कर उषापान, शौच, स्नानादि करके शुद्ध वायु सेवन के लिए भ्रमण करना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार तेज़ चाल से चलना उचित है। लौट कर थोड़ा विश्राम करके व्यायाम और योगासन आदि करने चाहिए। इस ऋतु में व्यायाम का विशेष रूप से लाभ होता है और शरीर बलवान एवं

---

386. देहोष्माणो विशन्तोऽन्त: शीते शीतानिलाहता:।
जठरे पिण्डितोष्माणं प्रबलं कुर्वतेऽनलम्।। अ.स.सू. 4/12

387. विसर्गे बलिनां प्राय: स्वाभावादिगुरु क्षमम्।
बृहणान्यन्नपानानि योजयेत् तस्य युक्तये।।
अनिन्धनोऽन्यथा सीदेदत्युदीर्णतयाऽथवा
धातूनपि पचेदस्य ततस्तेषां क्षयान्मरुत्।। अ.स.सू. 4/13-14
तेज: सहचर: कुप्येच्छीत: शीते विशेषत:। अ.स.सू. 4/15

388. अतो हिमे भजेत् स्निग्धान् स्वाद्वम्ल लवणान् रसान्।। अ.स.सू. 4/17
माषेक्षुक्षीर विकृति वसा तैल नवौदनान्।

Scanned by CamScanner

सुडौल बनता है, खाया-पिया ठीक प्रकार पच जाता है। तेल मालिश, उबटन (हल्दी का) व सिर पर तेल मलना खास उपयोगी है। सरसों के तेल की मालिश से त्वचा, सुन्दर और निरोग बनती है तथा फोड़े, फुंसियाँ नष्ट होते है। तेल में कपूर डाल कर मालिश करने से जोड़ों का दर्द और गठिया आदि में आराम मिलता है। मालिश के बाद उबटन करना चाहिए।[389] व्यायाम तेल-मालिश के बाद भी किया जा सकता है।

इस मौसम में ठण्ड लगने से जुकाम, बुखार, निमोनिया आदि हो सकते हैं। त्वचा रूखी होती है तथा शीतल वायु से खाँसी, श्वास, गठिया जोड़ों का दर्द, खुजली आदि हो सकते हैं। अतः ठण्डी हवा से बच कर रहना चाहिए। अधिक ताप वाले स्थान में रहना व सोना चाहिए। भारी, गर्म कपड़ों, कम्बल, रजाई, रेशमी व ऊनी वस्त्रों को पहनना व ओढ़ना चाहिए। बिस्तर व वाहन आदि अच्छी तरह ढके होने चाहिए। शरीर पर अगरु (अगर) का चूर्ण मलना चाहिए। अग्नि और धूप सेकना लाभदायक है। धूप पीठ की ओर से तथा आग आगे की ओर से सेंकनी चाहिए। कमरा गर्म करने के लिए रूम हीटर आदि का प्रयोग किया जा सकता है। इस ऋतु में मनचाहा मैथुन किया जा सकता है। रात को सोते समय दूध व तृप्य पदार्थों का सेवन लाभदायक है।

♦ अपथ्य आहार–विहार

शीत ऋतु में हलके, रूखे, वायुवर्द्धक पदार्थों, कटु, तिक्त और कषाय रस वाले खाद्य एवं पेय पदार्थों, बासी तथा ठण्डे पदार्थों (आइस्क्रीम व ठण्डी प्रकृति के) का सेवन नही करना चाहिए। खटाई में इमली, अमचूर, खट्टा दही, आम के अचार आदि का सेवन कम से कम ही करना चाहिए।[390]

देर रात तक जागना, सुबह देर तक सोये रहना, आलस्य करना, श्रम और व्यायाम न करना, देर तक भूखे रहना, अधिक स्नान, बहुत ठण्ड सहना, रात को देर से भोजन करना और भोजन के तुरन्त बाद सो जाना ये सब अपथ्य विहार हैं, जिनसे बचकर रहना चाहिए।

जो लोग हरड़ का सेवन रसायन के रूप में करते हैं, उन्हें हेमन्त ऋतु में आधा चम्मच हरड़ के साथ सोंठ का चूर्ण आधा चम्मच, तथा शिशिर

---

389. व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्ग स्वेदधूमाञ्जनातपान्।। अ.स.सू. 4/17
सुखोदकं शौचविधौ भूमिगर्भगृहाणि च।
साङ्गारयानां श्र्यां च कुथकम्बलसंस्कृताम्।। अ.स.सू. 4/18
कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गोऽगुरुणा गुरुणाऽपि वा।
लघुष्णैः प्रावृतः स्वप्यात् काले धूपाधिवासितः।। अ.स.सू. 4/19
पीनाङ्गनाङ्गसंसर्गनिवारितहिमानिलः। अ.स.सू. 4/20
शरदानि च माल्यानि वासासि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः।। च.सू. 6/48

390. वर्जयेदत्रपानानि वातलानि लघूनि च।
प्रवातं प्रमिताऽऽहारमुद्मन्थं हिमागमे।। च.सू. 6/10

Scanned by CamScanner

ऋतु में पीपल (पिप्पली) का चूर्ण आधा चम्मच ताजे पानी के साथ लेना चाहिए।[391]

♦ हेमन्त और शिशिर ऋतु में अन्तर

दोनों ऋतुओं में[392] मौसम प्रायः एक सा होता है। हेमन्त ऋतु में सूर्य दक्षिणायन में होता है, अतः औषधियों एवं आहार-द्रव्यों में स्निग्धता, मधुर रस और पौष्टिकता होती है। इस ऋतु में शरीर में किसी भी दोष का संचय नहीं होता परन्तु शिशिर ऋतु में सूर्य के उत्तरायण में होने से आदान काल के कारण वातावरण में रूक्षता और शीतलता होती है। वनस्पतियों में भी शीतलता, भारीपन और मधुरता होने से शरीर में कफ का संचय होता है। अतः शिशिर ऋतु में भी उपर्युक्त आहार-विहार का पालन करते हुए ठण्ड से अधिक बचाव रखना चाहिए तथा अधिक गर्म स्थान में रहना चाहिए। शीतल, हलके और रूक्ष पदार्थो का सेवन एवं उपवास नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त पथ्य-अपथ्य आहार-विहार का पालन करते हुए शीतऋतु में इतनी शक्ति एकत्र की जा सकती है कि इसके बल पर अन्य ऋतुओं में भी रोगों का मुकाबला (प्रतिकार) किया जा सके।

♦ वसन्त ऋतु में आहार-विहार

वसन्त ऋतु सब ऋतुओं से सुहानी होती है। इसमें सब जगह प्रकृति की सुन्दरता दिखाई देती है। रंग बिरंगे फूलों की सुन्दरता और सुगन्धि से ऐसा लगता है मानो प्रकृति प्रसन्न मुद्रा में है। यह ऋतु शीतकाल और ग्रीष्म काल का सन्धि समय होता है। मौसम समशीतोष्ण होता है अर्थात् न तो कँपकँपाती सर्दी होती है और न ही कड़ाके की धूप या गर्मी ही। मौसम मिला-जुला होता है, दिन में गर्मी और रात में सर्दी होती है।[393]

♦ शरीर पर प्रभाव

इस ऋतु में सूर्य की किरणें तेज होने लगती हैं। शीत काल (हेमन्त और शिशिर ऋतुओं) में शरीर के अन्दर जो कफ जमा हो जाता है, वह इन किरणों की गर्मी से पिघलने लगता है। इससे शरीर में कफ दोष कुपित हो जाता है और कफ से होने वाले रोग (जैसे- खाँसी, जुकाम, नज़ला,

---

391. हरीतकी मनुष्याणां मातेव हितकारिणी।
कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी।। — भा.प्र.

ग्रीष्मे तुल्यगुडामं सुसैध्वयुवां मेधावनद्वाम्बरे।
सार्ध शर्करया शरधमलया शुष्ठया तुषारागमे।।
पिप्पत्या शिशिरे बसन्तससये क्षौद्रेण संयोजितां।
राजन् प्राप्य हरीतकीमिप रुजो नश्यन्तु ते शत्रवः।। — भ.वि.नि.

392. शिशिरे शीतमधिकं मेधमारुतवर्षजम्।। — अ.स.सू. 4/20
रौक्ष्यं चादानजं तस्मात् कार्यः पूर्वोऽधिकं विधिः। — अ.स.सू. 4/21

393. बसन्ते दक्षिणो वायुरताम्रकिरणो रविः।। — अ.स.सू. 4/22
नव प्रवालत्वक्पत्राः पादपाः ककुभोऽमलाः।
किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः।। — अ.स.सू. 4/23
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः।

Scanned by CamScanner

दमा गले की खराश, टॉसिल्स, पाचन-शक्ति की कमी, जी-मिचलाना आदि) उत्पन्न हो जाते हैं। वातावरण में सूर्य का बल बढ़ने और चन्द्रमा की शीतलता कम होने से जलीय अंश और चिकनाई कम होने लगती है। इसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है और दुर्बलता आने लगती है। अत: इस ऋतु में खान-पान का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अम्ल, मधुर और लवण रस वाले पदार्थ खाने से कफ में वृद्धि होती है।[394]

♦ पथ्य आहार–विहार

इस ऋतु में ताजा हलका और सुपाच्य भोजन करना चाहिए। कटु रसयुक्त तीक्ष्ण और कषाय पदार्थों का सेवन लाभकारी है। मूँग, चना और जौ की रोटी, पुराना गेंहूँ और चावल, जौ, चना, राई, भीगा व अंकुरित चना, मक्खन लगी रोटी डबलरोटी, हरी शाक-सब्जी एवं उनका सूप, सरसों का तेल, सब्जियों में- करेला, लहसुन, पालक, केले के फूल, जिमीकन्द व कच्ची मूली, नीम की नई कोपलें, सोंठ, पीपल, काली मिर्च, हरड़, बहेड़ा, ऑवला, धान की खील, खस का जल, नींबू, मौसमी फल तथा शहद का प्रयोग बहुत लाभकारी है। जल अधिक मात्रा में पीना चाहिए। अदरक डाल कर तथा शहद मिलाकर जल तथा वर्षा का जल पीना चाहिए।[395] कफ को कम करने के लिए वमन (गुनगुना जल पीकर गले में अंगुली डालकर उलटी करना) हरड़ के चूर्ण का सेवन शहद के साथ मिला कर करना उपयोगी है।

नियमित रूप से हलका व्यायाम अथवा योगासन करने चाहिए। सूर्योदय से पहले भ्रमण करने से स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। तैल मालिश करके तथा उबटन लगा कर गुनगुने पानी से (आदत होने पर ठण्डे ताज़े पानी से) स्नान करना हितकारी है। औषधियों से तैयार धूम्रपान तथा आँखों में अंजन का प्रयोग करना, स्नान करते समय मलविसर्जक अंगों (मूत्राशय, मलाशय आदि) की सफाई ठीक प्रकार से करनी चाहिए। सिर पर टोपी व छाते का प्रयोग करने से धूप से बचा जा सकता है।[396] स्नान के बाद शरीर

---

394. शिशिरे सञ्चित: श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरित:।। अ.स.सू. 4/23
तदा प्रबाधमानोऽग्निं रोगान् प्रकुरुते बहून्। अ.स.सू. 4/24

395. अतोऽस्मिंस्तीक्ष्ण वमन धूम गण्डूषनावनम्।। अ.स.सू. 4/24
व्यायामोद्वर्तन क्षौद्रयवगोधूमजाङ्गलान्।
सेवेत सुहृदुद्यानयुवतीश्च मनोरमा:।। अ.स.सू. 4/25
स्नात: स्वलंङ्कृत: सग्वी चन्दनागुरुरुषित:।
विचित्रामत्रविन्यस्तान् सहकारोत्पलाङ्कितान्।। 26
निर्गदांश्चासवारिष्ट सीधुमार्द्वीकमाधवान्।
कवथितं मुस्तशुठयम्बु साराम्भ: क्षौद्रवारि वा।
गुरुशीतदिवास्वप्न स्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्। अ.स.सू. 4

396. ईते: प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्।
धर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते।। च.सू. 5/101

Scanned by CamScanner

पर कपूर, चन्दन, अगरू (अगर) कुमकुम आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप लाभकारी है।[397] बाग-बगीचों (जहाँ सर्वत्र प्राकृतिक सुन्दरता बिखरी होती है) स्त्री के साथ भ्रमण करने से मन व शरीर प्रसन्न रहते हैं। इस ऋतु में सांय समय दुबारा स्नान किया जा सकता है।

♦ अपथ्य आहार–विहार

बसन्त ऋतु में भारी, चिकनाई युक्त, खट्टे (इमली, अमचूर्ण) व मीठे (गुड़, शक्कर) एवं शीत प्रकृति वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। नया अनाज, उड़द, रबड़ी, मलाई जैसे भारी भोज्य पदार्थ व खजूर का सेवन भी ठीक नहीं है। खुले आसमान में नीचे ओस में सोना, ठण्ड में रहना, धूप में घूमना तथा दिन में सोना भी हानिकारक है।[398]

♦ ग्रीष्म ऋतु में आहार–विहार

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तेज़ और उष्ण किरणें पृथ्वी का सारा जलीय अंश और चिकनाई सोख लेती है। पृथ्वी का तापमान एकदम बढ़ जाता है और सब जगह ताप ही ताप अनुभव होता है। इससे सारा वातावरण रूखा और नीरस दिखाई देता है। यह आदान काल की चरम सीमा होती है। समय की गर्मी और लू का प्रभाव प्राणियों पर ही नहीं, अपितु पेड़-पौधों आदि वनस्पति जगत् और यहाँ तक कि नदी, कुएँ, तालाब आदि पर भी पड़ता है।[399]

♦ शरीर पर प्रभाव

शरीर के स्वस्थ, बलशाली और सुडौल बनाये रखने के लिए स्निग्धता (चिकनाई) और सौम्यता की आवश्यकता होती है। चूंकि इस ऋतु में इन दोनों का अभाव होता है, अतः शरीर भी वनस्पतियों की तरह सूखने लगता है। शरीर के रस, रक्त आदि सातों धातु क्षीण होने लगते हैं। अतः दुर्बलता आ जाती है। पसीना अधिक मात्रा में आता है। प्यास अधिक लगती है। बहुत अधिक जल पीने से आँतों में पाया जाने वाला एसिड जल में घुल कर कम हो जाता है। इससे

---

397. कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गोऽगुरुणा गुरुणाऽपि वा। — अ.स.सू. 4/19

398. गुरु शीत दिवा स्वप्न स्निग्धाम्ल मधुरांस्त्यजेत्।। — अ.स.सू. 4/28

399. "तत्र रविभाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यं उत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकाश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।।" — च.सू. 6/6

"ता एवौषधयो निदाहे निस्सारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाद्वैशद्याच्च वायोः सञ्चयमापादयन्ति।।" — सु.सू. 6/13

"ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतोनैर्ऋतोऽसुखः भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव।।" — सु.सू. 6/31

दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च मारुतो नैर्ऋतः सुखः। पवनातपसंस्वेदैर्जन्तवो ज्वरिता इव।। — अ.स.सू. 4/29

Scanned by CamScanner

जीवाणुओं का संक्रमण शीघ्र होता है और वमन (उल्टी) अतिसार (दस्त) पेचिश आदि रोगों का आक्रमण होने की सम्भावना रहती है। शरीर में पित्त दोष का प्रकोप होने से अत्यधिक प्यास, ज्वर, जलन, रक्तपित्त (नाक आदि अंगों से रक्तस्राव), चक्कर, सिर दर्द आदि रोग भी हो सकते है। इन सब रोगों व दुर्बलता आदि से बचने के लिए आयुर्वेद ने इस ऋतु में निम्नलिखित आहार-विहार का निर्देश किया है:

♦ पथ्य आहार–विहार[400]

ग्रीष्म ऋतु में हलका, चिकना, मधुर रस युक्त, सुपाच्य, शीतल और तरल पदार्थों का सेवन अधिक मात्रा में करना चाहिए। जल को उबालकर घड़े या फ्रिज में ठण्डा करके पीना चाहिए। चीनी, घी, दूध, मट्ठे (ताज़े जमे दही में थोड़ा पानी मिलाकर) में चीनी या पिसा जीरा, थोड़ा नमक मिलाकर (केवल प्रातः और दोपहर के भोजन में, रात में नहीं) पुराने जौ, अरहर, सब्जियों में - चौलाई, करेला, बथुआ, परवल, पके टमाटर, छिलके सहित आलू, कच्चे केले की सब्जी, सहजन की फली, प्याज, सफेद पेठा, पुदीना, नीबू आदि; दालों में छिलका रहित मूँग, अरहर और मसूर की दाल; फलों में - तरबूज, मीठा खरबूजा, मीठा आम, सन्तरा और अंगूर, हरी पतली ककड़ी, शहतूत, फालसा, अनार, आँवले का मुरब्बा; सूखे मेवों में - किशमिश, मुनक्का, चिरौंजी, पिण्ड खजूर तरल पदार्थों में- नीबू की मीठी शिकंजी, कच्चे आम का पानी, चीनी का शर्बत, मीठे दही की लस्सी, बेल का शर्बत, मीठा पतला सत्तू, ठण्डाई, चन्दन, खसखस, गुलाब का शर्बत, गन्ने, सेब और मीठे सन्तरे का रस, पाटला के फूलों से सुगन्धित और कपूर से ठण्डा किया जल, नारियल का पानी, मिश्री व घी मिला दूध, भैंस का दूध, रायता, चन्द्रमा की किरणों में ठण्डा किया जल, आइस्क्रीम जैसे पदार्थ लाभकारी हैं। अरहर की दाल खुश्क होती है अतः उसमें घी और जीरे का छौंक लगा लेना चाहिए। रसायन के रूप में हरड़ का सेवन समान मात्रा में गुड़ मिला कर करना चाहिए। इस ऋतु में भोजन कम मात्रा में और खूब चबा-चबा कर खाना बहुत ज़रूरी है। भोजन ताज़ा और गरम

---

400. "मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः।
स्वादुशीतं द्रवं स्निग्धं अन्नपानं तदा हितम्।
शीतं सशर्करं मन्थं जागंलान्मृगपक्षिणः।
घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति।।" च.सू. 27-28
आदत्ते जगतः स्नेहांस्तदादित्यो भृशं यतः।
व्यायामातप कट्वम्ललवणोष्णं त्यजेदतः।। अ.सू.सू. 4/32
मद्यं न सेव्यं स्वल्पं वा सेव्यं सुबहु वारि वा।
अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्।। अ.स.सू. 4/33
नव मृद्भाजनस्थानि हृद्यानि सुरभीणि च।
पानकानि समन्थानि सिताढयानि हिमानि च।। अ.स.सू. 4/34
स्वादुशीतं द्रवं चान्नं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः।
शालिक्षीर घृत द्राक्षा नारिकेराम्बुशर्कराः।। अ.स.सू. 4/35

Scanned by CamScanner

लेना चाहिए। ठण्डा होने के बाद फिर गर्म करके खाना या फ्रिज में रखे व्यंजन को खाते समय गरम करके खाना ठीक नहीं। फ्रिज में देर तक रखे खाद्य पदार्थ का सेवन करना हानिकारक है। फ्रिज की अपेक्षा घड़े या सुराही में ठण्डा किया हुआ जल पीना चाहिए।

इस ऋतु में वृक्षों से भरे बाग-बगीचों में भ्रमण करना स्वास्थ्य वर्धक होता है क्योंकि इनमें सूर्य की किरणें सीधी धरती पर नहीं पहुँच पातीं, अतः अधिक गर्म नहीं होती। रहने का स्थान, विशेषकर शयन कक्ष पानी के फब्बारे, पंखों, कूलर आदि से ठण्डा किया जा सकता है। रात के समय ऐसे स्थान पर सोना चाहिए जहाँ वातावरण ताज़ी हवा और चन्द्रमा की किरणों से ठण्डा हो। आराम कुर्सी आदि पर बैठ कर ठण्डी हवा का सेवन करना चाहिए। शरीर पर चन्दन का लेप करना चाहिए और मोतियों के आभूषण पहनने चाहिए। बिस्तर पर केले, कल्हार, मृणाल तथा कमल आदि के पत्ते बिछाने चाहिए। सूती व सफेद या हलके रंग के वस्त्र पहनने चाहिए।[401] बाहर धूप में घूमना नहीं चाहिए। यदि जाना ही पड़े तो पैरों में अच्छे जूते पहन कर, सिर ढक कर या छाता लेकर जाना चाहिए। घर से निकलते समय एक गिलास ठण्डा पानी अवश्य पी लेना चाहिए। एक साबुत प्याज साथ में रख लेना चाहिए। इन साधनों से लू नहीं लगती। रात को 10 बजे के बाद तक जागना हो, तो बीच-बीच में एक गिलास ठण्डा पानी अवश्य पीते रहना चाहिए। इससे वायु और कफ दोष कुपित नहीं होते और क़ब्ज़ भी नहीं होता।[402]

रात का भोजन विशेष रूप से हलका और सुपाच्य होना चाहिए। यदि हो सके तो इस समय सप्ताह में एक-दो बार खिचड़ी का सेवन अच्छा रहता है। रात का भोजन जितना जल्दी हो सके कर लेना चाहिए। इस ऋतु में दिन के समय थोड़ा सोया जा सकता है।

---

401. "दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्राशुंशीतले।
भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके।।
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चिन्दनोदकशीतलैः।
सेव्यमानो भजेदास्यं मुक्तामणिविभुषितः।।
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च।
तालवृन्तानिलान् हारान् स्त्रजः सकमलोत्पलाः।
तन्वीमृणाल वलयाः कान्ताश्चन्दरूषिताः।
सरांसि वापीः सरितः काननानि हिमानि च।
सुरभीणि निषेवेत वासांसि सुलघूनि च।।
निष्पतद् यन्त्रसलिले स्वप्यादधारागृहे दिवा।
रात्रौ चाकाशतलके सुगन्धिकुसुमास्तृते।।
च.सू. 6/30-32
अ.स.सू. 4/36-37
अ.स.सू. 4/38

402. "मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम्।
लवणाम्लकटुष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत्।।"
कर्पूरचन्दनार्द्राङ्गो विरलानङ्गसंङ्गमः।
च.सू. 6/29
अ.स.सू. 4/39

Scanned by CamScanner

♦ अपथ्य आहार–विहार

ग्रीष्म ऋतु में उष्ण प्रकृति के, खट्टे (अमचूर, इमली आदि) कटु लवण, रूखे और कसैले पदार्थों का सेवन कम से कम मात्रा में करना चाहिए। भारी, तले हुए, 'तेज़ मिर्च-मसालेदार,' बासी, 'लाल मिर्च वाले पदार्थों, 'उड़द की दाल,' लहसुन, सरसों, खट्टी दही, 'शहद,' बैंगन, बर्फ आदि का सेवन बिल्कुल नहीं करना चाहिए। (शहद को औषधि के अनुपान के रूप में लिया जा सकता है।) बाजार में बिकने वाली चाट-चटनी आदि खट्टे पदार्थों, खोये के व्यंजनों और उड़द की पिट्ठी से बने पदार्थ भी हानिकारक है। 'एक बार में अधिक मात्रा में जल नहीं पीना चाहिए' इससे पाचक-अग्नि दुर्बल होती है। कुछ-कुछ समय बाद एक-एक गिलास करके जल पीना लाभकारी है। विरुद्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। एक दम ठण्डे वातावरण से निकल कर धूप में जाना और 'धूप से आ कर एकदम पानी नहीं पीना चाहिए।' थोड़ा रुक कर पसीना सूख जाने के बाद और शरीर का तापमान सामान्य होने पर ही जल आदि पीना चाहिए। फ्रिज के पानी में सादा पानी मिला लेना चाहिए। मद्य-पदार्थों का सेवन तो इस ऋतु में बिल्कुल नहीं करना चाहिए। जो इसके बिना नहीं रह सकते उन्हें इसमें पर्याप्त मात्रा में जल मिला लेना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु में निम्नलिखित आचार-व्यवहार से भी बच कर रहना चाहिए :- रात को अधिक देर तक जागना (क्योंकि इस समय रातें वैसे ही छोटी होती हैं), दिन के समय धूप में अधिक घूमना, धूप में नंगे सिर घूमना, अधिक समय तक भूखे-प्यासे रहना, अधिक समय तक तथा अधिक मात्रा में व्यायाम करना, मल-मूत्र के वेग को रोकना, स्त्री-सहवास (मैथुन क्रिया) करना। (आयुर्वेद के अनुसार तो बिल्कुल नहीं करना चाहिए, परन्तु आजकल के वातावरण में संयम न हो सके, तो बहुत कम- पन्द्रह दिन में एक बार- किया जा सकता है।)[403]

♦ वर्षा ऋतु में आहार–विहार

वर्षा ऋतु विसर्ग काल के आरम्भ में आती है। इस समय आकाश और दिशाएँ बादलों से युक्त होती है। वातावरण में हरियाली के साथ-साथ नमी और रूक्षता भरी होती है। नमी के कारण मच्छर-मक्खी आदि जन्तुओं से गन्दगी बढ़ जाती है।

♦ शरीर पर प्रभाव

वातावरण की नमी का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। 'ग्रीष्म ऋतु में पाचन-शक्ति पहले से ही दुर्बल होती है।' वर्षा ऋतु की नमी से वात दोष कुपित हो जाता है और 'पाचन-शक्ति अधिक दुर्बल हो जाती है।[404] वर्षा की बौछारों

---

403. "ग्रीष्मकाले निषेवेत् मैथुनाद् विरतोनरः।" च.सू. 6/32
कर्पूरचन्दनार्द्राङ्गो विरलानङ्गसङ्गमः। अ.स.सू. 4/39

404. "आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः। च.सू. 6/33
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः।।"
तदाऽऽदानाबले देहे मन्देऽग्नौ
बाधिते पुनः।।

Scanned by CamScanner

से पृथ्वी से निकलने वाली गैस, अम्लता की अधिकता, धूल और धुएँ से युक्त वायु का प्रभाव भी पाचन-शक्ति पर पड़ता है। बीच-बीच में बारिश न होने से सूर्य की गर्मी बढ़ जाती है। इससे शरीर में पित्त दोष जमा होने लगता है।[405] गेंहूँ, चावल आदि वनस्पतियों की शक्ति भी कम हो जाती है।

इन सब कारणों से व संक्रमण से मलेरिया और फाइलेरिया बुखार, जुकाम, दस्त (आम से युक्त), पेचिश, हैजा, आन्त्रशोथ (colitis), अलसक, गठिया, सन्धियों में सूजन, उच्च रक्तचाप, फुंसियाँ, दाद, खुजली आदि अनेक रोग आक्रमण कर सकते हैं।

♦ पथ्य आहार–विहार

वर्षा ऋतु में हलके, सुपाच्य, ताज़े, गर्म और पाचक अग्नि को बढ़ाने वाले खाद्य-पदार्थो का सेवन हितकारक है। ऐसे पदार्थ लेने चाहिए, जो वायु को शान्त करने वाले हों। इस दृष्टि से पुराना अनाज जैसे गेंहूँ, जौ, शालि और साठी चावल, मक्का (भुट्टा), सरसों, राई, खीरा, खिचड़ी, दही, मट्ठा, मूँग और अरहर की दाल, सब्जियों में - लौकी, भिण्डी, तोरई, टमाटर और पोदीना[406] की चटनी, सब्जियों का सूप, फलों में - सेब, केला, अनार, नाशपाती, पके जामुन और पके देशी आम तथा घी व तेल से बने नमकीन पदार्थ उपयोगी रहते हैं। आम और दूध का सेवन विशेष रूप से लाभकारी है।[407] आम पका, मीठा और ताज़ा ही होना चाहिए। कच्चा, खट्टा और पाल से उतरा हुआ आम लाभ के स्थान पर हानि करता है। पके आम को चूस कर ऊपर से दूध पीने से शरीर पुष्ट होता है। यदि एक समय भोजन के स्थान पर आम और दूध का उचित मात्रा में सेवन किया जाए, तो शरीर में ताक़त, सुडौल और पुष्टि आती है। इसी प्रकार पके (बिना दाग वाले) और गूदेदार थोड़े जामुनों का नियमित रूप से सेवन करने से त्वचा के रोग, फोड़े-फुंसियां जलन और प्रमेह रोगों में लाभ

---

405. "नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ मिलन्नदेहानां प्राणिनां
शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसञ्चयमापादयन्ति।।" सु.सू. 6/11
वृष्टिभूबाष्पतोयाम्लपाक दुष्टैश्चलादिभिः। अ.स.सू. 4/43

406. "पानभोजनसंस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत्।।
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं वातवर्षाकुलेऽहनि।
विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिलशान्तये।।
अग्निसंरक्षणवताम् यवगोधूमशालयः।
पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः।।" च.सू. 6/37-38

407. "पितानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेसरम्।
हृद्यं वर्णकरं रूच्यं रक्तमासंबलप्रदम्।।
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु।
पित्ताविरोधि सपंक्वाम्रम् शुक्रविवर्धनं।।" सु.सू. 46/152-153
"आम्रस्य पल्लवोरूच्यः कफपित्तविनाशम्। भा.प्र. 18

Scanned by CamScanner

होता है।[408] भुट्टा खाने के बाद छाछ पीने से वह अच्छी तरह पच जाता है। दही की लस्सी में लौंग, त्रिकटु (सोंठ पिप्पली और काली मिर्च),सेंधा नमक, अजवायन, काला नमक आदि डाल कर पीने से पाचन-शक्ति ठीक रहती है। लहसुन की चटनी व शहद को जल एवं अन्य पदार्थों (जो गर्म न हों) में मिला कर लेना उपयोगी है। इस मौसम में वायु और कफ दोषों को शान्त करने के लिए कटु, अम्ल और क्षार पदार्थ लेने चाहिए। अम्ल, नमकीन और चिकनाई वाले पदार्थों का सेवन करने से वायु दोष के शान्त होने में सहायता मिलती है, विशेष रूप से उस समय जब अधिक वर्षा और आँधी से मौसम ठण्डा हो गया हो। रसायन रूप में हरड़ का चूर्ण सेन्धा नमक मिला कर लेना चहिए।

इस ऋतु में जल की शुद्धि का खास ध्यान रखना चाहिए। वर्षा का शुद्ध जल या तालाब, नदी अथवा कुंएँ के जल को उबाल कर ठण्डा करके पीना चाहिए। जल में तुलसी के कुछ पत्ते और फिटकरी (चावल के दाने के बराबर) पीस कर मिलाने से भी शुद्ध हो जाता है। आजकल एक्वागार्ड, फिल्टर आदि साधनों से भी जल शुद्ध कर लिया जाता है। यदि इस ठण्डे जल में शहद मिला लिया जाए तो और अच्छा है।[409] शरीर पर उबटन मलना, मालिश और सिकाई करना लाभदायक है। वस्त्र साफ-सुथरे और हलके पहनने चाहिए।[410] भीगने पर तुरन्त वस्त्र बदल लेना चाहिए। ऐसे स्थान पर सोना चाहिए, जहाँ अधिक हवा और नमी न हो। भोजन भूख लगने पर और ठीक समय पर ही करना चाहिए। रात्रि को भोजन जल्दी कर लेना चाहिए। मच्छरों आदि से बचने के लिए मच्छरदानी का प्रयोग करना चाहिए। घर के आस-पास के गड्ढों में जमा हुए और सड़ रहे पानी में मच्छर, मक्खियाँ आदि कीड़े बहुत आते व रोग फैलाते है अत: उनमें कीटनाशक छिड़क देना चाहिए। सफाई का खास ध्यान रखना आवश्यक है।[411]

♦ अपथ्य आहार–विहार

वर्षा ऋतु में पत्ते वाली सब्जियाँ, ठण्डे व रूखे पदार्थ, चना, मोंठ, उड़द, जौ, मटर, मसूर, ज्वार, आलू, कटहल, सिंघाड़ा, करेला और पानी में

---

408. ''ग्राही कषायस्तन्मज्जा विशेषान्मधुमेहहा।'' मूल - फलवर्ग (नि.र.)
''जम्बू कषायमधुरा श्रमपित्तदाहकंठार्तिशोषशमनी क्रिमिदोषहन्त्री।
श्वासातिसारकफकासविनाशिनी च विष्टम्भिनी भवति रोचनपाचनी च।।'' रा.नि.

409. ''पिबेत् क्षौद्रान्वितं चाल्पं माध्वीकारिष्टमम्बु वा।
माहेन्द्रं तप्तशीतं वा कौपं सारसमेव वा।।'' च.सू. 6/39

410. ''प्रघर्षोद्वर्तन स्नानगन्धमाल्यपरो भवेत्।
लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेदक्लेदि वार्षिकम्।।'' च.सू. 6/40
प्रघर्षोद्वर्तनस्नानधूमगन्धागुरुप्रिय:
यायात्करेणु मुख्या भिश्चित्र स्त्रग्वस्त्रभूषित:।। अ.स.सू. 4/48

411. नदीजलोदमन्थाह: स्वप्नातिद्रवमैथुनम्।
तुषारपादचरण व्यायामार्ककरौंस्त्यजेत्।। अ.स.सू. 4/49

Scanned by CamScanner

सत्तू घोलकर लेना हानिकारक है। वर्षा ऋतु में जब वर्षा बहुत कम होती है, तो पित्त का प्रकोप होने लगता है। इस समय खट्टे, तले हुए, बेसन से बने पदार्थ, तेज-मिर्च मसाले वाले, बासे खाद्य-पदार्थों और पित्त बढ़ाने वाले खाद्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक लोकोक्ति के अनुसार श्रावण मास में दूध, भाद्रपद में छाछ, क्वाँर मास में करेला और कार्तिक मास में दही का सेवन बिल्कुल नहीं करना चाहिए। दिन में सोना, धूप में घूमना व सोना, अधिक मैथुन, अधिक पैदल चलना एवं शारीरिक व्यायाम भी हानिप्रद है।[412] भारी भोजन, बार-बार भोजन करना और भूख न होने पर भी भोजन करने से बचना चाहिए। रात के समय दही और मट्ठा तो बिल्कुल नहीं लेना चहिए। गीले, नमीयुक्त वस्त्रों और बिस्तर का प्रयोग नहीं करना चाहिए। शरीर के जोड़ों, विशेषकर जांघों के जोड़ और गुप्त अंगों के आस-पास की चमड़ी को पानी या पसीने से गीला होने से बचाये रखना चाहिए। फल, सब्जी आदि खाद्य-पदार्थों को अच्छी तरह धोये बिना नहीं खाना चाहिए। नदी, तालाब आदि के अशुद्ध जल को तथा सब जगह का पानी नहीं पीना चाहिए। जब बादल छाये हों, तब दस्त वाली दवाई का सेवन नहीं करना चाहिए। इस ऋतु में फिसलन होने के कारण साइकिल, स्कूटर, कार आदि वाहन तेज़ गति से नहीं चलाने चाहिए।

शरीर में घमौरियाँ निकलने पर बर्फ का टुकड़ा मल कर लगाना चाहिए अथवा अन्य अनुकूल औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

इन सब उपर्युक्त तथ्य और अपथ्य आहार-विहार को व्यवहार में लाकर मनुष्य स्वस्थ रह कर वर्षा ऋतु का पूरा मज़ा ले सकता है।

♦ शरद् ऋतु में आहार–विहार

शरद् ऋतु में बादल बहुत स्वच्छ और सुन्दर हो जाते हैं। चन्द्रमा की किरणें अधिक प्रभावशाली, स्वच्छ और स्निग्ध हो जाती है और मन को आनन्द प्रदान करती है। नदियों, झीलों और तालाबों का जल चाँदनी के प्रभाव से स्वच्छ हो जाता है। वनस्पतियों, औषधियों आदि में अम्ल रस की अधिकता पाई जाती है।[413]

♦ शरीर पर प्रभाव

वर्षा ऋतु में शरीर को वर्षा और उसकी शीतलता सहन करने का अभ्यास हो जाता है। वर्षा के बाद शरद् ऋतु में सूर्य अपने पूरे तेज उष्मा तथा गर्मी के साथ चमकता है। इस उष्णता के फलस्वरूप वर्षा ऋतु के दौरान शरीर में जमा हुआ पित्त दोष एकदम कुपित हो जाता है।[414]

---

412. "उदमन्थं दिवास्वप्नं अवश्यायं नदीजलम्।
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।।" — च.सू. 6/35-36

413. शरदि व्योम शुभ्राभ्रं किच्चित् पटटिता मही। — अ.स.सू. 4/50
प्रकाशकाशसप्ताह्कुमुदा शालिशालिनी।। — अ.स.सू. 4/53
तप्तानां संच्चितं पूर्व तदा पित्तं प्रकुप्यति।।

414. "वर्षाशीतोचिताङ्गनां सहसैवार्करश्मिभिः। — च.सू. 6/41
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति।।"

Scanned by CamScanner

इससे रक्त दूषित हो जाता है। परिणामस्वरूप, पित्त और रक्त के रोग, जैसे- बुखार, फोड़े-फुंसियाँ, त्वचा पर चकत्ते, गण्डमाला, खुजली आदि विकार अधिक उत्पन्न होते है। विसर्ग काल का मध्य होने से शरीर में भी मध्यम प्रकार का बल पाया जाता है।

♦ पथ्य आहार–विहार

कुपित पित्त को शान्त करने के लिए घी और तिक्त पदार्थो का सेवन करना चाहिए।[415] इस दृष्टि से मीठे, हलके, सुपाच्य, शीतल और तिक्त रस वाले खाद्य और पेय पदार्थ विशेष रूप से उपयोगी हैं। शालि चावल, मूँग, गेंहूँ, जौ, उबाला हुआ दूध, दही, मक्खन, घी, मलाई, श्रीखड; सब्जियों में- चौलाई, बथुआ, लौकी, तोरई, फूलगोभी, मूली, पालक, सोया, ऑवला और सेम; फलों में - अनार, सिंघाड़ा, मुनक्का और कमलगट्टा लाभकारी है। ऑवले को शक्कर के साथ खाना चाहिए। तिक्त पदार्थो के साथ घृत को पका कर प्रयोग में लाना चाहिए। इस ऋतु में जल को दिन के समय सूर्य की किरणों में तथा रात्रि को चन्द्रमा की किरणों में रख कर प्रयोग में लाना चाहिए। यही जल इस समय अगस्त्य तारे के प्रभाव से पूरी तरह विष के प्रभाव से रहित हो जाता है और सब दृष्टि से बहुत उपयोगी होता है इसलिए अमृत के समान माना जाता है। पीने के अतिरिक्त स्नान और तैरने के लिए भी इसी जल का उपयोग करना हितकर है।[416] आचार्य चरक ने इस जल को हंसोदक कहा है। इस ऋतु में हरड़ के चूर्ण का सेवन शहद, मिश्री या गुड़ मिलाकर करना चाहिए।

कुपित पित्त और दूष्णित रक्त को शान्त करने के लिए विरेचन (दस्तावर औषधि) का प्रयोग और 'रक्त-मोक्षण' (दूषित रक्त को निकालना) वाली चिकित्सा करनी चाहिए।[417-418] इससे उपर्युक्त रोगों से बचा जा सकता है। इस ऋतु में खिलने

---

415. ''तन्नान्नपानं मधुरं लघुशीतं सतिक्तकम्।
पित्तप्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्क्षितै:।।''
''शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये।'' — च.सू. 6/42
शीतं लध्वन्नपानं च कषायस्वादुतिक्तम्
शालि षष्टिकगोधूमयवमुद्गसितामधु। — अ.स.सू. 4/55

416. ''दिवासूर्यांशुसन्तप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्।
कालेन पक्वं निर्दोषं अगस्त्येनाविषीकृतम्।।
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि।
स्नानपानावगाहेषु शस्यते तद्यथाऽमृतम्।।
शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मय:।।'' — च.सू. 6/46-48

417. सेवेत् चन्द्रकिरणान् प्रदोषं सौधमाश्रित:।
तृप्तिदध्यातपक्षारवसातैलपुरोऽनिलान्।। — अ.स.सू. 4/59

418. ''तिक्तस्य सर्पिष: पानं विरेको रक्तमोक्षणम्।'' — च.सू. 6/42
शस्तं तिक्तहवि: पानं विरेकोऽस्रसुति: सदा।
शीतं लघ्वन्नपानं च कषायस्वादुतिक्तकम्।। — अ.स.सू. 4/54

Scanned by CamScanner

वाले फूलों को आभूषणों के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए। रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों में बैठने, घूमने या सोने से स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

♦ अपथ्य आहार–विहार

शरद् ऋतु में चिकनाई वाले पदार्थ, तेल, (सरसों का) मट्ठा, सौंफ, लहसुन, बैंगन, करेला, हींग, काली मिर्च, पीपल, उड़द से बने भारी खाद्य पदार्थ, कढ़ी जैसे खट्टे पदार्थ, क्षार द्रव्य, तेज मादक द्रव्य, दही और लवण वाले खाद्य पदार्थ अधिक मात्रा में नहीं खाना चाहिए। भूख लगे बिना भोजन नहीं करना चाहिए। इस मौसम में धूप का सेवन, ओस और पूर्व की ओर से आने वाली हवाओं से बचना चाहिए। अधिक व्यायाम तथा सम्भोग भी हानिप्रद है।[419]

संक्षेप में करने योग्य हितकारी सेवन

हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में	मधुर, अम्ल और लवण रसों का स्निग्ध और उष्ण खाद्य-पदाथा का सेवन।
वसन्त ऋतु में	तिक्त, कटु और कषाय रसों का रूक्ष और उष्ण खाद्य व पेयों का सेवन।
शरद् ऋतु में	मधुर, तिक्त और कषाय रसों का रूक्ष और शीतल खान-पान।
ग्रीष्म ऋतु में	मधुर रस स्निग्ध और शीतल खान-पान

वैसे तो सभी ऋतुओं में सभी (छः) रसों का सेवन करना चाहिए। परन्तु इन उपर्युक्त रसों आदि का सेवन विशेष रूप से तथा अधिक मात्रा में करना चाहिए।

ऋतुचर्या में वर्णित आहार-विहार का सेवन करते हुए यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋतुसंधि[420] अर्थात् ऋतु के अन्तिम और आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह के बीच पहले वाले आहार-विहारों

---

419. आतपस्य च वर्जनम्।।
"वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम्।
क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातं चात्र वर्जयेत्।।" — च.सू. 6/44-55

420. ऋतुसन्धिः- ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहादृतुसंधिंरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात्।। — अ.स.सू. 4/61
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्।
"कार्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टा वाग्रयणस्य च।
यमदंष्ट्रा समाख्याता स्वल्पभुक्तो हि जीवति।।" — शा.प्र.ख. 2/30

Scanned by CamScanner

को धीरे-धीरे छोड़ कर ही नई ऋतु के लिए बताये गये आहार-विहार का सेवन आरम्भ करना चाहिए। पहले लिये जाने वाले आहार आदि को एकदम छोड़ कर पूरी तरह नये आहार आदि का सेवन करने से असात्म्य (प्रतिकूलता) होता है। इससे रोग उत्पन्न हो सकते है। इस काल को आचार्य ने यमदंष्ट्रा काल कहा है तथा विशेषकर कार्तिक मास के अन्तिम 8 दिन और अगहन मास के प्रारम्भ के 8 दिनों में उपरोक्त विधि का पालन करने को कहा है।

4. वेग रोध से बचें[421]

यह अनुभव में आया है कि भूख लगने पर जब भोजन आदि नहीं किया जाता, तो एकदम कमज़ोरी आने लगती है, प्यास लगने पर पानी न पीने से शरीर बेजान सा हो जाता है तथा चक्कर, मूर्च्छा आदि भी आ सकते है। इसी प्रकार, मूत्र का वेग होने पर यदि मूत्र त्याग न किया जाए, तो पेडू में दर्द होने लगता है, मल त्याग न करने पर पेट में गैस, दर्द आदि के लक्षण पैदा हो जाते है। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर में कोई भी वेग होने पर उसकी समय पर पूर्ति अवश्य की जानी चाहिए, टालना नहीं चाहिए। भूख प्यास लगना, मल मूत्र के त्याग के लिए वेग होना ये व इसी प्रकार की अन्य इच्छाएं शरीर में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती रहती है। इन्हें स्वाभाविक वेग कहा जाता है। प्रत्येक चेतन प्राणी में ये स्वाभाविक इच्छाएं पाई जाती है जो समय समय पर आवेगों के रूप में अपने आप प्रकट होती रहती है। इनकी समय पर पूर्ति करना बहुत आवश्यक है। समय पर इनकी पूर्ति न करने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते है। प्रमुख आवेग 13 माने गये है।[422] जो निम्नलिखित है-

1) मूत्र त्याग
2) मल त्याग
3) सम्भोग अथवा मैथुन
4) अधोवायु का त्याग
5) वमन या उलटी
6) छींकना
7) डकार लेना
8) जम्भाई लेना
9) भूख
10) प्यास
11) रोना या आंसू बहना एवं
12) अधिक परिमाण से तेज़ श्वास
13) निद्रा

जब इन स्वाभाविक इच्छाओं (वेगों) को दबाया जाता है या समय पर इनकी पूर्ति नहीं की जाती

---

421. रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः
वेगधारणशीलस्य च स्वास्थयासम्भवः।
अतोवेगधारण प्रतिषेधेन च रोगानुत्पतिः ।

अष्टांग स.सू. 5 इन्दुकीटीका

422. न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः
न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च।
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान क्षुत्पिपासयोः।
न वाष्पस्य न निद्रायानिःश्वासस्य श्रमेण च।

च.सू. 7/3-4

Scanned by CamScanner

तो इसे वेगरोध उत्पन्न होना कहते है। इन सबका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है

♦ मूत्र का वेगरोध[423]

मूत्र के वेगरोध (अर्थात मूत्रत्याग की आवश्यकता अनुभव होने पर भी मूत्र न त्यागना) से मूत्राशय तथा लिंग में पीड़ा और पेट के निचले भाग में पीड़ा होती है।

पेट में अफारा और दर्द, मूत्र कृच्छ (मूत्र त्याग में कठिनाई) सिरदर्द तथा शरीर का झुक जाना आदि जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं ।

इन जटिलताओं का उपचार टब स्नान, मालिश तथा नाक में घी की नसवार डाल कर और तीन प्रकार के एनिमा (आस्थापन, उत्तर बस्ति और अनुवासन) क्रियाओं को करके किया जा सकता है।[424]

♦ मल का वेगरोध

मल का वेगरोध (मलत्याग का वेग होने पर भी मल त्याग के लिए न जाना) करने पर शूल ; तीव्र दर्द, सिरदर्द, मल और अधोवायु (गैस) को त्याग करने में रुकावट, जंघा की पेशियों में ऐंठन, पेट में अफारा आदि शिकायतें उत्पन्न हो जाती है।[425]

इनके उपचार के लिए सिकाई, मालिश, टब स्नान, मल द्धार में वर्ति डालना, बस्ति क्रिया (एनिमा) आदि साधनों को प्रयोग में लाना चाहिए। खाने में पपीता, हरी सब्जियां, फलों का रस आदि विरेचक दस्तावर खाद्य और पेय पदार्थो का सेवन उपयोगी है।[426]

♦ मैथुन (वीर्य का वेगरोध)

मैथुन का वेगरोध (सम्भोग की इच्छा होने पर उतेजना के फलस्वरूप वीर्य का वेग होने पर उसे दबा लेना) करने पर लिंग तथा अंडकोषों में दर्द, घबराहट, हृदय प्रदेश में दर्द तथा मूत्र के प्रवाह में रुकावट हो जाती है।[427]

---

423. वास्तमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छं शिरोरूजा ।
विनामो वङ्क्षणानहः स्याल्लिंङ्ग मूत्रनिग्रहे ।
अंगभंगाश्मरीबस्तिमेण्द्रवक्षणवेदनाः — च.सू. 7/6

424. स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान सर्पिषचावपीडकम् । — च.सू. 7/7
मूत्रेप्रतिहतेकुर्यात्त्रिविधं बस्तिकर्म च ।
मूत्रजेषु च पाने च प्राग्भक्ताच्छस्यते घृतम । — अ.सं.सु. 5/9
जीर्णान्तिकम् चोत्तमया मात्रया योजनाद्धयम।। अवपीडकमेंतच्च संज्ञितम

425. पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम् । — च.सू. 7/8
पिण्डिकोद्धेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्धिधारिते।।
शकृतःपिण्डिकोद्धेष्ट प्रतिश्याय शिरोरूजाः । — अ.सं.सु. 5/6-7
ऊर्ध्ववायुः परीकर्तोहृदयस्योपरोधनम् ।। मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च

426. स्वेदाभ्यङ्गावगाहश्च वर्तयोः बस्तिकर्म च । — च.सं.सु. 7/9
हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रमाथि च ।। — च.सं.सु. 7/10

427. मेढ्रे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दोहृदि व्यथा भवेत् प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च। — अ.सं.सु. 5/23
शुक्रात् तत्स्रवणम गुह्यवेदनाश्वयथज्वराः हृदव्यथामूत्रसंङ्गाङ्गभङ्गवद्ध्यश्मषण्ढताः।।

Scanned by CamScanner

इन जटिलताओं को दूर करने के लिए मालिश, टब स्नान, शालिधान और दूध का सेवन, चिकनाई रहित एनिमा क्रिया एवं सम्भोग साधन प्रयोग में लाने चाहिए ।[428]

♦ अधोवायु का वेगरोध

अधोवायु का वेगरोध (पेट के निचले भाग में वायु एकत्र होने पर व इसका वेग बनने पर भी संकोच वश मलद्वार से वायु न निकलना) करने पर वायु दोष कुपित हो जाता है। इससे मल, मूत्र और गैस को निकालने में रुकावट, पेट में अफारा और दर्द, थकावट एवं पेट के दूसरे रोग उत्पन्न हो सकते हैं।[429]

इन जटिलताओं की चिकित्सा के लिए स्नेहन क्रिया (घी, तेल और चिकनाई वाले पदार्थो का सेवन व मालिश आदि) सिकाई, गुदा में वर्ति डालना तथा एनिमा का प्रयोग लाभदायक है। इस स्थिति में पाचक खाद्य और पेय पदार्थों का सेवन करना चाहिए।[430]

♦ वमन (उलटी का वेगरोध)

वमन का वेगरोध की इच्छा या वेग उपस्थित होने पर भी उसे रोकने से खुजली, उदर्द/कोढ, या छपाकी, भोजन में अरुचि, सूजन, चेहरे पर काले दाग, रक्त की कमी, ज्वर, जी मिचलाना, विसर्प (एक प्रकार की चमड़ी का रोग) तथा अन्य चर्म रोग उत्पन्न हो सकते है।[431]

इन रोगों से छुटकारा पाने के लिए वमन चिकित्सा (उलटी लाने की औषधि आदि लेना) धूम्रपान (औषधियों से तैयार), उपवास, रक्त मोक्षण (दूषित रक्त) निकलवाना और विरेचन क्रिया दस्तावर (औषधि का सेवन) को प्रयोग में लाना चाहिए। इसके साथ साथ शारीरिक व्यायाम और रूखे खाद्य व पेय का सेवन भी उपयोगी है।[432]

---

428. तत्राभ्यङ्गोडकाहश्च मदिरा चरणायुधाः ।
शालिः पयो निरुध्श्च शस्तं मैथुनमेव च ।। च.सू. 7/11

429. सगेविण्मूत्रवातानामाध्मानं वेदना क्लमः ।
जठरे वाताजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ।। च.सू. 7/12
अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरूकक्लमाः ।
वातमूत्रशकृत्सङ्गद्रष्ट्यग्नि वधहृद्गदाः।। अ.सं.सु. 5/4

430. स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च।
पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ।। च.सू. 7/13

431. कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः ।
कुष्ठहल्लासवीसपरिछर्दिनिग्रहजागदाः।। च.सू. 7/14
विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्डवामयाज्वराः ।
सकासश्वासहृल्लासव्यंङ्गश्वयथवो वमेः। अ.सं.सू. 5/20

432. भुक्तवा प्रच्छर्दनं धमो लङ्घनं रक्तमोक्षणम् ।
रूक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्र शस्यते । च.सू. 7/15
गण्डूषधूमानाहरं रूक्षं भुक्त्वा तदुद्गमः ।
व्यायामः सुतिरस्य शस्तंचात्र विरेचनम् ।।
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ।। अ.सं.सु. 5/22

Scanned by CamScanner

♦ छींक का वेगरोध

छींक का वेगरोध (छींक आने पर उसे रोक देना) करने पर सिर दर्द लकवा, आधाशीशी का दर्द, मन्यास्तम्भ और जननेन्द्रियों में कमज़ोरी आदि रोग उत्पन्न हो सकते है।[433]

इन रोगों की चिकित्सा के लिए सिर से गर्दन तक के भाग की मालिश और सिकाई, धूम्रपान (औषधियों से तैयार), नाक में तेल डालना आदि साधन प्रयोग में लाने चाहिए। वायु शान्त करने वाले पदार्थो तथा भोजन के पश्चात घी का सेवन विशेष उपयोगी है।[434]

♦ उद्‌गार अथवा डकार का वेगरोध

(डकार आने पर भी उसे रोकना) करने पर हिचकी श्वास (सांस फूलना) शरीर अथवा किसी अंग का कम्पन, भोजन में अरुचि, हृदय और फेफड़ों की क्रियाओं का धीमा पड़ना आदि रोग उत्पन्न हो सकते है।[435]

इनके उपचार के लिए हिचकी रोग के लिए उपयोगी साधनों को प्रयोग में लाना चाहिए।[436]

♦ जम्भाई का वेगरोध[437]

जम्भाई का वेगरोध (जम्भाई आने पर उसे रोकना) करने पर शरीर का मुड़ जाना, आक्षेप (convulsion) संकुचन (सिकुडन), अंगों में सुन्नता, कम्पन आदि रोग उत्पन्न हो जाते है ।

इनकी चिकित्सा के लिए वायु को शान्त करने वाले औषधियों और पदार्थो का सेवन करना चाहिए।

♦ क्षुधा (भूख) का वेगरोध[438]

क्षुधा का वेगरोध (भूख लगने पर भी भोजन न करना) करने पर शरीर में कमज़ोरी और क्षीणता (पतलापन) आ जाती है। शरीर का रंग बदलने लगता है तथा घबराहट, अरुचि और चक्कर आदि आने लगते है।

---

433. मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।
इन्द्रियाणांच दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्धिधारणात् ।। — च.सू. 7/16
शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः — अ.स.सु. 5/12

434. तत्रोर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदो धूमः सनावनः । — च.सू. 7/17
हितं वातघ्नमाद्यं च घृतं चौत्तरभक्तिकम्।।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ।
प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्वेदावभ्यङ्गौ च शीलयेत।। — अ.सं.सु. 5/13
योज्यं वातघ्नमन्नं च घृतं चौत्तरभक्तकम्। — च.सू. 7/18

435. हिक्का श्वासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः । — च.सू. 7/18

436. उद्‌गारनिग्रहात्तत्र हिक्कायास्तुल्यौषधम् ।।

437. विनामाक्षेपसङ्कोचाः सुप्तिः कम्पः प्रवेपनम् । — च.सू. 7/19
जृम्भया निग्रहात्तत्र सर्वं वातघ्नमौषधनम् ।। — अ.सं.सू. 5/19
जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वाश्चानिलजिद्विधिः ।।

438. कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यक्लमर्दोऽरुचिर्भ्रमः । — च.सू. 5/20
क्षुद्वेगनिग्रहात्तत्र स्निग्धोष्णं लघुभोजनम् ।।

Scanned by CamScanner

इन जटिलताओं से छुटकारा पाने के लिए स्निग्ध (चिकनाई वाला) व हलका भोजन करना चाहिए।

♦ प्यास का वेगरोध[439]

प्यास का वेगरोध (प्यास लगने पर भी जल आदि पेय पदार्थ न पीने) करने पर गला और मुख सूखने लगते हैं। बहरापन, थकावट, कमज़ोरी तथा हृदय में दर्द आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

इनके उपचार के लिए रोगी को ठण्डे और शान्तिदायक पेय पदार्थ पीने चाहिए।

♦ अश्रु (आंसुओं का वेगरोध)[440]

अश्रु का वेगरोध (आंसू को रोकना) करने पर नाक में सूजन, आंखों के रोग, हृदय रोग, भोजन में अरुचि, चक्कर आदि जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इनकी चिकित्सा के लिए मद्य सेवन, नींद तथा हंसी मज़ाक की बात करना आदि साधन उपयोगी हैं।

♦ नींद का वेगरोध[441]

नींद का वेगरोध (नींद आने पर भी न सोना) करने पर जम्भाइयां आना थकावट तथा सुस्ती आदि उत्पन्न हो जाते हैं । सिर में दर्द, आंखों में भारीपन और चक्कर जैसी शिकायतें देखी जाती हैं।

इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए पूरा आराम और नींद लेनी चाहिए। वायु को शान्त करने वाले आहार विहार का सेवन उपयोगी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वस्थ रहने के लिए इन सब स्वाभाविक वेगों की पूर्ति ठीक समय पर और उचित ढंग से की जानी चाहिए। इन्हें दबाना नहीं चाहिए। स्वास्थ्य की रक्षा के लिए इन वेगों की उसी समय पर पूर्ति करना आवश्यक है तथा इनको रोकने (धारण) से स्वास्थ्य का नाश होता है।

---

439. कण्ठास्यशोषोबाधिर्यं श्रमः सादो हृदि व्यथा ।
पिपासानिग्रहातत्र शीतं तर्पणमिष्यते ।। च.सू. 7/21
शोषाङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः ।
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतःसर्वोविधिर्हितः।। अ.सं.सू. 5/14

440. प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्चारूचिर्भ्रमः ।
बाष्पनिग्रहाणत्तत्र स्वपनो मद्यं प्रियाः कथाः ।। च.सू. 7/22
पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ।
सगुल्मावाष्पस्तत्र स्वप्नोमद्यं प्रियाः कथाः ।। अ.सं.सू. 5/19

441. जृम्भाऽग्मर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगोऽक्षिगौरवम् ।
निद्राविधारणात्तत्र स्वप्नः संवाहनानि च ।। च.सू. 7/23
निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः ।
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च ।। अ.सं.सू. 5/16

Scanned by CamScanner

नियन्त्रण करने योग्य प्रवृत्तियां[442]

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर स्वभाव से ही कुछ वृतियां ऐसी बन जाती है, जो उसके स्वयं के लिए तथा समाज के लिए हानिकारक होती है। इस प्रकार की प्रवृतियों के प्रभाव से लोभ, लालच, भय, क्रोध, शोक, ईर्ष्या, अहंकार, निर्लज्जता और आसक्ति से प्रेरित होकर कार्य किये जाते है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शान्त और सुखी जीवन के निर्माण के लिए इस प्रकार के सभी वाचिक एवं शारीरिक कुकर्मो और अविवेक पूर्ण इच्छाओं को नियन्त्रण में रखना चाहिए। इसी प्रकार कठोर शब्दों गाली गलोच एवं असम्बद्ध शब्दों के प्रयोग से भी बचना चाहिए। जिन कर्मो से दूसरों को मानसिक रूप से कष्ट पहुंचने की सम्भावना हो, उन कार्यो तथा दूसरे की स्त्रियों के साथ मैथुन करना, चोरी आदि कार्यो से भी सदा दूर रहना चाहिए। मनुष्य मन, वचन और कर्म से इस प्रकार के गलत कार्यो से बचा रहता है, वह स्वयं भी प्रसन्न रहता है तथा उसके परिवार में भी सुख शान्ति बनी रहती है। वह धर्म अर्थ और काम की पूर्ति करके उनके फल को आनन्द से भोगता है।[443]

---

442. इमांस्तु धारयेद्धेगान हितार्थी प्रेत्य चेह च ।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ।। च.सू. 7/26

443. पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
धर्मार्थकामान्पुरूषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च ।। च.सू. 7/30

Scanned by CamScanner

ओ३म्

आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य

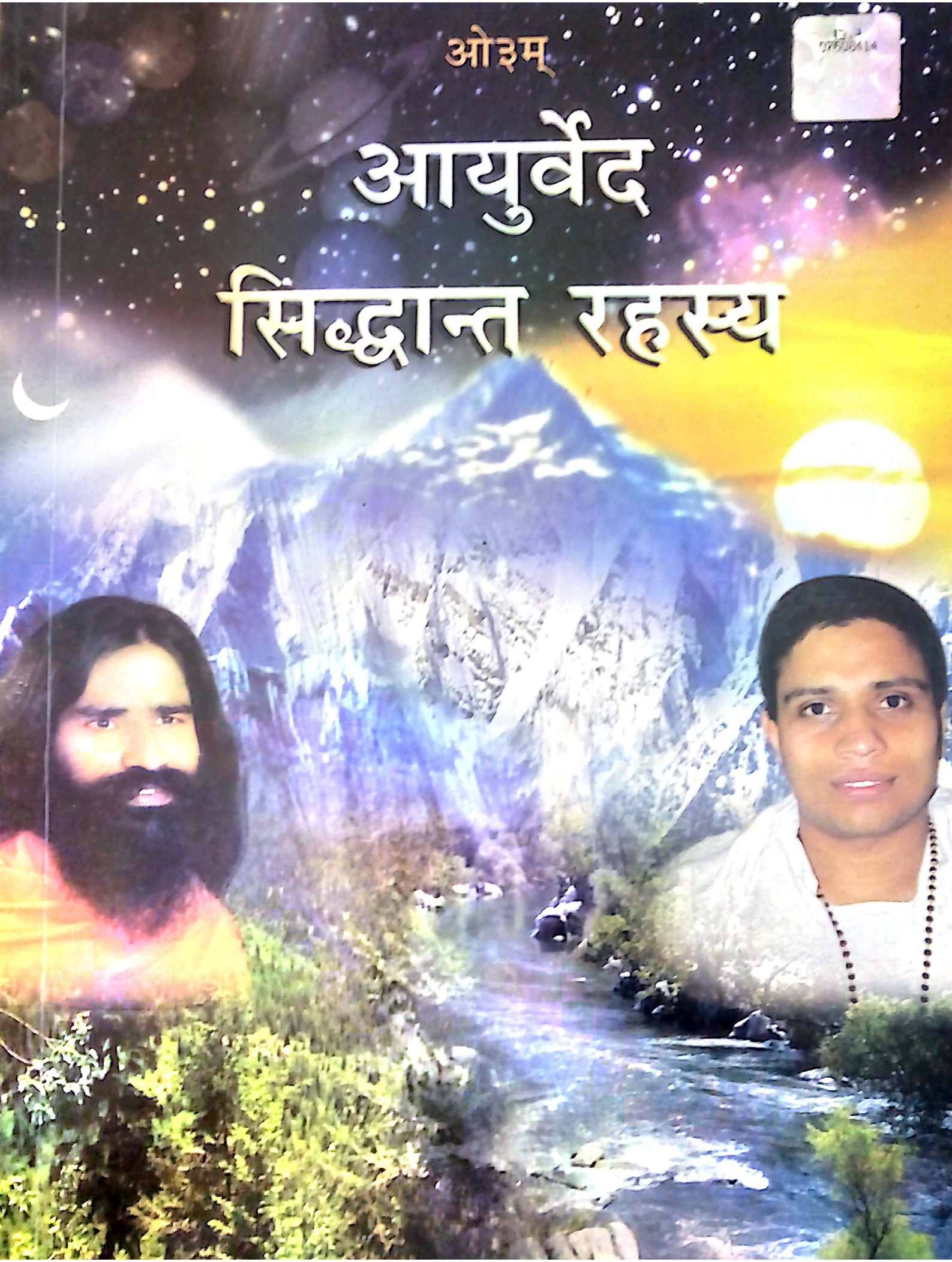

Scanned by CamScanner

भोजन सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य

1. भोजन की आचार संहिता

सभी भली प्रकार जानते हैं कि स्वास्थ्य के लिए भोजन का विशेष महत्व है। भोजन में क्या क्या खाया जाए, जहां इस बात का महत्व है, वहां यह जानना भी बहुत महत्व रखता है कि भोजन किस प्रकार और किन परिस्थितियों में किया जाए ? इन सब बातों पर विचार करके और इन पर आचरण करके हम भोजन से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। कुछ महत्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित हैं।

♦ स्निग्ध भोजन[444]

हमारे भोजन में भी घी, तेल आदि स्निग्ध द्रव्य पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए। आजकल हृदय रोग, ब्लड प्रेशर और मोटापे आदि के डर से प्राय: लोग घी आदि का प्रयोग बिल्कुल न करके रूखा भोजन करते हैं। यह सर्वथा अनुचित है क्योंकि जहां घी, तेल, आदि से भोजन स्वादिष्ट बनता है और रुचि उत्पन्न होती है, वहीं भोजन मुलायम भी बनता है। इससे पाचक अग्नि तीव्र होती है, भोजन सुपाच्य बनता है, बल की वृद्धि होती है, इन्द्रियां दृढ बनती हैं और रंग में निखार आता है। घी, आदि स्निग्ध पदार्थो के सेवन से वायु का अनुलोमन होता है और मल विसर्जन में भी सुविधा होती है। जोड़ों के बीच स्निग्धता (चिकनाहट) बने रहने से उनमें आपस में रगड़ कम होती है और जोड़ों के रोगों की सम्भावना नहीं होती। आजकल रिफाइन्ड तेलों के प्रयोग के कारण ही जोड़ों में स्निग्धता कम होने से ये रोग बहुत अधिक फैलते जा रहे हैं। अत: भोजन में घी तेल आदि स्निग्ध पदार्थो का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

♦ ताजा और गर्म भोजन[445]

भोजन हमेशा ताज़ा और गर्म होना चाहिए। ऐसा भोजन स्वादिष्ट होने के साथ पाचक अग्नि को बढ़ाने वाला, सुपच और वायु का अनुलोमक होता है। यह पौष्टिक भी होता है, जबकि बासी और ठण्डा भोजन भारी, तामसिक और अपौष्टिक होता है।

♦ भोजन की सुन्दरता

भोजन का रंग, गन्ध, स्वाद तथा स्पर्श रुचिकर और सुन्दर होने पर देखते ही मुंह से लार टपकने लगती है। इसी प्रकार दूसरे पाचक रसों का स्राव भी अनुकूल रूप से होता है अत: भोजन में रुचि बढ़ाने के लिए भोजन और पात्रों का स्वच्छ, सुन्दर और आकर्षक होना आवश्यक है। रोगी के लिए इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए

444. स्निग्धमश्नीयात् स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, शरीरमुपचिनोति, दृढिकरोतिन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति। च.वि. 1/24/2

445. उष्णमनीयात उष्णं हि भुज्यामानं स्वदते, भुक्तंचाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति श्लेष्माणं च परिहास्यति, तस्मादुष्णमश्नीयात। च.वि. 1/24/1

Scanned by CamScanner

क्योंकि निरन्तर पथ्य भोजन खाने से उसमें अरुचि उत्पन्न हो सकती है।

♦ सुन्दर और एकान्त स्थान

भोजन के साथ साथ उसके सेवन के लिए स्थान भी साफ-सुथरा सुन्दर आकर्षक और एकान्त होना चाहिए। पवित्र और सुन्दर स्थान में मन शान्त रहता है जबकि गंदे और घृणित स्थान पर बैठने से मन में अशान्ति होती है।

इसका भोजन के पाचन पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। भोजन सेवन की क्रिया को एक पवित्र धार्मिक क्रिया समझ कर करना चाहिए अतः इस समय मन पूरी तरह एकाग्र होना चाहिए। अतः भोजन करते समय टेलीविजन, टेलीफोन आदि से दूर ही रहना चाहिए।

♦ मानसिक दशा

भोजन हमेशा शान्त और प्रसन्न मन से ग्रहण करना चाहिए। क्रोध, ईर्ष्या द्वेष चिन्ता, घबराहट, डर आदि की मानसिक दशा में जहां भोजन का स्वाद नहीं आता, वहीं पाचक रसों का स्राव भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इससे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता अतः भोजन करते समय किसी प्रकार की अप्रिय चर्चा न करनी चाहिए और न ही सुननी और देखनी चाहिए।

♦ भोजन का उचित समय

भोजन के ठीक प्रकार से पाचन के लिए आवश्यक है कि इसका सेवन ठीक और नियत समय पर किया जाए। उचित समय पहचानने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए जब भूख का अनुभव हो, पहले किया गया भोजन अच्छी तरह से हजम हो चुका हो (अन्यथा पहले भोजन का अधपचा रस और किये जा रहे भोजन का रस आपस में मिलकर सभी दोषों को कुपित कर देंगे और रोगों की उत्पति होगी) पहले किये गये भोजन के डकार न आ रहे हों, हृदय और पेट में भारीपन न हो, वायु का अनुलोमन हो जाए तथा मल मूत्र का त्याग हो चुका हो। पित्त वृद्धि का समय होने (जैसे मध्याह्न समय 12 से 2 बजे तक) पर भोजन किया जाए तो इससे भोजन शीघ्र और अधिक अंश में पचता है परिणामतः शरीर अधिक पुष्ट होता है।

ऐसा देखने में आता है भोजन का निश्चित समय आने पर अपने आप ही कुछ खाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस समय भोजन अवश्य कर लेना चाहिए क्योंकि तब पाचक रसों का स्राव पर्याप्त मात्रा में होता है। यदि इस समय भोजन न किया जाए तो पित्त कुपित हो जाता है शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार नियत समय बीत जाने के बाद वायु का प्रकोप हो जाता है, इसके पाचन शक्ति मन्द हो जाती है परिणामतः भोजन का पाचन ठीक तरह से नहीं होता।

यदि भूख लगने पर भी भोजन न किया जाए, तो शरीर में कमज़ोरी, कृशता, अंगमर्द (शरीर का दर्द से टूटना), तन्द्रा (सुस्ती), थकावट, अरुचि, त्वचा के रंग में बदलाव, दृष्टि में कमी आदि विकार उत्पन्न होने लगते हैं, अतः उचित और नियत समय पर भोजन करना आवश्यक है।

♦ भोजन की मात्रा[446]

पूरे पोषक तत्व प्राप्त करने के लिए भोजन का

Scanned by CamScanner

सेवन उचित मात्रा में करना चाहिए। भोजन के बाद पेट का एक तिहाई भाग खाली रहना चाहिए जिससे पाचक रस और कफ भोजन के साथ अच्छी तरह मिल कर उसका पाचन कर सकें और वायु की गति भी ठीक प्रकार से हो सके। भोजन के पश्चात यदि पेट में दबाव व भारीपन और पार्श्वो में तनाव न हो, छाती में रुकावट और भारीपन न हों, भूख प्यास शान्त हो, उठने बैठने, सोने, चलने, हँसने श्वास लेने छोड़ने, एवं बातचीत करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो, प्रातः ग्रहण किये भोजन का सांयकाल तक तथा सायंकाल ग्रहण किये गये भोजन का प्रातः तक अच्छी तरह पाचन हो जाए, वायु का अनुलोमन हो, तथा दोष, धातु, मल में किसी प्रकार का विकार न हो, तो समझना चाहिए कि भोजन उचित मात्रा में लिया गया है ।

भोजन की मात्रा का निर्णय करने के लिए मनुष्य को अपनी प्रकृति, आयु, पाचक-अग्नि की शक्ति, द्रव्यों का लघुत्व (हल्कापन) और अग्नि की तीव्रता पर विचार करना चाहिए, अच्छी पाचन शक्ति होने पर वे यदि कुछ अधिक मात्रा में या भारी भोजन भी ले लेंगे तो उन्हें अधिक कष्ट नहीं होगा, जबकि मन्द अग्नि वाला व्यक्ति थोड़ा भी अधिक या भारी खाने में कष्ट उठाएगा। इसी प्रकार यदि स्वभाव से ही लघु पदार्थो, जैसे मूंग, शालि चावल आदि कुछ अधिक मात्रा में सेवन कर लिया जाए, तो कष्ट प्रद नहीं होगा परन्तु बहुत अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये पदार्थ भी भारी पदार्थो की तरह पचेंगे नहीं जबकि उड़द जैसे भारी पदार्थो का सेवन यदि थोड़ी मात्रा में किया जाए, या अजवायन, हींग आदि डाल कर उन्हें भी सुपाच्य बना लिया जाए, तो ये भारी पदार्थ भी शीघ्र हज़म हो सकते हैं। अतः इन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है । संक्षेप में आवश्यकता से कम मात्रा में किया गया भोजन सन्तोष प्रदान नहीं करता और शरीर के बल को नष्ट करता है जबकि अधिक मात्रा में किया गया भोजन आलस्य, भारीपन, मोटापा और अपच आदि उत्पन्न करता है अतः भूख लगने पर व्यक्ति को अपनी पाचन शक्ति के अनुकूल मात्रा में भोजन करना चाहिए।

♦ भोजन चबा कर खाना

सबसे पहले भोजन मुख में जाता है, जहाँ इसमें लाला रस मिलता है। भोजन को दाँतों से जितना अधिक चबाया जाता है, उसमें लार भी उतनी अधिक मात्रा में मिलती है। इससे ठोस पदार्थ द्रव रूप में बदल जाता है, जिससे भोजन की पाचन क्रिया सरलता पूर्वक सम्पन्न हो जाती

---

446. "कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनोच्छवास प्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन् परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं च, इति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति।।" च.वि. 2/6 अ.स.सू. 10/9

"मात्रा पुनः पिण्डपरिमाणतः समुदायेन प्रतिद्रव्यापेक्षया चाहारराशिः"

"त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जान्: तद्यथा-एकमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकारणाम्, एकं द्रवाणाम्, एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्माणम्, एतावतीं ह्याहारमात्रमुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति ।" च.वि. 2/3

Scanned by CamScanner

है। इसके विपरीत, ठीक प्रकार न चबाने से ठोस व कठोर पदार्थ ही निगल लिये जाते है। इनको आमाशय आदि कोमल अंग ठीक प्रकार से मुलायम नहीं बना पाते। परिणामस्वरूप, एक तो आमाशय आदि अंगों को अधिक मेहनत करनी पडती है जिससे वे कमज़ोर हो जाते है। दूसरे, 'भोजन का पाचन पूरी तरह से नहीं हो पाता और अजीर्ण, क़ब्ज़ गैस जैसे रोग उत्पन्न हो जाते है।' अतः चबा कर मुलायम किया गया भोजन निगलना चाहिए, बिना चबाये ठोस पदार्थ के रूप में नहीं।

♦ भोजन का सात्म्य[447]

सात्म्य का अर्थ है अनुकूलता। एक पदार्थ किसी एक व्यक्ति के लिए लाभकारी हो सकता है, तो दूसरे के लिए प्रतिकूल (असात्म्य) और हानिकारक हो सकता है, यह ज्ञान मनुष्य को अभ्यास और अपने अनुभव के आधार पर ही हो सकता है। भोजन से पूरे पोषक तत्व प्राप्त करने के लिए अनुकूल भोजन का सेवन ही उचित है जबकि प्रतिकूल पदार्थ लाभ के स्थान पर हानि पहुँचा सकते है। भोजन की अनुकूलता (सात्म्यता) निम्नलिखित प्रकार की है।[448]

❖ देह सात्म्य (जो पदार्थ व्यक्ति के शरीर के लिए उपयोगी होता है)
❖ देश सात्म्य (किसी विशेष स्थान में अनुकूल पदार्थ, जैसे पूर्वी स्थान पर रहने वालों के लिए सात्म्य, बंगाल, मद्रास, कश्मीर में रहने वालों के लिए चावल का सात्म्य)
❖ ऋतु सात्म्य (विशेष मौसम में हितकर पदार्थ, जैसे- शिशिर ऋतु में तिक्त और रूक्ष पदार्थ, तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल पदार्थ)
❖ रोग सात्म्य (किसी विशेष रोग में हितकारक पदार्थ ; जैसे ज्वर में लाजपेया)

इन बातों को ध्यान में रख कर किया गया भोजन स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगों को दूर रखता है।

भोजन करते समय यदि इन सब नियमों का पालन किया जाए, तो ऐसा भोजन शरीर को पुष्ट करता है। सभी दोषों और धातुओं को स्वस्थ अवस्था में रखता है और मल-मूत्र आदि के ठीक प्रकार से विसर्जन में सहायक होता है। ये सब नियम मिल कर ही भोजन की आचार संहिता कहलाते है। प्रत्येक व्यक्ति को भोजन ग्रहण करने के इस कार्य को बहुत महत्त्वपूर्ण और निजी कार्य समझना चाहिए। अपने व्यस्त जीवन में से भोजन का समय अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए और इस व्यक्तिगत कार्य को बहुत श्रद्धा और एकाग्रता से

447. "तत्र सात्म्यं नाम सहात्मना भवत्यभ्यस्तं तदौचित्यादुपशेत इत्येके । सात्म्य विपरीतमनुपशयादसात्म्यम्।। अ.स.सू. 10/27

448. अन्ये पुनः प्रकृतिवयोदेशर्तुदोषव्याधिवशेन् सात्म्यं बहुविधमिच्छन्ति । ते ह्युपशयमात्रमङ्गीकृत्य विपरीतगुणमप्युपचारेण सात्म्यमाचक्षते ।तुल्यगुणम्चानुपशयाद् असात्म्यम्। अ.स.सू. 10/28

Scanned by CamScanner

करना चाहिए।

इस प्रकार पथ्य और उचित आहार करने वाला व्यक्ति वैसे तो रोगी ही नही होता यदि किसी कारणवश बीमार हो भी जाए, तो परहेज़ पूर्वक भोजन से रोग बढ़ता नहीं और स्वयं ठीक हो जाता है। इस प्रकार औषधि की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत यदि मनुष्य अच्छी से अच्छी औषधि सेवन तो करता है, परन्तु पथ्य (परहेज़) का पालन नहीं करता, तो भी रोगी ठीक नहीं होता उसकी औषधि व्यर्थ जाती है। गलत आहार विहार (अपथ्य) रोग बढ़ाने में कारण है और कारण को दूर किये बिना रोग नष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए कहा गया है कि "परहेज करने वाले रोगी को औषधि की क्या आवश्यकता और पथ्य न करने से रोगी को भी औषधि सेवन से क्या लाभ ?" इसी बात को दूसरे शब्दों में प्रकट किया गया है :

"विनापि भेषजैर्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते ।
न तु पथ्य विहीनस्य भेषजानां शतैरपि ।।

अर्थात् औषधि के बिना भी रोग पथ्य पालन से दूर हो जाता है। परन्तु यदि पथ्य का पालन न किया जाए, तो सैकड़ों दवाओं से भी रोग नष्ट नहीं हो सकता।

2. पथ्य आहार[449]

भोजन से सम्बन्धित इन सब नियमों का पालन करते समय यह ध्यान भी रखना चाहिए कि जो भोजन, खाया जा रहा है, वह पथ्य (हितकर) हो। पथ्य आहार का अर्थ है-"जो खाद्य पदार्थ शरीर की धातुओं को उनकी सम अवस्था में बनाये रखते हैं तथा विषम (असन्तुलित) धातुओं को सम अवस्था में लाने में सहायक होते है तथा जो आहार शरीर के पथ (स्रोतों) के लिए हानिकारक नहीं होते तथा मन को प्रिय लगते हैं, वे पथ्य या हितकर पदार्थ कहलाते हैं। इसके विपरीत जो स्रोतों को हानि पहुचाएँ, धातुओं को सम अवस्था में न ला सकें तथा मन को अप्रिय लगें अर्थात् हानिकारक हों, वे अपथ्य या अहितकर पदार्थ है। पथ्य आहार विहार (खानपान और रहन सहन) का सेवन इससे भी अधिक आवश्यक है। ये पथ्य और

---

449. "पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यचोक्तं मनसः प्रियम्।
यच्चाप्रियम पथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत् ।।" च.सू. 25/45

"मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणान्तरम् ।
प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते भावारतथा तथा ।" च.सू. 25/46

"तस्मात् स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः ।
तदपेक्ष्योभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ।।" च.सू. 25/47

"आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः ।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जयत्यथ ददाति च ।।"

नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।
भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यन्तरादृते ।। च.सू. 27/46-47

Scanned by CamScanner

अपथ्य आहार विहार भी प्रत्येक व्यक्ति की आयु शारीरिक अवस्था, प्रकृति, रोग द्रव्य की मात्रा, दूसरे द्रव्य के साथ संयोग आदि के अनुसार अलग अलग हो सकते हैं। जो पदार्थ एक व्यक्ति के लिए पथ्य या हितकर है, वही दूसरे के लिए भी पथ्य होगा, यह आवश्यक नहीं है।

वैसे कुछ पदार्थ स्वभाव से ही पथ्य (हितकर) होते है तो कुछ अपथ्य (अहितकर) होते है। इनकी सूची निम्नलिखित है :

3. उदाहरण

पदार्थों की श्रेणी	सबसे अधिक हितकर	सबसे अधिक अहितकर
1. शूक धान्य (कड़े छिलके वाले अनाज)	लाल शालि चावल	यवक
2. दालें	मूंग	उड़द
3. विभिन्न प्रकार के पीने योग्य जल	वर्षा का जल (भूमि पर गिरने से पहले)	वर्षा ऋतु में नदी का जल
4. लवण (नमक)	सेंधा नमक	ऊषर (नमकी से तैयार नमक)
5. शाक (साग)	जीवन्ती साग	सरसों का साग
6. घी	गाय का घी	भेड़ी का दूध
7. दूध	गाय का दूध	भेड़ी का दूध
8. कन्द और मूल	अदरख	आलू या गुड
9. फल	अंगूर	लकुच (बड़हल)
10. गन्ने से तैयार खाद्य पदार्थ	चीनी	फाणित
11. वनस्पति वसा	तिल तेल	कुसुम्भ का तेल

इनमें भी हितकारी पदार्थो का सेवन भी मात्रा, प्रकृति आदि अनुसार विधिपूर्वक न किया जाए तो वे भी अहितकर पदार्थो के समान ही हो सकते है अतः मात्रा, देश, आयु, ऋतु, आदि का भली प्रकार विचार अपने लिए पथ्य आहार और विहार को चुन लेना चाहिए। शरीर अन्न से ही बना है। अतः परीक्षा करके पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए, लोभ अथवा अज्ञानता के कारण अपथ्य आहार का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिए अन्यथा व्यक्ति रोगों का शिकार हो सकता है।

Scanned by CamScanner

अनुपान एवं कुछ प्रमुख द्रव्यों के गुण कर्म

आयुर्वेद में अनुपान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अनुपान'[450] शब्द का अर्थ है - (अनु+पान) भोजन, औषधि आदि के पश्चात् सेवन करने योग्य पेय पदार्थ। अनुपान रुचि को बढ़ाता है। उचित अनुपान के सेवन से पुष्टि शक्ति और वीर्य में वृद्धि होती है, ताजगी, प्रसन्नता एवं मृदुता प्राप्त होती है। इससे पाचक अग्नि तेज़ होती है, रंग में निखार आता है तथा मानसिक व शारीरिक थकान दूर होती है। उचित अनुपान सभी दोषों को शान्त करने के साथ-साथ रस, रक्त आदि धातुओं में भी दोषों को जमा नहीं होने देता।[451]

अनुपान के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख द्रव्य हैं-[452] जल, ठन्डा व उष्ण जल, आसव, यूष (सूप), खट्टे फलों का रस, धान्याम्ल (धान्य से तैयार कांजी, आदि खट्टे द्रव), काँजी दूध तथा फलों व औषधियों आदि का रस, काढ़ा आदि। अनुपान का चुनाव उसके गुण, दोष व रोगी की प्रकृति, आयु व रोग की दशा एवं समय को देख कर किया जाता है। इसका सेवन भी उचित मात्रा में करना चाहिए। उचित मात्रा मे प्रयोग करने से ही भोजन और औषधि आदि का पाचन सुविधा पूर्वक होता है अन्यथा अधिक मात्रा में लेने से जहाँ भारीपन और दोषों में वृद्धि होती है, वहीं कम मात्रा में या बिल्कुल नहीं लेने से भोजन आदि पदार्थो में मृदुता (मुलायमपन) न आने के कारण उनका पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इस प्रकार रोग उत्पन्न हो सकते है परन्तु कुछ विशेष अवस्था में सामान्य अनुपान लेने की मनाही होती है।[453] जैसे खाँसी, दमा, उर

---

450. "अनु पश्चात् सह वा पीयते इत्यनुपानम् ।
अल्पदोषमदोष वाऽप्यनुपानेन जीर्यति ।। अ.ह.सू. 8/50

451. "अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम् ।
सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च ।।" च.सू. 27/326
"अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्ति व्याप्तिं दृढाङ्गताम् ।
अन्नसङ्घातशैथिल्य विक्लित्तिजरणानि च ।।" अ.ह.सू.

452. "अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम् ।
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे कोष्णं पिष्टमयेषु तु ।।" अ.ह.सू. 8/47-49
"शाकमुद्गादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम् ।
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं स्थूलानां तु मधूदकम् ।।"

453. "वर्ज्यं तूर्ध्वजत्रुगदश्वासकासप्रसेक हिध्मास्वरभेदोरःक्षतिभिर्गीतभाष्यप्रसक्तैश्च ।।" अ.स.सू. 10/55

Scanned by CamScanner

(छाती में घाव), बहुत अधिक लाला स्राव, सिर और गर्दन की बीमारियाँ एवं गला बैठने पर भोजन के साथ जल आदि अनुपान (पेय पदार्थ) लेना उचित नहीं है।

आयुर्वेद में कुछ रोगों और विशेष प्रकार के पदार्थों के साथ विशेष अनुपान लेने का उल्लेख किया है। आपकी जानकारी के लिए कुछ पदार्थों की सूची नीचे दी जा रही है –[454]

रोग/पदार्थ	अनुपान
कफ का प्रकोप	रूक्ष और गर्म
वायु का प्रकोप	स्निग्ध और गर्म
पित्त का प्रकोप	मधुर और शीतल
व्रत, उपवास, शारीरिक श्रम अधिक बोलने व चलने तथा अधिक मैथुन करने से उत्पन्न थकावट और कमज़ोरी	दूध
मद्य सेवन से दुर्बलता मोटापा अनिद्रा तन्द्रा (सुस्ती) शोष चक्कर शारीरिक थकावट शीतल भोजन भारी भोजन अधिक भोजन	मधूदक (शहद मिला जल)
असात्म्य (प्रतिकूल) भोजन	गर्म दूध
रक्तपित्त (शरीर से रक्तस्राव)	दूध/गन्ने का रस
विष/विषैला प्रभाव	हरड़, शेलु या शिरीष से बना
स्निग्ध पदार्थ (घी, तेल, आदि)	गर्म जल
भिलावा तेल	ठण्डा जल
शालि चावल, मूंग और इनसे बने पदार्थ	दूध
उड़द	दही/दही का पानी/कांजी
पीठी, पीठी से बने पदार्थ	तेल/यूष (सूप)/ खट्टी कांजी
शहद	जल
दही खीर पिष्टान्न (पेस्ट्री आदि)	ठण्डा या साधारण जल

454. "स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतम् ।
कफेऽनुपानं रूक्षोष्णं क्षये मांसरसः परम् ।" चरक सू. 27/321

Scanned by CamScanner

अनुपानों में जल की प्रमुखता होने से तथा सब जगह आसानी से उपलब्ध होने के कारण सबसे पहले जल के विषय में आवश्यक जानकारी प्रस्तुत है ।[455]

1. जल

शुद्ध जल अमृत के समान है। यह सभी प्राणियों का जीवन है क्योंकि जल के अभाव में प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। साधारण और स्वच्छ जल पित्त, विषैले प्रभाव, चक्कर, दाह (जलन), अपच, थकान बेहोशी, नशा (मदात्यय) और उलटी को दूर करता है तथा हृदय को बल प्रदान करता है। शीतल, उष्ण, उबले और उबाल कर ठण्डे हुए जल का गुण अलग अलग होता है। इन गुणों को दृष्टि में रख कर ही उसके अनुसार जल का प्रयोग करना चाहिए।[456]

♦ स्वच्छ और पीने योग्य जल :[457]

वर्षा का जो जल भूमि पर नहीं गिरा होता, सबसे अच्छा माना जाता है। भूमि पर गिरने के बाद इस जल में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ मिल जाती हैं। जिस स्थान अथवा नदी में जाकर यह जल मिलता है, उसके अनुसार ही गुण व दोषों को अपना लेता है। चूंकि वर्षा का यह शुद्ध जल एकत्र करने की सुविधा नहीं होती अतः नल आदि से प्राप्त जल का ही सेवन करना उचित है। इस जल को यदि उबाल कर ठण्डा कर लिया जाए, तो यह भी वर्षा के दिव्य जल के समान गुणकारी होता है। उबालने से यह जल स्वच्छ हो जाता है। इस प्रकार का पानी वायु, पित्त और कफ आदि दोषों को शान्त करता है। यह पाचक, हलका और जठराग्नि को बढ़ाता है।

♦ जल सेवन का समय, मात्रा और विधि :

जल का सेवन भी उचित मात्रा, उचित ढंग से और उचित समय से करना चाहिए क्योंकि बहुत अधिक मात्रा में जल पीने से जाठराग्नि कमज़ोर होती है तथा भोजन का पाचन भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इसके विपरीत यदि जल बहुत कम मात्रा में अथवा बिल्कुल न पिया जाए तो भी भोजन का पाचन नहीं हो पाता। इससे अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि जल की कमी से मल मूत्र पर्याप्त मात्रा में नहीं आता अतः शरीर से विषैले और हानिकारक तत्व बाहर नहीं निकल पाते। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेद में निर्देश दिया गया है कि एक ही बार में अधिक मात्रा में जल न पीकर बार बार थोडी मात्रा में पीना चाहिए। इससे जाठराग्नि में भी वृद्धि होती है और शरीर में जल की आवश्यकता

---

455. "अनुपानं तु सलिलमेव श्रेष्ठं
सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्यत्वाज्जीवनादिगुणयोगाच्च ।।" अ.स.सू. 10/42

456. "जीवनं तर्पणं ह्लद्यं ह्लादि बुद्धि प्रबोधनम् ।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं शुच्यमृतोपमम् ।।" अ.स.सू. 6/3

457. "खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ।। च.सू. 27/197

Scanned by CamScanner

की पूर्ति भी हो जाती है। अजीर्ण या अपच की स्थिति में जल औषधि का कार्य करता है। 'भोजन का पाचन होने पर जल पीने से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है।'

'भोजन करने से पहले जल पीने से 'अग्निमान्द्य (पाचन-शक्ति की दुर्बलता) होता है' और शरीर दुर्बल होता है। भोजन के बीच में जल पीने से पाचन शक्ति और 'आयु में वृद्धि होती है। भोजन के एक घण्टे बाद जल पीने से शरीर पुष्ट होता है और मोटापा आता है। भोजन से पहले तो कभी जल का सेवन करना ही नहीं चाहिए। 'मोटे शरीर वाले को भोजन के बीच में' तथा पतले शरीर वाले को भोजन के एक घण्टे बाद जल पीना चाहिए। मोटे और ताकतवर मनुष्य के लिए जहाँ भोजन के बीच में जल पीना अमृत के समान है, वहीं अन्त में जल पीना बहुत हानिप्रद है।[458]

सामान्यत: जल का सेवन प्रत्येक मनुष्य के लिए हर अवस्था में लाभकारी है परन्तु कुछ विशेष रोगों में जल कम मात्रा में ही पीना चाहिए।[459] जैसे-अरुचि (भोजन करने की इच्छा न होना) पुराना जुकाम, अधिक लार निकलना, सूजन, क्षय रोग, पाचन-शक्ति की कमज़ोरी, उदर रोग (विशेषकर जलोदर), कोढ़ जैसी चमड़ी की बीमारियाँ, नेत्र-रोग, घाव और मधुमेह में। बिल्कुल जल न पीने से भी रोग उत्पन्न होने है। अलग स्थितियों में अलग-अलग प्रकार से जल का सेवन करना लाभकारी है। गर्म किया जल उपयोगी है, तो किसी दूसरी स्थिति में ठण्डा। इसी प्रकार कुछ रोगों में उबाला हुआ जल लाभ करता है, 'शीतल जल यदि मनुष्य के लिए अमृत के समान है, तो दूसरे के लिए हानिकारक भी हो सकता है। उदाहरण के लिए विदग्धाजीर्ण (अपच के साथ जलन भी होना) में जल पीने से जलन शान्त होने के साथ साथ भोजन का पाचन भी होता है' परन्तु यदि यही ठण्डा जल खाँसी, दमा आदि के रोगी को पिलाया जाए तो कष्ट बढ़ जाता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न प्रकार के जलों में विशेषताओं को जान लेना उपयोगी रहेगा।

♦ भोजन के पश्चात् जल पीने का निषेध :

जो लोग वायु-प्रकोप से होने वाले सिर के रोगों, हिक्का (हिचकी) दमा (श्वास), खाँसी एवं टी. बी. से पीड़ित है, तथा जिन्हें ऊँची आवाज में

---

458. "भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाग्ताम् ।। अ.स.सू. 6/41
"अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वं चामाशयात् कफम् ।।
मध्ये मध्याङ्गतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम् ।।" अ.स.सू. 6/42

459. अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च ।
नाल्पमप्याममुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत् ।। अ.स.सू. 6/38
तेजसः प्रतिपक्षत्वान्मन्दाग्निर्वर्जयेज्जलम् ।
सर्वमेव तथा स्यन्दप्लीहविद्रधिगुल्मिनः ।। सू. 6/39
पाण्डूदरातिसारा शोंग्रहणीशोषशोफिनः ।
काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम् ।।" सू. 6/40

Scanned by CamScanner

गाना, भाषण देना एवं अध्ययन करना पड़ता है, उन्हें भोजन के तुरन्त बाद जल का सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि सिर के रोगों से पीड़ित होने पर जब मनुष्य भोजन के बाद जल पीता है, तो वह जल नीचे की ओर नहीं जाता। इससे वायु और अधिक कुपित होती है। सामान्य स्थिति में भोजन में पाये जाने वाले स्निग्ध पदार्थ वायु को शान्त करने में सहायक होते हैं, परन्तु जल पीने से उसके ठण्डे प्रभाव के कारण वायु कुपित हो जाती है। ऊँचे स्वर में गाने, भाषण देने और पढ़ने वालों के लिए इसका निषेध इसलिए है क्योंकि पीने के बाद जल गले और छाती में ही स्थित रह जाता है और वहाँ से भोजन के साथ लिये गये स्निग्ध पदार्थो को हटा देता है, जिससे गले आदि के रोग में वृद्धि होती है। कुछ विद्वानों का इस सन्दर्भ में यह कहना है कि भोजन के बाद जल पीने से भोजन में पोषक तत्वों का सात्मीकरण (assimilation - शरीर के तत्वों के अनुसार ग्रहण) नहीं हो पाता। ये तत्व गले और छाती में ही बचे रह जाते हैं, परिणामतः रोगों की उत्पत्ति होती है। इन कारणों से उपर्युक्त स्थितियों में भोजन के तुरन्त बाद जल नहीं पीना चाहिए।

♦ शीतल जल[460] :

शीतल जल का सेवन मूर्च्छा (बेहोशी), पित्त की अधिक जलन, विषैलापन, रक्त प्रकोप, नशा, चक्कर आना, उलटी होना, शारीरिक थकावट, तमक श्वास तथा रक्तपित्त (अर्थात् शरीर के अंगों से रक्त निकलना) जैसे रोगों में और भोजन के पाचन में लाभकारी होता है।

इसके विपरीत, निम्नलिखित परिस्थितियों में ठण्डा पानी पीने से रोग बढता है-पार्श्वशूल (पसली का दर्द), जुकाम, गले में दर्द और रुकावट, अफारा, मोतियाबिन्द, अरुचि, ग्रहणी के रोग पेट में गोला, दमा खाँसी, हिचकी, विद्रधि (बड़ा फोड़ा) तथा स्नेह (घी, तेल और घी तेल से बने पदार्थो का) सेवन के बाद।[461]

♦ गर्म जल[462]:

गर्म जल हलका होता है। यह पाचन शक्ति को बढ़ाता है तथा पाचन सम्बन्धी रोगों को दूर करता है। इस जल के पीने से (पीनस), पेट में अफारा, हिचकी आदि रोग तथा वायु और जल का प्रकोप शान्त होते हैं।

उबाला हुआ पानी स्वच्छ, सब दोषों से रहित

---

460. ''शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान् ।
तृष्णोष्मदाहपित्तासृग्विषण्यम्बु च निहन्ति तत्'' अ.स.सूत्र 6/43

461. ''पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ।।'' सु.सू. 45/29
''आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यः शुद्धे नवज्वरे।
हिक्कायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवर्जयेत् ।। सु.सू. 45/30

462. ''कफमेदोऽनिलमघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् ।
श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा''। सु.सू. 45/39
''क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तुगुरूलाघवात् । क्वथितम्फेनरहितं वेगममलं हितम्''
''हिध्माऽऽध्मानानिलश्लेष्मतृट्कासश्वासपीनसे । पार्श्वशूलाममेदःसु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ।।''
''दीपनं पाचनंकण्ठ्यं लघु वस्तिविशोधनम् । अ.स.सू. 6/44-55

Scanned by CamScanner

और अच्छा होता है। उबालते हुए जब जल का एक चौथाई भाग जल कर तीन चौथाई शेष रह जाता है, तो यह वायु और वायु से उत्पन्न रोगों को दूर करता है।

उबालने पर आधा बचा जल उष्ण जल कहलाता है। यह सदा लाभकारी होता है तथा त्रिदोष (वायु, पित्त और कफ) को, विशेषत: दोष व उससे उत्पन्न रोगों को दूर करता है। इस जल के सेवन से मूत्र शुद्ध होता है, तथा दमा, खाँसी, ज्वर एवं आम दोष दूर होते है। रात्रि के समय इस जल को पीने से जमा हुआ कफ पिघलता है तथा वायु एवं मल शीघ्र दूर होता है।

उबालने पर जब जल का केवल एक चौथाई भाग शेष रहता है तो वह 'आरोग्याम्बु' कहलाता है। यह भी सदा पथ्य, हलका, पाचक और जठराग्नि को बढ़ाने वाला है। गर्म आरोग्याम्बु के सेवन से दमा, खाँसी, कफ का प्रकोप, क़ब्ज़, पेट में अफारा, रक्त की कमी, शूल, बवासीर, गुल्म (पेट में गोला), बुखार, सूजन तथा पेट के दर्द में आराम मिलता है। गर्म आरोग्याम्बु पीने से पसली का दर्द, पेट में अधिक दर्द हिचकी, बहुत अधिक प्यास, आँव, शूल, अशुद्धि (उलटी, वमन, दस्त विरेचन) आदि के लिए की गई क्रियाओं का ठीक प्रकार न होना, बुखार की आरम्भिक अवस्था एवं वायु और कफ के प्रकोप दूर होते है। इससे मूत्र भी स्वच्छ होता है।

जब जल को उबाल कर ठण्डा कर लिया जाता है तो यह श्रृतशीत कहलाता है। यह जलन, दस्त, बेहोशी, नशा, विष, वमन, चक्कर, बहुत अधिक प्यास, पित्त और रक्त का दूषित होना, कफ और वायु से उत्पन्न रोगों, मादक द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न रोगों तथा सन्निपात (तीनों दोषों का एक साथ कुपित होना) में बहुत लाभकारी है।[463]

जल को उबालने के पश्चात् यदि ढक कर ही ठण्डा कर लिया जाए, तो यह बहुत अधिक हलका होता है तथा अनाभिष्यन्दी (स्रोतों में रुकावट पैदा न करने वाला) होता है। इसके सेवन से वायु आदि तीनों दोष, पेट के कीड़े, बहुत अधिक प्यास और ज्वर दूर होते है।

जल को उबालने के बाद यदि एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाल कर ठण्डा किया जाता है, तो धाराशीत कहलाता हे। इस प्रकार करने से जल में वायु प्रविष्ट हो जाती है और वह भारी हो जाता है। इससे यह जल देर से हजम होता है और क़ब्ज़ करता है।

दिन में उबले हुए जल को भी यदि रात्रि भर पड़ा रहने दिया जाए अथवा रात्रि में उबले हुए जल को यदि दिन भर रखा जाए तो पाचन में भारी होता है और तीनों दोषों को कुपित करता है।[464]

---

463. मद्यपानात्समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा ।।
"सन्निपातसमुत्वे च श्रृतशीतं प्रशस्यते ।
दाहातिसार पित्तासृङ्मूर्च्छामद्यविषर्तिषु ।।
श्रृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च ।
42
सु.सू. 45/43
अ.स.सू. 6/48

464. "तोयं बह्निगुणभ्रष्टं पाकेऽम्लं सर्वदोषकृत् ।।
भवेत् पर्युषितं तच्च -
"न च पर्युषितं देयं कदाचिद्वारि जानता ।
अम्लीभूतं कफोत्क्लेशि न हिंत तत् पिपासवे ।।"
सु.सू. 45/41

Scanned by CamScanner

♦ हंसोदक या अंशूदक[465]:

दिन के समय सूर्य की किरणों में तथा रात के समय चन्द्रमा की चाँदनी में रखा गया जल हंसोदक या अंशूदक कहलाता है। यह जल अमृत के समान उपयोगी होता है। इस प्रकार का जल स्निग्ध (चिकना) और तीनों दोषों को शान्त करता है। यह शक्ति और बुद्धि को बढ़ाने वाला, रसायन (बुढापे के विकारों को रोकने वाला), शीतल और पाचन में हलका होता है। यह जल अभिष्यन्दी (रसवह, रक्तवह, आदि स्रोतों को रोकने वाला) नहीं होता तथा सभी प्रकार के दोषों से रहित होता है।

♦ उष्णपान :

यदि प्रातः काल खाली पेट ही जल पी लिया जाए, तो इससे शरीर की झुर्रियाँ, सफेद बाल, गला बैठना, बिगड़ा जुकाम, दमा, क़ब्ज़ तथा शोष जैसे रोगों में आराम मिलता है।

♦ विभिन्न ऋतुओं में कौन सा जल उपयोगी है ?

ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में उबालने पर एक चौथाई बचा जल उपयोगी होता है। हेमन्त, शिशिर, वर्षा और बसन्त ऋतुओं में उबाल कर आधा शेष बचा हुआ जल उपयोगी होता है।

♦ जल के पाचन में लगने वाला समय :

बिना उबाला हुआ जल तीन घण्टे में, उबाल कर ठण्डा किया हुआ डेढ़ घण्टे में; तथा उबाल कर गर्म ही पिया गया जल तो 45 मिनट में पच जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जो जल उबालने के बाद गर्म ही पीया जाता है, वह सबसे हलका होता है। इसके विपरीत, बिना उबला जल सबसे भारी होता है। इस आधार पर अपनी अपनी पाचन शक्ति को देख कर जल का सेवन करना उचित है।

♦ दूषित जल की पहचान[466]:

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सदा स्वच्छ जल का सेवन करना चाहिए, दूषित जल का नहीं। जिस जल में मिट्टी कीचड़ काई, तिनके, पत्ते, जीव जन्तुओं व कीट पतंगों के मल-मूत्र, अण्डे व मच्छर, मक्खी तथा विषैले पदार्थ मिले हों, वह जल तो स्पष्ट रूप से दूषित है ही। इसके अतिरिक्त जो जल गन्दला या मैला हो, जिसमें किसी प्रकार की गन्ध, रंग तथा स्वाद पाया जाए एवं जिस जल में सूर्य और चन्द्रमा की किरणें न पड़ी हों, वह जल भी अशुद्ध या

---

465. ''दिवासूर्यांशुसन्तृप्तनिशिचन्द्रांशुशीतलम् ।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषिकृतम् ।।''
''हंसोदकं इति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ।
स्नानपानानवगाहेषु शस्यते तद्यथाऽमृतम् ।।'' च.सूत्र 6/46-47
''दिवादिवाकरकरैर्निशाकरकरैर्निशि । सन्तप्तं ह्रादितं तोयमगस्त्येनाविषीकृतम्'' अ.स.सूत्र 4/56
''नोर्ध्वाङ्गमारुताविष्टा न हिक्काश्वासकासिनः।
न गीतभाष्याध्ययनप्रसक्ता नोरसि क्षताः।।
पिबेयुरुदकं भुक्त्वा तद्धि कण्ठोरसि स्थितम्।
स्नेहमाहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते।।'' चरकः सूत्र 27: 327-328

Scanned by CamScanner

दूषित माना जाता है। बिना मौसम की वर्षा का तथा वर्षा के एकदम बाद भूमि पर से इकठ्ठा किया गया जल दूषित होता है। इस प्रकार के जल का प्रयोग, पीने में तो क्या, नहाने के लिए भी नहीं करना चाहिए। जल के विभिन्न दोषों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

स्पर्श दोष :

छूने में खुद्दरा, रूखा, चिपचिपा, और गर्म, तथा पीने पर चिपकने वाला जल।

रूप दोष :

तिनके, पत्ते आदि विविध दूषित पदार्थो से युक्त तथा रंग वाला जल।

रस दोष :

किसी विशेष स्वाद वाला, जैसे - नमकीन जल आदि।

गन्ध दोष :

किसी प्रकार की दुर्गन्ध से युक्त जल।

वीर्य दोष :

देर से पचने वाला, पीने मे अधिक प्यास, भारीपन और मुँह मे लार टपकाने वाला जल।

इन दोषों वाले जल का सेवन करने मे अनेक प्रकार के बाह्य रोग (जैसे-फोड़े, फुंसियाँ, खुजली, त्वचा का फटना आदि चर्म रोग) और आन्तरिक रोग (जैसे-जठराग्नि के रोग, क़ब्ज़, दस्त, उलटी, पेट में जलन आदि) उत्पन्न हो जाते हैं।

यदि स्वच्छ जल न मिल रहा हो और दूषित जल पीने की विवशता हो, तो इसे शुद्ध कर लेना चाहिए। शुद्ध करने के लिए जल को सूर्य की किरणों में रखना चाहिए। दूषित जल में स्वर्ण, चाँदी, पत्थर, रेत अथवा मिट्टी के ढेले को सात बार तपा तपा कर बुझाने से जल शुद्ध हो जाता है। फिल्टर या स्वच्छ और मोटे कपड़े से छान कर भी प्रयोग में लाया जा सकता है। इस तरह शुद्ध किये जल को ही प्रयोग में लाना चाहिए।[467]

---

466. कीटाहिमूत्रविट्कोथतृणजालोत्कटाविलम् ।
पंङ्कपंङ्कजशैवालहठर्णादिसंस्तृतम् ।।
सूर्येन्दुपवनादृष्टं जुष्टं च क्षुद्रजन्तुभिः ।
अभिवृष्टं विवर्णं च कलुषं स्थूलफेनिलम् ।।
विरसं गन्धवत् तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ।।
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।
तत्कुर्यात् स्नानपानाभ्यां तृष्णाऽऽध्मानोदरज्वरान् ।।
कासाग्निसादाभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकानतः ।
तद्वर्जयेदभावे वा तोयस्यान्यस्य शस्यते ।। अ.स.सूत्र 6/21-25

467. पाषाणरूप्यमृद्धेमज तुतापार्कतापितम् ।।
पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजित् ।
लघ्वरूक्षं क्लमघ्नं च तोयं क्वथितशीतलम् ।। अ.स.सूत्र 6/46-47
संसर्गे पित्तकफयोः सन्निपाते च शस्यते ।

Scanned by CamScanner

कुछ अन्य महत्वपूर्ण पदार्थ

इसके आगे कुछ अन्य पदार्थों के गुण कर्म आदि के बारे में बताया जा रहा है। इन पदार्थों का प्रयोग तो हम नित्य प्रति के जीवन में करते है परन्तु उनके विषय में कुछ जानकारी नहीं रखते कि वे हमारे लिए कितने उपयोगी है, उनका प्रयोग कब और किस प्रकार से करें ? आइए, इन तथ्यों को जान कर अपने लिए उपयोगी पदार्थों का सेवन करें और जो पदार्थ हमारे अनुकूल नहीं है उनका सेवन छोड़ दें अथवा उन्हें अनुकूल बना कर प्रयोग में लाएं।

2. कच्चे नारियल का जल[468]

साधारण जल के अलावा, प्रकृति ने हरे नारियल में भी जल भरा है। नारियल का पानी स्निग्ध, मधुर स्वाद वाला, ताकतवर, शीतल और पाचन में हलका होता है। यह अधिक प्यास (तृष्णा), पित्त, वायु एवं जिगर की गर्मी को दूर करता, पाचक-अग्नि को बढ़ाता, तथा मूत्र-प्रणाली के सभी अंगों को शुद्ध करता है। अतः सभी ऋतुओं में, विशेषकर, ग्रीष्म ऋतु में दूसरे ठण्डे पेय-पदार्थों (जैसी-पेप्सी, लिम्का, कोकाकोला, आदि) के स्थान पर इसका पान किया जाए, तो बहुत उपयोगी रहेगा।

जल के अतिरिक्त, हम लोग अपने दैनिक जीवन में दूध, दही, घी, तेल, आदि पदार्थों का भी सेवन नियमित रूप से करते हैं। इनके गुण-दोषों के बारे में ठीक ज्ञान न होने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हो जाती हैं। अतः संक्षेप में इनके गुण-कर्मों का उल्लेख किया जा रहा है।

3. दूध[469]

दूध को अमृत माना जाता है। प्रायः सभी प्रकार के दूध मधुर रस (ऊँटनी का दूध नमकीन होता है), विपाक में मधुर, स्निग्ध, भारी, शीत वीर्य, वायु पित्तनाशक और कफ वर्धक होते हैं। दूध मेध्य (बुद्धि बढ़ाने वाला), वृष्य, बलदायक, पुष्टि देने वाला, धातुओं को बढ़ाने वाला और रसायन है। चूंकि इसमें ओज के सभी गुण पाये जाते हैं, अतः यह ओज को बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त दूध जीवनीय (जीवन-शक्ति को बढ़ाने वाला), क़ब्ज़ दूर करने वाला, रक्त स्राव

---

468. "नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमंलघु ।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ।।" अ.स.सू. 6/51
"स्निग्धं स्वादु हिमं ह्रद्यं दीपनं बस्तिशोधनम् ।
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं गुरू ।।" सु.सू. 45/44

469. "मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु ।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते।। सु.सू. 45/48
"प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम् ।।"
प्रीणनं बृहणं वृष्यं मेध्यं बल्यंमनस्करम् ।
जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम् ।।

Scanned by CamScanner

रोकने वाला, शरीर में स्निग्धता लाने वाला, गर्भ की स्थापना में सहायक, घावों को भरने के लिए उपयोगी, रंग को निखारने वाला, स्वर में वृद्धि करने वाला और जलन (दाह) को शान्त करने वाला होता है। यह क्षय (टी.बी.), पुराना बुखार, अम्लपित्त (हाइपर एसिडिटी) परिणाम शूल (खाने के बाद पेट में होने वाला दर्द), पेट के रोग, क़ब्ज़, शुक्र कमज़ोरी तथा शोष (शरीर का सूखना) आदि में भी लाभदायक है। यह बुढ़ापे में होने वाले विकारों को भी दूर करता है। दूध और घी को मिला कर निरन्तर सेवन करना बहुत अच्छा रसायन माना जाता है। सभी प्रकार के दूधों में गाय का दूध सबसे श्रेष्ठ और भेड़ी का दूध सबसे निकृष्ट (घटिया) माना गया है।

♦ गाय का दूध[470]

जैसा कि पहले बताया गया है, गाय का दूध सभी प्रकार के दूध में श्रेष्ठ माना गया है। यह जीवनीय (जीवनी शक्ति बढ़ाने वाला), रसायन (जरा के कुप्रभावों को दूर करने वाला), अनभिष्यन्दी (शरीर के स्रोतों में रुकावट न लाने वाला), मधुर, स्निग्ध, गुरु, शीतल, मेधा, बल और दूध को बढ़ाने वाला, रेचक, क्षतक्षीण (चोट, आदि से दुर्बल हुए) रोगी के लिए हितकारी है। यह थक कर चक्कर आना, मद (नशा), अलक्ष्मी (अशुभ), कास, अत्यधिक प्यास, पुराना बुखार, मूत्रकृच्छ् (मूत्र-त्याग में कठिनाई) और रक्तपित्त (शरीर के अंग से रक्त स्राव होना) को दूर करता है। यह वात और पित्त दोषों को शान्त करता है। गाय के रंग और संतति के अन्तर से इसके दूध के गुणों में भी अन्तर हो जाता है। जैसे-तरुणी (युवा) गाय का दूध मधुर, रसायन और तीनों दोषों को दूर करने वाला है, तो वृद्ध गाय का दूध दुर्बल माना गया है। इसी प्रकार काली गाय का दूध वायु दोष को दूर करने वाला और अधिक गुणकारी हो जाता है, तो पीली गाय का दूध पित्त और वायु को दूर करने वाला।

♦ भैंस का दूध[471]

भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा अधिक

हन्ति शोणित पित्तं च सन्धानं विहतस्य च । सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा ।।
तृष्णाघ्नं दीपनीयञ्च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च । पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे ।।
अतीसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विशेषतः ।
योनिशुक्र प्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च ।। पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम् ।
नस्यालेपाबगाहेषु वमनास्थापनेषु च ।।
विरेचने स्नेहने च पयः र्सवत्र युज्यते । **च.सू. 1/108-112**

470. अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्।।
क्षतक्षीणहितं मेध्यं वर्ण्यं स्तन्यकरं सरम्।
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः।।
जीर्ण ज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्। **अ.स.सू. 6/54-55**
"स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरू मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः।।"
"तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवर जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्।।" **च.सू. 27/217-18**

Scanned by CamScanner

शीतल, स्निग्ध (चिकना), गुरु (भारी) और अभिष्यन्दी (स्रोतों में रुकावट पैदा करने) होता है। यह तीक्ष्ण पाचक-अग्नि वालों के लिए तथा अनिद्रा के रोगी के लिए बहुत उपयोगी है। भैंस का दूध नींद लाने के लिए सबसे अच्छी औषधि के रूप में माना गया है। इसमें गाय के दूध की अपेक्षा (घी) की मात्रा अधिक पाई जाती है, जबकि गाय के दूध में पाया जाने वाला घी गुणों की दृष्टि से अधिक अच्छा है।

♦ बकरी का दूध[472]

बकरी का दूध गाय और भैंस के दूध की अपेक्षा कम मात्रा में सेवन किया जाता है, परन्तु प्रयोग में लाया जाता है। यह दूध कसैलापन युक्त और मधुर (मीठा) होता है। यह शीतल, लघु (पाचन में हलका) और ग्राही है। बकरी का दूध अनेक प्रकार के रोगों में लाभकारी माना गया है, जैसे टी0बी0, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त (रक्तस्राव), कास (खांसी) शोष, विष नाशक है। यह पाचक-अग्नि को बढ़ाता है।

दूध को बिना जल डाले जितना अधिक पकाया जाता है उतना अधिक भारी और चिकना होता जाता है। यदि दूध में कुछ पानी डाल कर पानी जलने तक उबाला जाए, तो यह हलका हो जाता है।

उबालते समय दूध में पिप्पली, सोंठ (सूखा अदरक) मुलहठी व हल्दी डालने से यह कफकारी नहीं रहता।

प्राय: कच्चा दूध अभिष्यन्दी और भारी होता है, जबकि गाढ़ा दूध लघु और अनभिष्यन्दी होता है। वैसे गाय का दूध धारोष्ण (घोटने पर गर्म हो), भैंस का दूध धारा शीत (दोहने के बाद ठण्ड़ा) और बकरी का दूध श्रृतशीत (उबालकर ठण्डा किया गया) अच्छा माना जाता है।

प्रात:काल का दूध सायंकाल के दूध की अपेक्षा भारी व शीतल होता है। जो दिन में प्राय: विदाही (पाचन में दाह या जलन पैदा कर) अन्न का सेवन करते हैं उन्हें रात्रि को सोते समय दूध पीना चाहिए। ऐसा माना गया है कि जो मनुष्य उषाकाल (प्रात:समय) जल का, दिन में भोजन के बाद तक्र (लस्सी) का और रात को सोते समय दूध का सेवन करता है, वह निरोग रहता है।

जिस दूध का रंग, रस (स्वाद) या गन्ध बदल गया हो और फट गया हो वह दूध नहीं लेना चाहिए। दूध में या दूध के साथ नमक, अम्ल पदार्थ नहीं लेने चाहिए, क्योंकि ये विरुद्ध संयोग हैं। इसके सेवन से कुष्ठ जैसे रोग हो सकते है।

दूध की मलाई स्निग्ध, वायु और पित्त को शान्त करने वाली और वृष्य (शुक्र को बढ़ाने वाली)

---

471. "महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पय:।
स्नेहान्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत्।।" च.सू. 27/219
"हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमं।" अ.स.सू. 6/56

472. "अल्पाम्बुपान व्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु।
आजं शोषज्वर श्वासरक्तपित्तातिसारजित्।।" अ.स.सू. 6/57
"छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम्।।" च.सू. 27/222

Scanned by CamScanner

होती है।

भैंस का दूध पीयूष - गुरु, अभिष्यन्दी और कफ बढ़ाने वाला होता है, तथा इसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है।

♦ खोया

भारी, स्निग्ध, बलकारक और वृष्य (शुक्र बढ़ाने वाला) होता है।

♦ छेना या पनीर

बलकारक और खोये से हलका होता है।

♦ छेना का पानी

बलकारक और मन्दाग्नि में लाभकारी है। एक छेना के पानी से 50 कैलोरी के बराबर शक्ति प्राप्त होती है।

4. दही[473]

दही भारी, स्निग्ध, अभिष्यन्दी (स्रोतों में रुकावट पैदा करने वाला), रस और विपाक में अम्ल, उष्णवीर्य, ग्राही (क़ब्ज़) वायु नाशक, रक्त, कफ-पित्त बढ़ाने वाला, दीपन (पाचन-शक्ति को बढ़ाने वाला), बलकारक, पौष्टिक और वृष्य (शुक्र बढ़ाने वाला) भोजन में रुचि बढ़ाने वाला होता है। उदर रोग (पेट के रोग), पीनस, विषम ज्वर, (मलेरिया), दुर्बलता, मूत्रकृच्छ् (मूत्रत्याग में कठिनता) और शीत (सर्दी से होने वाला) ज्वर में लाभकारी है। अधिक और विधिपूर्वक सेवन न किया गया दही सूजन, रक्त के रोग, ज्वर, रक्तपित्त और पीलिया रोग को उत्पन्न करता है।

♦ दही की मलाई

बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक) और रक्तार्श (खूनी बवासीर) में लाभकारक है।

♦ दही का पानी (मस्तु)[474]

लघु, दीपन (पाचन-शक्ति बढ़ाने वाला), ग्राही (क़ब्ज़कारक), वायु का अनुलोमक, स्रोतों को शुद्ध करने वाला और मल-पदार्थों का अनुलोमन करने वाला है।

♦ मक्खन निकला दही

रूक्ष, विष्टम्भी (पेट में वायुकारक), ग्राही (क़ब्ज़) और वायु-वर्धक है, परन्तु ग्रहणी रोग में लाभकारी है।

---

473. "रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम्।
पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्ग.ल्यं बृहणं दधि।।"
"पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे।
अरूचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते।।"
"अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित्।
मेद: शुक्रबलश्लेष्मरक्तपित्ताग्निशोफकृत्।।
रोचिष्णु शस्तमरूचौ शीतके विषमज्वरे।
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रूक्षं तु ग्रहणीगदे।।"

चरक सूत्र 27/225-226

अ.स.सू. 6/65-66

अ.स.सू. 6/71

474. "तद्वन्मस्तु सरं स्रोत:शोधि विष्टम्भजिल्लघु।"

Scanned by CamScanner

♦ मन्द (पूरी तरह न जमा दही)

इसका सेवन नहीं करना चाहिए।

♦ सेवन की विधि[475]

दही को रात्रि में नहीं खाना चाहिए। दही का सेवन करते समय इसमें घी, शहद, चीनी, मूंग की दाल या आँवला- इनमें से कुछ न कुछ अवश्य मिला लेना चाहिए अर्थात् इन पदार्थों के बिना दही का सेवन नहीं करना चाहिए। दही को आग या धूप आदि में गरम करके तथा ग्रीष्म, बसन्त और शरद् ऋतुओं में नहीं खाना चाहिए। वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में इसका सेवन किया जा सकता है।

5. तक्र[476]

तक्र को, दही में जल डाल कर अथवा बिना जल के मथ कर तैयार किया जाता है। दही के अनुसार तक्र भी मधुर (मीठा), खट्टा और बहुत खट्टा हो सकता है। इसमें जितनी मात्रा में जल मिलाया जाता है या स्नेह (घी) होता है उसके अनुसार ही इसके भेद होते हैं।

बिना जल के केवल दही को मथ कर तैयार किया गया तक्र घोल, एक-चौथाई मिलाकर तैयार किया गया तक्र, तथा आधा जल मिलाकर तैयार किया उद्श्वित् कहलाता है। स्नेह (घी) निकाल कर केवल मथा गया दही मथित कहलाता है। घी निकले हुए दही में पर्याप्त मात्रा में जल मिलाने पर छाछ कहलाती है।

घोल	वायु और पित्त नाशक।
तक्र	तीनों दोषों का नाशक।
उदश्वित्	कफवर्धक।
मथित	कफ और पित्त शामक।
छाछ	लघु, शीतल, वात-पित्त नाशक और कफ कारक है। नमक मिला कर लेने पर यह पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। पूरा घी निकाल कर तैयार किया गया तक्र बहुत हलका और पथ्य (हितकर) तथा कुछ भी नहीं निकाल कर तैयार किया तक्र बहुत भारी (गरिष्ठ), बलकारी और कफ कारक होता है।

475. नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तत्राघृतसितोपलम्।।
न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा।
ज्वरासृकपित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम्।। अ.स.सू. 6/67-68

Scanned by CamScanner

♦ तक्र के सामान्य गुण[477]

तक्र (मट्ठा) लघु, मधुर, अम्ल, कषाय, मधुरविपाक, कफ-वात नाशक, अग्निदीपक, स्रोतों को स्वच्छ करने वाला, ग्राही (कारक), हृद्य (हृदय के लिए लाभकारी), मूत्र अधिक लाने वाला और लेखन, ग्रहणी रोग, बवासीर, सूजन, पेट के रोग, मूत्र में रुकावट, प्लीहा (तिल्ली), गुल्म, घी से उत्पन्न रोगों (मेदोरोग), कृत्रिम विष और पाण्डु को दूर करता है। आधुनिक अनुसन्धानों के अनुसार भी तक्र मेदोरोग से उत्पन्न हृदय के रोगों को दूर करता है।

अपक्व तक्र, छाछ (मट्ठा) कोष्ठ में जमा कफ को तो नष्ट करता है, परन्तु गले में कफ को उत्पन्न करता है। अत: पीनस, खाँसी, दमा और गले के रोगों में ताजे तक्र का प्रयोग न करके पके तक्र को प्रयोग में लाना चाहिए।

कफ और वायु के रोगों में तक्र से बढ़ कर कोई औषधि नहीं कही गई है।

अलग-अलग अनुपानों के साथ तक्र के गुण भी अलग-अलग हो जाते हैं। जैसे-

अम्ल तक्र एवं सोंठ और सेंधा नमक	वायु-विकारों में लाभकारी
मधुर तक्र एवं चीनी	पित्त-विकारों में लाभकारी
तक्र एवं त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च और पिप्पली) और यवक्षार	कफ-विकरों में लाभकारी
तक्र एवं हींग, जीरा और सेंधा नमक	वायु नाशक तथा बवासीर, अतिसार बस्ति (पेडू) में दर्द और अग्निमांद्य में उपयोगी
तक्र एवं गुड	मूत्रकृच्छ्र में लाभकारी
तक्र एवं चित्रक	पाण्डु रोग में लाभकारी

"न नक्तं दधि भुञ्जीत् न चाप्य घृतशर्करम्।
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।।
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठ पाण्ड्वयभ्रमान्।
प्राप्नुयात् कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रिय:।।" च.सू. 7/61-62

476. "मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमद्धोंदकं च यत्। सु.सू. 45/85
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे।।"

477. "तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्। अ.स.सू. 6/69-70
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारूचीः।।"
गुल्मप्लीहघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत्।

478. "नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले। अ.स.सू. 6/70
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके।।"

Scanned by CamScanner

खट्टा तक्र हानि पहुँचाता है। उर:क्षत (छाती में घाव) या दुर्बलता, मूर्च्छा, चक्कर, जलन और रक्तपित्त (रक्तस्राव) में एवं गर्मी के मौसम में तक्र का सेवन नहीं करना चाहिए।[478]

6. मक्खन[479]

मक्खन दो प्रकार का होता है- 1) दही से निकाला गया, और 2) दूध से निकाला गया, इसे नवनीत या नैनू कहते है।

दही से निकाला गया ताजा मक्खन मधुर, कषाय और विपाक में थोड़ा मधुर, लघु, स्निग्ध, शीतवीर्य, वायु-पित्त नाशक, वर्ण अग्नि को बढ़ाने वाला, संग्राही, वृष्य (शुक्रवर्धक), हृद्य (हृदय के लिए उपयोगी) और मेध्य (बुद्धिवर्धक)[480] है। यह क्षय, खाँसी, बवासीर और अर्दित रोग (लकवा) को नष्ट करता है। दूध से निकला हुआ मक्खन बहुत शीतल, चक्षुष्य (आँखों के लिए लाभकारी) संग्राही और रक्तपित्त नाशक है। अर्दित रोग में यह विशेष रूप से लाभ पहुँचाता है।

7. घी

सभी प्रकार के स्निग्ध (तैलीय-चिकने) पदार्थो में घी सबसे अच्छा माना गया है क्योंकि अन्य औषधियों के साथ पकाने में यह उनके बल को बढ़ा देता है। किसी दूसरे स्नेह (तेल, वसा, आदि) में यह गुण नहीं है।

सभी प्रकार के घी में गाय का घी सबसे उत्तम होता है।

घी गुरु, स्निग्ध, मधुर विपाक, शीतवीर्य, बुद्धि, स्मरण-शक्ति, मेधा, बल, आयु, पुष्टि, शुक्र, दृष्टि, सन्तान, कान्ति, सुकुमारता और स्वर में वृद्धि करने वाला होता है और अच्छा रसायन है। हृदय को ताकत देने वाला एवं वृद्धों के लिए भी लाभदायक है। घी मानसिक रोगों, ज्वर, दाह (जलन), उन्माद (पागलपन), क्षय, क्षतक्षीण (दुर्बल), शस्त्र के घाव और अग्नि से जलने पर भी लाभ पहुँचाता है वायु का अनुलोमन व पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। स्रोतो

---

479. "शीतं स्वादु कषायाम्लं नवनीतम् नवोद्धृतम्।
यक्ष्माऽर्शोर्दितपित्तासृग्वातजिद् ग्राहि दीपनम्।।
क्षीरोदभ्वं तु सङ्ग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित्। अ.स.सू. 6/72

480. "स्नेहानामुत्तमम् शीतं वयसः स्थापनम् घृतम्।" अ.स.सूत्र 6/75
"सर्वस्नेहोत्तमम् शीतं मधुरं रसपाकयोः।
सहस्रवीर्य विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्।।" च.सू. 27/232

481. शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबिलायुः शुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्।।
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। अ.स.सूत्र 6/73-74

Scanned by CamScanner

से दोषों को निकाल कर उन्हें स्वच्छ करता है।[481]

घी का प्रयोग अनेकों प्रकार से, जैसे- पान करके, किसी औषधि में मिला कर व पका कर, मालिश, नस्य और अनुवासन बस्ति (एनिमा) के रूप में किया जा सकता है।

रक्तपित्त (रक्तस्राव होने पर) में घी का नस्य, पार्श्वशूल दर्द में पुराने घी की मालिश और कृशता (पतलापन), कमज़ोरी, उदावर्त, खाँसी, गर्भपात, पुराना ज्वर और तिमिर रोग में घी का सेवन (पान) अच्छा रहता है। दूध और घी का लगातार सेवन सभी रसायनों में श्रेष्ठ है।

दस वर्षों तक रखा घी पुराण, सौ वर्षों तक रखा घी कुम्भघृत और सौ वर्षों के बाद रखा घी महाघृत कहलाता है।

तेज गन्ध वाला होने पर भी पुराना घी अपस्मार (मिरगी), मद (नशा), मूर्च्छा, (बेहोशी), विषम ज्वर (मलेरिया), तिमिर, और सिर, कान, नेत्र व योनि (स्त्री के जनन अंग) के रोगों को नष्ट करता है। यह घाव को स्वच्छ करता व भरता है।[482]

8. तेल

स्नेह पदार्थों में घी के बाद तैल (तेल) का स्थान आता है। तैल शब्द तिल के तेल के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु बाद में सभी प्रकार के लिए इस शब्द (तैल) का प्रयोग होने लगा है।

तेल सामान्य रूप से मधुर, अनुरस में कषाय, उष्ण व्यवायी (जो पहले शरीर में फैलता है और बाद में पाचन होता है) (लेकिन कफ वर्धक नहीं) पित्त वर्धक, बल को बढ़ाने वाला, त्वचा के लिए लाभदायक होता है। मांस पेशियों को स्थिर, मज़बूत और पुष्ट करने वाला, मेधा को बढ़ाने वाला, दीपन (पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला) और मल मूत्र को बाँधने वाला है। यह योनि मार्ग को शुद्ध करता है। वायु नाशक द्रव्यों में तेल सबसे उत्तम माना गया है। औषधियों द्वारा संस्कारित किये (पकाये) जाने पर तेल उन औषधि गुणों को भी अपने अन्दर ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार, यह सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करता है।[483]

शरीर पर तेल की मालिश करने से वायु का प्रकोप, थकान और बुढ़ापे के लक्षण दूर हाते है। दृष्टि निर्मल होती है, त्वचा, स्वच्छ, सुन्दर और कान्तिपूर्ण होती है, झुर्रियां नही पड़ती, शरीर पुष्ट होता है, नींद अच्छी आती है। सिर पर तेल

---

482. "पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत्।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्।।" सु.सू. 45/108
"पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम्।
पूर्वान्क्तांश्चाधिकान् कुर्याद् गुणांस्तदमृतोपमम्।।" अ.स.सूत्र 6/77

483. वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम्।
तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं मतम्।।
तैल प्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः।
आसन्नतिबलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा।। च.सू. 27/287-288

Scanned by CamScanner

की मालिश करने से सिर दर्द, गंजापन और कम अवस्था में बाल सफेद होना और बाल झड़ना आदि शिकायतें दूर होती है।[484]

जो तेल जिस पदार्थ से निकाला गया है, उसमें उसी पदार्थ के गुण पाये जाते हैं। मुख्यत: तिल, सरसों, नारियल अलसी के तेलों का प्रयोग किया जाता है।[485] इनके गुणों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है।

तेल में एक गुण यह भी पाया जाता है कि तेल जहाँ दुबले व्यक्ति का दुबलापन दूर करता है वहीं मोटे व्यक्ति का मोटापन भी दूर करता है। व्यवायी होने से तेल स्रोतों में बहुत जल्दी प्रवेश कर जाता है। दुर्बल व्यक्ति के स्रोत संकुचित होते हैं और तेल अपने लेखन एवं तीक्ष्ण (तीखापन) आदि गुणों से स्रोतों को तुरन्त खोल देता है।[486] इससे स्रोतों की सिकुड़न समाप्त होने से शरीर पुष्ट हो जाता है और कृशता (पतलापन) दूर हो जाती है दूसरी ओर सूक्ष्म होने के कारण मोटे व्यक्ति के स्रोतों में भी पहुंच कर चरबी कम करता है इससे मोटापा घट जाता है। आधुनिक दृष्टि से भी तेल में अतृप्त वसाम्ल पाया जाता है, जो मोटापे एवं उससे उत्पन्न मधुमेह, हृदय-रोग आदि में हानिकारक नही माना जाता।

इसी तरह, तेल क़ब्ज़कारक (ग्राही) और क़ब्ज़ दूर करने, दोनों प्रकार के गुणों वाला माना गया है क्योंकि मल (पुरीष) को तो यह बाँधता है और स्खलित मल को बाहर निकाल देता है।

♦ तिल का तेल :[487]

तेलों में तिल का तेल सबसे अच्छा माना जाता है। प्रयोग बाह्य रूप से (मालिश करके) और

---

484. अभ्यङ्गो वातहा पुष्टिस्वप्नदाढर्थ्यबृहत्वकृत्।
दग्धभग्नक्षतरूजाक्लम्श्रमजरापह:।।
रथाक्षचर्मघटवद् भवन्त्यभ्यङ्गतो गुणा:।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायु: स्पर्शनं च त्वगाश्रयम्।।
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गो यस्मात् तं शीलयेदत:।
शिर:श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।।
स केश्य: शीलितो मूर्ध्नि कपालेन्द्रियतर्पण:। अ.स.सूत्र 3/56-59

485. "तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च।।" अ.स.सू. 6/99

486. "कृशानां बृहंणायालं स्थूलानां कर्शनाय च।
बद्धविटकं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित्।।" अ.स.सू. 6/100

487. "तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरू संर विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेधामार्दवमांस स्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितपित्तजननं योनिशिर: कर्णशूल प्रशमनम् गर्भाशयशोधानंञ्च,
तथा छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टच्युतमथितक्षतपिञ्चितभग्नरुटितक्षाराग्निदग्धविश्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्न मृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिल तैलं प्रशस्यते ।। सु.सू. 45/112
"तद्वस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ।।" सु.सू. 45/113

Scanned by CamScanner

आन्तरिक रूप से (खाकर) खाद्य रूपों में किया जाता है। यह तीखा और व्यवायी (शरीर में तुरन्त फैलने वाला), भारी, बलकारक, स्थिरता प्रदान करने वाला, दस्त व वायु-कफ नाशक, ऊष्ण, स्पर्श में शीतल, पौष्टिक, लेखन, मल-मूत्र को बांधने वाला पाचन शक्तिवर्धक, बुद्धि बढ़ाने वाला, शरीर में हलकापन लाने वाला, गर्भाशय को शुद्ध करने वाला, घाव, प्रमेह रोग (मूत्र से सम्बन्धित रोग), योनि (स्त्री के जननांग) और मस्तक के दर्द, एवं कान के रोगों को नष्ट करने वाला है। खाने से यह त्वचा, बालों और नेत्रों के लिए हानिकारक है, परन्तु मालिश करने से त्वचा हृदय बालों ओर नेत्रों के लिए लाभकारी होता है। चोट, मोच, घाव, जले हुए स्थान और हड्डी टूटने आदि में भी यह उपयोगी है। इसका प्रयोग नस्य सिकाई, मालिश ओर कान में डालने के लिए भी किया जाता है। भोजन बनाने में भी इसका उपयोग होता है। इसकी एक विशेषता है कि स्निग्ध होते हुए भी यह कफ को नहीं बढ़ाता तथा मालिश करने से पित्त को शान्त करता है।

♦ सरसों का तेल :

कटु (स्पर्श और वीर्य में), उष्ण, तीक्ष्ण (तीखा), हलका, कफ-वायु और शुक्र नाश करने वाला, पित्त और रक्त को दूषित करने वाला, लेखन, पाचक, चकत्ते आदि चर्म रोगों, सिर और कान के रोगों तथा कृमि (कीड़ों) को नष्ट करने वाला है। प्लीहा (तिल्ली) की वृद्धि के लिए यह तेल उत्तम माना गया है।[488]

♦ मूंगफली का तेल :

यह उष्ण, गुरु (भारी), स्निग्ध, कफ-वायु नाशक, (दाह करने वाला) और पित्तवर्धक होता है। त्वचा पर इसकी मालिश करने से चिकना नहीं अपितु रूखापन आता है। आजकल भोजन को पकाने में इसका बहुत उपयोग किया जाता है।

♦ नारियल का तेल

दक्षिण भारत में घी के स्थान पर प्राय: इसका प्रयोग किया जाता है। यह भारी, शीतल वायु, पित्त नाशक, कफ-वर्धक और बालों के लिए हितकर होता है। बालों में लगाने के लिए नारियल का तेल उत्तम माना जाता है।

♦ अलसी का तेल[489]

यह तेल मधुर-अम्ल, उष्ण, विपाक में कटु, कफ, पित्त और रक्त को कुपित करने वाला, वायु-नाशक और त्वचा के रोगों को उत्पन्न करने वाला है।

---

488. "कटूष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम् ।
कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम् ।।" — च.सू. 27/290
"कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्।
लघुपित्तासृकृत्काठकुष्ठाशौव्रणजन्तुजित्।। — अ.स.सू. 6

489. "आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथा ।
उष्णवीर्य हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम् ।। — च.सू. 27/292
"उमाकुसुम्भजं सोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत् । — अ.स.सू. 6/104

Scanned by CamScanner

9. मधु या शहद

शहद अनेक प्रकार का होता है। यह पीलापन, लालिमा कालापन लिये भूरे रंग का होता है। सामान्यतः यह कषाय-मधुर रस वाला, शीत, रूक्ष, भारी तथा कफ, विष, रक्तपित्त, प्यास और हिक्का को नष्ट करने वाला, छेदी (जमे हुए कफ को टुकड़े-टुकड़े करके बाहर निकालने वाला), सन्धानीय (घाव के दोनों किनारों को जोड़ने वाला), प्रमेह, कुष्ठ, कृमि, वमन (उलटी), श्वास, कास और अतिसार को नष्ट करने वाला, वायु-वर्धक, घावों को भरने वाला और शुद्ध करने वाला होता है। कुछ विद्वान (सुश्रुत) इसे तीनों दोषों को शान्त करने वाला मानते है।[490]

नया शहद पुष्टि करने वाला, थोड़ी मात्रा में कफ को नष्ट करने वाला और सर (क़ब्ज़नाशक) है, तो पुराना बहुत लेखन, क़ब्ज़ चर्बी और मोटापा नष्ट करने वाला है। शहद अच्छा योगवाही है अर्थात जिन-जिन गुण वाले द्रव्यों के साथ मिला कर इसका प्रयोग किया जाता है, उसके गुणों से युक्त हो जाता है। अतः आयुर्वेदीय औषधियों में अनुपान के रूप में सबसे अधिक इसका प्रचलन है।

शहद और उष्णता का विरोध माना गया है। अतः इसका प्रयोग गर्म द्रव्यों के साथ, गर्मी के समय तथा गर्मी से उत्पन्न रोगों में नहीं करना परन्तु उलटी (वमन क्रिया) करने में उष्ण शहद का प्रयोग किया जा सकता है, वह शरीर से बाहर निकल जाता है, अतः विषैला प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता।[491]

सम मात्रा में घी और शहद का सेवन निषेध किया गया है।

---

490. "वातलं गुरू शीतं च रक्तपित्तकफापहम् ।
सन्धातृच्छेदनं रूक्षं कषायं मधुरं मधु ।।" च.सू. 27/245

"चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषाहिध्माऽस्रपित्तनुत् ।
कुष्ठमेहकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित् ।।
व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मधु ।
रूक्ष कषायमधुरं तत्तुल्या मधुशर्करा ।।" अ.स.सू. 6/91-92

491. "हन्यान्मधूष्णमुष्णार्तमथवा सविषान्वयात् ।
गुरूरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ।।" च.सू. 27/246

"उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ।
विषान्वयत्वेन विषपुष्पेभ्योऽपि यतो मधु ।।" अ.स.सू. 6/93

Scanned by CamScanner

विरुद्ध आहार एवं हितकारी संयोग

पिछले अध्याय में बताया गया है कि जिस प्रकार पथ्य या हित आहार के सेवन से स्वास्थ्य की रक्षा होती है और दोष अपनी सम अवस्था में बने रहते है, उसी प्रकार अपथ्य या अहित आहार के सेवन से स्वास्थ्य का नाश और दोषों का प्रकोप होता है। यह आहार भी अनेक प्रकार का हो सकता है। कुछ खाद्य-पदार्थ तो प्रकृति से दोषों का प्रकोप करने वाले, रोग कारक, भारी आदि होने से अपथ्य होते है, परन्तु कुछ प्राकृतिक रूप से और अकेले तो बहुत गुणकारी और स्वास्थ्य वर्धक होते है लेकिन जब इन्हीं पदार्थो को किसी अन्य खाद्य-पदार्थ के साथ अथवा किसी विशेष समय या ऋतु में अथवा किसी विशेष वस्तु में पका कर सेवन किया जाता है, तो ये लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाते है और अनेक प्रकार के रोगों का कारण बनते है। ये विरुद्धाहार कहलाते है क्योंकि ये रस, रक्त आदि धातुओं को दूषित करते है और दोषों को प्रकुपित करते है परन्तु मलों को शरीर से बाहर नहीं निकालते। अनेक बार गम्भीर रोगों की उत्पत्ति का कोई साफ कारण दिखाई नहीं देता। वस्तुत: इस प्रकार के विरुद्धाहार का लगातार सेवन करते रहने से ये शरीर पर धीरे-धीरे दुष्प्रभाव डालते और धातुओं को दूषित करते रहते है। इनके परिणामस्वरूप कुष्ठ जैसे भयानक चर्म रोग, सफेद दाग, नपुंसकता, अन्धापन, पीनस, रक्ताल्पता, ग्रहणी, विसर्प, जलोदर, पेट की बीमारियाँ, मन्दाग्नि, विस्फोट, भगन्दर, मूर्च्छा, मद (नशा), शोथ, अम्लपित्त (एसिडिटी), ज्वर, गलग्रह, उन्माद (पागलपन), आम-विष, सन्तान में विकार और यहाँ तक कि मृत्यु भी हो सकती है।

यह विरुद्धाहार अनेक प्रकार का है, जैसे -

1. **देश की दृष्टि से विरुद्धाहार** : जैसे- नमी-प्रधान स्थानों में नमी व स्निग्ध व शीतल शीत पदार्थो का सेवन।
2. **काल या मौसम की दृष्टि से विरुद्धाहार** : जैसे- शीतऋतु में शीतल, रुक्ष रस प्रधान एवं हलके (लघु) पदार्थो का सेवन।
3. **पाचक–अग्नि की दृष्टि से** : जैसे- मन्द अग्नि व्यक्ति के द्वारा भारी स्निग्ध, ठण्डे और मधुर रस वाले पदार्थो का सेवन।
4. **मात्रा की दृष्टि से** : जैसे- शहद और घी का समान मात्रा में सेवन करना।
5. **सात्म्य की दृष्टि से** : जैसे- प्रतिदिन चावल खाने के अभ्यासी व्यक्ति को गेंहूँ, जौ आदि का सेवन।
6. **दोषों की दृष्टि से** : जैसे- वायु-प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा वायु वर्द्धक पदार्थ तथा कफ-प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा कफ-वर्द्धक पदार्थो का सेवन।
7. **संस्कार या पाक की दृष्टि से** : जैसे- खट्टे पदार्थो को ताँबे के बर्तन में पका कर खाना।
8. **वीर्य की दृष्टि से** : शीतवीर्य पदार्थो को उष्ण वीर्य पदार्थो के साथ खाना, जैसे - शीतवीर्य संतरा, मौसम्मी, अनानास आदि को दूध, दही अथवा लस्सी के साथ सेवन करना।

Scanned by CamScanner

9. **कोष्ठ की दृष्टि से** : क्रूर कोष्ठ (जिन मनुष्यों में मल-विसर्जन की क्रिया स्वभावतः कठिनाई से होती है या वायु के प्रकोप के कारण जो सख्त मल का त्याग करते है) के व्यक्तियों द्वारा, लघु, क़ब्ज़कारक व वायु वर्धक पदार्थो का तथा मृदु-कोष्ठ (जिनमें मल-विसर्जन की क्रिया सुविधा पूर्वक द्रव्य रूप में होता है) व्यक्तियों द्वारा भारी, अधिक शक्तिदायक और रेचक पदार्थो का एवं अधिक मात्रा में सेवन करना।

10. **शारीरिक अवस्था की दृष्टि से** : जैसे- अधिक चर्बी वाले अर्थात् मोटे व्यक्तियों द्वारा स्निग्ध पदार्थो (घी, मक्खन, तेल आदि) का तथा क्षीण (कृश = पतले) मनुष्यों द्वारा रूक्ष और हल्के (लघु) पदार्थो का सेवन।

11. **क्रम की दृष्टि से** : जैसे- नित्यकर्म (मल-मूत्र, स्नान आदि) से पहले खाना, भूख न लगने पर भी भोजन करना तथा अधिक भूख लगने पर भी भोजन न करना।

12. **निषेध की दृष्टि से** : कुछ विशेष पदार्थो के सेवन के बाद उनके कुप्रभाव से बचने के लिए किसी अन्य विशेष पदार्थ का सेवन अवश्य करना चाहिए या किसी पदार्थ का सेवन नही करना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन करना। जैसे- घी के बाद ठण्डे जल आदि पदार्थो का सेवन करना, (घी के बाद गर्म पदार्थ या द्रव लेना चाहिए) भोजन के पश्चात व्यायाम करना, गेंहूँ, व जौ से बने पदार्थ के सेवन के पश्चात ठण्डा पानी न पीना इत्यदि।

13. **पकाने की दृष्टि से** : जैसे- दूषित ईंधन से पकाया अथवा ठीक प्रकार से न पकाया गया (कच्चा, बहुत पका या जला हुआ) भोजन।

14. **संयोग की दृष्टि से** : कुछ पदार्थो को एक-साथ या आपस में मिला कर खाना, जैसे खट्टे पदार्थो को दूध के साथ, दूध, तरबूज, खरबूजा या लवण युक्त पदार्थ का सेवन करना।

15. **रुचि की दृष्टि से** : अच्छे न लगने वाले भोजन को विवशता से तथा रुचिकर भोजन को भी अरुचि से खाना।

16. **गुणों (संपत्) की दृष्टि से** : रस रहित, उत्पन्न होकर नष्ट हुये रस वाले या विकार युक्त रस वाले द्रव्य का सेवन करना।

17. **विधि की दृष्टि से** : भोजन सम्बन्धी आचार संहिता का पालन न करते हुए आहार करना।

इन सभी प्रकार के विरूद्ध आहार के उदाहरण नीचे दिए जा रहे है :-

दूध और	दही, नमक, मूली, मूली के पत्ते, अन्य कच्चे सलाद, सहिजन, इमली, खरबूजा, बेलफल, नारियल, आम्रातक, आम्बड़ा, नींबू, निकुच, करौंदा, बेल, कमरख, जामुन, कैथ, पारावत, अनार, आँवला, गलगल, तोरई, गुड़ या गुड़ का हलवा, तिलकुट, कुलथी, उड़द, मोठ, निष्पाव, कंगु, वनक, सत्तू, तेल तथा अन्य प्रकार के खट्टे फल या खटाई, मछली

Scanned by CamScanner

दही और	खीर, दूध, पनीर, गर्म पदार्थ, व गर्म भोजन, खरबूजा, ताड़ का फल
खीर और	खिचड़ी, कटहल, खटाई (दही, नीबू, आदि), सत्तू, शराब आदि।
शहद और	मकोय (काकमाची), घी और वर्षा का जल (समान मात्रा में), तेल, वसा, अंगूर, कमल का बीज, मूली, गर्म जल, गर्म दूध या अन्य गर्म पदार्थ, कुसुम्भ का साग, शार्कर (शर्करा से बना) और मैरेय (खजूर) से बना जातुक साग, पका निकुच (बड़हल)
शीतल जल और	घी, तेल, गर्म दूध या गर्म पदार्थ, तरबूज, अमरूद, खीरा, ककड़ी, मूंगफली, चिलगोजा
गर्म जल या पेय और	शहद, भिलावा
घी और	समान मात्रा में शहद, ठण्डा जल, पका हुआ निकुच (बड़हल)
खरबूजा और	लहसुन, दही, दूध, मूली के पत्ते
तरबूज और	ठण्डा पानी, पुदीना
चावल और	सिरका
पका निकुच (बड़हल) और	उड़द, गुड़, घी, शहद, दूध, दही
कमीला और	छाछ (छाछ में पकाया)
तिल का पेस्ट	उपोदिका (पोई को पकाकर)
क्षार	अधिक समय तक सेवन
नमक	अधिक मात्रा में अधिक समय तक
सरसों का तेल और	हारिद्र (छत्रक जाति का) साग
अंकुरित धान्य और (दालन, चने आदि)	कमल नाल
मकोय	पिप्पली एवं काली मिर्च, गुड़, शहद, मछली पके हुए बर्तन में, रातभर रखी मकोय की शाक
उड़द की दाल और	मूली
केला और	तक्र (मट्ठा)
घी	काँसे के बर्तन में दस दिन रखा
दूध+सुरा+खिचड़ी	इस प्रकार के विरूद्ध आहार के सेवन से शरीर के धातु और दोष असन्तुलित हो जाते है, अतः अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। अतः इन सबका विचार करके खाद्य पदार्थो का सेवन करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

हितकारी संयोग के उदाहरण

जिस प्रकार विरुद्धाहार के सेवन से हानि होती है और अनेक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ भी है, जिन्हे आपस मे मिलाकर खाने से अधिक लाभ होता है और उनका पाचन भी शीघ्र हो जाता है ये हितकारी संयोग कहे जा सकते है। यदि स्वादवश किसी एक पदार्थ का सेवन अति मात्रा मे कर लिया जाए, तो उससे अपच हो जाती है या कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति मे भी इन हितकारी संयोगों के सेवन से अपच के कारण उत्पन्न विकार दूर हो जाते है।

ऐसे हितकारी खाद्य पदार्थो की सूची इस प्रकार है।

वस्तु का नाम	हितकारी संयोग (जिस वस्तु से पाचन होता है)	वस्तु का नाम	हितकारी संयोग (जिस वस्तु से पाचन होता है)
उडद	तक्र, खांड	दूध	मूंग का यूष (सूप)
चना	मूली	घी	जम्बीरी नींबू का रस
मूंग	ऑवला	गोतक्र (गौ के दूध से बना तक्र)	गुनगना मांड (मण्ड)
अरहर	कांजी	भैस का तक्र	सेधा नमक
कुलथी	तेल	भैस का दही	शंख की भस्म
गेंहूँ	ककड़ी	नारियल (खोपरा)	भात
मक्का	अजवायन	आम	दूध
कोदों (कोद्रव)	पिण्डालू	केला	घी
श्यामाक, नीवार, कांगनी, कोदों और मोठ	दही का पानी	नारंगी	गुड़
खिचड़ी	सेंधा नमक	बड़हल	केला
पिष्टान्न (पिट्ठी)	शीतल जल	जम्बीरी नींबू	नमक
उड़द की पिट्ठी से बने बड़े आदि	नीम की जड़	द्राक्षा (अंगूर, किशमिश), पिस्ता, अखरोट और बादाम	लौंग

Scanned by CamScanner

वस्तु का नाम	हितकारी संयोग (जिस वस्तु से पाचन होता है)	वस्तु का नाम	हितकारी संयोग (जिस वस्तु से पाचन होता है)
पटोल, करेला, कद्दू और बाँस के अंकुर	पलाश के क्षार का पानी	क्षार	तक्र
आलू	तण्डुलोदक (चावल का पानी)	नमक	चावल की धोवन
सूरण (जिमीकन्द)	गुड़	मिश्री	सोंठ
पिण्डालू	कोदों	गुड़	सोंठ और नागरमोथा
कसेरु	सोंठ	ईख (गन्ना)	अदरक
		रसाला (शिखरन)	त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च और पिप्पली का चूर्ण)

Scanned by CamScanner

मुख्य रोग एवं उनके लिए श्रेष्ठ औषधियाँ

आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रत्येक रोग के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। इनकी चिकित्सा के लिए अनेकों औषधियों का उल्लेख भी मिलता है, जो अनेक द्रव्यों से मिला कर बनाई गई हैं। किसी विशेष रोग के लिए कोई एक औषधि-द्रव्य विशेष रूप से उपयोगी है, इसका उल्लेख भी ग्रन्थों में किया गया है। पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए रोग और उसके लिए सर्वश्रेष्ठ औषधि द्रव्यों की सूची नीचे दी जा रही है:

रोग	श्रेष्ठ द्रव्य
ज्वर (सभी प्रकार के)	नागर मोथा, पित्तपापड़ा
अधिक प्यास	तपाये गये मिट्टी के ढेले को पानी में बुझाकर उस पानी को पीना
वमन (उलटी)	खील (लाजा)
मूत्र-रोग	शिलाजीत
मधुमेह, प्रमेह	ऑवला, हल्दी
रक्त की कमी	गेहूं का जवारा
वायु, कफ	हरड़
जिगर व तिल्ली (प्लीहा) के रोग	पिप्पली
हड्डी का टूटना	लाख (लाक्षा)
विष	शिरीष (सिरस)
चर्बी और वायु की अधिकता	गूगल
घावों को भरने के लिए	गूगल, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, ऑवला)
रक्तपित्त (किसी अंग से रक्तस्राव), टी.बी., कुष्ठ (कोढ़), चर्म रोग	अडूसा (वासा)
अतिसार (दस्त) पेचिश	कुटज (कूड़ा)
बवासीर कष्टसाध्य चर्म रोग	वकायन (महानिम्ब)

Scanned by CamScanner

रोग	श्रेष्ठ द्रव्य
विष- रोग, हृदय-रोग	मोती, अंजन
मोटापा	त्रिफला, रसांजन, अश्वगन्धा पत्ते
पेट में कीड़े व उनसे उत्पन्न रोग	वायविडंग
शोष (विशेषतः टी.बी. से उत्पन्न दुर्बलता)	बकरी का दूध, मक्खन
वातरक्त (Gout)	गिलोय, नागरमोथा
ग्रहणी	तक्र (मट्ठा)
कुष्ठ	खदिर (खैर) का रस
उन्माद (पागलपन)	गाय का पुराना घी
अपस्मार (मिर्गी)	ब्राह्मी
अनिद्रा (नींद न आना)	भैंस का दूध, जटामांसी
नाड़ी-संस्थान के रोग, वायु रोग	लहसुन
अर्दित (लकवा)	देसी खांड़ एवं मक्खन
उदर रोग (जलोदर, सहित पेट के दूसरे रोग)	ऊँटनी का दूध, अदरक, चित्रक
अजीर्ण (अपच), मूत्रकृच्छ्र (मूत्र त्यागने में परेशानी)	पाषाण भेद या गोखरू
श्वास (दमा), कास (खांसी)	कण्टकारी (कटेली)
सिर के रोग	नस्य
मुख के रोग	नस्य (नाक में औषधि डाल कर ऊपर की ओर खींचना) एवं कवल ग्रह
अंगों का सुन्न होना	स्वेदन (सिकाई)
नई विद्रधि (फोड़ा)	रक्त स्राव
नेत्र-रोग	नस्य और अंजन
पार्श्वशूल	पोखर मूल (पुष्करमूल)

Scanned by CamScanner

रोग	श्रेष्ठ द्रव्य
थकान	स्नान
वायु के रोग	बस्ति (एनिमा), तेल
पित्त-रोग	विरेचन (दस्त), घी
कफ-रोग	वमन (उलटी), शहद
आयु की स्थिरता	ऑवला
दु:ख सहन एवं स्थिरता लाने के लिए	व्यायाम
वातज रोग, विशेषकर सन्धिगत वात (जोड़ों में वायु के कारण दर्द)	रास्ना
क़ब्ज़	हरीतकी (हरड़)
बवासीर, शूल	चित्रक (चीता) की जड़
हिचकी, श्वास, खाँसी व छाती में दर्द	पोखरमूल (पुष्करमूल)
रक्तपित्त (रक्तस्राव) स्तम्भन	अनन्नास (अनानास)

कुछ आहार–विहार व औषधियाँ और उनका प्रभाव

आहार (विहार) औषधि	प्रमुख प्रभाव
सन्तुलित भोजन	जीवन में स्थिरता
जल का सेवन	शरीर में समताओं को लाता है
दूध	सर्वश्रेष्ठ शक्तिदायी
नमक	भोजन में स्वाद उत्पन्न करने वालों में श्रेष्ठ
खट्टे पदार्थ	अच्छा स्वाद बढ़ाने वाला

Scanned by CamScanner

आहार (विहार) औषधि	प्रमुख प्रभाव
शहद	कफ-पित्त दोषों को शान्त करने वाला
घी	वात-पित्त दोषों को शान्त करने वाला
तिल का तेल	वात-कफ दोषों को शान्त करने वाला
वमन चिकित्सा	कफ को बाहर निकालने में श्रेष्ठ
विरेचन चिकित्सा	पित्त को बाहर निकालने में श्रेष्ठ
बस्ति चिकित्सा	वायु को बाहर निकालने में श्रेष्ठ
स्वेदन (सिकाई) चिकित्सा	शरीर में कोमलता लाने में श्रेष्ठ
शारीरिक व्यायाम	शरीर में दृढ़ता लाने में श्रेष्ठ
बकरी का दूध	क्षय और रक्तपित्त की शान्ति और दूध (स्तन्य) की मात्रा बढ़ाने में उत्तम
भैंस का दूध	नींद बढ़ाने में श्रेष्ठ
गन्ना	मूत्र वर्द्धक
जौ	पुरीष (मल) वर्द्धक
जामुन	वायु-वर्द्धक
भेड़ का दूध	कफ-पित्त वर्द्धक
उड़द	कफ-पित्त वर्द्धक
कुलत्थ	अम्लपित्त (एसिडिटी)
मदनफल	वमन कारक
त्रिवृत (निशोथ)	विरेचन के लिए उत्तम
अमरूद	मृदु (हल्के) विरेचन के लिए
स्नुही (थूहर)	तीव्र (अधिक) विरेचन
अपामार्ग	सिर के कफ आदि दोषों को निकालना
ऑवला	रसायन

Scanned by CamScanner

आहार (विहार) औषधि	प्रमुख प्रभाव
एरण्ड की जड़	पौरुषत्व की वृद्धि और प्रकुपित वात दोष शान्त करना
मुस्ता (नागरमोथा) श्योनाक	पाचन शक्ति की वृद्धि, वायु का अनुलोमन (नीचे की ओर गति) एवं स्तम्भन (दस्त आदि रोकना)
उदीच्य	शरीर में शीतलता, पाचन-शक्ति की वृद्धि वायु का अनुलोमन, उलटी और दस्त रोकना
बिल्व (बेल)	वात-कफ की शान्ति, पाचन- शक्ति वृद्धि, स्तम्भन
अतिविषा (अतीस)	वायु, पित्त, कफ तीनों दोषों की शान्ति, पाचन शक्ति की वृद्धि, वायु का अनुलोमन, स्तम्भन
कमल, उत्पल, कुमुद्	रक्तस्राव रोकना, स्तम्भन
दुरालभा	कफ-पित्त की शान्ति
प्रियंगु	तीव्र रक्तपित्त (रक्तस्राव) रोकना
कुटज (कूड़ा)	प्रकुपित कफ, पित्त और रक्त को शान्त व स्तम्भन
काश्मर्य (गम्भारी) पृश्निपर्णी,	रक्त-स्तम्भन को बढ़ाना (रक्त को रोके रखना) वायु- दोष की शान्ति और पाचन शक्ति एवं पौरुषत्व की वृद्धि
बला	वायु को शान्त करना, स्तम्भन एवं शारीरिक शक्ति को बढ़ाना
शालपर्णी	वायु आदि तीनों दोषों को शान्त करना वाजीकर
हींग	वायु-कफ को शान्त करना वायु का अनुलोमन (नीचे की ओर गति), पाचन शक्ति की वृद्धि, छेदन (बढ़े हुए मांस आदि को नष्ट करना)
अम्लवेत	वायु-कफ को शान्त करना, वायु का अनुलोमन करने वाला तथा पाचक

Scanned by CamScanner

आहार (विहार) औषधि	प्रमुख प्रभाव
जौ की राख (यवक्षार)	बवासीर का उपचार, विरेचन और वायु का अनुलोमन
तक्र (मट्ठा) का नियमित सेवन	ग्रहणी, सूजन, बवासीर और स्नेह चिकित्सा के गलत प्रयोग से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में उपयोगी
दूध, घी का सेवन	उत्तम रसायन
घी एवं सत्तू समान मात्रा	पौरुषत्व में वृद्धि
तिल के तेल से कुल्ले	दाँत मजबूत, भोजन में अच्छे स्वाद की अनुभूति
चन्दन का लेप	शरीर की दुर्गन्ध और जलन दूर होना
रास्ना, अगरु का लेप	शरीर का ठण्डापन दूर होना
लामज्जक, उशीर	जलन अधिक पसीना, त्वचा रोग में
कुष्ठ (कूठ) की मालिश और पुल्टिस	वायु का शमन
मुलैठी	अच्छी दृष्टि, अच्छे वाल और अच्छे कंठ की प्राप्ति, पौरुषत्व की वृद्धि, घाव त्वचा के रंग में सुधार
ताज़ी वायु स्नान	मूर्च्छा दूर, नवजीवन की प्राप्ति, थकावट दूर करने वाला
पाचन शक्ति के अनुसार भोजन	पाचन शक्ति में वृद्धि
आवश्यकता से अधिक भोजन	भयंकर अजीर्ण (अपच) की उत्पत्ति
समय पर भोजन	स्वास्थ्य का रक्षक
भोजन के पचने से पहले पुनः भोजन	ग्रहणी में विकार
अनियमित भोजन	पाचन-शक्ति की अनियमितता

Scanned by CamScanner

आहार (विहार) औषधि	प्रमुख प्रभाव
मल, मूत्र आदि वेगों को रोकना	सबसे अधिक स्वास्थ्य नाशक
मानसिक शान्ति	आरोग्य (निरोग रहने) का सबसे अच्छा उपाय
प्रसन्नता	सुख-कारक
उदासी (अप्रसन्नता)	पौरुष नाशक
शक्ति से अधिक परिश्रम	सबसे अधिक रोग-कारक और आयुविनाशक
ब्रह्मचर्य	आयु-वर्द्धक
व्यभिचार	आयु-नाशक
स्त्री के मासिक धर्म के दिनों में मैथुन	सबसे अधिक अपवित्र एवं रोगकारक कार्य
शोक	रोग वर्धक

Scanned by CamScanner

शरीर की अवस्थाएं और रसायन–चिकित्सा

हमारे शास्त्रों ने मानव का जीवन 100 वर्ष का माना है। स्वस्थ और प्रसन्न जीवन के लिए निम्नलिखित दस गुणों को आवश्यक माना गया है:

1. बाल्य	आयु की कोमलता
2. वृद्धि	शरीर में वृद्धि
3. छवि	कान्ति या तेज
4. मेधा	विवेक या विचार की शक्ति
5. त्वक्	त्वचा की कोमलता
6. दृष्टि	देखने की शक्ति
7. शुक्र	जीवन - शक्ति
8. विक्रम	साहसिक कार्य करने की शक्ति
9. बुद्धि	ज्ञान, उचित अनुचित विचार की शक्ति
10. कर्मेन्द्रिय	कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) में कार्य करने की क्षमता

ऋषियों का मानना है कि इन गुणों के अभाव में मनुष्य का जीवन प्रसन्नता से युक्त नहीं हो सकता। परिणामत: उसका शरीर अनेक प्रकार के रोगों का शिकार होने लगता है।

मनुष्य के 100 वर्ष के जीवन को निम्नलिखित भागों में बाँटा गया है:

1. **बाल अथवा बाल्यावस्था** : जन्म से लेकर 16 वर्ष की आयु तक।
2. **मध्य अथवा यौवन अवस्था** : 17 से 60 वर्ष की आयु तक।

इसे तीन भागों में बांटा गया है-

1. परिवर्तन काल	2. यौवन काल	3. सर्व सम्पूर्णता
(17 से 20 वर्ष आयु तक शरीर के सभी धातुओं में तेज़ी से वृद्धि)	(21 से 40 वर्ष तक सभी धातु और इन्द्रिय बल, शक्ति और वीर्य से भरपूर)	(41 से 60 वर्ष तक अधिक वृद्धि नही परन्तु पहले बल, शक्ति और वीर्य की स्थिरता)

Scanned by CamScanner

3. **वृद्धावस्था** : 61 से 100 की आयु तक इस अवधि में शरीर की धातुओं का दिन प्रतिदिन शनैः - शनैः क्षय होता जाता है और अन्त में शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

जैसा कि ऊपर बताया जा रहा है कि 41-60 वर्ष की आयु में स्थिरता रहती है अर्थात् इस अवधि में मनुष्य का स्वास्थ्य पहले की तरह बना रहता है लेकिन ऐसी स्थिति तभी बनी रह सकती है जब वह पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक और सन्तुलित भोजन के स्वस्थवृत का पालन करे तथा मानसिक चिन्ताओं और परेशानियों से बचा रहे। इसके साथ ही आयुर्वेद में बताई गई दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि के अनुसार पथ्य-अपथ्य का समुचित पालन भी करता रहे अन्यथा वह अपने सामान्य स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है क्योंकि इस अवधि के दौरान शरीर के धातु-कोषों आदि में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। थोड़ी सी भी असावधानी से स्वास्थ्य बिगड़ सकता है। सामान्यतः इस आयु में मनुष्य की विचारधारा और क्रियाएं अनेक क्षेत्रों में बिखरी रहती हैं। निर्णय लेने और समझ-बूझ की शक्ति तीव्र हो जाती है। इस तरह मानसिक विचारों और क्रिया क्षेत्र के विरुद्ध जाने से नींद पहले की भाँति स्थिर नहीं रह पाती। सम्भोग शक्ति की क्षमता कम हो जाती है। अतः अधिक सम्भोग करने से शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगता है। चेहरे व शरीर की त्वचा पर झुर्रियां दिखाई देना, बालों का सफेद होना, गंजापन आदि बुढ़ापे के लक्षण भी इस समय प्रकट होने लगते हैं। पाचन-शक्ति और भूख भी पहले की अपेक्षा कम हो जाती है अतः इसको ध्यान में रख कर ही भोजन आदि खाना चाहिए। अधिक धूप, ठण्ड, गर्मी या वर्षा आदि से व्यक्ति बीमार पड़ सकता है, अतः इस आयु में इनसे बच कर रहना चाहिए। इस अवधि की एक विशेषता यह भी है कि शरीर में वसा या चर्बी अधिक जमा होने लगती है। यह तत्व अधिकतर पेट, चेहरे, गर्दन एवं नितम्बों में जमा होने लगते हैं। यही कारण है कि इन अंगों में माँस अधिक मात्रा में बढ़ जाता है और व्यक्ति स्थूलकाय दीखने लगता है। यह लक्षण चयापचय क्रिया की कमज़ोरी को दर्शाता है।

स्पष्ट है कि धातुओं के पाचन से शरीर को जितनी ऊर्जा पहले मिलती थी, वह अब कम मात्रा में मिल रही है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य यदि अपना आचरण और खान-पान निर्धारित करे, तो 60 वर्ष की उम्र तक अपने स्वास्थ्य को बनाये रख सकता है।

60 वर्ष की आयु के बाद का समय तो मनुष्य के शरीर क्षय का समय है। बहुत प्रयत्न करने पर भी व्यक्ति बुढ़ापे के लक्षणों से नहीं बच सकता। चयापचय की शक्ति तो निर्बल हो ही जाती है, इसके सम्पूर्ण शरीर में अवांछित तत्व (waste products) भी अधिक मात्रा में बनने व जमा होने लगते हैं। अच्छा और पैष्टिक आहार लेने और पथ्य आहार विहार के सेवन के बावजूद भी शरीर अधिकाधिक दुबला-पतला होने लगता है। दृष्टि में अनेक तरह के परिवर्तन आने लगते हैं। उनमें आवश्यकता से अधिक चूना जमा होने की क्रिया (calcification) होने लगती है। जोड़ों के भीतर दोनों हड्डियों के

Scanned by CamScanner

किनारों के बीच पाया जाने वाला श्लेष्मल द्रव (Synovial fluid) भी सूखने लगता है। परिणामस्वरूप उनमें रूखापन और कठोरता आ जाती है, पहले जैसा लचीलापन नहीं रह जाता है। यही कारण है कि इस आयु में गठिया, सन्धि-शोथ (जोड़ों में सूजन), ग्रीवागत सन्धिवात (Cervical spondylitis) आदि अनेक प्रकार के रोगों का आक्रमण प्राय: हो जाता है। नाड़ी संस्थान (नर्वस सिस्टम) भी बहुत शिथिल हो जाता है, अत: ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाता। परिणामत: सुनने की व स्मरण की शक्ति भी कम हो जाती है। धमनियों में लचीलापन और कोमलता की स्थिति समाप्त होने लगती है। शरीर के महत्वपूर्ण अंग (जैसे- यकृत, गुर्दे, हृदय आदि) की कार्य शक्ति भी पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। इन सब कारणों से उच्च रक्तचाप (high blood- pressure), अनिद्रा (Insomnia) प्रोस्टेट ग्रन्थि में वृद्धि आदि रोग भी आक्रमण कर देते हैं। अग्न्याशय (pancreas) ग्रन्थि के ठीक प्रकार से कार्य न करने के कारण मधुमेह (Diabetes) भी हो सकता है। दुर्भाग्यवश यदि कोई हड्डी टूट जाती है तो वह भी ठीक प्रकार से जुड़ नहीं पाती। आँखों के लेंन्स अपारदर्शी हो जाते हैं अर्थात् मोतियाबिन्द हो जाता है। जबड़े कमजोर होने से दाँत हिलने और गिरने लगते हैं संक्षेप में, इस आयु में व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार से असमर्थ हो जाता है। इससे वह स्वयं अपने लिए, परिवार एवं राष्ट्र के लिए बोझ बन कर रह जाता है। उसका जीवन स्वयं उसके लिए भी नीरस हो जाता है।

इस तरह की दयनीय अवस्था में आयुर्वेद में वर्णित 'रसायन चिकित्सा' विशेष रूप ये उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि इस चिकित्सा का उद्देश्य है- शरीर में चयापचय क्रिया को समान्य बनाये रखना, जिससे धातु कोषों (tissue cells) की संख्या और शक्ति में वृद्धि होती है तथा ये कोष पुन: जीवनीय शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। रसायन चिकित्सा के प्रयोग से नाड़ी- संस्थान सबल बनता है। अंगों व सन्धियों में चिकनाहट, कोमलता और लचक बनी रहती है। मानसिक सन्तुलन स्थिर रहता है। यह चिकित्सा शरीर को वृद्ध अवस्था में होने वाले विकारों, दुष्प्रभावों और रोगों से छुटकारा प्रदान करती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो औषधि या चिकित्सा शरीर को वृद्ध-अवस्था के विकारों और अन्य रोगों से बचाये रखती है, वह रसायन चिकित्सा कहलाती है।

इस चिकित्सा के प्रयोग से व्यक्ति पहले के समान ही आंखों से देख व कानों से सुन सकता है। चेहरे पर कान्ति बनी रहती है और त्वचा का रंग पहले जैसा ही रहता है। संक्षेप में रसायन चिकित्सा से ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की शक्ति बनी रहती है। मनुष्य एक प्रकार से जीवन भर युवा रहता है। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार से बलशाली होता है। यह रसायन-चिकित्सा स्वस्थ और शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों के समाज का निर्माण करने में सहायक सिद्ध होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस चिकित्सा का विशेष उपयोग और महत्व है।

Scanned by CamScanner

रसायन चिकित्सा के प्रयोग का उचित समय

'रसायन-चिकित्सा' का मुख्य उद्देश्य वृद्धावस्था के कुप्रभावों और रोगों से मुक्त रखना है'। वृद्ध होने से पहले ही अर्थात् युवावस्था या प्रौढ़ावस्था से ही इस चिकित्सा का प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिए। इस समय व्यक्ति की पाचन एवं चयापचय क्रियाएं समान्य रूप से कार्य कर रही होती है, अतः औषधि का पूरा लाभ प्राप्त होता है। रसायन-चिकित्सा का प्रयोग करने से पहले निम्नलिखित दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है:

1. शरीर की शुद्धि अर्थात् वमन् (उलटी), विरेचन (दस्त) आदि क्रिया का प्रयोग करके शरीर से मल-पदार्थो को बाहर निकालना अति आवश्यक है, शरीर की शुद्धि के बिना रसायन-चिकित्सा से पूरा लाभ नही मिल सकता है।
2. स्वस्थ चिन्तन और आचरण अर्थात् प्रयोगकर्ता को चाहिए कि वह ऐसा सोचे, बोले तथा आचरण करें जो एक अच्छे और स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक हो। इस प्रकार के चिन्तन और आचरण से शरीर पर औषधि के बिना भी रसायन का प्रभाव पड़ता है। उसका जीवन स्वस्थ और जीवन्त बनता है। रसायन सेवी का जीवन आचरण और दैनिक जीवन शुद्ध सात्विक और संयम पूर्ण होना चाहिए। उसको सभ्य सुसंस्कृत समाज में ही उठना-बैठना चाहिए।

◊ रसायन चिकित्सा के लिए उपयुक्त व्यक्ति

रसायन चिकित्सा के प्रयोग के लिए वही व्यक्ति योग्य माना जाता है, जिसमें उच्च चारित्रिक गुण पाये जाते हैं जैसे -

- ❖ व्यक्ति सत्य बोलने वाला तथा क्रोध न करने वाला हो।
- ❖ किसी दूसरे को दुःख न देने वाला हो।
- ❖ आवश्यकता से अधिक श्रम (थकावट) और तनाव से दूर रहे।
- ❖ मादक-द्रव्यों के सेवन और मैथुन से परहेज़ रखने वाला।
- ❖ हर स्थिति में सामान्य रहने वाला।
- ❖ स्पष्ट बोलने वाला।
- ❖ पवित्र मन्त्रों का जप करने वाला, स्वच्छ रहने वाला।
- ❖ सूझ-बूझ अर्थात् विवेक की शक्ति रखने वाला।
- ❖ दान और भिक्षा देने वाला तथा धार्मिक आचार विचार में निपुण।
- ❖ देवता, ब्राह्मण, गुरुजनों, वृद्धों और गौओं की सेवा सत्कार करने वाला।

Scanned by CamScanner

- अहिंसा का आचरण करने वाला, दयालु और सदाचार से युक्त।
- नियमित रूप से दूध, घी का सेवन करने वाला।
- अहंकार और अभिमान से रहित आत्म-संयमी (मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला), अपने से बड़ों, देवताओं और ईश्वर पर विश्वास रखने वाला, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मनोवृत्ति रखने वाला।
- धार्मिक तथा पवित्र पुस्तकों का अध्ययन करने वाला।
- किसी भी प्रकार के चारित्रिक दोष से रहित।
- पथ्य व हितकर पदार्थो का सेवन करने वाला, तथा देश, स्थान और ऋतु के अनुसार औषधि की मात्रा एवं सेवन-विधि का ज्ञान रखने वाला।

इन उपर्युक्त एवं इसी प्रकार के अन्य गुणों से युक्त व्यक्ति मानसिक रूप से भी शान्त और स्थिर होता है। अत: इससे उसे चिकित्सा के गुणों में वृद्धि होने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

प्रयोग विधि :

आयुर्वेद के अनुसार इस रसायन चिकित्सा को निम्नलिखित दो प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता है :-

1. **कुटी प्रावेशिक** : यह वह विधि है, जिसमें रसायन-चिकित्सा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की कुटिया (Cottage) में ही सभी प्रकार के प्रबन्ध करके रहना होता है। इस प्रकार के प्रयोग में व्यक्ति अपने व सामान्य कार्य, व्यवहार, नौकरी इत्यादि नहीं कर सकता है।

   आज कल इसे चिकित्सालय के अन्तरंग विभाग (Indoor Department) में भरती होकर चिकित्सा कराये जाने के रूप में समझ सकते है।

2. **वातातपिक** : इस विधि में व्यक्ति अपने दैनिक और सामान्य कार्य व्यवहार करता हुआ ही रसायन- चिकित्सा का प्रयोग करता है। औषधि के सेवन के साथ-साथ पथ्य आहार-विहार का ही सेवन करना होता है।

सामान्य व्यक्ति के लिए दूसरे प्रकार की विधि ही उचित रहती है। इसे बहिरंग विभाग (Outdoor Department) में चिकित्सा करना कह सकते है।

♦ अपथ्य आहार विहार :

रसायन- चिकित्सा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को क्षार अम्ल व कटु पदार्थो, तेल, दूषित और बासी पदार्थो, खट्टी कौंजी, नीवार, कोदों, अनाज, पनीर, दही तथा अधिक वसा वाले पदार्थो का सेवन नही करना तथा मैथुन, रात को अधिक समय तक जागना और चिन्ता, भय, शोक, क्रोध आदि मानसिक विकारों से दूर रहना चाहिए।

♦ रसायन औषधियाँ :

रसायन- चिकित्सा के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थों में अनेकों औषधियों का उल्लेख है। इनमें आँवला,

Scanned by CamScanner

हरड़, बहेड़ा, गिलोय, ब्राह्मी, पुनर्नवा, मण्डूकपर्णी, मुलैठी, शंखपुष्पी और वायविडंग प्रमुख हैं। कुछ विषैले औषधि-द्रव्य इस दृष्टि से उपयोगी माने गये हैं, जैसे- भिलावा, वत्सनाभ आदि परन्तु इनका प्रयोग करने से पहले कुछ विशेष प्रक्रियाओं द्वारा इन्हें शुद्ध करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पारा, गन्धक, शिलाजीत और स्वर्ण जैसे खनिज-पदार्थो को भी रसायन के रूप में बहुतायत से प्रयोग में लाया जाता है। इन्हें भी प्रयोग में लाने से पहले अनेक प्रकार की विधियों से शुद्ध कर लिया जाता है। इन्हें इस योग्य बना लिया जाता है, जिससे ये शरीर के रस, रक्त आदि धातुओं में आसानी से घुल-मिल जाएँ और उनके अनुकूल बन जाएँ। शिलाजीत के अतिरिक्त अन्य शेष उपविष द्रव्यों का प्रयोग अकेले न करके शास्त्रीय योगों में डाल कर ही किया जाता है। रस-भस्मों का प्रयोग भी इसी प्रकार होता है।

प्रत्येक द्रव्य को रसायन के रूप में प्रयोग करने की विधि, समय, मात्रा, तैयार करने का तरीक़ा, प्रयोग के दौरान पथ्य और परहेज़ आदि अलग-अलग होते हैं जिनका वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। अतः शास्त्रानुसार और योग्य चिकित्सक की देख-रेख में ही इनका प्रयोग करना चहिए।

इन स्वतन्त्र औषधि-द्रव्यों के अतिरिक्त अनेक द्रव्यों के मिश्रण से तैयार कुछ योग भी हैं, जिनका प्रयोग रसायन के रूप में किया जाता है, जैसे- ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, आमलकी रसायन, त्रिफला रसायन आदि। इनमें 'च्यवन-प्राश' बहुत लोकप्रिय योग है। रसायन-चिकित्सा के रूप में इसका संक्षिप्त परिचय उपयोगी रहेगा।

♦ च्यवन-प्राश :

च्यवन-प्राश को औषधि के रूप में कम, परन्तु पौष्टिक आहार (टॉनिक) के रूप में अधिक माना जाता है।

मात्रा और प्रयोग विधि :

च्यवन-प्राश से रसायन का प्रभाव प्राप्त करने के लिए इसे दिन में दो बार खाली पेट में 2-2 बड़े चम्मच की मात्रा (कुल मात्रा 30 ग्राम) में सेवन करना चाहिए। इसके साथ गाय का दूध लेना चाहिए। एक छोटे चम्मच से शुरू करके धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढ़ानी चाहिए। पूरा लाभ प्राप्त करने के लिए इसका सेवन लम्बे समय तक करना होता है। इसकी मात्रा और समय की अवधि प्रयोग करने वाले की आयु और उसकी शारीरिक व मानसिक अवस्था पर निर्भर करती है। यह औषधीय योग बिल्कुल विषैला नहीं है। अतः किसी प्रकार की भी हानि नहीं होती है। हाँ, यदि इसकी मात्रा एकदम बढ़ा दी जाए, तो कभी-कभी पाचन-शक्ति दुर्बल हो जाने से भूख कम हो जाती है।

♦ पथ्य और अपथ्य :

च्यवन-प्राश के साथ दूध और दूध से बने पदार्थो का तथा गाय के घी का सेवन करने से इसका औषधीय प्रभाव बढ़ जाता है, परन्तु जो कफ के रोगी है या जो स्थल काय (मोटे) है उनको दुध के साथ च्यवन-प्राश का सेवन नही करना चाहिए। इनमें खट्टे पदार्थो, जैसे- दही आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। पाचन शक्ति तीव्र होने पर, मोटापा न होने पर प्रयोगकर्ता को वसा युक्त एवं कार्बोहाइड्रेट्स वाले पदार्थो का सेवन भी अधिक मात्रा में

Scanned by CamScanner

करना चाहिए। समुद्री नमक के स्थान पर सैन्धव नमक का प्रयोग औषधि के प्रभाव को बढ़ा देता है। रसायन के रूप में इसका तथा अन्य किसी औषधि का प्रयोग करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इससे अधिक और शीघ्र लाभ की प्राप्ति होती है।

च्यवन-प्राश का रसायन के रूप में प्रयोग करते हुए खट्टे पदार्थो का सेवन नहीं करना चाहिए। नमक का प्रयोग भी कम मात्रा में करना चाहिए। जहाँ तक हो सके प्रयोगकर्ता को चिन्ताओं और परेशानियों से स्वयं को दूर रखना चाहिए। मैथुन से परहेज करना लाभकारी होता है।

♦ रसायन के रूप में हरड़

हरड़ भी एक अच्छा रसायन-द्रव्य है। हरड़ का बीज निकाल कर फल को प्रयोग में लाया जाता है। इस फल का चूर्ण बनाकर निम्न प्रकार से प्रयोग में लाने से रसायन का लाभ प्राप्त होता है:

ऋतु	अनुपान
वर्षा	सेधा नमक
शरद्	चीनी
हेमन्त	सोंठ का चूर्ण
शिशिर	पिप्पली का चूर्ण
बसन्त	शहद
ग्रीष्म	गुड़

प्रत्येक ऋतु में एक छोटा चम्मच (5 ग्राम) हरड़ का चूर्ण समान मात्रा में (ऊपर लिखित अनुपानों के साथ) लेना चाहिए। रोगी के कोष्ठ के अनुसार हरड़ की मात्रा को कम या अधिक किया जा सकता है। इस प्रकार रसायन चिकित्सा मानव जाति के लिए आयुर्वेद की अनूठी देन है।

अन्य किसी भी चिकित्सा-पद्धति में इस प्रकार हानि रहित रसायन- चिकित्सा उपलब्ध नहीं है। इसका प्रयोग करके जहाँ मनुष्य स्वयं व्यक्तिगत रूप से पूर्णत: स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है, वहीं बुढ़ापे की समस्याओं से रहित सुन्दर और स्वस्थ समाज का भी निर्माण कर सकता है।

Scanned by CamScanner

शारीरिक बल

शरीर के स्वास्थ्य और बल का अटूट सम्बन्ध है। शरीर के स्वस्थ रहने को ही दूसरे शब्दों में बलशाली शरीर कहा जा सकता है। छोटे से छोटे कार्य को करने के लिए भी बल की आवश्यकता होती है। बल अथवा शक्ति के बिना तो जीवन की विभिन्न समस्याओं का सामना करना तो दूर, सामान्य क्रियाओं को करना भी कठिन हो जाता है। अतः बल या शक्ति को शरीर का बहुत महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

किसी मनुष्य में कितना बल है, इसका अनुमान हम उसके शरीर को देख कर नहीं लगा सकते। एक मोटे शरीर वाले व्यक्ति में यह आवश्यक नहीं कि बल भी अधिक हो और इसलिए यह भी आवश्यक नहीं कि दुबले-पतले शरीर वाले में बल अथवा शक्ति की कमी हो। तो प्रश्न उठता है कि यह बल अथवा शक्ति क्या है? और मनुष्य में उसका अनुमान कैसे लगाया जा सकता है? इसका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है:

♦ शक्ति अथवा बल क्या है?

शरीर में रस, रक्त आदि धातुओं का अन्तिम सार बल अथवा शक्ति कहलाता है। इसी शक्ति को ओज भी कहते हैं। बल के कारण ही मांसपेशियों में स्थिरता और पुष्टि आती है जिससे मनुष्य सभी कार्य साहसपूर्वक कर सकता है। स्वर (आवाज़) की गम्भीरता ओर त्वचा के रंग में निखार भी इसी ओज से प्राप्त किया जाता है। संक्षेप में, शरीर के बाहरी और आन्तरिक सभी अंग इसी बल के आधार पर ही अपने-अपने कार्य ठीक प्रकार से करने में समर्थ होते हैं इस बल का मूल आधार शरीर में पाये जाने वाले दो तत्व हैं, तेज और ओज। तेज और ओज क्या है? इनके बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करते हैं।

♦ ओज या ओजस्

यह शरीर का बहुत मूल्यवान तत्व है, जो जल महाभूत के गुण से भरपूर है, अतः सौम्य प्रकृति का है। यह स्निग्ध, शीतल, सफेद, द्रव व लचीला होता है। 'ओजस्' का आश्रय स्थान हृदय है। मनुष्य का जीवन इस तत्व के आश्रित है अर्थात् इसके आधार पर ही मनुष्य जीवित रहता है यह ओज पूरी तरह नष्ट हो जाए, तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

ओज रस, रक्त आदि सातों धातुओं का सार माना जाता है। चरक-संहिता के अनुसार, जिस प्रकार शहद की मक्खियाँ फूलों का सार ग्रहण करके शहद इकट्ठा करती है, उसी प्रकार शरीर में पाचक अग्नियाँ (पाचक या Enzymes) रस आदि धातुओं के सार से ओज को इकट्ठा करती है। यह लालिमा और पीलापन लिए हुए सफेद रंग का तत्व होता है। इसके गुण माने गये हैं- भारीपन, शीतलता, मृदुता, चिकनाहट गाढ़ापन (घनत्व), मधुरता, स्थिरता, चमकीलापन, चिपचिपाहट और श्वेतता (सफेदपन)। इसमें सभी छः रस पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड के समान ओज का निर्माण भी उष्ण (अग्नि) और शीतल (सोम या जल) दोनों प्रकार के गुणों के मेल से हुआ माना जाता है। इनमें सोम गुण वाला ओज सफेद तथा अग्नि

Scanned by CamScanner

गुण वाला ओज पीलापन लिए हुए लाल रंग का होता है। अग्नि गुण वाला ओज उत्तम प्रकार का माना जाता है। शरीर में इसकी कुल मात्रा कम हो जाए, तो इससे व्यक्ति को बहुत कष्ट होता है और उसकी हालत चिन्ताजनक हो सकती है जबकि पीलापन लिए हुए लाल रंग वाले ओज की मात्रा कम हो जाए, तो रोगी की मृत्यु निश्चित है।

चूंकि कफ और ओजस के गुणों में समानता है, अत: जब शरीर में कफ अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है, तो यह ओज का निर्माण करता है इससे बल में वृद्धि होती है परन्तु जब यह कफ विकृत हो जाता है, तो यह शरीर का मल बन जाता है तथा अनेक रोगों को जन्म देता है।

यइ एक प्रकार का रक्षित बल है। इसे रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) भी कह सकते हैं। इस क्षमता या बल की सदैव रक्षा करनी चाहिए। यह क्षमता या बल ही व्याधि को नष्ट करने में सहायक होता है। बिना इस बल के औषधि रोग निवारण में अक्षम रहती है। जिस व्यक्ति का यह बल नष्ट हो जाता है वह अचिकित्स्य होता है।

"रक्षेद् बलं चापि नरस्य नित्यं तद्रक्षितं व्याधि बलं निहन्ति।"

सु. चि. 18/3

सम्प्रति जिस रोग को एड्स कहा जाता है वह यही ओज क्षय है।

तेज और ओज से बने बल को तीन भागों में बाँटा गया है - उत्तम, मध्यम और अधम। इस बल को दूसरे आधार पर भी निम्नलिखित प्रकार का माना गया है :-

1. **सहज बल** (Natural) - जो बल मनुष्य को उसकी प्रकृति से ही प्राप्त होता है। यह रस से उत्पन्न बल है, जो सबसे उत्तम प्रकार का है।
2. **कालकृत बल** (Periodic) - जो बल उम्र के अलग-अलग पड़ावों पर प्राप्त होता है।
3. **युक्तिकृत बल** (Acquired) - उचित खान-पान, आचार-व्यवहार और औषधियों के रस से प्राप्त बल।

♦ बलशाली व्यक्ति के लक्षण

जो व्यक्ति रोग से रहित है, जिसमें बुढ़ापे के लक्षण कम से कम अथवा नहीं पाये जाते; जो अपने कार्य को रुचि से एवं कुशलपूर्वक करता है, आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त है तथा जिसका शरीर गठीला और हृष्ट-पुष्ट है, वह व्यक्ति बलशाली और स्वस्थ माना जाता है।

प्रश्न उठता है कि गठीला या हृष्ट-पुष्ट शरीर कौन सा माना जाए? जो मोटा है या जो हृष्ट-पुष्ट है? क्या पतले शरीर वाला स्वस्थ व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट नहीं है? आदि-आदि। आयुर्वेद इन प्रश्नों का उत्तर देता हुआ कहता है- वह व्यक्ति जिसकी हड्डियाँ शरीर में उचित स्थान पर ठीक तरह से बँटी है, जिसके जोड़ अच्छी तरह से गठे हुए और स्थिर हैं, जिसके सभी अंगों में मांस समान रूप से बँटा है, जो बलयुक्त और कार्य करने में समर्थ है, वह हृष्ट-पुष्ट एवं संगठित शरीर वाला व्यक्ति माना जाता है। शारीरिक दृष्टि से इस प्रकार का व्यक्तित्व और इसमें पाया जाने वाला बल उत्तम प्रकार का माना जाता है। जिस

Scanned by CamScanner

व्यक्ति का शरीर बहुत अधिक भारी है तथा कार्य करने का सामर्थ्य कुछ कम है, वह शारीरिक गठन और बल की दृष्टि से मध्यम प्रकार है। जिसका शरीर बिल्कुल भी गठित नहीं होता वह हीन बल या निम्न बल का माना जाता है।

इसके विपरीत, जो व्यक्ति बहुत अधिक रक्तस्राव, मृत्यु, दुर्घटना जैसी दु:खद और शोकपूर्ण घटनाओं एवं भयानक दृश्यों को देखकर मूर्च्छित हो जाए, अथवा किसी रोग का शिकार हो जाए अथवा मरणासन्न हो जाए वह मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार से दुर्बल माना जाता है। चाहे वह देखने में कितना ही सुगठित और बलशाली क्यों न हो।

♦ बल के विकार

शरीर में भारीपन या शिथिलता,/ आलस्य,/ अंगों का सुन्न होना,/ नींद,/ थकावट, कार्य करने की कम क्षमता, वायु से उत्पन्न सूजन, शरीर के मांस में कमी, बेहोशी आना, ग्लानि (ऐसा अनुभव होना जैसे शरीर कपड़े से ढका है), उदासीनता, जड़ता, /व्यर्थ में बोलते रहना/ ये सब बल में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के विकार हैं।

बल में इस प्रकार के विकार आने पर रोगी के बल के अनुसार ही उसकी चिकित्सा की जानी चाहिए। उसे शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्या, दीन भावना आदि मानसिक विकारों और शारीरिक व्यायाम व सम्भोग से दूर रखना चाहिए। ऐसे रोगी को अपने शारीरिक बल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। राजयक्ष्मा (टी.बी.) और पुराने बुखार में जो औषधि एवं आहार-विहार का सेवन आदि बताया जाता है उसका प्रयोग इस अवस्था में भी लाभकारी है। रसायन और वाजीकर (शुक्र बढ़ाने वाली) चिकित्सा के साथ-साथ वायु नाशक तेलों को भी प्रयोग में लाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

अत्यधिक मोटापा और दुबलापन

बल के विषय में विचार करते हुए देखा गया है कि जिन व्यक्तियों के शरीर के विभिन्न अंगों में मांस समान रूप से विभक्त तथा हड्डियाँ और उनके जोड़ भली प्रकार से बँटे हुए, गठित और स्थिर होते हैं एवं शरीर बलशाली होता है, वे व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट और सबसे श्रेष्ठ माने जाते है। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों का शरीर बहुत अधिक मोटा या बहुत अधिक पतला होता है वे विशेष रूप से देखने में तो भद्दे लगते ही हैं, बल की दृष्टि से भी हीन (कमज़ोर) होते हैं।

1. अतिस्थूल अथवा मोटे व्यक्ति की परिभाषा, निदान

जिन व्यक्तियों के नितम्ब, पेट और छाती में बहुत अधिक चर्बी और मांस जमा हो जाता है और ये अंग चलने पर हिलते रहते है अर्थात् गति करते रहते है, तथा शरीर की वृद्धि के हिसाब से जिनमें बल एवं उत्साह नहीं होता, वे अति स्थूल या बहुत मोटे माने जाते है।

ऐसे व्यक्तियों के शरीर के स्रोतों में चर्बी के जमा होने से रुकावट पैदा हो जाती है। इससे वायु विशेष रूप से कोष्ठ में गति करने लगती है और पाचक-अग्नि उत्तेजित हो जाती है। व्यक्ति जो कुछ भी खाता है, वह बहुत जल्दी पच जाता है और भूख बढ़ जाती है। भूख लगने पर यदि वह न खाये, तो अनेक प्रकार के भयंकर रोगों का शिकार हो सकता है। इस तरह उसके अन्दर पाचक-अग्नि के रूप में पित्त और वायु दोनों में विकार पैदा हो जाता है और शरीर में चर्बी ग़लत प्रकार से बढ़ने लगती है। इससे वायु के कारण से पैदा होने वाले अनेक प्रकार के भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं।

बहुत मोटे व्यक्तियों की आयु (जीवन) अपेक्षाकृत कम और काम करने की क्षमता धीमी होती है। वे कमज़ोर होते है, पसीना अधिक आता है, भूख और प्यास अधिक लगती है, उनके शरीर से दुर्गन्ध आती है तथा सम्भोग करने में उन्हें कठिनाई होती है।

♦ कारण

मोटापे का प्रमुख कारण है- अधिक मात्रा में खाना, भारी, मीठे, ठण्डे और चिकने खाद्य-पदार्थों का सेवन, शारीरिक कार्य की कमी, सम्भोग न करना, दिन को सोना, बहुत अधिक प्रसन्न रहना, मानसिक शक्ति का अभाव तथा वंशानुगत (खानदानी) प्रभाव। इन सब कारणों से शरीर में दूसरी धातुओं (रस, रक्त आदि) की अपेक्षा चर्बी अधिक मात्रा में बढ़ती है। चर्बी के ढीलेपन, भारीपन और कोमलता के कारण उसके गति और कार्य करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शुक्र की मात्रा कम होने से तथा शुक्रवह स्रोत में चर्बी के कारण रुकावट होने से मैथुन क्रिया करने में परेशानी होती है। चर्बी में विकार के कारण, अधिक पसीना आने से शरीर से अधिक दुर्गन्ध आती है। चूंकि धातु सन्तुलन बिगड़ जाता है अतः दुर्बलता आ जाती है। चर्बी के साथ कफ मिला होता है तथा चर्बी

Scanned by CamScanner

तरल और भारी होती है अत: मोटा व्यक्ति शारीरिक श्रम को सहन नहीं कर सकता। इससे शरीर में पसीना भी बहुत आता है। पाचन शक्ति के तेज़ होने से तथा शरीर में वायु की अधिक मात्रा में होने से मोटे व्यक्ति को भूख और प्यास भी अधिक लगती है।

2. अतिकृश अथवा पतले व्यक्ति–परिभाषा, लक्षण

अत्यधिक पतले (दुर्बल) व्यक्ति के शरीर में नितम्ब, पेट और गर्दन एकदम सूखे हुए (पतले) होते हैं। उसकी त्वचा पर धमनियों का जाल सा बिछा दिखाई देता है। उसकी हड्डियों के जोड़ सर्वदा स्पष्ट नजर आते हैं। ऐसा व्यक्ति हड्डियों और चमड़ी का ढाँचा प्रतीत होता है। बहुत पतले व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं होती कि अधिक शारीरिक श्रम, अधिक मात्रा में भोजन, भूख, प्यास, रोग, कष्ट और औषधियों के प्रभाव को सहन कर सके। वह अधिक सर्दी या अधिक गर्मी को सहन नहीं कर सकता और न ही अधिक सम्भोग कर सकता है। इस प्रकार के दुर्बल व्यक्ति अधिकतर तिल्ली, खाँसी, साँस फूलना, गुल्म, बवासीर तथा पेट व छाती आँत के रोगों से पीड़ित रहते हैं।

♦ अतिकृशता के कारण

अधिक पतलेपन के मुख्य कारण हैं- रूखा खान-पान, उपवास, कम मात्रा में खाना, शोक, चिन्ता, क्रोध करना, स्वाभाविक वेगों को रोकना, कम सोना, अधिक स्नान करना, वमन- विरेचन आदि संशोधन चिकित्सा की अधिकता, रूक्ष द्रव्यों से उबटन, बुढ़ापा, वंश गत प्रभाव और ज्यादातर रोग ग्रस्त रहना।

3. अतिकृशता की अपेक्षा अतिस्थूलता अधिक हानिकर

जैसा कि उल्लेख किया गया है- अधिक मोटापा व अधिक दुबलापन, दोनों ही अवस्थाएँ हानिकारक हैं क्योंकि दोनों प्रकार के व्यक्ति किसी न किसी रोग से पीड़ित रहते हैं और दोनों को ही उपचार की एक जैसी आवश्यकता होती है परन्तु इन दोनों में मोटापे की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक बुरी होती है। कारण, रोग होने पर मोटे व्यक्ति को अधिक कष्ट होता है तथा मोटे व्यक्ति की चिकित्सा भी पतले की अपेक्षा अधिक कठिन होती है क्योंकि ऐसे व्यक्ति के लिए इस प्रकार की चिकित्सा होनी चाहिए, जो (चर्बी), पाचक-अग्नि और वायु को नष्ट करे परन्तु बृहण प्रकार की चिकित्सा करने से जहाँ पाचक-अग्नि और वायु शान्त होते हैं, वहीं चर्बी बढ़ जाती है। इसके विपरीत, लंघन (दुर्बल करने वाली) चिकित्सा करने से चर्बी तो घटती है, परन्तु पाचक-अग्नि और वायु की वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, बृहंण चिकित्सा करने से मोटे व्यक्ति में मोटापा और अधिक बढ़ता है, और लंघन चिकित्सा करने पर उसकी पाचन-शक्ति तेज़ होने के कारण वह उसको सहन नहीं कर पाता।

Scanned by CamScanner

4. अतिस्थूलता और अतिकृशता के लिए संक्षिप्त चिकित्सा सूत्र

अतिस्थूलता या मोटापे के लिए - गुरु और अपतर्पण पदार्थ
अतिकृशता या दुबलेपन के लिए - लघु और सन्तर्पण पदार्थ

मोटे व्यक्ति में भारीपन वाले पदार्थ पाचक अग्नि को शान्त करते है, तो अपतर्पण गुण के कारण ऐसे चर्बी को कम करने में सहायक होते है। शहद, जौ में ये दोनों गुण पाये जाते हैं। लघु और अपतर्पण करने वाले पदार्थो (जैसे- प्रियंगु, शालक) को अन्य द्रव्य मिला कर भारी (गुरु) भी बनाया जा सकता है और स्थूल व्यक्ति को दिया जा सकता है। जैसे- जौ, गेंहूँ आदि को तेल, तक्र आदि मिला कर पकाने से ये स्थूल व्यक्ति के लिए उपयोगी हो जाते है।

इसी प्रकार पतले व्यक्ति को लघु और सन्तर्पण (बल बढ़ाने वाले) पदार्थ देने से उसके शरीर की वृद्धि भी होती है और उसकी जठराग्नि भी तेज़ होती है और सन्तर्पण होने से वे शरीर को पुष्टि भी प्रदान करते है। शालि धान्य साठी आदि इसके अच्छे उदाहरण है। दुर्बल व्यक्ति को गुरु (भारी) एवं पौष्टिक पदार्थ भी दिये जा सकते है परन्तु संस्कार (पकाने की विधि) द्वारा उन्हें हलका बना कर। जैसे-हीग, अजवायन, सोंठ आदि मिला कर भारी पदार्थो को हलका बनाया जा सकता है। इसी प्रकार जौ या गेंहू को घी, दूध आदि के साथ पकाया जाए, तो ये पौष्टिक हो जाएंगे और कृश व्यक्ति के लिए भी उपयोगी रहेंगे।

♦ अतिस्थूलता के लिए चिकित्सा

स्थूलता अथवा मोटापे को दूर करने के लिए लंघन अथवा अपतर्पण चिकित्सा की जानी चाहिए। लंघन चिकित्सा वह चिकित्सा है जो शरीर में लघुता (हलकापन) लाती है तथा जिससे शरीर में चर्बी की कमी होने से वज़न कम होता है। इस चिकित्सा में प्रयोग की जाने वाली औषधियों, आहार और साधनों में तेजस (अग्नि), वायु और आकाश महाभूत की प्रधानता होती है।

इस आधार पर लंघन के लिए लघु, उष्ण, चिपचिपाहट से रहित शुष्क (सूखी), रूक्ष (रूखी), सूक्ष्म, तरल तथा कठोर औषध-द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार की चिकित्सा के लिए निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया जा सकता है-

1) संशोधन चिकित्सा - वमन (उलटी), विरेचन (दस्त), एनिमा, नस्य (नाक में औषधियाँ डाल कर) द्वारा शरीर में जमा दोषों मलों को बाहर निकालना।
2) उपवास - कम मात्रा में और हलका भोजन करना।
3) प्यास पर नियन्त्रण करना।
4) हवा और धूप का सेवन।
5) शारीरिक व्यायाम
6) पाचक औषधियों का सेवन करना।

लंघन चिकित्सा के अतिरिक्त, निम्न प्रकार की चिकित्सा का प्रयोग भी स्थूलता को दूर करने के लिए किया जाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

1. वायु, कफ और चर्बी को नष्ट करने वाले खान-पान का प्रयोग,
2. रूक्ष और गर्म द्रव्यों के साथ एनिमा,
3. द्रव्यों से उबटन लगाना,
4. गिलोय, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा और ऑवला का सेवन,
5. तक्रारिष्ट का सेवन,
6. ठण्डे जल में सुबह-शाम एक-एक चम्मच शहद का सेवन,
7. वायविडंग, सोंठ, यवक्षार और तीक्ष्ण लौह की भस्म समान मात्रा में लेकर शहद और ऑवले के चूर्ण में मिला कर चाटना,
8. शिलाजीत का सेवन,
9. बिल्वादि पंचमूल, रसाञ्जन, गूगल या शहद के साथ अग्निमन्थ का रस पीना,
10. प्रशीतिका, प्रियंगु, श्यामाक, यवक, जौ, जूर्णाह्व, (ज्वार) कोद्रव (कोदों), मूंग और अरहर को पटोल और ऑवले के साथ भोजन के रूप में खाना और ऊपर से शहद मिला हुआ ठण्डा पानी पीना,
11. अधिक जागना, अधिक सम्भोग और अधिक मात्रा में शारीरिक एवं मानसिक कार्य करना तथा चिन्ता करना, इन उपायों से मोटापा कम होता है भले ही शरीर और स्वास्थ्य भी बिगड़ता हो,
12. त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च और पिप्पली), कुटकी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला), सहजन, वायविडंग, अतीस, शालपर्णी, सौवर्चल, जीरा, अजवायन, धनिया, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी, हीबेर (हाऊबेर), पाठा, केम्बुक- ये सब समान मात्रा में मिलाकर चूर्ण बनाकर दो से पांच ग्राम की मात्रा में गर्म जल के साथ प्रातः-सायं सेवन करना।

इन सब साधनों से मोटापा दूर होता है। मोटापे के अतिरिक्त उसी प्रकार के दूसरे रोग जैसे- हृदय रोग, क्षय, खाँसी, श्वेत कुष्ठ, प्रमेह, आम रोग आदि भी इनसे दूर होते हैं। आधुनिक युग में अधिक भौतिक सुविधाओं के कारण तथा शारीरिक कार्यों के अभाव के कारण स्थूलता (मोटापा) का रोग बढ़ता जा रहा है तथा इससे होने वाले रोगों की भी अधिकता हो रही है। उपरोक्त उपायों से मोटापा रोकने में सहायता मिल सकती है।

Scanned by CamScanner

♦ अतिकृशता अथवा दुबलेपन की चिकित्सा

अत्यधिक दुबलेपन को दूर करने लिए बृहण या सन्तपर्ण चिकित्सा व साधनों को प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार की चिकित्सा से शरीर का पोषण और बल की वृद्धि होती है, तथा शरीर में भारीपन आता है। पृथ्वी और जल महाभूतों की अधिकता वाले द्रव्य, भोजन एवं साधनों का प्रयोग इसमें किया जाता है। इस आधार पर, भारी, शीतल, कोमल, मन्द, चिपचिपे, स्थूल व घने पदार्थ इस दृष्टि से उपयोगी हैं। दूध, घी, पनीर, मक्खन व चीनी का सेवन, स्नान, स्निग्ध पदार्थों का उबटन, अधिक नींद, स्निग्ध औषधियों से एनिमा व चिन्ताओं से दूर रहना तथा प्रसन्नता पूर्वक जीवन व्यतीत करना- से सब बृहण चिकित्सा मे आते हैं। इनके प्रयोग से शरीर का दुबलापन नष्ट होता है।

♦ कृशता को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाने चाहिए :

1. अच्छी नींद, प्रसन्नता, आरामदायक बिस्तर, सन्तोष और मन की निश्चिंतता।
2. चिन्ता, सम्भोग और शारीरिक श्रम से बच कर रहना यानी इनकी अति न करना।
3. अच्छे लगने वाले दृश्यों और सम्बन्धियों का दर्शन।
4. दही, घी, दूध, गन्ना, शालि चावल, उड़द, गेंहूँ एवं गुड़ से बने पदार्थो का सेवन।
5. मधुर और स्निग्ध द्रव्यों से तैयार एनिमा का प्रयोग।
6. नियमित रूप से तेल की मालिश, स्निग्ध द्रव्यों का उबटन और गर्म जल से स्नान।
7. सुगन्धियों (इत्रों) और मालाओं का प्रयोग।
8. सफेद वस्त्रों को धारण करना।
9. उचित समय पर दोषों को बाहर निकालना।
10. रसायन चिकित्सा एवं वृष्य (शुक्र बढ़ाने वाली) औषधियों का सेवन।
11. किसी प्रकार की चिन्ता से मुक्त रहना और पौष्टिक पदार्थो का सेवन करना।

इन सब उपायों से अधिक दुबलेपन एवं उससे होने वाले रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है। संक्षेप में चिन्ता न करने, प्रसन्न रहने, अधिक नींद लेने और नित्य बृंहण गुण वाले आहार व औषधि के सेवन से अतिकृशता को दूर किया जा सकता है।

Scanned by CamScanner

स्वास्थ्य रक्षक – स्वर्णिम सूत्र

- ☞ रात्रि को जल्दी सोना और प्रातः जल्दी (सूर्योदय से पहले) जागना स्वास्थ्य के लिए उत्तम है।
- ☞ स्वास्थ्य का अर्थ केवल शरीर का स्वस्थ होना नहीं, अपितु मन और मस्तिष्क का प्रसन्न रहना भी है।
- ☞ प्रातः काल उठने के बाद कुछ समय (10-15 मिनट) इष्टदेव का ध्यान मानसिक शान्ति को बनाये रखता है।
- ☞ स्वस्थ रहने और रोगों से बचने के लिए सदा पथ्य (हितकारी) भोजन सेवन करना चाहिए, पथ्य (परहेज) का सेवन करने वाले व्यक्ति को औषधि की आवश्यकता नही रहती।
- ☞ भोजन करते समय मन पूर्णतः शान्त और प्रसन्न रहना चाहिए। सारे दिन में कम से कम भोजन का समय तो मनुष्य को केवल अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए।
- ☞ भोजन सदा समय पर करना चाहिए। पहले खाये हुए भोजन के पाचन हुए बिना भोजन कर लेना स्वास्थ्य के लिए घातक है।
- ☞ रात्रि के समय दही का सेवन करना और दिन के समय सोना (ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर) स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।
- ☞ व्यायाम करना शरीर के लिए लाभदायक है, परन्तु अपनी शारीरिक शक्ति से अधिक व्यायाम या श्रम करना बहुत हानिकारक है।
- ☞ आवश्यकता से अधिक मोटापा और पतलापन, दोनों हानिकारक है परन्तु मोटापा अधिक हानिकारक और अनेक रोगों की जड़ है, अतः इससे सावधान रहें।
- ☞ रोग को कभी भी छोटा नहीं समझना चाहिए। ध्यान न देने पर सामान्य रोग भी भयंकर रूप धारण कर सकता है।

Scanned by CamScanner

जड़ी बूटी चिकित्सा

एक संक्षिप्त परिचय

डॉ. प्रणव पण्ड्या एम. डी.

2.3

जड़ी-बूटी चिकित्सा

एक संदर्शिका

सम्पादक

डॉ0 प्रणव पण्ड्या

एम.डी

प्रकाशक

वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार 249 411

सन् 2004

मूल्य 8.00

प्राक्कथन

प्रकृति ने मनुष्य के लिये हर वस्तु उत्पन्न की है । औषधि उपचार के लिए जड़ी-बूटियाँ भी प्रदान की हैं । इस आधार पर चिकित्सा को सर्वसुलभ, प्रतिक्रियाहीन तथा सस्ता बनाया जा सकता है । जड़ी-बूटी चिकित्सा बदनाम इसलिये हुई कि उसकी पहचान भुला दी गयी-विज्ञान झुठला दिया गया । सही जड़ी-बूटी उपयुक्त क्षेत्र से, उपयुक्त मौसम में एकत्र की जाए; उसे सही ढंग से रखा और प्रयुक्त किया जाए तो, आज भी उनका चमत्कारी प्रभाव देखा जा सकता है ।

युग ऋषि पं० श्रीराम शर्मा आचार्य के आशीर्वाद से, ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान ने इस दिशा में सफल शोध-प्रयोग किये हैं । गिनी-चुनी जड़ी-बूटियों से लगभग ८० प्रतिशत रोगों का उपचार सहज ही किया जा सकता है । ऐसी सरल, सुगम, सस्ती परन्तु प्रभावशाली चिकित्सा-पद्धति जन-जन तक पहुँचाने के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गई है । जड़ी-बूटियों की पहचान, गुण, उपयोग-विधि सभी स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया गया है ।

इस पुस्तक में ऐसी जड़ी-बूटियों को प्राथमिकता दी गई है, जो भारत में अधिकांश क्षेत्रों में पायी जाती हैं अथवा उगायी जा सकती हैं । आचार्यवर की इच्छा है कि यह विधा विकसित हो और रोग निवारण के साथ-साथ जन-जन को प्राण शक्ति संवर्धन का लाभ भी प्राप्त हो । ऋषियों द्वारा विकसित इस विधा का लाभ पुनः जन-जन को मिले ।

- डॉ. प्रणव पण्ड्या एम. डी.

जड़ी-बूटी चिकित्सा- एक संदर्शिका

***

आने वाले समय में न तो संसाधनों की कमी रहने वाली है, न ही तकनीकी दृष्टि से विकसित सुविधा साधनों की । हमें आशा रखनी चाहिए कि महाविनाश की सारी तैयारियों के बावजूद विवेक का वर्चस्व बना रहेगा एवं अज्ञान, अभाव को दूर कर एक सद्भावनापूर्ण समाज विकसित होगा । एक आशंका फिर भी मन में रहती है कि वर्तमान जीवन पद्धति, चिन्तन की विकृति एवं आधुनिक विकास के चलते, क्या स्रष्टा का राजकुमार- सभी प्राणियों में सिरमौर मनुष्य इस स्थिति में होगा कि साधनों का सदुपयोग कर सके ? स्वयं अपने आपको सर्वांगपूर्ण स्वस्थ एवं संतुलित बनाए रख सके ? यह इस कारण प्रतीत होता है कि आज के विकास की घुड़-दौड़ में भाग रहा मानव, गहराई से देखने पर काफी कुछ खोखला नजर आता है । उसकी जीवनी शक्ति चुक सी गयी लगती है । थोड़ा सा मौसम का असंतुलन उसे व्याधिग्रस्त कर देता है । सनक, भ्रान्तियाँ, आवेश, उत्तेजना, अवसाद जैसे मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है । बाहर से स्वस्थ, सुडौल दीखते हुए भी व्यक्ति की जड़ें कमजोर दिखाई देती हैं । आहार उपलब्ध होते हुए भी वह खाने की स्थिति में नजर नहीं आता है । इसे आधुनिक जीवन की रीति-नीति कहें या प्रगति की दिशा में भटकना, कुछ भी नाम दे लें; पर लगता यही है कि ये वे मजबूत कंधे नहीं हैं, जिन पर समाज, राष्ट्र, विश्व की इक्कीसवीं सदी का बोझ लादकर आगे बढ़ना है ।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने निदान के साधन इतने जुटा दिये हैं कि रोग की जाँच-पड़ताल अब अधिक समय नहीं लेती । पर "मनुष्य रोगी है," यह वही मानने को तैयार न हो, वह बाहर से स्वस्थ दीख भी न पड़े, तो समझना चाहिए कि कहीं कोई गड़बड़ी है । आहार की अनियमितता, अस्त-व्यस्त रूप में आधुनिक औषधियों का सेवन,

नीम-हकीमों की बढ़ती संख्या, चिन्तन क्षेत्र में छाया भ्रान्तियों का कुहासा- ये सभी आज सारे मानव समुदाय को अस्वस्थ बनाये हुए हैं। लक्षण बाहर से दिखायी नहीं पड़ते। घुन-दीमक की तरह अन्तर्विकार अन्दर से व्यक्ति को खोखला बनाते रहते एवं बाहर की लीपा-पोती से प्रकाश में नहीं आ पाते हैं। ऐसे में लगता है नया मानव तैयार करने के लिए ऐसी वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति तलाशनी ही होगी, जो व्यक्ति को समग्र रूप से आरोग्य प्रदान करे, उसकी क्षीण होती जा रही जीवनी शक्ति को सहारा दे। चाहे प्रसंग अत्याधुनिक विकसित राष्ट्रों का हो अथवा अविकसित विकासशील तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के नागरिकों का, सभी पर यह बात समान रूप से लागू होती है।

सही उपचार पद्धति कौन सी हो ?

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के नामों पर जब भी विचार होता है, तो वह एक सीमित दायरे में घूमकर रह जाता है। ऐलोपैथी की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने रोगों के कारणों के बारे में आधुनिक ढंग से चिन्तन करना सिखाया। चिकित्सा पद्धति कितनी निरापद है, इस विवाद में पड़े बिना यह चर्चा करना अभीष्ट होगा कि वर्तमान परिस्थितियों में एक विशाल समुदाय में उपचार का मंत्र किस तरह फूँका जाय। उपचार के नाम पर चारों ओर नजर दौड़ाते हैं, तो प्रकृति के आँगन में फलने-फूलने वाली वनौषधियों के माध्यम से चिकित्सा ही हर दृष्टि से हानिरहित, सस्ती, सुगम एवं अधिक लाभकारी प्रतीत होती है। यहाँ आयुर्वेद एवं वनौषधि विज्ञान के अन्तर को समझना जरूरी है। आयुर्वेद के धन्वन्तरि काल से लेकर अब तक के विकास में अनेकों परिवर्तन होते हुए चले आए हैं। आज के आयुर्वेद के रूप को देखते हुए मन में ग्लानि सी होती है। जो विधा अपनी दिव्य शक्ति सम्पन्न जड़ी-बूटियों के कारण काया-कल्प कर सकने तक में सक्षम मानी जाती रही है, उसे आयुर्वेद पढ़ कर डिग्री प्राप्त करने वाले ही प्रयुक्त न कर ऐलोपैथी की शरण लेते देखे जाते हैं। यह मात्र बौद्धिक परावलम्बन एवं पश्चिम की अन्धाधुंध नकल ही नहीं है,

शरीर को स्थायी हानि पहुँचाने की कीमत पर तुरन्त लाभ मिलने की, रोगी व चिकित्सक की-दोनों की मिली भगत की नीति भी है ।

जीवनी शक्ति संवर्धक वनौषधियाँ यदि कहीं नजर आती हैं, तो पंसारियों की दुकानों में, जहाँ से वे सड़ी-गली, घुन लगी स्थिति में पड़ी होती हैं । सही ढंग से एकत्र न हुई, घास-पात के साथ मिली ये औषधियाँ क्या असर करेंगी ? जबकि सभी जानते हैं कि तोड़े जाने के बाद ३ से ६ माह के बाद इनके सभी गुण-धर्म लगभग समाप्त प्राय हो जाते हैं । शान्तिकुंज गायत्री तीर्थ द्वारा यह प्रयास किया गया है कि जन-साधारण को आयुर्वेद के गौरव, वनौषधि विज्ञान की महत्ता समझायी जाय । उन्हें यथा शक्ति स्वाभाविक रूप से प्रयोग करने योग्य बना कर, सेवन विधि का प्रतिपादन किया जाय एवं यदि सम्भव हो, तो ऐसी पौधशालायें स्थान-स्थान पर लगायी जाएँ; ताकि उनके ताजे रूप में सेवन का प्रचलन बढ़े ।

आयुर्वेद का पुनर्जीवन क्यों जरूरी ?

आयुर्वेद मूलत: अथर्ववेद का उपांग है और पाँचवे वेद के रूप में प्रख्यात है । अग्निवेश इस विधा के प्रणेता माने जाते हैं, जिन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन पुनर्वसु आत्रेय से किया था; किन्तु अथर्ववेद जिसके एक अंग के रूप में आयुर्वेद ने जन्म लिया, उसमें अथर्वा ऋषि के माध्यम से यह बताया गया है कि समस्त जीव समुदाय के लिए विधाता ने प्रकृति जगत् में वनौषधियों का प्रावधान रखा है । गुण, कर्म भेद अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु एक भी पौधा इस धरती पर ऐसा नहीं है, जिसमें औषधीय गुण न हों । विशिष्ट चिकित्सा हेतु सुरक्षित कुछ विष प्रधान जड़ी-बूटियों की चर्चा न करके शेष पर दृष्टि डाली जाय, तो सभी स्थानीय उपचार (लोकल एप्लीशन) से लेकर समग्र शरीर के उपचार में उपयोगी देखी जा सकती हैं । आयुर्वेद के सुविख्यात आठ तन्त्रों की चर्चा भी यहाँ प्रासंगिक नहीं है; क्योंकि हमारा मूल विषय है वनौषधियों के विभिन्न अनुपान भेद द्वारा एकौषधि अथवा सम्मिश्रण के

रूप में प्रयोग से शरीर व मन की सर्वांगपूर्ण चिकित्सा। शरीर तंत्र व उसकी कार्य विधि की थोड़ी भी जानकारी रखने वाला-व्यक्ति, उस विषय पर प्रस्तुत किये जा रहे प्रतिपादनों द्वारा स्वयं अपनी एवं औरों की चिकित्सा करता रह सकता है। इसी कारण अधिक विस्तार में जाने की अपेक्षा यह उचित समझा गया कि सार संक्षेप में इस चिकित्सा का मूलभूत तत्त्वदर्शन एवं उसकी कार्यपद्धति प्रस्तुत कर दी जाय।

आयुर्वेद प्रकरण के प्रारम्भ में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक प्रसंग चरक संहिता में आता है। हिमालय क्षेत्र में सभी ऋषियों की सम्मति से महर्षि भरद्वाज देवराज इन्द्र के पास 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों के साधन के आधार-आरोग्य' को हरने वाले रोगों से मुक्ति पाने का उपाय पूछने जाते हैं। देवराज इन्द्र ने यह ज्ञान देव वैद्य अश्विनी कुमारों से एवं अश्विनी कुमारों ने इसे दक्ष प्रजापति से प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति को इस विद्या का शिक्षण स्वयं ब्रह्मा ने दिया था।भरद्वाज मुनि को आयुर्विज्ञान के तीन मूल सूत्र समझाते हुए देवराज इन्द्र कहते हैं कि आयुर्वेद मूलतः तीन स्तम्भों पर टिका है-

(१) प्राणियों के स्वस्थ एवं रुग्ण होने के क्या कारण हैं? (२) स्वस्थ एवं रुग्ण जीवधारियों के लक्षण क्या हैं? (३) स्वस्थ रहने की औषधि (पथ्य एवं जीवनी शक्ति सम्वर्धक बलप्रदायी औषधि) तथा रोगी प्राणी की औषधि क्या है? सारे आयुर्वेद की व्याख्या इन तीन स्तम्भों की धुरी पर चलती है। वनौषधि विज्ञान की व्याख्या भी इसी आधार पर की जा सकती है।

वनौषधि ही क्यों? रस, भस्म-खनिज आदि क्यों नहीं? इस संबंध में यही कहना है कि अपना उद्देश्य आयुर्वेद के मूलभूत स्वरूप का पुनर्जीवन करना है। यह सारी धरती देवताओं द्वारा ले जाये जा रहे अमृत कलश से बूँद रूप में गिरे अमृत से उद्भूत वनस्पतियों से विभूषित है। हर वनस्पति अपने पाँचों अंगों में औषधीय विशेषताएँ लिए हुए है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय, तो उनमें जल, स्टार्च, रेजिन्स पेटाइड्स रेसे आदि के रूप में सक्रिय घटक एवं संभावित साइड इफेक्ट (दुष्परिणाम)

को रोकने वाले संघटक भी विद्यमान हैं। इन औषधियों को ताजे रूप में कल्क बनाकर, पीसकर, चटनी के रूप में, घनसत्व के रूप में या छाया में सुखाकर अच्छी तरह महीन पीसकर सूक्ष्मीकृत चूर्ण रूप में दूध, जल, मधु, मिश्री, मलाई, घी या अन्य किसी अनुपान के साथ दिया जाता है। सभी रूपों में ये अपना प्रभाव शीघ्र ही दिखाती हैं। सर्वथा हानिरहित इनका शरीर पर प्रभाव निशाने पर बैठने वाला एवं चिरस्थायी होता है, यह ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के निष्कर्ष बताते हैं। अन्य अनेकों संस्थानों द्वारा किये गये प्रयोग- परीक्षण भी इसकी साक्षी देते हैं। उनके विस्तार में न जाते हुए यहाँ शरीर व मन पर वांछित प्रभाव डालने वाली ४२ औषधियों एवं उनकी प्रयोग विधि की चर्चा की जा रही है। इस संक्षिप्त निर्देशिका से परिजनों को उपचार-प्रक्रिया का तत्त्व दर्शन समझकर, उसे व्यवहार में उतारना आसान हो जायेगा।

विभिन्न संस्थानों के लिए भिन्न-भिन्न औषधियाँ

वनौषधि चिकित्सा का मूल आधार है- सक्रिय संघटकों को नष्ट किए बिना उन्हें संस्थान विशेष के लिए उचित मात्रा में, अनुपान भेद द्वारा जीवनी शक्ति संवर्धन हेतु मुख मार्ग से देना। जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उन्हें स्थानीय उपचार हेतु भी प्रयुक्त करना। इस दृष्टि से शरीर के विभिन्न संस्थानों के अनुसार चयन की गयी ४२ औषधियों का वर्णन इस प्रकार है-

(१) मुख, मसूड़े एवं दाँतों के लिए बकुल (मौलश्री) एवं कायफल (२) बालों के लिए - भृंगराज (३) त्वचा सम्बन्धी विकार के लिए-बाकुची (४) मस्तिष्क एवं मनः संस्थान के लिए-ब्राह्मी, जटामांसी, बच (५) नाड़ी संस्थान-ज्योतिष्मति (मालकंगनी) (६) संधि मांस पेशियों सम्बन्धी रोगों के लिए- निर्गुण्डी, रास्ना, सुण्ठी (सौंठ) (७) हृदय एवं रक्तवाही संस्थान-पुनर्नवा, शंखपुष्पी, अर्जुन (८) फेफड़े तथा ऊपरी व निचला श्वास संस्थान- अडूसा, भारंगी, कंटकारि, शिरीष (९) ऊपरी पाचन संस्थान एवं यकृत् (लीवर)- आँवला, मुलैठी, शतपुष्पा, शरपुंखा,

कालमेघ (१०) निचला पाचन संस्थान एवं कृमि रोग- हरड़, बिल्व, अमलतास, नागकेशर, कुटज, बायबिडंग (११) मूत्रवाही एवं जनन संस्थान- गोक्षुर, वरुण, अशोक, लोध्र (१२) रक्त शोधक, संक्रमण नाशक - गिलोय, सारिवा, खदिर, चिरायता (१३) हारमोन संस्थान-कचनार, गुड़मार (१४) बलदायी रसायन- अश्वगन्धा, शतावर (१५) समस्त रोगों की एक ही औषधि द्वारा अनुपान भेद चिकित्सा-तुलसी ।

एकौषधि व सम्मिश्रण

प्रसंगवश यहाँ एक दो बातें खुलासा कर देना ठीक रहेगा । आयुर्वेद में होता यह है कि वैद्यगण एक ही औषधि को सभी रोगों की रामबाण दवा बता देते हैं । इस तरह वह कहीं की भी नहीं रहती । स्वाभाविक है कि उसमें वे सक्रिय संघटक हैं, जिस कारण वह कई रोगों के कई लक्षणों, पर अपना अचूक प्रभाव दिखाती है । किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि वह उन सभी रोगों में काम में लायी जा सकती है । उसमें कौन से ऐसे सक्रिय औषधि तत्त्व हैं, यह फाईटोकेमीकल एनालिटीकल विधियों द्वारा पता लगाकर किसी रोग विशेष के साथ उसे प्रयुक्त किया जाना ठहराया जा सके, तो बहुत सीमा तक भ्रान्तियाँ मिट सकती हैं । यह प्रयास औषधि निर्धारण में यहाँ किया गया है ।

आवश्यकता पड़ने पर एकौषधि एवं सम्मिश्रण के वांछित प्रयोग सम्बन्धी एक और स्पष्टीकरण होना जरूरी है । किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियों के अनुसार एक ही औषधि लम्बे समय तक प्रयोग करना ठीक होता है, कभी-कभी जरूरी होता है कि कुछ सम्मिश्रण प्रयोग किये जायँ; एक ही गुण-धर्म वाली दो या अधिक वनौषधियाँ इस पुस्तक में जहाँ भी प्रयुक्त किये जाने का विधान बताया गया है, वह यही सोच कर कि इससे औषधियाँ एक-दूसरे की कार्यक्षमता को और भी कई गुना बढ़ाती हैं एवं प्रभाव अधिक तीव्र व जल्दी होता है । सरस्वती पंचक, त्रिकुटा, त्रिफला, दशमूल, पंचमूल आदि प्रयोग शास्त्रोक्त ही नहीं, विज्ञान सम्मत

मानकर यहाँ लिये गये हैं। वनौषधियों के संघटक जब तक एक दूसरे से विच्छेदित नहीं होते, उनमें आपस में रासायनिक क्रिया नहीं होती। वे अपना प्रभाव समूचे रूप में मानव शरीर पर डालते हैं। अतः "ड्रग इंटरएक्शन" जैसी संभावना यहाँ नहीं रह जाती।

औषधियाँ जिन सक्रिय एल्केलाइड्स, पेण्टाएड्स व स्टार्चे-फाइवस आदि से मिलकर बनी होती हैं, वे परस्पर इस प्रकार गुँथे रहते हैं कि उन्हें कल्क रूप में या सत्व रूप में सुखा कर एक ही अंग के या पंचांग के चूर्ण रूप में लेने पर, किसी तरह के हानिकारक प्रभाव की आशंका नहीं करनी चाहिए। एक ही जड़ी-बूटी में प्रोटागोनिस्ट (सहायक व सक्रिय) तथा एण्टागोनिस्ट (निष्प्रभावी) तत्त्व विद्यमान रहते हैं। एण्टागोनिस्ट निष्क्रिय औषधि तत्त्व साइड इफेक्ट्स को प्रभावी होने से पहले रोक देते हैं। इस प्रकार औषधि अपने आप में एक सम्पूर्ण आहार है। उचित मात्रा में उचित अनुपान के साथ लिए जाने पर उसके किसी भी प्रकार दुष्परिणामों की अनावश्यक आशंका नहीं करनी चाहिए।

अनुपान भेद :- अनुपान अर्थात् "वेहीकल" यानी वे पदार्थ, जो औषधि के साथ दिये जाने पर सक्रिय संघटकों (एक्टिव इन्ग्रेडीएन्ट्स) को शरीर में अपने लक्ष्य तक पहुँचाए। अनुपान उसी या अन्य किसी औषधि का स्वरस अथवा क्वाथ भी हो सकता है, अथवा जल, दूध, घी, दही, मधु, मिश्री, मलाई, मक्खन या अन्य किसी तरल पदार्थ के रूप में भी हो सकता है। अनुपान इसलिए अनिवार्य है कि वह औषधि अपने सही रूप में सही स्थान पर पहुँचे। वस्तुतः अनुपान औषधि की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं।

सामान्यतया ठण्डा या गुनगुना जल अनुपान रूप में प्रयोग करते हैं। गौ दुग्ध भी एक आदर्श अनुपान तथा स्वयं में एक सम्पूर्ण आहार है। लैक्टिक इन्जाइम्स व उसमें विद्यमान वसा के छोटे-छोटे कणों का घोल औषधि को "पेनिटेट्रिंग" प्रवेश योग्य बना देता है। दूध में लगभग २१ प्रकार के इञ्जाइम्स पाये जाते हैं। ये जड़ी-बूटियों के एल्केलाइड्स, ग्लाइकोसांड्स व पेप्टाइड्स को सूक्ष्मीकृत करने की

क्षमता रखते हैं। दूध गर्म करके थोड़ा ठण्डा करके लिया जाय, तो उचित है।

मधु वस्तुतः फूलों का स्वरस है। बाद में मधुमक्खियों द्वारा सक्रिय हारमोन्स के माध्यम से और भी अधिक गाढ़ा इन्जाइम प्रधान बना दिया जाता है। जहाँ फूलों के स्वरस में पानी का अनुपात लगभग सत्तर प्रतिशत होता है, वहाँ मधुमक्खियों के शरीर से गुजर कर आने के बाद वह मात्र दस प्रतिशत रह जाता है। ऐसे सार्द्र द्रव्य पदार्थ के साथ ली गई औषधि पेट से तुरन्त रक्तवाही नलियों में होकर अपने-अपने क्षेत्र में पहुँच जाती है। मधु को जब भी लें, उसे ठण्डी स्थिति में ही लें। जल के साथ मिला कर लें। समान मात्रा में जल के साथ गर्म अवस्था में मिलाने पर तथा घृत के साथ सम-मात्रा में दिए जाने का शरीर पर विष के समान प्रभाव पड़ता है, अतः इस सम्बन्ध में सावधानी बरती जानी चाहिए।

मक्खन, घी, दही, मलाई आदि दूध के परिवर्तित रूप हैं। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मिश्री की चाशनी भी मधु के समान एक श्रेष्ठ "वेहीकल" है, जो औषधि की घुलनशीलता को बिना उसके गुण धर्म बदले बढ़ा देती है। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियें में इसे भी अनुपान रूप में प्रयोग किया जाता है। सूक्ष्मीकृत चूर्णों में अनुपान भेद का महत्त्व अत्यधिक है, यह अच्छी तरह समझ लिया जाना चाहिए।

अनुपान के कार्यों के सम्बन्ध में चरक सूत्र स्थान (३२० अ० २७) में कहा गया है कि "अनुपान तृप्त करता है, देह एवं इन्द्रियों की कमी को पूर्ण करता है, बल व जीवन देता है, खाये हुए आहार को सर्वत्र शरीर में फैलाने का कार्य करता है व उसे शरीर के साथ एकभाव कर देता है। अनुपान, ली गयी औषधि को विभक्त कर आमाशय व उससे आगे पक्वाशय की ओर ले जाता है। यह अन्न की सघनता को तोड़ता है, कोमलता उत्पन्न करता है। अन्न को गीला कर पचाता व आसानी से अवशोषित हो शरीर में संव्याप्त हो जाने वाला कर देता है"। इसके

अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि जो पेय आहार की सीमा में नहीं आता है, जिनमें स्वयं के औषधि गुण न हों और धातुओं का विरोधी न हो, वही सर्वश्रेष्ठ अनुपान है ।

(अ) मुख, मसूड़े व दाँतों की चिकित्सा :- स्वास्थ्य में सीधा जुड़ा हमारे शरीर संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है-पाचन संस्थान का ऊपरी भाग । यह मुँह खोलने पर नजर आने वाली गुफा गह्वर से आरम्भ होता है एवम् टॉन्सिल के पीछे ऊपर नाक से आने वाली श्वास नलिका "नेजोफेरिक्स" से मिलकर एक नली फेरिक्स बनाता है । इसे ऑरल केवीटी एवम् ओरोफेरिक्स कहते हैं । इसमें खाना चबाने के लिए विधाता द्वारा दाँत प्रदान किये गये हैं । लसिक ग्रंथियाँ अपने स्राव यहीं छोड़ती हैं । खाना देखकर या उसकी सुगन्ध से मुँह से पानी आने की प्रक्रिया स्नायु प्रवाह के कारण यहीं होती है । स्वाद की पहचान जीभ के माध्यम से इसी स्थान पर होती है । वस्तुतः समग्र स्वास्थ्य के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है ।यदि दंतक्षय हुआ, मुँह में छाले व मसूड़े मवाद से युक्त हों, तो आहार संतुलन होते हुए भी अन्दर या तो ठीक स्थिति में प्रवेश नहीं कर पाएगा या फिर कीटाणु-गंदगी युक्त होकर पूरे शरीर संस्थान को अस्त-व्यस्त कर देगा । मुँह के छाले [स्टामेटाइटिस] दन्त क्षय [केरीज] एवम् पायरिया जैसे रोगों के लिए दो सर्वश्रेष्ठ औषधियाँ हैं :-बकुल [मौलश्री] एवम् कायफल-कट्फल ।

क्र० (१) बकुल (मौलश्री-मिमुसाप्स ऐलेन्गी) को मधुगन्धा भी कहा जाता है ।क्योंकि इसके फल सुगन्धित होते हैं एवम् यह गन्ध फूलों में सूखने पर भी स्थायी रहती है । इसका वृक्ष सघन, ५० फीट तक ऊँचा होता है । पहचान, पत्ते की बनावट व पीली आभा लिए पुष्पों से की जा सकती है । अप्रैल, मई में पुष्प आते हैं, जो वर्षा में फल रूप में पक जाते हैं । यह सारे भारत में पाया जाता है ।

मौलश्री की छाल, पुष्प या फल प्रयोग में आती हैं । छाल का काढ़ा ५० से १०० सी.सी. [५ से १० छोटे चम्मच के बराबर] तथा पुष्प चूर्ण १ से २ ग्राम की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है ।

इसकी छाल में मूलत: टैनिन, गोंद व सैपोनिन होते हैं। फूलों में सुगन्धित तेल होता है।

अन्यान्य संस्थानिक प्रयोगों की चर्चा अभीष्ट नहीं है। फिर भी एक प्रसिद्ध प्रयोग इसका महत्त्वपूर्ण व उल्लेखनीय है। असाध्य सिर दर्द में सूखे फलों के चूर्ण का नस्य (नाक द्वारा सूँघनी रूप में प्रयोग) लेने पर दर्द तुरन्त दूर हो जाता है।

दाँतों में कीड़ा लगने, उनकी जड़ों में मवाद होने, मसूड़ों की सूजन तथा हिल रहे दाँतों में, छाल के काढ़े से कुल्ला कराया जाता है। छाल के चूर्ण का मंजन एवम् कोमल शाखाओं द्वारा दातून करना भी उतना ही लाभकारी है। कुछ विद्वान् कच्चे फल चबाने के लिए भी कहते हैं। इसका कटुकषाय रस दाँतों को मजबूत करता है एवम् मसूड़ों से रक्त-मवाद आना बन्द करता है। मुँह के छाले भी इसके काढ़े के कुल्ले द्वारा ठीक होते हैं। एण्टीबायोटिक्स देने के बाद कम हुई जीवनीशक्ति के कारण संभावित "एथ्स अल्सर्स" से बचाव के लिए उसके काढ़े का कुल्ला लाभकारी है। मुँह के सामान्य बैक्टीरियल फ्लोरा को नष्ट किये बिना अपना लाभकारी प्रभाव दिखाता है। टॉन्सिल की सूजन में भी कुल्ले लाभकारी हैं। इसका वैद्यक विशिष्ट योग बकुलाद्यतेल नाम से उपलब्ध होता है।

(२) काय फल [कट्फल - मिरीकास्क्युलेन्टा] को काय छाल या महावल्कल भी कहते हैं। विशेष रूप में पहाड़ी इलाके में गढ़वाल, कुमायूँ, शिवालिक की घाटियों में ५-६ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। शरद ऋतु में फूल आते हैं व ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं। इसको ६ इंच लम्बे भालाकार पत्ते व मोटी भूरी झुर्रीदार छाल से पहचाना जा सकता है।

इसकी छाल मूलत: प्रयोग में आती है। इसके फूलों का तेल भी निकाल कर छाल के काढ़े के समान ही प्रयुक्त होता है। इसकी छाल में मिरीसाइटिन नामक संघटक होता है। टैनिन भी काफी मात्रा में होता है।

बकुल की भाँति इसकी छाल के चूर्ण का नस्य भी जुकाम, सिरदर्द, बेहोशी आदि में लाभकारी है। मुँह के छाले जिनमें संक्रमण हो गया है, इसका चूर्ण संक्रमण नाशक के रूप में कार्य करता है। दाँतों के तेज दर्द, कैविटीज, पायरिया, जिन्जीवाइटिस आदि में कुल्ला या मंजन करने से बहुत जल्दी लाभ होता है। चर्मरोग, त्वचा के गहरे पस भरे घावों में इसके चूर्ण को छिड़कने या लगाने से चमत्कारी प्रभाव होता है। इसका वैद्यक रूप कट्फलादि क्वाथ के रूप में उपलब्ध होता है।

(ब) केशों के लिए:- बालों का जल्दी-जल्दी गिरना, निरन्तर झड़ते रहना, जल्दी सफेद होना, रूसी गंजापन आदि रोगों की बहुतायत पायी जाती है। इसका कारण तो आधुनिक जीवन भी है, जिसमें आहार-विहार के नियमों की अवहेलना की जाती है। सौन्दर्य प्रसाधन, साबुन, शैम्पू आदि के प्रयोग से भी बाल बढ़ाने और सुन्दर होने के स्थान पर दवा के साथ-साथ मर्ज बढ़ता ही जाता है, साथ में मनोवैज्ञानिक समस्या भी जुड़ जाती है। इससे उत्पन्न .नाव बालों के झड़ने में और मदद करता है।

क्र० (३) भृंगराज ऐसी परिस्थितियों में एक सुप्रसिद्ध औषधि है, इसके नाम से कई तेल बाजार में मिलते हैं, पर लाभकारी होते किसी को नहीं देखा जाता। सही ढंग से न बनने, सुगन्ध को ही महत्त्व देने एवम् शास्त्रोक्त प्रयोगों को महत्त्व न देने का ही यह परिणाम है।

भृंगराज (एक्लीप्टा अल्बा) को भौंरे के समान शोभायमान केशों को जन्म देने के कारण यह नाम दिया गया। केशरंजन केशराज, भाँगरा व केसुरिया अन्य नाम हैं। सफेद भृंगराज सफेद फूलों के कारण कहलाता है, एवम् केश रोगों में वही मान्यता प्राप्त है। नीला या कालापन लिए व पीले फूलों वाली दो अन्य जातियाँ भी हैं। जिनके अन्यान्य प्रयोग हैं। यह १०-१२ उँगली ऊँचा एक छोटा पौधा है, जो नदी-नालों के किनारे सब ओर पाया जाता है। वर्षा में पुष्प व हेमन्त में फल लगते हैं। काले कालिमा लिए पत्रों में छोटे-छोटे पुष्प लगे होते हैं, जो गोलाकार घटी के आकार के होते हैं। चिकित्सा हेतु मूलत: पञ्चांग व बीज प्रयुक्त होते हैं।

ताजा स्वरस १ से २ चम्मच की मात्रा में प्रयोग किया जाता है ।भृंगराज तेल, भृङ्गराजघृत विशिष्ट योग है ।

इसमें एम्लीप्टीन नामक एल्केलाइड प्रचुर मात्रा में होता है । बाह्योपचार हेतु त्वचा व रोम-कूपों के लिए सर्वश्रेष्ठ औषधि है । कफ वातशामक, लीवर के लिए उत्तेजक व रक्तवर्धक होने के नाते यह कायाकल्प योग में भी प्रयुक्त होता है । बीज बाजीकरण योग हेतु (जीवनी शक्ति एवम् शारीरिक क्षमता बढ़ाने हेतु) प्रयुक्त होते हैं । इसी कारण यह एक रसायन भी है । त्वचा व केशों सम्बन्धी रोगों के लिए यह न केवल बाह्य प्रयोग रूप में, अपितु बालों का झड़ना, गिरना, सफेद होना, जगह-जगह पैच रूप में गुच्छे गिरते रहना इत्यादि में भृंगराज के पंचांग का ताजा स्वरस मुख द्वारा सेवन किया जाना चाहिए । यह त्वचा का रंग भी सामान्य बनाता है एवम् किसी भी प्रकार के संक्रमण को रोकता है । कोढ़, खुजली, पित्त आदि में भी यह ताजा या चूर्ण के लेप रूप में प्रयुक्त होता है । इसके स्वरस को या इसे उबालना नहीं चाहिए । उससे इसके गुण-धर्म नष्ट हो जाते हैं । सिद्ध तेल स्वयं बनाया जाय, तो सफेद बालों को काला करने की क्षमता रखता है । मुखमार्ग से इसका सेवन भी केशरंजन की भूमिका निभाता है ।

(स) त्वचा सम्बन्धी विकारों की चिकित्सा:- त्वचा लगभग दो वर्गमीटर का क्षेत्रफल घेरे सारे शरीर को अपने आवरण से ढँकती है । इससे सम्बन्धित रोग कई प्रकार के हैं- यथा सफेद दाग (ल्यूकोडर्मा) कुष्ठ, एक्जीमेटसडर्मैटाइटिस, एटोपिक डर्मेटाइटिस, अर्टीकेरिया (पित्ती) व्रण इत्यादि । अन्यान्य उपचार पद्धतियों की चर्चा तो अन्यत्र की गई है, यहाँ श्वेत धब्बे तथा कोढ़ की चिकित्सा की चर्चा की जा रही है, जो कि सर्वाधिक मानसिक संत्रास देने वाली एवम् अधिक पायी जाने वाली व्याधियाँ हैं ।

क्र० (४) बाकुची (सोरेलिया कोरिलीफोकिया) त्वचा सम्बन्धी विकारों को दूर करने के लिए निर्धारित औषधि हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि सफेद दाग कुष्ठ रोग के नहीं होते। एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है एवम् इससे पढ़े-लिखे व्यक्ति भी ग्रसित देखे जाते हैं। त्वचा का स्थान-स्थान पर अपने वर्ण छोड़ कर सफेद हो जाना, उसमें पाये जाने वाले पिगमेन्ट मेलेनिन के अभाव के कारण होता है। यह किसी भी संस्थानिक रोग से हो सकता है। यहाँ तक कि पेट में पाये जाने वाले कृमि भी इसका कारण हो सकते हैं। इसलिए इसके सम्बन्ध में विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कुष्ठ रोग आरम्भ में पहचान में नहीं आता। बहुसंख्य व्यक्ति यह भी नहीं जानते कि यह रोग अब असाध्य नहीं रहा। इसकी चिकित्सा सम्भव है। घिसी-पिटी पुरानी मान्यतायें ही समाज में घर किये हुए हैं। इसे छूत का रोग कह कर रोगी से सहानुभूति न रखकर, सही परामर्श देने के स्थान पर सर्वसाधारण को उनके प्रति उपेक्षा वरतते ही देखा जाता है। इसे प्रारम्भ से ही पहचान लिया जाय, इसके लिए कुछ लक्षण सभी को जानना जरूरी हैं। ये होते हैं- एक या उससे अधिक चमकीले व वर्ण रहित कुछ उठे हुए त्वचा पर चकत्ते, जिन पर गर्म, ठण्डा, चुभन आदि कोई संवेदन अनुभव नहीं होता। कभी-कभी एक ऐसा घाव "जिसके बारे में रोगी को कुछ नहीं मालूम होता" ही रोग का पता बताता है। संवेदना शून्य होने के कारण ऐसे त्वचा के हिस्से या तो जल जाते हैं या कट जाते हैं व रोगी को दर्द न अनुभव होने के कारण, अक्सर वह चिकित्सक के पास देरी से आता है। भौं के बाल समाप्त हो जाना, आस-पास के क्षेत्र से अधिक चमकीले धब्बे स्थान-स्थान पर पाया जाना लेप्रोमेटस लेप्रोसी के महत्त्वपूर्ण चिह्न हैं।

बाकुची जिसे कृष्णफला लावची एवम् कुष्ठघ्नी नाम भी दिये गये हैं, दोनों ही प्रकार के चर्म रोगों की सर्वश्रेष्ठ औषधि है। इसका वर्षायु क्षुप छोटा लगभग तीन फुट ऊँचा होता है। इस पर बैंगनी रंग के पुष्प गुच्छों में बरसात में लगते हैं एवम् कृष्ण वर्ण के कुछ दुर्गन्ध वाले फल नवम्बर, दिसम्बर में लगते हैं। प्रत्येक फल के भीतर एक चिकना बीज- फल की दीवार से चिपका पाया जाता है। इस बीज का चूर्ण व

तेल ही प्रयुक्त होता है। यह क्षुप सारे भारत में विशेषकर गुजरात, राजस्थान, पंजाब के पश्चिमी हिस्से में पाया जाता है।

बीजों के तेल में "जो गाढ़ा व तीता होता है" बाकुचीयॉल नामक एक फिनॉल पाया जाता है। प्सोरेलेन एवम् प्सोरेडीन नामक सक्रिय संघटक भी इसमें होते हैं। यही चिकित्सा में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। त्वचा पर इनका प्रभाव स्वेदजनक व कुष्ठघ्न होता है। त्वचा व उसकी लेश्मा-अंत: झिल्ली पर तेल बड़ा तीव्र प्रभाव डालता है। श्वेत दाग लाल हो जाते हैं, कभी-कभी फोड़े भी हो जाते हैं। घाव भरने पर सामान्य रंग वापस आ जाता है। त्वचा के वर्णोत्पादक कोषाणु इसके कारण उत्तेजित होते हैं एवम् उपस्थित रोगाणुओं को नष्टकर सामान्य रंग वापस ले आते हैं। यह बाह्य प्रयोग के साथ-साथ बीज के चूर्ण रूप में १/४ से १/२ चम्मच (१ से ३ ग्राम) की मात्रा में मुख से दिया जाता है। ल्यूकोडर्मा व कुष्ठ को यह अपनी कफ- वातशामक उष्ण क्रिया द्वारा तुरन्त ही नष्ट कर डालता है। त्वचा के संक्रामक व्रण (एब्सेस, बॉइल्स कार्बन्कल) पर भी इसका रोगाणुनाशक प्रभाव है। इसके तेल का लेप लगाते हैं या चूर्ण को उस स्थान पर किसी भी स्निग्ध पदार्थ को मिलाकर लेप करते हैं। तेल का प्रभाव तीव्र होने के कारण सीमित मात्रा में ही उसका प्रयोग होता है। बाकुची के बीज सेवन के पूर्व ताजा अदरक के रस में एक सप्ताह तक रख कर शोधित कर लिया जाना चाहिए।

(द) मस्तिष्क व मन: संस्थान रोगों की चिकित्सा:- हमारी काया का संचालन तंत्र, एक विलक्षण कम्प्यूटर - हमारा मस्तिष्क है। इसके रुग्ण होते ही सारे क्रिया- कलाप अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। शरीर रोग उतनी अधिक हानि नहीं पहुँचाते, जितनी कि मन: संस्थान के रोग। मस्तिष्क के स्थूल- अंगपरक रोग आर्गेनिक कहलाते हैं, व सूक्ष्म क्रिया-सम्बन्धी मनोविकार जिनकी मात्र प्रक्रिया दिखाई देती है, रोग का कोई प्रत्यक्ष रूप कहीं बैठा नहीं दिखाई देता, फंक्शनल या सायकिएट्रिक रोग कहलाते हैं। एक में व्यक्ति से सम्बन्धित रोग आते हैं, दूसरे में व्यक्तित्व सम्बन्धी।

मस्तिष्क से जुड़े रोगों में अल्पमन्दता- मानसिक विकास का रुक जाना (सेरीब्रल पाल्सी), मिर्गी व कम्पन रोग, मस्तिष्कीय रक्त स्राव ब्रेनट्यूमर्स, मेनिन्जाइटिस, एनसेफेलाइटिस, मल्टीपलस्क्लेरोसिस, मेटाबॉलिक ब्रेन डिसआर्डर्स, डेफीशिएन्सी डिसआर्डर्स, क्रेनियल एवम् पेरोतेरल न्यूराईटिस आदि सुपरिचित रोग हैं।

इसके विपरीत मनः संस्थान से जुड़े रोगों में दो प्रकार के मनोविकार आते हैं। एक माइनर जिसमें पूर्ण रूप में व्यक्तित्व विभाजित नहीं होता। इनको पर्सनालिटी डिसआर्डर्स एवम् विक्षिप्तता (न्यूरोसिस) दो वर्गों में बाँटा जाता है। आक्रामक वृत्ति, अतिकामुकता, समाज विरोधी वृत्ति इसी समूह में आते है। दूसरे मेजर या बृहत् मनोविकार, जिनमें रोगी का सारा व्यक्तित्व ही रोगी हो जाता है। ये रोगी हमेशा स्वयं को सही व दूसरों को गलत मानते हैं। इनके दो वर्ग हैं- भावनात्मक विक्षोभ (अफेक्टिव डिसआर्डर्स) एवम् वैचारिक विक्षोभ (स्क्रीजोक्रेंनिया) पहले में मेनिया व डिप्रेशन ये दो मनोविकार आते हैं। आज इनकी ही बहुतायत है, जबकि स्क्रीजोक्रेंनिया में आत्महत्या की प्रवृत्ति, विचार प्रवाहों का भटकना एवम् पागलपन के लगभग पूरे चिह्न दिखाई देना, ये लक्षण पाये जाते हैं।

इन सभी रोगों की चिकित्सा हेतु गायत्री तीर्थ द्वारा निर्धारित तीन वनौषधियाँ हैं- ब्राह्मी, जटामांसी, वचा। अन्यान्य योगाभ्यास की प्राणायाम की पद्धतियों के अलावा इन वनौषधियों को दिये जाने पर ये अपना चमत्कारी लाभ दिखाती हैं। विशेष रूप से मनः संस्थान सम्बन्धी रोगों- मनोविकारों में इनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

क्र० ५ ब्राह्मी :- बुद्धिवर्धक होने के कारण इसे यह नाम दिया गया है। इसके अन्य नाम हैं- ऐन्द्री, नीर ब्राह्मी, वरभी एवं "बकोपा मोनिएरा" या "हरपेस्टिस मोनिएरा"। एक जैसी दिखते हुए भी गुण-धर्म व कर्म में ब्राह्मी व मण्डूकपर्णी भिन्न-भिन्न हैं। छोटे क्षुप के रूप में यह उत्तरी भारत में गंगा के किनारे पर बारहों माह हरी पाई जाती है। नीले श्वेत पुष्प ग्रीष्म ऋतु में व फल बरसात में लगते हैं।सारा पंचांग ताजे

कल्क रूप में या सुखाकर चूर्ण रूप में प्रयुक्त होता है । इसका क्षुप तीखा थोड़ा कड़वापन लिए होता है । उत्तरी भारत के अलावा यह सारे भारत में पानी से लगी भूमि में बिखरी पाई जा सकती है । इसमें ब्रह्मीन, हरपेस्टीन नामक दो मुख्य एल्केलायड पाये जाते हैं ।

ब्राह्मी को मेध्य-मेधावर्धक एवम् मानव रोगों की एक अचूक औषधि माना गया है । इसे एक प्रकार का "नर्व टॉनिक" भी माना गया है । मस्तिष्क विकृति, नाड़ी संस्थान की दुर्बलता, मस्तिष्क की रक्त वाही नलिकाओं में थक्के जमने या रक्त स्राव होने की संभावना (सेरिब्राबास्कुलर डिसीज) की स्थिति में मिर्गी, उन्माद एवं एम्नेजिया (स्मृति का समाप्त होना) में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है । चिन्ता, अवसाद, घबराहट, एन्क्जाइटी न्यूरोसिस, हिस्टीरिया जैसे मनोविकारों या मनोशारीरिक रोगों में भी इसके एक सप्ताह के सेवन से लाभ होने लगता है । जिनका दर्द यदि किसी आन्तरिक कारण से है, तो वह ब्राह्मी सेवन व ब्राह्मी सिद्ध तेल के प्रयोग से ठीक हो जाता है । वस्तुत: ब्राह्मी के घटक स्नायुकोषों को उत्तेजित करते, मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में रक्त पहुँचाते एवं सीधे हाइपोथेलेमस सिस्टम पर प्रभाव डालते हैं । इसी नाते यह मनोविकारों एवं ज्वर में भी लाभकारी है । साधना में ब्राह्मी प्रयोग से एकाग्रता बढ़ती है एवं मनोवांछित सफलता मिलती है । वैज्ञानिक प्रयोग भी प्रमाणित करते हैं कि ब्राह्मी संघटक, न्यूरोकेमिकल्स के स्राव को बढ़ाकर मस्तिष्कीय कार्य में वृद्धि करते हैं ।

ताजा स्वरस डेढ़ से ढाई चम्मच तक एवं पंचांग चूर्ण ४ से ५ ग्राम तक प्रयोग करते हैं । अन्य औषधियों यथा अमृता, जटामांसी, गिलोय, अश्वगंधा, ज्योतिष्मती आदि में से किसी एक या अधिक के साथ मिलकर यह विशेष प्रभावकारी हो जाती है । इसका अनुपान मधु, दुग्ध, जल या मिश्री हो सकता है ।

यह सरस्वती पंचक का एक महत्त्वपूर्ण घटक है । (अन्य घटक हैं- यष्टिमधु, शतावर, बच एवं जटामांसी ।)

क्र० ६. जटामांसी को भूतजय, तपस्विनी, सुलोमशा, बालछड़

(नार्डोस्टीकस जटामांसी) भी कहते हैं। यह एक ४ से २४ इंच लम्बे काण्ड वाला बहुवर्षायु क्षुप है, जो हिमालय में काफी ऊँचाई पर ११ से १६ हजार की ऊँचाई पर पाया जाता है। गुलाबी या नीले फूलों के गुच्छे काण्ड पर लगे होते हैं, जो बाद में सफेद बालों से ढँके फल बन जाते हैं। मूसल (जड़) गहरे भूरे पत्र समूह से ढँका होता है व यही औषधीय प्रयोजन हेतु काम आता है।

इसका मुख्य कार्यकारी संघटक एक उड़नशील तेल है, जो मूल में पाया जाता है। इसके अलावा एल्केलाइड के रूप में जटामांसिन एवं जटामांसोन भी सक्रिय रूप में पाये जाते हैं।

यह तीनों दोषों वात, पित्त, कफ का शमन करता है एवं इसी कारण सन्निपात (डेलीरियल) में चाहे वह किसी भी कारण से हो, प्रयुक्त होता है। २ से ४ ग्राम की मात्रा में मूल चूर्ण अथवा ५० मिली लीटर पानी में गरम कर दिया गया क्वाथ १० ग्राम की मात्रा में तुरन्त लाभ पहुँचाता है।

मस्तिष्कीय क्षमता को यह बढ़ाता है। स्मृति क्षीण पड़ने, सिर दर्द (असाध्य), अनिद्रा में अत्यन्त लाभकारी है। मिर्गी, एजीटेविट सायकोसिस, मेनिअक सायकोसिस, सनक, हिस्टीरिया में लिया जाने पर अत्यन्त शीघ्र आराम पहुँचाता है। मस्तिष्क से निकलने वाली नाड़ियों की दुर्बलता यह मिटाता है, किसी भी प्रकार के न्यूरेल्जिया के दर्द को जड़ से मिटाता है एवं सभी प्रकार के भावनात्मक संक्षोभों, उद्वेगों के शामक की भूमिका निभाता है। इनका हानिरहित, एडीक्शन रहित प्रभाव सभी हिप्नोटिक, सिडेटिव, एन्टीडिप्रेसेण्ट से बढ़कर है। कम्पन रोगों में भी यह लाभकारी है। बच एवं ब्राह्मी के साथ मिलाने पर इसकी मेध्य उपयोगिता बढ़ जाती है। अपने हृदय पर दबाव कम करने वाली तथा गुर्दों पर मूत्रल प्रभाव वाली क्षमता के कारण यह स्ट्रेस (मानसिक तनाव) जन्य रक्त भाराधिक्य (हाईब्लडप्रेशर) को कम करता है एवं किसी प्रकार के मस्तिष्क पर अहितकर प्रभाव की संभावना कम करता है। योग साधना में भी ऋषिकाल से तन्मयता बढ़ाने में इसका प्रयोग होता आया है।

बाजीकरण गुण होने से यह काम दुर्बलता को मिटाता व जनरल टॉनिक की भूमिका निभाता है ।रक्षोघ्नघृत, सर्वौषधिस्नान, मांस्यादि क्वाथ इत्यादि इसके विशिष्ट योग हैं, पर प्रयोग मूल चूर्ण का ही अधिकतर होता है ।

क्र० ७. वचा (एकोरस केलेनस) वचा शक्ति वर्धक होने से इसे बचा, उग्रगंधा, घोड़बच, मीठी बच नाम प्राप्त है । यह ५ फुट ऊँचा सदा हरा बना रहने वाला क्षुप है, जिसका कन्द भूमि में अदरक के समान फैलता है व सुगन्ध युक्त होता है । पत्ते ३ से ६ इन्व लम्बे होते हैं । पुष्प मञ्जरी ६ से ३० इंच लम्बे हरे पत्तों से-पत्र कोषों से ढँकी होती हैं ।यह क्षुप जल के समीप वाली भूमि में विशेषकर तालाब व झरनों के किनारे पाया जाता है ।१ से ६००० फुट की ऊँचाई तक यह वन्य रूप में भारत भर में पायी जाती है ।औषधीय प्रयोजन हेतु मूल एवम् भूमि में स्थित काण्ड ही प्रयुक्त होता है ।जड़ के छिलके में उड़नशील तेल अच्छी मात्रा में होता है । एमेरॉन कोरिन, पूजीनॉल आदि एल्केलाइड इसमें होते हैं ।

यह कफ, वात शामक एवम् एक उत्तम मेधावर्धक औषधि है । बेहोशी कॉमा, सेरीब्रोवास्कुलर डिसिज, ट्रॉजीएण्ट इस्चीमिक अटैक आदि में यह रक्तवाही नलिकाओं को फैलाकर मस्तिष्कीय रक्त प्रवाह बढ़ाती है । चेतन संस्थान को, रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम को उत्तेजित कर जागृत करती है । बहुत अच्छी दर्दनाशक, कम्पन, वात, मिर्गी के दौरे को मिटाने वाली औषधि है । चिन्ता, तनाव, बेचैनी, उद्वेग, साइको सोमेटिक एलमेन्टा में इसका प्रयोग करते हैं ।उन्माद, साइकोसिस, मेनिया में इसकी शामक भूमिका है । यह नाड़ी दुर्बलता को मिटाती है व न्यूराइटिस, न्यूरेल्जिया में अत्यन्त लाभकारी है । पक्षाघात मे यह रिकव्हरी पीरियड कम कर जल्दी ही स्नायुओं को बल प्रदान करती है ।यह श्वास रोग, लेरिंजाइटिस की बड़ी उत्तम औषधि है । तुतलाने-हकलाने के जन्मजात रोगी की वाक्शक्ति यह ठीक कर देती है ।

औषधि हेतु इसकी मात्रा ०.५ से २ ग्राम तक चूर्ण या २५ से

५० सी० सी० क्वाथ है । सारस्वत चूर्ण, मेध्य रसायन इसके विशिष्ट योग हैं । ब्राह्मी व जटामांसी को मिलाकर यह समस्त मनोविकारों व मनोंरोगों में यह श्रेष्ठ सम्मिश्रण औषधि के रूप में कार्य करती है ।

(य) नाड़ी संस्थानगत दोषों की चिकित्सा :- नाड़ी संस्थान से तात्पर्य है मस्तिष्क से निकलने वाली १२ क्रेनियल नर्व्स एवम् सुषुम्ना से निकलने वाले नाड़ी गुच्छक, जो गर्दन व पेड़ू में क्रमश: सर्वाइकल, क्रैनियल व पेल्विक प्लेक्सस बनाते हैं । इसके अतिरिक्त स्वचालित अनैच्छिक (आटोनॉमिक) नरवस सिस्टम भी इसके अन्तर्गत आता है । वक्ष, पेट के अंदरूनी महत्त्वपूर्ण अवयव एवम् हाथ, पैर, सिर व चेहरे को ये स्नायु संवेदना प्रदान करती हैं ।मांस पेशियों का स्वचालित संचालन भी इसी माध्यम से होता है । इसमें किसी प्रकार का रोग होने से स्थानीय या बड़े स्तर पर पक्षाघात हो सकता है, मांस पेशियाँ सिकुड़कर छोटी हो सकती हैं अथवा दर्द की संवेदनशीलता बढ़ सकती है । संवेदन तन्तु के निष्क्रिय हो जाने पर स्पर्श, दर्द, ताप, कम्पन आदि कोई भी संवेदना अनुभव नहीं होती । इस कारण मस्तिष्क उस अंग विशेष के संचालन में असमर्थ रहता है ।

क्र० ८. ज्योतिष्मती (मालकंगनी सिलेस्ट्रस) पैनीकुलेटस इसके लिये सर्वश्रेष्ठ औषधि है । इसे मेध्य व उष्ण होने के कारण ज्योष्मिती एवं उत्साहवर्धक होने के नाते वेग नाम दिया गया है ।अन्य नाम हैं - पीत तैला, काकाण्डकी इत्यादि । यह वस्तुत: एक लता रूप में होती है । शाखाओं पर सफेद धब्बे होते हैं । गर्मी में पीले हरे पुष्प व मटर के समान केसरी रंग के फल होते हैं । अक्टूबर से जनवरी के बीच यह पक कर तैयार होते हैं । यह सारे भारत में, समुद्र तट से ३००० फीट तक की ऊँचाई पर पैदा होती है ।

बीजों का चूर्ण अथवा तेल प्रयुक्त होता है ।यह तेल काफी गाढ़ा, तीखा, गन्धयुक्त, कत्थई रंग का होता है । इसके अतिरिक्त बीजों में सिलेस्ट्रीन व पनीकुलेटीन नामक पदार्थ भी होते हैं ।

ज्योतिष्मती वात, कफ, शामक एवं समग्र कायाकल्प के लिये

प्रसिद्ध, नाड़ी संस्थान को बल देने वाली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण औषधि है। यह मस्तिष्क की समस्त नाड़ियों का पोषण करती एवं किसी प्रकार की पोषक कमी से, संभावित व्याधि से बचाती है। यह एक दर्द नाशक वनौषधि है, जिसे बड़ी सफलता से पक्षाघात, सीयाटिका, न्यूराइटिस, न्यूरेल्जिया, सर्वाइकल स्पाइन्डोलॉसिस, बम्बेगो आदि में शीघ्र लाभ के लिये बड़ी सफलता से प्रयुक्त किया जा रहा है। वैसे तो इसका तेल ही अत्यधिक मात्रा में प्रयोग होता है; किन्तु पत्र का स्वरस किसी भी प्रकार की मादक औषधि के दुष्प्रभावों को तुरन्त मिटा देता है। विटामिन बी - १२ की कमी से मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान एवं शरीर के अन्य अंगों में जो विकार पैदा होते हैं, इन्हें यह औषधि दूर करती है। यह स्मरण शक्ति बढ़ाती है एवं उत्तेजनाजन्य मनोविकारों में शामक प्रभाव डालती है। हृदय के लिये उत्तेजक है। लोब्लडप्रेसर, ब्रेडीकार्डिया, हार्टब्लॉक में लाभकारी है। इसके प्रभावों का कारण नर्वसिनेप्सों पर स्राव उत्सर्जन के बढ़ाने के रूप में माना जाता है। यह बाजीकरण के लिए एक सुप्रसिद्ध औषधि है। बीज चूर्ण १-३ ग्राम की मात्रा जल में अथवा तेल ५ बूँद से ८ बूँद बतासे में डालकर या मिश्री के साथ प्रयुक्त होता है। नाक से सूँघने पर भी शिरोरोगों में लाभकारी है।

(२) संधि, मांस पेशियों के विकारों की चिकित्सा - संधियों पर ही शरीर का भार टिका हुआ है। शरीर के लिए सर्वाधिक कष्टकारी रोग संधियों के ही होते हैं। जब चलना तक दूभर हो जाता है। जोड़ों में लुब्रीकेण्ट की भूमिका निभाने वाला साइनोवियल फ्ल्यूड कम होने या उनमें संक्रमण होने पर संधि शोथ हो जाता है। रूमेटिक आब्राइटिस, रूमेटाइड आर्थ्राइटिस, आथ्रेल्जिया, डिस्क कम्प्रेशन आदि रोग इसी वर्ग में होते हैं। इन्हीं से जुड़ी हैं आभ्यन्तर नाड़ियाँ एवं मांसपेशियाँ, जो कहीं भी दबाव होने की स्थिति में कार्यक्षमता खो बैठती हैं। नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान की संरचना करने वाले लेक्सस संधियों से सटे रहते हैं। इनकी सूजन व इनमें इन्फेक्शन हर तरह से कष्टकारी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। कौलेजन डिसआर्डर्स, गठिया आदि

सभी रोग इसी समूह में आते हैं ।इसके लिए प्रमुख औषधियाँ हैं - निर्गुण्डी, रास्ना, सुण्ठी ।

क्र० ९. निर्गुण्डी- निर्गुण्डी की, संधि मांसपेशियों के विकार जैसे रोगों से शरीर की रक्षा करने के कारण "निर्गुण्डति शरीरम्" यह नाम दिया गया है ।इसे वायटेक्स निर्गुण्डी, सम्हालू, मेऊड़ी, नगोड़ नामों से भी जाना जाता है ।यह एक गुल्म है, जो वन्य रूप में सारे भारतवर्ष में पाया जाता है । सारे गुल्म पर सूक्ष्म रोम होते हैं । फल छोटे बैंगनी आभा लिए मार्च-अप्रैल में, २ से ८ इंच लम्बी मंजरियों में प्रकट होते हैं । वर्षा काल के आस-पास पकने पर छोटे, गोल फल बन जाते हैं, जो काली मिर्च जैसे दिखते हैं । औषधीय प्रयोजन हेतु बीज, पत्ते व जड़ प्रयुक्त होते हैं । किसी प्रकार की संधि, मांसपेशी से जुड़ी सूजन अथवा वेदना में पत्तों का स्वरस अथवा फूल व पत्तों का काढ़ा दिये जाने पर तुरन्त लाभ पहुँचाता है । यह औषधि कफ-वात शामक है । अन्तः कोशीय स्तर पर इसका शोथ हरने वाला (एण्टी इनफ्लेमेटरी) प्रभाव है । जोड़ों की किसी भी कारण से सूजन, चोट लगने, मांसपेशियों में रक्त स्राव होने, मांसपेशियों की थकान की स्थिति में नाड़ी मण्डल को उत्तेजित करने के कारण इसका लाभप्रद प्रभाव होता है । स्थानीय रूप से ताजे पत्तों का स्निग्ध लेप भी किया जाता है ।

इसकी पत्तियों में हल्के पीले रंग का तेल तथा निशण्डीन एवं हाइड्रोकार्टीलान नामक एल्केलाइड पाये गए हैं । पत्र स्वरस यदि प्रयुक्त होना हो, तो मात्रा २ से ४ चम्मच, मूल की छाल का चूर्ण आधा चम्मच एवं बीज का चूर्ण १/२ से १ चम्मच शहद के साथ लेने का प्रावधान है ।ताजा स्वरस व ताजी पत्तियों का लेप अधिक लाभकारी होता है । सिर दर्द, शोथ आदि सभी रोगों में पत्ते को गरम कर बाँधने या धूप देने से सूजन नष्ट होती व वेदना कम होती है । यह एक रसायन है । इस नाते समग्र शरीर की दुर्बलता में लाभ देता है ।

क्र० १० रास्ना - (प्लूचियालें सियोलेटा) जो रस आदि धातुओं को बढ़ाए, इस अर्थ के कारण इस नाम से जानी जाती है । इसे

युक्ता, सुगन्धा, रायसन, रूखड़ी नाम भी दिये गये हैं ।१ से ४ फीट ऊँचा इसका क्षुप झाड़ीदार होता है । श्वेत पीले रंग के पुष्प निकलते हैं एवं बहुधा यह उत्तर भारत, राजस्थान व गुजराज की बलुई मिट्टी में पाया जाता है ।

इसके पत्ते व पंचांग प्रयुक्त होते हैं । पत्तों में क्वेर्सिटीन, आइजौरैम्नेटिन नामक तत्त्व पाये गये हैं । यह वात शामक द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ औषधि मानी गयी है । पत्रों का बाह्य लेप शोथ हर वेदनानाशक प्रभाव वाला है । आंतरिक प्रयोग शरीर में तुरन्त गर्मी लाता है । रास्नादि क्वाथ ५० से १०० मिली लीटर की मात्रा में सभी प्रकार की संधिशोथों, मांस पेशियों की सूजन, सभी वात जन्य विकारों में प्रयुक्त किया जाता है । शोथ ज्वर भी पसीना देकर तुरन्त उतर जाता है । यह विरेचक भी है, आम पाचक भी एवं उदरशूल में लाभकारी है । निर्गुण्डी या सुण्ठी के साथ दिया जाने पर यह रुमेटिक आर्थ्राइटिस एवं किसी भी प्रकार के आथ्रेल्जिया में अति शीघ्र लाभ पहुँचाता है । रास्नादिक्वाथ, रास्नादि तेल, रास्नादिघृत विशिष्ट योग है । सामान्यतया पत्रों का ताजा काढ़ा या चूर्ण ही प्रयुक्त होता है ।

११- सुण्ठी (जिंजीबर आफीसीनोल) सूखे अदरक का नाम है । इसे महौषधि, विश्व भैषज कहा गया है, क्योंकि यह सर्वोपलब्ध अनेक विकारों में प्रयुक्त होने वाली औषधि है ।सोंठ, सुंठ, ड्राइजिंजर अन्य इसके नाम हैं । बहुवर्षायु इसका क्षुप २ से ४ फुट ऊँचा होता है, जिस पर शरद में पुष्प आते हैं । कन्द सुगन्धित, बहुखण्डी, हल्का पीलापन लिए होता है । यही भौमिक काण्ड औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होता है । सारे भारत में यह पैदा होती है । छाया में त्वचा को बिना हटाए सुखाया गया कन्द औषधि रूप में प्रयुक्त होता है । इसे यथा संभव नमी से बचाया जाता है । इसमें से जो तेल निकलता है, उसमें जिंजीबरीन व जिंजीराल आदि तत्त्व होते हैं । ताजी अदरक सुखाने पर ८० प्रतिशत जल वाष्पीकृत हो जाता है । इस सूखी सौंठ में महत्त्वपूर्ण अमीनों अम्ल पाये जाते हैं ।

अपनी संरचना के कारण यह औषधि सब रोगों की औषधि

है। यह जीवनीशक्तिवर्धक, नाड़ी संस्थान के लिए उत्तेजक एवं वातशामक औषधि है। एन्जाइम्स की प्रचुरता के कारण यह कफ निस्तारक, रक्त शोधक तथा जीर्ण संधिशोथ हेतु एक श्रेष्ठ द्रव्य माना गया है।बाह्य प्रयोग में इसे पीसकर आम वात व संधिशोथ में लेपन करते हैं। अरुचि में इसे भोजन के पूर्व लेते हैं। सभी प्रकार के सामान्य एवं सन्निपात ज्वरों में इसका रस अनुपान के साथ दिया जाता है। अश्वगंधा व निर्गुण्डी के साथ यह आम वात में व बाजीकरण प्रयोजन हेतु दिया जाता है। आर्द्रक स्वरस ५ से १० मिलीलीटर तथा सुण्ठी चूर्ण १ से २ ग्राम की मात्रा में पान स्वरस या मधु के साथ लिया जाता है। हरिद्रा खण्ड, पञ्चसमचूर्ण, रास्नादि क्वाथ, सुण्ठीसुरा आदि विशिष्ट योगों में यह प्रयुक्त होता है।

(ल) हृदय एवं रक्तवाही संस्थान के रोगों की चिकित्सा-आधुनिक विकास के साथ सारे विश्व में इन रोगों का बाहुल्य है।हृदय को रक्त कम मिलने से वह दर्द से चीखता है।अधिक समय क्षेप हो जाने पर उसकी मांस पेशियाँ पोषण खोकर निष्क्रिय हो जाती हैं।पहली स्थिति एन्जइना पेक्टोरिस एवं दूसरी मायोकर्डियल इन्फॉक्शन कहलाती है। हृदय की व शरीर की धमनियों में थक्का जमते जाने से एथेरो क्लेरोसीस रोग जन्म लेता है, जो उच्च रक्त चाप को जन्म देता है। हृदय को पम्प करने में असफलता, उसके बाल्ब्स के कमजोर होने के कारण भी हो सकती है व धमनियों के रक्त न पहुँचा पाने की विवशता के कारण यह कार्डियकफैल्योर को जन्म देती है। हृदय की चाल में अनियमितता भी हो सकती है। साँस फूलना, पैरों में सूजन, छाती में दर्द, धड़कन बढ़ जाना, घबराहट, सभी हृदय रोगों के चिह्न हैं। इन सभी का विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नहीं, इनके लिए निर्धारित औषधियाँ हैं, पुनर्नवा, शंखपुष्पी, अर्जुन।

क्र० १२. श्वेत पुनर्नवा :- शरीर को पुन: नवीन बना देने के गुण के कारण इसे पुनर्नवा नाम दिया गया है। यह मूत्र विरेचनीय द्रव्य है। इसे "बोअरहेविया डिफ्यूजा," शोथहनी एवं गदहपूरना भी कहा गया

है।२ से ६ फुट लम्बा इसका बहुवर्षायु क्षुप वर्षा में नये पौधे के रूप में विकसित होता है। फूल छोटे गुलाबी होते हैं। मूल स्थूल १ फुट लम्बा, मजबूत व श्वेत होता है। वर्षा में पुष्प फल रूप में परिणत हो जाते हैं। इसकी तीन जातियाँ हैं, पर औषधीय दृष्टिकोण से श्वेत पुनर्नवा को मान्यता प्राप्त है। यह सारे भारत में पाया जाता है। यह कम सुलभ है, अत: इसमें मिलावट बहुधा होती है। इसके मूल, बीज पंचांग को औषधि रूप में शरद ऋतु के बाद एकत्र कर शुष्क प्रयोग करते हैं। इसमें पुनर्नवीन नामक एल्केलाइड पाया गया है।

यह कफ, वात, पित्तशामक तथा हृदय रोग में अत्यन्त लाभकारी औषधि है। इससे हृदय की संकुचन क्षमता बढ़ती है तथा कार्डियक आउटपुट में वृद्धि होती है। हृदय में रक्त कम पहुँचने अथवा पम्प के रूप में उसकी असफलता के कारण जो कार्डियक फैल्योर जन्म लेती है, उसके लिए यह श्रेष्ठ औषधि है। इस रोग के कारण उत्पन्न सूजन में इसके पत्रों का स्वरस तथा ताजा शाक भी खिलाते हैं। इनमें पोटेशियम नाइट्रेट प्रचुर मात्रा में होता है, जो हृदय की मांसपेशियों के लिए उत्तेजक है। पोटेशियम की रक्त में मात्रा यथावत् रख मूत्र मार्ग से अतिरिक्त जल को निकाल देना इसका एक विशिष्ट गुण है। इसका सीधा प्रभाव गुर्दों पर भी देखा गया है। इस प्रकार की शोथ के लिए यह एक अत्यन्त उत्तम औषधि है। अपीडेमिक ड्रांप्सी बेरी-बेरी, पीलिया लीवर के अन्य रोगों में यह अत्यन्त लाभकारी है। इस्वीमिक हार्टडिसीज के रोगियों को नियमित रूप से देने पर, पाया गया है कि हृदय की अनियमितता व रोग के भावी अटैक की संभावना इससे काफी सीमा तक मिट जाती है। इसी नाते यह श्वास रोग में प्रयुक्त भी होती हैं।

इनका ताजा स्वरस २ से ४ चम्मच दिन में दो या तीन बार देते हैं।मधु श्रेष्ठ अनुपान है। बीज का चूर्ण १से ३ ग्राम, पंचांग चूर्ण ५ से १० ग्राम, क्वाथ २ से ३ औंस की मात्रा में प्रयुक्त होता है।

क्र० १३. शंखपुष्पी :- (कन्वाल्व्यूलस प्लूरीकांलिस) शंख के समान आकृति वाले श्वेत पुष्पों से होने के कारण इसे यह नाम प्राप्त

है। इसे मांगल्य कुसुम भी कहते हैं। शंखाहूलि एवं शांखाकलि, जन प्रचलित नाम हैं। श्वेत पुष्पों वाली शंखपुष्पी को ही औषधि की दृष्टि से वरीयता प्राप्त है। इसके क्षुप बहुवर्षीय होते हैं। जमीन पर रेंगते हैं एवं रोम युक्त २ से १२ इंच काण्ड युक्त होते हैं। शंख जैसे पुष्प मई से दिसम्बर तक लगते हैं एवं यही फल रूप में पक जाते हैं। यह सारे भारत में पथरीले व परती मैदानी इलाकों में पायी जाती है। इसके समग्र क्षुप का पंचांग चूर्ण रूप में, ताजी अवस्था में स्वरस रूप में प्रयुक्त होता है।

शंखपुष्पी का कार्यकारी घटक-शंखपुष्पीन नाम से प्रचलित है। सारी औषधि से एक उत्पत तैल निकाला जाता है, जो इसकी मेधावर्धक तथा हृदयशामक क्रिया से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

यह त्रिदोष नाशक, मस्तिष्क के लिये तनाव मिटाने वाली औषधि है। यह हृदय एवं मस्तिष्क दोनों पर समान प्रभाव डालती है। इसका एसिटाइल कोलीन द्रव्य स्नायुरस बढ़ाकर उत्तेजना मिटाने वाला है, रक्त दबाव पर अनुकूल प्रभाव डालता और संक्षोभ जन्य, तनाव जन्य, रक्त भाराधिक्य को कम करता है। साइकोसोमेटिक विकारों को यह समाप्त करता है। अपने रक्त स्तम्भक प्रभाव के कारण यह रक्त वमन के लिये सर्वश्रेष्ठ औषधि है, चाहे वह हृदय रोगों के कारण हो अथवा फेफड़ों एवं पेट की व्याधि के कारण। ज्वर में उन्माद की अवस्था में यह एक शामक है। सामान्य दुर्बलता में इसका उपयोग बलवर्धक टॉनिक के रूप में किया जाता है।

२ चम्मच के लगभग ताजा स्वरस मधु के साथ दिन में २ बार देते हैं। आधे से एक चम्मच (३ से ५ ग्राम) चूर्ण दिन में दो बार देने पर अच्छी निद्रा लाता व मेधावर्धक, रक्त चाप नाशक सिद्ध होता है। मस्तिष्क की रक्तवाही नलिकाओं का तनाव जन्य संकुचन इससे मिटता है व मस्तिष्क के हर अंग अवयव तक रक्त पूरी मात्रा में पहुँचाता है। यह सरस्वती पंचक का एक घटक है। ब्राह्मी के साथ प्रयोग करने पर यह मूलत: मस्तिष्क पर तथा अर्जुन या पुनर्नवा के साथ प्रयोग करने पर यह

हृदय पर प्रभावकारी सिद्ध होता है । यह एक श्रेष्ठ मेध्य रसायन है ।

क्र० १४. अर्जुन :- (टर्मिनेलिया अर्जुना) को धवल, वीरवृक्षा, नदी सर्ज एवं काहू या कहुआ, सादड़ों भी कहते हैं । यह एक सदा हरित नदी-नालों के किनारे सारे भारत में पाया जाने वाला ४५-५५ फुट ऊँचा वृक्ष है, जिसकी छाल बाहर से सफेद व चिकनी होती है । औषधीय प्रयोजन हेतु छाल ही प्रयुक्त होती है, अतः दो वर्षा ऋतुओं में उगने वाली छाल तीन साल के चक्र में एकत्र की जाती रहती है । फूल वसंत में आते हैं तथा सफेद या पीले मंजरियों में लगे होते हैं ।श्रावण मास में फल कमरख के समान होते हैं; शीतकाल तक पकते हैं । सही अर्जुन की पहचान यह है कि इसकी छाल अन्य पेड़ों की छाल की तुलना में कहीं अधिक मोटी तथा नरम एवं लाल रंग लिये होती है । इसकी छाल में अर्जुनिक एसिड, अर्जुनेटिन एवं बी साइटोस्टेरॉल नामक घटक पाये गये हैं ।अर्जुन की छाल को सुखाकर चूर्ण कर रूखे शीतल स्थान पर रखकर १ वर्ष तक प्रयोग किया जा सकता है ।

हृदय रोगों के लिये अर्जुन को अचूक औषधि माना गया है । यह हृदय शूल को मिटाता तथा हृदय की मांसपेशियों की शक्ति बढ़ाकर कार्डियक आउटपुट बढ़ाता है ।अर्जुन हृदय विश्राम को बढ़ाकर हृदय को मिलने वाले रक्त संरक्षण को बढ़ाता है । गुर्दों पर भी इसका प्रभाव मूत्रल है तथा रक्तवाही नलिकाओं में रक्त प्रवाह को बढ़ाता है ।यह प्रति रक्तस्तम्भक होने के नाते नलिकाओं में खून के थक्के जमने की प्रक्रिया को रोकता है ।अर्जुन उच्च रक्तचाप में लाभकारी है । हृदय की अनियमितता में भी एवं हृदय के कारण हुई कन्जेस्टिव फैल्योर में भी, अर्जुन से हृदय का स्पन्दन बढ़ता व सुनियोजित होता है । संभवतः कन्डक्शन टीश्यू के पेसमेकर पर इसका प्रभाव बढ़ता है । छाल का चूर्ण बासा पत्र स्वरस से भावित कर मिश्री के साथ प्रयुक्त होने पर जीर्ण खाँसी को दूर करता है । छाल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम दूध, मिश्री, मधु या घी के साथ दिन में २ या ३ बार प्रयुक्त होता है । छाल का क्वाथ डेढ़ से ३ औंस एवम् पत्र स्वरस लगभग [४ चाय का चम्मच] मात्रा में प्रयुक्त होता

है ।अर्जुन चूर्ण के अतिरिक्त अर्जुनारिष्ट, अर्जुनसिद्ध घृत भी प्रयोग किया जाता है ।

(ल) फेफड़े एवं ऊपरी श्वास संस्थान के रोगों की चिकित्सा :- इस संस्थान के रोगों में टांसिल्स की सूजन, पेरिजाइटिस, डिप्थीरिया, साइनोसाइटिस, एक्यूट व क्रानिक ब्रॉंकाइटिस, एम्फीजिमा [सी.ओ.पी.डी.] दमा [अस्थमा,] जीर्ण कास, ट्युबरकुलोसिस [टी.बी.] लंग एब्मेस तथा लंग का एडिनोमा [कैंसर] आते हैं । गलत ढंग से साँस लेना, सीना आगे की ओर झुका होना, धूलि कणों से लेकर पराग कणों तक विभिन्न प्रकार के डेढ़ सौ से अधिक घटकों से एलर्जी, दूषित नमी, सीलन युक्त वातावरण, धूम्र पान एवं छूत के रोगी [डिप्थीरिया, मिजल्स, टी.बी.] का सम्पर्क इन व्याधियों से किसी एक या मिश्रित रूप का कारण बनता है । फेफड़े अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माने गये हैं, क्योंकि वहाँ रक्त व श्वास मार्ग से प्रवेश करने वाली शुद्ध ऑक्सीजन एवं प्रश्वास द्वारा छोड़ी जाने वाली कार्बन डायआक्साइड का आदान-प्रदान होता है । ऊपर से नीचे तक संस्थान में कोई भी व्यतिरेक आने से कई प्रकार की व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो रक्त में विजातीय द्रव्य बढ़ाती व सारी संचालन प्रक्रिया अस्त-व्यस्त कर देती है । आज की सबसे अधिक त्रस्त करने वाली बीमारियों में इनका नाम आता है । फेफड़ों श्वास संस्थान पर काम आने वाली कुछ निर्धारित औषधियाँ है-अड़ूसा [वासा], भारंगी, कण्टकारि, शिरीष ।

क्र० १५.अड़ूसा (वासा) [एढेटोडा वेसाइका] सघन होने के कारण, स्थान को आच्छादित कर देने के कारण इसे वासक या वासा कहते हैं । अड़ूसो, वृष, वाजिदन्त इसके अन्य नाम हैं । यह एक झाड़ीदार ४-६ फुट ऊँचा क्षुप है । फूल सफेद रंग के २ से ३ इंच लम्बी मंजरियों से लगे रहते हैं, जो फरवरी-मार्च में पुष्पित होते हैं । ४ बीज वाली फली शीघ्र ही पक कर तैयार हो जाती है । यह वन्य रूप में सारे भारत में पाया जाता है । इसके ताजे फलों का स्वरस, सूखे पत्तों का चूर्ण, मूल की छाल का चूर्ण व फूल प्रयुक्त होते हैं । इसके पत्रों में एक तिक्त

एल्केलाइड वासिकिन तथा एढेटोडिक एसिड व उत्पत तेल प्रचुर मात्रा में पाये गये हैं।

वासा कफ निस्तारक एवं नाशक है। इसकी प्रमुख क्रिया श्वसन संस्थान पर ही होती है। श्वास नलियों को चौड़ा कर यह कफ को बाहर निकालता है। यह ब्रोंकोडा इलेटेशन थोड़ा ही होता है, पर स्थायी होता है। श्लेष्म को जमने नहीं देता। वेगयुक्त खाँसी, रक्त के साथ कफ निकलने पर यह श्रेष्ठ औषधि है। एक्यूट ब्रोंकाइटिस, एलर्जीक ब्रोंकाइटिस, क्षयरोग, लंगएब्सेस में बड़ी सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। पत्तियों का तेल श्वास संस्थान के हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करता है। वासा दमे के वेग में तुरन्त लाभ पहुँचाता है।पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास रोग शान्त होता है। वह कुकुरखाँसी, साइनोसाइटिस व ब्रोंकोन्यूमोनिया में भी प्रयुक्त होता है।

पत्र स्वरस [ताजा] २ से ४ चम्मच, मूल क्वाथ १ से २ औंस तक तथा पंचांग चूर्ण १० से २० ग्राम तक प्रयुक्त होता है। कभी ताजे पत्र न मिल सकें, तो छाया में सुखाये फूलों का चूर्ण मधु के साथ लाभ करता है। वासा के फूलों का गुलकन्द भी बनाया जाता है।'वासावलेह', 'वांसाँरिष्ट', वासापानक आदि विशिष्ट योग हैं।

क्र० १६- भारंगी (क्लेरोडेन्ड्रान्सेरेटम) - इसे ब्राह्मण यष्टिका, खरशाकू (रुखे पत्तों से युक्त), पद्मा एवम् बभनैटी, ग्रामीण भाषा में कहते हैं। यह २ से ६ फुट ऊँचा एक बहुवर्षीय झाड़ीदार क्षुप है। पत्तियाँ ३ से ६ इंच लम्बी नोकदार होती हैं। नीले-श्वेत सुगन्धित पुष्प अप्रैल से सितम्बर तक व उसके बाद फल आते हैं।ग्रंथि युक्त जड़ को ही प्रयोग करते हैं। यह हिमालय की तराई में पूर्व से पश्चिम तक ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

मूल की त्वचा में पैनीटॉल एवं ग्लायकोसाइड्स पाये गये हैं। विभिन्न प्रकार के सक्रिय सान्द्र अम्ल इसमें होते हैं। यह एक कफ वात शामक औषधि है, जिसमें हिस्टेमिन प्रतिरोधी (एण्टी एलर्जिक) गुण युक्त

होते हैं। श्वास रोगों में यह अत्यन्त लाभकारी है। फेफड़ों में जमा श्लेष्मा को मिटाकर यह दमे के वेग को शान्त करती तथा क्रानिक ब्रॉंकाइटिस एवं अन्य श्लेष्म स्रावी श्वास संस्थान के रोगों में लाभ पहुँचाती है। छाल का सत्त्व फेफड़ों के हिस्टामिन उत्सर्जित करता है।रक्त में जीवाणुरोधी मास्टसेल्स एवं एण्टीबॉडीज बढ़ती है व एलर्जी के प्रति रेजिस्टेन्स बनता है। मूल का स्वरस अदरक के स्वरस में मिलाकर देने से श्वास वेग तुरन्त शान्त होता है।३ से ६ ग्राम की मात्रा दिन में २ या ३ बार देते हैं। सूखी खाँसी में दही के साथ, श्वांस रोग में शहद के साथ तथा बलगमयुक्त खाँसी में अदरक स्वरस के साथ देते हैं। फेफड़ों के व्रण युक्त ज्वरों में यह एक एण्टीबायोटिक के रूप में काम करती है।

क्र०- १७ कंटकारि (सोलेनमसुरोटेन्स) कंटकों से युक्त होने के कारण कण्टकारि कहलाती है। अन्य नाम हैं- छोटी कटेरी, भटकटैया, दुःस्पर्श एवम् रेंगनी। बहुवर्षायु कण्टकित, रेंगने वाला क्षुप एक से चार फीट व्यास का वह हरे रंग का होता है। आधा इंच लम्बे काँटे होते हैं। ४ इंच लम्बे खण्डित पत्ते, नीले रंग के फूल व गोलाकार पीले फल इसकी विशेषता है। दिसम्बर से जून तक पुष्प व फल आते हैं। मूलतः नील पुष्प प्रजाति ही प्रयुक्त होती है। जो वन्य रूप में समस्त भारत में पायी जाती है।

इसका पंचांग ही प्रयुक्त होता है एवं इसमें डायोस्जेनिन नामक घटक पाया गया है। फलों में सोलेसोनिन एवं बीजों में एक उत्पत तेल होता है। यह एक कफ, वात, शामक औषधि है, जो कि अपनी मूल क्रिया फेफड़ों से हिस्टामिन उत्सर्जन के रूप में दर्शाती है। बच्चों की क्रानिक ब्रॉंकाइटिस, लेरिंनजाइटिस, स्वर, भेद, हिचकी, श्वास रोग, एलर्जिक ब्रॉंकाइटिस के लिये इसे प्रयुक्त किया जाता है। यह कफघ्न है, वह श्वास नलिकाओं को चौड़ा करती है। इसका हृदय पर भी शोक मिटाने वाला, रक्त चाप कम करने वाला तथा गुर्दों पर मूत्रल प्रभाव है।

पंचांग का क्वाथ लगभग एक पाव जल में २०-२५ ग्राम औषधि डालकर तैयार करते हैं व ४०-८० मिलीलीटर की मात्रा में दिन

में २ बार देते हैं। अदरक स्वरस, वासा, भारंगी एवम् यष्टिमधु (मुलहठी) अथवा पिप्पली के साथ संयुक्त रूप में प्रयुक्त होने पर असाध्य दमा रोग मिटाती है। व्याधिहरीतिकी इसका सुप्रसिद्ध योग है।

क्र० १८- शिरीष (अल्बी जिया लेबेक) :- शिरीष, शुकप्रिय एवं सरसड़ों इसके अन्य नाम हैं। यह बबूल परिवार का है व इसका ५० फीट ऊँचा वृक्ष प्राय: सड़कों के किनारे मिलता है। पीले सुगन्धित पत्ते अप्रैल-जून में आते व शीत में फल पकते हैं, जो लगभग आधे से एक फुट लम्बी चपटी फली के समान होते हैं। यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है। इसकी छाल, बीज, पत्ते व पुष्प प्रयुक्त होते हैं। छाल में टैनिन तथा सैपोनिन होता है।

त्रिदोषनाशक यह औषधि, रक्तशोधक, कफघ्न एवम् शोथहर है। हर प्रकार की खाँसी, श्वास रोग तथा प्रतिश्याय में इसे प्रयुक्त किया जाता है। अधिक समय से चले आ रहे कफ प्रधान रोगों में इसके बीज चूर्ण का नस्य देते हैं। श्वास रोग में पुष्पों का स्वरस, पिप्पली चूर्ण एवं मधु के साथ देते हैं। इसकी छाल का क्वाथ एवम् अवलेह भी प्रयुक्त होता है। कई विशेषज्ञों ने मुलहठी, शिरीष, कण्टकारि एवम् वासा को समानुपात में मिलाकर पकाये गये जौकुट चूर्ण के क्वाथ को श्वास रोगों में बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। चूर्ण (बीज या छाल) ३ से ६ ग्राम, स्वरस२ से ४ चम्मच, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर (१ से ३ औंस) की मात्रा में प्रयुक्त होता है। शिरीषारिष्ट इसका विशेष योग है।

(ब) ऊपरी पाचन संस्थान व यकृत प्लीहा संबंधी रोग:-

इस संस्थान के अन्तर्गत मुँह की चर्चा तो की जा चुकी है (पृष्ठ९) इसमें मुख्यत: आते हैं- खाने की फेरिंक्स व आमाशय को जोड़ने वाली नली इसोफेगस, आमाशय (स्टॉमक) ड्यूडनम व जेजुनम (छोटी आँत का प्रारंभिक भाग) तथा इलियम (छोटी आंत का शेष भाग), लीवर (यकृत), पित्ताशय एवं पक्वाशय (पैन्क्रियाज) तथा स्प्लीन (प्लीहा)। इस संस्थान से संबन्धित मुख्य रोग हैं- इसोफेगस नली में सूजन, अम्ल का प्रवेश कर जाना (रिफ्लेक्स इसोफेजाइटिस) या इसोफेगस में शोथ,

आमाशय में व्रण, अग्निमंदता (अम्ल का कम बनना) , ड्यूओडनल अल्सर, पैन्क्रियॉज, लीवर या गाल ब्लाडर की सूजन, यकृत व प्लीहा का बढ़ना, पीलिया व सिरोसिस रोग तथा इनमें से किसी का भी ट्यूमर ।

इनमें वनौषधि चिकित्सा के अन्तर्गत प्रयुक्त द्रव्य हैं- आँवला, मुलहठी, शतपुष्पा, शरपुंखा, कालमेघ । इनका वर्णन इस प्रकार है ।

क्र० १९.आमलकी (आँवला एम्बेलिका ऑफिसिनेलिस)

इसे आदिफल, अमरफल या धात्रीफल आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता रहा है । त्रिफला योग का एक घटक यह द्रव्य अपने रसायन गुण के कारण प्रख्यात है । इसका २०-२५ फीट ऊँचा वृक्ष होता है, जिस पर पंख के समान इमली के पत्तों की तरह पत्र होते हैं । पीले फूल गुच्छों में फरवरी से मई तक लगते हैं, एवं फल अक्टूबर से अप्रैल तक मिलते हैं । यह सारे भारत में समुद्र तल से ४५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है । औषधि प्रयोजन हेतु बागी आँवले की तुलना में वन्य आँवला ही प्रयुक्त होता है, जो कि छोटा व कठोर होता है । प्रयोज्य अंग फल है । जिसे माघ में संग्रह करके छाया में सुखा कर सूखे शीतल स्थान पर रख दिया जाता है । छाया में सुखाने से विटामिन सी कम से कम नष्ट होता है । छेद करके थोड़ा उबाल कर धूप में चाशनी में लपेट कर रखने से फल तीन वर्ष तक गुण धर्म बनाये रखता है व सुस्वादु बन जाता है ।आँवले के फल में ११ प्रतिशत जल व शेष कार्बोहाइड्रेट, खनिज तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में होते हैं । विटामिन बी - १ तथा सी. की प्रमुखता रहती है । प्रति १०० ग्राम लगभग ९२० मिलीग्राम एस्कार्बिकएसिड (विटामिन सी) इसमें पाया गया है ।

आँवला त्रिदोषहर है, विशेष रूप से पित्तनाशक है । अम्ल पित्त के रोगियों में यह हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उत्सर्जन कम करता है व पेप्टिक अल्सर की संभावना को मिटाता है । यह शूल निवारक है । इसमें पाया जाने वाला पदार्थ फिलेम्बिन स्पाज्मौलिटिक (आँतों की मांसपेशियों को शिथिल करने वाला) होता है । विटामिन सी की कमी से होने वाले सभी लक्षणों (मसूढ़ों की सूजन, मुँह के कोनों का फटना,

हड्डियों में स्वतः टूटन होना, कमजोरी व चिड़चिड़ाहट) को यह मिटाता है। अपने इन्जाइम्स के माध्यम से यह पाचन तंत्र को सशक्त बनाता तथा ऐसे रस स्रावों को पाचन प्रक्रिया में सहायक भूमिका निभाने हेतु उत्तेजित करता है। भोजन के प्रति अरुचि, उल्टी तथा हिचकी एवम् रक्त वमन में यह विशेष लाभकारी है। पित्त के अधिक स्राव होने के कारण होने वाली छाती की जलन इसके प्रयोग से तुरन्त मिटती है। फल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम दो बार, ताजा रस लगभग पाँच चम्मच मिश्री की चासनी या मधु के साथ दो बार एवं चूर्ण का क्वाथ गुड़ की राब के साथ एक से दो बार दिया जाता है।

क्र० २० मुलहठी (यष्टिमधु) ग्लीसराइजा ग्लेब्रा, जेठी मधु, अति मधुरम्, लिकोरिस इसके अन्य नाम हैं। यह बहुवर्षायु क्षुप है। जो कभी-कभी ६ फीट तक ऊँचा हो जाता है। अभी तक इसे भारत से बाहर अफगानिस्तान, दक्षिण रूस, ईरान, तुर्क देश से मँगाया जाता था, किन्तु अब इसे उत्तर-भारत में मँसूरी, चकराता हिस्से में भी उगा पाने में सफलता मिली है।

इसकी जड़ें ही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होती हैं। ये गोल लम्बी झुर्रीदार होती हैं। भूमिगत तना व जड़ सुखाकर छिलका हटाकर या छिलके सहित प्रयुक्त होता है। घुमची या गुञ्जा की जड़ बहुधा इसमें मिलायी जाती है। अतः सही औषधि की पहचान जरूरी है। असली मुलहठी अन्दर से पीली, रेशेदार व हलकी मीठी गन्ध लिये होती है।

यह दाह नाशक, वात-पित्तशामक, पिपासा नाश औषधि है। इसका प्रभाव अम्ल रस उत्पादक ग्रन्थियों पर पड़ता है व रस बनने की प्रक्रिया इसके प्रभाव से कम हो जाती है। पेट की जलन या दर्द को यह दूर कर पेप्टिक अल्सर के व्रणों की हीलिंग में मदद करती है। उदर शूल की यह अचूक औषधि है। यह नाड़ी संस्थान को बल प्रदान करने वाला एक रसायन है। बुद्धिवर्धक औषधि के रूप में भी इसे प्रयोग किया गया है। यह कब्ज को मिटाती है एवम् यकृत के लिए उत्तेजक है। श्वास, खाँसी व लेरिन्जाइटिस में भी इसे प्रयोग करते हैं। टी०बी० के व्रण

इसके प्रयोग से जल्दी भरने लगते हैं। कफ इसके प्रयोग से जल्दी निकलता व दमे का वेग शान्त होता है।

इसका प्रभाव घटक, जिसके कारण यह अम्ल पित्त शामक गुण दिखाती है एवम् खाने में मीठी लगती है, ग्लिसराइजिन होता है। साधारण गन्ने की शक्कर से यह ५९ गुना अधिक मीठा होता है। इसके अतिरिक्त आइसोलीक्विरिटिन, सुक्रोस व स्टेराइड हारमोन्स भी इसमें होते हैं।

एक बार में इनका ३ से ६ ग्राम चूर्ण ठण्डे जल के साथ देते हैं।मुलहठी सत्व एक बार में आधा से एक ग्राम तक देते हैं। क्वाथ रूप में १० या १५ मिली लीटर दिन में दो या तीन बार देते हैं।

क्र० २१. शतपुष्पा:- अनेक फूलों से ढँकी होने से इसे यह नाम प्राप्त है। इसे अनेथम सोवा, छत्रा एवं सुवा भी कहते हैं। एक से दो फुट ऊँचा क्षुप सारे भारत में पाया जाता है। शीतकाल में पुष्प व फल लगते हैं। मिश्रेया (फिनीक्युलम वल्गेर) नाम में इसकी ही एक प्रजाति (सौंफ) पाचन संस्थान को बल देने के प्रयोजन हेतु काम में आती है। इसके बीजों में उड़नशील तेल व एनीथॉल नामक प्रमुख तत्व होता है। इसके बीज व उनका तेल प्रयुक्त होता है।

यह कफ - वात शामक औषधि है, जो पेट में दर्द, अरुचि, वमन, अग्निमंदता, अजीर्ण तथा कृमि रोगों में प्रयुक्त होती है। सोये का अर्क उदर शूल में तुरन्त लाभ पहुँचाता है। तृष्णा, डायरिया, बवासीर में भी इसका प्रयोग लाभकारी है। यह वायु को बाहर निकाल कर आम दोष मिटाती है। चूर्ण एक से तीन ग्राम, तेल एक से तीन बूँद व अर्क २०- ४० मिली लीटर मात्रा में प्रयोग करते हैं। यह सामान्य दुर्बलता हेतु एक टॉनिक भी है। अर्क सोया, शतपुष्पादि चूर्ण, एवं शतपुष्पाकं विशिष्ट योग हैं।

क्र०२२. शरपुंखा :- (टेफ्रोजिया परप्यूरा) को प्लीहशत्रु (स्प्लीन की वृद्धि मिटाने वाला), सरफोंका तथा वाइल्ड इन्डीगो भी कहते हैं। इसका बहु वर्षायु बहुशाखा युक्त क्षुप लगभग २-२ फुट ऊँचा होता

है। ३ से ६ इन्च लम्बी पुष्प मंजरी बैंगनी रंग पुष्प लिए होती है। पुष्प वर्षा ऋतु में लगते हैं तथा फलियाँ जाड़े में आती हैं, जो १ से २ इंच लम्बी होती है। इनमें ६-८ भूरे रंग के बीज होते हैं। यह सारे भारत में पाई जाती है। पत्तियों तथा मूल में रूटिन व रुटिनाइड नामक पदार्थ होते हैं। बीजों से एक तेल निकलता है।औषधि प्रयोजन हेतु मूल व पंचांग का क्षार प्रयोग करते हैं।

यह कफ, वात शामक औषधि है। जिसे मूलत: यकृत प्लीहा वृद्धि (हिपेटोस्पीलीनोमेगाली) में प्रयुक्त किया जाता है। उदरशूल, अग्निमंदता, कब्ज में यह विशेष लाभकारी है। शरपुंखा मूल या क्षार का प्रयोग यकृत् की सूजन कम करने एवं प्लीहा में ब्लड कन्जेशन मिटाने हेतु प्रयुक्त करते हैं। यह कृमि नाशक भी है। जीर्ण ज्वर, जिसमें हिपेटाइटिस कारण हो तथा सिरोसिस आफ लीवर रोग में इसे विशेष रूप से लाभ पहुँचाने वाला कहा गया है। चूर्ण ३से ६ ग्राम, स्वरस २ से ४ चम्मच तथा क्षार १ से ३ ग्राम प्रयुक्त करते हैं॥

क्र० २३. कालमेघ (एण्ड्रोग्राफिंस पैलीकुलेटा) इसे भूनिम्ब, कल्पनाथ, करियातु नाम से भी जाना जाता है। इसका १ से ३ फीट ऊँचा क्षुप होता है। पत्ते भालाकार होते हैं तथा बैंगनी धब्बे युक्त श्वेत पुष्प मई से सितम्बर में आते हैं। फल चिकने रोम युक्त होते हैं। अक्टूबर तक पक जाते हैं। सारे भारत के मैदानी इलाके में होता है। इसमें कालमेघिन तथा एण्ड्रोग्राफोलिड नामक तिक्त पदार्थ पाए गए हैं।इस औषधि का पंचांग प्रयुक्त होता है।

यह कफ-पित्त शामक, यकृत उत्तेजक औषधि है, जिसे सभी प्रकार के लीवर के रोगों में प्रयोग किया जाता है। यह अग्निमंदता को दूर कर यकृत् वृद्धि कम करता है। कब्ज व कृमि रोग में भी यह लाभकारी है। यह पित्त सारक एवं रेचक औषधि है। अपने ज्वरघ्न रक्त शोधक गुण के कारण यह मलेरिया जन्य यकृत प्लीहावृद्धि तथा अल्कोहलिक व न्यूट्रीशनल सिरहोसिस में प्रयुक्त होता है। ज्वर के पश्चात् की दुर्बलता इसके प्रयोग से मिटती है।

पंचांग चूर्ण १ से ३ ग्राम, स्वरस ५ से १० मिली लीटर, क्वाथ २० से ४० मिली लीटर तथा तरल सत्व (लिक्विड एक्सट्रैक्ट) आधा से १ मिली लीटर की मात्रा में प्रयुक्त होता है। इसे शीत के आरम्भ में छाया में सुखाकर सुरक्षित रख देते हैं। चिरायता का यह प्रतिनिधि घटक है। अत: बहुधा चिरायता में इसकी मिलावट होती देखी जाती है।

(श) निचला पाचन संस्थान व उससे संबंधित रोग:-

इसमें विशेष रूप से बड़ी आँत के कोलोन, रेक्टम, एनल रीजन आते हैं। एपेन्डिक्स भी इसी से संबंधित अंग हैं। कोलोन में जीवाणु, कृमि या परजीवी अमीबा सूजन पैदा कर सकते हैं। नतीजा कोलाइटिस के रूप में होता है। इसमें डायरिया (प्रवाहिका) भी हो सकता है व डिसेण्ट्री भी, जिसमें रक्त मिश्रित मल भी हो सकता है व आँव भी। डायरिया में बार-बार लैट्रिन जाने की इच्छा होती है, पर हर बार पानी अधिक, मल कम निकलता है। अमीबिक हिपेटाइटिस व कोलाइटिस साथ-साथ हो सकते हैं। कृमियों में थ्रेडवर्म, पिनवर्म, राउण्डवर्म, जिआर्डिया इत्यादि हो सकते हैं। जो गुच्छे के रूप में जमा होकर विबन्ध एवम् गुल्म (कान्सटीपेशन व इलियस) एवम् डायरिया भी पैदा कर सकते हैं। भारत में इस रोग की बहुतायत है। यह भोजन मार्ग से पानी द्वारा फैलता है। बवासीर, पेचिस, एनल फिशर व फिस्चुला बड़ी आँत के अन्तिम भाग से संबंधित रोग हैं। कभी-कभी उद्वेगों, तनाव के कारण भी कब्ज बना रहता है। यह बवासीर को बढ़ाता है। कभी-कभी तनाव ही बार-बार हाजत एवम् आँव आने के रूप में प्रकट होता है। इसे 'इरीटेबुल बॉवेल सिण्ड्रोम' कहते हैं।

इसमें प्रयुक्त औषधियाँ है- हरीतकी(हरड़) ,बिल्व, अमलतास, नागकेशर, कुटज एवं बायविडंग।

क्र०. २४. हरड़ (टर्मीनिलिया चेब्युला) को हरीतकी, मनुष्यों की माता के समान हित करने वाली कहा गया है। इसे अमृतोपम औषधि मानते हुए अभया, पथ्या नाम भी दिये गये हैं। आयुर्वेद के ग्रंथकार इसकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'तू हर (महादेव) के भवन में उत्पन्न

हुई है, इसलिए अमृत से भी श्रेष्ठ है।' हरड़ की मूल उत्पत्ति- स्थली गंगा तट है। यहीं से सारे भारत व विश्व में फैली है। यह ५० फीट ऊँचा वृक्ष होता है एवम् सारे भारत में पूर्व से पश्चिम तक ५००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। छाल भूरे रंग की, फूल छोटे पीताभ श्वेत मंजरी में तथा फल १ से २ इंच लम्बे अण्डाकार होते हैं। कच्चे फल हरे व पकने पर पीले धूमिल होते हैं। फल शीतकाल में लगते हैं, जिन्हें जनवरी से अप्रैल के मध्य संग्रह करते हैं। बड़ी व छोटी दो में से छोटी हरड़ को अधिक निरापद व सौम्य प्रभाव डालने वाली माना गया है।

हरड़ के फल में टैनिन रूप में सक्रिय संघटक चेबुलेजिक एसिड, चेबुलिनीक एसिड व गेलिक एसिड हैं। एन्थ्राक्वीनिन जाति के ग्लाइकोसाइड रेचक क्रिया में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। हरड़ त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होती है। इसे लवण के साथ कफज, शक्कर के साथ पित्तज एवम् घृत के साथ वातज विकारों में देते हैं। हरड़ का टैनिन अम्ल आँतों की श्लेष्मा झिल्लियों पर ऐसा अनुकूल प्रभाव डालता है,ताकि उसके मल भाग की रक्षा हो सके। आँतों को संकुचित कर यह रस स्राव को कम करता है। ग्राही प्रभाव के साथ- साथ इसका प्रमुख गुण रेचक है। पुरानी कब्ज की जीर्ण आँतों को, बिना कोई हानि पहुँचाये यह तुरन्त लाभ दिखाता है। इसका जीवाणुनाशी प्रभावी बाह्य रोगाणुओं को नष्ट करने व दुर्गन्ध मिटाने के रूप में होता है। हरड़ मूलत: वात-शामक होने के कारण नाड़ियों को बलवान् बनाता है, तथा अन्तर्कोशीय शोथ मिटाता है: कृमि रोगों, संग्रहणी, बवासीर आदि रोगों में यह लाभ पहुँचाकर सात्मीकरण स्थिति लाता है। यह पित्त को कम करता है, आमाशय को व्यवस्थित तथा फूले बवासीर के मस्सों की नसों की सूजन कम करता है। इसे पीलिया, अग्निमन्दता तथा यकृत्प्लीहा वृद्धि में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

हरड़ का फल ही प्रयोग में आता है। सुखाये फलों का चूर्ण एक से तीन वर्ष तक प्रयुक्त किया जा सकता है। डिसेण्ट्री में इसे उबालकर, गेस्ट्राइटिस में मुँह में रखकर चबाकर, कब्ज में चूर्ण रूप में

तथा त्रिदोष विकारों में भूनकर लेते हैं। बवासीर एवं खूनी पेचिस में हरड़ चूर्ण दही या मट्ठे के साथ देते हैं। मस्सों की सूजन उतारने के लिए हरड़ क्वाथ का एनीमा भी लिया जाता है। अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, चित्रक हरीतकी, हरीतकी खण्ड आदि विशिष्ट योग हैं।

क्र० २५ बिल्व (बेल-इगल मर्मेलोज) विभिन्न प्रकार के रोगों को नष्ट करने की क्षमता के कारण बेल को विल्व कहा गया है। अन्य नाम हैं- शाण्डिल्य, श्री फल, गन्धगर्भ, सदाफल तथा विल्वम्। यह सारे भारत में, हिमालय की तराई में चार हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। १५ से ३० फीट ऊँचे कण्टक युक्त वृक्ष फलों से लदे होते हैं। पत्ते संयुक्त त्रिपत्रक होते हैं। मई में नये पुष्प आते हैं, तथा फल दूसरे वर्ष मई-जून मास में पकते हैं। जंगली बेल में फल छोटा व काँटे अधिक होते हैं। यही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होते हैं। फल की मज्जा में म्युसिलेन पेक्टिन, टैनिन्स, जैसे ग्राही तथा मार्सेलोसिन एवं बीजों का एक तिक्त उत्पत तेल रेचक पदार्थ है।

वैद्यगणों ने इसे उत्तम संग्राही द्रव्य बताया है। यह कफ, वात, शामक है एवं पाचन संस्थान को सशक्त बनाता है। मूल की त्वचा व कच्चे फल का प्रयोग अग्निमंदता, अतिसार, प्रवाहिका एवं डिसेण्ट्री में होता है।पुरानी पेचिस, दस्त व बवासीर में इससे तुरन्त लाभ पहुँचता है। कब्ज टूटता है व मस्सों के बढ़ने की प्रवृत्ति मिटती है। हैजे के विषाणु पर इसका सशक्त प्रभाव देखा गया है। अल्सरेवटि कोलाइटिस जैसे रोगों में यह लाभ देकर नाड़ियों को बल प्रदान करता है। ताजे कच्चे फल का स्वरस, जल निष्कर्ष एवम् बिल्व फल चूर्ण संग्रहणी, हैजे जैसे संक्रामक रोगों में सफलता पूर्वक प्रयुक्त किया गया है। बेल फल का म्युसिलेज आँतों के अंदरूनी घावों को स्वस्थ बनाकर समर्थ बनाता है। मल संचय इससे रुकता है। बिल्व घोल का आँतों पर एड्सावेरन्ट एवं रक्षक प्रभाव देखा गया है। बिल्व फल मज्जा की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका कृमिनाशक (विशेषकर हुक वर्म, पिनवर्म व थ्रेडवर्म के लिए) रूप में है। कच्चे फल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम की मात्रा में, स्वरस १०

से २० मिलीलीटर एवं मज्जा का शरबत ३० से ४० मिलीलीटर लिया जाता है। मुख्य अनुपान शहद या मिश्री है। पत्र स्वरस भी पेचिस व कब्ज में लाभ पहुँचाता है। कच्चे फल का गूदा गुड़ के साथ पका कर रक्तातिसार में लाभ पहुँचाता है। काली मिर्च के साथ देने पर बिल्व पत्र स्वरस पीलिया व पुराने कब्ज में लाभकारी पाया गया है। शरीरगत शोथ (सूजन) में भी यह लाभ पहुँचाता है।

क्र०२६. अमलतास (कैसिया फिस्टुला) को आरग्वध (अनेक रोगों को नष्ट करने वाला), चतुरगुल, आरेवत, व्याधिघात सुवर्णक एवम् सियरलाठी जैसे नामों से भी पुकारा जाता है। इसका २५ फीट का मध्यम परिणाम का वृक्ष अपने १० -१२ इन्च लम्बे लट्ठाकार पत्रों एवं १ से २ फुट लम्बी फलियों के कारण अलग से पहचाना जा सकता है। चमकीले पीले रंग के फूल नयी-पत्तियों के साथ अप्रैल के बाद निकलते हैं व सारी गर्मी बने रहते हैं। बाद में फलियाँ पकती हैं, जो वर्ष भर लगी रहती हैं। यह वृक्ष सारे भारत में पाया जाता है। फल मज्जा, पुष्प एवम् मूल की त्वचा औषधि हेतु प्रयुक्त होती है।फल मज्जा में एन्थ्राक्विनोन, रेशे, शक्कर, ग्लूटीन, पेक्टिन पाये गये हैं। जो इसके रेचक होने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

यह एक वात- पित्त शामक एवम् कफ का संशोधन करने वाली औषधि है। अपने मृदु विरेचन गुण के कारण यह सुविख्यात है। भोजन के प्रति अरुचि, जीर्ण कब्ज, उदरशूल (कोलिक), लीवर की सूजन व पीलिया में इसका प्रयोग तुरन्त लाभ पहुँचाता है। यह मूत्रल भी है एवम् शोथ हर भी। हृदय जन्य जल संचय एवम् शोथ में इसका प्रयोग लाभ पहुँचाता है।

फल की मज्जा ५ से १० ग्राम (विरेचन हेतु १०से २० ग्राम) एवम् मूल त्वचा का क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर प्रयोग करते हैं। फल मज्जा का क्वाथ नहीं बनाना चाहिएक्योंकि इससे उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसकी पकी फलियों को सात दिन तक बालू के भीतर रख कर, उसके बाद धूप में सुखा दिया जाता है। अच्छी तरह सूख जाने

पर फल मज्जा निकालकर शुद्ध शुष्क पात्र में रख लेते हैं। इसका हिम या फाण्ट ताजा बनाकर प्रयुक्त करते हैं। आरग्वधादि तेल, आरग्वधारिष्ट विशिष्ट योग हैं।

क्र० २७. नागकेशर (मेसुआ फेरिया) इसे नागपुष्प, चाम्पेय, पीला नागकेशर एवं नागेश्वर भी कहते हैं। यह एक सदाहरित मध्यम ऊँचाई का वृक्ष है। जिसकी छाल लाल - भूरी तथा शाखाएँ कोमल होती हैं। छाल से बबूल के समान गोंद निकलता है। पत्ता २से ६ इंच लम्बे नुकीले कोने वाले होते हैं। फूल २-३ एक साथ निकलते हैं एवम् पीले गुच्छों में होते हैं। फल डेढ़ इंच लम्बा अण्डाकर होता है, जिसके भीतर बीज होते हैं। पुष्प वसंत में तथा फल शरद में लगते हैं। औषधि हेतु पुंकेशर (पुष्पों के अन्तः दण्ड) प्रयुक्त होते हैं। यह पहाड़ी क्षेत्रों में ५ हजार फीट ऊँचाई तक पाया जाता है। पुंकेशर में तिक्त पदार्थ एवम् एक पीत रंजक द्रव्य होते हैं। पुष्पों से भूरे रंग का सुगन्धित तेल प्राप्त होता है। बीजों का तेल मैसुआल नामक पदार्थ युक्त होता है।

यह एक कफ, पित्त शामक औषधि है, जो पाचन संस्थान में विशेष रूप से अर्श (बवासीर) फिस्चुला, फीशर्स आदि पर ग्राही प्रभाव रखती है। खूनी बवासीर रोकने में पुंकेशर का चूर्ण अतीव लाभकारी है। अग्निमंदता, अजीर्ण,कृमि एवम् प्रवाहिका में यह औषधि विशेष रूप से लाभकारी है। इसे रक्त पित्त, विकार एवम् रक्त प्रदर में भी प्रयोग करते हैं। पुंकेशर का चूर्ण १ से ३ ग्राम की मात्रा में जल अथवा मधु के साथ प्रयुक्त होता है।

क्र० २८. कुटज (होलेरिना एण्टीडिसेण्ट्रीका) इसे कूट, कुड़ा वृक्षक, इन्द्रवृक्ष नाम भी दिये गये हैं। इसका वृक्ष लगभग ३५ फीट ऊँचा रूखी पीली छाल वाला होता है। पत्ते बड़े कदम्ब के पत्ते के समान,फूल सफेद तथा लगभग १ फीट लम्बे बेलन के आकार के होते हैं। जौ के समान बीज एक शिम्बी में लगभग २५ होते हैं। इन्हें इन्द्र जौ कहा जाता है। मई से जुलाई तक पुष्प व जाड़े में फल लगते हैं। कुटज, पुंकेशर के अनुसार स्त्री व नर जाति का होता है। रंग भेद से भी श्वेत व

कृष्ण कुटज कहे गये हैं। यह सारे भारत में चार हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी छाल में कोनेसिन सहित १७ एल्केलाइड पाये गये हैं। बीजों से उग्रगन्ध लिए एक उत्पत तेल निकलता है। आठ से बारह वर्ष की आयु के वृक्ष की छाल का संग्रह शरद ऋतु में किया जाता है। यही वह औषधि है,जब एल्केलाइड्स अधिक मात्रा में इसमें होते हैं।

यह एक कफ, पित्त शामक औषधि है, जिसका मूल कार्य बड़ी व छोटी आँतों में विद्यमान अमीबा एवम् अन्य कृमियों पर होता है। यह बवासीर मिटाता व कब्ज को दूर करता है, साथ ही प्रवाहिका में भी लाभ पहुँचाता है। एन्टेराइटिस व कोलाइटिस में इसका असर तुरन्त देखा जा सकता है। अग्निमन्दता, अतिसार, उदरशूल एवम् अर्श में विशेष रूप से लाभकारी है। इसकी छाल का चूर्ण एवं क्वाथ प्रयुक्त होता है। क्वाथ हेतु ४ से ५ चम्मच चूर्ण एक पाव पानी में गरम कर आधा रह जाने पर दिन में ३बार लेते हैं। चूर्ण ३से ६ ग्राम सबेरे शाम लिया जाता है। कुटजारिष्ट, कुटज सुरा तथा कुटजावलेह विशिष्ट योग हैं।

क्र० २९. बिडंग (एल्बेलिया राइबिस) :- इसे कृमिघ्न (कृमियों का नाश करने वाला) बायबिडंग, बावडींग भी कहते हैं।यह एक छोटा सा गुल्म होता है, जो भारत के पर्वतीय प्रदेशों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

बिडंग के पुष्प श्वेत वर्ण से रोमयुक्त शाखाओं में मंजरियों में लगे होते हैं। प्रयोज्य अंग फल होता है, जो मिर्च के समान गोलाकार, झुर्रीदार, थोड़े लाल-काले रंग के व गुच्छों में लगते हैं। फल के बीच एक झिल्लीदार बीज होता है, जिस पर सफेद दाग होते हैं। बिडंग के फलों में काफी मिलावट होती है, अतः सही पहचान जरूरी है। इसके बीजों में एम्बेली नामक घटक, एक उड़नशील तैल, टैनिन्स तथा क्रिस्टेम्बीन नामक एक एल्केलाइड होता है।

यह एक कफ-वात शामक रसायन है, जिसकी उत्तेजक क्रिया शरीर के सभी अंगों पर होती है।दाँत में कृमि होने एवं दन्तशूल होने पर

बिडंग क्वाथ का कुल्ला कराते हैं। यह अग्निमंदता मिटाता है। कृमिघ्न (एन्टीहेल्मीन्थिक) द्रव्यों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है। फाइलेरिया टीनिया सभी प्रकार के हेल्मीन्थ वर्म्स में खाली पेट एक से दो चम्मच बिडंग का चूर्ण देने व जुलाब देने पर वर्म्स से मुक्ति मिलती है। बाद में इन्द्र जौ के साथ देते रहने पर लाभ स्थाई पाया गया है। यह एक प्रकार का रक्तशोधक है एवम् विरेचन तथा मूत्रल गुण द्वारा विकारों को बाहर निकाल फेंकता है, कब्ज व अर्श (पाइल्स) में भी इसका प्रयोग किया गया है। क्षयग्रस्त शिशुओं में इसे रसायन कर्म हेतु प्रयुक्त किया जाता है। फल का चूर्ण ५से १० ग्राम की मात्रा में तथा बीज चूर्ण १से २ ग्राम की मात्रा में दूध में उबाल कर या तक्र (छाछ) के साथ देते हैं। बिडंगादि चूर्ण, बिडंग तैल, बिडंगलौह विशिष्ट योग हैं।

(घ) मूत्रवाही एवं प्रजनन संस्थान:- दोनों संस्थान परस्पर सम्बन्धित हैं। संरचना की दृष्टि से जुड़े होने पर भी कर्म दोनों के अलग-अलग हैं। मूत्रवाही संस्थान में गुर्दे, मूत्रवाही नलिका (यूरेटर्स) मूत्राशय (यूरीनरी ब्लैडर) तथा यूरेथ्रा आते हैं। जिनके माध्यम से मूत्र विसर्जन प्रक्रिया पूरी होती है। सारे शरीर का रक्त गुर्दों से हृदय की हर धड़कन के साथ गुजरता है। एक मिनट में ४से ५ लीटर रक्त गुर्दों की छलनी के माध्यम से निकलता है। ग्लोमरयुलस नामक छलनी व वहाँ स्थित विशेष सेन्सर सेल्स यह निर्धारित करते हैं कि किसे बाहर जाना है व किसे रक्त में ही बने रहना है। गुर्दों के रुग्ण होने, छलनी की कार्यक्षमता अवरुद्ध बने रहने पर शरीर में विकार द्रव्य व जल एकत्र होने लगते हैं तथा एक्यूट व बाद में क्रानिक रिनलफैल्योर की भी स्थिति आती है। यह स्थिति संक्रमण (नेफ्राइटिस, नेफ्राएटिसपाइलो) के कारण भी हो सकती है एवं मार्ग में अवरोध (पथरी,वर्म्स या ट्यूमर) आने पर भी ऐसा हो सकता है। शरीर संस्थान की चयापचयिक गतिविधियों में व्यतिक्रम के कारण पथरी का बनना संभव हो पाता है।महिलाओं की यूरेथ्रा नलिका छोटी होने से उन्हें संक्रमण होने के अवसर ज्यादा रहते हैं।

प्रजनन संस्थान में पुरुषों में अण्डकोष-टेस्टीस, एपीडिडीमिस व शुक्रनलिका तथा सेमींनलवेसीकल व प्रोस्टेट नामक ग्रन्थियाँ होती है। ये प्रोस्टेट व यूरेथ्रा के संधिस्थल पर यूरेथ्रा में खुलती है, तब दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। महिलाओं में डिम्बाणु बनाने वाली ओवरी, वाहक नली- फैलोपियमट्यूब तथा गर्भाशय, सर्विक्स व वेजाइना आते हैं। इस छोटी सी पुस्तिका में बाजीकरण- शुक्रजनन व महिलाओं के बन्ध्याकरण के उपचार की चर्चा नहीं की गयी है। मात्र संक्रमण होने पर क्या उपचार संभव हो सकता है, इसका वर्णन है। पुरुषों में प्रोस्टेट का बढ़ना व महिलाओं में मासिक धर्म की अनियमितता, अति रक्तस्राव व पेल्विकइन्फ्लेमेटरी डिसआर्डर्स (पी० आई० डी०) का वर्णन है। इन संस्थानों पर कार्य करने वाले द्रव्य हैं- गोक्षुर, वरुण, अशोक एवं लोध्र।

क्र०३०. गोक्षुर (ट्रिवलस टेरेस्टीस) यह एक वन्य औषधि है, जिसे गोखरू नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसके तेज वाँटे पशुओं के पैर में चुभकर उन्हें घायल कर देते हैं। इसे त्रिकण्टक, श्वदंष्ट्रा ईक्षुगन्धिका, हथचिंकार, न्हानागोा खरू नाम से भी पुकारते हैं। यह घास जैसी जमीन पर फैलने वाला क्षुप है। पूरे वर्ष यह हरा-भरा रहता है। दो- तीन फीट लम्बी इसकी शाखाएँ चारों ओर फैली होती हैं। पत्ते चने के पत्तों की तरह, पुष्प छोटे पीले रंग के तथा फल गोलाकार अनेक खण्डयुक्त होते हैं, जिनमें तीक्ष्ण काँटे होते हैं। प्रत्येक खण्ड में बीज होते हैं। मूल से गन्ने के समान गंध आती है। शरद ऋतु में पुष्प व बाद में फल लगते हैं।

पत्तियों में जल प्रोटीन व क्षार तथा खनिज पदार्थ पाये जाते हैं। हरमन नामक एक एल्केलाइड क्षुप में तथा बीज में हरमिन नामक एल्केलाइड होता है। कई प्रकार के सैम्पोनिन्स भी पाये गये हैं। यह एक वात-पित्त शामक, मूलतः मूत्रल एवं पथरी नष्ट करने वाली औषधि है। सभी प्रकार के गुर्दे के विकारों व शोथ में इसका प्रयोग चमत्कारी लाभ दिखाता है। मूत्र की मात्रा बढ़ती है, शूलजन्य वेदना कम होती है तथा १५ दिन में मूत्र मार्ग से पथरी टूट-टूट कर निकलकर विसर्जित हो जाती

मिलाकर चार गुने पानी में औटा कर क्वाथ बनाते हैं व दिन में दो बार प्रयुक्त करते हैं।

क्र० ३२. अशोक (साराका इण्डिका या जोनेसिया असोका) स्त्रियं के समस्त शोकों को दूर भगाने के कारण इसे अशोक कहते हैं, इसे हेम पुष्प व ताम्र पल्लव नाम से भी पुकारते हैं। इसका सदा हरा रहने वाला वृक्ष आम के समान २५से३० फुट ऊँचा होता है। छायादार तना कुछ लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। यह वृक्ष सारे भारत में पाया जाता है। इसके रक्ताभ पुष्प सघन गुच्छों में वसन्त में निकलते हैं तथा फलियाँ जो ८ से १० इंच लम्बी चपटी होती हैं, शरद में लगती हैं। औषधीय प्रयोजन में छाल (त्वक्) पुष्प और बीज प्रयुक्त होते हैं। असली अशोक व सीता अशोक, पेण्डुलर अशोक जैसी बगीचे की प्रजातियों में गुण की दृष्टि से भारी अंतर होता है। वृक्ष की छाल पौष या माघ माह में एकत्र कर शुष्क शीत पात्र में सुरक्षित रखते हैं। पुष्पों को वर्षा में तथा कलियों को शरद के पूर्व संग्रह करते हैं।

इसकी छाल में हीमेटॉक्सीलिन, टैनिन कैटेकॉल, ऑक्सीटोसिन से मिलता -जुलता एक ग्लाइकोसाइड पीटूसैपोनिन एवं कार्बनिक कैल्शियम पाये गये हैं। छाल में विद्यमान ये संघटक गर्भाशय को उत्तेजित कर संकुचन बढ़ाते हैं। यह हानि रहित होता है। प्रायोगिक स्तर पर ट्यूमर कोशिकाओं में सामान्यीकरण होते भी देखा गया है।

यह कफ पित्त शामक एवं योनि दोषों के लिए एक श्रेष्ठ औषधि है। इसके सेवन से मासिक धर्म की अनियमितता दूर होती है, बाँझपन का कष्ट मिटता है एवं श्वेत तथा रक्त प्रदर से मुक्ति मिलती है। गर्भाशय के अर्बुदों तथा अति रक्तस्राव (मिनोरेजिया) में यह लाभकारी है। इन्डियन फार्मेकोपिया में भी इसके टिंक्चर को मान्यता प्राप्त है। अशोक का प्रधान प्रभाव गुर्दों, मूत्राशय एवं योनिमार्ग पर होता है। गर्भाशय की अन्तः कला (इन्टरनल लेयर) के अलावा ओवरी पर भी इसका उत्तेजक प्रभाव है। मासिक धर्म के समय दर्द तथा प्रसव के बाद कमजोरी के लिए इसे देते हैं। इसके बीजों का चूर्ण मूत्र कृच्छ व पथरी हेतु प्रयुक्त

होता है। छाल का चूर्ण १० से १५ ग्राम, बीज व पुष्प चूर्ण ३से ६ ग्राम, छाल का क्वाथ ५० मिली लीटर मात्रा में प्रयुक्त होता है। यह रक्त शोधक भी है एवं ज्वर नाशक भी। श्वेत प्रदर में इसे मिश्री व गाय के दूध के साथ तथा मिनोरेजिया में शरबत के रूप में देते हैं।

क्र० ३३. लोध्र (सिम्पलोकॉस रेसिमोसा) इसे स्थूल वल्कल (मोटी छाल वाला) एवं लोधर भी कहते हैं। इसका सदाबहार मध्यम ऊँचाई का वृक्ष होता है, जिसकी छाल काफी मोटी तहों में हल्के लाल रंग की होती है। २ से ४ इंच लम्बे पुष्पदण्डों पर पीले सुगन्धित पुष्प लगते हैं।फल १/२ इंच लम्बा कड़ा व बैंगनी होता है।यह सारे भारत में विशेष कर उत्तरी तथा मध्य भारत के मैदानी इलाके में पाया जाता है। इसकी छाल में लोट्युरिन लोट्युरिडिन नामक एल्केलाइड तथा दो सक्रिय ग्लाइकोसाइड पाये गये हैं।

यह कफ, पित्तशामक, रक्त स्तम्भक औषधि है, जिसकी अंतः अंगों की मांसपेशियों पर संकोचक क्रिया होती है। अति रक्त स्राव, (जो गर्भाशय की स्थानिक अथवा संस्थानिक व्याधियों के कारण हो सकता है) को यह रक्तवाही नलिकाओं पर अपने संकोचक प्रभाव द्वारा रोकता है। गर्भाशय की सूजन, एण्डो मेट्रीओसिस, श्वेत व रक्त प्रदर, फैलोपियन ट्यूब की सूजन, पेल्विक इन्फ्लेमेटरी डिसआर्डर्स (पी० आय० डी०) में इसके प्रयोग से तुरन्त लाभ पहुँचता है। ग्रेटन्ड एबार्शन में व उसके बाद भी तथा प्रसव के बाद गर्भाशय को सामान्य अवस्था में लाने व भावी संक्रमण रोकने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। गर्भाशय-योनि संबंधी रोगों में इसके क्वाथ की योनि वस्ति (वेजाइनलडूश) भी देते हैं। थक्का जमाने की प्रक्रिया बढ़ाकर व सूक्ष्म केपिलरीज को संकुचित कर डीसफंक्शनल यूटेराइन ब्लीडिंग में यह बड़ा उपयोगी है। औषधि प्रयोजन हेतु एल्केलाइड प्रधान छाल ही प्रयुक्त होती है। छाल का चूर्ण १ से ३ माशा व क्वाथ ५० से १०० मिली लीटर प्रयुक्त करते हैं। लोध्रासव, लोध्रादिक्वाथ इसके विशिष्ट योग हैं। अशोक के साथ भी इसे विभिन्न योनि दोषों में प्रयुक्त करते हैं।

(स) रक्तशोधन एवं संक्रमणः- ये दोनों ही शब्द किसी संस्थान विशेष से सम्बद्ध नही हैं। रक्त शोधक, रक्त की अशुद्धि आयुर्वेद में प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जिसमें संस्थानगत विकारों के एकत्र होने का ऊहापोह होता है। संक्रमण आधुनिक आयुर्विज्ञान (एलोपैथी) का शब्द है, जिसके अंतर्गत जीवाणु- विषाणु विभिन्न मार्गों से शरीर पर आक्रमण कर रक्त में पहुँचते व वहाँ से विभिन्न अवयवों को क्षति पहुँचाते हैं। बीच का मार्ग यह है कि जीवनी शक्ति के क्षीण पड़ने पर शरीर का सुरक्षा संस्थान अपनी भूमिका ठीक से नहीं निभा पाता एवं संक्रामक रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश से रोक नहीं पाता, जिसकी परिणति रक्त की अशुद्धि के रूप में होती है। गिलोय, सारिवा, खदिर एवं चिरायता ये चारों द्रव्य प्रति संक्रामक (एन्टीबायोटिक) भी हैं और रक्तशोधक भी तथा शरीर के प्रतिरोधी संस्थान को सशक्त बनाने वाले बलवर्धक रसायन भी।

क्र० ३४. गिलोय (टीनोस्पो राकॉर्डीफोलिया) को अमृता, गुडूची, मधुपर्णी, तन्त्रिका, कुण्डलाकार, चक्रलक्षणिका एवम् गुडिच भी कहते हैं। यह एक बहुवर्षीय आरोही लता है, जो नीम, आम आदि बड़े वृक्षों पर कुण्डलाकार चढ़ती है। अमृत के समान गुणकारी होने से इसे अमृता नाम प्राप्त है। ज्वर निवारक होने के कारण इसे नवजीवन प्रदातक जीवन्तिका नाम भी प्राप्त है। इसका काण्ड एक अंगुली बराबर मोटा होता है। स्थान-स्थान से जड़ें निकल कर नीचे झूलती हैं। ऊपरी पतली त्वचा हटा देने पर नीचे का हरा मांसल रेशेदार भाग दिखाई पड़ता है। पत्ते हृदय के आकार के होते हैं। वर्षा में पुष्प व शीतकाल में फल लगते हैं। नीम पर चढ़ी गिलोय उसी का गुण अवशोषित कर लेती है, अतः श्रेष्ठ मानी गई है। ताजी औषधि का कल्क अधिक गुणकारी है। गिलोय का घनसत्व अधिक समय तक सुरक्षित रहता है। काण्ड को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर वर्षा से पूर्व सुखाकर चूर्ण बना लेने पर प्रयुक्त किया जा सकता है। इसमें बरबेरीन नामक एल्केलाइड तथा गिलोइन नामक ग्लाइकोसाइड पाया जाता है।

यह त्रिदोषहर, रक्तशोधक, प्रति संक्रामक व ज्वरघ्न है। गिलोय एक रसायन एवं शोधक है, जो जरा को कभी समीप नहीं जाने देती व सात्मीकरण द्वारा शरीर का कायाकल्प कर देती है। किसी भी प्रकार के रोगाणु से जन्म लेने वाले रक्त विकार, जीर्ण विषम ज्वर तथा यकृत् की कमजोरी को दूर कर यह रोगी को स्वस्थ करती है। इसे एक प्रकार की कुनैन माना जा सकता है। मलेरिया बुखार के चक्र को यह तोड़ती है। पुराने टायफाइड, क्षय रोग, कालाजार, जीर्ण खाँसी आदि में इसके प्रयोग से तुरन्त लाभ पहुँचता है। प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि यह माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलाई, ई- कोलाई, फंगल इन्फेक्शन आदि के लिये एक तीव्र प्रति संक्रामक है। इसे मधुमेह, कुष्ठ रोग तथा पीलिया में भी सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है। विषाणु जन्य हिपेटाइटिस में इसका निरापद प्रयोग कर वैज्ञानिकों ने सफलता पाई है।

आयुर्वेद विशेषज्ञों के अनुसार इसे घी के साथ वातज, शक्कर के साथ पित्तज तथा मधु के साथ कफज विकारों में दिया जाना चाहिए। इसका सत्व १ से २ ग्राम, चूर्ण ३ से ६ ग्राम तथा क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर की मात्रा में प्रयुक्त होता है। अमृतारिष्ट, गुडूच्यादि चूर्ण, गुडूच्यादि क्वाथ विशिष्ट योग हैं।

क्र०. ३५. सारिवा (हेमीडेस्मस इन्डीकस) :- इसे अनन्त मूल, गोपवल्ली, कपूरी, उपलसरी, एन्डियन सारसापरिला नाम से भी जाना जाता है। श्वेत व कृष्ण दो सारिवा होती है, जिसमें श्वेत ही वनौषधि के रूप में प्रचलित है। इसकी लता पतली, बहुवर्षायु गुल्म सदृश होती है। ५ से १५ फुट लम्बी लता जमीन पर भी फैल सकती है व समीप के वृक्षों पर भी चढ़ सकती है। सारिवा मूल से कर्पूरवत् गंध आती है, यही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होता है। इसके हरे बैंगनी पुष्प श्रावण में आते हैं व मीठी चन्दन की गंध लिये होते हैं। फलियाँ कार्तिक मार्गशीर्ष में लगती हैं। पूरे भारत में यह प्रहरी लता के रूप में पाई जाती है। इसमें एक उत्पत तेल, एक एन्जाइम व सैपोनिन प्रमुख होता है।

यह त्रिदोष शामक रसायन है, जो रक्त शोधन भी करता है एवं

ज्वरघ्न भी है। यह स्वेद जनक व मूत्रल है तथा शरीर में किसी प्रकार के अन्तर्कोशीय जल संचय को मिटाती है। भाव प्रकाश निघंटु के अनुसार यह विषघ्न व रक्त विकार शामक औषधि है। त्वचा की व्याधियों में यह विशेष लाभकारी है तथा रक्त व्यापी विष को मूत्र मार्ग से बाहर निकाल देती है। इस औषधि की जड़ की छाल का चूर्ण, ताजा कल्क, एवं फाण्ट प्रयुक्त होता है।कल्क ५ से १० ग्राम, फाण्ट ५० से १०० मिलीलीटर तथा चूर्ण ३ से ६ ग्राम प्रयुक्त होता है। क्वाथ बनाने से उत्पन्न तेल नष्ट हो जाता है। अत: क्वाथ रूप में इसे प्रयोग नहीं करना चाहिए। सारिवादिबटी, सारिवाद्यासव, सारिवाद्यावलेह विशिष्ट योग हैं।

क्र० ३६. खदिर [अकेशिया कटेचु] :- का अर्थ है - रोगों को नष्ट कर शरीर में स्थिरता लाने वाला द्रव्य। इसे खैर, रक्त सार, दन्तधावन, कण्टकी एवं यज्ञीय भी कहते हैं। इसका वृक्ष मध्यम ऊँचाई का कण्टक युक्त शाखाओं वाला होता है। छाल काले भूरे रंग की लगभग एक से डेढ़ सेण्टीमीटर मोटी, लम्बी परतों में छूटती हुई होती है। पत्तों से इसे पहचाना जा सकता है। बरसात में श्वेत पुष्प आते हैं व हेमन्त में २ से ५ इन्च लम्बी फलियाँ पकती हैं। यह हिमालय की तराई में पश्चिमी पंजाब से अरूणाचल तक पाँच हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। खदिर के सार भाग से कत्था प्राप्त होता है, जो लगभग ७-८ प्रतिशत होता है। इसमें कैटेचिन, कैटेचु टैनिक एसिड होते हैं। सार भाग को उबाल कर कत्था प्राप्त किया जाता है।

यह कफ एवं पित्त शामक रक्त शोधक द्रव्य है। यह रक्त स्तम्भक (कोएगुलेण्ट) है। अत: रक्त स्राव बन्द करने हेतु इसका प्रयोग करते हैं। कुष्ठ के रोगियों को प्राथमिक स्थिति में इसके क्वाथ से स्नान करने पर रोग समाप्त हो जाता है। इसका प्रयोग रक्त स्राव, (मुख मार्ग से, नासिका अथवा मलाशय, मूत्राशय से) रक्त विकार एवं पीलिया रोग में करते हैं।यह शोथहर भी है। औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त मात्रा है-चूर्ण एक से तीन ग्राम, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर एवम् खदिर सार

आधा से एक ग्राम । इसके विशिष्ट योग हैं- खदिरारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, खदिरादिवटी ।

क्र० ३७ चिरायता (स्वर्शियाचिरेटा) :- इसे किरात, तिक्त किरात व चिरेट्रा भी कहते हैं । यह आम उपलब्ध पौधा नहीं है । अतः इसमें मिलावट काफी की जाती है । यह ४ से १० हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय में गिलगित से अरुणाचल तक पाया जाता है । नेपाल में इसका औद्योगिक स्तर पर उत्पादन होता है । कहीं-कहीं हिमालय की तराई मंसूरी, चकराता, कुमाऊँ क्षेत्र में भी इसे पैदा करने में सफलता प्राप्त हुई है । इसके पंचांग में सभी भाग, विशेष कर काण्ड एवं पुष्प प्रयुक्त होते हैं ।इसके तिक्त क्षुप २ से ४ फुट ऊँचे द्विवर्षायु होते हैं ।काण्ड स्थूल, आधे से डेढ़ मीटर लम्बे व शाखायुक्त होते हैं । हरे पीले पुष्प वर्षा ऋतु में आते व फल वर्षा के अन्त में पकते हैं ।

इसमें पीले रंग का एक अम्ल ऍफेलिक एसिड तथा चिरायतिन एमरोजेन्टीन नामक दो कड़वे ग्लाइकोसाइड्स पाये गये हैं । एक जैन्थोन सुअर्चिरिन नामक पाया गया है । इसे सन्निपात ज्वर, व्रण, रक्त दोष व सभी प्रकार के बैसीलिमीया की एक श्रेष्ठ औषधि माना गया है ।यह एक प्रकार की प्रति संक्रामक औषधि है, जो ज्वर के मूल कारण संक्रमण का निवारण कर शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ाती है । यह त्रिदोष शामक है एवं आधुनिक आयुर्विज्ञान द्वारा भी ज्वर हेतु मान्यता प्राप्त (इन्डियन, ब्रिटिश व अमेरिकन फार्मेकोपिया) औषधि है । काफी समय से जीर्ण ज्वरों में इसका टिंक्चर प्रयुक्त होता रहा है । यह सिन्कोना की तरह ही मलेरिया ज्वर पर प्रभाव डालकर उसका चक्र तोड़ती है एवं यकृत् से उसके परजीवी को बाहर निकाल फेंकती है । यह मूलतः जीवाणुरोधी एवं जीवनी शक्ति वर्धक रसायन है, कोई जीवाणु नाशक एण्टीबायोटिक नहीं ।इसलिए इनके प्रयोग के बाद कमजोरी नहीं आती । उसका प्रभाव हेलमीन्थिएसिस समूह के सारे कृमियों पर देखा गया है । क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर दिन में २ या ३ बार, मधु या मिश्री की चाशनी के साथ चूर्ण एक से तीन ग्राम तक मात्रा में लेते हैं । इसका फाण्ट भी प्रयुक्त

होता है। इसके विशिष्ट योग हैं- सुदर्शन चूर्ण एवम् किरातादि क्वाथ।

(ह) हारमोन्स संस्थान :- सभी एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स (एसीटीएच, थायरॉक्सिन, ग्रोथहारमोन, एड्रीनेलिन, टेस्टोस्टेशन व ऑक्सीटोसिन) पर तो रसायन वर्ग की औषधियाँ ही काम करती हैं। यहाँ उनकी चर्चा न कर थायराइड पर काम करने वाली काञ्चनार एवम् पैन्क्रियाज पर सक्रिय मेषशृंगी (गुड़मार) की चर्चा की जा रही है। इसमें थायराईड एण्डोक्राइन तथा पैन्क्रियाज एक्जोक्राइन ग्रंथि है। थायराइड की व्याधि थायरोटॉक्सिसोसिस, गाइटर एवम् मीक्सीडीमा के रूप में तथा पैन्क्रियाज की व्याधि डायबिटिज एवम् स्पान्टेनियस हाईपोग्लासीमिया के रूप में प्रकट होती है।

क्र० ३८. काञ्चनार :- इसे गण्डमाला नाशक द्रव्य माना गया है। इसे बहोनिया वेरीगेटा, कचनार, गण्डारि, युगपत्रक, स्वल्प केसरी तथा चम्पाकारी नाम से भी पुकारते हैं। इसका वृक्ष मध्यम ऊँचाई का ८ से १० फुट ऊँचा होता है, जिसके दो खण्डों में कटे पत्र अलग से पहचान में आ जाते हैं। छाल धूसर, लम्बाई मे फटी होती है, पुष्प जाति भेदानुसार श्वेत, गुलाबी या बैंगनी होते हैं। ये फरवरी मार्च में निकलते हैं एवम् अप्रैल मई में आधे से एक फुट लम्बी फलियाँ निकलती हैं, जिनमें १२ से १५ बीज होते हैं। यह सारे भारत में ४००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। छाल एवं पुष्प औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होते हैं।इनमें टैनिन्स, शर्करा व गोंद होते हैं।

यह कफ, पित्त शामक शोथ हरनें वाला वामक द्रव्य है, जिसकी विशिष्ट क्रिया एक्जो व एण्टोक्राइन ग्रन्थियों पर होती है, जहाँ यह अन्तर्कोशीय शोथ (इन्टरसेल्युलर इडिमा) को दूर करता है। पेरोटिड ग्रन्थियों की सूजन (मम्प्स), थायराइड ग्रन्थियों की सूजन, किसी भी प्रकार के हॉट व कोल्ड नॉड्यूलर गॉइटर में इसका कार्य शोथ कम कर चयापचय का संतुलन करना है। यह थायरॉक्सीन की आक्सीजन मेटाबॉलिज्म में खपत बढ़ाता तथा थायरोट्राफिक हारमोन का संतुलन रक्त में सूक्ष्म स्तर पर स्थापित कर होमियोस्टेसिस (सात्मीकरण) की

स्थिति लाता है। छाल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम, क्वाथ ४० से ८० मिली लीटर, पुष्प स्वरस १० से २० मिलीलीटर प्रयुक्त होते हैं। विशिष्ट योग हैं- काञ्चनारादि क्वाथ एवं काञ्चनार गुग्गुलु।

क्र० ३९. मेषश्रृंगी (गुड़मार) :- इसे जिम्नेमा सिल्वेस्टर, मधुनाशिनी, मेड़ासिंगी तथा कावली नाम से भी जानते हैं। जीभ पर इसकी पत्तियों को रखते ही मधुर रस के लिये रस ग्रहण शक्ति चली जाती है। अम्ल पर यह प्रभाव नहीं होता, लवण पर कम होता है, इसी कारण इसे मधु नाशिनी कहते हैं। यह मूलत: उत्तरी भारत व पश्चिमी भारत में पायी जाती है।यह एक आरोहणी लता है, जिसका काण्ड पतला, सघन, रोमयुक्त होता है। पत्ते अण्डाकार, पुष्प पीले घण्टे के आकार के होते हैं, जो अगस्त-सितम्बर में आते है। एकाकी भाले के आकार के २-३ इंच लम्बे फल जनवरी से मार्च तक पकते हैं।

इसकी पत्तियों में जिम्नेमिक अम्ल, क्वेर्सिटॉल कैल्शियम ऑक्जेलेट एवम् एन्थाक्विनोन पाये गये हैं। इसके अल्कोहलिक सत्त्व में सैपोनिन पाये गये हैं। ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान तथा आय.डी.पी.एल. वीरभद्र में इसके अल्कोहलिक सत्त्व एवं पत्र चूर्ण दोनों के, जीवों तथा मनुष्यों पर प्रयोग किये गये हैं तथा इसके मधुमेह प्रतिरोधी गुण को स्थापित करने में बड़ी सफलता मिली है। अल्कोहल एक्सट्रेक्ट के कैप्सूल भी बनाये गये हैं।

यह एक कफ - वात शामक, शोथ हरने वाली विष नाशक, वामक औषधि है। यह लीवर एवं आमाशय ग्रंथियों के लिये उत्तेजक है। प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि यह पैन्क्रियाज ग्रन्थियों की कोशिकाओं को उत्तेजित कर एन्सुलीन की मात्रा रक्त में बढ़ाती, ग्लूकोज को जलाने में सहायता करती है। यह मूत्रल होने के कारण रक्त की अम्लता को भी मिटाती है। इस प्रयोजन हेतु पत्र चूर्ण प्रयुक्त होता है, क्योंकि कार्यकारी संघटक सर्वाधिक इसी में होते हैं। पत्र चूर्ण ३ से ६ ग्राम की मात्रा में प्रयुक्त होता है। मूल का क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर की मात्रा में प्रयुक्त करते हैं।

(क्ष) बलदायी रसायन :- शरीर में सात्मीकरण लाकर जीवनी शक्ति बढ़ाने तथा शक्ति देने वाले कायाकल्प हेतु चिर प्रचलित रसायन हैं-अश्वगंधा, शतावर, बला। इन्हें सारे संस्थानों पर क्रियाशील माना गया है। इन्हें बाजीकरण हेतु प्रयोग न मानकर शक्ति संवर्धक मानना चाहिए।

क्र० ४० अश्वगंधा [विदेनिया सॉम्नीफेरा] इसे असगंध, बराह कर्णी, आसंध नाम से भी जाना जाता है। कच्चे मूल से अश्व के समान गंध आती है, इसलिये अश्वगंधा कहते हैं। यह एंक प्रकार की भारतीय गिनसेंग है। सारे भारत में यह पायी जाती है, पर पश्चिमी मध्यप्रदेश में मन्दसौर जिले तथा नागौर की अश्वगंधा प्रसिद्ध व अधिक गुणकारी है। इसका झाड़ीदार क्षुप लगभग २ से ४ फुट ऊँचा बहु शाखा युक्त होता है। पत्ते सफेद रोमयुक्त अखण्डित अण्डाकार होते हैं। फूल पीला हरापन लिए चिलम के आकार के होते हैं एवं शरद ऋतु में निकलते हैं। फल गोलाकर रसभरी के फलों के समान होते हैं, इसमें लोआब से लिपटे असंख्यों बीज होते हैं।ये कार्तिक एवं मार्गशीर्ष में पकते हैं। इसका मूल ही प्रयुक्त होता है, जिसे जाड़े में निकाल कर छाया में सुखाकर सूखे स्थान पर रखा जाता है।

अश्वगंधा की जड़ में कई एल्केलाएड यथा - कुस्कौहाइग्रीन, ऐनाहाइग्रीन, ट्रोपीन, ट्रोयूडोस्पीन, बिदासोमिन एवम् विदनॉल विटामिन पाये गये हैं। यह औषधि मूलतः कफ - वात शामक, बलवर्धक रसायन है। असगंध को सभी प्रकार के जीर्ण रोगों, क्षय-शोथ आदि के लिए श्रेष्ठ द्रव्य माना गया है। कायाकल्प योग की यह एक प्रमुख औषधि है। यह शरीर में धातुओं की वृद्धि करती है एवम् मांस-मज्जा का शोधन करती है। मेधा वर्धक है तथा मस्तिष्क के लिए तनाव शामक भी। मूर्छा, भ्रम, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप,शोथविकार, श्वास रोग, शुक्रदौर्बल्य, कुष्ट इन सभी में यह समान रूप से लाभकारी है। यह एक प्रकार के एफ्रोडिजीयक (कामोत्तेजन) की भूमिका निभाती है, परन्तु इसका कोई अवांछनीय प्रभाव शरीर पर नहीं देखा गया। यह जरा नाशक है।"एजींग" को यह रोकती

व आयु बढ़ाती है। रक्त का हिमोग्लोबिन इसके प्रयोग से बढ़ता है व सभी संधियों में लचीलापन आता है। यह एक प्रकार का हिमेटीनीक टॉनिक है। मूल चूर्ण ३ से ६ ग्राम एक बार में, क्षार १ से ३ ग्राम तथा अश्वगंधा घृत २ चम्मच प्राय: प्रयुक्त करते हैं। अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारिष्ट, अश्वगंधा रसायन इसके विशिष्ट योग हैं।

क्र०.४१ शतावर (एक्स्पेरेगस रेसिमोसस) :- इसे शतमूली, बहुसुता, सतावर, सतावरी तथा अतिरसा शतवीर्या नाम से भी जाना जाता है। यह एक काँटों से युक्त झाड़ीदार आरोही लता है, जो ग्रीष्म ऋतु के मध्य कन्द युक्त काँटेदार बेल के रूप में प्रकट होती है। सारे भारत में ४००० फीट की ऊँचाई तक मिलती है। शाखाएँ चारों ओर अत्यधिक फैली होती हैं। पत्ते सोये जैसे नोकदार हँसिये की तरह दिखते हैं। नवम्बर के माह में सफेद फूलों से सारी लता ढँक जाती है। फल शीतकाल के अन्त में गोलाकार मटर आकार के रूप में लाल वर्ण के पकते हैं। शतावरी कन्द से जो सैकड़ों मूल निकलते हैं, अगणित जड़ युक्त होते हैं। इन्हीं का प्रयोग चिकित्सा प्रयोजन हेतु होता है।

इसमें श्लेष्मक द्रव्य, शर्करा, अनेकों सैपौनिन एवं अमीनो अम्ल पाये जाते हैं।यह कफ - पित्त शामक बल्य रसायन है, जो सीधे एण्डोक्राइन्स पर प्रभाव डालती है। यह मात्र धातुओं को नहीं-मांस, शुक्र व स्तन्य को विशेष बल देती है। इसीलिए इसे बल्य महाकषाय कहा गया है। इसके प्रयोग से राजयक्ष्मा से लेकर किसी भी प्रकार के जीर्ण रोगों के रोगी को लड़ने हेतु जीवनी शक्ति मिलती है। यह आन्तरिक चयापचयजन्य गर्मी को शान्त कर बल प्रदान करती है। सारे शरीर में जहाँ किसी तत्त्व विशेष की कमी है, वहाँ इसके रसायन पहुँचते व सूक्ष्म रूप में रक्त व अन्तर्कोषीय स्तर पर घुलकर सात्मीकरण की स्थिति ला देते हैं।शतावर हृदय की संकोचन क्षमता बढ़ाती व गर्भाशय की समग्र विधि व्यवस्था को संतुलित करती है। जड़ का निष्कर्ष पिट्युइ-एड्रीनल एक्सिस पर प्रभाव डालकर कई हारमोन्स के स्राव को प्रभावित करता है।

मात्रा स्वरस २ से ४ चम्मच, चूर्ण ३ से ६ ग्राम, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर प्रयुक्त होता है। जहाँ तक सम्भव हो, शतावरी गीली ही प्रयुक्त होती है। यदि गीली न मिले तो ही सूखा चूर्ण लेना चाहिए। शतावरी घृत, शतमूल्य दिलौह, शतावरी पानक विशिष्ट योग हैं।

क्र० ४२. सभी रोगों के लिए एक ही औषधि तुलसी (ऑसिमम सैक्टम) :- 'तुलसी' शब्द का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि जिस वनस्पति की किसी से भी तुलना न की जा सके वह तुलसी है। तुलसी को हिन्दू धर्म में जगत् जननी का पद प्राप्त है। उसे वृन्दा भी कहा गया है। तुलसी के माहात्म्यों व कारण शक्ति के सूक्ष्म प्रभावों से पुराणों के अध्याय भरे पड़े हैं।सर्व रोग निवारक तथा जीवनी शक्ति संवर्धक इस औषधि को संभवत: प्रत्यक्ष देव माना जाना इसी तथ्य पर आधारित है कि ऐसी सस्ती सुलभ, सुन्दर उपयोगी वनस्पति मनुष्य समुदाय के लिये कोई और नहीं।

वानस्पतिक परिचय :- तुलसी का पौधा सदा हरित होता है। साधारणत: मार्च से जून तक इसे लगाते हैं। सितम्बर और अक्टूबर में यह फूलता है। सारा पौधा सुगंधित मञ्जरियों से लद जाता है। जाड़े के दिनों में इसके बीज पकते हैं। यह बारहों माह किसी न किसी रूप में प्राप्त किया जा सकता है। तुलसी की सामान्यत: निम्न प्रजातियाँ पाई जाती हैं।

(अ) ऑसीमम अमेरीकेन (काला तुलसी), गम्भीरा या गामरी।(आ) ऑसीमम बेसिकिम (मरुआ तुलसी), मुञ्जारिकी या सुरसा। (इ) ऑसीमम बेसिलिकम मिनिमम (ई) ऑसीमम ग्रेटिकम (रामतुलसी, वन तुलसी) (उ) ऑसीमम किलिमण्डचेरिकम (कर्पूर तुलसी) (ऊ) आसीमम सेक्टम तथा (छ) ऑसीमम विरिडी।

इनमें ऑसीमम सैक्टम को प्रधान या पवित्र तुलसी माना जाता है। इसकी भी दो प्रधान जातियाँ हैं - श्री तुलसी, जिसकी पत्तियाँ हरी होती हैं तथा कृष्णा तुलसी, जिसकी पत्तियाँ नीलाभ-कुछ बैंगनी रंग लिए होती हैं।श्री तुलसी के पत्र तथा शाखाएँ श्वेताभ होते हैं, जबकि कृष्णा

तुलसी के पत्रादि कृष्ण रंग के होते हैं ।गुण धर्म की दृष्टि से काली तुलसी को ही श्रेष्ठ माना गया है ।

तुलसी का गुल्म के समान क्षुप १ से ३ फुट ऊँचा, शाखायुक्त रोमश, बैंगनी आभा लिए होता है । पत्र १- २ इन्च लम्बे अण्डाकार या आयताकार होते हैं । प्रत्येक पत्र में एक प्रकार की तीव्र सुगन्ध होती है । पुष्प मंजरी अति कोमल, इसकी ८ इंच लम्बी और अनेक रंग छटाओं से मण्डित होती है । इस पर बैंगनी या रक्त सी आभा लिए बहुत छोटे पुष्प क्रमों में लगते हैं । कोण पुष्पक प्राय: हृदयवत् होते हैं । बीज चपटे पीत वर्ण के, छोटे काले चिह्नों से युक्त अण्डाकार होते हैं । पुष्प शीतकाल में आते हैं ।

संग्रह- संरक्षण - पत्र, मूल, बीज उपयोगी अंग हैं । इन्हें सुखाकर मुख बन्द पात्रों में सूखे शीतल स्थानों पर रखा जाता है । इन्हें एक वर्ष तक प्रयोग में लाया जा सकता है । सर्वत्र एवं सर्वदा सुलभ होने से पत्रों का व्यवहार ताजी अवस्था में किया जाना ही श्रेष्ठ है ।

सभी प्रकार के कफ, वात विकारों में तुलसी उपयोगी है । स्थानीय लेप के रूप में व्रणों, शोथ, संधि, पीड़ा, मोच आदि में इसका लेप करते हैं । अवसाद एवं "लो ब्लड प्रेशर" की स्थिति में इसे त्वचा पर मलने से तुरन्त स्नायु संस्थान सक्रिय होता है । शरीर के बाहरी कृमियों में भी इसका लेप करते हैं । चरक के अनुसार यह अग्नि मंदता, किसी भी प्रकार के उदरशूल तथा आँतों के कृमियों में उपयोगी है । बीज प्रवाहिका में देने पर तुरन्त लाभ करते हैं ।यह हृदयोत्तेजक है तथा रक्त विकारों का शोधन करता है । खाँसी, दमा तथा इस कारण मांसपेशियों व रीढ़ की हड्डी के जकड़न में इसका स्वरस बहुत उपयोगी है ।

आचार्य शर्मा के अनुसार मूत्रदाह व विसर्जन में कठिनाई तथा ब्लैडर की सूजन व पथरी में बीज चूर्ण तुरन्त लाभ करता है । कुष्ठ की यह सर्वश्रेष्ठ औषधि है । यह विषम ज्वर को मिटाती है । किसी भी प्रकार के ज्वर के चक्र को यह तुरन्त तोड़ती है । राजयक्ष्मा में भी इसके प्रयोग सफल रहे हैं । जीवनीशक्ति बढ़ाकर यह जीवाणुओं को बढ़ने नहीं देती ।

यह मलेरिया विरोधी है। क्षुप घर के आस-पास लगाने से मच्छर नहीं समीप आते, इसके स्वरस का लेप करने से वे काटते नहीं तथा मुख द्वारा ग्रहण किये जाने पर उन्हें इसके सक्रिय संघटक नष्ट कर देते हैं। बीज रसायन भी है तथा दुर्बलता का नाश करते हैं।

श्वेत तुलसी उष्ण व पाचक है। यह बालकों के प्रतिश्याय तथा कफ रोगों में प्रयुक्त होती है। काली तुलसी कफ निस्तारक एवं ज्वर नाशक है। सूखे पत्तों का चूर्ण पीनस (साइनोसाइटिस) के लिए प्रयुक्त होता है।तुलसी सिद्ध तेल कर्णशूल को मिटाता है।

तुलसी रस में मलेरिया ज्वर के कारण प्रोटोजौआ पेरेसाइट तथा मच्छरों को नष्ट करने की अद्‌भुत क्षमता है। पहली बार सन् १९०७ में इंग्लैंड में इम्पीरियल मेडिकल कान्फ्रेन्स में इस बात का रहस्योद्‌घाटन किया गया कि काली तुलसी से मलेरिया का उपद्रव बहुत कम हो जाता है। इसके बाद बहुत से अनुसंधान इस क्षेत्र में हुए हैं, व बड़े सफल रहे हैं। सभी में पाया गया कि तुलसी पत्रों से स्पर्श की हुई वायु में ऐसे गुण होते हैं कि मच्छर उस पूरे परिसर के आस-पास फटकते भी नहीं। वैज्ञानिकों ने तुलसी के अन्दर एक ऐसा उड़नशील तेल पाया है, जो हवा में मिलाकर ज्वर उत्पन्न करने वाले सब कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। सर्दी से चढ़ने वाले ज्वर में विशेषकर 'ट्रॉपिकल क्षेत्रों' के ज्वर में यह पाया गया है। इसके सेवन से सर्दी छाती में उतरने नहीं पाती तथा छाती में बैठा कफ श्वास मार्ग से बाहर निकल जाता है। स्वरस में इतनी तीव्र सामर्थ्य है कि इससे कृमि तुरन्त मर जाते हैं और दस्त साफ होता है। वमन का तुरन्त शमन होता है।

डा०जी० नादकर्णी के अनुसार तुलसी में कुछ ऐसे गुण हैं, जिनके कारण, यह शरीर की विद्युतीय संरचना को सीधे प्रभावित करती है। तुलसी की लकड़ी से बने दानों की माला गले में पहनने से शरीर में विद्युत् शक्ति का प्रवाह बढ़ता है तथा जीवकोशों द्वारा उनको धारण करने की सामर्थ्य में वृद्धि होती है। बहुत से रोग इस प्रभाव से आक्रमण करने के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं तथा व्यक्ति की जीवनावधि बढ़ती है। डॉ०

जी० नादकर्णी के अनुसार कमजोर व्यक्ति यदि स्वल्प मात्रा में भी तुलसी की जड़ को प्रातः सायं घी के साथ लें, तो उनका ओजस् बढ़ता है।

डॉ० खगेन्द्रनाथ बसु ने तुलसी का थोड़ा सा भी शरीर से सम्पर्क, संक्रामक व्याधियों को निरस्त कर देता है। तुलसी गुल्म के नीचे की मिट्टी को खाकर और उसे शरीर में लगाकर लोग व्याधि मुक्त होते पाये गये हैं।इस कथन में कितनी सत्यता है, इसका विश्लेषण तो वैज्ञानिक शोध प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। सम्भवतः इसी कारण मन्दिर मस्जिदों तथा गिरजा घरों के आस-पास तुलसी के पौधे लगाये जाने का प्रावधान रहा हो।

तुलसी में अनेकों जैव सक्रिय रसायन पाये गये हैं, जिनमें टैनिन सैपोनिन-ग्लाइकोसाइड और एल्केलाइड्स प्रमुख हैं। अभी भी पूरी तरह से इनका विश्लेषण हो नहीं पाया है। तुलसी के बीजों में हरे-पीले रंग का तेल लगभग १७ ८ प्रतिशत की मात्रा में पाया जाता है। इसके घटक हैं - कुछ सीटोस्टेराल, अनेकों वसा अम्ल मुख्यतः पामिटिक, स्टीयरिक, ओलिक, लिनोलिक और लिनोलेनिक अम्ल। तेल के अलावा बीजों में श्लेष्मक प्रचुर मात्रा में होता है। इस म्यूसिलेज के प्रमुख घटक हैं - पेन्टोस, हेक्जा यूरोनिक अम्ल और राख। राख लगभग ०२ प्रतिशत होती है।

" इण्डियन ड्रग्स" पत्रिका (अगस्त १९७७) के अनुसार तुलसी में विद्यमान रसायन वस्तुतः उतने ही गुणकारी हैं, जिसका वर्णन शास्त्र में किया गया है। यह कीट नाशक है, कीट प्रतिकारक तथा प्रचण्ड जीवाणु नाशक है। विशेषकर एनाफिलिस जाति के मच्छरों के विरुद्ध इसका कीटनाशी प्रभाव उल्लेखनीय है। डा० पुष्पगंधन एवं सोबती ने अपने खोजपूर्ण लेख में बड़े विस्तार से विश्व भर में चल रहे प्रयासों की जानकारी दी है।

तुलसी का ईथर निष्कर्ष टी०बी०के जीवाणु माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस का बढ़ना रोक देती है। सभी आधुनिकतम औषधियों की तुलना में यह निष्कर्ष अधिक सान्द्रता में

श्रेष्ठ ही बैठता है। श्री रामास्वामी एवं सिरसी द्वारा दिये गये शोध परिणामों (द इण्डियन जनरल आफ फार्मेसी मई १९६७) के अनुसार तुलसी की टी०बी० नाशक क्षमता विलक्षण है। इस जीवाणु के ह्यूमन स्ट्रेन की वृद्धि को भी यह औषधि रोकती है।

'वेल्थ ऑफ इण्डिया' के अनुसार तुलसी का स्वरस तथा निष्कर्ष कई अन्य जीवाणुओं के विरुद्ध भी सक्रिय पाया गया है। इनमें प्रमुख है- स्टेफिलोकोकस ऑरियस, साल्मोनेला टाइफोसा और एक्केरेशिया कोलाई। इसकी जीवाणुनाशी क्षमता कार्बोलिक अम्ल से ६ गुना अधिक है। नवीनतम शोधों में तुलसी की जीवाणुनाशी सक्रियता अन्यान्य जीवाणुओं के विरुद्ध भी सिद्ध की गयी है। डा० कौल एवं डा० निगम जनरल ऑफ रिसर्च इन इण्डियन मेडीसिन) के अनुसार क्लेबसीला, केन्डिडा आदि सभी पर उत्पत तैल का प्रभाव मारक होता है। इसका जड़, पत्र, बीज व पंचांग प्रयुक्त करते हैं।

मात्रा - स्वरस की २ से ३ चम्मच। बीज चूर्ण १ से २ ग्राम। क्वाथ १ से २ औंस।(१) खाँसी अथवा गला बैठने पर तुलसी की जड़ सुपारी की तरह चूसी जाती है। काली तुलसी का स्वरस लगभग डेढ़ चम्मच काली मिर्च के साथ देने से खाँसी का वेग एकदम शान्त होता हैं। फेफड़ों में खरखराहट की आवाज आने व खाँसी होने पर तुलसी की सूखी पत्तियाँ ४ ग्राम मिश्री के साथ देते हैं। हिचकी एवं श्वास रोग में १ चम्मच तुलसी पत्र स्वरस २ चम्मच शहद के साथ देते हैं।

श्वास रोग में तुलसी के पत्ते काले नमक के साथ सुपारी की तरह मुँह में रखने से आराम मिलता है। जुकाम में तुलसी का पंचांग व अदरक समान भाग लेकर क्वाथ बनाते हैं। दिन में ३ बार लेते हैं।

(३) ज्वर यदि विषम प्रकार का हो तो तुलसी पत्र का क्वाथ ३-३ घण्टे पश्चात् सेवन करने का विधान है अथवा आधा चम्मच स्वरस मधु के साथ ३ -३ घण्टे में लें। हल्के ज्वर में कब्ज भी हो, तो काली तुलसी का स्वरस (२ चम्मच) एवं गौ घृत (१०ग्राम) दोनों को एक कटोरी में गुनगुना करके इस पूरी मात्रा को दिन में दो या तीन बार लेने

से कब्ज भी मिटता है, ज्वर भी। तुलसी की जड़ का काढ़ा भी आधे औंस की मात्रा में २ बार लेने से ज्वर में लाभ पहुँचता है। एक सामान्य नियम सभी प्रकार के ज्वरों के लिए यह है कि बीस तुलसी दल एवं दस काली मिर्च मिलाकर क्वाथ पिलाने से ज्वर तुरन्त उतर जाता है। मोतीझरा (टायफाइड) में १० तुलसी पत्र १ मासा जावित्री के साथ पानी में पीसकर शहद के साथ दिन में चार बार देते हैं।

(३) वमन की स्थिति में तुलसी पत्र स्वरस मधु के साथ प्रातःकाल व जब आवश्यकता हो, पिलाते हैं। पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए अपच रोगों के लिए तथा बालकों के यकृत् प्लीहा सम्बन्धी रोगों के लिए तुलसी के पत्रों का फाण्ट पिलाते हैं। छोटी इलायची, अदरक का रस व तुलसी पत्र का स्वरस मिलाकर देने पर उल्टी की स्थिति को शान्त करते हैं। दस्त लगने पर भुने जीरे के साथ मिलाकर (१० तुलसी पत्र + १ माशा जीरा) शहद के साथ दिन में तीन बार चाटने से लाभ मिलता है। अपच में मंजरी को काले नमक के साथ देते हैं। बवासीर रोग में तुलसी पत्र का स्वरस मुँह से लेने पर तथा स्थानीय लेप रूप में प्रयोग से तुरन्त लाभ करता है।

बालकों के संक्रामक अतिसार रोग में तुलसी के बीज पीसकर गौ दुग्ध में मिलाकर पीने से लाभ होता है। प्रवाहिका में पत्र स्वरस २ चम्मच प्रातः लेने पर रोग आगे नहीं बढ़ता। कृमि रोगों में तुलसी के पत्रों का फाण्ट सेवन करने से कृमिजन्य सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। उदर शूल में तुलसी दलों को मिश्री के साथ देते हैं तथा संग्रहणी में बीज चूर्ण ३ ग्राम सुबह शाम मिश्री के साथ। अर्श में इसी चूर्ण को दही के साथ भी दिया जाता है।

(४) कुष्ठ रोग में तुलसी पत्र स्वरस प्रतिदिन प्रातः पीने से लाभ होता है। दाद, छाजन व खाज में तुलसी का पंचांग नीबू के रस में मिलाकर लेप करते हैं। उठते हुए फोड़ों में तुलसी के बीज एक माशा तथा दो गुलाब के फूल एक साथ पीसकर ठण्डाई बनाकर पीते हैं। पित्ती निकलने पर मंजरी व पुनर्नवा की पत्ती समान भाग लेकर संतरे का रस मिलाकर

रात्री को चेहरा धोकर अच्छी तरह लेप करते हैं। व्रणों के शीघ्र भरने तथा संक्रमण ग्रस्त जख्मों को धोने के लिए तुलसी के पत्तों का क्वाथ बनाकर उसका ठण्डा लेप करते हैं। रक्त विकारों में तुलसी व गिलोय का तीन -तीन माशे की मात्रा में क्वाथ बनाकर दो बार मिश्री के साथ लेते हैं।

(५) आधासीसी के दर्द में तुलसी की छाया में सुखायी मंजरी दो ग्राम शहद के साथ दी जाती है। मेधावर्धन हेतु तुलसी के पाँच पत्ते जल के साथ प्रतिदिन प्रातः लेना चाहिए। असाध्य शिरोशूल में तुलसी पत्र रस कपूर मिलाकर सिर पर लेप करने पर तुरन्त आराम मिलता है।

संधिशोथ में अथवा गठिया के दर्द में तुलसी का पंचांगचूर्ण चार माशे, गौ दुग्ध के साथ प्रातः - सायं लेते हैं। सियाटिका रोग में तुलसी पत्र क्वाथ से रोगग्रस्त वात नाड़ी का स्वेदन करते हैं।

(६) मूत्रकृच्छ (डिसयूरिया- पेशाब में जलन कठिनाई) में तुलसी बीज ६ ग्राम, १५ ग्राम जल में रात्रि में भिगोकर इस जल का प्रातः प्रयोग करते हैं। तुलसी स्वरस को मिश्री के साथ सुबह-शाम लेने से भी जलन में आराम मिलता है।

धातु दौर्बल्य में तुलसी के बीज (एक माशा) गाय के दूध के साथ प्रातः एवम् रात्रि देते हैं। ऐसा अनुभव है कि नपुंसकता में तुलसी का बीज चूर्ण अथवा मूल सम भाग में पुराने गुड़ के साथ खिलाने पर तथा नित्य डेढ़ से तीन ग्राम की मात्रा में गाय के दूध के साथ ५-६ सप्ताह तक लेने से लाभ होता है। प्रदर रोग में अशोक पत्र के स्वरस के साथ तथा मासिक धर्म की पीड़ा में क्वाथ को बार- बार देने से लाभ होता है।

तुलसी की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि- तुलसी को दैवी गुणों से अभिपूरित मानते हुए इसके विषय में अध्यात्म ग्रन्थों में काफी कुछ लिखा गया है। इसे संस्कृत में 'हरिप्रिया' कहते हैं। इस औषधि की उत्पत्ति से भगवान् विष्णु का मनः सन्ताप दूर हुआ, इसी कारण यह नाम इसे दिया गया है। ऐसा विश्वास है कि तुलसी की जड़ में सभी तीर्थ, मध्य में सभी देव-देवियाँ और ऊपरी शाखाओं में सभी वेद स्थित हैं। इस पौधे की पूजा विशेषकर स्त्रियाँ करती हैं। वैसे वर्ष भर तुलसी के थाँवले का पूजन

होता है, परन्तु विशेष रूप से कार्तिक मास में इसे पूजते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जिसके मृत शरीर का दहन तुलसी की लकड़ी की अग्नि से किया जाता है, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं - उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

पद्म पुराण में लिखा है कि जहाँ तुलसी का एक पौधा होता है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी निवास करते हैं। आगे वर्णन आता है कि तुलसी की सेवा करने से महापातक भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने से अंधकार नष्ट हो जाता है। कहते हैं कि जिस प्रसाद में तुलसी नहीं होती, उसे भगवान् स्वीकार नहीं करते।

वनस्पति को प्रत्यक्ष देव मानने और घर-घर में उसे लगाने, पूजा करने के पीछे संभवतः यही कारण है कि यह सर्व दोष निवारक औषधि सर्व सुलभ तथा सर्वोपयोगी है। वातावरण में पवित्रता, प्रदूषण का शमन, घर परिवार में आरोग्य की जड़ें मजबूत करने, श्रद्धातत्व को जीवित करने जैसे अनेकों लाभ इसके हैं। तुलसी की सूक्ष्म व कारण शक्ति अद्वितीय है। यह आत्मोन्नति का पथ -प्रशस्त करती है तथा गुणों की दृष्टि से संजीवनी बूटी है।

विविध- विभिन्न प्रकार के अर्बुदों (कैंसर) में तुलसी के प्रयोग किये गये हैं। २५ या इससे अधिक ताजे पत्ते पीसकर नित्य पिलाने पर उनकी वृद्धि की गति रुकती है। इस कथन की सत्यता की परीक्षा हेतु शोध अनिवार्य है।

तुलसी के प्रत्येक हिस्से को सर्प विष में उपयोगी पाया गया है। सर्पदंश से पीड़ित व्यक्ति को यदि समय पर तुलसी का सेवन कराया जाय तो उसकी जान बच सकती है। जिस स्थान पर काटा हो, उस पर तुलसी की जड़ को मक्खन व घी में पीसकर उस पर लेप कर देना चाहिए। जैसे-जैसे जहर खिंचता चला जाता है, इस लेप का रंग सफेद से काला हो जाता है। काली परत को हटाकर फिर ताजा लेप कर देना चाहिए।

तुलसी एक प्रकार से सारे शरीर का शोधन करने वाली जीवनी शक्ति संवर्धक औषधि है। यह वातावरण का भी शोधन करती है तथा

पर्यावरण संतुलन बनाती है। इस औषधि के विषय में जितना लिखा जाय, उतना कम है।

जड़ी-बूटी एवं चिकित्सा सम्बन्धी अन्य पुस्तकें –

1. वनौषधि– एक संक्षिप्त मार्गदर्शिका (सचित्र)	मूल्य 40.00
2. जड़ी-बूटी से स्वास्थ्य संरक्षण (सचित्र)	मूल्य 35.00
3. आयुर्वेद का प्राण वनौषधि विज्ञान (सचित्र)	मूल्य 165.00
4. केचुआ खाद संदर्शिका (सचित्र)	मूल्य 20.00
5. जड़ी-बूटीयों की व्यावसायिक खेती	मूल्य 15.00
6. मसाला वाटिका से घरेलू उपचार	मूल्य 3.00

परिवर्तन तालिका

1 सी.सी =1 चम्मच	1 औंस = ढाई तोला
1 तोला = 12 ग्राम	1 माशा = 1 ग्राम

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल)

फोन (01334) 260602, 261955

फैक्स- 260866

विचार क्रान्ति अभियान

शान्तिकुंज, हरिद्वार

कराना यह गुण अधिक है इसीको प्रभाव जानना । और दाख-मुलहटी ये समान रस होने परभी दाख दस्तलाती है मुलहटी नही तो यहां दाखमें अधिक प्रभाव है। तथा घृत और दूधके समान गुण है परंतु घृतमें दीपन शक्ति अधिकहै। एवं आवले और वडहर ये समान रसहें तथापि आमला त्रिदोष नाशकहै वडहर नहीं । और कहीं२केवल एकही द्रव्य प्रभाव करके विलक्षण कर्मकरे है जैसें सहंईकी जडमस्तकमें वांधनेसै ज्वरको नाशकरे है इत्यादि प्रभावके उदाहरणजानने।

अमीमांस्यान्यचिंत्यानिप्रसिद्धानिस्वभावतः ।
आगमेनोपयोज्यानिभेषजानिविचक्षणैः ॥

अर्थ—जो औषध स्वभावकरके प्रसिद्धहै उसको जहां शास्त्रकहे उसी जगेदेवे क्योंकि औषधियोंमें तर्क वितर्क नही करीजाय इनमें अचिंत्यवीर्य है अवएव विचारनको।

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्चस्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान्परीक्षेतकदाचन ॥

अर्थ—जो औषधी प्रत्यक्ष फलदेने वाली और लक्षण जिसके प्रसिद्ध है उसकी विद्वान्—हेतुओंकरके कदाचित् परीक्षा न करे [अर्थात् इस हेतुसै ये औषध शीतल होनी चाहिये इसने उष्णगुणकैसैं करा] यह परीक्षा त्यागदेवे ॥

विरुद्धगुणसंयोगेभूयसाल्पंहिजायते ।
रसंविपाकस्तौवीर्यंप्रभावस्तान्व्यपोहति ॥

अर्थ—विरुद्ध गुण औषधी वहुतसी एक ठिकाने पर होनेसैं विपाक रसका नाशकरे है तथा रस और विपाक इनकावीर्य नाशकर्त्ता हैं और रस-विपाक-और वीर्य इनका प्रभाव नाशकरे है ऐसा जानना ॥

॥ इति रसवीर्य विपाकनिर्णयंसमाप्तम् ॥

अथपंचकषायाः

स्वरसश्चतथाकल्कःक्वाथश्चहिमफांटकौ ।
ज्ञेयाःकषायाःपञ्चैतेलघवःस्युर्यथोत्तरम्॥

अर्थ—स्वरस-कल्क-काथ-हिम-फांड-येपांच कषाय है क्रमसैं एककी अपेक्षा दूसरी हलकी है—अर्थात् स्वरसकी अपेक्षा—कल्क कल्ककी अपेक्षा काथ काथकी अपेक्षा हिमहलका है इसी प्रकार और भीजानो ॥

तत्रादौस्वरसविधिः

आहतात्ततत्क्षणाकृष्टाद्द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्धरेत्।
वस्त्रनिष्पीडितोयःसरसःस्वरसउच्यते॥आहतात्
शीताग्निकीटादिभिरनुपहतात् । क्षुण्णात्संपिष्टात् ॥

अर्थ—कीडा-शीत-अग्नि इत्यादीकरके अदूषित अैसी वनस्पती को लाय-कर उसको कूटपीस कपडेमें डालके निचोडनेसैं जो रस निकलेउसको स्वरस अ-थवा अंगरसकहते है ॥

दूसराप्रकार

कुडवंचूर्णितंद्रव्यंक्षिप्तंचाद्विगुणेजले ।
अहोरात्रंस्थितंतस्माद्भवेद्स्वारसउत्तमः ॥

अर्थ—पावभर सूखी औषधको कूट आधसेर जलमें भिगोय देवे उ-सको एकादिन रात्रि धरा रहनेदे फिर दूसरे दिन उसपानीको कपडेमें छानलेवे तो उसको भी रस वा स्वरस कहते है. यहभी एक प्रकार स्वरसका है ॥

तीसराप्रकार

आदायशुष्कद्रव्यंवास्वरसानामसंभवे ।
जलेष्टगुणितेसाध्यंपादशिष्टंचगृह्यते ॥

अर्थ—जिस सूखीऔषधका स्वरस न निकलता होय उसको लाय कूटकर आठगुने पानीमें डालके मंदाग्निसै ओंटावे जब चतुर्थांश जल बाकी रहे तब उतारके छानलेवे तो इसको भी स्वरस कहते है-यह तीसरा प्रकार कहा ॥

स्वरसस्यगुरुत्वाच्चपलमर्द्धंप्रयोजयेत् ।
निःशोषितंचाग्निसिद्धंपलमात्रंरसंपिबेत् ॥

अर्थ-किसी औषधका स्वरसहो तब भारी अधिक होते है अतएव यदि उस रसको किसी औषधमें डालना होवे तो अर्द्धपल(२ तोले) डाले । तथा सुखायकर काढा हुआ अथवा अग्निपर काढाकरके काढा हुआरस ४ तोले पीनाचाहिये ॥

कल्कविधिः

द्रव्यमार्द्रंशिलापिष्टंशुष्कंवासज्जलंभवेत् ।
प्रक्षेपोवापकल्कास्तेतन्मानंकर्षसंमितम् ॥

---

१ प्रक्षिप्यगालयेद्वस्त्रे तन्मानं कोलसंमितम् । इतिपाठांतरम् ।

अर्थ—गीली औषधको लाय चटनीके समान बारीक पीसे यदि सूखी औष धहोवे तो पानीडालके बारीक पिसावे उसको कल्क ऐसाकहते है इसके लेनेका प्रमाण, कर्षकहा है—अर्थात् एक तोला है इसको प्रक्षेप और आवापभी कहते है॥

कल्केमधुघृतंतैलंदेयंद्विगुणमान्नया ।
सितागुडौसमौदद्याद्द्रवादेयाश्चतुर्गुणाः ॥

अर्थ—कल्कमें सहत—घृत—और तेल ये डालनाहोयतो कल्कसैं दुगना मिलावे तथा खांड और गुड ये पदार्थ डालने होयतो कल्कके समान मिलावे तथादूध—जल आदि शब्दकरके पतले पदार्थ मिलाने होयतो कल्कके चौगुने मिलाने चाहिये॥

क्वाथ (काढेकी) विधिः

पानीयंषोडशगुणंक्षुण्णेद्रव्येपलेक्षिपेत्।मृत्पात्रेक्वाथ-
येद्ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् तज्जलंपाययेद्धीमान्को
ष्णमृद्वग्निसाधितं ।शृतःक्वाथःकषायश्चनिर्यूहःसनिगद्य
ते॥आहारेरसपाकेचजातेचद्विपलोन्मितम्।वृद्धवैद्योपदे
शेनपिबेत्क्वाथंसुपाचितम् ॥

अर्थ— १ पलप्रमाण औषधले जो कुटकर उस औषधका सोलहगुना जल डाल किसी मिट्टीके पात्रमें भरके चूल्हैपर चढावे फिर नीचे मंद २अग्नि देवे जबजलका आढवा भाग शेष रहे तब उस काढेको उतारलेवे और कपडेसैं छान कर कुछगरम २ रोगीको पिलावे तथा रोगीके उत्तमप्रकार अन्नका परिपाक होनेपर इसको वृद्धवैद्यकी आज्ञासैंदेवे—इसकाढेको शृत—क्वाथ—कषाय—और निर्यूहभी कहते है अर्थात् ए नाम पर्यायवाचक है ॥

कर्षादौतुपलं यावद्दद्यात्पोडशकंजलम् ॥
ततस्तुकुडवं यावत्तोयमष्टगुणंक्षिपेत् ॥
चतुर्गुणमतश्चार्द्धं यावत्प्रस्थादिकंजलम् ॥

अर्थ—कर्षसै लेकर पल पर्यंत सोलह गुनाजल डाले, पलसैं उपरांत कुडव पर्यंत अष्टगुना जल डाले, और कुडवसै लेकर प्रस्थ पर्यंत क्वाथमे चौगुना जल डाले, यह क्वाथमें जल डालनेकी क्रियाकही ॥

मात्रोत्तमापलेनस्यात्त्रिभिरक्षैस्तुमध्यमा ।जघन्यातु
पलार्द्धेनस्नेहक्वाथौपघेपुच॥पानेक्वाथादिद्रव्यावस्था ।

अर्थ—स्नेह-काढा-और औषध इसकी उत्तम मात्रा १ पलकी है और तीन अक्षअर्थात् ३ तोलेकी मध्यम है-और पलार्ध (२ तोले) की मात्रा मध्यमहै ॥

क्वाथमेतोलकापरिमाण

दशरक्तिकमानेनगृहीत्वातोलकद्वयम् ।
दत्त्वाम्भःषोडशगुप्तंग्राह्यंपादावशेषितम् ॥

अर्थ—दशरत्तीका मासा इसप्रमाणसैं २ तोले औषध लेकर उसमें ३२ तोले जल मिलायमंदाग्निसैं काढाकरे जब चतुर्थांश रहे तब उतार छानके रोगीकोदेवे॥

क्वाथमेंमिश्रीसहतडालनेकाप्रमाण

क्वाथेक्षिपेत्सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः।
वातपित्तकफातङ्केविपरीतंमधुस्मृतम् ॥

अर्थ—काढेमें खांडडालनीहोयतो वातरोगमें काढेकी चतुर्थांश डाले, पित्तरोगमें आठवांहिस्साडाले,औरकफरोगमें सोलहवांहिस्साडाले और यदिसहत डालनाहोयतो खांडसैं विपरीत डाले अर्थात् कफकेरोगमें सहत चतुर्थांश. वातमें षोडशांश और पित्तमें अष्टमांश. ॥

हिमविधिः

क्षुण्णद्रव्यपलंसम्यक्षड्भिर्नीरपलैःप्लुतम् । निःशोपितंहिमः
सस्यात्तथाशीतकषायकःतस्यमानंमतंपानेपलद्वयमितंबुधैः।

अर्थ— कुटीऔषध १ पलको ६ पलजलमें भिगोयदेवे रात्रिभर धरीरहनेदे. इसको हिम अथवा शीतकषाय कहतेहै । इसकी मात्रा ८ तोलेकाहै ॥ "तन्मानंफांटवद्ज्ञेयं सर्वत्रैष विनिश्चय"अर्थात् इस हिमकी मात्रा फांटकेसमान जाननी यह सर्वत्र निश्चयहै ॥

मथ

मंथोपिफांटभेदःस्यातेनचात्रैवकथ्यते । जलेचतुःपलेशीतेक्षु
ण्णंद्रव्यंपलंक्षिपेत्।मृत्पात्रेमंथयेत्सम्यक्तस्माच्चद्विपलंपिबेत् ॥

अर्थ—मंथभी फांटकाभेदहै अतएवउसको भी इसीजगे कहतेहैं । एकपल औषध ले उसको कूटकै४पलशीतलजलमें भिगोयदेवे, फिरमिट्टीके पात्रमें उसको मंथन करे फिर उसपानीको छानके देवे उसको मंथकहतेहै इसकी मात्रा दोपलकीहै॥

अवान्तरभेदोतंडुलोदकमाह

तंडुलंकनशःकृत्वापलंग्राह्यंहितंडुलात् ।

चतुर्गुणंजलंदोयंतंडुलोदककर्मणि ॥
शीतकषायमानेनतंडुलोदककल्पना॥

अर्थ— १ पल चावलोंको कूट किनकीकरले उसको ४ पलवा ६ पल जलमें भिगोयदेवे. थोडीदेरकेवाद उसका नितराहुआ पानी लेलेवे तो तंदुलोदकवने. जहांकहीतंदुलोकाजल लिखाहोय वहां इसप्रकारवनाहुआजल लेवे ॥

फांटविधिः

क्षुण्णेद्रव्यपलेसम्यक्जलमुष्णंविनिक्षिपेत् ।
मृत्पात्रेकुडवोन्मानंततस्तुस्रावयेत्पटात् ॥
तन्मानंफांटवत्ज्ञेयंसर्वत्रैषसुनिश्चयः।
मधुश्वेतागुडार्दीश्चकाथवत्तत्रनिक्षिपेत् ॥

अर्थ—१ पलऔषधको कूटके मिट्टीकेपात्रमें एककुडवप्रमाण गरमजल डालके भिगोवे फिर थोडी देरके वादउसको छानके पीवे—इसे फांट—तथा चूर्णद्रव भी कहतेहै. इसफांटकी मात्रा दोपलकीहै- तथा फांटमें सहत-मिश्री-तथा गुडआदिक्वदसैंऔर जो वस्तु डालनीहो वो जिसप्रमाण काढेमेंडालनाकहाहैउसीप्रकारडाले।

यवागूकीविधिः

साध्यंचतुः पलंद्रव्यंचतुः षष्टिपलेजले ।
तत्क्वाथेनार्धशिष्टेनयवागूंसाधयेद्घनाम् ॥

अर्थ—चारपलप्रमाण औषधकोकूटके ६४ पलजलमें आधा रहनेपर्यंत औंटावे जवआधारहे तवउतारके उसको छानलेवे. उसछानेहुएजलमें चावल. मूंगआदिद्रव्यजो कहेहै डालके फिरकाढाकरे तो इसको यवागू कहतेहै ॥

विलेपीलक्षण

विलेपीचघनासिक्थासिद्धानीरेचतुर्गुणे ।
बृंहणीतर्पणीहृद्यामधुरापित्तनाशिनी ॥

अर्थ—चौगुनेपानीमें डालके औटायके लेहापसीकेसमानगाढी और चिपकनेवाली वनावे उसको विलेपी अेसा कहते है । यह विलेपी धातुवर्द्धक शरीरको पुष्टकारी-हृदयको हितकारी-तथामधुर होनेसैं पित्तकी नाशकर्त्ता है ॥

१ सस्याच्चूर्णद्रवःफांटस्तन्मानाद्विपलोन्मितम् ।

पानादिकल्पना

क्षुण्णंद्रव्यपलंसाध्यंचतुःषष्टिपलेंबुनि ।
अर्द्धशिष्टंचतद्देयंपानेभक्तादिसंविधौ ॥

अर्थ—कुटीहुई १ पलद्रव्य ६४ पलजलमें डालके आधापानी रहने पर्यंत ओंटावे फिरउसको छानके प्यासलगनेमें पीनेको थोडा २ देवे—तथा भोजनके समय देनेका प्रकार आगे कहेंगे ॥

मधुश्वेतगुडक्षारान्जीरकंलवणंतथा ।
घृतंतैलंचचूर्णादी न्कोलमात्रान्रसेक्षिपेत् ॥

अर्थ—सपेद सहत—गुड—क्षार—जीरा—लवण—घी—तेल—और इतर चूर्णादिक ये रसमें डालने होयतो छःछःमासे डालने चाहिये ॥

प्रमथ्याकीविधिः

प्रमथ्याप्रोच्यतेद्रव्यपलात्कल्कीकृताद्दृशम् ।
ततोष्टगुणितेतस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥

अर्थ—एकपल औषधको कूटकर कल्ककरे यदि सूखी औषधहोयतो पानीमें पीसके कल्ककरे उसमें अठगुनापानी डालके दोपलरहने पर्यंत उसको ओंटावे इसको प्रमथ्या कहते है इसके सेवनकी मात्रा २ पलकी है ॥

यूषकीविधिः

कल्कद्रव्यपलंशुंठीपिप्पलीचार्द्धकार्षिकी ।
वारिप्रस्थेनविपचेत्सद्रवोयूषउच्यते ॥

अर्थ—कल्ककी औषध सामान्य १ पललेय तथा जिस प्रयोगमें सोंठ—और पीपर होय वह प्रयोग तीक्ष्ण होनेसें आधा २ कर्षलेवे अथवा दोनोंमिलायके आधे कर्षलेय फिर उनका कल्ककर उसमें पानी एक प्रस्थडालके ओटावे जब औंटके कुछ गाढापेयाके समान होजावे तब उतारले इसको यूषएसा कहते है ॥

पेयालक्षण

द्रवाधिका स्वल्प सिक्था चतुर्दश गुणे जले ॥ सिद्ध पेया बुधैर्ज्ञेया यूष किंचिद्घनःस्मृतः ॥ पेयालघुतराज्ञेयाग्राहि णीधातुपुष्टिदा ॥ यूषोबल्यस्ततःकंठ्योलघुपाकःकफापहः ॥

अर्थ—द्रव्यसें चौगुना जलडालके पतली पेजके समान तथा कुछ गाढी हो-

य तक्तंक ओटावे इसकोपेया ऐसाकहते है । पेयाकी अपेक्षाजो कुछ अधिक गाढाहो उसको यूपकहते है । तहाँ वहपेया बहुत हलकी होनेसैं मलादिकोंका स्तंभन करती है. तथा धातु पुष्टकरे । और यूपबलदेताहै, कंठको हितकारी-हलका तथा कफको दूर करने वालाहै ॥

पुटपाककीविधिः

पुटपाकस्यकल्कस्यस्वरसोगृह्यतेयतः ।
अतस्तुपुटपाकानांयुक्तिरत्रोच्यतेमया ॥

अर्थ—पुटपाक और कल्क इन दोनोका स्वरस लेते है इसी कारण पुटपाककी युक्तिमें कहताहूं ॥

पुटपाककीकृति

पुटपाकस्यमात्रेयंलेपस्यांगारवर्णता ॥लेपंचद्व्यंगुलं-
स्थूलंकुर्याद्द्व्यंगुष्ठमात्रया॥काश्मरीवटजंब्वादिपत्रैर्वेष्ट
नमुत्तमम् ॥पलमात्ररसोग्राह्यःकर्षमात्रंमधुक्षिपेत्॥क-
ल्कचूर्णद्रवाद्यास्तुदेयास्वरसवद्बुधैः ॥

अर्थ—पुटपाककी मात्राका प्रमाण इसप्रकारकरे कि ऊपरकराहुआलेप अग्निमें अंगारेके समान लालवर्ण होने पर्यंत उसको अग्निमें राखे—तथा जिसद्रव्यका लेप देना होयतो दो अंगुल अथवा एक अंगुलमोटा देवे और लेपके ऊपरनीके पत्ते लपेटनेके लिये-कंभारी-वट-जामुन इत्यादिके उत्तम होते है-तथा पुटपाकमें रसडालना होयतो चारतोले तथा तोलेभर सहत और कल्कचूर्ण द्रवादिकपदार्थ स्वरसके मान प्रमाण उत्तम जाननेवाला वैद्य मिलावे ॥

पाठान्तरं

द्रव्यमापोथितंजंबूवटपत्रादिसंपुटैः ॥ वेष्टयित्वाततो
यद्वाद्दढंरज्ज्वादिनातथा ॥मृल्लेपद्व्यंगुलंकुर्यादथवांगु-
लिमात्रकं दहेत्पुटान्तरादन्यावल्लेपस्यरक्तता ॥

अर्थ-जिसद्रव्यका पुटपाक करनाहो उसको कूटके गोलाबनावे उसको जांबड आदिके पत्तोंसें लपेट ऊपर रस्सी आदिसें कसदे फिर ऊपर दोदो अंगुल मोटा मिट्टीका लेपकरे अथवा एक अंगुल मोटालेपकरे उसको अग्निके बीचधरके अग्निदेवे जबलाल होजावे तब निकाल रसनिचोडले-यह दृग्गीदियि व

चांवलधोनेकीक्रिया

कंडितं तंडुलपलंजलेष्टगुणिते क्षिपेत्।
भावयित्वाजलंग्राह्यंदेयंसर्वत्रकर्मसु ॥

अर्थ—एक पल विने फटके हुए चावललेकर उसमें आठपल जलडालके हाथोंसैं मीडकर धोवे फिर उसपानीको सर्व कर्ममें देवे ॥

अवलेहकल्पना

क्काथादीनांपुनःपाकात्घनत्वंसारसक्रिया। सोवलेहश्च लेहश्च प्राशइत्युच्यतेबुधैः। सिताचतुर्गुणाकार्याचूर्णाच्चद्विगुणोगुडः।द्रवंचतुर्गुणंदद्यादितिसर्वत्रनिश्चयः।सुपक्वेतन्तुमत्त्वंस्यादवलेहेऽप्सुमज्जनं। स्थिरत्वंपीडितेंमुद्रागंधवर्णरसोद्भवः।।दुग्धमिक्षुरसंयूषंपंचमूलकषायजं। वासाक्काथंयथायोग्यमनुपानंप्रशस्यते ॥

अर्थ—औषधोंके काढे तथा फांटादिकको फिर ओटाकर चासनीके समान गाढीकरे उसको रस क्रिया कहते है। उसरसक्रियाके पर्याय शब्द अवलेह-लेह-और प्राशयेहै। उस अवलेहके लेनेका प्रमाण एकपल कहाहै। तथा उसमे खांड क्काथचूर्णसे चौगुनी गुड चूर्ण सैं दुगना-और पानी-दूध- मूत्र-और दूसरे पतले पदार्थ चूर्णसैं चौगुने लेने चाहिये ऐसा अवलेहमें सर्वत्र नियमहै। उस अवलेहके उत्तम पाककी परीक्षा कहते है कि पाकहोनेपर अवलेहमें तार निकलने लगता है तथा उस अवलेहकी बूंदको पानीमें गेरनेसैं डूब जाती है। तथा अवलेहको कडछुलेमें लगानेसैं चिपक जाती है तथा उस पाकका गंध वर्ण और रस ये अपूर्व होते है इसप्रकार क्काथका उत्तम पाक होनेके लक्षण जानने। तथा उस अवलेहका अनुपान दूध ईखका रस-पंच मूलके काढेकायूष-अडूसेका काढा इत्यादिक है वो रोगका तारतम्य देखकर वैद्य अपनी बुद्धिके साथ योजनाकरे ॥

चूर्णविधिः

अत्यंतशुष्कंयद्द्रव्यंसुपिष्टंवस्त्रगालितम्।
तत्स्यात्चूर्णंरजःक्षोदस्तन्मात्राकर्षसंमिता ॥

अर्थ—उत्तम सूखी औषधको लायकर कूटपीस वारीककरे उसको कपडेमें

१ तन्मात्रास्यात्पलोन्मिता इति पाठान्तरम्। २ खरत्वमिति पाठांतरं।

छानलेवे उसे चूर्ण अैसा कहते है तथा रज और क्षोद अैसाभी कहते है उसचूर्णके भक्षणकी मात्रा १ तोलेकी है ॥

चूर्णमेंगुडादिडालनेकानियम

चूर्णेगुडःसमोदेयःशर्कराद्विगुणाभवेत् । चूर्णेप्रभर्जितंहिंगुदेयंनोत्क्लेदकारकम् । लिहेतचूर्णंद्रवैःसर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः। पिबेच्चतुर्गुणैरेवचूर्णमालोडितंद्रवैः।चूर्णावलेहगुटिकाकल्कानामनुपानकम् । पित्तवातकफात क्केत्रिद्व्येकपलंहरेत् ॥

अर्थ—चूर्णमें गुडडालना होयतो चूर्णके बरावर डाले । खांडदूनी मिलावे। तथा हींग भुनीहुई डालनी तो वह विकार नहीकरे । घी-सहत-और अन्य चिकनी वस्तुइसमें मिलानी होयतो वो चूर्णसैं दुगनी मिलावे । दूध गोमूत्र जल तथा अन्य पतलीवस्तु चूर्णसैं चौगुनीले उसजलादिमें चूर्णको डाल मिलायके पीवे । चूर्ण अवलेह गुटका तथा कल्क इनका अनुपान जो कहाहै वो पित्तरोग होयतो ३ पललेवे–वातरोग होयतो २ पल और कफरोग होयतो एकपलले इससैं औषध उत्तमरीतिसैं देहमें फैल जाती है ॥

यथातैलंजलेप्राप्तंक्षणेनैवप्रसर्पति ।
अनुपानबलादङ्गेतथासर्पतिभेषजम् ॥

अर्थ—इसविषयमें दृष्टांतहै जैसै पानीमें तेलकी बूंदक्षणमात्रमे फैल जाती है उसी प्रकार ओषधी अनुपानके बलसैं अंगमें शीघ्र फैल जाती है ॥

भावनाविधिः

द्रवेणयावतासम्यक्चूर्णंसर्वंप्लुतंभवेत् भावनायाःप्रमाणंतुचूर्णेप्रोक्तंभिषग्वरैः । भाव्यद्रव्यसमंक्काथ्यंक्काथयादष्टगुणंजलं॥ अष्टांशशेषितःक्काथोभाव्यानांतेनभावना॥दिवादिवातपेशुष्कंरात्रौरात्रौनिवासयेत् ॥शुष्कंचूर्णीकृतंद्रव्यंसप्ताहंभावनाविधिः ॥

अर्थ—चूर्णमें नीबूके रसकी–अथवा अन्य विजोरे आदिके रसकी पुटदेनी होयतो इतनारस डाले किवो चूर्ण उसरसमें बूडजावे यह चूर्णमें भावनाका प्रमाण वैद्योने कहाहै । जिस औषधीमें भावनादेनी है उसद्रव्यके समान क्काथ द्रव्य-

ले और उसमें आठगुनाजल मिलावे फिर अग्निपर चढाय मंद२ आंचसें काढाक-रे जबजलअष्टमांस रहे तबउतार छानके उसरसकी भावनादेवे दिनादिन भाव-नादेके धूपमें सुखायदे और रात्रिमें उठायके धरदेवे इसप्रकार उसभावनाका सब रससूख जावे तब चूर्णकर धररक्खे इसप्रकार सातदिन भावनादेनी चाहिये। ॥इति भावनाविधि॥

उष्णोदकविधिः

अष्टमेनांशशेषेणचतुर्थेनार्द्धेकेनवा। अथवाकथनेनैव-सिद्धमुष्णोदकंभवेत्। श्लेष्मामवातमेदोघ्नंबस्तिशो-धनदीपनम्। कासश्वासज्वरान्हन्तिपीतमुष्णोदकंनिशि।

अर्थ—जल अग्निपरगरमकरके अष्टमांश (अष्टावशेष) चतुर्थांश अथवा अर्धांशावशेषकरे अथवा केवल भतोवालकरे तो उसको उष्णोदक कहतेहै। गरमजल कफ-आमवात-और मेदोरोग (मोटापन) इनको नाशकरे तथा अ-ग्निकोदीप्तकरे-रात्रिको सोते समय गरमजलपीवेतो खांसी-श्वास-और ज्वरको नाशकरे॥

वटक (गोली)

वटकाश्चाथकथ्यन्तेतन्नामगुटिकावटी॥ मोदकोवटिका पिंडीगुडोवर्त्तिस्तथोच्यते। लेहवत्साध्यतेवह्नौगुडोवा-शर्कराथवा। गुग्गुलुर्वाक्षिपेत्तत्रचूर्णंतन्निर्मितावटी॥

अर्थ—अब वटका कहते है कि जिसका नाम गुटिका-वटी-मोदक-वटिका पिंडी गुड और वर्त्ती है इसके बनानेकी विधि अवलेहके समान गुड अथवा खांडकापाककर उसमें गुगल वा चूर्ण मिलाय गोली बनावे॥

कुर्यादवन्हिसिद्धेनकचिद्गुग्गुलनावटीम्। द्रवेणमधु-नावापिगुटिकांकारयेद्बुधः। सिताचतुर्गुणादेयावटी-पुद्विगुणोगुडः। चूर्णेचूर्णसमःकार्योगुग्गुलुर्मधुसंयुतम्। द्रवंतुद्विगुणंदेयंमोदकेषुभिषग्वरैः। कर्षप्रमाणातन्मा-त्रावलेढ्याप्रयुज्यते॥

अर्थ—कही कहीं २ अग्निके पाकविना शुद्ध गूगलडाल चूर्णमिलायके एक जीवकर गोली बनायलेवे-अथवा जल-महत-दूध इत्यादिक पतली वस्तुमिला

यके गोली बनायलेवे । यदि खांडसैं गोली बनानी होयतो चूर्णसैं चौगुनी खांड डालके गोली बनावे । और गुडके साथ बनानी होयतो दूना गुडडालके गोली बनावे । गूगल अथवा सहत इनदोसै गोली बनानी होवेतो ये चूर्णके समानभाग लेकर गोलीकरे । पानी—सहत इत्यादि पतली वस्तुसै गोली बनानी होयतो वो चूर्णसैं दुगनालेकर उससैं गोलीकरे । गोलीकी मात्रा १ तोलेकी है अथवा रोगीके शक्त्यनुसार वैद्य मात्राकी कल्पनाकरे ॥

चूर्णस्यपाकनिषेधमाह

प्रायेनपाकश्चूर्णानांभूरिचूर्णस्यतेनहि ।
आसन्नपाकेप्रक्षेपस्वल्पस्यपाकमार्गते ॥

अर्थ—चूर्ण औषधका पाककरना उचितनही है-इसका कारण यहहै कि पाक करनेसैं चूर्ण द्रव्यका वीर्यनष्टहो जाताहै । किंतु चूर्णद्रव्यका परिमाण अत्यंत अधिक होयतो मोदकआदिके बनानेमें जबचासनी होनेपर आयजावे उस समय इसको उसचासनीमें डालदेना उचितहै । अन्यथा समग्रचूर्णका उस पाकमेंमिलना कठिन है । यदिचूर्ण थोडा होयतो जब चासनी लड्डूकी होकर उतारलीनी जावे और थोडीगरम रहे उससमय मिलावे तो गुणकरे अन्यथा नही ॥

अथानुवटिकाविधिः

धात्वादीनामुद्भिदावा चूर्णमुक्तैर्द्रवैः प्लुतम् ॥
अनुक्तेतोययोगेनविमर्द्यविदधीतिच ॥
यवसर्षपगुंजादिप्रमाणांवटिकांभिषक् ॥
अनिर्दिष्टवटीसिद्धौप्रायोगुञ्जात्मिकामिति ॥
तत्सेवनंयथादोषमनुपानेनचेष्यते ॥

अर्थ—जडी बूंटी अथवा धातु आदि संपूर्ण द्रव्यका बारीकचूर्ण यथोक्तद्रव पदार्थके साथ अथवा जहां न कहाहो वहां जलके साथ सरसो—जो—अथवा रत्तीआदिके प्रमाण गोली बनानी चाहिये । जहां गोलीके विषयमें विशेषकुछनहीं लिखाउसजगे रत्ती २ की गोली बनानी. इसप्रकार बनाई हुई गोलियोंको अनुवटिका—अथवा सामान्यकरके वटिका कहते है । येदोष विशेषसें अनुपानविशेष करके सेवनकरनी चाहिये ॥

रसचूर्णम्

रसराजयुतंवल्लिहेमयुतं विधिनापुटितंमनुशैत्यगतम् ॥

उपनीयततः परिमर्दयतां रसचूर्णमिदंकथितंमुनिभिः ॥

अर्थ—गंधक और स्वर्णादिक द्रव्यपारेकेसाथ खरलकर यथाविधिपुटपाक देकर जद स्वांगशीतलहो जावे तव चूर्णकर औषधार्थ प्रयोगोंमें वर्त्ते । इसप्रकार की औषधको रसचूर्ण कहते है ॥

धन्वंतरीकाभाग

अर्द्धंसिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेहस्यभागोऽष्टमः
संसिद्धाखिललोहचूर्णगुटिकादीनां तथा सप्तमः ॥
योदीयेतभिषग्वरायसरुजानिर्दिश्यधन्वंतरिम् ।
देहारोग्यसुखाप्तयेनिगदितो भागः सधन्वंतरिः ॥ १॥

अर्थ—सिद्धरस (पारदकी भस्म -चंद्रोदयादि) मेंवैद्यका आधाभाग-तेल घृत और अवलेह इनमें आठवाभाग तथा संपूर्ण लोहो की भस्म (सुवर्ण-चांदी तामा-रांगा लोहकी-भस्म) चूर्ण-गोली, आदिशब्दसे-पाक-अर्क इत्यादिकमें सप्तमभाग जो रोगी-धन्वंतरिके उद्देशकरके वैद्यके वास्ते देता है उसकी देहमें आरोग्यहो-और सुखकी प्राप्तिहोती है-येभागधन्वंतरिका कहलाता है इसवा-स्ते, अवश्य देना चाहिये ॥

क्रीतद्रव्यस्यभैषज्यभागश्चैकादशोहियः ॥
वणिग्भ्योगृह्यतेवैद्यै रुद्रभागः सकथ्यते ॥ २ ॥

अर्थ—खरीदीहुई औषधमें ग्यारवां भागजो दुकानदारसें वैद्यलता है वह रुद्रभाग कहलाता है-तात्पर्य यह है कि विकती औषधमें वैद्यरोगीसें कुछनलेवे किंतु वेचने वालेने जितनी औषध वेची है उसका ग्यारवाभाग वैद्यकों लेना चाहिये येउसका हक्क है ॥

गृहीत्वाधिकमीशांशाद्योऽसमीचीनमौषधम्
दापयेल्लुब्धवद्वैद्यःसस्याद्विश्वासघातकः ॥

अर्थ—जो वैद्य ग्यारवे भागसें अधिकलेता है-अथवा उसवेचने वालेसें मिलकर आपकुछ अपने लिये हिस्सा ठेरायकर विकवावे वोलोभी वैद्य विश्वास घाती जानना-उसका न इससंसारमें भला होवे नपरलोकमें । प्रसंगवसयहां एक वात और लिखते है कि जिससे मनुष्य जाली मनुष्यके फंदेमेंनपडे ॥

यहां मथुरा-दिल्ली-आगरेमें सातिये लोग जो जातिके कायथ होते है और अकसर जर्राहीका वा नेत्रोंका इलाज किया करते है ये वाजारमें एकांतमें वैठे

रहते है जहां कोई गामका गमेरू मनुष्य अथवा प्रदेशी मनुष्य दीखा उसको इसारेसैं अपने पास बुलाकर कुछ न कुछ ऐसा रोग बतावे कि जिससै वो डरजावे, और उससे कहते है कि इस रोगसैं तुम्हारी बगलमें पसीने आते होंगे, और जब तुम सोंकर सुबहको उठते होगे तब बडे जोरसैं पेसाब उतरता होगा-यदि गरमी देखे तो कहते है कि तुम्हारे पैरोंके तलवा बहुत पसीजते होगे-प्यास अधिक लगती होगी और आलकस जियादह आता होगा-बस ऐसी २ बात कहनेसैं उसविचारे भोले भाले प्रदेशीको इनका विश्वास आजाता है-और उससै बीचबीचमें यहभी कहते जाते है कि भाई यह तुम्हारा बुरा रोग देखके हमको तरस आगया यदि इसका इलाज न करोगे तो महिने दो महिनेमे मरजाओगे इसवास्ते हम खुदाकी राहपर तुमारा इलाज बताते हैं सो तुमकरो अल्लाताला के फजलसैं बहुत जल्द तुमको आराम होजावेगा। इस तरह उसको काबूमें कर जहां इसकी सट्ट लगी हुई होती है उसी दुकानपर चटले पहुचते है-जाते खेम उससे कहत है किफलां दवाई तेरेपास है वो कहे है अच्छानिकाल जब निकाले तब ये खरल लेकर बैठ जातेहैं और कहे ये छः मासे डाल-दूसरी तोलेभर डाल, इसतरह पहले दमडी २ छदाम २ की दवाई बताए, फिर एक अनखटूटी नामलेकर दवाई मांगे वोपसारी कहे साहब वो बडे मोलकी दवाई है तब ए कहे क्यामुजाका है निकालतो सही जब वो निकालकर लावे तो पिसा हुआ गोंद होता है उसको कुछ अपनी जीभपर डाले और एक चुकटी भरके अपने ग्राहकके मूंमे डलवावे जब वो चिपकने लगे तब कहे कि देखो जैसी ये मूंमे चेपदेती है। ऐसी ही तुम्हारी धातको गाढीकर देवेगी-फिर पसारीसै पूछे ये क्या तोले देवेगा वो कहे ए कुरुपे तोले तब ए कहे नहींनही आठ आने तोले दे-आखिरको आठ आने दश आने पक्कीकर तुलाते है तब यह देखते है इस आदमीके पास कितना पैसा है उसवखत पसारी सैं कहते है कि भाई इस दवाईको रुपा डालके तोलो हम और तरहसैं नहीं माननेके पसारी सधा हुआ होताही है चट कहदेता है किमेरे पास अभी रुपानही आया नही तोमैंमें रुपेसैं तोलदेता उसवख्त ये हकीमसाहबअपने मवक्किलसैं कहते की आपके पास रुपा होयतो तोलनेके वास्ते देदीजिये ज्योही उसने रुपानिकाला और हकीम साहब ताडगए कि इसके पास इतनी जमा है वसउसीके माफिक १रु०की-दोरुपेकी ८ आनेकी या बारह आने की दवाई कुटाई और दामादेलाए उसको पुडिया बांधउसको सौपदेते है और उसकेसाथ २ चलकर सहरबाहर निकाल आते है कि जिसैको ईसख्स उसको भेजाए नही और उसको अपनी नेकी जताते है कि दे-

खोतुह्मारे इसकाममें हमने कौडीभी नही खाई ईश्वरकी राहपर आपको दवाई वनवायदीनी है–इसतरह उसको सहरवाहरकर चट उसपंसारीके पास आनकर जैसा उस्से ठहराव हो वैसा रुपेमें वारहआने या दशआनेले कर फिर उसी मुकाम पर आनजमते है और दूसरी सिकारकी तलास करते है ॥

इसलिखनेसैं हमारायही प्रयोजनहैकि सव भोले मनुष्यको जाहिर होजावे कि जैसे २ ठगिया–हकीम–जर्राह–ज्योतिशी–और मत्रशास्त्री या जादूगरीके जालसे वचे ऐसाकोईसा सहर नहीं है जहाँये पामर(नीच) ठगियानहीं रहते इन की मुख्य पहचानयही है कि येविना जानपहचानके आनकर खुसामदकी और लोभ की वात सैआदमीके दिलको लुभाते है–वसउसी समय बुद्धिमान् जान ले कि ये विनाकारण यहपरदेशीहमारी क्यो खुसामद करताहै–यह शीक्षा दत्तराम चौवेकीयादरहे ॥

अथस्नेहपाकस्यसाधारणोविधिः

तत्रादौतिलतैलमूर्च्छा

कृत्वातैलंकटाहेदृढतरविमलेमन्दमन्दानलैस्तत् तैलं
निष्फेनभावं गतमिहयदाशैत्ययुक्तंतदैव ॥मंजिष्ठारा
त्रिलोध्रैर्जलधरनलिकैः सामलैःसाक्षपथ्यैः ॥ सूचीप
त्रांघ्रिनीरैरुपहितमथितैः गंधयोगंजहाति ॥

अर्थ—तैलमूर्च्छाके नियम कहते है–लोहेके दृढकढावमें मद२अग्निसें तैलपाक करे–जव यहतेल झागरहित होय तव चूल्हेसें उतारलेवे कुछशीतल होनेपर–पिसी हलदीको जलमें घोरकरक्रमसें धीरे२ उसतेलमें डाले और ओटाता जाय इसी प्रकार कुटी मजीठको जलमें घोरके धीरे२क्रमसै डाले–फिर लोध नागरमोथा–नलिका–आवला–वहेडा–हरड–केतकीकीजड–वडकीकोपल और नेत्रवाला इन सवको पीस जलमें मिलाय पृथक् २ तेलमें क्रमसै डाले–तथा इसतेलमें चौगुना जलमिलाय फिर पाककरे जव कुछजल वाकीरहे तवउतारके ७ दिनधरा रहनेदे तो तैलकी दुर्गंध दूरहोय । इसी हलदी और मजीठ आदि द्रव्यको मूर्च्छा द्रव्य कहते है ॥

तैलस्येन्दुकलांशिकैकविकसाभागोऽपिमूर्च्छाविधौ ॥
येचान्येत्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विताः ॥
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्वपादांशिका ॥

दुर्गंधंविनिहंतितैलमरुणंसौरभ्यमाकुर्वते ॥

अर्थ—अवइनके परिमाणका नियम कहते है कि जितनातेल होवे उसके षोडशांश मजीठ लेनी चाहिये और बाकी सब द्रव्य मजीठकी चतुर्थांश लेनी-जैसे तेल १६ सेर तो मजीठ १ सेर एवं हरदी-लोध-हरड-वहेडा-आमला-नागरमोथा-नेत्रवाला-इत्यादि द्रव्य सब पाव २ भरलेनीचाहिये मूर्च्छाके करनेसैं तेलकी दुर्गंध दूरहोती है और उत्तम सुगंध आने लगें है तथा उस तेलका लालवर्ण उत्पन्न होताहै ॥

कटुतैलमूर्च्छा

वयस्थारजनीमुस्तविल्वदाडिमकेशरैः । कृष्णजीरक ह्रीवेरनलिकैः सविभीतकैः ॥ एतैः समांशैप्रस्थेचकर्षमात्रंप्रयोजयेत् । अरुणोद्विपलंतत्र तोयंचाढकसंमितं कटुतैलंपचेत्तेन आमदोषोपशान्तये ॥

अर्थ—कटुतैलके मूर्च्छाकी औषधये है-आमला-हरदी-नागरमोथा-वेलकी छाल अनारकी छाल-केशर-कालाजीरा-नेत्रवाला-नलिका-वहेडा-और मजीठ । मूर्च्छा करनेकी विधि पूर्ववत् जाननी । अर्थात् तैल निस्फेन होजावे तब उतारके हरदीजलमें धोरके तैलमें छिरके-फिरमजीठको छिडके-फिरअन्य २ सब वस्तुओंको तेलमें डाले ४ सेर कडुआतेल-मजीठ २ पल-और २ द्रव्य प्रत्येक दोदो तौलालेवे और जल १६ सेरमिलायके पाककरे ॥

एरंडतैलमूर्च्छा

विकसामुस्तकंधान्यंत्रिफलावैजयन्तिका ॥ ह्रीबेरवन खर्जूरवटशुंगानिशायुगं । नलिकाभेपजंदेयंकेतकीच समंसमम् । प्रस्थेदेयंशुक्तिमितंमूर्च्छनेदधिकांजिकम् ॥

अर्थ—एरंडतेलकी मूर्छा द्रव्य ये है-मजीठ-नागरमोथा-धनिया-त्रिफला अरनीके पत्ते नेत्रवाला-वनखजूर-वडकीकोपल-हरदी-दारहलदी-नलिका-केतकीकीजड-दही-काँजी-प्रत्येक चार २ तोला, तेल अंडीका ४ सेर-पूर्वोक्त रीतिके अनुसार मजीठ आदिसैं मूर्छा करे

घृतमूर्च्छा

पथ्याधात्रीविभीतैर्जलधररजनीमातुलुंगद्रवैश्वद्रव्यै

रेतैसमस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन । आज्यं
प्रस्थंविफेनंपरिचपलगतंमूर्च्छयेद्वैद्यराजः तस्मा
दामोपदोषंहरतिचसकलंवीर्यवत्सौख्यदायि ॥

अर्थ—हरड-आमले-बहेडा-नागरमोथा- हलदी-और नीवूकारस येसब व-स्तु घृतकी मूर्च्छाद्रव्यहै । पंथमहलदी--पश्चात् नीवूका रस फिर और २ द्रव्य संपूर्ण डालके पूर्ववत् मूर्च्छित करे-मूर्च्छाद्रव्य प्रत्येक एक २ पल लेवे घृत ४ सेरले और जलपाकार्थ १६ सेर मिलावे ॥

वातहरतैलानांविशेषमूर्च्छाविधिः
आम्रजंबूकपित्थानांबीजपूरकबिल्वयोः ॥
गन्धकर्मणिसर्वत्रपत्राणिपञ्चपल्लवम् ॥
पंचपल्लवतोयेनगंधानांक्षालनंमतम् ॥

अर्थ—वातघ्न (नारायणतैल -विषगर्भादि) तैलोंकी मूर्छामें पूर्वोक्त साधारण नियमकरे । तथा पंचपल्लवजलमें फिरशोधनकरे । उसका नियम यह है कि- आम-जामुन-कैथ, बिजोरा-और बेल इनसबके पत्ते तेलके अष्टमांस लेकर चौगुने जलमें काढाकरे, जबचतुर्थांश बाकी रहे तबउतारके छानलेवे । फिरइसकाढेकेसाथ उत्तममूर्छित तैलको फिरपाककरे ॥

स्नेहपाकमेंकालकानियम
मूर्च्छास्यात्सप्तभिः सिद्धारात्रिभिर्बुधसंमता ॥ व्रीहि
प्राण्यंगयोपाकःसद्यःसिध्यतिनान्यथा ॥ स्यात्पाकः
पयसोद्वाभ्यांस्वरसादेस्तुतिसृभिः ॥ दधिकांजिकत
क्राणांसिद्धोभवतिपञ्चभिः॥मूत्रादीनामेकयास्यात्ततः
कल्कस्यसप्तभिः ॥ गंधानांपंचभिर्ज्ञेयः स्नेहपाकेत्वयंक्रमः ॥

अर्थ—तैलादिककी मूर्च्छा ७ दिनमें होती है—अर्थात् मूर्च्छा द्रव्य संपूर्ण पाकके अंतर ७ दिन तकउतारके डालते है । तत्पश्चात् मटरआदिका काढा और उसके पीछे मांसादिक काढेके साथ तैलकापाक करना । इत्यादिकमें एकएक दिनलगता है, फिरदूधके साथ पाककरना इसमें दोदिन लगते है, फिर स्वरस तथा क्वाथके साथपाककरनेमें तीनदिनलगते है, फिरदही—काजी—और छाछइनके साथ पाकमें पांच ५ दिनलगते है । तत्पश्चात् मूत्रादिकके साथपाककर

नेमें एकदिनलगता है। फिरकल्कपाक ७ दिनमें होता है--सबके पीछे गंधपाक अर्थात् गंधद्रव्य केसाथपाक ५ दिनमें होता है, तथादूध--दही--इनकेसाथ पाक रनेमें एकएक दिनलगता है॥

चतुर्विधस्नेह

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तोघृतंतैलंवसातथा॥
मज्जाचतंपिवेन्मर्त्यः किंचिदभ्युदितेरवौ॥

अर्थ—स्नेह (चिकनाई) चारप्रकार की है—जैसे--घी--तेल--वसा (मांसस्नेह) और मज्जा (हड्डी सैं निकलातेल) एचारोप्रकारके तेल किंचिन्सूर्योदय होनेपर तथानहोनेपर पीनेचाहिये॥

द्विविधस्नेह

स्थावरंजंगमंचैवद्वियोनिः स्नेहउच्यते॥
तिलतैलंस्थावरेषुजंगमेषुघृतंवरम्॥

अर्थ—वो स्नेह दोप्रकारका है एकस्थावर और दूसराजंगम ये दोही स्नेहकी योनि है, तिनमें स्थावर पदार्थके स्नेह बहुत है उनमें तिलका तेल उत्तम है। और जंगमपदार्थोंमें घी आदिशब्दसैं वसादिक अनेक है उनमें घीश्रेष्ठ है इसप्रकार स्नेहके दोभेद जानने॥

स्नेहकेभेद

द्वाभ्यांत्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतोमहान्॥

अर्थ—घी और तेल दोनोके मिलनेसैं उसको यमक कहते है—और घी-तेल तथा वसा (चर्बी) येतीन एकत्र होनेसैं उसकी त्रिवृत संज्ञा हे। तथा घी-तेल-वसा—और मज्जा इन चारोके एकत्र मिलने सैं उसकी महान् संज्ञा है। इसप्रकार स्नेहके तीन भेद जानने॥

स्नेहपाकविधिः

विघ्नेशक्षेत्रपालौवटुकमपिशुभेवासरेपूजायित्वातैल
स्याज्यस्यकिंवारचयतुनिपुणः संस्कृतिंसंप्रदायात्॥

---

१ 'मांसा दष्टगुणं घृतं', अर्थात् मांसकी अपेक्षा घृत अठगुना अधिकहै, इसी कारण प्रथम घृत लिखाहै। २ मांससे घृतके समान तेल निकलता है अतएव उसको मांस स्नेह अथवा चर्बी कहते है। ३ जो नहीं चले [जैसे वृक्षादि] उनको स्थावर। ४ और चलनेवाले [गौ,-भैस,-मनुष्य आदि] को जंगम कहते है।

आदौवन्हिंप्रदद्याल्लघुरथशनकैः फेनशब्दावधिः स्यात् ॥
पश्चान्मृत्पिंडकैस्तद्दशभिरलघुभिर्नातिपीनैर्विशोध्यम् ॥

अर्थ—श्रीगणपती-क्षेत्रपाल और वटुक इनका शुभादिनमें पूजनकर-फिर तेल-अथवा घीकी विधिको कुशल वैद्य गुरु संप्रदायानुसार आरंभ करे-प्रथम तेलको लोह आदिके कढावमें चढाय चूल्हे पररखके मंद मंद अग्निदेवे कि जबतक तैलमें झागन आवे और धीमेंशब्द नहोवे-फिरक्रमसै अग्निको बढावे । पश्चात् मिट्टीके दशगोला कि जोंनबहुत बडे और नबहुतछोटे हो ऐसेले करउनसै शोधनकरे

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्यघृतंवातैलमेववा ॥
द्रव्येचतुर्गुणेसाध्यंतस्यमात्रापलेन्मिता ॥

अर्थ—कल्कसैं चौगुना घीवा तेल लेवे उसको चतुर्गुण द्रव्यमें साधनकरे जिसकी मात्रा एकपल (४ तोले) की है ॥

स्नेहसाधनमेंक्वाथ्यऔरजलादिकाप्रमाण

निक्षिप्यक्वाथयेत्तोयंक्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् ॥ पादशिष्टं गृहीत्वातुस्नेहस्तेनैवसाधयेत् ॥ चतुर्गुणंमृदुद्रव्यकठिनेऽष्टगुणंजलं । मृद्वादिक्वाथ्यसंघातेदद्यादष्टगुणंपयः ॥ अत्यंतकठिनेद्रव्येनीरंषोडशिकंमतम् ॥

अर्थ—अनेक स्थलमें काथके साथ घी वा तैलका पाककरते है इसीसै क्वाथ बनेका नियम लिखतेहै । क्वाथ्यद्रव्य (जिसकी काथकरीजावेगी) यदिनम्रहोवे तो चौगुनाजलडाले-और यदिमध्यमहोय अर्थात न बहुत करडी और नबहुत नरम तो अठगुना जलमिलावे, तथा जो द्रव्य अत्यंत कठोर होवे तो सोलह गुना-जलडालके क्वाथ सिद्धकरे-जबचतुर्थांशशेषरहे तब उतारके छानलेवे । ऐसाकाढा स्नेहसै चौगु नालेना चाहिये ॥

अन्यच्च

कर्षादितःपलंयावत्क्षिपेत्षोडशिकंजलं ॥ तदूर्ध्वंकुडवं-
यावद्भवेदष्टगुणंपयः॥प्रस्थादितःक्षिपेन्नीरंखारीयावच्चतुर्गुणम् ।

अर्थ—अन्यत्रभी लिखाहै कि क्वाथबनानेमें क्वाथ्य द्रव्यका परिमान १ कर्षसैं लेकर पलपर्यंत होनेसे सोलहगुनाजल डालना-और पलसैं लेकर कुडव पर्यंत

आठगुना जलडालना एवं प्रस्थसैं लेकरखारी पर्यंत द्रव्य होवेतो उसमें चौगुना जलडालना न्यूनाधिक नहीं डालना ॥

तुलाद्रव्येजलद्रोणोद्रोणेद्रव्यतुलामता ।

अर्थ—जहांजलका परिमाणकुछ नहीं कहा वहाँ १२॥ सेर द्रव्यमें ६४ सेर जलडालके क्काथकरे । एवं ६४ सेर जलमें क्काथ्यद्रव्य १२॥सेर डालनी चाहिये॥

अनिर्दिष्टप्रमाणानांस्नेहानांप्रस्थइष्यते ।
जलस्नेहौषधानांचप्रमाणंयत्ननोदितम् ॥
तत्रस्यादौषधात्स्नेहःस्नेहात्तोयंचतुर्गुणम् ।
स्नेहसिद्धौद्रव्येऽनुक्तेसर्वत्राम्भश्चतुर्गुणम् ॥
गन्धद्रव्याणिचेच्छन्तिकल्कस्यार्धांशिकानिच॥

अर्थ—स्नेह पाकमें जहां विशेष कुछनहीं लिखा उसजगे स्नेह १ सेर लेना चाहिये, तथा जलस्नेह- और कल्कद्रव्यका परिमाणन लिखाहो तहांकल्कचौगुनालेना स्नेह और कल्कपाकार्थ जलका परिमाण स्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये । स्नेह पाकमें द्रव्य पदार्थका जहां उल्लेख न होवे तहां चौगुना जलडालके पाक करना। तथा तेल पाकमें गंधद्रव्यका परिमाण कल्कके परिमाणसैं आधा जानना चाहिये

स्नेहपाकविधौयत्रक्षीरमेंकतुकथ्यते ।
तोयादीनामनिर्देशेक्षीरमेवचतुर्गुणम् ॥
द्रव्यान्तरेणयोगेतुक्षीरंस्नेहसमंविदुः ॥

अर्थ—स्नेह पाकमें यदि दुग्धके सिवाय और पदार्थ नहो अर्थात् केवल दूधसैं ही पाककरना होवेतो दूधस्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये । और यदि पाकमें जल अथवा अन्य द्रव्यका संयोग होवेतो दूधस्नेहके बराबरही लेना यह नियमहै।

वृन्देतु

स्वरसक्षीरमाङ्ग्ल्यैर्पाकोयत्नेरितःक्वचित्।
जलंचतुर्गुणंतत्रवीर्यार्धानार्थमावपेत् ।
नमुंचतिरसंद्रव्यंक्षीरादिभिरुपस्कृतम् ।
सम्यक्पाकोनजायेततस्मात्तोयंचतुर्गुणम् ॥

अर्थ—वृन्दग्रंथमें लिखाहै कि स्वरस- दूध—अथवा दही इनकरके पाक करना कहाहो वहां वहीं २ चौगुना जल मिलाकर पाककरते है इसकातात्पर्ययहहै कि

१ कल्का चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात्क्वाथश्चतुर्गुण. क्वाथाच्चतुर्गुणंवारिक्वाथ क्वाथ्यसमोन्म

दूधआदिके गाढा होनेपर कल्कादिद्रव्यका रस अच्छीतरहनही निकलता अतएव उत्तम पाकभी नहींहोवे-इसी कारण चौगुना जल डालनेसैं पाकठीक २ होताहै और द्रव्योंमें वीर्यकी प्राप्तिहोती है इससै चौगुना जल डालना चाहिये ॥

पंचप्रभृतियत्रस्युद्रव्याणिस्नेहसंविधौ ।
तत्रस्नेहसमान्याहुर्वाक्चस्याच्चतुर्गुणम् ॥

अर्थ—स्नेहपाकमें पांच अथवा पांचसैं अधिक द्रव्य होवेतो प्रत्येक द्रव्यका प्रमाणस्नेहके समानलेना चाहिये । यदि पांचसै न्यून (कम्) होवे तो उनको स्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये ॥

अम्बुक्काथरसैर्यत्रपृथक्स्नेहस्यसाधनम् ।
कल्कस्यांशंतत्रदद्याच्चतुर्थंषष्ठमष्टमम् ॥

अर्थ—जलद्वारा स्नेह पाककरना होवे तो कल्क द्रव्यका परिमाणस्नेहसैं चतुर्थांशलेवे । काथके द्वारापाककरना होयतो कल्कका परिमाण स्नेहसैं छटाभाग-लेवे । एवं स्वरस द्वारापाक करना होयतो स्नेहका अष्टमांस रसलेना चाहिये ॥

दुग्धेदधिरसेतत्रैकल्कोदेयोष्टमांशिकः ।
कल्काच्चसम्यक्पाकाथतोयमत्रचतुर्गुणम् ।
कल्कात्कल्कद्रव्यात्चतुर्गुणतोयंपेषंणार्थं ॥

अर्थ— दूध-दही-स्वरस अथवा छाछद्वारा पाककरना होवेतो स्नेहका अष्टमांश यक एक और कल्क का चौगुनाजल डालना चाहिये । चौगुना जल कल्कके पीस-नेके वास्ते लेतेहै ॥

क्काथेनकेवलेनैवपाकोयत्रोदितःक्वचित्काथ्यद्रव्यस्य-
कल्कोऽपितत्रस्नेहेप्रयुज्यते । कल्कहीनस्तुयःस्नेहः
ससाध्यःकेवलेद्रवे।केवलेद्रवेकाथेतरस्मिन्स्वरसादिरूपे॥

अर्थ—जहां केवल काथ द्वारा स्नेह साधन कहाहो तो उसजगे काथ्य द्रव्य-का कल्कभी मिलायके पाककरे । जहां कल्कके विना स्नेहपाक करनाहोय उस-जगे काथके सदृश अन्य द्रव पदार्थके साथ अर्थात् स्वरसादिके साथ पाककरना चाहिये ॥

पुष्पकल्कस्तुयःस्नेहस्तत्रतोयंचतुर्गुणम् ।
स्नेहात्स्नेहाष्टमांशश्चपुष्पकल्कंप्रयुज्यते ॥

अर्थ—कल्क द्रव्यादि पुष्पहोयतो उसको स्नेहका अष्टमांसलेवे और पाकार्थ स्नेहका चौगुना जलडालना चाहिये ॥

आदौकल्कः प्रदातव्योगंधद्रव्यंततः परम् । तैलमुत्तार्यदातव्यंशिलकंकुङ्कुमंनखम्।गंधचंदनकर्पूरमेलावीजंलवंगकम् ॥

अर्थ—प्रथम कल्कपाककरे–फिर गंधद्रव्यका पाककरे–गंधद्रव्य समग्रकल्कके परिमाणसैं आधी होनी चाहिये। तैलकादूनाजलदेकर गंधपाककरे गंध द्रव्यमें शिलारस, केशर, नख, सपेद चंदन, कपूर, छोटी इलायची, और लौग इनका पाक नहींकरना इनको पाकांतमें तैल चूल्हेसै उतार शीतलकर उसमें येद्रव्य पीसके डालदेवे और कौंचासै सबको मिलायके एकजीव करदेना चाहिये ॥

गंधद्रव्याणि

एलाचंदनकुंकुमागरुमुराकङ्कोलमांसीशटी ॥
श्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशशभृत्क्षौणीध्रजोशीरकम् ॥ कस्तूरीनखपूतितैलजलमुङ्मेथीलवंगादिकम् गंधद्रव्यमिदंप्रदेयमखिलंश्रीविष्णुतैलादिषु ॥

अर्थ—छोटी इलायची,–सपेद चंदन,–केशर,–अगर,–जटामांसी,–कचूर,–सरलकाष्ठ,–तेज पत्र,–गठीला,–कपूर,–शिलाजीत,–खस,–कस्तूरी,–नख,–मुरकविलाई,–शिलारस,–नागरमोथा,–मेथी, लौग, इत्यादि गंधद्रव्य कहाती है नारायण तैल आदिमें येसंपूर्ण गंधद्रव्य देनी चाहिये ॥

स्नेहपाकपरिज्ञानम्

वर्तिवत्स्नेहकल्कःस्याद्यदाङ्गुल्याविवर्तितः ॥
शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहःसिद्धोभवेत्तदा ॥
यदाफेनोद्गमस्तैलेफेनशांतिश्चसर्पिषि ॥
गंधवर्णरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्धोभवेत्तदा ॥

अर्थ—स्नेह पाकमें जब कल्कको उंगलियोंके मीडनसैं वर्तीसी होने लगे तथा अग्निमें उसको गेरनेसैं चट चटाहट शब्द नकरे तब जाननाकि स्नेह, सिद्ध होगया। जिस समय तेलमें झाग आवे और घीमें झाग आना बंदहो जावे तथा उपयुक्त वर्ण गंध और रसकी उत्पत्ति होवे तब जाननाकि पाक सिद्ध होचुका ॥

त्रिविधपाक

स्नेहपाकस्त्रिधाप्रोक्तोमृदुर्मध्यःखरस्तथा । ईषत्स्वर सकल्कस्तुस्नेहपाकोमृदुर्भवेत् । मध्यपाकस्यासिद्धि श्चकल्केनीरसकोमले । ईषत्कठिनकल्कश्चस्नेहपाको भवेत्खरः । तद्वूर्ध्वंदग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः आमपक्वश्चनिर्वीर्योवह्निमांद्यकरोगुरुः ॥

अर्थ—स्नेहपाक तीन प्रकारका है १ मृदु- २ मध्य- ३ खर-तहां कल्क द्रव्यका कुछ थोडासारस अंश बाकी रहनेसें मृदुपाक कहाताहै । और जो कोमल होय तथा रस रहितहो उसको मध्यपाक कहतेहे । एवं कुछ थोडा कठिन होनेसें खर पाक कहाताहै । इसके उपरांत कठिन पाक होनेसें दग्ध पाक कहाताहै । ऐसा स्नेह कार्य साधक नही होता-येदाहको प्रगट करेहै तथा आमपक्व (कच्चे पाकका) स्नेह निर्वीर्य-मंदाग्नि करता औरभारी होताहै ॥

नस्यार्थंस्यान्मृदुः पाकोमध्यमः सर्वकर्मसु ॥
अभ्यंगार्थः खरप्रोक्तोयुंज्यादेवंयथोचितम् ॥

अर्थ—नस्यके अर्थ मृदुपाकवाला स्नेह लेना, और मालिसमें खरपाक लेना, तथा मध्यपाक स्नेह सर्व कार्योपयोगी जानना ॥

घृततैलगुडादींश्चसाधयेन्नैकवासरे ॥
प्रकुर्वंत्युषिताह्येतेविशेषाद्गुणसंचयम् ॥

अर्थ—घृत-तैल-औरगुड आदिपाक एक दिनमें न साधन करे, इसका यहकारणहै किउषित (वासित) अर्थात् अधिक दिनमें सिद्धकरा हुआपाक विशेष गुणोंको करताहै इसी कारण धीरे धीरे साधन करे ॥

अथस्नेहसेवनविधिः

गुरुशीतसरस्निग्धमंदसूक्ष्ममृदुद्रवम् ॥ औषधंस्नेहनं प्रायोविपरीतंविरूक्षणम् । सर्पिर्मज्जवसातैलंस्नेहे षुप्रवरंमतम् ॥ तत्रापिचोत्तमंसर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् । घृतात्तैलंगुरुवसातैलान्मज्जाततोऽपिच ॥

अर्थ—गुरु,-शीत,-सर,-स्निग्ध,-मंद सूक्ष्म,-मृदु,-और द्रव,-गुणयुक्त द्रव्य समस्त स्नेहन जानना । इसके विपरीत अर्थात् लघु,-उष्ण,-स्थिर,-रूक्ष,-स्थूल,-क-

ठिन, और सांद्रगुण, विशेष द्रव्यमात्र भाय रूक्षण जाननी। स्नेहपदार्थमें घृत-मज्जा-वसा-और तैल ये चार प्रधान है। इस स्नेहचतुष्टय मेभी घृत उत्तम है। कारण यहहै कि इस घृतके अन्य द्रव्यके साथ संस्कार होनेसें निजशक्ति और संस्कृत द्रव्यकी शक्तिकों प्रकाश करे है। घृतसै तैल, तैलसै भारीवसा है, और वसासैं भारी मज्जा जाननी॥

स्नेहपीनेकाक्रम

पिबेज्र्यहंचतुरहं पंचाहंषडहंतथा॥

अर्थ—घी तीन दिन पीवे-और तैल चार दिन पीवे तथा मांस स्नेह पांच दि पीवे-और हड्डीका तेल ६ दिन पीना चाहिये। इस प्रकार क्रम करके घृतादि स्नेह पीनेका क्रम जानना॥

सप्तरात्रात्परंस्नेहः सात्मीभवतिसेवितः॥

अर्थ—सात दिवसके अनंतर घृतादिक स्नेह पीनेसैं आहारके समान हो जाता है। फिर गुण अवगुण कुछ नही करता॥

स्नेहपानमेंयुक्ति

दोषकालाग्निवयसांबलंदृष्ट्वाप्रयोजयेत्।
हीनांचमध्यमांज्येष्ठांमात्रांस्नेहस्यबुद्धिमान्॥

अर्थ—वातादिक दोष-काल-अग्नि-अवस्था इनका बलाबल विचारके घृतादिक स्नेहोंकी सेवनकी मात्रा हीन-(अल्प) और मध्य-तथा ज्येष्ठ-इनमेंसैं शक्तिका तारतम्य देखकर देनी चाहिये॥

अविधिस्नेहसेवनकेदोष

अमात्रयातथाकालेमिथ्याहारविहारतः।
स्नेहःकरोतिशोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञितः॥

अर्थ—घृतादिकस्नेह पीनेका प्रमाण कहाहै उसकी अपेक्षा कम अथवा ज्यादे पीनेसैं, तथा पीनेका कालछोडकर अन्यकालमें पीनेसैं, तथा घृतादिकस्नेह पीकर मिथ्या आहार और मिथ्या विहार करनेसैं, उस स्नेहसैं सूजन और ववासीर होतीहै तथा तंद्रा आनकर घोरनिद्रा आतीहै तथा संज्ञाका नाश होताहै।

---

१ स्नेह पीनेमे २ कर्षकी मात्रहीन है २ तीन कर्षकी मात्रा मध्यम जाननी ३ एक पल प्रमाणकी जो मात्रा है सो ज्येष्ट (बडी) जाननी

स्नेहयोग्यमनुष्य

स्नेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिंतकाः ।
वृद्धबालाबलकृशारूक्षक्षीणास्त्ररेतसः ॥
वातार्तसंधितिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ॥

अर्थ— औषध करके जिसका पसीना काढाहो, रेचक औषध करके शुद्धकराहुआ, मद्य पीनेवाला, स्त्रीपरिश्रमसैं थकाहुआ, चिंताकरके व्याप्त, वृद्ध, बालक, कृश, रूक्ष, क्षीण, रुधिरवाला, धातुक्षीण, वादीकरकेपीड़ित, तिमिर, रोगसैं व्याप्त एसे प्रकारके मनुष्यघृतादिक स्नेहपीनेके योग्यहै अेसा जानना ।

स्नेहक्रियाअयोग्य

स्नेह्यानत्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
उरुस्तंभातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाछर्ध्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्चपीडिताः
अपप्रसूतायुक्तेचनस्येबस्तौविरेचने ॥

अर्थ—अत्यंत मंदाग्निवाला, अत्यंत तीक्ष्णाग्निवाला, अतिस्थूल, अत्यंतदुर्बल, एवं ऊरुस्तंभ, अतिसार, आम, गलरोग, विषरोग, उदररोगी, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, कफ, तृषा और मदात्यय रोगसैं पीडित, अकाल प्रसूता नारी, इत्यादिरोगी तथानस्य वस्ती और विरेचन करनुकाहो अेसे मनुष्योंको स्नेहन क्रिया करना निषेधहै।

(घृतयोग्य)

तत्रधीस्मृतिमेधाग्निकांक्षिणांशस्यतेघृतम् ॥

अर्थ— तहां बुद्धि स्मृति (स्मरण) मेधा और अग्निवृद्धि इनके निमित्त स्नेह प्रयोग करनेंवालोंको घृत प्रयोग उत्तमहै ॥

(तैलयोग्य)

ग्रन्थिनाडीक्रिमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु॥तैललाघवदार्ढ्यर्थंक्रूरकोष्ठेषुदेहिषु॥वातातपाध्वभाषास्त्रीव्यायामाक्षीणधातुषु ॥

अर्थ— गांठ, नाडीव्रण, कृमि, कफ, मेदा, वायुरोगसैं पीडित, क्रूरकोठेवाला, एवं हवा, धूप मार्गचलना, अधिकपुकारना (पढना गानाआदि) स्त्रीसंभोग, और दंडकसरत, इत्यादिकारणोंसैं क्षीणधातुवालोंके पक्षमें तथा हलकापन और दृढताके निमित्त तैलका प्रयोग अतिउत्तमहै ।

वसाऔरमज्जाकेअधिकारी

रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषुच ॥ शेषौवसातु

अर्थ— रूक्षदेह, क्लेशकासहनेवाला, अत्यंत अग्निदीप्तवाला, इनको करके मार्गरुका हुआ ऐसे मनुष्योंको वाकीके दोस्नेह वसा और . । री जानने ॥

वसाकाप्रयोग

सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासुच ॥ तथादग्धाहतेभ्रष्टेयोनि-

कर्णशिरोरुजि ॥

अर्थ—संधि, हड्डी, मर्म, कोष्ट, कर्ण, और मस्तककी पीडा, एवं दग्धयोनि, आहतयोनि, और भ्रष्टयोनि, ऐसीस्त्रियोंके पक्षमें वसा अत्यंत हितकारी है॥

ऋतुपरत्वघृततेलादिकासेवन

तैलंप्रावृषिवर्षान्तेसर्पिरन्यौतुमाधवे॥ऋतौसाधारणे-

स्नेहः शस्तोऽन्हिविमलेरवौ ॥

मध्यमायन्निकर्षास्याज्जघन्यायद्विकार्षिकी॥

अर्थ—जिसमनुष्यकी दीप्ताग्नि होवे उसको घृतादिक स्नेहकी मात्रा १ पल पिलानी चाहिये। और जिसकी मध्यम अग्निहै उसमनुष्यको तीनकर्ष प्रमाणदेवे तथा जिसकी मंद अग्निहोवे उसको दोकर्ष प्रमाणकी मात्रा देनीचाहिये।

प्रकारांतर

अथवास्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोन्याः सर्वसंमताः॥
अहोरात्रेणमहतीजीर्यत्यह्नितुमध्यमा॥
जीर्यत्यल्पादिनार्द्धेनसाविज्ञेयासुखावहा॥

अर्थ—संपूर्ण ऋषियोंको मान्य—ऐसी दूसरी घृतादिक स्नेह—व्यवस्थापक मात्रा तीनप्रकारकीहै उसको कहतेहै। जोमात्रा आठप्रहरमें पचे उसको बडीमात्रा कहतेहै वो एक पलकी जाननी। और जोमात्रा एकदिनमें पचे उसको मध्यम कहतेहैं वो तीनकर्षकीहै।तथा जो मात्रादोप्रहरमें पचे उसको अल्पा(छोटीमात्रा) कहतेहै वो दोकर्षकी जाननी यह सुखदायकहै अर्थात् यह सबको पचनहोसक्तीहै।

आल्पादिकमात्राओंकेगुण

आल्पास्याद्दीपनीवृष्यास्वल्पदोषसुपूजिता।
मध्यमास्नेहनीज्ञेयाबृंहणीभ्रमहारिणी॥
ज्येष्ठाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेकी जो दोकर्षकी अल्पमात्रा है वह जठराग्नि दीप्तकर स्त्रीसंगकी रुचि बढावे है, तथावातादिक दोषोंके अल्पप्रकोपको दूरकरे है।तथातीनकर्षकी जो मध्यममात्रा है। वोदेहको पुष्टकर धातुकी वृद्धिकरे तथाभ्रमको दूरकरे। एवं १ पलकीजो ज्येष्टमात्रा है वो कुष्ट—विष भूतोन्माद और अपस्मार इनका नाशकरे॥

दोषोंमेंअनुपानविशेष।

केवलंपैत्तिकेसर्पिर्वातिकेलवणान्वितम्।
देयंबहुकफेवापिव्योषक्षारसमन्वितम्।

अर्थ—केवल पित्तके कोपमें घी मिलावे और वायुके कोपमें घी और निमक मिलायके पिवावे। तथा कफके अत्यंत कोप होनेसें व्योष[१]—तथाजवाखार इनके चूर्णके साथदेवे॥

---

१. सोंठ,—मिरच,—पीपल, इन तीनोंके समुदायको व्योष कहते है—

मध्यमायन्त्रिकर्षास्याज्जघन्यायद्विकार्षिकी॥

अर्थ—जिसमनुष्यकी दीप्ताग्नि होवे उसको घृतादिक स्नेहकी मात्रा १ पल पिलानी चाहिये। और जिसकी मध्यम अग्निहै उसमनुष्यको तीनकर्ष प्रमाणदेवे तथा जिसकी मंद अग्निहोवे उसको दोकर्ष प्रमाणकी मात्रा देनीचाहिये।

प्रकारांतर

अथवास्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोन्याः सर्वसंमताः॥
अहोरात्रेणमहतीजीर्यत्यह्नितुमध्यमा॥
जीर्यत्यल्पादिनार्द्धेनसाविज्ञेयासुखावहा॥

अर्थ—संपूर्ण ऋषियोको मान्य—ऐसी दूसरी घृतादिक स्नेह व्यवस्थापक मात्रा तीनप्रकारकीहै उसको कहतेहै।जोमात्रा आठप्रहरमें पचे उसको बडीमात्रा कहतेहै वो एक पलकी जाननी। और जोमात्रा एकदिनमें पचे उसको मध्यम कहतेह वो तीनकर्षकीहै।तथा जो मात्रादोप्रहरमें पचे उसको अल्पा(छोटीमात्रा) कहतेहै वो दोकर्षकी जाननी यह सुखदायकहै अर्थात यह सबको पचनहोसक्तीहै।

आल्पादिकमात्राओंकेगुण

आल्पास्याद्दीपनीवृष्यास्वल्पदोषेसुपूजिता।
मध्यमास्नेहनीज्ञेयावृंहणीभ्रमहारिणी॥
ज्येष्ठाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेकी जो दोकर्षकी अल्पमात्रा है वह जठराग्नि दीप्तकर स्त्रीसंगकी रुचि बढावे है,तथावातादिक दोषोंके अल्पप्रकोपको दूरकरे है।तथातीनकर्षकी जो मध्यममात्रा हे।वोदेहको पुष्टकर धातुकी वृद्धिकरे तथाभ्रमको दूरकरे। एव १ पलकीजो ज्येष्टमात्रा है वो कुष्ट—विष भूतोन्माद और अपस्मार इनका नाशकरे॥

दोषोंमेंअनुपानविशेष।

केवलंपैत्तिकेसर्पिर्वातिकेलवणान्वितम्।
देयंबहुकफेवापिव्योषक्षारसमन्वितम्।

अर्थ—केवल पित्तके कोपमें घी मिलावे और वायुके कोपमें घी और निमक मिलायके पिवावे। तथा कफके अत्यंत कोप होनेसे व्योष[1]—तथाजवाखार इनके चूर्णके साथदेवे॥

---

१ सोंठ,—मिरच,—पीपल, इन तीनोके समुदायको व्योष कहते है—

घृतयोग्य

रूक्षक्षतविषार्त्तानांवातपित्तविकारिणाम् ।
हीनमेधास्मृतीनांच सर्पिःपानंप्रशस्यते ॥

अर्थ—रूक्षमनुष्य-उरक्षत-और विषार्त्त मनुष्य-तथा वातपित्तके विकारी-एवं बुद्धि-स्मृति-करके हीन है उनको घृतकापिलाना उत्तम है ॥

तैलयोग्य

कृमिकोष्टानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः ॥
पिबेयुस्तैलसाम्यायेतैलंदीप्ताग्नयस्तुये ॥

अर्थ—कृमिरोगी, उदरविकारी-तथा वायुकरके व्याप्त है शरीर जिन्होका तथा प्रवृद्धहुआ है कफ और मेद जिनके अेसे मनुष्योको तैल पिलावे । तथा जिनकी प्रकृतिको तेल सुहाता हो एवं प्रदीप्त है अग्नि जिनकी उनमनुष्योंको तैल पिलाना चाहिये ॥

चर्बीयोग्य

व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्तामहारुजः ।
महाग्निमारुतप्राणावसायोग्यानराः स्मृताः ॥

अर्थ—कुस्ती कसरत तथा धनुप्यादिककाखींचना इनकरके जो पीडित है शरीर जिसका तथा क्षीणहै धातु और रक्त जिनका तथा देहमें घोरपीडाहै जिनके एव अग्नि और वायुहै प्रवल जिसके अेसे मनुष्योको मासस्नेह पिलाना चाहिये ॥

मज्जा(हड्डीकातेल)

क्रूराशयाः क्लेशसहावातार्तादीप्तवह्नयः ।
मज्जानंचापिवेयुस्तेसर्पिर्वासर्वतोहितम्॥

अर्थ—दुष्ट है कोष्ठ जिन्होका तथा दुःख सहन करनेवाले मनुष्य तथा जो मनुष्य वायुकरके पीडित है एवं प्रदीप्त है जठराग्नि जिन्होकी अेसे मनुष्योंको हड्डीका तेलपिलाना अथवा घी पिलावे तो इसकार्यसें शरीरको हितहोता है ॥

१जिनमनुष्योंकी प्रदीप्त अग्निहै—तथा वायुका शरीरमें जैसा वर्त्ताव चाहिये अैसा वर्त्ते तथा अग्निके साथही अन्नको पचन करे इसीसें अग्नि और वायु ये शक्तिदेनेवाले है तथा ये अनुकूल होवे तो मासका स्नेह पचन होय और ये अनकूल न होय तो नही पचे

२ आम २ अग्नि—३ पक्व—४ मूत्र—५ यकृत—६ प्लीहा—७ हृदय—८ उदुक—९ और फुप्फुस नो स्थानोको कोष्ट कहतेहै अर्थात् ए पदार्थ कोष्टमें रहते है

स्नेहपानकाल

शीतकालेदिवास्नेहमुष्णकालेपिबेन्निशि ।
वातपित्ताधिकेरात्रौवातश्लेष्माधिकेदिवा ॥

अर्थ—शीतकालमें घृतादिकस्नेह दिनमें पीवे, और गरमीमें वात पित्त प्रबल होनेसैं रात्रिके समय पीवे । तथा कफवायु प्रबल होनेसै दिनमें पीवे इसप्रकार स्नेह पीनेका क्रमजानना ॥

स्नेहकीस्थलविशेषमेंयोजना

नस्याभ्यंजनगंडूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणे ।
तैलंघृतंवायुंजीतदृष्ट्वादोषबलाबलम् ॥

अर्थ—नाकमें डालनेके विषयमें तथा अंगमें मालिस करना कुल्ले करना-तथा मस्तक कान-और नेत्रोंकी तृप्तिके विषयमें वातादिकोंका बलाबल देख. तेल अथवा घृतकी योजनाकरे ॥

स्नेहकेपृथक्२अनुपान

घृतेकोष्णजलंपेयंतैलेयूषः प्रशस्यते ।
वसामज्ज्ञोः पिबेन्मंडमनुपानंसुखावहम् ॥

अर्थ—घृतपीकर उसके ऊपर गरम जल पीवे-तथा तेलं पीके ऊपर व्योष पीवे-मांस स्नेह अथवा हड्डीका तेल पीकर ऊपरसैं मंडपीवे । तो सुखकारी होय याप्रकार स्नेहका अनुपानजानना ॥

भातकेसंगस्नेहदेनेयोग्य

स्नेहद्विषः शिशून्वृद्धान्सुकुमारान्कृशानपि ।
तृष्णातुरानुष्णकालेसहभक्तेनपाययेत् ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहसैं जिनको द्वेष (नफरत) है, तथा बाल-वृद्ध-सुकुमार मनुष्य और कृश तथा तृषा करके पीडित ऐसे मनुष्यको गरमीके दिनोंमें भातके साथ घृतादिक स्नेह पिवावे ॥

यवागूकोसद्यःस्नेहकारित्व

सर्पिष्मतीविदुतिलायवागूः स्वल्पतंडुला ।

---

१ चावल कुल्थी इत्यादिक धान्य एक पल ले उसमें जल १ प्रस्थ डालके औंटावे और गाढीकरे उसको व्योष ऐसा कहतेहै २ भातके पेंजको मंड ऐसा कहते है

सुखोष्णासेव्यमानातुसद्यःस्नेहनकारिणी ॥

अर्थ—तिलोंको कूट उसमें थोडे चावल मिलाय घी और पानी उनमें डाल-के चूल्हेपर चढायकै ओंटावे मंदाग्निसैं पतली लप्सीसी वनावे उसको यवागू कहते है यहयवागू कुछ गरम २ सेवनकरनेसैं उसीसमय देहमें धातु उत्पन्न हो-ती है अर्थात् सद्यस्नेहनकारिणी है ॥

घारोष्णदुग्धसैतत्कालधातुउत्पन्नहोतीहै
शर्करा चूर्णसंमृष्टेदोहनस्थेघृतेतुगाम् ।
दुग्ध्वाक्षीरंपिबेदुष्णंसद्यःस्नेहनमुच्यते ॥

अर्थ—मिश्रीका चूरा घीमें डालके उस घीको चूल्हे परचढाय थोडा गरमकर दूधदुहनेके पात्र (दोहनी) में डाले फिरउसपात्रमें गौकादूध उसीसमय गरम २ होय उसको पीवे असाकरनेसैं तत्काल स्नेहनहोताहै अर्थात् उसीसमय देहमें धातु उत्पन्न करता है ॥

मिथ्योपचारसैंजिसकोस्नेहनपचेउसकायत्न
मिथ्याचाराद्धुत्वाद्वायस्यस्नेहोनजीर्यति ।
विष्टभ्यवापिजीर्यैतवारिणोष्णेनवामयेत् ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेके पश्चात् व्यायामादिक परिश्रम करनेसैं वो स्नेह पचेनही अथवा वहुत पीनेसै नहीं पचा—अथवा मलके अवरोध करके जीर्णनहीं हुआ असे स्नेहाजीर्णी मनुष्यको गरम२ जल पीलाय कर उलटी करावे जिससे स्नेहके अजीर्णका दोप दूरहोय ॥

दूसरायत्न
स्नेहस्याजीर्णशंकायांपिबेदुष्णोदकंनरः ।
ततोद्गारोभवेच्छुद्धोभक्तप्रीतिरुचिस्तथा ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेसैं यदि अजीर्णहुआ असी शंका होय तो गरमागरम जल पीवे जिससै शुद्ध उत्तम डकार आकर अन्नके ऊपर रुचि आवे आतेही अजीर्णदूरहुआ असा जानना ॥

स्नेहनकरकेपित्तकोपहोतृपालगेउसकाउपाय
स्नेहेनपैत्तिकस्याग्निर्यदातीक्ष्णतरीकृतः ।
तदास्योदीयतेतृष्णाविपमांतस्यपाययेत् ॥

शीतंजलंवामयेच्चपिपासातेनशाम्यति ॥

अर्थ—जिस मनुष्यकी आर्धी पित्तकी प्रकृति उसमें वो मनुष्य घृतादिक स्नेह पदार्थ पीवे तो उसकरके उसमनुष्यकी अग्नि अत्यंत तीक्ष्ण हो तृपाको वढावे उसतृपाके दूर करनेको उस मनुष्यको शीतलजल पिवावे तथा उलटीकरवावे कि जिस्सैं अत्यंत प्यासका लगना दूरहो ॥

वर्जितस्नेहीमनुष्य

अजीर्णीविर्जयेत्स्नेहमुदरीतरुणज्वरी ॥
दुर्बलोरोचकीस्थूलोमूर्च्छातोंमदपीडितः ॥
दत्तवस्तिर्विरक्तश्चवांतितृष्णासमन्वितः ॥
अकालप्रसवानारीदुर्दिनेचविवर्जयेत् ॥

अर्थ—अजीर्णका विकार-उदररोगी-तरुणज्वरवाला-दुर्वलमनुष्य-अरुचिवाला-अतिस्थूल-मूर्च्छारोगी-मद्यपानेसैं पीडित एवं वस्तिकर्मकराहुआ-तथा जिसको दस्त होतेहो-उलटी करताहो-प्याससे पीडित तथा अकालमें प्रसूता स्त्री इन सब रोगियोंको घृतादिक स्नेह पान नहीकरना चाहिये-तथा जिसदिन वदलसैं आकाश थिररहाहो उस दिनभी स्नेह पानकरना वर्जितहै ॥

उत्तमस्नेहकेलक्षण

वातानुलोम्यंदीप्तोग्निर्वर्चःस्निग्धमसंहतम् ॥
मृदुस्निग्धांगताग्लानिःस्नेहोवेगोथलाघवं ॥
विमलेन्द्रियतासम्यक्स्निग्धेरूक्षेविपर्ययः ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहपीकर अंगका रूखापन दूर होकर मनुष्य उत्तम स्निग्धहोनेसैं उसके लक्षण दिखाते है कि वायु देहमें उत्तमरीतिसैं संचारकरे । तथा मल सचिक्कण होवे और अधिक उतरे । तथा शरीर नम्र और सचिक्कण होवे-तथा ग्लानि रहितहो । तथा घृतादिकस्नेहके सेवन करनेसै किसी प्रकारका उपद्रव न होय शरीर हलका होय तथा इन्द्री निर्मल होवे एलक्षण उत्तमके है। और रूक्ष मनुष्य जो होताहै उसके लक्षण इनलक्षणोंसैं विपरीत होते है तात्पर्य यहहै कि देहमे यथार्थ स्नेहन (चिकनाई) न होनेसै जो ऊपर लक्षणकहे है उससै विपरीत लक्षण होते है ॥

---

१ जिसका ज्वर परिपक्व न हुआ हो वो मनुष्य ।
२ गुदाके द्वारा तैल आदिकी पिचकारी मारनेका प्रयोग ।

अधिक स्नेहपानकेउपद्रव

भक्तद्वेषोमुखस्रावोगुदेदाहः प्रवाहिका ॥
तन्द्रातिसारः पांडुत्वंभृशंस्निग्धस्यलक्षणम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य घृतादिक स्नेह अधिक पीताहै उसके लक्षण ये है कि अन्नसैं द्वेषकरे मुखसैं लारगिरे-गुदामें दाहहोय—मल पतला उतरे—नेत्रोंमें तन्द्राहो-अतिसारहोय—तथा शरीर पीले रंगका होजावे ये अतिस्निग्धके लक्षण जानने ॥

रूक्षकोंस्निग्धकरनाऔरस्निग्धकोरूक्षकरनेकाप्रकार

रूक्षस्यस्नेहनंस्नेहैरतिस्निग्धस्यरूक्षणम् ।
श्यामाकचणकाद्यैश्चतत्कपिण्याकसक्तुभिः ॥

अर्थ—रूक्षमनुष्यको स्निग्धपदार्थ—मक्खननिकाला हुआ, तत्कालका मट्ठा-तथा तिलोंका कल्क-तथा जोंका सत्व इत्यादिकरके स्निग्धकरे और स्निग्ध मनुष्यको रूक्ष पदार्थ जे साँमखिया—पसाई—धान्य और चना इत्यादिककरके रूक्षकरना चाहिये ॥

स्नेहसेवनका फल

दीप्ताग्निःशुद्धकोष्ठश्चपुष्टधातुर्जितेन्द्रियः ।
निर्जरोबलवर्णाढ्यःस्नेहसेवीभवेन्नरः ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहके सेवनकरनेसै मनुष्यके लक्षण—जैसै कि अग्निदीप्तहो कोष्ठ शुद्धहोय—शरीरमें रसादिक धातु पुष्ट हो—तथावो मनुष्य जितेन्द्रीहोय तथा वृद्धावस्थारहितहो बल और कांति इनकरके युक्त होवे—एलक्षण होतेहै ॥

स्नेहसेवनकेनियम

उष्णोदकोपचारीस्याद्ब्रह्मचारीक्षपाशयः । नवेगरोधीव्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥ प्रवातयानपानाध्वभाष्याव्यासनसंस्थिती । नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसिच । यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपित्यजेत् ॥

अर्थ—घृतादि स्नेहसेवनकरनेवाला गरम जल पीवे—शीतलनपीवे—ब्रह्मचर्यसे रहे—रात्रिमें शयनकरे दिनमें न सोवे—मलमूत्रादिके वेगको रोकेनहीं उसी समय त्यागे—दंडकसरत—क्रोध—शोक—सरदी—धूप—अत्यंत हवासाना—घोडे आदिकी

सवारी-मद्यआदिकापान-मार्गका चलना-बहुत बोलना-अत्यंतबैठारहना अत्यंत नीचा अथवा अत्यंतऊंचा मस्तकके नीचे तकिया धरके सोना-दिनमें सोना-धूंआके घरमें रहना-उडती धूरमें जानाआना इत्यादिक सब कर्म त्यागदेवे ये संपूर्ण नियम जितने दिन स्नेहपानकरे उतनेही दिन आगेतक पालनकरने चाहिये ॥

त्र्यहमच्छंमृदौकोष्ठेक्रूरेसप्तदिनंपिबेत् ॥
सम्यक् स्निग्धोऽथवायावदतःसात्म्यमिवेत्परम् ॥

अर्थ—मृदुकोष्ठवाला ३ दिन, क्रूरकोष्टवाला७ दिन, अच्छ स्नेह पानकरें, मध्यकोष्ठवाला पांच दिन सेवनकरे, तब.इसस्नेहका फल दीखे । सामान्यताकरके यह नियमहै किंतु जहांतक स्नेहपानके संपूर्ण लक्षण न मालुमहो तबतक स्नेहपानकरे तत्पश्चात् स्नेहपान सात्म्य अर्थात् अभ्यासमें आयजाताहै ॥

स्नेहव्यापत्तीकायत्न

तक्रारिष्टखडोद्दालयवश्यामाककोद्रवम् । पिप्पली
त्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ॥ यथास्वंप्रतिरोगंच
स्नेहव्यापदिसाधनम् ॥

अर्थ—स्नेहके उपद्रवसें यदि क्षुधा-तृषाजातीरहे वमन होय-पसीने आवे-तो रूक्षपान-रूक्षअन्नका भोजन-रूक्षऔषधे-तक्र-अरिष्ट-खड (कृतान्न विशेष) उद्दाल (धान्यविशेष) यव-सामखिया-कोदोधान्य-पीपल-त्रिफला-सहत हरड-गोमूत्र-तथागूगलइत्यादिकदेवे-तथा जिस २ रोगपरजैसी २ चिकित्साल्खी है वो स्नेह व्यापत्ती रोगोंमें करनी चाहिये ॥

अथस्वेदविधि

स्नेहपानके अनंतर पसीने काढनेकी विधिकहते है तहां प्रथम पसीनेके भेद दिखाते है ॥

स्वेदश्चतुर्विधःप्रोक्तस्तापोष्मौस्वेदसंज्ञितौ ।
उपनाहोद्रवःस्वेदःसर्ववातार्तिहारिणः॥

अर्थ—पसीना निकालना चारप्रकारका है उसके नाम जैसे-ताप-उष्म-उपनाह-और द्रव ये चार प्रकारके पसीने वादीकी पीडा दूर करने वाले है ॥

दोषकीतारतम्यतासेंस्वेदविधिः
महाबलेमहाव्याधौशीतेस्वेदोमहान्स्मृतः ।

दुर्बलेदुर्बलस्वेदोमध्येमध्यतमोमतः ॥

अर्थ—जिसकेदेहमें घोर वादीका रोग है उसके अंगोंसैं अत्यंत पसीना काढना चाहिये, तथा हलका रोग होयतो उसके अंगसैं थोडा पसीनानिकाले, और मध्यमरोगीके देहसैं मध्यम पसीने निकालने चाहिये ॥

रोगविशेषमेंस्वेदविधिः

बलासेरूक्षणःस्वेदोरूक्षः स्निग्धःकफानिले । कफमेदावृतेवातेकोष्णगेहरवेःकरान्॥ नियुद्धंमार्गगमनंगुरुप्रावरणंध्रुवं ।चिंताव्यायामभारांश्चसेवेतामयमुक्तये ॥

अर्थ—कफका रोगहोनेसैं रूक्षपदार्थ जो वालुकादिक उस्सै देहका पसीनानिकालना और कफवायुका रोगहोनेसैं स्निग्ध और रूक्षइनदोनो प्रकारके पदार्थोंसैं पसीना निकालना चाहिये तथा कफ मेदोयुक्त वादीकारोग होनेसैं–घरमें जिसजगे गरमी हो उसजगे बैठ अंगको सहन होय अेसीथोडी२गरमीलेनी चाहिये तथा सूर्यकी किरण अंगपरलेनी चाहिये । तथा कुस्तीकरे एवं कुछ थोडी रास्ता चले–कंवल,–धुस्सा,–इत्यादिक ओंढे–तथा चिंताएुक्तहोना चाहिये परिश्रमकरे तथा कोई भारीवस्तु अंगोपर धारण करनी–इतने उपायपसीने निकालनेके अर्थकरने चाहिये जिस्से कफमे दोषयुक्तजो वायुका रोग सो दूरहोवे ॥

पसीनेकाढनेयोग्यमनुष्य

येषांनस्यंविधातव्यंवस्तिश्चापिहिदेहिनाम् ।
शोधनीयाश्चयेकेचित्पूर्वंस्वेद्याश्चतेमताः॥

अर्थ—जोनस्यकर्मके योग्यहै तथा वस्ति कर्मके योग्य तथा विरेचन देनेके योग्यउन सब मनुष्योंके अंगका पसीना प्रथम काढकर फिर नस्यादि उपाय करना चाहिये ॥

स्वेद्याः पूर्वंत्रयोपीहभगंदर्यर्शसीतथा ।
आश्मर्या चातुरोजंतुः शमयेच्छस्त्रकर्मणा ॥

अर्थ—भगंदररोगी–बवासीररोगी–और पथरीरोगी इनतीनोको प्रथम पसीने निकालके फिर शस्त्रकर्म कर रोगको शमनकरना चाहिये ॥

पश्चात् स्वेदनीयमनुष्य

पश्चात्स्वेद्यागतेशल्येमूढगर्भगदेतथा ।

कालेप्रजाताकालेवापश्चात्स्वेद्यानितंविनी ॥

अर्थ—जिसस्त्रीके पेटमें गर्भका शल होवे उसका पतन होने उपरांत तथा नौ महिनेके पश्चात् अथवा नौमहिनेके प्रथम प्रसूत होनेसें उसके देहका पसीना निकलवाना चाहिये ॥

स्वेदकर्मयोग्यदेशकाल

सर्वान्स्वेदान्निवातेचजीर्णाहारेचकारयेत् ॥

अर्थ—ये चाऱ्यो प्रकारके स्वेद मनुष्यका आहार पचन होनेके अनंतर जिसजगे हवा न आतीहो उसजगे काढने चाहिये॥

पसीनेकाढनेपरिकसमार्गसैंदोषदूरहोतेहै ।

स्वेदाद्धातुस्थितादोषाः स्वेदः स्विन्नस्य देहिनः ॥
द्रवत्वंप्राप्यकोष्ठांतर्गतायांतिविरेकताम् ॥

अर्थ—औषधादिक करके मनुष्यके अंगका पसीना काढनेके पश्चात उसको तथावडे वासनमें तेल भरके उसमें मनुष्यको बैंढानेसैं उसके वातादिक दोपरसादि सप्तधातुमें रहनेवालेभी कोष्टकेमध्येजानेसैं वो दोषपतले होकर गुदाके द्वारा दस्तकेसाथ निकलते है । प्रथम दोषपसीनेके द्वारानम्रहोकर कोष्ठमें जाते है वहांसैं दस्तोके राहवाहर गिरते है यह इस श्लोकका तात्पर्य है ॥

स्वेदनमेंविधि

स्वेद्यमानशरीरस्यहृदयंशीतलैः स्पृशेत् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्यशीतैराच्छाद्यचक्षुषी ॥

अर्थ—मनुष्यके देहकापसीना काढनेसैं उसयोगकरके पेटके भीतरके दोषपतले होकर गुदाके द्वारादस्तोंमे निकलते है तवउसमनुष्यकी छाती में चंदनका लेपकरे जिससैं प्रकृतिस्वस्थहोय । तथा जो मनुष्य तेलमें बैठादुआ है उस योगसैं उसके दोषपतले होकर गुदाके रास्तेसैं दस्तोंके साथ निकलनेसैं उसके नेत्रोंपर कमलके पत्ते अथवा केलाके पत्ते शीतलता करनेके लियेलगाने चाहिये उसठंढकके करनेसैं ग्लानिदूर होकर प्रकृति स्वस्थहोती है ॥

स्वेदकर्मवर्जितमनुष्य

अजीर्णीदुर्बलोमेहीक्षतक्षीणपिपासितः ॥
अतिसारीरक्तपित्तीपांडुरोगीतथोदरी ॥

मदात्तौगर्भिणीचैवनहिस्वेद्याविजानता ॥
एतानपिमृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको अजीर्णहो, तथा दुर्बल मनुष्य—तथा जिसको प्रमेहहो. तथा उरःक्षत करके पीडित तथा जिसको अत्यंतप्यासलगरही हो वो तथा अतिसार—रक्तपित्त-पांडुरोगी—उदररोगी-मदार्त—येरोग जिसमनुष्योंके होय वो तथा गर्भिणीस्त्री—इतने रोगीनूका पसीना नहीं काढना चाहिये ये पसीना काढनेमें अयोग्य है यदि इनरोगियोंके पसीना काढनेसैं ही रोगनष्टहोता दीखेतो हलके उपायसैं थोडा पसीना काढना चाहिये ॥

अल्पपसीनेकाढनेयोग्यस्थल

मृदुस्वेदंप्रयुंजीततथाहृन्मुष्कदृष्टिषु॥

अर्थ—हृदय और अंडकोश तथा नेत्र इनका पसीना काढना होवेतो हलका काढे विशेषनहीं ॥

अत्यंतपसीनेनिकलनेकेदोष

अतिस्वेदात्संधिपीडादाहस्तृष्णाक्लमोभ्रमः ॥
पित्तासृक्पिटिकाकोपस्तत्रशीतैरुपाचरेत् ॥

अर्थ—अंगेसैं बहुत पसीना निकालनेसैं सर्व संधियोंमें पीडा—तृषा—ग्लानि—भ्रम—रक्तपित्त—येउपद्रव होते है तथा अंगमें मरोडी उत्पन्न होती है । इनके शमनकरनेको शीतल उपाय करना कि जिस्सै उपद्रव दूरहोवे ॥

उक्तचारप्रकारकेस्वेदोंमेंतापसंज्ञकस्वेदकेलक्षण ॥
तेपुतापाभिधः स्वेदोबालुकावस्त्रपाणिभिः ॥
कपालकंदुकांगारैर्यथायोग्यंप्रजायते ॥

अर्थ—चारप्रकारके पसीनोंमें ताप इसनामकरके जो पसीना है इसको बालू वस्त्र—हाथ—सीपडा—कपडेकी गेंद और अंगार इनकरके बालूकादिक आदि जिस २मे जैसी २ शक्ती है तैसा २ पसीना उत्पन्न होता है । ये छःप्रकार कहे इनकी क्रियाकैसे करे उसको कहते हैं सैरके अथवा कणसर लकडीके धूमररीत जलते हुए कोले करके उसके ऊपरबालूको तपायके उसबालूको अंड़के पत्तोंमें धरके उसपत्तेकी पुडिया बनाय उसपुडियामें मनुष्यके अंगोंकोसेके जिस्सै अंगका पसीना निकले यह एकप्रकार है । तथा अंगारोपर अपने हाथ गरम कर रोगी के अंगोंकोसेकैं । अथवा रूअड कपड़ेकी गेंदभी बनाय अंगारोपर गरम

करके उसगैदसैं रोगीके अंगासिकावे । तथा कपडेको गरम करके देहको सेके । अथवा अंगारो को सीपरेमें भरके उससुहाते २ सिपरेसैं सेककरे येसवउपायप सींनेनिकालनेकेकहे इनसैं वैद्यको जिसउपायसै पसीने काढने हो काढे ॥

उष्मसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

उष्मास्वेदःप्रयोक्तव्यो लोहपिंडेष्टिकादिभिः । प्रतप्तै-
रम्लसिक्तैश्च काये रल्लकवेष्टिते । अथवा वातनिर्घा-
शिद्रव्यक्काथरसादिभिः । उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे
छिद्रं निधाय च।विमुद्रचास्यं त्रिखंडा च धातुजां का
ष्ठवंशजां । षडंगुलास्यां गोपुच्छां नलीं युज्याद्विह-
स्तिकां ॥सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतं। ह-
स्तिशुंडिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणं ॥पुरुषाया-
ममात्रं वा भूमिमुत्कीर्यखादिरैः॥काष्ठैर्दग्धा तथाभ्यु-
क्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शया
नं स्वेदयेन्नरम् ॥एवं मापादिभिः स्विन्नैः शयानः स्वे
दमाचरेत् ॥

अर्थ—उष्माइसनाम करके जो स्वेद (पसीना) है–उसकी क्रियाकहते है। लोहेके गोलाको अथवा ईटको अग्निमें तपायकर उसपर थोडा खट्टा पदार्थ छिडक कर रोगीको कंबल उढाय उस गोले करके अथवा उस ईटकरके रोगीके देहकोसेके, जिस्मै पसीनेनिकले यह एकप्रकार कहा । अथवा दशमूलादिक जो वातहरणकर्त्ता औषधी उनका काढा अथवा उन औषधियोंका रस गरमकर मिट्टीके घडेको भर उस घडेके मुखको बंदकर उसके एक बाजूमें छेदकर धातुकी अथवा लकडीकी तथा बांसकी नली बनाय उसनलीमें तीनसंधी करे तथा उसकामुख छःअंगुल लंबा और चोडा करे । अथवा गौके पुच्छके आकार करे, इस नलीका आकार हाथीकी सूंडके समान होताहै, अतएव इसको ह-

---

१ छाछ, कान्जी, इत्यादिक खट्टे पदार्थ जानने । २ सालपर्णी, पृष्टपर्णी, कटेरी, बडीकटेरी, गोखरू, बेलगिरी, अरनी, टेंटू, पाढल और गंभारी, इनकी मूलको दशमूल कहते है । ३ उसघडेके मुखमें डाटदेकर दहकते हुए कौलेनपर धरदेवे–जिससे उस नलीकेरास्ते वाफ अच्छीरीतिसैं निकले।४ तांबे, पीतल, लोहआदि धातुकी नली चाहिये।

मदात्तैंगर्भिणीचैवनहिस्वेद्याविजानता ॥
एतानपिमृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको अजीर्णहो, तथा दुर्वल मनुष्य—तथा जिसको प्रमेहहो. तथा उरःक्षत करके पीडित तथा जिसको अत्यंतप्यासलगरही हो वो तथा अतिसार—रक्तपित्त-पांडुरोगी—उदररोगी-मदार्त—येरोग जिसमनुष्योंके होय वो तथा गर्भिणीस्त्री—इतने रोगीनूका पसीना नहीं काढना चाहिये ये पसीना काढनेमें अयोग्य है यदि इनरोगियोंके पसीना काढनेसैं ही रोगनष्टहोता दीखेतो हलके उपायसैं थोडा पसीना काढना चाहिये ॥

अल्पपसीनेकाढनेयोग्यस्थल

हृदुस्वेदंप्रयुंजीततथाहृन्मुष्कदृष्टिषु॥

अर्थ—हृदय और अंडकोश तथा नेत्र इनका पसीना काढना होवेतो हलका काढे विशेषनहीं ॥

अत्यंतपसीनेनिकलनेकेदोष

अतिस्वेदात्संधिपीडादाहस्तृष्णाक्लमोभ्रमः ॥
पित्तासृक्पिटिकाकोपस्तत्रशीतैरुपाचरेत् ॥

अर्थ—अंगेसैं वहुत पसीना निकालनेसैं सर्व संधियोंमें पीडा—तृषा—ग्लानि—भ्रम—रक्तपित्त—येउपद्रव होते है तथा अंगमें मरोडी उत्पन्न होती है । इनके शमनकरनेको शीतल उपाय करना कि जिससैं उपद्रव दूरहोवे ॥

उक्तचारप्रकारकेस्वेदोंमेंतापसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

तेपुतापाभिधः स्वेदोवालुकावस्त्रपाणिभिः ॥
कपालकंदुकांगारैर्यथायोग्यंप्रजायते ॥

अर्थ—चारप्रकारके पसीनोंमें ताप इसनामकरके जो पसीना है इसको वालू वस्त्र—हाथ—सीपडा—कपडेकी गैंद और अंगार इनकरके वालूकादिक आदि जिस २मे जैसी २ शक्ती है तैसा २ पसीना उत्पन्न होता है । ये छःप्रकार कोई इनकी क्रियाकैसे करे उसको कहते है खैरके अथवा कणग्वर लकडीके धूमरहीत जलते हुए कोले करके उसके ऊपरवालूको तपायके उसवालूको अंढके पत्तोंमें धरके उसपत्तेकी पुडिया वनाय उसपुडियामें मनुष्यके अंगोंकोसेके जिससैं अंगका पसीना निकले यह एकप्रकार है । तथा अंगारोपर अपने हाथ गरम कर रोगीके अंगोंकोसेकै । अथवा रूअड कपडेकी गैंदसी वनाय अंगारोपर गरम

करके उसगैदसैं रोगीके अंगसिकावे । तथा कपडेको गरम करके देहको सेके । अथवा अंगारो को खीपरेमें भरके उससुहाते २ खिपरेसैं सेककरे येसवउपायप सीनेनिकालनेकेकहे इनसैं वैद्यको जिसउपायसैं पसीने काढने हो काढे ॥

उष्मसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

उष्मास्वेदःप्रयोक्तव्यो लोहपिंडेष्टिकादिभिः । प्रतप्तै-
रम्लसिक्तैश्च काये रल्लकवेष्टिते । अथवा वातनिर्हा-
शिद्रव्यक्काथरसादिभिः । उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे
छिद्रं निधाय च।विमुद्रयास्यं त्रिखंडा च धातुजां का
ष्ठवंशजां । षडंगुलास्यां गोपुच्छां नलीं युज्याद्विहु-
स्तिकां ॥सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतं। ह-
स्तिशुंडिकया नाड्या स्वेदयेद्धातरोगिणं ॥पुरुषाया-
ममात्रं वा भूमिमुत्कीर्यखादिरैः॥काष्ठैर्दग्धा तथाभ्यु-
क्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शया
नं स्वेदयेन्नरम् ॥एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानः स्वे
दमाचरेत् ॥

अर्थ—उष्माइसनाम करके जो स्वेद (पसीना) है—उसकी क्रियाकहते है। लोहेके गोलाको अथवा ईंटको अग्निमें तपायकर उसपर थोडा खट्टा पदार्थ छिडक कर रोगीको कंवल उढाय उस गोले करके अथवा उस ईंटकरके रोगी-के देहकोसेके, जिस्सै पसीनेनिकले यह एकप्रकार कहा । अथवा दशमूलादि-क जो वातहरणकर्त्ता औषधी उनका काढा अथवा उन औषधियोंका रस गर-मकर मिट्टीके घडेको भर उस घडेके मुखको वंदकर उसके एक बाजूमें छेदक-र धातुकी अथवा लकडीकी तथा वांसकी नली बनाय उसनलीमें तीनसंधी करे तथा उसकामुख छःअंगुल लंवा और चोडा करे । अथवा गौके पुच्छके आकार करे, इस नलीका आकार हाथीकी सूडके समान होताहै, अतएव इसको ह-

---

१ छाछ, कांजी, इत्यादिक खट्टे पदार्थ जानने । २ सालपर्णी, पृष्टपर्णी, कटेरी, बडीकटेरी, गोखरू, वेलगिरी, अरनी, टेंटू, पाढल और गंभारी, इनकी मूलको दशमूल कहते है । ३ उसघडेके मुखमें डाटदेकर दहकते हुए कोलेनपर धरदेवे—जिससे उस नलीकेरास्ते वाफ अच्छीरीतिमें निकले।४ तावे, पीतल, लोहआदि धातुकी नली चाहिये।

स्तिशुंडिका नाडी कहते है । फिर वायुसैं पीडित जो मनुष्य उसको स्वस्थ बैठाकरके अंगमें घी अथवा तेल लेपकर उसको रिजाई अथवा कंवल उढाय उस नलीको उसके भीतर करदेवे कि जिस्सैं वाफ लगकर अंगोंसैं पसीने निकले । अथवा मनुष्यके साडेतीन अथवा चारहाथ लंबा जमीनमें गड्ढा खोद उसमें खैरकी लकडीभर अग्निजलायके कोलाकरे, फिर शीघ्र कोलान्को बाहर निकाल उसजमीनको दूध अथवा धान्यके पानी अथवा छाछ तथा कांजीसैं छिडकाकर उस जमीनपर वातहारक औषधोंके पत्ते बिछायकर उसपर रोगीको सुलायके उसके अंगसैं पसीने निकाले । इसी प्रकार उडद लेकर उनको थोडी-वाफदे अधकच्चे सिजाय उस तपेहुए ठौरमें बिछाय ऊपर सूर्त्ती[1] अंडके पत्ते आदि वातहरक औषधीकेपत्ते डालके उसपर रोगीको सुलायके ऊपरसैं कंवल उढाय उसके अंगका पसीना निकलवावे । इसप्रकार उष्मसंज्ञक पसीनेके लक्षण जानने ॥

उपनाहसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

अथोपनाहस्वेदं च कुर्याद्वातहरौषधैः ।
प्रदिह्य देह वातार्त्तक्षीरमांसरसान्वितैः ॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥

अर्थ—उपनाह इसनामका स्वेदहै उसकी क्रिया लिखते है । दशमूलादि वातुहारक औषधको लाय कुटके चूर्णकरे उसमें दूध और हरिणादिकके मांसका स्नेह ये दोनो मिलाय थोडा गरमकर वायुपीडित मनुष्यके अंगोंको सुहाता २ अेसा गाढा लेपकर वस्त्रादिकसैं बांधके पसीना निकाले । अथवा वातहारक औषधका चूर्णकर छाछमें अथवा कांजीमें पीस उसमें थोडा सैंधानिमक और तिलकातेल मिलाय कुछगरम करके वायुपीडितके अंगमें सुहाता २ गाढा लेपकर कपडेसैं बांध उसकेअंगका पसीना निकाले ॥

दूसराप्रकारतथा महाशाल्वणप्रयोग

उपग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च । दधिसौवीरकक्षारैर्वीरतर्वादिना तथा ॥ कुलित्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः । शतपुष्पादेवदारुशेफालीस्थूलजीरकैः॥ एरंडमूलबीजैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः । मिश्रीकृष्ण-

१ सूर्त्तीअंड, आक, और निर्गुंडी इत्यादिकोंके पत्ते वातहारक है ॥

कुठैरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः ॥ प्रसारण्यश्वगंधाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः । गुडूचीवानरीबीजैर्यथालाभंसमाहृतैः ॥ क्षुण्णैःस्विन्नैश्चवस्त्रेणबद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥ महाशाल्वणसंज्ञोयंयोगःसर्वानिलार्त्तिजित् ॥

अर्थ—ग्राम्यमांस, अनूपमांस, जीवनीयगणकी औषधी, तथा गौकादही,सौवीरं, सज्जीखार, जवाखार, रेहकाखार वीरतर्वादिगणकी औषधी और कुलथी, उडद, गैंहू, अलसी, सौफ, देवदारु, निर्गुंडी, करौंजी, अंडकी जड, अंडके बीज, रास्ना, मूली, सेहजना, छौटीसौफ, पीपल, वनतुलसी, पांचोनिर्मक, अनारदानाप्रसारणी, असगंध, खरेटीकी जड, दशमूलकी दश औषधी, और गिलोय, कौचकेबीज, ये सब औषध जो मिलसके उनको लेकर कूट थोडीगरमकर कपडेमें पोटली बांधकर उससैं रोगीका अंगसेके, कि जिस्सैं संपूर्ण वायुकी पीडा दूरहोवे । इस प्रयोगको महाशाल्वण प्रयोग कहतेहै । इसप्रकार उपनाह संज्ञक स्वेद (पसीने) की विधि जाननी ॥

द्रवसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नद्रव्यकाथेन पूरिते । कटाहे कोष्टके वापि सूपविष्टोवगाहयेत् ॥ नाभेः पडंगुलं यावन्मग्नः क्काथस्य धारया । कोष्टके स्कंधयोः सिक्तस्तिष्ठेत्स्निग्धतनुर्नरः ॥ एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषास्वेदयेन्नरं । एकान्तरे द्व्यंतरे वा स्नेहो युक्तोवगाहने ॥ शिरामुखैः रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् । शरीरंबलमाधत्ते युक्तस्नेहावगाहने ॥ जलसिक्तस्य वर्द्धंते यथामू

---

१ मुरगा, बकराआदि केमांसको ग्राम्य मांस कहते है। २ चकवा,–चकवी,–बतक जलमुरगावी और मछलीआदि जलसंचारी जीवोके मांसको अनूपमांस कहते है। ३ काकोली,–क्षीरकाकोली,–जीवक,–ऋषभक,–मेदा,–महामेदा,–जीवंती,–मुलहटी,–मुद्गपर्णी,–माषपर्णी–इन दशऔषधोके समुदायको जीवनीय गणकहते है । ४ कच्चे जौ अथवा भुने जौंओंको कूट पानीमें तीनदिन भिगोनेसैं उस पानीको सौवीर कहतेहै,– इसी प्रकार गैहूका भी सौवीर होता है । ५ सैंधा,–संचर,–विड,–समुद्र,–और रेहका निमक–इस पांचोंको पंचलवण कहते तथा उपनाह संज्ञकस्वेदका दूसरा भेद महाशाल्वण प्रयोगहै

लेङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्यजा
यते ॥ नातः परतरःकश्चिदुपायो वातनाशनः। मुहू-
र्त्तैकं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुष्टयं। तावत्तदवगाहेत
यावदारोग्यनिश्चयः ॥

अर्थ—द्रव या नामका स्वेद उसकी विधि लिखते है। दशमूलादि वायु-हारक औषधका काढा कर रोगीके देहके घी अथवा तेल लगाय उसको कढाईमें अथवा तामेके वडे पात्रमें वैठारके पूर्वोक्त गरमागरम काढेको अंगपर और कंधेपर सहती२धारडाले, इसीप्रकार तेलकी अथवा दूधकीअथवा घीकी धारढाले परंतु जवतक वह काढा डालोके नाभिके छःअंगुल ऊपर तक नचढे। पश्चात मनुष्यको धर्मयुक्त होना चाहिये। इसप्रकार एक २ दिनके अथवा दो २ दिन के अंतरसै करना चाहिये कि जिससे शिराओंके मुखद्वारा रोमांचोंके मुखमे हो कर तथा नाडीनके द्वारा वो स्नेहादिक पदार्थ शरीरके भीतर प्रवेश होकर श-रीरको तृप्तकरके वल उत्पन्नकरे। इसमें दृष्टांत है कि जैसै वृक्षकीजडमे पानी-देनेसैं वृक्ष वढता है उसीप्रकार तैलादिकमें वैठनेसैं मनुष्यके रसादि सातधातु वढती है, और वायुका नाश होता है इसउपायकी अपेक्षा वायुनाशक दूसरा उपाय नहीहै यह उपाय पराकाष्टाकाहै। एकमूहुर्त्तसैं लेकर चारमुहूर्त्त अर्थात् ए-कमहर होनेपर्यंत तैलके पात्रमें वैठना चाहिये तथा जवतक आरोग्यता न दीसे तावत्कालपर्यंत यही विधिकरे ॥

स्वेदकीसमाप्ति

शीतशूलाद्युपरमे स्तंभगौरवनिग्रहे।
दीप्तेग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥

अर्थ—अंगकी शरदी और शूल इनकी शांति होनेपर तथा अंगका स्तंभ त-था जडपना ये दूरहोने पर एवं अग्निप्रदीप्त होनेपर तथा अंगमें मृदुपना आनेपर रोगीके अंगसैं पसीने न निकाले अर्थात् समाप्ति करदेवे ॥

पसीनेनिकालनेकेअनंतरउपचार

सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नानमुष्णांबुभिःशनैः।
भोजयेच्चानभिष्यंदि व्यायामं च विवर्जयेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यके अंगका पसीना काढाहो उसको तथा अंगमेंतेल लगाया हो उसको हलके २ गरम जलसैं स्नानकरावे। तथा कफकारक पदार्थ भोजनमें

नदेवे तथा परिश्रम न करे, इस प्रकार द्रवसंज्ञक स्वेदमें करना चाहिये। अब, आगे वमनकी विधिलिखी जातीहै ॥

वमनमेंऋतुप्रधान

शरत्काले वसंते च प्रावृट्काले च देहिनाम् ।
वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥

अर्थ—शरद ऋतु, वसंत ऋतु, वर्षाऋतु, इनमे मनुष्यको वमन और विरेचन ये कुशल वैद्यको कराने चाहिये [कुशलवैद्यके लिखनेसें यह प्रयोजन है कि यह वमन विरेचनका देना अत्यंत सावधानीका काम है इस्सें मूर्खवैद्यसें वमन कि रेचन लेनासर्वथा त्याज्य है ॥

वमनयोग्यमनुष्य

बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासार्तिनिपीडितम् ।तथा वमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत् ॥ विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देग्नौ श्लीपदेर्बुदे। हृद्रोगकुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥ विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु । अपस्मारज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥ नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावे द्विजिह्वके । गलशुंड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ॥ मेदोगदेरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥

अर्थ—बलवान्मनुष्य, कफसेंव्याप्त, हृल्लाससें पीडित (अर्थात जिसके मुखसें लारगिरती) हो, तथा जिसको वमनका महावरा हो और धीरचित्तहो इनको वमनकरावे। तथाविषदोष, स्तनसंबंधी रोग, मंदाग्नि, श्लीपद, अर्बुद, हृद्यरोगी, कोढी, विसर्परोगी, प्रमेही, अजीर्णी, भ्रमरोगी, विदारिका, अपची रोग, खाँसी श्वास, पीनस, अंडवृद्धि, मृगीरोगी, ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नासापाक, तालुपाक, ओष्टपाक, कर्णस्राव, द्विजिव्हक, गलशुंडी, अतीसार, पित्तकफकेरोग, मेदोरोग, अरुचि, इनरोगोमें तथा इसीप्रकारके जो अन्यरोगहै उनमें वैद्य रोगी को वमन करावे ॥

वमनेकेअयोग्यमनुष्य

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः । नातिवृद्धो गर्भिणी च न च स्थूलक्षतातुरः ॥ मदार्त्तोबालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः । उदावर्त्त्यूर्ध्वरक्ती च दुःछर्दिः केवलानिली ॥ पांडुरोगीकृमिव्याप्तः पठनात्स्वरघातकः। एतेर्प्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः ॥ कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुक्काथप्रपानतः॥

अर्थ—तिमिररोगी, गुल्मरोगी, उदररोगी, तथाकृश, अतिवृद्ध, गर्भिणीस्त्री अत्यंतमोटा, उरःक्षत करके तथा मद करके पीडित, बालक, रूक्ष, क्षुधित, निरूहित कहिये गुदाद्वारा पिचकारी माराहुआ, तथा उदावर्त्तरोगी, उर्ध्वरक्ती, तथा जिससै वमनन सही जावे, जिसके केवल वादीका रोगहो, पांडुरोगी, कृमिरोगसैं व्याप्त, वेदशास्त्रके अत्यंत पढने सै जिसका कंठ वैठ गयाहो, इतने रोगियोंको वमन (उलटी करानेकी) औषध नहीं देनी चाहिये यदि ये पूर्वोक्त रोगवाले अजीर्णसैं अथवा विषदोष करके कफकरके व्याप्तहोवेतो इनको मुलहटीके अथवा मुहुआकी छालके काढेको पिलायकर वमन करानी चाहिये ॥

वमनअयोग्य

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत् ।

अर्थ—सुकुमार (नाजुकमनुष्य) कृश,—बालक—वृद्ध—डरपोक—इनमनुष्योंको वमनकी औषधी नदेनी चाहिये ॥

रक्तकरनेमेविहितपदार्थ

पीत्वा यवागूमाकंठं क्षीरतक्रदधीनि च । असाम्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लिश्यदेहिनः ॥ स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्त्तते ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उलटी करानीहो उसको प्रथम पेटभरके यवागू पिवावे

---

१ रक्तपित्तके कोप करके जिनके ऊपर मुखादिद्वारा रुधिरगिरे उसको ऊर्ध्वरक्ती जानना-। २ कृश और बालक तथा वृद्ध—इनको वमन न करावे, इसप्रकार प्रथम कह आएहै परतु निश्चय करनेके वास्ते यहांपर फिर कहाहै। ३ चावलका चूरा कर उसमें छः भाग पानी मिलायके औटावे, पतलीकरे इसको यवागू कहते हैं।

अथवा दूध, छाछ, दही, ये पेटभरके पिवावे, तथा प्रकृतिको जो न भावे वो पदार्थ तथा कफकारी पदार्थ खानेको देकर, मनुष्यकेदोषोंको उखाडे जिससे मनुष्य अच्छीतरह उलटीकरे तथा जिसमनुष्यने घृतपान करा है उस मनुष्यको एकदिनके पश्चात् वमनकरावे तो अच्छीतरह वमन होवे ॥

वमनमेंहितकारीपदार्थ

वमनेषुच सर्वेषु सैंधवं मधु वा हितम् ।
वीभत्सं वमनं दद्याद्विपरीतं विरेचनम् ॥

अर्थ—जितने वमनके प्रयोगहै उनमे सैंधानिमक अथवा सहत इनका मेलन कराना चाहिये तो हितकारी होताहै । अथवा वीभत्स वमनदेवे और विरेचन इससे विपरीतदे अर्थात् दस्त देनाहोयतो घीके विना देवे ॥

वमनमेंकाढेकाप्रमाण

क्काथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वाजलाढके ।
अर्धभागावशिष्टं च वमनेष्ववचारयेत् ॥

अर्थ—काढेकी औषधी १ कुडव प्रमाण लेकर कूट उसमें एक आढक प्रमाण पानी डाले जब औंटकर आधारहे तबतक औटावे फिर उतार छानके पिवावे॥

वमनमें काढापीनेका प्रमाण

क्काथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठामात्रा प्रकीर्तिता ।
मध्यमापण्मिताप्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको वमनकरना होय उसको नोप्रस्थ ,काढापिलाना बडीमात्राहे, तथा छःप्रस्थ काढापीना मध्यममात्रा, और तीनप्रस्थकाढा पीना हलकी मात्राजाननी ॥

वमनविषयमें कल्कादिकोंका प्रमाण

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपला श्रेष्ठमात्रया ।
मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयस्तु पलं भवेत् ॥

अर्थ—कल्क, चूर्ण, और अवलेह ये तीनपल मनुष्यको देनेसे बडी मात्राजाननी, तथा दोपल देनेसे मध्यममात्रा और एक एक पलदेनेसे हीन मात्रा कहलातीहै । इसवास्ते वैद्यको यथायोग्य मात्रा देनी चाहिये ॥

---

१ वमनकी औषधमें घी डालके वमनकरानेको वीभत्स वमन कहते है ॥

वमनकेउत्तममध्यमकनिष्ठवेग

वमने चापि वेगाःस्युरष्टौ पित्तांतमुत्तमाः ।
षड्वेगा मध्यवेगाश्च चत्वारस्त्ववरामताः ॥

अर्थ—मनुष्यको वमनकी औषध देनेसैं सातवेग पर्यंत संपूर्ण दोष पडके आठवे वेगमें पित्तपडनेसैं उत्तमवेग जानना । उसी प्रकार पांच वेगपर्यंत दोष पडकर छटे वेगमें पित्तपडनेसैं मध्यमवेग जानना । तथा तीनवेग पर्यंत दोष निकलके चौथेवेगमें पित्तपडेतो कनिष्टवेग जानने । जेंदफे रद्दहोवे उतने वेग जानने अर्थात् रद्दहोनेको ही वेग कहते है ॥

वमन विरेचन आदिमे प्रस्थका प्रमाण

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥

अर्थ—वमनहोनेमें तथा दस्त होनेके विषयमें जो औषध प्रस्थप्रमाण लेना कहाहै तहां १३ ॥ साडे तेरह पलका प्रस्थलेना । तथा फस्तखोलनेमें एक प्रस्थ रुधिर कढाना जहां लिखाहै वहां परभी साढे तेरह पलका प्रस्थ जानना ॥

कफपित्तऔरवातहारकऔषधी

कफं कटुकतीक्ष्णेन पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत् ।
सस्वादुलवणाम्लोष्णैःसंसृष्टं वायुना कफम् ॥

अर्थ—तीक्ष्ण औषध करके कफको जीते, तथा मधुर और शीतल औषधों करके पित्तको जीते । एवं मधुर और खार तथा अम्ल और गरम इनकरके वायु सैंमिले कफको जीते ॥

वातादिदोषोंकेनिकालनेकोपृथक्पृथऔषधी

कृष्णराठफलैः सिंधुकफेकोष्णजलैः पिबेत् ॥
पटोलवासानिंबैश्च पित्ते शीतजलं पिबेत् ॥
सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ॥
अजीर्णे कोष्णपानीयं सिंधुंपीत्वा वमेत्सुधीः ॥

अर्थ—कफदोषमें पीपल और मैनफल तथा सैंधानिमक इनसबके चूर्णको गरम पानीके साथ पीवे तो वमनके साथ कफ गिरे। तथा पित्तके दोषमें पटोलपत्र, और अडूसा तथा कडुअेनीमके पत्ते इनका चूर्णकर शीतलजल डालके पीवेतो

उलटीके साथ पित्त निकले। एवं कफवायुकी पीडामें मैनफलका चूर्ण दूधमें मिलायके पीवेतो उलटीके साथ मनुष्यके कफ वायु निकल कर पीडादूरहो। तथा अजीर्णमें गरमजलमें सैंधानिमक डालके पीवेतो उलटी होनेसें मनुष्यका अजीर्ण दूरहो ॥

वमनकरतेसमयबाह्योपचार

वमनं पाययित्वा च जानुमात्रासने स्थितं।
कंठमेरंडनालेन स्पृशंतं वामयेद्भिषक् ॥
ललाटं वमतः पुंसः पार्श्वौ द्वौ च प्रबोधयेत्॥

अर्थ—रोगीको वमन करनेकी औषध देकर पृथ्वीमें घोटू टेककर केवरावर ऊंचे आसनपर चा हिये। अंडके पत्तेकी लंवी बारीक नाल लेकर मुखमें डालके हलके हाथसै धीरे २ कंठको स्पर्शकरे तो उसीसमय उलटीआवे इसप्रकार आगे पीछे उसको फिरायेके वैद्य रोगीको उलटीकरावे। तथा उस उलटी करने वालेके कपालके दोनो भागोंको धीरे धीरे हलके हाथसैं एक मनुष्य सिराता जावे ॥

दुष्ट वमन होनेके उपद्रव

प्रसेको हृद्ग्रहः कोठकंडुर्दुश्छर्दितादृवेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको वमनकी औषध देनेसै यदि उससै कोई विकार होयतो उसके मुखसैं लारगिरे तथा हृदयमें पीडाहोवे, तथा देहमें खुजली होतीहै ॥

अतिवमनहोनेके उपद्रव

अतिवांते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारोविसंज्ञिता।
जिह्वा निःसर्पणं चाक्ष्णो व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः ॥
रक्तछर्दिष्ठीवनं च कंठे पीडा च जायते ॥

अर्थ—मनुष्यकै अत्यंत वमन होनेसैं अत्यंत प्यासलगे, हिचकी, डकारआवे, और अंग जडहोवे, तथा संज्ञाका नाशहो, जीभ वाहर निकलआवे, नेत्र जहांके तहां ठैरजावे, वा चंचलहोवे, तथा भ्रमहोय, ठोडीका स्तंभहोय, अथवा पीडाहो, मुखकेरास्ते रुधिर गिरे, वारंवारथूके और कंठमें पीडाहोय ये लक्षण अत्यंत वमनके है ॥

अत्यंतवमनकायत्न

वमनस्यातियोगेन मृदुकुर्याद्विरेचनम् ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके अत्यंत उलटी होतीहो उसके वंदकरनेको मृदु जुलाव देवे

उलटी करते२ जीभ भीतरीचली गईहो उसका यत्न

वमनान्तः प्रविष्टायां जिव्हायां कवलग्रहः ।
स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्घृतक्षीररसैर्हितः ॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ॥

अर्थ—यदि उलटी करते २ मनुष्यकी जीभ भीतर चलीगईहो उसके मनको प्रसन्नकर्त्ता अैसे खट्टे तीखे—मिष्ट और खारी पदार्थ भातके साथ खानेको देवे, तथा घृत और दूध भातके साथदेवे, तथा उसरोगीके आगे दूसरा मनुष्य बैठकर नींबू अथवा नारंगी चूस२कर खाय, अेसा करनेसैं मनुष्यकी जीभ ठिकानपर आयके प्रकृतिस्थ होयहै ॥

उलटी करते२ जीभ वाहरनिकलआईहो उसका यत्न

निसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कं लिप्त्वा प्रवेशयेत् ॥

अर्थ—यदि उलटी करते २ जीभ वाहर निकल आईहोवे तो उसको तिल और दाख इनका कल्क करेके उसकी जीभमें लेपकर वैद्य धीरे २ भीतर करदेवे

वमनसैंनेत्रोंमेंविकारहोनेकायत्न

व्यावृत्ताक्षिण घृताभ्यक्ते पीडयेच्च शनैः शनैः ॥

अर्थ—उलटी करते २ नेत्र फटजावे तो उसको वैद्यहाथोंमें घी चुपडकर नेत्रोंको सिरायकर ठिकानेपर स्थितकरे ॥

वमन करते२ ठोडी स्तंभित होगईहो उसका उपचार ॥

हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यं च श्लेष्मवातहृत् ॥

अर्थ—वमन करते करते ठोडी स्तंभित होगई होवे तो उसके अंगका पसीना निकाले, तथा कफवायुनाशक नाकमें औषध डाले अर्थात् नस्य देय तो ठोडीका स्तंभितहोना जातारहे ॥

वमन करते२ रद्दमें रुधिर आनेलगे उसका उपचार॥

रक्तपित्तविधानेन रक्तछर्दिमुपाचरेत् ॥

अर्थ—यदि रद्द करते २ उलटीमें रुधिर गिरने लगे तो जोउपाय रक्तपित्तपर कहाहै वो उपाय करके रुधिरकी उलटीको दूरकरे ॥

अत्यंत वमनके होनेसैं प्यासलगे उसका यत्न ॥

धात्रीरसांजनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः ।

मंथं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥
शाम्यंत्यनेन तृष्णाद्याः पीडाच्छर्दिसमुद्भवाः ॥

अर्थ—आवले, रसोत, खस, चावलकीखील, लालचंदन, नेत्रवाला, इन छः औषधोंका मंथकरके उसमें घी और सहत तथा मिश्री डालके पिवावे तो उलटी करनेसैं जो तृष्णादिक उपद्रव होतेहै वो सब दूरहोय ॥

उत्तमवमनहोनेकेलक्षण

हृत्कंठशिरसांशुद्धिर्दीप्ताग्नित्वंचलाघवम् ।
कफपित्तविनाशश्चसम्यक्छ्वांतस्यचेष्टितम् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको उत्तमउलटी होगईहो उसके लक्षण–हृदय कंठ और मस्तक इनमें जो कफादिक दोषहै वोदूरहो कर उसकी शुद्धिहो तथा अग्निप्रदीप्त और अंगहलके होय तथा कफदोष और पित्तदोष येदूरहो ॥

उत्तमवमनहोनेकेपश्चात्पथ्य

ततोपराण्हे दीप्ताग्निमुद्गषष्टिकशालिभिः ।
हृद्यैश्च जांगलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको उत्तम उलटी होनेके अनंतर तीसरे महरमें अग्नि प्रदीप्तहोवे अेसा मूग और साठीचावल इनको मनके प्रियकारी अैसे जंगलीजीव हरिणादिकोंके मांस रसके यूषकेसाथ भोजनकरे ॥

उत्तमवमनकाफल

तन्द्रा निद्रास्यदौर्गंध्यकण्डूश्च ग्रहणी विषम् ।
सुवांतस्य न पीडायै भवंत्येते कदाचन ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम प्रकारकी उलटी होगईहो उसके नेत्रोंमें तंद्रा और निद्रा तथा मुखमें दुर्गंधी और खुजली तथा संग्रहणीरोग और विषदोष ये उपद्रव कदाचित् नही होवे ॥

---

१ दारु हलदीके कादेमें बराबरका बकरीका दूध मिलायके ओटावे जब गाढा होजावे सुखायके जमायले उसको रसाजन कहते है । २ मुग और साठीचावल एक पलभरलेवे उसमें १ प्रस्थ पानीडालके ओटावे कुछ गाढा कर पेजके समानकरे उसको यूष कहते है इसप्रकार हरिणादिकके मासमें पानीडालके सिजावे पेजके समान करे उसको मासरस कहतेहै तथा वोभी यूषहै ।

मंथं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥
शाम्यंत्यनेन तृष्णाद्याः पीडाच्छर्दिसमुद्भवाः ॥

अर्थ—आवले, रसोत, खस, चावलकीसील, लालचंदन, नेत्रवाला, इन छः औषधोंका मंथकरके उसमें घी और सहत तथा मिश्री डालके पिवावे तो उलटी करनेसैं जो तृष्णादिक उपद्रव होतेहै वो सब दूरहोय ॥

उत्तमवमनहोनेकेलक्षण

हृत्कंठशिरसांशुद्धिर्दीप्ताग्नित्वंचलाघवम् ।
कफपित्तविनाशश्चसम्यक्वांतस्यचेष्टितम् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको उत्तमउलटी होगईहो उसके लक्षण—हृदय कंठ और मस्तक इनमें जो कफादिक दोषहै वोदूरहो कर उसकी शुद्धिहो तथा अग्निप्रदीप्त और अंगहलके होय तथा कफदोष और पित्तदोष येदूरहो ॥

उत्तमवमनहोनेकेपश्चात्पथ्य

ततोपराण्हे दीप्ताग्निमुद्गषष्टिकशालिभिः ।
हृद्यैश्च जांगलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको उत्तम उलटी होनेके अनंतर तीसरे महरमें अग्नि प्रदीप्तहोवे ऐसा मूग और साठीचावल इनको मनके प्रियकारी ऐसे जंगलीजीव हरिणादिकोंके मांस रसके यूषकेसाथ भोजनकरे ॥

उत्तमवमनकाफल

तन्द्रा निद्रास्यदौर्गंध्यकण्डूश्च ग्रहणी विषम् ।
सुवांतस्य न पीडायै भवंत्येते कदाचन ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम प्रकारकी उलटी होगईहो उसके नेत्रोंमें तंद्रा और निद्रा तथा मुखमें दुर्गंधी और खुजली तथा संग्रहणीरोग और विषदोष ये उपद्रव कदाचित् नहीं होवे ॥

---

१ दारु हलदीके कादेमें बरावरका बकरीका दूध मिलायके ओटावे जब गाढा होजावे सुखायके जमायले उसको रसांजन कहते है । २ मुंग और साठीचावल एक पल्लेवे उसमें १ प्रस्थ पानीडालके ओटावे कुछ गाढा कर पेनके समानकरे उसको यूष कहते है इसप्रकार हरिणादिकके मांसमें पानीडालके सिजावे पेनके समान करे उसको मांसरस कहतेहै तथा वोभी यूषहै ।

वमनकर्ममेनिषिद्धपदार्थं

अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा ।
स्नेहाभ्यंगं प्रकोपञ्च दिनैकंवर्जयेत्सुधीः ॥

अर्थ—भारीपदार्थ, शीतलजल, परिश्रम, और मैथुन, देहमें तेलकी मालिस करना, और क्रोधकरना, इसादिक विषय जिसदिन वमनकी औषध लेवे उस दिन वर्जितहै ॥

अथरेचनाधिकारः

स्निग्धस्विन्नस्यवांतस्य दद्यात्सम्यंक्विरेचनम् ।
अवांतस्य लघः स्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः ॥
मंदाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम् ।
अथवा पाचनै रामं वलासं च विपाचयेत् ॥

अर्थ—अब वमनके अनंतर विरेचन (जुल्लाब) की विधि कहते है । प्रथम मनुष्यको घृतादिक पिलायके स्निग्धकरे फिर उसको स्विन्नकरे अर्थात् उसके पसीने निकाले, फिर वमन करावे, वमनके अनंतर उत्तम प्रकार जुल्लाबकी दवाइ देकर दस्तकरावे यदि विना रुकके कराये जो वैद्य दस्तकराताहै तो उस रोगीका कफ अधोभागमें (नीचे) जायकर ग्रहणी (छटी पित्तधरा और अग्निधरा जो कला उसका) आच्छादन करेहै, कि जिस्सें अग्निमांद्य तथा गौरव कहिये अंगोंका भारीपना और प्रवाहिका रोग (अतिसारका भेद) इन रोगोंको उत्पन्न करेहै अथवा अधस्रस्त (नीचेगएहुए) कफ और आमको पाचन (शुष्कएरंडमूलादिक) करके (पाचयेत्) अर्थात् पचावे ॥

हमको इस स्थलपर इतना लिखेविन नहींरहा जाता कि हकीम लोग कहते है कि हमारे यहां जैसा जुल्लाब देनेका उत्तम कायदा है अेसा हिंदी वैदकमें ख्वाब (स्वप्न)मेंभी नहीं मिलनेका, जैसा हमारे जुल्लाबसे बिमारकी तबियत प्रसन्न रह-

---

१ वमनके अनंतर दस्त क्यो करावे ऐसी शंका होनेसें कहते है कि-भेड, चरक, सुश्रुत, और वागभट इत्यादिक ग्रंथोंका यह अभिप्रायहै कि वमनदेकर. छः दिनके पश्चात् तीनदिन स्निग्ध करे फिर तीनदिन अंगमेंसे पसीने निकाले, फिर तीनदिन हलका भोजन देकर सोरहवे दिन रेचन (दस्त) करावे यह ग्रंथकारोंका अभिप्राय श्लोकमें "सम्यक्" पद धरनेसें जानाजाताहै ।

ती है और साफ होताहै अेसा वैद्य कभी नही करसकेगा, इसका कारण यही है कि हमलोग प्रथम मरीजको मुंजिस देकर मलको फुलायमुलायम कर फिर दस्त-कराते है तो बहुत जल्द और बहुत सफाईके साथ दस्त होते है और बिमारभी खुसी रहता है ॥

परंतु इस तरह कहनेवाले हकीमोंको हम निरे वैशापनंदन ही जानेहै खैर मुसलमान हकीम कहेतो कहे, परंतु दो दिनसैं पैर अडानेवाले कि जिन्होनें अछीरीतिसैं हिकमतके भी पूरे २ ग्रंथ नही देखे, फिर हमारे ग्रंथ देखना तो उनको मानो एक बडाभारी समुद्रका तैरना है । जैसै हमारेही हिंदु हकीम हमारी और हमारे शास्त्रोंकी निंदा करते है तो हमको उनकी बुद्धिपर अत्यंत शोक होता है कि देखो जैसे कोई बालक अपने घरमें अमूल्य पदार्थ धरेहुए ओंको अंधकार वस न दीसनेसैं तुच्छ मोलके दूसरोंके पदार्थ लेकर अपने मनमें यह विचार करता है कि अेसे पदार्थ अमूल्य हमने नहीं देखे और उनकी वो अत्यंत इज्जत करता है । यादे उसका पिता आदि कोई बडा मनुष्य उसको दीपकका उजेला दिखाकर घरके धरे हुए पदार्थोंके दिखलाये और उनका गुन-भी बतलावे तो उस लडकेको कितनी खुसीहो और फिर वो दुसरेकी तुच्छ वस्तुओंकी तरफ देखेभी नहीं! क्यो देखे जिसके हाथमें चिंतामणी आगई वो कोडी पैसोंकी तरफ क्यो देखेगा ॥

इसी दृष्टांतके अनुसार हमारे हिंदुभाइ जो हकीमी विद्याके जालमें पडके अपनी अमोल वैद्यविद्याका प्रभाव न जानके इसकी निंदा करते है वो उक्त बालकके बतौर है; यादि उनको उनके घरकी धरीहुई वस्तु दिखलाई जाय तो अवश्य फिरजो दुराग्रही और जाहिल नही है वो इसकी प्रशंसा करते २ थकजावेगे और उनको यह निश्चय होजावेगा कि हकीमी और डाक्टरी आदि विद्या हमारी ही उच्छिष्ट (जूठन) है--

उन भोलेभाले भाईयोंको हम इसजगे हिंदी जुल्लाबकी विधि दिखलाकर कहते है कि हमारे हिन्दी वैद्यकका कायदा ठीकहै कि अन्य मुल्कके हकीमो का कायदा ! ॥

अब आप देखिये कि हमारे प्रथक जिसको जुल्लाब लेनाहो वो प्रथम घृतआदिको पीवे कि जिससैं देहकी रगरग और नाडीआदिके जिन्में मवाद भराहै वो अत्यंत चिकनी होजावे । बाद इसके उसरोगीके पसीने निकाले, पसीने निकालनेका यही कारणहै की प्रथम घीके पीनेसैं उसका देह चिकनाहो गया फिर जो स्वेदन करातो जहा २ पर मवाद चिकट रहाया वो पसीनेके निकालतेही तत्काल सबदेहसे अलगहो गया। जैसा स्नेहन और स्वेदनमें मवाद फूलताहै

और ढीला पडता है अेसा आप लाख मुंजिस पिलायाकरो कभी नही मवाद मुलायम होगा ? इसीसै हम लोगोमें मुंजिस नही देते ॥

अब पीछे कराई उलटी तो जितना छातीके ऊपर कफ जमा हुआ है वो सब निकलजावेगा यदि इसको विना निकाले जुलाब देवे तो वो कफ नीचे जायकर मंदाग्नि; मवाहिका आदि रोगकरता है इसी कारण रोगीको बलाबल विचारके रद्द करावे जिससै ऊपरका भाग साफहो जावे ॥

फिर दीना जुल्लाब तो वो सब मवाद फुलाहुआ और अलग धराहुआ जल्द निकल जावेगा, फिर भी उसको देहमे रहे हुए मवाद साफ करनेको वस्तिकर्म करतेहै । अर्थात् दवाइयोंके रसकी पिचकारी उसकी गुदामें मारते है कि जिससै रहा सहा बिलकुल्ल मल साफ होजावे । इसप्रकार पूर्ववस्ती और उत्तर वस्ती तथा शिरोवस्ती आदि अनेकप्रकारसै हमारे रोगीको साफ करना लिखाहै

इसरीतिसैं जब वो शुद्धहोजाता है तब नकाहत बहुत आयजातीहै इसके वास्ते फिर बृंहण चिकित्सा द्वारा उसको पुष्ट और बलवान करनेकी विधि लिखीहै

इसप्रकार शुद्धहुए मनुष्यकें कदाचित् रोग नही होते इसीसैं हमारे शास्त्रमें जहां लिखाहै तहां यही आज्ञाहै कि " ये तु संशोधने शुद्धा न तेषा पुनरुद्भवः "

बाकी संपूर्णविधि इस हमारे बृहन्निघंटुरत्नाकरमें गौर करके देखिये और जिनको जो शंकाहोवे वो हमसैं पूछे हम अपनी बुद्धिके अनुसार उनका समाधान करेगे–इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु हमारे शास्त्रसेही अन्य विलायतवालोंने ली नीहै कहांतक लिखे ॥

दस्तोंकादूसराप्रकार

स्निग्धस्य स्नेहनैः कार्यं स्वेदैः स्विन्नस्य रेचनम्॥

अर्थ—घृतदुग्धादिक स्नेहद्रव्य करके स्निग्ध मनुष्यको तथा पिंडेष्टिकादि[1] करके स्विन्न (अर्थात् जिसके पसीना काढाहो) अेसे मनुष्यको दस्त कराने चाहिये ॥

विनावमनकेदस्तकरानेयोग्य

शरदतौ वसंते च देहशुद्धयैर्विरेचयेत् ।
अन्यदात्ययिके काले शोधनं शीलयेद्बुधः ॥

अर्थ—शरदऋतुमें और वसंतकालमें मनुष्यके शरीरशुद्धीके वास्ते जुलाब देवे कि जिससै देह शुद्धीहोकर शरीर उत्तमदीखे । तथा उक्तकालके सिवाय दू-

१ माटीका गोला टिकिया आदि करके ।

सरे कालमें रोग उत्पन्नहोनेसें उसकालमें वैद्य रोगीका अच्छीरीतिसें विचार करके दस्तकरावे तात्पर्य यहहै कि शरद और वसंतऋतुमें विना वमनके भी दस्तकरावे परंतु अन्य ऋतुमें नहीं ॥

दस्तकरानेयोग्यरोग

पित्ते विरेचनं दद्यादामोद्भूते गदे तथा ।
उदरे च तथाध्माने कोष्ठाशुद्धौ विशेषतः ॥

अर्थ—पित्तके विकारमें, आमवात, उदररोग, अफरा, और, बद्धकोष्ठ (मलनउतरे) इन रोगोंमें वैद्यको विशेषताकरके दस्तकराने चाहिये ॥

दोषदूरकरनेमें विरेचनको उत्कृष्टता

दोषाःकदाचित्कुप्यंति जिता लंघनपाचनैः ।
येतु संशोधने शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥

अर्थ—कफादिकदोष लंघन और पाचन औषधसें यद्यपि शमन (शांति) हो जातेहै फिर कालपायकर कुपित होतेहै, परंतु जो दोष वमन विरेचन आदि संशोधन करके शुद्धहुए है उनदोषोंकी फिर कदाचित् उत्पत्ती नही होती अर्थात् संशोधन द्वारा दोष जडसें नष्टहो जाते है ॥

दस्तकरानेयोग्यमनुष्य

जीर्णज्वरी गरव्यासो वातरक्ती भगंदरी । अर्शः पांडूदरग्रंथिहृद्रोगारुचिपीडिताः ॥ योनिरोगप्रमेहार्त्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः । विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविपूची कुष्ठसंयुताः ॥ कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः यकृत्शोथोक्षिरोगार्त्ताः कृमिक्षारानिलार्दिताः ॥ शूलिनो मूत्रघातार्त्ता विरेकार्हा नरा मताः ॥

अर्थ—जीर्णज्वर,वच्छनाग विषादिकसें व्याप्त, वातरक्ती, भगंदर, बवासीर, पांडुरोगी, उदररोगी, गाठकारोगी, हृदयरोग, अरुचि, प्रमेह, योनिरोग, गोलावाला, तिल्ली, व्रणरोगी, विद्रधि, वमन, विस्फोटक, विपूची (हैजा) कोढ,

---

१ उदररोगीको दस्तकरावे ये प्रथम कह आये है परंतु विशेषता दिखानेको यहांपर फिर कहाहै । २ देखो हैजामें दस्त करना स्पष्ट लिखाहै परंतु यह लोक विरुद्ध होनेसे वैद्यको वर्जित है ।

कर्णरोग, नासारोग, मस्तकरोग, मुखरोग, गुदारोगी, लिंगमेंउपदंशादिकरोग, कलेजेकारोगी, सूजन, नेत्ररोग, कृमिरोग, सोमरोग, क्षारजन्यविकार, वातरोग, शूलरोग, और मूत्राघातरोग, इतनेरोगोंसे व्याप्त मनुष्यदस्तकराने योग्यहै अर्थात् इतनेरोगवाले मनुष्योंको दस्तकरना चाहिये।

दस्तदेनानिषेध

बालवृद्धावतिस्निग्धक्षतक्षीणोभयान्वितः। शांतस्तृषार्तःस्थूलश्वगर्भिणी च नवज्वरी ॥ नवप्रसूतानारी च मंदाग्निश्च मदात्ययी। शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता ॥

अर्थ—बालक, अतिवृद्ध, अतिस्निग्धमनुष्य, उरःक्षतकरकेक्षीणमनुष्य, मयकरकेयुक्त, श्रमित (जोमेहनतकरनेसेंथका) है, प्याससेंघबरायाहुआ, अत्यंतमोटामनुष्य, गर्भिणीस्त्री, नवीनज्वरकरकेपीडित, नवप्रसूतास्त्री, मंदाग्निवालामनुष्य, मदात्ययरोगी, शल्यकरकेपीडित, तथा रूक्ष (निस्तेज) मनुष्य इनको चतुरवैद्य दस्त न करावे [जो करावेतो वो मूर्खजानना]

मृदु मध्यऔरक्रूरकोष्ठ

बहुपित्तो मृदुः प्रोक्तो बहुश्लेष्मा च मध्यमः। बहुवातःक्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः सकथ्यते। मृद्वीमात्रा मृदौकोष्टे मध्यकोष्ठे च मध्यमा।क्रूरे तीक्ष्णामता तज्ज्ञैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः॥

अर्थ—जिस मनुष्यका कोठा अत्यंत पित्तकरके व्याप्तहै वो मनुष्य मृदुकोष्ट (नरमकोठेवाला) जानना। तथा जिसके कोठेमें अत्यंत कफहोवे वो मध्यम कोष्टका जानना। तथा जिसके कोठेमें अत्यंत वायूहोवे वो मनुष्य क्रूर (कठिन) कोठेका जानना। यह क्रूरकोठेवाला दस्त करानेमें दुखदाई है [अर्थात् इसको करडीसेंभी करडी दवादेने परभी दस्त नहीं होते] और जिसका नरमकोठाहै उसको मृदु (नरम) औषधकरके मृदुमात्रादेवे। तथा जिसका कोठा मध्यमहै उसको मध्यम औषध करके मध्यम मात्रादेनी। तथा जिसका कोठा क्रूरहै उसको तीक्ष्ण औषध करके तीक्ष्णमात्रा देनी चाहिये। वो औषध आगेके श्लोकमें कहतेहैं॥

---

१ तथा मंदाग्निवालेको भी वैद्य दस्त न करावे कारण कि रहीसही जो जठराग्नि है वो भी दस्त करानेसें शांति होजाती है। २ कांच. काटा- सुई. नख. इत्यादिक शरीरमें रहनेसे जो दुखी होताहै उसे शल्यार्दित जानना।

मृदुमध्यमादिकोष्ठेमें मृदुमध्यमादिक औषध
मृद्वुर्द्राक्षापयश्चंचुतैलैरपि विरच्यते ॥ मध्यकस्त्रिवृता-
तिक्तराजवृक्षैर्विरिच्यते ॥ क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरी
दंतीफलादिभिः ॥

अर्थ—जिसका नरमकोठाहै उसको कालीदाख, दूध, और अडीकेतेलसेही दस्त होतेहैं और जिसका मध्यमकोठाहै उनको निसोथ, कुटकी, और अमल-तासकागूदा इन तीनऔषधोकरके दस्तहोतेहै अतएव एही औषध देवे । तथा जिसका क्रूरकोठाहै उसको थूहरकादूध, हेमक्षीरी (चौक) जमालगोटा, आदि शब्दसे जलफ इन्द्रायनकीजड सनाय आदि इन करके दस्त करावे, तो दस्तहोवे परंतु वैद्यको उचितहै कि इसमें विपरीत न करे अर्थात् मृदुकोठेवालेको क्रूरको-ठेकी औषध नदेय, और क्रूरकोठेवालेको नम्रकोठेकी न देवे ।

दस्तोंकीहीनोत्तमादिमात्रा

मात्रोत्तमाविरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफांतिका ।
वेगैः विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका ॥

अर्थ—दस्तके वेग ३० होकर अतके दस्तमें कफगिरेतो उत्तममात्रा जाननी तथा दस्तके २० वेगहोकर कफ निकलेतो मध्यम और दशवेग होनेके उपरांत यादे कफगिरने लगेतो हीन मात्रा जाननी। यदि दस्तचहिये जिनने होवे परंतु जबतक कफ नहीं निकले तकतक जुलाव उत्तम नहीं कहलाता, आंव और क-फके निकलनेपरही जुलावकी तारीफहै ।

दस्तोंमेंकाढेआदिकीमात्राकाप्रमाण

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलंभवेत् ।
पलार्द्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचने ॥

अर्थ—दस्तहोनेमें दोपल काढादेनेसें उत्तम दस्त होतेहै, और एकपल देने-सै दस्त मध्यमहोते है, तथा अर्द्धपल (दोतोले) देनेसें दस्त कनिष्ट होते है ॥

१, आँव ये नाभिके चारचो तरफ लिपटी है और ऊपरसें बडाभारी मलका लपेटा ल-गाहुआ है. जब यह प्राणी दस्तकी दवाई लेताहै तो ऊपरके मलके लपेटेमेंसें थोडाबहु त मल निकलताहै परंतु जब आम निकलनेको होती है तब इसप्राणीके नाभिके चारोतर-फ थोडा बहुत मरोडा होने लगता है उस समय जाननाकि अब आम निकलेगी ।

दस्तोंमेंकल्कादिकोंकाप्रमाण

कल्कमोदकचूर्णानां कर्षमध्वाज्यलेहतः ।
कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया ॥

अर्थ—कल्क,-मोदक (लड्डू) और चूर्ण ये प्रत्येक सहत और घीमें मिलायके, कर्ष १ दस्तहोनेके अर्थ देवे, अथवा—अवस्था और रोग इनका तारतम्य विचारके दोकर्ष अथवा पलमात्र देने चाहिये ॥

वातपित्तकफमेंऔषधी

पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्काथादिभिः पिबेत् ।त्रिफलाक्काथगोमूत्रैः पिबेत् व्योषं कफार्दितः ॥ त्रिवृत्सैंधवशुंठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः । वातार्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन च ॥

अर्थ—पित्तकी अधिकतामें-निसोथका चूर्ण कर दाखके काढेमे मिलायके देवे, आदि शब्दकरके गुलकंद, गुलाबकेफूल,-सोफ,-सनाय इत्यादिकंके काढे सैं देवे । और कफके प्रकोप होनेसैं त्रिफलाका काढा और गोमूत्र दोनोको मिलाय उसमें सोंठ, मिरच, पीपल, इनका चूर्णडालके देवे । तथा जो मनुष्य वायुके कोपसैं पीडितहो उसको निसोथ, सैंधानिमक, और सोंठ, इनका चूर्णकर नीबूके रससैं देना चाहिये । अथवा जंगली जीवोंके मांसरसके साथ देवे तो दस्तहोय ॥

अन्यऔषधकरकेदस्तोंकाविधान

एरंडतैलं त्रिफला क्काथेन द्विगुणेन च ।
युक्तं पीत्वा पयोभिर्वा नाचिरेण विरिच्यते ॥

अर्थ—अंडीके तेलसैं दूना त्रिफलेका काढा मिलाय दोनोको एकत्रकरके पीवे अथवा उसअंडीके तेलको दूधमें मिलायके पीवेतो बहुत जल्दी दस्तहोवे ॥

ऋतुभेदकरकेदस्तकीविधि

त्रिवृतांकौटवीजं च पिप्पली विश्वभेषजम् ।
समृद्धिका रसक्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ॥

अर्थ—निसोथ,-इन्द्रजो,-पीपल,-सोंठ,-दाखकारस और सहत इनऔषधोंको दस्तहोनेके वास्ते वर्षाकालमें देना चाहिये ॥

शरद्कालमेंविरेचन

त्रिवृद्धुरालभा मुस्ता शर्करादिव्यचंदनं ।
द्राक्षांबुना सयष्टीकं शीतलं च घनात्यये ॥

अर्थ—निसोथ,-धमासा,-नागरमोथा,-शक्कर,-उत्तम सपेद चंदन,-और मुलहटी इनका चूर्ण कर दाखके पानीमें मिलाय शरद कालमें पीवे, तो इस्सें दस्त होवे । ये दस्त शीतलहै ऐसा जानना चाहिये ॥

हेमंतऋतुमेंविरेचन

त्रिवृता चित्रकं पाठामजाजिसरलां वचां ।
हेमक्षीरी च हेमंते चूर्णमुष्णांबुना पिबेत् ॥

अर्थ—निसोथ,-चित्रक,-पाडकीजड,-जीरा, देवदारु, वच, और चोक,-अथवा पीलादूधकाथूहर,-इनका चूर्णकर गरमजलसें हेमंतऋतु (अगहन और पौषमास) में लेवे तो दस्तहोय ॥

शिशिरऔरवसंतमेंविरेचन

पिप्पली नागरं सिंधु श्यामात्रिवृतया सह ।
लिहेत्क्षौद्रेण शिशिरे वसंते च विरेचनम् ॥

अर्थ-पीपर,-सोंठ,-सैंधानिमक,-विधायरा,-और निसोथ इन औषधोंका चूर्णकर सहतमें मिलायके शिशिरऋतु और वसंतऋतुमें लेवेतो इस्सें दस्तहोय ॥

ग्रीष्मऋतुमें विरेचन

त्रिवृताशर्करातुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ॥

अर्थ—निसोथका चूर्णकर उसमें मिश्री मिलायके दस्तहोनेके वास्ते ग्रीष्म (गरमीकी) ऋतुमें सेवनकरे तो दस्तहोय ॥

सुखसैं दस्तहोनेके लिये अभयादि मोदक

अभयामरिचं शुंठी विडंगामलकानिच । पिप्पलीपिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च॥ एतानि समभागानि दंती च द्विगुणा भवेत् ॥ त्रिवृदष्टगुणाज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा॥मधुना मोदकं कृत्वा कर्षमात्रप्रमाणतः। एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम्॥तावद्धिर-

च्यते जंतुर्यावदुष्णं न सेव्यते॥पानाहारविहारेषु भवे-
न्नियंत्रणं सदा॥विषमज्वरमंदाग्निपांडुकासभगंदरान्॥
विदाहशीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान् ॥ वातरोगं
तथाध्मानं मूत्रकृच्छ्राणि चाश्मरीं पृष्टपार्श्वोरुजंघ-
नकटीगुदरुजं जयेत् ॥ सततं शीलनादेष पलितानि
विनाशयेत् ॥अभयामोदकोह्येतद्रसायनवरास्मृता ॥

अर्थ—हरड, कालीमिरच, सोठ, वायविडंग, आवले, पीपर, पीपरामूल, दालचीनी, पत्रज, और नागरमोथा, ये दश औषध समान भागले तथा दंतीकीजड, तीनभागले, निसोथ आठभाग, मिश्री छःभाग इस प्रमाण सब औषधोंके भागले कर सबका चूर्णकर सहतडाल एकएक तोलेकी गोली बनावे, इसमेंसैं एकगोली प्रातःकाल दस्तहोनेके अर्थ भक्षणकरे ऊपरसैं थोडा शीतलजल पीवे, और जवतक दस्तहोवे तव तक गरम पदार्थोंका सेवन न करे, तथा पान और भोजन तथा विहार कहिये परिश्रमादिक इनको सदैव नियमित (प्रमाणका) करे, कि जिससै विषमज्वर, मंदाग्नि, पांडुरोग, खांसी, भगंदर, कुष्ट, गुल्मरोग, ववासीर, गलगंड, भ्रम, उदररोग, दाह, तिल्ली, प्रमेह, राजयक्ष्मा, नेत्ररोग, वातरोग, पेटकाफूलना, मूत्रकृच्छ्र, पथरीरोग, और पीठ–पसवाडे–कमर–ऊरु–जांघ–उंदर–की पीडा इन सबरोगोंको दूरकरे। इस मोदकको अभयादिमोदक कहते है । यह अभयादिमोदक निरंतर सेवन करनेसैं पलित (सपेदवालोंका होना) दूर होय और कालेवालहो यह अभयादि मोदक उत्तम रसायन रूपहै ॥

दस्तोंकोसहायकरनेवालेपदार्थ

पीत्वाविरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी ।
सुगंधं किंचिदाघ्राय तांबूलं शीलयेन्नरः ॥

अर्थ—मनुष्यको दस्तकी औषध देकर पश्चात् उसके नेत्रोंको शीतलजलसैं छिडके और सुगंधित वस्तु (अतर आदि अर्गजा आदि) सुंघावे, तथा वीडा खावे इत्यादि विधिके करनेसैं उत्तम प्रकारके दस्तहोते है ॥

दस्तहोनेपररहनेकेनियम

निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयन्ने स्वपेत्ततः ।
शीतांबु न स्पृशेत्कापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः

अर्थ—दस्त होनेके अनंतर हवामें न बैठे, मल मूत्रका जब २ वेग आवे उसी वखत त्यागे रोके नही, जबतक दस्तहोय तबतक सोवे नही [जुल्लाबमें किसी २ को निद्रा अधिक आती है] शीतलजलका स्पर्श करे नही। दस्तोंमें गरमजल बीच २ में पीतारहे अेसा करनेसैं उत्तम दस्त होतेहै ॥

दस्तोमेंनिकलनेवाली वस्तू

वलासौषधपित्तानि वायुर्वंति यथा व्रजेत् ।
रेकात्तथा मलंपित्तं भेषजं च कफो व्रजेत् ॥

अर्थ—वमनकी औषध लेनेसैं कफ तथा जो औषध लीनी है वो एवं पित्त और वायु ये पदार्थ जैसैं वमनेके साथ बाहर गिरते है।उसी प्रकार दस्तकी औषध लेनेसैं मल-पित्त और जो औषधलीनी है वो एवं कफ ये पदार्थ गुदाके द्वारा बाहर गिरते है ॥

दुष्टविरेचनकेअवगुण

दुर्विरक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धत्वं कुक्षिशूलता। पुरीष वातसंगश्च कंडुमंडलगौरवाः॥ विदाहो रुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते ।

अर्थ—उत्तम दस्त न होनेसैं इस प्राणीकी नाभिमें स्तब्धता, कूखमेंशूल, मल और अधोवायु इनकी अप्रवृत्ति, शरीरमें खुजली, तथा चकत्ते, ये उत्पन्नहो तथा अंगोंका जडपना, दाह, अरुचि, पेटका फूलना, भ्रम और वमन ये उपद्रवहोते है ॥

(जिसकेउत्तमदस्तनहुएहोउसकायत्न)

तं पुनः पाचनैःस्नेहैःपक्वासंस्नेह्यरेचयेत् ।
तेनास्योपद्रवायांति दीप्तोग्निर्लघुताभवेत् ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम जुल्लाब न हुआहो उसे आरग्वधादि पाचन काढ देकर आमको पचन करावे, फिर उसको स्नेहपान (घृतपिलायके) उसके कोठेको चिकनाकरके फिर दस्तकरावे। अेसा करनेसैं संपूर्ण उपद्रव दूरहोकर जठराग्नि प्रदीप्तहोय, और अंग हलका होयहै ॥

अत्यंतदस्तहोनेकेउपद्रव

विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छाभ्रंशो गुदस्य च ।

शूलं कफातियोगःस्यान्मांसधावनसंनिभं ॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तंचापि विरिच्यते ।

अर्थ—मनुष्यको वहुत दस्तहोनेसैं मूर्च्छा-गुदा (कांछका) निकलआना और गुदामें पीडा-ये उपद्रव होते है । तथा कफ अत्यंतगिरे, और मांस धुले हुए पानीके समान तथा मद्यके समान अथवा चर्वीके सामान तथा जलके समान गुदाके द्वारा जल और रुधिरभी गिरे है ॥

अत्यंतदस्तोंकाउपाय

तस्य शीतांबुभिः सिक्तं शरीरं तंडुलांबुभिः ।
मधुमिश्रैस्तथाशीतैः कारयेद्वमनं मृदु ॥

अर्थ—दस्त अत्यंत होनेसै मनुष्यके शरीरको शीतलजलकी धारसैं भिगोवे तथा चामलके धोवनके जलमें सहत मिलायके पिवावे, तथा नरम वमन करावे, तो अेसा करनेसैं अत्यंत दस्तोंकी शांति होय ॥

दस्तबंदहोनेकाउपाय

सहकारत्वचःकल्को दध्नासौवीरकेन वा ।
पिष्टो नाभिप्रलेपेन हंत्यतीसारमुल्बणम् ॥

अर्थ—आमकी छालको गौकी छाछमें अथवा सौवीरमें पीस कल्ककर नाभिके ऊपरलेपकरे तो अत्यंत दस्तहोना वंदहोय ॥

अजाक्षीरं पिबेद्वापि वैकिरंहारिणं तथा । शालिभिः
षष्टिकैः स्वल्पं मसूरैर्वापि भोजयेत् । शीतैः संग्राहि
भिर्द्रव्यैः कुर्यात्संग्रहणं भिषक् ॥

अर्थ—दस्त वंद होनेवास्ते वकरीका दूध पिवावे । अथवा विष्किर पक्षी

---

१ कच्चेजौ अथवा भुनेजोओंको कूट उसमें पानीडालके उस पात्रका मुख वंदकर तीनदिन धरा रहनेदे तो सौवीर वनकर तयारहो इसीप्रकार गैंहूंका भी वनायलेना ।

टीका कारोंने दस्त वंद करनेका विषय होनेके कारण सौवीर शब्दकरके कांजी लेना अेसा कहाहै । उसकांजी वनानेकी विधि इस प्रकार है कि एकमिट्टीका पात्रलायके उसके भीतर सरसोंकातेल चुपडदेवे फिर उसमें निर्मल जल भरके राइं,—जीरा,—सैधानिमक,—हींग,—सोंठ,—हलदी,—इन छःऔषधोंका चूर्ण तथा मातसांहतपेन,—कुलथेकाकादा,—ओर थोडे वांसकेपत्तेये सब वस्तु उसपात्रमें डाले तथा घीके तलेहुअे उडदके वडे दस पाच उसमें डाले,—उसका मुख वंदकर तीनदिन धरा रहनेदे जव उसमें खटाईकी वास आने लगे तव जानेकी कांजी वनकर तयार होगई ।

लवाआदिका मांसरस, तथा हरिणका मांसरस सेवन करे, तथा सांठी वा साली चावलोंका भात करके थोडा खाय, अथवा मसूरको सिज़ायके थोडी खाय, और भी अनार आदिशब्दकरके शीतल और ग्राहक ऐसे पदार्थ सेवनकरे कि जिस्से दस्त बंदहोवे ॥

उत्तमजुलाबहोनेकेलक्षण

लाघवे मनसस्तुष्ट्या मनुलोमगते निले ।
सुविरक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि ॥

अर्थ—उत्तम दस्तहोनेसैं देह हलकाहो जावे, चित्तमें प्रसन्नता,—अधो वायुका स्वस्थानमें गमन,—इतने लक्षण होनेसै उस मनुष्यको दस्त उत्तमहुए ऐसा जानना। उसको रात्रिके समय पाचन (सोठ,—अंडकीजड,—और धनिया, ये तीन औषधोंका काढा पाचनार्थ देवे) ॥

उत्तमजुलाबहोनेकाफल

इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वन्हिदीप्तता ।
धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥

अर्थ—जुलाबके लेनेसैं मनुष्यकी इन्द्रियोंमें बलआवे, बुद्धिप्रसन्नहो,—तथा जठराग्नि प्रदीप्त, और धातु तथा अवस्था इनका स्थिरपना होयहै अर्थात् रसादिधातु और आयु बढेकर बहुतदिनतक रहे ॥

जुलाबमेंअपथ्य

प्रवातसेवा शीताम्बु स्नेहाभ्यंगमजीर्णताम् ।
व्यायामं मैथुनं चैव न सेवेत विरेचितः ॥

अर्थ—मनुष्य दस्तहोने उपरांत अत्यंत हवा नखाय,—तथा शीतल और तैलादिककी मालिस,—अजीर्णकारी पदार्थ भोजन,—परिश्रम,—और मैथुन इनका सेवन न करे ॥

जुलाबमेंपथ्य

शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ।
जांगलैर्विष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥

अर्थ—दस्तहोनेके पश्चात् सांठीचावल और मूंग आदिशब्दसें अन्यधान्यकी यवागू करके सेवनकरे, तथा जंगली जीव (हरीण ससे आदि) का मांसरस अथवा विष्किरजीव (लवावटेरआदि) पक्षियोंका और मुरगा इनके मांसरसके साथ चावलका भात सेवन करे ॥

नाराचरस

तुल्यं पारदटंकणं समरिचं गंधाश्मतुल्यं त्रिभि र्विश्वं च त्रिगुणंतातो नवगुणं जेपालबीजं क्षिपेत् ॥ खल्वे दंडयुगं विमर्द्य विधिवत्संन्यस्य पर्णे ततः स्विन्नं गोमय वन्हिना सतु भवेन्नाराचनामा रसः । गुंजैक प्रमितोरसो हिमजलैः संसेवितो रेचयेद्यावत्कोष्णजलं भजेत्खलु-
नरो भोज्यं तु दध्योदनम् ॥

अर्थ—शुद्धपारा,-फुलायाहुआ सुहागा,-कालीमिरच,-ये समान भाग लेवे और शुद्धगंधक तीनोंके समान लेवे तथा सोंठ तीनभाग,-जमालगोटाके बीज नौ भाग,- इन सबको दोप्रहर खरलकर-पत्तेपर निकाल आरने उपलो की अग्निपर स्वेदन करे इस रसका नाम नाराचरस है यह एकरत्ती खांडकेसाथ देवे ऊपरसैं शीतलजलपीवे तो दस्तहोय और गरमजलपीनेसैं दस्तबंदहोते है, इसके ऊपर दहीभात खाना पथ्य है ॥

द्वितीयनाराचरसः

जेपालेन समैः सूतव्योषटंकणगंधकैः।नाराचः स्याद्रसोमापमात्रः सर्पिःसितायुतः॥ हंतिसंग्रहमानाहमामशूलं तथाज्वरम्॥वेलाज्वरं विरेकेण शीतलांबुनिषेवणम्॥

अर्थ—जमालगोटा,-पारा,-सोठ,-काली मिरच,-सुहागा,-गंधक ये समानभाग लेकर एकत्रकरके खरलकरे तो यह नाराचरस सिद्धहोवे,-इसमेंसे ६ रत्ती रस खांड और घीके साथ देवे तथा ऊपर शीतल जल पिवावे तो मलसंग्रह,-अनाहवायु (अफरा) आमशूल, वेलाज्वर, इनका दस्तहोने सैं नाश करे है ॥

इच्छाभेदीरसः

शुंठीतीक्ष्णरसेन्द्रटंकणवलिः प्रोक्तः समंतात्त्रिधा कुंभीबीजयुतं विमर्द्य सभवेदिच्छाविभेदीरसः॥वल्लंशर्करया युतेन चुलुकं पुंसः सुखं रेचयेन्निः शेषं मलदोषमेपविनिहंत्युच्चैर्यथेभं हरिः ॥

अर्थ—सोंठ,-कालीमिरच,-पारा,- सुहागा, गंधक ये समानभागले उसमें जमालगोटा तिगना डालके खरलकरे इसको इच्छाभेदी रस कहते है इस रस-

को ३ रत्तीले सांडके साथ खाय ऊपरसैं जितने चुल्लू शीतलजलके पीवे उतने-ही दस्त इस प्राणीको होते है यह मुखजुलाव सबरोगोंको नाशकरे जैसैं सिंह हाथीका नाश करता है ॥

द्वितीयइच्छाभेदीरसः

शंभोर्वीर्यं च टंकं वलिमरिचयुतं शृंगवेरं च तुल्यं यो-
ज्यं नैकुंभबीजं समशिखिसहितं मर्दितं याममेकं ॥
भुक्तंगुंजाद्विमात्रं शिशिरजलयुतं त्यक्तलल्पल्वमुच्ये-
दिच्छाभेदी रसोऽयं प्रबलमलहरः सर्वरोगैकहर्ता ॥

अर्थ—शुद्धपारा १ तोला, गंधक, कालीमिरच, सोंठ. जमालगोटेकेबीज, चित्रक, ये सब औषध समानभाग लेकर एक प्रहर खरलकरे इसको इच्छाभेदी-रस कहतेहै यह प्रबलमलका नाशकर संपूर्णरोगोंको हरणकरे है।

अथबस्तिप्रकर्णम्

बस्तिर्द्विधानुवासाख्यो निरूहश्च ततःपरं। यःस्नेहै-
र्दीयते सस्यादनुवासननामकः ॥ कषायक्षीरतैलैर्यो-
निरूहः स निगद्यते। बस्तिभिर्दीयते यस्मांतस्मात्
बस्तिरितिस्मृतः ॥

अर्थ—अंडकोशादिक करके गुदामें जो पिचकारी मारतेहै उसको वस्ती कहतेहैं वो बस्ति अनुवासन, और निरूहन इस भेदसैं दो प्रकारकीहै उसमें तेल घी- इत्यादि चिकनाईकीजो पिचकारी मारतेहै उसको अनुवासन और काढे दूध-तेल-इनको एकत्र करके जो पिचकारी मारतेहै उसको निरूह वस्ती कहते है।

प्रकारांतर

वातोल्वणेषु दोषेषु वातेवा बस्तिरिष्यते।
उपक्रमाणां सर्वेषां सोग्रणीस्त्रिविधश्च सः ॥
निरूहोन्वासनोबस्तिरुत्तरःसंप्रकीर्तितः ॥

अर्थ—वातोल्वणदोषोंमें अथवा केवल वातके दोषमें बस्तिकर्म करना चाहिये, यह संपूर्ण कर्मोंमें अग्रगण्य (मुख्य) है। सो तीनप्रकारकीहै १ निरूहबस्ति, २ अनुवासनबस्ति, और तीसरी उत्तरबस्ती ॥

प्रथमअनुवासनबस्ति

तत्रानुवासनाख्योहि बस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते॥पूर्वमे-
वततोबास्तिनिरूहाख्योभविष्यति ॥ निरूहादुत्तरं चै
व बस्तिस्यादुत्तराभिधः । अनुवासनभेदश्च मात्राब
स्तिरुदीरितः॥पलद्वयंतस्यमात्रा तस्मादर्धापिवाभवेत् ॥

अर्थ—तहां प्रथम अनुवासन नामक वस्तिको कहके फिर निरूहवस्ती तथा उत्तरवस्ती कहैगे । तथा उस अनुवासनवस्तीका भेद मात्रावस्ती है, उस मात्रा-स्तीमें स्नेहादिकोंकी मात्रा दोपलकी है । अथवा पलमात्रकी जाननी इसप्रकार वस्तीके चारभेद जानने ॥

अनुवासबस्तीमेंयोग्यप्राणी

अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली ॥

अर्थ—रूक्ष (स्नेहपान रहित) और प्रदीप्तहै अग्नि जिसकी वो और केवल वातरोगी ऐसे मनुष्योंको अनुवासन वस्तीके योग्य जानने ॥

अनुवासनअयोग्यपुरुष

नानुवास्यास्तु कुष्ठीस्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी ॥ नास्था-
प्या नानुवास्याः स्युरजीर्णोन्मादतृड्युताः ॥ शोकमू-
र्च्छारुचिभयश्वासकासक्षयातुराः ॥

अर्थ—कुष्ठी, प्रमेही, स्थूलपुरुष, उदररोगी, ए अनुवासन वस्तीके योग्य नहीहै । तथा उन्माद (पागल) अजीर्ण, तृषा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, खांसी, और क्षय इनकरेके पीडित जो मनुष्यहै वो आस्थाप्य (निरूहवस्ती) में योजनाकरे "नानुवास्याः" अर्थात् उनकी अनुवासन वस्तीमें योजना न करे।

(वस्तीका मुखस्थापन विषयमें सुवर्णादिकोंकीनली)

नेत्रंकार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः ।
नलैर्दंतैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वाविधीयते ॥

अर्थ—नेत्र कहिये गुदामें पिचकारी मारनेके लिये नली- वो सुवर्णादि धातुकी, अथवा वांसकी, अथवा नरसलकी, हाथीदांतकी, अथवा सींगके अग्र तथा विष्ठौर अथवा सूर्यकांतादि (आतसीकांचआदि मणियोंकी करनीचाहिये) ॥

(रोगीकी अवस्थानुसार नलीका प्रमाणकरे)

एकवर्षात्तु षड्वर्षं यावन्मानंषडंगुलम् ।
ततो द्वादशकं यावन्मानंस्यादष्टसंयुतं ॥
ततः परं द्वादशभिरंगुलैर्नेत्रदीर्घता ॥

अर्थ—वस्तीकी नली एक वर्षसें लेकर छः वर्ष पर्यंत छः अंगुल प्रमाण, तथा छःवर्षसें लेकर बारह वर्षपर्यंत आठ अंगुल प्रमाण लंबी, तथा बारह वर्षके पश्चात् बारह अंगुलकी लंबी नली बनानी चाहिये ॥

नलीकेछिद्रकाप्रमाण

मुद्गछिद्रं कलायामं छिद्रं कोलास्थिसन्निभं । यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसंनिभं ॥ आतुरांगुष्ठमानेन मूलेस्थूलंविधीयते । कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखं ॥ तन्मूलेकर्णिके द्वे च कार्येभागाच्चतुर्थकात् । योजयेत्तत्र वस्तिं च बंधद्वयविधानतः ॥

अर्थ— जो छः अंगुलकी नलीहै उसका छिद्र मूंगके दानेके समान, और जो आठ अंगुलकी नलीहै उसका छिद्र मटरके दानेके बराबर, और जो बारह अंगुल लंबी नलीहै उसका छिद्र बेरकी गुठलीके प्रमाण इसप्रकार क्रमकरके नलीका छिद्रकरे । और वो नली चिकनी होकर गौकेंपूंछके समान होनी चाहिये । तथा उस नलीका मूल रोगीके अंगूठाके बराबर मोटा और अग्रभागमें कनिष्ठका उंगलीके प्रमाण मोटी करके उसका मुख गोलकरे, तथा उस नलीके तीन भाग छोडके चतुर्थभागके मूलमें दोकर्णिका कमलपत्रके समान बनाय हरिणादिकोंके अंडकोवस्ति उस जगे लगाय उसकर्णिकासे वस्तीके दोनो भाग बाँधदेवे, कि जिस्सें संधि न रहने पावे ।

वस्तीकिसकेआंडेकीवनावेसोकहतेहै

मृगाजशूकरगवां माहिषस्यापि वा भवेत् ।
मूत्रकोशस्य वस्तिस्तु तद्भावेन चर्मजः ॥
कषायरक्तः सुमृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः ।

---

१ जैसे गौकी पूंछ ऊपरसें पतली होती है बीचमें मोटी और नीचे फिर क्रमसें पतली होती चली गई है ऐसी बनावे ।

अर्थ—हरिण, बकरा, सूअर, बैल, अथवा भैसा इनके आंडोकी वस्ती बनानी, यदि ये न मिलेतो इनके चामकी वस्ती बनावे तथा उसवस्तिको बेरकीछाल इत्यादिकोंके काढेमें रंगे एवं नम्र और चिकनी तथा दृढ होनी चाहिये।

व्रणबस्तीकाप्रमाण

व्रणबस्तेस्तु नेत्रं स्यात् श्लक्ष्णमष्टांगुलोन्मितं।
मुद्गछिद्रं गृध्रपक्षनालिकापरिणाहि च।

अर्थ—व्रणमें जो वस्ती योजना करीजायहै उसके नेत्र (नली) आठ अंगुल की लंबी और चिकनी तथा उसकाछिद्र मूंगके समान करे। तथा गीधके पंखकी नली जितनीमोटीहोतीहै इतनीमोटी इसप्रकार व्रणवस्तीकी नली बनानी चाहिये॥

बस्तीकेगुण

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिःसम्यगुपासितः॥

अर्थ—बस्तीका उत्तम प्रकार सेवन करनेसैं शरीरकीवृद्धि, कांति, बल, आरोग्य और आयुकीवृद्धि ये गुण उत्पन्न होतेहै॥

बस्तीकासेवनकाल

दिवसांते वसंते च स्नेहे बस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षा शरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम्॥ न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद्धि धास्नेहः प्रयोजितः॥ रूक्षं भुक्तवतोत्यन्नं बलं वर्णं च हीयते। युक्तः स्नेहमतो जंतुंभोजयित्वानुवासयेत्॥

अर्थ—वसंतऋतुमें स्नेहवस्ती (अनुवासन वस्ती) सायंकालमें करे। ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु और शरदऋतुमें रात्रिमें वस्तिकर्म करे। तथा रोगीको अत्यंत स्निग्ध भोजन करायके अनुवासनवस्तीका प्रयोग कदाचित् न करे क्योंकि इसप्रकार करनेसैं मद, और मूर्च्छाको करेहै। तथा अत्यंत रूखा भोजन करायके वस्तीप्रयोग करनेसैं बल और कांति इनकी हानी होतीहै इस वास्ते थोडा स्नेहयुक्त भोजन करायके फिर अनुवासन वस्तीदेवे॥

(वस्तीमें हीन और अतिमात्राका निषेध)

हीनमात्रावुभौ वस्तीनातिकार्यकरौ स्मृतौ।

अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥

अर्थ—अनुवासनवस्ती तथा निरूहवस्ती इनकीमात्रा होनेसें अत्यंतकार्य न-होंहो, अर्थात् रोग उत्तमरीतिसें दूर नहींहो। तथा पूर्वोक्तदोनोवस्तियोंकी अति-मात्रा होनेसें अनाहरोग, ग्लानि और अतिसार ये रोग उत्पन्न होतेहै।

उत्तमादिमात्राकथन

उत्तमस्यपलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः।
पलद्वयेन हीनस्य युक्ता मात्रानुवासने ॥

अर्थ—उत्तम प्रकारवाले वली मनुष्यको अनुवासन वस्तिमें छः पलकी मा-त्रा जाननी,—मध्यम वलवाले मनुष्य उसको तीन पलकी मात्रा जाननी। और हीनवली मनुष्योंको डेढ पलके प्रमाण मात्रा जाननी। यह वस्तीकी मात्राका प्रमाण कहा ॥

स्नेहमेंसैंधवआदिकीमात्रा

शताह्वासैंधवाभ्यां च देयं स्नेहे च चूर्णकम्।
तन्मात्रोत्तममध्यांत्या षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥

अर्थ—सतावरी और सेंधानिमक इनका चूर्ण अनुवासन वस्तीमें देनाजो क-हाहै उसकी मात्रा छःमासेकी है वो उत्तम, और चारमासेकी मध्यम, एवं दो-मासेकी हीनमात्रा जाननी। [शतावर और सैंधेनिमकका चूर्ण तेलमें मिलाया जाताहै]

अनुवासवस्तीदिनेकासमय

विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातवलाय च।
भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोनुवासनः ॥

अर्थ—मनुष्यको रेचन (जुलाब) देकर सातदिन जानेके वाद वल आनेपर उसको भोजन कराय अनुवासन नामक वस्तीमें जो योग्य मनुष्य उसको अनुवासन वस्ती देनी चाहिये ॥

वस्तीदेनेकाप्रकार

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णांबुस्वेदितं शनैः। भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतं चंक्रमणं ततः ॥ उत्सृष्टानिलवि-ण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना। सुप्तस्य वामपार्श्वेन

वामजंघाप्रसारिणः ॥ कुंचितापरजंघस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत् । वध्वावस्तिमुखेसूत्रं वामहस्तेन धारयेत् ॥ पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः । जृंभाकासक्षवादींश्च बस्तिकाले न कारयेत् ॥

अर्थ—अनुवासन बस्तीके योग्य मनुष्योंके देहमें तेल लगाय गरमजलसें अंगमें हलका पसीना काढ उसको यथाशास्त्र लिखित भोजन कराय थोडासा इधर उधरको फिराय यदि उसको मलमूत्र अधोवायु त्यागनेकी इच्छा होयतो कराय के फिर बस्तिकर्ममें योजना करे । और उसको वाईं करवट सुलाय वाएपैरको लंवा पसार दहने पैरको संकुचित करे और गुदाको चिकनीकर[2] वस्तीकीनली वस्तीके मुखमें डोरेसैं बांध उन नलीको गुदाके ऊपर धरे तथा कुशलवैद्य उस नलीको वाए हाथमें लेकर दहने हाथसैं मध्यमवेग करके दावे,-तथा वस्तीके समय जंभाँईलेना,-खांसना,-और छींकना इत्यादिक रोगीको न करनेदेवे [खांसी आदिके करनेसैं पिचकारीका तैल ऊपर चढ जाताहै अथवा नीचेही रहे ठीक स्थानपर नहीं पहुचे इसीवास्ते जंभाई और खांसना आदि वर्जितहै)

पिचकारीलगानेमेंकाल

त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो बस्तेस्तुपीडने ।
ततः प्रणिहितः स्नेहउत्तानेवाक्शतं भवेत् ॥

अर्थ—पिचकारी मारनेके समय तीसमात्रा पर्यंत काल जानना और वो स्नेह भीतर जानेसैं सोवाक (जितनीदेरमें सौंवार आंख मिचे) इनती देरतक चित्त सोया करे उसमात्राका प्रमाण आगेके श्लोकमें कहते है ॥

मात्राकाप्रमाण

जानुमंडलमावेष्टय कुर्याच्छोटिकयायुतं ।
एकामात्रा भवत्येषा सर्वत्रैपं विनिश्चयः ॥

अर्थ—घोटूके चाऱ्योतरफ हाथफेरके चुटकी वजावे इतने कालकि एकमात्रा होती है । यह सर्वत्र निश्चय है तथा मात्राकाप्रमाण अन्यत्रभी ग्रंथोमें लिखा है सो देखलेना ॥

वाङ्मात्राकाप्रमाण

निमेषोन्मेषणं पुंसामंगुल्या छोटिकाथवा ।

---

१ उसको चौंवलीकी पतली पेयाकरके पिवावे । २ गुदामें घी लगाकर ।

गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृताबुधैः ॥

अर्थ—निमेषोन्मेषण (पलकोका खोलना मूंदना) चूटकी बजाना,—अथवा गुरुअक्षरके उच्चारण इनमें जितना समय लगता है उसको वाङ्मात्रा कहते है ॥

पिचकारीलगानेकेपश्चात्क्रिया

प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं प्रसर्पति ।
ताडयेत्तलयोरेनं त्रिस्त्रिवारांश्च शनैः शनैः ॥
स्फिजोश्चैवं ततः श्रोणिं शय्यां चैवोत्क्षिपेत्ततः ।
जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥

अर्थ—पिचकारी मारनेके पश्चात् रोगी हाथपैर आदि सब देहको ढीलाक रके पसारदेवे कि जिस्तै रसादिकधातु अपने २ स्थानपरजावें । तथा रोगीके हाथपैरके तलको तीनवार हलकी (धीरे २)तीन २ ताल देवे उसीप्रकार स्फिज (कूला) औरश्रोणी (कटिपश्चात्भाग) में तीन २ वार ताल मारे । फिर उसको शय्या (पलंगपर) बैठावे । इसप्रकार वस्तीविधि होनेके अनंतर रोगीको सुखपूर्वक सुलायदे ॥

उत्तमवस्तिकर्महोनेकेगुण

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ।
उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ।

अर्थ—गुदाके भीतर गयाहुया जोस्नेह वो वायु तथा मल—इनके साथ उपद्रवके विना तत्काल बाहर आनेसें उस मनुष्यको वस्तीकर्म उत्तम हुआ ऐसा जानना ॥

स्नेहकाविकारदूरहोनेमेंउपाय

जीर्णान्नमथसायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः । लघ्वन्नं भो
जयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥ अनुवासिताय देयं
स्यादितरेह्लिसुखोदकं । धान्यशुंठीकपायो वा स्नेह
व्यापत्तिनाशनम् ॥

अर्थ—गुदाके रास्ते स्नेहनिःशेष (संपूर्ण)बाहर आनेसें और यदि मनुष्यकी अग्नि प्रदीप्त होवे तो उसको सायंकालमें पुराने अन्न किंचित् नित्यके आहारकी

१ एक वर्षके चावल अथवा साठदिनके पकनेवाले (साँठी) चावल पथ्यमें देवे ।

अपेक्षा कम पथ्यमें देवे और अनुवासित मनुष्यको दुसरे दिन सुखोदक देवे अर्थात् गरमजल पीनेको देवे अथवा धनिया,—और,—सोंठ,—इनका काढा करके देयतो स्नेहका विकार दूरहोय ॥

वातादिदोषोंमेंपिचकारीमारनेका प्रमाण

अनेन विधिना षड्वा सप्त चाष्टौ नवापि वा ।
विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम् ॥

अर्थ—पूर्वोक्तविधिकरके वातादिक दोषोंमें छःवार अथवा आठवार अथवा नौवार पिचकारी मारे उस पिचकारियोंके अंतमें निरुह वस्ति योजना करे ॥

वस्तीकेगुण

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिःस्नेहयेद्वंक्षितवंक्षणौ। सम्यक्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत्॥बलं वर्णं च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः।चतुर्थपंचमौ दत्तो स्नेहयेतां रसासृजी॥षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एवच । अष्टमो नवमश्चापि मज्जानं च यथाक्रमं ॥ एवं शुक्रगतान्दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत्।अष्टादशाष्टादशकान्वस्तीनां योनिषेवते॥सकुंजरबलोश्वस्य रमेत्तुल्योमरप्रभः॥

अर्थ—प्रथम वस्ति (पिचकारी) मारनेसैं वह वस्ती वंक्षण (अंडसंधि) द्वारा शरीरमें स्नेह न करे है अर्थात् धातु वढावे है । दूसरी पिचकारी मारनेसैं मस्तककी वायुको दूरकरे । तीसरी पिचकारी मारनेसैं शरीरमें वल—कांति आवे। चौथी और पांचवी पिचकारी मारनेसैं रस और रक्त इनकी वृद्धि होय । छटी और सातवी पिचकारी मारनेसै मांस और मेदमें स्निग्धता आती है। आठवी और नवम पिचकारी मारेनेसैं मज्जामें और श्लोकमें जो चकारहै इस्सै शुक्रधातुमें स्निग्धता आती है । इस प्रकार द्विगुण (१८) पिचकारी देनेसैं शुक्रधातुगत जो दोषहै उनका नाश होय तथा जो मनुष्य ३६ पिचकारियोंका सेवनकरे उसमें हाथीके समान बल और वेगमें घोडेके समान होय एवं देवस्वरूप कांतिहोयहै॥

अनुवासनवस्तिऔरनिरूहनवस्तीयेकिसकोदेनाइसकाप्रकार

रूक्षाय वहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने । दद्याद्वैद्यस्तथान्येपामन्यांबाधामपाहरत् ॥ स्नेहोल्पमात्रो रूक्षाणां

दीर्घकालमनात्ययः । तथा निरूहस्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥

अर्थ—रूक्ष होकर जो अत्यंत वायुसैं पीडित मनुष्य उसको वैद्य दिन २ में स्नेहवस्ती देवे । अर्थात् स्नेहकी पिचकारी नित्त मारे । उसी प्रकार " अन्येषां " कहिये स्निग्ध और स्थूलादिक मनुष्य उनके " अन्या " कहिये निरूहण वस्ती दिन२में देवेतो " वाधा " कहिये रोग दूरहोय । तथा रूक्ष मनुष्य उनके स्नेहवस्ती अल्पदेवे अर्थात् स्नेहकी पिचकारी हलकी मारे । परंतु रोगी वहुत दिनका वचाहुआ होय तो स्निग्ध मनुष्य उसके निरूहवस्ती अल्पदेवे ॥

तत्कालस्नेहबाहरनिकलेउसकाउपाय

अथवा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः ।
तस्यान्योऽन्यतरो देयो नहि स्निग्धस्य तिष्ठति ॥

अर्थ—स्निग्ध मनुष्यकी गुदायें पिचकारी मारनेसै उसी वखत चिकनाई बाहर निकल आती हैं ठहरे नही है इसीसें स्नेहवस्ती देकर उसी समय निरूहवस्ती देवे, इसप्रकार पलटकर दोनो प्रकारकी वस्तीदेवे ॥

(स्नेहवाहर न निकले उसके उपद्रव और उपाय)

अशुद्धस्य पलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदा शैथिल्यमाध्मानं शूलं श्वासश्च जायते । पक्वाशयो गुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् । तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधियुता फलवर्त्तिर्हिता तथा॥यथानुलोमनोवायु मलस्नेहश्च जायते ॥ तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यं च शस्यते ॥

अर्थ—वमन और विरेचन इत्यादिक करके जिसकी शुद्धी नही करी उसकी गुदासैं यदि मलामिश्रित स्नेह वाहर आवे नहीं तो उसके देहमें शिथिलता, और अफरा (पेटका फूलना) शूल, श्वास, और पक्वाशयमें भारीपना, ये उपद्रव होते है । इनके दूरहोनेके वास्ते तीक्ष्णनिरूहण वस्ति देनी चाहिये । इसीप्रकार तीक्ष्ण औषध करके युक्त ऐसी फलवर्त्तिदे जिस्सै वायु अधोगामी होकर मल मिश्रित स्नेह गुदाके रास्ते वाहर आवे, तथा उसीप्रकार तीक्ष्णजुलाव और तीक्ष्णनस्य ए देने चाहिये ॥

(स्नेह वस्ती जिसको उपद्रव करे नही उसका विधान ।)

यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहवस्तिरनिःसृता ।

सर्वोल्पो व्यावृते रौक्ष्यादुपेक्ष्यः सविजानता ॥

अर्थ—स्नेहवस्ती (स्नेहकी पिचकारी) गुदामें मारनेके अनंतर गुदाका संपूर्णभाग व्यावृत्त (व्याप्त) होनेसे अथवा मनुष्यके रूक्षपनेके कारण गुदाके एकदेशमें व्याप्तहोके रहनेसैं शूलादिक उपद्रव नहीं करे । तो पिचकारी (स्नेहवस्ती) उसीप्रकार गुदामें धरी रहनेदे ॥

अहोरात्रिमें भी स्नेह वाहर न आवे तो उसका उपाय ।

अनायाते त्वहोरात्रे स्नेहं संशोधनैर्हरेत् ।
स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥

अर्थ—स्नेहकी पिचकारी मारनेसैं जो स्नेह वाहर नहींआवे उसकै दोवार पिचकारी मारके स्नेह वाहर आवे अेसायत्नकरे । अथवा जो स्नेह अहोरात्र (दिनरात्रि) में वाहर न आवे उसको जुलाव देकर तेलको वाहर निकाले ॥

अनुवासनतैल

गुडूच्येरंडपूतिकिभार्गीवृषकरोहितम् । शतावरी सहचरं काकनासा पलोन्मितम् ॥ यवमाषातसीकोलकुलित्थान् प्रसृतोन्मितान् । चतुर्द्रोणांभसा पक्व द्रोणशेषेण तेन च ॥ पचेत्तैलाढके पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् ॥

अर्थ—गिलोय,-अंडकीजड,-कंजाकीछाल,-भारंगी,-अडूसा,-रोहिषतृण,-शतावर,-पियाँवासा,-काकतुंडी, ये नौ औषध एक २ पललेवे । जौं,-उडद,-अलसी,-वेरकी गुठली,-और कुलथी, ये पांच औषध दो दो पलले, इन सबको कूट पानी ४ द्रोण डालके एकद्रोण जल वाकी रहने पर्यंत औंटावे, उसमें तिलका तेल एक आढक डालके और जीवनीय गणकी औषधी एक २ पल कूट चूर्णकरके मिलावे, फिर उसको औटावे जव काढा जलके तेलमात्र शेष रहे तव नीचे उतारके तेल छानलेवे । इसको अनुवासन तेल कहते है । ये तेल संपूर्ण वायुके रोगोंको दूर करताहै ॥

शट्यादितैलम्

शटीपुष्करकृष्णाव्हामदनामरदारुभिः।शताव्हाकुष्ट-यष्ट्याव्हवचाबिल्वद्रुताशनैः॥सुपिष्टैर्द्विगुणं क्षीरं तैलं

तोयं चतुर्गुणम् । पक्का वस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम्॥अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ॥ कटीरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर, दूध ८ सेर, कल्कके वास्ते कचूर, पुहकरमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूठ, मुलहरी, चव वेलगिरी, और चीतेकीछाल, ए सब मिलायके सेरभर लेवे । जल १६ सेरले, सबको मिलाय तेलकी विधिसै सिद्धकरे । यह वस्तिक्रियामें प्रयोग करनेसैं कुपित वायुको अनुलोम करे । तथा ववासीर, ग्रहणीदोष, अफरा, विषमज्वर, और जांघ,–कमर,–और पीठके वातरोगको दूरकरे । इसे शठ्यादि तैल कहते है ॥

वचादितैलम्

वचापुष्करकुष्ठैला मदनामरसिंधुजैः॥कांकोलीद्वययष्ट्याह्व मेदोयुग्मनगाधिपैः ॥ पाठाजीवकजीवंती भार्गीचंदनकट्फलैः ॥ सरलागरुबिल्वाम्बुवाजिगंधाग्निवृद्धिभिः॥विडंगारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकाद्विभिः॥ पिष्टैस्तैलं पचेत्क्षीरं पञ्चमूलरसान्वितम् ॥ गुल्मानाहाग्निषंगार्शोग्रहणीमूत्रसंगिनाम् ॥ अन्वांसनविधौयुक्तंशस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर, छोटा पंचमूलका काढा १६ सेर,–दूध, १६ सेर, कल्कके वास्ते वच,–पुहकरमूल,–कूठ,–इलायची,–मैनफल,–देवदार,–सैंधानिमक,–कांकोली,–क्षीरकांकोली,–मुलहटी,–मेदा,–महामेदा,–अमलतास,–पाठ,–जीवक,–जीवंतीशाक,–भारंगी,–लालचंदन,–कायफल,–सरलकाष्ट,–अगर,–वेलगिरी, नेत्रवाला,–असगंध,–चीता,–वृद्धि, वायविडंग,–कीरवारेकीगिरी,–सारिवा,–निसोथ,–पीपर,–वृद्धि,–यह सब औषध १ सेर ले । जल १६ सेर, तेलकीविधिसैं सिद्धकरे, यह तैल गोला,–अफरा,–मदाग्नि,–ववासीर,–संग्रहणी,–मूत्ररोग, और वातरोग इन समस्त रोगोंमें अनुवासन प्रयोगमें देवे. ॥

चित्रकादितैलम्

चित्रकादिविषापाठा दन्तीविल्ववचामिपैः सरलांशुमतीराण्णा नीलिनीचतुरंगुलैः॥ चव्याजमोदकांकोली

मेदायुग्मसुरद्रुमैः जीवकर्षभवर्षाभूवस्तगंधशताह्वयैः ॥ रेन्वश्वगंधामंजिस्का शटीपुष्करतस्करैः॥ सक्षीरं विपचे-त्तैलं मारुताभयनाशनम्॥ गृध्रसीखंजकुब्जाढ्यमूत्रो-दावर्त्तरोगिणाम्॥शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु-नियोजितम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर,-दूध १६ सेर, कल्केवास्ते चीतेकीछाल,-अतीस-पाठा,-दंती,-वेलगिरी,-वच,-सोंफ,-निसोथ, सालपर्णी,-रास्ना,-नीली,-अ-मलतास,-चव्य,-अजमायन,-कांकोली,-मेदा,-महामेदा,-देवदारु,-जीवक,-ऋषभक,-सांठ,-अजमोद,-सोफ,-रेणुक,-असगंध,-मजीठ,-कचूर,-पुहकरमू-ल,-चौरकाचरी,-यहसब १ सेर ले। जल १६ सेर,-तेलपाककी विधिसें बनावे। यह ग्रधसी,-खंजता,-कुबडापना,-मूत्राधिक्य,-और,-उदावर्त्तरोग,-बलहीन,-तथा मंदाग्नि, इत्यादि रोगमें इस तैलका अनुवासन कर्म उत्तम है॥

भूतिकादितैलम्

भूतिकैरंडवर्षाभू राष्णावृषकरोहिषैः ॥ दशमूलसहा-भांर्गीपड्ग्रंथामरदारुभिः॥बलानागबलामूर्वा वाजिगं-धामृताह्वयैः ॥ सदाचरवरीविश्वा काकनासाविदारि-भिः ॥ यवमाषातसीकोल कुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ॥ जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरं चतुर्गुणं ॥ जंघोरुत्रिक-पार्श्वांशबाहुमन्याशिरःस्थिताम्॥ हन्याद्वातविकारां स्तु बस्तियोगैर्निषेवितम् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर, क्वाथकेवास्ते अजमायन,-अंडकीजड,-सांठ,-रास्ना, अडूसा,-रोहिषतृण,-दशमूल,-मुद्गपर्णी,-भारंगी,-वच,-देवदारु,-खरेटी,-गगेरन,मूर्वा, असगंध, गिलोय, पियावांसा, सतावर, सोंठ, काकडोडी, विदारीकंद, जौं, उडद-अलसी, बेर, कुलथी, ये सब २॥ सेरले जल ६४ सेर लेके काडाकरे, जब १६ सेर रहे तब उतारके छानलेय, फिर जीवनीय गणका कल्क, दूध १६ सेर, सब-को एकत्र कर तैलकी विधिसें सिद्धकरे। इस तेलको अनुवासन द्वारा प्रयोग करेतो जंघा, ऊरू, त्रिक, पसवाडे, कंधे, भुजा, मन्यानाडी, और मस्तकगत वातरोग यह नष्ट होवे ॥

जीवन्त्यादितैलम्

जीवन्त्यातिबलामेदाकांकोलीद्वयजीरकैः । ऋषभा-
तिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥ राष्णामदनय-
ष्ट्याह्वमरलाभिरुचन्दनैः । स्वयंगुप्ताशठीशृंगीकल-
शीसारिवाह्वयैः ॥ पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेनतु ॥
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्द्धनम् ॥ बृंहणं-
वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् । नस्ये पाने च संयु-
क्तंमूर्द्धजत्रुगदापहम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । घृत १ सेर । जीवंती, अतिबला, मेदा, महामेदा, कांकोली, क्षीरकांकोली, जीवक. ऋषभक, अतीस, पीपल, काकडोडी, वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलहटी, सरल, सतावर, रक्तचंदन, कौछके बीज, कचूर, काकडासिंगी, पिठवन, सारिवा, ए सब औषधी १ सेरले । दूध ४० सेर लेके विधि पूर्वक तेलासिद्धकरे । इसका अनुवासन करनेसें शुक्र, अग्नि, और बलकी वृद्धिकरै, देहको पुष्टकरे, वायु और पित्तकी शांति, एवं गोला और अफरा रोगको नष्टकरे । नस्य—तथा पानमें इसका व्यवहार करेतो उर्ध्वजत्रुगत रोगोंका नाशकरे । इसे जीवंत्यादि तैल कहते है ॥

मधुकादितैलम्

मधुकोशीरकाश्मर्यकट्वकोत्पलचंदनैः । श्यामापद्मक-
जीमूत शक्राह्वातिविषांबुभिः ॥ तैलपादं पचेत्सर्पिः
पयसाष्टगुणेन च । न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं वस्तिषु
योजितम् ॥ दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन्।
पित्तरक्तज्वरार्द्यांश्च हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर । घृत १ सेर । न्यग्रोधादिगणकीक्वाथ २० सेर । दूध ४० सेर । कल्कके वास्ते मुलहटी,-खस,-कंभारी,-कुटकी,-कमलगट्टा,-रक्तचंदन,-अनंतमूल, पद्माख,-नागरमोथा,-इन्द्रजो, नेत्रवाला,-अतीस,-ए सब १ सेरलेवे । सबको तेलकी विधिसें औटायके तेल सिद्ध करलेवे, उसका अनुवासन करनेसें दाह,-प्रदर,-विसर्प,-वातरक्त,-विद्रधि,-तथा पित्तकृत अनेक प्रकारके रोग दूरकरे ॥

मृणालादितैलम्

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः । चंदनद्वयभूनिंब पद्मबीजकसेरुकैः ॥ पटोलकटुकारक्तागुंद्रापर्पटवासकैः ॥ पिष्टैस्तैलमिदं पक्वं तृणमूलरसेन च । क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम् । नस्येऽभ्यंजनपाने वा हन्यात्पित्तगदान् बहून् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । तृणपंचमूलका काढा १६ सेर । दूध ८ सेर । कल्कके वास्ते कमल,–नीलकमल,–नीलकमलकीजड,–सारिवा,–अनंतमूल, केशर,–रक्तचंदन,–सपेदचंदन,–चिरायता,–कमलगट्टा,–कसेरू,–पटोलपत्र, कुटकी मजीठ,–भद्रमोथा,–पित्तपापडा,–अडूसा, ये सब १ सेरले । सबका यथाविधि तैल सिद्धकरे । इस तेलकी नस्य–मालिस–पीना–और बस्ति क्रियामें प्रयोग करनेसै अनेक प्रकारके पित्तरोगोको निवारण करे ॥

त्रिफलाद्यंतैलम्

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः । निंबारग्वधपट्टग्रंथासप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥ गुडूचीन्द्रसुराकृष्णा कुष्टसर्पपनागरैः । तैलमेभिःसमैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥पानाभ्यंजनगंडूषनस्यबस्तिषु योजितम् । स्थूलतालस्यकंडूवादीन् जयेत् कफकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । सुरसादिगणकास्वरस १६ सेर– । कल्कके लिये–त्रिफला,–अतीस,–मूर्वा,–निसोथ,–चीतेकीछाल, अडूसा,–नीमकीछाल,–अमलतासके पत्ते, वच, सतोनाकीछाल, हरदी, दारुहलदी, गिलोय, मद्मालू, पीपल, कूठ, सरसो, और सोंठ, सब, १ सेरलेवे । तेलसिद्धकरे इसतेलके पीनेसै मालिससै कुरला नस्य–और बस्तीकर्म करनेसैं स्थूलता, आलस्य, और खुजलीआदि कफके विविधविकार दूरहो । यहत्रिफलादितैलहै ।

पाठाद्यंतैलम्

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टा पिप्पलीद्वयनागरैः । सरलागरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुभैः ॥ मरिचैलाभयाकट्वी शटीग्रंथिकवृक्षफलैः । तैलमेरंडतैलंवा पक्वमेभिः समा

युतम् ॥ वल्लीकंटकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ॥ ह-
न्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतेल अथवा अंडीकातेल ४ सेर–। वल्लीपंचमूलका काढा ८ सेर कंटक पंचमूलकाकाढा ८ सेर । कल्ककेवास्ते– पाढ, अजमोद, महाकरंज, पीपल, गजपीपल, सोंठ, सरल, अगर, कालीयकाष्ट, भारंगी, चव्य, देवदारु, कालीमिरच, इलायची, हरड, कुटकी, कचूर, पीपरामूल, और कायफल सब १ सेरलेवे । इनसें तेलको विधिपूर्वक सिद्धकरे इसका अनुवासन कफकृत समस्त रोगोंको निवारणकरे । इसें पाठादि तैल कहतेहै ॥

विडंगाद्यंतैलम्

विडंगोदीच्यसिंधूत्थ शठीपुष्करचित्रकैः । कट्फला-
तिविषाभार्गी वचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥ मेदोमदनयष्ट्याह्व
श्यामानिचुलनागरैः ॥ शताह्वानीलिनीराण्णा कदली
वृषरेणुभिः ॥ बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादंतीचव्यनरा-
धिपैः । तैलमेरंडतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥ प्ली-
होदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् । प्रमेहशर्करा
शंसि हन्यादाश्वनुवासनात् ॥

अर्थ—तिलतेल अथवा अंडीकातेल ४ सेर । मुष्कंकादिगणकारस १६सेर–। कल्केके वास्ते वायविडंग नेत्रवाला, सैंधानिमक, कचूर, पुहकरमूल, चीतेकीछाल,– कायफर,– अतीस,– भारंगी,–वच,–कूठ,–देवदारु,–मेदा,–मैनफल,– मुलहटी,–अनंतमूल, -हिंजलकेबीज,- सोंठ,–सोफ,–नीलकीजड,–रास्ना,–केलाकीजड,–अडूसा,–रेणुक,–बेलगिरी–अजमोद,–पीपल,–दंती,–चव्य,–और अमलतासकेपत्ते सब १ सेरलेवे । विधिपूर्वक तैलसिद्धकरे–इसतेलके अनुवासनवस्ती करनेसें प्लीह,–उदावर्त,–वातरक्त,–गोला,–अफरा,–कफकीजनेकव्याधि.–प्रमेह, शर्करा, और ववासीर, रोगको दूरकरे । यहविडंगादितैलहै–ये पूर्वोक्त संपूर्णतेल सुश्रुतके वस्ती अधिकारमें लिखेहै ॥

(अनुवासन वस्तिमें विपरीत होनेसे रोगहोतेहै उनको कहते है॥)

पट्सप्ततिर्व्यापदस्तु जायंते वस्तिकर्मणः ।

---

१ संपूर्ण औषधोंके गण (जैसे मुष्कंकादिगण–सुरसादिगण) ए आगे करेंगे ।

दूषितात्समुपायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात् ॥

अर्थ—बस्तीकर्ममें दोषरूप कुछभी विपरीतता होनेसैं ७६ प्रकारकी व्याप-त्ती(रोग)उत्पन्न होतेहै।उसकी चिकित्सा सुश्रुत ग्रंथमें लिखीहै सो करनीचाहियो।

वस्तिकर्ममेंपथ्य

पानाहारविहाराश्च परिहारश्च कृत्स्नशः ॥
स्नेहपानसमाः कार्या नात्र कार्या विचारणा ॥

अर्थ—अन्न, पान-और विहार आहारादिक इनके आचरण जैसा स्नेहपानमें कहाहै उसीप्रकार इस जगे वस्तीकर्ममें करे-इस विषयमें विचार न करे ॥

निरूहवस्तीकीविधिः

निरूहबस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणांतरैः ।
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुंगवैः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती कारणभेदकरके अनेकप्रकारकी होती है और जैसे २ का रण होतेहै उसी २ प्रकारका उसका नाम होताहै । उदाहरण- उत्क्लेशनबस्ति,- दोषहरबस्ति,- दोषशमनवस्ति, इत्यादिक नाम जानने ।

निरूहवस्तीकेदूसरेनाम

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः ।
स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् ॥

अर्थ—निरूह वस्तीका दूसरा नाम आस्थापनहै उसकी व्युत्पत्ती--दोष औ-र रसादिक धातु इनको अपने २ स्थानपर बैठालेहै, इससैं इसको आस्थापन बस्ति कहतेहै । तथा वातादिक दोष अथवा रोग इनको दूरकरेहै इसीसैं उसको निरूह ऐसा कहतेहै ।

(निरूहवस्तीमें काढेआदिका प्रमाण)

निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थपादोत्तरं मतम् ।
मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनस्य कुडवास्त्रयः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती देनेमें काढे आदिका प्रमाण सवा प्रस्थ उत्तमहै, और प-क्कप्रस्थ मध्यम, तथा तीनकुडव कनिष्ठ जानना ।

निरूहवस्तीअयोग्य

अतिस्निग्धो क्षिप्तदोषो क्षतोरस्कः कृशस्तथा । आध्मानछर्दिहिक्कार्शःकासश्वासप्रपीडितः ॥ गुद-शोफातिसारार्त्तो विशूचिकुष्ठसंयुतः । गर्भिणीमधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥

अर्थ—अत्यंतस्निग्धमनुष्य, तथा जिसके ऊर्ध्वगामीदोष हुएहो वो, तथा उरःक्षत करके पीडित, कृश, अफराका रोगवाला, छर्दिरोगी, हिचकी, ववासीर, खांसी, श्वास, इन करके पीडित जो मनुष्य होवे वह; गुदामें पीडा, सूजन, अतिसार, विशूचि, कोढ, गर्भवतीस्त्री, मधुमेहरोगी, और जलंधरका रोगवाला, इतने रोगी निरूहवस्तीमे अयोग्य अर्थात् इन रोगियोंके निरूहवस्ती न करे ।

निरूहवस्तीयोग्यमनुष्य

वातव्याधावुदावर्ते वातासृक्विषमज्वरे । मूर्च्छातृष्णोदरानाह मूत्रकृच्छ्राश्मरीषुच ॥ वृद्ध्यसृग्गुदरमंदाग्निप्रमेहेषु निरूहणम् । शूले ऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद्भुवः ॥

अर्थ—वातव्याधिरोगी, उदावर्त्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, प्यास, उदर, अफरारोग, मूत्रकृच्छ्र, पथरीरोग, वहुतदिनोंका अस्रग्दर (मदर) मंदाग्नि, प्रमेह, शूलरोग, अम्लपित्त, हृदयरोग, इतनेरोगी निरूह वस्तीके विषयमें योग्यहै अर्थात् इनरोगियोंके निरूहवस्ती करै ।

निरूहवस्तीदेनेकाप्रकार

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजितम् । मध्यान्हे गृहमध्ये च यथायोग्यं निरूहयेत् ॥ स्नेहबस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् । जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः ॥ तिष्ठेन् मुहूर्तमात्रं च निरूहागमनेच्छया । अनायातं मुहूर्तंतु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥

अर्थ—निरूहवस्ती जिसमनुष्यको देनीहोवे वह मलमूत्र त्याग चुकाहो, अ-

---

१ मधुमेहके विना और दूसरे प्रमेह वस्ती विषयमें योग्य जानने ।

र्थात् उसरोगीसैं कह देवे कि जब तक ये बस्तिकर्म होवेगा तबतक तुमको मल मूत्रत्यागना न होगा, यदि भीतरसैं अधोवायु निकले तो उसको निकाल कोठा शुद्धकर उसके देहमें स्नेहपदार्थ लगाय, थोडे देहसैं पसीने निकाल उसको भोज न न देकर मध्यान्हके समय घरमें जिसप्रकार जिसरोगपर वस्तीदेना लिखाहै उसप्रकार स्नेहवस्तीका विधान कर तैलादिककी पिचकारी गुदामें मारनी। और निरूहवस्तीके कर्महोनेके अनंतर वह निरूह वाहरआनेके वास्ते दो घडी पर्यंत उंकरू वैठा रहे। यदि दोघडीमें निरूहकी औपधी गुदामेंसैं न निकले तो उस-को शोधन करके वाहर आनेका यत्नकरे सो आगेलिखते है॥

निरूहकोवाहरलानेवालीऔषध

निरूहैरेवमतिमान् क्षारमूत्राम्लसैंधवैः॥

अर्थ—निरूहवस्ती गुदासैं वाहर न आनेपर जवाखार, और गोमूत्र, नीबूका रस, अथवा जंभीरीकारस, और सैंधानिमक, ए चार औपधी एकत्रकर गुदामें फिर निरुहण करे कि जिससै पहलादियाहुआ निरूह वाहर निकले॥

निरूहवस्ती उत्तम होनेके लक्षण

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः।
लाघवं चोपजायेत सुनिरूहं तमादिशेत्॥

अर्थ—जिस मनुष्यके निरुह वस्ती देनेसैं उसके मल—तथा पित्त एवं कफ और अधोवायु ये क्रमकरके गुदाके रास्ते वाहर निकलनेपर शरीरमें हलकापन-नाहोवे तो निरूहण वस्तीका कर्म उत्तम हुआ अैसा जानना॥

जिसकोउत्तमनहुईहोउसकेलक्षण

यस्य स्याद्वस्तिरल्पाल्पवेगोहीनमलानिलः।
मूत्रार्त्तिजाड्यारुचिमान् दुर्निरूहं तमादिशेत्॥

अर्थ—जिसको निरूहवस्ती देनेसैं उसका वाहार आनेकावेग अल्प आनेपर मल और अधोवायु ये जितने वाहर आने चाहिये इतने न आवे, अर्थात् थोडे आवे ओर मूत्र करनेमें पीडा तथा शरीरमें जडपना, अरुचि, ए सव लक्षण करके युक्त मनुष्यको निरूहवस्ती उत्तम नहीं हुई, अेसा वैद्यको जानना चाहिये॥

(निरूहवस्ति और स्नेहवस्ति उत्तमदेनेकाफल)

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः।
आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यक्दाने तु लक्षणम्॥

अनेन विधिना युंज्यान्निरूहं बस्तिदानवित् ॥

अर्थ—रोगीके अंगमें हलकापना, मनकासंतोष, अंगमें पसीने आना, तथा रोगोंका नाश, ये आस्थापन (निरूहवस्ति) तथा स्नेहवस्ती इनके उत्तम देनेके लक्षण जानने । और पूर्वोक्त (जो वस्तीदेनेका कर्म कहाहै) उस कर्मके जानने वाले वैद्यको निरूहवस्ती देनी चाहिये [और जो वस्तिकर्म न जानताहो उस वैद्यसें कदाचित् वस्तीकर्म न करावें]

निरूहबास्तिदेनेमेंसमयकाप्रमाण

द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितं । सस्नेहएकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह ॥ कषायकटुरूक्षाद्याः कफे कोष्णास्त्रयोमताः ॥ पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् । निरूहं योजयित्वा च ततस्तदनुवासयेत् ॥

अर्थ—निरूहवस्ती दोवार—अथवा तीनवार—अथवा चारवार—जैसा दोष होवे उसीके अनुसार देनी, तथा वातरोग होनेसें स्नेहयुक्त निरूह वस्ती एकवार देवे, तथा पित्तरोग होनेसें दूधकेसाथ दोवार देवे, एवं कफरोग होनेसें कषाय और कटु तथा रूक्ष इत्यादि पदार्थ एकत्रकर तथा कुछ गरम करके तीनवार निरूहवस्ती देवे, अर्थात् इस औषधकी तीनवार पिचकारी मारनी चाहिये । अथवा कफ और पित्तवायु इन करके मनुष्य पीडितहोनेसें दूध और यूष तथा रस (मांसरस) इनके क्रमकरके गुदादिकमें वस्तीदेवे फिर अनुवासनवस्ती देय अर्थात् स्नेहकी पिचकारी मारे ॥

(सुकुमारादि मनुष्योंके निरूहबस्तिकी योजना)

सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः ।
बस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी ॥

अर्थ—सुकुमार (नाजुक) और वृद्ध तथा बालक इनके हलकी पिचकारी मारनी क्योंकि सुकुमारादिकोंके दारुण वस्ती देनेसें इनके बल और आयुका नाश होताहै ॥

(आदि मध्य और अंत्य इनमें वस्तीकी योजना)

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः ।
पश्चात्संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥

अर्थ—प्रथम दोषोंके उत्क्लेद (उखाडने) को उत्क्लेदकारी औषधोंकी वस्ती देवे । तथा बीचमें दोषनाशक औषधोंकी वस्ती देवे, तथा अंतमें अपने २ स्थानपर दोष बैठजावे अैसी औषधोंकी पिचकारी मारनी चाहिये ॥

उत्क्लेशनवस्ती

एरंडबीजं मधुकं पिप्पली सैंधवं वचा ।
हबुषाफलवल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥

अर्थ—अंडीके बीज, महुआकी छाल, पीपल, सैंधानिमक, वच, हौउवेर, ये छः औषध समान भाग लेकर पीसके कल्ककरे, इसको दोषोंके उखाडनेके वास्ते देवे इसें उत्क्लेशन वस्ती कहते है ॥

दोषहरवस्ती

शताव्हा मधुकं विल्वं कौटजं फलमेव च
सक्तांजिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥

अर्थ— शतावर, मुलहटी, वेलगीरी, इन्द्रजों, ए चार औषध समान भाग ले, कांजीमें वारीकपीस तथा इसमें गोमूत्र मिलाय गुदामें पिचकारी मारे, कि जिस्सै वातादिकदोषोका शमनहो इसको दोपहर वस्ती कहतेहै ॥

शोधनवस्ती

शोधनद्रव्यनिक्काथस्तत्कल्कैः स्नेहसैंधवैः ।
युक्त्या खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः॥

अर्थ—निशोथआदि जो शोधनद्रव्यहै उनका काढाकर उसमें इन्ही औषधों का कल्क और सैंधानिमक मिलाय कलछीसैं मथनकर दोषोंके शोधन विषयमें पिचकारी मारे, इसको शोधन वस्ती कहतेहै ॥

दोषशमनवस्ती

प्रियंगुर्मधुकोमुस्ता तथैव च रसांजनम् ।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमने स्मृतः ॥

अर्थ—फूलप्रियंगु, अथवा राल, महुआकीछाल, नागरमोथा, रसोत ये चार औषध समान भाग लेकर दूधमें वारीकपीस दोषशमन होनेसें इसकी पिचकारी मारे, इसे दोषशमन वस्ती कहते है ।

लेखनवस्ति

त्रिफलाक्काथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः ।
ऊषकादिप्रतिवापैर्वस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥

अर्थ—त्रिफलेका काढा करके उसमें गोमूत्र, सहत, जवाखार, डालके तथा ऊषकादिगणकी औषधीका चूर्ण उसमें मिलायके मेदरोगादिकमें कृश करनेको बस्ती देवे, इसे लेखन बस्ती कहतेहै ॥

बृंहणवस्ति

बृंहणद्रव्यनिक्काथः कल्कैर्मधुरकैर्युतः ।
सर्पिर्मांसरसोपेतवस्तयो बृंहणा मताः ॥

अर्थ—मूसली, गोखरू, कौचकेबीज, इत्यादिक जो धातुवर्द्धक द्रव्य उनका काढा कर उसमें महुआकी छाल और दाख तथा अनार इत्यादिक मधुरद्रव्य और कल्क तथा घी और मांसरस ये सब औषध डालके पुष्टहोनेके अर्थ बस्ती देवे, इसको बृंहण बस्ती कहतहै ॥

पिच्छलवस्ति

बदर्यैरावतीसेलुशाल्मलीधन्वनागराः । क्षीरसिद्धाः
क्षौद्रयुक्ता नाम्ना पिच्छलसंज्ञिताः ॥ अजोरणैणरु-
धिरैर्युक्तादेया विचक्षणैः । मात्रापिच्छलवस्तीनां
पलैर्द्वादशभिर्मताः ॥

अर्थ—बेरकीछाल, नारंगी, बहुआरकी छाल, सेमरकीछाल, घमासो, सोंठ, ये छः औषध समान भाग लेकर दूधमें पीस सहत मिलाय उसमें बकरा और मेंढा तथा हरिण इनका रुधिर मिलायके कुशल वैद्य दोषोंके पतले करनेको बस्तीदेवे, इसको पिच्छल बस्ती कहते है । इस बस्तीकी मात्राका प्रमाण बारह पल जानना ॥

निरूहणमात्राकीविधि

दत्वादौ सैंधवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयं । विनिर्मथ्य
ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥ एकीभूते ततः
स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् । संमूर्छितकषाये तु

चतुःप्रसृतिसंमितं ॥ क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक् । वाते चतुःपलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहस्य षट्पलं ॥ पित्ते चतुःपलं क्षौद्रं स्नेहस्य च पलत्रयम् । कफे षट्पलकं क्षौद्रं स्नेहस्यैव चतुःपलम् ॥

अर्थ—प्रथम सैंधानिमक १ कर्ष, तथा सहत ४ पल, इन दोनोको एकत्र मर्दनकर फिर उसमें घी अथवा तेल छःपल डालके एक जगे मिलाय उसमें कल्ककी जो औषध कही हैं उनका कल्ककरके उसमें स्नेहमिलायदे, अथवा उस कल्कका काढाकरके उस स्नेहमें मिलावे। फिर कुशलवैद्य गुदामें पिचकारी मारे, यह निरूहवस्तीकी साधारण विधि जाननी । विशेषविधि वातरोगमें सहत चारपल, और स्नेह तीनपल दोनोको एकत्रकर वस्तीदेवे तथा पित्तके रोगमें सहत४ पल और स्नेह ३ पलभि लांपवस्तीदे । एवं कफरोग होयतो सहत छःपल–और स्नेह चारपल लेवे दोनोको एकत्रकर वस्ती देनी चाहिये ॥

मधुतैलवस्ति

एरंडक्वाथतुल्यांशं मधुतैलं पलाष्टकम् । शतपुष्पाप-लार्द्धेन सैंधवार्धेन संयुतम् ॥ मधुतैलकसंज्ञोयं वस्तिः खजविलोडितः । मेदो गुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्त्तनाशनः॥ बलवर्णकरश्चैव वृष्यो बृंहणदीपनः ॥

अर्थ—अंडकी जडका काढा ८ पल, सहत और तेल ये चार २ पल, सोफ, और सैंधानिमक आधे २ पल लेके सबको एकजगे एकत्रकर गडमड करलेवे, इसको मधुतैलक वस्ती कहते है, यह गुदामें देनेसें मेदोरोगको, गलेकेरोगको, कृमिरोगको, प्लीह, और उदावर्त्त इनको नाशकरे । और यहवस्ती बल तथा कांति, और स्त्रीसंगमेंप्रीति, धातुकीवृद्धि देयंहै और अग्निको प्रदीप्तकरे है ॥

दीपनवस्ति

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतिं प्रसृतिं भवेत् ।
हपुषा सैंधवाक्षांशौ वस्तिः स्याद्दीपनः परः ॥

अर्थ—सहत, घी, दूध, प्रत्येक दो दो पल, तथा हींउवेर और सेंधा निमक दोनो कर्षभरलेय; बारीक पीस सब सहत–घी और दूधमें मिलायेके मंदाग्नि प्रदीप्तहोनेके वास्ते वस्ती देवे । इसे दीपनवस्ती कहते है ॥

युक्तरथबस्ति

एरंडमूलनिःक्काथो मधुतैलं ससैंधवम् ।
एष युक्तरथो बस्तिः सवचापिप्पलीफलः ॥

अर्थ—अंडकीजड़का काढा करके उसमें सहत और तेल डालके सैंधानिमक वच, पीपल, और मैनफल, ये चारऔषध समान भागले चूर्णकर उस काढेमें मिलायके गुदामें वस्ती (पिचकारी मारे) इसको युक्तरथ वस्ती कहतेहै यह बस्ती सर्व रोगोंपरहै ॥

सिद्धबस्ति

पंचमूलस्यनिःक्काथस्तैलंमागधिकामधु ।
ससैंधवः समधुकः सिद्धबस्तिंरितिस्मृतः ॥

अर्थ—पंचमूलका काढा करके तेल, पीपलकाचूर्ण, सैंधानिमक, और महुआ कीछाल, अथवा मुलहटी, ये सब उस काढेमें डालके बस्ती देनी चाहिये । इस को सिद्धवस्ती कहतेहै । यह बस्ती सर्व रोगोंपर है

(बस्तीमें सेव्य पदार्थ और निषिद्ध पदार्थ)

स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णताम् ।
वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहबस्तिवित् ॥

अर्थ—पिचकारी लगनेवाला मनुष्य गरम पानीसैं स्नानकरे । दिनमें सोवे नहीं, तथा अजीर्ण होनेदे नहो, तथा दूसरे सब आचरण स्नेहवस्तीके समान करने चाहिये ।

उत्तरबस्तिकीविधि

अतः परं प्रवक्ष्यामि बस्तिमुत्तरसंज्ञितम् । निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञितः ॥ द्वादशांगुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् । मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥

अर्थ—अब इसके उपरांत मैं उत्तर वस्तीका प्रमाण कहताहूं । निरूहवस्तीके उत्तर होनेसैं इसको उत्तरवस्ती कहतेहै । इसकी बारहअंगुलकी लंबी नली होक-

र उस नलीका मध्यभाग कमलपत्तेके कर्णिकाके समान करे। और वो नली मालतीफूलके बरावर मोटी होकर उसमें सरसों चली जाय इतना बडा छिद्र करना चाहिये ॥

वयोनुमानकरके मात्राका प्रमाण

पंचविंशतिवर्षाणामधोमात्राद्विकार्षिकी ।
तदूर्ध्वं पलमानंच स्नेहस्योक्ता विचक्षणैः ॥

अर्थ—मनुष्यकी पच्चीस वर्षकी अवस्था होने पर्यंत वस्तीविषयमें स्नेहकी मात्रा दोकर्ष प्रमाण विचक्षण वैद्य देवे। तथा पच्चीसवर्षके उपरांत १ पलकी मात्रा देनी चाहिये ॥

(उत्तरबस्तीकी योजना कैसें करावे उसे कहतेहै)

अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः। स्थितस्य जानुमात्रेण पीठे त्विष्टशलाकया ॥ स्निग्धया मेढ्रमार्गे च ततो नेत्रं नियोजयेत्। शनैः शनैः घृताभ्यक्तं मेढ्रमंगुलानि षट् ॥ ततोवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत्। ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमोहितः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती करके शुद्धहुए तथा स्नान और भोजन इन करके तृप्त हुए ऐसे मनुष्यको आसनपर घोटू टेकके बैठावे फिर यथा योग्य सलाई सचिक्कणहो उस सलाईकी नलीमें घी लगायके शिष्णमार्ग (लिंगके छिद्र) में प्रवेश करे, तथा उस नलीको लिंगके भीतर धीरे २ छःअंगुल प्रवेश कर पिचकारीमारे फिर उस नलीको धीरे २ बाहर निकाल लेवे, जब भीतरका स्नेह बाहर आय जाय तो उत्तम वस्तीकर्म होताहै। इसी प्रकार स्नेहवस्ती क्रम जानना ॥

स्त्रियोंके वस्तिदेनेका प्रमाण

स्त्रीणांकनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्दशांगुलम्। मुद्गप्रवेशं योज्यं च योन्यंतश्चतुरंगुलं ॥ द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् ॥

अर्थ—स्त्रियोंके वस्ती देनेमें उस वस्तीकी नली छोटी उंगलीके समान मोटी और दस अंगुल लंबीहो, तथा उसका छिद्र इतना बडा होवे कि जिसमें मूंग च-

ली जावे । तथा उस नलीके योनिके भीतर चार अंगुल प्रवेश करके फेर पिचकारी मारे । परंतु स्त्रियोंके मूत्रमार्गमें बारीक नली प्रवेशकरे तो उस नली का दो अंगुल प्रवेश होनेपर पिचकारी मारनी चाहिये ॥

बालकोंके वस्तिदेनेके विषयमें प्रमाण

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमंगुलम् ।
शनैर्निकंपमाधेयं सूक्ष्मनेत्रविचक्षणैः ॥

अर्थ—बालकोंकें मूत्रकृच्छ्र विकारमें वैद्य जैसें हाथ नहिले अैसें धीरे २ बारीक नलीको उसकी इंद्रीमें १ अंगुल प्रवेश करके पिचकारी मारे ॥

(स्त्री और बालकोके वस्तिदेनेमें स्नेहकी मात्रा)

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालकी । मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानां च द्विकार्षिकी ॥ उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः। अप्रत्यागच्छति भिषक् वस्तावुत्तरसंज्ञिके ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिमें वस्तीकर्म करनेमें स्नेहकी मात्रा दोपल जाननी । तथा स्त्रियोंके मूत्रमार्गमें वस्ती देनी होय तो स्नेहकी मात्रा १ पलकी जाननी तथा बालकोंके दो कर्षकी मात्रा जाननी । और उत्तर संज्ञक वस्तीमें कुशलवैद्य उस स्त्रीको सीधी चित्त लिटाय कर उसके घोटू ऊपरको धर फिर वो स्नेह जैसें बाहर न आवे अेसी पिचकारी मारे ॥

शोधनद्रव्यकरके वस्तीका विधान

भूयोवर्स्ति निदध्याच्च संयुक्तैः शोधनैर्गणैः । फलवर्त्तिं निदध्याद्वा योनिमार्गे दृढं भिषक् ॥ सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुतां । दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्वर्स्ति विचक्षणः॥क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥ वस्तिः शुक्रगुजः पुंसां स्त्रीणामार्तवजा रुजः ॥ हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचिता मोहिनां क्वचित् ॥

अर्थ—मूत्रकृच्छ्रादि रोगोंमें शोधनद्रव्य (अंडीकातेल आदि जो) औष-

घी उनके समुदायोंकरके योनिके मार्गमें पिचकारी मारे अथवा अंडीके बीज आदि औषधोंकी दृढवत्ती बनाय अथवा सूतकीवत्ती बनाय उसवत्तीमें एरंड बीजादिक औषधी चुपडके उसको योनिमें प्रवेश करनी चाहिये । यदि उसवस्तीके अधोभागमें वस्तिस्थानहै वो बिगडजावे अर्थात् उसमें दाहादिक होवेतो गूलर, वड, इत्यादि क्षीरवृक्षहै उनका काढा करके वस्ती देवे । अथवा शीतल दूधकी वस्तीदेवे तो वस्तिस्थान शुद्धहो । और यह वस्ती शुक्रधातु संबंधी जिस पुरुषके पीडाहोती हो उसके तथा स्त्रियोंके आर्त्तव संबंधी पीडा होतीहोवे उनको दूर करती है । तथा जिस मनुष्यके प्रमेह है उसके उत्तरवस्ती कभी उपयोगी नही होवे अेसा जानना ॥

उत्तमउत्तरवस्तिहोनेके लक्षण

सम्यक्दत्तस्य लिंगानि व्यापदः क्रमएव च ।
वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य शमनं स्नेहवस्तिना ॥

अर्थ—उत्तरवस्ती स्नेहवस्ती करके उत्तम प्रकार योजनाकरीहुई उसके लक्षण क्रमकरके येहै शुक्रधातु संबंधी जो प्रमेहादिक पीडा वो दूर होती है ॥

गुदामें फलवर्तीकी योजना

घृताभ्यक्ते गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णस्वांगुष्ठसंनिभा ।
मलप्रवर्त्तिनिर्वर्तिः फलवर्तिश्चसास्मृता ॥

अर्थ—गुदामें घी लगायके रोगीके अगूठेके प्रमाण उत्तम दृढवत्ती वनाय मलहोनेके वास्ते अंडीके बीज आदि जो रेचक औषध उनका उस वत्तीमें लेप कर उसको गुदामें धरे तो मल निकले, इस वत्तीको फलवर्ती कहते है ॥

नस्यविधि

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासा ग्राह्यं यदौषधं ।
नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥

अर्थ—जो औषध नाकमेंडाली जावे उसको नस्य कहते है उसनस्यके नाम-नावन और नस्यकर्म अैसे दोजानने ॥

नस्यकेभेद

नस्यभेदो द्विधाप्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा ।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥

अर्थ—इस नस्यके दो भेदहै-एक रेचन, और एक स्नेहन, इनमें जो नस्य रेचन है उसको कर्षण संज्ञक जाननी अर्थात् वातादि दोषोंको उच्छेद करताहै एवं जो स्नेहन नस्यहै उसको बृंहण जाननी ये धातुवृद्धिकरनेवाली है ॥

नस्यकाकाल

कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके ।
दिनस्य गृह्यते नित्यं रात्रौ वाप्युत्कटे गदे ॥

अर्थ—कफके नाशकरनेको नस्य प्रात:कालमें ले, पित्तके नाशको दोमद्दरमें ले,-वादीके नाशकरने को औषधी नासिकामें सायंकालमें डालनी, यदि रो-गका अत्यंत वल होयतो रात्रिमेंभी डालना कहा है ॥

नस्यकानिषेध

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पणे ॥ तथा नव-प्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ॥अजीर्णी दत्तबस्ति-श्च पीतस्नेहोदकासवः । क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषा-र्तौ वृद्धबालकौ ॥ वेगावरोधीस्नातश्च स्नातुकाम-श्च वर्जयेत् ॥

अर्थ-नाकमें नस्य डालना होयतो भोजनके अंतमें जिसदिन, वदलहोय उसदिन और अपतर्पण तथा लंघनकराहो इनमें नस्य न देवे । जिसके नवीन पीनसरो-ग हुआहो, गर्भिणीस्त्री, तथा विषदोषकरके तथा अजीर्णकरके पीडित मनुष्य त-था जिसके वस्तिप्रयोग कराहै वथा घृत,-तेल इत्यादिक स्नेह और पानी तथा मद्य इनका सेवन करेहुए मनुष्यके,-क्रोधी,-शोक करे तथा तृपाकरके पीडि-त,-वृद्ध,-वालक, वात मूत्र इनका निरोध करनेवाला मनुष्य, तथा स्नानकरा-हुआ,-तथा स्नान करनेको जो तयार हो इन सव मनुष्योंको नस्य न देवे ॥

नस्यकर्ममेंयोग्यअयोग्यमनुष्य

अष्टवर्षस्य वालस्य नस्यकर्मसमाचरेत् ।
अशीतिवर्षादूर्ध्वंचनावनंनैवदीयते ॥

अर्थ—आठवर्षके वालकके नासिकामें औषधी डाले और अस्सी वर्षके उप रांत अवस्था वालेके नाकमें औषधि नही डालनी चाहिये॥

रेचकनस्यकाविधान

अथवैरेचकं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः ।
तीक्ष्णभेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथै रसैस्तथा ॥

अर्थ—जो रेचन नस्य नाकमें डालनी वो अजमायन,—सरसो इत्यादिकोंके तीक्ष्णतेल निकालके नाकमें डाले अथवा तीक्ष्ण औषधडालके स्नेह सिद्धकरे,—अथवा तीक्ष्ण औषधका काढा अथवा रस इनसैं स्नेह सिद्ध करके नाकमें डाले

रेचननस्यप्रकार

नासिकारंध्रयोरष्टौ षट्चत्वारश्च बिंदवः ।
प्रत्येकं रेचने योज्यामुख्यमध्यांत्यमात्रया ॥

अर्थ—रेचनके वास्ते नाकके दोनो छिद्रोंमें औषधकी आठ विंदु डालना यह उत्तम मात्राहै, छः विंदु डालनेसैं मध्य मात्रा जाननी, और चारबूंद डालनेसैं कनिष्टमात्रा जाननी चाहिये ॥

नस्यकर्ममें औषधीका प्रमाण

नस्यकर्माणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधं॥हिंगुस्या-
द्यवमात्रं तु सौवर्चकं सैंधवं मतम् ॥ क्षीरं चैवाष्टशाणं
स्यात्पानीयं च त्रिकार्षिकम् । कार्षिकं मधुरं द्रव्यं
नस्यकर्माणि योजयेत् ॥

अर्थ—नस्यकर्ममें जो तीक्ष्ण औषधी होय वो एक शाण प्रमाण डाले । तथा हींग एक यव प्रमाण, सैंधानिमक १ मासे, दूध आठ साण, पानी तीनकर्ष, और खांड-अनार इत्यादिक मधुरद्रव्यजो है वो प्रसेक कर्षलेवे, इस प्रकार इनकी योजनाकरे ॥

विरेचननस्यकेदूसरेदोभेद

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ।
शिरोविरेचनस्थाने तौ तु देयौ यथायथम् ॥

अर्थ—उस विरेचन नस्यके दो भेदहै-एक अवपीडन, तथा दूसरा प्रधमन, ऐसे जानना इन दोनोंको मस्तकके विरेचनमें देना चाहिये ॥

अवपीडनऔरप्रमधनकेलक्षण

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निसृतो रसः । सोव-

पीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ षडंगुलाद्विव-
क्राया नाडीचूर्णं तया धमेत् । तीक्ष्णकोलमितं वक्त्रवा-
तैः प्रधमनं हितत् ॥

अर्थ—अब उन दोनोंके लक्षण कहते है-तीक्ष्ण औषधको पीस उसका क-ल्कर निचोडनेसें जो रस निकलताहै उसको अवपीड कहते है । तथा छःअंगुल प्रमाण लंबी और सीधी अैसी नली करके उसमें तीक्ष्ण चूर्ण १ कोल प्रमाण डा-लके मुखकी हवासें नाकमें फूकदेना उसको प्रधमन कहते है ॥

रेचनऔरस्नेहननस्यकेयोग्य

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये। अरोचके प्रति-
श्याये शिरःशूले च पीनसे ॥ शोफापस्मारकुष्ठेषु न-
स्यं वै रेचनं हितम् । भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्ने-
हेन दीयते ॥

अर्थ—ऊर्ध्वजत्रुगतरोग, कफ संबंधी स्वरभंग; अरुचि, सरेकमां, मस्तक शूल, पीनस, सूजन, अपस्मार, कुष्ठ, इनरोगोंमे रेचक नस्य हितकारी जाननी—डरपा हुआ मनुष्य, कृश मनुष्य, तथा बालक, और स्त्री इनको स्नेहयुक्त नस्य देवे॥

अवपीडननस्ययोग्य

गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे
मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम्

अर्थ—गलरोग, संनिपात, अत्यंत निद्रा, विषमज्वर, मनके विकार और कृ-मिरोग, इनमें अवपीडन नस्य देय ॥

प्रधमननस्यकेयोग्य

अत्यंतोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते
चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः ॥

अर्थ—मूर्च्छा, अपस्मारादिक, संज्ञा नष्टहोय जिससें अैसेसंन्यासादिकरोग-इनमें अत्यंत तीक्ष्ण अैसेप्रधमन संज्ञक चूर्णकी नस्य देवे ॥

रेचनसंज्ञकनस्य

नस्यं स्याद्वृडंशुंठीभ्यां पिप्पली सैंधवेन च ।

जलपिष्टेन तेनाक्षिकर्णनासाशिरोगदाः ॥
हनुमन्यागलोद्भूता नश्यंति भुजपृष्ठजाः ॥

अर्थ—सोंठको गरमपानीमें औंटाय उसमें गुडडालके नस्य देवे । पीपल औ सैंधानिमक इनको गरमपानीमें ओटाय नाकमें डाले, तो इस्सैं नेत्र, कान, मस्तक, ठोडी, मन्यानाडी, भुजा, और पीठ, इत्तमें जो पीडाहोती है सो दूरहोय।

रेचननस्यकी दूसरीविधि

मधूकसारकृष्णाभ्यां वचा मरिचसैंधवैः ।
नस्यं कोष्णजले पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥
अपस्मारेतथोन्मादेसंनिपातेपतंत्रके ॥

अर्थ—महुआकी लकडीके भीतरका गूदा, पीपल, वच, कालीमिरच, और सैंधानिमक ये औषध गरम जलमें पीसके नस्य देवे तो मृगी, उन्माद, संनिपात, और अपतंत्रक वायु, इत्यादि जिनसैं चेष्टा ज्ञान ये नष्ट होते है वो दूरहोकर मनुष्य शीघ्र सावधान होवे इसप्रकार जानना ॥

रेचननस्यकातीसराप्रकार

सैंधवं श्वेतमरिचं सर्षपा कुष्टमेव च ।
बस्तमूत्रेण पिष्टानि नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥

अर्थ—सैंधानिमक, सपेदमिरच, पीलीसरसो, और कूठ, इन औषधोंको बकरेके मूत्रमें पीस नस्य देवेतो नेत्रोंमें तंद्रा आती है वो दूरहो । तथा पूर्वोक्त अपस्मारादिक रोग दूरहों ॥

प्रधमनसंज्ञकनस्य

रोहितमत्स्यपित्तेन भावितं सैंधवं वचा । मरिचं पिप्पलीशुंठी कंकोलं लशुनं पुरं ॥ कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः ॥

अर्थ—सैंधानिमक, वच, कालीमिरच, पीपल, सोठ, कंकोल, लहसन, गूगल, और कायफल, इनका चूर्ण कर रोहित (रोहू) संज्ञक मछलीके पित्तेके चूर्णमें पुटदेवे, फिर पूर्वप्रधमनके लक्षणमें नलीका मान कहआएहै उसरीतिसैं नलीले उसमें यह चूर्णभरके नाकमें फूंकदेवे । इस करके पूर्वोक्त अपतंत्रादिक रोग दूर होतेहै । इस चूर्णको प्रधमन ऐसा कहते है ॥

बृंहणनस्यकी कल्पना

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना॥मर्शश्च प्रतिर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥ मर्शस्य तर्पणीमात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः । मध्यमा च चतुःशाणैर्हीना शाणमिता स्मृता॥ एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः । मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलावलम् ॥ एकांतरं द्व्यंतरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः । अहः पंचाहमथवा सप्ताहं वा सुयंत्रितः ॥

अर्थ—अब बृंहण नस्य (धातु वृद्धि करनेवाली तप्या नाकमें औषध डालने वाली ऐसी नस्य) कल्पना कहताहूं-उस बृंहण नस्यके दो भेदहै१मर्श और २प्रतिमर्श, ये दोनो स्नेहन विषयमें योग्यहै । इनमें मर्शनस्यकी तर्पणी मात्रा जाननी, वो आठ शाणकी मुख्य मात्रा है । तथा चार शाणकी मध्यम मात्राहै । और एकशाणकी हीनमात्रा जाननी । ये मात्रादोषोंका बलावलदेखके मनुष्यको वस्त्रादिकसैं ढककर एक एक नाकके पुटमें दो दो वार अथवा तीन तीन वार अथवा एकदिन बीचमे देकर तथा दोदिन बीचमें देकर अथवा तीन दिन बीचमें अथवा पांचवे या सातवे दिन नस्य देनी चाहिये ॥

(मर्शसंज्ञकनस्य तथा विरेचन संज्ञक नस्य इनके आधिक्य होनेसैं जो रोग होतेहै उनका उपाय ।)

मर्शो शिरोविकारे च व्यापदो विविधाः स्मृताः । दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युंज्याद्वमनशोधनम् । अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं मतम् ॥

अर्थ—मर्शनस्यकी मात्रा धात्वादिकोंकी हीनकरनेवाली है । उसके आधिक्य होनेसैं तथा दोषोंकी वृद्धी होनेसै तथा मस्तकके विरेचन विषयमें विरेचनसंज्ञक नस्यकी मात्रा अधिक होकर मस्तकके भीतरके मेदादिकों का क्षय होनेसैं अनेक प्रकारकी पीडा होती है जिस दोषके उत्कर्ष निमित्त पीडा होय उसके दूर होनेको वमन तथा विरेचन औषध देवे । तथा क्षय निमित्तसै जो पीडा होती है उसके दूर करनेको धातुवृद्धि करनेवाली औषध नाकमें अथवा पेटमें खानेके वास्ते देवे ॥

जोबृंहणनस्यमेंयोग्यहै

शिरोनासाक्षिरोगेषु सूर्यावर्त्तार्धभेदके। दंतरोगे बले हीने मन्याबाव्हंसजे गदे ॥ मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा। अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने ॥ युज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वामधुरद्रवैः ॥

अर्थ—मस्तकरोग, नासारोग, नेत्ररोग, सूर्यावर्त्तरोग, आधासीसी, दंतरोग दुर्बलमनुष्य, मन्यानाडी, भुजा, कंधा, इनमें जिसके पीडाहोतीहो, तथा मुखशोष, कर्णनादरोग, वातपित्तसंबंधीविकार, विनासमयकेवालोंका सपेदहोना सो पलित कहाताहै, मस्तकके बाल, डाढीके बाल उखड २ के गिरे वो, तथा इन्द्रलुप्तरोग, इन सब रोगोंमें घृतआदि स्निग्ध पदार्थ करके तथा मिश्री आदि जो मधुरपदार्थ है इन करके नस्य देना चाहिये ॥

पक्षघातादिरोगोंपरनस्य

मापात्मगुप्तारास्नाभिर्बलाऋभुकरोहिषैः। कृतोश्वगंधया काथो हिंगुसैंधवसंयुतः ॥ कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकंपनम्। जयेदर्दितवातं च मन्यास्तंभापबाहुकम् ॥

अर्थ—उडद, कौचकेबीज–रास्ना, वलाकीजड, अंडकीजड, सुगधतृण, असगंध, इन सात औषधोंका काढा करके उसमें भुंजीहींग और सैंधानिमक डालके गरम गरम उस काढेकी नस्य देवे, जिससैं कंप सहित पक्षाघात वायु, अर्दितवायु, मन्यास्तंभवायु, तथा अपवाहुकवायु ये दूरहोय ॥

प्रतिमर्शनस्यकीदोविंदुरूपमात्रा

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्विद्विबिंदुमिता मता।
प्रत्येकशो नस्तकयोः स्नेहेनेति विनिश्चितम् ॥

अर्थ—घृतआदि करके जो स्निग्धपदार्थ उनके दो २ बूंद एक २ नासिकाके पुटमें डालनेसैं वह प्रतीमर्शनस्यकी दोविंदु मात्रा जाननी ॥

बिंदुसंज्ञकमात्रा

स्नेहे ग्रंथिद्वयं यावन्निमग्ना चोद्धृता ततः। तर्जनीयं स्रवेत् बिन्दु सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥ एवं विधैर्वि-

न्दुसंज्ञैरष्टाभिः शाण उच्यते । सदेयो मर्शनस्येतु प्र-
तिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥

अर्थ—घी तेल आदिसें जो स्नेहपदार्थ तिनमें तर्जनी उंगलीके दो पोरुआ बूडजावे ऐसी तर्जनीको निकालके उस पोरुआसें जो बूंद टपकाई जावे उसको विंदुमात्रा कहतेहै । इस प्रकार विंदुसंज्ञक आठ मात्राओंकी एक शाण संज्ञक तोल होतीहै । वो शाणमात्रा मर्शनस्यमें देवे । और प्रतिमर्शनस्यमें दोबूंदकीदेय, इत्तनाही मर्शनस्य और प्रतिमर्श इनमें विशेषताहै ॥

प्रतिमर्शनस्यकासमय

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश । प्रभाते
दंतकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ॥व्यायामाध्वव्यवा-
यांते विण्मूत्रान्तेंजने कृते।कवलान्ते भोजनान्ते दि-
वास्वप्नोत्थिते तथा॥वमनांते तथासायं प्रतिमर्शःप्रयुज्यते ।

अर्थ—प्रतिमर्शनस्यके १४ समयहै, जैसे–१ प्रात:काल २ मुख धोनेके समय ३ घरसें बाहर निकलनेके समय, ४ परिश्रमके अंतमे, ५ रस्ताचलकर आनेपर, ६ मैथुनके अंतमें ७ मल और ८ मूत्रकरनेके अंतमें, ९ नेत्रोंमें अंजन करनेके उपरांत, १० ग्रासके, तथा ११ भोजन तथा १२ दिवसमें सोयकर उठनेके समय, १३ वमनके अंतमें, १४ सायंकाल–इतने समय प्रतिमर्श संज्ञक नस्यदेवे ॥

प्रतिमर्शद्वारातृप्तहुएकेलक्षण

ईषदुच्छिंकनात्स्नेहो यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निपिक्तं तं दद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः ॥
उच्छिदं न पिबेच्चैतन्निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥

अर्थ—नस्यदेनेपर थोडीछींक आनकर वो स्नेह मुखमें उतरजावे तो उसमनुष्यको प्रतिमर्शनस्यकरके तृप्तहुआ जानना, तथा मुखमें जो उतरआया स्नेह उसको निगले नहीं किंतु थूकके बाहर पटक देवे ॥

प्रतिमर्शकेयोग्य

क्षीणे तृष्णास्यशोपार्ते बाले वृद्धे च युज्यते ।
प्रतिमर्शेन शाम्यंति रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ॥
वलीपलितनाशश्च वलमिंद्रियजं भवेत् ।

अर्थ—धातुक्षीणमनुष्य, बालक, वृद्ध, तृषा-और मुखशोष, इन करके पीडित मनुष्योंके प्रतिमर्श संज्ञक नस्य देना चाहिये, तो उक्तरोग दूरहो तथा नाडके उपरके जो रोगहै वो तथा त्वचाका सिथिलपना, कुसमय सपेद बालोंका होना उसको वलीपलित कहते है-ये संपूर्ण रोग प्रतिमर्श संज्ञक नस्यसैं दूरहो । तथा नेत्रादिक इन्द्रियोंमें बलवढे ॥

कुसमयसपेदबालहोनेपरनस्य

विभीतनिंबकंभारी शिवा शेलुश्च काकिनी ।
एकैकं तैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् ॥

अर्थ—बहेडा, नीमकीछाल, कंभारी, हरड, बहुवार, काकडोडी, इनके बीजके भीतरकी मिंगीका तेल पृथक्२निकाल कर-एक एक न्यारी२नस्य देवे तोमनुष्यके विना समय जो बालसपेदहुएहै वो तरुणावस्थाके समान काले होय निश्चय॥

नस्यकीविधि

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे। देशे वातरजो मुक्ते कृतदन्तनिघर्षणं ॥ विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नमालगलं तथा । उत्तानशायिनं किंचित्प्रलंबशिरसं नरम् ॥ आस्तीर्णहस्तपादं च वस्त्राच्छादितलोचनम् । समुन्नमितनासाग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ॥ कोष्णमछिन्नधारं च हेमतारादिशुक्तिभिः । शुक्त्या वा यंत्र युक्त्या वा स्रोतैर्वा नस्य माचरेत् ॥

अर्थ—नस्य देनेके वास्ते नस्यकी विधि कहते है—जिस स्थानमें वायु अथवा धूल न होवे वहां मनुष्य दांतुन-और धूमपान करके कपाल और गलेको शुद्धकर पसीने युक्त करावे, फिर सीधा (चित्त) सुलाय मस्तकको लंबा और कुछ नीचेकी तरफ झुकता कर हाथपैरोंको लंबे पसारदे फिर कपडेसैं नेत्रोको ढांकके वैद्य अपने हाथसैं मनुष्यकी नाकको ऊंचीकर जो नस्य डालनेकी वस्तु है उसकुछ २ गरमको एकसी धारसैं तथा उस नस्यको सुवर्ण, चांदी, इनके पात्र करके अथवा सींप करके तथा कौंडी वा फोहेसै नाकमें निचोडदेवे, दोनो नथनोंमें समान निचोडे ॥

नस्यग्रहणमेंआज्ञा

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकंपयेत् । न कुप्ये-

न्न प्रभाषेत नोच्छिदेन्न हसेत्तथा॥ एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तः संप्रपद्यते । ततः कासप्रतिश्याय शिरोक्षिगदसंभवः ॥

अर्थ—मनुष्य नस्यलेते वखत मस्तकको कंपावे नहीं, तथा क्रोध न करे, किसीसैं बोले नही, किसी तिनका आदिको तोडे नही, न हसे यदि इसप्रकार न करेगा तो वो नस्य पदार्थ मस्तकके भीतर अच्छे प्रकार प्रवेशनही करनेका और खांसी, सरेकमा, और मस्तकनेत्र-इनमें पीडा आदि उपद्रव होने लगते है ॥ अतएव बडी सावधानीके साथ नस्य ग्रहण करना चाहिये ॥

नस्यसंधारणकाप्रकार

शृंगाटकमभिष्ठाव्य स्थापये न्न गलद्रवम् । पंचसप्तदशैवस्युर्मात्रा नस्यस्य धारणे ॥ उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावङ्क्रगतं द्रवम् । वामदक्षिणपार्श्वभ्यांनिष्ठीवेत्सन्मुखे नहि ॥

अर्थ—मनुष्यको नस्य देकर नासावंशके आगे भ्रूमध्य देशमें चतुष्पथ (चौराहेके समान) है उसको उस नस्यके स्नेहसैं भिगोय उस नस्यको धरदेवे । उसका धारण ५ । ७ मात्रा अथवा दशमात्रा कालपर्यंत करे, फिर बैठारहे और नाकमें तथा मुखमें उतरा जो पानी वा कफ उसको दहनी तरफ अथवा बांई तरफ थूकता जावे साम्हने न थूके ॥

नस्यकर्मकरनेमेंवर्जितवस्तु

नस्ये नीते मनस्तापं रजः क्रोधं च संत्यजेत् । शयीत निद्रां त्यक्त्वा च उत्तानो वाक्शतं नरः॥तथैव रेचनस्यांते धूमो वा कवलो हितः ॥

अर्थ—नस्य कर्म होनेके उपरांत-मनमें संताप न आने दे,-जहां धूर उडतीहो तहां बैठे नहीं, तथा क्रोध न करे, जैसे नीद न आवे इसप्रकार सौंवाक् (सौवार पलक खुले मुंदे इतने समय) पर्यंत सीधा सुलावे । इसीप्रकार विरेचन नस्यके अंतमें धूम और ग्रास ये न देवे ॥

नस्यमेंशुद्धादिभेद

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि समासतः ।

शुद्धिहीनातियोगानि विशेषाच्छास्त्रचिंतकैः ॥

अर्थ—नस्यमें शुद्धिलक्षण,—तथा हीनयोगलक्षण,—तथा अतियोगलक्षण, ये तीन ही लक्षण विशेष करके शास्त्रज्ञ वैद्योंनें कहे है उन लक्षणोंको आगे संक्षेपसैं कहते है ॥

उत्तमशुद्धिकेलक्षण

लाघवं मनसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः ।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तकभी उत्तमबुद्धि होनेसैं शरीर हलकाहो,—मन शुद्धहो-तथा मुख,—नाक,—कान,—गुदा,—इत्यादि वाहर्द्वारवाले मार्ग उनका शोधन होनाहै। तथा शिरोरोगादिक दूरहो,—अंतःकरण और नेत्रादिक इन्द्री ये प्रसन्न रहतीहै॥

हीनशुद्धिकेलक्षण

कंडूपदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ।
मूर्ध्निहीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अल्पशुद्धि होनेसैं देहमें खुजली,—तथा भारीपणा,—ये लक्षण होतेहै तथा, मुख—नासिकादिक वहिर्द्वार है उनसैं कफका स्राव होता है ॥

अतिशुद्धिके लक्षण

मस्तुलुंगागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्निगाढं विरेचिते ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अत्यंत शुद्धिहोनेसैं मस्तकके भीतरजो तरल पदार्थ रहताहै उसका नाकसैं स्रावहोने लगे,—तथा वायुकी वृद्धि होय,—इन्द्रियों का विभ्रम होय तथा मस्तकमें शून्यता आती है ॥

हीनशुद्ध्यादिमेंचिकित्सा

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ।
सम्यक्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्ये निषेचयेत्॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अल्पबुद्धि अथवा अत्यंत शुद्धिहोनेसै कफ वायु हारक ऐसी नस्य देवे तथा उत्तमपुद्धि होनेसैं नाकमें घीका नासदेवे ॥

अतिस्निग्धकेलक्षण

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ।

लक्षणं तदतिस्निग्धरूक्षं तत्र प्रदापयेत्॥

अर्थ—नस्य करके मनुष्यका मस्तक अति स्निग्धहोनेसें कफका स्राव,मस्तक-का भारीपना, इन्द्रियोंकी भ्रांति, ये लक्षण होते है । इस कारण इस अत्यंत स्निग्धताके दूर करनेको रूक्षपदार्थकी नस्य देवे ॥

नस्यमेंपथ्य

भोजयेच्चांनाभिष्यंदि नस्याचरितमादिशेत्।

अर्थ—नस्यलेनेवाला मनुष्य अभिष्यंदी पदार्थ अर्थात् भैंसका दही आदि कफकारी पदार्थ भक्षण न करे, और नस्यमें जैसें शिष्टजन आचरण करते है उसप्रकार आचरण करे।ये नस्यकर्ममें पथ्य है ॥

पंचकर्मोंकीसंख्या

वमनं रेचनं नस्यं निरूहमनुवासनम्।
एतानि पंचकर्माणि कथितानिमुनीश्वरैः ॥

अर्थ—वमन, रेचन, नस्य, निरूहवस्ती, और अनुवासनवस्ती, इन पांचों-को पंचकर्म कहते है ॥

धूमपानविधिः

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।
रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः॥

अर्थ—धूमपान छःप्रकारका है उनके नाम शमन,—१ बृंहण, २ रेचन, ३ कासघ्न, ४ वामन, ५ और व्रणधूपन ६ इसप्रकार छःप्रकार जानने ॥

शमनादिकधूमोंकेपर्यायशब्द

शमनस्यतुपर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा।
बृंहणस्यापि पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेवच ॥ रेच-
नस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च।

अर्थ—तहां शमनधूमके पर्यायवाचक शब्द मध्य और प्रायोगिक ऐसे दो है, तथा बृंहणधूमके पर्याय शब्द स्नेह, और मृदु जानने। तथा रेचन धूमके पर्या-यशब्द शोधन और तीक्ष्ण जानने ॥

धूमसेवनके अयोग्य

अधूमार्हाश्च खल्वेते शांतो भीरुश्च दुखितः। दत्तबस्तिर्विरक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा ॥ पिपासितश्च दाहार्त्तस्तालुशोषी तथोदरी। शिरोभितापी तिमिरी छर्य्याध्मानप्रपीडितः ॥ क्षतोरस्कः प्रमेहार्तः पांडुरोगी च गर्भिणी। रूक्षः क्षीणोभ्यवहृतः क्षीरक्षौद्रघृतासवैः ॥ भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा। अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्।

अर्थ--स्नामितमनुष्य, डरपाहुआ, दुःखसेंपीडितमनुष्य, जिसके वस्तीप्रयोग करा, जिसका कोठा दस्तकरके रीताहो वह,रात्रिमें जागने वाला, तृषा करके पीडित, तथा दाह करके पीडित, तालुशोपी, उदररोगी, शिरोभितापकरके पीडित, तिमिररोगी, वमन, वादीसें पेटफूलाहुआ, उरक्षतरोग, प्रमेह, पांडुरोग, इनकरके पीडित मनुष्य, गर्भिणीस्त्री, रूक्ष, तथा क्षीणमनुष्य, दूध, घी- और आसव (मद्य) अन्न, दही, और मछली, इनका भक्षणकरनेवाला मनुष्य, तथा बालक, और दुर्बलमनुष्य ये धूमपानमें अयोग्यहै। यदि कुसमयमें अत्यंत धूमपानेकरे तो वह घोर उपद्रवोंको करे है। अतएव उक्त मनुष्यों को तथा कुसमय धूमपान करना त्यागदेवे ॥

धूमपानकेउपद्रवोंकायत्न

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनांजनतर्पणम्। सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षा पयो वा शर्करांबु वा ॥ मधुराम्लौ रसौ वापि शमनाय प्रदापयेत् ॥

अर्थ—धूमपानसें यदि उपद्रवहोवे तो उस मनुष्यको घी पिवावे। नासिकामें नस्य देवे, तथा नेत्रोंमें अंजन तथा तर्पण अर्थात् देहमें तृप्ति करनेवाला अैसा द्राक्षादि मंड देवे। तथा घी, ईखकारस, और दाख, दूध, सरवत, अथवा मिश्री, पानी, अथवा मधुरपदार्थ और खट्टेपदार्थ भोजनको देवे, तो धूमपान संबंधी उपद्रव दूरहो ॥

धूमपानकाकाल और उसकेगुण

धूमश्च द्वादशाद्वर्षाद् गृह्यतेशीतिकान्न च।

कासश्वासप्रतिश्यायान्मन्याहनुशिरोरुजः ।
वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः सुयोजितः ॥

अर्थ—धूमपान वारहवर्षकी अवस्थासैं लेकर अस्सी वर्षपर्यंत करे फिर न करे और उस धूमपानको उत्तम योजनाहोने सैं श्वास, खांसी, सरेकमां, मन्यानाडी, ठोडी, और मस्तकमेंजो पीडा होतीहै उसको तथा वातकफ संवंधी विकार ये संपूर्ण रोग दूरहोवे ॥

धूमोपयोगहोनेपरगुण

धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः ।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगंधिवदनो भवेत् ॥

अर्थ—धूमका उपयोग होने सैं मनुष्य चक्षुरादिक इन्द्री तथा वाणी-अंतःकरण इन करके प्रसन्न रहताहै, और केश तथा दांत और डड्ढी इनमें वल आताहै तथा मुख सुगंधित रहता है ॥

धूममेंनलीकाविधान

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखंडा च त्रिपर्विका । कनिष्टिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा ॥ धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोंगुलैः । चत्वारिंशन्मितैस्तद्वत् द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ स्मृता ॥ तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्ने षोडशोन्मितैः । दशांगुलैर्वामनीये तथा स्याद्व्रणनाडिका ॥ कलाय मंडलस्थूला कुलित्थागमरंध्रिका ॥

अर्थ—धूमपानके विषयमें नली तीन टुकडेकी और तीन गांठकी करे, तथा कनिष्ठिका (छोटी ऊंगली) के समान मोटीकरे, तथा उसमें चोराका दाना भीतर चला जाय ऐसा चौडा छिद्र करे । इस प्रकारकी नली सामान्य धूमपानमें होनी चाहिये । वह नली रोगीके चालीस उंगल लंवीहो । तथा मृदुसंज्ञक जो धूमहै उसके सेवनमें वत्तीस अंगुलकी लंवी लेय । तथा कासंज्ञक धूम उसके सेवनमें सोलह अंगुलकी ले । तथा वामनीय संज्ञक धूमके सेवनमें दश अंगुललंवी लेनी । उसीप्रकार व्रणके धूनी देनेको जो नली ले वो दश अंगुलकी ले, तथा वो व्रणके धूनी वाली नली मटरके दानेके प्रमाण मोटी और उसमें छिद्र कुलथीका दाना भीतर चला जावे इतना वारीक करे । इस प्रकारकी वैद्यको वनानी चाहिये ॥

धूमपानार्थंईषिकाका विधान

अथेषिकां प्रलिंपेच्च तु श्लक्ष्णां द्वादशाङ्गुलाम् । धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टांगुलःस्मृतः ॥ कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कं च कारयेत् । ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्तिमादरात् ॥ अंगारैर्दीपितां कृत्वा धृत्वा नेत्रस्य रंध्रके । वदनेन पिबेद्धूमं वदनेनैव संत्यजेत् ॥ नासिकाभ्यां ततःपित्वा मुखेनैव वमेत्सुधीः । शरावसंपुटे क्षिप्त्वा कल्कमंगारदीपितं ॥ छिद्रे नेत्रं सुवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत् ।

अर्थ—ईषिका (सरकंडेका टुकडा) बारह अंगुलका चिकना लेवे, उसपर धूंआँ लेनेकी वस्तुओंके कल्कका लेप ८ अंगुलपर्यंत करे कल्क द्रव्यका परिमाण २ तोले होना चाहिये । फिर उसकल्कके लेपको छायामें सुखाय लेवे, जब वो कल्क सूखजाय तब युक्तिके साथ उसमेंसैं सरकंडेके टुकडेको निकास लेवे, कि वो कल्ककी लंबी नलीसी रहजावे, उसके छिद्रमें दूसरी स्नेहकी बत्ती धरके उसको अंगारोंसैं जलायके पूर्वोक्तनलीके छिद्रमें धरे फिर उसनलीको मुखमें रखके धूंआ ईंचे और मुखके द्वाराही उस धूएको छोडदेवे । तथा नाकके छिद्रसैं धूंआंको खींचकर मुखसैं छोडदे । एवं सराव संपुटके ऊपरले सरावमें छिद्रकर उसमें अंगारे भरके उनमें व्रणकी धूनीको जो कि कल्ककराहुआ तयारहै उसे डालदे जब धूंआं उठने लगे तब उसके उस छिद्रके द्वारपर नलीका छिद्र लगाय व्रणको धूनीदेवे ॥

कौनसीऔषधकाकल्ककौनसेधूममेंदेवे

एलादिकल्कं शमने स्निग्धं सर्जरसं मृदौ । रेचने तीक्ष्णकल्कं च कासघ्ने क्षुद्रिकोपणम् ॥ वामने स्नायुचर्माद्यं दद्याद्धूमस्य पानकं । व्रणे निंबवचाद्यं च धूपनं संप्रचक्षते ॥

अर्थ—शमन संज्ञक धूनी उसमें एलादिक औषधोंका गणहै उनका कल्ककरके देय तथा मृदुसंज्ञक धूममें घृतादिकस्नेह पदार्थोंमें राल डालके कल्ककरके देय । तथा रेचनसंज्ञक धूममें सरसो. राई इत्यादि औषधोंका कल्क करकेदेवे ।

तथा कासघ्न धूमसें कटेरी और कालीमिरच इत्यादिक औषधोंका कल्क करके देय । तथा वामनधूम (वमन करानेवाली धूम) में स्नायु और चर्मादिकोंका कल्ककरके पान करनेको देवे तथा व्रणमें नीम और वच इत्यादिकोंका कल्क करके धूम देवे ॥

बालग्रहादिदूरकरनेकोधूनी

अन्या हि धूमा गेहेषु कर्तव्या रोगशांतये । तद्यथा ।
मयूरपिच्छं निंबस्य पत्राणि बृहतीफलं । मरिचं हिंगुमांसी च बीजं कार्पाससंभवम् ॥ छागरोमाहिनिर्मोकं विष्ठावैडालिकी तथा । गजदंतश्च तच्चूर्णं किंचिद् घृतविमिश्रितम् ॥ गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान् बालग्रहान् जयेत्। पिशाचान् राक्षसान् जित्वा सर्वज्वरहरं भवेत् । एष माहेश्वरो नाम्ना धूपः शिवमुखोद्गतः ॥

अर्थ—बालग्रहमें रोगशांतिकेअर्थ घरमें धूनीदेनी तहां मयूरपिच्छादि धूनी कहते है; मोरकेपंख–१,नीमकेपत्ते २, कटेरीकेफल ३, कालीमिरच ४, हिंग ५, जटामांसी ६, कपासके बीज ७, बकरेकेबाल ८, सापकीकांचली–९, बिल्लीकिविष्टा १०, हाथीकादांत ११, इन ग्यारह औषधोंका चूर्णकर और थोडासा इसमें घी मिलाय घरमें इस चूर्णकी धूनी देवे तो संपूर्ण बालग्रह (शकुनी,–पूतना,–नैगमेयादि) तथा पिशाच राक्षस–इनके उपद्रव दूरहोय, तथा सर्वप्रकारके ज्वर दूरहोवे । यह मयूरपिच्छादि धूनीहै इसी प्रकार माहेश्वरादि धूनी जानो

धूममेंपरिहार

परिहारस्तु खंडेषु कार्यो रेचननस्यवत् ।
नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥

अर्थ—रेचन संज्ञक नस्यमें रोगोंके परिहारके विषयमें जो उपाय कहाहै वोही उपाय इस धूमसें करावे । तथा नलीका मुख सुवर्णादी धातुका अथवा नरसल तथा बांस इत्यादिकोंका करावे ॥

धूमपीनेकायंत्र

चतुर्विंशत्यंगुलानि त्रीणि युक्तानि युक्तितः ।
योजिता या त्रिखंडेयं नलिका नेत्रसंज्ञिता ॥

अर्थ—चौविस अंगुल लंवी—तीन नली लेके युक्तीसैं जोडे ये त्रिसंधनलीका इसीकी नेत्र संज्ञाहै ॥

धूमपानकेगुण

मनस्तापं रजः क्रोधं धूमपाने निवारयेत् ॥

अर्थ—धूमपान करनेसैं मनकासंताप, रजोगुण, क्रोध, ये दूरहोते है ॥

(गंडूष और कवल तथा प्रतिसारणकी विधिः ॥)

चतुर्विधः स्याद्गंडूषः स्नैहिकः शमनस्तथा ।
शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तद्विधः ॥

अर्थ—गंडूष (कुरलाकरना) चारप्रकारकाहै— १. स्नेहिक,— २ शमन, ३ शोधन, और चौथा रोपण । तथा कवल (गस्सा—कौर) भी चार प्रकारकाहै ॥

स्नेहिकादिगंडूषोंकीदोषभेदकरकेयोजना

स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्तेकट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे ॥
कषायतिक्तमधुरैः कटुष्णे रोपणे व्रणे ।
चतुःप्रकारो गंडूषः कवलश्चापि कीर्त्तितः ॥

अर्थ—स्निग्ध और गरम पदार्थोंकरके जो कुरले करने उसको स्नेहिक गंडूष जानना । इसको वादीके रोगोमें योजना करे । तथा मधुर और शीतल पदार्थके कुल्ले प्रसादन (शमनगंडूष) जानने उनको पित्तमें योजना करे । तथा तीक्ष्ण, खट्टे, खारी और गरम पदार्थके कुल्ले शोधन गंडूष कहाते है उनको कफके विषयमें योजना करता । तथा कषैले, कडुए, और मधुर पदार्थ करके रोपण गंडूष जानना, इसको कुछ गरम करके व्रणमें योजना करे । इसीप्रकार कवलभी चार प्रकारका कहाहै ॥

गंडूषऔरकवलइनमेंभेद

असंचारि मुखे पूर्णं गंडूषः कवलश्चरः ।
तन्न द्रवेण गंडूषःकल्केन कवलः स्मृतः ॥

अर्थ—काढे आदिशब्दसैं जो द्रवपदार्थ उनसैं मुखको भरके उसको इधर उधर मुखमें चलायमान न करे थोडी देर रखके कुरल्लाकरदेवे उसको गंडूष कहते है

तथा कल्कादिक पदार्थोंको मुखमें भरके इधर उधर फिरावे इसप्रकार रखने-को कवल कहते है ॥

गंडूषऔरकवलकी औषधका प्रमाण

दद्याद्द्रव्येषु चूर्णं च गंडूषे कोलमात्रिकम् ।
कर्षप्रमाणः कल्कश्च दीयते कवले बुधैः ॥

अर्थ—गंडूषमें काढे आदि द्रव (पतली) द्रव्य उनमें चूर्ण एक कोलके प्रमाण मिलाना चाहिये । तथा कवलमें कल्क कर्ष प्रमाण जानना ॥

किस अवस्थामें गंडूषकरे और कैसेकरे

धार्यंते पंचमाद्वर्षाद्गंडूषकवलादयः । गंडूषान्सुस्थितः कुर्यात्स्विन्नभालगलादिकः ॥ मनुष्यस्त्रींस्तथापंच सप्त वा दोषनाशनात् ॥

अर्थ—गंडूष अथवा कवलादिक पांचवर्षकी अवस्थाके पश्चात् कराने चाहिये । तथा मनुष्यको स्वस्थ चित्त कर बैठावे, फिर रोग दूरहोनेके अर्थ कपाल, और गला तथा आदि शब्दकरके मुख इनमें थोडा २ पसीना आवे तवतक तीन अथवा पांच अथवा सात कुरले करावे, अथवा दोष दूरहोने पर्यंत कराने चाहियें॥

प्रमाणान्तर

कफपूर्णास्यतां यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् ।
नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गंडूषधारणम् ॥

अर्थ—कफकरके मुख भराआवे तवतक अथवा दोषोच्छेदन होय तहांतक तथा नेत्र और नाक इनमें स्रावछूटे तवतक गंडूष धारण करे ॥

वातरोगमेंचिकनाईकेकुरले

तिलकल्कोदकं क्षीरं स्नेहो वा स्नैहिके हितः ॥

अर्थ—तिलोंकाकल्क, पानी, दूध, तेल, आदिशब्दकरके स्नेहपदार्थ, ये स्नेहिक गंडूषमें देवे ॥

पित्तरोगमेंशमनसंज्ञकगंडूष

तिलानीलोत्पलं सर्पिः शर्कराक्षीरमेव च ।
सक्षौद्रो हनुवक्त्रस्थो गंडूषो दाहनाशनः ॥

अर्थ—तिल, नीलकमल, घी, मिश्री, और दूध ये पदार्थ एकत्र कर इसमें

सहत डालके कुरले करे—तो पित्तसंबंधी, ठोडी और मुख इनमें जो दाह होता है वह दूर होवे ॥

व्रणादिरोगोपरमधुगंडूष

वैशद्यं जनयत्यास्ये संदधाति मुखव्रणात् ।
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगंडूषधारणम् ॥

अर्थ—सहतके कुरले करनेसैं मुखके छाले, घाव, तथा दाह, तृषा ये रोग दूरहोकर मुखमें स्वच्छता आती है ॥

गंडूषधारणकेगुण

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गंडूषे विधृते भवेत् ॥
हरेदास्यस्य वैरस्यं शोषं पाकं व्रणं तृषाम् ।
दंतचालं च गंडूषो वैशद्यं तु करोति हि ॥

अर्थ—कुरले करनेसैं व्याधिका नाश, तुष्टी, स्वच्छता, मुखमें हलकापना, सर्व इन्द्री प्रसन्न हो तथा मुखकी अरुचि, शोष मुखकेछाले, व्रण, प्यास, दातोंका हिलना इतने रोगोंका नाशकर सब शरीरको निर्मल करेहै ॥

कवलधारणकेगुण

वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे । अर्द्धं निक्षिप्य संचर्व्य निष्ठीवेत्कवले विधिः ॥ कवलः कुरुते कांक्षां भक्षेषु हरते कफम् । तृषां शोषं च वैरस्यं दंतचालं च नाशयेत् ॥

अर्थ—वात-पित्त-कफ-इनके नाशकर्ता औषधोंका कवल (ग्रास) मुखमें लेकर आधा चबायके थूक देवे । तो अन्नभक्षण करनेकी इच्छा होंतथा कफका नाशकरे । एवं शोष, प्यास, और अरुचि इनका नाशकरके हलतेहुए दातोंके उसीसमय जमाय देवे ॥

प्रतिसारणम् (मंजन)

दंतजिह्वामुखानां च चूर्णकल्कावलेहकैः । शनैर्घर्षणमंगुल्या तदुक्तं प्रतिसारणं ॥ वैरस्यं मुखदुर्गंधं मुख-

शोषं तथा तृषाम्।अरुचिं दंतपीडां च निहन्यात्प्रतिसारणं॥

अर्थ-दांत-जीभ-मुख-इनको चूर्ण-कल्क-और अवलेह अैसें तीन प्रकारकी औषधीसें धीरे धीरे उंगलीसें रगडे उसको प्रणिमारण (मंजन) कहते है ये प्रतिसारण करनेसें मुखका कडुआपना, दुर्गंध, मुखका सूखना,प्यास,अरुचि, और दांतोंकी पीडा इन सबको नाश करे है ॥

गंडूष कवलऔरप्रतिसारणकीविधि

क्षीरस्नेहकषायादिद्रव्यैः संपूर्णमाननम् ।
आपूर्य स्थीयते तावद्विधिर्गंडूषधारणे ॥

अर्थ—दूध तथा घृतादि स्निग्धपदार्थ तथा काढा आदिशब्दसें पतली औषधको मुखमें भरके थोडीदेर रहनेदे फिर उसको कुरला (कुल्ला) करदेवे, यह गंडूष लेनेकी विधिजाननी ॥

विषादिमेंगंडूष.

विषक्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोथवा ॥

अर्थ—विषदोष-(संखियादि) और क्षारादिजन्य विकार तथा अग्निदग्धजन्यविकार इनसें घी अथवा दूध इनके कुल्ले करे ॥

दंतचालनमेंगंडूष.

तैलसैंधवगंडूषो दंतचाले प्रशस्यते ॥

अर्थ—तिलकातेल, और सैंधानिमक, दोनोंको मिलाय कुल्ले करे तो दांत हिलतेहुए जमजावे ॥

मुखशोषपरगंडूष

मुखशोषं मुखस्य वैरस्यं गंडूषः कांजिको जयेत् ॥

अर्थ—मुखशोष तथा मुखकी विरसताको कांजीके कुल्ले नाश करते है ॥

कफपरगंडूष.

सिंधुत्रिकटुराजीभिरार्द्रकेण कफे हितः ॥

अर्थ—सैंधानिमक, सोंठ, मिरच, पीपल, और राई इनका चूर्णकर अदरखके मिलापके कुल्ले करे तो कफदोष दूरहोय ॥

कफतथारक्तपित्तपरगंडूष

त्रिफलामधुगंडूषः कफासृक्पित्तनाशनः ॥

अर्थ—त्रिफलेका चूर्ण सहतमें सानके उसके कुल्ले करे तो कफ और रक्त पित्त नष्टहो ॥

मुखपाकपरगंडूष

दार्वी गुडूची त्रिफला द्राक्षा जात्याश्च पल्लवाः ।
यवासश्चेति तत्क्वाथःषष्ठांशः क्षौद्रसंयुतः ॥
शीतो मुखे घृतो हन्यान्मुखपाकं त्रिदोषजं ॥

अर्थ—दारुहलदी, गिलोय, त्रिफला, दाख, चमेलीकेपत्ते, जवासा, इन औषधोंको समान भागले काढा करे, तथा काढेका छटांभाग सहत मिलाय काढेको शीतलकरके कुल्ले करेतो त्रिदोषजन्य मुखके छाले दूरहोवे ॥

यस्यौषधस्य गंडूषस्तथैव प्रतिसारणम् ।
कवलश्चापि तस्यैव ज्ञेयोऽत्रकुशलैर्नरैः ॥

अर्थ—जिस औषधोंका गंडूष उसीका प्रतिसारण करना, तथा कवल भी उन्ही औषधोंका होता है अेसा कुशलवैद्योंको जानना चाहिये ॥

कवलकाप्रकार

केशरं मातुलिङ्गस्य सैंधवं व्योषसंयुतं ।
हन्यात्कवलतो जाड्यमरुचिं कफवातजाम् ॥

अर्थ—बिजोरेकी केशर, सैंधानिमक, तथा सोंठ, मिरच, पीपल, इन औषधोंको एकत्रकर इनका कल्ककर कवल करेतो मुखकी जडता तथा कफवातकी अरुचि रोग दूरहोवे ॥

प्रतिसारणकाभेद

कल्कोऽवलेहश्चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम् ।
अंगुल्यग्रगृहीतं च यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥

अर्थ—कल्क, अवलेठ, और चूर्ण, इन भेदोसें प्रतिसारणतीन प्रकारकाहै । इनमें मनुष्यको जैसी दोषकी तारतम्यवाहो उसके सदृश अंगलीके अग्रभागसें लेकर जीभमें लगा और संपूर्ण मुखको रगडे ॥

प्रतिसारणचूर्ण-

कुष्ठं दार्वी समंगा च पाठा तिक्ता च पीतिका ।
तेजनी मुस्तलोध्रं च चूर्णं स्यात्प्रतिसारणम् ॥

रक्तस्रुतिं दंतपीडां शोथं दाहं च नाशयेत् ।

अर्थ—कूठ, दारहलदी, धायकेफूल, पाठ, कुटकी, हलदी, तेजवल, नागरमोथा, और लोध, ये नो औषधोंका चूर्ण करके जीभ तथा सव मुखमें उंगलीके अग्रभागसै लेकर रगडे, तो दातोके मसूढोंसैं जो रुधिरगिरे वह, दातोंकीपीडा, सूजन, दाह, ये संपूर्णरोग दूरहोवे । इस चूर्णको प्रतिसारण (मंजन) कहते है॥

गंडूषादिकोंकेहीनयोगहोनेकेलक्षण

हीनयोगाल्कफोत्क्लेशो रसाज्ञानाऽरुची तथा ।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णा क्लमो भवेत् ॥

अर्थ—गंडूषादिका हीनयोग होनेसै कफकी अधिक्यता होतीहै । तथा मधुरादिक रसोंका यथार्थ स्वाद मालूम नहींहो । तथा अन्नादिकमें अरुचिहोय । तथा गंडूषादिका अतियोग होनेसै मुखपाकके समान मुख उपडआवे, तथा शोष और प्यास ये लक्षण होतेहै ।

शुद्धगंडूषकेलक्षण

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गंडूषे शुद्धिलक्षणम् ॥

अर्थ—गंडूषादिकका उत्तमयोग होनेसैं मुखसंबधी व्याधीका नाश अंतःकरणमें संतोष, मुखमेंनिर्मलता और हलकापना, तथा रसनादिइन्द्रियोंमें प्रसन्नता, ये लक्षण होतेहै । ये शुद्धगंडूष होनेके लक्षण जानने ॥

इतिगंडूषादिविधिःसमाप्तः

अथनेत्ररोगचिकित्साविधिः

नेत्रअच्छेहोनेकेउपचार

सेक आश्चोतनं पिंडी विडालस्तर्पणं तथा ।
पुटपाकोंजनं चैभिः कल्कैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥

अर्थ—सेक, आश्योतन, पिंडी, विडाल, तर्पण, पुटपाक, और अंजन, ये सातप्रकार नेत्ररोगमें कहेहै, इनका कल्पकरके जिस प्रकार नेत्ररोगमें उपचार करनेका कहाहै उसप्रकार करना चाहिये ॥

सेकलक्षण

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वास्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेहश्चतुरंगुलात् ॥

अर्थ—मनुष्यके नेत्रबंदकर दूध, घी, रस, इत्यादिकोंका सार, नेत्रपर चार अंगुलके अंतरसें बारीक धार देवे इसे सेक कहतेहै ॥

सेकभेद

सचापि स्नेहने वाते रक्ते पित्ते च रोपणः ।
लेखनश्च कफे कार्यस्तस्य मात्राऽधुनोच्यते ॥

अर्थ—वातरोगमें स्नेहन सेक करे, रक्तपित्तके कोपमें रोपण सेक करे, तथा कफरोगमें लेखन सेक करना चाहिये ॥

सेकमात्रा

षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे ।
वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेके लेखनकर्मणि ॥

अर्थ—स्नेहनकर्ममें छःसौवाक् होनेपर्यंत नेत्रोंपर तरडा जिस औषधका देना कहा वो देवे । रोपण कर्ममें चारसौ वाक्पर्यंत धार देनी । तथा लेखनकर्म में तीनसौ वाक्पर्यंत धार देनी चाहिये ॥

सेककर्मकाल

कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ चात्ययिके गदे ।

अर्थ—यदि नेत्रमें सेक करनाहोयतो दिनहीमें करे, कदाचित् रोगकी आपिकपता होयतो रात्रीमें भी करे, ऐसी शास्त्रकी आज्ञाहै ॥

वाताभिष्यंदादिरोगपरसेक

एरंडत्वक्पत्रमूलैः शृतमाजं पयोहितम् ।
सुखोष्णं सेचनं नेत्रे वाताभिष्यंदनाशनम् ॥

अर्थ—सुरतीअंडकीछाल, पत्ते, जड, इनसबको बकरीके दूधमें औंटायके फिर सुहाते २ गरमदूधकी धार वाताभिष्यंदरोग दूरकरनेके वास्ते नेत्रोंमें देय ॥

तथादूसरा क्रम

परिषेके हितं नेत्रे पयः कोष्णं ससैंधवम् ।
रजनीदारुसिद्धं वा सैंधवेन समन्वितम् ॥
वाताभिष्यंदशमनंहितं मारुतपर्यये ।
शुष्काक्षिपाके च हितमिदं सेचनकं तथा ॥

अर्थ—बकरीकेदूधमें सैंधानिमकडाल गरमकर सहनहोयऐसा गरम २ धार नेत्रोंपर गेरे, अथवा हलदी, देवदार, सैंधानिमक, इनका चूर्णकर उसको दूधमें डाल गरमकर सुहाता २ गरमनेत्रोंपर धार देय तो वाताभिष्यंदरोग और वा त-विपर्यय तथा शुष्काक्षिपाक ये रोग दूरहोय ॥

पित्त; रक्त और अभिघातपरसेक

सावरं मधुकं तुल्यं घृतभृष्टं सुचूर्णितम् ।
छागक्षीरे घृतं सेकात् पित्तरक्ताभिघातजित् ॥

अर्थ—पठानीलोध और मुलहटी, इन दोनो औषधोंको समान भागले घी-में भून चूर्णकर बकरीके दूधमें डालके उस दूधकी सुहाती गरम २ धार नेत्रोप-रडाले तो पित्तविकार,रक्त विकार, और अभिघातजन्य विकार ये सब दूरहोवे॥

रक्ताभिष्यंद

त्रिफलालोध्रयष्टीभि· शर्कराभद्रमुस्तकैः ।
पिष्टैः शीतांबुनासेको रक्ताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—हरड, बहेडा, आमला, लोध, मुलहटी, खांड, नागरमोथाका भे-द भद्रमोथा, ये सब औषध समानभागले सीतल जलमें पीस उसपानीकी ने-त्रोंपर धारदेवे तो रक्ताभिष्यंद दूरहोय ॥

तथादूसरा

लाक्षामधुकमंजिष्ठा लोध्रकालानुसारिवा ।
पुंडरीकयुतः सेको रक्ताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—लाख, मुलहटी, मजीठ, लोध, सारिवा और सपेदकमल इन औ-षधोंको पानीमें पीस उस पानीकी नेत्रोंमें धारदेवे तो रक्ताभिष्यंद (रुधिरके कोपसें आंख दूखने आईहो) सो दूरहो ॥

नेत्रशूलमेंसेक

श्वेतलोध्रं घृतेभृष्टं चूर्णितं पटविस्रुतम् ।
उष्णांबुना विमृदितं सेकाच्छूलघ्नमंबके ॥

अर्थ—पठानी लोधको घीमें भून कूटकर कपडछान चूर्णकर गरम जलमें पीस उस पानीका नेत्रोंपर धार डाले तो नेत्रका दरद दूरहो - कोई इसकी पोटली बनाय गरमपानीमें भिगोयके नेत्रको सेकतेहै जिससे नेत्रपीडा जाती रहती है ॥

आश्चोतनकेलक्षण

अथ आश्चोतनं कार्यं निशायां न कथंचन
उन्मीलितेक्षिण दृङ्मध्ये बिंदुभिद्वर्चंगुलाङ्कितम् ॥

अर्थ—मनुष्यके नेत्रोंको उघाड नेत्रमें दोअंगुलपर्यंत दूधकांढा इत्यादिकी बूंद डाले इसको आश्चोतन कहते है यह आश्चोतनकर्म रात्रिमें न करे ॥

अथआश्चोतनविधिः

क्काथक्षौद्रासवस्नेहबिंदूनां यत्तु पातनम् ।
यद्द्व्यंगुलोन्मिते नेत्रे प्रोक्तमाश्चोतनं हि तत् ॥

अर्थ—दूखते नेत्रको दोअंगुल प्रमाण खोलके उसमें काढा, सहत, आसव, तथा स्नेह पदार्थ की बुँद डाले उसको आश्चोतन क्रिया कहते है ॥

लेखनादिकआश्चोतनमें कितनी बूंदडाले

बिन्दवोष्टौ लेखनेषु स्नेहने दशबिन्दवः । रोपणे द्वादशप्रोक्तास्तेशीते कोष्णरूपिणः ॥ उष्णे च शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैष विनिश्चयः ॥

अर्थ—लेखनकर्ममें नेत्रमें आठबूंदडाले—स्नेहनकर्म होयतो दशबिंदुडाले—रोपणकर्म होनेसें बारह बिंदूडाले—योबूंदशीतल औरनेत्रोंको सुहाती २ गरम २ डालनी चाहिये और यदि गरमीके दिन होयतो शीतल २ बूंदडाले ॥

वातादिकर्मेंआश्चोतन

वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ।
तिक्तोष्णरूक्षं च कफे क्रमादाश्चोतनं हितम् ॥

अर्थ—वादीके रोगमें कटू और चिकना ऐसा आश्चोतनकरे । पित्तरोगहोय-

तो मधुर और शीतल ऐसाकरे । कफरोग होयतो कटु गरम-रूक्ष ऐसा आश्चो-तन करना चाहिये इसप्रकार आश्चोतनकर्म करना हितकारी है ॥

आश्चोतनकी मात्राकाकर्म

आश्चोतनानां सर्वेषां मात्रास्याद्वाक्शतं हितम् ।
निमेषोन्मेषणं पुंसामंगुल्योश्छोटिकाथवा ॥
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृताबुधैः ।

अर्थ—मनुष्यके आखोंके पलक मुदना और खुलना अथवा चुटकी बजाना अथवा गुरु (दीर्घ) अक्षरका उच्चारण करना इनमें जितनी देरी लगती है उस काल (देरी) को एक वाङ्मात्रा कहते हैं; ऐसी सौ वाङ्मात्रा संपूर्ण आश्चो-तनोंमे हितकारक जाननी । अर्थात सौवाक् पर्यंत उक्त औषधोंकी बूंद नेत्रोमें धारण करनी ॥

वातभिष्यंदपरआश्चोतन

बिल्वादिपंचमूलेन बृहत्यैरंडशिग्रुभिः ।
क्वाथआश्चोतने कोष्णो वाताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—बेलहै आदिमें जिनके ऐसी पांचं औषधोके मूल, कटेरी, अंडकीजड, सहजनेके जडकी छाल, इन सब औषधोंका काढाकरके जैसा २ सहन होय ऐ-सी गरम बूंद नेत्रमें डाले, तो वाताभिष्यंद रोग दूरहो ॥

(वायुजन्यवारक्तपित्तजन्यअभिष्यंदपरआश्चोतन)

अंबुपिष्टैर्निबुपत्रैस्त्वचं लोध्रस्य लेपयेत् ।
प्रतापवन्हिनापिष्ट्वा तद्रसो नेत्रपूरणात् ॥
वातोत्थं रक्तपित्तोत्थमभिष्यंदं विनाशयेत् ।

अर्थ—कडुए नीमके पत्तोंको जलमें पीसके लोधकी छाल पर लेपकरे, फिर उस छालको अग्निमें तपावे पीछे पीसके उसकारस निकाल नेत्रोमें कुछ गरम २ बूंद डाले तो वातजन्य रक्तपित्तजन्यअभिष्यंद दूरहो ॥

सर्वअभिष्यंदोपरआश्चोतन

त्रिफलाश्चोतनं नेत्रे सर्वाभिष्यंदनाशनम् ।

---

१ बेल, अरनी, टेंटु, पाढल, कुमारी, ये बिल्वादि पंचमूल जानना इसीको बृहत्पंच मूल कहते है ।

अर्थ—त्रिफलेके काढेकी गरम,२ सुहाती बूंद नेत्रोंमें डाले तो सर्वप्रकारके अभिष्यंद दूरहो ॥

रक्तपित्तजन्यअभिष्यंदपरआश्चोतन

स्त्रीस्तन्याश्चोतनं नेत्रे रक्तपित्तानिलार्त्तिजित् ।
क्षीरसर्पिर्घृतं वापि वातरक्तरुजं जयेत् ॥

अर्थ—स्त्रीके दूधके बूंदको नेत्रोमें डाले तो रक्तपित्त और वायु इनकी पीडा को दूरकरे । उसी प्रकार दूधके ऊपरकी मलाई और घी इनकी बूंद अथवा फाये नेत्रोंमें बांधे तो वातरक्त संबंधी पीडादूरहो ॥

पिंडिकाकेलक्षण

पिंडी कवलिका प्रोक्ता बध्यते पट्टवस्त्रकैः ।
नेत्राभिष्यंदयोग्या सा व्रणेष्वपि निबध्यते ॥

अर्थ—नेत्ररोग नाशक औषधको पीस टिकिया करके नेत्रोंपर धरके कपडेकी पट्टीसें उसको बांधदेवे, इसको पिंडी अथवा कवलिका कहते है यह पिंडी नेत्राभिष्यंद रोगके योग्यहै । तथा व्रणके ऊपरभी बांधना कहाहे ॥

स्निग्धोष्णा पिंडिका वाते पित्ते सा शीतला मता ।
रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम् ॥

अर्थ—वातव्याधिपर चिकनी और गरम-पित्तपरशीतल-तथाकफपररूखी-और गरम ऐसी पिंडी बाँधनेकी विधिकही है ॥

नेत्राभिष्यंदमेंशिरोविरेचन

अभिष्यंदेऽधिमंथे च संजाते श्लेष्मसंभवे ।
स्निग्धस्विन्नोत्तमांगस्य शिरस्तीक्ष्णैर्विरेचयेत् ॥

अर्थ—कफसंबंधी अभिष्यंद तथा अधिमंथ रोगीके मस्तकमें तेल चुपड पसी ने निकाले फिरमस्तक शोधन करनेको तीक्ष्ण औषधकरके नाकमें नस्य देवे ॥

उपायांतर

अधिमंथेषु सर्वेषु ललाटे वेधयेच्छिराम् ।
अशांते सर्वथा मंथे भ्रुवोस्तु परिदाहयेत् ॥

अर्थ—संपूर्ण अधिमंथमे (नेत्रदूसनेमें) मस्तककी शिरा वेधे (फस्तखोले) तो नेत्रदूसना शांतिहो । यदि सब उपाय करनेपरभी आंख दूसनेसें न रहे तो भ्रुकुटी (भौह) में दाग देवे ॥

वाताभिष्यंदकायत्न

वाताभिष्यंदशान्त्यर्थं स्निग्धोष्णा पिंडिका भवेत् ॥

अर्थ—संपूर्ण अभिष्यंद रोगमें नेत्रोंकी पीडा दूरकरनको ओषध कहीं है उनकी टिकिया करके बांधे। तथा वाताभिष्यंदमें चिकनी और गरम टिकियाबांधनी

वाततथापित्ताभिष्यंदकायत्न

एरंडपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी ।
पित्ताभिष्यंदनाशाय धात्रीपिंडी सुखावहा ॥

अर्थ—अंडकेपत्ते, छाल, जड, इन सबको एकत्र पीस टिकिया बनाय वाताभिष्यंद दूरकरनेको नेत्रोंपर बांधनी । पित्ताभिष्यंद दूरकरनेको आमलोंको पीस टिकियाकरके नेत्रोंपर बांधेतो नेत्रपीडा दूरहोवे ॥

पित्ताभिष्यंदपरदूसरीपिंडी

महानिंबफलोद्भूता पिंडी पित्तविनाशिनी ।

अर्थ—बकायनके फलको पीस टिकिया बनाय पित्ताभिष्यंद रोगवालेके नेत्रोंपर बांधे तो पीडा दूरहो ॥

श्लेष्माभिष्यंदपरपिंडी

शिग्रुपत्रकृतापिंडी श्लेष्माभिष्यंदनाशिनी ।

अर्थ–सहजनेके पत्तोंकी टिकिया बनायके बांधेतो कफसैं नेत्रदूसना दूरहोय

कफपित्ताभिष्यंदपरपिंडी

निंबपत्रकृता पिंडी श्लेष्मपित्तहरा भवेत् ।
त्रिफला पिंडिका प्रोक्ता नाशने श्लेष्मपित्तयोः ॥

अर्थ—नीमकेपत्तोंकी टिकिया बनायके रोगीके नेत्रोंपर बांधेतो कफपित्ताभिष्यंदकी पीडा दूरहो। तथा त्रिफलेकी टिकिया बांधेतो कफपित्ताभिष्यंद नाशहो

रक्ताभिष्यंदपरपिंडी

पिष्ट्वा कांजिकतोयेन घृतभृष्टिं च पिंडिका ।
लोध्रःप्रहरति क्षिप्रमभिष्यंदमसृग्भवम् ॥

अर्थ—लोधको कांजीसे पीसके टिकिया बनाय घीमें सेकके नेत्रोंपर बांधे तो रक्ताभिष्यद (रुधिरकी दुष्टतासें जो नेत्र दूसनेको आते हैं वो) दूरहो ॥

सूजनऔरखुजलीआदिपरपिंडी

शुंठीनिंबदलैः पिंडी सुखोष्णा स्वल्पसैंधवा ।
धार्या चक्षुषि संयोगात् शोथकंडूव्यथापहा ॥

अर्थ—सोठ और नींमके पत्तोंको पीस उसमें थोडा सेंधानिमक डाल टिकिया बनाय गरमकरके नेत्रोंपर बांधे तो-नेत्रोंका सूजना नेत्रोकी खुजलीकी पीडाको दूरकरे ॥

विडालकेलक्षण

विडालको बहिर्लेपो नेत्रपक्ष्मविवर्जितः ।
तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखलेपविधानवत् ॥

अर्थ—नेत्रके पलकोको मूंदके ऊपर सर्वत्र लेपकरनेको विडालक कहते है। इस लेपकी मात्रा मुखलेपकी विधिके माफिक जाननी, अर्थात् जैसे मुखलेप करनेमें जो मात्रा लेनी लिखी है वही मात्रा इस विडालककी लेवे ॥

सर्वनेत्ररोगेंमेंलेप

यष्टीगैरिकसिंधूत्थदार्वीताक्ष्यैः समांशिकैः ।
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥

अर्थ—मुलहटी,-गेरू,-सैंधानिमक,-दारहलदी,-और खपरिया,-ये पांच औषध बराबरले पानीमेंपीस नेत्रोंके बाहर २ लेपकरे तो सर्वअभिष्यंद (नेत्रोंका दुखना) दूरहो ॥

तथादूसरालेप

रसांजनेन वा लेपः पथ्याविश्वदलै रपि । कुमारिकाग्निपत्रैर्वा दाडिमीपल्लवैरपि ॥ वचा हरिद्राविश्वैर्वा तथा नागरगैरिकैः ॥

अर्थ—रसोतको जलसें पीस लेप करे । उसीप्रकार हरड, सोंठ, तमालपत्र-इन तीनो औषधोंको जलमें पीस लेपकरे । अथवा घींगुवार और चीतेके पत्तोंको एकत्र जलसें पीस लेपकरे । अथवा अनारके पत्तोंको पीस लेपकरे अथवा वच, हलदी, और सोंठ, इन तीन औषधोंको जलमें पीस लेपकरे उसीप्रकार सोंठ और गेरू इनको जलमें पीसके नेत्रके बाहरले भागमें चारों तरफ लेप करे तो सर्व प्रकारके नेत्ररोग दूरहो । ये छःलेप पृथक् २ कहे है ॥

तथातीसरालेप

दग्ध्वाग्नौ सैंधवं लोध्रं मधूच्छिष्टयुते घृते ।
पिष्टमंजनलेपाभ्यां सद्यो नेत्ररुजापहम् ॥

अर्थ—सैंधानिमक और लोध इन दोनो औषधोंको अग्निमें भून—मौम और घी एकत्रकर उसमें वो औषध पीसके नेत्रोंमें अंजन करे, और पूर्वोक्त औषधोंका नेत्र के वाहर लेप करे तो नेत्रसंवंधी पीडा तत्काल दूरहोय ॥

चतुर्थलेप

लोहस्य पात्रे संघृष्टो रसो निंबुफलोद्भवः ।
किंचिद्घनो वहिर्लेपान्नेत्रबाधां व्यपोहति ॥

अर्थ—लोहेके पात्रमें नींवूके रसको घोटे जव गाढा होजावे तव नेत्रके वहिर्भागमें लेप करे तो नेत्रसंवंधी सर्वपीडा दूरहो ॥

अर्मरोगपरलेप

संचूर्ण्य मरिचं केशराजं स्वरसमर्दनात् ।
लेपनादर्मणांनाशंकरोत्येषप्रयोगराट् ॥

अर्थ—कालीमिरचोकों भांगरेके रसमें पीसके नेत्रोंपर लेप करे, तो शुक्लार्म और अधिमांसार्म इत्यादिक नेत्ररोगोंमें जो अर्मरोग है वो दूरहो ॥

अंजननामिकापरप्रतिसारण

स्विन्नां भित्वा विनिष्पीड्य भिन्नामंजननामिकाम् ॥
शिलैकान्तसिंधूत्थैःसक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ॥

अर्थ—नेत्रोंकी–पलकोंमें अंजननामिका नामकी फुंसी होतीहै उसको आंजनी कहतेहै, उस फुंसीका वफारेसैं पसीने निकालके चीरडाले फिर उसका मवाद निकाल पश्चात् मनसिल, इलायची, तगर, सैंधानिमक, इन चार दवाइयोंका चूर्णकर सहतमें मिलाय उस फुंसीमें प्रतिसारण करे अर्थात् ये औषध उस फुंसी पर चुपडदेवे तो आंजनी फुंसी दूरहो ॥

नेत्ररोगमेंतर्पण

अथ तर्पणकं वक्ष्मि नेत्रतृप्तिकरं परं । यद्रूक्षं परिशुष्कं च नेत्रं कुटिलमाविलम् ॥ शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् । तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यं-

दाधिमंथकैः ॥ शुक्राक्षिपाकशोथाभ्यां युक्तं वातविप
र्ययैः । तन्नेत्रतर्पणे योज्यं नेत्रकर्मविशारदैः ॥

अर्थ—नेत्रमें तृप्तिकरता अैसा तर्पण कहते है; जिस नेत्रोंमे रूखापना, शुष्कता, टेढापना, और गदलाहटपनाहै अैसेनेत्र, तथा जिसके पलकोंके वाल गिर गएहो, शिरोघात, कृच्छ्रोन्मीलन, (काठिन्यैसैनेत्रमुदे) तिमिर, अर्जुन, शुक्र (मोतियाविंद) अभिष्यंद, अधिमंथ, शुक्राक्षिपाक, सूजन, और वातविपर्यय इन रोगसैं व्याप्त नेत्ररोगीकैं तर्पण करे, अर्थात् तृप्ति करता औषधीकी योजना करे ॥

हीनाधिकतर्पणमैंउपचार

पूर्णे चापांगतः स्नेहं स्रावयित्वा क्षिशोधयेत् ।
स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्यैरितं ततः ॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् ।
एकाहं वा त्र्यहं वापि पंचाहं तर्पणं चरेत् ॥

अर्थ—नेत्र पूर्णहोनेके पश्चात् अपांग (नेत्रकोण) के द्वारा स्नेह वाहर निकालके नेत्रका शोधन करे । फिर स्नेहवीर्यसैं दुष्टनेत्रोंका जौके चूनको फिगो वाफदेकर अर्थात् कुछ गरम करके नेत्रोके ऊपर वांधे अथवा धूमपान करके उसके कफको निकाले, इस प्रकार एक अथवा तीन अथवा पांचदिन तर्पण करे

तर्पणकानिषेध

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिंतायासंभ्रमेषुच ।
अशांतोपद्रवे चाक्षिण तर्पणं न प्रशस्यते ॥

अर्थ—जिसदिन आकाश वदलोंसैं घिरा हुआहो, अत्यंत शरदी या गरमीहो, शरीरमें चिंताहो, परिश्रम और भ्रम ये उपद्रव होनेसैं तथा नेत्रसंबंधी शूलादिक उपद्रवशांत न हुए होवे तो तर्पण न करे ॥

तर्पणका विधान

वातातपरजोहीने देशे चोत्तानशायिनः । आचारौ
मापचूर्णेन क्लिन्नेन परिमंडलौ ॥ समौ दृढावसंवाधौ
कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः । पूरयेत् घृतमंडेन विलीनेन
सुखोदकैः ॥ अथवा शतधौतेन सर्पिषा क्षीरजेन वा।

निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥ पूर-
येन्मीलिते नेत्रे ततः उन्मीलयेच्छनैः ॥

अर्थ—पवन, धूप, धूल, ये जिसजगे न हो उस स्थानमें मनुष्यको चित्त सु-लायके नेत्र कोशोंमे भीगे उडदोंके चूनका गोल थामलासा बनावे फिर नेत्रोंको बंदकर उनके ऊपर पतला घी अथवा मंड (पेया) अथवा गरमजल अथवा सौं-वारका धुला हुआ घी अथवा दूध येपदार्थ जबतक नेत्रोंके पलककी वरुनी न डूबे तब तक नेत्रोंमें डाले, फिर धीरे २ नेत्रोंको उघाडे; इसप्रकार करने को तर्पण कहते है इस्सैं नेत्र दृढहोते है ॥

तर्पणकीमात्राकाप्रमाण

धारयेद्वर्त्मरोगेषु वाङ्मात्राणां शतं बुधाः । स्वच्छे
कफे संधिरोगे मात्रा पंचशतं हितम् ॥ शुक्ले च षट्-
शतं कृष्णरोगे सप्तशतं मतम् ॥ दृष्टिरोगेष्वष्टशतम-
धिमंथे सहस्रकम् । सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेवं हि तर्पणम् ॥

अर्थ—नेत्रसंबंधी पलकोंके रोगमें १०० सौ वाङ्मात्र तर्पणरूप औषधको नेत्रोंमें धारण करे, केवल कफका रोग होय अथवा नेत्रकी संधिगत रोग होने-सें ५०० पांचसौ वाक्पर्यंत, नेत्रके सपेद भागमें रोग होनेसें ६०० छःसौ- । त-था काले भागमें रोगहोनेसैं ७०० सातसौ- । दृष्टिरोग होयतो ८०० आठसौ । अधिमंथ रोग होयतो १००० एकहजार । वातकारोग होयतो १००० एक हजा-र वाङ्मात्र होने पर्यंत औषधको नेत्रोंपर धारणकरे । इसप्रकार तर्पणके धारण का प्रमाणकहा ॥

(तर्पणसैंस्नेहकेअधिकयोगद्वाराकफाधिक्यहोनेकाउपाय)

स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ।
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ॥

अर्थ—तर्पणके स्नेहवीर्य करके उत्पन्न हुआ जो कफ (नेत्रोंमें कीचड) उ-सको भीगे जोओंको पीस उससैं तथा धूमपान करके शोधन करना चाहिये ॥

तर्पणकी मर्यादा

एकाहं वा त्र्यहं वापि पंचाहं चेष्यते परम् ॥

अर्थ—नेत्रमें तर्पण प्रयोग करना होयतो एकदिन अथवा तीनदिन अथवा पांचदिन पर्यंत करे, यह उत्कृष्ट प्रमाण जानना ॥

तर्पणकरकेतृप्तकेलक्षण

तर्पणे तृप्तिलिंगानि नेत्रस्थेमानि भावयेत् । सुखस्व-
प्नावबोधत्ववैशद्यं वर्णपाटवम् ॥ निवृत्तिर्व्याधिशां-
तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥

अर्थ—सुखपूर्वक निद्रा आवे, सुखपूर्वकजागे, नेत्रोंमें निर्मलताहोय, नेत्रोंकी कांति उत्तमहोय, नजर साफहोवे, रोगका नाशहोय, और नेत्रोंके खोलने मूंदने में हलकापना, आवे, येलक्षण तर्पण करके नेत्रतृप्त हुए प्राणीके होते है ॥

तर्पणअत्यंतहोनेकेलक्षण

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकंडूपदेहवत् ।
घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत् ॥

अर्थ—भारी, गदले, अतिचिकने, आंसू, खुजली, कीचडसैं चिकटे हुए, घर्षण, पीडा, ये लक्षण अति तर्पित नेत्रवाले प्राणीके जानने ॥

हीनतर्पणकेलक्षण

आस्रावशोफरागाढ्यमुपदेहसमाकुलम् ।
रूक्षमस्राविलं रुग्णं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम् ॥

अर्थ—पानीगिरना, रूजन, लाली, चिकटेहुए, रूखे, रक्त, गदले, और, पीडायुक्त ये लक्षण जिसके नेत्रोंमें होय उसको हीततर्पित जानना । अर्थात् ठीक तर्पण नहीं हुआ ॥

तर्पणसैंहीनाधिक्यस्निग्धकायत्न

अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सिते ।
रूक्षस्निग्धौपचाराभ्यामेतयोःस्यात्प्रतिक्रिया ॥

अर्थ—अधिकतृप्त और हीनतृप्त हुए रोगीकी वैद्य रूक्षस्निग्ध उपचार करके चिकित्साकरे अर्थात् अधिकतृप्तकी रूक्ष और हीन तृप्तकी स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिये ॥

पुटपाक

अतऊर्ध्वंप्रवक्ष्यामि पुटपाकस्य साधनम् । द्वौ वि-

ल्वमात्रौ मांसस्य पिंडौ स्निग्धौ सुपेषितौ ॥ द्रव्या-
णां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः । तदेकस्थं
समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितं॥ पुटपाकेन तत्पक्वागृ-
ह्णीयात्तद्रसंबुधः । तर्पणोक्तविधानेन यथावदुपचारयेत् ॥

अर्थ—अब इसके उपरांत हम पुटपाक साधन (बनाना) कहैंगे;-हरिणादि-कोंका मांस दोविल्व लेके उसको घृतादिक स्नेह पदार्थमें मिलाय बारीक पीसे, तथा सूखी औषध जो कहीहै वो एक विल्व प्रमाण ले तथा सहत,-पानी,-इत्यादिक द्रवपदार्थ-एक कुडव प्रमाण ले, इस सबको उस पूर्वोक्त मांसमें मिलायके गोला बनावे, फिर जामुन, अथवा आंम, इत्यादिके पत्ते उस गोलेके चाऱ्यो तरफ लपेट देवे, फिर उसपर मिट्टीका लेप करे, पश्चात पुटपाककी रीतिसैं गोला को अग्निमें भूनके बाहर निकाले मिट्टी पत्ते दूरकर उस गोले-को निचोड़ कर रसनिकाल लेवे, इस रसको तर्पणकी विधिसैं ऊपर कहेमाण नेत्रोंमें डाले, तो यह सर्वनेत्रविकारोंको दूरकरे ॥

पुटपाकसंबंधीरसनेत्रमेंडालनेकीविधि

दृष्टिमध्ये निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः ।
स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति सत्रिधा ॥

अर्थ—वह पुटपाक संबंधी रस स्नेहन,-लेखन और रोपण इन भेदोंकरके तीन प्रकारकाहै । इस मनुष्यको सीधा चित्त लिटायकर नेत्रोंमे दृष्टिके मध्यभागमें नित्य डालना चाहिये ॥

स्नेहनादिभेदसैंपुटपाककीयोजना

हितः स्निग्धोतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापिहि लेखनः ।
दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृक्व्रणवातनुत् ॥

अर्थ—रूखे नेत्रवालेको स्निग्धपुटपाक, स्निग्ध नेत्रवालेको लेखन पुटपाक, तथा दृष्टीमें बल आनेके वास्ते रोपण पुटपाक की योजनाकरे वो पुटपाक नेत्रसं-बंधी दुष्टहुए जे पित्त रक्त व्रण और वायु इनको दूरकरे इस पुटपाककी विधि आगेके श्लोकमें कहते है ॥

स्नेहपुटपाक

सर्पिर्मांसवसामज्जामेदस्वाद्वौषधैः कृतः ।

स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्यो द्वेवाक्शते दृशोः ॥

अर्थ—घी, हरिणादिकोंके मांस,-मज्जा,-औरमेद ए सव घीमें मिलाय के पीसे और कांकोल्यादि गणकी औषधोंका चूर्ण कर उस मांसादिकमें मिलाय देवे फिर एक गोला वनाय जामुन,-आंव, इत्यादिकोंके पत्तोंमें लपेट मिट्टी चढाय पुटपाककी विधिसैं अग्निदेवे फिर उस गोलेको अग्निसैं निकाल मिट्टी और पत्ते दूरकरके निचोड रस निकाल लेवे, इस रसको नेत्रोंमें डाले और २०० वाङ् मात्र पर्यंत धारणकरे। इसको स्नेहनपुटपाक कहते है आगे लेखनपुटपाक कहते है ॥

लेखनपुटपाक

जांगलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः ।
कृष्णलोहरजस्ताम्रशंखविद्रुमसिंधुजैः ॥
समुद्रफेनकासीससौवीरोजलधिमस्तुभिः।
लेखने वाक्शतं धार्यस्तस्य तावद्विधारणम् ॥

अर्थ—हरिणादिक जंगली जीवोंका मांस,लोहचूर्ण(ताम्रचूर्ण)शंख, मूंगा,सैंधा निमक, समुद्रफेन, कसीस, सुरमा, और वकरीके दहीकी छाछडालके पीस गोला करे, उसको पूर्वोक्त पुटपाककी विधिसैं पचाय रसनिकाल नेत्रोंमें डाले और सौ १०० मात्रा होनेपर्यंत धारणकरे इसको लेखन पुटपाक कहते है ॥

रोपणपुटपाक

स्तन्यजांगलमध्वाज्यतिक्तकद्रव्यपाचितः । लेखनान्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥ वितरेत्तर्पणोक्तां-स्तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥

अर्थ—स्त्रीकादूध, हरिणादिक जंगली जीवोंका मांस,सहत, और घी, कुटकी ये सव उसमांसमें मिलाय पीसके गोला करे, उसको पूर्वोक्त पुटपाककी विधिसे परिपक्व कर वाहरनिकाले तथा मिट्टी और पत्ते दूरकरे निचोड रस निकालले इसको नेत्रोंमें डाल तीनसौं ३०० वाक्पर्यंत धारणकरे, इसको रोपण पुटपाक कहतेहै । यदि पुटपाकके आधिक्य अथवा न्यूनताके कारण भारीपना तथा निस्तेजता आदि उपद्रव होवेतो तर्पणमें जैसी क्रिया कहआएहै उसके माफिक यत्न करना चाहिये ॥

(दोषपक्वहोनेसेंअंजनऔरअंजनकासाधारणविधान)

अथ संपक्वदोषस्य प्रातमंजनमाचरेत् । हेमंते शि-
शिरे चैव मध्यान्हेंजनमिष्यते ॥ पूर्वाण्हे चापराण्हे
च ग्रीष्मे शरदिचेष्यते ।वर्षासु नाभ्रे नात्युष्णे वसंतेचसदैवाहि।

अर्थ—जिसके दोष परिपक्व हो उसप्राणीके अंजन लगना होयतो पांचादे-नके पश्चात् लगावे, अंजनकी साधारणविधि-हेमंतऋतु और शिशिरऋतु इनमें दोपहर दिनचढे अंजन लगावे, ग्रीष्मऋतु और शरदऋतु इनमें प्रातःकाल अथवा सायंकालमें अंजन लगावे,-वर्षामें और अत्यंत गरमीमें अंजन न लगावे। एवं वसंत ऋतुमें सवकालमें आंजन (आँजना) उत्तम है ॥

अंजनकेभेद

लेखनं रोपणं चैव तथा तत्स्नेहनांजनम् । लेखनं क्षा-
रतीक्ष्णाम्लरसैरंजनमिष्यते॥ कषायतिक्तरसयुक् स-
स्नेहं रोपणं मतम् । मधुरस्नेहसंपन्नमंजनं च प्रसादनम् ॥

अर्थ—लेखन, रोपण, और स्नेहन, इनभेदोंसें अंजन तीन प्रकारकाहै। तिनमें खार, तीक्ष्ण, और खट्टा ये रस जिस अंजनमें है उसको लेखनांजन कहतेहै। तथा कषेला, कडुआ, ये दो रस करके युक्त जो अंजनहै तथा स्नेहयुक्तहो उसको रोपणांजन कहते है। और जो मधुररस संपन्न तथा स्नेहयुक्त हो उसको स्नेहनांजन जानना ॥

अंजनकेगुटिकादितीनभेद

गुटिका रसचूर्णानि त्रिविधान्यंजनानि च ।
कुर्याच्छलाकयांगुल्या हीनानि च यथोत्तरम् ॥

अर्थ—गोली, रस, और चूर्ण, इन भेदोंसे अंजन तीनप्रकारका है। इन अंजनोंमें गुटिकांजन की अपेक्षा रसगुणवाला न्यूनहै, और रसरूप अंजनकी अपेक्षा चूर्णरूप जो अंजनहै सो गुणोंमें न्यूनहै, ऐसें उत्तरोत्तर गुणोंमें हलके जानने। इन अंजनोंको सलाईसें अथवा उंगली करके नेत्रोमें लगावे तहां वत्ती चंद्रोदयादिक जानवी, रगडा आदि रसांजनहै, और सुरमा आदि चूर्णांजन जानने चाहिये ॥

अंजनेकअयोग्य

श्रांते प्ररुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ।
अजीर्णे वेगघाते च नांजनं संप्रचक्षते ॥

अर्थ—परिश्रमसैं थका, रुदित, डरपाहुआ, मद्य (दारू) पानकरचुकाहो, नवीन ज्वरवाला, अजीर्णमें, मलमूत्रकी बांधा रोकनेवाला इतने मनुष्योंके अंजन नहीं लगाना ॥

अंजनमेंबत्तीकाप्रमाण

हरेणुमात्रां कुर्वीत वर्तितीक्ष्णांजने भिषक् ।
प्रमाणं मध्यमेऽध्यर्धं द्विगुणं तु मृदौ भवेत् ॥

अर्थ—तीक्ष्ण अंजनमें हरेणुबीजं (मटर) के समान गोली लंबी वत्तीके समान बनावे, अर्थात् मटरके समान उसका मुटापा होय । उसीप्रकार मध्यम अंजनमें मटरसैं डयोढी वत्ती बनावे तथा मृदु अंजनमें हरेणुबीज (मटर) दोकी बराबर अर्थात् दूनी गोल बत्ती बनावे ॥

अंजनमेंरसकाप्रमाण

रसक्रिया तूत्तमा स्यात्त्रिविडंगमिताहिता ।
मध्यमा द्विविडंगं स्याद्धीनात्वेकविडंगकम् ॥

अर्थ—द्रवरूप अंजनकी मात्रा तीन वायविडंगके समान नेत्रोंमें सलाईसै लगावे यह उत्तम रसक्रिया है । दो वायविडंगके प्रमाण लगाना मध्यम रस क्रिया जाननी, और एक वायविडंगके बराबर मात्रा कनिष्ट अर्थात् छोटी है ॥

विरेचनअंजनमेंचूर्णकाप्रमाण

विरेचनिकचूर्णं तत् द्विशलाके विधीयते ।
मृदौ तु त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नेहिकेंजने ॥

अर्थ—विरेचनिक चूर्णको सलाईमें दोवार लगाय दोवारनेत्रोंमें फेरके निकालदेय । मृदु अंजनमें औषधका चूर्ण तीनवार सलाईमें लगावे और तीनवार नेत्रोंमे फेरके निकाल लेय । तथा घृतआदि जो स्नेहपदार्थ तिनकरके युक्तजो अंजनहै उनको सलाईमें चारवार लगावे और चारवारही नेत्रोंमें फेरके निकाल देय, यह अंजन लगानेका प्रमाण कहाहै ॥

१जिसअंजनके लगानेसैं नेत्रोंसैं अधिक पानी गिरे उसको वैरेचनिक चूर्ण कहते है ।

सलाईबनानेकीयुक्ति

मुखयोः कुंठिता श्लक्ष्णा शलाकाष्टांगुलोन्मिता ।
अश्मजा धातुजा वा स्यात्कलायपरिमंडला ॥

अर्थ—अब सलाईके लक्षण कहते है, कि जो पाषाणकी अथवा सुवर्णादि धातुओंकी सलाई आठ अंगुलकी बनावे उसके दोनों आगेके भाग गोलकरें तथा उसको बहुत पतली न करे तथा मटरके दानेके समान सुंदर गोल बनावे ॥

लेखनादिमेंशलाईकाप्रमाण

ताम्रलोहाश्मसंजाता शलाका लेखने मता ।
सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहनेमता ॥
अंगुली च मृदुत्वेन कथिता रोपणे बुधैः ॥

अर्थ—लेखन अंजनमें तावेकी अथवा लोहकी वा पत्थरकी सलाई लेनी, स्नेहांजनमें सौनेकी अथवा चांदीकी शलाईले, उंगलीमें मृदु (नरम) ताहै अतएव रोपण अंजनमें उंगलियोंसैं नेत्रोंमें अजन आंजना चाहिये, सलाईसैं नहीं ॥

अंजनमेंसमयका निश्चय

सायंप्रातर्व्यंजनं स्यात्तत्सदा नैव कारयेत् ।
नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलायां संप्रशस्यते ॥
कृष्णभागादधः कुर्यादपांगं यावदंजनम् ।

अर्थ—सायंकाल और प्रातःकालमें अंजन लगावे, सर्वकालमें अंजन नहीं लगाना। अत्यंत शरदी, अत्यतगरमी, अत्यंतहवा, तथा जिसदिन आकाश बदलोंसैं घिराहो, इनमें अजन नहीं करना । नेत्रोंके कालेभागके नीचे अर्थात् सपेद भागमें अंजन करना चाहिये ॥

चंद्रोदयवर्ती

शंखनाभिर्विभीतस्य मज्जापथ्यामनःशिला। पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचाचेति समांशकं ॥ छागीक्षीरेण संपिष्य वर्तिं कुर्याद्यवोन्मितां । हरेणुमात्रां संघृष्यजलैः कुर्यादथांजनम् ॥ तिमिरं मांसवृद्धिं च कालं पटलमर्बुदम्। राज्यंधं वार्पिकं पुष्पं वर्तिश्चन्द्रोदया जयेत् ॥

अर्थ—शंखकीनाभि, वहेडेके फलके भीतरकी मिंगी, हरड, मनसिल, पीपर-फालीमिरच, कूठ, वच, ये औषध समान भागले वकरीके दूधमें वारीकपीस जौं के वरावर गोल बत्तीके सदृश वनावे। इसको चंद्रोदयावर्त्ती कहते है। फि, र इस गोलीमेंसैं छोटी मटरके प्रमाण जलमें घिसके अंजनकरे तो तिमिर, मांस वृद्धि, कांचविंदु, पटलगतरोग, अर्बुद, रतोंध, तथा एकवर्षकाफूला, ये संपूर्णरोग दूरहो ॥

(फूलाछरइत्यादिकरोंगोंपरलेखनीवर्त्ती)

पलासपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभाविता।
करंजबीजवर्तिस्तु शुक्रादीन् शस्त्रवल्लिखेत् ॥

अर्थ—कंजेके वीजोंका चूर्णकर, केसूलाके फूलोंके स्वरसकी अनेक भावना देकर वारीकर वत्तीके समान लंवी गोली वनावे। फिर इस गोलीको पानीमें पीस नेत्रोमें लगावे तो शुक्र कहिये फूलेको, मांसवृद्धि, छर इत्यादि सकलरोगों-को शस्त्रसैं काटनेके समान दूरकरे ॥

दूसरीविधि.

समुद्रफेनसिंधूत्थ शंखदक्षांडवल्कलैः
शिग्रुवीजयुतैर्वर्तिः शुक्रादीन् शस्त्रवल्लिखेत्

अर्थ—समुद्रफेन, सैंधानिमक, शंख, मुरगीके अंडेके ऊपरकी सपेदी, सहज-नेके वीज, इन पांच औषधोंको वरावरले पानीमेंपीस वत्तीके समान लंवी गो-ली वनावे। इसको जलमें घिसके नेत्रोंमें अंजन करे तो फूला, छड, इत्यादिक रोगोंको शस्त्रसैं काटनेके समान दूरकरेहै ॥

लेखनीदंतवर्त्ती

दंतैर्दंतिवराहोष्ट्रगोहयाजखरोद्भवैः।
शंखमुक्तांभोधिफेनयुतैः सर्वैर्विचूर्णितैः ॥
दंतवर्तिः कृताश्लक्ष्णा शुक्राणां नाशिनीपरा।

अर्थ—हाथी, सूअर, वैल, घोडा, वकरा, और गद्धा, इनके दांत; शंख, मो-ती, और समुद्रफेन, इन सवका चूर्णकर पानीमें वारीक पीस वत्तीके समान लंवी गोली वनावे। इस गोलीको दंतवर्त्ती कहते है। इसको जलसैं घिसके अं-न करेतो फला दूरहोय [और अनेकनेत्रके विकारोंको दूरकरे है]

तंद्रानाशकलेखनवर्त्ती

नीलोत्पलं शिग्रुबीजंनागकेशरकं तथा ।
एतत्कल्कैः कृतावर्त्तिरतितन्द्रा विनाशयेत् ॥

अर्थ—नीलाकमल, सहजनेके बीज, नागकेशर, इनतीनोंको समान ले पानीसैं पीसके लंबी २ बत्तीके आकार गोली बनावे । इसको जलमें घिसके लगाये तो तंद्राको दूर करे है ॥

रोपणीकुसुमितावर्त्ती

तिलपुष्पाण्यशीतिः स्युः षष्टिसंख्याकणाकणाः ।
जातीकुसुमपंचाशत् मरिचानि च षोडश ॥ सूक्ष्मं पिष्ट्वा जले वर्त्तिः कृताकुसुमिकाभिधा । तिमिरार्जुन शुक्राणां नाशनी मांसवृद्धिहृत् ॥ एतस्याश्चांजने मात्रा प्रोक्तासार्धहरेणुका ।

अर्थ—तिलकेफूल ८०, पीपलकेभीतरकेदाने ६०, चमेलीकेफूल ५० कालीमिरच १६, इन सबका चूर्णकर पानीसैं पीस वत्तीके समान गोली बनावे,इसको कुसुमिकावत्ती कहते है यह गोली डेढ मटरके समान जलमें पीसके नेत्रोंमें अंजनकरे तो तिमिर, अर्जुन, फुला, और मांसवृद्धि, ये रोग दूरहोय ॥

नक्तांध्यनाशिनीवर्त्ती

रसांजनं हरिद्रेद्वे मालतीनिंबपल्लवाः ।
गोशकृद्रससंयुक्ता वर्तिर्नक्तांध्यनाशिनी ॥

अर्थ—रसोत, हलदी, दारुहलदी, चमेलीकेपत्ते, नींवकेपत्ते ये पांचवस्तु समान लेके गौके गोवरके रसमें वारीक पीस गोली बनावे, जलमें घिसकैं नेत्रोंमें अंजन करेतो रतोंध (जिसको रातमें न दीसे वह रोग) दूरहोवे ॥

नेत्रस्रावनाशकवर्त्ती

धान्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च ।
पिष्ट्वावर्त्तिं जलैः कुर्यादंजनं द्विहरेणुकम् ।
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजंतथा ॥

आंवलेके भीतरकाबीज १ भाग, वहेडेके भीतरकी मिंगी, २ भाग रकी मिंगी २ भाग, सब बीजोंको एकत्र कर पानीसै वारीक पीस

वत्तीके समान लंवी गोली वनावे, फिर उस गोलीमेसैं दो रेणुकावीजकी वरावर पानीमें घिसके अंजन करे तो नेत्रोंसैं जलका स्राव होनेको तत्काल दूरकरे, तथा वातरक्त संवंधी पीडा दूरहोवे ॥

रसक्रिया

तुत्थमाक्षिकसिंधूत्थसिताशंखमनःशिलाः । गैरिको
दधिफेनं च मरिचं चेति चूर्णयेत् ॥संयोज्य मधुना कु-
र्यादंजनार्थं रसक्रियाम्।वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्रहरांपराम्॥

अर्थ—नीलाथोथा, सुवर्णमाक्षिक, सैंधानिमक, मिश्री, शंख, मनसिल, गेरू, समुद्रफेन, और कालीमिरच, इनसवकों, समान भागले वारीक चूर्णकर सहतमें मिलाय अंजनकरे तो पलकोका रोग, अर्मरोग, तिमिर, कांच, और शुक्ररोग इनको हरणकरे ॥

फूलादूरहोनेकोरसक्रिया

वटक्षीरेण संयुक्तो मुख्यः कर्पूरजः कणः
क्षिप्रमंजनतो हंति कुसुमं च द्विमासकम् ॥

अर्थ—वडके दूधमें कपूरको घिसके नेत्रोंमें अंजन करे तो दोमहिनेका फूला शीघ्र दूरहो ॥

अतिनिद्रादूरहोनेकोंलेखनीरसक्रिया

क्षौद्राश्वलालासंघृष्टैर्मरिचैर्नेत्रमंजयेत् ।
अतिनिद्राशमं याति तमः सूर्योदयादिव ॥

अर्थ—सहत और घोडेकीलार इन दोनोकों एकत्र कर इसमें कालीमिरच को पीस अजन करे तो अत्यंत निद्राका आनादूरहो । जैसे सूर्योदय होनेसैं अंधकार नष्टहोताहै इस प्रकार इस औषधके लगानेसे नींद तत्काल जातीहै ॥

तंद्रानाशिनीरसक्रिया

जातीपुष्पं प्रवालं च मरिचं कटुकी वचा ।
सैंधवं वस्तमूत्रेण पिष्टं तन्द्राघ्नमंजनम् ॥

अर्थ—चमेलीकेफूल, मूंगा, कालीमिरच, कुटकी, वच, और सेंधानिमक, ये औषध समान भागले. वकरेकेमूत्रमें पीसके अंजन करेतो तंद्रा दूरहो ॥

सन्निपातमेंलेखनीरसक्रिया

शिरीषबीजगोमूत्र कृष्णामरिचसैंधवैः ।
अंजनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ॥

अर्थ—सिरसकेबीज, पीपल, कालीमिरच, सैंधानिमक, लहसन, मनसिल, औरवच, ए सब समानले गोमूत्रमे बारीक पीसके अंजन करेतो सांनिपातजन्य संज्ञानष्टताको दूरकर मनुष्यको चैतन्यकरे ॥

तिमिरादिरोगेंमेंरोपणीरसक्रिया

गुडूचीस्वरसैः कर्षैः क्षौद्रं स्यान्माषकोन्मितं । सैंधवं क्षौद्रतुल्यं स्यात्सर्वमेकत्र मर्दयेत् ॥ अंजयेन्नयनं तेन पिल्लार्मतिमिरं जयेत् । काचं कंडू लिंगनाशं शुक्लकृष्णागतान् गदान् ॥

अर्थ—गिलोयका स्वरस—१ कर्षलेउसमे सहत, और सैंधानिमक, ए एक २ मासे डालके अच्छी रीतिसैं खरलकरे; इसका नेत्रोंमें अजन करे तो पिल्लार्म, तिमिर, कांच, खुजली, लिंगनाश, नेत्रोके सपेदभागमें और काले भागमें होने वाले सपूर्ण नेत्ररोग दूरहो ॥

पुनर्नवाकेअनुपान

दुग्धेन कंडुं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा ।
पुष्पं तैलेन तिमिरं कांजिकेन निशांधतां ॥
पुनर्नवाजयेदाशु भास्करस्तिमिरं यथा ।

अर्थ—पुनर्नवा (सांठकीजड) को दूधमें पीस नेत्रोंमें अंजन करेतो नेत्रोंकी खुजली दूरहो । सहतमें घिसके लगावे तो नेत्रसें पानीका गिरना दूरहो । घीमें घिसके लगावे तो फूलाको दूरकरे । तेलमें घिसके लगावे तो तिमिर दूरहो । कांजीमें घिसके लगावे तो रत्तांध दूरहो । जैसें सूर्य अंधकारको शीघ्र नष्ट करेहै इस प्रकार पुनर्नवा अनुपान भेदकरके सर्व रोगोको दूरकरे । किसी ग्रंथमें इस-पाठसैं कुछ २ फरक लिखा है ॥

नेत्रस्रावमेंरोपणीरसक्रिया

वल्गूलदलनिःक्काथो लेहीभूतस्तदंजनात् ।

---

१ घृतेन पुष्पं मधुनास्रुपात तैलेन काड तिमिर जलेन ।
रात्र्यंधतो वा सहकाजिकेन पुनर्नवा नेत्रपुनर्नवाकरी ॥

नेत्रास्रावं जयत्येष मधुयुक्तो न संशयः ॥

अर्थ—बबूरके पत्तोंका क्काथ गाढा होनेपर्यंत ओंटावे, फिर उसमें थोडा सहत डाल नेत्रोंमें अंजनकरे तो नेत्रोंके जल गिरनेको अवश्य दूरकरे ॥

दूसराप्रकार

हिज्जलस्य फलं घृष्ट्वा पानीये नित्यमंजनात् ।
नेत्रस्रावं जयत्येष मधुयुक्तो न संशयः ॥

अर्थ—हिंजलके फलको पानीसैं पीस सहतडाल निस अंजन करे तो नेत्रोंसे पानी गिरना दूरहोवे ॥

नेत्रप्रसादन

कतकस्यफलं घृष्ट्वा मधुना नेत्रमंजयेत् ।
ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम् ॥

अर्थ—निर्मलीके फलको सहतमें घिस और उसमें थोडासा कपूर मिलाय नेत्रोंमें लगावे तो नेत्र स्वच्छहो ॥

शिरोत्पातरोगमेंअंजन

सर्पिः क्षौद्रं चांजनं स्यात् शिरोत्पातस्य शांतये ।

अर्थ—घी और सहत दोनोको एकत्र कर इसको नेत्रोंमें अंजन करेतो नेत्ररोगमें जो शिरोत्पात रोगहै वो दूर होवे ॥

आंधरापनदूरहोनेकोरसक्रिया

कृष्णसर्पत्वसाशंखः कतकाफलमंजनम् ।
रसक्रियेयमचिरादंधानां दर्शनप्रदा ॥

अर्थ—काले सांपकी चर्बी, शंख, और निर्मलीके बीज, इनको एकत्र बारीक पीस नेत्रोंमें अंजनकरे तो यह रसक्रिया अंधे मनुष्यको शीघ्र दीखनेलगे ऐसा करतीहै ॥

अंजनयोग

दक्षांडत्वक्शिलाकाचैः शंखचंदनगैरिकैः ।
द्रवैरंजनयोगोऽयं पुष्पार्मादिविलेखनः ॥

अर्थ—मुरगेके अंडेकी सपेदी, मनसिल, सपेदकांच, शंख, सपेदचंदन, गै-

रू, इन छः वस्तुओंको समानभागले वारीक चूर्ण कर नेत्रोंमें अंजन करेतो फूला और मांसार्मादिक रोग नष्टहोवे ॥

रतौंधदूरहोनेकोलेखनचूर्णांजन

कणा छागयकृन्मध्ये पक्वा तद्रसपेषिता ।
अचिराद्धंति नक्तांध्यं तद्वत्सक्षौद्रभूषणम् ॥

अर्थ—बकरेके कलेजेके मांसमें पीपल भरके अंगारोंपर पाक करे, फिर उस मांसका रस निचोड उस रसमें उस पीपलको पीसके नेत्रोंमें अंजन करे तो रतौंध बहुत जल्दी दूरकरे ॥

कंडूकाचादिपरलेखनचूर्णांजन

शाणार्द्धं मरिचं द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः ।
शाणार्द्धं सैंधवं शाणानवसौवीरकांजनम् ॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णांजनमिदं शुभम् ।
कंडूकाचकफार्त्तानां मलानां च विशोधनम् ॥

अर्थ—कालीमिरच आधे शाण, पीपल और समुद्रफेन ये दोदो शाण लेवे, सैंधा निमक आधे शाण, सुर्मा नौ शाण, इन सब औषधोंको जिसादिन चित्रा नक्षत्रहोय उसदिन उत्तमप्रकार पीसके चूर्णकरे; फिर इस चूर्णका नेत्रोंमें अंजन करे तो खुजली, कांच ये दूरहोवे । तथा कफकरके पीडित नेत्रोंके मलको शोधन करेहै ॥

सर्वनेत्रकेरोगमेंअंजन

शिलायारसकं पिष्ट्वा सम्यगाडाव्य वारिणा । गृण्हीयात्तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् ॥ शुष्कं च तज्जलं सर्वं पर्पटीसंनिभं भवेत् । विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥ कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत् । अंजयेन्नयने तेन सर्वदोषहरं हि तत् ॥
सर्वरोगहरं चूर्णं चक्षुषोः सुखकारि च ।

अर्थ—खपरियाको स्यामूसाके खरलमें उत्तम रीतिसें पीस बारीक चूर्ण करे फिर इस चूर्णको पानीमें डाल देवे, और उस पानीको हाथोंसें खूब हिलाय तत्काल दूसरे पात्रमें कर ले पहले पात्रमें जो बडे २ टुकडे निकले

उनको फैकदेवे । फिर उसको थोडीदेर धरा रहनेदे इस प्रकार करनेसैं वो सप-
रियाका सब चूर्ण पानीके तले जम जावेगा उसको दूसरे पात्रमें सुखाय लेवे तो
उसकी पपडी जम जावेगी उस पर्पटीका चूर्ण कर उस चूर्णमें त्रिफलेके का-
ढेकी तीन पुट देवे, फिर उस चूर्णका दशवाँ भाग कपूर मिलावे, सबको एक
जीव कर इसका नेत्रोंमें अंजन करे तो सर्वदोप और नेत्रके सर्व रोग दूर हो कर
नेत्रोंको सुख होवे ॥

सर्वनेत्ररोगोंपरसौवीरांजन

अग्नितप्तं च सौवीरं निषिंचेत् त्रिफलारसैः । सप्तवेलं
तथा स्तन्यैःस्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम्॥ अंजयेन्नयने
तेन प्रत्यहं चक्षुषे हितं । सर्वानक्षिविकारांस्तु हन्या-
देतन्न संशयः॥

अर्थ—सुरमाको अग्निपर तपाय २ के त्रिफलेके काढेमें बुझायदे जब
शीतल होजावे तब फिर गरम करे और बुझावे इसप्रकार सातवार बुझावे, इसी
प्रकारस्त्रीके दूधमें सातवार बुझावे फिर उसको शीतलकर बारीक चूर्ण कर नेत्रमें
अंजनकरे, यह अंजन नेत्रोंको परमहितकारी है । इससैं सर्व नेत्रके विकार दूर
होते है इसमें संशय नहीं है॥

शिशेकीसलाईबनानेकाक्रम

त्रिफलाभृंगशुंठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा । गोमूत्रमध्व-
जाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः ॥ तच्छलाका भव-
त्येव सर्वान्नेत्रभवान् गदान् ॥ नाशयेदितिशेषः ॥

अर्थ—शीशेको गलाय २ के त्रिफलेका काढा, भांगरेकारस, सोंठकाकाढा,
घी, गोमूत्र, सहत, और बकरीका दूध, इन प्रत्येकमें सात २ वार बुझावे, फिर उ-
सकी सलाई बनावे; इस सलाईको नेत्रोंमें फेराकरेतो नेत्रके सर्वविकार दूरहोवे ॥

प्रत्यंजनकरनेकाविधान

गतदोषमपेताश्रु संपश्यन्सम्यगंभसि ।
प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यंजनं ततः॥

अर्थ—उस शीशेकी सलाईसै नेत्रोंमें अंजन करे, जब दोष दूरहोकर नेत्रोंसैं
पानी गिरजावे तब रोगी एकक्षण शीतलपानीको देखे, फिर उस रोगीके नेत्रों

लसैं धोयके दोषोंके अनुसार फिर नेत्रोंमें प्रत्यंजन करे, उस प्रत्यंजनको कहतेहै ॥

सदोषनेत्रमेंनिषेध

न वा निर्गतदोषेक्षि धावनं संप्रयोजयेत् ।
प्रत्यंजनं तीक्ष्णतप्ते नेत्रे चूर्णः प्रसादनः ॥

अर्थ—नेत्रोंसैं दोषोंके न निकलने पर नेत्रोको जलसैं धोवे नही, और तीक्ष्णअंजन करके नेत्र संतप्त होनेपर उनमें प्रत्यंजन चूर्णकरे सो आगेके श्लोकोंमें कहा है । अथवा प्रसादनचूर्णकरे ॥

प्रत्यंजनचूर्ण

शुद्धे नागे द्रुते तुल्ये शुद्धं सूतं विनिक्षिपेत् । कृष्णांजनं तयोस्तुल्यं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ॥ दशमांशेन कर्पूरं तस्मिन् चूर्णे प्रदापयेत् । एतत्प्रत्यंजनं नेत्रगदजिन्नयनामृतम् ॥

अर्थ—शुद्धशीशेको तपावे जब गलजावे तब उसमें बराबरका शुद्धपारा मिलायदे फिर इन दोनेके समान सुरमा मिलायके एककर सबका बारीक चूर्णकरे, तथा सब चूर्णका दशवां भाग भीमसेनी कपूर मिलावे, इसको प्रत्यंजन चूर्ण कहते है । इसके लगानेसैं संपूर्ण नेत्ररोग दूरहो, तथा यह चूर्ण नेत्रोंको अमृतके समान सुखकारी है ॥

सर्पविषनाशकअंजन

जयपालस्य मज्जां च भावयेन्निंबुकद्रवैः । एकविंशतिवेलं ततो वर्त्तिं प्रकल्पयेत् ॥ मनुष्यलालया घृष्ट्वा ततो नेत्रे तयांजयेत् ॥ सर्पदष्टविषं जित्वा संजीवयति मानवम्

अर्थ—जमालगोटेके भीतरकी मिंगी लेकर चूर्णकरे फिर इसमें नींबूके रसकी २१ इसकी पुट देवे, पीछे इसकी लंबी बत्तीबनावे, इस गोलीको मनुष्यकी लारमें घिसके नेत्रोंमे आंजे यह सांप कांटे हुए प्राणीके विषको दूरकर जिवाता है अर्थात् सावधान करताहै ॥

नेत्ररोगनाशनसुगमोपाय

भुक्त्वापाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते ।
जातरोगा विनश्यंति तिमिराणि तथैव च ॥

अर्थ—भोजन करनेके पश्चात् हाथोंको धोवे फिर वोही गीले हाथोंकी हथेलीको आपसमें घिसकर नेत्रोंमें लगावे तो उत्पन्नहुए नेत्ररोग-तथा तिमिररोग आदि संपूर्ण नेत्ररोग दूरहोवे ॥

तथाउपायांतर

शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः कालत्रयेण नयन
द्वितयं जलेन । आसिंचति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि
रोगव्यथा विधुरतां भजते मनुष्यः ॥

अर्थ—नित्य दिन दिनमें तीनवार शीतलजलसैं मुखको भरके और दूसरे शीतलजलसैं नेत्रोंके तीनवार छींटा मारे तो अति दुखदायक नेत्ररोगसंबंधी पीडा कदाचित् नहीं होय । यह उपाय बहुतही सहजका और अत्यत गुणदायकहै सब मनुष्योंको उचित है कि इसको अवश्य किया करे इतनी दत्तरामचौवे की प्रार्थना है ॥

अथसंधानविधिः

द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्संधितं भवेत् ।
आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उपयुक्त जलादि द्रव पदार्थोंमें औषध डालके फिर पात्रके मुखको बांध मुद्रादेकर बहुत काल (मास, पक्ष) पर्यंत धरा रहनेदे, फिर उससैं उत्सेक (दाब्नेकालनेकी क्रिया) द्वारा एक नवीन पदार्थ उत्पन्न होवे उस क्रियाको संधान क्रिया कहते है तथा उस औषधोंचित संधान को आसव और अरिष्ट ऐसैं दो भेदो करके कहते है ॥

आसवारिष्टयोर्लक्षणम्

यदपक्वौषधांबुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ।
अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम् ॥ २ ॥

अर्थ—अपक्व औषध और जलद्वारा संपादित (बनाएहुए) मद्य (दारू)

कराना यह गुण अधिक है इसीको प्रभाव जानना । और दाख-मुलहटी ये समान रस होने परभी दाख दस्तलाती है मुलहटी नही तो यहां दाखमें अधिक प्रभाव है। तथा घृत और दूधके समान गुण है परंतु घृतमें दीपन शक्ति अधिकहै। एवं आवले और वडहर ये समान रसहें तथापि आमला त्रिदोष नाशकहै वडहर नहीं । और कहीं२केवल एकही द्रव्य प्रभाव करके विलक्षण कर्मकरे है जैसें सहंईकी जडमस्तकमें वांधनेसै ज्वरको नाशकरे है इत्यादि प्रभावके उदाहरणजानने।

अमीमांस्यान्यचिंत्यानिप्रसिद्धानिस्वभावतः ।
आगमेनोपयोज्यानिभेषजानिविचक्षणैः ॥

अर्थ—जो औषध स्वभावकरके प्रसिद्धहै उसको जहां शास्त्रकहे उसी जगेदेवे क्योंकि औषधियोंमें तर्क वितर्क नही करीजाय इनमें अचिंत्यवीर्य है अवएव विचारनको।

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्चस्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान्परीक्षेतकदाचन ॥

अर्थ—जो औषधी प्रत्यक्ष फलदेने वाली और लक्षण जिसके प्रसिद्ध है उसकी विद्वान्—हेतुओंकरके कदाचित् परीक्षा न करे [अर्थात् इस हेतुसै ये औषध शीतल होनी चाहिये इसने उष्णगुणकैसैं करा] यह परीक्षा त्यागदेवे ॥

विरुद्धगुणसंयोगेभूयसाल्पंहिजायते ।
रसंविपाकस्तौवीर्यंप्रभावस्तान्व्यपोहति ॥

अर्थ—विरुद्ध गुण औषधी वहुतसी एक ठिकाने पर होनेसैं विपाक रसका नाशकरे है तथा रस और विपाक इनकावीर्य नाशकर्त्ता हैं और रस-विपाक-और वीर्य इनका प्रभाव नाशकरे है ऐसा जानना ॥

॥ इति रसवीर्य विपाकनिर्णयंसमाप्तम् ॥

अथपंचकषायाः

स्वरसश्चतथाकल्कःक्वाथश्चहिमफांटकौ ।
ज्ञेयाःकषायाःपञ्चैतेलघवःस्युर्यथोत्तरम्॥

अर्थ—स्वरस-कल्क-काथ-हिम-फांड-येपांच कषाय है क्रमसैं एककी अपेक्षा दूसरी हलकी है—अर्थात् स्वरसकी अपेक्षा—कल्क कल्ककी अपेक्षा काथ काथकी अपेक्षा हिमहलका है इसी प्रकार और भीजानो ॥

तत्रादौस्वरसविधिः

आहतात्ततत्क्षणाकृष्टाद्द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्धरेत्।
वस्त्रनिष्पीडितोयःसरसःस्वरसउच्यते॥आहतात्
शीताग्निकीटादिभिरनुपहतात् । क्षुण्णात्संपिष्टात् ॥

अर्थ—कीडा-शीत-अग्नि इत्यादीकरके अदूषित अैसी वनस्पती को लाय-कर उसको कूटपीस कपडेमें डालके निचोडनेसैं जो रस निकलेउसको स्वरस अ-थवा अंगरसकहते है ॥

दूसराप्रकार

कुडवंचूर्णितंद्रव्यंक्षिप्तंचाद्विगुणेजले ।
अहोरात्रंस्थितंतस्माद्भवेद्स्वारसउत्तमः ॥

अर्थ—पावभर सूखी औषधको कूट आधसेर जलमें भिगोय देवे उ-सको एकादिन रात्रि धरा रहनेदे फिर दूसरे दिन उसपानीको कपडेमें छानलेवे तो उसको भी रस वा स्वरस कहते है. यहभी एक प्रकार स्वरसका है ॥

तीसराप्रकार

आदायशुष्कद्रव्यंवास्वरसानामसंभवे ।
जलेष्टगुणितेसाध्यंपादशिष्टंचगृह्यते ॥

अर्थ—जिस सूखीऔषधका स्वरस न निकलता होय उसको लाय कूटकर आठगुने पानीमें डालके मंदाग्निसै ओंटावे जब चतुर्थांश जल बाकी रहे तब उतारके छानलेवे तो इसको भी स्वरस कहते है-यह तीसरा प्रकार कहा ॥

स्वरसस्यगुरुत्वाच्चपलमर्द्धंप्रयोजयेत् ।
निःशोषितंचाग्निसिद्धंपलमात्रंरसंपिबेत् ॥

अर्थ-किसी औषधका स्वरसहो तब भारी अधिक होते है अतएव यदि उस रसको किसी औषधमें डालना होवे तो अर्द्धपल(२ तोले) डाले । तथा सुखायकर काढा हुआ अथवा अग्निपर काढाकरके काढा हुआरस ४ तोले पीनाचाहिये ॥

कल्कविधिः

द्रव्यमार्द्रंशिलापिष्टंशुष्कंवासज्जलंभवेत् ।
प्रक्षेपोवापकल्कास्तेतन्मानंकर्षसंमितम् ॥

---

१ प्रक्षिप्यगालयेद्वस्त्रे तन्मानं कोलसंमितम् । इतिपाठांतरम् ।

अर्थ—गीली औषधको लाय चटनीके समान बारीक पीसे यदि सूखी औष धहोवे तो पानीडालके बारीक पिसावे उसको कल्क ऐसाकहते है इसके लेनेका प्रमाण, कर्षकहा है—अर्थात् एक तोला है इसको प्रक्षेप और आवापभी कहते है॥

कल्केमधुघृतंतैलंदेयंद्विगुणमान्नया ।
सितागुडौसमौदद्याद्द्रवादेयाश्चतुर्गुणाः ॥

अर्थ—कल्कमें सहत—घृत—और तेल ये डालनाहोयतो कल्कसैं दुगना मिलावे तथा खांड और गुड ये पदार्थ डालने होयतो कल्कके समान मिलावे तथादूध—जल आदि शब्दकरके पतले पदार्थ मिलाने होयतो कल्कके चौगुने मिलाने चाहिये॥

क्वाथ (काढेकी) विधिः

पानीयंषोडशगुणंक्षुण्णेद्रव्येपलेक्षिपेत्।मृत्पात्रेक्वाथ-
येद्ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् तज्जलंपाययेद्धीमान्को
ष्णमृद्वग्निसाधितं ।शृतःक्वाथःकषायश्चनिर्यूहःसनिगद्य
ते॥आहारेरसपाकेचजातेचद्विपलोन्मितम्।वृद्धवैद्योपदे
शेनपिबेत्क्वाथंसुपाचितम् ॥

अर्थ— १ पलप्रमाण औषधले जो कुटकर उस औषधका सोलहगुना जल डाल किसी मिट्टीके पात्रमें भरके चूल्हैपर चढावे फिर नीचे मंद २अग्नि देवे जबजलका आढवा भाग शेष रहे तब उस काढेको उतारलेवे और कपडेसैं छान कर कुछगरम २ रोगीको पिलावे तथा रोगीके उत्तमप्रकार अन्नका परिपाक होनेपर इसको वृद्धवैद्यकी आज्ञासैंदेवे—इसकाढेको शृत—क्वाथ—कषाय—और निर्यूहभी कहते है अर्थात् ए नाम पर्यायवाचक है ॥

कर्षादौतुपलं यावद्दद्यात्पोडशकंजलम् ॥
ततस्तुकुडवं यावत्तोयमष्टगुणंक्षिपेत् ॥
चतुर्गुणमतश्चार्द्धं यावत्प्रस्थादिकंजलम् ॥

अर्थ—कर्षसै लेकर पल पर्यंत सोलह गुनाजल डाले, पलसैं उपरांत कुडव पर्यंत अष्टगुना जल डाले, और कुडवसै लेकर प्रस्थ पर्यंत क्वाथमे चौगुना जल डाले, यह क्वाथमें जल डालनेकी क्रियाकही ॥

मात्रोत्तमापलेनस्यात्त्रिभिरक्षैस्तुमध्यमा ।जघन्यातु
पलार्द्धेनस्नेहक्वाथौपघेपुच॥पानेक्वाथादिद्रव्यावस्था ।

अर्थ—स्नेह-काढा-और औषध इसकी उत्तम मात्रा १ पलकी है और तीन अक्षअर्थात् ३ तोलेकी मध्यम है-और पलार्ध (२ तोले) की मात्रा मध्यमहै ॥

क्वाथमेतोलकापरिमाण

दशरक्तिकमानेनगृहीत्वातोलकद्वयम् ।
दत्त्वाम्भःषोडशगुप्तंग्राह्यंपादावशेषितम् ॥

अर्थ—दशरत्तीका मासा इसप्रमाणसैं २ तोले औषध लेकर उसमें ३२ तोले जल मिलायमंदाग्निसैं काढाकरे जब चतुर्थांश रहे तब उतार छानके रोगीकोदेवे॥

क्वाथमेंमिश्रीसहतडालनेकाप्रमाण

क्वाथेक्षिपेत्सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः।
वातपित्तकफातङ्केविपरीतंमधुस्मृतम् ॥

अर्थ—काढेमें खांडडालनीहोयतो वातरोगमें काढेकी चतुर्थांश डाले, पित्तरोगमें आठवांहिस्साडाले,औरकफरोगमें सोलहवांहिस्साडाले और यदिसहत डालनाहोयतो खांडसैं विपरीत डाले अर्थात् कफकेरोगमें सहत चतुर्थांश. वातमें षोडशांश और पित्तमें अष्टमांश. ॥

हिमविधिः

क्षुण्णद्रव्यपलंसम्यक्षड्भिर्नीरपलैःप्लुतम् । निःशोपितंहिमः
सस्यात्तथाशीतकषायकःतस्यमानंमतंपानेपलद्वयमितंबुधैः।

अर्थ— कुटीऔषध १ पलको ६ पलजलमें भिगोयदेवे रात्रिभर धरीरहनेदे. इसको हिम अथवा शीतकषाय कहतेहै । इसकी मात्रा ८ तोलेकाहै ॥ "तन्मानंफांटवद्ज्ञेयं सर्वत्रैष विनिश्चय"अर्थात् इस हिमकी मात्रा फांटकेसमान जाननी यह सर्वत्र निश्चयहै ॥

मथ

मंथोपिफांटभेदःस्यातेनचात्रैवकथ्यते । जलेचतुःपलेशीतेक्षु
ण्णंद्रव्यंपलंक्षिपेत्।मृत्पात्रेमंथयेत्सम्यक्तस्माच्चद्विपलंपिबेत् ॥

अर्थ—मंथभी फांटकाभेदहै अतएवउसको भी इसीजगे कहतेहैं । एकपल औषध ले उसको कूटकै४पलशीतलजलमें भिगोयदेवे, फिरमिट्टीके पात्रमें उसको मंथन करे फिर उसपानीको छानके देवे उसको मंथकहतेहै इसकी मात्रा दोपलकीहै॥

अवान्तरभेदोतंडुलोदकमाह

तंडुलंकनशःकृत्वापलंग्राह्यंहितंडुलात् ।

चतुर्गुणंजलंदोयंतंडुलोदककर्मणि ॥
शीतकषायमानेनतंडुलोदककल्पना॥

अर्थ— १ पल चावलोंको कूट किनकीकरले उसको ४ पलवा ६ पल जलमें भिगोयदेवे. थोडीदेरकेवाद उसका नितराहुआ पानी लेलेवे तो तंदुलोदकवने. जहांकहीतंदुलोकाजल लिखाहोय वहां इसप्रकारवनाहुआजल लेवे ॥

फांटविधिः

क्षुण्णेद्रव्यपलेसम्यक्जलमुष्णंविनिक्षिपेत् ।
मृत्पात्रेकुडवोन्मानंततस्तुस्रावयेत्पटात् ॥
तन्मानंफांटवत्ज्ञेयंसर्वत्रैषसुनिश्चयः।
मधुश्वेतागुडार्दीश्चकाथवत्तत्रनिक्षिपेत् ॥

अर्थ—१ पलऔषधको कूटके मिट्टीकेपात्रमें एककुडवप्रमाण गरमजल डालके भिगोवे फिर थोडी देरके वादउसको छानके पीवे—इसे फांट—तथा चूर्णद्रव भी कहतेहै. इसफांटकी मात्रा दोपलकीहै- तथा फांटमें सहत-मिश्री-तथा गुडआदिक्वदसैंऔर जो वस्तु डालनीहो वो जिसप्रमाण काढेमेंडालनाकहाहैउसीप्रकारडाले।

यवागूकीविधिः

साध्यंचतुः पलंद्रव्यंचतुः षष्टिपलेजले ।
तत्क्वाथेनार्धशिष्टेनयवागूंसाधयेद्घनाम् ॥

अर्थ—चारपलप्रमाण औषधकोकूटके ६४ पलजलमें आधा रहनेपर्यंत औंटावे जवआधारहे तवउतारके उसको छानलेवे. उसछानेहुएजलमें चावल. मूंगआदिद्रव्यजो कहेहै डालके फिरकाढाकरे तो इसको यवागू कहतेहै ॥

विलेपीलक्षण

विलेपीचघनासिक्थासिद्धानीरेचतुर्गुणे ।
बृंहणीतर्पणीहृद्यामधुरापित्तनाशिनी ॥

अर्थ—चौगुनेपानीमें डालके औटायके लेहापसीकेसमानगाढी और चिपकनेवाली वनावे उसको विलेपी अेसा कहते है । यह विलेपी धातुवर्द्धक शरीरको पुष्टकारी-हृदयको हितकारी-तथामधुर होनेसैं पित्तकी नाशकर्त्ता है ॥

१ सस्याच्चूर्णद्रवःफांटस्तन्मानाद्विपलोन्मितम् ।

पानादिकल्पना

क्षुण्णंद्रव्यपलंसाध्यंचतुःषष्टिपलेंबुनि ।
अर्द्धशिष्टंचतद्देयंपानेभक्तादिसंविधौ ॥

अर्थ—कुटीहुई १ पलद्रव्य ६४ पलजलमें डालके आधापानी रहने पर्यंत ओंटावे फिरउसको छानके प्यासलगनेमें पीनेको थोडा २ देवे—तथा भोजनके समय देनेका प्रकार आगे कहेंगे ॥

मधुश्वेतगुडक्षारान्जीरकंलवणंतथा ।
घृतंतैलंचचूर्णादी न्कोलमात्रान्रसेक्षिपेत् ॥

अर्थ—सपेद सहत—गुड—क्षार—जीरा—लवण—घी—तेल—और इतर चूर्णादिक ये रसमें डालने होयतो छःछःमासे डालने चाहिये ॥

प्रमथ्याकीविधिः

प्रमथ्याप्रोच्यतेद्रव्यपलात्कल्कीकृताद्दृशम् ।
ततोष्टगुणितेतस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥

अर्थ—एकपल औषधको कूटकर कल्ककरे यदि सूखी औषधहोयतो पानीमें पीसके कल्ककरे उसमें अठगुनापानी डालके दोपलरहने पर्यंत उसको ओंटावे इसको प्रमथ्या कहते है इसके सेवनकी मात्रा २ पलकी है ॥

यूषकीविधिः

कल्कद्रव्यपलंशुंठीपिप्पलीचार्द्धकार्षिकी ।
वारिप्रस्थेनविपचेत्सद्रवोयूषउच्यते ॥

अर्थ—कल्ककी औषध सामान्य १ पललेय तथा जिस प्रयोगमें सोंठ—और पीपर होय वह प्रयोग तीक्ष्ण होनेसें आधा २ कर्षलेवे अथवा दोनोंमिलायके आधे कर्षलेय फिर उनका कल्ककर उसमें पानी एक प्रस्थडालके ओटावे जब औंटके कुछ गाढापेयाके समान होजावे तब उतारले इसको यूषएसा कहते है ॥

पेयालक्षण

द्रवाधिका स्वल्प सिक्था चतुर्दश गुणे जले ॥ सिद्ध पेया बुधैर्ज्ञेया यूष किंचिद्घनःस्मृतः ॥ पेयालघुतराज्ञेयाग्राहि णीधातुपुष्टिदा ॥ यूषोबल्यस्ततःकंठ्योलघुपाकःकफापहः ॥

अर्थ—द्रव्यसें चौगुना जलडालके पतली पेजके समान तथा कुछ गाढी हो-

य तक्तंक ओटावे इसकोपेया ऐसाकहते है । पेयाकी अपेक्षाजो कुछ अधिक गाढाहो उसको यूपकहते है । तहाँ वहपेया बहुत हलकी होनेसैं मलादिकोंका स्तंभन करती है. तथा धातु पुष्टकरे । और यूपबलदेताहै, कंठको हितकारी-हलका तथा कफको दूर करने वालाहै ॥

पुटपाककीविधिः

पुटपाकस्यकल्कस्यस्वरसोगृह्यतेयतः ।
अतस्तुपुटपाकानांयुक्तिरत्रोच्यतेमया ॥

अर्थ—पुटपाक और कल्क इन दोनोका स्वरस लेते है इसी कारण पुटपाककी युक्तिमें कहताहूं ॥

पुटपाककीकृति

पुटपाकस्यमात्रेयंलेपस्यांगारवर्णता ॥लेपंचद्व्यंगुलं-
स्थूलंकुर्याद्द्व्यंगुष्ठमात्रया॥काश्मरीवटजंब्वादिपत्रैर्वेष्ट
नमुत्तमम् ॥पलमात्ररसोग्राह्यःकर्षमात्रंमधुक्षिपेत्॥क-
ल्कचूर्णद्रवाद्यास्तुदेयास्वरसवद्बुधैः ॥

अर्थ—पुटपाककी मात्राका प्रमाण इसप्रकारकरे कि ऊपरकराहुआलेप अग्निमें अंगारेके समान लालवर्ण होने पर्यंत उसको अग्निमें राखे—तथा जिसद्रव्यका लेप देना होयतो दो अंगुल अथवा एक अंगुलमोटा देवे और लेपके ऊपरनीके पत्ते लपेटनेके लिये-कंभारी-वट-जामुन इत्यादिके उत्तम होते है-तथा पुटपाकमें रसडालना होयतो चारतोले तथा तोलेभर सहत और कल्कचूर्ण द्रवादिकपदार्थ स्वरसके मान प्रमाण उत्तम जाननेवाला वैद्य मिलावे ॥

पाठान्तरं

द्रव्यमापोथितंजंबूवटपत्रादिसंपुटैः ॥ वेष्टयित्वाततो
यद्वाद्दढंरज्ज्वादिनातथा ॥मृल्लेपद्व्यंगुलंकुर्यादथवांगु-
लिमात्रकं दहेत्पुटान्तरादन्यावल्लेपस्यरक्तता ॥

अर्थ-जिसद्रव्यका पुटपाक करनाहो उसको कूटके गोलाबनावे उसको जांबड आदिके पत्तोंसें लपेट ऊपर रस्सी आदिसें कसदे फिर ऊपर दोदो अंगुल मोटा मिट्टीका लेपकरे अथवा एक अंगुल मोटालेपकरे उसको अग्निके बीचधरके अग्निदेवे जबलाल होजावे तब निकाल रसनिचोडले-यह दृग्गीदियि व

चांवलधोनेकीक्रिया

कंडितं तंडुलपलंजलेष्टगुणिते क्षिपेत्।
भावयित्वाजलंग्राह्यंदेयंसर्वत्रकर्मसु ॥

अर्थ—एक पल विने फटके हुए चावललेकर उसमें आठपल जलडालके हाथोंसैं मीडकर धोवे फिर उसपानीको सर्व कर्ममें देवे ॥

अवलेहकल्पना

क्काथादीनांपुनःपाकात्घनत्वंसारसक्रिया। सोवलेहश्च लेहश्च प्राशइत्युच्यतेबुधैः। सिताचतुर्गुणाकार्याचूर्णाच्चद्विगुणोगुडः।द्रवंचतुर्गुणंदद्यादितिसर्वत्रनिश्चयः।सुपक्वेतन्तुमत्त्वंस्यादवलेहेऽप्सुमज्जनं। स्थिरत्वंपीडितेंमुद्रागंधवर्णरसोद्भवः।।दुग्धमिक्षुरसंयूषंपंचमूलकषायजं। वासाक्काथंयथायोग्यमनुपानंप्रशस्यते ॥

अर्थ—औषधोंके काढे तथा फांटादिकको फिर ओटाकर चासनीके समान गाढीकरे उसको रस क्रिया कहते है। उसरसक्रियाके पर्याय शब्द अवलेह-लेह-और प्राशयेहै। उस अवलेहके लेनेका प्रमाण एकपल कहाहै। तथा उसमे खांड क्काथचूर्णसे चौगुनी गुड चूर्ण सैं दुगना-और पानी-दूध- मूत्र-और दूसरे पतले पदार्थ चूर्णसैं चौगुने लेने चाहिये ऐसा अवलेहमें सर्वत्र नियमहै। उस अवलेहके उत्तम पाककी परीक्षा कहते है कि पाकहोनेपर अवलेहमें तार निकलने लगता है तथा उस अवलेहकी बूंदको पानीमें गेरनेसैं डूब जाती है। तथा अवलेहको कडछुलेमें लगानेसैं चिपक जाती है तथा उस पाकका गंध वर्ण और रस ये अपूर्व होते है इसप्रकार क्काथका उत्तम पाक होनेके लक्षण जानने। तथा उस अवलेहका अनुपान दूध ईखका रस-पंच मूलके काढेकायूष-अडूसेका काढा इत्यादिक है वो रोगका तारतम्य देखकर वैद्य अपनी बुद्धिके साथ योजनाकरे ॥

चूर्णविधिः

अत्यंतशुष्कंयद्द्रव्यंसुपिष्टंवस्त्रगालितम्।
तत्स्यात्चूर्णंरजःक्षोदस्तन्मात्राक्रर्षसंमिता ॥

अर्थ—उत्तम सूखी औषधको लायकर कूटपीस बारीककरे उसको कपडेमें

---

१ तन्मात्रास्यात्पलोन्मिता इति पाठान्तरम्। २ खरत्वमितिपाठांतरं।

छानलेवे उसे चूर्ण अैसा कहते है तथा रज और क्षोद अैसाभी कहते है उसचूर्णके भक्षणकी मात्रा १ तोलेकी है ॥

चूर्णमेंगुडादिडालनेकानियम

चूर्णेगुडःसमोदेयःशर्कराद्विगुणाभवेत् । चूर्णेप्रभर्जितंहिंगुदेयंनोत्क्लेदकारकम् । लिहेतचूर्णंद्रवैःसर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः। पिबेच्चतुर्गुणैरेवचूर्णमालोडितंद्रवैः।चूर्णावलेहगुटिकाकल्कानामनुपानकम् । पित्तवातकफात क्केत्रिद्व्येकपलंहरेत् ॥

अर्थ—चूर्णमें गुडडालना होयतो चूर्णके बरावर डाले । खांडदूनी मिलावे। तथा हींग भुनीहुई डालनी तो वह विकार नहीकरे । घी-सहत-और अन्य चिकनी वस्तुइसमें मिलानी होयतो वो चूर्णसैं दुगनी मिलावे । दूध गोमूत्र जल तथा अन्य पतलीवस्तु चूर्णसैं चौगुनीले उसजलादिमें चूर्णको डाल मिलायके पीवे । चूर्ण अवलेह गुटका तथा कल्क इनका अनुपान जो कहाहै वो पित्तरोग होयतो ३ पललेवे–वातरोग होयतो २ पल और कफरोग होयतो एकपलले इससैं औषध उत्तमरीतिसैं देहमें फैल जाती है ॥

यथातैलंजलेप्राप्तंक्षणेनैवप्रसर्पति ।
अनुपानबलादङ्गेतथासर्पतिभेषजम् ॥

अर्थ—इसविषयमें दृष्टांतहै जैसै पानीमें तेलकी बूंदक्षणमात्रमे फैल जाती है उसी प्रकार ओषधी अनुपानके बलसैं अंगमें शीघ्र फैल जाती है ॥

भावनाविधिः

द्रवेणयावतासम्यक्चूर्णंसर्वंप्लुतंभवेत् भावनायाःप्रमाणंतुचूर्णेप्रोक्तंभिषग्वरैः । भाव्यद्रव्यसमंक्काथ्यंक्काथयादष्टगुणंजलं॥ अष्टांशशेषितःक्काथोभाव्यानांतेनभावना॥दिवादिवातपेशुष्कंरात्रौरात्रौनिवासयेत् ॥शुष्कंचूर्णीकृतंद्रव्यंसप्ताहंभावनाविधिः ॥

अर्थ—चूर्णमें नीबूके रसकी–अथवा अन्य विजोरे आदिके रसकी पुटदेनी होयतो इतनारस डाले किवो चूर्ण उसरसमें बूडजावे यह चूर्णमें भावनाका प्रमाण वैद्योने कहाहै । जिस औषधीमें भावनादेनी है उसद्रव्यके समान क्काथ द्रव्य-

ले और उसमें आठगुनाजल मिलावे फिर अग्निपर चढाय मंद२ आंचसें काढाक-रे जबजलअष्टमांस रहे तबउतार छानके उसरसकी भावनादेवे दिनादिन भाव-नादेके धूपमें सुखायदे और रात्रिमें उठायके धरदेवे इसप्रकार उसभावनाका सब रससूख जावे तब चूर्णकर धररक्खे इसप्रकार सातदिन भावनादेनी चाहिये। ॥इति भावनाविधि॥

उष्णोदकविधिः

अष्टमेनांशशेषेणचतुर्थेनार्द्धेकेनवा। अथवाकथनेनैव-सिद्धमुष्णोदकंभवेत्। श्लेष्मामवातमेदोघ्नंबस्तिशो-धनदीपनम्। कासश्वासज्वरान्हन्तिपीतमुष्णोदकंनिशि।

अर्थ—जल अग्निपरगरमकरके अष्टमांश (अष्टावशेष) चतुर्थांश अथवा अर्धांशावशेषकरे अथवा केवल भतोवालकरे तो उसको उष्णोदक कहतेहै। गरमजल कफ-आमवात-और मेदोरोग (मोटापन) इनको नाशकरे तथा अ-ग्निकोदीप्तकरे-रात्रिको सोते समय गरमजलपीवेतो खांसी-श्वास-और ज्वरको नाशकरे॥

वटक (गोली)

वटकाश्चाथकथ्यन्तेतन्नामगुटिकावटी॥ मोदकोवटिका पिंडीगुडोवर्त्तिस्तथोच्यते। लेहवत्साध्यतेवह्नौगुडोवा-शर्कराथवा। गुग्गुलुर्वाक्षिपेत्तत्रचूर्णंतन्निर्मितावटी॥

अर्थ—अब वटका कहते है कि जिसका नाम गुटिका-वटी-मोदक-वटिका पिंडी गुड और वर्त्ती है इसके बनानेकी विधि अवलेहके समान गुड अथवा खांडकापाककर उसमें गुगल वा चूर्ण मिलाय गोली बनावे॥

कुर्यादवन्हिसिद्धेनकचिद्गुग्गुलनावटीम्। द्रवेणमधु-नावापिगुटिकांकारयेद्बुधः। सिताचतुर्गुणादेयावटी-पुद्विगुणोगुडः। चूर्णेचूर्णसमःकार्योगुग्गुलुर्मधुसंयुतम्। द्रवंतुद्विगुणंदेयंमोदकेषुभिषग्वरैः। कर्षप्रमाणातन्मा-त्रावलेढ्याप्रयुज्यते॥

अर्थ—कही कहीं २ अग्निके पाकविना शुद्ध गूगलडाल चूर्णमिलायके एक जीवकर गोली बनायलेवे-अथवा जल-महत-दूध इत्यादिक पतली वस्तुमिला

यके गोली बनायलेवे । यदि खांडसैं गोली बनानी होयतो चूर्णसैं चौगुनी खांड डालके गोली बनावे । और गुडके साथ बनानी होयतो दूना गुडडालके गोली बनावे । गूगल अथवा सहत इनदोसै गोली बनानी होवेतो ये चूर्णके समानभाग लेकर गोलीकरे । पानी—सहत इत्यादि पतली वस्तुसै गोली बनानी होयतो वो चूर्णसैं दुगनालेकर उससैं गोलीकरे । गोलीकी मात्रा १ तोलेकी है अथवा रोगीके शक्त्यनुसार वैद्य मात्राकी कल्पनाकरे ॥

चूर्णस्यपाकनिषेधमाह

प्रायेनपाकश्चूर्णानांभूरिचूर्णस्यतेनहि ।
आसन्नपाकेप्रक्षेपस्वल्पस्यपाकमार्गते ॥

अर्थ—चूर्ण औषधका पाककरना उचितनही है-इसका कारण यहहै कि पाक करनेसैं चूर्ण द्रव्यका वीर्यनष्टहो जाताहै । किंतु चूर्णद्रव्यका परिमाण अत्यंत अधिक होयतो मोदकआदिके बनानेमें जबचासनी होनेपर आयजावे उस समय इसको उसचासनीमें डालदेना उचितहै । अन्यथा समग्रचूर्णका उस पाकमेंमिलना कठिन है । यदिचूर्ण थोडा होयतो जब चासनी लड्डूकी होकर उतारलीनी जावे और थोडीगरम रहे उससमय मिलावे तो गुणकरे अन्यथा नही ॥

अथानुवटिकाविधिः

धात्वादीनामुद्भिदावा चूर्णमुक्तैर्द्रवैः प्लुतम् ॥
अनुक्तेतोययोगेनविमर्द्यविदधीतिच ॥
यवसर्षपगुंजादिप्रमाणांवटिकांभिषक् ॥
अनिर्दिष्टवटीसिद्धौप्रायोगुञ्जात्मिकामिति ॥
तत्सेवनंयथादोषमनुपानेनचेष्यते ॥

अर्थ—जडी बूंटी अथवा धातु आदि संपूर्ण द्रव्यका बारीकचूर्ण यथोक्तद्रव पदार्थके साथ अथवा जहां न कहाहो वहां जलके साथ सरसो—जो—अथवा रत्तीआदिके प्रमाण गोली बनानी चाहिये । जहां गोलीके विषयमें विशेषकुछनहीं लिखाउसजगे रत्ती २ की गोली बनानी. इसप्रकार बनाई हुई गोलियोंको अनुवटिका—अथवा सामान्यकरके वटिका कहते है । येदोष विशेषसें अनुपानविशेष करके सेवनकरनी चाहिये ॥

रसचूर्णम्

रसराजयुतंवल्लिहेमयुतं विधिनापुटितंमनुशैत्यगतम् ॥

उपनीयततः परिमर्दयतां रसचूर्णमिदंकथितंमुनिभिः ॥

अर्थ—गंधक और स्वर्णादिक द्रव्यपारेकेसाथ खरलकर यथाविधिपुटपाक देकर जद स्वांगशीतलहो जावे तव चूर्णकर औषधार्थ प्रयोगोंमें वर्त्ते । इसप्रकार की औषधको रसचूर्ण कहते है ॥

धन्वंतरीकाभाग

अर्द्धंसिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेहस्यभागोऽष्टमः
संसिद्धाखिललोहचूर्णगुटिकादीनां तथा सप्तमः ॥
योदीयेतभिषग्वरायसरुजानिर्दिश्यधन्वंतरिम् ।
देहारोग्यसुखाप्तयेनिगदितो भागः सधन्वंतरिः ॥ १॥

अर्थ—सिद्धरस (पारदकी भस्म -चंद्रोदयादि) मेंवैद्यका आधाभाग-तेल घृत और अवलेह इनमें आठवाभाग तथा संपूर्ण लोहो की भस्म (सुवर्ण-चांदी तामा-रांगा लोहकी-भस्म) चूर्ण-गोली, आदिशब्दसे-पाक-अर्क इत्यादिकमें सप्तमभाग जो रोगी-धन्वंतरिके उद्देशकरके वैद्यके वास्ते देता है उसकी देहमें आरोग्यहो-और सुखकी प्राप्तिहोती है-येभागधन्वंतरिका कहलाता है इसवा-स्ते, अवश्य देना चाहिये ॥

क्रीतद्रव्यस्यभैषज्यभागश्चैकादशोहियः ॥
वणिग्भ्योगृह्यतेवैद्यै रुद्रभागः सकथ्यते ॥ २ ॥

अर्थ—खरीदीहुई औषधमें ग्यारवां भागजो दुकानदारसें वैद्यलता है वह रुद्रभाग कहलाता है-तात्पर्य यह है कि विकती औषधमें वैद्यरोगीसें कुछनलेवे किंतु वेचने वालेने जितनी औषध वेची है उसका ग्यारवाभाग वैद्यकों लेना चाहिये येउसका हक्क है ॥

गृहीत्वाधिकमीशांशाद्योऽसमीचीनमौषधम्
दापयेल्लुब्धवद्वैद्यःसस्याद्विश्वासघातकः ॥

अर्थ—जो वैद्य ग्यारवे भागसें अधिकलेता है-अथवा उसवेचने वालेसें मिलकर आपकुछ अपने लिये हिस्सा ठेरायकर विकवावे वोलोभी वैद्य विश्वास घाती जानना-उसका न इससंसारमें भला होवे नपरलोकमें । प्रसंगवसयहां एक वात और लिखते है कि जिससे मनुष्य जाली मनुष्यके फंदेमेंनपडे ॥

यहां मथुरा-दिल्ली-आगरेमें सातिये लोग जो जातिके कायथ होते है और अकसर जर्राहीका वा नेत्रोंका इलाज किया करते है ये वाजारमें एकांतमें वैठे

रहते है जहां कोई गामका गमेरू मनुष्य अथवा प्रदेशी मनुष्य दीखा उसको इसारेसैं अपने पास बुलाकर कुछ न कुछ ऐसा रोग बतावे कि जिससै वो डरजावे, और उससे कहते है कि इस रोगसैं तुम्हारी बगलमें पसीने आते होंगे, और जब तुम सोंकर सुबहको उठते होगे तब बडे जोरसैं पेसाब उतरता होगा-यदि गरमी देखे तो कहते है कि तुम्हारे पैरोंके तलवा बहुत पसीजते होगे-प्यास अधिक लगती होगी और आलकस जियादह आता होगा-बस ऐसी २ बात कहनेसैं उसविचारे भोले भाले प्रदेशीको इनका विश्वास आजाता है-और उससै बीचबीचमें यहभी कहते जाते है कि भाई यह तुम्हारा बुरा रोग देखके हमको तरस आगया यदि इसका इलाज न करोगे तो महिने दो महिनेमे मरजाओगे इसवास्ते हम खुदाकी राहपर तुमारा इलाज बताते हैं सो तुमकरो अल्लाताला के फजलसैं बहुत जल्द तुमको आराम होजावेगा। इस तरह उसको काबूमें कर जहां इसकी सट्ट लगी हुई होती है उसी दुकानपर चटले पहुचते है-जाते खेम उससे कहत है किफलां दवाई तेरेपास है वो कहे है अच्छानिकाल जब निकाले तब ये खरल लेकर बैठ जातेहैं और कहे ये छः मासे डाल-दूसरी तोलेभर डाल, इसतरह पहले दमडी २ छदाम २ की दवाई बताए, फिर एक अनखटूटी नामलेकर दवाई मांगे वोपसारी कहे साहब वो बडे मोलकी दवाई है तब ए कहे क्यामुजाका है निकालतो सही जब वो निकालकर लावे तो पिसा हुआ गोंद होता है उसको कुछ अपनी जीभपर डाले और एक चुकटी भरके अपने ग्राहकके मूंमे डलवावे जब वो चिपकने लगे तब कहे कि देखो जैसी ये मूंमे चेपदेती है। ऐसी ही तुम्हारी धातको गाढीकर देवेगी-फिर पसारीसै पूछे ये क्या तोले देवेगा वो कहे ए कुरुपे तोले तब ए कहे नहींनही आठ आने तोले दे-आखिरको आठ आने दश आने पक्कीकर तुलाते है तब यह देखते है इस आदमीके पास कितना पैसा है उसवखत पसारी सैं कहते है कि भाई इस दवाईको रुपा डालके तोलो हम और तरहसैं नहीं माननेके पसारी सधा हुआ होताही है चट कहदेता है किमेरे पास अभी रुपानही आया नही तोमैंमें रुपेसैं तोलदेता उसवख्त ये हकीमसाहबअपने मवक्किलसैं कहते की आपके पास रुपा होयतो तोलनेके वास्ते देदीजिये ज्योही उसने रुपानिकाला और हकीम साहब ताडगए कि इसके पास इतनी जमा है वसउसीके माफिक १रु०की-दोरुपेकी ८ आनेकी या बारह आने की दवाई कुटाई और दामादेलाए उसको पुडिया बांधउसको सौपदेते है और उसकेसाथ २ चलकर सहरबाहर निकाल आते है कि जिसैको ईसख्स उसको भेजाए नही और उसको अपनी नेकी जताते है कि दे-

खोतुह्मारे इसकाममें हमने कौडीभी नही खाई ईश्वरकी राहपर आपको दवाई वनवायदीनी है–इसतरह उसको सहरवाहरकर चट उसपंसारीके पास आनकर जैसा उस्से ठहराव हो वैसा रुपेमें वारहआने या दशआनेले कर फिर उसी मुकाम पर आनजमते है और दूसरी सिकारकी तलास करते है ॥

इसलिखनेसैं हमारायही प्रयोजनहैकि सव भोले मनुष्यको जाहिर होजावे कि जैसे २ ठगिया–हकीम–जर्राह–ज्योतिशी–और मत्रशास्त्री या जादूगरीके जालसे वचे ऐसाकोईसा सहर नहीं है जहाँये पामर(नीच) ठगियानहीं रहते इन की मुख्य पहचानयही है कि येविना जानपहचानके आनकर खुसामदकी और लोभ की वात सैआदमीके दिलको लुभाते है–वसउसी समय बुद्धिमान् जान ले कि ये विनाकारण यहपरदेशीहमारी क्यो खुसामद करताहै–यह शीक्षा दत्तराम चौवेकीयादरहे ॥

अथस्नेहपाकस्यसाधारणोविधिः

तत्रादौतिलतैलमूर्च्छा

कृत्वातैलंकटाहेदृढतरविमलेमन्दमन्दानलैस्तत् तैलं
निष्फेनभावं गतमिहयदाशैत्ययुक्तंतदैव ॥मंजिष्ठारा
त्रिलोध्रैर्जलधरनलिकैः सामलैःसाक्षपथ्यैः ॥ सूचीप
त्रांघ्रिनीरैरुपहितमथितैः गंधयोगंजहाति ॥

अर्थ—तैलमूर्च्छाके नियम कहते है–लोहेके दृढकढावमें मद२अग्निसें तैलपाक करे–जव यहतेल झागरहित होय तव चूल्हेसें उतारलेवे कुछशीतल होनेपर–पिसी हलदीको जलमें घोरकरक्रमसें धीरे२ उसतेलमें डाले और ओटाता जाय इसी प्रकार कुटी मजीठको जलमें घोरके धीरे२क्रमसै डाले–फिर लोध नागरमोथा–नलिका–आवला–वहेडा–हरड–केतकीकीजड–वडकीकोपल और नेत्रवाला इन सवको पीस जलमें मिलाय पृथक् २ तेलमें क्रमसै डाले–तथा इसतेलमें चौगुना जलमिलाय फिर पाककरे जव कुछजल वाकीरहे तवउतारके ७ दिनधरा रहनेदे तो तैलकी दुर्गंध दूरहोय । इसी हलदी और मजीठ आदि द्रव्यको मूर्च्छा द्रव्य कहते है ॥

तैलस्येन्दुकलांशिकैकविकसाभागोऽपिमूर्च्छाविधौ ॥
येचान्येत्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विताः ॥
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्वपादांशिका ॥

दुर्गंधंविनिहंतितैलमरुणंसौरभ्यमाकुर्वते ॥

अर्थ—अवइनके परिमाणका नियम कहते है कि जितनातेल होवे उसके षोडशांश मजीठ लेनी चाहिये और बाकी सब द्रव्य मजीठकी चतुर्थांश लेनी-जैसे तेल १६ सेर तो मजीठ १ सेर एवं हरदी-लोध-हरड-वहेडा-आमला-नागरमोथा-नेत्रवाला-इत्यादि द्रव्य सब पाव २ भरलेनीचाहिये मूर्च्छाके करनेसैं तेलकी दुर्गंध दूरहोती है और उत्तम सुगंध आने लगें है तथा उस तेलका लालवर्ण उत्पन्न होताहै ॥

कटुतैलमूर्च्छा

वयस्थारजनीमुस्तविल्वदाडिमकेशरैः । कृष्णजीरक ह्रीवेरनलिकैः सविभीतकैः ॥ एतैः समांशैप्रस्थेचकर्षमात्रंप्रयोजयेत् । अरुणोद्विपलंतत्र तोयंचाढकसंमितं कटुतैलंपचेत्तेन आमदोषोपशान्तये ॥

अर्थ—कटुतैलके मूर्च्छाकी औषधये है-आमला-हरदी-नागरमोथा-वेलकी छाल अनारकी छाल-केशर-कालाजीरा-नेत्रवाला-नलिका-वहेडा-और मजीठ । मूर्च्छा करनेकी विधि पूर्ववत् जाननी । अर्थात् तैल निस्फेन होजावे तब उतारके हरदीजलमें धोरके तैलमें छिरके-फिरमजीठको छिडके-फिरअन्य २ सब वस्तुओंको तेलमें डाले ४ सेर कडुआतेल-मजीठ २ पल-और २ द्रव्य प्रत्येक दोदो तौलालेवे और जल १६ सेरमिलायके पाककरे ॥

एरंडतैलमूर्च्छा

विकसामुस्तकंधान्यंत्रिफलावैजयन्तिका ॥ ह्रीबेरवन खर्जूरवटशुंगानिशायुगं । नलिकाभेपजंदेयंकेतकीच समंसमम् । प्रस्थेदेयंशुक्तिमितंमूर्च्छनेदधिकांजिकम् ॥

अर्थ—एरंडतेलकी मूर्छा द्रव्य ये है-मजीठ-नागरमोथा-धनिया-त्रिफला अरनीके पत्ते नेत्रवाला-वनखजूर-वडकीकोपल-हरदी-दारहलदी-नलिका-केतकीकीजड-दही-काँजी-प्रत्येक चार २ तोला, तेल अंडीका ४ सेर-पूर्वोक्त रीतिके अनुसार मजीठ आदिसैं मूर्छा करे

घृतमूर्च्छा

पथ्याधात्रीविभीतैर्जलधररजनीमातुलुंगद्रवैश्वद्रव्यै

रेतैसमस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन । आज्यं
प्रस्थंविफेनंपरिचपलगतंमूर्च्छयेद्वैद्यराजः तस्मा
दामोपदोषंहरतिचसकलंवीर्यवत्सौख्यदायि ॥

अर्थ—हरड-आमले-बहेडा-नागरमोथा- हलदी-और नीवूकारस येसब व-स्तु घृतकी मूर्च्छाद्रव्यहै । पंथमहलदी--पश्चात् नीवूका रस फिर और २ द्रव्य संपूर्ण डालके पूर्ववत् मूर्च्छित करे-मूर्च्छाद्रव्य प्रत्येक एक २ पल लेवे घृत ४ सेरले और जलपाकार्थ १६ सेर मिलावे ॥

वातहरतैलानांविशेषमूर्च्छाविधिः
आम्रजंबूकपित्थानांबीजपूरकबिल्वयोः ॥
गन्धकर्मणिसर्वत्रपत्राणिपञ्चपल्लवम् ॥
पंचपल्लवतोयेनगंधानांक्षालनंमतम् ॥

अर्थ—वातघ्न (नारायणतैल -विषगर्भादि) तैलोंकी मूर्छामें पूर्वोक्त साधारण नियमकरे । तथा पंचपल्लवजलमें फिरशोधनकरे । उसका नियम यह है कि- आम-जामुन-कैथ, बिजोरा-और बेल इनसबके पत्ते तेलके अष्टमांस लेकर चौगुने जलमें काढाकरे, जबचतुर्थांश बाकी रहे तबउतारके छानलेवे । फिरइसकाढेकेसाथ उत्तममूर्छित तैलको फिरपाककरे ॥

स्नेहपाकमेंकालकानियम
मूर्च्छास्यात्सप्तभिः सिद्धारात्रिभिर्बुधसंमता ॥ व्रीहि
प्राण्यंगयोपाकःसद्यःसिध्यतिनान्यथा ॥ स्यात्पाकः
पयसोद्वाभ्यांस्वरसादेस्तुतिसृभिः ॥ दधिकांजिकत
क्राणांसिद्धोभवतिपञ्चभिः॥मूत्रादीनामेकयास्यात्ततः
कल्कस्यसप्तभिः ॥ गंधानांपंचभिर्ज्ञेयः स्नेहपाकेत्वयंक्रमः ॥

अर्थ—तैलादिककी मूर्च्छा ७ दिनमें होती है—अर्थात् मूर्च्छा द्रव्य संपूर्ण पाकके अंतर ७ दिन तकउतारके डालते है । तत्पश्चात् मटरआदिका काढा और उसके पीछे मांसादिक काढेके साथ तैलकापाक करना । इत्यादिकमें एकएक दिनलगता है, फिरदूधके साथ पाककरना इसमें दोदिन लगते है, फिर स्वरस तथा क्वाथके साथपाककरनेमें तीनदिनलगते है, फिरदही—काजी—और छाछइनके साथ पाकमें पांच ५ दिनलगते है । तत्पश्चात् मूत्रादिकके साथपाककर

नेमें एकदिनलगता है। फिरकल्कपाक ७ दिनमें होता है--सबके पीछे गंधपाक अर्थात् गंधद्रव्य केसाथपाक ५ दिनमें होता है, तथादूध--दही--इनकेसाथ पाक रनेमें एकएक दिनलगता है॥

चतुर्विधस्नेह

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तोघृतंतैलंवसातथा॥
मज्जाचतंपिवेन्मर्त्यः किंचिदभ्युदितेरवौ॥

अर्थ—स्नेह (चिकनाई) चारप्रकार की है—जैसे--घी--तेल--वसा (मांसस्नेह) और मज्जा (हड्डी सैं निकलातेल) एचारोप्रकारके तेल किंचिन्सूर्योदय होनेपर तथानहोनेपर पीनेचाहिये॥

द्विविधस्नेह

स्थावरंजंगमंचैवद्वियोनिः स्नेहउच्यते॥
तिलतैलंस्थावरेषुजंगमेषुघृतंवरम्॥

अर्थ—वो स्नेह दोप्रकारका है एकस्थावर और दूसराजंगम ये दोही स्नेहकी योनि है, तिनमें स्थावर पदार्थके स्नेह बहुत है उनमें तिलका तेल उत्तम है। और जंगमपदार्थोंमें घी आदिशब्दसैं वसादिक अनेक है उनमें घीश्रेष्ठ है इसप्रकार स्नेहके दोभेद जानने॥

स्नेहकेभेद

द्वाभ्यांत्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतोमहान्॥

अर्थ—घी और तेल दोनोके मिलनेसैं उसको यमक कहते है—और घी-तेल तथा वसा (चर्बी) येतीन एकत्र होनेसैं उसकी त्रिवृत संज्ञा हे। तथा घी-तेल-वसा—और मज्जा इन चारोके एकत्र मिलने सैं उसकी महान् संज्ञा है। इसप्रकार स्नेहके तीन भेद जानने॥

स्नेहपाकविधिः

विघ्नेशक्षेत्रपालौवटुकमपिशुभेवासरेपूजायित्वातैल
स्याज्यस्यकिंवारचयतुनिपुणः संस्कृतिंसंप्रदायात्॥

---

१ 'मांसा दष्टगुणं घृतं', अर्थात् मांसकी अपेक्षा घृत अठगुना अधिकहै, इसी कारण प्रथम घृत लिखाहै। २ मांससे घृतके समान तेल निकलता है अतएव उसको मांस स्नेह अथवा चर्बी कहते है। ३ जो नहीं चले [जैसे वृक्षादि] उनको स्थावर। ४ और चलनेवाले [गौ,-भैस,-मनुष्य आदि] को जंगम कहते है।

आदौवन्हिंप्रदद्याल्लघुरथशनकैः फेनशब्दावधिः स्यात् ॥
पश्चान्मृत्पिंडकैस्तद्दशभिरलघुभिर्नातिपीनैर्विशोध्यम् ॥

अर्थ—श्रीगणपती-क्षेत्रपाल और वटुक इनका शुभादिनमें पूजनकर-फिर तेल-अथवा घीकी विधिको कुशल वैद्य गुरु संप्रदायानुसार आरंभ करे-प्रथम तेलको लोह आदिके कढावमें चढाय चूल्हे पररखके मंद मंद अग्निदेवे कि जबतक तैलमें झागन आवे और धीमेंशब्द नहोवे-फिरक्रमसै अग्निको बढावे । पश्चात् मिट्टीके दशगोला कि जोंनबहुत बडे और नबहुतछोटे हो ऐसेले करउनसै शोधनकरे

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्यघृतंवातैलमेववा ॥
द्रव्येचतुर्गुणेसाध्यंतस्यमात्रापलेन्मिता ॥

अर्थ—कल्कसैं चौगुना घीवा तेल लेवे उसको चतुर्गुण द्रव्यमें साधनकरे जिसकी मात्रा एकपल (४ तोले) की है ॥

स्नेहसाधनमेंक्वाथ्यऔरजलादिकाप्रमाण

निक्षिप्यक्वाथयेत्तोयंक्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् ॥ पादशिष्टं गृहीत्वातुस्नेहस्तेनैवसाधयेत् ॥ चतुर्गुणंमृदुद्रव्यकठिनेऽष्टगुणंजलं । मृद्वादिक्वाथ्यसंघातेदद्यादष्टगुणंपयः ॥ अत्यंतकठिनेद्रव्येनीरंषोडशिकंमतम् ॥

अर्थ—अनेक स्थलमें काथके साथ घी वा तैलका पाककरते है इसीसै क्वाथ बनेका नियम लिखतेहै । क्वाथ्यद्रव्य (जिसकी काथकरीजावेगी) यदिनम्रहोवे तो चौगुनाजलडाले-और यदिमध्यमहोय अर्थात न बहुत करडी और नबहुत नरम तो अठगुना जलमिलावे, तथा जो द्रव्य अत्यंत कठोर होवे तो सोलह गुना-जलडालके क्वाथ सिद्धकरे-जबचतुर्थांशशेषरहे तब उतारके छानलेवे । ऐसाकाढा स्नेहसै चौगु नालेना चाहिये ॥

अन्यच्च

कर्षादितःपलंयावत्क्षिपेत्षोडशिकंजलं ॥ तदूर्ध्वंकुडवं-
यावद्भवेदष्टगुणंपयः॥प्रस्थादितःक्षिपेन्नीरंखारीयावच्चतुर्गुणम् ।

अर्थ—अन्यत्रभी लिखाहै कि क्वाथबनानेमें क्वाथ्य द्रव्यका परिमान १ कर्षसैं लेकर पलपर्यंत होनेसे सोलहगुनाजल डालना-और पलसैं लेकर कुडव पर्यंत

आठगुना जलडालना एवं प्रस्थसैं लेकरखारी पर्यंत द्रव्य होवेतो उसमें चौगुना जलडालना न्यूनाधिक नहीं डालना ॥

तुलाद्रव्येजलद्रोणोद्रोणेद्रव्यतुलामता ।

अर्थ—जहांजलका परिमाणकुछ नहीं कहा वहाँ १२॥ सेर द्रव्यमें ६४ सेर जलडालके क्काथकरे । एवं ६४ सेर जलमें क्काथ्यद्रव्य १२॥सेर डालनी चाहिये॥

अनिर्दिष्टप्रमाणानांस्नेहानांप्रस्थइष्यते ।
जलस्नेहौषधानांचप्रमाणंयत्ननोदितम् ॥
तत्रस्यादौषधात्स्नेहःस्नेहात्तोयंचतुर्गुणम् ।
स्नेहसिद्धौद्रव्येऽनुक्तेसर्वत्राम्भश्चतुर्गुणम् ॥
गन्धद्रव्याणिचेच्छन्तिकल्कस्यार्धांशिकानिच॥

अर्थ—स्नेह पाकमें जहां विशेष कुछनहीं लिखा उसजगे स्नेह १ सेर लेना चाहिये, तथा जलस्नेह- और कल्कद्रव्यका परिमाणन लिखाहो तहांकल्कचौगुनालेना स्नेह और कल्कपाकार्थ जलका परिमाण स्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये । स्नेह पाकमें द्रव्य पदार्थका जहां उल्लेख न होवे तहां चौगुना जलडालके पाक करना। तथा तेल पाकमें गंधद्रव्यका परिमाण कल्कके परिमाणसैं आधा जानना चाहिये

स्नेहपाकविधौयत्रक्षीरमेंकतुकथ्यते ।
तोयादीनामनिर्देशेक्षीरमेवचतुर्गुणम् ॥
द्रव्यान्तरेणयोगेतुक्षीरंस्नेहसमंविदुः ॥

अर्थ—स्नेह पाकमें यदि दुग्धके सिवाय और पदार्थ नहो अर्थात् केवल दूधसैं ही पाककरना होवेतो दूधस्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये । और यदि पाकमें जल अथवा अन्य द्रव्यका संयोग होवेतो दूधस्नेहके बराबरही लेना यह नियमहै।

वृन्देतु

स्वरसक्षीरमाङ्ग्ल्यैर्पाकोयत्नेरितःक्वचित्।
जलंचतुर्गुणंतत्रवीर्यार्धानार्थमावपेत् ।
नमुंचतिरसंद्रव्यंक्षीरादिभिरुपस्कृतम् ।
सम्यक्पाकोनजायेततस्मात्तोयंचतुर्गुणम् ॥

अर्थ—वृन्दग्रंथमें लिखाहै कि स्वरस- दूध—अथवा दही इनकरके पाक करना कहाहो वहां वहीं २ चौगुना जल मिलाकर पाककरते है इसकातात्पर्ययहहै कि

१ कल्का चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात्क्वाथश्चतुर्गुण. क्वाथाच्चतुर्गुणंवारिक्वाथ क्वाथ्यसमोन्म

दूधआदिके गाढा होनेपर कल्कादिद्रव्यका रस अच्छीतरहनही निकलता अतएव उत्तम पाकभी नहींहोवे-इसी कारण चौगुना जल डालनेसैं पाकठीक २ होताहै और द्रव्योंमें वीर्यकी प्राप्तिहोती है इससै चौगुना जल डालना चाहिये ॥

पंचप्रभृतियत्रस्युद्रव्याणिस्नेहसंविधौ ।
तत्रस्नेहसमान्याहुर्वाक्चस्याच्चतुर्गुणम् ॥

अर्थ—स्नेहपाकमें पांच अथवा पांचसैं अधिक द्रव्य होवेतो प्रत्येक द्रव्यका प्रमाणस्नेहके समानलेना चाहिये । यदि पांचसै न्यून (कम्) होवे तो उनको स्नेहसैं चौगुनालेना चाहिये ॥

अम्बुक्काथरसैर्यत्रपृथक्स्नेहस्यसाधनम् ।
कल्कस्यांशंतत्रदद्याच्चतुर्थंषष्ठमष्टमम् ॥

अर्थ—जलद्वारा स्नेह पाककरना होवे तो कल्क द्रव्यका परिमाणस्नेहसैं चतुर्थांशलेवे । काथके द्वारापाककरना होयतो कल्कका परिमाण स्नेहसैं छटाभाग-लेवे । एवं स्वरस द्वारापाक करना होयतो स्नेहका अष्टमांस रसलेना चाहिये ॥

दुग्धेदधिरसेतत्रैकल्कोदेयोष्टमांशिकः ।
कल्काच्चसम्यक्पाकाथतोयमत्रचतुर्गुणम् ।
कल्कात्कल्कद्रव्यात्चतुर्गुणतोयंपेषंणार्थं ॥

अर्थ— दूध-दही-स्वरस अथवा छाछद्वारा पाककरना होवेतो स्नेहका अष्टमांश यक एक और कल्क का चौगुनाजल डालना चाहिये । चौगुना जल कल्कके पीस-नेके वास्ते लेतेहै ॥

क्काथेनकेवलेनैवपाकोयत्रोदितःक्वचित्काथ्यद्रव्यस्य-
कल्कोऽपितत्रस्नेहेप्रयुज्यते । कल्कहीनस्तुयःस्नेहः
ससाध्यःकेवलेद्रवे।केवलेद्रवेकाथेतरस्मिन्स्वरसादिरूपे॥

अर्थ—जहां केवल काथ द्वारा स्नेह साधन कहाहो तो उसजगे काथ्य द्रव्य-का कल्कभी मिलायके पाककरे । जहां कल्कके विना स्नेहपाक करनाहोय उस-जगे काथके सदृश अन्य द्रव पदार्थके साथ अर्थात् स्वरसादिके साथ पाककरना चाहिये ॥

पुष्पकल्कस्तुयःस्नेहस्तत्रतोयंचतुर्गुणम् ।
स्नेहात्स्नेहाष्टमांशश्चपुष्पकल्कंप्रयुज्यते ॥

अर्थ—कल्क द्रव्यादि पुष्पहोयतो उसको स्नेहका अष्टमांसलेवे और पाकार्थ स्नेहका चौगुना जलडालना चाहिये ॥

आदौकल्कः प्रदातव्योगंधद्रव्यंततः परम् । तैलमुत्तार्यदातव्यंशिलकंकुङ्कुमंनखम्।गंधचंदनकर्पूरमेलावीजंलवंगकम् ॥

अर्थ—प्रथम कल्कपाककरे–फिर गंधद्रव्यका पाककरे–गंधद्रव्य समग्रकल्कके परिमाणसैं आधी होनी चाहिये। तैलकादूनाजलदेकर गंधपाककरे गंध द्रव्यमें शिलारस, केशर, नख, सपेद चंदन, कपूर, छोटी इलायची, और लौग इनका पाक नहींकरना इनको पाकांतमें तैल चूल्हेसै उतार शीतलकर उसमें येद्रव्य पीसके डालदेवे और कौंचासै सबको मिलायके एकजीव करदेना चाहिये ॥

गंधद्रव्याणि

एलाचंदनकुंकुमागरुमुराकङ्कोलमांसीशटी ॥
श्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशशभृत्क्षौणीध्रजोशीरकम् ॥ कस्तूरीनखपूतितैलजलमुङ्मेथीलवंगादिकम् गंधद्रव्यमिदंप्रदेयमखिलंश्रीविष्णुतैलादिषु ॥

अर्थ—छोटी इलायची,–सपेद चंदन,–केशर,–अगर,–जटामांसी,–कचूर,–सरलकाष्ठ,–तेज पत्र,–गठीला,–कपूर,–शिलाजीत,–खस,–कस्तूरी,–नख,–मुरकविलाई,–शिलारस,–नागरमोथा,–मेथी, लौग, इत्यादि गंधद्रव्य कहाती है नारायण तैल आदिमें येसंपूर्ण गंधद्रव्य देनी चाहिये ॥

स्नेहपाकपरिज्ञानम्

वर्तिवत्स्नेहकल्कःस्याद्यदाङ्गुल्याविवर्तितः ॥
शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहःसिद्धोभवेत्तदा ॥
यदाफेनोद्गमस्तैलेफेनशांतिश्चसर्पिषि ॥
गंधवर्णरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्धोभवेत्तदा ॥

अर्थ—स्नेह पाकमें जब कल्कको उंगलियोंके मीडनसैं वर्तीसी होने लगे तथा अग्निमें उसको गेरनेसैं चट चटाहट शब्द नकरे तब जाननाकि स्नेह, सिद्ध होगया। जिस समय तेलमें झाग आवे और घीमें झाग आना बंदहो जावे तथा उपयुक्त वर्ण गंध और रसकी उत्पत्ति होवे तब जाननाकि पाक सिद्ध होचुका ॥

त्रिविधपाक

स्नेहपाकस्त्रिधाप्रोक्तोमृदुर्मध्यःखरस्तथा । ईषत्स्वर सकल्कस्तुस्नेहपाकोमृदुर्भवेत् । मध्यपाकस्यासिद्धि श्चकल्केनीरसकोमले । ईषत्कठिनकल्कश्चस्नेहपाको भवेत्खरः । तद्वूर्ध्वंदग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः आमपक्वश्चनिर्वीर्योवह्निमांद्यकरोगुरुः ॥

अर्थ—स्नेहपाक तीन प्रकारका है १ मृदु- २ मध्य- ३ खर-तहां कल्क द्रव्यका कुछ थोडासारस अंश बाकी रहनेसें मृदुपाक कहाताहै । और जो कोमल होय तथा रस रहितहो उसको मध्यपाक कहतेहे । एवं कुछ थोडा कठिन होनेसें खर पाक कहाताहै । इसके उपरांत कठिन पाक होनेसें दग्ध पाक कहाताहै । ऐसा स्नेह कार्य साधक नही होता-येदाहको प्रगट करेहै तथा आमपक्व (कच्चे पाकका) स्नेह निर्वीर्य-मंदाग्नि करता औरभारी होताहै ॥

नस्यार्थंस्यान्मृदुः पाकोमध्यमः सर्वकर्मसु ॥
अभ्यंगार्थः खरप्रोक्तोयुंज्यादेवंयथोचितम् ॥

अर्थ—नस्यके अर्थ मृदुपाकवाला स्नेह लेना, और मालिसमें खरपाक लेना, तथा मध्यपाक स्नेह सर्व कार्योपयोगी जानना ॥

घृततैलगुडादींश्चसाधयेन्नैकवासरे ॥
प्रकुर्वंत्युषिताह्येतेविशेषाद्गुणसंचयम् ॥

अर्थ—घृत-तैल-औरगुड आदिपाक एक दिनमें न साधन करे, इसका यहकारणहै किउषित (वासित) अर्थात् अधिक दिनमें सिद्धकरा हुआपाक विशेष गुणोंको करताहै इसी कारण धीरे धीरे साधन करे ॥

अथस्नेहसेवनविधिः

गुरुशीतसरस्निग्धमंदसूक्ष्ममृदुद्रवम् ॥ औषधंस्नेहनं प्रायोविपरीतंविरूक्षणम् । सर्पिर्मज्जवसातैलंस्नेहे षुप्रवरंमतम् ॥ तत्रापिचोत्तमंसर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् । घृतात्तैलंगुरुवसातैलान्मज्जाततोऽपिच ॥

अर्थ—गुरु,-शीत,-सर,-स्निग्ध,-मंद सूक्ष्म,-मृदु,-और द्रव,-गुणयुक्त द्रव्य समस्त स्नेहन जानना । इसके विपरीत अर्थात् लघु,-उष्ण,-स्थिर,-रूक्ष,-स्थूल,-क-

ठिन, और सांद्रगुण, विशेष द्रव्यमात्र भाय रूक्षण जाननी। स्नेहपदार्थमें घृत-मज्जा-वसा-और तैल ये चार प्रधान है। इस स्नेहचतुष्टय मेभी घृत उत्तम है। कारण यहहै कि इस घृतके अन्य द्रव्यके साथ संस्कार होनेसें निजशक्ति और संस्कृत द्रव्यकी शक्तिकों प्रकाश करे है। घृतसै तैल, तैलसै भारीवसा है, और वसासैं भारी मज्जा जाननी॥

स्नेहपीनेकाक्रम

पिबेज्र्यहंचतुरहं पंचाहंषडहंतथा॥

अर्थ—घी तीन दिन पीवे-और तैल चार दिन पीवे तथा मांस स्नेह पांच दि पीवे-और हड्डीका तेल ६ दिन पीना चाहिये। इस प्रकार क्रम करके घृतादि स्नेह पीनेका क्रम जानना॥

सप्तरात्रात्परंस्नेहः सात्मीभवतिसेवितः॥

अर्थ—सात दिवसके अनंतर घृतादिक स्नेह पीनेसैं आहारके समान हो जाता है। फिर गुण अवगुण कुछ नही करता॥

स्नेहपानमेंयुक्ति

दोषकालाग्निवयसांबलंदृष्ट्वाप्रयोजयेत्।
हीनांचमध्यमांज्येष्ठांमात्रांस्नेहस्यबुद्धिमान्॥

अर्थ—वातादिक दोष-काल-अग्नि-अवस्था इनका बलाबल विचारके घृतादिक स्नेहोंकी सेवनकी मात्रा हीन-(अल्प) और मध्य-तथा ज्येष्ठ-इनमेंसैं शक्तिका तारतम्य देखकर देनी चाहिये॥

अविधिस्नेहसेवनकेदोष

अमात्रयातथाकालेमिथ्याहारविहारतः।
स्नेहःकरोतिशोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञितः॥

अर्थ—घृतादिकस्नेह पीनेका प्रमाण कहाहै उसकी अपेक्षा कम अथवा ज्यादे पीनेसैं, तथा पीनेका कालछोडकर अन्यकालमें पीनेसैं, तथा घृतादिकस्नेह पीकर मिथ्या आहार और मिथ्या विहार करनेसैं, उस स्नेहसैं सूजन और ववासीर होतीहै तथा तंद्रा आनकर घोरनिद्रा आतीहै तथा संज्ञाका नाश होताहै।

---

१ स्नेह पीनेमे २ कर्षकी मात्रहीन है २ तीन कर्षकी मात्रा मध्यम जाननी ३ एक पल प्रमाणकी जो मात्रा है सो ज्येष्ट (बडी) जाननी

स्नेहयोग्यमनुष्य

स्नेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिंतकाः ।
वृद्धबालाबलकृशारूक्षक्षीणास्त्ररेतसः ॥
वातार्तसंधितिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ॥

अर्थ— औषध करके जिसका पसीना काढाहो, रेचक औषध करके शुद्धकराहुआ, मद्य पीनेवाला, स्त्रीपरिश्रमसैं थकाहुआ, चिंताकरके व्याप्त, वृद्ध, बालक, कृश, रूक्ष, क्षीण, रुधिरवाला, धातुक्षीण, वादीकरकेपीड़ित, तिमिर, रोगसैं व्याप्त एसे प्रकारके मनुष्यघृतादिक स्नेहपीनेके योग्यहै अेसा जानना ।

स्नेहक्रियाअयोग्य

स्नेह्यानत्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
उरुस्तंभातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाछर्ध्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्चपीडिताः
अपप्रसूतायुक्तेचनस्येबस्तौविरेचने ॥

अर्थ—अत्यंत मंदाग्निवाला, अत्यंत तीक्ष्णाग्निवाला, अतिस्थूल, अत्यंतदुर्बल, एवं ऊरुस्तंभ, अतिसार, आम, गलरोग, विषरोग, उदररोगी, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, कफ, तृषा और मदात्यय रोगसैं पीडित, अकाल प्रसूता नारी, इत्यादिरोगी तथानस्य वस्ती और विरेचन करनुकाहो अेसे मनुष्योंको स्नेहन क्रिया करना निषेधहै।

(घृतयोग्य)

तत्रधीस्मृतिमेधाग्निकांक्षिणांशस्यतेघृतम् ॥

अर्थ— तहां बुद्धि स्मृति (स्मरण) मेधा और अग्निवृद्धि इनके निमित्त स्नेह प्रयोग करनेंवालोंको घृत प्रयोग उत्तमहै ॥

(तैलयोग्य)

ग्रन्थिनाडीक्रिमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु॥तैललाघवदार्ढ्यर्थंक्रूरकोष्ठेषुदेहिषु॥वातातपाध्वभाषास्त्रीव्यायामाक्षीणधातुषु ॥

अर्थ— गांठ, नाडीव्रण, कृमि, कफ, मेदा, वायुरोगसैं पीडित, क्रूरकोठेवाला, एवं हवा, धूप मार्गचलना, अधिकपुकारना (पढना गानाआदि) स्त्रीसंभोग, और दंडकसरत, इत्यादिकारणोंसैं क्षीणधातुवालोंके पक्षमें तथा हलकापन और दृढताके निमित्त तैलका प्रयोग अतिउत्तमहै ।

वसाऔरमज्जाकेअधिकारी

रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषुच ॥ शेषौवसातु

अर्थ— रूक्षदेह, क्लेशकासहनेवाला, अत्यंत अग्निदीप्तवाला, इनको करके मार्गरुका हुआ ऐसे मनुष्योंको वाकीके दोस्नेह वसा और . । री जानने ॥

वसाकाप्रयोग

सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासुच ॥ तथादग्धाहतेभ्रष्टेयोनि-

कर्णशिरोरुजि ॥

अर्थ—संधि, हड्डी, मर्म, कोष्ट, कर्ण, और मस्तककी पीडा, एवं दग्धयोनि, आहतयोनि, और भ्रष्टयोनि, ऐसीस्त्रियोंके पक्षमें वसा अत्यंत हितकारी है॥

ऋतुपरत्वघृततेलादिकासेवन

तैलंप्रावृषिवर्षान्तेसर्पिरन्यौतुमाधवे॥ऋतौसाधारणे-

स्नेहः शस्तोऽन्हिविमलेरवौ ॥

मध्यमायन्निकर्षास्याज्जघन्यायद्विकार्षिकी॥

अर्थ—जिसमनुष्यकी दीप्ताग्नि होवे उसको घृतादिक स्नेहकी मात्रा १ पल पिलानी चाहिये। और जिसकी मध्यम अग्निहै उसमनुष्यको तीनकर्ष प्रमाणदेवे तथा जिसकी मंद अग्निहोवे उसको दोकर्ष प्रमाणकी मात्रा देनीचाहिये।

प्रकारांतर

अथवास्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोन्याः सर्वसंमताः॥
अहोरात्रेणमहतीजीर्यत्यह्नितुमध्यमा॥
जीर्यत्यल्पादिनार्द्धेनसाविज्ञेयासुखावहा॥

अर्थ—संपूर्ण ऋषियोंको मान्य—ऐसी दूसरी घृतादिक स्नेह—व्यवस्थापक मात्रा तीनप्रकारकीहै उसको कहतेहै। जोमात्रा आठप्रहरमें पचे उसको बडीमात्रा कहतेहै वो एक पलकी जाननी। और जोमात्रा एकदिनमें पचे उसको मध्यम कहतेहैं वो तीनकर्षकीहै।तथा जो मात्रादोप्रहरमें पचे उसको अल्पा(छोटीमात्रा) कहतेहै वो दोकर्षकी जाननी यह सुखदायकहै अर्थात् यह सबको पचनहोसक्तीहै।

आल्पादिकमात्राओंकेगुण

आल्पास्याद्दीपनीवृष्यास्वल्पदोषसुपूजिता।
मध्यमास्नेहनीज्ञेयाबृंहणीभ्रमहारिणी॥
ज्येष्ठाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेकी जो दोकर्षकी अल्पमात्रा है वह जठराग्नि दीप्तकर स्त्रीसंगकी रुचि बढावे है, तथावातादिक दोषोंके अल्पप्रकोपको दूरकरे है।तथातीनकर्षकी जो मध्यममात्रा है। वोदेहको पुष्टकर धातुकी वृद्धिकरे तथाभ्रमको दूरकरे। एवं १ पलकीजो ज्येष्टमात्रा है वो कुष्ट—विष भूतोन्माद और अपस्मार इनका नाशकरे॥

दोषोंमेंअनुपानविशेष।

केवलंपैत्तिकेसर्पिर्वातिकेलवणान्वितम्।
देयंबहुकफेवापिव्योषक्षारसमन्वितम्।

अर्थ—केवल पित्तके कोपमें घी मिलावे और वायुके कोपमें घी और निमक मिलायके पिवावे। तथा कफके अत्यंत कोप होनेसें व्योष[१]—तथाजवाखार इनके चूर्णके साथदेवे॥

---

१. सोंठ,—मिरच,—पीपल, इन तीनोंके समुदायको व्योष कहते है—

मध्यमायन्त्रिकर्षास्याज्जघन्यायद्विकार्षिकी॥

अर्थ—जिसमनुष्यकी दीप्ताग्नि होवे उसको घृतादिक स्नेहकी मात्रा १ पल पिलानी चाहिये। और जिसकी मध्यम अग्निहै उसमनुष्यको तीनकर्ष प्रमाणदेवे तथा जिसकी मंद अग्निहोवे उसको दोकर्ष प्रमाणकी मात्रा देनीचाहिये।

प्रकारांतर

अथवास्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोन्याः सर्वसंमताः॥
अहोरात्रेणमहतीजीर्यत्यह्नितुमध्यमा॥
जीर्यत्यल्पादिनार्द्धेनसाविज्ञेयासुखावहा॥

अर्थ—संपूर्ण ऋषियोको मान्य—ऐसी दूसरी घृतादिक स्नेह व्यवस्थापक मात्रा तीनप्रकारकीहै उसको कहतेहै।जोमात्रा आठप्रहरमें पचे उसको बडीमात्रा कहतेहै वो एक पलकी जाननी। और जोमात्रा एकदिनमें पचे उसको मध्यम कहतेह वो तीनकर्षकीहै।तथा जो मात्रादोप्रहरमें पचे उसको अल्पा(छोटीमात्रा) कहतेहै वो दोकर्षकी जाननी यह सुखदायकहै अर्थात यह सबको पचनहोसक्तीहै।

आल्पादिकमात्राओंकेगुण

आल्पास्याद्दीपनीवृष्यास्वल्पदोषेसुपूजिता।
मध्यमास्नेहनीज्ञेयावृंहणीभ्रमहारिणी॥
ज्येष्ठाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेकी जो दोकर्षकी अल्पमात्रा है वह जठराग्नि दीप्तकर स्त्रीसंगकी रुचि बढावे है,तथावातादिक दोषोंके अल्पप्रकोपको दूरकरे है।तथातीनकर्षकी जो मध्यममात्रा हे।वोदेहको पुष्टकर धातुकी वृद्धिकरे तथाभ्रमको दूरकरे। एव १ पलकीजो ज्येष्टमात्रा है वो कुष्ट—विष भूतोन्माद और अपस्मार इनका नाशकरे॥

दोषोंमेंअनुपानविशेष।

केवलंपैत्तिकेसर्पिर्वातिकेलवणान्वितम्।
देयंबहुकफेवापिव्योषक्षारसमन्वितम्।

अर्थ—केवल पित्तके कोपमें घी मिलावे और वायुके कोपमें घी और निमक मिलायके पिवावे। तथा कफके अत्यंत कोप होनेसे व्योष[1]—तथाजवाखार इनके चूर्णके साथदेवे॥

---

१ सोंठ,—मिरच,—पीपल, इन तीनोके समुदायको व्योष कहते है—

घृतयोग्य

रूक्षक्षतविषार्त्तानांवातपित्तविकारिणाम् ।
हीनमेधास्मृतीनांच सर्पिःपानंप्रशस्यते ॥

अर्थ—रूक्षमनुष्य-उरक्षत-और विषार्त्त मनुष्य-तथा वातपित्तके विकारी-एवं बुद्धि-स्मृति-करके हीन है उनको घृतकापिलाना उत्तम है ॥

तैलयोग्य

कृमिकोष्टानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः ॥
पिबेयुस्तैलसाम्यायेतैलंदीप्ताग्नयस्तुये ॥

अर्थ—कृमिरोगी, उदरविकारी-तथा वायुकरके व्याप्त है शरीर जिन्होका तथा प्रवृद्धहुआ है कफ और मेद जिनके अेसे मनुष्योको तैल पिलावे । तथा जिनकी प्रकृतिको तेल सुहाता हो एवं प्रदीप्त है अग्नि जिनकी उनमनुष्योंको तैल पिलाना चाहिये ॥

चर्बीयोग्य

व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्तामहारुजः ।
महाग्निमारुतप्राणावसायोग्यानराः स्मृताः ॥

अर्थ—कुस्ती कसरत तथा धनुप्यादिककाखींचना इनकरके जो पीडित है शरीर जिसका तथा क्षीणहै धातु और रक्त जिनका तथा देहमें घोरपीडाहै जिनके एव अग्नि और वायुहै प्रवल जिसके अेसे मनुष्योको मासस्नेह पिलाना चाहिये ॥

मज्जा(हड्डीकातेल)

क्रूराशयाः क्लेशसहावातार्तादीप्तवह्नयः ।
मज्जानंचापिवेयुस्तेसर्पिर्वासर्वतोहितम्॥

अर्थ—दुष्ट है कोष्ठ जिन्होका तथा दुःख सहन करनेवाले मनुष्य तथा जो मनुष्य वायुकरके पीडित है एवं प्रदीप्त है जठराग्नि जिन्होकी अेसे मनुष्योंको हड्डीका तेलपिलाना अथवा घी पिलावे तो इसकार्यसें शरीरको हितहोता है ॥

१जिनमनुष्योंकी प्रदीप्त अग्निहै—तथा वायुका शरीरमें जैसा वर्त्ताव चाहिये अैसा वर्त्ते तथा अग्निके साथही अन्नको पचन करे इसीसें अग्नि और वायु ये शक्तिदेनेवाले है तथा ये अनुकूल होवे तो मासका स्नेह पचन होय और ये अनकूल न होय तो नही पचे

२ आम २ अग्नि—३ पक्व—४ मूत्र—५ यकृत—६ प्लीहा—७ हृदय—८ उदुक—९ और फुप्फुस नो स्थानोको कोष्ट कहतेहै अर्थात् ए पदार्थ कोष्टमें रहते है

स्नेहपानकाल

शीतकालेदिवास्नेहमुष्णकालेपिबेन्निशि ।
वातपित्ताधिकेरात्रौवातश्लेष्माधिकेदिवा ॥

अर्थ—शीतकालमें घृतादिकस्नेह दिनमें पीवे, और गरमीमें वात पित्त प्रबल होनेसैं रात्रिके समय पीवे । तथा कफवायु प्रबल होनेसै दिनमें पीवे इसप्रकार स्नेह पीनेका क्रमजानना ॥

स्नेहकीस्थलविशेषमेंयोजना

नस्याभ्यंजनगंडूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणे ।
तैलंघृतंवायुंजीतदृष्ट्वादोषबलाबलम् ॥

अर्थ—नाकमें डालनेके विषयमें तथा अंगमें मालिस करना कुल्ले करना-तथा मस्तक कान-और नेत्रोंकी तृप्तिके विषयमें वातादिकोंका बलाबल देख. तेल अथवा घृतकी योजनाकरे ॥

स्नेहकेपृथक्२अनुपान

घृतेकोष्णजलंपेयंतैलेयूषः प्रशस्यते ।
वसामज्ज्ञोः पिबेन्मंडमनुपानंसुखावहम् ॥

अर्थ—घृतपीकर उसके ऊपर गरम जल पीवे-तथा तेलं पीके ऊपर व्योष पीवे-मांस स्नेह अथवा हड्डीका तेल पीकर ऊपरसैं मंडपीवे । तो सुखकारी होय याप्रकार स्नेहका अनुपानजानना ॥

भातकेसंगस्नेहदेनेयोग्य

स्नेहद्विषः शिशून्वृद्धान्सुकुमारान्कृशानपि ।
तृष्णातुरानुष्णकालेसहभक्तेनपाययेत् ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहसैं जिनको द्वेष (नफरत) है, तथा बाल-वृद्ध-सुकुमार मनुष्य और कृश तथा तृषा करके पीडित ऐसे मनुष्यको गरमीके दिनोंमें भातके साथ घृतादिक स्नेह पिवावे ॥

यवागूकोसद्यःस्नेहकारित्व

सर्पिष्मतीविदुतिलायवागूः स्वल्पतंडुला ।

---

१ चावल कुल्थी इत्यादिक धान्य एक पल ले उसमें जल १ प्रस्थ डालके औंटावे और गाढीकरे उसको व्योष ऐसा कहतेहै २ भातके पेंजको मंड ऐसा कहते है

सुखोष्णासेव्यमानातुसद्यःस्नेहनकारिणी ॥

अर्थ—तिलोंको कूट उसमें थोडे चावल मिलाय घी और पानी उनमें डाल-के चूल्हेपर चढायकै ओंटावे मंदाग्निसैं पतली लप्सीसी वनावे उसको यवागू कहते है यहयवागू कुछ गरम २ सेवनकरनेसैं उसीसमय देहमें धातु उत्पन्न हो-ती है अर्थात् सद्यस्नेहनकारिणी है ॥

घारोष्णदुग्धसैतत्कालधातुउत्पन्नहोतीहै
शर्करा चूर्णसंमृष्टेदोहनस्थेघृतेतुगाम् ।
दुग्ध्वाक्षीरंपिबेदुष्णंसद्यःस्नेहनमुच्यते ॥

अर्थ—मिश्रीका चूरा घीमें डालके उस घीको चूल्हे परचढाय थोडा गरमकर दूधदुहनेके पात्र (दोहनी) में डाले फिरउसपात्रमें गौकादूध उसीसमय गरम २ होय उसको पीवे असाकरनेसैं तत्काल स्नेहनहोताहै अर्थात् उसीसमय देहमें धातु उत्पन्न करता है ॥

मिथ्योपचारसैंजिसकोस्नेहनपचेउसकायत्न
मिथ्याचाराद्धुत्वाद्वायस्यस्नेहोनजीर्यति ।
विष्टभ्यवापिजीर्यैतवारिणोष्णेनवामयेत् ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेके पश्चात् व्यायामादिक परिश्रम करनेसैं वो स्नेह पचेनही अथवा वहुत पीनेसै नहीं पचा—अथवा मलके अवरोध करके जीर्णनहीं हुआ असे स्नेहाजीर्णी मनुष्यको गरम२ जल पीलाय कर उलटी करावे जिससे स्नेहके अजीर्णका दोप दूरहोय ॥

दूसरायत्न
स्नेहस्याजीर्णशंकायांपिबेदुष्णोदकंनरः ।
ततोद्गारोभवेच्छुद्धोभक्तप्रीतिरुचिस्तथा ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेह पीनेसैं यदि अजीर्णहुआ असी शंका होय तो गरमागरम जल पीवे जिससै शुद्ध उत्तम डकार आकर अन्नके ऊपर रुचि आवे आतेही अजीर्णदूरहुआ असा जानना ॥

स्नेहनकरकेपित्तकोपहोतृपालगेउसकाउपाय
स्नेहेनपैत्तिकस्याग्निर्यदातीक्ष्णतरीकृतः ।
तदास्योदीयतेतृष्णाविपमांतस्यपाययेत् ॥

शीतंजलंवामयेच्चपिपासातेनशाम्यति ॥

अर्थ—जिस मनुष्यकी आर्धी पित्तकी प्रकृति उसमें वो मनुष्य घृतादिक स्नेह पदार्थ पीवे तो उसकरके उसमनुष्यकी अग्नि अत्यंत तीक्ष्ण हो तृपाको वढावे उसतृपाके दूर करनेको उस मनुष्यको शीतलजल पिवावे तथा उलटीकरवावे कि जिस्सैं अत्यंत प्यासका लगना दूरहो ॥

वर्जितस्नेहीमनुष्य

अजीर्णीविर्जयेत्स्नेहमुदरीतरुणज्वरी ॥
दुर्बलोरोचकीस्थूलोमूर्च्छातोंमदपीडितः ॥
दत्तवस्तिर्विरक्तश्चवांतितृष्णासमन्वितः ॥
अकालप्रसवानारीदुर्दिनेचविवर्जयेत् ॥

अर्थ—अजीर्णका विकार-उदररोगी-तरुणज्वरवाला-दुर्वलमनुष्य-अरुचिवाला-अतिस्थूल-मूर्च्छारोगी-मद्यपानेसैं पीडित एवं वस्तिकर्मकराहुआ-तथा जिसको दस्त होतेहो-उलटी करताहो-प्याससे पीडित तथा अकालमें प्रसूता स्त्री इन सब रोगियोंको घृतादिक स्नेह पान नहीकरना चाहिये-तथा जिसदिन वदलसैं आकाश थिररहाहो उस दिनभी स्नेह पानकरना वर्जितहै ॥

उत्तमस्नेहकेलक्षण

वातानुलोम्यंदीप्तोग्निर्वर्चःस्निग्धमसंहतम् ॥
मृदुस्निग्धांगताग्लानिःस्नेहोवेगोथलाघवं ॥
विमलेन्द्रियतासम्यक्स्निग्धेरूक्षेविपर्ययः ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहपीकर अंगका रूखापन दूर होकर मनुष्य उत्तम स्निग्धहोनेसैं उसके लक्षण दिखाते है कि वायु देहमें उत्तमरीतिसैं संचारकरे । तथा मल सचिक्कण होवे और अधिक उतरे । तथा शरीर नम्र और सचिक्कण होवे-तथा ग्लानि रहितहो । तथा घृतादिकस्नेहके सेवन करनेसै किसी प्रकारका उपद्रव न होय शरीर हलका होय तथा इन्द्री निर्मल होवे एलक्षण उत्तमके है। और रूक्ष मनुष्य जो होताहै उसके लक्षण इनलक्षणोंसैं विपरीत होते है तात्पर्य यहहै कि देहमे यथार्थ स्नेहन (चिकनाई) न होनेसै जो ऊपर लक्षणकहे है उससै विपरीत लक्षण होते है ॥

---

१ जिसका ज्वर परिपक्व न हुआ हो वो मनुष्य ।
२ गुदाके द्वारा तैल आदिकी पिचकारी मारनेका प्रयोग ।

अधिक स्नेहपानकेउपद्रव

भक्तद्वेषोमुखस्रावोगुदेदाहः प्रवाहिका ॥
तन्द्रातिसारः पांडुत्वंभृशंस्निग्धस्यलक्षणम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य घृतादिक स्नेह अधिक पीताहै उसके लक्षण ये है कि अन्नसैं द्वेषकरे मुखसैं लारगिरे-गुदामें दाहहोय—मल पतला उतरे—नेत्रोंमें तन्द्राहो-अतिसारहोय—तथा शरीर पीले रंगका होजावे ये अतिस्निग्धके लक्षण जानने ॥

रूक्षकोंस्निग्धकरनाऔरस्निग्धकोरूक्षकरनेकाप्रकार

रूक्षस्यस्नेहनंस्नेहैरतिस्निग्धस्यरूक्षणम् ।
श्यामाकचणकाद्यैश्चतत्कपिण्याकसक्तुभिः ॥

अर्थ—रूक्षमनुष्यको स्निग्धपदार्थ—मक्खननिकाला हुआ, तत्कालका मट्ठा-तथा तिलोंका कल्क-तथा जोंका सत्व इत्यादिकरके स्निग्धकरे और स्निग्ध मनुष्यको रूक्ष पदार्थ जे साँमखिया—पसाई—धान्य और चना इत्यादिककरके रूक्षकरना चाहिये ॥

स्नेहसेवनका फल

दीप्ताग्निःशुद्धकोष्ठश्चपुष्टधातुर्जितेन्द्रियः ।
निर्जरोबलवर्णाढ्यःस्नेहसेवीभवेन्नरः ॥

अर्थ—घृतादिक स्नेहके सेवनकरनेसै मनुष्यके लक्षण—जैसै कि अग्निदीप्तहो कोष्ठ शुद्धहोय—शरीरमें रसादिक धातु पुष्ट हो—तथावो मनुष्य जितेन्द्रीहोय तथा वृद्धावस्थारहितहो बल और कांति इनकरके युक्त होवे—एलक्षण होतेहै ॥

स्नेहसेवनकेनियम

उष्णोदकोपचारीस्याद्ब्रह्मचारीक्षपाशयः । नवेगरोधीव्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥ प्रवातयानपानाध्वभाष्याव्यासनसंस्थिती । नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसिच । यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपित्यजेत् ॥

अर्थ—घृतादि स्नेहसेवनकरनेवाला गरम जल पीवे—शीतलनपीवे—ब्रह्मचर्यसे रहे—रात्रिमें शयनकरे दिनमें न सोवे—मलमूत्रादिके वेगको रोकेनहीं उसी समय त्यागे—दंडकसरत—क्रोध—शोक—सरदी—धूप—अत्यंत हवासाना—घोडे आदिकी

सवारी-मद्यआदिकापान-मार्गका चलना-बहुत बोलना-अत्यंतबैठारहना अत्यंत नीचा अथवा अत्यंतऊंचा मस्तकके नीचे तकिया धरके सोना-दिनमें सोना-धूंआके घरमें रहना-उडती धूरमें जानाआना इत्यादिक सब कर्म त्यागदेवे ये संपूर्ण नियम जितने दिन स्नेहपानकरे उतनेही दिन आगेतक पालनकरने चाहिये ॥

त्र्यहमच्छंमृदौकोष्ठेक्रूरेसप्तदिनंपिबेत् ॥
सम्यक् स्निग्धोऽथवायावदतःसात्म्यमिवेत्परम् ॥

अर्थ—मृदुकोष्ठवाला ३ दिन, क्रूरकोष्टवाला७ दिन, अच्छ स्नेह पानकरें, मध्यकोष्ठवाला पांच दिन सेवनकरे, तब.इसस्नेहका फल दीखे । सामान्यताकरके यह नियमहै किंतु जहांतक स्नेहपानके संपूर्ण लक्षण न मालुमहो तबतक स्नेहपानकरे तत्पश्चात् स्नेहपान सात्म्य अर्थात् अभ्यासमें आयजाताहै ॥

स्नेहव्यापत्तीकायत्न

तक्रारिष्टखडोद्दालयवश्यामाककोद्रवम् । पिप्पली
त्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ॥ यथास्वंप्रतिरोगंच
स्नेहव्यापदिसाधनम् ॥

अर्थ—स्नेहके उपद्रवसें यदि क्षुधा-तृषाजातीरहे वमन होय-पसीने आवे-तो रूक्षपान-रूक्षअन्नका भोजन-रूक्षऔषधे-तक्र-अरिष्ट-खड (कृतान्न विशेष) उद्दाल (धान्यविशेष) यव-सामखिया-कोदोधान्य-पीपल-त्रिफला-सहत हरड-गोमूत्र-तथागूगलइत्यादिकदेवे-तथा जिस २ रोगपरजैसी २ चिकित्साल्खी है वो स्नेह व्यापत्ती रोगोंमें करनी चाहिये ॥

अथस्वेदविधि

स्नेहपानके अनंतर पसीने काढनेकी विधिकहते है तहां प्रथम पसीनेके भेद दिखाते है ॥

स्वेदश्चतुर्विधःप्रोक्तस्तापोष्मौस्वेदसंज्ञितौ ।
उपनाहोद्रवःस्वेदःसर्ववातार्तिहारिणः॥

अर्थ—पसीना निकालना चारप्रकारका है उसके नाम जैसे-ताप-उष्म-उपनाह-और द्रव ये चार प्रकारके पसीने वादीकी पीडा दूर करने वाले है ॥

दोषकीतारतम्यतासेंस्वेदविधिः
महाबलेमहाव्याधौशीतेस्वेदोमहान्स्मृतः ।

दुर्बलेदुर्बलस्वेदोमध्येमध्यतमोमतः ॥

अर्थ—जिसकेदेहमें घोर वादीका रोग है उसके अंगोंसैं अत्यंत पसीना काढना चाहिये, तथा हलका रोग होयतो उसके अंगसैं थोडा पसीनानिकाले, और मध्यमरोगीके देहसैं मध्यम पसीने निकालने चाहिये ॥

रोगविशेषमेंस्वेदविधिः

बलासेरूक्षणःस्वेदोरूक्षः स्निग्धःकफानिले । कफमेदावृतेवातेकोष्णगेहरवेःकरान्॥ नियुद्धंमार्गगमनंगुरुप्रावरणंध्रुवं ।चिंताव्यायामभारांश्चसेवेतामयमुक्तये ॥

अर्थ—कफका रोगहोनेसैं रूक्षपदार्थ जो वालुकादिक उस्सै देहका पसीनानिकालना और कफवायुका रोगहोनेसैं स्निग्ध और रूक्षइनदोनो प्रकारके पदार्थोंसैं पसीना निकालना चाहिये तथा कफ मेदोयुक्त वादीकारोग होनेसैं–घरमें जिसजगे गरमी हो उसजगे बैठ अंगको सहन होय अेसीथोडी२गरमीलेनी चाहिये तथा सूर्यकी किरण अंगपरलेनी चाहिये । तथा कुस्तीकरे एवं कुछ थोडी रास्ता चले–कंवल,–धुस्सा,–इत्यादिक ओंढे–तथा चिंताएुक्तहोना चाहिये परिश्रमकरे तथा कोई भारीवस्तु अंगोपर धारण करनी–इतने उपायपसीने निकालनेके अर्थकरने चाहिये जिस्से कफमे दोषयुक्तजो वायुका रोग सो दूरहोवे ॥

पसीनेकाढनेयोग्यमनुष्य

येषांनस्यंविधातव्यंवस्तिश्चापिहिदेहिनाम् ।
शोधनीयाश्चयेकेचित्पूर्वंस्वेद्याश्चतेमताः॥

अर्थ—जोनस्यकर्मके योग्यहै तथा वस्ति कर्मके योग्य तथा विरेचन देनेके योग्यउन सब मनुष्योंके अंगका पसीना प्रथम काढकर फिर नस्यादि उपाय करना चाहिये ॥

स्वेद्याः पूर्वंत्रयोपीहभगंदर्यर्शसीतथा ।
आश्मर्या चातुरोजंतुः शमयेच्छस्त्रकर्मणा ॥

अर्थ—भगंदररोगी–बवासीररोगी–और पथरीरोगी इनतीनोको प्रथम पसीने निकालके फिर शस्त्रकर्म कर रोगको शमनकरना चाहिये ॥

पश्चात् स्वेदनीयमनुष्य

पश्चात्स्वेद्यागतेशल्येमूढगर्भगदेतथा ।

कालेप्रजाताकालेवापश्चात्स्वेद्यानितंविनी ॥

अर्थ—जिसस्त्रीके पेटमें गर्भका शल होवे उसका पतन होने उपरांत तथा नौ महिनेके पश्चात् अथवा नौमहिनेके प्रथम प्रसूत होनेसें उसके देहका पसीना निकलवाना चाहिये ॥

स्वेदकर्मयोग्यदेशकाल

सर्वान्स्वेदान्निवातेचजीर्णाहारेचकारयेत् ॥

अर्थ—ये चाऱ्यो प्रकारके स्वेद मनुष्यका आहार पचन होनेके अनंतर जिसजगे हवा न आतीहो उसजगे काढने चाहिये॥

पसीनेकाढनेपरिकसमार्गसैंदोषदूरहोतेहै ।

स्वेदाद्धातुस्थितादोषाः स्वेदः स्विन्नस्य देहिनः ॥
द्रवत्वंप्राप्यकोष्ठांतर्गतायांतिविरेकताम् ॥

अर्थ—औषधादिक करके मनुष्यके अंगका पसीना काढनेके पश्चात उसको तथावडे वासनमें तेल भरके उसमें मनुष्यको बैंढानेसैं उसके वातादिक दोपरसादि सप्तधातुमें रहनेवालेभी कोष्टकेमध्येजानेसैं वो दोषपतले होकर गुदाके द्वारा दस्तकेसाथ निकलते है । प्रथम दोषपसीनेके द्वारानम्रहोकर कोष्ठमें जाते है वहांसैं दस्तोके राहवाहर गिरते है यह इस श्लोकका तात्पर्य है ॥

स्वेदनमेंविधि

स्वेद्यमानशरीरस्यहृदयंशीतलैः स्पृशेत् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्यशीतैराच्छाद्यचक्षुषी ॥

अर्थ—मनुष्यके देहकापसीना काढनेसैं उसयोगकरके पेटके भीतरके दोषपतले होकर गुदाके द्वारादस्तोंमे निकलते है तवउसमनुष्यकी छाती में चंदनका लेपकरे जिससैं प्रकृतिस्वस्थहोय । तथा जो मनुष्य तेलमें बैठादुआ है उस योगसैं उसके दोषपतले होकर गुदाके रास्तेसैं दस्तोंके साथ निकलनेसैं उसके नेत्रोंपर कमलके पत्ते अथवा केलाके पत्ते शीतलता करनेके लियेलगाने चाहिये उसठंढकके करनेसैं ग्लानिदूर होकर प्रकृति स्वस्थहोती है ॥

स्वेदकर्मवर्जितमनुष्य

अजीर्णीदुर्बलोमेहीक्षतक्षीणपिपासितः ॥
अतिसारीरक्तपित्तीपांडुरोगीतथोदरी ॥

मदात्तौगर्भिणीचैवनहिस्वेद्याविजानता ॥
एतानपिमृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको अजीर्णहो, तथा दुर्बल मनुष्य—तथा जिसको प्रमेहहो. तथा उरःक्षत करके पीडित तथा जिसको अत्यंतप्यासलगरही हो वो तथा अतिसार—रक्तपित्त-पांडुरोगी—उदररोगी-मदार्त—येरोग जिसमनुष्योंके होय वो तथा गर्भिणीस्त्री—इतने रोगीनूका पसीना नहीं काढना चाहिये ये पसीना काढनेमें अयोग्य है यदि इनरोगियोंके पसीना काढनेसैं ही रोगनष्टहोता दीखेतो हलके उपायसैं थोडा पसीना काढना चाहिये ॥

अल्पपसीनेकाढनेयोग्यस्थल

मृदुस्वेदंप्रयुंजीततथाहृन्मुष्कदृष्टिषु॥

अर्थ—हृदय और अंडकोश तथा नेत्र इनका पसीना काढना होवेतो हलका काढे विशेषनहीं ॥

अत्यंतपसीनेनिकलनेकेदोष

अतिस्वेदात्संधिपीडादाहस्तृष्णाक्लमोभ्रमः ॥
पित्तासृक्पिटिकाकोपस्तत्रशीतैरुपाचरेत् ॥

अर्थ—अंगेसैं बहुत पसीना निकालनेसैं सर्व संधियोंमें पीडा—तृषा—ग्लानि—भ्रम—रक्तपित्त—येउपद्रव होते है तथा अंगमें मरोडी उत्पन्न होती है । इनके शमनकरनेको शीतल उपाय करना कि जिस्सै उपद्रव दूरहोवे ॥

उक्तचारप्रकारकेस्वेदोंमेंतापसंज्ञकस्वेदकेलक्षण ॥
तेपुतापाभिधः स्वेदोबालुकावस्त्रपाणिभिः ॥
कपालकंदुकांगारैर्यथायोग्यंप्रजायते ॥

अर्थ—चारप्रकारके पसीनोंमें ताप इसनामकरके जो पसीना है इसको बालू वस्त्र—हाथ—सीपडा—कपडेकी गेंद और अंगार इनकरके बालूकादिक आदि जिस २मे जैसी २ शक्ती है तैसा २ पसीना उत्पन्न होता है । ये छःप्रकार कहे इनकी क्रियाकैसे करे उसको कहते हैं सैरके अथवा कणसर लकडीके धूमररीत जलते हुए कोले करके उसके ऊपरबालूको तपायके उसबालूको अंड़के पत्तोंमें धरके उसपत्तेकी पुडिया बनाय उसपुडियामें मनुष्यके अंगोंकोसेके जिस्सै अंगका पसीना निकले यह एकप्रकार है । तथा अंगारोपर अपने हाथ गरम कर रोगी के अंगोंकोसेकैं । अथवा रूअड कपड़ेकी गेंदभी बनाय अंगारोपर गरम

करके उसगैदसैं रोगीके अंगासिकावे । तथा कपडेको गरम करके देहको सेके । अथवा अंगारो को सीपरेमें भरके उससुहाते २ सिपरेसैं सेककरे येसवउपायप सींनेनिकालनेकेकहे इनसैं वैद्यको जिसउपायसै पसीने काढने हो काढे ॥

उष्मसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

उष्मास्वेदःप्रयोक्तव्यो लोहपिंडेष्टिकादिभिः । प्रतप्तै-
रम्लसिक्तैश्च काये रल्लकवेष्टिते । अथवा वातनिर्घा-
शिद्रव्यक्काथरसादिभिः । उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे
छिद्रं निधाय च।विमुद्रचास्यं त्रिखंडा च धातुजां का
ष्ठवंशजां । षडंगुलास्यां गोपुच्छां नलीं युज्याद्विह-
स्तिकां ॥सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतं। ह-
स्तिशुंडिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणं ॥पुरुषाया-
ममात्रं वा भूमिमुत्कीर्यखादिरैः॥काष्ठैर्दग्धा तथाभ्यु-
क्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शया
नं स्वेदयेन्नरम् ॥एवं मापादिभिः स्विन्नैः शयानः स्वे
दमाचरेत् ॥

अर्थ—उष्माइसनाम करके जो स्वेद (पसीना) है–उसकी क्रियाकहते है। लोहेके गोलाको अथवा ईटको अग्निमें तपायकर उसपर थोडा खट्टा पदार्थ छिडक कर रोगीको कंबल उढाय उस गोले करके अथवा उस ईटकरके रोगीके देहकोसेके, जिस्मै पसीनेनिकले यह एकप्रकार कहा । अथवा दशमूलादिक जो वातहरणकर्त्ता औषधी उनका काढा अथवा उन औषधियोंका रस गरमकर मिट्टीके घडेको भर उस घडेके मुखको बंदकर उसके एक बाजूमें छेदकर धातुकी अथवा लकडीकी तथा बांसकी नली बनाय उसनलीमें तीनसंधी करे तथा उसकामुख छःअंगुल लंबा और चोडा करे । अथवा गौके पुच्छके आकार करे, इस नलीका आकार हाथीकी सूंडके समान होताहै, अतएव इसको ह-

---

१ छाछ, कान्जी, इत्यादिक खट्टे पदार्थ जानने । २ सालपर्णी, पृष्टपर्णी, कटेरी, बडीकटेरी, गोखरू, बेलगिरी, अरनी, टेंटू, पाढल और गंभारी, इनकी मूलको दशमूल कहते है । ३ उसघडेके मुखमें डाटदेकर दहकते हुए कौलेनपर धरदेवे–जिससे उस नलीकेरास्ते वाफ अच्छीरीतिसैं निकले।४ तांबे, पीतल, लोहआदि धातुकी नली चाहिये।

मदात्तैंगर्भिणीचैवनहिस्वेद्याविजानता ॥
एतानपिमृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको अजीर्णहो, तथा दुर्वल मनुष्य—तथा जिसको प्रमेहहो. तथा उरःक्षत करके पीडित तथा जिसको अत्यंतप्यासलगरही हो वो तथा अतिसार—रक्तपित्त-पांडुरोगी—उदररोगी-मदार्त—येरोग जिसमनुष्योंके होय वो तथा गर्भिणीस्त्री—इतने रोगीनूका पसीना नहीं काढना चाहिये ये पसीना काढनेमें अयोग्य है यदि इनरोगियोंके पसीना काढनेसैं ही रोगनष्टहोता दीखेतो हलके उपायसैं थोडा पसीना काढना चाहिये ॥

अल्पपसीनेकाढनेयोग्यस्थल

हृदुस्वेदंप्रयुंजीततथाहृन्मुष्कदृष्टिषु॥

अर्थ—हृदय और अंडकोश तथा नेत्र इनका पसीना काढना होवेतो हलका काढे विशेषनहीं ॥

अत्यंतपसीनेनिकलनेकेदोष

अतिस्वेदात्संधिपीडादाहस्तृष्णाक्लमोभ्रमः ॥
पित्तासृक्पिटिकाकोपस्तत्रशीतैरुपाचरेत् ॥

अर्थ—अंगेसैं वहुत पसीना निकालनेसैं सर्व संधियोंमें पीडा—तृषा—ग्लानि—भ्रम—रक्तपित्त—येउपद्रव होते है तथा अंगमें मरोडी उत्पन्न होती है । इनके शमनकरनेको शीतल उपाय करना कि जिससैं उपद्रव दूरहोवे ॥

उक्तचारप्रकारकेस्वेदोंमेंतापसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

तेपुतापाभिधः स्वेदोवालुकावस्त्रपाणिभिः ॥
कपालकंदुकांगारैर्यथायोग्यंप्रजायते ॥

अर्थ—चारप्रकारके पसीनोंमें ताप इसनामकरके जो पसीना है इसको वालू वस्त्र—हाथ—सीपडा—कपडेकी गैंद और अंगार इनकरके वालूकादिक आदि जिस २मे जैसी २ शक्ती है तैसा २ पसीना उत्पन्न होता है । ये छःप्रकार कोई इनकी क्रियाकैसे करे उसको कहते है खैरके अथवा कणग्वर लकडीके धूमरहीत जलते हुए कोले करके उसके ऊपरवालूको तपायके उसवालूको अंढके पत्तोंमें धरके उसपत्तेकी पुडिया वनाय उसपुडियामें मनुष्यके अंगोंकोसेके जिससैं अंगका पसीना निकले यह एकप्रकार है । तथा अंगारोपर अपने हाथ गरम कर रोगीके अंगोंकोसेकै । अथवा रूअड कपडेकी गैंदसी वनाय अंगारोपर गरम

करके उसगैदसैं रोगीके अंगसिकावे । तथा कपडेको गरम करके देहको सेके । अथवा अंगारो को खीपरेमें भरके उससुहाते २ खिपरेसैं सेककरे येसवउपायप सीनेनिकालनेकेकहे इनसैं वैद्यको जिसउपायसैं पसीने काढने हो काढे ॥

उष्मसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

उष्मास्वेदःप्रयोक्तव्यो लोहपिंडेष्टिकादिभिः । प्रतप्तै-
रम्लसिक्तैश्च काये रल्लकवेष्टिते । अथवा वातनिर्हा-
शिद्रव्यक्काथरसादिभिः । उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे
छिद्रं निधाय च।विमुद्रयास्यं त्रिखंडा च धातुजां का
ष्ठवंशजां । षडंगुलास्यां गोपुच्छां नलीं युज्याद्विहु-
स्तिकां ॥सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतं। ह-
स्तिशुंडिकया नाड्या स्वेदयेद्धातरोगिणं ॥पुरुषाया-
ममात्रं वा भूमिमुत्कीर्यखादिरैः॥काष्ठैर्दग्धा तथाभ्यु-
क्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शया
नं स्वेदयेन्नरम् ॥एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानः स्वे
दमाचरेत् ॥

अर्थ—उष्माइसनाम करके जो स्वेद (पसीना) है—उसकी क्रियाकहते है। लोहेके गोलाको अथवा ईंटको अग्निमें तपायकर उसपर थोडा खट्टा पदार्थ छिडक कर रोगीको कंवल उढाय उस गोले करके अथवा उस ईंटकरके रोगी-के देहकोसेके, जिस्सै पसीनेनिकले यह एकप्रकार कहा । अथवा दशमूलादि-क जो वातहरणकर्त्ता औषधी उनका काढा अथवा उन औषधियोंका रस गर-मकर मिट्टीके घडेको भर उस घडेके मुखको वंदकर उसके एक बाजूमें छेदक-र धातुकी अथवा लकडीकी तथा वांसकी नली बनाय उसनलीमें तीनसंधी करे तथा उसकामुख छःअंगुल लंवा और चोडा करे । अथवा गौके पुच्छके आकार करे, इस नलीका आकार हाथीकी सूडके समान होताहै, अतएव इसको ह-

---

१ छाछ, कांजी, इत्यादिक खट्टे पदार्थ जानने । २ सालपर्णी, पृष्टपर्णी, कटेरी, बडीकटेरी, गोखरू, वेलगिरी, अरनी, टेंटू, पाढल और गंभारी, इनकी मूलको दशमूल कहते है । ३ उसघडेके मुखमें डाटदेकर दहकते हुए कोलेनपर धरदेवे—जिससे उस नलीकेरास्ते वाफ अच्छीरीतिमें निकले।४ तावे, पीतल, लोहआदि धातुकी नली चाहिये।

स्तिशुंडिका नाडी कहते है । फिर वायुसैं पीडित जो मनुष्य उसको स्वस्थ बैठाकरके अंगमें घी अथवा तेल लेपकर उसको रिजाई अथवा कंवल उढाय उस नलीको उसके भीतर करदेवे कि जिस्सैं वाफ लगकर अंगोंसैं पसीने निकले । अथवा मनुष्यके साडेतीन अथवा चारहाथ लंबा जमीनमें गड्ढा खोद उसमें खैरकी लकडीभर अग्निजलायके कोलाकरे, फिर शीघ्र कोलान्को बाहर निकाल उसजमीनको दूध अथवा धान्यके पानी अथवा छाछ तथा कांजीसैं छिडकाकर उस जमीनपर वातहारक औषधोंके पत्ते बिछायकर उसपर रोगीको सुलायके उसके अंगसैं पसीने निकाले । इसी प्रकार उडद लेकर उनको थोडी-वाफदे अधकच्चे सिजाय उस तपेहुए ठौरमें बिछाय ऊपर सूर्त्ती[1] अंडके पत्ते आदि वातहरक औषधीकेपत्ते डालके उसपर रोगीको सुलायके ऊपरसैं कंवल उढाय उसके अंगका पसीना निकलवावे । इसप्रकार उष्मसंज्ञक पसीनेके लक्षण जानने ॥

उपनाहसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

अथोपनाहस्वेदं च कुर्याद्वातहरौषधैः ।
प्रदिह्य देह वातार्त्तक्षीरमांसरसान्वितैः ॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥

अर्थ—उपनाह इसनामका स्वेदहै उसकी क्रिया लिखते है । दशमूलादि वातुहारक औषधको लाय कुटके चूर्णकरे उसमें दूध और हरिणादिकके मांसका स्नेह ये दोनो मिलाय थोडा गरमकर वायुपीडित मनुष्यके अंगोंको सुहाता २ अेसा गाढा लेपकर वस्त्रादिकसैं बांधके पसीना निकाले । अथवा वातहारक औषधका चूर्णकर छाछमें अथवा कांजीमें पीस उसमें थोडा सैंधानिमक और तिलकातेल मिलाय कुछगरम करके वायुपीडितके अंगमें सुहाता २ गाढा लेपकर कपडेसैं बांध उसकेअंगका पसीना निकाले ॥

दूसराप्रकारतथा महाशाल्वणप्रयोग

उपग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च । दधिसौवीरकक्षारैर्वीरतर्वादिना तथा ॥ कुलित्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः । शतपुष्पादेवदारुशेफालीस्थूलजीरकैः॥ एरंडमूलबीजैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः । मिश्रीकृष्ण-

१ सूर्त्तीअंड, आक, और निर्गुंडी इत्यादिकोंके पत्ते वातहारक है ॥

कुठैरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः ॥ प्रसारण्यश्वगंधाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः । गुडूचीवानरीबीजैर्यथालाभंसमाहृतैः ॥ क्षुण्णैःस्विन्नैश्चवस्त्रेणबद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥ महाशाल्वणसंज्ञोयंयोगःसर्वानिलार्त्तिजित् ॥

अर्थ—ग्राम्यमांस, अनूपमांस, जीवनीयगणकी औषधी, तथा गौकादही,सौवीरं, सज्जीखार, जवाखार, रेहकाखार वीरतर्वादिगणकी औषधी और कुलथी, उडद, गैंहू, अलसी, सौफ, देवदारु, निर्गुंडी, करौंजी, अंडकी जड, अंडके बीज, रास्ना, मूली, सेहजना, छौटीसौफ, पीपल, वनतुलसी, पांचोनिर्मक, अनारदानाप्रसारणी, असगंध, खरेटीकी जड, दशमूलकी दश औषधी, और गिलोय, कौचकेबीज, ये सब औषध जो मिलसके उनको लेकर कूट थोडीगरमकर कपडेमें पोटली बांधकर उससैं रोगीका अंगसेके, कि जिस्सैं संपूर्ण वायुकी पीडा दूरहोवे । इस प्रयोगको महाशाल्वण प्रयोग कहतेहै । इसप्रकार उपनाह संज्ञक स्वेद (पसीने) की विधि जाननी ॥

द्रवसंज्ञकस्वेदकेलक्षण

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नद्रव्यकाथेन पूरिते । कटाहे कोष्टके वापि सूपविष्टोवगाहयेत् ॥ नाभेः पडंगुलं यावन्मग्नः क्काथस्य धारया । कोष्टके स्कंधयोः सिक्तस्तिष्ठेत्स्निग्धतनुर्नरः ॥ एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषास्वेदयेन्नरं । एकान्तरे द्व्यंतरे वा स्नेहो युक्तोवगाहने ॥ शिरामुखैः रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् । शरीरंबलमाधत्ते युक्तस्नेहावगाहने ॥ जलसिक्तस्य वर्द्धंते यथामू

---

१ मुरगा, बकराआदि केमांसको ग्राम्य मांस कहते है। २ चकवा,–चकवी,–बतक जलमुरगावी और मछलीआदि जलसंचारी जीवोके मांसको अनूपमांस कहते है। ३ काकोली,–क्षीरकाकोली,–जीवक,–ऋषभक,–मेदा,–महामेदा,–जीवंती,–मुलहटी,–मुद्गपर्णी,–माषपर्णी–इन दशऔषधोके समुदायको जीवनीय गणकहते है । ४ कच्चे जौ अथवा भुने जौंओंको कूट पानीमें तीनदिन भिगोनेसैं उस पानीको सौवीर कहतेहै,– इसी प्रकार गैहूका भी सौवीर होता है । ५ सैंधा,–संचर,–विड,–समुद्र,–और रेहका निमक–इस पांचोंको पंचलवण कहते तथा उपनाह संज्ञकस्वेदका दूसरा भेद महाशाल्वण प्रयोगहै

लेङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्यजा
यते ॥ नातः परतरःकश्चिदुपायो वातनाशनः। मुहू-
र्त्तैकं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुष्टयं। तावत्तदवगाहेत
यावदारोग्यनिश्चयः ॥

अर्थ—द्रव या नामका स्वेद उसकी विधि लिखते है। दशमूलादि वायु-हारक औषधका काढा कर रोगीके देहके घी अथवा तेल लगाय उसको कढाईमें अथवा तामेके वडे पात्रमें वैठारके पूर्वोक्त गरमागरम काढेको अंगपर और कंधेपर सहती२धारडाले, इसीप्रकार तेलकी अथवा दूधकीअथवा घीकी धारढाले परंतु जवतक वह काढा डालोके नाभिके छःअंगुल ऊपर तक नचढे। पश्चात मनुष्यको धर्मयुक्त होना चाहिये। इसप्रकार एक २ दिनके अथवा दो २ दिन के अंतरसै करना चाहिये कि जिससे शिराओंके मुखद्वारा रोमांचोंके मुखमे हो कर तथा नाडीनके द्वारा वो स्नेहादिक पदार्थ शरीरके भीतर प्रवेश होकर श-रीरको तृप्तकरके वल उत्पन्नकरे। इसमें दृष्टांत है कि जैसै वृक्षकीजडमे पानी-देनेसैं वृक्ष वढता है उसीप्रकार तैलादिकमें वैठनेसैं मनुष्यके रसादि सातधातु वढती है, और वायुका नाश होता है इसउपायकी अपेक्षा वायुनाशक दूसरा उपाय नहीहै यह उपाय पराकाष्टाकाहै। एकमूहुर्त्तसैं लेकर चारमुहूर्त्त अर्थात् ए-कमहर होनेपर्यंत तैलके पात्रमें वैठना चाहिये तथा जवतक आरोग्यता न दीसे तावत्कालपर्यंत यही विधिकरे ॥

स्वेदकीसमाप्ति

शीतशूलाद्युपरमे स्तंभगौरवनिग्रहे।
दीप्तेग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥

अर्थ—अंगकी शरदी और शूल इनकी शांति होनेपर तथा अंगका स्तंभ त-था जडपना ये दूरहोने पर एवं अग्निप्रदीप्त होनेपर तथा अंगमें मृदुपना आनेपर रोगीके अंगसैं पसीने न निकाले अर्थात् समाप्ति करदेवे ॥

पसीनेनिकालनेकेअनंतरउपचार

सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नानमुष्णांबुभिःशनैः।
भोजयेच्चानभिष्यंदि व्यायामं च विवर्जयेत् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यके अंगका पसीना काढाहो उसको तथा अंगमेंतेल लगाया हो उसको हलके २ गरम जलसैं स्नानकरावे। तथा कफकारक पदार्थ भोजनमें

नदेवे तथा परिश्रम न करे, इस प्रकार द्रवसंज्ञक स्वेदमें करना चाहिये। अब, आगे वमनकी विधिलिखी जातीहै ॥

वमनमेंऋतुप्रधान

शरत्काले वसंते च प्रावृट्काले च देहिनाम् ।
वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥

अर्थ—शरद ऋतु, वसंत ऋतु, वर्षाऋतु, इनमे मनुष्यको वमन और विरेचन ये कुशल वैद्यको कराने चाहिये [कुशलवैद्यके लिखनेसें यह प्रयोजन है कि यह वमन विरेचनका देना अत्यंत सावधानीका काम है इस्सें मूर्खवैद्यसें वमन कि रेचन लेनासर्वथा त्याज्य है ॥

वमनयोग्यमनुष्य

बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासार्तिनिपीडितम् ।तथा वमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत् ॥ विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देग्नौ श्लीपदेर्बुदे। हृद्रोगकुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥ विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु । अपस्मारज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥ नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावे द्विजिह्वके । गलशुंड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ॥ मेदोगदेरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥

अर्थ—बलवान्मनुष्य, कफसेंव्याप्त, हृल्लाससें पीडित (अर्थात जिसके मुखसें लारगिरती) हो, तथा जिसको वमनका महावरा हो और धीरचित्तहो इनको वमनकरावे। तथाविषदोष, स्तनसंबंधी रोग, मंदाग्नि, श्लीपद, अर्बुद, हृद्यरोगी, कोढी, विसर्परोगी, प्रमेही, अजीर्णी, भ्रमरोगी, विदारिका, अपची रोग, खाँसी श्वास, पीनस, अंडवृद्धि, मृगीरोगी, ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नासापाक, तालुपाक, ओष्टपाक, कर्णस्राव, द्विजिव्हक, गलशुंडी, अतीसार, पित्तकफकेरोग, मेदोरोग, अरुचि, इनरोगोमें तथा इसीप्रकारके जो अन्यरोगहै उनमें वैद्य रोगी को वमन करावे ॥

वमनेकेअयोग्यमनुष्य

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः । नातिवृद्धो गर्भिणी च न च स्थूलक्षतातुरः ॥ मदार्त्तोबालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः । उदावर्त्त्यूर्ध्वरक्ती च दुःछर्दिः केवलानिली ॥ पांडुरोगीकृमिव्याप्तः पठनात्स्वरघातकः। एतेर्प्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः ॥ कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुक्काथप्रपानतः॥

अर्थ—तिमिररोगी, गुल्मरोगी, उदररोगी, तथाकृश, अतिवृद्ध, गर्भिणीस्त्री अत्यंतमोटा, उरःक्षत करके तथा मद करके पीडित, बालक, रूक्ष, क्षुधित, निरूहित कहिये गुदाद्वारा पिचकारी माराहुआ, तथा उदावर्त्तरोगी, उर्ध्वरक्ती, तथा जिससै वमनन सही जावे, जिसके केवल वादीका रोगहो, पांडुरोगी, कृमिरोगसैं व्याप्त, वेदशास्त्रके अत्यंत पढने सै जिसका कंठ वैठ गयाहो, इतने रोगियोंको वमन (उलटी करानेकी) औषध नहीं देनी चाहिये यदि ये पूर्वोक्त रोगवाले अजीर्णसैं अथवा विषदोष करके कफकरके व्याप्तहोवेतो इनको मुलहटीके अथवा मुहुआकी छालके काढेको पिलायकर वमन करानी चाहिये ॥

वमनअयोग्य

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत् ।

अर्थ—सुकुमार (नाजुकमनुष्य) कृश,—बालक—वृद्ध—डरपोक—इनमनुष्योंको वमनकी औषधी नदेनी चाहिये ॥

रक्तकरनेमेविहितपदार्थ

पीत्वा यवागूमाकंठं क्षीरतक्रदधीनि च । असाम्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लिश्यदेहिनः ॥ स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्त्तते ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उलटी करानीहो उसको प्रथम पेटभरके यवागू पिवावे

---

१ रक्तपित्तके कोप करके जिनके ऊपर मुखादिद्वारा रुधिरगिरे उसको ऊर्ध्वरक्ती जानना-। २ कृश और बालक तथा वृद्ध—इनको वमन न करावे, इसप्रकार प्रथम कह आएहै परतु निश्चय करनेके वास्ते यहांपर फिर कहाहै। ३ चावलका चूरा कर उसमें छः भाग पानी मिलायके औटावे, पतलीकरे इसको यवागू कहते हैं।

अथवा दूध, छाछ, दही, ये पेटभरके पिवावे, तथा प्रकृतिको जो न भावे वो पदार्थ तथा कफकारी पदार्थ खानेको देकर, मनुष्यकेदोषोंको उखाडे जिससे मनुष्य अच्छीतरह उलटीकरे तथा जिसमनुष्यने घृतपान करा है उस मनुष्यको एकदिनके पश्चात् वमनकरावे तो अच्छीतरह वमन होवे ॥

वमनमेंहितकारीपदार्थ

वमनेषुच सर्वेषु सैंधवं मधु वा हितम् ।
वीभत्सं वमनं दद्याद्विपरीतं विरेचनम् ॥

अर्थ—जितने वमनके प्रयोगहै उनमे सैंधानिमक अथवा सहत इनका मेलन कराना चाहिये तो हितकारी होताहै । अथवा वीभत्स वमनदेवे और विरेचन इससे विपरीतदे अर्थात् दस्त देनाहोयतो घीके विना देवे ॥

वमनमेंकाढेकाप्रमाण

क्काथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वाजलाढके ।
अर्धभागावशिष्टं च वमनेष्ववचारयेत् ॥

अर्थ—काढेकी औषधी १ कुडव प्रमाण लेकर कूट उसमें एक आढक प्रमाण पानी डाले जब औंटकर आधारहे तबतक औटावे फिर उतार छानके पिवावे॥

वमनमें काढापीनेका प्रमाण

क्काथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठामात्रा प्रकीर्तिता ।
मध्यमापण्मिताप्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको वमनकरना होय उसको नोप्रस्थ ,काढापिलाना बडीमात्राहे, तथा छःप्रस्थ काढापीना मध्यममात्रा, और तीनप्रस्थकाढा पीना हलकी मात्राजाननी ॥

वमनविषयमें कल्कादिकोंका प्रमाण

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपला श्रेष्ठमात्रया ।
मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयस्तु पलं भवेत् ॥

अर्थ—कल्क, चूर्ण, और अवलेह ये तीनपल मनुष्यको देनेसे बडी मात्राजाननी, तथा दोपल देनेसे मध्यममात्रा और एक एक पलदेनेसे हीन मात्रा कहलातीहै । इसवास्ते वैद्यको यथायोग्य मात्रा देनी चाहिये ॥

---

१ वमनकी औषधमें घी डालके वमनकरानेको वीभत्स वमन कहते है ॥

वमनकेउत्तममध्यमकनिष्ठवेग

वमने चापि वेगाःस्युरष्टौ पित्तांतमुत्तमाः ।
षड्वेगा मध्यवेगाश्च चत्वारस्त्ववरामताः ॥

अर्थ—मनुष्यको वमनकी औषध देनेसैं सातवेग पर्यंत संपूर्ण दोष पडके आठवे वेगमें पित्तपडनेसैं उत्तमवेग जानना । उसी प्रकार पांच वेगपर्यंत दोष पडकर छटे वेगमें पित्तपडनेसैं मध्यमवेग जानना । तथा तीनवेग पर्यंत दोष निकलके चौथेवेगमें पित्तपडेतो कनिष्टवेग जानने । जेंदफे रद्दहोवे उतने वेग जानने अर्थात् रद्दहोनेको ही वेग कहते है ॥

वमन विरेचन आदिमे प्रस्थका प्रमाण

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥

अर्थ—वमनहोनेमें तथा दस्त होनेके विषयमें जो औषध प्रस्थप्रमाण लेना कहाहै तहां १३ ॥ साडे तेरह पलका प्रस्थलेना । तथा फस्तखोलनेमें एक प्रस्थ रुधिर कढाना जहां लिखाहै वहां परभी साढे तेरह पलका प्रस्थ जानना ॥

कफपित्तऔरवातहारकऔषधी

कफं कटुकतीक्ष्णेन पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत् ।
सस्वादुलवणाम्लोष्णैःसंसृष्टं वायुना कफम् ॥

अर्थ—तीक्ष्ण औषध करके कफको जीते, तथा मधुर और शीतल औषधों करके पित्तको जीते । एवं मधुर और खार तथा अम्ल और गरम इनकरके वायु सैंमिले कफको जीते ॥

वातादिदोषोंकेनिकालनेकोपृथक्पृथऔषधी

कृष्णराठफलैः सिंधुकफेकोष्णजलैः पिबेत् ॥
पटोलवासानिंबैश्च पित्ते शीतजलं पिबेत् ॥
सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ॥
अजीर्णे कोष्णपानीयं सिंधुंपीत्वा वमेत्सुधीः ॥

अर्थ—कफदोषमें पीपल और मैनफल तथा सैंधानिमक इनसबके चूर्णको गरम पानीके साथ पीवे तो वमनके साथ कफ गिरे। तथा पित्तके दोषमें पटोलपत्र, और अडूसा तथा कडुअेनीमके पत्ते इनका चूर्णकर शीतलजल डालके पीवेतो

उलटीके साथ पित्त निकले। एवं कफवायुकी पीडामें मैनफलका चूर्ण दूधमें मिलायके पीवेतो उलटीके साथ मनुष्यके कफ वायु निकल कर पीडादूरहो। तथा अजीर्णमें गरमजलमें सैंधानिमक डालके पीवेतो उलटी होनेसें मनुष्यका अजीर्ण दूरहो ॥

वमनकरतेसमयबाह्योपचार

वमनं पाययित्वा च जानुमात्रासने स्थितं।
कंठमेरंडनालेन स्पृशंतं वामयेद्भिषक् ॥
ललाटं वमतः पुंसः पार्श्वौ द्वौ च प्रबोधयेत्॥

अर्थ—रोगीको वमन करनेकी औषध देकर पृथ्वीमें घोटू टेककर केवरावर ऊंचे आसनपर चा हिये। अंडके पत्तेकी लंवी बारीक नाल लेकर मुखमें डालके हलके हाथसै धीरे २ कंठको स्पर्शकरे तो उसीसमय उलटीआवे इसप्रकार आगे पीछे उसको फिरायेके वैद्य रोगीको उलटीकरावे। तथा उस उलटी करने वालेके कपालके दोनो भागोंको धीरे धीरे हलके हाथसैं एक मनुष्य सिराता जावे ॥

दुष्ट वमन होनेके उपद्रव

प्रसेको हृद्ग्रहः कोठकंडुर्दुश्छर्दितादृवेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको वमनकी औषध देनेसै यदि उससै कोई विकार होयतो उसके मुखसैं लारगिरे तथा हृदयमें पीडाहोवे, तथा देहमें खुजली होतीहै ॥

अतिवमनहोनेके उपद्रव

अतिवांते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारोविसंज्ञिता।
जिह्वा निःसर्पणं चाक्ष्णो व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः ॥
रक्तछर्दिष्ठीवनं च कंठे पीडा च जायते ॥

अर्थ—मनुष्यकै अत्यंत वमन होनेसैं अत्यंत प्यासलगे, हिचकी, डकारआवे, और अंग जडहोवे, तथा संज्ञाका नाशहो, जीभ वाहर निकलआवे, नेत्र जहांके तहां ठैरजावे, वा चंचलहोवे, तथा भ्रमहोय, ठोडीका स्तंभहोय, अथवा पीडाहो, मुखकेरास्ते रुधिर गिरे, वारंवारथूके और कंठमें पीडाहोय ये लक्षण अत्यंत वमनके है ॥

अत्यंतवमनकायत्न

वमनस्यातियोगेन मृदुकुर्याद्विरेचनम् ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके अत्यंत उलटी होतीहो उसके वंदकरनेको मृदु जुलाव देवे

उलटी करते२ जीभ भीतरीचली गईहो उसका यत्न

वमनान्तः प्रविष्टायां जिव्हायां कवलग्रहः ।
स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्घृतक्षीररसैर्हितः ॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ॥

अर्थ—यदि उलटी करते २ मनुष्यकी जीभ भीतर चलीगईहो उसके मनको प्रसन्नकर्त्ता अैसे खट्टे तीखे—मिष्ट और खारी पदार्थ भातके साथ खानेको देवे, तथा घृत और दूध भातके साथदेवे, तथा उसरोगीके आगे दूसरा मनुष्य बैठकर नींबू अथवा नारंगी चूस२कर खाय, अेसा करनेसैं मनुष्यकी जीभ ठिकानपर आयके प्रकृतिस्थ होयहै ॥

उलटी करते२ जीभ वाहरनिकलआईहो उसका यत्न

निसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कं लिप्त्वा प्रवेशयेत् ॥

अर्थ—यदि उलटी करते २ जीभ वाहर निकल आईहोवे तो उसको तिल और दाख इनका कल्क करेके उसकी जीभमें लेपकर वैद्य धीरे २ भीतर करदेवे

वमनसैंनेत्रोंमेंविकारहोनेकायत्न

व्यावृत्ताक्षिण घृताभ्यक्ते पीडयेच्च शनैः शनैः ॥

अर्थ—उलटी करते २ नेत्र फटजावे तो उसको वैद्यहाथोंमें घी चुपडकर नेत्रोंको सिरायकर ठिकानेपर स्थितकरे ॥

वमन करते२ ठोडी स्तंभित होगईहो उसका उपचार ॥

हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यं च श्लेष्मवातहृत् ॥

अर्थ—वमन करते करते ठोडी स्तंभित होगई होवे तो उसके अंगका पसीना निकाले, तथा कफवायुनाशक नाकमें औषध डाले अर्थात् नस्य देय तो ठोडीका स्तंभितहोना जातारहे ॥

वमन करते२ रद्दमें रुधिर आनेलगे उसका उपचार॥

रक्तपित्तविधानेन रक्तछर्दिमुपाचरेत् ॥

अर्थ—यदि रद्द करते २ उलटीमें रुधिर गिरने लगे तो जोउपाय रक्तपित्तपर कहाहै वो उपाय करके रुधिरकी उलटीको दूरकरे ॥

अत्यंत वमनके होनेसैं प्यासलगे उसका यत्न ॥

धात्रीरसांजनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः ।

मंथं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥
शाम्यंत्यनेन तृष्णाद्याः पीडाच्छर्दिसमुद्भवाः ॥

अर्थ—आवले, रसोत, खस, चावलकीखील, लालचंदन, नेत्रवाला, इन छः औषधोंका मंथकरके उसमें घी और सहत तथा मिश्री डालके पिवावे तो उलटी करनेसैं जो तृष्णादिक उपद्रव होतेहै वो सब दूरहोय ॥

उत्तमवमनहोनेकेलक्षण

हृत्कंठशिरसांशुद्धिर्दीप्ताग्नित्वंचलाघवम् ।
कफपित्तविनाशश्चसम्यक्छ्वांतस्यचेष्टितम् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको उत्तमउलटी होगईहो उसके लक्षण–हृदय कंठ और मस्तक इनमें जो कफादिक दोषहै वोदूरहो कर उसकी शुद्धिहो तथा अग्निप्रदीप्त और अंगहलके होय तथा कफदोष और पित्तदोष येदूरहो ॥

उत्तमवमनहोनेकेपश्चात्पथ्य

ततोपराण्हे दीप्ताग्निमुद्गषष्टिकशालिभिः ।
हृद्यैश्च जांगलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको उत्तम उलटी होनेके अनंतर तीसरे महरमें अग्नि प्रदीप्तहोवे अेसा मूग और साठीचावल इनको मनके प्रियकारी अैसे जंगलीजीव हरिणादिकोंके मांस रसके यूषकेसाथ भोजनकरे ॥

उत्तमवमनकाफल

तन्द्रा निद्रास्यदौर्गंध्यकण्डूश्च ग्रहणी विषम् ।
सुवांतस्य न पीडायै भवंत्येते कदाचन ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम प्रकारकी उलटी होगईहो उसके नेत्रोंमें तंद्रा और निद्रा तथा मुखमें दुर्गंधी और खुजली तथा संग्रहणीरोग और विषदोष ये उपद्रव कदाचित् नही होवे ॥

---

१ दारु हलदीके कादेमें बराबरका बकरीका दूध मिलायके ओटावे जब गाढा होजावे सुखायके जमायले उसको रसाजन कहते है । २ मुग और साठीचावल एक पलभरलेवे उसमें १ प्रस्थ पानीडालके ओटावे कुछ गाढा कर पेजके समानकरे उसको यूष कहते है इसप्रकार हरिणादिकके मासमें पानीडालके सिजावे पेजके समान करे उसको मासरस कहतेहै तथा वोभी यूषहै ।

मंथं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥
शाम्यंत्यनेन तृष्णाद्याः पीडाच्छर्दिसमुद्भवाः ॥

अर्थ—आवले, रसोत, खस, चावलकीसील, लालचंदन, नेत्रवाला, इन छः औषधोंका मंथकरके उसमें घी और सहत तथा मिश्री डालके पिवावे तो उलटी करनेसैं जो तृष्णादिक उपद्रव होतेहै वो सब दूरहोय ॥

उत्तमवमनहोनेकेलक्षण

हृत्कंठशिरसांशुद्धिर्दीप्ताग्नित्वंचलाघवम् ।
कफपित्तविनाशश्चसम्यक्वांतस्यचेष्टितम् ॥

अर्थ—जिसमनुष्यको उत्तमउलटी होगईहो उसके लक्षण—हृदय कंठ और मस्तक इनमें जो कफादिक दोषहै वोदूरहो कर उसकी शुद्धिहो तथा अग्निप्रदीप्त और अंगहलके होय तथा कफदोष और पित्तदोष येदूरहो ॥

उत्तमवमनहोनेकेपश्चात्पथ्य

ततोपराण्हे दीप्ताग्निमुद्गषष्टिकशालिभिः ।
हृद्यैश्च जांगलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥

अर्थ—मनुष्यको उत्तम उलटी होनेके अनंतर तीसरे महरमें अग्नि प्रदीप्तहोवे ऐसा मूग और साठीचावल इनको मनके प्रियकारी ऐसे जंगलीजीव हरिणादिकोंके मांस रसके यूषकेसाथ भोजनकरे ॥

उत्तमवमनकाफल

तन्द्रा निद्रास्यदौर्गंध्यकण्डूश्च ग्रहणी विषम् ।
सुवांतस्य न पीडायै भवंत्येते कदाचन ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम प्रकारकी उलटी होगईहो उसके नेत्रोंमें तंद्रा और निद्रा तथा मुखमें दुर्गंधी और खुजली तथा संग्रहणीरोग और विषदोष ये उपद्रव कदाचित् नहीं होवे ॥

---

१ दारु हलदीके कादेमें बरावरका बकरीका दूध मिलायके ओटावे जब गाढा होजावे सुखायके जमायले उसको रसांजन कहते है । २ मुंग और साठीचावल एक पल्लेवे उसमें १ प्रस्थ पानीडालके ओटावे कुछ गाढा कर पेनके समानकरे उसको यूष कहते है इसप्रकार हरिणादिकके मांसमें पानीडालके सिजावे पेनके समान करे उसको मांसरस कहतेहै तथा वोभी यूषहै ।

वमनकर्ममेनिषिद्धपदार्थं

अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा ।
स्नेहाभ्यंगं प्रकोपञ्च दिनैकंवर्जयेत्सुधीः ॥

अर्थ—भारीपदार्थ, शीतलजल, परिश्रम, और मैथुन, देहमें तेलकी मालिस करना, और क्रोधकरना, इसादिक विषय जिसदिन वमनकी औषध लेवे उस दिन वर्जितहै ॥

अथरेचनाधिकारः

स्निग्धस्विन्नस्यवांतस्य दद्यात्सम्यंक्विरेचनम् ।
अवांतस्य लघः स्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः ॥
मंदाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम् ।
अथवा पाचनै रामं वलासं च विपाचयेत् ॥

अर्थ—अब वमनके अनंतर विरेचन (जुल्लाब) की विधि कहते है । प्रथम मनुष्यको घृतादिक पिलायके स्निग्धकरे फिर उसको स्विन्नकरे अर्थात् उसके पसीने निकाले, फिर वमन करावे, वमनके अनंतर उत्तम प्रकार जुल्लाबकी दवाइ देकर दस्तकरावे यदि विना रुकके कराये जो वैद्य दस्तकराताहै तो उस रोगीका कफ अधोभागमें (नीचे) जायकर ग्रहणी (छटी पित्तधरा और अग्निधरा जो कला उसका) आच्छादन करेहै, कि जिस्सें अग्निमांद्य तथा गौरव कहिये अंगोंका भारीपना और प्रवाहिका रोग (अतिसारका भेद) इन रोगोंको उत्पन्न करेहै अथवा अधस्रस्त (नीचेगएहुए) कफ और आमको पाचन (शुष्कएरंडमूलादिक) करके (पाचयेत्) अर्थात् पचावे ॥

हमको इस स्थलपर इतना लिखेविन नहींरहा जाता कि हकीम लोग कहते है कि हमारे यहां जैसा जुल्लाब देनेका उत्तम कायदा है अेसा हिंदी वैदकमें ख्वाब (स्वप्न)मेंभी नहीं मिलनेका, जैसा हमारे जुल्लाबसे बिमारकी तबियत प्रसन्न रह-

---

१ वमनके अनंतर दस्त क्यो करावे ऐसी शंका होनेसें कहते है कि-भेड, चरक, सुश्रुत, और वागभट इत्यादिक ग्रंथोंका यह अभिप्रायहै कि वमनदेकर. छः दिनके पश्चात् तीनदिन स्निग्ध करे फिर तीनदिन अंगमेंसे पसीने निकाले, फिर तीनदिन हलका भोजन देकर सोरहवे दिन रेचन (दस्त) करावे यह ग्रंथकारोंका अभिप्राय श्लोकमें "सम्यक्" पद धरनेसें जानाजाताहै ।

ती है और साफ होताहै अेसा वैद्य कभी नही करसकेगा, इसका कारण यही है कि हमलोग प्रथम मरीजको मुंजिस देकर मलको फुलायमुलायम कर फिर दस्त-कराते है तो बहुत जल्द और बहुत सफाईके साथ दस्त होते है और बिमारभी खुसी रहता है ॥

परंतु इस तरह कहनेवाले हकीमोंको हम निरे वैशापनंदन ही जानेहै खैर मुसलमान हकीम कहेतो कहे, परंतु दो दिनसैं पैर अडानेवाले कि जिन्होनें अछीरीतिसैं हिकमतके भी पूरे २ ग्रंथ नही देखे, फिर हमारे ग्रंथ देखना तो उनको मानो एक बडाभारी समुद्रका तैरना है । जैसै हमारेही हिंदु हकीम हमारी और हमारे शास्त्रोंकी निंदा करते है तो हमको उनकी बुद्धिपर अत्यंत शोक होता है कि देखो जैसे कोई बालक अपने घरमें अमूल्य पदार्थ धरेहुए ओंको अंधकार वस न दीसनेसैं तुच्छ मोलके दूसरोंके पदार्थ लेकर अपने मनमें यह विचार करता है कि अेसे पदार्थ अमूल्य हमने नहीं देखे और उनकी वो अत्यंत इज्जत करता है । यादे उसका पिता आदि कोई बडा मनुष्य उसको दीपकका उजेला दिखाकर घरके धरे हुए पदार्थोंके दिखलाये और उनका गुन-भी बतलावे तो उस लडकेको कितनी खुसीहो और फिर वो दुसरेकी तुच्छ वस्तुओंकी तरफ देखेभी नहीं! क्यो देखे जिसके हाथमें चिंतामणी आगई वो कोडी पैसोंकी तरफ क्यो देखेगा ॥

इसी दृष्टांतके अनुसार हमारे हिंदुभाइ जो हकीमी विद्याके जालमें पडके अपनी अमोल वैद्यविद्याका प्रभाव न जानके इसकी निंदा करते है वो उक्त बालकके बतौर है; यादि उनको उनके घरकी धरीहुई वस्तु दिखलाई जाय तो अवश्य फिरजो दुराग्रही और जाहिल नही है वो इसकी प्रशंसा करते २ थकजावेगे और उनको यह निश्चय होजावेगा कि हकीमी और डाक्टरी आदि विद्या हमारी ही उच्छिष्ट (जूठन) है--

उन भोलेभाले भाईयोंको हम इसजगे हिंदी जुल्लाबकी विधि दिखलाकर कहते है कि हमारे हिन्दी वैद्यकका कायदा ठीकहै कि अन्य मुल्कके हकीमो का कायदा ! ॥

अब आप देखिये कि हमारे प्रथक जिसको जुल्लाब लेनाहो वो प्रथम घृतआदिको पीवे कि जिससैं देहकी रगरग और नाडीआदिके जिन्में मवाद भराहै वो अत्यंत चिकनी होजावे । बाद इसके उसरोगीके पसीने निकाले, पसीने निकालनेका यही कारणहै की प्रथम घीके पीनेसैं उसका देह चिकनाहो गया फिर जो स्वेदन करातो जहा २ पर मवाद चिकट रहाया वो पसीनेके निकालतेही तत्काल सबदेहसे अलगहो गया। जैसा स्नेहन और स्वेदनमें मवाद फूलताहै

और ढीला पडता है अेसा आप लाख मुंजिस पिलायाकरो कभी नही मवाद मुलायम होगा ? इसीसै हम लोगोमें मुंजिस नही देते ॥

अब पीछे कराई उलटी तो जितना छातीके ऊपर कफ जमा हुआ है वो सब निकलजावेगा यदि इसको विना निकाले जुलाब देवे तो वो कफ नीचे जायकर मंदाग्नि; मवाहिका आदि रोगकरता है इसी कारण रोगीको बलाबल विचारके रद्द करावे जिससै ऊपरका भाग साफहो जावे ॥

फिर दीना जुल्लाब तो वो सब मवाद फुलाहुआ और अलग धराहुआ जल्द निकल जावेगा, फिर भी उसको देहमे रहे हुए मवाद साफ करनेको वस्तिकर्म करतेहै । अर्थात् दवाइयोंके रसकी पिचकारी उसकी गुदामें मारते है कि जिससै रहा सहा बिलकुल्ल मल साफ होजावे । इसप्रकार पूर्ववस्ती और उत्तर वस्ती तथा शिरोवस्ती आदि अनेकप्रकारसै हमारे रोगीको साफ करना लिखाहै

इसरीतिसैं जब वो शुद्धहोजाता है तब नकाहत बहुत आयजातीहै इसके वास्ते फिर बृंहण चिकित्सा द्वारा उसको पुष्ट और बलवान करनेकी विधि लिखीहै

इसप्रकार शुद्धहुए मनुष्यकें कदाचित् रोग नही होते इसीसैं हमारे शास्त्रमें जहां लिखाहै तहां यही आज्ञाहै कि " ये तु संशोधने शुद्धा न तेषा पुनरुद्भवः "

बाकी संपूर्णविधि इस हमारे बृहन्निघंटुरत्नाकरमें गौर करके देखिये और जिनको जो शंकाहोवे वो हमसैं पूछे हम अपनी बुद्धिके अनुसार उनका समाधान करेगे–इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु हमारे शास्त्रसेही अन्य विलायतवालोंने ली नीहै कहांतक लिखे ॥

दस्तोंकादूसराप्रकार

स्निग्धस्य स्नेहनैः कार्यं स्वेदैः स्विन्नस्य रेचनम्॥

अर्थ—घृतदुग्धादिक स्नेहद्रव्य करके स्निग्ध मनुष्यको तथा पिंडेष्टिकादि[1] करके स्विन्न (अर्थात् जिसके पसीना काढाहो) अेसे मनुष्यको दस्त कराने चाहिये ॥

विनावमनकेदस्तकरानेयोग्य

शरदतौ वसंते च देहशुद्धयैर्विरेचयेत् ।
अन्यदात्ययिके काले शोधनं शीलयेद्बुधः ॥

अर्थ—शरदऋतुमें और वसंतकालमें मनुष्यके शरीरशुद्धीके वास्ते जुलाब देवे कि जिससै देह शुद्धीहोकर शरीर उत्तमदीखे । तथा उक्तकालके सिवाय दू-

१ माटीका गोला टिकिया आदि करके ।

सरे कालमें रोग उत्पन्नहोनेसें उसकालमें वैद्य रोगीका अच्छीरीतिसें विचार करके दस्तकरावे तात्पर्य यहहै कि शरद और वसंतऋतुमें विना वमनके भी दस्तकरावे परंतु अन्य ऋतुमें नहीं ॥

दस्तकरानेयोग्यरोग

पित्ते विरेचनं दद्यादामोद्भूते गदे तथा ।
उदरे च तथाध्माने कोष्ठाशुद्धौ विशेषतः ॥

अर्थ—पित्तके विकारमें, आमवात, उदररोग, अफरा, और, बद्धकोष्ठ (मलनउतरे) इन रोगोंमें वैद्यको विशेषताकरके दस्तकराने चाहिये ॥

दोषदूरकरनेमें विरेचनको उत्कृष्टता

दोषाःकदाचित्कुप्यंति जिता लंघनपाचनैः ।
येतु संशोधने शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥

अर्थ—कफादिकदोष लंघन और पाचन औषधसें यद्यपि शमन (शांति) हो जातेहै फिर कालपायकर कुपित होतेहै, परंतु जो दोष वमन विरेचन आदि संशोधन करके शुद्धहुए है उनदोषोंकी फिर कदाचित् उत्पत्ती नही होती अर्थात् संशोधन द्वारा दोष जडसें नष्टहो जाते है ॥

दस्तकरानेयोग्यमनुष्य

जीर्णज्वरी गरव्यासो वातरक्ती भगंदरी । अर्शः पांडूदरग्रंथिहृद्रोगारुचिपीडिताः ॥ योनिरोगप्रमेहार्त्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः । विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविपूची कुष्ठसंयुताः ॥ कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः यकृत्शोथोक्षिरोगार्त्ताः कृमिक्षारानिलार्दिताः ॥ शूलिनो मूत्रघातार्त्ता विरेकार्हा नरा मताः ॥

अर्थ—जीर्णज्वर,वच्छनाग विषादिकसें व्याप्त, वातरक्ती, भगंदर, बवासीर, पांडुरोगी, उदररोगी, गाठकारोगी, हृदयरोग, अरुचि, प्रमेह, योनिरोग, गोलावाला, तिल्ली, व्रणरोगी, विद्रधि, वमन, विस्फोटक, विपूची (हैजा) कोढ,

---

१ उदररोगीको दस्तकरावे ये प्रथम कह आये है परंतु विशेषता दिखानेको यहांपर फिर कहाहै । २ देखो हैजामें दस्त करना स्पष्ट लिखाहै परंतु यह लोक विरुद्ध होनेसे वैद्यको वर्जित है ।

कर्णरोग, नासारोग, मस्तकरोग, मुखरोग, गुदारोगी, लिंगमेंउपदंशादिकरोग, कलेजेकारोगी, सूजन, नेत्ररोग, कृमिरोग, सोमरोग, क्षारजन्यविकार, वातरोग, शूलरोग, और मूत्राघातरोग, इतनेरोगोंसे व्याप्त मनुष्यदस्तकराने योग्यहै अर्थात् इतनेरोगवाले मनुष्योंको दस्तकरना चाहिये।

दस्तदेनानिषेध

बालवृद्धावतिस्निग्धक्षतक्षीणोभयान्वितः। शांतस्तृषार्तःस्थूलश्वगर्भिणी च नवज्वरी ॥ नवप्रसूतानारी च मंदाग्निश्च मदात्ययी। शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता ॥

अर्थ—बालक, अतिवृद्ध, अतिस्निग्धमनुष्य, उरःक्षतकरकेक्षीणमनुष्य, मयकरकेयुक्त, श्रमित (जोमेहनतकरनेसेंथका) है, प्याससेंघबरायाहुआ, अत्यंतमोटामनुष्य, गर्भिणीस्त्री, नवीनज्वरकरकेपीडित, नवप्रसूतास्त्री, मंदाग्निवालामनुष्य, मदात्ययरोगी, शल्यकरकेपीडित, तथा रूक्ष (निस्तेज) मनुष्य इनको चतुरवैद्य दस्त न करावे [जो करावेतो वो मूर्खजानना]

मृदु मध्यऔरक्रूरकोष्ठ

बहुपित्तो मृदुः प्रोक्तो बहुश्लेष्मा च मध्यमः। बहुवातःक्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः सकथ्यते। मृद्वीमात्रा मृदौकोष्टे मध्यकोष्ठे च मध्यमा।क्रूरे तीक्ष्णामता तज्ज्ञैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः॥

अर्थ—जिस मनुष्यका कोठा अत्यंत पित्तकरके व्याप्तहै वो मनुष्य मृदुकोष्ट (नरमकोठेवाला) जानना। तथा जिसके कोठेमें अत्यंत कफहोवे वो मध्यम कोष्टका जानना। तथा जिसके कोठेमें अत्यंत वायूहोवे वो मनुष्य क्रूर (कठिन) कोठेका जानना। यह क्रूरकोठेवाला दस्त करानेमें दुखदाई है [अर्थात् इसको करडीसेंभी करडी दवादेने परभी दस्त नहीं होते] और जिसका नरमकोठाहै उसको मृदु (नरम) औषधकरके मृदुमात्रादेवे। तथा जिसका कोठा मध्यमहै उसको मध्यम औषध करके मध्यम मात्रादेनी। तथा जिसका कोठा क्रूरहै उसको तीक्ष्ण औषध करके तीक्ष्णमात्रा देनी चाहिये। वो औषध आगेके श्लोकमें कहतेहैं॥

---

१ तथा मंदाग्निवालेको भी वैद्य दस्त न करावे कारण कि रहीसही जो जठराग्नि है वो भी दस्त करानेसें शांति होजाती है। २ कांच. काटा- सुई. नख. इत्यादिक शरीरमें रहनेसे जो दुखी होताहै उसे शल्यार्दित जानना।

मृदुमध्यमादिकोष्ठेमें मृदुमध्यमादिक औषध
मृद्वुर्द्राक्षापयश्चंचुतैलैरपि विरच्यते ॥ मध्यकस्त्रिवृता-
तिक्तराजवृक्षैर्विरिच्यते ॥ क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरी
दंतीफलादिभिः ॥

अर्थ—जिसका नरमकोठाहै उसको कालीदाख, दूध, और अडीकेतेलसेही दस्त होतेहैं और जिसका मध्यमकोठाहै उनको निसोथ, कुटकी, और अमल-तासकागूदा इन तीनऔषधोकरके दस्तहोतेहै अतएव एही औषध देवे । तथा जिसका क्रूरकोठाहै उसको थूहरकादूध, हेमक्षीरी (चौक) जमालगोटा, आदि शब्दसे जलफ इन्द्रायनकीजड सनाय आदि इन करके दस्त करावे, तो दस्तहोवे परंतु वैद्यको उचितहै कि इसमें विपरीत न करे अर्थात् मृदुकोठेवालेको क्रूरको-ठेकी औषध नदेय, और क्रूरकोठेवालेको नम्रकोठेकी न देवे ।

दस्तोंकीहीनोत्तमादिमात्रा

मात्रोत्तमाविरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफांतिका ।
वेगैः विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका ॥

अर्थ—दस्तके वेग ३० होकर अतके दस्तमें कफगिरेतो उत्तममात्रा जाननी तथा दस्तके २० वेगहोकर कफ निकलेतो मध्यम और दशवेग होनेके उपरांत यादे कफगिरने लगेतो हीन मात्रा जाननी। यदि दस्तचहिये जिनने होवे परंतु जबतक कफ नहीं निकले तकतक जुलाव उत्तम नहीं कहलाता, आंव और क-फके निकलनेपरही जुलावकी तारीफहै ।

दस्तोंमेंकाढेआदिकीमात्राकाप्रमाण

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलंभवेत् ।
पलार्द्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचने ॥

अर्थ—दस्तहोनेमें दोपल काढादेनेसें उत्तम दस्त होतेहै, और एकपल देने-सै दस्त मध्यमहोते है, तथा अर्द्धपल (दोतोले) देनेसें दस्त कनिष्ट होते है ॥

१, आँव ये नाभिके चारचो तरफ लिपटी है और ऊपरसें बडाभारी मलका लपेटा ल-गाहुआ है. जब यह प्राणी दस्तकी दवाई लेताहै तो ऊपरके मलके लपेटेमेंसें थोडाबहु त मल निकलताहै परंतु जब आम निकलनेको होती है तब इसप्राणीके नाभिके चारोतर-फ थोडा बहुत मरोडा होने लगता है उस समय जाननाकि अब आम निकलेगी ।

दस्तोंमेंकल्कादिकोंकाप्रमाण

कल्कमोदकचूर्णानां कर्षमध्वाज्यलेहतः ।
कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया ॥

अर्थ—कल्क,-मोदक (लड्डू) और चूर्ण ये प्रत्येक सहत और घीमें मिलायके, कर्ष १ दस्तहोनेके अर्थ देवे, अथवा—अवस्था और रोग इनका तारतम्य विचारके दोकर्ष अथवा पलमात्र देने चाहिये ॥

वातपित्तकफमेंऔषधी

पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्काथादिभिः पिबेत् ।त्रिफलाक्काथगोमूत्रैः पिबेत् व्योषं कफार्दितः ॥ त्रिवृत्सैंधवशुंठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः । वातार्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन च ॥

अर्थ—पित्तकी अधिकतामें-निसोथका चूर्ण कर दाखके काढेमे मिलायके देवे, आदि शब्दकरके गुलकंद, गुलाबकेफूल,-सोफ,-सनाय इत्यादिकंके काढे सैं देवे । और कफके प्रकोप होनेसैं त्रिफलाका काढा और गोमूत्र दोनोको मिलाय उसमें सोंठ, मिरच, पीपल, इनका चूर्णडालके देवे । तथा जो मनुष्य वायुके कोपसैं पीडितहो उसको निसोथ, सैंधानिमक, और सोंठ, इनका चूर्णकर नीबूके रससैं देना चाहिये । अथवा जंगली जीवोंके मांसरसके साथ देवे तो दस्तहोय ॥

अन्यऔषधकरकेदस्तोंकाविधान

एरंडतैलं त्रिफला क्काथेन द्विगुणेन च ।
युक्तं पीत्वा पयोभिर्वा नाचिरेण विरिच्यते ॥

अर्थ—अंडीके तेलसैं दूना त्रिफलेका काढा मिलाय दोनोको एकत्रकरके पीवे अथवा उसअंडीके तेलको दूधमें मिलायके पीवेतो बहुत जल्दी दस्तहोवे ॥

ऋतुभेदकरकेदस्तकीविधि

त्रिवृतांकौटवीजं च पिप्पली विश्वभेषजम् ।
समृद्धिका रसक्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ॥

अर्थ—निसोथ,-इन्द्रजो,-पीपल,-सोंठ,-दाखकारस और सहत इनऔषधोंको दस्तहोनेके वास्ते वर्षाकालमें देना चाहिये ॥

शरद्कालमेंविरेचन

त्रिवृद्धुरालभा मुस्ता शर्करादिव्यचंदनं ।
द्राक्षांबुना सयष्टीकं शीतलं च घनात्यये ॥

अर्थ—निसोथ,-धमासा,-नागरमोथा,-शक्कर,-उत्तम सपेद चंदन,-और मुलहटी इनका चूर्ण कर दाखके पानीमें मिलाय शरद कालमें पीवे, तो इस्सें दस्त होवे । ये दस्त शीतलहै ऐसा जानना चाहिये ॥

हेमंतऋतुमेंविरेचन

त्रिवृता चित्रकं पाठामजाजिसरलां वचां ।
हेमक्षीरी च हेमंते चूर्णमुष्णांबुना पिबेत् ॥

अर्थ—निसोथ,-चित्रक,-पाडकीजड,-जीरा, देवदारु, वच, और चोक,-अथवा पीलादूधकाथूहर,-इनका चूर्णकर गरमजलसें हेमंतऋतु (अगहन और पौषमास) में लेवे तो दस्तहोय ॥

शिशिरऔरवसंतमेंविरेचन

पिप्पली नागरं सिंधु श्यामात्रिवृतया सह ।
लिहेत्क्षौद्रेण शिशिरे वसंते च विरेचनम् ॥

अर्थ-पीपर,-सोंठ,-सैंधानिमक,-विधायरा,-और निसोथ इन औषधोंका चूर्णकर सहतमें मिलायके शिशिरऋतु और वसंतऋतुमें लेवेतो इस्सें दस्तहोय ॥

ग्रीष्मऋतुमें विरेचन

त्रिवृताशर्करातुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ॥

अर्थ—निसोथका चूर्णकर उसमें मिश्री मिलायके दस्तहोनेके वास्ते ग्रीष्म (गरमीकी) ऋतुमें सेवनकरे तो दस्तहोय ॥

सुखसैं दस्तहोनेके लिये अभयादि मोदक

अभयामरिचं शुंठी विडंगामलकानिच । पिप्पलीपिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च॥ एतानि समभागानि दंती च द्विगुणा भवेत् ॥ त्रिवृदष्टगुणाज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा॥मधुना मोदकं कृत्वा कर्षमात्रप्रमाणतः। एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम्॥तावद्धिर-

च्यते जंतुर्यावदुष्णं न सेव्यते॥पानाहारविहारेषु भवे-
न्नियंत्रणं सदा॥विषमज्वरमंदाग्निपांडुकासभगंदरान्॥
विदाहशीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान् ॥ वातरोगं
तथाध्मानं मूत्रकृच्छ्राणि चाश्मरीं पृष्टपार्श्वोरुजंघ-
नकटीगुदरुजं जयेत् ॥ सततं शीलनादेष पलितानि
विनाशयेत् ॥अभयामोदकोह्येतद्रसायनवरास्मृता ॥

अर्थ—हरड, कालीमिरच, सोठ, वायविडंग, आवले, पीपर, पीपरामूल, दालचीनी, पत्रज, और नागरमोथा, ये दश औषध समान भागले तथा दंतीकीजड, तीनभागले, निसोथ आठभाग, मिश्री छःभाग इस प्रमाण सब औषधोंके भागले कर सबका चूर्णकर सहतडाल एकएक तोलेकी गोली बनावे, इसमेंसैं एकगोली प्रातःकाल दस्तहोनेके अर्थ भक्षणकरे ऊपरसैं थोडा शीतलजल पीवे, और जवतक दस्तहोवे तव तक गरम पदार्थोंका सेवन न करे, तथा पान और भोजन तथा विहार कहिये परिश्रमादिक इनको सदैव नियमित (प्रमाणका) करे, कि जिससै विषमज्वर, मंदाग्नि, पांडुरोग, खांसी, भगंदर, कुष्ट, गुल्मरोग, ववासीर, गलगंड, भ्रम, उदररोग, दाह, तिल्ली, प्रमेह, राजयक्ष्मा, नेत्ररोग, वातरोग, पेटकाफूलना, मूत्रकृच्छ्र, पथरीरोग, और पीठ–पसवाडे–कमर–ऊरु–जांघ–उंदर–की पीडा इन सबरोगोंको दूरकरे। इस मोदकको अभयादिमोदक कहते है । यह अभयादिमोदक निरंतर सेवन करनेसैं पलित (सपेदवालोंका होना) दूर होय और कालेवालहो यह अभयादि मोदक उत्तम रसायन रूपहै ॥

दस्तोंकोसहायकरनेवालेपदार्थ

पीत्वाविरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी ।
सुगंधं किंचिदाघ्राय तांबूलं शीलयेन्नरः ॥

अर्थ—मनुष्यको दस्तकी औषध देकर पश्चात् उसके नेत्रोंको शीतलजलसैं छिडके और सुगंधित वस्तु (अतर आदि अर्गजा आदि) सुंघावे, तथा वीडा खावे इत्यादि विधिके करनेसैं उत्तम प्रकारके दस्तहोते है ॥

दस्तहोनेपररहनेकेनियम

निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयन्ने स्वपेत्ततः ।
शीतांबु न स्पृशेत्कापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः

अर्थ—दस्त होनेके अनंतर हवामें न बैठे, मल मूत्रका जब २ वेग आवे उसी वखत त्यागे रोके नही, जबतक दस्तहोय तबतक सोवे नही [जुल्लाबमें किसी २ को निद्रा अधिक आती है] शीतलजलका स्पर्श करे नही। दस्तोंमें गरमजल बीच २ में पीतारहे अेसा करनेसैं उत्तम दस्त होतेहै ॥

दस्तोमेंनिकलनेवाली वस्तू

वलासौषधपित्तानि वायुर्वंति यथा व्रजेत् ।
रेकात्तथा मलंपित्तं भेषजं च कफो व्रजेत् ॥

अर्थ—वमनकी औषध लेनेसैं कफ तथा जो औषध लीनी है वो एवं पित्त और वायु ये पदार्थ जैसैं वमनेके साथ बाहर गिरते है।उसी प्रकार दस्तकी औषध लेनेसैं मल-पित्त और जो औषधलीनी है वो एवं कफ ये पदार्थ गुदाके द्वारा बाहर गिरते है ॥

दुष्टविरेचनकेअवगुण

दुर्विरक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धत्वं कुक्षिशूलता। पुरीष वातसंगश्च कंडुमंडलगौरवाः॥ विदाहो रुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते ।

अर्थ—उत्तम दस्त न होनेसैं इस प्राणीकी नाभिमें स्तब्धता, कूखमेंशूल, मल और अधोवायु इनकी अप्रवृत्ति, शरीरमें खुजली, तथा चकत्ते, ये उत्पन्नहो तथा अंगोंका जडपना, दाह, अरुचि, पेटका फूलना, भ्रम और वमन ये उपद्रवहोते है ॥

(जिसकेउत्तमदस्तनहुएहोउसकायत्न)

तं पुनः पाचनैःस्नेहैःपक्वासंस्नेह्यरेचयेत् ।
तेनास्योपद्रवायांति दीप्तोग्निर्लघुताभवेत् ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको उत्तम जुल्लाब न हुआहो उसे आरग्वधादि पाचन काढ देकर आमको पचन करावे, फिर उसको स्नेहपान (घृतपिलायके) उसके कोठेको चिकनाकरके फिर दस्तकरावे। अेसा करनेसैं संपूर्ण उपद्रव दूरहोकर जठराग्नि प्रदीप्तहोय, और अंग हलका होयहै ॥

अत्यंतदस्तहोनेकेउपद्रव

विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छाभ्रंशो गुदस्य च ।

शूलं कफातियोगःस्यान्मांसधावनसंनिभं ॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तंचापि विरिच्यते ।

अर्थ—मनुष्यको वहुत दस्तहोनेसैं मूर्च्छा-गुदा (कांछका) निकलआना और गुदामें पीडा-ये उपद्रव होते है । तथा कफ अत्यंतगिरे, और मांस धुले हुए पानीके समान तथा मद्यके समान अथवा चर्वीके सामान तथा जलके समान गुदाके द्वारा जल और रुधिरभी गिरे है ॥

अत्यंतदस्तोंकाउपाय

तस्य शीतांबुभिः सिक्तं शरीरं तंडुलांबुभिः ।
मधुमिश्रैस्तथाशीतैः कारयेद्वमनं मृदु ॥

अर्थ—दस्त अत्यंत होनेसै मनुष्यके शरीरको शीतलजलकी धारसैं भिगोवे तथा चामलके धोवनके जलमें सहत मिलायके पिवावे, तथा नरम वमन करावे, तो अेसा करनेसैं अत्यंत दस्तोंकी शांति होय ॥

दस्तबंदहोनेकाउपाय

सहकारत्वचःकल्को दध्नासौवीरकेन वा ।
पिष्टो नाभिप्रलेपेन हंत्यतीसारमुल्बणम् ॥

अर्थ—आमकी छालको गौकी छाछमें अथवा सौवीरमें पीस कल्ककर नाभिके ऊपरलेपकरे तो अत्यंत दस्तहोना वंदहोय ॥

अजाक्षीरं पिबेद्वापि वैकिरंहारिणं तथा । शालिभिः
षष्टिकैः स्वल्पं मसूरैर्वापि भोजयेत् । शीतैः संग्राहि
भिर्द्रव्यैः कुर्यात्संग्रहणं भिषक् ॥

अर्थ—दस्त वंद होनेवास्ते वकरीका दूध पिवावे । अथवा विष्किर पक्षी

---

१ कच्चेजौ अथवा भुनेजोओंको कूट उसमें पानीडालके उस पात्रका मुख वंदकर तीनदिन धरा रहनेदे तो सौवीर वनकर तयारहो इसीप्रकार गैंहूंका भी वनायलेना ।

टीका कारोंने दस्त वंद करनेका विषय होनेके कारण सौवीर शब्दकरके कांजी लेना अेसा कहाहै । उसकांजी वनानेकी विधि इस प्रकार है कि एकमिट्टीका पात्रलायके उसके भीतर सरसोंकातेल चुपडदेवे फिर उसमें निर्मल जल भरके राइं,—जीरा,—सैधानिमक,—हींग,—सोंठ,—हलदी,—इन छःऔषधोंका चूर्ण तथा मातसांहतपेन,—कुलथेकाकादा,—ओर थोडे वांसकेपत्तेये सब वस्तु उसपात्रमें डाले तथा घीके तलेहुअे उडदके वडे दस पाच उसमें डाले,—उसका मुख वंदकर तीनदिन धरा रहनेदे जव उसमें खटाईकी वास आने लगे तव जानेकी कांजी वनकर तयार होगई ।

लवाआदिका मांसरस, तथा हरिणका मांसरस सेवन करे, तथा सांठी वा साली चावलोंका भात करके थोडा खाय, अथवा मसूरको सिज़ायके थोडी खाय, और भी अनार आदिशब्दकरके शीतल और ग्राहक ऐसे पदार्थ सेवनकरे कि जिस्से दस्त बंदहोवे ॥

उत्तमजुलाबहोनेकेलक्षण

लाघवे मनसस्तुष्ट्या मनुलोमगते निले ।
सुविरक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि ॥

अर्थ—उत्तम दस्तहोनेसैं देह हलकाहो जावे, चित्तमें प्रसन्नता,—अधो वायुका स्वस्थानमें गमन,—इतने लक्षण होनेसै उस मनुष्यको दस्त उत्तमहुए ऐसा जानना। उसको रात्रिके समय पाचन (सोठ,—अंडकीजड,—और धनिया, ये तीन औषधोंका काढा पाचनार्थ देवे) ॥

उत्तमजुलाबहोनेकाफल

इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वन्हिदीप्तता ।
धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥

अर्थ—जुलाबके लेनेसैं मनुष्यकी इन्द्रियोंमें बलआवे, बुद्धिप्रसन्नहो,—तथा जठराग्नि प्रदीप्त, और धातु तथा अवस्था इनका स्थिरपना होयहै अर्थात् रसादिधातु और आयु बढेकर बहुतदिनतक रहे ॥

जुलाबमेंअपथ्य

प्रवातसेवा शीताम्बु स्नेहाभ्यंगमजीर्णताम् ।
व्यायामं मैथुनं चैव न सेवेत विरेचितः ॥

अर्थ—मनुष्य दस्तहोने उपरांत अत्यंत हवा नखाय,—तथा शीतल और तैलादिककी मालिस,—अजीर्णकारी पदार्थ भोजन,—परिश्रम,—और मैथुन इनका सेवन न करे ॥

जुलाबमेंपथ्य

शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ।
जांगलैर्विष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥

अर्थ—दस्तहोनेके पश्चात् सांठीचावल और मूंग आदिशब्दसें अन्यधान्यकी यवागू करके सेवनकरे, तथा जंगली जीव (हरीण ससे आदि) का मांसरस अथवा विष्किरजीव (लवावटेरआदि) पक्षियोंका और मुरगा इनके मांसरसके साथ चावलका भात सेवन करे ॥

नाराचरस

तुल्यं पारदटंकणं समरिचं गंधाश्मतुल्यं त्रिभि र्विश्वं च त्रिगुणंतातो नवगुणं जेपालबीजं क्षिपेत् ॥ खल्वे दंडयुगं विमर्द्य विधिवत्संन्यस्य पर्णे ततः स्विन्नं गोमय वन्हिना सतु भवेन्नाराचनामा रसः । गुंजैक प्रमितोरसो हिमजलैः संसेवितो रेचयेद्यावत्कोष्णजलं भजेत्खलु-
नरो भोज्यं तु दध्योदनम् ॥

अर्थ—शुद्धपारा,-फुलायाहुआ सुहागा,-कालीमिरच,-ये समान भाग लेवे और शुद्धगंधक तीनोंके समान लेवे तथा सोंठ तीनभाग,-जमालगोटाके बीज नौ भाग,- इन सबको दोप्रहर खरलकर-पत्तेपर निकाल आरने उपलो की अग्निपर स्वेदन करे इस रसका नाम नाराचरस है यह एकरत्ती खांडकेसाथ देवे ऊपरसैं शीतलजलपीवे तो दस्तहोय और गरमजलपीनेसैं दस्तबंदहोते है, इसके ऊपर दहीभात खाना पथ्य है ॥

द्वितीयनाराचरसः

जेपालेन समैः सूतव्योषटंकणगंधकैः।नाराचः स्याद्रसोमापमात्रः सर्पिःसितायुतः॥ हंतिसंग्रहमानाहमामशूलं तथाज्वरम्॥वेलाज्वरं विरेकेण शीतलांबुनिषेवणम्॥

अर्थ—जमालगोटा,-पारा,-सोठ,-काली मिरच,-सुहागा,-गंधक ये समानभाग लेकर एकत्रकरके खरलकरे तो यह नाराचरस सिद्धहोवे,-इसमेंसे ६ रत्ती रस खांड और घीके साथ देवे तथा ऊपर शीतल जल पिवावे तो मलसंग्रह,-अनाहवायु (अफरा) आमशूल, वेलाज्वर, इनका दस्तहोने सैं नाश करे है ॥

इच्छाभेदीरसः

शुंठीतीक्ष्णरसेन्द्रटंकणवलिः प्रोक्तः समंतात्त्रिधा कुंभीबीजयुतं विमर्द्य सभवेदिच्छाविभेदीरसः॥वल्लंशर्करया युतेन चुलुकं पुंसः सुखं रेचयेन्निः शेषं मलदोषमेपविनिहंत्युच्चैर्यथेभं हरिः ॥

अर्थ—सोंठ,-कालीमिरच,-पारा,- सुहागा, गंधक ये समानभागले उसमें जमालगोटा तिगना डालके खरलकरे इसको इच्छाभेदी रस कहते है इस रस-

को ३ रत्तीले सांडके साथ खाय ऊपरसैं जितने चुल्लू शीतलजलके पीवे उतने-ही दस्त इस प्राणीको होते है यह मुखजुलाव सबरोगोंको नाशकरे जैसैं सिंह हाथीका नाश करता है ॥

द्वितीयइच्छाभेदीरसः

शंभोर्वीर्यं च टंकं वलिमरिचयुतं शृंगवेरं च तुल्यं यो-
ज्यं नैकुंभबीजं समशिखिसहितं मर्दितं याममेकं ॥
भुक्तंगुंजाद्विमात्रं शिशिरजलयुतं त्यक्तलल्पल्वमुच्ये-
दिच्छाभेदी रसोऽयं प्रबलमलहरः सर्वरोगैकहर्ता ॥

अर्थ—शुद्धपारा १ तोला, गंधक, कालीमिरच, सोंठ. जमालगोटेकेबीज, चित्रक, ये सब औषध समानभाग लेकर एक प्रहर खरलकरे इसको इच्छाभेदी-रस कहतेहै यह प्रबलमलका नाशकर संपूर्णरोगोंको हरणकरे है।

अथबस्तिप्रकर्णम्

बस्तिर्द्विधानुवासाख्यो निरूहश्च ततःपरं। यःस्नेहै-
र्दीयते सस्यादनुवासननामकः ॥ कषायक्षीरतैलैर्यो-
निरूहः स निगद्यते। बस्तिभिर्दीयते यस्मांतस्मात्
बस्तिरितिस्मृतः ॥

अर्थ—अंडकोशादिक करके गुदामें जो पिचकारी मारतेहै उसको वस्ती कहतेहैं वो बस्ति अनुवासन, और निरूहन इस भेदसैं दो प्रकारकीहै उसमें तेल घी- इत्यादि चिकनाईकीजो पिचकारी मारतेहै उसको अनुवासन और काढे दूध-तेल-इनको एकत्र करके जो पिचकारी मारतेहै उसको निरूह वस्ती कहते है।

प्रकारांतर

वातोल्वणेषु दोषेषु वातेवा बस्तिरिष्यते।
उपक्रमाणां सर्वेषां सोग्रणीस्त्रिविधश्च सः ॥
निरूहोन्वासनोबस्तिरुत्तरःसंप्रकीर्तितः ॥

अर्थ—वातोल्वणदोषोंमें अथवा केवल वातके दोषमें बस्तिकर्म करना चाहिये, यह संपूर्ण कर्मोंमें अग्रगण्य (मुख्य) है। सो तीनप्रकारकीहै १ निरूहबस्ति, २ अनुवासनबस्ति, और तीसरी उत्तरबस्ती ॥

प्रथमअनुवासनबस्ति

तत्रानुवासनाख्योहि बस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते॥पूर्वमे-
वततोबास्तिनिरूहाख्योभविष्यति ॥ निरूहादुत्तरं चै
व बस्तिस्यादुत्तराभिधः । अनुवासनभेदश्च मात्राब
स्तिरुदीरितः॥पलद्वयंतस्यमात्रा तस्मादर्धापिवाभवेत् ॥

अर्थ—तहां प्रथम अनुवासन नामक वस्तिको कहके फिर निरूहवस्ती तथा उत्तरवस्ती कहैगे । तथा उस अनुवासनवस्तीका भेद मात्रावस्ती है, उस मात्रा-स्तीमें स्नेहादिकोंकी मात्रा दोपलकी है । अथवा पलमात्रकी जाननी इसप्रकार वस्तीके चारभेद जानने ॥

अनुवासबस्तीमेंयोग्यप्राणी

अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली ॥

अर्थ—रूक्ष (स्नेहपान रहित) और प्रदीप्तहै अग्नि जिसकी वो और केवल वातरोगी ऐसे मनुष्योंको अनुवासन वस्तीके योग्य जानने ॥

अनुवासनअयोग्यपुरुष

नानुवास्यास्तु कुष्ठीस्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी ॥ नास्था-
प्या नानुवास्याः स्युरजीर्णोन्मादतृड्युताः ॥ शोकमू-
र्च्छारुचिभयश्वासकासक्षयातुराः ॥

अर्थ—कुष्ठी, प्रमेही, स्थूलपुरुष, उदररोगी, ए अनुवासन वस्तीके योग्य नहीहै । तथा उन्माद (पागल) अजीर्ण, तृषा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, खांसी, और क्षय इनकरेके पीडित जो मनुष्यहै वो आस्थाप्य (निरूहवस्ती) में योजनाकरे "नानुवास्याः" अर्थात् उनकी अनुवासन वस्तीमें योजना न करे।

(वस्तीका मुखस्थापन विषयमें सुवर्णादिकोंकीनली)

नेत्रंकार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः ।
नलैर्दंतैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वाविधीयते ॥

अर्थ—नेत्र कहिये गुदामें पिचकारी मारनेके लिये नली- वो सुवर्णादि धातुकी, अथवा वांसकी, अथवा नरसलकी, हाथीदांतकी, अथवा सींगके अग्र तथा विष्ठौर अथवा सूर्यकांतादि (आतसीकांचआदि मणियोंकी करनीचाहिये) ॥

(रोगीकी अवस्थानुसार नलीका प्रमाणकरे)

एकवर्षात्तु षड्वर्षं यावन्मानंषडंगुलम् ।
ततो द्वादशकं यावन्मानंस्यादष्टसंयुतं ॥
ततः परं द्वादशभिरंगुलैर्नेत्रदीर्घता ॥

अर्थ—वस्तीकी नली एक वर्षसें लेकर छः वर्ष पर्यंत छः अंगुल प्रमाण, तथा छःवर्षसें लेकर बारह वर्षपर्यंत आठ अंगुल प्रमाण लंबी, तथा बारह वर्षके पश्चात् बारह अंगुलकी लंबी नली बनानी चाहिये ॥

नलीकेछिद्रकाप्रमाण

मुद्गछिद्रं कलायामं छिद्रं कोलास्थिसन्निभं । यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसंनिभं ॥ आतुरांगुष्ठमानेन मूलेस्थूलंविधीयते । कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखं ॥ तन्मूलेकर्णिके द्वे च कार्येभागाच्चतुर्थकात् । योजयेत्तत्र वस्तिं च बंधद्वयविधानतः ॥

अर्थ— जो छः अंगुलकी नलीहै उसका छिद्र मूंगके दानेके समान, और जो आठ अंगुलकी नलीहै उसका छिद्र मटरके दानेके बराबर, और जो बारह अंगुल लंबी नलीहै उसका छिद्र बेरकी गुठलीके प्रमाण इसप्रकार क्रमकरके नलीका छिद्रकरे । और वो नली चिकनी होकर गौकेंपूंछके समान होनी चाहिये । तथा उस नलीका मूल रोगीके अंगूठाके बराबर मोटा और अग्रभागमें कनिष्ठका उंगलीके प्रमाण मोटी करके उसका मुख गोलकरे, तथा उस नलीके तीन भाग छोडके चतुर्थभागके मूलमें दोकर्णिका कमलपत्रके समान बनाय हरिणादिकोंके अंडकोवस्ति उस जगे लगाय उसकर्णिकासे वस्तीके दोनो भाग बाँधदेवे, कि जिस्सें संधि न रहने पावे ।

वस्तीकिसकेआंडेकीवनावेसोकहतेहै

मृगाजशूकरगवां माहिषस्यापि वा भवेत् ।
मूत्रकोशस्य वस्तिस्तु तद्भावेन चर्मजः ॥
कषायरक्तः सुमृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः ।

---

१ जैसे गौकी पूंछ ऊपरसें पतली होती है बीचमें मोटी और नीचे फिर क्रमसें पतली होती चली गई है ऐसी बनावे ।

अर्थ—हरिण, बकरा, सूअर, बैल, अथवा भैसा इनके आंडोकी वस्ती बनानी, यदि ये न मिलेतो इनके चामकी वस्ती बनावे तथा उसवस्तिको बेरकीछाल इत्यादिकोंके काढेमें रंगे एवं नम्र और चिकनी तथा दृढ होनी चाहिये।

व्रणबस्तीकाप्रमाण

व्रणबस्तेस्तु नेत्रं स्यात् श्लक्ष्णमष्टांगुलोन्मितं।
मुद्गछिद्रं गृध्रपक्षनालिकापरिणाहि च।

अर्थ—व्रणमें जो वस्ती योजना करीजायहै उसके नेत्र (नली) आठ अंगुल की लंबी और चिकनी तथा उसकाछिद्र मूंगके समान करे। तथा गीधके पंखकी नली जितनीमोटीहोतीहै इतनीमोटी इसप्रकार व्रणवस्तीकी नली बनानी चाहिये॥

बस्तीकेगुण

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिःसम्यगुपासितः॥

अर्थ—बस्तीका उत्तम प्रकार सेवन करनेसैं शरीरकीवृद्धि, कांति, बल, आरोग्य और आयुकीवृद्धि ये गुण उत्पन्न होतेहै॥

बस्तीकासेवनकाल

दिवसांते वसंते च स्नेहे बस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षा शरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम्॥ न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद्धि धास्नेहः प्रयोजितः॥ रूक्षं भुक्तवतोत्यन्नं बलं वर्णं च हीयते। युक्तः स्नेहमतो जंतुंभोजयित्वानुवासयेत्॥

अर्थ—वसंतऋतुमें स्नेहवस्ती (अनुवासन वस्ती) सायंकालमें करे। ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु और शरदऋतुमें रात्रिमें वस्तिकर्म करे। तथा रोगीको अत्यंत स्निग्ध भोजन करायके अनुवासनवस्तीका प्रयोग कदाचित् न करे क्योंकि इसप्रकार करनेसैं मद, और मूर्च्छाको करेहै। तथा अत्यंत रूखा भोजन करायके वस्तीप्रयोग करनेसैं बल और कांति इनकी हानी होतीहै इस वास्ते थोडा स्नेहयुक्त भोजन करायके फिर अनुवासन वस्तीदेवे॥

(वस्तीमें हीन और अतिमात्राका निषेध)

हीनमात्रावुभौ वस्तीनातिकार्यकरौ स्मृतौ।

अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥

अर्थ—अनुवासनवस्ती तथा निरूहवस्ती इनकीमात्रा होनेसें अत्यंतकार्य न-होंहो, अर्थात् रोग उत्तमरीतिसें दूर नहींहो। तथा पूर्वोक्तदोनोवस्तियोंकी अति-मात्रा होनेसें अनाहरोग, ग्लानि और अतिसार ये रोग उत्पन्न होतेहै।

उत्तमादिमात्राकथन

उत्तमस्यपलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः।
पलद्वयेन हीनस्य युक्ता मात्रानुवासने ॥

अर्थ—उत्तम प्रकारवाले वली मनुष्यको अनुवासन वस्तिमें छः पलकी मा-त्रा जाननी,—मध्यम वलवाले मनुष्य उसको तीन पलकी मात्रा जाननी। और हीनवली मनुष्योंको डेढ पलके प्रमाण मात्रा जाननी। यह वस्तीकी मात्राका प्रमाण कहा ॥

स्नेहमेंसैंधवआदिकीमात्रा

शताह्वासैंधवाभ्यां च देयं स्नेहे च चूर्णकम्।
तन्मात्रोत्तममध्यांत्या षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥

अर्थ—सतावरी और सेंधानिमक इनका चूर्ण अनुवासन वस्तीमें देनाजो क-हाहै उसकी मात्रा छःमासेकी है वो उत्तम, और चारमासेकी मध्यम, एवं दो-मासेकी हीनमात्रा जाननी। [शतावर और सैंधेनिमकका चूर्ण तेलमें मिलाया जाताहै]

अनुवासवस्तीदिनेकासमय

विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातवलाय च।
भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोनुवासनः ॥

अर्थ—मनुष्यको रेचन (जुलाब) देकर सातदिन जानेके वाद वल आनेपर उसको भोजन कराय अनुवासन नामक वस्तीमें जो योग्य मनुष्य उसको अनुवासन वस्ती देनी चाहिये ॥

वस्तीदेनेकाप्रकार

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णांबुस्वेदितं शनैः। भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतं चंक्रमणं ततः ॥ उत्सृष्टानिलवि-ण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना। सुप्तस्य वामपार्श्वेन

वामजंघाप्रसारिणः ॥ कुंचितापरजंघस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत् । वध्वावस्तिमुखेसूत्रं वामहस्तेन धारयेत् ॥ पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः । जृंभाकासक्षवादींश्च बस्तिकाले न कारयेत् ॥

अर्थ—अनुवासन बस्तीके योग्य मनुष्योंके देहमें तेल लगाय गरमजलसें अंगमें हलका पसीना काढ उसको यथाशास्त्र लिखित भोजन कराय थोडासा इधर उधरको फिराय यदि उसको मलमूत्र अधोवायु त्यागनेकी इच्छा होयतो कराय के फिर बस्तिकर्ममें योजना करे । और उसको वाईं करवट सुलाय वाएपैरको लंवा पसार दहने पैरको संकुचित करे और गुदाको चिकनीकर[2] वस्तीकीनली वस्तीके मुखमें डोरेसैं बांध उन नलीको गुदाके ऊपर धरे तथा कुशलवैद्य उस नलीको वाए हाथमें लेकर दहने हाथसैं मध्यमवेग करके दावे,-तथा वस्तीके समय जंभाँईलेना,-खांसना,-और छींकना इत्यादिक रोगीको न करनेदेवे [खांसी आदिके करनेसैं पिचकारीका तैल ऊपर चढ जाताहै अथवा नीचेही रहे ठीक स्थानपर नहीं पहुचे इसीवास्ते जंभाई और खांसना आदि वर्जितहै)

पिचकारीलगानेमेंकाल

त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो बस्तेस्तुपीडने ।
ततः प्रणिहितः स्नेहउत्तानेवाक्शतं भवेत् ॥

अर्थ—पिचकारी मारनेके समय तीसमात्रा पर्यंत काल जानना और वो स्नेह भीतर जानेसैं सोवाक (जितनीदेरमें सौंवार आंख मिचे) इनती देरतक चित्त सोया करे उसमात्राका प्रमाण आगेके श्लोकमें कहते है ॥

मात्राकाप्रमाण

जानुमंडलमावेष्टय कुर्याच्छोटिकयायुतं ।
एकामात्रा भवत्येषा सर्वत्रैपं विनिश्चयः ॥

अर्थ—घोटूके चाऱ्योतरफ हाथफेरके चुटकी वजावे इतने कालकि एकमात्रा होती है । यह सर्वत्र निश्चय है तथा मात्राकाप्रमाण अन्यत्रभी ग्रंथोमें लिखा है सो देखलेना ॥

वाङ्मात्राकाप्रमाण

निमेषोन्मेषणं पुंसामंगुल्या छोटिकाथवा ।

---

१ उसको चौंवलीकी पतली पेयाकरके पिवावे । २ गुदामें घी लगाकर ।

गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृताबुधैः ॥

अर्थ—निमेषोन्मेषण (पलकोका खोलना मूंदना) चूटकी बजाना,—अथवा गुरुअक्षरके उच्चारण इनमें जितना समय लगता है उसको वाङ्मात्रा कहते है ॥

पिचकारीलगानेकेपश्चात्क्रिया

प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं प्रसर्पति ।
ताडयेत्तलयोरेनं त्रिस्त्रिवारांश्च शनैः शनैः ॥
स्फिजोश्चैवं ततः श्रोणिं शय्यां चैवोत्क्षिपेत्ततः ।
जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥

अर्थ—पिचकारी मारनेके पश्चात् रोगी हाथपैर आदि सब देहको ढीलाक रके पसारदेवे कि जिस्तै रसादिकधातु अपने २ स्थानपरजावें । तथा रोगीके हाथपैरके तलको तीनवार हलकी (धीरे २)तीन २ ताल देवे उसीप्रकार स्फिज (कूला) औरश्रोणी (कटिपश्चात्भाग) में तीन २ वार ताल मारे । फिर उसको शय्या (पलंगपर) बैठावे । इसप्रकार वस्तीविधि होनेके अनंतर रोगीको सुखपूर्वक सुलायदे ॥

उत्तमवस्तिकर्महोनेकेगुण

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ।
उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ।

अर्थ—गुदाके भीतर गयाहुया जोस्नेह वो वायु तथा मल—इनके साथ उपद्रवके विना तत्काल बाहर आनेसें उस मनुष्यको वस्तीकर्म उत्तम हुआ ऐसा जानना ॥

स्नेहकाविकारदूरहोनेमेंउपाय

जीर्णान्नमथसायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः । लघ्वन्नं भो
जयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥ अनुवासिताय देयं
स्यादितरेह्लिसुखोदकं । धान्यशुंठीकपायो वा स्नेह
व्यापत्तिनाशनम् ॥

अर्थ—गुदाके रास्ते स्नेहनिःशेष (संपूर्ण)बाहर आनेसें और यदि मनुष्यकी अग्नि प्रदीप्त होवे तो उसको सायंकालमें पुराने अन्न किंचित् नित्यके आहारकी

१ एक वर्षके चावल अथवा साठदिनके पकनेवाले (साँठी) चावल पथ्यमें देवे ।

अपेक्षा कम पथ्यमें देवे और अनुवासित मनुष्यको दुसरे दिन सुखोदक देवे अर्थात् गरमजल पीनेको देवे अथवा धनिया,—और,—सोंठ,—इनका काढा करके देयतो स्नेहका विकार दूरहोय ॥

वातादिदोषोंमेंपिचकारीमारनेका प्रमाण

अनेन विधिना षड्वा सप्त चाष्टौ नवापि वा ।
विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम् ॥

अर्थ—पूर्वोक्तविधिकरके वातादिक दोषोंमें छःवार अथवा आठवार अथवा नौवार पिचकारी मारे उस पिचकारियोंके अंतमें निरुह वस्ति योजना करे ॥

वस्तीकेगुण

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिःस्नेहयेद्वंक्षितवंक्षणौ। सम्यक्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत्॥बलं वर्णं च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः।चतुर्थपंचमौ दत्तो स्नेहयेतां रसासृजी॥षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एवच । अष्टमो नवमश्चापि मज्जानं च यथाक्रमं ॥ एवं शुक्रगतान्दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत्।अष्टादशाष्टादशकान्वस्तीनां योनिषेवते॥सकुंजरबलोश्वस्य रमेत्तुल्योमरप्रभः॥

अर्थ—प्रथम वस्ति (पिचकारी) मारनेसैं वह वस्ती वंक्षण (अंडसंधि) द्वारा शरीरमें स्नेह न करे है अर्थात् धातु वढावे है । दूसरी पिचकारी मारनेसैं मस्तककी वायुको दूरकरे । तीसरी पिचकारी मारनेसैं शरीरमें वल—कांति आवे। चौथी और पांचवी पिचकारी मारनेसैं रस और रक्त इनकी वृद्धि होय । छटी और सातवी पिचकारी मारनेसै मांस और मेदमें स्निग्धता आती है। आठवी और नवम पिचकारी मारेनेसैं मज्जामें और श्लोकमें जो चकारहै इस्सै शुक्रधातुमें स्निग्धता आती है । इस प्रकार द्विगुण (१८) पिचकारी देनेसैं शुक्रधातुगत जो दोषहै उनका नाश होय तथा जो मनुष्य ३६ पिचकारियोंका सेवनकरे उसमें हाथीके समान बल और वेगमें घोडेके समान होय एवं देवस्वरूप कांतिहोयहै॥

अनुवासनवस्तिऔरनिरूहनवस्तीयेकिसकोदेनाइसकाप्रकार

रूक्षाय वहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने । दद्याद्वैद्यस्तथान्येपामन्यांबाधामपाहरत् ॥ स्नेहोल्पमात्रो रूक्षाणां

दीर्घकालमनात्ययः । तथा निरूहस्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥

अर्थ—रूक्ष होकर जो अत्यंत वायुसैं पीडित मनुष्य उसको वैद्य दिन २ में स्नेहवस्ती देवे । अर्थात् स्नेहकी पिचकारी नित्त मारे । उसी प्रकार " अन्येषां " कहिये स्निग्ध और स्थूलादिक मनुष्य उनके " अन्या " कहिये निरूहण वस्ती दिन२में देवेतो " वाधा " कहिये रोग दूरहोय । तथा रूक्ष मनुष्य उनके स्नेहवस्ती अल्पदेवे अर्थात् स्नेहकी पिचकारी हलकी मारे । परंतु रोगी वहुत दिनका वचाहुआ होय तो स्निग्ध मनुष्य उसके निरूहवस्ती अल्पदेवे ॥

तत्कालस्नेहबाहरनिकलेउसकाउपाय

अथवा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः ।
तस्यान्योऽन्यतरो देयो नहि स्निग्धस्य तिष्ठति ॥

अर्थ—स्निग्ध मनुष्यकी गुदायें पिचकारी मारनेसै उसी वखत चिकनाई बाहर निकल आती हैं ठहरे नही है इसीसें स्नेहवस्ती देकर उसी समय निरूहवस्ती देवे, इसप्रकार पलटकर दोनो प्रकारकी वस्तीदेवे ॥

(स्नेहवाहर न निकले उसके उपद्रव और उपाय)

अशुद्धस्य पलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदा शैथिल्यमाध्मानं शूलं श्वासश्च जायते । पक्वाशयो गुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् । तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधियुता फलवर्त्तिर्हिता तथा॥यथानुलोमनोवायु मलस्नेहश्च जायते ॥ तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यं च शस्यते ॥

अर्थ—वमन और विरेचन इत्यादिक करके जिसकी शुद्धी नही करी उसकी गुदासैं यदि मलामिश्रित स्नेह वाहर आवे नहीं तो उसके देहमें शिथिलता, और अफरा (पेटका फूलना) शूल, श्वास, और पक्वाशयमें भारीपना, ये उपद्रव होते है । इनके दूरहोनेके वास्ते तीक्ष्णनिरूहण वस्ति देनी चाहिये । इसीप्रकार तीक्ष्ण औषध करके युक्त ऐसी फलवर्त्तिदे जिस्सै वायु अधोगामी होकर मल मिश्रित स्नेह गुदाके रास्ते वाहर आवे, तथा उसीप्रकार तीक्ष्णजुलाव और तीक्ष्णनस्य ए देने चाहिये ॥

(स्नेह वस्ती जिसको उपद्रव करे नही उसका विधान ।)

यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहवस्तिरनिःसृता ।

सर्वोल्पो व्यावृते रौक्ष्यादुपेक्ष्यः सविजानता ॥

अर्थ—स्नेहवस्ती (स्नेहकी पिचकारी) गुदामें मारनेके अनंतर गुदाका संपूर्णभाग व्यावृत्त (व्याप्त) होनेसे अथवा मनुष्यके रूक्षपनेके कारण गुदाके एकदेशमें व्याप्तहोके रहनेसैं शूलादिक उपद्रव नहीं करे । तो पिचकारी (स्नेहवस्ती) उसीप्रकार गुदामें धरी रहनेदे ॥

अहोरात्रिमें भी स्नेह वाहर न आवे तो उसका उपाय ।

अनायाते त्वहोरात्रे स्नेहं संशोधनैर्हरेत् ।
स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥

अर्थ—स्नेहकी पिचकारी मारनेसैं जो स्नेह वाहर नहींआवे उसकै दोवार पिचकारी मारके स्नेह वाहर आवे अेसायत्नकरे । अथवा जो स्नेह अहोरात्र (दिनरात्रि) में वाहर न आवे उसको जुलाव देकर तेलको वाहर निकाले ॥

अनुवासनतैल

गुडूच्येरंडपूतिकिभार्गीवृषकरोहितम् । शतावरी सहचरं काकनासा पलोन्मितम् ॥ यवमाषातसीकोलकुलित्थान् प्रसृतोन्मितान् । चतुर्द्रोणांभसा पक्व द्रोणशेषेण तेन च ॥ पचेत्तैलाढके पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् ॥

अर्थ—गिलोय,-अंडकीजड,-कंजाकीछाल,-भारंगी,-अडूसा,-रोहिषतृण,-शतावर,-पियाँवासा,-काकतुंडी, ये नौ औषध एक २ पललेवे । जौं,-उडद,-अलसी,-वेरकी गुठली,-और कुलथी, ये पांच औषध दो दो पलले, इन सबको कूट पानी ४ द्रोण डालके एकद्रोण जल वाकी रहने पर्यंत औंटावे, उसमें तिलका तेल एक आढक डालके और जीवनीय गणकी औषधी एक २ पल कूट चूर्णकरके मिलावे, फिर उसको औटावे जव काढा जलके तेलमात्र शेष रहे तव नीचे उतारके तेल छानलेवे । इसको अनुवासन तेल कहते है । ये तेल संपूर्ण वायुके रोगोंको दूर करताहै ॥

शट्यादितैलम्

शटीपुष्करकृष्णाव्हामदनामरदारुभिः।शताव्हाकुष्ट-यष्ट्याव्हवचाबिल्वद्रुताशनैः॥सुपिष्टैर्द्विगुणं क्षीरं तैलं

तोयं चतुर्गुणम् । पक्का वस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम्॥अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ॥ कटीरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर, दूध ८ सेर, कल्कके वास्ते कचूर, पुहकरमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूठ, मुलहरी, चव वेलगिरी, और चीतेकीछाल, ए सब मिलायके सेरभर लेवे । जल १६ सेरले, सबको मिलाय तेलकी विधिसै सिद्धकरे । यह वस्तिक्रियामें प्रयोग करनेसैं कुपित वायुको अनुलोम करे । तथा ववासीर, ग्रहणीदोष, अफरा, विषमज्वर, और जांघ,–कमर,–और पीठके वातरोगको दूरकरे । इसे शठ्यादि तैल कहते है ॥

वचादितैलम्

वचापुष्करकुष्ठैला मदनामरसिंधुजैः॥कांकोलीद्वययष्ट्याह्व मेदोयुग्मनगाधिपैः ॥ पाठाजीवकजीवंती भार्गीचंदनकट्फलैः ॥ सरलागरुबिल्वाम्बुवाजिगंधाग्निवृद्धिभिः॥विडंगारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकाद्विभिः॥ पिष्टैस्तैलं पचेत्क्षीरं पञ्चमूलरसान्वितम् ॥ गुल्मानाहाग्निषंगार्शोग्रहणीमूत्रसंगिनाम् ॥ अन्वांसनविधौयुक्तंशस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर, छोटा पंचमूलका काढा १६ सेर,–दूध, १६ सेर, कल्कके वास्ते वच,–पुहकरमूल,–कूठ,–इलायची,–मैनफल,–देवदार,–सैंधानिमक,–कांकोली,–क्षीरकांकोली,–मुलहटी,–मेदा,–महामेदा,–अमलतास,–पाठ,–जीवक,–जीवंतीशाक,–भारंगी,–लालचंदन,–कायफल,–सरलकाष्ट,–अगर,–वेलगिरी, नेत्रवाला,–असगंध,–चीता,–वृद्धि, वायविडंग,–कीरवारेकीगिरी,–सारिवा,–निसोथ,–पीपर,–वृद्धि,–यह सब औषध १ सेर ले । जल १६ सेर, तेलकीविधिसैं सिद्धकरे, यह तैल गोला,–अफरा,–मदाग्नि,–ववासीर,–संग्रहणी,–मूत्ररोग, और वातरोग इन समस्त रोगोंमें अनुवासन प्रयोगमें देवे. ॥

चित्रकादितैलम्

चित्रकादिविषापाठा दन्तीविल्ववचामिपैः सरलांशुमतीराण्णा नीलिनीचतुरंगुलैः॥ चव्याजमोदकांकोली

मेदायुग्मसुरद्रुमैः जीवकर्षभवर्षाभूवस्तगंधशताह्वयैः ॥ रेन्वश्वगंधामंजिस्का शटीपुष्करतस्करैः॥ सक्षीरं विपचे-त्तैलं मारुताभयनाशनम्॥ गृध्रसीखंजकुब्जाढ्यमूत्रो-दावर्त्तरोगिणाम्॥शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु-नियोजितम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर,-दूध १६ सेर, कल्केवास्ते चीतेकीछाल,-अतीस-पाठा,-दंती,-वेलगिरी,-वच,-सोंफ,-निसोथ, सालपर्णी,-रास्ना,-नीली,-अ-मलतास,-चव्य,-अजमायन,-कांकोली,-मेदा,-महामेदा,-देवदारु,-जीवक,-ऋषभक,-सांठ,-अजमोद,-सोफ,-रेणुक,-असगंध,-मजीठ,-कचूर,-पुहकरमू-ल,-चौरकाचरी,-यहसब १ सेर ले। जल १६ सेर,-तेलपाककी विधिसें बनावे। यह ग्रधसी,-खंजता,-कुबडापना,-मूत्राधिक्य,-और,-उदावर्त्तरोग,-बलहीन,-तथा मंदाग्नि, इत्यादि रोगमें इस तैलका अनुवासन कर्म उत्तम है॥

भूतिकादितैलम्

भूतिकैरंडवर्षाभू राष्णावृषकरोहिषैः ॥ दशमूलसहा-भांर्गीपड्ग्रंथामरदारुभिः॥बलानागबलामूर्वा वाजिगं-धामृताह्वयैः ॥ सदाचरवरीविश्वा काकनासाविदारि-भिः ॥ यवमाषातसीकोल कुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ॥ जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरं चतुर्गुणं ॥ जंघोरुत्रिक-पार्श्वांशबाहुमन्याशिरःस्थिताम्॥ हन्याद्वातविकारां स्तु बस्तियोगैर्निषेवितम् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर, क्वाथकेवास्ते अजमायन,-अंडकीजड,-सांठ,-रास्ना, अडूसा,-रोहिषतृण,-दशमूल,-मुद्गपर्णी,-भारंगी,-वच,-देवदारु,-खरेटी,-गगेरन,मूर्वा, असगंध, गिलोय, पियावांसा, सतावर, सोंठ, काकडोडी, विदारीकंद, जौं, उडद-अलसी, बेर, कुलथी, ये सब २॥ सेरले जल ६४ सेर लेके काडाकरे, जब १६ सेर रहे तब उतारके छानलेय, फिर जीवनीय गणका कल्क, दूध १६ सेर, सब-को एकत्र कर तैलकी विधिसें सिद्धकरे। इस तेलको अनुवासन द्वारा प्रयोग करेतो जंघा, ऊरू, त्रिक, पसवाडे, कंधे, भुजा, मन्यानाडी, और मस्तकगत वातरोग यह नष्ट होवे ॥

जीवन्त्यादितैलम्

जीवन्त्यातिबलामेदाकांकोलीद्वयजीरकैः । ऋषभा-
तिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥ राष्णामदनय-
ष्ट्याह्वमरलाभिरुचन्दनैः । स्वयंगुप्ताशठीशृंगीकल-
शीसारिवाह्वयैः ॥ पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेनतु ॥
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्द्धनम् ॥ बृंहणं-
वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् । नस्ये पाने च संयु-
क्तंमूर्द्धजत्रुगदापहम् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । घृत १ सेर । जीवंती, अतिबला, मेदा, महामेदा, कांकोली, क्षीरकांकोली, जीवक. ऋषभक, अतीस, पीपल, काकडोडी, वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलहटी, सरल, सतावर, रक्तचंदन, कौछके बीज, कचूर, काकडासिंगी, पिठवन, सारिवा, ए सब औषधी १ सेरले । दूध ४० सेर लेके विधि पूर्वक तेलासिद्धकरे । इसका अनुवासन करनेसें शुक्र, अग्नि, और बलकी वृद्धिकरै, देहको पुष्टकरे, वायु और पित्तकी शांति, एवं गोला और अफरा रोगको नष्टकरे । नस्य—तथा पानमें इसका व्यवहार करेतो उर्ध्वजत्रुगत रोगोंका नाशकरे । इसे जीवंत्यादि तैल कहते है ॥

मधुकादितैलम्

मधुकोशीरकाश्मर्यकट्वकोत्पलचंदनैः । श्यामापद्मक-
जीमूत शक्राह्वातिविषांबुभिः ॥ तैलपादं पचेत्सर्पिः
पयसाष्टगुणेन च । न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं वस्तिषु
योजितम् ॥ दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन्।
पित्तरक्तज्वरार्द्यांश्च हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतैल ४ सेर । घृत १ सेर । न्यग्रोधादिगणकीक्वाथ २० सेर । दूध ४० सेर । कल्कके वास्ते मुलहटी,-खस,-कंभारी,-कुटकी,-कमलगट्टा,-रक्तचंदन,-अनंतमूल, पद्माख,-नागरमोथा,-इन्द्रजो, नेत्रवाला,-अतीस,-ए सब १ सेरलेवे । सबको तेलकी विधिसें औटायके तेल सिद्ध करलेवे, उसका अनुवासन करनेसें दाह,-प्रदर,-विसर्प,-वातरक्त,-विद्रधि,-तथा पित्तकृत अनेक प्रकारके रोग दूरकरे ॥

मृणालादितैलम्

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः । चंदनद्वयभूनिंब पद्मबीजकसेरुकैः ॥ पटोलकटुकारक्तागुंद्रापर्पटवासकैः ॥ पिष्टैस्तैलमिदं पक्वं तृणमूलरसेन च । क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम् । नस्येऽभ्यंजनपाने वा हन्यात्पित्तगदान् बहून् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । तृणपंचमूलका काढा १६ सेर । दूध ८ सेर । कल्कके वास्ते कमल,–नीलकमल,–नीलकमलकीजड,–सारिवा,–अनंतमूल, केशर,–रक्तचंदन,–सपेदचंदन,–चिरायता,–कमलगट्टा,–कसेरू,–पटोलपत्र, कुटकी मजीठ,–भद्रमोथा,–पित्तपापडा,–अडूसा, ये सब १ सेरले । सबका यथाविधि तैल सिद्धकरे । इस तेलकी नस्य–मालिस–पीना–और बस्ति क्रियामें प्रयोग करनेसै अनेक प्रकारके पित्तरोगोको निवारण करे ॥

त्रिफलाद्यंतैलम्

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः । निंबारग्वधपट्टग्रंथासप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥ गुडूचीन्द्रसुराकृष्णा कुष्टसर्पपनागरैः । तैलमेभिःसमैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥पानाभ्यंजनगंडूषनस्यबस्तिषु योजितम् । स्थूलतालस्यकंडूवादीन् जयेत् कफकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतेल ४ सेर । सुरसादिगणकास्वरस १६ सेर– । कल्कके लिये–त्रिफला,–अतीस,–मूर्वा,–निसोथ,–चीतेकीछाल, अडूसा,–नीमकीछाल,–अमलतासके पत्ते, वच, सतोनाकीछाल, हरदी, दारुहलदी, गिलोय, मद्मालू, पीपल, कूठ, सरसो, और सोंठ, सब, १ सेरलेवे । तेलसिद्धकरे इसतेलके पीनेसै मालिससै कुरला नस्य–और बस्तीकर्म करनेसैं स्थूलता, आलस्य, और खुजलीआदि कफके विविधविकार दूरहो । यहत्रिफलादितैलहै ।

पाठाद्यंतैलम्

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टा पिप्पलीद्वयनागरैः । सरलागरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुभैः ॥ मरिचैलाभयाकट्वी शटीग्रंथिकवृक्षफलैः । तैलमेरंडतैलंवा पक्वमेभिः समा

युतम् ॥ वल्लीकंटकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ॥ ह-
न्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥

अर्थ—तिलतेल अथवा अंडीकातेल ४ सेर–। वल्लीपंचमूलका काढा ८ सेर कंटक पंचमूलकाकाढा ८ सेर । कल्ककेवास्ते– पाढ, अजमोद, महाकरंज, पीपल, गजपीपल, सोंठ, सरल, अगर, कालीयकाष्ट, भारंगी, चव्य, देवदारु, कालीमिरच, इलायची, हरड, कुटकी, कचूर, पीपरामूल, और कायफल सब १ सेरलेवे । इनसें तेलको विधिपूर्वक सिद्धकरे इसका अनुवासन कफकृत समस्त रोगोंको निवारणकरे । इसें पाठादि तैल कहतेहै ॥

विडंगाद्यंतैलम्

विडंगोदीच्यसिंधूत्थ शठीपुष्करचित्रकैः । कट्फला-
तिविषाभार्गी वचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥ मेदोमदनयष्ट्याह्व
श्यामानिचुलनागरैः ॥ शताह्वानीलिनीराण्णा कदली
वृषरेणुभिः ॥ बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादंतीचव्यनरा-
धिपैः । तैलमेरंडतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥ प्ली-
होदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् । प्रमेहशर्करा
शंसि हन्यादाश्वनुवासनात् ॥

अर्थ—तिलतेल अथवा अंडीकातेल ४ सेर । मुष्कंकादिगणकारस १६सेर–। कल्केके वास्ते वायविडंग नेत्रवाला, सैंधानिमक, कचूर, पुहकरमूल, चीतेकीछाल,– कायफर,– अतीस,– भारंगी,–वच,–कूठ,–देवदारु,–मेदा,–मैनफल,– मुलहटी,–अनंतमूल, -हिंजलकेबीज,- सोंठ,–सोफ,–नीलकीजड,–रास्ना,–केलाकीजड,–अडूसा,–रेणुक,–बेलगिरी–अजमोद,–पीपल,–दंती,–चव्य,–और अमलतासकेपत्ते सब १ सेरलेवे । विधिपूर्वक तैलसिद्धकरे–इसतेलके अनुवासनवस्ती करनेसें प्लीह,–उदावर्त,–वातरक्त,–गोला,–अफरा,–कफकीजनेकव्याधि.–प्रमेह, शर्करा, और ववासीर, रोगको दूरकरे । यहविडंगादितैलहै–ये पूर्वोक्त संपूर्णतेल सुश्रुतके वस्ती अधिकारमें लिखेहै ॥

(अनुवासन वस्तिमें विपरीत होनेसे रोगहोतेहै उनको कहते है॥)

पट्सप्ततिर्व्यापदस्तु जायंते वस्तिकर्मणः ।

---

१ संपूर्ण औषधोंके गण (जैसे मुष्कंकादिगण–सुरसादिगण) ए आगे करेंगे ।

दूषितात्समुपायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात् ॥

अर्थ—बस्तीकर्ममें दोषरूप कुछभी विपरीतता होनेसैं ७६ प्रकारकी व्याप-त्ती(रोग)उत्पन्न होतेहै।उसकी चिकित्सा सुश्रुत ग्रंथमें लिखीहै सो करनीचाहियो।

वस्तिकर्ममेंपथ्य

पानाहारविहाराश्च परिहारश्च कृत्स्नशः ॥
स्नेहपानसमाः कार्या नात्र कार्या विचारणा ॥

अर्थ—अन्न, पान-और विहार आहारादिक इनके आचरण जैसा स्नेहपानमें कहाहै उसीप्रकार इस जगे वस्तीकर्ममें करे-इस विषयमें विचार न करे ॥

निरूहवस्तीकीविधिः

निरूहबस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणांतरैः ।
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुंगवैः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती कारणभेदकरके अनेकप्रकारकी होती है और जैसे २ का रण होतेहै उसी २ प्रकारका उसका नाम होताहै । उदाहरण- उत्क्लेशनबस्ति,- दोषहरबस्ति,- दोषशमनवस्ति, इत्यादिक नाम जानने ।

निरूहवस्तीकेदूसरेनाम

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः ।
स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् ॥

अर्थ—निरूह वस्तीका दूसरा नाम आस्थापनहै उसकी व्युत्पत्ती--दोष औ-र रसादिक धातु इनको अपने २ स्थानपर बैठालेहै, इससैं इसको आस्थापन बस्ति कहतेहै । तथा वातादिक दोष अथवा रोग इनको दूरकरेहै इसीसैं उसको निरूह ऐसा कहतेहै ।

(निरूहवस्तीमें काढेआदिका प्रमाण)

निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थपादोत्तरं मतम् ।
मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनस्य कुडवास्त्रयः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती देनेमें काढे आदिका प्रमाण सवा प्रस्थ उत्तमहै, और प-क्कप्रस्थ मध्यम, तथा तीनकुडव कनिष्ठ जानना ।

निरूहवस्तीअयोग्य

अतिस्निग्धो क्षिप्तदोषो क्षतोरस्कः कृशस्तथा । आध्मानछर्दिहिक्कार्शःकासश्वासप्रपीडितः ॥ गुद-शोफातिसारार्त्तो विशूचिकुष्ठसंयुतः । गर्भिणीमधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥

अर्थ—अत्यंतस्निग्धमनुष्य, तथा जिसके ऊर्ध्वगामीदोष हुएहो वो, तथा उरःक्षत करके पीडित, कृश, अफराका रोगवाला, छर्दिरोगी, हिचकी, ववासीर, खांसी, श्वास, इन करके पीडित जो मनुष्य होवे वह; गुदामें पीडा, सूजन, अतिसार, विशूचि, कोढ, गर्भवतीस्त्री, मधुमेहरोगी, और जलंधरका रोगवाला, इतने रोगी निरूहवस्तीमे अयोग्य अर्थात् इन रोगियोंके निरूहवस्ती न करे ।

निरूहवस्तीयोग्यमनुष्य

वातव्याधावुदावर्ते वातासृक्विषमज्वरे । मूर्च्छातृष्णोदरानाह मूत्रकृच्छ्राश्मरीषुच ॥ वृद्ध्यसृग्गुदरमंदाग्निप्रमेहेषु निरूहणम् । शूले ऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद्भुवः ॥

अर्थ—वातव्याधिरोगी, उदावर्त्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, प्यास, उदर, अफरारोग, मूत्रकृच्छ्र, पथरीरोग, वहुतदिनोंका अस्रग्दर (मदर) मंदाग्नि, प्रमेह, शूलरोग, अम्लपित्त, हृदयरोग, इतनेरोगी निरूह वस्तीके विषयमें योग्यहै अर्थात् इनरोगियोंके निरूहवस्ती करै ।

निरूहवस्तीदेनेकाप्रकार

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजितम् । मध्यान्हे गृहमध्ये च यथायोग्यं निरूहयेत् ॥ स्नेहबस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् । जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः ॥ तिष्ठेन् मुहूर्तमात्रं च निरूहागमनेच्छया । अनायातं मुहूर्तंतु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥

अर्थ—निरूहवस्ती जिसमनुष्यको देनीहोवे वह मलमूत्र त्याग चुकाहो, अ-

---

१ मधुमेहके विना और दूसरे प्रमेह वस्ती विषयमें योग्य जानने ।

र्थात् उसरोगीसैं कह देवे कि जब तक ये बस्तिकर्म होवेगा तबतक तुमको मल मूत्रत्यागना न होगा, यदि भीतरसैं अधोवायु निकले तो उसको निकाल कोठा शुद्धकर उसके देहमें स्नेहपदार्थ लगाय, थोडे देहसैं पसीने निकाल उसको भोज न न देकर मध्यान्हके समय घरमें जिसप्रकार जिसरोगपर वस्तीदेना लिखाहै उसप्रकार स्नेहवस्तीका विधान कर तैलादिककी पिचकारी गुदामें मारनी। और निरूहवस्तीके कर्महोनेके अनंतर वह निरूह वाहरआनेके वास्ते दो घडी पर्यंत उंकरू वैठा रहे। यदि दोघडीमें निरूहकी औपधी गुदामेंसैं न निकले तो उस-को शोधन करके वाहर आनेका यत्नकरे सो आगेलिखते है॥

निरूहकोवाहरलानेवालीऔषध

निरूहैरेवमतिमान् क्षारमूत्राम्लसैंधवैः॥

अर्थ—निरूहवस्ती गुदासैं वाहर न आनेपर जवाखार, और गोमूत्र, नीबूका रस, अथवा जंभीरीकारस, और सैंधानिमक, ए चार औपधी एकत्रकर गुदामें फिर निरुहण करे कि जिससै पहलादियाहुआ निरूह वाहर निकले॥

निरूहवस्ती उत्तम होनेके लक्षण

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः।
लाघवं चोपजायेत सुनिरूहं तमादिशेत्॥

अर्थ—जिस मनुष्यके निरुह वस्ती देनेसैं उसके मल—तथा पित्त एवं कफ और अधोवायु ये क्रमकरके गुदाके रास्ते वाहर निकलनेपर शरीरमें हलकापन-नाहोवे तो निरूहण वस्तीका कर्म उत्तम हुआ अैसा जानना॥

जिसकोउत्तमनहुईहोउसकेलक्षण

यस्य स्याद्वस्तिरल्पाल्पवेगोहीनमलानिलः।
मूत्रार्त्तिजाड्यारुचिमान् दुर्निरूहं तमादिशेत्॥

अर्थ—जिसको निरूहवस्ती देनेसैं उसका वाहार आनेकावेग अल्प आनेपर मल और अधोवायु ये जितने वाहर आने चाहिये इतने न आवे, अर्थात् थोडे आवे ओर मूत्र करनेमें पीडा तथा शरीरमें जडपना, अरुचि, ए सव लक्षण करके युक्त मनुष्यको निरूहवस्ती उत्तम नहीं हुई, अेसा वैद्यको जानना चाहिये॥

(निरूहवस्ति और स्नेहवस्ति उत्तमदेनेकाफल)

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः।
आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यक्दाने तु लक्षणम्॥

अनेन विधिना युंज्यान्निरूहं बस्तिदानवित् ॥

अर्थ—रोगीके अंगमें हलकापना, मनकासंतोष, अंगमें पसीने आना, तथा रोगोंका नाश, ये आस्थापन (निरूहवस्ति) तथा स्नेहवस्ती इनके उत्तम देनेके लक्षण जानने । और पूर्वोक्त (जो वस्तीदेनेका कर्म कहाहै) उस कर्मके जानने वाले वैद्यको निरूहवस्ती देनी चाहिये [और जो वस्तिकर्म न जानताहो उस वैद्यसें कदाचित् वस्तीकर्म न करावें]

निरूहबास्तिदेनेमेंसमयकाप्रमाण

द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितं । सस्नेहएकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह ॥ कषायकटुरूक्षाद्याः कफे कोष्णास्त्रयोमताः ॥ पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् । निरूहं योजयित्वा च ततस्तदनुवासयेत् ॥

अर्थ—निरूहवस्ती दोवार—अथवा तीनवार—अथवा चारवार—जैसा दोष होवे उसीके अनुसार देनी, तथा वातरोग होनेसें स्नेहयुक्त निरूह वस्ती एकवार देवे, तथा पित्तरोग होनेसें दूधकेसाथ दोवार देवे, एवं कफरोग होनेसें कषाय और कटु तथा रूक्ष इत्यादि पदार्थ एकत्रकर तथा कुछ गरम करके तीनवार निरूहवस्ती देवे, अर्थात् इस औषधकी तीनवार पिचकारी मारनी चाहिये । अथवा कफ और पित्तवायु इन करके मनुष्य पीडितहोनेसें दूध और यूष तथा रस (मांसरस) इनके क्रमकरके गुदादिकमें वस्तीदेवे फिर अनुवासनवस्ती देय अर्थात् स्नेहकी पिचकारी मारे ॥

(सुकुमारादि मनुष्योंके निरूहबस्तिकी योजना)

सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः ।
बस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी ॥

अर्थ—सुकुमार (नाजुक) और वृद्ध तथा बालक इनके हलकी पिचकारी मारनी क्योंकि सुकुमारादिकोंके दारुण वस्ती देनेसें इनके बल और आयुका नाश होताहै ॥

(आदि मध्य और अंत्य इनमें वस्तीकी योजना)

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः ।
पश्चात्संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥

अर्थ—प्रथम दोषोंके उत्क्लेद (उखाडने) को उत्क्लेदकारी औषधोंकी वस्ती देवे । तथा बीचमें दोषनाशक औषधोंकी वस्ती देवे, तथा अंतमें अपने २ स्थानपर दोष बैठजावे अैसी औषधोंकी पिचकारी मारनी चाहिये ॥

उत्क्लेशनवस्ती

एरंडबीजं मधुकं पिप्पली सैंधवं वचा ।
हबुषाफलवल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥

अर्थ—अंडीके बीज, महुआकी छाल, पीपल, सैंधानिमक, वच, हौउवेर, ये छः औषध समान भाग लेकर पीसके कल्ककरे, इसको दोषोंके उखाडनेके वास्ते देवे इसें उत्क्लेशन वस्ती कहते है ॥

दोषहरवस्ती

शताव्हा मधुकं विल्वं कौटजं फलमेव च
सक्तांजिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥

अर्थ— शतावर, मुलहटी, वेलगीरी, इन्द्रजों, ए चार औषध समान भाग ले, कांजीमें वारीकपीस तथा इसमें गोमूत्र मिलाय गुदामें पिचकारी मारे, कि जिस्सै वातादिकदोषोका शमनहो इसको दोपहर वस्ती कहतेहै ॥

शोधनवस्ती

शोधनद्रव्यनिक्काथस्तत्कल्कैः स्नेहसैंधवैः ।
युक्त्या खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः॥

अर्थ—निशोथआदि जो शोधनद्रव्यहै उनका काढाकर उसमें इन्ही औषधों का कल्क और सैंधानिमक मिलाय कलछीसैं मथनकर दोषोंके शोधन विषयमें पिचकारी मारे, इसको शोधन वस्ती कहतेहै ॥

दोषशमनवस्ती

प्रियंगुर्मधुकोमुस्ता तथैव च रसांजनम् ।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमने स्मृतः ॥

अर्थ—फूलप्रियंगु, अथवा राल, महुआकीछाल, नागरमोथा, रसोत ये चार औषध समान भाग लेकर दूधमें वारीकपीस दोषशमन होनेसें इसकी पिचकारी मारे, इसे दोषशमन वस्ती कहते है ।

लेखनवस्ति

त्रिफलाक्काथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः ।
ऊषकादिप्रतिवापैर्वस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥

अर्थ—त्रिफलेका काढा करके उसमें गोमूत्र, सहत, जवाखार, डालके तथा ऊषकादिगणकी औषधीका चूर्ण उसमें मिलायके मेदरोगादिकमें कृश करनेको बस्ती देवे, इसे लेखन बस्ती कहतेहै ॥

बृंहणवस्ति

बृंहणद्रव्यनिक्काथः कल्कैर्मधुरकैर्युतः ।
सर्पिर्मांसरसोपेतवस्तयो बृंहणा मताः ॥

अर्थ—मूसली, गोखरू, कौचकेबीज, इत्यादिक जो धातुवर्द्धक द्रव्य उनका काढा कर उसमें महुआकी छाल और दाख तथा अनार इत्यादिक मधुरद्रव्य और कल्क तथा घी और मांसरस ये सब औषध डालके पुष्टहोनेके अर्थ बस्ती देवे, इसको बृंहण बस्ती कहतहै ॥

पिच्छलवस्ति

बदर्यैरावतीसेलुशाल्मलीधन्वनागराः । क्षीरसिद्धाः
क्षौद्रयुक्ता नाम्ना पिच्छलसंज्ञिताः ॥ अजोरणैणरु-
धिरैर्युक्तादेया विचक्षणैः । मात्रापिच्छलवस्तीनां
पलैर्द्वादशभिर्मताः ॥

अर्थ—बेरकीछाल, नारंगी, बहुआरकी छाल, सेमरकीछाल, घमासो, सोंठ, ये छः औषध समान भाग लेकर दूधमें पीस सहत मिलाय उसमें बकरा और मेंढा तथा हरिण इनका रुधिर मिलायके कुशल वैद्य दोषोंके पतले करनेको बस्तीदेवे, इसको पिच्छल बस्ती कहते है । इस बस्तीकी मात्राका प्रमाण बारह पल जानना ॥

निरूहणमात्राकीविधि

दत्वादौ सैंधवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयं । विनिर्मथ्य
ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥ एकीभूते ततः
स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् । संमूर्छितकषाये तु

चतुःप्रसृतिसंमितं ॥ क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक् । वाते चतुःपलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहस्य षट्पलं ॥ पित्ते चतुःपलं क्षौद्रं स्नेहस्य च पलत्रयम् । कफे षट्पलकं क्षौद्रं स्नेहस्यैव चतुःपलम् ॥

अर्थ—प्रथम सैंधानिमक १ कर्ष, तथा सहत ४ पल, इन दोनोको एकत्र मर्दनकर फिर उसमें घी अथवा तेल छःपल डालके एक जगे मिलाय उसमें कल्ककी जो औषध कही हैं उनका कल्ककरके उसमें स्नेहमिलायदे, अथवा उस कल्कका काढाकरके उस स्नेहमें मिलावे। फिर कुशलवैद्य गुदामें पिचकारी मारे, यह निरूहवस्तीकी साधारण विधि जाननी । विशेषविधि वातरोगमें सहत चारपल, और स्नेह तीनपल दोनोको एकत्रकर वस्तीदेवे तथा पित्तके रोगमें सहत४ पल और स्नेह ३ पलभि लांपवस्तीदे । एवं कफरोग होयतो सहत छःपल–और स्नेह चारपल लेवे दोनोको एकत्रकर वस्ती देनी चाहिये ॥

मधुतैलवस्ति

एरंडक्वाथतुल्यांशं मधुतैलं पलाष्टकम् । शतपुष्पाप-लार्द्धेन सैंधवार्धेन संयुतम् ॥ मधुतैलकसंज्ञोयं वस्तिः खजविलोडितः । मेदो गुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्त्तनाशनः॥ बलवर्णकरश्चैव वृष्यो बृंहणदीपनः ॥

अर्थ—अंडकी जडका काढा ८ पल, सहत और तेल ये चार २ पल, सोफ, और सैंधानिमक आधे २ पल लेके सबको एकजगे एकत्रकर गडमड करलेवे, इसको मधुतैलक वस्ती कहते है, यह गुदामें देनेसें मेदोरोगको, गलेकेरोगको, कृमिरोगको, प्लीह, और उदावर्त्त इनको नाशकरे । और यहवस्ती बल तथा कांति, और स्त्रीसंगमेंप्रीति, धातुकीवृद्धि देयंहै और अग्निको प्रदीप्तकरे है ॥

दीपनवस्ति

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतिं प्रसृतिं भवेत् ।
हपुषा सैंधवाक्षांशौ वस्तिः स्याद्दीपनः परः ॥

अर्थ—सहत, घी, दूध, प्रत्येक दो दो पल, तथा हींउवेर और सेंधा निमक दोनो कर्षभरलेय; बारीक पीस सब सहत–घी और दूधमें मिलायेके मंदाग्नि प्रदीप्तहोनेके वास्ते वस्ती देवे । इसे दीपनवस्ती कहते है ॥

युक्तरथबस्ति

एरंडमूलनिःक्काथो मधुतैलं ससैंधवम् ।
एष युक्तरथो बस्तिः सवचापिप्पलीफलः ॥

अर्थ—अंडकीजड़का काढा करके उसमें सहत और तेल डालके सैंधानिमक वच, पीपल, और मैनफल, ये चारऔषध समान भागले चूर्णकर उस काढेमें मिलायके गुदामें वस्ती (पिचकारी मारे) इसको युक्तरथ वस्ती कहतेहै यह बस्ती सर्व रोगोंपरहै ॥

सिद्धबस्ति

पंचमूलस्यनिःक्काथस्तैलंमागधिकामधु ।
ससैंधवः समधुकः सिद्धबस्तिंरितिस्मृतः ॥

अर्थ—पंचमूलका काढा करके तेल, पीपलकाचूर्ण, सैंधानिमक, और महुआ कीछाल, अथवा मुलहटी, ये सब उस काढेमें डालके बस्ती देनी चाहिये । इस को सिद्धवस्ती कहतेहै । यह बस्ती सर्व रोगोंपर है

(बस्तीमें सेव्य पदार्थ और निषिद्ध पदार्थ)

स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णताम् ।
वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहबस्तिवित् ॥

अर्थ—पिचकारी लगनेवाला मनुष्य गरम पानीसैं स्नानकरे । दिनमें सोवे नहीं, तथा अजीर्ण होनेदे नहो, तथा दूसरे सब आचरण स्नेहवस्तीके समान करने चाहिये ।

उत्तरबस्तिकीविधि

अतः परं प्रवक्ष्यामि बस्तिमुत्तरसंज्ञितम् । निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञितः ॥ द्वादशांगुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् । मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥

अर्थ—अब इसके उपरांत मैं उत्तर वस्तीका प्रमाण कहताहूं । निरूहवस्तीके उत्तर होनेसैं इसको उत्तरवस्ती कहतेहै । इसकी बारहअंगुलकी लंबी नली होक-

र उस नलीका मध्यभाग कमलपत्तेके कर्णिकाके समान करे। और वो नली मालतीफूलके बरावर मोटी होकर उसमें सरसों चली जाय इतना बडा छिद्र करना चाहिये ॥

वयोनुमानकरके मात्राका प्रमाण

पंचविंशतिवर्षाणामधोमात्राद्विकार्षिकी ।
तदूर्ध्वं पलमानंच स्नेहस्योक्ता विचक्षणैः ॥

अर्थ—मनुष्यकी पच्चीस वर्षकी अवस्था होने पर्यंत वस्तीविषयमें स्नेहकी मात्रा दोकर्ष प्रमाण विचक्षण वैद्य देवे। तथा पच्चीसवर्षके उपरांत १ पलकी मात्रा देनी चाहिये ॥

(उत्तरबस्तीकी योजना कैसें करावे उसे कहतेहै)

अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः। स्थितस्य जानुमात्रेण पीठे त्विष्टशलाकया ॥ स्निग्धया मेढ्रमार्गे च ततो नेत्रं नियोजयेत्। शनैः शनैः घृताभ्यक्तं मेढ्रमंगुलानि षट् ॥ ततोवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत्। ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमोहितः ॥

अर्थ—निरूहवस्ती करके शुद्धहुए तथा स्नान और भोजन इन करके तृप्त हुए ऐसे मनुष्यको आसनपर घोटू टेकके बैठावे फिर यथा योग्य सलाई सचिक्कणहो उस सलाईकी नलीमें घी लगायके शिष्णमार्ग (लिंगके छिद्र) में प्रवेश करे, तथा उस नलीको लिंगके भीतर धीरे २ छःअंगुल प्रवेश कर पिचकारीमारे फिर उस नलीको धीरे २ बाहर निकाल लेवे, जब भीतरका स्नेह बाहर आय जाय तो उत्तम वस्तीकर्म होताहै। इसी प्रकार स्नेहवस्ती क्रम जानना ॥

स्त्रियोंके वस्तिदेनेका प्रमाण

स्त्रीणांकनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्दशांगुलम्। मुद्गप्रवेशं योज्यं च योन्यंतश्चतुरंगुलं ॥ द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् ॥

अर्थ—स्त्रियोंके वस्ती देनेमें उस वस्तीकी नली छोटी उंगलीके समान मोटी और दस अंगुल लंबीहो, तथा उसका छिद्र इतना बडा होवे कि जिसमें मूंग च-

ली जावे । तथा उस नलीके योनिके भीतर चार अंगुल प्रवेश करके फेर पिचकारी मारे । परंतु स्त्रियोंके मूत्रमार्गमें बारीक नली प्रवेशकरे तो उस नली का दो अंगुल प्रवेश होनेपर पिचकारी मारनी चाहिये ॥

बालकोंके वस्तिदेनेके विषयमें प्रमाण

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमंगुलम् ।
शनैर्निकंपमाधेयं सूक्ष्मनेत्रविचक्षणैः ॥

अर्थ—बालकोंकें मूत्रकृच्छ्र विकारमें वैद्य जैसें हाथ नहिले अैसें धीरे २ बारीक नलीको उसकी इंद्रीमें १ अंगुल प्रवेश करके पिचकारी मारे ॥

(स्त्री और बालकोके वस्तिदेनेमें स्नेहकी मात्रा)

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालकी । मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानां च द्विकार्षिकी ॥ उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः। अप्रत्यागच्छति भिषक् वस्तावुत्तरसंज्ञिके ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिमें वस्तीकर्म करनेमें स्नेहकी मात्रा दोपल जाननी । तथा स्त्रियोंके मूत्रमार्गमें वस्ती देनी होय तो स्नेहकी मात्रा १ पलकी जाननी तथा बालकोंके दो कर्षकी मात्रा जाननी । और उत्तर संज्ञक वस्तीमें कुशलवैद्य उस स्त्रीको सीधी चित्त लिटाय कर उसके घोटू ऊपरको धर फिर वो स्नेह जैसें बाहर न आवे अेसी पिचकारी मारे ॥

शोधनद्रव्यकरके वस्तीका विधान

भूयोवर्स्ति निदध्याच्च संयुक्तैः शोधनैर्गणैः । फलवर्त्तिं निदध्याद्वा योनिमार्गे दृढं भिषक् ॥ सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुतां । दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्वर्स्ति विचक्षणः॥क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥ वस्तिः शुक्रगुजः पुंसां स्त्रीणामार्तवजा रुजः ॥ हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचिता मोहिनां क्वचित् ॥

अर्थ—मूत्रकृच्छ्रादि रोगोंमें शोधनद्रव्य (अंडीकातेल आदि जो) औष-

घी उनके समुदायोंकरके योनिके मार्गमें पिचकारी मारे अथवा अंडीके बीज आदि औषधोंकी दृढवत्ती बनाय अथवा सूतकीवत्ती बनाय उसवत्तीमें एरंड बीजादिक औषधी चुपडके उसको योनिमें प्रवेश करनी चाहिये । यदि उसवस्तीके अधोभागमें वस्तिस्थानहै वो बिगडजावे अर्थात् उसमें दाहादिक होवेतो गूलर, वड, इत्यादि क्षीरवृक्षहै उनका काढा करके वस्ती देवे । अथवा शीतल दूधकी वस्तीदेवे तो वस्तिस्थान शुद्धहो । और यह वस्ती शुक्रधातु संबंधी जिस पुरुषके पीडाहोती हो उसके तथा स्त्रियोंके आर्त्तव संबंधी पीडा होतीहोवे उनको दूर करती है । तथा जिस मनुष्यके प्रमेह है उसके उत्तरवस्ती कभी उपयोगी नही होवे अेसा जानना ॥

उत्तमउत्तरवस्तिहोनेके लक्षण

सम्यक्दत्तस्य लिंगानि व्यापदः क्रमएव च ।
वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य शमनं स्नेहवस्तिना ॥

अर्थ—उत्तरवस्ती स्नेहवस्ती करके उत्तम प्रकार योजनाकरीहुई उसके लक्षण क्रमकरके येहै शुक्रधातु संबंधी जो प्रमेहादिक पीडा वो दूर होती है ॥

गुदामें फलवर्तीकी योजना

घृताभ्यक्ते गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णस्वांगुष्ठसंनिभा ।
मलप्रवर्त्तिनिर्वर्तिः फलवर्तिश्चसास्मृता ॥

अर्थ—गुदामें घी लगायके रोगीके अगूठेके प्रमाण उत्तम दृढवत्ती वनाय मलहोनेके वास्ते अंडीके बीज आदि जो रेचक औषध उनका उस वत्तीमें लेप कर उसको गुदामें धरे तो मल निकले, इस वत्तीको फलवर्ती कहते है ॥

नस्यविधि

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासा ग्राह्यं यदौषधं ।
नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥

अर्थ—जो औषध नाकमेंडाली जावे उसको नस्य कहते है उसनस्यके नाम-नावन और नस्यकर्म अैसे दोजानने ॥

नस्यकेभेद

नस्यभेदो द्विधाप्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा ।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥

अर्थ—इस नस्यके दो भेदहै-एक रेचन, और एक स्नेहन, इनमें जो नस्य रेचन है उसको कर्षण संज्ञक जाननी अर्थात् वातादि दोषोंको उच्छेद करताहै एवं जो स्नेहन नस्यहै उसको बृंहण जाननी ये धातुवृद्धिकरनेवाली है ॥

नस्यकाकाल

कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके ।
दिनस्य गृह्यते नित्यं रात्रौ वाप्युत्कटे गदे ॥

अर्थ—कफके नाशकरनेको नस्य प्रात:कालमें ले, पित्तके नाशको दोमद्दरमें ले,-वादीके नाशकरने को औषधी नासिकामें सायंकालमें डालनी, यदि रो-गका अत्यंत वल होयतो रात्रिमेंभी डालना कहा है ॥

नस्यकानिषेध

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पणे ॥ तथा नव-प्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ॥अजीर्णी दत्तबस्ति-श्च पीतस्नेहोदकासवः । क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषा-र्तौ वृद्धबालकौ ॥ वेगावरोधीस्नातश्च स्नातुकाम-श्च वर्जयेत् ॥

अर्थ-नाकमें नस्य डालना होयतो भोजनके अंतमें जिसदिन, वदलहोय उसदिन और अपतर्पण तथा लंघनकराहो इनमें नस्य न देवे । जिसके नवीन पीनसरो-ग हुआहो, गर्भिणीस्त्री, तथा विषदोषकरके तथा अजीर्णकरके पीडित मनुष्य त-था जिसके वस्तिप्रयोग कराहै वथा घृत,-तेल इत्यादिक स्नेह और पानी तथा मद्य इनका सेवन करेहुए मनुष्यके,-क्रोधी,-शोक करे तथा तृपाकरके पीडि-त,-वृद्ध,-वालक, वात मूत्र इनका निरोध करनेवाला मनुष्य, तथा स्नानकरा-हुआ,-तथा स्नान करनेको जो तयार हो इन सव मनुष्योंको नस्य न देवे ॥

नस्यकर्ममेंयोग्यअयोग्यमनुष्य

अष्टवर्षस्य वालस्य नस्यकर्मसमाचरेत् ।
अशीतिवर्षादूर्ध्वंचनावनंनैवदीयते ॥

अर्थ—आठवर्षके वालकके नासिकामें औषधी डाले और अस्सी वर्षके उप रांत अवस्था वालेके नाकमें औषधि नही डालनी चाहिये॥

रेचकनस्यकाविधान

अथवैरेचकं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः ।
तीक्ष्णभेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथै रसैस्तथा ॥

अर्थ—जो रेचन नस्य नाकमें डालनी वो अजमायन,—सरसो इत्यादिकोंके तीक्ष्णतेल निकालके नाकमें डाले अथवा तीक्ष्ण औषधडालके स्नेह सिद्धकरे,—अथवा तीक्ष्ण औषधका काढा अथवा रस इनसैं स्नेह सिद्ध करके नाकमें डाले

रेचननस्यप्रकार

नासिकारंध्रयोरष्टौ षट्चत्वारश्च बिंदवः ।
प्रत्येकं रेचने योज्यामुख्यमध्यांत्यमात्रया ॥

अर्थ—रेचनके वास्ते नाकके दोनो छिद्रोंमें औषधकी आठ विंदु डालना यह उत्तम मात्राहै, छः विंदु डालनेसैं मध्य मात्रा जाननी, और चारबूंद डालनेसैं कनिष्टमात्रा जाननी चाहिये ॥

नस्यकर्ममें औषधीका प्रमाण

नस्यकर्माणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधं॥हिंगुस्या-
द्यवमात्रं तु सौवर्चकं सैंधवं मतम् ॥ क्षीरं चैवाष्टशाणं
स्यात्पानीयं च त्रिकार्षिकम् । कार्षिकं मधुरं द्रव्यं
नस्यकर्माणि योजयेत् ॥

अर्थ—नस्यकर्ममें जो तीक्ष्ण औषधी होय वो एक शाण प्रमाण डाले । तथा हींग एक यव प्रमाण, सैंधानिमक १ मासे, दूध आठ साण, पानी तीनकर्ष, और खांड-अनार इत्यादिक मधुरद्रव्यजो है वो प्रसेक कर्षलेवे, इस प्रकार इनकी योजनाकरे ॥

विरेचननस्यकेदूसरेदोभेद

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ।
शिरोविरेचनस्थाने तौ तु देयौ यथायथम् ॥

अर्थ—उस विरेचन नस्यके दो भेदहै-एक अवपीडन, तथा दूसरा प्रधमन, ऐसे जानना इन दोनोंको मस्तकके विरेचनमें देना चाहिये ॥

अवपीडनऔरप्रमधनकेलक्षण

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निसृतो रसः । सोव-

पीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ षडंगुलाद्विव-
क्राया नाडीचूर्णं तया धमेत् । तीक्ष्णकोलमितं वक्त्रवा-
तैः प्रधमनं हितत् ॥

अर्थ—अब उन दोनोंके लक्षण कहते है-तीक्ष्ण औषधको पीस उसका क-ल्कर निचोडनेसें जो रस निकलताहै उसको अवपीड कहते है । तथा छःअंगुल प्रमाण लंबी और सीधी अैसी नली करके उसमें तीक्ष्ण चूर्ण १ कोल प्रमाण डा-लके मुखकी हवासें नाकमें फूकदेना उसको प्रधमन कहते है ॥

रेचनऔरस्नेहननस्यकेयोग्य

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये। अरोचके प्रति-
श्याये शिरःशूले च पीनसे ॥ शोफापस्मारकुष्ठेषु न-
स्यं वै रेचनं हितम् । भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्ने-
हेन दीयते ॥

अर्थ—ऊर्ध्वजत्रुगतरोग, कफ संबंधी स्वरभंग; अरुचि, सरेकमां, मस्तक शूल, पीनस, सूजन, अपस्मार, कुष्ठ, इनरोगोंमे रेचक नस्य हितकारी जाननी—डरपा हुआ मनुष्य, कृश मनुष्य, तथा बालक, और स्त्री इनको स्नेहयुक्त नस्य देवे॥

अवपीडननस्ययोग्य

गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे
मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम्

अर्थ—गलरोग, संनिपात, अत्यंत निद्रा, विषमज्वर, मनके विकार और कृ-मिरोग, इनमें अवपीडन नस्य देय ॥

प्रधमननस्यकेयोग्य

अत्यंतोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते
चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः ॥

अर्थ—मूर्च्छा, अपस्मारादिक, संज्ञा नष्टहोय जिससें अैसेसंन्यासादिकरोग-इनमें अत्यंत तीक्ष्ण अैसेप्रधमन संज्ञक चूर्णकी नस्य देवे ॥

रेचनसंज्ञकनस्य

नस्यं स्याद्वृडंशुंठीभ्यां पिप्पली सैंधवेन च ।

जलपिष्टेन तेनाक्षिकर्णनासाशिरोगदाः ॥
हनुमन्यागलोद्भूता नश्यंति भुजपृष्ठजाः ॥

अर्थ—सोंठको गरमपानीमें औंटाय उसमें गुडडालके नस्य देवे । पीपल औ सैंधानिमक इनको गरमपानीमें ओटाय नाकमें डाले, तो इस्सैं नेत्र, कान, मस्तक, ठोडी, मन्यानाडी, भुजा, और पीठ, इत्तमें जो पीडाहोती है सो दूरहोय।

रेचननस्यकी दूसरीविधि

मधूकसारकृष्णाभ्यां वचा मरिचसैंधवैः ।
नस्यं कोष्णजले पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥
अपस्मारेतथोन्मादेसंनिपातेपतंत्रके ॥

अर्थ—महुआकी लकडीके भीतरका गूदा, पीपल, वच, कालीमिरच, और सैंधानिमक ये औषध गरम जलमें पीसके नस्य देवे तो मृगी, उन्माद, संनिपात, और अपतंत्रक वायु, इत्यादि जिनसैं चेष्टा ज्ञान ये नष्ट होते है वो दूरहोकर मनुष्य शीघ्र सावधान होवे इसप्रकार जानना ॥

रेचननस्यकातीसराप्रकार

सैंधवं श्वेतमरिचं सर्षपा कुष्टमेव च ।
बस्तमूत्रेण पिष्टानि नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥

अर्थ—सैंधानिमक, सपेदमिरच, पीलीसरसो, और कूठ, इन औषधोंको बकरेके मूत्रमें पीस नस्य देवेतो नेत्रोंमें तंद्रा आती है वो दूरहो । तथा पूर्वोक्त अपस्मारादिक रोग दूरहों ॥

प्रधमनसंज्ञकनस्य

रोहितमत्स्यपित्तेन भावितं सैंधवं वचा । मरिचं पिप्पलीशुंठी कंकोलं लशुनं पुरं ॥ कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः ॥

अर्थ—सैंधानिमक, वच, कालीमिरच, पीपल, सोठ, कंकोल, लहसन, गूगल, और कायफल, इनका चूर्ण कर रोहित (रोहू) संज्ञक मछलीके पित्तेके चूर्णमें पुटदेवे, फिर पूर्वप्रधमनके लक्षणमें नलीका मान कहआएहै उसरीतिसैं नलीले उसमें यह चूर्णभरके नाकमें फूंकदेवे । इस करके पूर्वोक्त अपतंत्रादिक रोग दूर होतेहै । इस चूर्णको प्रधमन ऐसा कहते है ॥

बृंहणनस्यकी कल्पना

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना॥मर्शश्च प्रतिर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥ मर्शस्य तर्पणीमात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः । मध्यमा च चतुःशाणैर्हीना शाणमिता स्मृता॥ एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः । मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलावलम् ॥ एकांतरं द्व्यंतरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः । अहः पंचाहमथवा सप्ताहं वा सुयंत्रितः ॥

अर्थ—अब बृंहण नस्य (धातु वृद्धि करनेवाली तप्या नाकमें औषध डालने वाली ऐसी नस्य) कल्पना कहताहूं-उस बृंहण नस्यके दो भेदहै१मर्श और २प्रतिमर्श, ये दोनो स्नेहन विषयमें योग्यहै । इनमें मर्शनस्यकी तर्पणी मात्रा जाननी, वो आठ शाणकी मुख्य मात्रा है । तथा चार शाणकी मध्यम मात्राहै । और एकशाणकी हीनमात्रा जाननी । ये मात्रादोषोंका बलावलदेखके मनुष्यको वस्त्रादिकसैं ढककर एक एक नाकके पुटमें दो दो वार अथवा तीन तीन वार अथवा एकदिन बीचमे देकर तथा दोदिन बीचमें देकर अथवा तीन दिन बीचमें अथवा पांचवे या सातवे दिन नस्य देनी चाहिये ॥

(मर्शसंज्ञकनस्य तथा विरेचन संज्ञक नस्य इनके आधिक्य होनेसैं जो रोग होतेहै उनका उपाय ।)

मर्शो शिरोविकारे च व्यापदो विविधाः स्मृताः । दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युंज्याद्वमनशोधनम् । अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं मतम् ॥

अर्थ—मर्शनस्यकी मात्रा धात्वादिकोंकी हीनकरनेवाली है । उसके आधिक्य होनेसैं तथा दोषोंकी वृद्धी होनेसै तथा मस्तकके विरेचन विषयमें विरेचनसंज्ञक नस्यकी मात्रा अधिक होकर मस्तकके भीतरके मेदादिकों का क्षय होनेसैं अनेक प्रकारकी पीडा होती है जिस दोषके उत्कर्ष निमित्त पीडा होय उसके दूर होनेको वमन तथा विरेचन औषध देवे । तथा क्षय निमित्तसै जो पीडा होती है उसके दूर करनेको धातुवृद्धि करनेवाली औषध नाकमें अथवा पेटमें खानेके वास्ते देवे ॥

जोबृंहणनस्यमेंयोग्यहै

शिरोनासाक्षिरोगेषु सूर्यावर्त्तार्धभेदके। दंतरोगे बले हीने मन्याबाव्हंसजे गदे ॥ मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा। अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने ॥ युज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वामधुरद्रवैः ॥

अर्थ—मस्तकरोग, नासारोग, नेत्ररोग, सूर्यावर्त्तरोग, आधासीसी, दंतरोग दुर्बलमनुष्य, मन्यानाडी, भुजा, कंधा, इनमें जिसके पीडाहोतीहो, तथा मुखशोष, कर्णनादरोग, वातपित्तसंबंधीविकार, विनासमयकेवालोंका सपेदहोना सो पलित कहाताहै, मस्तकके बाल, डाढीके बाल उखड २ के गिरे वो, तथा इन्द्रलुप्तरोग, इन सब रोगोंमें घृतआदि स्निग्ध पदार्थ करके तथा मिश्री आदि जो मधुरपदार्थ है इन करके नस्य देना चाहिये ॥

पक्षघातादिरोगोंपरनस्य

मापात्मगुप्तारास्नाभिर्बलाऋभुकरोहिषैः। कृतोश्वगंधया काथो हिंगुसैंधवसंयुतः ॥ कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकंपनम्। जयेदर्दितवातं च मन्यास्तंभापबाहुकम् ॥

अर्थ—उडद, कौचकेबीज–रास्ना, वलाकीजड, अंडकीजड, सुगधतृण, असगंध, इन सात औषधोंका काढा करके उसमें भुंजीहींग और सैंधानिमक डालके गरम गरम उस काढेकी नस्य देवे, जिससैं कंप सहित पक्षाघात वायु, अर्दितवायु, मन्यास्तंभवायु, तथा अपवाहुकवायु ये दूरहोय ॥

प्रतिमर्शनस्यकीदोविंदुरूपमात्रा

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्विद्विबिंदुमिता मता।
प्रत्येकशो नस्तकयोः स्नेहेनेति विनिश्चितम् ॥

अर्थ—घृतआदि करके जो स्निग्धपदार्थ उनके दो २ बूंद एक २ नासिकाके पुटमें डालनेसैं वह प्रतीमर्शनस्यकी दोविंदु मात्रा जाननी ॥

बिंदुसंज्ञकमात्रा

स्नेहे ग्रंथिद्वयं यावन्निमग्ना चोद्धृता ततः। तर्जनीयं स्रवेत् बिन्दु सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥ एवं विधैर्वि-

न्दुसंज्ञैरष्टाभिः शाण उच्यते । सदेयो मर्शनस्येतु प्र-
तिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥

अर्थ—घी तेल आदिसें जो स्नेहपदार्थ तिनमें तर्जनी उंगलीके दो पोरुआ बूडजावे ऐसी तर्जनीको निकालके उस पोरुआसें जो बूंद टपकाई जावे उसको विंदुमात्रा कहतेहै । इस प्रकार विंदुसंज्ञक आठ मात्राओंकी एक शाण संज्ञक तोल होतीहै । वो शाणमात्रा मर्शनस्यमें देवे । और प्रतिमर्शनस्यमें दोबूंदकीदेय, इत्तनाही मर्शनस्य और प्रतिमर्श इनमें विशेषताहै ॥

प्रतिमर्शनस्यकासमय

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश । प्रभाते
दंतकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ॥व्यायामाध्वव्यवा-
यांते विण्मूत्रान्तेंजने कृते।कवलान्ते भोजनान्ते दि-
वास्वप्नोत्थिते तथा॥वमनांते तथासायं प्रतिमर्शःप्रयुज्यते ।

अर्थ—प्रतिमर्शनस्यके १४ समयहै, जैसे–१ प्रात:काल २ मुख धोनेके समय ३ घरसें बाहर निकलनेके समय, ४ परिश्रमके अंतमे, ५ रस्ताचलकर आनेपर, ६ मैथुनके अंतमें ७ मल और ८ मूत्रकरनेके अंतमें, ९ नेत्रोंमें अंजन करनेके उपरांत, १० ग्रासके, तथा ११ भोजन तथा १२ दिवसमें सोयकर उठनेके समय, १३ वमनके अंतमें, १४ सायंकाल–इतने समय प्रतिमर्श संज्ञक नस्यदेवे ॥

प्रतिमर्शद्वारातृप्तहुएकेलक्षण

ईषदुच्छिंकनात्स्नेहो यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निपिक्तं तं दद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः ॥
उच्छिदं न पिबेच्चैतन्निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥

अर्थ—नस्यदेनेपर थोडीछींक आनकर वो स्नेह मुखमें उतरजावे तो उसमनुष्यको प्रतिमर्शनस्यकरके तृप्तहुआ जानना, तथा मुखमें जो उतरआया स्नेह उसको निगले नहीं किंतु थूकके बाहर पटक देवे ॥

प्रतिमर्शकेयोग्य

क्षीणे तृष्णास्यशोपार्ते बाले वृद्धे च युज्यते ।
प्रतिमर्शेन शाम्यंति रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ॥
वलीपलितनाशश्च वलमिंद्रियजं भवेत् ।

अर्थ—धातुक्षीणमनुष्य, बालक, वृद्ध, तृषा-और मुखशोष, इन करके पीडित मनुष्योंके प्रतिमर्श संज्ञक नस्य देना चाहिये, तो उक्तरोग दूरहो तथा नाडके उपरके जो रोगहै वो तथा त्वचाका सिथिलपना, कुसमय सपेद बालोंका होना उसको वलीपलित कहते है-ये संपूर्ण रोग प्रतिमर्श संज्ञक नस्यसैं दूरहो । तथा नेत्रादिक इन्द्रियोंमें बलवढे ॥

कुसमयसपेदबालहोनेपरनस्य

विभीतनिंबकंभारी शिवा शेलुश्च काकिनी ।
एकैकं तैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् ॥

अर्थ—बहेडा, नीमकीछाल, कंभारी, हरड, बहुवार, काकडोडी, इनके बीजके भीतरकी मिंगीका तेल पृथक्२निकाल कर-एक एक न्यारी२नस्य देवे तोमनुष्यके विना समय जो बालसपेदहुएहै वो तरुणावस्थाके समान काले होय निश्चय॥

नस्यकीविधि

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे। देशे वातरजो मुक्ते कृतदन्तनिघर्षणं ॥ विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नमालगलं तथा । उत्तानशायिनं किंचित्प्रलंबशिरसं नरम् ॥ आस्तीर्णहस्तपादं च वस्त्राच्छादितलोचनम् । समुन्नमितनासाग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ॥ कोष्णमछिन्नधारं च हेमतारादिशुक्तिभिः । शुक्त्या वा यंत्र युक्त्या वा स्रोतैर्वा नस्य माचरेत् ॥

अर्थ—नस्य देनेके वास्ते नस्यकी विधि कहते है—जिस स्थानमें वायु अथवा धूल न होवे वहां मनुष्य दांतुन-और धूमपान करके कपाल और गलेको शुद्धकर पसीने युक्त करावे, फिर सीधा (चित्त) सुलाय मस्तकको लंबा और कुछ नीचेकी तरफ झुकता कर हाथपैरोंको लंबे पसारदे फिर कपडेसैं नेत्रोको ढांकके वैद्य अपने हाथसैं मनुष्यकी नाकको ऊंचीकर जो नस्य डालनेकी वस्तु है उसकुछ २ गरमको एकसी धारसैं तथा उस नस्यको सुवर्ण, चांदी, इनके पात्र करके अथवा सींप करके तथा कौंडी वा फोहेसै नाकमें निचोडदेवे, दोनो नथनोंमें समान निचोडे ॥

नस्यग्रहणमेंआज्ञा

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकंपयेत् । न कुप्ये-

न्न प्रभाषेत नोच्छिदेन्न हसेत्तथा॥ एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तः संप्रपद्यते । ततः कासप्रतिश्याय शिरोक्षिगदसंभवः ॥

अर्थ—मनुष्य नस्यलेते वखत मस्तकको कंपावे नहीं, तथा क्रोध न करे, किसीसैं बोले नही, किसी तिनका आदिको तोडे नही, न हसे यदि इसप्रकार न करेगा तो वो नस्य पदार्थ मस्तकके भीतर अच्छे प्रकार प्रवेशनही करनेका और खांसी, सरेकमा, और मस्तकनेत्र-इनमें पीडा आदि उपद्रव होने लगते है ॥ अतएव बडी सावधानीके साथ नस्य ग्रहण करना चाहिये ॥

नस्यसंधारणकाप्रकार

शृंगाटकमभिष्ठाव्य स्थापये न्न गलद्रवम् । पंचसप्तदशैवस्युर्मात्रा नस्यस्य धारणे ॥ उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावङ्क्रगतं द्रवम् । वामदक्षिणपार्श्वभ्यांनिष्ठीवेत्सन्मुखे नहि ॥

अर्थ—मनुष्यको नस्य देकर नासावंशके आगे भ्रूमध्य देशमें चतुष्पथ (चौराहेके समान) है उसको उस नस्यके स्नेहसैं भिगोय उस नस्यको धरदेवे । उसका धारण ५ । ७ मात्रा अथवा दशमात्रा कालपर्यंत करे, फिर बैठारहे और नाकमें तथा मुखमें उतरा जो पानी वा कफ उसको दहनी तरफ अथवा बांई तरफ थूकता जावे साम्हने न थूके ॥

नस्यकर्मकरनेमेंवर्जितवस्तु

नस्ये नीते मनस्तापं रजः क्रोधं च संत्यजेत् । शयीत निद्रां त्यक्त्वा च उत्तानो वाक्शतं नरः॥तथैव रेचनस्यांते धूमो वा कवलो हितः ॥

अर्थ—नस्य कर्म होनेके उपरांत-मनमें संताप न आने दे,-जहां धूर उडतीहो तहां बैठे नहीं, तथा क्रोध न करे, जैसे नीद न आवे इसप्रकार सौंवाक् (सौवार पलक खुले मुंदे इतने समय) पर्यंत सीधा सुलावे । इसीप्रकार विरेचन नस्यके अंतमें धूम और ग्रास ये न देवे ॥

नस्यमेंशुद्धादिभेद

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि समासतः ।

शुद्धिहीनातियोगानि विशेषाच्छास्त्रचिंतकैः ॥

अर्थ—नस्यमें शुद्धिलक्षण,—तथा हीनयोगलक्षण,—तथा अतियोगलक्षण, ये तीन ही लक्षण विशेष करके शास्त्रज्ञ वैद्योंनें कहे है उन लक्षणोंको आगे संक्षेपसैं कहते है ॥

उत्तमशुद्धिकेलक्षण

लाघवं मनसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः ।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तकभी उत्तमबुद्धि होनेसैं शरीर हलकाहो,—मन शुद्धहो-तथा मुख,—नाक,—कान,—गुदा,—इत्यादि वाहर्द्वारवाले मार्ग उनका शोधन होनाहै। तथा शिरोरोगादिक दूरहो,—अंतःकरण और नेत्रादिक इन्द्री ये प्रसन्न रहतीहै॥

हीनशुद्धिकेलक्षण

कंडूपदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ।
मूर्ध्निहीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अल्पशुद्धि होनेसैं देहमें खुजली,—तथा भारीपणा,—ये लक्षण होतेहै तथा, मुख—नासिकादिक वहिर्द्वार है उनसैं कफका स्राव होता है ॥

अतिशुद्धिके लक्षण

मस्तुलुंगागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्निगाढं विरेचिते ॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अत्यंत शुद्धिहोनेसैं मस्तकके भीतरजो तरल पदार्थ रहताहै उसका नाकसैं स्रावहोने लगे,—तथा वायुकी वृद्धि होय,—इन्द्रियों का विभ्रम होय तथा मस्तकमें शून्यता आती है ॥

हीनशुद्ध्यादिमेंचिकित्सा

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ।
सम्यक्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्ये निषेचयेत्॥

अर्थ—नस्य करके मस्तककी अल्पबुद्धि अथवा अत्यंत शुद्धिहोनेसै कफ वायु हारक ऐसी नस्य देवे तथा उत्तमपुद्धि होनेसैं नाकमें घीका नासदेवे ॥

अतिस्निग्धकेलक्षण

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ।

लक्षणं तदतिस्निग्धरूक्षं तत्र प्रदापयेत्॥

अर्थ—नस्य करके मनुष्यका मस्तक अति स्निग्धहोनेसें कफका स्राव,मस्तक-का भारीपना, इन्द्रियोंकी भ्रांति, ये लक्षण होते है । इस कारण इस अत्यंत स्निग्धताके दूर करनेको रूक्षपदार्थकी नस्य देवे ॥

नस्यमेंपथ्य

भोजयेच्चांनाभिष्यंदि नस्याचरितमादिशेत्।

अर्थ—नस्यलेनेवाला मनुष्य अभिष्यंदी पदार्थ अर्थात् भैंसका दही आदि कफकारी पदार्थ भक्षण न करे, और नस्यमें जैसें शिष्टजन आचरण करते है उसप्रकार आचरण करे।ये नस्यकर्ममें पथ्य है ॥

पंचकर्मोंकीसंख्या

वमनं रेचनं नस्यं निरूहमनुवासनम्।
एतानि पंचकर्माणि कथितानिमुनीश्वरैः ॥

अर्थ—वमन, रेचन, नस्य, निरूहवस्ती, और अनुवासनवस्ती, इन पांचों-को पंचकर्म कहते है ॥

धूमपानविधिः

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।
रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः॥

अर्थ—धूमपान छःप्रकारका है उनके नाम शमन,—१ बृंहण, २ रेचन, ३ कासघ्न, ४ वामन, ५ और व्रणधूपन ६ इसप्रकार छःप्रकार जानने ॥

शमनादिकधूमोंकेपर्यायशब्द

शमनस्यतुपर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा।
बृंहणस्यापि पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेवच ॥ रेच-
नस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च।

अर्थ—तहां शमनधूमके पर्यायवाचक शब्द मध्य और प्रायोगिक ऐसे दो है, तथा बृंहणधूमके पर्याय शब्द स्नेह, और मृदु जानने। तथा रेचन धूमके पर्या-यशब्द शोधन और तीक्ष्ण जानने ॥

धूमसेवनके अयोग्य

अधूमार्हाश्च खल्वेते शांतो भीरुश्च दुखितः। दत्तबस्तिर्विरक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा ॥ पिपासितश्च दाहार्त्तस्तालुशोषी तथोदरी। शिरोभितापी तिमिरी छर्य्याध्मानप्रपीडितः ॥ क्षतोरस्कः प्रमेहार्तः पांडुरोगी च गर्भिणी। रूक्षः क्षीणोभ्यवहृतः क्षीरक्षौद्रघृतासवैः ॥ भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा। अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्।

अर्थ--स्नामितमनुष्य, डरपाहुआ, दुःखसेंपीडितमनुष्य, जिसके वस्तीप्रयोग करा, जिसका कोठा दस्तकरके रीताहो वह,रात्रिमें जागने वाला, तृषा करके पीडित, तथा दाह करके पीडित, तालुशोपी, उदररोगी, शिरोभितापकरके पीडित, तिमिररोगी, वमन, वादीसें पेटफूलाहुआ, उरक्षतरोग, प्रमेह, पांडुरोग, इनकरके पीडित मनुष्य, गर्भिणीस्त्री, रूक्ष, तथा क्षीणमनुष्य, दूध, घी- और आसव (मद्य) अन्न, दही, और मछली, इनका भक्षणकरनेवाला मनुष्य, तथा बालक, और दुर्बलमनुष्य ये धूमपानमें अयोग्यहै। यदि कुसमयमें अत्यंत धूमपानेकरे तो वह घोर उपद्रवोंको करे है। अतएव उक्त मनुष्यों को तथा कुसमय धूमपान करना त्यागदेवे ॥

धूमपानकेउपद्रवोंकायत्न

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनांजनतर्पणम्। सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षा पयो वा शर्करांबु वा ॥ मधुराम्लौ रसौ वापि शमनाय प्रदापयेत् ॥

अर्थ—धूमपानसें यदि उपद्रवहोवे तो उस मनुष्यको घी पिवावे। नासिकामें नस्य देवे, तथा नेत्रोंमें अंजन तथा तर्पण अर्थात् देहमें तृप्ति करनेवाला अैसा द्राक्षादि मंड देवे। तथा घी, ईखकारस, और दाख, दूध, सरवत, अथवा मिश्री, पानी, अथवा मधुरपदार्थ और खट्टेपदार्थ भोजनको देवे, तो धूमपान संबंधी उपद्रव दूरहो ॥

धूमपानकाकाल और उसकेगुण

धूमश्च द्वादशाद्वर्षाद् गृह्यतेशीतिकान्न च।

कासश्वासप्रतिश्यायान्मन्याहनुशिरोरुजः ।
वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः सुयोजितः ॥

अर्थ—धूमपान वारहवर्षकी अवस्थासैं लेकर अस्सी वर्षपर्यंत करे फिर न करे और उस धूमपानको उत्तम योजनाहोने सैं श्वास, खांसी, सरेकमां, मन्यानाडी, ठोडी, और मस्तकमेंजो पीडा होतीहै उसको तथा वातकफ संवंधी विकार ये संपूर्ण रोग दूरहोवे ॥

धूमोपयोगहोनेपरगुण

धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः ।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगंधिवदनो भवेत् ॥

अर्थ—धूमका उपयोग होने सैं मनुष्य चक्षुरादिक इन्द्री तथा वाणी-अंतःकरण इन करके प्रसन्न रहताहै, और केश तथा दांत और डड्ढी इनमें वल आताहै तथा मुख सुगंधित रहता है ॥

धूममेंनलीकाविधान

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखंडा च त्रिपर्विका । कनिष्टिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा ॥ धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोंगुलैः । चत्वारिंशन्मितैस्तद्वत् द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ स्मृता ॥ तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्ने षोडशोन्मितैः । दशांगुलैर्वामनीये तथा स्याद्व्रणनाडिका ॥ कलाय मंडलस्थूला कुलित्थागमरंध्रिका ॥

अर्थ—धूमपानके विषयमें नली तीन टुकडेकी और तीन गांठकी करे, तथा कनिष्ठिका (छोटी ऊंगली) के समान मोटीकरे, तथा उसमें चोराका दाना भीतर चला जाय ऐसा चौडा छिद्र करे । इस प्रकारकी नली सामान्य धूमपानमें होनी चाहिये । वह नली रोगीके चालीस उंगल लंवीहो । तथा मृदुसंज्ञक जो धूमहै उसके सेवनमें वत्तीस अंगुलकी लंवी लेय । तथा कासंज्ञक धूम उसके सेवनमें सोलह अंगुलकी ले । तथा वामनीय संज्ञक धूमके सेवनमें दश अंगुललंवी लेनी । उसीप्रकार व्रणके धूनी देनेको जो नली ले वो दश अंगुलकी ले, तथा वो व्रणके धूनी वाली नली मटरके दानेके प्रमाण मोटी और उसमें छिद्र कुलथीका दाना भीतर चला जावे इतना वारीक करे । इस प्रकारकी वैद्यको वनानी चाहिये ॥

धूमपानार्थंईषिकाका विधान

अथेषिकां प्रलिंपेच्च तु श्लक्ष्णां द्वादशाङ्गुलाम् । धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टांगुलःस्मृतः ॥ कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कं च कारयेत् । ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्तिमादरात् ॥ अंगारैर्दीपितां कृत्वा धृत्वा नेत्रस्य रंध्रके । वदनेन पिबेद्धूमं वदनेनैव संत्यजेत् ॥ नासिकाभ्यां ततःपित्वा मुखेनैव वमेत्सुधीः । शरावसंपुटे क्षिप्त्वा कल्कमंगारदीपितं ॥ छिद्रे नेत्रं सुवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत् ।

अर्थ—ईषिका (सरकंडेका टुकडा) बारह अंगुलका चिकना लेवे, उसपर धूंआँ लेनेकी वस्तुओंके कल्कका लेप ८ अंगुलपर्यंत करे कल्क द्रव्यका परिमाण २ तोले होना चाहिये । फिर उसकल्कके लेपको छायामें सुखाय लेवे, जब वो कल्क सूखजाय तब युक्तिके साथ उसमेंसैं सरकंडेके टुकडेको निकास लेवे, कि वो कल्ककी लंबी नलीसी रहजावे, उसके छिद्रमें दूसरी स्नेहकी बत्ती धरके उसको अंगारोंसैं जलायके पूर्वोक्तनलीके छिद्रमें धरे फिर उसनलीको मुखमें रखके धूंआ ईंचे और मुखके द्वाराही उस धूएको छोडदेवे । तथा नाकके छिद्रसैं धूंआंको खींचकर मुखसैं छोडदे । एवं सराव संपुटके ऊपरले सरावमें छिद्रकर उसमें अंगारे भरके उनमें व्रणकी धूनीको जो कि कल्ककराहुआ तयारहै उसे डालदे जब धूंआं उठने लगे तब उसके उस छिद्रके द्वारपर नलीका छिद्र लगाय व्रणको धूनीदेवे ॥

कौनसीऔषधकाकल्ककौनसेधूममेंदेवे

एलादिकल्कं शमने स्निग्धं सर्जरसं मृदौ । रेचने तीक्ष्णकल्कं च कासघ्ने क्षुद्रिकोपणम् ॥ वामने स्नायुचर्माद्यं दद्याद्धूमस्य पानकं । व्रणे निंबवचाद्यं च धूपनं संप्रचक्षते ॥

अर्थ—शमन संज्ञक धूनी उसमें एलादिक औषधोंका गणहै उनका कल्ककरके देय तथा मृदुसंज्ञक धूममें घृतादिकस्नेह पदार्थोंमें राल डालके कल्ककरके देय । तथा रेचनसंज्ञक धूममें सरसो. राई इत्यादि औषधोंका कल्क करकेदेवे ।

तथा कासघ्न धूमसें कटेरी और कालीमिरच इत्यादिक औषधोंका कल्क करके देय । तथा वामनधूम (वमन करानेवाली धूम) में स्नायु और चर्मादिकोंका कल्ककरके पान करनेको देवे तथा व्रणमें नीम और वच इत्यादिकोंका कल्क करके धूम देवे ॥

बालग्रहादिदूरकरनेकोधूनी

अन्या हि धूमा गेहेषु कर्तव्या रोगशांतये । तद्यथा ।
मयूरपिच्छं निंबस्य पत्राणि बृहतीफलं । मरिचं हिंगुमांसी च बीजं कार्पाससंभवम् ॥ छागरोमाहिनिर्मोकं विष्ठावैडालिकी तथा । गजदंतश्च तच्चूर्णं किंचिद् घृतविमिश्रितम् ॥ गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान् बालग्रहान् जयेत्। पिशाचान् राक्षसान् जित्वा सर्वज्वरहरं भवेत् । एष माहेश्वरो नाम्ना धूपः शिवमुखोद्गतः ॥

अर्थ—बालग्रहमें रोगशांतिकेअर्थ घरमें धूनीदेनी तहां मयूरपिच्छादि धूनी कहते है; मोरकेपंख–१,नीमकेपत्ते २, कटेरीकेफल ३, कालीमिरच ४, हिंग ५, जटामांसी ६, कपासके बीज ७, बकरेकेबाल ८, सापकीकांचली–९, बिल्लीकिविष्टा १०, हाथीकादांत ११, इन ग्यारह औषधोंका चूर्णकर और थोडासा इसमें घी मिलाय घरमें इस चूर्णकी धूनी देवे तो संपूर्ण बालग्रह (शकुनी,–पूतना,–नैगमेयादि) तथा पिशाच राक्षस–इनके उपद्रव दूरहोय, तथा सर्वप्रकारके ज्वर दूरहोवे । यह मयूरपिच्छादि धूनीहै इसी प्रकार माहेश्वरादि धूनी जानो

धूममेंपरिहार

परिहारस्तु खंडेषु कार्यो रेचननस्यवत् ।
नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥

अर्थ—रेचन संज्ञक नस्यमें रोगोंके परिहारके विषयमें जो उपाय कहाहै वोही उपाय इस धूमसें करावे । तथा नलीका मुख सुवर्णादी धातुका अथवा नरसल तथा बांस इत्यादिकोंका करावे ॥

धूमपीनेकायंत्र

चतुर्विंशत्यंगुलानि त्रीणि युक्तानि युक्तितः ।
योजिता या त्रिखंडेयं नलिका नेत्रसंज्ञिता ॥

अर्थ—चौविस अंगुल लंवी—तीन नली लेके युक्तीसैं जोडे ये त्रिसंधनलीका इसीकी नेत्र संज्ञाहै ॥

धूमपानकेगुण

मनस्तापं रजः क्रोधं धूमपाने निवारयेत् ॥

अर्थ—धूमपान करनेसैं मनकासंताप, रजोगुण, क्रोध, ये दूरहोते है ॥

(गंडूष और कवल तथा प्रतिसारणकी विधिः ॥)

चतुर्विधः स्याद्गंडूषः स्नैहिकः शमनस्तथा ।
शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तद्विधः ॥

अर्थ—गंडूष (कुरलाकरना) चारप्रकारकाहै— १. स्नेहिक,— २ शमन, ३ शोधन, और चौथा रोपण । तथा कवल (गस्सा—कौर) भी चार प्रकारकाहै ॥

स्नेहिकादिगंडूषोंकीदोषभेदकरकेयोजना

स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्तेकट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे ॥
कषायतिक्तमधुरैः कटुष्णे रोपणे व्रणे ।
चतुःप्रकारो गंडूषः कवलश्चापि कीर्त्तितः ॥

अर्थ—स्निग्ध और गरम पदार्थोंकरके जो कुरले करने उसको स्नेहिक गंडूष जानना । इसको वादीके रोगोमें योजना करे । तथा मधुर और शीतल पदार्थके कुल्ले प्रसादन (शमनगंडूष) जानने उनको पित्तमें योजना करे । तथा तीक्ष्ण, खट्टे, खारी और गरम पदार्थके कुल्ले शोधन गंडूष कहाते है उनको कफके विषयमें योजना करता । तथा कषैले, कडुए, और मधुर पदार्थ करके रोपण गंडूष जानना, इसको कुछ गरम करके व्रणमें योजना करे । इसीप्रकार कवलभी चार प्रकारका कहाहै ॥

गंडूषऔरकवलइनमेंभेद

असंचारि मुखे पूर्णं गंडूषः कवलश्चरः ।
तन्न द्रवेण गंडूषःकल्केन कवलः स्मृतः ॥

अर्थ—काढे आदिशब्दसैं जो द्रवपदार्थ उनसैं मुखको भरके उसको इधर उधर मुखमें चलायमान न करे थोडी देर रखके कुरल्लाकरदेवे उसको गंडूष कहते है

तथा कल्कादिक पदार्थोंको मुखमें भरके इधर उधर फिरावे इसप्रकार रखने-को कवल कहते है ॥

गंडूषऔरकवलकी औषधका प्रमाण

दद्याद्द्रव्येषु चूर्णं च गंडूषे कोलमात्रिकम् ।
कर्षप्रमाणः कल्कश्च दीयते कवले बुधैः ॥

अर्थ—गंडूषमें काढे आदि द्रव (पतली) द्रव्य उनमें चूर्ण एक कोलके प्रमाण मिलाना चाहिये । तथा कवलमें कल्क कर्ष प्रमाण जानना ॥

किस अवस्थामें गंडूषकरे और कैसेकरे

धार्यंते पंचमाद्वर्षाद्गंडूषकवलादयः । गंडूषान्सुस्थितः कुर्यात्स्विन्नभालगलादिकः ॥ मनुष्यस्त्रींस्तथापंच सप्त वा दोषनाशनात् ॥

अर्थ—गंडूष अथवा कवलादिक पांचवर्षकी अवस्थाके पश्चात् कराने चाहिये । तथा मनुष्यको स्वस्थ चित्त कर बैठावे, फिर रोग दूरहोनेके अर्थ कपाल, और गला तथा आदि शब्दकरके मुख इनमें थोडा २ पसीना आवे तवतक तीन अथवा पांच अथवा सात कुरले करावे, अथवा दोष दूरहोने पर्यंत कराने चाहियें॥

प्रमाणान्तर

कफपूर्णास्यतां यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् ।
नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गंडूषधारणम् ॥

अर्थ—कफकरके मुख भराआवे तवतक अथवा दोषोच्छेदन होय तहांतक तथा नेत्र और नाक इनमें स्रावछूटे तवतक गंडूष धारण करे ॥

वातरोगमेंचिकनाईकेकुरले

तिलकल्कोदकं क्षीरं स्नेहो वा स्नैहिके हितः ॥

अर्थ—तिलोंकाकल्क, पानी, दूध, तेल, आदिशब्दकरके स्नेहपदार्थ, ये स्नेहिक गंडूषमें देवे ॥

पित्तरोगमेंशमनसंज्ञकगंडूष

तिलानीलोत्पलं सर्पिः शर्कराक्षीरमेव च ।
सक्षौद्रो हनुवक्त्रस्थो गंडूषो दाहनाशनः ॥

अर्थ—तिल, नीलकमल, घी, मिश्री, और दूध ये पदार्थ एकत्र कर इसमें

सहत डालके कुरले करे—तो पित्तसंबंधी, ठोडी और मुख इनमें जो दाह होता है वह दूर होवे ॥

व्रणादिरोगोपरमधुगंडूष

वैशद्यं जनयत्यास्ये संदधाति मुखव्रणात् ।
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगंडूषधारणम् ॥

अर्थ—सहतके कुरले करनेसैं मुखके छाले, घाव, तथा दाह, तृषा ये रोग दूरहोकर मुखमें स्वच्छता आती है ॥

गंडूषधारणकेगुण

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गंडूषे विधृते भवेत् ॥
हरेदास्यस्य वैरस्यं शोषं पाकं व्रणं तृषाम् ।
दंतचालं च गंडूषो वैशद्यं तु करोति हि ॥

अर्थ—कुरले करनेसैं व्याधिका नाश, तुष्टी, स्वच्छता, मुखमें हलकापना, सर्व इन्द्री प्रसन्न हो तथा मुखकी अरुचि, शोष मुखकेछाले, व्रण, प्यास, दातोंका हिलना इतने रोगोंका नाशकर सब शरीरको निर्मल करेहै ॥

कवलधारणकेगुण

वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे । अर्द्धं निक्षिप्य संचर्व्य निष्ठीवेत्कवले विधिः ॥ कवलः कुरुते कांक्षां भक्षेषु हरते कफम् । तृषां शोषं च वैरस्यं दंतचालं च नाशयेत् ॥

अर्थ—वात-पित्त-कफ-इनके नाशकर्ता औषधोंका कवल (ग्रास) मुखमें लेकर आधा चबायके थूक देवे । तो अन्नभक्षण करनेकी इच्छा होंतथा कफका नाशकरे । एवं शोष, प्यास, और अरुचि इनका नाशकरके हलतेहुए दातोंके उसीसमय जमाय देवे ॥

प्रतिसारणम् (मंजन)

दंतजिह्वामुखानां च चूर्णकल्कावलेहकैः । शनैर्घर्षणमंगुल्या तदुक्तं प्रतिसारणं ॥ वैरस्यं मुखदुर्गंधं मुख-

शोषं तथा तृषाम्।अरुचिं दंतपीडां च निहन्यात्प्रतिसारणं॥

अर्थ-दांत-जीभ-मुख-इनको चूर्ण-कल्क-और अवलेह अैसें तीन प्रकारकी औषधीसें धीरे धीरे उंगलीसें रगडे उसको प्रणिमारण (मंजन) कहते है ये प्रतिसारण करनेसें मुखका कडुआपना, दुर्गंध, मुखका सूखना,प्यास,अरुचि, और दांतोंकी पीडा इन सबको नाश करे है ॥

गंडूष कवलऔरप्रतिसारणकीविधि

क्षीरस्नेहकषायादिद्रव्यैः संपूर्णमाननम् ।
आपूर्य स्थीयते तावद्विधिर्गंडूषधारणे ॥

अर्थ—दूध तथा घृतादि स्निग्धपदार्थ तथा काढा आदिशब्दसें पतली औषधको मुखमें भरके थोडीदेर रहनेदे फिर उसको कुरला (कुल्ला) करदेवे, यह गंडूष लेनेकी विधिजाननी ॥

विषादिमेंगंडूष.

विषक्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोथवा ॥

अर्थ—विषदोष-(संखियादि) और क्षारादिजन्य विकार तथा अग्निदग्धजन्यविकार इनसें घी अथवा दूध इनके कुल्ले करे ॥

दंतचालनमेंगंडूष.

तैलसैंधवगंडूषो दंतचाले प्रशस्यते ॥

अर्थ—तिलकातेल, और सैंधानिमक, दोनोंको मिलाय कुल्ले करे तो दांत हिलतेहुए जमजावे ॥

मुखशोषपरगंडूष

मुखशोषं मुखस्य वैरस्यं गंडूषः कांजिको जयेत् ॥

अर्थ—मुखशोष तथा मुखकी विरसताको कांजीके कुल्ले नाश करते है ॥

कफपरगंडूष.

सिंधुत्रिकटुराजीभिरार्द्रकेण कफे हितः ॥

अर्थ—सैंधानिमक, सोंठ, मिरच, पीपल, और राई इनका चूर्णकर अदरखके मिलापके कुल्ले करे तो कफदोष दूरहोय ॥

कफतथारक्तपित्तपरगंडूष

त्रिफलामधुगंडूषः कफासृक्पित्तनाशनः ॥

अर्थ—त्रिफलेका चूर्ण सहतमें सानके उसके कुल्ले करे तो कफ और रक्त पित्त नष्टहो ॥

मुखपाकपरगंडूष

दार्वी गुडूची त्रिफला द्राक्षा जात्याश्च पल्लवाः ।
यवासश्चेति तत्क्वाथःषष्ठांशः क्षौद्रसंयुतः ॥
शीतो मुखे घृतो हन्यान्मुखपाकं त्रिदोषजं ॥

अर्थ—दारुहलदी, गिलोय, त्रिफला, दाख, चमेलीकेपत्ते, जवासा, इन औषधोंको समान भागले काढा करे, तथा काढेका छटांभाग सहत मिलाय काढेको शीतलकरके कुल्ले करेतो त्रिदोषजन्य मुखके छाले दूरहोवे ॥

यस्यौषधस्य गंडूषस्तथैव प्रतिसारणम् ।
कवलश्चापि तस्यैव ज्ञेयोऽत्रकुशलैर्नरैः ॥

अर्थ—जिस औषधोंका गंडूष उसीका प्रतिसारण करना, तथा कवल भी उन्ही औषधोंका होता है अेसा कुशलवैद्योंको जानना चाहिये ॥

कवलकाप्रकार

केशरं मातुलिङ्गस्य सैंधवं व्योषसंयुतं ।
हन्यात्कवलतो जाड्यमरुचिं कफवातजाम् ॥

अर्थ—बिजोरेकी केशर, सैंधानिमक, तथा सोंठ, मिरच, पीपल, इन औषधोंको एकत्रकर इनका कल्ककर कवल करेतो मुखकी जडता तथा कफवातकी अरुचि रोग दूरहोवे ॥

प्रतिसारणकाभेद

कल्कोऽवलेहश्चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम् ।
अंगुल्यग्रगृहीतं च यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥

अर्थ—कल्क, अवलेठ, और चूर्ण, इन भेदोसें प्रतिसारणतीन प्रकारकाहै । इनमें मनुष्यको जैसी दोषकी तारतम्यवाहो उसके सदृश अंगलीके अग्रभागसें लेकर जीभमें लगा और संपूर्ण मुखको रगडे ॥

प्रतिसारणचूर्ण-

कुष्ठं दार्वी समंगा च पाठा तिक्ता च पीतिका ।
तेजनी मुस्तलोध्रं च चूर्णं स्यात्प्रतिसारणम् ॥

रक्तस्रुतिं दंतपीडां शोथं दाहं च नाशयेत् ।

अर्थ—कूठ, दारहलदी, धायकेफूल, पाठ, कुटकी, हलदी, तेजवल, नागरमोथा, और लोध, ये नो औषधोंका चूर्ण करके जीभ तथा सव मुखमें उंगलीके अग्रभागसै लेकर रगडे, तो दातोके मसूढोंसैं जो रुधिरगिरे वह, दातोंकीपीडा, सूजन, दाह, ये संपूर्णरोग दूरहोवे । इस चूर्णको प्रतिसारण (मंजन) कहते है॥

गंडूषादिकोंकेहीनयोगहोनेकेलक्षण

हीनयोगाल्कफोत्क्लेशो रसाज्ञानाऽरुची तथा ।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णा क्लमो भवेत् ॥

अर्थ—गंडूषादिका हीनयोग होनेसै कफकी अधिक्यता होतीहै । तथा मधुरादिक रसोंका यथार्थ स्वाद मालूम नहींहो । तथा अन्नादिकमें अरुचिहोय । तथा गंडूषादिका अतियोग होनेसै मुखपाकके समान मुख उपडआवे, तथा शोष और प्यास ये लक्षण होतेहै ।

शुद्धगंडूषकेलक्षण

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गंडूषे शुद्धिलक्षणम् ॥

अर्थ—गंडूषादिकका उत्तमयोग होनेसैं मुखसंबधी व्याधीका नाश अंतःकरणमें संतोष, मुखमेंनिर्मलता और हलकापना, तथा रसनादिइन्द्रियोंमें प्रसन्नता, ये लक्षण होतेहै । ये शुद्धगंडूष होनेके लक्षण जानने ॥

इतिगंडूषादिविधिःसमाप्तः

अथनेत्ररोगचिकित्साविधिः

नेत्रअच्छेहोनेकेउपचार

सेक आश्चोतनं पिंडी विडालस्तर्पणं तथा ।
पुटपाकोंजनं चैभिः कल्कैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥

अर्थ—सेक, आश्योतन, पिंडी, विडाल, तर्पण, पुटपाक, और अंजन, ये सातप्रकार नेत्ररोगमें कहेहै, इनका कल्पकरके जिस प्रकार नेत्ररोगमें उपचार करनेका कहाहै उसप्रकार करना चाहिये ॥

सेकलक्षण

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वास्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेहश्चतुरंगुलात् ॥

अर्थ—मनुष्यके नेत्रबंदकर दूध, घी, रस, इत्यादिकोंका सार, नेत्रपर चार अंगुलके अंतरसें बारीक धार देवे इसे सेक कहतेहै ॥

सेकभेद

सचापि स्नेहने वाते रक्ते पित्ते च रोपणः ।
लेखनश्च कफे कार्यस्तस्य मात्राऽधुनोच्यते ॥

अर्थ—वातरोगमें स्नेहन सेक करे, रक्तपित्तके कोपमें रोपण सेक करे, तथा कफरोगमें लेखन सेक करना चाहिये ॥

सेकमात्रा

षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे ।
वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेके लेखनकर्मणि ॥

अर्थ—स्नेहनकर्ममें छःसौवाक् होनेपर्यंत नेत्रोंपर तरडा जिस औषधका देना कहा वो देवे । रोपण कर्ममें चारसौ वाक्पर्यंत धार देनी । तथा लेखनकर्म में तीनसौ वाक्पर्यंत धार देनी चाहिये ॥

सेककर्मकाल

कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ चात्ययिके गदे ।

अर्थ—यदि नेत्रमें सेक करनाहोयतो दिनहीमें करे, कदाचित् रोगकी आपिकपता होयतो रात्रीमें भी करे, ऐसी शास्त्रकी आज्ञाहै ॥

वाताभिष्यंदादिरोगपरसेक

एरंडत्वक्पत्रमूलैः शृतमाजं पयोहितम् ।
सुखोष्णं सेचनं नेत्रे वाताभिष्यंदनाशनम् ॥

अर्थ—सुरतीअंडकीछाल, पत्ते, जड, इनसबको बकरीके दूधमें औंटायके फिर सुहाते २ गरमदूधकी धार वाताभिष्यंदरोग दूरकरनेके वास्ते नेत्रोंमें देय ॥

तथादूसरा क्रम

परिषेके हितं नेत्रे पयः कोष्णं ससैंधवम् ।
रजनीदारुसिद्धं वा सैंधवेन समन्वितम् ॥
वाताभिष्यंदशमनंहितं मारुतपर्यये ।
शुष्काक्षिपाके च हितमिदं सेचनकं तथा ॥

अर्थ—बकरीकेदूधमें सैंधानिमकडाल गरमकर सहनहोयऐसा गरम २ धार नेत्रोंपर गेरे, अथवा हलदी, देवदार, सैंधानिमक, इनका चूर्णकर उसको दूधमें डाल गरमकर सुहाता २ गरमनेत्रोंपर धार देय तो वाताभिष्यंदरोग और वा त-विपर्यय तथा शुष्काक्षिपाक ये रोग दूरहोय ॥

पित्त; रक्त और अभिघातपरसेक

सावरं मधुकं तुल्यं घृतभृष्टं सुचूर्णितम् ।
छागक्षीरे घृतं सेकात् पित्तरक्ताभिघातजित् ॥

अर्थ—पठानीलोध और मुलहटी, इन दोनो औषधोंको समान भागले घी-में भून चूर्णकर बकरीके दूधमें डालके उस दूधकी सुहाती गरम २ धार नेत्रोप-रडाले तो पित्तविकार,रक्त विकार, और अभिघातजन्य विकार ये सब दूरहोवे॥

रक्ताभिष्यंद

त्रिफलालोध्रयष्टीभि· शर्कराभद्रमुस्तकैः ।
पिष्टैः शीतांबुनासेको रक्ताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—हरड, बहेडा, आमला, लोध, मुलहटी, खांड, नागरमोथाका भे-द भद्रमोथा, ये सब औषध समानभागले सीतल जलमें पीस उसपानीकी ने-त्रोंपर धारदेवे तो रक्ताभिष्यंद दूरहोय ॥

तथादूसरा

लाक्षामधुकमंजिष्ठा लोध्रकालानुसारिवा ।
पुंडरीकयुतः सेको रक्ताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—लाख, मुलहटी, मजीठ, लोध, सारिवा और सपेदकमल इन औ-षधोंको पानीमें पीस उस पानीकी नेत्रोंमें धारदेवे तो रक्ताभिष्यंद (रुधिरके कोपसें आंख दूखने आईहो) सो दूरहो ॥

नेत्रशूलमेंसेक

श्वेतलोध्रं घृतेभृष्टं चूर्णितं पटविस्रुतम् ।
उष्णांबुना विमृदितं सेकाच्छूलघ्नमंबके ॥

अर्थ—पठानी लोधको घीमें भून कूटकर कपडछान चूर्णकर गरम जलमें पीस उस पानीका नेत्रोंपर धार डाले तो नेत्रका दरद दूरहो - कोई इसकी पोटली बनाय गरमपानीमें भिगोयके नेत्रको सेकतेहै जिससे नेत्रपीडा जाती रहती है ॥

आश्चोतनकेलक्षण

अथ आश्चोतनं कार्यं निशायां न कथंचन
उन्मीलितेक्षिण दृङ्मध्ये बिंदुभिद्वर्चंगुलाङ्कितम् ॥

अर्थ—मनुष्यके नेत्रोंको उघाड नेत्रमें दोअंगुलपर्यंत दूधकांढा इत्यादिकी बूंद डाले इसको आश्चोतन कहते है यह आश्चोतनकर्म रात्रिमें न करे ॥

अथआश्चोतनविधिः

क्काथक्षौद्रासवस्नेहबिंदूनां यत्तु पातनम् ।
यद्द्व्यंगुलोन्मिते नेत्रे प्रोक्तमाश्चोतनं हि तत् ॥

अर्थ—दूखते नेत्रको दोअंगुल प्रमाण खोलके उसमें काढा, सहत, आसव, तथा स्नेह पदार्थ की बुँद डाले उसको आश्चोतन क्रिया कहते है ॥

लेखनादिकआश्चोतनमें कितनी बूंदडाले

बिन्दवोष्टौ लेखनेषु स्नेहने दशबिन्दवः । रोपणे द्वादशप्रोक्तास्तेशीते कोष्णरूपिणः ॥ उष्णे च शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैष विनिश्चयः ॥

अर्थ—लेखनकर्ममें नेत्रमें आठबूंदडाले—स्नेहनकर्म होयतो दशबिंदुडाले—रोपणकर्म होनेसें बारह बिंदूडाले—योबूंदशीतल औरनेत्रोंको सुहाती २ गरम २ डालनी चाहिये और यदि गरमीके दिन होयतो शीतल २ बूंदडाले ॥

वातादिकर्मेंआश्चोतन

वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ।
तिक्तोष्णरूक्षं च कफे क्रमादाश्चोतनं हितम् ॥

अर्थ—वादीके रोगमें कटू और चिकना ऐसा आश्चोतनकरे । पित्तरोगहोय-

तो मधुर और शीतल ऐसाकरे । कफरोग होयतो कटु गरम-रूक्ष ऐसा आश्चो-तन करना चाहिये इसप्रकार आश्चोतनकर्म करना हितकारी है ॥

आश्चोतनकी मात्राकाकर्म

आश्चोतनानां सर्वेषां मात्रास्याद्वाक्शतं हितम् ।
निमेषोन्मेषणं पुंसामंगुल्योश्छोटिकाथवा ॥
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृताबुधैः ।

अर्थ—मनुष्यके आखोंके पलक मुदना और खुलना अथवा चुटकी बजाना अथवा गुरु (दीर्घ) अक्षरका उच्चारण करना इनमें जितनी देरी लगती है उस काल (देरी) को एक वाङ्मात्रा कहते हैं; ऐसी सौ वाङ्मात्रा संपूर्ण आश्चो-तनोंमे हितकारक जाननी । अर्थात सौवाक् पर्यंत उक्त औषधोंकी बूंद नेत्रोमें धारण करनी ॥

वातभिष्यंदपरआश्चोतन

बिल्वादिपंचमूलेन बृहत्यैरंडशिग्रुभिः ।
क्वाथआश्चोतने कोष्णो वाताभिष्यंदनाशनः ॥

अर्थ—बेलहै आदिमें जिनके ऐसी पांचं औषधोके मूल, कटेरी, अंडकीजड, सहजनेके जडकी छाल, इन सब औषधोंका काढाकरके जैसा २ सहन होय ऐ-सी गरम बूंद नेत्रमें डाले, तो वाताभिष्यंद रोग दूरहो ॥

(वायुजन्यवारक्तपित्तजन्यअभिष्यंदपरआश्चोतन)

अंबुपिष्टैर्निबुपत्रैस्त्वचं लोध्रस्य लेपयेत् ।
प्रतापवन्हिनापिष्ट्वा तद्रसो नेत्रपूरणात् ॥
वातोत्थं रक्तपित्तोत्थमभिष्यंदं विनाशयेत् ।

अर्थ—कडुए नीमके पत्तोंको जलमें पीसके लोधकी छाल पर लेपकरे, फिर उस छालको अग्निमें तपावे पीछे पीसके उसकारस निकाल नेत्रोमें कुछ गरम २ बूंद डाले तो वातजन्य रक्तपित्तजन्यअभिष्यंद दूरहो ॥

सर्वअभिष्यंदोपरआश्चोतन

त्रिफलाश्चोतनं नेत्रे सर्वाभिष्यंदनाशनम् ।

---

१ बेल, अरनी, टेंटु, पाढल, कुमारी, ये बिल्वादि पंचमूल जानना इसीको बृहत्पंच मूल कहते है ।

अर्थ—त्रिफलेके काढेकी गरम,२ सुहाती बूंद नेत्रोंमें डाले तो सर्वप्रकारके अभिष्यंद दूरहो ॥

रक्तपित्तजन्यअभिष्यंदपरआश्चोतन

स्त्रीस्तन्याश्चोतनं नेत्रे रक्तपित्तानिलार्त्तिजित् ।
क्षीरसर्पिर्घृतं वापि वातरक्तरुजं जयेत् ॥

अर्थ—स्त्रीके दूधके बूंदको नेत्रोमें डाले तो रक्तपित्त और वायु इनकी पीडा को दूरकरे । उसी प्रकार दूधके ऊपरकी मलाई और घी इनकी बूंद अथवा फाये नेत्रोंमें बांधे तो वातरक्त संबंधी पीडादूरहो ॥

पिंडिकाकेलक्षण

पिंडी कवलिका प्रोक्ता बध्यते पट्टवस्त्रकैः ।
नेत्राभिष्यंदयोग्या सा व्रणेष्वपि निबध्यते ॥

अर्थ—नेत्ररोग नाशक औषधको पीस टिकिया करके नेत्रोंपर धरके कपडेकी पट्टीसें उसको बांधदेवे, इसको पिंडी अथवा कवलिका कहते है यह पिंडी नेत्राभिष्यंद रोगके योग्यहै । तथा व्रणके ऊपरभी बांधना कहाहे ॥

स्निग्धोष्णा पिंडिका वाते पित्ते सा शीतला मता ।
रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम् ॥

अर्थ—वातव्याधिपर चिकनी और गरम-पित्तपरशीतल-तथाकफपररूखी-और गरम ऐसी पिंडी बाँधनेकी विधिकही है ॥

नेत्राभिष्यंदमेंशिरोविरेचन

अभिष्यंदेऽधिमंथे च संजाते श्लेष्मसंभवे ।
स्निग्धस्विन्नोत्तमांगस्य शिरस्तीक्ष्णैर्विरेचयेत् ॥

अर्थ—कफसंबंधी अभिष्यंद तथा अधिमंथ रोगीके मस्तकमें तेल चुपड पसी ने निकाले फिरमस्तक शोधन करनेको तीक्ष्ण औषधकरके नाकमें नस्य देवे ॥

उपायांतर

अधिमंथेषु सर्वेषु ललाटे वेधयेच्छिराम् ।
अशांते सर्वथा मंथे भ्रुवोस्तु परिदाहयेत् ॥

अर्थ—संपूर्ण अधिमंथमे (नेत्रदूसनेमें) मस्तककी शिरा वेधे (फस्तखोले) तो नेत्रदूसना शांतिहो । यदि सब उपाय करनेपरभी आंख दूसनेसें न रहे तो भ्रुकुटी (भौह) में दाग देवे ॥

वाताभिष्यंदकायत्न

वाताभिष्यंदशान्त्यर्थं स्निग्धोष्णा पिंडिका भवेत् ॥

अर्थ—संपूर्ण अभिष्यंद रोगमें नेत्रोंकी पीडा दूरकरनको ओषध कहीं है उनकी टिकिया करके बांधे। तथा वाताभिष्यंदमें चिकनी और गरम टिकियाबांधनी

वाततथापित्ताभिष्यंदकायत्न

एरंडपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी ।
पित्ताभिष्यंदनाशाय धात्रीपिंडी सुखावहा ॥

अर्थ—अंडकेपत्ते, छाल, जड, इन सबको एकत्र पीस टिकिया बनाय वाताभिष्यंद दूरकरनेको नेत्रोंपर बांधनी । पित्ताभिष्यंद दूरकरनेको आमलोंको पीस टिकियाकरके नेत्रोंपर बांधेतो नेत्रपीडा दूरहोवे ॥

पित्ताभिष्यंदपरदूसरीपिंडी

महानिंबफलोद्भूता पिंडी पित्तविनाशिनी ।

अर्थ—बकायनके फलको पीस टिकिया बनाय पित्ताभिष्यंद रोगवालेके नेत्रोंपर बांधे तो पीडा दूरहो ॥

श्लेष्माभिष्यंदपरपिंडी

शिग्रुपत्रकृतापिंडी श्लेष्माभिष्यंदनाशिनी ।

अर्थ–सहजनेके पत्तोंकी टिकिया बनायके बांधेतो कफसैं नेत्रदूसना दूरहोय

कफपित्ताभिष्यंदपरपिंडी

निंबपत्रकृता पिंडी श्लेष्मपित्तहरा भवेत् ।
त्रिफला पिंडिका प्रोक्ता नाशने श्लेष्मपित्तयोः ॥

अर्थ—नीमकेपत्तोंकी टिकिया बनायके रोगीके नेत्रोंपर बांधेतो कफपित्ताभिष्यंदकी पीडा दूरहो। तथा त्रिफलेकी टिकिया बांधेतो कफपित्ताभिष्यंद नाशहो

रक्ताभिष्यंदपरपिंडी

पिष्ट्वा कांजिकतोयेन घृतभृष्टिं च पिंडिका ।
लोध्रःप्रहरति क्षिप्रमभिष्यंदमसृग्भवम् ॥

अर्थ—लोधको कांजीसे पीसके टिकिया बनाय घीमें सेकके नेत्रोंपर बांधे तो रक्ताभिष्यद (रुधिरकी दुष्टतासें जो नेत्र दूसनेको आते हैं वो) दूरहो ॥

सूजनऔरखुजलीआदिपरपिंडी

शुंठीनिंबदलैः पिंडी सुखोष्णा स्वल्पसैंधवा ।
धार्या चक्षुषि संयोगात् शोथकंडूव्यथापहा ॥

अर्थ—सोठ और नींमके पत्तोंको पीस उसमें थोडा सेंधानिमक डाल टिकिया बनाय गरमकरके नेत्रोंपर बांधे तो-नेत्रोंका सूजना नेत्रोकी खुजलीकी पीडाको दूरकरे ॥

विडालकेलक्षण

विडालको बहिर्लेपो नेत्रपक्ष्मविवर्जितः ।
तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखलेपविधानवत् ॥

अर्थ—नेत्रके पलकोको मूंदके ऊपर सर्वत्र लेपकरनेको विडालक कहते है। इस लेपकी मात्रा मुखलेपकी विधिके माफिक जाननी, अर्थात् जैसे मुखलेप करनेमें जो मात्रा लेनी लिखी है वही मात्रा इस विडालककी लेवे ॥

सर्वनेत्ररोगेंमेंलेप

यष्टीगैरिकसिंधूत्थदार्वीताक्ष्यैः समांशिकैः ।
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥

अर्थ—मुलहटी,-गेरू,-सैंधानिमक,-दारहलदी,-और खपरिया,-ये पांच औषध बराबरले पानीमेंपीस नेत्रोंके बाहर २ लेपकरे तो सर्वअभिष्यंद (नेत्रोंका दुखना) दूरहो ॥

तथादूसरालेप

रसांजनेन वा लेपः पथ्याविश्वदलै रपि । कुमारिकाग्निपत्रैर्वा दाडिमीपल्लवैरपि ॥ वचा हरिद्राविश्वैर्वा तथा नागरगैरिकैः ॥

अर्थ—रसोतको जलसें पीस लेप करे । उसीप्रकार हरड, सोंठ, तमालपत्र-इन तीनो औषधोंको जलमें पीस लेपकरे । अथवा घींगुवार और चीतेके पत्तोंको एकत्र जलसें पीस लेपकरे । अथवा अनारके पत्तोंको पीस लेपकरे अथवा वच, हलदी, और सोंठ, इन तीन औषधोंको जलमें पीस लेपकरे उसीप्रकार सोंठ और गेरू इनको जलमें पीसके नेत्रके बाहरले भागमें चारों तरफ लेप करे तो सर्व प्रकारके नेत्ररोग दूरहो । ये छःलेप पृथक् २ कहे है ॥

तथातीसरालेप

दग्ध्वाग्नौ सैंधवं लोध्रं मधूच्छिष्टयुते घृते ।
पिष्टमंजनलेपाभ्यां सद्यो नेत्ररुजापहम् ॥

अर्थ—सैंधानिमक और लोध इन दोनो औषधोंको अग्निमें भून—मौम और घी एकत्रकर उसमें वो औषध पीसके नेत्रोंमें अंजन करे, और पूर्वोक्त औषधोंका नेत्र के वाहर लेप करे तो नेत्रसंवंधी पीडा तत्काल दूरहोय ॥

चतुर्थलेप

लोहस्य पात्रे संघृष्टो रसो निंबुफलोद्भवः ।
किंचिद्घनो वहिर्लेपान्नेत्रबाधां व्यपोहति ॥

अर्थ—लोहेके पात्रमें नींवूके रसको घोटे जव गाढा होजावे तव नेत्रके वहिर्भागमें लेप करे तो नेत्रसंवंधी सर्वपीडा दूरहो ॥

अर्मरोगपरलेप

संचूर्ण्य मरिचं केशराजं स्वरसमर्दनात् ।
लेपनादर्मणांनाशंकरोत्येषप्रयोगराट् ॥

अर्थ—कालीमिरचोकों भांगरेके रसमें पीसके नेत्रोंपर लेप करे, तो शुक्लार्म और अधिमांसार्म इत्यादिक नेत्ररोगोंमें जो अर्मरोग है वो दूरहो ॥

अंजननामिकापरप्रतिसारण

स्विन्नां भित्वा विनिष्पीड्य भिन्नामंजननामिकाम् ॥
शिलैकान्तसिंधूत्थैःसक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ॥

अर्थ—नेत्रोंकी–पलकोंमें अंजननामिका नामकी फुंसी होतीहै उसको आंजनी कहतेहै, उस फुंसीका वफारेसैं पसीने निकालके चीरडाले फिर उसका मवाद निकाल पश्चात् मनसिल, इलायची, तगर, सैंधानिमक, इन चार दवाइयोंका चूर्णकर सहतमें मिलाय उस फुंसीमें प्रतिसारण करे अर्थात् ये औषध उस फुंसी पर चुपडदेवे तो आंजनी फुंसी दूरहो ॥

नेत्ररोगमेंतर्पण

अथ तर्पणकं वक्ष्मि नेत्रतृप्तिकरं परं । यद्रूक्षं परिशुष्कं च नेत्रं कुटिलमाविलम् ॥ शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् । तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यं-

दाधिमंथकैः ॥ शुक्राक्षिपाकशोथाभ्यां युक्तं वातविप
र्ययैः । तन्नेत्रतर्पणे योज्यं नेत्रकर्मविशारदैः ॥

अर्थ—नेत्रमें तृप्तिकरता अैसा तर्पण कहते है; जिस नेत्रोंमे रूखापना, शुष्कता, टेढापना, और गदलाहटपनाहै अैसेनेत्र, तथा जिसके पलकोंके वाल गिर गएहो, शिरोघात, कृच्छ्रोन्मीलन, (काठिन्यैसैनेत्रमुदे) तिमिर, अर्जुन, शुक्र (मोतियाविंद) अभिष्यंद, अधिमंथ, शुक्राक्षिपाक, सूजन, और वातविपर्यय इन रोगसैं व्याप्त नेत्ररोगीकैं तर्पण करे, अर्थात् तृप्ति करता औषधीकी योजना करे ॥

हीनाधिकतर्पणमैंउपचार

पूर्णे चापांगतः स्नेहं स्रावयित्वा क्षिशोधयेत् ।
स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्यैरितं ततः ॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् ।
एकाहं वा त्र्यहं वापि पंचाहं तर्पणं चरेत् ॥

अर्थ—नेत्र पूर्णहोनेके पश्चात् अपांग (नेत्रकोण) के द्वारा स्नेह वाहर निकालके नेत्रका शोधन करे । फिर स्नेहवीर्यसैं दुष्टनेत्रोंका जौके चूनको फिगो वाफदेकर अर्थात् कुछ गरम करके नेत्रोके ऊपर वांधे अथवा धूमपान करके उसके कफको निकाले, इस प्रकार एक अथवा तीन अथवा पांचदिन तर्पण करे

तर्पणकानिषेध

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिंतायासंभ्रमेषुच ।
अशांतोपद्रवे चाक्षिण तर्पणं न प्रशस्यते ॥

अर्थ—जिसदिन आकाश वदलोंसैं घिरा हुआहो, अत्यंत शरदी या गरमीहो, शरीरमें चिंताहो, परिश्रम और भ्रम ये उपद्रव होनेसैं तथा नेत्रसंबंधी शूलादिक उपद्रवशांत न हुए होवे तो तर्पण न करे ॥

तर्पणका विधान

वातातपरजोहीने देशे चोत्तानशायिनः । आचारौ
मापचूर्णेन क्लिन्नेन परिमंडलौ ॥ समौ दृढावसंवाधौ
कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः । पूरयेत् घृतमंडेन विलीनेन
सुखोदकैः ॥ अथवा शतधौतेन सर्पिषा क्षीरजेन वा।

निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥ पूर-
येन्मीलिते नेत्रे ततः उन्मीलयेच्छनैः ॥

अर्थ—पवन, धूप, धूल, ये जिसजगे न हो उस स्थानमें मनुष्यको चित्त सु-लायके नेत्र कोशोंमे भीगे उडदोंके चूनका गोल थामलासा बनावे फिर नेत्रोंको बंदकर उनके ऊपर पतला घी अथवा मंड (पेया) अथवा गरमजल अथवा सौं-वारका धुला हुआ घी अथवा दूध येपदार्थ जबतक नेत्रोंके पलककी वरुनी न डूबे तब तक नेत्रोंमें डाले, फिर धीरे २ नेत्रोंको उघाडे; इसप्रकार करने को तर्पण कहते है इस्सैं नेत्र दृढहोते है ॥

तर्पणकीमात्राकाप्रमाण

धारयेद्वर्त्मरोगेषु वाङ्मात्राणां शतं बुधाः । स्वच्छे
कफे संधिरोगे मात्रा पंचशतं हितम् ॥ शुक्ले च षट्-
शतं कृष्णरोगे सप्तशतं मतम् ॥ दृष्टिरोगेष्वष्टशतम-
धिमंथे सहस्रकम् । सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेवं हि तर्पणम् ॥

अर्थ—नेत्रसंबंधी पलकोंके रोगमें १०० सौ वाङ्मात्र तर्पणरूप औषधको नेत्रोंमें धारण करे, केवल कफका रोग होय अथवा नेत्रकी संधिगत रोग होने-सें ५०० पांचसौ वाक्पर्यंत, नेत्रके सपेद भागमें रोग होनेसें ६०० छःसौ- । त-था काले भागमें रोगहोनेसैं ७०० सातसौ- । दृष्टिरोग होयतो ८०० आठसौ । अधिमंथ रोग होयतो १००० एकहजार । वातकारोग होयतो १००० एक हजा-र वाङ्मात्र होने पर्यंत औषधको नेत्रोंपर धारणकरे । इसप्रकार तर्पणके धारण का प्रमाणकहा ॥

(तर्पणसैंस्नेहकेअधिकयोगद्वाराकफाधिक्यहोनेकाउपाय)

स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ।
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ॥

अर्थ—तर्पणके स्नेहवीर्य करके उत्पन्न हुआ जो कफ (नेत्रोंमें कीचड) उ-सको भीगे जोओंको पीस उससैं तथा धूमपान करके शोधन करना चाहिये ॥

तर्पणकी मर्यादा

एकाहं वा त्र्यहं वापि पंचाहं चेष्यते परम् ॥

अर्थ—नेत्रमें तर्पण प्रयोग करना होयतो एकदिन अथवा तीनदिन अथवा पांचदिन पर्यंत करे, यह उत्कृष्ट प्रमाण जानना ॥

तर्पणकरकेतृप्तकेलक्षण

तर्पणे तृप्तिलिंगानि नेत्रस्थेमानि भावयेत् । सुखस्व-
प्नावबोधत्ववैशद्यं वर्णपाटवम् ॥ निवृत्तिर्व्याधिशां-
तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥

अर्थ—सुखपूर्वक निद्रा आवे, सुखपूर्वकजागे, नेत्रोंमें निर्मलताहोय, नेत्रोंकी कांति उत्तमहोय, नजर साफहोवे, रोगका नाशहोय, और नेत्रोंके खोलने मूंदने में हलकापना, आवे, येलक्षण तर्पण करके नेत्रतृप्त हुए प्राणीके होते है ॥

तर्पणअत्यंतहोनेकेलक्षण

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकंडूपदेहवत् ।
घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत् ॥

अर्थ—भारी, गदले, अतिचिकने, आंसू, खुजली, कीचडसैं चिकटे हुए, घर्षण, पीडा, ये लक्षण अति तर्पित नेत्रवाले प्राणीके जानने ॥

हीनतर्पणकेलक्षण

आस्रावशोफरागाढ्यमुपदेहसमाकुलम् ।
रूक्षमस्राविलं रुग्णं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम् ॥

अर्थ—पानीगिरना, रूजन, लाली, चिकटेहुए, रूखे, रक्त, गदले, और, पीडायुक्त ये लक्षण जिसके नेत्रोंमें होय उसको हीततर्पित जानना । अर्थात् ठीक तर्पण नहीं हुआ ॥

तर्पणसैंहीनाधिक्यस्निग्धकायत्न

अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सिते ।
रूक्षस्निग्धौपचाराभ्यामेतयोःस्यात्प्रतिक्रिया ॥

अर्थ—अधिकतृप्त और हीनतृप्त हुए रोगीकी वैद्य रूक्षस्निग्ध उपचार करके चिकित्साकरे अर्थात् अधिकतृप्तकी रूक्ष और हीन तृप्तकी स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिये ॥

पुटपाक

अतऊर्ध्वंप्रवक्ष्यामि पुटपाकस्य साधनम् । द्वौ वि-

ल्वमात्रौ मांसस्य पिंडौ स्निग्धौ सुपेषितौ ॥ द्रव्या-
णां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः । तदेकस्थं
समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितं॥ पुटपाकेन तत्पक्वागृ-
ह्णीयात्तद्रसंबुधः । तर्पणोक्तविधानेन यथावदुपचारयेत् ॥

अर्थ—अब इसके उपरांत हम पुटपाक साधन (बनाना) कहैंगे;-हरिणादि-कोंका मांस दोविल्व लेके उसको घृतादिक स्नेह पदार्थमें मिलाय बारीक पीसे, तथा सूखी औषध जो कहीहै वो एक विल्व प्रमाण ले तथा सहत,-पानी,-इत्यादिक द्रवपदार्थ-एक कुडव प्रमाण ले, इस सबको उस पूर्वोक्त मांसमें मिलायके गोला बनावे, फिर जामुन, अथवा आंम, इत्यादिके पत्ते उस गोलेके चाऱ्यो तरफ लपेट देवे, फिर उसपर मिट्टीका लेप करे, पश्चात पुटपाककी रीतिसैं गोला को अग्निमें भूनके बाहर निकाले मिट्टी पत्ते दूरकर उस गोले-को निचोड़ कर रसनिकाल लेवे, इस रसको तर्पणकी विधिसैं ऊपर कहेमाण नेत्रोंमें डाले, तो यह सर्वनेत्रविकारोंको दूरकरे ॥

पुटपाकसंबंधीरसनेत्रमेंडालनेकीविधि

दृष्टिमध्ये निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः ।
स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति सत्रिधा ॥

अर्थ—वह पुटपाक संबंधी रस स्नेहन,-लेखन और रोपण इन भेदोंकरके तीन प्रकारकाहै । इस मनुष्यको सीधा चित्त लिटायकर नेत्रोंमे दृष्टिके मध्यभागमें नित्य डालना चाहिये ॥

स्नेहनादिभेदसैंपुटपाककीयोजना

हितः स्निग्धोतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापिहि लेखनः ।
दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृक्व्रणवातनुत् ॥

अर्थ—रूखे नेत्रवालेको स्निग्धपुटपाक, स्निग्ध नेत्रवालेको लेखन पुटपाक, तथा दृष्टीमें बल आनेके वास्ते रोपण पुटपाक की योजनाकरे वो पुटपाक नेत्रसं-बंधी दुष्टहुए जे पित्त रक्त व्रण और वायु इनको दूरकरे इस पुटपाककी विधि आगेके श्लोकमें कहते है ॥

स्नेहपुटपाक

सर्पिर्मांसवसामज्जामेदस्वाद्वौषधैः कृतः ।

स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्यो द्वेवाक्शते दृशोः ॥

अर्थ—घी, हरिणादिकोंके मांस,-मज्जा,-औरमेद ए सव घीमें मिलाय के पीसे और कांकोल्यादि गणकी औषधोंका चूर्ण कर उस मांसादिकमें मिलाय देवे फिर एक गोला वनाय जामुन,-आंव, इत्यादिकोंके पत्तोंमें लपेट मिट्टी चढाय पुटपाककी विधिसैं अग्निदेवे फिर उस गोलेको अग्निसैं निकाल मिट्टी और पत्ते दूरकरके निचोड रस निकाल लेवे, इस रसको नेत्रोंमें डाले और २०० वाङ् मात्र पर्यंत धारणकरे। इसको स्नेहनपुटपाक कहते है आगे लेखनपुटपाक कहते है ॥

लेखनपुटपाक

जांगलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः ।
कृष्णलोहरजस्ताम्रशंखविद्रुमसिंधुजैः ॥
समुद्रफेनकासीससौवीरोजलधिमस्तुभिः।
लेखने वाक्शतं धार्यस्तस्य तावद्विधारणम् ॥

अर्थ—हरिणादिक जंगली जीवोंका मांस,लोहचूर्ण(ताम्रचूर्ण)शंख, मूंगा,सैंधा निमक, समुद्रफेन, कसीस, सुरमा, और वकरीके दहीकी छाछडालके पीस गोला करे, उसको पूर्वोक्त पुटपाककी विधिसैं पचाय रसनिकाल नेत्रोंमें डाले और सौ १०० मात्रा होनेपर्यंत धारणकरे इसको लेखन पुटपाक कहते है ॥

रोपणपुटपाक

स्तन्यजांगलमध्वाज्यतिक्तकद्रव्यपाचितः । लेखनान्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥ वितरेत्तर्पणोक्तां-स्तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥

अर्थ—स्त्रीकादूध, हरिणादिक जंगली जीवोंका मांस,सहत, और घी, कुटकी ये सव उसमांसमें मिलाय पीसके गोला करे, उसको पूर्वोक्त पुटपाककी विधिसे परिपक्व कर वाहरनिकाले तथा मिट्टी और पत्ते दूरकरे निचोड रस निकालले इसको नेत्रोंमें डाल तीनसौं ३०० वाक्पर्यंत धारणकरे, इसको रोपण पुटपाक कहतेहै । यदि पुटपाकके आधिक्य अथवा न्यूनताके कारण भारीपना तथा निस्तेजता आदि उपद्रव होवेतो तर्पणमें जैसी क्रिया कहआएहै उसके माफिक यत्न करना चाहिये ॥

(दोषपक्वहोनेसेंअंजनऔरअंजनकासाधारणविधान)

अथ संपक्वदोषस्य प्रातमंजनमाचरेत् । हेमंते शि-
शिरे चैव मध्यान्हेंजनमिष्यते ॥ पूर्वाण्हे चापराण्हे
च ग्रीष्मे शरदिचेष्यते ।वर्षासु नाभ्रे नात्युष्णे वसंतेचसदैवाहि।

अर्थ—जिसके दोष परिपक्व हो उसप्राणीके अंजन लगना होयतो पांचादे-नके पश्चात् लगावे, अंजनकी साधारणविधि-हेमंतऋतु और शिशिरऋतु इनमें दोपहर दिनचढे अंजन लगावे, ग्रीष्मऋतु और शरदऋतु इनमें प्रातःकाल अथवा सायंकालमें अंजन लगावे,-वर्षामें और अत्यंत गरमीमें अंजन न लगावे। एवं वसंत ऋतुमें सवकालमें आंजन (आँजना) उत्तम है ॥

अंजनकेभेद

लेखनं रोपणं चैव तथा तत्स्नेहनांजनम् । लेखनं क्षा-
रतीक्ष्णाम्लरसैरंजनमिष्यते॥ कषायतिक्तरसयुक् स-
स्नेहं रोपणं मतम् । मधुरस्नेहसंपन्नमंजनं च प्रसादनम् ॥

अर्थ—लेखन, रोपण, और स्नेहन, इनभेदोंसें अंजन तीन प्रकारकाहै। तिनमें खार, तीक्ष्ण, और खट्टा ये रस जिस अंजनमें है उसको लेखनांजन कहतेहै। तथा कषेला, कडुआ, ये दो रस करके युक्त जो अंजनहै तथा स्नेहयुक्तहो उसको रोपणांजन कहते है। और जो मधुररस संपन्न तथा स्नेहयुक्त हो उसको स्नेहनांजन जानना ॥

अंजनकेगुटिकादितीनभेद

गुटिका रसचूर्णानि त्रिविधान्यंजनानि च ।
कुर्याच्छलाकयांगुल्या हीनानि च यथोत्तरम् ॥

अर्थ—गोली, रस, और चूर्ण, इन भेदोंसे अंजन तीनप्रकारका है। इन अंजनोंमें गुटिकांजन की अपेक्षा रसगुणवाला न्यूनहै, और रसरूप अंजनकी अपेक्षा चूर्णरूप जो अंजनहै सो गुणोंमें न्यूनहै, ऐसें उत्तरोत्तर गुणोंमें हलके जानने। इन अंजनोंको सलाईसें अथवा उंगली करके नेत्रोमें लगावे तहां वत्ती चंद्रोदयादिक जानवी, रगडा आदि रसांजनहै, और सुरमा आदि चूर्णांजन जानने चाहिये ॥

अंजनेकअयोग्य

श्रांते प्ररुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ।
अजीर्णे वेगघाते च नांजनं संप्रचक्षते ॥

अर्थ—परिश्रमसैं थका, रुदित, डरपाहुआ, मद्य (दारू) पानकरचुकाहो, नवीन ज्वरवाला, अजीर्णमें, मलमूत्रकी बांधा रोकनेवाला इतने मनुष्योंके अंजन नहीं लगाना ॥

अंजनमेंबत्तीकाप्रमाण

हरेणुमात्रां कुर्वीत वर्तितीक्ष्णांजने भिषक् ।
प्रमाणं मध्यमेऽध्यर्धं द्विगुणं तु मृदौ भवेत् ॥

अर्थ—तीक्ष्ण अंजनमें हरेणुबीजं (मटर) के समान गोली लंबी वत्तीके समान बनावे, अर्थात् मटरके समान उसका मुटापा होय । उसीप्रकार मध्यम अंजनमें मटरसैं डयोढी वत्ती बनावे तथा मृदु अंजनमें हरेणुबीज (मटर) दोकी बराबर अर्थात् दूनी गोल बत्ती बनावे ॥

अंजनमेंरसकाप्रमाण

रसक्रिया तूत्तमा स्यात्त्रिविडंगमिताहिता ।
मध्यमा द्विविडंगं स्याद्धीनात्वेकविडंगकम् ॥

अर्थ—द्रवरूप अंजनकी मात्रा तीन वायविडंगके समान नेत्रोंमें सलाईसै लगावे यह उत्तम रसक्रिया है । दो वायविडंगके प्रमाण लगाना मध्यम रस क्रिया जाननी, और एक वायविडंगके बराबर मात्रा कनिष्ट अर्थात् छोटी है ॥

विरेचनअंजनमेंचूर्णकाप्रमाण

विरेचनिकचूर्णं तत् द्विशलाके विधीयते ।
मृदौ तु त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नेहिकेंजने ॥

अर्थ—विरेचनिक चूर्णको सलाईमें दोवार लगाय दोवारनेत्रोंमें फेरके निकालदेय । मृदु अंजनमें औषधका चूर्ण तीनवार सलाईमें लगावे और तीनवार नेत्रोंमे फेरके निकाल लेय । तथा घृतआदि जो स्नेहपदार्थ तिनकरके युक्तजो अंजनहै उनको सलाईमें चारवार लगावे और चारवारही नेत्रोंमें फेरके निकाल देय, यह अंजन लगानेका प्रमाण कहाहै ॥

१जिसअंजनके लगानेसैं नेत्रोंसैं अधिक पानी गिरे उसको वैरेचनिक चूर्ण कहते है ।

सलाईबनानेकीयुक्ति

मुखयोः कुंठिता श्लक्ष्णा शलाकाष्टांगुलोन्मिता ।
अश्मजा धातुजा वा स्यात्कलायपरिमंडला ॥

अर्थ—अब सलाईके लक्षण कहते है, कि जो पाषाणकी अथवा सुवर्णादि धातुओंकी सलाई आठ अंगुलकी बनावे उसके दोनों आगेके भाग गोलकरें तथा उसको बहुत पतली न करे तथा मटरके दानेके समान सुंदर गोल बनावे ॥

लेखनादिमेंशलाईकाप्रमाण

ताम्रलोहाश्मसंजाता शलाका लेखने मता ।
सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहनेमता ॥
अंगुली च मृदुत्वेन कथिता रोपणे बुधैः ॥

अर्थ—लेखन अंजनमें तावेकी अथवा लोहकी वा पत्थरकी सलाई लेनी, स्नेहांजनमें सौनेकी अथवा चांदीकी शलाईले, उंगलीमें मृदु (नरम) ताहै अतएव रोपण अंजनमें उंगलियोंसैं नेत्रोंमें अजन आंजना चाहिये, सलाईसैं नहीं ॥

अंजनमेंसमयका निश्चय

सायंप्रातर्व्यंजनं स्यात्तत्सदा नैव कारयेत् ।
नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलायां संप्रशस्यते ॥
कृष्णभागादधः कुर्यादपांगं यावदंजनम् ।

अर्थ—सायंकाल और प्रातःकालमें अंजन लगावे, सर्वकालमें अंजन नहीं लगाना। अत्यंत शरदी, अत्यतगरमी, अत्यंतहवा, तथा जिसदिन आकाश बदलोंसैं घिराहो, इनमें अजन नहीं करना । नेत्रोंके कालेभागके नीचे अर्थात् सपेद भागमें अंजन करना चाहिये ॥

चंद्रोदयवर्ती

शंखनाभिर्विभीतस्य मज्जापथ्यामनःशिला। पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचाचेति समांशकं ॥ छागीक्षीरेण संपिष्य वर्तिं कुर्याद्यवोन्मितां । हरेणुमात्रां संघृष्यजलैः कुर्यादथांजनम् ॥ तिमिरं मांसवृद्धिं च कालं पटलमर्बुदम्। राज्यंधं वार्पिकं पुष्पं वर्तिश्चन्द्रोदया जयेत् ॥

अर्थ—शंखकीनाभि, वहेडेके फलके भीतरकी मिंगी, हरड, मनसिल, पीपर-फालीमिरच, कूठ, वच, ये औषध समान भागले वकरीके दूधमें वारीकपीस जौं के वरावर गोल बत्तीके सदृश वनावे। इसको चंद्रोदयावर्त्ती कहते है। फि, र इस गोलीमेंसैं छोटी मटरके प्रमाण जलमें घिसके अंजनकरे तो तिमिर, मांस वृद्धि, कांचविंदु, पटलगतरोग, अर्बुद, रतोंध, तथा एकवर्षकाफूला, ये संपूर्णरोग दूरहो ॥

(फूलाछरइत्यादिकरोंगोंपरलेखनीवर्त्ती)

पलासपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभाविता।
करंजबीजवर्तिस्तु शुक्रादीन् शस्त्रवल्लिखेत् ॥

अर्थ—कंजेके वीजोंका चूर्णकर, केसूलाके फूलोंके स्वरसकी अनेक भावना देकर वारीकर वत्तीके समान लंवी गोली वनावे। फिर इस गोलीको पानीमें पीस नेत्रोमें लगावे तो शुक्र कहिये फूलेको, मांसवृद्धि, छर इत्यादि सकलरोगों-को शस्त्रसैं काटनेके समान दूरकरे ॥

दूसरीविधि.

समुद्रफेनसिंधूत्थ शंखदक्षांडवल्कलैः
शिग्रुवीजयुतैर्वर्तिः शुक्रादीन् शस्त्रवल्लिखेत्

अर्थ—समुद्रफेन, सैंधानिमक, शंख, मुरगीके अंडेके ऊपरकी सपेदी, सहज-नेके वीज, इन पांच औषधोंको वरावरले पानीमेंपीस वत्तीके समान लंवी गो-ली वनावे। इसको जलमें घिसके नेत्रोंमें अंजन करे तो फूला, छड, इत्यादिक रोगोंको शस्त्रसैं काटनेके समान दूरकरेहै ॥

लेखनीदंतवर्त्ती

दंतैर्दंतिवराहोष्ट्रगोहयाजखरोद्भवैः।
शंखमुक्तांभोधिफेनयुतैः सर्वैर्विचूर्णितैः ॥
दंतवर्तिः कृताश्लक्ष्णा शुक्राणां नाशिनीपरा।

अर्थ—हाथी, सूअर, वैल, घोडा, वकरा, और गद्धा, इनके दांत; शंख, मो-ती, और समुद्रफेन, इन सवका चूर्णकर पानीमें वारीक पीस वत्तीके समान लंवी गोली वनावे। इस गोलीको दंतवर्त्ती कहते है। इसको जलसैं घिसके अं-न करेतो फला दूरहोय [और अनेकनेत्रके विकारोंको दूरकरे है]

तंद्रानाशकलेखनवर्त्ती

नीलोत्पलं शिग्रुबीजंनागकेशरकं तथा ।
एतत्कल्कैः कृतावर्त्तिरतितन्द्रा विनाशयेत् ॥

अर्थ—नीलाकमल, सहजनेके बीज, नागकेशर, इनतीनोंको समान ले पानीसैं पीसके लंबी २ बत्तीके आकार गोली बनावे । इसको जलमें घिसके लगाये तो तंद्राको दूर करे है ॥

रोपणीकुसुमितावर्त्ती

तिलपुष्पाण्यशीतिः स्युः षष्टिसंख्याकणाकणाः ।
जातीकुसुमपंचाशत् मरिचानि च षोडश ॥ सूक्ष्मं पिष्ट्वा जले वर्त्तिः कृताकुसुमिकाभिधा । तिमिरार्जुन शुक्राणां नाशनी मांसवृद्धिहृत् ॥ एतस्याश्चांजने मात्रा प्रोक्तासार्धहरेणुका ।

अर्थ—तिलकेफूल ८०, पीपलकेभीतरकेदाने ६०, चमेलीकेफूल ५० कालीमिरच १६, इन सबका चूर्णकर पानीसैं पीस वत्तीके समान गोली बनावे,इसको कुसुमिकावत्ती कहते है यह गोली डेढ मटरके समान जलमें पीसके नेत्रोंमें अंजनकरे तो तिमिर, अर्जुन, फुला, और मांसवृद्धि, ये रोग दूरहोय ॥

नक्तांध्यनाशिनीवर्त्ती

रसांजनं हरिद्रेद्वे मालतीनिंबपल्लवाः ।
गोशकृद्रससंयुक्ता वर्तिर्नक्तांध्यनाशिनी ॥

अर्थ—रसोत, हलदी, दारुहलदी, चमेलीकेपत्ते, नींवकेपत्ते ये पांचवस्तु समान लेके गौके गोवरके रसमें वारीक पीस गोली बनावे, जलमें घिसकैं नेत्रोंमें अंजन करेतो रतोंध (जिसको रातमें न दीसे वह रोग) दूरहोवे ॥

नेत्रस्रावनाशकवर्त्ती

धान्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च ।
पिष्ट्वावर्त्तिं जलैः कुर्यादंजनं द्विहरेणुकम् ।
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजंतथा ॥

आंवलेके भीतरकाबीज १ भाग, वहेडेके भीतरकी मिंगी, २ भाग रकी मिंगी २ भाग, सब बीजोंको एकत्र कर पानीसै वारीक पीस

वत्तीके समान लंवी गोली वनावे, फिर उस गोलीमेसैं दो रेणुकावीजकी वरावर पानीमें घिसके अंजन करे तो नेत्रोंसैं जलका स्राव होनेको तत्काल दूरकरे, तथा वातरक्त संवंधी पीडा दूरहोवे ॥

रसक्रिया

तुत्थमाक्षिकसिंधूत्थसिताशंखमनःशिलाः । गैरिको
दधिफेनं च मरिचं चेति चूर्णयेत् ॥संयोज्य मधुना कु-
र्यादंजनार्थं रसक्रियाम्।वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्रहरांपराम्॥

अर्थ—नीलाथोथा, सुवर्णमाक्षिक, सैंधानिमक, मिश्री, शंख, मनसिल, गेरू, समुद्रफेन, और कालीमिरच, इनसवकों, समान भागले वारीक चूर्णकर सहतमें मिलाय अंजनकरे तो पलकोका रोग, अर्मरोग, तिमिर, कांच, और शुक्ररोग इनको हरणकरे ॥

फूलादूरहोनेकोरसक्रिया

वटक्षीरेण संयुक्तो मुख्यः कर्पूरजः कणः
क्षिप्रमंजनतो हंति कुसुमं च द्विमासकम् ॥

अर्थ—वडके दूधमें कपूरको घिसके नेत्रोंमें अंजन करे तो दोमहिनेका फूला शीघ्र दूरहो ॥

अतिनिद्रादूरहोनेकोंलेखनीरसक्रिया

क्षौद्राश्वलालासंघृष्टैर्मरिचैर्नेत्रमंजयेत् ।
अतिनिद्राशमं याति तमः सूर्योदयादिव ॥

अर्थ—सहत और घोडेकीलार इन दोनोकों एकत्र कर इसमें कालीमिरच को पीस अजन करे तो अत्यंत निद्राका आनादूरहो । जैसे सूर्योदय होनेसैं अंधकार नष्टहोताहै इस प्रकार इस औषधके लगानेसे नींद तत्काल जातीहै ॥

तंद्रानाशिनीरसक्रिया

जातीपुष्पं प्रवालं च मरिचं कटुकी वचा ।
सैंधवं वस्तमूत्रेण पिष्टं तन्द्राघ्नमंजनम् ॥

अर्थ—चमेलीकेफूल, मूंगा, कालीमिरच, कुटकी, वच, और सेंधानिमक, ये औषध समान भागले. वकरेकेमूत्रमें पीसके अंजन करेतो तंद्रा दूरहो ॥

सन्निपातमेंलेखनीरसक्रिया

शिरीषबीजगोमूत्र कृष्णामरिचसैंधवैः ।
अंजनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ॥

अर्थ—सिरसकेबीज, पीपल, कालीमिरच, सैंधानिमक, लहसन, मनसिल, औरवच, ए सब समानले गोमूत्रमे बारीक पीसके अंजन करेतो सांनिपातजन्य संज्ञानष्टताको दूरकर मनुष्यको चैतन्यकरे ॥

तिमिरादिरोगेंमेंरोपणीरसक्रिया

गुडूचीस्वरसैः कर्षैः क्षौद्रं स्यान्माषकोन्मितं । सैंधवं क्षौद्रतुल्यं स्यात्सर्वमेकत्र मर्दयेत् ॥ अंजयेन्नयनं तेन पिल्लार्मतिमिरं जयेत् । काचं कंडू लिंगनाशं शुक्लकृष्णागतान् गदान् ॥

अर्थ—गिलोयका स्वरस—१ कर्षलेउसमे सहत, और सैंधानिमक, ए एक २ मासे डालके अच्छी रीतिसैं खरलकरे; इसका नेत्रोंमें अजन करे तो पिल्लार्म, तिमिर, कांच, खुजली, लिंगनाश, नेत्रोके सपेदभागमें और काले भागमें होने वाले सपूर्ण नेत्ररोग दूरहो ॥

पुनर्नवाकेअनुपान

दुग्धेन कंडुं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा ।
पुष्पं तैलेन तिमिरं कांजिकेन निशांधतां ॥
पुनर्नवाजयेदाशु भास्करस्तिमिरं यथा ।

अर्थ—पुनर्नवा (सांठकीजड) को दूधमें पीस नेत्रोंमें अंजन करेतो नेत्रोंकी खुजली दूरहो । सहतमें घिसके लगावे तो नेत्रसें पानीका गिरना दूरहो । घीमें घिसके लगावे तो फूलाको दूरकरे । तेलमें घिसके लगावे तो तिमिर दूरहो । कांजीमें घिसके लगावे तो रत्तांध दूरहो । जैसें सूर्य अंधकारको शीघ्र नष्ट करेहै इस प्रकार पुनर्नवा अनुपान भेदकरके सर्व रोगोको दूरकरे । किसी ग्रंथमें इस-पाठसैं कुछ २ फरक लिखा है ॥

नेत्रस्रावमेंरोपणीरसक्रिया

वल्गूलदलनिःक्काथो लेहीभूतस्तदंजनात् ।

---

१ घृतेन पुष्पं मधुनास्रुपात तैलेन काड तिमिर जलेन ।
रात्र्यंधतो वा सहकाजिकेन पुनर्नवा नेत्रपुनर्नवाकरी ॥

नेत्रास्रावं जयत्येष मधुयुक्तो न संशयः ॥

अर्थ—बबूरके पत्तोंका क्काथ गाढा होनेपर्यंत ओंटावे, फिर उसमें थोडा सहत डाल नेत्रोंमें अंजनकरे तो नेत्रोंके जल गिरनेको अवश्य दूरकरे ॥

दूसराप्रकार

हिज्जलस्य फलं घृष्ट्वा पानीये नित्यमंजनात् ।
नेत्रस्रावं जयत्येष मधुयुक्तो न संशयः ॥

अर्थ—हिंजलके फलको पानीसैं पीस सहतडाल निस अंजन करे तो नेत्रोंसे पानी गिरना दूरहोवे ॥

नेत्रप्रसादन

कतकस्यफलं घृष्ट्वा मधुना नेत्रमंजयेत् ।
ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम् ॥

अर्थ—निर्मलीके फलको सहतमें घिस और उसमें थोडासा कपूर मिलाय नेत्रोंमें लगावे तो नेत्र स्वच्छहो ॥

शिरोत्पातरोगमेंअंजन

सर्पिः क्षौद्रं चांजनं स्यात् शिरोत्पातस्य शांतये ।

अर्थ—घी और सहत दोनोको एकत्र कर इसको नेत्रोंमें अंजन करेतो नेत्ररोगमें जो शिरोत्पात रोगहै वो दूर होवे ॥

आंधरापनदूरहोनेकोरसक्रिया

कृष्णसर्पत्वसाशंखः कतकाफलमंजनम् ।
रसक्रियेयमचिरादंधानां दर्शनप्रदा ॥

अर्थ—काले सांपकी चर्बी, शंख, और निर्मलीके बीज, इनको एकत्र बारीक पीस नेत्रोंमें अंजनकरे तो यह रसक्रिया अंधे मनुष्यको शीघ्र दीखनेलगे ऐसा करतीहै ॥

अंजनयोग

दक्षांडत्वक्शिलाकाचैः शंखचंदनगैरिकैः ।
द्रवैरंजनयोगोऽयं पुष्पार्मादिविलेखनः ॥

अर्थ—मुरगेके अंडेकी सपेदी, मनसिल, सपेदकांच, शंख, सपेदचंदन, गै-

रू, इन छः वस्तुओंको समानभागले वारीक चूर्ण कर नेत्रोंमें अंजन करेतो फूला और मांसार्मादिक रोग नष्टहोवे ॥

रतौंधदूरहोनेकोलेखनचूर्णांजन

कणा छागयकृन्मध्ये पक्वा तद्रसपेषिता ।
अचिराद्धंति नक्तांध्यं तद्वत्सक्षौद्रभूषणम् ॥

अर्थ—बकरेके कलेजेके मांसमें पीपल भरके अंगारोंपर पाक करे, फिर उस मांसका रस निचोड उस रसमें उस पीपलको पीसके नेत्रोंमें अंजन करे तो रतौंध बहुत जल्दी दूरकरे ॥

कंडूकाचादिपरलेखनचूर्णांजन

शाणार्द्धं मरिचं द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः ।
शाणार्द्धं सैंधवं शाणानवसौवीरकांजनम् ॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णांजनमिदं शुभम् ।
कंडूकाचकफार्त्तानां मलानां च विशोधनम् ॥

अर्थ—कालीमिरच आधे शाण, पीपल और समुद्रफेन ये दोदो शाण लेवे, सैंधा निमक आधे शाण, सुर्मा नौ शाण, इन सब औषधोंको जिसादिन चित्रा नक्षत्रहोय उसदिन उत्तमप्रकार पीसके चूर्णकरे; फिर इस चूर्णका नेत्रोंमें अंजन करे तो खुजली, कांच ये दूरहोवे । तथा कफकरके पीडित नेत्रोंके मलको शोधन करेहै ॥

सर्वनेत्रकेरोगमेंअंजन

शिलायारसकं पिष्ट्वा सम्यगाडाव्य वारिणा । गृण्हीयात्तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् ॥ शुष्कं च तज्जलं सर्वं पर्पटीसंनिभं भवेत् । विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥ कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत् । अंजयेन्नयने तेन सर्वदोषहरं हि तत् ॥
सर्वरोगहरं चूर्णं चक्षुषोः सुखकारि च ।

अर्थ—खपरियाको स्यामूसाके खरलमें उत्तम रीतिसें पीस बारीक चूर्ण करे फिर इस चूर्णको पानीमें डाल देवे, और उस पानीको हाथोंसें खूब हिलाय तत्काल दूसरे पात्रमें कर ले पहले पात्रमें जो बडे २ टुकडे निकले

उनको फैकदेवे । फिर उसको थोडीदेर धरा रहनेदे इस प्रकार करनेसैं वो सप-
रियाका सब चूर्ण पानीके तले जम जावेगा उसको दूसरे पात्रमें सुखाय लेवे तो
उसकी पपडी जम जावेगी उस पर्पटीका चूर्ण कर उस चूर्णमें त्रिफलेके का-
ढेकी तीन पुट देवे, फिर उस चूर्णका दशवाँ भाग कपूर मिलावे, सबको एक
जीव कर इसका नेत्रोंमें अंजन करे तो सर्वदोप और नेत्रके सर्व रोग दूर हो कर
नेत्रोंको सुख होवे ॥

सर्वनेत्ररोगोंपरसौवीरांजन

अग्नितप्तं च सौवीरं निषिंचेत् त्रिफलारसैः । सप्तवेलं
तथा स्तन्यैःस्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम्॥ अंजयेन्नयने
तेन प्रत्यहं चक्षुषे हितं । सर्वानक्षिविकारांस्तु हन्या-
देतन्न संशयः॥

अर्थ—सुरमाको अग्निपर तपाय २ के त्रिफलेके काढेमें बुझायदे जब
शीतल होजावे तब फिर गरम करे और बुझावे इसप्रकार सातवार बुझावे, इसी
प्रकारस्त्रीके दूधमें सातवार बुझावे फिर उसको शीतलकर बारीक चूर्ण कर नेत्रमें
अंजनकरे, यह अंजन नेत्रोंको परमहितकारी है । इससैं सर्व नेत्रके विकार दूर
होते है इसमें संशय नहीं है॥

शिशेकीसलाईबनानेकाक्रम

त्रिफलाभृंगशुंठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा । गोमूत्रमध्व-
जाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः ॥ तच्छलाका भव-
त्येव सर्वान्नेत्रभवान् गदान् ॥ नाशयेदितिशेषः ॥

अर्थ—शीशेको गलाय २ के त्रिफलेका काढा, भांगरेकारस, सोंठकाकाढा,
घी, गोमूत्र, सहत, और बकरीका दूध, इन प्रत्येकमें सात २ वार बुझावे, फिर उ-
सकी सलाई बनावे; इस सलाईको नेत्रोंमें फेराकरेतो नेत्रके सर्वविकार दूरहोवे ॥

प्रत्यंजनकरनेकाविधान

गतदोषमपेताश्रु संपश्यन्सम्यगंभसि ।
प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यंजनं ततः॥

अर्थ—उस शीशेकी सलाईसै नेत्रोंमें अंजन करे, जब दोष दूरहोकर नेत्रोंसैं
पानी गिरजावे तब रोगी एकक्षण शीतलपानीको देखे, फिर उस रोगीके नेत्रों

लसैं धोयके दोषोंके अनुसार फिर नेत्रोंमें प्रत्यंजन करे, उस प्रत्यंजनको कहतेहै ॥

सदोषनेत्रमेंनिषेध

न वा निर्गतदोषेक्षि धावनं संप्रयोजयेत् ।
प्रत्यंजनं तीक्ष्णतप्ते नेत्रे चूर्णः प्रसादनः ॥

अर्थ—नेत्रोंसैं दोषोंके न निकलने पर नेत्रोको जलसैं धोवे नही, और तीक्ष्णअंजन करके नेत्र संतप्त होनेपर उनमें प्रत्यंजन चूर्णकरे सो आगेके श्लोकोंमें कहा है । अथवा प्रसादनचूर्णकरे ॥

प्रत्यंजनचूर्ण

शुद्धे नागे द्रुते तुल्ये शुद्धं सूतं विनिक्षिपेत् । कृष्णांजनं तयोस्तुल्यं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ॥ दशमांशेन कर्पूरं तस्मिन् चूर्णे प्रदापयेत् । एतत्प्रत्यंजनं नेत्रगदजिन्नयनामृतम् ॥

अर्थ—शुद्धशीशेको तपावे जब गलजावे तब उसमें बराबरका शुद्धपारा मिलायदे फिर इन दोनेके समान सुरमा मिलायके एककर सबका बारीक चूर्णकरे, तथा सब चूर्णका दशवां भाग भीमसेनी कपूर मिलावे, इसको प्रत्यंजन चूर्ण कहते है । इसके लगानेसैं संपूर्ण नेत्ररोग दूरहो, तथा यह चूर्ण नेत्रोंको अमृतके समान सुखकारी है ॥

सर्पविषनाशकअंजन

जयपालस्य मज्जां च भावयेन्निंबुकद्रवैः । एकविंशतिवेलं ततो वर्त्तिं प्रकल्पयेत् ॥ मनुष्यलालया घृष्ट्वा ततो नेत्रे तयांजयेत् ॥ सर्पदष्टविषं जित्वा संजीवयति मानवम्

अर्थ—जमालगोटेके भीतरकी मिंगी लेकर चूर्णकरे फिर इसमें नींबूके रसकी २१ इसकी पुट देवे, पीछे इसकी लंबी बत्तीबनावे, इस गोलीको मनुष्यकी लारमें घिसके नेत्रोंमे आंजे यह सांप कांटे हुए प्राणीके विषको दूरकर जिवाता है अर्थात् सावधान करताहै ॥

नेत्ररोगनाशनसुगमोपाय

भुक्त्वापाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते ।
जातरोगा विनश्यंति तिमिराणि तथैव च ॥

अर्थ—भोजन करनेके पश्चात् हाथोंको धोवे फिर वोही गीले हाथोंकी हथेलीको आपसमें घिसकर नेत्रोंमें लगावे तो उत्पन्नहुए नेत्ररोग-तथा तिमिररोग आदि संपूर्ण नेत्ररोग दूरहोवे ॥

तथाउपायांतर

शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः कालत्रयेण नयन
द्वितयं जलेन । आसिंचति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि
रोगव्यथा विधुरतां भजते मनुष्यः ॥

अर्थ—नित्य दिन दिनमें तीनवार शीतलजलसैं मुखको भरके और दूसरे शीतलजलसैं नेत्रोंके तीनवार छींटा मारे तो अति दुखदायक नेत्ररोगसंबंधी पीडा कदाचित् नहीं होय । यह उपाय बहुतही सहजका और अत्यत गुणदायकहै सब मनुष्योंको उचित है कि इसको अवश्य किया करे इतनी दत्तरामचौवे की प्रार्थना है ॥

अथसंधानविधिः

द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्संधितं भवेत् ।
आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उपयुक्त जलादि द्रव पदार्थोंमें औषध डालके फिर पात्रके मुखको बांध मुद्रादेकर बहुत काल (मास, पक्ष) पर्यंत धरा रहनेदे, फिर उससैं उत्सेक (दाब्नेकालनेकी क्रिया) द्वारा एक नवीन पदार्थ उत्पन्न होवे उस क्रियाको संधान क्रिया कहते है तथा उस औषधोंचित संधान को आसव और अरिष्ट ऐसैं दो भेदो करके कहते है ॥

आसवारिष्टयोर्लक्षणम्

यदपक्वौषधांबुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ।
अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम् ॥ २ ॥

अर्थ—अपक्व औषध और जलद्वारा संपादित (बनाएहुए) मद्य (दारू)

पंचकर्म संग्रह

PANCHAKARMA SANGRAH

लेखक

डॉ. मनोज के. शामकुवर

एम.डी. (पंचकर्म), पी.एच्.डी.

वितरक
धन्वंतरी बुक्स ॲन्ड स्टेशनर्स
जगनाडे चौक, नंदनवन, नागपूर
फोनः– (0712) 2741035, मो.:– 9373105737

© सर्व हक्क लेखकाधीन
प्रथम आवृत्ती 2013

किंमतः **425/- (Hard Binding)**
किंमतः **325/- (Paper Back Binding)**

प्रिंटर्स
लक्ष्मी प्रींटर्स, नागपूर

ISBN-978-93-5104-140-5 (Hard Binding)
ISBN-978-81-928335-0-9 (Paper Back Binding)

या पुस्तकाची झेरॉक्स प्रत वापरणे किंवा या पुस्तकातील मजकूर परवानगीशिवाय छापणे कायदेशीर गुन्हा आहे, असे आढळल्यास कायदेशीर कारवाई करण्यात येईल.

अनुक्रमणिका

1. पंचकर्म परिचय 1

- परिचय 1
- पंचकर्म महत्त्व व उपयोगिता 3
- पंचकर्म व शोधन संबंध 5
- पंचकर्म सामान्य सिद्धांत 6
- त्रिविध कर्म - पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चातकर्म 7
- ऋतुनुसार शोधनाची उपयोगिता 10
- परिहार्य विषय 12
- बदलत्या काळात पंचकर्माची आवश्यकता 14
- पंचकर्म केंद्र 15

2. स्नेहन 19

- स्नेह द्रव्याचे गुण 19
- स्नेह भेद 20
- स्नेहन प्रकार 24
- चतुर्विध स्नेह 26
- विचारणा 32
- अच्छ स्नेह 35
- आभ्यंतर स्नेहन 38
- शमन स्नेह 47
- बृहण स्नेह 48
- सद्य स्नेह 50
- अवपीडक स्नेह 51
- स्नेहन कार्मुकता 52
- बाह्य स्नेहन विधी 56
  - अभ्यंग 56
  - मर्दन-उन्मर्दन 65
  - पादाघात 65
  - संवाहन 67

- कर्णपूरण 67
- अक्षितर्पण 69
- शिरोमास्तिष्क्य - मुर्ध्नितैल 73
  - ✦ शिरोअभ्यंग 74
  - ✦ शिरोपरिषेक - तैलधारा, तक्रधारा, क्षीरधारा 75
  - ✦ शिरोपिचु 80
  - ✦ शिरोबस्ति 81
  - ✦ तलपोटिचिल 84
  - ✦ तलम 86
- लेप 89
- गण्डूष 92
- कवल 94
- प्रतिसारण 96
- उद्वर्तन 96
- पूटपाक 99
- अंजन 100

3. स्वेदन 102

- स्वेदन महत्त्व व उपयोगिता 102
- स्वेदन द्रव्य व गुण 103
- स्वेदन प्रकार 108
- स्वेदन योग्य-अयोग्य 116
- स्वेदन मुल्यांकन 119
- स्वेद विधी 122
- स्वेदन कार्मुकता 123
- पिण्डस्वेद 126
  - पत्र पिण्डस्वेद 126
  - षष्टिशाली पिण्डस्वेद 128
  - अन्नलेपन 131
  - चूर्ण पिण्डस्वेद 133
  - जम्बीर पिण्डस्वेद 135
  - धान्याम्ल पिण्डस्वेद 136

- कुक्कुटांड पिण्डस्वेद 138
- वालुका स्वेद 139
- इष्टिका स्वेद 141

➢ नाडीस्वेद 142

➢ बाष्पस्वेद 144

➢ क्षीरधूम 146

➢ अवगाह स्वेद 148

➢ परिषेक स्वेद 150

- पिझिचिल 150
- धान्याम्ल धारा 153
- कषाय धारा 155
- क्षीरधारा 156

➢ उपनाह स्वेद 157

➢ बाह्य बस्ति 160

➢ Sauna Bath 166

4. वमन 168

➢ निरुक्ति व परिचय 168

➢ वमन महत्त्व व उपयोगिता 169

➢ वम्य व अवाम्य 170

➢ वामक द्रव्य व गुणधर्म 173

➢ औषधद्रव्य संग्रह व संरक्षण 176

➢ वमन विधी 179

➢ कोष्ठनिर्णय व अग्निपरिक्षा 180

➢ वमन व्यापद व चिकित्सा 194

➢ वमन कार्मुकता 197

➢ वामकद्रव्य - मदनफल, कुटज, मधुयष्टि, वचा, निंब 200

5. विरेचन 210

➢ निरुक्ति व परिचय 210

➢ विरेचन महत्त्व व उपयोगिता 211

➢ भेद 211

➢ विरेचक द्रव्य व त्यांचे गुणधर्म 213

- विरेचन कल्पना 215
- कोष्ठनिर्णय व अग्नि निर्णय 218
- विरेचन योग्य-अयोग्य 218
- विरेचनापूर्वी वमनाचे महत्त्व 220
- विरेचन विधी 221
- विरेचन व्यापद व चिकित्सा 230
- विरेचन कार्मुकता 238
- विरेचक द्रव्य - त्रिवृत्त, एरण्ड, आरग्वध, कुटकी, जयपाल, 242

6. बस्ति 253

- निरुक्ति व परिचय 253
- महत्त्व व उपयोगिता 253
- प्रकार 254
- बस्तियंत्र 261
- बस्तिद्रव्य 267
- निरुह बस्ति 271
  - निरुह बस्ति योग्य-अयोग्य 272
  - बस्ति विधी 277
  - बस्ति व्यापद व चिकित्सा 285
- अनुवासन बस्ति 292
  - अनुवासन योग्य-अयोग्य 293
  - बस्ति विधी 295
  - अनुवासन व्यापद व चिकित्सा 298
- मात्रा बस्ति 300
- बस्ति कार्मुकता 302
- विशिष्ट बस्ति 308
  - एरण्डमूलादि निरुह 308
  - पिच्छा बस्ति 309
  - क्षीर बस्ति 309
  - तिक्तक्षीर बस्ति 310
  - यापन बस्ति - मुस्तादि यापन बस्ति 310
  - माधुतैलिक बस्ति 314

- विरेचन कल्पना 215
- कोष्ठनिर्णय व अग्नि निर्णय 218
- विरेचन योग्य-अयोग्य 218
- विरेचनापूर्वी वमनाचे महत्त्व 220
- विरेचन विधी 221
- विरेचन व्यापद व चिकित्सा 230
- विरेचन कार्मुकता 238
- विरेचक द्रव्य - त्रिवृत्त, एरण्ड, आरग्वध, कुटकी, जयपाल, 242

6. बस्ति **253**

- निरुक्ति व परिचय 253
- महत्त्व व उपयोगिता 253
- प्रकार 254
- बस्तियंत्र 261
- बस्तिद्रव्य 267
- निरुह बस्ति 271
  - निरुह बस्ति योग्य-अयोग्य 272
  - बस्ति विधी 277
  - बस्ति व्यापद व चिकित्सा 285
- अनुवासन बस्ति 292
  - अनुवासन योग्य-अयोग्य 293
  - बस्ति विधी 295
  - अनुवासन व्यापद व चिकित्सा 298
- मात्रा बस्ति 300
- बस्ति कार्मुकता 302
- विशिष्ट बस्ति 308
  - एरण्डमूलादि निरुह 308
  - पिच्छा बस्ति 309
  - क्षीर बस्ति 309
  - तिक्तक्षीर बस्ति 310
  - यापन बस्ति - मुस्तादि यापन बस्ति 310
  - माधुतैलिक बस्ति 314

- पंचप्रासृतिकी बस्ति - पटोल निम्बादि 315
- क्षार बस्ति 315
- वैतरण बस्ति 316
- कृमिघ्न बस्ति 317
- लेखन बस्ति 317
- सर्वरोगहर बस्ति 318
- बृहण बस्ति 319
- वातघ्न 320
- पित्तघ्न 321
- कफघ्न 321

➢ उत्तर बस्ति 322

7. नस्य 329

➢ निरुक्ति, व्याख्या 329
➢ नस्यकर्म महत्त्व व उपयोगिता 329
➢ नस्यद्रव्य 330
➢ नस्यभेद 331
➢ नस्य योग्य-अयोग्य 333
➢ नावन नस्य 335
➢ अवपीड नस्य 337
➢ ध्मापन/प्रधमन नस्य 338
➢ धूम नस्य 339
➢ प्रतिमर्श व मर्श नस्य 340
➢ कार्मुकतेनुसार प्रकार 343
- विरेचन नस्य 343
- बृहण/तर्पण नस्य 343
- शमन नस्य 344

➢ नस्य काल व मात्रा 345
➢ नस्य विधी 347
➢ धूम्पान 351
➢ नस्य कार्मुकता 360

8. रक्तमोक्षण **364**

- ➢ व्याख्या 364
- ➢ रक्तमोक्षणाचे सामान्य सिद्धांत 364
- ➢ रक्तमोक्षणाचे महत्त्व 365
- ➢ प्रकार 366
- ➢ रक्तमोक्षणाचे नियम 367
- ➢ रक्तमोक्षण योग्य-अयोग्य 368
  - • जलौकावचरण 370
    - ✦ शास्त्रीय विवेचन 370
    - ✦ भेद 371
    - ✦ जलौकावचरण योग्य-अयोग्य 372
    - ✦ जलौकावचरण विधी 372
    - ✦ व्यापद व चिकित्सा 375
  - • श्रृंगावचारण 376
    - ✦ योग्य-अयोग्य 376
    - ✦ विधी 376
    - ✦ व्यापद व चिकित्सा 377
  - • अलाबू अवचारण 377
  - • घटीयंत्र 378
  - • सिराव्यध 379
- ➢ रक्तमोक्षण कार्मुकता 386

9. Physiotherapy **390**

- ➢ Definition 390
- ➢ History 390
- ➢ Infrared Therapy 391
- ➢ Ultrasound Therapy 392
- ➢ Wax Bath 393

10. Biomedical Waste **395**

1 पंचकर्म परिचय

जगभरात चिकित्सा पध्दतीत नवनवीन पर्याय शोधले जात आहेत. प्रत्येक देश त्यांच्या स्वदेशीय चिकित्सा पध्दतींना जोमाने पुढे आणण्याचे प्रयत्न करीत आहेत. WHO ने 'स्वस्थ' व्यक्तीची परिभाषा करतांना कुठेतरी आयुर्वेदाने वर्णन केलेल्या परिभाषेशी सहमती दर्शविली आहे. शारीरिक स्वास्थ्यासोबत मानसिक स्वास्थ्याचा विचार आयुर्वेदाव्यतिरिक्त कदाचितच, कोणी केला असेल.

आयुर्वेदाने व्याधी प्रशमनाबरोबरच स्वस्थ व्यक्तींच्या स्वास्थ्य रक्षणाचीही जबाबदारी घेतली आहे.

(1) स्वस्थ व्यक्ती मध्ये आयुर्वेदाचे खालीलप्रमाणे कार्य महत्त्वाचे आहेत:

(i) स्वास्थ्य रक्षण (Maintenance of Health):- आयुर्वेदाने यासाठी विभिन्न ऋतुचर्या, दिनचर्या यामध्ये आहार, विहार, आचरण, पंचकर्म इ. चा समावेश केला आहे.

(ii) प्रजनन (Promote and production):- यासाठी प्रामुख्याने रसायन व वाजीकरण या दोन महत्त्वाच्या अंगाचे वर्णन केलेले आहे.

(2) आतुरप्रशमनार्थ चिकित्सा:- चिकित्सा 3 प्रकारची आहे.

(i) दैवव्यपाश्रय - होम, हवन, मंत्र, मणी, दैवी चिकित्सा

(ii) युक्तिव्यपाश्रय - दोषांची चिकित्सा

(iii) सत्वावजय - प्रामुख्याने मानसिक बाबींशी निगडीत चिकित्सा.

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा 3 प्रकारांची सांगितलेली आहे.

(a) अंत:परिमार्जन चिकित्सा

(b) बहि:परिमार्जन चिकित्सा

(c) शस्त्रप्रणिधान

चिकित्सेचे सामान्य सिध्दांत:-

i) **"क्षीणा बृंहयितव्या, वृध्दा निर्हरितव्या, समा परिपाल्या"** - क्षीण दोष असल्यास त्यांना वाढविणारी चिकित्सा करावी, वृध्द असल्यास त्यांना निर्हरण करणारे उपाय करावे. सम अवस्थेत असलेल्या दोषांना त्याच स्थितीत ठेवण्याचे प्रयत्न करावे.

ज्यावेळी बहुदोष अवस्था असेल किंवा दोष उत्क्लिष्ट अवस्थेत असल्यास त्यांचे शोधन करणे आवश्यक आहे. शोधनासाठीचे उपक्रम म्हणजे पंचकर्म.

पंचकर्मामध्ये खालील पाच कर्मांचा समावेश आहे.

i) **वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।**
एतानि पंचकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः।। **शा.उ.खं. 8/63**

ii) **अन्येतु संशोध्यस्य पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्वकर्म,**
वमन विरेचन बस्ति नस्य सिरामोक्षणानि प्रधानकर्म,
पेयाद्यन्न संसर्जनं पश्चात्कर्म **(सु.सू. 5/1 - डल्हण)**

(1) वमन, (2) विरेचन, (3) नस्य, (4) निरूहबस्ति, (5) अनुवासन बस्ति.

सुश्रुत आचार्यांनी रक्ताला चतुर्थ दोष मानल्याने 'रक्तमोक्षण' हा शोधनोपाय सांगितला आहे. आस्थापन व अनुवासन यांना एकत्र 'बस्ति' हा कर्म मानून, रक्तमोक्षण हे पंचकर्मातील पाचवे कर्म मानल्यास पंचकर्माचे पाच कर्म पूर्ण होतात. व्यवहारातही वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षण हे पंचकर्म मानले जातात.

थोडक्यात पंचकर्म चिकित्सा ही एक प्रकारची संशोधन चिकित्सा आहे ज्या अंतर्गत पाच प्रकारचे प्रमुख शोधन कर्म मनुष्याच्या स्वास्थरक्षणासाठी तथा रोगनिवारणासाठी केले जातात. या पाच कर्माना 'पंचकर्म' म्हटले जाते कारण अन्य उपक्रमांच्या अपेक्षा या कर्मांमध्ये दोष निर्हरण करण्याची शक्ती अधिक आहे. **(इह वमनादिषु कर्म लक्षणं बह्विवकर्तव्य तयोत्रिदोषनिर्हरणशक्ति जायस्त्वम्। च.सू. 2/15 च.पा.) बहू + अति कर्तव्य** (Multiple + Broad action)

विभिन्न आचार्यांनुसार पंचकर्मः

अ.क्र.	शोधनकर्म	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1	वमन	+	+	+
2	विरेचन	+	+	+
3	निरूह	+	+	+
4	अनुवासन	+	बस्तीसह एकत्र	बस्तीसह एकत्र
5	नस्य	+	+	+
6	रक्तमोक्षण	–	+	+

चरकांनी चिकित्सेचे सहा उपक्रम वर्णिलेले आहेत. लंघन, बृंहण, रुक्षण, स्नेहन, स्वेदन व स्तंभन हे सहा उपक्रम आहेत. पंचकर्माचा उगम ह्या षडुपक्रमातुन झालेला आहे.

पंचकर्माचे महत्त्व व उपयोगिता:- पंचकर्म स्वस्थ व्यक्तीचे स्वाथ्य रक्षण करणे व रोगी व्यक्तीच्या व्याधीचे शमन करणे ह्या दोन्ही प्रयोजनांची सिद्धी करतो. पंचकर्म हे अष्टांग आयुर्वेदातील चिकित्सेचे महत्त्वाचे साधन आहे. त्यामुळे चिकित्सेतून पंचकर्म वेगळे करणे म्हणजे चिकित्सेतील आत्मा काढण्यासारखे होय. पंचकर्माचे महत्त्व, उपयोगिता अनन्यसाधारण आहे.

(1) **स्वस्थ व्यक्तींमध्ये**

स्वास्थ्य रक्षणार्थ:- स्वस्थ व्यक्तींमध्ये स्वास्थ्य रक्षणार्थ व व्याधि मोक्षणार्थ पंचकर्म उपयोगी आहे. याकरीता दिनचर्यानुसार व ऋतुनूसार पंचकर्म वर्णिलेले आहेत.

(a) **दिनचर्या व पंचकर्म:-** रोज अभ्यंग, मूर्ध तैल, नस्य, कर्णपूरण, पादाभ्यंग, मात्राबस्ति कर्म करता येऊ शकतात ज्यामुळे शरीर स्वस्थ बलवान, सुदृढ राखले जाते. तसेच अकाली येणारे वार्धक्य टाळले जाते. Allergic disease पासून रक्षण केले जाते.

(b) **ऋतुचर्या व पंचकर्म:-** ऋतुनूसार शरीरातील दोषांची स्थिती बदलत असते. ऋतुनूसार शरीरामध्ये दोषांची चय, प्रकोप व प्रशमावस्था असते. या काळात त्या-त्या दोषांच्या प्राधान्यानुसार व्याधी होण्याची शक्यता असते. त्यामुळे प्रतिरोधात्मक व स्वास्थरक्षणार्थ पंचकर्म केले जातात व प्रकुपित दोषांचे निर्हरण केले जाते.

वसंत	-	वमन	- कफ वृध्दीकाल (फेब्रुवारी - मार्च)
वर्षा	-	बस्ति	- वात वृध्दीकाल (जुलै - ऑगस्ट)
शरद	-	विरेचन	- पित्त वृध्दीकाल (ऑक्टोंबर - नोव्हेंबर)

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायु प्राग्विकार समुच्छ्रयात्।। **सु.सू. 6/38**

(2) **बहुदोषांमध्ये पंचकर्म:-**

बहुदोष: संशोध्य: कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ।। **च.चि. 7/41**

स्थूल: प्रमेही बलवानिहैक: कृशस्तथैक: परिदुर्बलश्च ।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य। **च.चि. 6/15**

प्रमेह, कुष्ठ व्याधी ह्या बहुदोष असणाऱ्या व्याधी आहेत. अशा व्याधींमध्ये आधी दोषांचे संशोधन करुन दोष बाहेर काढण्याचे उपदेश केले आहेत. त्यामुळे बहुदोष व्याधींमध्ये 'पंचकर्म' आवश्यक आहे. एवढेच नाही तर आचार्यांनी अशा व्याधींमधे वारंवार शोधन करण्यास सांगितले यावरून पंचकर्माची उपयोगिता स्पष्ट होते.

ज्याप्रमाणे तलावास शुष्क करण्यासाठी पाणी बाहेर काढण्यासाठी आधी बांध तोडून पाणी वाहू द्यावे लागते व नंतर अल्प जल असल्यास सूर्यतापाने ते आटवावे लागते त्याच प्रमाणे बहुदोषांमध्ये पंचकर्माने आधी दोष बाहेर काढावे व उरलेल्या दोषांसाठी शमन चिकित्सा करावी.

बहुदोष लक्षणे:- अविपाक, अरूचि, स्थौल्य, पांडूता, गौरव, क्लम, पिडिका, कोठ, कंडू, अरति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दुर्गन्ध, अवसाद, श्लेष्मसमुत्क्लेश, पित्तसमुत्क्लेश, निद्रानाश, अतिनिद्रा, तंद्रा, क्लैब्य, अबुध्दित्व, अशास्तस्वप्नदर्शन.

(3) **पंचकर्माने अपुनर्भव:-**

दोषा: कदाचित् कुप्यन्ति जिता लंघन पाचनै:।

जिता: संशोधनैये तु न तेषां पुनरुद्भव:।। **च.सू. 16/20**

आचार्य चरकांनी पंचकर्माचे महत्त्व स्पष्ट करतांना स्पष्ट केले आहे की, इतर उपक्रमांनी शमन झालेले दोष कदाचित पुन्हा प्रकुपित होऊ शकतील परंतु संशोधनाने (पंचकर्म चिकित्सेने) व्याधी पुन्हा होण्याची शक्यता नसते. त्यामुळे वारंवार उद्भवणाऱ्या व्याधींमध्ये पंचकर्म चिकित्सा अधिक प्रभावशाली ठरू शकते. उदा. Psoriasis, Br. Asthma.

(4) **रसायन चिकित्सा व पंचकर्म:-** आज जरी च्यवनऋषीसारखे वृध्दांना तरूण करणे सहजसाध्य नसले तरी रसायनाने वार्धक्य गती निश्चित कमी करता येऊ शकते. रसायन चिकित्सा केवळ वार्धक्य थांबविण्यापुरती मर्यादित नाही तर व्याधींनुसार, वयानुसार, अवयवांनुसार, वेगवेगळे रसायन प्रयोग केले जातात. प्रत्येक रसायनापूर्वी आवश्यक यश मिळण्यासाठी शोधन महत्त्वाचे आहे म्हणून रसायनकर्मापूर्वी पंचकर्माचे स्थान वेगळे आहे.

पंचकर्माचा रसायन कर्मात प्रत्यक्ष दोन पध्दतीने उपयोगी आहे-

1. **रसायन चिकित्सेसाठी पूर्वकर्म म्हणून** - रसायन चिकित्सेपूर्वी आचार्यांनी ज्याप्रमाणे मलीन वस्त्रावर रंग देता येत नाही त्याचप्रमाणे विना संशोधन केलेल्या पुरूषास रसायन चिकित्सा देता येत नाही असे सांगून महत्त्व स्पष्ट केले आहे.
2. **प्रत्यक्ष रसायन कर्म म्हणून** - पंचकर्मातील अनेक क्रिया उदा. वमन, विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्षण हे उत्तम रसधातुच्या निर्मितीसाठी कारणीभूत ठरतात. रसायन कर्म म्हणजे उत्तम रसधातुची निर्मिती व त्यापासून पुढील धातुंची उत्तमोत्तम निर्मिती होय. यासाठी पंचकर्म कारणीभूत ठरून रसायन कार्य होते. तसेच या व्यतिरिक्त पंचकर्मातील अनेक पूर्वकर्म, उपकर्म उदा. अभ्यंग, स्वेदन, शिरोधारा इ. रसायन कार्य करतात.

(5) **वाजीकरण व पंचकर्म:-** उत्तम प्रजा निर्मितीसाठी उत्तम शुक्र (sperm) व बीजाणूंची (ovums) निर्मिती होणे आवश्यक आहे. सद्यस्थितीमध्ये नपुंसकत्व (Impotency) चे प्रमाण वाढत चालले आहे त्यामुळे प्रजा निर्मिती व सुप्रजा धोक्यात आहे. अशावेळी वाजीकरण चिकित्सा महत्त्वाची

आहे. वाजीकरण चिकित्सेमध्ये रसायनासारखेच पंचकर्माचे महत्त्व अनन्यसाधारण आहे.

(6) **शमन चिकित्सेची मर्यादा:-** पूर्वीच्या व आजच्या काळात द्रव्यांचे वीर्य, कार्मुकता यांचा विचार करता बराच बदल झाला आहे. आज द्रव्यांचे वीर्य तेवढेसे प्रभावी नाही, चिकित्सक वर्ग दुकानदारांवर अवलंबून असल्याने मिळणारी द्रव्ये शुध्द स्वरूपात असतीलच याची शाश्वती नाही. त्यामुळे एकंदर शमन चिकित्सेलाच मर्यादा आल्या आहेत. त्यामुळे पंचकर्माने दोषांचे शोधन करून अधिकाधिक दोष बाहेर काढणे आजच्या चिकित्सेत महत्त्वाचे ठरले आहे.

(7) **काळानुसार पंचकर्म:-** बदलत्या काळामध्ये मानसिक तणाव, व्यवसायामुळे व्याधी, खाणपानाच्या सवयीमुळे होणाऱ्या व्याधी एकंदर Life style disorders ची संख्या वाढत चालली आहे. त्यामुळे यामध्ये पंचकर्मच उपयोगी ठरणारे आहे.

(8) **अष्टांग आयुर्वेद व पंचकर्म:-** अष्टांग आयुर्वेदातील प्रत्येक अंगामध्ये पंचकर्म चिकित्सेचे महत्त्व अबाधित आहे. विष चिकित्सा, ग्रहचिकित्सा, बालचिकित्सा, शल्य, उर्ध्वजत्रू व्याधी प्रत्येक अंगांमध्ये पंचकर्माशिवाय चिकित्सा पूर्णच होवू शकत नाही एवढी पंचकर्म चिकित्सेची उपयोगिता आहे.

(9) **पंचकर्माचे बहुविध परिणाम:-** दोषांचे निर्हरण करणे हे पंचकर्माचे प्रमुख कार्य आहे. वर वर बघता ही अपतर्पण चिकित्सा असली तरी पंचकर्माने शमन व बृंहण कार्य केले जाते. विविध द्रव्यांचा उपयोग करून शमन बस्ति, बृंहण बस्तिचा किंवा स्तम्भन बस्ति चिकित्सेमध्ये वापरली जाते. यावरून पंचकर्माचे बहुविध कर्म स्पष्ट होतात.

पंचकर्माचे चिकित्सेतील महत्त्व व उपयोगितेचा विचार करता अष्टांग आयुर्वेदातील हे अंग स्वतंत्र 9 वे अंग निर्माण झाले असे म्हटल्यास वावगे ठरू नये.

संशोधनाचे गुण:- (च.सू. 16-19)

(i) अग्निदीप्ति
(ii) रोगशमन
(iii) इंद्रिय प्रसन्नता
(iv) मन व बुध्दी कार्य योग्य
(v) वर्णप्रसादन
(vi) बल वृध्दी
(vii) शरीर पुष्टी
(viii) अपत्य/संतानोत्पत्ती
(ix) वीर्यवृध्दी
(x) वृध्दावस्था उशीरा येणे
(xi) रोगरहित दीर्घ आयुष्य

पंचकर्म व शोधन संबंध:-

शोधन चिकित्सा म्हणजे दोषांना बाहेर काढण्याची चिकित्सा. दोषांना बाहेर काढण्यासाठी जे उपक्रम केले जातात ते सर्व शोधन कर्म आहेत.

शोधन करण्यासाठी पंचकर्मातील वमन, विरेचन, निरूह बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षण हे कर्म केले जातात. पंचकर्माचे कार्य प्रामुख्याने शोधन करणे आहे. परंतु केवळ शोधन कर्म म्हणजे पंचकर्म नाही. पंचकर्माने बहुतांशी शोधन केले जाते, पंचकर्माने शमन व बृंहणही केले जाते. उदा. अनुवासन बस्ति, शमन नस्य **(चतुष्प्रकारा संशुध्दि। च.सू. 22/18, च.पा. चतुष्प्रकारा संशुध्दिः इति अनुवासनं वर्जयित्या तस्य बृंहणत्वात)**

बहुदोष अवस्थेत, रसायनकर्मापूर्वी शोधन आवश्यक असते. शोधनाचे साधन म्हणून पंचकर्मातील दोषानुसार वमन, विरेचन, बस्ति कर्माची आवश्यकता असते.

काही व्याधींमध्ये किंवा अवस्थांमध्ये दोषांचे वारंवार शोधन करणे आवश्यक असते अशावेळी पंचकर्मातील वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण या कर्मानीच दोषांचे शोधन केले जाते.

वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण ही शोधन कर्मे आहेत तर बस्ति व नस्याचे शमन, लेखन, शोधन असे प्रकार आहेत. यावरून असे लक्षात येते की, पंचकर्म हे केवळ शोधन करणारे नाही तर प्राधान्याने शोधन करणारे उपक्रम आहेत. पंचकर्म हे शोधनाचे साधन असून शोधन सुध्दा बल्यकर व रसायनकारी असू शकते.

पंचकर्माचे सामान्य सिध्दांत (दोष कोष्ठगत आणण्याचे उपाय):

व्याधींच्या उत्पत्तीसाठी दोषांचे संचय, प्रकोप होणे आवश्यक आहे. संप्राप्ति घडत असतांना दोष कोष्ठातून शाखेत जातात. व्यायाम, प्रक्षोभक, उष्ण-तीक्ष्ण अहितकर आहार विहाराने दोष चलीत होवून कोष्ठातून धातुगत (शाखागत) होतात व व्याधी उत्पन्न करतात. हा व्याधी उत्पत्तीचा सामान्य नियम आहे. शोधन चिकित्सा करतांना हे शाखागत दोष पुनः कोष्ठामध्ये आणून जवळच्या मार्गाने बाहेर काढणे हा चिकित्सेचा सामान्य नियम आहे.

वृद्ध्या विष्यन्दनात्पाकात् स्त्रोतोमुख विशोधनात।

शाखामुक्त्वा मलाः कोष्ठं यांति वायोश्च निग्रहात।। **च.सू. 28/33**

चिकित्सेच्या वेळी दोष शाखेतून कोष्ठात आणण्यासाठी खालील उपाय करावे लागतात जे केवळ पंचकर्मानेच शक्य आहे.

1) दोषांची वृध्दी करून
2) दोषांचे विष्यंदन किंवा विलयन करून
3) दोषांचे पाक करून
4) स्रोतसाचे मुख विस्फारीत, मोकळे करून
5) वायूचे निग्रहण (जिंकून) करून

वरील सर्व उपाय केवळ पंचकर्मातील पूर्वकर्मानेच शक्य आहेत. पूर्वकर्मामध्ये प्रथम स्नेहन केले जाते, स्नेहनाने दोष द्रवीभूत होतात व दोषांचे विलयन होऊन मृदू केले जातात. त्यानंतर क्लेद वृद्धी

होऊन दोषांचा उत्क्लेश होतो व दोष वृद्धी होते. त्यानंतर स्वेदन केले जाते ज्यामुळे दोषांचा पाक होतो, साम दोष स्रोतसांमध्ये चिकटले असतात, स्वेदनाने दोषपाक झाल्यामुळे दोष सुटे होऊन स्थान सोडतात, स्रोतस मुख विस्फारीत होऊन दोष चलायमान होण्यासाठी मदत होते नंतर दोष कोष्ठाकडे येतात. या सर्व प्रक्रियेत 'वायू' चे स्थान महत्त्वाचे आहे कारण तिन्ही दोषांमध्ये केवळ वायू चलायमान असून पित्त व कफ दोषांनाही वायूच चलायमान करतो त्यामुळे वायूचे निग्रहण आवश्यक असते जे स्नेहन व स्वेदन या क्रियेने होते. अशाप्रकारे दोष कोष्ठामधे आणले जातात. यासाठी पूर्वकर्म आवश्यक असतात त्यानंतर वमन विरेचनासारख्या संशोधन क्रियेने दोष शरीराबाहेर काढले जातात.

सुश्रुतांनी चिकित्साकर्म तीन प्रकारांमध्ये विभक्त केले आहेत. हे तिन्ही कर्म पंचकर्मामध्ये सामावले जाऊ शकतात.

त्रिविधंकर्म - पूर्वकर्म, प्रधानकर्म पश्चात कर्मेति (सु.सू. 5/1)

अन्येतु संशोध्यस्य पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्वकर्म, वमन विरेचन बस्ति नस्य सिरामोक्षणानि प्रधानकर्म, पेयाद्यन्न संसर्जनं पश्चात्कर्म (सु.सू. 5/1 डल्हण टिका)

1) पूर्वकर्म (Preoperative procedure)
2) प्रधानकर्म (Operative procedure)
3) पश्चातकर्म (Post operative procedure)

पूर्वकर्म सामान्य परिचय महत्त्व व उपयोगिता

1) **पूर्वकर्मः**- i) लंघन ii) पाचन
iii) स्नेहन iv) स्वेदन

दोष बाहेर काढण्यासाठी आधी दोषांना उत्क्लिष्ट करून कोष्ठामध्ये आणणे आवश्यक असते त्यासाठी पूर्वकर्म गरजेचे आहेत.

i) **लंघनः- यत् किञ्चित् लाघवकरं देहे तत् लंघनं स्मृतम्।। च.सू. 22/9**

ज्यामुळे शरीरात लाघव उत्पन्न होते त्यास लंघन म्हणतात, ज्या रुग्णामध्ये दोषांचे बल अल्प आहे त्यास 'लंघन' चिकित्सा करण्यास सांगितले आहे.

लंघनयोग्यः

(1) त्वकरोगी (2) अतिस्निग्ध
(3) अभिष्यन्दी (कफवृध्दी असणारा) (4) स्थूल
(5) वातप्रधानरोगी - शिशिर ऋतूमध्ये

त्वग्दोषिणां प्रमिढानां स्निग्धाभिष्यंदि बृंहिणाम् ।
शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ।। च.सू. 22/24

लाभ -

(1) अग्निदीप्ति

(2) वायू वृध्दी - यामुळे दोष शुष्क केले जातात.

ii) **पाचनः-** ज्या क्रियेद्वारे औषधांनी 'आम' पाचन केले जाते त्यास 'पाचन' म्हणतात. ज्या रुग्णामध्ये दोषांचे बल मध्यम आहे अशा रुग्णांमध्ये 'पाचन' करण्यात सांगितले आहे.

लंघन पाचने तु मध्यबलदोषाणाम्।। **च.वि. 3/44**

पूर्वकर्मामध्ये महत्त्व व उपयोगिताः-

(1) ज्या रुग्णांमध्ये आम दोष आहे त्यांचे आधी दोष निराम करणे आवश्यक असते त्याशिवाय स्नेहन करू नये. म्हणून पाचन चिकित्सा आवश्यक आहे.

(2) पाचनाने अल्प रूक्षण होते त्यामुळे स्नेह पचनासाठी व स्रोतसांमध्ये पोहचण्यासाठी मदत होते.

(3) अग्निवृध्दी होते.

iii) **स्नेहनः- स्नेहनं स्नेह विष्यन्दमार्दव क्लेदकारकम्।। च.सू. 22/11**

ज्या कर्माद्वारे शरीरात स्निग्धता, मृदूता होऊन दोषांचे विलयन केले जाते ते कर्म 'स्नेहन' होय. स्नेहनाचे दोन प्रकार आहे.

(1) आभ्यंतर स्नेहन

(2) बाह्य स्नेहन

पंचकर्मातील मुख्य पूर्वकर्म व चिकित्सेमध्ये व्याधीनुसार प्रधानकर्म म्हणूनही 'स्नेहन' कर्माचा वापर केला जातो.

पूर्वकर्मामध्ये महत्त्व व उपयोगिताः-

(1) पंचकर्माच्या सामान्य सिध्दांताप्रमाणे शाखेतून दोष कोष्ठामध्ये आणण्यासाठी, दोषांचे विलयन, दोष वृध्दी, क्लेद उत्पन्न करण्याचे कार्य स्नेहनाने होते.

(2) बाह्य स्नेहनाने दोष शाखेतून कोष्ठात आणण्यासाठी मदत होते.

(3) वायूला नियंत्रीत करण्यासाठी स्नेहन उपयोगी.

iv) **स्वेदनः- स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।। च.सू. 22/11**

ज्या कर्माद्वारे शरीरात स्वेद उत्पन्न होवून स्तम्भ, गौरव व शीतलतेचा नाश केला जातो त्यास स्वेदन म्हणतात. स्वेदन पूर्वकर्माशिवाय प्रधानकर्म म्हणून ही चिकित्सेमध्ये उपयोगात आणले जाते. अग्नि व निराग्नि असे दोन प्रकारचे स्वेद आहेत.

पूर्वकर्मामध्ये महत्त्व व उपयोगिता:-

(1) पंचकर्माच्या सिध्दांताप्रमाणे दोषांची वृध्दी करून शाखेतील दोष कोष्ठामध्ये आणण्यासाठी महत्त्वाची भूमिका.

(2) दोषांचे पाक करून स्रोतसांमध्ये चिकिटलेले दोष सोडवून त्यांना चलायमान स्वेदनकर्माने केले जाते.

(3) दोष चलायमान होण्यासाठी व कोष्ठाकडे येण्यासाठी स्रोतसमूख विस्फारण्याचे कार्य स्वेदनाने होते.

(4) वायूचे नियंत्रण करणे.

(2) **प्रधानकर्म:-** प्रत्यक्ष शोधनासाठीच्या कर्मास प्रधानकर्म म्हणतात. हे खालीलप्रमाणे पाच आहेत.

i) **वमन:-** उर्ध्वमार्गाने दोषांचे निर्हरण करणे म्हणजे 'वमन' होय. वमन प्राधान्यता बहुदोष व्याधींमध्ये, कफप्राधान्य व्याधींमध्ये केले जाते. स्वास्थ्य रक्षणासाठी स्वस्थ व्यक्तींनी कफाच्या प्रकोप काळी म्हणजे वसंत ऋतूमध्ये वमन केल्यास कफाचे व्याधी टाळता येतात. वमनाने रसायनकर्म साधले जाते.

ii) **विरेचन:-** अधोमार्गाने (गुदमार्गाने) दोषांचे निर्हरण करण्याची क्रिया 'विरेचन' होय. विरेचन बहुदोष व्याधींच्या व्यतिरिक्त पित्तप्रधान व रक्तदोषज व्याधींमध्ये केले जाते. स्वास्थ रक्षणासाठी स्वस्थ व्यक्तींमध्ये शरद ऋतूमध्ये 'विरेचन' करण्यास सांगितले आहे. विरेचन पित्तदोषांच्या व्याधींसोबतच 'वात' दोषाचीही उत्तम चिकित्सा आहे.

iii) **बस्ति:-** बस्ति यंत्राद्वारे गुदमार्गाने औषधीद्रव्य प्रविष्ट करण्याची क्रिया 'बस्ति' होय. यामध्ये व्याधीनुसार, रुग्णानुसार वेगवेगळया प्रकारांचे बस्तिद्रव्यांची निवड केली जाते. बस्ति चिकित्सा ही आयुर्वेद चिकित्सेमध्ये अर्धी चिकित्सा मानली जाते यावरून बस्तिचे चिकित्सेतील महत्त्व स्पष्ट होते. बस्तिचे क्वाथ प्राधान्य व स्नेह प्राधान्यानुसार प्रमुख दोन भेद पडतात.

बस्ति शोधन, लेखन, बृंहण, शमन, रसायन व वाजीकरण कार्य करणारी चिकित्सा आहे. दोष प्राधान्यानुसार 'वात' दोषांची प्रमुख चिकित्सा असून स्वस्थ व्यक्तींसाठी 'वर्षा' ऋतू बस्तिचा उत्तम काळ आहे.

बस्तिचे स्थानानुसार 4 भेद आहेत. यात मूत्रमार्ग व योनिमार्गाने दिल्या जाणाऱ्या बस्तिकर्मास उत्तरबस्ति म्हणतात. गर्भाशय, मूत्ररोग यामध्ये श्रेष्ठ चिकित्सा उत्तरबस्ति मानली जाते.

iv) **नस्य:-** नासा मार्गाद्वारे औषधी देण्याची क्रिया 'नस्य' होय. उर्ध्वजत्रुगत व्याधींमध्ये श्रेष्ठ चिकित्सा नस्य आहे. नस्याने शोधन, शमन केले जाते. नस्य व्याधी व्यतिरिक्त स्वस्थ व्यक्तींमध्येही केले जाते. दैनंदिन व्यवहारातही 'नस्य' चिकित्सा केली जाऊ शकते.

v) **रक्तमोक्षण:-** दुषीत रक्ताचे शरीरातून निर्हरण करणे रक्तमोक्षण होय. आचार्य सुश्रुत व वाग्भट यांनी प्रमुख शोधन कर्मात रक्तमोक्षण समाविष्ट केले आहे. रक्तप्रदोषज व्याधी व

रक्ताच्या आश्रयाने राहणारे पित्त यांची चिकित्सा करण्यासाठी रक्तमोक्षण हे सर्वश्रेष्ठ कर्म आहे. दोष, रुग्ण यांचा विचार करून रक्तमोक्षणासाठी विभिन्न भेद वर्णन केलेले आहेत. उदा. जलौकावचरण, श्रृंग, अलाबू, घटीयंत्र व सिरावेध. व्याधी व्यतिरिक्त स्वस्थ व्यक्तींमध्येही शरीर स्वास्थासाठी रक्तमोक्षण केले जाऊ शकते.

(3) **पश्चातकर्म:-** प्रधान कर्मानंतर अग्निमांद्य निर्माण होते, शरीरामध्ये क्षोभ निर्माण होतो त्यामुळे अग्नि प्रदिप्त होईपर्यंत व शरीराची प्राकृत अवस्था आणण्यासाठी आहार-विहार व औषधांची जी योजना केली जाते त्यास पश्चातकर्म म्हणतात.

i) **संसर्जन क्रम:-** वमन-विरेचन शोधनोपक्रमानंतर अग्निमांद्याची स्थिती उत्पन्न होते. या काळात सामान्य आहार अहितकर असते. अशावेळी अग्निसंधुक्षणासाठी लघु द्रव आहारापासून तर गुरू-स्थूल आहारापर्यन्त क्रमाने आहार योजना करावी लागते त्यास 'संसर्जन क्रम' म्हणतात. यामध्ये पेया, विलेपी, युष, मांसरस अशी आहार योजना केली जाते.

ii) **संतर्पण क्रम:-** 'वमन' कर्मानंतर शोधन अल्प झाल्यास संसर्जन क्रमाऐवजी संतर्पण क्रम पाळण्यास सांगितले आहे. यामध्ये लाजा, सत्तु यांचा मंथ दिला जातो.

iii) **रसायनादि क्रम:-** रसायन व वाजीकरण चिकित्सा करावयाची असल्यास तत्पूर्वी शोधन आवश्यक असते. त्यामुळे रसायन-वाजीकरण पंचकर्माचे पश्चात कर्म मानले जाते.

iv) **शमनचिकित्सा:-** बहुदोषामध्ये पंचकर्म केल्यानंतर उर्वरीत दोषांची चिकित्सा करण्यासाठी संसर्जन क्रमानंतर शमन औषधांची व्याधीनुसार-दोषांनुसार रोगनिवारणासाठी शमन चिकित्सेची योजना केली जाते.

ऋतुनूसार शोधनाची उपयोगिता (Usefulness according to seasons):-

चिकित्सेमध्ये सामान्य-विशेष सिध्दांत महत्त्वाचा आहे. वृध्द दोषांचे निर्हरण करणे हा चिकित्सा सिध्दांत आहे. निसर्गाच्या चक्राप्रमाणे शरीरातही बदल घडत असतात. दोषांची अवस्था बदलत असते. स्वस्थ राहण्यासाठी ह्या दोषांना सतत साम्यावस्थेत ठेवणे आवश्यक असते.

सुर्याच्या प्रभावानुसार काळ दोन भागात विभागला गेला आहे.

1) आदान काळ - या काळात शरीरबल कमी होते.

2) विसर्ग काळ - या काळात शरीराचे बल वाढते.

हे दोन्ही काळ सहा ऋतूंमध्ये विभागले गेले आहे.

1) आदान काळ -

(1) शिशिर (डिसेंबर - जानेवरी),

(2) वसंत (फेब्रुवारी - मार्च),

(3) ग्रीष्म (एप्रिल - मे - जून)

2) **विसर्ग काळ** –

(1) वर्षा (जून-जुलै-ऑगस्ट),

(2) शरद (ऑगस्ट-सप्टें.-ऑक्टों.),

(3) हेमंत (ऑक्टोंबर-नोव्हेंबर-डिसेंबर)

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजं अभ्रकाले।।

घनात्यये वार्षिकं आशु सम्यक् प्राप्नोतिरोगान् ऋतुजां न जातु।। **अ.हृ.सू. 4/34**

शीतकाळात संचित होणाऱ्या दोषांचे वसंत ऋतूत शोधन करावे. ग्रीष्म ऋतूत संचीत होणाऱ्या दोषांचे वर्षा ऋतूत तर वर्षा ऋतूमध्ये संचीत होणाऱ्या दोषांचे शरद ऋतूत शोधन करावे म्हणजे ऋतुनूसार होणारे रोग उत्पन्न होत नाहीत. शोधनासाठी प्रावृट् (वर्षा ऋतूचा पूर्वीचा काळ) शरद व वसंत ऋतू उत्तम आहेत. व्याधीनुसार शरीरासाठी शोधनासाठी कोणत्याही ऋतूचा किंवा काळाचा नियम नाही.

श्रावणे कार्तिक चैत्रे मासि साधारणे क्रमात ।

ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत ।। **अ.हृ.सू. 13/33**

वाताचे श्रावण मासात (जुलै-ऑगस्ट) पित्ताचे कार्तिक मासात (नोव्हेंबर-डिसेंबर), कफाचे चैत्र मासात (मार्च-एप्रिल) शोधन करावे याउलट ग्रीष्म ऋतूत अतिउष्णता असतांना, वर्षा ऋतूत अति वृष्टि असतांना व शीत कालात अत्याधिक शीतता असतांना शोधन करू नये.

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः ।

सन्धौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत् ।। **अ.हृ.सू. 13/34**

ऋतूनुसार खालीलप्रमाणे पंचकर्म केली जातात.

1) **शिशिर ऋतूः**- अधिक शीतता असल्याने अधिक रूक्षता उत्पन्न होते.

पंचकर्मः- (1) अभ्यंग

(2) स्वेदन - उष्णगृह

(3) स्नेह - आभ्यंन्तर घृतपान

2) **वसंत ऋतूः**- कफसंचय व प्रकोप काळ अग्निमांद्य असल्याने अग्निमांद्यजनित व कफ वृध्दीचे व्याधी उत्पन्न होतात.

पंचकर्मः- (1) वमन - कफ उत्क्लेश असल्यास

(2) तीक्ष्ण विरेचन - पित्त संसृष्ट कफासाठी

(3) आस्थापन - वातपित्त प्रकोप असल्यास

(4) अनुवासन - वातपित्त प्रकोप असल्यास

(5) नस्य

3) **ग्रीष्म ऋतू:-** सूर्याच्या अती उष्णतेमुळे शरीरातील द्रव धातुची कमतरता आल्याने रूक्षता उत्पन्न होते. वात दोषाचा संचय काळ.

(1) आभ्यन्तर स्नेहपान

4) **वर्षा ऋतू:-** वातदोषाचा प्रकोप काळ व पित्ताचा संचय काळ. वर्षाऋतूमधे अग्निमांद्य असते.

(1) बस्ति

(2) विरेचन - दुर्दिन सोडून

5) **शरद ऋतू:-** पित्ताचा प्रकोप काळ. पित्त व रक्तप्रदोषज व्याधी होण्याची शक्यता.

(1) विरेचन - तिक्तकघृतांचे स्नेहपान करून

(2) रक्तमोक्षण.

6) **हेमंत ऋतू:-**

(1) अभ्यंग

(2) उत्सादन

(3) आतपसेवन (स्वेदन) - उन्हात बसणे

(4) उष्णसदन/स्वेदन - उबदार घरात बसणे.

(5) जेंताक स्वेद

(6) मूर्ध तैल (शिरोभागी तैल/तैलपिचू धारण करणे)

पंचकर्माचे वेळी परिहार्य विषय(General Precautions): (च.चि. 12/10-11, च.सि. 1/55)

परिहार म्हणजे अहितकर आहार-विहाराचे सेवन न करता संयमाने राहणे. पंचकर्म क्रियेच्या वेळी किंवा पश्चात काही विषय वर्ज्य करावे लागतात त्यास 'परिहार विषय' म्हणतात. जेवढे दिवस हे विषय वर्ज्य करावयाचे असतात त्यास परिहार काल म्हणतात. सामान्यता बस्तिमध्ये जेवढे दिवस बस्ति चिकित्सा केली त्याचे दुप्पट दिवस 'परिहार काल' पाळावा लागतो. अष्टमहादोषकर भाव वर्ज्य व बस्तिसाठी वर्जित सांगितलेले विषय परिहार विषय समजावे. सामान्यत: खालीलप्रमाणे परिहार विषय समजावे.

अत्यासन स्थान वचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।

शीतोपचारातप शोक शेषां त्यजैदकालाहित भोजनं च। च.सि. 1/55

1) **उच्चैर्भाष्यम्:-** उंच स्वरात बोलणे टाळावे. शिक्षक, वक्ता, यासारख्या लोकांनी शोधना दरम्यान आपल्या व्यवसायानुसार पथ्य पालन करणे आवश्यक आहे. पालन न केल्यास हनुस्तम्भ, उर:शूल, पार्श्वशूल, स्वरभेद इ. लक्षणे उत्पन्न होतात.

चिकित्सा:- स्नेहपान, नस्य, वातनाशक उपचार, मौनधारण.

2) **रथक्षोभः**- सायकल, स्कुटर, बस, विमान इ. वाहनांनी प्रवास टाळावा. यामुळे कटिशूल, मन्यादौर्बल्य, स्फिक्-वंक्षण शूल ही लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात. सकाळी विमानाने जाऊन एक दिवसात परत येणारे तथाकथित पंचकर्माच्या नावावर क्रिया केल्याने आवश्यक ते लाभ मिळत नाही उलट पंचकर्म चिकित्सा मात्र बदनाम होते.

3) **अतिचंक्रमणः**- शोधनकाळात अधिक फिरणे, व्यायाम टाळावा या काळात दौर्बल्य असतांना अतिचंक्रमण केल्यास पिण्डिकोद्वेष्टन, अंगमर्द, सक्थिसाद (मांडीच्या ठिकाणी शूल गौरवता), श्वास हे लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात. याकाळात नोकरीच्या ठिकाणी जाणे व श्रमज कार्य करणे टाळावे.

चिकित्साः- अभ्यंग, स्वेदन

4) **अत्यासनः**- एकाच ठिकाणी अधिक काळपर्यंत बसून राहणे (Continuous sitting work): उदा. ऑफीसमधील सततची बसून कामे करणे, कम्प्युटरचे काम करणे, इ. टाळावे.

5) **अजीर्णाध्यशनः**- अजीर्ण अवस्थेत पुन्हा पुन्हा जेवन करणे. अजीर्ण होणार नाही व अध्यशन होणार याची काळजी घ्यावी. याचे पालन न केल्यास उदरशूल, तृष्णा, च्छर्दि, अतिसार ही लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात.

6) **विषमाहिताशनः**- विषम व अहितकर भोजन करू नये. दही, उडीद, राजमा, पावटे, इ. गुरू पदार्थ वर्ज्य करावे. या काळात आधीच अग्निमंद असते अशावेळी विषम-अहित पदार्थाचे सेवन केल्यास ग्रहणी, अर्श, अरुचि इ. व्याधी उद्भवन्याची संभावना असते.

7) **दिवास्वप्नः**- दिवसा झोपू नये. रात्रपाळी करणाऱ्यांनी शोधनकाळात रात्रपाळी करणे टाळावे. दिवास्वापाने अरूचि, अजीर्ण, शरीर गौरवता, तंद्रा ही लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात.

8) **व्यवायः**- शोधनकाळात मैथून पूर्णतः वर्ज्य करण्यास सांगावे. शोधनामुळे आधीच बलहानी झालेली असते, मैथूनाने अधिक बलहानी होऊन मेढ्र, उरू, जानु, जंघाशूल ही लक्षणे उत्पन्न होतात. हृदगती तीव्र होते, श्वास वृध्दी होते.

9) **शीतजलपानः**- परिहार कालात शीतजलाचे सेवन वर्ज्य करावे. शीत जलाने अग्निमांद्य अधिक वाढण्याची शक्यता असते.

10) **शीत जलस्नानः**- शीत जलाने स्नान करण्यास मज्जाव करावा. शोधन काळात व शोधनपश्चात दोष निर्हरणार्थ स्रोतोमुख विस्फारीत असणे अपेक्षित असते. शीतस्नानाने स्रोतस संकुचित होऊन अपेक्षित शोधनाचे परिणाम साध्य होणार नाहीत.

11) **शीत हवेत** बसणे, फिरणे टाळावे. AC रूम, AC गाडीत फिरणे पूर्णतः वर्ज्य करण्यास सांगावे.

12) **शोक, क्रोधः**- शोधन परिहार काळात रुग्णास शोक, क्रोध या मानसिक वृत्तींपासून दूर राहण्यास सांगावे. याचे शरीरावर परिणाम होत असल्याने अपेक्षित यश मिळणार नाही.

13) **आतप सेवनः**- अधिक ऊन्हामध्ये फिरणे टाळावे.

सध्याच्या काळात IT professionals, BPO-Call centre वर काम करणारे, सतत विमान यात्रा करणारे, रात्रपाळीत काम करणारे, सतत Air conditioned room मध्ये बसून काम करणाऱ्या लोकांना पंचकर्म करतांना चिकित्सक वर्गाने वरील परिहार विषयाचा विचार करूनच चिकित्सा करावी या बाबींचा विचार केल्यास यश मिळू शकते अन्यथा लाभ होत नाही म्हणून शास्त्राची हानी होण्याची शक्यता असते.

सद्य काळातील पंचकर्माची संबंध्दता/(Relevance of Panchakarma in present era)

ग्लोबल मार्केटिंगच्या जगात प्रत्येक चिकित्सा पध्दती स्वत:चे अस्तित्व टिकविण्यासाठी स्पर्धा करीत आहेत. आधुनिक चिकित्सा शास्त्रामध्ये प्रचंड क्रांति झाली तरी त्यांनाही मर्यादा पडल्या आहेत त्यामुळेच जग पर्यायी चिकित्सा पध्दतीच्या शोधात आहे. प्रत्येक देश स्वत:च्या चिकित्सा पध्दती आंतरराष्ट्रीय पातळीवर मान्यता मिळविण्यासाठी प्रयत्नशील आहे. यात भारतही मागे नाही. लोकांना जे हवे ते आपण देऊ शकलो नाही तर आपल्यासारखे आपणच कमनशीबी.

पंचकर्म हा आयुर्वेद चिकित्सेचा आत्मा आहे. पंचकर्माशिवाय चिकित्सा जवळपास शून्य आहे. नवीन काळानुसार लोकांच्या सवयी बदलल्या, आहार-विहाराचे नियम बदललेत, ग्लोबल वॉर्मींगच्या प्रभावाने, विज्ञानाच्या प्रगतीने ऋतूचक्र बदलले त्यामुळे आयुर्वेदाला पर्यायाने पंचकर्मालाही थोडेसे लवचीक व्हावे लागेल. या बदलत्या काळात पंचकर्माची संबध्दता आणखी प्रभावी ठरणार आहे.

बदलत्या काळात पंचकर्माच्या आवश्यकतेचे कारण:-

(1) आहारामध्ये Fast food, junk food, विरोधी आहार (Milk shake, mix juices, cold drinks), इ. चे प्रमाण वाढलेले आहे. आहारातील सकसपणा कमी झाला आहे. खाद्य वस्तूंवरील रसायनांचा वापर वाढला.

(2) विहारामध्ये रात्री जागरण - काही सवयींमुळे तर काही व्यवसायामुळे (IT professionals, BPO, MNC मध्ये काम करणारे कर्मचारी), दिवास्वप्न, बैठे काम.

(3) मानसिक - मानसिक तणाव प्रचंड वाढलेला, ऑफीसच्या कामामुळे, आंतरीक कुटूंबातून, पैशाच्या स्पर्धेतून मानसिक तणाव वाढलेला आहे.

(4) बहुदोषाच्या व्याधी

(5) औषधी द्रव्यांचे वीर्य कमी झाले, भेसळ वाढली त्यामुळे शमन चिकित्सेला मर्यादा आल्यात म्हणून शोधन आवश्यक.

(6) Antibiotics, NSAIDS ना मर्यादा, यांच्या सततच्या वापरामुळे, सध्याच्या आहारामुळे शरीरात Toxins पडून असतात. Toxins बाहेर काढण्यासाठी पंचकर्माची मदत होते.

सध्याच्या काळातील सर्वाधिक आढळणारे व्याधी:-

(1) Life style disorders
(2) प्रमेह (Diabetes)
(3) Heart diseases (Heart Attack)
(4) Cancer
(5) Obesity
(6) Hyper tension
(7) Depression
(8) Mental illness
(9) Impotency
(10) Computer syndrome
(11) Spondylitis, arthritis
(12) Digestion upset

पंचकर्माची उपयोगिता:-

वरील सर्व गोष्टींचा विचार करता पंचकर्म आजच्या काळात पावलोपावली उपयुक्त ठरणार आहे यात शंका नाही. शोधन चिकित्सेने शरीरातील Toxin बाहेर काढण्यासाठी मदत होते तसेच बहुदोषाच्या व्याधींवर शोधन चिकित्सा महत्त्वाची ठरणार आहे.

- सद्यकाळातील आजारांची यादी बघता पंचकर्मातील उपकर्माचीही चिकित्सेसाठी मदत होईल. शिरोधारा, सर्वांग धारा, कटिबस्ति, मन्याबस्ति, मात्राबस्ति यांचाही चिकित्सेमध्ये उपयोग केल्याने life style disorders यामध्ये पंचकर्म उपयोगी ठरू शकतो.
- Wellness centre उघडून त्याचे मानांकन (Minimum standard) ठरवून दिल्यास स्वस्थ व्यक्ती व रुग्ण दोन्ही लोकांना सद्यकाळात आपले स्वास्थ्य टिकविण्यासाठी मदत होईल. सोबतच पंचकर्म चिकित्सकांना रोजगाराच्या संधीही उपलब्ध होतील.
- IT companies, Financial Firms, Day-night काम करणाऱ्या, time bound work असणाऱ्या, multi national companies (MNC) सोबत पंचकर्म सेंटर ची सांगड घातली गेल्यास या कंपनीमध्ये काम करणाऱ्या कर्मचाऱ्यांचे स्वास्थ्य टिकवता येऊ शकते पर्यायाने कंपनीच्या कार्याचा लेख (Efficiency performance) वाढवला जाऊ शकतो.
- Medical tourism: - देशाची आर्थिक सुधारणा करण्यासाठी प्रत्येकाचा सहभाग असणे आवश्यक आहे. Medical tourism च्या माध्यमातून पंचकर्माच्या साहयाने 'आर्थिक स्रोत' वाढविण्यासाठी मदत होऊ शकते.
- सौंदर्य चिकित्सा:- आजच्या काळात प्रत्येकजण सौंदर्यासाठी सजग असतो. त्यामुळे त्वचा, केस सौंदर्यवाढीसाठी, तारूण्य राखण्यासाठी पंचकर्माच्या साहयाने चिकित्सा केली जाते. यासाठी शिरोधारा, अभ्यंग, उद्वर्तन, लेप, अवगाह, सर्वागधारा यांच्या साहयाने सौंदर्य चिकित्सेसाठी मदत होते.

पंचकर्म केंद्र (Specification of Panchakarma Theater)

पंचकर्माची बाहेरच्या देशात वाढती लोकप्रियता बघुन आयुष विभागातर्फे जर्मनीमध्ये पंचकर्म केंद्र चालविण्यासाठी मानके ठरविलेली आहेत. आयुर्वेद चिकित्सकाच्या देखरेखी खाली सर्व कर्मे व्हावीत

यासाठी नियमावली तयार केली आहे. पंचकर्म केंद्रांना जर्मनीमध्ये मान्यता देण्यासाठी. Governing Body of IM (Traditional Indian Medicine) ची स्थापना करुन 1 मे 2003 पासून नियमावली प्रसारीत केलेली आहे. (source: www.indianmedicine.nic.in)

पंचकर्म केंद्र : आयुष विभाग, भारत सरकार यांचेकडुन पंचकर्म केंद्राना एक समान गुणवत्तेवर आणण्यासाठी काही निकष लावलेले आहेत त्यानुसार पंचकर्म केंद्राची स्थापना केली जावी पंचकर्माच्या दृष्टीने भारत सरकारद्वारे आणखी ठोस पावले उचलली जात आहेत. ती म्हणजे तारांकीत हॉटेलमध्ये चालणारी स्पा सेंटर आयुर्वेदाच्या अधिपत्याखाली आणण्याचे. मसाज सेंटर च्या नावाने होणारी बदनामी, अशास्त्रीय पद्धतीने चाललेले 'स्पा' मधील कर्म थांबविण्यासाठी निश्चित मदत होईल National Accreditation board of Hospital (NABH) ही संस्था आयुर्वेद हॉस्पीटलला मानांकन देते त्यासाठी काही निकष ठरविण्यात आले आहे.

आयुष विभागाअंतर्गत CS(MA) rules, - 1944, शासकीय कर्मचाऱ्यांना पंचकर्म सुविधा उपलब्ध व्हाव्यात यासाठी आयुर्वेद चिकित्सालय व पंचकर्म केंद्राना मान्यता देण्यात येते यासाठी काही निकष ठरविले आहेत त्यानुसार किमान गुणवत्तेसाठी खालीलप्रमाणे पंचकर्म केंद्राची रचना असावी व किमान उपकरणे कर्मचारी पंचकर्म केंद्रास उपलब्ध असावेत

A) जागा

1) पंचकर्म	1) स्नेहन कक्ष	-	100 स्क्वे. फिट
	2) स्वेदन कक्ष	-	100 स्क्वे. फिट
	3) शोधन कक्ष	-	100 स्क्वे. फिट
	4) इतर कर्म कक्ष	-	100 स्क्वे. फिट
	5) स्टॉफ रुम	-	100 स्क्वे. फिट
	6) प्रसाधन गृह व नहाणीगृह	-	100 स्क्वे. फिट
2) अंत:रुग्णविभाग	1) सामान्यवार्ड	-	600 स्क्वे. फिट (किमान 10 बेड)
	2) स्वतंत्र खाजगी कक्ष	-	200 स्क्वे. फिट (किमान 4)
	3) उपखाजगी कक्ष	-	200 स्क्वे. फिट (2 बेड युक्त)
		-	300 स्क्वे. फिट (3 बेड युक्त)
3) बाह्य रुग्ण		-	300 स्क्वे फिट
4) औषधी निर्माण व भांडार		-	300 स्क्वे फिट
5) औषधी वितरण कक्ष		-	200 स्क्वे फिट
6) स्वयंपाक खोली		-	100 स्क्वे फिट

B) कर्मचारी

1) पंचकर्म विशेषज्ञ (स्त्री व पुरुष) - 2
2) निवासी/वैद्यकीय अधिकारी - 1
3) पंचकर्म सहाय्यक - 4
4) स्टॉफ नर्स - 4 (round the clock)
5) कल्पक (pharmacist) - 2
6) Sanitation staff - 1
7) लिपिक (clerk cum record keeping) - 1
8) स्वयंपाकी (kitchen staff) - आवश्यकतेनुसार

C) उपकरणे

1) पंचकर्म टेबल (लाकडी/फायबर)अभ्यंग/पिझिंचल
2) पंचकर्म टेबल
3) स्वेदन यंत्र
4) शिरोधारा यंत्र
5) बस्तियंत्र
6) द्रोणी/Bath tub
7) गिझर
8) स्नानासाठी tub
9) Physiotherapy instruments
10) Hot Plate
11) पातले आवश्यकतेनुसार
12) weighing machine
13) अवगाह स्वेद यंत्र (spinal bath tub)
14) Steam inhaler
15) नस्यपीठ
16) नस्ययंत्र/गोकर्ण
17) Proctoscope
18) Diagnostic sets
19) रक्तमोक्षणासाठी यंत्र व शस्त्र, जलौका
20) वमनपीठ

वरील साधन व बांधकाम किमान आहेत. योग्य संपूर्ण सोयीयुक्त पंचकर्म केंद्रासाठी पुरुष व स्त्री पंचकर्माची स्वतंत्र व्यवस्था असणारी इमारत असावी प्रत्येक कर्मासाठी स्वतंत्र कक्ष असावेत. ते पूर्णत: सुसज्ज असावेत. खालील दर्शविलेल्या आराखड्याप्रमाणे पंचकर्माची रचना केल्यास उत्तम पंचकर्म केंद्र निर्माण होऊ शकेल.

D) आवश्यक औषधी द्रव्य

तैल

1) धन्वन्तरम तैल
2) बला तैल
3) चंदन बला लाक्षादि तैल
4) सहचरादि तैल
5) चंदनादि तैल
6) एरण्ड तैल
7) पिण्ड तैल
8) क्षीर बला तैल
9) षडबिंदू तैल
10) सैंधवादि तैल
11) विषगर्भ तैल
12) महामाष तैल
13) नारायण तैल
14) महनारायण तैल
15) निर्गुण्डी तैल
16) पंचगुण तैल
17) ब्राह्मी तैल
18) कार्पास्यादि तैल

घृत

1) पंचतिक्त घृत 2) महातिक्तक घृत 3) फलघृत
4) कल्याणघृत 5) त्रिफलाघृत 6) ब्राह्मीघृत
7) दाडिमादिघृत 8) धान्वन्तरघृत 9) इंदुकान्ताघृत
10) जात्यादिघृत 11) कंटकारीघृत 12) वासाघृत
13) सुकुमारघृत

चूर्ण

1) सैंधव 2) हिंग्वाष्टक 3) लवणभास्कर
4) टंकण 5) मधुयष्टी 6) गिलोय
7) त्रिकटू 8) हरिद्रा 9) रास्नादि चूर्ण
10) अविपत्तिकर 11) त्रिफला चूर्ण 12) निशोथ चूर्ण
13) वचा चूर्ण 14) मदनफल 15) पंचसकार
16) शतपुष्पा 17) कट्फल 18) मरिच
19) मयुरपिच्छामषी

यवकूटचूर्ण

1) मधुयष्टी 2) अश्वगंधा 3) एरंडमूल
4) बलादियापन 5) मुस्तादियापन 6) दशमूल
7) सहचरादि 8) पंचतिक्त 9) पिच्छाबस्ति
10) निम्बपटोलादि 11) मदनफल 12) क्षीरबलादि
13) गिलोय 14) कुलत्थ

लेप

1) दशांग लेप 2) कोलकुलत्थादि 3) कोट्टमचुकादि

वटी

1) शंखवटी 2) चित्रकादिवटी 3) सुतशेखर
4) संजीवनी 5) इच्छाभेदी 6) अभयादि मोदक
7) धन्वंतर गुटीका

रसौषधी

1) हेमगर्भ पोट्टली रस 2) बोलबद्ध रस 3) निद्रोदय रस
4) कस्तूरी भैरव रस 5) प्रवाळ पिष्टि

अवलेह

1) त्रिवृत्त अवलेह 2) कल्याणक अवलेह

2 स्नेहन (Oleation Therapy)

स्नेहन हे शोधनातील पूर्वकर्म आहे. पंचकर्माच्या सिध्दांतानुसार कुपीत दोषांचे शोधन करण्यासाठी त्यांना कोष्ठात आणने गरजेचे असते. त्या दोषांना कोष्ठात आणण्याचे साधन 'स्नेहन' आहे. स्नेहन ज्या प्रमाणे पूर्वकर्म आहे त्याचप्रमाणे प्रधान कर्मही आहे. ज्या प्रमाणे शुष्क काठी (लाकूड) स्नेहन-स्वेदन न करता वाकवण्याच्या प्रयत्न केल्यास तुटते त्याचप्रमाणे शरीरास स्नेहन स्वेदनाशिवाय शोधन केल्यास शरीर विदीर्ण होऊ शकते (अ.हृ.सू. 18-59). आयुर्वेदामध्ये स्नेहास आहार व औषध म्हणून फार महत्त्व दिले आहे. वातासाठी तिल तैल व पित्तासाठी गोघृत उत्तम औषध आहे. ज्या ठिकाणी कफ प्राधान्य आहे त्या ठिकाणी संस्कारीत स्नेहनाने चिकित्सा केली जाते.

निरूक्तिः-

1. 'स्निह्' धातु + णिच, ल्यूट प्रत्यय - स्नेहन, अभ्यंग
2. स्निग्ध + घञ = स्नेह (पु.) अर्थ - प्रेम

व्याख्याः- स्नेहनं स्नेह विष्यन्दं मार्दवं क्लेदकारकम् (च.सू. 22/11)

ज्या क्रियेद्वारे शरीरामध्ये स्निग्धता निर्माण होऊन, दोषांचे विष्यंदन होते, शरीरास मृदूता व क्लेदता उत्पन्न होते त्याला स्नेहन म्हणतात. वास्तविक विष्यंद, मार्दव व क्लेद उत्पन्न होणे स्नेहनाचे कार्य आहेत.

स्नेह द्रव्यांचे गुण

द्रवं सुक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरू शीतलं ।
प्रायो मंदं मृदू च यत् द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् ।। **च.सू. 22/15**
गुरू शीत सर स्निग्धं मंदं सुक्ष्म मृदू द्रव । **अ.हृ.सू. 16/1**

सामान्यतः स्नेह द्रव्यांमध्ये खालीलप्रमाणे गुणधर्म असतात.

(1) द्रव (3) सर (5) पिच्छिल (7) शीत (9) मृदू
(2) सुक्ष्म (4) स्निग्ध (6) गुरू (8) मंद

1. **द्रवः-** जल प्राधान्य शरीरात क्लेदनता उत्पन्न करणारा गुण. या गुणामुळे दोषांचे विलयन व प्रसरण करण्याचे कार्य होते. तसेच शरीरावर स्नेह द्रव्य शीघ्रतेने प्रसरण होते. या गुणामुळे दोषांना विलयन करून कोष्ठात आणण्याचे कार्य होते.

   महाभूत प्राधान्य - जल

2. **सुक्ष्मः-** स्नेहाच्या सुक्ष्म गुणामुळे स्नेह स्रोतसामध्ये सहजतेने प्रवेश करून अणु स्रोतसापर्यन्त कार्य करण्याची क्षमता असते.

   महाभूत प्राधान्य - आग्नेय, आकाश, वायू.

3. **सरः**- सर गुण हा गतीचा द्योतक आहे. द्रव गुणांप्रमाणेच स्नेहाचे प्रसरण होऊन दोषांचे विलयन करण्याचे व त्यांना कोष्ठगत आणण्याचे कार्य या गुणामुळे होतात.

4. **स्निग्धः**- स्नेहाचा प्रमुख गुण असुन शरीरात स्निग्धता, कोमलता आणण्याचे कार्य या गुणामुळे होते. स्निग्ध गुण वातनाशक व कफकर असुन वर्ण्यकर आहे. स्निग्ध गुणामुळे दोषांचे विलयन व क्लेदन होण्यास मदत होते.

5. **पिच्छिलः**-विशद गुणाच्या विपरीत लेपन करणारा गुण आहे (सु.सू. 41/41). या गुणामुळे आवरण करण्याची क्षमता असते. पिच्छिल गुणामुळे स्नेह द्रव्य दृढतर, जीवन वाढविण्याचे कार्य करतात (सु.सू. 46/51)

   महाभूत प्राधान्य - जल

6. **गुरूः**- गौरवता उत्पन्न करणारा गुण, पचनासाठी जड, स्नेहाची मात्रा ठरवतांना या गुणाचा विचार करणे आवश्यक. स्नेहाच्या गुरू गुणांमुळे स्नेहपान काळात लघू आहार सांगितला आहे.

   महाभूत प्राधान्य - पृथ्वी

7. **शीतः**- शीतलता उत्पन्न करणारा आल्हादकर, तृष्णाहरण, दाहप्रशमन, स्वेदहर व मूर्च्छाहर कार्य करणारा गुण. शीत गुणाच्या स्तम्भन कार्याने शरीरावयवांस स्थिरत्व व दृढता प्रदान करण्याचे कार्य होते.

   महाभूत प्राधान्य - जल

8. **मंदः**- मंदत्व, हळुहळू कार्य करणे, दोषांचा प्रक्षोभ रोखण्याचे कार्य मंद गुणांमुळे होते. स्नेह द्रव्य दोष-धातु-मलासोबत अधिक काळापर्यन्त थांबविण्याचे कार्य मंद गुणामुळे होते.

   महाभूत प्राधान्य - जल

9. **मृदूः**- शरीरास कोमलता प्रदान करण्याचे कार्य या गुणामुळे होते. मृदू गुणामुळेच दोष स्रोतसांमधून सहजतेने विचलीत होऊन कोष्ठाकडे येतात.

   महाभूत प्राधान्य - जल, आकाश

स्नेह द्रव्य सुक्ष्मातिसुक्ष्म स्रोतसांमध्ये जाऊन दोषांचे शमन करण्याचे कार्य किंवा शोधनासाठी वाढलेल्या दोषांचे विलयन करून कोष्ठाकडे आणण्याचे कार्य करतात. वरील गुण कमी-अधिक मात्रेत सर्व स्नेह द्रव्यात असतात. त्यांच्या या गुणांच्या अधिकता व न्यूनतेचा विचार करून रुग्ण, व्याधी, दोष, अग्नि इ. च्या विशेषतेनुसार स्नेहद्रव्यांची निवड करणे आवश्यक असते.

स्नेह भेद (Classification)

I) **योनिभेदानेः**- 'योनि' चा अर्थ 'उत्पत्ती'. उत्पत्तीच्या आधारावर स्नेह द्रव्यांचे दोन प्रकार आहेत.

   i) स्थावर स्नेह ii) जांगम स्नेह.

i) **स्थावर स्नेह (Plant Origin):-** ज्या स्नेहांची उत्पत्ती वनस्पतींपासून होते त्यास स्थावर स्नेह म्हणतात. उदा. तिल तैल, एरंड तैल, करंज तैल.

'तैल' ही संज्ञा 'तिल' पासून उत्पन्न झाली आहे. मात्र सर्व प्रकारच्या वनस्पतीजन्यं स्नेहांना 'तैल' ही संज्ञा रूढ झाली.

स्नेहाशय:-ज्या वनस्पतींपासून स्नेह प्राप्त होते त्यास 'स्नेहाशय' म्हणतात.

आचार्य चरकांनी 18 स्नेहाशय वर्णन केलेले आहेत. (च.सू. 13/10-11)

(1) तिल	(2) बिल्व	(3) अभिषुक	(4) अरूक (भल्लातक)
(5) प्रियाल	(6) मूलक	(7) विभीतक	(8) अतसी
(9) चित्रा (दंती)	(10) निकोष्टु	(11) एरण्ड	(12) अखरोट
(13) सर्षप	(14) करंज	(15) कुसुम्भ	(16) शिग्रु
(17) मधुक	(18) अभया (सविस्तर वर्णन तालिकेमध्ये)		

आचार्य सुश्रुतांनी वनस्पती स्नेह कर्माच्या आधारावर वर्णीले आहेत.

तत्र तिल्वकैरंड ..... दद्रु कुष्ठकिटिभेषु ।सु.चि. 31/4

(1) **विरेचनार्थ:-** तिल्वक, एरण्ड कोशाम्र, जयपाल, द्रवन्ती, शंखिनी, विषाणिका, इंद्रायण, अमलतास, नलिनी जनरल प्रॅक्टीसमध्ये प्रामुख्याने एरण्ड, जयपाल, अमलतास यांचा उपयोग केला जातो.

(2) **वमनार्थ:-** जीमुतक, कुटज, कृतवेधन, इक्ष्वाकु, मदनफल

(3) **शिरोविरेचनीय:-** विडंग, खरमंजिरी, ज्योतिष्मती, सर्षप

(4) **दुष्टव्रणासाठी:-** करंज, कृतमाल, किराततिक्त, मस्तुलुंग

(5) **कुष्ठ (महाव्याधी):-** तुवरक, कपित्थ, भल्लातक, पटोल, कम्पिल्लक

(6) **मूत्रसंग:-** काकडी, खीरा, तुम्बी, कुष्मांड

(7) **अश्मरी:-** ब्राह्मी, बाकुची, हरीतकी

(8) **प्रमेह:-** सर्षप, कुसुंभ, पिचुमर्द, कडूतुंबी, अपराजिता, निम्ब

(9) **पित्तसंसृष्ट वायू :-** ताल, नारिकेल, फणस, केळ, बिल्व, मधूक, श्लेष्मांतक

(10) **कृष्णीकरणार्थ (In Hypopigmention):-** श्वित्र, दग्धव्रणाच्या उपद्रव स्वरूप श्वेत त्वचेसाठी, विभीतक, भल्लातक, मदनफल

(11) **पाण्डूकरणार्थ (In Hyperpigmentation):-** श्रवण, प्रियंगू, श्योनाक

(12) **दद्रु किटिभ कुष्ठ (Ringworm, scaling condition):-** देवदारू, शीशम, अगरू

वरील स्नेहाशयाचा व्याधी व रुग्ण यांचा विचार करून द्रव्यांचा स्नेह काढून किंवा द्रव्याने स्नेह

सिध्द करून चिकित्सेसाठी वापरावा. या व्यतिरिक्त चिकित्सकांनी आपल्या विवेकाने रुग्ण, व्याधींचा विचार करून द्रव्यांच्या गुण कर्मानुसार सिध्द स्नेह पंचकर्मासाठी उपयोगात आणावा.

ii) **जांगम स्नेह (Animal Origin):-** जो स्नेह प्राण्यांपासून प्राप्त केला जातो त्यास जांगम स्नेह म्हणतात. दूध, दही, घृत, वसा, मज्जा इ. चा स्नेह प्रयोग चिकित्सेत केला जातो. पशु, पक्षी, मत्स्य यांच्यापासून जांगम स्नेहाची प्राप्ती केली जाते. (च.सू. 13/11)

चरकोक्त स्नेहाशय तालिका

द्रव्यनाव (स्नेहाशय)	Latin Name	गुण	रस	विपाक	वीर्य	गुणधर्म	विशेष उपयुक्तता
तिल	*Sesamum indicum*	गुरु, स्निग्ध	कटु, तिक्त, मधुर, कषाय	मधुर	उष्ण	उष्ण, त्वच्य, कफ-पित्त नाशक, वातघ्न	केश्य, बल्य, दीपन, वृष्य
प्रियाल	*Buchanania lanzan*	स्निग्ध, गुरु, सर	मधुर	मधुर	शीत	स्निग्ध, विकटंभी, जामवर्धक, हृदय वात पित्त शामक	उदर्दप्रशमन, कुष्ठघ्न
अभिषुक द्रव्य	औतरपथिक (चक्रपाणि) काबुली पिस्ता	–	–	–	–	–	–
बिभीतक	*Terminalia bellirica*	रुक्ष, लघु	कषाय	मधुर	उष्ण	उष्णवीर्य, लघु भेदन, वातकफ शामक	छेदन(श्लेष्मर) कृमिघ्न
चित्रा 1) लोहित एरण्ड	*Ricinus communis*	सूक्ष्म स्निग्ध तीक्ष्ण	मधुर, कषाय	मधुर	उष्ण	उष्ण, गुरु, वातघ्न शूलघ्न, विड भेदन	वेदनारथापन भेदन, कृमिघ्न आमपाचन
2) जयपाल	*Croton tiglium*	गुरु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कटु	कटु	उष्ण	तीक्ष्ण, उष्ण, सारक दीपन, पितघ्न	तीक्ष्णविरेचन लेघन, विषघ्न
अभया	*Terminalia chebula*	लघु, कक्ष	लवणवर्ज्य पंचरस कषाय	मधुर	उष्ण	उष्ण, रुक्ष, अनुलोमन, बृहण	रसायन वेदनास्थापन, बल्य मृदुरेचन, कुष्ठघ्न
एरण्ड	*Ricinus Communis*	सूक्ष्म, स्निग्ध, तीक्ष्ण	मधुर, कषाय	मधुर	उष्ण	उष्ण, रुक्ष, वातघ्न, शूलघ्न, विड्भेदन	वेदनास्थापन, भेदन, कृमिघ्न आमपाचन

मधूक	*Madhuca indica*	गुरु, स्निग्ध	मधुर	मधुर	शीत	शीत, गुरु, वातपित्तनाशक बृहण	बृहण, कोहन, वृष्य, आर्तवजनन
सर्षप	*Brassica Compestris*	तीक्ष्ण, रुक्ष (शाक), स्निग्ध (बीज/तैल)	कटु, तीक्त	कटु	उष्ण	स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, कफवातनाश	कण्डूघ्न, प्लीहनाशन दीपन, विदाही, गर्भाशयोत्तेजक
कुसुम्भ	*Carthamus Tinctorius*	लघु, स्निग्ध	कटु, तीक्त	तीक्त	उष्ण	वातकारक, कफनाशक	रक्तपित्तशामक
बिल्व	*Aegle marmelas*	लघु, रुक्ष	कषाय	कटु	उष्ण	रुक्ष, लघु,	ग्राह्री, बल, पाचन, रक्तस्तम्भन
अरुक	औतरपथिक द्रव्य(चक्रपाणि) भल्लातक(गंगाधर) *Semecarpus anacardium*	लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण	कटु, तीक्त, कषाय	मधुर	उष्ण	लघु, उष्ण, वातकफघ्न	कुष्ठघ्न, भेदन, छेदन, स्वेदजनन
मूलक	*Raphanus Sativus*	तीक्ष्ण, लघु	कटु	कटु	उष्ण	तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, पाचन, त्रिदीषघ्न	अश्मरीहर, कर्णशूलहर सारक, लेखन
अतसी	*Linum Vsitatissi-mmum*	गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल	मधुर,	कटु तीक्त	उष्ण	स्निग्ध, उष्ण कफपितघ्न	मृदुविरेचन मूत्रल, शुक्रनाशक
निकोठक	*Alangium Salvitolium*	लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर	कटु,	कटु कषाय	उष्ण	स्निग्ध, उष्ण, लघु, रेचन, कफपित्तघ्न	विषघ्न, प्रवरोपन, रक्ताभार, दाहप्रशमन
अक्षोड	*Jugelans regia*	गुरु, स्निग्ध	मधुर	मधुर	उष्ण	कफपित्तकृत	बुहण, वृष्य, बल्य अनुलोमक
करंज	*Pongamia Pinnata*	लघु, तीक्ष्ण	तीक्त, कटु, कषाय	कटु	उष्ण	उष्ण, तीक्ष्ण, कफनाशक, भेदन	कण्डूघ्न, शिरोविरेचन कासदर, मूत्रसंग्रहणीय
शिग्रु	*Moringa oleifera*	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कटु, तीक्त	कटु	उष्ण	तीक्ष्ण, उष्ण लघु, अग्निदीपन कफवात शामक	स्वेदोपग, शिरोविरेचन, सारक कुष्ठघ्न, चक्षुष्य

स्नेहन प्रकार

शरीरावर स्नेहाचा उपयोग करण्याच्या पध्दतीनुसार स्नेहनाचे दोन प्रकार पडतात.

(A) **बाह्य स्नेहन:**- स्नेहाचा बाह्यत: उपचार पध्दतीसाठी वापर केला जातो. उदा. अभ्यंग, लेप, मर्दन, उद्वर्तन, संवाहन, पादाघात, कर्णपूरण, अक्षितर्पण, शिरोमस्तिष्क.

(B) **आभ्यन्तर स्नेहन:**- स्नेहनासाठी आभ्यन्तरत: स्नेह प्रयोग केला जातो. उदा. पान, नस्य, बस्ति.

आभ्यन्तर पानाचे त्यांच्या कर्मानुसार 3 प्रकार आहेत:

(1) **शोधनार्थ स्नेहन:**- दोषांना बाहेर काढण्यासाठी ज्या स्नेहाचा वापर केला जातो त्यास शोधन स्नेह म्हणतात. उदा. वमनोपयोगी, विरेचनापयोगी किंवा नस्यार्थ ज्या स्नेहाचा वापर केला जातो.

दुसऱ्या अर्थाने शोधनार्थ स्नेहन म्हणजे पूर्वीचा अन्न पचल्यानंतर उत्तम मात्रेमधे शोधनासाठी अच्छ स्नेह देणे होय. (अ.हृ.सू. 16/18) अशाप्रकारे उत्तम मात्रा वमन विरेचनाच्या पूर्वकर्मामध्ये दोषांना उत्क्लिष्ट करण्यासाठी दिली जाते.

(2) **शमनार्थ स्नेहन:**- दोषांना शमन करण्यासाठी मध्यम मात्रेत दिलेले स्नेह शमन स्नेह होय. शमनासाठी स्नेह पूर्वीचे अन्न पचल्यानंतर रुग्णास क्षुधा असतांना अच्छस्नेह पान केले जाते. (अ.हृ.सू. 16/19). उदा. मूत्रसंग, कुष्ठ, दुष्टव्रण, अश्मरी इ. मधे स्नेह.

(3) **बृंहणार्थ स्नेहन:**- या स्नेहनाने शरीराचे बल वाढविले जाते व शरीर पुष्ट केले जाते यास बृंहण स्नेह म्हणतात. बृंहण स्नेह अल्प मात्रेत मांसरस, भोजन या सोबत दिले जाते. बृंहणार्थ स्नेह बाल, वृध्द, कृश, पिपासीत, स्नेहद्विष्ट, मद्यपी, मैथूनप्रसक्त, मृदूकोष्ठीमध्ये दिले जाते.

स्नेहपाक व उपयोगिता

क्वाथ, स्वरस, दुग्ध इ. औषधी द्रव्यांना घृत वा तैला मध्ये शिजविण्याची क्रिया 'स्नेहपाक' होय.

घृत व तैल सिध्द केल्याने त्या त्या द्रव्यांचे गुणधर्म स्नेहामध्ये विलीन होतात व द्रव्यांच्या गुणानुसार घृत तैल कार्य करतात म्हणून स्नेहपाक अर्थात सिध्द स्नेह चिकित्सेमध्ये फार उपयुक्त आहेत.

स्नेहपाक करण्यासाठी स्नेह, कल्क व द्रव आवश्यक असतात. स्नेहपाकासाठी सामान्यता एक भाग कल्क, चार भाग स्नेह व सोळा भाग द्रव द्रव्ये घेवून त्याचा पाक करावा. (शा.म.ख. 3/1)

स्नेहपाकासाठी क्वाथ:- क्वाथ्य द्रव्यांच्या चार पट जलाने क्वाथ तयार करावा, चतुर्थांश शेष असल्यानंतर क्वाथास गाळून घ्यावे. क्वाथ तयार करतांना मृदू द्रव्यांस चारपट, कठिण द्रव्यांस आठपट व अत्यंत कठिण द्रव्यांस सोळापट पाण्याने सिध्द करावे.

स्नेहपाक विधी:- कल्क, स्नेह व द्रव पदार्थ यांना एका पातेल्यामध्ये घेऊन मंद आचेवर शिजविण्यास ठेवावे. फळीद्वारे वारंवार शिजत असलेल्या स्नेहास हलवत राहावे. स्नेहपाकाचे सम्यक लक्षणे आल्यानंतर अग्नि बंद करून शीत होऊ द्यावे. शाङ्र्गधरानुसार घृत, तैल एकाच दिवशी तयार करू नये. पहिल्या दिवशी थोडा पाक करून दुसऱ्या दिवशी उर्वरीत पाक पूर्ण करावा. रात्रभर ठेवल्याने स्नेहामधे विशेष गुण येतात. (शा.म.खं. 9/18)

सम्यक स्नेहपाक लक्षणे:-

(1) वर्तिवत् स्नेहकल्क :- स्नेहकल्काचा अंगूलिद्वारे मर्दन केल्यास वर्ती तयार होते.

(2) शब्दहीन अग्नी:- स्नेहास अग्नीवर टाकल्यास किंवा वर्ती अग्नीवर ठेवल्यास 'चट्चट्' आवाज न होणे.

(3) तेलामध्ये फेन येण्यास सुरूवात होणे किंवा घृतामध्ये फेन शांत होणे व योग्य गंध, वर्ण, रसाची उत्पत्ती होणे सम्यक स्नेहपाकाची लक्षणे आहेत.

स्नेहपाक भेद:- स्नेहपाकाचे तीन प्रकार आहेत:

(1) मृदूपाक

(2) मध्यम पाक

(3) खरपाक

वाग्भटांनी मंदपाक, चिक्कणपाक व खरचिक्कण पाक असे नामाभिदान केले आहे. हे अनुक्रमे मृदू, मध्यम व खरपाक आहेत.

शास्त्रकार	मृदूपाक गुण लक्षण	उपयोग	मध्यमपाक गुण लक्षण	उपयोग	खरपाक गुण लक्षण	उपयोग
चरक	कल्क व स्नेह वेगळे	नस्य	कल्क कोमल व सांद्र	पान बस्ती	कल्क दाबल्याने वर्ती तयार होते	अभ्यंग
सुश्रुत (सु.चि. 31/11)	स्नेहन कल्क पृथक	पान	कल्क मोम समान निर्मल	अभ्यंग नस्य	औषधी दग्ध, कृष्ण वर्ण	बस्ती, कर्णपूरण
वाग्भट अ.हृ.सू. 6/19-20	औषधी व कल्क समान, वर्ती निर्माण न होणे	नस्य	हलव्याप्रमाणे कल्क	पान बस्ती	कृष्ण	अभ्यंग
शाङ्र्गधर शा.म. 9/14-17	कल्क रस युक्त	नस्य	कल्क रस रहीत व कोमल	पान, बस्ती	कल्क कठीण	अभ्यंग

मृदूपाकाच्या पूर्वीची अवस्था आमपाक होय तर खरपाकाच्या नंतरची अवस्था दग्धपाक होय. या दोन्हींचा चिकित्सेत उपयोग नाही. वरील आचार्यांच्या स्नेहपाकाचा तुलनात्मक अभ्यास केल्यास शाङ्र्गधरांनी सरळ व सोप्या भाषेत स्नेहपाकाविषयी वर्णन केलेले आहे व ते अधिक व्यवहारीक (Practical) आहे.

चतुर्विध स्नेह/उत्तम स्नेह

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।

तथापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ।। अ.हृ.सू. 16/2

घृत, मज्जा, वसा व तैल हे उत्तम स्नेह आहेत. यात सर्वश्रेष्ठ घृत आहे कारण संस्काराने घृतामध्ये द्रव्यांचे गुण येतात. घृत एक प्रकारे गुणांचा वाहक (vehicle) म्हणून कार्य करतो.

उत्तम स्नेहामध्ये सर्पि, मज्जा, वसा व तैल यथा पूर्व पित्तघ्न आहेत. अर्थात घृत अधिक पितघ्नं आहे, त्यामानाने मज्जा कमी पित्तघ्न, त्यापेक्षा वसा कमी पित्तघ्न आहे. तैल पित्तघ्न नाही. याच्याच विपरीत मज्जा वातघ्न, मज्जापेक्षा वसा अधिक वातघ्न व वसापेक्षा तैल अधिक वातघ्न आहे.

पचनासाठी घृतापेक्षा तैल गुरू, तैलापेक्षा वसा गुरू व वसापेक्षा मज्जा गुरू आहे.

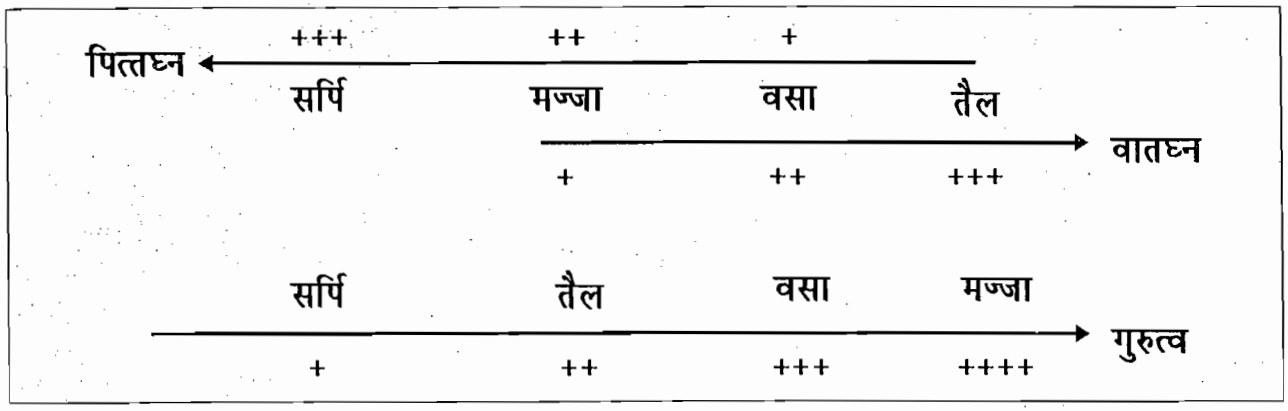

घृत

घृत हा दूधाचा विकार आहे. गाय, अजा, माहिष यांच्या दूधापासून तयार केलेल्या घृतांमध्ये गोघृत सर्वश्रेष्ठ आहे. एक वर्ष जुन्या घृतास पुराणघृत म्हणतात. दोषानुसार गुणानुसार सिध्द करून चिकित्सेमध्ये सिध्द घृत वापरले जातात. उदा. ब्राह्मीघृत, त्रिफलाघृत इ.

गुण:-

(1) पित्त वात शामक

(2) वर्णप्रसादक

(3) रस, शुक्र व ओजवर्धक

(4) अग्निदीपक

(5) बलवर्धक

(6) बुध्दी, स्मृती वर्धक

(7) मृदूकर

उपयुक्तता-स्नेहनार्ह:-

(1) वात-पित्तज व्याधी
(2) दृष्टी क्षमता अल्प (e.g- macular degeneration)
(3) बालक, वृध्द, स्त्री
(4) संतानेच्छुक
(5) धी, धृती, मेधा इच्छिणारे
(6) कफाधिक्य (क्षार त्रिकटू युक्त घृत)
(7) बुध्दीचे कार्य अधिक करावे लागते अशा लोकांमध्ये (e.g. तत्वचिंतक, psychiatric patients)
(8) रूक्ष व्यक्तींमध्ये

घृतपानासाठी उत्तम काल:- शरद ऋतू

मात्रा:- स्वास्थ रक्षणार्थ - बालक - 25 ग्रॅम प्रतिदिन
स्त्री - 35 ग्रॅम प्रतिदिन
पुरुष - 50 ग्रॅम प्रतिदिन
औषधी मात्रा - 50 ग्रॅम प्रतिदिन

Physical properties of Ghee:-

Sr.No.	Properties	Cow Ghee	Buffalo Ghee
1.	Moisture	0.24%	0.21%
2.	Colour unit	15.90	3.56
3.	Butyro refracto meter value	42.31	41.52 at 400 C
4.	Melting point	34.20 C	35.80 C
5.	Specific gravity	0.8988	0.9161
6.	Viscosity	29.8624 to 30.893	

Chemical composition:-

Constituents	Cow Ghee	Buffalo Ghee
Saponifiable constituents		
1. Fat	99 - 99.5	99 - 99.5
2. Salts Cu, Fe	Traces	Traces
3. Saturated fat	NA	46
4. Cis-monoene	NA	29
5. Trans-monoene	NA	7
6. Diene	NA	13
7. Polyene	NA	5

Constituents	Cow Ghee	Buffalo Ghee
Triglycerides		
1. Short chain	36 - 40	43 - 49
2. Long chain	62.4	54.7
3. Trisaturated	32 - 42	32 - 47
4. High melting	3 - 7	6 - 12
5. Unsaturated	54.5	56
Partial glycerides		
1. Diglycerides	4.3	4.5
2. Monoglycerides	0.7	0.6
3. Phospholipids	3.8	42.5
Total cholesterol	330	275
1. Lutiene (µg)	4.2	3.1
2. Carotene(µg)	7.2	0
3. Vit.A (µg)	9.2	9.5
4. Vit.E (µg)	30.5	26.4
5. Ubiquinone (µg)	5	6.5
6. Total free fatty acids (mg)	5.99-12.29	5.83-7.58
7. Total lactones (µg)	30.3	35.4

Ghrita is complex lipid having combination of glycerides, phospholipids, sterol, fat soluble vitamins A,D,E,K carbonyls, hydrocarbon, small traces of Ca, phosphorous, iron, zinc, carotinodes (present only in cow ghee).

Action of Ghee:-

- Short chain fatty acids easily metabolized and release the energy.
- Long chain fatty acids are not completely metabolized, responsible for thrombosis and cancer.
- Monosaturated fat considered to be very healthy and resistant to oxidation. High quantity associated with heart disease.
- Lauric acid present in cow ghee (2.70) has antimicrobial activity and able to raise metabolism. It releases enzyme in intestinal tract which activate thyroid and promotes weight loss because it is a healthy medium chain fatty acids.
- Myristic acid (11.80%) enhances immune system

- Palmitoleic acid (3.3%) omega 6-monounsaturated fatty acid has antioxidant property and delaying age (रसायन) caused by free radicals. It prevents damage of heart to maintain BP through production of nitric oxide.
- Stearic acid (12.5%) acts as lubricant and soften the tissues.
- Oleic acid (26.2%) Omega 9 fatty acid help in boosting memory.
- Rita Rani & Vinod K. Kansal reported anticancerous property of cow ghee in their study. Carcinogen detoxification activities of uridinediphospho glycuronosyl transferace (UDPGT) and quinone reductase (QR) in liver and γ-glutamyltraspeptidase (GTP) and QR in mammary tissue were significantly higher in cow.
  [Rita Rani and Vinod K. Kansal, Indian Med. Res., 2012; 136 (3): 460-PMCEDI PMC 35010893]

तैल

तेलाचा पंचकर्मातील क्रियांमध्ये सर्वाधिक उपयोग केला जातो. 'तैल' या शब्दाचा अर्थ सामान्याने 'तिल' तैल असा होतो.

गुणधर्म:-

रस - मधूर

विपाक - मधूर

वीर्य - उष्ण

गुण - उष्ण, तीक्ष्ण, मधूर, सुक्ष्म, विशद, विकासी

कर्म - स्नेहन, लेखन

(1) वात-कफ नाशक
(2) लेखन कार्य
(3) कृमीघ्न
(4) शूलघ्न
(5) मूत्रावरोधक
(6) मार्दवकर
(7) रोपण कार्यकरणारा

उपयोगिता/स्नेहनार्ह:-

ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारूतरोगिषु। तैलं लाघवदाढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषुदेहिषु।। अ.हृ.सू. 16/9

प्रवृध्दश्लेष्म ..... नाडीभिरर्दिता।। च.सू. 13/44-45

(1) ग्रंथी व्याधींमध्ये (glands, tumors)
(2) नाडीव्रणामध्ये (fistula/sinuses)
(3) कृमी (parasites)
(4) कफ मेदोरोगी
(5) वातव्याधींमध्ये उपयुक्त
(6) क्रुरकोष्ठी पुरूषांमध्ये
(7) बलवर्धनासाठी व शरीरासस्थिरत्व देण्यासाठी
(8) स्थौल्य रुग्णांमध्ये (obese)
(9) प्रमेहामधे (Diabetes insipidus)

तैलपानासाठी उत्तम काल:- वर्षाऋतूची सुरूवात (प्रावृट्)

Sesame oil is a power antioxidant, high source of Vit E, phytoestrogen (lignan) and low in saturated fat having property of anti-cholesterol agent.

Composition:-

Energy	-	884 Kcal
Carbohydrate	-	Nil
Protein	-	Nil
Fat	-	100%
Saturated	-	14.6%
Monosaturated fatty acid (MUFA)	-	39.7%
Poly unsaturated fatty acid	-	41.7%
Vit E	-	4%
Vit K	-	13.6 mcg

Fatty acid constituents:-

Palmitic	-	7-12%
Palmitoleic	-	0.5%
Stearic	-	3.5-6%
Oleic	-	35-50%
Linoleic	-	35-50%
Linolenic	-	1%
Eicosenoic	-	1%

The Sesame oil has a high percentage of PUFA (omega-6-fatty acid) and it keeps in room temperature because it contains sesamol and sesamin which are natural preservatives. The study suggested that the presence of high level PUFA and compound of sesamin, lignan in oil help to control blood pressure. Sesame, lignans inhibit the synthesis and absorption of cholesterol. [eurekalerl.org/pub-releases/2003-04]

It is also suggested that it has antibacterial effect & slowing down certain types of cancer.

Shankar D *et al* (2006)* reported in their pilot study that sesame oil has antihypertensive, antidiabetic properties. In this study sesame oil was supplied to the volunteers with mild to moderate HT & DM. They were instructed to use sesame oil cooking for 45 days. After analysis body weight, girth of waist: hip, waist: hip ratio, BMR were reduced, plasma glucose, HbA1C, TC, LDL, TG were decreased, while activities of enzymic and level of non-enzymic antioxidants were increased. So sodium level decreased and Sr. potassium level were increased. [* Shankar D *et al*, Med food, 2006 fall; 9(3) 408-12]

Sesame oil has antiaging effect (रसायन) as sesame lignans are having synergistic effect with vit.E which prevents the breakdown of the vitamins.

On the skin, fat soluble toxins are attracted to the sesame oil molecules which can be washed by hot water.

The study was conducted to investigate the acute and long term effect of sesme oil. The findings revaled that in the acute phase, peripheral and aortic BP decreased after 1 hour of

consumption. In the long term phase peripheral systolic BP(pspp) was reduced in first 15 days, assessment of arterial stiffness and pulse waves reveled. Heart rate corrected. Augmentation Index (AI) was reduced and TAC was elevated which proves the significant effect of sesame oil in human hemodynamics. In vitro studies, it is documented that sesamin may enhance nitric oxide (NO) production and inhibit enothelin-1 synthesis inducing vasodilation. NO as well as enothelin-1 have been directly related to wave reflection, PWV and arterial stiffness. [Kalliopikaratzi *et al* (2012) Sesame oil effects on Hemolynamics. The Journal of clinical hypertension 14(9), 630-36]

वसा

मांस धातुचा उपधातु. प्राण्यांच्या प्रकारानुसार वसाचे गुणधर्म बदलत असतात उदा. आनुप प्राण्यांची वसा गुरु तर जांगल प्राण्यांची वसा लघु, कषाय.

गुणधर्म:-

रस - मधुर

गुण - गुरू, उष्ण, वातघ्न

कर्म - उपचयकर (पुष्टीकर), कर्ण शिरोरूजा शामक

वसाद्वारा स्नेहनार्ह:-

(1) क्षीणधातु असणारे रोगी - अधिक चालल्याने, अधिक ओझं, अधिक वायूच्या संपर्काने, अधिक सुर्याच्या उष्णतेमुळे, अधिक मैथूनाने धातुक्षीण झालेले रुग्ण.

(2) क्लेश (strain) सहन करणारे

(3) अग्नि तीक्ष्ण असणारे

(4) संधि अस्थि रूजा (e.g. chronic RA)

(5) वातावृत्त स्रोतस

(6) कोष्ठ रूजा (Abdominal pain)

(7) दग्धाहत (Pain due to burns, injury)

(8) भ्रष्टयोनि (Prolapsed uterus)

(9) कर्णरूजा (Earache)

(10) शिरोरूजा (Headache)

वसापानासाठी उत्तम काळ:-वसंतऋतू (माधव)

मज्जा

मज्जा सप्तधातुं मधील मेदानंतरचा धातु आहे. अस्थिंमध्ये असलेला हा धातु शरीराचे बल वर्धन करणारा आहे.

गुणधर्म:- रस -मधुर

गुण -गुरू, स्निग्ध

कर्म - बल, शुक्र, मेद, कफ व मज्जा वर्धक, अस्थिंना बल देणारा.

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जाविवर्धनः। मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत्स्नेहने हितः।।(च.सू. 13/16-17)

मज्जाद्वारा स्नेहनार्हयः-

(1) क्षीण धातु (वसाप्रमाणे)

(2) तीक्ष्ण अग्नि असणारे

(3) वातावृत्त पथ (स्रोतस)

(4) Menier's disease*

(5) Multiple myeloma*

[* L Mahadevan, Snehanam, Snehasvedangal seminar paper 2008.]

मज्जापानासाठी उत्तम कालः-वसंतऋतू (माधव)

स्नेहपानासाठी कालः

तैल त्वरायां शीतेऽपि ..... पित्ततो दिवा। अ.हृ.सू. 16/13-14

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छा पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत।।

शीते रात्रौ पिबन्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा। आनाहमरूचि शूलं पाण्डूतां वा समृच्छति।।

च.सू. 13/19-20

दोषप्राधान्य	ऋतू	काळ	विरुद्ध वेळ दिल्यास व्यापद
पित्त, वात पित्त	ग्रीष्म ऋतु	रात्रीच्या वेळी	मूर्च्छा, तृष्णा, कामला
कफ, वातकफ	शीत ऋतु	दिवसा	आनाह, अरूचि, शूल, पाण्डू

अत्यावस्थेत तैल शीतऋतूमध्ये तर घृत ग्रीष्मऋतूमध्ये वापरावा. (**अ.हृ.सू. 16/13-15 च.सू. 13/19-20**)

स्नेहपानासाठी ऋतू व काळाचे बंधन दोष साम्यावस्थेत असतांना व शमन स्नेहासाठी असावेत. शोधनासाठी, दोषांचा उत्क्लेश असतांना ऋतू व काळाचे बंधन शिथील आहेत.

विचारणा

युक्त्याऽवचारयेत् स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः। अ.हृ.सू. 18/14

स्नेहन करण्यासाठी दुसऱ्या भोज्य पदार्थासोबत मिश्रीत करून किंवा वेगळया क्रियेद्वारे स्नेहाचा वापर करणे म्हणजे विचारणा (प्रविचारणा) होय. विचारणा केवळ आभ्यन्तर स्नेहापुरतीच मर्यादित नाही तर बाह्य स्नेहनाचा सुध्दा प्रविचारणेमधे अंतर्भाव होतो. पिझिचिल सारख्या कायसेक सुध्दा प्रविचारणाचाच एक प्रकार होय.

आयुर्वेदामध्ये 24 प्रमुख विचारणा वर्णिल्या आहेत.

ओदनश्च विलेपि च रसो मांसं पयो दधि। यवागुः सुपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः।।
सक्तबस्तिपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। अक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः।।
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्तःकर्णाक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः।।

(च.सू. 13/23-25)

(1) **ओदन (भात):-** 'अन्नं पञ्चगुणे साध्यं'। स्वच्छ तांदूळ 2-3 वेळा धुवून पाच पट पाण्यात शिजविले जातात. (भा.प्र)

(2) **विलेपी:- विलेपीघनसिक्था स्यात्सिध्दा नीरे चतुर्गुणे।** **शा.सं.म. 2/166**
तांदूळ भरड करून 4 पट पाण्यात शिजवीले जातात. तांदूळ शिजल्यानंतर थोडी घट्ट व जलांश कमी असतांना अग्निवरून उतरून घ्यावे. विलेपीमध्ये पाण्याचा अंश कमी व सिक्थ (कणभाग) अधिक असतो. यात सैंधव, पिंप्पळी, मरिच, सुंठी चूर्ण यथा प्रमाण असावे.

(3) **मांसरस:-** ताजेमांस जलामध्ये शिजवून घ्यावे. जलाची मात्रा एवढी असावी ज्याने मांस गळल्या जाईल व अस्थिस्थित मज्जा जलात पूर्णत: मिसळली जाईल.

घनमांसरस	-	मांस 350 ग्रॅम	जल 650 मिली
मध्यम मांसरस	-	मांस 240 ग्रॅम	जल 650 मिली
तनु (पातळ) मांसरस	-	मांस 160 ग्रॅम	जल 650 मिली
कृतमांस रस	-	लवण, मरीच, सुंठी, पिप्पली, हिंग अम्ल द्रव्याने व घी-तैलामध्ये संस्कारीत (फोडणी) दिलेले.	
अकृतमांस रस	-	वरील द्रव्याने संस्कारीत न केलेले.	

(4) **मांस:-** मांस शिजवून ते खाण्यास देणे.

(5) **पय (दूध):-** स्नेह दूधामध्ये मिश्रीत करून स्नेहनासाठी दिले जाते.

(6) **दधी:-** दूधापासून तयार करून स्नेहासोबत दिली जाते. सद्यवमनासाठी दधी सोबत स्नेहपान दिला जातो.

(7) **यवागू:-** तांदळाच्या 6 पट पाण्यात शिजवले जाते. विलेपी पेक्षा तांदूळ कण अधिक असतात व द्रव कमी असतो.

(8) **सूप:-** शिम्बी धान्यांना 18 पट पाण्यात शिजविले जाते. ही द्रव कल्पना आहे.

(9) **शाक:-** वनस्पती द्रव्यांचे फल, पत्र, पुष्प इ. चे स्नेह संस्कारीत पाक करणे.

(10) **यूष:-** मुंग, मसुर, इ. शिम्बी धान्यांना 4 ते 8 पट पाण्यात अर्ध व चतुर्थांश शेष पर्यन्त शिजविणे यूष कल्प होय.

(11) **काम्बलिक:**- दधिमस्तु (दहीच्या वरील पाणी) 2 लीटर व मुंग 250 ग्रॅम यांच्या पासून सिध्द 'यूष' तयार करून त्यात सौवर्चललवण, जीरे, लिंबु, दालचिनी इलायची, लवंग, मिसळून तयार केलेली द्रव कल्पना काम्बलिक होय. (सु.सू. 46/326 वर डल्हण टिका)

(12) **खड:**- हे यूष विशेष आहे. हे दोन प्रकारांनी तयार केले जाते.

(a) शमीधान्य (मूंग, मसूर, तिल, कुलत्थ) 250 ग्रॅम भरड 4 लिटर तक्रामध्ये पाक करावे. धान्य शिजल्यानंतर घृतामध्ये संस्कारीत (फोडणी) करावे यात जीरा, लवण, शुंठी मरिच घालावे. (सु.सू. 46/376 वर डल्हण टिका)

(b) 2 लीटर तक्रामधे कपित्थ, चांगेरी, मरीच, जीरे, चित्रकमूल यथावश्यक घेवून पाक करावे अर्धावशेष राहील्यानंतर यथारूची लवण घालावे. (सु.सू. 46/376 वर डल्हण टिका)

(13) **सत्तू:**- चन्याची डाळ, गहू यांना भाजून पीठ तयार करून ठेवणे.

(14) **तिलपिष्ट:**- तिल बीज वाटून कल्क तयार केला जातो व त्यासोबत स्नेहपान दिला जातो.

(15) **मद्य:**- मद्यांसोबत स्नेह देणे.

(16) **लेह:**- चाटण्यायोग्य (लाप्सी सारखा) भोज्य पदार्थ तयार करून त्या सोबत स्नेहपान दिला जाऊ शकतो.

(17) **भक्ष्य:**- खाण्या योग्य पदार्थासोबत स्नेहपान दिला जाऊ शकतो. (जे लेहय नाहीत किंवा द्रव नाही असे पदार्थ)

(18) **अभ्यंग:**- बाह्य स्नेहन

(19) **बस्ति:**- गुदमार्गाने स्नेह प्रविष्ट करून शरीराचे स्नेहन करणे.

(20) **उत्तरबस्ति:**- मूत्र वा अपथ्यमार्गाने स्नेह प्रविष्ट करणे.

(21) **गण्डूष:**- मुखामध्ये स्नेह धारण करणे.

(22) **कर्णतेल:**-कानामध्ये तैलाने पूरण करणे.

(23) **नस्य:**- नाकामध्ये स्नेह बिंदू घालणे.

(24) **अक्षितर्पण:**- नेत्रामध्ये स्नेहाद्वारे तर्पण करणे.

वरील विचारणा व्यतिरिक्त षडरसाच्या एकमेकांसोबतच्या मिश्रणाने 63 प्रविचारणा व अभ्यंगादि एक असे मिळून एकूण 64 प्रविचारणा होतात. या सर्वाचा उद्देश शरीरामध्ये स्नेहन करण्यासाठी कोणत्या तरी माध्यमाचा उपयोग करून 'स्नेहन' कर्म साध्य करणे हे आहे. चिकित्सकांनी आपल्या बुध्दीचातुर्याने याचा उपयोग करणे अपेक्षित आहे.

प्रविचारणा योग्य (Indications for Vicharna):-

स्नेहव्दिष: स्नेहनित्या: मृदूकोष्ठाश्च ये नरा:। क्लेशासहामद्यनित्यास्तेषमिष्टा विचारणा।।

च.सू. 13/82

(1) स्नेहव्देषी
(2) नित्य स्नेह सेवन करणारे
(3) मृदूकोष्ठी
(4) क्लेश सहन न करू शकणारे (सुकुमार)
(5) नित्य मद्य सेवन करणारे

अच्छस्नेह

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः।। **च.सू. 13/26**

वरील 24 विचारणांसोबत स्नेह न देता केवळ 'स्नेह' देणे अच्छस्नेह होय. स्नेहामधे अच्छ स्नेह श्रेष्ठ आहे.

स्नेह सात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्ण शीतले।
अच्छमेव पिबेत स्नेहं अच्छपान हि पूजितम्।। **सु.चि. 31/21**

अच्छस्नेह देण्यासाठी योग्य (Indication):-

(1) ज्यांना स्नेह लवकर जीर्ण होतो.
(2) स्नेह सात्म्य असणारे
(3) क्लेशसह (कष्ट सहन करणारे)

अयोग्य (Contraindication):-

स्नेहद्वेषी क्षामो मृदुकोष्ठः स्नेहमद्यनित्यश्च।
अध्वप्रजागरस्त्रीश्रान्ता नाच्छं पिबेयुस्ते।। **का.सू. 22/52**

(1) क्षाम (दुर्बल)
(2) मृदूकोष्ठी
(3) नित्य स्नेह घेणारे
(4) नित्य मद्य घेणारे
(5) रात्री जागरण, मैथुनाने थकलेले.

योग्य कालः- (1) अती उष्ण नसणारा काल (मे - जून वर्ज्य)
(2) अती शीत नसणारा काल (नोव्हेंबर - डिसेंबर वर्ज्य)

संयोगाने स्नेह भेदः-

उत्तम स्नेहाच्या एकमेकासोबत संयोगामुळे स्नेहाचे तीन प्रकार पडतात.

(1) यमल/यमक स्नेहः-दोन स्नेहांच्या मिश्रणाने

उदा. (i) घृत + तैल
(ii) तैल + वसा
(iii) वसा + मज्जा
(iv) मज्जा + घृत
(v) मज्जा + तैल
(vi) घृत + वसा

उदा. सुकुमारघृत

(2) **त्रिवृत्त स्नेह:**–तीन स्नेहांच्या मिश्रणाने

(i) घृत + तैल + वसा

(ii) घृत + तैल + मज्जा

(iii) तैल + वसा + मज्जा

(iv) घृत + वसा + मज्जा

उदा. पंचस्नेहम्

(3) **महास्नेह:**–चारही उत्तम स्नेहांच्या मिश्रणाने

घृत + तैल + वसा + मज्जा

बाजारामध्ये काही नामांकित कंपन्याचे महास्नेह उपलब्ध आहे.

स्नेहन योग्य (Indications):–(च.सू. 13/52, अ.हृ.सू. 16/5-4)

(1) स्वेद्य - ज्यांचे स्वेदन करणे आहे.

(2) संशोध्य (वमन-विरेचन करण्यापूर्वी)

(3) अति मद्यपान करणारे

(4) नित्य मैथून करणारे

(5) अधिक व्यायाम वा शारीरीक श्रम करणारे

(6) चिंतन करणारे (Scientist, thinkers, journalist etc.)

(7) वृध्द, बालक व स्त्रियां

(8) रूक्ष, कृश व्यक्ती

(9) रक्तक्षय व क्षीणशुक्र असणारे

(10) वातव्याधीने पिडीत (Osteoarthritis, Spondylitis, Hemiplegia etc.)

(11) तिमीर रोगी

(12) दारूण प्रतिबोधिन: ज्यांचे डोळे उघडत नाही असे.

वरील स्नेहनाहर्य अवस्थांचा विचार करता स्नेहानार्ह खालील प्रमाणे वर्गीकरण केले जाऊ शकतात.

(1) **स्वेद्य:**- काही अपवादात्मक व्याधी उदा. आमवात किंवा अवस्था उदा. साम, रक्तावृत वगळता स्वेदनापूर्वी स्नेहन आवश्यक असते.

(2) **शोधनपूर्व:**- वमन-विरेचन या संशोधनापूर्वी पूर्वकर्म म्हणुन स्नेहन केले जाते.

(3) **वातवृध्दी:**- धातुक्षय, रूक्षता वा इतर कारणांमुळे वायू -वृध्दी होत असल्यास त्याचे शमन करण्यासाठी स्नेहन आवश्यक आहे.

स्नेहन अयोग्य (Contraindication):- (च.सू. 13/53-56, सू.चि. 31/46-48, अ.हृ.सू. 16/6-7)

(1) रूक्षणाहर्य (ज्यांना रूक्षण आवश्यक आहे असे)
(2) कफ-मेद वाढलेले
(3) अभिष्यानन - लाला स्राव अधिक असणारा (Excessive salivation)
(4) अभिष्यण्णगुद-प्रवाहिका
(5) अतिमंदाग्नि
(6) तृष्णाधिक्य
(7) मूर्च्छा
(8) गर्भिणी
(9) तालूशोष
(10) च्छर्दि (vomiting)
(11) आम प्रधान व्याधी
(12) दुर्बल
(13) विष पीडीत
(14) प्रतान्त (Dehydrated)
(15) स्नेहग्लानी (स्नेहामुळे ग्लानी येत असल्यास)
(16) मदातूर (मद रोगाने पीडित)
(17) अजीर्ण (Indigestion)
(18) नवज्वर
(19) अकाल प्रसूता स्त्री (गर्भाशयास्थित रक्त व क्लेद मंदाग्नि अवस्थेत त्यामुळे स्नेहनाने दुसऱ्या व्याधींची उत्पत्ती)
(20) बस्ति, नस्य, विरेचन दिलेल्यांना
(21) अति तीक्ष्णाग्नि
(22) अतिसार

वरील स्नेहन अयोग्य अवस्थांचा विचार करता प्रामुख्याने खालीलप्रमाणे या अवस्थांचे वर्गीकरण केले जाऊ शकते.

(1) **रूक्षणार्ह:-** ज्या रुग्णामध्ये रूक्षण चिकित्सा आवश्यक आहे अशा व्याधी, तसेच कफ, मेद प्रमाण वृध्दी असलेल्या अवस्थामध्ये स्नेहन निषेध आहे.

(2) **अग्नी:-** स्नेहनामध्ये 'अग्नी' हा घटक फार महत्त्वाचा आहे. अत्यंत तीक्ष्णाग्नि किंवा अति मंदाग्निमध्ये स्नेहन करू नये. तसेच मंदाग्निमुळे आम उत्पन्न होतो अशा व्याधींमधेही स्नेहन करू नये.

(3) **स्रोतोरोध:-** ज्या व्याधींमध्ये स्रोतारोध प्रधान आहे. उदा. उरूस्तंभ अशा व्याधीमध्ये स्नेहन करू नये अन्यथा स्रोतोरोध आणखी वाढुन व्याधी लक्षणांची वृध्दी होईल.

(4) **विषावस्था:-** स्नेह व्यवायी व सुक्ष्म असल्याने स्रोतसांमध्ये गतीने पोहचतो. विष स्नेहासोबत तीव्र गतीने शरीरात पसरू शकतो म्हणून विषाक्त अवस्थेत स्नेहपान निषेध आहे.

स्नेहन विधी:-

आभ्यंतर स्नेहन (शोधनार्थ स्नेह विधी)

आभ्यंतर स्नेहन चिकित्सेमध्ये शोधनासाठी, शमनासाठी वा बृंहणासाठी केले जाते. पंचकर्मातील शोधन क्रिया वमन, विरेचनाचे पूर्वकर्म म्हणुन जे स्नेहन केले जाते ते शोधनार्थ स्नेह होय. याचा उपयोग दोषांना उत्क्लेशित करून कोष्ठाकडे आणण्यासाठी होतो. स्नेहविधीचे सौकार्यासाठी तीन कर्मामध्ये विभाजन केले आहे.

स्नेहन विधी

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चातकर्म
(1) रुग्ण परीक्षण	(1) स्नेह प्राशन	(1) पथ्य-अपथ्य
(2) संमतीपत्रक	(2) अनुपान व आहार व्यवस्था	(2) शोधन व्यवस्था
(3) उपकरण व द्रव्य संकलन	(3) स्नेह जीर्णाजीर्ण लक्षण निरीक्षण	
(4) पाचन चिकित्सा	(4) सम्यक योग लक्षण निरीक्षण	
(5) कोष्ठ निर्णय	(5) स्नेहव्यापद व चिकित्सा	
(6) अग्नी निर्णय		
(7) काल व मात्रा निर्णय		

पूर्वकर्म:-

1) **आतुर परीक्षण:-** पंचकर्म चिकित्सांनी रुग्ण स्नेह योग्य ठरविल्यानंतर दशविध परीक्षण करणे आवश्यक असते. यामुळे दोष व रुग्ण दोन्हींची अवस्था, बल याचे ज्ञान होते सोबतच रुग्णास स्नेह देतांना मात्रा स्नेहकल्प, प्रकर्षकाळ इ. ठरविण्यास सोपे जाते. स्नेहपूर्व रुग्णाचे अष्टविध परीक्षण ही करणे आवश्यक आहे.

स्नेहपानापूर्वी मध्य व पश्चात रुग्णाचे प्रयोगशालीन परीक्षण करावे.

- Lipid profile
- Blood sugar fasting, PP
- L.F.T. आवश्यकतेनुसार

2) **संमतीपत्रक (Written consent) :-** रुग्णास समजेल अशा भाषेत पंचकर्मातील विधीमुळे होणारे फायदे व संभावीत व्यापद समजावून लिखीत पत्रकावर रुग्णाची व/अथवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.

3) **उपकरण व द्रव्य संकलनः-**

(1) स्टील पात्र

(2) ग्लास

(3) मोजपात्र

(4) स्नेह - आवश्यकतेनुसार- तैल, गोघृत वा सिद्धघृत- (30 मिली ते 300 मिली दिवसांनुसार)

4) **दीपन-पाचन चिकित्साः-** रुग्णाची, अग्निदीप्ती करण्यासाठी दीपन व पाचन औषधी दिली जाते. पाचन व शोषण होण्यास मदत होते. तसेच दोष सामावस्थेतून निरामावस्थेत येतात. पाचनासाठी 3 ते 7 दिवस स्नेहनापूर्वी चित्रकादि वटी 250 मिलीग्रॅम दोन/तीन मात्रेत द्यावी.

मांसल, स्थौल्य व कफ प्रधान व्यक्तींमधे, ज्यांची विषमाग्नि (Unpredictable digestion), नित्य स्नेह सेवी, स्नेह्य योग्य रुग्णास प्रथम विरूक्षण करून स्नेहपान करावे व नंतर शोधन करावे. या मुळे स्नेहनाचे व्यापद टाळले जातात व स्नेहसात्म्य होत नाही आणि स्रोतसातील दोष बाहेर काढण्यासाठी मदत होते. (अ.ह.सू. 16/37)

5) **कोष्ठ निर्णयः-** 'वमन' करण्यापूर्वी स्नेहन-स्वेदन या क्रिया महत्त्वाच्या आहेत. त्यामुळे स्नेहपान करण्यापूर्वी रुग्णाची अग्निपरीक्षा व कोष्ठ परीक्षा करणे आवश्यक आहे.यामुळे एकतर स्नेहाची मात्रा ठरवली जाते व दुसरे वमनासाठी द्रव्याची मात्रा. यामध्ये चिकित्सकाची चूक होवू नये अन्यथा स्नेहाच्या व वमनाच्या व्यापदांना सामोरे जावे लागेल. असेही कोष्ठ निर्णय केवळ वमनासाठीच नव्हे तर प्रत्येक संशोधनासाठी आवश्यक आहे.

बहुपित्तो मृदुःकोष्ठःक्षीरेणापि विरिच्यते।

प्रभूत मारूतः क्रुरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि।। **अ.ह.सू. 18/32, च.सू. 13/66-6**

मृदू कोष्ठ -पित्त प्रधान व्यक्ती केवळ दुग्ध युक्त रस पिल्यानंतरही विरेचन होते.

क्रुर कोष्ठ - वात प्रधान व्यक्तीमध्ये निशोथासारखे तीक्ष्ण विरेचन दिल्यानंतरही कठीण पुरीष प्रवृत्ती.

6) **अग्नी निर्णयः-** 'वमन' करण्यापूर्वी स्नेहन स्वेदन या क्रिया महत्त्वाच्या आहेत. त्यामुळे स्नेहपान करण्यापूर्वी रुग्णाची अग्निपरीक्षा व कोष्ठ परीक्षा करणे आवश्यक आहे. यामुळे एकतर स्नेहाची मात्रा ठरवली जाते व दुसरे वमनासाठी द्रव्याची मात्रा. यामध्ये चिकित्सकाची चूक होवू नये अन्यथा स्नेहाच्या व वमनाच्या व्यापदांना सामोरे जावे लागेल. असेही कोष्ठ निर्णय केवळ वमनासाठीच नव्हे तर प्रत्येक संशोधनासाठी आवश्यक आहे.

बहुपित्तो मृदुःकोष्ठःक्षीरेणापि विरिच्यते।

प्रभूत मारूतः क्रुरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि।। **अ.ह.सू. 18/32, च.सू. 13/66-6**

मृदू कोष्ठ - पित्त प्रधान व्यक्ती केवळ दुग्ध युक्त रस पिल्यानंतरही विरेचन होते.

क्रुर कोष्ठ - वात प्रधान व्यक्तीमध्ये निशोथासारखे तीक्ष्ण विरेचन दिल्यानंतरही कठीण पुरीष प्रवृत्ती.

7) **काल व मात्रा निर्णय:-** स्नेहपानासाठी साधारणत: सूर्योदयाचा काळ (6 am-7 am) उत्तम आहे. निरभ्र आकाश असतांना सकाळी स्नेहपान द्यावा.

मात्रा निर्णय हे पूर्णत: अग्निवर अवलंबून आहे. मात्रा 3 प्रकारच्या आहेत. ऱ्हस्व मात्रा मध्यममात्रा व उत्तम मात्रा. वाग्भटांनी ऱ्हसियसी मात्रांचा उल्लेख केलेला आहे. ही मात्रा एक प्रकारचा test dose आहे. मात्रेने कोष्ठ व अग्नि समजली जाते. ही स्नेहाची सर्वात कमी मात्रा आहे. **(प्रथममेव ऱ्हसियसी कल्पयेत। इंदूटिका-अ.ह.सू. 16-16/17)**. यावरून स्नेहाची पुढील मात्रा ठरविली जाते. ऱ्हसियसी मात्रा एक याम म्हणजे तीन तासांत पचनारी आहे. ही मात्रा 25 मिली 30 मिली एवढी असावी. एवढयाच मात्रेत वर्धमान क्रमाने 7 दिवसपर्यन्त किंवा सम्यक स्नेहन लक्षणापर्यन्त स्नेह मात्रा वाढवून द्यावे.

ऱ्हस्व मात्रा	**मध्यम मात्रा**	**उत्तम मात्रा**
स्नेहाची कमी मात्रा	स्नेहाची मध्यम मात्रा	स्नेहाची उत्तम / प्रवर मात्रा
स्नेह 6 तासांत (2 याम) जीर्ण होते.	स्नेह 12 तासाने (4 याम) पचते	स्नेह 24 तासाने (8 याम) पचते.
स्नेहव्यापद अत्यल्प प्रमाणात बृंहणार्थ दिले जाते.	स्नेहव्यापद कमी प्रमाणात	पथ्यापथ्य न पाळल्यास व्यापद गंभीर
गुण- बृंहण, वाजीकर, अग्निवर्धक	शमनार्थ अधिक बलहानी न करणारी	शोधनार्थ दूषित दोष स्रोतसांतून काढणारी, शरीर बल वृध्दीवर इंद्रिय व मनास पुष्टीकर
योग्य:- वृध्द, बाल, सुकुमार, अवरबल, मंदाग्नि, रिक्तकोष्ठत्व	योग्य:- मृदूकोष्ठी, मध्यमबल, मध्यदोष, अधिक मात्रेत भोजन न करणारे.	योग्य:- स्नेहनित्य-नेहमी स्नेह घेणारे, क्षुधा, पिपासा सहन करणारे, उत्तम अग्निबल व शारीरिक बल असणारे.
व्याधी- अल्प दोष, चिरसमूत्थ ज्वर (Chronic fever) चिरसमुत्थ अतिसार (Chronic diarrhea) चिरसमुत्थ कास (Chronic cough)	व्याधी- अरूष्क (Pushular eruption) पिडिका, स्फोट, कंडू, पामा (Scabies) अर्दित, कुष्ठ, प्रमेह, वातशोणित (lschaemic limb disease)	व्याधी- गुल्म (Abdominal swelling), सर्पदंश, विसर्प (Pemphigus), उन्मक्त (Insanity), मूत्रकृच्छ्र, गाढवर्चस (Hard stools)

आचार्य सुश्रुतांनी वरील तीन मात्रां व्यतिरिक्त 18 तासांत स्नेह जीर्ण होणारा एक अतिरिक्त मात्रा प्रकार वर्णन केला आहे. ही मात्रा प्रामुख्याने बहुदोषांत दिली जाते.

स्नेह कालावधी:- **त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्**
सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदत: सात्म्यीभवेत् परम् (अ.ह.सू. 16/29)

मृदूकोष्ठीरुग्णास - 3 दिवस

मध्यमकोष्ठी रुग्णास - 5 दिवस

क्रूरकोष्ठी रुग्णास - 7 दिवस किंवा सम्यक स्निग्ध लक्षणे दिसेपर्यंत

7 दिवसानंतर स्नेह दिल्यास सात्म्य होतो म्हणून 7 दिवसापेक्षा अधिक स्नेह देऊ नये.

प्रत्यक्षात स्नेहपान देण्याची पध्दती (आरोहन मात्रा):-

दिवस	मात्रा		
प्रथम दिवस	30 मिली	50 मिली	50 मिली
दुसरा दिवस	60 मिली	100 मिली	75 मिली
तिसरा दिवस	90 मिली	150 मिली	100 मिली
चवथा दिवस	120 मिली	200 मिली	150 मिली
पाचवा दिवस	150 मिली	250 मिली	200 मिली
सहावा दिवस	180 मिली	300 मिली	250 मिली
सातवा दिवस	210 मिली	350 मिली	300 मिली

शाङ्र्गधर व भावमिश्र यांनी ऱ्हस्व, मध्यम व अवर मात्रा अनुक्रमे 2, 3 व 4 तोळे सांगितली आहे. परंतु प्रत्यक्षात शोधनासाठी ही मात्रा कमी पडते. शोधनासाठी मात्रा कशी ठरवावी हा आताही शोधाचा विषय आहे. प्रत्यक्षात आरोहक्रमात (वर्धमान क्रमात) स्नेहपान करावे असा स्पष्ट उल्लेख बृहत्रयीत नाही, तरी चक्रपाणिंनी टिका लिहितांना (च.सि. 1/6 वर) स्नेहाचे सात्म्य होऊ नये याची खबरदारी घेण्यास सांगितले आहे. त्यामुळे चिकित्सा करतांना वर्धमान (आरोह) क्रमात स्नेहपानाची पध्दत आहे.

स्नेहपूर्व भोजन (Diet Regimen):-

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः।
नातिस्निग्धमसंकीर्णश्चःस्नेहं पातुमिच्छता।। **च.सू. 13/60**

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन श्वः पिबन पीतवानपि।
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम्।। **अ.ह.सू. 16/25**

ज्या रुग्णास स्नेहपान करावयाचे आहे त्यास स्नेहपाना आधीच्या दिवशी व स्नेहपाना दरम्यान आहार द्रव्य प्रामुख्याने द्रव, उष्ण व प्रमाणामध्ये द्यावे. आहारात अभिष्यन्द (उदा. दही) अतिस्निग्ध किंवा संकीर्ण (विरूध्द गुणाचे पदार्थ एकत्र करून उदा. Milk shake) पदार्थ नसावेत.

आहारामध्ये द्रव पदार्थ दिल्याने पचनास हलके होते व स्नेहपानाच्या वेळी अग्नि दीप्त असतो. उष्ण आहाराने पाचन योग्य होऊन वातानुलोमन व्यवस्थीत होते तसेच आहार प्रमाणात असल्यास योग्य पाचन होऊन कोष्ठ शुध्दी होते. याउलट अभिष्यन्दि, अतिस्निग्ध व संकीर्ण पदार्थ आहारामध्ये असल्यास अग्निमांद्य होऊन अजीर्ण होण्याची शक्यता असते व सामता वाढून इतर व्यापद उद्भवू शकतात.

प्रधानकर्म:-

(1) **स्नेहप्राशन (Administration of Sneha):-** स्नेहपान निरभ्र आकाश असतांना, सकाळी सुर्योदयाच्या काळी, उपाशीपोटी द्यावा. रुग्णास सम्यक मल मूत्र शुध्दी झाल्यानंतर दंतधावन-स्नान विधी आटोपून स्नेहपानासाठी खूर्चीवर आरामाने बसण्यास सांगावे.

रुग्णास पेल्यामध्ये मात्रेनुसार कोष्ण स्नेह करून स्वस्तिर्वचनानंतर स्नेहप्राशन करण्यास सांगावे. यावेळी रुग्णास स्नेहपानाने होणारे फायदे इ. समजावून स्नेहपान करते वेळी धीर द्यावा.

काही रुग्ण स्नेहाच्या गंधामुळे किंवा दर्शनानेही ह्ल्लास - च्छर्दिचा इतिहास सांगत असल्यास नेत्र व नाक यांचेवर कापडाचे पट्टबंधन करून स्नेहपान द्यावे. याने स्नेहपान करण्यास रुग्णास सोपे पडते. अशाप्रकारे स्नेहपान प्रतिदिन सम्यक स्नेहाचे लक्षणे रुग्णामध्ये दिसेपर्यंत करावे.

(2) **अनुपान:- जलमुष्णंघृते पेयं यूषास्तैलेऽनुशस्यते।**

वसामज्जोस्तुमण्ड:स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ।। **च.सू. 13/22**

उष्णोदक - घृतासाठी-वातानुलोमक

यूष - तैलासाठी-Protein प्रधान Alkaline (PH-6.6)*

मंड - वसा व मज्जा पान केल्यास - मंड Starch प्रधान Acidic असल्यामुळे वसा व मज्जा पचनासाठी उपयुक्त* [*Mahadevan L, Snehanan, Sheha Swedangal, 2009: PP. 16]

स्नेहपानानंतर कोष्ण द्रवच द्यावे. स्नेहपानाच्या काळात उष्णोदकच घेण्यास सांगावे. उष्णोदकाने स्नेह पचण्यास मदत होते, वातामुलोमन योग्य होते तसेच स्नेहपानाच्या वेळी होणारी मुखातील स्निग्धता, चव व गंध निघण्यास मदत होते.

तुवरक तैल व अरुष्कर तैलाचे पान केल्यास उष्णोदक पान करू नये. (अ.ह्.सू. 16/23)

आहार व्यवस्था:- स्नेहपानापूर्वी आहार व्यवस्था सांगितल्या प्रमाणेच स्नेहपान काळात आहार व्यवस्था असावी. रुग्णास पूर्णत: अग्निदीप्ती झाल्यानंतर स्नेहपचनानंतर क्षुधा लागल्यासच लघु आहार द्यावा.

(3) **स्नेहजीर्णाजीर्ण लक्षण निरीक्षण:-** स्नेह प्राशनानंतर स्नेह पचण्यासाठी काही काळ लागतो या काळात शरीरात स्नेहपाचनाच्या विविध क्रिया होत असतांना काही लक्षणे दिसतात यास जीर्यमान लक्षणे म्हणतात. सम्यकक्षुधा, शुध्द उद्गार ही लक्षणे असल्यास स्नेह जीर्ण झाले असे समजावे. स्नेह जीर्ण झालेले नाही असे वाटत असल्यास वारंवार उष्णोदक पिण्यास सांगावे. त्यामुळे स्नेह पचुन क्षुधा, उद्गार शुध्दी, लघुता हे लक्षणे उत्पन्न होतील. स्नेहाचे जीर्यमान व जीर्ण लक्षणे पूढीलप्रमाणे दिसतात.

(अ.सं.सू. 25, सू.चि. 31/33)

जीर्यमान	जीर्ण लक्षण
• शिरोरूक (Headache) • भ्रम (Giddiness) • निष्ठीव (Excess salivation) • मूर्च्छा (Syncope/Fainting) • साद (Tiredness) • अरति (Restlessness) • क्लम Sense of Exhaustion • दाह Burning sensation	• तद्शांती (इतर जीर्यमान लक्षणांचे शमन) • लाघव (Lightness of body) • वातानुलोमन (Proper flalulance) • क्षुधा (Proper hunger) • तृष्णा (Proper thirst) • शुद्ध उद्गार Odourless eructation

एक-दोन दिवसातच अधोमार्गाने स्नेह येत असल्यास, स्नेहाचे अजीर्ण समजावे.

4. **सम्यक योग लक्षण निरिक्षण :-**

वातानुलोम्यं दीप्ताग्नि वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धतां चांगे स्निग्धानामुपजायेते।। च.सू. 13/58

सुस्निग्धा त्वक्विट् शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मुदुगात्रता।
ग्लानिलीघवमंजनांत् अधस्ताद स्नेहदर्शनम्।। सु.चि. 31/53

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वचः स्निग्धमसंहतम्।
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः
अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घाणवक्त्रगुदस्रवाः।। अ.हृ.सू. 16/30-31

पुरीषं ग्रथितं रूक्ष वायू : रप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्व रौक्ष्यंच गात्रस्य अस्निग्ध लक्षणम्।।
पाण्डुता गौरवं जाडयं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रारूचिः उत्क्लेशः स्यादतिस्निग्ध लक्षणम्।। च.सू. 13/57-59

वरील लक्षणांवरून सम्यक स्नेहाची लक्षणे रुग्णामध्ये दिसल्यास स्नेहपान थांबवून घ्यावे तसेच अस्निग्ध किंवा अतिस्निग्धाची लक्षणे दिसल्यास अयोग व अतियोगाची चिकित्सा करून त्याप्रमाणे पुनः स्नेहन करावे. (सम्यक योग, अयोग, अतियोगाची लक्षण तालिका पूढील पानावर)

	सम्यक स्नेह लक्षण	अयोग लक्षण	अतिस्निग्ध लक्षणे
अग्नि संबंधीत	अग्निवृध्दी स्नेहद्वेष स्नेहोद्वेग	मंदाग्नि कृच्छ्रात अन्नमविपच्यते उरोविदाह (Substernal burning)	अरूचि भक्तद्वेष
वायू संबंधीत	वातानुलोमन	अप्रगुण वायू (Incomplete evacuation)	-
पुरीष संबंधीत	असंहत वर्च (loose stool) स्निग्ध वर्चा अधस्ताद स्नेहदर्शन	ग्रंथीत पुरीष (Hard stool) रूक्ष पुरीष (Dry stool)	गुदस्राव (Discharge from anus) प्रवाहिका (Dysentry) पुरीष अतिप्रवृत्ती गुददाह
त्वक् संबंधीत	अंगमार्दव (softness) स्निग्धांग (oiliness) स्निग्धत्वक् (Greasiness)	गात्रखरत्व (Roughness) गात्ररौक्ष्य (Dry skin)	-
सार्वदे-हीक	ग्लानि (No interest of taking food) क्लम (Tiredness) अंगलाघव (Lightness) अंगसाद (Tiredness feeling)	दौर्बल्य (general debility)	पांडुता, शरीर गौरव, जाडयता (Sluggishness) तंद्रा उत्क्लेश (Nausea) मुखस्राव (Excessive salivation) घ्राणस्राव (Discharge from nose)

अधस्ताद्स्नेहदर्शन – पाण्यामध्ये मळ टाकल्यास स्नेह पाण्यामध्ये तरंगतांना दिसणे

5. **स्नेहव्यापद व चिकित्सा:-** कोणत्याही कर्माचे व्यापद हे पादचतुष्टयाच्या (वैद्य, रुग्ण, परिचारक, औषध) कमतरतेमुळेच होतात. स्नेहनामधेही पादचतुष्टयांनी त्यांचे कार्य योग्य न केल्यामुळे व्यापद दिसतात.

कारणे:- **अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहार विहारत: ।** **अ.हृ.सू. 16/32**

अकाले च हितश्चैव मात्रया न च योजित:

स्नेह मिथ्योपचाराश्च व्यापदयेतातिसेवित: ।। **च.सू. 13/74**

1. **चिकित्सकामुळे** - अग्नि, कोष्ठाचे योग्य ज्ञान न झाल्यास मात्रा कमी-अधिक दिल्यामुळे अयोग-अतियोगाचे व्यापद होऊ शकतात, स्नेहपानाचा काळ योग्य न ठरविल्यास.
2. **रुग्णामुळे** - रुग्णाने पथ्यापथ्याचे पालन न करता मिथ्योपचार केल्यास.
3. **परिचारक** - परिचारकांनी चिकित्सकांनी सांगितलेल्या आज्ञेचे पालन न केल्यास.
4. **औषध** - मुख्यत: भेसळ असल्यास उदा. शुध्द घृत न मिळता वनस्पती घृतासोबत भेसळ असल्यास कंडू, अजीर्णासारखे लक्षणे उत्पन्न होतात.

व्यापद:-

स्नेह:करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भ्विसंज्ञता:।

कण्डू कुष्ठ ज्वरोत्क्लेश शूलानाहभ्रमादिकान्।। **अ.हृ.सू. 16/32**

(च.सू. 13/75-76, अ.सं.सू. 25/52-53, सु.चि. 31/31)

स्नेहामुळे व्यापदांचे दोन भागात विभाजन केले जाऊ शकते. वरील व्यापदांमध्ये काही व्यापद लगेच चिकित्सा करून शमन केले जाऊ शकतात तर काही व्यापदांमध्ये दीर्घ काळ चिकित्सा करावी लागते. मा. वैद्य ह.श्री. कस्तूरे यांनी आयुचिकित्स्य व चिरचिकित्स्य व्यापद असे वर्णन केले आहे. (आयुर्वेद पंचकर्म विज्ञान, पृष्ठ 71-72)

आशुचिकित्स्य व्यापद:-

(1) **अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्तधिकेन वा**

मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत।। **च.सू. 13/20**

योग्य काळात स्नेहपान न केल्यास व्यापद उद्भवतात. वात-पित्त प्रकृतीच्या व्यक्तीने उष्ण काळामधे दिवसा स्नेहपान केल्यास खालील व्यापद उद्भवू शकतात.

(i) मूर्च्छा (Syncope)

(ii) पिपासा (Excessive thirst)

(iii) उन्माद (Insanity)

(iv) कामला (Icterus)

(2) **शीते रात्रौ पिबन् स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा।**
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति।। **च.सू. 13/21**

श्लेष्म प्रकृतिच्या व्यक्तीने शीत ऋतूमधे रात्री स्नेहपान केल्यास खालील व्यापद उद्‌भवू शकतात.

(i) आनाद (Tympanitis)

(ii) अरुचि (Anorexia)

(iii) शूल (Pain in Abdomen)

(iv) पांडूता (Pale)

(3) **विसंज्ञता** – पित्त प्रधान रुग्णास केवळ घृत देऊ नये विशेषतः साम पित्तामधे केवळ घृत दिल्यास विसंज्ञता (Unconscious) उद्‌भवू शकते.

(4) **Hypoglycemia**– स्नेहपान काळात रुग्णास Hypoglycemia हे लक्षण उत्पन्न होऊ शकते त्यामुळे रुग्णास अतिस्नेद, तृष्णाधिक्य, भ्रम ही लक्षणे दिसतात.

चिकित्साः– **मिथ्याचारात बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यन्ति।**
विष्टम्भ्य चापि जीर्येत् वारिणोष्णेन वामयति।। **सु.चि. 31/31**
तक्रारिष्टखलोलुद्यालयवश्यामाककोद्रवाः। पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्या गोमूत्रगुग्गुलु।
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम्।। **अ.हृ.सू. 16/33–34**

(1) स्नेहव्यापदामध्ये उष्णोदक पान हे सर्वश्रेष्ठ औषध आहे. उष्णोदक स्नेहपाचक व अनुलोमक आहे.

(2) अजीर्ण लक्षण असल्यास कोष्ण जलाने वमन करावे.

(3) क्षुधाप्रवृत्ती झाल्यास भोजन न करणे.

(4) स्वेदन, रूक्ष अन्नपान करावे.

(5) तक्रारिष्ट, खल, यव उडददाल, शामक, पिप्पली, मधु, हरीतकी, गोमुत्र, गुग्गुळ इ. ने स्नेहव्यापदानुसार चिकित्सा करावी. ही सर्व द्रव्ये रुक्षण करणारी असून अति योगासाठी उपयुक्त आहेत.
(खल – व्यञ्जन विशेषः। उध्दालः शालि विशेषः – अरूणदत्त टिका अ.हृ.सू. 16/33–34)

(6) लक्षणानुसार चिकित्सेसाठी, हिंग्वादि वटी, सूतशेखर वटी, शंखवटी, संजीवनी वटी यांचा उपयोग करावा.

(7) स्नेहजन्य तृष्णेमधे शीत पायस
(स्नेहन पैत्तिक ..... शीतलं पायसं तेन तृष्णा तस्य प्रशाम्यति – भा.प्र. पू. खं)

चिरचिकित्स्य व्यापदः–

(1) कंडू (2) कुष्ठ (3) पाण्डु (4) शोथ
(5) उदर (6) ग्रहणी (7) वाक्‌ग्रह

चिकित्साः– व्याधीनुसार निर्देशीत चिकित्सा करावी.

पश्चातकर्म

स्नेहपानानंतर स्नेहन योग्य होण्यासाठी व व्यापद टाळण्यासाठी पथ्यापथ्य आवश्यक आहेत अन्यथा स्नेहाचे व्यापद उद्‌भवण्याची शक्यता राहील. स्नेहपान काळात, स्नेहपानानंतरही तेवढेच दिवस पथ्यापथ्य पालन करावे. हे पथ्यापथ्य सर्व शोधनार्थ कर्मासाठी तसेच व्याधिमुळे क्षीण झालेल्या रुग्णांसाठी आवश्यक आहेत. (**सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीगषु च क्रमः। अ.ह.सू. 16/24)**

1. **पथ्यः-** आहार- उष्णोदक, अनभिष्यन्दि, न अतिस्निग्ध, कोष्ण

   विहार- ब्रह्मचर्य, क्षपाशय (रात्री जागरण न करणे)

2. **अपथ्यः-** आहार- शीत जल, अभिष्यंदि (दही इ.) अतिस्निग्ध

   विहार- व्यायाम, हिम-आतप (थंडी व ऊन वातावरणात जाणे) हवेमध्ये जाणे, प्रवास (गाडीवर वा पायी) उच्चभाषण, अधिक वेळ बसणे (long sitting job), दिवास्वाप, रात्री जागरण, अधिक जाड वा पातळ उशी (pillow) घेणे.

   मानसिक- क्रोध, शोक

3. **शोधन व्यवस्थाः-**

शोधन कर्मासाठी स्नेहन हे पूर्वकर्म आहे. स्नेहनाने उत्क्लेशीत दोष कोष्ठात येतात. सम्यक स्नेहपानाची लक्षणे आल्यास स्नेहपानानंतर एक दिवसाची विश्रांती देऊन वमन करण्यास सांगितले आहे तर 3 दिवसाच्या विश्रांतीनंतर विरेचन करण्याचे निर्देश आहेत. स्नेहपीत अवस्थेत बस्तिचा व रक्तमोक्षणाचा निषेध आहे. मात्र डल्हणांनी सिरावेधापूर्वी यवागुने सद्यस्नेह देण्यास सांगितले आहे.

शमन स्नेह

शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते। **अ.ह.सू. 16/19**

अच्छ एव पेय इत्यर्थः। अन्नेन सहापि कुपितदोषशमनाय प्रयुज्यते इति प्राप्तो निषेधः सोऽपि मध्यमात्रश्च शस्यते। हृदयबोधिका टिका - अ.ह.सू. 16/18

मध्यम मात्रेमध्ये भूक असतांना आहार शिवाय (अच्छपान) स्नेहपान केले जाते. दोषांच्या शमनासाठी चिकित्सा म्हणून शमन स्नेहाचा उपयोग केला जातो. जीर्ण व्याधींमध्ये दोष शमनासाठी व जे रुग्ण उत्तम मात्रा सहन करू शकत नाही अशा रुग्णांमध्ये शमन स्नेहपान केले जाते. या प्रकाराने दोष शोधनाचे उद्दिष्टे साध्य होत नाही.

शमन योग्य व्याधी (Indication):-

(1) कुष्ठ (Skin disease)
(2) किटिभ, मंडलकुष्ठ (Psoriasis etc.)
(3) दुष्ट व्रण (Non healing ulcer)
(4) मूत्रसंग (Retention of urine)
(5) अश्मरी शर्करा
(6) प्रमेह (Diabetic insipidus)

पूर्वकर्म

1. संभार संग्रहः-

1. स्नेह (व्याधी-रुग्ण इ. नुसार)
2. मोजपात्र
3. ग्लास
4. टॉवेल
5. पट्ट (Cotton)

2. रुग्णपरिक्षणः- रुग्णाचे वय, बल, व्याधी प्रकार, व्याधीबळ याचे परीक्षण करून घ्यावे. त्याचप्रमाणे स्नेहपानापूर्वी आवश्यकतेनुसार Lipid profile, Blood sugar-fasting & PP, KFT या प्रयोगशालेय तपासण्या करून घ्याव्यात.

3. काल व मात्रा निर्णयः- शमन स्नेह आधीच्या रात्री अन्न पचल्यानंतर, भूक लागली असतांना द्यावे. **देण्याचा काळ** - सकाळी 10.30

मात्रा - स्नेहाची मध्यम मात्रा (100-120 मिली)

(मध्यम मात्रा 12 तासात स्नेह जीर्ण होण्याची मात्रा होय. यासाठी सुरूवातीस रुग्णास 25 मिली मात्रा देवून स्नेह पचण्याच्या काळानुसार 12 तासाची मात्रा काढावी.) व्यवहारात बरीचशी वैद्य 20-30 मिली ही मात्रा शमनासाठी वापरतात.

कालमर्यादा - व्याधी शमनापर्यन्त स्नेहपान करावे. शमन स्नेह किती दिवस घ्यावे याला मर्यादा नाही.

प्रधानकर्म

स्नेहपान (Administration of Sneha): शोधन स्नेहाच्या विधीप्रमाणे शमनमात्रेत आधीचे अन्न पचन झाल्यानंतर क्षुधा अवस्थेत रुग्णास स्वस्तीवर्चनानंतर स्नेहपान (अच्छपान) करण्यास सांगावे. स्नेहाचे उपलेप काढण्यासाठी स्नेहपानानंतर मुखातील स्निग्धता काढण्यासाठी कोष्ण जल पिण्यास द्यावे.

उत्तरभक्तिक स्नेहः

भोजनोपरान्त स्नेह देणे उत्तर भक्तिक स्नेह होय. या प्रकारचे स्नेह उर्ध्वजत्रुगत व्याधी उदा. तालुशोष, तृष्णा इ. मध्ये चिकित्सार्थ दिले जाते. (च.चि. 8/92)

बृहण स्नेह

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पः हितः स च । **अ.ह.सू. 16/20**

स्नेहाची अल्प मात्रा बृहण कार्यासाठी देणे बृहण स्नेह होय. बृहण स्नेह मांसरस, क्षीर, गुळ इ. द्रव पदार्थासोबत दिले जाते. त्यामुळे बृहण स्नेह एक प्रकारचा विचारणा स्नेह आहे आणि वातातपीक रसायनासारखे आहे. यात अच्छपान अपेक्षित नाही.

बृहण योग्यः- **बालवृध्दपिपासार्त स्नेह व्दिण्मद्यशीलिषु ।।**
स्त्री स्नेह नित्यमन्दाग्नि सुखितक्लेशभीरूषु ।
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।। **अ.हृ.सू. 16/20-21**
सुकुमारं कृशं वृध्दं शिशुं स्नेहव्दिषं तथा ।
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ।। **सु.चि. 31/37**

(1) बाल
(2) सुकुमार
(3) वृध्द
(4) तृष्णाधिक्य (excessive thirst)
(5) स्नेहव्देषी
(6) मद्यपी (alcoholic)
(7) मैथूनआसक्त (daily sex)
(8) स्नेहनित्य (नियमित स्नेह घेणारे)
(9) मंदाग्नि (dyspepsia)
(10) सूखीत
(11) भीरू (feared)
(12) मृदूकोष्ठी
(13) अल्पदोषयुक्त व्याधी
(14) कृश (thin)
(15) ग्रीष्म ऋतूमध्ये

संभार संग्रहः- (1) स्नेह - आवश्यकतेनुसार 15-30 मिली
(2) मांसरस/क्षीर/युष आहार

रुग्ण परीक्षणः- आवश्यकतेनुसार Lipid profile, वय, देश, काल यांचा विचार करून

कालः- जेवणा सोबत

स्नेहपान विधीः- आवश्यकतेनुसार अल्पमात्रेत स्नेह मांसरस, सूप, दुग्ध, गुळ वा जेवणासोबत रोज घेण्यास सांगावे.

बृहण स्नेह चिकित्सेच्या अपेक्षा शरीर स्वास्थासाठी, रसायनकर्म म्हणून घेतले जाते. या शिवाय आचार्यानी स्नेहाचा भोजन कालानुसार शरीरावर होणारा परिणाम याचा संबंध वर्णन केला आहे.

प्राङ्मध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान।
व्याधीञ्जयेद्बलं कुर्याद्ङ्गानां च यथाक्रमम्। **अ.हृ.सू. 16/22, अ.सं.सू. 25/32-33**

स्नेह भोजनापूर्वी घेतल्यासः- शरीराच्या अधःभागासाठी बल वर्धक आहे उदा. ऊरू, जंघा, कटीच्या ठिकाणी बल वर्धन करणारे आहे. वेगानुलोमन करणारे असून अधःशाखेच्या व्याधींमध्ये उपयुक्त.

स्नेहमध्ये (भोजनासोबत) घेतल्यासः- अग्निबलवर्धक, शरीरास स्थिरता देणारे, कुक्षीशूल कमी करणारे.

भोजनोत्तर स्नेह घेतल्यासः- इंद्रिय स्थिर करणारे, मूर्ध (Head) व उर्ध्वजत्रुगत व्याधी नष्ट करण्यासाठी उपयोगी.

सद्य स्नेह

कमी कालावधीमध्ये स्नेहन करण्यासाठी किंवा अधिक दिवस स्नेहपान करू न शकणाऱ्या रुग्णांमध्ये तात्काळ स्नेहन करण्यासाठी स्नेहनाची (स्नेहपानाची) क्रिया सद्य स्नेह होय. सद्य स्नेह शोधनासाठी पूर्वकर्म म्हणून केले जाते.

सद्य स्नेह योग्यः-

बालवृध्दादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु ।

योगानिमाननुव्देगान् सद्यः स्नेहान् प्रयोजयेत ।। **अ.हृ.सू. 16/39**

(1) बाल (3) स्नेहाचा परिहार पालन न करू शकणारे

(2) वृध्द (4) तात्काळ शोधन अपेक्षित असणाऱ्या व्याधींमध्ये (उदा. तमकश्वास वेगावस्था)

सद्य स्नेह योगः-

चरक च.सू. 13/86	सुश्रुत सू.चि. 31/38-44	वाग्भट अ.हृ.सू. 16/40-42
(1) पांच प्रसूतिक पेया - घृत, तैल, वसा, मज्जा व तण्डूल प्रत्येक एक प्रसूत	(1) पिंपळी, लवण, घृत, तैल, वसा, मज्जा, दधि, मस्तू एकत्र करून	(1) अधिक मात्रेत आनुप/ जांगल मांस शिजवून मांसरस तयार करणे व स्नेह म्हणून देणे.
(2) पांच प्रसुतिकी पेया, दुग्ध, माष	(2) मांसरसामध्ये स्निग्ध यवागू व राब	(2) स्नेहभुर्जीत पेया व मांसरस
	(3) तण्डूल, दुग्धमिश्रीत यवागु व अधिक प्रमाणात घृत	(3) तिल पिष्ट + स्नेह + फाणित
	(4) पिप्पली, सैंधव, घृत, तिलपिष्ट, वसा	(4) तिलपिष्ट + स्नेह + फाणित व कृशरा
	(5) घृत व खांड ठेवून त्याच पात्रात दूध दोहून प्राशन करणे	(5) दुग्ध + पेया व अधिक मात्रेत घृत
	(6) बोर (कोल) कुलत्थ यांचा क्वाथ, पिप्पली कल्क, दूध, दही, सूरा, घृतसिध्द करणे	(6) दह्याची मलाई + गुळ
		(7) पञ्चप्रसूता (घृत, तैल, वसा, मज्जा एक प्रस्थ) + तण्डुल (1 प्रस्थ)

स्नेह निषेधः-

गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ।

कुष्ठशोफ प्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत ।। **अ.हृ.सू. 16/53**

गुळ, मांस, क्षीर, तिल, उडद, मद्य, दधी या सोबत खालील व्याधींमध्ये स्नेह देऊ नये.

(1) कुष्ठ

(2) प्रमेह

(3) शोथ

संभार संग्रहः-

(1) तण्डूल – 100 ग्रॅम

(2) घृत – 50 मिली

(3) सैधव – यथावश्यक

(4) दूध – 500 मिली

(5) पातेले –

निर्माण विधीः – स्वच्छ केलेले तांदूळ दूध व पाण्यात पेयासारखे शिजवावे ह्यात घृत व सैधव मिसळून घ्यावे.

स्नेहपान विधीः – सकाळी 7 ते 7.30 वाजता सद्य स्नेह स्नेहपान विधीने द्यावे.

एकूण कालः – चक्रपाणि (च.सू. 13/51) यांनी सद्य स्नेह 3 दिवस पर्यन्त देण्यास सांगितले आहे. रुग्ण व व्याधीनुसार स्नेहपान 1 ते 3 दिवस करावे. (च.पा.च.सि. 1/6 वर)

पथ्यः – उष्णोदक

घृतासोबत लवण हे सद्य स्नेह म्हणून वापरले जाते. लवण अभिष्यन्दी आहे व रूक्षण न करणारे आहे. लवण सुक्ष्म, उष्ण व व्यवायी गुणामुळे स्नेह स्रोतसांपर्यन्त पोहचविण्याचे कार्य करतो.

अवपीडक स्नेह

अन्नावपीडितं च मध्यभोजनपीतं घृतंभवति। **च.पा.च.चि. 15/209**

भोजनाद्वारे स्नेहाचे अवपीडन होते म्हणून यास अवपीडक स्नेह म्हणतात. जेवणापूर्वी (प्राग्भक्त) व भोजन पचनानंतर (जीर्णान्तिक) अवपीडन स्नेह दिले जाते. हा शमन स्नेहाचा प्रकार होय.

स्नेह योग्यः- **मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यतेघृतम्।**
जीर्णान्तिकं च उत्तमया मात्राया योजनाद्वयम्।।
अवपीडकं एतद् च। **अ.ह.सू. 4/6-7**

(1) मूत्र वेगधारणाने होणारे व्याधी (2) मूत्रकृच्छ्र, Urethral stricture, BPH

(3) अधोनाभीगत वातव्याधी

संभार संग्रहः-

(1) स्नेह- रुग्णानुसार / उत्तम मात्रा (2) मोजपात्र

(3) ग्लास (4) पट्टबंधनार्थ cotton, gauze

रुग्ण परीक्षण:- आवश्यकतेनुसार Urogram, KFT, BSL इ. तपासणी करून रुग्णाचे परीक्षण करावे.

मात्रा निर्णय:- अवपीड स्नेहाची मात्रा ही उत्तम मात्रा असावी. त्यामुळे रुग्णाचे वय, बल, कोष्ठ व अग्नि परीक्षण करून ऱ्हसीयसी मात्रा 25 मिली आदल्या दिवशी देऊन स्नेह जीर्ण काल ठरवावा व त्यानुसार उत्तम मात्रा ठरवावी. उत्तम मात्रेचे दोन भाग करावेत.

विधी:- या स्नेह प्रकारामध्ये स्नेहाची योजना दोन वेळा (योजनाव्दय) करावी लागते भोजनपूर्व व भोजनपश्चात स्नेहाचे दोन भाग करून 1/3 मात्रा सुरूवातीस द्यावी व त्यानंतर उष्णोदक देऊन रुग्णास भोजन करण्यास सांगावे.

भोजन जीर्ण झाल्यानंतर शुध्द उद्गार, वातानुलोमन, लघुत्व, क्षुद्प्रवृत्ती नंतर उरलेले 2/3 स्नेह पान करण्यास द्यावे व उष्णोदक द्यावे.

रुग्णाचे सम्यक स्नेह जीर्ण लक्षणांचे परीक्षण करावे.

अवपीडक स्नेहाची मात्रा समभागात विभाजन करून (50%-50%) सुध्दा दिली जाते.

आभ्यन्तर स्नेहन कार्मूकता (Mode of Action)

स्नेह आयुर्वेदातील औषधांचा दुवा आहे. पंचकर्मातील प्रत्येक कर्ममध्ये स्नेह अपेक्षीतच आहे. ज्याप्रमाणे 'वात' हा सर्वदोषांमध्ये प्रधान असून 'गतीत्व' हे त्याचे कार्य आहे, या गतीचे नियंत्रण बिघडले तर त्याला साम्यावस्थेत आणण्याचे कार्य स्नेहच करु शकतो. आयुर्वेदामध्ये चिकित्सेमध्ये वात दोषाचे महत्त्व त्याच्या व्याधीच्या संख्येवरुन दिसून येते त्यामुळे वायू ला नियंत्रण करण्याचे प्रमुख कार्य स्नेहाकरवीच होऊ शकते म्हणून स्नेहनाला विशेष महत्त्व आहे.

स्नेहन हे पूर्वकर्म व प्रधानकर्म दोन्ही रुपाने आवश्यक आहे. शोधनासाठी शाखेतील दोष कोष्ठात आणण्यासाठी उपाय म्हणून पूर्वकर्ममध्ये स्नेहन हे महत्त्वाचे कर्म आहे. दोष शाखेतून कोष्ठात आणण्यासाठी दोषांची वृद्धी करुन विष्यन्दन केले जाते. दोषांचे विलयन झाले की स्त्रोतसांचे मुख विस्फारीत करुन दोष कोष्ठात आणले जातात हे स्नेहाच्या स्निग्ध, चल, अणुप्रवणभाव या गुणांनी व स्वेदनाच्या साह्याने शक्य होते.

आचार्य भेल यांचेनुसार स्नेहनामुळे विकृतिस्थानामध्ये रस व क्लिन्नता उत्पन्न केली जाते आणि ज्याप्रमाणे जल उंचावरुन खाली वाहतो त्याचप्रमाणे स्नेहनानंतर क्लिन्न दोष कोष्ठाकडे येऊ लागतात (भे.सं.सू. 14)

स्नेहपूर्वप्रयुक्तेन स्नेदनावजितेऽनिले।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन।। **च.सू. 14/4**

स्नेहनाचे कार्य शोधनासाठी सहाय्यक म्हणून स्नेहन स्वेदन केल्याने वायूचा निग्रह करुन मल, मूत्र व शुक्राच्या प्राकृत गतीमध्ये संग होत नाही.

स्निग्धात् पात्राद्यथातोयमयत्नेन प्रणुद्यते।

कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धादन्येहात्तथौषधैः।। **च.सि. 6/11**

ज्याप्रकारे पात्रास स्निग्ध करुन त्यामध्ये जल भरल्यानंतर त्यास पालथा केल्याने जल खाली पडतांना पात्रास चिकटून राहत नाही त्याचप्रकारे स्नेहना नंतर उत्क्लिष्ट दोष धातूंमध्ये राहात नाहीत.

मलीनवस्त्र स्वच्छ करण्यासाठी स्नेहाचा (साबण) वापर केल्यास मळ वस्त्रामधून निघून जातो त्याचप्रमाणे शरीर शोधन करण्यासाठी स्नेहनाने दोषांचे उत्कलेशन करणे आवश्यक असते.

स्नेहनाचे मुख्य कार्य विष्यन्द, क्लेदकारक व मृदुकर आहे. त्यामुळे पूर्वकर्मामध्ये दोषांचे विलयन करणे, विष्यंदन करणे व उत्क्लेषित करणे हे कार्य स्नेहनाने होते ज्यामुळे शोधनासाठी मदत होते.

स्नेहन पूर्वकर्मामध्ये ज्याप्रमाणे महत्त्वाचा आहे त्याचप्रकारे प्रधान कर्म म्हणून चिकित्सेत स्नेहनाचे स्थान अनन्यसाधारण आहे. आयुर्वेदानुसार मुळातच शरीर हे स्नेहसार आहे. शरीरातील महत्त्वाचे अवयव स्नेहप्रधान आहेत, स्नेहाच्या आश्रयाने राहणारे आहेत उदा. मस्तिष्क, त्यामुळे त्यांचे पोषंकांशाच्या रुपाने स्नेहन आवश्यक आहे. स्नेह वाताची (तिळतैलाने) व पित्ताची (घृताने) प्रधान चिकित्सा आहे. शरीरास स्थैर्य व बल स्नेहनामुळे मिळते.

घृत अग्नि व मेधा वृद्धीकर सांगितले आहे त्यामुळे मस्तिष्कसंबंधी व्याधींमधे व अग्निप्रदीपक म्हणून घृत प्राधान्यक्रमाने वापरण्यास सांगितले आहे.

चरकांनी स्नेह 'वातशामक' म्हटले आहे. पूर्वी वर्णिल्याप्रमाणे स्नेहाचे गुण वात गुणाच्या परस्पर विरोधी असल्याने स्नेहामुळे वात निग्रहाचे कार्य होते त्यामुळे दुषीत वात आपल्या सम अवस्थेत येऊन इतर दोषांना शाखेतून कोष्ठाकडे आणण्यासाठी मदत करतो. अशाप्रकारे स्नेह वातास त्याची प्राकृत गती येण्यासाठी मदत करतो.

स्नेहोऽनिल हन्ति मृदूकरोति देहं मलानां विनिहन्ति संगम। **च.सि. 1/7**

स्निग्ध व मृदू गुणामुळे स्नेह शरीरास मृदुत्व देण्याचे कार्य करते त्यामुळे शरीरास लवचिकता मार्दवता ही लक्षणे स्नेहामुळे प्राप्त होतात. यासाठी उपमा देताना आचार्यांनी ज्याप्रमाणे एखादया शुष्क काष्ठास स्नेहाने लवचिकता आणता येते त्याप्रमाणेच शरीरास स्नेहाने लवचिकता आणता येते, हे स्पष्ट केले आहे. कोष्ठ रुक्ष असल्यास मलसंग हे लक्षण उत्पन्न होते. मलसंग व स्त्रोतोरोध दूर करण्याचे कार्य स्नेहामुळे केले जाते.

आधुनिक शास्त्राच्या मतानुसार आभ्यंतर स्नेहनाची कार्मुकता घृत व तैलाच्या वर्णनांमधे स्पष्ट केलेली आहे.

Modern View :

In alternative therapies in health and medicine 2002, reported the study in Germany that, most of the today's environmental toxins are lipophils that accumulate in fatty tissues of the body. These fat soluble toxins are associated with a range of diseases such as hormone disruption, immune system suppression, allergies, diseases of liver, skin, cancer, neurological illness, etc. In this study result showed blood levels of PCBs (poly chorinated biphenyl) and several other toxins lowered in detoxification (Panchakarma) group than control within days of Panchakarma therapy. This study clearly indicates the role of snehapana and gati of doshas from shakha to koshtha.

Many vitamins are Fat soluble, many biochemical reactions occur in the human body with the help of fat media.

The researchers are of the opinion that many herbal drugs acting on nervous system can act through medium of fat only. Fat is an excellent medium to drugs so Sneha is good medium to accumulate the toxins and act as a vehicle to travel from one part to another part of the body. The large quantity or 'Vardhaman' Sneha interfere with the chain of free radicals and produce the metabolite in the cells. After reaching the threshold, metabolites enter into the systemic circulation and reach the liver. These metabolites are detoxified within the liver and excreted via bile. So the quality of bile changes and further fat may not digest and appear in the stool i.e. adhastad snehadarshanam [Mahadevan L, 2008]

The procedure of abhyang, swedana and diet before shodhan facilitates the excretion of metabolities into alimentary canal which are available for shodhana.

Bruhan sneha - to build up cellular componants, *Shaman sneha* - to stimulate and modify metabolic reaction. *Shodhan sneha*- to help for excreting metabolites from the cells.

Fat Metabolism :

Fat : Fats are organic compound are the source of energy. Fat provide 9 calories per gram. Fat is essential for body to perform the proper function. Essential fatty acids i.e. linoleic and linolenic acid are important for controlling inflammation, blood clotting, brain development. Healthy skin and hair can be maintained by fat.

Saturated fats : These are cause of LDL levels they are found in animal products such as butter, cheese, whole milk. They also found in coconut, palm.

Unsaturated fats: These help to lower blood cholesterol, they have high calories. Liquid vegetable are unsaturated. They are of two types.

1) Mono-unsaturated fats - olive oil
2) polyunsaturated fats - fish, sunflower, soyabean

Fat metabolism in relation to snehan :

As part of metabolism, the body produces toxin or toxins entered from out side have to be eliminated. The body has evolved to get rid of toxins by several ways.

1) Liver - detoxification by oxidation, conjugation
2) Fat soluble toxins can be excreted in the bile. The toxins combined with bile to a fat soluble form can be excreted via bowel (Shodhan)
   - Most of the Fat is in the form of triacylglycerol (TAG) which consists of three fatty acids linked to glycerol.
   - TAG is hydrolysed by the enzyme lipase to release free fatty acids and monoglycerides.
   - Lipase is water soluble and works only on surface of fat globules.
   - Bile contains bile salts and phospholipids which are amphipathic and are helpful to break down the fat globules into smaller droplets.
   - Emulsification occurs by breaking up fat into smaller emulsion droplets at the site of digestion. It increases the surface area where lipase can work to digest TAG.
   - Micelles, 200 times smaller than emulsion droplets are formed after digestion, they help to transport poor soluble monoglycerides and fatty acids to the surface of enterocyte where they can be absorbed (anupravanbhav of sneha).
   - Inside the enterocyte monoglycerides and fatty acid are resynthesized in TAG.
   - The TAG then packaged with cholesterol, fat soluble vitamins into chylomicrons which is lipoproteins and special designed for the transport of lipids in blood circulation.
   - Chylomicrons deliver absorbed TAG to body cells. Lipoprotien lipase an enyme found in capillary endothellial cells hydrolyse TAG in chylomicrones. Monoglycerides and fatty acids released from digestion of TAG then diffuse into cells and tissues.
   - Most of the triglyceride are used up (when they are in small quantity), they left over (when in large quantity) goes to the liver.

The liver detoxifies harmful substances which come from internal source such as fat metabolism. Many of the toxins that enter the body are fat soluble. They dissolve only in fatty or oil solutions (peoplecomcollege.edu) and not in water hence snehan is essential prior to shodhan.

The liver play role in detoxification, it filters the blood to remove large toxins. It makes the toxins water soluble that can be excreted from the body easily (Shodhan).

बहि:परिमार्जन चिकित्सा (बाह्य स्नेहन निधी)

बहि:परिमार्जन चिकित्सा ही बाह्यभागावर करणाऱ्या विविध चिकित्सा होत. आभ्यन्तर स्नेहनामध्ये प्राधान्याने शोधन अपेक्षित आहे, परंतु प्राध्यान्याने बहि:परिमार्जन चिकित्सा शोधन अल्प-शमन प्रधान आहेत. केरळ भागामध्ये ह्या क्रियांना अधिक विकसीत केल्या गेले.

बाह्य स्नेह व्याधी, प्रकृती, बल, काल, वय, दोष या सर्वांचा विचार करून चिकित्सकांनी ठरविणे आवश्यक असते. त्यामुळेच पंचकर्मामध्ये ह्या क्रियेंची एवढी व्याप्ती आहे.

बाह्य स्नेहनामध्ये खालील क्रियांचा समावेश केला जातो.

1) अभ्यंग	2) लेप	3) उद्वर्तन-उत्सादन
4) मर्दन-उन्मर्दन	5) पादाघात	6) परिषेक (पिझिचिल)
7) संवाहन	8) गंडूष	9) मूर्ध-तैल
10) नेत्रतर्पण	11) नासातर्पण	12) कर्णपूरण
13) मास्तिष्क्य	14) स्नेह-अवगाहन	

अभ्यंग (Massage)

निरुक्ति-अभि+अंग

अंग = गती (movement)

व्याख्या: शरीरावर तेल लावण्याची क्रिया अभ्यंग होय. अभ्यंगासाठी तैल, घृत वा यमक स्नेहाचा वापर केला जातो.

अभ्यंग पंचकर्मातील पूर्वकर्म आहे त्याचसोबत विशिष्ट अवस्था व व्याधींमध्ये प्रधानकर्म म्हणूनही केले जाते. अभ्यंग हे व्याधी अवस्थेमध्ये तसेच स्वस्थ्य रक्षणार्थही केले जाते.

इतिहास: पुराण शास्त्रानुसार अभ्यंग प्रामुख्याने भारत, चीन, जपान, इजिप्त, कोरिया, रोम, ग्रीस या देशांमध्ये पुराणकाळापासून वापरात असल्याचे वर्णन आढळून येते.

बृहत्रयीमध्ये अभ्यंगाचे व्याधीनुसार, प्रकृतीनुसार, काळानुसार शास्त्रीयदृष्ट्या वर्णन आढळून येते.

खि.पू. 722-481 - नेईजिंग या चीनच्या पुस्तकामध्ये 30 विविध प्रकरणांमध्ये अभ्यंगाचे वर्णन केलेले आहे.

खि. पू. 700 - बियान क्यू हा चिकित्सक अभ्यंग चिकित्सा करीत होता.

खि. पू. 500 - जीवक (शिवागो कोमर्पज) हा थाई मसाज (Nuad Boran) आणि थाई चिकित्सेचा जनक मानला जातो. थाई मसाज हे भारत व चीन यांच्या पद्धतीचा संयोग आहे.

इ.स. 581 - डॉ. सन सि मीआव यांनी बाल्यावस्थेतील व्याधींसाठी दहा प्रकारच्या Massage पद्धती विकसीत केल्या.

सद्यकाळात जगात सर्वत्र अभ्यंग चिकित्सापद्धती लोकप्रिय झाली. अभ्यंग खेळांमध्ये व्यवसायामध्ये खाजगी कंपण्यामध्ये वापरली जाऊ लागली. 1996 मध्ये 'अटलांटा येथील ऑलिम्पिक मध्ये प्रथमत: अमेरीकेतील ऑलिम्पिक संघासाठी Massage प्रयोग करण्यात आला. 2010 मध्ये भारतात झालेल्या ऑलिम्पिक स्पर्धेमध्ये खेळाडूंसाठी मसाजची विशेष व्यवस्था करण्यात आली.

महत्त्व व उपयोगिता :

अन्नात् अष्टगुणं पिष्टं पिष्टात अष्टगुणं पय:।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसात अष्टगुणं घृतम।।
घृतात अष्टगुणं तैलं मर्दने न तु भोजने । **वृं मा. 81/29**

वृन्दमाधवांनी अभ्यंगाचे महत्त्व स्पष्ट करतांना सांगितले की, अन्नापेक्षा पिष्ट (starch) आठपट प्रभावी गुणकारी आहे तर पिष्टापेक्षा आठपट दूध गुणकारी आहे, दूधापेक्षा आठपट मांस, मांसापेक्षा आठपट घृत गुणकारी आहे तर घृतापेक्षा तैलाने अभ्यंग आठपट प्रभावी आहे.

अभ्यंग हा दिनचर्येतील एक उपक्रम सांगून स्वास्थ्यरक्षणार्थ प्रतिदिवसातील त्याचे महत्त्व स्पष्ट केले आहे.

स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।
भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढ: क्लेशसहोयथा।।
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्दृढं सुत्वक् च जायते।
प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्।। **च.सू. 5/85-86**

ज्याप्रकारे स्नेह वारंवार लावल्याने मातीचा घडा, चर्म (चामडे) दृढ व मुलायम होतात. गाडीच्या चाकांची धुरा वारंवार स्नेहनाने (वंगण घातल्याने) झीज रोखण्या इतपत दृढ होते त्याचप्रमाणे अभ्यंगाने शरीर दृढ होऊन त्वचा सुंदर होते व वातव्याधी सहज सहन करेल असा शरीर तयार होतो. शरीर व्यायाम (श्रम) व क्लेश सहन करण्यासाठी समर्थ होते.

वायू त्वचाश्रित असून स्पर्शनेंद्रिय त्वचा आहे. त्यामुळे वायूस जिंकण्यासाठी व स्पर्शनेंद्रिय स्वस्थ राखण्यासाठी त्वचेवर स्नेहाभ्यंग महत्त्वपूर्ण आहे.

पादाभ्यंगाने दृष्टी उत्तम राहाते. पायांना बल व दृढता येते. पायांचे खरत्व, स्तब्धता (cramps, stiffness) श्रम, सुप्ती (sensory loss) नष्ट केली जाते. बाल, वृद्ध व रुग्णांमधे अभ्यंग नित्य करावे (कै.नि.)

उपयोगिता

1) अनेक वातव्याधींची प्रधान चिकित्सा
2) शोधनार्थ दोष कोष्ठात आणण्यासाठी पूर्वकर्म म्हणून
3) स्वेदनाचे पूर्वकर्म म्हणून
4) त्वचा मार्दव व सुंदर ठेवण्यासाठी
5) रसायन व वाजीकरण म्हणून
6) स्वास्थ्य रक्षणार्थ

अभ्यंग योग्य (Indication)

1) वातव्याधी,

उदा. अ) पक्षाघात (Hemiplegia)

ब) कटि-पृष्ठ गतगत (Spondylitis)

क) संधिगतवात (Osteoarthritis)

2) शोधनार्थ पूर्वकर्म म्हणून (वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य कर्मापूर्वी)

3) स्वास्थ्य रक्षणार्थ

अयोग्य (contraindication) (सू.चि. 24/35-37)

वर्ज्योऽभ्यंग कफग्रस्त कृत संशुद्धयजीर्णिभि।। **अ.हृ.सू. 2/9**

1) कफ प्राधान्य व्याधी
2) कृत संशुद्धय (वमन विरेचन झालेले)
3) अजीर्ण झालेले
4) आमावस्था
5) तरुण ज्वर (Acute fever)
6) निरुह बस्ति दिलेला
7) संतर्पणोत्थ व्याधी उदा. प्रमेह, स्थौल्य
8) अग्निमांद्य
9) Inflammation due to fracture

संभार संग्रह

1) द्रोणी (Massage table)
2) तैल - 150-200 मिली
3) स्टील पातेले (250)
4) टॉवेल
5) बेसणपीठ (मुंगाचे)/साबण
6) रास्नादि चूर्ण
7) पंचकर्म सहाय्यक (Attendant/messures) 1-2 आवश्यकतेनुसार

अभ्यंग विधी

पूर्वकर्म - तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित् तैलं घृतं वा मतिमान युज्याद्भ्यङ्गसेकयो:।।

सू.चि 4/34

1) **रुग्णपरीक्षा** - अभ्यंगापूर्वी रुग्णाचे नियमित परीक्षण करुन घ्यावे. रुग्णाचे BP, Pulse इ. तपासणी केलेली असावी. कोणत्या तैलाची allergy इ. चा इतिहास विचारावा.
2) **संमतीपत्रक (written consent)** - रुग्णाची व नातेवाईकांची संमतीपत्रावर स्वाक्षरी घ्यावी.
3) व्याधी, रुग्णप्रकृती, देश, दोष यांचा विचार करुन आवश्यक त्या तैलास कोष्ण करावे. तेलाचे तापमान सहाय्यकाने आपल्या हातास स्पर्शून सहन होईल एवढा ठेवावा.

सामान्यता तापमान - 38°C ते 44°C सें.

योग्यकाल - सूर्योदयाच्या वेळी

प्रधानकर्म

आदल्या रात्रीचे भोजन पचल्यानंतर सकाळी प्रातःविधी आटोपून उपाशीपोटी सर्वप्रथम रुग्णास कमीत कमी कपड्यामध्ये (केवळ लंगोट बांधून) द्रोणीवर पाय पसरून बसण्यास सांगावे. त्यानंतर सुखोष्ण तैल सर्वप्रथम डोक्यावर लावावे. त्यानंतर क्रमाने कान, हस्ततल व पादतलभागी तैल लावून हलक्या दाबाने मर्दन करावे.

अभ्यंग करतांना रुग्णास व सहाय्यकास सोईस्कर होईल अशापद्धतीने रुग्णाची स्थिती (आसन/position) असावी. सामान्यतः अभ्यंग खालील 7 स्थितींमध्ये केले जाते.

1) बसलेल्या अवस्थेत (पाय पसरून) (sitting position)
2) उत्तान अवस्थेत (supine position)
3) वामपार्श्व (left lateral position)
4) पालथा अवस्थेत (prone position)
5) दक्षिण पार्श्व (right lateral)
6) उत्तान/उताणा अवस्थेत (supine position)
7) बसलेल्या अवस्थेत

PID, kyphosis, lordosis इ. सारख्या अवस्था असलेल्या रुग्णांना सहन होणे शक्य नसल्यास वरील अवस्थांपैकी शक्य त्या अवस्थांमध्येच अभ्यंग करावे.

गती – अभ्यंग साधारणतः अनुलोम गतीने करावे काही विशिष्ट अवस्थेत दोषांनुसार वातासाठी अनुलोम, कफासाठी प्रतिलोम व पित्तासाठी दोन्ही (आलटून पालटून) गतीने करावे

हस्तपाद- अनुलोम गतीने सरळ रेषेत (Linear)

संधिस्थानी वर्तुलाकार (circular)

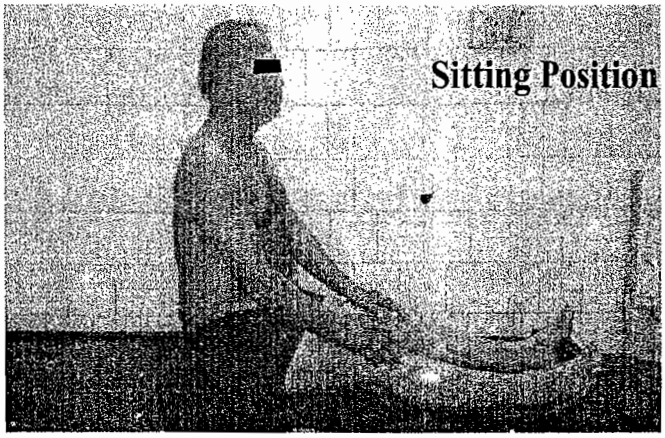
Sitting Position

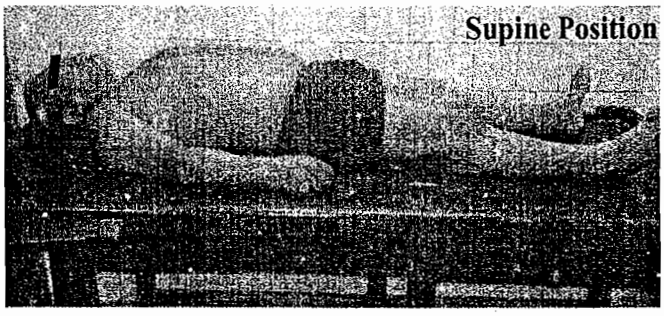
Supine Position

Left Lateral Position

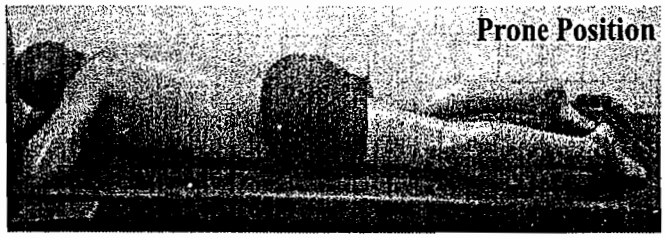
Prone Position

Right Lateral

अवस्था	अवयव	गती
1) बसलेल्या अवस्थेत (Sitting position)	शिर: कपाल	दोन्हीबाजूस
	1) उर्ध्वशाखा (upper limb)	1) अंस ते हस्तांगुली 2) उर: ते हस्तांगुली 3) पृष्ठ ते हस्त 4) मणिबंध संधी (वर्तुलाकार)
	2) पृष्ठ कटि-(dorsal & lumber)	कटि ते पृष्ठ
	3) Spine	cervical to sacrum with thumbs both hands
	4) अध:शाखा (lower limb)	1) उरु (Thigh) 2) जानुसंधी (Knee joints) 3) गुल्फसंधी व अध:शाखा 4) पादतल-अंगुली
2) उत्तान अवस्था (Supine position)	1) उदर (abdomen)	उदर ते हस्त उदर स्थानी वर्तुलाकार (anticlockwise then clockwise)
	2) उर: (chest)	उर: ते हस्त
	3) अध:शाखा (lower limb)	अंत: पार्श्व (anterior &lateral) उरु, जानुसंधी ते पादतल
3) वामपार्श्व (Left lateral)	1) पृष्ठ (dorsal)	उर्ध्वपृष्ठ (Upper back) ते हस्त
	2) सर्वांग	द हस्त ते द पाद अध:शाखा - वंक्षण (hip joint), उरु (thigh), जंघा (calf)
	3) spine	
द. पार्श्व (Right lateral)	वरीलप्रमाणे	वाम हस्तपाद
पालथा अवस्था (Prone position)	1) spine	cervical to sacrum
	2) पृष्ठ (Back)	अंस ते पृष्ठ अंसप्रदेशी वर्तुलाकार

कालावधी – कैयदेव निघण्टु मधे अभ्यंगाचा काल 5 मुहूर्त (4 तास) सांगितला आहे.

प्रत्यक्षात 35 मिनिट ते 1 तास (डल्हणानुसार स्नेहन मज्जापर्यंत पोहचण्यास 900 मात्रा = 5 मिनिटे) लागतात त्यामुळे 7 अवस्थांमध्ये अभ्यंगास अंदाजे 35 मिनिटे)

पश्चातकर्म

1) **विश्राम** – अभ्यंगानंतर किमान 15 मिनिटपर्यंत रुग्णास निर्वात स्थानी (Non Ac बंद रुम) विश्रांती करण्यास सांगावे
2) **स्वेदन** – अभ्यंगानंतर रुग्णास स्वेदन आवश्यक असल्यास स्वेदन क्रिया करावी.
3) **स्नान** – कोष्ण जलाने मूंग/चना दाळीच्या पीठाने स्नान केल्यानंतर मूर्ध स्थानी रास्नादि चूर्ण लावावे.
4) **आहार** – रुग्णास भूक लागल्यास लघु आहार द्यावा.

घ्यावयाची काळजी:

1) अभ्यंगानंतर BP, Pulse इ. चे परिक्षण,
2) अभ्यंगानंतर लगेच शीत वातावरणात (Fan, AC इ.) निषेध

अभ्यंगाचे धातुंवर प्रभाव (डल्हण टिका सू. चि 24/30 वर)

अभ्यंगाच्या क्रियेमुळे स्नेह प्रत्येक धातुंमध्ये पोहचतो. डल्हणानी आपल्या टिकेमध्ये प्रत्येक धातुंमध्ये पोहचण्यासाठीचा कालावधी वर्णन केलेला आहे. याचा अर्थ असा नसावा की, तेवढ्या कालावधीमध्ये प्रत्यक्ष स्नेह त्या धातुपर्यंत प्रत्यक्षात प्रवेशीत होईल. मात्र तेवढया कालावधीच्या अभ्यंगाने त्या-त्या धातुंवर परिणाम होतील.

धातु	कालावधी	1 मात्रा = 19/60 सेकंद
रोमांत	300 मात्रा =	1 मि. 35 सें.
त्वक् (रस)	400 मात्रा =	2 मि. 07 सें.
रक्त	500 मात्रा =	2 मि. 40 सें.
मांस	600 मात्रा =	3 मि. 10 सें.
मेद	700 मात्रा =	3 मि. 42 सें.
अस्थि	800 मात्रा =	4 मि. 14 सें.
मज्जा	900 मात्रा =	4 मि. 45 सें.

त्यामुळे उत्तम फलप्राप्तीसाठी (मज्जाधातुपर्यंत) अभ्यंगाचे परिणाम प्राप्तीसाठी अभ्यंग काल एका स्थितीमध्ये किमान 5 मिनिटे असावा.

अभ्यंगाचे गुण/फलप्राप्ती:

सामान्य फायदे

अभ्यंग आचरेर्नित्यं स जरा श्रमवातहा।

दृष्टि: प्रसाद पुष्टयायु: स्वप्न सुत्वक्दार्ढ्यकृत्।। **अ.ह. सू. 2/8**

तथा शरीरमभ्यंगात दृढं सुत्वक् च जायते।

प्रशांत मारुता बाधं क्लेश व्यायाम संसहम्।। **च.सू. 5/85**

अभ्यंग मार्दवकर: कफवात निरोधिन:।।

धातुनां दृष्टिजननो मृजा वर्ण बलप्रद।। **सु.चि. 24/30**

नचाभिघातभिहतं गात्रमभ्यंग सेविन:। **च.सू. 5/87**

1) जराहर - वृद्धत्व उशीरा येते.
2) श्रमहर - अभ्यंगानं श्रमकरणाऱ्यांच्या पेशीतील थकवा दूर होतो.
3) वातहर - वृद्धवायू नष्ट केला जातो
4) दृष्टिकर - दृष्टि सुधारण्यास मदत होते
5) पूष्टिकर - धातु पुष्टी होते
6) आयू:कर - धातु पुष्टी, श्रमहर, जराहर इ. गुणांमुळे पर्यायाने आयुची वृद्धी होते
7) स्वप्नकर - उत्तम निद्रा येते
8) त्वक् दृढता - त्वचा कोमल होऊन दृढता येते
9) क्लेशहर - शारिरीक व मानसिक क्लेश सहन करण्याची शक्ती वाढते.
10) मार्दवकर - शरीरास मृदूता येते
11) कफवात निरोधिन - कफ व वात शमन होते
12) मृजाप्रद् - त्वचेची शुद्धी होते
13) वर्ण-बलप्रद - त्वक् वर्ण कांती सुधारली जाऊन बलवृद्धी होते
14) अभिघातसहत्वं - अभ्यंगाने अभिघात सहज करण्याची शक्ती येते.

स्थानानुसार

1) पादाभ्यंगाचे फायदे:

खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रम: सुप्तिश्च पादयो:। सद्य एवोपशाम्यन्तिपादभ्यङ्गनिषेवणात।।

जायते सौकुमार्य च बलं स्थैर्यं च पादयो:। दृष्टि: प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति ।।

च.सू. 5/90-91

i) पादभागातील खरता (roughness) , स्तब्धता (stiffness), रुक्षता (dryness), सुप्ति (numbness) यांचा नाश

ii) पायामध्ये सुकुमारता (Soft) येते

iii) पायामध्ये बल व स्थैर्य येते

iv) दृष्टीकर

v) वायूचे नियंत्रण होऊन वातव्याधींमध्ये उपयोगी

2) शिरोऽभ्यंग: (च. सु. 5/ 80-85)

शिर:श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्। (अ.हृ.सु. 2/9)

i) शिर:शूलामध्ये उपयोगी

ii) निद्राकर

iii) खालित्य व पालित्य होत नाही

iv) इंद्रिय पुष्टीकर

v) केश दृढ व कृष्ण होणे

अभ्यंग कार्मुकता (Mode of Action)

अभ्यंग कर्मानुसार वातहर, पित्तहर व कफहर आहे. अभ्यंगामध्ये क्रिया व अभ्यंगामध्ये वापरण्यात येणारे द्रव्य दोन्हीही तेवढेच कार्य करतात. त्यामुळे प्रत्यक्षात कर्म व द्रव्य दोन्ही महत्त्वाचे आहेत. अभ्यंग क्रिया व स्नेह द्रव्य यांचे गुण स्निग्ध व गुरू असल्यास वायूच्या रुक्ष व लघु गुणाच्या साम्यावस्थेत ठेवण्यासाठी मदत होते व वायूचे कार्य सम्यक राहते (सु.शा/9)

अभ्यंगाने भ्राजक पित्ताचे कार्य सम्यक होऊन त्वकप्रसादन होते शरीरास मृदूता येऊन सिरा स्नायुंमधील स्तंभ, संकोच नष्ट होऊन शरीर लवचिक होतो.

डल्हणांनी सुश्रुतावरील टीकेमध्ये (सु.चि 24/30 वर) 900 मात्रेपर्यंत (5 मिनिटे) अभ्यंग केल्यास मज्जाधातुपर्यंत स्नेह जाण्याचे स्पष्ट केले आहे. अर्थात स्नेह त्वचेमधून शोषला जाऊन उत्तरोत्तर धातुपर्यंत त्याचे कार्य होत असते. शरीरामध्ये सर्वत्र पसरलेला इंद्रिय म्हणजे स्पर्शनेंद्रिय त्वचेच्या आश्रयाने राहतो त्वचा हा वायू चा आश्रय स्थान आहे. त्यामुळे अभ्यंगाने वायू चे शमन करण्याचे कार्य होते व स्पर्शनेंद्रियाचे पोषण करण्याचे कार्य घडते, सोबतच त्वचेची कांती, मृदू, वर्ण योग्य ठेवण्याचे कार्य होते. पर्यायाने अभ्यंगामुळे जराहर व रसायन कार्य घडते.

अभ्यंग शूलप्रधान व्याधीमध्ये उपयूक्त सांगितलेला आहे. शूल हे लक्षण वायू मुळे होते व वायूच्या शमनासाठी अभ्यंग ही उत्तम चिकित्सा आहे त्यामुळे शूल प्रशमनासाठी अभ्यंग उपयुक्त ठरते.

Modern view :

Vagal Stimulation : Massage therapy is useful for weight gain (धातु पुष्टिकर). In the research study it is noted a significant increase in vagal activity which is interpreted from ECG. There is significant increase in gastric motality in post massage period which leads to good absorption of the nutrient and proves good weight gain.

Preterm infants who received massage (15 min for 10 days) showed increase in S. insulin & S.IGF-1 (insulin like growth factor) levels and increased their weight [Field *et al*, 2008]

In Abhyang process there is increase in peripheral circulation and vasodilation which is responsible to increase more oxygenated blood to the muscles and helps to produce energy in fatigue muscles as well as removal of waste products from the body.

Ronald Melzack and Patrick Wall proposed theory of a gate control of pain . It exists within dorsal horn of the spinal cord and brains. The pain theory accounts for primarily psychological and then it provides physiological complex. In the gate control theory the experience of pain depend on a combine interplay of CNS and PNS as pain signals originated in nerves pass through PNS to spinal cord and to the brain. However, in this theory before reaching to the brain pain signals encounter nerve gate in the spinal cord that open or close when the gate is opened the pain sensation reaching the brain and can be experienced and when it is closed pain signals are prevented from reaching the brain and may not be experienced.

There are two types of fibers are responsible to carry the pain signals to the spinal cord

1. A-delta nerve fibers to carry electrical message to spinal cord @ 40 mph. (Fast pain)
2. C-fibers carry electrical message @ 3 mph (slow/continuous pain)

The role of abhyang upon this theory is activation of other types of nerve fibers can modify or block the sensation of pain.

After bitting, kneading, rubbing the area, feels some relief. The procedure of abhyang activates other sensory nerve fibers that are even faster than A-delta fibers and these fibers send information about touch and pressure to the spinal cord and brain to overside pain massages carried by A-delta and C-fibers. Even it works psychologically due to touch. [William W. Deardorff; Modern ideas; The gate control theory of chronic pain]

Action of plasma oxytocin : Oxytocin is hormone known to responsible by social bonding and touch may affect oxytocin (OT) release. Morhenn *et al* (2012) in his study found massage of associated with an increase in oxytocin level and reduction in ACTH, nitric oxide and beta endorphin. This increase in OT level is responsible for decrease in basal cortisol and increase in parasymphathetic tone, enhance immune function and decreases anxiety and depression (जराहर, श्रमहर, क्लेषहर)*

[*Mark Repaport; A model for the mechanism of action of massage NIH report 2009]

oxytocin has been formed to regulate the digestive mechanism. It stimulates the release of digestive hormones and gastric enzymes which lead to more effective absorption of nutrients (Linda Fores, 2010). Thus abhyang helps to improve Agni and Dhatupushti.

मर्दन उन्मर्दन

मर्दन म्हणजे शरीरावर अधिक पीडन देऊन अभ्यंगासारखी क्रिया करणे. उन्मर्दन म्हणजे नेमकी कशी क्रिया असावी यात मत-मतांतरे आहेत. उन्मर्दन म्हणजे उत-मर्दन अर्थात दाबलेल्या भागाला वर करणे (वैद्य कस्तुरे). काही चिकित्सक मर्दन व उन्मर्दन यांना अनुक्रमे अनुलोम व प्रतिलोम गतीने पीडन करणे असे मानतात.

मर्दनाने मांस धातुस स्थैर्य बळकटी येण्यास मदत होते.

योग्य (Indications):

स्नेहाभ्यंङ्गोपनाहश्च मर्दनालेपनानि च।
त्वक्मांसासृक सिराप्राप्ते कुर्यात् चासृग्विमोक्षणम ।
स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धन्मर्दनानि च।। **सु.चि. 4/7-8**

1) त्वक्गतवात
2) मांसगतवात
3) रक्तगतवात
4) सिरागतवात
5) स्नायूगतवात
6) संधिगतवात
7) अस्थिगतवात
8) स्वस्थव्यक्तीमध्ये

संभारसंग्रह – अभ्यंगास लागणारे

विधी :- अभ्यंगासारखी केवळ पीडनासह अभ्यंग करावे.

मर्दनाने फायदे

1) पेशींमध्ये बल प्राप्ती
2) स्नायूशूल कमी
3) शरीर लाघवता
4) व्याधी लक्षण कमी

पादाघात (Foot Massage)

पायाच्या साह्याने रुग्णाच्या अंगावर पीडन करणे पादाघात होय. ही केरळमध्ये प्रसिद्ध चिकित्सा पद्धती आहे. पदभ्यामुद्वर्तितस्य पादाभ्यां बहुकृतमर्दनस्येत्यर्थः। (सु.चि. 24/40 वर डल्हण टिका)

या क्रियेमध्ये परिचारकाने हाताऐवजी पायाने उभे राहून मर्दन केल्यामुळे मर्दन क्रियेपेक्षा अधिक दाब दिला जातो. वाग्भटांनी पादाघात हेमंत ऋतूमध्ये करण्यास सांगितले आहे.

वातघ्नं तैलैरभ्यंगं मूर्ध तैलं विमर्दनम्।
नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः **अ.ह.सू. 3/10**

योग्य (Indication):

1) हेमंत ऋतु
2) व्यायामोत्तर (after wrestling)
3) स्नायु, मांस शूल
4) कटिगतवात (lumbago)

अयोग्य

1) prolapsed IV disc
2) कृश, सुकुमार
3) Deep vein thrombosis

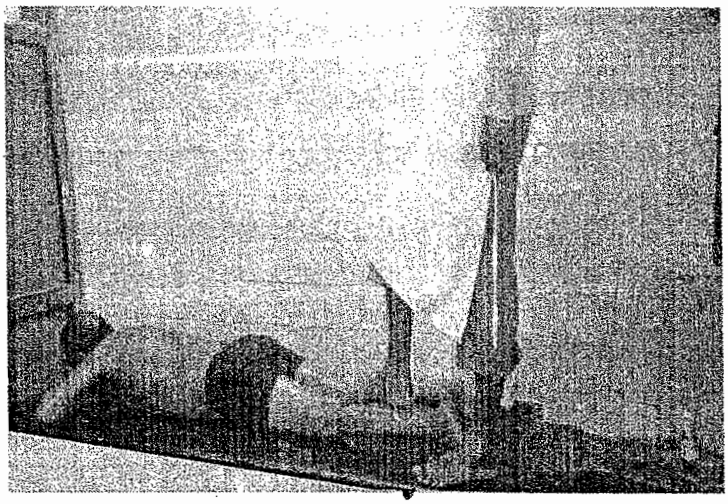

संभारसंग्रह

1) चटई
2) अभ्यंगासाठी रुग्णानुसार तैल - 150 मिली
3) तलम करण्यासाठी तैल - 250 मिली
4) टॉवेल

विधी :

पूर्वकर्म: अभ्यंगात वर्णिल्याप्रमाणे रुग्णाचे परीक्षण करुन घ्यावे व अभ्यंगाप्रमाणेच पूर्वकर्माचे पालन करावे.

पादाघात क्रियेसाठी एका रुममध्ये खाली चटई किंवा जाड सतरंजी अंथरुन परिचारकाचा हात पुरेल एवढया उंचीवर मजबूत दोरी किंवा साखळी बांधावी.

प्रधानकर्म: रुग्णास संतरंजीवर झोपवून तलम करावे व अभ्यंग करावे त्यानंतर रुग्णाच्या हस्त पाद अंगावर परिचारकाने कटि पृष्ठ कटी नितंब जागी उभे राहून वरच्या दोरीच्या आधाराने पादाघात करावा. रुग्णास सहन होईल एवढा दाब असावा. उर: व उदर प्रदेशी भार हलका असावा व मर्दनाची दिशा अभ्यंग सारखा असावी. सुश्रुतांनी अभ्यंग केल्यानंतर अर्धशक्ती व्यायाम करण्यास सांगितले त्यानंतर पादाघात करण्यास सांगितले आहे. (सु.चि. 24/40)

पश्चातकर्म: 15 मिनिटे विश्रांती व त्यानंतर कोष्णजलाने स्नान करावे. स्नानासाठी बेसणाचा वापर करावा.

घ्यावयाची काळजी - परिचारकाचे पाय स्वच्छ, मृदु (crack नसलेले) असावे अधिक वजन नसावे रुग्णाच्या शरीरावर अधिक दाब देऊ नये.

पादाभ्यंगाने लाभ -

1) शरीर दृढ होते,
2) व्याधीक्षमत्व वाढते.

संवाहन

संवाहनं सुखकरस्पर्शः। **सु.चि. 4/24 वर डल्हण टिका**

संवाहन म्हणजे सुखकर स्पर्श (gentle touch) किंवा मृदु मर्दन. हळुवार शरीरास मर्दन करण्याची क्रिया संवाहन होय. संवाहन अभ्यंगानंतर किंवा अभ्यंग न करताही करता येतो.

संवाहन योग्य (Indications)

1) वातव्याधी (सु.चि. 4/24)
2) पित्तप्रधान व्याधी (सु.क. 5/38)
3) वातरक्त (Gouty arthritis)
4) निद्रानाश (Insomnia)

संवाहनाचे लाभ :

प्रीतीनिद्राकरं वृष्यं कफवात श्रमापहम्।
संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम्।। **सु.चि 24/83**

1) प्रीतीकर (Affection)
2) निद्राकर
3) वृष्य (Aphrodisiac)
4) कफ, वात शामक
5) श्रमहर
6) मांस, रक्त व त्वचा प्रसादक

कर्णपुरण

तैलेन कर्णस्य पूरणम् **(सु.चि. 24/29)**

ज्या क्रियेमध्ये कानामध्ये औषधीयुक्त स्नेह घातले जाते त्यास कर्णपुरण किंवा कर्णतर्पण म्हणतात. ही क्रिया अभ्यंगाच्या वेळी किंवा कर्ण व शिरोरोगामध्ये स्वतंत्र चिकित्सा म्हणुन केली जाते. चरकांनी स्नेह विचारणा म्हणूनही या क्रियेचा उल्लेख केला आहे. (च.सू. 13/25)

योग्य (Indications)

हनुमन्याशिरः कर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम्। **सू.चि.24/28**
न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः।
नोच्चै श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यकर्णतर्पणात।। **च.सु. 5/84**

1) वात प्राधान्यकर्णरोग
2) मन्याग्रह (Stiffness of neck, cervical spondylosis)
3) हनुग्रह (Stiffness of mandible, jaw lock)
4) कर्णशूल (Earache)

5) शिरःशूल (Headache)

6) बाधिर्य (Deafness)

7) मन्याशूल (Pain in neck region)

8) कर्णनाद (Tinnitus)

अयोग्य (Contraindication)

1) कर्णस्त्राव (Perforation)

औषधी स्नेह - कर्णनाद - सर्षप तैल,
कर्णबाधिर्य - बिल्व तैल,
कर्णशूल - पंचगुण तैल

संभार संग्रह-

1) अभ्यंग टेबल

2) स्नेह - अभ्यंगासाठी तेल 50 मिली
कर्णपुरणासाठी तेल 5 मिली

3) टॉवेल

4) गॅस स्टोव्ह

5) स्टील पातेले

6) गोकर्ण किंवा dropper

7) cotton pad

पूर्वकर्म

1) **रुग्णपरीक्षण** - सर्वप्रथम रुग्णाचे Torch, Earoscope च्या सहाय्याने कर्णाचे परिक्षण करावे. त्यानंतर स्त्राव किंवा कर्णगुथ असल्यास earbud ने स्वच्छ करुन घ्यावे.

2) **रुग्ण आसन (Position of the patient)** - पार्श्वभागावर झोपवून कर्णपूरण करावे. ज्या बाजूच्या कर्णाचे तर्पण करावयाचे आहे. त्याच्याविरुद्ध बाजुच्या पार्श्वभागावार (Lateral position) रुग्णास टेबल वर झोपवावे व रुग्णास हात डोक्याखाली दुमडून ठेवण्यास सांगावे.

3) **अभ्यंग व स्वेदन** - कर्ण, कर्णपाली (Pinna), कर्णाच्या सभोवती मन्याप्रदेशी मृदु अभ्यंग करुन त्या भागावर टॉवेलच्या साह्याने मृदु स्वेद करावा

प्रधानकर्म

कर्णपुरण विधी - अभ्यंग व स्वेदनानंतर 3 ते 5 मिली सुखोष्ण करुन गोकर्णामध्ये घ्यावे व कर्णपाली

(Pinna), हलक्या दाबाने बाहेरच्या बाजूस ओढून वरच्या बाजूस ओढावे व गोकर्णाच्या साह्याने संतत धारेने कर्णामध्ये तैल सोडावे. सोबतच कर्णमूलाच्या ठिकाणी मर्दन करावे.

योग्यकाल - सकाळी 9 ते 10

मात्रा (कालावधी) - स्वस्थ व्यक्तींमध्ये 1000 मात्रा = 5.3 मिनिटे

व्याधी अवस्था - रुजाशमनापर्यंत (अ.हृ.सु. 22/32)

पश्चातकर्म

कर्णपूरण केल्यानंतर कॉटनच्या साह्याने कान बंद करावा ज्यामुळे तैल बाहेर येणार नाही. दुसऱ्या कानाचे कर्णपूरण करावयाचे असल्यास वरील विधीने कर्णपूरण करावे.

दुसऱ्या दिवशी सकाळी कानातील कॉटन प्लग काढून कर्ण अंत: प्रदेश स्वच्छ करावा. तीक्ष्ण तैल असल्यास अर्धा ते एक मिनिटानंतरच कान स्वच्छ करावा

उपद्रव: 1) दग्ध, 2) Fungal Infection

अक्षितर्पण (नेत्रतर्पण)

तृप+ल्यूट = तर्पण

नेत्राचे पोषण/तृप्ती करणारी क्रिया म्हणजे अक्षितर्पण. शालाक्य तंत्रात अतिशय लोकप्रिय व प्रभावी चिकित्सा पद्धती. व्याधी अवस्था सोबतच नेत्राचे स्वास्थ्य रक्षणार्थ स्वस्थ व्यक्तींमध्येही अक्षितर्पण क्रिया केली जाते.

तर्पण व पूटपाक दोन्ही विधी नेत्राच्या वासन (retention) करणाऱ्या क्रिया आहेत. शिरोबस्ति सारखीच तर्पण ही नेत्रबस्ति आहे. तर्पणामध्ये स्नेह (तैल व घृत) अपेक्षित आहे तर पुटपाक क्रियेमध्ये पूटपाक विधीने तयार केलेले पत्रस्वरस, मांसरंस यांचा उपयोग केला जातो. विशेष म्हणजे तर्पण व पूटपाक ह्या क्रिया अशोथजन्य व्याधी मध्ये (Non inflammatory condition) उपयुक्त आहेत तर आश्चोतन व अंजन ह्या क्रिया शोथयूक्त अवस्थांमध्ये (inflammatory condition) उपयुक्त आहे.

विधी	द्रव्य	अवस्था
तर्पण	स्नेहप्रधान	Non inflammatory
पूटपाक	स्वरस	Non inflammatory
आश्चोतन	क्वाथ	Acute inflammatory
अंजन	घनद्रव्य	Chronic inflammatory

अक्षितर्पण योग्य (Indication): (अ.ह.सू. 24/1-3)

अक्षितर्पण विविध नेत्राच्या वातप्रधान व्याधींमध्ये केली जाते.

1) अर्दित (Bel's palsy)
2) नयने ताम्यति (Fatigued eyes)
3) नेत्र स्तब्धता (inactive)
4) नेत्रशुष्कता (dryness of eyes)
5) नेत्ररुक्षता (Roughness)
6) अभिघात (Injury)
7) वात-पित्त-दुष्टी-रुग्ण
8) नेत्र जिह्मता (Squint)
9) जीर्णपक्ष्म (Loss of eye lashes)
10) आविलेक्षण (Cloud or blurring of vision)
11) कृच्छ्रोन्मिलन (Difficulties in opening eyes)
12) सिराहर्ष (congestion of conjunctival blood vessels or orbital cellulitis)
13) सिरोत्पात (Pannus)
14) तम (Black out, darkness in front of eyes)
15) अर्जुन (Sub conjunctival hemorrhage)
16) अभिष्यंद (conjunctivitis)
17) अधिमंथ (Glaucoma)
18) अन्यतोवात (Trigeminal neuralgia)
19) वातपर्यय (5th cranial disorder)
20) शुक्रक (शुक्लक) (corneal opacity)
21) नेत्रशूलानंतर (after painful eyes)
22) संरभ (swollen eyes)
23) अश्रुस्त्रावानंतर (after excessive lacrimation)

अयोग्य (Contraindication): - 1) भ्रम, 2) मन: उद्वेग

संभारसंग्रह

1) टेबल
2) उडीद पीठ 250 ग्रॅम किंवा तर्पण गॉगल
3) दोष - व्याधीनुसार घृत उदा. त्रिफला घृत
4) कापूस (cotton)

पूर्वकर्म

1) **रुग्णपरीक्षण** - रुग्णाचे नेत्रपरिक्षण करून घ्यावे.
2) **रुग्णआसन** - रुग्णास उत्तान शायिन (supine) अवस्थेत द्रोणी वर झोपवावे. रुग्णावर योग्य प्रकाश पडेल अशी व्यवस्था करावी. सरळ सूर्यप्रकाश किंवा प्रखर प्रकाश (High voltage light) नेत्रावर पडणार नाही याची दक्षता घ्यावी. त्यानंतर कोष्ण त्रिफला क्वाथाने नेत्राचे धावन-मृदुस्वेदन करावे.
3) **पाळी तयार करणे** - रुग्णाच्या नेत्राभोवती उडीदपीठाने 2 अंगुल (3 सेमी) उंच पाळी तयार करावी. सद्याच्या काळात swimming goggle द्वारे तयार केलेले यंत्र (नेत्र तर्पण यंत्र) वापरणे सोयीचे ठरते.

प्रधानकर्म

पाळी तयार केल्यानंतर रुग्णास नेत्र बंद करण्यास सांगावे, कोष्ण घृत/नेत्रतर्पणार्थ द्रव्य मंद गतीने पाळीमध्ये भरावे. पक्ष्मापर्यंत घृत भरलेले असावे. यावेळी रुग्णास डोळ्यांची उघडझाप करण्यास सांगावे.

योग्य कालावधीनंतर अपांग बाजूस (outer conthus) पाळीस छिद्र पाडून स्नेह काढून घ्यावा. अन्यथा कापसाद्वारे पाळीतील स्नेहास काढून घ्यावे.

कालावधी - एक दिवसाआड - पित्तज,

दोन दिवसाआड - स्वस्थ व सन्निपातज,

तीन दिवसाआड - कफज किंवा सम्यक योग लक्षणापर्यंत,

एक दिवस, 2 दिवस वा 3 दिवस (सु. उ. 18/11)

वेळ (मात्रा) -

व्याधी	मात्रा(वेळ)	
	मात्रा	सेकंद
स्वस्थ	500	159
कफप्रधान	600	150.8
पित्तप्रधान	800	254.4
वातप्रधान	1000	318
संधिगतव्याधी (Canthus)	300	95.4
वर्त्मगत (Palpebra)	100	31.8
शुक्लगत (Sclera)	500	159
कृष्णगत (Iris)	700	222.6
दृष्टीगत (Pupillary)	800+1000	254-318
अधिमंथ (Glaucoma)	1000	318

पश्चातकर्म

स्नेह काढून घेतल्यानंतर उडीदाची पाळी काढून घ्यावी, व कोष्ण जलाने किंवा त्रिफला क्वाथाने नेत्र स्वच्छ करावा आवश्यकतेनुसार पूटपाक करावे (अ.हृ.सू. 24/12)

धूमपान (अ.हृ.सू. 24/9) कफाचे शोधन करण्यासाठी

पथ्य - धूळ, धूर, प्रवास, प्रखर प्रकाश, अतिशीत हवा (AC) वर्ज्य करावे.

सम्यक योग लक्षण (अ.ह.सू. 24/11) सू.उ. 18/12-13

1) प्रकाशक्षमता (ability to withstand bright light)
2) स्वास्थ्य नेत्र (Healthy eyes)
3) विशदं नेत्र (clarity of vision)
4) लघु लोचनम (lightness of eye)
5) सुख स्वप्न (Sound sleep)
6) वर्णपाटवम् (clearly identifications of colour)
7) निर्वृति (तात्कालिक सुख उत्पन्न) (Subside of disease)
8) क्रिया लाघव (निमेष-उन्मेष क्रिया शीघ्रकरता येणे, नेत्र हलके वाटणे)
9) सुखबोधित्वम (Easy awakening)

अतियोग- (सू.उ. 18/19)

1) नेत्र गौरव (heaviness)
2) अश्रूस्त्राव (excessive lacrimation)
3) अविल नेत्रता (blurred vision)
4) कंडू (Itching in eye)
5) अतिस्निग्ध नेत्र

अयोगः (सू.उ. 18/15)

1) रुक्ष नेत्र (dryness)
2) आविलता (exchaushes)
3) अस्त्राढय (अश्रुबहूलता) (excessive lacrimation)
4) असहं रुपदर्शन (Intolerance to light)
5) व्याधीवृद्धी (worsening of the disease)

शिरोमास्तिष्क्य (मास्तिष्क्य)

मूर्धतैल (मूर्ध्नि तैल)

मूर्ध प्रदेशी म्हणजे डोक्यावर तैल लावण्याची क्रिया मूर्ध तैल होय. या प्रकारामध्ये शिरोभागी वेगवेगळ्या पद्धतीने तैल लावले जाते. मूर्ध तैल क्रियेचे चार प्रकार आहेत.

अभ्यंगम् परिषेकश्च पिचुर्बस्तिरिति क्रमात्।
मूर्ध तैलम् चतुर्था स्यात् बलवत् च यथोत्तरम् ।। **शा.उ.खं. 11/120**

अभ्यंगसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।
मूर्ध्नि तैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरात्तरम।। **अ.ह.सू. 22/24**

1) अभ्यंग, 2) परिषेक, 3) पिचु 4) शिरोबस्ति

ह्या क्रिया गुणाने उत्तरोत्तर अधिक बलवान आहेत.

व्याधी व रुग्ण बलानुसार मूर्ध तैल क्रिया तसेच वापरण्यात येणारे तैल याची निश्चिती चिकित्सकांनी आपल्या विवेकाने करावी.

उपयोगिता (Benefits):

न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतान्ति च।
बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते।।
दृढमुलाश्च दीर्घाश्च कृष्णा, केशा भवन्ति।
इंन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।।
निद्रालाभः सुखं च स्यानमूर्ध्नि तैल निषेवणात्।। **च.सू. 5/81-84 अ.ह.सू. 22/34**

1) न खालित्य (No baldness)
2) न पालित्य (No graging of hairs)
3) न केश प्रपतन्ति (no falling of hairs)
4) शिर व कपालाची बल वृद्धी (Strong scalp)
5) केशमूल दृढ होणे
6) केश वृद्धी होणे
7) केश कृष्णवर्णी होणे
8) इंद्रिय प्रसाद (Improve ability to sense organs)
9) सुत्वग्भवतिच आनन - मुखकान्तीवृद्धी (fairness of face)
10) निद्रालाभ (sound sleep)
11) स्वरवृद्धी (improves strength of voice)
12) हनुबल वृद्धी (strength to lower jaw)
13) शिरोव्याधी - (cranial nerve disorders)
14) Antihypertensive
15) Antistress
16) मानसव्याधीमध्ये उपयुक्त

1. शिरोअभ्यंग

शिरोभागी तैल लावून अभ्यंग करण्याची क्रिया शिरो:अभ्यंग होय

शिरोअभ्यंग (Indications) योग्य अवस्था:

तत्राभ्यंग:प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु। **अ.हृ.सू. 22/25**

1) शिरोरुक्षता (Dryness of scalp) 2) कण्डु (Itching)

3) मल (Filth of scalp) 4) Scalp psoriasis

वरील अवस्था विशेष अवस्था आहेत. मूर्ध्नीतैलाचे फायदे ज्या व्याधींमध्ये होतात अशा सर्व व्याधीमध्ये शिरोअभ्यंग करता येते.

संभारसंग्रह

1) खुर्ची (Saloon chair)

2) तैल - प्रकृति व्याधीनुसार

3) पंचकर्म सहाय्यक 01

तैल - Dandruff - दूर्धुरपत्रादि तैल

पालित्य - नीलीभृंगादि, महाभृंगराज तैल

प्रकृतिनुसार -

वात - नारायण तैल

पित्त - चंदन बला लाक्षादि तैल, क्षीरबला तैला

कफ - त्रिफलादि तैल

विधी - रुग्णास वेग निस्सारणानंतर खुर्चीवर बसण्यास सांगावे. मन्यापासून खालील भाग टॉवेल/ वस्त्राद्वारे झाकावे. पंचकर्म सहाय्यकांनी स्वस्तीर्वचनानंतर रुग्णाच्या पाठीमागील बाजूस उभे राहावे. आवश्यक मात्रेमध्ये तैल कोष्ण करुन रुग्णाच्या शिरोभागी लावावे.

तैल शिरोभागी हळुहळु पसरवावे व हलक्या दाबाने अभ्यंग करावा. शिरोभागी मन्याभागी व कर्णपाली या भागात हलक्या दाबाने अभ्यंग करावा.

अभ्यंग करतांना आवश्यकतेनुसार रुग्णांची अवस्था बघून दोन्ही हातांच्या पंजांनी हलक्या दाबाने ताडन करावे.

तैलाचे तापमान - अंदाजे $40^{\circ}C$

योग्य काल - प्रात:काळी

कालावधी - 30-40 मिनिट

घ्यावयाची काळजी : - 1) अभ्यंग करतांना झटक्याने रुग्णाचे शिर मागे-पूढे हलवू नये

2. शिरोपरिषेक (शिरोधारा)

पर्याय- शिरोधारा शिर:सेक, शिर:सेचन, शिरोअवषेक

शिरोभागी औषधी द्रवांचे परिषेचन (irrigation) करणे म्हणजेच शिर: कपाल भागी धारा सोडण्याची क्रिया शिरोपरिषेक होय. शिरोधारा ही तैलाच्या व्यतिरिक्त व्याधी, प्रकृती नुसार दूध, तक्र, क्वाथ (कषायाचे) इ. औषधी द्रव द्रव्यांची केली जाते. द्रव्यांच्या वापरानुसार दुग्धधारा (क्षीरधारा) तक्रधारा, कषाय (क्वाथ)धारा, तैलधारा अशी नावे पडली आहेत. सद्य काळात पंचकर्माच्या नावाखाली सर्वाधिक लोकप्रिय क्रिया असून 'शिरोधारा' ही पंचकर्माचा symbol बनली आहे.

योग्य (Indications) -

अरुंषिकाशिरस्तोददाहपाक व्रणेषु तु।परिषेक:.....।। **अ.ह.सु. 22/25**

1) अरुंषिका (dandruff eruption of scalp)
2) शिरस्तोद (Headache)
   i) वातज (Tension headache) ii) पित्तज (Vascular headache)
3) दाह (Burning sensation)
4) पाक (Suppuration, dermatological condition of scalp)
5) व्रण (Ulcers on scalp)
6) Hypertension
7) मानस व्याधी - i) Stress, ii) Psychological disease, iii) Anxiety
8) अर्दित (Facial palsy due to peripheral nerve lesion*) [A.H.S. Commentary by T. Sreekumar]
9) निद्रानाश (Insomnia)

तैलधारा

संभारसंग्रह-

1) धारा टेबल/द्रोणी	2) तैल 2 लिटर (व्याधी व प्रकृतीनुसार)
3) धारा पात्र यंत्र	4) gauze piece
5) bandage	6) रास्नादि चूर्ण 5 ग्रॅम
7) टॉवेल	8) पंचकर्म सहाय्यक 2

धारापात्र - 1.5 ते 2 लीटर द्रव मावेल अशा आकाराचा मातीचा किंवा धातुचा (स्टील, तांबे, पीतळ) पात्र असावा. मुखभाग विस्तारलेला असावा. धारापात्राच्या मूखभागी समांतर अंतरावर तीन छिद्र पाडून त्यामध्ये साखळी अडकवून तिन्ही टोक एकत्र करावे. पात्राच्या मध्यभागी कनिष्ठिका अंगुलीएवढे छिद्र असावे.

नारळाच्या कवटीचा (coconut shell) अर्धाभाग घेवून गोलाकार भागास दंतूरीत करावे. व मध्यभागी एक छिद्र करावे. त्यानंतर दंतूरीत भाग खाली राहील अशापद्धतीने धारापात्रामध्ये पालथी ठेवावी. जाड सुती कापड घेवून त्याची वर्ती तयार करावी. वर्तीचे एक टोक 2 सेमी लांब आडव्या काडीस बांधून दुसरे टोक नारळाच्या छिद्रामधून व पात्राच्या छिद्रामधून बाहेर काढावे वर्तीची लांबी अंदाजे 8 इंच असावी.

सद्य स्थितीमध्ये स्वयंचलीत शिरोधारा यंत्र उपलब्ध आहेत. परंतु शास्त्रीय क्रियेचा रुग्णावर पडणाऱ्या मानसिक प्रभावास विशेष महत्त्व आहे.

वातदुष्टी	-	क्षीरबला तैल - शमन, बृहण
		धन्वन्तर तैल - वातपित्त शामक, सुतिका बृहण
		बला तैल
पित्तदृष्टी	-	चंदनबला लाक्षादि तैल - पित्तवात शामक, बृहण
		मधुयष्टयादि तैल - वातपित्त शमन
		क्षीरबला तैल
कफदुष्टी	-	एलादि तैल - उष्ण, वातकफशामक रक्तप्रसादन, Psoriasis
		कार्पस्यादि तैल - उष्ण, बृहण
Dandruff/scalp Psoriasis	-	दुर्वादि तैल, दूर्धुरपत्रादि तैल
खालित्यपालित्य	-	भृंगराज तैल, नीलीभृंगादि तैल
निद्रानाश	-	ब्राह्मी तैल

पूर्वकर्म

रुग्णपिरीक्षण - रुग्णाचे BP Pulse आवश्यकतेनुसार EEG, MRI, CT Scan व इतर संबंधीत व्याधींचे परिक्षण करुन घ्यावे. रुग्णास क्रियेविषयी सविस्तर समजवून सांगावे.

आतुरसिद्धता - रुग्णास वेग निर्हरणानंतर शिरोभागी आवश्यकतेनुसार तैलाचे तलम करुन आस्य, मन्या व अंसप्रदेशी अभ्यंग करुन कपालप्रदेशी नेत्रापासून दोन अंगुल वर पट्टबंधन करावे (किंवा लांब व जाड कापडी दोरी बांधावी) यामागे शिरोधारा करतांना द्रव नेत्रामध्ये जाऊ नये हा मूख्य उद्देश आहे. कानामध्ये पिचू ठेवावे. अशा पद्धतीने रुग्णांची तयारी केल्यांनतर रुग्णास द्रोणीमध्ये उत्तान शयनावस्थेत (supine position) झोपण्यास सांगावे. यावेळी रुग्णाच्या मानेखाली rolled towel किंवा लहान उशी ठेवावी ज्यामुळे रुग्णास अधिक काळ शिरोभाग एकाच स्थितीत ठेवणे सुखकर होईल.

औषध सिद्धता - योग्य तेलाची निवड करुन त्यास कोष्ण करावे.

सामान्य तापमान - 40°C

प्रधानकर्म

रुग्णास धारा टेबलवर झोपविल्यानंतर धारापात्राची उंची रुग्णाच्या कपाल प्रदेशापासून ३ इंच उंचीवर असेल अशा पद्धतीने स्थिर करावे. धारापात्रातील छिद्रास सहाय्यकानी अंगुलीद्वारे बंद करुन कोष्ण स्नेह धारापात्रामध्ये चालावे. छिद्रावरील अंगुली बाजूला करुन शिरोभागी स्नेहाची धार पडू द्यावी धारा मध्यभागी पडत आहे याची खात्री करुन घ्यावी. धारा एकसारखी अखंडीत असावी (uniform & uninterrupted). धारा चालू असतांना पात्र दोलायमान असावा. (दोलायमान असण्यासाठी वैद्यवर्गांमध्ये मत मतांतरे आहेत.)

धाराटेबलाखाली असलेल्या पात्रात तैल जमा करावे व त्यास कोष्ण करुन पुनः धारापात्रामधे घालावे. ही क्रिया धारा करतांना खंड पडू नये अशा पद्धतीने चालू असावी.

कालावधी - 45-60 मिनिट, 7-14 दिवस

योग्यकाल - प्रातः सकाळी 7 वाजता, सायं 5-6 वाजता

पश्चातकर्म

शिरोभागावरील पट्टबंधन व कर्णपिचू काढावे. शिरोभागातील तैल पुसून काढावा त्यानंतर रास्नादि चूर्ण लावून रुग्णास 15-20 मिनिटे विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. आवश्यकतेनुसार नंतर कोष्णजलाने स्नान करण्यास परवानगी द्यावी.

घ्यावयाची काळजी -

1) तैल अधिक उष्ण नसावा
2) धार खंडीत नसावी
3) धार नेत्रामध्ये जाणार नाही याची काळजी घ्यावी

व्यापद -

1) शिरःशूल (धारा उंचावरून केल्यास)
2) शिरोगौरव (धारा कमी वेगाने केल्यास)
3) भ्रम (अतिवेगाने धारा केल्यास)
4) प्रतिश्याय (शीत तैल असल्यास)
5) नेत्रदाह (तैल अधिक उष्ण असल्यास)

चिकित्सा - (धाराकल्प 21-22)

1) नस्य - प्रधमन, रुक्ष नस्य
2) गंडूष
3) अंजन
4) सुंठी धान्यक पान
5) सैधंव मिश्रित स्नेह बस्ति तिसऱ्या दिवशी
6) 4 थ्या दिवशी व्यापदानुसार चिकित्सा
7) 5 व्या दिवशी धारा पुन्हा सुरु करता येऊ शकते.

तैल बदलण्याचे नियम : स्नेह पुन:प्रयोग - प्रथम दिवसाचा शेष स्नेह एकत्र करुन त्यात दुसऱ्या दिवशी कमी पडलेली मात्रा नवीन स्नेहाची घालावी असे पूढील दोन दिवस करावे चवथ्या दिवशी पूर्णत: नवीन स्नेह घ्यावा आणि यात आधीच्या विधीप्रमाणे पूढील दोन दिवस उपयोगात आणवा सातव्या दिवशी तिसऱ्या व सहाव्या दिवशीचा स्नेह एकत्र करुन उपयोगात आणावा. जूना स्नेह वापरतांना त्यास गरम करुन त्यातील जलांश जाळून घ्यावे व गाळून घ्यावे.

तक्रधारा

तक्रधारा ही सिद्ध तक्राने शिरोभागी धारा करण्याची क्रिया हाये. तक्र कफ पित्त शाम (बाह्य उपचाराने) असल्याने प्रामुख्याने कफ-पित्त प्रधान व्याधींमध्ये तक्रधारा अधिक उपयोगी आहे.

तक्रधारा योग्य (indication)

क्लमापची शिरोदाह रुजोन्माद प्रमेहिणाम!।

कफपित्तापयोनामितरेषऽच शस्यते।

शीर्षतस्तक्रयुक्तेन धात्रीक्वाथेन सेचनम्।

1) क्लम (fatigue)
2) अपची (lymphadenitis)
3) शिरोदाह (burning sensation)
4) शिरोरुजा (Headache)
5) उन्माद (Insanity)
6) प्रमेह (Diabetes neuropathy)
7) केश शुक्ल (पालित्य) (premature graying of hair)
8) करचरण तोदन (prinking pain of hands & feet)
9) ओज:क्षय
10) दोषकोप
11) मूत्रदोष (disease related to urine)
12) संधिविश्लेष (Laxity of joints)
13) हृदयरुजा (cardiac pain)
14) अग्निमांद्य (lower digestion)
15) अरुची (Anorexia)
16) कर्ण-नेत्ररोग (disease related ear & eye)
17) psoriasis
18) Acid peptic disease
19) Irritable bowel syndrome

संभारसंग्रह

1) धारा टेबल/द्रोणी
2) धारा पात्र यंत्र
3) तक्र - 1.5 लीटर
4) आमलकीक्वाथ - 1.5 लीटर
5) रास्नादि चूर्ण
6) तैल (तलम) - 10 मिली
7) Gauze piece
8) Bandage
9) टॉवेल
10) पंचकर्म सहाय्यक - 2

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण –

क्वाथ – आमलकी 200 ग्रॅम घेऊन 8 लीटर पाण्यामध्ये क्वाथ विधीने एक चतुर्थांष (2 लीटर) पर्यंत आटवावे. त्यातील 1.5 लिटर क्वाथ तक्रामध्ये मिश्रण करण्यासाठी वापरावे व उरलेले अर्धा लीटर क्वाथ शिरधावन करण्यासाठी उपयोगात आणावे.

तक्रनिर्माण – प्रथम विधी – आवश्यकतेनुसार योग्य प्रमाणात दूध घेवून मंद आचेवर गरम करावे. त्यानंतर त्यास थंड होऊ द्यावे. नंतर या दूधामध्ये थोडेसे तक्र घालून रात्रभर ठेवल्यास उत्तम दही तयार होते 12 तासानंतर दह्यास घूसळून तक्र तयार करावे व क्वाथासोबत तक्र हा नेहमी (कमी अम्ल) वापरावा. 'अपची' मध्ये पात्र अपवाद आहे यात जुने तक्र वापरतात.

द्वितीय विधी – 1.5 लीटर दूधामध्ये 6 लीटर (हे प्रमाण 1:4, 1:3, किंवा 1:2 असेही वापरण्यात येते) जल घालावे. सोबतच 100 ग्रॅम मूस्ता (भरड) एका जाळीदार कापडाच्या पिशवीमध्ये बांधून यास पातेल्यावर आडवी काठी ठेवून दोलायंत्र पद्धतीने मूस्ताची पिशवी दूधामध्ये ठेवावी व मंद आचेवर गरम करावे. जलांश आटल्यानंतर केवळ दूध शेष असल्यास मूस्तायूक्त पिशवी बाहेर काढावी व दूध थंड होऊ द्यावे. नंतर वरील वर्णिल्याप्रमाणे तक्र तयार करावे. दोष प्राधान्यानुसार खालीलप्रमाणे औषधी सिद्ध तक्र उपयोगात आणले जातात.

कफ प्राधान्य व्याधी	–	मूस्ता
पित्त प्राधान्य व्याधी	–	मधुयष्टी
कफवात व्याधी	–	बिल्वमूल
पित्तवात व्याधी	–	शतावरी

आतूर परिक्षण – BP, Pulse, EEG (आवश्यकतेनुसार)

विधी – तैलशिरोधारा विधी प्रमाणेच तक्राचीही धारा केली जाते. काही आचार्यांच्या मते शिरोभागावरील उंची 2 अंगुल (3 सेमी) वर्णिलेली आहे.

तक्रधारा करतेवेळी आवश्यकतेनुसार शरीराभ्यंग करण्याची पद्धत केरळ मध्ये फार प्रचलीत आहे.

योग्य काळ	–	प्रात: 7 सांय 4-6
कालावधी	–	7 ते 14 दिवस
काळ	–	45 - 90 मिनट (3¾ नाडीका) {1 नाडीका = 24 मिनिट}

पश्चातकर्म

धारा केल्यानंतर शिल्लक आमलकी क्वाथाने शिरोभाग स्वच्छ करावे. नंतर टॉवेलने शिर:प्रदेश कोरडे करुन रास्नादि चूर्ण लावावे रुग्णास विश्रांतीचा सल्ला द्यावा.

व्यापद – 1) शीतता अनुभूती – क्रिया थांबवून उष्णोपचार करावे.

2) प्रतिश्याय – प्रतिश्याय चिकित्सा करावी.

क्षीरधारा

औषधी सिद्ध दुग्धाद्वारे धारा केली जाते. प्राधान्याने पित्त व वात पित्त प्रधान व्याधींमध्ये क्षीर धारा केली जाते. दोष व व्याधिअवस्थानुसार गोदुग्ध, स्त्रीदुग्धाचा उपयोग केला जातो. चंदन, यष्टीमधू, पंचगंध गणातील द्रव्य यासाठी प्राधान्याने वापरली जातात.

क्षीरधारा योग्य (Indication)

1) उन्माद (Insanity)
2) अपस्मार (Epilepsy)
3) निद्रानाश (Insomnia)
4) शिरोदाह (Burning sensation of head)

औषधी निर्माण – 800 मिली गोदूग्ध घेऊन त्यात आठ पट 6400 मिली पाणी घालावे. स्वच्छ बलामूल व शतावरी भरड एका वस्त्रात घेऊन पोटली बांधावी व जलमिश्रित दूधात दोलायंत्र पद्धतीने अडकवून ठेवावे दूधाचे पात्र मंद आचेवर ठेवावे. जलांश आटवून 800 मिली दूग्ध शेष राहील तो पर्यंत पाक करावा. त्यानंतर दूधास शीत होऊ द्यावे. पोटली पिळून बाहेर काढावी व दूधास गाळून घ्यावे. व सिद्ध दूधामध्ये धारा करतेवेळी तेवढ्याच मात्रेत (800 मिली) नारिकेल जल मिश्रित करुन तैलधारा/तक्रधारा विधिने धारा करावी.

3. शिरोपिचू

कार्पास पिचू स्नेहाने आलोडीत करून शिर:प्रदेशी / मूर्ध स्थानी ठेवण्याची क्रिया शिरोपिचू होय. यामध्ये अभ्यंग-मर्दनासारखी क्रिया नसल्याने व्रण, शोथ इ. सारख्या अवस्थांमध्ये करण्यास सोपी आहे.

योग्य (Indication)

पिचु:केशशातस्फुटन धूपने।
नेत्रस्तम्भे च .....।। **अ.ह.सू. 22/26**

1) केशशात (Hair fall, alopecia)
2) केशस्फुटन (Splitting of hair)
3) धूपन (Burning sensation of scalp)
4) नेत्रस्तम्भ (Immobility of eye)
5) अर्दित (Facial palsy)

संभारसंग्रह

1) खुर्ची (Comfortable armed chair)
2) आवश्यक स्नेह – 50-100 मिली
3) कार्पास पिचु (Gauze piece 3-4 inch गोलाकार, उंच 1 इंच)
4) कापड 8 × 8 इंच
5) रास्ना चूर्ण 5 ग्रॅम
6) टॉवेल
7) पंचकर्म सहाय्यक – 1

योग –	वात	–	क्षीरबला तैल, कार्पस्यादि तैल (उष्ण, बृहण)
	पित्त	–	चंदनबलालाक्षादि, क्षीरबला तैल, मधुयष्ट्यादि तैल
	कफ	–	एलादि, कार्पस्यादि तैल
	केशपातन	–	निलीभृंगादि, महाभृंगराज, दुर्वादिकेर तैल
	अर्दित	–	नारायण तैल, कार्पस्यादि तैल
	अरुंषिका (dandruff)	–	दूर्धुरपत्रादि, दुर्वादिकेर तैल

पूर्वकर्म

रुग्णाचे केश कमी केलेले असावे. सूर्योदयानंतर वेग विसर्जनानंतर शिरोभाग स्वच्छ करुन/स्नानानंतर स्वस्तीर्वचन केल्यानंतर रुग्णास आरामदेह खूर्चीवर बसवावे व मन्यापासून सर्वांगावर वस्त्र आच्छादित करावे ज्यामुळे स्नेह शरीरावर पडणार नाही.

प्रधानकर्म

गोलाकार तयार केलेला कार्पास पिचू (cotton pad) मूर्ध/ब्रह्मरंध्रा (vertex of head) च्या जागी मधोमध ठेवावे. सुखोष्ण केलेले तैल पिचूवर सोडावे पिचूमध्ये स्नेह पूर्ण शोषण होईपर्यंत स्नेह पिचूवर सोडत राहावे.

18 × 18 इंच कापडास त्रिकोणाकार करुन पिचूवर शिरोभागी बांधावे ज्यामुळे पिचू एकाच जागी स्थिर राहील.

पिचूधारण कालावधी – 30 ते 60 मिनिट

योग्य काळ – प्रात: 7

पश्चातकर्म

30-60 मिनिटानंतर शिरोभागावरील कापड काढून पिचू काढून घ्यावे, टॉवेलनी शिरोप्रदेश पुसून काढावे व त्यानंतर शिर:प्रदेशी रास्ना चूर्ण लावावे. रुग्णास थोडा काळ विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. आवश्यकतेनुसार स्नान करण्याची परवानगी द्यावी.

घ्यावयाची काळजी – Allergic स्थिती उद्‌भवल्यास तात्काळ पिचू काढावा.

4. शिरोबस्ति

शिरोभागी तैल काही काळापर्यंत ठेवण्याची मुर्ध तैलप्रकारातील एक क्रिया शिरोबस्ति होय, यासाठी चर्मपट्ट (leather) द्वारे तयार केलेला यंत्र शिरोभागी घट्ट बांधून त्यामध्ये स्नेह काही काळ ठेवले जाते. यास शिरोतर्पण असेही म्हटले जाते.

योग्य (Indication)

बस्तिस्तु प्रसूप्त्यर्दितजागरे।
नासास्य शोषे तिमिर शिरोरोग च दाहतो ।। अ.हृ.सू. 26/22

1) प्रसुप्ति (loss of sensation of scalp)
2) अर्दित (facial palsy specially UMN Pathology)
3) अनिद्रा ((insominia)
4) नासाशोष (dryness of nose)
5) आस्यशोष (dryness of mouth)
6) तिमिर (defective vision)
7) शिरोरोग (दारूण अवस्था) (Diseases of head)
   i) Trigeminal neuralgia ii) Tension headache (वात$^{+}$)
   iii) Migraine (पित्त$^{+}$) iv) Sinus headache (कफ$^{+}$)
8) खालित्य - पालित्य
9) पक्षाघात (CVA)
10) Schizophrenia
11) IBS
12) Depression

संभारसंग्रह -

1) खूर्ची
2) शिरोबस्ति यंत्र - तयार चामडा किंवा रेक्झीन पट्टयापासून तयार केलेली टोपी. उंची साधारणत: 12 इंच डोक्याच्या घेरानुसार कमी अधिक करता येईल असा व्यास.
3) 3 इंच रुंद व 18 इंच लांब × 2 कापडाची पट्टी
4) उडीद पीठ - 200 ग्रॅम
5) पातेले
6) गॅस, स्टोव्ह
7) कापूस (Cotton)
8) तैल - 1.5 लिटर
9) रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम
10) पंचकर्म सहाय्यक - 1

तैल - वातप्राधान्यामधे

1) नारायण तैल, 2) धन्वन्तरम् तैल, 3) क्षीरबला तैल

पित्तप्राधान्यामधे

1) चंदनादि तैल, 2) चंदनबला लाक्षादि तैल, 3) क्षीरबला तैल

कफप्राधान्यामधे

1) गुग्गुळ तिक्तक तैल, 2) सर्षप तैल, 3) वचा लसूनादि तैल, 4) त्रिफलादि तैल

पूर्वकर्म -

रुग्णपिरीक्षण - रुग्णाचे BP Pulse आवश्यकतेनुसार EEG, MRI, CT Scan व इतर संबंधीत व्याधीचे परिक्षण करुन घ्यावे. रुग्णास क्रियेविषयी सविस्तर समजवून सांगावे.

आतुरसिद्धता - वमन-विरेचन शोधन झालेल्या रुग्णास अभ्यंग व स्वेदन करुन शिरोबस्ति करावे (अ.हृ. सू. 22/27) परंतु सद्यकाळात शिरोबस्ति पूर्वी शोधन क्रिया प्रचलीत नाहीत. शिरोबस्तिसाठी उत्तमकाळ सायंकाळ आहे. रुग्णाचे डोक्यावरील केस काढून टाकावेत मल, मूत्र विसर्गानंतर अभ्यंग मृदू स्वेदनानंतर रुग्णास जानूएवढया उंचीच्या खूर्चीवर बसण्यास सांगावे.

200 ग्रॅम उडीदपीठामध्ये 100 मिली पाणी घालून मळून घ्यावे व चिकट माषकल्क तयार करावा

शिरोबस्तियंत्र धारण - 18 इंच लांब कापडी पट्टीवर माष कल्क पसरवून पातळ थराने चिकटवावा त्यास मध्ये दुडपून घ्यावा याचा वापर बस्तियंत्र लावतांना leak होणार नाही यासाठी करावा.

खूर्चीवर बसलेल्या रुग्णाच्या शिरोभागी कपाळावर कर्ण-व भ्रु यांचे वर वरील पट्टी गुंडाळावी. पट्टीचे शेवटचे टोक माषकल्काच्या साहय्याने चिकटवावे

शिरोबस्ति यंत्र शिरोभागी पट्टीवर बरोबर बसेल असे बसवावे. यंत्रातील घट्ट करणाऱ्या पट्टया व्यवस्थीत आवळून कुठेही तैल ओघळणार नाही याची दक्षता घ्यावी. त्यावर माषकल्काने बस्ति यंत्र व शिरोभाग यांचा संधी भाग व्यवस्थीत भरुन (sealing) घ्यावा.

शिरोबस्तियंत्र बाहेरच्या बाजूने माषकल्क लावलेल्या पट्टीद्वारे वेष्टीत करावे.

प्रधानकर्म

कोष्ण तैल कापड किंवा स्पंज बुडवून नंतर बस्तियंत्रामध्ये शिरोभागी पिळून टाकावे किंवा केरळमध्ये नारीकेल पत्र शिरोबस्ति यंत्रामध्ये तिरकस धरुन दुसऱ्या टोकांनी पत्राद्वारे तैल टाकण्याची पद्धत आहे. शिरोभागी तैल अंगुल (1.5 सेमी) उंचीपर्यंत सोडावे. तैल शीत झाल्यासते तैल कापड अलोडीत करुन बाहेर काढावे व पुनः कोष्ण तैल घालावे ही क्रिया वारंवार करावी. नासास्त्राव ही लक्षणे उत्पन्न झाल्यास किंवा दोषानुसार मुखस्त्राव व निर्धारीत करण्यास क्रिया बंद करावी.

योग्यकाळ: प्रात: 7 ते 9, सायं 4 ते 6

काळ : 30 ते 40 मिनीटे किंवा मुख व नासा स्त्राव होईपर्यंत

कालावधी: 7 दिवस

व्याधीनुसार कालावधी (अ.हृदयानुसार)

वातज	-	10 हजार मात्रा	=	53 मिनिटे
पित्तज	-	8 हजार मात्रा	=	43 मिनिटे
कफज	-	6 हजार मात्रा	=	32 मिनिटे
स्वस्थ	-	1 हजार मात्रा	=	6 मिनिटे

पश्चातकर्म

निर्धारित काळ किंवा सम्यक लक्षणानंतर कापडाद्वारे तैल बाहेर काढावे. कानाशेजारील बस्तियंत्राच्या संधीमध्ये छिद्र पाडून रुग्णाचे शिर एका बाजूस कलते करुन ही तैल काढता येते.

शिरोबस्ति यंत्र काढून घ्यावे. शिरोभांगी चिकटलेला माषकल्क स्वच्छ करावा. शिरोभागावरील तैल स्वच्छ कापडाने पूसून काढावे व शिरोभांगी, स्कंध, हस्त पाद अभ्यंग करावे. रास्नादि चूर्ण शिरोभागी लावून रुग्णास अल्प विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. त्यानंतर कोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

व्यापद व चिकित्सा -

1)	प्रतिश्याय	-	रास्नादि चूर्णाने तलम, धूमवर्ति
2)	शिरोगौरव/शिर:शूल	-	क्रिया थांबवावी
3)	मन्या, पृष्ठ शूल	-	अभ्यंग
4)	भ्रम, मूर्च्छा	-	तात्काळ क्रिया थांबवावी

घ्यावयाची काळजी -

1) तैल तापमान पूर्ण क्रियेदरम्यान सारखे असावे.
2) तैल बस्तियंत्राच्या संधीस्थानातून ओघळणार नाही याची दक्षता घ्यावी.
3) रुग्णास क्रिये दरम्यान शिंकणे, जृंभा निद्रा इ. वेग येणार नाही याची काळजी

शिरोलेप (तलपोटिचिल)

औषधी द्रव्यांचा कल्क/पिष्टी शिरोभागी लेपन करण्याची विधी म्हणजे शिरोलेप होय. शिरोलेप हा चिकित्सा प्रकार तलपोटिचिल (THALAPOTHICHIL) म्हणून केरलमध्ये प्रसिध्द आहे. प्राधान्याने शिरोलेप मानसरोगामध्ये उपयुक्त चिकित्सा असुन शिरोबस्ति सारखे गुण आहेत.

योग्य (Indications):-

1) मानसरोग (Psychiatric) 2) अनिद्रा (Insomnia)

3) स्मृती अल्पता (Weakness of memory) 4) Dandruff

5) खालित्य पालित्य (Falling & graying of hairs)

अयोग्य (Contra indications):-

1) प्रतिश्याय (Sinusitis) 2) श्वास (Breathlessness)

सामान्यतः वापरात येणारे योगः- आमलकी, मुस्ता, पंचगंधम् चूर्ण, कुष्मांड, ब्राह्मी

संभार संग्रहः-

(1) आवश्यक औषधी द्रव्य उदा. आमलकी (बीजरहीत) 250 ग्रॅम

(2) तक्र/दुग्ध आवश्यकतेनुसार 900 मि.लि.

(3) तैल अभ्यंगार्थ 50 मि.लि.

(4) कमल/कदली पत्र

(5) कापड

(6) Bandage

(7) पातेले

(8) गॅस स्टोव्ह

(9) टॉवेल

(10) रास्ना चूर्ण 5 ग्रॅम

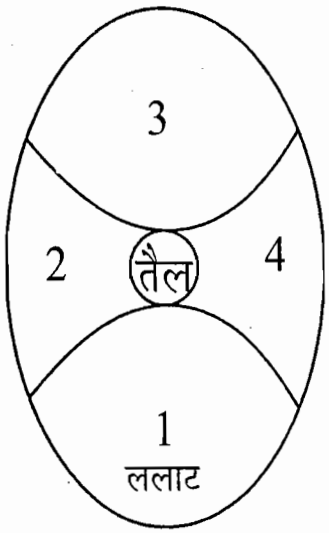

लेप लावण्याचा क्रम

पूर्वकर्म

औषधी निर्माणः-

बीजरहीत आमलकी एक रात्र अंदाजे 900 मि.ली. ते 1 लीटर तक्रामध्ये भिजवून ठेवावे. लेप करण्याच्या दिवशी आमलकी व तक्रामध्ये वाटून कल्क तयार करावा. कल्क वा पिष्टी अधिक पातळ किंवा घट्ट नसावी.

रुग्ण सिध्दताः-

रुग्णाच्या डोक्यावरील केस काढलेले किंवा कमी केलेले असावे. रुग्णास मलमूत्र विसर्जनानंतर खुर्चीवर बसवून घ्यावे. शिरोभागी नेत्र व कर्णाच्या वर पट्टबंधन (वर्ती) करावे.

प्रधानकर्म

पध्दत पहिली:- सर्वप्रथम शिरोभागी अभ्यंग करावे त्यानंतर रुग्णाच्या शिरोभागी कल्क/पिष्टीचा लेप

करावा. लेप 1 ते 3 सेमी पर्यंत जाड असावा. लेप करतांना सर्वप्रथम ललाट भागाकडे (Front) दक्षिण भागास, पश्चिम भागास व शेवटी वाम भागास कल्काचा लेप करावा मध्यभागी थोडासा भाग रिकामा ठेवावा. त्यानंतर मध्यभागी रिकाम्या जागी शक्य तेवढे तैल घालावे. त्यानंतर शिरोभागी पूर्ण कल्क झाकेल अशा पध्दतीने कमलपत्र वा कदलीपत्राचे आवरण करून बांधावे. मध्यभागी छोटे छिद्र ठेवावे- बाहेरच्या बाजूने पत्रास पट्टबंधन करावे.

पध्दत दुसरी:- (चि. संग्रह) रुग्णाच्या शिरोभागी पट्टबंधन करून अभ्यंग करावे. प्रथम तीन चतुर्थांश कल्क लेपासाठी घ्यावा, मध्यभागी कल्काचा लेप करावा नंतर ललाट भागाकडे दक्षिण भागास, पश्चिम भागास व शेवटी वाम भागास लेप करावा. कोणताही भाग रिकामा ठेवू नये. तीन चतुर्थांश कल्क लावून संपल्यानंतर मध्यभागातील 9 ते 12 सेमी एवढा लेप काढून घ्यावा व काढलेल्या जागी पुन्हा नविन कल्काचा लेप करावा. ही क्रिया पुन: पुन: करावी.

साधारण कालावधी - 30-45 मिनिट

योग काल - सायं 4 ते 6 किंवा प्रात: 7 ते 10

पश्चातकर्म

विशिष्ट कालावधीनंतर लेप काढून घ्यावा व अभ्यंग करावे. रास्नादि चूर्ण शीर्ष स्थानी लावावा व रुग्णास विश्राम करण्यास सांगावे. 15 मिनिटांनंतर रुग्णास कोष्णजलाने स्नान करण्याचा सल्ला द्यावा.

घ्यावयाची काळजी:- (1) रुग्णास शीत स्थानी जाण्यास मज्जाव करावा.

(2) वायू , धूळ यापासून बचाव करण्यास सांगावे.

उपद्रव:- (1) प्रतिश्याय-प्रतिश्याय चिकित्सा करावी.

(2) शिर:शूलाची चिकित्सा करावी. उदा. शिर:शूल वज्र रस

तलम

व्याधीनुसार औषधी द्रव्य शीर्षस्थानी लेप करण्याची क्रिया तलम होय. सुश्रुतांनी 'मास्तिष्क्य' म्हणून वर्णिलेली क्रिया तलम किंवा तळधारण क्रियेशी साम्य राखणारी आहे. (सु.चि. 24/23)

तलम योग्य (Indications):-

(1) स्वेदन क्रियेचे पूर्वकर्म म्हणून
(2) मानसरोग (Psychiatric diseases)
(3) निद्रानाश (Insomnia)
(4) त्वक्‌रोग (Skin Diseases)
(5) Dandruff
(6) शिर:शूल (Headache)

तलम अयोग्य (Contra Indications):-

1) प्रतिश्याय (Sinusitis)
2) श्वास (Breathlessness)

सामान्य योग:- पंचगंध चूर्ण,
एलादि चूर्ण,
कर्चूरादि,
बलामूल चूर्ण

संभार संग्रह:-

(1) आमलकी चूर्ण - 200 ग्रॅम
(2) तक्र - 800 मि.लि.
(3) तैल - शिरोभागी अभ्यंगार्थ - 50 मि.ली.
शरीरास अभ्यंगार्थ - 150 मि.ली.
(4) रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम
(5) पातेले
(6) खुर्ची
(7) टॉवेल
(8) पंचकर्म सहाय्यक - 2

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण:- 200 ग्रॅम आमलकी चूर्ण 800 मि.लि. तक्रामध्ये शिजवून घ्यावे. पूर्ण तक्र आटल्यानंतर व आमलकी चूर्ण शेष राहील्यास गॅसवरून उतरवून घ्यावे. तक्र साधीत आमलकीचूर्णाची पिष्टी तयार करावी.

रुग्णसिध्दता:- रुग्णास शिरोभागी केस कमी किंवा पूर्ण काढलेले असावे. मलमूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास खुर्चीवर आसनस्थ करून शिरोभागी योग्य तैलाने लेंपन करावे.

प्रधानकर्म

शिरोभागी तैल लावलेल्या रुग्णाच्या शीर्ष/मूर्ध स्थानी आमलकी पिष्टीचा अंदाजे 3 ते 5 सें.मी. जाड लेप करावा. ही क्रिया करत असतांना आवश्यक तैलाने मन्या, स्कंध, पृष्ठ, हस्त भागी अभ्यंग करावे. विशिष्ट कालावधी पर्यन्त ही क्रिया करावी.

योग्य काल- सायं 3 ते 6, प्रात: 7 ते 11

कालावधी - 45 ते 90 मिनीटे

पश्चातकर्म

विशिष्ट कालावधीनंतर पिष्टी काढून घ्यावी व टॉवेलने शिरोभाग पुसून काढावा. त्यानंतर रुग्णास

स्नान करण्यास सांगावे. व्याधीनुसार स्नान वर्ज्य असल्यास पिष्टी काढून पुसल्यानंतर रास्नादिचूर्णाने मूर्ध भागी घर्षण करावे.

उपद्रव व चिकित्सा:- प्रतिश्याय-लक्षणानुसार चिकित्सा करावी.

शिरोधारा कार्मुकता (Mode of Action of Shirodhara):

Action of shirodhara is supposed to be on Marma, Chakra, Manasvaha strotas. As for modern view there are No. of hypothesis regarding the action on pitutary gland, pineal gland certain studies have been conducted to find out the work of shirodhara on body.

The action of shirodhara on body is anxiolytic, Altered State of Consciousness (ASC) inducing. It changes with the oil used. This may act by

i) Relaxing action of specific by olfactory nerves,

ii) Pharmacologic action of substances absorbed through skin,

iii) Physiologic effect of the procedure which stimulate somato-autonomic reflex through thermosensor, pressure sensors, trigeminal nerve.

Kalpna Dhuri *et al* reported in their study that after shirodhara there is reduction of respiratory rate, mean diastolic BP decreased, dropped mean pulse rate. ECG showed heart rate reduction, EEG showed increased α-waves and decreased β-activity. Score of mood and stress changed significantly.

Shirodhara helps in insomnia, psychological disorders. Continuing dripping of oil on forehead exert the pressure which has impulse conduction through tactile and thermo receptors, due to prolonged pressure impulse conduction may interrupt and body may go to rest which causes tranquillizer effect on mind. The procedure may activate the function of thalamus and basal fore brain which bring the amount of serotonin at normal stage inducing sleep.

Skin are having nerve endings. They are spread widely in superficial skin, tissue which are having abundantly pain receptors like bradykinin, serotonin, histamine, potassium ions acetylcholine. They are known to get stimulated by mechanical thermal and chemical stimuli. Shirodhara procedure acts as mechanical and thermal stimuli and regulate the pain.

Kazuo Uebaba *et al* designed interesting experiment of shirodhara and reported the action that it has anxiolytic, ASC inducing effects. It helps in decrease of noradrenaline and exhibit symphatholytic effect.

In their study they reported plasma noradrenaline and urinary serotonin excretion decreased significantly. There was elevation of foot skin temperature than proximal limb, relative natural killer (NK), cell activation.

Anxiolylic effect induced by shirodhara correlated with NK cell and foot temperature elevation. This may be related to autonomic nervous suppression induced by psychological effect of therapy. It is psychoneuro-immunologic effect of shirodhara. Biochemical changes showed significant decrease of noradrenaline, urinary serotonin, decrease of PMN/lymphocyte ratio which may reflect the symphatholytic action of shirodhara.

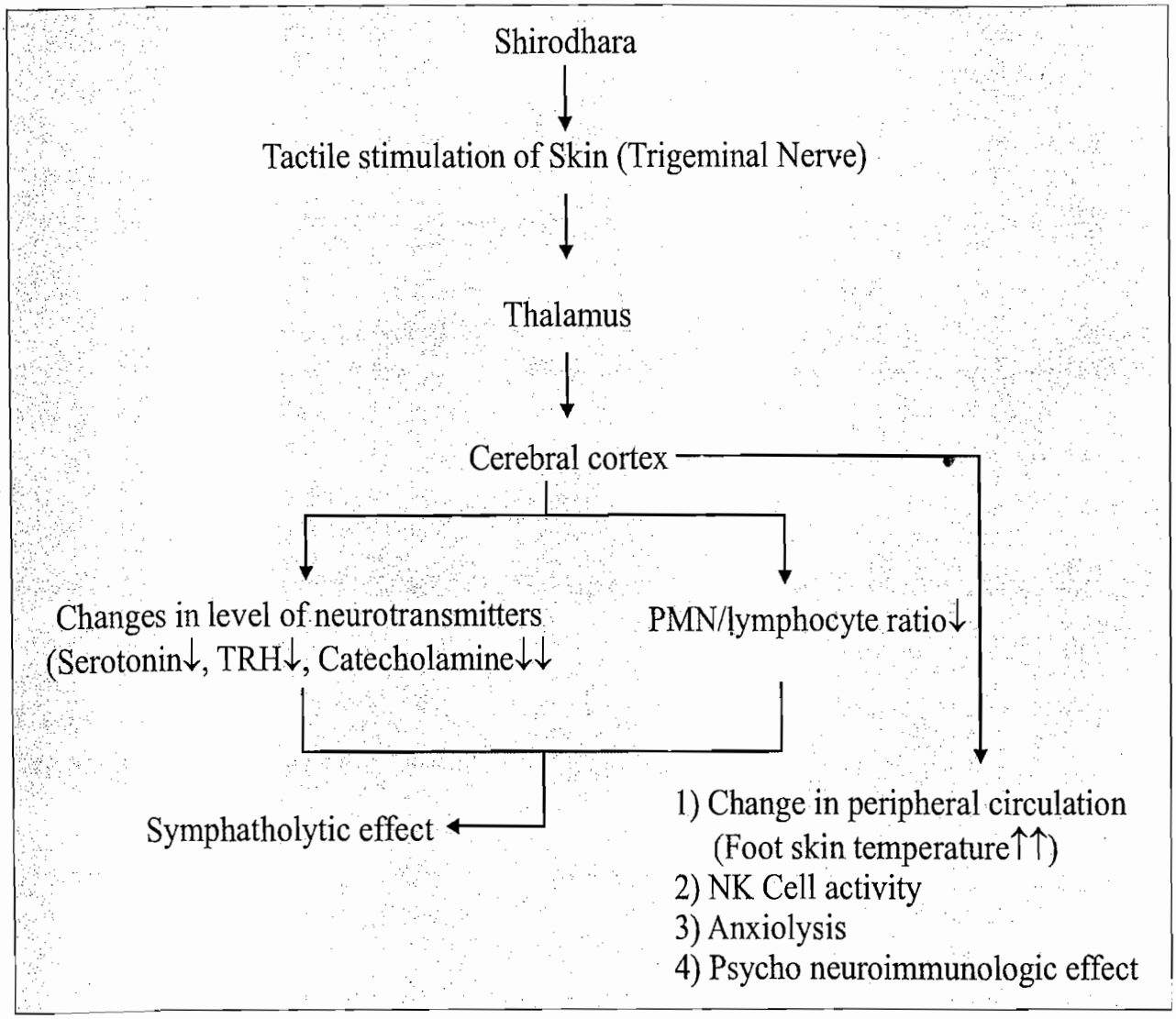

लेप

औषधी द्रव्यांचे कल्क शरीरावर लेपन करणे म्हणजे 'लेप चिकित्सा' होय. लेप स्निग्ध वा रूक्ष असू शकतो. लेप केवळ स्नेहाद्वारे केला जातो [Dr. G. Shrinivas Acharya, Lepa, PP.No. 181] किंवा औषधीच्या कल्काने केला जातो.

स त्रिविधः प्रलेपः प्रदेह आलेपश्च। तत्र प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी वा;।
प्रदेहस्तु उष्णः, शीतो वा बहुलोऽबहुरविशोषीचः मध्यमोऽत्र आलेपः।। सु.सू. 18/6

आचार्य सुश्रुतांनी लेप तीन प्रकारचे वर्णिले आहेतः-

(1) **प्रलेप** - विशोषी किंवा अविशोषी. शीत व तनु (पातळ थर) - पित्तशामक, रक्तप्रसादक

(2) **प्रदेह** - अविशोषी. शीत किंवा उष्ण, जाड थर,
कल्क, पिंडीकृत (डल्हण)

(1) प्राधान्याने वात, कफ शामक

(2) व्रण रोपक, व्रण शोधक

(3) रूजा व शोथ शामक

(3) **आलेप/ निरूध्द आलेप** - दोन्हींच्या मधला

(1) वात, पित्त, कफ शामक
(2) स्रावनिरोधक
(3) पूय, मांस अपकर्षण करणारा
(4) व्रणशुद्धीकर
(5) वेदनाशामक (सु.सू. 16/6)
(6) कंडुनाशक (सु.सू. 16/26)
(7) शीघ्रपाक करण्यासाठी (सु.सू. 17/15)

लेपयोग्य (Indications):-

(1) वातरक्त (Gouty arthritis)
(2) कुष्ठ (Skin diseases)
(3) विसर्प (Herpes)
(4) वातव्याधी
(5) त्वक्गतवात
(6) मांसगतवात
(7) स्नायुगतवात

संभार संग्रहः- (1) आवश्यक लेप औषधी

(2) घृत, तैल - आवश्यकतेनुसार

(3) पातेले

(4) गॅस, स्टोव्ह

पूर्वकर्म

व्याधीनुसार औषधी लेप द्रव्य एकत्र करून आवश्यकतेनुसार घृत तैल, मिश्रीत करून पिष्टी तयार करावी. आवश्यकतेनुसार शीत व कोष्ण करावे. सर्वप्रथम ज्या ठिकाणी लेप करावयाचे आहे तो अवयव/ते स्थान स्वच्छ करून घ्यावे.

प्रधानकर्म

व्याधीनुसार चिकित्सकांनी विचारपूर्वक शीत व कोष्ण 'लेप' व्याधीस्थानी लेपन करावा. वर्णिल्याप्रमाणे प्रलेप असल्यास पातळ थर असावा, प्रदेह असल्यास 5 mm जाडीचा थर असावा. 'लेप' करतांना प्रतिलोम गतीने लेप करावा.

पश्चातकर्म

लेप शुष्क किंवा रूजा शमन झाल्यानंतर काढून घ्यावा व कोष्ण जलाने किंवा व्याधीनुसार आवश्यक त्या क्वाथाने (व्रण असल्यास) लेपाची जागा धूवून घ्यावी व स्वच्छ टॉवेल/कार्पास पिचुद्वारे

पूसून घ्यावे.

केवळ सिद्ध तैल व घृताचा लेप असल्यास पुढील लेप क्रियेपर्यंत ठेवल्यास हरकत नाही

घ्यावयाची काळजी:-

(1) लेप रात्रीच्या वेळी लावु नये (सु.सू. 18/12) अन्यथा लक्षण वृध्दी होण्याची शक्यता असते.

(2) लेप करतांना गती प्रतिलोम असावी त्यामुळे औषध (Active principle) रोमकुपांमध्ये प्रविष्ट होवून स्वेदवह व सिरामुखांमध्ये शोषले जातील. (सु.सू. 18/4)

काही लेप:-

अ.क्र.	व्याधी	लेप
1	वात व्याधी	(1) मधुयष्टी, पिंपळ, त्वक, दालचिनी, जटामांसी, उदुंबर चूर्ण+घृत+दूध (2) यव + दूध + घृत (3) तिळ, सरसो, अतसी, धान्याम्लामध्ये वाटून शीतल प्रदेह
2	वातरक्त	(1) मधुयष्टी + दूध, घृत, ज्वारीचे पीठ - दाहनाशक (2) जीवनीय सिध्द घृत - रूजा व दाहशामक (3) तीळ, प्रियाल, मधुयष्टी, कमलनाल, वेतंस + अजादुग्ध - दाह व रूजा शामक (4) पिण्ड तैल
3	अरूंषिका (Dandruf)	दुर्वादि केर तैलम्, धुर्धुरपत्रादि तैल
4	शोफ (सु.सू. 37/3)	वातज - मस्तुलूंग, अग्निमंथ, भद्रदारू, रास्ना, सुंठी (सु.सू.37/3) पित्तज, आगन्तूज, रक्तज } दुर्वा, मधुक, चंदन, शीतलगण कफज - अजगंधा, अश्वगंधा, त्रिवृत्त, कर्कटश्रृंगी सन्निपातज - लोध्र, हरीतकी, मदनफल, दुरालभा
5	तारूण्यपिडिका	(1) लोध्र, धान्यक, वचा - आलेप (शाङ्र्गधर) (2) कनकतैल (मधुयष्टी, प्रियंगू, मंजिष्ठा, चंदन, कुमूद, केशर (चक्रदत्त) (3) कुंकुमादि तैलम् (चक्रदत्त)
6	व्यंग	सिध्दार्थक, वचा, लोध्र, सैंधव - प्रलेप (शाङ्र्गधर)

गण्डूष

असञ्चर्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः। अ.हृ.सू. 22/12

सुखं सञ्चार्यते या तु मात्रा (सा) कवलः स्मृतः।

असञ्चार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः।। सु.चि. 40/62

औषधी द्रव द्रव्य मुखात धारण करण्याच्या क्रियेस गंडूष म्हणतात. गंडूष तैल, कषाय, मधु, घृत, गोमूत्र, धान्याम्ल इ. मुखामध्ये धारण करून केले जाते. या क्रियेमध्ये मुखांतर्गत द्रव द्रव्यांचा संचार केला जात नाही.

<u>भेद:</u>–गंडूषाच्या कार्मुकतेवरून वाग्भटांनी गंडूषाचे चार प्रकार वर्णिले आहेत.

(1) **स्निग्ध गंडूषः**– (1) मधुर, अम्ल, सिध्द स्नेहाचा प्रयोग
(2) वातदोषशामक
(3) शुष्कता निर्हरण करणारा

(2) **शमन गंडूषः**– (1) तिक्त, कषाय, मधुर व शीत द्रव द्रव्य किंवा तैलाचा प्रयोग
(2) पित्तदोष शामक
(3) मुखपाक, दाह शांत करणारा

(3) **शोधन गंडूषः**– (1) तिक्त, अम्ल, कटू, उष्ण गुण युक्त स्नेह वा क्वाथ
(2) कोष्ण क्वाथ, गोमूत्र, धान्याम्ल, तैलाचा प्रयोग
(3) मुखातील दोष लालास्राव वृध्दी करून बाहेर काढण्याचे कार्य
(4) कफदोष नाशक

(4) **रोपण गंडूषः**– (1) तिक्त, कषाय सिध्द द्रव्यांनी
(2) मुखातील व्रणरोपणार्थ उपयोगी

प्रतिदिन गंडूषासाठी तैल किंवा मांसरस याचा उपयोग करावा (अ.हृ.सू. 22/5-6)

गंण्डूष योग्यः–

(1) दन्तहर्ष (Sensitive teeth)
(2) दन्तचाल (loose teeth)
(3) मुखरोग
(4) रसायन कर्म (अ.हृ.उ. 39/158)
(5) मुखभागी दग्ध (क्षार, अग्नि, विष)
(6) मुखव्रण (Buccal ulcers)
(7) शिरोरोग
(8) परिषेक (पिझिचिल) च्या अतियोगात (धाराकल्प-25)

सामान्य गंडूष योग:-

(1) कोष्णजल तिलपिष्ट - मुखगतवातरोग, दंतहर्ष, दंतचाल

(2) सिध्दसर्पि किंवा दुग्ध - मुखदग्ध, पाक - पित्तप्रधान मुखरोग

(3) धान्याम्ल - मुखशोष, मुखदौर्गंध्य

(4) कोष्णजल, क्षार - कफरोग, वक्त्रलाघवतेसाठी (lightness of mouth)

(5) इरिमेदादि तैल - मुख, दंत रोग

(6) मधु - मुख व्रण (Ulceration in mouth)

संभार संग्रह:-

(1) अभ्यंग टेबल (2) खुर्ची

(3) तैल - अभ्यंगार्थ - 50 मि.ली. (4) तैल - गंडूषार्थ - 100 मि.ली. किंवा

(5) क्वाथ, द्रव, गंडूषार्थ 100 मि.ली. (6) गॅस स्टोव्ह

(7) पातेले (8) पंचकर्म सहाय्यक - 1

(9) टॉवेल

पूर्वकर्म

औषध सिध्दता:- क्वाथ, धान्याम्ल विधीवत तयार करून गरज असल्यास कोष्ण करून घ्यावे.

रुग्ण सिध्दता:- प्रात:काळी मलमूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास द्रोणीमध्ये उताना झोपवून आस्यप्रदेशी (face), मन्या, स्कंध प्रदेशी योग्य तैलाने अभ्यंग करून मृदु स्वेद करावा. कपाल, भ्रु, नासा, हनु प्रदेशी एकरेषीय तर कपोल (Cheek) व शंखप्रदेशी वर्तुळाकार गतीने अभ्यंग करावे.

स्वेदनासाठी टॉवेल गरम पाण्यात ओला करून पिळून घ्यावा व त्यानंतर गरम झालेला टॉवेल अंगावर ठेवून स्वेदन करावे.

प्रधानकर्म

अभ्यंग व स्वेद झालेल्या रुग्णास खुर्चीवर बसण्यास सांगावे. त्यानंतर गंडूषार्थ द्रव द्रव्यास कोष्ण (आवश्यकतेनुसार) करून रुग्णास मुखामध्ये धारण करण्यास सांगावे. यावेळी द्रव द्रव्य मुखामध्ये संचार न करता अक्षुब्ध (undisturbed) आरामशीर बसून राहाण्यास सांगावे. रुग्णास मान मागे करून स्वस्थ बसता येईल.

नेत्र व नासा स्राव सुरू झाल्यानंतर रुग्णास मुखातील द्रव्य बाहेर काढण्यास सांगावे.

कालावधी:- खालील लक्षणे दिसेपर्यंत -

1) **कफपूर्णास्यता** - मुखामध्ये कफ पूर्ण भरे पर्यंत

2) **घ्राण स्राव** - नासास्राव सुरू होईपर्यंत

3) **अक्षीस्राव** - अश्रू येईपर्यंत

योग्यकाळ - सुर्योदयानंतर (अ.हृ.सू. 22/10)

पश्चातकर्म

गण्डूष द्रव्य बाहरे टाकल्यानंतर कोष्ण जलाने गुळण्या कराव्यात

सम्यकयोग लक्षणे:- सु.चि. 40/65

(1) व्याधी अपचय - व्याधी नाश
(2) तुष्टि - सन्तोष
(3) वैशद्यम् - मुख निर्मलता (Clarity of buccal cavity)
(4) वक्त्रलाघवम् - मुख लघूता
(5) इंद्रियप्रसाद - प्रसन्नता (Normal functioning of sense organs)

अयोग लक्षण:- (सु.चि. 40/66)

(1) जाड्य - जडता (Stiffness of the mouth)
(2) कफोत्क्लेश - कफवृध्दी (Excessive salivation)
(3) रस अज्ञान (loss of taste sensations)

अतियोग लक्षणे:- (सु.चि. 40/66)

(1) मुखपाक - Mouth ulcer
(2) शोष - Dryness
(3) तृष्णा - Feeling thirsty
(4) अरूचि - Tastelessness
(5) क्लम - Sense of exhaustion

आहार:- पथ्य - लघु आहार,
अपथ्य - लाला स्राव अधिक उत्पन्न करणारे खाद्य पदार्थ.

कवल

मुखसंचार्यते या तु मात्रा (सा) कवल स्मृत:। सु.सू. 40/62

औषधी द्रव द्रव्य मुखामध्ये धारण करून सुखपूर्वक संचरण करण्याची क्रिया 'कवल' होय. यास लोक भाषेत 'गुळण्या' म्हणतात. ही क्रिया 'गंडूष' सारखी आहे. केवळ मुखामध्ये संचरण करता येणं म्हणजे कवल होय. गंडूष वा कवल या क्रियांमध्ये औषधी द्रव्यांचे केवळ स्थानिक कार्य होत नसून सर्व शरीरावरही कार्य होतात. कवलग्रहाचे उर्ध्वजत्रुगत परिणाम प्रामुख्याने दिसून येतात.

भेद:- आचार्य सुश्रुतांनी कवल चे 4 भेद वर्णिले आहेत.

1) **स्नेही कवलः-** 1) स्नेह प्राधान्य
2) उष्ण
3) वातदोष शामक

2) **प्रसादी कवलः-** 1) मधुर व शीत
2) पित्तदोष शामक

3) **शोधन कवलः-** 1) कटु, अम्ल, लवण रसात्मक द्रव्यांचा
2) रूक्ष व उष्ण
3) कफशोधक

4) **रोपण कवलः-** 1) कषाय, तिक्त, मधुर, कटू द्रव्यांचा
2) उष्ण
3) व्रण रोपणासाठी

कवल योग्यः- (अ.हृ.सू. 22/3)

(1) मन्यारोगी - (Occipital to spine region)
(2) शिरोरोगी - (Diseases related to head)
(3) नेत्ररोग - (Diseases of eyes)
(4) कर्णरोग - (Diseases of ears)
(5) मुखरोग - (Diseases of mouth-buccal cavity)
(6) प्रसेक - (Ptyalism)
(7) कण्ठगत व्याधी - (Diseases of throat)
(8) वक्त्रशोष - (Dryness of mouth)
(9) हृल्लास - (Nausea)
(10) तंद्रा - (Sleepiness)
(11) अरूचि - (Anorexia)
(12) पीनस - (Rhinorrhea)

सामान्य कवलयोगः-

आचार्य वाग्भटांनी स्वतंत्र कवल योग वर्णन केलेले नाही याचाच अर्थ 'गंडूष' क्रियेसाठी वापरण्यात येणारे कल्प 'कवल' साठी वापरावे असा होतो. काही कल्प सुश्रूतांनी वर्णन केलेले आहेत.

(1) त्रिकटूकादि कवलः- त्रिकटू, वचा, सर्षप, हरीतकी यांच्या कल्कास तैल, गोमूत्र, कांजी मधु यापैकी एका द्रव्यात मिश्रण करून त्यात लवण घालावे.

(2) तिलादि कवल:- तीळ, नीलकमल, घृत, शर्करा, दूध, मधू - मुखदाहासाठी

(3) इरिमेदादि तैल

(4) पंचवल्कल क्वाथ वा सिध्द तैल

कवल करण्याची क्रिया गंडूष विधीप्रमाणे - केवळ गंडूष क्रियेमध्ये द्रव्यांचा मुखामध्ये संचार करू नये तर कवल विधीमध्ये द्रव्यांचा मुखामध्ये संचार करावा. कवल झाल्यानंतर मुखातून कवल बाहेर काढावा व दुसरा पुन: कवल धारण करावा (सू.चि. 40/64) ही क्रिया सम्यक लक्षणांपर्यन्त करत राहावी.

प्रतिसारण

प्रतिसारणं अंगुल्या घर्षणम्। अरुण दत्त टी. अ.ह्.सू. 22/14

जिव्हा वा मुखामध्ये औषधी द्रव्य लावण्याची क्रिया प्रतिसारण होय.

प्रकार: 1) कल्काद्वारे

2) रसक्रियाद्वारे/अवलेहाद्वारे (शा.उ.खं. 10)

3) चूर्णाद्वारे

योग्य (Indications):

1) कफरोग

2) गदगदत्व

3) पक्षाघात सार्दित

द्रव्य: गण्डुष क्रियेमध्ये उपयुक्त द्रव्य (अ.ह्.सू. 22/14)

अल्प द्रवामध्ये मिश्रित करुन

विधी: चूर्ण, कल्क, रसक्रिया (घन) अल्प द्रवामधे मिश्रित करुन वा अवलेह मुखामध्ये किंवा जिव्हा भागी लावावे किंवा घासावे याने लालास्त्राव अधिक होतो.

गण्डुष व प्रतिसारणामध्ये एक सारखी द्रव्ये वापरली जातात मात्र प्रतिसारणामध्ये अधिक तीक्ष्ण (concentrated) असतात. Drugs are more secretary due to hygroscopic potential.

उद्वर्तन

उद्वर्तनं गात्रमर्दनम्। (सु.चि. 24/51 वर डल्हण टिका)

शरीरावर औषधी चूर्णाने किंवा सस्नेह कल्काने प्रतिलोम गतीने मर्दन करण्याच्या क्रियेस उद्वर्तन म्हणतात. चक्रपाणि टीकेमध्ये यास शरीरपरिमार्जन असेही म्हटले आहे (च.सू. 5/93-94 वर च.पा. टिका). प्रामुख्याने रूक्ष चिकित्सा आहे परंतु स्नेहाचा उपयोग करून स्निग्ध चिकित्साही केली जाते.

उद्वर्तनाचे कार्य:-

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोऽनिलापहम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।। **सु.चि. 24/51**
उद्वर्तनं..... परम्। **अ.हृ.सु. 2/15**

(1) वातहर
(2) कफहर
(3) मेद विलयन करणारे
(4) स्थिरीकरण अंगानाम - शरीरास दृढ व स्थिर ठेवण्याचे कार्य
(5) त्वक प्रसादकर
(6) कांती वृध्दी करणे
(7) गौरवता नष्ट करणे
(8) दौर्गन्ध्य नाशक
(9) तंद्रा नाशक
(10) लाघव कर
(11) कंडू प्रशमन

भेद: उद्वर्तनाचे खालील दोन प्रकार आहेत.

1) **उद्घर्षण:- उद्घर्षणमस्नेहहौषध चूर्णादिभिर्घर्षणम्। सू.चि. 24/53 वर डल्हण टिका**
औषधचूर्णाचे स्नेह मिश्रीत न करता शरीरावर घर्षण करणे उद्घर्षण होय.

उद्घर्षणाचे गुण:-

(1) प्रसन्नता
(2) शरीरशुध्दी
(3) शरीर लाघव
(4) कण्डु, कोठ नाशक
(5) वातनाशक
(6) सिरामुख विस्तृतीकरण (Dilation of opening of channels)

समुद्र लवणाच्या घर्षणाने उरू लाघवता लक्षण उत्पन्न होते.

2) **उत्सादन:- सस्नेह कल्केनोद्घर्षणम् उत्सादनम्। डल्हण सु.चि. 24/53 वर**
स्नेह युक्त कल्काच्या साहाय्याने किंवा चूर्णामध्ये स्नेह मिश्रीत करून शरीरावर घर्षण करणे म्हणजे उत्सादन होय.

उत्सादन गुण:-

(1) त्वचास्थित अग्निवृध्दी
(2) कांतीप्रद-प्राधान्याने स्त्री त्वचेत कांती प्रदान करणे.
(3) रसायन कर्म
(4) मांसवर्धनार्थ (सु.सू. 31/30 डल्हण)

उद्‌वर्तनयोग्यः-

(1) स्वास्थ्यरक्षणार्थ
(2) मानसरोग (उन्माद, अपस्मार)
(3) कुष्ठ (Skin diseases)
(4) भगंदर (Fistula)
(5) मांसशोष (Muscle wasting)
(6) स्थौल्य (Obesity)
(7) प्रमेह
(8) स्वेदाधिक्य
(9) Cerebral palsy
(10) पक्षाघात (Hemiplegic)
(11) MND

सामान्य योगः-

वात व्याधी	कोलकुलत्थादि चूर्ण
स्वेदाधिक्य	नागकेशर, उशीर, शिरीषत्वक, लोध्र
कुष्ठ	नालपामरादि चूर्ण, कुष्ठादिचूर्ण (च.चि. 7/102) आरग्वधादि कषाय (सु.चि. 9/35)
उन्माद	सिध्दार्थक अगद (च.चि. 9/71) आरग्वध अमृतादि (सहस्त्रयोग)
शोष	अश्वगंधा, पूनर्नवा (रक्त, श्वेत) सु.उ. 41/43
अपस्मार	तुलसी, कुष्ठ, हरीतकी, चोरपूष्पी गोमूत्रामध्ये कल्क तयार करून (च.चि. 10/39)
उरूस्तंभ	वल्मीकमृत्तिका, करंजमूल, करंजफल, करंजत्वक, इष्टिका चूर्ण यांचे चूर्ण वस्त्रगाळ करून (च.चि. 27/49)
युवानपिडिका	निम्ब + आरग्वध कल्क (सू.चि. 20/39)
बल, वर्ण, शरीर पुष्टयार्थ	जीवन्ती, शतवीर्या, मंजिष्ठा, अश्वगंधा (च.चि. 8/178)

उद्‌वर्तनार्थ

(1) वातजप्रकृती-हिमसागर तैल प्रकृती
(2) पित्तजप्रकृती-नालपामरादि तैल, चंदनबलालाक्षादि तैल
(3) कफजप्रकृती-त्रिफलाद्य तैल

संभारसंग्रहः-

(1) द्रोणी
(2) उद्‌वर्तनार्थ औषधी चूर्ण, तैल
(3) गॅसस्टोव्ह
(4) टॉवेल
(5) पातेले
(6) पंचकर्म सहाय्यक - 2

विधी

पूर्वकर्म

प्रात:काळी मलमूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास अल्प व्यायाम करण्यास सांगावे व नंतर रुग्णास कमीत कमी वस्त्रात द्रोणीमध्ये झोपण्यास सांगावे. उद्वर्तनासाठी वापरण्यात येणाऱ्या द्रव्यास गॅसवर कोष्ण करावे.

प्रधानकर्म

पंचकर्म सहाय्यकांनी हातामध्ये चूर्ण/कल्क घेऊन रुग्ण शरीरावर प्रतिलोम गतीने घर्षण करावे. अभ्यंगासारख्या सात स्थितीमध्ये रुग्णाच्या अवस्थानुरूप घर्षण करावे.

संधिस्थानी, उरोभागी, हस्ततल, पादतल स्थानी गोलाकार (Clockwise and anticlockwise) गतीने घर्षण करावे बाकी सर्व स्थानी रेषेत प्रतिलोम गतीने घर्षण करावे.

वेळ – प्रातकाळ: 6 ते 7

कालावधी – 30 – 45 मिनिटे

पश्चातकर्म

योग्य कालावधीनंतर स्वच्छ टॉवेलने शरीरावरील चूर्ण/कल्क पुसून घ्यावे. अर्धा तास रुग्णास विश्रांतीचा सल्ला द्यावा त्यानंतर कोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी : चूर्ण डोळयात, नाकात जाणार नाही याची दक्षता घ्यावी.

पूटपाक

औषधी, मांसरस यांचा पूटपाक विधीने तयार केलेल्या स्वरसाद्वारे नेत्रतर्पण करण्याची क्रिया पूटपाक होय

योग्य (Indications):

1. तर्पणानंतर
2. नेत्रतर्पणामधे वर्णिलेल्या व्याधींमधे
3. दृग दौर्बल्य

अयोग्य (Contraindications):

1. अनस्यार्ह
2. नेत्रतर्पणासाठी अयोग्य

प्रकार

सवाते स्नेहन:, श्लेष्मसहिते लेखनो हित:
दृग्दौर्बल्यऽनिले पित्ते रक्ते स्वस्थे प्रसादन:।। **अ.हृ.सू. 24/13**

	प्रकार	दोषप्राधान्य	मात्रा/दिवस	उपयोगीद्रव्य
1	स्नेहन	वात	200/2 (60 सेंकद)	अनुपमांस, भेद, वसा, मज्जा, जीवनीयगण, दुग्ध
2	लेखन	कफ	100/1 (32 सेंकद)	पक्षांचे यकृत व मांस, स्रोतोंजन, ताम, सैधव, शंख, मुक्ता, मस्तु, हरताल, मन:शिल इ.
3	प्रसादन	वात, पित्त, रक्त स्वस्थ	300/3 (90 सेंकद)	मृग पक्ष्यांचे यकृत, मज्जा, आंत्र, हृदय, मांस मधूरगण द्रव्य घृत, दुध

पूटपाक स्वरस निर्माण :

मांसाचे व औषधी द्रव्यांची स्वतंत्र बारीक करुन दोन वेगवेगळे पिण्ड तयार करावे, त्यानंतर स्नेहनासाठी उरुबूक पत्र (एरण्ड पत्र), लेखनासाठी वटपत्र व प्रसादनासाठी अंभोजपत्र (कमलपत्र) घेवून पिण्डास वेष्टीत करावे त्यानंतर पत्रावर मातीचा लेप करुन गोवरी किंवा कोळश्यांच्या निखाऱ्यावर तप्त करावे. रक्त वर्णाचे तप्त झाल्यानंतर त्यास बाहेर काढून शीत करावे व द्रव्यांचा स्वरस काढून स्वच्छ कपड्याने गाळून घ्यावे.

विधी – नेत्रतर्पणासारखी

सम्यक योग, अयोग, अतियोग – नेत्रतर्पणामधे वर्णिल्याप्रमाणे

अंजन

सुक्ष्म कल्क किंवा चूर्ण शलाका वा अंगुलीद्वारे नेत्रामधे लावण्याची क्रिया अंजन क्रिया होय. अंजन क्रिया नेत्र व्याधींमधे केली जाते.

प्रकार

अ.क्र	सुश्रुत (सु.उ. 18/52)	अष्टांगसंग्रह (अ.सं.सू. 12/8)	अ.हृदय (अ.हृ.सू 23/10)	शाङ्र्गधर
1	लेखन	लेखन	लेखन	लेखन
2	रोपण	रोपण	रोपण	रोपण
3	प्रसादन	प्रसादन	प्रसादन	प्रसादन
4	–	स्नेहन	–	स्नेहन

कल्प

पिण्डो रसक्रिया चूर्ण स्त्रिधैवाञ्जन कल्पना।
गुरौ मध्ये लघौ दोषे ता; क्रमेण प्रयोजयेत्।। **अ.हृ.सू. 23/13**

अंजनासाठी खालीलप्रमाणे औषधांचे कल्प तयार करुन वापरले जातात.

1. पिण्ड (गुटिका) – गुरुदोषांमधे
2. रसक्रिया – मध्यदोषांमधे
3. चूर्ण – अल्प दोषांमधे

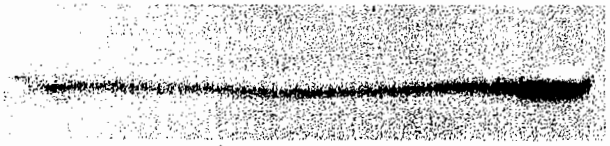

अंजन शलाका

अंजन योग्य (Indications): सु.उ. 18/51

व्यक्त रुपेषु दोषेषु शुद्ध कायस्य केवले। नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत।।

1. दोष व्यक्त अवस्थेत असल्यास (केवळ नेत्ररोग) व शोधनांनतर
2. पक्व लिंगनाश लक्षणानंतर (अल्प कंडू, शोफ)
3. स्राव घन झाल्यानंतर (स्राव रक्तवर्णता, घर्षण कमी झाल्यानंतर)

अयोग्य (Contraindications): अ.हृ.सू. 23/22-23, सु.उं. 18/68-69

1. भिरु	2. विरिक्त-वमित	3. श्रम
4. रुदित	5. मद्यपि	6. क्रोध
7. ज्वर	8. वेगआघात	9. शिरोदोष
10. शिरोरुक	11. जागरण केलेले	12. दिवास्वाप केलेले
13. शिर:स्नाते	14. धूमपान केलेले	15. अजीर्ण
16. अर्के अदृष्टे (सूर्य दर्शन नसतांना)		

योग

1. सिरोत्पात	-	घृतमाक्षिक	2. सिराहर्ष	-	मधू व रसांजन
3. तिमीर	-	अक्षबीजादि	4. अर्म	-	सितामन:शिलादि

5. सर्व नेत्ररोगांमधे - बृहत्वादि नेत्रवर्ति (बृहती, एरण्डमूल, शिग्रु, त्वक, सैंधव).

संभारसंग्रह

1. शलाका 2. औषधीयोग 3. कॉटन पॅड

शलाका : 10 अंगूल (15 सेमी) लांब असावी. शलाका मध्यभागी तनु (बारीक) असावी व टोक पुष्पकलिका सारखे असावे. शलाका ताम्र (लेखनकार्मसाठी), लोह वा अंगुलीद्वारे (रोपणकर्मासाठी) आणि सुवर्ण वा रजत (प्रसादनकर्मासाठी) यापासून बनविलेली असावी.

विधी : रुग्णास टेबलवर बसवावे. वाम हस्ताने चिकित्सकाने रुग्णाचे नेत्र उघडून दक्षिण हस्तामधे शलाका घेवून योग्य त्या औषधी द्रव्याने कनिनिकापासून अपांगापर्यंत व पुन्हा अपांग ते कनिनिकापर्यंत अंजन लावावे.

काल : सकाळी व सायंकाळी (**सायं प्रातर्वाञ्जनं स्यात।** शा. उं. 13/73)

मात्रा

अंजन प्रकार	पिण्डि व रसक्रिया	चूर्ण
लेखन	1 कलाय	2 शलाका
रोपण	2 कलाय	3 शलाका
प्रसादन	½ कलाय	4 शलाका

3 स्वेदन (Sudation Therapy)

निरूक्तिः-'स्विद् धातु + घञ प्रत्यय - स्वेद

'स्विद् धातु + णिच् ल्यूट। गात्रादितो धर्मादेः निस्सारण व्यापदे - शरीरातून स्वेद काढणे.

व्याख्याः- स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।। **च.सू. 22/11**

ज्या कर्माने शरीरातील स्तम्भ, गौरव, शीतता ही लक्षणे नष्ट केली जातात व शरीरामध्ये स्वेद निर्माण केला जातो त्या कर्मास स्वेदन म्हणतात.

स्वेद हा मेद धातुचा मल असून शरीरातील दोष व मल काढण्यासाठी मदत करतो. शरीरातील क्लेद धारण करण्याचे कार्य स्वेद करतो. क्लेद शरीरातील जलांश घटक सामान्य स्थितीत राखण्याचे कार्य करतो. पर्यायाने शरीरातील दोष व मल क्लेदाच्या आश्रयाने स्वेदन कर्माने बाहेर पडत असतात व शरीरातील शुध्दता राखली जाते.

स्वेदन हे पंचकर्मातील प्रमुख पूर्वकर्म असून वमनादि शोधनासाठी स्नेहनानंतर स्वेदन आवश्यक आहे. दोषांना शाखेतून कोष्ठात आणण्यासाठी व वायूच्या नियंत्रणासाठी 'स्वेदन' हे पूर्वकर्म महत्त्वाचे ठरते. स्वेदन केवळ पूर्वकर्म नाही तर प्रधानकर्मसुध्दा आहे. उदा. आमवात, वातव्याधी यामध्ये प्रधानकर्माच्या रूपाने 'स्वेदन' चिकित्सा केली जाते. स्वेदन हे वात व कफ व्याधीची उत्तम शमन चिकित्सा आहे. (च.सू. 14/3). षडूपक्रमामध्ये स्वेदनाचा अंतर्भाव करून यास प्रमुख चिकित्सा मानली आहे.

स्वेदन महत्त्व व उपयोगिता (Importance & utility)

(1) स्वेदन हे पूर्वकर्म म्हणून तर काही व्याधींमध्ये प्रधानकर्म म्हणून उपयोगात आणले जाते. वमन, विरेचन या शोधनकर्माचे वेळी दोष आधी शाखेतून कोष्ठामध्ये आणले जातात त्यासाठी स्नेहनानंतर स्वेदन कर्म आवश्यक आहे.

(2) वातव्याधींचे प्रमुख चिकित्सा सूत्रामध्ये स्वेदन करण्यास सांगितले आहे.

'स्नेहनं स्वेदनं संशोधनं मृदू ..... वातस्योपक्रम।। यावरून स्वेदनाची महत्ता लक्षात येते.

(3) स्वेदनाने शरीरातील स्तम्भ, गौरव, शीतता यांचा नाश केला जातो.

(4) ज्याप्रकारे शुष्क काठी वाकविण्यासाठी स्नेहन-स्वेदनाची गरज पडते त्याचप्रमाणे स्तब्ध व संकुचीत शरीर अवयवांस सुध्दा नमविले जाऊ शकते एवढे स्वेदनाचे महत्त्व आहे.

शुष्कांण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथा न्यायं किं पुनर्जीवितो नरान्।। **च.सू. 14/5**

(5) बस्ति(सारखा) उपक्रमामध्ये स्वेदन पूर्वकर्म व पश्चातकर्म म्हणून उपयोगात आणले जाते.

(6) स्वेदनामुळे स्रोतोशोधन, स्रोतोमुख विस्फारण व वायूचे नियमन केले जाते. जे शोधनपूर्व कर्मामध्ये दोष बाहेर काढण्यासाठी आवश्यक असते.

(7) स्वेदन कर्मामुळे मलाचे व दोषांचे शोधन केले जाते.

(8) स्वेदन कफ-वात शामक असल्याने वात व कफ प्राधान्य दोषांची उत्तम चिकित्सा मानली जाते.

(9) स्वेदनाने अग्निदीप्ती होते व अरूचि नाश होते.

(10) स्वेदन हे उत्तम त्वकप्रसादक आहे त्यामुळे त्वचेची कांति टिकविण्यासाठी, मृदूता राखण्यासाठी स्वेदन उपयोगी आहे.

(11) शरीरातील धातूंमधील दोष-मल काढण्याचे कार्य स्वेदन कर्माने केले जाते.

स्वेदनाचे परिणाम: (Beneficial effect of Swedan)

अग्नेर्दीप्ति मार्दवं त्वक्प्रसाद् भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्।
कुर्यात स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां सन्धीन्स्तब्धांश्चेष्ट्येदाशु युक्तः।। सु.चि. 32/20

1. **अग्नेर्दीप्ति** - सम्यक स्वेदनाने जाठराग्नि प्रदीप्त होते
2. **मार्दवं** - स्वेदनाने त्वचा मृदु होते
3. **त्वक्प्रसाद्** - त्वचेची कांती वाढते
4. **भक्तश्रद्धां** - अग्नि दीप्त होऊन भोजनाची इच्छा होते
5. **स्रोतस निर्मलत्वम्** - स्रोतसांमधील ग्रथीत कफाचे विलयन होऊन स्रोतस निर्मल होतात
6. **अतिनिद्रा हरण** - अतिनिद्रा असल्यास स्वेदनाने हे लक्षण दुर होते व सम्यक निद्रा येते
7. **तंद्रा हरण** - कफाचा नाश झाल्याने तंद्रा दुर केली जाते
8. **संधीस्तब्धता** - स्वेदनाने नष्ट होते व संधीची प्राकृत चेष्टा होण्यास मदत होते.

या व्यतिरिक्त स्वेदन उपयोगितामधे वर्णिलेले लाभ स्वेदनाने होतात

स्वेदन द्रव्य व त्यांचे गुणधर्म (Swedan dravyas & properties):-

स्वेदन द्रव्य शरीरावर त्यांच्या विशिष्ट गुणांमुळे कार्य करतात त्यामुळेच ते वात-कफ शामक तर कधी पित्तशामक असतात. स्वेदन बाह्यतः केले जाते तसेच द्रव्यांच्या गुणांमुळे अंतः स्वेदनपण होते. काही द्रव्य अनग्नि स्वरूपात त्यांच्या गुणांमुळे स्वेदन कार्य करतात उदा. वत्सनाभ व अशी द्रव्य चिकित्सेत उपयोगी ठरतात. स्वेदन द्रव्य प्रामुख्याने खालील गुणांचे असतात.

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरूच सद् प्रायस्तध्दि स्वेदनमुच्यते।। **च.सू. 22/16**

(1) **उष्ण** - अग्निप्रधान गुण. स्तम्भ, गौरव कमी करणारा गुण, पाचन करण्याचे महत्त्वाचे कार्य या गुणामुळे होते. त्यामुळे आमावस्थेमध्ये शोधनपूर्व आमपाचनाचे कार्य उष्ण गुण करतो. तसेच रस रक्तादि धातुंमधील अग्निमांद्यजनित आम कमी करण्याचे कार्य या गुणामुळे होते. या गुणामुळे स्रोतोमुख विस्फारण्याचे कार्य होते.

(2) **तीक्ष्ण** - अग्निप्रधान गुण. दाह, पाक करणारा व स्राव करणारा, दोष व मलाचे पाक करून त्यांच्या स्थानातून मार्गस्थ करण्यासाठी स्रवन कार्य करणारा हा गुण आहे. कफ व वातशामक तसेच लेखन कार्य या गुणामुळे होते.

(3) **सर**- वायू व अग्निप्रधान गुण. अनुलोमन, प्रेरणशील व प्रसरण कार्याने दोषांना शाखेतून कोष्ठाकडे आणण्यासाठी कार्य करणारा हा गुण आहे. (सु.सू. 46/522)

(4) **स्निग्ध** - जल व पृथ्वी प्रधान गुण. या गुणांमुळे बलवर्धनाचे, वर्णप्रसादन, मृदूता आणण्याचे कार्य होते. वात शामक असल्याने स्वेदनद्रव्यांमध्ये महत्त्वपूर्ण गुण. आम प्राधान्यामध्ये स्निग्ध गुण युक्त द्रव्यांचा निषेध आहे.

(5) **रूक्ष** - वायू व अग्निप्रधान गुण. स्वेदन स्निग्ध व रूक्ष दोन्ही प्रकाराने होते. दोषांचे आधिक्य बघून रूक्ष किंवा स्निग्ध गुणाचे द्रव्य स्वेदनासाठी निवडावे लागतात. शोषण करणे, मृदूता नष्ट करणे, स्तंभनाचे कार्य रूक्ष गुणांमुळे होते. ज्या व्याधींमध्ये सामता आहे, शोषण व कर्षण अपेक्षित आहे अशा व्याधींमध्ये रूक्ष गुणांचे द्रव्य वापरले जातात.

(6) **द्रव** - जल महाभूत प्राधान्य गुण. 'द्रवः क्लेदन प्रोक्तः' (सु.सू. 46/520) असे सांगून द्रव गुणांमुळे क्लेदन होते हे स्पष्ट केले आहे. द्रव गुणांमुळे प्रसरण व स्यन्दन कार्य होते. दोषांना स्रोतसामध्ये विष्यंदन करण्याचे व ते शाखेतून कोष्ठाकडे आणण्यासाठी मदत करण्याचे कार्य द्रव गुणांमुळे होते.

(7) **स्थिर** - पृथ्वी महाभूत प्रधान गुण. स्थिर गुण वात व मल स्तंभन करण्याचे कार्य करतो. 'सर' गुणाच्या विरूध्द गुण. स्थिर गुणांमुळे स्वेद द्रव्य एकाच विशिष्ट ठिकाणी कार्य करतात. म्हणून एकांग स्वेद, उपनाह या प्रकारच्या स्वेदामध्ये स्थिर गुणयुक्त द्रव्य योजावे लागतात.

(8) **गुरू** - पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान संतर्पण, बृंहण, अवसादकर, उपलेपकर (मलवर्धक) शोषजन्य व्याधींमध्ये अधिक उपयोगी.

(9) **सुक्ष्म** - आकाश, वायू , अग्नि महाभूत प्रधान गुण. सुक्ष्म स्रोतसांमध्ये स्वेदनाचे कार्य सुक्ष्म गुणांमुळे होते.

स्वेदन द्रव्य

(1) **स्वेदोपग महाकषायः**-(च.सू. 4/22)जे द्रव्य स्वेदनासाठी सहाय्यक असतात ते 'स्वेदोपग' द्रव्य होत.

(1) शिग्रु (2) एरण्ड (3) तिल
(4) यव (5) श्वेत पुनर्नवा (वृश्चीर) (6) कुलत्थ
(7) माष (8) बदर (9) अर्क
(10) पुनर्नवा (रक्त)

(2) **दशमूल** - लघु पंचमूल व बृहत् पंचमुल मिळून 'दशमूल' तयार होतो. उत्तम वातघ्न स्वेदोपयोगी द्रव्य आहे. जनरल प्रॅक्टीसमध्ये सर्वात जास्त वापरात येणारे द्रव्य. पूर्ण दशमूलाचे द्रव्य मिळणे अवघड आहे. बाजारात भेसळ अधिक प्रमाणात केली जाते.

तत्र त्रिकंटक बृहतीद्वय पृथक्पर्ण्यौ विदारीगंधाश्चेति कनीयः।
बिल्वाग्निमंथटिण्टुक पाटलाः काश्मरीचेति महत्।। अवयोर्दशमूलमुच्यते।। सु.सू. 39/70

लघू पंचमूलः (1) गोक्षुर (2) छोटी कंटकारी (3) मोठी कंटकारी (4) शालपर्णी (5) पृश्निपर्णी

बृहत पंचमूलः (1) बिल्व (2) अग्निमंथ (3) श्योनाक (4) पाटला (5) गम्भारी

(3) **पिण्डस्वेद प्रयोगार्थ द्रव्य** -

तिलमाष कुलत्थाम्ल घृत तैलमिषौदनं। पायसैः कृशरैर्मासैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत।।
गोखरोष्ट्र वराहाश्च शकृत्भिः संतुषैर्यवैः। सिकताप्रासु पाषाण करीषायास पुटकैः।।

च.सू. 14/25-26

(1) तिल (2) माष (3) कुलत्थ (4) ओदन (5) अम्ल वर्ग द्रव्य (6) घृत (7) तैल (8) मांस (9) पायस (10) कृशरा (11) शकृत (गाय, उंट इ.) (12) तुष (13) यव (14) वालुका

(4) **नाडीस्वेद - अवगाहस्वेदनार्थ द्रवः-**

वारूणामृतकैरंड शिग्रुमूलक सर्षपैः। वासावंश करंजार्क पत्रैरश्मन्तकस्य च।
शोभांजनक सैरेय मालती सुरसार्जकैः। पत्रैरुत्क्वात्थ्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत।

च.सू. 14/30-33

(1) वरूण (2) गुडूचि (3) शिग्रु (4) मूलक (5) सर्षप (6) वासा (7) वंश (8) करंज (9) अर्क (10) अश्मंतक (11) शोभांजन

(5) **उपनाहार्थ द्रव्यः-**

अ) **काकोल्यादि गणः-** (सु.सू. 38/35) (1) काकोली (2) क्षीरकाकोली (3) माषपर्णी (4) मुद्गपर्णी (5) जीवक (6) ऋषभक (7) जीवन्ती - **वातप्रधान व्याधींसाठी**

ब) **एलादि गणः-** (सु.सू. 38/24) (1) एला (2) तगर (3) कुष्ठ (4) जटामांसी (5) दालचीनी (6) नागकेशर (7) प्रियंगू (8) अगरू - **पित्तप्रधान व्याधींसाठी**

क) **सुरसादि गणः-** (सु.सू. 38/18) (1) सुरसा (तुलसी) (2) श्वेत तुलसी (3) कासमर्द (4) क्षवक (5) काकमाची (6) विषमुष्टि (कुचला) (7) निर्गुण्डी - **कफप्रधान व्याधींसाठी**

स्वेदन द्रव्य

अ.क्र	द्रव्यनाम	Botanical Name	रस	वीर्य	गुणधर्म	दोष
1	शिग्रु	Moringa oleifera	कटु, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कफघ्न, वातघ्न
2	एरण्ड	Ricinus communis	मधुर, अनुरस-कटू, कषाय	उष्ण	स्निग्ध, तीक्ष्ण, सुक्ष्म	कफवातनाशक
3	तिल	Sesammum Indicum	मधुर	उष्ण	गुरु, स्निग्ध	वातशामक
4	यव	Hordeum vulgare	मधुर, कषाय	शीत	मृदु, रुक्ष	कफपित्तहर
5	श्वेतपूनर्नवा(वृश्चीर)	Boerhaavia verticillata	मधुर, तिक्त	उष्ण.	लघु, रुक्ष	वातशामक
6	कुलत्थ	Dolichos biflorus	कषाय	उष्ण	लघु, रुक्ष	कफवातशामक
7	माष	Phaseolus mungo	मधुर	उष्ण	गुरु, स्निग्ध	वातशामक
8	बदर	Ziziphus sativas	मधुर, अम्ल, कषाय	शीत	गुरु, स्निग्ध	वातपित्तघ्न
9	अर्क	Calotropis procera	कटु, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कफवातशामक
10	पूनर्नवा	Boerhavia diffusa	कषाय	उष्ण	लघु, रुक्ष	त्रिदोषघ्न
11	गोक्षुर	Tribulus terestris	मधुर	शीत	गुरु, स्निग्ध	वातपित्तशामक
12	कंटकारी (छोटी)	Solanum surattense	कटु, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष	वातपित्तशामक
13	कंटकारी (मोठी)	Solanum anguiri	तिक्त, कटु	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कफवातहर
14	शालपर्णी	Desmodium gangeticum	मधुर, तिक्त	उष्ण	गुरु, स्निग्ध	त्रिदोषघ्न
15	पृश्निपर्णी	Uraria picta	मधुर, तिक्त	उष्ण	लघु, स्निग्ध	त्रिदोषघ्न
16	बिल्व	Aegle marmelos	कषाय, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष	कफवातशामक
17	अग्निमंथ	Clerodendrum phlomidis	मधुर, तिक्त कटु, कषाय	उष्ण	रुक्ष, लघु	कफवातशामक
18	श्योनाक	Oroxylum Indicum	मधुर, तिक्त, कषाय	उष्ण	लघु, रुक्ष	कफवातशामक
19	पाटला	Stereospermum Suaveolens	तिक्त, कषाय	उष्ण	लघु, रुक्ष	त्रिदोषघ्न
20	गंभारी	Gmelina Arborea	तिक्त, कषाय, मधुर	उष्ण	गुरु	त्रिदोषघ्न

अ.क्र	द्रव्यनाम	Botanical Name	रस	वीर्य	गुणधर्म	दोष
21	वरूण	Crataeva magno	तिक्त, कषाय	उष्ण	लघु, रुक्ष	कफवातशामक
22	गुडूचि	Tinospora cordifolia	तिक्त, कषाय	उष्ण	गुरु, स्निग्ध	त्रिदोषघ्न
23	मूलक	Raphanus sativus	कटु	उष्ण	तीक्ष्ण, लघु	त्रिदोषघ्न
24	सर्षप	Brassica Campestris/juncea	कटु, तिक्त	उष्ण	तीक्ष्ण, रुक्ष	कफवातशामक
25	वासा	Adhatoda vasica	तिक्त, कषाय	शीत	रुक्ष, लघु	कफपित्तशामक
26	वंश	Bambusa arundinacea	मधुर, कषाय	शीत	रुक्ष, लघु, तीक्ष्ण	कफपित्तशामक
27	करंज	Pongamia Pinnata	तिक्त, कटु, कषाय	उष्ण	लघु, तीक्ष्ण	वातघ्न
28	अश्मंतक	Ficus rumphii	कषाय	शीत	लघु, रुक्ष	कफपित्तशामक
29	शोभांजन	Moringa oleifera	कटु, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कफवातशामक
30	माषपर्णी	Teramnus labialis	मधुर, तिक्त	शीत	लघु, स्निग्ध	वातपित्तशामक
33	मृद्गपर्णी	Phaseolus trilobus	मधुर	शीत	लघु, रुक्ष	त्रिदोषशामक
34	जीवन्ती	Ledtadenia reticulata	मधुर	शीत	लघु, स्निग्ध	त्रिदोषघ्न
37	एला	Elettaria cardamomum	कटु, मधुर	शीत	लघु, रुक्ष	त्रिदोषघ्न
38	तगर	Valeriana wallichii	तिक्त, कटु, कषाय	उष्ण	लघु, स्निग्ध	कफवातशामक
39	कुष्ठ	Sassurea lappa	तिक्त, कटु, मधुर	उष्ण	लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध	कफवातशामक
40	जटामांसी	Nordostachys jatamansi	तिक्त, कटु, कषाय	उष्ण	लघु, स्निग्ध	त्रिदोषघ्न
41	दालचीनी	Cinnamomum zeylanicum	कटु, तिक्त, मधुर	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	छेदन, कफघ्न
42	नागकेशर	Mesua ferrea	कषाय, तिक्त,	ईषत् उष्ण	लघु, रुक्ष	पित्तकफशामक
43	प्रियंगू	Callicarpa macrophylla	तिक्त, कषाय, मधुर	शीत	गुरु, रुक्ष	त्रिदोषघ्न
44	अगरू	Aquilaria agallocha	तिक्त, कटु	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	कफवातशामक

स्वेदन प्रकार

स्वेदनाचे गुणानुसार, कर्मानुसार, अग्निच्या वापरानुसार वेगवेगळे प्रकार आहेत. जिथे परस्पर दोन विरुध्द स्वेद आहेत त्या प्रकारास द्वंद्वज भेद म्हटले आहे.

अग्निभेदाने:- स्वेदन कर्म करतांना प्रत्यक्ष अग्निचा वापर करणे व वापर न करणे यावरून दोन भेद आहेत. 1) साग्नि 2) अनाग्नि

1) **साग्नि:-** शरीरावर प्रत्यक्ष अग्निचा वापर करून स्वेद निर्माण करण्याची क्रिया साग्नि स्वेद होय. चरकाचार्यांनी तेरा प्रकारचे साग्नि स्वेद वर्णन केलेले आहेत. आचार्य सुश्रुत व वाग्भट यांनी चार प्रकारचे साग्नि स्वेद वर्णिले आहेत. प्रत्यक्षात चरकोक्त तेरा प्रकारच्या साग्नि स्वेदांचा सुश्रुतोक्त चार स्वेद प्रकारात अंतर्भाव केला जाऊ शकतो.

चरकोक्त तेरा प्रकारचे स्वेद

संकर: प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षू:कुटी भू: कुम्भिकैवच ।।
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदशा।। **च.सू. 14/40**

1) **संकर स्वेद :** संकर स्वेद म्हणजे वस्त्राची पोटली बनवून स्वेदन करणे होय. यालाच पिण्डस्वेद म्हणतात. 'संकर' हा शब्द का दिला याला कारण नाही या स्वेदन प्रकारामध्ये स्वेदन द्रव्य वाटून, उकडून वस्त्रामध्ये पोटली बांधली जाते व त्यांना तैलामध्ये सुखोष्ण करून किंवा उकळत्या दूध, क्वाथामध्ये गरम करून व्याधीयुक्त शरीरावर/अवयवांवर स्वेदन केले जाते. हया प्रकारचा स्वेद सर्व शरीराचे स्वेदन करण्यासाठी किंवा शरीराच्या एखाद्या अंगावर स्वेदन करण्यासाठी उपयुक्त आहे. याचे गुणानुसार दोन प्रकार पडतात.

   i. **स्निग्ध संकर स्वेद** – तिल, माष, तांदूळ यांना दूध, मांसरस, अम्ल वर्गाचे द्रव्य यांचेसोबत विधिवत पोटली बनवून स्वेद केले जाते.

      व्याधी – वातप्रधान

      उदा:-षष्टिशाली पिण्ड स्वेद, पत्रपिण्ड स्वेद

   ii. **रूक्ष संकर स्वेद**– वालुका, गाय, उंट, घोडा इ. प्राण्यांचे शुष्क पुरीष, लोहपिण्ड, इष्टिकाचूर्ण यांची पोट्टली करून स्वेद केले जाते.

      व्याधी – आमवात, कफप्रधान व्याधी, मेदजन्य व्याधी.

      उदा:-वालुका स्वेद

2) **प्रस्तर स्वेद:** रुग्णास शयन योग्य पाषाणावर (6 x 2 ½ फुट) स्वेदन द्रव्यांचा कल्क पसरवून स्वेदन करणे प्रस्तर स्वेद होय.

   उपयोगी द्रव्य – शूकधान्य (षष्टिकशाली), शमीधान्य (मूंग, उडद) पुलाक (क्षुद्रधान्य) वेशंवार, पायस. एरण्ड किंवा अर्क पत्र.

स्वेदन योग्य -कटिगतवात, पृष्ठगतवात, गृध्रसी

विधी - रुग्ण उत्तानस्थितीत झोपू शकेल असे पाषाण 2 फूट उंचीवर ठेवतात. यावर शुक-शमी धान्य (व्याधीनुसार व गुणकर्मानुसार) यांना शिजवून उष्ण कल्क पाषाणावर पसरविले जाते. त्यावर एरण्डपत्र किंवा अर्क पत्राने अथवा रेशमी कापडाने झाकून रुग्णास लेटवून ब्लँकेट पांघरवून घ्यावे स्वेद येईपर्यन्त रुग्णास पडून राहण्यास सांगावे.

काल - 10 - 15 मिनिटे

अष्टांग संग्रहामध्ये अशा प्रकारचा संस्तरस्वेद वर्णिला आहे.

3) **नाडी स्वेद:** हा एक प्रकारचा बाष्प स्वेद आहे. यामध्ये क्वाथ, दूध इ. द्रव्यांच्या सहाय्याने विशिष्ट पध्दतीने बनविलेल्या यंत्राने स्वेदन केले जाते. यंत्रामध्ये नलीकेचाँ वापर केला जातो म्हणून यास नाडी स्वेद म्हणतात. एकांग स्वेद व सर्वांग स्वेदासाठी उत्तम. दोषांनुसार द्रव्यांची निवड करून नाडी स्वेद केले जाते.

4) **परिषेक स्वेद:** हा द्रव स्वेदाचा एक प्रकार आहे. वात, वातकफघ्न द्रव्यांचे क्वाथ, तैल, क्षीर, यांची शरीरावर धारा धरून स्वेदन केले जाते. या प्रकारच्या स्वेदनासाठी धारायंत्र किंवा वस्त्राच्या सहाय्याने वा स्वयंचलीत यंत्राने धारा केली जाते. यास धारा स्वेद सुध्दा म्हणतात.
उदा. - सर्वांगधारा (पिझिचिल)

5) **अवगाह स्वेद:** द्रव स्वेद, स्वेदोपयोगी द्रव्यांचे क्वाथ, तैल, घृत, क्षीर सुखोष्ण करून टबमध्ये भरले जाते व रुग्णास टब मध्ये बसवून किंवा लेटवून स्वेदन केले जाते. स्वेदन द्रव्याची मात्रा रुग्णाच्या नाभीपर्यंत शरीराचा भाग बुडेल एवढी असावी. कटिगतवात, गृध्रसी. पृष्ठगत व्याधींमध्ये अवगाह स्वेद उपयोगी आहे.

6) **जेन्ताक स्वेद:** या प्रकारच्या स्वेदासाठी एक विशिष्ट प्रकारची कुटागार (Room) तयार केली जाते. कुटागार गोलाकार असावी व आतील भिंतीला लागून रुग्ण बसू व झोपू शकेल असा ओटा बनवलेला असावा. मध्यभागात अंगारकोष्टक (तंदूरभट्टी सारखा) असावा. यामध्ये शुष्क खदिर, पलाश, बदर यांची साल, कांड जळण्यासाठी टाकावेत. अग्नि निर्धूम झाल्यानंतर व आतील कुटागार पूर्णत: गरम झाल्यानंतर रुग्णास स्वेदनासाठी कुटागार प्रवेश करण्यास सांगावे. सध्याच्या आधुनिक युगात सर्व संसाधनयुक्त कुटागार तयार करता येतात. रुमला काच लावून बाहेरून लक्ष ठेवता येते. BP, Pulse monitor द्वारे रुग्णाच्या स्थितीवर लक्ष ठेवता येऊ शकते.

7) **अश्मघन स्वेद:** 6 फूट × 2½ फूट शिला (Marble slab) घेवून त्यावर वातहर द्रव्यांची काष्ठ जाळली जातात व नंतर पाण्याने विझविली जातात. जळलेली काष्ठ बाजूला करून उष्ण झालेल्या शिलेवर रेशमी कपडा अंथरतात. त्यावर अभ्यंग केलेल्या रुग्णास झोपवून वरून मोठी जाड चादर/ब्लॅकेट ओढून ठेवल्याने व उष्ण शिलेमुळे जे स्वेदन होते त्यास अश्मघन स्वेद म्हणतात.

प्रस्तर स्वेद व अश्मघन स्वेदामध्ये फार फरक नाही. प्रस्तर स्वेदामध्ये द्रव्य शिलेवर ठेवून त्यावर रुग्णास स्वेद देतात तर अश्मघन स्वेदामध्ये द्रव्य जाळून टाकल्यानंतर विझवून द्रव्यांस बाजूला काढले जाते व उष्ण शिलेवर स्वेदन केले जाते. प्रस्तरच्या तुलनेत अश्मघन स्वेदामध्ये रूक्षता अधिक असते.

8) **कर्षू स्वेद:** कर्षू म्हणजे खड्डा; हा आतून विस्तीर्ण (wide) व मुखे भागात संकुचित म्हणजे Triangular Flask सारखा असावा. सर्वप्रथम या खड्डयामधे औषधी द्रव्य जाळून घेतात व त्यावर चारपाई (Cot) ठेवतात. चारपाई ही सुतळीने विणलेली असावी. त्यानंतर रुग्णास चारपाईवर झोपण्यास सांगतात वरून ब्लँकेट/चादर ओढून स्वेदन केले जाते. चारपाईवर ब्लँकेट किंवा एरण्डादिपत्र पसरून ठेवले जाऊ शकतात. अश्मघन स्वेदामध्ये बाष्प असते. अश्मघन स्वेदाच्या अपेक्षेने अधिक रूक्ष स्वेद आहे.

9) **कुटी स्वेद:** एक विशिष्ट प्रकारचा खोली (Room) तयार केली जाते जी केवळ स्वेदनासाठीच उपयोगी आणली जाऊ शकते. यात कोणत्याही प्रकारची वातायन व्यवस्था (ventilation) नसते. खोलीच्या भिंती औषधीद्रव्यांच्या कल्कांनी लिप्त केल्या जातात. एक चारपाई खोलीच्या मध्यभागी ठेवली जावून त्यावर रुग्णास झोपविले जाते वरून ब्लँकेट ओढण्यास सांगितले जाते. याचवेळी चारपाई शेजारी तप्त कोळशाच्या (औषधी लाकडांचे) शेगडया ठेवल्या जातात. यामुळे खोली (Room) तप्त होवून रुग्णाचे स्वेदन होते.

10) **भू-स्वेद:** निवात स्थानावर (Breeze free area) अश्मघन स्वेदासारखे स्वेदन जमीनीवर करणे म्हणजे भूस्वेद होय. जमीनीवर औषधी द्रव्य जाळले जातात. जमीन गरम झाल्यानंतर अग्नीवर पाण्याचा शिडकाव करून विझविले जाते. जमीन स्वच्छ करून रुग्णास झोपण्यास सांगीतले जाते व ब्लँकेटने रुग्णास पांघरले जाते यामुळे स्वेदोत्पत्ती होते.

11) **कुम्भी स्वेद:** कुम्भी म्हणजे हंडी (Pot), मोठी हंडी घेवून अर्धी अधिक जमीनीमध्ये पूरली जाते. यावर चारपाई ठेवली जाते. चारपाई सूतळीने जाळीयुक्त विणलेली असावी. यानंतर औषधीद्रव्यांचा कोष्ण क्वाथ हंडीमध्ये ठेवावा व रुग्णास चारपाईवर जाड चादर ओढून झोपण्यास सांगावे. लोह किंवा दगडाचे गोळे तप्त करून क्वाथामध्ये टाकावे ज्यामुळे बाष्पनिर्मिती होऊन रुग्णाचे स्वेदन होईल.

12) **कूप स्वेद:** कूप म्हणजे विहिर. विहिरीसारखा मोठा खड्डा निर्वातस्थानी खणून त्यामध्ये औषधीद्रव्य, गाय, घोडा यांचे पुरीष जाळून घ्यावे. ज्यावेळी अग्नि निर्धूम होईल त्यावेळी यावर चारपाई टाकून रुग्णास ब्लँकेट पांघरून झोपण्यास सांगावे. कुपामधून येणाऱ्या उष्णतेने स्वेदन केले जाते. यास कूप स्वेद म्हणतात. हा 'कर्षू' स्वेदापेक्षा रूक्ष आहे.

व्याधी –आमवात, कफानुबंधी वातव्याधी, स्थौल्य.

13) **होलाक स्वेद:** एक मोठी शेगडी तयार करून त्यात हत्ती - घोडे यांचे शुष्क पुरीष किंवा

औषधी द्रव्य भरले जाते व त्यांना जाळल्यानंतर त्यावर चारपाई ठेवली जाते. चारपाईवर रुग्णास झोपवून ब्लँकेट पांघरण्यास सांगावे. ज्यामुळे रुग्णाचे स्वेदन होईल. हा कुप स्वेदाचा लघुरूप आहे.

व्याधी –आमवात, कफानुबंधी, वातव्याधी.

आचार्य सुश्रुत व वाग्भट यांचेनुसार स्वेदनाचे प्रकार खालील प्रमाणे:-

i) **तापस्वेद (Use of Solids):** शरीरास उष्ण करणे-तापविणे तापस्वेद होय. यात प्रत्यक्ष अग्निसंपर्क अपेक्षित आहे. अग्निद्वारे कांस्यपात्र, वालूका, खर्पर, हस्त, वस्त्र यांना गरम करून शरीरावर यांच्या सहाय्याने स्वेदन करणे तापस्वेद होय. यातील सर्वात मृदु स्वेद हस्त स्वेद होय. आचार्य काश्यपांनीही चार महिन्याच्या बालकासाठी हस्तस्वेद करण्यास सांगितले आहे.

ii) **उष्मस्वेद (Use of air, vapour):** उष्म म्हणजे बाष्प. बाष्पाद्वारे स्वेदन करण्याची क्रिया उष्मस्वेद होय. चरकोक्त स्वेदाच्या प्रकारापैकी नाडी, स्वेद, अश्मघन, कर्षू, भूस्वेद उष्मस्वेदामध्ये अंतर्भूत केले जाऊ शकतात. सुश्रुतांनी दूध, दही, कांजी, वातघ्न क्वाथ यांना खूप प्रमाणात उकळून यांच्या बाष्पाचा स्वेदनार्थ प्रयोग करण्यास सांगितला आहे.

आचार्य वाग्भटांनी उत्कारिका, खर्पर, वालूका, तूप इ. तप्त करून वेगवेगळया प्रकारचे स्वेद करण्याच्या क्रियेस 'उष्मस्वेद' म्हटले आहे.

iii) **उपनाहस्वेद (Use of Semisolids):**- उपनाहन म्हणजे बंधन. ज्या स्वेद क्रियेमध्ये औषधी द्रव्यांचा कल्क कोष्ण करून शरीर अवयवांवर बांधून स्वेदोत्पत्ती केली जाते ती स्वेद क्रिया 'उपनाह' होय. प्रदेह, पिण्डस्वेद, पिण्डबंधन हे उपनाह स्वेदाचे प्रकार आहेत. दोषांनुसार औषधांची योजना करून तिन्ही दोषांमध्ये उपयुक्त असा स्वेद प्रकार आहे.

iv) **द्रव स्वेद (Use of liquids):** कोष्ण द्रव द्रव्यांद्वारे स्वेदन करण्याची क्रिया द्रव स्वेद होय. या स्वेद प्रकारामध्ये क्वाथ, दूध, तैल, धान्याम्ल यांचा वापर केला जातो. चरकोक्त परिषेक स्वेदाप्रमाणे द्रव द्रव्यांची धारा शरीरावर धरून स्वेदन केले जाते किंवा 'अवगाह' स्वेदा सारखे द्रोणी (टब) मध्ये बसवून औषधी द्रव्याच्या क्वाथाने, तैलाने स्वेदन केले जाते.वाग्भटांनी धातुनिर्मित पात्राने (ज्यामध्ये छिद्र असतात) द्रव औषधींची धारा अर्थात परिषेक करण्यास सांगितले आहे.

चरकोक्त तेरा स्वेदांमध्ये स्वेद प्रकारांचे पुनः पुनः वर्णन केल्यासारखे वाटते. उदा. भूस्वेद व अश्मघन स्वेद किंवा कर्षूस्वेद, कूप स्वेद व होलाक स्वेद. यामध्ये थोडयाफार फरकाने स्वेदन प्रकार एक सारखेच वाटतात. कदाचित त्या काळातील भौगोलिक स्थिती, उपकरणांची उपलब्धता स्थानानुसार वेगवेगळी असल्याने विविध स्वेदांचे वर्णन केलेले असावे. तसेच या स्वेद प्रकारांमध्ये उष्णतेची तीव्रता कमी-अधिक असल्याने गुणांमध्ये तरतमभाव असल्याने व्याधी व बलाचाही विचार केला आहे. म्हणून एक सारखे वाटणारी पण कमी अधिक

फरकांने काही स्वेद प्रकारांचे वर्णन केले गेले असावे.

आजच्या काळात विज्ञानाच्या प्रगतीमुळे वरील स्वेद प्रकार एकाच ठिकाणी करणे शक्य आहे. मुख्य सिध्दांतांना बाजूला न करता युगानुसार बदल करण्यास हरकत नसावी.

2) **निराग्नि किंवा अनाग्नि स्वेद:** ज्या स्वेदन क्रियेमध्ये अग्निचा प्रत्यक्ष संपर्क नसतो त्यास निराग्नि स्वेद म्हणतात. चरकाचार्यानी निराग्नि स्वेद दहा प्रकारचे सांगितले आहेत.

व्यायामउष्णसदनं गुरूप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधवुपनाहाहवातपै:।
स्वेदयन्ति दशैतानि नरं अग्निगुणादृते।। **च.सु. 14/64-65**

(i) **व्यायाम** -ज्या क्रियेने शरीरात थकवा (आयास) उत्पन्न होतो त्यास व्यायाम म्हणतात (सु. चि. 24/36). ज्यामुळे शरीरास स्थिरता व बलवर्धन करण्याचे कार्य होते त्यास व्यायाम म्हणावे. (च.सू. 7/31) व्यायामामुळे शरीरात उष्मा निर्माण होऊन स्वेदन होते. व्यायाम हा अर्धशक्ती असावा म्हणजे कपाळावर स्वेदबिंदू आले की, व्यायाम बंद करावा.

व्यायामाने स्थिरता व बलवर्धन होत असल्याने पक्षाघातादि व्याधीमध्ये व्यायाम केल्यास लाभ मिळतो. Physiotherapy ने या प्रकारास अधिक सैद्धांतिक व शास्त्रोक्त मांडलेलं आहे. याशिवाय व्यायामाने अग्निवृध्दी होते, लघुता उत्पन्न होते.

(ii) **उष्णसदन** -उष्ण घरामध्ये स्वेदन केले जाते. जाडभिंतीची हवाबंद रूम तयार करून दरवाजा बंद केल्यास आतमध्ये रुग्णाला ठेवल्याने स्वेदन होते. रुग्ण गुदमरला जाऊ नये याची काळजी घेतली जावी. आजच्या काळात अधिक स्वेदनासाठी सोयी असल्याने अशाप्रकारचे स्वेद केले जात नाही.

(iii) **गुरूप्रावरण** - रुग्णास गरम ब्लँकेट किंवा गरम कपडे पांघरूण स्वेदन केले जाते. ही स्वेदनाची सोयीस्कर पध्दत आहे. सध्याच्या काळात Electric Blanket उपलब्ध आहेत.

(iv) **क्षुधा** - क्षुधेचा वेग धारण केल्यास, अतीव भूक लागल्यानंतर सुध्दा जेवण न केल्याने स्वेदन होते. लक्षात असावे की, Hypoglycemia मुळे perspiration होते त्यामुळे रुग्णाची अवस्था व बल बघूनच अशाप्रकारच्या स्वेदनाचा प्रयत्न करावा.

(v) **बहुपान** - 'बहुपान' चा अर्थ अधिक मद्यप्राशन करणे होय. मद्य गुणाने उष्ण-तीक्ष्ण, व्यवायी, विकासी असल्याने 'स्वेद' वाढविण्याचे कार्य करतो.

(vi) **भय** - रुग्णास घाबरवणे. यामुळे रुग्णामध्ये स्वेदोत्पत्ती होते.

(vii) **क्रोध** - क्रोधाने पित्त प्रकोप होतो, पित्त प्रकोपाने शरीरातील उष्मा वाढून स्वेदोत्पत्ती होते व स्वेदन होते.

(viii) **उपनाह** - उपनाह स्वेद साग्नि व निराग्नि दोन्ही प्रकारांमध्ये केला जातो. उष्ण वीर्य औषधीचे अग्निचे संस्कार न करता प्रदेह किंवा पिण्ड रूपात बंधन करून स्वेदन करण्याची क्रिया उपनाह होय.

(1) बदर, कुलत्थ, कुष्ठ, वचा, सौंफ, रास्ना, उडद, अतसी तैल, मदनफल, यवचूर्ण, देवदारू, कांजीसोबत मिळवून प्रदेह.

(2) चतु:स्नेह, दशमूल व अगरू लेप.

(ix) **आहव** - 'मुष्टियुध्द' वा कुश्ती द्वारा स्वेदन घडवून आणण्याची क्रिया 'आहव' आहे. स्थौल्यामध्ये या प्रकारचे स्वेदन केले जाऊ शकते. हा प्रकार व्यायामासारखाच आहे.

(x) **आतप** - सूर्याच्या किरणांद्वारे स्वेदन केले जाते. कुष्ठा सारख्या रोगांमध्ये अशा प्रकाराने स्वेदन केले जाते. आचार्य चरकांनी सिध्मकुष्ठात आतप स्वेद करण्यास सांगितले आहे.

Normal physical causes diaphoresis e.g. physical exertion, spicy foods, strong emotions (anger, fear etc.).

कुष्ठ रुग्णांमध्ये संशोधनासाठी पूर्वकर्म म्हणून अभ्यंग स्वेद करतांना आतप स्वेदाचा उपयोग केला जातो.

II) **गुणानुसार भेद:** स्वेदनाचे स्निग्ध व रूक्ष असे दोन प्रकार पडतात.

i. **स्निग्ध स्वेद**-स्निग्ध द्रव्यांचा वापर करून स्वेदन केले जाते. वातप्रधान व्याधींमध्ये प्रामुख्याने स्निग्ध स्वेद केला जातो.

ii. **रूक्ष स्वेद**-रूक्ष द्रव्यांचा वापर करून स्वेदन केले जाते. प्राधान्याने कफ प्रधान व्याधी, मेदोरोग, आमदोषज व्याधींमध्ये रूक्ष स्वेद केला जातो. वालुका, इष्टिका, लोह, तुष इ. द्वारा स्वेदन हे रूक्ष स्वेदाचे प्रकार आहेत.

रूक्ष स्वेद ते स्निग्ध स्वेद ही एक प्रकारची गुणांची Scale आहे. कफ व वात दोषांच्या तरतम अवस्थानुसार रूक्ष ते स्निग्ध गुणांचे तरतमत्व ठरवून स्वेदन केले जाते.

1	2	3	4	5	6	7
रूक्ष $^{++}$	रूक्ष $^{+}$	रूक्ष $^{++}$ स्निग्ध $^{+}$	रूक्ष $^{+}$ स्निग्ध $^{++}$	रूक्ष $^{+}$ स्निग्ध $^{++}$	स्निग्ध $^{+}$	स्निग्ध $^{++}$
वालुका स्वेद	चूर्ण स्वेद	जम्बीर पिण्डस्वेद	पत्र पोटली स्वेद	धान्यक स्वेद	उत्कारिका स्वेद	पायस स्वेद

अवयवांमधील दोषांच्या दोष आश्रयस्थानानुसार स्निग्ध व रूक्ष स्वेद व्यत्यास क्रमाने केले जातात.

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।

रूक्ष पूर्वो हित: स्वेद: स्नेहपूर्वस्तथैव च।। **च.सू. 14/9**

रूक्षपूर्व: आमाशय कफाचे स्थान आहे, कफाचे शमन करण्यासाठी प्रथम रूक्ष स्वेद केले जाते. स्थानीक दोष शमनानंतर वात शमनासाठी स्निग्ध स्वेदन केले जाते.

स्निग्धपूर्व: अशाच प्रकारे पक्वाशय वाताचे स्थान आहे. प्रथम पक्वाशयस्थ दुषीत वाताचे शमन करण्यासाठी स्निग्ध स्वेद केले जाते व नंतर दुषीत कफाच्या शमनासाठी रूक्ष स्वेद केले जाते.

III) **स्थानानुसार भेद:** स्थानानुसार स्वेदनाचे एकांगस्वेद व सर्वांगस्वेद असे दोन प्रकार आहेत.

(1) **एकांग स्वेद** - एका विशिष्ट अंगप्रदेशावर स्वेदन केले जाणारे स्वेद प्रकार एकांग स्वेद होय. नाडी स्वेद, संकर (पिण्ड स्वेद), वालुका, उपनाह स्वेद. एकांग स्वेद सामान्यत: प्रधान चिकित्सेच्या रूपाने केले जाते.

(2) **सर्वांग स्वेद** -सर्वांगास स्वेदन केले जाणारे स्वेद प्रकार सामान्यत: पूर्वकर्माच्या रूपाने केले जाते. प्रधान चिकित्सेसाठी पण सर्वांग स्वेदन केले जाते. उदा. प्रस्तर, कुटी, जेंताक इ. स्वेद सर्वांग स्वेद करणारे स्वेदन प्रकार आहेत.

IV) **बलानुसार स्वेद प्रकार:** हे तीन प्रकारचे आहेत:

व्याधौशीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले।

दुर्बले दुर्बल: स्वेदो: मध्यमे मध्यमो हित:।। **च.सू. 14/7**

(i) **महान् स्वेद** - व्याधी व रुग्णाचे बल उत्तम असल्यास किंवा शीत ऋतू असल्यास महान् स्वेद केले जाते. हस्तपाद, पृष्ठ, स्फिक् प्रदेशी महान् स्वेद केले जाते.

(ii) **मध्यम स्वेद** - व्याधी व रुग्णाचे बल मध्यम असल्यास अथवा वंक्षण प्रदेशी मध्यम स्वेद केले जाते. **मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टत:।। च.सू. 14/10**

(iii) **मृदु स्वेद** - व्याधी व रुग्णाचे बल अल्प असल्यास किंवा नेत्र, हृदय, वृषण प्रदेशी मृदू स्वेद केले जाते. **वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा।। च.सू.14/10**

अवयवानुसार स्वेदनाची काळजी (Methods to protect vital organs during swedana)

स्वेदन करतांना काही महत्त्वाच्या अवयवांना स्वेदन देऊ नये किंवा मृदू स्वेद करावा. यासाठी आचार्यांनी काही उपाययोजना करण्यास सांगितल्या आहेत.

(1) हृदय, नेत्र, वृषण प्रदेशी शक्यतो स्वेदन करू नये. आवश्यकता असल्यास मृदू स्वेदन करावे. (च.सू. 14/10-12)

(2) वंक्षण प्रदेशी मध्यम स्वेद करावे. (च.सू. 14/10)

(3) अति स्वेदनाने मस्तिष्कावर परिणाम होतो.

महत्त्वाच्या अवयवांचे संरक्षणासाठी:

(1) वरील अवयवांवर शक्यतो स्वेदन करू नये अथवा आवश्यक असल्यास आर्द्र कमलपत्र, गव्हाचे पीठाचा पिण्ड बनवून किंवा कार्पास/Cotton bandage यांना आर्द्र करून या अवयवांवर झाकून स्वेदन करावे ज्यामुळे सरळ उष्णता या अवयवांवर लागणार नाही.

(2) स्वेदनापूर्वी रुग्णास 'आमलकी कल्काचे' तल धारण करून घ्यावे ज्यामुळे मस्तिष्कावर उष्माचे कोणतेही परिणाम होणार नाही.

यासाठी आमलकी चूर्ण 100 gm व 200 gm तक्र यांना शिजवून घ्यावे. पूर्णत: शिजल्यानंतर यास खरलमध्ये अधिक श्लक्ष्ण करून दुसऱ्या दिवशी रुग्णाच्या मूर्धभागी पिण्डस्वरूपात ठेवून बंधन (Bandage) बांधावे.

(3) स्वेदनानंतर लगेच रुग्णास शीत जल स्पर्श टाळण्यास सांगावे अन्यथा नेत्रदुष्टी होण्याची शक्यता असते.

(1) The heart beat is a function of chemical processes. The heart beats in response to an electrical impulse in all myocardial muscles that initiates a chain reaction starting with calcium interacting with some complex protein molecules in each of the cells. A chemical reaction doubles its rate increase of the temperature of 10^0 C and increases the heart rate. (www.biology-online.org)

(2) Heating may cause eye irritation and discomfort related to dry surface of the eyes. Eyes may feel as foreign body is in the eye, creating gritty and sandy feeling.
Naomi Sharon *et al* (2008) reported that exposure to heat can cause damage to the eye lense and that the damage is dependent on the length of exposure.

(3) Researchers have found the reason why a man's testicles rest outside the body in the scrotum rather than in abdomen like the ovaries because the ideal temperature for sperm production is 3 4^0 C below normal body temperature. Any warmer will affect sperm count, reducing it by 40 percent per one degree. Hence any type of Swedan on testes may affect the sperm count. (http:www.parentigway.com/preconception).

(V) **शोधनांग व शमन स्वेद:** (डल्हण- सु.चि. 32/21 वर टिका)

आचार्य डल्हणांनी टिका करतांना कर्मानुसार स्वेदन दोन प्रकारचे सांगितले आहे. चिकित्सा करतांना स्वेदनाचा उद्देश काय, यानुसार हे दोन प्रकार आहेत.

1) **शोधनांग स्वेद:** यास शोधनांगभूत स्वेद सुध्दा म्हटले आहे. रुग्णामध्ये वमन, विरेचन कर्म करण्यापूर्वी पूर्वकर्माच्या रूपाने स्नेहपान विधीने 3 ते 7 दिवसाचे स्नेहन केल्यानंतर स्वेदन केले जाते यास शोधनांग स्वेद म्हणतात.

कार्य - (1) स्थानीय दोष, स्रोतसात चिकटलेले दोष यांना त्यांच्या स्थानातून बाहेर काढणे.
(2) स्नेहनानंतर उत्क्लिष्ट दोष शाखेतून कोष्ठाकडे आणणे.
(3) वायूचे निग्रहण करणे.

2) **शमन स्वेद:** प्रत्यक्ष चिकित्सा कर्म करण्यासाठी प्रधानकर्म म्हणून स्वेदन क्रिया करणे म्हणजे शमन स्वेद होय.

कार्य - (1) साम दोषांमध्ये दोष पाचनार्थ रूक्ष स्वेद
(2) शमन स्वेद धात्वाग्नि प्रदीप्त करण्याचे कार्य करते
(3) त्वचा मृदू करणे
(4) स्रोतोशुध्दी
(5) कफ-वात शमन, व्याधी शमन

स्वेदनयोग्य (Indications):- (च.सू. 14/20-24, अ.हृ.सू. 17/25-27)

स्वेदन पूर्वकर्म, प्रधानकर्म व पश्चातकर्म म्हणूनही केले जाते. स्वेदन शोधन चिकित्साही आहे आणि शमन चिकित्साही. स्वेदन व्याधी अवस्थेत केले जाते व स्वस्थ अवस्थेमध्येही. स्वेदन प्राधान्याने खालील व्याधींमध्ये उपयुक्त चिकित्सा आहे.

(1) प्रतिश्याय	-	Rhinitis
(2) कास	-	Cough, Bronchitis
(3) श्वास	-	Asthma, Dyspnea
(4) हिक्का	-	Hiccough
(5) अंगगौरव	-	Heaviness of the body
(6) कर्णशूल	-	Earache
(7) मन्याशूल	-	Pain in neck, Cervical spondilitis
(8) शिरःशूल	-	Headache
(9) स्वरभेद	-	Hoarseness of voice
(10) गलग्रह	-	Stiffness of the throat
(11) अर्दित	-	Bell's palsy
(12) एकांगवात	-	Monoplegia
(13) सर्वांगवात	-	Quadriplegia
(14) पक्षाघात	-	Hemiparesis/Hemiplegia
(15) आनाह	-	Flatulence
(16) विनामक	-	Bending of the body
(17) विबंध	-	Constipation
(18) जृंभा	-	Yawning
(19) पार्श्वग्रह	-	Stiffness of flanks
(20) पृष्ठग्रह	-	Stiffness of the back (Spondylosis, Spondylitis)
(21) कटिग्रह	-	Stiffness of the sacral region.
(22) कुक्षिग्रह	-	Stiffness of the side of abdomen
(23) हनुग्रह	-	Stiffness of the mandible, jaw locking
(24) गृध्रसी	-	Sciatica, Disc bulging, PIVD
(25) मूत्रकृच्छ्र	-	Dysurea

(26) मुष्कवृध्दी - Scrotal enlargement

(27) अंगमर्द - Bodyache

(28) पादार्ति - Painful feet

(29) जंघार्ति - Painful legs

(30) उरूअर्ति - Painful thighs

(31) पाद-जानु-जंघा उरूग्रह - Stiffness of legs

(32) शोथ - Oedema

(33) खल्ली - Pain in extremities, Painful musculoskeletal condition (Carpal-Tunnel Syndrome)

(34) आमदोष -

(35) शैत्य - Cold sensation

(36) वेपथू - Parkinson's disease/Tremors

(37) वातकण्टक - Calcaneal spur, plantar fascitis

(38) संकोच - Contractures (Rheumatoid arthritis etc)

(39) आयस - Fatigue

(40) सूप्ती - Numbness, Peripheral Neuropathy

(41) पंचकर्माचे पूर्वकर्म (वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य कर्मापूर्वी)

(42) प्रसूता - Puerperal woman

(43) मुढगर्भ - complicated labour

(44) भगंदर - Fistula-in-Ano

(45) अर्श - Hemmorrhoids (in the form of sitz bath is common)

(46) अश्मरी - Renal, ureteric calculus

(47) अर्बुद - Tumours

(48) ग्रंथी - Cyst, nodular lump

(49) आढ्यवात - Peripheral ischaemic limb

(50) शुक्राघात - Seminal obstruction

या सर्व व्याधी लक्षणांचा व व्याधी अवस्थांचा विचार करता 'स्वेदन योग्य' खालील प्रमाणे विभागले जाऊ शकतात.

(1) **वातव्याधी** - एकांगवात, अर्दित, सर्वांगवात

(2) **वातकफज व्याधी** - कटिग्रह, पार्श्वग्रह

(3) **कफज व्याधी** - प्रतिश्याय, कास, श्वास इ.

(4) **शल्य चिकित्सा साध्य व्याधी** - मुढगर्भ, अर्श, भगंदर

(5) **शोधन पूर्वकर्म म्हणून**

(6) **अग्निभांद्य जनीत** - आमदोष, विबंध, आनाह

स्वेदन अयोग्य (Contraindications):- च.सू. 14/16-19, अ.ह.सू. 27/21-24

(1) अतिस्थुल - Obese

(2) रूक्ष - Dehydrated

(3) दूर्बल - Weak

(4) मूर्च्छित - Unconscious

(5) क्षतक्षीण - Weak after injury

(6) क्षाम - Poisoning

(7) मद्यविकारी - Alcohol intoxication

(8) तिमिर - Diminished vision

(9) उदर - Ascitis

(10) वीसर्प - Cellulitis, pemphigus

(11) कुष्ठ - Skin diseases

(12) शोफ - Edema

(13) आढयरोगी - DVT type condition

(14) पीत-दुग्ध, दही, स्नेह, मधु

(15) विरेचन झालेले (कृतविरेचन)

(16) भ्रष्ट, दग्ध गुद - Prolapsed rectum किंवा गुदभागी अग्निकर्म झालेले

(17) ग्लानि - Depression

(18) क्रोध, शोक, भय युक्त

(19) क्षुधा, तृष्णायुक्त - Very much hungry, thirsty

(20) कामला - Jaundice

(21) पाण्डू - Anaemia

(22) प्रमेही - Diabetic

(23) पित्त प्रकोप/पित्त प्रकृती

(24) गर्भिणी - Pregnant woman

(25) पुष्पिता/रजस्वला - During menstrual cycle

(26) प्रसुता - Purerperium

(27) रक्तपित्त - Bleeding disorders

(28) अतिसार - Diarrhoea

(29) ब्रध्न - Having inguinal hernia

(30) ओजक्षय -

वरील व्याधींमध्ये शक्यतो स्वेदन करू नये परंतु व्याधी चिकित्सेसाठी स्वेदन आवश्यकच असल्यास मृदू स्वेद करावे. (मृदू चात्ययिके गदे। अ.हृ.सू. 17/24)

स्वेदन मुल्यांकन (Assessment of Sudation)

रुग्णाचे स्वेदन करत असतांना उष्णता रुग्णाच्या सहनशक्तीनुसार कमी अधिक असू शकते. अधिक उष्णता झाल्यास दग्धव्रण होऊ शकतो तर कमी स्वेदन झाल्यास अपेक्षित चिकित्सा होत नाही. त्यामुळे चिकित्सकांनी/सहाय्यकांनी सम्यक स्वेदन, अतियोग किंवा अयोगाच्या लक्षणांवरून स्वेदन कर्म करतांना काळजी घेणे आवश्यक असते.

सम्यक योग लक्षणे (Proper sudation):-

शीतशूल व्युपरमे स्तम्भ गौरव निग्रहे।
सञ्जाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनात् विरतिर्मता।। **च.सू. 14/13**
स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य।
सम्यक स्विन्ने लक्षणं ..... **सू.चि. 32/23**

(1) शीतोपरम - शीतता अनुभूती कमी होणे

(2) शूलोपरम - Subside of pain symptom

(3) स्तम्भनिग्रह - Reduction of stiffness

(4) गौरव निग्रह - Alleviation of sense of heaviness

(5) मार्दव (कोमलता) - Softness of body

(6) स्वेदप्रादुर्भाव - Appearance of sweating

(7) रोगप्रशमन - Remission of the disease

(8) शीतसेवनेच्छा - Desire of cold

अतियोग (Excessive sudation):-

पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः। सन्धिपीडा ज्वरःश्यावरक्तमण्डलदर्शनम्।।

अ.हृ.सू. 17/16

स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः।

मूर्च्छाभ्रान्तिर्दाह तृष्णाक्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम्।। **सु.चि. 32/24**

जेव्हा तापमान अधिक असेल किंवा स्वेदनाचा काळ अधिक असेल तर अतियोगाचे लक्षणे उद्‌भवू शकतात. वय, प्रकृती, लिंग, निद्रा, मानसिक अवस्था ऋतू इ. नुसार तापमान सहन करण्याची शक्ती कमी अधिक होऊ शकते त्यामुळे स्वेदन क्रिया करतांना सम्यक लक्षणे समजण्यातं चूक झाल्यास अतिस्वेदाचे लक्षणे दिसू शकतात. अतिस्वेदनाने खालीलप्रमाणे लक्षणे दिसून येतात.

(1)	पित्तप्रकोप	-	पित्त प्रकोप लक्षणे
(2)	अस्रकोप	-	रक्त प्रकोपाची लक्षणे
(3)	तृष्णाधिक्य	-	Excessive thirst
(4)	अंगसदन	-	Sense of exhaustion
(5)	स्वरसदन	-	Reduction of voice
(6)	भ्रम	-	Giddiness
(7)	संधीपीडा	-	Joints pain
(8)	ज्वर	-	Fever
(9)	श्यावरक्त मंडलदर्शन	-	Rashes on skin
(10)	विदाह	-	Burning sensation
(11)	स्फोटोत्पत्ती	-	Blisters
(12)	च्छर्दि	-	Vomiting

हीनयोग (Inadequate Sudation):-

स्वेदनाची काळजी न घेतल्यास व वय, लिंग, बल, ऋतू इ. चा विचार न करता स्वेदन कमी काळ किंवा कमी तापमानाने केल्यास अपेक्षित सम्यक लक्षणे उत्पन्न न होता हीन योगाची लक्षणे उत्पन्न होतात

(1) सम्यक लक्षणे अभाव

(2) स्वेद अभाव

(3) शीतता

(4) शूलशांती न होणे

(5) स्तम्भ गौरव

स्वेदन व्यापद व चिकित्सा (Complication and management):-

(1) **अयोग** - स्वेदन कर्म करतांना चिकित्सकांच्या/सहाय्यकांच्या चूकींमुळे अयोगाची लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात.

चिकित्सा: स्वेदन बंद करून रुग्णास समजावून पुन: विधीवत स्वेदन करावे.

(2) **अतियोग** - यापूर्वी वर्णिल्याप्रमाणे चिकित्सकाच्या निष्काळजीमुळे अतियोगाचे लक्षणे उत्पन्न होऊ शकतात. उत्पन्न लक्षणानुसार चिकित्सा करावी.

चिकित्सा: (1) रुग्णास अतिस्वेदन झाल्यास मधूर, स्निग्ध, शीत व द्रव आहार द्यावा
(अतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुर: स्निग्ध शीतल:।। च.सू. 14/15)
(2) शीत जल पिण्यास द्यावे.
(3) शीत गृहामध्ये रुग्णास विश्राम करण्यास सांगावे.
(4) चंदन लेप करावे.
(5) स्तम्भन चिकित्सा करावी. यासाठी तिक्त, कषाय, मधूर रसात्मक, शीत, मंद व मृदू गुणयुक्त द्रव्यांची उपाय योजना करावी.
(6) नारिकेल जल पिण्यास द्यावे.

(3) **स्फोट किंवा व्रण झाल्यास** -घृतकुमारी गर तात्काळ लावावा, त्यानंतर जात्यादितैल, मधुयष्टयादि तैल यांचा स्थानिक उपयोग करावा.

(4) **दाह अधिक असल्यास** - प्रवाळपिष्टी, चंद्रकला रस, लघुसूतशेखर यांचे आभ्यन्तर सेवन करण्यास द्यावे.

(5) **Fainting (मूर्च्छा)** -If the person has been dehydrated, due to heat induced vaso-dilation, the blood pressure decreases and can cause dizziness or fainting. A more serious problem associated with dehydration is hypovolemic shock. This type of complications may occur in steam box.
(1) Head low position
(2) IV fluids
(3) Check blood sugar for Hypoglycemia
(4) If needed, emergency hospitalization.

आहार व पथ्य विचार (Diet and Regimens)

(1) रुग्णास द्रव आहार द्यावा, लघू व अनभिष्यंद आहार असावा. उदा. पेज

(2) स्वेदनापूर्वी स्नेहपान, गुरू भोजन करू नये.

(3) स्वेदनानंतर लगेच शीत स्थानात जाऊ नये. उदा. AC किंवा पंखा चालू असलेल्या रूममध्ये किंवा लगेच AC गाडीमध्ये किंवा ऑटो, स्कूटरवर बसून जाऊ नये.

(4) स्वेदनानंतर अर्ध्या तासानंतर सुखोष्ण जलाने स्नान करावे.

सामान्य स्वेद विधी

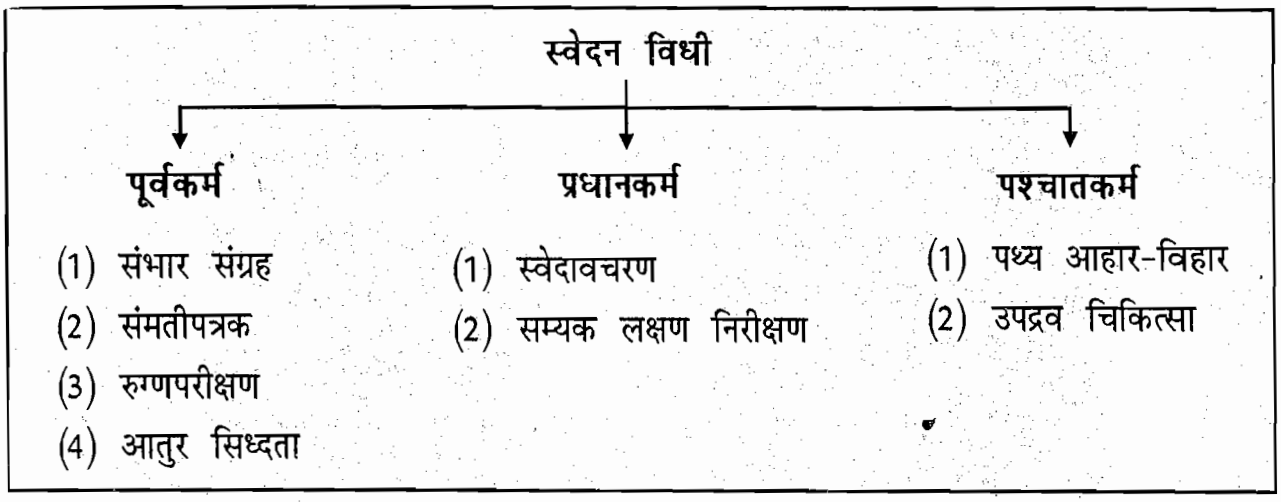

स्वेद प्रकारानुसार प्रत्येक स्वेदाची विधी वेगवेगळी आहे. सामान्यत: स्वेद विधी तीन प्रमुख कर्मामध्ये विभागली जाऊ शकते.

विशेष परीक्षणामध्ये दोषांची प्राधान्यता, व्याधी, प्रकृती यांचे परीक्षण करून प्रत्यक्ष स्वेदन कोणत्या प्रकारचा द्यावयाचा आहे ते ठरवावे. रुग्णास एकांग की सर्वांग स्वेद, रूक्ष किंवा स्निग्ध स्वेद द्यावयाचा आहे याचा निर्णय घ्यावा.

पूर्वकर्म

(1) **संभार संग्रह:** स्वेदनासाठी आवश्यक असणारी सामग्री जमा करून ठेवावी, तसेच व्यापद अपेक्षित धरून त्यानुसार चिकित्सेच्या दृष्टीने औषधांची तयारी करून ठेवावी.

(i) नाडी स्वेद, पिण्डस्वेद, अवगाहन या स्वेदन प्रकारानुसार यंत्र

(ii) स्वेदल द्रव्य - दोषानुसार, व्याधीनुसार

(iii) टॉवेल

(iv) सूतशेखर, प्रवाळपिष्टी, मुक्तापिष्टी इ.

(v) IV fluids

(2) **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास समजेल अशा भाषेत पंचकर्मातील विधीमुळे होणारे फायदे व संभावीत व्यापद समजावून लिखीत पत्रकावर रुग्णाची व/अथवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.

(3) **रुग्णपरीक्षण:** सामान्य परीक्षण रुग्णाचे वय, बलाचे परीक्षण करून खालील परीक्षण करून द्यावे.

शारीरिक - BP, Pulse (नाडी), Weight

प्रयोगशालेय -

i) CBC, lipid profile ii) Blood sugar

iii) Urine routine, microscopic iv) ECG

(4) **आतुर सिध्दता:** रुग्णास आवश्यकतेनुसार वस्त्र काढण्यास सांगावे. एकांग स्वेद असल्यास अवयवा पूरते वस्त्र काढून रुग्णास स्वेदनासाठी तयार करावे.

रुग्णास आवश्यकतेनुसार स्वेदनापूर्वी अभ्यंग करावे. रूक्ष स्वेदासाठी अभ्यंगाची गरज नसते.

प्रधानकर्म

(1) **स्वेदावचरण:** रुग्णाच्या व्याधी-बल इ. विचार करून आवश्यक स्वेद क्रिया करावी. आधी वर्णिल्याप्रमाणे सम्यक स्वेदाची लक्षणे दिसेपर्यंत स्वेदन करावे.

(2) **सम्यक लक्षण निरीक्षण:** या आधी वर्णील्याप्रमाणे सम्यक स्वेदन, हीनयोग वा अतियोगाच्या लक्षणाचे निरीक्षण करावे. हीन योग व अतियोग झाल्यास चिकित्सा करावी.

पश्चातकर्म

(1) **पथ्य आहार-विहार:** या आधी वर्णिल्याप्रमाणे रुग्णास पथ्यापथ्य व आहार-विहार करण्यास सांगावा.

(2) **उपद्रव:** उपद्रवांचे निरीक्षण करावे व लक्षणानुसार त्यांची चिकित्सा करावी.

स्वेदन कार्मुकता (Mode of Action of Swedan Chikitsa)

स्वेदन हे षडुपक्रमातील एक उपक्रम तर पंचकर्मातील प्रमुख पूर्वकर्म आहे. स्वेदन हे शोधनपूर्व केले जाते म्हणून पूर्वकर्म, तर काही व्याधींमध्ये प्रधान कर्म म्हणून उपयुक्त आहे. स्वेदनाचे प्रमुख कार्य स्तंभनघ्न गौरवघ्न, शीतघ्न व स्वेदकारक आहे आणि स्वेदनामुळे अग्निदीप्ती, मार्दवता स्त्रोतसांमध्ये निर्मलत्व इ. कार्य होतात.

दोषा: स्वैदै: द्रवीकृत्य कोष्ठ - जे दोष कोष्ठगत आहेत, धातूंमध्ये लीन झालेले आहेत. स्त्रोतसांमध्ये मार्गाविरुद्ध दोष, शाखा, अस्थि, संधीमध्ये संचित दोष ज्यामुळे व्याधी उत्पन्न झालेली असेल अशा दोषांना स्नेहन करुन स्वेदन केल्यास दोष द्रवीभूत होऊन कोष्ठामध्ये आणले जातात व जवळच्या मार्गाने शोधन करता येते.

स्वेदनाचे गुण उष्ण, तीक्ष्ण व सुक्ष्म असल्याने स्वेदन धातूगत कार्य करुन दोष द्रवीभूत केले जातात व सर, द्रव या गुणांनी अभिष्यंदित दोषांना कोष्ठापर्यंत आणण्याचे कार्य केले जाते (अ. ह. सू. 17/30)

स्वेदनामुळे स्त्रोतसांत चिकटलेला ग्रथित कफ विकसीत होऊन स्त्रोतसांमध्ये सामान्य संचार करु शकतो. (च.चि 17/71) त्यामुळे श्वास, कास इ. व्याधींमध्ये स्वेदन उपयुक्त ठरते.

वायूनिग्रहण - चिकित्सेचा महत्त्वाचा सिद्धांत म्हणजे वायूचे नियमन. वायू यंत्र तंत्र धर आहे. कफ व पित्त दोष हे वाताच्या अधीन आहेत म्हणून चिकित्सा करतांना वायूचे नियमन आवश्यक आहे आणि वायूचे नियमन करण्याचे कार्य स्वेदन करते.

अग्निदीप्ती – व्याधी उत्पत्तीच्या प्रमूख कारणांमध्ये मंदाग्नि हे एक आहे. मंदाग्निमुळे आमोत्पत्ती होते त्यामुळे स्त्रोतोरोध होऊन व्याधी सम्प्राप्ती घडते स्वेदनाने अग्नि दीप्ती होऊन आमोत्पत्ती थांबविली जाते व स्त्रोतोरोधही दूर केला जातो.

भक्तश्रद्धा – स्वेदनामुळे भक्तश्रद्धा उत्पन्न होते, निद्रा, तंद्रा इ. कफप्रधान लक्षणांचा नाश होतो.

त्वक्प्रसादन – स्वेदनामुळे त्वक्प्रसादन व मृदूता उत्पन्न होत असल्याने त्वचा उत्तम राखली जाते.

स्तंभघ्न – स्तम्भ हे शीत गुणाने लक्षण आहे वातप्रकोपामुळे शरीरामध्ये स्तम्भ लक्षण उत्पन्न होते संधीस्थानी संकोच असतो व क्रियाशीलता कमी होते. धात्वाग्निच्या स्तरावर कार्य करणारा समानवायू रुक्ष गुणामुळे स्तम्भ उत्पन्न करतो स्वेद हा उष्ण गुणात्मक असल्याने स्तम्भ दूर करण्याचे कार्य करतो.

गौरवघ्न – जल व पृथ्वी महाभूताच्या प्राधान्यामुळे शरीरामध्ये गौरवता उत्पन्न होते स्वेदनाने उदक धातु कमी झाल्याने लघुता उत्पन्न होते.

शीतघ्न – स्वेदनाच्या उष्ण गुणामुळे शीतघ्न कार्य घडते. स्वेदन मंद गुणासह शीत-स्निग्ध, शीत-रुक्ष-प्रधान व्याधींमध्ये उपयुक्त आहे तर तीक्ष्ण गुणासह उष्ण-स्निग्ध व उष्ण-रुक्ष प्राधान्यांमध्ये अयोग्य आहे.

स्वेदनाचे प्रकार उदा. तापस्वेद, द्रवस्वेद, उष्मास्वेद विविध प्रकारचे पिंड स्वेद हे केवळ अपघातिक शोध नाहीत तर प्रत्येक क्रियेचे स्थानानुसार, दोषानुसार, कर्मानुसार सुक्ष्मतम विचार करुन मांडलेले शोध आहेत.

स्वेदन क्रियेद्वारे स्वेदद्रव्य किंवा स्वेदनामध्ये वापरण्यात येणारी इतर द्रव्य व त्वचेद्वारे शोषली जावीत असा उद्देश नाही. उदा. षष्टीशाली पिण्ड स्वेदनामध्ये 'शाली' त्वचेतून आतमध्ये शोषली जाऊन बल्य कार्य करेल अशी अपेक्षा नव्हतीच. त्या द्रव्याची व माध्यमांची त्याहीपेक्षा कर्माची कार्मुकता अधिक आहे. (जी. शामकृष्णन्, 2009).

The physiological effect of different sweat bath are not the same due to variation in temperature, humidity, time, etc. Body sweats more in 80-100^{0}c and drier (15-25%) atmosphere(cyberbohemia.com)

Modern View:

When temperature of the skin surface rise as 10^{0}C inner temperature increases up to 3^{0}C This can be created by steam/sweat bath. The action of this can be taken place in different way.

Action on Pituitary Gland : The inner temperature rise affect the function of important endocrine glands i.e. pituitary gland. It is a master gland which regulates the metabolism and activity of other glands such as thyroid, adrenal, ovarian, testes. By heat, the pituitary accelerates the body metabolism and affect several internal hormones.

Vasodilatation : Hot fomentation causes dilatation of the vessels and induce hyperemia. Experimentally it has been shown that short time fomentation (moist heat at 106^{0}C) is efficious in inflammation.

Due to fomentation capillary pressure increases, and decreases the congestion of internal organs, sweating, eliminate the toxins and tissue relaxes. This results in decrease of spasm and pain.

Increased peripheral circulation provides transport to help to reduce oedema which can help in inflammation, decreases pain and speedy healing

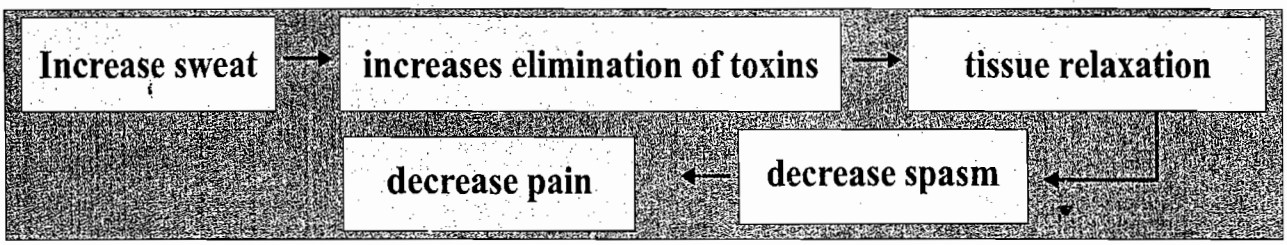

Action on nerve : Hot fomentation acts as stimulant for <5min while sedative >5min. During fomentation WBC activity increases. Long fomentation causes secretion of acetylcholine.

The efficacy of heat therapy is reported in patients with chronic psychosomatic pain. Warming of the body has been shown to exhibit sedative effect via sensory nerve endings. It also promotes vasodilatation and relieves muscular spasm related to tonic muscle contraction and pain.

Antibacterial activity : Many bacterial and viral agents do not survive at temperature higher than normal. As in sudation therapy internal temperature increased, it acts as antibacterial. It is also possible that damaged cells repair themselves quickly due to increased metabolic acid. Hence Swedan acts as Rasayana.

Sweat contains small amount of antibiotics that can kill some of the bacteria that are found on the skin.

Action on Heart : Sweating can also helpful in improving cardiovascular health. As the body heats and produce sweat the heart works hard to improve circulation. Sweating burns 300 calories and helps to maintain weight, in other way it prevents atherosclerosis.

Akinori *et al* (2005) reported in their research study that repeated thermal therapy might be promising method for the treatment of chronic fatigue syndrome (CFS)

A recent study indicated, the involvement of oxidative stress in the pathogenesis fibromyalgia syndrome (FMS). It has been also reported hot for mentation is responsible to reduce the level of oxidative stress and helpful in treating FMS. [Kakush M, Int Med 47, 2008]

पिण्डस्वेद

पत्रपिण्डस्वेद (पत्रपोटली स्वेद) PPS:

व्याधी व दोषांनुसार औषधी वनस्पतीच्या पत्रांची पोट्टली बनवून स्वेदन केले जाते. यासाठी एक किंवा अधिक प्रकारच्या औषधी वनस्पतींच्या पत्रांचा उपयोग केला जातो. हा संकर स्वेद आहे.

स्वेदन योग्य:

(1) वातव्याधी - स्निग्ध स्वेदाची आवश्यकता असणारे

(2) स्तम्भयुक्त शूल

(3) कफवातज शूल

संभार संग्रह:

(1) पत्र - बारीक तुकडे केलेले - 1 किग्रॅ.
(निर्गुंडी, एरण्ड, शिग्रु, वासा इ. आवश्कतेनुसार)

(2) ओला नारीकेल किसलेला (Coconut scrapings) - 100 ग्रॅम
त्रिफला, मेथी, सर्षप, रसोन (आवश्यकता वाटल्यास)

(3) जम्बीर तुकडे केलेले - 2 नग

(4) लवण - 30 ग्रॅम

(5) तैल -i) पत्र तळण्यासाठी - 100 मिली
ii) पोट्टली गरम करण्यासाठी - 250 मिली
iii) अभ्यंगार्थ - 100 मिली
iv) तलम करण्यासाठी - 10 मिली

उपयुक्त तैल: शु. तिल तैल, धन्वन्तरम्, नारायण तैल, चंदनबला लाक्षादि, लघुविषगर्भ तैल, एरण्ड तैल

(6) रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम

(7) वस्त्र खण्ड 18"x18" - 4 नग

(8) दोरा - पोटली बांधण्यासाठी

(9) टॉवेल

(10) गॅस स्टोव्ह

(11) कढई, उलथणे

(12) परिचारक 2

पूर्वकर्म

पोट्टली निर्माण - ताजे पत्र घेवून त्यांना स्वच्छ करावे, त्यांस लहान तुकड्यांमधे कात्रीने कापून घ्यावे. कढई गॅसवर ठेवून त्यामध्ये तेल घालावे, तेल कढल्यास (तापल्यास) जम्बीरचे तुकडे घालावे. नंतर पत्र व ओल्यानारळाचा किस घालावा व त्यास परतून घ्यावे नंतर लवण घालावे. नारळाचा रंग तांबूस झाल्यानंतर कढई खाली उतरवून तयार द्रव्याच्या 4 पोट्टली तयार कराव्यात. एकापेक्षा अधिक वनस्पतींचे पत्र घेतल्यास कढईमध्ये पत्र टाकतांना आधी जाड व नंतर पातळ पत्र टाकावीत ज्यामुळे पत्र जळणार नाहीत.

पोट्टली तयार करण्यासाठी चौरस वस्त्रखण्ड (Cotton cloth) घ्यावा. त्यास टेबलुवर पसरून कोष्ण केलेल्या द्रव्यांचा पिण्ड मध्यभागी ठेवावा. त्यानंतर वस्त्राचे चारही टोक एकमेकांच्या जवळ आणून मधल्या भागात घडी पाडावी, त्यानंतर दोऱ्याने अशा पध्दतीने घट्ट बांधावे जेणेकरून मूठ (Handle) सहीत पोट्टली तयार होईल.

रुग्णास द्रोणीमध्ये बसवून रास्नादि चूर्णाने तलम करावे. रुग्णाचा B.P., Temp., Pulse इ. चे परीक्षण करून घ्यावे.

सामान्य तापमान - 40-45^{0}C

प्रधानकर्म

कढईमध्ये तैल घेवून त्यास गरम करावे. त्यामध्ये 4 पोटली गरम करण्यास ठेवाव्यात. रुग्णास आवश्यकतेनुसार तैलाने अभ्यंग करून घ्यावे. नंतर दोन पोटली द्वारे दोन पंचकर्म सहाय्यकांनी रुग्णाच्या दोन्ही बाजूस उभे राहून शरीरावर दाब देऊन मर्दन करावे. तत्पूर्वी पोटलीचा प्रथम स्वत:च्या हातावर व नंतर रुग्णास हल्का स्पर्श करून तापमान सहन होण्याइतका आहे का? याची खात्री करून घ्यावी. स्वेदन करत असतांना पोटलीचे तापमान कमी झाले असे वाटल्यास कढईमध्ये गरम होत असलेल्या पोटली स्वेदनासाठी घ्याव्या व थंड झालेल्या पोट्टल्या कढईमध्ये गरम करण्यास ठेवाव्यात असे आळीपाळीने करत सम्यक स्वेदन करावे.

स्वेदनाचा कालावधी - एकांग - 10-15 मिनिट

सर्वांग - 30-40 मिनिट

स्वेदनाचा कालावधी हा 7, 14, 21 दिवस असा आहे. दिवसागणिक तापमान सहन करण्याचा बिंदू (Threshold level) बदलत असतो त्यामुळे स्वेदनाचा कालावधी 7-14-21 असा ठेवला असावा. पोट्टली दर तीन दिवसांनी बदलवावी. वनस्पतींचे पत्र शक्यतो ताजे घ्यावे. Freez मध्ये ठेवलेल्या पत्रांचा वापर करू नये.

पश्चातकर्म

स्वेदन क्रियेनंतर तलम काढून रुग्णास चादर ओढून विश्रांती करण्यास सांगावे. अर्ध्या तासानंतर रुग्णास कोष्णजलाने स्नान करू द्यावे.

घ्यावयाची काळजी (Precautions) -

(1) पोट्टलीचे तापमान सुखोष्ण असावे.

(2) वारंवार रुग्णास पोट्टलीच्या तापमाना बाबत विचारत राहावे.

उपद्रव - दग्ध व्रण

चिकित्सा - जात्यादिघृत, घृतकुमारी, स्थानिक प्रयोगार्थ

षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद (SSP)/पायस पिण्ड स्वेद

दूधामध्ये साठी तांदूळ शिजवून 'पोट्टली स्वेद' पध्दतीने स्वेदन केले जाते. हा संकर स्वेदाचा प्रसिध्द प्रकार आहे. हा स्वेद स्निग्ध प्रकारचा असून गुरू, स्थिर, शीत व त्रिदोषघ्न गुणांचा आहे. केरलीय परंपरेत यास नवरकिझी (नवर-नवीन तांदूळ, किझी-पोट्टली) म्हणतात.

स्वेदनयोग्य (Indications):

(1) वातपित्त तथा वातरक्तज व्याधी

(2) शोष (Chronic degenerative disease, muscle wasting)

(3) स्तम्भयुक्त शूल (Pain with stiffness)

(4) Muscle dystrophy

(5) पक्षाघात (Hemeparesis)

(6) Scoliosis, kyphosis, myelopathy

अयोग्य: (1) स्थौल्य (2)आमज शोथ

संभार संग्रह:

(1)	साठी तांदूळ	-	500 ग्रॅम
(2)	बलामूल	-	750 ग्रॅम
(3)	गोदुग्ध	-	3 लीटर
(4)	पाणी आवश्यकतेनुसार		
(5)	वस्त्रखण्ड (18" x 18")	-	8 नग
(6)	दोरा - पोट्टली बांधण्यासाठी		
(7)	स्टीलचे पातेले		

(8) स्टोव्ह/गॅस

(9) रास्नादि चूर्ण – 5 ग्रॅम

(10) तैल - तलमसाठी – 10 मिली

अभ्यंगार्थ – 100- 150 मिली

(11) पंचकर्म सहाय्यक – 2-4

(12) नारिकेल पत्र किंवा Tongue cleaner

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण - 750 ग्रॅम बलामूल स्वच्छ करून 16 पट (अंदाजे 12 लीटर) पाण्यामध्ये चतुर्थांश शेष राहील एवढे विधीवत क्वाथ तयार करावा. 1.5 लीटर क्वाथ व 1.5 लीटर गोदुग्ध घेवून 500 ग्रॅम साठी तांदूळ शिजवावे. ज्यावेळी तांदूळ पूर्णत: शिजतील त्यावेळी गॅसवरून उतरवून घ्यावे. शेष 1.5 लीटर बलामूल क्वाथ व 1.5 लीटर गोदुग्ध एका पात्रात घेवून गॅसवर मंद आचेवर गरम करण्यास ठेवावे.

पोट्टली निर्माण - शिजलेला तांदूळ श्लक्ष्ण करून 8 भाग करावेत. 200 ग्रॅमची एक पोट्टली होईल अशा पध्दतीने पोट्टली निर्माण विधीने पोट्टली तयार करावी. एकांग-सर्वांग व उपलब्ध सुविधेनुसार पोट्टली संख्या कमी अधिक करावी. तयार झालेल्या पोट्टली त्यानंतर गरम होत असलेल्या क्वाथ + दूधाच्या पात्रात कोष्ण करण्यास ठेवाव्यात.

सामान्य तापमान - 45 ते 50^0 C

रुग्णसिध्दता - प्रात:काळी मल-मूत्रं विसर्जनानंतर उपाशीपोटी रुग्णास कमीत कमी वस्त्रामध्ये शिरोभ्यंग, तलम करून पोट्टली स्वेदासाठी अभ्यंग द्रोणीमध्ये (अभ्यंग टेबलवर) झोपण्यास सांगावे. आवश्यकतेनुसार 10 मिनिट पर्यंत अभ्यंग करावे व नंतर स्वेदन करावे.

प्रधानकर्म

पिण्डस्वेदासाठी रुग्णास उत्तान (Supine) अवस्थेत झोपवून 2 पंचकर्म सहाय्यक डाव्या बाजूस व 2 सहाय्यक उजव्या बाजूस उभे राहून सुखोष्ण पोट्टलीने रुग्णाच्या अंगावर एक सारख्या गतीने (Synchronised manner) मर्दन करीत स्वेदन करावे. पोट्टलीचे तापमान पूर्ण क्रियेमध्ये एक सारखे असेल अशी काळजी घ्यावी. पोट्टलीचे तापमान कमी झाल्यास मंद आचेवर असलेल्या क्वाथ व दूधामध्ये हया पोट्टली गरम करण्यास ठेवाव्यात व क्वाथ+दूधातील पोट्टली स्वेदनासाठी घ्याव्यात हा क्रम पूर्ण क्रियेमध्ये चालू ठेवावा. क्रिया स्नेहनाच्या 7 अवस्थांमध्ये किंवा आवश्यकतेनुसार चिकित्सकाच्या कुशलतेने करावी.

स्वेदनाच्या वेळी पोट्टलीमधून भात स्रवत असतो त्यास स्वेदनासोबतच रुग्णाच्या अंगावर पसरवत राहावे. यासाठी मधोमध तर्जनी व अंगुष्ठाच्या साहय्याने पोट्टलीस हलक्यादाबाने पिळावे.

पिण्डस्वेदाची दिशा

(1) हस्त - उत्तान व पालथ्या स्थितीमध्ये स्वेदन केले जाते. अंससंधी ते कुर्परसंधी व कुर्परसंधी ते मणिबंधसंधी एका रेषेत मर्दन करावे. कुर्परसंधी, मणिबंधसंधी, हस्तांगुली यावर वर्तुळाकार मर्दन करावे.

(2) पाद - उत्ताणा व पालथा दोन्ही अवस्थेमध्ये स्वेदन केले जाते. उर ते पादांगुष्ठापर्यन्त सरळ रेषेत मर्दन करावे. अधोमुख स्थितीमध्ये वंक्षण ते पादांगुष्ठपर्यन्त सरळ रेषेत मर्दन करावे. वंक्षण, जानुसंधी, गुल्फसंधी वर वर्तुळाकार मर्दन करावे. पार्ष्णि ते अंगुष्ठ वर्तुळाकार स्वेदन करावे.

(3) उरः व उदर - पोट्टलीने उदर, उरः पासून अंससंधीपर्यन्त वरच्या दिशेने मर्दन करावे. उदरावर नंतर नाभीभोवती वर्तुळाकार मर्दन करावे.

(4) पृष्ठ - वंक्षणसंधीपासून अंससंधीपर्यन्त वरच्या दिशेने मर्दन करावे.

कालावधी - एकांग - 10 - 15 मिनिटे

सर्वांग - 35 - 45 मिनिटे

योग्यकाळ - सकाळी - 7 ते 11 सायंकाळी 4 ते 6

क्रियेचा एकूण कालावधी - 7, 14, 21, 28 दिवस

पश्चातकर्म

स्वेदनाच्या क्रियेनंतर शरीरावर पसरलेला भात (Rice paste) नारळाच्या पानाने किंवा Tongue cleaner ने हलक्या हाताने खरडून काढावे व नंतर टॉवेलच्या सहाय्याने शरीर पुसून घ्यावे व योग्य तैल शरीरास लावावे. तलम काढून घ्यावे व रास्नादि चूर्ण शिरोभागी लावावे.

- रुग्णास गंधर्वहस्तादि 30 मिली कोष्ण जलासह द्यावे.

- अर्धा तास रुग्णास विश्राम करण्याचा सल्ला द्यावा त्यानंतर कोष्णजलाने स्नान करण्यास सांगावे. स्नानासाठी चन्याच्या डाळीचे पीठ वापरावे.

घ्यावयाची काळजी

(1) साठी तांदूळ शिजवतांना अती किंवा अल्प शिजणार नाही याची काळजी घ्यावी.

(2) रुग्णाने स्वेदनाच्यावेळी कोणताही त्रास होत असल्याचे सांगितल्यास तात्काळ स्वेदन थांबवावे.

(3) पोट्टलीतून भात अधिक गळणार नाही याची काळजी घ्यावी.

(4) लगेच शीत-मोकळया हवेत रुग्णास प्रवेश न करण्याचा सल्ला द्यावा.

उपद्रव व चिकित्साः

(1) शीतता वाटणे (Shivering) - स्वेदन करतांना मध्येच किंवा पोट्टली बदलतांना थोडा वेळ थांबल्यास किंवा शीत हवेशी संपर्क आल्यास रुग्ण कुडकुडण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - ब्लँकेट ओढून विश्रांती करण्यास सांगावे. पोट्टली बदलतांना वेळ लागू नये याची काळजी घ्यावी.

(2) मूर्च्छा:- तापमान अधिक झाल्यास, स्वेदनाचा अतियोग झाल्यास मूर्च्छा लक्षण उत्पन्न होण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा -(1) शीत जलाचा चेहऱ्यावर परिषेक व Head low करावे.

(2) द्राक्षदि कषाय, आम्रपानक, नारिकेल जल यापैकी एक तात्काळ द्यावे.

(3) **दग्ध** - अधिक तापमानाने दग्ध व्रण होण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - घृतकुमारी, जात्यादिघृत स्थानिक लावावे.

अन्नलेपन

भाताच्या श्लक्ष्ण पिष्टीचे शरीरावर लेपन करून स्वेदन करण्याची प्रक्रिया अन्नलेपन होय. हा पिण्डस्वेदाचाच एक प्रकार असून स्निग्ध स्वेद आहे.

स्वेदन योग्य

(1) पक्षाघात (Hemiparesis)
(2) Motor Neuron Disease (MND)
(3) धातुक्षय जन्य वातव्याधी
(4) Chronic rheumatoid arthritis
(5) Peripheral vascular disease
(6) अकाली वार्धक्य
(7) Bulbar palsy
(8) Muscle atrophy
(9) स्वस्थ व्यक्ती, बालकांमध्ये उपयुक्त

संभार संग्रह -

(1) साठी तांदूळ (कुट केलेले) - 200 ग्रॅम
(2) बलामूल भरड चूर्ण - 150 ग्रॅम
(3) गोदूग्ध - 600 मिली
(4) पातेले: यथावश्यक
(5) नारिकेल पत्र किंवा Tongue cleaner
(6) अभ्यंगासाठी तैल - 150 मिली
(7) पंचकर्म सहाय्यक - 4

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण - 150 ग्रॅम बलामूल भरड चूर्ण घेवून 2400 मिली पाण्यामध्ये चतुर्थांश शेष राहील असा विधीवत क्वाथ तयार करावा. अंदाजे 600 मिली क्वाथामध्ये तितकेच गोदुग्ध मिसळवून यामध्ये 200 ग्रॅम साठी तांदूळ (कूट केलेले) लेप करण्या योग्य शिजवावे.

सामान्य तापमान - 45 ते 50^0C

रुग्णसिध्दता - रुग्णास प्रात:काळी मल-मूत्र विसर्जनानंतर आवश्यक त्या तैलाने सर्वांग अभ्यंग व शिरोअभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

अन्नलेपनासाठी शक्यतो 4 पंचकर्म सहाय्यक असल्यास चांगले. दोन रुग्णाच्या डाव्या बाजूस तर दोन उजव्या बाजूस उभे राहून अन्नलेपनविधी केली जाते. हातामध्ये सुखोष्ण भाताचा पिण्डी (Paste) घेवून रुग्णास उत्तान (Supine), पालथा (Prone), वामपार्श्व (left lateral) व दक्षिण पार्श्व (Right lateral) या स्थितीमध्ये झोपवून क्रमाने अन्नलेपन करावे. अन्नलेपनासोबत अभ्यंगासारखे मर्दन करावे. ही सर्व क्रिया एक सारख्या गतीने (Synchronise) असावी. षष्टिशाली पिण्ड स्वेदामध्ये वर्णिल्याप्रमाणे संधी ठिकाणी वर्तुळाकार (Circular) व इतर भागी रेषेत (linear) दिशेने लेपन-मर्दन करावे. ही क्रिया जवळपास 60 मिनिटे पर्यन्त चालु ठेवावी. त्यानंतर थोडा वेळ लेप रुग्णाच्या अंगावर तसाच राहू द्यावा.

कालावधी - 1 तास ते 1.30 तास

योग्यकाळ - प्रात: 7 ते 11

एकुण कालावधी - 7, 9, 11, 14, 21, 28 दिवस (रोज किंवा एकांतर दिवसांनी)

पश्चातकर्म

शरीरावर लेपन केलेला भात नारळाच्या पत्राने काढून घ्यावा. ते शक्य नसल्यास Tongue cleaner ने काढावा किंवा टॉवेलने पुसून घ्यावा. त्यानंतर आवश्यक ते तैल अंगास लावावे.

- रुग्णास 15 मिनिट विश्रांती केल्यानंतर चन्याच्या डाळीच्या पीठाचा उपयोग करून कोष्ण जलाने स्नान करावे.

सावधानी- (1) अन्न लेपनाची भात अति उष्ण नसावा.

(2) रुग्णास कोणताही त्रास होत असल्यास अन्नलेपन थांबवून घ्यावे.

(3) लगेच शीत-उघडया हवेत न जाण्याचा सल्ला द्यावा.

उपद्रव व चिकित्सा-

(1) शीतता वाटणे (Shivering) - स्वेदन करतांना मधेच थोडा वेळ थांबल्यास किंवा शीत हवेशी संपर्क आल्यास रुग्ण कुडकुडण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - ब्लँकेट ओढून विश्रांती करण्यास सांगावे.

(2) मूर्च्छा:- तापमान अधिक झाल्यास, स्वेदनाचा अतियोग झाल्यास मूर्च्छा लक्षण उत्पन्न होण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - (1) शीत जलाचा चेहऱ्यावर परिषेक व Head low करावे.

(2) द्राक्षादि कषाय, आम्रपानक, नारिकेल जल तात्काळ द्यावा.

(3) **दग्ध** - अधिक तापमानाने दग्ध व्रण होण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - घृतकुमारी, जात्यादिघृत स्थानिक लावावे.

चूर्ण पिण्ड स्वेद (CPS)

व्याधी व रुग्णाच्या प्रकृतीनुसार वनस्पती द्रव्यांचा चूर्णाद्वारे पोट्टली बनवून स्वेदन करण्याच्या प्रकाराला चूर्ण पिण्ड स्वेद म्हणतात. हा उष्म प्रकाराचा स्वेद असून प्राधान्याने रूक्ष गुणयुक्त स्वेद असून कफवात प्राधान्य व्याधींमध्ये उपयोगी ठरतो. चूर्ण पिण्ड स्वेद दोन प्रकारांनी केला जाऊ शकतो.

(1) स्निग्ध शरीरावर अभ्यंग केल्यानंतर (जीर्ण आमवात)

(2) रूक्ष -

स्वेदयोग्य - (1) आमवात (arthritis)
(2) गृध्रसी (sciatica)
(3) कटि/पृष्ठगतवात (spondylitis)
(4) Joint with effusion
(5) आमज शोथ
(6) स्तम्भ (spasm)

स्वेद अयोग्य - (1) अतिरूक्ष
(2) अतिस्थौल्य
(3) बल
(4) कुष्ठरोगी
(5) ग्रीष्मऋतु
(6) स्तम्भनार्ह

संभारसंग्रह - (1) वातशामक/आवश्यकतेनुसार वनस्पतीचे वस्त्रगाळ चूर्ण - 1 किग्रॅ.
(2) वस्त्रखण्ड 18"x18" - 4 नग
(3) दोरी
(4) पातेले, कढई इ.
(5) रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम
(6) तैल (स्निग्ध स्वेदासाठी) उदा: लघुविषगर्भ, सहचरतैल - 100 मिली
(7) गॅस स्टोव्ह
(8) पंचकर्म सहाय्यक - 2

पूर्वकर्म

पोट्टली निर्माण -

स्वेदासाठी आवश्यक चूर्ण कढईमध्ये घेवून त्यास गरम करावे. चूर्णाचा रंग काळसर तांबुस झाल्यानंतर कढई गॅस वरून उतरून घ्यावी. नंतर 4 वस्त्रखण्डामध्ये समान चूर्ण विभागून पूर्वोक्त विधीने पोट्टली बांधुन तयार करावी. मंद आचेवर कढई ठेवुन त्यामध्ये पोट्टली ठेवावी, ज्यामुळे पोट्टली गरम राहील.

रुग्ण सिध्दता - रुग्णास मल-मूत्र विसर्जनानंतर कमीतकमी वस्त्रामध्ये द्रोणीवर झोपण्यास सांगावे. तलम करून घ्यावे, गरजेनुसार अभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

गरम केलेल्या दोन पोट्टली दोन सहाय्यकांनी घेवुन रुग्णाच्या दोन्ही बाजूस उभ राहून पिण्ड स्वेद विधीने स्वेदन करावे. सर्वांग स्वेद अभ्यंगाच्या 7 स्थितीमध्ये करावा. स्वेदन करतांना पोट्टलीचे तापमान कमी झाल्यास कढईतील उर्वरीत दोन पोट्टली स्वेदनासाठी घ्याव्यात व थंड झालेल्या पोट्टली कढईमध्ये गरम करण्यासाठी ठेवाव्यात या क्रमाने स्वेदन करावे. पोट्टलीचे तापमान पूर्ण क्रियेमध्ये समान राहील याची काळजी घ्यावी.

कालावधी - एकांग-10 - 15 मिनिट
सर्वांग-30 - 45 मिनिट

काळ - प्रात 7 ते 11 सायं 3 ते 6

पश्चातकर्म

स्वेदन पश्चात तलम काढून रास्ना चूर्ण शिरोभागी लावावे. शरीर व्यवस्थीत पुसून काढावे व विश्राम करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी -

(1) चूर्ण जळणार नाही याची काळजी घ्यावी
(2) पोट्टली अधिक उष्ण नसावी.
(3) अत्याधिक स्वेदन झाल्यास स्वेद बंद करावा.
(4) पूर्ण क्रियेमध्ये पोट्टलीचे तापमान समान असावे.

उपद्रव व चिकित्सा -

(1) दग्ध झाल्यास घृतकुमारी, जात्यादिघृत, शतधौतघृत स्थानिक लावावे
(2) मूर्च्छा - अधिक स्वेदन झाल्यास. शीत जलाने परिषेक व Head low
(3) त्वककोठ उत्पत्ती (Skin Rashes) - पंचतिक्तघृत स्थानिक, खदिरारिष्ट, सारीवाद्यासव आभ्यंतर.

जम्बीर पिण्ड स्वेद (JPS)

जम्बीर (बिजौरा लिंबु) चे तुकडे करून त्याच्या पोट्टलीने स्वेदन करणे म्हणजे जम्बीर पिण्ड स्वेद होय. कफानुबंधी वातव्याधींमधे जम्बीर पिण्ड स्वेदाचा उपयोग केला जातो. हा रूक्ष$^{++}$-स्निग्ध$^{+}$ प्रकारचा स्वेद आहे.

स्वेदयोग्य (Indications):

(1) आमवात
(2) अंसगतवात (Frozen shoulder)
(3) गृध्रसी (कफानुबंधी)
(4) Plantar fascitis
(5) आघातज शूल (अस्थिभग्न सोडून)
(6) Periarthritis stiffness & pain

अयोग्य (Contraindication):-

(1) पित्तानुबंधी व्याधी
(2) वातरक्त
(3) अस्थिभग्न

संभारसंग्रहः

(1) जम्बीर (कापलेले छोटे तुकडे)	-	750 ग्रॅम
(2) हरिद्रा चूर्ण	-	60 ग्रॅम
(3) सैधव लवण	-	30 ग्रॅम
(4) वस्त्र 18"x18"	-	4
(5) दोरी		
(6) कढई, पातेले इ.		
(7) तैल- तलम करण्यासाठी	-	10 मिली
अभ्यंगार्थ (लघुविषगर्भ, सहचर, धन्वन्तरम्)	-	150 मिली
(8) रास्नादि चूर्ण	-	5 ग्रॅम
(9) गॅसस्टोव्ह		
(10) पंचकर्म सहाय्यक		2

पूर्वकर्म

पोट्टली निर्माण -कढईमध्ये तेल घेवून गरम करावे. त्यात हरिद्रा, जम्बीर तुकडे व सैधव लवण क्रमाने घालावे व परतून घ्यावे. यात गरजेनुसार नारळाचा किस (Coconut scrap) घालावा. जम्बीर तुकडयांचा

वर्ण धुसर झाल्यानंतर कढई गॅसवरून उतरवून जम्बीरचे समान 4 भागात विभाजन करून पूर्वोक्त विधीने 4 पोट्टली तयार कराव्यात व कढईमध्ये गरम करण्यासाठी ठेवाव्यात.

सामान्य तापमान - 40^0C ते 45^0C

रुग्ण परिचर्या - रुग्णास मल-मूत्र विसर्जनानंतर कमीत कमी वस्त्रामध्ये द्रोणीमध्ये झोपण्यास सांगावे. आवश्यकतेनुसार योग्य तैलाने रुग्णास तलम करावे. रुग्णास योग्य तैलाने अभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

अभ्यंग झालेल्या रुग्णाचे सुखोष्ण पोट्टलीने पूर्वोक्त विधीनुसार स्वेदन करावे. या साठी सुरवातीला दोन पोट्टलीने स्वेदन करावे. या पोट्टलींचे तापमान कमी झाल्यानंतर कढईमधील सुखोष्ण पोट्टलीने स्वेदन करावे व वापरलेल्या दोन्ही पोट्टलींना कढईमध्ये गरम करण्यास ठेवावे या क्रमाने स्वेदन करावे. पोट्टलीचे तापमान पूर्ण क्रियेमध्ये एकसमान राहील याची काळजी घ्यावी.

कालावधी:- 30 - 45 मिनिट (स्थानानुसार कमी अधिक)

काळ - प्रात: 7 ते 11 सायं. 3 ते 6

एकूण चिकित्सा काळ - 7, 14, 21 दिवस

पश्चातकर्म

स्वेदनानंतर शरीर टॉवेलने पुसून घ्यावे. तलम काढून रास्नादिचूर्ण शिरोभागी लावावे व रुग्णास विश्राम करण्यास सांगावे. अर्ध्या तासानंतर कोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी (Precautions):

(1) पोट्टलीचे तापमान एक समान असावे.

(2) पोट्टली अधिक उष्ण किंवा शीत नसावी.

उपद्रव व चिकित्सा:

(1) दग्ध - घृतकुमारी, शतधौतघृत, जात्यादिघृत

(2) मूर्च्छा- अधिक स्वेदन झाल्यास-शीत जलाने परिषेक व Head low

Jambir has lytic action over adhesions and calcifications in tissues, hence helpful in relieving pain and inflammation. [Shyamkrishnan G, 2008]

धान्याम्ल पिण्ड स्वेद

या स्वेदन प्रकारामध्ये विविध धान्यांपासून तयार केलेल्या कांजीमध्ये पौष्टीक तांदूळ शिजवून पिण्ड स्वेद विधीने स्वेदन केले जाते.

स्वेदन योग्य (Indications) - (1)वातव्याधी, (2)स्रोतोरोध अवस्थेत

स्वेदन अयोग्य (Contraindications) - (1)अधिक रूक्ष रुग्ण, (2)अकालप्रसूता

संभारसंग्रह -

(1)	धान्य (तांदूळ, ज्वारी, बाजरी, मुंग, मका, जवस)	- 150 ग्रॅम
(2)	षष्टी तांदूळ	- 300 ग्रॅम
(3)	मोहरी	- 100 ग्रॅम
(4)	मुळा	- 500 ग्रॅम
(5)	लिंबू (तुकडे करून)	- 500 ग्रॅम
(6)	वस्त्रखंड 18"x18"	- 4 नग
(7)	मडके, पातेले इ.	
(8)	दोरी	
(9)	रास्नादि चूर्ण	- 5 ग्रॅम
(10)	तैल - अभ्यंगासाठी	- 100-150 मिली
	तलम करण्यासाठी	- 10 मिली
(11)	गॅस स्टोव्ह	
(12)	पंचकर्म सहाय्यक	2

पूर्वकर्म

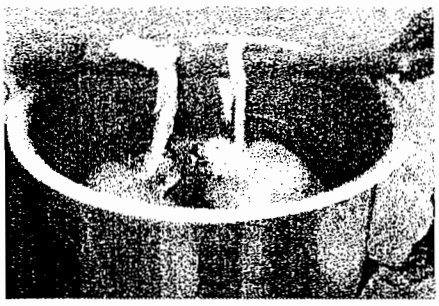

धान्याम्ल निर्माण:- वरील सर्व धान्य लिंबू, मोहरी, मूळा यांना बारीक करून एका पोट्टलीमध्ये बांधून घ्यावे. त्यानंतर 50 lit. पातेल्यात पाणी उकळण्यास ठेवून बांधलेली धान्याची पोटली उकळत्या पाण्यात सोडावी. पाणी अर्धांश झाल्यावर क्वाथास एका मातीच्या माठात (Clay pot) घेवून पोट्टली दोलायंत्र पध्दतीने अडकवून ठेवावी व माठाच्या तोंडावर कापड बांधून घ्यावे. मातीच्या पात्रास रोज गरम करावे. 8 ते 10 दिवसानंतर अम्लाची निर्मिती होते. त्यानंतर पोट्टली काढून घ्यावी तयार झालेल्या धान्याम्लाचा वापर पिण्ड स्वेदासाठी करावा.

पोट्टली निर्माण:- स्वच्छ केलेले तांदूळ आवश्यक मात्रेत धान्याम्लमध्ये शिजवावे व थोडे धान्याम्ल एका पात्रात गरम करण्यास ठेवावे. षष्टिकशाली पिण्ड स्वेदाच्या विधीप्रमाणे पोट्टली निर्माण कराव्यात.

प्रधानकर्म व पश्चातकर्म

षष्टिकशाली पिण्ड स्वेदाप्रमाणे

घ्यावयाची काळजी:

(1) धान्याम्ल तयार करतांना रोज धान्याम्ल खराब होणार नाही याची काळजी घ्यावी.

(2) पोट्टली मधून भात अधिक गळणार नाही याची काळजी घ्यावी.

(3) रुग्णास लगेच थंड मोकळया जागेत प्रवेश करण्यास मनाई करावी.

कुक्कुटांड पिंड स्वेद/अंडपिण्ड स्वेद

हा उष्मा स्वेद प्रकार आहे. कोंबडीच्या अंड्यातील गर भागापासून पिंड स्वेद केले जाते.

स्वेदन योग्य (Indications):

1) अर्दित (facial palsy)

2) ग्रीवाग्रह (cervical spondylitis)

3) अवबाहुक (cervical spondylitis/radiculopathy)

4) आघातज शूल (traumatic pain)

संभारसंग्रह :

1)	मेथीचूर्ण	50 ग्रॅम	2)	शतपुष्पा	50 ग्रॅम
3)	हरिद्रा	50 ग्रॅम	4)	कुक्कुटांड गर	6 अंड्याचे
5)	लिंबू	2	6)	वस्त्रखंड (18×18)	2
7)	दोरी-आवश्यकतेनुसार		8)	पातेले/कढई	
9)	गॅस स्टोव्ह		10)	पंचकर्म सहाय्यक	1

पूर्वकर्म

पोट्टली निर्माण - लिंबू चे तुकडे करुन कढईमध्ये आवश्यक एवढ्या तैलात गरम करावे. लिंबू चा वर्ण धुसर झाल्यानंतर वरील तिन्ही पुर्ण घालावे व पुन्हा त्यास गरम करावे. कढई गॅसवरुन उतरवून घ्यावी. आधीच्या विधीनुसार 2 पोट्टली तयार कराव्यात.

रुग्ण सिद्धता - रुग्णास मल-मूत्र विसर्जनानंतर व्याधीयुक्त भाग निर्वस्त्र करुन द्रोणीमध्ये बसण्यास सांगावे आवश्यकतेनुसार तैलाने अभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

अभ्यंग झालेल्या रुग्णाचे पिंड स्वेद विधीप्रमाणे पोट्टली द्वारे हलका दाब देऊन मर्दन करावे व स्वेदन करावे.

कालावधी - 30-45 मिनिटे

योग्यकाळ प्रात: 7-10 व सायं 3 ते 6

पश्चातकर्म

स्वेदनानंतर शरीर गरम पाण्यात ओले करुन पुसून घ्यावे. रालादि चूर्ण शिरोभागी लावून विश्रांतीचा सल्ला द्यावा.

घ्यावयाची काळजी : पोट्टलीचे तापमान एक समान असावे.

उपद्रव व चिकित्सा : दग्ध - घृतकुमारीचे गर दग्ध भागी लावावे.

वालुका स्वेद

वाळू गरम करून त्यास पिण्ड स्वेद पध्दतीने पोट्टली तयार करून स्वेदन करण्याची पध्दत म्हणजे वालुका स्वेद होय. हा स्वेद प्रकार स्नेहन न करता केला जातो व गुणाने रूक्ष स्वेद प्रकार आहे. हा तापस्वेद प्रकारातील स्वेद आहे. चरकाचार्या प्रमाणे हा संकर स्वेदाचा प्रकार आहे. हा स्वेदप्रकार रुग्णास घरच्या घरी करण्यास सांगितला जाऊ शकतो.

ज्या व्याधींमध्ये कफ दोषाचे किंवा आमाचे प्राधान्य आहे अशा व्याधींमध्ये वालुका स्वेदासारखे रूक्ष स्वेद उपयुक्त असतात. तसेच ज्या व्याधीमध्ये स्नेहनाने व्याधीची वृध्दी होते त्या सर्व अवस्थांमध्ये वालुका स्वेदन केले जाते.

स्वेदन योग्य (Indications):

(1) कफज व्याधी
(2) शोथ व शूल अवस्था (सामावस्था)
(3) आमवात (rheumatoid arthritis)
(4) कटिगत, मन्यागत वात (कफानुबंधी), (spondylitis)
(5) उरूस्तम्भ
(6) मेदोरोग (obesity)
(7) गृध्रसी (कफानुबंधी)

संभार संग्रह:

(1) वाळू (रेती) स्वच्छ केलेली - 2 किग्रॅ

(2) वस्त्रखण्ड 18"x18" - 2-4 नग

(3) दोरी

(4) कढई

(5) गॅस स्टोव्ह

(6) पंचकर्म सहाय्यक - 1-2

पूर्वकर्म

पोट्टली निर्माण - स्वच्छ केलेली वाळू कढईमध्ये घेवून गरम करून घ्यावी. सुखोष्ण झाल्यानंतर त्यातून 500 gm वाळू वस्त्रखण्डाच्या मध्यभागी ठेवून विधिप्रमाणे पोट्टली तयार करावी. अशापध्दतीने आवश्यकतेनुसार 2 पोट्टली तयार करून घ्याव्यात. त्यानंतर कढईमध्ये गरम असलेल्या वाळूवर दोन्ही पोट्टली ठेवाव्यात त्यामुळे पोट्टलीचे तापमान राखण्यास मदत होईल. आवश्यकतेनुसार गॅसस्टोव्ह कमी तापमानावर चालू ठेवावा.

रुग्ण परिचर्या -यासाठी रुग्णास फार तयार करावे लागत नाही. स्नेहन करण्याची गरज नसल्यामुळे रुग्णास सरळ स्वेदनासाठी द्रोणीमध्ये बसण्यास सांगावे. रुग्णाचे BP, Temp., Pulse इ. चे नियमित परिक्षण करून घ्यावे.

सामान्य तापमान - 45^{0}C

प्रधानकर्म

वालूका स्वेद सहसा सर्वांग केले जात नाही त्यामुळे शोथ व शूल असलेल्या स्थानी रुग्णास सुखासनात बसवून किंवा झोपवून केले जाते. सुरूवातीस गरम केलेल्या पोट्टलीने सहाय्यकांनी स्वत:च्या हातावर स्पर्श करून तापमान सहन होण्यासारखे आहे किंवा नाही याची खात्री करून घ्यावी. सुरूवातीला वाळूचे तापमान अधिक असल्यामुळे व्याधीस्थानी (संधीस्थानी) पोट्टलीने केवळ स्पर्श करून स्वेदन करावे. यासाठी इतर पिण्ड स्वेदाप्रमाणे मर्दन करू नये. पोट्टलीचे तापमान थोडे कमी झाल्यानंतर पिण्डस्वेदाच्या विधीप्रमाणे मर्दन करून स्वेदन करावे. पोट्टलीचे तापमान कमी झाल्यानंतर कढईतील दुसरी गरम पोट्टली घ्यावी व थंड झालेली पोट्टली कढईमध्ये गरम करण्यास ठेवावी. अशा पध्दतीने क्रमाने स्वेदन करावे.

स्वेदन कालावधी - 30 - 60 मिनिटे

पश्चातकर्म

रुग्णास काही मिनिटांसाठी विश्राम करण्याचा सल्ला द्यावा. त्यानंतर वालुका स्वेदन केलेले स्थान कोष्ण जलाने धुण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी:

(1) पोट्टलीचे आधी पंचकर्म सहाय्यकांनी स्वत:च्या हातावर स्पर्श करून तापमान बघावे. पोट्टली अधिक गरम नाही याची खात्री करून घ्यावी.

(2) लगेच शीत हवेत, मोकळया ठिकाणी रुग्णास प्रवेश न करण्याचा सल्ला द्यावा.

उपद्रव व चिकित्सा:

दग्ध - त्याच वेळी घृतकुमारीचा गर लावावा. त्यानंतर जात्यादिघृत, मधु व घृत याने दग्ध व्रणाची चिकित्सा करावी.

इष्टिका स्वेद

इष्टिका (बांधकामाची वीट) गरम करून स्वेद देण्याची क्रिया इष्टिका स्वेद होय. हा रूक्ष प्रकारचा ताप स्वेद आहे. वालुका स्वेदाप्रमाणे इष्टिका स्वेदाचे गुणधर्म आहेत.

स्वेदन योग्य (Indications):

(1) कफज व्याधी

(2) शोथ व शूल अवस्था (सामावस्था)

(3) आमवात

(4) कटिगत, मन्यागत वात (कफानुबंधी)

(5) उरूस्तम्भ

(6) मेदोरोग

(7) गृध्रसी (कफानुबंधी)

संभार संग्रह:

(1) स्वच्छ नवीन इष्टिका (वीट)-2 3

(2) कापड 18"x18"-2 3

(3) गॅस स्टोव्ह/शेगडी-

(4) पंचकर्म सहाय्यक-2

पूर्वकर्म

रुग्ण चर्या - यासाठी रुग्णास फार तयार करावे लागत नाही. स्नेहन करण्याची गरज नसल्यामुळे रुग्णास सरळ स्वेदनासाठी द्रोणीमध्ये बसण्यास सांगावे. रुग्णाचे BP, Temp., Pulse इ. चे नियमित परिक्षण करून घ्यावे.

प्रधानकर्म

इष्टिका गॅसवर/कोळशाच्या शेगडीवर गरम करून घ्यावी त्यानंतर त्यास वस्त्राने गुंडाळून घ्यावे. पंचकर्म सहाय्यकाने आधी स्वत:च्या हातावर स्पर्श करून तापमान सुखोष्ण असल्याची खात्री करून व्याधी स्थानी वालुका स्वेदाच्या विधीप्रमाणे पहिल्या विटेचे तापमान कमी झाल्यानंतर पूर्वीच्या विधीप्रमाणे दुसरी सुखोष्ण विट स्वेदनासाठी घ्यावी. अशा पध्दतीने तापमान एक सारखे राहील याची काळजी घेवून स्वेदन करावे.

स्वेदन कालावधी - 30 - 60 मिनिटे

पश्चातकर्म

रुग्णास काही मिनिटांसाठी विश्राम करण्याचा सल्ला द्यावा. त्यानंतर इष्टिका स्वेदन केलेले स्थान कोष्ण जलाने धुण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी:

(1) इष्टिकाचे आधी पंचकर्म सहाय्यकांनी स्वत:च्या हातावर स्पर्श करून तापमान बघावे. ती अधिक गरम नाही याची खात्री करून घ्यावी.

(2) लगेच शीत हवेत, मोकळया ठिकाणी रुग्णास प्रवेश न करण्याचा सल्ला द्यावा.

उपद्रव व चिकित्सा -

दग्ध:- त्याच वेळी घृतकुमारीचा गर लावावा. त्यानंतर जात्यादिघृत, मधु व घृत याने दग्ध व्रणाची चिकित्सा करावी.

नाडी स्वेद

स्वेदनाची सर्वात प्रसिध्द पध्दती नाडी स्वेद आहे. यामध्ये स्वेदनासाठी नलिकेचा (नाडी) वापर करून विशिष्ट यंत्र तयार करून स्वेदन केले जाते म्हणून यास नाडी स्वेद म्हणतात. प्रामुख्याने एकांग भागी स्वेदन करण्यासाठी नाडी स्वेदाचा उपयोग केला जातो. हा उष्म स्वेदनाचा प्रकार असून दोषानुसार व्याधीची अवस्था ठरवून स्वेदनाच्या द्रव्यांचा वापर केला जातो. विशेष म्हणजे आयुर्वेद चिकित्सकांद्वारे OPD (बाह्यरुग्ण विभागाच्या) च्या रुग्णांना सहजतेने हा स्वेदन प्रकार केला जाऊ शकतो.

स्वेदन योग्य:

(1) श्वास, कास (Bronchial Asthma bronchitis, COPD)
(2) संधिगतवात (Arthritis)
(3) पक्षाघात (Paralysis)
(4) शोथ (Inflamation)
(5) शूल (Pain)
(6) अंगमर्द (Bodyache)
(7) वमन - विरेचना पूर्वी - पूर्वकर्म म्हणून
(8) मन्याशूल, कटिशूल, पृष्ठशूल (Spondylitis)

(9) स्तम्भ (Muscle spasm)

संभार संग्रहः

(1) नाडी स्वेद यंत्र (प्रेशर कुकरद्वारे तयार केलेले किंवा विद्युतद्वारे कार्य करणारे)

(2) स्वेद द्रव्य (दशमुल, विदारीगंधादि इ. - रुग्ण व व्याधीनुसार)

(3) पाणी

(4) अभ्यंगार्थ तैल - महानारायण, विषगर्भ, तैल, धन्वंतरम् आवश्यकतेनुसार

(5) गॅस स्टोव्ह

(6) पंचकर्म सहाय्यक

नाडी स्वेद यंत्रः नाडी स्वेदन यंत्र 5 lit. ते 30 lit. पर्यंतच्या प्रेशर कुकर पासून तयार केले जाते. यास झाकणावरील शिट्टीच्या जागी रबरी नलीका लावून नाडी स्वेदन यंत्र तयार केले जाते. प्रेशर कुकरमध्येच अधिक शोधन करून Electric heater लावले जाते. झाकणावर रबरी नलीका लावुन safety valve ची ही व्यवस्था केली जाते त्याचप्रमाणे यावर दाब मोजण्यासाठी घडयाळ (Pressure monitor) बसवली जाते ज्यामुळे आतील वाफेचा दाब समजतो. या यंत्रामध्ये छिद्रयुक्त डबा ठेवून त्यामध्ये स्वेद द्रव्य ठेवले जातात. यामुळे Heating coil चा औषधी द्रव्यांचा सरळ संपर्क होत नाही व coil खराब होत नाही.

पूर्वकर्म

बाष्प तयार करणे - रुग्ण व व्याधीच्या परीक्षणानंतर आवश्यक ते द्रव्य नाडी स्वेद यंत्रामध्ये घालून त्यास गॅस स्टोव्ह वर किंवा विद्युत प्रवाह सुरू करून गरम करण्यास ठेवावे व नलीकेतून बाष्प येऊ द्यावे.

रुग्ण सिध्दता - प्रातःकाली मल-मूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास नाडी स्वेदनासाठी तयार करावे. ज्या स्थानी नाडी स्वेद द्यावयाचा आहे ते स्थान निर्वस्त्र करावे व अभ्यंग विधीने सोयीस्कर अशा आसनात आवश्यक त्या तैलाने अभ्यंग करावे.

रुग्णास आस्यप्रदेशी स्वेदन करावयाचे असल्यास नेत्रावर कमलपत्र/काकडी किंवा पिचूद्वारे झाकून स्वेदन करावे.

प्रधानकर्म

नाडी स्वेद यंत्रातून बाष्प निघणे सुरू झाल्यानंतर अभ्यंग झालेल्या रुग्णाचे व्याधी स्थानी फार जवळ न धरता किंवा फार दूरू न धरता स्वेदन करावे. स्वेदनाच्या वेळी एकाच जागी नलीका अधिक काळ रोखली जाऊ नये तसेच बाष्पाचे तुषार रुग्णाच्या अंगावर उडणार नाही याची काळजी घेतली जावी. स्तम्भ, गौरव, शूल लक्षण नाहीसे झाल्यानंतर स्वेदन थांबवून घ्यावे.

कालावधी - 15 - 30 मिनिट

पश्चातकर्म

स्वेदन क्रियेनंतर रुग्णास टॉवेलने पुसून घ्यावे. विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. अर्ध्या तासानंतर स्नानासाठी परवानगी द्यावी. तैल धुण्यासाठी चन्याच्या डाळीचा लेप करून कोष्ण जलाने स्वच्छ करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी (Precautions) -

(1) स्वेदन करतांना नलीका हलती ठेवावी.

(2) गरम तुषार रुग्णाच्या अंगावर उडणार नाही याची काळजी घ्यावी.

उपद्रव व चिकित्सा-

(1) बाष्पामुळे दग्ध - घृतकुमारी, जात्यादिघृत, स्थानिक

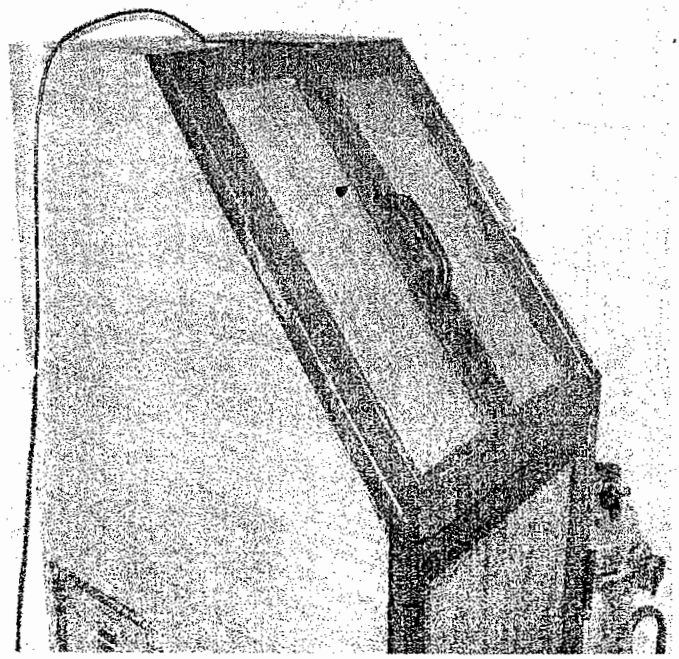

बाष्प स्वेद

औषधी द्रव्यांच्या क्वाथापासून तयार झालेल्या वाफेने/बाष्पाने स्वेदन करण्याची क्रिया बाष्प स्वेद. हा नाडी स्वेदासारखाच प्रकार आहे पंरतू सर्वांगास केला जातो. शोधनकर्मासाठी पूर्वकर्म म्हणून बाष्प स्वेदन केले जाते. सध्याच्या काळात लोकांमध्ये प्रसिद्ध प्रकार असून हॉटेलपासून तट घरापर्यंत स्वस्थ व्यक्ती ह्या प्रकारचा स्वेद करतात. आजच्या काळात 'स्पा' च्या नावावर बाष्पस्वेद फार लोकप्रिय आहे.

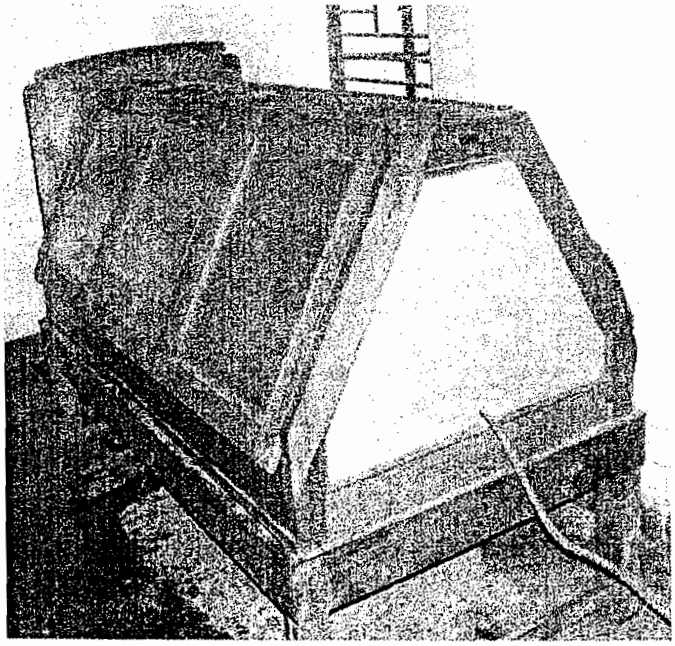

बाष्पस्वेदाचे वैशिष्टये

1) करण्यास सोपी क्रिया. सहाय्यकास फार लक्ष द्यावे लागत नाही.
2) सर्वांगास समान स्वेदन, शरीरातील सर्व अंगापर्यंत सारख्या तापमानाने स्वेदन होते. इतर स्वेदामध्ये ह्या अडचणी येण्याची शक्यता असते.
3) स्वेदनाची उपयोगिता बाष्प स्वेदनाने साध्य केली जाते.

बाष्पस्वेद योग्य (Indications):

1) वमन व विरेचनाच्या पूर्वी पूर्वकर्म म्हणून

2) पक्षाघात (paralysis)

3) स्थौल्य (obesity)

4) motor neurons diseases

अयोग्य (Contra indications):

1) बाल,

2) ज्वररोगी

3) Hypertensive, Hypotensive

4) रज:स्वला

संभारसंग्रह :

1) स्वेदन यंत्र (steam box)

2) द्रोणी

3) अभ्यंगार्थ तैल

4) स्वेदनार्थ द्रव्य (शोथघ्न, शूलघ्न) 500 ग्रॅम

5) टॉवेल

6) गॅस स्टोव्ह/ Electric Supply

स्वेदन यंत्र :

सर्वांग बाष्प स्वेदनासाठी दोन प्रकारचे स्वेदन यंत्र उपलब्ध आहेत 1) आडवा स्वेदन यंत्र (Horizontal Steam Box) , 2) उभा स्वेदन यंत्र (vertical Steam Box)

आडवा स्वेदन यंत्र (Horizontal Steam Box) :

जे रुग्ण बसू शकत नाही उदा. पक्षाघाताचे रुग्ण, motor neuron diseases, Hypertensive रुग्णांसाठी आडवा स्वेदन यंत्र सोयीस्कर असतो. या स्वेदन यंत्राने कटि पृष्ट भागी स्वेदन चांगल्याप्रकारे होते. आडवा स्वेदन यंत्र साधारणत: 6.5 फूट लांब 2.5 फूट रुंद व 2.5 फूट उंच असावा. लाकडापासून तयार केलेल्या पेटी सारख्या स्वेदन यंत्राचे लांब दोन्ही भागास काच लावल्यास रुग्णाच्या स्वेदन कर्माच्या वेळी परीक्षण करण्यास मदत होते. ह्या स्वेदन यंत्राचा एक भाग खुला असून हा डोक्याकडील भाग असतो हा भाग बंद करण्यासाठी वर सरकणारी पाटी तयार केली जाते या पाटीस अर्ध गोलाकार काप असतो ज्यामुळे डोके बाहेर ठेवून रुग्णास पेटीत झोपल्यानंतर पेटीपूर्णत: बंद करता येऊ शकते. रुग्णास झोपण्यासाठी जाळीयुक्त पीठ तयार केले जाते यास बाहेर आत सरकण्यासाठी पायाच्या ठिकाणी चाक बसविलेले असतात पायाच्या बाजूस नलीका लावलेली असते ज्याचे एक टोक बाहेर प्रेशर कुकरशी जोडलेली असते तर दुसरे टोक बाष्प येण्यासाठी बाष्पयंत्रामध्ये असते ज्यातून बाष्प सर्व पेटीमध्ये जाडीच्या

खालून रुग्णाच्या सर्वांगास पोहचते.

उभास्वेदन यंत्र (Vertical Steam Box) :

ह्या प्रकारचा स्वेदन यंत्र लाकूड किंवा फायबरपासून बनविलेला असतो. साधारणत: 4.5 फूट उंच, 4 फूट लांब व 3 फूट रुंदीचा असावा. स्वेदन पेटीच्या तळाशी बाष्प येण्यासाठी नळी जोडलेली असते. आजकाल steam generator आतमध्येच बसवलेले असतात किंवा बाहेर प्रेशर कुकरद्वारे बाष्प तयार करुन त्यास आतील नळीशी जोडले जाते. रुग्णास बसण्यासाठी उंचीनुसार कमी अधिक करण्यासाठी आसन तयार केलेले असते. वरच्या बाजूस डोके बाहेर येईल एवढे गोलाकार छिद्र असून पेटीच्या समोरुन पेटी बंद करण्यासाठी दार असतो.

पूर्वकर्म

रुग्ण परीक्षण – B.P. Pulse, Blood Sugar

रुग्णसिद्धता – प्रात: काली मल मूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास बाष्पस्वेदनासाठी तयार करावे. रुग्णास कमीतकमी वस्त्रात अभ्यंग विधीने सर्वांगास अभ्यंग करुन मूर्धस्थानी आमलकी कल्काचे लेप करावे. ज्यामुळे अति उष्णतेपासून मस्तिष्काचे संरक्षण होईल.

प्रधानकर्म

बाष्प स्वेदन यंत्रामध्ये बाष्प तयार केलेली असावी. त्यानंतर अभ्यंग केलेल्या रुग्णास उभ्या स्वेदन यंत्रात कंवा आडव्या स्वेदन यंत्रात रुग्णास बसवावे/झोपवावे. बाष्प बाहेर जाऊ नये यासाठी मानेभोवती टॉवेलने गुंडाळून घ्यावे. रुग्णास त्रास होत नाही याची काळजी घ्यावी व सम्यक स्वेदनाचे लक्षण दिसेपर्यंत स्वेदन करावे.

प्रामुख्याने रुग्णाच्या कपालप्रदेशी स्वेदबिंदू आल्यास किंवा रुग्णास सहन न झाल्याने थांबवण्याची इच्छा व्यक्त केल्यास स्वेदन करणे थांबवावे. बाष्प बंद केल्यानंतर लगेच स्वेदनयंत्राचे दार उघडून रुग्णास बाहेर काढू नये.

पश्चातकर्म

स्वेदनकर्मानंतर टॉवेलने रुग्णास पूसून घ्यावे व विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. अर्ध्यातासानंतर रुग्णास स्नानासाठी परवानगी द्यावी. तैल काढण्यासाठी चन्याच्या डाळीचा लेप करुन कोष्ण जलाने स्वच्छ करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी :

1) रुग्णास मूर्च्छा, तम:प्रवेश लक्षण दिसल्यास ताबडतोब स्वेद बंद करावा.
2) रुग्णाने बाष्प सहन होत नसल्याची तक्रार करता बरोबर स्वेदन बंद करावे.
3) रुग्णास स्वेदन केल्यानंतर लगेच दार उघडून बाहेर काढू नये किंवा थंड हवेचा स्पर्श टाळावा.

उपद्रव व चिकित्सा :

1) मूर्च्छा - BP कमी किंवा अधिक झाल्याने किंवा अत्याधिक स्वेदनाने मूर्च्छा लक्षण उत्पन्न होण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा – Head low position, थंड पाणी चेहऱ्यावर शिपंडणे

नारिकेल जल, शरबत पिण्यास द्यावे.

2) दग्ध - अधिक बाष्प एकाच जागी लागल्यास

चिकित्सा – घृतकुमारी, जात्यादिघृत स्थानिक

क्षीरबाष्प स्वेद (क्षीरधूम)

क्षीर बाष्प स्वेद नाडी स्वेदाचाच एक प्रकार असून यामधे गोदूग्धाच्या वाफेने स्वेदन केले जाते म्हणून यास क्षीरबाष्प स्वेद म्हणतात. याचा वापर प्रामुख्याने उर्ध्वांगातील वातव्याधींसाठी केला जातो.

स्वेदनयोग्य (Indications):

1) अर्दित (Facial palsy)
2) हनुग्रह (Jaw locking)
3) मन्यागतवात (cervical spondylosis)
4) Trigeminal neuralgia

संभारसंग्रह :

1) बलामूल (स्वच्छ केलेले) – 125 ग्रॅम
2) गोदुग्ध – अर्धा लीटर
3) नाडी स्वेदन यंत्र
4) अभ्यंगार्थ तैल आवश्यकतेनुसार
5) रास्नादि चूर्ण 5 ग्रॅम
6) पातेले
7) गॅस स्टोव्ह
8) गुलाब पाकळया
9) Cotton bandage
10) पंचकर्म सहाय्यक

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण – 125 ग्रॅम बलामूल 2 लीटर पाण्यामध्ये शिजवून विधीवत क्वाथ तयार करावे

अर्धालीटर एवढे पाणी शिल्लक असतांना त्यास गाळून घ्यावे. त्यानंतर अर्धालीटर गोदूग्ध व अर्धालीटर बलामूल क्वाथ यास एकत्र करुन स्वेदन यंत्रामध्ये घालून बाष्प तयार करण्यासाठी गॅसवर गरम करण्यास ठेवावे.

रुग्णसिद्धता – रुग्णास व्याधीस्थानी योग्य तैलाने अभ्यंग करावे आस्यप्रदेशी स्वेदन करावयाचे असल्यास दोन्ही नेत्रांवर गुलाबपाकळी त्यावर थंड पाण्याने भिजवलेले पिचू ठेवून bandage करावा BP, Pulse परीक्षण करुन घ्यावे.

प्रधानकर्म

स्वेदनयंत्राातून नलीकेद्वारे बाष्प आल्यानंतर फार जवळ न धरता नाडी स्वेद विधिने स्वेद करावा. स्वेद करतांना नलीका हलती ठेवावी त्यामुळे एकाच ठिकाणी स्वेद लागणार नाही. सम्यक स्वेदनाची लक्षणे दिसेपर्यंत स्वेदन क्रिया करावी.

पश्चातकर्म

स्वेदन क्रियेनंतर रुग्णास टॉवेलने पुसून घ्यावे. नेत्रावरील बंधन सोडावे व विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. रास्नादि चूर्ण डोक्यास लावावे.

घ्यावयाची काळजी :

1) वेदनाच्या वेळी बाष्पासोबत गरम पाण्याचे तुषार रुग्णाच्या अंगावर पडणार नाही याची काळजी घ्यावी.
2) रुग्णास बेचैनी वाटल्यास तात्काळ स्वेदन थांबवावे.

उपद्रव व चिकित्सा

बाष्पामुळे दग्ध – घृतकुमारी, जात्यादिघृत स्थानिक

अवगाह स्वेद (Spinal Bath, Hip Bath, Sitz Bath)

द्रवस्वेदस्तु द्विविधः परिषेकोऽवगाहच। **अ. सं. सू. 26/4**

द्रवस्वेदाचे दोन प्रकार आहेत 1) अवगाह स्वेद 2) परिषेक

अवगाह म्हणजे बुडवून ठेवणे. या स्वेद प्रकारामध्ये कोष्ण औषधीक्वाथ, तैल टब मध्ये ठेवून रुग्णास बसवून ठेवले जाते. पर्यायाने व्याधीयुक्त अवयव औषधी द्रव्यात बूडवून ठेवले जाते.

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुण्डं सर्वाङ्गऽनिले। अवगाह्यातुरस्तिष्ठे दर्शः कृच्छ्रादिरुक्षु च।।

अ.ह.सू. 17/11

स्वेदनयोग्य (Indications):

1. शरीरामध्ये वातवृद्धी झाल्यास
2. अर्श (Painful Piles)
3. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
4. कटिगतवात (Spondylitis)

5. गृध्रंसी (sciatica)
6. AVN - Hip Joints
7. योनिगत व्याधी
8. पंगुत्व

स्वेदन अयोग्य (Contra indications):

1. अजीर्ण
2. रुक्षशरीर
3. स्थौल्य

संभारसंग्रह :

1. अवगाह यंत्र (Bath tub/spinal bath tub)
2. स्वेदन द्रव्य (क्वाथ/तैल/सिद्ध दुग्ध)

सर्वांग	-	50-60 लीटर
एकांग	-	10-15 लीटर

3. तैल अंभ्यार्थ - 100-150 मिली
   तलमार्थ - 10 मिली
4. पातेले
5. रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम
6. टॉवेल
7. पंचकर्म सहाय्यक

पूर्वकर्म

औषधी निर्माण - रुग्ण प्रकृतीनुसार, व्याधी, ऋतु यांचा सर्व विचार करुन स्वेदनासाठी आवध्यक क्वाथ, सिद्ध दुग्ध वा तैल विधिवत तयार करुन रुग्णास सहन होईल ते तापमान असतांना अवगाह यंत्रामध्ये ठेवावे.

सामान्य तापमान - 38°c ते 40°c

रुग्णपरीक्षण - BP, Pulse इ. नियमीत परीक्षण करुन घ्यावे

रुग्णसिद्धता - रुग्णास कमीतकमी वस्त्रात द्रोणीमध्ये बसवून/झोपवून योग्य तैलाने विधीवत अभ्यंग करावे. रुग्णाच्या डोक्यावर तलम ठेवावे. अवगाह तैलाने करावयाचे असल्यास किंवा व्याधीनुसार अभ्यंगाची गरज नसल्यास सरळ अवगाह स्वेद क्रिया करावी.

प्रधानकर्म

अवगाह यंत्रामध्ये कोष्ण क्वाथ/तैल भरुन रुग्णास त्यात बसण्यास सांगवे. द्रव द्रव्य रुग्णाच्या नाभीपर्यंत भरावे. सर्वांग अवगाहासाठी द्रव द्रव्य मानेपर्यंत भरावे व सम्यक स्वेदनाचे परीक्षण करावे.

अवगाहाच्या वेळी द्रव द्रव्याचे तापमान कमी झाल्यास थोडी क्वाथाची मात्रा दुसऱ्या गरम क्वाथाने बदलून घ्यावी. पूर्ण क्रियेमध्ये द्रवद्रव्याचे तापमान एकसारखे राहील याची काळजी घ्यावी. सम्यक स्वेदनाची लक्षणे आल्यानंतर रुग्णास स्वेदन यंत्रा (Tub)च्या बाहेर येण्यास सांगावे.

कालावधी – 48 मिनिटे ते 192 मिनिटे आवश्यकतेनुसार दररोज, एकांतर किंवा 3 दिवसानंतर

पश्चातकर्म

रुग्ण अवगाह स्वेदन यंत्राच्या बाहेर आल्यानंतर टॉवेल अंग पुसून घ्यावे तलम काढून घ्यावे तथा रास्नादि चूर्ण डोक्यावर लावावे. त्यानंतर रुग्णास अर्धा तास विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. अर्ध्यातासानंतर कोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी –1. क्वाथ/तेल अधिक गरम नसावा

2. रुग्णास क्रियेच्या वेळी बेचैन वाटल्यास किंवा सम्यक स्वेदाचे लक्षणे दिसल्यास स्वेदन क्रिया लगेच थांबवावी.

उपद्रव – दग्ध व्रण

चिकित्सा – जात्यादिघृत, मधू व घृत स्थानिक

परिषेक स्वेद (धारा स्वेद)

औषध सिद्ध तैल, क्वाथाची शरीरावर धार धरुन स्वेदन करण्याची पद्धत परिषेक स्वेद होय. परिषेक क्वाथ, तैल या व्यतिरिक्त धान्याम्ल, दुग्ध यांचीही कली जाते. परिषेकस्वेदास केरलीय पंचकर्म पद्धतीमध्ये संशोधीत करुन लोकप्रिय केले आहे. पिझिचिल हा त्यातलाच एक लोकप्रिय प्रकार होय. परिषेक एकांग किंवा सर्वांग केला जातो. जूलै, ऑगस्ट, ऑक्टोबर, नोव्हेंबर, फेब्रुवारी मार्च हा काळ धारासाठी सर्वोत्तम मानला जातो. [चिकित्सा संग्रहम]

1) पिझिचिल (कायसेक)

स्निग्ध परिषेक स्वेद असून कोष्ण तैलाने शरीरावर धार धरली जाते. केरलीय पंचकर्मामध्ये 'पिझिचिल' या नावाने प्रसिद्ध आहे. या क्रियेमध्ये स्नेहन व स्वेदन एकाच वेळी होते.

स्वेदन योग्य (Indications):

1.	पक्षाघात (Hemiplegia)	2.	पंगू (Paraplegia)
3.	Motor neuron diseases	4.	Degenerative joint diseases
5.	रुजार्दितम गात्र painful body part	6.	रसायन कर्मासाठी
7.	अंतरायाम	8.	बाह्ययाम (Tetany)
9.	आक्षेपक	10.	वातबलास

11. अर्दित (Facial Palsy)
12 अपतानक (Episthotonos)
13 गृध्रसि (Sciatica)
14. खल्ली
15. पाददाह
16. देह दृढ व बलवान होण्यासाठी

स्वेदन अयोग्य (Contra indications):

1. अर्जीण
2. स्थौल्य
3. रज:स्वला
4. ज्वर
5. अतिसार

संभार संग्रह-

1. द्रोणी
2. तैल - पिझिचिल साठी अंदाजे - 2 लीटर
   - तलम करण्यासाठी - 10 मिली
3. कापड/गलन्ती/गिन्डी
4. रास्नादि चूर्ण - 5 ग्रॅम
5. पातेले
6. गॅसस्टोव्ह
7. पंचकर्म सहाय्यक - 2-4

पिझिचिल साठी वापरण्यात येणारे तैल

वातप्रधान -

1. ध्न्वन्तरम्
2. महामाष तैल
3. महानारायण तैल
4. क्षीरबला तैल

पित्तप्रधान व्याधी

1. चंदनबला लाक्षादि तैल
2. क्षीरबला तैल

कफप्रधानव्याधी

1. सहचरादि तैल
2. लघुविषगर्भ तैल

पूर्वकर्म

रुग्ण आतुरपरिचर्या - प्रात:काळी मलमूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास कमीत कमी कपडयामध्ये द्रोणीमध्ये पाय पसरुन बसण्यास सांगावे स्वस्तिर्वाचन करुन योग्य त्या तैलाने तलम करावे. रुग्णाच्या शिरोभागी

पट्टबंधन करावे ज्यामुळे तैल नेत्रावर येणार नाही.

आवश्यक ते तैल गॅसवर कोष्ण करावे. संपूर्ण विधीमध्ये तापमान एकसारखे राहील याची काळजी घ्यावी.

सामान्य तापमान: 38°C - 45°C

प्रधानकर्म

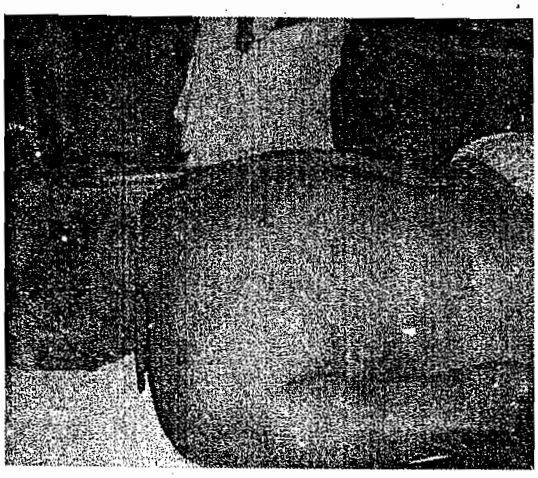

पिझिचिल 4 सहाय्यकांद्वारे करणे अधिक उत्तम असते परंतू सहाय्यकांच्या कमतरतेमुळे दोन सहाय्यकांद्वारे सुद्धा पिझिचिल क्रिया केली जाते. सर्व प्रथम रुग्णास बसून पाय पसरलेल्या अवस्थेत केली जाते. रुग्णाच्या सर्वांगास हलके अभ्यंग केले जाते. आवश्यक ते तैल कोष्ण करुन त्यामध्ये वस्त्र भिजविले जातात त्यानंतर एका हाताने स्नेहामध्ये भिजविलेले वस्त्रखण्ड हलक्या दाबाने पिळून अंगठ्याच्या साहय्याने रुग्णाच्या किमान 6 ते 9 इंच उंचीवरुन शरीरावर धार धरली जाते. सहाय्यकाने दुसऱ्या हाताने रुग्णशरीरावर मर्दन करावे.

पिझिचिल खालील अवस्थांमध्ये करावी.

1. रुग्णास बसवून पाय पसरलेल्या अवस्थेत (sifting with extended legs)
2. उताणे झोपलेल्या अवस्थेत (Supine position)
3. वाम पार्श्व (left lateral)
4. दक्षिण पार्श्व (Right lateral)
5. उताणे झोपलेल्या अवस्थेत (Supine repeat)
6. बसलेल्या अवस्थेत (Sitting repeat)

[Sirassekadi vidhi, 2009]

पालथ्या स्थितीमध्ये गरज असल्यास किंवा चिकित्सकाच्या विवेकानुसार कायसेक करावे.

कायसेक अधोजत्रूगत करावे. ज्यावेळी कायसेक सोबत तक्रधारा करणे क्रमप्राप्त असेल उदा. प्रमेह, Psoritic condition त्यावेळी रुग्णास उताणे (supine) अवस्थेत क्रिया करावी. मन्या व असंस्थानी पिझिचिल क्रिया (कायसेक) शिरोधारा सुरु करण्याच्या 15 मिनिट पूर्व व पश्चात करावी. कायसेक स्वेदनाचे लक्षण दिसेपर्यंत करावे.

स्नेहधारा करण्यासाठी वस्त्रखण्डाच्या जागी गलन्ती/गिण्डी/kernel (एका विशिष्ट प्रकारचे भांडे ज्यास एका बाजूने द्रव द्रव्य बाहेर निघण्यासाठी नलीका असते) चा वापर केला जातो.

आजकाल सर्वांगधारा करण्यासाठी बाजारात Automated machineउपलब्ध आहे.

कालावधी - दिड तास प्रतिदिन एकवेळ

आक्षेपक, अपतानक, अंतरायाम व्याधींमध्ये प्रतिदिन दोन वेळा (प्रात: सायं) 3 तास

एकूण कालावधी - 7, 14, 21 दिवस

यामार्द्धं सेचयेदे व मथ वातङ्कशक्तित:।

प्रात:सायं सेचयांति याममाक्षेपकादिषु।। (सिरसेकविधी/कायसेक विधी-13)

काल: प्रात: 7 ते 11 किंवा सांयकाळी 4 ते 6

पश्चातकर्म

पिझिचिल झाल्यानंतर नारीकेल पत्र/tongue cleaner द्वारे शरीरावरील स्नेह पुसून काढावा. शरीरास स्वच्छ टॉवेल पुसून काढावे. त्यानंतर तलम काढून रास्ना चूर्ण शिरोभागी लावावे. रुग्णास अर्धा तास विश्राम करण्याचा सल्ला द्यावा व त्यानंतर सुखोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे. शिरोभागी आमलकी कल्क, कुलथी, मूंग पीठ यापैकी एकाचा लेप करुन स्नान करावा.

आक्षेपक, अपतंत्रक, बाह्यायाम, अंतरायाम, अर्दित, पक्षाघात, रक्तवात या रुग्णांमध्ये पिझिचिलनंतर स्नान करु नये. केवळ स्वच्छ टॉवेलने रुग्ण शरीर पुसून घ्यावे.

रात्री झोपतांना अनुलोमनासाठी गंधर्वहरीतकी 3 ग्रॅम कोष्णजलासह द्यावी.

घ्यावयाची काळजी -

1. तैल गरम नाही याची सहाय्यकाने खात्री करुन घ्यावी (विशेषत: गलंती (kernel) द्वारे कायसेक करताना)
2. पूर्ण विधीमधे स्नेहाचे तापमान एकसारखे असावे.
3. 4 सहाय्यकांच्या मदतीने विधी होत असतांना एकसारखी गती असावी.
4. मर्दन मंदगतीने करावे, फार अधिक दाब नसावा.
5. स्नेह द्रोणीमध्ये जमा झाल्यास दुसऱ्या कापडाने बुडवून व पिळून बाहेर काढावा

उपद्रव व चिकित्सा -

1. मूर्च्छा - Head law, शीत जलाचा मुखावर परिषेक
2. दग्ध - अधिक उष्ण स्नेह असल्यास दग्ध होऊ शकतो - घृतकुमारी, शतधौतघृत स्थानिक
3. Rash in body - खदिशरीर सारिवाधासव गंधक रसायन

स्नेह पुन:प्रयोग -

पिझिचिल करण्यासाठी प्रति दिवस शक्यतो नवीन स्नेह घ्यावा. परंतू स्नेहाची खर्च प्रत्येकांस

परवडेलच असे नाही त्यामुळे रुग्णासाठी वापरण्यात येणारा स्नेह एकत्र करुन दुसऱ्या दिवशी कमी पडलेली मात्रा नवीन स्नेहाची घालावी असे पूढील दोन दिवस करावे चवथ्या दिवशी पूर्णत: नवीन स्नेह घ्यावा आणि यात आधीच्या विधीप्रमाणे पूढील दोन दिवस उपयोगात आणवा सातव्या दिवशी तिसऱ्या व सहाव्या दिवशीचा स्नेह एकत्र करुन उपयोगात आणावा. जूना स्नेह वापरतांना त्यास गरम करुन त्यातील जलांश जाळून घ्यावे व गाळून घ्यावे.

परिहार्य विषय – जेवढे दिवस परिषेक केले तेवढेच दिवस पूढे परिहारकाळ पालन करण्यास सांगावे.

1. स्त्री दर्शन स्पर्शन
2. व्यायाम
3. आतप
4. वेगावरोध
5. शीत (exposer to cold e.g. AC, cooler)
5. धूमपान
7. शाके क्रोध
8. अत्याधिक चंक्रमण
9. चिरकाल आसीन्नता (continuous sitting)
10. स्वप्न – (अधिक निद्रा)
11. रज (धुळीमधे फिरणे)

2) धान्याम्ल धारा :

परिषेक, द्रवस्वेदाचा प्रकार व धान्याम्ल (कांजी) द्वारे एकांग किंवा सर्वांग शरीराचे धारा धरुन स्वेदन करण्याची क्रिया धान्याम्ल धारा म्हणतात. धान्याम्ल धारा करण्याची सर्व पद्धत पिझिचिल प्रमाणेच आहे केवळ स्नेहाच्या ऐवजी धान्याम्ल द्वारे कायसेक केले जाते.

स्वेदन योग्य (Indications):

1. वात व्याधी – कफानुबंधी
2. आमवात
3. स्तम्भ (muscle spasm)
4. रसायनार्थ (rejuvenation)

संभार संग्रह

1.	द्रोणी	–	1
2.	गलन्ती	–	4
3.	धान्याम्ल	–	3 लीटर
4.	तैल अभ्यंगार्थ	–	150 मिली (सहचरादि, धन्वंतरम्)
	तलम	–	10 मिली
5.	पातेले		
6.	गॅसस्टोव्ह		

7. रास्नादिचूर्ण - 5 ग्रॅम
8. टॉवेल
9. पंचकर्म सहाय्यक - 2

पूर्वकर्म

प्रात:काळी मलमूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास कमीत कमी कपड्यांमधे द्रोणीमध्ये बसण्यास सांगावे. स्वस्तिर्वाचनानंतर रुग्णास योग्य त्या तेलाने तलम करुन व कान कार्पास पिचूद्वारे बंद करावे व शिरोभागी पट्टबंधन करावे. यामुळे धारा करतांना धान्याम्ल नेत्र व कानामध्ये जाणार नाही. रुग्णाच्या प्रकृतीनुसार व व्याधीनुसार तैलाने अभ्यंग करावे. ज्या अवस्थांमध्ये अभ्यंग निषेध असेल त्या अवस्थांमध्ये अभ्यंग करु नये. धान्याम्ल गॅसवर कोष्ण करुन घ्यावे.

सामान्यतापमान - 38°C ते 42°C

धारा करण्यापूर्वी रुग्णाचे BP, Pulse इ. चे मापन करावे.

प्रधानकर्म

कोष्ण धान्याम्ल गलन्तीमध्ये घेऊन पंचकर्म सहाय्यकांनी दोन्ही बाजूस उभे राहून 6 ते 9 इंच उंचीवरुन रुग्ण शरीरावर धार धरावी. पिझिचिलमधे वर्णिल्याप्रमाणे सात अवस्थांमध्ये धान्याम्लाद्वारे कायसेक करावे. धान्याम्ल प्रतिदिवस नवीन घ्यावा (धाराकल्प - 27)

कालावधी - 45 मिनिट - 7 दिवस

योग्य काळ - प्रात:काल

पश्चातकर्म

धान्याम्ल धारा झाल्यानंतर रुग्णास स्वच्छ टॉवेलने पुसून काढावे. शिरोभागातील पट्बंधन कानातील पिचू व तलम काढल्यानंतर रास्नादि चूर्ण शिरोभागी लावावे. अर्धा तास रुग्णास विश्राम करण्याचा सल्ला द्यावा व त्यानंतर सुखोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी -

1. पूर्ण क्रियेमध्ये धान्याम्लाचे तापमान एकसारखे असावे.
2. धारा करतांना गलन्तीची उंची फार अधिक किंवा कमी नसावी व गती एकसारखी असावी.

धारा झाल्यानंतर तात्काळ रुग्णाने शरीर पुसून घ्यावे अन्यथा रुग्णास शीतता अनुभूती होते.

उपद्रव व चिकित्सा

शीतता व रोमहर्ष (chills) - क्रिया करतांना रुग्णास शीत अनुभूती होत असल्यास धारा थांबवून घ्यावी व उष्णोपचार करावे.

3) कषायधारा –

या स्वेद प्रकारामधे एकांग वा सर्वांगावर परिषेक स्वेद केले जाते. हा द्रव स्वेदाचा प्रकार आहे. क्वाथासाठी रुग्णाच्या प्रकृतीनुसार व व्याधीच्या दोषानुसार द्रव्यांची निवड केली जाते.

स्वेदन योग्य (Indications):

1. वातव्याधी कफानुबंधी
2. वातव्याधी पित्तानुबंधी
3. गृध्रसी
4. Spondylitis

संभार संग्रह

1.	द्रोणी	–	1
2.	गलन्ती	–	4
3.	क्वाथ	–	5 लीटर
4.	तैल अभ्यंगार्थ	–	150 मिली (सहचरादि, धन्वंतरम्)
	तलम	–	10 मिली
5.	पातेले		
6.	गॅसस्टोव्ह		
7.	रास्नादिचूर्ण	–	5 ग्रॅम
8.	टॉवेल		
9.	पंचकर्म सहाय्यक	–	2

पूर्वकर्म

औषधीनिर्माण – 650 ग्रॅम यवकूट चूर्ण घेऊन 20 लीटर पाण्यामध्ये रात्रभर भिजवून ठेवावे त्यानंतर प्रात:काळी त्यास कषाय कल्पनेने कषाय तयार करावा 5 लीटर पर्यंत जलांश असल्यानंतर कषाय उतरवून घ्यावे व गाळून घ्यावे. धारा करण्यासाठी क्वाथ कोष्ण असावा याची काळजी घ्यावी.

रुग्णसिद्धता – रुग्णास कमीत कमी वस्त्रामध्ये द्रोणीमध्ये बसण्यास सांगावे त्यानंतर योग्य त्या तैलाने तलम करुन कर्णामध्ये कर्पास पिचू ठेवावे व शिरोभागी पट्टबंधन करावे पूर्वोक्त विधीने अभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

धान्याम्ल धारामध्ये वर्णिल्याप्रमाणे.

पश्चातकर्म धान्याम्ल धारामध्ये वर्णिल्याप्रमाणे.

कालावधी – 45 मिनीटे 7, 21, 28 दिवस

उपद्रव व चिकित्सा

शीतता व रोमहर्ष (chills) - क्रिया करतांना रुग्णास शीत अनुभूती होत असल्यास धारा थांबवून घ्यावी व उष्णोपचार करावे.

4) क्षीरधारा

सामान्यता: पित्तप्रधान वात व्याधींमध्ये क्षीरधारा केली जाते. या स्वेदप्रकारामध्ये सिद्ध दुग्धाने किंवा धारोष्ण दूधाने धारा केली जाते. द्रव्यांची निवड व्याधी व रुग्णप्रकृतीनुसार केली जाते. आवश्यकतेनुसार एकांग किंवा सर्वांग धारा केली जाते.

स्वेदन योग्य (Indications):

1. सर्वांग दाह
2. वातरक्त
3 उन्माद
4. स्वास्थ्यरक्षणार्थ - रसायन म्हणून
5. त्वक्कांति पुष्ट्यर्थ

संभार संग्रह

1.	द्रोणी	–	1
2.	गलन्ती	–	4
3.	धारोष्ण वा सिद्ध दुग्ध	–	4 लीटर
4.	तैल अभ्यंगार्थ	–	150 मिली (सहचरादि, धन्वंतरम्)
	तलम	–	10 मिली
5.	पातेले		
6.	गॅसस्टोव्ह		
7.	रास्नादिचूर्ण	–	5 ग्रॅम
8.	टॉवेल		
9.	पंचकर्म सहाय्यक	–	2

विधी – पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चातकर्म, धान्याम्ल धारेप्रमाणे

औषधी निर्माण – मुस्ता, चंदन, उशीर, ऱ्हीबेर, मधुयष्टी यांचे एकत्र चूर्ण 275 ग्रॅम गोदुग्ध 4 लीटर व

दूधाच्या 4 पट पाणी मिश्रित करुन क्वाथ विधीने पाक करावा. पाणी पूर्णत: आटवल्यानंतर सिद्ध दूधास गाळून धारासाठी वापरावा.

चिकित्सकांनी अवस्थानुसार कोष्ण वा थंड क्षीर धारा करावी.

घ्यावयाची काळजी –

1. पूर्ण क्रियेमध्ये क्षीराचे तापमान एकसारखे असावे.
2. धारा करतांना गलन्तीची उंची फार अधिक किंवा कमी नसावी व गती एकसारखी असावी.

धारा झाल्यानंतर तात्काळ रुग्णाने शरीर पुसून घ्यावे अन्यथा रुग्णास शीतता अनुभूती होते.

उपद्रव व चिकित्सा

शीतता व रोमहर्ष (chills) - क्रिया करतांना रुग्णास शीत अनुभूती होत असल्यास धारा थांबवून घ्यावी व उष्णोपचार करावे.

उपनाह स्वेद

उपनाह म्हणजे बांधने; ज्या क्रियेद्वारे औषध कल्क, पिण्ड यांना व्याधीयुक्त अंगावर बांधून स्वेद केले जाते त्यास उपनाह स्वेद म्हणतात. उपनाह स्वेद हा एकांग स्वेद असून संकर-पिण्ड स्वेदाचा मिश्रीत प्रकार आहे. आचार्य सुश्रूत व वाग्भटांनी 4 स्वेद प्रकारांमध्ये उपनाह स्वेदास स्वतंत्र मानले आहे.

उपनाशे वचाकिण्व ..... दिवाकृतम्। अ.ह.सू. 17/1-5

स्वेदन योग्य (Indications):

1. संधिगतवात	2. वातरक्त
3. वातव्याधी कफानुबंध	4. वातव्याधी पित्तानुबंध
5. Tennis Elbow	6. writer's hand
7. Carpel tunnel syndrome	8. क्रौष्टुक शिर्ष
9. Frozen shoulder	10. calcaneal spur

सामान्यता: वापरात येणारी द्रव्य –

1. वातव्याधी- वचा शताव्हा, दारुहरिद्रा धान्यक रास्ना एरण्ड, जटामानसी यांचा कल्क किंवा वेशवार
2. कफानुबंधी वात – सुरसादि गण (सुश्रूत), कोट्टमचुकादि चूर्ण (सहस्त्रयोग)
3. पित्तानुबंधी – पद्मकादि गण, काकोल्यादि गण, एलादि (सुश्रूत)

संभारसंग्रह

1. दोष/व्याधीनुसार आवश्यक चूर्ण	–	50-100 ग्रॅम
2. एरण्ड/अर्कपत्र	–	7-10

3.	अम्लद्रव्य (धान्याम्ल/तक्र/vinegar)	-	50-100 मिली
4.	तैल (दोषानुसार) उपनाहार्थ	-	50 मिली
	अभ्यंगार्थ	-	30-50 मिली
5.	महास्नेह (आवश्यकता असल्यास)	-	30 मिली
6.	सैंधव (आवश्यकतेनुसार)	-	20-30 ग्रॅम
7.	Bandage/कापड	-	आवश्यकतेनुसार
8.	कढई, पातेले		
9.	गॅसस्टोव्ह		
9.	पंचकर्म सहाय्यक	-	1

पूर्वकर्म

औषधीनिर्माण - औषधीचूर्ण, सैंधव, तैल, अम्ल द्रव्य एकत्र करुन पिष्टी (Paste) तयार करावी व त्यास कोष्ण करावे. ज्या रुग्णांसाठी निराग्नि स्वेदाची आवश्यकता असेल त्या ठिकाणी कोष्ण करण्याची गरज नाही.

सामान्यतापमान - 38°C ते 40°C

रुग्णसिद्धता - रुग्णाचा जो अवयव व्याधीयुक्त आहे त्या अवयवास निर्वस्त्र करुन स्वच्छ करावे व आवश्यकतेनुसार योग्य तैलाने रुग्णाच्या व्याधीयुक्त अंगावर अभ्यंग करावे.

प्रधानकर्म

रुग्णास योग्य स्थितीत बसवून किंवा झोपवून व्याधीयुक्त अंगावर कोष्ण/शीत पिष्टीचा लेप करावा. लेप अधिक पातळ किंवा जाड नसावा (अंदाजे 1-2 सेमी जाड). त्यानंतर लेपावर एरण्ड/अर्क पत्र तव्यावर सुखोष्ण करुन आच्छादीत करावे व Bandage/कपडा यांच्या साहय्याने व्रणबंधन वर्णीत पद्धतीने पट्टबंधन करावे.

कालावधी - 12 तास (प्रात:काली उपनाह केल्यानंतर रात्री बंधन सोडावे अथवा रात्रीचा उपनाह प्रात:काली सोडावा) अ. हृ. सू. 17/5

पश्चातकर्म

उपनाह स्वेद द्रव्याचे लेप काढल्यानंतर कोष्ण जलाने अंग धुवून घ्यावे व स्वच्छ टॉवेलने पूसून घ्यावे.

घ्यावयाची काळजी -

1. रुग्णास कोणत्या द्रव्याची allergy तर नाही (उदा. अर्कपत्र इ.) याची खात्री करुन घ्यावी.

2. उपनाह अधिक उष्ण नसावा.

3. बंधन फार ढिले किंवा घट्ट नसावे.

उपद्रव व चिकित्सा

1. कंडू + कोठ (Itching & Rashes) - लगेच उपनाह काढून त्यावर पंचतिक्तघृत, जात्यादि तैल स्थानिक लावावे.

2. दग्ध - मधू व घृत, जात्यादि तैल स्थानिक

साल्वण उपनाह

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्ल द्रव्य संयुतः।
सानूपौदक मांसस्तु सर्वस्नेह समान्वितः।।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वण परिकीर्तितः।
तेनोपनाहं कुर्वीत सदा वातरोगिणाम्।। **सु.चि 4/14-15**

प्रचूर मात्रेत लवण उपयोगात आणून उपनाह करण्यास साल्वण स्नेह म्हणतात.

उपयुक्त द्रव्य - सुरसादि गण, काकोल्यादि गण, एलादिगण, अम्लद्रव्य, मांस (वेशवार), महास्नेह, अधिक मात्रेत लवण, उपनाह विधीने पिष्टी तयार करुन उपनाह बांधावे.

उपनाह योग्य (Indications):

1. अधिक रुजा (Acute pain)
2. गात्र संकोच (Contractures)
3. गात्र स्तब्ध (stiffness)

बाह्य बस्ति - कटि बस्ति

कटिभागी (Lumbo-sacral region) तैलाच्या सहाय्याने स्वेद देण्याची क्रिया कटिबस्ति होय. पंचकर्मातील अतिशय लोकप्रिय स्वेदनाची क्रिया. या क्रिया प्रकारास 'बस्ति' का म्हणतात? याला फार अर्थ नाही कारण आयुर्वेदानुसार बस्ति म्हणजे गुदमार्गातून औषध देण्याची क्रिया होय. कदाचित वसती - वासन म्हणजे काही काळ 'वास' (Retain) करणे या अर्थाने 'बस्ति' हा शब्द प्रयोग केला गेला असावा. हा स्निग्ध प्रकाराचा स्वेद आहे.

कटिबस्ति योग्यः

(1) कटिगतवात (Painful condition in lumber region)
   i) Lumber spondylitis
   ii) Ankylosing spondylosis
   iii) Sacroileitis

iv) Spondylolysthesis
v) Disc bulging or prolapsed
vi) Lumbo sacral muscle spasm
vii) Lumber canal stenosis

(2) गृध्रसी (Sciatica)

कटिबस्तिसाठी उपयुक्त तैल:

(1) विषगर्भ तैल - (कफानुबंध)

(2) सहचरादि तैल - (कफानुबंध)

(3) धान्वन्तरम् तैल

(4) बला तैल (वातज)

(5) प्रसारणी तैल

(6) क्षीरबला तैल - Degenerative disease

संभार संग्रह:

(1) द्रोणी - 1

(2) उडीद पीठ - 500 gm

(3) आवश्यक तैल - 200 300 ml

(4) पातेले

(5) चम्मच

विधी:

पूर्वकर्म

(1) **पाळी तयार करणे** - सर्व प्रथम उडीदाचे पीठ चाळणीने गाळून आवश्यकतेनुसार त्यात पाणी घालावे व मळून घ्यावे. त्यानंतर थोडं उडीदाच्या पीठाची पिष्टी बाजूला ठेवून उरलेल्या सर्व पीठाची गोलाकार रिंगण/पाळी (Rim) तयार करावी. याचा आकार रुग्णाच्या कटिवर सुखकर बसेल असा असावा.

(2) **रुग्ण सिध्दता** - रुग्णास मल-मूत्र विसर्जनानंतर नितंबभागापर्यंत निर्वस्त्र करून द्रोणीमध्ये पालथे झोपण्यास सांगावे. वरील तयार केलेली पाळी रुग्णाच्या कटिभागावर ठेवून त्यास उरलेल्या उडीदाच्या पिष्टीने त्वचा व पाळी यातील पोकळी बंद करून घ्यावी ज्यामुळे पाळीतील तैल बाहेर पडणार नाही.

(3) **तैल कोष्ण करणे** - एका मोठया पातेल्यामध्ये गरम पाणी घ्यावे, त्यामध्ये एका लहान पात्रात तैल घेवून कोष्ण करण्यास ठेवावे. तैलाचे सामान्यता तापमान - 45 ते 50^0 C एवढे असावे.

प्रधानकर्म

सहाय्यकाने पाळीमध्ये आपले बोट घालून त्यावर चमच्याने कोष्ण तैल हळूहळू सोडावे. रुग्णास सहन होईल असे तैलाचे तापमान असावे याची काळजी घ्यावी.

दरम्यानच्या काळात सहाय्यकाने तैलामध्ये अंगठा हळुहळू फिरवावा व रुग्णाच्या कटिभागी अल्पदाबाने मर्दन करावे. यामुळे तैलाचे तापमान एक सारखे राहील व स्थानिक मर्दनाने रूजा शांत होईल.

ही क्रिया होत असतांना तैलाचे तापमान कमी झाल्यास चमच्याच्या सहाय्याने तैल बाहेर काढावे व पुन्हा नवीन कोष्ण तैल पाळीमध्ये घालावे. हा क्रम चालू ठेवावा. तैल बदलण्याच्या काळात वेळ जाऊ देऊ नये. सुमारे अर्ध्या तासानंतर तैल बाहेर काढून पाळी देखील काढून घ्यावी.

दर 3 दिवसानंतर नवीन तैल घ्यावे पिझिचिल प्रमाणे 7 व्या दिवशी तिसऱ्या दिवसाचा व सहाव्या दिवसाचे उरलेले तैल घ्यावे.

सामान्य तापमान - 45 ते 50^0 C

कालावधी - 30 - 45 मिनिटे, 7 ते 14 दिवस

पश्चातकर्म

(1) अभ्यंग - पाळी काढून घेतल्यानंतर कटिभागी लागलेल्या तैलाच्या सहाय्याने हलक्या दाबाने अभ्यंग करावे.

(2) स्वेदन - अभ्यंगानंतर टॉवेल गरम पाण्यातून पिळून त्याद्वारे कटिप्रदेशी स्वेद करावे.

(3) स्नान - स्वेदनानंतर 15 मिनिटे रुग्णास उताणा (supine) अवस्थेत झोपण्यास सांगावे व नंतर हरभरा डाळीचे पीठ कटिप्रदेशी लावून कोष्ण जलाने स्नान करण्यास सांगावे.

घ्यावयाची काळजी -

(1) क्रिया करतांना रुग्णास पालथ्या स्थितीमुळे शूल वाढल्यास तात्काळ क्रिया थांबवावी.

(2) तैल बदलण्याचा काळ अधिक नसावा.

(3) तैलाचे तापमान रुग्णास सुखकर असावे.

उपद्रव व चिकित्सा -

दग्ध - घृतकुमारी, शतधौत घृत - स्थानिक

सध्या काही ठिकाणी फायबरचे तयार केलेले बस्ति यंत्र उपलब्ध आहेत. लहान, मध्यम व मोठे तसेच स्थानानुसार कटि, जानु, पृष्ठ, हृद्, ग्रीवा यासाठी वेगवेगळया आकाराचे यंत्र वापरल्यास उडीदाच्या पीठाचा वापर केवळ सीलबंद करण्यासाठीच होतो त्यामुळे पीठाचा खर्च कमी होऊन क्रियेसाठी लागणारा खर्च बराच कमी होतो.

जानुबस्ति

जानुसंधीच्या ठिकाणी तैल धारण करून स्वेद करण्याची क्रिया जानुबस्ति होय. हा स्निग्ध प्रकारचा स्वेद असून कटिबस्ति प्रमाणेच या क्रियेची उपयोगिता आहे.

जानुबस्ति योग्य (Indications):

(1) संधिगतवात (Osteoarthritis)

(2) आमवात (जीर्ण) (Rheumatoid arthritis)

(3) संधिरूजा (Painful joints)

पूर्वकर्म

(1) **पाळी तयार करणे** - सर्व प्रथम उडीदाचे पीठ चाळणीने गाळून आवश्यकतेनुसार त्यात पाणी घालावे व मळून घ्यावे. त्यानंतर थोडं उडीदाच्या पीठाची पिष्टी बाजूला ठेवून उरलेल्या सर्व पीठाची गोलाकार रिंगण/पाळी (Rim) तयार करावी. याचा आकार रुग्णाच्या जानुवर व्यवस्थीत बसेल असा असावा.

(2) **रुग्ण सिध्दता** - रुग्णास जानुबस्ति करतांना बसवून पाय पसरून जानुसंधीच्या ठिकाणी वरीलप्रमाणे तयार केलेले पाळी लावावी किंवा रुग्णास उताणे झोपवून जानुसंधीच्या ठिकाणी पाळी लावावी.

(3) **तैल कोष्ण करणे** - एका मोठया पातेल्यामध्ये गरम पाणी घ्यावे, त्यामध्ये एका लहान पात्रात तैल घेवून कोष्ण करण्यास ठेवावे. तैलाचे सामान्यता तापमान - 45 ते 50°C एवढे असावे.

प्रधानकर्म

सहाय्यकाने पाळीमध्ये आपले बोट घालून त्यावर चमच्याने कोष्ण तैल हळूहळू सोडावे. रुग्णास सहन होईल असा तैलाचे तापमान असावे याची काळजी घ्यावी.

दरम्यानच्या काळात सहाय्यकाने तैलामध्ये अंगठा हळुहळू फिरवावा व रुग्णाच्या जानुभागी अल्पदाबाने मर्दन करावे. यामुळे तैलाचे तापमान एक सारखे राहील व स्थानिक मर्दनाने रूजा शांत होईल.

ही क्रिया होत असतांना तैलाचे तापमान कमी झाल्यास चमच्याच्या साहय्याने तैल बाहेर काढावे व पुन्हा नवीन कोष्ण तैल पाळीमध्ये घालावे. हा क्रम चालू ठेवावा. तैल बदलण्याच्या काळात वेळ जाऊ देऊ नये. सुमारे अर्ध्या तासानंतर तैल बाहेर काढून पाळी देखील काढून घ्यावी.

दर 3 दिवसानंतर नवीन तैल घ्यावे. पिझिचिल प्रमाणे 7 व्या दिवशी तिसऱ्या दिवसाचे व सहाव्या दिवसाचे उरलेले तैल घ्यावे.

सामान्य तापमान - 45 ते 50°C

कालावधी - 30 ते 45 मिनिटे, 7 ते 14 दिवस

पश्चातकर्म

(1) अभ्यंग - पाळी काढून घेतल्यानंतर जानुभागी लागलेल्या तैलाच्या सहाय्याने हलक्या दाबाने अभ्यंग करावे.

(2) स्वेदन - अभ्यंगानंतर टॉवेल गरम पाण्यातून पिळून त्याद्वारे जानुप्रदेशी स्वेद करावे.

घ्यावयाची काळजी -

(1) क्रिया करतांना रुग्णास शूल वाढल्यास तात्काळ क्रिया थांबवावी.

(2) तैल बदलण्याचा काळ अधिक नसावा.

(3) तैलाचे तापमान रुग्णास सुखकर असावे.

उपद्रव व चिकित्सा -

दग्ध - घृतकुमारी,शतधौत घृत - स्थानिक

ग्रीवा बस्ति

'ग्रीवा' भागी तैल धारण करून स्वेदन करण्याची क्रियेस ग्रीवा बस्ति किंवा मन्याबस्ति म्हणतात. हा स्निग्ध प्रकारचा स्वेद असुन कटिबस्ति प्रमाणेच याची विधी व उपयोगिता आहे केवळ स्थान बदलले आहे.

ग्रीवा बस्ति योग्य (Indications):

(1) मन्यागत वात

(2) अवबाहुक

(3) विश्वाचि

वरील व्याधी अवस्था Cervical spondylitis, Cervical Spondylosis, Ankylosing spondylitis, Trapezius muscle spasm, Disc prolapsed, bulging मधे दिसून येतात

विधी: ग्रीवा बस्ति करतांना रुग्णास पालथे झोपवून ग्रीवाबस्ति करावी किंवा खुर्चीवर बसूवन रुग्णास डोकं समोर टेबलवर ठेवण्यास सांगावे ज्यामुळे ग्रीवा प्रदेशी पाळी सुखकर लावता येईल.

घ्यावयाची काळजी, उपद्रव व चिकित्सा कटिबस्ति प्रमाणे.

हृद्बस्ति/उरोबस्ति

हृद्स्थानावर (2nd intercostal space to 6th intercostal space at left side) तैल धारण करून अल्प स्वेद देण्याची क्रिया हृदबस्ति होय. यास हृद् वा उरो तर्पणही म्हटले जाते. हा स्निग्ध स्वेद प्रकारचा स्वेद आहे.

हृदबस्ति योग्य (Indications):

(1) हृदशूल (Non-MI)

(2) Muscular spasm

(3) तमक श्वास (Br. Asthma)

(4) Strengthening for heart muscles

(5) Cardiomyopathy

पूर्वकर्म

(1) **पाळी तयार करणे** - सर्व प्रथम उडीदाचे पीठ चाळणीने गाळून आवश्यकतेनुसार त्यात पाणी घालावे व मळून घ्यावे. त्यानंतर थोडं उडीदाच्या पीठाची पिष्टी बाजूला ठेवून उरलेल्या सर्व पीठाची गोलाकार रिंगण/पाळी (Rim) तयार करावी. याचा आकार रुग्णाच्या उरोभागी व्यवस्थीत बसेल असा असावा.

(2) **रुग्ण सिध्दता** - रुग्णास मल-मूत्र विसर्जनानंतर उर:भागी निर्वस्त्र करून द्रोणीमध्ये उत्तान (Supine) स्थितीत झोपण्यास सांगावे. वरील तयार केलेली पाळी रुग्णाच्या उर:भागी ठेवून त्यास उरलेल्या उडदाच्या पिष्टीने त्वचा व पाळी यातील पोकळी बंद करून घ्यावी ज्यामुळे पाळीतील तैल बाहेर पडणार नाही.

(3) **तैल कोष्ण करणे** - एका मोठया पातेल्यामध्ये गरम पाणी घ्यावे, त्यामध्ये एका लहान पात्रात तैल घेवून कोष्ण करण्यास ठेवावे. तैलाचे सामान्यता तापमान - 45 ते 50^{0}C एवढे असावे.

प्रधानकर्म

सहाय्यकाने पाळीमध्ये आपले बोट घालून त्यावर चमच्याने कोष्ण तैल हळूहळू सोडावे. रुग्णास सहन होईल असा तैलाचे तापमान असावे याची काळजी घ्यावी.

दरम्यानच्या काळात सहाय्यकाने तैलामध्ये अंगठा हळुहळू फिरवावा व रुग्णाच्या हृदभागी अल्पदाबाने मर्दन करावे. यामुळे तैलाचे तापमान एक सारखे राहील.

ही क्रिया होत असतांना तैलाचे तापमान कमी झाल्यास चमच्याच्या साहयाने तैल बाहेर काढावे व पुन्हा नवीन कोष्ण तैल पाळीमध्ये घालावे. हा क्रम चालू ठेवावा. तैल बदलण्याच्या काळात वेळ जाऊ देऊ नये. सुमारे अर्ध्या तासानंतर तैल बाहेर काढून पाळी देखील काढून घ्यावी.

दर 3 दिवसानंतर नवीन तैल घ्यावे. पिझिचिल प्रमाणे 7 व्या दिवशी तिसऱ्या दिवसाचा व सहाव्या दिवसाचे उरलेले तैल घ्यावे.

सामान्य तापमान - 45 ते 50^{0}C

कालावधी - 30 ते 45 मिनिटे, 7 ते 14 दिवस

पश्चातकर्म

(1) अभ्यंग - पाळी काढून घेतल्यानंतर हृदभागी लागलेल्या तैलाने अभ्यंग करावे.

(2) स्वेदन - अभ्यंगानंतर टॉवेल गरम पाण्यातून पिळून त्याद्वारे हृदप्रदेशी स्वेद करावे.

घ्यावयाची काळजी -

(1) तैल बदलण्याचा काळ अधिक नसावा.

(2) तैलाचे तापमान रुग्णास सुखकर असावे.

उपद्रव व चिकित्सा -

दग्ध - घृतकुमारी,शतधौत घृत - स्थानिक

Sauna Bath :

The word Sauna referred to the traditional Finnish bath and bathhouse. The Sauna was first invented in Ancient Finland. The participant has to sit between 70^{0}C (158^{0}F) to 100^{0}C (212^{0}F) this induces relaxation and promotes sweating.

Sauna can be divided into two

i) Convention saunas that warm the air

ii) Infrared saunas that warm objects like charcoal, active carbon fibers as stones.

Sauna is made up of wooden room ranges from 3'x4' for one person to 10'x14' for 6-8 persons in size. Standard Sauna sizes ranges from 3'x4' with ceiling of 6'6" to 10'x12' large with 7 feet ceiling. Most practising sizes are 5'x7' and 6'x7' with 7 feet height.

The Sauna floor be covered with removable section (duck boards) of wooden slats. It should have proper drainage facility. It is fitted with Sauna heater with rocks.

Generally inside there are two benches, one is low and other is high to sit or sleep. There should be easy door that can be opened easily by the patient. Inside the Sauna there must be call bell switch, one light. The heater is connected with electric switch externally. There should be glass window to observe the patient from outside. Temperature regulator usually there.

Indication :

1. Rheumatic pain
2. Loss of appetite
3. Chronic fatigue syndrome
4. Fibromyalgia
5. Obesity
6. Chronic pain

Contra Indication :

1. Angina
2. Severe aortic stenosis
3. Seizure disorder

Complication:

1. Hyperthermia
2. Dehydration, loss of electrolytes

Sauna has found to cause increase ACTH cartisol, adrenaline and noradrenaline due to hyperthermic stress on the body. It reduces prostaglandine F2-α. It is helpful to lower blood pressure and improve cardiovascular condition.

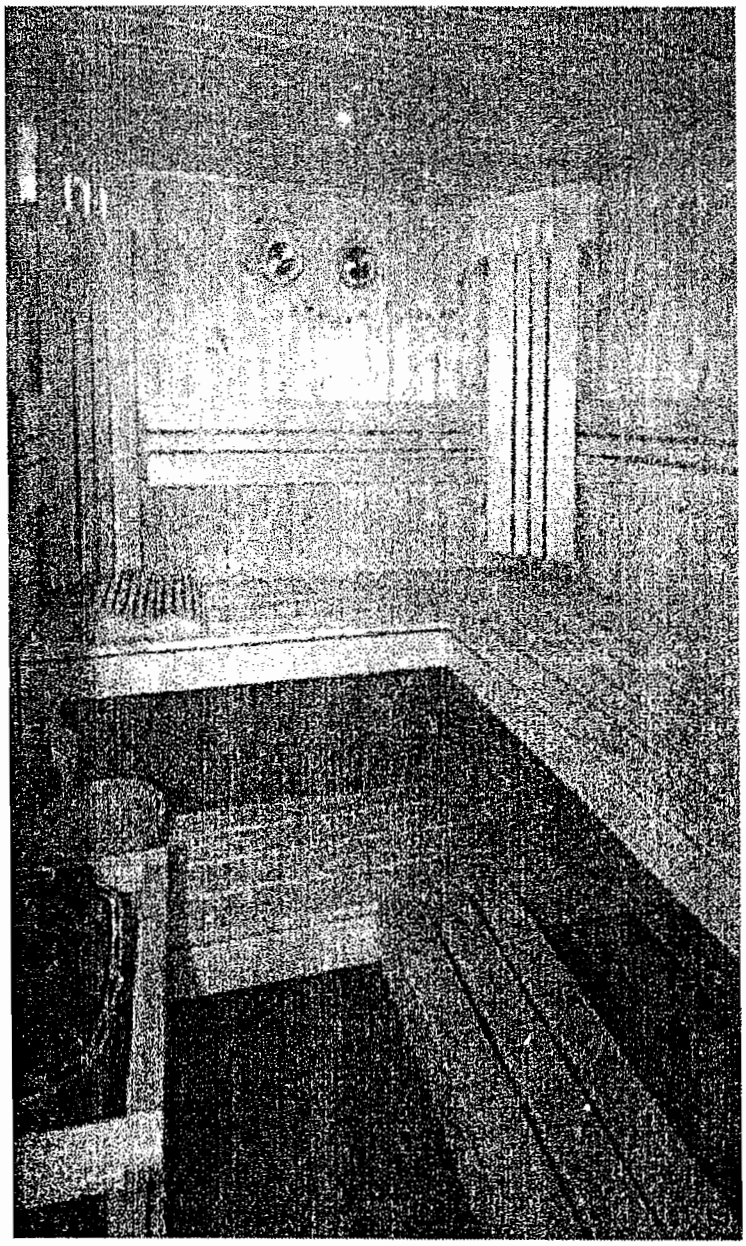

4 वमन (Emesis Therapy)

निरूक्तिः वम- उद्‌गारे, यक् सेट्। वमति

वमन-वमने ल्यूट् (पु)

मर्दने च्छर्दने निःसारणे सर्गाभिष्यंद वमनम्।

वम् म्हणजे उद्‌गार, वमति म्हणजे उद्‌गीरण करणे. 'वम' शब्दास ल्यूट् प्रत्यय लागल्याने 'वमन' शब्द तयार होतो. याचा अर्थ मर्दन, उलटी होणे, बाहेर निघणे किंवा अभिष्यंदन करणे असा आहे.

व्याख्याः अपक्व पित्तश्लेष्माणं बलादूर्ध्व नयेत्तु यत्।

वमनं तध्दि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा। शा.प्र.खं. 1/84

अपक्व पित्त व कफ यांना बलपूर्वक उर्ध्व भागास घेऊन जावून बाहेर काढण्याची क्रिया म्हणजे वमन होय जसे 'मदनफल' कार्य करतो त्याप्रमाणे.

परिचयः

दोषांना स्वस्थानातून बाहेर काढून उर्ध्व वा अधःभागी नेवून त्यांना बाहेर काढण्याची प्रक्रिया म्हणजे संशोधन. (शा.प्र.खं. 1/85) 'तत्र दोषहरणं उर्ध्वभागं वमन सज्ञंकम्-अधोभागं विरेचन संज्ञकम् ।। च.क 1/4

दोष उर्ध्वभागाने निर्हरण केल्यास 'वमन' म्हणावे तर दोष अधोभागाने निर्हरण केल्यास विरेचन म्हणावे.

शास्त्रात विरेचन शब्दाचे अर्थ व्यापक आहे. याचा वापर उर्ध्व व अधो भागाने दोषांना निर्हरण करण्यासाठी वापरला गेला आहे. त्यामुळे 'वमन' या संशोधन प्रकारासाठी शास्त्रात विरेचन ही संज्ञा कुठे-कुठे वापरली आहे. मात्र शाब्दीक गैरसमज टाळण्यासाठी या ग्रंथापुरते वमन व विरेचन या शब्दांचे अर्थ क्रमाने उर्ध्वभागहर क्रिया व अधःभागहर क्रिया हेच अर्थ समजावे.

दोषांची वृध्दि झाली की दोष बाहेर काढण्यासाठी वात प्राधान्य असल्यास बस्ति चिकित्सा, पित्तासाठी विरेचन व कफासाठी वमन चिकित्सा परम चिकित्सा आहे.

शरीरजानांदोषाणां क्रमेण परमौषधम।

बस्तिर्विरेकावमनं तथा तैलघृतंमधु।। **अ.ह.सू. 1/25**

वमन कर्म कफ स्थानासाठी प्रधान मानले आहे. त्यामुळे आमाशयोत्थ व्याधीसाठी वमनाची महती अधिक आहे. पित्ताचेही स्थान आमाशयाशी असल्यामुळे पित्त व्याधीमध्येही वमन कर्म उपयोगी आहे. वमनाचे वैशिष्ट्ये म्हणजे केवळ कफ व पित्ताचे संशोधन करत नाही तर वाताचेही शोधन केले जाते म्हणून वमनाचे संशोधन चिकित्सेत वेगळे महत्त्व आहे.

वमन कर्म प्रत्यक्षात निश्चितच एखाद्या शस्त्रकर्मा सारखे आहे त्यामुळे बरेचशे चिकित्सक वमन कर्म करण्यास घाबरतात किंबहूना वमनकर्म बऱ्याचशा आयुर्वेद हॉस्पिटल/पंचकर्म विभागात केलेच जात

नाही. परंतु योग्य काळजी घेतल्यास घाबरण्याची गरज नाही. रुग्णामध्ये या कर्माने आश्चर्यकारक यश मिळाल्याशिवाय राहात नाही.

महत्त्व व उपयोगिता (Importance & Utility)

आयुर्वेदामधे संशोधन व संशमन या दोन चिकित्सा क्रिया आहेत. संशोधनामध्ये कफ व्याधिसाठी वमन कर्म ही प्रमुख चिकित्सा आहे.

आयुर्वेदाच्या सिध्दांतानुसार क्षीण दोष असल्यास त्यांची वृध्दी करावी, कुपित दोष असल्यास त्यांचे शमन करावे, वाढलेल्या दोषांचे निर्हरण करावे व समदोषांना साम्यावस्थेत ठेवावेत. वृध्द दोषांचे निर्हरण करण्यासाठी वमन व विरेचन कर्म करावे. यावरून वमन कर्माचे महत्त्व लक्षात येते.

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः। कुपिता प्रशमयितव्याः।
वृध्दा निर्हर्रतव्याः। समा परिपाल्याः। इति सिध्दान्तः।
प्राधान्येन वमन-विरेचन वर्तते निर्हरणे दोषाणाम्।। सु.चि. 33/2

वमन हे केवळ कफ दोषांच्याच चिकित्सेसाठी नाही तर पित्त व वाताचे निर्हरण करण्यासाठी उपयुक्त आहे. उदा. अम्लपित्तामध्ये वमन (योगरत्नाकर).

बहुदोष व्याधींच्या चिकित्सेसाठी संशोधन करणे आवश्यक आहे. दोष प्राधान्यानुसार वमन करणे आवश्यक ठरते. उदा. कुष्ठचिकित्सा

महारोगाध्यायोक्त व्याधींमध्ये कफज प्राधान्य बघून वमन उपयुक्त ठरते. ज्याप्रकारे धानाच्या शेतीतील बांध तुटल्याने पाणी वाहून धान सुखून जातो त्याप्रमाणे वमनक्रियेने दोष बाहेर निघाल्याने रोग शांत होतो. (च.सि. 2/10)

आयुर्वेदाचे प्रयोजन स्वस्थ व्यक्तीच्या स्वास्थाचे रक्षण करणे आहे. ऋतुनूसार शरीरामध्ये होणाऱ्या दोषांचा संचय-प्रकोप व अवस्था सांभाळण्याचे कार्य ऋतुनूसार संशोधनाने होवू शकेल. त्यामुळे वसंत ऋतुमध्ये होणारा कफाचा प्रकोप वमन कर्माद्वारे नियंत्रित ठेवला जाऊ शकतो. त्यामुळे या ऋतुमध्ये होणारी कफजन्य व्याधीपासून संरक्षण केले जाऊ शकते व पर्यायाने WHO चे घोषवाक्य Health for all साठीही - पंचकर्माच्या सहाय्याने हातभार लावला जावू शकतो.

सध्याच्या काळात 'रसायन' कर्माचे महत्त्व नाकारले जाऊ शकत नाही. स्वस्थ राहण्यासाठी ते रोग निवारणापर्यंत रसायन चिकित्सेचे महत्त्व अवादातीत आहे. रसायन चिकित्सा करण्यापूर्वी पंचकर्माने शोधन आवश्यक आहे. पर्यायाने रसायन कर्मासाठी वमनकर्म करणे गरजेचे आहे.

सुप्रजा व अपत्य हे वाजीकरणाचे अंग आहे. सद्यस्थितीत ज्या प्रमाणात नपुंसकत्व वाढत आहे तसेच शुक्रक्षीणतेचे लक्षण वाढत आहे. तेवढेच वाजीकरण चिकित्सेचे महत्त्व वाढत जाणार आहे. केवळ अपत्य जन्माला येणे महत्त्वाचे नाही तर सुप्रजनन (सुदृढ प्रजा) होणे आवश्यक, या साठी वाजीकरण चिकित्सा आवश्यक आहे. वाजीकरण चिकित्सेपूर्वी शरीराचे संशोधन आवश्यक आहे. त्यामुळे वाजीकरण पूर्व वमन कर्म आवश्यक आहे.

वम्य (Indications for vaman)

संहितांमध्ये वमन चिकित्सा जेथे उपयुक्त सांगितली आहे त्या व्याधींची एक यादी आहे. सामान्यत: या व्याधींना खालीलप्रमाणे विभाजन करता येऊ शकेल. त्यामुळे आजच्या काळातील व्याधींचा प्रत्यक्ष उल्लेख नसला तरी दोषांच्या प्राधान्याने सम्प्राप्ति व चिकित्सकाच्या तर्कानुसार वाम्य व्याधी सहजपणे ओळखता येतील.

(1) कफदोष प्राधान्याने होणाऱ्या व्याधी उदा. श्लीपद, कास वा उत्क्लीष्ट कफ किंवा कफस्थानगत व्याधी उदा. उर्ध्वजत्रुगत.

(2) बहुदोष असणाऱ्या व्याधी उदा. कुष्ठ, श्वास.

(3) आमाशयोद्भव व्याधी उदा. श्वास.

(4) कफसंसृष्ट पित्त उदा. विदग्धाजीर्ण

(5) कफस्थानगत पित्त. उदा. अम्लपित्त.

(6) पृथ्वीजल प्राधान्य धातुगत व्याधी. उदा. रस, मांस, मेदगत.

(7) मार्गावरोध चिकित्सा योग्य व्याधी. उदा. अधोगरक्त पित्त.

(8) विषसंबंधी

(9) गंभीर प्रकाराच्या व्याधी. उदा. उन्माद, अपस्मार.

(10) तीव्र स्वरूपात उत्पन्न होणाऱ्या व्याधी ज्यामुळे प्राणावरोध होऊ शकतो. उदा. श्वास, विषपीत.

(11) रसायन कर्मासाठी → रसायनाचे पूर्वकर्म
→ वमन कर्माचे रसायन कार्य
→ वमन द्रव्याचे रसायन कार्य

(1) पीनस - Chronic rhinitis
(2) कुष्ठ - Skin diseases
(3) राजयक्ष्मा - Tuberculosis
(4) नवज्वर - Fever with recent origin
(5) कास - Cough
(6) श्वास - Dyspnea wrt. Br. Asthma
(7) श्लीपद - Filariasis
(8) गलगंड - Thyroid enlargement/Goitre
(9) प्रमेह - Diabetes/Polyurea
(10) मंदाग्नि - Decreased appetite
(11) विदग्धाजीर्ण - Indigestion
(12) विसुचिका - Gastroenteritis
(13) अलसक - Distension of abdomen
(14) विषपीत - Consumption of poison
(15) विषदग्ध - Chemical burn
(16) विषदंष्ट्र - Poisonous bite
(17) विध्द - Trauma
(18) अधोग रक्तपित्त- Bleeding per rectal/
(19) मुखप्रसेक - Excessive salivation
(20) दुर्नाम (अर्श) - Hemorrhoids

(21) हल्लास - Nausea
(22) अरूचि - Anorexia
(23) अपचि - Cervical lymphadenitis
(24) ग्रंथी - Lymphadenitis, thyroid
(25) अपस्मार - Epilepsy
(26) उन्माद - Insanity
(27) पाण्डू - Anemia
(28) अतिसार - Diarrhoea
(29) शोफ - Edema
(30) स्तन्यदुष्टी- Abnormality of breast milk
(31) अर्बुद - Tumors
(32) मेदोरोग - Obesity
(33) विदारिका - Cracked foot, planter psoriasis
(34) हृद्रोग - Heart diseases exclude MI
(35) चित्तविभ्रम - Irrelevant behaviour
(36) विसर्प- Skin diseases having characteristic of sudden spread e.g. pemphigus, herpes.
(37) विद्रधि - Abscess
(38) पुतिनासा - Atrophic rhinitis
(39) कंठपाक - Sore throat urethral
(40) कर्णस्राव - Otitis media
(41) अधिजिव्हिका - Epiglotitis
(42) अधिशुण्डिका - Uvilitis

अवाम्य (Contraindication of vaman karma)

च.सि. 2/10, सु.चि. 33/14, अ.हृ.सू. 18/3-6

(1) गर्भिणी (Pregnant women)
(2) रूक्ष (Dehydrate)
(3) क्षुधित (Hungry)
(4) नित्यदु:खी (Melancholic)
(5) बाल (Children)
(6) वृध्द (Old aged)
(7) कृश (Emaciated)
(8) स्थूल (Obese)
(9) हृद्रोग (Heart diseases)
(10) क्षत (Injured)
(11) दुर्बल (Weak)
(12) प्रसक्तवमथु (Continuous vomiting)
(13) प्लीहारोग (Splenomegaly)
(14) तिमिर (Defective vision)
(15) कृमिकोष्ठी (Worms infestation)
(16) उर्ध्वप्रवृत्तवायू (Belching air)
(17) अर्श (Bleeding disorder)
(18) बस्तिदान (अनुवासीत व आस्थापीत)
(19) हतस्वर (Hoarseness of voice)
(20) मूत्राघात (Obstructive uropathy)
(21) उदररोग (Ascites)
(22) गुल्म (Abdominal lump/fullness)
(23) दुर्वम/दुच्छर्द
(24) अत्याग्नि
(25) अर्श - Piles (Hemorrhoids)
(26) उदावर्त (Retrograde intestinal movements)

(27) भ्रम (Giddiness)
(28) अष्ठीला (Enlargement of prostate)
(29) पार्श्वरूक् (Pain in flanks)
(30) वातरोगी
(31) कर्महत (Excessive physical exercise)
(32) भारहत (Excessive heavy work)
(33) उपवासित (Fasting)
(34) मैथून प्रसक्त (Excessive sex)
(35) अध्ययन प्रसक्त (Students, writer)
(36) व्यायाम प्रसक्त (Excessive exercise)
(37) चिंता प्रसक्त (Mental stress)
(38) शिर:शूल (Headache)
(39) शंखशूल
(40) कर्णशूल (Earache)

वमन योग्यामध्ये पाण्डुचे वर्णन केलेले आहे तर अवाम्यमध्ये 'प्लीहा' रोग्यांचे वर्णन आहे. प्लीहा रोगी पाण्डू रोगी असणार आहे. परंतु ज्या पाण्डू (Anemia) च्या अवस्थेमध्ये Splenomegaly असेल उदा. Leukemia, sickle cell anemia, malaria अशा रुग्णांमध्ये वमन करू नये.

प्रसक्त:पूर्वे प्रायेणामज्वरोऽपिच।

धुमान्ते: कर्मभिर्वर्ज्या: सर्वैरेव त्वजीर्णिन: (अ.हृ.सू. 18/7)

प्रसक्तवमथुपूर्वीचे म्हणजे अवाम्यच्या यादीतील गर्भिणी पासून तर प्रसक्त वमथू पर्यन्त (रूक्ष, क्षुधित .... इ.) आमज्वर व अजीर्ण रोग्यांमध्ये शक्यतो धुमपानापर्यंतच्या सर्व क्रिया (वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य) करू नयेत. अर्थात अशा रुग्णांमध्ये संशोधन क्रिया टाळाव्यात.

वरील व्याधींची यादी बघता खालीलप्रमाणे अवाम्य व्याधींचे वर्गीकरण करता येऊ शकते.

1) ज्या व्याधींमध्ये Emergency treatment आवश्यक आहे. उदा. हृद्रोग.
2) रुग्णाचे बल कमी असणे. उदा. कृश, बाल, वृध्द, गर्भिणी.
3) वायू वृध्दि होणाऱ्या व रूक्षता उत्पन्न व्याधी. उदा. मैथून प्रसक्त, अध्ययन प्रसक्त, नित्यदु:खी.
4) दोषाची उर्ध्वगती असलेले व्याधी. उदा. रक्तपित्त, उर्ध्ववात.
5) दुश्छर्द: ज्यांना वमनाची प्रवृत्तीच होत नाही.

अवाम्यामध्ये वमन:-

चरक, सुश्रुत व वाग्भटांनी 'वमन' करू नये अशा व्याधीची यादी दिली परंतु सगळयाच अवस्थेत वमन करूच नये असा त्यांचा अर्थ नाही. किंवा 'वाम्य' व्याधींमध्ये प्रत्येकच अवस्थेत 'वमन' करावे असाही अर्थ नाही. चिकित्सकाने स्वत:च्या तर्काच्या व बुध्दिमत्तेच्या आधारावर रुग्ण अवस्था, व्याधी अवस्था, दोषस्थिती याचा सारासार विचार करून निर्णय घ्यावा. हा केवळ वमनापूरताच मर्यादित नाही तर सर्वच क्रियांसाठी सामान्य नियम आहे. (च.सि. 2/25-26)

'अवाम्य' व्याधीमध्ये वमन केल्यास व्याधीवृध्दि किंवा व्याधी असाध्य अवस्थेत जाऊ शकतो (सु. चि. 33/16) परंतु 'अवाम्य' व्याधीमध्ये अजीर्ण, विषाक्त अवस्था (Poisonous condition) किंवा कफ

प्रकुपित असेल तर वमन करण्यात हरकत नसावी.

एतेऽप्य जीर्ण व्यथिता वाम्य ये च विषातुराः।

अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकांबुना।। **(सु.चि. 33/17)**

च्छर्दि, हृद्रोग, गुल्म हे अवम्य व्याधी आहेत परंतु अवस्थानुसार वमन करण्याचे चरकाचार्यांनी निर्देश दिलेले आहे. (च.सि. 2/27-28)

वातज गुल्मामध्ये कफ वृध्दी अग्निमांद्य, अरूचि, हृल्लास, गौरव, तंद्रा इ. कफ वृध्दीची लक्षणे दिसल्यास वमन करावे. (च.चि. 5/29)

वातगुल्मे कफोवृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि।

हृल्लासं गौरव तंद्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम्।। **(च.चि. 5/29)**

वातव्याधीमध्ये वमनः

(1) गृध्रसी (भा.प्र.चि. 24/133, 13)

(2) पक्षाघात, त्रिकाघात, स्कंधाघात, मन्यागतवात (वंगसेन)

(3) प्रत्याध्मान (सु.चि. 5/26)

(4) अर्दित-शोक लक्षण असल्यास (वंगसेन)

(5) पक्षाघात - **वान्तस्य पक्षाद्विरेचनं** (डल्हण टिका सू.चि. 5/19)

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतात्र बलं तृणाम् ।

अव्याधि दुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ।। **(सु.सू. 39/12)**

व्याधीबल, पुरूषबल व अग्निबल यांचा विचार करतांना दुर्बल व्यक्तींमधे वमनाचा निर्णय करणे कठीण जाते. अशा वेळी दोष स्वस्थानातून चलायमान झालेले असल्यास व कोष्ठ मृदू असल्यास रुग्णाच्या शारीरीक बलाचा विचार न करता रुग्ण दुर्बल असला तरी शोधन करावे.

वामक द्रव्य व गुणधर्म (Vamakdravya & general properties)

वमन करणारे द्रव्य शरीरामध्ये त्यांच्या विशिष्ट गुणांनुसार कार्य करतात. त्यांच्या याच गुणांमुळे स्रोतसांमध्ये पोहचून दुषित दोष एकत्र आणून बाहेर काढण्याची क्रिया केली जाते आणि याच गुणांमुळे ते 'वामक द्रव्य' म्हणून ओळखले जातात. ह्यांची गुणे खालीलप्रमाणे आहेत:

- **तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सुक्ष्म व्यवायि विकासीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थुलाणुस्रोतोभ्य .....** **च.क. 1/5**
- **वमन द्रव्याणि अग्निवायु गुणभूयिष्ठानि, अग्निवायु हि लघु, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुतिष्ठन्ति, तस्माद् वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्।** **सु.सू. 41/6**

(1) **उष्ण** - अग्नि प्रधान गुण स्त्रोतसात सहजतेने पोहचून दोषांचे विष्यंदन करण्याचे कार्य ज्यामुळे दोष कोष्ठाकडे जाण्यास प्रवृत्त होतात.

(2) **तीक्ष्ण** - अग्नि प्रधान गुण; यामुळे दोषांचे छेदन केले जाते. दोष शोधन करण्यासाठी व स्वस्थानातून विचलीत करण्यासाठी कार्य.

(3) **सुक्ष्म** - स्त्रोतसांमध्ये पसरण्यासाठी द्रव्यांमध्ये सुक्ष्म गुण आवश्यक. अग्नि, वायू व आकाश महाभूत प्राधान्य असलेला गुण. यामुळे स्थूल स्त्रोतसांमध्ये अणुत्व (अणू स्त्रोतसामधे प्रवेश) वं प्रवणत्व (कोष्ठाकडे दोषांना आणण्याची प्रवृत्ती) कार्य सुक्ष्म गुणामुळे शक्य आहे.

(4) **व्यवायि** -द्रव्य जाठराग्निद्वारा पचन होण्याआधीच स्त्रोतसांमध्ये पसरले जाते व द्रव्यांच्या इतर गुणांमुळे लवकर क्रियान्वित होते.

(5) **विकाशी** - सर्व शरीरात लगेच विकसीत होवून संधि शिथील करणारा गुण धातु पासून ओज पृथक करणारा गुण. यामुळे द्रव्याचे कार्य तत्काळ सुरू होवून धातु श्लिष्ट दोष पृथक करण्यासाठी मदत करते.

(6) **प्रभाव** - सर्वात महत्त्वाचा गुण म्हणजे द्रव्याचा स्वत:चा वामक प्रभाव ज्यासाठी दुसरे स्पष्टीकरण नाही. सर्व वामक द्रव्य उष्ण-तीक्ष्ण असल्याबरोबर अग्नि, वायू व आकाश महाभूत प्राधान्याचे असल्याने लघुत्व हा गुण या द्रव्यांसोबत असतो परिणामी हे द्रव्य उर्ध्वगुण भुयिष्ठ आहेत. त्यामुळे वामक द्रव्य दोषांना उर्ध्व दिशेने घेवून जाण्याचे सामर्थ्य ठेवतात. याचा अर्थ असा नाही की, प्रत्येक अग्नि-वायू गुणाचे द्रव्य 'वामक' असतील. त्यामुळेच प्रभावाचे महत्त्व विशेष आहे.

वामक द्रव्य:

चरकोक्त:

(1) **शणपुष्पी च बिंबी च च्छर्दने हैमवत्यपि।** **च.सू. 1/78**

(2) **धामार्गवमथे इक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।**
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी। **च.सू. 1/83-84**

(3) **सौवर्चलं सैंधवं च विडमौद्भिद्मेव च**
सामुद्रेण सहैतानि पंच स्युर्लवणानि च।।
स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णाणि दीपनीयतमानि च। **च.सू. 1/88-90**

(4) **मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनं**
पिप्पली कुटजइक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च। वमनांर्थ प्रयुंजीत **च.सू. 2/108**

(1) शणपुष्पी मूळ (2) बिंबीमूळ (3) वचामूळ
(4) धान्यार्गव (5) इक्ष्वाकु (6) जीमुत
(7) कृतवेधन (कडू तुरई) (8) मदनफळ (9) करंज फळ
(10) त्रपुष (कडू खीरा) (11) हस्तिपर्णिनी (12) सर्व लवण
(13) अश्मंतक (14) पिंपळी (15) एला

सुश्रुतोक्त (सु.सू. 39/3):

(1) मदन फल (2) कुटज फल (3) जीमूत फल
(4) इक्ष्वाकु फल (5) सर्षप फल (6) विडंग फल
(7) पिंपळी फल (8) करंज बीज (9) प्रपुन्नाड फल (चक्रमर्द)
(10) कोविदार मूल (11) कर्बुदार मूल (12) अरिष्ठ(निम्ब)मूल
(13) अश्वगंधा मूल (14) विदुलमूल (वेतस) (15) वचा मूल
(16) शणपुष्पी मूल (17) बिंबी मूल (18) मुगैवारु (इंद्रवारूणी)
(19) चित्रा मूल

वाग्भटोक्त (अ.ह.सू. 15/1):

(1) मदन फल (2) मधुक (3) लंबा (कडूतूंबी)
(4) निंब (5) बिंबी (6) विशाला (कडू इंद्रायण)
(7) त्रपूष (8) कुटज (9) मुर्वा
(10) देवदाली (11) विडंग (12) विदुल (वेत)
(13) चित्रक (14) चित्रा (15) कोषवती (कडू तुरई)
(16) करंज (17) कणा (पिप्पली) (18) लवण
(19) वचा (20) एला (21) सर्षप

वमनोपग – जे द्रव्य 'वमन' क्रियेच्या वेळी वमन वेग सुलभ होण्यासाठी मदत करतात ते वमनोपग द्रव्य आहेत.

मधू मधुक कोविदार कुर्बुदार नीप विदुलबिंबी-शणपुष्पी सदापुष्पा प्रत्येक पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवंति। च.सू. 4/24.

(1) मधु (2) मधूक (यष्टीमधू) (3) कोविदार (लाल कांचनार)
(4) कर्बुदार (श्वेतकांचनार) (5) नीप (कदंब) (6) विदुल
(7) बिंबी (8) शणपुष्पी (9) सदापुष्पी (अर्क)
(10) प्रत्येकपुष्पी (अपामार्ग)

या व्यतिरिक्त निम्ब, पिप्पली हे द्रव्य सुद्धा वमनोपग म्हणून वापरले जातात. वमनोपगद्रव्यांच्या गुण-कर्मानुसार व्याधी, प्रकृती व अवस्था यांचा विचार करून वमन क्रियेसाठी उपयोग करावा ज्यामुळे अपेक्षित यश मिळू शकेल.

उदा. कफ दोषासाठी - कटू रसयुक्त द्रव्य मिश्रण, उष्ण - उदा. पिपली व मदनफळ, सैंधव

पित्त दोषासाठी - शीत वीर्य - पटोल, वासा, निम्बपत्रक्वाथ,

वात दोषासाठी - मधूर अम्ल लवण

वमन क्रियेसाठी उपयोगात येणाऱ्या सामान्य द्रव्यांचे गुणधर्म सोबतच्या तालिकेनुसार आहे.

आमप्राधान्य कफानुबंध (उर:प्रदेशात किंवा आमाशयात) - मदनफळ + गोदुग्धासोबत

अजीर्ण - सैंधव लवण + उष्णोदक

औषधद्रव्य संग्रह (Collection of Drugs):

भारतामध्ये विविध प्रदेश व वातावरणाची विविधता एक विशेष देणगी आहे. जे द्रव्य ज्या प्रदेशामध्ये उत्पन्न होतात ते द्रव्य त्या त्या प्रदेशातूनच संग्रहीत करावे. सर्वगुण (रस, गुण, वीर्य) परिपूर्ण असलेले तसेच अग्नि, वायू, कृमी यांच्या प्रभावाने त्यांचे गुणप्रभाव नष्ट न झालेल्या द्रव्यांचा संग्रह चिकित्सेसाठी करावा.

उत्तरेकडे उत्पन्न होणारी द्रव्य, त्यांच्या शाखा, पत्र यांचा वर्षा किंवा वसंत ऋतुमध्ये संकलन करावे. मूळ (Roots) यांचा ग्रीष्म ऋतूमध्ये संकलन करावे. उदा. वसंत तसेच शिशिर ऋतुमध्ये पाने गळल्यानंतर व नवीन पाने येण्याचे वेळी मूळांचे संकलन करावे. शरद ऋतूमध्ये साल, कंद, दूध यांचे संकलन करावे. हेमंत ऋतुमध्ये - सार उदा. खदिरसार संकलीत करावे. फूल व फल यांचे त्यांच्या ऋतुनूसार संकलन करावे. सुश्रुतानुसार औषधद्रव्य शीतद्रव्य दक्षिणायणामध्ये तर आग्नेयद्रव्य उत्तरायणामध्ये संकलीत करावी. (सु.सू. 36/5-6)

आजच्या काळात चिकित्सक स्वत: द्रव्य संकलनासाठी जात नाही त्यामुळे त्यांना वितरकांवर अवलंबून राहावे लागते. गुणवत्तेचीही खात्री नसते. त्यासाठी दुसरा पर्याय नाही. मात्र याची शासनाने दखल घेवून Total quality management (TQM) लागू करावी. यासोबतच ISO-9000 certification, Eco-audit procedures (ISO-14000) आवश्यक करावे. ज्यामुळे वातावरणावर कोणताही दुष्परिणाम होणार नाही याची काळजी घेवून औषधी द्रव्यांचे संकलन व वितरण केले जाऊ शकेल तसेच योग्य औषधी द्रव्य चिकित्सकाच्या हाती मिळतील. (Report of the task force on conservation & sustainable use of medicinal plants, planning commission, Govt. of India. March 2010)

वमनद्रव्य

अ.क्र	द्रव्यनाव	Scientific Name	गुणधर्म	कर्म	रोगाधिकार	विशेषता
1.	मदनफळ	Randia spinosa	लघु, रुक्ष वीर्य - उष्ण	वामक, विद्रधीहर प्रतिश्याय व्रणनाशक, कुष्ठ, आनाह, शोथ, गुल्महर (भाप्र.)	सर्वगदाविरोधिच।	वमन द्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनपायित्वात्। च.क. 1/13
2.	जीमुतक	Luffa echinala Roxb.	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, वीर्य - उष्ण	त्रिदोषघ्न, ज्वर, श्वास, हिक्का मध्ये उपयोगी अल्प मात्रा मध्ये यकृतोतेजक व पित्तसारक जास्त/ उत्तम मात्रेत वामक, रेचक	कुष्ठरोग	कुष्ठरोगामधील श्रेष्ठौषध
3.	ईक्ष्वाकु	Lagenaria siceraria	लघु, रुक्ष, वीर्य - शीत	तीव्र वामक व भेदन	प्रमेह	प्रमेहातील सर्वश्रेष्ठ वामक द्रव्य, क्षीण व ग्लानी ग्रस्त रोग्याला वमनास उत्तम
4.	धामार्गव	Luffa cylindrica	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, वीर्य - उष्ण	वामक व भेदन (कोशातकी आमपक्वाशयशोधनी) कृत्रिम विषविकार, गुल्म, उदर, कास, आमाशय वातविकार, कुष्ठ तसेच मुखाचे कफसंचय जन्य विकार	पांडु कोठफलं पांडुषु	स्थिर व कठिण रोगांत उपयोगी
5.	वत्सक (कुटज)	Holorrhena antidysentrica	लघु, रुक्ष, वीर्य - शीत	सुकुमार, रक्तपित्त व कफज विकारामध्ये उपयुक्त, हृदयरोग ज्वर, वातरक्त, विसर्प रोगां मध्ये उपयुक्त	हृद्रोग (कुटजस्य फलं हृदामये)	सुकुमार व्यक्तीमधे उपयुक्त हृद्रोगनाशक (सुकुमारेषु अनत्यय:)
6.	कृतवेधन	Luffa aculargula Roxb.	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, वीर्य - उष्ण	उदर, कुष्ठ, पांडुरोग, प्लीहा शोथ, गुल्म कृत्रिमविष यामध्ये	उदर (उदरे कृतवेधनं हितं)	उदररोग नाशक गाढेषुविषंगदेषुच। (च.क. 6/4)

7.	अरिष्टक (रिठा)	Sapindus trifoliatus	लघु, तीक्ष्ण वीर्य - उष्ण	त्रिदोषघ्न, ग्रहजित गर्भपातन (भा.प्र.) कफघ्न कंडू, विष कुष्ठ विस्फोट नाशक (रा. नि.)	अहिफेन विषक्तता	विशेषत: कफ व वात व्याधीमधे उपयोगी
8.	निम्ब	Azadirecta Indica	लघु, वीर्य - शीत	कुष्ठ, कास, अरुचि, छर्दि, कृमी रक्तपित्त, नेत्ररोग, ज्वर (कै. नि.) कुष्ठ, कफ, कृमि, शिरोरोगनाशक		विषमज्वर, जीर्णज्वर, कंडू प्राधान्य
9.	मधुयष्टि	Glycirrhiza glabra	गुरु, स्निग्ध वीर्य - शीत	चक्षुष्य, बलवर्ण्यकर, केश्य स्वर्य व्रणशोथ, विष, छर्दि, तृष्णा, ग्लानि, क्षयनाशक (भा. प्र.)		छेदन (श्लेष्महर)
10.	अश्वगंधा	Withania somnifera	लघु, स्निग्ध	उर्ध्वभागहराणि वातकफघ्न	श्वित्र, शोथ	अनिलश्लेष्मरिवम शोथक्षयापहा।
11.	श्वेता	Clitoria teraatea	लघु, रुक्ष, शीत	उर्ध्वभागहराणि मेध्य, कण्ठ्य	दृष्टीदोष, व्रण	कटुमध्ये शीते कण्ठये सुदृष्टिदे। कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथ व्रणविषपपहे।।
12.	शणपुष्पी	Chotalaria ocrrucosa	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण,	उर्ध्वभागहराणि (सु.)	कंठरोग	शणपुष्पीच बिंबीच छर्दने (च.सू. 1) वामनी कफपित्तजित् कण्ठह्द्रोग मुखरागविनाशिती।
13.	बिंबी	Coccinia indica	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, वातकफनाशक	उर्ध्वभागहर श्वास, कास, मेध्य	शोफ, पांडू	श्वासकासापहं स्तन्यं फलं वातकफापहं। शोफास्भंपाण्डुन् जयति न मेध्यं छर्दिकृत परम्।। शणपुष्पी च बिम्बीच छर्दने। च.सू. 1

औषधी द्रव्य संरक्षण विधी (Preservation of Drugs)

(च.क. 1/11)

संकलीत केलेले द्रव्य त्यांच्या गुणानुसार असणाऱ्या पात्रामध्ये ठेवावीत. द्रव्यांना सरळ ऊन किंवा हवा लागणार नाही याची काळजी घ्यावी. उंदीर, कीडे, वाळवी यापासून संरक्षण करणारी यंत्रणा असावी.

औषधीद्रव्य आर्द्र व शुष्क यानुसार वर्गीकरण करून आर्द्र द्रव्य रूममध्ये पसरत ठेवावीत तर शुष्क द्रव्य Air tight jar मध्ये ठेवावीत. द्रव औषधी शक्यतोवर प्लास्टीक बॉटलमध्ये ठेवणे टाळावे कारण प्लास्टीक सोबत रासायनिक क्रिया होवून गुणामध्ये फरक पडण्याची शक्यता असते.

द्रव द्रव्य काचेच्या बाटलीत संग्रहीत करून ठेवावी. कपाटामध्ये काचेची बॉटल खालच्या रकाण्यात ठेवावी ज्यामुळे फुटण्याची भीती कमी राहील.

प्रत्येक डब्यावर (container) औषधाचे नाव, द्रव्य, उगम स्थान, संकलन तिथी याचे लेबल चिकटवावे. विषारी द्रव्यांचे स्वतंत्र कपाट व डबे असावेत. त्यावर लाल रंगाने लिहिलेले लेबल चिकटवलेले असावेत.

शुष्क व घन द्रव्य कपाटाच्या वरच्या खणात ठेवावेत तर द्रव द्रव्य खालच्या खणात ठेवावेत.

वमन प्रकार:

वमनाचे प्रत्यक्ष प्रयोगानुसार दोन प्रकारात विभागू शकतो.

(1) मृदू वमन (2) तीक्ष्ण वमन

मृदू	तीक्ष्ण
(1) राजयक्ष्मा (च.चि. 8/87)	(1) प्रमेह पिडका (अ.स.चि. 4)
(2) वातरक्त	(2) उन्माद (सु.उ. 62/14)
(3) कफ-पित्ताने वायू मार्गावरोध (च.चि. 9/9)	(3) पाण्डू (च.चि. 16/40)
(4) पक्षाघात (डल्हण)	
(5) गुल्म (च.चि. 5/3)	
(6) पाण्डू (डल्हण टिका सू.उ. 44/14)	

वमन विधी

वमन कर्म विधी खालील तीन प्रकारात विभागली जाते.

(1) पूर्वकर्म

(2) प्रधानकर्म

(3) पश्चातकर्म

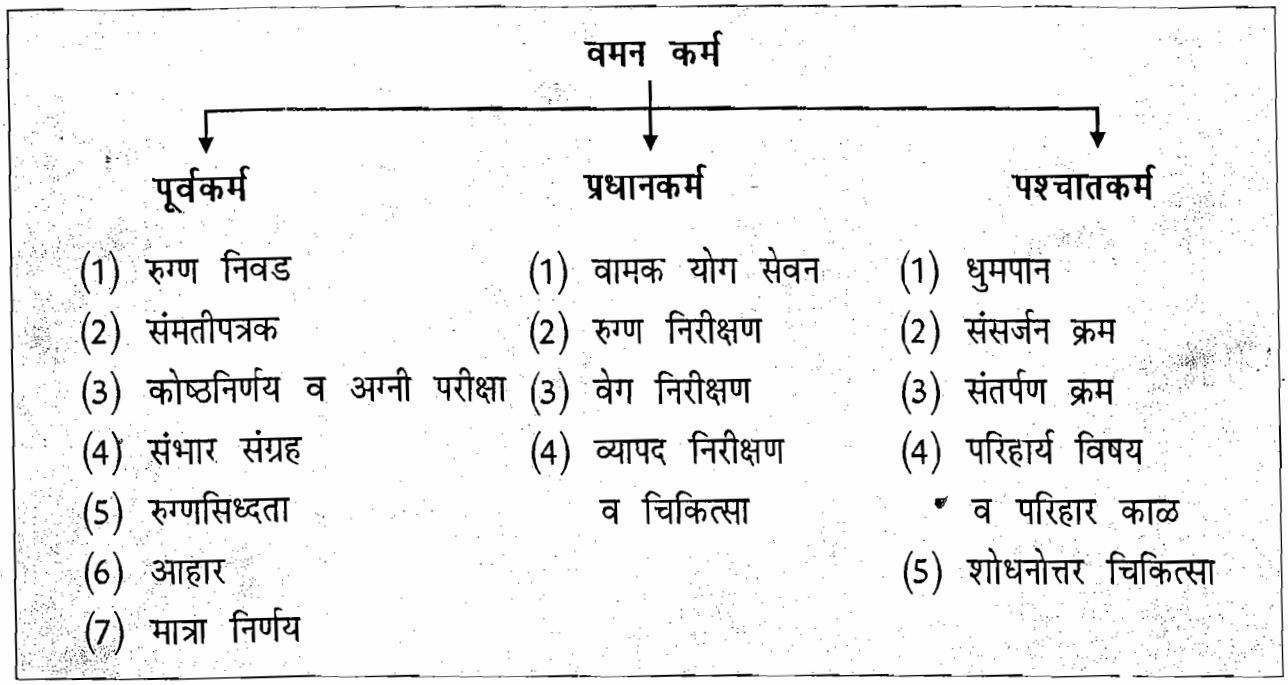

1. रुग्ण निवड:-

व्याधी, प्रकृती, दोष वय, देश, काल या सर्वांचा विचार करून रुग्ण वमनासाठी निश्चित करावा. अवम्य यासाठी या आधीच विचार केलेला आहे. आवश्यकता असल्यास बालकामध्ये पण वमन करता येते. त्यामुळे सरसकट 'वम्य-अवम्य' याचा नियम लावणे योग्य नाही. यासाठी यापूर्वीच शास्त्रोक्त विचार केला आहे.

वमन करतांना देश-काल यांचा विचारही तेवढाच महत्त्वाचा आहे. कारण देशानुसार दोषांची उत्क्लिष्टता पण महत्त्वाची आहे. उदा. दक्षिण भारत (केरळ) मध्ये कफ दोषांचा उत्क्लेश कमी असतो म्हणून केरळमध्ये 'वमन' विधी कमी प्रमाणात केली जाते. तसेच कालाचाही विचार करतांना केवळ इंग्रजी महिन्यांच्या आधारे ऋतुंचे मापन करणे योग्य नाही. उदा. उत्तर भारतात फेब्रुवारी-मार्च मध्ये थंडीच असते त्यामुळे महाराष्ट्रामध्ये या महिन्यात कफाचा उत्क्लेश दिसत असला तरी त्यावेळी मात्र उत्तर भारतात तो उल्लेश असणार नाही. या सर्व गोष्टींचा 'वमन' करण्यापूर्वी विचार करणे आवश्यक आहे.

मात्र रोगाची अवस्था उत्क्लेशाची असल्यास किंवा व्याधी बहुदोषाचा असल्यास वमन कोणत्याही काळात केले जाऊ शकते. त्यावेळी दोष निर्हरण महत्त्वाचे असते.

2. **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास समजेल अशा भाषेत पंचकर्मातील विधीमुळे होणारे फायदे व संभावीत व्यापद समजावून लिखीत पत्रकावर रुग्णाची व/अथवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.

3. कोष्ठ निर्णय व अग्निपरिक्षा:

'वमन' करण्यापूर्वी स्नेहन स्वेदन या क्रिया महत्त्वाच्या आहेत. त्यामुळे स्नेहपान करण्यापूर्वी रुग्णाची अग्निपरीक्षा व कोष्ठ परीक्षा करणे आवश्यक आहे. यामुळे एकतर स्नेहाची मात्रा ठरवली जाते व दुसरे

वमनासाठी द्रव्याची मात्रा. यामध्ये चिकित्सकाची चूक होवू नये अन्यथा स्नेहाच्या व वमनाच्या व्यापदांना सामोरे जावे लागेल. असेही कोष्ठ निर्णय केवळ वमनासाठीच नव्हे तर प्रत्येक संशोधनासाठी आवश्यक आहे.

बहुपित्तो मृदु:कोष्ठ:क्षीरेणापि विरिच्यते।

प्रभूत मारूत: क्रुर: कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि।। **अ.ह.सू. 18/32 च.सू. 13/66-6**

मृदू कोष्ठ -पित्त प्रधान व्यक्ती केवळ दुग्ध, इक्षु रस प्याल्यानंतर विरेचन होते.

क्रुर कोष्ठ -वात प्रधान व्यक्तीमध्ये निशोथासारखे तीक्ष्ण विरेचन दिल्यानंतरही कठीण पुरीष प्रवृत्ती.

अग्नीपरिक्षण: (सु.सू. 35/29)

स्नेहपान करतेवेळी व वमन मात्रा ठरवतांना अग्नि परिक्षण महत्त्वाचे असते. अन्यथा अजीर्णादि लक्षण उत्पन्न होवू शकतात. आयुर्वेदानुसार अग्निचे 4 प्रकार आहेत.

अग्नी प्रकार	प्राधान्यता	लक्षणे
(1) सम अग्नी	समदोष असणाऱ्या रूग्णामध्ये सम अग्नी असते.	आहार वेळेत पचविण्याचे कार्य करते. पचनक्रियेत नियमीतता असते.
(2) विषमाग्नी	वात दोष प्राधान्य असणाऱ्या पुरूषांमध्ये 'वात' प्रकोपामुळे अग्नीचे सम्यक कार्य होत नाही व पचनामध्ये अनियमितता असते.	- कधी पचन सम्यक तर कधी असम्यक पचन - आध्मान - उदरशूल - विबंध/अतिसार - आंत्रकुजन - उदर गौरव - प्रवाहण
(3) तीक्ष्णाग्नी	पित्त प्रधान पुरूषांमध्ये पित्त प्रकोपामुळे सम्यक अग्नीचे कार्य बिघडून अधिक तीव्र होते	- गुरूअन्न लवकर पाचन होणे - पाक होणाच्या शेवटी गल, ओष्ठ शोष व दाह ही लक्षणे.
(4) मंदाग्नी	कफ प्रधान पुरूषांमध्ये कफ प्रकोपामुळे अग्नीचे नियीमत कार्य बिघडून अल्प होणे.	- अल्प अन्न पण पचन होत नाही - उदर व शिर गौरव - कास, प्रसेक - श्वास - हृल्लास - गात्र गौरव

वरील लक्षणांवरून रूग्णाच्या अग्नीचे परिक्षण करावे व त्यानुसार सम्यक मात्रा ठरवावी.

इतर परिक्षण:-

वजन

नाडी

B.P.

Lipid profile

Blood sugar

4. संभार संग्रह (Collection of requirements):-

वामक द्रव्य	वमनोपग द्रव्य	व्यापदासाठी	Modern drug
मदनफल-पिप्पली चुर्ण - 4 भाग	इक्षुरस 1500 ml	सूतशेखर	Inj. Perinorm
वचा - 2 भाग (आवश्यकतेनुसार)	दुग्ध 1500 ml	शंखवटी	Inj. Dexamethasone
सैंधव - 1 भाग	मधुयष्टीफांट 2 lit.	प्रवाळपिष्टी	Inj. Efcorlin
पिप्पली-1 भाग (आवश्यकतेनुसार)	लवणोदक 500 ml	चंद्रकला रस	Inj. Adrenalin
मधुयष्टी - 1 भाग		नारिकैल जल	I.V. DNS, NS, D5%
मधू - 25 ml			O_2 Cylinder, Ryle's tube Hot fomentation bag.

4. रुग्णसिध्दता (Preparation of the patient):

वमन कर्मासाठी रुग्णाची निवड झाल्यानंतर त्याची तयारी/सिध्दता करणे तेवढेच महत्त्वाचे असते. यावर चिकित्सेचे यश अवलंबून असते. रुग्णाची सिध्दता खालील प्रमाणे करावी लागते.

स्नेहन:

(i) **आभ्यंतर** - कोष्ठ व अग्निनुसार स्नेहन प्रकरणात वर्णिल्याप्रमाणे 3 ते 7 दिवसांपर्यन्त आभ्यन्तर स्नेहपान करणे आवश्यक आहे. यासाठी स्नेह (घृतादि) व्याधिनुसार निवडून स्नेहपान करावा. सम्यक स्नेहाची लक्षणे आल्यानंतर स्नेहपान बंद करावा. चिकित्सकाने सम्यक स्नेहाची लक्षणे आल्याशिवाय वमन करूच नये असे सांगितले. अन्यथा अयोगाचे व्यापद उत्पन्न होतात. स्नेहपान पूर्ण झाल्यानंतर एक दिवस विश्राम देवून त्यानंतरच्या दिवशी वमन करावे.

(ii) **अभ्यंग** - वमनापूर्वी अभ्यंग 3 दिवस करावे. स्नेहपानाच्या शेवटच्या दिवशी वमनपूर्व एक दिवसाचा विश्राम असतो त्यादिवशी व प्रत्यक्ष वमन क्रिया होणार आहे त्यादिवशी अभ्यंग करावे (च.क. 1/14, अ.हृ.सू. 18/12). यासाठी तैल व्याधिनुसार व रुग्णाच्या प्रकृतीनुसार निवडावे. उदा. त्वक्विकारामध्ये नालपामरादि तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल.

स्वेदन :

प्रत्येक अभ्यंग झाल्यानंतर स्वेदन केले जाते. त्वकविकारामध्ये स्वेदन करु नये किंवा आवश्यकताच असल्यास मृदु स्वेद करावे.

6. आहार व्यवस्था:

(i) **आहार वमनपूर्व स्नेहपान काळात:** लघु, सुपाच्य असावा न अति स्निग्ध, नाति लघु, उष्ण, शीत आहार असावा. असेही 3 ऱ्या दिवसानंतर रुग्णास भूक लागत नाही शक्यतो मूगाची खिचडी/पेज देणे सोयीस्कर असते. तीव्र भूख लागल्यानंतरच रुग्णास हलका आहार खाण्यास द्यावे केवळ जेवणाची वेळ झाली म्हणून रुग्णास काही खाऊ देऊ नये.

(ii) **वमनाच्या एक दिवस पूर्व (विश्राम काळ):** वमनासाठी कफोत्क्लेश होणे आवश्यक असते. त्यामुळे विश्रामाच्या दिवशी रात्री चा आहार हा कफ वर्धक असावा. यासाठी दूध, दही, उडद, तिल इ. आहार द्यावा. (च.क. 1/14, च.सि. 6/18) अ.हृ.सू. 18/12

ग्राम्यौदकानूपरसै: समांसैरूत्क्लेशनीय: पयासा च वम्य:!! **च.सि. 1/8**

प्रत्यक्षात रुग्णास रात्री दही + भाताचे भोजन देण्याची पध्दत आहे.

(iii) **वमनाच्या दिवशी:** पेया, यवागु द्यावे किंवा केवळ दूध द्यावे. काही चिकित्सक वचा सिद्ध दूध देणे पसंत करतात.

मानसोपचार :

रुग्णास धैर्य द्यावे व मानसिक बल वाढेल यासाठी प्रयत्न करावे. तसेच वमन संदर्भातील भय किंवा लज्जा इ. दूर करावे. यासाठी रुग्णास त्यांच्या धर्माप्रमाणे/विश्वासाप्रमाणे प्रात: वमन विधी पूर्व स्वस्तीर्वाचन करण्यास सांगावे.

7. मात्रा निर्णय :- चरक, सुश्रूत आचार्यांनी वमनासाठी मात्रा विचार करतांना वेगवेगळी मते दिली आहेत.

आचार्य चरकानुसार -

(a) मदनफल कषाय मात्रा प्रत्येक रुग्णानुसार वेगवेगळी असते. ज्या मात्रेने दोषहरण होईल व अयोग किंवा अतियोग होणार नाही ती मात्रा योग्य. (च.सू. 15/10)

(b) **तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद् वा।। (च.क. 1/14)**

मदनफल पिप्पली रुग्णाच्या अंतर्नख मुष्ठीत येईल ऐवढे द्यावे.

आचार्य सुश्रुतानुसार -

(1) व्याधीबल, अग्निबल, पुरूषबल याचा विचार करून वमन मात्रा द्यावी.

(2) व्याधी, पुरूष व अग्निबल मध्यम असल्यास वमन योगाची मात्रा - (सु.सू. 31/2)

- कषाय, हिम - 1 अंजली = 160 मिली
- चूर्ण - 1 विडालपदक = 5 ग्रॅम
- कल्क - 1 अक्ष (1 तोळा) = 10 ग्रॅम

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्यांजलिरिष्यते।विडालपदकं चूर्णं देय:कल्कोऽक्षसंमित:।।सु.सू. 39/12

आचार्य वाग्भटानुसारः-

मात्राया नात्यवस्थानं व्याधी कोष्ठबलं वयः।
आलोच्य दोषकालौच योज्या तव्दच्च कल्पना।। **अ.सं.**

वाग्भटांनी व्याधीबल, पुरूष बल यांच्या विचारासोबत देश व कालाचाही विचार करण्यास सांगितले आहे. जे प्रत्यक्षात अनुभवयास मिळते.

आचार्य शार्ङ्गधरानुसार (शा.उ.खं. 3/16-17):

	उत्तम मात्रा	मध्यम मात्रा	हीन मात्रा
क्वाथ	9 प्रस्थ (567 तोळे = 5.6 लीटर)	6 प्रस्थ (384 तोळे = 3.8 लीटर)	3 प्रस्थ (192 तोळे = 2 लीटर)
चूर्ण, कल्क, अवलेह	3 पल (12 तोळे = 120 ग्रॅम)	2 पल (8 तोळे = 80 ग्रॅम)	1 पल (4 तोळे = 40 ग्रॅम)

प्रत्यक्षात वरील निर्देशीत मात्रा खूपच अधिक प्रमाणात वाटते. रुग्णामधे याचा वापरही शक्य नाही.

प्रत्यक्षात वापरण्यात येणारी मात्राः

चूर्ण - 5 ते 10 ग्रॅम

फाण्ट - 150 ते 200 मिली

प्रधानकर्मः-

वमन योग सेवन केल्यापासून ते वमन वेग पूर्ण होई पर्यंत करण्यात येणारे कर्म प्रधानकर्म आहेत.

(1) वामक योग सेवनः

(a) **रुग्ण आसन** - वमन खोलीमध्ये रुग्ण मऊ गादीयुक्त खुर्चीवर बसवावे, रुग्णाचे मूख पूर्व किंवा उत्तरेला असावे, खुर्चीची उंची गुडघ्या एवढी असावी, रुग्णास Apron किंवा टॉवेल बांधावी ज्यामुळे वमनामुळे कपडे खराब होणार नाही. रुग्णाच्या जवळ एक टॉवेल ठेवावा. जवळच स्टूल वर हाथ तोंड धुण्यासाठी भांडे व कोष्णजल याची व्यवस्था ठेवावी. रुग्णासमोर वमनासाठी Sink किंवा टब गुडघ्या एवढया उंचीवर ठेवावे. अशापध्दतीचे यंत्र बनविल्यास अधिक सोयीस्कर ठरते. ज्यामुळे प्रत्येक वेगाचे मोजमाप करता येऊ शकते. रुग्णास धैर्य देवून समजवावे.

(b) **आकण्ठपान** - वमन विधीच्या सुरूवातीस रुग्णास दूध किंवा इक्षुरस आकण्ठपान करण्यास सांगावे. याची मात्रा 1200 मिली पासून 1500 मिली पर्यंत होते. रुग्णास पोटभरल्याची संवेदना झाल्यास दुग्ध/इक्षुरस पान थांबवावे रुग्णाचे पानासाठी देत असलेल्या प्रत्येक द्रव्याची मात्रा पत्रकावर नमूद करावी.

(c) **वामकयोग सेवन** – मदनफल पिप्पलीचूर्ण 2 भाग, सैंधव 1/2 भाग याचे मिश्रण करून या चूर्णाची 3 ग्रॅम – 5 ग्रॅम पर्यन्त मात्रा मधुसह मिश्रण करावे व अभिमंत्रीत करून रुग्णास चाटण द्यावे.

वमनासाठी वचाचूर्ण देण्याचीही पद्धत आहे, परंतु वचा चूर्णाने रुग्णास अधिक काळ पर्यंत वमन होत असते त्यामुळे वामक योगात वचाचूर्ण देतांना रुग्णबल व अवस्था याचा विचार करावा.

मंत्रः–

ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कनिलानलाः। ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्चुपान्तु ते।।
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते।।

च.क. 1/14

2) रुग्ण निरीक्षणः

वमनौषधी सेवनानंतर चिकित्सक व परिचारक यांनी रुग्णाच्या पृष्ठ, पार्श्व भागी सुखोष्ण स्पर्श करावे, व एक मुहुर्त (48 मिनिट) पर्यंत प्रतिक्षा करावी तसेच रुग्णाचे खालील लक्षणांसाठी निरीक्षण करावे.

(1) **रुग्णाच्या ललाट प्रदेशी स्वेद बिंदू** – दोष स्त्रोतसांत शिथील होऊन द्रवीभूत व चलायमान झालेले समजावे.

(2) **रोमहर्ष** – दोष स्थानच्यूत होऊन कोष्ठाकडे येत आहेत असे समजावे.

(3) **आध्मान** – दोष कोष्ठामध्ये आहेत समजावे.

(4) **हृल्लास, लालास्राव** – दोष आमाशयातुन मुखाकडे येत आहेत.

यानंतर रुग्णाने वमन पात्रावर वाकून सुखपूर्वक वमन करावे. जर नीट येत नाही असे वाटल्यास रुग्णास तर्जनी व मध्यमा अंगुलीने गलभागास (पड जीभेस) स्पर्श करण्यास सांगावे त्यामुळे वमन वेग प्रवृत्त होतात.

औषधपानानंतर वमन वेगाचे वेळी वेग सुखकर व्हावे यासाठी परिचारकांने रुग्णाच्या उदरप्रदेशी व पृष्ठ प्रदेशी प्रतिलोम गतीने हलक्या दाबाने हात फिरवावे. प्रत्येक वेगानंतर रुग्णास मधुयष्टी फांट, लवणोदक द्यावा. याने वमनाचे वेग अधिक सुखकर होतात व कोष्ठ शुध्दी होते.

3) वेग निरीक्षणः

वमनाच्या वेगाचे सुरवात झाल्यानंतर उत्सर्जीत द्रव्याचे रंग, स्वरूप, वेग संख्या इ. चे निरीक्षण चिकित्सकाने करणे आवश्यक असते. उत्सर्जीत द्रव्यात रक्त वगैरे तर नाही याकडे लक्ष ठेवावे. वमनाचे वेग मोजतांना एकावेळी 2-3 वेळा रुग्णास उत्सर्जन होते. ते सर्व मिळून एक वेग समजावे. त्यानंतर रुग्णास हृल्लास असतांना वमनोपग द्रव्य (मधुयष्टी फाण्ट) पिण्यास द्यावे; असे वारंवार करावे. सम्यक

योग होईपर्यन्त रुग्णाचे वमन होवू द्यावे. वेगसंख्या व उत्सर्जीत द्रव्यप्रमाण व लक्षणे याद्वारे शुद्धीचा निर्णय केला जातो.

शुध्दी	वेग संख्या (वैगिकी)	उत्सर्जीत द्रव्य प्रमाण (मानिकी)	आंतिकी
प्रवर	8 वेग	2 प्रस्थ = 1 लीटर (Approx)	कफपित्तान्त
मध्यम	6 वेग	1½ प्रस्थ = 800 मिली (Approx.)	कफपित्तान्त
अवर	4 वेग	1 प्रस्थ = 600 मिली (Approx)	कफपित्तान्त

पूर्णत: आमाशय रिकामे झाले म्हणजे वमन संपले अर्थात दोषांचे शोधन झाले. वमन प्रक्रियेमध्ये सर्वप्रथम कफ बाहेर पडतो, त्यानंतर पित्त बाहेर पडतो. उत्सर्जीत द्रव्यामध्ये पीतवर्णाचे दिसणे व रुग्णास कडू चव वाटणे हे पित्त निर्हरणाचे लक्षण होय.यानंतर वात दोषाचे निर्हरण होते. केवळ सशब्द उद्गार निघणे व त्यासोबत द्रव्य नसणे हे 'वात' निर्हरणाचे लक्षण समजावे. पित्त दर्शन हे शुध्दीचे उत्तम लक्षण आहे. वमन हे पित्त दर्शनापर्यंत सम्यक मानावे किंवा कफाचे पूर्णत: निर्हरण होईपर्यंत वमन केल्यानंतर सम्यक मानावे.

पित्तस्य दर्शन यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत्। अ.ह.सू. 18/20

वेग निरीक्षण करतांना वरील शुध्दी (वैगिक, मानिकी, आंतिकी) प्रकार रुग्णानुसार बदलत असतात त्यामुळे सम्यक निर्णयासाठी त्यावर फार अवलंबून राहू शकत नाही. अर्थात यांचे महत्त्व नाही असे नाही. तरीही सम्यक शुध्दीचा निर्णय सम्यक लक्षणावरून करणे उत्तम असते. यास लैंगिकी शुध्दी (लक्षणानुसार) म्हणतात.

सम्यक लक्षण:

क्रमात् कफ: पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग वमित: स इष्ट:।
हृत्पार्श्वमुर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे ।। च.सि. 1/15
पित्तं कफास्यानुसुखं प्रवृत्तं शुध्देषु हृत्कण्ठशिरसु चापि।
लघवौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरूषं व्यवस्थेत्।। सु.चि. 33/17

(1) क्रमाने कफ, पित्त वायू निघणे
(2) हृदयप्रदेशी लघुता
(3) पार्श्व, मुर्ध लघुता
(4) मार्ग (स्रोतस) लघुता
(5) कंठ शुध्दी
(6) कफसंस्रवे च स्थिते (Arrest of excessive salivation)
(7) लघुता अनुभूती

(8) काश्र्य

(9) दौर्बल्य

(10) न चाति महती व्यथा - No discomfort (अ.ह्.सू. 18/22)

अयोग लक्षण:

i) केवलस्य वाम्यौषधस्य विभंश: विबंध: वेगानां अयोग लक्षणानि भवन्ति। च.सू. 15/13

ii) .... तत्र वेगानामप्रवर्तनम्। प्रवृत्ति: सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा। अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठ ज्वरादय:।। अ.ह्.सू. 18/21-22

iii) दुश्च्छर्दिते स्फोटकोठकण्डू हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगातत्रता च। च.सि. 1/16

iv) कफप्रसेकं हृदयविशुद्धि कण्डूश्च दुश्छर्दितलिंगमाहु।। सु.चि. 33/7

(1) वेग अप्रवृत्ती (2) केवल औषधी बाहेर निघणे

(3) वेग-विबंध - वेग थांबून येणे (4) हृदय अशुध्दी - (हृदयप्रदेशी गौरव वाटणे)

(5) निष्ठीव/कफप्रसेक (6) कंडू

(7) कोठ (8) ज्वर

(9) गुरू गात्रता - शरीर भारी वाटणे

अयोग व्यापद:

(1) असम्यक मात्रा - तीव्र अग्नि असतांना, रुग्णास भूक लागलेल्या अवस्थेत मृदू कोष्ठ असल्यास, रुग्ण दुर्बल असल्यास रुग्णास विरेचन होईल यास वमनाचा अयोग समजावा.

चिकित्सा:-औषध जीर्ण झाल्यानंतर पुन: स्नेहन स्वेदन करून कोष्ठ परिक्षणानंतर मृदू किंवा तीक्ष्ण वमन द्यावे.

औषध जीर्ण न झाल्यास कोणताही उपचार करू नये अन्यथा अतियोग होण्याची भीती असते.

औषध जीर्ण लक्षण	औषध अजीर्ण लक्षण
(1) वातानुलोमन	(1) दाह
(2) स्वास्थ्यानुभव	(2) अंगसाद
(3) सम्यक क्षुधा व तृषा	(3) भ्रम
(4) उत्साह	(4) मूर्च्छा
(5) मन प्रसन्न	(5) शिर:शूल
(6) उद्गार शुद्धी	(6) अरति (Restlessness)

(2) **विग्रंथीत दोषांत अल्प औषधी** – दोष विग्रंथीत (consolidated state) असतांना अल्प मात्रा दिल्यास खालील लक्षणे उत्पन्न होतात.

(1) तृष्णा
(2) मूर्च्छा
(3) ह्ल्लास
(4) अरूचि
(5) अरति
(6) अविशुध्द उद्‌गार
(7) पार्श्वशूल (chest pain)
(8) पर्वभेद (pain interphalangeal joints)

चिकित्सा: कोष्ण जलाने पुन: वमन करावे.

(3) **सम्यक दोष शुध्दी न होणे** – रुग्णाचे सम्यक स्नेहन स्वेदन न झाल्यामुळे, रुग्ण रूक्ष शरीर रूक्ष राहिल्यास, अल्प गुणयुक्त औषधी व अल्प मात्रेत औषधी दिल्यास खालील प्रमाणे लक्षणे उत्पन्न होतात.

(1) गौरव
(2) उत्क्लेश – (Nausea)
(3) व्याधी वृध्दी
(4) विभ्रंश (Altered state consciousness)
(5) शोथ
(6) हिक्का
(7) तमोदर्शन
(8) पिण्डिकोद्‌वेष्टन
(9) कंडू
(10) अंगदाह – सोरियासिच्या इ. कुष्ठ रुग्णात वमनाचा अयोग झाल्यास कंडू व दाह या लक्षणांमध्ये वृध्दी होते.

चिकित्सा: स्नेहन स्वेदन करून रुग्णास तीक्ष्ण वमन द्यावे.

(4) **औषधी पचन** – स्नेहन स्वेदनानंतर दीप्ताग्नि असणाऱ्या रुग्णास औषधाचे पचन होते किंवा आमवृध्दी मध्ये शीत औषधी दिल्यास दोषांचा उत्क्लेश करून शोधन करत नाही. यामुळे खालील लक्षणे उत्पन्न होतात.

(1) गौरव

(2) हृदयाशुध्दी

चिकित्सा:

(1) अधिक मात्रेत तीक्ष्ण वमन किंवा

(2) सैंधव सिध्द तैलाने अभ्यंग व संकर स्वेद करून पूर्वी औषधी जीर्ण झाल्यानंतर पुन्हा/पुनः वमन किंवा

(3) गोमूत्रयुक्त निरूह देवून मांसरस युक्त भोजन द्यावे व मदनफलसिध्द, दारूहरिद्रासिध्द तैलाचा अनुवासन द्यावा व नंतर तीक्ष्ण शोधन करावे ज्यामुळे तीक्ष्णौषधीचे अतियोग होणार नाही.

(5) अजीर्ण व वमन - अजीर्णामध्ये वमन औषध द्रव्य दिल्याने खालील लक्षणे उत्पन्न होतात.

(1) विबंध - Constipation

(2) ग्लानि - Sense of uneasiness

(3) विरेचन - Loose motion

चिकित्सा:

(1) आमदोषहर व पाचन औषध प्रयोग. उदा. शिवक्षार पाचन, संजीवनी वटी

(2) कालांतराने वमन

अयोग कारण: (च.सि. 6/40-44)

वमनाचे अयोग होण्याचे कारण सामान्यत: खालीलप्रमाणे आहेत.

(1) रुग्णाचे स्नेहन स्वेदन सम्यक न होणे

(2) बलवान रुग्णामध्ये वमन योगाची मात्रा कमी झाल्याने

(3) वामक योगाची द्रव्य पूराण, हीन वीर्य किंवा भेसळयुक्त (Adulterated) असल्याने

(4) क्रुर कोष्ठी रुग्णामध्ये अल्प मात्रा

(5) रुग्णामध्ये आम प्राधान्य असल्यास

(6) रुग्णाची अग्नि तीक्ष्ण असल्यास औषध जीर्ण झाल्याने

अयोग चिकित्सा:

(1) सामान्यत: जर वमनकर्म वेग आले नाहीत तर मधुयष्टी फाण्ट वारंवार पाजून वमन करावे.

(2) यानेही वमन वेग येत नसतील तर मदनफलचूर्ण व वचा (2 ग्रॅम) चे पुन्हा चाटण देवून वमन करावे.

(3) लवणोदक पिण्यास द्यावे यामुळे वमन वेग येण्यास मदत होते.

(4) पूर्णत: वमन वेग येण्यासाठी अंगुली द्वारे गलभागी उत्तेजना देवून वमन करण्यास सांगावे.

(5) रुग्णास मोह, अंगग्रह, तमोदर्शन, आध्मान लक्षणे उत्पन्न होत असल्यास वमनक्रिया बंद करावी व दीपन पाचन द्रव्य औषधी द्यावी. उदा.: हिंग्वाष्टक चूर्ण, शंखवटी

(6) हीन वेग असल्यास पिप्पली, धात्री (Emblica officinalis), सिध्दार्थ (Brassica juncea) लवण यांनी सिध्द केलेल्या जलाने पुन:पुन: वेग प्रवर्तन करावे. (अ.हृ.सू. 18/21)

अतियोग लक्षणे:

(1) अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत्।।

वमितं क्षामता दाह कण्ठशोषस्तमो भ्रम:। घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीव शोणितनिर्गमात्।।

अ.हृ.सू. 18/23-24

(2) योगाधिक्यन तु फेनिलरक्त चंद्रिकोपगम नं इत्यतियोग लक्षणानि भवंति।

च.सू. 15/13

(3) पित्तायोगश्च विसंज्ञताच हृत्कंठपीडामपि चाति वांते।। **सू.चि. 33/7**

(1) फेनिल (Frothy) वमन
(2) सरक्त वमन
(3) बल हानी
(4) दाह
(5) कण्ठशोष, तृष्णाधिक्य
(6) तम (black-out)
(7) भ्रम (giddiness)
(8) वातप्रकोप
(9) मृत्यु (अधिक रक्तस्त्रावामुळे)
(10) मूर्च्छा
(11) निद्राहानी
(12) हृद्पीडा
(13) कंठपीडा

अतियोग व्यापद:

(1) अति मात्रा व्यापद - सम्यक स्निग्ध स्विन्न रुग्णाचे, मृदू कोष्ठ असतांना अधिक मात्रेत तीक्ष्ण औषधी दिल्यास अतियोग होवून खालील लक्षणे दिसतात.

(1) पित्त अतिप्रवृत्ती
(2) बलक्षय
(3) वातप्रकोप

चिकित्सा: (1) घृताने अभ्यंग
(2) शीत अवगाह
(3) शर्करा + मधु अवलेह

(2) द्रवधातुक्षय - क्षुधीत रुग्णास, मृदू कोष्ठ असतांना तीक्ष्णौषध दिल्यास कफ-पित्त दोषांचे क्षय होऊन द्रवधातु अधिक प्रमाणात निर्हरण झाल्याने खालील लक्षणे उत्पन्न होतात.

(1) बलनाश

(2) कंठशोष

(3) दाह

(4) भ्रम

(5) तृष्णा

चिकित्सा: (1) शीत व मधूर चिकित्सा

(2) शेष औषधी निर्हरणार्थ मृदू विरेचन

(3) शीतजल परिषेक, अवगाह

(4) चंदन, उशीर, नागरमोथा, शर्करा सिद्ध जल

(5) जिव्हा बाहेर आल्यास तिळ व द्राक्षा याचा जिभेवर लेप करून अंत:प्रविष्ट करावी.

(6) मयुरपिच्छामशी - 250 मिग्रॅम मधूसह वारंवार, सुतशेखरवटी शंखवटी 250 मिग्रॅम, संजीवनी वटी, यथा आवश्यक द्यावेत.

Modern: - IV fluids D 5%, DNS, NS

- Inj. Perinorm (Metaclopromide) 2 ml stat.

अतियोगाने इतरही लक्षणे होतात त्यांच्या लक्षणांप्रमाणे चिकित्सा करावी.

पश्चातकर्म

सम्यक योगाचे लक्षण दिसल्यानंतर ते प्राकृत भोजनापर्यंत करण्यात येणारे कर्म पश्चात कर्म आहेत.

(1) **धूमपान:** 'वमन' कर्माचे वेळी कफ नि:सारण होताना घशामध्ये कफ स्त्राव झालेला असतो. त्यामुळे गलभागी उपलेपता, कफस्त्राव कमी करण्यासाठी धूमपान करावे. यामुळे कंठ, मूख, नासा शुध्दी होते. रुग्णाच्या आवश्यकतेनुसार तिन्ही प्रकारांपैकी धूमपान करावे व स्नेहपानाची परिचर्या पाळावी.

प्रत्यक्षात कपडयाच्या पट्टीला हरिद्रा-घृताचे लेप करून त्याची वर्ती तयार करून धूमपान यंत्राद्वारे धूमपान करण्याचा प्रघात आहे.

धूमपानामुळे शेष दोष निघण्यात मदत होते. वमनामुळे आमाशयस्थ व कफस्थानातून दोषांचे निर्हरण होते. परंतु स्नेह-स्वेदामुळे स्रवित झालेले दोष (शेष दोष) नजीकच्या स्त्रोतसातून बाहेर काढण्यासाठी धूमपानाने मदत होते.

(2) **संसर्जनक्रम:** सम्यक सर्जन संसर्जन होय. वमन करतांना अग्नि दुर्बल झालेली असते. त्यामुळे काही दिवस रुग्णास सामान्य आहार देणे अनुचित असते. वमनाच्या लगेचच दुर्बल अग्नी असतांना तरल आहार देणे योग्य असते. ज्यामुळे जठराग्निवर अधिक ओझं होत नाही.

हळुहळू अग्नि प्रदीप्त होत जाते त्यावेळी तरल आहार करून घन आहार रुग्णास दयावे. त्यामुळे पचनशक्ती आपल्या उत्तम स्थितीवर येत असते.

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च । युषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।

क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः।। अ.हृ.सू. 18/27

अवर शुद्धी संसर्जन क्रम –

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	विलेपी
2	अकृत युष	कृत युष
3	मांसरस	प्राकृत भोजन

मध्यमशुध्दी संसर्जन क्रमः-

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	पेया
2	विलेपी	विलेपी
3	अकृत युष	अकृत युष
4	कृत युष	कृत युष
5	मांसरस	मांसरस
6	प्राकृत भोजन	प्राकृत भोजन

प्रवर शुध्दी संसर्जन क्रमः-

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	पेया
2	पेया	विलेपी
3	विलेपी	विलेपी
4	अकृत युष	अकृत युष
5	अकृत युष	कृत युष
6	कृत युष	कृत युष
7	मांसरस	मांसरस
8	मांसरस	प्राकृत भोजन

आचार्य सुश्रुतानुसार पेयादिच्या स्थानी कुलत्थ, मुद्ग, आढकी, जांगल मांसरस युक्त युष द्यावे. यावर डल्हणांनी टिका लिहितांना स्पष्ट केले आहे की, कफ वृध्दी असल्यास पेया द्यावी, वातप्राधान्य तीक्ष्णाग्नियुक्त रुग्ण असल्यास मांसरस द्यावे. दोष व ऋतुनूसार किंचित कफवृध्दी असल्यास कुलत्थादि युष द्यावे. (सु.चि. 33/11 व यावरील डल्हण टिका)

(3) संतर्पण: संसर्जन क्रम सामान्यत: वमन कर्मानंतर पालन करणे आवश्यक आहे. परंतु शोधन अल्प झाल्यामुळे कफ दोषांचे प्राधान्य असल्यास संसर्जन क्रमाऐवजी संतर्पण क्रम पाळण्यास सांगितले आहे कारण पेया अभिष्यंदन करून कफवृध्दी करणे संतर्पण शक्यतो खालील परिस्थितीमध्ये करावे.

कफपित्ते विशुध्देऽल्पं मद्यपै वात पैत्तिके।

तर्पणादिक्रम कुर्यात पेयाभिष्यंदयेध्दितान्।। च.सि. 6/25

(1) कफपित्त अवशुध्दी - वमन कर्म अल्प झाल्यामुळे कफ पित्ताचे शोधन न झाल्यास

(2) मद्यपी

(3) श्लेष्मानम् - कफ आधिक्य असल्यास (जरी व्याधी कफाचा असला तरी)

(4) वातपित्तज प्रकृती - वातपित्तज प्रकृती असलेल्या रुग्णांमध्ये तर्पणचा अर्थ युष व मांसरस समजावा.

प्रथम अन्नकालात लाजा, सक्तु द्यावे, द्वितीय अन्नकालामध्ये जूने तांदळाचा भात तर तिसऱ्या अन्नकालामध्ये मांसरस द्यावे (अरूण दत्त).

पेयाच्या स्थानी स्वच्छ (अधिक पातळ) तर्पण द्यावे व विलेपीच्या ऐवजी घन तर्पण द्यावे.

शर्करा, पिप्पलीमूल, घृत, मधु समान भाग व दोन भाग सत्तू घेवून मंथ तयार करावा व रुग्णास तर्पणार्थ द्यावा.

(4) परिहार्य विषय परिहार काल: पंचकर्मातील क्रिया करतांना खालील परिहार्य विषय आहेत रुग्णांस त्याचे पालन करण्यास सांगावे. आजच्या काळानुरूप रुग्णांस तथा परिहार्य विषयाच्या सूचना द्यावा तरच 'वमन' कर्माचे अपेक्षित यश मिळतील.

(1) अधिक जोराने बोलणे. (शिक्षक, वक्ते यांना विशेष सूचना द्याव्यात)

(2) अधिक भोजन करणे.

(3) एकास्थानी अधिककाळ बसणे. (Continuous sitting e.g. Clerical or Official work, IT Professions)

(4) अधिक बाहेर फिरणे. (Tour/Travelling)

(5) राग येणे, दु:खी राहणे

(6) शीत वायू सेवन (Avoid AC)

(7) वाहन (Travelling by Scooter, Bike, Bus)

(8) मैथून

(9) रात्री जागरण (Avoid night shift work, late night TV watching etc.)

(10) दिवास्वाप

(11) विरूध्द भोजन (Avoid Milk shake etc.)

(12) वेगावरोध

(13) वेगांचा बलपूर्वक उदीरण

(5) शोधनोत्तर सिध्दता:

(1) वमनानंतर रुग्णास अन्य उपक्रम करायचे नसल्यास व्याधीनुसार शमन चिकित्सा करावी.

(2) वमन कर्मानंतर विरेचन करायचे असल्यास 9 व्या दिवसापासून स्नेहपानास सुरूवात करावी. वमनानंतर 15 व्या दिवशी विरेचन करण्याचे विधान आहे. उत्तम शुध्दीसाठी वमनानंतर विरेचन करण्यासाठी पूर्ण 7 दिवसाचे स्नेहपान करण्याची गरज नाही.

वमन व्यापद व चिकित्सा

वमनाचे व्यापद होण्याचे प्रमुख कारण खालील प्रमाणे आहेत.

(1) **चिकित्सक** - चिकित्सकांनी रुग्ण व व्याधी याचे परिक्षण योग्य न केल्यास व्यापद उत्पन्न होवू शकतात. चिकित्सक हा पूर्णत: प्रशिक्षीत नसल्यास व्यापद उत्पन्न होवू शकतात.

(2) **औषध** - औषधांची गुणवत्ता सम्यक वमनासाठी महत्त्वाची आहे. भेसळ, हीनवीर्य असलेल्या औषधांनी व्यापद उत्पन्न होतात.

(3) **रुग्ण** - व्यापद उत्पन्न होण्यासाठी रुग्ण स्वत: जबाबदार असतात. चिकित्सकांनी केलेला उपदेश तंतोतंत न पाळल्याने व्यापद होवू शकतात.

(4) **परिचारक** - व्यापदामध्ये यांचा वाटा तसा कमी असला तरीपण परिचारकाच्या निष्काळजीपणामुळे रुग्णास व्यापद उद्‌भवू शकतात.

वमनाचे व्यापद हे अयोग व अतियोगानेच उद्‌भवतात या संदर्भात आधीच वर्णन केलेले आहे. चरकाचार्यांनी व सुश्रुताचार्यांनी खालीलप्रमाणे वमन व्यापद सांगितले आहेत.

(1) आध्मान

(2) परिकर्त (कंठक्षणन)

(3) स्त्राव (Excessive salivation)

(4) हृदग्रह (Pericardial discomfort) - या लक्षणांसोबत इतर cardiac signs बघणे अधिक हितकारक असते.

(5) गात्रग्रह

(6) जीवादान - (Appearance of blood during vomiting)

(7) विभ्रंश - (Altered state of consciousness)

(8) स्तम्भ - (Rigidity)

(9) उपद्रव - (Specific complication)

(10) क्लम - (Tiredness)

सुश्रुताचार्यांनी वमन व विरेचनाचे एकत्र व्यापद सांगितले आहेत. वमनाचे व्यापद पूढीलप्रमाणे:-

(1) विरेचन

(2) सावशेषत्व (Residue of the medicine) (औषध आमाशयात शेष राहणे)

(3) जीर्णोषधत्व (औषधींचे पचन होणे)

(4) हीन दोषापहरण

(5) वातशूल

(6) अयोग

(7) अतियोग

(8) जीवादान

(9) आध्मान

(10) परिकर्तिका (कंठक्षणन)

(11) परिस्त्राव - Excessive salivation

(12) प्रवाहिका (शुष्कोद्गार) - वारंवार उद्गार येणे

(13) हृदयापसरण (Discomfort in chest region

(14) विबंध

वरील व्यापदांमध्ये काही व्यापदांचे हेतू आहेत तर काही लक्षणे. हे सर्व व्यापद अयोगामुळे किंवा अतियोगामुळे होतात.

अयोगामुळे होणारे व्यापद: (1) आध्मान (2) परिस्त्राव (3) हृदग्रह (4) अंगग्रह (5) सावशेषत्व (6) जीर्णोषधत्व (7) हीन दोषापहरण

अतियोगामुळे होणार व्यापद: (1) परिकर्त (2) जीवादान (3) विभ्रंश (4) प्रवाहिका (शुष्कोद्गार) (5) हृदयापसरण

यांची चिकित्सा अयोग व अतियोग व्यापद मध्ये वर्णिल्याप्रमाणे करावी.

काही व्यापद व चिकित्सा:

(1) **जीवादान (Bleeding during vomiting):-** प्रत्यक्ष वमन करतांना सर्वात भीतीदायक व्यापद म्हणजे जीवादान. चिकित्सकांनी वमन वर्गासाठी रुग्ण ठरवतांना पूर्णत: परिक्षण करणे गरजेचे असते. त्यासाठी रुग्णाचा इतिहास महत्त्वाचा असतो.

During vomiting hemetemesis due to acute rupture of gastric mucosa.

Causes:

(1) Esophageal varices following portal hypertension and cirrhosis of liver.
(2) M.W. Syndrome (Mallory weiss syndrome) tears in mucosa of lower 3rd esophagus due to retching in alcoholics and bulimics.
(3) Peptic ulcer disease
(4) Chronic viral hepatitis.
(5) Tumours of the stomach, esophagus
(6) Viral hemorrhagic fevers
(7) Chronic viral hepatitis
(8) History of smoking

Treatment: Treated as medical emergency. If minimal blood loss Omeprazole 20 mg stat

- Blood transfusion if needed
- IV fluids
- NPO (Nil per Os nothing by mouth)

आयुर्वेद चिकित्सा: (1) प्रवाळपिष्टि, (2) सुतशेखर, (3) चंद्रकलारस, (4) दाडिमावलेह, (5) मुक्तापिष्टी,

(2) **हृदशूल/हृदयापसरण/हृदग्रह - (Discomfort in chest):-**हृदशूल, हृदग्रह इ. लक्षणे सामान्यपणे उरोभागातील पेशींच्या थकव्यामुळे निर्माण होवू शकतात. परंतु रुग्ण यापेक्षा वेगळी लक्षणे सांगत असेल तर रुग्णाचा ECG काढणे सुरक्षात्मक असते.

If changes of Acute Myocardial infarction should treated as emergency in cardiac unit.

Symptoms:

(1) Chest pain radiating to the left arm (Clinical history of ischaemic type chest pain lasting more than 20 minutes.)
(2) Shortness of breath,
(3) Nausea, vomiting
(4) Palpitation, sweating
(5) Fatigue
(6) In ECG ST elevation, T wave inversion.

Treatment:

(1) O_2

(2) Aspirin
(3) Tab Nitroglycerin sublingual
(4) Refer to higher cardiac centre.

(3) **उच्चरक्तचाप (High Blood Pressure):** वमनाच्या वेगामध्ये रुग्णाचा BP वाढत असतो. सामान्यत: 20 ते 30 mm of Hg चा हा फरक असतो. त्यामुळे वमना वेगांच्या दरम्यान Systolic BP 180 ते 200 mm Hg च्या वर जात नाही ना याची खबरदारी घ्यावी: प्रत्येक वेगानंतर BP वाढलेला असल्यास रुग्णास दोन वेळांच्या मध्ये अल्प विश्रांती देवून व नंतर वमनोपग द्रव्य द्यावे व वमन करावे.

(4) **Dehydration & Electrolyte imbalance:** Prolonged & excessive vomiting will decrease the body water (dehydration) and may alter the electrolyte status. Continuous vomiting may lead to the loss of acid (protons) and chlorine directly. It may cause hypochoremic metabolic alkalosis (low chloride level with high HCO_3 & CO_2 and increased PH) and hypokalemia (decreased potassium).
Treatment: IV fluid to correct electrolyte imbalance

वमन कार्मुकता (Mode of Action)

तत्रोष्ण तीक्ष्ण, सुक्ष्म..... उर्ध्वमुत्क्षिष्यते। च.क. 1/5

उष्ण, तीक्ष्ण, सुक्ष्म, व्यवायी, विकाशी गुणधर्माच्या औषधी त्यांच्या उष्ण वीर्यामुळे धमन्यांमधून हृदयापर्यन्त जातात. त्यांच्या सुक्ष्म व स्थूल गुणांमुळे त्या सर्व स्रोतसांमध्ये पोहचतात आणि उष्णगुणांमुळे दोषांचे विलयन करत, तीक्ष्ण गुणाद्वारे छेदन करून दोषांना शाखांमधून आमाशयाकडे नेले जाते. त्यानंतर द्रव्याच्या उर्ध्वभाग प्रभावामुळे दोषांना (Metabolic waste) आमाशयातून मुखमार्गाने बाहेर काढले जाते. वमन प्रक्रियेमधे वामक द्रव्यामुळे शरीरास होणारी कार्मुकता अशी आहे.

(1) उष्णवीर्य - हृदयास उत्तेजीत करणे.
(2) सुक्ष्मगुण - सुक्ष्म व अणूप्रवणभावाने सर्व शरीरांतील स्रोतसामध्ये पसरणे.
(3) उष्ण गुण - उष्ण गुणामुळे दोषांचे विष्यंदन होते.
(4) तीक्ष्ण गुण - तीक्ष्ण गुणामुळे दोषांचे छेदन होवून शाखेंतून दोष कोष्ठात ओढले जातात.
(5) अग्नि वायू - भूयिष्टतेमुळे दोषांचे उर्ध्वगमन होते.
(6) उर्ध्वभागहर प्रभावाने दोष उदानवायू च्या साहयाने मुखाद्वारे बाहेर फेकले जातात.

या सर्व क्रिया सोप्या होण्यासाठी पूर्वकर्मामध्ये स्नेहन स्वेदन महत्त्वाचे कार्य करते. स्नेहन स्वेदनाने दोष क्लिन्न होऊन दोषांचे द्रवीकरण झालेले असते. दोषाचे शाखेतून कोष्ठाकडे मार्गक्रमणासाठी स्नेहन-स्वेदन महत्त्वाचे कार्य बजावतात.

वमनाचे मूख्य कार्य 'कफ' शोधन करणे आहे. त्यासाठीचे मुख्य अवयव आमाशय आहे. त्यामुळे आमाशयोत्भव व्याधींमध्ये व कफ प्रधान व्याधींमध्ये 'वमन' उपयुक्त आहे.

वमन कर्मानंतर केवळ कफाचेच नाहीतर पित्ताचेही शोधन होते. वमनानंतर जाठराग्नि प्रदीप्त होते त्यामुळे उत्तम 'आहाररस' व त्यायोगाने उत्तम रस धातुची निर्मिती होते. उत्तम रसधातुची निर्मिती झाल्याने उत्तरोत्तर धातुचीही निर्मिती उत्तम होते. त्यामुळे वमन 'रसायन' म्हणून कार्य करते. तसेच रसधातुचा उपधातु 'त्वचा' याचीही निर्मिती उत्तम होते. म्हणूनच वमन हे त्वक विकार, रक्त विकारात उत्तम कार्य करते.

Modern View: -

Emesis and nausea are protective reflexes which help to get rid of toxic substance and prevent their further absorption. The concept of emesis in a Ayurved is totally different from its use in western medicine. In Ayurveda its aim is removal of metabolic wastes (मलरूप दोष निःसारण) after their being brought to koshtha with the help of poorvakarma.

Vomiting is complex process involving 3 phases (1) Pre-ejection (2) retching (3) ejection. All these being accompanied by autonomous phemomenon such as salivation, shivering and vasomotor changes.

Vamana karma occurs at three different levels in this mechanism

A Activation of emesis.

B Stimulation of vomiting centre.

C Actual motor response through motor nerves.

Activation of Emesis:

- Vomiting starts in the stomach or upper GIT when it is full of contents (Akanthapana during Vamana. It becomes over distended and over excitable)
- Reflex from gastric mucosa. This excited stage stimulates both Sympathetics & Vagal afferents.

Stimulating of Vomiting center:

- Administration of certain drugs (which have vamaka prabhava) may stimulate chemoreceptor trigger zone Bilateral vomiting centre in the medulla.
- Emesis is provoked by several psychic stimuli or by noxious thoughts.

Actual motor response through motor nerves:

- Automatic motor reactions motor impulses to be transmitted from vomiting centre to 5th, 7th, 9th, 10th, 12th cranial nerves & then towards upper GIT.
- Spinal nerves which further progress to diaphragm & abdominal muscles.

Pharmacological effect of vaman:

- Gastric Lavage
- Respiratory Decongestive Effect

- Stress Mechanism
- Increased Intracranial Blood Flow
- Medical Inflammation

Action of Vaman:

- Physical and mental stress is produced in the whole body during the act of vomiting.
- Vomiting produces inflammation and mucosal damage secondary to insult to gastric mucosa.

Stress & Cortisol:

- Any type of stress, whether physical or neurogenic, will cause an immediate and marked increase in ACTH secretion by the anterior pituitary gland, followed within minutes by greatly increased adrenocortical secretions of cortisol.
- Cortisol secreting helps to achieve immediate effect of blocking most of the factors that are promiting the inflammation.

Intracranial Blood Flow:

- During Vamana intracranial blood flow is increased.
- It may be returning with some waste materials to excrete.

Medical inflammation:

- A mild inflammation of the stomach mucosa.
- Increase the permeability of the capillaries of the stomach.
- Facilitated the absorption of the active principles of the drug.
- Active Secretion & excretion of the toxins and metabolites into the stomach.
- Toxins thrown out of the body by the process of vomiting.

Agnimandya after Vamana:

- After Vamana, the environments in the stomach got totally alkaline.
- Mucous secretions, bicarbonate flows and bile extraction.
- This ultimately hampers the pepsin activity.
- Pepsin activity is significantly diminished at pH4 and irreversibly inactivated and denatured at a pH of > 7.
- Hence require Sansarjan kram.

वामकद्रव्य

मदनफल Randia dumetorum.

गण - वामक, फलिनी (च)
उर्ध्वभागहर, आरग्वधादि, मुष्ककादि (सु)

कुल - मंजिष्ठा कुल

Family - Rubiaceae (Rubus Red)

Latin Name - Randia - In memory of Issac Rand (Botanist), Dumetorum - of thorny bushes

Synonyms - Catelunaregum Spinosa (thumb)

English Name - Emetic Nut

संस्कृत - मदन (च्छर्दन करणारा), पिण्डि, विषपुष्पक, पिंडितक, बस्तिशोधन, ग्रंथीफल

मराठी - गेळफळ

परिचय - हे वृक्ष 6 ते 20 फूट, तीक्ष्ण काटेदार, शाखा आडवी (Horizontal) **पत्र** - गर्द हिरवे, लंबगोलाकार 1 ½ ते 2 ¼ इंच लांब, 1 ते 1 ¼ इंच रूंद छोटे वृत्तयुक्त. **पूष्प** - पीत किंवा श्वेत 1 इंच व्यासाचे सुवासीत 5 दल युक्त. **फल** - नाशपाती सारखे, गोल, पीत 1.8 to 4.5 cm लांब, फलकाल - शीत ऋतु, फलफज्जा मधूर, तिक्त. फल फोडल्यास 4 भागात विभागले जाते. काळया रंगाच्या बीजास 'मदनफल पिप्पली' म्हणतात.

उत्पत्तीस्थान - भारतात सर्वत्र, प्रामुख्याने जम्मू ते सिक्कीम, द.भारत, महाराष्ट्र (महाबळेश्वर जवळ)

Chemical composition: -

* An iridoid glycoside from leaves [Sali *et al*, 1986].
Aucubin compound and napthaquinone are obtained [Kirmani *et al*, 1984].
Saponin named as Dudumentoronin A, B, C, D, E, F from fruit pulp [Varshney *et al*, 1978]. A hemolytic triterpenoid saponin [Subramanyaniam *et al*, 1989]
Mannitol & lecoanthocynidin, glycoside Randioside A, Beta-D-galactopyranosyl (1-3)-oleanolic acid [Rastogi & Mehrotra, 1980].

गुणधर्म - गुण - लघु, रूक्ष, रस - मधूर, तिक्त, कषाय
विपाक - कटूवीर्य - उष्ण
प्रभाव - वामक

कर्म - कफवात शोधक व शामक, पित्तनिस्सारक (उष्ण गुणामुळे) वमनाद्वारे

कफाचे शोधन व विरेचनाने पित्ताचे शोधन होते. वातशमनाचे कार्य असल्यामुळे आस्थापन बस्तिमध्ये उपयोग केला जातो.

पचन संस्थान – मदनफल उत्तम वामक व व्यापदरहीत असल्याने शोधन चिकित्सेत सर्वश्रेष्ठ द्रव्य आहे. याचे कृमिघ्न असेही कार्य आहे.

रक्तवह स्रोतस – रक्तशोधक, शोथनाशक, कफ, पित्तानुबंधी शोथ व शोफ यात उपयोगी, दुष्टव्रणामध्ये उपयोगी.

श्वासवहस्त्रोतस – कफनिस्सारक, श्वास, कास, प्रतिश्याय यात उपयोगी

आर्तवहस्त्रोतस – कष्टार्तव, सकष्ट प्रसूती

त्वक – स्वेदजनन कार्य असल्याने त्वकरोगात उपयुक्त

सात्मीकरण – मदनफल कर्षण करणारे आहे त्यामुळे स्थौल्यामध्ये याचा उपयोग केला जातो.

प्रयोज्य अंग – फल, बीज (वमनार्थ)

मात्रा – चूर्ण 1 ते 3 ग्रॅम, क्वाथ 150 ते 300 मिली

स्त्रोतोगामीत्व:

दोष – कफ, पित्त शोधन, वातशमन **धातु** – रक्त, रसगामी

मल – कफ, मल निस्सारक **अवयव** – आमाशय

Some Researches -

Anti Allergic : It is used in Brochial Asthma, rhinitis, bronchitis, cold, cough, pain etc. The extract and its factions significantly inhibited leukocytosis and eosinophillia in blood in mice. [Kumar *et al*, 2011].

Anti-Inflammatory : The extract effectively and significantly reduced the carrageenin induced oedema in hind paw of the rats, significant reduction in granular tissue formation was recorded. Thus, extract shows anti-inflammatory activity at various acute phase of inflammation & on formation of granular tissue. [Ghose *et al*, 1983].

Analgesic Activity : Analgesic activity was tested in mice in each group by Acetic Acid induced writhing response and Hot plate response in mice 500 mg/kg methonolic extract of fruit R.dumetorum give analgesic activity in both models [Ghose *et al*, 1980].

Immunomodulatory Activity : The effect of R.dumetorum on cell mediated and humeral components of the immune system in mice were observed. Administration of chloroform fraction at dose 100 mg/kg produced statistically significant results as evidenced by increase in humoral antibody (HA) titre, delayed type

hypersensitivity (DTH) response. This fraction also enhanced the total WBC level in cyclophosphamide induced mylosuppression model. The result indicates that these fractions can stimulate the bone marrow activity. [Satpute *et al*, 2009]

कुटज Holarrhena antidysentrica

गण – अर्शोघ्न, कंडूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग, वमन (च) आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, हरीद्रादि, बृहत्यादि, लाक्षादि, उर्ध्वभागहर (सु.)

कुल – कुटजकुल

Family - Apocynaceae (Away from dog), poisonous to dog.

Latin name - Holarrhena (Holos = whole, Arrhen = male) Antidysentrica = against dysentery

English Name - Kurchi

संस्कृत नाव – कुटज, शक्र, वत्सक, गिरीमल्लिका, यवफल, प्रविष्य

मराठी – कुडा

परिचय

श्वेतकुटज – यास पु.कुटज (Male) म्हटले जाते. **वृक्ष** – 7-9 मीटर उंच, त्वक पाण्डूर किंवा भूरकट (Brownish) वर्णाचे. **पत्र** – 10-30 से.मी. लांब 3-5 से. मी. रूंद कदंब पानासारखे, नेहमी हरीत व चमकदार वर्णाचे, 10-16 जोड्यांमधे, सिरा उठावदार. **पुष्प** - श्वेत, सुगंधीत 2.5-3.75 से.मी. लांब, **पुष्पकाल** - वसंत पासून ग्रीष्म पर्यंत. **फल** - लांब, कठोर, 20-40 से.मी. लांब, तनु 2-2 एकत्र, **फलकाल** - वर्षारंभ. **बीज** - तिक्त रसात्मक

कृष्णकुटज – **(Wrightia Tinctorria)** यास स्त्रीकुटज म्हटले जाते. मधूर रसात्मक, अनेक शाखायुक्त. **वृक्ष** - 10 ते 15 फूट उंच. **पत्र** - गर्द हिरवे 10 से. मी. लांब, 3.5 से.मी. रुंद, शुष्क झाल्यास कृष्णवर्णीय. **पुष्प** - श्वेत, श्वेतकुटजापेक्षा कमी सुगंधीत, गुच्छबध्द 2.5-3.75 cm लांब, **पुष्पकाल** - वसंत ऋतु. **फल** - शेंग 2-2 एकत्र, **फलकाल** - शीत ऋतु

उत्पत्ती स्थान – भारतात सर्वत्र, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य भारतात प्रामुख्याने आढळते.

संकलनकाल – 8-12 वर्ष जूने वृक्षाचे, वर्षा ऋतूच्या मध्यात (जूलै ते सप्टेंबर), हिवाळयाच्या शेवटी.

Chemical composition - The bark and seeds contain steroidal alkaloid designated as holadysterine, together with three known steroidal alkaloids conessine, isoconessinine and Kurchessine [Neeray kumar *et al*, 2007]

गुणधर्म - गुण - रूक्ष रस - तिक्त, कषाय
विपाक - कटू वीर्य - शीत

कर्म - रूक्ष, तिक्त, कषाय व शीत असल्यामुळे कफ पित्तशामक.

पचन संस्थान - वातशामक, दीपन, शोथध्न, पित्तसारक, अतिसार व प्रवाहिकात उपयोगी.

रक्तवह संस्थान - रक्तस्रावजन्य व्याधी, उच्च रक्तदाबाच्या (Hypertension) रुग्णांमध्ये वमन करतांना उपयोगी

प्रजनन संस्थान - योनीगत पेशीचे बल वर्धन करण्यासाठी

ज्वर - ज्वरघ्न (ज्वरानंतर वमन करण्यासाठी उपयुक्त)

त्वक - कुष्ठघ्न, रक्तदोषनाशक, दाहनाशक

सात्मीकरण - दौर्बल्यात उपयोगी

प्रयोज्यांग - बीज, त्वक

स्त्रोतोगामीत्व:

दोष - कफ व पित्त **धातु** - रक्त

मल - पुरीष संग्राही **अवयव** - ग्रहणी, आमाशय, पक्वाशय

Some Researches:-

- *H. antidysenterica* used in dysentery, dropsy, fever, diarrhea and intestinal worm infestation. It has antioxidant property. [The in vitro antioxidant activity and total phenolic content of four Indian Medicinal plants, Maryam Zahin *et al*, IIPPS, Vol. 1, I, 2009].
- The study was undertaken to evaluate the hypoglycemic effect of *Holarrhena antidysenterica* (MEHD) in normal (Normoglycemic) and in streptozotocin (STZ) induced diabetic wistar rats. Oral administration of MEHD (250 mg/kg) for 18 days resulted in decrease in blood glucose level. In addition, oral administration of MEHD significantly decreased serum total cholesterol, triglyceride level and at the same time markedly increased liver glycogen, providing the potent antidiabetic property.
  [Hypoglycemic effect of Holarrhena antidysenterica seeds on streptozotocin induced diabetic rats, Supriya Mana *et al*, IJPRIF, Vol.2, PP.1325-1329, April-June 2010].
- Chloroform extract of *H. antidysenterica* significantly reduced parasitemia in P.berghei infected mice. In vitro it showed antiplasmolial activity.
  [Antimalarial activity of *H. dysenterica* and *V. conescens* plants traditionally used against malaria in the Garhwal region of north-west Himalaya, Gaurav Verma *et al*, Malaria Journal, 2011, 10:20].
- The crude methanolic extract of *H. antidysenterica* bark was tested for its effect on BP in normotensive anaesthetized rats and was found hypotensive at 30 mg/kg dose. It was subjected to a bioactivity directed separation as described in the experimental ultimately leading to isolation of two new steroidal alkaloids namely pubescinine and

kurchecinine possessing hypotensive activity. [Studies on the chemical constituents of *Halarrhena antidysentrica*, Sahid Bade USmani, Ph.D. Thesis, 1995, PP-143].

मधुयष्टी : Glycerrhiza glabra linn.

गण - कण्ठय, जीवनीय, संधानीय, वर्ण्य, कंडूघ्न, मूत्रविरजनीय, शोणितस्थापन, च्छर्दिघ्न, स्नेहापग, वमनोपग, आस्थापनोपग (च) काकोल्यादि, सारिवादी, अंजनादि (सू.)

कुल -शिम्बी

Family - Leguminoceae (legumen pulse pod)

Latin Name - Glycerrhiza (glykas = sweet, Rhiza = root) Glabra - smooth and hairless

English Name - Liquorice

संस्कृत - यष्टीमधू, मधूका, यष्टी, अतीरसा, जलजा, मधूपर्णी, सौम्या

मराठी - जेष्ठमध

परीचय - बहूवर्षायू क्षुप, 1 ते 1.5 मीटर उंच, मुल लांब तांबूसपीत, **पत्र** - संयुक्त, अंडाकार, **पूष्प** - गुलाबी वर्णाचे, मंञ्जरीयुक्त, ग्रीष्म ऋतुत, **शेंग** - एक इंच लांब, चपटी, 2-5 चौकोनाकार बीजयुक्त, वर्षा ऋतुत

जाती - 2 प्रकार -(1) स्थलज (Terrestrial) (2)जलज (Aquatic) - यास मधूपर्णी, मधूलिका म्हणतात.

स्थलज 3 प्रकारची- (1) इजिप्तची, (2) अरेबीक, (3) तुर्केची क्रमाने यांची मधुरत्व कमी होत जाते.

उत्पत्तीस्थान - इजिप्त, अरब, तुर्के, इराण, अफगाणिस्थान, मध्य आशिया, द.युरोप, चीन, आजकाल पंजाब, सिंधप्रात येथेही लागवड केली जाते.

भेसळ -लालगुंजा मधुयष्टी म्हणून विकली जाते.

Chemical composition - The main constituents are glycyrrhizin, potassium, calcium salts, glycyrrhitinic acid flavonoid rich fractions include liquirtin, isoliquertin, liquiritigenin and rhamnoliquirilin.

गुणधर्म - गुण - गुरू, स्निग्ध रस - मधूर,
विपाक - मधूर वीर्य - शीत

कर्म - गुरू व स्निध असल्याने वातशामक आणि मधूर असल्याने पित्तशामक.

नाडीसंस्थान - वातव्याधीमध्ये उपयोगी शिरोरोग व बुध्दीवर्धनासाठी उपयोगी.

पाचनसंस्थान - कमी मात्रेत च्छर्दिमध्ये उपयोगी, अधिक मात्रेत वामक म्हणून उपयोगी, अनुलोमक अम्ल पित्तशामक, उदरशूल.

रक्तवह संस्थान - रक्ताल्पता, रक्तशोधक, रक्तदोषांमध्ये उपयुक्त, शोणितस्थापन.

श्वसनवह संस्थान - श्वास, कास, स्वरभेद, राजयक्ष्मा यात उपयोगी, कफ सुखकर बाहेर काढण्यासाठी, कासवेग कमी करून रोगीबल वाढवण्यासाठी उपयोगी, संधानीय असल्याने उरोगत व्रण, क्षत इत्यादीसाठी उपयोगी.

मूत्रवह संस्थान - मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह व पैतिक प्रमेहात उपयुक्त, शीत असल्याने मूत्रल.

प्रजनन संस्थान - वाजीकरणार्थ उपयोगी, शुक्राणूंची संख्या वाढविणारा

त्वचा - जीर्ण ज्वरामध्ये वर्ण्य, कंडूघ्न

सात्मीकरण - जीवनीय (रक्तगामी), संधानीय (मांस), रसायन (सर्वधातुगामी) सामान्य दौर्बल्यासाठी उपयोगी.

प्रयोज्यांग - मूल

स्त्रोतोगामीत्व:

दोष - पित्तघ्न, वातघ्न **धातु** - शुक्र, रक्त, मज्जा, रसायनी

मल - मूत्रगामी, केशवर्धक **अवयव** - नेत्र

Some Researches:-

- The study was carried out to elucidate the effect of oral administration of *G.glabra* root extract. Result showed the extract significant increase in body weight gain, the extract caused significant decreases in total cholesterol and triglycerides associated with non significant reduction in HDLc, LDLc and VLDLc concentration in serum. The extract produced significant decreases in the levels of serum liver enzymes (AST, ALT) and urea nitrogen. Result also showed that the extract induced marked anti-inflammatory and antiulcer effects [Shalaby M.A. *et al*, Some effects of G. glabra roots extract on male rats, E JNT, Vol 1:83-94, 2004].

- Licochalcone, A, a flavonoid found in licorice root, is known for its antimicrobial activity and its reported ability to inhibit cancer cell proliferation. The data indicate that 5 micro M. licochalcone-A- inhibited platelet derived growth factor (PDGF) induced rat vascular smooth muscle cell proliferation, possibly through its ability to block the progression of the cell cycle from G1 to S phase. [Antiproliferative effect of licochalcone A on vascular smooth muscles cells. Park JH *et al*]

- Glabridin was isolated from the roots of *G. glabra* and its effect on cognitive functions and cholineslerase activated activity were investigated. The higher dose of glabridin and piracetam significantly antagonized the amnesia. Further more, glabridin and metrifonate used as a standard drug, both remarkably reduced the brain cholinesterase activity. Therefore, glabridin appears to be promising candidate for memory improvement and will helpful for the management of Alzheimer patients. [Cui YM *et al*, effect of glabridin from *G.glabra* on learning and memory in mice, PMID-18484526]

- Randomized controlled trials confirmed that the *G.glabra* derived compound

glucyrrhizin and its derivatives reduced hepatocellular damage in chronic hepatitis B and C. In hepatitis C virus induced cirrhosis the risk of hepatocellular carcinoma was reduced. Animal studies demonstrated a reduction of mortality and viral activity in herpes simplex virus, encephalitis and influenza. In vitro studies revealed antiviral activity against HIV-1, SARS related coronavirus, respiratory syncytial virus, arbovirus, vaccinia virus and vesicular stomatitis virus. [Fiore C *et al*, Antiviral effect of Glycerrhize species, PMID-17886224]

- The hypocholesterolaemic and antioxidant effect of *G.glabra* root powder were examined in hypercholesterolaemic rats resulted in significant reduction in plasma hepatic total lipids, cholesterol, triglycerides and plasma low density lipoprotein and VLDL cholesterol accompanied by significant increase in HDL Cholesteral levels. Furthermore, significant increases in fecal cholesterol, neutral sterols and bile acid secretion along with an increase in hepatic hepatic HMG-CoA reductase activity and bile acid production were observed. Thus the hypocholesterolaemic and anti-oxidant effect appeared to be mediated via (1) Accelerated cholesterol, neutral sterol and bile acid production, (2) Improving the activities of hepatic super oxide dismurase (SOD), catalase and increasing ascorbic acid content. [Visavadiya NP, Narsimhacharya AV, Hypocholesterolaemic and antioxidant effect of *G.glabra* (Linn) in rats, PMID-17054099]

वचा Acorus calamus linn

गण – विरेचन, लेखनीय, अर्शोघ्न, तृप्तीघ्न, आस्थापनोपग, शीतप्रशमन, संज्ञास्थापन, शिरोविरेचन (च) पिपल्यादि, वचादि, मुस्तादि, वमन (सु.)

कुल – सुरण कुल

Family – Araceace

Latin Name – Acorus, A = Private, marked by loss, Kore = Pupil of the eye (eye trouble), Calamos = Kalamos (Gk) a reed (water plant)

English – Sweet flag

संस्कृत – वचा (शब्द संग्रह शक्ती वाढवणारी), उग्रगंधा, षड्ग्रंथा, गोलोमी (गायीच्या केसांसारखी)

मराठी – वेखंड

परीचय – सदाहरीत क्षुप प्राधान्यत: जलप्राय भूमीत उगवणारे. उंच वाढणारे कंद वर्गातील वनस्पती, उंची 150 सेमी, रूंदी मध्यमा अंगुली एवढी 5-6 पर्व असलेला कंद. **पत्र**- 3-6 इंच लांब, हरितवर्णाचे, रूंदी 2/3 - $1^{1/4}$ इंच. **पुष्प** - 3-4 इंच लांब, किंचित वक्र

उत्पत्तीस्थान – भारतात सर्वत्र, ब्रम्हदेश, श्रीलंका, काश्मीर, मणिपूर व नागालैंड येथे प्रामुख्याने आढळते.

Chemical composition – Rhizome bark has 1.5 to 3.5% volatile oil which contains asaryaldehyde, acorine, acoretine (Choline), calamine (useful in dysentery), starch, tannin. It also contains free formal heptylic and palmitic acid, eugenol, esters of acetic and palmitic acid, comphene, sesqui-terpene, calamine and a small quantity of phenol, eugenol, methyl eugenol, cilamenenol, calameone.

The chief constituents are heavily dependent upon the chemical strain (di, tri, tetraploid), beta-asorane (cis-isoasorone), α & δ - asarone, β - gurjuns, acoron (bitter), Z-Deca-4, 7-dienal.

गुणधर्म – गुण – लघू, तीक्ष्ण रस – कटु, तिक्त
विपाक – कटु वीर्य – उष्ण
प्रभाव – मेध्य

कर्म – कटु व उष्ण असल्यामुळे कफवातशामक व पित्तवर्धक

नाडीसंस्थान – वेदनास्थापक, मेध्य, आक्षेपशमन, तीक्ष्ण असल्यामुळे आवरण काढणारे व संज्ञानाश दूर करणारे, त्यामुळे उन्माद, अपस्मार इ. मानसरोगात उपयुक्त.

पाचन संस्थान – दीपन, तृप्तिघ्न, कृमीघ्न शूलप्रशमन, वामक व अनुलोमक त्यामुळे विबंध, अग्निमांद्य, आमाजीर्णामध्ये वमन करण्यासाठी उपयोगी.

रक्तवह संस्थान – हृदयगती कमी करणारा, रक्तदाब कमी करण्यासाठी उपयुक्त.

श्वसन संस्थान – कफवातशामक असल्याने कास व श्वासहर, कण्ठय

मूत्रवह संस्थान – मुत्रजनन कार्य

प्रजनन संस्थान – गर्भाशयावर संकोचक क्रिया, कष्टार्तव यात उपयोगी कफाचे आवरण नष्ट करणारी वनस्पती. त्वचा उष्ण असल्याने स्वेदजनक

सात्मीकरण – लेखन करणारा आहे व धातुंना क्षीण करणारा, त्यामुळे स्थौल्यामध्ये उपयोगी, रसायन कार्य करणारे.

प्रयोज्यांग – मुल

स्त्रोतोगामीत्व:

दोष – वातघ्न, कफघ्न **धातु** – मज्जा (Brain)
मल – पुरीष (Antihelmintic), मूत्र **मनोवहस्रोतस** – उन्माद, अपसमार
अवयव – आमाशय, हृदय

Some researches: -

- Calamus is aromatic, bitter stomachic which stimulates appetite and digestion. It has spsonolytic, carminative and sedative effects. The roots are stimulant, emetic, expectorant and nervine sedative. This drug is useful for rheumatism, gastritis.
- Acorus calamus has been observed to attenuate CCI induced behavioural, biochemical as well as histopathological changes. Calamus is reported to exert battery of beneficial effects in various ailments viz. epilepsy, memory deficits, rheumatic pain, neuralgia Ethanolic extract of AC has been reported to exert anticellular immunosuppression along with inhibition of nitric oxide, interlukin-2 and tumour necrosis factor - α - production and blocking of voltage activated Ca-channel AC has antioxidative, anti-inflammatory and neuroprotective action [A. Muthuraman, Nirmal Singh, Attenuating effect of AC extract in chronic constructive injury induced neuropathic pain in rats; an evidence of antioxidative, anti inflammatory neuoprotection & Ca-inhibiting effects]
- The aqueous & ethanol extracts of *Aconus calamus* was valuated for antibacterial activity against clinically important bacteria viz. *B.subtitis, S.aureus, E.coli, proteus neirabilis, pseudomonas aeruginosa*. In vitro, ethonolic extracts was total inactive against gram negative bacterial strains *(E.coli, mirabilis* and *P.aeruginosa)* and showed moderate antibacterial activity against gram positive bacteria B.subtilis and stap aureus. [Shrikumar *et al*, In-vitro antibacterial activity of aqueous and ethanolic extracts of *Acorus calamus*, JABPT, Vol-1-3, 2010].
- The bioactive F-3 Fraction demonstrated its cholesterol reducing effect by increasing fecal cholesterol excretion and decreasing cholesterol biosynthesis in the liver. Additionally, the effects on fibrinogen level and free radicals indicated that the bioactive-F-3 fraction could have potential beneficial effect in atherosclerosis associated with hyperlipidemia. [D'souza TB *et al*, Efficacy study of the bioactive fraction (F3) of *A.calamus* in hyperlipidemia, 1 JP, Vol. 39-4, 2007, PP 196-2000]

निम्ब Azadirachta Indica Linn

गण - कंडूघ्न, वमन, तिक्तस्कंध (च) आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि (सु)

कुल - निम्ब;

Family - Meliaceae (Meli-Honey)

Latin Name - Azadiracta (best great tree), indica (from India)

English Name - Margosa tree

संस्कृत - निम्ब, पिचूमर्द (पिचू-कुष्ठ), हिंगुनिर्यास, सर्वतोभद्र, सुभद्रा

मराठी - कडूनिम्ब

परिचय - वृक्ष 8-10 मीटर उंच, त्वक् जाड, खरखरीत, निर्यास निघत असतो. पत्र - विषमपक्षवत, नेत्राकार, 6-14 जोडयांमध्ये, दंतूरीत, हिवाळयात गळती, वसंतात

पालवी. **पूष्प** - लहान, श्वेतवर्णाचे, मंजरीरूपाने वसंतामध्ये पालवी. **फल** - हरीत, पिकल्यानंतर पीत वर्णाचे वर्षा ऋतुमधे

उत्पत्तीस्थान - भारतात सर्वत्र

Chemical composition - Bark contains a bitter resin called margosin. It also contains volatile oil, gum, white 40% stable and traces of sulpher. It contains quercetin and β-sitosterol glucocides.

गुणधर्म - गुण - लघू रस - तिक्त, कषाय
विपाक - कटू वीर्य - शीत

कर्म - तिक्त रसात्मक असल्याने कफशामक व पित्तशामक.

पचनसंस्थान - तिक्त कषाय असल्याने रोचक, ग्राही, कृमिघ्न व यकृत उत्तेज्जक, कामला, अरूचि अम्लपित्त यामध्ये उपयोगी.

श्वासवहसंस्थान - तिक्त असल्याने कासघ्न, पत्र कफोत्क्लेश अधिक होत असल्यास त्वक क्वाथ जीर्ण कासासाठी.

रक्तवहसंस्थान - रक्तविकारजन्य शोथ, त्वक विकारामध्ये, दाहप्रशमन

मूत्रवहस्रोतस - प्रमेहामध्ये

प्रजननसंस्थान - बीज गर्भाशय उत्तेजक, कष्टार्तव

सात्मीकरण - नवपत्र बल्यकर, स्थौल्यरोगात उत्तम रसायन,

ज्वर - ज्वरघ्न, आमपाचक, कफजज्वर, Malarial fever.

प्रयोज्यांग - त्वक्, पत्र, पुष्प, तैल

स्त्रोतोगामीत्व:

दोष - कफघ्न, पित्तघ्न, वातवर्धक **धातु** - रक्त, मेद, पत्र - शुक्र
मल - मूत्र (कमी करणे), पूरीष (बद्धता करणे)
अवयव - आमाशय, नेत्र

Some Researches: -

* Aqueous extract of leaves decreased blood sugar level and prevented adrenaline as well as glucose hyperglycemia. Fractions of acetone extract showed CNS depressant, positive inotropic and blood lowering activities. It is found effective against intestinal worms. It also works as antineoplastic and antiviral.

5 विरेचन (Purgation Therapy)

निरूक्तिः वि+रिच+णिच्-ल्यूट्

मलादे निस्सरणमे। विशेषे रेच यती इति।। (वाचस्पत्यम्).

मुळ रिच धातुला णिच् किंवा ल्यूट प्रत्यय लागल्याने विरेचन शब्द (न. लिंग) तयार होतो. याचा अर्थ मल निर्हरण असा आहे.

व्याख्याः

तत्र दोष हरणं अधोभागं विरेचन संज्ञकम्।

उभयं वा शरीर मल विरेचनात् विरेचन संज्ञां लभते।। च.क. 1/4

अधो गुदेन दोष निर्हरणं भजत् इत्यधोभागम् (चक्रपाणि च.क. 1/4)

दोषांना अधोमार्गाद्वारे अर्थात गुदमार्गाने काढण्याची क्रिया म्हणजे विरेचन होय. गंगाधर यांचे मते दोषांना बाहेर काढण्याच्या प्रक्रियेला विरेचन असेच म्हटले आहे. परंतु व्यवहारामध्ये विरेचन म्हणजे गुदमार्गाद्वारे दोषांचे शोधन हेच मानले जाते. विरेचनाला 'प्रस्कंदन' असेही म्हटले जाते. (च.सू. 13/81)

सामान्य परिचयः

आंत्र हे शरीराची 'Sewer system' आहे ही व्यवस्थित ठेवली नाही किंवा वेळचेवेळी योग्य चिकित्सा केली नाही तर आंत्रात हळुहळू विषतत्व (Toxins) वाढत जातील व ते पुन्हा शरीरात शोषले जावून रक्ताच्या मुख्यप्रवाहात येऊ शकतील. या कारणाने कितीतरी व्याधी निर्माण होण्याची शक्यता असते. त्यामुळे त्यांना वेळेतच बाहेर काढण्याची आवश्यकता आहे. 'वमन' कर्मानंतर संशोधनाची दुसरी क्रिया विरेचन आहे. ज्या प्रमाणे 'वमन' कफ प्राधान्यामध्ये उपयुक्त आहे त्याचप्रमाणे 'विरेचन' हे कर्म पित्त प्राधान्य व्याधींची प्रमुख शोधन चिकित्सा आहे. विरेचन कर्म केवळ पित्तासाठीच नाही तर कफ संसृष्ट, पित्तस्थानगत कफ व रक्तदुष्टीसाठी महत्त्वाची चिकित्सा आहे. पित्ताचे स्थान व कफाचे स्थान आमाशयच असल्याने शोधनकर्मासाठी गोंधळून जाण्याची गरज नाही. अवस्थानुरूप दोषांचे प्राबल्य बघून वमन किंवा विरेचनाची निवड करावी.

विरेचन हे कफ व पित्तासोबत वात चिकित्सेसाठीही प्रशस्त कर्म आहे. विरेचन कर्म रुग्णांसाठी व चिकित्सकांसाठीही वमनापेक्षा कमी तणावाचे असल्याने अधिक लोकप्रिय आहे. उपद्रवही कमी आहेत, झाले तरी सहजतेने हाताळता येणारे आहेत. त्यामुळे वैद्यक वर्ग वमनापेक्षा विरेचनाला अधिक पसंती देतो.

पित्त हे अग्निशी संबंधीत आहे ज्यामुळे शरीरात होणारे पचन व धातुगत होणारे पचन (Digestive and Metabolic process) एकमेकांवर अवलंबून आहे. या न्यायाने विरेचन हे यासाठीच महत्त्वाचे उपक्रम आहे.

विरेचनाचे महत्त्व व उपयोगिता (Importance and Utility)

(1) विरेचन कर्म हे पित्त प्रधान व्याधीची प्रमुख संशोधन चिकित्सा आहे.

(2) पित्त प्रधान दोषांसोबतच कफ संसृष्ट व पित्त स्थानगत कफाचे शोधन करण्यासाठी (अ.सं.सू. 27)

(3) विरेचन कर्माने अग्निदीप्ती होते त्यामुळे अग्निमाद्यांने होणाऱ्या व्याधिंमध्ये विरेचन कर्म उपयोगी आहे. सोबतच विरेचनामुळे बुध्दिवर्धक, इन्द्रियशक्तिवर्धक तथा धातुस्थिरत्व कार्य घडते. (सु.चि. 33/27) विरेचनाच्या या कार्यामुळे वृध्दिजन्य विकारातही विरेचन कर्म उपयुक्त ठरेल.

(4) **वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेद संशोधनं मृदु।। अ.हृ.सू. 13/1**

व्याधींच्या संख्येचा विचार करता 80 प्रकारच्या वातव्याधींचे वर्णन आहे. वातव्याधीच्या चिकित्सेमध्ये स्नेहन, स्वेदना सोबतच मृदू विरेचनाचा उपदेश आहे. यावरून विरेचनाची महत्ता स्पष्ट होते.

(5) पित्त हे रक्ताच्या आश्रयाने असते. रक्तदुष्टीची चिकित्सा पित्तदुष्टी चिकित्से सारखी असल्याने रक्तदुष्टीमध्येही विरेचन कर्म महत्त्वाचे मानले जाते.

(6) त्वक् विकारांमध्ये पित्त व रक्त दुष्टीची चिकित्सा करतांना प्रथम विरेचन आवश्यक आहे. चिकित्सा विरेचन कर्माने वर्णप्रसादनाचे कार्य होते. (च.सू. 15/22)

(7) शीत ऋतू पित्ताचा प्रकोप काल आहे त्यामुळे ऋतुनुसार संशोधन करतांना शरद ऋतुमध्ये विरेचनाचे विशेष महत्त्व आहे. प्रत्यक्षात याकाळात त्वक् विकारांचाही सुमार असतो उदा. सोरियासिस रुग्णाच्या व्याधीची वृध्दी, शीतपित्त इत्यादी.

(8) उदर रोगामधे नित्य विरेचनाचे महत्त्व आहे. (च.चि. 13/61)

(9) प्रतिमार्ग च हरणं रक्तपित्ते विधीयते। (च.नि. 2/19) या न्यायाने उर्ध्वग दोषांना गति विरूध्द चिकित्सामध्ये विरेचन उपयुक्त ठरते.

(10) रसायन कर्म करण्यापूर्वी शरीराची शुद्धी होणे आवश्यक असते. त्यामुळे रसायन चिकित्सेपूर्वी वमन केल्यानंतर 'विरेचन' केले जाते ज्यामुळे स्रोतोगत संशोधन होवून धात्वाग्नि प्रदीप्त होतात व उत्तम धातुंची निर्मिती केली जाते. संशोधनाने धातुंना स्थिरत्व येवून इंद्रियांना बल मिळते. (अ.हृ.सू. 18/58)

भेद : (Classification)

I) विरेचन द्रव्यांच्या कार्यशक्तीचा तरतम विचार करता विरेचनाचे खालील प्रकार पाडता येतील.

1) **मृदूविरेचन** – अल्प शोधन केले जाते त्यास मृदूविरेचन म्हणतात. उदा. अमलतास. मृदुविरेचनाचा उपयोग वातानुलोमन करण्यासाठी केले जाते.

"चतुरङ्गुलो मृदुविरेचननां।" (च.स. 25/40)

2) **मध्यम विरेचन** – मध्यम शोधनासाठी उपयुक्त. हे सुख विरेचन आहे. उदा. निशोथ.

ज्वर, रक्तपित्त इ. व्याधींसाठी मध्यम प्रकारची शुध्दी केली जाते त्यावेळी या द्रव्यांचा उपयोग केला जातो. त्रिवृत्तंसुखविरेचनानां। च.सू. 25/40

3) **तीक्ष्ण विरेचन** -- उत्तम शोधनासाठी, तीव्र द्रव्यांद्वारे शोधन करणे. उदा. स्नुहीक्षीर, उदररोग, कुष्ठ इ. व्याधींमध्ये तीक्ष्ण विरेचन अपेक्षित असते त्यावेळी या द्रव्यांचा उपयोग केला जातो.

II) या व्यतिरिक्त विरेचनाचे आणखी द्रव्यांच्या गुणधर्मानुसार व रुग्ण सिध्दतानुसार खालील प्रकार आहेत.

1) **स्निग्ध विरेचन** - रुग्णास स्नेहपान करून स्निग्ध केल्यानंतर विरेचन करण्यास स्निग्ध विरेचन म्हणतात. या क्रियेत आभ्यंतर स्नेहनाने दोषांना उत्क्लेषित करून कोष्ठात आणले जाते व ते अधोमार्गाने निर्हरण केले जाते.

स्निग्ध विरेचनाचा दुसरा अर्थ स्निग्ध गुण युक्त द्रव्याने विरेचन करणे असा होय. उदा. एरण्ड तैलाने विरेचन, तिल्वक, आरग्वध, पक्वाशयगतवातामध्ये प्रयुक्त.

2) **रूक्ष विरेचन** - 'रूक्ष विरेचन' याचा अर्थ रूक्ष गुण युक्त द्रव्याने विरेचन करणे असा आहे. तसेच कोणतेही पूर्वकर्म न करता अर्थात स्नेहपान न करता विरेचन करणे म्हणजे रूक्ष विरेचन होय. उदा. विसर्प, शोथ, कामला या व्याधींमध्ये स्नेहन निषेध आहे. त्यामुळे अशा अवस्थेत रूक्ष विरेचन केले जाते. उदा. हरितकी, दंती, कुटकी. स्नेहोक्लिष्ट रुग्णामध्ये रूक्ष विरेचन केले जाते.

विसर्प पिडका शोफ कामला पांडुरोगिणः।
अभिघात विषार्ताश्च नाति स्निग्धान विरेचयेत्।। **च.सि. 6/8**

नातिस्निग्ध शरीराय द्यातस्नेह विरेचनम्।
स्नेहोक्लिष्ट शरीराय रूक्षं दद्यात विरेचनम्।। **च.सि. 6/9**

III) विरेचन द्रव्यांच्या कर्मानुसार खालील 4 प्रकारचे भेद आहेत.

1) **अनुलोमन** - ज्या औषधी मलांना पक्व करून, त्यांचे बंध तोडून मलांस अधोमार्गाने बाहेर काढते त्यास अनुलोमन म्हणतात. उदा. हरीतकी.

कृत्वापाकं मलानांच भित्वा बंधमधोनयेत्।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं प्रोक्ता हरीतकी।। **भा.प्र.**

2) **स्रंसन** - ज्या औषधी कोष्ठात श्लिष्ट (चिकटलेल्या) मलांस पाक न करताच अधोमार्गाने बाहेर काढते त्यास 'स्रंसन' म्हणतात. उदा. अमलतास

पक्ततव्यं यद्पक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्।
नयत्यधः स्रंसनं तद यथा स्यात् कृतमालकम्।। **शा.पू.खं. 4/4**

3) **भेदन** - ज्या औषधीद्वारे बध्दमल किंवा अबध्द मलाचे भेदन करून त्यास अधोमार्गाने बाहेर काढले जाते त्यास 'भेदन' म्हणतात. उदा. कुटकी

मलादिकमबध्दं यद् बध्दं वा पिण्डितं मलैः।

भित्वाऽधः पातयति भेदनं कटुकी यथा।। **शा.पू.खं. 4/5**

4) **रेचन** – ज्या औषधी पक्व किंवा अपक्व मलास द्रवरूप करून अधोमार्गाने बाहेर काढतात त्यास 'रेचन' म्हणतात. उदा. निशोथ.

विपक्वंयदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्।

रेचयत्यपि तज्ज्ञेचं रेचनं त्रिवृत्तायथा।। **शा.पू.खं. 4/6**

विरेचक द्रव्य व त्यांचे सामान्य गुणधर्म (General properties)

विरेचन करणारे द्रव्य त्यांच्या विशेष प्रभावाने कार्य करतात. वामक द्रव्यांचे गुण व विरेचक द्रव्यांचे गुण एकसारखेच आहे. उष्ण, तीक्ष्ण, सुक्ष्म, व्यवायी, विकासी या गुणांमुळे विरेचक द्रव्य शोधनाचे कार्य करतात. या गुणांचे वर्णन 'वमन' प्रकरणात केलेलाच आहे. यासोबत एक महत्त्वाचा गुण असतो तो प्रभाव.

प्रभाव हा विरेचक द्रव्याचा स्वभाव आहे. जल व पृथ्वी महाभूत प्राधान्य असलेले हे द्रव्य अधोगुण भूयिष्ट असल्याने दोषांना अधःभागी नेण्याचे सामर्थ्य ठेवतांत. याचा अर्थ प्रत्येक पृथ्वी व जल महाभूत प्राध्यान्याचे द्रव्य 'विरेचक' असतीलच असे नाही. विरेचन करणे हया त्या द्रव्याचा प्रभाव आहे.

विरेचक द्रव्यः

आचार्य चरकोक्त द्रव्यः

1) **मुलिनी द्रव्य** – या द्रव्यांचे मूलांचा प्रयोग केला जातो. (च.सू. 1/78-80)

(1) हस्तिदन्ती
(2) शामा त्रिवृत्त
(3) श्वेत त्रिवृत्त
(4) त्रिधारा
(5) सप्तला
(6) दन्ती
(7) इंद्रायण
(8) विषाणिका
(9) आवर्तकी
(10) अजगंधा
(11) द्रवन्ती

2) **फलिनी द्रव्य** – या द्रव्यांचे फला चा उपयोग केला जातो. (च.सू. 1/82-87)

(1) शंखिनी
(2) विडंग
(3) आनुपकलीतक (जलज मधूयष्टी)
(4) स्थलज कलीतक (स्थलज मधुयष्टी)
(5) प्रकीर्या (करंज)
(6) उदकीर्या (करंज)
(7) अभया
(8) अंतःकोटरपुष्पी
(9) कंपिल्लक
(10) आरग्वध

3) **लवण** – (च.सू. 1/90-92)

(1) सौवर्चल (2) सैधव (3) विडलवण इ.

4) **क्षीरीद्रव्य** – (च.सू. 1/115)

(1) स्नुहीक्षीर (2) अर्कक्षीर

5) **पक्वाशयगत दोषांमध्ये विरेचनार्थ द्रव्य** – (च.सू. 2/9-10)

(1) त्रिवृत्त
(2) कम्पिल्लक
(3) त्रिफला
(4) दन्ती
(5) नीलिनी
(6) सप्तला
(7) वचा
(8) गवाक्षी
(9) क्षीरिणी (दुग्धिका)
(10) उदकीर्या
(11) पीलू
(12) आरग्वध
(13) द्राक्षा
(14) निचुल
(15) द्रवन्ती

6) **भेदनीय महाकषाय** – (च.सू. 4/4)

(1) त्रिवृत्त
(2) अर्क
(3) एरण्ड
(4) लांगली
(5) दन्ती (चित्रा)
(6) चित्रक
(7) करंज
(8) स्वर्णक्षीरी
(9) शंखिनी (यवतिक्ता)
(10) कटुकी

7) **विरेचनोपग महाकषाय** – (च.सू. 4/24)

(1) द्राक्षा
(2) अभया
(3) गम्भारी
(4) फालसा
(5) आमलकी
(6) विभीतक
(7) कुवल (बदर भेद)
(8) बदर (बोर)
(9) कर्कन्धू (बदर भेद)
(10) पीलू

8) **पुरीष विरजनीय** – (च.सू. 4/32) पुरीषामध्ये राहणाऱ्या दोषांना काढण्याचे कार्य

(1) जांभूळ
(2) शल्लकी
(3) त्वक्
(6) श्रीवेष्टक
(7) भृष्टामृत (भाजलेली माती)
(8) पयस्या

(4) दुरालभा (9) नीलोत्पल

(5) यष्टीमधू (10) तिल

आचार्य सुश्रुतोक्त विरेचन द्रव्य - (सु.सू. 39/4)

(1) त्रिवृत्त (6) इंद्रायण (11) काश

(2) शामा (कृष्णमूल त्रिवृत्त) (7) वृध्ददारू (12) चित्रक

(3) दन्ती (8) मेषश्रृंगी (13) एरण्ड

(4) द्रवन्ती (9) स्वर्णक्षीरी (14) त्रिफला

(5) सप्तला (10) कुश (15) ज्योतिष्मती

आचार्य वाग्भटोक्त - (अ.हृ.सू. 15/2)

(1) निकुम्भ (दन्ती) (5) स्नूही (9) अमलतास

(2) निशोथ (6) स्वर्णक्षीरी (10) कम्पिल्लक

(3) त्रिफला (7) शंखिनी (11) गोमूत्र

(4) गवाक्षी (इंद्रायण) (8) तिल्वक (12) गोदुग्ध

विरेचन कल्पना (Knowledge of Virechan Kalpana & their properties)

विरेचन योग विचारणानुसार खालीलप्रमाणे वेगवेगळया कल्पनेने देता येते.

(1) चूर्ण (8) मांसरस (15) मद्य - सुरा

(2) वर्ति (9) पानक (16) यवागु

(3) आसव (10) यूष (17) क्षीर

(4) अरिष्ट (11) तर्पण (18) उपधेया

(5) अवलेह (12) षाडव (19) मोदक

(6) स्नेह - तैल (13) राग (20) सीधु

(7) कषाय (14) घृत (21) दही

सुश्रुतोक्तः (1) घृतयोग (5) मूत्रयोग

(2) तैलयोग (6) मांसरस योग

(3) क्षीर योग (7) भक्ष्यान्नयोग

(4) मद्ययोग (8) अवलेह

वरील सर्व कल्पनांचे वर्णन करण्यामागे कारण:

(1) तीक्ष्ण द्रव्य असल्यास त्यांच्या गुणानुसार रुग्णास सेवनास सुलभ व्हावे.

(2) गंध, चव याच्यानुसार रुग्णास सेवनाची सूलभ व्हावी.

(3) काही औषधी द्रव्यांचे विरेचन योगच त्या-त्या स्वरूपात तयार होऊ शकतात. उदा. तैल, क्वाथ, फाण्ट

(4) विरेचन द्रव्यांचे प्रभाव न्युनाधिक करण्यासाठी.

अ.क्र	कल्पना	द्रव्य	गुणधर्म	मात्रा	अनुपान
1	चूर्ण	1) सैंधव + सुंठी + निशोथ 1 भाग 1 भाग 2 भाग 2) दंती, द्रवंतीमूले, यांस दंती + द्रवंती क्वाथाची भावना	वातकफ जन्य व्याधीसाठी मलबंध, वातीक गुल्म	20 gm 40 gm	कोष्णजल निम्बूरस, कांजी
2	आसव	दंती, द्रवंती + उडद क्वाथ + सुराकिट्ट-संधान करून आसव निर्माण	कफज गुल्म अग्निमांद्य पार्श्वग्रह कटिग्रह	40 ml	कोष्णजलासह
3	वर्ती	निशोथचूर्ण + चासनी (शर्करा)	पित्तजव्याधी	-	गुदमार्गाने
4	अरिष्ट	1) दंतीक्वाथ + अमलतास मज्जा + गुड-संधान करून 2) निशोथ, दंतीमूल (क्वाथ) पीपल मदनफल, चित्रकमूल (कल्क) + गुड - संधान करून	पित्तप्रधान व्याधी वातकफज व्याधी प्लीहारोग, पाण्डू उदररोग	40 ml 40 ml	कोष्णजल कोष्णजल
5	अवलेह	1) शामा (निशोथ) मूल क्वाथ + निशोथकल्क + शर्करा 2) त्रिवृत्त अवलेह	तीव्र रेचक पित्तप्रधान व्याधी	10 gm 20-30 gm	कोष्णजलासह, दूधासोबत
6	स्नेह (तैल)	1) एरण्ड तैल 2) शंखिनीचूर्ण 2 भाग + तिलचूर्ण 1 भाग-तैल	कफवात व्याधी आमवात	30-60 ml 30-60 ml	सुण्ठी फाण्ट किंवा दूध हरीतकी क्वाथ
7	कषाय	सप्तला+यवतिक्त+सुरामण्ड सैंधव लवण	कफवातज व्याधी हृदरोग, गुल्म	60-70 ml	--
8	षाडव	षाडव + निशोथ चूर्ण			
9	राग	राग + निशोथ चूर्ण			
10	मांसरस	दंती, द्रवन्ती लावा पक्षीमांस, मांसरस			

अ.क्र	कल्पना	द्रव्य	गुणधर्म	मात्रा	अनुपान
11	पानक	निशोथ मुल-स्नूही क्षीराने भावना (7 दिवस)		चूर्ण 10 ग्रॅम	गुड शरबत बरोबर
12	यूष	स्नुही क्षीर + यूष	वातकफ जन्य		
13	तर्पण	1) निशोथ चूर्ण + तर्पण 2) दालचीनी : एला : नीळमूळ : निशोथ : शर्करा: (1:1:2:4:8 भाग)	वातकफ जन्य व्याधी + मंदाग्नि		दाडिम रस + मधू
14	घृत	शंखिनी/सप्तला क्वाथ+दूध → घृतसिद्ध + 1/2 भाग सप्तला+ 1/2 भाग निशोथ कल्क → घृतपाक		40 मिली	दूध
15	मद्य	दंतीमूळ + द्रवन्तीमूळ चूर्ण + दंतीमूळ + द्रवन्तीमूळक्वाथ + उडद क्वाथ → संधानकरून मद्य	कफ व्याधी, गुल्म, पार्श्व, कटिग्रह, अग्निमांद्य	60 मिली	
16	सुरा	दंती, द्रवंतीमूल क्वाथ संधानकरून			
17	क्षीर	दुग्ध + त्रिवृत्तचूर्ण	वातकफज व्याधी		
18	यवागु	दंती द्रवंती क्वाथ + यवागु	कफज व्याधी		
19	उत्कारिक	दंती द्रवंती क्वाथ (3भाग)+ शर्करा (1 भाग) + गव्हाचे पीठ (1 भाग) उत्कारीका तयार करणे	कफज व्याधी		दूधासह
20	मोदक	श्वेतनिशोथचूर्ण+ त्रिफलाचूर्ण + विडंग + यवक्षार गुडाच्या चासणीमध्ये मोदक तयार करून	कफज व्याधी गुल्म, प्लीहा उदर, श्वास हलीमक		कोष्णजलासह
21	सीधु	अमलतास मज्जा (2 पल) + कोल सीधू (4 पल)			
22	दधी				

कोष्ठ निर्णय व अग्नी निर्णय:

विरेचन कर्म करण्यापूर्वी रुग्णाचे कोष्ठ व अग्नी निर्धारण करणे आवश्यक आहे कारण कोष्ठ व अग्नीच्या परीक्षणानंतरच स्नेहपानाची मात्रा ठरवली जाऊ शकते व विरेचनाची द्रव्याची मात्राही कोष्ठ व अग्नीच्या परीक्षणानंतर ठरवली जाते त्यामुळे अयोगाचे किंवा अतियोगाचे व्यापद टाळण्यासाठी कोष्ठ व अग्नी निर्धारण करणे आवश्यक आहे.

कोष्ठ निर्णय व अग्नी परीक्षण याचे सविस्तर वर्णन 'वमन' प्रकरणात दिलेले आहे.

विरेचन योग्य (Indications)

संहितांनुसार विरेचन योग्य खालीलप्रमाणे आहेत ज्यामध्ये विरेचन करता येऊ शकते.

(च.सि. 2/13, सु.चि. 33/32, अ.हृ.सू. 18/8-10)

(1)	ज्वर, जीर्णज्वर (वाग्भट)	(2)	कुष्ठ (Skin diseases)
(3)	प्रमेह (Polyurea/diabetes)	(4)	उर्ध्वगरक्तपित्त (Bleeding disorders)
(5)	भगन्दर (Fistula)	(6)	उदर (Ascites)
(7)	अर्श (Piles)	(8)	ब्रध्न (Inguinal hernia)
(9)	प्लीहा रोग (Splenomegaly)	(10)	गुल्म (Abdominal lump)
(11)	अर्बुद (Tumour)	(12)	गलगण्ड (Goitre)
(13)	ग्रंथी (Cyst)	(14)	विसूचिका (Gastroenteritis)
(15)	अलसक (Pyloric stenosis)	(16)	मूत्राघात (Retention of Urine)
(17)	कृमीकोष्ठ (Infestation)	(18)	विसर्प (Herpes)
(19)	पाण्डू (Anemia)	(20)	शिर:शूल (Headache)
(21)	पार्श्वशूल (Pain in flanks)	(22)	उदावर्त (Retrograde intestinal movement)
(23)	नेत्रदाह (Burning in eye)	(24)	आस्यदाह (Burning in face)
(25)	हृद्रोग (Heart disease)	(26)	व्यंग (Black Head)
(27)	नीलिका	(28)	नेत्रस्राव (Excess Lacrimation)
(29)	नासास्राव (Nasal discharge)	(30)	हलीमक (Cirrhosis of liver)
(31)	श्वास (Breathlessness)	(32)	कास (Cough)
(33)	कामला (Jaundice)	(34)	अपची (Lymphadenitis)
(35)	अपस्मार (Epilepsy)	(36)	उन्माद (Insanity)
(37)	च्छर्दि (Vomiting)	(38)	वातरक्त (Gouty arthritis)
(39)	योनीरोग (Genital disorders)	(40)	तिमिर (Defective vision)

(41) काच (Cataract) (42) अरोचक (Anorexia)

(43) अविपाक (Indigestion) (44) वातास्र (Rheumatoid disorder)

(45) श्वयथू (Sneezing) (46) विस्फोटक (Exfoliative condition)

(47) शस्त्रक्षत, क्षार-अग्निदग्ध (48) दुष्टव्रण (Infective wound)

(49) गरविष (Poison) (50) अक्षिपाक (Panopthalmitis)

(51) गुददाह (Burning in anus) (52) मेढ्रदाह (Burning in Penis)

(53) शुक्रव्याधी (Related to semen & male genital organs)

वरील विरेचन योग्य व्याधींचा विचार करता, या व्याधींचे खालील प्रकारे वर्गीकरण करता येईल. त्याप्रमाणे दोष-दुष्याचा विचार करून इतरही व्याधी योग्य किंवा अयोग्य चिकित्सक स्वत:च्या बुध्दीनुसार ठरवू शकतील.

(1) पित्त दोष प्राधान्याने होणाऱ्या व्याधी - कामला, पाण्डू, दाह, पाक

(2) रक्त दोष प्रधान व्याधी - कुष्ठ, विसर्प, व्यंग, नीलिका, इ.

(3) पित्तस्थानगत व्याधी - श्वास

(4) कफस्थानगत पित्त

(5) कफस्थानगत व्याधी - हृद्रोग, उर्ध्वजत्रूगत व्याधी

(6) तीक्ष्ण शोधन आवश्यक असणाऱ्या व्याधी - गरविष, कृमीकोष्ठ

(7) गंभीर प्रकारच्या व्याधी उदा. उन्माद, अपस्मार

(8) बहुदोषजव्याधी उदा. कुष्ठ, प्रमेह

(9) मार्गावरोधज चिकित्सा - अधोगरक्तपित्त, च्छर्दि

विरेचन अयोग्य (Contra indication)

(च.सि. 2/11, सु.चि. 33/30, अ.हृ.सू. 18/7)

विरेचन अयोग्य अवस्था:

(1) सुभग (2) क्षतगुद

(3) भुक्तवान (4) लंघित

(5) दुर्बलेन्द्रिय (6) निरूढ

(7) कामात व्यग्र (8) अजीर्ण

(9) आध्मान (10) शल्यपीडित

(11) अभिहत (12) अतिस्निग्ध

(13) अतिरूक्ष (14) अल्पाग्नि

(15) बाल, वृध्द (16) श्रान्त

(17) पिपासित (18) कर्मभारध्वहत

(19) अतिस्थूल (20) अतिकृश

(21) उपवासित (22) मैथूनप्रसक्त

(23) व्यायाम प्रसक्त (24) चिन्ता प्रसक्त

(25) क्षाम (26) गर्भिणी

(27) नवप्रसूता (28) नित्यदु:खी

(29) भयभीत (30) दारूण कोष्ठयुक्त

विरेचन अयोग्य व्याधी:

(1) नवज्वर (2) मुक्तनाल (Loss of bowel control)

(3) क्षतगुद (4) आध्मान

(5) तालूशोष (6) मदात्यय

(7) उरूस्तम्भ (8) अर्दित

(9) हनुरोग (10) केवलवातरोग

(11) राजयक्ष्मा (12) शोष

(13) अधोगरक्तपित्त (14) अतिसार

(15) हृद्रोग

वरील विरेचनाचे अयोग्याचा विचार करता त्यांचे वर्गीकरण खालीलप्रमाणे करता येईल:-

(1) ज्या व्याधींमध्ये Emergency treatment ची आवश्यकता आहे असे व्याधी. - उदा. हृद्रोग

(2) रुग्णाचे बल कमी असल्यास. उदा. सुभग, कृश, बाल, वृध्द, गर्भिणी इ.

(3) वायू वृध्दी होणाऱ्या अवस्था किंवा रुग्ण. उदा. मैथुनप्रसक्त, अध्ययनप्रसक्त, शांत, मदात्यय

(4) दोषांची अधोगती असल्याने किंवा विरेचनाने अधिक व्याधीची तीव्रता वाढू शकते अशा व्याधी. उदा. मुक्तनाल, अतिसार, क्षतगुद, अधोगरक्तपित्त इ.

(5) पुरीष ज्यांचे बल आहे अशी व्याधी - राजयक्ष्मा.

विरेचनापूर्वी वमनाची महत्ता (Significance of vaman before virechan)

अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽध: स्रस्त: श्लेष्मा ग्रहणीं छर्दयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति।। सु.चि. 33/19

आमाशय हे पित्त व कफाचे स्थान आहे. विरेचन ही पित्ताची प्रमुख चिकित्सा असली तरी वमन चिकित्सेनेही पित्ताचे शोधन होते. त्यामुळे दोष बाहुल्यामध्ये वमनाद्वारे पित्ताचे शोधन झाल्याने नंतर विरेचनाने पित्ताचे उत्तम शोधन होईल.

विरेचन हे स्नेहन स्वेदन युक्त वमनानंतर द्यावे कारण वमन न करता विरेचन केल्यास सम्यक विरेचनाचे लक्षण दिसल्यानंतरही कफ अधिक खाली ढकलला जातो. त्यामुळे ग्रहणीवर कफाचे आच्छादन होवून अग्निमांद्य होते व गौरवोत्पत्ती होवून प्रवाहिकाचे लक्षण उत्पन्न होते. त्यामुळे विरेचनापूर्वी वमन करणे आवश्यक असते.

ज्या व्याधींमध्ये बहुदोष असतील अशा व्याधींमध्ये वारंवार शोधन करणे क्रमप्राप्त असते. उदा. कुष्ठ. अशा अवस्थेत वारंवार वमन - विरेचन करण्याचा विधान आहे त्यामुळे अधिक दोष बाहेर काढले जातील.

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरूक्षता प्राणान्। **च.चि. 7/41**

उन्मादा सारख्या मानस व्याधींमध्ये वमन, विरेचन क्रमाने करणे आवश्यक आहे. वमन क्रियेने हृदय, इंद्रिय, कोष्ठ शुध्दी झाल्यानंतर मन प्रसन्न होते त्यानंतर क्रमाने विरेचनादि शुध्दी केल्याने दोषांचे शोधन होवून इच्छित फल प्राप्ति होते. त्यामुळे विरेचनापूर्वी वमन आवश्यक मानले जाते.(च.चि. 9/25-28)

विरेचन विधी

विरेचनकर्म खालील तीन प्रकारात विभागली जाते.

(1) पूर्वकर्म
(2) प्रधान कर्म
(3) पश्चातकर्म

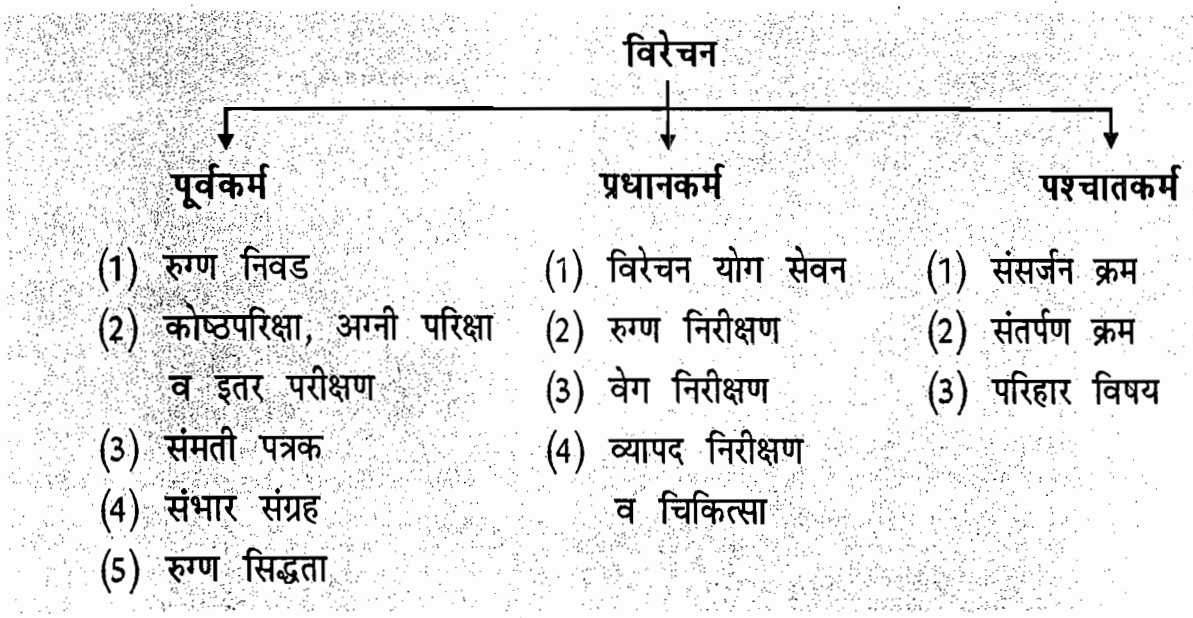

(1) **रुग्ण निवड** - व्याधी, दोष, प्रकृती, देश, वय, बल, काल याचा विचार करून रुग्णाची विरेचनासाठी निवड करावी. व्याधी विरेचन योग्य किंवा अयोग्य (contraindication) हे बघून रुग्णाची विरेचनासाठी निवड करावी.

(2) **कोष्ठ परीक्षा, अग्नी परीक्षण व इतर परीक्षण** - वमन प्रकरणात वर्णिल्याप्रमाणे रुग्णाचा कोष्ठ परीक्षण व अग्नीपरीक्षण करून घ्यावे. कोष्ठ व अग्नीच्या परीक्षणानंतर स्नेहपानाचीही मात्रा ठरविता येते व प्रत्यक्ष विरेचनाचीही मात्रा ठरवता येते. त्यामुळे अयोग वा अतियोग व्यापद टाळण्यासाठी विरेचनापूर्वी रुग्णाचे कोष्ठ जाणून घेणे अत्यंत महत्त्वाचे आहे. या सोबतच रुग्णाचे दशविध, अष्टविध परीक्षण करून घ्यावे.

इतर परीक्षणामध्ये नियमित व्याधीनुसार Biochemical investigation करून घ्यावे.

वजन -

नाडी -

BP -

Lipid profile -

Blood sugar -

LFT - (आवश्यकता असल्यास)

(3) **संमती पत्रक** - Consumer Act च्या दृष्टीने बचावात्मक व एक न्यायालयीन प्रक्रिया म्हणून रुग्ण व/किंवा जवळच्या नातेवाईकांस विरेचनकर्म, त्यापासून होणारे संभावीत फायदे, व्यापद या विषयीची माहिती द्यावी व रुग्णास/नातेवाईकांस समजेल त्या भाषेत संमती पत्रक (Consent form) तयार करून त्यावर स्वाक्षरी किंवा अंगठयाचे ठसे घ्यावे.

(4) **संभार संग्रह (Collection of Requirements)** - विरेचनासाठी आवश्यक लागणारे साहित्य, द्रव्य व सोबतच विरेचन क्रियेमध्ये होणारे संभावीत व्यापद यांचा विचार करून त्यासाठी लागणारी चिकित्सेसाठी औषधी आधीच जमा करून ठेवावी.

(1) अभ्यंगतैल (धन्वन्तर तैल, चंदनबलालाक्षादि तैल, नालपामरादि तैल)
(2) मोजपात्र
(3) पात्र (S.S.)
(4) ग्लास
(5) बाष्प स्वेद यंत्र
(6) विरेचनार्थ द्रव्य - (कोणतेही एक किंवा दोन)
   (i) एरण्ड तैल
   (ii) आरग्वधमज्जा
   (iii) त्रिवृत्त अवलेह
   (iv) अभयादि मोदक
   (v) अश्वकंचूकी
   (vi) इच्छाभेदी रस

व्यापद चिकित्सेसाठी:

(i) बिल्वमज्जा
(ii) सूतशेखर वटी
(iii) कर्पूररस
(iv) शंखवटी
(v) कुटजघनवटी

Modern Drugs:

- IV Fluids DNS, NS, RL
- Inj. Ranitidin
- Tab. Loperamide
- Inj. Dexamethasone

(5) **रुग्ण सिध्दता** –

(1) **पाचन :** स्नेहपानापूर्वी रुग्णास 3-7 दिवसांपर्यंत अवस्थानुरूप चित्रकादि वटीने पाचन व रुक्षण चिकित्सा करावी.

(2) **स्नेहपान:** विरेचनासाठी व्याधी, रुग्ण प्रकृती, दोषांचा विचार करून रुग्णास स्नेहपान विधीने 3-7 दिवस पर्यंत सम्यक स्नेहन करावे. जर रुग्णाचे वमन कर्म केलेले असेल तर 7 दिवस स्नेहपानाची आवश्यकता नसते. त्यासाठी वमनानंतरच्या संसर्गत क्रमानंतर एक दिवस विश्रांती व नंतर 9 व्या दिवशी स्नेहपान सुरू करावे. 9 वा, 10 वा, 11 व्या दिवशी स्नेहपान करावे. 12 ते 14 व्या दिवशी पर्यन्त 3 दिवसांची विश्रांती द्यावी. 3 दिवस विश्रांती दिल्याने श्लेष्मा कमी होतो व विरेचन सुलभ होते. (स्नेहात प्रस्कंदनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरत: पिबेत। च.सू. 13/80) यावेळी 11 व्या दिवसापासून तर विरेचनाच्या दिवशीपर्यंत सर्वांग अभ्यंग व स्वेदन करावे. 15 व्या दिवशी रुग्णाचे विरेचन कर्म करावे.

वमनानंतर विरेचन: वमन → संसर्जनक्रम (7 दिवस) → विश्रांती (8 वा दिवस) → स्नेहपान (9-11 दिवस) → अभ्यंग व स्नेह (12-15 दिवस) → विरेचन (15 वा दिवस)

वमनाशिवाय विरेचन: स्नेहपान (3-7 दिवस) → अभ्यंग + स्वेदन (8 ते 11 व्या दिवशी) → विरेचन (11 व्या दिवशी)

वमन कर्म न करता विरेचन कर्म करायचे असल्यास 3-7 दिवस पर्यंत स्नेहपान करावे त्यानंतर 3 दिवसांची विश्रांती द्यावी. त्यानंतरच्या दिवशी विरेचन कर्म करावे.

(3) **अभ्यंग स्वेदन:** स्नेहपानाच्या शेवटच्या दिवसापासून विरेचनाच्या दिवसापर्यंत रोज सर्वांग अभ्यंग व स्वेदन करावे.

आहार परिचर्या:-

स्नेहपान काळात – लघु, सुपाच्य आहार घ्यावा. उदा. मुग, खिचडी

विश्रांती काळात - विरेचनोपग भोजन - स्निग्ध, द्रव, उष्ण, मांसरस, भात, अम्ल फळांचा रस या काळात आहार कफ वृध्दी करणारा नसावा. अन्यथा कफवृध्दीमुळे विरेचनौषधीने वमन होण्याची शक्यता असते. (च.सि. 1/10)

विरेचनाच्या दिवशी:

(1) **अभ्यंग स्वेदन** - प्रात:काली रुग्णाचे सर्वांग स्नेहन स्वेदन करावे.

(2) **आहार** - विरेचनाच्या दिवशी रुग्णास विरेचनपूर्व काहीही खाण्यास देवू नये आमाशयाच्या रिक्त अवस्थेत विरेचन औषधी द्यावी.

प्रधानकर्म

(1) **विरेचन योग सेवन:** विरेचनाच्या दिवशी रुग्णाचे आदल्या रात्रीचा भोजन पचल्याची खात्री करून व प्रात: मल मूत्र विसर्जन झाल्यानंतर अभ्यंग व स्वेदन करावे व कफकाल जाता (अंदाजे 9 वाजताच्या दरम्यान) रुग्णास उपाशी पोटी खुर्चीवर बसवून स्वस्तीर्वचनानंतर पूर्वी वर्णिल्याप्रमाणे योग्य मात्रेत विरेचन औषधी द्यावी. विरेचन औषधी सेवनानंतर रुग्णास विरेचन औषधीच्या गंधामुळे हल्लास होत असल्यास मूखप्रक्षालन करण्यास सांगावे. कोष्ण जलाने गंडूष करावे.

(2) **रुग्ण निरीक्षण:** औषधी सेवनानंतर 1 ते दीड तासाने रुग्णास द्रवमल प्रवृत्ती होणे सुरू होते. विरेचन कर्माचे वेळी सुरूवातीस पुरीष नंतर क्रमाने पित्त व त्यानंतर कफ निस्सारण होते. यास कफान्त विरेचन म्हणतात. कफाच्या निस्सारणानंतर केवळ वायू चे निस्सारण होते परंतु योग्य विरेचनासाठी 'कफांत' विरेचन अपेक्षित असते. यानंतर दौर्बल्य व लघुता हे लक्षण उत्पन्न होतात. मल प्रवृत्तीच्या दरम्यान रुग्णाचे प्रत्येक वेगानंतर BP, जिव्हा, नाडी याचे निरीक्षण करावे.

औषध पाचन:-

औषध जीर्ण लक्षण	**औषध अजीर्ण लक्षण**
• वातानुलोमन	• शरीर थकल्यासारखे वाटणे
• स्वस्थतेची जाणीव होण	• दाह (Burning)
• सम्यकक्षुधा	• अंगसाद (Bodyache)
• सम्यकतृषा	• भ्रम (Giddiness)
• मन प्रसन्न वाटणे (Enthusiasm & good feeling)	• मूर्च्छा (Transient loss of consciousness)
• इंद्रिय लघूता	• शिर:शूल (Headache)
• शुध्द उद्गार	• अरति (Restlessness)
	• दौर्बल्य (Weakness)

3. वेग निरीक्षण (Assessment of Vega):

वेग गणना (Counting of Bouts) - विरेचन कर्माच्या वेगांचे निरीक्षण करतांना निर्हरीत द्रव (Amount of fluid), वेगाची संख्या व लक्षण याचे निरीक्षण आवश्यक असते. वेगाची गणना करतांना सुरूवातीचा पुरीष युक्त वेगास सोडून गणना करावी. केवळ द्रव मल प्रवृत्तीच्या (अल्प पुरीष युक्त किंवा पुरीष विरहीत) यांची गणना करावी. वेगाची गणना प्रवृत्तीच्या वेळी जेवढे वेग मलाचे बाहेर निघतील त्या प्रत्येकाची गणना करावी त्यामुळेच वमनापेक्षा विरेचनाचे वेग अधिक आहेत. सम्यक विरेचनाचे वेगानुसार, उत्सर्जीत मात्रेनुसार, उत्तम, मध्यम व हीन शुध्दीचे निरीक्षण केले जाते.

शुध्दी	वैगिकी	मानिकी	आंतिकी	लैंगिकी
उत्तम	30	2.16 lit.	कफान्त	सम्यक शुद्धीचे लक्षण
मध्यम	20	1.62 lit.	कफान्त	खालील
हीन	10	1.08 lit.	कफान्त	वर्णील्याप्रमाणे

विरेचन निर्धारण :

मृदू विरेचन	मध्यम	तीक्ष्ण
अल्प मल प्रवृत्ती	मृदू विरेचनापेक्षा अधिक	30 वेगा पर्यन्त
1-2 वेग उदा. हरीतकी	10 - 15 वेग उदा. त्रिवृत्त	उदा. दन्ती
मल पाक	-	-

सम्यक योग लक्षण (लैंगिकी):

स्रोतोऽविशुध्दीन्द्रिय सम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानांसम्यग्विरिक्तस्यभवेतक्रमेत।।

(च. सि.1/17, सु.चि. 33/25)

दौर्बल्य व लघुता ही सम्यक विरेचनाची लक्षणे आहेत परंतु ह्या लक्षणाच्या आधारे सम्यक योग मानता येणार नाही त्यासाठी वरील उल्लेखीत इतरही मानकांचा संयुक्त विचार करून सम्यक विरेचन करावे. सम्यक योगाची लक्षणे खालील प्रमाणे आहेत:

(1) स्रोताशुध्दी
(2) इंद्रियप्रसाद
(3) लघुता
(4) रूग् उपशमन/अनामयत्वम् (व्याधीचे शमन)
(5) वातानुलोमन

(6) अग्निवृध्दी

(7) उर्जा

(8) मल-पित्त, कफ, वायूचे क्रमाने निस्सारण

* रूग उपशमन - हे लक्षण तात्काळ दिसत नाही तर कालांतराने प्रगट होणारे लक्षण आहे.

विरेचन अयोग/हीनयोग लक्षण:

हृत्कुक्ष्यशुध्दिररूचिरुत्क्लेश: श्लेष्मपित्तयो:।
कण्डूर्विदाह: पिटका: पीनसो वातविड्ग्रह:।। **(अ.हृ.सू. 18/36-37)**

(1) हृद्य कुक्षीप्रदेशी अशुद्धि (2) अरूचि (Anorexia)

(3) कफ, पित्त उल्लेश (4) कंडू (Pruritus)

(5) विदाह (Internal burning) (6) पिडका (Skin eruption)

(7) पीनस (Rhinitis) (8) वात ग्रह (Flutulence)

(9) विड्ग्रह (Constipation) (10) व्याधीवृध्दी

(11) विभ्रंश (Altered consciousness) (12) शोथ (oedema)

(13) हिक्का (Hiccup) (14) तमोदर्शन (Blackout)

(15) पिण्डिकोद्वेष्टन (cramps) (16) उरूसाद

अयोग कारण:

(1) रुग्णाचे स्नेहन स्वेदन सम्यक झालेले नसेल

(2) रुग्ण रूक्ष शरीर असणारा असल्यास

(3) विरेचन मात्रा अल्प दिल्यास

(4) विरेचन औषधी पुराण, हीन वीर्य किंवा भेसळयुक्त (Adulterated) असल्याने, रुग्णाचे सम्यक स्नेहन न झाल्यास व रुग्णामध्ये वातप्रकोप असून क्रुरकोष्ठ असल्यास किंवा रुग्ण व्यायाम करणारा असून तीक्ष्णाग्नियुक्त असल्यास अयोगाचे लक्षणे दिसून येतात.

चिकित्सा:

- औषध अजीर्ण व अयोग झाल्यास पुन: विरेचन करू नये कारण शेषौषधी व पुन: विरेचन औषधीमुळे अतियोग होण्याची शक्यता असते.
- औषधी जीर्ण झाल्यास परंतु अयोग झाल्यास त्या दिवशी भोजन देवून दुसऱ्या दिवशी पुन: विरेचन करावे.
- या नंतरही विरेचन योग्य न झाल्यास दहा दिवसानंतर स्नेहन स्वेदन करून आधीच्या चुकांचे निराकरण करून विरेचन करावे. (अ.हृ.सू. 18/34-35)

(1) स्नेहन स्वेदन करून तीव्र विरेचन किंवा

(2) गोमूत्र, क्षारयुक्त तीक्ष्ण बस्ति

(3) बस्तिनंतर मांसरस (Chicken soup)

(4) मंदाग्नि असलेल्या रुग्णास, अयोग झाल्यास अर्जीण लक्षण असतांना व रुग्ण दुर्बल नसल्यास 'लंघन' चिकित्सा करावी यामुळे उत्क्लीष्ट दोषांमुळे स्रोतोसंग होणार नाही (अ.ह.सू. 18/42)

(5) रुग्ण वातप्रकोपीत, क्रुरकोष्ठी, व्यायाम करणारा किंवा तीक्ष्ण अग्नि असणारा असल्यास विरेचन औषधीचे पचन झाल्याचे अयोग होते. अशावेळी प्रथम बस्ति देवून नंतर स्नेह विरेचन करावे किंवा फलवर्तीने मलशोधन करून स्नेह विरेचन द्यावे. (अ.ह.सू. 18/51-53)

(6) शंखवटी 500 mg BD

(7) सूतशेखर 250 mg BD

अतियोग लक्षण : (च.सि. 1/19, सु.चि. 32/24, अ.ह.सू. 18/38-39)

वेग संख्या 30 पेक्षा अधिक होणे, अधिक प्रमाणात मल प्रवृत्ती होणे अतियोग आहे.

(1) कफ, पित्त, रक्त, वायू चे क्षय
(2) सुप्ति (Numbness)
(3) अंगमर्द (bodyache)
(4) क्लम (Tiredness)
(5) वेपन (कम्पन) (Tremors)
(6) निद्रा
(7) बलनाश (Debility)
(8) तम (Blackout)
(9) हिक्का (Hiccups)
(10) उन्माद (Mania)
(17) भ्रम (Giddiness)
(18) वमनाच्या अतियोगाचे लक्षण
(11) मुर्च्छा (Transient loss of consciousness)
(12) गुदभ्रंश (Prolapse of the rectum)
(13) शूल (Abdominal Pain)
(14) मल वैवर्ण्य (रक्तवर्ण मलप्रवृत्ती कफ व पित्त विरहीत, मेदखंड मिश्रीत द्रवमल प्रवृत्ती मांसधावना सारखे मल) (Black, blood stained or mucous erosions)
(15) तृषा (Thirsty)
(16) नेत्रप्रवेश (Sunken eyes)

कफक्षय लक्षण	पित्तक्षय लक्षण	वातक्षय लक्षण अ.ह.सु. 11/15
हृदयशून्यता	अग्निमांद्य	अंगसाद
हृदगती वृध्दी	शीत शरीर	बोलण्याची अनिच्छा
संधी शैथिल्य	वर्ण हानि	संज्ञामोह
भ्रम		

अतियोग कारण:

(1) मृदूकोष्ठी रुग्णामध्ये तीक्ष्ण औषधांचा प्रयोग

(2) मृदुकोष्ठी रुग्णांमध्ये अधिक मात्रेत औषध प्रयोग

चिकित्सा:

(1) मृदू वमन औषधी ज्यामुळे दोषांची उर्ध्वगती होवून द्रवमल प्रवृत्ती थांबवता येईल.

(2) शीत परिषेक, अवगाह

(3) ज्वर, अतिसार, दाह चिकित्सा गरजेनुसार.

उदा. संजीवनी वटी

शंखवटी

कुटजघनपर्पटी

चंद्रकला रस

प्रवाळपिष्टी

बिल्वमज्जाचूर्ण

(4) द्रव, तर्पक आहार

Modern Treatment:

(1) ORS

(2) IV-Fluid as per need - RL, NS, DNS

(3) Symptomatic

पश्चातकर्म

सम्यक योगाचे लक्षण दिसल्यानंतर ते प्राकृत भोजनापर्यंत करण्यात येणारे कर्म पश्चात कर्म आहेत. वमनातील धूमपान वगळता सर्व क्रिया विरेचनात ही केल्या जातात.

(1) संसर्जन क्रम

(2) संतर्पण क्रम

(3) परिहार विषय व परिहार काल

(1) **संसर्जन क्रम:** कोणत्याही शोधन क्रियेमुळे अग्निमांद्य होते. त्यामुळे दुर्बल, अग्नी प्रदीप्त होई पर्यंत लघु आहार देणे आवश्यक आहे. त्यामुळे 'वमन' कर्माचे वर्णिल्याप्रमाणे पेयादिक्रम विरेचनानंतरही रुग्णास द्यावा. यामुळे जठराग्निचे हळुहळू संधूक्षण होवून तीव्र होण्यास मदत होते.

पेयां विलेपीमकृतं कृतंच । युषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।

क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुध्दिशुद्धः।। **अ.ह.सू. 18/27**

अवर शुद्धी संसर्जन क्रमः-

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	विलेपी
2	अकृत युष	कृत युष
3	मांसरस	प्राकृत भोजन

मध्यमशुध्दी संसर्जन क्रमः-

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	पेया
2	विलेपी	विलेपी
3	अकृत युष	अकृत युष
4	कृत युष	कृत युष
5	मांसरस	मांसरस
6	प्राकृत भोजन	प्राकृत भोजन

अवर शुध्दी संसर्जन क्रमः-

दिवस	प्रथम अन्नकाल	द्वितीय अन्नकाल
1	पेया	पेया
2	पेया	विलेपी
3	विलेपी	विलेपी
4	अकृत युष	अकृत युष
5	अकृत युष	कृत युष
6	कृत युष	कृत युष
7	मांसरस	मांसरस
8	मांसरस	प्राकृत भोजन

(2) **संतर्पण क्रियाः** पित्त व कफाचे अल्प शोधन झाले असल्यास मद्यपी व वात-पित्त दोषांचे प्राधान्य असल्यास पेयादि क्रमाच्या ऐवजी 'तर्पणादि' क्रम रुग्णास द्यावे. (अ.ह.सू. 18/44) तर्पणादि क्रम पेया पेक्षा लघु आहे. पेयाच्या स्थानी (अधिक पातळ) तर्पण द्यावे व विलेपीच्या ऐवजी घन तर्पण द्यावे.

शर्करा, पिप्पलीमूल, घृत, मधू समान भाग व दोन भाग सक्तु घेवून मंथ तयार करून रुग्णास तर्पणार्थ द्यावा.

प्रथम अन्नकालात लाजा, सक्तु द्यावा. द्वितीय अन्नकालात जुने तांदळाचा भात तर तिसऱ्या अन्नकालात मांसरस द्यावे.

आयुर्वेदामध्ये तर्पण हे ORS (Oral Rehydration Solution) सारखे कार्य करणारे द्रव्य आहे.

(3) **परिहार्य विषय परिहार काल:** पंचकर्मातील क्रिया करतांना खालील परिहार्य विषय आहेत रुग्णांस त्याचे पालन करण्यास सांगावे. आजच्या काळानुरूप रुग्णांस तथा परिहार्य विषयाच्या सूचना द्यावा तरच 'विरेचन' कर्माचे अपेक्षित यश मिळतील.

(1) अधिक जोराने बोलणे. (शिक्षक, वक्ता यांना अधिक बोलण्यास मनाई करावी.)

(2) अधिक भोजन करणे.

(3) एकास्थानी अधिककाळ बसणे. (Continuous sitting, exam period for student Clerical or Official work, IT Professionals)

(4) अधिक बाहेर फिरणे. (Tour/Travelling)

(5) राग येणे, दु:खी राहणे

(6) शीत वायू सेवन (Avoid AC)

(7) वाहन (Traveling by Scooter, Bike, Bus)

(8) मैथून

(9) रात्री जागरण (Avoid night shift work, late night TV watching etc.)

(10) दिवास्वाप

(11) विरूध्द भोजन (Avoid Milk shake etc.)

(12) वेगावरोध

(13) वेगांचा बलपूर्वक उदीरण

विरेचन व्यापद व चिकित्सा

विरेचनाचे व्यापदाचे प्रमुख कारणे खालीलप्रमाणे आहेत:

(1) **चिकित्सक:** चिकित्सकांने व्याधीचे व रुग्णाचे परीक्षण योग्य न केल्यास व्यापद उद्‌भवू शकतात. विरेचनामध्ये सर्वात महत्त्वाचे म्हणजे चिकित्सकाकडून कोष्ठ परिक्षणात चूक होवू नये कारण त्यावरून मात्रेचे निर्धारण केले जाते.

(2) **औषध:** औषधीची गुणवत्ता सम्यक योगासाठी आवश्यक असते. औषधी आमवीर्य, भेसळयुक्त असल्याने अपेक्षित लक्षणे रुग्णांमध्ये दिसत नाही. अयोगाची किंवा अतियोगाची लक्षणे दिसतात.

(3) **रुग्ण:** चिकित्सकाने मार्गदर्शन केल्याप्रमाणे रुग्णाने पथ्य-अपथ्य पालन न केल्यास व्यापद उत्पन्न होतात.

(4) **परिचारक:** चिकित्सकांनी मार्गदर्शन केल्याप्रमाणे रुग्णाची परिचर्या न सांभाळल्याने किंवा मार्गदर्शनाप्रमाणे औषधे निर्मिती पासून तर इतर सुचनांचे पालन न केल्यामुळे व्यापद उत्पन्न होऊ शकतात.

विरेचनाचे अयोग व अतियोगामुळे व्यापद उत्पन्न होतात. वमनाचे व विरेचनाचे व्यापद सारखेच वर्णिलेले आहेत परंतु.

(1) आध्मान (Distension of Abdomen)
(2) परिकर्तिका (gripping pain)
(3) स्राव (Excessive salivation)
(4) हृदग्रह (Cardiac discomfort)
(5) गात्रग्रह (Stiffness in limbs)
(6) जीवादान (Bleeding parietal)
(7) विभ्रंश (Altered state of consciousness)
(8) स्तम्भ (Rigidity)
(9) उपद्रव
(10) क्लम (Exhaustion)

सुश्रुताचार्यांनी वमन व विरेचनाचे खालीलप्रमाणे व्यापद वर्णिलेले आहेत.

(1) वमन
(2) सावशेषत्व
(3) जीणौषधत्व (औषधाचे पचन होणे)
(4) हीन दोषापहरण
(5) वातशूल (अंगग्रह)
(6) अयोग
(7) अतियोग
(8) जीवादान (Bleeding)
(9) आध्मान (Distension)
(10) परिकर्तिका (pain in anal region)
(11) परिस्राव (Anal dischange)
(12) प्रवाहिका (Tenesmus)
(13) हृदयासरण
(14) विबंध (Constipation)

अयोगामुळे होणारे व्यापद:

(1) आध्मान,
(2) परिस्राव,
(3) हृदग्रह,
(4) गात्रग्रह,
(5) उपद्रव,
(6) क्लम,
(7) सावशेषत्व
(8) जीर्णोषधत्व
(9) हीन दोषापहरण

अतियोगामुळे होणार व्यापद:

(1) परिकर्त
(2) जीवादान
(3) विभ्रंश
(4) प्रवाहिका
(5) हृदयापसरण

वरील व्यापदांमध्ये अयोग, अतियोग, सावशेषत्व, जीर्णऔषधत्व, हीन दोषापहरण हे व्यापदांचे कारण आहेत. प्रत्यक्ष व्यापद खालील प्रमाणे आहेत. या व्यापदांचे लक्षण व हेतुंचा अभ्यास करून चिकित्सेची मांडणी करावी लागते.

1) **वमन:** विरेचनाची औषधी दिल्यानंतर रुग्णास वमन होते.

हेतू: (1) कफ दोषाचा उत्क्लेश झाल्यास

(2) औषधाच्या गंधामुळे किंवा चवीमुळे

(3) आदल्यारात्री जेवणाचे पचन न झाल्यामुळे

चिकित्सा:

(1) रुग्णात स्नेहन स्वेदन पुन: करून विरेचन औषधी पून्हा द्यावी.

(2) कधी-कधी दोषांचा उल्क्लेष उर्ध्वग होत असेल व कफोक्लेष अधिक आहे असे वाटत असल्याने चिकित्सकानी सद्-विवके बुध्दीने कफाचा उल्क्लेष समजून जवळच्या 'मार्गाने दोषांचे हरण' या न्यायाने वमन करावे.

2) **आध्मान:**

हेतू: (1) दोषाधिक्य असतांना रुग्णास मृदू विरेचक औषधी किंवा अल्प मात्रेत औषधी दिल्यास.

(2) रूक्ष शरीर असल्यास (सम्यक स्नेहन न झाल्यास)

(3) Poor digestion & absorption.

लक्षणे: (1) आध्मान (4) शिर:शूल

(2) पृष्ठशूल (5) श्वास

(3) पार्श्वशूल (6) विट, मूत्र संग

चिकित्सा: (1) अभ्यंग - स्वेद (By Hot fomentation bag)

(2) फलवर्ति

(3) निरूहबस्ति, अनुवासन बस्ति

3) **परिकर्तिका:** रुग्णाच्या गुदभागी कापल्याप्रमाणे वेदना होतात.

हेतु: (1) दोषांची सामावस्था क्रुर कोष्ठी रुग्णास, तीव्र विरेचक दिल्यास परिकर्तिका उत्पन्न हेऊ शकते.

(2) अल्प बल व मंदाग्नि असलेल्या रुग्णांमध्ये मृदू कोष्ठ असतांना लवण रसात्मक, उष्ण, रूक्ष विरेचक औषधी दिल्यास.

लक्षण: (1) परिकर्तिका (5) पिच्छास्राव

(2) गुददाह (6) रक्तस्राव

(3) मेढ्रदाह (7) वातसंग

(4) बस्ति, दाह (8) विष्टंभ

चिकित्सा: (1) लंघन-पाचन, उष्ण व रूक्ष चिकित्सा (साम दोष असतांना पिच्छास्राव असतांना)

(2) लघु, आहार

(3) रक्तस्राव असतांना पिच्छाबस्ति

(4) मधुयष्टी तैल, किंवा जात्यादि तैल - मात्रा बस्ति (30 ml- 50 ml)

4) परिस्राव: वारंवार गुदमार्गातून स्राव येणे.

हेतू: (1) क्रुरकोष्ठी व बहूदोष युक्त रुग्णास मृदू व अल्प मात्रेत औषधी दिल्यास

लक्षणे:
(1) परिस्राव
(2) कंडू
(3) शोथ
(4) गौरव
(5) अग्निमांद्य
(6) अरूचि
(7) विष्टंभ
(8) दौर्बल्य, अंगमर्द

चिकित्सा: (1) दोषाधिक्य असल्यास वमन व/किंवा विरेचन कर्म

(2) आस्थापन बस्ति (बला क्वाथाने)

(3) शमन चिकित्सा (दोष अल्प असल्यास)

(4) **शमन चिकित्सा (लक्षण व अवस्थेनुसार):**

(i) चित्रकादि वटी 2 BD

(ii) कुटजघन वटी 2 BD

(iii) अभयारिष्ट/कुटजारिष्ट 4-6 TSF BD

(iv) संजीवनी वटी 250 mg BD

5) हृदग्रह: हृदयप्रदेशी जखडल्या सारखे वाटणे. विरेचन औषधी दिल्यानंतर रुग्ण कोणत्याही कारणाने वेगावरोध केल्यास वातादि दोष प्रकुपीत झाल्याने हृदग्रह हे लक्षण उत्पन्न होते. रुग्ण विरेचनासाठी अंतप्रवेशीत झाल्यानंतर Toilet स्वच्छ नसल्यास किंवा सर्व स्टाफ/विद्यार्थी/नर्स यांच्या समोर संकोचून वेग धारण करण्याचा प्रयत्न केल्यास हे लक्षण उत्पन्न होते.

लक्षणे:
(1) हिक्का (Hiccough)
(2) कास (Cough)
(3) पार्श्वशूल (Pain in chest)
(4) लालास्राव (Excessive salivation)
(5) अक्षिविभ्रम (Rotating the eye balls)
(6) जीव्हम् खादती (Bitting the tongue)
(7) संज्ञानाश (Loss of consciousness)
(8) दंतम्किटकिटपायन (Teeth bitting)

चिकित्सा:

(1) वमन करून शमन चिकित्सा अर्थात हृदसंबंधी इतर रोगांची उदा. Acute Myocardial Infarction (AMI), Angina इ. ची संभावना नाही हे खात्री करून

(2) शमनचिकित्सा - पित्तप्रधान दोषांमध्ये - मधूर रस प्रधान औषधी उदा. सूतशेखर वटी, शंखवटी,

पथ्यादिक्वाथ, दशमूलारिष्ट,मधुयष्टी चूर्ण

- कफप्रधान दोषांमध्ये - कटू औषधी उदा. पंचकोल चूर्ण

(3) अनुवासन बस्ति - मधुयष्टी तैल 60-120 ml

(4) नस्य - (तीक्ष्ण शिरोविरेचन)

6) अंगग्रह: हेतू - विरेचन औषधी दिल्यानंतर रुग्णाकडून वेगधारण केल्यास कफाने वायू अवरोध झाल्याने अंगग्रह हे व्यापद उत्पन्न होते.

लक्षणे: (1) अंगग्रह (Stiffness of body)

(2) कंप (Tremors)

(3) पिण्डिकोद्वेष्टन (Calf muscle cramps)

(4) तोद (Pricking pain)

चिकित्सा: (1) अभ्यंग - स्वेदन

7) जीवादान: मलप्रवृत्तीसोबत रक्त प्रवृत्ती होणे.

हेतू - (1) मृदूकोष्ठ, अल्पदोष असतांनी तीक्ष्ण विरेचन औषधी दिल्यास.

लक्षण: (1) जीवरक्त (शुध्दरक्त) स्राव, मांसधावनसमान उदकस्राव (Fatal bleeding)

(2) तृष्णा (Excess thirst)

(3) मूर्च्छा (Transient loss of consciousness)

(4) मद (Irrelevant behavior)

चिकित्सा: अल्प प्रमाणात दुष्ट रक्त स्राव होत असल्यास रक्तस्तंभन चिकित्सा करू नये. यामुळे दुष्ट दोष रक्तावाटे जात आहेत असे समजून उपेक्षा करावी.

(1) मूर्च्छा असल्यास शीतजल परिषेक

(2) दाडिम, द्राक्षा, शर्करायुक्त शर्बत

(3) दुर्वा, उशीर, प्रियंगू सिध्द दूध

(4) पिच्छाबस्ति (न्यग्रोधादि गण + घृत यांची बस्ति)

(5) चंद्रकलारस, प्रवाळपिष्टी, स्फटिकाचूर्ण, अकीकपिष्टी, मुक्तापिष्टी यांचे एकल किंवा आवश्यकतानुसार एकत्र मात्रांचा विचार करून वारंवार चाटण द्यावे.

(6) बिल्व मज्जा चूर्ण, कुटजचूर्ण

(7) कुटजघनवटी, कुटजपर्पटी

Acute lower gastrointestinal bleeding: - LGIB may be massive when associated with any of

(1) Passage of large amount of red or maroon blood through rectum.

(2) Initial decrease in hematocrit level of 6 gm/dL or less.

(3) Bleeding continues for 3 days.

It presents by i) Hematochezia-passing red blood via rectum from lower GI tract.

ii) Melena-black, tarry, colored stool indicates upper GI bleeding.

Enolosy: Incidence 20 to 27% episodes per one lakh persons mortality rate 4 to 10% mortality rates increase in patients with old age.

In India - (1) Colonic angiodysplasias (32.5%)

(2) Ilial Crohn's disease (20%)

(3) Intestinal tuberculosis (10%)

(4) Intestinal tumors (10%)

(5) Non specific bowel ulcers & stricture (7.5%)

(6) Mickels diverticulum (5%)

(7) Hemophilia (2.5%)

(8) In child < 10 yrs. Age, colonic polyp is most common cause.

Clinical features:

Cause: (1) Colitis -(a) Ischaemic colitis, (b) Ulcerative colitis

(2) Hemmorrhoids

(3) Angiodysplasia

(4) Diverticular disease

(5) Colonic polyps

(6) Colon cancer

(7) NASAID enteropathy

(8) Inflammatory bowel disease (IBD)

Clinical features:

(1) Blood loss

(2) Fatigue

(3) Weakness

(4) Shortness of breath

(5) Abdominal pain

(6) Anemic

(7) SBP > 90 ml/g

(8) Heart rate > 100/min

Management: It should be treated as an emergency.

(1) In sever blood loss, monitor vital sign and give oxygen.

(2) IV fluids to replace lost volume.

(3) Blood transfusion if needed.

(4) Surgical consult will be advised if the patient can not be stabilized by non invasive technique.

(5) Maintain proper diet, follow up with physician so that can prevent further progression and complications.

8) विभ्रंश: (च.सि. 6/85-87, च.पा.टिका 85-87)

विभ्रश तीन प्रकारचे आहेत:

(a) गुदभ्रंश (Prolapse of rectum)

(b) संज्ञा विभ्रंश (Altered state of consciousness)

(c) अयोगजन्य विभ्रंश -- कंडू इ. लक्षणे

चिकित्सा:

(a) **गुदभ्रंश:** (1) कषाय रस युक्त द्रव्यांच्या क्वाथ व चूर्णाने लेपन (लोध्र, उदुम्बर)

(2) बाहेर आलेला गुदभाग अल्प स्नेह स्वेद करून हाताने अंत:प्रविष्ट करणे.

(3) मुषक तैलाचे पिचूधारण.

Modern View: The rectum is located just above the anal canal. The rectum is attached to the pelvis with the help of ligaments and muscles. This attachment firmly holds the rectum in place.

Stages:

(1) In early stages of rectal prolapsed, the rectum poorly attached but stays within the body, it is called as mucosal prolapsed i.e. rectal mucosa protrude from the anus.

(2) When the ligaments and muscles weaken, this may cause rectal prolapsed on straining during defection.

Causes: (1) Long term constipation

(2) High gastrointestinal helminth loads

(3) Previous surgery

(4) Cystic fibrosis

(5) COPD

(6) Sphincter paralysis

Medical treatment:

(1) Partial prolapsed may be treated by diet high in fiber.

(2) Stool softness

(3) The rectal mucosa must be returned to the rectum manully. A soft, warm, wet cloth is used to apply gentle pressure to the mass to push it back through anal opening. The affected person should be in a knee-chest position before applying pressure to allow the gravity to help return the prolapsed.

(4) If require prepare the patient for surgery.

(b) **संज्ञाभ्रंश:** (1) संगीत चिकित्सा

(2) रुग्णाची सत्वावजय चिकित्सा करावी.

(c) **अयोगजन्य विभ्रंश:** कंडू-कुष्ठ इ. अयोग लक्षण

(1) पुन: स्नेहपान करून तीक्ष्ण विरेचन.

9) स्तम्भ: हेतू:-स्निग्ध रुग्णात स्निग्ध विरेचन

लक्षण: (1) वाताचा अवरोध (2) गुदास्तम्भ (Prolapse rectum)

(3) गुदशूल (4) अल्प मल प्रवृत्ती

चिकित्सा: (1) लंघन, पाचन, तीक्ष्ण बस्ति (2) विरेचन

10) उपद्रव: हेतू:- रूक्ष रुग्णास रूक्ष विरेचन दिल्यास उदा. इच्छाभेदी

लक्षण: (1) स्तम्भ (2) गात्रग्रह

(3) शूल (4) मूर्च्छा

चिकित्सा: (1) मुर्च्छा असल्यास जल परिषेक (2) स्तम्भ, शूल इ. उपद्रवांसाठी अभ्यंग व स्वेद

(3) दशमुलारिष्ट (4) आभ्यंन्तर शमन स्नेह

11) क्लम (Sense of exhaustion):

हेतू: स्निग्ध, मृदूकोष्ठी रुग्णास मृदू औषध दिल्यामुळे कफाचा उत्क्लेश होतो. कफामुळे वायू व पित्ताचा अवरोध होवून क्लम हे उपद्रव उत्पन्न होते.

लक्षणे: (1) तंद्रा (2) गौरव

(3) दौर्बल्य (4) अंगसाद

चिकित्सा: (1) लंघन, पाचन - चित्रकादि वटी, रसोनादि वटी, हिंग्वादी वटी

(2) स्नेहन (3) तीक्ष्ण शोधन

12) अतियोग (Excessive purgation):

Due to excess loose motions, fluid loss may occur. The assessment of severity of fluid loss should be done and maintain the dehydration and electrolyte imbalance accordingly.

Degree of Dehydration

Symptoms	Degree of dehydration		
	Minimal or none (<3% loss of body weight)	**Mild to moderate (3-9% loss of body weight)**	**Severe (>9% loss of body weight)**
Mental status	Well; alert	Normal, fatigued or restless, irritable	Apathetic, lethargic, unconscious
Thirst	Drinks normally; might refuse liquids	Thirsty; eager to drink	Drinks poorly; unable to drink
Heart rate	Normal	Normal to increased	Tachycardic; bradycardic in severe cases
Quality of pulses	Normal	Normal to decreased	Weak, thready, or impalpable
Breathing	Normal	Normal; fast	Deep
Eyes	Normal	Slightly sunken	Deeply sunken
Tears	Present	Decreased	Absent
Mouth &tongue	Moist	Dry	Parched
Skin fold	Instant recoil	Recoil in <2 seconds	Recoil in >2 seconds
Capillary refill	Normal	Prolonged	Prolonged; minimal
Extremities	Warm	Cool	Cold; mottled; cyanotic
Urine output	Normal to decreased	Decreased	Minimal

[**Source:-** www.bt.cdc.gov/disaster/guidelines.]

Treatment: - Mild dehydration:- Patients should be offered coconut water, rice, kanji, lemon sugar. If worsening occurs home made ORT should be started.

ORT [6-8 TSF sugarcane (40 gm sucrose) + 1 TSF salt (5 gm) + or 1 liter water]

विरेचन कार्मुकता (Mode of Action)

विरेचन द्रव्यांची कार्मुकता वमन द्रव्यांसारखी आहे. विरेचन द्रव्याच्या अधोभागहर प्रभाव व जलपृथ्वी महाभूतांच्या अधिक्यामुळे दोष अधोमार्गाने निर्गमीत केले जातात.

विरेचन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सुक्ष्म, व्यवायी व विकासी असतात त्यांच्या या गुणधर्मामुळे ते हृदयापर्यन्त पोहचतात व सर्व धमन्यांमध्ये परिचलन करतात. त्यांच्या उष्ण गुणामुळे दोषांचे विलयन केले जाते. तीक्ष्ण गुणांमुळे दोषांचे छेदन केले जाते, स्रोतसांमध्ये चिकटलेले दोष छेदनाने काढले जातात. सर गुणांमुळे स्रोतसांमधील दोष कोष्ठाकडे आणले जातात. पृथ्वी व जल महाभूताच्या आधिक्यामुळे व त्यांच्या अधोभागहर प्रभावामुळे दोष अधोभागाने निर्हरीत केले जातात.

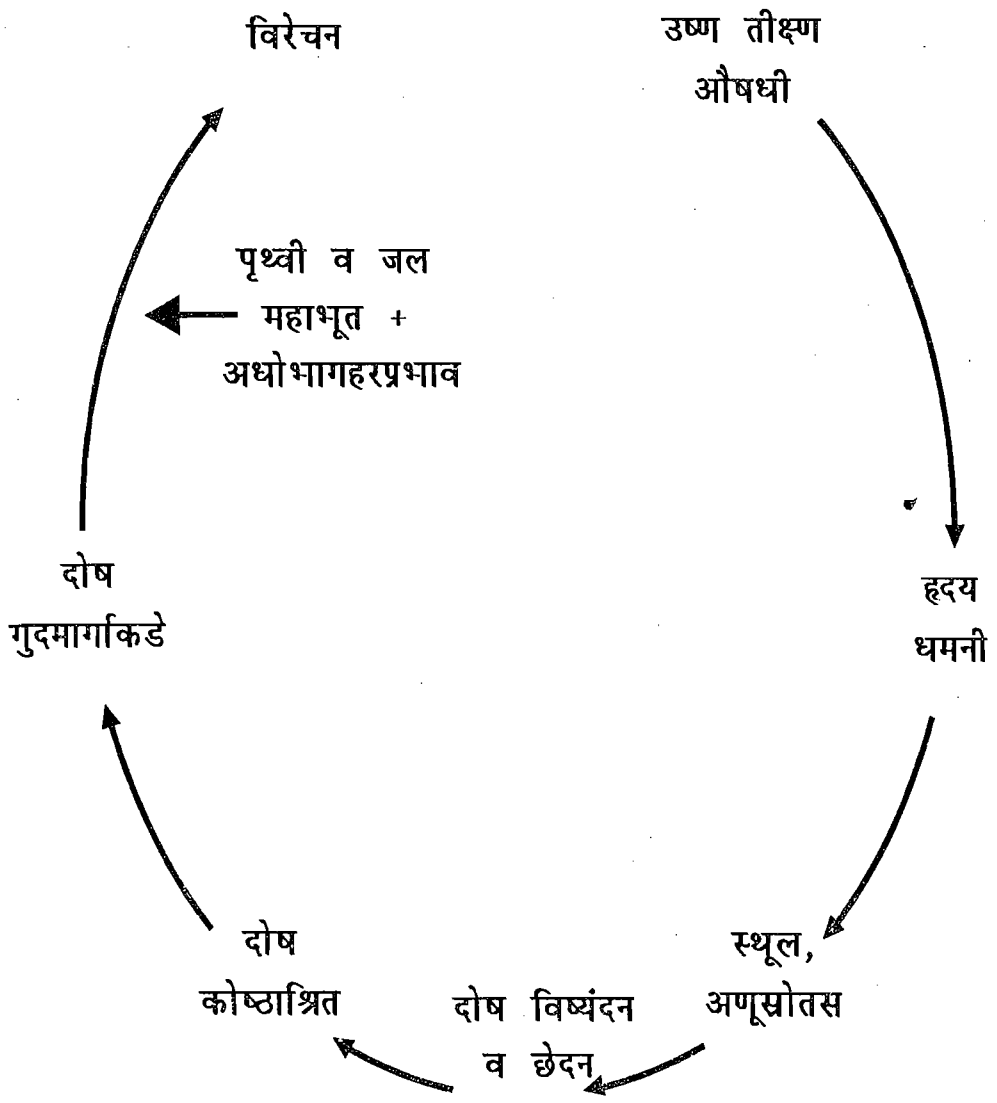

Modern view:

Purgatives/Laxatives:

These are drugs which accelerate the passage of food through intestines promoting defecation and evacuation of bowel.

Symptoms - (1) Laxative, (2) Purgatives,(3) Evacuats,(4) Cathartics.

Classification -

1) **Bulk Purgatives (Hydrophillic colloids):** These purgatives absorb water forming bulky, emollient gel that distends the colon and increase the peristalsis.
Plant fibers not fermented imbibe water, increases bulk and form the softness of stool.
e.g. Isaphgol husk, Psyllium seeds.

2) **Stimulant Purgatives:** These also known as cathartics. These acts by enteric nervous system, local irritation in the small intestines which increases the gut motility. It also

acts by accumulation of water and electrolytes in the lumen by altering the absorptive and secretory activity of mucosal cells.

(a) Anthraquinone derivatives e.g. Senna, Aloe

(b) Diphenyle methane derivatives-Bisacodyl

(c) Castor oil

3) **Stool Softener:** These agents are anionic detergent, softens stool by net water accumulation in the lumen through an action on intestinal mucosa. It emulsifies the colonic contents and increases penetration of water into feaces.

Liquid paraffin is a viscous and mixture of petroleum hydrocarbons pharmacologically inert softens stools and lubricate hard stool by coating. e.g. Sodium docosate, Potassium docosate, mineral oil, liquid paraffin.

4) **Osmotic Purgative:**

(a) **Saline purgative** -These solutions are not absorbed in the intestine retain water osmotically and distend the bowel increasing peristalsis. e.g. Mg sulfate, Mag hydroxide.

(b) **Non absorbable sugar -** Lactulose is neither digested nor absorbed in small intestine and retains water. Further, it is broken down in the colon by bacteria to osmotically more active products. e.g. Lactulose

5) **$5HT_4$ Receptor Antagonist:** These enteric neurons stimulate proximal bowel contraction via Acetylcholine and substance P and distal colon relaxation via No and vasoactive peptide. Stimulation of $5HT_4$ receptor activates cAMP dependent chloride secretion from the colon lead to increase stool liquidity. e.g. Tegaserol.

Mode of Action

The virechan drug acts in pachyamana awastha, means in the digestion state. So it starts its action in stomach, small intestine. These drugs act by the mechanism of osmotic pressure, myenteric plexus stimulation, receptor activation causes local irritation etc. Hence it is not possible to explain in a single theory. Probably the virechan drugs may act as follows:

i) Hydrophillic or bulk purgatives, retaining water forming a bulky gel increases the volume of colon content and promotes peristalsis.

ii) Direct stimulation of myenteric plexus of enteric nervous system.

iii) Accumulation of water and electrolytes in the lumen by altering the absorptive and secretory activity of mucosal cells.

iv) Containing Racinoleic acid a local irritant in the small intestine that increases gut motility.

v) Cathartic has stronger action resulting more fluid evacuation. They may cause fluid accumulation in the colon by one or more mechanism.

   a) Transport of Na^+ and water into interstilium is reduced while secretion is enhanced.

   b) Secretion is enhanced by activation of cyclic AMP in crypt cells.

   c) Increased prostaglandin synthesis.

   d) Structural injury to the absorbing intestinal mucosal cells.

Some of the virechan drug acts on nerves, hormones, liver and crypts of lieberkuhn and they have irritating effect on defecation centre in medulla oblongata. The vagus nerve stimulate pancreas and liver to produce secretion. Bile is secreted due to contraction of gall bladder due to irritation and stimulation of vagus. Bruner's gland are stimulated which secrete mucus.

Finally all these mechanisms cause osmotic movements of water and fluidity and the purgation occurs. The process of virechana may be regulated and controlled by medulla oblongata (in some cases) in the brain, the centre is close to respiratory and vomiting centre. When purgation centre stimulates or local irritation or hydrophilic activity of the drug occurs the increased hydrostatic pressure of the matter reached to the large intestines, sacral plexus (2nd, 3rd & 4th sacral nerves) get stimulated due to mechanical pressure. Due to this activity irritation of motor reaction occurs which relaxes the iliosacral valve and anal sphincter muscles. The respiration is arrested momentarily; diaphragms are activated and press transverse colon. Simultaneously, the accessory muscles of the abdomen are also activated which helps in propelling the faecal matter toward anus. Faecal matter when reaches to intestine, stimulate local nerve plexuses and enforced peristalsis, further helps in expelling contents of intestine towards rectum finally from the body downwards through anus.

Elimination of Pitta: The cholecystokinin stimulated the gall bladder contraction, which causes increased secretion of digestive enzymes from pancreas. Gall bladder is also stimulated by Acetylcholine. Due to relaxant action of sphincter of oddi, bile enters into duodenum which is eliminated out at the time of purgation.

विरेचक द्रव्य

त्रिवृत्त/निशोथ Operculina ipomoea Linn.

गण - भेदनीय (च) अधोभागहर, श्यामादि (सु.)

कुल - त्रिवृत्त कुल

Family - Convolvulaceae

Latin Name - Operculina (opening by a lid) ipomoea
Operculina turpethum (Impomaea turpethum)

English - Turpeth

संस्कृत - लालवर्ण - कालिंदी, रेचनी, कोषफला, रसायनी
शामवर्ण - त्रिवृत्त, श्यामा, मालविका

मराठी - निशोथ

परिचय - बहुवर्षीय लता. पत्र - अंडाकार किंवा त्रिकोणाकार
पुष्प - घंटिकाकार (Bell shaped) श्वेत वर्णाचे पावसाळयामध्ये, **फल**-2.5 सेमी लांब गोल/अंडाकार, हिवाळयामध्ये, **बीज** - कृष्णवर्णीय, प्रत्येक फळात 4 बीज. **मूल** - जाड शाखायुक्त, तांबूस श्वेत वर्णाचा

भेद

श्वेत त्रिवृत्त	शाम (कृष्ण) त्रिवृत्त
1) मूळ तांबूस, श्वेत वर्णाचा	1) मूळ कृष्ण वर्णाचा
2) मृदू विरेचक (Laxative)	2) तीक्ष्ण विरेचक (Strong purgative)
3) मृदुकोष्ठी, बालक, दुर्बल रुग्णांमध्ये उपयोगी	3) क्रुर कोष्ठाच्या रुग्णांमध्ये उपयोगी.

उत्पत्ती स्थान - भारतात सर्वत्र

Chemical composition: -The root bark contains glycosodium resin which is 10%. It also contains glycoside i.e. turoethin which is responsible for purgation. It has albumin, starch, lignanine, iron and salt.

गुणधर्म - **गुण:** लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस:** कटु, तिक्त, मधूर, कषाय
विपाक: कटू **वीर्य:** उष्ण
कर्म: कफ पित्त शोधक, वातवर्धक

पचनसंस्थान - भेदक व रेचक आहे. सर्वोत्तम सुख विरेचक. त्रिवृत्त मुरड आणून (gripping pain) मल काढणारा द्रव्य आहे. मलशोधक व कफ पित्त शोधक कार्य करणारा असल्यामुळे मलबध्दता, अर्श, कामला, वातरक्त, आमवात, श्वास, शोथ इ. व्याधींमध्ये उपयुक्त.

रक्तवह संस्थान - कुष्ठामध्ये प्रमुख दोष कफ व पित्त असल्याने त्यांच्या शोधनासाठी उपयोगी. शरीरातून द्रवाचे मलरूपाने शोधन करता असल्यामुळे शोथामध्ये उपयोगी.

सात्मीकरण - मेदाचे पाचन व कर्षण करणारा आहे त्यामुळे स्थौल्यामध्ये उपयोगी.

प्रयोज्यांग - मूलत्वक, मूल

मात्रा - 10-30 mg (मूळ 4-6 gm)

स्रोतोगामित्व - **दोष** - कफ, पित्त शोधन, वातवर्धक **धातु** - रस, रक्त
मल - पुरीष **अवयव** - आंत्र

Some Researches -

1) **Hepatoprotective Activity -** The experimental study [SV Suresh Kumar *et al*; 2006], effect of ethonolic extract of *O.turpethum* was assessed for hepatoprotective activity in rats by inducing liver damage by paracetamol. The ethanol extract at an oral dose of 200 mg/kg exhibited a significant protective effect by lowering SGOT, SGPT, alkaline phosphatase and total bilirubin. [Suresh Kumar S.V. *et al*, protective effect of root extract of *O.turpethum* against paracetamol induced hepatoloxicity in rats. Indian J Pharma Sci 2006; 68: 32-5].

   In experimental studies an Ayurvedic herbomineral formulation i.e. Prak-20 containing O.turpethum as one of the ingredients reported significant hepatoprotective activity.

2) **Anti inflammatory -** Trivrit has anti inflammatory effect [Kohli K.R. *et al*, A comprehensive review on *Trivrit*, Indian *J. Pharma* Sci Dec 2010, 1/4]

3) **Anti Cancer & Antioxidant Activity -** The effect of methanolic extract of O.Perculina turpethum stems on dimethylbenz (a) anthracene (DMBA) induced breast cancer rats were studied. The oral administration of MEOT remarkably reduced the lipid peroxidation activity and increased the antioxidents level in drug treated animals and decreased tumour weight significantly ($P<0.05$) which shows the antioxidant property of MEOT and protective role against breast cancer. [C. Anbuselvam *et al*, protective effect of *Operculina turpethum* against 7, 12 DMBA induced oxidative stress with respect to breast cancer in experimental rats, Chemico-Biological interactions Vol. 168, 3, (2007) 229-236].

एरण्ड Ricinus Communis

गण - भेदनीय, स्वेदोपग, अंगमर्द प्रशमन, मधुरस्कन्ध (च.)
विदारीगंधादि, अधोभागहर, वातसंशमन (सु.)

कुल - एरण्ड कुल

Family - Euphorbiaceae

Latin Name - Ricinus (a little tick) Communis (Common)

English - Castor plant

संस्कृत - **श्वेत** - एरण्ड, गंधर्वहस्त, चित्रा, वातारि

रक्तवर्ण - व्याघ्रा, नागकर्ण, व्याघ्रकर, हस्तिकर्ण, करपर्ण

मराठी - एरण्डी

परीचय - गुल्म 2-3 मीटर उंच, **पत्र** - हरीत किंवा भूरकट (Brown) वर्णाचे मोठे, खण्डीत बोटांच्या सारखे. **दंठल** - 10-30 सेमी लांब, **पुष्प** - एकलिंगी 0.75 सेमी व्यासाचे. **फल** - कंटक युक्त, द्विशिरा युक्त **बीज** - आयताकार, चमकणारे, **धुसर** - कृष्णाभ.

जाती - (1) श्वेत

(a) लहान - मूळ व तैल उपयोगी

(b) मोठी - पत्र उपयोगी

(2) रक्त - तैल अधिक कार्यकर

आयुनुसार - (1) एक वर्षीय (annual)

(2) बहुवर्षायु (Perennial) फल व बीज मोठी असतात.

उत्पत्ती स्थान - भारतात सर्वत्र

Chemical composition- Stable oil 45%, sugar, white juice and salt 10%, seeds contain toxic element ricin. It may lead to death. Three terpenoids and a tocopheral related compounds found named 19-hydrocasba-3, 7, 11-trein-one, 6-α-hydroxy-20(29)-in-3-one and trimethyl tridecyl.

गुणधर्म - **गुण** - स्निग्ध, गुरू, तीक्ष्ण, उष्ण **रस** - मधूर, कटू, कषाय

विपाक - मधूर **वीर्य** - उष्ण

प्रभाव - विरेचन

कर्म - वातकफशामक, उष्ण वीर्यामुळे पित्तवर्धक परंतु मधूर रसामुळे पित्तशमन करण्याचे कार्य म्हणून वातकफज व्याधीमध्ये शमनासाठी तर पित्तप्रधान व्याधीमध्ये विरेचनासाठी.

पचनसंस्थान - उष्ण गुणांमुळे पाचन व तीक्ष्ण गुणांमुळे भेदन कार्य, जलोदर, उदरशूल, कृमी, यकृतदाल्युदर, अर्श व्याधीमध्ये उपयुक्त.

रक्तवहसंस्थान - हृदय, शोथहर

स्वसवसंस्थान - उष्ण-तीक्ष्ण गुणांमुळे तमकश्वासामध्ये उपयोगी

मूत्रवहसंस्थान - मूत्रकृच्छ्र व मूत्राशय शूल, मूत्रशोधनाचे कार्य

मज्जावहसंस्थान - वातशामक, रसायन कार्य करणारा, वेदनाशामक, मेध्य. पक्षाघात, अर्दित, गृध्रसी, कम्पवात, शिरःशूल यांत उत्तम कार्य, वेदनास्थापक व अनुलोमन.

आमवात	– आमवातामध्ये एरण्ड तैल ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा.	
सात्मीकरण	– बल्य रसायन कार्य करणारा, दौर्बल्य नाश, कामलामध्ये पत्रस्वरस,	
प्रयोज्यांग	– मूल, पत्र, बीज, तैल	
मात्रा	– मूल – 3-6 ग्रॅम,	पत्र – 10-20 ग्रॅम,
	बीज – 2-6	तैल – 20-50 मिली
स्रातोगामित्व	– **दोष** – वात कफ पित्त	**धातु** – शुक्र (वाजीकर) रस, रक्त, मज्जा
	मल – पुरीष शोधन, कृमीहर	**अवयव** – आंत्र, संधी (आमवात)

Some Researches -

Antibacterial Activity - Significant susceptibility was recorded by most of the organisms tested (Klebsiella pneumonia, proteus vulgaris, coagulase negative staphylococus, pseudomonas aeruginosa and E.Coli. [Jombo & Enenebeaku, Nigerian Joun of Phys. Sci 23(1-2): 55-59, 2008, Antibacterial profile of fermented seed extracts of Ricinus communis.]

Hepatoprotective Activity - Ricinus communis was evaluated for the hepatoprotective, choleretic and anticholestatic activity. An ethanol extract showed significant protection against galactosamine to induced hepatic damage. It also showed dependent choleretic and anti-cholestatic activity. Two active compounds were isolated i.e. ricinine and N-demethyl-ricinine. N-demethytricinine was found more effective and reversed the biochemical changes (SGOT, PT etc.) [Visen PK *et al*, Hepatoprotective Activity of *R.Communis* leaves Pharmaceutical Biology Vol-30(4);1992,pp-241-25].

Anti-inflammatory activity - Anti-inflammatory and free radical scavenging (सफाई) activities of methanolic extract R.Communis (RCM) was studied. The RCM showed significant free radical scavenging (सफाई) activity by inhibiting lipid peroxidation initiated by carbon tetrachloride and ferrous sulphate in rat liver and kidney homo-genates. RCM root possess significant anti-inflammatory activity in acute and chronic inflammatory models of rats. The observed pharmacological activity may be due to the presence of phytochemicals like flavonoids, alkaloids and tannins present in the plants extract. [Raju Ilavarason *et al*, anti-inflammatory and Free radical scavenging activity of *R.Communis* root extract, Journal of ethanopharmacology, Vol. 50(3); 2006, pp, 478-480]

Antidiabetic Activity - The antidiabetic activity of 50% ethanolic extract of roots of *Ricinus communis* along with its biassary-guided purification was studied. 500 mg/kg body weight dose found effective. It showed favourable effects not only on fasting blood glucose, but also on total lipid profile and liver and kidney functions on 10th and 20th day. [Shokeen P *et al*, Antidiabetic activity of 50% ethanolic extract of *R.Communis* and its purified fractions, food and chemical toxicology, 46(11)-3458-66 (2008)].

Anti-asthmatic Activity - The study was carried out to evaluate antiasthmatic activity of the ethanol extract of R.Communis root (ERCR) on milk induced leucocytosis and eosinophilia

in mice, egg albumin induced mast cell degranulation in mice and passive cutaneous anaphylaxis in rats.

ERCR decreases the difference in leucocytes and eosinophil count. Decrease in leucocytes and eosinophil is mediated by adaptogenic and type-I hypersensitivity hence ERCR may be useful in allergic condition. ERCR significantly protect mast cell degranulation comparable to disodium chromoglycate which indicates that ERCR effective in type I hypersensitivity reactions and effective in stabilizing mast cell. ERCR shows antihistaminic and anti-inflammatory mechanism.

Phytochemical screening of ERCR revealed the presence of steroids, saponin, alkaloids, flavonoids and glycosides. Saponin are reported to posses mast cell stabilizing. Several flavonoids are responsible for smooth muscle relaxant and bronchodilator activity and antihistamine activity. [Taur D, Patil R, Antiasthamatic activity of R.Communis roots, Asian Pacific Journal of Tropical Biomedicine (2011) S13-S 16.]

आरग्वध Casia Fistula Linn

गण - कुष्ठघ्न, कंडूघ्न, विरेचन, तिक्तस्कंध (च)
आरग्वधादि, श्यामादि, अधोभागहर (सु.)

कुल - शिम्बी (Leguminosae) उपकुल - पुतिकरंज (Caesalpinoideae)

Family - Caesalpinioid (Italian botanist)

Latin Name - Cassia (Greek word name of plant) Fistula (tube)

English Name - Purging Casia

संस्कृत - आरग्वध, आरोग्यशिम्बी, राजवृक्ष, शम्पाक

मराठी - अमलतास, बहावा

परीचय - **वृक्ष** - 8 ते 10 मीटर, **खोड** - सरळ, त्वचा मऊ हरीत, धुसर किंवा तांबूसवर्ण, **पत्र** - संयुक्त 0.33 मीटर लांब, 8 ते 16 च्या जोडीने, **पुष्प** - पीतवर्णाचे, सुगंधीत, पाच दल व दहा पुंकेसर युक्त, **फल** - 0.33 ते 1 मीटर लांब, 2.5 से. मी. रूंद, कठीण अनकुचीदार, अपक्व अवस्थेत हिरव्या रंगाचे, पक्वावस्थेत कृष्णवर्णाचे, **मज्जा** - कृष्णवर्णाची, **बीज** - अधिक, मऊ, चपटे, धुसरवर्णाचे.

Chemical Composition: Anthroquinone, glucosides, sennosides A & B, Rhein, barbaloin, aloin, formic acid, butyric acid, oxalic acid, tannin, pectin. Pulp contain protein (19.9%), carbohydrate (26.3%), arginine, leucine, methionine, phenylalanine, tryptophan, aspartic, glutamin acid.

Flowers contain Aurantiamide acetate (0.011), β-sitosterol (0.006) and its β D glucoside (0.02%).

Roots contain 7-methylphscion, butilinic acid and β-sitosterol.

The stem bark contains two flavonol glycosides 5, 7, 3^1, 4^1- tetrahydroxy-6, 8-dmethoxyflavone-3-O-α-arabino pyranoside, 5,7,4^1-trihydroxy-6,8,3^1 trimethoxyflavone-3O-α-L-rhamnosyl. (1→2)-O-B-D-glyco pyranoside ($C_{30}H_{36}O_{18}$ m.p. 210^0) and xanthone glycoside.

The cuticular wax of leaves contains hentria contanoic, triacontaneic, nonacosanoid and heptacosanoic acid. The seed oil contains cyclopropenoid fatty acids, viz. Vernolic, malvalic and stetculic acid. [Mohd. Danish *et al*, J.Nat, Plant Resiur, 2011, 1(11) 101-118)].

उत्पत्ती स्थान - भारतात सर्वत्र

गुणधम - **गुण** - गुरू, स्निग्ध **रस** - मधूर, तिक्त
विपाक - मधूर **वीर्य** - शीत

कर्म - मधूर व स्निग्ध गुणामुळे वातशामक, शीतवीर्यामुळे पित्तशामक विरेचक असल्याने कफ व पित्त शोधक.

पाचन संस्थान - यकृत उत्तेजक, मृदू विरेचक, विबंध, कामला व्याधीमध्ये उपयुक्त

रक्तवह संस्थान - हृद्य (Cardiac protective), शोथघ्न, रक्तशोधक, रक्तस्रावजन्य विकार (Hemmorrhagic disorders), वातरक्त

श्वसन संस्थान - मधूर व स्निग्ध गुणांमुळे कफनि:स्सारक, शुष्क कासामध्ये उपयोगी.

मूत्रवह संस्थान - मूत्रल, बीज प्रमेहघ्न

मज्जा संस्थान - शूलहर

त्वचा - कुष्ठघ्न, शीत

प्रयोज्यांग - मज्जा, मुलत्वक, पत्र, पुष्प

मात्रा - मज्जा - 10 ते 20 ग्रॅम, विरेचनासाठी - 20 ते 40 ग्रॅम,
क्वाथ (मूलत्वक) - 20 ते 40 मिली
पुष्प - 50 ते 10 ग्रॅम.

स्रोतोगामित्व - **दोष** - पित्त, कफ **धातु** - रक्त (यकृत उत्तेजक)
मल - पुरीष (विरेचक) **अवयव** - आंत्र

Some Researches:

Leukotriene inhibition activity - Kumar *et al*, (1998) studied that methanol extract of fruits of *C.fistula* inhibited the 5-lipoxygenase catalysed formation of leukotriene-B_4 in bovine polymorphonuclear leukocytes (IC_{50} value of 38 mcg/ml). Lipid peroxidation in bovine brain phospholipids liposomes induced with 2, 2^1-azo-bis (2-amidino-propane) dihydrochloride (AADH) was inhibited. A linear correlation was obtained between the

effects of the extracts in the 2 assays a redox-based mechanism for the inhibition of 5-lipoxygenose enzyme. [Kumar *et al*, Physiotherapy research, 1998, 12(7)-520-528].

Antioxidant activity - G. Manonmani *et al* (2005) reported that aqueous extract of *C.fistula* flowers (ACF) have antioxidant effect in alloxan induced diabetic rats. An appreciable decrease in peroxidation products viz. thiobarbituric acid reactive substance, conjugated dienes, hydroperoxide was observed in heart tissues of ACF treated diabetic rats. The decreased activities of key antioxidant enzymes such as superoxide dismutase, catalase, glutathione peroxidase, glutathione reductase and glucathione in diabetic rats were brought back to near normal range upon ACF treatment. These results shows that ACF has got promising antioxidative activity. [G. Manonmania *et al*, Journal of Ethnopharmacolagy (2005), 97, 39-42].

Raju Ilavarasan studied the antioxidant activity of aqueous (CFA) methanolic extracts (CFM) of C.fistula and showed significant radical scavenging by inhibiting lipid peroxidation initiation by CCL_4 and $FeSO_4$ in rat liver and kidney homogenates. [Raju I lavarason *et al*, Anti-inflammatory antioxidant activities of *C.fistula* linn bark extracts, Afr J.Trad CAM (2005) 2 (1): 70-85].

Anti-inflammatory activity -

T. Bhakta *et al* (1999) evaluated that the extract of leaves of C.fistula was tested for anti-inflammatory effects and compared with phenylbutazone, using carageenam-histamine and dextran induced paw oedema assays in rats. Potent anti-inflammatory activity against all phlogistic agents was noted. [T Bhakta *et al*, Journal of Medicininal & Aromatic plants sciences, 2001, 22/23 (4A/1A),70-72].

Raju Ilavarason *et al* (2005) noted the anti-inflammatory activity of aqueous (CFA) & methanolic extracts (CFM) of *C.fistula.* these extracts found to possess significant anti-inflammatory effect in both acute & chronic model. [Raju Ilavarason, Afr. J. Trad CAM (2005) 2(1): 70-85].

Hypocholesterolemic and Hypoglycemic activity -

Nirmal *et al* (2008) reported the hypocholesterolemic and hypoglycemic effects of the hexane extract of stem bark of *C.fistula* in normal & strepto zotocin induced diabetic rats. The extract at 0.45 g kg^{-1} was found to be effective comparable with glibenclamide. The lipid profile (Total cholesterol, TG, HDL, LDL, VLDL) after treatment showed remarkable improvement to the diabetic control rats. Antioxidant and polyphenol content present in extracts might contribute to the hypoglycemic and antilipidemic properties. [Nirmal *et al*, Int. Journal of Pharmacology, 2008 4(4), 292-296].

Antitumour activity -

The effects of methoniolic extract (ME) of *C.Fistula* seed on the growth of Ehrlich ascites carcinoma (EAC) and on the life spam of tumour bearing mice were studied. ME treatment showed on increase of life spam and decrease in the tumour volume and viable

tumour cell count in the EAC tumour lasts. [M.Gupta *et al*, Journal of Ethnopharmacology, 2000, 72, 151-156].

K. Vasudevan *et al* (2008) investigated the chemopreventive efficacy of *C.fistula* bark extracts in 7, 12-demethyl benz(a)anthracene (DMBA) induced hamster buccal pouch carcinogenesis. Oral administration of *C.fistula* back extracts to DMBA painted animals completely prevented the formation of oral squamous cell carcinoma. [K. Vasudevan *et al*, Int. Journal of Chem. Sciences 2008, 6(3), 1341-1354]

कुटकी Picrorrhiza Kurroa

गण – भेदनीय, लेखनीय, स्तन्यशोधन, तिक्तस्कंध (च)पटोलादि, पिप्पल्यादि, मुस्तादि (सु.)

कुल – तिक्त कुल

Family – Scrophulariaceae (Fig wort) like scrophula.

Latin Name – Picrorrhiza (Palmented root) Kurroa

English – Helebore, picrorrhiza

संस्कृत – कटुका, तिक्ता, कटुकरोहिणी, मत्स्यपित्ता, शतपर्वा, कृष्णा, महौषधी

मराठी – कुटकी, काळी कुटकी

परीचय – बहुवर्षायु क्षुप मुळ्यासारखे (Raddish). **मूल**-बांधा खर, **पत्र** – दंतूरीत, 5-10 सेमी लांब, गोलाकार टोक, **पुष्प** –श्वेत, डंठल (Stalk), कठीण, जून-जुलै मध्ये. **मूल** – अंगुलीसम, जाडी, 15-25 सेमी लांब.

बाजारात 2.5-5 सेमी लांबीचे तुकडे विकायला असतात. तांबूस धुसर वर्णाचे, सहज तुटणारे, आतमध्ये कृष्णवर्णाचे.

उत्पत्तीस्थान – हिमालय, कश्मीर ते सिक्कीम पर्यन्त 2-4 हजार मीटर उंचावर. सध्या ही वनस्पती दुर्लक्षामुळे लोप पावली जात आहे. त्यामुळे हिमाचल सरकारने सलूनी वन विभाग, चम्बा मध्ये लागवट सुरू केली.

Chemical Composition: - Kutkin-bitter glucoside, isolated D-Mannitol and some steroids. A non bitter product Kurrin, besides vanillic acid, Kutkisteral, Picroside-II has been isolated and shown hepato-protective activity. Apocynin is a potent NADPH oxidase inhibiotor and anti-oxidant and anti-inflammatory activity. Androsin has anti-asthmatic effect.

गुणधर्म – **गुण** – रूक्ष, लघू **रस** – तिक्त

विपाक – कटू **वीर्य** – शीत

कर्म – कफपित्त शोधक

पचन संस्थान – यकृत उत्तेज्जक व पित्तवृध्द करणारा (Cholagogue), कृमीघ्न, विरेचक कामला (अवरोधजन्य), विबंध, जलोदर.

रक्तवह संस्थान – पित्तवहस्रोतोगामी व रक्तवहस्रोतोगामी, हृदगती कमी करणारा, हृदय बल वाढविणारा (increases heart strength & blood pressure), रक्तशोधक, नाडीगती कमी करणारा, प्रमेह व पांडूमध्ये उपयोगी.

श्वसनवह संस्थान – कफनि:सारक, कफ व श्वास रोग शामक मूत्रल

त्वक – दाह व कंडू शामक

सात्मीकरण – अल्पमात्रेत रसायन, अधिक मात्रेत लेखन करणारा

प्रयोज्यांग – मूल

भेसळ (Adulteration) – तिक्त रसात्मक द्रव्य, नारिकेल मूल

मात्रा – 0.75 ग्रॅम ते 1 ग्रॅम (अल्पमात्रा) 3 ग्रॅम ते 6 ग्रॅम (विरेचक, जीर्ण ज्वर)

स्रोतोगामित्व – **दोष** – कफ, पित्त **धातु** – रस, रक्त, मेद

मल – पुरीष **अवयव** – हृदय, यकृत

Some Researches:

Immunostimulatory activity - A 50% ethanolic extract of *Picrorrhiza Kurroa* Royle ex Benth leaves (PKLE) was found to stimulate the cell-mediated and humoral components of the immune syste as well as phagocytosis. PKLE exhibited no mitogenic activity but augmented the responsiveness of murine splenocytes to T-cell mitogens phytohaema gglutinin (PHA) and concanavalin A (Con-A) & B cell mitogen lipopolysaccharide. [M.L. Sharma, *et al*, Journal of Ethnopharmacology (1994, 41(3), 185 192].

Antidiabetic activity - An alcoholic extract of *P.Kurroa* was found to lower blood glucose in basal condition and after heavy glucose load in normal rats. *P.Kurroa* extract was also found to reduce the increase of blood sugar in alloxan-induced diabetic rats. The extract was also found to reduce the increased blood urea nitrogen and S.lipid peroxides in alloxan-induced diabetic animals and to inhibit the body weight reduction and leukopenia. [K.L. Joy, *et al*, Journal of Ethnopharmacology (1999), 67(2), 143 148].

Hepatoprotective activity - Kutkins are group of pharmacologically active compounds present in *P.Kurroa* the chemical composition of picrorrhiza has been studied and active constituents are group of iridoid glycosides known as picrosides and kutkosides, studies have shown that kutkins are more potent than silymarin (active constituent and hepatoprotective constituent of silybum marianum) as far as hepatoprotective activity is concerned. [A.P. Singh, Kutkins A review of chemistry and pharmacology].

Shetty *et al,* studied the standardized extracts of *P.Kurroa,* in experimental non alcoholic fatty liver disease (NAFLD) correlating with those seen in humans and found that the extract of *P.Kurroa* regressed several features of NAFLD like lipid content of the liver tissue, morphological regression of fatty infiltration, hypolipidemic activity and reduction of cholestatis. [Sapna N. Shetty, *et al*, Journal of Ayurveda & Integrative Medicine, 2010, 1(3), 203-210].

Cardioprotective activity - D. Rajaprabhu *et al* (2007), studied the protective effect of *P.Kurroa* on antioxidant status and cardiomyopathy in rats. The results of this study indicated the cardioprotective effect of *P.Kurroa* against adrimycin induced cardiomyopathy. [Rajaprabhu *et al*, J. Med. Plants Res. 2007, 1(4), PP 080 085].

जयपाल Croton tiglium

कुल – एरण्ड कुल

Family – Euphorbiaceae

Latin Name – Croton-a tick
Tiglium-a small beam

English Name – Kroton

संस्कृत नांव – दंतीबीज, रेचक, कुम्भीबीज, शोधीनी

मराठी – जमालगोटा

परीचय – सदाहरीत वृक्ष, पत्र - 5 10 cm लांब, दीर्घवृन्त, श्लक्ष्ण, **पुष्प**–एकलिंगी, हरीतपीत वर्णाचे, त्रिकोणीय, काल-उन्हाळा, झुबक्याने (in clusters), **फल** - 2.5 cm लांब, अंडाकार, श्वेत, **काल** - हिवाळा, **बीज** - धुसर (Brown)

उत्पत्तीस्थान – भारतात सर्वत्र, लक्षद्वीप-मालीदीव, श्रीलंका, चीन.

Chemical Composition: - Seeds contain tiglinic acid, crotonic acid, crotonotic acid, croton oil. It also contains alkaloids, flavonoids, tannin, phlobatanin, terpenoid, saponin. Isoguanosive was isolated which has antitumour activity.

गुणधर्म – **गुण** - गुरू, स्निग्ध, तीक्ष्ण **रस** - कटू
विपाक - कटू **वीर्य** -उष्ण
कर्म - कफवातहर

पचन संस्थान – अग्निवृध्दीकर, विरेचक, कृमीघ्न, मलबध्दता, जलोदर.

रक्तवह संस्थान – विसर्प, अवस्थेत उपयोगी, intra cranial hemorrhage, to reduce water content of the blood in many condition. [Ayurvedic pharmacology & Therapeutic uses of medicinal plants Dravyaguna vigyan. V.M. Gogate, pp. 614]

सात्मीकरण – विषघ्न

प्रयोज्यांग – बीज, बीज तैल

मात्रा – बीज 30 ते 60 मिग्रॅम, तैल 0.5 ते 1 बिंदु

स्रोतोगामित्व – **दोष** - कफ वात **धातु** - रस
मल - पुरीष **अवयव** - आंत्र

विषाध्नता (Antitode) –मधूर रसात्मक शीत वीर्य द्रव्य उदा. दुग्ध, तक्र, घृत, निम्बू पाणी

बीज शोधन – बीज गोदुग्धात 1–2 तास उकडावे.

त्यानंतर गरम पाण्यात धूवून निम्बू स्वरसात, बूडवून ठेवावे.

नंतर बीज सूर्यप्रकाशात वाळवून घ्यावे व उपयोगासाठी सुरक्षीत ठेवावे

Researches:

Anticancer activity - The studies on anticancer active constituents from C.tiglium carried out. It had been used to cure malignant, arthritis. Studies included three parts:

i) Studies on the compounds and anticancer activity and found that this plant had good inhibition to ten tumours cells and it may be those active compounds are diterpenoids esters.

ii) Constituents of essential oil from leaves were analyzed by GC-MS and were studied on the anticancer activity and it has good anticancer activity to HCT 116.

iii) Content of metal microelement of C.tiglium, it is rich in K, Cu, Fe, Zn, Ca, Mg, Mn, Al, S_2 Na.

6 बस्ति (Enema Therapy)

निरूक्ति :

वस - निवासे, वस - आच्छादने, वसति मूत्रम् अत्र (अमरकोश-रामाश्रमी टीका).

बस्ति - वस्तेः आवृणोति मुत्रं । वस-तिच्। प्रत्यय.

व्याख्याः

बस्तिना दीयते इति बस्तिः। अ.हृ.सू. 19.1

प्राणीमात्राच्या मुत्राशयाद्वारे देण्यात येते म्हणून या क्रियेला बस्ति म्हणतात.

तसेच बस्तिद्वारे शरीरात अंतःप्रविष्ट औषधीद्रव्य शरीरात वास (टिकून राहते) करते म्हणून या क्रियेला बस्ति म्हटले जाते.

व्याधि व रुग्णानुसार गुदमार्गाद्वारे औषधी देण्याची क्रिया बस्ति होय.

परिचय (Introduction)

आयुर्वेदातील बस्ति ही प्रमुख चिकित्सा आहे. आचार्यांनी बस्तिला अर्धचिकित्सा संबोधून चिकित्सेतील महत्त्व स्पष्ट केले. बस्ति क्रिया आधुनिकशास्त्राच्या Enema पेक्षा कितीतरी व्यापक आहे. केवळ पक्वाशय किंवा गुदमार्गाचे शोधन करणारी क्रिया म्हणजे बस्ति नव्हे. बस्तिक्रियेचे गूढ आधुनिक शास्त्राच्या तत्वांवर बसवणे कठिण आहे. ते प्रत्यक्षात विश्वासाने अनुभवण्यासारखे आहे.

बस्ति क्रिया गुदमार्गाव्यतिरिक्त योनिमार्गाने, मूत्रमार्गाने दिली जाते. एवढेच नव्हे तर व्रणांमध्ये सुध्दा बस्ति दिली जाते. (सु.चि.35/1)

उपयोगिता (Utility): (सु.चि. 35/1-2)

(1) बस्ति ही केवळ मलशोधनाची क्रिया नसून शरीरातील दोषांची शोधन करणारी क्रिया आहे. शोधनासोबतच बस्ति शमनचिकित्सेसाठी तेवढीच उपयुक्त आहे.

(2) बस्ति स्थूलांना कृश करणारी व कृश व्यक्तींत बृंहण करणारी आहे.

(3) शुक्र वृध्दिसाठी बस्ति क्रियेचा उपयोग केला जातो. उदा. यापन बस्ति.

(4) नेत्र्यकर तथा वर्ण्यकर कार्य बस्तिद्वारे होते.

(5) वयःस्थापन (Rejuvenation) करण्याचे कार्य बस्तिद्वारा केले जाते.

(6) बस्ति क्रियेद्वारे बल वृध्दी केली जाते.

(7) व्याधिनुरूप बस्ति द्रव्यांची संरचना करून व्याधिनाश करण्यासाठी बस्ति उपयुक्त आहे.

महत्त्व (Importance) : च.सि.1/40-41, सु.चि. 35/3

सर्व व्याधि त्रिदोषांमुळे होत असले तरी कफ व पित्त पंगु आहे दुष्ट दोषांचे वहन करण्याचे काम वातच करत असतो. त्यामुळे वातास त्याचे प्राकृत स्वरूप व गती प्राप्त करून देणे आवश्यक असते. वायू ची सर्वोत्तम चिकित्सा बस्ति आहे. त्यामुळे पर्यायाने सर्व व्याधिंमध्ये बस्तिचे महत्त्व अनन्यसाधारण आहे. म्हणूनच बस्तिकर्मास अर्धी चिकित्सा तर कधी पूर्ण चिकित्सा संबोधल्या जाते. यावरून बस्तिचे महत्त्व लक्षात येते.

नानात्मज व्याधिंमधेही वातव्याधीची संख्या (80) इतरांच्या तुलनेत अधिक आहे. त्यामुळे बस्ति चिकित्सा महत्त्वपूर्ण मानली जाते.

बस्तिर्वाते कफे पित्ते रक्तेच शस्यते।
शरीरोपचयं वर्ण बलमारोग्यमायुषः।
कुरूते परिवृद्धीं च बस्तिः सम्यगुपासितः।। **सु.चि. 35/4**
इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्यो षाणां संशोधनशमन
संग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृहयति,
स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रणयति, वलीपलितम् पहन्ति;
वयः स्थापयति।। **सु.चि. 35/3**

बस्ति ही केवळ वाताचीच चिकित्सा नाही तर कफ, पित्त, रक्त तसेच संसर्ग, सन्निपातज व्याधिंचीही चिकित्सा आहे. त्यामुळे पंचकर्म उपक्रमांमध्ये बस्तिचे महत्त्व अधिक आहे. म्हणूनच कुष्ठ चिकित्सेमध्ये एकीकडे बस्ति निषेध असतांनाही कुष्ठाची चिकित्सा करतांना विशिष्ट अवस्थांमध्ये बस्ति क्रिया सांगितली गेली आहे आणि अनुभवाने ते सिद्धही झाले आहे.

बस्ति प्रकार

(A) कर्मभेद : बस्तिचे चिकित्सेमधील कार्यानुसार भेद केले आहेत. सुश्रुत, वाग्भट व शाङ्र्गधर यांनी वेगवेगळया कर्मानुसार बस्तिचे भेद वर्णन केलेले आहे.

(1) **शोधन बस्ति** -

शोधनद्रव्यानिः क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैंधवैः।
युक्ताः खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः।। **सु.चि. 38/81**

ज्या बस्तिद्वारे दोष तथा मल शरीरा बाहेर काढले जातात अशा प्रकारची बस्ति शोधन बस्ति होय. या बस्तिमध्ये शोधन करणारी तीक्ष्ण द्रव्ये वापरली जातात.

(2) **लेखन बस्ति** -

त्रिफलाक्वाथगोमूत्र क्षौद्रक्षारसमायुताः।

ऊषकादिप्रतीवापां बस्तये लेखनाः स्मृताः। **सु.चि. 38/82**

ही मेदोधातु वृद्धि झाल्यास मेद धातुचे लेखन करणारी बस्ति होय. या बस्तिमध्ये उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष व त्तिक्त-कषाय गुणांचा द्रव्यांचा वापर केला जातो. उदाः- त्रिफला क्वाथ, गोमूत्र, मधू क्षार युक्त बस्ति.

(3) **स्नेहबस्ति** -

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः।

सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणांः स्मृताः।। **सु.चि. 38/83**

शरीरामध्ये रूक्षता उत्पन्न झाल्यास स्नेहप्रधान बस्ति दिली जाते. शरीरात स्नेहन करण्यासाठी उपयुक्त ठरते. वारंवार शोधन केल्याने शरीरामध्ये रूक्षता उत्पन्न होते अशावेळी स्नेहबस्ति उपयुक्त ठरते. (च.चि. 7)

(4) **बृंहणबस्ति** -

ऐतेष्वे च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक् पृथक्।

समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेह बस्तयः।। **सु.चि. 38/88**

बृंहण द्रव्य (विदारीकंदादि गण), मधुर द्रव्य, घृत, तैल तथा मांसरस याचे योजन करून शरीर बलवान करण्यासाठी जी बस्ति दिली जाते त्या बस्तिला बृंहण बस्ति म्हणतात.

अशाप्रकारची बस्ति ज्या व्याधिच्या संप्राप्तीमधे मांसशोष (Muscle wasting), धातुक्षय यासारखी लक्षणे उत्पन्न होतात तेथे अधिक उपयुक्त आहे.

बस्तिभेदः

कर्मभेद	संख्याभेद	अधिष्ठानभेद	द्रव्यभेद
(पुढील तालिकाप्रमाणे)	(1) कर्म - 30	(1) पक्वाशयगत	(1) निरूह
	(2) काल - 16	(2) गर्भाशयगत	(2) अनुवासन
	(3) योग - 8	(3) मूत्राशयगत	
		(4) व्रणगत	

कर्मबस्ति भेद:

सुश्रुत	वाग्भट	शार्ङ्गधर	चरक
(1) शोधन	(1) उत्क्लेशन	(1) उत्क्लेशन	(1) वातघ्न
(2) लेखन	(2) दोषहर	(2) दोषहर	(2) बलवर्णकृत
(3) स्नेहन	(3) शमन	(3) शोधन	(3) स्नेहनीय
(4) बृंहण		(4) शमन	(4) शुक्रकृत
		(5) लेखन	(5) कृमिघ्न
		(6) बृंहण	(6) वृषत्वकृत
		(7) पिच्छा	
		(8) दीपन	

(5) **उत्क्लेशन बस्ति** – दोषांचे विलयन करून दोष बाहेर पाडण्यास प्रवृत्त होतात.

उत्क्लेशनं शुध्दिकरं दोषाणां शमनं क्रमात्।
त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्तेऽपि प्रचक्षते।। **अ.हृ.सू. 19/61**

(6) **दोषहर बस्ति** – ही शोधन बस्ति आहे. दोषांना त्वरीत बाहेर काढण्यासाठी या बस्तिचा उपयोग केला जातो. उदा. निरूह बस्ति.

(7) **शमन बस्ति** – वृद्ध दोषांना शमन करण्यासाठी उपयुक्त बस्ति. उदा. मात्राबस्ति दोषांनुसार.

(8) **लेखन बस्ति/कर्षण बस्ति** – प्रामुख्याने स्थूल व्यक्तींना कृश करण्यासाठी या बस्तिचा चिकित्सेत उपयोग केला जातो.

सध्याच्या काळात स्थौल्याचे रुग्ण अधिक वाढत आहे. विविध प्रकारचे Junk food, अत्याधिक मानसिक तणाव, Thyroidism इ. अनेक कारणे स्थौल्य उत्पन्न करणारी आहेत. परंतु चिकित्सकांना कर्षणबस्तिचा उपयोग करतांना मेदधात्वाग्निमांद्याचा जरूर विचार करून चिकित्सेची उपाय योजना ठरवावी.

(9) **रसायनबस्ति** – नावाप्रमाणे रसायनकर्मासाठी वापरली जाणारी बस्ति होय.

(10) **वाजीकरणबस्ति** – लैंगिक सामर्थ्य वाढविण्यासाठी तथा शुक्रवृध्दिसाठी या बस्तिचा वापर केला जातो.

(11) **बृंहणबस्ति** – कृश व्यक्तींसाठी पोषक व बृंहण करणारी बस्ति.

(B) द्रव्यभेदानुसार:

बस्तिकर्मास उपयुक्त औषधीमध्ये प्राधान्याने कोणती द्रव्ये वापरली जातात (क्वाथ प्राधान्य/स्नेह

प्राधान्य) यावरून बस्तिंचे प्रमुख दोन प्रकार आहेत. (1) निरूहबस्ति (2) अनुवासनबस्ति. यामध्ये बस्तिच्या सर्वच प्रकारांचा समावेश होतो म्हणून हे भेद प्रधान मानले जातात.

(1) **निरूहबस्ति / आस्थापन बस्ति** –

स दोष निर्हरणात् शरीरनीरोहणाद्वा निरूहः।

वयः स्थापनात् आयुः स्थापनात् वा आस्थापनम्।। **सु.चि. 35/18**

या बस्ति कल्पनेत क्वाथाची प्रधानता असते. या कल्पनेला आस्थापन बस्ति म्हणतात. निरूह बस्तिमुळे दोषांचे निर्हरण केले जाते व व्याधिचे शमन केले जाते म्हणून निरूह बस्ति म्हणतात. तसेच आयुचे स्थापन केले जाते म्हणून आस्थापन बस्ति म्हटले जाते. यामुळे शरीर स्वस्थ ठेवले जाते व आयुची वृध्दि केली जाते.

निरूह बस्तिचे माधुतैलिक हे विकल्प आहे तर यापन, युक्तरथ, हे पर्याय आहेत. (सु.चि. 38/114-116)

(2) **अनुवासनबस्ति** – ज्या बस्तिमध्ये स्नेहाची प्रधानता असते त्या बस्तिला अनुवासन बस्ति म्हणतात. यालाच सुश्रुतांनी स्नेहिक बस्ति म्हटले आहे. अनुवासनबस्तिची निरूह बस्तिच्या चतुर्थांश एवढी अधिकतम् मात्रा असते.

अनुवासन अपि न दुष्यति, अनुदिवसं वा दीयते इती अनुवासनः। **सु.चि. 35/18.**

अनुवासन बस्ति शरीरात प्रतिदिवस दिली जाऊ शकते व शरीरात कोणताही दोष उत्पन्न करत नाही. (सु.चि. 35/18)

मात्रेच्या आधारे अनुवासन बस्तिचे 3 प्रकार आहेत. (चक्रपाणि टीका च.सि. 4/54 वर व डल्हण टिका सु.चि. 37/2 वर)

सार्धपलमानो मात्रा बस्ति रुक्तो भवति; तत्र हि षट्पलः स्नेह बस्ति रुक्तः, अनुवासनं तु त्रिपलं। सुखोपचर्यमिति चेष्टाहार नियमाभावादेव।।

(1) **स्नेह बस्ति :** वयानुसार बस्तिचो मात्रा निर्धारीत केली जाते. निरूह बस्तिच्या एक चतुर्थांश मात्रा स्नेहबस्तिची आहे.

मात्रा : 240 मिली (6 पल/24 तोळे)

(2) **अनुवासन बस्ति :** स्नेहबस्तिच्या अर्ध्या प्रमाणात मात्रा दिल्या जातात.

मात्रा : 120 मिली (3 पल/12 तोळे)

(3) **मात्रा बस्ति : ह्रस्वया स्नेहमात्रायाः मात्राबस्ति समोभवते।** **च.सि. 4/53**

स्नेहपानाची ह्रस्वमात्रा वा अनुवासन बस्तिचे अर्ध प्रमाण मात्राबस्तिसाठी वापरला जातो.

मात्राः 60 मिली ($1^{1/2}$ पल/6 तोळे) चिकित्सेमध्ये सोईस्कर व प्रसिद्ध बस्ति प्रकार आहे.

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तीता।

पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम। सु.चि. 37/4

(C) संख्यानुसार बस्तिभेद

वरील विविध प्रकारच्या बस्तिं व्यतिरिक्त बस्ति किती दिवस द्यावे हे निश्चित करण्यासाठी चरक व वाग्भटांनी संख्येच्या आधारावर बस्तिचे 3 प्रकार केले (च.सि.- 1-47-48)

(1) कर्मबस्ति, (2) कालबस्ति, (3) योगबस्ति.

कर्मबस्तिः या प्रकारात एकूण 30 बस्ति दिल्या जातात. यामध्ये अनुवासन व आस्थापन दोन्ही बस्ति दिल्या जातात. सुरूवात स्नेह (अनुवासन) बस्तिने केली जाते. त्यानंतर व्यत्यासाने निरूह व अनुवासन 12 + 12 बस्ति दिल्या जातात व शेवटी 5 अनुवासन बस्ति देवून बस्ति बंद केली जाते. यामध्ये एकूण 12 निरूह व 18 अनुवासन बस्तिंचा अंतर्भाव केला जातो.

	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह
दिवस →	1	2	3	4	5	6	7	8
	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह
दिवस →	9	10	12	11	13	14	15	16
	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह
दिवस →	17	18	19	20	21	22	23	24
	स्नेह	स्नेह	स्नेह	स्नेह	स्नेह	स्नेह		
दिवस →	25	26	27	28	29	30		

कालबस्ति - एकूण 16 बस्ति दिल्या जातात. प्रथम स्नेहबस्ति व त्यानंतर क्रमाने निरूह व अनुवासन (स्नेहबस्ति) अशा व्यत्यासात क्रमाने 6-6 बस्ति दिल्या जातात. बस्ति चिकित्सेचा शेवट तीन स्नेह बस्तिने केला जातो. यामध्ये एकूण निरूह 6 व अनुवासन बस्ति 10 दिल्या जातात.

	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह
दिवस→	1	2	3	4	5	6	7	8
	स्नेह	निरूह	स्नेह	निरूह	स्नेह	स्नेह	स्नेह	स्नेह
दिवस→	9	10	12	11	13	14	15	16

योगबस्ति - एकूण बस्ति संख्या 8. अनुवासन बस्तिने सुरूवात त्यानंतर क्रमाने 3 निरूह व 3 अनुवासन बस्ति व्यत्यासाने दिल्या जातात. शेवटी एक अनुवासन बस्ति देवून बस्ति पूर्ण केला जातो. यामध्ये एकूण 5 अनुवासन व 3 निरूह बस्ति दिल्या जातात.

(D) अधिष्ठानभेदाने बस्ति प्रकार :

बस्ति देण्याच्या स्थानावरून बस्तिचे 4 प्रकार आहेत.

(1) **पक्वाशयगत (Rectal)** – बस्तिद्रव गुदमार्गातून दिले जाते व पक्वाशयात (Large intestine) मध्ये पोहचवले जाते. चिकित्सेमध्ये अधिक वापर या बस्ति प्रकाराचा केला जातो. पक्वाशयगत बस्तिचे कार्य केवळ स्थानिक दोषांपर्यंतच मर्यादित नसून अनेक व्याधिंमध्ये आहे.

(2) **गर्भाशयगत (Uterine)** – स्त्रियांमध्ये अपत्यमार्गाद्वारे दिली जाणारी बस्ति बस्तिद्रव्य गर्भाशयात पोहचवली जाते. ही उत्तरबस्ति आहे. योनिगत व गर्भाशयाच्या व्याधिंमध्ये उपयुक्त.

(3) **मूत्राशयगत (Urethrovesical)** – स्त्रि-पुरूषांमध्ये मूत्रमार्गाद्वारे बस्ति दिली जाते. ही उत्तरबस्ति आहे. मूत्रमार्गाच्या व्यधिंसाठी उपयुक्त उदा. मूत्रकृच्छ्र (Urethral stricture).

(4) **व्रणगतबस्ति** – व्रणमुखातून दिली जाणारी बस्ति. व्रणाचे शोधन किवा धावन व रोपण करण्यासाठी या बस्तिचा उपयोग केला जातो. आधुनिक चिकित्सेमध्ये निदानासाठी उपयोग करतांना आढळतो. (उदा. Sino graph or fistulograph)

(E) **मात्राभेदाने बस्तिचे प्रकार:**

बस्तिमध्ये बस्तिद्रव्यांची मात्रा कमी अधिक करून विविध प्रकारच्या बस्तिंचा चिकित्सेमध्ये उपयोग केला जातो. बस्तिची मात्रा वयानुसार असली तरी काही बस्ति विशिष्ट प्रमाणातच देण्याचे सांगितले आहे. मात्रा भेदाने अनुवासन बस्तिचे 3 प्रकार आहेत त्याचे वर्णन आधीच केले गेले आहे.

(1) स्नेह – 240 मिली

(2) अनुवासन – 120 मिली

(3) मात्रा – 60 मिली

या व्यतिरिक्त काही बस्ति खालीलप्रकारे मात्रेच्या अनुषंगाने वर्णिलेल्या आहेत. त्यांचे नामकरण मात्रेच्या आधारावर केले गेले.

(1) **प्रसृत/प्रासृत यौगिकी बस्ति** – ज्या बस्ति प्रसृत प्रमाणामध्ये दिल्या जातात त्यांना प्रसृत यौगिकी बस्ति म्हणतात. चरकांनी सिद्धिस्थान अध्याय 8 मध्ये प्रसृत यौगिकी बस्तिचे वर्णन केलेले आहे. उदा. क्षीरबस्ति, विडंगादि.

1 प्रसृत = 8 तोळे = 80 मिली.

(2) **द्वादश प्रसृतिकी बस्ति (सु.चि. 38/37-39)** – ज्या बस्तिमध्ये द्रव्याचे एकूण प्रमाण 12 प्रसृति (96 तोळे = 960 मिली) असते त्यास द्वादश प्रसृतिकी बस्ति म्हणतात. हे बस्तिचे अधिकतम

प्रमाण आहे. माधुतैलिक बस्ति याचे उत्तम उदाहरण आहे.

मधू	-	2	प्रसृत	=	160 मिली
सैंधव	-	1	रुक्ष	=	10 ग्रॅम
स्नेह	-	3	प्रसृत	=	240 मिली
कल्क	-	1	प्रसृत	=	80 ग्रॅम
क्वाथ	-	4	प्रसृत	=	320 मिली
आवापद्रव्य	-	2	प्रसृत	=	160 मिली
एकूण	-	**12**	**प्रसृत**	=	**960 मिली**

(3) **पादहीन बस्ति** – पादहीन म्हणजे एक चतुर्थांश कमी करून द्वादश प्रासृतिकी बस्तिमधील एक चतुर्थांश मात्रा कमी करून जी बस्ति दिली जाते तिला पादहीन बस्ति म्हणतात. ही 9 प्रसृत (72 तोळे = 720 ml) मात्रेत दिली जाते. ही देखील मधुतैलिक बस्ति आहे.

उदा. - मधुतैले समे स्यान्ता ..... माधुतैलिकसंज्ञित:।। सु.चि. 38/100-101

द्रव्य -	(1)	मधू व तैल (4 प्रसृत)	-	320 मिली
	(2)	एरण्डमूलक्वाथ (4 प्रसृत)	-	320 मिली
	(3)	कल्क (1 पल)	-	40 ग्रॅम
	(4)	सैंधव (1 कर्ष)	-	10 ग्रॅम
	(5)	शतपुष्पा - 1/2 पल	-	(20 मिली)
	(6)	मदनफळ - 1 नग	-	(10 ग्रॅम)
		एकूण - 9 प्रसृत	-	**(720 मिली)**

पुतोयवान्यादि कल्क (अ.हृ.क. 4/2) - ज्या बस्तिच्या वर्णनात कोणता कल्क घ्यावा याचा स्पष्ट उल्लेख नसेल अशा बस्तिमधे पुतोयवान्यादि कल्क घ्यावा.

द्रव्य - अजवायन, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वचा, सौफ, मुस्तक, पिप्पली

(F) विशिष्ट बस्ति :

(1) **यापन बस्ति** –

यापनास्तु बस्तय: सर्वकालं देया:। च.सि. 12/15

चक्रपाणि – आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्तनम् कुर्वन्तीति।

जी बस्ति आयुचे यापन करते, त्या बस्तिला यापन बस्ति म्हणतात. ही सर्वकाळात देता येते. तसेच दीर्घकाल शरीरात राहते.

शरीराचे बल, मांस वाढविणारी व शुक्रधातुचे पोषण करणारी बस्ति आहे. या बस्तिचे व्यापद

नगण्य आहे व कार्य आश्चर्यकारक आहेत. याबस्तिमध्ये मांसरस, मधु, दुग्ध, घृत इ. चा उपयोग केला जातो. प्रचलनात काही वैद्य मज्जाबस्ति म्हणून पण उल्लेख करतात.

चरक सिध्दी स्थान अध्याय 12 मध्ये एकूण 26 यापन बस्तिंचे वर्णन केलेले आहे.

(2) **सिध्दबस्ति** – विशिष्ट रोगानुसार विशिष्ट द्रव्यांचा वापर करून व्याधि शमनासाठी प्रयोगात आणलेली बस्ति सिध्द बस्ति होय.

सिद्धानां बस्तिनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु।
गदतः सिध्दिं सिध्दिप्रदां भिषजाम्।। च.सि. 10/3

(3) **तीक्ष्ण बस्ति** – क्षार, लवण, गोमूत्र व इतर तीक्ष्ण, उष्ण द्रव्यांची बस्ति ही तीक्ष्ण बस्ति होय. लगेच मल निष्कासनासाठी किंवा औषधीद्रव्य बाहेर काढण्यासाठी तीक्ष्ण बस्तिचा उपयोग केला जातो. ही शोधन बस्ति आहे. परंतु सर्व शोधन बस्ति ह्या तीक्ष्ण नसल्याने हया बस्तिचा विशिष्ट बस्ति म्हणून वर्णन केला आहे.

(4) **मृदु बस्ति** –

मृदुर्बस्तिःप्रयोक्तव्यो विशेषात् बालवृध्दयोः।
तयोस्तीक्ष्ण प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हिंस्याद् बलायुषी।। **सु.चि. 35/10**

बाल, वृद्ध, सुकुमार व हीन सत्व रुग्णांना मृदू द्रव्यांची बस्ति दिली जाते. यात दूध, घृत इ. चा उपयोग केला जातो.

(5) **पिच्छाबस्ति** – ही संग्राही प्रकारची बस्ति आहे. पिच्छिल गुणात्मक द्रव्याचा (उदा. मोचरस) या बस्तित वापर केला जातो. प्रामुख्याने रक्तस्त्राव, अतिसार, स्तम्भनार्थ पिच्छा बस्तिचा उपयोग केला जातो.

(6) **रक्तबस्ति** –

तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्।
श्यामाकाश्मर्यबदरीदूर्वोशीरैः श्रृतंपयः।। **चक्रपाणि टिका च.सि. 6/83**

रक्ते रक्तेन। या न्यायाने शरीरातून रक्तस्त्राव झाला असल्यास किंवा रक्तधातुची अल्पता (पांडू) असल्यास रक्तबस्ति दिली जाते. हया बस्ति प्रकारात अजारक्त वापरले जाते.

काही वैद्यगण प्रत्यक्ष मानवी रक्ताचा बस्तिमध्ये उपयोग करतात अर्थात आधुनिकाप्रमाणे सर्व परीक्षणा अंती (उदा. HIV इ.) यात रक्तगटाची अट नसते. अर्थात हा संशोधनाचा विषय आहे.

बस्ति यंत्र

बस्ति देण्यासाठी वापरण्यात येणारे उपकरण म्हणजे बस्ति यंत्र होय. बस्ति यंत्राचे दोन भाग आहेत:

(1) बस्ति नेत्र (2) बस्ति पुटक

(1) **बस्ति नेत्र (च.सि. 3/7-9)** – नेत्र म्हणजे नलिका; बस्ति पुटकाला जोडली जाते. बस्ति देतांना गुदमार्गामध्ये प्रविष्ट केली जाते. शास्त्रामध्ये बस्ति नेत्र स्वर्ण, रजत, ताम्र, कास्य, अस्थि, श्रृंग, दंत इ. पासून तयार करून वापरण्याचा उल्लेख आहे. मात्र सध्याच्या काळात आर्थिक, सहज उपलब्धता

इ. चा विचार करून Rubber catheter, पितळ निर्मित बस्ति नेत्र किंवा प्लास्टिक निर्मित बस्ति नेत्राचा वापर केला जातो. वैद्याने स्वसोयीने बस्ति नेत्र वापरावा.

प्रमाण: बस्ति नेत्रासाठी वापरण्यात येणारी नलिकेची लांबी, दोन्ही टोकाच्या छिद्रांचे आकार यासाठी आचार्यानी विशिष्ट प्रमाण सांगितले आहे.

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मितानि षडविंशतिद्वादशवर्षजानाम्।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राणि वर्त्याऽपिहितानि चैव।।

यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मुलाग्रयो:स्यु: परिणाहवन्ति।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि।। च.सि. 3/8-9

चरकानुसार बस्ति नेत्र :

अ.क्र.	वय (वर्ष)	बस्ति नेत्र लांबी	
		अंगुलप्रमाण	से.मी. (Approx)
1	1 ते 6	6	9
2	7	$6^{1/3}$	9.5
3	8	$6^{2/3}$	10
4	9	7	10.5
5	10	$7^{1/3}$	11
6	11	$7^{2/3}$	11.5
7	12	8	12
8	13	8 ½	12.75
9	14	9	13.5
10	15	9 ½	14.25
11	16	10	15
12	17	10 ½	15.75
13	18	11	16.5
14	19	11 ½	17.25
15	20 आणि पुढे	12	18

(6 ते 12 वर्षा पर्यन्त 1/3 अंगुल वृध्दी, 12 ते 20 वर्षा पर्यन्त 1/2 अंगुल वृध्दी)

आचार्य सुश्रुतानुसार (सु.चि. 35/7):

अ.क्र.	वय (वर्ष)	बस्तिनेत्र लांबी	
		अंगुलप्रमाण	से.मी. (Approx)
1	1 ते 7	6	9
2	8 ते 15	8	12
3	16 ते 25 पर्यन्त	10	15
4	25 पुढे	12	18

आचार्य वाग्भटानुसार (अ.हृ.सू. 19/10-12):

अ.क्र.	वय (वर्ष)	बस्तिनेत्र लांबी		बस्तिनेत्र मूल	
		अंगुलप्रमाण	सेमी	अंगुलप्रमाण	सेमी
1	1 वर्ष पर्यन्त	5	7.5	1	1.5
2	1 ते 6	6	9	1	1.5
3	7	7	10.5	1.5	2.25
4	8 ते 12	8	12	2	3
5	13 ते 16	9	13.5	2.5	3.75
6	16 पेक्षा अधिक	12	18	3	4.5

बस्तिनेत्रास तीन कर्णिका असतात. अग्रभागी चतुर्थ भागानंतर प्रथम कर्णिका. ज्यामुळे गुदामध्ये प्रविष्ट करण्याची अधिकतम लांबी निश्चित राहते. मुलभागास एक कर्णिका व एक अंगुल सोडून दुसरी कर्णिका असते. यामुळे दोन्ही कर्णिकांच्या मध्ये बस्तिपुटक बांधणे सोयीचे होते.

प्रत्यक्षात वयानुसार वेगवेगळ्या लांबीचे एवढे सारे नेत्र बनविणे शक्य नाही. लहान वयासाठी पारंपारिक नेत्र व कर्णिका बनविल्यास प्रत्यक्ष बस्ति देण्यासाठी नेत्र सहज स्वीकार्य अडचणीचे होईल म्हणून Rubber catheter वापरणे सोयीचे ठरते. अर्थात त्यामुळे बस्तिनेत्राचे व्यापदही टाळता येतात.
बस्ति नेत्राचा मूलभाग व अग्रभागी असणाऱ्या छिद्राचेही प्रमाण आचार्यांनी स्पष्ट केले आहे.

आचार्य चरकानुसार नेत्र छिद्र प्रमाण (च.सि. 3/8):

अ.क्र.	वय (वर्ष)	छिद्र प्रमाण
1	1 - 6	मुंगा एवढे
2	7 - 12	कलाय/वटाणा एवढे
3	13 - 20	बोरा एवढे

आचार्य सुश्रुतानुसार नेत्र छिद्र प्रमाण (सु.चि. 35/7):

अ.क्र.	वय (वर्ष)	बस्ति नेत्र छिद्र	
		मुळ भाग	अग्र भाग
1	1	कंक पक्षी नाडी प्रवेश योग्य	मुंग
2	2 ते 8	श्योन पक्षी नाडी प्रवेश योग्य	माष
3	9 ते 16	मयूर नाडी प्रवेश योग्य	कलाय
4	17 ते 25 पेक्षा पुढे	गृध्र नाडी प्रवेश योग्य	भिजवुन फुगलेले कलाय

उत्तरबस्ति नेत्र प्रमाण (च.सि. 9/50-51, सु.चि. 37/111) :

पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्।।

जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्।

रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम्।। च. सि. 9/51

उत्तरबस्तिच्या नेत्राला 'पुष्पनेत्र' पण म्हटले जाते. याचा आकार चमेली/कनेर पुष्पा समान वृन्ताकार तथा सरळ (ऋजू) असावा. या नेत्राची देखील निर्मिती स्वर्ण, रजत, ताम्र इ. धातुपासून केली जात होती.

आचार्य चरकानुसार लांबी 12 अंगुल (18 सेमी) तर सुश्रुतानुसार नेत्राची लांबी 16 अंगुल (24 सेमी)असावी. छिद्राचा आकार सर्षप (मोहरी) एवढा असावा. उत्तरबस्ति नेत्राला दोन कर्णिका मूलभागी असतात.

व्रणबस्ति नेत्रप्रमाण (सु.चि. 35-11):

व्रणबस्तिसाठी नेत्राची लांबी 18 अंगुल (27 से.मी.) असावी व छिद्राचा आकार मुंगा एवढा असावा. प्रत्यक्षात व्रणानुसार असावा.

बस्तिनेत्र दोष व व्यापद (च.सि. 5/4):

ऱ्हस्वंदीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथीलबंधनम्।

पार्श्वछिद्रं तथा वक्र अष्टौनेत्राणि वर्जयेत्।

अप्राप्त्यगति क्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः।

गुदपीडा गर्तिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम्।। च.सि. 5/4-5

पारंपारीक बस्तिनेत्राची निर्मिती करतांना खालील उल्लेखीत दोषांना टाळावे ज्यायोगे होणारे व्यापद सहजपणे टाळता येऊ शकतात.

अ.क्र.	नेत्रदोष	व्यापद
1	ऱ्हस्व (आखूड)	अप्राप्यगती - बस्ति द्रव्य आत जात नाही
2	दीर्घ (लांब)	अतिगतीने द्रव्य जाते
3	तनु (पातळ)	गुदक्षोभ
4	स्थूल (अधिक व्यास)	गुदभागी कर्षण
5	जीर्ण	गुदक्षत होण्याची शक्यता
6	शिथिलबंधन	स्राव (पुटकातून बस्ति द्रव्य बाहेर)
7	पार्श्वछिद्र	पीडा (Pain)
8	वक्रता	शूल (Pain)

बस्तिपुटक:

बस्तिपुटक ही एक प्रकारची पिशवी आहे ज्यामधे बस्ति देण्यासाठी द्रव्य साठविले जाते. बस्तिपुटक हे नेत्राशी संलग्नित करून गुदमार्गाने बस्तिद्रव्य प्रविष्ट केले जाते.

शास्त्रामध्ये पुटक निर्मितीसाठी प्राण्यांच्या मूत्राशयाचा उल्लेख आहे. परंतु आजच्या काळात Rubber bag, प्लास्टिक पिशवी, Enema can यांचा बस्ति पुटक म्हणून सुलभतेने प्रयोग केला जातो.

बस्तिपुटक दोष व व्यापद (च.सि. 5/6-7):

विषम मांसल छिन्न स्थूल जालिक वातला:।

स्निग्ध: क्लिनश्च तानष्टौ बस्तिन् कर्मसु वर्जयेत।।

गतिवैषम्य विस्रत्वस्राव दौर्ग्राह्यनिस्रवा:

फेनिलच्युत धार्यत्वं बस्ते: स्र्युबस्तिदोषत:।। **च.सि. 5/6-7**

अ.क्र.	बस्तिपुटक दोष	व्यापद
1	विषम	गती विषम
2	मांसल	विस्रंगंध
3	छिद्रयुक्त	औषध बाहेर येते
4	स्थूल	दाबण्यासाठी त्रास
5	जालयुक्त	औषध बाहेर स्रवते
6	वातल	औषधासोबत वायू गुदामध्ये जाण्याची शक्यता
7	स्निग्ध	हात घसरते
8	क्लिन्न	पुटक व्यवस्थीत पकडता येत नाही

यातील बरेचशे दोष प्राण्यांच्या मूत्राशयापासून तयार केलेल्या पुटकांमध्ये दिसून येतात. सध्याच्या काळात वापरण्यात येणाऱ्या पुटकांमध्ये हे दोष टाळता येतात. त्यामुळे पर्यायाने व्यापदही टाळले जातात. अर्थात नवीन पुटकांमध्ये होणारे दोष व त्यापासून होणारे व्यापदही वेगळे आहे. चिकित्सकांनी तेही ध्यानात ठेवणे गरजेचे आहे.

प्रचलीत बस्ति यंत्र:

(1) नेत्र - Rubber Catheter No. 8 - 10

पुटक - Syringe 100 ml

उपयोग - मात्राबस्तिसाठी उपयोगी

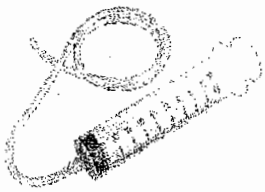

(2) पारंपारिक शास्त्रोक्त बनविलेला पीतळी नेत्र

पुटक - जाड प्लास्टिक पिशवी $1^{1/2}$ लिटर

उपयोग - निरूह बस्ति देण्यासाठी

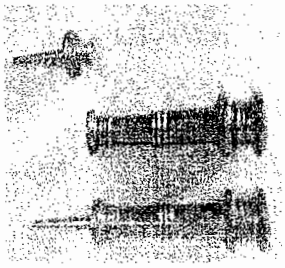
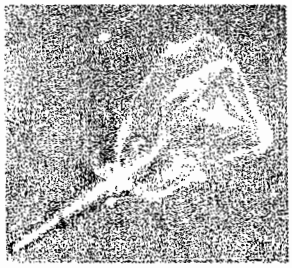

(3) Enema Can : -

उपयोग - यापन बस्ति, क्षीर बस्ति तथा अधिक मात्रेची निरूह बस्ति देण्यासाठी

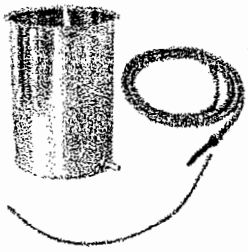

(4) नेत्र - Rubber Catheter

पुटक - Hot fomentation bag.

उपयोग - निरूह बस्तिसाठी

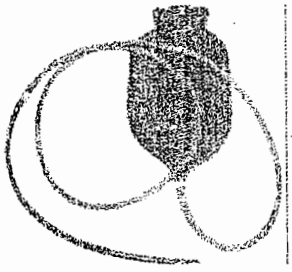

(5) नेत्र - Scalp vein (पुढील Needle तोडून)/Catheter

पुटक - 10-20 ml Syringe

उपयोग - लहान मुलांना मात्रा बस्तिसाठी

- उत्तर बस्तिसाठी

अनुवासन व आस्थापनोपयोगी द्रव्य

बस्तिसाठी उपयुक्त द्रव्यांची संख्या निश्चित करणे अशक्य आहे. व्याधी, व्याधी अवस्था, रुग्ण प्रकृती, द्रव्यांची उपलब्धता, देश, काल या सर्वांचा विचार करता चिकित्सकांनी द्रव्यांची निवड करणे आवश्यक आहे. कोणत्या एका द्रव्यासाठी अडून बसणे पण संयुक्तीक नाही. प्राधान्याने खालील प्रमाणे शास्त्रोक्त बस्तिद्रव्यांचे वर्णन आलेले आहे.

(A) आचार्य चरकोक्त बस्ति द्रव्य :

(1) फलिनी

धामार्गवमय इक्ष्वाकुजीमूतं कृतवेधनम्।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णीनी।। च.सु. 1/88

(i) धामार्गव (ii) इक्ष्वाकु (iii) जीमूतक
(vi) कृतवेधन (v) त्रपूष (iv) कुटज
(vii) मदनफल (viii) हस्तिपर्णी

(2) स्नेह वर्ग

सर्पिस्तेलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः।
पानाभ्यंजनबस्त्यार्थं चैवयोगतः।। च.सू. 1/88

(i) घृत (iii) वसा
(ii) तैल (iv) मज्जा

(3) मूत्रवर्ग

अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं च यत्।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्यच।
युक्तमास्थोपनेषु मूत्रं युक्तं चापिविरेचने। च.सू. 1/93

(i) अजामूत्र (बकरी) (v) हस्तिमूत्र (हत्ती)
(ii) अविमूत्र (मेंढी) (vi) उष्ट्रमूत्र (उंट)
(iii) गोमूत्र (गाय) (vii) हय (अश्व) मूत्र
(iv) माहिषमूत्र (म्हैस) (viii) खर (गाढव) मूत्र

(4) अष्टक्षीर

अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषं च यत् ।
उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायाः स्त्रियास्तथा। च.सू. 1/107

(i) अविक्षीर (v) हस्तीनी दुग्ध

(ii) अजाक्षीर (vi) उंटनी दुग्ध

(iii) गोदुग्ध (vii) घोडी दुग्ध

(iv) माहिषी दुग्ध (viii) स्त्री दुग्ध

(5) **पंचलवण**

सौवर्चलं सैधवं च बिडमौद्भिदमेव च।

सामुद्रेण सहैतानि पंच स्युर्लवणानिच।। **(च.सू. 1/88)**

(i) सौवर्चल लवण (ii) सैंधव लवण

(iii) विड्लवण (iv) औद्भिद लवण

(v) सामुद्रलवण

(6) **आस्थापन व अनुवासन उपयोगी गण**

पाटलां चाग्निमथं च बिल्वं श्योनाकमेवच।

काश्मर्यं शालिपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ।।

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम् ।

यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडुचीं मदनानि च ।।

पलाशं कतृणं चैव स्नेहाश्चं लवणानि च। **च.सू. 2/11-13**

(1) पाटला (2) अग्निमंथ (3) बिल्व

(4) श्योनाक (5) काश्मरी (6) शालपर्णी

(7) पृश्निपर्णी (8) बृ. कंटकारी (9) लघु कंटकारी

(10) बला (11) गोक्षुर (12) एरण्ड

(13) पूनर्नवा (14) यव (15) कुलत्थ

(16) गिलोय (17) मदनफल (18) बोर (कोल)

(19) पलाश (20) कत्तृण

यांनी सिध्द स्नेहद्रव्यांचा अनुवासनासाठी तर क्वाथाचा आस्थापन बस्ति साठी प्रयोग करतात.

(7) **आस्थापनोपयोगी द्रव्य** –

त्रिवृत्बिल्वपिप्पली कुष्ठसर्षप वचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति

दशेमानि आस्थापनोपगानि भवन्ति। **च.सू. 4/25**

(1) त्रिवृत्त (2) बिल्व (3) पिप्पली
(4) कुष्ठ (5) सर्षप (6) वचा
(7) वत्सक् (इंद्रयव) (8) शतपुष्पा (9) मुधयष्ठी
(10) मदनफल

(8) षड्आस्थापन स्कन्ध

षड्रसावरून सहा स्कंध आहेत. रस प्राधान्यानुसार व विपानानुसार त्या त्या स्कंधातील द्रव्य व्याधिनुसार उपयोगात आणावी.

मधुरस्कंध	–	वात पित्त
अम्लस्कंध	–	वात
लवणस्कंध	–	वात
कटुस्कंध	–	कफ
तिक्तस्कंध	–	कफ-पित्त
कषायस्कंध	–	कफ-पित्त

षडस्कंधातील प्रमुख द्रव्यः

मधुर	अम्ल	लवण	कटु	तिक्त	कषाय
जीवक	आम्र	सैंधव	पिप्पली	चंदन	प्रियंगु
ऋषभक	लिकुच	सौवर्चल	पिप्पलीमूल	जटामांसी	अनंतमूल
जीवंती	करमर्द	काललवण	हस्तिपिप्पली	उशीर	आम्रमज्जा
आमलकी	वृक्षाम्ल	विड्लवण	चव्य	आमलतास	अंबष्ठकी
मुद्गपर्णी	अम्लवेतस	आनुपलवण	चित्रक	निम्ब	कटुका
माषपर्णी	बदर	सामुद्रलवण	श्रृंगबेर(आर्तक)	कुटज	लोध्र
शालपर्णी	दाडिम		मरिच	हरिद्रा	मोचरस
पृश्निपर्णी	मातुलुंग		अजमोदा	दारूहरिद्रा	धातकीपुष्प
गुडूची	आमलकी		विंडग	मूस्ता	कमल
सहदेवी	नंदीतरू		एला	किराततिक्ता	कमलकेशर
बला	तिंतीडक (चिंच)		कुष्ठ	कटुका	जांभूळ
अतिबला	अश्मंतक		भल्लातक	त्रायमाणा	प्लक्ष
विदारी	चांगेरी		हिंगू	कारवेल्लक	वट
रक्तपूनर्नवा	कोल		मूलक	करवीर	पिंपळ
अश्वगंधा	सुरा		सर्षप	मंडूकपर्णी	पीतोदुंबर
कंटकारी	सौवीरक		लशून	पुनर्नवा	भल्लातक

मधुर	अम्ल	लवण	कटु	तिक्त	कषाय
एरंड	मदिरा		करंज	कासमर्द	अश्मंतक
गोक्षुर	तुषोदक		शिग्रु	काकमाची	शिरीषपुष्प
शतावरी	सीधू		खरपूष्प (खुरासनी अजवायन)	काकोदुबंरिका	सीसम
शतपुष्पा	दधिमंड		एंडली	पटोल	श्वेत खदिर
मधुकपुष्पी	दधि		क्षवक	पाठा	खदिर
यष्ठीमधू			क्षार	गुडूचि	सप्तपर्ण
मृद्विका			मूत्र	वेत्राग्र	अश्वकर्ण
खर्जुर				सप्तपर्ण	अर्जुन
आत्मगुप्ता				सुमन (चमेली)	कदंब
गुंजा				अर्क	मंजिष्ठा
दर्भ				अवलगुज (बाकुचि)	वंश
कुश				त्रिफला	पद्मकाष्ठ
द्वारदा (पालक /सागवन)				तगर	अशोक
एला				अगरू	कट्फल
अनंतमूल द्राक्षा				सुगंधबाला	सर्ज शमी
सोमलता					खरपुष्प
					तुंगा(सुपारी)
					बेहेडा
					मृणाल (कमलदंड)

(9) अनुवासनोपयोगी द्रव्य

रास्ना सुरदारूबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राअग्निमंथ श्योनाक इति दशेमानिअनुवासनोपगानि भवन्ति। **च.सू. 4/13**

(1) रास्ना (2) देवदारू (3) बिल्व
(4) मदनफळ (5) शतपुष्पा (6) वृश्चीर (रक्त पुनर्नवा)
(7) पूनर्नवा (श्वेत) (8) गोक्षुर (9) अग्निमंथ
(10) श्योनाक

आचार्य सुश्रुतोक्त निरूहोपयोगी द्रव्य (सू.चि. 38/24-28)

(1) अष्टक्षीर वर्ग	(2) अष्टमूत्र वर्ग	(3) अम्ल वर्ग
(4) स्नेह	(5) क्वाथ	(6) मांसरस
(7) त्रिफळा	(8) रास्ना	(9) सरल
(10) देवदारू	(11) हरिद्रा	(12) यष्टिमधू
(13) हिंगु	(14) कुष्ठ	(15) संशोधनगण द्रव्य
(16) कटुका	(17) शर्करा	(18) नागरमोथा
(19) उशीर	(20) चंदन	(21) शटी (कर्पूर)
(22) लवण	(23) मधू	(24) शतपुष्पा
(25) सर्षप	(26) वचा	(27) एला
(28) त्रिकटू	(29) मंजिष्ठा	(30) मदनफळ
(31) चंडा	(32) त्रायमाणा	(33) रसांजन
(34) बिल्वमज्जा	(35) यवानी	(36) फलिनीवर्ग
(37) इंद्रयव	(38) काकोली	(39) क्षीरकोकाली
(40) जीवक	(41) ऋषभक	(42) मेदा-महामेदा
(43) मधूलिका		

वाग्भटोक्त निरूहोपयोगी द्रव्य :

मदनकुटजकुष्ठदेवदालीमधुकवचादशमूलदारूरास्नाः ।
यवमिशिकृतवेधनं कुलत्था मधु लवणं त्रिवृत्ता निरूहणानि ।। अ.ह.सू. 15/3

(1) मदनफळ	(2) कुटज	(3) कुष्ठ
(4) देवदाली	(5) मधुक (यष्टीमधू)	(6) वचा
(7) दशमूल	(8) देवदारू	(9) यव
(10) कृत्वेधन	(11) कुलत्थ	(12) मधू
(13) लवण	(14) त्रिवृत्त	

निरुह बस्ति/आस्थापन बस्ति

बस्तिला अर्ध चिकित्सा म्हटले आहे. त्यामुळे बस्ति चिकित्सेची व्याप्ती मोठी आहे. बस्ति ही अशी चिकित्सा आहे जी पंचकर्म विशेषज्ञाच्या कुशलतेनुसार निर्माण केली जाऊ शकते. आचार्य चरक, सुश्रुत व वाग्भट यांनी खालील रोग/लक्षणांमध्ये बस्ति चिकित्सा योग्य - अयोग्य वर्णन केले आहे.

आस्थापन योग्य (Indication) : (च.सि. 2/16, सु.चि. 35/5, अ.हृ.सू. 19/2-3)

अ.क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1	सर्वांगरोग (Neurological disorder)	+	+	–
2	एकांगरोग (Neurological disorder)	+	+	–
3	कुक्षिरोग (Related to Abdomen)	+	–	–
4	वातरोग (Obstruction to flatus)	+	+	+
5	मूत्रसंग (Obstruction to urine)	+	+	+
6	* मलसंग (Constipation)	+	+	+
7	शुक्रसंग (Obstruction in ejaculation)	+	–	+
8	बलक्षय (Loss of physical stage)	+	–	–
9	मांसक्षय (Emaciation)	+	–	–
10	दोषक्षय	+	–	–
11	शुक्रक्षय (Oligospermia)	+	+	–
12	आध्मान (Abdominal distension)	+	+	+
13	अंगसुप्ती (Numbness)	+	–	–
14	कृमिकोष्ठ (Worm infestation)	+	–	–
15	उदावर्त (Retrograde intestinal movement)	+	+	–
16	शुध्दातिसार (Diarrhea)	+	+	+
17	पर्वभेद (Arthralgia)	+	–	–
18	अभिताप (Increased temperature)	+	–	–
19	प्लीहादोष (Disease of spleen)	+	–	+
20	गुल्म (tumour, lump in intestines)	+	+	+
21	शूल (Abdominal pain)	+	+	+
22	हृद्रोग (Heart disease)	+	–	–
23	भगंदर (Fistula)	+	–	–
24	उन्माद (Psychological disorder)	+	–	–
25	ज्वर (Fever)	+	–	+ (जीर्णज्वर)
26	ब्रध्न (Scrotal swelling)	+	+	
27	शिरःशूल (Headache)	+	+	+
28	कर्णशूल (Earache)	+	–	–

अ.क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
29	हृदशूल (Cardiac pain)	+	–	–
30	पार्श्वशूल (Body pain (side)	+	–	–
31	पृष्ठशूल (Backache)	+	–	–
32	कटीशूल (Low Backache)	+	–	–
33	वेपथू (Parkinson's disease)	+	–	–
34	आक्षेप (Convulsions)	+	+	–
35	अतिगौरव (Heaviness of body)	+	–	–
36	अतिलाघव (Lightness of body)	+	–	–
37	रजक्षय (Decreased menstrual flow)	+	+	+
38	विषमाग्नि	+	–	–
39	स्फिकशूल (Pain in buttocks)	+	–	–
40	जानुशूल (Knee joint pain)	+	–	–
41	जंघाशूल (Pain in legs)	+	–	–
42	उरूशूल (Pain in thighs)	+	–	–
43	गुल्फशूल (Painful ankle joint)	+	–	–
44	पर्ष्णिशूल (Pain in heel/Spur calcaned)	+	–	–
45	पादशूल (Pain in feet)	+	–	–
46	योनिशूल (Vaginal pain)	+	+	–
47	बाहुशूल (Pain in arms)	+	–	–
48	अंगुलीशूल (Pain in fingers)	+	–	–
49	स्तनशूल (Breast pain)	+	–	–
50	दंतशूल (Tooth ache)	+	–	–
51	नखशूल (Pain in nails)	+	–	–
52	पर्व-अस्थिशूल (Bony pain)	+	–	–
53	शोष (Muscle wasting)	+	–	–
54	स्तम्भ (Stiffness)	+	–	–
55	आंत्रकूजन (Sound in abdomen)	+	–	–
56	परिकर्तिका (Anal pain)	+	–	–
57	ज्वर (Fever)	–	+	+

अ.क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
58	तिमिर (Refractive error)	+	+	
59	प्रतिश्याय (Rhinitis)	+	+	+
60	वातव्याधि	+	–	+
61	अधिमंथ (Glaucoma)	–	+	–
62	अर्दित (Facial paralysis/Bel's' palsy	+	+	–
63	पक्षाघात (Hemiparesis)	+	+	–
64	शर्कराशूल (Urolithiasis)	–	+	–
65	उपदंश (Ulceration in penis)	–	+	–
66	वातरक्त (Gouty arthritis)	–	+	+
67	अर्श (Hemorrhoids)	–	+	–
68	स्तन्यक्षय (Reduction in breast milk)	–	+	–
69	मन्याग्रह (Stiffness of neck)	+	+	–
70	हनुग्रह (Lock jaw)	+	+	–
71	मुढगर्भ	–	+	+
72	मूत्रकृच्छ्र (Painful micturation)	–	+	–
73	अश्मरी (Calculus)	–	+	–

(* मलसंग हे आंत्रावरोध (Intestinal obstruction) चे एक लक्षण आहे. 10-15 दिवसांपेक्षा मलसंग असल्यास Intestinal obstruction गृहीत धरून बस्ति चिकित्सा देवू नये. आधुनिक शास्त्राने तसेच आयुर्वेदानेही बध्दगुदोदर (Intestinal obstruction) मध्ये बस्तिचा निषेध सांगितला आहे.)

आस्थापन अयोग्य: (Contraindications) (च.सि. 2/14, सु.चि. 35/21,अ.हृ.सू. 19/4-6)

अनास्थाप्यास्तु - अजीर्ण्यअतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नि यातक्लान्ततिदुर्बलक्षुतृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तपीतोदकवमितविरिक्तकृतनस्त: कर्मक्रुद्धभीतमत्तमूर्छितप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठिविकाश्वासकासहिक्काबद्ध्नाछिद्रोदकोदराध्माना लसकविसूचिकामप्रजातामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ता: ।। च.सि. 2/1-14

उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा इ. व्याधीमध्ये वेगावस्थेत बस्ति निषेध आहे मात्र वेगाच्या प्रशम अवस्थेत वमन-विवेचनाने शोधन करून बस्ति देता येतो. तसेच कुष्ठ व्याधीमध्ये बस्ति निषेध आहे परंतु वातदोषाच्या प्राधान्यामधे बस्ति देता येतो.

अ.क्र.	आस्थापन अयोग्य/अनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1	अजीर्ण (Indigestion)	+	+	–
2	अतिस्निग्ध	+	–	+
3	पीतस्नेह	+	–	–
4	उत्क्लीष्ट दोष	+	–	–
5	अल्पाग्नि	+	+	+
6	यानक्लान्त (Tired by journey)	+	–	–
7	अतिदुर्बल (Weak)	+	+	–
8	क्षुधार्त (Hungry)	+	+	–
9	तृष्णार्त (Thirsty)	+	–	–
10	श्रमार्त (Tired)	+	–	+
11	अतिकृश (Chachexic)	+	+	+
12	भूक्तभक्त (Taken Meal)	+	–	
13	पीतोदक (Just taken water)	+	–	+
14	वमित (वमन घेतलेला)	+	–	+
15	विरिक्त (विरेचन घेतलेला)	+	–	+
16	कृतनस्य (नस्य घेतलेला)	+	–	–
17	क्रोधीत (Angry)	+	–	–
18	भयभीत (Feared)	+	–	–
19	मत्ता (Delirium)	+	+	–
20	मुर्च्छित (Unconscious)	+	+	+
21	प्रसक्तच्छर्दि (Having vomiting)	+	+	+
22	प्रसक्तनिष्ठीविक (Expectoration)	+	–	+
23	प्रसक्तश्वास (Dyspnic)	+	+	+
24	प्रसक्तकास (Continuous cough)	+	+	+
25	प्रसक्तहिक्का (Hiccup)	+	–	+
26	बध्दगुदोदर (Intestinal obstruction)	+	–	+
27	छिद्रोदर (Intestinal perforation)	+	–	+
28	दकोदर (Ascites)	+	–	+
29	आध्मान (Flatulence)	+	–	+
30	अलसक (Pyloric obstruction)	+	–	–

अ.क्र.	आस्थापन अयोग्य/अनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
31	विसुचिका (Cholera)	+	–	–
32	आमदोष	+	–	–
33	आमातिसार (Amoebic dysentery)	+	–	+
34	मधुमेह (Condition like diabetes)	+	+	+
35	कुष्ठ (Skin diseases)	+	+	+
36	अर्श (Piles)	+	+	+
37	आमप्रजाता	+	–	–
38	पांडू (Anemia)	–	+	–
39	भ्रम (Vertigo)	–	+	–
40	अरोचक (Anorexia)	–	+	–
41	उन्माद (Insanity)	–	+	–
42	शोकावस्था (In grief)	–	+	–
43	स्थौल्य (Obesity)	–	+	–
44	कंठशोष (Dryness of throat)	–	+	–
45	क्षतक्षीण (Emaciation due to injury)	–	+	+
46	गर्भिणी (pregnant)	–	+ (चतुर्थमांस)	+ (सप्तममांस)
47	बाल, वृद्ध	–	+	–
48	अल्पवर्च (Less stool)	–	–	+
49	गुदशोथ (शुनपायु) (Inflammation)	–	–	+

अनास्थाप्य रुग्णात बस्ति दिल्याने होणारे व्यापद:

अ.क्र.	अवस्था	व्यापद	कारण
1	अजीर्ण, पीतस्नेह, अतिस्निग्ध	दुष्योदर, मूर्च्छा, शोथ	बस्तितील स्नेहाने उत्क्लेश वाढतो
2	उत्क्लिष्टदोष	दोषवृध्दी	
3	अतिदुर्बल, क्षुधार्त, तृष्णार्त, श्रमार्त, यानक्लान्त	तीव्रपीडा, प्राणोपरोध	
4	अतिकृश	कार्श्य वाढविते	बृंहणबस्ति देऊ शकतो
5	भूक्तभक्त, पीतोदक	दोषोत्क्लेश	अनुवासन बस्तिमात्र भोजनोत्तर द्यावी

अ.क्र.	अवस्था	व्यापद	कारण
6	वमित, विरिक्त	रूक्षता उत्पन्न करणे	वमन विरेचनाने आधीच रूक्षता उत्पन्न होते(च.चि.7)
7	कृतनस्य	विभ्रंश, स्त्रोतोरोध	
8	क्रुध्द व भयभीत	बस्तिचे अतिउर्ध्वगमन	
9	मत्त, मुर्च्छित	संज्ञानाश, हृदयोपघात	
10	बध्दगुदोदर, छिद्रोदर, दकोदर आध्मान	आध्मान, प्राणनाश	
11	च्छर्दि, निष्ठिविका, श्वास कास	बस्ति उर्ध्वगमन	वायू चे उर्ध्वगमन झाल्याने सोबत बस्तिपण उर्ध्यगामी होतो.
12	अलसक	आध्मान, आमदोष	आमदोषात व बस्ति दिल्याने पुन्हा आमदोषाची वृध्दि
13	विसूचिका	आमदोष	आमदोषात व बस्ति दिल्याने पुन्हा आमदोषाची वृध्दि
14	कुष्ठ, मधुमेह	व्याधी वृध्दी	

बस्तिदान विधी (Administration of Basti)

बस्ति कर्मास सामान्यत: तीन भागात विभागल्यास नियोजन व्यवस्थित केले जाऊ शकेल.

बस्ति विधी

पूर्वकर्म

(1) परीक्ष्य भाव
(2) उपकरण व द्रव्य संकलन
(3) संमतीपत्रक
(4) रुग्ण परिक्षण
(5) मात्रा निर्धारण
(6) बस्ति औषधी निर्माण
(7) आतुर सिद्धता

प्रधानकर्म

(1) बस्ति प्रणिधान
(2) बस्ति प्रत्यागमन
(3) लक्षण निरीक्षण

पश्चातकर्म

(1) परिहार विषय
(2) परिहार काल
(3) पथ्यापथ्य निर्देश

पूर्वकर्म (Preoperative)

1) **परीक्ष्यभाव:** पंचकर्म विशेषज्ञाने बस्ति चिकित्सा एखाद्या रुग्णासाठी योजना करतांना परीक्ष्यभावाचा विचार करावा त्यामुळे चिकित्सेमधील अपयश टाळता येईल.

i) **दोष** – बस्ति ही वातदोषाची प्रधान चिकित्सा असली तरी देखील प्रसंगानुरूप आवश्यकतेनुसार पित्त, कफ व रक्तव्याधींमध्येही देता येते. दोषांनुसार बस्ति द्रव्यांची योजना व्यवस्थित करता येईल उदा. अस्थिगत वातव्याधीमधे तिक्तक्षीर बस्ति, मेदोगत दोषामधे लेखन बस्ति.

ii) **औषध** – औषधींचे रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव इ. विचार करून संकलन करणे आवश्यक आहे. आचार्यांनी सांगितलेल्या 11 दोषांपासून औषध मुक्त असणे आवश्यक आहे.

द्रवदोष :

(1) आमता (2) हीनमात्रता (3) अतिमात्रता
(4) अतिशीलता (5) अतिउष्णता (6) अतितीक्ष्णता
(7) अतिमृदुता (8) अतिस्निग्धता (9) अतिरूक्षता
(10) अतिसान्द्रता (11) अतिद्रवता.

iii) **देश** –

(a) **भूमीदेश :** भूमी देशा विरूद्ध बस्तिचा उपयोग प्रशस्त आहे. उदा. आनुपदेशात कफ प्रधान व्याधी असतील तर विरूध्द गुणांच्या बस्तिचा उपयोग.

(b) **आतुरदेश :** रुग्णशरीरासंबंधी सर्व विचार.

iv) **काल** –

(a) ऋतूनुसार - वर्षा ऋतूमधे बस्ति देणे प्रशस्त ठरते.

(b) निरूहबस्ति देण्याचा काळ अभूक्त अवस्थेत आहे-

(c) बस्तिकर्म विरेचनानंतर 7 दिवसांनी करण्याचे विधान आहे.

या सर्व गोष्टींचा पंचकर्म विशेषज्ञाने विचार करावा.

v) **सात्म्य** – आहार इ. ची अनुकूलता व निरूहबस्ति यांचा एकत्र विचार म्हणजे सात्म्य होय. उदा. निरूहबस्ति अभूक्त अवस्थेत देण्यात यावे. भोजनोत्तर दिल्यास विसूचिका, च्छर्दि रोग उत्पन्न होतात.

vi) **अग्नी** – मंदाग्नीमध्ये बस्ति निषेध आहे. त्यामुळे दीपन पाचन केल्यानंतर बस्तिकर्म करावे.

vii) **सत्व** – रुग्णांच्या सत्वानुसार (सहिष्णुतेनुसार) बस्तिची योजना करणे अपेक्षित आहे. यात मात्रा, वापरण्यात येणारे द्रव्य (उष्ण, तीक्ष्ण, लेखन) इ. चा विचार करावा. उदा. अल्प सत्वाच्या स्थूल रुग्णास लेखन बस्ति उत्तम मात्रेत दिल्यास अनर्थ होवू शकतो.

viii) **ओक** – ओक सात्म्याचा विचार करून मात्रा, मांसरस, दूध इ. चा प्रयोग करावा.

ix) **वय** - वयानुसार बस्तिची मात्रा, बस्ति यंत्र वापर इ. ची योजना करता येते. विविध ऋषींनी बस्ति देण्याचे वय वेगवेगळे सांगितले आहेत.

ऋषी	बस्ति देण्याचे वय
गार्ग्य	जन्मापासून
मठर	एक महिन्यापासून
पूनर्वसू	चार महिन्यापासून
काश्यप	आठ महिन्यापासून
पाराशर	तीन वर्षापासून
भेल	सहा वर्षापासून

x) **बल** - रुग्ण बलानुसार तीक्ष्ण, मृदू बस्ति, इ. ची योजना करावी. उदा. पक्षाघाताच्या अल्प बली रुग्णास अल्पमात्रेत बस्ति योजना करावी लागते.

अतिदुर्बल रुग्णास निरूह बस्ति निषेध आहे.

2) **उपकरण - द्रव्य संकलन :**

खोली (Room Attached with toilet) (12 x 12 ft.)

(1) द्रोणी

(2) बस्तिनेत्र व पुटक (Enema can)

(3) स्टील पात्र

(4) गॉस

(5) कोष्णजल

(6) टॉवेल

(7) मापक (Measuring glass)

(8) कॉटन

(9) Gloves 6½, 7½

(10) तैल-अभ्यंगासाठी

(11) खरल/Churner

(12) आवश्यक (Essential ingrediants) निरूहासाठीच्या औषधी:-

(i) लवण (ii) तैल (iii) क्वाथ (iv) मधू (v) कल्क

(13) पंचकर्म सहाय्यक - 2

3) **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास समजेल अशा भाषेत पंचकर्मातील विधीमुळे होणारे फायदे व संभावीत व्यापद समजावून लिखीत पत्रकावर रुग्णाची व/अथवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.

4) **रुग्ण परीक्षण :** रुग्णास अर्श भगंदर, परिकर्तिका इ. गुदस्थानातील व्याधी तर नाही यासाठी गुदगत परीक्षण करावे.

- Biochemical investigation
- Radiological investigation X ray, MRI, ECG.

5) **मात्रा निर्धारण :**

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृतभिवृद्धी:।
आ द्वादशात स्यात् प्रसृताभिवृध्दिरष्टादशाद् द्वादशत: परं स्यु: ।।
आसप्ततेस्त द्विहितं प्रमाणमत: परं षोडशवद् विधेयम् ।
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृध्दे च मृदुर्विशेष: ।। च.सि. 3/31-32

आचार्य चरकांनुसार (च.सि. 3/31-32) एक वर्ष वयासाठी निरूह मात्रा 1/2 प्रसृत (4 तोळे = 40 मिली) एवढी आहे ही निम्नतम मात्रा आहे. 12 वर्षा पर्यंत ही मात्रा 1/2 प्रसृताने वाढवावी म्हणजे 12 व्या वर्षी मात्रा 6 प्रसृतात (48 तोळे = 480 मिली) त्यानंतर 18 व्या वर्षापर्यन्त 1 प्रसृताने मात्रा वाढवावी 70 व्या वर्षी ही मात्रा 12 प्रसृत (96 तोळे = 960 मिली) एवढी होणे ही उच्चतम मात्रा आहे. 70 वर्षाच्या पूढे ही मात्रा 10 प्रसृत (80 तोळे = 800 मिली) एवढी आहे.

शास्त्रकार	हीन मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
सुश्रुत	160 मिली (2 प्रसृत)	320 मिली (4 प्रसृत)	640 मिली (8 प्रसृत)
शाङ्र्गधर व भावप्रकाश	480 मिली (6 प्रसृत)/ एक कुडव	640 मिली (8 प्रसृत)/ एक प्रस्थ	800 मिली (10 प्रसृत)/ सव्वा प्रस्थ
अन्यमत	160 मिली	320 मिली	460 मिली

निरुह बस्ति तयार करतांना दोषानुसार स्नेहाची मात्रा विशिष्ट प्रमाणात असावी लागते.

स्वस्थ व्यक्तींमधे

चरकानुसार - 4 पल = 160 मिली (एक षष्टांश)

सुश्रुतानुसार - 5 पल = 200 मिली

बस्तिद्रव्य	वातप्राधान्यामधे	पित्तप्राधान्यामधे	कफप्राधान्यामधे	स्वस्थामधे
मधू	**1½ प्रसृत**	**2 प्रसृत**	**3 प्रसृत**	**2 प्रसृत**
सैंधव	1 तोळा	1 तोळा	1 तोळा	1 तोळा
स्नेह	**3 प्रसृत (निरुहाच्या¼)**	**2 प्रसृत (निरुहाच्या⅙)**	**1½ प्रसृत (निरुहाच्या⅛)**	**3 प्रसृत (निरुहाच्या⅙)**
कल्क	1 प्रसृत	1 प्रसृत	1 प्रसृत	1 प्रसृत
क्वाथ	5 प्रसृत	5 प्रसृत	5 प्रसृत	5 प्रसृत
आवाप द्रव्य	1½ प्रसृत	2 प्रसृत	1½ प्रसृत	2 प्रसृत

6) बस्ति औषधी निर्माण :

पूर्वं हि दद्यान्मधु सैंधवं तु स्नेहं विनिर्मथ्यं ततोऽनुकल्कम् ।।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन । च.सि. 3/23
माक्षिकं लवणं स्नेह कल्कं क्वाथमिति क्रमात्।
आवपेत निरूहाणां ह्येष संयोजनं विधिः ।। अ.हृ.सू. 19/45

निरूह बस्तिसाठी द्रव निर्माण करण्याची विशिष्ट पद्धत आहे. आचार्यांनी बस्ति द्रव्य हे विशिष्ट क्रमांतच सम्मिलीत करण्यास सांगितले आहे.

सर्व प्रथम मधू व लवण एकत्र मर्दन करावे व दोन्ही एकजीव झाल्यानंतर स्नेह घालून पून्हा मथावे. यानंतर हया मिश्रणात कल्क घालून त्यास एकजीव करावे नंतर क्वाथ घालून एकजीव मिश्रण (Emulsified) होईपर्यन्त मथावे. मिश्रण करण्यासाठी खरल किंवा Grinder mixer चा उपयोग करावा. यासाठी एकजीव झालेले मिश्रण एका पात्रात घालून पात्र कोष्ण जलामध्ये ठेवावे. ज्यामुळे मिश्रण कोष्ण होईल. बस्ति देतांना बस्तिद्रव्य कोष्ण असावे. मात्र बस्तिद्रव्यांचे मिश्रण प्रत्यक्ष (Direct) अग्निवर ठेवून कोष्ण करू नये.

बस्ति द्रव्य तयार झाल्यानंतर बस्ति पुटकामध्ये घेवून बस्ति पुटकास बस्ति नेत्र जोडावे. बस्ति नेत्रामध्ये वायू नसावा याची खात्री करून घ्यावी.

7) आतुरसिध्दता (Preparation of the patient) :

- निरूह बस्ति नेहमी रिकाम्या पोटी/अभुक्तावस्थेत देण्यात येते.
  बस्तिदान काल सकाळचा 9-10 am किंवा भोजनोत्तर पाच तासांनी 4-6 pm
- मल-मूत्र विसर्जन झालेले असावे.
- **स्नेहन व स्वेदन :** सर्वांग स्नेहन स्वेदन करणे हितकर परंतु शक्य नसल्यास

किमान उदर, कटिप्रदेशी-स्नेहन व स्वेदन करावे.

- **अनुवासन बस्ति** - अधिक रूक्षता असल्यास अनुवासन बस्ति नंतर निरूह बस्ति द्यावी. कोणत्याही शोधनासाठी स्नेह आवश्यक असते. त्यामुळे अनुवासनाने ही आवश्यकता पूर्ण केली जाते.

प्रधानकर्म (Operative procedure)

(1) बस्ति प्रणिधान - पूर्वकर्म झालेल्या रुग्णात द्रोणीवर वाम पार्श्व (Left lateral position) भागावर लेटवावे. यावेळी रुग्णाचे दक्षिण पाद वंक्षण भागी संकुचित करून जानू उर: भागापर्यन्त येईल. त्यानंतर वंक्षण व गुदभाग खुला करावा.रुग्णाचे या स्थितीत बस्ति सुखपूर्वक दिली जाऊन तिचे सुखपूर्वक प्रत्यागमनही होते.

बस्तिदात्याने Gloves घालावे रुग्णाच्या गुदस्थानी तैल/घृत (जात्यादी) पिचूद्वारे स्निग्ध करावे तसेच बस्ति नेत्रासही स्निग्ध करावे. यानंतर बस्ति नेत्र हळूहळू गुदामध्ये प्रविष्ट करावे $4\frac{1}{2}$ ते 6 इंच पर्यन्त नेत्र (Catheter) प्रविष्ट केला जातो. (तत्पश्चात Enema can असल्यास Nozzle lock उघडावे. यावेळी Enema can दात्याने उंचावर पकडून ठेवलेला असावा). बस्तिपुटकास समांतर दाबाने दाब द्यावे व बस्तिद्रव्य आतमध्ये प्रविष्ट करावे. बस्तिनेत्र गुदामध्ये प्रविष्ट करतांना दात्याच्या हातास कंपन नसावे. यावेळी रुग्णास दीर्घ श्वास घेण्यास सांगावे.

बस्ति द्रव्य गुदप्रविष्ट करतांना पुटक पूर्णत: रिकामे होणार नाही यांची काळजी घ्यावी. यामुळे पुटकातील वायू गुदामध्ये जाण्याची शक्यता असते व त्यायोगे रुग्णात पीडा उत्पन्न होते. बस्ति दिल्यानंतर सावधानीपूर्वक बस्ति नेत्र बाहेर काढावे. रुग्णाच्या वंक्षण प्रदेशी थोपटावे.

यापन बस्ति, बल्य बस्तिसाठी रुग्णास बस्ति दिल्यानंतर 2-4 मिनिटे त्याच स्थितीत राहू द्यावे. त्यानंतर उदरबलावर (Prone) होण्यास सांगावे, लगेच दक्षिण पार्श्ववावर (Right lateral position) होवून उत्तान शयन (Supine) स्थितीत यावे. यानंतर याच स्थितीत कटिप्रेदश उंचीवर राहील (उशी लावून) याची काळजी घ्यावी सोबतच थोड्या थोड्या वेळाने रुग्णाचे पाय उंच करून वंक्षण प्रदेशातुन संकुचीत करत राहावे.

(2) बस्ति प्रत्यागमन - प्रत्यक्षात बऱ्याच रुग्णांमध्ये निरूहबस्ति लगेचच प्रत्यागमीत होते. प्रत्यागमन न झाल्यास पंचकर्म विशेषज्ञाने एक मुर्हुत म्हणजे 48 मिनिटे वाट बघावी. या पेक्षा अधिक काळ झाल्यास बस्ति हानीकारक सिद्ध होवू शकते.

वेळेत बस्ति प्रत्यागमन न झाल्यास उत्पन्न लक्षणे:- (सु.चि. 38/18, अ.हृ.सू. 19/47)

(1) आध्मान (Abdominal distension)
(2) पक्वाशय शूल (Abdominal pain)
(3) हृदय प्रदेशी पीडा (Discomfort in chest)
(4) मूत्रशूल (Pain in bladder region)
(5) ज्वर (Fever)
(6) मृत्यू (Death)

चिकित्सा (सु.चि. 38/17, अ.ह.सू. 19/47-48) :

(1) तीक्ष्ण बस्ति - यवक्षार, गोमूत्र, अम्लद्रव्य व मिश्रण द्रव्य युक्त.

(2) फलवर्ति - (Suppository)

(3) स्वेदन - उदर, स्फिक, वंक्षण प्रदेशी

(4) त्रासन - रोग्यास भिती दाखवावी

(5) विरेचन - त्रिवृत्त, हरितकी किंवा एरंड स्नेह

(3) लक्षण निरीक्षण - बस्तिकर्माची व्यवस्थीत आखणी केल्यास अपेक्षित यश मिळते. परंतु काही चुका झाल्यास त्याचे अतियोग किंवा हीनयोग बघण्यास मिळतात. निरूहबस्ति नाभी, कटिपार्श्व, कुक्षी पर्यन्त जावून तेथील मल एकत्रित करून शरीर व पक्वाशयास स्निग्ध करीत दोष व मलांचे निर्हरण करते ती 'सम्यक बस्ति' समजावी. (च.सि. 1/40)

सम्यक लक्षण (च.सि. 1/41)	**अयोग लक्षण** (च.सि. 1/42, सु.चि.38/8)	**अतियोग** (च.सि. 1/43, सु.चि.38/9)
सम्यक मल, मूत्र, वायू , प्रवृत्ति	शिर, हृदय, नाभी प्रदेश, गुदा बस्ति, मेढ्र/योनि शूल	अंग सुप्ति (Numbness in body parts)
क्रमशः मल, पित्त, कफ, वायू विसर्जन	शोथ (Anasarca)	क्लम (Sense of exhaustion)
शरीर लाघव	प्रतिश्याय	अंगमर्द (Bodyache)
भोजन रूचि	कर्तिका (Cruciating pain in anal region)	कम्प (Tremors)
अग्निदीप्ती	हृल्लास (Nausea)	निद्रा (Sleep)
आशय (पक्वाशय व मलाशय) लाघव	वातसंग (obstruction of flatus)	दौर्बल्य (Weakness)
रोगोपशमन	मूत्रसंग (Retention of urine)	तमःप्रवेश (Black out)
प्रकृती स्थिती (Healthy feeling)	श्वासकृच्छ्रता (Breathlessness)	उन्माद (Irrelevant speech/behavior)
बल वृध्दी	अल्पवेग-बस्तिद्रव मलाचे कमी विसर्जन अरूचि (Tastelessness) गौरव (Heaviness of body)	हिक्का (Hiccup)

प्रसृष्ट विण्मूत्रसमीरणत्वं रूच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात् सुनिरूढलिङ्गम् ।। **च.सि. 1/41**

स्याद्वुक्छिरोहृद्गुदबस्तिलिङ्गे शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च ।
हृल्लासिका मारूतमूत्रसङ्गः श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्युः।। **च.सि. 1/42**

लिङ्गं यदेवातिविरेचितस्य भवेत्तदेवानिनिरूहितस्य ।। च.सि. 1/43

दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रात्येरूचिजाड्यवान् ।
यान्येव प्राङ्गयोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते ।। सू.चि. 38/8

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परम् ।।
तत्रानुलोमिकं स्नेहक्षारमूत्राम्लकल्पितम् ।
त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत् ।।
विदद्यात्फलवर्ति वा स्वेदनोत्रासनादि च। अ.हृ.सु. 19/47-49

पश्चातकर्म (Post operative)

(1) परिहार विषय (संयम-नियम): बस्ति चिकित्सेपश्चात रुग्णाने काही संयम-नियम पाळावयाचे असतात. काही विषयांचा परित्याग करायचा असतो त्यास परिहार म्हटले आहे ते खालील प्रमाणे अर्थात त्या त्या व्यवसायाशी निगड़ीत लोकांनी अवश्य पालन करणे आवश्यक आहे.

अत्यासनंस्थानवचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।
शीतोपचारातपशोक रोषां स्त्यजेद् अकालाहित भोजनं च। च.सि. 1/54

(1) अत्यासन - अधिक वेळ पर्यन्त बसून राहणे, उदा. ऑफीसचे काम
(2) अतिस्थान - सतत उभे राहणे, उदा. ट्राफिक पोलीस, गार्ड
(3) यान - यात्रा करणे (कोणतेही वाहन अथवा हवाई यात्रा)
(4) भाषण करणे-उदा. शिक्षक, वक्ता
(5) दिवास्वप्न -दिवसा झोपणे
(6) मैथुन
(7) वेगावरोध
(8) शीतोपचार-शीत जलाने स्नान, ए.सी. रूमचा वापर
(9) आतप -उन्हात फिरणे
(10) शोक व क्रोध
(11) अकाल भोजन व अहित भोजन

(2) परिहार काल : कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावन् तावान् भवेत् द्विपरिहारकालः।।

च.सि. 1/53

जेवढे दिवस बस्ति चिकित्सा घेतली त्यापेक्षा दुप्पट दिवस परिहार विषयांचे पालन करण्याचा काळ परिहार काल होय.

उदा. कर्म बस्ति परिहार काल - 60 दिवस

काल बस्ति परिहार काल - 32 दिवस

योग बस्ति परिहार काल - 16 दिवस

(3) पथ्यापथ्य निर्देश (Diet & Regimen) :

(1) सर्व प्रकारासाठी कोष्ण जलाचा वापर

(2) सुखपूर्वक प्रत्यागमनानंतर काही काळ विश्राम

(3) सुखोष्ण जलाने स्नान

(4) लघु आहार - दुग्ध (पित्ताधिक्य)
युष (कफदोषासाठी)
मांसरस (वातदोषासाठी)

(बस्ति चिकित्सेनंतर वमन विरेचनोपरांत संसर्जन क्रमाची आवश्यकता नाही कारण वमन व विरेचनासारखे या चिकित्सेत स्रोतसांचा क्षोभ होत नाही त्यामुळे केवळ लघु आहाराची उपाय योजना करावी.) निरूह बस्तिनंतर सायंकाळी भोजनोपरांत अनुवासन बस्ति द्यावी मात्र रुग्ण शरीरात सामता असल्यास त्याच रात्री अनुवासन न देता दुसऱ्या दिवशी द्यावी.

बस्ति व्यापद व चिकित्सा (Complications & Treatment):

बस्तिकर्म करीत असतांना सावधानता न बाळगल्यामुळे किंवा अनावधानाने काही उपद्रव निर्माण होतात त्यास बस्ति व्यापद म्हणतात. हे यंत्रामुळे, चिकित्सकांमुळे, औषधांमुळे किंवा रुग्णांमुळे होवू शकतात. प्रामुख्याने व्यापद खालील प्रकारे विभागले जावू शकतात.

(1) बस्ति नेत्र व्यापद

(2) बस्ति पुटक व्यापद

(3) प्रणेता (बस्तिदाता) व्यापद

(4) शयन स्थिती (Position of patient)

(5) अन्य व्यापद

(1) बस्ति नेत्र व्यापद: यापूर्वीच वर्णन केलेले आहे.

चिकित्सा:-(1) दोषयुक्त बस्ति नेत्र त्यागने हीच खरी चिकित्सा

(2) अप्राप्य गतीमध्ये दुसऱ्या नेत्राने पुन: बस्ति

(3) अतिगती मध्ये बस्ति प्रत्यागमनासाठी वाट बघावी. प्रत्यागमन व्यवस्थित झाल्यास काहीही करू नये.

(4) गुदाक्षोभ/क्षत झाल्यास जात्यादी/मधुयष्टी तैल वा घृत स्थानिक लावाने किंवा पिचु धारण कराव्यास सांगावे.

(2) **बस्ति पुटक व्यापद :** यापूर्वीच वर्णन केलेले आहे.

चिकित्सा:-(1) दोष युक्त पुटक बदलणे.

(2) गतिवैषम्य असल्यास प्रत्यागमानासाठी वाट बघावी व त्यानंतर लाक्षणिक चिकित्सा करावी.

(3) बस्ति द्रव्या सोबत वायू प्रवेशीत झाल्यास वाताशमक चिकित्सा.

(3) **प्रणेताजन्य (बस्तिदाता) व्यापद :** बस्तिदाता शिक्षीत नसेल किंवा निष्काळजीपणामुळे त्याच्या प्रमादामुळे खालीलप्रमाणे व्यापद होतात.

सवाताति द्रुतोत्क्षिप्ततिर्यग् उल्लुप्तकम्पिता:।

अति बाह्यगमन्दाति वेगदोषा: प्रणेतृत:।। **च.सि. 5/8**

(i) **सवातबस्तिदान** – बस्तिद्रव्यांसोबत वायू प्रविष्ट. त्यामुळेच बस्ति सावशेष देण्याचे विधान आहे.

लक्षण – शूल व तोद

चिकित्सा: क्षीरबला, पंचगुण तैलाने अभ्यंग

स्वेदन (मृदू)

Modern -Hot water bag fomentation

(ii) **दृतप्रणीत बस्ति :** बस्ति नेत्र घाईने प्रविष्ट करणे, घाईने निष्कासन करणे

लक्षण – गुद, वंक्षण, कटिशूल, बस्ति स्तम्भ, मूत्राघात

चिकित्सा: वातघ्न अन्नपान, मांसरस, घृत, दुग्ध

अभ्यंग, स्वेदन, अनुवासन बस्ति

(iii) **तिर्यग प्रणिधान :** बस्तिनेत्राचे तिर्यक प्रवेश केल्याने.

लक्षण – बस्ति द्रव्य आत प्रविष्ट होत नाही.

चिकित्सा: बस्ति नेत्र बाहेर काढून पुन: सरळ प्रविष्ट करणे.

(iv) **उल्लुप्त बस्तिदान:** बस्तिदानाच्या वेळी बस्तिपुटक वारंवार दाबणे.

लक्षण – वारंवार दाबल्याने गुदामध्ये वायू प्रकोप, वंक्षणशूल, शिर:शूल, उरूसाद

चिकित्सा: बस्ति – (त्रिवृत्त, बिल्व, मदनफल + गोमूत्र)

(v) **सकंप बस्तिदान:** बस्तिदात्याचे बस्ति देते वेळी हस्त कंपन होणे.

लक्षण – गुदाशोथ, दाह

चिकित्सा: बस्ति – कषाय, मधूर रस सिध्द (लोध्र,त्रिफला, आरग्वध, बदर, खदिर इत्यादि)

गुदापरिषेक – मधूर रस सिध्द क्वाथाने (द्राक्षादि)

(vi) **अति प्रणीत बस्तिदान:** बस्ति नेत्र गुदभागामध्ये अधिक प्रविष्ट केल्याने

लक्षण – गुदव्रण, शूल, दाह, गुदभ्रंश

चिकित्सा: बस्ति - पिच्छाबस्ति, क्षीरबस्ति

पिचूधारण - जात्यादि तैल, लाक्षादि तैल, अर्शोघ्न तैलाने

Sitz bath.

(vii) **अतिबाह्य वा अतिमंद बस्ति :** बस्तिनेत्र गुदामध्ये पूर्णत: प्रविष्ट न करणे किंवा मंदगतीने बस्ति दिल्याने.

लक्षण - बस्ति अप्राप्ति व अयोग लक्षण

चिकित्सा: पुन:बस्ति

(viii) **अतिवेग बस्ति :** तीव्र वेगाने बस्ति दिल्याने.

लक्षण - बस्ति द्रव्याचे अप्रत्यागमन

च्छर्दि (बस्ति द्रव्यांचे उर्ध्वगमन)

चिकित्सा: पुन:बस्ति

विरेचन - त्रिवृत्तचूर्ण, अविपत्तीकर चूर्ण

शीत जलाने परिषेक

सुतशेखरवटी, शंखभस्म

Modern - Metaclopromide (Perinorm)

Rest-

(4) शयनस्थिती (Position) मुळे होणारे व्यापद.

(1) बस्ति देण्याचे वेळेस डोके उंच असल्यास/उशी ठेवली असल्यास.

लक्षण - पक्वाशय व आंत्र यांची दिशा योग्य नसल्यामुळे बस्ति मूत्राशय व मेढ्राच्या दिशेने आंत्रपीडन करते. आनाह.

चिकित्सा: मृदू स्वेदन, उत्तरबस्ति (गरज असल्यास)

(2) रुग्णाचे डोके खाली असल्यास (Low head)

लक्षण - बस्तिचे विमार्गगमन, हृदपीडा, गुदपीडा, कोष्ठशूल

चिकित्सा: मृदू स्वेदन

(3) उत्तान अवस्थेत (Supine) बस्ति दिल्याने

लक्षण - मार्गावरोधाने बस्ति प्रविष्ट होत नाही.

चिकित्सा: पुन: वामपार्श्वस्थितीत बस्ति देणे.

(4) बस्तिदानाच्या वेळी रुग्णाने नेत्र फिरविणे

लक्षण - वायू प्रकोप

चिकित्सा: वातशमन चिकित्सा

(5) बस्तिदानाच्या वेळी दोन्ही सक्थि (मांडया) संकुचित केलेल्या असल्यास.

लक्षण - बस्ति वायू ने आवृत्त, प्रत्यागमन नाही.

चिकित्सा: प्रत्यागमनाची वाट बघावी

उदर प्रदेशी मृदूस्वेद

विरेचन, फलवर्ती

(6) दक्षिण पार्श्व स्थितीमध्ये बस्तिदान

लक्षण - पक्वाशयापर्यन्त बस्ति पोहचत नाही, अयोगातील लक्षणे

चिकित्सा: लाक्षणिक चिकित्सा

(7) बसलेल्यास्थितीत बस्ति देणे

लक्षण - अयोग

चिकित्सा: पुन: बस्ति-वामपार्श्व स्थितीत

(5) अन्य व्यापद :

नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्ति रूर्ध्वता ।

प्रवाहिका शिरोऽगार्ति परिकर्त: परिस्रव: ।।

द्वादश व्यापदो बस्तेरसम्यग्योग संभवा: **च.सि. 7/5-6**

चक्रपाणिंनी अतियोग व अयोग यांना वगळल्याने 'दशैता व्यापदोबस्ति' म्हणून 10 व्यापद मानले आहे.

(1) **अयोग: हेतू** - गुरूकोष्ठी, वातबहुल, अतिरूक्ष शरीर असलेले, वात प्रधान रुग्णात अनुष्ण, शीत, अल्प स्नेह, हीनगुणयुक्त बस्तिप्रयोग.

लक्षण - बस्तिचे प्रत्यागमन न होणे, उदर गौरव, मल-मूत्र संग, नाभी, बस्ति रूजा, हृदोयोपलेप, शोथ, गुदकंडू, पिडिका, वैवर्ण्य, अरूचि, अग्निमांद्य.

चिकित्सा:उष्ण प्रमथ्या (दीपनपाचक कषाय)

स्वेदन, फलवर्ति

बस्ति (बिल्वमूल, त्रिवृत्त, देवदारू, कोल, यव, कुलत्थ यांचा क्वाथ, सुरा, गोमूत्र).

Modern -Hot fomentation
Glycerine suppository
Cyclopam on severe spasmodic pain.

(2) **अतियोग: हेतू** - स्निग्ध-स्विन्न, मृदूकोष्ठी रोग्यास अति तीक्ष्ण व अति उष्ण बस्ति दिल्यास

लक्षण - विरेचनाचे अतियोग लक्षण

चिकित्सा: बस्ति (पृश्निपर्णी, स्थिरा, कमल, द्राक्षा, गंभारी, बला, यष्टीमधू यांचे कल्प+तंदुलोदक+दुग्ध+घृत)

संजीवनी वटी, सूतशेखर रस, शंखवटी

Modern -IV fluid
Inj. Atropine
Tab. Loperamide
Inj. Dexona

(3) **क्लम (Tiredness): हेतू** - आमदोष अवस्थेत मृदू निरूह दिल्याने अल्प दोष निर्हरण. वायूचे आम, पित्त, कफाने मार्गावरोध झाल्यामुळे अग्निमांद्य.

लक्षण - विदाह, हृद्शूल, गौरव, पिण्डिकोद्वेष्टन

चिकित्सा: आमपाचन, विरूक्षण - (चित्रकादि वटी)

स्वेदन

कषाय - (गंधतृण, उशीर, देवदारू, मूर्वा, सौवर्चल लवण)

बस्ति - i) गोमूत्र व क्षारयुक्त ii) दशमूल क्वाथ+गोमूत्र

(4) **आध्मान: हेतू** - दोषाधिक्य अवस्थेत क्रुर कोष्ठी व रूक्ष रुग्णास अल्पवीर्याची बस्ति दिल्यास.

लक्षण - गुदशूल, विदाह, वंक्षणशूल, हृदशूल

चिकित्सा: फलवर्ति

बस्ति (बिल्वादि निरूह पश्चात अनुवासन)

Modern - Suppository
Omez, Cisapride
Hot fomentation

(5) **हिक्का: हेतू** - मृदूकोष्ठ, हीनबल रुग्णात अतितीक्ष्ण बस्ति

लक्षण - शोधन अधिक, हिक्का

चिकित्सा: बृंहण चिकित्सा

स्त्री स्तन्य नस्य, धूमपान, अनुवासन बस्ति

वासावलेह, कंटकारी अवलेह

मयुरपिच्छामशी, सुतशेखर

(6) **हृद्प्राप्ति: हेतू**- अतितीक्ष्ण द्रव्याची बस्ति, वातल बस्ति किंवा पुटक पीडन व्यवस्थीत न केल्यास

लक्षण- हृदयप्रदेश जखडणे

चिकित्सा: बस्ति (अम्ल व लवण स्कंध सिध्द)

अनुवासन (दशमूल सिध्द तैल, बला तैल)

Modern -Immediate ECG to exclude cardiac disease

(7) **उर्ध्वप्राप्ति:हेतू** – बस्ति दिल्यानंतर रुग्णाद्वारे मल-मूत्र वेग धारण
बस्तिपुटक अधिक दाबाने दाबल्यास

लक्षण – बस्ति अतीवेगाने उर्ध्व मार्गास जाणे
मूर्च्छा.

चिकित्सा: नस्य-मूर्च्छा अवस्थेत तीक्ष्ण नस्य
शीतल जल परिषेक, शीतल वायू
हिंग्वाष्टक चूर्ण (अनुलोमनासाठी)

Modern - due to vasovagal syncope
Head low
Dexamethasone
Atropin, adrenalin SOS

(8) **प्रवाहिका: हेतू** – स्निग्ध-स्विन्न दोषाधिक्य रुग्णास मृदू-अल्प औषध युक्त बस्ति दिल्यास

लक्षण – प्रवाहिका, गुदशोथ, जंघासाद

चिकित्सा: बस्ति – अभ्यंग स्वेदन पश्चात निरूह बस्ति
विरेचन – (गंधर्व हरीतकी 2 gm)
लंघन

(9) **शिरोऽर्ति (Headache): हेतू** – क्रुरकोष्ठी, दुर्बल, तीव्र दोष युक्त रुग्णास शीत-मृदू बस्ति दिल्यास.

लक्षण – बस्ति दोषांनी आवृत्त होवून वायू प्रतिलोम
शिर:शूल, पीनस, कर्णनाद, नेत्रविभ्रम, बाधिर्य

चिकित्सा: अभ्यंग (लवण युक्त तैलाने)
प्रधमन, धूम नस्य
विरेचन
अनुवासन (स्निग्ध भोजन पश्चात)
सुतशेखर रस

Modern - Analgesic
Antacid

(10) **अंगार्ति (Bodyache): हेतू** – अभ्यंग व स्वेदन न करता तीक्ष्ण द्रव्यांची उत्तम मात्रेत बस्ति दिल्यास अतिमात्रेत शोधन व वायू प्रकोप होतो.

लक्षण – शरीर शूल, तोद-भेद, स्फुरण, जृम्भा

चिकित्सा: अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन

निरूह-बिल्वादितैल+लवण+यव, कुलत्थ, दशमूल क्वाथ

अनुवासन (बला तैल, लवण तैल)

Modern - Analgesic
Anatacid

(11) **परिकर्तिका: हेतू** - मृदूकोष्ठ व अल्पबलयुक्त रुग्णास रूक्ष, तीक्ष्ण व अतिमात्रेत बस्ति दिल्यास

लक्षण - त्रिक, बस्ति, वंक्षण, अधोनाभी प्रदेशी शूल

विबंधासोबत अल्प मल प्रवृत्ती

चिकित्सा: मधूर व शीत द्रव्य चिकित्सा

दुग्ध, इक्षु रस सेवन

अनुवासन (क्षीर+मधुयष्टी+तिलकल्क सिध्द तैलाने)

क्षीरबस्ति (सर्जरस, मधुयष्टी, अंजन सिध्द दुग्ध)

अम्ल, लवण भोजन

अवगाहन

Modern - NSAID-SOS

(12) **परिस्राव: हेतू** - पित्तप्रधान व्याधीमध्ये उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, लवण द्रव्यांची बस्ति दिल्यास.

लक्षण - गुदाचे लेखन होवून गुददाह, रक्तयुक्तस्राव, मूर्च्छा

चिकित्सा: पिच्छाबस्ति - (i) पंचवल्कल, यव, तिल, सौवर्चल, कांचनार सिद्ध
(ii) शाल्मली डंठल(वृंत)+अजादुग्धाने सिध्द करून

मधूर, रक्त, पित्तघ्न चिकित्सा

गुदभागी मधूर व शीत द्रव्यांचे परिषेक वा लेप

गुदस्थानी जात्यादी तैल वा घृत

Modern - Emergency condition, treatment of per rectal bleeding or peritonitis as per the condition

वरील व्यापद हे कुशल चिकित्सकाकडून सहज टाळता येणारे आहेत. सध्याच्या काळात वापरात असलेल्या उपकरणांमुळे नेत्रदोष, पुटकदोषाने होणारे व्यापद सहज टाळता येतात. त्यामुळे भरमसाठ दिसणाऱ्या व्यापदांचा बाऊ करण्यात अर्थ नाही. काही व्यापद निश्चितच चिकित्सकांच्या कुशलतेवर अवलंबून आहेत. त्याकडे लक्ष दिले की झाले.

अनुवासन बस्ति (Administration of Anuvasan Basti):

अनुवासन बस्तिदानाच्या वेळी निरूह बस्ति सारखाच विचार करावा लागतो. अनुवासन बस्तिचे काही विशेष नियम आहेत.

विशेष नियम:-

(1) रुग्णांचे परिक्षण करून रुग्ण अनुवासनास योग्य आहे किंवा नाही हे निश्चित करावे.

(2) कफ व मेद प्रधान व्याधी प्रमेहा सारख्या संतर्पनोत्थ व्याधी मध्ये अनुवासन बस्ति निषेध आहे.

(3) साम दोषांमध्ये बस्ति चिकित्सा देवू नये. सामावस्थेत अनुवासन दिल्याने दोष अधिक दुषीत होवून गुदप्रदेशी क्लेद उत्पन्न करतात.

(4) शिशिर, हेमंत व वसंत ऋतूमध्ये (नोव्हेंबर ते एप्रिल) अनुवासन बस्ति दिवसा द्यावी. हया काळात (च.सि. 1/22) रात्री बस्ति देवू नये. रात्री बस्ति दिल्यास शीताधिकारामुळे दोषोत्क्लेश होवून आध्मान, गौरव, ज्वर हे लक्षण निर्माण होतात. दिवसा दोष यथास्थान राहिल्याने व अग्निप्रदिप्त असल्यामुळे आहाररसाचे व्यवस्थित पचन होते. तसेच स्रोतोमूख खुले असल्याने स्नेह शरीरात योग्य प्रकारे पोहचविला जातो.

शीते वसन्ते च दिवाडनुवास्यो रात्रौ शरदग्रीष्मघनागमेषु ।।
तानेव दोषान् परिरक्षतता ये स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः प्राक् । **च.सि. 1/22**

(5) पित्ताधिक्य, कफक्षय व वातव्याधिच्या रुग्णांमध्ये रात्री (सायंकाळ) अनुवासन देता येते.

(6) अत्यायिक अवस्थेत काळाचे बंधन नाही.

(7) वमनादि क्रमानंतर अनुवासन विरेचनाच्या नवव्या दिवशी दयावी (च.सि. 1/20) मात्र आचार्य सुश्रुतांनी अनुवासन बस्ति - विरेचनानंतर 7 व्या दिवशी म्हणजे संसर्जन क्रमाच्या शेवटच्या दिवशी प्राकृत भोजन केल्यानंतर देण्याचे वर्णन केलेले आहे.

संसृष्टभक्तं नवमेऽन्ही सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा ।।
तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात त्र्यहान्नानिकभुक्षिताय । **च.सि. 1/20**

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय बै ।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ।। **सु.चि. 37/3**

(8) निरूहानंतर अनुवासन बस्ति द्यावी. निरूहामुळे बस्तिचे मार्ग शुध्द होते हयामुळे अनुवासनाबस्तिचे स्नेह शरीरास योग्य प्रकारे पोहचविला जातो.

निरूहः शोधनो लैखी स्नैहिको बृंहणो मतः ।
निरूह शीधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति ।। **सु.चि. 35/19**

(9) अनुवासन बस्ति भोजनानंतर लगेचच (आर्द्रपाणि - जेवणानंतर हाथ धुतल्या धुतल्या) द्यावी.

(10) बस्ति संख्या - वातज विकारांमध्ये 9 - 11
पित्त विकारांमध्ये 5 - 7
कफ विकारांमध्ये 1 - 3

(11) केवळ निरूह किंवा केवळ अनुवासन बस्ति देवू नये त्यासाठी व्यत्यास क्रमाने बस्ति द्यावीत

(12) तीक्ष्णाग्नि, रूक्ष नियीमत व्यायाम करणारे (अधिक ओझ्याचे काम करणारे उदा. मजूर, सायकल रिक्षा चालक इ.) वातव्याधीने पिडित, वंक्षण, श्रोणि मध्ये वातप्रकोप असणारे रुग्णांमध्ये रोज (प्रतिवासरम्) अनुवासन दिली जावू शकते. (च.सि. 4/41, अ.हृ.सु. 19/34)

(13) अनुवासन बस्तिमध्ये स्नेहासोबत सैधव (3-4 ग्रॅम) व बडिशेप (1-2 ग्रॅम) दिल्यास बस्ति सुखपूर्वक प्रत्यागमीत होते.

सन्तु सैन्धवचूर्णेन शनाद्वेन च योजितः।
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सदसा सुखम्।। **सु.चि. 37/63**

अनुवासन बस्ति योग्य/अनुवास्यः (Indications): च.सि. 2/19

ज्या रुग्णांस आस्थापनबस्ति देता येते ते सर्व रुग्ण अनुवासन बस्तिसाठी योग्य आहेत. तरीही विशेषत्वाने रूक्ष, तीक्ष्णाग्नि युक्त, केवल वातरोगी अनुवासन बस्तिसाठी प्राधान्याने योग्य आहेत.

अनुवासन बस्ति अयोग्य/अननुवास्यः (Contraindications)

(च.सि. 2/17, सु.चि. 35/21, अ.हृ.सू. 19/7-8)

आचार्यांनी जे आस्थापन बस्तिसाठी अयोग्य सांगितले आहेत तेच अनुवासन बस्तिसाठी सुध्दा अयोग्य सांगितलेले आहेत. परंतु काही अपवाद वगळता उदा. भूक्तभक्त, कृश इ. अननुवास्य रुग्णांमध्ये बस्ति दिल्यास व्याधी अधिक वाढण्याची शक्यता असते. त्यामुळे पंचकर्मतज्ञांनी अयोग्याकडे विशेष लक्ष देवूनच बस्तिकर्म करणे अपेक्षित आहे. अननुवास्य खालील प्रमाणे आहेत.

अ.क्र.	अनुवासन अयोग्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1	अनास्थाप्य	+	+	+
2	अभूक्तभक्त (उपाशी)	+	–	+
3	नवज्वर (Acute fever)	+	–	–
4	पांडू (Anemia)	+	+	+
5	कामला (Jaundice)	+	–	+
6	प्रमेह (Condition like polyurea)	+	–	+
7	अर्श (Piles)	+	–	–
8	प्रतिश्याय (Rhinitis)	+	–	–
9	अरोचक (Anorexia)	+	–	–
10	मंदाग्नि (Weak digestive fire)	+	–	–
11	दुर्बल (Weakness)	+	–	–
12	प्लीहोदर (Splenomegaly)	+	+	+
13	कफोदर (Ascites of kapha dominant)	+	+	+

अ.क्र.	अनुवासन अयोग्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
14	उरूस्तम्भ	+	–	+
15	वर्चभेद (अतिसार) (Diarrhea)	+	–	+
16	विषपीत (Poisoning)	+	–	+
17	गरपीत (Compound poisoning)	+	–	+
18	अभिष्यंद (Conjunctivitis)	+	–	+
19	गुरूकोष्ठ (Heaviness of abdomen)	+	–	+
20	श्लीपद (Filariasis)	+	–	+
21	गलगंड (Goitre)	+	–	+
22	अपचि (Cervical lymphadenitis)	+	–	+
23	कृमीकोष्ठ (Helminthesis)	+	–	+
24	कुष्ठ (Skin Diseases)	–	+	+
25	स्थूल (Obesity)	–	+	+
26	पीनस (Rhinorrhea)	–	–	+
27	कृश (Emaciation)	–	–	+

अनुवासन अयोग्यास बस्ति दिल्याने होणारे व्यापद:

अ.क्र.	अननुवास्य	व्यापद	कारण/शेरा
1	अभुक्तभक्त	बस्ति ऊर्ध्वगमन आध्मान, हिक्का, च्छर्दि	रिक्तमार्ग असल्यास बस्ति वर पर्यन्त पोहचते त्यामुळे अणुप्रवनभावाने स्नेहाची शीघ्र व्याप्ती होऊन व्यापद
2	नवज्वर, कामला, पांडू	उदररोग	सर्वरोग स्रोतोरोधजन्य असल्याने दोष स्नेहगती मध्ये अवरोध होवून दोषोत्क्लिष्ट होतात.
3	अर्श	अर्शाकुरक्लिन्न, आध्मान	स्नेहामुळे
4	अरोचक	अरूचि	स्नेहामुळे पुन्हा अग्निमांद्य होते.
5	अग्निमांद्य, दौर्बल्य	अग्निमांद्य	स्नेहामुळे पुन्हा अग्निमांद्य होते.
6	प्रतिश्याय, प्लीहादी रोग	दोषवृध्दि	अग्निमांद्यजनित व कफ प्रधान्य विकार, दोषोत्क्लेश होवून
7	कृमीकोष्ठ	कृमींची उर्ध्वगती व हृदयापकर्षण	कृमी निर्हरण न झाल्याने

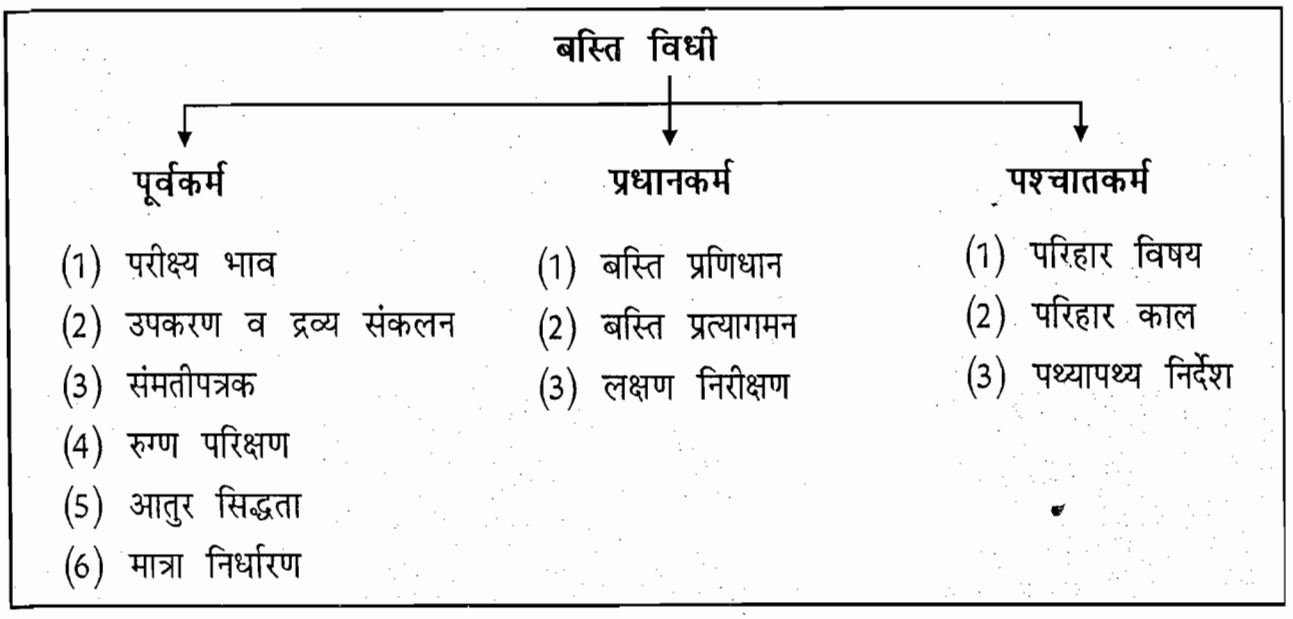

पूर्वकर्म (Preoperative procedure):

(1) **परीक्ष्यभाव:** निरूह बस्तिमधे वर्णिल्या प्रमाणेच अनुवासन बस्तिमधेही परीक्ष्यभावाचा विचार करावा. अनुवासन बस्ति संदर्भात कालाचे वर्णन विशेष नियमामध्ये आलेलेच आहे.

(2) **उपकरण व द्रव्य संकलन:**

(1) द्रोणी
(2) Syringe 100 ml & Plain rubber catheter.
(3) स्टील पात्र
(4) गॅस
(5) कोष्ण जल
(6) टॉवेल
(7) मापक (Measuring glass)
(8) Hand gloves
(9) Cotton
(10) बस्तिसाठी आवश्यक स्नेह उदा. बला तैल, जीवन्त्यादि, माष तैल इ.
(11) अभ्यंगासाठी तैल, धान्वंत्तर, बला, नारायण इ. रुग्णानुसार
(12) पंचकर्म सहाय्यक - 2.

(3) **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास समजेल अशा भाषेत पंचकर्मातील विधीमुळे होणारे फायदे व संभावीत व्यापद समजावून लिखीत पत्रकावर रुग्णाची व/अथवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.

(4) **रुग्णपरीक्षण:** रुग्णास अर्श, भगंदर, परिकर्तिका इ. गुदस्थानातील व्याधीं तर नाही यासाठी गुदगत परीक्षण करावे.

Investigations-Biochemical-CDC, HDL etc.
Radiological-X-ray, MRI etc. (आवश्यकतेनुसार)

(5) **आतुरसिध्दता:**

अनुवासन बस्ति भोजनोत्तर दिली जाते. त्यामुळे भोजनानंतर अल्प व्यायामानंतर, ऋतुनुसार शक्य असेल त्याचा विचार करून सकाळी किंवा सायंकाळी बस्ति द्यावी. बस्ति ही अभ्यंग स्वेदनानंतर द्यावी त्यासाठी खालीलप्रमाणे रुग्णास तयार करावे.

(i) **भोजन** – रुग्णाचा आहार अतिस्निग्ध नसावा अन्यथा बस्तिनंतर मूर्च्छा उत्पन्न होवू शकते.रुग्णांचा आहार अतिरूक्षही नसावा त्यामुळे बल व वर्णाचा नाश होते. भोजन पूर्णत: पक्व असावे तसेच मात्रा फार अधिक नसावी.

वात व्याधीमध्ये-मांसरस युक्त भोजन (Chicken Soup)

पित्त व्याधींमध्ये-दुग्ध

कफ व्याधींमध्ये-युष

(ii) **चंक्रमण (Physical exertion)** - जेवणानंतर रुग्णास शतपावली करण्यास सांगावी. अति व्यायाम किंवा शारीरिकश्रम वर्ज्य आहे.

(iii) **मल-मूत्र विसर्जन** – चंक्रमणानंतर मल-मूत्र विसर्जन करण्यास सांगावे. त्यामुळे बस्ति अधिक काळ टिकून राहील.

(iv) **अभ्यंग व स्वेदन** – वंक्षण, पृष्ठ व उदर प्रदेशी तैलाने अभ्यंग करावा त्यानंतर बाष्प किंवा अवगाह स्वेद द्यावा टॉवेल गरम पाण्यात भिजवून पिळून घ्यावा व टॉवेलने सेक करावा.

(6) **मात्रा निर्धारण:** निरूहबस्तिच्या ¼ (पादांश) एवढी मात्रा स्नेह बस्तिची आहे.

स्नेह बस्ति – 24 तोळे = 240 मिली

अनुवासन बस्ति - 3 पल = 120 मिली

वयानुसार मात्रा निर्धारण करतांना वयानुसार निरुह मात्रेच्या ¼ (पादांश) एवढी मात्रा असावी

यथावयो निरुहाणां या मात्रा परिकीर्तित:।

पादावकृष्टास्ता: कार्या: स्नेहबस्तिषु देहिनाम्।। सु.चि 37/4

वय	मात्रा	वयानुसार वृद्धि
1 वर्ष	1 तोळा - 10 मिली	--
12 वर्ष	12 तोळे - 120 मिली	प्रत्येक वर्षात एक तोळा वृद्धि
13 वर्ष	14 तोळे - 140 मिली	--
18 वर्ष	24 तोळे - 240 मिली	प्रत्येक वर्षात दोन तोळे वृद्धि
70 वर्ष	20 तोळे - 200 मिली	--

प्रधानकर्म (Operative procedure):

(1) **बस्तिप्रणिधान:** बस्ति प्रणिधान कर्म निरूह बांस्तप्रमाणेच आहे.

- पूर्वकर्म झालेल्या रुग्णास वाम पार्श्वावर दक्षिण पाद संकुचित करून लेटवावे. वामपाद सरळ ठेवावा.
- बस्ति तैलाचे पात्र गरम पाण्याच्या पात्रात ठेवून अप्रत्यक्षपणे तैल कोष्ण करावे.
- आवश्यकतेनुसार मात्रा ठरवून बस्ति यंत्रामध्ये तैल भरावे. बस्ति पुटकामध्ये वायू (Air) असणार नाही याची काळजी घ्यावी. (Syringe मध्ये तैल भरून Rubber Catheter लावावे)
- बस्तिदात्याने Gloves घालून रुग्णाच्या गुदस्थान तैल/घृताने पिचूद्वारे स्निग्ध करावे.यानंतर बस्तिनेत्र (Catheter) हळूहळू गुदामध्ये पृष्ठवंशाच्या दिशेने प्रविष्ट करावा.यानंतर पुटकावर (Syringe piston) दाब देवून तैल आतमध्ये निर्गमीत करावा.यावेळी रुग्णास दीर्घ श्वास घेण्यास सांगावे त्यानंतर काळजीपूर्वक बस्तिनेत्र बाहेर काढावा.

  बस्तिनंतर लगेचच रुग्णाच्या स्फिकप्रदेशी थोपटावे व रुग्णास दोन्ही हाताचे एकमेकांवर मर्दन करण्यास सांगावे. त्याचवेळी सहाय्यकाने रुग्णाच्या पादस्थानी मर्दन करावे. बस्ति लगेच बाहेर येऊ नये म्हणून रुग्णास उत्तान स्थितीत (Supine position) पडून राहण्यास सांगावे व रुग्णाच्या नितंबाखाली उशी ठेवावी.

(2) **बस्ति प्रत्यागमन:** सामान्यत: अनुवासन बस्ति परत येण्याचा काळ तीन याम (12 तास) सांगितलेला आहे. त्यामुळे 12 तासापर्यन्त बस्ति टिकणे हे सम्यक लक्षण आहे. त्यापेक्षा पूर्वी बस्ति प्रत्यागमीत झाली तर दुसरी स्नेह बस्ति देण्याचे निर्देश आहेत.

जर अनुवासन बस्ति 12 तासा नंतरही परत आली नाही तर 24 तासापर्यन्त प्रतिक्षा करावी. त्यानंतरही प्रत्यागमन न झाल्यास फलवर्ति किंवा तीक्ष्ण बस्ति देवून बस्तिचे प्रत्यागमन करवावे (अ. ह.सू. 19/32-33). परंतु स्नेह अतिरुक्ष शरीरामुळे प्रत्यागमित न झाल्यास व जाड्यता (lassitude) सारखा कोणताही त्रास नसल्यास उपेक्षा करावी. मात्र त्या रात्री भोजन देवू नये व सकाळी कोष्णजल किंवा सुंठी सिध्द किंवा धान्यक सिध्द जल द्यावे. (अ.ह.सू. 19/32-33)

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादिदोषकृत् ।
उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत् ।।
प्रातर्नागरधान्याभ: कोष्णं केवलमेव वा । अ.ह.सू. 19/32-33

रुग्णास तिसऱ्या किंवा पाचव्या किंवा स्नेह जीर्ण झाल्यानंतर पुन्हा अनुवासन बस्ति द्यावी.

(3) **लक्षण निरीक्षण व चिकित्सा:**

- वायू व पुरीष या सोबत स्नेह दाह न होता व हळुहळू परत येणे सम्यक अनुवासनाचे लक्षण आहे.

सानिलः पुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।
ओष चौषौ विनाशीघ्रं स सम्यक अनुवासितः।। **सु.चि. 37/67**

- अनुवासनानंतर रुग्णास पीडा होत असल्यास रूजार्त अंगाचे मर्दन करावे, विश्राम करण्यास सांगावे.
- बस्ति द्रव्य, गुरू, उष्ण-तीक्ष्ण, अधिक मात्रेत असल्यामुळे किंवा सवात बस्ति दिल्याने शीघ्र परत आल्यास दुसऱ्या दिवशी आधीच्या मात्रेपेक्षा कमी मात्रेत पुनः अनुवासन बस्ति द्यावी. (सु.चि. 37/64-65)

यस्यानुवासनो दत्तः सकृदन्वक्षमाव्रजेत् ।
अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायू ना वा प्रपीडितः ।।
सवातोऽधिकमोत्रौ वा गुरूत्वाद्वा सभेषजः ।
तस्यान्योऽल्पतरो देयो नहि स्निह्यत्यतिष्ठति ।। **सू.चि. 37/64-65**

पश्चातकर्मः

(1-2)परिहार विषय व परिहार कालः-निरूहाप्रमाणे

(3) भोजनक्रमः (i) बस्ति प्रत्यागमनानंतर दुसऱ्या दिवशी मध्यान्हात मनो अनुकूल भोजन द्यावे.

(ii) सायंकाळी युष-मांसरस इ. युक्त भोजन देवून अनुवासनबस्ति द्यावी. कर्म, काल-योग क्रमाने तिसऱ्या दिवसानंतर अनुवासन बस्ति द्यायची असल्यास विधिपूर्वक अनुवासनापूर्वी निरूह द्यावी.

(iii) धान्यक व सुंठी सिध्द जल किंवा उष्ण जल पिण्यास द्यावे यामुळे स्नेहाचे पाचन, कफाचे छेदन व वायू चे अनुलोमन होते. (च.सि. 4/43-48)

अनुवासन बस्ति व्यापद व चिकित्सा

अनुवासन बस्ति देतांना चिकित्सकाच्या दुर्लक्षामुळे उपद्रव उत्पन्न होवू शकतात. निरूह बस्तिच्या व्यापदांचे वर्णन करतांना जी व्यापद वर्णीत आहेत ते व्यापद (उदा. बस्तिनेत्र व्यापद, बस्तिपुटक व्यापद, प्रणेता व्यापद) अनुवासनाच्या वेळी ही उत्पन्न होणारे आहे. याशिवाय स्नेह बस्तिमुळे खालीलप्रमाणे काही विशेष व्यापद उत्पन्न होवू शकतात.

(1) स्नेह वाताने आवृत होणे. (2) स्नेह पित्ताने आवृत्त होणे.
(3) स्नेह कफाने आवृत्त होणे. (4) स्नेह अन्नाने आवृत्त होणे.
(5) स्नेह पुरीषाने आवृत्त होणे. (6) अभूक्त अवस्थेत बस्ति दिल्याने आवृत्त होणे.

अ.क्र	स्नेह बस्ति व्यापद	कारण	लक्षण	चिकित्सा
1	वातावृत्त स्नेह (च.सि. 4/28,30) (सु.चि. 37/83)	वातदोषाचे प्राधान्य असतांना अतीशीत व अल्प प्रमाणात बस्ति दिल्यास वात प्रकुपित होवून स्नेहास आवृत्त करतो.	प्रत्यागमन वेळेत न होण, अंगमर्द, ज्वर, आध्मान, स्तम्भ (Stiffness), उरूशूल, पार्श्वशूल कषायआस्यता, जृंभा, कंप	निरूह बस्ति 1) रास्ना, पीत्तदारू, लोध्र यांचा क्वाथ + सौवीर, कोल, कुलत्थ, यव, लवण, कांजी + तैल 2) पंचमूल क्वाथ, रास्नादितैल, गोमूत्र+क्वाथ अनुवासन, निरूहानंतर शोधनोपरांत सायंकाळी भोजनोत्तर रास्नादितैलाचा अनुवासन बस्ति.
2	पित्तावृत्त स्नेह (च.सि. 4/31, सु.चि. 37/84)	पित्तदोषप्राधान्यत; अति उष्ण बस्ति दिल्यास	दाह, तृष्णाधिक्य, मोह, ज्वर, तम:प्रवेश, कटु आस्यता, स्वेदा धिक्य, नेत्र-मूत्र-अंग पीतता	निरूह बस्ति - मधुर वा तिक्त स्कंधाच्या औषधींनी सिद्ध - पित्तशामक चिकित्सा
3	कफावृत्त स्नेह	कफदोषप्रधान अवस्थेत अति मृदू औषधी सिध्द बस्ति दिल्यास	तंद्रा, शीतपूर्वक ज्वर, आलस्य, प्रसेक, अरूचि, गौरव, मूर्च्छा मधुरास्यता	निरूह बस्ति - कषायस्कंध, मदनफल, गोमूत्र युक्त बस्ति. - कफशामक चिकित्सा
4	अन्नावृत्त स्नेह (सु.चि. 37/87, च.सि. 4/35)	अत्याधिक भोजन केल्यानंतर बस्ति दिल्यास.	बस्तिचे प्रत्यागमन होत नाही, च्छर्दि, मूर्च्छा, अरूचि, शूल, निद्रा, अंगमर्द, दाह, आम लक्षण, हृद्शूल, मुखवैरस्य, श्वास, भ्रम	- त्रिकटू व सैंधव मिश्रण आमपाचनार्थ चित्रकादि व लसोनादि वटी, मृदू विरेचन. उदा. गंधर्वहरितकीचूर्ण 2 ग्रॅम/ अविपत्तिकरचूर्ण
5	पुरीषावृत्त स्नेह	बस्ति देण्यापूर्वी रुग्णाचे मल-मूत्र वेगाचे विसर्जन न होता बस्ति दिल्यास.	-मल-मूत्र-वायू संग -पक्वाशय गौरव -आध्मान -हृदग्रह, श्वास व शूल इ.	अभ्यंग, स्वेदन-फलवर्ति (Suppository) - निरूहबस्ति (बिल्वादि) - अनुवासन, दीपन पाचन-चित्रकादिवटी, शिवाक्षारपाचन.
6	अभूक्तप्रणीत स्नेह	रुग्णास भोजन न देता (उपाशी पोटी) बस्ति दिल्यास, स्नेह कंठा पर्यंत येतो. प्रत्यक्षात शरीर रचनेचा विचार केल्यास गुदमार्गाने दिलेला स्नेह कंठा पर्यन्त येणे शक्य नाही. हे लक्षण Vasovagal Reflexes stimulation मुळे लक्षणे दिसतात.	गात्रग्रह, इंद्रियोपलेप, कास, श्वास, अरूचि	निरूहबस्ति - श्यामा-त्रिवृत्त, यव, कोल, कुलत्थ, गोमूत्र, विरेचन, च्छर्दि चिकित्सा, सुतशेखर 250 mg, चित्रकादिवटी

सोबतच्या तालिकेतील 1 ते 3 स्नेह आवृत्ताचे विश्लेषण केल्यास असे लक्षात येते की तिन्ही आवृत्त स्नेहामध्ये ज्वर हे सामान्य लक्षण आहे. परंतु वातावृत्त स्नेहामध्ये शूल युक्त ज्वर, पित्तावृत्त स्नेहामध्ये दाह युक्त ज्वर कफआवृत्त स्नेहामध्ये शीतपूर्वक ज्वर हे लक्षण आहे. तसेच मुखातील चव वातावृत्त स्नेहामधे कषाय पित्तावृत्त स्नेहामधे कटु व कफावृत्त स्नेहामधे मधुर आहे.

सुश्रुतोक्त स्नेहबस्ति व्यापद: वरील व्यापदांपैकी आचार्य सुश्रुतांनी अभुक्तप्रणीत बस्तिच्या स्थानी विरेचनादिने शोधीत रुग्णामधे स्नेह बस्तिचा वापर केल्यास होणाऱ्या व्यापदाचे वर्णन केलेले आहे. त्याचे लक्षण व चिकित्साही अभुक्तप्रणीत व्यापदासारखी आहे.

या व्यापदांव्यतिरिक्त 2 अधिक व्यापदांचे वर्णन आचार्य सुश्रुतांनी केले आहे.

(a) ज्या रुग्णाचे स्नेहन-स्वेदन, वमन विरेचन झालेले नाही अशा रुग्णास मृदू व अल्पमात्रेत स्नेहबस्ति दिल्यास.

लक्षण: 1) स्नेहाचे पूर्ण प्रत्यागमन होतांना हळुहळू थोड्या-थोड्या मात्रेत प्रत्यागमन होते.

2) पक्वाशयशूल

3) आध्मान, वायू अवरोध

चिकित्सा: 1) अनुवासन बस्ति त्यानंतर

2) निरूह बस्ति

(b) कमी मात्रेत भोजन केल्यानंतर रुग्णास अल्प मात्रेत बस्ति दिल्यास

लक्षण: 1) बस्ति प्रत्यागमीत होत नाही

2) अरति

3) क्लम

4) उत्क्लेश

चिकित्सा: शोधन स्नेहासोबत निरूह बस्ति उदा. दशमूल क्वाथ+एरण्ड तैल

मात्रा बस्ति

मात्रा बस्ति हा स्नेह बस्तिचाच प्रकार आहे. परंतु चिकित्सेमध्ये विशेष उपयोगात आणली जाते म्हणून विशेष महत्त्व आहे.

मात्रा बस्ति योग्य (Indications):-

(1) अत्याधिक कार्य केल्याने, भारवहन, व्यायाम केल्याने थकलेले उदा. रिक्षाचालक, मजूर.

(2) अतिमद्यपान व अतिमैथुनाने क्षीण झालेले.

(3) अत्यंत दुर्बल व्यक्तींमधे किंवा बृंहण आवश्यक असणारे

(4) वातव्याधीने पीडित

(5) Poliomyelitis.

(6) Muscular dystrophy

(7) Hemiplegia

मात्रा बस्तिचे वैशिष्ट:

(1) अल्पमात्रा असल्याने रुग्णास सुखकर

(2) बस्ति व्यापदाचे भय नाही

(3) नेहमी देता येते. फारसे बंधन नाही. त्यामुळे रुग्ण व चिकित्सकांस सोयीचे.

(4) फार तयारीची गरज नाही, OPD च्या रुग्णांना सहज देता येते.

(5) विशेष पथ्यपालनाची गरज नाही.

पूर्वकर्म

(1) रुग्ण परिक्षण

(2) उपकरण संकलन

(3) आतुरसिद्धता

(4) मात्रा निर्णय

(1) **रुग्णाचे परिक्षण**- रुग्णाचे परिक्षण करून द्यावे. रुग्णात गुदस्थानातील व्याधी तर नाही याची खात्री करून घ्यावी.

(2) **उपकरण संकलन** -

(1) Syringe 100 ml

(2) Catheter

(3) स्टील पात्र

(4) गॅस

(5) कोष्णजल

(6) टॉवेल

(7) मापक

(8) Hand gloves

(9) बस्तिसाठी आवश्यक स्नेह उदा. बला तैल, महामाष तैल इ.

(10) पंचकर्म सहाय्यक - 01

(3) **आतुरसिध्दता** - अनुवासन बस्ति प्रमाणे.

(4) **मात्रा निर्णय** - स्नेहाची ह्रस्व मात्रा = 6 तोळे = 60 ml.

काही व्याधी उदा. ज्यामध्ये मल-मूत्राचे वेग नियंत्रण अल्प असते व नसते अशा रुग्णास 10 ml, 20 ml मात्रेने बस्ति सुरू करावी (e.g. Hemiplegia, Lumber canal stenosis, GB syndrome etc.) व हळूहळू मात्रेत वृध्दी करावी.

वृंद माधवानुसार - 24 माशे (24 मिली) पासून वर्धमान मात्रेत प्रत्येक दिवशी 8 माशे (8 मिली) ने वाढवावी. 7 दिवशी 72 माशे (72 मिली) एवढी मात्रा होईल.

(5) **द्रव्य सिध्दता** - रुग्णानुसार आवश्यक तैल पात्रात घेवून त्यात 4-5 ग्रॅम सैधव घालावे व त्यास अप्रत्यक्षअग्निने सुखोष्ण करावे.

प्रधानकर्म

(1) **बस्ति प्रणिधान** - पूर्वोक्त अनुवासन बस्तिच्या पध्दतीने मात्रा बस्ति द्यावी. मात्रा बस्ति भोजनोत्तरच द्यावी.

(2) **बस्ति प्रत्यागमन** - 12 ते 24 तास. यानंतरही बस्ति प्रत्यागमन झाले नाही व रुग्णास त्याचा काहीच त्रास होत नसल्यास उपेक्षा करावी.

(3) **निरीक्षण व चिकित्सा** -

(1) ही निरापद बस्ति आहे.

(2) सम्यक लक्षणे अनुवासन बस्ति प्रमाणे.

पश्चात कर्म (Post operative)

- **परिहार विषय/काल** - यापूर्वी वर्णीलेले आहे. फार कष्टाने परिहार काल पालन करावे लागत नाही.
- **भोजनक्रम** - लघु, सुपाच्य.

व्यापद - हया बस्तिचे विशेष व्यापद आढळत नाही.

बस्ति कार्मुकता

वायू यंत्र-तंत्र धर आहे. शरीरातील सर्व क्रियांना जबाबदार वायू असून जर रुक्ष, लघु, खर, विशद इ. गुणांच्या आहार विहाराने शरीरामध्ये दुष्टी झाल्यास वायू चे नियमीत कार्य विकृत झालेले असतात व व्याधीची निर्मिती होते. वात विट, श्लेष्मा, पित्त व इतर मलांना विक्षेप (transit/expulsion) व संहार (Retention/localisation) करणारा आहे. (अ.हृ.सू. 19/86)

कफ व पित्त दोष स्वत: संचारणासाठी वायूवर अवलंबून आहेत. कोणत्याही दोषांमुळे सम्प्राप्ति घडण्यासाठी वायू तेवढाच जबाबदार आहे. त्यामुळे चिकित्सा करतांना वायू ला नियंत्रित करणे म्हणजे सफल चिकित्सा होय.

तिन्ही दोषांमध्ये वायू प्रधान असून ज्याप्रकारे समुद्रातील वादळ केवळ समुद्राच्या लाटा सहन करु शकतात त्याचप्रकारे वायूचा प्रकोप बस्तिच सहन करु शकतो. (सु. चि. 35/38)

गुद हे शरीराचे मूल स्थान आहे. गुदस्थानामधे प्रचुर सिरा (vessels and nerves) आहेत. त्यामुळे गुदगत दिलेली बस्ति सर्व शरीरात पसरुन वातशमनाचे कार्य करते. (च.पा.च.सि. 1/31वर)

आपादतलमूर्धस्थान दोषान् पक्वाशये स्थितः।
वीर्येण बस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव।। **च.सि. 7/64**

बस्तिचे कार्मुकत्व स्पष्ट करतांना आचार्यांनी स्पष्ट केले आहे की, बस्तिद्रव्य शरीरात शोषले जात नाही तर बस्ति द्रव्य त्यांच्या वीर्याने (Active principle) स्त्रोतसांद्वारे शरीरात पसरली जातात व त्यांचे कार्य पायापासून तर डोक्यापर्यंत दिसून येतात.

ज्याप्रमाणे वृक्षमूलाच्या ठिकाणी सिंचन केल्यास पोषक तत्वे सर्व शाखा, पत्र, पुष्पांना मिळतात त्याचप्रमाणे पक्वाशयात दिलेला बस्ति सर्व शरीरावर कार्य करतो. (सु.चि. 35/25, च.सि. 1/31)

ज्याप्रमाणे सूर्य आपल्या उष्णतेने पृथ्वीवरील जलांश शोषुन घेतो त्याचप्रमाणे पुक्वाशयस्थ बस्ति आपल्या वीर्याने कटि, पृष्ठ, कोष्ठ, स्थानांतून दोषांचे विलोडन करुन प्रत्यगमनाचे वेळी द्रव्य, मल, अपान वायूच्या साह्याने समूळ दोषांना बाहेर काढतो. (सू.चि. 35/27-28) या न्यायाने बस्ति कटिगत, पृष्ठ, मन्यागत (spondylosis, PID) यामध्ये कार्य करतो.

वाताचे स्थान पक्वाशय आहे व वायू हा व्याधींचा मूल आहे. बस्ति वायू साम्यावस्थेत ठेवण्याचे कार्य करतो. वायू साम्यावस्थेत असल्यास आपोआपच व्याधीचे शमन होते. ज्याप्रमाणे एखाद्या वृक्षाची मुळे कापल्यास त्या वृक्षाची शाखा, पत्र, पुष्प, फल, नष्ट होतात त्याचप्रमाणे बस्तिद्वारे विकृत वायूचे शमन झाल्यास शरीरातील व्याधींचे शमन होतात (च.सू. 20/15)

या उलट ज्याप्रमाणे वृक्षाच्या मूळाशी जल दिल्याने पुष्प, फळ योग्य काळी उत्पन्न होतात त्याप्रमाणे अनुवासन बस्तिने शसीराचे पोषण होऊन बल, वर्ण प्राप्ती होते.

बस्ति द्रव्य त्यांच्या वीर्यामुळे प्रथमतः पक्वाशयस्थ अपान वायूचे पोषण करतात. त्यानंतर समानवायू पर्यंत पोहचून समानाचे पोषण केले जाते. समानाचे पोषणांनतर व्यानवायूचे त्यानंतर उदान व प्राणवायूचे पोषण केले जाते. पाचही वायूंचे सम्यक पोषणानंतर वायू प्राकृत अवस्थेत राहून शारीर क्रियांमध्ये स्वस्थता आणण्याचे कार्य बस्तिद्वारे केले जाते. त्यानंतर बस्ति द्रव्यांचे कार्य पित्त व कफ दोषांवर होऊन त्यांना सम्यक अवस्थेत आणले जाते. बस्ति द्रव्यांचे वीर्य स्त्रोतसांद्वारे सर्व शरीरामध्ये उर्ध्व, तीर्यक व अधःगतीने पसरविण्याचे कार्य अनुक्रमे प्राण, व्यान व अपान वायूच्या साह्याने होत असते. हे पोषणं केदारकुल्या न्यायाने होते. (अ.सं.क. 5/68-72) तसेच ज्याप्रमाणे वस्त्र जलातील रंग शोषून घेतो त्याप्रमाणे बस्ति द्रवीकृत शरीरातील मल शोषून बाहेर काढतो. (अ.ह.सं 19/84)

बस्ति द्रव्यांच्या वीर्याने ग्रहणीपर्यंत पोहचते त्यामुळे बस्तिने अग्निवृद्धी होते (च.पा.च.सि. 3/14) बस्तिचे कार्य समान वायूचे पोषण करणे आहे. समान वायू जाठराग्नि प्रदीप्त ठेवण्याचे कार्य करतो. पर्यायाने बस्तिचे जाठराग्निवरील कार्य स्पष्ट होते. व्याधींच्या सम्प्राप्तीचा विचार केल्यास प्रत्येक व्याधीमध्ये जठराग्निची दुष्टी असते व चिकित्सेचा अर्थ जाठराग्निची दुष्टी दूर करणे असा होय जे बस्तिने साध्य केले जाते.

बस्तिचे कार्य पक्वाशयावर अधिक आहे. पक्वाशय हे पुरीषधरा कलेचे आश्रय स्थान आहे.

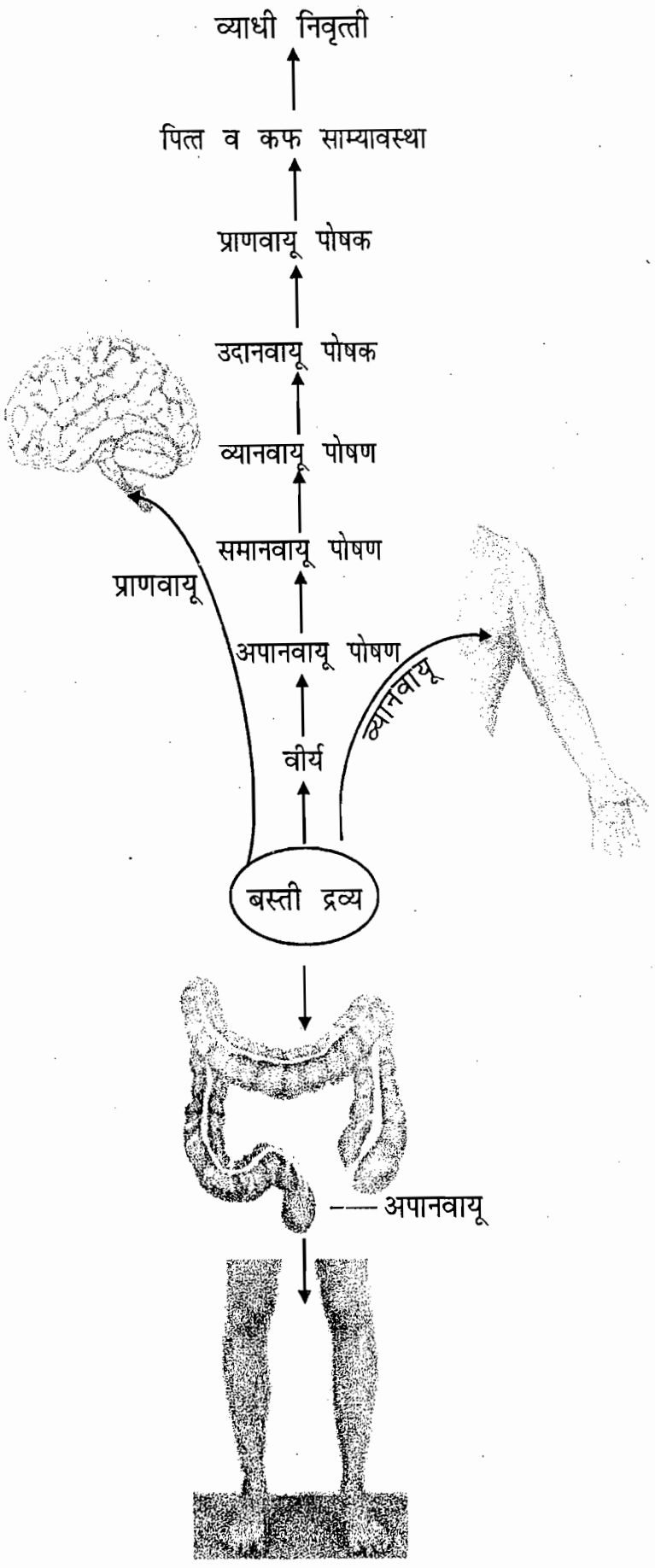

त्याचप्रमाणे ग्रहणी पित्त धरा कलेचे आश्रय स्थान आहे. वरील विवेचन लक्षात घेता बस्तिचे पुरीषधरा कला व पित्तधरा कला यावरील कार्य स्पष्ट होते. डल्हणांनी पुरीषधराकला व अस्थिधरा केला एकच मानल्या आहेत, तसेच पित्तधरा कला व मज्जाधरा कला हयासुद्धा एकच आहेत (डल्हण सू.क. 4/40 वर). यावरुन बस्तिचे अस्थिधरा कला व मज्जाधरा कला यावरील कार्य स्पष्ट होते. त्यामुळेच बस्ति अस्थीसंबंधी (ortho) नाडीवह संस्थान (Nervous system), मस्तिष्क संबंधी व्याधीमध्ये प्रभावी कार्य करतांना अनुभवयास येते. त्यामुळेच बस्तिस अर्ध चिकित्सा मानली जाते तर काही वैद्य यांस पूर्ण चिकित्साही मानतात.

बस्ति केवळ वाताचीच चिकित्सा आहे असे नाही बस्ति पित्त, कफ, संसर्ग व सन्निवातज व्याधींचीही चिकित्सा आहे.

Modern View :

As on now only hypothetical data available regarding action of basti. The action of basti includes theory of action through vascular route, nervous route, Biofeed back mechanism. mechanism of transport across intestine by transcellular and paracellular

pathway include, passive diffusion, facilitated diffusion, active transport, carrier mediated transport endocytosis, pinocytosis. The rectum has rich blood supply and basti drugs can easily cross the ractal mucosa. Short chain fatty acid can be absorbed into the blood as they are more water soluble and allow direct diffusion from epithelial cells into capillary blood of villi. Basti Dravya- Honey saindhav, sneha, kalka, kashay form emulsion by making the churning in the specific manner described in the text, the large and middle chain fatty acid may break into small chak fatty acid which can get easily absorbed. As Ayurved texts mentioned, the active principles of drugs used in Basti get absorbed in system circulation by passing hepatic metabolism. Swapnil, 2011 reported in his study that triphaladi basti containing biomarker-garlic acid found in the circulation.

Anuvasan basti in the rectum and colon causes secretion of bile from the galbladder which leads to the formation of conjugate micelles, they are absorbed through passive diffusion [Gyanendra D. Shukla *et al* 2010].

Systemic biology concept: Action of basti on this concept reported by Gyanendra D. Shukla *et al* 2010 in their review article. The organs are inter connected at molecular level. Molecular incident is transformed at cellular level to tissue level and then organ level. Each molecule of the body is connected with mother molecule of the body by direct or indirect way.

When Basti in large intestine, it will affect another system. In another study it is proved that, basti nourishes the bacterial flora which helps in production of vit B, and to K and inhibits the production of pyruvic acid. This helps in prevent degeneration of myelin sheath spinal cord. Another drugs in basti like honey saindhav, milk are reach source of minerals as described earlier which get absorbed through large intestine and transferred to other system and helps to cure the disease of other systems e.g. ulcerative colitis.

Vagbhata described in his theory one types of vayu nourishes the other type of vayu i.e. apana to prana.

Basti may act by pinocytosis mechanism [Kadlimatti S *et al*, 2009]. Pinocytosis is mechanism for transport of molecules across membranes. The absorption of emulsion of Basti by diffusion i.e. transport of molecule from higher concentrations to lower concentration. There are many factors responsible for absorption like solubility of basti dravya, temperature of the drug, body (purvakarma like snehan-swedan), size of molecules, quantity, concentration, surface area of adsorption, vascularity, PH

It is considered that Niruha Basti is hyper osmotic which causes movement from cells of colon to lumen and facilitates the absorption of endotoxins into the solution and produce detoxification by elimination (Dr. Vasudeven *et al*)

Anuvasun Basti is hypo osmotic which may be absorbed into the blood. Sneha basti are responsible to regulate sympathetic activity, it decreases adrenaline and non-adrenaline to balance ANS. (Dr. Vasudeven *et al*)

In other view of researcher the action of basti is described in other way. As the time passed, the waste begins to stick on the wall of colon and block the intestinal wall openings and slow the elimination process which leads to intestines get distended and cause pressure on mesenteric blood flow. This pressure diminishes the oxygenated blood to the organs and deoxygenated blood to heart. This phenomenon leads to many diseases including IHD. Basti facilitate the lubrication as well clearing of intestinal wall and ensures normalized blood circulation which leads to minimize the ischemia of the organs (Vora MS, 2011).

Action by enteric nervous system (ENS)

The gut has its own mind 'Enteric Nervous System (ENS) just like larger brain. This system send and receives impulses, records experiences and responds to emotions. This brain consists of sheaths of neurons embedded in the gut wall and contains 100 millions neurons which are more than the spinal cord, peripheral nervous system (Michal Carsons) A. big part of our emotions are probably influenced by the nerves in the gut. Basti may act all over the body by this system.

95% of the body's serotonin found in the bowel. Serotonin (5-Hydroxy tryptamine/5HT) is neurotransmitter that has tremendous influence over brain for many functions like sleep appetite, memory, mood behaviors (including sexual and hallucinogenic), pain (science daily.com, 2010) Basti may act on serotonin level and helps to pacify the diseases related neurological, psychological, pain etc. Gerson says there will be well known connection between diseases and lesions in gut nervous system as same in the brain and spinal cord e.g. multiple sclerosis.

In New Nature Medicine, study published online, the drug that inhibited the releases of serotonin from the gut counter acted the bone deteriorating disease osteoporosis. This can be helpful to understand relation between पुरीषधरा कला and अस्थिधरा कला and how the basti can act on 'अस्थीगत' व्याधी

बस्तिघटक व त्यांची उपयोगिता

माक्षिक -

- मधुर, कषाय, छेदन, रुक्ष, उष्णवीर्य, कफहर, व्रणशोधक, योगवाही (catalyst), सुक्ष्ममार्ग अणुसारित्व (penetration).
- बस्तिमधे मधुची मात्रा अधिक असल्यास अतिवृष (च.सि. 12/28)

- Contains mono sachharide, Protein, fat, 18-amino acids, vit B 12, B6, folic acid, vit. C and many minerals like Fe. Ca, Zn, K, P, Mg.
- It has healing properties.
- Most of the micro-organism do not grow in honey,
- Antioxidant properties

सैंधव -

- सुक्ष्म, तिक्ष्ण, लघु गुणामुळे स्त्रोतसांपर्यंत पोहचण्याचे कार्य,
- लीन दोष बाहेर काढणे स्निग्ध गुणामुळे दोष विलयन,
- बस्ति निर्गमणासाठी मदत
- कमी मात्रेत लवण असल्यास अयोग (अ.हृ.सू. 15/42)
- Having 74 traces of minerals. It has properties that helps to nerves.
- It is helpful in regulating acid-Alkaline balance maintaining osmosis.
- If promotes elimination of ontogenist animal proteins from the body which are difficult to degrade.
- It has property of stimulation of clonic action potential helpful basti action.
- Combination of madhu and saindhar helpful to maintain glucose and electrolytes.

स्नेह -

- स्निग्ध गुणामुळे मृदुकर,
- वायू दुष्टीनाशक,
- मल बाहेर काढण्यासाठी उपयोगी,
- स्त्रोतसातील संग (obstruction) दूर करणारे (च.वि 1/7)

कल्क -

- बस्तिचे कार्य कल्क द्रव्यावर अवलंबून असते.
- कल्क बस्तिची शक्ती वाढविण्याचे कार्य करते.
- मलाचा विश्लेष करण्याचे कार्य व्याधीनुसार कल्क द्रव्य बदलली जातात.
- Helpful in increasing permeability of the basti drug.

क्वाथ -

- बस्ति कार्य कषाय द्रव्यावर अवलंबून असतात.
- मात्रेमुळे शरीरात पसरणे,
- तेथील दोषांना आत्रात आणून निर्हरण करणे द्रव्यांच्या वीर्याने सर्व शरीरावर कार्य करणे.

काही विशिष्ट बस्ति

1) एरण्ड मूलादि बस्ति (अ.हृ.क. 4/7-10, च.वि. 3/8)

योग्य (Indications):

1. उरुशूल (Pain in thighs)
2. जंघाशूल (Pain in calf muscles)
3. पादशूल (Pain in lower limbs)
4. त्रिक-पृष्ठशूल (Pain in lumbo sacral region)
5. कफावृत्तवात
6. पूरीष, मूत्र, वायू ग्रह
7. आध्मान (Distension)
8. आनाह
9. अश्मरी (Calculus)
10. अर्श (Piles)
11 ग्रहणी दोष
12. Peripheral Vascular disorders

द्रव्य	मात्रा
माक्षिक	160 मिली
लवण	10 ग्रॅम
स्नेह	240 मिली
कल्क	80 ग्रॅम
क्वाथ	320 मिली
गोमूत्र	160 मिली
एकुण	**960 मिली**

स्नेह - सहचरादि तैल, गुडुच्यादि तैल, धन्वंतर तैल अवस्थानुसार

कल्क - शतपुष्पा, हपुष, प्रियंत्रु, पिप्पली, जेष्ठमध, बला, रसांजन, वत्सक बीज (इंद्रयव), मूस्ता

क्वाथ - एरण्डमूल (तीन भाग), पलाश, लघुपंचमूल, रास्ना, अश्वगंधा, अतिबला, गुडूची, पूनर्नवा, आरग्वध, देवदारु (प्रत्येकी एक भाग), मदनफल - 1

(व्यवहारामध्ये गोमूत्राची मात्रा कमी करुन क्वाथाची मात्रा वाढवावी).

गुणधर्म - दीपन, पाचन, वातशमन

2) पिच्छा बस्ति (सु.चि. 38/86, च.चि. 14/(224-229) डल्हण टिका

योग्य (Indication)

1. अतिसार (Diarrhoea)
2. प्रवाहिका (Dysentery)
3. ग्रहणी (IBS)
4. गुदगत रक्तस्त्राव (Per rectal bleeding)
5. गुदभ्रंश (Prolapsed rectum)

बस्ति गुण - पिच्छिल

द्रव्य	मात्रा
माक्षिक	160 मिली
लवण	10 ग्रॅम
स्नेह	160 मिली
कल्क	20 ग्रॅम
क्वाथ	300 मिली
एकूण	**साधारणत: 620 मिली**

स्नेह - चांगेरीघृत (अ.हृ.) क्षीरषटफलघृत (भै.र)

कल्क - मधुयष्टी, बदर, नागबला, धन्वअंकुर शाल्मली, श्लेष्मान्तक सिद्ध क्षीर

क्वाथ - यवासामूल व पुष्प, कुश, काशमूल, शाल्मली, न्यग्रोध, उदुम्बर, श्रृंग, अश्वत्थशुंग, सिद्ध, क्षीर

कल्क - मोचरस, समांग, चंदन, उत्पल, वत्सक बीज, प्रियंगु, पद्मकेशर

क्वाथासाठी प्रत्येक द्रव्ये 2 पल (80 ग्रॅम) घेण्यास सांगितले आहेत व 1 प्रस्थ (अंदाजे 650 मिली) मध्ये सिद्ध करण्यास सांगितले आहे. प्रतिदिन या मात्रेत द्रव्ये घेऊन बस्ति देणे व्यवहारात शक्य होत नाही. त्यामुळे वर दिलेल्या मात्रेत प्रत्यक्षात वापरले जाते.

3) क्षीरबस्ति (च.सि. 8/3)

ही प्रासृत योगिकी बस्ति आहे. विशेषता क्षीरबस्ति सुकुमार व बालकांसाठी असून मृदु प्रकारची निरुह बस्ति आहे. बस्तिमुळे बल 'वर्ण' सुधारले जाते.

क्षीराद्यो प्रसृतौ कार्यो मधुतैल घृतात्रय:।
खजेन मथितो बस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत।। **च.सि. 8/3**

द्रव्य	मात्रा
माक्षिक	1 प्रसृत = 80 मिली
स्नेह घृत	1 प्रसृत = 80 मिली
तैल	1 प्रसृत = 80 मिली
* क्षीरकषाय	2 प्रसृत = 160 मिली
एकुण	**5 प्रसृत = 400 मिली**

उपयोगिता - शूल, परिणामशूल (कस्तुरे, 2009)

चक्रपाणि यांनी टिका करतांना क्षीर बस्तिमध्ये लवण वर्ज्य सांगितले आहे.

* शास्त्रानुसार क्षीरबस्तिमधे केवळ क्षीराचा वापर करण्यास सांगितले आहे. परंतू व्यवहारात व अनेक संशोधनांचा अभ्यास केल्यास विविध द्रव्यांनी सिद्ध केलेल्या क्षीराचा वापर केल्यास अनेक व्याधींमध्ये उपयुक्तता सिद्ध झाली आहे.

4) तिक्तक्षीरबस्ति

अस्थाश्रयाणां व्याधीनां पंचकर्माणि भेषजम्।

बस्तयः क्षीरसर्षीपि तिक्तकोपहितानि च।।

उपयोगिता

1. कटिशूल
2. अस्थिमज्जागतवात
3. Spondylosis, spondylitis
4. Autoimmune Diseases like SLE, etc.

स्नेह - घृत-पंचतिक्तघृत गुग्गुल

तैल - धन्वन्तर तैल, बला गुडूच्यादि तैल

क्षीरकषाय - गुडूची किंवा पंचतिक्त (निम्न पटोल गुडूची, वासा, कंटकारी)

5) यापनबस्ति (च.सि. 12)

यापन बस्तिमध्ये प्रामुख्याने मांसरस, दुग्ध, मधु, घृत गुळ, सैंधव असते. ज्याठिकाणी केवळ तैल असे वर्णन असल्यास मूर्च्छित तिळ तैल समजावे. यापन बस्तिची मात्रा नऊ प्रसुत असावी. चरकाचार्यांनी सिद्धीस्थानामध्ये 26 यापन बस्तिंचे वर्णन केलेले आहे. प्रत्यक्षात मुस्तादि यापन, बलादि यापन या बस्तिं वैद्यवर्गात अधिक प्रिय आहेत.

(a) मुस्तादि यापन (राजयापन बस्ति)

योग्य/उपयोगिता (Indications/Utility):

1. शुक्रजनन
2. मांसबल वृद्धी
3. क्षतक्षीण
4. कास (Cough)
5. शूल (Pain)
6. विषम ज्वर (Intermittent fever)
7. कुक्षिशूल (Pain in flanks)
8. उदावर्त (Retrograde intestinal movement)
9. मूत्रकृच्छ्र (Difficulty for urination)
10. विसर्प (Herpes)
11. प्रवाहिका (Dysentery)
12. शिरोरुजा (Headache)
13. जानूसंधिशूल (Joint pain)
14. उरु, जंघाशूल (Pain in thighs & calf)
15. अश्मरी (Calculus)
16. प्रमेह (Diabetes)
17. वातरक्त (Arthritis)
18. रसायन Rejuvenation
19. During chemotherapy to prevent complications
20. Spondylosis
21. Sub Acute combined degenerative disease

द्रव्य	शास्त्रोक्त	व्यवहारात
माक्षिक	½ प्रस्थ	100 मिली
लवण	½ कर्ष	10 ग्रॅम
स्नेह (तैल+घृत)	½ प्रस्थ	160 मिली
कल्क	मात्रा स्पष्ट नाही	30 ग्रॅम
क्षीरकषाय	2 प्रस्थ	300 मिली
मांसरस	½ प्रस्थ	100 मिली
एकुण		**700 मिली**

स्नेह - तैल - क्षीरबला तैल

घृत - अश्वगंधादी घृत, सुकुमार घृत

कल्क - मधुयष्टी, कुटज, रसांजन, प्रियंगु, शतपुष्पा (प्रत्येकी 6 ग्रॅम)

कषायक्षीर - नागरमोथा, वाळा, बला, आरग्वध रास्ना, मंजिष्ठा, कटुकरोहिणी, त्रायमाणा, पूनर्नवा बिभीतक, गुडूची, लघुपंचमूल (उपलब्ध होणे कठीण) (प्रत्येकी 10 ग्रॅम) मदनफल (4-8 नग)

(b) बलादि यापन (च.सि. 12/16)

ही बस्ति प्रामूख्याने कफानुबंधी वात व्याधींसाठी उपयुक्त आहे.

योग्य (Indications):

1. शुक्रसंग
2. मूत्रसंग (Retention of urine)
3. वर्चसंग, आध्मान (Distention)
4. गुल्म (Tumour)
5. हृद्रोग (Heart diseases like cardiac myopathy)
6. पार्श्वग्रह
7. कटिग्रह } (Spondylitis, Spondylosis,PID)
8. पृष्ठग्रह
9. संज्ञानाश (Loss of sensation)
10. बलक्षय (General Disability, AIDS)
11. रसायन (Rejuvenation)

द्रव्य	शास्त्रोक्त	व्यवहारात
माक्षिक	1 प्रसृति	80 मिली
लवण	1 कर्ष	10 ग्रॅम
स्नेह - तैल - घृत	2 प्रसृति	160 मिली
कल्क	मात्रा नाही	30 ग्रॅम
क्षीरकषाय	12 प्रसृति	300 मिली
कांजी	-	80 मिली
एकुण	**15 प्रसृति**	**620 मिली**

स्नेह - तैल - बला तैल, महानारायण तैल, घृत-शतावर्यादिघृत, अश्वगंधादिघृत, महास्नेह

कल्क - मधुयष्टी, मदनफल, शतपूष्पा, कुष्ठ, पिप्पली, वचा, कुटज, रसांजन, प्रियंगु, अजवायन (प्रत्येकी 3 ग्रॅम)

क्षीरकषाय-बला, अतिबला, रास्ना, आरग्वध, मदनफल, बिल्व, गुडूची, पूनर्नवा, एरण्ड, अश्वगंधा, सहचर, पलाश, देवदारु, दशमूल, यव, कोल, कुलत्थ (प्रत्येकी 10 ग्रॅम)

वैशिष्टये : यापन बस्ति आयुचे यापन (to support) करते व आयुवृद्धी करते.

निरुहो लेखना : प्रायो बृहणाः स्नेहबस्तयः।

यापनेषु उभयं तस्मात् नेष्टं तेषु अनुवासनम्।। **अ.सं.क. 5**

1. निरुह बस्ति लेखन प्राधान्य आहे तर अनुवासन बस्ति प्राधान्याने बृहण करणारी आहे परंतु यापन बस्ति दोन्ही कार्य करणारी असल्याने यापन बस्ति निरुहाचा विकल्प असूनही व्यत्यास क्रमाने अनुवासनाची आवश्यकता नाही.
2. या बस्तिमुळे अग्नि वर्धन होते.
3. ही बस्ति वाजीकर व रसायन कर्म करणारी असल्याने उत्तम शुक्राची उत्पत्तीसाठी लाभदायक आहे. बल व मांस वृद्धीकर आहे.
4. सर्वरोग प्रशमन करण्याची शक्ती यापन बस्तिमध्ये आहे.
5. यापन बस्तिसाठी फार पथ्य पालन करण्याची आवश्यकता नाही.
6. ही बस्ति निरापद आहे. व्यापद-शक्यता जवळ जवळ नसते.

तरीही यापन बस्तिच्या काळात खालील गोष्टींचा त्याग करावा.

व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बुच संभोजनं रथक्षोभो बस्तिष्वेतेषु गहितम्।। च.सि. 12/23

1. व्यायाम
2. मैथुन
3. मद्यसेवन
4. मधु सेवन
5. शीतभोजन (Refrigerator मधील पदार्थ Ice-Cream, Cold-drinks)
6. रथक्षोभ (traveling)

यापन बस्ति व्यापद (Complications):

शोफाग्निनाशपाण्डुत्वशूलार्शः परिकर्तिकाः।

स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थ सेवनात् ।। **च.सि. 12/30**

1. शोफ (oedema)
2. अग्निनाश (Anorexia)
3. पाण्डू (Auaemia)
4. शूल (Pain)
5. अर्श (Haemmorrhoids)
6. परिकर्तिका (Fissure-in-Ano)
7. अतिसार (Diarrhoea)

प्रमाणापेक्षा अधिक मात्रेत व अधिक संख्येत दिलेल्या बस्तिंमुळे अर्श, परिकर्तिका ही लक्षणे उदभवण्याची शक्यता असते.

चिकित्सा - अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया। **च.सि. 12/31**

1. शिवाक्षार पाचन चूर्ण, शंखवटी
2. द्राक्षासव, तक्रारिष्ट
3. दाडिमाष्टक चूर्ण

6) माधुतैलिक बस्ति

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।

माधुतैलिक इत्येवं भिषग्निर्बस्तिरुच्यते।। **सु.चि 38/114**

या बस्तिंमध्ये मधु व तैल हे प्रमुख घटक असल्यामुळे या बस्तिस 'माधुतैलिक' म्हणतात

माधुतैलिक बस्ति हा निरुह प्रकारातील असून यापन, युक्तरथ, सिद्धबस्ति हे त्याचे पर्याय आहेत. माधुतैलिक बस्ति राजे (उच्चपदस्थ अधिकारी), श्रीमंत, सुखासीन, सुकुमार, बाल, वृद्ध, यामध्ये दोषनिर्हरणाचे कार्य करते तसेच बल, वर्ण उत्तम करण्यासाठी ही बस्ति उपयोगी आहे. इतर बस्तिसारखे वाहन, मैथून, भोजन, मद्यपान इ. नियमांचे पालन करण्याचे बंधने नाहीत. उलट निरुहासारखे सर्व गूण प्राप्त होतात आणि व्यापद जवळ जवळ नसतात. ही पादहीन बस्ति (9 प्रसृत मात्रेची) आहे.

गुणधर्म - दीपन, पाचन, बल्य, वर्ण्य, बृहण, वृष्य, रसायन

योग्य (Indications):

1. मेदोरोग (obesity)
2. गुल्म (Lump)
3. कृमी (worm infestation)
4. प्लीहा (splenomegaly)
5. मलसंग (constipation)
6. उदावर्त (Retrograde intestinal movement)
7. प्रमेह (Polyurea, diabetes)
8. अर्श (hemorrhoids)
9. आंत्रवृद्धी (Hernia)

द्रव्य	मात्रा	
	सुश्रूत चि	**गयदास, डल्हण, शाउखं 6/28**
माक्षिक	2 प्रसृत = 160 मिली	1 पल = 40 मिली
लवण	1 कर्ष = 10 ग्रॅम	¼ पल = 10 ग्रॅम
स्नेह	2 प्रसृत = 160 मिली	1 पल = 40 मिली
कल्क	½ पल = 20 ग्रॅम	½ पल = 20 ग्रॅम
कषाय	4 प्रसृत = 320 मिली	2 पल = 80 मिली
एकुण	**650 मिली**	**160 मिली**

स्नेह - सहचर तैल, बला गुडूच्यादि तैल, धन्वन्तर तैल,

कल्क - शतपूष्पा

क्वाथ - एरण्डमूल (150 ग्रॅम), मदनफल 1 नग

देण्याचा काळ - माधुतैलिक बस्ति कोणत्याही ऋतुमधे, कोणत्याही काळात सर्व रोगांमधे दिली जाऊ शकते.

अयोग्य - माधुतैलिक बस्ति अजीर्ण अवस्थामध्ये देऊ नये व दिवास्वप्न वर्ज्य करण्यास सांगावे (सु.चि. 38/113)

7) पंचप्रासृतिकी बस्ति

ह्या बस्तिची मात्रा पाच प्रसृति असल्यामुळे यास पंचप्रासृतिकी बस्ति म्हटली आहे. बस्तिची उत्तम मात्रा द्वादश प्रसृति असून व्याधी, बल, प्रकृती इ. चा विचार करुन बस्तिच्या प्रमाणात उपाययोजना केली आहे. पटोलनिम्बादि ही बस्ति पंचप्रासृतिकी आहे. द्वाद्शप्रासृतिकीमध्ये कल्काची मात्रा दोन पल आहे त्याप्रमाणे ह्या बस्तिमधे कल्काची मात्रा स्पष्ट नाही. टिकेमध्ये ही मात्रा 'षडभागोनं पलं' असे वर्णन करुन 1/6 पल एवढी घेण्यास सांगितली आहे.

पटोल निम्बादि

योग्य (Indications):

1) प्रमेह 2) अभिष्यन्द 3) कुष्ठ

द्रव्य	मात्रा
स्नेह - घृत	1 प्रसृति = 80 मिली
कल्क	1/6 पल = 7 ग्रॅम
कषाय	4 प्रसृति = 320 मिली
एकुण	**5 प्रसृति = 400 मिली**

स्नेह - तिक्तकघृत, पंचतिक्तघृतगुग्गुळ, मूर्च्छित तिळ तैल

कल्क - सर्षप

कषाय - पटोल, निम्ब, भूनिम्ब, रास्ना, सप्तच्छदा

8) क्षारबस्ति (वंगसेन-क्षारबस्ति/179-181)

1. जीर्ण विबंध (chronic constipation)
2. शूल (Pain)
3. आनाह (Tympanitis)
4. मूत्रकृच्छ्र (Difficulty in urination)
5. कृमी (Worms)
6. उदावर्त (Retrograde intestinal movement)
7. गुल्म (Lump)

द्रव्य	मात्रा
गुळ (द्रव करुन)	2 पल = 80 ग्रॅम
लवण	1 अक्ष = 10 ग्रॅम
स्नेह	- = 80 मिली
कल्क	1 अक्ष = 10 ग्रॅम
गोमूत्र	8 पल = 320 मिली
अम्लिका	2 पल = 80 ग्रॅम

स्नेह - क्षारतैल, सहचरादि तैल

कल्क - शतपुष्पा

सर्व द्रव्यांना आधी वर्णिल्याप्रमाणे एकत्र करुन वस्त्रगाळ करावे व सुखोष्ण करुन बस्ति द्यावा.

क्षारबस्ति जेवणानंतर दिली जाऊ शकते. क्षार बस्ति अधिक रुक्षता निर्माण करणारी असल्यामुळे आदल्या दिवशी स्नेह बस्ति देऊन दुसऱ्या दिवशी सकाळी क्षारबस्ति द्यावा व त्याच सायंकाळी पुन्हा स्नेह बस्ति द्यावा त्यामुळे आंत्राचा क्षोभ टाळता येईल.

9) वैतरण बस्ति (चक्रदत्त 73/25-32, वंगसेन-बस्तकर्माधिकार: 186)

योग्य (Indications):

1. कटि शूल व शोथ (Spondylitis)
2. उरुशूल व शोथ (Neuropathy)
3. पृष्ठशूल शोध व शूल (Spondylitis)
4. उरुस्तम्भ (जीर्णावस्था)
5. जानुसंकोच (Knee Jt. Spasticity)
6. विषमज्वर (Intermittent fever)
7. क्लैब्य (Impotency)
8. आमवात (Rheumatic condition)
9. आनाह (Tympanitis)

द्रव्य	मात्रा
गुळ	1/2 पल = 20 ग्रॅम
लवण	1 अक्ष = 10 ग्रॅम
स्नेह	इषत् मात्रा = 40 मिली
अम्लिका कल्क	4 तोळे = 40 ग्रॅम
गोपय	1 कुडव = 160 मिली
एकुण	**300 मिली**

गुळ - गुळामध्ये पाणी घालुन मधुसारखा करावा व गाळून घ्यावे

स्नेह - धन्वन्तरम् तैल, सहचरादि तैल दूध दूध

अम्लिकाकल्क - बीजरहीत अम्लिका रात्री पाण्यामध्ये भिजत ठेवावे, दुसऱ्या दिवशी त्याच प्लेटमध्ये दाबून करुन एकजीव करावे व गाळून घ्यावे.

गोपय - गोपय चा अर्थ गोमूत्र व दुग्ध आहे. आमज विकारामध्ये कफनाशक म्हणून सर्वत्र गोमूत्राचाच वापर केला जातो. वैतरण बस्तिमधे गोमुत्राऐवजी दूधाचाही वापर केला जातो. चिकित्सकांनी दूधाचा उपयोग करतांना जीर्ण अवस्था ओळखावी आमवाताच्या जीर्ण अवस्थेत आमावस्था नसल्यास 'वैतरण वस्ती' देतांना गोमूत्राऐवजी दुग्ध उपयोगात आणण्यास हरकत नाही.

वैतरणवस्ती निरुह प्रकार असतांनाही जेवणांनतर दिली जावू शकते:

वैतरण: क्षारबस्तिर्भुक्ते चापि प्रदीयते।। चक्रदत्त 73/34

10) कृमीघ्न बस्ति (च.चि 8/9-10)

योग्य (Indications):

1) कृमी (worms)
2) ज्या व्याधीच्या सम्प्राप्ती मध्ये कृमी हे हेतु असल्यास

द्रव्य	मात्रा
स्नेह	1 प्रसृत = 80 मिली
* कल्क	(स्पष्ट उल्लेख नाही) 1 पल = 40 ग्रॅम
कषाय	5 प्रसृत = 400 मिली
एकुण	**6 प्रसृत = 480 मिली**

* कल्काची मात्रा बस्ति द्रव्याच्या $\frac{1}{12}$ एवढी घ्यावी हा सामान्य नियम आहे.

स्नेह - मूर्च्छित तैल, करंज तैल

कल्क - विडंग, पिप्पली (प्रत्येकी 20 ग्रॅम)

कषाय द्रव्य - विडंग, त्रिफला, शिग्रु, मदनफल, नागरमोथा, आखुपर्णी (दंती)

11) a. लेखन बस्ति (सु.चि. 38/82)

योग्य (Indications):

1) स्थौल्य (Obesity)
2) Hyper Thyroidisum
3) Hyper Lipidemia

द्रव्य		मात्रा
गुळ		½ पल = 20 ग्रॅम
माक्षिक		4 पल = 160 मिली
लवण		1 अक्ष = 10 ग्रॅम
स्नेह		6 पल = 240 मिली
कल्क		2 पल = 80 ग्रॅम
कषाय		8 पल = 320 मिली
आवाप	धान्याम्ल / गोमूत्र	3 पल = 120 मिली
	यवक्षार	3 कर्ष = 30 ग्रॅम
एकुण		**24 पल = 960 मिली**

ही 24 पल मात्रेची बस्ति आहे.

स्नेह - मूर्च्छित तिल तैल, कटू रस द्रव्य सिद्ध तैल

कल्क - **i.** उषकादिगण (सैंधव, शिलाजीत, कासीस, पुष्पकासीस, हिंग, तुत्थक (मोरचूद) यात केवळ धातूवर्ग असल्यामुळे काही वैद्य वर्ग यवान्यादि कल्क वापरतात

ii. यवानी, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वचा, शतपुष्पा, मुस्ता, पिप्पली,

कषायद्रव्य - त्रिफला

आवापद्रव्य - गोमूत्र याचा पर्याय म्हणून धान्याम्ल ही वापरला जातो किंवा व्हिनेगर वापरले जाते.

b. लेखनबस्ति (वंगसेन)

द्रव्य	मात्रा
माक्षिक	120 मिली
लवण	10 ग्रॅम
स्नेह (मूर्च्छित तैल)	120 मिली
कल्क	25 ग्रॅम
कषाय	160 मिली
गोमूत्र	80 मिली
आवाप यवक्षार	10 ग्रॅम
एकुण	**480 मिली**

कल्क - उषकादि गण किंवा हिंगू वचादि चूर्ण

कषायद्रव्य - त्रिफला

12) सर्वरोगहर निरुह (सु.चि 38/71-76

योग्य (Indications):

1. बल, मांस, शुक्र क्षय
2. ओजोवर्धक असल्याने ओजोक्षयात
3. गुल्म
4. असृग्दर
5. विसर्प
6. मूत्रकृच्छ्र
7. क्षतक्षय
8. विषमज्वर
9. अर्श
10. ग्रहणी
11. वातकुण्डल
12. जानूशूल जंघाशूल
13. शिरःशूल
14. बस्तिशूल
15. उदावर्त
16. वातरक्त
17. शर्करा
18. अष्ठीला
19. कुक्षिशूल
20. उदर
21. अरुची
22. रक्तपित्त
23. कफोन्माद
24. प्रमेह
25. आध्मान
26. हृदग्रह

वरील व्याधींच्या यादीवरुन स्पष्ट होते की ही बस्ति वात, पित, कफ ह्या तिन्ही दोषांचा शमन करणारा आहे त्यामुळे ह्या बस्तिस सर्वरोगहर बस्ति म्हटले आहे.

एष बस्तिः स्वस्थातुरविषयः सर्वरोगहरश्च। **डल्हण**

द्रव्य	मात्रा
गुळ	1/2 पल = 20 ग्रॅम
माक्षिक	3 पल = 120 मिली
स्नेह	6 पल = 240 मिली
कल्क	3 पल = 120 ग्रॅम
कषाय	8 पल = 320 मिली
मांसरस	1 पल = 40 मिली
क्षीर	1 पल = 40 मिली
सौवीर/धान्याम्ल	1 पल = 40 मिली
रसांजन	1 पल = 40 मिली
एकूण	**24 पल = 960 मिली**

स्नेह - मूर्च्छित तिल तैल

कल्कद्रव्य - मदनफल, मधुयष्टी, मिसि (बारीक सौफ), सैधव, इंद्रयव

सैधव मिश्रीत करतांना बस्तिद्रव्य संमेलन विधीनुसार माक्षिका समवेत प्रथम मिश्रीत करुन नंतर इतर कल्क द्रव्य मिश्रीत करावीत.

कषाय द्रव्य - रास्ना, आरग्वध, पूनर्नवा, कुटकी, उशीर, नागरमोथा, त्रायमाणा, गुडूची, रक्तपूनर्नवा, पंचमूल, बिभीतक, बला

13) बृहण बस्ति (सु.चि. 38/83)

यापन बस्ति बृहण बस्ति आहेत. सुश्रुतांनी वर्णन करतांना बृहण बस्ति असा स्वतंत्र उल्लेख केला आहे. ही बस्ति बल व मांस वर्धन करणारी आहे.

योग्य (Indications):

1) बलक्षय
2) मांसक्षय Muscular wasting
3) ओजक्षय अवस्था

द्रव्य	मात्रा
माक्षिक	4 पल = 160 मिली
लवण	1 अक्ष = 10 ग्रॅम
स्नेह	6 पल = 240 मिली
कल्क	2 पल = 40 ग्रॅम
कषाय	8 पल = 320 मिली
मांसरस	3 पल 7 *टंक = 125 मिली (Approx)

*(1 टंक - 4 माशा)

स्नेह - गोघृत, अश्वगंधादिघृत, शतावर्यादिघृत

कल्कद्रव्य - काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपणी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटश्रृंगी, वंशलोचन, पद्मकाष्ठ, प्रपौंडरीक, ऋध्वि, मृद्विका, जीवन्ती, मधूयष्टी

कषायद्रव्य - शालीपर्णी, विदारिकंद, बला, पुनर्नवा, पृथक्पर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, कंटकारी, एरण्ड, हंसवादी, वृश्चीकाली, कपिकच्छू, गोक्षुर

या गणातील बरीचशी द्रव्ये बाजारात उपलब्ध नाहीत त्यामुळे शास्त्रात वर्णील्या प्रमाणे पर्यायी बल्य द्रव्य घ्यावीत.

14) वातघ्न बस्ति (सु.चि. 38/77

केवळ वात वृद्धी असल्यास ह्या प्रकारच्या बस्तिची उपाययोजना करावी.

योग्य (Indications): सर्व वात-व्याधींमध्ये

द्रव्य	मात्रा	व्यवहारात
माक्षिक	3 पल = 120 मिली	40 मिली
लवण	3 टंक = 12 ग्रॅम	10 ग्रॅम
स्नेह	6 पल = 240 मिली	100 मिली
कल्क	3 पल = 120 ग्रॅम	30 ग्रॅम
क्षीर कषाय	8 पल = 320 मिली	300 मिली
मांसरस	1 पल = 40 मिली	40 मिली
एकूण	**21 पल = 840 मिली**	**480 मिली**

स्नेह - त्रिवृतस्नेह, क्षीरबला तैल, महास्नेह

कल्क - 1) त्रिवृत्त

क्षीरकषाय द्रव्य - 1) भद्रदार्व्यादि गण

15) पित्तघ्न बस्ति (सु.चि. 38/78)

योग्य (Indications): पित्तरोग

द्रव्य	मात्रा	व्यवहारात
माक्षिक	4 पल = 16 मिली	80 मिली
लवण	1 अक्ष = 10 ग्रॅम	10 ग्रॅम
स्नेह	4 पल = 160 मिली	80 मिली
कल्क	2 पल = 80 मिली	30 ग्रॅम
क्वाथ	8 पल = 320 मिली	300 मिली
शर्करा	1 पल = 40 ग्रॅम	20 ग्रॅम
क्षीर	4 पल = 160 मिली	100 मिली
एकुण अंदाजे	**23 पल = 925 मिली**	**560 मिली**

स्नेह - घृत - तिक्तकसर्पि, महातिक्तक घृत, चंदनादिघृत, दाडिमादि

कल्क - काकोल्यादि गण + शर्करा एकत्र करुन

कषाय द्रव्य - न्यग्रोधादि गणातील द्रव्ये

(वट, उदुम्बर, पिंपळ, प्लक्ष, मधूक, आम्रातक, अर्जुन, जम्बू, प्रियाल, रोहिणी (कटफल), वेतस, कदंब, बंदर, सल्लकी, पार्श्वपिप्पल)

16) कफघ्नबस्ति (सू.चि 38/79)

योग्य (Indications): कफरोग पित्तरोग

द्रव्य	मात्रा	व्यवहारात
माक्षिक	6 पल = 240 मिली	80 मिली
लवण	3 टंक = 12 ग्रॅम	12 ग्रॅम
स्नेह	3 पल = 120 मिली	50 मिली
कल्क	3 पल = 120 ग्रॅम	30 ग्रॅम
क्वाथ	8 पल = 320 मिली	300 मिली
गोमूत्र	3 पल 7 टंक = 125 मिली	75 मिली
एकुण अंदाजे	**23 पल = 925 मिली**	**500 मिली**

स्नेह - कटूतैल, त्रिफलादि तैल

कल्क - पिप्पल्यादि द्रव्य गण

कषाय - आरग्वधादिगण

उत्तर बस्ति

व्याख्या - उत्तरमार्गदीयमान तया किंवा श्रेष्ठगुणतया उत्तरबस्तिः। च.पा.च.सि. 9/50-57

उत्कृष्टावयवे दानात् बस्तिः उत्तर संज्ञितः वंगसेन

पुरूष व स्त्रियांमध्ये मूत्रमागातून (Intra vesical) व स्त्रियांमध्ये अपत्यमार्गातून (Intra uterine) औषधी देण्याची क्रिया उत्तर बस्ति होय. उत्तर मार्गातून बस्ति दिली जाते म्हणून या क्रियेला उत्तर बस्ति म्हणतात. तसेच ही श्रेष्ठ गुणांची (उत्तर गुणांची) असल्यामुळेही या क्रियेला उत्तर बस्ति म्हणतात.

उत्तर बस्तिचे महत्त्व (Importance):-

(1) सर्वश्रेष्ठ गुणांची बस्ति आहे.

(2) मुत्र रोगांमध्ये उपयुक्त.

(3) स्त्रियांच्या व्याधिंमध्ये उपयुक्त.

(4) वंध्यत्वासाठी महत्त्वाची चिकित्सा.

(5) मूत्राशय व गर्भाशय शोधन करण्यासाठी,

(6) मार्गावरोध (Blockage) दुर करण्यासाठी उत्तम चिकित्सा.

उत्तर बस्ति यंत्रः बस्ति यंत्राचे दोन भाग आहेत (1) नेत्र (2) बस्तिपुटक. शास्त्रामध्ये वर्णीत नेत्र व पुटकापेक्षा सध्यास्थितीत अर्वाचीन पध्दतीमध्ये तयार यंत्र सहज सुलभ उपलब्ध आहेत तसेच वापरण्यास सोयीस्करही आहेत.

1) **बस्ति नेत्रः** यास 'पुष्पनेत्र' पण म्हणतात. हे सुवर्ण वा रजत या पासून बनविण्याचे निर्देश आहेत. आचार्य चरकांनी लांबी 12 अंगुल (18 सेमी) व सुश्रुतांनी 14 अंगुल (21 सेमी) एवढी सांगितली तथा नेत्र छिद्राचे प्रमाण सर्षपबीज निघेल एवढा असावा.

स्त्रियांमध्ये पुष्प नेत्राची लांबी 10 अंगुल (15 सेमी) सांगितली आहे तथा नेत्र छिद्राचे प्रमाण मूगाचे बीज निघेल एवढे असावे.

पुष्पनेत्राचा आकार कनेर पुष्प वृंता सारखा तथा गोपुच्छप्रमाणे मूलभागात विस्तारीत व अग्रभागात संकुचित असावा. यास दोन कर्णिका असतात. एक मूलभागी बस्तिपुटक बांधण्यासाठी तर दुसरी मध्यभागी 6 ते 7 अंगुलावर.

बस्तिनेत्रप्रवेशः पुरूषांमध्ये - 6 अंगुल (9 सेमी) पर्यंत

स्त्रियांमध्ये - मूत्रमार्गात (Urethral) - 2 अंगुल (3 सेमी) पर्यंत

अपत्यमार्गात (Uterine) - 4 अंगुल (6 सेमी) पर्यंत

कन्यामध्ये - मूत्रमार्गात 1 अंगुल (1.5 सेमी) पर्यंत

अपत्यमार्गात- 2 अंगुल (3 सेमी) पर्यंत

* शक्यतो कन्यांमध्ये उत्तर बस्ति देणे टाळावे.

2) **बस्तिपुटक:** निरूह अुवासन बस्ति प्रमाणेच बस्तिपुटक उपयोगात आणावा, केवळ आकार लहान असावा.

प्रचलीत उत्तर बस्ति यंत्र:-

(i) Plain Rubber Catheter (ii) Rubins canula
(iii) Utetrine sound (iv) Syringe

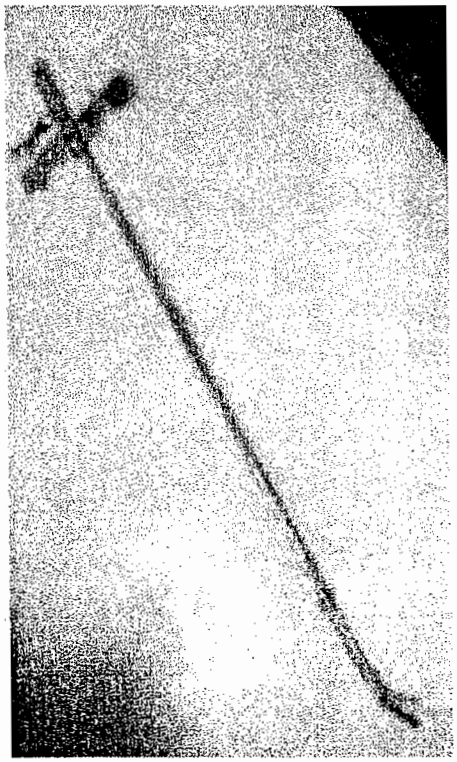
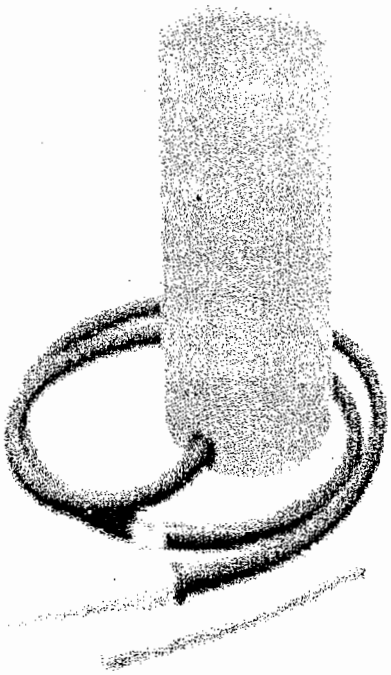
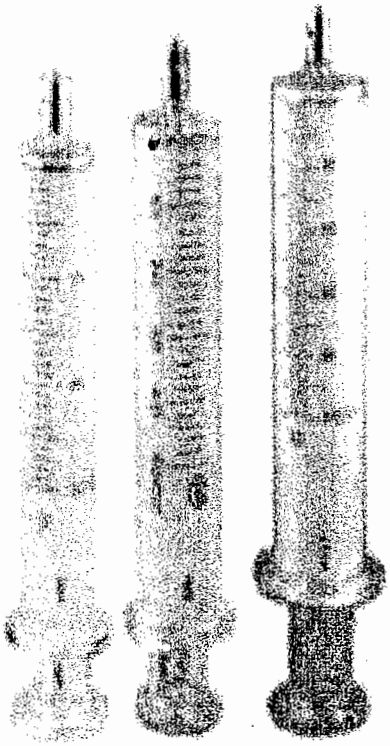

स्त्रीयांमधे उत्तरबस्ति:

स्त्रीयांमधे अपत्यमार्गात व मुत्राशयामधे बस्ति दिला जातो. यात योनिधावन (vaginal douche) चाही अंतर्भाव होतो. उत्तरबस्ति स्नेह व निरुह दोन्ही प्रकारांनी दिली जाते. योनिधावनासाठी प्राधान्याने कषाय उपयोगात आणला जातो.

योग्य (Indications):

बस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशनेषुच।।
योनिशूलेषू तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे।
अप्रस्त्रवति मूत्रे च बिन्दुं बिन्दुं स्त्रवत्यापि।। च.वि 9/63-64

1. बस्ति विकार (Diseases of Urinary Bladder)
2. योनिविभ्रंश (Prolapse of Uterus)
3. योनिशूल (Severe Pain in uterus)

4. असृग्दर (Menarrhagia)
5. मूत्र अप्रसवण (Anuria)
6. बिंदू बिंदू मूत्रता (Dribbling of Urine)
7. पुष्पनाश/अनार्तव (Amenorrhea excluding pregnancy or menopause)
8. अकाल रज:प्रवृत्ती (Irregular menses)
9. वंध्यत्व (Infertility)

अयोग्य (contraindication)

1. गर्भाशय ग्रीवा पाक (Cervicitis)
2. कन्या (Child female)
3. CA Uterus, CA cervix

सामान्य योग

1. फलघृत
2. सहचरादि तैल
3. धन्वन्तर तैल
4. कुटजघृत

बस्तिदान काल 1) चरकार्यानुसार उत्तरबस्तिपूर्व 2-3 स्नेह बस्ति द्यावा (च.सि. 9/68)

1. बस्तिरोग, योनी व गर्भाशय संबंधी व्याधीमधे उत्तरबस्तिपूर्वी 2-3 आस्थापन बस्ति देऊन शोधन करावे (अ.हृ. सू. 19/70)

2. बस्ति एका दिवसात 2-3 वेळा दिली जाऊ शकते अथवा 3 दिवस प्रतिदिन बस्ति दिली जावू शकते. त्यांनतर 3 दिवस विश्रामकाल ठेवून पूल: 3 दिवसाचा बस्ति क्रम देता येऊ शकतो. (अ.सं.सू. 28/77-78). प्रत्यक्षात दिवसातून एकदाच बस्ति दिली जाते

3. **स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृते:।**
   विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये।
   योनिविभ्रंशशूलेषू योनिव्यापद्यसृग्दरे । **अ.हृ.सू. 19/77-78**

स्त्रीयांमध्ये आर्तवकालामध्ये स्त्राव थांबल्यांनतर उत्तरबस्ति द्यावा. या काळात गर्भाशय स्नेह ग्रहण करण्यास योग्य असते.

योनिविभूंश योनिशूल, योनिव्यापद, असृग्दर या अवस्थांमध्ये बस्ति देण्यासाठी कोणताही काल पालन करण्याची आवश्यकता नाही.

चरक व वाग्भटाचार्यानी आर्तवं कालामध्ये उत्तरबस्ति देण्यासंबंधी वर्णन केलेले आहे परंतू याचा अर्थ आर्तवकाल न घेता ऋतुकाळात घ्यावा. सहाव्या दिवसापासून 3 उत्तरबस्ति दिल्यानंतर 3 दिवस विश्राम काल ठेवून पून: 12 व्या दिवसापासून 3 उत्तर बस्ति द्यावेत (Nampoothiri, 2010)

पूर्वकर्म

1. संमतीपत्रक (consent form) 2. संभारसंग्रह
3. रुग्णपरिक्षण व योनिपरीक्षण 4. अभ्यंग-स्वेद

1. **संमतीपत्रक (consent form) :** यापूर्वी वर्णिल्याप्रमाणे रुग्णास समजेल अशा भाषेत असलेल्या संमतीपत्रकावर रुग्ण व/किंवा नातेवाईकांची स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा
2. **संभारसंग्रह :** निर्जंतूक केलेल्या सुसज्ज शस्त्रागार मध्ये उत्तरबस्ति साठी खालीलप्रमाणे उपकरण व द्रव्याची तयारी करुण ठेवावी.

   i. बस्तिनेत्र व पुटक (syringes 100 ml, catheter 18 no.) ii. Gloves
   iii. Cotton iv. Forceps, Sim's speculum
   v. उत्तरबस्तिद्रव्य - स्नेह (sterilized Oil)
3. **रुग्णपरीक्षण व योनिपरीक्षण :** उत्तरबस्ति देण्यापूर्वी रुग्णाचे आवश्यकतेनुसार खालील परिक्षण केलेले असावे

   HSG (Hystosalpingography)
   USG (Lower Abdomen)
   Ovulation study
   Urine - Routine and microscopic

   योनिपीरक्षण : उत्तरबस्तिपूर्वी रुग्णाचे योनिपरीक्षण करावे ज्यामुळे स्थानिक व्याधी, विकृती लक्षात येतील
4. **अभ्यंग स्वेद** - उत्तरबस्ति देण्याचे दिवशी आतुरसिद्धता करण्यासाठी मल-मूत्र विसर्जनानंतर रुग्णास कटि, पृष्ठ, नितंब याभागी अभ्यंग व स्वेद करावे. यवागू + घृत पिण्यासाठी द्यावे (सू. चि. 37/108)
5. **मात्रा** - स्नेह - 20 मिली, कषाय - 160 मिली

प्रधानकर्म

आसन - रुग्णास उत्तानावस्थेत झोपून दोन्ही पाय जानूसंधीपासून दुमडून जानूसंधी वर करुन करावी (Lithotomy position) व रुग्णास मानसिक धैर्य देवून शरीर, सक्थि शिथील करण्यास सांगावे.

बस्ति प्रणिधान

a. **मूत्रमार्गगत (Through Urethral Orifice)** - बाह्ययोनि निर्जंतुकीकर द्रव्याने स्वच्छ करुन पूर्ण क्रियेमध्ये निर्जंतूकता राहील यासाठी काळजी घ्यावी.

Labia विस्फारीत करुन वरच्या भागास उचलावे व मूत्रमार्ग (Urethral opening) निर्जंतूक द्रव्याच्या पिचूद्वारे खालच्या दिशेने, समोरुन मागच्या दिशेने स्वच्छ करावे.

पूष्पनेत्र (catheter) स्नेहामध्ये बुडवून हळुवार मूत्रमार्गात 2 अंगूल (2 इंचपर्यंत) घालावा. मूत्राशयामधून सर्व मूत्र बाहेर निर्हरीत होऊ द्यावे.

बस्तिपुटक वा syringe द्वारे आवश्यक मात्रेत निर्जंतूक केलेला सुखोष्ण स्नेह बस्तिनेत्रास जोडून मूत्रमार्गात हलक्या दाबाने प्रवेशित करावा

बस्तिनेत्र (catheter) हळुवार बाहेर काढावा catheter ऐवजी glass syringe चा सरळ वापर करावा [Rajendra H. Amilkanthawar 1JTL 3(2), 2004]

b. **गर्भाशयात (Uterine)**

Sim's speculum व vulsellum च्या साहाय्याने गर्भाशय ग्रीवा (cervix) पकडून त्यास विस्फारीत करावा Internal OS मध्ये catheter प्रवेशीत करुन आवश्यक मात्रेत स्नेह प्रवेशित करावा.

स्नेहमात्रा प्रत्येक दिवशी क्रमाने वाढवावी (अ.ह.सू. 19/81-82)

पश्चातकर्म

रुग्णास OT च्या बाहेर काढून वार्डमध्ये बेडवर Head low position मधे किमान तीन तास राहण्यास सांगावे

सायंकाळी लघू आहार घेण्याचा सल्ला द्यावा,

मैथून वर्ज्य करण्याचा सल्ला द्यावा

1. Peritonitis - अधिक मात्रेत दिल्याने
2. Cystitis, UTI असल्यास antibiotics
3. स्नेहप्रत्यागमन न होणे - शास्त्रामध्ये फलवर्तिचा वापर करण्यास सांगितले आहे. Catheterization करुन स्नेह बाहेर काढता येऊ शकेल.

   निरुहबस्ति, अभ्यंग-स्वेद
4. मूर्च्छा (shock) - Head low position → monitor vital

   शीतपरिषेक, सूवर्णसुतशेखर, हेमगर्भपोटलीरस,

पुरुषांमध्ये उत्तरबस्ति :

पुरुषांमध्ये शिश्नावाटे मूत्रमार्ग-मूत्राशयामध्ये बस्ति प्रवेशीत केली जाते. पुरुषांमध्ये उत्तरबस्ति प्रामूख्याने मूत्रवह, शुक्रवह स्त्रोतसांच्या व्याधींसाठी चिकित्सा म्हणून वापरली जाते.

प्रकार -

i. अनुवासन - स्नेहप्रधान,

ii. निरुह - कषायप्रधान

योग्य (indication):

1. मूत्रमार्गसंकोच (Urethral stricture)
2. अष्ठीला (BPH)
3. अश्मरी (calculus)
4. क्लैब्य (impotency)
5. वंध्यत्व (fertility)
6. बस्तिकुंडल (Painful bladder)
7. शुक्रदोष

अयोग्य (contraindication):

1. मूत्रमार्गातील तीव्र शोध (Urethritis)
2. ग्रंथी (Cyst/tumour)

सामान्ययोग : क्लैब्य, ध्वजभंग – सहचरादितैल
शुक्रदोष – क्षीरबला तैल
मूत्रमार्गसंकोच – तिळतैल, अश्वगंधादितैल, कासीसादि तैल

पूर्वकर्म

1) संमतीपत्रक 2) संभारसंग्रह
3) रुग्णपरीक्षण 4) अभ्यंग-स्वेद

1. **संमतीपत्रक (consent form) :** यापूर्वी वर्णिल्याप्रमाणे रुग्णास समजले अशा भाषेत असलेल्या संमतीपत्रकात रुग्ण किंवा नातेवाईकांकडून स्वाक्षरी/अंगठा घ्यावा.
2. **संभारसंग्रह :** निर्जंतूक केलेल्या (fumigated) सुसज्ज शस्त्रागार (OT) मध्ये उत्तरबस्तिसाठी खालीलप्रमाणे सिद्धता ठेवावी
   i. शलाका, बस्ति नेत्र व पुटक (probe, syringe, catheter)
   ii. gloves
   iii. cotton
   iv. Penile clamp
   v. **उत्तरबस्ति द्रव्य** – स्नेह वा कषाय (sterilized)

   उत्तरबस्तिसाठी वापरण्यात येणारे यंत्र, शस्त्र व औषधीद्रव्य autoclave करुन घ्यावे.
3. **रुग्णपरिक्षण :** उत्तरबस्ति देण्यापूर्वी मूत्रमार्गाचं परिक्षण करावे
   Urogram, USG, Urine - R/M, Blood Sugar: - F/PP

4. **अभ्यंग व स्वेद :** विट्-मूत्र विसर्जनानंतर रुग्णाच्या कटि, पृष्ठ, नितंब, उदरभागी मृदू अभ्यंग व मृदू स्वेद करावा. स्नेहबस्तिप्रमाणे रुग्णास लघू आहार द्यावा.
5. **मात्रा** - स्नेह - 40 मिली ते 50 मिली,
   निरुह - 80 मिली ते 100 मिली

प्रधानकर्म

अष्टांगहृदयकारांनी रुग्णास जानूसंधी एवढ्या उंच पीठावर बसुन हर्षित मेढ्रामध्ये (erected penis) उत्तरबस्ति प्रविष्ट करण्यास सांगितले आहे (अ.हृ.सू. 19/73-74). प्रत्यक्षात OT टेबलावर रुग्णास उत्तान अवस्थेत झोपण्यास सांगावे. रुग्णास निर्वस्त्र करुन अधः शरीरावर निर्जंतूक वस्त्राने आच्छादीत करावे. शिश्नभागास निर्जंतूक द्रव्याने स्वच्छ करावे.

डाव्या हाताने शिश्नास धरुन उजव्या हाताने पूष्पनेत्र (catheter) हळूवार मूत्रमार्गामध्ये प्रवेशीत करावा. Catheter आत घालण्यासाठी सोईचे व्हावे यासाठी त्यास स्नेहामध्ये लिप्त करावा किंवा Xylocaine Gel चा वापर करावा यामुळे रुग्णास शूल होत नाही.

Catheter आतमध्ये गेल्यानंतर उर्वरित मूत्राचे निर्हरण झाल्यानंतर syringe द्वारे आवश्यक मात्रेत सुखोष्ण स्नेह वा कषाय प्रवेशीत करावा ह्यानंतर penile camp लावून रुग्णास उत्तान अवस्थेत पाय वर करुन झोपण्यास सांगावे.

Urethral stricture मध्ये catheter चा वापर न करता केवळ glass syringe चा वापर केला जातो.

पश्चातकर्म

30-40 मिनिटानंतर बस्ति प्रत्यागमन होते. संहितामध्ये बस्तिप्रत्यागमन काल स्पष्ट वर्णिला गेलेला नाही. यास स्नेहबस्तिसारखा समजावा. दाह झाल्यास यष्टीमधून क्वाथ, मधू, शर्करा यांचा बस्ति द्यावा. उत्तरबस्ति क्रिया 3-4 वेळा करावी. रात्री मूद्ग यूष, मांसरस, लघू सुवाच्य उपहार द्यावा.

व्यापद -

1. Urethral Rupture
2. UTI, Cystitis - सुक्ष्मत्रिफळा, गोक्षुरादि गुग्गुळ, चंदप्रभावटी आवश्यकतेनुसार antibiotics
3. मूर्च्छा (shock)

7 नस्यकर्म (Errhine Therapy)

निरुक्ती : नस् - धातु गत्यर्थक अर्थाने तथा व्याप्ती या अर्थाने

नस् - नासिकायां - नासा (Nose) या अर्थाने

नस्य - नासा साठी हितकर

पर्यायीशब्द - शिरोविरेचन, शिरोरेचन

व्याख्या: औषधमौषध सिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम् (सु.चि. 40/21)

नासायां भवं नस्यम् (अरुणदत्त)

औषधी वा औषधी सिद्ध स्नेह नासा मार्गाने देण्याची क्रिया 'नस्य' होय

नस्यकर्म स्वरस, क्वाथ, तैल, चूर्ण या सारखी औषधीद्रव्य उर्ध्वजत्रूगत दोषांचे शोधन करण्यासाठी, शमन करण्यासाठी किंवा स्थानिक धातुंचे पोषण-बृंहण करण्यासाठी वापरण्यात येणारी पद्धती (Way of administration) आहे. नासा हा मार्ग आहे. आचार्यानी नासा हा 'मार्ग' म्हणून उच्च स्थान दिलेले आहे. 'नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्वाप्य हान्ति तान्।' (अ.हृ.सू.20/1) नासा हे शिराचे द्वार असून शिर:भागातील व्याप्त व्याधींसाठी 'नस्य' ही महत्त्वाची चिकित्सा आहे.

'नस्य' क्रियेद्वारे आयुर्वेदाने औषधी दानाचा सोपी व सोईस्कर क्रियेचा अविष्कार केला आहे. औषधांचे क्रियातत्व शरीरावर अल्पावधीत कार्य करत असल्यामुळे रुग्णास तात्काळ गुण मिळतो. त्यामुळे नस्य चिकित्सा अधिक लोकप्रिय ठरली. आधुनिक शास्त्रानेही त्यांच्या औषधी तात्काळ कार्य करण्यासाठी ह्या क्रियेस प्रगत केले (Nebulisation, Rotahalers, instillation)

नस्यकर्म महत्त्व व उपयोगिता (Significance/importane and Utility)

1. नासा हे शिराचे द्वार आहे. त्यायोगे शिर:प्रदेशातील व्याधींची चिकित्सा करण्यासाठी नस्य ही प्रमूख चिकित्सा आहे.
2. नस्य ही केवळ स्थानिक चिकित्सा नसून सार्वदेहीक चिकित्सा आहे. नस्यामुळे केवळ शिरस्थ दोषांचीच चिकित्सा केली जात नाही तर सार्वदेहीक दोषांचीही चिकित्सा केली जाते. नियमित नस्य घेतल्यास स्कंध, त्वचा उन्नत व प्रसन्न होऊन मन्या, अंस, वक्षप्रदेश दृढ होतात
3. नस्याद्वारे उत्तमांगातील अवयवांना बल प्रदान केले जाते. शिरस्थ स्नायु, संधी, अस्थि यांना दृढता प्राप्त होते.
4. इंद्रिय प्रामुख्याने उत्तमांगाच्या आश्रयाने कार्य करतात विविध इंद्रिये स्वत:च्या अधिष्ठानामध्ये राहून ज्ञानग्रहण करण्याचे कार्य करतात नस्यामुळे कर्ण, नासा, जिव्हा, नेत्र यांच्या आश्रयाने राहणाऱ्या इंद्रियांचे कार्य व्यवस्थीत होण्यास मदत होते.

5. नस्य हे शुक्र व मज्जा धातुवर कार्य करते त्यामुळे रसायन व वाजीकरण कार्यात नस्याचे महत्त्व आहे.
6. नस्याद्वारे उर्ध्वजत्रुगत व्याधींचा नाश करण्यासाठी मदत होते.
7. नस्य चिकित्सा खालित्य-पालित्य, व्यंग इ. सौंदर्य चिकित्सेतही वापरली जाते.
8. नस्य हे केवळ शिरोविरेचन करणारे नसून बृंहण व शमन चिकित्सा उपयुक्त म्हणून आहे.
9. नस्य हे मानस रोगांसाठी उत्तम चिकित्सा पद्धती आहे. नस्याने केवळ जीर्ण व्याधींवरच चिकित्सा केली जात नाही तर तीव्र अवस्थांमधेही (Acute condition) नस्य चिकित्सा तेवढीच उपयुक्त आहे. उदा. संन्यास, मोह, मूर्च्छा इ. अवस्थांमध्ये प्रधमन नस्य तर रक्त स्त्रावामध्ये स्तम्भन करणारी चिकित्सा नस्याने केली जाते.
10. इतर शोधन चिकित्सेमध्ये नस्य कर्म अधिक सोपे मानले जाते. त्यातील संभावीत व्यापद अल्प असून रुग्णांनी सहजतेने स्वीकारण्यासारखे आहे.

नस्यद्रव्य (Knowledge of Drugs for Nasya)

चरकोक्त (च.सु. 2/3-5)

1) अपामार्ग बीज	2) पिप्पली	3) मरिच
4) विडंग	5) शिग्रु	6) सर्षप
7) तुंबरु (नेपालीधनिया)	8) अजाजी (जीरक)	9) अजमोदा
10) पीलू	11) एला	12) पृथ्विका (कलौंजी)
13) सुरसा (तुलसी)	14) श्वेता (अर्क)	15) कुठेरक (तुलसीभेद)
16) फाणिञ्जक (तुलसीभेद)	17) शिरीष बीज	18) रसोन
19) हरिद्रा	20) सौवर्चल लवण	21) सैंधव लवण

सुश्रुतोक्त (सु.सू. 39/6)

1) पिप्पली	2) विडंग	3) अपामार्ग
4) शिग्रु	5) सिद्धार्थक (सर्षप)	6) शिरीष
7) मरिच	8) करवीर	9) बिंबी
10) अपराजिता (श्वेत)	11) किणिहि (करभी)	12) वचा
13) ज्योतिष्मती	14) करंज	15) अर्क
16) रसोन	17) अतिविष	18) श्रृंगबेर
19) इंगुदी	20) मेषश्रृंगी	21) मातुलूंग
22) मुरंगी (सरीजन रक्तफुल)	23) पीलू	24) जाती

25) ताड 26) मधुक 27) लाक्षा

28) हिंगू 29) लवण 30) मद्य

31) गोशक्रु (गोमय) 32) गोमूत्र

वाग्भटोक्त (अ.हृ.सू. 15/5)

1) विडंग 2) अपामार्ग 3) त्रिकटू

4) दारुहरिद्रा 5) राल 6) शिरिष बीज

7) बृहती 8) शिग्रु 9) मधूक सार

10) सैंधव 11) रसांजन 12) एला

13) एला (बृहत) 14) पृथ्विका

नस्यासाठी उपयुक्त द्रव्यांचे चूर्ण, कल्क, क्वाथ, क्षीर, स्वरस, तैल, घृत, इ. पंचविध कषाय कल्पनांचा वापर केला जातो.

व्यावहारिक नस्य योग

अणुतैल - घटकद्रव्य - चंदन, अगरु, मधुयष्टी, बला, पौंडरिक, विडंग, कमल, हरीतकी, दालचिनी मुस्ता, जीवंती, पद्मकेशर, शतावरी, बृहती, व्याघ्री, हरेणू, एला, तिळतैल.

उपयोग - स्वर, इंद्रिय प्रसन्न व निर्मल होतात. अर्दित, हनुग्रह, पीनस, अर्धावभेदक, मन्यास्तम्भ केश खालित्य-पालित्य.

षडबिंदू तैल - घटकद्रव्य - एरण्डमूल, सुंठ, तगर, शतपुष्पा, जीवन्ती, रास्ना, सैंधव, दालचिनी, मधुयष्टी, अजादुग्ध, तिळतैल, भृंगराजस्वरस

उपयोग - शिरशूल, जीर्णप्रतिश्याय, अर्धावभेदक, खालित्य-पालित्य, नेत्रकर, दंतदृढार्य

नस्यभेद

नस्यभेद तालिका विविध आचार्यांनुसार पूढील पानावर दिलेली आहे. चरकाचार्यांनी वर्णन केलेल्या नस्य प्रकारात सर्व आचार्यांनी वर्णन केलेल्या नस्य प्रकारांचा समावेश होतो. मात्र अष्टांगहृदयकारांनी वर्णन केलेले नस्य प्रकार अतिशय व्यावहारीक आहेत.

नस्यासाठी उपयोगात येणाऱ्या द्रव्यांचे कोणते अंग प्रयोगात आणले जातात त्यानुसार सात प्रकार केले आहेत.

शिरोविरेचनम् सप्तविधम् फलपत्रमूलकंद पुष्प निर्यास त्वगाश्रयभेदात्। च.वि. 8/154

1) **फलनस्य** - अपामार्ग, पिप्पली, विडंग, मरिच, शिग्रु, शिरीष, पीलू, अजवायन, अजमोदा, एला यांच्या फलांचा उपयोग केला जातो.

नस्य भेद

चरक च.सि. 9-89,91	सुश्रुत सू.चि. 40/4	वाग्भट अ.हृ.सू. 20/2,7	कश्यप का.सि. 2, 4	शार्ङ्गधर शा.उ. 8/2,11,24	भोज डल्हण सु.चि 40/31
1) नावन - i. स्नेह ii. शोधन 2) अवपीड - i. शोधन ii. स्तम्भन 3) ध्मापन 4) धूम i. प्रायोगिक ii. वेरेचनिक iii. स्नैहिक 5) प्रतिमर्श i. स्नेह ii. विरेचन	1) शिरोविरेचन 2) स्नेहन i. नस्य ii. शिरोविरेचन iii. प्रतिमर्श iv. अवपीड v. प्रधमन	I. 1) विरेचन 2) बृंहण 3) शमन II. 1) स्नेह i. मर्श ii. प्रतिमर्श 2) कल्क-अवपीड 3) चूर्ण (विरेचन)ध्मान	I. 1) विरेचन 2) बृंहण 3) शमन II. 1) बृंहण 2) कर्षण III. 1) शोधन 2) पूरण	1) रेचन 2) स्नेहन	1) प्रायोगिक 2) स्नैहिक

2) **पत्रनस्य** – तुलसी, सप्तपर्ण, आरग्वध, मूलक, श्रृंगबेर, लसून, सर्षप, तालीशपत्र, तमालपत्र या द्रव्यांचा पत्राचा उपयोग केला जातो.

3) **मूलनस्य** – अर्क, अलर्क, कुष्ठ, नागदंती, वचा, भारंगी, ज्योतिष्मती, इंद्रायणा, अतिविषा, करंज यांचे मूळ नस्यार्थ वापरले जातात.

4) **कंदनस्य** – सुंठी, हरिद्रा, लसून, यांचे कंद उपयोगात आणले जातात.

5) **पुष्पनस्य** – लोध्र, सप्तपर्ण, निंब, अर्क यांची फुले नस्यार्थ उपयोगी आहेत.

6) **निर्यासनस्य** – हिंगू, देवदास, अगरु, शल्लकी, मधूक, लाक्षा, यांचे निर्यास उपयोगात आणले जातात.

7) **त्वक्नस्य** – गुडूचि, शोभाञ्जन, बृहती, दालचिनी, इंगुदी, मेषश्रृंगी यांच्या त्वचेचा वापर नस्यासाठी केला जातो.

सामान्य नस्यार्ह (नस्य योग्य) (General indications)

नस्य खालील व्याधींमध्ये करता येते खालील व्याधीला सामान्य अवस्था आहेत. प्रकारानुसार नस्य कर्माच्या विशेष अवस्था-विशेष व्याधी स्वतंत्र वर्णिल्या आहेत. चरकांनी (च.सि. 2/22) नस्याचे अयोग्य अवस्थांना सोडून सर्वच व्याधींमध्ये नस्य करण्यास सांगितले आहे. त्यापैकी विशेषत: खालील व्याधी नस्यार्ह आहेत.

1) शिरस्तम्भ (stiffness of head)
2) मन्यास्तम्भ (Neck stiffness-non meningeal)
3) दंतस्तम्भ (stiffness of teeth)
4) गलग्रह
5) हनुग्रह (locking of mandibular joint)
6) पीनस (chronic rhinitis)
7) गलशुण्डिका (elongated uvula)
8) गलशालूक (adenoids)
9) शुक्र (नेत्ररोग) (corneal opacity)
10) तिमिर (cataract)
11) वर्त्मरोग (disease of eye lids)
12) व्यङ्ग (pigmentation on face)
13) उपजिव्हिका (salivary cyst)
14) अर्धावभेदक (migrain)
15) ग्रीवा रोग (disease of neck)
16) स्कंध रोग (disease of shoulder)
17) अंसशूल (scapular pain)
18) नासारोग (diseases of nose)
19) आस्य (मुख) रोग (diseases of mouth)
20) नेत्ररोग (diseases of eyes)
21) मूर्ध (disease related to brain)
22) शिरोरोग (Headache)
23) अर्दित (facial palsy)
24) अपतन्त्रक(convulsive disorder like tetanus)
25) अपतानक
26) गलगण्ड (goitre)
27) दंतशूल (toothache)
28) दंतहर्ष (odonitis)

29) दंतचाल (movable tooth)
30) अर्बुद (tumour)
31) स्वरभेद (Hoarseness of voice)
32) वाक्ग्रह (dysarthria)
33) गद्गदत्व (dysarthria)

सामान्य नस्य अयोग्य (Contra indications): (च.चि 2/20, अ.हृ.सु. 20/11-13 सु.चि 40/47)

नस्य कर्म शक्यतो दुर्दिन अनृतो (अयोग्य वेळ) अवस्थांमध्ये करु नये. खालील काही अवस्था वा व्याधींमध्ये नस्य कर्म निषिद्ध आहे.

	नस्य अयोग्य	केल्यास होणारे व्यापद
1	भुक्त भक्त (जेवणानंतर लगेच)	दोष उर्ध्वगत होऊन स्त्रोतसांना आवृत्त करतात त्यामुळे कास, श्वास, च्छर्दि, प्रतिश्याय उत्पन्न होतात
2	अजीर्ण	
3	पीत स्नेह	मुख-नासा स्त्राव, नेत्र उपदेह, तिमीर शिरोरोग
4	पीत मद्य	
5	पीत तोय (अधिक पाणी प्यायलेला)	
6	शिर:स्नाता (Head bath)	प्रतिश्याय
7	क्षुधार्त	वातप्रकोप
8	तृष्णार्त	तृष्णाधिक्य, मुखशोष
9	श्रमार्त	आस्थापनामध्ये सांगितलेले व्यापद उदा. ज्ञान, विभ्रंग, मानसोपघात
10	मत्त	
11	मूर्च्छित	
12	शत्रदण्डहत (शस्त्राने जखमी)	तीव्र रुजा
14	व्यवाय क्लान्त (व्यवाथाने थकलेला)	शिर, उर:, स्कंध, नेत्र रुजा
15	व्यायाम क्लान्त (व्यायामाने थकलेला)	
16	पान क्लान्त (अधिक मद्याने व्याधीत)	
17	नवज्वर	नेत्रनाडीमध्ये दोष संचित होऊन 'तिमीर' होतो ज्वरवृद्धी
18	श्लोकाभिताप	
19	विरिक्त(विरेचन झालेला)	वायूवृद्धी, इंद्रिय उपघात
20	अनुवासीत	कफवृद्धी होऊन शिरोगौरव, कंडू, कृमिदोष

21	गर्भिणी	गर्भस्तम्भ, काणा (नेत्रदोष), कुणी (एक हाताने छोटा) पक्षहत (अर्धांग कार्यहिनता) पाठसर्पि उभयपाद क्रिया हानि (paraplegia)
22	नवप्रतिश्याय	स्त्रोतसामध्ये दोषांची व्याप्ती होऊन प्रतिश्याय वृद्धी
23	अनृत	पूतिनासा शिरोरोग
24	दुर्दिन	
25	गरार्त	गरदोष वृद्धी
26	श्रांत	तृष्णा, उद्‌गार
27	बाल	
28	वृद्ध	
29	वेगावरोधित (वेगार्त)	
30	रक्तस्त्रावित	वायूवृद्धी
31	सुतिका	तृष्णा, वायूवृद्धी
32	श्वास	व्याधी वृद्धी
33	कास	

I. नावन नस्य

सामान्यपणे नियमीत देण्यात येणारे प्रमुख नस्य यास केवळ 'नस्य' म्हणतात. ज्या प्रक्रियेमध्ये अणुतैलासारखे स्नेह नासापुटात प्रविष्ट केले जाते त्यास नावन नस्य म्हणतात. या प्रकारात पिचु स्नेहामध्ये बुडवून नस्य दिले जाते.

दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधि। च.सू. 5/68

नस्याने ग्रीवा, स्कंध, उरः यास बल प्राप्ती होते, दृष्टी प्रसाद होऊन शिरःशुन्यता नष्ट होते (सु.चि 40/22) नस्याचे कार्य कार्मुकतेच्या आधारे दोन प्रकार पडतात 1) स्नेहन नस्य, 2) शोधन नस्य - सुश्रुतांनी या प्रकारास शिरोविरेचन म्हटले आहे.

1) **स्नेहन नस्य :** स्नेहन नस्य सिद्ध औषधांचे घृत, तैलाने दिले जाते. सिद्ध स्नेहाच्या गुणानुसार नस्य वात कफ हर, पित्तरक्तहर, वातपित्तहर कार्य करते (डल्हण)

स्नेहननस्य योग्य (सु.चि 40/22)

1 वातज शिरःशूल (Tension Headache)

2 दंतपात (Falling of teeth)

3 केशपात श्मश्रूपात (Falling of hairs mustache)

4	तीव्र कर्णशूल	(Acute earache)
5	कर्णक्ष्वेड	(Tinnitus)
6	तिमीर	(Cataract)
7	स्वरोपघात	(Hoarseness of voice)
8	नासारोग	(Disease of nose)
9	मुखशोष	(Dryness of mouth)
10	अवबाहुक	(Frozen shoulder, cervical radiculopathy)
11	अकालजवली	(Premature wrinkles on skin)
12	अकालजपलीत	(Premature greying of hairs)
13	दारुणप्रबोध	(Difficulty in eye opening)
14	वात-पित्तज मुखरोग	

स्नेह नस्याची उपयोगिता (च.सू. 5/57-60)

1. योग्य काळात सततच्या स्नेह (अणूतैल) नस्याने चक्षु, घ्राण व कर्णेन्द्रिय त्याचे कार्य उत्तम करतात.
2. केश, श्मश्रू श्वेत वा कपिल वर्णाचे होत नाही, केशवृद्धी योग्य होते
3. मन्या-स्तम्भ, शिर:शूल, अर्दित, हनुग्रह, पीनस, अर्धावभेदक, शिर:कम्प या सारख्या व्याधींच्या शमनासाठी उपयोगी ठरते.
4. कपाल प्रदेशीतील सिरा, स्नायु, कण्डरा, संधी यांना बल प्राप्ती होते.
5. स्वर उपचित, स्थिर होतो तर मुख प्रसन्न दिसते
6. उर्ध्वजत्रुगत व्याधी सहसा होत नाहीत
7. जरा (वार्धक्य) लवकर येत नाही.

मात्रा – (सु.चि 40/23)

हिन मात्रा – 8 बिंदू

मध्यम मात्रा – 16 बिंदू (शुक्तीप्रमाण)

उत्तम मात्रा – 32 बिंदू (पाणिशुक्ती)

भोज याचे नुसार – प्रायोगिक नस्य – 8 बिंदू

स्नेहिक नस्य – 16 बिंदू

2) **शोधन नस्य :** सुश्रुतांनी वर्णन केलेल्या शिरोविरेचन प्रकाराचा शोधन नस्यामध्ये अंतर्भाव केला जाऊ शकतो. शोधन नस्य प्रामुख्याने दोष बाहेर काढण्यासाठी उपयोगात आणले जाते. तीक्ष्ण द्रव्यांनी सिद्ध केलेले स्नेह शोधन नस्यासाठी वापरतात. शोधन नस्य प्रामुख्याने कफज, कफानुबंधीपित्तज व्याधीमध्ये केले जाते.

उपयोगी द्रव्य – पिप्पली, विडंग, शिग्रु अपामार्ग यांनी सिद्ध स्नेह

शोधन नस्य योग्य (Indications)

1	कफव्याप्त तालु (URTI)	2	कफव्याप्त कण्ठ (URTI)
3	कफव्याप्त शिर (Sinusitis)	4	अरुचि (Anorexia)
5	शिरोगौरव (Heaviness of head)	6	शिरःशूल (Headache)
7	पीनस (rhinitis)	8	अर्धावभेदक (Migraine)
9	कृमी (Worms)	10	प्रतिश्याय (Cold)
11	अपस्मार (Epilepsy)	12	गंधज्ञान नाश (Anosmia)
13	प्रसेक (Excessive salivation)	14	अर्बुद (Tumour)
15	कोठ (Skin rashes)	16	Cerebral oedema
17	Nasal polyps	18	Hydrocepalus

मात्रा – हिन मात्रा – 4 बिंदू
मध्यम मात्रा – 6 बिंदू
उत्तम मात्रा – 8 बिंदू

II. अवपीड नस्य

शृतशीतस्वरसादीनां पिचुनाऽवपीडनात् अवपीडः। डल्हण सु.चि 40/21
कल्कीकृताद् औषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः।
स्तेऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्ण द्रव्यसमुद्भवः।। शा.उ.खं. 8/12

हिम, फांट, स्वरस इ. च्या पिचुंना पीडन करुन किंवा कल्कास पीडन करुन त्यातून निघणाऱ्या द्रव द्रव्यांने नस्य करणे अवपीडन नस्य होय. यात नावनासारखे स्नेह नाही. सुश्रुतांनी यास शिरोविरेचनाचा विकल्प म्हटले आहे.

प्रकार – कार्मुकतेच्या आधारावर आचार्यांनी खालीलप्रमाणे प्रकार वर्णन केलेले आहेत. त्यांच्या नावासारखेच त्यांचे कार्य आहे.

चरक	चक्रपाणि	डल्हण/विदेह
शोधन	शोधन	संज्ञाप्रबोधन
स्तम्भन	स्तम्भन	स्तम्भन
	शमन	

योग्य (Indications): (सू.चि 40/44)

1	अभिष्यन्न-कफादिव्याप्त शिर	2	सर्पदंशामुळे मूर्च्छा	3	क्षीण
4	रक्तपित्त (Epistaxis)	5	कृश	6	दुर्बल
7	भीरु (घाबरट)	8	सुकुमार	9	अपस्मार
10	मानसरोग	11	मद	12	स्थावर विष
13	अपतन्त्रक	14	चिंतायुक्त	15	भययुक्त
16	क्रोध युक्त	17	संज्ञानाशः		

योग -

1 पिप्पल्यादि, विडंगादि कल्क - शोधनासाठी

2 शर्करा, सुस्त, घृत, क्षीर, मधु, दूर्वास्वरस-उर्ध्वरक्तपित्तामध्ये स्तम्भन करण्यासाठी

3 मांसरस, कल्क-क्षीण, कृश दुर्बलासाठी

4 संज्ञानाश झाल्यास संज्ञाप्रबोधन नस्य द्यावे. हे शोधन प्रकारचे नस्य आहे.

5 हिंगु, व्योष, वत्सक नासास्त्रावासाठी

मात्रा - (डल्हण सु.चि 40/44-45)

हिन मात्रा - 4 बिंदू

मध्यम मात्रा - 6 बिंदू

उत्तम मात्रा - 8 बिंदू

III. धमापन नस्य किंवा प्रधमन नस्य

प्रधमनमिति नासायां चूर्णप्रक्षेपणं ज्ञेयम। डल्हण सु.उ. 54/35 वर

चूर्णास नाडीद्वारे नासामध्ये क्षेपण करण्याची (फुंकर घालून नस्य देण्याची) क्रिया प्रधमन नस्य होय. प्रधमन नस्य शोधनप्रकारचे नस्य आहे.

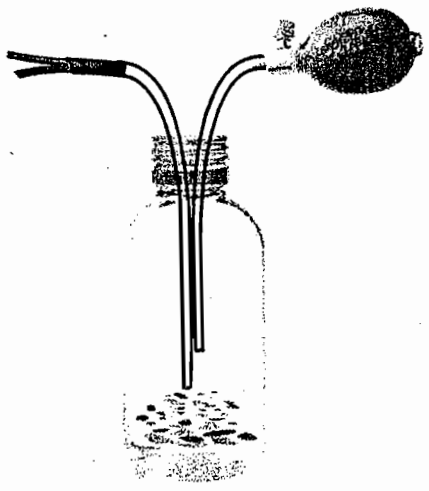

विधी - द्विमुख असलेल्या नाडी मध्ये चूर्ण भरुन त्यास नासामध्ये फुंकर घालून नस्य दिले जाते. काळानुसार यंत्रातही बदल झालेले आहेत. मुखाने फुंकर घालण्याऐवजी पम्प दाबल्याने तेवढयाच गतीने चूर्ण नासात जाऊन प्रधमन नस्य केले जाते.

द्विमुखी नाडीची लांबी 6 अंगुल (9 सेमी)

मात्रा - 3 मुच्यूटी (चिमूट)

विदेहानुसार - 2 तोळे (20 ग्रॅम) नस्य द्रव्य एका पातळ कापडी

पोटलीमध्ये बांधून पोटलीस नासा जवळ घेऊन जोराने नाकाने श्वास घ्यावे व ग्रहण करणे. यामध्ये पहिल्या विधीपेक्षा व्यापदाचे भय कमी असते.

योग - लवण, मरिच, विडंग, वचा, कटफल

योग्य (Indications):

चेतो विकारकृमि विषाभिपन्नानां चूर्ण प्रधमेत्।। **सू.चि. 40/46**

अत्यन्त उत्कट दोषेषु विसंज्ञषुच दीयते

चूर्णं प्रधमनं धीरेस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः।। **शा.उ.खं. 8/17**

1 मनोविकार (Psychosomatic)

2 कृमी (Worms)

3 विषाक्तता (सर्पदंशादि) (Snake bite)

4 दोषोत्क्लेष

5 विसंज्ञता (Unconscious)

6 उदावर्त

7 शिरोरोग (कफप्रधान) (कटफल)

IV. धूमनस्य

तेन प्रायोगिक स्नैहिक वैरेचनिक धूमानां नासादीयमानानामिह ग्रहणं,

मुखपेयस्तु धूमो न नस्यम **च.पा. (च.सि. 9/91)**

औषधी द्रव्यांचे धूम नाकाद्वारे ग्रहण करण्याची क्रिया धूम नस्य होय. जर धूम मुखाद्वारे ग्रहण केल्यास त्यास नस्य म्हणू नये. वाग्भटांनी धूमपान विधी वर्णन करतांना शिरोगत दोष उक्लिष्ट झालेले नसल्यास दोष उत्क्लिष्ट करण्यासाठी मुखाद्वारे धूम ग्रहण करण्यास सांगितले आहे. धूम नस्य नासाद्वारे ग्रहण करुन मुखाद्वारे सोडावे. मुखाद्वारे ग्रहण करुन नासाद्वारे धूम सोडल्यास नेत्र विकार उत्पन्न होतात.

प्रकार - धूमनस्याचे 3 प्रकार आहेत

1. **प्रायोगिक** - नित्य ग्रहण करण्यासारखे धूम,
   स्वस्थवृत्ताचे आचरण म्हणून रोज, ग्रहण करता येत
2. **स्नैहिक** - स्निग्ध व मधूर द्रव्यांचा उपयोग करुन नस्य दिले जाते.
   विशेषत: वात प्राधान्यामध्ये
3. **वैरेचनिक** - कफप्राधान्य दोषामध्ये तीक्ष्ण द्रव्यांचा धूम नस्य केले जाते,
   हे शोधन प्रकारचे धूम नस्य आहे.

औषधी द्रव्य व यंत्र – धूम नस्याचे प्रकार त्यांच्या गुणांवर आधारीत आहे त्यामुळे गुणानुसार द्रव्यांची निवड करावी तसेच धूमनस्यासाठी चरकांनी धूमनेत्र (धूमपान नलिका) वर्णन केलेली आहे. प्रकारानुसार त्यांची लांबी बदलण्यास सांगितली आहे.

अ.क्र	प्रकार	औषधी द्रव्य	धूम लांबी	मात्रा
1	प्रायोगिक	हरेणू, प्रियंगु, केशर, चंदन, उशीर जटामांसी मधुक, लोध्र, सर्जरस	लांबी – 24 अंगुल (36 सेमी) व्यास – करनिष्किा (1 सेमी)	2 वेळा
2	स्नेहिक	वसा, घृत, जीवनीय गणातील द्रव्यांची वर्ती तयार करुन	लांबी – 36 अंगुल (54 सेमी)	1 वेळा
3	वैरेचनिक (मूर्धविरेचन)	श्वेत अपराजिता, अगरु पत्र, ज्योतिष्मती, हरताल, मनःशिला **एलादि, तगर, कुष्ठ वर्ज्य**	लांबी – 32 अंगुल (48 सेमी)	3-4 वेळा

धूमपान योग्य (Indications):

धूमयोग्यः पिबेद्योषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रिये। **च.सू. 5/46**

1) शिरोरोग
2) नासागत दोष
3) नेत्रसंश्रयीत दोष

प्रतिमर्श नस्य व मर्श नस्य

प्रतिमर्शनस्यः

प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान। **च.सि. 9/116**

अयं प्रतिमर्शः स्वल्प स्नेह प्रमाणोऽनुच्छिङ्घ्नश्च सर्वकालिको ज्ञेय।।

च.पा. (च.सि 9/16-17)

प्रतिमर्श नस्य स्नेहाद्वारे अल्प मात्रेत दिला जाणारा नस्य प्रकार असून यामुळे दोष उत्पन्न होत नाही. हा नस्यप्रकार सर्वकाळ देय आहे.

प्रतिमर्श नस्याचे वैशिष्टयेः

1. व्याधींची वृद्धी होत नाही
2. दाढर्यकृत (शरीर दृढ करणारे कार्य)
3. सर्व ऋतुमध्ये देणे योग्य
4. कोणत्याही वयाच्या रुग्णांना देता येते.
5. दुर्बल, क्षीण, क्षत यामध्येही देता येते
6. व्यापद संभावना नसते
7. रोज दिल्याने मर्शासारखे कार्य
8. यास खास यंत्रणेची गरज नाही
9. इंद्रिय बल वाढवते.

विधी – स्नेहामध्ये तर्जनी 2 पर्वां पर्यंत बुडवून स्नेह बिंदू नासापूटामध्ये पडू द्यावे, रुग्णाने ते बिंदू नासाद्वारे आतमध्ये ओढून घ्यावे. स्नेहाची मात्रा इतकी असावी की स्नेह नासामधून कंठापर्यंत पोहचण्यास हवा मात्र गलभागी त्यामुळे स्त्राव होऊ नये. (च.पा).

मात्रा – 2 बिंदू (अंगुली 2 पर्वापर्यंत बुडवून जेवढी मात्रा पडेल ती मात्रा = 1 बिंदू)

काल – प्रतिदिन सकाळी व सायंकाळी

द्रव्य – **तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते**

शिरः श्लेष्मधामत्वात स्नेहा स्वस्थस्य नेतरे।। **अ.ह.सू. 20/33**

स्वस्थ व्यक्तींमध्ये नियमीत नस्यासाठी केवळ तैलच वापरावे. याशिवाय दुसरे स्नेह वापरु नये कारण शिर हे श्लेष्मा स्थान आहे. तैल श्लेष्मास्थान विरोधी स्नेह आहे.

प्रतिमर्श नस्य देण्याचा काळ – (सु.चि 40/51-52, अ.ह.सू. 20/28, शा.उ.खं 8/41-45)

अ.क्र.	प्रतिमर्श काळ	कारण व लाभ
1	तल्पोत्थित काल (सकाळी झोपेतून उठल्यानंतर)	रात्री कफ लिप्त झालेला काढण्यासाठी, मनप्रसन्न
2	प्रक्षालित दंतानंतर (दंतधावनानंतर)	दंतदृढ, मूख सुगंधीत
3	ग्रह निर्गच्छतां (घराबाहेर पडण्यापूर्वी)	नासा स्नेह लिप्त असल्याने धूळीमुळे नासास बाधा होत नाही Allergic reaction होत नाही
4	व्यायामानंतर	श्रम परिहार होतो
5	व्यवायानंतर	श्रम परिहार होतो
6	खूप चालल्यानंतर	श्रम परिहार होतो
7	मल विसर्जनानंतर	दृष्टीची गुरुता कमी होते
8	मूत्र विसर्जनांनतर	दृष्टीची गुरुता कमी होते
9	कवल नंतर	दृष्टी प्रसादनासाठी मदत
10	अंजन घेतल्यानंतर	दृष्टी प्रसादनासाठी मदत
11	भोजनानंतर	स्रोतोशुद्धी, शरीर लाघव
12	वमनानंतर	कंठगत कफ निस्सारणासाठी
13	दिवास्वापानंतर	शेष निद्रा घालवण्यासाठी, कफवृद्धीमुळे झालेली गौरवता नष्ट होते, एकाग्र चित्त होते
14	सायंकाळी/रात्री (वाग्भट)	सुख निद्रा, प्रातः निद्रेतून लवकर उठण्यासाठी
15	शिरोभ्यंगानंतर (वाग्भट)	कफ निस्सारणसाठी
16	हास्यानंतर (सतत हसल्यानंतर)(वाग्भट)	वायू शमनासाठी

प्रतिमर्श योग्य (Indications):

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्ध सुखात्मसु प्रयोऽयोऽकालवर्षेऽपि... अ.हृ.सू. 20/26

क्षीणे तृष्णास्य सीर्षार्ति बाले वृद्धे च युज्यते

प्रतिमर्शेन श्याम्यान्ति रोगाश्चैव उर्ध्वजत्रूजाः।।

वलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत्। **शा.उ.खं. 8/45**

1	क्षतक्षाम (Weak by trauma)	2	बाल (Child)
3	वृद्ध (Aged)	4	सुखात्मसु (Lead luxurious life)
5	क्षीण/दुर्बल (Weak)	6	उर्ध्वजत्रुगत रोग (Diseases relate to ENT)
7	वलीत (Wrinkles)	8	पलीत (Greying of hair)
9	तृष्णा (Thirsty)	10	आस्यशोष (Dryness of mouth)

अयोग्य (Contra indications):

..... न त्विष्टो दुष्ट पीनसे।

मद्यपीतेऽबल श्रोत्रे कृमिदूषितमूर्द्धनि।

उत्कृष्टोत्क्लिष्ट दोषे च हीन मात्र तया हि सः।। **अ.हृ.सू. 20/26-27**

1	दुष्ट पीनस (Chronic chinitis)	2	मद्यपीत (Alcoholic)
3	बाधीर्य (Deafness)	4	कृमीज शिरोरोग (Ulcers or infestation of head)
5	बहुदोष अथवा उत्क्लिष्ट दोष		

वरील सर्व अवस्थांमध्ये दोष अधिक उत्क्लिष्ट असतात. प्रतिमर्श नस्याची मात्रा अल्प असल्याने दोष निर्हरण होत नाही म्हणून वरील अवस्थामध्ये प्रतिमर्श नस्य देऊ नये.

मर्श नस्य

मर्श नस्य हे प्रतिमर्श नस्यासारखेच असून केवळ मात्रेचा फरक आहे. मर्श नस्याची मात्रा प्रतिमर्श नस्यापेक्षा अधिक आहे. मर्श नस्यामध्ये व्यापद होण्याची संभावना आहे परंतु मर्श नस्य प्रतिमर्श नस्यापेक्षा तीव्र गुणकारी आहे. ज्याप्रकारे अच्छपान करणे व विचारणा सह स्नेहपान करणे, कुटिप्रावेशिक रसायनाचे गुणधर्म व वातातपिक रसायनांचे गुणधर्म तसेच अनुवासन बस्ति व मात्राबस्तिचे गुण यामधील जो फरक आहे तोच फरक मर्श व प्रतिमर्श नस्यांमध्ये आहे. अल्पमात्रेतील नस्याने अर्थातच गुण उशीरा मिळतील व कमी काळापर्यंत टिकतील.

योग्य –1) बहुदोष, 2) गंभीर व्याधी, 3) चिरकाली व्याधी, 4) उत्क्लीष्ट दोष

मात्रा – अल्पमात्रा – 8 बिंदू – प्रती नासापूट

मध्यममात्रा – 16 बिंदू – प्रती नासापूट

उत्तममात्रा – 32 बिंदू – प्रती नासापूट

काल – दिवसातून एकदा

कार्मुकतेनुसार प्रकार (According to Action)

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत्। अ.हृ.सू. 20/1

I. विरेचन नस्य – विरेचन नस्य उर्ध्वजत्रुगत बहूदोष वा उत्क्लिष्ट दोषांना बाहेर काढण्यासाठी दिले जाते. प्राधान्याने कफ प्रधान व्याधीमध्ये दिले जाते. व्याधींच्या काही अवस्थांमध्ये विरेचन नस्य देऊन बृंहण व शमन नस्य दिले जाते.

विरेचन वा रेचन नस्यासाठी शिरोविरेचन द्रव्यांनी सिद्ध स्नेह, क्वाथ, चूर्ण कल्क वा स्वरस यांचा उपयोग केला जातो. या व्यतिरिक्त सुश्रुतांनी मद्य, सैंधव, मधु, आसव मूत्र यांचा ही वापर सांगितला आहे. (सु.सू. 23/5)

रेचक नस्याच्या शेवटी दोषांचा विचार करुन स्नेह नस्य द्यावे. (अ.हृ.सू. 20/21)

विरेचन नस्यार्ह (Indications):

विरेचनं शिरः शूल जाड्यस्यन्द गलामये।
शोफ गण्ड कृमिग्रन्थिकुष्ठापस्मार पीनसे। अ.हृ.सू. 20/2

1. शिरःशूल (Headache)
2. शिरोजाड्य (Feeling of dullness of head)
3. स्यन्द (Conjunctivitis)
4. गलामय (Diseases of throat)
5. शोफ (उर्ध्वजत्रुगत)(Oedema)- e.g. Hydrocephalus
6. गंड (Goitre)
7. ग्रंथी (Glandular swelling, benign tumors)
8. कुष्ठ (Skin diseases)
9. अपस्मार (Epilepsy)
10. पीनस (Rhinnorrhea)
11. मुर्च्छा (Syncope)
12. Acute sinusitis, nasal polyp
13. *Myasthenia gravis (first phase) (*Vasudevan M R *et al*)
14. गंध नाश (Anosmia)

द्रव्य – **सिद्ध स्नेह** – 1) शिरोविरेचन द्रव्य सिद्ध स्नेह, 2) षडबिंदू तैल
क्वाथ – 1) शिरोविरेचन गण - क्वाथ
चूर्ण – 1) त्रिकूट, 2) वचा, 3) कट्फल, 4) रास्नादि
स्वरस – 1) ताम्बूल पत्र स्वरस, 2) तूलसीपत्र स्वरस, 3) द्रोणपुष्पी स्वरस

II. बृंहण नस्य/तर्पण नस्य

बृंहण नस्यास चरकांनी तर्पण नस्य म्हटले आहे. वातप्राधान्य पित्तज वा क्षयज अवस्थांमध्ये बृंहण नस्य दिले जाते. बृंहण नस्य मांसरस, रक्त, खपूर (मोचरसादि निर्यास), दुग्ध, घृत यांनी केले जाते.

बृंहण नस्यार्ह (Indications):

बृंहणं वातजे शूले सुर्यावर्त स्वरक्षये।

नास्यास्य शोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके।। अ.ह.सू. 20/3

1. वातज शिरःशूल (Tension headache)
2. सूर्यावर्त (Frontal sinusitis)
3. स्वरक्षय (Aphasia aphonia)
4. नासाशोष (Dryness of nose)
5. वाक्संत्र (Difficulty in speaking, dysarthria)
6. कृच्छ्रबोध (Difficulty in opening eye lids-blepherospasm, ptosis
7. अवबाहुक (Cerical spondylosis, periarthritis, frozen shoulder)
8. निद्राबोध (Insomnia)
9. Cerebral ataxia
10. Macular degeneration
11. अर्धविभेदक (Trigeminal neuralgia)
12 वेपथू (Parkinsons, chorea)
13. अर्दित (Facial palsy)
14. Cerebral atrophy

द्रव्य - तैल - 1) क्षीरबला तैल, 2) धान्वन्तरम् तैल

घृत - 1) महास्नेह, 2) बलादिघृत, 3) ब्राह्मीघृत

III. शमन नस्य :

उर्ध्वजत्रुगत दोषांचे शमन करण्यासाठी शमन नस्याचा उपयोग करतात. चरक व वाग्भटांनी शमन नस्याचे वर्णन केले आहे. शमन नस्य पित्त व पित्त-वातज अवस्थांमध्ये अधिक उपयोगी आहे. शमन नस्यासाठी सिद्ध तेल, घृत, दुग्ध वा जल सुद्धा वापरले जाते. अणू तैल शमन नस्यामध्ये सर्वश्रेष्ठ स्नेह आहे.

शमनं नीलिकाव्यंङ्गकेशदोषक्षिराजिषु। अ.ह.सू. 20/4

1. नीलिका (Localised hyperpigmentation)
2. केशदोष (Alopecia, graying of hairs, hair loss)
3. व्यंग (Extensive hyper pigmentation on face
4. अक्षिराजी (Pannus)
5. रक्तपित्त (Hemorrhagic disease, epistaxis)
6. CVA

द्रव्य-अणूतैल

काल व मात्रा विचार

काल – आचार्यांनी ऋतुनुसार व दोषांच्या प्राधान्यानुसार नस्याचे काळ वर्णन केलेले आहेत. ऋतुनुसार काल हा स्वस्थ व्यक्तींसाठी आहे. दोषांच्या अवस्थेनुसार व व्याधीच्या तीव्रतेनुसार या कोणत्याही काळात कृत्रिम वातावरणात नस्य केले जावू शकते.

ऋतुनूसार :

शरद व वसंत – प्रात:

शीतकाल – मध्यान्ह

ग्रीष्म – सायंकाळ

वर्षा – सूर्यप्रकाश असेल तेव्हा (सा-तपे)

दोषानुसार :

कफज व्याधी – प्रात:

पित्तज व्याधी – मध्यान्ह

वातज व्याधी – सायंकाळ व रात्र

- वातज शिरोरोग, हिक्का, अपतानक, मन्यास्तम्भ व स्वरभ्रंश व्याधींमध्ये रोज प्रात: व सायंकाळी नस्य द्यावे (अ.ह.सू. 20/15)
- लालास्त्राव, सूप्ती, प्रलाप, अर्दित, कर्णनाद, तृष्णा, पूतिमुख या व्याधींमध्ये रात्री नस्य द्यावे.

(शा.उ.खं. 8)

कालावधी (Durations):

सुश्रुतमतानुसार-

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सप्ताहं वा पुन: पुन:।

एक विंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते।। **सू.चि 40/42**

एक किंवा दोन दिवसांच्या अंतराने दोषांची अवस्था बघून एक, दोन, सात दिवस किंवा 21 दिवस नस्य देता येते.

वाग्भटानुसार-

3, 5, 7 आणि 8 दिवस किंवा नस्याची सम्यक लक्षणे दिसेपर्यंत.

वातज शिरोरोग, हिध्म (hiccup), आयाम (tetany), अपतानक (episthotonos), मन्यास्तम्भ (neck stiffness-excluding meningitis), स्वर विभ्रंश (hoarsness of voice) यामध्ये रोज प्रात: व सायंकाळी नस्य करावे. इतर व्याधींमध्ये एक दिवसाआड 7 दिवस नस्य करावे.

भोजानुसार– अधिकाधिक 9 दिवस नस्य करावे.

मात्रा – नस्याची मात्रा ठरविणे हा सध्या शोधाचा विषय आहे. प्रत्येक आचार्यांच्या मते नस्याची मात्रा भिन्न-भिन्न वर्णीली आहे. चिकित्सकांनी आजच्या काळानुरुप, रुग्ण सहन करेल अशी मात्रा ठरवावी. नस्याची मात्रा 'बिंदू' मध्ये वर्णीली आहे. काही संस्थांनी यावर संशोधन करुन 'बिंदू' चे आजच्या काळातील मान ठरविले आहे व त्यानुसार नस्य मात्रेचा प्रयोग केला जातो.

1 शाण = 4 मिली,

8 बिंदू = 1 शाण = 4 मिली,

1 बिंदू = 0.5 मिली = 10 थेंब (drops).

वैद्य बारापात्रे (एमडी-प्रबंध)

बिंदू – प्रदेशिन्यंगुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात्। यावत् पतत्यसौ बिन्दुः.... अ.ह.सू. 20/9–10

तर्जनी अंगुली दोन पर्वापर्यंत द्रवामध्ये बुडवून अंगुली बाहेर काढल्यानंतर त्यातून पडणारी जेवढी मात्रा असेल ती सर्व मिळून एक 'बिंदू' एवढी मात्रा असावी. अर्थात दोन पर्वापर्यंत बुडवून मिळालेली मात्रा निश्चितच आपण समजत असलेल्या थेंबापेक्षा अधिक असेल म्हणून वरील मात्रा (1 बिंदू - 0.5 मिली) समजण्यास वाव आहे. त्यामुळेच आचार्यांनी सर्वसामान्य व्याधींमध्ये रोज नस्य न देता एकांतर किंवा दोन दिवसानंतर नस्य देण्यास सांगितले आहे. Nasal cavity मध्ये 15 मिली द्रव्याची क्षमता आहे त्यामुळे अधिक मात्रा ही विभागुन दिली जावी.

अ.क्र	नस्य प्रकार	बिंदू प्रति नासापूट		
		ह्रस्व मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
1	स्नेहन नस्य	8	16	32
2	शोधन नस्य	4	6	8
3	मर्श नस्य	6	8	10
4	प्रतिमर्श नस्य	2	2	2
5	अवपीड नस्य	4	6	8
6	प्रधमन नस्य (विदेह)	3 म्यूच्यूटी - 300 मिग्रॅ.		

शाङ्र्गधरानुसार नस्य मात्रा :

शाङ्र्गधरांनी द्रव्यानुसार मात्रा वर्णीली आहे

तीक्ष्ण औषधी - 1 शाण चूर्ण - 4 ग्रॅम

द्रव - 4 मिली

हिंगु	-	1 यव (1/2 रत्ती) -	63 मिग्रॅ.
सैंधव	-	1 माशा (6 रत्ती) -	12 ग्रॅम
दुग्ध	-	8 शाण (64 बिंदू) -	32 मिली
जल (औषधी सिद्ध)	-	3 कर्ष -	30 मिली
मधुर द्रव्य	-	1 कर्ष -	10 मिली

नस्यविधि :

सामान्यत: नस्य विधी तीन प्रकारामध्ये विभागली गेली आहे. 1) पूर्वकर्म, 2) प्रधानकर्म, 3) पश्चातकर्म व्याधी, दोष, प्रकृती इ. चा विचार करुन नस्याचा कोणता प्रकार करावयाचा आहे याची निश्चिती करुन घ्यावी.

नस्यविधी

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चातकर्म
(1) संभार संग्रह	(1) विधी	(1) निष्ठीवन
(2) संमतीपत्रक	नावन, प्रतिमर्श, मर्शनस्य	(2) मर्दन
(3) आतुर परीक्षण	अवपीड नस्य	(3) धूमपान व कवल
(4) आतुर सिद्धता	प्रधमन नस्य	(4) परीहार विषय
	(2) रुग्ण निरिक्षण	(5) आहार
	सम्यक योगातियोग लक्षणे	

पूर्वकर्म

1. **संभारसंग्रह :** नस्यासाठी आवश्यक यंत्र, द्रव्य तसेच संभावित व्यापद लक्षात घेऊन त्यासाठी लागणारी औषधी आधीच तयार ठेवावीत.
   1) नस्य टेबल किंवा नस्य खूर्ची,
   2) गॅस,
   3) पातेले, वाटी,
   4) dropper, cotton, गोकर्ण (नस्ययंत्र)/ध्मापनयंत्र,
   5) टॉवेल पुसण्यासाठी व स्वेदनासाठी,
   6) स्नेह-अभ्यंगासाठी - 100 मिली

7) नस्य द्रव्य आवश्यकतेनुसार,

8) धूमनेत्र,

9) निष्ठीवन पात्र (spittoon).

2. **संमतीपत्रक (Consent form):** रुग्णास समजेल अशा भाषेत असलेल्या संमती पत्रकावर रुग्णाची स्वाक्षरी वा अंगठ्याचे ठसे घ्यावे. रुग्णास नस्य क्रिया व त्यापासून होणारे संभावीत लाभ व व्यापद याची माहिती द्यावी.

3. **आतुर परीक्षण :** वय, बल पूर्ववृत्त नस्यार्ह, अनस्यार्ह इ. चे परीक्षण करावे.

इतर परीक्षण - BP, pulse, Eye tension etc,

CT-Scan, MRI (आवश्यकतेनुसार)

4. **आतुर सिद्धता :** मल-मुत्र विसर्जन करण्यास सांगावे. रुग्णाने लघु आहार घेतलेला असावा. रिकाम्या पोटी मर्श नस्य निषेध आहे.

5. **अभ्यंग-स्वेद :** रुग्णास उताणा (Supine) अवस्थेत टेबल वर झोपण्यास सांगून शिरोभाग, आस्यप्रदेश व ग्रीवा प्रदेशी कोष्ण तैलाने अभ्यंग करावे व त्यांनतर मृदू स्वेद करावे. मृदू स्वेदासाठी उष्ण जलामध्ये टॉवेल बुडवून त्यास पिळून घ्यावे. त्यानंतर टॉवेलमधून येणारे बाष्प व उष्ण टॉवेलने स्वेद करावे अन्यथा नाडीने मृदू स्वेद द्यावा.

आसन - नस्य टेबलावर रुग्णास शिरोभाग खाली येईल अशा पद्धतीने झोपवावे. डोकं 45° मध्ये खाली मागे झुकलेले राहील याची काळजी घ्यावी. मानेखाली उशी ठेवूनही 45° मध्ये डोकं मागच्या बाजूस वाकवून नस्यासाठी योग्य आसन होते. पाय हलकेसे उन्नत असावे.

प्रधानकर्म

विधी - (Administration of Nasya)

i) **नावन, प्रतिमर्श, मर्श नस्य :** वरीलप्रमाणे वर्णिलेल्या स्थितीत झोपवून रुग्णाच्या शिरोभागास उभे राहून उपचारकाने डाव्या अंगठ्याने नासाग्र वर करावे व ड्रॉपरच्या सहाय्याने किंवा गोकर्णाच्या सहाय्याने योग्य मात्रेत एका नासापुटात स्नेह सोडावा. यावेळी दुसरा नासापुट अंगुलीने बंद करुन रुग्णास खोल श्वास घेऊन औषधी आत ओढण्यास सांगावी. हीच क्रिया दुसऱ्या नासापुटात स्नेह सोडतांना करावी.

ii) **अवपीड नस्य** - व्याधीनुसार योग्य कल्क एका कापडात घेवून त्यास पिळावे. त्यातून पडणाऱ्या बिंदू द्वारे वरील विधीनुसार नस्य करावे.

iii) **प्रधमन नस्य** - एका बॉटल मध्ये आवश्यक मात्रेनुसार चूर्ण घ्यावे. या बॉटलच्या झाकणावर दोन छिद्र करुन एका बाजूस द्विमुख नाडी बसवावी व दुसऱ्या बाजूस नाडीमध्ये bulb (BP apparatus

bulb) बसवावा द्विमुख नाडी रुग्णाच्या नासापुटामध्ये घालावी (नासापुटामधे फार आत जाणार नाही याची काळजी घ्यावी) व bulb जोराने दाबावा यामुळे बॉटलमधील चूर्ण नासामध्ये जाईल.

iv) **धूमनस्य** – धूमपाना सारखी विधी

रुग्ण निरिक्षण – रुग्णास 100 अंक मोजेपर्यंत त्याच स्थितीत ठेवून सम्यक योगाचे व व्यापदाचे निरिक्षण करावे.

सम्यक योग लक्षणे – (च.सि. 1/51, सु.चि. 40/32, 33, अ.हृ.सू. 20/24)

1. उरःलघूता (Lightness of chest)
2. शिरोलाघव (Lightness of head)
3. चक्षु आदि इंद्रिय शुद्धता (Clarity of sense organs)
4. स्रोतोविशुद्धि (Clarity of channels)
5. सुखश्वास (Easy inspiration)
6. सुख स्वप्नप्रबोधन (Easy attainment of sleep & awakening)
7. विकारोपशम (Remission of the disease)
8. मनसुखम् (Feeling of happiness)

अयोग लक्षणे (च.सि. 1/51, सु.चि.40/35)

1. गलोपलेप (Coating of throat)
2. शिरोगौरव (Heaviness of head)
3. निष्ठीवन (Expectoration)
4. अक्षिस्तब्धता (Difficulty in eye movement)
5. नासाशोष (Dryness of nose)
6. मुखशोष (Dryness of mouth)
7. मूर्धशुन्यता (Feeling of emptiness of head)
8. वातवैगुण्य
9. इंद्रियाणां च रुक्षता (Dryness of sense organs)
10. रोग अशांती

लक्षण व दोषांची अवस्था बघून अयोगामध्ये पुनः तीक्ष्ण शिरेविरेचन द्यावे (च.सि. 1/53)

अतियोग लक्षणे

1. शिरःशूल (Headache)
2. अक्षिशूल (Pain in eye)
3. शंखशूल(Pain in temporal region)
4. कण्डू (Itching)
5. शिरोगुरुता (Heaviness of head)
6. कफ प्रसेक (Excess salivation)
7. अरुचि (Anorexia)
8. पीनस (Rhinitis)
9. इंद्रिय विभ्रम (इंद्रियानी स्वतःचे कार्य योगा न करणे)
10. वातवृद्धी

पश्चातकर्म

1. **निष्ठीवन** – रुग्णास गलभागी आलेला स्राव निष्ठीवन पात्रात थुंकण्यास सांगावे. नस्य औषधी वा कफ रुग्णाने गिळू नये.

2. **मर्दन-स्वेद** – नस्य कर्मानंतर पादतल, स्कंध, हस्त, कर्ण, ग्रीवा, ललाट इ. भागाचे मर्दन करावे (अ.हृ.सू. 20/20) आवश्यकतेनुसार मृदू स्वेद द्यावा.

3. **धूमपान व कवल** – नस्यानंतर औषधी द्रव्य युक्त धूमपान करावे त्यानंतर कोष्ण जलाने कवल करावा. यामुळे कंठशुद्धी होऊन सावशेष कफाचे निस्सारण होते.

4. **परिहार** – नस्यानंतर रुग्णाने खालील पथ्यापथ्याचे पालन करावे.

   1) निवांत स्थानी राहावे, एसी रुम टाळावी, रज, धूम, तीव्र प्रकाश टाळावा,

   2) स्नेह, मद्य, शीत अधिक द्रव द्रव्य घेऊ नये,

   3) प्रवास, क्रोध टाळावा,

   4) शीत स्नान, डोक्यासह स्नान करु नये.

5. **व्यापद व चिकित्सा** – व्यापद अयोगाने किंवा अतियोगामुळे होतात. व्यापद खालील प्रमुख कारणांमुळे होतात.

   1) **चिकित्सक**-चिकित्सकाने व्याधीचे व रुग्णाचे योग्य परीक्षण न केल्यामुळे अयोग्यामध्ये नस्य क्रिया केल्यास. मात्रांचे निर्धारण व्यवस्थित न केल्यास, चुकीच्या पद्धतीने नस्य केल्याने

   2) **औषध**-औषधांची गुणवत्ता योग्य नसल्यास,

   3) **रुग्ण** – परिहार विषय योग्य न पालन केल्यास,

   4) **परिचारक** – चिकित्सकांनी मार्गदर्शन केल्याप्रमाणे नस्य क्रिया न केल्यास

नस्य शिरोविरेक च व्यापदो द्विधा: स्मृता:।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्।। **सु.चि 40/49**

नस्य व्यापद दोन प्रकाराने होतात. स्नेहन नस्याने दोषोत्क्लेषज तर शिरोविरेचन नस्याने क्षय व्यापद उत्पन्न होतात. उत्क्लेश अवस्थेमध्ये शोधन व शमन चिकित्सा करावी तर क्षयज व्यापदामध्ये बृंहण चिकित्सा करावी.

हीन वा अतिमात्रा, अतिशीत वा अतिउष्ण द्रव्य वापरल्यास किंवा नस्य देतांना शिर अधिक खाली

अ.क्र.	व्यापद (च.सि 9/111-114)	लक्षणे	चिकित्सा
1	अजीर्ण, भूक्तभक्त, पीततोय मधे नस्य दिल्यास	कफरोग, श्वास कास, पीनस अग्निमांद्य	कफनाशक उष्ण तीक्ष्ण औषधी त्रिभुवनकिर्ती, तुलसी व आर्द्रक स्वरस मधूसह, लक्ष्मीविलास रस
2	कृश, गर्भिणी, तृष्णार्तामधे नस्य दिल्यास	वातप्रकोप, शूल, अंगमर्द मुखशोष	बृंहण चिकित्सा-घृत, दुग्ध, अश्वगंधा शतावरी सिद्ध दुग्ध/घृत, अभ्यंग, स्वेद
3	ज्वर, मद्यपीत, शोकार्त यात नस्य दिल्यास	तिमीर रोग	रुक्ष, शीत, लेप, अंजन, पुटपाक
4	तीक्ष्ण औषधी, तीक्ष्ण नस्य	मूर्च्छा	कपाल व आस्यप्रदेशी शीतजलाने परिषेक Modern - Headlow position - Inj. Adrenalin, Dexa

झुकवल्यास तृष्णा व उद्‌गार हे व्यापद उत्पन्न होतात. हे व्यापद दोषोत्क्लेष तथा क्षयज कारणाने उत्पन्न होतात. चिकित्सा वरीलप्रमाणे करावी. (सु.चि. 40/48)

आहार- लघु आहार, शीत द्रव्य वर्ज्य

धूमपान

उर्ध्वजत्रुगत कफ व वात दोषांचा उत्क्लेश झाल्यास धूमपान केले जाते. धूमपान ही केवळ व्याधींची चिकित्सा म्हणूनच नाही तर स्वस्थरक्षणार्थ दिनचर्येचा एक भाग म्हणूनही केली जावू शकते. वमनासारख्या शोधन क्रियेचे पश्चातकर्म म्हणून धूमपान केले जाते.

प्रकार -

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णस्व वात वातकफे कफे योज्यो। **अ.ह.सू. 21/2**

1 स्निग्ध - वातदोष प्राधान्यासाठी

2 मध्य - वातकफ दोष प्राधान्यासाठी

3 तीक्ष्ण - कफ दोष प्राधान्यासाठी

स त्रिविधोभवति।शमनो बृंहणः शोधनश्च तथा कासघ्न वामनो व्रणधूपनश्च।

तत्र शमनः प्रायोगिकोमध्यम इति पर्यायः। बृंहणः स्नेहनो मृदूरिति।

शोधनो विरेचन तीक्ष्ण इति च। **अ.सं.सू. 30/3**

धूमः पञ्चविधो भवतिः तद्यथा- प्रायोगिकः स्नेहनो, वैरेचनः कासघ्नो वामनीयश्चेति।

सु.चि.40/3

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।

रेचना कासहाः चैव वामनो व्रणधूपनः।।शा.उ.खं.9

अष्टांग संग्रहकारांनी, आचार्य सुश्रुत, शाङ्र्गधर यांनीही वरील प्रकारांतच अंतर्भूत होतील अशा पद्धतीने धूमपानाचे प्रकार वर्णीले आहेत.

ग्रंथ	प्रकार संख्या	धूमपान प्रकार
अष्टांग संग्रह (सू. 30/3)	3	1. शमन (प्रायोगिक / मध्यम), 2. बृंहण (स्नेहन/मृदू), 3. शोधन विरेचन/तीक्ष्ण) या व्यतिरिक्त i. कासघ्न, ii. वामक, iii. व्रणधूमपान
सुश्रुतसंहिता (चि. 40/3)	5	1. प्रायोगिक, 2. स्नेहन, 3. वैरेचनिक, 4. कासघ्न, 5. वामनीय
शाङ्र्गधर संहिता (उ.खं. 9)	6	1. शमन (प्रायोगिक/मध्यम), 2. बृंहण (स्नेहीक/मृदू), 3. रेचन (शोधन/तीक्ष्ण), 4. कासघ्न, 5. वामक, 6. व्रणधूपन

1. **प्रायोगिक धूमपान** – शमन प्रकारचे धूमपान असून मध्यम आहे. दोषांचे शमन करण्यासाठी प्रायोगिक धूमपान केले जाते. प्राधान्याने वात प्रधान व्याधींमधे उपयोगी खालील द्रव्याची वर्ती तयार करुन धूमपान केले जाते.

   द्रव्य – एलादि गण (कुष्ठ व तगर सोडून). कुष्ठ व तगर अधिक तीक्ष्ण असल्याने त्यांचा वापर केल्यास मस्तुलुंगाचे विलयन होते अर्थात अधिक तीक्ष्ण असल्याने यांचा वापर करु नये.

   हरेणु, प्रियंगु, चंदन, उशीर

2. **स्नैहिक धूमपान** – बृंहण प्रकारचे धूमपान, मृदू आहे. वात प्राधान्य दोषांसाठी उपयुक्त यासाठी खालील द्रव्यांची वर्ती तयार केली जाते.

   द्रव्य – एरण्ड बीज, देवदार, मोम (मेण), राळ, गुग्गुळ, वसा, घृत

3. **वैरेचनिक धूमपान** – तीक्ष्ण प्रकारचे धूमपान असून दोषांचे शोधन करण्यासाठी केले जाते म्हणून यास शोधन धूमपानही म्हणतात. कफ प्राधान्य दोषांसाठी प्रामुख्याने उपयोगी, यासाठी खालील तीक्ष्ण द्रव्यांची वर्ती तयार करुन धूमपान केले जाते.

   द्रव्य – विडंग, ज्योतिष्मती, मनःशील, हरताळ इ.

4. **कासघ्न** – 'कास' व्याधी दूर करण्यासाठी या धूमपानाचा उपयोग करतात.

   द्रव्य – बृहती, कंटकारी, पिप्पली, शुण्ठी, मरिच, कासमर्द, हिंगु, मनःशिल, कर्कटश्रृंगी

5. **वामनीय** – वमन करण्यासाठी जे धूमपान केले जाते ते वामनीय धूमपान होय. यासाठी खालील

द्रव्यांची वर्ती तयार केली जाते.

द्रव्य – प्राण्यांचे स्नायु, चर्म, खूर, शिंग, शुष्क मासे, शुष्क मांस, गांडूळ इ. वा मदनफल.

धूमपान योग्य (Indications): (च.सू. 5/27-33, अ.हृ.सू. 21/1, सू.चि 40/11)

धूमपान हे उर्ध्वजत्रुगत वात कफ दोषांसाठी निर्देशीत आहे 12 ते 80 वयोगटातील रुग्ण धूमपानास योग्य आहेत.

1. शिरोगौरव (Heaviness of Head)
2. शिरःशूल (Headache)
3. पीनस (Chronic rhinitis)
4. अर्धविभेदक (Migraine)
5. कर्णशूल (Earache)
6. अक्षिशूल (Painful eyes)
7. कास (Cough)
8. हिक्का (Hiccough)
9. श्वास (Breathlessness)
10. गलग्रह (Stiffness in throat)
11. दंतचल (Lack of stability of teeth)
12. लालास्त्राव (Excessive salivation)
13. कर्णरोग (Diseases of ear)
14. नेत्ररोग (Diseases of eye)
15. नासारोग (Diseases of nose)
16. पूतिनस्य (Chr. infection)
17. मुख दौर्गंध्य (Halitosis)
18. दन्तशूल (Toothache)
19. अरोचक (Tasteless mouth)
20. हनुग्रह (Stiffness of mandible)
21. मन्याग्रह (Stiffness of neck non meningeal involvement)
22. कंडू (Itching)
23. कृमी (Worm infestations)
24. वैस्वर्य (Improper voice)
25. गलशूण्डी (Infection in throat)
26. उपजिव्हीका (Ranculla)
27. खालित्य (Baldness)
28. पिंजरीत्व (Premature graying of hair)
29. केश पतन (Hair fall)
30. क्षवथु (Sneezing)
31. अतितंद्रा (Drowsiness)
32. बुद्धिमोह (Confessional state)
33. अतिनिद्रा (Excessive sleep)

धूमपान अयोग्य (Contra indications):

न पित्तरक्तार्ति..... पाण्डुरोगे जागरिते निशि। अ.हृ.सू. 21/2-3

न विरिक्तः ..... धूमविभ्रमात्। च.सू. 5/41-45

1. पित्त व रक्तज व्याधी
2. विरिक्त (विरेचन कर्म झालेला)
3. उदर (जलोदर) (Ascites)
4. प्रमेह (Diabetes)

5. तिमीर (Defective vision, cataract)
6. उद्‌गार (Belching)
7. आध्मान (Distension of abdomen)
8. रोहिणी (Severe throat infection, diphtheria
9. दत्तबस्ति (बस्ति दिले गेलेला)
10. मत्स्य, मद्य, दुग्ध, दही, मधू, स्नेह, यवागू, विष, घेतलेला
11. शिर आघात (Head injury)
12. पाण्डू रोग (Anaemia)
13. रात्रीजागरण करणारे, रात्री अभ्यास करणारे (Night duty)
14. गर्भिणी (Pregnant woman)
15. श्रमाक्लान्त: (Tired)
16. मूर्च्छित (Unconsciousness)
17. भ्रम (Giddiness, Menier's disease)
18. तृषीत (Excessive thirst)
19. क्षतक्षीण (Ulceration with in the chest)
20. शंखक (Severe headache)
21. भयभीत (Feared)
22. अपतर्पीत (अपतर्पण चिकित्सा केलेला)
23. बाल-वृद्ध
24. दुर्बल (General disability)
25. अल्पकफ असल्यास

धूमनेत्र –

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदृजु।

मूलाग्रेऽङ्गुष्ठ कोलास्थि प्रवेशं धूमनेत्रकम। **अ.हृ.सू. 21/7**

धूमनेत्र बस्तिनेत्रासाठी वापरण्यात येणाऱ्या धातूचे असावे त्यात तीन कप्पे असावे आणि नेत्र सरळ असावे. मूल भागाचे छिद्र अंगुष्ठ जाईल एवढे तर अग्रभागाचे छिद्र बोराचे बीज मावेल एवढे असावे. अशाप्रकारे धूमनेत्र तयार करण्याचे मुख्य कारण म्हणजे धूम सरळ गल, नासा यातील Mucosa ला न लागता ते गाळून यावे आतील कप्पांमध्ये जड suspended particular Matter (SPM) खाली बसून राहावे व ते श्वसनामध्ये आत जाऊ नयेत.

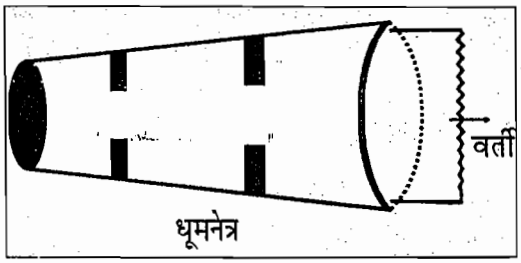

धूमनेत्र

लांबी : तीक्ष्ण धुमपानासाठी – 24 अंगुल (36 सेमी)
स्नेहन धूमपानासाठी – 32 अंगूल (48 सेमी)
मध्यम धूमपानासाठी – 40 अंगूल (60 सेमी)
वामक धूमपानासाठी – 10 अंगुल (15 सेमी) – वाग्भट, शाङ्र्गधर
16 अंगूल (24 सेमी) – सुश्रुत

व्रणधूपन – सुश्रुत/वाग्भट – 8 अंगुल 12 सेमी,
शाङ्र्गधर – 10 अंगूल 15 सेमी

धूमयंत्र – सध्याच्या काळात 'हुक्का' सारखे यंत्र धूमपानासाठी वापरली जाऊ शकतात

धूमपानासाठी द्रव्य

मृदुधूमपान

1. गुग्गुल
2. मुस्ता
3. स्थौण्य
4. शैलेय
5. नालदा
6. उशीर
7. वालक
8. वरांग
9. कौंती
10. मधूक
11. बिल्वमज्जा
12. एलावालुक
13. श्रीवेष्टक
14. सर्जरस
15 ध्यामक
16 मदनफळ
17 प्लव
18 सल्लकी
19 कुंकुंम
20 माष
21 कुदुरुक (शाल्मली निर्यास)
22 तिळतैल
23 बादाम, नारळ आदिचे स्नेह
24 वसा
25 मज्जा
26 घृत

शमनधूमपान द्रव्य –

1. शल्लकी
2. लाक्षा
3. पृथ्वीका
4. कमल
5. उत्पल
6. न्यग्रोध
7. उदुम्बर
8. लोध्रत्वक
9. सिता
10. मधुयष्टी
11. सुवर्णत्वक (बाहवा)
12. पद्मक
13. मंजिष्ठा
14. गंधद्रव्य (कुष्ठ व तगर सोडून)

तीक्ष्ण धूमपान द्रव्य –

1. ज्योतिष्मती
2. हरिद्रा
3. दशमुल
4. मनशील
5. हरताल
6. लाक्षा
7. श्वेता
8. तीक्ष्णगंधद्रव्य (विडंग, वचा इ.)

धूमवर्ती – पद्धत 1 – बारा अंगुल (18 सेमी) लांब गवताची काडी (किंवा कोणत्याही वनस्पतीची काठी ज्यामध्ये पाण्यात बुडवल्यास फुगण्याची व वाळवल्यास संकूचीत होण्याचे गुण असेल 24 तास पाण्यात भिजत ठेवावी. नंतर वर सांगितलेले द्रव्यांचे चूर्ण करुन पाच वेळा गवताच्या काडीवर लेप करावा. या वर्तीचा आकार यव धान्यासारखे मध्यभागी जाड असावा. ही जाडी अंगुष्ठा एवढी असावी.

नंतर यास छायाशुष्क करुन आतील गवताची काडी काढून घ्यावी. तयार झालेल्या वर्तीस घृतादि स्नेह लावून धूमनेत्रामध्ये घालून धूमपान करावे.

पद्धत 2 – 100 ग्रॅम आवश्यक धूमपान द्रव्यांचे चूर्ण घेवून त्यात आवश्यकतेनुसार लेप तयार होईल एवढे जल घालावे त्यानंतर 24×24 सेमी आकाराचा कापड घेऊन त्यावर औषधांचा लेप लावावा व कापडाची गुंडाळी (वर्ती) करावी. यास छायाशुष्क करुन आवश्यकतेनुसार लांब वर्तीचे तुकडे करुन ठेवावे व धूमनेत्राद्वारे धूमपान करावे.

योग्य धूमपान काल

अ.	धूमप्रकार	चरक (8 काळ)	सुश्रुत (12 काळ)	वाग्भट (16 काळ)
1	प्रायोगिक (शमन)	1. स्नानोत्तर 2. भोजनोत्तर 3. वमनोत्तर 4. क्षवथूत्तर (शिंकेनंतर) 5. दंतधावनानंतर 6. नस्यानंतर 7. अंजनोत्तर 8. झोपेतून उठल्यानंतर	1. दंतधावनानंतर 2. नस्यानंतर 3. भोजनोत्तर 4. शस्त्रकर्मानंतर	1. जृंभानंतर 2. क्षुधोत्तर 3. मल त्यागानंतर 4. मूत्र त्यागानंतर 5. मैथूनोत्तर 6. शस्त्रकर्मानंतर 7. हास्यानंतर 8. दंतधावनानंतर 9. रात्री 10. भोजनोत्तर 11. नस्यानंतर
2	स्नेहिक (मृदु)	वातवृद्धीकाळात (च.पा.)	5. मल-मूत्र वेगानंतर 6. क्षवथूनंतर 7. हसल्यानंतर 8. क्रोधानंतर 9. मैथूनोत्तर	वरील 1 ते 8 काल
3	वैरेचनीक (तीक्ष्ण)	कफवृद्धीकाळात (च.पा.)	10. स्नानोत्तर 11. वमनोत्तर 12. दिवास्वापानंतर	12. निद्रानंतर 13 नस्यानंतर (कफवृद्धी असल्यास) 14. अंजनानंतर 15. स्नानानंतर 16. वमनोत्तर

धूमपान विधी :

संभारसंग्रह-

1.	धूमयंत्र	2.	धूमनेत्र	3.	धूमवर्ती (दोषांनुसार)
4.	घृत	5.	कार्पास (cotton)	6.	निष्ठीवन पात्र (spittoon)

पूर्वकर्म

1) **रुग्ण परीक्षण** - रुग्णाचे वय, बल, दोषावस्था यांचे परीक्षण करावे. उर्ध्वजत्रुगत परीक्षण करावे. शक्य असल्यास intraocular pressure इ. ची तपासणी करावी.

2) **रुग्ण आसन** - मल-मूत्र विसर्जन झाल्यानंतर योग्य काळात रुग्णास जानुसंधी एवढया उंचीच्या खुर्चीवर आरामदेह बसण्यास सांगावे.

प्रधानकर्म

रुग्णास खुर्चीवर सरळ बसवल्यानंतर वर्तीस घृत लावावे व धूमनेत्रामध्ये ठेवावी. धूमवर्तीस पेटवून ज्योत बंद करावी. वर्ती लाल होऊन धूम तयार होऊ लागल्यास धूमनेत्राच्या दुसऱ्या बाजूने एकेक नासापुटाने मुख उघडे ठेवून धूर ओढावा. धूर नेहमी मुखाद्वारे सोडावा नासाद्वारे धूर सोडल्यास नेत्रविकार उत्पन्न होतात.

प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते।
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे।। **अ.ह.सू. 21/10**

नासा-शिरोगत दोष उत्क्लेशीत असल्यास - प्रथम मुखाद्वारे धूमपान,

कण्ठगत दोष उत्क्लेषीत करण्यासाठी - प्रथम नासाद्वारे,

प्रायोगिक व वैरेचनीक धूमपान - नासाद्वारे (उरः व कंठ गत व्याधी असल्यास मुखाद्वारे, कर्ण, नेत्र, शिरोगत असल्यास नासाद्वारे),

स्नेहिक धूमपान - मुखाद्वारे, नासाद्वारे,

कासघ्न व वामनीय धूमपान - मुखाद्वारे.

मात्रा - 3 वेळा धूमपान

(एक धूमपान - तीनदा धूर घेऊन तीनदा सोडल्यास),

मृदूधूमपान - 1 वेळा अथवा अश्रू दिसेपर्यंत,

मध्यम धूमपान - 2 वेळा,

तीक्ष्ण धूमपान - 3-4 वेळा अथवा दोष निर्हरणापर्यंत

कासघ्न धूमपान - एका छिद्र असलेल्या शराव सम्पूटामध्ये निर्धूम निखारे, (शक्यतोवर खैर किंवा

बोरीच्या लाकडाचे) घेऊन त्यावर कासघ्न धूमद्रव्याचे स्नेहयूक्त चूर्ण किंवा त्याची वर्ती ठेवावी. वरील छिद्रयुक्त शरावामधून 10 अंगुल (15-20 सेमी) लांबीची नलीका बसवून घ्यावी. शरावामधून कासघ्न द्रव्याचा धूम नळीवाटे रुग्णास मुखाद्वारे घेण्यास सांगावा.

सम्यक योग लक्षणे -

1. हृद, कंठ, इंद्रिय संशूद्धी (Clarity of chest, throat, sense organs)
2. शिरो लघुत्वम् (Feeling of lightness of head)
3. उरो लघुत्वम् (Lightness of Chest)
4. कंठ लघुता (Lightness of throat)
5. दोष सम (Elimination of dosha)
6. कफ तनुत्व (Liquification of Kapha)
7. रोगप्रशमन (Remission of disease)

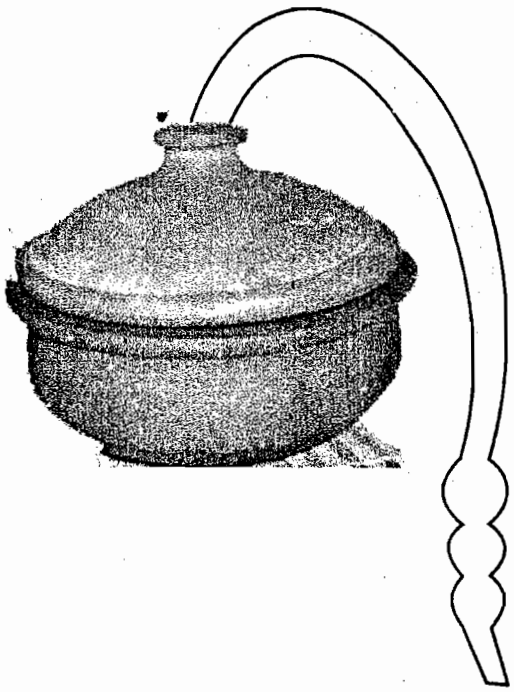

अयोग लक्षणे -

1. अविशुद्ध स्वर (Improper voice)
2. सफफ कंठ (Provocation of Kapha in throat)
3. स्तिमीत मस्तक (Heaviness in head)
4. रोग अप्रशमन (Non-remission of the disease)
5. दोषोत्क्लेष (Aggravation of doshas - disease)

अतियोग लक्षणे -

1. शिरोताप-शोष (Burning sensation & dryness of head)
2. कंठशोष-ताप (Dryness of throat & burning)
3. तालुशोष-ताप (Dryness of palate & burning)
4. तृष्णाधिक्य (Thirsty)
5. मुह्यते (Confusion)
6. नासागत रक्तस्त्राव (Bleeding from nose)
7. शिरोभ्रम (Giddiness)
8. मूर्च्छा (Syncope)
9. इंद्रिय अपताप (Disturbed function of sense organs)

पश्चातकर्म

विशेष असे पश्चात कर्म नाही. रुग्णास काही काळ विश्रांतीचा सल्ला द्यावा. लगेच शीत जलाचा वापर करु नये.

घ्यावयाची काळजी –

1) नासाद्वारे धूर सोडू नये,

2) धूमपानाच्या सुरुवातीस ठसका लागून कास येण्याची शक्यता आहे. अधिक कास उत्पन्न झाल्यास धूमपान तात्काळ थांबवावे.

व्यापद –

बाधिर्यमान्ध्यमूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम्।
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्।। **च.सू. 5/38**

अकाली किंवा अतीमात्रेत धूमपान केल्यास खालील उपद्रव संभवतात

1) बाधीर्य (Deafness),
2) अंधत्व (Blindness),
3) मूकत्व (Inability to speak),
4) रक्तपित्त (Bleeding through nose),
5) शिरोभ्रम (Giddiness)

चिकित्सा – घृतपान, अंजन, नावन नस्य, तर्पण, कफ प्रकोप असल्यास रुक्ष

धूमपान उपयोगिता (Utility of Dhumpaana) –

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं पूतिर्गन्धः पाण्डुता केशदोषः।
कर्णस्याक्षिस्रावकण्ड्वर्तिजाड्यं तन्द्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशन्ति।। **अ.ह.सू. 21/22**

धूमपान केल्यास खालील व्याधी होत नाहीत

1.	कास (Cough)	2	श्वास (Dyspnea)
3	पीनस (Rhinorrhea)	4	विस्वरत्वं (Hoarseness of voice)
5	पूतिगंध (Halitosis)	6	पाण्डूता (Pallor)
7	केशदोष (Diseases of hairs)	8	कर्णस्राव (Discharge from ear)
9.	मूखस्राव (Excess salivation)	10	अक्षिस्राव (Discharge from eye)
11	कंडू (Itching)	12	अरति (Pain)
13	जाड्य (Inertia)	14	तंद्रा (Lethargy)
15	हिध्म (Hiccup)		

नस्य कार्मूकता (Mode of Action)

नासा हे औषधी द्रव्य देण्याचा एक मार्ग आहे. पंचकर्मातील शोधनाच्या सिद्धांतानुसार जवळच्या मार्गाने शोधन अपेक्षित आहे, तेथे उर्ध्वजत्रुगत उत्क्लेशीत दोषांना बाहेर काढणारी शोधन क्रिया म्हणजे नस्य व जवळचा मार्ग नासा. पंचकर्मातील बहुतांशी कर्म केवळ शोधनापूरतेच मर्यादित नाहीत तर बृंहण आणि शमनाचेही कार्य करणारे आहेत. त्यातीलच बस्ति व नस्य ही दोन कर्मे. म्हणूनच नस्य हे उर्ध्वजत्रुगत व्याधींमध्ये केवळ शोधनाचेच कार्य करत नाही तर शमन, बृंहण यासारखेही कार्य करते.

चरकाचार्यांनी (च.सि. 2/22) नस्याची कार्मुकता स्पष्ट करतांना वर्णीले आहे की, नस्यामुळे औषधी द्रव्य शिरोभागात जाऊन तेथील विकृत दोषांना तेथे चिकटू न देता त्यांना बाहेर काढते. वाग्भटनीही (अ. सं.सू. 29/3) वर्णन करतांना हेच स्पष्ट केले आहे. नस्य द्रव्य श्रृंगाटक मर्मामध्ये व्याप्त होऊन मूर्ध, नेत्र, कर्ण, कंठ व सिरामुखापर्यंत पोहचते व तेथील दोषांना अपकर्षण करुन बाहेर काढते. म्हणूनच नस्य नेत्ररोग, कर्णरोग, कंठगत रोग व्याधीत उपयोगी सिद्ध आहे.

नासा ही शिरसो द्वारम्.... नासा हे शिराचे द्वार मानले जाते. त्यामुळे शिरासंबंधी व्याधींमध्ये नस्य ही प्रभावी क्रिया आहे. शिर हे उत्तमांग आहे, त्यास हृदयही म्हटले आहे याचाच अर्थ शरीराच्या प्रत्येक क्रिया शिरस्थ इंद्रियांच्या साहयाने चालत असतात. त्यामुळे शिरस्थ दोषांची स्थिती सामान्य असणे आवश्यक असते. म्हणून नस्याद्वारे उत्क्लिष्ट दोषांचे शोधन केले जाते किंवा शमन नस्याने कुपीत दोषांचे शमन केले जाते तर दोष क्षयाच्या अवस्थेत बृंहण नस्याद्वारे बृंहण केले जाते.

शिरसी इंन्द्रियाणी इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गर्भस्तयः संश्रितानि। च.सि. 9/4

शिरस्त इंद्रिय व इंद्रियांचे स्रोतस (channels carrying sensory and motor impulses) शिरापासून निघतात आणि ते सूर्याच्या किरणासारखे असतात अर्थात नासा इंद्रियांपैकी एक असल्याने त्याचा सरळ क्रियात्मक संबंध शिर (Brain) सोबत असतो त्यामुळेच नासा हा शिरोगत व्याधीसाठी औषध पोहचविण्याचा एक उत्तम व जवळचा मार्ग आहे. म्हणूनच शिरोसंबंधी उदा. शिरोशूल, अर्धावभेदक, आणि इतर इंद्रियसंबंधी व्याधींमध्ये नस्य उपयोगी ठरते.

सुश्रुतांनी नस्याच्या व्यापदामध्ये तीक्ष्ण नस्यामुळे 'मस्तूलुंग' (CSF) नासाद्वारे स्त्रवण्याचे वर्णन केले आहे (सू.चि. 40/100) वर वर बघता हा अशक्य वाटणारा व्यापद आजच्या आधुनिक काळात नासा व CNS यांच्याशी सरळ संबंध दर्शविणारा आहे.

Modern View- In the recent era the interest in intra nasal drug delivery as a non-invasive route is increased. As the nasal muosa offers numerous benefits as a target tissue for drug delivery, the drugs are being used intra nasally for topical, systemic and CNS action following the rule of acharya Nasa Hi Shiraso dvaram

Salient Features of anatomy of Nose -

1. The nasal cavity is bounded by floor, roof, medial and lateral walls. Nasal cavity is lined with mucus layer hairs.
2. Anatomically nasal cavity fills the space between base of the skull and the roof of the mouth.
3. Above it is supported by ethmoid bones laterally ethmoid maxillary and inferior conchae bones.
4. Total volume of nasal cavity is 15-20 ml and surface are is about 150 cm^2.
5. It is divided by nasal septum into two halves. Both halves consist of i) nasal vestibule ii) atrium iii) respiratory region and iv)olfactory regions
   i) **Nasal vestibule -** covered by stratified squamous and keratinized epithelium with sebaceous glands. It has high resistance against toxic environment in this region absorption of the drug is very difficult
   ii) **Atrium -** stratified squamous cells, vascularisation is low permeability reduced.
   iii) **Respiratory Region** - It is divided in superior, middle, inferior terminates, the nasal respirating mucosa is most important section for delivery of drugs systemically. It is highly vascularized constituted by epithelium, basement membrane and lamina propia. It has many permeable fenestrated capillaries, nerves, glands, immune cells.
   iv) **Olfactory region -** located in the roof of the nasal cavity and extends a short way down the septum and lateral wall. Its neuro epithellum is the only part of CNS. It is pseudo stratified contains olfactory receptors. In this area there are small secreting glands (glands of Bowman). It is vascularized area and having high permeability.

Mechanism of Drug Absorption: Passage of drug through mucus is the first step in absorption. There are various theories are considered for the mechanism absorption. Drug transport across the nasal epithelium is assumed to occur by these mechanisms (indicated in diagrammatic representation).

1) Trascellular passive diffusion,
2) Paracellular passive diffusions,
3) Carries mediated absorption and secretion,
4) Absorption through transcytosis,
5) Efflux transport.

Two main theories are considered predominantly

1. **Transcellular :** In this process drug diffuse through membrane. It is an active transports process. It is more suitable for lipophilic drugs, Sneha Nasya may absorb though this type of process.

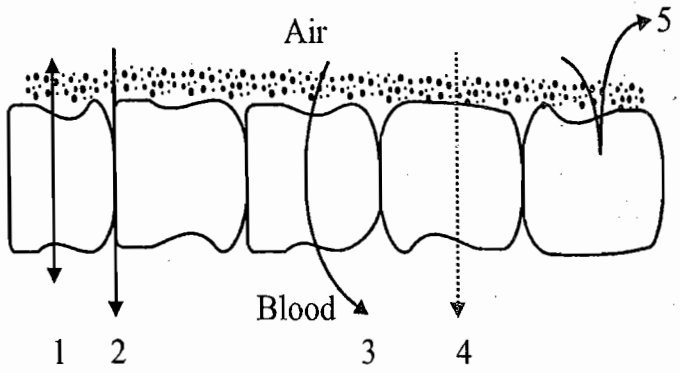

2. **Paracellular :** In this process, drug is transported between the cells and transcytosis by vesicle carrier. It is a suitable mechanism for hydrophillic drugs e.g. avapidak, dugdha, Kwath nasya

Drug may act by two ways

1. **Vascular Path :** In nasal cavity the submucosa is rich vascularized. Large surface of the nasal cavity and relatively high blood flow promotes rapids absorption (Chien *et al,* 1989). The drug absorption is rapid because of high permeability of nasal epithelium and avoid hepatic first pass metabolism. During Purvakarma abhyang & mrudu swed is essential as per the text, it facilitates the drug absorption as abhyang and sweda (Fomentation) causes vasodilatation and increased blood circulation which is helpful in the drug absorption. Most of the drug absorption takes place by diffusion, the blood flow is essential to maintain the concentration form the site of absorption of blood. Kao *et al* stated that nasal absorption of dopamine was relatively slow due its vasaconstricter effect.

2. **Neural Path -** The delivery of the drug from nose to CNS may occur via olfactory neuro epithellilum and according to the study this may involve paracellular, transcellular and/or neuronal transport (Illium L, Nasal drug delivery possibilities problems and solution J-Control release 2003)

Graff *et al* confirmed olfactory epithelium and endothelial cells that surround the olfactory bulb which contains P.gp, is an efflux transported which plays the role in avoiding the influx drugs from nasal membrane. Transport from nasal cavity to CNS via trigeminal nerve system is already described by Thome RG *et al.* Drug delivery into CNS through internasal route has been reported in various studies specially in Alzeimer's diseases, brain tumors epilepsy, pain and sleep disorders, Nasya is already indicated in these diseases by Acharya.

Factors influencing nasal drug absorption :

A) **Physicochemical-**

a) **Molecular size and structure -** Nasal absorption decreases significantly when molecular weight of drug is greater than 1000 paltons

b) **Hydrophilicity/liphophilicity** - Liphophilic drugs generally well absorbed shown by Carbo *et al*. Nasal bioavailability near to 100% as per modern. Nasya preparations are more oil based, bioavailability would be the region.

c) **Solubility** - Before nasal absorption, the drug must be dissolved in watery fluids of nasal cavity to posterior absorption. eg. avapidak nasya, milk etc.

B) Prochemical & Physiological - The nasal mucosa is by itself an enzymatic barrier to nasally administered drug consisting of several proteolytic or hydrolytic enzymes.

C) Pharmaceutical -

a) **Formulation (PH & Osmolasity)** - various formulation play important role is nasal absorption Ohwaik T *et al*, stated in their study, absorption of secretin increased as PH decreased from 7 to 2.94. Its biovailability also affected by NaCl concentration and maximum absorption obtained. In Samhita salt (Lavana), honey advised in certain Nasya.

b) **Droplet size** - The mean flow rate of mucocilliary clearance (MCC) system of the normal nose is 5 min/min to 18-20 mm/min. The particle within 10-20 μm are deposited in nasal cavity, while particles less than 1μm pass with inspired air into lungs.

In Samhita mrudu paka is advised for nasya or dhoom nasya is advised. This is area of research for Ayurved physicians

c) **Delivery system** - Various delivery system affect the site of deposition and degree of absorption, hence in modern system nasal spray, Nasal drops, nasal jelly, nasal inert have been developed. In Ayurved navan nasya, pradhman nasya, avapidak nasya, dhoom nasya have been developed.

d) **Viscosity** - viscosity increases the contact time between drug and the nasal nucosa which enhances the potential of drug absorption. This has been observed during nasal delivery of insulin (Heidari *et al*)

8 रक्तमोक्षण (Blood Letting)

व्याख्याः शरीरातून दुषीत रक्त चिकित्सा करण्यासाठी निर्हरण करण्याच्या क्रियेला रक्तमोक्षण म्हणतात. यालाच अस्रविस्रुती म्हणतात.

अस्र - रक्त, विस्रुति - वहन करणे.

पर्याय - रक्त निर्हरण, रक्त स्रावण, शोणित मोक्षण

महत्त्वः ज्या प्रकारे बस्ति चिकित्सा अर्ध चिकित्सा मानली जाते त्याचप्रमाणे रक्तमोक्षण ही अर्ध चिकित्सा मानली जाते. या कर्मास शास्त्रीय विधीने प्रयोगात आणल्यास संपूर्ण चिकित्साही मानली जावी एवढे या चिकित्सेचे महत्त्व आहे.

ज्या व्याधीमध्ये शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष चिकित्सा करूनही उपशय मिळत नाही अशा अवस्थेत रक्तविस्रावण करावे (च.सू. 24/17, अ.हृ.चि. 8) यावरुन या चिकित्सेचे महत्त्व स्पष्ट होते..

रक्तमोक्षणाचे सामान्य सिद्धांत (General Principles of Raktamokshana)

रक्तमोक्षण ही शोधन क्रिया आहे. क्रिया करण्यासाठी चिकित्सकाने व्याधी सम्प्राप्ती, दोषांची अवस्था समजणे आवश्यक आहे. यासोबतच दोषांचे मुलस्थान लक्षात घेणे आवश्यक आहे. उदा. अतिसाराचे मूल विकृत स्थान आमाशय, तमकश्वासाचे विकृतस्थान आमाशय.

- रक्तमोक्षण करते वेळी अशुध्द रक्त प्रथम विस्रावित होते (अग्रेस्रवतिदुष्टास्रम) हा निसर्ग नियम आहे. जे शरीरासाठी अहितकर ते बाहेर काढण्याची शरीराची प्रवृत्ती असते. जे दुषीत असते ते आधी निघते.
- रक्तमोक्षण ही प्रथमतः शाखा शुध्दी करणारी क्रिया आहे त्यानंतर याचा परिणाम कोष्ठावरही होतो.
- कोणत्याही शोधन क्रियेसाठी दोष उत्कलेषित होवून धातुपासून वेगळे होणे आवश्यक असतात त्यासाठी स्नेहन-स्वेदन पश्चात रक्तमोक्षण गुणकारी असते. परंतु इतर शोधन क्रियेच्या अपेक्षा रक्तमोक्षणासाठी स्नेह स्वेदनाची आवश्यकता कमी पडते.
- दुषीत रक्तस्त्राव झाल्यानंतर रक्तस्त्राव आपोआप बंद होतो. हा सामान्य नियम आहे.
- रक्तमोक्षणाने रक्त निर्हरणाची मात्रा 1 प्रस्थ (540 मिली) असावी.

  (शोणितस्त्रावणमपि..... सिरायां मोक्षणीयः।। **(सु.सू. 13/23)**
- WHO ने रक्तनिर्हरणाची (रक्तदानाचे वेळी) मात्रा 300 मिली एवढी ठरवलेली आहे. त्याचे पालन केल्यास अधिक सोयीस्कर राहील.
- रक्तमोक्षण दोष अवस्थानुसार, व्याधी अवस्थानुसार तथा रुग्ण अवस्थानुसार करावे.

- ज्या व्याधींमध्ये शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष चिकित्सेने यश येत नाही अशा वेळी रक्तविस्त्रावण करावे.

रक्तमोक्षणाचे महत्त्व (Significance & importance)

चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट या (तिन्ही) बृहत्त्रयींच्या ग्रंथकारांनी रक्तमोक्षण चिकित्सेची प्रशंसा केली आहे.

- रक्त व पित्त यांचे आश्रयाश्रयी संबंध आहेत. पर्यायाने रक्तविस्त्रावण केल्याने पित्तदोषाचे ही निर्हरण होते. त्यामुळे पित्त प्रधान व्याधींमध्ये रक्तमोक्षण एक प्रमुख उपाय सांगितला आहे.

  पित्तं तु स्वेद रक्ताश्रयां..... तदन्यस्य बर्धनं सपणमौधम्। अ.हृ.सू. 11/10

- जीवन हे रक्ताचे सर्वश्रेष्ठ कार्य आहे. जीवनचा अर्थ प्राण धारण करणे होय. रक्तास शरीराचे मुल म्हटले आहे. (च.सू. 1/42, सु.सू. 14/44), रक्ताचे कार्य मांसधातुची पुष्टी करणे व वर्णप्रसादन करणे आहे. रक्त सर्व धातुंच्या क्षय-वृद्धीचे कारण आहे. रक्त धातुंचे पूरण, स्पर्शज्ञानास सहाय्यता, इंद्रिय प्रसन्न ठेवणे इ. कार्य करतो ही सर्व कार्ये विशुद्ध रक्ताची आहेत. त्यामुळे आहारविहार किंवा मानसिक कारणांमुळे रक्त दुषीत झाल्यास रक्ताची ही सर्व कार्ये प्रभावित होतील. त्यामुळे शुद्ध रक्त निर्मीती होणे आवश्यक आहे. म्हणून रक्त दुष्ट झाल्यास ही सर्व प्रभावीत कार्ये सामान्यस्थितीत आणण्यासाठी रक्तमोक्षण ही प्रभावी चिकित्सा होवू शकते.

- शरद ऋतूमध्ये स्वभावत: पित्ताचा प्रकोप होतो. सोबतच रक्त दूषण होते. यासाठी विरेचन अथवा रक्तमोक्षण किंवा दोन्ही चिकित्सा महत्त्वपूर्ण आहेत.

- रक्त व धातुमध्ये वात दोषादि प्रकुपित होवून दुष्टी करतात. चिकित्सकाद्वारे या अवस्थेची उपेक्षा झाल्यास कंडू, शोफ, राग, वेदना ही लक्षणे उत्पन्न होतात. (सु.सू. 14/23) दुष्ट रक्ताची चिकित्सा न केल्याने होणाऱ्या व्याधींना रक्तप्रदोषज किंवा शोणितज व्याधी म्हटले जाते. हया अवस्थेमध्ये रक्त-पित्तहर चिकित्सा करण्याचा उपदेश केला आहे. अर्थात रक्तविस्त्रुति करण्यास सांगितले आहे.

  कुर्यात शोणितरोगे तु रक्तपित्त हरी क्रियाम्।
  विरेकमुपवासंच स्त्रावणं शोणितस्य च।। च.सू. 24/19

- या आधी उल्लेखीत असल्याप्रमाणे शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष चिकित्सेने उपशय न मिळाल्यास रक्तज व्याधी समजून अशा व्याधींमध्ये रक्तविस्त्रावण करावे.

  शीतोष्ण स्निग्धरूक्षाद्यैरूपकांताश्च ये गदा:।
  सम्यक् साध्या न सिध्दंति रक्तजास्तान् विभावयेत् ।। च.सू. 24/17, अ.हृ.सू. 27/5

अशा प्रकारे पंचकर्मामध्ये व चिकित्सेमध्ये रक्तमोक्षणाचे महत्त्व आहे.

प्रकार (Classification): रक्तमोक्षणाचे प्रमुख 2 प्रकार आहेत.

(1) शस्त्राद्वारे

(2) शस्त्ररहीत (अनुशस्त्राद्वारे)

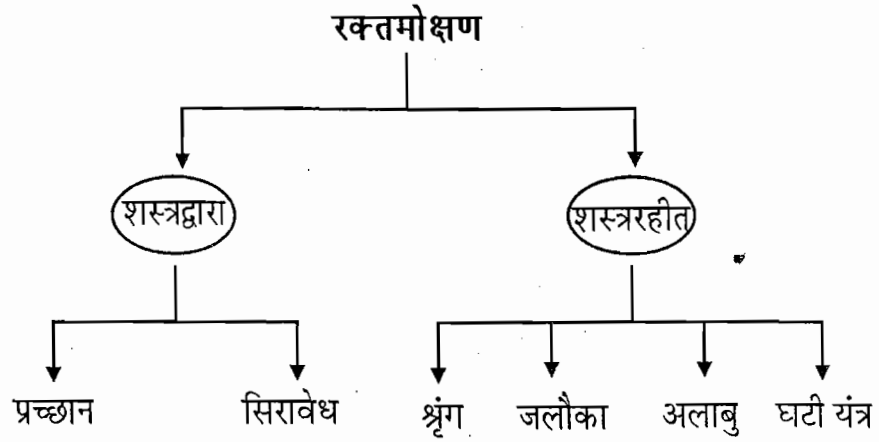

1) **शस्त्राद्वारे:** रक्तविस्त्रावण शस्त्राद्वारे केले जाते. हे दोन प्रकारचे आहे.

तत्रश्च विस्त्रावणं द्विविधम्। प्रच्छानं सिराव्यधनंच।। **सु.सू. 14/25**

अ) **प्रच्छान** – शस्त्राद्वारे त्वचेवर वरवर काप देवून रक्तमोक्षण करण्याची क्रिया (Superficial skin incision) प्रच्छान क्रिया आहे.

ब) **सिरावेध/सिराव्यध** – सिरेतून व्यधन करून (Puncturing the vein) रक्तविस्त्रावण करण्याची क्रिया

2) **अनुशस्त्राद्वारे:** रक्त विस्त्रावण करण्यासाठी Steel इ. धातुच्या उपकरणांचा उपयोग केला जातो. ज्या क्रियामध्ये प्रत्यक्ष लोह उपकरणाचा वापर न करता विस्त्रावण केले जाते त्यास अनुशस्त्र विस्त्रावण म्हणतात. अनुशस्त्र सुकुमार, भित्रे रुग्णांसाठी उपयोगात आणले जातात. यांचे खालील प्रमाणे प्रकार आहेत.

(अ) **जलौकावचरण**– जलौकाद्वारे रक्तविस्त्रावण करणे प्राधान्याने पित्त दोषांमध्ये हितकर असते.

(ब) **श्रृंगावचरण** – गायीच्या श्रृंगाद्वारे दुषीत रक्ताचे निर्हरण केले जाते. प्राधान्याने वात प्रधान दोषांमध्ये उपयोग केला जातो.

(क) **अलाबू अवचारण** – अलाबू/लौकी द्वारे रक्तविस्रावण केले जाते. प्राध्यान्याने कफ प्रधान दोषांमध्ये उपयोग केला जातो.

(ड) **घटीयंत्र** – घट/घडयाच्या आकाराचे यंत्र. याद्वारे रक्तविस्त्रावण केले जाते. शास्त्रामध्ये गुल्म व्याधीसाठी प्राधान्याने उपयोग सांगितला आहे. Cupping glass प्रमाणे याचा उपयोग केला जातो.

जलौकाः क्षारदहनः काचोपल नखादयः।

अलोहान्यनुशस्त्राणि तान्येवंच विलल्पथेतृ।। **अ.हृ.सू. 26/27**

या व्यतिरिक्त अष्टांगहृदयकारांनी क्षार, दाहकर्म (अग्निकर्म), काच, दगड, नख इ. अलोह उपकरणांना अनुशस्त्र म्हटले आहे. चिकित्सकांनी आपल्या कुशलतेनुसार युक्तीपूर्वक यांचा वापर करावा.

रक्तमोक्षणाचे नियम

(1) **व्याधीस्थान व व्याप्तीनुसारः**

वरील रक्तमोक्षण प्रकार चिकित्सकांनी व्याधी स्थानानुसार, दोषानुसार, दूषीत रक्ताची अवस्था तथा रुग्ण अवस्था याचा तर तम भावाने विचार करून निर्णय घेणे आवश्यक आहे.

गृण्हाति शोणितं श्रृंगं दशांगुलमितं बलात्।

जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी च द्वादशांगुलम्।।

पद्मंगुलमात्रस्य शिरा सर्वांग शोधिनी।। **शा.उ. 12/26**

श्रृंगाने रक्तविस्त्रावण केल्यास त्याचा प्रभाव 10 अंगुल पर्यन्त, जलौकाने एक हस्त (24 अंगुल) पर्यन्त, तुम्बीने विस्त्रावण केल्यास त्याचा प्रभाव 12 अंगुल तर प्रच्छान कर्माने प्रभाव एक अंगुल पर्यन्त राहतो. परंतु सिरावेध करून रक्तमोक्षण केल्याने उपशय प्रभाव सर्व शरीरभर असतो.

(2) **दोषानुसारः**

भिषग् वातन्वितं..... जलौकाभिः। **च.चि. 21/69-70**

उष्णसमधुरं ..... तद्सेवन। **सु.सू. 13/3-7**

युंजान्नालाबुधरिका..... श्रृंगेण निर्हरेत। **अ.हृ.सू. 26/49**

वातदुष्टी – श्रृंगाद्वारे रक्तमोक्षण; कारण गोश्रृंग उष्ण, मधूर व स्निग्ध आहे. वाताच्या शीत, रूक्ष गुण चिकित्सा करण्यासाठी महत्त्वपूर्ण.

पित्तदुष्टी – पित्त हे रक्तदुष्टीचे प्रमुख कारण आहे. यामध्ये जलौकाद्वारे रक्तविस्त्रावण केले जाते. कारण जलौका शीत आहे आणि पित्ताच्या उष्ण, कटू, गुणांच्या चिकित्सेसाठी जलौका महत्त्वपूर्ण आहे.

पित्तदुषीत रक्ताचे अलाबू किंवा घटीयंत्राने विस्त्रावण करणे निषेध आहे. कारण यांच्या उष्णगुणांमुळे पित्तदुष्टी वाढण्याची शक्यता असते. अवस्थेनुसार श्रृंगाचे वातदुष्टी सोबतच पित्तदुष्टीमध्येही विस्त्रावण करता येते.

कफ दुष्टी – अलाबुद्वारे रक्तमोक्षण करावे. अलाबू कटु, रूक्ष, तीक्ष्ण आहे. त्यामुळे कफाच्या मधुर, शीत, स्निग्ध गुणाची चिकित्सा करण्यासाठी अलाबू उपयोगी.

वात व कफ दुष्टीमध्ये अलाबू अथवा घटीयंत्राने रक्तविस्त्रावण करणे प्रशस्त आहे.

कफदुष्टीमध्ये श्रृंगाने विस्त्रावण करू नये कारण कफदुष्टीमध्ये श्रृंगाने विस्त्रावण केल्यास रक्त स्कंदित (Clotting) होते.

(3) **दुषीत रक्तावस्थानुसार:**

प्रच्छानेतैकदेशस्यं ..... व्यापकेऽसृजि।। **अ.ह.सू. 26/53-54**

सिरांविषाग..... त्वचिस्थिते। **सु.शा. 8/25-26 डल्हणटिका**

- रक्त एका स्थानात दुषीत असल्यास प्रच्छानकर्माने विस्त्रावण उत्तान/त्वचा समीप स्थानात.
- रक्त ग्रथीत (अवगाढ) असल्यास जलौकावचरण.
- रक्त त्वचेमध्ये सुप्तता (loss of sensation)(अवगाढतर) असल्यास श्रृंग, अलाबू व घटीयंत्राने रक्तविस्त्रावण.
- रक्त सर्वांग व्याप्त (अवगाढतम्) असल्यास सिरावेध करावा.

(4) **रुग्ण अवस्थानुसार रक्तमोक्षण:**

श्रृंगालाबु सुकुमारोपायौ..... सिराव्यधनंच। **सु.सू. 13/2 वर डल्हण टिका**

नृपाद्यबालस्थ..... जलौकस:। **सु.सू. 13/2**

रुग्णाचे बल, अवस्थानुसार रक्तविस्त्रावण करावे.

सुकुमारांसाठी - श्रृंग व अलाबू

परमसुकुमारांसाठी - जलौकावचरण

असुकुमारांसाठी - प्रच्छान तथा सिरावेधन

(5) रक्ताची पूर्ण दुष्टी जाई पर्यन्त रक्तस्त्राव करू नये. सशेषदोष ठेवावे. कारण यामुळे अतिप्रवृत्ती होण्याची भीती असते.

(6) शेषदोष जलौका, अलाबू, श्रृंगावचरणाने निर्हरीत करावे किंवा शमन चिकित्सा करावी.

रक्तमोक्षण योग्य (Indications of Raktamokshan):

रक्तमोक्षण रक्तप्रदोषज व्याधींमध्ये केले जाते तसेच स्वस्थ व्यक्तींमध्येही स्वास्थरक्षणार्थ रक्तमोक्षण केले जाते. सामान्यपणे खालील रुग्णांमध्ये रक्षणमोक्षण केले जाते.

(1) कुष्ठ (Skin diseases)
(2) विसर्प (Herpes, Pemphigus, infective
(3) पिडका (Skin eruption)
(4) रक्तपित्त (Bleeding disorder)
(5) असृग्दर (Uterine bleeding)
(6) गुदपाक (Proctitis)
(7) मेढ्रपाक (Suppurative penis)
(8) मुखपाक (Stomatitis)
(9) प्लीहा (Splenomegaly)
(10) गुल्म (Abdominal mass, Gastritis)
(11) विद्रधी (Abscess)
(12) निलिका (Blue pigmentation)

(13) कामला (Jaundice) 'avoid hepatitis B'
(14) व्यंग (Pigmentation)
(15) पिप्लव (Mole)
(16) तिलकालक (Mole)
(17) दद्रु (Ring worm)
(18) चर्मदल (Skin thickening/ lesions with scales)
(19) श्वित्र (Leucoderma)
(20) पामा (Scabies)
(21) अस्रमंडल (Redish patch on the skin)
(22) अक्षिरोग (Eye diseases)
(23) पुतिआस्यगंधता (Halotosis, Foul smelling)
(24) उपकुश (Gingivitis)
(25) प्रमीलक (Anxiety state)
(26) रक्तमेह (Hematuria)
(27) वातरक्त (Gout)
(28) वैवर्ण्य (Discolouration)
(29) अग्निमांद्य (Dyspepsia)
(30) पिपासा (Excessive thirst)
(31) गुरूगात्रता (Heaviness of body)
(32) संताप (Fever)
(33) अतिदौर्बल्य (Excessive debility) skin diseases)
(34) अरूचि (Anorexia)
(35) शिरोरूजा (Headache)
(36) अन्नपान विदाह (Hyperacidity)
(37) तिक्तोद्गार (Bitter eructation)
(38) अम्लोद्गार (Sour eructation)
(39) कटुउद्गार (Pungent eructation)
(40) क्लम (Exhausted)
(41) क्रोधाधिक्यता (Anger)
(42) बुध्दीसंमोह (Confusion state)
(43) लवणास्यता (Salty taste)
(44) स्वेद (Excessive sweating)
(45) शरीरदौर्गंध्य (Bad odour)
(46) मद (Intoxication)
(47) कंप (Tremor)
(48) स्वरक्षय (Reduced voice)
(49) अतिनिद्रा (Excessive sleep)
(50) अतितमोदर्शन (Darkness infront of eyes)
(51) कंडू (Itching)
(52) कोठ (Urticarial rash)
(53) मशक (Mole)
(54) न्यच्छ (Black pigmentation)
(55) इंद्रलुप्त (Alopecia)
(56) अर्बुद (Tumor)
(57) अंगमर्द (Bodyache)
(58) उपजिव्हिका (Uvilitis)
(59) रक्तत्वक (Redness of the skin)
(60) रक्तनेत्रता (Redness of eyes)
(61) रक्तमुत्रता (Hematuria)
(62) भ्रम (Giddiness)
(63) अर्श (Hemmorhoids)

वरील व्याधींचा विचार करता सामान्यपणे रक्तमोक्षणार्ह व्याधींचे खालील प्रकारे वर्गीकरण केले जाऊ शकते.

(1) कुष्ठ (क्षुद्र-महाकुष्ठ)
(2) पाकयुक्त व्याधी
(3) रक्तप्रदोष व्याधी
(4) मानस व्याधी
(5) अग्निमांद्यजन्य
(6) रूजायुक्त व्याधी

जलौकावचरण

जलामध्ये प्राप्त होते म्हणून 'जलौका' हे नाव पडले आहे. जलौका सविष आणि निर्विष अशा दोन प्रकारच्या आहेत. सविष जलौका चिकित्सेमध्ये वापरण्यास निषिद्ध आहेत.

सविषजलौकाचे उपद्रव:

ताभिर्दष्टे पुरूषे दंशे श्वयथुरति मात्रं कंडूर्मूर्च्छा
ज्वरो दाहश्च्छर्दि: मद: सदनमिति लिंगानि भवन्ति।। **सु.सू. 13/9**
सविषा वर्जयेत्ताभि: कण्डूपाकभ्रमज्वरा:। **अ.हृ.सू. 16/37**

सविषजलौकाच्या दंशाने शोथ, कंडू, मुर्च्छा, ज्वर, दाह, च्छर्दि, मद ही लक्षणे उत्पन्न होतात. त्यामुळे चिकित्सेसाठी निर्विष जलौकाच वापरावी.

शास्त्रीय विवेचन:

Kingdom	-	Animala
Plylum	-	Annelida
Class	-	Clitellata
Order	-	Hirudinia
Family	-	Hirudinidae
Genus	-	Hirudo
Species	-	H. Medicinalis, H. Manillensis

चिकित्सा प्रयोगासाठी निर्विष जलौकांच्या अनेक प्रजाती आहेत. त्यापैकी आशियामध्ये H. Manillensis हया प्रजातीचा चिकित्सेसाठी उपयोग करतात तर युरोपमध्ये H. Medicinalis ही प्रजाती उपयोगात आणतात. या व्यतिरिक्त H. Orientalis, H. Verbana या प्रजातीपण चिकित्सेसाठी वापरल्या जातात.

Morphology:- Leeches are hermaphrodite which are, produced by sexual matting, laying eggs near the water & humid place. They are 20 cm in length, green, brown or greenish brown. They have two suckers one at each end called anterior and posterior sucker. Anterior sucker consisting of the jaw & teeth. Posterior is used for leverage. Medicinal leeches have three jaws (triparlite) and above hundred sharp teeth on them to incise the host. The incision

leaves a mark which is an inverted 'Y' inside the circle.

After piercing the skin and injecting anticoagulant (Hirudin) and anesthetics they suck out blood. Adult leech can suck the blood ten times of its body weight which is 5-15 ml*. These leeches can alive for upto one year between feeding. [Wells MD, *et al* (1993) "The medical leech an old treatment revisited", microsurgery 14(3) (PMID-8479316)]

भेद:

आयुर्वेदानुसार सविष व निर्विष असे दोन भेद आहेत व या प्रत्येकाचे 6-6 प्रकार आहेत.

1) **सविष जलौका:** (सु.सू. 13-9, अ.हृ.सू. 26-36)
   (a) **कृष्णा (भृशंकृष्णा)** - अंजनचूर्ण वर्ण, डोके थोडे मोठे, कज्जलीवर्ण (डल्हण)
   (b) **कर्बुरा (रक्तश्वेत)** - वर्मि मास्याप्रमाणे, कुक्षिप्रदेशी रेखा, डल्हणानुसार वर्मिमत्स्याकार म्हणजे सर्पाकार
   (c) **अलगर्दा** - शरीरावर रोमसदृश्य रेषा, कृष्णमूखी
   (d) **इंद्रायुधा** - चित्रविचित्र वर्णाची
   (e) **सामुद्रिका** - किंचीत कृष्ण व पीत वर्णीय
   (f) **गोचंदना** - गोवृषणाप्रमाणे दोन भागात विभक्त, अणुमुखी, पिच्छिल व चपळ.

2) **निर्विष जलौका (सु.सू. 13-12):**
   (a) **कपिला** - कपिल वर्णाची, मन:शील वर्णासारखी, पार्श्व व पृष्ठ बाजूस मुद्ग वर्ण, स्निग्ध
   (b) **पिंगला** - किंचित रक्तवर्ण, वृत्ताकार
   (c) **शंकुमुखी** - यकृतवर्ण, तीक्ष्ण मुखी
   (d) **मूषिका** - मूषिका समान आकृती, तसाच वर्ण व दुर्गंधी
   (e) **पुंडरीक मुखी** - मुद्ग वर्ण, श्वेतकमला सारखे मुख
   (f) **सावरीका** - स्निग्ध, कमलपत्रासमान वर्ण, 18 अंगुल लांब (पशुंच्या रक्तमोक्षणात उपयोगी)

निर्विषा शैवल श्यावा वृत्तानीलोऽर्ध्वराजय:।
कषायपृष्ठास्तन्व्यंग: किंचित्पीतोदराश्च या:।। **अ.हृ.सू. 26-38**

वाग्भटानुसार निर्विष जलौका शेवाळासारखी शामवर्णाची वृत्ताकार असते. पृष्ठ वटत्वक वर्णाचे (कषायवर्ण) असून नील वर्णाची रेषा असतात. उदर किंचीत पीत वर्णाचे व शरीर कोमल असते.

निषिध्द जलौका -

स्थूलमध्या: परिक्लिष्टा पृथ्व्यो मंदविचेष्टता:।
अग्राहिण्योऽल्पपायिन्य: सविषाश्च न पूजिता:।। **सु.सू. 13-18**

जी जलौका मध्यभागी स्थूल असून, दिसण्यास भयजनक आहे व आकाराने मोठी आहे व मंद चेष्टा करणारी आहे ती अल्प रक्त आचुषण करते. अशा जलौकेद्वारे रक्तमोक्षण करू नये.

जलौकावचरण योग्य (Indications):

रक्तमोक्षणासाठी योग्य असणाऱ्या सर्व रुग्णांमध्ये जलौकावचरण करता येते. मात्र काही विशेष अवस्थांमध्ये जलौकावचरण अधिक प्रभावी आहे.

जलौकावचरण योग्य अवस्था:

(1) पित्तदुष्टीमुळे रक्तदुष्टीची अवस्था

(2) स्त्री, बालक, वृध्द व सुकुमार रुग्णांमध्ये

जलौकावचरण योग्य व्याधी:

गुल्मार्शी विद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त गलामयान्।
नेत्ररूग् विषदीसर्पान् शमयति जलौकस:।।

(1) गुल्म - Abdominal mass

(2) अर्श - Hemmorhoids

(3) विद्रधी - Abscess

(4) कुष्ठ - Skin disease

(5) वातरक्त - Gout, peripheral vascular disease

(6) गलामय - Disease of throat

(7) नेत्ररूक - Painful eyes

(8) विसर्प - Acute infection of the skin

वरील निर्देशीत व्याधींच्या व्यतिरिक्त चिकित्सकांनी आपल्या कुशलतेने अन्य व्याधींमध्येही जलौकावचरण करावे. उदा. आमवात, शिरशूल, युवानपिडिका, Diabetic gangrene, chronic ulcers, Raynaud disease यामध्ये जलौकावचरणने उत्तम गुण येतो.

जलौकावचरण

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चातकर्म
(1) संभार संग्रह	(1) जलौकावचरण	(1) व्रणबंधन
(2) संमतीपत्रक	(2) निरीक्षण	(2) जलौका उपचार (Care of leeches)
(3) जलौकासंग्रह	(अ) जलौका (ब) रुग्ण	(3) व्यापद चिकित्सा
(4) रुग्णपरीक्षण	(3) सम्यक योग निरीक्षण	
(5) रुग्णसिध्दता		
(6) जलौका सिध्दता		

पूर्वकर्म

(1) **संभार संग्रह (Procurement)**

(1) टेबल

(2) निर्विष जलौका

(3) Gauze, cotton

(4) हरिद्रा

(5) Kidney tray

(6) Needle

(2) **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास पंचकर्मातील या क्रियेमुळे होणाऱ्या लाभ व व्यापदाची जाणीव करून द्यावी व रीतसर त्याला समजणाऱ्या भाषेत असलेले संमतीपत्रक भरून घ्यावे. त्याची/त्याचे नातेवाईकांची सही/अंगठा घ्यावा.

(3) **जलौका संग्रहण:** जलौकावचरण चिकित्सा सध्याच्या काळात आकर्षणाची चिकित्सा बनली आहे. मात्र जलौका मिळवणे हे काम महत्प्रयासाचे झालेले आहे. शास्त्रामध्ये संग्रहणासाठी विशेष पध्दतीचा उल्लेख केला आहे. सुश्रुताचार्यानुसार तर जो वैद्य जलौका ग्रहण, प्रजाती पोषण व रक्तावचरण पद्धती जानतो तोच वैद्य साध्य रोगांची चिकित्सा करू शकतो (सु.सू. 13-24). जलौका संचयाचा 'शरद ऋतू' उत्तम काळ आहे.

पोषण (Preservation): एका मोठया मातीच्या मडक्यामध्ये थोडा चिखल व भरपूर पाणी ठेवून त्यात संग्रहीत केलेली निर्विष जलौका ठेवावी. यात रोज पाणी बदलत राहावे.

सध्याच्या काळात Aquarium मध्ये जलौका ठेवून संरक्षीत करणे अधिक सुलभ आहे. वापरलेल्या जलौकांचे वेगळे डबे ठेवावेत.

(4) **रुग्णपरिक्षण :** सर्वप्रथम जलौकावचरण योग्य रुग्णाचे सामान्य परिक्षण करावे. यात रुग्णाचे BP, Pulse इ. जलौकावचरण पूर्व रुग्णाचे BT, CT करून घ्यावे.

(5) **रुग्णसिध्दता (Preparation of the patient):** जलौकावचारणापूर्वी रुग्णाची विशेष सिध्दता करावी लागत नाही. सुश्रुतानुसार चांगल्या उपशमासाठी स्नेहेन स्वेदन करणे अधिक लाभदायक आहे. तीन दिवसांपर्यन्त अल्प स्नेहपान (30 ml) करून चवथ्या दिवशी अभ्यंग व स्वेदन करून पाचव्या दिवशी जलौकावचरण करावे. तत्पूर्वी जलौकावचारणच्या दिवशी विरूक्षण चिकित्सा करावी कारण स्निग्ध त्वचेवर जलौका लागत नाही (यासाठी शक्यतो अभ्यंग टाळावे). साबणाने स्थान स्वच्छ करू नये कारण गंधामुळे जलौका लागत नाही.

रुग्ण जलौकावचरणासाठी घाबरत असल्यास डोळयावर पट्टी बांधावी, केवळ रक्तमोक्षणार्ह अंग खुले ठेवून बाकीचा भाग टॉवेलने आच्छादीत करावा.

(6) **जलौकासिध्दता:** एका पात्रामध्ये पाणी घ्यावे व त्यात 2 चम्मच हरिद्रा चूर्ण घालावे. त्यानंतर जलौका Aquarium/मडक्यामधून बाहेर काढून पात्रा मध्ये घ्यावी. 48 मिनिट पर्यन्त जलौका या पात्रात ठेवावी यामुळे जलौकाचे शोधन होवून जलौका अधिक चपळ होते. त्यानंतर शुद्ध जलौका जलाच्या पात्रात ठेवावी. ही जलौका रक्तविस्त्रावणासाठी उपयुक्त असते.

प्रधानकर्म

जलौका अंगठा व तर्जनीच्या साहयाने पकडून जलौकामुख इच्छित स्थानी त्वचेवर लावावे. Cotton ओलं करून जलौका पकडण्यास सोपं पडते. जलौकेने दंश केल्यानंतर Cotton bandage चा तुकडा ओला करून जलौकावर झाकावे.

कधी-कधी जलौका इच्छित स्थानी लागत नाही अशावेळी सुईद्वारे (Needle) त्वचेवर विद्ध करून रक्तस्त्राव करावा. रक्तबिंदूवर नंतर जलौका पुन्हा लावावी. त्यामुळे जलौका लागण्यास मदत होते.

(1) **जलौका निरीक्षण** – जलौका आचुषण करत असतांना जलौकेचे निरीक्षण करावे. जलौका मध्यभागी फूगत जाते. जलौका रक्त आचूषण झाल्यानंतर स्वत:हून दंशस्थान सोडते.

चिकित्सकास अपेक्षित मात्रेत आचूषण झाले असे वाटत असल्यास व जलौकाने दंशस्थान सोडलेले नसल्यास अशावेळी चिकित्सकाने हरिद्राचूर्ण जलौकामुखावर सोडावे त्यामुळे जलौका तत्काळ दंशस्थान सोडते.

(2) **रुग्ण निरीक्षण** – जलौका इच्छित स्थानी लागलेली आहे किंवा नाही, रक्त आचुषणाच्या वेळी किंवा पश्चात शूल, कंडू इ. लक्षणे उत्पन्न होत तर नाही ना? याकडे लक्ष द्यावे.

चिकित्सक रुग्णाचे बल, व्याधीस्थान, व्याधी अवस्था यानुसार एक किंवा अधिक जलौका एका वेळी लावू शकतात. अनुभवी चिकित्सकाद्वारे दुषीत व्रणासाठी एका पायास एकाच वेळी 100 जलौका लावण्याचे उदाहरण आहे.

(3) **सम्यक योग** –

(1) विक्षत स्थानातील दाह व शूल प्रशमन. **दुष्टरक्तापगमनात रागरूजां शम:। अ.सं.सू. 35/7**

(2) 5-15 मिली पर्यन्त रक्तविस्रावण

पश्चातकर्म

(1) **व्रण बंधन (Care of wound)** – जलौकाच्या लालास्रावामध्ये Hirudin असते जे Anticoagulant म्हणून कार्य करते. यामुळे जलौका दंशस्थान सोडल्यानंतरही व्रणामधून रक्तस्त्राव होत असतो. यासाठी व्रणाची योग्य काळजी घेणे गरजेचे असते. व्रणास साधारणत: हरिद्राचूर्णाचे पट्टबंधन केले जाते.

आचार्यांनी अवस्थेनुसार खालीलप्रमाणे व्रणावर कर्म करण्यास सांगितले (सु.सू. 13/23)

(1) सम्यक योग - शतधौतघृताचा पिचू

(2) हीनयोग - दंशस्थानी मधुचे पीडन - याने रक्तस्त्राव अधिक होतो.

(3) अतियोग - शीत परिषेक, बंध

(4) मिथ्यायोग - कषाय, मधूर, स्निग्ध, शीत द्रव्यांचा प्रदेह.

(2) **जलौका उपचार (Care of leeches)** - रक्त आचुषीत जलौका Kidney tray मध्ये घेवून तिच्या मुखावर हरिद्राचूर्ण टाकावे. यामुळे जलौका रक्तवमन करते. जलौकास पूर्ण वमन करू द्यावे. त्यानंतर तर्जनी व अंगठयाच्या साहयाने अलगद पश्चभागापासून मुखाभागापर्यन्त पिळावी. अधिक दाबाने जलौकास क्षती पोहचणार नाही याची दक्षता घ्यावी व नंतर शुध्द जलाच्या पात्रात सोडून द्यावी. या पात्रावर रुग्णाचे नाव, तारीख लिहून चिट्टी चिकटवावी.

शुध्द जलामध्ये जलौका चपळतेने क्रिया करीत असल्यास सम्यक वमन झाले असे समजावे. असावधानीमुळे रक्त वमन ठीक न झाल्यास जलौका मृत होवू शकते. या रोगास 'इंद्रमद' म्हटले आहे.

(3) **व्यापद (Complications)** - चिकित्सकाच्या असावधानतेमुळे निर्विष जलौकाच्या ऐवजी सविष जलौका लावल्यास दंशस्थानी शोथ, कंडू, मुर्च्छा, ज्वर, दाह, च्छर्दि, मद ही लक्षणे दिसतात.

चिकित्सा:

(1) 'महागद' पान, अंजन, नस्य (सु.क. 5/61-62) (महागद-त्रिवृत्त, लांगली, मधुयष्टी, हरिद्रा, मंजिष्ठा, अमलतास, पंचलवण, त्रिकटु)

(2) आरोग्यवर्धिनी, 250 mg BD

(3) हरिद्राखण्ड 2-5 gm BD

(4) कैशोर गुग्गुल 500 mg BD

(5) मंजिष्ठादी क्वाथ 40 ml BD

* जलौका दंशस्थानी कधी कधी बराच काळ रक्तस्त्राव (oozing) होत राहते.

चिकित्सा- अर्जुनचूर्ण, हरिद्राचूर्ण+स्फटिका ने व्रणाचे संधान कर्म करावे.

व्रण उपचाराकडे दुर्लक्ष झाल्यास, व्रण दुष्ट होण्याची शक्यता असते. अशावेळी Emergency treatment ची ही गरज पडू शकते.

Management according to modern medicine: -

- Antibiotic in septicemic condition.
- Inj.- T.T.

श्रृंगावचरण

गोश्रृंगाच्या साहयाने रक्तनिर्हरण करणे श्रृंगावचरण होय. यासाठी गोश्रृंग घेवून बाहेरच्या बाजूने काच/Blade च्या साहय्याने घासून स्वच्छ गुळगुळीत केले जाते. श्रृंगाच्या टोकदार बाजूस छोटे छिद्र पाडून आतली बाजू पोकळ केली जाते. रूंद भाग त्वचेवर लावून निरूंद बाजूकडून आचुषणाद्वारे रक्तनिर्हरण केले जाते.

लांबी - 7 अंगुल (10 15 cm)

गोश्रृंग उष्ण, मधुर व स्निग्ध असल्याने वात दोष प्राधान्य रक्त दुष्टीमध्ये रक्तनिर्हरणासाठी उपयोगात आणले जाते. आजही खेडे गावांमध्ये परंपरेने वैदू लोक दुष्ट रक्ताच्या व्याधींमध्ये श्रृंगाद्वारे रक्तावसेचन करतात. मात्र सध्याच्या काळात वैद्य गण प्रत्यक्ष व्यवसाया मध्ये नगण्य प्रमाणात उपयोग करतात.

श्रृंगावचरण योग्यः

(1) वात दुषीत रक्त
(2) वात पित्तज रक्त व्याधी
(3) सुकुमार
(4) त्वक्‌रोगी

अयोग्य - कफानुबंधीत रक्त दुष्टी

पूर्वकर्म

संग्रह - (1) गोश्रृंग
(2) Scalpel/Blade
(3) Cotton, Gauze
(4) मधुयष्टी, हरिद्रा चूर्ण

रुग्ण परिक्षण - रुग्णाचे सामान्य परीक्षण - Pulse, BP etc.
- BT, CT, Platelet.

रुग्ण सिध्दता - रुग्णाची विशेष सिध्दता करण्याची गरज नाही तरी चांगले गुण येण्यासाठी स्नेहन स्वेदन करणे हितकर आहे. अल्पमात्रेत स्नेह 3 दिवस आभ्यन्तरतः देवून चवथ्या दिवशी अभ्यंग व स्वेदन करावे.

प्रधानकर्म

5 व्या दिवशी सकाळी श्रृंगावचारण करावे. यासाठी सर्वप्रथम व्याधीस्थानावर Scalpel ने प्रच्छान करावे. प्रच्छान करतेवेळी Scalpel ने दुर (distal) ते जवळ (proximal), तीव्र गतीने काप घ्यावे.

रक्तस्त्रावीत झाल्याबरोबर त्वरीत श्रृंगाचा रूंद भाग प्रच्छान केलेल्या स्थानी लावून सारख्या दाबाने दाबून ठेवावे व अरूंद भागावर कापड ठेवून आचुषण करावे. आचुषणा ऐवजी निर्वात करण्यासाठी Syringe किंवा Pump यांचा देखील वापर करता येतो.

थोडया वेळानंतर निर्वात करणे बंद करून श्रृंग बाजूला करावे.

पश्चात कर्म

(1) व्रण प्रक्षालन (त्रिफला क्वाथाने)

(2) मधुयष्टी, हरिद्रा व्रण बंधन

निरीक्षण: (1) अतिरक्तस्त्राव होत तर नाही याची काळजी घेणे.

(2) कंडू, दाह इ. लक्षणे

(3) शूल, कंडू प्रशमन

व्यापद व चिकित्सा:

(1) अतिरक्तस्त्राव, कंडू, दाह, दुष्ट व्रण

चिकित्सा: लाक्षणिक-आधी वार्णिल्या प्रमाणे.

अलाबू अवचारण

अलाबू (Lagnaria vulgaris) अर्थात लौकी (भोपळा), तुम्बी,

अलाबूद्वारे रक्त विस्रावण करणे म्हणजे अलाबू अवचारण होय.

अलाबू तिक्त, रूक्ष, तीक्ष्ण गुणात्मक असल्याने कफ दुष्ट रक्त निर्हरणासाठी योग्य आहे. अलाबूच्या मुखभागी छिद्र करून आतील मज्जा काढून घ्यावी. अलाबू आतून पोकळ केल्यानंतर त्यास वाळवावे व रक्तनिर्हरणासाठी उपयोगात आणावा.

अलाबू अवचारण योग्य (Indications):

(1) कफदुष्ट रक्ताचे व्याधी

(2) सुकुमार

(3) ग्रथीत रक्तावस्था

अयोग्य (Contra indications):

(1) पित्त दुषीत रक्त

पूर्वकर्म

(1) **संभारसंग्रह:**

(1) अलाबू
(2) Scalpel, blade
(3) Cotton
(4) Gauze
(5) मधुयष्टी, हरिद्रा
(6) तैल

(2) **रुग्ण परिक्षण:** सामान्य परिक्षण Pulse, BP इ.
- BT, CT, Platelet

(3) **रुग्ण सिध्दता:** विशेष सिध्दतेची आवश्यकता नाही परंतु चांगल्या परिणामांसाठी 3 दिवस आभ्यंतर स्नेहपान करून 4 थ्या दिवशी अभ्यंग-स्वेदन करावे.

प्रधानकर्म

5 व्या दिवशी प्रात:काली रुग्णास सुखासनात बसवावे, सर्वप्रथम Scalpel ने व्याधीस्थानावर प्रच्छान करावे. ज्यावेळी रक्तस्राव सुरू होईल त्याच वेळी कार्पास पिचू तेलामध्ये बुडवून त्यास जाळावे व अलाबूंच्या अंतभागी ठेवावे व अलाबू मुख प्रच्छान केलेल्या स्थानी लावावे. अलाबू आडव्या स्थितीत पकडावे ज्यामुळे पिचू जळत असतांना अग्नी त्वचेस लागणार नाही. आतील पिचू अलाबूमधे ऑक्सीजन असे पर्यन्त जळेल व नंतर विझला जाईल. यामुळे आतमध्ये निर्वात (vacuum) निर्माण होवून, प्रच्छान केलेल्या स्थानातून रक्त विस्रावीत होईल. 10 ते 15 मिनिटांनंतर अलाबू काढून घ्यावा.

निरीक्षण - (1) शूल प्रशमन, कंडू प्रशमन

व्यापद - (1) चिकित्सकाच्या/रुग्णाच्या निष्काळजीपणाने अग्निदाह (Burn)

चिकित्सक - शतधौतघृत

पश्चातकर्म

(1) व्रणप्रक्षालन
(2) व्रण बंधन हरिद्रा/मधुयष्टी चूर्णाने.

घटीयंत्र अवचारण

घटीयंत्र छोटया आकाराचा मातीचा घट आहे. याचा उपयोग अलाबू सारखाच केला जातो.

योग्य (Indication):

(1) पित्त दुष्टी युक्त रक्तज व्याधी
(2) रक्त ग्रंथीत असलेल्या जागी (Congestion of blood)

ही क्रिया Cupping therapy सदृश्य आहे.

Cupping Therapy:

Cupping therapy is the method of using glass or plastic cups to create localized pressure by a vacuum either by heat or by suction. The surface of human body responds by bulging into the vacuum cup. Cupping therapy has been found in ancient records dating back 3500 years and is still used by many alternative medicine practitioners. This therapy is very much popular in china.

Healing aspect of cupping therapy is through the release of toxins in your body. The suction from the cups can penetrate deep into the tissue causing release of toxins. It triggers the lymphatic system, clears the blood vessels and activates the skin.

Indications:

(1) Colds & influenza
(2) Headaches
(3) Abscess, cellulite
(4) Arthritis
(5) Rheumatism
(6) High BP
(7) Gastric pain
(8) Liver disorder
(9) Dermatological disorders
(10) Stroke
(11) Post surgery adhesions
(12) Gynecological disorders
(13) Varicose veins
(14) Stiffness of the back & neck
(15) In Athlets

सिराव्यध (Venesection)

रक्तमोक्षणासाठी सिरेतून सूचिकेद्वारे वेधन, रक्तनिर्हरण करण्याची क्रिया सिराव्यध होय. हया क्रियेची महती सांगतांना म्हटले आहे की सर्व शरीरात दुष्टी असल्यास सिराव्यधाने चिकित्सा करता येते. व्याधींमध्ये सर्वात जर दुष्य होत असेल तर ते 'रक्त' त्यामुळे सर्वात जास्त व्याधीचे अधिष्ठान रक्ताच्या आश्रयाने असते म्हणून 'रक्त विस्रुती' ही प्रथम चिकित्सा मानली आहे. सिराव्यध ही क्रिया धैर्यवान, बलवान रुग्णांमध्ये केली जाते. जेवढे इतर रक्तमोक्षणार्ह व्याधी आहेत त्या सर्व व्याधींमध्ये सिराव्यध करता येते. या व्यतिरिक्त खालील व्याधींमध्ये प्रामुख्याने सिराव्यध केले जाऊ शकते.

सिराव्यध योग्य (Indication):

(1) विसर्प (Herpes, Pemphigus)
(2) प्लीहा वृध्दी (Splenomegaly)
(3) विद्रधी (Abscess), अंत:विद्रधी (Appendicitis)
(4) गुल्म (Abdominal mass)
(5) अग्निमांद्य (Dyspepsia)
(6) ज्वर (Fever)
(7) मुखरोग (Diseases of mouth)
(8) नेत्ररोग (Diseases of eye)
(9) मद (Intoxication)
(10) तृष्णा (Excessive thirst)

(11) लवणास्यता (Salty taste)
(12) कुष्ठ (Skin diseases)
(13) वातरक्त (Peripheral vascular disease/Gout)
(14) रक्तपित्त (Bleeding)
(15) कटू उद्‌गार (Pungent eructation)
(16) अम्लोद्‌गार (Sour eructation)
(17) भ्रम (Vertigo)

सिराव्यध अयोग्य (Contraindication):

(1) बाल (Child)
(2) वृध्द (Old age)
(3) रूक्ष (Dehydrated)
(4) भीरू (Feared)
(5) क्षतक्षीण
(6) परिश्रांत
(7) अध्वक्लान्त (जास्त पायी चालल्याने थकलेले)
(8) मद्यपी (Alcoholic)
(9) स्त्री कर्षित (अत्याधिक मैथूनाने थकलेले)
(10) शोधीत (वमन, विरेचन, आस्थापन दिलेले)
(11) अनुवासीत
(12) जागरीत (न झोपलेले)
(13) गर्भिणी (Pregnant)
(14) पक्षाघात (Hemiplegic)
(15) प्रवृध्द ज्वर (Hyper pyrexia)
(16) आक्षेपक (Convulsive disorder)
(17) कास, श्वास, शोष रोगी (Cough, Breathless ness)
(18) उपवासीत, पिपासीत
(19) मुर्च्छा (Syncope)

सिरोवेधन अयोग्यकाल: हवा अति थंड, अति उष्ण अथवा अत्यंत जोराचा वारा वाहत असतांना

सिराव्यधन विधी

पूर्वकर्म	**प्रधानकर्म**	**पश्चातकर्म**
(1) संभार संग्रह	(1) आसन	(1) व्रणदक्षता
(2) रुग्णपरीक्षण	(2) सिराव्यधन	(2) व्यापद व चिकित्सा
(3) संमतीपत्रक	(3) निरीक्षण	
(4) रुग्णसिध्दता		
(a) स्नेहन स्वेदन		
(b) आहार		

पूर्वकर्म

(1) **संभार संग्रह:**

(1) Needle No. 18, Scalp vein No. 20 - आवश्यकतेनुसार

(2) IV Set (IV set चा Needle कडच्या बाजूने वरील बाजूस 20 सेमी चा तुकडा करावा. Regulator यात राहील अशी व्यवस्था ठेवावी.)

(3) BP Apparatus & Tourniquet

(4) Bandage, cotton

(5) Kidney tray, measuring glass

(6) Disinfectant

(7) सिरावेध रक्तस्त्राव वाढविणारी द्रव्य

(8) रक्तस्कंदन करणारी द्रव्य

(2) **रुग्णपरीक्षण:**

- सामान्य परीक्षण weight BP, Pulse
- BT, CT, Platelet इ. HIV

रुग्ण रक्तमोक्षणासाठी योग्य आहे याची पुन: तपासणी करून घ्यावी.

(3) **संमतीपत्रक (Written consent):** रुग्णास पंचकर्मातील या क्रियेमुळे होणाऱ्या लाभ व व्यापदाची जाणीव करून द्यावी व रीतसर त्याला समजणाऱ्या भाषेत संमतीपत्रक भरून घ्यावे त्याची/त्याचे नातेवाईकांची सही/अंगठा घ्यावा.

(4) **रुग्णसिध्दता:**

(1) **स्नेहन-स्वेदन** - रुग्णास आभ्यन्तर स्नेहपान अल्प मात्रेत (30 मिली) व्याधीनुसार 3 दिवसांपर्यन्त करावे. त्यानंतर रुग्णास अभ्यंग व स्वेदन करावे. प्रत्येकच व्याधीत स्नेहपानाची गरज पडेल असे नाही. परंतु उत्तम परिणामांसाठी स्नेहपान, अभ्यंग, स्वेदन करणे हितकर असते. आत्यायीक अवस्थेत याची गरज नाही.

(2) **आहार** - रक्तमोक्षणाच्या 45 मिनिटांपूर्वी रुग्णास लघु आहार घेण्यास सांगावे. अन्न सेवनानंतर आहार रसा बरोबर दोष रस रक्तानुगत होतात. त्यामुळे या काळात आम/दोष बाहेर काढणे सोपे होते.

अन्न सेवनानंतर लगेच सिराव्यध करू नये कारण यावेळी शाखागत रक्तस्राव कमी असतो. त्यामुळे दोष निर्हरण नीट होत नाही.

प्रधानकर्म

स्नेहन स्वेदन केलेल्या रुग्णाचे रक्तमोक्षणासाठी प्रकाशयुक्त खोलीमध्ये आणून त्यास धैर्य द्यावे व विश्वासात घ्यावे कारण बऱ्याचदा काही रुग्ण रक्त पाहिल्याबरोबर मूर्च्छित होतात किंवा रुग्णाच्या डोळयावर पट्टी बंधन करावे.

रुग्ण आसन: रुग्णास सामान्यत: उत्तान अवस्थेत टेबलवर लेटवून विस्रावण करणे सोयीचे असते. सिरा व्यवस्थीत दिसणे व सिरा उत्थान अवस्थेत येणे हे महत्त्वाचे असते.

(1) **हस्तसिरावेधन (for ex. Elbow, wrist, dorsum of palm)** - अंगठा आतमध्ये आवळून उत्तान अवस्थेत (Supine position) हात बाहेरच्या बाजूला विस्तारीत (Extended) करावा किंवा बसलेल्या अवस्थेत.

(2) **पादसिरावेध** – बसलेल्या अवस्थेत रुग्णास सामान्य अवस्थेत पाय ठेवण्यास सांगावे किंवा दुसरा पाय थोडा संकुचित करून वर उचलण्यास सांगावे ज्यामुळे सिरा उन्नत दिसतील.

(3) **मन्यागत** - लेटलेल्या स्थितीमध्ये उशी (pillow) मानेच्या खाली ठेवून रुग्णाचे डोके त्यास आरामदायक व सिरा उन्नत होतील अशा स्थितीत ठेवण्यास सांगावे.

खरेतर चिकित्सकांनी त्यांच्या कौशल्यानुसार रुग्णास आरामदायक व वेध्य सिरा उन्नत होतील अशा पध्दतीने आसनस्थ करावे.

सिराव्यधन:

(1) BP यंत्राच्या Cuff/Tourniquet ने सिरावेध करण्याच्या स्थानापासून 3 ते 4 इंच अंतरावर बांधावे. पंपाच्या साहयाने दाब आवश्यकतेनुसार कमी अधिक करता येईल ज्याद्वारे सिरांवरचे बंधन आवश्यकतेनुसार कमी अधिक करता येऊ शकेल.

(2) सिराव्यध स्थान निर्जंतुकी करणाच्या द्रव्यांनी (Spirit/Betadine) यांनी व्यवस्थीत स्वच्छ करून घ्यावे.

(3) सिरा अधिक विस्तारीत उत्तानासाठी चिकित्सकाने तर्जनीच्या साहयाने वेध्य सिरेवर ताडन करावे.

(4) यानंतर Needle द्वारे सिरेचे व्यधन करावे, यावेळी Needle उर्ध्व किंवा अधो किंवा तीर्यक गतीने नसावी. सिरेच्या दुसऱ्या भिंतीला भेदन होणार नाही अशाप्रकारे काळजीपूर्वक वेधन करावे व रक्त बाहेर येऊ लागल्यास सिरे वरील दाब थोडा कमी करावा. अशा प्रकारे सिरेचे व्यधन झाल्यानंतर रक्त पात्रात जमा करावे व निरीक्षण करावे.

(5) रक्त निर्हरणाच्या वेळी दाब फार कमी किंवा फार अधिक नसावा. रक्त प्रवाह अधिक किंवा अल्प नसावा. रुग्णास दुसरे व्यापदात्मक लक्षण उत्पन्न होत नाही याची काळजी घ्यावी.

निरीक्षण:

(1) रक्ताच्या वर्णाचे निरीक्षण करावे. सुरूवातीस रक्त अल्प कृष्ण छटा (Blackish Red) असणारे निघते, जसे जसे रक्त निर्हरण होते त्याबरोबर रक्तातील काळेपणा कमी होऊन उजळ होत जातो. सुरूवातीला दुष्ट रक्त विस्रावीत होत असते.

(2) कफ दुष्ट रक्ताच्या अवस्थेत रक्त अधिक घन (Thick) असते व पिच्छिल (Sticky) असते. यामुळे रक्त विस्रावणाच्या वेळी स्कंदन लवकर झाल्याने Needle अवरोधीत होण्याची शक्यता असते.

(3) रक्त निर्हरणाची मात्रा सम्यक लक्षणां वरून ठरवावी. रक्ताचा वर्ण कृष्ण वर्णा पासून उजळ होत असल्यास रक्त निर्हरण थांबवून घ्यावे. आयुर्वेद ग्रंथानुसार निर्हरणाची मात्रा सध्याच्या काळानुसार अधिक आहे. त्यामुळे अधिकाधिक मात्रा WHO च्या नियमानुसार 250 मिली गृहीत धरावी. प्रत्यक्षात मात्र व्याधीसाठी एवढया मात्रेत रक्त निर्हरण केले जात नाही. Blood donation च्या नावाने स्वस्थ व्यक्तीने स्वास्थ्यासाठी एवढी मात्रा निर्हरण करणे योग्य आहे.

पश्चातकर्म

1) व्रण दक्षता: सम्यक लक्षण/मात्रा निर्हरणानंतर Needle बाहेर काढून पिचू वेधन स्थानावर दाबून धरावे ज्यामुळे रक्त स्राव बंद होईल.

सम्यक योग लक्षणे: (सु.सू. 14/32-33)

(1) स्वयंमेव अवतिष्ठते - स्वत: स्राव बंद होणे.
(2) लाघवता - शरीरामध्ये हलकेपणा
(3) वेदना शमन
(4) व्याधी प्रशमन
(5) मन प्रसन्नता

2) व्यापद व चिकित्सा:

अयोग: (सु.सू. 14/15)

(1) शोफ (Inflammation)
(2) दाह (Burning)
(3) राग (Redness)
(4) पाक (Abscess Formation)
(5) वेदना (Pain)

तद्युष्टंशोणितम् अनिर्हियमाणं शोफ दाह राग पाक वेदना जनयेत् । सु.सू. 14/29

(The above symptoms occur in thrombophlebitis)

अतियोगः (सु.सू. 14/30)

(1) शिरोभिताप (Headache)
(2) आन्ध्य (Blindness)
(3) तिमीर (Refractive error)
(4) अधिमंथ
(5) धातुक्षय (Loss of fluid, dhatu)
(6) आक्षेपक (Seizures)
(7) पक्षाघात (Hemiplegia)
(8) एकांगरोग (Paralysis)
(9) तृष्णा (Thirsty)
(10) दाह (Burning)
(11) हिक्का (Hiccup)
(12) श्वास (Breathlessness)
(13) पाण्डू (Anemia)
(14) मृत्यु (Death)

अयोग किंवा अतियोग होण्याची कारणे-

(1) रुग्ण भयभीत झाल्यास
(2) बंधन (Tourniquet) शिथील झाल्यास
(3) शस्त्र (Needle) अनुकुचीदार नसल्यास किंवा block during double prick
(4) रुग्णाने अत्याधिक भोजन केलेले असल्यास
(5) वेग निर्धारण केलेला असल्यास

अयोग चिकित्साः रक्तस्राव होत नसल्यास इलायची, कर्पूर, कुष्ठ, तगर, देवदारू, विडंग, चित्रकुट, आगारधूम, हरिद्रा, अर्क अंकुर, करंज यातील मिळणाऱ्या औषधांचे चूर्ण करून सैंधव लवण व तिल तैल यांच्या सोबत मिश्रीत करून व्रणमुखावर घर्षण करावे.

अतियोग चिकित्साः अति रक्त स्रावणासाठी संधानकर्म, स्कंदन, पाचन व दहन कर्म करावे.

(1) खालील औषधींचा व्रणमुखावर लेप करावा.
   (1) लोध्र
   (2) यष्टीमधू
   (3) प्रियंगु
   (4) पतंग
   (5) गैरीक
   (6) सर्जरस
   (7) लाक्षा
   (8) रसांजन
   (9) शाल्मली पुष्प
   (10) शंख
   (11) यव
   (13) माष
(2) शीतल भोजन, शीत परीषेक, शीत गृह (AC Room असल्यास)
(3) क्षारकर्म
(4) अग्निकर्म (Cautery)
(5) दूध, मूग, युष

सिरावेधन स्थान (Sites of venesection):

व्याधी	स्थान	सिरा (Veins)
शिरोरोग	ललाट (forehead)	Supratrochlear vein
नेत्ररोग	अपांग (outer canthus of eye) उपनासा (near nose)	Middle temporal vein or Facial vein (angular) vein
कर्णरोग	Pinna	Superficial temporal vein (Anterior aspect) Posterior auricular vein (Posterior aspect)
नासारोग	नासाग्राच्या वर	Vein of ala nasi
पिनस (Rhinnorrhea)	नासा, ललाट	Supratrochlear vein
मुखरोग	जिव्हा ओष्ठ हनु	Deep lingual vein Superior and inferior labial vein Facial/retro mandibular vein
ग्रंथी (Tumors above neck)	ग्रीवा कर्ण शंख शिरोभागी	- Ext. Jugular vein - Post. auricular, ext. jugular vein - Superficial temporal vein - parietal or frontal of superficial temporal or occipital vein.
उन्माद	उरोभागी अपांग ललाट	- Middle temporal vein - Supra trochlear vein
अपस्मार	हनुसंधी भ्रूमध्य	- Facial vein or retromandibular vein - Supratrochlear vein.
प्रवाहिका (सशूल)	श्रोणी (2 अंगुल सोडून)	
शुक्र, मेढ्र रोग	मेढ्र (Penis)	- Dorsal vein of penis
* गलगंड	उरू	- Long saphenous vein
गृध्रसी	जानुसंधीच्या 4 अंगुल वर/खाली	- Long saphenous vein
* अपची (Cervical lymphadenitis)	इंद्रबस्ति (2 अंगुल खाली)	- Short saphenous vein

व्याधी	स्थान	सिरा (Veins)
क्रोष्टुकशिर्ष पाददाह/खुड (RA) विपादिका (Chilblains of feet) चिप्प (Onycho graphosis) वातकंटक (Pain at heels, calcaneal spur/plantar fascitis) हर्ष (Pins & needles sensation)	गुल्फसंधी (4 अंगुल वर) क्षिप्र मर्माच्या 2 अंगुल वर पादांगुल व नजीकच्या अंगुल यांच्यामधील	- Long saphenous vein Dorsal venous arch of foot
विश्वाची (Pain in lower end of the hand) (Tennis elbow, carpal tunnel syndrome, etc.)	कूर्परसंधीच्या 4 अंगुल वर/खाली	Cephalic vein
कक्षाविद्रधी	पार्श्व, कक्षा	
पार्श्वशूल, कक्षा * तृतीयक (Tertian fever)	स्तनमध्य दोन्ही अंसच्या मध्य (between shoulder joint)	
* चतुर्थक (Quotidian fever)	स्कंधाच्या अधभागी	

* व्याधीमध्ये आचार्यांनी रक्तमोक्षणासाठी सांगितलेली स्थाने यांचा समन्वय निश्चितपणे लावता येत नाही यासाठी अधिक संशोधनाची गरज आहे.

वरील स्थानानुसार वेधन केल्यास उपशय मिळते. परंतु ज्या स्थानी सिरा उन्नत दिसत नसतील किंवा वेधनासाठी सम्यक नसतील अशावेळी नजीकची सिरा (मर्मस्थानसोडून) वेधन करावे.

गृध्रस्थापिव विश्वाच्यां यथोक्तानामदर्शने।
मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिराम्।। **अ.हृ.सू. 27/17-18)**

रक्तमोक्षण कार्मुकता (Mode of Action of Raktamokshan)

रक्तमोक्षण ही अर्धचिकित्सा म्हटली आहे. याचा अर्थ रक्तमोक्षणाचे स्थान चिकित्सेमध्ये तेवढेच महत्त्वाचे आहे. सुश्रुत आचार्य सिरांना 'सर्ववह सिरा' म्हणतात. सिरांमध्ये रक्तासोबतच कफ, पित्त, वात हे सर्वच दोष वाहत असतात. तसेच रक्तासोबत रसही वाहत असतो त्यामुळे रस दुष्टी असो की इतर दोषांची दुष्टी असो रक्ताच्या आशयाने दुष्टी असतेच. त्यामुळे रक्तमोक्षणाने एक प्रकारे दोषांचे शोधन होते.

आचार्यांनी हे स्पष्ट केले आहे की शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष अशी चिकित्सा करूनही जर व्याधीचे शमन होत नसेल तर रक्तप्रदोषज व्याधी समजून रक्तविस्रावण करावे. (शीतोष्ण स्निग्ध ..... व्यधयेत सिराम्।। अ.हृ.सू. 27/4-5)

निसर्गत: शरीरामध्ये मल बाहेर काढण्याची प्रवृत्ती असते. ज्यावेळी रक्तदुष्ट होते त्यावेळी ते स्वत:हून बाहेर निघण्याचा प्रयत्न करीत असते, उदा. Epistaxis. शरीरामधे बाकीच्या मलांसाठी निघण्यासाठी मार्ग आहे. तसे रक्तासाठी नसल्याने दुष्ट रक्त स्वत:चे मार्ग तयार करते. त्यामुळे चिकित्सकांनी दुष्ट अवस्थेत ते मार्ग रक्तमोक्षणाने करून दिल्यास दुष्ट रक्त बाहेर येऊन रोगोपशमन होण्यास मदत होते. हिप्पो सारखे प्राणी स्वत:हून रक्तमोक्षण करून घेतात ते याचेच उदाहरण आहे.

वमन, विरेचन हे शोधन कर्म कफ, पित्तावर उत्तम आहे. वमन विरेचनाने कोष्ठातील दोष काढता येतात. दोष शाखेत गेल्यास रक्तदुष्टी करतात म्हणून शाखेतून दोषांचे शोधन करण्यासाठी रक्तमोक्षण उत्तम कार्य करते. असेही पित्त हे रक्ताच्या आश्रयाने असल्यामुळे पित्तदुष्टीची चिकित्सा रक्तमोक्षणाने सौकर्य होते. बस्तिमुळे जशी कोष्ठ शुद्धी होते व बस्ति केवळ वातस्थानातीलच नव्हे तर पित्त व कफ यांनाही स्वस्थानात ठेवण्यासाठी सहाय्य करते तसे रक्तमोक्षणाने प्रथम शाखा शुद्ध होवून कोष्ठावरही इष्ट परिणाम पडतो.

शरद ऋतूमध्ये पित्तप्रकोप होतो, आश्रयाआश्रयी संबंधाने रक्तप्रकोप होवून रक्तदूष्टी होते त्यामुळे शरद ऋतुमध्ये रक्तमोक्षण विरेचनासोबतच श्रेष्ठ चिकित्सा म्हटली आहे. त्यामुळे कितीतरी रक्त प्रकोपज व्याधींचे शमन करता येते. स्त्रियांना वयाच्या पित्त काळात निसर्गनिच रजप्रवृत्तीच्या रूपाने रक्तमोक्षण दिले आहे. यामुळे रज:निवृत्तीच्या (Menopausal) काळी पित्तप्रधान उदा. क्रोध, मानसिकताण इ. लक्षणे दिसतात अशावेळी रक्तमोक्षणाने यावर उत्तम चिकित्सा केली जाऊ शकते.

चय एवं जयेत दोषम्' यानुसार चय अवस्थेतच दोषांना जिंकणे आवश्यक आहे. दोषपाकापेक्षा धातुपाक अधिक घातक असतो. धातुपाकाची अवस्था येण्यापूर्वीच रक्तमोक्षण केल्यास प्रकोपावस्था येत नाही त्यामुळे 'विद्रधीं अचिरोत्थं अस्रं विसाव्र:' याच न्यायाने विद्रधी अंतविद्रधीमध्ये रक्तमोक्षण प्रमुख चिकित्सा वर्णिली आहे. याच न्यायाने Appendicitis मध्ये होणारे शूल रक्तमोक्षणाने कमी होते.

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका। अ.हृ.सू. 27/37, ज्याप्रमाणे कुसुंभाच्या फुलातून आधी पीतस्राव होतो तसेच रक्तमोक्षणामध्ये सुरूवातीस दुष्ट रक्तच बाहेर येते. त्यामुळे स्थानाचा विचार न करता कोणत्याही स्थानातून रक्तमोक्षण केले तर आधी दुषीत रक्तच बाहेर पडणार.

यकृत प्लीहा हे रक्तस्थान आहे. यकृतव्याधी, मद्यपान, ज्वर इ. मध्ये रक्तक्षोभ होतो. त्यामुळे यकृत प्लीहा वृद्धीवर रक्तमोक्षण केले जाते. यामुळे यकृतावरील ताण कमी केला जाऊन यकृताचे कार्य सुधारले जाते. रक्तमोक्षण हे शरीरावरील ताण कमी करण्याचे कार्य करते. रस व रक्तातील दोष काढण्याचे कार्य रक्तमोक्षणाने होते. वायू वृद्धीने किंवा आमामुळे वायू अवरोधीत होतो व रसरक्ताचे मार्ग अवरोधीत होतात. त्याचाच परिणाम संधीशूल होणाऱ्या व्याधीची सम्प्राप्ती घडण्यात होते. उदा. आमवात,

क्रोष्टुकशीर्ष. रक्तमोक्षणाने अवरोधीत वायू व दुष्ट रक्त काढल्याने वायू मार्गस्थ होवून सम्प्राप्ति विघटनाने रूजा शमन होते. रक्तमोक्षणाने अशुद्ध रक्त बाहेर पडते पण त्याही आधी अवृद्ध वायू त्याच्या चल व लघु गुणाने बाहेर पडतो त्यामुळे तात्काळ शूल प्रशमन होते. स्थौल्य, प्रमेह, हृदरोग यावरही अशाच प्रकारे रक्तमोक्षण उपयोगी ठरते.

रक्तमोक्षणाने संतर्पणोत्थ शारीरीक स्थिती हलकी होते व त्यासोबतच मानसिक प्रसन्नता वाढते. त्यामुळे रक्तमोक्षण हे उत्तम Tranquilliser म्हटले जाते व मानसिक व्याधीची चिकित्सा म्हणून उपयोग केला जातो.

Modern View:

Dr. M. Lous and others were done lot of work on bloodletting on pneumonitis, erysipelas, skin diseases found good result during 1832.

Bloodletting therapy has been used for its pain relieving and heat reducing action. The increase in HSP-70 (Heat Shock Protein70) has been proven to promote the survival rate of cells. HSP-70 involved to regulate lipopolysachhrade induced cytokine production. This protein plays a role of mitigating the adverse reaction of endotoxin during infection or the other pathological stresses.

Bloodletting therapy leads to remarkable increase of local HSP-70 and reduction of Interleukin-1. It is effective in adjusting disorders of immune functions. This process activate the production of HSP-70 and inhibit the section of IL-1 [Yuxing lin *et al*, effect of Bloodletting therapy on HSP-70 & IL-1. A journal for physicians by physicians Vol-16#3]

By the structure and use of the spleen, use of spleen is to hold redundant blood, or to afford it a temporary asylum, when the blood vessels are excited. Spleen some time obstructed by the blood, that it cannot perform the function in which case bloodletting is indicated. Hence it is useful in fever. [From Rush's Medical Inquiry & observation Vol-4, Philadelphia 1815]

During bloodletting, the antihistamines liberate in the blood. As the histamines are responsible for allergy, the symptoms like itching, patches diminished by bloodletting due to antihistamines liberations.

Hirudin A-65, residue anticoagulant proteins in leech prevents the clotting of blood, which has diuretic and antibiotic properties (MS & D Research Lab Pensalvennia). The leech has 'calin' which prevents blood coagulation, "Destabilase" a endo-epsilon (gamma-Glu) lys-iso peptidase protein, inhibits arterial thrombus formation by inhibition of induced and spontaneous platelet aggregation. Its saliva has anesthetic effect which is responsible for pain insensitivity. The action of leech by its biological substances by normalization and improvement of capillary circulation, expressed anti-inflammatory effect, anti-stressful and

adaptogene effects, immunostimulating and immunomodulating effects, antibacterial effect and improvement of an endocellular exchange and realization of these mechanism has both local and general character.

Biological active substances containing in saliva glands of medicinal leeches can restore blood circulation in the nidus of inflammation, remove an ischaemia of organs, provide capillary tissue exchange and due to it can carry out of the transport of chemical drug into the Indus of inflammation, improve immune protection and regeneration of tissue.

Probably the effect of "rejuvenation" which may be noticed after leech therapy the appearance of shine in eyes, the improvement of skin elasticity, the appearance of luster, the disappearance of the mask of tiredness on patients faces. It is possible by mechanism of increasing vascularization of skin and internal organs. Probably, due to the action of girudin and gialuronidaze (the factor of penetration) improving not only blood circulation in organs-targets, but in other organs and tissues due to the best capacity of capillary-tissue exchanging and so on. The using of leeches promotes the increasing of local immunity well (www.leeches.biz/hirudotherapy.htm)

9 PHYSIOTHERAPY

Definition: Physiotherapy is the primary health care that promotes wellness, mobility and independent functions. It helps in rehabilitation to overcome movement disorders or musculoskeletal system Physiotherapy is helpful from birth to old age.

History : In 460 BC Hippocrates and later Glaenus reported as first practitioner of physiotherapy. Physiotherapy was widely used in orthopedic in 18th century in Gymnastic to treat gout like diseases by exercise of joints. As per the latest documented origin of physiotherapy as professional is per Henrik Ling who was father of Swedish gymnastics who founded the Royal Central Institute of gymnastics in 1813 for massage, manipulation and exercise.

In 1887 physiotherapist were given official registration for Sweden's national board of Health and Welfare. The first research paper on physical therapy was published in march 1921 is PT review.

Common Treatment Methods :

1) Exercise to improve mobility and strengthen muscles.
2) Joint manipulation and mobilisation to reduce pain and stiffness.
3) Muscle Re-education to improve control.
4) Airway clearance techniques and breathing exercise
5) Soft tissue mobilisation (Massage)
6) Acupuncture
7) Hydrotherapy

Approach of Physiotherapy : There are wide range of techniques in physiotherapy some of there are as follows.

1. **Movement and Exercise :** Therapeutic exercise designed to strengthen the affected body part. They need to be repeated regularly for a number of weeks. There are evidence to show physical exercise can help to manage and prevent more than 20% different health condition. There are 50% lower risk of developing silent killer diseases like caronary heart diseases (CHS) & CVE (Cerebrovascular episodes, diabetes, cancer).
2. **Manual therapy :** Manual therapy involves using the hands to mobilise joints and soft tissues. It-

- improves blood circulation
- helps to drain fluid from parts of the body
- improves movement of the joints
- helps to relieve pain

It is beneficial in musculoskeletal disorders & pain.

3. **Transcutaneous Electrical Nerve Stimulation (TENS) :** A Battery operated machine generated electric current passes to the affected area by two electrodes. The tingling sensation produced due to current block the pain signals.
4. **Ultrasound (Ultrasonic therapy) :** High frequency sound waves can treat deep tissue injuries by stimulating blood circulation and cell activity. This is helpful in muscle spasm and pain.
5. **Cryotherapy :** Ice is applied over the affected part of the body. This is helpful in pain and muscular spasm.
6. **Short wave diathermy (SWD):** It is operated by machine which passes high frequency alternating current and gives the relief. It is useful in inflammations degenerations of the joint and relieves the pain.
7. **Hydro therapy (Aquatic therapy) :** In hydrotherapy the exercises are done under the water usually a warm, shallow swimming pool or special hydrotherapy pool. It is often used with children adults having physical and learning disabilities.

The movement can be performed more easily under water than air due to buoyancy in water eliminates gravity.

Infrared Therapy

Infrared radiation is type of electromagnetic therapy which range for 6.78μm to 1 mm wavelength. Effects of infrared modalities are primarily superficial and affect cutaneous blood vessels and nerves. It is beneficial in subacute condition to reduce pain and inflammation. Infra red is more useful than visible radiation of heating because body absorbs more, penetration depth of infrared is more.

Device :

150-250 wat infrared lamp is a device

Indications :

1. Acute and subacute inflammation
2. Acute muscle train
3. Ligamental sprain

4. Acute and chronic pain
5. Acute swelling
6. Bursitis
7. Tenosynovitis
8. Tendinitis
9 Muscular spasm
10 Acute contusion

Contraindication :

1. Acute musculoskeletal condition
2. Impaired circulation
3. Peripheral muscular disease
4. Skin anaesthesia

Mode of Action :

Due to heat, vasodilatation occurs which increase O_2 supply, nutrients and help to eliminate CO_2 and metabolic waste.

Procedure:

150-250 wat infrared lamps are available covering the area 20x30 cm eg. shoulder back, elbow, neck with focusing beam. The distance from the lamp should be 8' to 24' During the procedure lamp should be moved regularly to avoid burn, the heating should be tolerable to the patient. Use of infrared lamp should be 5-20 min. for session, 1-6 times per day

Ultra Sound Therapy

Ultra sound is based on biological effect of ultrasonic oscillations which are not electric.

Ultrasound (US) is form of mechanical energy which is not electrical energy but it falls into electrophysical group. US refers to mechanical vibrations in the form of sound wave which is passed to the material (targeted tissue), which causes oscillation in the molecular vibration in the tissue resulted into heat generation and produce thermal changes in the tissue.

Audible sound wave ranges from 20Hz to 20000Hx frequency. Beyond this upper limit, the mechanical vibration is known as ultrasound. This ranges from 1 to 3 MH (1MHz = 1 million cycles per second).

An ultrasound (US) therapeutic system consists of two parts

1. Generator of High frequency electric current
2. Application probe. the ultra sound sources consists of piezoelectric transducer which converts electrical energy into crystal into mechanical vibration (sound waves). Begins at 1.0w/cm^2 and increase intensity until the patient feels heat.

Indications :

1. Chronic joint pain
2. muscle and neural disease
3. Varicose ulcers
4. Spasm
5. Subacute and chronic inflammation

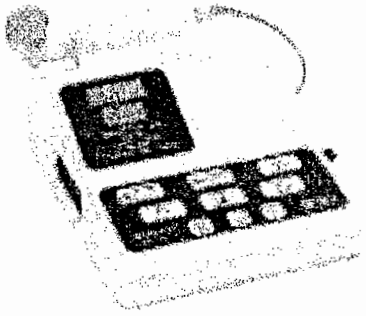

Contraindication :

1. Pregnancy
2. Malignancy
3. Bleeding
4. Hemophilia
5. application over - eye, cardiac area in advanced heart diseases or where pacemaker implanted.

Procedure :

US is performed with ultrasonic machine that has ultrasound transducer. A small amount of gel is applied over the target part and slowly move the head in circular direction. Different stages and settings can be managed on the ultrasound machine to control depth of penetration.

Wax Bath

Wax bath is a therapy that involves painting of hands, feets, elbow by heated wax or wax with liquid paraffin to relieve pain and treat muscle injury.

Body releases the endorphins at the site of pain for relief, the pain will continue if the path is blocked and endorphin cannot get through. Endorphins travel through the blood, airway and subcutaneous layer. The subcutaneous area is accessible through many tiny holes in the skin. Gradually raising the temperature of the skin around the affected area warms the subcutaneous layer and triggers a gland at the base of the brain to release endorphins at the site of the affected area to relieve pain.

Indication :

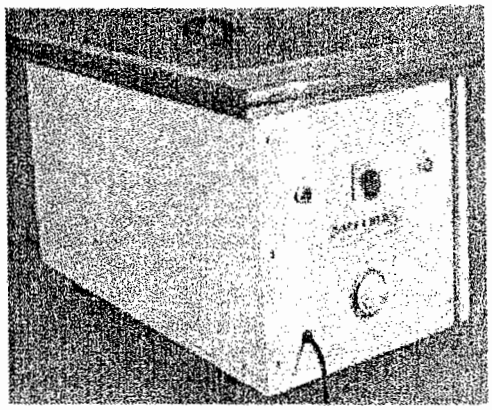

1. Sport related injuries
2. Fibromyalgia
3. Bursitis
4. Tendinitis
5. Rhuematism
6. Arthritis

Procedure :

Wax is heated in a container or specially designed instrument. The temperature is maintained by regulator. When the wax is melted, a hand, foot or elbow dip in the wax or the injured part should be pasted by brush and allowed to air-dry for two minutes, with this procedure repeated for five to ten times according to severity.

After there are enough wax layers, the body part should be wrapped and left stand fori15 minutes. Once hardened the wax is ready to peel off.

The precautions should be taken that patient can bear the temperature and avoid burn.

10 BIOMEDICAL WASTE

BioMedical waste means infectious waste or medical waste. It consists of solids, liquids, sharps, generating during the diagnosis, treatment, research or production of biological products. It includes syringes, needles live vaccines, lab samples, body parts, bodily fluids, excretion, drugs or other pharmaceutical products. It must be properly managed and disposed off to protect the public health from dangerous hazards. If the waste is not destroyed by burning at the prescribed temperature of 1150 Λ 0°C, it produces Persistent Organic Pollutants like dioxins and furans. The waste products are to be burned rather than burring under the land.

The Biomedical Waste Management & Handling Rules, 1998 came into force on 1998. Central Govt. notified these rules for the management and Handling of biomedical wastes generated from Hospitals, clinics, other institutions under section 6, 8 & 25 of EP Act, 1986.As per rule it is mandatory for all hospital, clinics practicing Allopathic, Ayurvedic, homeopathic medicines to register with civic body. Under IC-2 (infection control) for accreditation to Ayurved Hospital by NABH it is necessary to manage BioMedical waste.

The Segregation, Packaging, Transportation and Storage shall be done as under:-

1. Bio-medical waste shall not be mixed with other wastes.
2. Bio-medical waste shall be segregated into containers/bags at the points of generation in accordance with Schedule II
3. The containers shall be labeled according to Schedule III.

The State Pollution Control Board is the Authority for grant of Authorization.

For violating the provisions of these Rules, the Board can file a complaint under section 15 of EP Act which provide for imprisonment which may extend upto 5 years with fine. The Board can also have directions for closure of any defaulting hospital/clinic/ institution under section 5 of EP Act as per powers delegated by the Central Govt.

HOSPITAL WASTES

Non Infectious			Infectious
Biodegradable	Non Biodegradable	Non Sharps	Sharps
Solids			Liquids
Incinerable			Non Incinerable (Autoclave, Microwave)

SCHEDULE I

(See Rule 5)

CATEGORIES OF BIO-MEDICAL WASTE

OPTION	WASTE CATEGORY	TREATMENT & DISPOSAL
No. 1	Human Anatomical Waste (human tissues, organs, body parts)	Incineration / deep burial
No. 2	Animal Waste(from hospitals, animal houses)	Incineration / deep burial
No. 3	Microbiology & Biotechnology Waste (wastes from laboratory cultures)	Local autoclaving / microwaving / incineration
No. 4	Waste Sharps (needles, syringes, scalpels, blades, glass, etc. that may cause puncture and cuts)	Disinfection by chemical treatment / atoclaving / microwaving and mutilation / shredding
No. 5	Discarded Medicines and Cytoxic drugs(wastes comprising of outdated, contaminated and discarded medicines)	Incineration / destruction and drugs disposal in secured landfills
No. 6	Solid Waste (Items contaminated with blood, body fluids including cotton, dressings, soiled plaster casts, lines, beddings, other material contaminated with blood)	Incineration / autoclaving / microwaving
No. 7	Solid Waste (wastes generated from disposable items other than the sharps such as tubings, catheters, intravenous sets etc).	Disinfection by chemical treatment / autoclaving / microwaving and mutilation / shredding
No. 8	Liquid Waste (waste generated from laboratory, washing, cleaning, house keeping and disinfecting activities)	Disinfection by chemical treatment and discharge into drains.
No. 9	Incineration Ash(ash from incineration of any BMW)	Disposal in municipal landfill
No. 10	Chemical Waste	Chemical treatment and discharge into drains for liquids

SCHEDULE II

(see Rule 6)

COLOUR CODING AND CONTAINER FOR DISPOSAL OF BMW

COLOUR CODING	TYPE OF CONTAINER	WASTE CATEGORY	TREATMENT OPTIONS as per Schedule I
Yellow	Plastic Bag	Cat. 1, 2, 3 & 6	Incineration / deep burial
Red	Disinfected container / Plastic Bag	Cat. 3, 6, & 7	Autoclaving / Microwaving / Chemical Treatment
Blue / White Translucent	Plastic Bag / puncture proof container	Cat. 4, Cat. 7	Autoclaving / Microwaving / Chemical treatment and destruction shredding
Black	Plastic Bag	Cat. 5, 9 & 10 (Solid)	Disposal in secured landfill

WASTE GENERATED FROM PANCHAKARMA PRCOCEDURES

Sr No	Procedure	Waste
1	Abhyang	Oil, gause piece
2	Swedan	Kashay, k alka,Pinda Sweda Pottali Bahya basti black gram
3	Vaman	Vomitus, Kashay, plastic aprons
4	Basti	Catheter, Syringes, Gloves
5	Raktamokshan	Dead Leech, Needles, Gloves, Scalp vein, IV set, Blood, Gauze piece, Swab
6	Nasya	Swab,dropper
7	Murdhni Kriya	Oil, bandage, Talam, Takra,Milk, Lepa, Black gram flour
8	Pizchichil	Oil
9	Uttar basti	Catheter, oil, gauze piece
10		Unused medicine which are outdated

COLOUR CODING AND CONTAINER FOR DISPOSAL OF BMW

COLOUR CODING	TYPE OF CONTAINER	WASTE CATEGORY
Yellow	Plastic Bag	Cat. 1, 2, 3 & 6 gauze piece, Vomitus,
Red	Disinfected container / Plastic Bag	Dead used Leech, Needles, Gloves, Scalp vein IV set, Blood, Gauze piece, Swab, Catheters
Blue / White Translucent	Plastic Bag / puncture proof container	Cat. 4, Cat. 7 Needles, Scalp vein
Black	Plastic Bag	Cat. 5, 9 & 10 (Solid) Out dated medicines, discarded medicines

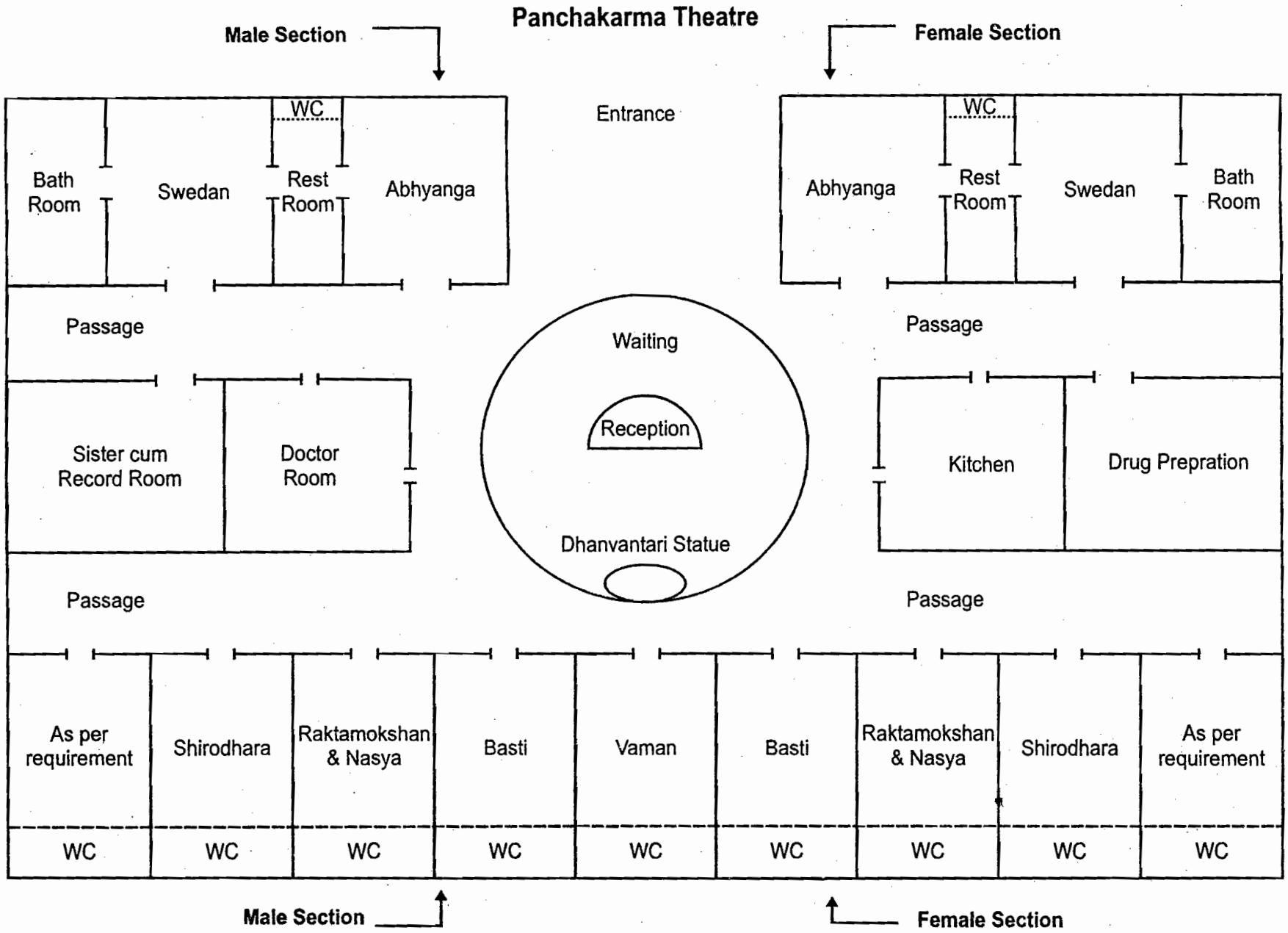
Panchakarma Theatre
Male Section
Female Section
Entrance
WC
Bath Room
Swedan
Rest Room
Abhyanga
Abhyanga
Rest Room
Swedan
Bath Room
Passage
Passage
Waiting
Reception
Dhanvantari Statue
Sister cum Record Room
Doctor Room
Kitchen
Drug Prepration
Passage
Passage
As per requirement
Shirodhara
Raktamokshan & Nasya
Basti
Vaman
Basti
Raktamokshan & Nasya
Shirodhara
As per requirement
WC
Male Section
Female Section

संदर्भग्रंथ

1. Ashtanghrudaya (Vashbata Sutrasthana - II) Translation & Comentary - T. Sreekumar, 2009
2. व्यावहारिक पंचकर्म विज्ञान - वैद्य नचिकेत वाचासुंदर, 2011
3. Principles & Practice of Panchakarma - Dr. Vasant C. Patil, 2011
4. चरकसंहिता (श्री चक्रपाणि विरचितया आयुर्वेद दीपिका व्याख्यया संवाहिका) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान प्रकाशन, 2006
5. Ayurveda an Effective Solution Dr. M.S. Vora, 2011
6. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान - वैद्य ह. श्री. कस्तुरे, 2006
7. सार्थ वाग्भट - वाग्भटकृत - भाषांतर ग. कृ. गर्दे, 2010
8. चक्रदत्त - चक्रपाणिदत्त निरचित - व्याख्याकार - रविदत्त शास्त्री, 2000
9. Principles and Practice of Vasti - Dr. M.R. Vasudevan & Dr. L. Mahadevan, 2010
10. Select Research paper on safety and efficany of Panchakarma. CCAMS Dept. of AYUSH, Govt of India, 2008
11. Panchakarma problems & Solution - Dr. M.R. Vasudevan etc.
12. The legacy of charaka - Ms. valiattion, 2009
13. The Legacy of Sushruta - M.S. Vallatham, 2011
14. शार्ङ्गधरदंहिता - शार्ङ्गधराचार्य, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, 1998
15. Chikitsa Sangraham - Vaidyaradnam P.S. Varier, 1992
16. आयुर्विज्ञान मूलभूत शब्दावली - भारतसरकार, 2005
17. कायचिमित्सा (चतुर्थ भाग) - प्रो. अजयकुमार शर्मा, 2010
18. चर्मरोगनिदर्शिका, संपादक - आचार्य रघूविरप्रसाद त्रिवेदी, 1991
19. Panchakarma Therapy -Prof. R.H. Singh, 2007
20. Panchakarma Ed. E. Surerdran, 2006
21. विद्ध आणि अग्निकर्म चिकित्सा - डॉ. रा.ब. गोगटे, 2006
22. Sirassekadi Vidhi- Dr. Menon, Ed. Dr. M. Prasad, 2009
23. Snehasvedangal, Seminar Paper, Kottakkal Ayurveda Series, 2008
24. Snehan Therapy in Ayurveda - Vd. V.C. patil, 2008

25. अम्लविसृति अर्धचिकित्सा - डॉ. त्र्य. म. गोगटे, 2003
26. Efficacy of Ayurveda in the Management of Psoriasis - Manojkumar Shamkuwar, Lalchand Jaiswal, 2012
27. आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा - आचार्य मुकुन्दलाल द्विवेदी, 2012
28. Bhavaprakash of Sribhava Misra, Ed. Bramhashankar Misra, 2002
29. Synopsis of Panchakarma Procedures, NRIP, CCRAS, 2010
30. सहस्त्रयोग संग्रह - संपादक महेन्दपालसिंह आर्य, 1990
31. कश्यप संहिता (वृद्धजीवक तंत्र) भाषानुवाद श्रीसत्यपाल भिषगाचार्य, 1998
32. चरकसंहिता - CD-CCRAS
33. सुश्रुतसंहिता - CD-CCRAS
34. Panchakarma Illustrated - Dr. G.S. Acharya, 2008
35. The Panchakarma treatment of Ayurveda Dr. T.L. Devaraj, 1998
36. सुश्रुतसंहिता (निबंध संग्रह व्याख्यासह) री डल्हणाचार्य विटचित्रा - यादवजी त्रिकमजी आचार्य (संपादन), 2010
37. अष्टांगहृदयम् (श्री अरुणदत्त विरचितया सर्वांगसुंदर व्याख्यया) डॉ. अण्णा कुंटे तथा कृष्णाशास्त्री (प्रतिसंस्कर्ता), 2011
38. Harrison's - Principles of Internal Medicine18th Edition (International Edition) Vol. 1 & 2 Ed., Dom Longo *et al*, 2011
39. Davidson's - Principles and Practice of Medicine, Ed., Nicki R. Colledge, 21st Edition, 2010
40. Text book of Medical Physiology Gyton's and Hall 12th Edition, 2010
41. Manual of Medical Emergencies - Ed (S) Ashok Grover *et al*, 2007
42. P.J. Mehta's Emergencies in Medical Practice - Ed Ajay K. Kantharia, 2006
43. Dr. Nitin Jindal M.D. Thesis, 2005

Female Section

Panchakarma Theatre

Male Section

चतुर्थ अध्याय

द्रव्य गुण

द्रव्यो का गुण जाने विना चिकित्सा की योजना नही की जा सकती। अत इसे भली-भाति जानना चाहिये। इसके लिये भावप्रकाश का निघण्टु या द्रव्यगुण प्रकरण अच्छा है। किस द्रव्य मे कौन रस-गुण, वीर्य, आदि है इसका पूरा वर्णन कठिन है। यहां एक-एक रोग या एक-एक काम के लिये उपयोगी द्रव्यो का उल्लेख करेंगे। जिससे एक आवश्यकता के लिये उपयोगी द्रव्यो की जानकारी एक ही जगह हो जाय। इनमे जो द्रव्य मिलें उनका उपयोग करें। सबके भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना अनुचित है।

जीवनीय (जीवन को बढाने वाले)—

जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (मुगवन, या वनमूंग), माषपर्णी (माषवन या वनउर्दी), जीवन्ती और मुलहठी। ये दश द्रव्य जीवन शक्ति को बढाने वाले है। ये सामान्यत· मधुर और धातुवर्धक हैं। इन्हीं को मिलाकर जीवनीयगण कहते हैं। कहीं-कहीं इसमे ऋद्धि और वृद्धि मिलाकर जीवनीयगण कहा गया है। प्रथमोक्त जीवक आदि छ द्रव्यो मे ऋद्धि और वृद्धि मिला देने पर अष्टवर्ग कहा जाता है। भावप्रकाश मे लिखा है कि अष्टवर्ग राजाओ को भी दुर्लभ है। पर हमारा निवेदन है कि अच्छे व्यापारी के यहा से जो भी अष्टवर्ग मिलता है उसे लेकर काम चलाइये। शास्त्र मे अष्टवर्ग के स्थान पर उसका प्रतिनिधि द्रव्य इस प्रकार से लिखा है :—

जीवक ऋषभक का विदारी कन्द, मदोमहामेदा का शतावर, काकोली क्षीर काकोली का असगन्ध और ऋद्धि-वृद्धिका वाराहीकन्द। यत. दो का प्रतिनिधि एक द्रव्य है इसलिये दो के स्थान पर लेना हो तो प्रतिनिधि को दूना करना चाहिये। अलग-अलग एक के स्थान पर लेना हो तो मूल द्रव्य के समान मात्रा मे लेना चाहिये। बाजार मे उपलब्ध द्रव्य और उसके प्रतिनिधि द्रव्य दोनो को ही मिलाकर उपयोग किया जाय तो संशय भी न रहेगा और लाभ भी उत्तम होगा। इनमे विदारीकन्द और वाराहीकन्द को चखकर लें। ये कड़ुये न हो। अन्यथा बडी हानि होगी।

वृंहण (शरीर को बढाने वाले) —

खिरनी, राजक्षवक (डूंविया) जो मधुररस वाली होती है, अम्लरस वाली अग्राह्य है) वरियरा, काकोली, क्षीर काकोली, श्वेत बला, पीतबला, वन कपास के बीज (बिनौला), विदारीकन्द और विधारा ये वृंहण हैं। अर्थात् शरीर को बढाते या पुष्ट करते हैं। विदारीकन्द कड़ुआ न हो।

लेखन--

जो द्रव्य दोषो को आशयो से छीलकर निकालते हैं वे लेखन कहे जाते हैं।

नागरमोथा, कूठ (मीठा कूठ लें) हल्दी, दारुहल्दी, वालवच या मीठा वच, अतीस, कटुकी, चित्ता, करंज और सफेद वच ये लेखन हैं। कडुआ वच न लें क्योकि यह विष का काम करेगा।

भेदन, (मल की गांठों को तोडने वाले)—

निशोथ, मदार, एरण्ड, कलिहारी, (यह विष है), जमालगोटा, चित्ता, करंज, यवतिक्ता या कालमेघ, कटुकी, स्वर्णक्षीरी (भडभाड़ या सत्यानाशी या चोक) ये भेदन हैं।

सन्धानीय भग्न, टूटे-फूटे हुए (या कटे हुए) को जोड़ने वाले—

(मुलहठी), जलज मुलहठी या गुरुच, पिठिवन, पाठा, मोचरस, धाय, लोध, प्रियंगु और कायफल ये टूटे-फूटे या कटे हुए अंगो को जोडते हैं, प्राय. कषाय रस के होते हैं।

दीपन अग्नि को दीप्त करने वाले पर भोजन को न पचाने वाले—

पिप्पली, पिप्पलीमूल चव्य, चिता, सोठ, अम्लवेंत, मरिच, अजवाइन, भेलावें की गुठली (वैद्य से पूछे विना भिलावें का व्यवहार न करें) और हींग ये दीपन हैं। ये प्राय. कटु,-अम्ल-लवण रस वाले, उष्ण वीर्य और तीक्ष्ण होते हैं।

वल्य(शक्ति या वल को वढाने वाले),

केंवाच के वीज, मुलहठी, शतावर, विदारीकन्द या क्षीर काकोली, असगन्ध, शालपर्णी, जटामासी, वला, (वरियरा,) अतिवला और इन्द्रायण (यह रेचक हैं अत. इसे छोड़ सकते हैं) ये वल्य हैं। व ओज को वढाते हैं। सूखे केवाच की फली का छिलका जरा-सा भी स्पर्श होने से खुजली होती है। सारी देह मे घी पोतकर अत्यन्त सावधानी से वीज निकालें। वाजार में वीज अलग से बिकता है जो निरापद है।

वर्ण्य (वर्ण या शारीरिक रग को ठीक करने वाले)—

चन्दन, केशर, पद्मकाठ या कमल, खस, मुलहठी, मजीठ, सारिवा, विदारीकन्द, सफेद दूव और प्रियंगु। ये शरीर के वर्ण को ठीक रखते हैं और उसे निखारकर सुन्दर वनाते हैं।

कण्ठ्य (कण्ठ या स्वर को ठीक करने वाले)—

सारिवा, ईख की जड, मुलहठी, पिप्पली, मुनक्का, विदारीकन्द, कायफल, हंसराज, वडी कटेरी (वनभण्टा), छोटी कटेरी (भटकटैया) ये स्वर के लिये हितकारी हैं। सभी कफ नाशक हैं। इन्हे स्वर्य (स्वर के लिये हितकारी) भी कहते हैं।

हृद्य (हृदय को बल प्रदान करने वाले)—

आम, आमड़ा, बडहर, करौंदा, पक्की इमली, अम्लवेंत, बडा बेर, बेर, अनार, बिजौरा नीबू ये हृदय को शक्ति देते हैं।

तृप्तिघ्न (भोजन से तृप्त प्रतीत होने वाले रोग तृप्ति को नष्ट करने वाले)—

सोठ, चित्ता, चव्य, विडंग, मरोड़फली, गुरुच, बाल बच या मीठा बच, नागरमोथा, पिप्पली और पाढल ये तृप्तिघ्न हैं, ये प्रायः कफ को शमन करने वाले, कटु-तिक्त-कषाय रस वाले, उष्ण वीर्य एवं रूक्ष गुण वाले हैं।

अर्शोघ्न (बवासीर को नष्ट करने वाले—

कुडैच्या, बेल, चित्ता, सोठ, अतीस, हरड, धमासा, दारुहल्दी, बालबच और चव्य ये बवासीर को नष्ट करते हैं।

कुष्ठघ्न—

खैर, हरड, आवला, भिलावा, (वैद्य से पूछकर इसका व्यवहार करें), छितिवन, अमलतास, कनेर, विडंग और चमेली ये कुष्ठ को नाश करने वाले हैं। कुष्ठ से तात्पर्य समस्त त्वक् विकार से है। ये द्रव्य रक्त-दोष एवं त्रिदोष को भी नष्ट करने वाले हैं।

कण्डूघ्न (खुजली नष्ट करने वाले)—

चन्दन, अमलतास, करंज, नीम, कुडैच्या, मुलहठी, दारुहल्दी, मोथा ये खुजली को नष्ट करने वाले हैं। ये कफ शामक और त्वचा के लिये हितकर हैं, यह ज्ञातव्य है कि बिना कफ के खुजली नही होती।

क्रिमिघ्न (क्रिमियो को नष्ट करने या मूर्च्छित करने या बाहर करने वाले)—

बकाइन, मिर्च, सेहुण्ड (उग्र रेचक), विडंग, म्यौडी, अपामार्ग, गोखरू, और मूसाकर्णी ये क्रिमियो को नष्ट या मूर्च्छित या बाहर करते हैं।

विषघ्न—

हल्दी, मजीठ, हरसिंगार (पारिजाता) हंसपदी, छोटी इलायची, निर्मली, शिरीष, म्यौडी, लिसोड़ा ये विष को नष्ट करने वाले हैं।

स्तन्य जनन (दूध उत्पन्न करने वाले)—

धान, शालि (अरवा चावल) साठी चावल, ईख, कुश और कास ये दूध उत्पन्न करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त शतावर मसूर से भी दूध उत्पन्न होता है। मसूर के अतिरिक्त ये द्रव्य जल प्रधान और कफ वर्धक हैं।

स्तन्य शोधन (दूध को शुद्ध करने वाले)—

पाढा, सोंठ, देवदारू, मोथा, मूर्वा, गुरुच, इन्द्र जौ, चिरायता, कटुकी और अनन्त मूल ये दूषित दूध को शुद्ध करने वाले हैं। रक्त-दोष नाशक एवं त्रिदोष नाशक हैं।

शुक्र जनन (वीर्य उत्पन्न करने वाले)—

जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, मेदा, शतावर, श्वेत घुघुची ये वीर्य उत्पन्न करने वाले हैं, स्निग्ध मधुर और शीतल हैं।

शुक्रशोधन (वीर्य को शुद्ध करने वाले ;—

मीठा कूठ, एलवालुआ, कायफल, समुद्रफेन, कदम्ब का गोद, ईख, कास, तालमखाना और खस ये दूषित वीर्य को शुद्ध करने वाले हैं।

स्नेह पग (स्नेहन द्रव्यों की शक्ति बढाने वाले या उनके सहायक द्रव्य)—

मुनक्का, मुलहठी, गुरुच, मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती और शालपर्णी ये स्नेहन द्रव्यो की शक्ति को बढाते हैं।

स्वेदोपग (स्वेदन द्रव्यों की सहायता करने वाले)—

सहिजन, एरण्ड, मदार, श्वेत पुनर्नवा (गदहपुरना), लाल पुनर्नवा, जौ, तिल्ली, कुलथी, उरद और बेर ये स्वेदन द्रव्यो की शक्ति बढाने वाले या उनके सहायक होते हैं।

वमनोपग (वामक द्रव्यों के सहायक)—

मधु, मुलहठी, लाल कचनार, सफेद कचनार, कदम्ब, जलवेंत, कुन्दरू, शणपुष्पी, मदार और अपामार्ग ये वामक द्रव्यो की शक्ति बढाते हैं और उनकी सहायता करते हैं।

विरेचनोपग (विरेचन द्रव्यों के सहायक)—

मुनक्का, गम्भारी, फालसा, हरड, बहेर्रा, आँवला, बडा बेर, बेर, झरबेर और पीलू ये विरेचन द्रव्यो के सहायक हैं।

आस्थापनोपग (निरूहण वस्ति के द्रव्यों के सहायक)—

निशोथ, बेल, पीपर, मीठा कूठ, सरसो, बालबच, इन्द्र जौ, सोया का बीज, मुलहठी, और मैनफल ये निरूहण द्रव्यो के सहायक हैं। उनकी शक्ति को बढाते हैं। निरूहण एक प्रकार से एनिमा को कहते हैं। इसके सम्बन्ध मे पंचकर्म प्रकरण पढिये।

अनुवासनोपग (स्नेह वस्ति के द्रव्यों के सहायक)—

रास्ना, देवदारु, बेल, मैनफल, सोआ का बीज, सफेद पुनर्नवा, गोखरू, लाल पुनर्नवा, अरणी और सोनापाठा ये अनुवासन या स्नेह वस्ति (देखिये पचकर्म) के द्रव्यो के सहायक हैं। उन्हे शक्ति प्रदान करते हैं।

शिरोविरेचनोपग (शिर का दोष नासामार्ग से निकालने वाले द्रव्यों के सहायक)—

मालकांगनी, नकछिकनी, मिर्च, पीपर, विडंग, सहिजन के बीज, सरसो, अपामार्ग के बीज और अपराजिता ये शिरोविरेचन या नस्य के द्रव्यो के सहायक हैं।

छर्दि निग्राहक (वमन रोकने वाले)—

जामुन, आम के पत्ते, बिजौरा नीबू, खट्टा बेर, अनारदाना, जौ, साठी चावल, खस, मिट्टी और लावा ये वमन को रोकने वाले हैं। ये मुख्यत. शीत और कषाय हैं।

तृष्णानिग्राहक (प्यास को रोकने वाले)—

सोंठ, धमासा, मोथा, पित्तपापडा, चन्दन, चिरायता, गुरुच, मुगन्ध वाला, धनिया और परवल ये प्यास रोकने वाले हैं। ये वात पित्त शामक हैं।

हिक्का निग्राहक (हिचकी रोकने वाले)—

कचूर (यह विष है, रत्ती की मात्रा मे व्यवहार करें), पोहकर मूल, वेर की गुठली की मीगी, छोटी कटेरी (भटकटैया), वडी कटेरी (वनभण्टा), वृक्ष पर होने वाला वन्फा, हरड, पीपल, यवासा, और काकड़ासिंगी ये हिचकी को रोकने वाले हैं। उष्ण वीर्य और कफ-वात नाशक हैं।

पुरीष संग्रहणीय (टट्टी को रोकने वाले)—

प्रियंगु, यवासा, आम की गुठली, सोनापाठा, लोध, मोचरस, मजीठ, धाय के फूल, भारंगी और कमल की केशर ये पुरीष (टट्टी) को रोकने वाले हैं। प्राय. कषाय रस शीतवीर्य और वातवर्धक होने से मल के द्रवाश का शोषणकर टट्टी को रोकते हैं। इसके विपरीत कटु-रस, उष्ण वीर्य, दीपन-पाचन और वातशामक द्रव्य अग्नि को दीप्त कर, आम को पचाकर मल को रोकते हैं और मल के द्रवाश का भी शोषण करते हैं। जैसे जायफल।

पुरीष विरजनीय (पुरीष के रङ्ग को ठीक करने वाले)—

जामुन, सलई की छाल, यवासा, महुआ, सेमर, राल, पकी हुई मिट्टी, खिरनी, नीला कमल और तिल ये पुरीष के रंग को ठीक करने वाले हैं। पित्त को शमन करने वाले हैं।

मूत्र संग्रहणीय (मूत्र को रोकने वाले)—

जामुन की गुठली, आम की गुठली, पकडी, वरगद, गूलर, पीपल (पिप्पली नहीं पीपल वृक्ष), भिलावा, लिसोडा, और खैर ये मूत्र को रोकने वाले हैं। इनमे भिलावा को छोडकर शेष कषाय रस होने के कारण वातवर्धक होने से मूत्र के द्रवाश को सुखाते हैं। भिलावा उष्ण वीर्य होने से मूत्र को घटाता है। पकडी से लेकर पीपल तक के द्रव्यो की छाल ग्रहण की जाती है। पर इनका फल भी काम करता है। भिलावा के सम्बन्ध मे वैद्य से राय लें।

मूत्र विरजनीय (मूत्र को रंगने वाले)—

सफेद कमल, नीला कमल, कमलिनी छोटी, कमलिनी वडी, अधिक सुगन्धित कमल, लाल कमल, वडा कमल, महुआ, प्रियंगु और धाय के फूल ये मूत्र के रंग को ठीक करते है। ये शीत वीर्य हैं। बड़े कमल तक के द्रव्य कमल के भेद ही हैं। उनमे जो मिलें उन्हीं से काम चलाना चाहिये।

मूत्र विरेचनीय (मूत्र को निकालने वाले)—

वृक्ष पर का वन्फा, गोखरू (छोटा उपयोगी होता है), अगस्त, हुरहुर, पाषाणभेद, दाभ (छोटा कुश) की जड, कुश की जड, कास की जड ये मूत्र को निकालने वाले हैं। सब शीत वीर्य है। इनके अतिरिक्त ईख की जड़, कलमी शोरा, पुनर्नवा, सरपत की जड भी मूत्र निकालने वाले हैं।

कासहर—

मुनक्का, हरड़, आंवला, पिप्पली, यवासा, काकड़ासिंगी, भटकटैया, सफेद पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, भुई आंवला ये कास नाशक हैं। ये प्रायः मधुर, स्निग्ध और उष्ण से हैं। इनके अतिरिक्त मुलहठी, आर्द्रक, पान भी कास नाशक हैं।

श्वासहर—

कचूर (विष), पोहकर मूल, अम्लवेत, छोटी इलायची, हींग, अगर, तुलसी, भुंई-आंवला, जीवन्ती और चोर पुष्पी (चोरहुली) ये श्वास रोग को नष्ट करते हैं। उष्ण वीर्य और कफ-वात हर हैं।

शोथहर (दशमूल)—

पाढल, अरणी, वेल, सोनापाठा, गम्भारी, छोटी कटेरी (भटकटैया), बडी कटेरी, (वनभण्टा), सारिवन, पिठिवन और छोटा गोखरू ये शोथ या सूजन को नाश करते हैं। इनमे गम्भारी तक वृहत्पंचमूल और उसके बाद लघु पंचमूल है। दोनो मिलाकर दशमूल कहा जाता है। यह विशेषत वातनाशक है, पर त्रिदोष पर भी कुछ काम करता है। दोषज शोथ या सूजन मे वायु की प्रधानता के साथ शेष दोनो दोष भी कारण माने जाते हैं।

ज्वरहर—

सारिवा, गुरुच, पाढी, मंजीठ, मुनक्का, पीलू, फालसा, हरड, वहेर्रा और आंवला ये ज्वर नाशक हैं। इनमे से कुछ दाह नाशक, कुछ स्वेदकारक, कुछ आमनाशक और कुछ शीत है। ज्वर नाशन के लिये सभी की उपयोगिता है। इनके अतिरिक्त चिरायता, परवल, पित्त पापडा आदि भी ज्वरनाशक हैं।

श्रमहर (थकावट दूर करने वाले)—

मुनक्का, खजूर, चिरौंजी, वेर, अनार, गूलर, फालसा, ईख, जौ और साठी चावल-ये थकावट को दूर करने वाले हैं। स्निग्ध और मधुर होने से वायु को शान्त करते हैं जिससे थकावट दूर होती है। इनके अतिरिक्त तेल की मालिश और स्नान भी थकावट दूर करते हैं।

दाह प्रशमन (जलन को दूर करने वाले)—

धान का लावा, चन्दन, गम्भारी का फल, महुआ, शक्कर, नीला कमल, खस, अनन्तमूल, गुरुच, और सुगन्ध बाला ये दाह को शान्त करते हैं। शीतवीर्य, मधुर और पित्त नाशक हैं।

शीतप्रशमन (शीत दूर करने वाले)—

तगर, अगर, धनिया, सोठ, अजवाइन, बालबच, छोटी कटेरी (भटकटैया), अरणी, सोनापाठा और पिप्पली ये शीतलता को दूर करते हैं। उष्ण वीर्य और वात कफ को शान्त करने वाले हैं।

उदर्द प्रशमन (उदर्द अर्थात् चकत्तों को नष्ट करने वाले)—

तेन, चिरौंजी, बेर, खैर, छितिवन, सलई, अर्जुन ये उदर्द या चकत्तों को दूर करते है। वात कफनाशक पर पित्त का विरोध न करने वाले हैं।

अंगमर्द प्रशमन (अगों की पीडा को शान्त करने वाले) —

सारिवन, पिठिवन, बडी कटेरी (वनभण्टा), छोटी कटेरी (भटकटैया), रेंड, काकोली, चन्दन, खस, छोटी इलायची और महुआ ये अंग की पीड़ा या पिटनियों आदि की ऐंठन को शान्त करते हैं। सब वात नाशक हैं।

शूल प्रशमन—

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्ता, सोठ, मरिच, अजवाइन, जंगली अजवाइन और जीरा ये शूल को शान्त करते हैं। उष्ण वीर्य और वायु को अनुलोम या शमन करने वाले है।

शोणितास्थापन (रक्त को बढाने एवं बहते हुए रक्त को रोकने वाले)—

मधु, मुलहठी, केशर, मोचरस, मिट्टी का खपडा, लोध, गेरू, प्रियंगु, शक्कर और धान का लावा ये रक्त को बढाते एवं रक्त स्राव को रोकते है। शीत एवं कषाय द्रव्य रक्त स्राव को रोकते हैं जैसे फिटकरी, लोध आदि। उष्ण और तरल पर लोह युक्त द्रव्य रक्त को बढाते हैं जैसे रक्त। रस को बढाने वाले यथा फल रस आदि भी रस बढाकर रक्त को बढाते हैं।

वेदनास्थापन (पीडा को शान्त करने वाले)—

साल, कायफल, कदम्ब, पद्मकाठ, केशर, मोचरस, शिरीष जलवेंत, एलवालुआ और अशोक ये पीड़ा को शान्त करते हैं। ये प्राय. वायु को शमन करनेवाले और उष्णवीर्य हैं।

संज्ञास्थापन (होश लाने वाले)—

हींग, बकाइन, विट्खदिर (अनुत्तम खैर, बदले मे उत्तम खैर लें, यो तो विट्खदिर नाम से भी बाजार में बिकता है), बालवच, चोरपुष्पी, ब्राह्मी, जटामांसी, गुग्गुल या छोटा गोखरू और कटुकी ये बेहोशी दूर करने वाले या संज्ञा लाने वाले हैं। इनमें उष्ण और शीत वीर्य दोनो प्रकार के द्रव्य हैं। इनके अतिरिक्त शंखपुष्पी भी संज्ञास्थापक है।

प्रजास्थापन (गर्भ स्थान की बाधा को दूर कर गर्भ धारण कराने वाले)—

ब्राह्मी, दूब, लक्ष्मणा, हरड, हल्दी, नागबला, सहदेवी और वाराहीकन्द ये गर्भ स्थापन की बाधा को दूरकर गर्भ धारण कराने वाले हैं।

वयःस्थापन (आयु बढानेवाले)—

गुरुच, हरड़, आंवला, रास्ना, अपराजिता, जीवन्ती, शतावर, मण्डूकपर्णी, सारिवन, और पुनर्नवा ये आयु को बढानेवाले एवं उसे स्थिर करने वाले (बुढापा को निकट न लाने वाले) हैं। बल, ओज और धातुओ को बढ़ाने वाले हैं।

द्रव्यगुण शास्त्र अनन्त है। इसके लिये अलग से निघण्टु से विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यहां तो काम चलाने के लिये एक ही स्थान पर एक काम करनेवाले द्रव्यो का उल्लेख किया गया है। त्रिदोष के दृष्टिकोण से द्रव्यो पर इस प्रकार विचार कीजिये .—

वात प्रकोप द्रव्य—

रूक्ष, लघु, शीत, खर, कठिन, कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य वात को कुपित करते हैं।

वात शामक द्रव्य—

स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण (अत्यन्त चिकना), मृदु, पिच्छिल (लसीले), मधुर अम्ल लवण रस वाले द्रव्य वात शामक होते हैं।

पित्त प्रकोपक द्रव्य—

उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल कटु लवण रसवाले द्रव्य पित्त को कुपित करते हैं।

पित्त शामक द्रव्य—

शीत, मृदु, मधुर, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य पित्त को शमन करते हैं।

कफ प्रकोपक द्रव्य—

गुरु, शीत, मृदु स्निग्ध, पिच्छिल, मधुर अम्ल लवण रस वाले द्रव्यो से कफ कुपित होता है।

कफ शामक द्रव्य—

लघु, उष्ण, खर, कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य कफ को शमन करते हैं।

मधुर रस का गुण—

मधुर रस रस आदि सातो धातुओ, ओज और दूध को बढाता है। चक्षु, केश, वर्ण और बल के लिये हितकारी है। क्षत और टूटे हुए अंग को जोडने मे सहायक होता है। रक्त और रस धातु को स्वच्छ करने वाला, प्यास, मूर्च्छा, दाह, पित्त, वात को शमन करनेवाला है। इन्द्रियो को पुष्ट करनेवाला एवं क्रिमिकफकारक है।

इसके अधिक सेवन से कास, श्वास, अलसक (एक प्रकार का अजीर्ण) वमन, स्वर-भेद, क्रिमि, गलगण्ड (घेंघा), अर्बुद, श्लीपद, और अभिष्यन्द (आंखो का लाल होना और दर्द करना) हो जाता है। मुख में मधुरता और गुदा मे लेप सा प्रतीत होता है।

अम्ल रस का गुण—

अम्ल रस भोजन को जलाने वाला, पाचन, वायु को नियन्त्रित करने वाला और उसे अनुलोम (स्वाभाविक गति मे होना) करने वाला है। कोष्ठ मे दाह व बाहर शीतल करने वाला, शरीर मे गीलापन बढानेवाला एव हृदय को प्रिय है।

इसके अधिक सेवन से दांत कोठ (दन्तहर्ष), रोमाच, नेत्रो का बन्द होना, जमे-कडे कफ का घुलना और शरीर की शिथिलता होती है। क्षत चोट, दग्ध, सर्पादि से दष्ट, टूटे हुए, सूजे हुए, विद्ध (किसी चीज़ का धँस जाना), पिसे हुए अंगो को उष्ण स्वभाव

होने के कारण पका देता है। विषैले जन्तुओ ने जिस अंग पर मूत दिया या स्पर्श कर दिया हो उसे भी पका देता है। कण्ठ, छाती और हृदय मे दाह उत्पन्न करता है। मुख मे अधिक लार बनाता है, जिससे वह स्वच्छ भी होता है। भोजन मे रुचि उत्पन्न करता है।

लवण रस का गुण—

यह कोष्ठ को शुद्ध करने वाला, पाचन, सटे आम या कफ को अंगो से अलग करने वाला, गीला करने वाला, शिथिलता उत्पन्न करनेवाला, उष्ण, सब रसो से भिन्न स्वभाव वाला, स्रोतो एवं मार्गो को शुद्ध करने वाला और शरीर को कोमल बनाने वाला है।

इसके अधिक सेवन करने से खुजली, चकत्ता, सूजन, विवर्णता (शरीर के वर्ण का असौन्दर्य नपुन्सकता और इन्द्रियो का घात होता है। मुख और आंखो मे पाक भी होता है। रक्तपित्त, वातरक्त और अम्लपित्त उत्पन्न करता है।

कटु रस—

यह अग्नि दीपन, पाचन, रुचिकारक, शोधन है तथा स्थूलता आलस्य कफ क्रिमि विष कुष्ठ खुजली को शमन करने वाला है। शरीर के जोडो को अलग करने वाला, दूष वीर्य एवं मेद (चर्बी) को नष्ट करनेवाला है। शरीर मे सुस्ती उत्पन्न करता है। उष्णवीर्य है। इसके अधिक सेवन करने से चक्कर, नशा, गला-तालु-ओठ का शोप (सूखना), अंगो मे ताप, बलहोनता, कम्प, सुई चुभने सी पीडा, हडफूटन होती है। हाथ पैर पसली और पीठ आदि मे वायुजन्य शूल उत्पन्न करता है।

तिक्त रस—

तिक्त रस रुचिकारक, अग्निदीपक, शोधन है। यह खुजली चकता प्यास मूर्छा ज्वर को शान्त करनेवाला, दूध को शुद्ध करनेवाला एवं मल-मूत्र-गीलापन-चर्बी-पूय को सुखानेवाला है। दाह, पित्त, ज्वर, रक्त दोष को विशेषतया शान्त करता है। शीत वीर्य है।

इसके अधिक सेवन से शरीर एवं मन्या (गर्दन के दोनो ओर की वातनाडी) जकड जाती है। यह आक्षेपक, अर्दित (देखिये वातव्याधि), शिरःशूल चक्कर, सूई चुभने सी पीडा, फटने एवं कटने सी पीडा और मुख मे फीकापन उत्पन्न करता है।

कषाय रस—

यह ग्राही (दोषो मलो धातुओ को रोकनेवाला), व्रण एवं कटे हुए को भरनेवाला, जकड़ने वाला, शोधन, चिपके दोषो एवं मलो को छीलकर निकालने वाला, शोषण, पीडन (दबाने वाला) और गीलेपन को सुखाने वाला है।

इसके अधिक सेवन से हृदय पीडा, मुखशोष, उदर रोग, पेट फूलना, वाणी की रुकावट, मन्या की जकडन अंगो मे फड़कन, चुनचुनाहट, अंगो में संकोच एवं आक्षेपण (हाथ पैरो को इधर उधर फेंकना) आदि उत्पन्न होता है।

रसों के विषय मे ज्ञातव्य —

मधुर रस का उदाहरण चीनी, अम्ल रस का उदाहरण नीबू, लवण रस का सेधा नमक, कटु रस का उदाहरण आदी या मिर्च, तिक्त रस का उदाहरण नीम, कषाय रस का उदाहरण सोपाडी (कनैली)और फिटकिरी है। इनके अधिक सेवन करने का तात्पर्य केवल एक ही रस के अत्यधिक सेवन करने से है।

द्रव्य गुण के कुछ पारिभाषिक शब्द—

बृंहण—

धातुओं अथच शरीर को बढाने वाले द्रव्य को बृंहण कहते है। जैसे दूध, घी, मास आदि। चिकित्सा के एक भेद बृंहण के दृष्टिकोण से किसी दोष को बढाने वाला द्रव्य उस दोष के लिये बृंहण है।

लेखन—

धातु या मल को छील कर जो बाहर निकाले उसे लेखन कहते है। जैसे मधु, उष्ण जल।

शोधन या सशोधन—

जो द्रव्य मल संचय को ऊपर या नीचे के मार्ग से निकाले उसे शोधन या सशोधन औषधि कहते हैं। जैसे बंदाल, मैनफल, जमालगोटा। वामक, विरेचक, नस्य आदि औषधियां इसी के अन्तर्गत आती हैं।

संशमन—

जो औषधि विषम दोषो को समान करती हैं उसे संशमन कहते हैं। जैसे गुरुच। संशमन समदोषो को नही छेडती। बल्कि बढे या कुपित दोष को शान्त करती है।

अनुलोमन—

जो औषधि मलो का पाक कर उनके बन्धन को तोड कर उन्हे नीचे के रास्ते से बाहर करती है उसे अनुलोमन कहते हैं। जैसे हर्रे।

स्रंसन, भेदन, रेचन के सम्बन्ध मे पंचकर्मोक्त विरेचन प्रकरण पढें। दीपन, जो आम को न पचाये पर अग्नि कारक हो उसे दीपन कहते हैं, जैसे सौंफ।

पाचन—

जो आम को पचाये पर अग्नि कारक न हो उसे पाचन कहते हैं। जैसे नागकेशर।

ग्राही—

जो दीपन पाचन होने के साथ ही उष्ण होने के कारण द्रव को सुखाये उसे ग्राही कहते हैं। जैसे सोठ।

स्तम्भ—

जो रूक्ष, शीत, कषाय रस और लघु पाक होने से वात करती है। उसे स्तम्भन कहते हैं। जैसे कुडैय्या।

अभिष्यन्दी—

जो द्रव्य लसीला एवं भारी होने के कारण रस वाही सिराओ को रोक कर गुरुता उत्पन्न करता है। उसे अभिष्यन्दी कहते हैं। जैसे दही।

सूक्ष्म—

जो द्रव्य देह के सूक्ष्म छिद्रो मे घुस जाता हो उसे सूक्ष्म कहते है। जैसे सेंधा नमक।

व्यवायी—

जो पहले सारे शरीर मे व्याप्त होकर बाद मे पचे उसे व्यवायी कहते हैं, जैसे भांग, अफीम। आमाशय मे गया हुआ द्रव्य प्राणदा नाड़ी द्वारा तत्क्षण मस्तिष्क स्थित योनिस्थान मे प्राप्त होकर सारे शरीर मे व्याप्त हो जाता है। उग्रमद्य या विष मुख गत वातनाड़ियो द्वारा ही योनिस्थान मे प्राप्त हो जाते हैं। यहां द्रव्य का तात्पर्य व्यवायी गुण की शक्ति से है।

रसायन—

जो वृद्धावस्था और रोग को नाश करता है उसे रसायन कहते हैं। या जो प्रशस्त रसादि धातुओ को उत्पन्न करे उसे रसायन कहते है। जैसे गुरुच व हरें।

वाजीकरण—

जिस द्रव्य से पुरुष स्त्रियो मे वाजी (घोडा) के समान अधिक मैथुन करने मे समर्थ होता है। उसे वाजीकरण कहते हैं। जैसे कॅवाच के बीज।

आर्द्र और शुष्क द्रव्य का विचार—

यथासम्भव सभी द्रव्य ताजे और हरे ग्रहण करना चाहिये। परन्तु ताजे और हरे द्रव्यो के अभाव में शुष्क द्रव्य लिये जाते हैं। शास्त्र मे सर्वत्र औषधि का जो भी मान लिखा हुआ है। वह सूखे द्रव्य के लिये हैं। वह हरा मिलता है तो लिखित मान का दूना ग्रहण करना चाहिये। क्योकि हरे द्रव्य मे शुष्क की अपेक्षा कम शक्ति होती है। जैसे शुष्क मर्चा से हरी मिर्च मे कम शक्ति होती है। कुछ द्रव्य सूखे ग्रहण ही नहीं किये जाते हरे ही प्रयुक्त होते हैं। चूंकि वे सूखे लिये ही नहीं जाते इसलिये हरा लेने पर उनके दूना करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् उन्हे शास्त्रोक्तमान के बराबर ही लेना चाहिये। वे द्रव्य ये हैं :—

अडूसा, नीम, परवल की पत्ती, केवडा, वरियरा, सफेद कोहडा, शतावर, पुनर्नवा, कुडैया, असगन्ध, गन्धप्रसारणी, गुरुच, मांस, नागबला (गुलसकरी) कटसरैय्या, गुग्गुल, हींग, आदी, गुड, मधु, पिप्पली और विडंग।

इनमे वरियरा, पुनर्नवा, कुडैया, असगन्ध, गन्ध प्रसारिणी, नागबला, कटसरैय्या, पिप्पली और विडंग बाजार में सूखे ही मिलते हैं। इन्हें सूखे लेकर ही काम चलाना पडता है। शास्त्र में जो मान लिखा है उसी मान से लेना चाहिये। शतावर भी सूखी मिलती है पर तोड़ने या कूटने पर उसमे स्निग्धता अवश्य रहती है। कूटने पर सड़क से टूटती नही चिपटी हो जाती है। ऐसा न हो तो वह व्यर्थ है।

अडूसा और परवल की पत्ती प्राय. हरी मिल ही जाती है। न मिलने पर सूखी से काम चलायें।

गुरुच हरी ही मिलती है। सूखी व्यर्थ है।

औषधियों के ग्राह्य अंग—

सामान्यत मोटी जड वाले वृक्षो यथा वरगद, गूलर, पीपल, पकडी आदि की छाल ग्रहण करनी चाहिये। इसके शुंग (टूंसा) और मूल का भी व्यवहार होता है। लताओ (शतावर को छोडकर) आदि जिनकी त्वचा अत्यन्त पतली हो, का सम्पूर्ण अंग लिया जाता है। छोटी वनस्पतियो या क्षुद्र क्षुपो का भी पंचाग ही ग्राह्य है। हरीतकी आदि का फल, तालीशादि का पत्र, धाय आदि का फूल तथा सेहुण्ड मदार का दूध और पत्ता ग्राह्य है। आम, जामुन, अमरूद, अनार का छिलका, पत्ता और फल ग्राह्य है। सूरण आदि का कन्द व्यवहारोपयोगी है। साधारणत. बाजार मे द्रव्यो के ग्रहणीय अंश ही विकते हैं। यदि किसी अग विशेष का उल्लेख नही होगा तो व्यापारी सामान्यत. ग्राह्य अंग ही देगा। जो ग्राह्य अंग लिखा है उसी मे शक्ति अधिक रहती है। इसका विशेष उल्लेख सुश्रुत सूत्र स्थान अध्याय ४१ में है। सामान्यत. ग्राह्य अग के अतिरिक्त अग का उल्लेख किसी व्याधि विशेष मे हो तो उसे भी ग्रहण करना चाहिये। बबूल, सेमर कतीरा के निर्यास (गोद) का भी व्यवहार होता है। नीम, खजूर या ताड के स्वरस या ताड़ी का भी व्यवहार होता है। इनका फूल भी ग्राह्य है।

द्रव्यों की कल्पनाएँ—

द्रव्यो का प्रयोग करने की विविध कल्पनायें हैं। जिनमे मुख्य पाच हैं। (१) स्वरस, (२) कल्क, (३) क्वाथ, (४) हिम, (५) फाण्ट। इनके अतिरिक्त द्रव्यो के चूर्ण, सत्व, वटी भी बनती है। द्रव्यो से सिद्ध अवलेह, तेल, घृत और पाक का भी प्रयोग होता है। उपर्युक्त ५ कल्पनाओ का नाम कषाय कल्पना है। ये क्रमश. उत्तरोत्तर लघु होती हैं। इनके निर्माण की विधि यह है.—

स्वरस—

हरे द्रव्य को कूट-पीसकर कपडे से निचोड़ा हुआ रस उसका स्वरस कहलाता है। इसकी सामान्य मात्रा २ तोला है।

यदि हरा द्रव्य न मिले तो सूखे कूटे हुए पाव भर द्रव्य को आध सेर जल मे २४ घण्टा भिगोकर मलकर पानी छान लें। यही पानी स्वरस का काम देगा। इसकी मात्रा ४ तोला है।

पुटपक्व रस

द्रव्यो को चटनी की तरह पीस कर रोगनाशक औषधियो के पत्ते के भीतर लपेट कर डोरा से बाध दें। उसके ऊपर १ अँगुल मोटी मिट्टी का लेप कर सुखा दें।

इस सूखे हुए गोले को आग मे रख दें। जब गोला कुछ लाल हो जाय तो उसे आग में से निकालकर कुछ ठण्डा होने के बाद फोड़ दे। तत्पश्चात् पत्ते के भीतर से सावधानी पूर्वक द्रव्य की चटनी निकालकर उसका रस निचोड़कर प्रयोग करें। इसकी मात्रा भी २ तोला है। पुटपाक के लिये हरा द्रव्य न मिले तो सूखे द्रव्य को ही पानी या रोग नाशक द्रव में पीसकर चटनी बनायें।

स्वरस मे यदि मिश्री, चीनी, मधु गुड, क्षार, जीरा, नमक, घी, तैल या चूर्ण छोडना हो तो ६ माशा डालकर सेवन करायें। सावधान। ये राई सदृश तीक्ष्ण या विषाक्त न हो।

तण्डुलोदक—

चावल के उदक या स्वरस के लिये ४ तो० चावल को दरदरा कर ३२ तो० जल मे २ घण्टा भिगोकर मलकर जल को छान लें। यही तण्डुलोदक है या चावल का पानी है।

हिम—

चार तोला द्रव्य को दरदरा कूटकर २४ तोला जल मे रात भर रहने दें (प्रात. मलकर पानी छान लें), यही हिम है। इसकी मात्रा ८ तो० है।

फाण्ट—

४ तो० द्रव्य को कूटकर उसमे १६ तो० भलीभांति गरम जल छोडें। ५ मिनट बाद छाने हुए जल को फाण्ट कहते हैं। इसकी मात्रा ८ तो० है। इसमे यदि मधु, मिश्री, चीनी, गुड़ आदि डालना हो तो १ तो० छोडना चाहिये। फाण्ट को चूर्ण द्रव भी कहते हैं।

मन्थ—

मिट्टी के पात्र मे १६ तो० शीतल जल मे ४ तो० कूटा हुआ द्रव्य डालकर मथ कर छान लिया जाय तो उसे मन्थ कहते हैं। यह स्वरस के अन्तर्गत आता है। इसकी मात्रा ८ तो० है।

कल्क—

गीले द्रव्य को सिल या खरल मे पीस लें। यदि गीला द्रव्य न हो तो सूखे द्रव्य मे थोडा-सा जल डालकर पीस लें। इसी का नाम कल्क है। इसकी मात्रा १ तो० है। इससे मधु, घृत और तैल डालना हो तो द्विगुण मात्रा मे, चीनी, मिश्री, गुड, बराबर एवं द्रव देना हो तो चौगुनी मात्रा मे देना चाहिये।

क्वाथ—

४ तो० द्रव्य को दरदरा कूटकर मिट्टी के पात्र मे सोलह गुने जल मे डालकर पकायें। आठवा हिस्सा शेष रहने पर छान लें। इसी का नाम श्रृत, निर्यूह, क्वाथ

या काढ़ा है। इसका एक नाम कषाय भी है। कषाय कल्पना वाला कषाय शब्द पाचो कल्पनाओ को ग्रहण करता है। केवल कषाय शब्द से काढ़ा का ही ग्रहण होता है। इसकी मात्रा २ तो० से लेकर ४ तो० तक है। इसमे यदि जीरा, गुग्गुल, क्षार, लवण, शिलाजतु, हीग, त्रिकटु (सोठ मिर्च पीपल) छोडना हो तो ४ माशा छोडना चाहिये। दूध-घी, गुड तेल आदि द्रव, कल्क और चूर्ण आदि छोड़ना हो तो १ तो० छोड़ना चाहिये। मधु, कफ प्रधान व्याधि मे क्वाथ का चतुर्थांश, पित्तप्रधान व्याधि मे अष्टमाश और वात प्रधान व्याधि मे षोडशाश छोड़ना चाहिये। चीनी या मिश्री कफ प्रधान व्याधि मे षोडशाश, पित्त प्रधान मे अष्टमाश और वात प्रधान मे चतुर्थांश छोड़ना चाहिये। क्वाथ पकाते समय पात्र ढकना नही चाहिये। ऐसा करने से वह शीघ्र नहीं पकता। कई वार के लिये पकाना हो तो कई वार की मात्रा एक ही वार पकाकर द्रव्य सहित रख लें। जब-जब देना हो तब-तब उसे गरमकर देयमात्रा मे ही छान लें। यह विधान उत्तम और सरल है। परिस्थितिवश एक ही वार पके और छाने हुए काढे को शीशी मे रखकर मात्रानुसार पीयें। यह २४ घण्टे के लिये ही होगा। इससे अधिक प्रयोग न करें। क्वाथ पीने के बाद २ घूंट जल ग्रहण कर पान या लाची, लवंग, सौफ आदि मुख शोधक पदार्थ खाना चाहिये।

चूर्णविधि—

अत्यन्त सूखे हुए द्रव्य को कूटकर कपडे या महीन चलनी से छान लें। चूर्ण तैयारहै। इसकी अधिकतम मात्रा १ तोला है। इसमे गुड़ डालना हो तो बराबर और शक्कर डालना हो तो द्विगुण डालना चाहिये। हीग सर्वदा घी मे भूनकर ही छोडे। इतना छोडें जिससे उससे जी न मिचलाये। चूर्ण को चौगुने जल से मुख मे नीचे उतारना चाहिये।

इसमे नीवू के रस आदि द्रवो की भावना दी जाती है। जितने द्रव से चूर्ण भलीभांति गीला हो जाय उतने ही द्रव मे चूर्ण भलीभांति डालकर उसे घोटकर सुखा देना चाहिये। यह एक भावना हुई। इस प्रकार आवश्यकता या लेखानुसार कई बार भावना दी जाती है।

चूर्ण को ही चीनी या गुड़ की चाशनी, शिलाजतु, गुग्गुल या मधु आदि किसी द्रव मे अच्छी तरह मिलाकर वटी, गुटिका, वटिका या गोली भी बना लेते हैं। इसमे चीनी या मिश्री चौगुनी, गुड़, दूना और गुग्गुल शिलाजीत मधु समान डाला जाता है। कोई द्रव द्रव्य गोली बनाने के लिये न लिखा हो तो जल से गोली बनानी चाहिये। घृत, तेल, आसव, अरिष्ट आदि का निर्माण विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया जायगा।

विशेष—

कल्पनाओ की मात्रा के सम्बन्ध मे पूर्वलिखित मात्रा प्रकरण अवश्य पढें। यहाँ सामान्य मात्रा ही लिखी हुई है। इनमे छोडे जाने वाले द्रव्यो को प्रक्षेप या आवाप भी कहा जाता है। इनके मान का उल्लेख न होने पर इन्हे उपर्युक्त मान मे छोड़ें। उल्लेख होने पर उल्लेखानुसार ही छोडें।

पञ्चम अध्याय

पंचकर्म

दोषा. कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघन पाचनैं. ।
ये तु संशोधनैशुद्धा, नं तेषा पुनरुद्भवः ।।

लंघन (उपवास) व पाचन आदि के द्वारा पराजित दोष कभी कुपित हो सकते है । परन्तु संशोधन द्वारा जो शुद्ध हो गये हैं उनका पुन. उत्पादन नहीं हो सकता ।

यह वाक्य दोषो को जड से उन्मूलन करने का उद्घोष कर रहा है । आज इसका ध्यान न कर अधिकाश चिकित्सक शामक औषधियो का प्रयोग कर रोगो के मूल कारण दोषो को दबा भर देते हैं । वही दोष बाद मे कुपित होकर अनेक रोगो को उत्पन्न कर जीवन को संकट मे डाल देता है । इसलिये संशोधन चिकित्सा की ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये । शामक चिकित्सा द्वारा तत्काल रोग शान्त कर उसके कारण भूत दोषो को बाहर निकालना ही श्रेयस्कर है । इसके लिये मनीषियो ने पंचकर्म विज्ञान को जनता के सम्मुख उपस्थित किया है । जो ये हैं :—

वमनं रेचनं नस्यं निरुहश्चानुवासनम् ।
एतानि पंचकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः ।।

वमन, विरेचन, नस्य, निरुहण और अनुवासन ये ही पाच पंच-कर्म के नाम से मनीषियो द्वारा कहे गये है ।

इनके पूर्व स्नेहन और स्वेदन नामक दो कर्म करना पडता है । बिना इनके पंचकर्म ठीक से नही हो पायेगा । इसलिये संक्षेप मे इनका ज्ञान अभीष्ट है ।

स्नेहन—

शरीर को भीतर और बाहर से घृत, तैल, वसा और मज्जा द्वारा स्निग्ध करने का नाम स्नेहन है । इनके बिना भी यवागूघ दुग्ध आदि के द्वारा यह क्रिया होती है पर इनमे भी घृत वसादि रहते हैं । घृतादि मे केवल एक का व्यवहार हो तो उसका नाम एकल स्नेह, दो का संयुक्त व्यवहार हो तो यमक, तीन का संयुक्त व्यवहार होने पर त्रिवृत एवं चारो का संयुक्त व्यवहार होने पर महान स्नेह की संज्ञा दी जाती है । घृत, वसा (चर्बी) और मज्जा ये जंगम स्नेह हैं । जिनमे घृत सर्वश्रेष्ठ है । तैल स्थावर स्नेह है इसमें तिल तैल सर्वश्रेष्ठ है । यद्यपि दोनो का शरीर के लिये बाहरी और भीतरी प्रयोग हो सकता है और होता भी है पर अधिकाश घृत का भीतरी एवं तेल का बाहरी प्रयोग होता है ।

स्नेहपान मात्रा—

मात्रा के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त मात्रा प्रकरण पर ध्यान देना चाहिये। स्नेहपान की सामान्य मात्रा यह है—दीप्ताग्नि वाले पुरुष के लिये ४ तोला, मध्यमाग्नि वाले को ३ तोला एवं मन्दाग्नि वाले को २ तोला स्नेह पिलाना चाहिये।
पचने के दृष्टिकोण से यह मात्रा भी बतायी गयी है—

२४ घण्टे मे पचने वाली महती मात्रा है जो कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार, (मृगी रोग में विशेष हितकारी है। १२ घण्टे मे पचने वाली मध्यमा मात्रा है जो स्नेहनी बलकारिणी एवं भ्रम (चक्कर) को नष्ट करने वाली है। ३ घण्टे मे पचने वाली अल्पा मात्रा है जो अग्निदीपनी एवं वात दोष नाशिनी है। ये मात्रायें सामान्यत. क्रमश. उपर्युक्त मान मे अर्थात् ४ तो०, ३ तो० और २ तोला ही दी जाती हैं।

मात्रा—समय और आहार—विहार का विना विचार किये स्नेह पान सूजन, अर्श (बवासीर), तन्द्रा (उंहाई), निद्रा और बेहोशी उत्पन्न कर देता है।

सहपान—

यदि घृत पिलाना हो तो पित्त प्रधान रोग मे स्वतन्त्र घृत, वातरोग मे सेंधा नमक (अभाव में सांभर) और कफरोग मे त्रिकटु (सोठ, मिर्च, पीपर) और क्षार मिलाकर पिलाना चाहिये।

अनुपान—

घृत पान के बाद उष्ण जल, तैल पान के बाद यूष एवं वसा, मज्जा के बाद मण्ड पीना चाहिये।

जो स्नेह से द्वेष करते हो या वृद्ध, सुकुमार, कृश और प्यासे हो उन्हे अथवा उष्ण काल हो तो भात के साथ घृतादिक पिलाना चाहिये। पर उनसे इसे बताने की आवश्यकता नही।

स्नेहपान का काल—

शीतकाल मे सामान्यत. १० बजे दिन और उष्णकाल मे १० बजे रात्रि मे स्नेह-पान करना उत्तम है। दोष के दृष्टिकोण से वात-पित्ताधिक्य में रात एवं वात श्लेमाधिक्य में दिन मे स्नेहपान करायें। आवश्यकतानुसार ३, ४, ५ या ६ दिन तक स्नेहपान कराना चाहिये। लगातार ७ दिन तक स्नेह पान करने से वह सात्म्य (आत्मा के अनुकूल) हो जाता है। अपना विशिष्ट गुण नहीं दिखा पाता।

स्नेहपान के योग्य—

जिन्हे स्वेदन या संशोधन कराना हो उन्हे अवश्य स्नेह कराना चाहिये। इनके अतिरिक्त मद्य, स्त्री, व्यायाम और चिन्ता का सेवन करने वाले एवं वृद्ध, बालक, कृश

रूक्ष, क्षीणवीर्य, क्षीणरक्त, वातपीडित तथा तिमिर रोग से पीडित लोगो को स्नेह पान कराना चाहिये।

घृतपान के योग्य—

रूक्ष, क्षत एवं विष से पीडित, वात पित्त के विकार से युक्त और स्मरण शक्ति-विहीन लोगो को घृत पिलाना चाहिये।

तैलपान के योग्य—

जिनके कोष्ठ (आमाशय, आग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, बडी आंत का वाम भाग, फुफ्फुस) मे क्रिमि हो, सारे शरीर मे वायु व्याप्त हो, कफवमेद बढा हो तथा दीप्ताग्नि हो उन्हे तैल पिलाना चाहिये। पर प्रतिज्ञा यह है कि तैल उन्हे सात्म्य (अनुकूल) हो।

वसा (चर्बी)-पान के योग्य—

अधिक व्यायाम के कारण कृश, सूखे वीर्य और रक्त वाले, महती पीडा वाले व महान (बलवान) अग्नि, वायु और प्राण वाले लोग वसापान के योग्य होते हैं।

मज्जा पान के योग्य—

क्रूर आशय वाले, क्लेश सहिष्णु, वात से पीड़ित दीप्ताग्नि वाले लोग मज्जा पान करें।

विशेष—

यद्यपि अलग-अलग स्नेहपान के योग्य अलग-अलग मनुष्यो का उल्लेख हुआ है पर घी एक ऐसा स्नेह है जो सभी के लिये हितकारी है। इसलिये भीतरी प्रयोग या पीने के लिये इसी का प्रयोग साधारणत. होता है। और, यह गाय का सर्वोत्तम है। अभाव मे भैंस का भी ग्राह्य है। बहुत से सिद्ध तैलो को पिलाने का उल्लेख है। पर साधारणतः एरण्ड तैल कई दृष्टिकोणो से पिलाने मे उत्तम है। पीनेवाला एरण्ड तैल या (कैस्टर आयल) अलग मिलता है। उसी का प्रयोग करना चाहिये। जलाने वाला नहीं पीना चाहिये। यह अशुद्ध होता है। मज्जा अलग बाजार मे उपलब्ध नहीं होती। यह लम्बी हड्डियो के भीतर होती है। लम्बी हड्डियो को दरदरा कूटकर पानी मे पकाने से तैरने लगती है। उसे निकाल कर पुन. आंच पर रखकर उसका जलीयांश जलाकर केवल मज्जा प्राप्त कर लें।।

बिना स्नेह के स्नेहन—

स्वतन्त्र स्नेह पीने मे कभी-कभी कठिनाई होती है। इसलिये पहले बताया गया है कि ऐसी अवस्था मे भात के साथ स्नेह प्रयोग करना चाहिये। उसी प्रकार घृत युक्त यवागू (अधिक तिल्ली कूट कर पर्याप्त घी, थोड़े चावल और पानी डालकर पकावें। चावल भलीभांति पक जाने पर यवागू तैयार है। यवागू साधन परिमाण पथ्यापथ्य प्रकरण मे दी जा चुकी है, गरम-गरम खाने से तुरन्त स्नेहन करती है।

शक्कर और उष्ण घृत युक्त पात्र मे गाय का दूध दूहे। उसे तुरन्त पीयें। तो वह धारोष्ण दुग्ध भी तुरन्त स्नेहन करता है।

स्नेह पान के अयोग्य—

अजीर्ण, उदर रोग, नवज्वर, अरुचि, मूर्च्छा, नशा, वमन, प्यास और थकावट से युक्त, दुर्बल, वस्ति एवं विरोचन लेने वाले लोग, अकाल प्रसवा (नौ मास के पूर्व प्रसव वाली) नारी स्नेहपान के अयोग्य है। दुर्दिन अर्थात् बदली-वर्षा के समय भी स्नेह नहीं पीना चाहिये।

अत्यन्त स्नेहपान से उपद्रव—

आवश्यकता से अधिक व गलत ढंग से प्रयुक्त स्नेह भोजन से द्वेष, मुख से लाला स्राव, गुदा में दाह, प्रवाहिका, तन्द्रा (उहाई), अतिसार और पाण्डु (पीलापन) कर देता है।

स्नेह के उपद्रव या अजीर्ण की शंका—

स्नेह उपद्रव करेगा या वह पचा नही, इसकी तनिक भी आशंका होने पर तुरन्त कुछ अधिक मात्रा मे उष्ण जल पिलाना चाहिये। इससे स्नेह पचेगा, उद्गार शुद्धि तथ भोजन मे रुचि होगी।

यदि स्नेह नहीं पचे अथवा विष्टम्भ (दोष व मल की रुकावट) करे तो उष्ण जल पिलाकर वमन करा दें।

कभी-कभी पित्त प्रकृति वालो की अग्नि स्नेहपान से अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाती है। इससे उन्हे अत्यन्त प्यास लगती है। उन्हे शीतल जल पिला कर वमन करा देने से प्यास शान्त हो जाती है। यदि वमन न हो तो बाद में उष्ण जल मे नमक मिलाकर पिलाकर वमन कराना चाहिये।

रूक्षता और स्निग्धता का उपचार—

रूक्षता का उपचार स्नेहन से करें। अधिक स्निग्ध हो जाने वाले को चना, सावा, कोदो, सत्तू आदि से रूक्ष करें। यह स्निग्धता स्नेहपान जन्य उपद्रव से नहीं अपितु क्रमश. अधिक स्नेहन करने से हो जाती है।

स्नेहपान के गुण—

सम्यक् रीति से स्नेहपान करने से वायु का अनुलोमन, दीप्ताग्नि, ढीला और चिकना पुरीष, कोमल और चिकना अंग, लघुता, इन्द्रियो की विमलता हो जाती है। कोई उपद्रव नहीं होता।

स्नेह-सेवन करने वाले का कोष्ठ शुद्ध रहता है। धातुयें पुष्ट होती हैं। वह जितेन्द्रिय और बल-वर्ण से युक्त होता है। उसे शीघ्र बुढापा नही आता। यह वात नाशन के लिये बहुत ही उत्तम है।

स्नेहपान का सच्चा सुख तो स्वेदन के बाद प्रतीत होता है। इस लिये स्वेदन प्रकरण भी पढ लें।

स्नेहपान के पथ्य—

स्नेह पान के बाद एकदिन उष्ण जल, मूंग या परवल का यूष, मण्ड, सोंठ, और आदी का व्यवहार होना चाहिये।

स्नेहपान में वर्जित पदार्थ—

स्नेहपान करने वाले लोगो को व्यायाम, शीत, जागरण, दिन मे शयन अभिष्यन्दी (स्रोतो मे चिपकने वाला द्रव्य यथा दही) और रूक्ष अन्न का सेवन नहीं करना चाहिये। उसे मल, मूत्र, वायु आदि के वेगो को भी नही रोकना चाहिये।

साधारण स्नेहन—

रोगी को तिल्ली के तेल से खूब मालिश करें। पचनेभर घृतयुक्त पदार्थ खूब खिलायें। उर्द एवं तिल भी खिलाया जा सकता है। ऐसा तीन दिन करने से भी स्नेहन के लक्षण मिलने लगते हैं।

स्वेदन—

स्वेदन का अर्थ होता है, शरीर से पसीना निकालना। स्नेहन करने से दोषो की पिच्छिलता (लसीलापन) नष्ट होती है। पिच्छिल दोष स्रोतों मे चिपके रहते हैं। पिच्छिलता नष्ट होते ही वे शिथिल हो जाते हैं। स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करने से वे पिघल कर द्रव हो जाते हैं। तब उनके बाहर निकलने मे बडी सुविधा होती है। इस अवस्था मे वमन विरेचन कराने से या बिना इसके वे बाहर निकलते हैं। त्वचा के अनन्त रोमकूपो से भी दोष बाहर निकलते हैं। स्नेहन-स्वेदन दोनो से शरीर अत्यन्त मृदु हो जाता है। सौन्दर्य निखर जाता है। वायु की पीडा नष्ट हो जाती है। लगातार सात दिन या आवश्यकतानुसार इससे कम दिन स्नेहन कराने के बाद स्वेदन करायें। हम तो सुविधा और समय की बचत के लिये लगातार ३ दिन स्नेहन कराकर एक दिन स्वेदन कराते हैं। फिर बारी-बारी से स्नेहन और स्वेदन दोनो कराते हैं। हा यह अवश्य स्मरणीय है कि अन्तिम स्वेदन के बाद ५ दिन स्नेहन न कराया जाय तो उत्तम है।

स्वेदन के भेद—

इसके दो भेद होते हैं :—

(१) साग्नि—इसमें अग्नि की सहायता लेनी पड़ती है।

(२) निरग्नि—इसमे अग्नि की तनिक भी सहायता नहीं ली जाती।

व्यायाम, भारी ओटना, युद्ध, गरम घर, सूर्य की किरणें, मार्ग गमन और चिन्ता आदि से स्वेदन किया जाता है। सामान्यत वात-कफ के रोगियो और बलवानो को साग्नि तथा पित्त की प्रधानता मे एवं सुकुमारो को निरग्नि स्वेदन कराया जाता है।

रूक्षता के दृष्टिकोण मे इसके तीन भेद होते हैं .—

(१) रूक्ष—इनके द्रव्य सब रूक्ष ही रहेंगे। यथा वालू। कफ के प्रकोप में इसका प्रयोग होता है।

(२) स्निग्ध—इसमे स्निग्ध द्रव्यो यथा उर्द, एरण्ड और माम आदि का उष्ण लेप आदि के रूप मे प्रयोग करते हैं। वात प्रकोप में इनका व्यवहार होता है।

(३) रूक्ष स्निग्ध—इसमे दोनो प्रकार के द्रव्यो का उपयोग होता है। कफ और वायु के मिश्रित प्रकोप मे इनका प्रयोग होता है। पर इसमे उचित यह है कि पहले रूक्ष स्वेद तत्पश्चात् स्निग्ध स्वेद का प्रयोग हो।

स्वेद विधियों के भेद—

ये सामान्यतः ४ प्रकार की होती है .—

(१) ताप स्वेद—यह स्वेद वालू, वस्त्र, हाथ, खपड़ा, गॅद (कपडे की) और अंगार से किया जाता है। अंगार तो अग्नि है ही। वालू, वस्त्र, खपडा, हाथ, गॅद को भी अग्नि से तप्तकर किसी रोग नाशक द्रव मे विना बुझाये शरीर या अंग विशेष को तपाने के लिए प्रयोग करते हैं। इन द्रव्यो मे जैसी शक्ति होती है वैसा स्वेदन होता है। स्वेदन की आवश्यकतानुसार इन्हे तपाया या गरम किया जाता है। चोट लगने व हाथ पैर मुरक जाने आदि मे पीडा दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

(२) ऊष्म स्वेद—इसकी तीन विधियाँ हैं .—

(क) किसी अम्ल (विशेषत काजी) मे भिगोये हुए कपड़े या कम्बल को शरीर या अंग-विशेष मे लपेट कर उसके ऊपर उसी अम्ल या काँजी मे बुझे हुए प्रतप्त लौह पिण्ड वा इंट से सेंकते हैं।

(ख) वातनाशक द्रव्यो के उष्ण क्वाथ से घट को भर कर उसे सर्वथा बन्द कर देना चाहिये। बन्द घड़े के बगल मे छिद्र कर उसमे धातु, बास या काठ की नलिका फिट कर देनी चाहिये। फिर रोगी को भारी कपडा ओढा कर उसके भीतर नलिका का दूसरा मुख लेजाकर क्वाथ की वाष्प से स्वेदन किया जाता है। यह स्मरणीय है कि क्वाथ वाले घडे के नीचे पूरे स्वेदन काल तक आच दी जाती रहेगी जिससे वाष्प बनती रहे।

(ग) रोगी के विस्तार के बराबर गड्ढा खोद कर उसमे खैर या अन्य रोग-नाशक वृक्ष की लकडी जला कर उसे दूध, अम्ल विशेषत. काँजी, जल या रोगनाशक क्वाथ से बुझाकर वातनाशक पत्तो से ढक देना चाहिये। उसपर रोगी को सुलाने से स्वेदन होता है।

अधकच्चे उबले हुए उडद को वातनाशक लकडी के अंगार से तपी हुई पृथ्वी पर विछा कर उसपर वातनाशक पत्तो को विछा देते है। उसपर रोगी को सुलाने मे भी स्वेदन होता है। रोगी को भारी कपडा या कम्बल से अवश्य ढक देना चाहिये।

ऊष्म स्वेद विशेषत वात और कफ की व्याधियो मे किया जाता है।

उपनाह—

वातनाशक औषधियो को वातनाशक द्रवो से पीस कर उसमे स्नेह और लवण मिला कर गरमा लेते हैं। फिर जब शरीर पर सहने योग्य हो जाता है तब उसका लेप कर स्वेदन करते हैं। इसी का नाम पुल्टिस है।

प्रसिद्ध महाशाल्वण स्वेद इसी के अन्तर्गत है। जिसमे ग्रामीण (मुर्गा बकरा भेंड) व जलीय (वत्तक, चकवा, मछली आदि) मांस, जीवनीय गण (द्रव्यगुणोक्त जीवनीय) दही, कांजी, क्षार, वीरतर्वादि गण (देखिये, सुश्रुत का द्रव्यगुण) कुलथी, उडद, गेहू, तीसी, तिल्ली, सरसो, सौंफ, देवदारु, म्यौडी, जीरा, रेड की जड और बीज, रास्ना, मूली, सहिजन, पीपर, वनतुलसी, पाचो नमक, अनारदाना, गन्ध प्रसारणी, असगन्ध, वरियरा दशमूल (द्रव्यगुण देखें), गुरुच व कॅवाच के बीज इन औषधियो को यथा लाभ अधिकतम लेकर कूट कर तपा कर कपडे की पोटली मे बाध देते हैं। फिर उस पोटली से अंग विशेष को सेंकते हैं। यह एक स्थानीय वात रोगो के लिए उत्तम है।

द्रव स्वेद—

३६ अंगुल गहरे और ६०† अंगुल लम्बे पात्र मे रोगी को अच्छी तरह बैठा कर उसकी नाभि तक वातनाशक द्रव्यो का उष्ण (सहने योग्य) क्वाथ भर दें। तत्पश्चात् उसके कन्धो पर अलग से लिये हुए (जिस क्वाथ मे रोगी बैठा है, उससे नहीं) उसी उष्ण क्वाथ की धारा डालें। यह कार्य तबतक करना चाहिये जबतक कि शरीर से पसीना न निकलने लगे।

इसी प्रकार क्वाथ के स्थान पर उष्ण (सहने योग्य) तेल, दुग्ध या घृत का भी व्यवहार होता है। इनसे स्वेदन के साथ स्नेहन भी होता है। (इसका तात्पर्य यह नही कि स्वेदन के पूर्व वाला स्नेहन रोगी को न कराया जाय, वह तो कराना ही पडेगा)

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ मे जल देने से वह बढता है उसी प्रकार स्नेह मे अवगाहन (अंगो को डुबाने) से शिराओ के मुख, रोमकूपो एवं धमनियो से गये हुए स्नेह से तृप्त धातुयें बढती है। यह वात-नाशन मे उत्तम स्वेद है।

---

† शास्त्र में ३६ अंगुल का भी यहां उल्लेख है। पर आप ६० अंगुल ही लम्बा पात्र लें।

चरक संहिता मे स्वेद की अन्य विधिया भी लिखी है।

विस्तार-भय से उनका विवरण लिखना यहा ठीक न होगा।

स्वेदन की अवधि—

शीत, शूल, जकडन और भारीपन दूर हो जायें, अग्नि दीप्त हो जाय तथा शरीर मृदु हो जाय तो स्वेदन क्रिया वन्द कर देनी चाहिए। एक ही वार के स्वेदन मे ये लक्षण कुछ-कुछ मिलने लगते हैं, पर इन लक्षणो के स्थायी होने तक स्वेदन करना चाहिये।

स्वेदन का पश्चात क्रम—

अच्छी तरह से स्विन्न पुरुष को तौलिया या किसी कपडा से भलीभाति पोछकर गरम जल से स्नान करा देना चाहिए। अभिष्यन्दी भोजन नही कराना चाहिए। लघु भोजन ही देना चाहिये। व्यायाम नही करना चाहिये। भारी एवं लसीले होने के कारण अन्नरस को वहन करने वाली नलिकाओ को रोक कर स्रोतो मे चिपक जाने वाले दही आदि द्रव्य को अभिष्यन्दी कहते हैं।

यह याद रखिये कि स्वेदन के बाद तत्काल ही हवा युक्त स्थान मे न जायं। २०–२५ मिनट के वाद जा सकते हैं। तेज हवा से वचिए।

साधारण स्वेदन—

पूर्वोक्त स्नेहन प्रकरण मे उल्लिखित साधारण स्नेहन तीन दिन कराने के वाद रोगी को प्रातः १० वजे के लगभग सुतरी से वीनी हुई चारपाई पर सुला दें। रोगी के शरीर पर लंगोट या जाघिया के अतिरिक्त कोई वस्त्र नही रहना चाहिये। चारपाई पर भी कोई कपडा न बिछा रहे। तकिया अवश्य लगा दीजिये। फिर गला के ऊपर का हिस्सा छोड़कर शेष सारा शरीर कम्बल या भारी कपडे से ढक दीजिये। यह कपडा चारपाई के नीचे चारो ओर जमीन तक लटकता रहे। जिससे चारपाई के नीचे किया हुआ धूंआ वाहर न जाकर रोगी के शरीर पर ही लगे। किसी छिद्र से धुंआ निकलने की सम्भावना हो तो उसे रोकें। तत्पश्चात् धूम्र-रहित आग पर गुग्गुल ५ तो० अजवाइन ३ तो० एवं गुड २ तोला डालकर चारपाई के नीचे बीच मे रख दें। यह ध्यान रखें कि आग बुझ न जाय और धुंवा बराबर निकलता रहे। यदि एक ही स्थान पर आग रक्खी रहने से रोगी को तकलीफ हो तो उसे चारपाई के नीचे ही इधर-उधर हटाते रहे।। पसीना होने पर एक कपडे से उसे रोगी भीतर ही भीतर पोछता रहे। जब पसीना सम्यक् रूप मे निकल जाय तो वस्त्र आदि हटाकर स्वेदन के पश्चात् वाला कर्म करें।

पहले स्वेदन के योग्य—

जिन्हे नस्य, वस्ति, वमन, विरेचन कराना है उन्हे इनके पहले ही स्वेदन कराना चाहिए। बवासीर, पथरी और भगन्दर रोग मे शस्त्र-कर्म (आपरेशन) कराना हो तो पहले ही स्वेदन करना चाहिये।

पश्चात् स्वेदन के योग्य—

मूढ गर्भ (अटका हुआ गर्भ) मे शस्त्र कर्म कराकर गर्भ निकालने के पश्चात् स्वेदन कराना चाहिये। पूर्ण काल अथवा अपूर्ण काल मे प्रसव हो तो भी उसके बाद स्वेदन कराना चाहिये। प्रत्येक आपरेशन के बाद स्वेदन हितकर होता है।

स्वेदन के योग्य—

पहले और बाद मे जिन्हे स्वेदन कराया जाता है वे सभी स्वेदन के योग्य हैं। इनके अतिरिक्त वातव्याधि, आमवात, उदरशूल, कण्टकविध आदि से युक्त रोगी स्वेदन के योग्य है।

दृष्टि, अण्डकोप एव हृदय पर स्वेदन करना हो तो अल्प स्वेदन करना चाहिये। सर्वांग मे पसीना निकालना हो तो इन स्थानो पर कमल या केला का पत्ता अथवा गीला कपडा रख देने से घबडाहट आदि नही होती।

स्वेदन के अयोग्य—

अजीर्ण, प्रमेह, उरःक्षत, अतिसार, रक्त-पित्त, पाण्डु, उदर, मद और गर्भ से युक्त लोगो और दुर्बल तथा प्यासे को स्वेदन नही कराना चाहिये। यदि इन्हे स्वेदन करना अनिवार्य ही हो तो मृदु स्वेद कराना चाहिये।

अति स्वेदन के उपद्रव—

अत्यधिक स्वेदन करने से दाह, प्यास, सुस्ती, चक्कर, रक्तपित्त, फुन्सिया एवं संधियो मे पीडा होने लगती है। तब शीतोपचार द्वारा इन उपद्रवो को शान्त करना चाहिये।

स्वेदन के योग्य देश और काल—

स्वेदन सर्वदा निर्वात स्थान में करना चाहिये। निर्वात का तात्पर्य यह है कि रोगी को सीधी और तेज हवा न लगे। उसको श्वास प्रश्वास लेने योग्य वायु मिलती रहे। भोजन पच जाने पर ही स्वेदन होना चाहिये। इस दृष्टिकोण से प्रातः ९-१० बजे का समय उत्तम है। इसके पूर्व अनिवार्य हो तो हलका जलपान ७ बजे करा देना चाहिये।

वमन—

स्नेहन, स्वेदन कराने के पश्चात् पञ्चकर्म कराना चाहिए। जिसका पहला कर्म है, वमन अर्थात् कय या उलटी कराना। इसमें आमाशय और वक्ष (छाती) प्रदेश के दोप बाहर निकलते हैं। कफ दोप को जीतने के लिए यह अत्युत्तम उपाय है। इसलिए कफ के रोगों मे इसका प्रयोग करना चाहिये। यह स्मरणीय है कि पंचकर्म जीर्ण रोगो तथा रसायन एवं कायाकल्प के लिए अधिक उपयोगी है। नये रोगो की साधारण परिस्थिति में कभी-कभी ही इसके एक-एक कर्म का प्रयोग होता है, सो भी लघु रूप मे। अन्यथा इनके बिना भी काम चलाया जाता है। जैसे वमन का मुख्य उद्देश्य है, मुंह

के मार्ग से कफ को निकालना। सामान्य खासी मे विना वमन के भी कफ निकाल कर रोग मुक्त किया जाता है। उत्कट तथा जीर्ण खासी मे वमन ही श्रेयस्कर होता है। यदि सम्भव हो और काल प्रतीक्षा के कारण कोई आपत्ति न हो तो वमन का श्रेष्ठ काल वसन्त ऋतु है। क्योंकि इस समय कफ के स्वाभाविक प्रकोप होने से उसके निकलने मे बडी सरलता होती है। शरद् एवं प्रावृट् (वर्षा) ऋतु मे आवश्यकता पडने पर वमन कराया जा सकता है। यह सर्वदा ध्यान रखिये कि पंच-कर्म के लिए दुर्दिन (वर्षा, बदली) आदि अहितकर है, इन्हे बचा कर ही पंचकर्म करना चाहिये। यदि अनिवार्य आवश्यकता हो तो दुर्दिन मे भी इन्हे कराना पडता है। परन्तु ऐसी व्यवस्था की जाती है कि दुर्दिन हानि न कर सके। जैसे कमरा गर्म रखना, रोगी को गरम वस्त्र पहनाना, औषधि व अन्न से उष्णता की रक्षा करना एवं रोगी को कमरे के बाहर न निकलने देना आदि। विष से युक्त या तुरन्त भोजन करने से उत्पन्न ज्वर के रोगी को वमन कराना हो तो तुरन्त वमन कराना चाहिये।

वमन के योग्य—

विष आदि अनिवार्य परिस्थिति को छोड़ कर जिसे वमन सात्म्य (आत्मा के अनुकूल) हो सके, जो धीर चित्त हो, बलवान और कफ से व्याप्त हो उसी को वमन कराना चाहिये। उसे उत्क्लेश (जी मचलाना) होना आवश्यक है क्योंकि इसके हो जाने पर वमन सरलता से होती है। बिना इसके कठिनाई से वमन होती है। वमन के पूर्व यह प्राय. स्वाभावत. होती है। निम्नलिखित रोगो मे वमन कराना चाहिये।

विष दोष (दाहक तेजाब आदि पीने वाले को वमन न करायें), स्त्री को दुग्ध दोष मे और सबको मन्दाग्नि, अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, श्वेतसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, चक्कर, विदारिका, अपची, कास, श्वास, पीनस, वृद्धि (अन्त्रवृद्धि आदि) (अपस्मार मृगी) ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नासिका तालु ओष्ठ का पाक, कर्णस्राव, द्विजिह्वक, गलशुण्डी, अतीसार, मेदा रोग, अरुचि और पित्त श्लेष्मरोग।

इन रोगो का परिचय एवं इनको किस अवस्था मे वमन कराना चाहिये, यह विषय आगे रोग प्रकरण मे यथास्थान मिलेगा।

वमन के अयोग्य—

तिमिर (नेत्ररोग), गुल्म, उदर, उर क्षत, मद, उदावर्त्त, उच्चर्ग रक्तपित, पाण्डु-रोग, क्रिमिरोग, पढने से उत्पन्न स्वर भेद के रोगी, गर्भिणी, अत्यन्त कृश, वृद्ध एव कफ से व्याप्त हो तो वमन कराना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी अवस्था मे वामक द्रव्यो मे मुलहठी का संयोग कर दिया जाय तो उत्तम है।

वमन कराने का विधान—

स्नेहन-स्वेदन करने के बाद रोगी को भरपेट यवागू (देखिये पथ्या-पथ्य) दूध, दही, तक्र मे से कोई एक खिलावें या अन्य कफकारक असात्म्य (घृणोत्पादक) भोजन

करायें। इससे दोष उत्क्लिष्ट (ऊपर की ओर उछलना) होता है, तत्पश्चात् वामक औषधि पिलाना चाहिये। फिर रोगी को जानु के बराबर ऊँचे आसन (कुर्सी) आदि पर बैठा कर उसके गले मे भीतर की ओर एरण्ड के नाल (पत्ते के डण्ठल) या नखकटी अंगुली से तबतक स्पर्श करे जबतक वमन न होने लगे। मुंह मे हाथ डाल कर अंगुली से जिह्वा के मूल मे गुदगुदाने जैसी क्रिया दृढतापूर्वक करिये। एकाध मिनट करने से रोगी घबडा जाय और वमन प्रवृत्त न हो तो हाथ बाहर निकाल कर पुन वही क्रिया करें। अब वमन होने लगेगी। इस समय रोगी के ललाट, पसवाडो, को सुहराते रहे, पंखा भी झलते रहे। वमन हो जाने के पश्चात् उष्ण जल से कुल्ला कराकर मुंह धुला कर उसे ताम्बूल आदि मुख शोधक पदार्थ खिला दें। यथासम्भव जर्दा-सुर्ती न खिलायें। न काम चलने पर उत्तम कोटि का हृद्य पदार्थो तथा स्वर्णपत्र आदि से युक्त जर्दा खिलायें। अब उसे आराम करने के लिए लिटायें। पर्याप्त समय तक अर्थात् जबतक वह सुस्थिर न हो जाय तबतक लेटा रहने दें। उत्तम उत्क्लेश कारक उपाय करने एवं विधान का सही ढंग से पालन करने से प्रायः एक ही वमन के अन्त मे हरा या पीला पित्त निकलने लगता है। यही उत्तम वमन का विशिष्ट लक्षण है।† यदि एक वमन मे ऐसा न हो तो एक या दो दिन रुक कर पूरे विधान से पुनः वमन करायें। दूसरी या तीसरी वमन मे तो निश्चित ही पित्त निकलता है। यह स्मरणीय है कि वमन के लिए अधिकतम वीभत्स (घृणोत्पादक) द्रव्यो एवं उपायो का अवलम्बन करना चाहिये।

वमन कराने के लिए सामान्य औषधि—

सामान्यत. मैनफल के भीतर की मींगी (बीज) का काढा सेंधा नमक व मधु मिला कर पिलाने से वमन होता है। पर विभिन्न दोषो या रोगो मे तत्तद्रोगनाशक वामक औषधि का प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। हम तो प्रत्येक रोग एवं प्रत्येक दोष मे मैनफल क्वाथ का ही आश्रय लेते हैं। पर कफ रोगो मे सेंधा नमक और मधु मिला देते हैं। पित्त-रोगो मे परवल की पत्ती, अडूसा की पत्ती या निम्ब की छाल में से किसी एक अथवा तीनो के काढा मे मैनफल की मींगी पका कर पुन. काढ़ा करते हैं। श्लेष्मयुक्त वात में गाय के दूध मे ही मैनफल की मींगी का क्काढा कर देते हैं। यथासम्भव स्वतंत्र वातरोग मे वमन नही कराते।

औषधि तैयार करने की विधि—

मनफल की कुटी हुई मींगी आधा पाव सवा सेर जल मे डाल कर मिट्टी के बडे पात्र मे काढ़ा कर आधा जल बचा लें। फिर जल छान कर एक तोला सेंधा नमक,

† यह विशेष लक्षण निर्विवाद है। जहा तक वेगों का प्रश्न है वहा एक वार के औषधि पान से ८ वार वमन होने से उत्तम वेग ६ वार होने से मध्यम वेग एव ४ वार होने से हीन वेग कहा जाता है। साधारणत विशिष्ट लक्षण पर ही ध्यान दे। वेगों का चक्कर पचकर्म विशेषज्ञो के लिए है।

एक तोला मधु, एक तोला मुलहठी मिलाकर भलीभांति मथ देना चाहिये। बस औषधि तेयार है। इसमे से यथेच्छ पिला दीजिये। प्राय अधिकतम आधा सेर या तीन पाव पर्याप्त होता है। यह याद रखिये कि पिलाते समय कुछ उष्ण अवश्य रहना चाहिये। काढ़ा करते समय मैनफल से बहुत अधिक झाग निकलता है। अत पात्र बडा होना श्रेयस्कर है। आच भी मन्द ही होनी चाहिये। यदि दूध मे पाक करना है तो भी जल के ही परिमाण से उसे ग्रहण करें। परवल, निम्ब, अडूसा आदि का व्यवहार करना हो तो पहले कषाय साधन परिभाषा से काढ़ा बनायें। यह भी स्मरणीय है कि वामक औषधि बचने पर भले ही फेंक दी जाय परन्तु पिलाते समय कम न पडे। वामक औषधि पीते समय ही अधिकतर लोगो को वमन का वेग आने लगता है, अत. जहाँ तक हो शीघ्रता मे मात्रा के अन्तर्गत अधिकतम औषधि पिला देनी चाहिये। यदि उसमे बच जाय तो उसे फेंके नही बल्कि वेग से जरा भी अवकाश मिले तो पुन जो कुछ पी सके पिला दें, सेंधा नमक, मधु व मुलहठी के स्थान पर अन्य कल्क या चूर्ण भी मिलाना हो तो वह ४ तोला से अधिक न होना चाहिए। पित्त के रोग मे शीतल वामक औषधि पीने का विधान है पर कई दृष्टियो से वहाँ भी वह कुछ उष्ण हो तो उत्तम है।

उत्तम वमन के लक्षण—

हृदय, कण्ठ और शिर की शुद्धि, दीप्ताग्नि, लघुता और कफपित्त का विनाश ये उत्तम वमन के लक्षण हैं। रोगी को तंद्रा (उंहाई) निद्रा, संग्रहणी एवं विष रोग पीडित नहीं करते।

कम वमन के लक्षण—

कम वमन होने से मुंह से लार गिरना, हृदय की जकडन, शरीर मे खुजली और चकते हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे पुन. यथाविधि वमन करायें।

अति वमन के लक्षण—

अत्यन्त वमन होने से तृष्णा, हिचकी व डकार होने लगते है। रोगी की जिह्वा बाहर निकल जाती है, आँखें खुली रह जाती हैं, जबडे जकड जाते हैं, रक्त की वमन होने लगती है तथा कण्ठ मे पीडा होती है।

दो चार डकार से घबडाये नही। अधिक आये तो मृदु विरेचन करा दें। लवंग चूर्ण हिचकी और डकार दोनो को कम करता है। इसकी एक मात्रा २ या चार रत्ती है। प्यास अधिक लगती हो तो लाल चन्दन पानी मे घिस कर पिलायें। रक्त निकलने पर आगे वर्णित रक्त पित्त के विधान का पालन करें। जबडा जकडने पर वात व्याधि मे वर्णित हनुस्तम्भ की चिकित्सा करें। आख खुली रहने पर घी से धीरे-धीरे पलको को मल कर उन्हे आंख बन्द होने की दिशा मे लायें, जिह्वा बाहर निकली हो तो उसमे तिल्ली और मुनक्का का कल्क लगा कर भीतर की ओर करें। यदि वह भीतर प्रविष्ट हो गयी हो तो अम्ल, नमकीन और कुछ स्निग्ध वस्तुओ की चटनी या

मृदु गोली चुभलाने को दें। अन्य व्यक्ति उसके सामने किसी बहाने उसको आकृष्ट कर खट्टे पदार्थ खायें।

यह स्मरणीय है कि अधिक वमन के उपद्रव यदि शान्त न होते हो तो विरेचन अवश्य करायें। पंचकर्मों मे वमन कुछ अधिक क्लेश दायक होता है। क्योंकि यह कर्म एक प्रकार से विपरीत कर्म होता है। पर सम्यक् स्नेहन, स्वेदन, उत्क्लेश एवं विधान होने पर न्यूनतम कष्ट होता है।

सम्यक् वमन होने के पश्चात्—

अपराह्न मे अग्नि प्रदीप्त होने अर्थात् भूख लगने पर हृदय को प्रसन्न करने वाले सुसंस्कृत मूंग का यूष और पुराने अरवा या साठी चावल का भात खिलायें। मांस का भक्षण करने वाले जंगली पशुओ यथा हरिण का मांस भक्षण करें। भूख न लगने पर भूख जगाने का प्रवन्ध कर पथ्य दें।

यह स्मरणीय है कि वमन कराने का सामान्य काल प्रात. १० वजे के भीतर है।

वमन के वाद अपथ्य-अजीर्ण, ठण्डा जल, व्यायाम, मैथुन, स्नेह की मालिश या अधिक घृत आदि का सेवन (पथ्य के सस्कार के लिए थोडे घृत का प्रयोग होगा) एवं क्रोध, इन सवका प्रयोग एक दिन अथवा दुर्वलता रहने तक न करें।

विरेचन

विरेचन शब्द शरीर से वाहर करने के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसलिए नासिका द्वारा शिर का दोष वाहर निकालने के कारण नस्य को शिरोविरेचन, वमन को ऊर्ध्व विरेचन और मूत्र अधिक निकालने को मूत्र विरेचन कहते हैं। परन्तु यह शब्द गुदा द्वारा पुरीप. (मल) निकालने के लिए अधिक प्रयुक्त होता है। और, इसी अर्थ मे रूढि भी हो गया है। सामान्य परिस्थितियों मे विना स्नेहन, स्वेदन एवं वमन कराये विरेचन कराया जाता है। परन्तु बहुत उत्तम है कि कुछ न कुछ स्नेहन, स्वेदन करने के वाद ही विरेचन कराया जाये। पंचकर्म के दृष्टिकोण से तो विना स्नेहन, स्वेदन एवं वमन कराये विरेचन नहीं ही कराना चाहिए। स्नेहन—स्वेदन से मल पिघल कर शिथिल होता है। और, अत्यन्त सरलता से निरापद रूप मे वाहर आ जाता है। वमन विना कराये विरेचन कराने से अमाशय की श्लेष्मा नीचे आकर ग्रहणी और अन्त्र को आच्छादित कर देती है। जिससे मन्दाग्नि या प्रवाहिका (आंव पडना या पेचिस) हो जाती है। तव उस रोग की अलग से चिकित्सा करनी पडती है या पाचन औपधियो से कफ का पाचन करना पडता है।

विरेचन के योग्य—

जीर्णज्वर, गरविप, वातरक्त, भगन्दर, अर्श, (बवासीर) पाण्डुरोग, उदर रोग, ग्रन्थि, हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग, प्रमेह, गुल्म, प्लीह-वृद्धि, व्रण, नासा शिर मुंह-गुदा-लिंग

के रोग, अन्त्र वृद्धि, शोथ, नेत्ररोग, क्रिमिरोग, वातव्याधि शूल, मूत्राघात से पीडित लोग विरेचन कराने के योग्य हैं। अधिक क्षार सेवन से हुए उपद्रव मे भी विरेचन हितकारी होता है। पित्त के रोगो (नवज्वर को छोडकर) मे विरेचन सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया गया है। एक दृष्टिकोण से सभी रोगो का कारण पेट की अशुद्धि या शौच का शुद्ध न होना बताया गया है। इसलिए विरेचन के अयोग्य जनो एवं परिस्थितियो को छोडकर सभी रोगो मे विरेचन द्वारा उदर शुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। इसके शुद्ध रहने पर सर्वांग निर्विकार रहेगा।

विरेचन के अयोग्य—

बालक, वृद्ध, अतिस्निग्ध, अतिस्थूल, उर क्षत, क्षीणता, भय, प्यास, थकावट, गर्भ नवज्वर, मन्दाग्नि, मदात्यय और शल्य से पीडित को विरेचन नही कराना चाहिये। नवप्रसूता स्त्री एव रूक्ष को भी विरेचन नही देना चाहिए। इन लोगो में विरेचन अनिवार्य होने पर भी मृदु विरेचन दिया जाता है पर अपेक्षाकृत अधिक सावधानो की आवश्यकता होती है। अनिवार्यता का तात्पर्य उस परिस्थिति से है जिसमे विरेचन के अतिरिक्त अन्य उपाय सम्भव नही है।

कोष्ठ का विचार—

कोष्ठ का तात्पर्य यहा केवल उदर से है। इसका विचार करना विरेचन के लिए अत्यावश्यक है। विरेचन के दृष्टिकोण से कोष्ठ तीन प्रकार का होता है —

(१) मृदु कोष्ठ—पित्त प्रधान लोगो का कोष्ठ मृदु या कोमल होता है। इन्हें मुनक्का, दूध, श्वेत निशोथ या ऐरण्ड तैल आदि मृदु द्रव्य से विरेचन हो जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि सामान्यत बालक का कोष्ठ मृदु होता है।

(२) मध्यकोष्ठ—कफ प्रधान लोगो का कोष्ठ मध्य श्रेणी का होता है इन्हे काली निशोथ, कुटकी, अमलतास की गुद्दी, त्रिफला क्वाथ या गोमूत्र आदि मध्यम श्रेणी के विरेचक द्रव्यो से विरेचन हो जाता है। इस कोष्ठ की विरेचक औषधियो मे सोठ, मिर्च और पीपर डाल देना उत्तम होता है।

(३) क्रूर कोष्ठ—वात प्रधान लोगो का कोष्ठ क्रूर होता है। ये दुर्विरेच्य होते हैं। इनमें तीक्ष्ण द्रव्यो यथा शुद्ध जयपाल (जमालगोटा का बीज), सेहुण्ड का दूध या स्वर्ण क्षीरी (भडभाड) के दूध से विरेचन होता है। इन्हे अपेक्षाकृत अधिक स्नेहन और स्वेदन की आवश्यकता होती है। तीक्ष्ण द्रव्यो मे जमालगोटा का प्रयोग अधिक होता है। यदि सुविचारित और सुव्यवस्थित ढंग से इसका प्रयोग किया जाय तो इसका प्रयोग निष्फल नहीं होता।

मात्रा—

मात्रा के सम्बन्ध मे हम बहुत पहले विचार कर चुके है। ऊपर कोष्ठ और मृद्वादि द्रव्यो की बात बता चुके हैं। कुल मिलाकर औषधि की मात्रा ऐसी होनी

चाहिए जिससे सम्यग् विरेचन हो जाय। मध्यम श्रेणी के विरेचक द्रव्यों के क्वाथ साधन परिभाषा के विधान मे सिद्ध क्वाथ की मात्रा मृदु कोष्ठ के लिए दो तोला, मध्यम कोष्ठ के लिए चार तोला एवं क्रूर कोष्ठ के लिए ८ तोला बतायी गयी है। यदि इन औषधियो का कल्क, गुटिका या चूर्ण देना हो तो मृद्वादि कोष्ठो के लिए क्रमश एक तोला, दो तोला और चार तोला होना चाहिए। इनका सहपान मधु और घी है। इन मात्राओ का नाम क्रमश. मृदु मात्रा, मध्यमा मात्रा और श्रेष्ठा मात्रा है। यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त मात्रा आजकल देने योग्य नहीं है। आजकल के दृष्टिकोण से उनका आधा ही प्रयोग कीजिये।

तीक्ष्ण द्रव्यो की मात्रा रत्तियो मे होती है। शुद्ध जमालगोटे की मात्रा हमारे विचार से अधिकतम २ रत्ती, सेहुण्ड दुग्ध की मात्रा ४ रत्ती है।

मृदु द्रव्यो मे पुनर्नवा २०, उष्ण दुग्ध एक सेर, सफेद निशोथ ६ माशा, ऐरण्ड तैल २ तोला, गुलकन्द २ तोला पर्याप्त है, क्रूर कोष्ठ के लिए ऐरण्ड तैल एक-एक छटाक या आध-आध पाव तक भी दिया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से कोष्ठ और मात्रा का सुव्यवस्थित निर्णय आप एक रोगी मे एक बार में ही कर सकेंगे। ठीक विचार करने पर सामान्यत पहली ही बार का आपका निर्णय ठीक होगा। यदि वह ठीक न हुआ तो विशेष हानि होने की सभावना नहीं। इस प्रकरण के पूरा पढ लेने पर आप हानि होने पर सम्भाल भी सकेंगे और दूसरी बार उसी रोगी के लिए कौन सी मात्रा दी जाय, इनका निर्णय करने मे आपको सुविधा होगी।

वेगो के दृष्टिकोण से एक बार औषधि पान से तीस बार दस्त होने से उत्तमा मात्रा, बीस बार दस्त होने से मध्यमा मात्रा एवं दस बार दस्त होने से हीनामात्रा कही गयी है। आज-कल सामान्यत. १० बार, या वेग, से ही पर्याप्त मल निकल जाता है।

आप वेगो के चक्कर को अलग रख दें। केवल इतना ही देखें कि दस्त के अन्त मे कफ निकल रहा है कि नहीं। यदि कफ निकलने लगे तो आप समझिये कि अब कोष्ठ मे मल नहीं रहा। क्योकि यह कफ आमाशय (अन्त्र के ऊपरी भाग से यह जुडा रहता है) से आता है। जिस रोग मे आम (आव) पहले से ही निकल रहा है उसमे पहले जो आँव निकलता है वह कच्चा कफ है। उसके निकल जाने पर मल निकलता है। तत्पश्चात् आमाशय वाला कफ निकलता है। इसलिए ऐसी अवस्था में पहले ही आव या कफ निकलता समझ कोष्ठ शुद्धि समझने का भ्रम न करें।

मल की अवस्था से औषधि भेद

स्रंसन—

जो औषधि पकने योग्य व अन्त्र मे सटे हुए मल को बिना पकाये नीचे की ओर ले जाती है उसे स्रंसन कहते हैं, जैसे अमलतास की गुद्दी।

भेदन—

दोषो द्वारा बधे हुए अथवा बिना बधे हुए मल को जो औषधि तोड कर गुदा से बाहर करती है उसे भेदन औषधि कहते हैं, जैसे कुटकी।

रेचन—विपक्व अथवा अपक्व मल को जो औषधि द्रव कर गुदा से बाहर निकालती है उसे रेचन औषधि कहते है, जैसे निशोथ।

कुल मिला कर मल की उपर्युक्त अवस्थाओ पर विचार कर औषधि देने से अधिक लाभ होता है। जहा मल सटा हो वहा स्रसन औषधि, जहा मल की गाठे बंध गयी हो वहा भेदन औषधि एवं जहा अपक्व या पक्व या गाठदार किसी भी मल को निकालना हो वहां रेचन औषधि का प्रयोग करना उत्तम होता है।

विरेचन औषधि ग्रहण करने पर सावधानी—

यह ध्यान रखिये की वामक औषधि घृणोत्पादक ही लाभ करती है। परन्तु विरेचक औषधि ठीक इसके विपरीत होनी चाहिये। अर्थात् उससे घृणा न उत्पन्न और न जी मचलाये। उससे वमन न हो जाये अन्यथा लाभ के बदले हानि होगी। जहा उन्माद आदि मे वमन और विरेचन दोनो अभीष्ट हो वहा भी विरेचक औषधि देने से वमन विरेचन दोनो होना उचित नही, पर उससे विशेष हानि नही होती। जहा केवल विरेचन ही अभीष्ट है, वहा औषधि अनुपान एव समस्त परिस्थितियो का घृणा रहित होना आवश्यक है। गुलकन्द, मुनक्का, दूध, निशोथ त्रिफला आदि औषधिया ऐसी हैं कि जिनके सेवन करने पर सामान्यत : जी नही मिचलाता। अत उन्हे ग्रहण करने पर वमन नही होती। पर शुद्ध जमालगोटा, सेहुण्ड का दूध, कुटकी, ऐरण्ड तैल आदि औषधिया अस्वादु होती हैं। इनसे वमन होने की आशंका है। अत इनके अनुपान मे नीम्बु-रस युक्त चीनी का उष्ण या शीत शर्बत बहुत उत्तम होता है। शेष के लिये उष्ण जल, उष्ण दूध या उष्ण क्वाथ उत्तम होता है। प्रत्येक विरेचन औषधि और अनुपान ग्रहण करने पर ताम्बूल, लवंग, इलायची आदि मुखशोधक पदार्थ अवश्य खाना चाहिये।

यह स्मरणीय है कि जमालगोटा या उससे युक्त औषधि विरेचनार्थ ग्रहण करने पर ठण्ढा जल या ठण्ढा अनुपान पीने मे विरेचन सम्यक् होता है। उष्ण जल या उष्ण अनुपान पीने से विरेचन मे बाधा होती है।

विरेचन औषधि ग्रहण करने पर निर्वात स्थान (जहा श्वास ग्रहण योग्य सम्यक् वायु हो पर तेज या शरीर पर सीधे हवा न लगती हो) में रहना चाहिये। लेटिये, आराम करिये पर निन्द्रा न आने पाये अन्यथा वेग कम हो जायेगा। आये हुये वेग (हाजत) को नहीं रोकना चाहिये। तुरन्त मलत्याग करना चाहिये। जमालगोटा को छोड कर शेष औषधियों में ठण्डा जल नही पीना चाहिये। बारम्बार उष्ण जल पीना चाहिए। जब तक दस्त के वेग लगते रहें तब तक भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये।

विरेचन के बाद उष्ण जल से हाथ मुंह धोकर यूष, पतली खिचडी या उचित पथ्य ग्रहण करें। याद रखें, पथ्य मे घृत, तैल आदि स्निग्ध पदार्थ न पडा हो अन्यथा अग्नि-

मान्द्य हो जायेगा। हो संस्कार (छौंकना, बघारना) के लिये न्यूनतम घृत या तैल का व्यवहार हो सकता है। पथ्य ग्रहण करने के बाद मुख शोधक पदार्थ ग्रहण कर आराम करें। परिश्रम, चिन्ता, मैथुन व्यायाम तैल की मालिश अजीर्ण, शीतल जल का सेवन न करें। तबतक जबतक कि शरीर स्वाभाविक स्थिति मे न आवे। स्वाभाविक स्थिति में आने मे लगभग दो-तीन दिन लग जाता है। बहुधा विरेचन होने के दूसरे दिन मल नहीं निकलता या अल्प निकलता है। उससे घबडाना नहीं चाहिये। वह स्वयं दो दिन मे यथाक्रम भोजन करने से ठीक हो जाता है। यथाक्रम भोजन का तात्पर्य उचित भोजन दाल-भात रोटी, तरकारी आदि से है। पर ये गरिष्ठ न हो व भली-भांति पच जाय, इस पर ध्यान रखें। भात अरवा या साठी चावल का, दाल या यूष मूंग, मसूर अथवा अरहर का होना चाहिये।

उत्तम विरेचन का लक्षण—

शरीर मे लघुता, मन की प्रसन्नता, वायु का अनुलोमन यह सब लक्षण सम्यग् विरेचन होने पर तत्काल प्राप्त होते हैं। बाद मे इन्द्रियों मे बल, बुद्धि मे प्रसन्नता, अग्नि दीप्ति, धातुओं और वय की स्थिरता (बुढापे के लक्षण का शीघ्र न आना) होती है।

न्यून विरेचन होने पर (यथोचित मात्रा से कम दस्त होने से) नाभि मे अकड़न, उदर में शूल, मल और वायु का निरोध, खुजली, चकत्ता, भारीपन, जलन, चक्कर, अरुचि और आध्मान (पेट फूलना) हो जाता है।

ऐसी अवस्था मे अमलतास की गुद्दी, सोंठ आदि खिला कर मल का पाचन करें। तत्पश्चात् स्नेहन कर विरेचन करें। इससे सब उपद्रव शान्त हो जायेंगे। अग्नि दीप्ति और लघुता होगी।

अधिक विरेचन होने पर (यथोचित मात्रा से अधिक दस्त होने पर) मूर्छा, गुदभ्रंश (काच निकलना), शूल, आमाशय की कफ का अधिक निकलना होता है। मल मास धोवन, मेदा (चर्बी), जल, के समान निकलता है। रक्त भी कभी-कभी किसी रोगी मे निकलने लगता है।

ऐसी अवस्था में दस्त को रोकने का प्रयत्न करें। अतिसाराधिकार मे लिखित मल ग्राही उपायों यथा सिद्ध गान्धार आदिका प्रयोग करें। नाभि पर गाय की दही या काजी मे पिसी आम की छाल का लेप करें। मसूर की दाल या यूष से अरवा या साठी चावल का भात खिलायें, अथवा दही से खिचडी या भात खिलायें।

दस्त किसी प्रकार न रुक रहा हो तो अनार का उष्ण या पुटपक्व रस पिलायें, फिर भी बन्द न हो, तो चावल के धोवन के अनुपान से मधु मिश्रित मृदु वामक औषधि पिला कर वमन करा दें।

यह पुन याद रखें कि अत्यधिक वमन होने पर विरेचन करा देने से दोषो की गति नीचे हो जाती है और वमन बन्द हो जाता है। ठीक उसके विपरीत अधिक दस्त होने से वमन करा देने पर दोषो की गति ऊपर हो जाती है और दस्त बन्द हो जाते हैं।

कुछ विरेचक औषधियां—

हम साधारणतया मृदु या मध्यम विरेचन के लिये ऐरण्ड तैल का व्यवहार करते हैं। इस तैल के सम्बन्ध मे आमवात अधिकार भी देखें। तीक्ष्ण विरेचन के लिये शार्ङ्गधर संहिता का नाराच रस प्रयोग करते हैं। अधिक काम करने के लिये नाराच को नीबू के शीतल शर्बत के अनुपान से देने के पश्चात् मुनक्का का ठण्डा क्वाथ या मुनक्का पका कुछ उष्ण दूध पिला देते हैं। कुछ उष्ण इस लिए कि शीतल दूध पीना उचित नहीं।

सभी ऋतुओ के लिये त्रिफला चूर्ण उत्तम विरेचन है। इसे कभी-कभी लेने से बहुत लाभ होता है। इसका सामान्य अनुपान उष्ण जल है। त्रिफला का तात्पर्य बड़ी हरड, बहेरा, आंवला के चूर्ण से है। इनकी गुठली निकालने के बाद बचे हुए फल के हिस्से का चूर्ण समान होना चाहिये।

ऋतुओं के अनुसार विरेचन—

प्रत्येक ऋतु के लिए अलग-अलग विरेचन औषधि इस प्रकार हैं।

वर्षा ऋतु (सावन-भादो) में विरेचनार्थ निशोथ, सफेद इन्द्र जौ, पीपर और सोठ के समभाग चूर्ण को मधु मे मिला कर मुनक्का के क्वाथ से सेवन करें। साधारण मात्रा ६ माशा।

शरद ऋतु में—

शरद ऋतु (क्वार-कार्तिक) में विरेचनार्थ सफेद निशोथ, यवासा, बागर मोथा, शक्कर, सफेद चन्दन और मुलहटी का समभाग चूर्ण मुनक्का क्वाथ से सेवन करें। सामान्य मात्रा ६ माशा।

हेमन्त ऋतु—

हेमन्त ऋतु (अगहन-पूस) मे विरेचनार्थ सफेद निशोथ, चिता, पाठा, जीरा, वालबच और स्वर्णक्षीरी (भडभाड) की जड के छिलके का समभाग चूर्ण उष्ण जल से पीयें। मात्रा ३ माशा से ६ माशा।

शिशिर और वसन्त ऋतु—

शिशिर (माघ-फाल्गुन) और वसन्त ऋतु (चैत-वैसाख) में पीपर सोठ, सेंधा नमक, और काली निशोथ का समभाग चूर्ण मधु के साथ चाटकर उष्ण जल पीयें। मात्रा ६ माशा।

ग्रीष्म ऋतु—

ग्रीष्म-ऋतु (जेठ-आषाढ) मे विरेचनार्थ सफेद निशोथ और शक्कर का समभाग चूर्ण उष्ण जल से पीयें। मात्रा ६ माशा।

वात दोष के लिये विरेचन —

वात दोष मे स्निग्ध, उष्ण एवं नमकीन पदार्थो से विरेचन देना चाहिये।

पित्त दोष के लिये विरेचन--

पित्त दोष मे कषाय एवं मधुर पदार्थो मे विरेचन कराना चाहिये।

कफ दोष के लिये विरेचन--

कफ दोष मे कटु पदार्थों से विरेचन करायें।

वस्ति

वस्ति मूत्राशय को कहते हैं। यत' प्राचीन काल मे इस कर्म के लिए पशुओ का मूत्राशय प्रमुख साधन था। इसलिये इसका नाम वस्तिकर्म पड गया, जो आज तक प्रचलित है। नवीन चिकित्सा[1] प्रणाली मे एनिमा, कैथिटर या विभिन्न यन्त्रो के द्वारा गुदा, मूत्राशय, योनि, सिरा आदि में द्रव्यो का जो प्रवेश कराया जाता है वह सब वस्ति कर्म के ही अन्तर्गत है।

यह स्वास्थ्य रक्षा एव आरोग्य लाभ के लिये अत्यन्त उपयोगी कर्म है। अधिकाश रोग वात मे सम्बद्ध होते हैं। वात के लिये यह सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए केवल इसे चरक संहिता मे समस्त चिकित्सा का आधा कहा गया है। इसका अनुभव कर लाभ उठाना जनता एवं चिकित्सको का कर्त्तव्य है।

वस्ति के भेद—

गुदा में प्रयुक्त होने वाली दो वस्तिया हैं।

१—निरूहण या आस्थापन वस्ति—

कषाय क्षार और तेल द्वारा जो वस्ति दी जाती है उसे निरूहण या आस्थापन वस्ति कहते हैं। इसका प्रमुख कार्य मल को बाहर कर दोषो को यथास्थान स्थापित करना है। इसलिए इसका नाम आस्थापन पडा। इसके भेदो पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

आजकल एनिमा का प्रयोग इसी के स्थान पर होता है। क्षार के स्थान पर क्षीर शब्द भी मिलता है। इसलिये कि इसमें कभी-कभी क्षीर का प्रयोग भी होता है पर क्षार का प्रयोग बहुधा होता है।

२—अनुवासन या स्नेह वस्ति—

केवल स्नेह के द्वारा जो वस्ति दी जाती है उसे अनुवासन या स्नेह वस्ति कहते हैं। इसका प्रमुख कार्य शरीर को स्नेह द्वारा वासित करना है। यह मल को भी कुछ निकालती है पर स्नेह द्वारा शरीर को वासित कर शक्ति बढाने का काम अधिक करती है। इसका एक भेद मात्रा वस्ति भी है।

---

१ पचकर्म के श्लोक में विरेचन के बाद नस्य लिखा है। पर यहा विरेचन के बाद वस्तियों का वर्णन अधिक उचित है। इसलिए कि इनका मुख्य उद्देश्य भी कोष्ठ शुद्धि ही है।

नस्य तो शिरोविरेचन है। इसका वर्णन पचकर्म के अन्त में होगा।

मूत्रवाही एवं प्रजनन संस्थान के लिए प्रयुक्त होने वाली एक वस्ति है, जिसका नाम उत्तर वस्ति है। इसके द्वारा मूत्रमार्ग, योनिमार्ग, मूत्राशय एवं गर्भाशय का प्रक्षालन होता है तथा इनमे औषधि का प्रवेश कराया जाता है। व्रण शोधन एवं उसमे औषधि प्रवेश कराने के लिए भी एक वस्ति प्रयुक्त होती है। जिसका नाम व्रणवस्ति है।

शिर पर औषधि दान के लिए एक वस्ति का प्रयोग होता है जिसे शिरो वस्ति कहते हैं। इसके साधन मे मूत्राशय का प्रयोग नही होता, चमडे का प्रयोग होता है।

इस प्रकार कुल मिला कर वस्ति के निरूहण वस्ति, अनुवासन वस्ति, उत्तर वस्ति, व्रण वस्ति और शिरो वस्ति ये पांच भेद होते हैं। पर विभिन्न कार्यों एवं सिर आदि विभिन्न अगो पर प्रयुक्त होने के दृष्टिकोण से बहुत से भेद होते हैं। इस पुस्तक मे हम निरूहण, अनुवासन, उत्तर एवं शिरो वस्ति का ही वर्णन करेंगे।

वस्ति यन्त्र —

वस्ति यन्त्र के दो भाग होते हैं-

एक वस्ति कोप या थैली और दूसरा नेत्र या नलिका। वस्ति या कोप हरिण, बकरा, सूअर, बैल, या भैंस के मूत्राशय का बनता है। इनमे हरिण, बकरा और सूअर का मूत्राशय छोटा होता है, इसलिये उसे उत्तर वस्ति के लिए अथवा अनुवासन वस्ति आदि जहा थोडा द्रव्य प्रविष्ट कराने की आवश्यकता हो, ग्रहण करना चाहिए। निरूहण वस्ति या अधिक द्रव्य के लिए बैल या भैंसे का मूत्राशय ग्रहण करना चाहिए। मूत्राशय के अभाव मे उत्तम कोटि का चमडा लेकर उसकी थैली या कोप बनवाना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि मूत्राशय या चमडा कषाय रस से रगा कोमल, चिकना और मजबूत होना चाहिये। चमडे का काम करने वालो से उसे उत्तम बनवाना चाहिये। मूत्राशय को उलट कर उसके भीतरी भाग को भी स्वच्छ कर लेना चाहिये।

नेत्र या नलिका स्वर्ण आदि धातु, लकडी, बास, नरकट, हाथी दात, सींग या गणि आदि मे से किसी का अत्यन्त चिकना बना हो। ६ वर्ष तक, ८ वर्ष तक और ८ वर्ष के ऊपर के लोगो के लिए नेत्र या नलिका क्रमश ६ अगुल, ८ अगुल और १२ अगुल लम्बा होना चाहिए। यह गोपुच्छ के समान थैली की ओर मोटा एवं दूसरी ओर क्रमश पतला होना चाहिये। थैली की ओर का भाग मूल एव दूसरी ओर का भाग अग्र भाग कहा जाता है। मूल रोगी के अगूठे के बराबर मोटा एव अग्र भाग रोगी की कनिष्ठा (कानी) अगुली के बराबर मोटा होना चाहिये। अग्रभाग गुटिकाकार हो नोकीला न हो। ऐसा होने से वह भीतर क्षत न कर सकेगा। अग्रभाग के भीतर का छिद्र उपर्युक्त आयु वालो के लिए क्रमश मूग, मटर और भन्वेरी की गुठली निकलने योग्य होना चाहिये। नेत्र के चौथे भाग मे मूल की ओर दो कर्णिका बनानी चाहिये।

द्रव्य को थैली मे भर कर कर्णिका को थैली मे डालकर थैली को बाहर से कर्णिका के ऊपर और नीचे कस कर बाध देना चाहिये। ऐसा करने से वस्ति देते समय नेत्र सरक कर थैली के बाहर न जा सकेगा। बस यन्त्र तैयार है।

व्रण वस्ति का नेत्र चिकना ८ अंगुल लम्बा और गिद्ध पक्षी के पक्ष नलिका के समान मोटा होना चाहिये।

शिरो वस्ति के लिए मूत्राशय या थैली या नेत्र की आवश्यकता नहीं। बस एक आठ अंगुल चौडा उत्तम चमड़ा शिर के चारो ओर लपेटने मे डेढा लम्बा होना चाहिए। उसके ऊपर बांधने के लिए मजबूत सूत होना चाहिए। नीचे वाली सन्धियों को बन्द करने के लिये उरद की पीठी चाहिए। बस शिरो वस्ति का यन्त्र तैयार है। चमडे को शिर पर लपेट कर नीचे बाहर की ओर से सूत से बस कर बाध दें। भीतर की ओर (चमडा और सिर के बीच मे) उरद की पीठी इस प्रकार भली-भांति लगा दें जिससे सिर पर डाला हुआ तेल चूकर बाहर न निकल सके। उचित यह है कि सिर पर चारो ओर जहा चमड़े को बाधने के लिये सूत बांधा जाता है वहा पहले से उरद लगा दिया जाय। तब चमडा लगा कर बाध दिया जाय। ऐसा करने से तेल चूने की सम्भावना नहीं रहती।

वस्तियों में मूत्राशय या चमडे के स्थान पर रबड, सेल्यूलाईड, प्लास्टिक आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। नेत्र के लिये भी गेटापार्चा या रबड आदि का उपयोग हो सकता है।

कुल मिला कर उपर्युक्त वस्ति यन्त्र प्राचीन है, इसमें थैली को दबा कर द्रव्य को शरीर के भीतर प्रवेश कराते हैं। प्राचीन वस्ति यन्त्र को हमने वस्ति का रहस्य प्रगट करने एवं जानकारी के दृष्टिकोण से लिखा है और यह आधुनिक वस्ति यन्त्रो से कई दृष्टिकोणों मे अधिक उपयोगी भी है। परन्तु इसका निर्माण झंझट एव कई आपत्तियो को उत्पन्न करने वाला है, इसलिये विशेषज्ञ ही इसका उपयोग करें। साधारणजन एनिमा पात्र का प्रयोग करें।

आज कल एनिमा पात्र का प्रयोग मूत्राशय या चमडे के स्थान पर होता है। नलिका या नेत्र के स्थान पर सामान्यत रबर नलिका और गेटापार्चा का नोजल या नेत्र होता है। नेत्र से द्रव्य को चालू करने या रोकने के लिये पेंच जैसा अलग से रहता है। जो एक ओर रबर ट्यूब और दूसरी ओर नेत्र मे फीट रहता है। गुदा और योनि के लिये पृथक्-पृथक् नेत्र होता है। मूत्रमार्ग के लिये कैथिटर का प्रयोग नेत्र के स्थान पर होता है। एनिमा-पात्र एवं नेत्र के स्थान पर पिचकारी का प्रयोग भी होता है।

विभिन्न प्रयोजनो एवं उपयोगिता के दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार के यन्त्र आज-कल व्यवहृत होते हैं। उन सबका वर्णन यहा समीचीन न होगा। सामान्य अवस्थाओ में सामान्य दृष्टिकोण से उपर्युक्त एनिमा-पात्र या ग्लीसिरिन की पिचकारी वाला यन्त्र अत्यन्त उपयोगी है। इसलिये उसी से काम चलायें।

बम्बई आदि के बाजारो में एक रबर के गोल पहिया जैसी थैली बिकती है, जिसमें नेत्र (नलिका) फिट रहता है। थैली में भरने के लिये विरेचनोपयोगी क्षार भी साथ ही मिलता है। क्षार को पानी में घोल कर थैली मे नेत्र से भर देते हैं, फिर रोगी स्वयं स्निग्ध नेत्र को अपनी गुदा में घुसाता हुआ थैली पर बैठ जाता है। रोगी के दबाव से

सारा द्रव्य गुदा से भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसमें का एक जे० बी० यल० का एनिमा के नाम से भी विकता है।

वस्ति देने का विधान—

पंचकर्म कराना हो तो विरेचन के सात दिन बाद शक्ति उत्पन्न हो जाने पर किसी दिन रात मे यथोचित साधारण सात्विक (या रोग के दृष्टिकोण से किया गया) भोजन करने के बाद रोगी थोडा भ्रमण करे। प्रात:काल मलमूत्र और अधोवायु आदि का परित्याग कर दतुअन-कुल्ला, स्नान आदि से निवृत्त होकर इष्टदेव का पूजन या सन्ध्या आदि अपने सम्प्रदायानुसार कर ले। तत्पश्चात् लगभग १२ बजे दिन वस्ति ग्रहण करे।[1] आपत्तिकाल में जब आवश्यकता पडे तभी वस्ति ग्रहण की जाती है। उसमे काल या उपयुक्त व्यवस्था का कोई प्रश्न नहीं उठता। यह स्मरणीय है कि वस्ति ग्रहण के पुर्व वस्ति द्रव्य यथोचित मात्रा मे तैयार रखें। वस्ति यन्त्र स्वच्छ और सुव्यवस्थित रहे। उसका अन्य उपकरण (गुदा और वस्ति नेत्र मे लगाने के लिए स्नेह आदि) भी प्रस्तुत रहे। अब एक ऐसे कमरे मे, जिसमे सीधी हवा रोगी के शरीर पर न लगे, जमीन या चौकी पर रबड क्लाथ या मोमजामा या अन्य चादर पर रोगी को बायें करवट सुला दें। उसका बाया पैर फैला एवं दाहिना पैर संकुचित रहे। एनिमा पात्र मे यथोचित मात्रा मे उष्ण वस्ति देने के लिए तैयार किया कुछ द्रव्य या स्नेह डाल दें। रहित रोगी की बाल से गुदा एवं वस्ति नेत्र मे घी, ऐरण्ड तैल, वेसलीन, तिल्ली वा सरसो के तेल मे से कोई चिकना द्रव्य लगा दें। वस्ति नेत्र पर के पेंच को घुमा कर जरा सा वस्ति द्रव्य को गिरा दें। तत्पश्चात पेंच बन्द कर वस्ति नेत्र को धीरे से गुदा में सीधे प्रवेश करा कर पेंच को खोल दें, जिसमे द्रव्य गुदा के भीतर प्रविष्ट हो सके। अब एनिमा पात्र को किसी ऊचे स्थान पर स्थापित करदें, खूटी मे टांग दें या ऊंचाई पर हाथ मे लिए रहे। वस्ति द्रव्य गुदा के भीतर प्रवेश करने लगेगा, रोगी को अनुभव होगा कि गुदा के भीतर कुछ प्रविष्ट हो रहा है। अब एनिमा पात्र पर ध्यान दें। यह स्मरणीय है कि उसमे द्रव्य पूर्णतया न निकल कर कुछ अवशिष्ट अवश्य रहे, अन्यथा द्रव्य पूर्णतया चले जाने पर खाली नलिका से रोगी के पेट मे वायु प्रविष्ट होकर दुखदायी होगा। इसके लिए एनिमा पात्र के छिद्र तक द्रव्य पहुंचने के पहले ही नेत्र की पेंच बन्द कर देनी होगी। नेत्र को गुदा से निकाल कर रोगी को चित्त सुला दें। उसका हाथ-पैर तीन-चार बार संकुचित और प्रसारित कर फैला दें। कमर भी तीन बार उठा कर छोड दें। रोगी को ऐसा करने मे तकलीफ न होने पाये। अब उसे आराम करने के लिए छोड दें, उसे जब मल त्यागने की इच्छा हो तो वह तुरन्त मलत्याग करे। वेग रोकना नही चाहिये।

---

१ यह सामान्य काल निरूहण वस्ति का है अनुवासन वस्ति का काल उसके प्रकरण में पढ़ विरेचन के बाद अनुवासन वस्ति ही देनी चाहिये।

प्राचीन काल के यन्त्र मे वस्ति देना हो तो नेत्र को गुदा में प्रविष्ट कर थैली को दबा कर द्रव्य भीतर कराना होगा। शेष विधान आधुनिक यन्त्र के समान ही है। यद्यपि इसमे लाभ अपेक्षा कृत अधिक होते है, पर जन साधारण को इसके चक्कर मे फंसने की आवश्यकता नहीं।

सावधानी—

(१) गुदा में प्रविष्ट होते समय द्रव्य या अन्यान्य स्नेह युक्त उष्ण अवश्य हो। अधिक उष्ण या शीतल हानिकारक होगा।

(२) द्रव्य अधिक धीमी या तीव्र गति से गुदा मे प्रविष्ट न होकर मध्यम गति से जाना चाहिये। सामान्यत : सात-आठ फीट ऊचा रखने पर ऐसा होता है। प्राचीन यन्त्र की थैली पर या ग्लीसरीन की पिचकारी पर मध्यम श्रेणी का दबाव[1] डालने से ऐसा होता है।

(३) कभी अधूरा द्रव्य या स्नेह के प्रविष्ट होते ही रोगी को मलत्याग करने का तीव्र वेग होता है, तब मल त्याग करा कर पुन यथाविधि अवशिष्ट द्रव्य प्रविष्ट करावें।

(४) नेत्र भीतर सीधे प्रविष्ट कराना चाहिये।

(५) कभी-कभी मल की गाठें द्रव्य या स्नेह को भीतर जाने मे रोक देती है। विरेचन के बाद वस्ति देने से ऐसा नहीं होता। प्राय. जीर्ण रोग मे कभी-कभी ऐसा होता है। वहाँ कुटकी क्वाथ से विरेचन कराने के बाद वस्ति देनी चाहिये। बवासीर के रोगी मे भी कभी-कभी द्रव्य या स्नेह प्रविष्ट कराने मे बाधा पडती है, वहाँ अर्श अधिकार मे लिखी औषधि द्वारा बवासीर के मस्सो को सुखाकर या मृदु कर वस्ति देनी चाहिये।

(६) वस्ति देने के बाद यन्त्र को उष्ण जल और साबुन से विधिवत् धोकर, सुखाकर सुरक्षित रक्खें।

(७) निरूहण, अनुवासन, उत्तर वस्ति एवं शिरो वस्ति के विधान को अलग-अलग पूर्णतया पढकर प्रयोग करें। व्रण वस्ति का प्रयोग साधारण जन न करें। इसीलिए इसका विधान यहा नही लिखा जायेगा।

अनुवासन वस्ति

अनुवासन के योग्य—

रूक्ष, तीक्ष्णाग्नि एवं वात से पीडित लोग अनुवासन के योग्य होते हैं। यहाँ रूक्ष से तात्पर्य रोग या स्वभाव से उत्पन्न रूक्षता मे है क्योंकि स्नेहन, स्वेदन तो रोगी का विरेचन के पहले होगा ही, उस स्नेहन से रोगी को स्निग्ध समझ कर अनुवासन के

---

१ इस दबाव के सम्बन्ध में अनुवासन वस्ति वाला प्रकरण पढ़ें।

अयोग्य समझना ठीक नही, और फिर विरेचन के ७ दिन बाद अनुवासन वस्ति देनी होती है। जिससे पहले की स्निग्धता कम हो गयी रहती है।

अनुवासन के अयोग्य—

कुष्ठ, प्रमेह, उदर रोग, अजीर्ण, उन्माद, तृषा, मूर्च्छा, अरुचि, श्वास, कास, क्षय, शोक और भय से युक्त लोगो को अनुवासन वस्ति नहीं देनी चाहिए। अत्यन्त स्निग्ध भोजन के बाद भी अनुवासन वस्ति नही देनी चाहिये। नही तो मद, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, एवं ग्रहणी विकार होने की सम्भावना है। अत्यन्त रूक्ष भोजन के बाद भी अनुवासन वस्ति देने से बलवर्ण की हानि होती है।

अनुवासन का समय—

यदि वसन्त ऋतु मे अनुवासन करना हो तो अपरान्ह मे, ग्रीष्म, वर्षा, शरद मे रात्रि मे एवं हेमन्त शिशर मे मध्याह्न में अनुवासन वस्ति देनी चाहिये।

अनुवासन वस्ति के द्रव्य का मात्रा—

अत्यन्त रूक्ष और अत्यन्त तीक्ष्णाग्नि वाले रोगी के लिए उत्तम मात्रा देनी चाहिये। यह मात्रा २४ तोला की है। मध्यम श्रेणी के रूक्ष और अग्नि के रोगी के लिए मध्यमा मात्रा १२ तोला की है। कम रूक्ष एव दुर्बल अग्नि (अत्यन्त मन्दाग्नि वाले रोगो को अनुवासन का निषेध है) के लिए ६ तोला की हीन मात्रा है।

इन मात्राओ मे यदि स्नेह में सौंफ, शतावर या सेंधा नमक का चूर्ण छोडना हो तो उत्तम मात्रा के लिए ६ माशा, मध्यम मात्रा के लिए ४ माशा एवं हीन मात्रा के लिए २ माशा छोडना चाहिये। सौंफ या शतावर मिलाने से स्नेह की शक्ति अधिक होती है। सेंधा नमक मिलाने से उसका चिनचिपापन नष्ट होता है, साथ ही उससे वात नाशन मे सहायता मिलती है।

यह स्मरणीय है कि ८ वर्ष तक के बालक के लिए उतम मात्रा ६ तोला होगी। युवा या वृद्ध के लिए सामान्य मात्रा उपयुक्त मध्यमा मात्रा अर्थात् १२ तोला ही ठीक है।

इस प्रकार एक दिन का अन्तर देकर कम से कम ६ वस्ति अवश्य देनी चाहिए। इसके बाद पुनः ६ अनुवासन वस्ति दे दी जाय तो अत्यन्त लाभकारी होगा।

हीन मात्रा मे वस्ति द्रव्य होने से सम्यक् कार्य नही होता। अधिक मात्रा में देने से आनाह,[1] सुस्ती और अतिसार हो जाता है।

अनुवासन वस्ति के द्रव्य—

यह पहले ही लिख चुके है कि अनुवासन वस्ति स्नेह से दी जाती है। कोई वात नाशन तैल, जैसे नारायण तैल, दशमूल तैल, महामाष तैल या प्रसारिणी तैल उत्तम है।

---

१. अतड़ियों की गति वध जाने या रुक जाने को आनाह कहते हैं। इसमें मल और अधो वायु का निकलना बन्द हो जाता है, बहुत कष्ट होता है।

किसी विशिष्ट रोग के लिए वस्ति देनी है तो उस रोग की नाशक औषधियों से सिद्ध तैल का व्यवहार करें।

उत्तम अनुवासन वस्ति के लक्षण—

अधोवायु के साथ मल और वस्ति के द्वारा प्रविष्ट कराया हुआ स्नेह, बिना किसी उपद्रव के बाहर आ जाय तो समझना चाहिए कि अनुवासन वस्ति उत्तम रीति से लग गई है। यदि यह लक्षण न मिले और कोई उपद्रव भी न हो तो घबड़ाना नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा रूक्षता के कारण होता है। उपद्रव हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। वस्ति से होने वाली विपत्तियों की चिकित्सा चरक एवं सुश्रुत में लिखी हुई है। सामान्यतः अनुवासन वस्ति मे कभी-कभी एक उपद्रव यह होता है कि स्नेह और मल दोनो बाहर नहीं लौटते। परिणाम—स्वरूप शिथिलता, आध्मान (पेट फूलना), उदर शूल, श्वास, कष्ट, पक्वाशय (बड़ी आंत) में भारीपन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे तुरन्त वायु को अनुलोम एवं मल तथा स्नेह को बाहर निकालने का प्रयत्न होना चाहिए। इसके लिए तीक्ष्ण द्रव्यो से निरूहण वस्ति देनी चाहिये। यह तत्काल सम्भव न हो तो तीक्ष्ण द्रव्यो से बनी फलवर्ती (देखिये प्रकरण का अन्तिम अंश) का प्रयोग करना चाहिये। इन दोनो उपायो से सिद्धि न मिलने पर तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिये। इन सबसे हारने पर छींक लाने के लिये नस्य का प्रयोग कीजिए। स्यात् (शायद) डूबते को तिनके का सहारा हो जाय।

यह स्मरणीय है कि अनुवासन वस्ति के लौटने की प्रतीक्षा अधिकतम २४ घण्टा करनी चाहिये। इस समय के बीतने पर भी यदि वह न लौटे तो चाहे कोई उपद्रव हो या न हो तो भी उसे क्रमशः निरूहण, फलवर्ती और विरेचन द्वारा निकालना चाहिए। किसी उपाय से उसके बाहर निकल जाने पर दूसरा उपाय करने की आवश्यकता नहीं। एक अनुवासन वस्ति के स्नेह के बिना लौटे दूसरा स्नेह किसी भी मार्ग से प्रवेश नहीं करना चाहिये।

यदि अनुवासन वस्ति देते ही तत्काल केवल स्नेह ही बाहर लौट आये तो तुरन्त दूसरी अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। क्योंकि कुछ काल तक बिना रुके स्नेह कोई लाभ नहीं करता।

पथ्यापथ्य—स्नेह मल के साथ निकल आये और दीप्ताग्नि हो तो हलका भोजन इच्छानुसार देना चाहिये। भोजन के पश्चात् उष्ण जल पिलाना चाहिये। भोजन के पूर्व भी आवश्यकता पड़ने पर उष्ण जल ही पिलाना चाहिये। जल के साथ-साथ सोंठ और धनिया का काढ़ा भी उचित मात्रा में ३-४ बार सेवन कर लिया जाय तो बड़ा उत्तम है। यह स्नेह की विपत्तियों को नष्ट करता है।

शेष पथ्यापथ्य स्नेह पान (देखिये पूर्वोक्त स्नेहन प्रकरण) के समान है।

अनुवासन वस्ति से लाभ—

अनुवासन वस्ति से पुष्टि, बल, वर्ण, और आरोग्य की प्राप्ति होती हैं। यह बात रोगो के लिये सर्वश्रेष्ठ है। पहली वस्ति समस्त शरीर को स्निग्ध करती है। दूसरी वस्ति शिरोगत वायु को जीतती है। तीसरी वस्ति बलवर्ण को बढाती है। चतुर्थ और पंचम वस्ति रस-रक्त, छठवी मास, सातवीं मेदोधातु, एवं आठवीं व नौवी वस्ति मज्जा के दोषो को नष्ट करती है। इसका दूना अर्थात् १८ वस्ति लग जाने पर वीर्य तक की सभी धातुओ के दोष नष्ट हो जाते हैं। यदि ३६ वस्ति यथाविधि दे दी जाय तो हाथी घोडे के समान बल और देवता के समान बुद्धि की प्राप्ति होती है।

पिचकारी—

आजकल ग्लीसरीन [1] की पिचकारी द्वारा भी ग्लीसरीन (एक प्रकार का स्नेह) का प्रवेश कराने से मल स्निग्ध होकर बाहर निकलता है। इससे केवल इतनी ही सिद्धि हो सकती है, इससे अधिक नहीं। ग्लीसरीन के स्थान पर ऐरण्ड तैल की वस्ति मल निकालने के साथ वायु जीतने के लिये अन्य काम भी करती है।

फलवर्ती—

ग्लीसरीन के अभाव मे या ग्लीसरीन की बत्ती लगा कर भी काम निकालते हैं। यह प्रत्येक अंग्रेजी दवा की दूकानो पर बिकती है। खरीदते समय रोगी को आयु बता देनी चाहिये। उसी दृष्टिकोण से विक्रेता बर्ती देगा। इसे रखना हो तो शीशे के पात्र मे विधिवत् ढक्कन लगा कर रखिये। नहीं तो गल जायेगी। इसके स्थान पर महुआ के बीज की बत्ती या साबुन की बत्ती भी लगायी जाती है। केवल तलाव-हींग की डली गुदा मे रखने से भी वायु का अनुलोमन होता है। सेंधा नमक-हींग एवं मधु बराबर पका कर बर्ती बना लें, यह भी अच्छा काम करती है। बच्चो को दस्त कराने के लिए अधिकतर फलवर्ती का प्रयोग होता है।

फलवर्ती का प्रयोग मूत्र-मार्ग एवं योनि-मार्ग मे भी होता है, इसके सम्बन्ध मे उत्तर वस्ति एवं स्त्री रोग में वर्णन होगा।

---

१ ग्लीसरीन लगाने की पिचकारी बाजार में मिलती है। इससे मध्यम दबाव से स्नेह प्रविष्ट कराना चाहिये। इसके एवं प्राचीन वस्ति के पात्र के दबाव के लिए ३० मात्रा का समय काफी है। ३० मात्रा के समय में लगभग १॥ मिनट होता है।

एक मात्रा शार्ङ्गधर संहिता में इस प्रकार बतायी गयी है —

जानु मण्डलमावेष्ट्य कुर्याच्छोटिकया युतम्।
एका मात्रा मवेदेषा सर्वत्रैवेष निश्चय ॥

अर्थात् दाहिने हाथ से एक बार दाहिना जानु [घुटना] घुमाकर चुटकी बजाने में एक मात्रा होती हैं।

निरूहण वस्ति

वस्ति प्रकरण मे इसके लक्षण, यन्त्र, विधान एवं समय आदि पर प्रकाश डाला गया है। यहा अवशिष्ट बातें लिखी जायेगी। यह जान लीजिये कि आज कल इस वस्ति का प्रचार सर्वाधिक है। प्रायः सभी सचिकित्सक तात्कालिक कार्यों एव स्थायी लाभ के लिये इसका प्रयोग कराते है। एनिमा शब्द का प्रयोग इसी के लिए होता है। साधारण पंचकर्म के दृष्टिकोण के अनुक्रमण वस्ति के बीच मे क्रमानुसार इसका देते है। कुछ विशिष्ट रोगो यथा उपनाह, उदावर्त, शूल और अम्लपित्त आदि मे इसका स्वतन्त्र व्यवहार होता है। शल्य क्रिया (आपरेशन) के पूर्व मल शोधन के लिए भी सामान्यतया इसका प्रयोग होता है। यह स्मरणीय है कि मल शोधन के दृष्टिकोण मे यह सर्वाधिक सरल, निरापद और उपयोगी है। विभिन्न कार्यो एवं द्रव्यो के दृष्टिकोण मे इसके बहुत से भेद हैं। जिनमे कुछ ये हैं--उत्क्लेशन, दोष हर, शोधन, दोष शमन, लेखन, बृंहण, पिच्छिल, मधु तैलिक, युक्त रथ, दीपन और सिद्ध वस्ति। इन्हे आप शार्गधर संहिता पढ कर अच्छी तरह समझ सकते है। यहा तो अत्यन्त आवश्यक बातें ही बतायी जायंगी।

निरूहण वस्ति के योग्य—

वात व्याधि, उदावर्त्त, वातरक्त, विषम ज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदर रोग, आनाह, मूत्रकृच्छ, अश्मरी (पथरी), बढा हुआ रक्त प्रदर, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्ल पित्त और हृद्रोग से पीडित लोग निरूहण वस्ति के योग्य होते है।

निरूहण वस्ति के अयोग्य—

अतिस्निग्धता, उर. क्षत, कृशता, आध्मान, वमन, हिक्का, अर्श, कास, श्वास, अतिसार, विसूचिका, कुष्ठ, मधुमेह, जलोदर से पीडित लोगो को निरूहण वस्ति नहीं करानी चाहिए। जिनके दोष ऊपर के मार्ग अर्थात् मुख आदि से निकलने को उद्यत हो और जिनकी गुदा मे शोथ (सूजन) हो उन्हे भी निरूहण वस्ति नहीं देनी चाहिये।

निरूहण वस्ति के द्रव्य—

सामान्यत डेढ सेर जल मे दो तोला कार बोलिक साबुन को कलईदार, एनामल अथवा मिट्टी के पात्र मे खौला लेते हैं। साबुन के जल मे भली-भाति घुल जाने पर जल में ऐरण्ड का तेल[४] २ तोला डालकर, मथकर, सबको भली-भाति हिलाकर एनिमा

---

४. कभी कभी तेल-जल के ऊपर आ जाने से जल के पूर्णतया भीतर न प्रवृष्ट होने के कारण गुदा में प्रविष्ट नहीं हो पाता है। इसलिए एनिमा पात्र में पहले ऐरण्ड का तेल डाल कर यथासम्भव अधिकतम उसकी रबड नलिका में प्रवेश करा कर ऊपर से साबुन घुला जल छोड़ कर पात्र को भर लें। अब वस्ति देने से तेल गुदा में प्रविष्ट हो गया। जो कुछ जल के ऊपर आ जायेगा वह भी जल के साथ गुदा के भीतर प्रविष्ट हो जायेगा। पात्र भर जाने पर अवशिष्ट जल को फेंके नहीं आवश्यकता पडने पर उसे तुरन्त दुबारा प्रविष्ट करा सकते हैं। आवश्यकता न रहने पर यदि तेल उसमें नहीं मिला है तो उससे पात्र धोये, तेल मिला हो फेंक द।

पात्र मे कुछ गरम (सहने योग्य) भर देते हैं। बस, इसी को वस्ति प्रकरण मे कहे विधान से गुदा में प्रविष्ट करा देते हैं।

यही द्रव्य साधारणत प्रयुक्त होता है। जल के स्थान पर त्रिफला (हर्रा, बहेर्रा और आवला) का क्वाथ[1] प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है।

केवल साबुन युक्त जल या निम्बू स्वरस युक्त जल का भी व्यवहार होता है। अधिक या उपयोगी शोधन के लिए उपर्युक्त एरण्ड तैल युक्त घोल उत्तम है।

प्रत्येक अवस्था मे गुदा मे प्रवेश के समय द्रव्य का सहने योग्य उष्ण होना आवश्यक है। सामान्यत गुदा के भीतर एक सेर द्रव्य प्रविष्ट हो जाना उत्तम है। यह मात्रा युवा और वृद्ध के लिए है।

मात्रा भेद—

गुदा के भीतर प्रविष्ट होने वाले द्रव्य की उत्तम मात्रा एक सेर, मध्यम मात्रा ३ पाव और हीन मात्रा आधा सेर है। यह व्यवहारोपयोगी मात्रा है। शास्त्र से कुछ ही उपेक्षणीय अन्तर है।

निरूहण वस्ति लेने के बाद—

विधिपूर्वक निरूहण वस्ति ग्रहण करने के बाद रोगी मल त्याग के आसन से बैठे। तुरन्त मल वस्ति के द्रव्य के सहित बाहर आ जावेगा। यदि अधिकतम एक घण्टा के भीतर ऐसा न हो तो पुन जल या क्वाथ मे यथोचित मात्रा में क्षार, गोमूत्र, नीबू का रस और सेंधा नमक[2] मिलाकर यथाविधि वस्ति दें। इसके देने पर मल और द्रव्य बाहर आ जाता है।

उत्तम निरूहण के लक्षण—

निरूहण वस्ति देने के बाद क्रमश पुरीष (मल), पित्त, कफ और वायु बाहर निकले, शरीर मे लघुता एवं मन प्रसन्न हो, व्याधि नष्ट हो तो समझना चाहिए कि

---

१. यहाँ क्वाथ साधन परिभाषा का उपयोग न कर आधा पाव त्रिफला के दरदरा चूर्ण का ३ सेर जल में कलईदार या एनामल या मिट्टी के पात्र में काढा कर डेढ सेर जल बचा कर छान लें। यह बचा हुआ जल क्वाथ का काम देगा।

२ इनमें जो मिले उनका प्रयोग करे। पर कोई क्षार अवश्य होना चाहिये। क्षार के लिए यवक्षार या नवसादर या साबुन में से एक ग्रहण करें। यहाँ यवक्षार सर्वाधिक उपयोगी है, उससे कम उपयोगी नवसादर और सबसे कम उपयोगी साबुन होता है। साबुन की मात्रा बताई जा चुकी है। यवक्षार या नवसादर ३ माशा तक डाला जा सकता है। यदि क्षार से आंतों में रूक्षता उत्पन्न होने से कुछ कष्ट हो तो एक अनुवासन वस्ति से वह ठीक हो जायेगा। इसबगोल की भूसी ६ माशा जल में भिगो कर चीनी मिलाकर खाने से भी रूक्षता तथा अन्य उपद्रव ठीक होता है।

निरूहण वस्ति उत्तम हुई। निरूहण और अनुवासन दोनो उत्तम हो जाते हैं तो उपर्युक्त लाभ के अतिरिक्त शरीर मे कोमलता, चिकनाई, बल, एवं सौन्दर्य की वृद्धि भी होती है।

त्रिदोष के दृष्टिकोण मे निरूहण--

वात के रोगो मे स्नेह युक्त एक, दो, तीन या चार, पित्त के रोगो मे दूध के साथ दो और कफ के रोगो मे कषाय कटु रुक्ष आदि द्रव्यो से तीन निरूहण वस्ति, एक-एक दिन का अन्तर देकर लगातार देना चाहिए। सबके अन्त में एक अनुवासन वस्ति अवश्य देनी चाहिये।

यह स्मरणीय है कि सुकुमार, वृद्ध और बालको के लिए मृदु वस्ति हितकारी होती है। तीक्ष्ण वस्ति उनके बल और वर्ण को नष्ट कर देगी। उपर्युक्त साबुन जल, (या त्रिफला क्वाथ) एवं एरण्ड तैल वाली वस्ति मृदु है। नीबू भी मृदु है। गोमूत्र, यवक्षार, नवसादर और कटु द्रव्य तीक्ष्ण होते है।

पथ्या पथ्य--

सम्यक् निरूहण के बाद उष्ण जल से स्नान कर लघु अन्न ग्रहण करना चाहिये। अनुवासन वाला पथ्यापथ्य करना चाहिये। दिन मे शयन और अजीर्ण न होने पाये। विशेष--वस्ति के लाभ तो निरूहण में सब मिलेगें ही किन्तु जहा मल रुकने के कारण शूल होने से रोगी तडप रहा हो वहा यह निरूहण वाली वस्ति तत्क्षण लाभ करती है।

उत्तर वस्ति

उत्तर वस्ति मूत्र मार्ग एवं योनि मार्ग मे दी जाती है। प्राचीन काल मे इसका प्रयोग स्नेह के द्वारा विशेष होता था। आज कल तो इसका प्रयोग सामान्यत योनि प्रक्षालन के लिये स्नेहातिरिक्त द्रव्य द्वारा होता है। स्नेह द्वारा उत्तर वस्ति का प्रयोग करने से मूत्र संस्थान[1] एव प्रजनन संस्थान के वात विकार नष्ट होते हैं। पुरुष मे वीर्य के दोष एवं स्त्री में आर्त्तवदोष नष्ट होते है। गर्भ धारण की अधिक क्षमता आ जाती है। नपुन्सकता एवं वन्ध्यात्व दोष नष्ट होते हैं। प्रक्षालन से प्रदर, पूयमेह (सूजाक) एवं उपदंश (गर्मी) मे अत्यन्त लाभ होता है। प्रमेह मे इसका निषेध है। यह अच्छी तरह लग गयी, इसका लक्षण केवल इतना ही है कि इसका द्रव्य तुरन्त बाहर लौट आये। इसके भीतर रुकने से मूत्राशय या गर्भाशय फूल जाता है। उसमे पीडा भी होती है। यदि स्नेह का उपयोग हुआ है तो उपद्रव, उनकी चिकित्सा एवं पथ्यापथ्य स्नेह वस्ति के समान ही होगा। प्रक्षालन में प्रयुक्त वस्ति का वर्णन रोगानुसार होगा।

---

१ मूत्र सस्थान के अन्तर्गत शिश्न (लिंग स्त्रियों में मूत्रमार्ग) मूत्राशय, वृक्क या गुर्दा गवीनी (गुर्दा से मूत्राशय में मूत्रालाने वाली दो नलिकायें) गिनी जाती हैं। प्रजनन सस्थान के अन्तर्गत शिश्न (पौरुष ग्रोस्टेट) ग्रन्थि शुक्र-प्रणाली, शुक्राशय एवं अण्ड कोष की गणना होता है। स्त्रियों में योनिमार्ग गर्भाशय डिम्ब ग्रन्थि एवं डिम्ब प्रणाली है।

स्नेह या द्रव्य बाहर नहीं आता तो है शोधन या मूत्रल[1] द्रव्यो द्वारा पुन: वस्ति या फलवर्ती देनी चाहिये। यदि वस्ति देने से मूत्रसंस्थान या प्रजनन संस्थान मे दाह होता है तो क्षीरी वृक्ष[2] (वरगद, गूलर, पीपल, पकडी, पारिस पीपल या सिरिस) की छाल के काढे अथवा शीतल दूध से वस्ति दें।

किसी वल्क को कपडे पर दोनो ओर लेप कर फिर उसे लपेट कर या ऐंठ कर सूत्र से उसके चारो ओर बाध देते हैं, यही फलवर्ती है। शोधन द्रव्यो मे इन्द्रायण की जड प्रमुख है। यह बन्द मासिक-धर्म को भी खोलती है।

गुदा मे विरेचनार्थ लगाने के लिए भी ग्लीसरीन, कोइना (मधूक बीज), हींग, साबुन मे से किसी एक की वर्ती प्रयुक्त होती है। इसे भी फलवर्ती कहते हैं।

यन्त्र :—

इस वास्ते की थैली या पात्र तो अनुवासन वस्ति के समान होता है। नेत्र कर्णिका आदि भी सब वही होते हैं। केवल उसके नेत्र मे अन्तर होता है। इसकी लम्बाई, मोटाई एवं छिद्र का परिमाण इस प्रकार है।

पुरुषो के लिये :—

नेत्र १२ अंगुल लम्बा, मालती के फूल के डण्ठल के समान मोटा एवं उसका छिद्र बड़ी सरसो के निकलने योग्य होना चाहिये। (बाजार मे पुरुषो के उत्तर वस्ति के लिए शीशे की पिचकारी[3] मिलती है। इसमे रबर का कैथिटर[4] लगा कर भी काम लेते हैं।)

स्त्रियो के लिये :—

१० अंगुल लम्बा, उनकी कानी (कनिष्ठा) अगुली के समान मोटा एवं मूंग निकलने योग्य छिद्र वाला स्त्रियो के योनि मार्ग के लिये होता है। इसे चार अंगुल प्रविष्ट कराना चाहिये।

आजकल योनिमार्ग प्रक्षालन के लिये अलग नेत्र (नोजल) मिलता है जो साधारणत. एनिमा पात्र के साथ मिलता है।

---

१ मूत्रल द्रव्य कलमी शोरा यवक्षार, नवसादर गोखरू पुनर्नवा तृणपंच मूल (कुश कास, सरपत, छोटा कुश, ईख की जड़ आदि हैं।

२ इनकी छाल को पंच वल्कल कहते हैं। इनके दूध, फल और अकुर (टूसा) का भी व्यवहार होता है।

३ यह कान धोने की शीशे की पिचकारी के नाम से मिलेगी।

४ रबर कैथिटर एक रबर की नलिका होती है। जिसके दोनों ओर छिद्र होते हैं। सामान्यत युवा के लिये ७ या ८ नम्बर का उपयोगी होता है।

मूत्र निकालने के लिये भी इसका उपयोग होता है। वहा एक या दो अगुल छोड कर सब भीतर प्रविष्ट कराया जाता है।

टेस्ट ट्यूब—

विज्ञानशाला मे प्रयुक्त होने वाली शीशे की परख नलिका मे ही नीचे की ओर ५–७ छिद्र से युक्त पिचकारी एक रुपया में बिकती है। इस काम के लिए यह बड़ी उपयोगी होती है।

स्त्रियो के मूत्र मार्ग व पुरुषो के मूत्र मार्ग के लिए उपयोगी नेत्र का ही प्रयोग किया जाता है पर उसका प्रवेश दो अंगुल ही कराना चाहिये।

बालकों के लिये—

३ या ४ नम्बर का कैथिटर प्रयोग करते हैं। इसका प्रवेश १ या २ अंगुल होना चाहिये।

वस्ति द्रव्य की मात्रा—

सामान्यत योनिमार्ग के लिए २ छटाक द्रव्य (स्नेह नहीं अन्य तरल) पर्याप्त होता है। पुरुषो एवं स्त्रियों के मूत्रमार्ग के लिए डेढ छटाक पर्याप्त होता है। बच्चों के मूत्रमार्ग के लिए दो तोला पर्याप्त होता है।

यदि स्नेह का प्रयोग करना हो तो मूत्रमार्ग में पचीस वर्ष तक की आयु के लिए दो तोला इसके उपर चार तोला तक पर्याप्त है। योनिमार्ग मे १६ वर्ष के ऊपर एक छटाक पर्याप्त है।

विधान—

यन्त्र की तैयारी तो सामान्यत वस्ति कर्म के समान ही करें। नेत्र मे स्नेह भी लगा दें। रोगी को निरूहण वस्ति से शुद्ध कर स्नान भोजन आदि कराकर जानु तक ऊंचे आसन (कुर्सी) पर बैठा दें। उसके लिंग मे स्नेह से चिकना नेत्र धीरे-धीरे ६ अंगुल प्रविष्ट कराकर पैनी को दबा कर द्रव्य प्रविष्ट करायें। यदि एनिमा पात्र हो तो उसे ऊंचे रख कर द्रव्य प्रविष्ट करायें। रोगी को सुला कर भी उत्तर वस्ति दी जाती है। पर वह उचित नहीं।

योनिमार्ग में उत्तर वस्ति देनी हो तो रोगिणी को चित्त सुला कर ही देना चाहिये।

उत्तर वस्ति के द्रव्यो के सम्बन्ध मे प्रमेह, पूय-मेह आदि रोगों के स्थलो पर लिखेंगे।

शिरोवस्ति

इससे शिर के दुर्जय वात जन्य रोग नष्ट होते हैं। शिर कम्प मे यह भी लाभदायी होती है। इसे प्रात काल बिना भोजन कराये रोगी को धारण करना चाहिये।

यन्त्र और विधान—

१२ अंगुल चौड़ी रोगी के शिर पर एकदम फिट बैठने वाली उत्तम चमडे की बिना छत की टोपी ही इसका यन्त्र है। कुर्सी या किसी सुखदायक आसन पर बैठे हुए रोगी के सिर पर टोपी को भलीभाति बैठा कर उरद की पीठी से सिर और उसकी सधि,

जहा से तेल चूकर नीचे गिर सकता है, पर सन्धि-लेप कर देना चाहिये। अब कुछ उष्ण रोग नाशक तेल ऊपर से भर दे। यह तैल तब तक रोगी सिर पर धारण करे जब तक कि उसकी नाक-मुंह या नेत्र से पानी का स्राव न होने लगे। अथवा, वेदना की शान्ति न हो जाय या १००० मात्रा (लगभग १ घण्टा) न बीत जाय। तत्पश्चात् तैल एक पात्र मे गिरा कर गरम जल से सिरे को भलीभांति धो डालना चाहिये। इसी तैल से अथवा यथोचित अन्य तेल से दूसरे दिन पुन. शिरोवस्ति[1] धारण करायें। इस प्रकार ५ या ७ दिन लगातार कराना पर्याप्त है।

विशेष—

यन्त्र को रबड, सेल्यूलाइड, प्लास्टिक आदि मे से सुविधाजनक किसी वस्तु का बना सकते हैं। तात्पर्य उसमे तेल धारण कराने से है।

इसके द्रव्यो को हम शिरो रोग मे निवेदन करेंगे।

नस्य

नाक द्वारा ग्रहण की गयी औषधि को नस्य या नावन कहते हैं। इस कर्म को नस्य कर्म कहते हैं। यह तीक्ष्ण (विष या उपविष न हो) द्रव्यो से सिद्ध स्नेह, कल्क क्वाथ या स्वरस मे दिया जाता है। जत्रु, अजक या हसली के ऊपर के रोगो यथा कफज ज्वर भेद, अरुचि, प्रतिश्याय शिर शूल, दुष्ट प्रतिश्याय, सूजन, मृगी और कुष्ठ मे प्रयुक्त होता है। इसके दो भेद होते हैं।

(१)—रेचन :—यह आठ वर्ष के बालक से लेकर अस्सी वर्ष के वृद्ध तक मे प्रयुक्त होता है। जिन्हें अभ्यास होता है, वे मृत्यु तक लेते हैं। दोषो का कर्षण करने के कारण इसे कर्षण नस्य भी कहते है। इसके दो भेद होते हैं, एक अवपीड नस्य जो तीक्ष्ण द्रव्यो के कल्क को पीडित कर निकाले गये रस से दिया जाता है। दूसरा प्रधमन नस्य जो छ अंगुल लम्बी दोनो ओर मुख वाली नलिका से २-४ माशा[2] तीक्ष्ण द्रव्यो का चूर्ण मुख की वायु से प्रधमित (फूंक) कर नाक मे दिया जाता है। इसमे हींग मिलाना हो तो एक रत्ती और सेंधा नमक मिलाना हो तो चार रत्ती मिलाना चाहिये।

(२)—स्नेहन .—इसे मधुर या सौम्य द्रव्यो से नस्य से डरने वालो, स्त्रियो, कृशो, (दुर्बलो) और बालको में प्रयोग करते है। यह घटे हुये दोष विशेषत कफ को बढाने के कारण बृहण नस्य भी कहा जाता है। स्नेह या मधुर द्रव्यो से दिया जाता है। शिरनासा, आख के रोग[3], सूर्यावर्त्त, अधकपारी, दन्त रोग, दौर्बल्य, मन्या-बाहु-

---

१ इसकी मुख्य, मध्य एव अन्त्य (हीन) मात्रा नाक के दोनों छिद्रों में मिला कर क्रमश ८ ६ और ४ बूद है। यह गले के रोग सन्निपात निद्राधिक्य, विषम ज्वर, मनोविकार एव नासागत किसी भी रोग में व्यवहृत होता है।

२ शार्ङ्गधर सहिता में इसकी मात्रा ८ माशा भी लिखी है, जो अत्यधिक है। यह नस्य अत्यन्त उत्कटदोष और बेहोशी में दिया जाता है

३ देखिये शिरो रोग।

कन्धे के रोग, मुख शोष (मुख का सूखना), कर्णनाद (कान मे शब्द की प्रतीति होना), वात पित्त के रोग व असमय मे बालो के पकने या गिरने मे प्रयुक्त होता है। वायु विकार मे वसा (चर्बी) एरण्ड तेल, नारायण तैल व माषादि तैल मे से किसी एक का व्यवहार किया जाता है, कफ विकार मे कफ नाशक द्रव्यो से सिद्ध तैल एवं पित्त रोग मे पित्त नाशक घी या मज्जा का प्रयोग होता है। इसके दो भेद होते हैं। —

एक मर्श नस्य जो सामान्यत रोगावस्था मे प्रयुक्त होता है। इसकी मुख्य, मध्यमा व हीन मात्रा नासा के प्रत्येक छिद्र मे ३२ शाण, १६ शाण एवं ४ शाण की[1] है। इसे दोष के बलाबल के अनुसार १, २, ३, ५ या ७ दिन अन्तर देकर प्रयुक्त करना चाहिये।

दूसरा प्रति मर्श नस्य है जो सामान्यत स्वस्थावस्था मे प्रयुक्त होता है। इसकी सामान्य मात्रा प्रत्येक नासा छिद्र मे दो दो बूंद[2] की है। इसके लेने का १४ समय इस प्रकार कहा है। प्रात, दतुअन करने के बाद, घर से निकलते समय, व्यायाम, मार्ग गमन, मैथुन, मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग, अंजन, कवल[3], भोजन, दिवाशयन, वमन के अन्त में तथा सायंकाल।

यद्यपि प्रतिमर्श नस्य का व्यवहार स्वस्थावस्था मे किया जाता है पर यह क्षीणता प्यास, शोष[4], जत्रु (अक्षक या हंसली) के ऊपर के रोग, मुह की झुर्रियो, बालो के पकने एवं बालक वृद्ध मे प्रयुक्त होना है। इस दृष्टिकोण से मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में इतना ही अन्तर देकर दिया जाता है और प्रतिमर्श नस्य दिन रात मे उचित होने पर कम से कम १४ बार दिया जा सकता है। इससे अधिक बार भी दिया जा सकता है।

नस्य का निषेध—

भोजन के अन्त[5] दुर्दिन, बदली, वर्षा और उपवास मे नस्य नही करना चाहिये। नया प्रतिश्याय (जुकाम), अजीर्ण, प्यास, क्रोध, शोक, गरविष[6] गर्मी से

---

१ तर्जनी अंगुली के दो पर्वों (गाठों) को स्नेह में डुबा कर निकालने पर जो एक बूद गिरता है उसी का नाम बूद है। ऐसे ८ बूद को एक शाण मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में होना है। मर्श की हीन मात्रा आजकल पर्याप्त मात्रा मानी जाती है।

बाजार में २४ पैसे का ड्रापर मिलता है जिससे एक एक बूद सरलता से निकलती है।

२ कुछ सुरकने से जब स्नेह मुख में चला जाय तो प्रतिमर्श नस्य की तृप्त करनेवाली मात्रा समझनी चाहिये। कोई नस्य मुख में चला जाने पर घोटना नहीं चाहिये थूक देना चाहिये।

३ देखिये मुख रोग।

४ देखिये यक्ष्मा रोग।

५ प्रतिमर्श नस्य को छोड़ कर।

६ अन्न इत्यादि में प्रयुक्त वह विष जो धीरे धीरे अपना प्रभाव उत्पन्न करता है गरविष कहा जाता है।

उक्त लोग नस्य के अयोग्य है। जो स्नेह जल-आसव पीये हो, स्नान कर चुके हो या स्नान करने की इच्छा रखते हो, मल मूत्रादि के वेग रोकते हों, वृद्ध या बालक हो, वस्ति ग्रहण किये हो, वे नस्य न ग्रहण करें।

नस्य का समय—

प्रतिमर्श नस्य के अतिरिक्त नस्यो के ग्रहण करने का सामान्य समय यह है—
कफ नष्ट करने के लिए—दिन के प्रथम प्रहर[1] (६ से १० बजे के बीच)
पित्त नष्ट करने के लिये—दिन के मध्य प्रहर (१० से २ बजे के बीच)
वात नष्ट करने के लिए—दिन के अन्तिम प्रहर (२ से ६ बजे के बीच)

यदि बीमारी उत्कट हो और तत्क्षण नस्य के बिना काम न चले तो किसी भी समय, यहा तक कि रात मे भी, नस्य दिया जा सकता है।

रेचन नस्य द्वारा उत्तम शुद्धि—

शरीर मे लघुता, मन की निर्मलता, मुख, नाक आदि स्रोतो की शुद्धि, शिरोरोगादि का नाश और इंद्रियो की प्रसन्नता ये नस्य द्वारा उत्पन्न उतम शुद्धि के लक्षण हैं। ऐसी अवस्था मे एक बार गोघृत का नस्य ले लेना चाहिये।

रेचन नस्य से हीन शुद्धि—

खुजली, नाक, मुंह आदि स्रोतो में भारीपन और कफ या मुंह, नाक से स्राव ये शिर की हीन शुद्धि के लक्षण हैं ऐसी अवस्था मे कफ नाशक चिकित्सा अर्थात् वमन और रेचन नस्य करना चाहिये।

रेचन नस्य से अति शुद्धि—

मस्तुलुंग (मस्तिक के भीतर का कफ) का आगमन, वायु की वृद्धि, इंद्रियो की विकलता और शिर की शून्यता मे शिर की अति शुद्धि के लक्षण हैं। ऐसी अवस्था मे वात नाशक या बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए।

यह चिकित्सा अन्यान्य उपायो के साथ ही स्नेहन नस्य द्वारा भी होनी चाहिये।

विशेष—

कुल मिला कर हीन शुद्धि मे दोषो के अति बढने के लक्षण मिलने से वहा शोधन एव और शुद्धि मे दोषों के अतिशय हीन होने के लक्षण मिलने से वहा बृंहण चिकित्सा करनी पड़ती है।

स्नेहन नस्य से अति स्निग्धता:—

स्नेहन नस्य द्वारा अति स्निग्धता हो जाने से नाक मुंह से कफ का स्राव, शिर का भारी पन, और इन्द्रियो की विकलता होती है। ऐसी अवस्था मे विशेषत. रूक्ष नस्य का प्रयोग होना चाहिये।

---

[1] यहा प्रहरों का निर्धारण दोषों के दृष्टिकोण से किया गया है अन्यथा प्रहर ३ घण्टे का होता है।

स्नेहन नस्य की विधि—

रोगी मुख और दांत की शुद्धि करने के बाद धूम्रपान के द्वारा मस्तिष्क और गले को स्निग्ध कर दे। अर्थात् कुछ सेक लें। तत्पश्चात् इसको प्रवात (ताजा हवा) और धूलि से रहित स्थान में उतान सुलाकर उसका सिर तकिया से पीछे की ओर लटका दें, हाथ-पैर फैला दें, आखों को ढंक देना चाहिये। फिर वैद्य अपने बायें हाथ से उसके नासाग्र को कुछ उठा सोना चादी आदि की सुतही से[1] अथवा रूई या मुलायम वस्त्र के स्वच्छ फाहे से कुछ उष्ण स्नेहन नस्य का द्रव्य विनाधार टूटे रोगी की नासिका मे डाले।

नस्य लेते समय रोगी सिर न कपाये। क्रोध, भाषण और हास्य न करे। नस्य को बाहर छिनके भी नहीं। क्योंकि यह सब करने से स्नेह भीतर प्रविष्ट न होगा और खासी, श्वास कष्ट, शिरोरोग और नेत्र रोग हो जायेंगे।

नस्य लेकर नाक के भीतर थूगाटक—नाक, आख और ललाट का मध्य प्रदेश या नाक पर जहा चश्मा अधिकतर टिकता है। मर्म पर पाच सात या दश मात्रा तक स्नेह धारण करें।[2] तत्पश्चात् बैठ कर मुख और नाक मे गये द्रव्य को अपने बाये दाहिने (सामने नही) थूक या छिनक दे।

नस्य कर्म मे त्याज्य—

नस्य क्रिया के बाद मानसिक सन्ताप, क्रोध और धूलि का सर्वथा त्याग करे। उतान १०० तक की गणना के समय तक सोयें। पर निद्राग्रस्त न हो। तत्पश्चात् यथा समय अनभिष्यन्दी[3] भोजन करें।

नस्य के द्रव्य—

सन्निपात ज्वर, मूर्च्छा, शिरोरोग और और नासा रोग मे विभिन्न प्रकार के नस्यो के द्रव्य लिखेंगे।

पंचकर्म का क्रम

शास्त्रीय विधान के अनुसार पंचकर्म में अत्यन्त अधिक काल लगता है। जो सामान्य परिस्थिति मे साध्य नहीं है। इस लिये निम्नलिखित क्रम के अनुसार कार्य करने से अपेक्षाकृत सरलता से काम हो जायगा। पंचकर्म के दृष्टिकोण से इससे पूर्व कहे हुए क्रम की अपेक्षा यह क्रम अधिक व्यावहारिक मानें।

---

१ एक पात्र जिससे ग्रामीण मातायें बच्चों को दूध पिलाती हैं बहुधा उसे पीठ की ओर रगड़ कर छेद कर आम इत्यादि का छिलका उतारती हैं।

२ एक मात्रा में लगभग ३ सेकेण्ड लगते हैं। इस प्रकार दश मात्रा भी कम है। न्यूनतम १० मिनट तो लगना ही चाहिये।

३ भारी और लसीला होने के कारण स्रोतों को ढकने वाले द्रव्य अभिष्यन्दी कहलाते हैं, जैसे दही। इस गुण से रहित पदार्थ अनभिष्यन्दी कहलाते हैं।

सर्व प्रथम तीन दिन लगातार स्नेहन, तत्पश्चात् लगातार ३ दिन स्वेदन करना चाहिये। स्वेदन की समाप्ति के दूसरे दिन ही वमन देना चाहिये। वमन के दूसरे दिन ही पूर्वान्ह मे स्नेहन तत्पश्चात् स्वेदन करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन पूर्वान्ह में स्नेहन तत्पश्चात् स्वेदन करते हुए वमन के दिन के बाद तीन दिन व्यतीत करें। इन तीन दिनो के बाद चौथे दिन पुन दूसरा वमन करायें। वमन के दूसरे दिन मे पूर्वोक्त क्रम से ही तीन दिन स्नेहन स्वेदन करें। फिर चौथे दिन तीसरा वमन कराये। अब वमन की आवश्यकता नही। इसके बाद ३ दिन साधारण लघु आहार विहार करे। फिर तीन दिन पूर्वोक्त क्रम से स्नेहन स्वेदन करें। चौथे दिन प्रथम विरेचन दें। इसके दूसरे दिन से तीन दिन तक स्नेहन स्वेदन करायें। फिर चोथे दिन तीसरा विरेचन दें। अब विरेचन की आवश्यकता नही।

इसके बाद ६ दिन तक साधारण लघु आहार विहार करें। फिर सातवें दिन प्रथम अनुवासन वस्ति दें। इस अनुवासन के दूसरे दिन मे लगातार तीन दिन तक निरूहण वस्ति दें। फिर चौथे दिन दूसरा अनुवासन दें तत्पश्चात् दूसरे दिन से लगातार तीन दिन निरूहण फर तीसरो अनुवासन वस्ति दें।

इस प्रकार वात व्याधि मे ९ या ११
पित्तज व्याधि मे ५ या ७
कफज व्याधि मे ४ अनुवासन वस्ति दें।

तत्पश्चात् दूसरे दिन से लगातार तीन दिन सूर्योदय के पूर्व तक नस्य दें।

उदाहरण के रूप मे आप क्रम को यों समझें

दिनाक १ २, ३	अक्टूबर	स्नेहन
,, ४, ५, ६	अक्टूबर	स्वेदन
,, ७	अक्टूबर	प्रथम वमन
,, ८-९-१०	अक्टूबर	स्नेहन व स्वेदन
,, ११	अक्टूबर	द्वितीय वमन
,, १२-१३-१४	अक्टूबर	स्नेहन व स्वेदन
,, १५	अक्टूबर	तृतीय वमन
,, १६-१७-१८	अक्टूबर	साधारण लघु आहार विहार
दिनाक १९-२०-२१	अक्टूबर	स्नेहन व स्वेदन
,, २२	अक्टूबर	प्रथम विरेचन
,, २३-२४-२५	,,	स्नेहन व स्वेदन
,, २६	अक्टूबर	द्वितीय विरेचन
,, २७-२८-२९	,,	स्नेहन व स्वेदन
,, ३०	,,	तृतीय विरेचन
,, ३१ अक्टूबर १-२-३-४-५	नवम्बर	साधारण लघु आहार विहार।
,, ६	नवम्बर	प्रथम अनुवासन

दिनाक ७-८-९	नवम्बर	प्रतिदिन निरूहण
,, १०	नवम्बर	द्वितीय अनुवासन
,, ११-१२-१३	नवम्बर	प्रति दिन निरूहण
,, १४	नवम्बर	तृतीय अनुवासन
,, १५-१६-१७	नवम्बर	प्रतिदिन सूर्योदय के पूर्व नस्य

यह सामान्यतर परिस्थिति का क्रम है जिस दोष मे ७-९-२० आदि अनुवासन या निरूहण देना हो तो उसमे इसी क्रम से दें। पर इनकी सख्या की समाप्ति होने पर ही नस्य देना चाहिये।

यह ध्यान रखिये कि काल या ऋतु के अनुसार दिनाक एव माम बदल सकता है। पर दिनो की संख्या का क्रम यही होगा।

पंचदश अध्याय

शोधनादिगण

आचार्य वाग्भट ने कुल ३३ वर्गों का इस अध्याय में वर्णन किया है।

- **वमन कारक–** मदन फल, मुलेठी, विडंग, कुटज, एला, पिप्पली आदि।
- **विरेचन कारक औषध–** दन्ती, निशोथ, त्रिफला, सेहूंड, दूध, मूत्र।
- **निरुहण औषध–** मैनफल, रास्ना, दशमूल, कुटज, कुलत्थ आदि।
- **नस्य औषध–** विडंग, त्रिकटु, दारूहल्दी, सहजन, एला, हिंगुपत्री आदि।
- **वात नाशक–** देवदारु, दशमूल, बलाद्वय, विदार्यादि गण, वीरतर्वादिगण।
- **पित्तनाशक–** दूब, सारिवा, न्योग्राधादि, पद्मकादि, सारिवादि गण।
- **कफनाशक–** आरग्वधादि, अर्कादि, पुष्कादि, असनादि, सुरसादि, मुस्तादि, वत्सकादि गण।

जीवनीय गण– काकोली क्षीरकाकोली, मेदा महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवक ऋषभक, जीवन्ती मुलेठी।

	गण	प्रमुख कर्म
(१)	जीवनीय गण	ओजवर्धक, रसायन
(२)	विदार्यादि गण	मद्य, वृंहण, कासश्वासशोषहर वातपित्तनाशक
(३)	सारिवादि गण	दाह, प्यास, ज्वर नाशक पित्त रक्त नाशक।
(४)	पद्मकादि गण (जीवनीय के द्रव्य भी हैं)	दुग्धवर्धक, प्रीणन जीवनीय, वृंहण, वृष्य, वातपित्तनाशक
(५)	परुषकादि गण	प्यास, मूत्ररोगनाशक, वातनाशक
(६)	अंजनादिगण (स्त्रोतोजन)	विषनाशक, अर्न्तदाहनाशक, पित्तघ्न है
(७)	पटोलादि गण	कुष्ठ ज्वर, कामला, विष, वमन नाशक कफपित्तनाशक।
(८)	गुडुच्यादि गण	ज्वर, वमन, दाह तृष्णा नाशक। अग्निवर्धक है।
(९)	आरग्वधादि गण	कुष्ठ प्रमेह ज्वर, विष, कंडु, छर्दि नाशक दुष्ट व्रण शोधन।

Scanned by CamScanner

(१०)	असनादि गण (मौलिक देन) (तीन तरह के चन्दन पडते हैं)	श्वित्र, कुष्ठ, कृमि, पाण्डु, प्रमेह, मेदोनाशक है।
(११)	वरुणादि गण	अग्निमांद्य, आढ्यवात, अर्शविद्रधि, शिरःशूल-नाशक, कफमेदनाशक है।
(१२)	द्रवकादि गण (ऊषक= ऊषरकिट्टी, शिला-जीत, हींग, कासीस, थोथा)	मूत्रकृच्छ, अश्मरी, गुल्म मेदकफनाशक है।
(१३)	वीरतर्वादि गण (वीरतरू-खस)	वातजरोग, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ
(१४)	रोध्रादि गण (रोध्र= लोध्र= तिल्वक)	योनि दोषहर, स्तंभक है।
(१५)	अर्कादि गण	व्रणशोधन
(१६)	सुरसादि गण	पीनस अरुचि कासश्वास, व्रणशोधन है।
(१७)	मुष्ककादि गण	शुक्रनाशक
(१८)	वत्सकादि गण	पीनस, ज्वर, अर्शनाशक
(१९)	वचादि गण, हरिद्रादि गण	आमातिसार नाशक, स्तन्यदोषनाशक
(२०)	प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि गण	पक्वातिसार नाशक, संधानक, व्रणरोपण
(२१)	मुस्तादि गण	योनिदोष, स्तन्यरोग नाशक मलपाचक
(२४)	न्यग्रोधादि गण	व्रण्य, संग्राही, संधानक, रक्तस्तंभक, योनिरोगनाशक
(२५)	एलादि गण	कंडू पिटिका कोठ नाशक, वर्ण्य है।
(२६)	श्यामादि गण	हृदपीडा नाशक, मूत्रकृच्छ नाशक।

बाकी ७ वर्गों का वर्णन पहले किया जा चुका है। (वमन, विरेचन आदि)

Scanned by CamScanner

षोडश अध्याय

स्नेहविधि

शोधनादि गण बताकर आचार्य ने शोधन कर्म विधि का वर्णन किया है। शोधन कर्म अर्थात् पंचकर्म जिसमें वमन, विरेचन, निरुह, नस्य, मोक्षण कर्म आते हैं। इस सभी कर्मों में दोषों को शरीर के समीपस्थ मार्ग से बाहर निकाला जाता है। इस प्रक्रिया हेतु यह आवश्यक है कि शरीर के दोष कोष्ठ में हों तभी उनका शरीर से निस्कासन संभव है। इसीलिए शोधन कर्म करने से पहले आचार्य ने स्नेहन व स्वेदन विधि का वर्णन किया है जिससे दोष शाखाश्रित या गूढ़स्थानाश्रित हो तो कोष्ठ मे आ जाएं। इस अध्याय मे स्नेहन विधि पर विचार किया गया है।

	स्नेहन का परिणाम	स्वेदन का परिणाम
(१)	दोषों को क्लिन्न कर ढीला बनाना	(१) क्लिन्न हुए दोष पिघलकर द्रवीभूत होकर स्त्रोतसो, शाखाओ आदि से निकलकर कोष्ठ मे (जिससे उनका निर्हरण आसान हो जाता है।)
(२)	कोष्ठशुद्धि करना, (जिससे पंचकर्म आसानी से हो सके)	
(३)	अग्नि दीप्त करना (जिससे पंचकर्म में प्रयुक्त औषध आसानी से पच सके।)	
(४)	इन्द्रियां दृढ़, बलवर्धक (जिससे पंच-कर्म के लिए शक्ति आ सके।)	(२) मार्दवता, अग्निदीप्ति, स्त्रोतसों मे निर्मलता, त्वकप्रसाद।

१. स्नेहन के योग्य रोगी– (१) स्वेदन/संशोधन कराने वाले।
(२) क्षीण धातु, कृश, वात पीडित,
(३) अभिस्यंद, तिमिर, दारुण प्रतिबोध– नेत्ररोग में।

२. स्नेहन के अयोग्य रोगी– (१) अतिमंदाग्नि, अतितीक्ष्णाग्नि, अतिस्थूल, अतिकृश
(२) अरुस्तंभ, आमरोगी, कफजरोग
(३) अतिसार, उदररोगी, मूर्च्छा, तृष्णा
(४) नस्य, बस्ति, विरेचन के बाद।

३. स्नेहन द्रव्य– गुण– गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु, द्रव।

अपवाद– • सर्षफ तैल, अजादुग्ध, लघु होने पर भी स्नेहन करते है।

Scanned by CamScanner

- विस्किर प्रतुद, मृग मांस लघु ,, ,,
- मछली, भैंस मांस उष्ण ,, ,,
- जौ गुरु शीत, सर होने पर रूक्षण करनी है। स्नेहन नहीं।

द्रव्य– घृत तैल वसा, मज्जा

स्नेहन द्रव्यों के गुण– घी मज्जा वसा तैल (GMVT)

P↑ ← V K↓

घी तैल वसा मज्जा → गुरु

Note– यमक– दो स्नेहो का योग, त्रिवृत– तीन स्नेहो का योग

महास्नेह–चारो स्नेह

स्नेह द्रव्यों के कर्म–

(१) घृत–
- सभी स्नेहों में सर्वश्रेष्ठ क्योंकि यह संस्कार का अनुवर्तन करता है (किसी भी द्रव मे मिलाने पर उस द्रव के गुणों को अपनाता है व साथ ही अपने गुणों को नहीं त्यागता है।)
- मधुर, अविदाही व जन्म से ही सात्म्य होता है।
- वुद्धि मेधा व स्मृति वर्धक है।

(२) तैल–
- कफ, मेद व वात रोगों में सर्वश्रेष्ठ है।
- कृमिरोग, नाडीव्रण मे लाभकारी
- क्रूरकोष्ठी में प्रयुज्य।
- लघुता व दृढ़ता लाता है।

(३) वसा–
- संधि, अस्थि, मर्म व कोष्ठगत रोगों मे लाभकारी
- दग्ध में, अभिघात, स्थानच्युतयोनि मे लाभकारी
- शिरोरोग, कर्णरोग मे लाभकारी

(४) वसामज्जा–
- वायु, आतप, ऊध्व (मुसाफिरी), व्यायाम से पीडित दें।
- क्षीणधातु, रुक्ष, क्लेश सहने वाले।
- अतितीक्ष्ण अग्नि, वातावृत स्त्रोतो मे लाभकारी।

स्नेहन विधि– स्नेह को अन्न के साथ मिलाकर, अभ्यंग, बस्ति, नस्य, अंजन, गण्डूष शिर, कान, नेत्र का तर्पण।

Scanned by CamScanner

इन विधियों से शरीर मे स्नेहन किया जा सकता है।

काल– घृत → वर्षान्ते
तैल → प्रावृट्
वसामज्जा → माधवे (वसन्त)

सामान्यत: साधारण ऋतु मे ही स्नेहन आदि सभी कर्म करने चाहिए।

मात्रा– त्रिविध मात्रा।

हीनमात्रा– २ याम में जीर्ण– वृहण हेतु प्रयोग– अन्न के साथ मिलाकर

मध्य मात्रा– ४ याम में जीर्ण– शमन हेतु प्रयोग– भूख लगने पर

उत्तम मात्रा– ८ याम मे जीर्ण– शोधन हेतु प्रयोग– अन्न के जीर्ण होने पर प्रयोग करें।

(१ याम= ३ घंटे)

अवधि– मृदुकोष्ठी → तीन दिन तक
मध्यम कोष्ठी → ४-५ दिन तक
क्रूरकोष्ठी → ७ दिन तक शुद्ध स्नेहपान करना चाहिए।

पश्चात कर्म– १. स्नेहन कर्म के सम्यक, हीन, अतियोग पर विचार करे।

- **सम्यक योग–** (१) वातानुलोमन (२) मल का स्निग्ध, ढीला होना। (३) अग्नि का बढ़ना (४) स्नेह से द्वेष होना
- **अतियोग–** (१) पाण्डुता (२) नाक, मुख, गुदा से स्राव होना।
- **हीनयोग–** सम्यक स्निग्ध के विपरीत लक्षण होते हैं।
- **मिथ्या योग–** मात्रा, काल, आदि के अनुचित [illegible]र ज्वर, कुष्ठ, संज्ञानाश, भ्रम, अर्श, शोफ आदि रोग हो जाते है। इनकी चिकित्सा में विरुक्षण कर्म करें– लंघन, तक्रारिष्ट, गौमूत्र, पिप्पली, जौ, त्रिफला, गुग्गुलु आदि।

(२) सम्यक योग जानकर स्नेह के बाद उष्ण जल पान करें। अपवाद– तुवरक तैल, भल्लातक तैल– अनुपान शीतल जल है।

(३) जितने दिन तक स्नेहपान किया हो उतने ही दिन आहार-विहार मे परहेज रखें। संसर्जन क्रम अपनाएं।

(४) स्नेहन के बाद स्वेदन कब– स्निग्ध, द्रव, उष्ण जांगलमांस खिलाकर स्वेदन करें।

(५) स्नेहन के बाद वमन विरेचन कब– तीसरे दिन।

अच्छपेय– शुद्ध रुप से केवल स्नेह का प्रयोग अच्छपान कहलाता है। यह अद्भुत शक्ति वाला होता है, मात्रा में अधिक होने से प्रभूत वीर्यशाली होता है। यह स्नेह की श्रेष्ठ कल्पना है। इसके प्रयोग से स्नेहन अतिशीघ्र हो जाता है।

Scanned by CamScanner

स्नेह की विचारणा– स्नेहन विधि मे स्नेह द्रव्यों को जिस रुप से प्रयोग किया जाता है विचारणा कहलाती है। आचार्य वाग्भट ने रसभेद से इनकी विचारणा (६३) व अच्छपेय (१) इस प्रकार कुल ६४ विचारणाएं आती हैं जबकि आचार्य चरक ने २४ विचारणाएं पाती है, जैसे- यूष, विलेपी आदि किसी भी रुप मे प्रयुक्त।

Note- (१) असात्म्य स्नेह ही मलों को प्रेरित करता है, सात्म्य स्नेह नहीं।

(२) स्थूल रोगी के स्नेहन कराने से पूर्व विलक्षण कर्म अवश्य करे। इससे स्नेह जन्य व्यापद विकार नहीं होते।

(३) बालक, वृद्ध आदि सुकुमार रोगी में सद्य स्नेहन द्रव्यों, के उद्वेग ना करने वाले माध्यमों से स्नेहन कराएं।

eq- पंचप्रसृत पेया- महास्नेह + चावल (१ प्रसृत= २ पल each)

(४) लवण, स्नेहन मे प्रयुक्त करने से सद्य स्नेहन होता है क्योंकि लवण- व्यवायी (सूक्ष्म स्त्रोतोगामी) होता है।

(५) कुष्ठ, शोफ, प्रमेह रोगी में त्रिफला, पिप्पली, हरड़, गुग्गुलु आदि से सिद्ध स्नेहों द्वारा ही स्नेहन करें।

(६) भोजन पूर्व स्नेहपान- शरीर के अधोभाग के रोगों को नाश करता है।

भोजन मध्य स्नेहपान- शरीर के मध्यभाग के रोगों को नाश करता है।

भोजन पश्चात स्नेहपान- शरीर के उर्ध्व भाग के रोगों को नाश करता है।

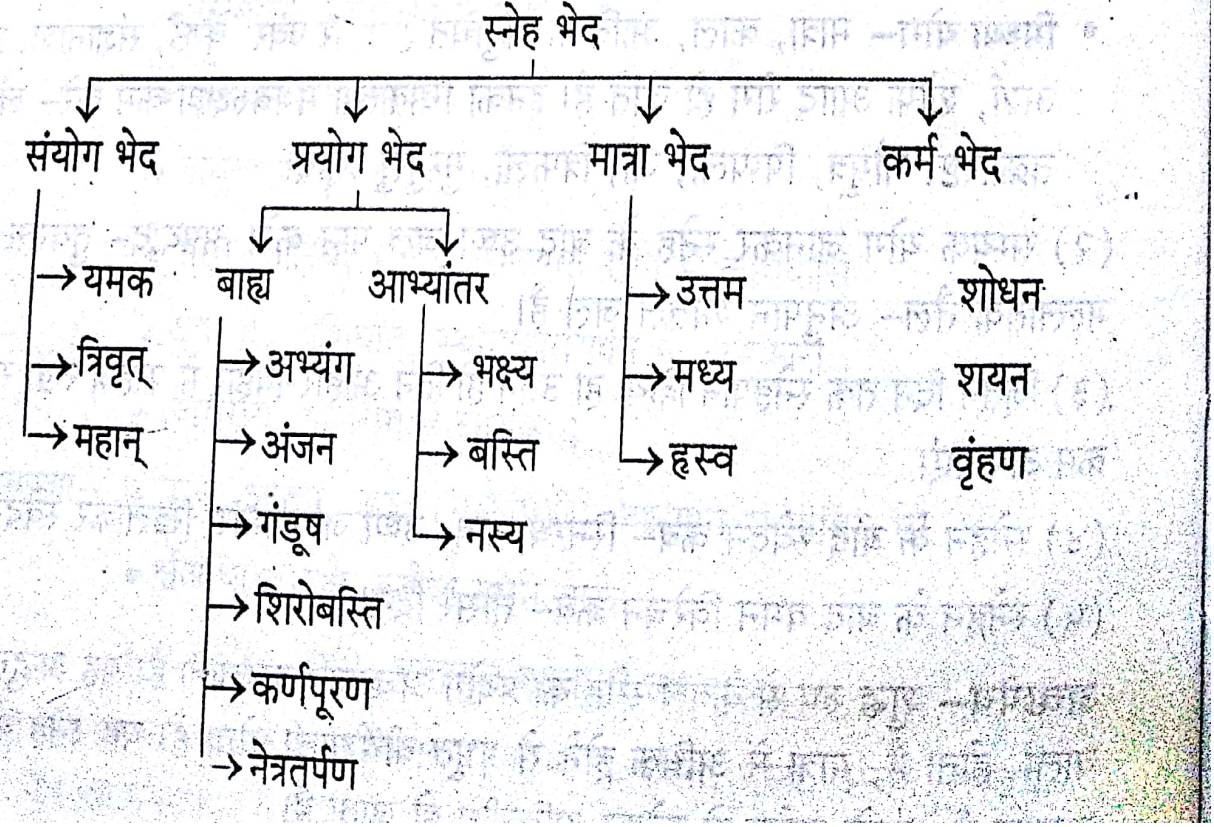

Scanned by CamScanner

सप्तदश अध्याय

स्वेदविधि

स्वेदन का परिचय स्नेहविधि अध्याय में दिया गया है।

स्वेदन के योग्य रोगी– (१) वातकफज रोग

(२) आम रोग

(३) मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, आढ्यवात, शुक्राघात आदि।

स्वेदन के अयोग्य रोगी– (१) पित्तरक्तज रोग

(२) स्तंभनीय रोग

(३) अतिस्थूल, अतिकृश, अतिरुक्ष रोगी

(४) दूध, स्नेह, मधु, दधि पान करके

(५) विरेचन के बाद

(६) गर्भवती, ऋतुमती, प्रसूता

स्वेदन के भेद– आचार्य वाग्भट ने स्वेदन के चार भेद बताए हैं।

- **तापस्वेद–** आग्नेय स्वेद है। गर्म वस्त्र, हथेली से स्वेदन करना।
- **उपनाहस्वेद–** निराग्नि स्वेद है। विना कर्म कर औषध/द्रवों का प्रयोग
- **उष्मस्वेद–** आग्नेय स्वेद है। गर्म पत्थर, गोबर, रेत आदि के।
- **द्रव स्वेद–** आग्नेय स्वेद है। द्रवों की वाष्प का प्रयोग करते हैं।

उपनाह स्वेद– उपनाह का अर्थ है बंधन। इसमें चर्म या पट्टी से बंधन किया जाता है। इसमें किसी भी प्रकार से अग्नि का प्रयोग नहीं होता है इसीलिए "निराग्नि स्वेद" कहलाता है।

प्रयुक्त औषध/द्रव– वच, किण्व, सौफ मूंग, जौ आदि धान्य, संपूर्ण गंध द्रव्य– कुष्णादि; एरण्डमूल मांस इनका प्रयोग होता है।

शुद्ध वातजन्य रोगों में– प्रचुर स्नेह, प्रचुर सैधव, अम्लद्रव, शुक्र दूध आदि को उपरोक्त द्रव्य में मिलाकर प्रयोग करें।

कफमिश्रित वातज रोगों में– सुरसादि गण + उपरोक्त द्रव्य

पित्तमिश्रित वातज रोगों में– पद्मकादि गण + उपरोक्त द्रव्यों का प्रयोग करें।

Scanned by CamScanner

- उपनाह स्वेद का प्रयोग बार-बार करना चाहिए।
- चर्म ना मिलने पर वातनाशक पत्तों (एरण्डपत्र) का प्रयोग करना चाहिए।
- रात्रि मे बांधे उपनाह को दिन में खोलें व दिन में बांधे उपनाह को रात्रि में खोलें।

द्रवस्वेद– सहजन, तुलसी आदि, वचादि गण, आनूपमांस, दशमूल, स्नेह, अम्लद्रव, दूध आदि से पकाकर उसकी वाष्प को नलिका द्वारा रुग्ण अंग पर अभ्यंग करके स्वेदन करें। द्रव स्वेद के दो भेद हैं–

परिषेक– बूंद-बूंद से द्रवों को गिराना।

अवगाहन– टब में बैठना जिससे सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन हो सके।

स्वेदन विधि–

- व्याधि, व्याधित, देश, ऋतु का विचार कर हीन, मध्यम या उत्तम स्वेदन करें।
- निवात स्थान में, अन्तः व बाह्य स्नेहन कर, अन्न के जीर्ण हो जाने पर स्वेदन करना चाहिए।
- शुद्ध कफज व्याधि में स्नेहन ना करें। रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन करें।
- वातकफज व्याधि मे भी स्नेहन ना करे। स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करें।
- वात आमाश्यगत हो तो पहले रूक्षस्वेदन फिर स्निग्ध स्वेदन करें।
- कफ पक्वाशयगत हो तो पहले स्निग्ध स्वेदन फिर रूक्ष स्वेदन करें।
- स्वल्प स्वेदन/स्वेदन ना करें– नेत्र, हृद्य, वृषण

पश्चात कर्म– (१) सम्यक योग, अतियोग, हीनयोग का विचार करें।

सम्यक योग– (१) शीत शूल का नाश
(२) मार्दवता

अतियोग– (१) प्यास, मूर्च्छा, स्वर भंग
(२) पित्तरक्त दुष्टि
(३) शरीर पर लाल काले चकत्ते पड़ना
(४) वमन, संधिपीड़ा

चिकित्सा– स्तंभन क्रिया।

(२) धीरे-धीरे मर्दन, स्नान करके स्नेहविधि के उपचार करें।

स्तंभन– • शरीर में धातु, मलों का रुकना स्तंभन कहलाता है।

Scanned by CamScanner

- स्वेदन अतियोग प्रकरण में इसका वर्णन आया है।
- स्तंभनीय द्रव्य– मंद, लघु शीत गुण वाले होते हैं।
- स्तंभनीय रोग– विष, क्षार, अग्नि, कफ, अतिसार, वमन, मोह से पीडित।
- तिक्त, कषाय, मधुर रस वाले द्रव्य।

स्तंभित के लक्षण– बल प्राप्ति।

अतिस्तंभन–
- त्वचा, होंठ का काला पड़ जाना
- स्नायु संकोच, कम्पन, हनुग्रह, वाणीग्रह।
- शरीर मे जड़ता होना ।

निराग्नि स्वेद/अग्नि रहित स्वेद– आचार्य ने १० प्रकार का बताया है। विशेषत: वायु के मेद व कफ से आवृत होने पर निराग्नि स्वेद का प्रयोग बताया है।

(१) निवात निवास
(२) आयस (परिश्रम करना)
(३) गुरु प्रावरण
(४) भय करना
(५) उपनाह स्वेद
(६) युद्ध करना
(७) क्रोध करना
(८) मद्यपान (अतिमात्रा में)
(९) भूखा रहना
(१०) धूप में रहना

इस तरह बिना किसी भी प्रकार की सिकाई किए या विधि अपनाए भी स्वेदन कर्म किया जा सकता है।

स्वेदन स्तंभन द्रव्यों के गुणों की तुलना–

स्तंभन	स्वेदन
शीत	उष्ण
मंद	सर
मृदु	तीक्ष्ण
लघु	गुरु
रुक्ष	स्निग्ध, रुक्ष
सूक्ष्म	सूक्ष्म
द्रव	द्रव
स्थिर	स्थिर
श्लक्ष्ण	–
तिक्त कषाय, मधुर रस	–

Scanned by CamScanner

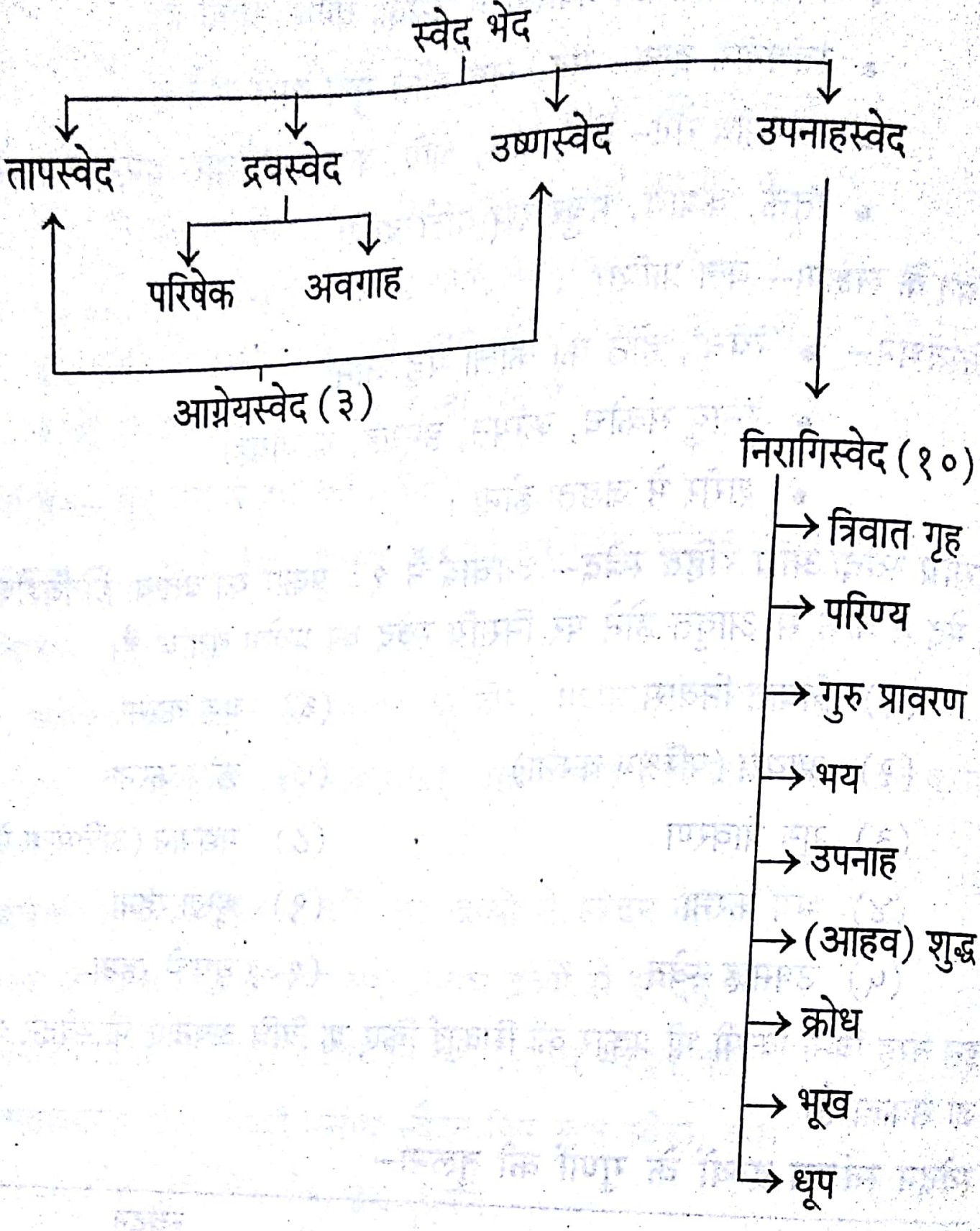

Scanned by CamScanner

अष्टादश अध्याय

वमनविरेचन विधि

इस अध्याय से आचार्य ने पंचकर्म विधि प्रारंभ की है। सबसे पहले वमन व विरेचन विधि बतायी है। **संशोधन से लाभ–** बुद्धि, बल, धातु बढती है, अग्नि बढ़ती है।

वमन–

- कफज रोगों की प्रधान शोधन चिकित्सा है।
- कफज का स्थान उर: प्रदेश है। कफ को इसके समीपस्थ मार्ग अर्थात् मुख से बाहर किया जाता है।

वमन साध्य रोग– (१) कफज विकार
(२) उर्ध्व जत्रुगत रोग, स्तन्यदोष
(३) कुष्ठ, प्रमेह, यक्ष्मा
(४) अधोगामी रक्तपित्त, अतिसार
(५) नवज्वर, उन्माद, पाण्डु,
(६) श्लीपद, ग्रंथि, अपची, विसर्प

वमन असाध्य रोग– (१) वातज रोग, आमज रोग, अजीर्ण में
(२) कृश, स्थूल, अतिअग्नि में
(३) हृदरोग, क्षतपीडित
(४) कृमिकोष्ठ, गुल्म, उदररोग, उदावर्त
(५) प्लीहारोग, तिमिर, मूत्राघात
(६) जीर्णज्वर, बस्ति के बाद

वमन विधि– पूर्वकर्म– (१) साधारण ऋतु में करें।
(२) स्नेहन स्वेदन करें।
(३) एक दिन पूर्व कफवर्धन आहार

जैसे– आनूपमांस, उड़द, तिल आदि खिलाएं जिससे कफ को उत्क्लित् किया जा सके।

प्रधानकर्म– (१) रात्रि के आहार को जीर्ण होने पर ही वमन कराएं।

Scanned by CamScanner

(२) प्रातः काल वमन कराना चाहिए क्योंकि प्रातः काल ही कफ के प्रकोप का समय होता है।

(३) औषध के साथ (मदनफल) मधु व सैधव मिलाकर प्रयोग करें।

यदि निर्बल, वृद्ध, डरपोक रोगी हो तो मद्य, दूध, गन्नारस, मांसरस को गले तक पिलाएं। यदि आवश्यक पड़े तो ही औषध दें।

पश्चात कर्म–(१) औषध पिलाकर एक मुहुर्त तक प्रतीक्षा करें।

(२) हल्लास व प्रसेक होने पर वमन कराएं।

(३) अप्रवृत्त वेग में– (१) अंगुलि, कमलनाल, एरण्डनाल के प्रयोग द्वारा वेगों को प्रवृत्त कराने का प्रयास करें।

(४) हीन वेग मे– पिप्पली, आंवला, सरसों व लवण के पानी को पिलाएं।

(५) सम्यगयोग, हीनयोग व अतियोग का विचार करें।

सम्यक योग– क्रमशः औषध कफ, पित्त, वात निकलता है। रोगी स्वस्थ अनुभव करता है। वेग स्वयं बन्द हो जाते हैं।

- वमन पित्त के अंत में आने पर सम्यक समझना चाहिए।
- दोष व रोगी अनुसार वेग व वामक द्रव्य का प्रमाण बताया है जिससे वमन विधि के सम्यक/असम्यक का ज्ञान आसानी से हो जाता है।

	वेगो की संख्या	**वामक द्रव्य प्रमाण**
जघन्यवेग	४	१/२ प्रस्थ
मध्य	६	१ ,, (१ प्रस्थ= १३½ पल)
प्रवर वेग	८	२ ,,

अतियोग– (१) वमन द्रव्य का झागदार व चन्द्रिका युक्त, रक्तमिश्रित होना।

(२) रोगी कृश, दुर्बल, भ्रमित हो जाता है।

(३) तपदर्शन, वातजरोग हो जाते हैं।

(४) ज्यादा वमन होने से रक्तस्राव के कारण मृत्यु की हो सकती है।

हीनयोग– (१) थूक की प्रवृत्ति

(२) कंडु, कोठ

(३) ज्वर

Scanned by CamScanner

(६) सम्यक योग जानकर रोगी को आश्वासन देकर स्निग्ध/मध्य/तीक्ष्ण कोई भी धूमपान कराएं जिससे बचा हुआ कफ की निकल जाए। आहार विहार सभी मे उष्ण जल का प्रयोग व पथ्य सेवन करें।

(७) पेयादि क्रम को अपनाएं/क्योंकि वमन के पश्चात मंदाग्नि हो जाती है, व वात वृद्धि भी हो सकती है इसीलिए रोगी को धीरे-धीरे सामान्य भोजन पर लाएं, एकदम नहीं। इसीलिए अचार्यों ने पेयादि क्रम/संसर्जन क्रम का विधान किया है। इसमे पेया विलेपी, यूष, मांसरस का प्रयोग क्रमशः करते हैं। रक्तशालि लाल चावल का प्रयोग बताया है।

(८) वमन के बाद यदि विरेचन कराना हो तो आचार्य वाग्भट ने पन्द्रह दिन बाद करने को कहा है। फिर से स्नेहन, स्वेदन कर कफ का काल बीतने पर व पित्त का काल आनेपर, कोष्ठ का विचार कर ही विरेचन कराएं।

(९) वमन औषध बिना पचे ही दोषों को बाहर कर देती है इसीलिए वमन के लिए ज्यादा प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

विरेचन–

- पित्तज रोगों की प्रधान शोधन चिकित्सा है।
- पित्त का स्थान पच्यमानाश्य/नाभि/आमाश्य कहा गया है। पित्त को समीपस्थ मार्ग गुद से निकाला जाता है।

विरेचन साध्य रोग– (१) पित्तज रोग, पक्वाश्यगत रोग
(२) योनि रोग, शुक्ररोग, कोष्ठगत, कृमिरोग
(३) जीर्णज्वर, गुल्म, कामला, अर्श
(४) कुष्ठ, प्रमेह, वमन, उदररोग
(५) मूत्राघात, उर्ध्वगामी रक्तपित्त, तिमिर अभिस्यंद, काच

विरेचन असाध्य रोग– (१) नवज्वर, यक्ष्मा
(२) अतिसार, क्षतगुद, निरुह के बाद
(३) क्रूर कोष्ठी, अल्पाग्नि,
(४) अधोगामी रक्तपित्त, अतिस्निग्ध

विरेचन विधि–

पूर्वकर्म– (१) वामिक को विरेचन कराने के लिए। विना वमन किए भी विरेचन कराने के लिए पहले स्नेहन स्वेदन करें। जिससे दोष शाखाओं से कोष्ठ की तरफ प्रवृत्त हो जाए।

Scanned by CamScanner

(२) कफ का समय वीतने पर ही विरेचन कराएं, अन्यथा कफ अपने काल के उपस्थित होने के कारण उत्क्लिष्ट होकर औषध द्रव्यों को ऊपर आमाश्य की तरफ खींच लेगा।

(३) हमेशा रोगी के कोष्ठ का विचार कर ही विरेचन कराएं।

मृदुकोष्ठी– पित्त प्रधान कोष्ठ– आसानी से ही विरेचन हो जाता है। इसीलिए सिर्फ दूध ही प्रयोग कर सकते हैं।

क्रूरकोष्ठी– वात प्रधान कोष्ठ– औषध द्रव्यों को ज्यादा मात्रा मे व बार-बार देना पड़ता है।

प्रधानकर्म– (१) पूर्व मे किए हुए आहार को जीर्ण होने पर ही विरेचन दें।

(२) मध्याह्न में विरेचन कराएं।

(३) औषध द्रव्यों में त्रिवृत, स्नेही, अमलतास, की गुद्दी आदि का प्रयोग करें।

(४) दुर्बल व बहुल दोष वाले रोगी–विरेचन ना कराकर भेदनीय द्रव्य प्रयोग करें।

(५) मन्दाग्नि व क्रूरकोष्ठी में– विरेचन द्रव्यों से पहले क्षार व लवण मिश्रित घृतों से दीपन करें। फिर वात कफ शांत होने पर ही विरेचन कराएं।

(६) तीक्ष्णाग्नि व क्रूरकोष्ठी मे– विरेचन औषध बिना विरेचन कराएं ही पच जाती है। अतः पहले निरुहबस्ति दें। फिर स्निग्ध विरेचन दें। या फलवर्तियों का प्रयोग करके स्निग्ध विरेचन दें।

(७) विष, अभिघात, कुष्ठ, शोफ, विसर्प, पाण्डु, कामला व प्रमेह– इन रोगों मे पहले रोगी को स्निग्ध करें तदोपरांत ही विरेचन दें।

(८) हमेशा स्निग्ध विरेचन देना चाहिए। सिर्फ स्निग्ध पुरुषों को छोड़कर। इनको रुक्ष विरेचन दें।

पश्चात कर्म–(१) कम प्रवृत्ति दे– सबल रोगी में दूसरे दिन फिर विरेचन कराएं।

– निर्बल रोगी, स्निग्ध कोष्ठी में १० दिन के पश्चात कराएं।

(२) अप्रवृत्ति में– १. उष्ण जलपान

२. हाथ को गरम कर उदर पर सेक।

(३) सम्यक योग, अतियोग पर विचार करें।

सम्यक योग–

(१) क्रमशः औषध, पित्त, कफ, वात निकलता है।

Scanned by CamScanner

(२) रोगी स्वस्थं अनुभव करता है।

(३) कफ के अन्त में आने पर ही विरेचन सम्यक समझना चाहिए।

(४) दोष व रोगी अनुसार विरेचन वेग व विरेचन द्रव्य का प्रमाण बताया है जिससे विरेचन कर्म के सम्यक असम्यक होने का ज्ञान किया जा सकता है।

	वेग संख्या	विरेचन द्रव्य प्रमाण
जघन्य	१०	१ प्रस्थ
मध्य	२०	२ प्रस्थ (१ प्रस्थ = १३½ पल)
प्रवर	३०	४ प्रस्थ

(५) विरेचन औषध शरीर मे पचकर भी कर्म करती है, इसीलिए विरेचन होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

अतियोग– (१) श्वेत, काला, रक्तपित्तिन द्रव निकालें।

(२) मांसधोवन समान, मेदखण्ड समान हो।

(३) गुदनि:सरण हो जाएं।

(४) नेत्र प्रवेश, भ्रम, प्यास होने लगे।

हीनयोग– (१) कंडु, जलन, अरुचि।

(२) हृदय व उदर की अशुद्धि

(३) कफ पित्त का उत्क्लेश, पीनस

(४) वात, मल का अवरोध होना।

(४) सम्यक योग जानकर रोगी को आश्वासन देकर उष्ण जल से स्नान कराएं। पथ्याहार विहार करें। सारी क्रियाएं वमन के समान कराएं सिवाय धूमपान के। पेयादि क्रम अपनाएं। मंदाग्नि होने के कारण पेया, विलेपी, यूष, मांसरस का क्रमश: प्रयोग कर धीरे-धीरे रोगी को सामान्य आहार दे।

(५) यदि रोगी को अग्निमांद्य, हो जाए पर जो सम्यक योग के लक्षण बताए गए है वह ना हो तो (दुर्बल, औषध जीर्ण के लक्षण दुष्ट ना हो तो) लंघन कराएं। तदोपरांत पेयादि क्रम अपनाएं।

(५) विरेचन के बाद यदि निरुह बस्ति लगानी हो तो कम से कम सात दिन का अन्तर जरुर रखें।

Scanned by CamScanner

पेयादि क्रम/संसर्जन क्रम– जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि तिनका आदि को जलाकर धीरे-धीरे महान, स्थिर व सबको जलाने वाली हो जाती है, उसी प्रकार पेयादि क्रम से वमनादि से शुद्ध मनुष्य की अग्नि धीरे-धीरे महान, स्थिर व सब कुछ पचाने वाली हो जाती है।

पश्चात कर्म के रुप में प्रयोग– संशोधन, रक्तमोक्षण, स्नेहपान, लंघन कर्म इन सभी कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को अग्निमांद्य हो जाता है। (संशोधन से वमन-विरेचन माना जाता है।) अत: इन विधियों में पश्चात कर्म के रुप में पेयादि का प्रयोग किया जाता है।

पश्चातकर्म के रुप में निषेध–

(१) वातपित्त प्रकृति, वात-पित्त रोग

(२) कफ व पित्त का संशोधन भली प्रकार ना हुआ अर्थात् वमन, विरेचन के हीन योग होने पर।

(३) मद्य पीने वाले रोगी में–

ऐसी अवस्थाओं में अग्निमांद्य नहीं होता। इसीलिए पेयादि कर्म का प्रयोग ना करके तर्पणादि क्रम करें। इसमें सत्तू का मंथ, फलों का रस, मांसरस का प्रयोग किया जाता है। eq. बस्ति, नस्य आदि।

पेयादि का क्रम– रोग, रोगी अनुसार तीन प्रकार की शुद्धियां अपनायी जाती है। प्रधान दोष में प्रधान शुद्धि, मध्यम दोषावस्था में मध्यम शुद्धि व हीन दोषावस्था में हीन शुद्धि की जाती है।

शुद्धि की तीव्रता के अनुसार ही पेयादि आहारों का काल निर्धारण होता है। भोजन काल दो माने जाते हैं– सुबह व शाम का भोजन काल।

पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, अकृतमांसरस, कृतमांसरस इन सभी आहारों का क्रमश: प्रयोग आहारकालों में शुद्धि अनुसार किया जाता है।

कृत= शुष्ठी, लवण, स्नेह आदि से संस्कारित करना
अकृत= नहीं करना।

	पेयादि का आहार काल (प्रत्येक का)	दिन लगे
प्रधान शुद्धि	३-३ Total– १२ अन्नकाल	७ दिन
मध्य शुद्धि	२-२ Total– ८ अन्नकाल	५ दिन
हीन शुद्धि	१-१ Total– ४ अन्नकाल	३ दिन

Scanned by CamScanner

उदाहरण– प्रधान शुद्धि मे पेया– ३ आहार काल तक
विलेपी– ३
अकृतयूष– १
कृतयूष– २
अकृतमांस– १
कृतमांस– २
} ७ दिन लगेगें।

१२ अन्न

–(अन्नकाल जिस दिन संशोधनादि विधि करायी है उस दिन के सायं के आहारकाल माना जाता है।)

मध्यशुद्धि– पेयां– २ ,,
विलेपी– २ ,,
अकृतयूष– १ ,,
कृतयूष– १ ,,
अकृतमांस– १ ,,
कृतमांस– १ ,,
} ५ दिन तक चलेगा

८ अन्नकाल

हीनशुद्धि– पेया– १ अन्नकाल
विलेपी– ,,
कृतयूष– १ ,,
कृतमांसरस ,,
} ३ दिन तक चलेगा

४ ,,

अर्थात् प्रधानशुद्धि वाले रोगी को आठवें दिन, मध्यम शुद्धि वाले को ७वे दिन व हीनशुद्धि वाले को ४थे दिन सामान्य भोजन दे सकते हैं।

Note– रोग जिनमें वमन नहीं करना विरेचन करना है।

१. उर्ध्वगत रक्तपित्त
२. प्लीहारोग

रोग जिनपे विरेचन निषेध पर वमन कर सकते हैं।

१. अधोगत रक्तपित्त
२. नवज्वर

Scanned by CamScanner

३. तिमिर
४. कृमिकोष्ठी
५. जीर्णज्वर
६. अर्श, उदररोग, गुल्म
७. मूत्राघात

३. अतिसार
४. यक्ष्मा

वमन विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि बोधक तालिका–

उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकासी — गुण प्रधान वामक एवं विरेचक द्रव्य

→ वीर्य द्वारा → हृदय → स्थूल एवं अणु स्रोतसों द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे प्रवेश

स्नेहन व स्वेदन किए हुए पुरुष मे → सर्वशरीरगत स्नेहन से मृदुता दोषों का, स्वेदन की उष्णता के कारण विलीनीकरण

वमन (ऊर्ध्व भाग से निर्हरण) — अग्नि वायु

विरेचन (अधोभाग से निर्हरण) — पृथ्वी जल

उदान वायु → आमाशय ← अग्नि वायु ← कोष्ठ मे गमनोन्मुख

Scanned by CamScanner

वमन-विरेचक द्रव्यों के गुण–

वामक द्रव्य	विरेचक द्रव्य
उष्ण	उष्ण
तीक्ष्ण	तीक्ष्ण
सूक्ष्म	सूक्ष्म
व्यवायी	व्यवायी
विकासी	विकासी
अग्नि व वायु महाभूत प्रधान	पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान
ऊर्ध्वभागहर	अधोभागहर

वमन व विरेचन के वेगों व प्रमाण की तालिका–

वेग	संख्या एवं मात्रा	उत्तम	मध्यम	हीन
वमन	संख्या	८ (पित्तांत)	६	४
	मात्रा	२ प्रस्थ	१ प्रस्थ	½ प्रस्थ
विरेचन	संख्या	३० (मफांत)	२०	१०
	मात्रा	४ प्रस्थ	२ प्रस्थ	१ प्रस्थ

Scanned by CamScanner

एकोनविंश अध्याय
बस्ति विधि

बस्ति वात की प्रमुख शोधन चिकित्सा है। क्योंकि सभी शाखागत, कोष्ठगत, मर्मगत, सर्वांगगत रोग वात से ही होते है, इसीलिए बस्ति को "चिकित्सार्द्ध" भी कहते हैं।

"बस्ति" का शाब्दिक अर्थ बस्त्र अर्थात् मूत्राश्य से है। प्राचीन काल में बकरी के मूत्राश्य का प्रयोग बस्ति द्रव्य को प्रवेश कराने मे एक थैले के रुप मे किया जाता था।

बस्ति के भेद– बस्ति तीन प्रकार की होती है– (१) अनुवासन बस्ति (स्नेह बस्ति) गुदमार्ग से दी जाती है। (२) आस्थापन बस्ति (निरुहबस्ति। शोधन बस्ति) गुदमार्ग से दी जाती है। (३) उत्तरबस्ति (योनि/मूत्रमार्ग से दी जाती है।)

बस्तियंत्र– बस्ति देने के लिए प्रयुक्त होने वाला यंत्र है इसके मुख्यत: दो भेद होते हैं– (१) बस्ति नेत्र (२) बस्तिपुटक

(१) बस्तिनेत्र– गुदा/मूत्र/योनि मार्ग में प्रविष्ट होता है। यह मूल भाग से बस्तिपुटक से बंधा रहता है। यह स्वर्णादि धातुओं का, लवडी या अस्थि का बना होता है। इसका आहार गोपुच्छाकार यानि मूल में मोटा व आगे को पतला होता हुआ होता है।

अनुवासन, आस्थापन दोनों बस्तियों के लिए नेत्र समान होता है, उत्तरबस्ति में (क्योंकि प्रयुक्त मार्ग बदल गया है।) इसका प्रमाण आदि परिवर्तित रहते हैं।

सभी बस्तियों के नेत्रों में दो कर्णिकाएं होती है। इनका कार्य हैं।– (१) बस्ति नेत्र गुदा में आवश्यकता से ज्यादा प्रवेश ना करे। (२) बस्तिनेत्र से बस्तिपुटक बांधना।

	आस्थापन, अनुवासन बस्ति नेत्र	उत्तरबस्ति नेत्र
१.	मूल मे अंगुष्ठ व आगे को कनिष्ठिका अंगुलि समान मोटाई होती है।	वर्णन नहीं है।
२.	लम्बाई– १ वर्ष से कम– ५ अंगुल २-६ वर्ष– ६ ,, ७ वर्ष– ७ ,, १२ वर्ष– ८ ,, १६ वर्ष– ९ ,, २० वर्ष– १२ ,, २० वर्ष से आगे १२ ,,	♂ लम्बाई १२ अंगुल होती है। वयानुसार वर्णन नही है। ♀ लम्बाई– १० अंगुल होती है।

Scanned by CamScanner

३.	छिद्रप्रमाण– **मूलछिद्र**– १ अंगुष्ठ १/४ अंगुल बढाते हुए एक वयस्क प्रमाण है– ३ अंगुल **आगे का छिद्र**– १-६ वर्ष– मूंग जाने योग्य ७-११ वर्ष– उड़द ,, १२-१६ वर्ष– सूखी मटर ,, १६-२० वर्ष– गीली मटर ,, २१ वर्ष आगे तक– बेर की गुठली जाने योग्य।	१ छिद्र प्रमाण = आगे का छिद्र– ♂ सिद्धार्थ (सरसों) जाने योग्य। ♀ मूंग जाने योग्य
४.	आकृति– वर्णन नही है।	कुन्द, अश्वमार, सुमनपुष्प के वृन्त के समान होता है।

(२) बस्तिपुटक– बकरी, भेड़, भैंस की वस्ति का प्रयोग करते हैं। इसका वर्ण लाल होता है, यह छिद्ररहित, गांठरहित, गंधरहित, शिरारहित व पतली होंती है। बस्ति के अभाव में अंकपाद (चमगादड़ चर्म/पादचर्म) का प्रयोग करने को कहा गया है।

उत्तर बस्ति के लिए पुटक कोमल व छोटा होता है।

बस्ति प्रयोग– आस्थापन व अनुवासन का तुलनात्मक ज्ञान करके फिर उत्तरबस्ति के बारे में जानेगें।

	अनुवासन बस्ति	**आस्थापन बस्ति**
(१)	गुदमार्ग से दी जाती है व गुदमार्ग से ही दोषों को बाहर निकालती है।	Same
(२)	स्नेहप्रधान होती है।	क्वाथ प्रधान होती है। रूक्षता बढ़ाती है।
(३)	सौम्य व बलकारी होती है। स्रोतोशोधन करती है।	तीक्ष्ण होती है व दोषों का शोधन करती है।
(४)	योग्यरोगी– गुल्म, प्लीहा, निरामातिसार, जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, शुक्रगह, वातग्रह रजोनाश, अश्मरी व दारुण वातरोग विशेषकर– अतिअग्नि, रूक्ष रोगी शुद्ध वातजरोगो में।	Same नहीं देते है।

Scanned by CamScanner

(५)	**अयोग्यरोगी**– अतिस्निग्ध, अतिकृश आमातिसार, श्वासकास हल्लास, हिक्का, अर्श, मन्दाग्नि, कुष्ठ, प्रमेह, बृद्धोदर, छिद्रोकर, दकोदर, सातमाह तक की गर्भवती विशेषकर– पाण्डु, कामला, कृमि, कफजरोग– अभिस्यंद, कफोदर, अपची, गलगण्ड, श्लीपद	Same दे सकते हैं।
(६)	**प्रयोग काल**– अनुवासन बस्ति भोजन के तुरंत बाद दी जाती है।	आस्थापन बस्ति खाली पेट दी जाती है।
(७)	**मात्रा**– निरुहबस्ति मात्रा के पादांश या चतुर्थ मात्रा अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त होती है। इसकी मात्रा कर्ष प्रमाण मे होती है।	प्रथम वर्ष– १ प्रकुंच (पल) (प्रत्येक वर्ष १ पल बढाएं) १२ वर्ष– १२ प्रकुंच (६ प्रसृत) (प्रत्येक वर्ष १ प्रसृत= २ प्रकुंच बढ़ाए) १८ वर्ष– २४ प्रकुंच (१२ प्रसृत) ७० वर्ष– २४ प्रकुंच ७० वर्ष से आगे– २० प्रकुंच (१० प्रसृत)
	एक वयस्क की मात्रा २४ कर्ष है।	वयस्क की मात्रा २४ पल है।
(८)	दोषानुसार संख्या– कफज रोगो मे– १ या ३ पित्तज रोगों में– ५ या ७ वातज रोगों में– ९ या ११ (हमेशा विषम संख्या में प्रयुक्त होती है।)	कफज रोगों में– ३ पित्तज रोगों में– २ वातज रोगों में– १

बस्ति प्रयोग विधि– (अनुवासन व आस्थापन बस्ति)

पूर्वकर्म– बस्ति योग्य जानकर रोगी को स्नेहन स्वेदन कराएं। फिर वमन विरेचन कराकर बस्ति कर्म करें।

Scanned by CamScanner

- निरुहबस्ति देने से पहले सदैव अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।
- बस्ति सदैव मध्याह्न मे ही देनी चाहिए।
- जिस दिन बस्ति लगानी हो उस दिन रोगी का अभ्यंग व स्नान करके सामान्य भोजन मात्रा का चतुर्थांश मात्रा कम करके भोजन कराएं। (निरुह बस्ति खाली पेट दें)

प्रधान कर्म– मल-मूत्रत्यागकर आरामदायिनी शैय्या पर वामपार्श्व से लेटकर दक्षिण टांग मोड़कर, व वाम टांग को सीधा कर लेटाएं।

- गुदा व यंत्र (नेत्र) दोनों स्निग्ध करें।
- बस्तिपुटक को निवात करके रोगी की पृष्ठवंश की दिशा में नेत्र (बस्तिनेत्र) प्रविष्ट करें।
- बस्तिपुटक को एक समान वेग से, (ना ज्यादा तेजी से, ना धीरे-धीरे बिना हिलाए डुलाए) दबाएं।
- बस्तिपुटक द्रव को सारा प्रविष्ट ना कराएं अन्यथा वायु प्रवेश होने का भय रहता है।

पश्चात कर्म– १. स्नेह तुरंत ना आने के लिए उपाय करें।

(१) रोगी को सीधा करें। स्फिक को हाथों से ताड़न करें। रोगी की एड़ियों से स्फिक को थपथपाएं।

(२) पैर की तरफ से शैया का तीन-बार उठा कर नीचे करें।

(३) ऐडियों के नीचे तकिया लगाएं। इन सभी कर्मों से स्नेह शीघ्र वापिस नहीं आता। अगर आ जाए तो पुनः बस्ति लगाएं।

२. स्नेह लौटने का समय– अनुवासन बस्ति– तीन (याम अहोरात्र तक इंतजार करना चाहिए)

अगर तब भी ना आए तो फलवर्ति या तीक्ष्ण बस्ति लगाकर स्नेह वापिस लाएं।

आस्थापन बस्ति– १ मुहुर्त (२ घटिका)

(ज्यादा इंतजार ना करें) ज्यादा समय लगना मृत्युकारक हो सकता है।

इस अवस्था में– तुरंत स्नेह, क्षार, मूत्र, अम्ल से बनी बस्ति, स्निग्ध, तीक्ष्ण व उष्ण बस्ति, फलवर्ति प्रयोग, स्वेदन, त्रासन (भय दिखना) कर्म करें।

(३) सम्यकयोग, हीनयोग, अतियोग पर विचार करें।

अनुवासन बस्ति– सम्यक, हीन व अतियोग के लक्षण 'स्नेहपीतवत्' होते हैं। (स्नेहपान के समान)

Scanned by CamScanner

आस्थापन बस्ति- सम्यक, हीन व अतियोग के लक्षण 'विरिक्तवत्' होते हैं। (विरेचन के समान)

(४) आहार-बिहार- बस्तिकर्म के पश्चात अग्निमांद्य नहीं होता क्योंकि बस्ति नाभि से ऊपर नहीं पहुँच पाती है। इसीलिए पेयादि क्रम का प्रयोग अनावश्यक है।

१. आस्थापित को भोजन- उष्णोदक स्नान करके जांगल मांसरस को तनु करके ओदन (चावल) के साथ लें।

२. अनुवासित को भोजन- कफदोष में- यूष
पित्तदोष में- दूध
वातदोष मे- मांसरस दें।

कुछ अन्य नियम-

(१) दूसरी अनुवासन बस्ति हमेशा रोगी को पहली बस्ति के तीसरे या पांचवे दिन देनी चाहिए।

(२) नित्य अनुवासन का प्रयोग- वातोल्वण में, नित्यत्यायाम करने वाला, दीप्ताग्नि, रुक्षावस्था में ("प्रतिवासरम्")

(३) निरुहबस्ति कल्प- वातनाशक द्रव्य- २० पल
मैनफल- १ पल
१६ गुने जल मे पाक

स्नेह की मात्रा- वातदोष मे- १/४ (क्वाथ मात्रा का)
पित्तदोष/स्वस्थावस्था मे १/६ (क्वाथ मात्रा का)
कफदोष मे- १/८ ,, ,,

स्नेह, मधु	सैधा	कल्क मात्रा	शेष द्रव्य
३ पल प्रत्येक	१/२ तोला (१/८ पल)	२ पल	१० पल

निरुहबस्ति द्रव्य- ना बहुत नमक युक्त,
ना बहुत अम्लीय (pH is acidic mild)

(४) निरुह बस्ति संख्या- संसर्ग दोष- २
सन्निपातज मे- ३

(**पहली बस्ति**-उत्क्लेशन, **दूसरी**-शोधन, **तीसरी**-दोषों का शमन करते है।)

(५) अनुवासन के बाद निरुह ३-५ दिन बाद भी लगायी जा सकती है जबकि निरुह के बाद अनुवासन तुरंत लगानी चाहिए। (वात प्रकोप का भय)

(६) अकेली स्नेहबस्ति या अकेली निरुहबस्ति का प्रयोग नहीं करें क्योंकि- अकेली स्नेह

Scanned by CamScanner

बस्ति दोषों का उत्क्लेश करती है व अग्निमांद्य करती है। जबकि निरुहबस्ति का एकल प्रयोग वात प्रकोप होता है। (रुक्षता अधिक होने के कारण)
इसीलिए जिसे निरुह दी गयी हो उसे अनुवासन अवश्य लगाएं और जिसे अनुवासन दी गयी हो उसे निरुह भी जरुर लगाएं।

(७) कर्मादि बस्तियां– रोगी-रोग अनुसार कितनी बस्तियां देनी है, उसमें कितनी स्नेह बस्ति होनी चाहिए, कितनी निरुह, इन सभी की जानकारी देने के लिए आचार्य ने कर्म बस्ति, कालबस्ति व योगबस्ति, यह तीन विभाग बनाए हैं। इनमें प्रारंभ व अंत स्नेह बस्ति से करने को बताया है।

१. कर्म बस्ति– इसमें कुल ३० बस्तियां दी जाती है। पहली बस्ति स्नेह + १२ निरुह + १२ स्नेह + ५ स्नेह बस्ति

२. काल बस्ति– इसमें कुल १५ बस्तियां दी जाती हैं। पहली स्नेह + ५ निरुह + ६ स्नेह + ३ स्नेह बस्ति

(आचार्य चरक व अन्य आचार्यों ने कालबस्तियां १६ मानी हैं। जिससे निरुह बस्तियों की संख्या भी ६ हो जाती है।)

३. योगबस्ति– इसमें कुल ८ बस्तियां दी जाती हैं। पहली स्नेह बस्ति + ३ निरूह बस्ति + ३ स्नेह बस्ति + १ स्नेह बस्ति

इस प्रकार यह देखा जाता है बस्ति कर्म में दोनों ही प्रकार की बस्तियों का प्रयोग होता है स्नेहनकर्म व शोधन कर्म जिससे शरीर में स्नेहन व शोधन कर्म एक के बाद एक चलता रहता है। इसीलिए बस्ति त्रिदोषनाशक चिकित्सा कहलाती है।

(शोधन कर्म क्योंकि इसमें द्विविध उपक्रम– अपतर्पण (शोधन से) व सन्तर्पण (स्नेहन से) अपनाए जाते हैं। अपतर्पण व सन्तर्पण दोनों कर्म एक साथ होने से समस्त चिकित्सा उपक्रम का समायोजन मिलता है। इसीलिए बस्ति समस्त दोषों का नाश करने वाली है।)

मात्राबस्ति– यह एक प्रकार की स्नेह बस्ति है। इसमें किसी भी प्रकार के परहेज की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इसमें प्रयुक्त होने वाले स्नेह की मात्रा स्नेहपान की ह्रस्वमात्रा (२ याम मे जीर्ण होने वाली मात्रा है) के बराबर है जो कि स्नेह ग्रहण की सबसे छोटी मात्रा है। इसीलिए इसका प्रयोग नित्य करने से भी कोई नुकसान नहीं होता है।

यह बस्ति कम बल वाले रोगी में भी लगायी जा सकती है– बालक, वृद्ध, वातप्रकृति, भग्न, मन्दाग्नि व व्यायाम करने वाले।

यह त्रिदोषनाशक होती है। बलकारी है व मल को निकालने वाली है। यह सुखकारक होती है।

उत्तरबस्ति–

- यह मूत्रमार्ग या योनिमार्ग से दी जाने वाली बस्ति है।
- इसका प्रयोग मूत्राश्यगत रोग व योनिगतरोग व गर्भाश्यगत रोगों में किया जाता है।

Scanned by CamScanner

बस्तियंत्र– इसका वर्णन पूर्व मे आस्थापन, स्नेह बस्ति यंत्र के साथ किया जा चुका है।

प्रयोग विधि–

पूर्वकर्म– उत्तरबस्ति प्रयोग से पहले सदैव मार्ग का शोधन (मूत्राश्य मार्ग।योनिमार्ग) करना चाहिए। इसके लिए २-३ आस्थापन बस्ति लगानी चाहिए।

प्रधानकर्म– (पुरुषों में) स्नेह बस्ति के समान भोजन कराकर, स्नानादि कराकर रोगी को घुटनों के बराबर ऊंचे आसन पर आराम से विठाएं। फिर मेहन को सीधा कर सूक्ष्म पतली शलाका को स्त्रोतो शुद्धि हेतु शिश्न मे प्रविष्ट करें। फिर शलाका निकाल लें, सेवनी के साथ मेहन के अन्त तक बस्ति नेत्र को पहुंचाएं। फिर ना बहुत धीरे- ना जल्दी समानवेग से बस्ति द्रव प्रविष्ट कराएं।

(स्त्रियों में) रोगी को उत्तान लिटाकर, रोगों को संकुचित कराएं, घुटनों को ऊपर उठाएं फिर बस्ति लगाएं। एक-दिन मे ३-४ बस्ति दें। हर बार स्नेह की मात्रा बढाते जाएं। तीन दिन तक ऐसा ही करे। फिर तीन दिन का अवकाश दें। फिर तीन दिन तक लगातार ३-४ बस्ति रोज पूर्व की तरह दें।

मात्रा– ♂ द्रव की मात्रा शुक्ति है। (२ कर्ष)

♀ — स्त्री– १ प्रकुंच (१ पल)

बाला– १ शुक्ति (२ कर्ष ½ पल)

उत्तरबस्ति नेत्र को कितना प्रविष्ट करें–

स्त्रियों में — योनिमार्ग में– ४ अंगुल प्रविष्ट करें।

मूत्रमार्ग में– २ अंगुल प्रविष्ट करें।

बालाओं में– मूत्रमार्ग में– १ अंगुल प्रविष्ट करें।

बस्ति प्रयोग काल– साधारणत: उत्तरबस्ति को ऋतुकाल (गर्भधारण काल) मे लगाना चाहिए। क्योंकि ऋतुकाल में योनि का मुख खुला रहता है इसीलिए बस्तिद्रव आसानी से गर्भाशय मे पहुँचकर अपना कर्म कर सकता है।

आत्यायिक अवस्थाओं में, योनिभ्रंश में, शूल में, योनिरोगों में या रक्तप्रदर में ऋतुकाल के बिना भी उत्तरबस्ति को लगा सकते हैं।

बस्ति के भेद

- सामान्य भेद
  - अनुवासन
  - आस्थापन
  - उत्तरबस्ति
- संख्या भेद
  - कर्म बस्ति (३०)
  - काल बस्ति (१५)
  - योग्यबस्ति (८)
- विधि भेद
  - उत्क्लेशन
  - शोधन
  - शमन
- अधिष्ठान भेद
  - पक्वाशय
  - गर्भाशय (उत्तरबस्ति)
  - मूत्राशय (उत्तरबस्ति)

Scanned by CamScanner

अनुवासन एवं निरुह बस्ति में अन्तर–

अनुवासन बस्ति	निरुह बस्ति
(१) स्नेह प्रधान होती है।	• क्वाथ प्रधान होती है।
(२) अल्पस्नेह युक्त भोजन करके प्रयोग करनी चाहिए	• विना भोजन किए प्रयोग करनी चाहिए।
(३) प्रधान कर्म बृंहण है।	• प्रधान कर्म शोध, उत्क्लेशन है।
(४) स्नेह के शरीर मे रुकने का समय ३ याम है।	• बस्ति को शरीर मे ज्यादा से ज्यादा समय १ मुहुर्त है।
(५) शुद्ध वातज रोगों में प्रयोग करते है।	• शुद्ध वातज रोगों मे प्रयोग करने से रुक्षता बढकर अग्निमांद्य व उक्लेशन हो जाता है। इसीलिए सदैव अनुवासन के बाद प्रयोग करते है।
(६) उत्तममात्रा ६ पल है।	• उत्तम मात्रा २४ पल है।

आस्थापन बस्ति मात्रा–

आयु	मात्रा
१ वर्ष	१ प्रकुंच (पल)
↓	↓ हर वर्ष वृद्धि पर १ प्रकुंच मात्रा बढाएं।
१२ वर्ष	१२ प्रकुंच
१३ वर्ष	१४ प्रकुंच
१४	१६
१५	१८
१६	२०
१७	२२ ↓
१८ वर्ष	२४ प्रकुंच
१८-७० वर्ष	२४ प्रकुंच
७० से अधिक वर्ष	२० प्रकुंच

Scanned by CamScanner

विंशोअध्याय

नस्य विधि

नस्य को शिरोविरेचन भी कहते हैं। उर्ध्व जत्रुगत रोगों में नस्य का प्रयोग किया जाता है। आचार्य कहते हैं कि नासा शिर का द्वार है, नासामार्ग से दी गयी औषध शिर मे फैलकर वहाँ के रोगों को नष्ट करती है। निकले हुए स्राव को मुख से ष्ठीवन (थूकना) करके निकाल देते है।

नस्य के प्रकार– (१) कर्मानुसार– विरेचन, वृंहण, शमन
(२) मात्रानुसार– मर्श, प्रतिमर्श
(३) स्वरुपानुसार– अवपीड़, प्रधमन नस्य

(१) कर्मानुसार नस्य के भेद–

	विरेचन नस्य	बृंहण नस्य	शमननस्य
रोग	शिरशूल, अभिस्यंद, कफजविकार, अपस्मार, पीनस	वातजशूल, स्वरक्षय कृच्छअववोध, अवबाहुक, नासाशोष	केशरोग, नीलिका व्यंग, अक्षिराज पित्तज विकार
द्रव	मरिचसोंठ, कल्क, क्वाथ, सेधा मधु, आसव	जांगलमांस, रक्त, गोंद अतीक्ष्णस्नेह (घी)	जांगलमांस, रक्त गोंद, अतीक्षास्नेह दूध, जल से

(२) मात्रानुसार नस्य के भेद–

मर्श नस्य	प्रतिमर्शनस्य
तर्जनी अंगुली के दो पर्व डुबोकर निकालकर जितना द्रव टपकता है बिन्दु कहलाता है। (मर्शनस्य– अंगुली से नासा मे औषध टपकाना)	२ विन्दु है। Same
उत्कृष्ट मात्रा– १० बिन्दु मध्य मात्रा– ८ बिन्दु हीन मात्रा– ६ बिन्दु	२ बिन्दु
इसका प्रयोग रोगानुसार किया जाता है।	इसका प्रयोग प्रतिदिन व हर उम्र में कर सकते है। क्योंकि इसकी कम मात्रा शरीर मे उत्क्लेश उत्पन्न नही करती है।

Scanned by CamScanner

(३) स्वरूपानुसार नस्य के मेद–

अवपीडनस्य	प्रधमन नस्य
कल्क स्वरस आदि से दिए जाने वाला नस्य है।	चूर्ण को मुख से फुत्कार कर (६ अंगुल लम्बी नली से) नस्य दिया जाता है।
तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त होने से शिरोविरेचक होता है।	यह भी विरेचन कर्म करता है।
सामान्यत: शामक होता है।	यह दोष को अधिक खींचकर निकालता है।
मात्रा– उत्तम– ८ बिन्दु मध्य– ६ बिन्दु हीन– ४ बिन्दु	

नस्य का लाभ– नस्य का नित्य प्रयोग करने से–

(१) धनोन्नत त्वचा

(२) दृढेन्द्रिय

(३) अपलित (बाल सफेद ना होना)

(४) धनोन्नत कंधा, छाती, ग्रीवा

नस्य के योग्य रोग– सभी उर्ध्व जत्रुरोग– शिरोरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, गलरोग, नासारोग, मन्यास्तंभ, अवबाहुक, स्वर भ्रंश, अपस्मार, उन्माद, सन्यास, अतिनिद्रा, अपतानक आदि रोग।

नस्य के अयोग्य रोग– जल, मद्य, स्नेह पान के बाद भोजन व स्नान करके श्वास, कास, नवपीनस में वमन विरेचन, बस्ति, रक्तस्राव के बाद, सूतिका को।

नस्य योग्य काल–

(१) **दोषानुसार–** कफज रोगों मे– प्रात:
पित्तज रोगों में– मध्याह्न
वातज रोगों में– सांय, रात्रि
स्वस्थावस्था– पूर्वाह्न में।

(२) **ऋतु अनुसार–** स्वस्थावस्था– शरद व बसन्त ऋतु में।

Scanned by CamScanner

(३) प्राय: सभी अवस्थाओं में एक दिन छोड़कर नस्य देना चाहिए। ऐसा सात दिन तक करें। मगर कुछ रोगों में प्रतिदिन दो बार नस्य देने का भी विधान है जिसमें– अपतानक, मन्यास्तंभ, वातजशिरोरोग, स्वभ्रंश हैं।

नस्य विधि–

(१) पूर्वकर्म– उत्तमांग का स्नेहन, स्वेदन करके नस्य देना चाहिए।

(२) प्रधानकर्म– उत्तान विठाकर, नस्य दें। उष्णाम्बु तप्त या वाष्प से औषध को गरम करके नलिका या पिचु से एक-एक नासापुट में नस्य दें। एक को बन्द करके दूसरे मे नस्य दें। २-३ बार करें।

(३) पश्चात कर्म–

→ पाद, तल, स्कन्ध, हाथ, कर्ण का मर्दन करें।

→ श्वास को खींचते हुए दोनो पार्श्व में मुख मे आए हुए स्राव का निष्ठीवन करें। इस प्रकार सम्पूर्ण औषध निकलने तक करें।

→ निष्ठीवन करने से पहले १०० तक गिनती करें।

→ निष्ठीवन के उपरांत धूमपान करके गुनगुने जल का कवल धारण करें।

→ नस्य देने पर सामान्यत: रोगी को मूर्च्छा आ सकती है इसके लिए शिर को छोड़कर सभी जगह शीतल जल से परिषेक करें।

→ विरेचन नस्य के बाद स्नेह नस्य का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने से विरेचन नस्य की तीक्ष्णता कम हो जाती है।

प्रतिमर्शनस्य–

योग्य रोग– उरक्षत, बालक, वृद्ध, निर्बल, अकाल (दुर्दिन) में भी प्रतिमर्शनस्य प्रयोग कर सकते हैं।

अयोग्य रोग– दुष्ट पीनस, शिर मे कृमि होने पर, बधिरता में, मद्यपीने के बाद, उत्कृष्ट दोष, उत्क्लिष्ट दोष (बढे हुए व चलायमान दोषावस्था में)

काल– प्रतिमर्श के पन्द्रह काल बताए गए है। इन पन्द्रह अवस्थाओं के बाद प्रतिमर्श नस्य प्रयोग कर सकते हैं– दिन, रात, भोजन करके, दिवास्वप्न के बाद, मलत्याग, मूत्रत्याग, दातुन, वमन, गण्डूष, शिरोभ्यंग, अंजन, मुसाफिरी, थकान, स्त्रीसंग, हास्य।

मात्रा– २ बिन्दु

	काल	इनमें प्रतिमर्श देने से
फल–	दिन, रात, भोजनोपरांत वमन, दिवास्वप्न ऊर्ध्व, श्रम, स्त्रीसंग	स्रोतोशोधन होता है। क्लमनाश होता है।

Scanned by CamScanner

शिरोभ्यंग, अंजन, गण्डूष मल व मूत्रत्याग	दृक बल (दृष्टिबल बढ़ता है।)
उपरांत	
दातौन उपरांत	दांतों मे दृढता आती है।
हास्योपरांत	मरु शम (वातशांति) होती है।

नित्य प्रयोग– प्रतिमर्श नस्य का नित्य प्रयोग करने से यह कम मात्रा में होने के बावजूद मर्शनस्य की तरह लाभकारी होता है। इसके करते समय कोई यंत्रणा (परहेज) नही करना होता। इसे 'आजन्ममरणं शस्तं' भी कहा जाता है।

विभिन्न कर्मों हेतु आधारित आयु काल–

नस्य	–	७-८० वर्ष तक की आयु
धूमपान	–	१८ से अधिक ,,
कवल	–	५ से अधिक ,,
वमन विरेचन	–	१०-७० वर्ष ,,

नस्य में तैल की श्रेष्ठता– नित्य प्रयोग हेतु नस्य के रुप मे तैल ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि अन्य स्नेहों की तरफ कफ बढाता नहीं है, (और शिर को कफ का स्थान माना गया है।) तैल सभी स्नेहों मे सर्वश्रेष्ठ वातकफ नाशक होता है।

अणुतैल– यह नस्य के लिए सर्वश्रेष्ठ होता है।

औषध द्रव्य– जीवन्ती, देवदारु, पुस्ता, विडंग, बला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुलेठी, कमलकेशर, दोनों कटेरी आदि।

तैल	–	तिलतैल
क्वाथ हेतु द्रव	–	जल (वर्षा)
दुग्ध	–	अजादुग्ध

विधि– औषध द्रव्यों का १०० गुने वर्षा जल मे क्वाथ बनाएं। जितने तैल मे पाक करना हो, उसका १० गुना क्वाथ रहने तक पकाएं। इस क्वाथ के १० हिस्से करें। १ हिस्सों को अलग-अलग तिलतैल मे पाक करें। दसवीं बार में तैल के बराबर अजा दुग्ध भी डालें। फिर पाक करें।

Scanned by CamScanner

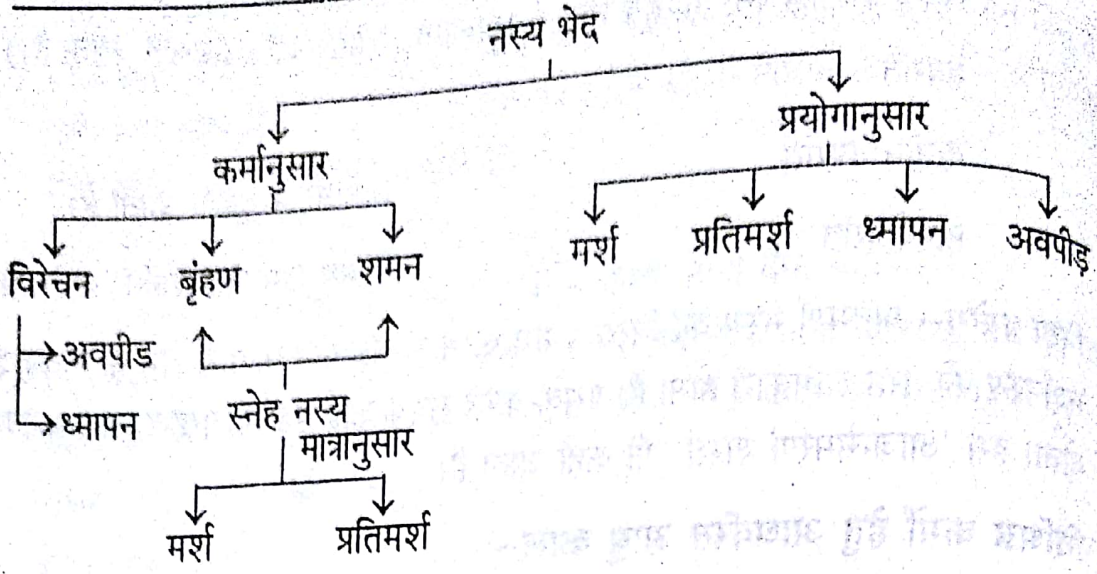

विभिन्न नस्यों की मात्रा–

	नस्य	ह्रस्व मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
(१)	शोधन नस्य (अवपीड नस्य)	४ बिन्दु	६ बिन्दु	८ बिन्दु
(२)	बृंहणनस्य १. मर्श २. प्रतिमर्श	 ६ बिन्दु २ बिन्दु	 ८ बिन्दु २ बिन्दु	 १० बिन्दु २ बिन्दु

मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य मे भेद–

मर्श	प्रतिमर्श
(१) मात्रा १०, ८, ६ बिन्दु है।	(१) मात्रा २ बिन्दु है।
(२) विशेषकर रोगों मे प्रयुक्त होता है।	(२) जन्म से मरण पर्यन्त स्वस्थावस्था मे कभी भी प्रयुक्त हो सकता है।
(३) प्रयोगकाल में पथ्यापथ्य का विशेष ध्यान रखता है।	(३) कोई परहेज नही करना पड़ता है।
(४) असम्यकप्रयोग से व्यापलियां होना सम्भव है।	(४) कोई व्यापत्ति नही होती है।
(५) शीघ्र प्रभावकारी होता है।	(५) देर से प्रभाव पहुंचाता है।
(६) दुर्दिन, भोजन करके, वमन करके, इन अवस्थाओं मे मर्श नस्य निषिद्ध है।	(६) मात्रा कम होने के कारण प्रतिमर्श दिया जा सकता है।
(७) बहुत अधिक दोषावस्था में मर्श लाभकारी है।	(७) मात्रा कम होने के कारण प्रभावकारी नहीं है।

Scanned by CamScanner

धूमवर्ति को स्नेह से स्निग्ध करके धूमनेत्र मे रखकर अग्नि से जलाकर प्रयोग किया जाता है।

आचार्य ने कासनाशक धूमपान की प्रयोग विधि अलग बतायी है। इसका यंत्र भी अलग बताया है। इसमें दो शरावों के सम्पुट छिद्र में १० अथवा ८ अंगुल लम्बी नलिका लगाकर मुख से धूमपान किया जाता है।

धूमपान भेद– धूम तीन प्रकार का बताया गया है–

(१) स्निग्ध – वात दोष मे
(२) मध्य – वात कफज मे
(३) तीक्ष्ण – कफज दोष मे

	स्निग्ध धूम	मध्य धूम	तीक्ष्ण धूम
(१)	वातज रोगों को दूर करता है।	वात कफज रोगों को दूर करता है।	कफज रोगों को दूर करता है।
(२)	दिन मे १ बार प्रयोग किया जाता है।	दिन मे २ बार प्रयोग करें	दिन मे ३-४ बार प्रयोग करें।
(३)	धूमपान नलिका की लम्बाई ३२ अंगुल है।	४० अंगुल	२४ अंगुल
(४)	**प्रयोग काल–** मलमूत्र-त्याग, स्त्रीसंग, दातुन, हास्य, छींक, जृम्भा, शस्त्रकर्म के बाद प्रयोग करे।	स्निग्ध धूम के सभी कालो में, और रात्रिभोजन के बाद नस्य के बाद प्रयोग करें।	निद्रा, नस्य, अंजन, स्नान, छर्दि के बाद प्रयोग करें।
(५)	**द्रव्य–** अगुरु, गुग्गुल, शिलारस, शल, सर्जरस, तिल, जौ, फलों के स्नेह, सारों के स्नेह, मज्जा (देवदारु आदि वृक्ष जिनका सार (Extract) प्रयोग किया जाता है।	शल्लकी, लाक्षा, कमल, एला, लोध्र, गूलर, शर्करा, मंजीठ सभी गंध द्रव्य सिवाय कूठ, तगर।	शिरोविरेचनगण के द्रव्य, दशमूल, मालकांगनी, हरताल, मैनसिल त्रिफला, कोयला सभी तीक्ष्ण गंध द्रव्य

धूमपान विधि–

प्रधान कर्म– रोगी को सीधा बिठाकर मुख या नासा से धूप प्रदेश कराएं। धूम को हमेशा मुख से ही निकालें। धूम को पीने व छोड़ते समय तीन-तीन घूंट करना चाहिए। नासा से

कभी धूम ना निकाले अन्यथा दृष्टि विघात हो जाता है। नासा से धूप लेना हो तो एक-एक छिद्र को बन्द करके लें।

पहले नासा से फिर मुख से धूम लें– (१) घ्राण व शिरोगत उत्क्लिष्ट दोषों में
(२) कंठगत दोषों को उत्क्लेशित करने के लिए।

पहले मुख से फिर नासा से धूम लें– (१) घ्राण व शिरोगत दोषों को उत्क्लेशित करने में।
(२) कंठगत उत्क्लिष्ट दोषों में।

सदैव मुख से ही लें– (१) कासरोगी

उपद्रव– अकाल/अतिमात्रा में धूमपान से–

रक्तपित्त, अंधापन, बहरापन प्यास, मद, मोह, मूर्च्छा हो सकती है।

इसकी चिकित्सा हेतु शीतल उपचार करने को कहा है।

धूमपान भेद

	स्निग्ध धूम (वातज रोगों में)	मध्यम धूम (वात-कफज रोगों में)	तीक्ष्ण धूम (कफज रोगों मे)
प्रमुख काल–	शस्त्रकर्मोपरांत दातौन उपरांत	नस्योपरांत	वमनोपरांत नस्योपरांत
प्रयोग काल–	दिन १ बार	दो बार	तीन-चार बार
धूमपान नलिका–	३२ अंगुल	४० अंगुल	२४ अंगुल
धूमद्रव्य–	फलों के स्नेह सारों के तेल अगरु, गुग्गुलु	गंध द्रव्य शल्लकी	मालकांगनी दशमूल, हरताल मैनसिल नस्य द्रव्य

Scanned by CamScanner

द्वाविंश अध्याय

गण्डूषादि विधि

इस अध्याय मे गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, मुखालेप, मूद्धतैल का वर्णन किया गया है।

गण्डूष– इस क्रिया में स्नेह, दूध, मधूदक, शुक्त, मद्य, मांसरस, मूत्र, धान्याम्ल, इनको दोषानुसार औषध द्रव्यों के कल्को से मिलाकर पकाकर या विना पकाए, शीत या उष्ण मुख मे इतना धारण किया जाता है कि मुख में द्रव को हिलाया नही जा सके।

योग्य रोग– मुखपाक, सर्वसर रोगों में, मुख की दुर्गन्धता, दंतहर्ष, दंतचाल, आगंतुज व्रण, क्षार अग्नि दग्ध मे, मुखशोष, नेत्ररोग, आदि में।

गण्डूष के भेद– गण्डूष के चार भेद बताए गए हैं–

(१) स्निग्ध– वातज रोगों में– मधुर अम्ल लवण रस व स्नेह युक्त

(२) शमन– पित्तज रोगों में– कषायतिक्त मधुर रस + औषध

(३) शोधन– कफज रोगों में– तिक्तकटु अम्ल, उष्ण

(४) रोपण– व्रण होने पर– कषाय तिक्त रस

गण्डूष धारण विधि–

(१) वातरहित स्थान मे, धूप में करना चाहिए।

(२) रोगी के कंधे व ग्रीवा पर स्वेदन करके मर्दन करें।

(३) गण्डूष द्रव मुख मे धारण करें। विना हिलाए मुख ऊंचा करके बैठे रहें।

(४) ऐसा तब तक करे जब तक कि मुख कफ से पूर्ण ना लगे, घ्राण व नेत्र से स्त्राव होने लगे।

रोगानुसार गण्डूष धारण–

(१) सामान्यतः तिलतैल, मांसरस का गण्डूष नित्य प्रयोग में धारण किया जाता है।

(२) दंतहर्ष, दंतचाल, वातज मुखरोग में } – सुखोष्ण/शीतल तिलकल्कोदक का गंडूष लें।

(३) ऊषा, दाह, पाक, क्षत, विष, क्षाराग्नि दग्ध में } – घी, दूध का लें।

Scanned by CamScanner

प्रयुक्त द्रवानुसार लाभ–

(१) मधु का गंडूष– विशदता लाता है, संधान करता है, रोपण करता है, प्यास व दाह को शांत करता है।

(२) सलवण धान्याम्ल का – मुख की विसरता, दुर्गन्धता को नष्ट करता है।

गंडूष (कांजी)

(३) लवण रहित धान्याम्ल का गंडूष (शीतल किया)– मुखशोषहरं परम् ।

(४) क्षाराम्बु– आशु कफ संचय नाश करता है।

(५) सुखोष्णोदक– वक्त्र लाघवता लाता है। (मुख में)

कवल– स्नेहादि द्रवों को मुख मे इतना भरना कि मुख में द्रवों को हिलाया जा सके कवल कहलाता है।

साध्य रोग– मन्यारोग, शिरोरोग, मुखरोग, नेत्ररोग, कंठरोग, कर्णरोग, पीनस लालाप्रसेक, मुखशोष हल्लास, तन्द्रा, अरुचि।

प्रतिसारण– मुख के भीतर लेप करना प्रतिसारण कहलाता है।

भेद– यह तीन प्रकार का बताया गया है– कल्क रसक्रिया चूर्ण

औषध द्रव्य– इसमें प्रयुक्त द्रव्य शोधन गंडूष के ही द्रव्य होते हैं।

मुखालेप– मुख के बाहरी त्वचा पर लेप करना मुखालेप कहलाता है।

लाभ– अकाल वृद्धावस्था, व्यंग, वली, तिमिर, नीलिका को नष्ट करता है।

नित्य प्रयोग– (१) दृष्टि बलवान होती है।

(२) मुख खिले हुए कोमल कमल समान हो जाता है।

अयोग्य रोग– पीनस, अजीर्ण, नस्य, हनुग्रह, रोचक, रात्रिजागरण में।

मुखालेप के भेद– इसके तीन प्रकार का बताया गया है–

(१) दोषनाशक (२) विषनाशक (३) वर्णकारक

वातकफज रोगों में उष्ण लगाना चाहिए। पित्त, रक्त, विष, वर्णकर– अतिशय शीतल लगाना चाहिए।

मुखालेप विधि– लेप की मोटाई तीन प्रकार की बताई है–

(१) अंगुलि का १/४ भाग मोटा

(२) ,, ,, १/३ ,, ,,

(३) ,, ,, १/२ ,, ,,

Scanned by CamScanner

त्रयोविंश अध्याय

आश्च्योतन अंजन

अध्याय २३ व २४ मे आचार्य ने नेत्र में प्रयुक्त औषध कल्पनाओं का वर्णन किया है। इनमें आश्च्योतन, अंजन, तर्पण, पुटपाक विधि का वर्णन है।

इस अध्याय में आश्च्योतन व अंजन का उल्लेख किया है। नेत्र में प्रयुक्त औषध ना केवल नेत्रगत रोगों को अपितु शिरोगत, नासागत व मुखगत रोगों को भी शांत करती है। नेत्रमार्ग से ऊपर की ओर प्रविष्ट होकर वहां प्रवृत्त मलों को लौटा कर बाहर निकालती है। (नेत्रद्वारा)

आश्च्योतन विधि– आश्च्योतन का अर्थ है परिषेक करना। (नेत्र को धोना)

सभी नेत्र रोगों में प्रथम उपक्रम आश्च्योतन किया जाता है। इससे नेत्र मे दर्द, दाह, कंडु, स्त्राव सभी नष्ट हो जाते है।

वातज रोगों में–	उष्ण प्रयोग करें।
पित्तजरक्तज रोगों में–	शीतल प्रयोग करें।
कफजरोगों में–	थोड़ा उष्ण (कोष्ण) प्रयोग करें।

विधि– रोगों को निवात स्थान मे बिठाकर रुई की वत्ती से कनीनिका (नेत्रसंधि नासा की तरफ) पर 10-20 बिन्दुओं को २ अंगुल की दूरी से गिराएं।

फिर कोमल वस्त्र से पोंछ दें। वातज व कफज रोगों में गर्म पानी के फोये से तदोपरांत परिषेक कर मृदु स्वेदन भी करें।

अतिउष्ण/अतितीक्ष्ण प्रयोग से–	दृकनाश करता है।
अतिशीत–	वेदना, स्तंभता
मात्रा मे अधिक–	कृच्छउन्मेष, घर्षण
मात्रा मे कम–	विकार वृद्धि
अपरिस्रुत–	सरंभ करता है।

अंजन– वमनादि से शोधन करके आश्च्योतन के बाद अंजन लगाना चाहिए।

प्रयोग– नेत्र मे मल होने पर, अल्पशोफ, अतिकंडु, पिच्छिलता विशेषत: वातज रोगों में।

अयोग्य रोग– सूर्य के सन्तप्त होने पर, सूर्य छिपने पर, चकित दृष्टि में।
ज्वर, शिरोरुजा, अजीर्ण, तृष्णा, शोक, भय
दिवास्वप्न, भोजन के बाद, मद्य पान के बाद
वमन, विरेचन, शिर: से स्नान, धूमपान के बाद

Scanned by CamScanner

दिन रात्रि मे अंजन निषेध व प्रातः सायं अंजन प्रयोग विधान–

दिन, रात्रि मे अंजन करने से दोष बढ़कर नेत्र मे रोगोत्पत्ति कर सकता है। क्योंकि– दिन में पित्त प्रकोपावस्था होती है, नेत्र तेजोमयी है, इसीलिए पित्त बढ़कर दोष और बढा देता है। और रात्रि मे नेत्र मुरझाये रहते है शक्ति हीन होते हैं। इसीलिए अंजन की तीक्ष्णता सहन नही कर सकते।

इसीलिए इन्हीं कारणों से प्रातः व सायं मे बादल ना होने पर सदैव अंजन प्रयोग का विधान बताया गया है।

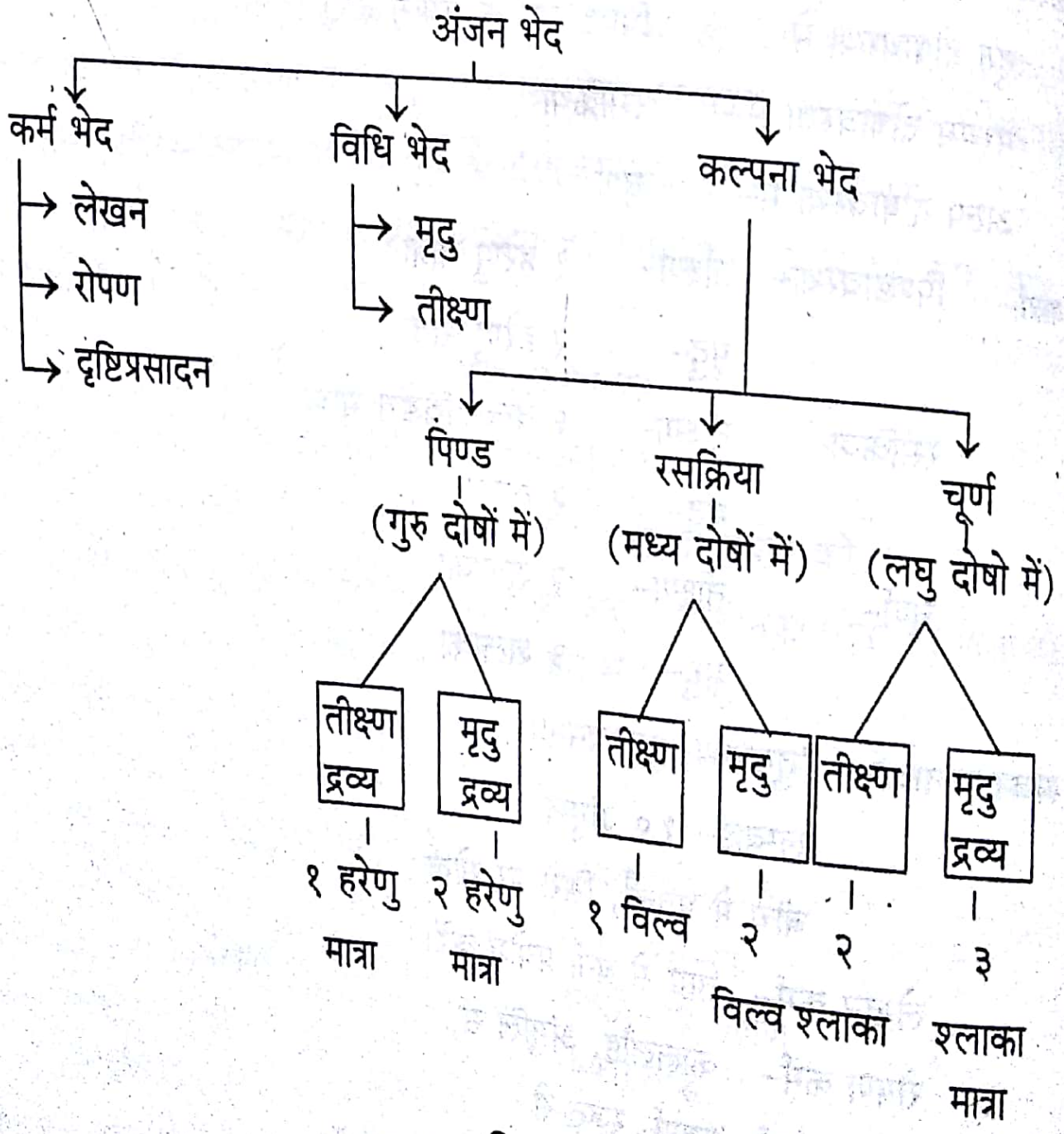

Scanned by CamScanner

चतुर्विंश अध्याय

तर्पणपुटपाक विधि

तर्पण– नेत्र का स्नेहन करना, पुष्टि करना।

योग्य रोग– नेत्र की रुक्षता, स्तब्धता, अभिघात में, वातपित्तज रोगों में, अभिष्यंद, अधिमंथ, जीर्णभक्ष्म

योग्य काल– जब नेत्र मे लालिमा, शोथ, अश्रु व मैल ना हो तब प्रयोग करें।

पूर्वकर्म– वमन, विरेचन, नस्य से शरीर व उर्ध्व काय का शोधन करके निवात स्थान मे साधारण ऋतु में प्रातः या सायंकाल उत्तान लिटाएं।

प्रधान कर्म–

- रोगी के नेत्र कोशों के बाहर जौ व उड़द के आटे से बनी २ अंगुल ऊंची पाली बनाएं।
- दोषानुसार सिद्ध घृत को गरम पानी मे पिघलाकर इस पाली मे भरें इतना कि पक्ष्म नहीं दिखे।
- नक्तांध्य, वातज तिमिर व कृच्छअवबोध रोगों मे घृत के स्थान पर वसा का प्रयोग करें।
- रोगी धीरे-धीरे उन्मेष निमेष करता रहें।

तर्पण मात्रा–

वातज रोगो में–	१००० मात्रा तक
पित्तज रोगो में–	६०० मात्रा तक
स्वस्थावस्था, कफज रोगों में–	५०० मात्रा तक तर्पण करें।
वर्त्मगत रोगो में–	१०० मात्रा तक
संधिगत रोगो में–	३०० मात्रा तक
शुक्लगत रोगो में–	५०० मात्रा तक
कृष्णगत रोगों में–	७०० मात्रा तक
दृष्टिगत रोगों में–	८०० मात्रा तक तर्पण करें।
अधिमंथ–	१००० मात्रा तक

पश्चात कर्म–

- नेत्र के अपांग प्रदेश (कर्ण की तरफ की नेत्रसंधि) की तरफ से पाली में छेद करके स्नेह को दूसरे पात्र मे निकालें।

Scanned by CamScanner

शरीर फीका पडजाता है । रूक्ष मनुष्यको स्नेहपानसे स्निग्ध करना चाहिये और जो अत्यन्त स्निग्ध मनुष्य हैं उनको श्यामाक (समखिया, कोदव) और चने आदि खिलाकर, तथा छाँछ, खली और सत्तू आदि खवाकर रूक्ष करना चाहिये । स्नेहका सेवन करनेवाला मनुष्य जराराहित, बल तथा वर्ण करके युक्त होताहै, अग्नि दीपन होतीहै, कोठा शुद्ध होताहै, धातु पुष्ट होतीहै और इन्द्रिये दृढ होतीहैं । स्नेह सेवन करनेवालेको—कसरत, शीतमें रहना, वेगोंका रोकना, जागरण करना, दिनमें सोना और रूक्ष तथा शरीरमें गुरुता करनेवाला भोजन ये सब त्यागने चाहियें ॥ २९–३५ ॥

पञ्चकर्मनामानि ।

प्रथमं वमनं पश्चाद्विरेकश्चानुवासनम् ॥ एतानि पञ्च कर्माणि निरूहो नावनं तथा ॥ १ ॥

वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूह और नावन (नस्य) ये पाँच कर्म कहातेहैं ॥ १ ॥

अथ वमनविधिः ।

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम् ॥ वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥२॥ बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम् ॥ तथा वमनसात्म्यञ्च धीरचित्तञ्च वामयेत् ॥ ३ ॥ विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे ॥ हृद्रोगे कुष्ठवीसर्पे मेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥ ४ ॥ विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु ॥ अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥ ५ ॥ नासातालोष्ठपाकेषु कर्णस्रावेऽधिजिह्वके ॥ गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ॥ मेदोगदेऽरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥ ६ ॥

प्रवीण वैद्य शरत्ऋतुमें, वसंत ऋतुमें और वर्षा ऋतुमें प्राणियोंको वमन करावे और विरेचन देवे । जो मनुष्य बलवान्, कफसे व्याप्त, हृल्लासादिसे पीडित, धीरचित्तवाला और जिसकी प्रकृति वमनके अनुकूल हो उनको वमन करावे । विषदोष, स्तन्यरोग, मन्दाग्नि, श्लीपद, अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका, अपची, खाँसी, श्वास, पीनस, अधिवृद्धि, अपस्मार(मृगी), ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नाक, तालु तथा ओष्ठके पकनेमें, कर्णस्राव (कानके बहनेमें), अधिजिह्वक, गलशुण्डी, अतिसार, पित्त अथवा कफके रोग, मेद और अरुचि इन सब रोगोंमें वैद्य रोगीको वमन करावे ॥ २–६ ॥

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः ॥ नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः ॥ ७ ॥ मदार्त्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः ॥ उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्द्यः केवलानिली ॥ ८ ॥ पाण्डुरोगी कृमिव्याप्तः पठनात्स्वरघातवान् ॥ एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः ॥ कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुककाथपानतः ॥ ९ ॥

ऊर्द्धरक्ती, यस्य नासाक्षिकर्णास्यमार्गैः रक्तं प्रवर्त्तते सः । भुक्तरूक्षकर्कशद्रव्यो दुश्छर्द्यः। मधुकस्थाने मधूकेति द्वितीयः पाठः ॥

तिमिर, गुल्म (गोला), तथा उदररोगी, कृश, अतिवृद्ध, गर्भवती स्त्री, अत्यन्त स्थूल, क्षत(घाव) से व्याकुल, मदरोगी, बालक, रूक्ष, भूखा तथा निरूहण वस्तिकरे हुएके, उदावर्त्त तथा ऊर्ध्वरक्ती (जिसकी नाक, कान, नेत्र और मुखमेंसे रक्त निकलै) कि, जिसे कठिनतासे वमन होती हो अर्थात् वमनकी औषधसे भी मुशकिलसे वमन होती-हो जिसके कोठेमें केवल वायुका दोष हो, पाण्डुरोगी, कृमिसे व्याप्त और पढनेसे स्वर जिसका नष्ट होगया हो, उनको वमन नही करावै, यदि ये अजीर्णसे पीडितहों अथवा विषसे पीडित हो अथवा कफसे व्याप्तहुए हो और वमन करानेकी आवश्यकता हो तो इनको मुलहटीका क्वाथ पिला कर वमन करावै ॥ ७–९ ॥

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुञ्च वामयेत्॥ पाययित्वा यवागूं वा क्षीरतक्रदधीनि च ॥ १० ॥ असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनाम् ॥ स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥ वमनेषु च सर्वेषु सैन्धवं मधु वा हितम् ॥ बीभत्सं वमनं दद्याद्विपरीतं विरेचनम् ॥ १२ ॥

बीभत्सम् अरुच्यम् । विपरीतं रुच्यम् ॥

क्काथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके ॥ अर्द्धभागावशिष्टञ्च वमनेष्ववचारयेत् ॥ ॥ १३ ॥ क्काथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता ॥ मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥ १४ ॥ वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ॥ अर्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

अर्द्धत्रयोदशपलं सार्द्धषट्कम् ॥

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलं मात्रयोत्तमम् ॥ मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयं तु पलं भवेत् ॥ १६ ॥ वमने चाष्ट वेगाः स्युः पित्तान्ता उत्तमास्तु ते ॥ षड् वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्वपरे मताः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुकुमार (नाजुक), कृश, बालक, वृद्ध अथवा भयभीत हो, इनमेंसे किसीको वमन करानी हो तो प्रथम उसकी प्रकृतिसे न मिलै ऐसे कफकारी भोजनोंसे दोषोंको कुपित करके यवागू, दुध, छाँछ और दही आदि पदार्थ पिलाकर वमन करावै । स्निग्ध कियेहुए और अग्निसे स्वेदन कियेहुए मनुष्यको वमन करावै तौ भली भाँति वमन (उलटी वा रद्द) होतीहै । सर्व प्रकारकी वमनोंमे सेधानोन अथवा मधु देनेसे अनुकूल होताहै । वमनकी औषधि बीभत्स (जो रुचै नहीं) देवै और रेचनमें औषधि विपरीत (जो रुचै) देवै । क्काथ करनेका पदार्थ सोलह तोले लेकर दोसौ छप्पन तोले पानीमें पकावै, जब आधा शेषरहै तब रोगीको वमनके लिये देवै । क्काथ पीनेमें नौप्रस्थकी मात्रा बडी, छः प्रस्थकी मध्यम और तीन प्रस्थकी अल्प मात्रा कहाती है । वमनमे, विरेचनमे और रुधिर निकालमे प्रस्थ जहाँ आवै तहाँ छब्बीस तोलेका जानना यह विद्वानोने कहा है। कल्क, चूर्ण और अवलेह, इनकी बारह तोलेकी मात्रा उत्तम है, आठ तोलेकी मध्यम है और चार तोलेकी मात्रा अल्प है, वमनमे आठ वग हो और अन्तमे पित्त आवै तौ उत्तम जानना, छः वेग मध्यम और चार वेग आवैं तो कनिष्ठ जानना ॥ १०—१७ ॥

कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत् ॥ सुस्वादुलवणाम्लोष्णैः संसृष्टं वायुना कफम् ॥ १८ ॥ कृष्णां कट्फलसिन्धुं च कफे कोष्णजलैः पिबेत् ॥ पटोलवासानिम्बांश्च पित्ते शीतजलैः पिबेत्॥ १९॥

कट्फलं मयनफलम् ॥

सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ॥ अजीर्णे कोष्णपानीयं सिन्धुं पीत्वा वमेत्सुधीः ॥ २० ॥

मदनं मयनफलम् ॥

वमनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम् ॥ कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् ॥ २१ ॥ प्रसेको हृद्ग्रहः कोठः कण्डूर्दुश्छर्दिते भवेत् ॥ अतिवान्ते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारो विसंज्ञता ॥ २२ ॥ जिह्वानिःसरणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः॥ रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनश्च कण्ठपीडा च जायते ॥ २३ ॥

हनुसंहतिः हन्वोरमिलनम् ॥

वमनस्यातियोगे तु मृदु कुर्याद्विरेचनम् ॥ वमनेन प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः ॥ स्निग्धाम्ललवणैर्युक्तैर्घृतक्षीररसैर्हिताः २४॥

रसैर्मांसरसैः ॥

फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो

नराः ॥ निःसृतान्तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥ २५ ॥
निःसृतां जिह्वाम् ॥

व्यावृत्तेऽक्षिणि घृताभ्यक्ते पीडनञ्च शनैः शनैः ॥ हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यञ्च श्लेष्मवातहृत् ॥ २६ ॥ रक्तपित्तविधानेन रक्तष्ठीवमुपाचरेत् ॥ धात्रीरसाञ्जनोशीरलाजचन्दनवारिभिः ॥२७॥ मन्थं कृत्वा पाययेच्च सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ शाम्यन्त्यनेन तृष्णाद्या रोगाश्छर्दिसमुद्भवाः॥२८॥ हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वञ्च लाघवम् ॥ कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम् ॥ २९ ॥ ततोऽपराह्णे दीप्ताग्निं मुद्गषष्टिकशालिभिः ॥ हृद्यैश्च जाङ्गलरसैः कृत्वा यूषञ्च भोजयेत् ॥ ३० ॥ तन्द्रानिद्रास्यदौर्गन्ध्यं कण्डूश्च ग्रहणी विषम् । सुवान्तस्य न पीडायै भवन्त्येते कदाचन ॥ ३१ ॥ अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा ॥ स्नेहाभ्यंगञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ ३२ ॥

इति वमनाधिकारः ।

चरपरे, तीक्ष्ण और गरम पदार्थोंसे कफको जीतै । मीठे और शीतल पदार्थोंसे पित्तको जीतै । मीठे, खारी, खट्टे और गरम पदार्थोंसे वातसहित कफको जीतै । कफके ऊपर पीपल, मैनफल, तथा सैंधानोन किंचित् गरम पानीके साथ पिये । पित्तकी अधिकतामें पटोलपत्र, अडूसा और नीम शीतल जलसे पिये । कफसहित वातमें मैनफलके चूर्णके साथ दूध पिये । अजीर्ण हो तो किंचित् गरम पानी और सैंधानोन पीकर वमनकरै । वैद्य रोगीको वमनकी औषध पिलाकर उकरू बिठलाकर उसके गलेमें उसके हाथसे ही अण्डीके पत्तेकी नाल डालकर वमन, करावै । जैसी चाहिये तैसी वमन न हो तो उसके ये लक्षण होतेहैं कि—मुखमें पानी आना, हृदयका रुकना-देहमें चक्कर होना और खुजलीका होना होताहै बहुत वमन हो तो इसके लक्षण ये होतेहैं कि तृषाका लगना, हिचकी तथा डकारका आना, बेहोशीपन और जीभका बाहर निकलना, आँखोंका फटना, मुखका फैलना, वमनके साथ अथवा थूकनेमें रुधिरका आना और गलेमें पीडाका होना, ये लक्षण होतेहैं । वमनका अत्यन्त योग होय तो मृदु विरेचन (दस्त) करावै, वमन करनेमें जीभ भीतर बैठगई हो तो स्निग्ध, खारी और खट्टे रसोंसे युक्तकर घीके दूधके और मांसरसके हितकारी कुल्ले करावै और उस मनुष्यके आगे दूसरा मनुष्य बैठकर अम्लफल (नीबू आदि) खावे । जीभ निकली पडी हो तो जीभपर तिलका और दाखका कल्क चुपडकर उसको भीतरको प्रवेश करै । आँखकी पुतली फटगई हो तो घी चुपडकर धीरे धीरे भीतरको दबावै । मुख फटगया हो तो सेक करै और नाकमें कफ तथा वातनाशक बूंदें डालै । थूकनेमें रुधिर आताहो तो रक्तपित्तके अनुसार उपचार करे । आमला, रसोत, खस, खील, इनको चन्दनके जलमें विलोकर घी, मधु तथा खाँड डालके पिलावे तो वमनसे उत्पन्न हुए तृषाआदि रोग शांत होते हैं । हृदय, गला तथा मस्तक शुद्ध होजाय, अग्नि प्रदीप्त होजाय, शरीरमें लघुता आजाय और कफ तथा पित्तका नाश होजाय तो भली भाँति वमन हुई जानै । जिसको भलेप्रकार वमन होगई हो, ऐसे प्रदीप्त अग्निवाले मनुष्यको दो पहर पीछे मूँग, साँठी चावल तथा रुचिकारी जंगली जीवोंका मांस इनका पाक करके बनाहुआ यूष खवावै, जिसको भली भाँति वमन हुई हो उसको निद्रा, आलस्य, मुखकी दुर्गन्धता, खुजली, संग्रहणी और विष ये कदापि पीडा नहीं करते । विद्वान् मनुष्यको वमन करनेके पश्चात् एक दिनतक अजीर्णकारक पदार्थ, शीतल जल, कसरत, मैथुन, तेलका अभ्यंग (मालिश) और क्रोध, इनको छोड देना चाहिये ॥ १८–३२ ॥

अथ विरेचनविधिः ।

स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय दद्यात्सम्यग्विरेचनम् ॥ अवान्तस्य त्वधःस्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः ॥ ३३ ॥ मन्दाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम् ॥

अथ वा पाचनैरामं बलासं परिपाचयेत्॥ ॥ ३४ ॥ ऋतौ वसन्ते शरदि देहशुद्धौ विरेचयेत् ॥ अन्यदात्ययिके कार्ये शोधनं शीलयेद् बुधः ॥ ३५ ॥

आत्ययिके प्राणसंकटे ॥

पित्ते विरेचनं युञ्ज्यादामोद्भूते गदे तथा। उदरे च तथाध्माने कोष्ठशुद्धौ विशेषतः ॥ ३६ ॥ दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः ॥ शोधनैः शोधिता ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥ ३७ ॥ बालो वृद्धो भृशं स्निग्धः क्षतक्षीणो भयान्वितः ॥ श्रान्तस्तृषार्तः स्थूलश्च गर्भिणी च नवज्वरी ॥ ३८ ॥ नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी ॥ शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता ॥ ३९ ॥ जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरोगी भगन्दरी ॥ अर्शःपाण्डूदरग्रन्थिहृद्रोगारुचिपीडिताः ॥४०॥ योनिरोगप्रमेहार्त्तो गुल्मप्लीहव्रणार्दितः ॥ विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविषूचीकुष्ठसंयुताः ॥ ४१ ॥ कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः ॥ प्लीहशोथाक्षिरोगार्त्ताः कृमिक्षारानिलार्दिताः ॥ ४२ ॥ शूलिनो मूत्रघातार्ता विरेकार्हा नरा मताः। बहुपित्तो मृदुः प्रोक्तो बहुश्लेष्मा च मध्यमः ॥४३॥ बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते॥ मृद्वी मात्रा मृदौ कोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा ॥ ४४ ॥ क्रूरे तीक्ष्णा मता द्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः ॥ मृदुर्द्राक्षापयश्चञ्चूतैलैरपि विरिच्यते ॥ ४५ ॥ मध्यमस्त्रिवृतातिक्ताराजवृक्षैर्विरिच्यते ॥ क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरीदन्तीफलादिभिः ४६॥

चञ्चुतैलम्, एरण्डतैलम् । हेमक्षीरी [चोक]। दन्तीफलम्, बृहद्दन्तीफलम्—जयपालेति प्रसिद्धम्॥

प्रथम मनुष्यको स्नेहपान कराकर स्वेद देवै और पश्चात् वमन करावै, वमन करानेके पीछे योग्य रीतिसे रेचन (जुलाब) देवै, वमन कराये विना रेचन देवै तो कफ नीचेके भागमे आकर ग्रहणीनामक शरीरके भीतरके स्थानको ढक देताहै कि—जिससे अग्नि मद होजातीहै, शरीरमे गुरुता होजातीहै, अथवा प्रवाहिका आदिक रोग होजातेहैं।वमन विना कराये रेचन दिया हो तो कच्चे कफको उपायसे पकाना चाहिये वसन्तऋतु और शरदृतुमें शरीरको शुद्ध करनेके लिये रेचन देवै, पीडा प्राणसकटके सदृश हो तो विद्वान् वैद्य अन्य ऋतुओंमे भी रेचन देवै। पित्त, आमसे हुए रोग, उदररोग, अफारा और बद्धकोष्ठ (कोठेकी अशुद्धि) इन रोगोंपर विशेष करके विरेचन देवै। लघनसे और पाचनके उपायसे जीतेहुए दोष किसी समयमें फिर पीछे कुपित होतेहैं, परन्तु रेचन देनेसे जिनको शुद्धकर दिया हो ऐसे दोष पीछे उत्पन्नही नहीं होते बालक, वृद्ध, अत्यत स्निग्ध, क्षतसे क्षीण हुए, भयभीत थकाहुआ, तृषासे पीडित, अत्यत स्थूल, गर्भवाली स्त्री, नवीन ज्वररोगी, तत्काल प्रसूता स्त्री, मंदाग्निवाला, मदात्ययरोगी, जिसके बाण आदि शल्य लगरहा हो और रूक्ष शरीरवाला, अर्थात् जिसने प्रथम स्नेह (घृतादिपान वा मुंजिस न लीनीहो) इनको विद्वान् वैद्य रेचन नहीं देवै.जीर्णज्वरवाले विषव्याप्त, वातरोगी, भगदरवाले तथा बवासीर, पाण्डु, उदर, गांठ, हृदयरोग, अरुचि, योनिरोग, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, व्रण, कर्णरोग, मस्तकरोग, मुखरोग, गुदरोग, शिश्नरोग, प्लीहा, सूजन, नेत्ररोग, कृमिरोग, क्षारसे हुए विकार, वातविकार, शूल तथा मूत्राघात, इनसे पीडितोको तथा विषव्याप्त हुओंको रेचन देना चाहिये। जिस मनुष्यके कोठेमें पित्त अधिक हो उसको मृदु कोठेवाला जानना, जिसके कोठेमे अधिक कफ हो उसको मध्यम कोठेवाला जानना और जिसके कोठेमें वात अधिक हो उसको कठोर कोठे वाला जानना। कठिन कोठेवाले मनुष्यको रेचन धीरे धीरे लगताहै, मृदु कोठेवालेको रेचनकी मृदु मात्रा देवै, मध्यम कोठेवालेको मध्यम मात्रा देवै और कठिन कोठेवालेको तीव्र मात्रा देवै। मृदु पदार्थोंकी मात्रा मृदु कहातीहै, मध्यम पदार्थोंकी मात्रा मध्यम कहातीहै और तीव्र पदार्थोंकी मात्रा तीव्र कहातीहै। मृदु (नरम) कोठे वाले मनुष्यको दाख, दूध और अडीके तेल आदिसे भी रेचन लगताहै, मध्यम कोठेवाले मनुष्यको निसोत, कुटकी और अमलतासे रेचन लगताहै और कठिन कोठेवाले

मनुष्यको थूहरका दूध, चोक, दन्ती (जमालगोटेकी जट) और जमालगोटे आदिसे रेचन लगताहै ॥ ३३-४६ ॥

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तिका ॥ वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका ॥ ४७ ॥ द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत् ॥ पलार्द्धं च कषायाणां कनीयं तु विरेचनम् ॥४८॥ कल्कमोदकचूर्णानां कर्षो मध्वाज्यलेहतः ॥ कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया ॥ ॥ ४९ ॥ पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्काथादिभिः पिबेत् ॥ विफलाक्काथगोमूत्रैः पिबेद्योषं कफार्दितः ॥ ५० ॥ त्रिवृत्सैन्धवशुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः ॥ वातार्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन वा ॥ ५१ ॥

जिसके तीसवार वेग होकर दस्त आवें और अन्तमें कफ आम निकले वह रेचनकी मात्रा उत्तम जाननी, जिससे बीसवार वेग होकर दस्त आवें और अन्तमें कफ आवे वह मात्रा रेचनकी मध्यम जाननी और जिससे दशवार वेग होकर दस्त आवें और अन्तमें कफ आवे उसको रेचनकी कनिष्ठ मात्रा जाननी । रेचन होनेके लिये दो पल कषाय (काढा) की मात्रा उत्तम है, एक पल कषायकी मात्रा मध्यम है और अर्द्धपल कषायकी मात्रा कनिष्ठ होती है (एक पल चार तोलेका होता है), कल्क, लड्डू और चूर्ण ये प्रत्येक एक तोले शहदमें अथवा एक तोले घीमें मिलाकर दो तोलेकी मात्रा देवै, अथवा अवस्था और रोगपर ध्यान देकर योग्य मालूम हो तो चार तोलेकी भी मात्रा देवै । पित्तसे पीडित मनुष्योंको दाख आदिक्काथके साथ निसोथका चूर्ण खाना चाहिये । कफसे पीडित मनुष्योंको हरड़ बहेडा, तथा आमलेके क्वाथ और गोमूत्रके साथ सोंठ, मिर्च और पीपलका चूर्ण खाना चाहिये।वायुसे पीडित मनुष्योंको रेचनकेलिये खट्टे पदार्थोंके साथ अथवा जंगली जीवोंके मांसरसके साथ निसोथ, सैंधानोंन तथा सोंठ इनका चूर्ण खाना चाहिये ॥

एरण्डतैलं त्रिफलाक्काथेन द्विगुणेन वा ॥ युक्तं पीतं पयोभिर्वा न चिरेण विरिच्यते ॥ ५२ ॥

शीघ्रमेव विरिच्यते इत्यर्थः ॥

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ समृद्वीकारसं क्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ॥ ५३ ॥ त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम् ॥ द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वशीतलञ्च घनात्यये ॥ ५४ ॥

उदीच्यं वाला । घनात्यये शरदि ॥

पिप्पलीं नागरं सिन्धुं श्यामां त्रिवृतया सह ॥ लिह्यात्क्षौद्रेण शिशिरे वसन्ते च विरेचनम् ॥ ५५ ॥

श्यामा [सारिवा] ।

त्रिवृता शर्करातुल्या ग्रीष्मकाले विरचनम् ॥ अभया मरिचं शुण्ठी विडंगामलकानि च ॥५६॥ पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ॥एतानि समभागानि दन्ती तु त्रिगुणा भवेत् ॥ ५७ ॥ त्रिवृताष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ॥ मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रान्प्रमाणतः ॥ ५८ ॥ एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतञ्चानु पिबेज्जलम् ॥ तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते५९॥ पानाहारविहारेषु भवेन्निर्यन्त्रणः सदा ॥ विषमज्वरमन्दाग्निपाण्डुकासभगन्दरान् ॥ ॥ ६० ॥ पृष्ठपार्श्वोरुजघनजङ्घोदररुजं जयेत् ॥ स्नेहाभ्यंगश्च रोषश्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ ६१ ॥ सततं शीलनादेव पलितानि प्रणाशयेत् ॥ अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥ ६२ ॥

इति अभयादिमोदकः ॥

हरड, बहेडा तथा आमलेके दूने क्वाथके साथ

अथवा दूधके साथ अडीका तेल पिये तो भी तुरत रेच (दस्त) लगता है। वर्षाऋतुमें रेचके लिये दाखके रसके और मधुके साथ निसोत, इन्द्रजौ, पीपल और सोंठ इनका उपयोग करे। शरदृतुमें रेचके लिये दाखके रसके साथ निसोत, धमासा, नागरमोथा, खाँड, नेत्रवाला, सफेद चंदन और मुलहटीके चूर्णका उपयोग करे, यह रेच शीतल है। शिशिर और वसत ऋतुमें रेचके लिये शहतके साथ पीपल, सोंठ, सेधानोन, सारिवा और निसोत इनका चूर्ण खाना चाहिये। ग्रीष्म ऋतुमे रेचके लिये समान भाग निसोतका और मिश्रीका चूर्ण उपयोग करे। हरड, मिरच, सोंठ, वायविडंग, आमला, पीपलामूल, दालचीनी, पत्रज और नागरमोथा, इन सबको समान भाग लेकर उसमे तिगुनी दन्ती (जमाल गोटेकी जड), आठगुना निसोत और छैगुनी मिश्री डालकर शहतके साथ एक एक तोलेके लड्डू बनावे इन लड्डुओंमेसे प्रातःकाल एक एक लड्डू खावे और उसके ऊपर शीतल जल पिये, इसके खानेके पीछे जबतक उष्णजल न पिये अथवा उष्णअन्न न खावे, तबतक दस्त होते रहतेहैं। इन मोदकोंके खानेवालेको सर्वदा खाने पीने और विहार करनेमें अधिक परहेज करनेकी आवश्यकता नही है। ये लड्डू खानेसे विषमज्वर, अग्निकी मंदता, पाण्डुरोग, खाँसी, भगदर, पीठका दर्द, पसलीका दर्द, ऊरुका दर्द, जंघा तथा उदररोग नष्ट होताहै। जिस दिन ये लड्डू खावे उसदिन शरीरमे तेल नही मले, और क्रोध भी नही करे। इनको नित्य सेवन करनेसे वलीपलित नष्ट होताहै, ये अभयादिमोदक (लड्डू) रसायनमे उत्तम हैं॥ ५२-६२॥

पीत्वा विरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी॥ सुगन्धि किञ्चिदाघ्राय ताम्बूलं शीलयेद्बुधः॥ निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयेन्न शयीत च॥ ६३॥ शीताम्बु न स्पृशेत्क्वापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः॥ बलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत्॥ रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजञ्च कफो व्रजेत्॥ ६४॥ दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धता कुक्षिशूलरुक्॥ पुरीषवातसंगश्च कण्डूमण्डलगौरवम्॥ ६५॥ विदाहोरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते॥ तं पुनः पाचनैः स्नेहैः पक्वा स्निग्धं तु रेचयेत्॥ तेनास्योपद्रवा यान्ति दीप्ताग्निर्लघुता भवेत्॥ ६६॥

रेचकी औषधि पीनेके पश्चात् शीतल जलसे नेत्रोंको सीचकर किंचित् सुगन्धित पदार्थ (अतर आदि) सूँघ पान चावै, वायुरहित स्थानपै बैठे, दस्तके वेगको नही रोकै, सोवै नहीं, शीतलजलका स्पर्श न करै और किंचित् उष्णजल पीता रहै। जिस प्रकार वमन करनेसे कफ, औषधि, पित्त और वात, यह सब मुखद्वारसे निकलतेहै तैसेही रेच लेनेसे मल (विष्ठा), पित्त, औषधि और कफ यह सब गुदद्वारसे निकलतेहैं। ठीक विरेचन न लगे तौ नाभिमें तथा कोखमें दर्द होताहै, मल तथा अधोवायु रुकजातीहै, देहमें खुजली होने लगतीहै, चकत्ते पडजातेहैं, देह भारी होजातीहै, दाह, अरुचि, अफारा, भ्रम और वमन होतीहै। जिसको भलीभाति रेचन लगा हो उस मनुष्यको पाचन पदार्थ देकर उसके आमको पचाकर पीछे स्नेहपान कराकर स्निग्ध करै और पश्चात् रेचन देवै इस प्रकार करनेसे ये सब उपद्रव नष्ट होतेहैं, अग्नि दीपन होतीहै और शरीर हलका होताहै॥ ६३-६६॥

विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छा भ्रंशो गुदस्य च॥ शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसन्निभम्॥ ६७॥ मेदोनिभं जलाभासं रक्तश्चापि विरिच्यते॥ तस्य शीताम्बुभिः सिक्ता शरीरं तण्डुलाम्बुभिः॥ ६८॥ मधुमिश्रैस्तथा शीतैः कारयेद्वमनं मृदु॥ सहकारत्वचः कल्को दध्ना सौवीरकेण वा॥ ६९॥ पिष्ट्वा नाभिप्रलेपेन हन्त्यतीसारमुल्वणम्॥ सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतैः॥ ७०॥

सौवीरं सन्धानम्॥

अजाक्षीरं रसश्चापि वैष्किरं हरिणं तथा॥ शालिभिः षष्टिकैस्तुल्यैर्मसूरैर्वापि भोजयेत्॥ ७१॥ वर्त्तिकालावविकिरकपिञ्जलकतित्तिराः॥ चकोरक्रकराद्याश्च विष्किराः

समुदाहृताः ॥ कपिञ्जल इति ख्यातो लोके कपिशतित्तिरः ॥ ७२ ॥

ऋकरः, करार इति लोके । हरिणरताम्रवर्णो मृगः ॥

शीतैःसंग्राहिभिर्द्रव्यैःकुर्यान्मंग्रहणं भिषक्॥ लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमं गतेऽनिले॥ ७३॥

स्नेह अधिक लगजाय तो मूर्च्छा होतीहै, कोठा शिथिल होजाताहै, पेटमें दर्द होने लगताहै, आम अधिक निकलताहै और मांसके धोवनके सदृश, सड़के सदृश तथा जलके सदृश रक्त गिरने लगताहै । इसप्रकार जिसको बहुत दस्त होनेलगे तो उसके शरीरपर शीतल जल छिड़के और चावलोंके शीतल धोवनमें दहीं मिलाकर पिलावे जिससे थोड़ी वमन होजाय । आमकी छालके रसमें दही अथवा जौकी कांजीमें पीसकर नाभिपर लेपकरे, इसप्रकार करनेसे भयंकर दस्त भी बंद होतेहैं । फलेके रसमें घृतसहित जौकी कांजी सौवीर कहातीहै । शालि चावल अथवा साठीचावलोंके साथ अथवा मूंगके साथ पकायेहुए दूध और विष्किर पक्षीका तथा लाल हिरनका मांसरस देवे, इससे भी दस्त बंद होजातेहैं । बटेर, लवा, तीतर, कबूतरतीतर, चकोर और तरवट आदि पक्षी विष्किर कहातेहैं । बहुत रेचलगा हो तो वेग शीतल और उसको रोकनेवाली (अतीसार रोगपर कही) औषधियोंसे दस्त रोके । जैसा चाहिये ऐसा रेच लगा हो तो शरीरमें लघुता होती है, मन प्रसन्न होताहै और वायुकी गति ठीक होतीहै ॥ ६७–७३ ॥

सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि॥ इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वह्निदीप्तता ॥ ७४॥ धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥ प्रतापसेवां शीताम्बु स्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ॥ ७५ ॥ व्यायामं मैथुनञ्चैव न सेवेत विरेचितः ॥ शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ॥ ७६ ॥ जंघालविष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥ हरिणैणकुरंगर्श्यवातायुमृगमाचकाः ॥ राजीवः पृषतश्चैव जंघालाः शरभादयः ॥ ७७ ॥

इन लक्षणोंसे भली भाँति रेच (जुलाब) होनेकी पहचान करके उस मनुष्यको रात्रिमें पाचन पिलावे । इससे इन्द्रियोंमें शक्ति बढ़तीहै, बुद्धि स्वच्छ होतीहै, अग्नि दीप्त होतीहै, धातु स्थिर होती है, तथा अवस्थामें स्थिरता होतीहै । रेच लेनेके पश्चात् प्रतापसेवन, शीतजल, अजीर्णोत्पादक अन्न, व्यायाम (कसरत करना आदि परिश्रम), मैथुन और तेलका मर्दन, इनका सेवन नहीं करे । तेचार कुलथ, मांसरस और मूंग आदिकी यवागू इस रोगीको देवे । जंघाल पक्षियोंके और हरिण आदिके मांसरस हितकारी होतेहैं । हरिण, एण, कुरंग, ऋश्य, वातायु, मृग और चमर आदि मृगोंके और शरभ आदि वन्य जन्तुओंके मांसरस हितकारी होतेहैं ॥ ७४–७७ ॥

अथ स्नेहबस्तिविधिः ।

बस्तिर्द्विधानुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम ॥ यः स्नेहो दीयते स स्यादनुवासननामकः ॥ ७८ ॥ कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते ॥ बस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्बस्तिरिति स्मृतः ॥ ७९ ॥ बस्तिभिः मृगादीनां मूत्राशयैः ॥

तत्रानुवासनाख्यो हि बस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते ॥ अनुवासनभेदश्च मात्राबस्तिरुदीरितः ॥ ८० ॥ पलद्वयं तस्य मात्रा तस्माद्दर्पि वा भवेत् ॥ अनुवास्यस्तु रूक्षः स्याद्दीप्ताग्निः केवलानिलः ॥८१॥ नानुवास्यस्तु दुष्टो स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी ॥ नास्थाप्या नानुवास्याश्च जीर्णोन्मादतृडर्दिताः ॥ ८२ ॥ शोथमूर्च्छारुचिभयश्वासकासक्षयातुराः । नेत्रं कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः ॥ नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते ॥ ८३ ॥

नेत्रं नाडी । तथा चोक्तं विश्वप्रकाशे–

नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने ॥ नेत्रबन्धे च नाड्याश्च नेत्रो नेतरि भेषजवत् ॥ ८४ ॥ इति ॥

अनुवासन और निरूहण इस प्रकार बस्ति (पिचकारी)

के दो भेद हैं। घी अथवा तेल आदिकी पिचकारी अनुवासन वस्ति कहातीहै और क्वाथ, दूध तथा तेलको एकत्र करके उससे जो पिचकारी लगाई जाय उसको निरूहणवस्ति कहतेहैं। मृग आदिके मूत्राशयकी कोथलीरूप साधनसे पिचकारी दी जातीहै, इस कारण पिचकारीको वस्ति कहतेहैं, वस्ति मूत्राशयका नाम है। दोनों प्रकारकी वस्तियोंमें यहां प्रथम अनुवासन वस्तिकी रीति कहते हैं, मात्रा वस्ति यह अनुवासन वस्तिका ही भेद है। मात्रा वस्तिमे घी आदिकी मात्रा आठ तोले भरकी अथवा चार तोलेकी करै, जो मनुष्य रूक्ष शरीरवाला, तीक्ष्ण अग्नि करके युक्त और केवल वातवाला जो मनुष्य हो उसको अनुवासनवस्ति देवै। कुष्ठरोगी, प्रमेहवाला, स्थूलशरीरी और उदररोगवाला जो मनुष्य हो उसको अनुवासनवस्ति नही देवै। अजीर्ण, उन्माद, तृषा, सूजन, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, खाँसी और क्षय (राजयक्ष्मा), इनसे पीडितोंको निरूहवस्ति नहीं देवै, और अनुवासनवस्ति भी नहीं देवै। वस्ति देनेकी नली—सुवर्ण आदि धातुओंकी, वृक्षकी, बाँसकी, नरसलकी, हाथीदाँतकी, सींगके अग्रभागकी और मणिकी बनावै। विश्वप्रकाशकोषमे कहाहै कि, नपुंसकलिंगवाला नेत्रशब्द—वस्त्रमे, वृक्षकी जडमे, नेत्रमे, नेत्रके बंधमे और नलीमे प्रवर्त्तता है ॥ ७८–८४ ॥

एकवर्षात्तु षड्वर्षाद्यावन्मानं षडंगुलम् ॥ ततो द्वादशकं यावन्मानं स्यादष्टसम्मितम् ॥ ८५ ॥ ततः परं द्वादशभिरंगुलैर्नेत्रदीर्घता। मुद्गच्छिद्रं कलायाभं छिद्रं कौलास्थिसन्निभम् ॥ यथासङ्ख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम् ॥ गोपुच्छसन्निभं मूले स्थूलं तस्मात्क्रमात्कृशम् ॥ ८६ ॥

मुद्गच्छिद्रादिप्रमाणं नेत्रं क्रमेण षड्वर्षाय द्वादशवर्षाय तदूर्द्ध्ववर्षाय ज्ञेयम् ॥

आतुरांगुष्ठमानेन मूले स्थूलं विधीयते ॥ कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखम् ॥ ८७ ॥

परीणाहोऽत्र स्थौल्यम् ॥

तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्य्ये भागाच्चतुथकात् ॥ ८८ ॥

कर्णिका गवादिकर्णवत् ॥

योजयेत्तत्र वस्तिञ्च बन्धद्वयविधानतः ॥ मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत् ॥ ८९ ॥

वस्तिरिति शेषः ॥

मूत्रकोषस्य वस्तेस्तु तदलाभे तु चर्मणः ॥ कषायरक्तः स मृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः ॥ ९० ॥

एक वर्षसे लेकर छै वर्षतकके बालकको वस्तिदेवै तौ छै अगुलकी नलीका उपयोग करै. छै वर्षसे पीछे बारह वर्षतकके मनुष्यको वस्ति देवै तौ आठ अगुलकी नलीका उपयोग करै. और बारह वर्षसे ऊपरके मनुष्यको वस्ति देवै तौ बारह अगुलकी नलीका उपयोग करै। छै अंगुलकी नलीमे मूँगके दानेके सदृश, आठ अगुलकी नलीमे मटरके सदृश और बारह अगुलकी नलीमे बेरकी गुठलीकी बराबर छेद रक्खै। नली चिकनी तथा गायकी पूँछके सदृश जडमे मोटी और उसके पीछे ऊपरसे क्रमवार सूक्ष्म होनी चाहिये। नली जडमे रोगीके अगुठेकी बराबर मोटी होनी चाहिये, ऊपरके भागमे बिचली अंगुलीकी बराबर मोटी होनी चाहिये और गोल मुखवाली होवै। नलीके तीन भाग छोडकर चौथे भागरूप जडमे गाय आदिके कानके सदृश दो कर्णिका बनावै और उन कर्णिकाओमे हिरणके, बकरेके, सुअरके, बैल अथवा भैंसेके मूत्राशयकी कोथलीको दो बधनोसे बाँधकर मिलादेवै, यदि मूत्राशयकी कोथली न मिले तो चमडेकी [या रबरकी] कोथली बनाकर बाँध देवै। ये कोथली कसैले रगसे लाल रंगी, बहुत नरम, चिकनी और दृढ होय तौ हितकारी होतीहै ॥ ८५–९० ॥

व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्याच्छ्लक्ष्णमष्टांगुलोन्मितम् ॥ मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनालिकापरिणाहि च ॥ ९१ ॥ शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः ॥ कुरुते परिवृद्धिञ्च वस्तिः सम्यगुपासितः ॥ ९२ ॥ दिवा शीते वसन्ते च स्नेहवस्तिः प्रदीयते ॥ ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम् ॥ ९३ ॥

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत्॥ मदं मूर्च्छाञ्च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥ ९४ ॥

द्विधा भोजने वस्तौ च ॥

रूक्षं भुक्तवतोऽत्यन्तं बलं वर्णञ्च हापयेत्॥ युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥ ९५ ॥

युक्तस्नेहं यथोचितस्नेहं भोज्यं भोजयित्वेत्यर्थः ॥

व्रण (घाव) मे पिचकारी लगानी हो तौ नली आठ अंगुलकी और मूँगके समान छिद्रवाली तथा गीधके पङ्खके सदृश मोटी होनी चाहिये । भलीभाँति वस्तिका सेवन करनेमे शरीर पुष्ट तथा वर्ण उत्तम होताहै, बल बढता है, आरोग्यताकी प्राप्ति और आयुकी वृद्धि होतीहै । शीतकालमे और वसन्तऋतुमें स्नेहकी वस्ति दिनमे देनी उत्तम है और ग्रीष्मऋतुमे, वर्षाऋतुमे तथा शरद्ऋतुमे स्नेहकी वस्ति रात्रिमे देनी उत्तम है । रोगीको अधिक घी अथवा तेलका भोजन कराकर अनुवासनवस्ति नहीं देवै, कारण कि—भोजनमे और पिचकारीमें ऐसे दोवार स्नेहका उपयोग होनेसे मद और मूर्च्छा उत्पन्न होतीहैं । जिसने अत्यन्त रूक्ष अन्न खायाहो उसको वास्ति देवै तौ बल और वर्णका नाश होताहै, इस कारण रोगीको यथायोग्य घीवाला अन्न खिलाकर पश्चात् वस्ति देवै ॥ ९१–९५ ॥

हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ स्मृतौ ॥ अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥ ९६ ॥

उभौ वस्ती अनुवासननिरूहाख्यौ ॥ उत्तमा स्यात्पलैः षड्भिर्मध्यमा स्यात्पलैस्त्रिभिः॥पलाध्यर्द्धेन हीना स्यादुक्तमात्रानुवासने ॥ ९७ ॥ शताह्वासैन्धवाभ्याञ्च देयं स्नेहे च चूर्णकम्॥तन्मात्रोत्तममध्यान्त्या पट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥ ९८ ॥ विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च ॥ भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोऽनुवासनः॥९९॥

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः ॥ भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचंक्रमणं ततः ॥ उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना ॥ १०० ॥

उष्णाम्बुस्वेदितम्, उष्णाम्बुना स्नपितम ॥

सुप्तस्य वामपार्श्वेन वामजंघाप्रसारिणः ॥ कुञ्चितापरजंघस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत् ॥ १०१ ॥ बद्धं वस्तिमुखं सूत्रैर्वामहस्तेन धारयेत् ॥ पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः ॥ १०२ ॥ जृम्भाकासक्षयादींश्च वस्तिकाले न कारयेत्॥त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो वस्तेस्तु पीडने ॥ १०३ ॥ ततः प्रणिहिते स्नेहे उत्तानो वाक्छतं भवेत् ॥ स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्याच्छोटिकया पुनः ॥ १०४ ॥ एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवेष निश्चयः ॥ निमिषोन्मेषणं पुंसामंगुल्या छोटिकाथ वा॥१०५॥ गुर्व्वक्षरोच्चारणं वा स्यान्मात्रेयं स्मृता बुधः ॥ प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथा वीर्य प्रसर्पति १०६ यथावीर्य स्नेहादि ॥

ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन्वाराञ्छनैः शनैः॥ स्फिजोश्चैव तथा श्रोणी शय्याञ्चैवोत्क्षिपेत्ततः ॥ १०७ ॥ स्फिजोश्चैनं स्वपाणिभ्यां पूर्ववत्ताडयेद् बुधः॥शय्याञ्च पादतस्तस्य त्रीन्वारानुत्क्षिपेत्ततः ॥जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥ १०८ ॥

अनुवासन और निरुह नामक दोनो वस्ति जो अल्पमात्रासे दीजावैं तो योग्य कार्य नहीं करतीं. और अधिकमात्रासे दीजावैं तौ अफारा, ग्लानि और अतीसारको उत्पन्न करैहैं । अनुवासन वस्तिमें स्नेहपलकी मात्रा उत्तम जाननी, तीन पलकी मात्रा-

मध्यम और डेढपलकी कनिष्ठ मात्रा जाननी । स्नेहमें सोफका और सैंधेनिमकका चूर्ण डालै, इस चूर्णकी मात्रा छै मासेकी उत्तम, चार मासेकी मध्यम और दो मासेकी कनिष्ठ (हीन) मात्रा जाननी । रेच (जुलाब) लेनेसे सात दिन व्यतीत होनेपर जिसके शरीरमें बल आगया हो ऐसे रोगीको भोजनके पश्चात् अनुवासन वस्ति देवै । रोगीके भली भाँति तेल मलकर धीरे धीरे उष्णजलसे धीरे धीरे स्वेदित करके भोजन करावै और पश्चात् शास्त्रकी रीतिके अनुसार चारो ओर फिराकर मल, मूत्र तथा वायुका त्याग कराकर अनुवासनवस्ति देवै । रोगीको बाँई करवटसे सुलाकर बाँई जाघको फैला देवै और दहनी जाँघको सकोड लेवै, फिर गुदाको चिकनी करके पश्चात् उसमे नली रक्खै, फिर धीर बुद्धिवाला वैद्य डोरेसे बँधीहुई पिचकारीके मुखको वाम हाथसे पकडकर दाये हाथसे मध्यवेगसे दाब देवै, पिचकारी देनेके समयमे रोगीको जँभाई, खाँसना और छींकना आदि त्याग देना चाहिये । पिचकारीके दबानेका काल तीस मात्रातकका जाने । अपने घटुए पर हाथ फेरके एक चुटकी बजावे, अथवा नेत्र मीचकर खोले, अथवा एक गुरु अक्षर जैसे (ए) का उच्चारण करै तौ उतने समयकी एक मात्रा होती है । शरीरमें स्नेह भलीभाँति पहुँचनेके पीछे सौ मात्रातक अर्थात् जबतक सौ गुरु अक्षरोंका उच्चारण होय उस समयतक सपूर्ण शरीर चित्तकरके सोवै कि जिससे सम्पूर्ण शरीरमे स्नेह फैल जाय । पश्चात् धीरे धीरे रोगीके पाँवोंके दोनों तलुओंमें वैद्य तीन तीन वार अपने हाथके तलुएसे ठोकै ऐसेही दोनो कूले ठोकै । पश्चात् उसकी शय्या उचकाकर अपने हाथसे पूर्ववत् तीन वार ठोकै, फिर पाँवोकी ओरकी शय्या उचकावै, इस प्रकार विधान होनेके पीछे रोगीको सुखसे निद्रा करावै ॥ ९६–१०८ ॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ॥ उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ॥ १०९ ॥

उपद्रवस्थाने तुषचोषाविति सुश्रुते पाठः॥ जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः॥ लघ्वन्नं भोजयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥ ११० ॥ अनुवासिताय दातव्यमितरेऽह्नि सुखोदकम्॥ धान्यशुण्ठीकषायं वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम् ॥ १११ ॥ सुखोदकमुष्णोदकम् । व्यापत्तिर्व्याधिः ॥ अनेन विधिना षड्ढा सप्त चाष्टौ नवापि वा ॥ विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम् ॥ ११२ ॥ दत्तस्तु प्रथमो वस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवङ्क्षणौ ॥ सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्द्धस्थमनिलं जयेत् ॥ ११३ ॥ बलं वर्णञ्च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः ॥ चतुर्थपञ्चमौ दत्तौ स्नेहयेतां रसासृजी ११४॥ षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एव च ॥ अष्टमो नवमश्चापि मज्जानञ्च यथाक्रमम् ॥ ११५ ॥

यथाक्रममिति वचनात् अष्टमोऽस्थि स्नेहयेत् ॥

एवं शुक्रगतान्दोषान्द्विगुणः साधु साधयेत् ॥ ११६ ॥

अष्टादशदिवसावधिकः वस्तिः ॥

अष्टादशाष्टादशकादिनाद्यो ना निषेवते ॥ स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवतुल्योऽमरप्रभः ॥ ११७ ॥

जिस रोगीके विनाउपद्रव पवनसहित और विष्ठासहित स्नेह (तेल) गुदामेंसे तुरन्त निकल जाय उसको भलीभाँति अनुवासित हुआ जानै (मूलमें 'उपद्रव विना' इसके बदले सुश्रुतमे 'उपचोषौ विना' यह पाठ है) । स्नेह गुदामेसे निकलनेके पश्चात् और खायेहुए अन्नके पच जानेपर रोगी जो प्रदीप्त अग्निवाला होय तौ उसको सायकालमे हलका अन्न खानेको देवै । फिर दूसरे दिन जिसको अनुवासनवस्ति दीहो उसके स्नेहके विकारोको नष्ट करनेके लिये उष्णजल पिलावै, अथवा धनियाका और सोठका काढा पिलावै । इसप्रकार छै, सात, आठ अथवा नौ अनुवासनवस्ति देवै. और सम्पूर्ण वस्ति देनेके पश्चात् अन्तमे निरूहणवस्ति देवै । पहिली वस्तिसे मूत्राशय और वक्षण (पेडू) स्निग्ध (चिकना) होताहै, दूसरी वस्तिसे मस्तककी वायु शांत होती है, तीसरी वस्तिसे बल ठीक होताहै तथा वर्ण उत्तम होताहै ।

वह मनुष्य रूक्ष होनेसे उसके शरीरमें सम्पूर्ण स्नेह काममें आगया, ये समझ चतुर वैद्य उसकी उपेक्षा करै; अर्थात् उस स्नेहको बाहर निकालनेका यत्न नही करै। स्नेह एक रात्रि दिनतक बाहर न निकले तौ उसको शोधनके उपायसे बाहर निकालै, परन्तु उसको निकालनेके लिये दूसरी बार स्नेहकी पस्ति नही देवै। गिलोय, अण्ड, करञ्ज, भारङ्गी, अडूसा, रोहिषतृण (सौंधियातृण), सतावर, कटसरैया और कौआठोडी इन सबको चार चार तोले लेकर और जौ, उरद, अलसी, बेरकी गुठली, तथा कुलथी, इन औषधियोंको आठ आठ तोले लेवै, फिर सबको चार द्रोण जलमें पकावै, जब एक द्रोण शेष रहै तब उसमें चार चार तोले सब जीवनीय गणकी औषधियोंके साथ एक आढक तेल पकावै इसप्रकार पकाये हुए तेलका उपयोग करै तौ वातसम्बन्धी सर्वविकार नष्ट होते हैं, यह अनुवासन तेल कहाताहै। वस्तिक्रियामें कुछ विपरीतता होजाय तौ बयालीस प्रकारके रोग उत्पन्न होतेहैं। जो ये रोग उत्पन्न होय तौ सुश्रुतके कहे अनुसार नलीआदि सामग्रियोंसे उसकी चिकित्सा करै इस क्रियामें पान, आहार, विहार और सम्पूर्ण निषेध स्नेहपानकी रीतिके अनुसार पालै, इस कार्यमें सशय न करै॥ ११८-१२९॥

अथ निरूहवस्तिविधिः।

निरूहवस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः॥
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुङ्गवैः १३०

कारणान्तरैः समवायिकारणभेदैः॥

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः॥
स्वस्थाने स्वापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम्॥ १३१॥ निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थं पादोत्तरं परम्॥ मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनश्च कुडवास्त्रयः॥ १३२॥

परं श्रेष्ठम्॥

अतिस्निग्धोऽक्लिष्टदोषः क्षतक्षीणः कृशस्तथा॥ १३३॥

अक्लिष्टदोषः अदत्तोत्क्लेशन इति यावत्। क्षतक्षीणः उरःक्षतवान्॥

आध्मानच्छर्दिहिक्कार्शःकासश्वासप्रपीडितः॥ गुदशोफातिसारार्तो विषूचीकुष्ठसंयुतः॥ १३४॥ गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी॥ वातव्याधावुदावर्त्ते वातासृग्विषमज्वरे॥ १३५॥ मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च॥ वृद्धयसृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम्॥ ॥ १३६॥ शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद् बुधः॥ उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजनम्॥ १३७॥ मध्याह्ने गृहमध्ये च यथा योग्यं निरूहयेत्॥

स्निग्धम्, स्वभ्यक्तम्। स्विन्नम्, उष्णाम्बुस्नपितम्॥

स्नेहवस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम्॥
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः॥ ॥ १३८॥ तिष्ठेन्मुहूर्तमात्रन्तु निरूहागमनेच्छया॥

अत्र मुहूर्त्तमात्रशब्देनैतदपि बाधितम्। निरूहप्रत्यागमनकालको मुहूर्तमात्रः॥

अनायातं मुहूर्तं तु निरूहं शोधनैर्हरेत्॥
निरूहैरेव मतिमान्क्षारमूत्राम्लसैन्धवैः॥ ॥ १३९॥ यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः॥ लाघवं चोपजायेत सुनिरूहं तमादिशेत्॥ १४०॥ यस्य स्याद्वस्तिरल्पाल्पवेगो हीनमलानिलः॥ मूर्च्छार्तिजाड्यारुचिमान्दुर्निरूहं तमादिशेत्॥ १४१॥

अलग अलग औषधियोंके दिलानेसे निरूहवस्तिके अनेक भेद होतेहैं और ये भेद होनेसेही महात्मा मुनियोंने उन वस्तियोंके पृथक् पृथक् नाम कहेहैं। पडितोंने निरूहवस्तिका दूसरा नाम आस्थापन कहाहै, कारण कि इससे दोषोंकी और धातुओंकी अपने अपने स्थानमें स्थिति होतीहै। निरूहवस्तिकी सवा प्रस्थकी मात्रा उत्तम जाननी, एक प्रस्थकी मात्रा मध्यम जाननी और तीन कुडव (तीन पाव) की मात्रा निकृष्ट जाननी। अत्यन्त स्निग्ध शरीर-

चाला जिसके दोषोंको पकाकर उन्हें स्थानोंसे न निकाले हो उसको, उरःक्षतरोगी, कृश, अफारायुक्त, वमन, हिचकी, बवासीर, खांसी, श्वास, गुदाके रोग, सूजन, अतीसार, विसूचिका (हैजा) और कोढ, इन रोगोंसे पीडित तथा गर्भवती स्त्री, मधुमेहवाला और जलोदर-रोगी, इन सबको निरूहवस्ति नहीं देवै, वातसम्बन्धी रोग, उदावर्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, तृषा, उदर-रोग, अफारा, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, अण्डवृद्धि, रक्तप्रदर, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्लपित्त और हृदयरोग इनसे पीडितोंको विद्वान् वैद्य विधिपूर्वक निरूहणवस्ति देवै । मल,मूत्र तथा अधोवायुके वेगोंका जो त्यागन करचुका हो, भूँखा, उष्णजलसे स्वेदित और तैलादिकका जिसके मालिस कियाहो, ऐसे रोगीको विद्वान् वैद्य मध्याह्नके समयमें घरके भीतर पहिलेकी अनुसार यथायोग्य निरूह-वस्ति देवै । निरूहवस्ति देनेके पीछे उस पिचकारीको गुदद्वारसे बाहर निकाले और दो घटीतक रोगी उकरू बैठा रहै दो घडीके भीतर निरूहवस्ति बाहर निकलतीहै । जो दो घडीमें निरूहवस्तिका द्रव्य बाहर नहीं निकले तो जवाखार, गोमूत्र, नींबूका रस और सैंधानिमक इनकी पिचकारी मारनेरूप शोधनके उपायसे उस निरूहवस्तिके तैलको बाहर निकाले । जिस मनुष्यके क्रमानुसार मल, पित्त, कफ और वात निकले और शरीरमें लघुता हो तो उस मनुष्यके निरूहवस्ति उत्तम लगीहुई जाने । जिस मनुष्यके अल्पवेगसे पिचकारी बाहर निकले, मल तथा पवन अल्प अल्प निकले, मूर्च्छा, पीडा, जडता और अरुचि हो उसको निरूहवस्ति भली भाति नहीं लगी हुई जानना ॥ १३०–१४१ ॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधि-निग्रहः ॥ आस्थापने स्नेहवस्त्योः सम्य-ग्दाने तु लक्षणम् ॥ १४२ ॥

विविक्तता दत्तापधानिःसरणम् ॥

अनेन विधिना युंज्यान्निरूहं वस्तिदान-वित् ॥ द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितम् ॥ १४३ ॥ सस्नेह एकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह ॥ कषायकटुमूत्रा-द्याः कफे तृण्णास्त्रयो हिताः ॥ १४४ ॥

पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात। निरूढं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत् ॥ १४५ ॥ सुकुमाररय वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः ॥ वस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी ॥ १४६ ॥ दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः ॥ पश्चात्संशमनीय-मेवं दद्याद्विचक्षणः ॥ १४७ ॥

दीहुई औषधि निकलजाय, मनमें प्रसन्नता हो, शिथि-लता हो और व्याधिनिग्रह (रोगोंका घटना हो) यह स्नेह-वस्ति तथा निरूहवस्ति भलीभांति देनेके लक्षण हैं। वस्ति देनेमें यथार्थ चतुर वैद्य इस प्रकारसे निरूहवस्ति देवै । योग्य लगे तो यह वस्ति दूसरी बार तीसरीबार और चौथी बारभी देवै । वायुरोग होय तो स्नेहवाली एक निरूहवस्ति देवै, पित्तका रोग होय तो दूधवाली दो निरूहवस्ति देवै और कफरोग होय तो कसैले, चरपरे और गोमूत्र आदि पदार्थोंको गरम करके इनकी तीन निरूहवस्ति देवै । जो मनुष्य पित्त, कफ और वायुसे घिराहुआ हो उसको अनु-क्रमसे दूधकी, मूँगके रसकी और मांसके रसकी वस्ति देवै । जिसको निरूहवस्ति दी हो उस मनुष्यको भोजनके पश्चात् अनुवासनवस्ति देवै । सुकुमार शरीरवालेको, वृद्धको और बालकको कोमलवस्ति हितकारक है, जो इनको तीक्ष्ण वस्ति दी जाय तो इनके बलका और आयुका नाश होताहै । विद्वान् वैद्य प्रथम उत्क्लेशनवस्ति देवै, पश्चात् दोषहरवस्ति देवै और तदनन्तर संशमनीय-वस्ति देवै ॥ १४२–१४७ ॥

अथोत्क्लेशनवस्तिः ।

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा ॥ हपुषाफलकल्कश्च वस्तिरुत्क्ले-शनः स्मृतः ॥ १४८ ॥

अण्डीके बीज,महुएकी छाल, पीपल, सेंधानोन, वच और पलाशीके फलका कल्क, इनकी वस्ति देनेको उत्क्ले-शन वस्ति कहतेहैं कि, जिससे दोष पकर अपने अपने स्थानोंसे छूटकर अलग होजातेहैं ॥ १४८ ॥

अथ दोषहरवस्तिः ।

शताह्वा मधुकं बिल्वं कौटजं फलमेव च॥

सकाञ्जिकः सगोमूत्रो वस्तिर्दोषहरः स्मृतः॥ १४९॥

शतावर, महुआ, वेलगिरी, इन्द्रजौ और कांजी इनको गोमूत्रमे पीसकर उससे वस्ति देवै, उसको दोपहरवस्ति कहतेहैं, कि जिससे वात आदिक दोषोका नाश होताहै॥ १४९॥

अथ शमनवस्तिः।

प्रियंगुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम्॥ सक्षीरः शस्यते वस्तिर्दोषाणां शमनः स्मृतः॥ १५०॥

फूलप्रियंगु (ककूँदनिके बीज), महुआ, नागरमोथा और रसौत इनको दूधमे पीसकर उससे वस्ति देवै, यह संशमनीयवस्ति कहातीहै कि, जिससे दोषोका शमन होताहै॥ १५०॥

अथ लेखनवस्तिः।

त्रिफलाक्काथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः॥ ऊषकादिप्रतीवापैर्वस्तयो लेखनाः स्मृताः॥ १५१॥

हरड, बहेडा और आमलेका क्काथ, गोमूत्र, शहत और जवाखार इनसे जो वस्ति देवै उसको लेखन वस्ति कहते हैं, ये वस्ति लेखन हैं॥ १५१॥

अथ बृंहणवस्तिः।

बृंहणद्रव्यनिष्क्काथैः कल्कैर्मधुरकैर्युताः॥ सर्पिर्मांसरसोपेता वस्तयो बृंहणाः स्मृताः॥ १५२॥

धातुओंको बढानेवाले पदार्थोंका क्काथ, मधुर पदार्थोंका कल्क, घी और मासके रससे जो वस्ति दी जाय वह बृहणवस्ति कहातीहै, इस वस्तिसे धातुओंकी वृद्धि होतीहै॥ १५२॥

अथ पिच्छिलवस्तिः।

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीपुष्पजांकुराः१५३

ऐरावती [नारङ्गी] शेलुः [बहुआर]॥

क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुक्ता मात्रा पिच्छिलसंज्ञिताः॥ अजोरभ्रैणरुधिरैर्युक्ता देया विचक्षणैः॥ १५४॥

अजश्छागः। उरभ्रो मेषः। एणः कृष्णमृगः॥

मात्रा पिच्छिलवस्तीनां पलैर्द्वादशभिर्मता॥ १५५॥

बेर, नारंगी, शेलु (निसोरे) शेमलके फूलोके अकुर, इनको दूधमें पकाकर मधु डालकर बकरेके, घोडेके तथा काले हिरणके रुधिरके साथ जो वस्ति दीजाय वह पिच्छिलवस्ति कहातीहै, इस वस्तिसे शरीरमे पिच्छिलता होतीहै। पिच्छिलवस्तिकी मात्रा बारहपलकी जाननी॥ १५३–१५५॥

अथ निरूहमात्राविधिः।

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्॥ विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम्॥ १५६॥ एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्॥ सम्मूर्च्छिते कषायन्तु चतुःप्रसृतिसम्मितम्॥ १५७॥ गृह्णीयाच्च तदा वाल्पमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्॥ क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक्॥ १५८॥ एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतिर्भवेत्॥ वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहस्य षट्पलम्॥ १५९॥ पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहं पलत्रयम्॥ कफे तु षट्पलं क्षौद्रं क्षिपेत्स्नेहं चतुष्पलम्॥ १६०॥

प्रथम एक तोला सेधानोन लेकर सोलह तोले शहत डालकर खूब पीसे, पश्चात् उसमें चौबीस तोले स्नेह डालकर सबको मर्दन करके खूब मिलालेवै, पश्चात् उसमें आठ तोले कल्क डालकर घोटलेवै, फिर बत्तीस (३२) तोले क्काथ और तत्पश्चात् सोलह तोले योग्य चूर्ण डालकर सबको खूब मर्दन करै, फिर विद्वान् वैद्य उससे निरूहवस्ति देवै, इस प्रकार करी हुई वस्ति तोलमे बारह प्रसृति होतीहै। विशेष यह है कि वातकी अधिकता हो तो चारपल शहते और छे पल स्नेह डालै, पित्तकी अधिकता हो तो चार पल शहत और तीन पल स्नेह डालै, और कफकी अधिकता हो तो छे पल शहत और चार पल स्नेह डालै॥ १५६–१६०॥

अथ मधुतैलकवस्तिः।

एरण्डक्काथतुल्यांशं मधुतैलं पलाष्टकम्॥

शतपुष्पापलार्द्धेन सैन्धवार्द्धेन संयुतम् ॥ मधुतैलकसंज्ञोऽयं वस्तिर्दारुविलोडितः ॥ ॥ १६१ ॥ मेदोगुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्त्तनाशनः ॥ बलवर्णकरश्चैव वृष्यो दीपनबृंहणः ॥ १६२ ॥

आठपल एरंडकी जडका क्वाथ करके उसमें चारपल शहत, चारपल तेल, आधीपल (दो तोले) सौंफ और आधापल सैंधानिमक डालकर सबको रईसे विलोवे (मथे) यह मधुतैलक वस्ति कहातीहै । इस पिचकारीसे बलकी वृद्धि होतीहै, वर्ण उत्तम होताहै, मैथुनकी शक्ति बढतीहै, अग्नि प्रदीप्त होतीहै, धातुकी पुष्टि होतीहै, और मेद, गुल्म, प्लीहा, मल तथा उदावर्त्त इन सबका नाश होताहै ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

अथ यापनवस्तिः ।

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतं प्रसृतं भवेत् ॥ हपुषासैन्धवाक्षांशो वस्तिः स्याद्यापनः परः ॥ १६३ ॥

शहत, घी, दूध और तेल इनको आठ आठ तोले लेकर उसमें एक तोला हाऊबेर और एक तोला सैंधानोन डालकर घोटे, इसकी जो पिचकारी करे उसको यापनवस्ति कहतेहैं, यह वस्ति पाचन और दस्तावर है ॥ १६३ ॥

अथ युक्तरथवस्तिः ।

एरण्डमूलनिष्काथो मधुतैलं ससैन्धवम् ॥ एष युक्तरथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः ॥ १६४ ॥

एरंडकी जडका क्वाथ करके उसमें शहत, तेल, सैंधा, नोन वच और पीपल डाले तो वह पिचकारी युक्तिरथ वस्ति कहातीहै ॥ १६४ ॥

अथ सिद्धवस्तिः ।

पञ्चमूलस्य निष्काथैस्तैलं मागधिका मधु ॥ ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ॥ १६५ ॥ स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णताम् ॥ वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहवस्तिवत् ॥ १६६ ॥

पंचमूलके क्वाथमें तेल, पीपल, सैंधानिमक, तथा मुलहटी डालकर जो पिचकारी दीजाय वह सिद्धवस्ति कहातीहै । वस्ति देनेवाले मनुष्यको गरमजलसे स्नान करना, दिनमें सोना और अजीर्णकारक पदार्थ खाना, इन सबोंको छोडदेना चाहिये और सब स्नेहवस्तिकी रीतिके अनुसार आचरण करे ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

अथोत्तरवस्तिविधिः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि वस्तिमुत्तरसंज्ञितम् ॥ निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञकः ॥ ॥ १६७ ॥ द्वादशांगुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् ॥ मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥ १६८ ॥ पञ्चविंशतिवर्षाणामधो मात्रा द्विकार्षिकी ॥ तदूर्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः ॥ १६९ ॥ अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः ॥ स्थितस्य जानुमात्रे च पिष्टे स्निग्धशलाकया ॥ १७० ॥ स्निग्धया मेढ्रमार्गे तु ततो नेत्रं नियोजयेत् ॥ शनैःशनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्रन्ध्रांगुलानि षट् ॥ १७१ ॥ ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं विनिर्हरेत् ॥ ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ॥ १७२ ॥

अब इसके उपरांत उत्तरवस्ति—लिंगमें अथवा योनिमें पिचकारी मारनेकी विधि कहताहूँ, यह वस्ति निरूहणवस्ति देनेके पश्चात् देनी चाहिये, इसीकारण इसको उत्तरवस्ति कहतेहैं । मध्यमें गौके कानके समान कर्णिकावाली, मालतीके फूलकी डंडीके समान और सरसों जिस छिद्रमें निकल जाय इतने बडे छेदवाली, ऐसी बारह अंगुलकी नली बनावे । पचीस वर्षसे हीन अवस्थावालेको इस वस्तिमें स्नेहकी दो तोलेकी मात्रा, पचीस वर्षसे अधिक अवस्थावालोंको चारतोलेकी मात्रा देवे ऐसा उत्तम वैद्य कहतेहैं । निरूहवस्तिसे शुद्ध हुए और स्नानसे तथा भोजनसे तृप्त हुए पुरुषको आसनपर उकरू बैठाकर उसके लिंगमें प्रथम जैसी चाहिये ऐसी चिकनी सलाई लेकर उसके मार्गको साफ करके पश्चात् घीसे भरी छै अंगुलकी नली धीरे धीरे लिंगके छिद्रमें डाले, पश्चात् वस्तिको दबाकर धीरेसे नली बाहर निकाल लेवे, बाहर निकालकर पश्चात् लिंगमेंसे स्नेह बाहर निकाले तब पूर्वोक्त कही हुई स्नेहवस्तिकी रीतिके अनुसार करे, इस प्रकार करना हितकारी है ॥ १६७ ॥ १७२ ॥

स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्दशांगुलम्॥मुद्गप्रवेशयोग्यञ्च योन्यन्तश्चतुरंगुलम् ॥१७३॥ द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं वियोजयेत्॥मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमंगुलम् ॥ १७४ ॥ शनैर्निष्कम्पमाधेयं सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः॥ मालतीपुष्पवृन्ताभं नेत्रमित्युदितं पुनः ॥ १७५ ॥ सूक्ष्मशब्दाभिधानं बालानां ततोऽपि नेत्रस्य सूक्ष्मताबोधनार्थम् ॥

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी॥मूत्रमार्गे पलोन्मानं बालानां च द्विकार्षिकी ॥१७६॥ उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्द्धजान्वै विचक्षणः ॥ अप्रत्यागच्छति भिषग्वस्ताबुत्तरसंज्ञिते ॥ १७७ ॥ भूयो वस्तिं विदध्याच्च संयुक्तं शोधनैर्गुणैः॥ फलवर्त्तिं विदध्याद्यो योनिमार्गे दृढां भिषक् ॥१७८॥ सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम्॥दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्वस्तिं विशारदः॥क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा ॥ १७९ ॥

दह्यमाने वस्तौ, यस्मिन् स्थाने वस्तिर्दत्तस्तस्मिन् दह्यमाने ॥

वस्तिः शुक्ररुजः पुंसां स्त्रीणामार्त्तवजा रुजः॥ हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचितो मेहिने क्वचित् ॥१८०॥ सम्यग्दत्तस्य लिंगानि व्यापदः क्रम एव च ॥ वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानाः स्नेहवस्तिना ॥ १८१ ॥

स्त्रियोंके अंगमें उत्तरवस्तिकी क्रिया करनी हो तो कनिष्ठ अगुलीके सदृश मोटी और जिसमे मूँग निकलजाय इतने छेदवाली दश अंगुलकी सूक्ष्म नली बनवावै, यह नली गर्भाशयमे चार अगुल डाले और मूत्रके मार्गमे डालनी होय तो दो अगुल डालै। बालकोको मूत्रकृच्छ्रका विकार हुआहो तो इससे भी अधिक सूक्ष्म नली बनवाकर हाथको कांपनेसे रोककर धीरे धीरे लिगके भीतर एक अगुल डाले, ये नली मालतीके फूलकी डडीके सदृश चाहिये ऐसा ऊपर कहआये हैं। स्त्रियोके गर्भाशयमे स्नेहकी आठ तोलेकी मात्राकरे और मूत्रके मार्गमे चार तोलेकी मात्रा करे, बालकोके लिगमे दोतोलेकी मात्रा करे। विद्वान् वैद्य स्त्रीको सीधी (चित्त) सुलाकर घुटने ऊपरको करके पिचकारी मारे। ये उत्तरवस्ति बाहर न निकले तो वैद्य शोधनगुणवाली दूसरी पिचकारी मारे, अथवा योनिके मार्गमें सूतसे बनी चिकनी और शोधनपदार्थोंको सयुक्त करके दृढ फलवर्त्ती प्रवेश करे। जिस स्थानसे पिचकारी मारी हो उसी स्थानमे दाह होय तो चतुर वैद्य दूधवाले वृक्षोके क्काथसे अथवा शीतल जलसे दूसरी पिचकारी मारे। यह उत्तरवस्ति पुरुषोके वीर्यके दोषो (रोगो)को और स्त्रियोके ऋतुसबधी दोषोको नष्ट करतीहै। प्रमेह रोगवालोको कदापि उत्तरवस्तिकी क्रिया नही करे, उत्तरवस्ति भलीभॉति होनेके लक्षण, भलीभॉति न देनेसे हुई पीडा और अन्य समस्त अनुक्रम स्नेहकी वस्तिके सदृशही जानने ॥१७३–१८१॥

फलवर्त्तिविधिः।

घृताभ्यक्ते गुदे क्षिप्ता श्लक्ष्णा स्वांगुष्ठसन्निभा ॥ मलप्रवर्तिनी वर्तिः फलवर्त्तिश्च सा स्मृता ॥ १८२ ॥

मल निकलनेके लिये गुदामे घी चुपडकर रोगीके अँगूठेके सदृश मोटी और चिकनी वत्ती प्रवेशकरे, इसको वैद्य लोग फलवर्त्ति कहतेहैं ॥ १८२ ॥

नस्यग्रहणविधिः।

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् नावनं नस्यकर्मेति तस्य नाम द्वयं मतम् ॥ १८३ ॥

नस्यकर्म नासिकायां कर्म चिकित्सा येन तत् नस्यकर्म ॥

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा ॥ रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥१८४॥ कफपित्तानिलध्वंसि पूर्वमध्यापराह्णके ॥ दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥ १८५ ॥

दिनस्य त्रिधा विभक्तस्य पूर्वभागादौ ॥
नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पितः॥
तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी ज्वरदूषितः
॥ १८६ ॥ अजीर्णी दत्तवस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः॥ क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्त्तो वृद्धबालकौ ॥ वेगावरोधी श्रान्तश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥ १८७ ॥

नस्यमिति शेषः ॥

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत् ॥
अशीतिवर्षादूर्ध्वश्च नावनं नैव दीयते १८८

नाकसे ग्रहण करनेकी जो औषधि हो उसको विद्वान् नस्य कहतेहैं, इसके नावन और नस्यकर्म ये दो नाम हैं। जिससे नाककी चिकित्सा होतीहै, इस कारण उसको नस्यकर्म कहतेहैं। रेचन और स्नेहन ये नस्यके दो भेद हैं। जिस नस्यसे भीतरके पदार्थोंकी हीनता हो वह रेचन कहाताहै और जिस नस्यसे भीतरके पदार्थोंकी वृद्धि करीजाय वह स्नेहन कहाताहै। कफ नष्ट करना हो तो पूर्वाह्ण (प्रातःकालके) समयमें नस्य देवे, पित्तका नाश करना होय तो मध्याह्न समयमे नस्य देवे और वातको नष्ट करना हो तो अपराह्ण समयमे नस्य देवै, जो रोग भयकर होय तो रात्रिमें भी नस्य देवे। भोजनके पश्चात्, तत्काल मेघोंसे छाये हुए दिनमें (अर्थात् जिसदिन बद्दल होय), लंघन करके, नवीन प्रतिश्याय (जुकाम) रोगमें, गर्भिणी स्त्रीको, ज्वरसे दूषित हुएको, अजीर्णमे जिसको वस्ति दी हो उसको, जिसने स्नेह जल अथवा आसव तुरत पिया हो उसको, क्रोध हो तब, शोकाकुलको, प्यासा, वृद्ध, बालक, मलमूत्रका वेग रोकनेवाला, परिश्रमी और जिसको स्नान करनेकी इच्छा हो, इन सबको नस्य देना वर्जित है। बालक जबतक आठ वर्षका न हो तबतक उसको नस्य नही देवै और अस्सी वर्षसे ऊपरके वृद्धको भी नस्य नहीं देवै ॥ १८३–१८८ ॥

रेचननस्यविधानम् ।

अथ वै रेचनं नस्यं ग्राह्यं तैले सुतीक्ष्णके ॥
तीक्ष्णं भेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथे रसैस्तथा ॥ १८९ ॥

तीक्ष्ण तेलोंसे अथवा तीक्ष्ण औषधियोंमे पकाये हुए स्नेहोंसे अर्थात् तैलोंसे क्वाथोंसे वा रसोंसे रेचन नस्य देवै ॥ १८९ ॥

रेचननस्यविधिः ।

नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दवः॥
प्रत्येकं रेचनं योग्यं मुख्यमध्याल्पमात्रया ॥ १९० ॥

नासिकाके दोनों छिद्रोंमे रेचन नस्य देवै, प्रत्येक छिद्रमे आठ आठ बूँदें डाले यह उत्तम मात्रा है. छः छः बूँदें डाले यह मध्यम मात्रा है. और चार चार बूँदें डाले यह कनिष्ठ मात्रा है ॥ १९० ॥

नस्यौषधप्रमाणम् ।

नस्यकर्मणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम् ॥ हिंगु स्याद्यवमात्रन्तु माषैकं सैन्धवं मतम् ॥ १९१ ॥ क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयञ्च त्रिकार्षिकम् ॥ कार्षिकं मधुरद्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत् १९२॥

नस्यकर्ममें तीक्ष्ण औषधि आधा तोला लेवै, हींग एक जौभर लेवै, सेंधा निमक एक मासा लेवै, दूध आठ शाण लेवै, पानी तीन तोले लेवै और मधुर द्रव्य एक तोलेभर लेवै ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

रेचननस्यस्य द्वौ भेदौ ।

अवपीडः प्रधमनो द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ॥
शिरोविरेचनस्यार्थे तौ तु देयौ यथायथम् ॥ १९३ ॥

रेचन नस्यके अवपीड और प्रधमन इन नामवाले और दो भेद हैं। नस्य देकर मस्तकको खाली करना हो तो योग्यरीतिसे इन दोनों भेदोंका उपयोग करै ॥ १९३ ॥

नस्यभेदद्वयलक्षणम् ।

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः॥ सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ १९४ ॥ षडंगुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत् ॥ तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥ १९५ ॥

जिसके साथ तीक्ष्ण पदार्थ मिले हों ऐसी औषधिका कल्क करके उसको निचोडकर जो रस निकले

वह अवपीड कहाताहै। छैः अगुलकी दो मुखवाली नलीमे आधा तोला तीक्ष्णचूर्ण भरकर मुखसे फूंककर उस चूर्णको नाकमे चढा देवै उसको प्रधमन कहतेहैं ॥१९४॥१९५॥

रेचनस्नेहननस्यस्योपयोगः।

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये ॥ अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे ॥ १९६ ॥ शोफापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वै रेचनं हितम् ॥ भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते ॥ १९७ ॥ गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे ॥ मनोविकारे कृमिषु पूज्यते चावपीडनम् ॥ १९८ ॥ अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते ॥ चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः१९९

ऊर्ध्वजत्रुगत अर्थात् हसलीके ऊपरके रोगोंमे, कफसे उत्पन्न हुए रोगोमे, स्वरके क्षयमे, अरुचिमे, जुकाममे, शिरके दर्दमें, पीनसमें, सूजन, मृगी तथा कोढमें, रेचन नस्य देना हितकारी है। डरेहुएको, स्त्रियोको, कृशमनुष्योको और बालकोको स्नेहन नस्य देना उत्तम है। गलेके रोगमे, सन्निपातमे, निद्रामे, विषमज्वरमें, मनके विकारोंमे (अपस्मारादिकोमे) और कृमिरोगमे अवपीडन नस्य देना योग्य है। अत्यन्त कुपित हुए दोषोंमें और जिनमें ज्ञान नष्ट होजाय ऐसे रोगोमें धीर वैद्योको चूर्णका प्रधमन नस्य देना योग्य है, कारण वह अत्यत तीक्ष्णहै ॥ १९६–१९९ ॥

रेचननस्यौषधिगुणौ।

नस्यं स्याद्गुडशुण्ठीभ्यां पिप्पलीसैन्धवेन वा ॥ जलपिष्टेन कर्णाक्षिनासामूर्द्धभवा गदाः ॥ २०० ॥ मन्याहनुगलोद्भूता नश्यन्ति भुजपृष्ठजाः ॥ मधूकसारकृष्णाभ्यां वचामरिचसैन्धवैः ॥ २०१ ॥ नस्यं कोष्णाम्भसा पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥ अपस्मारे तथोन्मादे सन्निपातेऽपतन्त्रके ॥ २०२ ॥

सोठके चूर्णको तथा गुडको एकत्र करके अथवा पीपल तथा सेंधेको पानीमें पीसकर उससे नस्य देवै तौ कानके, नेत्रोके, नाकके, मस्तकके, गरदनके, ठोडीके, बाहुओके और पीठके रोग नष्ट होते है। महुएका सत, पीपल, वच, मिरच और सेंधा, इनको थोडे थोडे उष्ण जलमे पीसकर उससे नस्य देवै तौ मृगी, उन्माद, सन्निपात और अपतंत्रक वात इनकी असज्ञाका नाश होताहै ॥२००–२०२॥

रेचननस्यापरविधिः।

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च ॥ बस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥ २०३ ॥

श्वेतमरिचम् [सहिंजनेका बीज] ॥

सैधानोन, सहिजनेके बीज, सरसो और कूठ, इनको बकरेके मूत्रमे पीसकर इससे नस्य देवै तौ तन्द्रा नष्ट होती है ॥ २०३ ॥

प्रधमननस्यौषधिः।

रोहितस्य च पित्तेन भावितं मरिचं वचा ॥ कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः२०४

मिरच, वच और कायफल इनका चूर्ण करके रोहेडा (रोहू) मछलीके पित्तकी भावना देकर नलीसे प्रधमन नस्य देवै ॥ २०४ ॥

बृंहणस्नेहननस्यकल्पना।

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना ॥ मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥ ॥ २०५ ॥ मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताऽष्टभिः ॥ मध्यमा तु चतुःशाणैर्हीना शाणमिता मता ॥ २०६ ॥ एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः॥ मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः ॥ २०७ ॥

एकान्तरम् एकं दिनमन्तरं नस्यशून्यम् यत्र तत्र एकान्तरम् ॥

त्र्यहं पञ्चाहमथ वा सप्ताहं वा सुयन्त्रितः२०८

अथ वा त्र्यहम् त्रीण्यहानि यावत् प्रतिदिनम्। एवं पञ्चाहं सप्ताहम्। सुयन्त्रितः सावधानः। यथा छिक्का न भवति ॥

[illegible] विरेचितेन [illegible] व्यापदो विविधाः स्मृताः ॥ तासां हेतूनजस्यापि विज्ञेयानां यथाक्रमम् ॥ दोषोद्रेकनिमित्तानु वक्ष्यामस्तन्मनोरमम् ॥ २०९ ॥

तन्मनोरमम् ॥

[illegible] दोषोद्रेकनिमित्तानु यथास्वं वक्ष्यते हितम् ॥ शिरोनासाक्षिसर्वांगे सर्वावस्थासु भेषजैः ॥ २१० ॥ अन्नस्वेदोपचारे तीक्ष्णं नस्यावचूर्णने गंडे ॥ मुखशोषे कर्णनादे वातविनाशे तथा ॥ २११ ॥ अवपीडिते चैव शिरसि प्रतिश्याये ॥ पुनर्नवे वैद्यं नस्यं [illegible] ॥ २१२ ॥

[illegible] विरेचन, तिक्त नस्य का [illegible] प्रयोग, [illegible] करो, तैल लिखकर [illegible] (इनसे नामक रोग) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ २०९ ॥ २१२ ॥

बृंहणस्नेहननस्ययोर्विधिः ।

सशर्करं पयःपिष्टं भृष्टमाज्येन कुंकुमम् ॥ नस्यप्रयोगतो हन्याद्वातरक्तभवा रुजः ॥ २१३ ॥ भृशशङ्खाक्षिशिरःकर्णमूर्धवर्त्मार्दितभेदकान् ॥ नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नागबलेन वा ॥ माषादिना वा सर्पिर्भिस्तद्वद्वेषजसाधितैः ॥ २१४ ॥

अणुतैलमुक्तं सुश्रुतेन । तद्यथा—"तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठानि आदाय वैरनप्यराल्ये तिलाः परिपीडितास्तानि अणनि खण्डशः कर्त्तयित्वा उलूखले मंकुटेन कटाहे पानीयेन आप्लाव्य क्वाथयेत् ततस्तैलं निःसरति तैलं क्वथितं जलाविःसार्य वातघ्नोपचारकेन पचेत । तत् अणुतैलमिति तद्वातरोगहरम्" ॥

नस्यस्यान्यो विधिः ।

तल कफे स्याद्घाते च केवले पवने तथा ॥ दद्यान्नस्यं सदा पित्ते सर्पिर्मज्जानमेव च ॥ २१५ ॥ माषात्मगुप्तारास्नाभिर्बलारुवुकरौहिषैः॥कृतोऽश्वगन्धया क्वाथो हिंगुसैन्धवसंयुतः ॥ २१६ ॥ कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकम्पनम् ॥ जयेदर्दितवातञ्च मन्यास्तम्भापबाहुकौ ॥ ॥ २१७ ॥ प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्वित्रबिन्दुमिता मता ॥ प्रत्येकशो नासिकया स्नेहनेति विनिश्चितम् ॥ २१८ ॥ स्नेहे ग्रन्थिद्वयं यावन्निमज्ञा चाद्भुता ततः ॥ तर्जनी यं स्रवेद्बिन्दुं सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥ २१९ ॥ एवंविधैर्बिन्दुसंज्ञैरष्टाभिः शाण उच्यते ॥ स देयो मर्शनस्येषु प्रतिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥ २२० ॥ समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश ॥ प्रभाते दन्तकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ॥२२१॥ व्यायामाध्वव्यवायान्ते विण्मूत्रान्तेऽञ्जने कृते॥ कवलान्ते भोजनान्ते दिवास्वप्नोत्थिते तथा ॥ २२२ ॥ वमनान्ते तथा सायं प्रतिमर्शः प्रयुज्यते ॥ ईषदुच्छिक्तनास्नेहो यथा वक्त्रं प्रपद्यते ॥ नस्ये निषिक्तं तं विद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः ॥२२३॥

मात्रायुक्तम् ॥

उच्छिष्टं न पिबेच्चैतन्निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥ २२४ ॥

उच्छिष्टम् नस्यावशिष्टम् ॥

कफवातरोगमें और केवल वातमे तैलका नस्य देवै, पित्तरोग हो तौ सर्वदा घीका और मज्जा नाम चरबीका नस्य देवै । उडद, कौंचके बीज, रायसन, एरडकी जड, बला, रोहिषतृण और असगध इनका क्वाथ करके उसमे हींग तथा सैंधानोन डालकर किंचित् उष्ण करके क्वाथका नस्य देवै तौ कपसहित पक्षाघात (अर्द्धांग), अर्दितवात (लकवा), गरदनका रहजाना और भुजाओंका रहजाना इन सब रोगोंको नष्ट करैहै । नाकके प्रत्येक नथनेमें स्नेहकी दो तीन बूँदे डालै तौ इसको प्रतिमर्श नस्य कहते-हैं । तर्जनी अगुलीको स्नेहमें दो पोरुएतक डुबोकर निकाल लेवै उस अगुलीमेसे जो बूँदे टपकैं वह बिन्दुरूप मात्रा कहातीहै । इसी कारण आठ बिन्दुओंसे शाण नामक मात्रा होतीहै कि, जो मर्शनामक नस्यमे उपयोगी है । प्रतिमर्श नामक नस्यमे ऐसी दो बूँदोंका उपयोग करनेसे आताहै । शाणरूप मात्रासे जो नस्य दियाजाय वह मर्श कहाताहै और दो दो बूँद जिस नस्यमे दीजायँ वह प्रतिमर्श कहाताहै । विद्वानोंको प्रतिमर्श नस्य देनेके चौदह समय जानने । प्रभातसमय १ दतौनके पश्चात् २ घरसे बाहर निकलते समय ३ व्यायाम (कसरत) करनेके पीछे ४ मार्ग चलकर आनेके पश्चात् ५ मैथुनके पीछे ६ मलत्यागनेके पश्चात् ७ मूत्रके पीछे८ अजन लगानेके पीछे ९ कवल खानेके पश्चात् १० भोजनके पश्चात् ११ दिनमे सोनेके पीछे १२ वमन करनेके पश्चात् १३ और सायकालमे प्रतिमर्श नस्य दिया जाता है १४ किञ्चित् छीक आनेपर नाकमे डालाहुआ पदार्थ यदि मुखमे आजाय तब जानना कि प्रतिमर्शकी जैसी मात्रा चाहिये वैसी होचुकी है, नाकमेसे मुखमे आयहुए पदार्थको पियै नहीं वरन् तुरन्त थूकदेवै ॥ २१५–२२४ ॥

प्रतिमर्शनस्यविषयः ।

क्षीणे तृष्णास्यशोषार्त्ते बाले वृद्धे च पूज्यते ॥ प्रतिमर्शान्न जायन्ते रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ॥ २२५ ॥ वलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत् ॥ विभीतं निंबगम्भारी शिवा शेलुश्च काकिनी ॥२२६॥ एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् ॥ २२७ ॥

क्षीण, तृषासे व्याकुल, मुख तथा शोष रोगी और वृद्धको प्रतिमर्श नस्य हितकारी है । प्रतिमर्शका उपयोग करनेसे हँसलीके ऊपर भागमे रोग उत्पन्न नहीं होते, वली (देहमें सिकुरे पडजाना) तथा पलितका नाश होता-है और इन्द्रियोंकी शक्ति उत्तम होतीहै । बहेडा, नीम, कंभारी, हरड, निसोरे और मालकांगनी, इनमेसे एक

पदार्थके तेलका नस्य लेनेका अभ्यास करे तो अवश्य पलित (विना समय वालोंका श्वेत होजाना) नष्ट होता है ॥ २२५-२२७ ॥

नस्यसामान्यविधिः ।

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे ॥ देशे वातरजोमुक्ते कृतदन्तनिघर्षणम् ॥ विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नभालगलं तथा ॥ ॥ २२८ ॥ उत्तानशायिनं किञ्चित्प्रलम्बशिरसं नरम् ॥ आस्तीर्णहस्तपादञ्च वस्त्राच्छादितलोचनम् ॥ २२९ ॥ समुन्नामितनासाग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ॥ कोष्णेनाच्छिन्नधारेण हेमतारादिशुक्तिभिः ॥ शुक्त्या वा यंत्रयुक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत् २३० प्लोतैर्वस्त्रैस्तदुपलक्षितैस्तूलैरपि ॥

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत् ॥ न कुप्येन्न प्रभाषेत नोच्छिक्केन्न हसेत्तथा ॥ २३१ ॥ एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तः सम्प्रपद्यते ॥ ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसम्भवः ॥ २३२ ॥ शृंगाटकमभिव्याप्य स्थापयेन्न गिलेद् द्रवम् ॥ पञ्चसप्त दशैव स्युर्मात्राः स्नेहस्य धारणे २३३ ॥ उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावक्त्रागतं द्रवम् ॥ वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत्संमुखं न हि ॥ २३४ ॥

अब नस्य लेनेकी विधि कहताहूँ। दतौन करनेके पश्चात्, शुद्धि करनेके पीछे और धूमपान कराकर कपालमें तथा गलेमे स्वेदित करनेके पीछे रोगीको वायु तथा रज (धूल) से रहित स्थानमें चित्त सुलावै, मस्तकको किंचित् लटकता रहने देवै, हाथ पाव लम्बे करावै, नेत्रोंको वस्त्रसे ढककर और नाककी नोक (टिसुआ) ऊँची करके नस्य देवे। सोने अथवा चादीआदिकी चमचीसे वा सीपसे या किसी यन्त्रकी युक्तिसे वा कपडे अथवा रुईके फोहासे, बीचमें धार न टूटे इसप्रकार किंचित् उष्ण नस्य नाकमे डाले। नाकमे नस्य जिस समय डाला जाता हो उस समय रोगी मस्तकको नहीं हिलावै, क्रोध नहीं करै, किसीसे बोले नहीं, छीक नहीं लेवै और हँसे भी नहीं, कारण कि-मस्तक हिलाने आदिसे स्नेह भीतर नहीं पहुँचता और खाँसी, जुकाम, मस्तकपीडा और नेत्रपीडा उत्पन्न होती है। नस्यको कपालकी हड्डीतक पहुँच जानेपर स्थिर रक्खे, जिसमे निकल न जाय, पाच सात अथवा दश गुरु अक्षरोंका जब तक उच्चारण हो तबतक नस्यको धारणकर रक्खे, पश्चात् बैठकर नाकमेसे मुखमे आयेहुए द्रवको थूकदेवै, जब थूके तब दाहिनी अथवा बाई ओर थूके, किन्तु सामने नहीं थूके ॥ २२८-२३४ ॥

नस्यदानानन्तरमकर्तव्यं कर्म ।

नीते नस्ये मनस्तापं रजः क्रोधञ्च सन्त्यजेत् ॥ शयीत निद्रां त्यक्त्वा च श्रोत्तानो वाक्छतं नरः ॥ २३५ ॥ तथा शिरोविरेकान्ते धूमो वा कवलो हितः ॥ नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ॥ ॥ २३६ ॥ शुद्धिहीनातियोगा हि विज्ञेयाः शास्त्रचिन्तकैः ॥ लाघवं मलसंशुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः ॥ २३७ ॥ चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥ कण्डूः प्रदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ॥ मूर्ध्नि हीनविशुद्धेस्तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥ २३८ ॥

हीनविशुद्धेर्हीननस्येन विशुद्धेः ॥

मस्तुलुंगागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ॥ शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढं विरेचिते ॥ २३९ ॥

मस्तुलुंगम् मस्तकान्तः स्नेहः । इन्द्रियविभ्रमः इन्द्रियाणाम् अयथाविषयग्रहः ॥

नस्य देनेके पीछे मनमे सन्तापको नहीं आनेदेवे, धूलसे दूर रहे, क्रोधका त्याग करे और जबतक सौ गुरु अक्षरोंका उच्चारण हो तबतक निद्रा नहीं लेवे, चित्त सोता रहे, मस्तकको रेचननस्यसे खाली करनेपर धूमपान करे और कवल खावे यह हितकारी है । नस्यका प्रयोग करनेके पश्चात्

शास्त्र जाननेवाले लक्षणोसे शुद्धिके हीनयोगकी और अतियोगकी परीक्षा करैं। मस्तककी भलीभाँति शुद्धि होजाय तौ शरीरमे लघुता होतीहै, मल साफ उतरताहै, स्रोतोंके रोग नष्ट होतेहैं और चित्तमें तथा इन्द्रियोंमे प्रसन्नता होतीहै। हीनयोग अर्थात् नस्य अल्प देनेसे मस्तक भलीभाँति शुद्ध नही हुआ हो तब खुजली, शरीरमें चिकनापन तथा भारीपन होताहै और नाडियोमें कफ बढताहै, मस्तक बहुत खाली होगया हो तौ नाकमेंसे माथेकी चरबी गिरने लगतीहै, वायुकी वृद्धि होतीहै इन्द्रिये अपने अपने विषयको भली भाँति ग्रहण नही करसक्ती और मस्तक जड होजाताहै ॥ २३५–२३९ ॥

नस्यहीनयोगातियोग-चिकित्सा ।

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ॥ तत्र हीनेन नस्येन शुद्धे वातघ्नमाचरेत् ॥ ॥२४०॥ सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्येन दीयते ॥ कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ॥ २४१ ॥ लक्षणं तदतिस्निग्धे तत्र रूक्षं प्रदापयेत् ॥ भोजयेच्चानभिष्यन्दि नस्ये वातिकमादिशेत् ॥२४२॥

नस्यका हीनयोग और अतियोग होगया हो तौ जिससे कफ वात नष्ट हो ऐसा उपाय करै, नस्यका अल्पयोग हुआ हो तौ जिससे वातका नाश हो ऐसा उपाय करै और रेचन नस्यसे मस्तक बहुत खाली होगया हो तौ फिर घीका नस्य देवै। स्नेहन नस्यसे मस्तक बहुत स्निग्ध होगया हो तौ कफका स्राव होताहै, मस्तकमे गुरुता होतीहै और इन्द्रियोमे भ्रम होताहै। इस प्रकार हुआ हो तौ वैद्य रोगीको रूक्ष पदार्थोंका नस्य देवै, जिससे सरदी न हो ऐसे पदार्थ खावै और जिससे वातकी वृद्धि हो ऐसी क्रियाका उपयोग करै ॥ २४०–२४२ ॥

इति पञ्चकर्माणि ।

धूमपानविधिः ।

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा॥ रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः ॥ ॥ १ ॥ शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा ॥ बृंहणस्य च पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेव च ॥ २ ॥ रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च॥अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः ॥ ३ ॥ दत्तवस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा॥पिपासितश्च दाहार्तस्तालुशोषी तथोदरी ॥४॥ शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्यार्ध्मानप्रपीडितः ॥ क्षतोरस्कः प्रमेहार्त्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी ॥ ५ ॥ रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासवः॥ भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा ॥ ६ ॥ अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ॥ तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥ ७ ॥ सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा ॥ मधुराम्लौ रसौ वापि वमनाय प्रदापयेत् ॥ ८ ॥ धूमस्तु द्वादशाद्धर्षाद्गृह्यतेऽशीतिकान्न च ॥ कासश्वासप्रतिश्यायान्मन्याहनुशिरोरुजः ॥ ९ ॥ वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः सुयोजितः ॥ धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः॥ दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिवदनो भवेत् १०

शमन (कुपित हुए दोषोंको शात करनेवाला), बृहण (धातुओंको पुष्ट करनेवाला), रेचन (शरीरको दोषोंसे खाली करनेवाला), कासहा (खाँसीको नष्ट करनेवाला), वामन (वमनकारक) और व्रणधूपन (व्रणको धुआँ देनेवाला) इस प्रकार धूमपानके छः भेद हैं। मध्य तथा प्रायोगिक, ये दो शमनके पर्याय है। स्नेहन और मृदु, ये दो बृहणके पर्याय हैं। और शोधन तथा तीक्ष्ण, ये दो रेचनके पर्याय हैं। थकाहुआ, भयभीत, दुःखित, जिसके पिचकारी लगाई हो, जिसको रेच (जुलाब) दिया हो, जो रात्रिमे जागा हो, तृषित, दाहसे पीडित, जिसका तालू सूख गयाहो, उदररोगी, जिसका मस्तक तप्त हो, तिमि-

ररोगी, वमन करे हुए, अफारे वाला, उरःक्षतरोगयुक्त, प्रमेहसे पीडित, पाण्डुरोगी, गर्भवाली स्त्री, रूक्षशरीरी, क्षीण हुआ, जिसने दूध, शहद, घी अथवा आसवका उपयोग कियाहो, जिसने अन्न, दही, अथवा मछली खाई हो, बालक, वृद्ध और दुर्बलशरीरयुक्त, इनको धूमपानका ग्रहण योग्य नहीं है। जो धूम अयोग्य समयमें पिये अथवा बहुत पिये तौभी उपद्रवोंको उत्पन्न करैहै। धूमपानमें कोई उपद्रव हो तौ उसको शांत करनेके लिये घी पिये, नस्य देवै, अञ्जन ऑजैं, तृप्त करै, घी लगावै, ईखका रस पिये, दाख खावै, दूध पिये, बूराका सरबत पिये, अथवा मधुर और खट्टे रसका उपयोग करावे, बारह वर्षके प्रथम और अस्सी वर्षके पीछे धूमपान वर्जित है। जो धुएँका योग्य रीतिसे पान कराजाय तौ खाँसी, श्वास, जुखाम, गरदनका स्तभ, जाबडेका स्तंभ, मस्तककी पीडा, वातके विकार और कफके विकार नष्ट होतेहैं। धुएँका उपयोग करनेसे इन्द्रियें, वाणी, तथा मन स्वच्छ होताहै, केश, दाँत और दाढी, मूँछ दृढ होतेहैं और मुख सुगन्धित होताहै ॥ १-१० ॥

धूमपाननलिकामानम् ।

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका॥ कनिष्ठिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा ११ राजमाषागमा समस्ता नाडी ॥

धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोंगुलैः ॥ चत्वारिंशन्मितैस्तद्वद् द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ मता॥ मृदौ बृंहणे ॥

तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्ने षोडशोन्मितैः ॥ १३ ॥

तीक्ष्णे रेचने ॥

दशांगुलैर्वामनीये तथा स्याद्व्रणनाडिका १४ तथा दशांगुलमिता ॥

कलायमण्डलस्थूला कुलत्थागमरन्ध्रिका॥

शमन धूम देना होय तो रोगीके चालीस अगुलकी लंबी, बृहण धूम देना हो तो रोगीके बत्तीस अगुलकी लंबी, रेचन धूम देना हो तो रोगीके चौबीस अंगुलकी लंबी, कासनाशक धूम देना हो तो रोगीके सोलह अगुलकी लंबी वामक धूम देना हो तो रोगीके दश अगुलकी लंबी और व्रणको धूम देना हो तो भी रोगीके दश अगुलकी लंबी, नली बनवावे, यह नली तीन गठिवाली, तीन पेचोकी, छोटी अगुलीके सदृश मोटी और जिसमें चौराईका दाना चलाजाय ऐसे छिद्रवाली बनवावे, परन्तु वमन और व्रणको धूम देनेकी नली मटरके समान गोल और जिसमें कुलथीका दाना चला जाय ऐसे छिद्रवाली बनवावे ॥ ११-१४ ॥

धूमपानविधिः ।

अर्थेषिकां प्रलिम्पेच्च सुश्लक्ष्णां द्वादशांगुलाम् ॥ १५ ॥

इषिकाम् शरकाण्डम् ॥

धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टांगुलः स्मृतः॥ कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कञ्च कारयेत् ॥ १६॥ इषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्तिमादरात् ॥ अंगारैर्दीपितां कृत्वा धृत्वा नेत्रस्य रन्ध्रके ॥ १७ ॥ वदनेन पिबेद्धूमं वदनेनैव संत्यजेत् ॥ नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव धूमं त्सुधीः ॥ १८ ॥ शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा कल्कमंगारदीपितम् ॥ छिद्रे नेत्रं निवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत् ॥ १९ ॥

नली तैयार करनेके पीछे सरकडेकी बारह अगुलकी लंबी सलाई लेकर जो औषधि धूमपान करनेकी हो उसका कल्क उस सलाई पर आठ अगुलतक लगावै । एक तोलाभर कल्क लगावै, उसको छायामें सुखाकर उसमेंसे सरकडेकी सलाई निकाल लेवै फिर उस छिद्रमें घृतमें भिगोकर बत्ती बहुत सँभालकर रक्खे। इस बत्तीको अगारोंसे सुलगाकर औषधिकी नलीको नालके छिद्रमें रखकर मुखमें धुएँको पिये और धुआँ मुखसे निकाल देवै और नाकसे पीकर धुआँ मुखसे निकाल देवै। जो व्रणको धुआँ देना हो तौ अगारेसे सुलगाये

हुए कल्कको शराव सपुटमे रख ऊपरके शराव (शिकोरे) छिद्रयुक्तमे नली लगाकर उससे व्रणको धुआँ देवै१५-१९

धूमपानौषधिकल्कः।

एलादिकल्कं शमने स्निग्धं सर्जरसं मृदौ॥ रेचने तीक्ष्णकल्कञ्च श्वासघ्ने क्षुद्रकोषणम् ॥ २० ॥ वामने स्नायुचर्माढ्यं दद्याद्धूमस्य पानकम् ॥ व्रणे निम्बवचाद्यञ्च धूपनं संप्रशस्यते ॥ अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्तव्या रोगशान्तये ॥ २१ ॥

शमन धूममे इलायची आदिका, बृंहण धूममे घृतादियुक्त रालका, रेचन धूपमे राई आदि तीक्ष्ण पदार्थका, कासघ्न धूममें कटेरी और काली मिरचका, वामन धूममें स्नायु (जीवोंकी नस) और चमडे आदिका, व्रणको धूम देनेमें नीम और वच आदिका कल्क उपयोगमे लेवै. इसी प्रकार शांतिके लिये घरमें और भी धूनी देवै२०।२१

अथ गृहेदंयधूमः।

यथा–मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम् ॥ २२ ॥ मरिचं हिंगु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम् ॥ छागरोमाहिनिर्मोको विष्ठा बैडालिकी तथा ॥२३॥ अहिनिर्मोकः सर्पकंचुकः ॥ गजदन्तश्च तच्चूर्णं किञ्चिद्घृतविमिश्रितम् ॥ गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान्बालग्रहान्हरेत् ॥ पिशाचान्राक्षसान्हत्वा सर्वज्वरहरं भवेत् ॥ २४ ॥

इत्यपराजितो धूमः।

मोरपख, नीमके पत्ते, कटेरीके फल, कालीमिरच, हींग, जटामासी, विनौले, बकरीके बाल, साँपकी केंचली, बिलावकी विष्ठा और हाथीदाँत इनका चूर्ण करके उसमे थोडा घी डालकर उस चूर्णका घरमें धुआँ देवै तौ सम्पूर्ण बालग्रह, पिशाच और राक्षस दूर होते हैं और सर्व प्रकारके ज्वर भी नष्ट होतेहैं । यह धूम 'अपराजित धूम' इस नामसे कहा जाता है । ॥ २२-२४ ॥

धूमपाने त्याज्यकार्यम्।

मनस्तापं रजःक्रोधौ धूमपाने निवारयेत् ॥ नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥ २५ ॥

धूमपान करनेवाले मनमे सताप नही आने देवें, धूलसे दूर रहैं और क्रोध नहीं करैं । धुएँकी नाल किसी ताम्र आदि धातुकी बनवाना चाहिये, अथवा बाँस नरसल आदिकी बनवावै ॥ २५ ॥

गण्डूषकवलप्रतिसारणविधिः।

तत्र गण्डूषविधिः।

स्नेहक्षीरकषायादिद्रवैः सम्पूर्णमाननम्॥ आपूर्य स्थीयते तावद्विधिर्गण्डूषधारणे ॥ ॥ १॥ कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् ॥ नेत्रघ्राणश्रुतिर्यावत्तावद्गण्डूषधारणम्॥२॥ गण्डूषान्सुस्थितः कुर्य्यात्स्विन्नभालगलादिकः॥ मनुष्यः स्त्रींस्तथा पंच सप्त वाऽऽदोषनाशनात् ॥ ३ ॥

गलादिक इति आदिशब्देन गण्डकपोलौ गृह्येते सुश्रुतोक्तत्वात् ॥

(स्नेह, दूध और क्वाथ आदि द्रवपदार्थोंसे मुखको पूर्ण भरके जबतक रहसकै तबतक रक्खे, यह कुल्ले करनेके समयकी अवधि है, अथवा कफसे मुख जबतक भरजावै तबतक, अथवा जो दोष हो उसका छेदन होनेपर अथवा नेत्रोंमेसे और नाकमेंसे जब पानी झरने लगै तबतक मुखमें क्वाथको धारण करै । मनुष्य स्वस्थतापूर्वक कपालमे, गलेमे तथा गालोंपर जबतक पसीना आवै तबतक अथवा जो दोष हो उसका नाश होनेतक तीन, पाँच तथा सात कुल्ले करै)॥ १-३ ॥

गण्डूषभेदाः।

चतुर्विधः स्याद्गण्डूषः स्नेहनः शमनस्तथा॥

स्वेदौ तापोष्मजौ प्रायः श्लेष्मघ्नौ समुदीरितौ ॥ उपनाहस्तु वातघ्नः पित्तसङ्गे द्रवो हितः ॥ २ ॥

द्रवः स्वेदः ॥

महाबले महाव्याधौ शीते स्वेदो महान्स्मृतः ॥ दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो मतः ॥ ३ ॥ बलासे रूक्षणः स्वेदो रूक्षस्निग्धः कफानिले ॥

रूक्षणः रूक्षयतीति रूक्षणः नन्द्यादित्वाल्ल्युट् प्रत्ययः ॥

कफमेदोवृते वाते कोष्णं गेहं रवेः करान्॥ नियुद्धं मार्गगमनं गुरु प्रावरणं ध्रुवम् ॥ ॥ ४ ॥ चिन्ताव्यायामभारांश्च सेवेतामयमुक्तये ॥ येषां नस्यं प्रदातव्यं वस्तिश्चापि हि देहिनाम् ॥ शोधनीयाश्च ये केचित्पूर्वं स्वेद्याश्च ते मताः ॥ ५ ॥ स्वेद्या ऊर्द्धत्रयोऽपीह भगन्दर्यर्शसस्तथा ॥ अश्मर्या चातुरो जन्तुः शमयेच्छस्त्रकर्मणः ॥ ६ ॥

शस्त्रकर्मणः ऊर्ध्वं पश्चाच्च इति सुश्रुते ॥

पश्चात्स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भगदे तथा ॥ काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी ॥ ७ ॥ सर्वान्स्वेदान्निवाते च जीर्णान्ते वावचारयेत् ॥ स्वेदाद्धातुस्थिता दोषाः स्नेहक्लिन्नस्य देहिनः ॥ ८ ॥ द्रवत्वं प्राप्य कोष्ठान्तर्गत्वा यान्ति विरेकताम् ॥ स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ॥ स्वेद्यमानशरीरस्य हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥ ९ ॥

शीतलैः आर्द्रवस्त्रादिभिः ॥

अजीर्णी दुर्बली मेही क्षतक्षीणः पिपासितः ॥ अतिसारी रक्तपित्ती पाण्डुरोगी तथोदरी ॥ मेदस्वी गर्भिणी चैव न हि स्वेद्या विजानता ॥ १० ॥

"स्वेदादेषां याति देहो विनाशं नो साध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः ॥"

एतान्यपि मृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ॥ मृदुस्वेदं प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥ ११ ॥ अतिस्वेदात्सन्धिपीडा दाहस्तृष्णा क्लमो भ्रमः ॥ पित्तासृग्विपिडिकोपस्तत्र शीतैरुपाचरेत् ॥ १२ ॥

तापस्वेद, उष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद, इस भाँति स्वेद (पसीने) निकालनेके चार भेद हैं. ये सम्पूर्ण स्वेद वायुरोगोंको नष्ट करै हैं। तापस्वेद और ऊष्मस्वेद, ये विशेष करके कफनाशक हैं, उपनाहस्वेद, वायुको नष्ट करै है और पित्तका विशेष सम्बन्ध होय तो द्रवस्वेद हितकारी होताहै। अत्यन्त बलवान् वातसम्बन्धी महारोग होय तो प्रबलस्वेद करावै, मध्यम प्रकारकी व्याधि हो तो मध्यम प्रकारका स्वेद देवै और अल्प व्याधि हो तो अल्प साधारण स्वेद देवै। कफका रोग होय तो रूक्षकरनेवाला स्वेद देवै और कफसहित वायुका रोग होय तो रूक्षता तथा स्निग्धता इन दोनोको करनेवाला स्वेद देवै। कफ तथा मेदसहित वायुरोग हो तो इस रोगसे छूटनेके लिये किंचित् गरमीयुक्त गृहमे रहै, सूर्यकी किरणोंका सेवन करै, युद्ध करै, मार्गमें अधिक चले और मोटे तथा भारी वस्त्र पहरै, चिन्ता किया करे, व्यायाम (कसरत) और बोझ उठानेका अभ्यास करे। जिसको नस्य देना हो, वस्ति देनी हो अथवा रेचन देना हो उसके शरीरमें प्रथम स्वेदकी क्रिया करनी चाहिये ॥ १-५ ॥

भगन्दर, बवासीर, अथवा पथरी इसे व्याकुल हुएके शस्त्रक्रिया करानेसे पहिले अथवा शस्त्रक्रिया करानेके पीछे स्वेद देवै, ऐसा सुश्रुतमे कहा है। स्त्रीके उदरमे शल्य हो तौ उसको निकालनेके पश्चात् स्वेद देवै, स्त्रीके उदरमे अधिककालसे गर्भ जैसेका तैसा ही स्थिर रहनेसे दर्द रहता हो तौ उसको दूर करके पश्चात् स्वेद देवै, तैसेही समय पर प्रसव हुआ हो अथवा विनासमय प्रसव हुआ होय तौ भी स्त्रीको प्रसव होनेके पश्चात् स्वेद देवै। सम्पूर्ण प्रकारके स्वेद वायुरहित स्थानमे और खाये हुए अन्नके पचजानेपर देवै। घी अथवा तेल आदि स्नेहपदार्थसे अभ्यग करनेके पश्चात् स्वेद देनेसे धातुओंमें रहनेवाले दोष द्रवताको प्राप्त हो कोठेके भीतर जाकर रेचके सदृश मलके साथ निकल जाते है। रोगीके शरीरको प्रथम स्नेहपदार्थका अभ्यग मालिस करनेके पश्चात् स्वेद देवै और स्वेद देनेमें उसके

[illegible]

तापस्वेदविधिः ।

तेषु तापाग्निभिः स्वेदो वालुकावस्त्रपाणिभिः ॥ कपालकन्दुकांगार्यंग्यायोग्यं हि जायते ॥ १३ ॥

[illegible]

द्रव्यस्वेदविधिः ।

[illegible]

ङ्गुलास्यामिति मूले षडंगुलं विशालमुखं गोपुच्छमिव क्रमकृशम् । तेन अग्रे गोपुच्छाग्रपरिमाणेन कृशां नाडीम् अन्तःसरन्ध्राम् द्विहस्तकां हस्तद्वयपरिमाणाम् । हस्तिशुण्डिकयेति हस्तिशुण्डेव क्रमकृशत्वान्नाड्या इयं संज्ञा ॥

पुरुषायाममात्रां वा भूमिं सम्मार्ज्य खादिरैः ॥ काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥ १७ ॥ वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शयानं स्वेदयेन्नरम् ॥ एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानं स्वेदमाचरेत् ॥ १८ ॥

प्रदिह्य देहं वातार्त्त क्षीरमांसरसादिभिः ॥ १९ ॥ अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥ अथ ग्राम्यान्पमांसैर्जीवनीयगणेन च ॥ २० ॥ दधिसौवीरकक्षीरैर्वीरतर्वादिना तथा ॥ कुलित्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः ॥ २१ ॥ शतपुष्पादेवदारुशेफालीस्थूलजीरकैः ॥ एरण्डमूलर्जारैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः ॥ ॥ २२ ॥ मिसिकृष्णाकुठेरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः ॥ प्रसारण्यश्वगन्धाभ्यां वलाभिर्दशमूलकैः ॥ २३ ॥ गुडूच्या वानरीबीजैर्यथालाभसमाहृतैः ॥ क्षुण्णैः स्विन्नैश्च वस्त्रेण बद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥ महाशाल्वणसंज्ञोऽयं योगः सर्वानिलार्त्तिहृत् ॥ २४ ॥

अस्य अयमर्थः—उपनाहस्वेदश्च कुर्यात्। केन प्रकारेण इत्याकांक्षायां तत्प्रकारमाह। वातहरौषधैः। कथम्भूतैः ? अम्लपिष्टैः अम्लेन काञ्जिकतक्रादिना पिष्टैः। सलवणैः स्नेहसंयुतैः। क्षीरमांसरसान्वितैः। सुखोष्णैः। वातार्तं देहं प्रदिह्य प्रलिप्य स्वेदयेदित्यर्थः ॥

अथ वाम्लेन सम्पिष्टैः कोष्णैः सूक्ष्मपुटस्थितैः ॥ भेषजैः स्वेदयेत्किं वा स्विन्नैः कोष्णैः पटस्थितैः ॥ २५ ॥

वातनाशक औषधियोंको काँजी अथवा छाछ आदि खट्टे रसोंसे पीसकर उसमें नोन, घी, दूध, मांसका रस, ग्राम अथवा जलके समीप रहनेवाले जीवोंका मांस, काकोलीआदि जीवनीय गणकी औषधि, दही, काँजी और वरितरु आदि गणकी औषधि डालकर गरम करके उससे रोगीको सहता सहता उसके शरीरपर लेप करे, पश्चात् कुलथी, उडद, गेहूँ, अलसी, तिल, सरसों, सोफ, देवदार, निर्गुंडी, कलौंजी, अण्डकी जड, जीरा, रायसन, मूली, सहँजना, वरियारी, पीपल, वनतुलसी, पाँचो निमक, अम्लपदार्थ, गन्धप्रसारिणी, असगन्ध, वला, दशमूल, गिलोय और कोंचके बीज, इनमेंसे जितने पदार्थ मिले उतने लेकर पीसे फिर औटाकर रोगीके शरीरपर वस्त्रके सदृश बांधकर जो स्वेद दियाजाय वह एक प्रकारका उपनाहस्वेद कहाताहै। उक्तरोक्त पदार्थोंसे कियाहुआ स्वेदका प्रयोग 'महाशाल्वण' इस नामसे प्रसिद्ध है, और वह प्रयोग सम्पूर्ण प्रकारकी वातसबधी पीडाको नष्ट करैहै, औषधियोंको अम्लरससे पीस किञ्चित् उष्णकर मृदुवस्त्रसे शरीरपर बाँधकर जो स्वेद दियाजाय वह भी उपनाह स्वेद कहाताहै। औषधियोंको औटाकर किञ्चित् उष्ण होय तब वस्त्रपै लेपकर शरीरपर बाँधकर जो स्वेद दियाजाय वह भी उपनाहस्वेद कहाताहै ॥ १९–२५ ॥

द्रवस्वेदविधिः।

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नो द्रव्यक्काथेन पूरिते ॥ कटाहे कोष्ठके वापि सूपविष्टोऽवगाहयेत् ॥ २६ ॥ सौवर्णे राजतं वापि ताम्रं लौहञ्च दारुजम् ॥ कोष्ठकं तत्र कुर्वीतोच्छ्राये षड्विंशदंगुलम् ॥ आयामे वा तदेव स्याच्चतुष्कोणन्तु चिक्कणम् ॥ २७ ॥

पक्षान्तरमाह।

नाभेः षडंगुलं यावन्मग्नं क्काथस्य धारया ॥ कोष्णया स्कन्धयोः सिक्तस्तिष्ठेत्स्निग्धतनुर्नरः ॥ २८ ॥

अयमर्थः—प्रथमतो वातघ्नद्रव्यक्काथेन कंठपूरित कोष्ठके कटाहे वा सूपविष्टस्तिष्ठेत्। अथवा नाभेः षडंगुलमूर्द्ध यावत् क्काथे मग्न उपविष्टः। पश्चात् क्काथस्य धारया स्कन्धयोः सिच्यमानस्तिष्ठेत्। यावत् कोष्ठकं परिपूर्णं भवति इत्यर्थः। क्काथपक्षे प्रथमतः स्नेहाभ्यक्ततनुरुपविशेत् ॥

मुहूर्त्तैकं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुष्टयम् ॥ तावत्तदवगाहेत यावदारोग्यनिश्चयः ॥ ॥ २९ ॥ एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषा स्वेद-

येन्नरम् ॥ एकान्तरो द्व्यन्तरो वा युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ३० ॥

एतावता क्काथो दुग्धञ्च नित्यमेव युज्यते। स्नेहस्तु दिनमेकं द्वे वा दिने गमयित्वा युक्तः, अग्निमांद्यशंकया इति भावः ॥

शिरामुखैर्लोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् ॥ शरीरे बलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ३१ ॥ जलसिक्तस्य वर्द्धते यथा मूलेऽकुरादयः ॥ तथैव धातुवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ ३२ ॥ नातः परतरः कश्चिदुपायो वातनाशनः ॥ शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे ॥ दीप्तेऽग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ ३३ ॥

कढाव अथवा कोठीमे गलेतक वातनाशक औषधियोंका क्वाथ भरकर रोगीको उसमें भली भाँति बैठाकर गोता लगवावे; यह द्रवस्वेद कहाताहै । यह कोठी सुवर्णकी, चाँदीकी, ताँबेकी, लोहेकी, अथवा लकडीकी, छब्बीस अगुल चौडी लबी और चौकोर तथा चिकनी होनी चाहिये, रोगीके शरीरको घी तेल आदिकी मालिशकर नाभिसे ऊपर छः अगुलतक क्वाथमे बैठावे, इस भाँति क्वाथसे भरीहुई कोठीमे बैठकर उसके दोनो कधोंपर किंचित् उष्ण क्वाथकी धारा डाले, जबतक कोठी पूरी न होजाय तबतक डालता रहे, यह भी द्रवस्वेद कहाताहै । दोघडीसे आठघडीतकके समयतक आरोग्य निश्चय होनेपर्यन्त रोगीको इसीप्रकार स्नान करावे, ऊपर कहे अनुसार तेलसे, दूधसे अथवा घीसे भरेहुए पात्रमें रोगीको स्नान करावे वह भी द्रवस्वेद कहाताहै । द्रवस्वेद देनेमें क्वाथका और दूधका प्रतिदिन उपयोग करना चाहिये, परन्तु स्नेहपदार्थोंका उपयोग करना होय तो बीचमे एकदिनका अथवा दो दिनका अन्तर डालकर करे, कारण कि स्नेहका नित्य उपयोग करनेसे अग्नि मन्द होजानेका भय रहताहै । द्रवस्वेदके प्रयोगमे लिया हुआ घी आदि स्नेह पदार्थ नसोंके मुखोंमे, रोमोंके छिद्रोंमे और बडी नाडियोंमें भीतर जाकर शरीरको तृप्त करतेहैं और बल देते हैं । जिसप्रकार वृक्षकी जडमे पानी सींचनेसे वृक्षके अंकुर आदि वृद्धिको प्राप्त होतेहैं, तैसेही स्नेहका सेचन होनेसे धातुओंकी वृद्धि होतीहै । वातका नाश करनेके लिये इस द्रवस्वेदसे अधिक दूसरा कोई भी उपाय नहीं । शीत, शूल, अंगोंका जकडजाना, तथा भारीपन नष्ट होजाय, अग्नि दीपन होजाय और शरीरमे मृदुता (कोमलता) आजाय तब स्वेदकी क्रियाको छोडदेना चाहिये ॥ २८–३३ ॥

मूर्द्धतैलविधिः ।

अभ्यङ्गः परिषेकश्च पिचुर्बस्तिरिति क्रमात् ॥ मूर्द्धतैलं चतुर्द्धा स्याद्बलवत्तदथोत्तरम् ॥ १ ॥

अभ्यङ्गः तैलेन शिरसो मर्दनम् । परिषेकः शिरसि धारापातनम् । पिचुः तैलार्क्तं तूल 'फाहा' इति लोके । वस्तिः वक्ष्यमाणः ॥

त्रयोऽभ्यङ्गादयः पूर्वे प्रसिद्धाः सर्वतः स्मृताः ॥ शिरोवस्तिविधिश्चात्र प्रोच्यते सुश्रुतसम्मतः ॥ २ ॥ शिरोवस्तिश्चर्मणः स्याद् द्विमुखो द्वादशांगुलः॥ शिरःप्रमाणस्तं बद्धा मस्तके माषपिष्टकैः ॥ ३ ॥ सन्धिरोध विधायाशु स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत् ॥ तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासाकर्णमुखस्रुतिः ॥ ४ ॥ वेदनोपशमो वापि मात्राणां वा सहस्रकम् ॥ स्वजानुनः करावर्तं कुर्याच्छोटिकया युतम् ॥ ५ ॥ एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ विना भोजनमेवात्र शिरोवस्तिः प्रशस्यते ॥ ६ ॥ प्रयोज्यस्तु शिरोवस्तिः पञ्च सप्त दिनानि वा ॥ विमोच्य शिरसो वस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः ॥ ७ ॥ ऊर्द्धं कायं ततः कोष्णे नीरे स्नानं समाचरेत् ॥ अनेन दुर्जया रोगा वातजा यान्ति सङ्क्षयम् ॥ शिरःकम्पादयस्तेन सर्वकालेषु युज्यते ॥ ८ ॥

पञ्च सप्तदिनानि वा इति उक्ता सर्वकालेषु इति शिरःकम्पादिरोगानुवृत्तौ ज्ञेयम् ॥

मस्तकमें तेलका मर्दन करना, ऊंचेसे तेलकी धार डालना, तेलसे भीगेहुए रूईके फोहे रखना और तेलसे वस्ति देना, इसप्रकार शिरमे तेल डालनेके चार भेद है। इनमे पहिलेके तीन भेद सर्व स्थानोमे प्रसिद्ध है; इस कारण इनका व्याख्यान नही करते. अब मस्तकमें तेलसे वस्ति देनेकी विधि कि, जिसको विद्वानोने स्वीकृत किया है, उसका व्याख्यान करतेहैं। दो मुखकी बारह अगुल ऊंची और मस्तकमें आजाय ऐसी चमडेकी टोपी बनवावे, इस टोपीको मस्तकमे पहरकर उडदके आटेसे उसकी संधियोको बदकर तथा उसके मुखके नीचे उडदके आटेकी वाड लगाकर ऊपरके मुखमे किञ्चित् उष्ण तेल खूब भरदेवे. यह मस्तकमें तेलकी वस्ति दीजाती है। नाक, कान और मुखमेंसे पानी झरे तबतक, वा वेदना मिटनेपर्यन्त, अथवा हजार मात्रा होनेतक इस वस्तिको धारण करे। अपने घुटुओंपर हाथको फेरके घुमाकर एक चुटकी बजावे, जितनी देरमे चुटकी बजै इतने समयकी एक मात्रा होतीहै ऐसा सर्वग्रथोंका निश्चय है। जबतक रोगीने भोजन नही कियाहो उस समय तक यह वस्ति देना उत्तम है. पांच अथवा सात दिनतक यह प्रयोग नित्य करै। वस्तिके धारणका समय पूर्ण होजाय तब टोपीको उतारकर चारों ओरसे तेल लेलेवे, उसके पश्चात् रोगीको किञ्चित् उष्ण जलमे खडा करके स्नान करावे, यह वस्ति देनेसे मस्तकका कंप आदि वातसम्बन्धी भारी कठिन होयँ तो भी क्षय होतेहै. पाच अथवा सात दिनतक वस्तिकी क्रिया करनेपर भी रोग नष्ट नहीं होय तो अधिक दिनतक यह वस्ति देवे ॥ १–८ ॥

अथ कर्णविधिः।

स्वेदयेत्कर्णदेशन्तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः ॥ मूत्रैः स्नेहै रसैरुष्णैः श्रोत्ररन्ध्रं प्रपूरयेत् ॥ १ ॥ कर्णञ्च पूरितं रक्षेच्छतं पंच शतानि वा॥सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकंठशिरोगदे ॥ २ ॥ मूत्राद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक्प्रशस्यते ॥ तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ ३॥ तद्यथा-कर्णे शूलाकले कोष्णं बस्तमूत्रं ससैंधवम्॥ निक्षिपेत्तेन शाम्यन्ति शूलपाकादिका रुजः ॥ ४ ॥ शृङ्गवेरञ्च मधुकं सैंधवं तैलमेव च ॥ कटूष्णं कर्णयोर्देयमेतत्स्याद्वेदनापहम् ॥ ५ ॥ पीतार्कपत्रमाज्येन लिप्तं वह्नौ प्रतापयेत् ॥ तद्रसः श्रवणे क्षिप्तः कर्णशूलहरः परः ॥ ६ ॥

रोगीको एक करवट सुवाकर उसके कानके प्रदेशको किञ्चित् सेककर कानके छिद्रको उष्णमूत्रसे, स्नेहसे, अथवा रससे भरदेवे। कर्णरोग हो तो सौ मात्रातक, गलरोग होय तो पांचसौ मात्रातक और मस्तकरोग होय तो हजार मात्रा तक कानको तेल आदिसे पूरित रहनेदेवे। कर्णको मूत्र आदिसे भरना होय तो भोजनसे पहिले भरे और तेल आदिसे भरना होय तो सूर्यके अस्त होजानेके पश्चात् भरे, यह उत्तम है। कर्णमे शूल होता हो तो सैंधेनिमक सहित किञ्चित् उष्ण बकरेका मूत्र कानमें डाले, इसप्रकार करनेसे कर्णका शूल तथा कानका पकना आदि सब पीडा शात होजाती है। अदरकका रस, शहद, सैंधानिमक और तेल, इतने पदार्थ कानमे किञ्चित् गरम गरम डाले तो कानकी पीडा नष्ट होतीहै। आकके पीले पत्तोंको घी चुपडकर अग्निमे सेककर उनका रस कानमें डाले तो कानका शूल नष्ट होताहै, कानका दर्द दूर होनेका यह उत्तम उपाय है ॥ १–६ ॥

अथ लेपविधिः।

आलेपस्य तु नामानि लेपो लेपनलिप्तकौ॥ दोषघ्नो विषहा वर्ण्यः स च लेपस्त्रिधा मतः ॥ १ ॥ त्रिप्रमाणश्चतुर्भागस्त्रिभागार्द्धगुलोन्नतः ॥ आद्यो व्याधिहरः स स्याच्छुष्को दूषयति च्छविम् ॥ २ ॥ चतुर्भागत्रिभागार्द्धगुलोन्नतः एवं त्रिप्रमाणः।

दोषघ्नो लेपो यथा।

शोथघ्नीदारुसिद्धार्थशुण्ठीशोभाञ्जनत्वचाम् ॥ आरनालेन पिष्टानां प्रलेपः सर्वशोथहा ॥ ३ ॥ शोथघ्नी पुनर्नवा ॥

शिरीषं मधुयष्टी च तगरं रक्तचन्दनम् ॥ एला मांसी निशायुग्मं कुष्ठं वालकमेव च ॥४॥ इति सञ्चूर्ण्यः लेपोऽयं पंचमांशघृतप्लुतः ॥ जलेन क्रियते सुज्ञैर्दशाङ्ग इति संज्ञितः ॥ विसर्पश्चैव विस्फोटाञ्छोथदुष्टव्रणाञ्जयेत् ॥ ५ ॥

विषहा लेपो यथा ।

अजादुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः ॥ शोथमारुष्करं हन्ति लेपो वा कृष्णमार्तिकः ॥ ६ ॥

नवनीतेनार्द्रिकेन । कृष्णमार्तिकः कृष्णमृत्तिकाकृतः ॥

कृमिविषापहलेपो यथा ।

लांगल्यतिविषालाबूजालिनीबीजमूलकैः ॥ लेपो धान्याम्बुसम्पिष्टः कीटविस्फोटनाशनः ॥ ७ ॥

मुखकान्तिदो लेपो यथा ।

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठालोध्रकुष्ठप्रियंगवः ॥ वटांकुरा मसूराश्च व्यंगघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ ८ ॥ अथ लेपविधिश्चैव प्रोच्यते सुज्ञसम्मतः ॥ आलेपश्च प्रदेहश्च द्वौ भेदौ तस्य भाषितौ ॥ ९ ॥ चर्मार्द्रं माहिषं यद्वत्प्रोच्यते सम्मितस्तयोः ॥ शीतस्तनुर्विशोषी च प्रलेपः पित्तहन्मतः॥ १० ॥ आर्द्रो घनस्तथोष्णः स्यात्प्रदेहः श्लेष्मवातहा ॥ न रात्रौ लेपनं कुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत् ॥ ११ ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥ तमसा पिहितो ह्यूष्मा लोमकूपमुखे स्थितः ॥ विना लेपन निर्याति रात्रौ नो लेपयेदतः ॥ १२ ॥ तमसा रात्र्यन्धकारेण ॥

रात्रावपि प्रलेपादिव्रणे देयो विचक्षणैः ॥ अपाकिन्यतिगंभीरे रक्तश्लेष्मसमुद्भवे॥ १३॥

प्रलेपो यथा–मधुके चन्दनं मर्वा नलमूलञ्च पर्पटम् । उशीरं वालकं पद्मं प्रलेपः पित्तशोथहृत् ॥ १४ ॥

प्रदेहो यथा–बीजपूरजटा हिंस्रा देवदारु महौषधम् ॥ रास्नाऽरणिः प्रदेहोऽयं वातशोथविनाशनः ॥ १५ ॥

अरणिः अग्निमन्थः ॥

कृष्णा पुराणपिण्याकशिग्रुत्वक्सिकताशिवाः ॥ गोमूत्रपिष्टः कोष्णोऽयं प्रदेहः श्लेष्मशोथहा ॥ १६ ॥

(नाम–आलेप, लेप, लेपन और लिप्तक, ये लेपके पर्याय हैं । भेद–दोषघ्न (दोषोंको नट करनेवाला), विषहा (विषविनाशक) और वर्ण्य (वर्णको उत्तम करनेवाला) इस भांति लेपके तीन भेद हैं । एक अंगुलका ऊँचा थर, पौन अंगुलका ऊँचा थर और आधी अंगुल ऊँचा थर, इस भांति लेपके थरके तीन भेद हैं । गीला लेप रोगनाशक है और सूखा हुआ लेप कांतिको नष्ट करै है (पुनर्नवा, साठी, देवदार, सरसों, सोंठ और सहँजनेकी छाल, इन पाचोंको काजीमें पीस इनका लेप करे तो सम्पूर्ण प्रकारकी सूजन नट होतीहै, यह लेप दोषघ्न कहाताहै) । (शिरस, मुलहटी, तगर, लालचन्दन, इलायची, जटामांसी, हेलदी, दारुहेलदी, कूट और नेत्रवाला, इन पदार्थोंका चूर्णकर उसमें पाचवां भाग घी डालकर पानीसे लेप करै, इससे विसर्प, विस्फोटक, सूजन और दुष्टव्रणोंका क्षय होताहै, इस लेपको विद्वान् लोग दशांगलेप कहतेहैं ॥ १–५ ॥

बकरीके दूधमें तिल पीस उसमें भैंसका मक्खन मिलाकर लेप करै अथवा काली मिट्टीका लेप करे तो भिलावे आदिसे हुई सूजन नष्ट होतीहै, इस लेपको विद्वान् विषहा कहतेहैं । कलिहारी, तीस, कडुई तोंवी, विधारोईके बीज और मूली इन औषधियोंको काजीमें पीस लेप करे तो विषैले कीडेसे उत्पन्न हुआ विस्फोट नष्ट होताहै।रक्तचन्दन, मजीठ, लोध, कूठ, प्रियंगु, वडके अंकुर और मसूर, इनका लेप करे तो मुखके ऊपरकी झाँई नष्ट होतीहै और मुखकी कांति उत्तम होतीहै, इस लेपको विद्वान् वर्ण्य कहतेहैं । प्रलेप और प्रदेह इस भांति लेपके दो भेद है । इन दोनों लेपोंको जितना भैंसका गीला चमडा होताहै, उतनाही मोटा और वैसाही चमकता हुआ रखना चाहिये । जो लेप शीतल, पतला और सूखजाय ऐसा होय वह प्रलेप कहाताहै, प्रलेपसे पित्त नष्ट होताहै । जो लेप

तुरन्त नहीं सूखै गाढा और गरम हो वह प्रदेह कहाता है, प्रदेहसे वात और कफ नष्ट होताहै ॥ ६–१० ॥

रात्रिमें लेप नहीं करे, सूखेहुए लेपको शरीरपर नहीं रक्खे, परन्तु गाठ (फोडा) आदिपर उसके बैठनेको गाढा लेप किया होय तौ उसको रहने देवै । रोमोंके छिद्रोंके मुखमे रहनेवाली गरमी रात्रिके अन्धकारसे ढक-जाती है, इसकारण रात्रिमे प्रलेप नहीं करै, यदि लेप किया होय तौ रात्रिको वह गरमी रोमोंमे रुकजाती है । जो व्रण पकता न होय, अत्यन्त गम्भीर हो और रुधिरसे तथा कफसे उत्पन्न हुआ हो उसपर विद्वानोंको रात्रिमेंभी लेप करना चाहिये । मुलहटी, चन्दन, मूर्वा, लाल कमलकी जड, पद्मकाष्ठ, सुगन्धवाला, खस और कमल, इनका प्रलेप पित्तकी सूजनको नष्ट करै है । बिजौरेकी जड, जटामांसी, देवदार, रायसन, सोठ और अरनी (अगेथ), इनका प्रदेह वातसम्बन्धी सूजनको नष्ट करै है । पीपल, पुरानी खल, सहजनेकी छाल, खॉड और हरड, इनको गोमूत्रमे पीसकर किंचित् उष्ण प्रदेह करै तो कफसम्बन्धी सूजन नष्ट होतीहै ॥ ११–१६ ॥

अथ शोणितस्रावण [फस्त] विधिः ।

शोणितं स्रावयेज्जन्तोरामयं प्रसमीक्ष्य च ॥ प्रस्थं प्रस्थार्द्धमथ वा प्रस्थार्द्धार्द्धमथापि वा ॥ १ ॥ शरत्काले स्वभावेन शोणितं स्रावयेन्नरः ॥ त्वग्दोषग्रन्थिशोथाद्या नश्यन्ति रुधिरोद्भवाः ॥ २ ॥ व्यभ्रे वर्षासु विद्युत्सु शीते ग्रीष्मे शरद्यपि ॥ मध्याह्ने शीतकाले च रुधिरं स्रावयेद्बुधः ॥ ३ ॥ मधुरं वर्णतो रक्तमशीतोष्णं तथा गुरु ॥ शोणितं स्निग्धविस्रञ्च विदग्धं पित्तकृद्भवेत् ॥ ४ ॥ विस्रता द्रवता रागश्चलनं विलयस्तथा ॥ भूम्यादिपंचभूतानामेते रक्ते गुणाः स्मृताः ॥ ५ ॥ रक्ते दुष्टे भवेच्छोथो रक्तमण्डलमेव च ॥ व्यथा दाहश्च पाकश्च कंडूश्च पिडकोद्गमः ॥ ६ ॥ वृद्धे रक्ताङ्गनेत्रत्वं शिराणां पूर्णता तथा ॥ गात्राणां गौरवं निद्रा मेहो दाहश्च जायते ॥ ७ ॥ क्षीणेऽस्रे मधुराकांक्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता ॥ शैथिल्यं च शिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता ॥ ८ ॥ वाताद्रक्षक्षैण्यजानितात् ॥

प्राणीके रोगपर ध्यान देकर एकप्रस्थ, आधाप्रस्थ अथवा सोलह तोले रुधिर निकाले, शरद्ऋतुमे स्वाभाविक रीतिसे मनुष्य रुधिर निकलवावे । रुधिरसे उत्पन्न हुए चर्मदोष, गॉठ और सूजन आदि विकार रुधिर निकलवानेसे नष्ट होतेहै । जिस समय बद्दल न होयँ, वर्षाऋतुमे बिजली चमकती हो, ग्रीष्मऋतुमे, शरद्ऋतुमे, मध्याह्न समयमे और शीतकालमे विद्वान् वैद्य रोगोपर ध्यान देकर रुधिर निकाल । रुधिर, मधुर, वर्णमे लाल, शीतलतासे तथा उष्णतासे रहित, भारी, चिकना, कच्चे पदार्थके सदृश गधवाला और पित्तके सदृश दाहशक्तिवाला होताहै । रुधिरमे जो गध है वह पृथ्वीका गुण है, द्रवता जलका गुण है, रक्तता तेजका गुण है, चलन वायुका गुण है और शब्द आकाशका गुण है, अर्थात् इसप्रकार रुधिरमे पाचो भूतोंके गुण है । रुधिर बिगड गया हो तौ सूजन, लाल चकत्ते, शरीरमे पीडा, दाह, शरीरका पकजाना, खुजली और फुन्सी होतीहैं । शरीरमें रक्त बढगया हो तौ अग तथा नेत्र लाल होजातेहैं, नसैं सूजजातीहैं, गात्रमे भारीपन होताहै, निद्रा अधिक आतीहै, और प्रमेह तथा दाह होताहै । शरीरमे रुधिरकी क्षीणता हो तौ मधुर पदार्थ खानेकी इच्छा, मूर्च्छा, त्वचा(चमडी)मे रूक्षता तथा रुधिरकी क्षीणतासे उत्पन्न हुई वात और शरीरकी नसैं शिथिल होजातीहैं और अयोग्य क्रमसे चलने लगतीहैं ॥ १–८ ॥

अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम् ॥ आस्कन्दि सचीनिस्तोदि रक्तं स्याद्वातदूषितम् ॥ ९ ॥ पित्तेन पीतं हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम् ॥ अस्वादूष्णं मक्षिकाणां पिपीलीनामनिष्टकम् ॥ १० ॥ शीतलं बहुल स्निग्धं गैरिकोदकसन्निभम् ॥ मांसपेशीप्रभं स्कन्दि मन्दगं कफदूषितम् ॥ ११ ॥ त्रिदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगन्धकम् ॥ सर्वलक्षण-

संयुक्तं काञ्जिकाभं च जायते ॥ १२ ॥ विषदुष्टं भवेच्छ्यावं नासिकोन्मार्गगं तथा ॥ विस्रं काञ्जिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं तथा ॥ १३ ॥ इन्द्रगोपप्रभं ज्ञेयं प्रकृतिस्थमसंहतम् ॥ शोथे दाहेऽङ्गपाके च रक्तवर्णोऽसृजः स्रुतौ ॥ १४ ॥ वातरक्ते तथा कुष्ठे सपीडे दुर्जयेऽनिले ॥ पाण्डुरोगे श्लीपदे च विषदुष्टे च शोणिते ॥ १५ ॥ ग्रन्थ्यर्बुदापचीक्षुद्ररोगाधिमन्थकाभिधे ॥ विदारीस्तनरोगेषु गात्राणां सादगौरवे ॥ १६ ॥ रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां पूतिघ्राणस्य दैहिके ॥ यकृत्प्लीहविसर्पेषु विद्रधौ पिडकोद्गमे ॥ ॥ १७ ॥ कर्णौष्ठघ्राणवक्त्राणां पाके दाहे शिरोरुजि ॥ उपदंशे रक्तपित्ते रक्तस्रावे प्रशस्यते ॥ १८ ॥ दोषेष्वेषु प्रोक्षणैर्वा जलौकालाबुकादिभिः ॥ अथ वापि शिरामोक्षैः कारयेद्रक्तपातनम् ॥ १९ ॥

रुधिर यदि वायुसे बिगडा हुआ हो तौ लाल, झागोंवाला, रूक्ष, कटोर, पतला, शीघ्र चलनेवाला और मुद्गयोंके सदृश पीडा करनेवाला होताहै । रुधिर यदि, पित्तसे बिगडा होय तौ मधुरतारहित, गरम, मक्खियों तथा चैंटी (कीडियों) को अप्रिय, पीला हरे रंगवाला, नीला, काला और कच्चे पदार्थके सदृश गंधवाला होताहै । यदि रुधिर कफसे बिगडा होय तौ शीतल बहुल, स्निग्ध, गेरूके पानीके सदृश कांतिवाला, मांसकी पेशीके सदृश फैलनेवाला और मंदगतियुक्त होताहै । जो रुधिर दो दोषोंसे बिगडा होय तौ उसमें दो दोषोंके लक्षण देखनेमें आते हैं और जो तीन दोषोंसे बिगडा होय तौ दुर्गन्धतायुक्त, सम्पूर्ण लक्षणोंवाला, तथा काँजीके सदृश होताहै । जो रुधिर विषसे बिगडा होय तौ काला, नाकमेंसे निकलनेवाला, कच्चे पदार्थके सदृश गंधवाला, काजीके समान और सर्वप्रकारके कोटोंको उत्पन्न करनेवाला होताहै । शुद्ध रुधिर पतला और चौमासेमें होनेवाले इन्द्रगोप (बीरबहुटी) कीडेके सदृश रंगवाला होताहै । वातरक्त, सूजन, दाह, अंगोंका पकना, शरीरका लालरंग होना, नाक आदिमेंसे रक्त निकलना कोढ, पीडासहित, वायुके दुर्जय होनेपर विषसे दूषित होजाना, पाण्डुरोग, श्लीपद, रुधिरका विषसे दूषित होजाना, गांठ, अर्बुद, अपचीनामक गलेकी गांठ, क्षुद्ररोग, अधिमंथ, विदारी, स्तनरोग, गात्रका पीडित होजाना, भारीपन, रक्ताभिष्यन्द, तन्द्रा, नाक अथवा मुखमेंसे दुर्गन्धका निकलना दाह, यकृत् (कलेजा), प्लीहा, विसर्प, विद्रधि, पिडका, कर्ण, होट, नाक और मुखका पकना, मस्तकरोग, उपदंश और रक्तपित्त, इतने रोगोंमें रुधिर निकालना बहुत उत्तम है । इन रोगोंमें सिंगिये लगवाकर, अथवा जोंक लगवाकर, वा तूंबी आदि लगवाकर अथवा नस खोलकर रुधिर निकालै ॥ ९-१९ ॥

न कुर्वीत शिरामोक्षं कृशस्याऽतिघ्यवायिनः ॥ क्लीबस्य भीरोर्गर्भिण्याः सूतायाः पाण्डुरोगिणः ॥ २० ॥ पंचकर्मविशुद्धस्य पीतस्नेहस्य चार्शसाम् ॥ सर्वाङ्गशोथयुक्तानामुदरिश्वासकासिनाम् ॥ २१ ॥ छर्द्यतीसारयुक्तानामतिस्विन्नतनोरपि ॥ ऊनषोडशवर्षस्य गतसप्ततिकस्य च ॥ आघातात्स्रुतरक्तस्य शिरामोक्षो न शस्यते ॥ २२ ॥

तथा च स्रुतरक्तस्य रक्तपित्तादिना गतरक्तस्य ॥

एषां चात्ययिके योगे जलौकाभिर्विनिर्हरेत् ॥ तथा च विषजुष्टानां शिरामोक्षो न शस्यते ॥ २३ ॥ गोशृंगेण जलौकाभिरलाबूभिरपि त्रिधा ॥ वातपित्तकफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेद्बुधः ॥ २४ ॥ द्विदोषाभ्यान्तु दुष्टं यत्त्रिदोषैरपि दूषितम् ॥ दूषितं स्रावयेद्युक्त्या शिरामोक्षैः पदैस्तथा ॥ २५ ॥ गृह्णाति शोणितं शृंगं दशांगुलमितं बलात् ॥ जलौका

हस्तमात्रं तु तुम्बी तु द्वादशांगुलम् ॥ ॥ २६ ॥ पदमंगुलमात्रस्य शिरा सर्वागशोधिनी ॥ शीते निरन्ने मूर्च्छार्तिनिद्राभीतिमदश्रमैः ॥ २७ ॥ युक्ते नास्रावयेद्रक्तं तथा विण्मूत्रसंगिनाम् ॥ शोणिते चाप्रवृत्ते तु कुष्ठत्रिकटुसैन्धवैः ॥ २८ ॥ मर्दयेद्व्रणवक्त्रञ्च तेन रक्तं प्रवर्त्तते॥ तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते ॥ ॥ २९ ॥ पीत्वा यवागूं तृप्तस्य स्रावयेच्छोणितं बुधः ॥ अतिस्विन्नस्योष्णकाले तथैवातिशिराव्यधात् ॥ ३० ॥ अतिप्रवर्तते रक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम्॥ अतिप्रवृत्ते रक्ते तु लोध्रसर्जरसाञ्जनैः ॥ ३१ ॥ यवगोधूमचूर्णैश्च धवधन्वनगैरिकैः ॥ सर्पनिर्मोकचूर्णैर्वा भस्मना क्षौमवस्त्रयोः ॥ ३२ ॥ मुखं व्रणस्य बद्धा च शीतैश्चोपचरेद्व्रणम्॥ विध्येदूर्द्धंशिरां तावद्दहेत्क्षारेण वह्निना ॥ ३३ ॥ व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ॥ व्रणास्यं पाचयेत्क्षारो दाहः सङ्कोचयेच्छिराः ॥ ३४ ॥ रक्ते दुष्टेऽवशिष्टेऽपि व्याधिर्नैव प्रकुप्यति ॥ अतो रक्षेत्सावशेषं रक्ते नातिस्रुतिर्हिता ॥ ॥ ३५ ॥ आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरसो रुजः ॥ पक्षाघातं श्वासकासौ हिक्कादाहौ च पाण्डुताम् ॥ ३६ ॥ कुरुतेऽतिस्रुतं रक्तं मरणं वा करोति च॥ देहस्योत्पत्तिरसृजा देहस्तेनैव धार्यते ॥ ३७ ॥ रक्तं जीवस्य चाधारस्तस्माद्रक्षेदसृग्बुधः॥ शीतोपचारैः कुपिते स्रुतरक्तस्य मारुते ॥ ॥ ३८ ॥ कोष्णेन सर्पिषा शोथं सव्यथं परिषेचयेत् ॥ क्षीणस्यैणशशोरभ्रहरिणच्छागमांसजः ॥ ३९ ॥ रसः समुचितः पाने क्षीरं षष्टिकया हितम् ॥ पीडाशान्तिर्लघुत्वं च व्याध्युपद्रवसंक्षयः ॥ ४० ॥ मनःस्वास्थ्यं भवेच्चिह्नं सम्यङ्निःसारितेऽसृजि ॥ व्यायाममैथुनक्रोधशीतस्नानप्रवातकान् ॥ ४१ ॥ एकाशनं दिवा निद्रां क्षाराम्लकटुभोजनम् ॥ शोकं वादमजीर्णञ्च त्यजेदाबलदर्शनात् ॥ ४२ ॥

दुर्बल, बहुत मैथुन करनेवाला, नपुसक, भयभीत, गर्भवती स्त्री, प्रसूता स्त्री, पाण्डुरोगी, वमन आदि पचकर्मोंसे शुद्ध हुआ, जिसने स्नेहपान किया हो, अर्शरोगी, सर्व अगोंमे सूजनयुक्त, उदररोगी, श्वास, खाँसी, वमन, अतीसार, इन रोगोंकरके युक्त, जिसके शरीरमें स्वेदन क्रिया अधिक करी हो, सोलह वर्षकी अवस्थासे छोटा, सत्तरवर्षसे अधिक आयुवाला और जिसका रक्तपित्त आदिसे रुधिर निकलगया हो, इन सबकी नस खोलकर रुधिर नही निकाले। इन रोगियोके यदि रुधिर निकालनेकी अत्यन्त आवश्यकता हो तौ जोंक लगाकर निकाले। परन्तु इन रोगियोके विष (जहर) चढाहुआ हो तो उनकी फस्त खोलकरही रुधिर निकालना उत्तम है। विद्वान् वैद्य वायुसे, पित्तसे, अथवा कफसे बिगडे रोगीका रुधिर सिंगी, जोक अथवा तूँबी लगाकर निकाले, परन्तु दो दोषसे अथवा तीन दोषसे बिगडा हो तो युक्तिसे फस्त खोलकर और पछने लगाकर रुधिरको निकाले। सींगी—आसपासके दश अगुलतकके रुधिरको बलात्कारसे खींचती है, जोक एकहाथ तक रुधिरको खीचती है, तूँबी बारहअगुलतकके रुधिरको खीचती हैं, पछना एक अगुलतकके रुधिरको निकालैहै और फस्त खोलनेसे सम्पूर्ण शरीरका रुधिर निकलर शुद्ध होजाताहै। शीतकालमें, भूखा, मूर्च्छित, निद्रायुक्त, भयभीत, मदयुक्त, थकाहुआ और जिसका मल अथवा मूत्र रुकगया हो, इन सबका रुधिर नही निकाले। रुधिर निकालनेकी क्रिया करनेपर भी रुधिर नहीं निकलै तौ कूठ, सोंठ, मिरच, पीपल और सेधा निमकको बारीक पीस उस व्रणके मुखपर लगाकै रगडै तौ रुधिर निकलने लगता है। जिस समय अत्यन्त शीत तथा उष्णता न हो, रोगीकी स्वेदनक्रिया न करी हो और उसका शरीर अत्यन्त गरम न किया हो उस समय रोगीको यवागू पिलाकर तृप्त करके पश्चात् रुधिर निकालना चाहिये। जिसको अत्यन्त पसीना आरहा हो,

उष्णकालहो अथवा जिसके शस्त्र अत्यन्त गहरा लगगया हो उसके रुधिर अधिक निकलताहै। इस प्रकार रुधिर बहुत निकलने लगे तो लोध, राल, रसौत जौ तथा गेहूँका चून, धायका चूर्ण बनूरेका चूर्ण, गेरू, सॉपकी काचलीका चूर्ण, रेशमी कपडेकी भस्मसे, अथवा सादे कपडेकी भस्ममे उस घावके मुखको बन्द करके उसके ऊपर शीतल उपचार करै अथवा उस विधीहुई नसके ऊपर भागको फिर वेधै, बीधे हुएके ऊपर खारी डालै, वा बींधेहुएको अग्निसे जलावै औषधि डालनेसे बींधेहुएका जोड मिलजाता है, शीतल उपचार करनेसे रुधिरकी रुकावट होतीहै, क्षार डालनेसे व्रणका मुख जुडजाताहै और दाग देनेसे नस सुकड जाती है। बिगडाहुआ रक्त शरीरमे किंचित् शेष (बाकी) रहजाय तो भी व्याधिका प्रकोप नहीं होता, इस कारण रुधिरको शेष रख देवै, कारण कि—रुधिर अधिक निकलना उत्तम नहीं है ॥ २०—३५ ॥

रुधिर बहुत निकलै तौ अन्धापन, आक्षेपक वात, तृष्णा, तिमिर, मस्तकरोग पक्षाघात, श्वास, खासी, हिचकी, दाह, तथा पाण्डुरोग, इनकी उत्पत्ति होती है और किसीसमय मृत्यु भी होजाती है। शरीरकी उत्पत्ति रुधिरसे हुई है, रुधिरही शरीरको धारण करता है और रुधिरही जीवका आधाररूप है, इस कारण विद्वानोंको रुधिरकी रक्षा करनी चाहिये। रुधिर निकालनेके पश्चात् शीतल उपचार करनेसे वायुका प्रकोप होय तौ पीडायुक्त सूजनपर किंचित् उष्णतायुक्त घी लगावै। रुधिर निकलनेसे अधिक निर्बलता होजाय तो रोगीको हिरण, खरगोश, मेढा, कालाहिरन और बकरेके मासका रस मिलाना चाहिये और दूधके साथ सांठी चावलोंको खिलावे तौ इससे अच्छा होताहै। रुधिर बराबर ठीक निकलगया होय तौ पीडाकी शांति, शरीरमे लघुता, रोग तथा उपद्रवका क्षय और मनको स्वस्थता, इतने चिह्न होतेहैं। रुधिर निकालनेके पश्चात् शरीरमें जबतक बल न आवै तबतक अत्यन्त परिश्रम, मैथुन, क्रोध, शीतल जलसे स्नान, अधिक पवनमे रहना, एक समय भोजनका अभ्यास, दिनमे सोना, खारी, अम्ल तथा तीक्ष्ण पदार्थ खाना, शोक करना और विवाद करना, इन सबको छोडदेवै तथा अजीर्ण नहीं होने देवै ॥ ३६—४२ ॥

नेत्रस्वच्छकारिणी क्रिया।

सेक आश्च्योतनं पिण्डी विडालस्तर्पणं तथा ॥ पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥ १ ॥

सेक (पानी आदिकी धार डालनी), आश्च्योतन (बूँदे डालना), पिंडी (छुपडी बाधना), विडाल (लेपकरना), तर्पण (तृप्ति करनेके लिये नेत्रोंमे दूध आदि भरना), पुटपाक (पकायाहुआ रस नेत्रोंमे डालना) और अजन (आजना) इतनी क्रियाओंसे नेत्रोंका उपचार करै ॥ १ ॥

सेकविधिः।

सेकस्तु 'सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः ॥ मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरंगुलः ॥ २ ॥ स सस्नेहो भवेद्घाते पित्ते रक्ते च रोपणः ॥ लेखनस्तु कफे कार्यस्तस्य मात्राऽभिधीयते ॥ ३ ॥ षड्भिर्वाचां शतैः स्नेहे चतुर्भिश्चैव रोपणे ॥ तैस्त्रिभिर्लेखने कार्यः सेको नेत्रप्रसादने ॥ ॥ ४ ॥ निमेषोन्मेषणं पुंसामंगुल्याच्छोटिकाऽथ वा ॥ गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥ ५ ॥ सेकस्तु दिवसे कार्यो रात्रौ चात्यन्तिके गदे ॥ एरण्डस्य दलैः पिष्टैः पक्वमाजं पयो हितम् ॥ सुखोष्णं नेत्रयोरन्तः सिक्तं वातार्तिनाशनम् ॥ ६ ॥

रोगीके नेत्रोंको मिचवाकर उसके ऊपर चार अगुल ऊंचेसे सूक्ष्म (पतली) धारा डाले, यह धारा नेत्रसम्बन्धी सम्पूर्ण रोगोंमे उत्तम है। वातकी पीडा हो तौ घी आदि स्नेह पदार्थोंकी धार देवै, यह स्नेहन सेक कहाताहै। पित्तकी अथवा रुधिरकी पीडा होय तो हरड आदिके रसकी धार देवै, यह रोपणसेक कहताहै। कफकी पीडा होय तो मलको उखाडनेवाले सोंठ आदिके रसकी धारा देवै, यह लेखन सेक कहाताहै। स्नेहन सेक करना हो तौ छःसौ मात्रातक करै, रोपण सेक करना हो तौ चारसौ मात्रातक करै और लेखन सेक करना हो तौ तीनसौ मात्रातक करै, इससे नेत्र स्वच्छ हो जातेहै। मनुष्य नेत्र मींचकर खोलै इतने

समयकी, वा एक चुटकी बजानेमें जितना समय लगै इतने समयकी अथवा एक गुरु अक्षर जितने समयमें बोला जाय इतने समयकी एक मात्रा होतीहै. धारा डालनेका सेक दिनमे ही करै, परन्तु महादुःखदायी रोग होय तौ रात्रिमें भी करै। पिसे हुए अण्डीके पत्तोंके साथ बकरीका दूध पकाकर किंचित् गरम गरम उस दूधको नेत्रोंपै डालै तौ वह सेचन उत्तम है और वातसम्बन्धी पीडाको नष्ट करैहै ॥ २–६ ॥

आश्च्योतनविधिः।

क्काथक्षौद्रासवस्नेहबिन्दुना यत्तु पातनम्॥ द्व्यंगुलोन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हितम् ॥ ७ ॥ बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु रोपणे दश बिन्दवः ॥ स्नेहे ते द्वादश प्रोक्ताः शीतले कोष्णरूपिणः ॥ ८ ॥ उष्णे तु शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ॥ ९ ॥ कफे तिक्तोष्णरूक्षं च क्रमादाश्च्योतनं हितम् ॥ आश्च्योतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्छतोन्मिता ॥ १० ॥ ततः परं लोचनाभ्यां भेषजानामयोगतः ॥ आश्च्योतनं न कर्त्तव्यं निशायां केनचित्क्वचित् ॥ ११ ॥ तद्यथा– बिल्वादिपंचमूलेन बृहत्येरण्डशिग्रुभिः ॥ क्काथ आश्च्योतने कोष्णो वाताभिष्यन्दनाशनः ॥ १२ ॥

रोगीके नेत्रोंको दो अंगुल खोलकर उसमें क्काथ, शहद, आसव, अथवा स्नेहकी बूंदें डालै, इसको आश्च्योतन कहतेहैं, यह हितकारी है। लेखन क्रिया करनी होय तौ आठ बूंदें डालै, रोपण क्रिया करनी हो तौ दश बूंदें डालैं और स्नेहन क्रिया करनी हो तौ बारह बूंदें डालैं। शीतकाल होय तौ किञ्चित् गरम करके बूंदें डालैं और उष्णकाल होय तौ शीतल बूंदें डालैं, यह सम्पूर्ण क्रियाओंका सिद्धान्त है। वातकी पीडा होय तौ कडवी तथा स्नेहयुक्त बूंदे हितकारी है, पित्तकी पीडा हो तौ मधुर और शीतलतायुक्त बूंदें डालना हितकारी है और कफकी पीडा होय तौ कडुवे गरम तथा रूक्ष औषधियोंकी बूंदे डालना हितकारी है। सम्पूर्ण आश्च्योतनकी मात्रा सौ गुरु अक्षरोंका जितने समयमे उच्चारण हो इतने समयकी जाननी, कोई वैद्य किसी रोगपर नेत्रोंमे रात्रिके समय बूंदें नहीं डालै. बेल आदि पञ्चमूल, कटेरी, अरण्ड और सहँजना क्वाथ करके उसकी सहती सहती गरम बूंदे नेत्रमें डालै, इससे वाताभिष्यन्द (वातसे आँखोका दुखना) नामक रोगका नाश होता है ॥ ७–१२ ॥

पिण्डिकाविधिः।

युक्तभेषजकल्कस्य पिण्डी कवलमात्रया॥ वस्त्रखण्डेन संबध्या नेत्रेऽभिष्यन्दनाशिनी ॥ १३ ॥ स्निग्धोष्णा पिण्डिका वाते पित्ते सा शीतला मता ॥ रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम् ॥ ॥ १४ ॥ सा यथा–धात्रीविरचिता पित्ते शिग्रुपत्रकृता कफे ॥ १५ ॥

योग्य औषधियोका कल्क करके उसकी कवलके सदृश टिकिया नेत्रोंपर रखकर उसपर ऊपरसे वस्त्रकी बाँधै यह पिंडीकी क्रिया है। इस टिकियाको रखकर बाँधनेसे नेत्र दुखनेकी पीडा नष्ट होतीहै। नेत्र वातसे दुखने लगे होयँ तौ स्नेहयुक्त गरम टिकिया रक्खै; पित्तसे दुखने लगे होयँ तौ शीतलता युक्त टिकिया रक्खे, गरम और रूखे पदार्थोंकी टिकिया कफरोगमे रक्खे, यह विद्वानोने कहाहै। अण्डके पत्ते, जड और छाल, इनकी टिकियासे वातकी पीडा नष्ट होतीहै, आमलेकी टिकियासे पित्तकी पीडा नष्ट होतीहै और सहँजनेकी टिकियासे कफकी पीडा नष्ट होतीहै ॥ १३–१५ ॥

बिडालकविधिः।

बिडालको बहिर्लेपो नेत्रपक्ष्मविवर्जितः॥ तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखालेपविधानवत् ॥ १६ ॥ यष्टीगैरिकसिन्धूत्थदार्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः ॥ जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥ १७ ॥

नेत्रके पलकोको छोडकर बाहरके भागपर लेप करै इसको बिडालकविधि कहतेहैं। मुखके ऊपर लेप करनेकी जो मात्रा कहीहै वही मात्रा बिडालककी जाननी ॥ मुलहठी सुवर्णगेरू, सैधानिमक, दारुहलदी और स्वप-

रिया, इसको समान भाग लेकर पानीमें पीसकर नेत्रके बाहरके भागपर लप करै तौ नेत्रके सम्पूर्ण रोगोंका नाश होताहै ॥ १६ ॥ १७ ॥

तर्पणविधिः ।

वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः ॥ अभितो माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिपिण्डितौ ॥ १८ ॥ समौ दृढौ च सम्बोधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोशयोः ॥ पूरयेद्घृतमण्डेन विलीनेन सुखोदकैः ॥ १९ ॥ सर्पिषा शतधौतेन क्षीरजेन घृतेन वा ॥ निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥ २० ॥ पूरयेन्मीलिते नेत्रे तत उन्मीलयेच्छनैः ॥ भिषग्भिरेष विख्यातस्तर्पणस्योदितो विधिः ॥ २१ ॥ यद्वूक्ष्यञ्च परिष्यन्दि नेत्रं कुटिलमाविलम् ॥ शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् ॥ २२ ॥ तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः ॥ शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युतं वातविपर्ययैः ॥ २३ ॥ दत्तेन तर्पयेत्सम्यङ् नेत्ररोगविशारदः॥ तर्पणं धारयेद्वर्त्मरोगे वाचां शतं बुधः ॥ २४ ॥ स्वस्थे कफे सन्धिरोगे वाचां पंच शतानि च ॥ षट्शतानि कफे कृष्णरोगे सप्त शतानि हि ॥ २५ ॥ दृष्टिरोगे शतान्यष्टावधिमन्थे सहस्रकम् ॥ सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेव हि तर्पणम् ॥ २६ ॥ पूर्णे चापांगमार्गेण स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् ॥ स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ॥ ॥ २७ ॥ यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् ॥ एकाहं वा त्र्यहं वापि पंचाहं तर्पणं चरेत् ॥ २८ ॥

जिसमें वायु, धूप अथवा धूल न हो ऐसे घरमें रोगीको चित्त सुलाकर सनेहुए उडदके चूनका, एकसा, दृढ, गांठरहित ऐसा दोनों नेत्रोंपर घेरा बनावै, पश्चात् रोगीकी आँखोंको मिचवाकर उष्ण जलसे पिघलायाहुआ घी अथवा सौवार जलमें धोया हुआ घी, अथवा दूधसे निकालाहुआ घी जबतक पलक डूबै तबतक उस घेरेमें भरै, इसके भरने पर घीरेसे रोगीकी आँखे खुलवावै, यह तर्पणकी प्रसिद्ध विधि वैद्यने कहीहै । नेत्र रूक्ष होगये हो, पानी झरता हो मैले तथा पलकों रहित होगये हो नेत्रकी नसें लाल होकर बहुत पीडा करती हो, तिमिर, अर्जुन, फूला, अभिष्यन्द, अधिमथ, शुष्कनेत्र, नेत्रपाक, नेत्रोंकी सूजन, अथवा वात विपर्यय रोग होय तौ इन सब रोगोंमें विद्वान् वैद्य तर्पण विधि करै । वर्त्मरोग होय तौ जबतक सौ गुरु अक्षरोंका उच्चारण हो तब तक नेत्रोंपर तर्पणको रहने देवै । स्वस्थताम, कफमें, तथा सन्धिरोगमें पाँचसौ गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण होय तबतक तर्पणको रहने देवै । पित्तकी पीडा होय तौ छःसौ गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण हो तबतक तर्पणको रहने देवै । काली पुतलीके रोगोंमें सातसौ और दृष्टिरोगोंमें आठसौ गुरुअक्षरोंके उच्चारण तक तर्पण धारण करे । अधिमथरोग (पुतलीमें मानो कोई वस्तु चुभती हो ऐसी पीडा उठकर आवे मस्तकमें वेदना) होय तौ सहस्र गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण हो तबतक तर्पणको रहने देवै और वात सम्बन्धी रोग होय तौ भी सहस्र गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण हो तबतक तर्पणको रहने देवै । तर्पण विधि पूर्ण होनेपर नेत्रके कोयेसे घीको बहाकर निकाल डालै, फिर गरमकिये जौके आटेसे नेत्रोंको साफ कर डालै और तत्पश्चात् घीके जोरसे बटेहुए कफको यथायोग्य धूमपान करके दूर करै । एकदिन, पाँचदिन अथवा सात दिनतक तर्पणक्रिया करै ॥ १८–२८ ॥

यथार्थतर्पणचिह्नम् ।

तर्पणे तृप्तिलिंगानि नेत्रस्यैतानि लक्षयेत्॥ सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं नेत्रपाटवम् ॥ निर्वृतिर्व्याधिशान्तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥ २९ ॥

निर्वृतिः सुखम् । क्रियालाघवम् नेत्रस्य । क्रियायां निमेषोन्मेषादौ लघुता ॥

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत् ॥ घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत्॥ ३०॥ आस्रावशोफपीडाढ्यमुपदेहसमाकुलम् ॥

रूक्षमस्रावमरुणं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम् ॥ ॥ ३१ ॥ अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सिते ॥ रूक्षस्निग्धोपचाराभ्यामेतयोः स्यात्प्रतिक्रिया ॥ ३२ ॥

अनयोः अतितर्पितहीनतर्पितयोः ॥

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायां संभ्रमेषु च ॥ अशान्तोपद्रवे चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

तर्पण यथार्थ हुआ होय तो निद्रा सुखपूर्वक आवै और सुखपूर्वक ही जागजाय, स्वच्छता, नेत्रोकी शक्ति तथा सुख बढताहै, व्याधिकी शांति होतीहै, और खोलना मीचना आदि क्रिया करनेमें लघुता होतीहै इस प्रकारके चिह्न होनेसे नेत्रोका तर्पण भली भाँति हुआ जानना। जो तर्पण का अधिक योग हुआ होय तो नेत्र भारी होतेहैं, मैले होजातेहैं, अत्यन्त स्निग्धता होतीहै, आँसू बहतेहैं, खुजली होतीहै, जिस प्रकार थर चढा हो नेत्र इस भाँति हो जातेहैं और घिसनेकी समान पीडा होतीहै, इन चिह्नोसे वैद्यको नेत्रोका अत्यन्त तर्पण हुआ जानना। जो नेत्रका हीन तर्पण हुआ होय तो नेत्रोमेंसे पानी झरता है, सूजन तथा पीडा होतीहै, नेत्र लिप्तता करके आकुल रहते हैं, रूक्षता होतीहै, गीलापन नही रहता और लाली होतीहै। जो तर्पण अधिक अथवा हीन हुआ होय तो दोषोकी वक्रता होती है इस कारण उनकी चिकित्सा करनेका प्रयत्न करै, जो अत्यत तर्पण हुआ होय तो रूक्ष उपचार करै और हीनतर्पण हुआ होय तो स्निग्ध उपचार करै। बद्दलके दिनमें अत्यत उष्ण तथा शीतल समयमें जब चिता तथा सभ्रम होय तब और उपद्रव शात होनेसे पहिले नेत्रोका तर्पण करना योग्य नहीं है ॥ २९–३३ ॥

पुटपाकविधिः।

द्वे बिल्वे स्निग्धमांसस्य परद्रव्यपलं मतम् ॥ द्रवस्य कुडवोन्मानं सर्वमेकत्र पेषयेत् ॥ ३४ ॥ तदेकत्र समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् ॥ पुटपाकविधानेन तत्पश्चात्तद्रसं बुधः ॥ ३५ ॥ तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवधारयेत् ॥ दृष्टिमध्ये निषेक्तव्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः ॥ ३६ ॥ स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति स त्रिधा ॥ हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्य स तु लेखनः ॥ दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृग्घ्नवातनुत् ॥ ३७ ॥

इतरो रोपणः ॥

स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः ॥ स्नेहनः पुटपाकः स्याद्धार्योऽयं वाक्छतं नरैः ॥ ३८ ॥ जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः ॥ कृष्णलोहरजस्ताम्रशंखविद्रुमसिन्धुजैः ॥ ३९ ॥ समुद्रफेनकासीससोतोऽम्लदधिमस्तुभिः ॥ लेखनो वाक्छतं तस्य परं धारणमिष्यते ॥ ४० ॥ स्तन्यजाङ्गलमज्जाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः ॥ लेखनात्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥ ४१ ॥ निम्बामृतावृषपटोलनिदिग्धिकाभिः स्यात्पञ्चतिक्तक इति प्रथितो गणोऽयम् ॥ आचरेत्तर्पणोक्तां तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥

व्यापत्तिदर्शने मिथ्याकृतपुटपाकजनितव्याधिदर्शने ॥

तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च ॥ नेक्षेत तर्पिते नेत्रे यश्च वा पुटपाकवान् ॥ ४२ ॥

स्नेहयुक्त आठ तोला मास लेकर उसमे अन्य औषधि चार तोले द्रवपदार्थ सोलह तोले डालकर सबको एकत्र पीसै, पश्चात् उसका एक गोलाकर बना पत्तोसे ढककर पूर्वोक्त पुटपाककी रीतिसे अग्निमे पकावै, पश्चात् उसमेसे रस निचोड लेवै उस रसको तर्पणकी रीतिके अनुसार सम्पूर्ण प्रकारसे नेत्रोमें उपयोग करै। रोगीको चित्त सुलाकर उसके नेत्रोमें यह रस डालें। स्नेहन (स्निग्धता करनेवाला), लेखन (मलको उखाडनेवाला) और रोपण (भरती करनेवाला) इस भाँतिसे इस रसके तीन भेद हैं। अत्यत रूक्ष हुए मनुष्योको स्नेहन रस उत्तम है, स्निग्ध मनुष्योको लेखन रस उत्तम है, और दृष्टिको बल देनेके लिये रोपण रस उत्तम है कि, जिससे पित्तरुधिरका विकार,

व्रण और वात नष्ट होतेहैं । स्नेह, मांस, चरबी, मज्जा, मेद तथा मधुर औषधियोंसे बनाये हुए पुटपाकका रस स्नेहन होताहै, स्नेहन रसको दोसौ गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण होय तब तक धारण करै, जगली जीवोंका कलेजा और मास, लेखन औषधि, काले लोहे (पोलादलोहे) का चूर्ण, तॉबेका चूर्ण, शख, मूँगा सेधानोंन, समुद्रफेन, कसीस तथा सुरमेका चूर्ण और दहीका पानी, इनसे किये हुए पुटपाकका रस लेखन होताहै, लेखन रसको सौ गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण होय तबतक धारण कर रक्खे। स्त्रीका दूध, जगली पशुओंका मास, मधु, घी, नीम, गिलोय, अडूसा, परवल और कटेरी, इनसे बनाया हुआ पुटपाकका रस रोपण होताहै, रोपण रसको तीनसौ गुरु अक्षरोंका जबतक उच्चारण होय तबतक धारण कर रक्खे। नीमको आदि लेकर कटेरीतक जो पदार्थ कहे वह तिक्तकगण कहाताहै । पुटपाकके रसका अधिक अथवा न्यून उपयोग होनेसे रोगोंकी उत्पत्ति देखनेमें आवे तो तर्पणके विषयमें कहीहुई क्रिया करै । नेत्रका तर्पण किया हो अथवा पुटपाकके रसका उपयोग किया हो वह रोगी तेजके सन्मुख नहीं देखै, वायुके सामने दृष्टि नहीं करै, आकाशको नहीं देखै, शीशा और प्रकाशित बिजली आदि पदार्थोंको भी नहीं देखै ॥ ३४–४२ ॥

अंजनविधिः ।

अथ सम्पक्वदोषस्य प्राग्मज्जनमाचरेत् ॥ अञ्जनं क्रियते येन तद्द्रव्यं चाञ्जनं मतम् ॥ ४३ ॥ तद्यथा–रसो वर्ती तथा चूर्णोमति त्रिविधमञ्जनम् ॥ यथापूर्वं बलं तेषु श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥ ४४ ॥ तत्प्रत्यक त्रिधा प्रोक्तं लेखनं रोपणं तथा ॥ स्नेहनं चेति लिङ्गानि तेषां विस्तरतः शृणु ॥ ४५ ॥ लेखनं क्षारतीक्ष्णाम्लरसैरञ्जनमुच्यते॥ नेत्रवर्त्मशिराजालश्रोत्रशृङ्गाटकस्थितम् ॥ ४६ ॥ मुखनासाक्षिभिर्दोषमाक्लिश्य स्रावयेच्च तत् ॥ कषायं तिक्तकं चापि सस्नेहं रोपणं मतम्॥४७॥ तत्स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम् ॥ मधुरं स्नेहसंपन्नमञ्जनं स्यात्प्रसादनम् ॥ ४८ ॥ दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थञ्च तद्धितम् ॥ हरेणुमात्रा वर्त्तिस्तु लखनी स्यात्प्रमाणतः ॥४९॥ सार्द्धैकरेणुकमिता रोपणी वर्त्तिरिष्यते ॥ क्रियते स्नेहनी वर्त्तिर्द्विहरेणुकमात्रया ॥ रसाञ्जनस्य मात्रा तु पिष्टवर्तिमिता मता ॥५०॥

सम्पूर्ण दोषोंके पकजानेके पश्चात् नेत्रोंमें योग्य अजन आँजै, जो नेत्रोंमें लगायाजावे वह पदार्थ अंजन कहाताहै। रसरूप, वर्त्तीरूप और चूर्णरूप, ये अजनके तीन भेद हैं. इनमें चूर्णसे वर्त्ती बलवान् है और वर्त्तीसे रस बलवान् है । इस प्रत्येक अजनके लेखन, रोपण और स्नेहन, इस भॉति तीन तीन भेद हैं, इनका लक्षण विस्तारसे कहतेहैं सो सुनो । जो खारी, तीक्ष्ण और खट्टेरसवाला अजन होय वह लेखन अजन कहाताहै । ये अजन नेत्रोंमें. पलकोंमें, नसोंके समूहमें कानमें और कपालकी हड्डीमें रहनेवाले दोषोंको स्थानसे गिराकर मुखसे, नाकसे तथा नेत्रोंसे-निकाल देताहै । कसैले तथा कडवे रसवाला और स्नेहयुक्त जो अजन होय वह रोपण कहाताहै। यह स्नेह तथा शीतल होनेसे रोपण अजन, वर्णको उत्तम करैहै और दृष्टिके बलको भी बढावेहै । मधुररसवाला और स्नेहयुक्त जो अजन होय वह प्रदसान कहाताहै, स्नेहन अंजन दृष्टिके दोषको शुद्ध करनेके लिये और दृष्टिको स्निग्धकरनेके लिये उपयोगी है । लेखन वर्त्ती बनावे तो एक मटरके बराबर बनावै । दृष्टिका बल बढानेके लिये जो वर्त्ती बनाई जाय वह डेढ मटरकी बराबर बनावै और दृष्टिको स्निग्ध करनेके लिये जो वर्त्ती बनाई जाय वह दो मटरकी बराबर बनावै । रसरूप अजनकी मात्रा एक पिष्टवर्तिकी बराबर बनावै ॥ ४३–५० ॥

चूर्णं तु लेखनं वैद्यैर्द्विशलाकं प्रदीयते ॥ रोपणं त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नेहनाञ्जने ॥ ५१ ॥

चतस्रः शलाकाः स्नेहनाञ्जने चूर्णे ॥

मुखे या मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला॥ अष्टांगुला शलाका स्यादश्मजा धातुजाथ वा ॥ ५२ ॥

कलायपरिमण्डला अग्रे कलायवद्वर्त्तुला ॥ ताम्रलोहाश्मसञ्ज्ञाता शलाका लेखने मता ॥ सुवर्णरजतोद्भूता स्नेहने समुदाहृता ॥ ५३ ॥ अंगुली च मृदुत्वेन रोपणे सम्प्रयुज्यते ॥ कृष्णभागावधिं लिम्प्यादपांगं यावदञ्जनम् ॥ ५४ ॥ हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते ॥ पूर्वाह्णे वापराह्णे वा ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ॥ ५५ ॥ वर्षास्वनभ्रे नात्युष्णे वसन्ते तु सदैव हि ॥ अथ वा सर्वदा प्रातः सायं वाञ्जनमाचरेत् ॥ ५६ ॥ नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलायां तत्प्रयुज्यते ॥ श्रान्तेऽथ रुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ॥ ५७ ॥ अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रयुज्यते ॥ रागोपदेहौ तिमिरं शूलं संरम्भमेव च ॥ निद्राक्षयञ्च कुरुते निषिद्धे युक्तमञ्जनम् ॥ ५८ ॥

लेखन चूर्ण ऑजना होय तो उसकी दो सलाई ऑजै, रोपण चूर्ण ऑजना होय तो उसकी तीन सलाई ऑजै और स्नेहन चूर्ण ऑजना होय तौ उसकी चार सलाई ऑजै, ऑजनेकी सलाई कलीके सदृश मुखवाली, मटरकी सदृश गोल आठ अंगुलकी और पत्थरकी अथवा धातुकी होनी चाहिये। लेखन चूर्ण ऑजना होय तो तॉबेकी, लोहेकी अथवा पत्थरकी सलाई होनी चाहिये। स्नेहन चूर्ण ऑजना होय तौ सोनेकी अथवा चॉदीकी सलाई होनी चाहिये। रोपण चूर्ण ऑजना होय तो अंगुलीसे ऑजे, कारण कि अंगुली कोमल होतीहै। जो अजन ऑजना होय वह कालीपुतलीके नीचेसे नेत्रके कोनेतक ऑजै। हेमन्तऋतुमे और शिशिर ऋतुमे मध्याह्न समयमें अजन ऑजना चाहिये, ग्रीष्म ऋतुमें और शरद् ऋतुमें पूर्वाह्न समय अथवा अपराह्न समयमें अजन ऑजै, वर्षाऋतुमें जिससमय बादल न होय और बहुत गरमी न होय उस समय ऑजै, बसत ऋतुमें जब रुचै तबही अजन लगावै, अथवा अधिक करके सर्वदा प्रातःकाल वा सध्या समय ऑजै, जिस समयमे बहुत शीतलता, उष्णता, वायु और बादल न होयँ उस समयमें अंजन लगावै। थकाहुआ, रुदन कियेहुआ, भयभीतहुआ, जिसने मदिरा (दारू) पी होय, नवीन ज्वरवाला, अजीर्णयुक्त और जिसने मल मूत्रके वेगको रोका होय, इन सबको अजन नही लगाना चाहिये। जिनको अंजन आँजनेका निषेध किया है उनके अजन ऑजे तो नेत्रोमें लाली होतीहै, नेत्र सूजेसे होजातेहैं, तिमिर, शूल, तथा दोषोंका कोप होताहै और निद्राका नाश होताहै ॥ ५१–५८ ॥

लेखनकारिणी वर्तिः।

शङ्खनाभिर्विभीतस्य मज्जा पथ्या मनःशिला ॥ पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचा चेति समांशकम् ॥ ५९ ॥ छागक्षीरेण सम्पिष्य वर्त्तिं कुर्याद्यवोन्मिताम् ॥ एरण्डमात्रां सम्पिष्य जलैः कुर्याद्यथाञ्जनम् ॥ ६० ॥ तिमिरं मांसवृद्धिश्च काचं पटलमर्बुदम् ॥ राज्यान्ध्यं वार्षिकं पुष्पं वर्त्तिश्चन्द्रोदया हरेत् ॥ ६१ ॥

इति चन्द्रोदया वर्त्तिर्लेखनी ॥

शखकी नाभि, बहेडेकी भींग, हरड, मैनशिल, पीपल, मिर्च, कूठ और वच, इनको समान भाग लेकर बकरीके दूधमें पीसकर एक अडीकी बराबर जौके आकारवाली बत्ती बनावे, इस बत्तीको पानीमे पीसकर योग्य रीतिसे ऑजै, इसके लगानेसे तिमिर, मांसकी वृद्धि, काच, पटल, अर्बुद रतौंधा और एक वर्षका फूला नष्ट होताहै, इस बत्तीका नाम चन्द्रोदया वर्त्ति है ॥ ५९–६१ ॥

रोपणकारिणी वर्तिः।

अशीतिस्तिलपुष्पाणि षष्टिः पिप्पलितण्डुलाः ॥ जातिपुष्पाणि पञ्चाशन्मरिचानि तु षोडश ॥ ६२ ॥ सूक्ष्मं पिष्ट्वाऽम्बुनावर्त्तिः कृता कुसुमिकाभिधा ॥ तिमिरार्जुनशुक्राणां नाशिनी मांसवृद्धिनुत् ॥ एतस्या अञ्जने प्रोक्ता मात्रा सार्धहरेणुका ॥ ६३ ॥

इति कुसुमिका रोपणी वटी ॥

अस्सी तिलके फूल, साठ पीपलके बीज, पचास चमेलीके फूल और सोलह दाने मिर्च, इनको पानीमें बारीक पीसकर जो वत्ती बनाई जाय उसको कुसुमिकावर्त्ती कहते हैं। यह वर्त्ती—तिमिर, अर्जुन (सफेद भागमें लालबूँद) तथा फूलेको नष्ट करदेती और मांसकी वृद्धिको भी दूर करदेती इस वर्त्तीकी ऑजनेमें डेढ मटरकी बराबर मात्रा जाननी ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

स्नेहनकारिणी वर्तिः ।

धात्र्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च ॥ पिष्ट्वा वर्तिं जलैः कुर्यादञ्जनं द्विहरेणुकम् ॥ नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजं तथा ॥ ६४ ॥

आमलेकी गुठलीकी मींग एक भाग, बहेडेकी गुठलीकी मींग दो भाग और हरडोकी गुठलीकी मींग तीन भाग इनको पानीमें पीसकर वत्ती बनावै और वह दो मटरकी बराबर नेत्रोंमें लगावै। ये लगानेसे नेत्रोंका पानी गिरना, तथा वातरक्तका विकार नष्ट होताहै ॥ ६४ ॥

लेखनकारिणी रसक्रिया ।

तुत्थमाक्षिकसिन्धूत्थाः सिताशंखमनःशिलाः ॥ गैरिकं सिन्धुफेनश्च मरिचं चेति चूर्णयेत् ॥ ६५ ॥ संयोज्य मधुना कुर्यादञ्जनार्थं रसक्रियाम् ॥ वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्रहरीं पराम् ॥ ६६ ॥

नीलाथोथा, सोनामाखी, सेधानोन, खॉड, शखका चूर्ण, मैनशिल, गेरु, समुद्रफेन और कालीमिर्च, इनको खूब पीसकर मधुमें मिलाकर ऑजै, इसके लगानेसे पलकोंके रोग, अर्म, तिमिर, काच और शुक्ररोग इन सबका अत्यन्त शीघ्र नाश होताहै ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

रोपणी रसक्रिया ।

रसाञ्जनं सर्जरसो जातीपुष्पं मनःशिला॥ समुद्रफेनो लवणं गैरिकं मरिचं तथा ॥ ॥ ६७ ॥ एतत्समांशं मधुना पिष्टं प्रक्लिन्नवर्त्मने ॥ अञ्जनं क्लेदकण्डूघ्नं पक्ष्मणाञ्च प्ररोहणम् ॥ ६८ ॥

रसौत, राल, चमेलीके फूल, मैनशिल, समुद्रफेन, सेधानोन, गेरु और मिर्च, इनको समान भाग लेकर सहतमें खूब बारीक पीसै, पश्चात् पलकोंपर लगावै तो पलकोंका गीलापन तथा खुजली नष्ट होतीहै और पलकोंके बाल गिरगये हों तो फिर उगने लगते हैं ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

स्नेहनकारिणी रसक्रिया ।

कतकस्य फलं पृष्ट्वा मधुना नेत्रमञ्जयेत् ॥ ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम्॥ ६९॥

निर्मलीके फल और थोडे कपूरको सहतमें घिसकर ऑजै तो नेत्र स्निग्धतापूर्वक स्वच्छ होतेहैं ॥ ६९ ॥

लेखनचूर्णम् ।

दक्षाण्डत्वक्छिलाकाचशंखचन्दनसैन्धवैः॥ अञ्जनं हरते नित्यं सर्वानक्षिगदान्बलात् ॥ ७० ॥

दक्षः कुक्कुटः ॥

तथा च निघण्टुः—

कृकवाकुस्तथा दक्षः कालज्ञोऽथ शिखण्डिक इति ॥

मुरगेके अडेका छिलका, मैनशिल, काँच, शख, चदन और सेधानोन इनका चूर्ण करके नित्य ऑजै तो बलात्कारसे हुए नेत्रोंके सम्पूर्ण रोग नष्ट होतेहैं। निघटुमें कृकवाकु, दक्ष, कालज्ञ और शिखडिक, ये मुरगेके सस्कृत नाम कहेहैं. इसीसे हमने इस श्लोकमें दक्षका अडा अर्थ किया है ॥ ७० ॥

रोपणचूर्णम् ।

शिलायां रसकं पिष्ट्वा सम्यगाप्लाव्य वारिणा ॥ गृह्णीयात्तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् ॥ ७१ ॥ शुष्कं तच्च जलं सर्वं पर्पटीसन्निभं भवेत्॥ विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥ ७२ ॥ कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत् ॥ अञ्जयेन्नयनं तेन सर्वदोषप्रशान्तये ॥ ॥ ७३ ॥ समस्तनेत्ररोगघ्नं चूर्णमेतन्न संशयः ॥

पत्थरके खरलमें खपरियाको पीस पानीमें भली भाँति भिजो देवै, फिर उसके ऊपरके जलको निता-

रले और नीचेके कूडेको फेकदेवे, इन सबको सुखाकर पपडीकी सदृश जब होजाय तब उसका चूर्णकरै फिर हरड बहेडा और आमलेके रसकी तीन भावना देवै और फिर दशवाँभाग कर्पूरका चूर्ण मिलावे यह चूर्ण ऑजे तौ सम्पूर्ण दोषोंकी शांति होतीहै और नेत्रोके सर्व रोग निःसन्देह नष्ट होतेहैं ॥ ७१–७३ ॥

स्नेहनचूर्णम् ।

अग्नितप्तं हि सौवीरं निषिञ्चेत्त्रिफलारसैः॥ सप्तवेलं तथा स्तन्यैः स्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम् ॥ ७४ ॥

सौवीरं श्वेतमञ्जनम् ॥

अञ्जयेत्तेन नयने प्रत्यहं चक्षुषोर्हितम् ॥ सर्वानक्षिविकारांस्तु हन्यादेतन्न संशयः७५

सफेद सुरमेको अग्निमें तपा तपाकर सातवार हरड, बहेडे तथा आमलेके रसमें डालकर बुझावे, फिर तपाकर सातवार स्त्रीके दूधमे बुझावे, फिर इस सुरमेका चूर्ण करके नित्य नेत्रोमे ऑजै तो नेत्रोंको हितकारी होताहै नेत्रसंबंधी सम्पूर्ण विकारोका निःसंदेह नाश होता है ॥ ७४ ॥७५॥

प्रत्यंजनविधिः ।

गतदोषमपेताश्रु प्रपश्यत्सम्यगम्भसि ॥ प्रक्षाल्याऽक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यञ्जनं ततः ॥ ७६ ॥ न वा निर्वातदोषेऽक्षिधावनं सम्प्रयोजयेत् ॥ प्रत्यञ्जने कृते दद्याच्चूर्णं तीक्ष्णप्रसादनम् ॥ ७७ ॥

नेत्रोके दोष दूर होनेके पश्चात् ऑसू निकल जानेपर तथा नेत्रोंमे देखनेकी जब शक्ति आगई हो तब नेत्रोंको जलसे धोडालै, पश्चात् दोषोंको निःशेष करनेके लिये उसी दोषके अनुसार प्रत्यजन (दूसरी वार) ऑजै । नेत्रोंके जबतक दोष दूर न होजायें तबतक नेत्रोको नही धोवै, नेत्रोंको धोनेके पीछे प्रत्यजन ऑजै कि जिससे तीक्ष्ण औषधिके लगानेसे हुआ नेत्रोका ताप नष्ट होजाय ७६॥७७॥

नयनामृतचूर्णम् ।

तद्यथा–शुद्धनागेन्द्रतुल्यन्तु शुद्धं सूतं विनिक्षिपेत्॥ कृष्णाञ्जनं तयोस्तुल्यं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ॥ ७८ ॥ दशमांशेन कर्पूरं तस्मिंश्चूर्णे विनिक्षिपेत् ॥ एतत्प्रत्यञ्जनं नेत्रगदजिन्नयनामृतम् ॥ ७९ ॥

कृष्णाञ्जनं स्रोतोऽञ्जनम् ।

तथा च मदनपालः–

स्रोतोऽञ्जनन्तु तद्विद्यादञ्जनाभं यदञ्जनम्८० इति नयनामृतं प्रत्यञ्जनम् ॥

शुद्ध किये हुए सीसेको पिघलाकर उसमे उसके बराबरही शुद्ध पारा डालै और दोनोके बराबर काला सुरमा डालै, पश्चात् इन सबका एकत्र चूर्ण करके उसमे उसका दशवाँ भाग कर्पूर डालै । इसका नेत्रोमें प्रत्यजन करै तो नेत्रके रोग निःशेष होजाते हैं, इसका नाम 'नयनामृत' है. मदनपालनामक कोषमें कहाहै कि " जो सुरमा अंजन के सदृश काला होय वह स्रोतोजन कहाताहै"७८–८०॥

दृष्टिस्वच्छकारिणी शलाका ।

त्रिफलाभृंगशुण्ठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा ॥ गोमूत्रमध्वजाक्षीरैःसिक्तो नागःप्रतापितः॥ तच्छलाका हरत्येव सर्वान्नेत्रभवान्गदान्८१

इति भेषजाना विधानानि ।

शुद्ध सीसेको वारवार तपातपाकर हरड, बहेडा, तथा आमलेके रसमे, घीमें, गोमूत्रमे, शहदमें और बकरीके दूधमे बुझावै, पश्चात् इस सीसेकी सलाई बनाकर नेत्रमे फेरे तो इससे नेत्रसंबंधी सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं ॥ ८१ ॥

अथ भेषजभक्षणसमयः ।

भैषज्यमभ्यवहरेत्प्रभाते प्रायशो बुधः ॥ कषायांस्तु विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः ॥ १॥ ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ॥ किञ्चित्सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने ॥ सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष अधिक करके औषधि प्रातःकालमे खावै और काथ पीना होय तौ प्रातःकालमे ही पियै परन्तु उसमे नीचे लिखे भेदोपर ध्यान रक्खै । किंचित् सूर्योदय होनेके पश्चात्, दिनको भोजन करनेके समयमे, सध्याको भोजन करनेके समयमें, वारवार और रात्रिमे इस भाँति मनुष्योंके औषधि खानेके पाँच समय हैं ॥ १ ॥ २ ॥

प्रथमकालः ।

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः ॥ लेखनार्थं च भैषज्यं प्रभातेऽनन्नमाहरेत् ॥ ३ ॥

पित्त अथवा कफकी अत्यत अधिकतामें, रेच (जुलाब) लेना होय, वमन (उलटी) करानी होय, वा लेखनके अर्थ, प्रातःकालमें विना खाये औषधिका उपयोग करै ॥ ३ ॥

द्वितीयकालः ।

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते ॥ अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत् ॥ ४ ॥ समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावति-दीपनम् ॥ दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक् ॥ ५ ॥ व्यानकोपे तु भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत् ॥ हिक्काक्षेप-ककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात् ॥ ६ ॥

अपान वायुके विगुण होनेपर दिनके भोजनसे किंचित् पहिले औषधलेना उत्तम है, अरुचि हो तौ खानेके विचित्र पदार्थोके साथ खावै कि-जिससे रुचि होती है । रोगीके नाभि-स्थानमें रहनेवाली समानवायु विगडी होय और अग्नि मद होगई होय तौ कुशल वैद्य अग्निको प्रदीप्त करनेवाली औषधि भोजनके मध्यमें खवावै । सर्व शरीरमें रहनेवाली व्यान वायुका कोप हुआ होय तौ भोजनके अंतमें औषधि खिलावै । हिचकी, आक्षेपक वायुकी अथवा कंपकी अधिकता होय तौ पहिले और भोजनके पीछे भी औषधि खिलावै ॥ ४-६ ॥

तृतीयकालः ।

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि ॥ ग्रासग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सान्ध्यभोजने ॥ ७ ॥ प्राणे प्रदुष्टे सान्ध्यस्य भुक्तस्यान्ते प्रदीयते ॥ औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः ॥ ८ ॥

स्वरभगादिकारिणी गलेमें रहनेवाली जो उदानवायु है उसका प्रकोप हुआ हो तौ सायकालके भोजनमें ग्रासग्रास-के साथ औषधि देवै, हृदयमें रहनेवाली प्राणवायुका प्रकोप होय तौ अधिक करके सायकालके भोजन करने-के पश्चात् धीर वैद्य औषधि सेवन करावै, यह तीसरा समय है ॥ ७ ॥ ८ ॥

चतुर्थकालः ।

मुहुर्मुहुश्च तृड्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च ॥ सान्नञ्च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः ॥ ९ ॥

तृषा, वमन, हिचकी, श्वास अथवा विषकी पीडा होय तौ अन्नके साथ या वारवार औषधि सेवन करावै यह चौथा समय है ॥ ९ ॥

पंचमकालः ।

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा ॥ पा-चने शमने देयमनन्नं भेषजं निशि ॥ १० ॥

हँसलीके ऊपरके भागमें विकार हो और लेखन क्रिया, वृहणक्रिया, पाचनक्रिया, अथवा शमनक्रिया करनी हो तो रात्रिमें विना भोजन करे औषधि सेवन करावै ॥ १० ॥

निरन्नकोष्ठ औषधिसेवनगुणाः ।

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं हन्यात्त-दामयमसंशयमाशु चैव ॥ तद्बालवृद्धयुव-तीमृदुभिश्च पीतं ग्लानिं परां नयति चाशु बलक्षयञ्च ॥ ११ ॥

जो मनुष्य निरन्न कोठेमें औषधिका सेवन करै तौ औषधिकी शक्ति अधिक होती है और वह औषधि अव-श्य तथा तुरन्त रोगको नष्ट करती है । परन्तु बालक, वृद्ध, युवा स्त्रियें अथवा मृदु प्रकृतिवाले मनुष्य निरन्नकोठेमें औषधि सेवन करैं तौ तुरन्त उनको ग्लानि होतीहै और शरीरके बलका नाश होताहै ॥ ११ ॥

अन्नेन सहौषधसेवनगुणाः ।

शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्याद-न्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति ॥ एत-द्धितं स्थविरबालकृशाङ्गनाभ्यः प्राग्भो-

जनाद्यदशितं किल तच्च तद्वत् ॥ १२ ॥ तद्वदन्नावृतवद्भेषजमिति शेषः ॥

औषधशेषे भुक्तं भोजनशेषे यदौषधं पीतम् ॥ न करोति गदोपशमम्प्रकोपयत्यन्यरोगांश्च ॥ १३ ॥

पीतमित्युपलक्षणं लीढादिकं च ॥

अन्नमे मिलाकर जो औषधिका सेवन कियाजाय वह तुरन्त पकजाती है, वलका क्षय नही करतीहै, तथा मुखमेसे वारवार निकलती भी नही।वृद्ध,वालक,दुर्वल शरीरवाले और स्त्रियोको इसप्रकार औषधिका सेवन करना हितकारी है। भोजन करनेके पहिले औषधिका उपयोग करनेसे जो गुण होताहै उसके सदृशही अन्नके साथ खाई हुई औपधि भी गुण करतीहै। औषधि किंचित् शेष (वाकी) रहनेपर भोजन करै अथवा भोजन किंचित् शेष रहनेपर औषधिका पान करै तो वह औपधि रोगोको शान्त नही करती और अन्य रोगोको कुपित करती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

औषधपाकापाकचिह्नम्।

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णासुमनस्कताः ॥ लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥ १४ ॥ क्लमो दाहोऽङ्गसदन भ्रममूर्च्छाशिरोरुजः ॥ अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥ १५ ॥

रोगीकी औपधि पच्चगई होय तो पवन अपने अनुकूल चलतीहै, स्वस्थता होतीहै, भूँख तथा तृपा लगतीहै, मनमे प्रसन्नता होतीहै, शरीरमे लघुता होतीहै और डकार ठीक आती है और जो रोगीकी औपधि न पची होय ग्लानि, दाह, अगमें पीडा, भ्रम, मूर्च्छा, मस्तकमे दर्द, अरुचि तथा वलकी हानि होतीहै ॥ १४ ॥ १५ ॥

चरकोक्तौषधसेवनविधिः।

देवान्गुरूंस्तथा विप्रान्पूजयित्वा प्रणम्य च ॥ आशिषश्च समादाय श्रद्धया भषजं भजेत् ॥ १६ ॥ रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ॥ सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ १७ ॥ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ॥ देवाश्च सौषधिग्रामा भूमिदेवाश्च पान्तु वः ॥ १८ ॥ औषधं हेमरजतमृद्भाजनपरिस्थितम् ॥ पिबेदाप्तजनस्याग्रे प्रसन्नवदनेक्षणः ॥ १९ ॥ विश्रान्तस्तूपविश्याथ पीत्वा पात्रमधोमुखम् ॥ निक्षिप्याचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत् ॥ २० ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचितभावप्रकाशे पञ्चमप्रकरण चिकित्सायां सप्ताङ्गानि च सम्पूर्णानि।

देवता, गुरु तथा ब्राह्मणको पूजा, प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लेकर श्रद्धासे औषधिका सेवन करै. गुरु तथा ब्राह्मण रोगीको आशीर्वाद देवै कि—"जैसे रसायन ऋषियोको और अमृत देवताओको तथा नागोको रोगरहित तथा वलवान् करैहै, तिसीप्रकार यह औपधि तुमको रोगरहित तथा वलवान् करै। ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, अन्यदेवता, औपधियोका समूह और ब्राह्मण तुम्हारी रक्षा करें"। रोगी अपने मुख और नेत्रोको प्रसन्न रख अपने स्नेही और भले मनुष्योके आगे सुवर्णके, चाँदीके, अथवा मट्टीके पात्रमें रक्खीहुई औपधि सेवन करै। विश्रामसे वैठकर औपधिको पियै, पीनेके पश्चात् औपधिके पात्रको पृथ्वीपर औंधा डाल देवै पश्चात् जलसे आचमन करके पान आदिको सेवन करै ॥ १६—२० ॥

इति श्रीभावप्रकाशे वैद्यसजीविनीभाषाटीकायां मुरादावादनिवासिमाथुरवैश्यवंशोद्भवकविवरलालाशालिग्रामवैद्यकृतायां पञ्चमप्रकरण सम्पूर्णम्।

अथ षष्ठं प्रकरणम्।

चिकित्सार्थं रोगिणो वाग्भटोक्तपरीक्षा।

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैस्तं परीक्षेत रोगिणम् ॥ आयुरादि दृशा स्पर्शाच्छीतादि प्रश्नतः परम् ॥ १ ॥

आयुरादि, आदिशब्दात्साध्यत्वासाध्य-

क्षयपर अपथ्य

विरेचनं वेगविधारणं च श्रमश्च सुस्वेदनमंजनं चाप्रजागरं साह-
सकर्मसेवा रूक्षं च पानं विषमाशनं चाताम्बूलकालिंगकुलिंग-
मांसं रसोनवंशांकुररामठानि । अम्लानि तिक्तानि कषायकाणि
कटूनि सर्वाणि च पत्रशाकम् ॥ क्षारान्विरुद्धाध्यशनानि विंबी
कर्कोटकं चापि विदाहि सर्वम् । कुटिल्लकं कृष्णमपि क्षयेषु वि-
वर्जयेत्संततमप्रमत्तः ॥

अर्थ–विरेचन, मलमूत्रादि वेगों का धारण, परिश्रम, स्वेदन, अंजन, रात्रि में जागना, साहस (जो अपनी सामर्थ्य से न हो सके उस को करना) रूखा अन्न, रूखा पान, विषमाशन, तांबूल भक्षण, तरबूज, कुलथी, (कुलंग पक्षी का मांस) उडद, रहसन, वंश की कोपल, हींग, खट्टे पदार्थ, कडुए और कषेले पदार्थ, तथा सब चर्परे रस, साग, पत्तो का क्षार, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, कंदूरी (सैम), ककोडा (करेला), संपूर्ण विदाही पदार्थ, लाल और सपेद पुनर्नवा ये पदार्थ क्षयरोगी को सेवन करना वर्जित है ॥

इति श्रीबृहन्निघण्टुरत्नाकरे उर क्षतनिदानचिकित्सा समाप्ता ।

कासकर्मविपाकः.

द्रव्याणि चाल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेपतः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रमित्येवं मनुरब्रवीत् ॥

अर्थ–जो प्राणी दुर्बल (गरीब) मनुष्यो का द्रव्य चुराता है इस पाप के प्रभाव-से इस जन्म मे वह प्राणी कफरोगी होता है. उस को इस पाप के प्रायश्चित्त करने को कृच्छ्र और सांतपन व्रत करना चाहिये ऐसे मनुमहाराज की आज्ञा है ॥

दूसरा प्रकार

अपुहारी च पुरुषो जायते श्लेष्मलः सदा ।
उपोष्य दिवसं सोपि दद्यात्पलशतं त्रपु ॥

अर्थ–जो प्राणी पूर्वजन्म में रांगे की चोरी करता है वो इस जन्म में कफरोगी होता है उस को एक दिन उपवास करके ४०० तोले रांगे का दान करना चाहिये ॥

तीसरा प्रकार

नित्यानुष्ठानविमुखः कफरोगी भवेन्नरः । पराभवं स चाप्नोती-
त्याह वै भगवान् यमः॥ तच्छांतये मासमेकं यावकं भक्षयेन्नरः ।
सहस्रनामपाठश्च होमश्चाष्टोत्तरायुतम् ॥ नाममंत्रेण कुर्वीत च-
रुंज्यं च हविर्भवेत् ॥

अर्थ–जो प्राणी नित्यकर्म (संध्यावंदनादि) नहीं करे वो कफरोगी होता है उस को कफ से अथवा शत्रु से पीडा होती है इस प्रकार यमऋषि ने कहा है. इस पाप की शांति के अर्थ १ महीने पर्यंत जौं खाय और विष्णुसहस्रनाम का पाठ तथा अष्टाक्षरी वा द्वादशाक्षरीनाममंत्र से चरु और आज्य (घृत) इन से १०८ आहुती देवे इस प्रकार विधि करनी चाहिये ॥

ज्योतिःशास्त्राभिप्राय

सूर्ये कुलीरजाते बुधेन दृष्टे विगतनेत्रः ।
कफमारुतरोगार्तः परस्वहारी विलोलमतिचेष्टः ॥

अर्थ–जन्मसमय में सूर्य कर्कराशि में बैठा होय और बुध उस को देखता होय तो नष्टदृष्टि अर्थात् अंधा होय अथवा कफवातरोगी होय अथवा चौरी और चंचलपने (चालाकी) के कर्म करे ॥

कारणसम्प्राप्ति और निरुक्ति

धूमोपघाताद्व्यजसस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च । विमार्ग-
गत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात्क्षवथोस्तथैव॥ प्राणो ह्युदाना-
नुगतः प्रदुष्टः संभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः । निरेति वक्त्रा-
त्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥

अर्थ–नाक मुख में धूर वा धूंआ जाने से दंड, कसरत, रूक्षान्न इन के नित्य सेवन करने से, भोजन के कुपथ्य से, मलमूत्र के रोकने से, उसी प्रकार छिंका अर्थात् (छींक) आती हुई के रोकने से, प्राणवायु अत्यंत दुष्ट होकर और दुष्ट उदानवायु से मिलकर कफपित्तयुक्त अकस्मात् मुख से बाहर निकले उस का शब्द फूटे कांस्यपात्र के समान होय उस को विद्वान् लोग कांस (खांसी) कहते हैं ॥

संख्यारूपसंप्राप्ति

पंच कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥

गोमयम् । दग्धं विचूर्णयेत्पश्चाच्चूर्णपादं विषं क्षिपेत् ॥ रुद्रपर्पटिका ह्येषा देया गुंजाद्वयं द्वयम् । चूर्णितं कटुनिर्गुंड्या मूलनिष्कद्वयं पिबेत् ॥ भृंगराजरसेनैव लिहेद्वा मधुना सह । वातकासान्निहंत्याशु सर्वथैव न संशयः ॥

अर्थ-शुद्धपारा १ भाग, गंधक २ भाग, दोनों को मिलायके कजली करे फिर इस को अंड की जड, काकडासींगी, मकोय और इन के रस में एक २ दिन खरल करे फिर इस को अग्निपर तपायके पर्पटी बनावे फिर इस पर्पटी का चतुर्थांश ताम्रभस्म मिलावे और मंदाग्निपर पचन करे जब लालरंग हो जावे तब उतारके केले के पत्तेपर डाल देवे और तत्काल दूसरे पत्ते से ढकके गोवर से दाब देय तो पतली पर्पटी हो जावेगी जब शीतल हो जाय तब निकालके चूर्ण करके धर रखे इस में चतुर्थांश सिंगिया विष मिलावे. यह रुद्रपर्पटी दो रत्ती अनुपान से देवे और इस के ऊपर निर्गुंडी के जड का चूर्ण छः मासे देवे अथवा भांगरे का रस और सहत इन के साथ देवे तो सर्व वादी की खांसी नाश करे ॥

भूतांकुशरस

शुद्धसूतस्य भागैकं द्विभागं शुद्धगंधकम् । भागत्रयं मृतं ताम्रं मरीचं दशभागिकम् ॥ मृताभ्रस्य चतुर्भागं भागमेकं विषं क्षिपेत् । भूतांकुशस्य भागैकं सर्वमम्लेन मर्दयेत् ॥ रसो भूतांकुशो नाम मात्रैको वातकासजित् । अनुपानं लिहेत्क्षौद्रं विभीतकफलत्वचः ॥

अर्थ-शुद्धपारा १ भाग, गंधक २ भाग, तांबे की भस्म ३ भाग, मिरच १० भाग, अभ्रक ४, विष १ और नकछिकनी १ भाग ले इन सब को एकत्र चूर्ण कर नीबू के रस में खरल करे. इस भूतांकुशरस की मात्रा १ तोले की है इस को बहेडे का चूर्ण और सहत इन के साथ देवे तो वादी की खांसी दूर होय॥

सव्यादि लेह

सठी शृंगी कणा भार्ङ्गी गुडवारिदयासकैः ।
सतैलैर्वातकासघ्नो लेहोयमपराजितः ॥

अर्थ-कचोरा, काकडासिंगी, पीपली, भारंगमूल, गुड, नागरमोथा और धमासा इन का लेह करके सेठ डालके सेवन करने से वात का नाश करता है ॥

भार्ङ्ग्यादिलेह

भार्ङ्गी द्राक्षा शठी शृंगी पिप्पली विश्वभेषजम् ।
गुडतैलयुतो लेहो हितो मारुतकासिनाम् ॥

अर्थ–भारंगी, दाख, कचूर, काकडासिंगी, पीपल और सोंठ इन का गुड मिलाय-क अवलेह बनावे इस में तेल डालके सेवन करे तो वादी की खांसी दूर होय ॥

विश्वादिलेह

विश्वा भार्ङ्गी कणा सोमवल्कद्राक्षाशठीसिताः ।
लीढा तैलेन वातोत्थं कासं जयति दुस्तरम् ॥

अर्थ–सोंठ, भारंगी, पीपल, कायफल, दाख और कचूर इन का अवलेह तेल मिलायके सिद्ध करे इस में मिश्री मिलायके सेवन करे तो घोर दुस्तर वादी की खांसी नाश होय ॥

दशमूलीघृत

दशमूलीकषायेण भार्ङ्गीकल्कैर्घृतं पचेत् ।
दशतित्तिरिनिर्व्यूहैस्तत्परं वातकासनुत् ॥

अर्थ–दशमूल का काढा, भारंगी का कल्क तथा दश तीतरों के मांस का काढा इन में घी डालके सिद्ध करे यह वात की खांसी नाश करने में उत्तम है ॥

कट्फलादिपेय वातकफकासोंपर

कट्फलं कट्तृणं भार्ङ्गी मुस्तधान्यं वचाभया । शुंठी पर्पटकं शृंगी सुराह्वं च जले श्रृतम् ॥ मधुहिंगुयुतं पेयं कासे वातक-फान्विते । कंठरोगे मुखे शूले हिक्काश्वासज्वरेषु च ॥

अर्थ–कायफल, रोहिषतृण, भारंगी, नागरमोथा, धनियां, वच, हरड, सोंठ, पित्त-पापडा, काकडासिंगी, देवदार इन के काढे में सहत, हींग डालके पीवे तो वादी कफ की खांसी, कंठरोग, मुखरोग, शूल, हिचकी, श्वास और ज्वर इनपर परमोत्तम है ॥

शुंठ्यादिचूर्ण

शुंठी दुरालभैरंडमूलं कर्कटशृंगिका । चचुंदरो देवदारुश्चूर्णमेषां समांशतः ॥ उष्णेन वारिणा किंवा तैलेनालोड्य भक्षितम् । वातजं श्लेष्मजं कासं नाशयत्यतिवेगतः ॥

अर्थ–सोंठ, जवासा, अंड की जड, काकडासिंगी चचूदर, देवदारु इन का समभाग चूर्ण कर गरम जल से अथवा तेल से सेवन करे तो वातजन्य तथा कफजन्य खांसी का नाश होय ॥

चित्रकादिलेह

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं मुस्ता दुरालभा । शठी पुष्करमूलं च श्रेयसी सुरसा वचा ॥ भार्ङ्गी छिन्नरुहा रास्ना कर्कटाख्या च कार्षिका । कल्कोऽग्निदग्धद्वितुलां कषाये पलविंशतिः॥ मत्स्यंडिकाया दश वा सर्पिषः कुडवं पचेत् । सिद्धे शीते पृथक्क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम् ॥ चतुःपलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णं तत्र प्रदापयेत् । लेहयेत्कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम् ॥

अर्थ–चीते की छाल, पीपल, पीपरामूल, सोंठ, मिरच, पीपल, नागरमोथा, धमासा, कचूर, पुहकरमूल, हरड, तुलसी, वच, भारंगी, गिलोय, रास्ना, काकडासिंगी इन को समान भाग ले कल्क और राख ८० तोले इन को औषधों के ८०० तोले काढे में डाले और मिश्री ४० तोले तथा घी ६४ तोले डालके उस काढे को पचावे तो अवलेह सिद्ध होय इस में सहत, पीपल और वंशलोचन ये प्रत्येक १६ तोले डाले और सेवन करे तो खांसी, हृदय, श्वास और गोला इन को दूर करे ॥

शुंठ्यादि लेह वातकासपर

चूर्णिता विश्वदुःस्पर्शा शृंगीद्राक्षा शठी सिता ।
लिहेत्तैलेन वाताढ्यं कासं जयति दुस्तरम् ॥

अर्थ–सोंठ, धमासा, काकडासिंगी, द्राक्षा, कचूर और मिश्री इन को तेल मिलाके अवलेह बनावे इस के सेवन करने से दुस्तर वाताधिक खांसी को नाश करे ॥

दशमूलका काढा

दशमूली श्रृता विश्वा कासहिक्कारुजापहा ।
यवागू दीपनी वृष्या वातरोगविनाशिनी ॥

अर्थ–दशमूल, सोंठ इन का काढा खांसी और हिचकी इन का नाशक है. और यवागू छः गुन पानी डालके करा हुआ पतला भात यह दीपन, कामोद्दीपक तथा वातरोग नाश करनेवाला है ॥

पंचमूलकाढा

पंचमूलीकृतः क्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।
रसान्नमश्नतो नित्यं वातकासमुदस्यति॥

अर्थ–शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू इन का काढा पीपल का चूर्ण डालके सेवन करे तथा रसयुक्त भोजन करे तो वात खांसी का नाश करे ॥

कर्कटरस

रसं कर्कटकानां वा घृतभृष्टं सनागरम् ।
वातकासप्रशमनं शृंगीमत्स्यस्य वा पुनः ॥

अर्थ–केकडे के मांसरस को घी में भून उस में सोंठ डालके देवे अथवा शृंगी-जाति की मछली का रस घृत में भून सोंठ को डालके देवे तो वात की खांसी दूर करे ॥

शुंठ्यादिचूर्ण

शुंठी दुरालभा द्राक्षा कचूरस्तवराजकम् ।
वातकासं निहंत्याशु तैलभुक्तं हि चूर्णकम् ॥

अर्थ–सोंठ, धमासा, दाख, कचूर और यवाशशर्करा (शीराखिस्त) इन का चूर्ण में मिलायके देवे तो वादी की खांसी का नाश होय ॥

पित्तकासनिदान

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेन पांडुः परिदह्यमानः ॥

अर्थ–पित्त की खांसी से हृदय में दाह, ज्वर, मुख का सूखना इन से पीडित हो मुख कडुआ रहे प्यास लगे पीले रंग की और कडुवी ऐसी पित्त के प्रभाव से वमन् होय रोगी का पीला वर्ण हो जाय और सब देह में दाह होय ॥

सिंहास्यादिकाढा

सिंहास्यामृतासिंहीनां क्वाथं मधुयुतं पिबेत् ।
पिबेत्सपित्तकफजे कासे श्वासे ज्वरे क्षये ॥

अर्थ-अडूसा, गिलोय और कटेरी इन के काढे में सहत डालके पीवे तो पित्त-फात्मक खांसी, श्वास, ज्वर और क्षय इन का नाश करे ॥

बलादिकाढा

बलाद्विबृहतीद्राक्षावासाभिः क्वथितं जलम् ।
पित्तकासापहं पेयं शर्करामधुयोजितम् ॥

अर्थ-खिरेटी, कटेरी, बडी कटेरी, दाख और अडूसा इन के काढे में सहत और मिश्री डालके सेवन करे तो यह पित्तकास को नाश करे ॥

शठ्यादिकाढा

शठी द्वीवेरबृहती शर्करा विश्वभेषजम् ।
पक्त्वा रसे पिबेत्पूतं सघृतं पित्तकासनुत् ॥

अर्थ-कचूर, नेत्रवाला, कटेरी और सोंठ इन के काढे में घी और मिश्री डालके देवे तो पित्त की खांसी को नाश करे ॥

शरादिकाढा

शरादिपंचमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा ।
कषायेण श्रृतं क्षीरं पिबेत्समधुशर्करम् ॥

अर्थ-शर, ईख, डाभ, कांस इन की जड का काढा करके उस में दूध डाल औटावे फिर सहत और मिश्री डालके देवे तो पित्त की खांसी का नाश करे ॥

शठ्यादिकाढा

शठीद्विपंचमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा ।
कषायेण श्रृतं क्षीरं पिबेत्समधुशर्करम् ॥

अर्थ-कचूर, दशमूल, पीपल और दाख इन के काढे में औटा हुआ दूध सा और मिश्री मिलायके देवे तो पित्त की खांसी दूर होय ॥

त्वक्क्षीरलेह

त्वक्क्षीरपिप्पलीलाजाद्राक्षाजलदशर्कराः ।
सर्पिर्मध्वावलेहोयं पित्तकासविनाशनः ॥

अर्थ तवाखीर, पीपल, खील, दाख, नागरमोथा इन के काढे में मिश्री, घी और सहत डालके पीवे तो पित्त की खांसी दूर होवे ॥

कंटकार्य्यादिकाढा

कंटकारीयुगं द्राक्षावासाकर्चूरबालकैः ।

नागरेण च पिप्पल्या कथितं सलिलं पिबेत् ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥

अर्थ–कटेरी. बडी कटेरी, दाख, अडूसा, कचूर, नेत्रवाला, सोंठ और पीपल इन के काढे में मिश्री और सहत मिलायके देवे तो पित्त की खांसी को दूर करे ॥

पिप्पल्यादिचूर्ण

पिप्पलीतवराजश्च तवक्षीरं त्रयं समम् ।
मधुसर्पिर्युतं भुक्तं पित्तकासविनाशनम् ॥

अर्थ–पीपर, यवास, शर्करा और तवाखीर इन को समान भाग लेवे सब का चूर्ण करके सहत और घी मिलायके सेवन करे तो पित्त (गरमी) की खांसी दूर हो॥

मधुकादिचूर्ण

मधुकं पिप्पलीमूल दूर्वाद्राक्षाकणासमम् ।
घृतेन मधुना युक्तं पित्तकासविनाशनम् ॥

अर्थ–मुलहटी, पीपरामूल, दूर्वा, दाख और पीपल इन का समान भाग चूर्ण करके सहत के साथ खाय तो पित्त की खांसी को दूर करे ॥

अर्धावर्तितकाढा

अर्धावर्तितपानीयं सलाजं पिप्पली मधु ।
त्रयं सर्पिर्युतं भुक्तं पित्तकासविनाशकृत् ॥

अर्थ–अधोटा पानी, खील और पीपल इन का काढा करके उस में सहत और घी डालके पीवे तो पित्त की खांसी का निवारण होय ॥

मातुलिंगादिलेह

मातुलिंगरसो हिंगुत्रिफला मधुशर्करा ।
सर्पिर्मध्वावलेहोयं पित्तकासविनाशकृत् ॥

अर्थ–बिजोरे का रस,हींग और त्रिफला इन का काढा सहत और मिश्री डालके देवे तो पित्त की खांसी को दूर करे ॥

खर्जूरादिलेह

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा सिता लाजाः समांशकाः ।
मधुसर्पिर्युतो लेहः पित्तकासहरः परः ॥

र्थ–खजूर, पीपल, दाख, मिश्री और खील इन को समान भाग लेकर लेह

सिद्ध करे इस में सहत घी डालके सेवन करे तो पित्त की खांसी को नाश करे ॥

द्राक्षामलकादिलेह

द्राक्षामलकखर्जूरं पिप्पलीमरिचान्वितम् ।
पित्तकासहरं ह्येतल्लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ॥

अर्थ-दाख, आमला, खजूर, पीपल और मिरच इन को एकत्र चूर्ण कर सहत और घी के साथ खाने से पित्त की खांसी को नाश करे है ॥

क्षीरामलकघृत

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः ।
सर्पिः प्रस्थं पचेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ॥

अर्थ-भैंस, बकरी और गौ इन का दूध और आमले का रस ये समान भाग ले इस में ६४ तोले घी मिलायके युक्ति से पचावे और सेवन करे तो यह घृत पित्त की खांसी को दूर करे ॥

रस

भस्मताम्राभ्रतीक्ष्णानां कासमर्दवरीरसैः ।
मुनिजैवैंतसाम्लेन दिनं मद्ये तु पीडितम् ॥
निष्कार्धं पित्तकासार्तं भक्षयेन्नात्र संशयः ॥

अर्थ-ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म और कांतभस्म इन को एकत्र करके कसोंदा क रस की, सतावर और अगस्तिया अमलवेत और मद्य इन में घोटके दो मासे पित्तखांसी-वाले को देवे तो हित करे ॥

लोकेश्वररस

रसो लोकेश्वरोप्यत्र पिप्पलीमधुना सह ।
दातव्यो विनिहंत्येव पित्तकासं सुदारुणम् ॥

अर्थ-क्षयीरोग में जो लोकेश्वररस कह आये हैं उस को पीपल और सहत के साथ देवे तो दारुण पित्तखांसी को नाश करे ॥

कफकासनिदान

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः ।
अभक्तरुग्गौरवकंडुयुक्तः कासेद्भृशं सांद्रकफः कफेन ॥

अर्थ-कफ की खांसी से मुख कफ से लिपटा रहे मथवाय और सब देह कफ से

परिपूर्ण रहे अन्न में अरुचि शरीर भारी रहे कंठ में खुजली और रोगी वारंवार खांसे कफ की गांठ थूकने से सुख मालूम होवे ॥

कफकाससामान्यचिकित्सा

कफजे वमनं कार्यं कासे लंघनमेव च ।
शस्तापवातप्रकृतिर्यूषाश्च कटुतिक्तकाः ॥

अर्थ–कफ की खांसी में प्रथम ही वमन करावे तथा लंघन कराना ये उपचार तथा मुख्यत्व करके वातरहित प्रकृति का रखना और चरपरे, कडुए ऐसे यूष देना इत्यादि उपचार करे ॥

नवांगयूष

मुद्गामलाभ्यां यवदाडिमाभ्यां कर्कंधुना मूलसशुष्ककेन ।
शुंठीकणाभ्यां सकुलित्थकेन यूषो नवांगः कफकासहंता ॥

अर्थ–मूंग, आमले, जो, अनार, बेर, सूखी मूली, सोंठ, पीपल और कुलथी इन का यूष करे यह नवांगयूष कफकास को नाश करे ॥

पिप्पल्यादिकाढा

पिप्पली कट्फलं शुंठी शृंगी भार्ङ्गी तथोषणम् । कारकं कंटकारी च सिंधुवारो यवानिका॥ चित्रको वासकश्चैषां कषायं विधिवत्कृतम् । कफकासविनाशाय पिबेत्कृष्णारजोयुतम् ॥

अर्थ–पीपर, कायफल, सोंठ, कांकडासिंगी, भार्ङ्गी, मिरच, अजमायन, कटेरी, निर्गुंडी, अजमोद, चित्रक और अडूसा इन के काढे में पीपल के चूर्ण की चुकनी डालके देवे तो कफकास को नष्ट करे ॥

पित्तश्लेष्मकास

वासकः स्वरसः पेयो मधुयुक्तो हिताशिना ।
पित्तश्लेष्मकृते कासे तालीसाद्यं च योजयेत् ॥

अर्थ–पित्तकफ की खांसी पर अडूसे का रस सहत मिलायके देवे और पथ्य रहे अथवा तालीसादि चूर्ण देवे तो इस को नष्ट करे ॥

अवलेह

शठी सातिविषा मुस्ता शृंगी कर्कटकस्य च । अभयां

शृंगवेरं च समं शुंठ्यादि पेषयेत् ॥ हिंगुसैंधवसंयुक्तं तक्रो-
दकपरिप्लुतम् । श्लेष्मकासी लिहेदेवमवलेहं मुहुर्मुहुः ॥

अर्थ–कचूर, अतीस, नागरमोथा, कांकडासिंगी, हरड, अदरख और सोंठ ये समान भाग लेकर चूर्ण करे इस छाछ के जल में हींग और सेंधानिमक मिलायके वारंवार चाटने को देवे तो कफ की खांसी नष्ट होय इस में संदेह नहीं है ॥

बिभीतकधारण

बिभीतकं घृताभ्यक्तं गोशकृत्परिवेष्टितम् ।
स्विन्नमेतन्निहंत्याशु कासमास्यविधारितम् ॥

अर्थ–बहेडे को घृत में भूनके उस पर गोबर लपेट पुटपाक कर लेवे फिर इस से गोबर दूर करके तोड डाले इस के टुकडों को मुख में रखे तो सर्व प्रकार की खांसी नष्ट होय ॥

भद्रमुस्तादिचूर्ण

भद्रमुस्ताकणाचूर्णं समांशं मधुना सह ।
निहंति भक्षितं शीघ्रं श्लेष्मकासं न संशयः ॥

अर्थ–नागरमोथा और पीपल इन का समान भाग चूर्ण कर सहत से खाय तो कफ की खांसी को नष्ट करे इस में संदेह नहीं है ॥

पथ्यादिचूर्ण

पथ्या विश्वा कणा मुस्ता देवदारुः समांशकम् ।
एतच्चूर्णं मधूपेतं श्लेष्मकासापनुत्तये ॥

अर्थ–हरड, सोंठ, पीपल, नागरमोथा और देवदारु इन का समान भाग चूर्ण करके सहत में मिलायके चाटे तो कफ की खांसी नष्ट होय ॥

चित्रकादिचूर्ण

चित्रकं पिप्पलीमूलं पिप्पली गजपिप्पली ।
एतच्चूर्णं समं युक्तं मधुना श्लेष्मकासनुत् ॥

अर्थ–चित्रक की छाल, पीपरामूल, पीपल और गजपीपल इन के चूर्ण को एकत्र समान भाग लेवे. इस मे यथायोग्य मात्रा सहत मे मिलायके देवे तो कफ की खांसी को नष्ट करे ॥

शिलादिलेह

शिला व्योषाभयाहिंगुविडंगं सैंधवं समम् ।
लेह्यं साज्यमधुश्वासहिक्काकासेषु शस्यते ॥

अर्थ–मनसिल, सोंठ, मिरच, पीपल, हरड, हींग, वायविडंग और सेंधानिमक न के चूर्ण को सहत और घी इन में मिलायके श्वास, हिचकी और खांसी न पर देना चाहिये ॥

व्योषादिघृत ।

व्योषाजमोदचित्रकजीरकपङ्ग्रंथिचव्यकल्कितं सर्पिः ।
कफकासश्वासहरं वासकरससाधितं समधु ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपर, अजमोद, चित्रक, जीरा, वच और चव्य इन को समान भाग ले सब का कल्क करके उस में घी, अडूसे का रस और सहत डालके सेवन करे तो कफ संबंधी खांसी, श्वासों को नाश करे ॥

कटुत्रयादिचूर्ण

कटुत्रयं पावकदेवदारुरास्नाविडंगत्रिफलामृतानाम् ।
चूर्णं समांशं सितया समेतं कासं जयेद्विष्णुगदेव दैत्यान् ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपल, चीते की छाल, देवदारु, रास्ना, वायविडंग, हरड, बहेडा, आवला इन का चूर्ण मिश्री मिलायके देवे तो खांसी का नाश करे ॥

बोलबद्धरस

रसभस्म विषं तुल्यं बोलाद्यार्द्धिगुणं मतम् । बोलतालकपाठाग्निककोंटीमाक्षिकं निशा ॥ कंटकारीयवक्षारं लांगली जीरसैंधवम् । मधूकसारसं चूर्णं सप्ताहं चार्द्रकद्रवैः ॥ छायायां भावयेत्पश्चात्सप्ताहं चिंचकद्रवैः । गुटिका बदराकारा श्लेष्मकासापनुत्तये ॥ भक्षयेद्बोलबद्धोयं रसः स्यात् श्वासपांडुजित् ॥

अर्थ–पारद की भस्म और सिंगियाविष दोनों समान भाग लेवे तथा बोल, हरताल, पाढ, काकडासिंगी, सुवर्णमाक्षिक, हलदी, कटेरी, जवाखार, कलयारी, जीरा, सेंधानिमक और मूलहटी इन के चूर्ण को सात दिन अदरख के रस में खरल करे फिर छाया में सुखायके सात दिन चीते के रस में खरल कर बेर की बराबर गोली बनाय लेवे इस को कफरोग, श्वास और पांडुरोग इन पर देवे ॥

दंतीधूम

दंतिमूलस्य धूमं वा निर्गुंडीं चापि योजयेत् ।
श्लेष्मकासं न संदेहो धूमपानेन तत्क्षणात् ॥

अर्थ-दंती की जड का धूआं अथवा निर्गुंडी का धूआं पीवे तो इस धूमपान व करने से कफ की खांसी दूर हो इस में संदेह नहीं है ॥

उरःक्षतकासनिदान

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्च गजनिग्रहैः ।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥

अर्थ-बहुत स्त्रीसंग करने से, भारके उठाने से, बहुत मार्ग चलने से, मल्लयुद्ध (कुस्ती) करने से, हाथी घोडा दौडने को रोकने से रूक्ष पुरुष का हृदय फूटकर वायु-कोप होकर खांसी को प्रगट करे ॥

क्षतकासलक्षण

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवति शोणितम् । कंठेन रुजतात्यर्थं विभिन्नेनेव चोरसा ॥ सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना । दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैवर्ण्यपीडितः । पारावत इवाकूजन्कासवेगात्क्षयो भवेत् ॥

अर्थ-सो पुरुष प्रथम सूखा खांसे पीछे रुधिर मिला थूके कंठ अत्यन्त दूखे हृदय फूटे सदृश मालम होय और तीखी सुईकेसे चभका चले और उस को हृदय का स्पर्श सुहाय नहीं दोनों पसवाडों में शूल होय यह वाग्भट का मत है तथ दाह हो उस रोगी के गांठ गांठ में पीडा होय. ज्वर, श्वास, प्यास, स्वरभेद इन से पीडित होय क्षतजन्य खांसी के वेग से रोगी कबूतर की तरह घुंघुं शब्द करे ॥

क्षयकासनिदान

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्याप्यन्तेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥
कुपिता क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥

अर्थ-कुपथ्य और विषमाशन के करने से अतिमैथुन मलमूत्रादिक वेगधारण इन से अति दया करने से अति शोक करने से अग्नि मन्द होय (अर्थात् आहार

थककर वायु कुपित हो अग्नि को नष्ट करे) तब तीनों दोष कोप को प्राप्त हो क्षयज-न्य देह का नाशक ऐसी खांसी को प्रगट करे तब वह खांसी देह को क्षीण करे ॥

क्षयकासलक्षण

सगात्रशूलज्वरदाहमोहात्प्राणक्षयं चोपलभेच्च कासी । शुष्कं विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥ तं सर्व-लिंगं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञा क्षयजं वदंति ॥ इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः । साध्यो बलवतां वा स्या-द्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥

अर्थ–शूल, ज्वर, दाह और मोह ये होय तब यह प्राण का नाश करे सूखी खांसी रुधिर मांस शरीर को सुखावे रुधिर और राध थूके ये सर्व लक्षणयुक्त और चिकित्सा करने में अति कठिन ऐसे इस खांसी को वैद्य क्षयज कहते हैं. इस प्रकार यह क्षयजकास (खांसी) क्षीण पुरुष की घातक होय है बलवान् पुरुष के असाध्य अथवा याप्य (साध्यासाध्य) होय है क्षतज खांसीभी इसी प्रकार की होती है यदि वैद्यादि पादचतुष्टयसंपन्न हो और ये दोनों प्रकार की खांसी नवीन होय तौ कदाचित् साध्य होय और बूढे पुरुष के जराकास अर्थात् धातुक्षीण होने से भई जो खांसी सो सब प्रकार की याप्य है सो सब इंद्रियके अंतर्गत जाननी. अब कहते हैं कि वात, पित्त, कफ ये तीन खांसी साध्य हैं और बाकी तीन याप्य हैं वे पथ्य सेवन करने से नाश होती और अवज्ञा करने से असाध्य हो जाती है ॥

साध्यासाध्यविचार

न वै कदाचित्साध्येतामपि पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥
त्रीन्पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥

अर्थ–यदि नवीनोत्पन्न क्षयकासरोगी वैद्य परिचारक और द्रव्य इत्यादि गुणों करके युक्त होय तो वह रोगी कदाचित् अच्छा होय और वृद्ध रोगी का जो जराकास होय तो सर्व याप्य जानना तथा वातादिक जनित तीन प्रकारके जो खांसी है वह साध्य है वह औषधों करके अच्छी हो तथा याप्य खांसी को पथ्य करके न्यून करे ॥

चिकित्साप्रक्रिया

कासे तु क्षतजे वल्ये पाचनैर्बृंहणैरपि ।
शमनैः पित्तकासघ्नैरन्यैश्च मधुरौषधैः ॥

अर्थ–क्षयकास को पाचन, पौष्टिक और शमन तथा पित्तकास को शमन करने-वाली औषधों करके तथा दूसरी मधुर औषधों करके शमन करे ॥

यवागूं वा पिबेत्सिद्धां क्षतोरस्कः सुशीतलाम् ।
इक्ष्विक्षुवालिकापद्ममृणालोत्पलचंदनैः ॥
शृतां पेयां मधुयुतां संधानार्थं पिबेत्क्षती ॥

अर्थ–उरःक्षत खांसी रोगी ईख, कसोंदी के बीज, कमल का कंद, नीलकमल कंद तथा चंदन इन करके सिद्ध करी शीतल यवागू घाव को संधान करने के अर्थ पीवे॥

इक्ष्वाद्यवलेह

इक्ष्विक्षुवालिकापद्ममृणालोत्पलचंदनैः । मधुकं पिप्पली द्राक्षा लाक्षा शृंगी शतावरी ॥ द्विगुणा च तुगाक्षीरी सिता सर्वैश्चतुर्गुणा । लिह्यात्तं सधुसर्पिर्भ्यां क्षतकासनिवृत्तये ॥

अर्थ–ईख का रस, कसोंदी के बीज, कमलकंद, कमल, सपेद चंदन, मुलहटी, पीपल, दाख, लाख, कांकडासिंगी और सतावर ये समान भाग ले तथा दो भाग वंशलोचन तथा सब औषधों से चौगुनी मिश्री डालके अवलेह बनावे इस में सहत और घी डालके चाटे तो खांसी की निवृत्ति अर्थात् नाश होय ॥

मंजिष्ठाद्यचूर्ण

मंजिष्ठमूर्वानतवह्निपाठाकृष्णाहरिद्राविदधीतचूर्णाः ।
क्षौद्रेण कासे विलिहेत्क्षतोत्थे पिबेद्घृतं चेक्षुरसे विपक्वम् ॥

अर्थ–मजीठ, मूर्वा, तगर, चित्रक, पाठा, पीपल और हलदी इन का चूर्ण सहत के साथ चाटे अथवा ईख के रस में घी को औटाकर पीवे ये दोनों योग क्षतज खांसीपर उत्तम हैं ॥

क्षुद्रावलेह

समूलकंटकारी च चपला चपलाजटा । अपामार्गस्य बीजानि जीर्णं सामुद्रकं तथा ॥ मधुना लेहयेत्सर्वं कासश्वासहरं परम् । उरःक्षतक्षये तीव्रे कफरक्तवमीषु च ॥

अर्थ–कटेरी का पंचांग, पीपल, पीपरामूल, आगा के बीज, जीरा और सेंधा निमक इन से सिद्ध करे अवलेह को सेवन करे तो खांसी, श्वास, उरःक्षत और कफरक्त की वांति इन को दूर करे ॥

तारेश्वररस

रसपादं मृतं तारं शिलाताप्यं चतुर्गुणम् । वासाचेक्षुरसाभ्यां च मर्दयेत्प्रहरद्वयम् ॥ द्वियामं वालुकायंत्रे स्वेद्यमादाय चूर्णयेत् । गुंजाद्वयं निहंत्याशु कासं क्षतभवं ध्रुवम् ॥ रसस्तारेश्वरो नाम ह्यनुपानं च कथ्यते । दाडिमं त्रिफला व्योषं त्रयाणां च समं गुडम् ॥ चूर्णितं भक्षयेत्कर्षं क्षतकासापनुत्तये ॥

अर्थ–पारा १ भाग, रूपे की भस्म पारे की चतुर्थांश, मनसिल तथा सुवर्णमाक्षिक ये चतुर्गुण लेकर अडूसा और ईख का रस इन में दो प्रहर खरल करे फिर इस को कांच की शीशी में भरके वालुकायंत्र मे दो प्रहर पर्यंत पचायके उतार लेवे इस में से दो रत्ती यह **तारकेश्वररस** अनार, त्रिफला (हरड, बहेडा, आंवला), सोंठ, मिरच, पीपल तथा इन सब के बराबर गुड मिलाय इन के एक तोले चूर्ण के साथ देवे तो क्षतकास को नष्ट करे ॥

सूर्यरस

रसमेकं द्विधा गंधं त्रिताप्यं पंच तालकम् । सर्वशुद्धं विचूर्ण्याथ चतुर्भागं मृताभ्रकम् ॥ वचा कुष्ठहरिद्राग्निटंकणं सैंधवं विषम् । सपाठालांगलीव्योषं सर्वं प्रत्येककर्षकम् ॥ भावितं भृंगसारेण दिनैकं तं च भक्षयेत् । मापः सूर्यरसो नाम हिक्कावैस्वर्यकासजित् ॥ अष्टगुंजामितं भक्ष्यं विख्याता रसपर्पटी । त्रिकंटमूलशुंठी च अजाक्षीरसमोदकम् ॥ क्षीरावशिष्टं तं क्वाथं सकणं पाययेन्निशि ॥

अर्थ–पारा १, गंधक २, सुवर्णमाक्षिक ३, हरताल ५ और अभ्रक ४ भाग लेवे और वच, कूठ, हलदी, चित्रक, सुहागा, सेधानिमक, बछनाग विष, पाढ, कलयारी, सोंठ, मिरच और पीपल ये प्रत्येक एक एक तोला लेवे सब का चूर्ण कर भांगरे के रस में १ दिन खरल करे यह सूर्यरस एक मासे खाने को देय तो हिचकी, स्वरभंग और खासी इन को नष्ट करे अथवा रत्ती रसपर्पटी लेकर रात्रि मे गोखरू, सोंठ, बकरी का दूध तथा दूध की बराबर जल लेकर औटावे जब दूधमात्र शेष रहे तब उतारके उस मे पीपल का चूर्ण डालके पीवे ॥

पिप्पलपादिलेह

पिप्पली पद्मकं लाक्षा सुपक्वं बृहतीफलम् ।
घृतक्षौद्रयुतो लेहः क्षयकासनिबर्हणः ॥

अर्थ–पीपल, पद्माख, लाख और उत्तम पके हुए कटेरी के फल ये समान भाग ले सब को पीस घी और बहुत इन से अवलेह बनायके सेवन करे तो क्षयजन्य खांसी को नाश करे ॥

कुलित्थगुड

कुलित्थानां शतपलं दशमूलं तथा शतम् । शतत्राह्मणयष्ट्याह्वा चतुर्गुणजले श्रृतम् ॥ पादावशेषतः पूते गुडस्यार्धतुलां पचेत् । पाकं ज्ञात्वावतार्यैवं सुशीते श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥ पट्पलं च तुगाक्षीया पिप्पल्या द्विपलं तथा । कुडवं मधुना दद्यात्स्थापयेद्भाजने शुभे ॥ खादेदग्निबलापेक्षी नाशयेदचिराद्बदान् । यक्ष्माणं पित्तजं कासं श्वासं जीर्णमजीर्णकम् ॥ जीर्णज्वरं पांडुरोगं हृद्रोगं श्लेष्ममारुतौ । कुलित्थगुड इत्युक्तः सर्वोपद्रवनाशनः ॥

अर्थ–कुलथी ५०० तोले, दशमूल की औषध ४०० तोले और भारंगी ४० तोले ले १६००तोले जल में काढा करके चतुर्थांश शेष रहने पर उतार लेवे.इस में गुड २०० तोले डालके पाक करे जब तयार हो जावे तब शीतल करके इस में २४ तोले वंशलोचन, ८ तोले पीपल और १६ तोले सहत डालके उत्तम पात्र में भरके धर रखे. इस में से अग्निबल विचारके खाने को देवे तो क्षय, पित्त की खांसी, श्वास, पका हुआ अजीर्ण, जीर्णज्वर, पांडुरोग, हृदयरोग और कफवात इन को और संपूर्ण उपद्रवों को यह कुलित्थगुड नाश करे ॥

वासाकूष्मांडावलेह

पंचाशतपलं स्विन्नं कूष्मांडं प्रस्थमाज्यतः । पक्वं पलशतं खंडं वासाक्काथाढके पचेत्॥शुभ्रा धात्री घनो भार्ङ्गी त्रिसुगंधिश्च कर्षकैः । एलोपविषधान्याकमरिचैश्च . पलांशकैः ॥ पिप्पली कुडवं चैव मधुमानं प्रदापयेत् । कासं श्वासं क्षयं हिक्कां रक्तपित्तहलीमकान् ॥ हृद्रोगमम्लपित्तं च पीनसं च व्यपोहति ॥

अर्थ–पेठे के टुकडे शुद्ध करे हुए २०० तोले उन को ६४ तोले घी में भूने फिर इस में १०० तोले टुकडे लेकर अडूसे के २५६ तोले काढे में सिजावे इस में वंशलोचन, आंवले, नागरमोथा, भारंगी, तज, तमालपत्र और इलायची ये प्रत्येक चार २ तोले ले तथा पीपल १६ तोले और सहत ३२ तोले डालके भरके धर रखे. इस में से बलाबल विचारके मात्रा वैद्य देवे तो खांसी, श्वास, क्षय, हिचकी, रक्त-पित्त, हलीमक, हृदयरोग, अम्लपित्त और पीनस इन को दूर करे ॥

कक्कुभलेह

चूर्णं कक्कुभविपिष्टं वासकरसभावितं सुबहुवारान् ।
मधुघृतसितोपलाभिर्लेह्यं क्षयकासपित्तहरम् ॥

अर्थ–कोहवृक्ष की छाल को चूर्ण में अडूसे के रस की बहुतसी भावना देवे फिर सहत, घी और मिश्री मिलायके चाटे तो क्षय कास और पित्त इन को नाश करे ॥

पिप्पल्यादिघृत

पिप्पलीगुडसंसिद्धं छागक्षीरयुतं घृतम् ।
एतदग्निविवृद्ध्यर्थंमुक्तं च क्षयकासिनाम् ॥

अर्थ–पीपल और गुड इन से बनाया हुआ घी बकरी के दूध के साथ पीवे, तो क्षयखांसी के अग्नि प्रदीप्त करने को उत्तम है ॥

पिप्पल्यादिलेह

पिप्पलीमधुकं पिष्टं कषायं ससितोपलम् । प्रस्थैकं गव्यमाज्यं च क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥ यवगोधूममृद्वीका चूर्णमामलकीरसम् । तैलं च प्रसृतांशानि तत्सर्वं मृदुवह्निना ॥ पचेल्लोहं घृतक्षौद्र-युक्तः सश्वासकासनुत् । क्षयहृद्रोगकासघ्नो हितो वृद्धाल्पवी-र्याणाम् ॥

अर्थ–पीपल और मुलहटी इन दोनों को कूट इन के चूर्ण का काढा मिश्री मिले हुए गौ का दूध, घी और ईख का रस प्रत्येक ६४ तोले जौं का गेहूं का चून चून, दाख, आंवले का रस और सरसों का तेल ये प्रत्येक आठ २ तोले लेवे सब को एकत्र कर मंद २ अग्नि पर रखके अवलेह बनावे इस अवलेह में सहत और घी डालके पीवे तो श्वास, खांसी, क्षय और हृदयरोग इन को नाश करे और वृद्धत्व तथा अल्पवीर्य पुरुषों को परम हितकारी है ॥

स्वयमग्निरस

शुद्धसूतं द्विधा गंधं कुर्य्यात्खल्वे च कज्जलीम् । तयोः समं तीक्ष्णचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥ द्वियामांते कृतं गोलं ताम्रपात्रे विनिक्षिपेत् । आच्छाद्यैरंडपत्रेण यामार्धेत्युष्णतां व्रजेत् ॥ धान्यराशौ न्यसेत्पश्चात् द्विदिनांते समुद्धरेत् । संपेष्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ॥ त्रिकटुत्रिफलाचैलाजाती-फललवंगकैः । एतेषां नवभागानां समं पूर्वोरितं भवेत् ॥ संचूर्ण्य लोडयेत्क्षौद्रैर्भक्ष्यं निष्कद्वयं द्वयम् । स्वयमग्निरसो नाम क्षयकासनिकृंतकः ॥ इंद्रवारुणिकामूलं भृंगीकृष्णातिलैः सह । भक्षयेत्क्षयकासार्तो निष्कमात्रं प्रशांतये ॥

अर्थ–शुद्ध पारा १ भाग और गंधक २ भाग ले दोनों की कजली करे त कजली के समान पोलाद लोह की चूर्ण मिलायके उस को घीगुवार के रस में ८ प्रहर घोटके गोला बनावे उस को ताम्रसंपुट में रखके उस के ऊपर और नीचे अं के पत्ते लपेट देवे फिर चार घडी पर्यंत उस को धूप में उसी प्रकार धरा रहने जब गरम हो जावे तब उठायके धान की राशि में दो दिन पर्यंत गडा रहने तीसरे दिन निकालके खरल में डालके घोट डाले फिर कपडे में छान ले तो य जल में तैरनेवाली लोह की भस्म होवे. यह लोहभस्म सोंठ, मिरच, पीपल, हरड बहेडा, आंवला, इलायची, जायफल और लौंग इन नौ औषधों के चूर्ण के बराब लोहभस्म मिलायके इस को सहत से आठ मासे पर्यंत देवे यह स्वयमग्निरस क्ष कास का नाश करे अथवा इंद्रायन की जड, भांग, पीपल और तिल इन के साथ ४ मासे देवे तो क्षयजन्य खांसी की शांति होय ॥

सन्निपातकास

सन्निपातभवो ह्येषः क्षयकासः सुदारुणः ।
सन्निपातहितं तस्मात्कार्यमत्र चिकित्सितम् ॥

अर्थ–यह दारुण क्षयकास संनिपात से होती है इसी से जो संनिपात पर हित होवे उसी उपाय को वैद्य करे ॥

अमृतादिकाढा

अमृता नागरं फंजी व्याघ्रिपर्णी सुसाधितः ।
क्वाथः पिप्पलिचूर्णाढ्यः कासश्वासौ जयत्यलम् ॥

अर्थ-गिलोय, सोंठ और सालपर्णी इन के काढे में पीपल का चूर्ण डालके रोगी को पिलावे तो खांसी और श्वास इन को शीघ्र नाश करे ॥

भार्ङ्ग्यादिकाढा

भार्ङ्गी सनागरा सिंही कुलित्थं मूलकं तथा ।
पिबेत्पिप्पलिचूर्णेन कासश्वासं व्यपोहति ॥

अर्थ-भारंगी, सोंठ, कटेरी, कुलथी और मूली इन का काढा पीपल का चूर्ण मिलायके पीवे तो खांसी और श्वास इन को दूर करे ॥

स्वरसादियोग

स्वरसं शृंगबेरस्य माक्षिकेण समन्वितम् ।
पाययेच्छ्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफापहम् ॥

अर्थ-अदरख के रस मे सहत डालके पीवे तो श्वास, खांसी, पीनस और कफ इन का नाश करे परंतु अग्निपर कुछ गरम करके और बडी इलायची का चूरा मिलायके खाय तो अधिक गुण करे ॥

मरीच्यादिचूर्ण

सेवितं मधुखंडाभ्यां चूर्णं मरिचजं यदि ।
किमर्थं क्रियते चिंता कासश्वासपराजितैः ॥

अर्थ-सहत और मिश्री इन के साथ मिरच का चूर्ण देने से खांसी की और श्वास की दूर होने की फिकर क्यों करते हो? ॥

कुलित्थादिकाढा

कुलित्थं कंटकारी च तथा ब्राह्मणयष्टिका ।
शुंठीसुराभिसंयुक्तः कासश्वासज्वरापहः ॥

अर्थ-कुलथी, कटेरी, भारंगी, सोंठ और राल इन सब का काढा करके पीवे तो खांसी, श्वास और ज्वर इन का नाश करे ॥

पुष्करादिकाढा

पौष्करं कट्फलं भार्ङ्गी विश्वपिप्पलिसाधितम् ।
पिबेत्काथं कफोद्रेके कासे श्वासे च हृद्गदे ॥

अर्थ–पुहकरमूल, कायफल, भारंगी, सोंठ और पीपल इन सब को समान भाग लेके काढा करे तो कफादिक, श्वास, खांसी और हृदयरोग इन को नाश करे ॥

कुनट्यादिलेह

कुनटी सैंधवं व्योषविडंगामरुहिंगुभिः ।
लेहः साज्यमधुकासहिक्काश्वासनिवारणः ॥

अर्थ–मनसिल, सैंधानिमक, सोंठ, मिरच, पीपल, वायविडंग, देवदारु और हींग इन का अवलेह करके उस में घी और सहत डाल पीवे तो खांसी, हिचकी, श्वास इन को दूर करे ॥

वह्निपादादि और मरिचादिलेह

श्वासकासहरा वह्निपादा च क्षौद्रसर्पिषा ।
लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतं क्षौद्रशर्करम् ॥

अर्थ–पीले टेटू के चूर्ण में सहत और घी मिलायके देवे अथवा काली मिरचों का चूर्ण घी, सहत और मिश्री मिलायकर देवे तो खांसी दूर हो ॥

भार्ङ्ग्यादिचूर्ण

भार्ङ्गीशुंठिकणाचूर्णं गुडेन श्वासकासनुत् । संयुतो मधुसर्पिर्भ्यां
चूर्णं त्रिकटुसंभवम् ॥ निहंति तरसा कासं श्वासानिव सतां हरिः ॥

अर्थ–भारंगी, सोंठ, पीपल इन के चूर्ण को गुड में मिलायके अथवा सोंठ, मिरच, पीपल इन के चूर्ण को सहत और घी में मिलायके देवे तो श्वास, खांसी का नाश हो ॥

घनादिगुटी

घनविश्वशिवागुडजा गुटिका त्रिदिनं वदनांबुजमध्यधृता ।
हरति श्वसनं कसनं ललने ललनेव हिमे हृदये निहिता ॥

अर्थ–नागरमोथा, सोंठ और हरड इन का चूर्ण करके उस में गुड मिलायके अथवा सोंठ, मिरच और पीपल इन का चूर्ण सहत और घी इन के साथ देवे तो श्वास, खांसी का नाश होय ॥

निर्गुंड्यादिघृत

निर्गुंडीरसभागैकं रसाच्चतुर्गुणं घृतम् । पाच्यं घृतावशेषं च चव्यं वह्निविडंगकम् ॥ चतुर्जातं कटुः कुष्ठं समं चूर्ण्यं घृते पचेत् । अष्टमांशघृतं चूर्णं निर्गुंड्याख्यं घृतं पिबेत् ॥ यवागूः कृष्णशाल्यस्तु तंडुलैः परिपाचितैः । निर्गुंडीघृतसंयुक्तं कास-श्वासहरं पिबेत् ॥

अर्थ–निर्गुंडी का रस १ भाग ले उस में चौगुना घी डालके घृत शेष रहे तब-तक पचावे फिर इस में चव्य, चित्रक, वायविडंग, दालचीनी, इलायची, पत्रज, नागकेशर, महुआ और कूठ इन का चूर्ण घृत का अष्टमांश डालके घृत के साथ पचावे फिर काले चावलों की यवागू डालके पचावे तो यह निर्गुंटीघृत सिद्ध होवे. यह खांसी और श्वास को दूर करे ॥

धूमपान

अपामार्गस्य पंचांगं संपिष्टं नलिकारसैः । तल्लिप्तवस्त्रे वा लिप्य तालकं च मनःशिला ॥ तं क्षिप्त्वाग्नौ पिबेद्धूमं सप्ताहं श्वास-कासजित् ॥

अर्थ–ओंगा के पंचांग को बारीक पीस उस को नलिका के रस में खरल करे उस में हरताल और मनसिल घोटके उस का कपडे पर लेप करे जब सूख जावे तब इस को हुक्के में धरके धूआ पीवे तो सात दिन में श्वास और खांसी इन को नाश करे ॥

वारुणीपत्रधूम

उत्तरावारुणीपत्रं शालितंडुलतालकम् । संपेष्य गुटिका कार्या बदरांडप्रमाणका॥मुखी तंडुलपिष्टेन कर्तव्या छिद्रसंयुता।दीप्तां-गारे वटीं क्षिप्त्वा मुखमाच्छाद्य यत्नतः॥ धूममेरंडनालेन पिबे-द्धुक्तोतरं शनैः । तांबूलपूरितमुखं पथ्यं क्षीरोदनं हितम् ॥ तत्क्षणान्नाशयेत्कासं सिद्धयोग उदाहृतः ॥

अर्थ–इंद्रायन के पत्ते, शालीधान के चावल और हरताल इन को एकत्र पीस बेर की गुठली के बराबर गोली बनावे उस को चावलों को पीसके चिलम बनावे

उस में इस गोली को रखके ऊपर अग्नि रखे और उस को ढकने से ढक देवे. फिर उस चिलम में अंडकी नली (नै) लगायके भोजन करने के पश्चात् पीवे और ऊपर से पान खाय और पथ्य में दूध भात खाने को देवे तो खांसी तत्क्षण दूर होय. यह सिद्ध प्रयोग है ॥

हेमगर्भपोटली

रसस्य भागाश्चत्वारस्तावंतः कनकस्य च । तयोश्च पिष्टिकां कृत्वा गंधो द्वादशभागिकः ॥ कुर्यात्कज्जलिकां तेषामुक्तभागाश्च षोडश । चतुर्विंशच्च शंखस्य भागैकं टंकणस्य च ॥ एकत्र मर्दयेत्सर्वं पक्वनिंबूकजै रसैः । कृत्वा तेषां ततो गोलं मूषासंपुटके न्यसेत् ॥ मुद्रां दत्त्वा ततो हस्तमात्रे गर्ते च गोमयैः । पुटेद्गजपुटेनैव स्वांगशीतं समुद्धरेत् ॥ पिष्ट्वा गुंजाचतुर्मानं दद्याद्द्रव्याज्यसंयुतम् । एकोनत्रिंशदुन्मानमरिचैः सह दीयते ॥ राजते मृन्मये पात्रे काचजे वावलेहयेत् । लोकनाथसमं पथ्यं कुर्याच्छुचितमानसः ॥ कासे श्वासे क्षये वाते कफग्रहणिकागदे । अतिसारे प्रयोक्तव्या पोटली हेमगर्भिका ॥

अर्थ–पारा ४ भाग और सुवर्ण का बारीक चूरा ४ भाग लेकर दोनों को ए मर्दन करे जब दोनों की उत्तम पिट्ठी हो जावे तब पारे का १२ भाग गंधक ले. इ पिट्ठी में मिलायके खरल कर कजली करे फिर पारे का सोलहवां भाग मोती, चौव भाग शंक तथा एक भाग सुहागा लेकर उस में मिलाय देवे फिर पके हुए नीबू रस में खरल करके उस का गोला बनावे और उस गोले को सराव संपुट में ऊपर से कपडमिट्टी करे फिर एक हाथ भर का गड्ढा खोदे उस में गोबर के आ उपले भर बीच में उस संपुट को रख गजपुट की अग्नि देवे जब शीतल हो ज तब बाहर निकाल लेवे और उस में औषध निकाल किसी उत्तम पात्र में भरके रखे. इस रस को **हेमगर्भपोटलीरस** कहते हैं. यह हेमगर्भ ४ रत्ती ले २९ कालीं मिरचों के चूर्ण से चांदी के पात्र में अथवा मिट्टी के पात्र में अथवा कांच प्याले मे गौ का घी डालके पीवे तथा चित्त को एकाग्र कर लोकनाथरस के सम पथ्य करे तो श्वास, खांसी, क्षयरोग, वादी के विकार, कफ और संग्रहणी तथा अ सार इन सब रोगों को दूर करे ॥

कासविधूननरस

रसभागो भवेदेको गंधको द्वौ तथैव च। यवक्षारं त्रिभागं स्याद्भुचकं च चतुर्गुणम् ॥ मरीचं पंचभागं स्याच्छुद्धं रसविमर्दितम् । कासं पंचविधं हन्याच्छ्वासं पंचविधं हरेत् ॥

अर्थ–पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग, जवाखार ३ भाग, पांगानिमक ४ भाग, काली मिरच ५ भाग ले इन को अदरख के रस मे खरल कर तीन २ रत्ती की गोली बनाय ले इसे खाय तो पांच प्रकार की खांसियो का नाश करे ॥

ताम्रपर्पटी

मृतं ताम्रं त्रिभागं च रसं गंधं च तत्समम् । भागमेकं वत्सनाभं कज्जलीं खल्वमध्यगाम् ॥ गोघृतेन कृतं कल्कं लोहपात्रे विपाचयेत् । ढालयेदर्कपत्रस्थपर्पटीरससिद्धये ॥ गुंजाद्वयं त्रयं चैव पिप्पलीमधुसंयुतम् । त्रिःसप्तरात्रयोगेन रोगराजं च नाशयेत् ॥ आर्द्रकस्य रसेनैव सन्निपातं नियच्छति । त्रिफला खंडसंयुक्तं सर्वं पांडुं विनाशयेत् ॥ वातारितैलसंयुक्तं सर्वशूलनिवारणम् । कुमारीरसयोगेन वातपित्तोपशांतये ॥ बाकूचीरससंयुक्तं सर्वदद्रुविनाशनम् । त्रिफलामधुसंयुक्तं सर्वमेहनिवारणम् ॥ खदिरक्काथपानेन कुष्ठाष्टादशनाशनम् । मंथानभैरवेणोक्ता लोकानां हितकाम्यया ॥

अर्थ–तामे की भस्म, पारा, गंधक ये प्रत्येक तीन २ भाग ले सिंगियाविष १ भाग इन सब को एकत्र करके कजली करे इस को गौ के घी मे खरल कर लोहे के पात्र मे पक्क करके इस को आक के पत्तों पर ढाल देवे और दूसरे पत्ते से तत्काल इस को ढकके दबाय देवे तो यह पर्पटी सिद्ध होय इस को दो अथवा तीन रत्ती लेके सहत और पीपल के चूर्ण के साथ २१ दिन खाय तो राजयक्ष्मा को नाश करे, अदरख के रस के साथ सेवन करे तो सन्निपात का नाश करे, त्रिफला और मिश्री के अनुपान से सर्व प्रकार के पांडुरोग, अंडी के तिल के अनुपान से शूल, घीगुवार के रस के अनुपान से वातपित्त, बावची के रस के अनुपान से सर्वकुष्ठ, त्रिफला और सहत इन के अनुपान से सर्व प्रकार के प्रमेह, खैर के काढे के अनुपान से अठारह प्रकार के कोढ इस प्रकार अनुपान के भेद से अनेक रोगो का नाश करे यह मंथानभैरव ने लोगों के हितार्थ पर्पटीरस कहा है ॥

कंटकार्यादिचूर्ण

कंटकार्याः काणायाश्च चूर्णं समधु कासहृत् ॥

अर्थ–कटेरी और पीपल इन के चूर्ण को सहत से देवे तो खांसी को दूर करे ॥

लवंगादिचूर्ण

लवंगजातीफलपिप्पलीनां भागाश्च कल्प्याक्षसमानपूर्वाः । पलार्द्धमानं मरिचं प्रदेयं पलानि चत्वारि महौषधस्य ॥ सितासमस्तेन समाप्य चूर्णं रोगानिमानाशु बलाग्निहंति। कासज्वरारोचकमेदगुल्मश्वासाग्निमांद्यं ग्रहणीविकारान् ॥

अर्थ–लौंग, जायफल और पीपल ये एक एक तोला; बहेडा २ तोले, काली मिरच २ तोले तथा सोंठ १६ तोले ले इन सब का चूर्ण कर और इस चूर्ण की बराबर मिश्री मिलावे. यह चूर्ण खांसी, ज्वर, अरुचि, प्रमेह, गोळा, श्वास, मंदाग्नि और संग्रहणी को दूर करे ॥

विभीतकादिचूर्ण

द्वौ भागौ च विभीतक्या भागैकं पिप्पलीयुतम् ।
चूर्णं मधुयुतं लेह्यं कासरोगहरं परम् ॥

अर्थ–बहेडा २ भाग और पीपल १ भाग इन का एकत्र चूर्ण कर सहत से चाटे तो यह खांसी के दूर करने में सर्वोत्कृष्ट है ॥

पंचकोलादिचूर्ण

पिप्पली पिप्पलीमूलं शुंठीचूर्णं विभीतकम् ।
मधुना लेहयेच्चाशु हरेत्कासं त्रिदोषजम् ॥

अर्थ–पीपल, पीपरामूल, सोंठ और बहेडा इन का चूर्ण सहत से चाटे तो त्रिदोषजन्य खांसी का नाश होय ॥

बदरीकल्क

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैंधवम् ।
ज्वरोपघाते श्वासे च लेहमेतं प्रयोजयेत् ॥

अर्थ–बेर के पत्तों का कल्क करके उस में सेंधा निमक मिलायके घी में तल लेवे यह स्वरभंग और श्वास इन पर देवे ॥

कर्पूरादिचूर्ण

कर्पूरवालकंकोलजातीफलदलं समम् । लवंगं नागमरिचं कृष्णाशुंठीविवर्द्धिता ॥ चूर्णं सितासमं ग्राह्यं रोचनं क्षयकासजित् । वैस्वर्यश्वासकासघ्नं छर्दितृष्णाक्षयापहम् ॥

अर्थ–कपूर, नेत्रवाला, कंकोल, जायफल और जावित्री ये समान भाग लेवे तथा लौंग, नागकेशर, काली मिरच, पीपल और सोंठ ये सब १-२-३-४भाग इस क्रम से लेय सब का चूर्ण कर तथा सब चूर्ण की बराबर मिश्री मिलावे इस के सेवन करने से रुचि करे और क्षय, कास, स्वरभंग, श्वास, खांसी और वमन इन का नाश करे ॥

त्रिकटुकादिचूर्ण

कटुत्रिकं छिन्नलताकृशानुफलत्रिकं वेल्लभवं सरासना ।
सशर्करं चूर्णमिदं तु सेव्यं कासाटवीदाहदवानलाख्यम् ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपल, गिलोय, चीते की छाल, हरड, बहेडा, आंवला, मिरच और रास्ना इन का चूर्ण कर इस में मिश्री मिलाय खाने को देवे तो खांसीरूप वन को अग्नि के समान नष्ट करनेवाला है ॥

देवदार्वादिचूर्ण

देवदारुबलारास्नात्रिफलाव्योषपद्मकैः ।
सविडंगैः सितातुल्यं तच्चूर्णं सर्वकासनुत् ॥

अर्थ–देवदारु, बला, रास्ना, हरड, बहेडा, आंवला, सोंठ, मिरच, पीपल, पद्माख और वायविडंग इन का चूर्ण करके बराबर मिश्री मिलाय खाने को देवे तो संपूर्ण खांसियों का नाश करे ॥

द्विक्षारादि

द्वौ क्षारौ पञ्चमूलानि पंचैव लवणानि च । सठीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम् ॥ पाययेच्च घृतोन्मिश्रं सर्वकासनिबर्हणम् ॥

अर्थ–जवाखार, सज्जीखार, पंचमूल और पांचों निमक, कचूर, सोंठ, नेत्रवाला इन का कल्क करके वस्त्र से छान लेवे फिर इस में घी डालके देवे तो संपूर्ण खांसियों का नाश करे ॥

ग्रंथिकादि

ग्रंथिकमागधिकाक्षमहौषधैरचितं चूर्णमिदं मधुना युतम् ।
हरति कासभवं दरमाततं विविधदोषहरं च निषेवितम् ॥

अर्थ–पीपरामूल, पीपल, बहेडा और सोंठ इन का चूर्ण सहत में मिलायके दे तो खांसी की भय को और अनेक दोषों का नाश करे ॥

कटुत्रिकादि

कटुत्रिकं च चूर्णितं गुडेन सर्पिषा युतम् ।
निहंति कासजं दरं नियेवणं निरंतरम् ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपल इन का चूर्ण गुड और घी इन के साथ बहुत दिन दें तो खांसी का भय नष्ट होवे ॥

हरीतक्यादिगुटी

हरीतकी कणा शुंठी मरिचं गुडसंयुतम् ।
कासघ्नो मोदकः प्रोक्तो परं चानलदीपनः ॥

अर्थ–हरड, पीपल, सोंठ और काली मिरच इन का चूर्ण गुड में मिलायके साय तो खांसी नष्ट होय तथा दीपन और पाचन है ॥

त्रिजातादि

त्रिजातमर्धकर्षं च पिप्पल्यर्धपलं सिता । द्राक्षामधुकखर्जूरं पलांशं श्लक्ष्णकल्कितम् ॥ मधुना गुटिका घ्नंति ता वृष्याः पित्तशोणिते । कासश्वासारुचिच्छर्दिमूर्च्छाहिध्मामदभ्रमान् ॥ क्षतक्षये स्वरभ्रंशे प्लीहशोपाढ्यमारुतान् । रक्तनिष्ठीवहृत्पार्श्व-रुक्पिपासाज्वरानपि ।

अर्थ–दालचीनी, पत्रज और इलायची ये छः छः मासे लेवे. पीपल २ तोले और मिश्री, मुलहटी, दाख, खजूर ये प्रत्येक ४ तोले बारीक चूर्ण करके कल्क करे और सहत से गोली बनायके देवे. यह वृष्य है तथा पित्तरक्त, श्वास, खांसी, अरुचि, वांति, मूर्छा, हिचकी, मद, भ्रम, क्षतक्षय, स्वरभंग, प्लीहा, शोप, आढ्यवात, रुधिर की वमन, हृदयरोग, पार्श्वशूल, प्यास और ज्वर इन को दूर करे ॥

मरीच्यादिगुटी

मरीचं कर्षमात्रं च पिप्पली कर्षसंमिता । अर्धकर्षौ यवक्षारो कर्षयुग्मं च दाडिमम् ॥ एतच्चूर्णीकृतं युंज्यादष्टकर्षगुडेन हि । क्षणप्रमाणगुटिका कृत्वा वक्त्रे विधारयन् ॥ अस्याः प्रभावा-त्सर्वेपि कासा यांत्येव संक्षयम् ॥

अर्थ-काली मिरच १ तोला, पीपल १ तोला, जवाखार छः मासे, अनार की छाल २ तोले इन सब का चूर्ण करके उस में ८ तोले गुड मिलायके चार २ मासे की गोली बनावे इस को मुख में रखे इस गोली के प्रभाव से संपूर्ण प्रकार की खांसी नष्ट होवे ॥

लवंगादिगुटी

तुल्या लवंगमरिचाक्षफलत्वचः स्युः सर्वैः समो निगदितः खदिरस्य सारः । बब्बूलवल्कलकषायगुता विभाव्यात्कासान्निहंति गुटिका घटिकाष्टकांते ॥

अर्थ-लौंग, काली मिरच और बहेडे की छाल लेवे. तथा इन तीनों की बराबर खैरसार लेवे. सब को खरल में डाल बबूर की छाल के काढे से खरल करे तो यह लवंगादिगुटी आठ घडी में सर्व प्रकार की खांसियों को दूर करे ॥

धनंजयवटी

धनंजयत्रिजातकं कणा जटा कटुत्रिकम् ।
रसार्द्रकेन भावितं जयेच्च कासमाततम् ॥

अर्थ-कोह की छाल, दालचीनी, पत्रज, इलायची, पीपरामूल, सोंठ, काली मिरच और पीपल इन का चूर्ण अदरख के रस में खरल करे और गोली बनाय ले यह धनंजयवटी सर्व प्रकार की खांसियों को नष्ट करे ॥

खदिरादिगुटी

खदिरं पौष्करं शृंगी कट्फलं द्विजयष्टिका । हरीतकी लवंगं च व्योषं चातिविषं तथा ॥ कारवीयासमभृता बृहतीद्वयमक्षकम् । पृथक्पर्णद्वयं ग्राह्यं सूक्ष्मचूर्णं तु कारयेत् ॥ सर्वैः समं खादिरं च मेलयित्वा विभावयेत् । दाडिमत्वक्च तथा क्षुद्राखादिरांभोभिरार्द्रकैः ॥ बबूलत्वग्दलैः क्वाथैश्चाटरूषजलं तथा । सप्तधा भावयेद्ध्वा गुटिका खदिराभिधा ॥ कासश्वासौ निहंत्याशु दुस्तरौ चिरजावपि ॥

अर्थ-कत्था, पुहकरमूल, कांकडासिंगी, कायफल, भारंगी, हरड, लौंग, सोंठ, मिरच, पीपल, अतीस, अजमायन, धमासा, गिलोय, कटेरी, बडी कटेरी और बहेडे का बक्कल ये प्रत्येक दो दो तोले लेवे. सब का बारीक चूर्ण करके उस सब चूर्ण की

बराबर खैरसार मिलावे. फिर अनार की छाल, कटेरी, खैर की छाल, बबूर की छाल और पत्ते, अडूसा इन के काढे से अथवा रस से सात वार घोटे फिर मासे भर की गोली बांध ले. इसे खदिरादिवटी कहते हैं इस से खांसी और श्वास ये बहुत दिन के होवे तो भी नष्ट हों ॥

व्योपादिगुटी

व्योषाम्लवेतसं चव्यं तालीसं चित्रकं तथा । जीरकं तिन्तिडीकं च प्रत्येकं कर्षभागिकम् ॥ त्रिसुगंधित्रिशाणं स्याद्गुडः स्यात्कर्षविंशतिः । सर्वमेकत्र संकुप्ये गुटिका कर्षसंमिता ॥ भक्षयेत्प्रातरुत्थाय सर्वान् कासान् व्यपोहति । पीनसं श्वासमरुचिं स्वरभेदं व्यपोहति ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपल, अमलवेत, चव्य, तालीस, चीता, जीरा, तिंतिडीक, प्रत्येक एक २ तोला ले और तज, पत्रज और इलायची ये चार २ मासे लेवे. और गुड २० तोले इन सब को एकत्र कूटके एक एक मासे की गोली बनावे इस को प्रातःकाल खाय तो संपूर्ण खांसी, पीनस, श्वास, अरुचि और स्वरभेद इन सब को दूर करे ॥

पिप्पल्यादिगुटी

सपिप्पली पुष्करमूलपथ्या शुंठी शठी मुस्तकसूक्ष्मचूर्णम् । गुडेन युक्ता गुटिका प्रयोज्या श्वासेषु कासेषु विवर्धितेषु ॥

अर्थ–पीपल, पुहकरमूल, हरड, सोंठ, कचूर और नागरमोथा इन का बारीक चूर्ण करके इस को गुड में मिलाय गोली बनावे यह बढी हुई खांसी, श्वास इन को दूर करे ॥

क्षवथौ गंधनाशे च धूमपानं प्रयोजयेत् ॥

अर्थ–जिस को छींक और गंध न आती उस को धूमपान कराना चाहिये ॥

अर्कमूलादिधूम

अर्कमूलशिलैस्तुल्यं ततोर्धेन कटुत्रिकम् । चूर्णितं वह्निनिक्षिप्तं पिबेद्धूमं तु योगवित्॥ भक्षयेदथ तांबूलं पिबेद्दुग्धमथापि वा । कासः पंचविधो याति शांतिमाशु न संशयः ॥

अर्थ–आंक की जड और मनसिल इन से आधी सोंठ, मिरच, पीपल इन

चूर्ण को अग्निपर डालके धूए को पीवे और ऊपर से वीडी खाय अथवा दूध पीवे तो पांच प्रकार की खांसी नष्ट हो. इस में संदेह नहीं है ॥

मनःशिलादिधूम

मनः शिलाभिर्मरिचमांसीमुस्तैंगुदीयुतम् । धूमं तस्यानुपचयं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥ एप कासान्पृथग्द्वंद्वसन्निपातसमुद्भवान् । शतैरपि प्रयोगाणां साधयेदप्रसाधितान् ॥

अर्थ-मनासिल, काली मिरच, जटामांसी, नागरमोथा और गोंदी इन के चूर्ण में गुड मिलायके इस को सुखोष्ण पावे तो यह दोषज, द्वंद्वज, सान्निपातिक और सैंकडों औषधों से जो खांसी अच्छी न होवे वे सब इस से नष्ट हों ॥

दूसरा प्रकार

मनःशिलालिप्तदलं वदर्यातपशोषितम् ।
सक्षीरं धूमपानं च महाकासनिबर्हणम् ॥

अर्थ-वेर के पत्तों में सनसिल लगाके धूप में धर देवे जब सूख जावे तब इन को चिलम में धरके इन का धूआ पीवे तो घोर खांसी का नाश होय ॥

धत्तूरादिधूम

पिङ्गा त्रिपुटधत्तूरमूलव्योपमनःशिलाः । तेन प्रलिप्य वसनं धूमवर्तिं प्रकल्पयेत् ॥ धूमं तस्याः पिबेद्यस्तु कासो नश्येद्दिनत्रयात् ॥

अर्थ-धतूरे की जड, सोंठ, मिरच, पीपल और मनसिल इन को एकत्र जल में पीस कपडे पर लेप कर देवे फिर इस को धूप में सुखायके बत्ती बनाय ले इस का धूआ पीवे तो तीन दिन में खांसी दूर होवे अथवा इस को हुक्के में धरके पीवे ॥

जातिपत्रादिधूम

जातिपत्रं शिलारालैर्योजयेद्गुगुलं समम् ।
अजामूत्रेण पिष्टोयं धूमः कासहरः परः ॥

अर्थ-जावित्री, मनसिल, रार और गूगुल ये समान भाग ले सब को कूट पीस बकरी के मूत्र में खरल करे फिर इस को हुक्के में रखके इस के धूंए को पीवे तो खांसी को नष्ट करे ॥

जातिमूलादिधूम

जातीजटाकिसलयैर्वदरीदलैश्च जाता मसूरकफलैः समनःशिलाभिः। स्याद्धूमवर्तिरिह गुग्गुलुना समेतैः कासे स्थिते वदरिकाग्निविदह्यमानैः ॥

अर्थ–चमेली की जड, चमेली के पत्ते, मसूर, मनसिल और गूगुल इन को पीसके बेर की पत्ती पर लेप कर देवे फिर इन को सुखाय हुक्के में रखके इन के धूंए को पीवे तो खांसी को नष्ट करे ॥

हरिद्राधूम

रात्रिद्वयशिलाधूमपानात्कासश्रुतिः कुतः ।
जलपानादपि तथा क्षणेन क्षणदाक्षये ॥

अर्थ–हरदी, दारुहरदी और मनसिल इन के धूए को पीवे किंवा उपःपान करे अर्थात् प्रातःकाल उठकर जल को पीवे तो सर्व प्रकार की खांसी दूर हो ॥

विभीतकावलेह

अजस्य मूत्रस्य शतं पलानि शतं पलानां च कलिद्रुमस्य। पक्वं समध्वाशु निहंति कासं श्वासं च तद्वत्सबलं बलासम् ॥

अर्थ–बकरी का मूत्र १००पल और बहेडे की छाल १००पल ले दोनों को औटायके अवलेह बनावे इस अवलेह में सहत डालके पीवे तो खांसी, श्वास और कफ इन का नाश करे ॥

कंटकार्यवलेह

कंटकारीं तुलानीरे द्रोणे पक्त्वा कषायकम् । पादशेषं गृहीत्वा च तस्मिन् चूर्णानि दापयेत् ॥ पृथक्पलांशान्येतानि गुडूचीचव्यचित्रकम् । मुस्तकर्कटशृंगी च त्र्यूषणं धन्वयासकम् ॥ भार्ङ्गीं रास्ना शठी चैव शर्करापलविंशतिः । प्रत्येकं च पलान्यष्टौ प्रदद्याद्भूतलोहयोः ॥ पक्त्वा लेहत्वजाते च शीते मधुपलाष्टकम् । चतुःपलं तुगाक्षीरीपिप्पलीनां चतुःपलम् ॥ क्षिप्त्वा निदध्यात्सुदृढे मृन्मये भाजने शुभे । लेहोयं हंति कासातिंहिक्काश्वासानशेषतः ॥

अर्थ-कटेरी १०० तोले, जल २०४८ तोले ले सब को एकत्र कर चतुर्थांश काढा करे उस में गिलोय, चव्य, चित्रक, नागरमोथा, कांकडासिंगी, सोंठ, मिरच, पीपल, धमासा, भारंगी, रास्ना और कचूर ये प्रत्येक चार चार तोले लेवे. तथा मिश्री ८० तोले, घी ३२ तोले लेवे और लोहभस्म ३२ तोले, वंशलोचन १६ तोले और पीपल १६ तोले मिलायके यह अवलेह उत्तम मिट्टी के पात्र में भरके घर रखे इस को खाय तो यह खांसी, हिचकी, सर्व प्रकार के श्वास रोग इन को नाश करे ॥

अगस्तिहरीतक्यवलेह

दशमूली स्वयंगुप्ता शंखपुष्पी शठी बला । हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ भार्ङ्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम् । हरीतकीशतं चैव जले पंचाढके पचेत् ॥ यवैः स्विन्नैः कषाये च पूतं तच्चाभयाशतम् । पचेद्गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतम् ॥ तैलात्पिप्पलिचूर्णाच्च सिद्धे शीते च माक्षिकात् । लिह्याद्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनम् ॥ वलिं च पलितं हन्याद्वर्णायुर्बलवर्द्धनम् । पंच कासान् क्षयान् श्वासान् हिक्कां च विषमज्वरान् ॥ हन्यात्तथा ग्रहण्यर्शोहृद्रोगारुचिपीनसान् । अगस्तिविहितं धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम् ॥

अर्थ-दशमूल, कौंछ के बीज, संखाहूली, कचूर, खिरेटी, गजपीपर, ओंगा, पीपरामूल, चित्रक की छाल, भारंगी, पुष्करमूल ये प्रत्येक आठ आठ तोले लेवे यवों १०२४ तोले, हरड ४०० तोले और जल ५१२० तोले डालके पक्व करे जब यों सीजके काढा हो जावे तब उतारके जल को छान ले उस में ४०० तोले बडी २ हरड डालके औटावे और गुड ४०० तोले, घी १६ तोले, तेल १६ तोले और पीपल का चूर्ण १६ तोले डालके अवलेह बनावे जब तयार हो जावे तब नीचे उतार ले शीतल होने पर सहत १६ तोले मिलाले और शीशे में अथवा चीनी आदि के पात्र में भरके धर रखे इस में से दो हरड नित्य खाय यह हरड वली, पलित और ५ प्रकार की खांसी, क्षय, श्वास, हिचकी, विषमज्वर, संग्रहणी, बवासीर, हृदयरोग, पीनस इन को नष्ट करे और वर्ण, आयुष्य तथा बल को बढावे. यह अगस्त्यऋषि की कही हुई है इसी से इस को अगस्त्यावलेह कहते हैं ॥

व्याघ्र्यादिघृत

व्याघ्रीस्वरसविपक्वं रास्नाकट्फलगोक्षुरव्योषैः ।
सर्पिः स्वरोपघातं निहंति कासं च पंचविधम् ॥

अर्थ–कटेरी के स्वरस में रास्ना, कायफल, गोखरू, सोंठ, मिरच, पीपल और घी डालके इस घृत को सिद्ध कर लेवे इस के खाने से स्वरभंग और पांच प्रकार की खांसी इन का नाश होवे ॥

गुडूच्यादिघृत

सर्पिर्गुडूचीवृषकंटकारीकाथेन कल्केन च सिद्धमेतत्।
पेयं पुराणज्वरकासशूलप्लीहाग्निमांद्यग्रहणीगदेषु ॥

अर्थ–गिलोय, अडूसा और कटेरी इन का काढा करे तथा कल्क करे इस में घी डालके सिद्ध करे तो यह जीर्णज्वर, खांसी, शूल, प्लीहा, मंदाग्नि और संग्रहणी इन को नष्ट करे ॥

त्र्यूषणादिघृत

त्र्यूषणं त्रिफला द्राक्षा काश्मर्यांटपरूपकम् । द्वे पाठे देवदार्व्यब्दसगुप्तं चित्रकं सठी ॥ व्याघ्री तामलकी मेदा काकनासा शतावरी । त्रिकंटकं विदारी च पिष्ट्वा कर्षसमान् घृतात् ॥ प्रस्थं चतुर्गुणं क्षीरं सिद्धं कासहरं पिबेत् । ज्वरगुल्मारुचिप्लीह-शिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ॥ कामलाशोंनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम् । त्र्यूषणं नाम विख्यातं घृतमेतन्महोत्तमम् ॥

अर्थ–सोंठ, मिरच, पीपल, हरड, बहेडा, आंवला, दाख, कंभारी, अडूसा, पाढ वल्लीपाढ, देवदारू, नागरमोथा, कौंछ के बीज, चित्रक, कचूर, कटेरी, भूय आंवल ये सब एक २ तोला ले घी ६४ तोले, दूध २५६ तोले डालके घृत सिद्ध करे खांसी, ज्वर, गोला, अरुचि, प्लीहा और मस्तक, हृदय, पार्श्व इन का शूल, कामल बवासीर, वातष्ठीला, क्षतक्षय और क्षय इन का नाश करे यह त्र्यूषणनामक घृ सर्वोत्तम विख्यात है ॥

कंटकारीघृत

समूलफलपत्रायाः कंटकार्यां रसाढकम् । घृतप्रस्थं बलाव्योप-विडंगं शठिदाडिमम् ॥ सौवर्चलं यवक्षारं विश्वामलकपौष्करैः । वृश्चिवद्बृहतीपथ्या यवानीचित्रकादिभिः ॥ मृद्वीका चव्यवर्षा-भूदुग्धालंभाम्लवेतसैः । शृंगीतामलकीभार्ङ्गीरास्नागोक्षुरकैः

पचेत् ॥ कल्कैस्तु सर्वकासेषु श्वासहिक्कासु शस्यते । कंट-
कारीघृतं सिद्धं पंचकासनिषूदनम् ॥

अर्थ–कटेरी के पंचांग का रस १०२४ तोले, घी ६४ तोले और सिरेटी का रस, सोंठ, मिरच, पीपल, वायविडंग, कचूर, अनारदाना, संचर निमक, जवाखार, सोंठ, आमले, पुहकरमूल, सोंठ, लाल रंगकी कटेरी, हरड, अजमायन, चित्रक, दाख, चव्य, सपेद सांठ, धमासा, अमलवेत, कांकडासिंगी, भूयआंवला, भारंगी, रास्ना, गोखरू इन का काढा और कल्क डालके घृत सिद्ध करे यह संपूर्ण प्रकार की खांसी, श्वास और हिचकी इन पर देना चाहिये यह सिद्धकंटकारीघृत पांच प्रकार की खांसी को नष्ट करे ॥

दूसरा प्रकार

कंटकार्यास्तुलां क्षुण्णां कृत्वा द्रोणेंभसः पचेत् । तेनाढकेन का-
थस्य घृतप्रस्थं पिचून्मितैः ॥ रास्नाद्विस्पर्शपञ्चांथिं पिप्पली-
द्वयचित्रकैः । सौवर्चलयवक्षारकृष्णामूलैश्च तज्जयेत् ॥ कास-
श्वासकफष्ठीवहिक्कारोचकपीनसान् ॥

अर्थ–कटेरी ४०० तोले को २०४८ तोले जल में औटावे जब आधा जल रहे तब इस काढे को उतारके छान लेवे फिर इस में ६४ तोले घी तथा रास्ना, धमासा, पीपल बडी, पीपल छोटी, गजपीपल, चित्रक, संचर निमक, जवाखार, पीपरामूल ये एक एक तोला डालके घृत सिद्ध करे. यह कंटकारीघृत खांसी, श्वास, कफ की वांति, अरुचि और पीनस इन को दूर करे ॥

भागोत्तरवटी

रसगंधकणा पथ्या कलिङ्गफलवासकः । भार्ङ्गी चेति क्रमाद्वृद्ध-
मेतज्जंबीरजद्रवैः॥अष्टाविंशत्तमानेतान्कुर्यात्क्षौद्रेण गोलकान् ।
कर्षप्रमाणमेतस्य तमेकं प्रातरुत्थितः ॥ अद्यान्मासत्रयं क्षुद्रा-
क्काथं दशकणायुतम् । पिबेत्तदनु कासाच्च श्वासाच्च परिमुच्यते॥

अर्थ–पारा, गंधक, पीपल, हरड, बहेडा, आंवला और भारंगी ये क्रमवृद्धिसे लेकर इन का चूर्ण करे और नींबू के रस में खरल करे फिर सहत से तोले २ भर की गोली २८ बनावे और नित्यप्रति १ गोली सेवन करे इस प्रकार तीन महीने भक्षण करे और ऊपर से दस पीपल पीसके पीवे तो खांसी और श्वास से छूट जावे ॥

अगंधखर्परपर्पटी

भागौ रसस्य द्वावेकौ द्वावेकौ लोहभस्मनः । एतद्वृते द्रवीभूतं मृद्वग्नौ कदलीदले ॥ पातयेद्धोमयगते तथैवोपरि योजयेत् । ततः पिष्ट्वा द्रवैरेभिर्मर्दयेत्सप्तधा पृथक् ॥ भार्ङ्गीशुंठीमुनिवरा-जयानिर्गुंडिकाद्रवैः । व्योषवासककन्यार्द्रद्रवैः शुष्कैः पुटेल्लघुः॥ अगंधखर्परो नाम्ना पर्पटीति रसो भवेत् । सर्वरोगहरः स्वैः स्वैर-नुपानैर्द्विमापतः ॥ तांबूलपत्रसहितः कासश्वासहरः परः । सकृणः सुरसाक्काथेनुपानं वा सगोजलम् ॥

अर्थ–पारा बारह भाग और लोहभस्म बारह भाग इन की कजली को अग्नि ताय करके लेके पत्रे पर ढाल देवे. फिर उस को पीसके भारंगी, सोंठ, अगस्तिय अरनी, निर्गुंडी, सोंठ, मिरच, पीपल, अडूसा, घीगुवार और अदरख इन के का में अथवा रस में घोटकर लघु पुट देवे तो यह अगंधखर्पर नामक रस बने इ को पर्पटी भी कहते हैं यह अनुपान दो रत्ती के प्रमाण देने से संपूर्ण रोगों को हर करे. इस को पान में रखके खाय और ऊपर से तुलसी के काढे में पीपल का चू डालके पीवे अथवा गोमूत्र पीवे तो खांसी और श्वास इन को नष्ट करे ॥

कासश्वासविधूननरस

रसभागो भवेदेको गंधकद्वौ तथैव च । यवक्षारस्त्रिभागः स्या-द्रुचकं च चतुर्गुणम् ॥ मरीचं पंचभागं स्याच्छुद्धं रसविमर्दि-तम् । कासं पंचविधं हन्याच्छ्वासं पंचविधं तथा ॥

अर्थ–शुद्ध पारा १ भाग, गंधक २ भाग, जवाखार ३ भाग, पापा निमक ४ भाग, तथा काली मिरच ५ भाग सब शुद्ध लेवे सब को पारे के साथ खरल करे जब तयार हो जावे तब खाने को देवे तो ५ प्रकार की खासी तथा पांच प्रकार की श्वास इन को नाश करे ॥

गुरुपंचमूलीकाढा

अतः परं कोमलवाणि कासश्वासप्रतीकारमुदीरयामि । निहंति कासं गुरुपंचमूलीकृतः कषायश्चपलासहायः ॥

अर्थ–लोलिंबराजकवि अपनी स्त्री को संबोधन देकर कहता है कि हे कोमलवाणि! अब इस के उपरांत मै तेरे आगे खासी और श्वास का प्रतीकार कहता हूं. बृहत्पं-चमूल के काढे में पीपल का चूर्ण डालके पीवे तो खांसी को नष्ट करे ॥

वासादिकाढा

वासाहरिद्राधनिकागुडूचीभार्ङ्गीकणापौष्करारिंगणीनाम् ।
क्वाथेन मारीचरजोन्वितेन कासः क्षयं याति न कस्य पुंसः ॥

अर्थ-अडूसा, हलदी, धनिया, गिलोय, भारंगी, पीपल, पुहकरमूल और कटेरी इन का काढा कालीं मिरचों का चूर्ण डालके पीवे तो किस पुरुष की खांसी दूर नहीं होती ? ॥

सिंहीकषाय

अयि रत्नकले नीलनलिनच्छदनेक्षणे ।
सिंहीकषायः सकणः कासग्रासकरः क्षणात् ॥

अर्थ-हे रत्नकले ! हे नीलनलिनच्छदनेक्षणे ! कटेरी के काढे में पीपल का चूर्ण डालके देवे तो खांसी को एक क्षणमात्र में ग्रास कर जावे ॥

वृषादिकाढा

पुलोमजावल्लभसूनुपत्नीतातात्मभूशेखरवाहनस्य ।
सौंदर्यदूरीकृतरामरामे कषायकः कासससमीरसर्पः ॥

अर्थ-हे सौंदर्यदूरीकृतरामरामे ! इन्द्राणी पति (इन्द्र) का पुत्र (अर्जुन) की स्त्री (द्रौपदी) का पिता (द्रुपद) का पुत्र (शिखंडी) सो है मस्तक में जिस के ऐसे (शिव) का वाहन (वृष) अर्थात् अडूसा इस का काढा खांसीरूप पवन के पीने को सर्परूप है यह श्लोक कूट है और लोलिंबराज में लिखा है ॥

आर्द्रकावलेह

आर्द्रादर्धगुडातुलादपि तथार्धाभ्रं च कुस्तुंबरीदीप्यायोजरणा-
त्रिजातकटुकादेतत्पचेद्युक्तितः । लेहो रत्नकले तवैव कथितः
प्राणप्रियाया मया कासार्शोज्वरपीनसश्वयथुरुग्गुल्मक्षयध्वंसनः ॥

अर्थ-अदरख २०० तोले, गुड २०० तोले, धनिया २ तोले और अजमायन, लोहभस्म, जीरा, दालचीनी, पत्रज, इलायची, कुटकी इन प्रत्येक का चूर्ण दो दो तोले लेवे सब को युक्तिपूर्वक पचायके अवलेह सिद्ध करे यह खांसी, बवासीर, ज्वर, पीनस, सूजन, गोला और क्षय इन का नाश करे ॥

व्याघ्रीहरीतक्यवलेह

समूलपुष्पच्छदकंटकार्यातुलाजले द्रोणपरिप्लुता च । हरीतकीनां

च शतं निदध्यादेतत्तु पक्त्वा चरणावशेषम् ॥ गुडस्य दत्त्वा शतमेतदग्नौ विपक्वमुत्तार्य ततः सुशीते । कट्टत्रिकं च त्रिपलप्रमाणं पलानि षट् पुष्परसस्य चापि ॥ क्षिपेच्चतुर्जातपलं यथाग्निप्रयुज्यमानो विधिनावलेहः । वातात्मकं पित्तकफोद्भवं च द्विदोषकासानपि सन्निपातान् ॥ क्षतोद्भवं कासक्षयं च हन्यात्सपीनसश्वासमुरःक्षतं च । यक्ष्माणमेकादशमुग्रभूयं भृगूपदिष्टं हि रसायनं स्यात् ॥

अर्थ–कटेरी का पंचांग ४०० तोले और ४०० तोले हरड ले इन को २०४८ तोले जल में डालके चतुर्थांश शेष काढा करे फिर उस में ४०० तोले गुड डालके उत्तम अवलेह योग्य पाक करे जब सिद्ध हो जावे तब उतार लेवे और शीतल होने पर आगे लिखी हुई औषध डाले जैसे सोंठ, काली मिरच और पीपर चार २ तोले, सहत २४ तोले तथा दालचीनी, पत्रज, इलायची, नागकेशर ये चार तोले डाले फिर इस को बलाबल विचारके खाने को देय तो वात, पित्त, कफ, द्विदोष, सन्निपात इन से होनेवाले तथा क्षतकास, क्षयकास, पीनस, उरःक्षत, ग्यारह प्रकार के क्षय इन को नाश करे यह रसायन भृगु ने कहा है ॥

कासकंडनावलेह

अजामूत्रं शतपलं मंदाग्नौ गुडपाकवत् । पक्त्वा बिभीतकं चूर्णं पलद्वयमितं क्षिपेत् ॥ पलं पिप्पलिचूर्णं च पलमात्रं मृतायसम् । कंटकारीफलरजो निःक्षिपेच्च पलद्वयम् ॥ ततो मापद्वयं खादेद्वंकर्षमथापि वा । क्षौद्रंभांबुना वापि सर्वकासात्प्रमुच्यते ॥ असाध्यभिषजा त्यक्ताश्चिरजापथ्यवर्जिताः । ये कासास्ते त्वनेनाशु प्रणश्यंति न संशयः ॥ कासकंडननामायं योग आत्रेयभाषितः ॥

अर्थ–बकरी के मूत्र ४०० तोले को मंदाग्नि पर रखके गुडपाक के समान पक्व करके उस में बहेडे का चूर्ण ८ तोले, पीपल का चूर्ण ४ तोले, लोह की भस्म ४ तोले, कटेरी के फल का चूर्ण ८ तोले इन सब को एकत्र करके सहत से अवलेह बनावे यह कासकंडनावलेह को दो मासे वा दस मासे अथवा एक तोला नित्य सेवन करे अथवा केले के जल से देवे तो बहुत दिनों से वैद्यों ने छोडा तथा पथ्यहीन ऐसा खांसी का रोग शीघ्र नष्ट करे यह आत्रेयऋषि ने कहा है ॥

हेमगर्भपोटली

शुद्धसूतं त्रिभागं च तत्समं लोहभस्म च । भागैकं गंधकं दद्या-
त्तदर्धं स्वर्णमेव च ॥ कज्जलीं कारयेत्तत्तु खल्वके सप्तवासरम् ।
अथ निर्गुंडिकाद्रावैर्मर्दयेद्दिनसप्तकम् ॥ अथवा कनकद्रावैर्गुंटि-
कां कारयेत्ततः । किंचिच्छलिसमायुक्तवस्त्रे गोलं निधाय च ॥
बध्नीयात्पोटलीमेवं ततश्च त्रिपुटं पचेत् । दृढमृन्मयपात्रस्थे
गंधं दत्त्वाधरोत्तरम् ॥ तन्मध्ये पोटलीं न्यस्य निर्वातभवनांतर-
म् । वितस्तिप्रमितां गर्त्तां तस्यां संस्थाप्य मुद्रयेत् ॥ अंगुली-
मुद्रिकाभिश्च ज्वालयेदिंधनानि च ॥ यामेन सिद्धतां याति
हेमगर्भाख्यपोटली ॥ अनुपानानुसारेण सर्वरोगेषु योजयेत् ॥

अर्थ-शुद्ध पारा ३ भाग, लोहभस्म ३ भाग, गंधक १ भाग और सुवर्ण की भस्म
ाधा भाग इन की खरल में कजली करे फिर इस को निर्गुंडी के रस से ७ दिन
ावना देवे फिर धतूरे के रस में खरल करके गोला कर लेवे फिर इस के ऊपर
पिंडा लपेट दे और मिट्टी के बरतन में गंधक बिछाय इस गोले को रख देवे
ीर ऊपर से फिर गंधक बिछाय दे. फिर निर्वात स्थान में एक बितस्त का गड्ढा
रके उस में इस गोले के पात्र को रखके उस पर मुद्रा दे उस के ऊपर १ अंगुल
ंट्टी डाल देवे और एक प्रहर लकडी की अग्नि देवे तो यह हेमगर्भपोटलीरस
सिद्ध होवे इस को अनुपान के साथ सर्व रोग पर देवे तो सब को नष्ट करे ॥

हेमगर्भ

रसस्य भागाश्चत्वारस्तदर्धं कनकस्य च। तदर्धं ताम्रकं चैव मौ-
क्तिकं विद्रुमं समम्॥तत्समानेन बलिना सर्वं खल्वे विमर्दयेत् ।
कृत्वा तु गोलकं पश्चात्पचेद्धूधरयंत्रके ॥ मृदुना वह्निना चैव
स्वांगशीतं समुद्धरेत्। बलिमेव च सम्यग्वै षड्गुणं जारयेत्सुधीः॥
हेमगर्भरसो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः । कासश्वासेषु सर्वेषु
शूलेषु च हितस्तथा॥ तत्तद्रोगानुपानेन सर्वान् रोगाञ्जयेत्परम् ॥

अर्थ-पारा ४ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, मोती ११ भाग, मूंगा १भाग और गंधक
१ भाग इन सब को खरल में डालके कजली करे फिर इस का गोला बनाय उस को

भूधरयंत्र में रख मंदाग्नि से पचन करावे. जब स्वांगशीतल हो जावे तब निकाल गंधक के साथ खरल करके फिर पुट देवे. इस प्रकार षड्गुण गंधक जारण करे तो यह हेमगर्भरस त्रिलोकी में खासी, संपूर्ण श्वास और शूल इन का नाशक प्रसिद्ध है तथा रोगोक्त अनुपान के साथ सर्व रोगों का नाश करे ॥

दूसरा प्रकार

शुद्धसूतं पलं चैकं पादांशं शुद्धहेमकम् । शुद्धगंधस्य मापैकं प्रतिकर्षेण योजयेत्॥ त्रयमेकत्र कुर्वीत श्लक्ष्णचूर्णं च कारयेत् । सुदृढं बंधयेद्वस्त्रे बहिः सूतं समं बलिम्॥ वस्त्रं गृहीत्वा गुटिका तदंतर्बंधयेत्पुनः । शरावसंपुटे न्यस्य मुखे मुद्रां च कारयेत् ॥ भूमिसंपुटगं कृत्वा भूधराख्ये पचेत्पुटे । स्वांगशीतं समुत्धृत्य त्यजेज्जीर्णं च गंधकम्॥पुनः संचूर्ण्य गुटिकाः सुदृढं बंधयेद्विपक्व। तया बहिर्वलिं दत्त्वा भूधराख्ये पुनः पचेत्॥ एवं दत्त्वा मुनिपुटं रसः स्याद्धेमगर्भकः। श्वासकासेषु सर्वेषु शूलेषु विहितस्तथा ॥

अर्थ–शुद्ध पारा ४ तोले, शुद्ध सुवर्ण १ तोला और शुद्ध गंधक १ मासा तीनों को एकत्र करके बारीक चूर्ण करे फिर इस को दृढ कपडे में बांधे और उ कपडे के बाहर पारे गंधक की कजली कर उस को जल में सानके लेप कर दे औ दूसरा कपडा चढाय देवे फिर गोले को सरावसंपुट में रख मुख को मुद्रा देकर बं कर देवे. फिर इस को पृथ्वी में गड्ढा खोद भूधरयंत्र में पचन करे जब स्वांगशीत हो जावे तब निकालके ऊपर जली हुई गंधक को दूर करे फिर चूर्ण करके दृढ गोल बनाय लेवे उसी प्रकार कपडा लपेट कजली की पंक ऊपर से लपेट देवे और भूधर यंत्र में रखके फूंक देवे इस प्रकार सात पुट देवे तो हेमगर्भपोटलीरस सिद्ध होवे. यह खांसी, श्वास, शूल इन पर परम हितकारी है तथा अनुपान के साथ सर्व रोगों का नाश करे है ॥

कासकेसरी

दरदं मरिचं मुस्तं टंकणं च विषं समम् ।
जंबीराद्भिश्च संमर्द्य कुर्यान्मुद्गनिभां वटीम् ॥
आर्द्रकस्वरसैनैव कासं श्वासं व्यपोहति ॥

अर्थ–हिंगुल, काली मिरच, नागरमोथा, सुहागा और सिंगियाविष इन सब को

भींरी के रस में खरल कर मूंग के समान गोली बनावे. इस को अदरख के रस से ाने को देवे तो खांसी और श्वास इन को दूर करे ॥

रसेंद्रवटी

कर्षं शुद्धरसेंद्रस्य गंधकस्याभ्रकस्य च । ताम्रस्य हरितालस्य लोहस्य च विषस्य च ॥ मरिचस्य च सर्वेषां श्लक्ष्णचूर्णं पृथक् पृथक् । मानोल्वौ खंडकर्षं च निर्गुंडी काकमाचिका ॥ केशराजभृंगराजस्वरसेन सुभावितम् । कलायपरिमाणं तु गुटिकां कारयेद्भिषक्॥ कृत्वादौ शिवमभ्यर्च्य द्विजादीन्परितोषितान् । जीर्णान्नो भोजयेत्पश्चात्क्षीरमांसरसाशनः ॥ अपि वैद्यशतैस्त्यक्तमम्लपित्तं नियच्छति । कासं पंचविधं हंति श्वासं चैव सुदुर्जयम् ॥

अर्थ-शुद्ध पारा, गंधक, अभ्रक, ताम्र, हरिताल, लोह इन की भस्म और ृंगियाविष तथा काली मिरच इन का बारीक चूर्ण करके निर्गुंडी, मकोय, काला ृंगरा और भांगरा इन के रस की भावना देकर मटर के बराबर गोली बनावे इस ो श्रीशिव का पूजन कर तथा ब्राह्मणों को दान देकर सेवन करे और अन्न पचने ार फिर भोजन करे, दूध और मांसरस भोजन करे तो सैंकडों वैद्यों से जो ाच्छा न होवे ऐसा अम्लपित्त, पांच प्रकार की खांसी और दुर्जय श्वास इन को ाश करे ॥

नीलकंठरस

सूतकं गंधकं लोहं विषं चित्रकपत्रकम् । वरांगं रेणुका मुस्ता ग्रंथिकं नागकेसरम् ॥ फलत्रिकं त्रिकटुकं शुल्वं तुल्यं तथैव च । एतानि समभागानि गुडो द्विगुणमुच्यते ॥ संमर्द्य गुटिकां कृत्वा भक्षयेच्चणमात्रकम् । कासे श्वासे तथा गुल्मे प्रमेहे विषमज्वरे ॥ मूत्रकृच्छ्रे मूढगर्भे वातरोगे च दारुणे । नीलकंठरसो नाम शंभुना निर्मितः स्वयम् ॥

अर्थ-पारा, गंधक, लोहभस्म, सिंगियाविष, चित्रक, पत्रज, मोटी दालचीनी, पत्तपापडा, नागरमोथा, पीपरामूल, नागकेशर, हरड, बहेडा, आंवला, सोंठ, मिरच, ीपल और ताम्रभस्म ये समान भाग लेवे तथा सब औषधों से दूना गुड डाले सब

को घोटके एक जीव करे और चने के बराबर गोली बनावे यह खांसी, श्वास, गोला, प्रमेह, विषमज्वर, मूत्रकृच्छ्र, मूढगर्भ और वातरोग इन पर भक्षण करे यह नीलकंठ नामक रस श्रीशिव ने स्वयं निर्माण करा है ॥

लोकनाथपोटली

कृत्वा जंभरसेन गंधरसयोस्तत्तुल्यताम्रावृतं गोलं लावणयंत्रग-
र्भंनिहितं रुध्वा पचेत्तं शनैः । यामानष्टकपर्दजेन सकलं तुल्ये-
न तद्भस्मना युक्तं चित्रकवारिणा लघुतरं पिष्ट्वा पुटं दापयेत् ॥
संशुद्धामिति पोटलीं सहविषं मारीचचूर्णेन तां मृद्वीयादिति
लोकनाथविधिना दौर्बल्यकासादिषु । शोफामानिलगुल्मशू-
लकसनश्वासग्रहण्यार्शसी प्रौढे यक्ष्मणि पांडुरोगसहिते संता-
पमांद्यारुचौ ॥

अर्थ–गंधक और पारा इन दोनों की कजली करके नींबू के रस में खरल करे फिर कजली के समान तांबे की डिंबिया लेवे उस में इस कजली को भरके बंद कर देवे और एक हांडी में निमक भरके बीच में उस डिब्बी को रखे ऊपर फिर निमक भर देवे और उस के मुख को बंद कर देय तथा ऊपर से उस पर कपडमिट्टी देकर सुखाय ले इस को अग्नि के संपुट में रखके आठ प्रहर पर्यंत पचावे जब स्वांगशीतल हो जावे तब निकालके उस के बीच में से उस डिब्बी सहित भस्म को निकाल पीस लेवे और उस में समान भाग कौडी की भस्म मिलावे फिर चित्रक के रस में घोटके पुट देवे उस पुट में से निकालके सिंगियाविष और काली मिरच का चूर्ण मिलावे और खरल में डालके बारीक पीस डाले इस लोकनाथपोटलीरस को लोकनाथरस के सदृश देवे तो दुर्बलता, कृशता, सूजन, आमवात, गोला, शूल, खांसी, श्वास, संग्रहणी, बवासीर, क्षयरोग, पांडुरोग, संताप, मंदाग्नि और अरुचि इन को नाश करे॥

अमृतार्णवरस

पारदं गंधकं शुद्धं मृतलोहं च टंकणम् । रास्नाविडंगत्रिफला-
देवदारुकटुत्रयम् ॥ अमृता पञ्चकं क्षौद्रं विषं तुल्यांशचूर्णि-
तम् । त्रिगुंजं सर्पकासार्तं सेवयेदमृतार्णवम् ॥

अर्थ–पारा, गंधक, लोहभस्म, सुहागा, रास्ना, वायविडंग, हरड, बहेडा, आंवला, देवदारु, सोंठ, मिरच, पीपल, गिलोय, पञ्चास, सहत और सिंगियाविष ये सब समान

भाग लेवे सब का चूर्ण करके तीन रत्ती सर्वकासयुक्त रोगी को देवे. इसे अमृतार्णवरस कहते हैं ॥

अग्निरस

रसगंधकपिप्पल्यो हरीतस्याक्षवासकः । यष्ट्यांतरगुडं चूर्णं वब्बूलक्काथभावितम् ॥ एकविंशतिवारेण शोषयित्वा विचूर्णयेत् । भक्षयेन्मधुना हंति कासमग्निरसो ह्ययम् ॥

अर्थ–पारा, गंधक, पीपल, हरड, बहेडा, अडूसा और मुलहटी इन को समान ग ले चूर्ण करे फिर इस को बबूर के काढे की २१ भावना देवे तथा सुखायके चूर्ण र लेवे इस को सहत के साथ देवे तो खांसी को दूर करे. इस को अग्निरस कहते है॥

कासकर्त्तरी

वंगं कृष्णाभयाक्षाटरूपभाङ्न्यः क्रमोत्तराः । तत्समं खादिरं क्षारं बब्बूलक्काथभावितम् ॥ एकविंशतिवारं च मधुना कासकर्तरी । कासं श्वासं क्षयं हिक्कां हंत्येतन्नात्र संशयः ॥

अर्थ–वंग [लौंग], पीपल, हरड, बहेडा, अडूसा और भारंगी ये क्रम से अक २ भाग लेवे इन सब के बराबर खैर का सार ले वे अथवा क्षार लेवे इन सब को कत्र करके बबूल के काढे की २१ भावना देवे तो यह कासकर्त्तरीरस बने स रस को सहत में मिलायके देवे तो खांसी, श्वास, क्षय और हिचकी इन का ाश करे इस में संदेह नहीं ॥

कफाग्निवटी

कर्पूरमर्धकर्षं मृगमदमपि देवकुसुमयुगम् । मरिचं कणाक्षकुलिंजनमेकैकं शुक्तिपरिमाणम् ॥ दाडिमफलवल्कलपलमखिलसमं खदिरसारमवचूर्ण्य । वटिका मुद्गसमाना कृता धृतास्ये कफघ्नी स्यात् ॥

अर्थ–कपूर और कस्तूरी एक २ तोला, लौंग २ तोले और काली मिरच, पीपल, हेडा, कुलिंजन ये प्रत्येक आधा २ तोला लेय तथा अनार की छाल ४ तोले लेय इन सब को खैरसार के काढे से खरल करके मूंग के समान गोली बांधे इस को मुख में रखे तो कफ का नाश करे ॥

कासपथ्य

शालिपाष्टिकगोधूममाषमुद्गकुलित्थकाः । छाग्याः पयो घृतं विंवी वार्ताकं वालमूलकम् ॥ कासमर्दकजीवंती वास्तुकं बीजपूरकम् । गोस्तनी लशुनं लाजा व्योषमुष्णोदकं मधु ॥ पथ्यमेतद्यथादोषमुक्तं कासगदातुरे ॥

अर्थ-शालीचांवल, गेहूं, उडद, मूग, कुलित्थ, बकरी का दूध व घी, कंदूरी, वैंगनं, छोटी मूली, कासमर्द, जीवंती, वास्तुक, बिजोरा, मुनक्का, लहसन, खील, सोंठ, मिरच, पीपल, गरम पानी और सहत ये पदार्थ कासरोग में पथ्य हैं ॥

अपथ्य

मैथुनं स्निग्धमधुरं दिवास्वापं पयो दधि ।
भिष्टान्नं पायसादीनि कासी धूमं च वर्जयेत् ॥

अर्थ-मैथुन, स्निग्ध (चिकना) और मीठे पदार्थ, दिन में सोना, दूध, दही, पिष्टान्न, पायस और धुआ यह कासरोग में अपथ्य है ॥

इति श्रीबृहन्निघंटुरत्नाकरे कासरोगस्य निदानचिकित्सा समाप्ता.

हिक्काकर्मविपाकः ।

योकृत्वा ब्राह्मणो भुंक्ते स्नानहोमजपादिकम् ।
स हिक्कारोगसंयुक्तस्तत्पापस्यापनुत्तये ॥
चांद्रायणत्रयं कुर्यात् त्रीन् कृच्छ्रांश्च समाचरेत् ॥

अर्थ-जो ब्राह्मण पूर्व जन्म में स्नान, होम, जपादिक नहीं करे और भोजन कर लेय वह हिक्का (हिचकी) रोगी होता है इस पाप के दूर करने को तीन चांद्रायण व्रत और तीन कृच्छ्रव्रत ये प्रायश्चित्त करे तो हिचकी का रोग दूर होवे ॥

हिक्कानिदान

विदाहिगुरुविष्टंभिरूक्षाभिष्यंदिभोजनैः । शीतपानाशनस्नान-
रजोधूमातपानिलैः ॥ व्यायामकर्मभाराध्ववेगघातापतर्पणैः ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥

सिध्येतां क्षतजक्षयजौ सद्वैद्यसद्भेषजसत्परिचारकयुक्तस्य सदातुरस्य जातौ । स्थविराणां जराकासः वृद्धानां यः कासो भवति स जराकाससंज्ञः स सर्व एव वातजादिरपि याप्यः ॥

त्रीन्पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥ १६ ॥

क्षतसे अथवा क्षयसे उत्पन्न हुई खाँसी जो क्षीण मनुष्योंको उत्पन्न होय तो असाध्य होतीहै और बलवान् मनुष्योंको उत्पन्न हुई होय तो साध्य होतीहै अथवा याप्य होतीहै, यदि चिकित्साके चारो पाद (उत्तम वैद्य उत्तम औषधि, उत्तम पारिचारक, उत्तम रोगी) ठीक होय और क्षतज अथवा क्षयज खाँसी थोडे दिनोंसे उत्पन्न हुई होय तो यह खाँसी क्षीण मनुष्योंके उत्पन्न हुई भी कदाचित् साध्य होतीहै । वृद्ध मनुष्योंके उत्पन्न हुई जो खाँसी है जिसको जराकास कहतेहै, वह किसी प्रकारकी भी होय सब याप्य जाननी, वातज, पित्तज और कफज इन तीन प्रकारकी खाँसीको साध्य समझकर चिकित्सा करके नष्ट करै और क्षतसे तथा क्षयसे उत्पन्न हुई खाँसीको याप्य समझ कर पथ्य देकर कालक्षेप करावे ॥ १४-१६ ॥

अथ कासोपेक्षादोषः ।

ज्वरारोचकहल्लासस्वरभेदक्षयादयः ॥
भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ १७ ॥

खाँसीकी उपेक्षा करनेसे अर्थात् कि, यह है ही क्या अपने आप आराम होजायगा ऐसा समझकर जो लोग खासीकी चिकित्सा नहीं करतेहैं उनके ज्वर, अरुचि, उबकाई, स्वरभेद और क्षयादिक रोग उत्पन्न होतेहैं । इस कारण खाँसीकी शीघ्रही चिकित्सा करनी चाहिये ॥१७॥

अथ कासचिकित्सा ।

तत्र प्रथमं वातजकासचिकित्सा ।

वास्तूको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम् ॥ स्नेहास्तैलादयो भक्ष्यास्तथेक्षुरसगौडिकाः ॥ १८ ॥ दध्यारनालाम्लफलं प्रसन्नापानमेव च ॥ शस्यते वातकासेषु स्वाड्म्ललवणानि च ॥ १९ ॥

वायसीशाकं काकोदुम्बरिका इति लोके । सुनिषण्णकं सुषुणि इति लोक शाकविशषः । चांगेरीसदृशः पत्रैः सुनिषण्णं चतुर्दलम् ॥ शाकं जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति चोच्यते ॥ २० ॥

चौपतिया इति लोके ॥

ग्राम्यानूपोदकैः शालियवगोधूमपष्टिकान् ॥ रसैर्मांसात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्विपक्व २१

ग्राम्यानूपोदकः रसैरित्यन्वयः । आत्मगुप्ता आलकुषी इति लोके ॥

दशमूलीकृता श्वासकासहिक्कारुजापहा ॥ यवागूर्दीपनी वृष्या वातरोगविनाशिनी ॥ ॥ २२ ॥ रसः कर्कोटकानां वा घृतभृष्टः सनागरः ॥ वातकासप्रशमनः शृंगीमत्स्यस्य वा पुनः ॥ २३ ॥

वातकी खाँसीमे-वथुयेका शाक, मकोयका शाक, मूली, शिरिआरी अथवा चौपतियाका शाक, तैलादिक स्नेह पदार्थ, ईखका रस, गुडके बनेहुए पदार्थ, दही, काँजी, खट्टे फल, मीठे, खट्टे तथा खारी अथवा नमकीन पदार्थ और प्रसन्ना(मदिराका भेद)का पीना यह सब हितकारी है । (शिरिआरीका स्वरूप । इसके पत्ते चागेरी अर्थात् लोनियाकी समान होते हैं, एक एक शाखामें चार चार पत्ते होते हैं प्राय इसका शाक सजल भूमिमें उत्पन्न होता है, इसको शिरिआरी अथवा चौपतिया कहते हैं) ॥

वैद्य, वातकी खाँसीमें--ग्राम, जलप्राय देश और जलमे रहनेवाले जीवोंके मासके रसके साथ अथवा उडद या कौंछके यूपके साथ चावल, जौ, गेहू और सॉठीके चावल खाने को देवे ।

दशमूलके द्वारा बनाई हुई यवागू श्वास, खाँसी हिचकी और वातके रोगोको नष्ट करैहै। अग्निको दीपन करैहै और मैथुनशक्तिको बढावेहै।

केकडेका अथवा शृंगमछलीका रस घीमे भूनकर सोंठ डालकर पीनेसे वातकी खाँसी नष्ट होजातीहै॥१८-२३॥

अथ पित्तकासचिकित्सा।

कण्टकारीयुगं द्राक्षा वासार्कचूरबालकैः॥ नागरेण च पिप्पल्या क्वथितं सलिलं पिबेत्॥ शर्करामधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम्॥ २४॥

कटेरी, बडी कटेरी, दाख, अडूसा, कचूर, सुगंधवाला, सोंठ और पीपल इनका क्वाथ बनाकर मिश्री और सहत मिलाकर पीनेसे पित्तकी खाँसी दूर होतीहै॥२४॥

अथ कफकासचिकित्सा।

पिप्पली कट्फलं शुण्ठी शृङ्गी भार्ङ्गी तथोषणम्॥ कारवी कण्टकारी च सिन्दुवारो यवानिका॥२५॥ चित्रको वासकश्चैषां कषायं विधिवत्कृतम्॥ कफकासविनाशाय पिबेत्कृष्णारजोयुतम्॥ २६॥

पीपल, कायफल, सोंठ, काकडाशिंगी, भारंगी, कालीमिर्चे, कालाजीरा या कलौंजी, कटेरी, सम्हालू, अजवायन, चीता और अडूसा इनका विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर पीपलका चूर्ण डालकर पीनेसे कफकी खाँसी दूर होजातीहै इसको पिप्पल्यादि क्वाथ कहतेहै॥ २५॥ २६॥

अथ क्षतजकासचिकित्सा।

इक्ष्विक्षुवालिकापद्ममृणालोत्पलचन्दनम्॥ मधकं पिप्पली द्राक्षा लाक्षा शृंगी शतावरी॥ २७॥ द्विगुणा च तुगाक्षीरी सिता सर्वचतुर्गुणा॥ लिह्यात्तन्मधुसर्पिर्भ्यां क्षतकासनिवृत्तये॥ २८॥

इक्षुबालिका इक्षुभेदः। चन्द्र इति लोके। पद्मं पद्मकाष्ठम्। मृणालं बिसम्। उत्पलं कमलम्। चन्दनमत्र धवलं चूर्णत्वात्। शृंगी कर्कटशृंगी। तुगाक्षीरी वंशरोचना सा च इक्षोर्द्विगुणा॥

ईख, इक्षुवालिका (एकप्रकारका तृण अथवा ईख) पद्माख, कमलकी नाल, कमल, चदन, मुलैठी, पीपल, दाख, लाख, काकडाशिंगी, सतावर, ईखसे दुगुना वंशलोचन और सबसे चौगुनी मिश्री लेवे, सबका एकत्र चूर्ण करके सहत और घीके साथ चाटनेसे क्षतजन्य खाँसी नष्ट होजातीहै॥ २७॥ २८॥

अथ क्षयजकासचिकित्सा।

चूर्णं काकुभमिष्टं वासकरसभावितं बहून्वारान्॥ मधुघृतसितोपलाभिर्लेह्यं क्षयकासरक्तहरम्॥ २९॥

काकुभं चूर्णं ककुभचूर्णम्॥

लोहके चूर्णको अडूसेके रसमे वारवार भावना देकर सहत, घी और मिश्रीके साथ चाटे तो क्षयजन्य खाँसी दूर होजातीहै॥ २९॥

अथ कासरोगसामान्यचिकित्सा।

ताप्यमानस्य कासेन नासास्रावे स्वरे जडे॥ क्षयथौ गन्धनाशे च धूमपानं प्रयोजयेत्॥ ३०॥ मनःशिलालमरिचमांसीमुस्तैर्गुदैः पिबेत्॥ धूमं त्र्यहञ्च तस्यानुपयश्च सगुडं पिबेत्॥ ३१॥

आलं हरितालम्॥

एष कासान्पृथग्द्वन्द्वसर्वदोषसमुद्भवान्॥ शतैरपि प्रयोगाणामसाध्यान्साधयेद्ध्रुवम्॥ ३२॥ बदरीदलमालिप्तं शिलयाऽऽतपशोषितम्॥ तद्धूमपानं सक्षीरं महाकासनिवारणम्॥ ३३॥ कण्टकारीकृतः क्वाथः सकृष्णः सर्वकासहा॥ कण्टकार्याः कणायाश्च चूर्णं समधु कासहृत्॥ ३४॥ लवंगजातीफलपिप्पलीनां भागान्प्रकल्प्याक्षसमानमेषाम्॥ पलार्द्धमानं मरिचं प्रदेयं पलानि चत्वारि महौषधस्य॥ ॥ ३५॥ सिता समस्तेन समाऽथ चूर्णं रोगानिमानाशु बलान्निहन्ति॥ कासज्व-

रारोचकमेहगुल्मश्वासाग्निमान्द्यग्रहणीविकारान् ॥ ३६ ॥ कुनटी सैन्धवं व्योषं विडंगामयहिगुभिः ॥ लेहः साज्यमधुः कासश्वासहिक्कानिवारणः ॥ ३७ ॥ हरीतकी कृणा शुण्ठी मरिचं गुडसंयुतम् ॥ कासश्लेष्मापहं प्रोक्तं परं वह्नेः प्रदीपनम् ॥ ३८ ॥ कर्षः कर्षाशपलं पलद्वयं स्यात्ततोऽर्द्धकर्षश्च ॥ मरिचस्य पिप्पलीनाञ्च दाडिमगुडयावशूकानाम् ॥ ३९ ॥

कर्षाशोऽत्र कर्षद्वयम् ॥

सर्वौषधिभिरसाध्याः कासा ये वैद्यनिर्मुक्ताः ॥ अपि पूयच्छर्दयतां तेषामिदमौषधं परमम् ॥ ४० ॥

खाँसीके संताप होनेसे नाकमेंसे पानी गिरता हो, स्वर बैठ गया हो, छींक आती हो और गंध लेनेकी शक्ति नष्ट होगई होय तो धूम पान करे । मैनशिल, हरिताल, मिरच, वालछड (जटामासी), नागरमोथा तथा हिंगोट इन सबका चूर्ण करके बीडी बनाकर चिलममें रखकर धूम पान करै और उसके ऊपर गुड मिलाकर दूध पिये तो एक दोषसे, दो दोषोंसे, अथवा सम्पूर्ण दोषोंसे उत्पन्न हुई खाँसी और सैकडों औषधियोंके सेवन करनेसे जो खाँसी अच्छी नहीं हुई होय वह भी इस धूम पानसे अवश्य नष्ट होजातीहै ।

मैनशिलको जलमें पीसकर बेरीके पत्तों पै लेप करके धूपमें सुखा देवै, फिर इसको चिलममें रखकर पिये तो भयंकर खांसी दूर होजातीहै ।

कटेरीके क्वाथमें पीपलका चूर्ण डाल करके पीनेसे सर्व प्रकारकी खांसी दूर होजातीहै, कटेरी और पीपल इन दोनोंको एकत्र पीसकर सहतमें मिलाकर चाटनेसे खांसी दूर होजातीहै ।

लौंग १ तोला, जायफल १ तोला, पीपल १ तोला, मिरच २ तोले सोंठ १६ तोले और सबकी बराबर उत्तम सफेद बूरा लेवै, इन सबका चूर्ण अथवा गोली बनाकर खानेसे खांसी, ज्वर, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, श्वास, मन्दाग्नि और ग्रहणीविकार तत्काल नष्ट होतेहैं ।

मैनशिल, सैंधानिमक, सोंठ, मिरच, पीपल, वायविडंग, कूठ और हींग भूनी इन सबका चूर्ण करके चाटनेसे खांसी, श्वास और हिचकी दूर होजातीहैं ।

हरड, पीपल, सोंठ और मिरच इनका चूर्ण करके गुडमें मिलाकर खानेसे खांसी और कफ नष्ट होजाताहै और अग्नि अत्यंत दीपन होतीहै ।

मिरच १ तोला, पीपल २ तोले, अनार ४ तोले, गुड ८ तोले और जवाखार आधा तोला इन सबको एकत्र मिलाकर चाटनेसे भयंकर खाँसी नष्ट होजातीहै. जो खाँसी अनेक प्रकारकी औषधियोंके करनेसे आरोग्य नहीं होय तथा जिसको वैद्योंने भी त्याग दिया हो वह खांसी इससे शीघ्र नष्ट होजातीहै, तथा जिस खांसीमें रुधिरकी वमन होतीहोय उसके लिये यह औषधि परमोत्तम है ॥ ३०-४० ॥

अथ मरिचादिगुटिका ।

मरिचं कर्षमात्रं स्यात्पिप्पली कर्षसम्मिता॥ अर्द्धकर्षो यवक्षारः कर्षयुग्मञ्च दाडिमम् ॥४१ ॥ एतच्चूर्णीकृतं युंज्यादष्टकर्षगुडेन हि ॥ शाणप्रमाणां गुटिकां कृत्वा वक्त्रे विधारयेत् ॥ अस्याः प्रभावात्सर्वेऽपिकासायान्त्येव संक्षयम् ॥ ४२ ॥

कालीमिरच १ तोला, पीपल १ तोला, जवाखार ६ मासे और अनारके फलकी छाल २ तोले, इन सबको चूर्ण करके आठ तोले गुडमें मिलाकर २४ चौबीस २४ चौबीस रत्तीकी गोलियां बनावै, एक गोलीको मुखमें रखनेसे सर्व प्रकारकी खांसी नष्ट होजातीहै ॥ ४१ ॥ ४२॥

अथ भृगुहरीतकी ।

सशूलवल्कच्छदकण्टकार्यास्तुलां ततो द्रोणमितं जलञ्च ॥ हरीतकीनां शतमेकपात्रे विपाच्य कुर्याच्चरणाम्बुशेषम् ॥ ४३ ॥ तस्मिन्कषाये तनुवस्त्रपूते हरीतकीभिः सहितं गुडस्य ॥ तुलां विनिक्षिप्य पचेत्सुपक्वमेतत्समुत्तार्य सुशीतलञ्च ॥ ४४ ॥ पलं पलञ्चापि कटुत्रयञ्च तथा चतुर्जातपलं विचूर्ण्य ॥ पलानि षट्पुष्परसस्य

चापि विनिःक्षिपेत्तत्र विमिश्रयेच्च ॥४५॥ प्रयुज्यमानो विधिनैष लेहो यथाबलश्चापि यथानलश्च॥ वातात्मकं पित्तकृतं कफोत्थं त्रिदोषजातान्यपि च त्रिदोषम् ॥४६॥ क्षतोद्भवश्च क्षयजश्च कासं श्वासश्च हन्यात्सह पीनसेन ॥ यक्ष्माणमेकादशरूपमुग्रं हरीतकी या भृगुणोपदिष्टा ॥ ४७ ॥

पुष्परसो मधु ॥

जड, छाल और पत्ते समेत कटेरीका सर्वांग ४०० चारसौ तोले और हरड १०० सौ तोले लेवै, दोनोको एक पात्रमें डालकर १०२४ एक हजार चौवीस तोले जलमे पकावै, पकते पकते जब चौथाई भाग क्वाथ बाकी रहजाय तब उसको उतारकर बारीक वस्त्रमे छानकर रखदेवै, फिर उस छनेहुए क्वाथमें पूर्वोक्त पकाई हुई १०० सौ हरड और गुड ४०० चारसौ तोले डालकर पकावै, जब अच्छे प्रकारसे पककर अवलेहकी समान तैयार होजाय तब उसको उतारकर शीतल कर लेवै, पश्चात् उसमे सोठ ४ तोले, काली मिरच ४ तोले, पीपल ४ तोले, इलायची ४ तोले, दालचीना ४ तोले, तेजपात ४ तोले, नागकेसर ४ तोले और सहत २४ तोले इन सबको मिला देवै। इस अवलेहको विधिपूर्वक शरीरके बलके अनुसार और अग्निके बलानुसार सेवन करे तो वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, त्रिदोषज, क्षतज, क्षयज—श्वास, पीनस और एकादश लक्षणोंवाला महाभयंकर राजयक्ष्मा रोग नष्ट हो, यह भृगुऋषिकी कही हुई 'भृगुहरीतकी' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४३–४७ ॥

अथ कंटकार्यवलेहः।

कण्टकारीतुलां नीरद्रोणे पक्त्वा कषायकम् ॥ पादशेषं गृहीत्वा च तत्र चूर्णानि दापयेत् ॥ ४८ ॥ पृथक्पलांशान्येतानि गुडूची चव्यचित्रकौ ॥ मुस्तं कर्कटशृङ्गी च त्र्यूषणं धन्वयासकः ॥ ४९ ॥ भार्ङ्गी रास्ना शटी चैव शर्करापलविंशतिः ॥ प्रत्येकञ्च पलान्यष्टौ प्रदद्याद् घृततैलयोः॥ ॥ ५० ॥ पक्त्वा लेहत्वमानीय शीते मधु पलाष्टकम् ॥ चतुर्भागं तुगाक्षीर्याः पिप्पल्याश्च चतुःपलम् ॥ ५१ ॥ क्षिप्त्वा निदध्यात्सुदृढे मृन्मये भाजने शुभे ॥ लेहोऽयं हन्ति हिक्कार्तिकासश्वासानशेषतः ॥ ५२ ॥

इति कासाधिकारः।

कटेरीका पचाङ्ग ४०० चारसौ तोले लेकर १०२४ एक हजार चौवीस तोले भर जलमें पकावै जब पकते पकते चौथाई भाग जल बाकी रहजाय तब उसको उतारकर छान लेवै, फिर इस क्वाथमें गिलोयका चूर्ण ४ तोले, चव्य ४ तोले, चीता ४ तोले, नागरमोथा ४ तोले, काकडाशिंगी ४ तोले, सोंठ ४ तोले, मिरच ४ तोले, पीपल ४ तोले, धमासा ४ तोले, भारगी ४ तोले, रासना ४ तोले, कचूर ४ तोले, खाड ८० तोले, घी ३२ तोले और ३२ तोले तेल, इन सबको डालकर उत्तम विधिसे पकावै, जब पकते २ अवलेहकी समान होजाय तब शीतल करके उसमे ३२ तोले सहत, वंशलोचन ८ तोले और पीपल १६ तोले मिलादेवे। इस अवलेहको उत्तम चिकने मट्टीके बासनमें भरके रखदेवे। इसको सेवन करनेसे हिचकी, खाँसी और श्वास रोग नष्ट होजाता है ॥ ४८–५२ ॥

इति श्रीभावप्रकाशे शालिग्रामवैद्यकृत-
वैद्यसंजीवनीभाषाटीकाया कास-
रोगाधिकारः सपूर्णः।

अथ हिक्कारोगाधिकारः।

तत्र हिक्कारोगविप्रकृष्टनिदानम्।

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः॥ शीतपानाशनस्नानरजोधूमात्तथानिलैः॥ १॥ व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ॥ हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते २॥

विदाह करनेवाले, भारी, मलरोधक, रूखे और अभिष्यन्दी ऐसे पदार्थ खानेसे, शीतल जल पीनेसे, शीतल अन्न खानेसे, शीतल जलमें नहानेसे, धूल और धुंयेको मुख नासिकामें जानेसे, अत्यत पवन लगनेसे, अत्यत परिश्रमके

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार

प्रस्तुत

abhikshana

स्वास्थ्य पोथी

स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी
श्री कौशिकजी

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार – एक परिचय

'स्वास्थ्य प्रेमी परिवार' जैसे नाम मे ही अर्थ निहित है। हम कुछ ऐसे मित्रो का समूह है जो 'सारवार' से नहीं, बल्कि 'स्वास्थ्य' से प्रेम करते है।

क्या है स्वास्थ्य प्रेमी परिवार?

- स्व-प्रेरित एवं जागृत नागरिकों का परिवार
- स्वयं के और जन-सामान्य के स्वास्थ्य को संरक्षित करने के लिए जागृति लाने हेतु कटिबध्ध परिवार
- रहस्यमय व्यक्तित्व श्री कौशिकजी के नेतृत्व में स्थापित हुआ परिवार
- 'स्वस्थ मानव अभियान' का प्रणेता तथा प्रचारक परिवार

हम सभी जानते है कि पिछले कुछ वर्षो में मनुष्य जाति जितनी बीमार हुई है उतनी पहले कभी न थी। पिछले कुछ वर्षो में हमने कुछ ऐसी गलतिया कि है जिसकी कीमत हमें अपने स्वास्थ्य को खोकर चुकानी पड रही है। हमने हमारी बुद्धि का उपयोग कर नए नए आविष्कार किए ताकी हम बीमार लोगो को ठीक कर सके। फिर उसी का व्यवसायिकरण किया, और अब हम उन्ही आविष्कारों से आत्महत्या कर रहे है। जरूरी था यह सीखना कि कैसे हम बीमार न हो, कैसे हम स्वस्थ रहे।

आज़ाद होने के समय पर हमारे देश मे केवल 70 दवाइया बनती थी और 10% लोग बीमार पड़ते थे। आज 70000 दवाइया बनती है और हमारी जनसंख्या के करीब 90% लोग बीमार है। अब समय आ गया है कि कोइ कार्य किया जाए। आवाज उठाने से कुछ नहीं होगा। अपने आप से, अपने परिवार से शुरुआत करे। जुड़े 'स्वास्थ्य प्रेमी परिवार' के इस प्रयोजन से.....

स्वास्थ्य ऋषि श्री कौशिकजी की यात्रा...

एक अद्भुत एवं आद्वितीय व्यक्तित्व के स्वामी श्री कौशिकजी के साथ ९ साल पहले कुछ ऐसी घटनाए घटी जिसके अनुभवो ने उन्हे विचलित कर दिया। जिस उम्र मे किशोर खेलकुद एवं नवीनतम जोश से भरे रहते है उसी उम्र मे उन्होने कुछ ऐसी बाते जीवन के बारे में मेहसूस की जिनहे सुलजाना ना ही उन्होने कभी सोचा था न ही उनके दिल में था। पर कुदरत की इस रचना मे हमारा नाट्यक्रम भले ही सटीक ना हो लेकिन हमारे पात्र की अभिव्यक्ति एवं विषय निर्धारित है। कुछ ऐसे ही प्रयोजन के साथ कुदरत उनको इस मोड पर ले आई जहां उन्होने लोगो की मदद करना एवं उनको तकलीफ़ों से मुक्ति दिलाने का मार्ग खोजना शुरू कर दिया।

वे तो कहते है की “यह उनकी अपनी खोज है। कुछ अंगत प्रश्नो के उत्तर की यात्रा है, अगर इस यात्रा मे किसी और के जीवन को वे छु लेते है तो वो केवल कुदरत की इच्छा एवं प्रयोजन से है।

उनकी इस यात्रा मे वह अकेले मशालची बन निकले थे मार्ग पर। आज पूरा कारवां उनके साथ हो लिया है। उनकी यह यात्रा कब समाज के लिए मददरूप हो गई उसके बारे मे आज भी वे अनभिज्ञ है।

इस पुस्तिका मे दिये गए सभी नुस्खे, उनकी इस ९ साल की यात्रा के अनुभवो पर आधारित है। श्री कौशिकजी का कहना है की “इनमे से कोई भी प्रयोग अगर आदमी ईमानदारी एवं समयसूचकता से करे तो परिणाम तो मिलना ही है।” क्योकि वे खुद इनके सेंकड़ों परिणामो के साक्षी है।

|| स्वास्थ्य प्रेमी परिवार ||

स्वास्थ्य जागृति कि और कदम बढ़ा रहा है स्वास्थ्य प्रेमी परिवार।

हमें चाहिए आपका साथ और सहकार।

मिलेगी मुक्ति हम सभी को, अगर है हम तैयार।

करेंगे कुछ आधारभूत काम, जो बचाए हमारी अगली पीढ़ी का जीवन संसार।

रोगो की सूचि

१। अंजनहारी
२। अजीर्ण
३। अम्लपित्त
४। अलसेरेटिव कोलाइटिस
५। अस्थमा
६। आँख आना
७। आंखो में दर्द
८। इंफर्टिलिटी
९। उच्च रक्तचाप
१०। उल्टी
११। कफ
१२। कब्ज
१३। दुर्बलता
१४। कर्ण नाद
१५। कोलेस्ट्रॉल
१६। क्रेक हिल
१७। गले में इन्फ़ैकशन
१८। घुटनो में दर्द
१९। जठर शोथ
२०। जली हुई त्वचा
२१। जुकाम
२२। टोंसिलाइटिस
२३। डिमेंसिया
२४। दस्त
२५। दाँतो में सेंसिटिविटी
२६। मोतियाबिंद
२७। दाद
२८। नाक में मसे
२९। पथरी
३०। पाइल्स
३१। पित्ताशय में पथरी
३२। पीलिया
३३। पेट दर्द
३४। पेट में कृमि
३५। बहुमूत्र कि समस्या
३६। पेशाब में जलन
३७। पैर में मोच
३८। बच्चो को नींद ना आना
३९। बच्चो में दस्त
४०। बालो में रूसी
४१। बुखार
४२। माइग्रेन
४३। मासिक धर्म
४४। मुहाँसे
४५। मुंह के छाले
४६। यूरिक एसिड बढ़ना
४७। रतौंधी
४८। रसौली
४९। नींद ना आना
५०। लो ब्लड प्रेशर
५१। वाइरल बुखार
५२। शीतपित्त
५३। श्वेत प्रदर
५४। सन बर्न
५५। सफ़ेद दाग
५६। सर दर्द
५७। साइनोसाइटिस
५८। हार्ट ब्लोकेज
५९। साइटिका
६०। पुरानी सर्दी
६१। छाती में कफ जमना
६२। मोटापा
६३। पार्किंसन
६४। विटामिन D कि कमी
६५। विटामिन बी12 कमी
६६। वर्टीगों

"स्वास्थ्य स्वाभाविक है, बीमारिया नहीं। तूम कुछ भी जानते हो, कितना भी जानते हो उससे क्या फर्क पड़ता है? बस फर्क तो एक बात से पड़ता है...क्या तूम खुद को जानते हो? जान लोगे तो स्वास्थ्य तुम्हारा।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार सिर्फ स्वास्थ्य ही नहीं देता। मन की शांति और जीवन का आनंद भी देता है। जीवन को एक नयी दिशा देता है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दूसरा क्या मानता है उससे अगर तुम्हें तकलीफ़ है, तो तुम्हारी तकलीफ़े कभी ख़त्म नहि होगी क्योंकि तीसरा चौथा और पाँचवा भी कुछ मानता है। तुम क्या मानते ही वही तुम्हारे जीवन में महत्व पूर्ण है ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दुख के जन्म स्थान चार है । तुम्हारी माँग, ज़रूरत, आशा और अपेक्षा। इसके अलावा दुःख का जन्म सम्भव नहि ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

प्रकृति का एक अद्भुत सिद्धान्त अनुभव किया है मैंने। तुम जो बाँटोगे वही तुम्हें मिलेगा। अभी तुम्हें क्या मिल रहा है??? दुख, पीड़ाए और अशांति। बस तुम जाने अनजाने प्रकृति में दुःख पीड़ा और अशांति बढा रहे हो।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"गरीब इसलिए गरीब रह गया क्योंकि उसने गरीब परिवार में जन्म लिया था और अमीर भी इसलिए अमीर बन पाया क्योंकि उसने भी गरीबी देखी थी। दोनों में क्या अंतर रहा होगा???"
समझ़ – हर दुख की दवा

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

आंखो में दर्द

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार

परिवार से जुड़े - 8734925788

ग्वारपाठे(अलोएवेरा) के गूदे में हल्दी का चूर्ण मिलाकर गर्म करें और सहनीय अवस्था में पैरो के तलुवों में लगाकर बांधे ओर आँखों में भी लगा ने से आंखों का दर्द दूर होता है।

लालमिर्च को पीस कर उसका गाढ़ा लेप बनाले और पेर के अंगूठे के नाखून पर पर लेप करें आधे एक घंटे में परिणाम मिलेगा।

पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"पुस्तक पढ़ने से जो ज्ञान मिलता है, वो ज्ञान जैसा प्रतीत तो होता है पर वो ज्ञान होता नही। पुस्तक तुम्हें जरूर भटका देगी। याद रखो, पुस्तक किसी और की बात है, तुम्हारी नहीं।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"सुख, शांति, समृध्धी और स्वास्थ्य डरपोक को नहीं मिल सकता, इसके लिए साहस चाहिए।"
"साहस तब ही जीवन में खिल सकता है जब तुम किसी को गहराई से 'प्रेम' करो।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"जिस तरह पत्ता पकने के बाद वृक्ष से स्वत: गिर जाता है, पुनर्विन्यास से वैसे ही आपके सारे दुख एक एक कर गिर जाते है। फिर सिर्फ तुम ही बचते हो। वो भी एक वृक्ष की तरह, नि:स्वार्थ, परोपकारी और अंतरानंद के साथ...."

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

“जीवन खुद को जानने के लिए है, दूसरों को नहीं। जो खुद को नहीं जाना उसके लिए ज्ञान बोझ बन जाता है। सफलता, तरक्की, संबंध सब उस पर बोझ बन जाता है। पुनर्विन्यास एक रास्ता है।“

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"तुम्हारे द्वारा किसी के जीवन मे दी गई स्वतंत्रता "प्रेम" का निर्माण करता है। और दूसरे के जीवन में निर्णयो को कंट्रोल करने का काम "नफरत" का निर्माण करता है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"बीमारिया आपकी दुश्मन नहीं, दोस्त है। वही तो है, जो आपको यह समजाती है की आपको अपने आप मे क्या सुधार करना जरूरी है।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"अगर तुम किसी का साथ छोड़ सके तो तुम कभी उस व्यक्ति के साथ थे ही नहीं। तुम्हारा साथ खोखला था। तुम्हारी निष्ठा नि:संदेह खोखली नहीं रही होगी। पर वो साथ प्रेम, इज्जत, पैसा या सेवा से संचालित था।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

कान में सिटी की आवाज आना - कर्ण नाद

स्वास्थ्य ऋषि एवं
पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

27 देशो में विस्तृत परिवार

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार संयोजित

स्वास्थ्य केन्द्र

સારવાર પ્રેમી નહીં પરંતુ સ્વાસ્થ્ય પ્રેમી બનો

087349 25788

life is music...

1. स्नेहन - गाय के घी से कान की मालिश करे।
2. नस्य - 'अणु तेल' नाक में तीन तीन बूँद रात को सोते समय डाले।
3. सारवादी वटी - आयुर्वेदिक की दुकान से मिलेगी 1-1-1 लेते रहे।
4. तिल का तैल थोड़ा सा गर्म कर ठंडा कर और कान में दो दो बूँद डाले।

“चाहे जाने या अनजाने मे, उपलब्धि के लिए मुख्य जरूरत ‘अनुवेध’ है जिस के बिना किसी भी क्षेत्र मे उपलब्धि संभव नहीं है।“

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

“खुद से मुलाक़ात अगर क्षणभर भी हो जाए, कुछ जानने योग्य नहीं रहता। अस्तित्व की इकाई इतनी अद्भुत हो सकती है यह कभी नहीं सोचा था। संयोग से भी अगर मन, मस्तिष्क, जीव और शरीर का योग हो जाए। सब गिर जाता है जो अस्तित्व से परे हो।“

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"हरेक बीमारिया इंसान के संयम के अभाव, धीरज के अभाव और आलसीपन मे से निकली है। इतना ही नहीं, हर दवाई भी इन्ही अवगुणो में से निकली है।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

गले मे इंफेवशन

1 चमच्च हल्दी और 6 चमच्च शुद्ध शहद को
अच्छे से मिला ले। सुबह दोपहर श्याम कहना
खाने के बाद 2 - 2 - 2 चमच्च चाट के ले ले।

स्वास्थ्य ऋषि एवं
पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

087 349 257 88 संपर्क सूत्र

27 देशो में विस्तृत परिवार यानी

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार

Inspired by Swasthya premi Pariwar
Managed by Abhikshana Healings Pvt. Ltd.
abhikshana

"मेरा होना भी कहा होना है? तो फिर कहा कुछ पाना है, कहा खोना है? भीतर को जान लेने में कहा मजा है? भीतर को जानते रहना पल पल यही सोना है? तो फिर कहा कुछ पाना है, कहा खोना है?

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

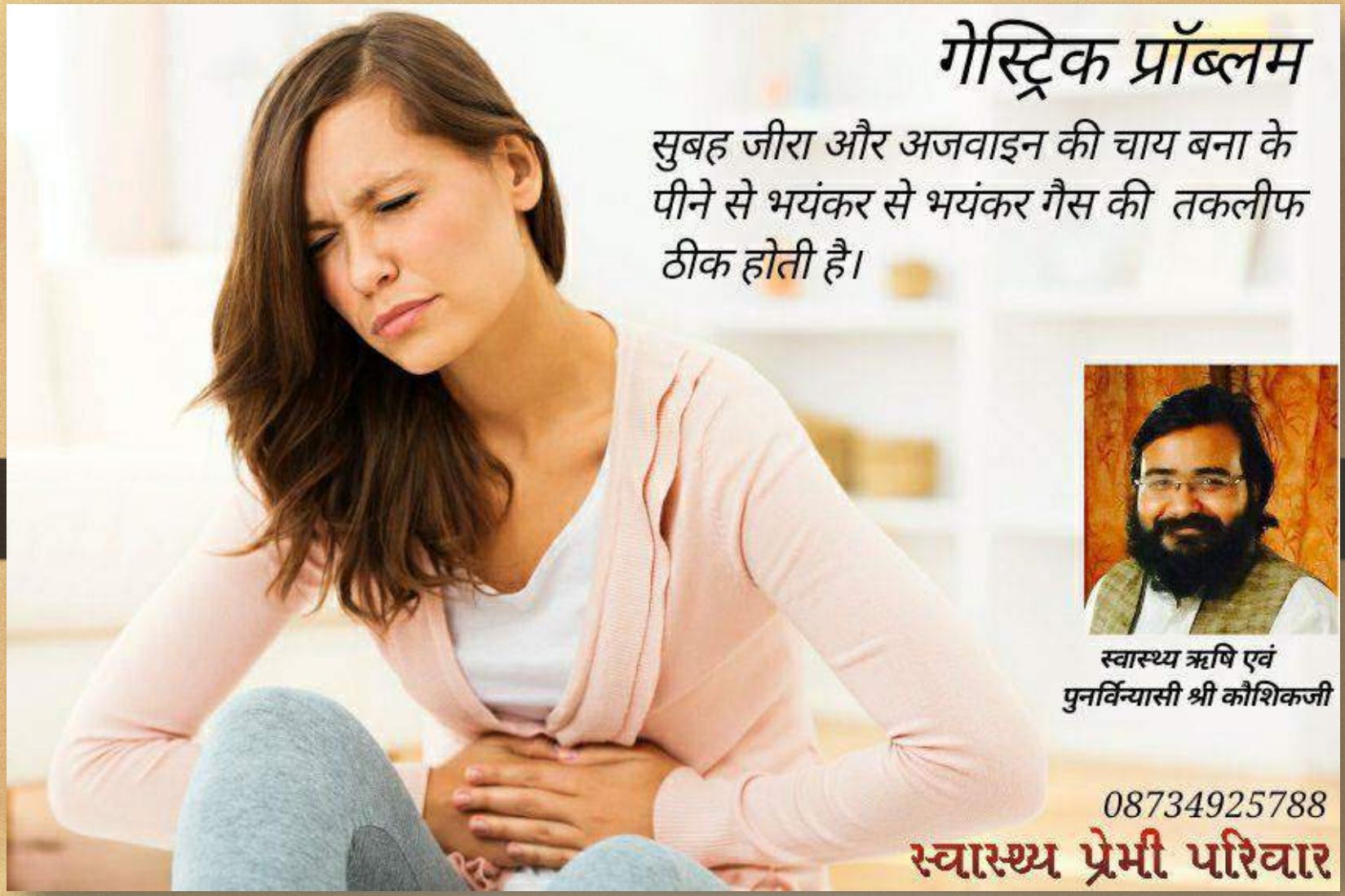

“शायद पढे लिखे लोग चिल्ला चिल्ला कर बोल रहे है, “हर शारीरिक और मानसिक समस्याओ के लिए हमे दवाई दे दो। बाकी हम सुधरने वाले नहीं। अवगुणो को दूर तो करेंगे ही नहीं।“

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जब तक तुम स्पष्ट नहि तुम दुविधा में होंगे। और तुम अपने आसपास दुविधा ही उत्पन्न कर सकते हो। जब तक तुम खुद में प्रमाणित नहि , अपने में स्पष्ट नहि तुम्हारा ज्ञान भी व्यर्थ है। और अगर तुम में स्पष्टता स्थापित हो सकी, खुद में प्रमाणित हो सके तो अज्ञान भी सार्थक बन जाएगा। पुनर्विन्यास के बिना यह संभव नहि ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

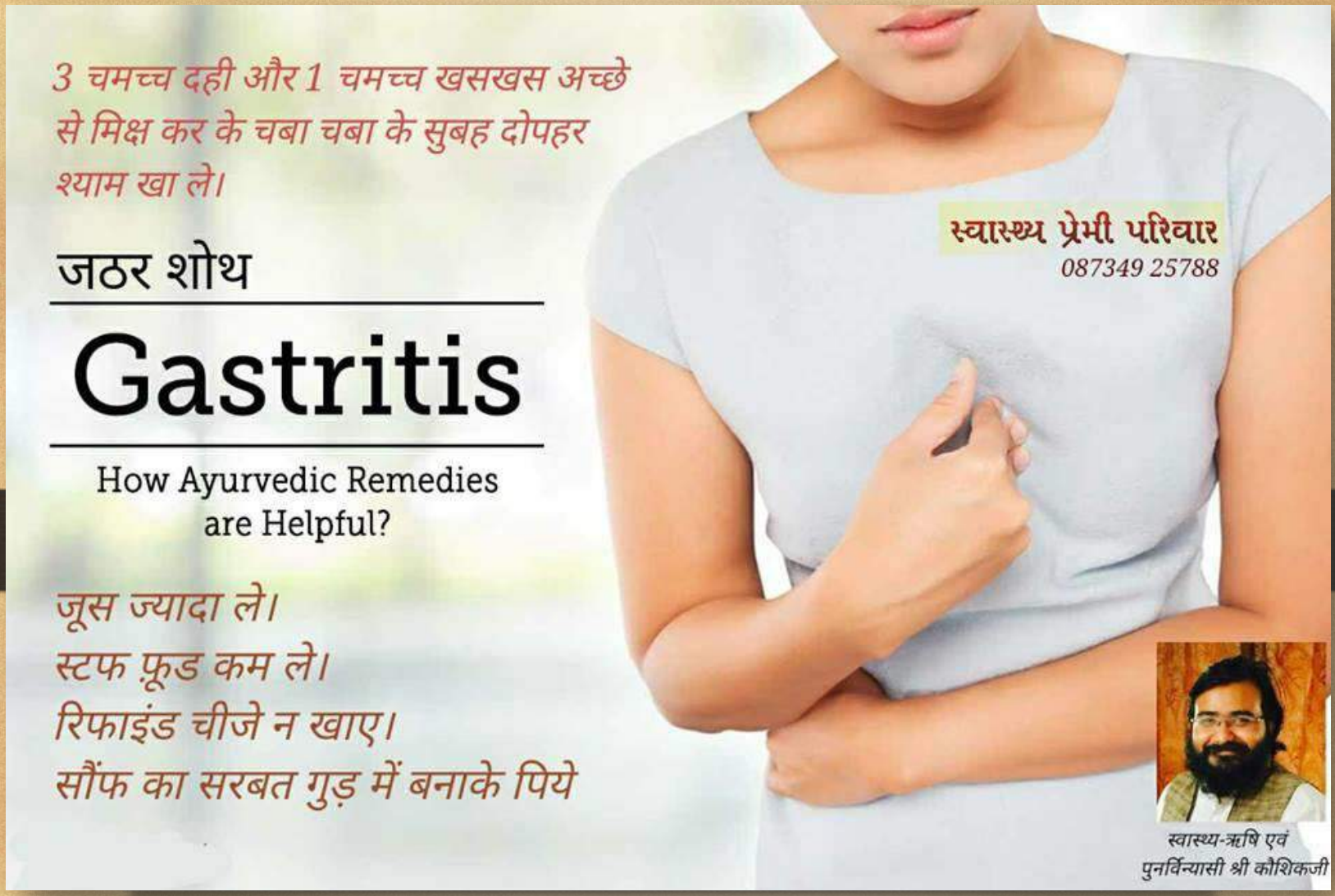

"प्रकृति के पास हर बीमारी का मुफ्त इलाज है।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"अज्ञान के हाथो में कोई भी ज्ञान सृजनात्मक नहीं हो सकता, और ज्ञान के हाथो मे अज्ञान भी सृजनात्मक हो जाता है।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

"तूम सही हो या गलत, इस चक्कर में पड़ते ही क्यों हो? तुम्हारे होने से क्या फर्क पड़ता है और तुम्हारे न होने से भी क्या फर्क पड़ता है। सिकंदर मर चुका और तूम कहा बचने वाले हो?
भूल चुकी दुनिया जानेवाले लोगो को और याद रखा उसे कौन सा "अमृतकलश" मिल चुका है? तूम सही हो या गलत, इस चक्कर में...."

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

यहाँ कोई अच्छा या बुरा नहि है। सब के पास अपने कर्म को करने की ठोस वजह है । कोई बिना सोचे-समजे कर्म नहि करता। मेरा मानना है कि बिना ख़ुद को समजे किया गया हर काम अनुचित है। ख़ुद को समजने के बाद तुम से अनुचित हो ही नहि सकता। यही इस युग की सब से बड़ी समस्या है

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जो तुम्हारे पास है वही तुम बाँट सकते हो। जो तुम्हारे पास नहीं, उसे बाँटने का कोई विकल्प नहि। अगर तुम्ह सुखी हो तो ही सुख बाँट सकते हो। दुखी होकर तो जाने अनजाने मे तुम आसपास के वातावरण में दुःख का क़हर ही ढा सकते हो। यह स्वाभाविक प्राकृतिक घटना है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

ख़रगोश और बंदर के बीच में कैसी स्पर्धा? बंदर बंदर है और ख़रगोश ख़रगोश है। तुम जैसा और कोई नहि। होना सम्भव भी नहि। किसी के साथ तुम्हारी तुलना तुम्हारी और प्रकृति दोनों का अपमान है। खुद को जानने से ही सारे रास्ते खुलते है। यह काम शिक्षाक्षेत्र का था। जो आज विफल हो चुकी है ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

डिप्रेशन या तनाव का एक ही सीधा सा मतलब है की तुम प्रकृति का विरोध कर रहे हो की यह परिस्थिति ऐसे नहि वैसे होनी चाहिए थी। पर यह सोचना ज़रूरी नहि लगता कि प्रकृति तुम्हारी बात क्यों मानेगी। इस प्रकृति में एक ही क्षेत्र में तुम बदलाव ला सकते हो और वो क्षेत्र है तुम ख़ुद। ख़ुद में ही बदलाव लाया जा सकता है ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

संबंध अपेक्षाओं पर आधारित हो तो तुम्हारे साथ विश्वासघात जरूर होगा। बिना अपेक्षा एक संबंध बना के देखो। और वैसे भी अपेक्षा के साथ जो है वो संबंध भी नही कहलाता। वो तो बिज़नेस हो गया ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

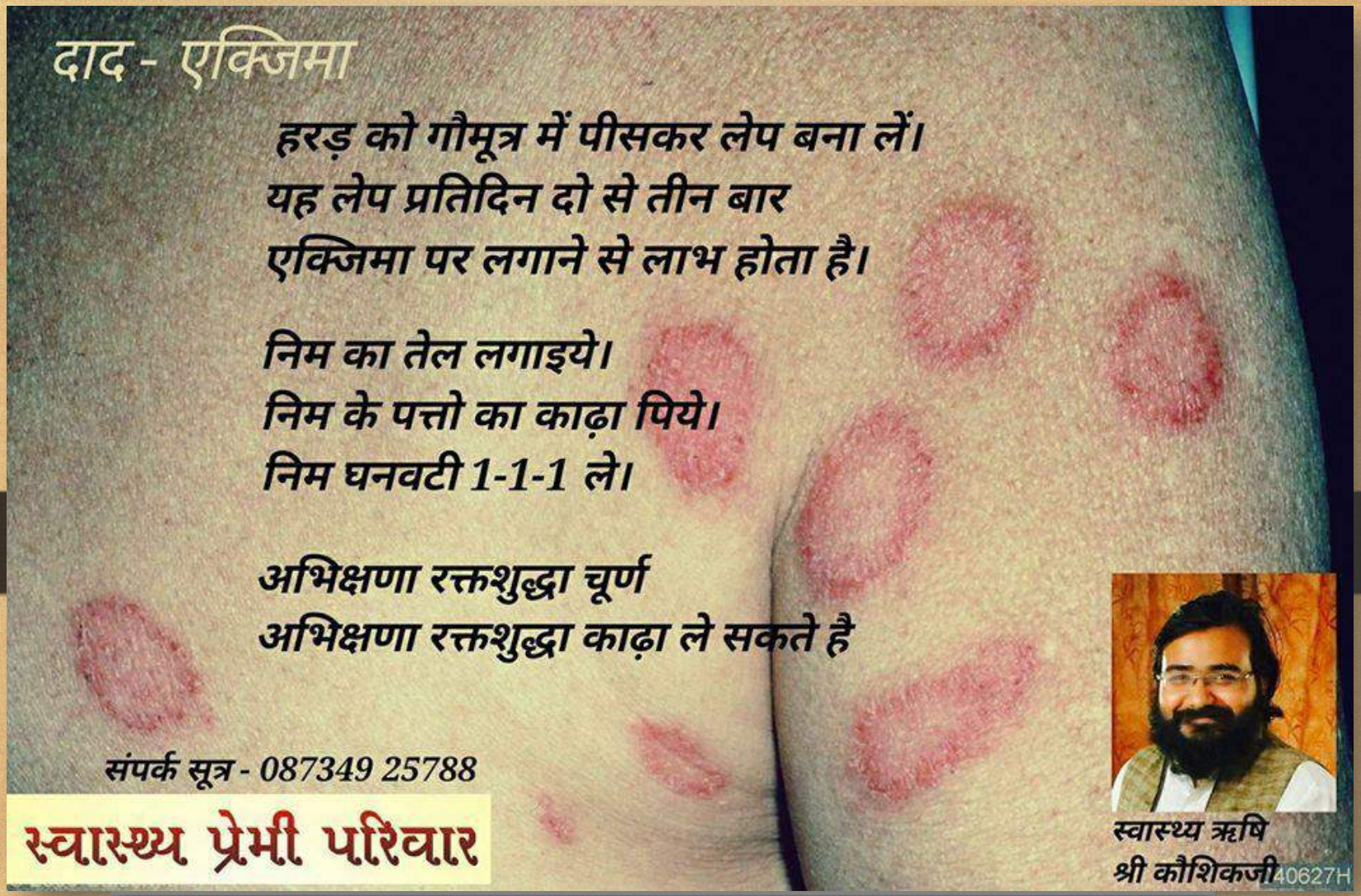

जितना इक्कठा करोगे उतना डरोगे । चाहे वो पैसा हो सफलता हो, इज्जत, मान सन्मान हो। तुम्हें मोह है किसी चीज़ का उसिसे डर का जन्म होता है। वो चीज़ इतना सुख नहि दे पाती जितना उसके खो जाने का डर दुःख देता है। अपनी आवश्यकताओं को पहेचानो। इसीलिए ग़रीब को सब कुछ चाहिए और आमिर कंजूस हो जाते है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

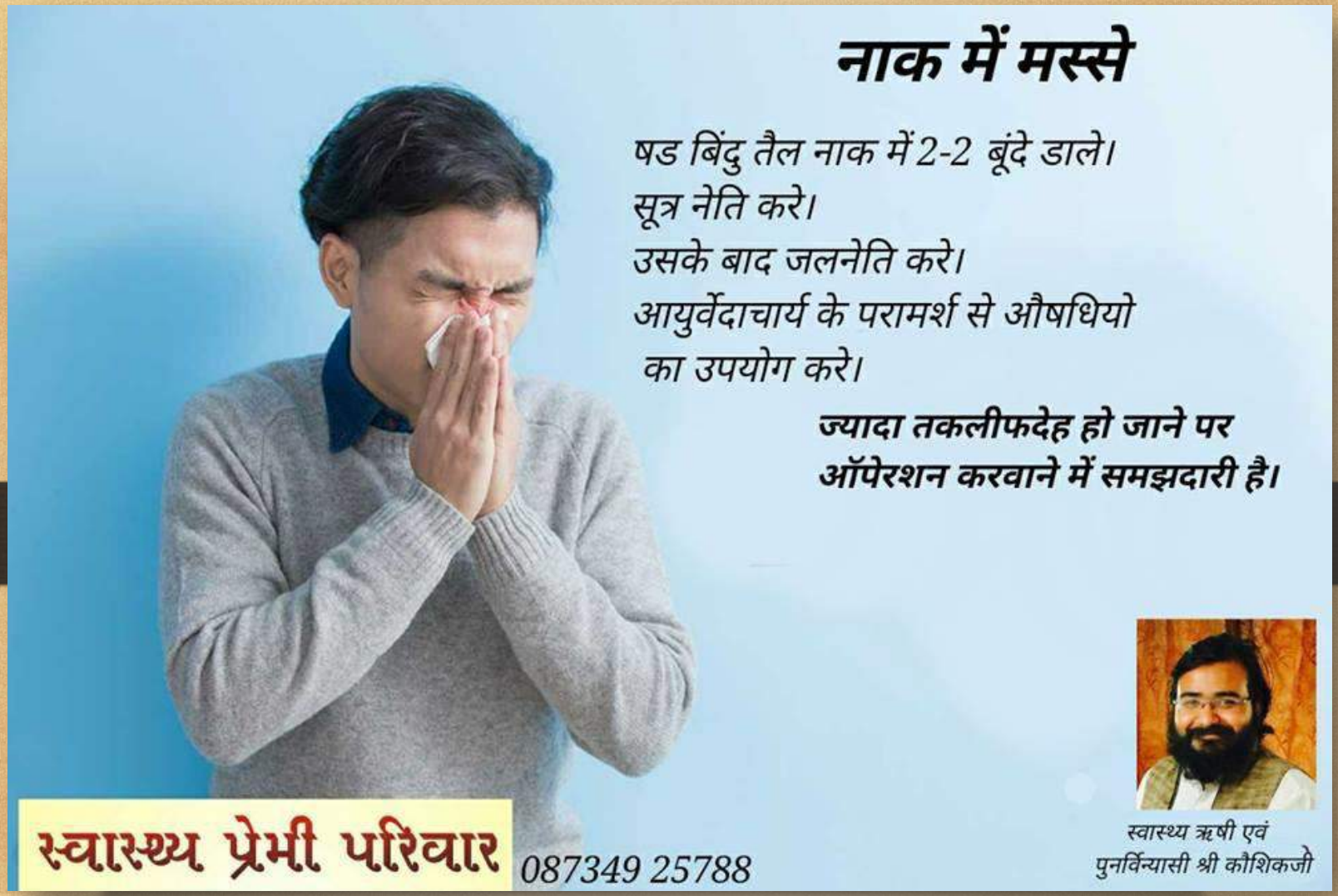

मानो तलवार की धार पे जैसे खड़े हो। काम तुम्हें ही करना होगा। और काम तो करना ही होगा। समझ़दारी से अच्छी आदत नहि डालोगे तो ना समजी से बुरी आदत तो लग ही जाती है । जागृति के साथ ख़ुश नहि रहोगे तो बेहोशी में दुखी तो हो ही जाओगे।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

भूल हमेशा तुम्हारी ही होती है, तुम सामनेवाले को समज नहि पाए। बाक़ी वो भी सुख की खोज मे था और तुम भी। अगर तुम्हें लगता है कि "उसे भी तो समजना चाहिए ना!" सामने वाला भी तो यही चाहता है की ....

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

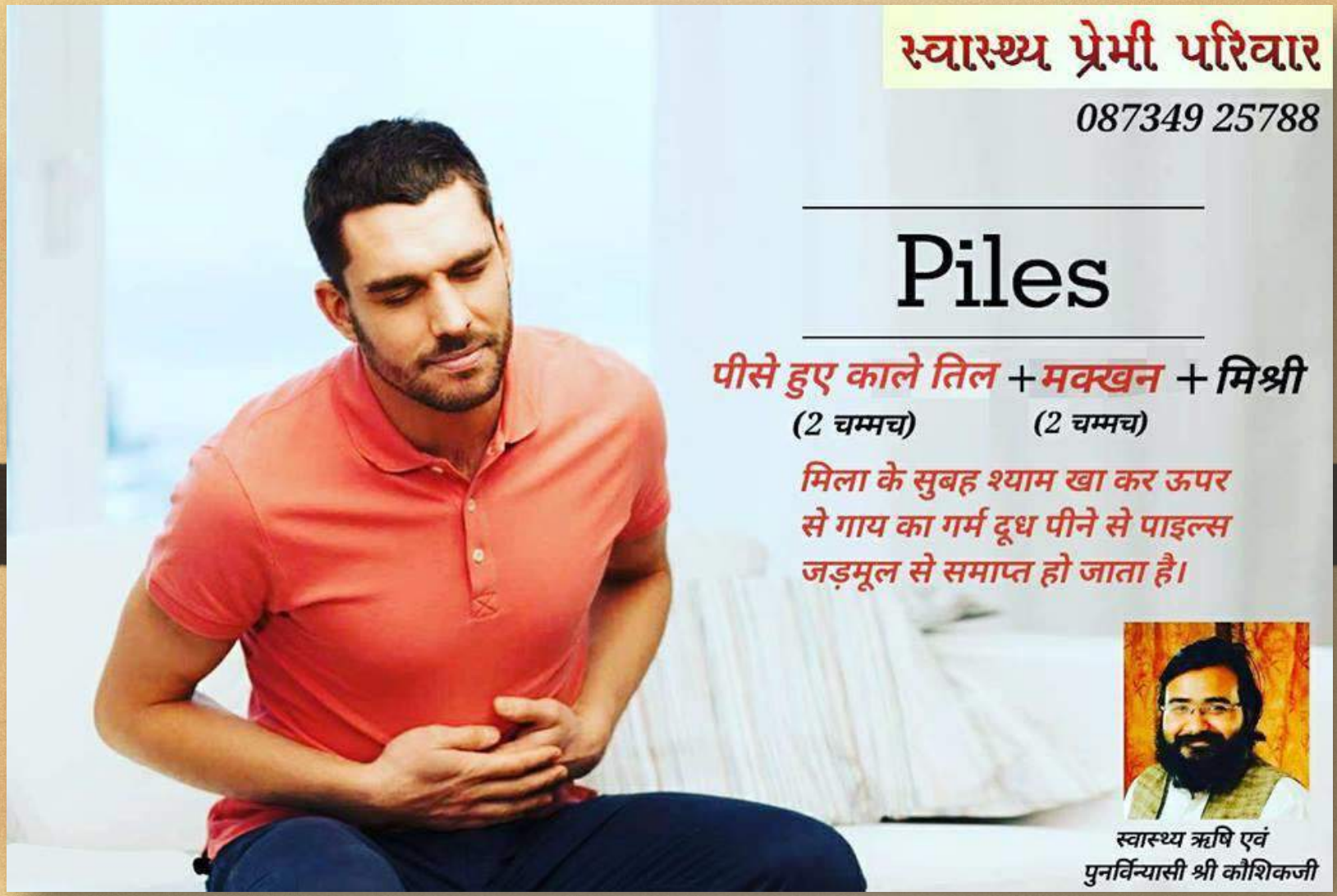

अगर तुम ख़ुद को सही मानते हो तो अहंकार बढ़ेगा और अगर ख़ुद को ग़लत मानते हो तो आत्मविश्वास की कमी बढ़ेगी। याद रखो कोई सही नहि होता, ना कोई ग़लत। आपकी जगह से वो ग़लत और उसकी जगह से तुम। यही क़ुदरत का कमाल हैं। आपको नहि लगता???

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दूसरों की बातें करने वालों पर, टिका या निंदा करने वालों पर भरोसा ना करो। वो यक़ीनन कल तुम्हारी भी बात ज़रूर करेगा। यही उनका रोज़ का काम है क्योंकि यह लोग प्रेम की प्यास, इज़्ज़त की प्यास से ग्रसित होते है। बातें करके वो अपनी प्यास बूज़ाना चाहते है । उन्हें बीमार माने और ऊन पर दया करे।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

पीलिया का घरेलू उपाय

स्वास्थ्य-ऋषि
श्री कौशिकजी

फ्लावर और गाजर का जूस दिन में तीन बार पिये। पीलिया में लाभ प्राप्त होता है।
अनार के जूस में गेहू के दाने की मात्रा में अच्छे से मिला के पिये।
'अभिक्षणा' का पीलिया नाशक काढ़ा तीन बार पीने मात्र से पीलिया ठीक होता है।

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार से जुड़े - 87349 25788

आप एक भी ऐसे आदमी को नहि जानते इस दुनिया में, जो नि:स्वार्थ आपके साथ जुड़ा हो। यह सम्भव ही नहि कि इंसान और नि:स्वार्थ जुड़ सके। नि:स्वार्थ हो जाने के बाद उसे ना तो किसी को मिलने की ज़रूरत रहती है ना इच्छा। तो नि:स्वार्थ आदमी को खोजना बाँध करे। व्यक्ति के स्वार्थ को जाने और पूरा करने की कोशीश करे। अगर सेवा हो सकती है तो यही सच्ची सेवा है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

अपनी आवश्यकताओं के लिए जब तक तुम किसी और पर निर्भर हो, तुम सुखी या शांति होने की कल्पना का त्याग ही कर दो। स्वावलम्बन ही शांति का जनक है। नोकरी करने वाला कैसे शांति पाएगा आप ही सोचो? शिक्षा पध्धती नोकरी वाले नोकर बना रहे है स्वनिर्भर नहि। हाँ नोकरी नहि मिलती वो स्वनिर्भर हो जाता है यह अलग बात है। शांति और सुख के लिए शिक्षा पध्ध्ती बदलनी ज़रूरी है आपको नहि लगता ???

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दुखी आदमी सुख खोजता है। उन्हें उन सारी चीज़ों में ही सुख दिखेगा और उन्ही चीज़ों से सुख मिलेगा जिससे नुक़सान बढ़े। जब भी आप दुखी होते है आप ख़ुद के लिए और आसपास के लोगों के लिए दुःख निर्मित करने में लग जाते हो। तो ना दुखी हो और ना दुखी आदमी को आसपास रखो। या तो उसके दुःख को मिटा दो या उससे दूर हो जाओ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार से जुड़े ।
whats app-8758983133

बहुमूत्र की समस्या

गुर्दों में परेशानी की वजह से जिन लोगों को बार-बार पेशाब जाने की समस्याहोती है वे 20 मि.ली आंवले के रस केसाथ केले का सेवन करें ऐसा करने से "बहुमूत्र की समस्या" से निजात मिलता है।

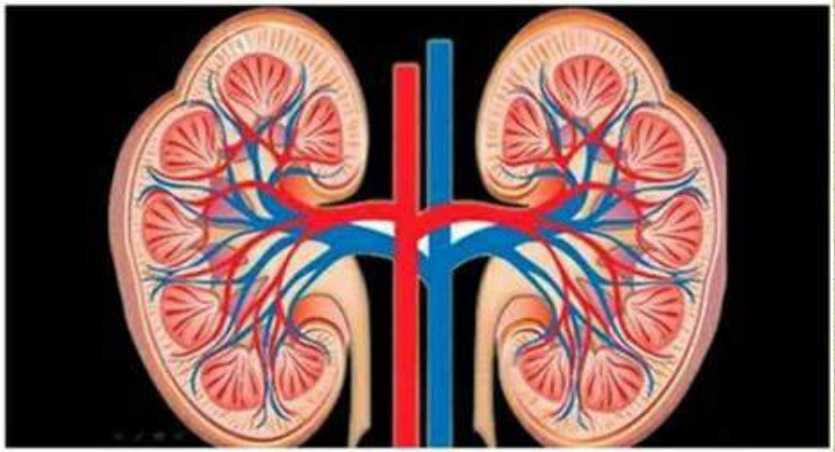

स्वास्थ्य - ऋषि
पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

पेशाब रुकना

यदि पेशाब किसी वजह से आना बंद हो गया हो तो गरम पानी में एरंड के तेल की 20-50 मि.ली की मात्रा में डालकर पीने से थोड़ी ही देर में रूका हुआ पेशाब खुलकर होने लगेगा।

कुछ चुनिंदा दोस्त के साथ ही रहे। आप के कर्म आपके विचार से आते है। विचार आपके मन में भरी माहीतियो से आते है। माहिति आपके आसपास के वातावरण, टीवी, न्यूज़ और दोस्तो से आती है। चुनिंदा दोस्तों के साथ रहे जिसे आप पर भरोसा हो। जिसे आपकी क्षमताओं पर भरोसा ना हो उससे दूरी बनाके रखे।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

कितने लोग है तुम्हारे पास, जो मुश्किल घड़ी में तुम्हारे साथ रहेंगे? अब यह सोचो की वो मुश्किल परिस्थिति में साथ नहि रहेंगे तब तुम क्या करोगे??? वो आज ही क्यों नहि कर लेते ??? प्यार, दोस्ती, साजेदारी और सहयोग तुम्हारी आंतरिक खमताओ को कम करता है। किसी की मदद ना लो। ख़ुद की मदद करो।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

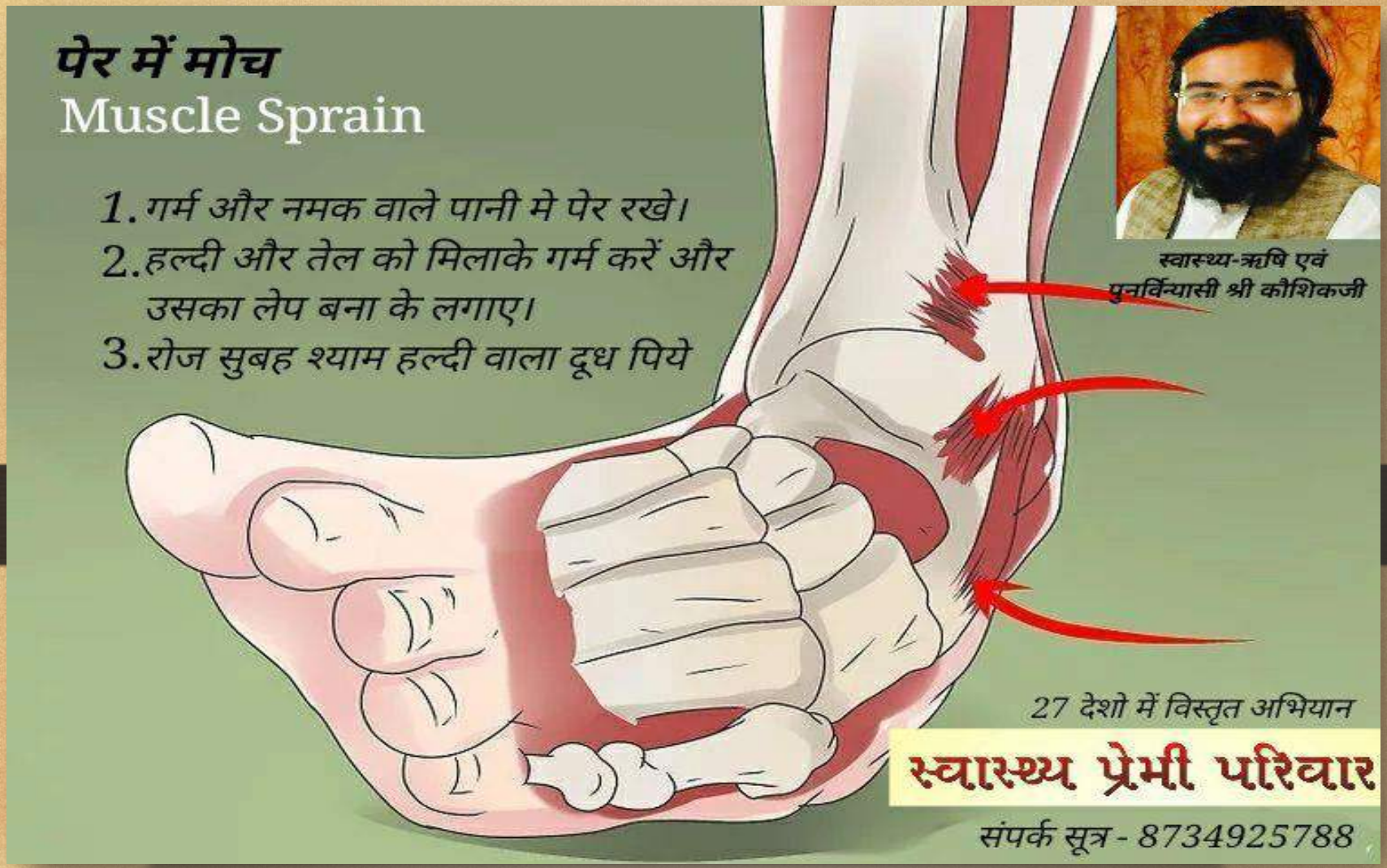

इस जगत में जन्म लेने वाला हर मनुष्य असंख्य संभावनाओ के साथ जन्म लेता है। हमारी समाज व्यवस्था कही ना कही उसके संभावित विशिष्टता के बीज को ही तोड़ देती है। अद्भुत और असंख्य संभावनाओं के साथ पेदा होने वाले बच्चों को यह तथाकथित समाज पूरा दम लगाकर सामान्य बना देने के कृत्य में लगा है। हज़ारों साल इसके प्रत्यक्ष साक्षी रहे है। पुनर्विन्यास इसका करारा जवाब है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

तुम कुछ मानते हो और कुछ नही मानते, तब तक तुम पूरे नहि अधूरे हो। क्योंकि, जितना तुम मानते हो उसका स्वीकार करते हो और जो नहि मानते उसका अस्वीकार करते हो । जब तुम्हारी मन, मस्तिष्क, जीव और शरीर का क्षेत्र बढ़ता है तब तुम वो भी मानने लगते हो जो पहेले नहि मानते थे। यानी "जब तक तुम्हारे पास कुछ ऐसा मौजूद हो, जो तुम्हें मंज़ूर नहि, तब तक तुम पूरे विस्तारित नहि हुए। तुम में और भी सम्भावनाये बाक़ी है ।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जब तुम्हें किसी की निंदा करने का मन करे यह याद रखो की तुम कही अंदर यह मानते हो की वो व्यक्ति जिसकी तुम निंदा करना चाहते थे वो श्रेष्ठ है। ख़ुद को श्रेष्ठ बनाओ किसी को निंदा करके छोटा बनाने की ज़रूरत नहि। निंदा से तो तुम और भी उलज जाओगे।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

मेरा होना अगर कुछ लोगों के होने के साथ जुड़ा हुआ है तब तक मेरा होना मात्र एक भ्रम है। कुछ भी ना हो साथ ,कुछ ना हो तुमसे जोड़ा हुआ, तब जो बचता है बस तुम वो हो, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा। शून्य भी और सर्वस्व भी।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जीवन क्यों मिला है ???? जब तक यह सवाल तुम में है तुम जीवन से दूर हो। खोज तुम्हें भटका ही देती है। एक दिन हार कर जब बैठ जाते हो, खोज बोज लगाने लगती है और खोज तुम्हारे जहेंन से निकल जाती है फिर सिर्फ़ तुम्हारा जहेंन बचता है। बस यही सारे सवालों के जवाब है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

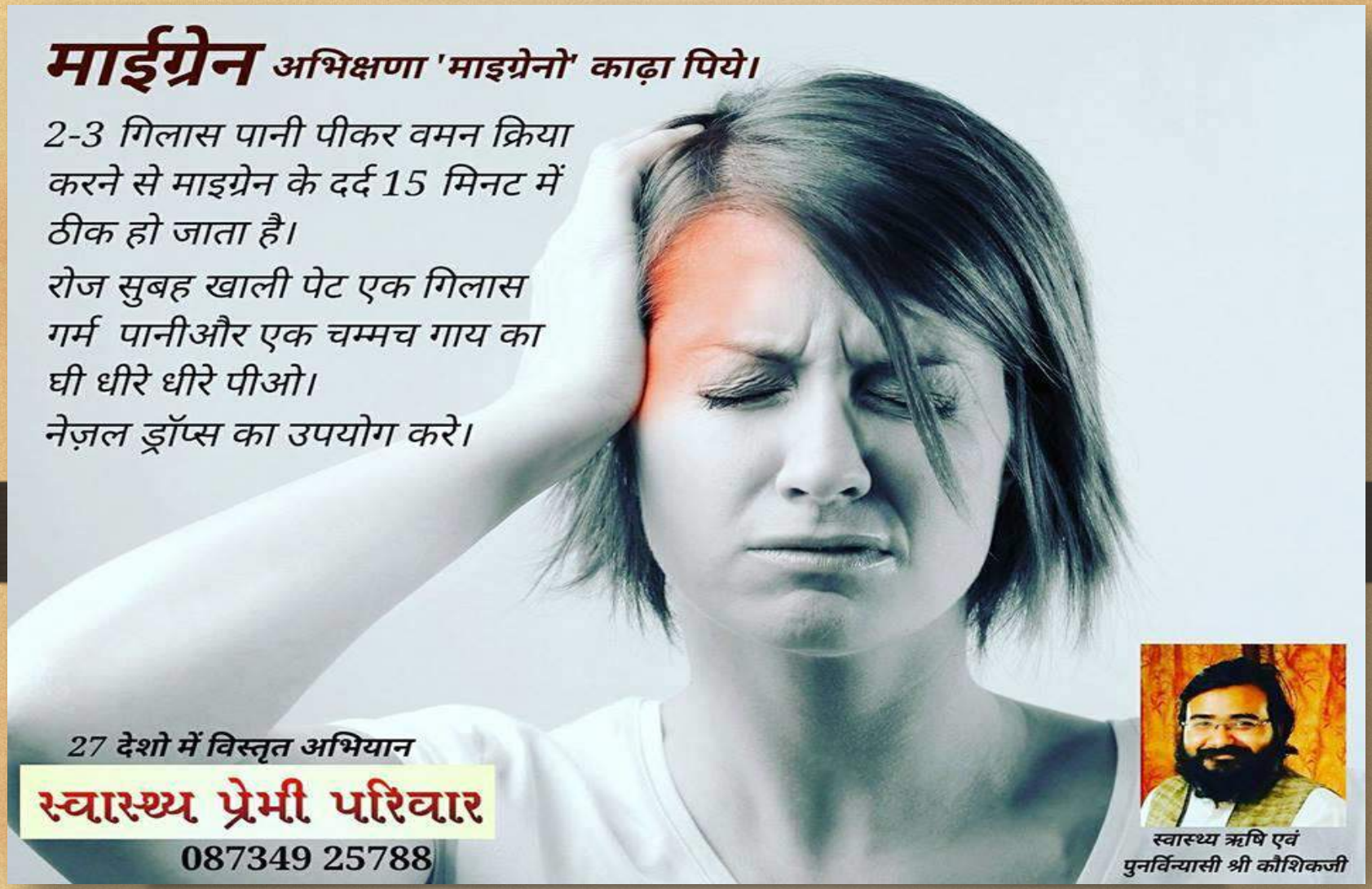

ग़ुस्सा मतलब तुम चाह रहे हो की ऐसा होना चाहिए जैसा तुम चाहते हो। दूसरा आदमी या परिस्थिति भी वैसे चलनी चाहिए। ना चले तो ग़ुस्सा आता है। दूसरा आदमी या प्रकृति तुम्हारी बात क्यों मानेगी??? सब कुछ तुम्हारी इछा अनुसार चलना चाहिए यह पागलपन की शरुआत है ..तुम्हें नहि लगता???

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

संतोष के बिना तुम में आनंद का भाव उठ ही नहि सकता। महत्वकांक्षा की दौड़ जब तक चालू है संतोष नहि मिल सकता। महत्वकांक्षा की दौड़ अंततः नासमज़ी का क्रियान्वित रूप है बस। उससे ज़्यादा कुछ नहि।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

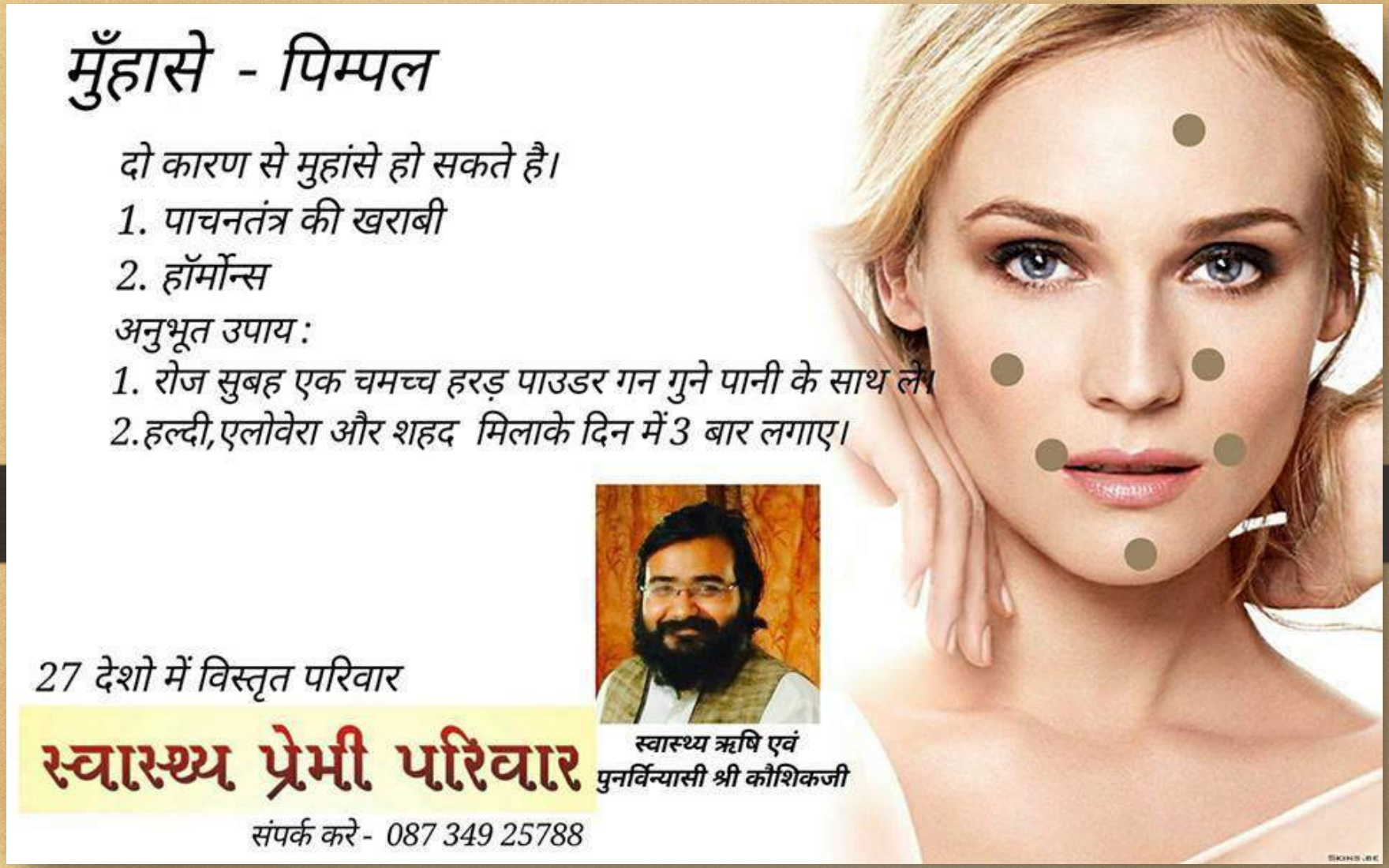

लोग गुरु भी बदल देते है अगर गुरु उनके नियमो अनुसार न चले।। जब तक तुम्हारे पास नियम है तुम न गुरु को पा सकते हो न गुरुकृपा को।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

शब्द कितने ही खोज लिए जाए। अनुभवो को शब्दों के जरिये पूर्णतः कम्पलीट और अस्तित्वगत नही जताया जा सकता। इसलिए हमें बच्चो को शब्दों की शिक्षा नही, अनुभव प्राप्त कर पाने की विध्या पढ़ानी चाहिए ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

समझ अपने अनुभवों से ही बनाई जा सकती है। दुसरो की बातों से से काल्पनिक कहानिया बन सकती है और कुछ नही ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जो लोग मांगने वाले की इच्छा, क्षमता होने के बावजूद पूरी न करे उसके जीवन मे मांगने वाला बनने में देरी नही लगती। जो करोगे ,प्रकृति वही तुम्हारी साथ करेगी।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

बुजुर्गो का आदरभाव और बच्चों के प्रति प्यार का भाव न बांट सकनेवाले लोग अंदर से इतने विक्षिप्त होते है कि वो पूरे परिवार के लिए घातक सिद्ध होते है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

कार्य करने से पहले यह सोचो कि अगर उस काम को करने के बाद एक भी आदमी उसको ध्यान में नही लेने वाला। तो क्या वो काम आप करना पसंद करेंगे???? और आपको आपका खुशी का रास्ता यही से मिल जाएगा।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

मुजे जानने वाले सारे लोग मुज में कही न कही अस्तित्व में है। क्योंकि मैं जो भी हू, जो मेरी जानकारी में है। वो जानकारी उन्ही लोगो द्वारा स्थापित की गई है मुज में। जानकारी हटा दो और मैं गायब हो जाता हूं।मैं नही बचता.....

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

तुम्हारे पास अगर तुम्हारा होना निश्चित नही, प्रमाणित नही फिर यह दुनिया तुम्हारे लिए अशांति, पीड़ा और दुख के अलावा और कुछ नही ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

पति पत्नी के बीच मे प्यार होना यह गलत तरीके से समजाया गया है। जब दोनों एक हो जाये तो न प्रेम की जरूरत बचती है, न प्रेम जताया जाना जरूरी बचता है। आप का संबंध कैसा है??

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दोस्ती जिसकी टूटती है, वो आशा, अपेक्षा, मांग और जरूरत मे से किसी एक पर आधारित होगी। और दूसरी बात, आशा, अपेक्षा, मांग और जरूरत पर आधारित संबंध दोस्ती नही हो सकता।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

दुखो से भरा जीवन भारी बनता जाता है । दुखो से मुक्ति के हजारों रास्तो में से एक रास्ता पुनर्विन्यास है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

आपने यह महसूस किया है कि नई पीढ़ी 100 साल जीना ही नही चाहती। बस 40-50 साल तो बहोत है। ऐसा क्यो???? क्योकि अब जीवन हमारे लिए पीड़ा, दुख और अशांति के अलावा और कुछ नही रहा। हमारे बच्चे बोर हुए जा रहे है। यह हमारी निष्फलता है कि हम उसे जीवन जीना नही सीखा सके। उसे जिज्ञासा और आश्चर्य नही दे सके।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

किसी से मदद की आशा आपकि शक्तिओ को ऐसे खत्म करना शरू करती है जैसे गर्मी में पानी की बून्द हवा में मिल जाती है। किसी की मदद की भावना आपमे ऐसे ऐसे शक्तिओ का प्रादुर्भाव कर देता है जिसके आप लायक भी न हो। मदद कर के देखो।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

न तो हम यहा जीतने आये ह न हारने। हम यहाँ इस ग्रह को देखने और समझने आये है। महसूस करने आये है। पर कुछ लोग वैचारिक मतभेद में उलझ चुके है। इससे ज्यादा दुर्भाग्य पूर्ण घटना और कुछ नही हो सकती।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जिस में जिज्ञासा मर गई वो लाश बन गया । उसका मानसिक तौर पर सड़ना शरू हो ही जाता है। और उसकी बदबू से सिर्फ उसकी मौजूदगी ही लोगो को परेशान कर देती है। यह तो आपने भी देखा है ना ?

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

बच्चो को आग्रह, आदेश और उपदेश से कुछ नही सिखाया जा सकता। बच्चा हमेशा आग्रह आदेश और उपदेश के विरुद्ध में ही काम करेगा।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

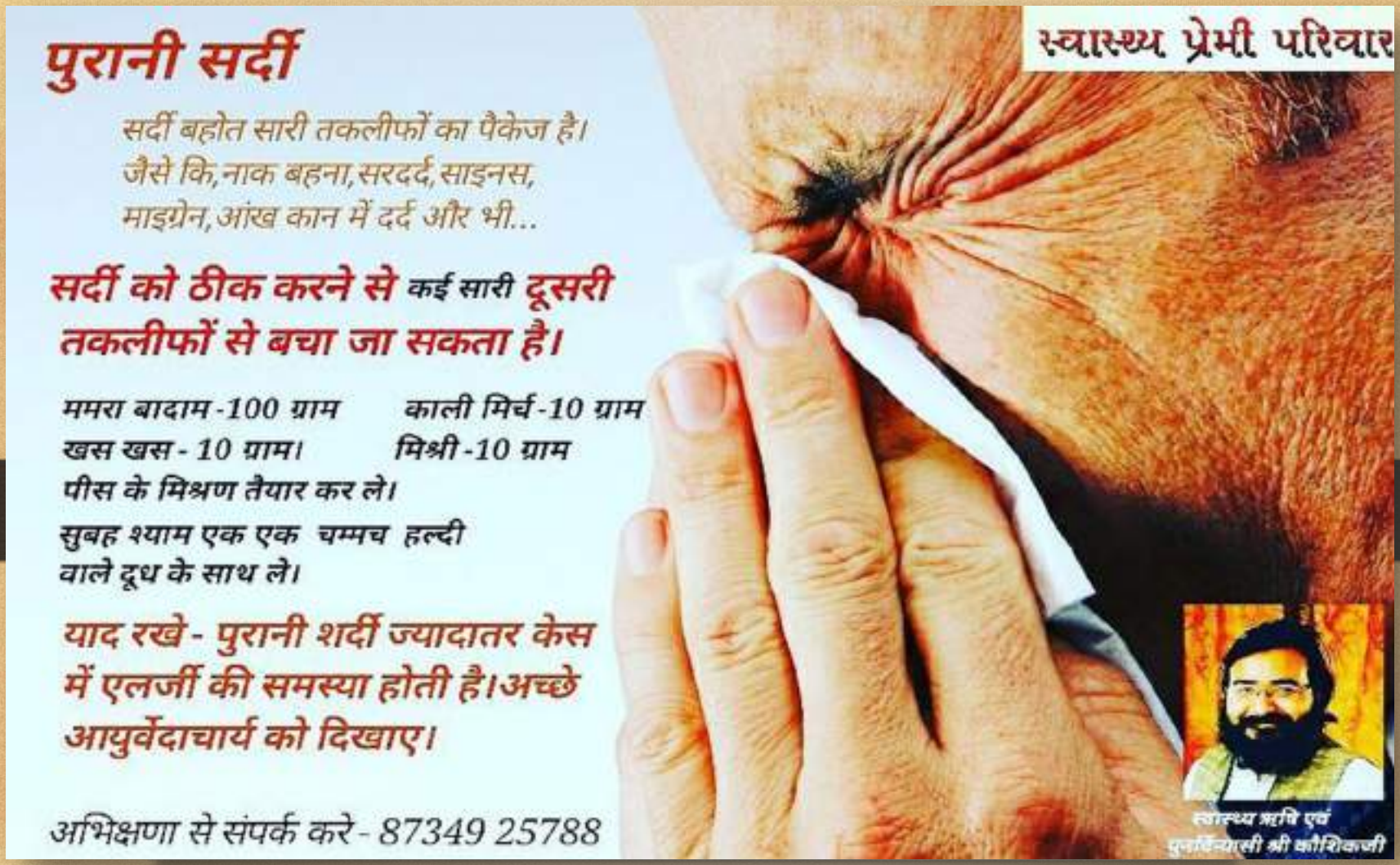

सपनो के पीछे की दौड़ तुम्हे थका देगी।तुम्हारी ऊर्जा कम हो रही है दौड़ में। जिस रास्ते मे ऊर्जा कम हो रही हो वो रास्ता सच्चा रास्ता कैसे हो सकता है!!! आप ही सोचो.....

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

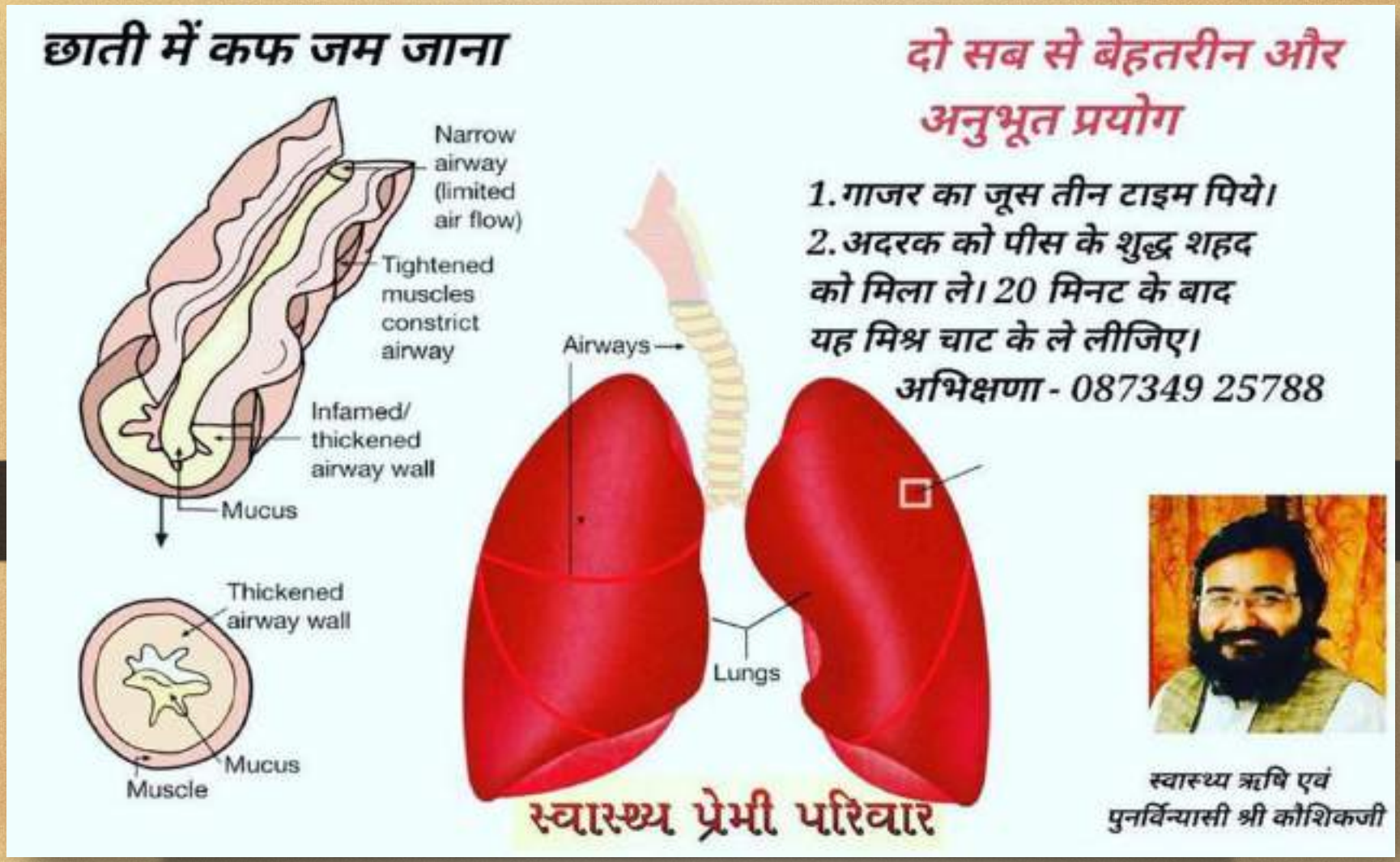

सारी मुश्केलिया मैं ही खड़ी करता हु। दूसरा जिम्मेदार नही हो सकता। मेरी इच्छाये ही मुजे बर्बाद कर देती है। खोज ही भटका सकती है। मेरा सुख मुजसे ही निर्मित है। मेरे सारे दुख भी मेरे द्वारा ही निर्मित है।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

जीवन के अंत मे एक ही बात समज में आती है कि सारी दौड़ धाम की कोई जरूरत नही थी। जीवन जीना बाकी रह गया। महसूस करना बाकी रह गया। न अपना स्थान छूट सका और न मंजिल पर पहुचने का आनंद उठा सके। बस दौड़ते रहे बिना मंजिल के।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

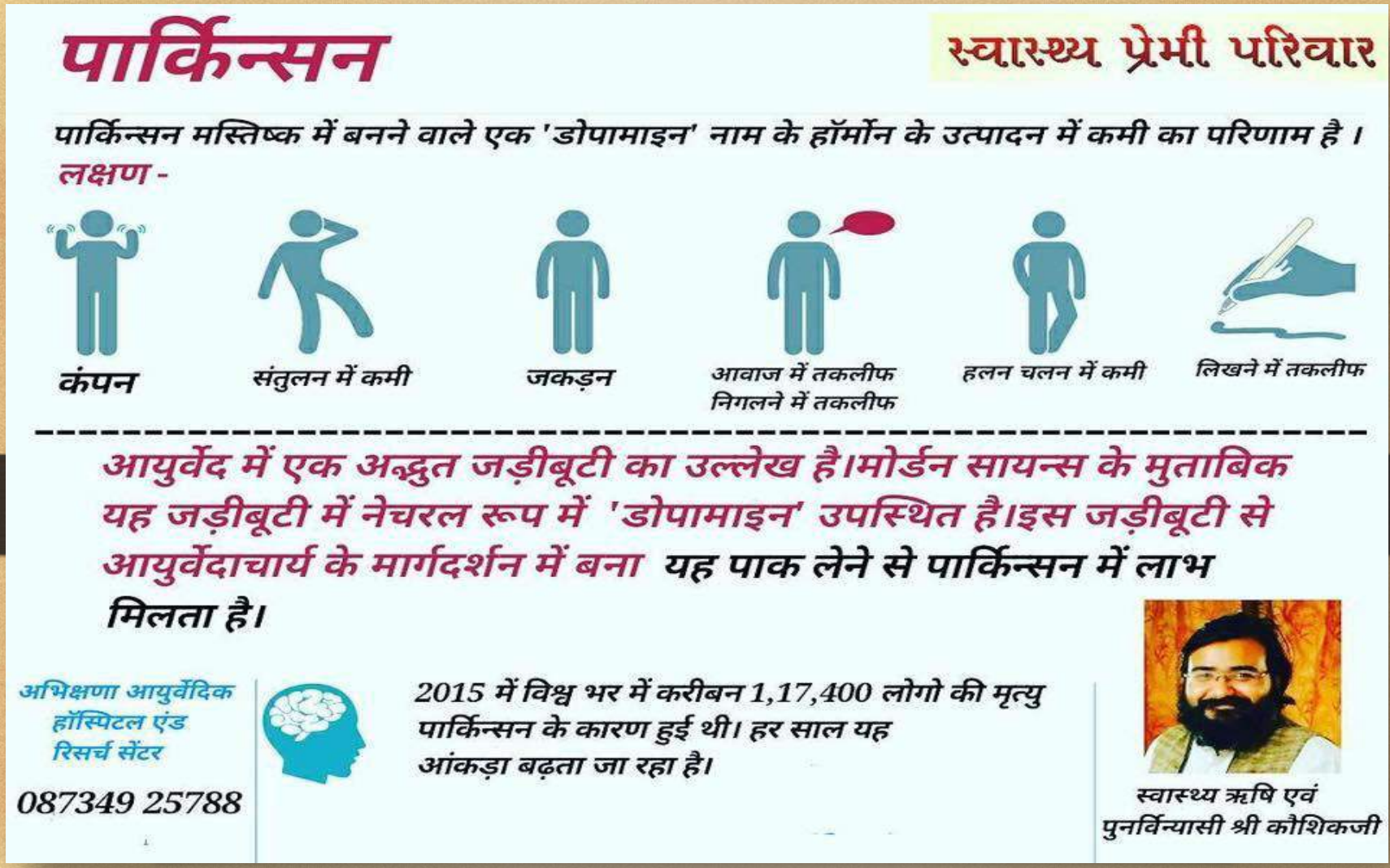

मेरे दादाजी की डायरी की एक बात बचपन मे पढ़ी थी...."समय इस जगत का सब से बड़ा धोखा है। समय का कोई अस्तित्व नही। जिस ने यह जान लिया उसके लिए बहोत सारे दरवाजे खुल जाते है।"

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

विटामिन डी

स्वास्थ्य ऋषि एवं
पुनर्विन्यासी कौशिकजी

विटामिन डी की कमी के कारण

1. योग्य मात्रा में विटामिन डी युक्त भोजन न लेना।
2. सूर्यप्रकाश में काम निकलना
3. स्किन डार्क होना
4. किडनी सही एक्टिव विटामिन डी ना बना पाए।
5. आंते सही मात्रा में अवशोषित ना कर पाए।
6. मोटापा

पालक और गाजर का जूस रोज सुबह श्याम पीने से 100% विटामिन डी की कमी पूरी हो जाती है।

स्वास्थ्य प्रेमी परिवार अभिक्षणा - 087349 25788

जो खुद की आवाज नही सुन पाता वो किसी और की आवाज पे चलेगा। और खुद की आवाज के अलावा सारी आवाजे तुम्हे भटकाने के अलावा और कुछ नही कर सकती ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

तुम्हे क्या क्या चाहिए ??? उसके बारे में सोच लो। बस यही वो सारी चीजें है जो तुम्हे दुख पीड़ा अशांति और उद्विग्नता दे सकती है। इसके अलावा और कोई रास्ता नही।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

खुद पे भरोसा रखो। तुम्हारे अंदर असीम संभावनाएं भरी पड़ी है। बस तुम विश्वास करो और संभावनों के द्वार खुलते जाएंगे ।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

“जो भी तेरे जानने में आता है वो महत्वपूर्ण हो जाता है। जो महत्वपूर्ण नहीं है उसे पूरा जान नहीं सके तूम। इसलिए अभी तक वो महत्वपूर्ण नहीं।

- स्वास्थ्य ऋषि एवं पुनर्विन्यासी श्री कौशिकजी

आपके शुभ प्रसंगो जैसे की स्नेहमिलन या पारिवारिक प्रसंग जहां आप एक दूसरे के हित का विचार करते हो, या आपने महोल्लों में जहां बड़ी मात्र मे लोग मिलते हो वहाँ आप स्वास्थ्य सभा का आयोजन करवा सकते हो।

इस पवित्र करी को आपके साथ एवं सहकार की जरूरत हमेशा रहेगी।

स्वास्थ्य सभा आयोजन हेतु आप “स्वास्थ्य प्रेमी परिवार का संपर्क निम्नलिखित विकल्पो से कर सकते है:

Website: www.swasthyapremipariwar.org
Facebook: fb.com/swasthyapremipariwar
YouTube: youtube.com/c/swasthyapremipariwar

आयुर्वेदीय महाकोशः

अर्थात्

आयुर्वेदीय शब्दकोशः

संस्कृत - संस्कृत - प्रथमः खण्डः

संपादकौ

आयुर्वेदाचार्य वेणीमाधवशास्त्री जोशी

आयुर्वेदविशारद नारायण हरि जोशी

१९६८

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ

मुंबई

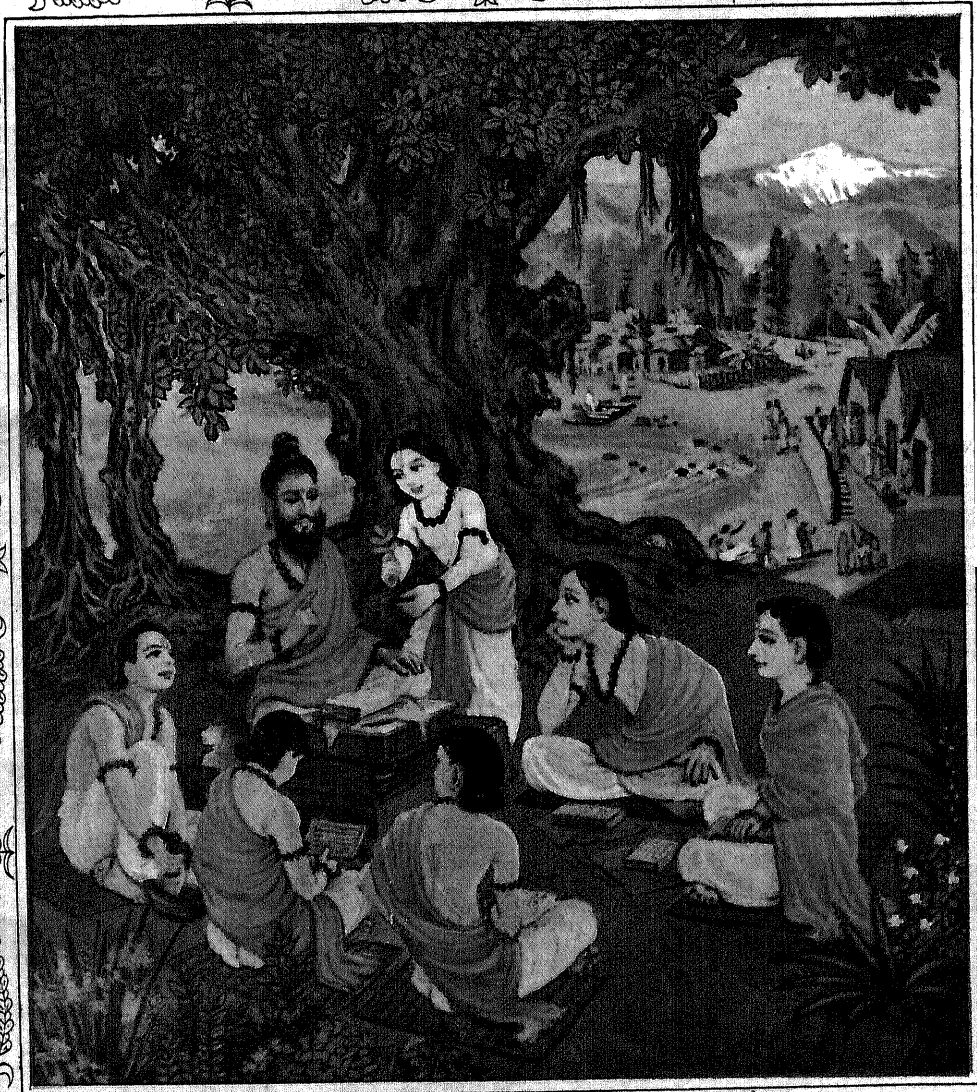

आयुर्वेदीय-महाकोशः अर्थात्

आयुर्वेदीय-शब्दकोशः

संस्कृत-संस्कृत प्रथमः खण्डः

आयुर्वेदीय महाकोशः

अर्थात्

आयुर्वेदीय शब्दकोशः

संस्कृत-संस्कृत प्रथमः खण्डः

संपादकौ

आयुर्वेदाचार्य वेणीमाधवशास्त्री जोशी

आयुर्वेदविशारद नारायण हरी जोशी

D Wijasty k
Bangalore 1995

१९६८

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ

मुंबई

प्रकाशक :

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अध्यक्ष :

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ, मुंबई १

●

सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

●

मूल्य ५० रुप्यकाः

●

मुद्रक :

लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी,

निर्णय सागर प्रेस,

२६-२८, डॉ. एम्. बी. वेलकर स्ट्रीट,

मुंबई २.

निवेदनम् ।

महाराष्ट्रराज्याङ्गभूतेन साहित्यसंस्कृतिमण्डलेन सम्पाद्य निर्मितः 'आयुर्वेदीयशब्दकोशः' अधुना प्रकाश्यते । बहूनां विज्ञानानां शास्त्राणां च निर्मितिः प्रसारश्च प्राचीनभारतीयसंस्कृत्यामभवत् । आयुर्वेद-ज्योतिर्गणित – धातुविद्या – वास्तुविद्यादिभौतिकविज्ञानान्तर्गतः आयुर्वेदोऽपि अतिप्राचीना विद्या स्मृता । प्रामुख्येणाथर्ववेदप्रभवैषा विद्या । तदनन्तरं नैकमहर्षिभिर्मानवजीवनं साकल्येनाधीत्य तथा च मानव-जीवन-भौतिकविश्वयोः परस्पराघातप्रत्याघातानां प्रत्यक्षावलोकनं कृत्वा मानवजीवनविज्ञानं सामग्र्येणायुर्वेदे संकलितम् । रोगपरिहारे वनस्पतीनां प्रयोग इत्येवायुर्वेदविषयः सामान्यजनानां मते । किन्तु नैतत् पूर्णं सत्यम् । मानवस्य शरीरस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं चावलोक्य मानवजीवनस्य तच्छरीरव्यापाराणां मनःप्रवृत्तीनां च विचारः आयुर्वेदशास्त्रान्तर्भूतः महर्षिभिः तत्त्वज्ञानेऽधिष्ठापितः । रोगाणां स्वास्थ्यस्य च कार्यकारणभावमालिका निश्चयेन व्याख्याता । शारीरैन्द्रियमानसिकस्वास्थ्यास्वास्थ्यानां कार्यकारणभावमालिकाऽपि दृढं निश्चिता । कार्यकारणभावमालिकाद्वयमिदं सानुभवं सप्रयोगं च निश्चित्य नैकमहत्त्वपूर्णप्रमेयाण्यत्र पुरस्कृतानि । आधुनिकविज्ञानान्तर्गतसमीक्षापद्धत्याऽऽयुर्वेदान्तर्भूताभ्युपगमानां याथार्थ्यायाथार्थ्ये नाद्यावधि निश्चिते । तन्निश्चयार्थेऽयं कोश उपकरिष्यतीति विश्वसिमः ।

आयुर्वेदाङ्गभूतस्त्रिदोषविचारः सप्तधातुविचारः मनःशरीरपरस्परावलम्बित्वविचारश्चायुर्वेदान्तर्भूताभ्युपगमेषु समाविष्टाः । आधुनिकदेहेन्द्रियमनोविज्ञानानुसारेणाभ्युपगमानामेतेषां समीक्षाऽद्यापि भवित-व्यैव । आयुर्वेदान्तर्गतस्वास्थ्योपायरोगोपपत्तिरोग-परिहारोपपत्त्यादिविषयप्रमेयाणामाधुनिकविज्ञाननिकषेणैव सत्यासत्यपरीक्षाऽद्यापि करणीया ।

एतादृशसमीक्षाङ्गभूतार्थे सम्पूर्णायुर्वेदाध्ययनार्थे कोशोऽयं सर्वत उपकारको भविष्यतीत्यत्र निःसंदेहा वयम् । अतिरिच्यैतन्न काऽपि जागतीया भाषैतादृश-सर्वव्यापककोशेनाद्यप्यलङ्कारिता इत्यपि शक्यते वक्तुम् । आधुनिकवैद्यविद्यानिपुणानामायुर्वेदाध्यापकाध्ये तॄणामत्युपकारिणमेतं कोशं तद्धस्तयोः प्रददतां मोदतेतरां नश्चेतः । " आयुर्वेद–शब्दकोश " इति सविनयाभिहितोऽयं कोशः तत्त्वतः "आयुर्वेदज्ञानकोशः" " विश्वकोशः " एव वा ।

महाराष्ट्रराज्यस्य साहित्यसंस्कृतिमण्डलेन मराठी-भाषां विद्यापीठीयमाध्यमप्रतिष्ठां प्रापयितुं बहुविधः व्यापकश्च वाङ्मयीनः कार्यक्रमः आरेखितः । कोशोऽयं तस्यैव कार्यक्रमस्य निश्चितं दृश्यफलम् । आयुर्वेदाचार्य–वेणीमाधवशास्त्री–जोशी, पंडित वैद्य श्री. ना. ह. जोशी–इत्येताभ्यां संपादकाभ्यां पं. वै. दत्तात्रेयशास्त्री जळूकर, पं. वै. एकनाथशास्त्री काशीकर आदिभिरेतेषां सहकारिभिश्च गतषड्वर्षपर्यंतं परिश्रमपूर्वकं कोशगत-संस्कृतविभागः पुनःसंपादितः मराठीभाषायां भाषान्तरितश्चेति मण्डलस्य कृते तेभ्यो कृतज्ञतां विनिवेदयामः ।

लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अध्यक्षः

महाराष्ट्रराज्यसाहित्यसंस्कृतिमण्डलस्य

आयुर्वेदीयशब्दकोशस्येतिहासः

आयुर्वेदशास्त्रपठनपाठनं तावत् अनादिकालादारभ्य प्रचलितमिति तु सुविदितमेव सर्वेषाम्। गुरुकुलपद्धत्यैव परंपरया ज्ञानमधिगच्छन्ति तदा शिष्याः सर्वे। परं षष्ट्यधिकसंवत्सरकालात् विद्यालयपद्धतिः अस्तित्वमलभत् भारतेऽस्मिन्। पाठ्यक्रमेऽस्मिन् तत्तद् ग्रंथागतानां पारिभाषिक शब्दानां अर्थावबोधने नासीत् शब्दकोशस्य सौलभ्यं अतःपूर्वम्। प्रत्यभाच्चावश्यकता तेन हि सर्वेषां छात्राणामध्यापकानां च शास्त्रपरिशीलने कोशस्य। न्यूनता एषा आयुर्वेदकोविद्भिः उद्घोषिता स्वीयपरिषत्सु सभासु च। शासकीयायुर्वेदसमितिभिरपि प्रबलतराऽभ्यर्थना कृता शासनं प्रति। सुबहोः कालात् फलोन्मुखाः समभवन् प्रयत्ना एते। 'वैद्यकशब्दसिंधु' नाम्ना एकः कोशः प्रसिद्धिमलभत् अस्मिन्नेव समये कलकत्ता क्षेत्रे। परं न तदन्तर्गताः शब्दाः केवलं मानवायुर्वेदग्रंथाधारेण निहिताः। अपि च नोपयोजिता केवला आयुर्वेदीया परिभाषा शब्दार्थविवरणे।

समस्यामिमामधिगम्य मुंबई शासननियुक्तेन आयुर्वेदसंशोधनमंडलेन आयुर्वेदीयशब्दकोशं संस्कृतभाषायां निर्मातुं निश्चयः कृतः। तदर्थं तेषां तेषामायुर्वेदशास्त्रविषयाणां शब्द–संकलनाय अधो लिखितानां आयुर्वेदीयग्रंथानां साहाय्यं सुनिश्चितम्। तद्यथा—

क्रमांक	ग्रंथनाम	ग्रंथलेखकः	टीकाकारः	प्रकाशकः	ग्रंथ–प्रकाशन वर्षम्
१	चरकसंहिता	वै. यादवजी त्रिकमजी आचार्यः	चक्रदत्तः	निर्णयसागरमुद्रणालयः मुंबई	१९४१
२	सुश्रुतसंहिता	,, नारायण राम आचार्यः	डल्हणः	,,	१९३८
३	अष्टांगसंग्रहः			वैद्य तर्टे, नासिक	
४	अष्टांगहृदयम्	भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर-अकोला	अरुणदत्तः हेमाद्रिः	निर्णयसागरमुद्रणालयः मुंबई	१९३९
५	काश्यपसंहिता (कौमार भृत्यप्रकरणम्)	सं. पं. हेमराज शर्मा, नेपाळ	पं. सत्यपालशर्मा भिषगाचार्यः		१९५३
६	माधवनिदानम्	वै. यादवजी त्रिकमजी	१ मधुकोश २ आतंकदर्पण	निर्णयसागर मुद्रणालयः मुंबई	१९५५
७	रसरत्नसमुच्चयः		पं. हजारीलाल शुक्लः	पं. हजारीलाल शुक्लः	१९३८
८	धन्वंतरी निघंटुः राजनिघंटुसहितः			आनंदाश्रम मुद्रणालयः पुणे	

कार्यमिदं वैद्य श्री कै. यादवजी त्रिकमजी आचार्यः, कै. वै. गणेशशास्त्री जोशी, हकीम दलजित सिंह चुनार—मिर्झापूर (उ. प्र.), वै. जीवराम कालिदास—गोंडल, डॉ. प्राणजीवनदास मेहता–जामनगर (सौराष्ट्र), डॉ. घाणेकर–(वाराणसी), प्रभृतीनां आयुर्वेदशास्त्रपारंगतानां विमर्शेण समारब्धम्। सर्वेषामप्येतेषां मार्गदर्शनेनैवैतत् कार्यं सुकरमभवत्।

स्वरूपं चाप्यस्य कोशस्य सर्वक्षेत्रीयजनानां हित-

कांम्यया निर्धारितमासीत्।

कोशांकितानां शब्दानां ग्रहणपद्धतिरीदृशी निश्चिता—

आयुर्वेदीय—शब्दकोशः	
पदम्	अर्थः
उद्धरणम्	
दिनम्	ग्रन्थस्थानम्
लेखकः	परीक्षकः

शब्दार्थनिश्चितावियमे संकेताश्चासन् । तद्यथा

१) कोशेऽस्मिन् त एव शब्दाः अन्तर्भवितुमर्हन्ति ये आयुर्वेदशास्त्रसंदर्भे विशिष्टमर्थं बोधयन्ति आयुर्वेदपरिभाषिता वा भवन्ति। साधारणाः शब्दा अग्राह्या एव।

२) यावन्ति पत्राणि एकस्य शब्दस्य शब्दसंग्रहकाले कृतानि तेषां सर्वेषामपि क्रमः प्रथमत एव विधेयः।

३) संपादकीयं संस्करणं सर्वेषु पत्रेषु रक्तवर्णाक्षरैः कार्यम्।

४) यच्च पत्रं सर्वथा त्याज्यं भवेत् तस्मिन् सव्यकोणे गुणकं चिन्हं (×) कर्तव्यम।

५) पत्रांतर्गतो योंऽशः मुद्रणार्थं ग्राह्यो भवेत् सोऽधोरेखयांकनीयः त्याज्यांशश्चोर्ध्वरेखयेति।

६) कोशे व्याख्येयो मूलशब्दः प्रातिपदिकस्वरूपेण ग्राह्यः न विभक्त्यन्तः। अग्रे च तस्य लिंगनिर्देशः कर्तव्यः (पु. स्त्री. न.)।

७) अर्थवैशिष्ट्यपूर्णः शब्दः सोद्धरणो विधेयः (ससंदर्भः) अधोरेखया स चांकनीयः।

८) शब्दस्यैकस्य भवन्ति यदा अनेकार्थास्तदा तत्तदर्थवाचकमुद्धरणमवश्यं विधेयम्।

९) वनस्पतिवाचकानां शब्दानां तत्तद्देशियानि नामानि देयानि यावदुपलब्धानि देवनागरी लिप्याम्। नाम्नामनुक्रमः भाषामनुसृत्य संक्षेपश्चापि विधेयो यथा—

१) म.	मराठी.	(देवनागरी लिपि.)
२) हिं.	हिंदी.	(,,)
३) गु.	गुजराथी.	(,,)
४) बं.	बंगाली.	(,,)
५) ता.	तामिळ.	(,,)
६) फा.	फारसी.	(,,)

१०) संपादकीय पर्यास—संस्करणादनन्तरं शब्दस्य व्युत्पत्तिः यावत्शक्या विधेया। मा भवतु तत्र कृत्रिमः प्रयत्नः अव्युत्पन्नशब्दव्युत्पादने।

११) समासान्तर्गतं मुख्यं पदं सव्युत्पत्तिकं पूर्वं प्रदर्शितं चेत् तर्हि सामासिकपदे व्युत्पत्तेः पुनरुक्तिर्न कर्तव्या।

१२) कोशस्थशब्दविवेचनक्रमः पद्धत्याऽनया भवेत्- १ शब्दः २ लिंगम्, ३ व्युत्पत्तिः ४ संस्कृतः अर्थः, ५ उपोद्बलकमुद्धरणम्, ६ अर्थान्तरं, ७ (यथासंभवम्) वनस्पतिवाचकशब्दस्य नामान्तराणि तदनुसृत्य स्वरूपवर्णनं च।

१३) मुद्रणार्हं यद् हस्तलिखितं भवति तस्मिन् टंकनसुलभानि चिन्हानि कर्तव्यानि।

१४) सामासिकशब्दस्य प्रधानोऽवयवः वर्तुले विधेयः अपूर्णता सूचिकां लघुरेखां (हायफन्) कृत्वा शेषावयवः संयोजनीयः। अवयवश्च अधोरक्तया रेखया अंकनीयः।

१५) स एव शब्दः पत्रे लेख्यः यश्च प्रत्यक्षतया ग्रंथस्थितो भवति। अन्यः कोऽपि नूतनः सामासिकः शब्दः कृत्रिमः नैव लेख्यः।

आयुर्वेदसंशोधनमंडलेन अनया रीत्या सविमर्शं एते नियमोपनियमाः कृताः। पुण्यपत्तनस्थेन वैदिकसंशोधनमंडलेन साकं चर्चां कृत्वा कोशकार्यसिद्धयर्थं आयुर्वेदसंशोधनमंडलं करोतु आधीनं शब्दकोशविभागमिमं इति अवधारितम्। अपि च एतत्कोशकार्यं वैदिकसंशोधनमंडलस्य कार्यालये भवतु इत्यपि निश्चितम्। तदर्थं कर्मचारिणः लेखनसाहित्यं, मुद्रणसाहित्यम्, काष्ठासनकपाटादि, ग्रंथानामुपलब्धिः तंत्रज्ञानां च मार्गदर्शनं इत्येतेषां आयोजनमपि निर्धारितम्। अपि च तस्य आर्थिकव्ययोऽपि शासनद्वारा देयो निर्धारितः। वैदिकसंशोधनमंडलस्य कार्यालये आयुर्वेदसंशोधनमण्डलेन सम्पादितमेतत्कार्यम्। पंचत्रिंशत्सहस्र (३५०००) शब्दानां कृते चतुःषष्टि सहस्राणि (६४०००) पत्राणि सुलिखितानि।

प्रकारेणानेन संस्कृतभाषायां लिखितस्यास्य कोशस्य आयुर्वेदसंशोधनमंडलप्रयुक्तवाङ्मयसंशोधन-

विभागद्वारा निरीक्षणं संजातम्। परं निरीक्षणान्ते तु उपलब्धं 'तत्कार्यं बव्हंशेन अपूर्णमिति'। तत्पूर्त्यै कार्यं तत् पुण्यपत्तनतः मुंबय्यां आयुर्वेदसंशोधनमंडलस्य कार्यालये समानीतम्। तत्र च संशोधनमंडलसदस्याः आयुर्वेदाचार्याः वेणीमाधवशास्त्रिणः वैद्य श्री. ना. ह. जोशी महोदयाश्च कार्येऽस्मिन् नियुक्ताः। नियुक्तौ च द्वौ सहायकौ तेषाम्। सर्वैश्च तैः समारब्धं तत्कोशस्य पुनर्निरीक्षणं संशोधनं चापि यथावश्यकमिति। कार्यमेतत् सुचारुरूपेण दि. १।५।१९६१ यावत् प्रचलितमासीत्। परं अतःपरं आयुर्वेदसंशोधनमंडलस्यैव विसर्जनं समभवत्। येन कोशकार्यमप्येतत् स्थगितमेव।

परं भाग्यवशात् कार्यस्यास्य पुनः संचालने कृतप्रयत्नाः आचार्यश्रीः वेणीमाधवशास्त्रिणः वैद्य श्रीः ना. ह. जोशी महादेयाश्च कृतार्थाः संबभूव। एतयोरेव उभयोः नेतृत्वे पुनः संचलनं शासनस्य प्रस्तावमनुसृत्य (GOVT. RESOLUTION NO AVD 1161/36687/H16th FEB. 1962) समारब्धम्। परं नैतत्कार्यं यथावश्यकीं गतिं समाप्नुवत् यतः नोपलब्धः कर्मचारीवर्गः सुयोग्यः।

अंतर्हितत्वाद्धि संशोधनमंडलस्य प्रागारब्धानां सर्वेषामपि कार्याणां सर्वनाशः संपत्स्येत्, नावशिष्टं च स्यात् संपादितस्य प्राकृतनीयस्य कार्यस्य नामापि, चिंतयाऽनया मंडलस्य भूतपूर्वाध्यक्षैः श्री. वै. गं. वि. पुराणिकमहोदयैः प्रेषितं पत्रमेकं तत्कालिनं आरोग्यमंत्रिणं श्री. मधुकररावचौधरीमहोदयं प्रति। आवेदिताश्च ते सर्वमेव उत्तरदायित्वं महाराष्ट्र शासनेन स्वीकर्तव्यमिति। येन केनापि मार्गेण महत्तमं इदं कार्यं संपादनीयमेव।

विचारविमर्शान्ते नियममनुसृत्य साहित्यसंस्कृतिमंडलेन कार्यमेतत् विधातुं शक्यते न वा इति संशोधने निश्चयो जातः। साहित्यसंस्कृतिमंडलाध्यक्षैः श्रीमत् तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी महोदयैः सह कृतवन्तस्ते आरोग्यामंत्रिमहोदयाः विमर्शम्। फलतः "केवलं संस्कृतभाषायां लिखितस्य अस्य आयुर्वेदीयशब्दकोशस्य स्याद्यदि महाराष्ट्रभाषायामपि अनुवादस्तर्हि तेन अनुवादेन सह कोशस्यास्य प्रसिद्धीकरणं कर्तुं युज्यते एव, नियमं अनुसृत्य" इति आश्वासिताः मंत्रिमहोदयाः अध्यक्षमहोदयैः। अभिप्रायमेनमनुसृत्य च दि. ६।५।१९६३ दिने शब्दकोशस्य इदं कार्यं साहित्यसंस्कृतिमंडलेन अंगीकर्तव्यं इति आदेशं दत्तवन्तश्च मंत्रिमहोदयाः।

शासनाज्ञामिमां स्वीकृत्य अध्यक्षमहोदयैः प्राक्तनीयौ उभौ कार्यकर्तारौ (आचार्य श्री वेणीमाधव शास्त्री, वै. श्री. ना. ह. जोशी) एव पुनः कार्यसंपादने नियुक्तौ।

साहित्यसंस्कृतिमंडलनिर्देशमनुसृत्य उभाभ्यामपि जोशीमहोदयाभ्यां स्वीकृतमिदं कार्यम्। अपि च प्राक्तनीयं कोशस्य हस्तलिखितं निरीक्ष्य बहवो हि दोषा निरस्तास्तैः। ग्रंथाधारान् शोधयित्वा प्रयुक्तास्ते तत्तच्छब्दस्थाने यत्र च ते नासन् इतः पूर्वम्। ये च संदर्भा अनुचिता आसन् तेऽपि सम्यक् विवेच्य तत्तत्स्थानान्निष्कासिताः प्रस्थापिताश्च उचिते स्थाने न्यूनस्यार्थस्य उचिता संपूर्तिरपि कृता, अपि च 'अ' कारादिक्रमेण यत्र कुत्रापि स्खलनं आसीत् तदपि निरस्तम्। यत्र च नासीत् व्युत्पत्तिः वैद्यकशास्त्रदृष्ट्या सापि सुष्ठु कृता। साहित्यसंस्कृतिमंडलेन तदर्थं कर्मचारिवर्गश्चापि नियोजितः। अंततो गत्वा उभाभ्यामपि संपादकाभ्यां महाराष्ट्रभाषानुवादेन सहितं हस्तलिखितं विरचितम्। साहित्यसंस्कृतिमंडलेनापि तत् स्वीकृतम्।

साहित्यसंस्कृतिमण्डलसदस्यस्य मुद्रणतंत्रज्ञस्य श्रीबापूराव नाइकस्य साहाय्येन अनंतरं च मुद्रणविषयकः विमर्शः संजातः। मुंबय्यामेव निर्णयसागरमुद्रणालये ग्रंथस्यास्य मुद्रणकार्यं भवतु इति। केवलसंस्कृतभाषायां च पुस्तकसहस्रत्रयमितं सानुवादं संस्कृतभाषायां पुस्तकसहस्रद्वयमितं प्रकाशनं कर्तव्यमित्यपि सुनिश्चितम्। तदनुसृत्य च निर्णयसागरमुद्रणालये कोशस्यास्य मुद्रणं संजातम्। परिपूर्तिं च गतोऽयं कोशग्रंथः।

विभागद्वारा निरीक्षणं संजातम्। परं निरीक्षणान्ते तु उपलब्धं 'तत्कार्यं बव्हंशेन अपूर्णमिति'। तत्पूर्त्यै कार्यं तत् पुण्यपत्तनतः मुंबय्यां आयुर्वेदसंशोधनमंडलस्य कार्यालये समानीतम्। तत्र च संशोधनमंडलसदस्याः आयुर्वेदाचार्याः वेणीमाधवशास्त्रिणः वैद्य श्री. ना. ह. जोशी महोदयाश्च कार्येऽस्मिन् नियुक्ताः। नियुक्तौ च द्वौ सहायकौ तेषाम्। सर्वैश्च तैः समारब्धं तत्कोशस्य पुनर्निरीक्षणं संशोधनं चापि यथावश्यकमिति। कार्यमेतत् सुचारुरूपेण दि. १।५।१९६१ यावत् प्रचलितमासीत्। परं अतःपरं आयुर्वेदसंशोधनमंडलस्यैव विसर्जनं समभवत्। येन कोशकार्यमप्येतत् स्थगितमेव।

परं भाग्यवशात् कार्यस्यास्य पुनः संचालने कृतप्रयत्नाः आचार्यश्रीः वेणीमाधवशास्त्रिणः वैद्य श्रीः ना. ह. जोशी महादेयाश्च कृतार्थाः संबभूव। एतयोरेव उभयोः नेतृत्वे पुनः संचलनं शासनस्य प्रस्तावमनुसृत्य (GOVT. RESOLUTION NO AVD 1161/36687/H16th FEB.1962) समारब्धम्। परं नैतत्कार्यं यथावश्यकीं गतिं समाप्नुवत् यतः नोपलब्धः कर्मचारीवर्गः सुयोग्यः।

अंतर्हितत्वाद्धि संशोधनमंडलस्य प्रागारब्धानां सर्वेषामपि कार्याणां सर्वनाशः संपत्स्येत्, नावशिष्टं च स्यात् संपादितस्य प्राक्तनीयस्य कार्यस्य नामापि, चिंतयाऽनया मंडलस्य भूतपूर्वाध्यक्षैः श्री. वै. गं. वि. पुराणिकमहोदयैः प्रेषितं पत्रमेकं तत्कालिनं आरोग्यमंत्रिणं श्री. मधुकररावचौधरीमहोदयं प्रति। आवेदिताश्च ते सर्वमेव उत्तरदायित्वं महाराष्ट्र शासनेन स्वीकर्तव्यमिति। येन केनापि मार्गेण महत्तमं इदं कार्यं संपादनीयमेव।

विचारविमर्शान्ते नियममनुसृत्य साहित्यसंस्कृतिमंडलेन कार्यमेतत् विधातुं शक्यते न वा इति संशोधने निश्चयो जातः। साहित्यसंस्कृतिमंडलाध्यक्षैः श्रीमत् तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी महोदयैः सह कृतवन्तस्ते आरोग्यामंत्रिमहोदयाः विमर्शम्। फलतः "केवलं संस्कृतभाषायां लिखितस्य अस्य आयुर्वेदीयशब्दकोशस्य स्याद्यदि महाराष्ट्रभाषायामपि अनुवादस्तर्हि तेन अनुवादेन सह कोशस्यास्य प्रसिद्धीकरणं कर्तुं शक्येत एव, नियमं अनुसृत्य" इति आश्वासिताः मंत्रिमहोदयाः अध्यक्षमहोदयैः। अभिप्रायमेनमनुसृत्य च दि. ६।५।१९६३ दिने शब्दकोशस्य इदं कार्यं महाविद्यालय संस्कृतिमंडलेन अंगीकर्तव्यं इति आदेशं दत्तवन्तश्च मंत्रिमहोदयाः।

शासनाज्ञामिमां स्वीकृत्य अध्यक्षमहोदयैः आकृतनीयौ उभौ कार्यकर्तारौ (आचार्य श्री वेणीमाधवशास्त्री, वै. श्री. ना. ह. जोशी) एव पुनः कार्यसंपादने नियुक्तौ।

साहित्यसंस्कृतिमंडलनिर्देशमनुसृत्य उभाभ्यामपि जोशीमहोदयाभ्यां स्वीकृतमिदं कार्यम्। अपि च प्राक्तनीयं कोशस्य हस्तलिखितं निरीक्ष्य बहवो हि दोषा निरस्तास्तैः। ग्रंथाधारान् शोधयित्वा यदुक्तास्ते तत्तच्छब्दस्थाने यत्र च ते नासन् इतः पूर्वम्। ये च संदर्भा अनुचिता आसन् तेऽपि सम्यक् विवेच्य तत्तत्स्थानान्निष्कासिताः प्रस्थापिताश्च उचिते स्थाने न्यूनस्यार्थस्य उचिता संपूर्तिरपि कृता। अपि च 'अ' कारादिक्रमेण यत्र कुत्रापि स्खलने आसीत् तदपि निरस्तम्। यत्र च नासीत् व्युत्पत्तिः वैद्यकशास्त्रदृष्ट्या सापि सुष्ठु कृता। साहित्यसंस्कृतिमंडलेन तदर्थं कर्मचारिवर्गश्चापि नियोजितः। अंतस्तनो भागो उभाभ्यामपि संपादकाभ्यां महाराष्ट्रभाषानुवादेन सहितं हस्तलिखितं विरचितम्। साहित्यसंस्कृतिमंडलेनापि तत् स्वीकृतम्।

साहित्यसंस्कृतिमण्डलसदस्यस्य मुद्रणव्यवस्थापकस्य श्रीबापूराव नाइकस्य साहाय्येन अनंतरं च मुद्रणविषयकः विमर्शः संजातः। मुंबय्यामेव निर्णयसागरमुद्रणालये ग्रंथस्यास्य मुद्रणकार्यं भवतु इति। केवलसंस्कृतभाषायां च पुस्तकसहस्रत्रयमितं महानुवादं संस्कृतभाषायां पुस्तकसहस्रद्वयमितं प्रकाशनं कर्तव्यमित्यपि सुनिश्चितम्। तदनुसृत्य च निर्णयसागरमुद्रणालये कोशस्यास्य मुद्रणं संजातम्। परिपूर्तिं च गतोऽयं कोशग्रंथः।

आयुर्वेदीयशब्दकोशस्यास्य स्वरूपं प्रयोजनं च।

अस्मिन् आयुर्वेदीयशब्दकोशे आयुर्वेदीयपारिभाषिकशब्दानां तेषामर्थस्यैवान्तर्भावो भवितुमर्हतीति कल्पना संभावनीया कोशपठनात् पूर्वम् प्रायो पाठकानामिति वयं मन्यामहे। यदा च ते कोशं उद्घाट्य द्रक्ष्यंति तदा 'अपूर्वोऽयं वैशिष्ट्यपूर्णः कोशोऽस्ति' इति प्रदर्शयिष्यंति ते स्वीयं मतमित्यपि विश्वसिमः। यतो हि कोशेऽस्मिन् नांतर्हिताः केवला आयुर्वेदशास्त्रपरिभाषायाः शब्दाः सार्थाः प्रत्युत शब्दमात्रमनुसृत्य आयुर्वेदीयशास्त्रोक्तानां कल्पनानां परिपोषः पृथक् पृथक् ग्रंथाधारेण कृतोऽस्ति इति पाठका द्रक्ष्यन्त्येव।

कोशस्यास्य 'आयुर्वेदीय शब्दकोश' इति नामधेयं यत् अस्माभिः कृतम् तदेव अंततो गत्वा समुद्दिष्टं भवति। अथापि च यदा चायं कोशः सम्पूर्णतां गतस्तदा विस्तारं च दृष्ट्वा कोशस्यास्य 'आयुर्वेदीय महाकोशः' इति नामकरणं यथार्थं भवितुमर्हतीति प्रत्यभादस्मानिति तदेव पश्चात्समुल्लिखितमिति ज्ञायते एव पाठकैः। नामकरणमिदं तेषामपि संमतं भवेदिति भावयामः। कांश्चन वैशिष्ट्यान् दर्शयामो वयं येन हि पाठकानां विशेषतया संमतिर्लभेम इति।

समाविष्टाः प्रधानविषयाः

(१) स्वास्थ्यम् (२) अस्वास्थ्यम् (३) स्वास्थ्यरक्षणे अस्वास्थ्यनिवारणाय च द्रव्याणाम् विहारस्य च उपयोगः (४) अन्नं, मानवी वर्तनम् विहारश्च (५) शारीरघटकास्तेषां व्यापाराश्च (६) रोगनाशका उपचाराः विषयाः षडैते प्रामुख्येन कोशस्यास्य विषयीभूताः सन्ति। ये चान्ये उपबृंहका विषया एतेषां स्युस्तेषामपि शब्दाः सोपपत्तिका अस्मिन् समाविष्टा भवंति। तद्यथा—

स्वास्थ्यम्—विभागेऽस्मिन् 'स्वस्थ' शब्दस्य अर्थः, स्वस्थपुरुषलक्षणानि, संभाव्याः पृथक् प्रकाराः निवृत्त्यनंतरं च विकाराणां प्राप्यं स्वास्थ्यम् कथं संभवति इत्येतद्वर्णनं कृतमस्ति।

अस्वास्थ्यम्—सन्ति रोगविवेचनविषयकाः शब्दा अंतर्भूताः अस्मिन् विभागे। विवेचनं हि विकार नामाभिधानम् तत्पर्यायवाचकाः शब्दाः दोषादीननुसृत्य संभाव्याः प्रकाराः, रोगोत्पत्तेः कारणानि, पूर्वरूपाणि, व्यक्तलक्षणानि, उपशयानुपशयविचारः, साध्यासाध्यत्वं, संभाव्या उपद्रवाः, रिष्टलक्षणानि, तात्त्विकी चिकित्सा, अपुनरावर्तने च रोगाणां उपचाराः, संपूर्णरोगनिवृत्तेर्लक्षणानि च। एतत् प्रकारकं ग्रंथोक्तं विवेचनं तत्तद्वाचीशब्दस्याग्रे दत्तमस्ति।

औषधान्नविहारश्च—विभागेऽस्मिन् औषधवाचकशब्दाः, तत्पर्यायाः गुणधर्माः, उपयोगे तेषां विधिनिषेधौ, द्रव्याणां शुद्धिकार्यं संस्कारश्च एतादृग् विवेचनं यावच्छक्यं कृतं अस्ति।

अन्नम्—अन्नम् हि धान्यरूपं मत्स्यमांसफलादिरूपात्मकं च भवति तेन हि तद्वाचकानां शब्दानां पुरस्तात् पर्याया गुणधर्माश्च विवेचिता भवन्ति।

विहारः—स्वास्थ्यास्वास्थ्ये संलक्ष्य तदर्थं अपरिहार्यत्वेन आचरणीयानां नियमानां दर्शकाः पारिभाषिकाः शब्दाः सविमर्शं संगृहीताः सन्ति।

वनस्पति विभागः—विभागेऽस्मिन् वनस्पतीनां पर्यायवाचीनि नामानि निर्दिश्य तदनुसारं वनस्पतेः स्वरूपवर्णनं कृतमस्ति। तथैव पृथक् पृथक् भाषासु प्रचलितानामभिधेयानामपि उल्लेखो विद्यते।

रोगनाशकोपचाराः—ये शब्दा रोगनाशनोपचारविषयकाः स्युः तेषां विवेचनं उपचारप्रक्रियया सह कृतमस्ति।

वर्णानुक्रमः

कोशसंनिविष्टाः सर्वेऽपि शब्दाः वर्णानुक्रममनुसृत्यैव दीयन्ते। परं कोशेऽस्मिन् वर्णानुक्रमविषयका नूतना पद्धतिः अंगीकृता वर्तते। तद्यथा—शब्दानां प्रारंभः 'अ' 'आ' आदिक्रमं विहाय 'अंश' शब्देन कृतो भवति। तथैव च 'क्ष' आद्यवर्णेनारब्धाः शब्दाः 'क'

वर्णीयशब्दानंतरं अपि च 'ज्ञ' वर्णीयानां क्रमः 'ज' वर्णीयशब्दानां पश्चात् विहितः इति पाठका अवगमिष्यन्ति।

कोशप्रयोजनम्

१) आयुर्वेदीयछात्रा अवगच्छन्तु ग्रंथसंदर्भेण स्वीयं विषयम्।

२) अध्यापकमहोदया अपि अध्याप्यविषयस्य एकस्यैव प्रतिपादनं अन्येषु ग्रंथेषु कीदृग् वर्तते इत्यवगम्य स्वीयाध्याप्यविषयटिप्पणीं कुर्वन्तु च सौलभ्येनाध्यापनम्।

३) अन्यशास्त्रसंशोधका अपि आयुर्वेदीयशास्त्रतत्वानि अवगच्छन्तु स्वीयविषयपरिपुष्टचर्थम्।

४) ये चान्ये विद्वांसः न कुर्वन्ति आयुर्वेदव्यवसायं वा नास्ति येषां कस्यापि शास्त्रस्य अभ्यासः परं च ये केवलं ज्ञानजिज्ञासया आयुर्वेदपरिशीलनं कर्तुमुत्सहन्ते तेऽपि अनुभवन्तु ज्ञानानन्दं कोशपरिशीलनेन इति।

आयुर्वेदशब्दस्य निरुक्तिः

'आयुषो वेदः आयुर्वेदः' निरुक्तिरेषा आयुर्वेदशब्दस्य साकल्यार्थं सूचयति। हितं आयुस्तथा अहितंचायुः एवं सुखं तथा दुःखंच आयुः तन्मानं तथा तस्य च आयुषः हितं किं किं चाहितं इति दर्शयित्वा हितं कथं संपादनीयं रक्षयितव्यं वा एवमेव अहितनिवारणमपि कथं भवितुमर्हति इति यस्मिन् शास्त्रे निर्दिष्टं तदेव शास्त्रं 'आयुर्वेदशास्त्र' शब्देन व्यवहर्तुमुच्यते।

"हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तस्य यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥"

अस्त्यैवैतत् शास्त्रवचनम् अर्थप्रतिपादकम्। किं नाम आयुः ?—

'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः आयुः'

सूत्रेणानेन शरीरम् कर्मेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियाणि, मनः आत्मा च सर्वेषामेतेषां संयोगः येन विशिष्टेन कालावधिना धार्यते स कालावधिरेव आयुः शब्देन गृहीतो भवति। धारि जीवितं च द्वाविमौ शब्दौ तस्य पर्यायवाचकौ स्तः।

आयुर्वेदीयतत्त्वमनुसृत्य चिकित्साधिष्ठानः पुरुषः चतुर्विंशतितत्त्वात्मकः भवितुमर्हति। तदिदं शरीरं हि पंचमहाभूतविकारात्मकं भवति। शरीरे संभाव्यानां सुखदुःखादि द्वंद्वात्मकानां संवेदनानां भोक्ता साक्षी च आत्मा एव भण्यते।

विश्वं हि अखिलं व्याप्य यद्धि आत्मरूपं सुमहत् संपूर्णं च भवति तस्यैव अत्यल्पः अंशः मानवस्य देहे आत्मस्वरूपेण अवतीर्णो विद्यते। यस्माच्च ब्रह्माण्डात् स आत्मा अस्मिन् शरीरे प्रविष्टः तस्मिन्नेव अनन्तपारे ब्रह्माण्डे देहनाशादनंतरं स आत्मा विलीनो भविष्यत्येव शरीरस्याप्यस्य सर्वेऽशाः पंचमहाभूतेषु भविष्यन्ति विलीनाः। या ह्येषा अवतीर्णावस्था तां जन्मशब्देन विलीनावस्थां च मृत्युशब्देन बुधाः प्रोच्यन्ते। एतयोर्जन्ममृत्योरुभयोरवस्थयोर्मध्ये यच्च कालात्मकमंतरं तदेव आयुरिति ज्ञेयम्।

किं नाम निरामयं दीर्घायुः ? आमयो हि रोगो दुःखं वा। दुःखस्य आत्मसंनिविष्टेण शरीरेण सह यः संबंधः स एव रोगः इति उच्यते। 'तद्दुःखसंयोगो व्याधिः' इयमेव भवति व्याधेर्व्याख्या। रोगः पाप्मा शब्दावेतौ व्याधेरेव पर्यायवाचकौ भवतः। शरीरस्य दुःखेन संयोगो हि यावद्दीर्घकालं न भवेत् तावदेव यदायुः तत् निरामयमायुर्भवितुमर्हति।

परंतु मानवोऽयं पूर्वजन्मकृतेन कर्मणा सहैव लभते जन्म। इत्येव जन्म एव दुःखमाहुः पंडिताः प्रतिक्षणं शीर्यते क्षिणोति वा शारीरं कर्मभिर्विनश्यति यो देहः स एव 'शरीर' संज्ञां लभते। 'शीर्यते इति शरीरम्' सूत्रमिदं दर्शयत्येतदेव।

आयुषः परमोच्चमुद्दिष्टम्—

केवलं दीर्घायुसंपादनमेव आयुषः इतिकर्तव्यतां न मन्यंते आयुर्वेदीयवेत्तारः। अपि तु धर्मादिमोक्षान्तं पुरुषार्थचतुष्टयसाधनमेव आयुष अंतिममुद्दिष्टं उपदिशंति ते

'मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः'

श्रीमतां पुनर्वसुमहर्षीणां वचनमप्येतदेव सूचयति।

मोक्षसाधनमेव भवति अंतिमोद्दिष्टं मानवस्य। दुःखमयाज्जन्मात् मरणाच्च या मुक्तिः स एव मोक्षः दुःखस्य आत्यंतिको नाश एव मोक्षः इति मोक्षशब्दस्य व्याख्या एतदर्थमेव क्रियते।

पुरुषार्थचतुष्टयसंपादनमेव आरोग्यहेतुः। विनाऽरोग्यं नैकमपि पुरुषार्थं साधयितुं शक्यं भवेदेषैव घोषणा क्रियते आयुर्वेदेन तत्सूचकं 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' सूत्रमिदं उद्घोषितं भवति पूर्वाचार्यैः।

कालनिर्णयः

प्राचीनानां संहिताग्रंथानां कालनिर्णयं कर्तुं अशक्यप्रायमेव प्रतिभाति। न दृश्यते तस्मिन् प्राचीने काले प्रथा प्रवृत्तिर्वा ग्रंथकाराणां स्वीयनामोल्लेखनस्य ग्रंथनिर्माणकालनिर्देशस्य वा प्रायः। पश्यामो वयं यत्र कुत्रापि ग्रंथकर्ता करोति समुल्लेखं गुरोः पितुर्नामधेयस्य वा। परं समाननामधारकाः बहवो महर्षयः विभिन्नेषु कालेषु ख्यातिं प्राप्ता आसन्, तथैव च एकेनैव नाम्ना आयुर्वेदशास्त्रीयग्रंथानां इतरेषां चापि शास्त्राणां ग्रंथकर्तृत्वं, श्रुतिपथं, दृष्टिपथं वा समायाति। तेन ग्रन्थकर्तृत्वविषये नामाभिधानं कर्तुं नैव शक्यते निश्चयेन। ग्रंथकाराः केचन गोत्रं वा सांप्रदायिकं नाम स्वीकृत्य ग्रंथरचनामकुर्वन्, अथापि च तद् गोत्रस्य संप्रदायस्य कः कतमोऽयं पुरुषः इत्यपि न निश्चेतुं शक्यते। तथैव जिज्ञासुभिः संशोधकैः दूरान्वयेन कानिचित् अनुमानानि कृत्वा तेषां संकलने कश्चित् निर्णयः कृतो दृश्यते। अस्मदीयमेतदेव विधानं नातिविस्तरं सोदाहरणं विवृणुमः। तद्यथा—

चरकनाम्ना एकः संप्रदाय आसीदिति प्रतीयते। चरकानुयायिनोऽपि 'चरक' नाम एव धारितवन्तः दृश्यन्ते। अनेनैव चरकस्य आधारभूतत्वेन नामप्रतिपादकाः ग्रंथकर्तारः 'इति चरकः' इति उल्लेखयंति अंततो गत्वा अग्निवेशसंहितायाः संस्कर्ता लेखकः कोऽपि एकः चरकः आसीत् इत्येव निश्चेतुं शक्यते। तस्य कालनिर्णयस्तु संशोधनविषय एव भवितुमर्हति। कारणेनानेन तत्तत्समये संशोधकैः प्रकटिता ये चाभिप्रायाः तानवलंब्यैव संहिताग्रंथानां कालनिर्णयं विवशतया कर्तुं युज्यते।

यद्यपि अर्वाचीन ग्रंथविषयेऽपि न किंचित् निश्चयेन वक्तुं शक्यते तथापि तेषां ग्रंथकाराणां कालः ऐशवीयं शकं अनुसृत्य कथयितुं शक्यते। पाठकमहोदयैरपि अनयैव दृष्ट्या प्रश्नोऽयं निरीक्षणीयः।

चरकसुश्रुतसंहिताग्रंथयोः प्रास्ताविके निवेदने कै. वैद्य श्री यादवाचार्यमहोदयानामेव मतं अस्माभिः प्रमाणीकृतं भवति।

१)अग्निवेशसंहिताकालः— सुविख्याताः ज्योतिःशास्त्रसंशोधकाः कै. शंकर बाळकृष्ण दीक्षित महोदयाः सुबहुभिः आधारप्रमाणैः अग्निवेशकालं ऐशवीय शकपूर्वसहस्त्रत्रयवर्षात्मकं उक्तवन्तः। पाश्चात्य संशोधकैनैकेन तु कालोऽयं ऐशवीय शकात् प्राक् अष्टशतवर्षात्मकः प्रदार्शितः इयमेव अग्निवेशसंहिता पश्चात् चरकेण प्रतिसंस्कृता आसीत् तदनंतरं चिकित्साया: सप्तदशाध्यायान् तथैव कल्पस्थानं सिद्धिस्थानं च संयोज्य पूर्णतां नीतेयं संहिता दृढबलेन।

२) सुश्रुतसंहिताकालः— एतैरेव ज्योतिःशास्त्रसंशोधकैः श्री शं. बा. दीक्षितमहोदयैः सुश्रुतकालविषयकं मतं इत्थं प्रदर्शितं भवति। तैरुद्घोषितं यत् भारतवर्षे वारगणनापद्धतिः शकारंभात् प्राक् सहस्रवर्षात् प्रचलिता। अपि च तस्मिन्नेव काले सुश्रुतसंहिता विरचिता संभाव्यते।

हेसलर नामकोऽन्यः संशोधकोऽपि दीक्षितमहोदयानामेव मतं अनुमोदते। हार्ले नामकोऽन्यः कोऽपि संशोधकस्तु कालोऽयं सुश्रुतस्य विक्रमीय शकात् प्राक् षष्ठं शतकं भवतु इत्यवोचत्।

३) वाग्भटकालः—वाग्भटनाम्ना द्वौ संहिताकारौ आस्तामिति सुविख्याताः आयुर्वेदग्रंथमाला प्रका-

शकाः कै. यादवजी त्रिकमजी आचार्यमहोदयाः साधारं प्रतिपादयंति स्म । अष्टांगसंग्रहसंहिताकारः वृद्धवाग्भटः समभवत् । वाहट इत्यपि तस्य आसीत् नामांतरम् । ऐशवीये ६२५ तमे वर्षे तस्य अस्तित्वं आसीदिति प्रतीयते ।

अष्टांगहृदयसंहिताकरो वाग्भटो ह्यपरो ऐशवीये अष्टमे शतके संजात इति वक्तुं युज्यते एव । वैद्य श्री यादवजीमहोदया वाग्भटस्य कालं षष्ठं शतकमनुमन्यन्ते । ज्ञानकोशकाराः कै. श्री. व्यं. केतकरमहोदयाः कालं इममेव अष्टमशतकीयं प्रतिपादयंति स्म ।

४) काश्यपसंहिताकालः— कृतयुगस्यान्ते प्रारंभे च त्रेतायुगे अधर्मप्रवृद्धिः संजाता । तेन हि रोगाणां प्रादुर्भावः समभवत् रोगाक्रान्तान् जनान् दृष्ट्वा करुणार्द्रः भगवान् कश्यपः ब्रह्मणः अनुज्ञया स्वीय ज्ञानदृष्ट्या च कृतवान् संहिताम् । काश्यपसंहिता सैव आद्या संहिता भवतीति अनुमन्यन्ते ग्रंथकाराः सर्वे । अग्रे जीवकनाम्ना पंचवर्षीय बालकेन तस्याः संहितायाः संशोधनं कृत्वा ऋषीणां पुरस्तात् प्रस्थापिता । परं ऋषयस्ते नान्वमन्यंत बालस्येमां संहिताम् इति । तदा स जीवकः कनखलगंगाऱ्हदे न्यमज्जत् पुनरागतश्च तस्मात् ऱ्हदात् वृद्धो भूत्वा । चमत्कारं इमं दृष्ट्वा ते सर्वेऽपि ऋषयः वृद्धजीवकस्य इयं संहिता इति तां सहर्षं स्वीचक्रुः । तत् तंत्रं वृद्धजीवकीयनाम्ना प्रसिद्धिमगच्छत् । अग्रे कलिप्रभावात् तदपि तंत्रं विलुप्तं भवेदिति विचार्य अनायसनामा यक्षः तत् गृहीतवान् । यक्षाच्च तस्मात् वृद्धजीवकवंशजेन वात्स्येन गृहीतम् प्रचारितं च वृद्धजीवकीयतंत्रनाम्ना ।

अथापि च तंत्रस्यास्य आद्यः प्रणेता भगवान् कश्यपः इति लक्षयित्वा ' काश्यपसंहिता- ' वृद्धजीवकीय तंत्रम्—इत्यस्याः संहितायाः नामकरणं संजातम् ।

संहितावैशिष्ट्यम्

चरक (अग्निवेशमहर्षिविरचिता) **वैशिष्ट्यम्**

उपलब्धेषु आयुर्वेदीयसंहिताग्रंथेषु अग्निवेशविरचिता संहिता प्राचीनतरा भवतीत्यत्र नास्ति संदेहलेशोऽपि । तदनंतरं बहुभिः ऋषिभिः कृताः संहितारचनाः इत्यपि ज्ञायते । तत्तत् संहिताकारस्य भवत्येव किमपि वैशिष्ट्यम् । तदस्माभिरवगन्तुं युज्यते एव । प्रथमतस्तावत् अग्निवेशसंहितायाः वैशिष्ट्यम् द्रक्ष्यामो वयम् । यत इयमेव संहिता अग्रे चरकसंहितेति नाम्ना प्रसिद्धिं गता ।

१) अस्यां चरकसंहितायां आयुर्वेदीय शास्त्रतत्वप्रतिपादनं दर्शनसिद्धांतानुरोधेन कृतमस्तीति दृश्यते । तद्यथा—सांख्याः पंचविंशतितत्वात्मकं पुरुषं प्रतिपादयन्ति । प्रत्युत पुरुषस्तु संहिताकारय पुनर्वसुपरंपरया चतुर्विंशतितत्त्वात्मकः षड्धातुकश्च भवति ।

२) द्विविधं हि मानवी जीवनम् शारीरं मानसं चापि । तदुभयमपि आरोग्यसंपन्नं भवत्विति आयुर्वेदशास्त्रस्य अंतिमोद्दिष्टं वर्तते । उभावपि जीवनप्रकारौ परस्परावलंबिनौ स्तः । इयं एव आयुर्वेदस्य विचारप्रणालिः भवति । इत्यतः जन्म एव दुःखं तस्य दुःखस्य नाश एव मोक्षसाधनम् । तत्त्वमेतत् चिकित्सा प्रतिपादने संहितामस्तामंगीकृतम् विद्यते । चिकित्सायाः प्रकारचतुष्टयं अस्यां विवेचितं भवति । तद्यथा—(१) रोगनाशिनी चिकित्सा (२) प्रकृतिस्थापनी चिकित्सा (३) रासायनी चिकित्सा (४) नैष्ठिकी चिकित्सा चेति । चतुर्णामपि एतासां चिकित्सानां प्रभावः देहधातुमनसोः समत्वप्रस्थापने यथोत्तरं श्रेष्ठो भवति । अनया दृशा उच्चतरं समत्वप्रस्थापनार्थं उपचाराणामपि दिग्दर्शनं कृतं भवति संहितायामस्याम् ।

३) आद्यसंहिताकारैः अग्निवेशमहर्षिभिः अतत्वाभिनिवेशनामा विकारः प्रतिपादितः; स च नैष्ठिकीचिकित्सासहायेन रोगनाशिन्या शोधनशमनचिकित्सया च नश्यति; इति प्रतिपादितम् ।

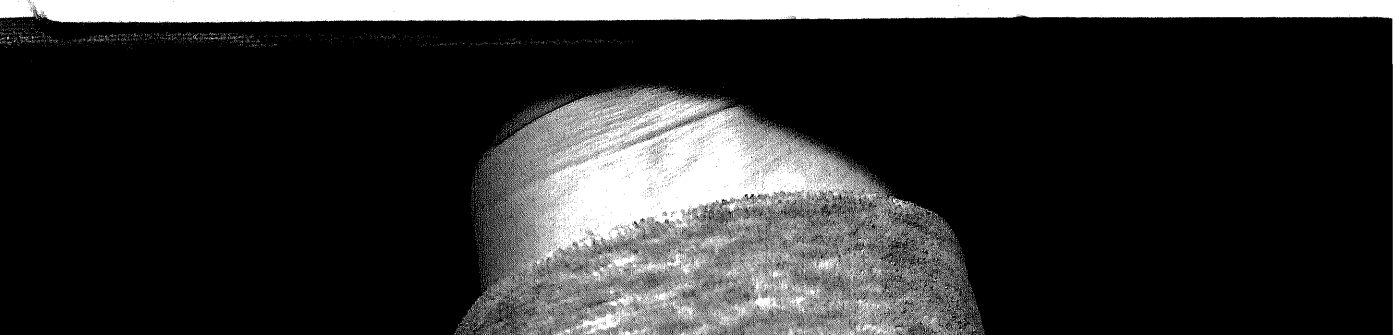

४) मनसः सप्तधातूनां च परस्परसंबंधः सारासारत्वदर्शकः निगूढो विचारोऽपि एतैरेवाचार्यैः प्रतिपादितो भवति सविस्तरं सर्वप्रथमम् ।

५) मानसिकानां तथैव च इतरेषाम् केषां केषां अमूर्तभावानां श्रेष्ठत्वं कनिष्ठत्वं धातूनामेव सारासारत्वे निर्भरं भवति इत्यपि दिङ्मात्रदर्शनं यथायोग्यं कृतं आचार्यैः।

६) आशयापकर्षत्वात् समा अपि दोषा विकारान् जनयंति इति प्रतिपाद्य तत्र करणीयानां उपचाराणामपि दिग्दर्शनं कृतमस्ति ।

७) हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी च इत्येता मूलगामिनः चिकित्साप्रकाराः आचार्यैः सन्ति प्रतिपादिताः । प्रकारेष्वेतेषु उत्तरास्त्रयः उपचाराः दृश्यन्ते यद्यपि व्याधिसमानाःस्थापि ते व्याधिं परिहर्तुं समर्था भवन्ति इति चिकित्सावैशिष्ट्यमपि आचार्यैः प्रतिपादितं भवति ।

८) मंडूरलोहशिलाजतुसुवर्णवैडूर्य (रत्न) मणि पारदानां चिकित्साकार्योपयोगः प्रथममेवाचार्यैः प्रतिपादितः ।

९) वनस्पति समद्भूतः गुडः तथा मधुघृतं च प्राणिजं तथैव गुड-शर्करा-मधुभिस्त्रिभिर्द्रव्यैः सिद्धाऽसवा यावन्तः पुराणास्युस्तावन्तो गुणावहाः श्रेष्ठाश्च भवन्तीति कल्पनापि एतेषामेवाचार्याणाम् विद्यते ।

१०) नान्तर्हितो हि दृष्टेराचार्याणां सामूहिकस्वास्थ्यप्रश्नोऽपि । विकृतेभ्योहि पृथिव्यादि पंचमहाभूतेभ्योऽपि जनपदोध्वंसका रोगाः संभवन्ति । ये च तदुत्पादकानि कारणानि स्युस्तेषु भूतानि नाम जंतवोऽपि अवगण्यन्ते इति तेषां जंतूनां भूतशब्देनोल्लेखः कृतः । तथैव सहजाः अविकारकारिणः अपि कृमयः प्रतिपादिता भवन्त्यत्र ।

११) ओजो हि श्रेष्ठतमो धातुः शरीरे भवति नराणाम् । तं धातुमपि अश्नंति केचन भूताः (जंतवः) ते ओजोशना एवान्येभ्यः जंतुभ्यः पृथक्त्वेन वर्तन्ते इति आचार्यमहोदयैः निवेदितम् ।

१२) ' आहारसंभवं वस्तु रोगाश्चाहारसंभवाः, सूत्रमेतत्पुरस्कृतं आचार्यैः । यतो हि सर्वेषां रोगाणां भवत्युद्भवः आहारादेव तस्मात् मिथ्याहारः सर्वथा त्याज्यः इति । सिद्धान्तोऽयं लवणादि रसानां अत्युपयोगात् रोगाणां उद्भवः कथं भवतीति दर्शितं अपि च रोगप्रतीकारापेक्षया येन रोगोत्पत्तिरेव न स्यात् तथा कर्तव्यमस्माकमिति सूचितं वैशिष्ट्यपूर्णम् ।

१३) संहिताकारैः न केवला औषधिचिकित्सा एव प्रोक्ता अपि तु मानसिकी चिकित्सा अपि लक्षीकृता भवति । तेन हि अग्निवायुविष्णुइंद्रशंकरप्रभृतीनां देवतानां पूजनार्चनप्रार्थनादयः उपचारा निगदिताः सन्ति । उपचारैरेतैः नराणां मानसिकं बलं श्रद्धाभक्तिसमन्वितेन मनसा वर्धते । रोगनाशने भवति च साधनीभूतं तत् इत्यपि आचार्यैः तर्कितं दृश्यते ।

१४) चरकप्रतिपादिता विषमज्वराः संतर्पणजन्याः एवं दोषाणां गुरुत्वेन संभवंतीत्यपि वैशिष्ट्यं प्रतीयते ।

१५) शिष्योपनयनीयाध्याये गुणविशेषान् दृष्ट्वैव शिष्यः अध्यापनाय ग्राह्यः न च तस्य वर्णो विचारणीय इति उक्तं भवति । तेन वर्णो हि अध्ययनेन कर्मणा च भवति न तु जन्मना इत्यासीत्तेषां मतमिति दृश्यते ।

१६) अनधीतः अनधिकृतश्च शासनेन यः वैद्यः न स चिकित्साव्यवसायं कर्तुमर्हतीति संदिष्टमाचार्यैः । एतादृशं चिकित्सकं ' छद्मचर ' ' सिद्धसाधक ' आदि उपाधिना धिक् कुर्वन्ति ते इत्यपि वैशिष्टम् ।

चिकित्साव्यवसायिनां कृते नीतिनियमानामपि आवश्यकता भवतीति संकल्प्य आचार्यैरुक्ता भवन्ति नीतिनियमाः ।

१७) पुरातनसंहिताभ्यः अन्याभ्यः विकाराणां वातावृतवातविकारवर्णनं वैशिष्ट्येन प्रदर्शितं विद्यते । इति संहिताया अस्याः प्रतिसंस्कर्त्रा दृढबलेन प्रतिपादितं भवति अस्याम् ।

सुश्रुतवैशिष्ट्यम्

सुश्रुतसंहिता अपि भवति आयुर्वेदक्षेत्रे सुविख्याता । सुश्रुताचार्यैः इयं स्वीयां संहिता वैशिष्ट्यपूर्णतया एव ग्रथिता भवति इति प्रतीयते अन्याभ्यः संहिताभ्यः भवन्ति कानिचित् वैशिष्ट्यानि अस्याः संहिताया: तेषु कानिचित् वयं द्रक्ष्याम इदानीम् ।

१) सर्वेऽपि संहिताकाराः मन्यन्ते दोषाः त्रय एव वातपित्तश्लेष्माण इति । परं सुश्रुताचार्याः रक्तमपि

दोषं चतुर्थं मन्यन्ते । यतो हि शस्त्रक्रियाप्रधाना इयं सुश्रुतसंहिता भवति । शस्त्रकर्मणि रक्तेनैव संबंधो भवतीति वातपित्तश्लेष्मवत् रक्तेनापि दोषेण भाव्यमिति आचार्याणां मतं संभाव्यते ।

२) सुश्रुताचार्यैर्यद्यपि शल्यतंत्रप्रधानोऽयं ग्रंथः विरचितो भवति तथापि यावच्छक्यं शस्त्रक्रियां विनैव कथं चिकित्साकार्यं फलप्रदं भवेत् विचारमिममेव पुरस्कृत्य चिकित्सा निर्दिष्टा भवति इति दृश्यते सुस्पष्टं सर्वत्र । शल्यशब्देन न केवलं बाह्यवस्तुनः शरीरान्तः प्रवेशं मन्यंते सुश्रुताचार्याः । संकुचितामेनां व्याख्यां समुल्लंघ्य मनसः विकृतिकारणौ रजस्तमश्च द्वावपि दोषौ शल्यभूतौ भवतः तथैव वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयोपि दोषाः शारीरशल्यभूता भवन्तीति सुश्रुताचार्याणां मतम् । अत एव तैराचार्यैः युद्धकाले शत्रुपक्षीयाणां अंतःप्रविष्टानां शराग्राणां निष्कासने यथा प्रदर्शिता युक्तयः तथैव रजस्तमोभ्यां समुद्भूतानां उन्मादापस्मारग्रहबाधाप्रभृतीनां मानसविकृतीनां तथैव वातपित्तश्लेष्मणां शल्यभूतानां निर्हरणे बहवो ह्युपायाः संदिष्टा भवन्ति । अतः परं कर्णनासागलादिगतानां रोगाणां निर्हरणाय शलाकानां उपयोगः शालाक्यतंत्रनाम्ना समुद्दिष्टो वर्तते । स्त्रीणां प्रसूतितंत्रमपि सविस्तरं निवेदितं विद्यते ।

३) बहुभिः संहिताकारैः रोगनिर्हरणे अस्रविसृतिचिकित्सा तथैव क्षाराग्निशस्त्रचिकित्सानां वर्णनं दृश्यते कृतमिति । परं सुश्रुतोदिता ये शस्त्रप्रयोगाः सन्ति तेषु केषांचन प्रयोगाणां शारीरशास्त्रदृष्ट्या संगतिः कीदृशी स्यादिति नावगम्यते । अथापि च यदा हि तेषां शस्त्रप्रयोगाणां साफल्यं दृष्टिपथमायाति तदा रोगस्थानचिकित्सास्थानयोः परस्परसंबंधेनावश्यं भाव्यमिति मन्तुं आवश्यकमेव भवति ।

४) छिन्नानां भिन्नानां चावयवानां यथापूर्वं स्थितिस्थापने स्थानांतरस्थितां त्वचं संकृत्य विकृते स्थाने तत्स्थापनं कार्यम् । एतादृशः प्रकारोऽपि शल्यतंत्रे सुश्रुताचार्यैः विहितो भवति । आधुनिकशस्त्रचिकित्साकोविदैरपि क्रियते इयं चिकित्सा प्लास्टिक सर्जरी नाम्ना । कौशल्यं तस्मिन् कालीनमेतत् वैशिष्ट्यपूर्णमेवासीदिति को नाम नानुमन्येत ?

५) शारीरशास्त्राभ्यासार्थं शवच्छेदनपद्धतिः सुश्रुताचार्यैः या प्रदर्शिता साऽपि वैशिष्ट्यपूर्णा ।

६) आयुर्वेदीया भूतचिकित्सा साकल्येन जंतुचिकित्सा एव भवितुमर्हति । चिकित्साया अस्या निवेदने सुश्रुताचार्यैः भूतानां वैशिष्ट्यं, तेषां स्वभावाः, स्थानानि, तदुद्भवा रोगाः तेषां नरान्नरसंक्रमणपद्धत्या संभाव्या सांक्रामिका रोगाः सर्वमेतत् सुश्रुताचार्यैः सविस्तरं सोपपत्तिकं च निवेदितं भवति । वर्णनमेतदाधुनिकजन्तुवर्णनसदृशमेव वर्तते ।

७) ' विपाक कल्पना ' इदमपि आयुर्वेदशास्त्रस्य वैशिष्ट्यमेकं धारयति । परं तत्रापि सुश्रुताचार्यैः स्वीयं वैशिष्ट्यं दर्शितं विद्यते । अन्ये ग्रंथकारा रसविपाककल्पनां पुरस्कुर्वन्ति परं सुश्रुताचार्यास्तु द्रव्याविपाकमेव प्रतिपादयन्ति । भवति इदमपि तेषां वैशिष्ट्यम् ।

८) चरकप्रतिपादितात् विषमज्वरात् सुश्रुतप्रतिपादितो ज्वरः अन्य एव भवति । न ह्ययं विषमज्वरः सुश्रुताचार्यप्रतिपादितः गुरुदोषात्मकः चरकवत् अपि तु स स्वल्पदोषकृत एव भवति । इत्यतोऽपि कफ स्थानस्थित विषमज्वर संज्ञयाऽपि अन्ये केचन प्रकारा वर्णिताः सन्ति ।

९) व्रणातुराणां कृते भवतु व्रणितागारं पृथगेव इति सुश्रुताचार्यैः स्वीयं मतं संदर्श्य तस्य व्रणितागारस्य रचनायाः अपि कृतमस्ति दिग्दर्शनं । तथैव च व्रणस्य एकस्य एव विकारस्य अवस्थामनुसृत्य षष्टिप्रकाराः सोपचाराः उपदिष्टा भवन्ति संहितायाम् ।

१०) सूतिकाभ्यः सूतिकागारं कुमाराणां कृते कुमारागारं च संसूचितं रचनाऽपि निर्दिष्टा भवति तेषां आगाराणाम् ।

११) विषचिकित्सायाः विवेचनं सविस्तृतं विद्यते सुश्रुतसंहितायाम् कंदमूलफलपत्रपुष्प रसनिर्यासादीनां स्थावरविषाणां तत्तदंगमुद्दिश्य वर्णनं कृतं भवति । तथैव खनिजानां विषद्रव्याणां सर्पवृश्चिकगोधामक्षिकादीनां कीटयोन्युद्भवानां व्याघ्रसिंहश्वानादीनां पशूनामपि दंशविषस्य वर्णनं सोपद्रवं सोपचारं सविस्तरं जंगमविषसंज्ञया कृतं भवति ।

१२) शल्यतंत्रोपयोगानां यंत्राणां शस्त्राणां च धारा, तीक्ष्णत्वं तेषां पायनाविधिप्रकाराः, यंत्रवारंगं यंत्रपरिचायकानि अन्वर्थकानि नामानि, तेषां गुणकर्म च इति सर्वमपि सुश्रुताचार्यैः संहितायां स्वीयां सुविवेचितं भवति ।

१३) रोगाभिव्यक्तिः पूर्वरूपरूपैरेव न केवलं ज्ञातुमर्हति । प्रत्युत पूर्वरूपात् प्रागपि प्रसरावस्थायाः प्रकोपावस्थासंचयावस्थयोश्च संक्रमणं भवत्येवावश्यम् इत्युक्त्वा सुश्रुताचार्यैः तदनुसारी चिकित्साऽपि प्रोक्ता भवति ।

वाग्भटः

चरकसुश्रुतयोः सममेवाभ्यसनीया आयुर्वेदीया संहिता भवति वाग्भटस्यापि संहिता इति जानन्त्येव आयुर्वेदवेत्तारः । वाग्भटकृतं संहिताद्वयं प्रसिद्धमेव । एका अष्टांगसंग्रहसंहिता अष्टांगहृदयसंहिता चापरा । एकनामत्वेऽपि द्वयोरपि संहितयोः कर्तारौ भिन्नौ वाग्भटौ आस्तामिति प्रतीयते । अष्टांगसंग्रहकारः वाग्भटः वृद्धवाग्भटनाम्ना प्रसिद्धः स च अष्टांगहृदयकारात् वाग्भटात् प्राक् जातः इति ज्ञायते । नैतत् स्थानं एतद्विषये विवरणार्थं प्रस्तुतमिति। अथापि च वृद्धवाग्भटस्यैव लघुत्वं अष्टांगहृदयमिति हृदयकार एव वाग्भट उक्तवान् । सांप्रतम् पठनपाठने प्रायो हि अष्टांगहृदयमेव प्रचलति सर्वत्रेति तमेव ग्रंथकारमुद्दिश्य तस्यापि किंचिद्वैशिष्ट्यमुल्लिखामोऽत्र ।

१) पठनपाठने शास्त्रीयविवेचनदृष्ट्यापि वाग्भटसंहिताग्रंथः सर्वोत्तम एव भवतीत्यत्र नास्ति अवसरो मतांतराय इति प्रतिभाति । ग्रंथस्यास्य सूत्रस्थानंतु आयुर्वेदतत्वज्ञानेन परिपूर्णमेव विद्यते । ग्रंथस्यास्य प्रथमे एव अध्याये ग्रंथकारेण सर्वेषामपि विवेच्यविषयाणां सूतोवाचं कृतं भवति । तदनुसृत्यैव सर्वेषां विषयाणां विस्तृतं विवेचनं पृथक् पृथक् स्थानमधिकृत्य कृतं वर्तते । निदानचिकित्सादीनां स्थानानां भूमिका तावत् सूत्रस्थाने एवासादयति ।

२) वाग्भटस्य संहिता नातिसंक्षेपविस्तरा वर्तते । बह्वर्थसूचकानां लघुसूत्राणां ननु मालैव ग्रंथकारेण विरचितेति वक्तुं न कोऽपि प्रत्यवायः ।

३) ग्रंथरचनायाः संकेतान् निश्चित्य हित्वा च द्विरुक्तिं सविस्तरं कृतं विषयविवेचनकौशलं अपूर्वमेव ग्रंथकारस्य अनुभूयते ।

४) रोगस्य पूर्वरूपादारभ्य अग्रे संभाव्यानां अवस्थानां दिद्दर्शनं क्रमशः कृतमस्ति अपि च तदनुसारी चिकित्साऽपि प्रदिष्टा भवतीत्यपि ग्रंथकारस्य वैशिष्ट्यमेव वर्तते ।

अष्टांगसंग्रहकार—वाग्भटस्य वैशिष्ट्यं इतःपूर्वं वर्णिताभ्यः चरक–सुश्रुत–अष्टांगहृदय–संहिताभ्योऽपि सुमहत् वर्तते । यतः संग्रहकारेणानेन विविधानां नाविन्यपूर्णविषयाणां संग्रहः संहितायां स्वीयां कृतो भवति । यश्च नासादयति पूर्वोक्तासु संहितासु ।

४) वृद्धो वाग्भटः प्रासादिकः कविरपि आसीत् इति तत् तत् प्रसंगमनुसृत्य कृतं यद्वर्णनं पठामो वयं तदा प्रसन्नेन मनसा वक्तुं युज्यते । अनेनैव कारणेन ग्रंथोऽयं पठनसुलभोऽपि संजात इति सुमहद्वैशिष्ट्यं वर्तते ग्रंथस्यास्य ।

५) वाग्भटो नासीत् कस्यापिधर्मस्याभिनिवेशी स्वरूपमेतत् स्वीयं 'सर्वधर्मेषु मध्यमाम् वृत्तिमास्थाय' इत्युपदेशादेव व्यक्तं भवति । यद्धि यस्य इष्टं दैवतं तदेवार्चनीयं इत्यप्यादिशति वाग्भटः । देवतानामपि विभिन्नानां आराधनार्थं हिंदुजैनबौद्धप्रभृतिभ्यः शिव, शिवसुत, तारा आदिनामभिः निवेदितं कुष्ठसदृशेषु रोगेषु रोगनिवृत्यै । अनेन च वाग्भटोऽयं धर्माग्रही नासीदिति स्पष्टं प्रतीयते ।

काश्यपसंहितायाः वैशिष्ट्यम्

काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीयतंत्रम्) नाम्ना यश्चाधुना उपलब्धः ग्रंथः स च नातिसंपूर्णः त्रुटितश्च भवति । नेपालीयराजगुरुः पं. वैद्यश्री हेमराजशर्मभिः महद्भिः सायासैः ताडपत्रलिखिता संशोध्य प्रकाशीकृता इयं संहिता । घुणैः कीटैश्च भक्षितानि विशीर्णानि ताडपत्राणि संगृह्य संशोध्य च सूत्राणि तदंकितानि एव ग्रंथेऽस्मिन् विद्यन्ते । सन्ति तेषु सुबहूनि सूत्राणि अपूर्णानि विनिष्टान्यपि कानिचित् । अथ तस्य पठनेनावगम्यते ग्रंथो ह्येषः बालकानामारोग्यमुद्दिश्य

विरचितो भवति ग्रंथकारेणेति । अनुसृत्य च बालकस्य मातुः गर्भधारणा, तस्यां संभाव्या उपद्रवाः उपचाराश्च तेषां तथैव प्रसूतेरनन्तरमपि करणीयानामुपचाराणां वर्णनं कृतं विद्यते । अग्रे च बालकानामारोग्यपरीक्षणं संवर्धनं तथैव तेषां रोगापहरणमप्युद्दिश्य भवति सविस्तरं वर्णनम् ग्रन्थेऽस्मिन् ।

१) प्राप्ते हि प्रसूतीकाले यदा च आवीनां स्तंभो भवति विलंबेन वा स्थित्वा स्थित्वा प्रभवंति ताः तदा गार्भिण्या मुसलादिभिः शाल्यादीनां कंडनं अन्यद्वा जृम्भाऽनयनं संचलनादि करणीयमिति बहुभिः ग्रन्थकारैः यदुपदिष्टं तत् नानुमतं काश्यपेन । तदर्थं वदति जीवकः यथा— 'केचिदस्यामवस्थायां व्यायामं मुसलादिकम् । जृम्भा चंक्रमणाद्यं च भिषजो ब्रुवते हितम् । वर्जनीयं तु तत् सर्वं भगवानाह कश्यपः ॥ ' उपदिष्टंच तेन महात्मना " नार्याःप्रसवकाले हि शरीरमुपमृद्यते । त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति विचाल्यंन्तेच धातवः । गर्भिणी तदवस्था हि यत्नधार्या विशेषतः । " इति । सूक्ष्मावलोकनपूर्वमेव कश्यपानामेतत् प्रतिपादनं संदृश्यते वैशिष्ट्यं चापि दर्शयति तेषाम् ।

२) बालकानां क्षयसदृशचिन्हैर्युक्ता बालशोष, फक्कादिभिर्नामभिः ये रोगा ज्ञायंते तेषामपि सोपचारं यन्मर्मग्राहिवर्णनं काश्यपैः कृतं न तत् कुत्राप्यासादयति ।

३) रसाद्रक्तं ततो मांसं आदि शारीरधातुनिर्मितौ अनुलोमपद्धतिस्तु सर्वैरेवायुर्वेदग्रंथकारैः निवेदिता भवति परं गर्भस्थो मानवीजीवः प्रतिलोमगत्या वर्धते इति प्रतिपादितं शुक्रादनन्तरं मज्जा ततोऽस्थि आदि रसधातोर्यावत् वर्धनक्रमः वर्णितः कश्यपेन नान्यस्मिन् कस्मिन्नपि आयुर्वेदीयग्रंथे स्पष्टतया दृश्यतेऽयं विचारः ।

माधवनिदानं

ऐशवीये सप्तमे शतके 'माधवकरः' नामा पंडितः निदानविषयक एव 'माधवनिदान' नाम्ना संग्रहग्रंथरचनामकरोत् । पाठ्यक्रमे सुबहुषु आयुर्वेदविद्यालयेषु पाठ्यपुस्तकत्वेन ग्रंथोऽयं अध्याप्यते । 'निदाने माधवः श्रेष्ठः' इत्येतावतीं ख्यातिं आप्नुवदयं ग्रंथः । सन्ति अस्यापि वैशिष्ट्यानि कानिचित् । तानि यथा—

१) ग्रंथेऽस्मिन् चरक, सुश्रुत, वाग्भट, विदेहादिभ्यः संहिताग्रंथेभ्यः वचनानि संकलितानि सन्ति ।

२) पद्यरचनाऽपि ग्रंथस्यास्य सुबोधा सरला संस्कृता च विद्यते ।

३) मधुकोशटीका अन्या च आतंकदर्पणाख्या टीका एवं द्वाभ्यामपि सुविस्तृताभ्यां टीकाभ्यामलंकृतोऽयं ग्रंथः वर्तते । शार्ङ्गधरसंहितासदृशैः स्वल्पैरेव संहिताग्रंथैर्लब्धमेतावद् भाग्यम् । ग्रंथस्यास्य सर्वव्यापिनी सुलभा रचना एव हेतुः भवति इत्यत्र न कापि शंकास्थानम् ।

४) पृथक् वातादिनिर्दिष्टहेतुलिंगसमागमे । त्रिदोषे निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ इत्यस्मिन् श्लोके 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्' वाक्यं संपूर्णतया अनावश्यकं अनुचितं च अंकितं भवति । नास्त्यस्य चिकित्सादर्शकस्य वाक्यस्य सुतराम् संबंधः निदानविषये ग्रंथे अस्मिन् । अयं एक एव दोषः वर्तते परं स च गुणसंन्निपाते संनिमज्जत्येव ।

शार्ङ्गधर संहिता

ऐशवीय शकस्य १३६३ समये शार्ङ्गधरः समभवदिति हिस्टरी ऑफ इंडियन फार्मसी नाम्नः ग्रंथस्य लेखकाः श्रीवास्तव महोदयाः कथयंति ।

शार्ङ्गधरसंहिताग्रंथस्यालोचकैः श्री परशुरामशास्त्रिभिः संहितायाः अस्याः कानिचित् वैशिष्ट्यानि लिखितानि सन्ति । यथा—

१) लघुत्रयीनाम्ना प्रसिद्धेषु ग्रंथेषु भवत्यंतर्भावो शार्ङ्गधरसंहितायाः ।

२) संहितायामस्यां शारीरविषयः अत्यल्पो भवति । सोऽपि प्रायः चरकसंहितायाः स्वीकृतो भवति ।

३) नेत्र—मुख—मूत्र—नाडीनां प्रयोजनं परीक्षणं चापि अत्र विद्यते ।

४) रोगाणां संख्या एव केवला दर्शिता भवति ।

५) निघंटुविषयो नास्ति विवेचितः न वा गृहीतः ।

६) क्वाथ—अवलेह—चूर्ण—गुटि—रस—आसव—अरिष्टाणां अनुभूता प्रयोगाः सलक्षणाः समाविष्टाः सन्ति ।

७) दीपिका, गूढार्थदीपिका, आयुर्वेददीपिका च एताः तिस्रः टीकाः ग्रंथे विद्यंते ।

भावप्रकाशः

भावप्रकाशग्रंथोऽपि शार्ङ्गधरवत् लघुत्रयी ग्रन्थेष्वेवान्तर्भवति । आयुर्वेदपाठचक्रमे भवति प्रयुक्तोऽयं ग्रन्थः । तृतीयः ग्रंथः योगरत्नाकरः । त्रिभिर्मिलित्वैव भवति लघुत्रयी । चरक सुश्रुत वाग्भट ग्रन्थानां सुबहोः कालादनन्तरमेव एषा लघुत्रयी प्रकाशमलभत् ।

त्रिषु अपि एषु लघुत्रयी ग्रन्थेषु बृहत्त्रयीग्रन्थेभ्यः चरकसुश्रुत वाग्भटेभ्यः एव आधाराः संगृहीता भवन्ति । कालः— भावप्रकाशग्रंथरचनाकारः श्री लटकन मिश्राणां पुत्रः भावमिश्रनामा समभवत् । संशोधकानां अनुमानतः ऐशवीये १५५० संवत्सरो संभाव्यते भावप्रकाशकालः । ग्रंथस्यास्य रचना अतीव सुलभा भवति । अपि च ग्रंथेऽस्मिन् कालं प्रचलितं अनुसृत्य आहारद्रव्याणां तथा रोगाणामपि सोपपत्तिकः सोपचारः अंतर्भावः कृतो विद्यते । अस्ति वैशिष्टयं ग्रंथस्यापि अस्य । तद्यथा—

१) यावच्छक्यं सर्वेषामप्यौषधिद्रव्याणां गुणधर्मविवेचने ' हरितक्यादिनिघंटुः ' नाम्ना स्वतंत्र एव विभागः ग्रंथेऽस्मिन् ग्रंथकर्तृणा भावमिश्रेण कृतः इति दृश्यते । सर्वोपरि एव वैशिष्टचम् अस्य ग्रंथस्य एतत् ।

२) यानि द्रव्याणि नांतर्भूतानि संहिताग्रंथेषु प्राचीनेषु अपि च यानि ऋषिकालादनंतरं व्यवहारे समागतानि तेषांमपि सुबहूनां द्रव्याणां आयुर्वेदीय शास्त्र पद्धतिमनुसृत्य नामकरणं कृत्वा गुणधर्मविवेचनं चिकित्साकार्योपयोगश्चापि ग्रंथेऽस्मिन् संदिष्टो वर्तते । अहिफेन–कर्पूर–खर्जूर–सुलेमानीलवण--खुरासनीयवान्यादीनां द्रव्याणां उदाहरणानां उल्लेखं कर्तुं युज्यते एव ।

३) यस्मात्कालात् पोर्तुगीजाः भारते समागताः तस्मादेव कालात् तैः सहैव 'गरमी' 'उपदंश' नाम्ना रोगः समायातः। पोर्तुगीजा हि फिरंगीति नाम्ना व्यवहृताःसन्त्यस्मिन् देशे । अतएव उपदंशस्य उग्रस्वरूपेण समायातस्य अस्य रोगस्यापि फिरंगोपदंश इति अभिधानं कृत्वा तस्य निरासार्थं चिकित्सापि संदिष्टा भवति ।

योगरत्नाकरः

योगरत्नाकरोऽयं ग्रंथः ऐशवीय १६५० संवत्सरादनंतरं अपि च सप्तदशशतके एव विरचितः इति प्रो० प. कृ. गोडे संशोधकमहोदयैः ' योगगरत्नाकराचा कालनिर्णय ' विषयमधिकृत्य भारतेतिहाससंशोधनमंडलस्य पुरस्तात् पठिते प्रबंधे निवेदितं भवति । प्रबंधेऽस्मिन् स्वमतपुष्टयर्थं महाभागैरेतैः प्रमाणमेकं प्रदर्शितं भवति तद्यथा—"योगरत्नाकर " ग्रंथे तमाखु वनस्पतिवर्णनं विद्यते । द्रव्यमेतत् ऐशवीय १६५० संवत्सरात् प्रचलितम् । अनन्तरमेव नातिदीर्घकालात् प्रसिद्धिमलभदेष ग्रंथ इति सिद्धचत्येव ।

वैशिष्टयम्— अस्मिन् योगरत्नाकर ग्रंथे आयुर्वेदीय शास्त्रपद्धत्या आर्तानामष्टविधा परीक्षा संदिष्टा भवति । तथैव च कालज्ञानं, धान्य–फल–कंद–शाखादीनां गुणधर्मवर्णनं संदिष्टं भवति । सिद्धान्नादीनां मांसपदार्थानां चापि भवति वर्णनं कृतम् गुणधर्मात्मकम् । धात्वादीनां शोधनमारणे रत्नादीनां चापि प्रदर्शिते भवतः । ग्रन्थेऽस्मिन् ज्वरादि रोगाणां विवरणक्रमस्तावद् माधवनिदानमनुसृत्यैव विहितो दृश्यते। अथापि च निदान विस्तारस्तु प्रभूतः कृतः । ज्वरादीनामनेकप्रकाराणां,दोषोल्बणानां संनिपातादीनां तथैव च संधिकान्तकादीनां त्रयोदश संनिपातज्वराणां तदवस्थानुसारी चिकित्साऽपि च सम्यकृतया सविस्तरा च निवेदिता । चिकित्सायां चूर्ण–गुटि–आसवारिष्ट–स्नेह–सिद्धौषधि–रस—भस्मादीनां विविधानां कल्पानां अन्तर्भावः सविस्तरं कृत्वा वैशिष्टचपूर्ण एव विरचितोऽयं ग्रंथ इति कथयितुं युज्यत एव ।

उपसंहारः

महाकोशस्य सामान्यस्वरूपज्ञानाय कृतं ह्येतत् विवेचनं भवति पर्याप्तमिति वयं मन्यामहे । अथाप्यवशिष्टमेकं कथनं यच्च कोशेनानेन सहैव संलग्ना भवति कोशे पूरणिकाऽपि मुद्रिता अस्माभिरिति । पूरणिकायामस्यां बहवो हि नूतनाः शब्दाः सन्ति समाविष्टाः । ये च प्रधाने कोशे नान्तर्भूताः इति द्रक्ष्यन्ति पाठकमहोदयाः । शब्दाश्चैते समासादिता अस्माभिः "वैद्यकशब्दसिन्धुः" नाम्नः कोशग्रंथात् । कोशश्चासौ वैद्यकशब्दसिन्धुर्नामा बहोः कालादर्वाग् प्रसिद्धः आसीत् । नासाविदानीमुपलभ्यते । सुमहत् सहायं संजातमस्य कोशस्य पूरणिकारचनायाम् । अस्मिन वैद्यकशब्दसिन्धुकोशग्रन्थे मानुषवैद्यक पारिभाषिक शब्दैः सह गजाश्वादि पशुवैद्यकविषयसंबंधिनामपि पारिभाषिक शब्दानां भवति कृतोऽन्तर्भाव इत्यपि वैशिष्ट्यमेव भवति.।

आस्तां तावत् । अंततो गत्वा भवत्वयं आयुर्वेदीय शब्दकोशः महाकोशः विज्ञानकोशो वा विदुषां आदरस्थानमिति विश्वसिमः । अपि च सत्कृतिरियं आयुर्वेदगंगावतरणे कृतपरिश्रमाणां भगीरथानां सर्वलोकहितैंषिणां अस्मत् पूर्वजानां भरद्वाज पुनर्वसुः आत्रेय प्रभृति महर्षीणां चरणेषु साञ्जलिबद्धं निरूप्य विरमामः ।

॥ इति शम् ॥

आयुर्वेदीय शब्द कोशः अर्थात् आयुर्वेदीय महाकोशः

आधारग्रंथाः	तेषां स्थानानि	संकेताश्च
चरक संहिता	चरक सूत्रस्थानम्	च. सू.
	चरक निदानम्	च. नि.
	चरक विमानस्थानम्	च. वि.
	चरक शारीरम्	च. शा.
	चरक इन्दियस्थानम्	च. इं.; च. इ.
	चरक चिकित्सास्थानम्	च. चि
	चरक कल्पस्थानम्	च. क.
	चरक सिद्धिस्थानम्	च. सि.
सुश्रुत संहिता	सुश्रुत सूत्र	सु. सू.
	सुश्रुत निदानम्	सु. नि.
	सुश्रुत शारीरम्	सु. शा.
	सुश्रुत चिकित्सा	सु. चि.
	सुश्रुत कल्पम्	सु. क.
	सुश्रुत उत्तरस्थानम्	सु. उ.
अष्टांगहृदयम्	अष्टांगहृदय सूत्रम्	अहृसू.
	अष्टांगहृदय शारीरम्	अहृशा.
	अष्टांगहृदय निदानम्	अहृनि.
	अष्टांगहृदय चिकित्सा	अहृचि.
	अष्टांगहृदय कल्पम्	अहृक.
	अष्टांगहृदय उत्तरस्थानम्	अहृउ.
अष्टांगसंग्रह	अष्टांगसंग्रह सूत्रम्	असंसू.
	अष्टांगसंग्रह शारीरम्	असंशा.
	अष्टांगसंग्रह निदानम्	असंनि.
	अष्टांगसंग्रह चिकित्सा	असंचि.
	अष्टांगसंग्रह कल्पम्	असंक.
	अष्टांगसंग्रह उत्तरस्थानम्	असंउ.
	संग्रह पृष्ठांकाः तर्टेमहोदयै संशोधिताः	तटें प्रत.

आधार ग्रंथाः	तेषां स्थानानि	संकेताश्च
काश्यपसंहिता	काश्यप सूत्रम्	का. सू.
	काश्यप विमान	का. वि.
	काश्यप शारीरम्	का. शा.
	काश्यप इंद्रियस्थानम्	का. इ.
	काश्यप चिकित्सा	का. चि.
	काश्यप सिद्धिस्थानम्	का. सि.
	काश्यप कल्पस्थानम्	का. क.
	काश्यप खिलस्थानम्	का. खि.
काश्यपः धूम कल्पाध्याय	मध्यम खण्डः	का. धूमकल्प.
-,,-रेवती कल्पाध्यायः		का. रेवती कल्प.
हारित संहिता		हा, हारित.
अश्विनी संहिता		अश्विनी संहिता
शार्ङ्गधर संहिता		शा.
,,		शा. म.
माधव निदानम्		मा.
भावप्रकाशः		भा. प्र. मिश्र.
योगरत्नाकरः		यो. र.
रसरत्नसमुच्चयः		र.; रस.; ररस.
हजारीलाल रसरत्नसमुच्चयः		ह. र.; हजारी र.
चक्रदत्तः		चक्र.
हाराणचंद्रः		हाराणचंद्र
विज्ञानेश्वरः		बिज्ञानेश्वर
राजनिघण्टुः		रा.
राजनिघण्टुः परिशिष्टम्		रा. परि.
धन्वंतरीय निघण्टुः		ध.; ध. नि.
धन्वंतरीय परिशिष्टम् पृष्ठ		ध. परि. पृ.

आधार ग्रंथाः		संकेताश्च
अष्टांग हृदय कोशः		अहको.
शालिग्राम निघण्टुः		शा. नि.
मदनपाल निघण्टुः		म. पा.
हलायुधः		हलायुधः
वैद्यक शब्दसिन्धुः		वैशसि.
शब्द कल्पद्रुमः		शकद्रु; श. क. द्रु.
मेदिनी कोशः		मेदिनी
अमरकोशः		अमरः
तिथितत्वम्		तिथितत्व
तिथिनिर्णयः		तिथिनिर्णय
नावनीतकम्		नावनीतक
गर्भोपनिषद्		गर्भोपनिषद्
गीर्वाण लघुकोशः		गी. ळ. कोशः
शिवकोशः		शिवकोश
न्यायतंत्र अनुप्रकरणम्		न्याय. अनुप्र.
गौतम न्याससूत्रम्		गौ. न्या. सू.
तर्कसंग्रहः		तर्कसंग्रह
परमलघुमंजुषा		परमलघुमंजुषा
आश्वलायन गृह्यसूत्रम्		आश्व. गृह्य. सू.
पारस्कर गृह्यसूत्रम्		पा. गृ. सू.
चूडामणिः		चूडामणि
पुल्लिंगम्		
स्त्रीलिंगम्		स्त्री.
नपुंसकलिंगम्		न.
विशेषणम्		वि.
विशेषः		०
परिवर्तितम्		परिव०;

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

–अ–

अंश–पु., चतुर्थो भागः (सुसू. ४४.१७), भागः (अहसू. १९.३९,)

अंशु–पु.. सूक्ष्मतंतुः (चशा. १.९६)

अंशुक–न., तमालपत्रम् (रा. २.५२)

अंशुमत्–पु., सोमविशेषः (सुचि. २९.५)

अंशुमती–स्त्री., शालपर्णी (चचि. २९.८०)

–द्वय–न., शालपर्णी पृश्निपर्णी च (अहसू. ६.१६८)

अंस–पु., शारीर०, पृष्ठोपरिस्कन्धसंलग्नः बाहुशिरःसंनिहितो भागः (चवि. ८.११९) स्कन्धः (चशा. ७.६) मर्मविशेषः (सुशा. ६.६) बाहुशिरः (सुनि. १.८२)

–कूट–पु., शारीर०, अंसस्य शिखरम् (असंशा. ७)

–ताप–पु., रोगलक्षण० (असंशा. ११)

–दाह–पु., रोगलक्षण० अंसभागे दाहः (चसू.२०.१४) चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (परिव०) राजयक्ष्मलक्षणेष्वेकलक्षणभूतः (अहनि. ५.१७)

–देश–पु., अंससमीपोपलक्षितो देशः (सुचि. १५.१२) अंसो बाहुशिरः (सुनि. १,८२)

–पिण्ड–पु., बाहुशिरः (सुशा. ५.११)

–पिण्डिका–स्त्री., अंसस्योन्नतभागः (सुचि. १५.१८)

–पीठ–पु., बाहुशिरः (सुसू. ३५.१२)

–फलक–न., अस्थिविशेषः, पृष्ठोपरिभागयोः अस्थिनी, पृष्ठवंशमुभयतः द्वे (सुशा. ५.१९ चशा. ७.६) अस्थिमयवैकल्यकरमर्म. (सुशा. ६.६)

–बन्धन–न., अंसगतश्लेष्मा (सुनि. १.८२)

–बन्धनशोष–पु., (परिव०) वातरोग.० अंसदेशस्थितो वायुः अंसबन्धनं श्लेष्माणं शोषयित्वा अंसशोषं करोति (ड. सुनि. १.८२)

–रोग–पु., अंसगतरोगः (चसि. २.२२)

–सन्धि–पु., शारीर० बाहुशिरसः अंसफलकस्य अंसोलूखलगतः सन्धिः, बाहुशिरःसन्धिः (सुचि. ३.३१)

अंसाभिताप–पु., राजयक्ष्मण एकादशलक्षणेषु लक्षणत्रये वा एकं लक्षणम् (चचि. ८.३०–५२)

अंसावमर्द–पु., रोगलक्षण०, अंसपीडनम् (चनि. ६.६)

अकण्ठ्य–वि., कण्ठाय अहितम् (अहसू. ६.१२८)

अकफ–वि., कफहरणम् (र. २.३)

अकराल–वि., अदन्तुरः (सुसू. ९.८)

अकर्मशीलता–स्त्री., तामसगुण० कर्मणि अनुत्साहः (सुशा. १.१८)

अकला–स्त्री.,गुणविरुद्धो दोषः,सूक्ष्मो भागः (चसू.१२.१)

अकष्टशब्द–वि., अकृच्छ्रोच्चार्यशब्दं, प्रसिद्धाभिधेयशब्दं वा (चवि. ८.३)

अकाण्ड–पु., अकालः (असंउ. २८ पृ. २०४)

अकामा–वि., मैथुनानभिलाषिणी (सुचि. २४.११४)

अकारण–वि., न विद्यते कारणं यस्य (सुशा. १.३)

अकारुण्य–न., राजसगुण०, निर्दयत्वम् (सुशा. १.१८)

अकाल–पु., अयोग्यः कालः (चवि. ८.१२८) अप्राप्तः अतीतो वा कालः (सुसू. ४६.५०८)

–ज–वि., अनुचितकाले जातम् (चसू. २७.३१७)

–प्रवाहण–न.,अप्राप्तावीकालप्रवाहणम्(सुशा.१०.९)

–मरण–न., अकालमृत्युः (असंसू.९.१२६)

–मृत्यु–पु., अप्राप्तकाले मरणम् (चवि. ८.४३)

–विरोहिन्–वि., अकालजम् (सुसू. ४६.२९७)

–शयन–न., अकाले निद्रा (अहसू. ७.६१)

अकुलक–वि., अनस्थिकम्, बीजरहितम् (चचि. ११.७५)

अकृत–वि., कृतघ्नः (सुचि. २५.३७)

–यूष–पु., स्नेहलवणाद्यसंस्कृतो यूषः (चसि. १.११)

–संज्ञ–वि., कृतेऽपि मलत्यागे मलो विस्रष्टव्य इति संजानानः (चचि. ९.७) अतीसारपीडितस्यैतद् लक्षणम्, तेन कृतेऽपि मलत्यागे मलत्यागो न कृत इति मन्यमानः, मुहुर्मुहुर्मलत्यागे प्रवृत्त इत्यर्थः ।

–संज्ञता–स्त्री., रोगलक्षण०, कृतवर्चोविसर्गादिकार्येऽपि तत्तद् वेगसंज्ञाया अस्तित्वम् (अहसू. ११.१३), मूत्रवृद्धेर्लक्षणमेतत्, अनेन प्रचुरमूत्रनिर्गमनं, मुहुर्मुहुर्मूत्रप्रवृत्तिर्बस्तेराध्मानमित्येतानि लक्षणानि सूचितानि ।

अकृतकत्व–न., अकृत्रिमत्वम् (चवि. ८.३१)

अकृतात्मन्–वि., जन्मान्तरीयैरशुभैः कर्मभिरिह विपच्यमानैरसंस्कृतः (अनाहितशुभसंस्कारः) आत्मा यस्य सः (चचि ३०.१८९, १९०)

अकृत्य–वि., चिकित्सारूपक्रियानर्हम्, असाध्यम् (सुसू. २३.१)

अक्त–वि., अभ्यक्तम् (चचि. ३०.४८)

अक्रम–पु., क्रमविरोधः, अनाचारः (सुनि. १४.३)
अक्रुद्धभीरु–वि., असति क्रोधे भीरुः (चशा. ४.३८ (४)
अक्रोधव्रत–न., विना क्रोधं चर्यते यत् तत् ,(चचि.३.१५)
अक्लिन्न–वि., शुष्कम् (सुसू. ४६.४३९)
–**वर्त्मन्**–न., नेत्रवर्त्मगतरोग०, अस्मिन् रोगे वर्त्मानि असकृत् प्रक्षालितान्यपि पुनः पुनः संबद्धानि भवन्ति तथा च अपरिपक्वानि भवन्ति (सुउ.३.२२)
अक्ष–पु., वनस्पति०, बिभीतकः (रा. १.२१२)
देवसर्षपकः (रा परि.९.४२)
शकटवहनोपयोगी चक्राधारः काष्ठविशेषः, (चवि. ३.३८)
–**चक्रनाभिः** (असंशा. ५.३८)
पु., न., मान०, कर्षः, द्वौ द्रंक्षणौ कर्षम्, 'विद्याद् द्वौ द्रंक्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च।' (चक. १२.९०)
न., लवण०, सौवर्चलम् (ध.२.३०)
न., इन्द्रियम् (अहसू. ११.२)
न., शारीर०, कोष्टकास्थि, अक्षकम् (सुसू. ३५.७)
–**ग्लानि**–स्त्री., इन्द्रियशैथिल्यम् (अहसू. ११.१८
–**तण्डुला**–स्त्री., बला (रा. ४.४३२)
–**तर्पण**–न., इन्द्रियतृप्तिकरम् (अहसू. १२.१७))
–**तैल**–न., स्नेहविशेषः, बिभीतकमज्जातैलम्, गुणाः–शीतं गुरु केश्यं कफकृत् वातपित्तघ्नं च (ध. ६.१४१)
–**त्वच्**–स्त्री., बिभीतकस्य त्वक् (असंसू. ८.११२)
–**नाशन**–वि., इन्द्रियविघाति (अहसू. १.३३)
–**पीड**–पु., यवतिक्ता (सुचि. ९.४८)
–(**पीडा**)–स्त्री., वनस्पति०, यवतिक्ता (ध. १.२५६)
–**प्रसादन**–वि., इन्द्रियाणां प्रसन्नत्वकृत्, इन्द्रिय-वैमल्यकरः, (हे., अहसू. १०.२)
–**बीज**–न., बिभीतकमज्जा (सुउ. ५८.४५)
–**युग**–न., बिभीतको रुद्राक्षश्च (र. १७.५२–५३)
–**शल्य**–न., चक्षुरादिगतशल्यम् (सुसू. २७.५)
–**सम**–वि., कर्षप्रमाणम् (सुचि. ४.२७)
–**सस्य**–पु., कपित्थः (ध. २.१०२)
अक्षक–पु., शारीर० जत्रुसन्धेः अर्वाक् कीलकवदस्थि-विशेषः द्वौ अक्षकौ (चशा. ७.६)
–**भग्न**–न., (परिव.) रोग०, अक्षकास्थनो भङ्गः (सुचि. ३.५०)
–**सन्धि**–पु., शारीर०, ग्रीवाग्रकसन्धिः, ग्रीवाधः-सन्धिः (सुनि. ११.१०), अंससन्धेः उपरिष्टात् सन्धिः (सुचि. ३.३६)
अक्षणित्व–न., पृच्छार्थमनुयुक्तस्य सम्प्रति वक्तुं क्षणो नास्तीति भाषणम् (चसू. ३०.८२)
अक्षत–पु., यवाः; अखण्डिततण्डुला इत्यन्ये (अहशा. ६.३०)
धान्यमेवमखण्डितमक्षतशब्दवाच्यमित्यपरे, वि., क्षतरहितम् (सुचि. ३.४७)
–**पात्र**–न., तण्डुलभृतशरावः (सुसू. २९.२९)
–**रोग**–पु., नखरोग०, पर्यायाः–चिप्प, उपनखम्, अंगुलिवेष्टकम् (सुनि. १३.२२)
–**शिरस्**–स्त्री., ग्रहमातृविशेषः (असंउ. ४ [पृ.४२])
अक्षय–पु., क्षेत्रज्ञः (सुशा.३.४)
अक्षर–न., न क्षरतीत्यक्षरम्, आत्मा; अकारादिवर्णः, (असंउ. १), (च. शा. ४.८)
अक्षि–न., शारीर० चक्षु (चशा. ७.७)
चक्षुरिन्द्रियस्याधिष्ठानम् (चसू. ८.१०)
–**कनीनिका**–स्त्री., नासायाः समीपवर्ती अक्षिसन्धिः, द्वे अक्षिकनीनिके (चशा. ७.११)
–**कूट**–न., अक्षिगोलकम् (च. शा. ७.११)
अक्षिकोटरस्य अधः ऊर्ध्वं च स्थितौ उन्नतौ भागौ; नेत्रशिबिरम्., नेत्रगुहा (सुउ. २५.७)
–**कोशसन्धिस्रोतस्**–न., (परिव०) शारीर० कनीनिकासन्धेः नासान्तर्गामी मार्गः (अहसु. २३.७)
–**कोशालेपन**–न., अक्षिकोशस्योपरि लेपः (असंसू. ३२.३.)
–**कोष**–पु., शारीर०, अक्ष्णः बहिःपटलम्, वर्त्मपटलम्; बहिराच्छादनम् (सुशा. ५.२०)
–**गौरव**–न., चक्षुषोः गुरुत्वम्, (अहसू. ४.१२)
–**तर्पण**–न., अक्ष्णोः तृप्तिकरं बलकरं च (चसू. १३.२५)
–**निमेष**–पु., कालविशेषः; लघ्वक्षरोच्चारणमात्रः (सुसू. ६.५)
–**पाक**–पु., नेत्ररोग०, अक्षिपाकात्ययः; चत्वा-रिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)
–**पाकात्यय**–पु., नेत्ररोग०, अस्मिन् रोगे सर्वं कृष्णमण्डलं श्वेतनिभेन दोषेण संच्छादितं तथा तीव्ररुक् भवति (सुउ. ५.१०); तथा च शोफः, संरम्भः, कलुषाश्रुता, असितं मण्डलं कफोपदिग्धं, सितं मण्डलं प्रक्लेदरागवच्च भवति। दाहः, दर्शनसंरोधः,अनवस्थिताः चलाचलस्वरूपाः वेदनाश्च भवन्ति; अयमसाध्यः (असंउ. १८, पृ. १३२)

–पीडक–पु., वनस्पति० शङ्खिनी (चक. ११.३) श्वेतपीतशिम्बीभेदः (चचि. २३.२१५)
–पुट–पु., शारीर० अक्षिवर्त्म (सुसू. ५.१३)
–भेद–पु., अक्ष्णोः भेदः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
–भेषज–पु., वनस्पति०, शाबररोध्रः, लोध्रविशेषः (रा. ६. २४०)
–मध्य–न., दृष्ट्यन्तरम्, चतुरङ्गुलं प्रमाणतः (चवि. ८.११७)
–राग–पु., रोगलक्षण०, नेत्ररक्तिमा, शोणिताश्रयः (चसू. २४.११)
–राजि–स्त्री., रोगलक्षण० चक्षुषि रेखाकाराः सिराः (अहसू. २०.४)
–राजी–स्त्री., नेत्रराजी (चसि. २.२२) डोळ्याचा रोग, ज्यात लाल शिरा दिसतात.
–रोग–पु., नेत्रामयः (चचि. २६.२४६)
–लघुता–स्त्री., नेत्रलाघवम् (अहसू. २०.२५)
–वर्त्मन्–न., शारीर० नेत्रस्य बाह्याच्छादनम्, ऊर्ध्वाधरभेदेन द्वे (चशा. ७.११)
–विभ्रम–पु., रोगलक्षण०, नेत्रविभ्रमः (चसि. ६.७२)
–वैराग्य–न., रोगलक्षण०, रूपग्रहणेऽलसत्वम्, नेत्ररागापगमः (सुक. १.३०)
–व्युदास–पु., अशीतिवातविकारेषु एकः, अक्ष्णः अक्ष्णोर्वा विशेषेण ऊर्ध्वं बहिर्वा आगमनम् (चसू. २०.११)
–शल्य–न., नेत्रगतं शल्यम् (असंसू. ३७.२४)
–शूल–न., रोग० अशीतिवातविकारेषु एकः (चसू. २०.११)
–सङ्कोच–पु., रोगलक्षण०, (असंसू. २९.६)
–सेचन–न., उपक्रम०, (अहसू. २३.५)
–स्तब्धता–स्त्री., रोगलक्षण० (अहसू. २०.२४)
–स्पंदन–न., रोगलक्षण०, नेत्रस्पन्दः (असंसू. २९.५)

अक्षी–स्त्री., भैषज्यद्रव्यविशेषः, रक्तस्फटिका (र.१०.११)
अक्षीर–पु., महानिम्बः (ध. १.३१)
अक्षीरा–वि., स्तन्यरहिता (कासू. लेहाध्यायः पृ. ३)
अक्षीव–पु., वनस्पति०, क्षीवः, क्षीवो नीपः (चचि. ३.२६७) शोभाञ्जनः (चसू. ४.११–१५) महानिम्बः (सुक. ८.१२०) रक्तशिग्रुः (र.१०.९१)
अक्षुद्रकर्मिणी–वि., क्षुद्रं कर्म या न करोति (चशा. ८.५२)

अक्षोट–पु., वनस्पति० गुणाः—स्वादुः, उष्णः, रूक्षः, स्निग्धो वा, गुरुः, मधुरपाकः, पुष्टिकरः, बृंहणः, बल्यः, पित्तश्लेष्मघ्नः, वातघ्नश्च (रा. ११.८२) अक्षोटफलम् औत्तरापथिकं, गुरूष्णस्निग्धमधुरं, बलप्रदं, वातघ्नं, बृंहणं, वृष्यं, कफपित्तवर्धनं च, (चसू. २७.१५७)
अक्षोड–पु., वनस्पति० अक्षोटवृक्षः, मदनफलाकारफलः, मध्ये किञ्चिदुन्नतरेखान्वितः, पर्वतपीलुः, मधुरफलः (सुसू. ४६.१८७)
–तैल–न., स्नेह० तत् शीतं, गुरु, केश्यं, कफकृत्, वातपित्तघ्नं च (ध. ६.१४१)
अक्ष्यञ्जन–न., अक्षिभेषज० (चसू. ५.१४)
अक्ष्युपरोध–पु., रोगलक्षण० दृष्टेः प्रतिबन्धः (चचि. २३.६९)

अगण्य–वि., अगणनीयम् (चशा. ४.२४) गर्भिण्या अष्टमो मासो न गणनीयः, यदि हि गर्भिणी गण्यमानमष्टमं मासं गर्भजन्मव्यापत्तिकरं शृणुयात् ततो भीता स्यात् तद्भयाच्च गर्भस्य वातक्षोभाद् व्यापद् भवेत्.
अगद–पु., न., औषधम् (चचि. ३.३०९–३१०) अगदत्वं च युक्तस्य गदानामपुनर्भवात् (काखि. ३) विषहरमौषधम् (चचि. ९.७१) वनस्पति०, कुष्ठम् (ध.३.४९) वि; अरोगम् (चचि. १[१].४०)
–क्रम–पु; अगदस्य उपक्रमः (सुक. ५.१३)
–तन्त्र–न; विषतन्त्रम्, सर्पकीटलूता–मूषिकादिदुष्टविषज्ञानार्थं विविधविषसंयोगोपशमार्थं शास्त्रम् (सुसू. १.७) आयुर्वेदस्य अष्टसु अङ्गेषु एकम्
–प्रलिप्त–वि; विषहरभेषजलेपयुक्तम् (असंसू.८.९)
–लेप–पु., महागदादिलेपः, रक्तसेचनावशिष्टविषप्रशमाय महागदादिभिः लेपः कर्तव्यः (सुक. ५.१६)
–वेद–पु., अगदार्थः आरोग्यार्थः वेदः नाम आयुर्वेदः (चचि. १२.४)
अगदङ्कर–वि., रोगनाशने स्वास्थ्यकरः (सुशा. १०.३९)
अगम्या–वि., स्वसृदुहितृप्रभृतिः मैथुनायोग्या (स्त्री) (सुचि. २४.११४–११६)
अगरु–न., वनस्पति० सुगन्धिद्रव्य० (चसू. २५.४०., ध. ३.२५) तद्गुणाः—कटु, तिक्तं, उष्णं, स्निग्धं, वातकफघ्नं, श्रुतिनेत्रकुष्ठादिरोगघ्नं च (असंसू. १२.७७)

–सार–पु., अगरुनिर्यासः (रा. १२.३९)
–सारतैल–न., अगरुनिर्याससिद्धतैलम् (असंसू. ६.१०६)
अगर्भा–वि.. गर्भरहिता (चनि. ३.१४)
अगस्ति–पु., महर्षिविशेषः, हिमालये इन्द्रादेशात् रसायनप्रयोगं कृतवान् (चचि. १ [४].३)
वनस्पति०, अगस्त्यः (रा. परि.१०.१३)
अगस्तिक–पु., अगस्त्यः (र. १२.१२१).
अगस्त्य–पु., वनस्पति० (रा. परि. १०.१३)
पर्यायाः–कुम्भयोनिः, मुनिद्रुमः, वक्रपुष्पः, सित–पीत–नील–लोहित–कुसुमभेदात् चतुर्विधः.
गुणाः–मधुरः, शिशिरः, त्रिदोषघ्नः, बलासकासभूत–वैवर्ण्यश्रमापहः (रा. परि. १०.१४)
विशेषगुणाः–नक्तान्ध्यनाशनः (सुसू. ४६.२८२)
चातुर्थिकनाशनः (असंसू. १२.८९)
–ऋषिविशेषः–रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिषु एकः (चसू. १.९)
–तारकाविशेषः, अगस्त्योदये विषं मंदवीर्यं जलं च निर्विषं भवति (चचि. २३.८)
–रसायन–न., रसायनः (असंचि. ५० पृ०, २९)
–हरीतकी–स्त्री., योग० (चचि. १८.५७–६१)
अगस्त्यावलेह–पु., योग० कासराजयक्ष्माद्यनेकव्याधिहन्ता (ड. सुउ. ५२.४१–४५)
अगारधूम–पु., न., गृहधूमः (चचि.७.२५)
अगुण–वि., गुणरहितः निर्गुणः (सुशा. १.९)
अगुरु–न; सुगन्धिद्रव्य०, धूपविशेषः अगुरु श्रेष्ठं लेपनद्रव्यम् "रास्नागुरुणी शीताऽपनयनप्रलेपनानाम्" (चसू.२५.४०)
कृष्णागुरु, (सुसू. ५.१८)
वनस्पति०, कालेयकम् (रा.१२.४०)
–ज–वि; अगुरुजन्यधूपादि (चचि. ३.२६९)
–तैल–न; सारतैलविशेषः, तद्गुणाः—तिक्तं कटु कषायं दुष्टव्रणशोधनं कृमिकुष्ठहरं च (सुसू. ४५.१२३)
अगुर्वादितैल–न; सिद्धयोग० शीतज्वरप्रशमार्थम् अगुर्वादिशतद्रव्यजन्यम् उष्णवीर्यं तैलम् (चचि.३.२६७)
अगूढगन्ध–न., निर्यास०, हिङ्गु (ध. २.३६)
अगोचरभूत–वि., गोचरो देशः, यस्य यो देशस्तत्र न पुष्टं, विपरीतगुणे देशे पुष्टम् (चसू. २७.३११)
अग्नि–पु., शारीरभाव० जाठराग्निः (चचि. १५.३)
दोषधातुमलसन्निपातजनितोऽन्तरूष्मा, यथा–निर्दिष्टाधिष्ठानकर्मा (असंशा. ६.५६.) स चतुर्विधः, समः, विषमः, तीक्ष्णः, मन्दश्चेति (सुसू. ३५.२४. अहसू. १.८) अग्निपित्तयोरभेदं कृत्वा पाचकरञ्जकालोचकभ्राजकसाधकभेदात्पञ्चविधोऽग्निः । (सुसू. २१.१०) अग्नेः स्थानानि पाचकोऽग्निराम–पक्वाशयमध्यगः, रञ्जकः आमाशयाश्रयः, आलोचकः दृक्स्थः, भ्राजकः त्वक्स्थः, साधकः हृदिस्थः, रसादीनां सप्तधातूनामाश्रयभूताः सप्त अग्नयः (चचि. १५.१५)
प्राणविशेषः (सुशा.४.३) देवता० (चचि.३.८२)
वाचोऽधिदैवतम् (सुशा.१.७)
सत्त्वरजोबहुलं महाभूतं तेजः (सुशा. १.२०)
भूत०, लौकिकोऽग्निः (चसू. २५.४०)
अनुशस्त्र० (सुसू. ८.१५)
खनिज०, सुवर्णम् (रा. १३.१)
वनस्पति०, चित्रकः (सुउ. ४४.३३.)
रक्तचित्रकः, (रा. ६.१२७) भल्लातकः (र. १३.६३)
–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति०, अग्निमन्थः (र.,११.५४)
–कर्मन्–न., पचनक्रिया (सुसू.२१.१०)
दाहचिकित्सा (सुसू.१२.१०)
दहनकर्म (सुचि. १.८)
परिणामभेदात् द्विविधं; त्वग्दग्धं, मांसदग्धं च (सुसू. १२.७)
तत्र त्वग्दग्धे शब्दप्रादुर्भावः; दुर्गन्धता, त्वक्संकोचश्च; मांसदग्धे कपोतवर्णता अल्पश्वयथुवेदना शुष्कसंकुचितव्रणता च; सिरास्नायुसंध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः (सुसू. १२.७)
–कर्मविधि–वि., अध्याय०, (सुसू. १२.१)
अग्निना कृत्वा यत्कर्म, अग्नेः सम्बन्धि वा यत्कर्म तदग्निकर्म, तस्य विधेर्विधानम्, तद् विद्यते यस्मिन् सः ।
–कीट–पु., प्राणनाशनः कीटविशेषः, तेन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पदंशवद् भवति, सान्निपातिकाः रोगाश्च भवन्ति; दंशस्तु रक्तपीतसितारुणः क्षाराग्निदग्धवर्णश्च भवति (सुक. ८.१७; असंउ. ४३ पृ. ३५२)
–कुमार–पु., ताम्रगन्धकपारदत्रिफलात्रिकटुयुक्तः पारदयोग०कृतरेचनस्य गुल्मं यकृत्पाण्डुविबन्धशूलमग्निमान्द्यं ज्वरं जलोदरं च हन्ति (र. १८.७५.)
अन्यो योगविशेषः (र. १८. १६६–१७३.)
–क्थन–न., अग्निना श्रृतम् (सुसू. ४५.१२.)
–गन्धक–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३९.)
–गर्भ–पु., जाङ्गमद्रव्य० अग्निजारः (ध. ६.२१.)

–(गर्भा)–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२.)

गर्भाशय–पु., जाङ्गमद्रव्य०, अग्निजारः (र. १६.१६७.)

–गृह–न., अग्निना युक्तं गृहम् (चसू. २०.१६.)

–ज,–जार–पु., प्राणिजद्रव्य०, 'अंबर' इति लोके, समुद्रेण बहिस्त्यक्तः सूर्यतापेन संशुष्कः, अग्निनक्रस्य जरायुः, रक्तवर्णोऽग्निजारः सर्वोत्तम इति वृद्धाः (र. ३.१५०)

–जिह्वा–स्त्री., वनस्पति०, कलिकारी (असंशा. १.६१)

–ज्वाला–स्त्री;. वनस्पति०, धातकी (रा. ६.१५१) महाराष्ट्री, मराठी (रा. परि. ४.१३)

–तुण्ड–पु., योगविशेषः (र. २०.२३३)

–तुण्डीरस–पु., योग०, शुद्धसूतं विषं गन्धमजमोदां त्रिफलां सर्जिक्षारं यवक्षारं चित्रकसैन्धवजीरकं सौवर्चलं सामुद्रं च्यूषणं विडङ्गानि च सर्वाणि जम्बीराम्लेन मर्दयेत् । गुटिकां च कुर्यात्, अयमग्निमान्द्यप्रशमनः (वै. श. सि.)

–दग्ध–न., अग्निना दाहः, तच्चतुर्विधम् द्रुष्टं, दुर्दग्धं, सम्यग्दग्धमतिदग्धं च (सुसू. १२.१६) अग्निदग्धजातव्रणोऽबन्ध्यः (सुसू. १८.३२-३३)

–दमनी–स्त्री., वनस्पति० (रा. परि. ४.३.) गुणाः–रूक्षा, कटुः, उष्णा, रुचिकृत्, दीपनी, हृद्या, वातकफघ्नी गुल्मप्लीहापहा च।

–दाह–पु., उपक्रम०, अग्निकृतो दाहः (असंउ. ३३.)

–दीपन–न., (परिव०,) औषधकर्मविशेषः (चसू. २७.२५१.)

–दीप्ता–स्त्री., वनस्पति०, तेजोवती (सुचि. ३३.२७.)

–दीप्ति–स्त्री., अग्नेर्दीपनम् (सुचि. ३३.२७.)

–दोष–पु., अग्निदुष्टिः, अग्निविकृतिः (असंशा. ६.)

–धमन–पु., वनस्पति०, निम्बः (रा.९.४४.) कडुनिंब.

–नक्र–पु., जलचर०, अग्न्याख्यो नक्रः (र. ३.१५०.)

–नामन्–पु., वायव्यकीटविशेषः तद्गुणाः–वातकोपनः वातजान् रोगान् करोति (सुक. ८.५) (असंउ. ४३. पृ. ३५१)

–नाश–पु., रोग० रसप्रदोषजरोग० (चसू. २८.१०)

–निर्यास–पु., प्राणिजद्रव्य०, अग्निजारः (ध. ६.२१)

–परीक्षा–स्त्री., अग्नौ परीक्षणम् (अहसू. ७.१३)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति०, अग्निमन्थः (र. १४.७१)

–प्रतपन–न., उपक्रम०, स्वेदनम् (सुसू. १२.२०)

–प्रताप–पु., उपक्रम०, अग्निना प्रतापनम्, वातामयेषु वातकफामयेषु च प्रयुज्यते (सुउ. ५६.१२.)

–प्रभा–स्त्री., कीट०, शतपदीभेदः; एतस्या दंशोऽसाध्यः (सुक. ८.३०)

–फला–स्त्री., वनस्पति०, तेजोवती (रा. ३.३९२)

–बन्ध–पु., पारदबन्ध० (र. ११.८९)

–बल–न., अग्नेर्जरणशक्तिः (चसू. १३.७०)

–भासा–स्त्री., वनस्पति०, ज्योतिष्मती (ध. १.२६७)

–भेद–पु., रोग०, अग्निवैषम्यम्, रेवतीरोषसम्भूतरोगेष्वेकः (का. बालग्रह चि.)

–मथन–पु., वनस्पति०, अग्निमन्थः (ध. १.११०)

–मन्थ–पु., तेजोवृक्षः, पूर्वदेशे 'आगथ' इति प्रसिद्धः (सुसू. ३८.१०.,) 'अङ्गेशूर' इति लोके (ड. सुसू. ३८.१२.) 'अग्निवधूः' इति पूर्वदेशे (ड. सुसू. ३९.७) अस्य क्षुद्राग्निमन्थ इत्यपरो भेदः, उभावपि तुल्यगुणौ, गुणाः–कटुस्तिक्त उष्णो वात–कफघ्नः पाण्डुशोफाग्निमान्द्यामविड्विबन्धाध्मानार्शोघ्नश्च (ध. १.१११)

–मन्थन–पु., वनस्पति०, अग्निमन्थः (ध.१.१११)

–मन्थरस–पु., अग्निमन्थस्य स्वरसः (अहसू. १४.२३)

–मन्थवटी–स्त्री., रसकल्प०, अग्निमान्द्यघ्नी (र. १६.१६९)

–मन्दता–स्त्री.. रोगलक्षण०, अग्निमान्द्यम् (अहसू. ७.६१)

–मान्द्य–न., रोग०, जाठराग्नेर्मान्द्यम्, मन्दतीक्ष्णविषमभेदेन त्रिविधम्, (मा०–मधुकोश) वातज–अग्निमान्द्यलक्षणानि-अशिता मात्रा कदाचित् सम्यक् पच्यते कदाचिन्न विपच्यते, वातजान् विकारान् करोति; पित्तजअग्निमान्द्यलक्षणानि–मात्रातिमात्राप्यशिता सुखं विपच्यते, पित्तनिमित्तजान् रोगान् करोति; कफजअग्निमान्द्यलक्षणानि–स्वल्पापि मात्रा अशिता नैव पच्यते, कफसम्भवान् विकारान् करोति; वातेन विषमः, पित्तेन तीक्ष्णः, कफेन मन्दः अग्निर्भवति (अहशा. ३.७४)

–मुख–पु., वनस्पति०, भल्लातकः (ध. ३.१४३) रसकल्प० (र. १८.१०६; र. १८.१३९)

–मुखी–स्त्री., वनस्पति०, कलिकारी (चसू. ४.९(४) आग्नेयलूताविशेषः, इयं स्वेदजा पित्तविकारकरी च भवति । दंशलक्षणानि–अग्निदग्धवत् अतिरुक् स्फोटाः सम्भवन्ति; अग्निज्वालसमानेन विषोष्मणा

प्रस्वेदनम्, तृड्दाहकम्पमूर्च्छाः पित्तास्रमतिसारश्च (असंउ. ४४. पृ. ३६२) अग्निमुख्या (असंउ. ४५. पृ. ३७०)

–यान–न., अग्निशकटिका (असंसू. ४.४७)

–युग्म–न., चित्रकं, भल्लातकश्च (र. १५.६९)

–योजन–न., अग्निकर्म (अहसू. २५.२.)

–रस–पु., रसकल्प० (र.१३.४५.)

–रोहिणी–स्त्री., रोग०, क्षुद्ररोगः, तन्त्रान्तरे 'वह्निरोहिणीति–' तल्लक्षणम् पित्तोल्बणैः मलैः कक्षाभागेषु अन्तर्दाहज्वरकराः दीप्तपावकसन्निभाः मांसदारणाः स्फोटाः जायन्ते, ते वाताधिकैः दोषैः पंचाहात्, पित्ताधिकैः सप्ताहात्, कफाधिकैश्च पक्षात् मानवं घ्नन्ति (सुनि. १३.२०; असंउ. पृ. २७१)

–वक्त्रा–स्त्री., लूता० दंशलक्षणानि–दंशदेशे अत्यर्थो दाहः, स्रावः, ज्वरः, चोषकण्डूरोमहर्षाः दंशस्तु दाहविस्फोटयुतश्च (सुक. ८.११८)

–वध–पु.,रोगलक्षण० अग्निमान्द्यम् (अहसू. १९.६६)

–वल्लभ–पु., रालः, सर्जकः (ध. ३.१२१.)

–वि(वी)सर्प–पु., रोग० वातपित्तजः विसर्पः, सम्प्राप्तिः–स्वहेतुभिः अतिमात्रं प्रकुपितं वातपित्तं परस्परं लब्धबलं सत् गात्रं दहत् विसर्पति । तल्लक्षणम्–तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिव आकीर्यमाणं मन्यते, छर्दतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यमवकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाशैव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलोऽङ्गान्यतिमात्रं भिनत्ति, संज्ञां प्रमोहयति, हिक्काश्वासौ जनयति, निद्रां नाशयति । स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो, व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति, दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति, तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् । (चचि. २१.३६; असंनि. १३.)

–वीर्य–न., सुवर्णम् (रा. १३.१)

–वेश–पु., वैद्य०, पुनर्वसोः आत्रेयस्य शिष्यः अग्निवेशतन्त्रस्य कर्ता. (चसू. १.३९, अहसू. १.४)

–वैषम्य–न., व्याधिलक्षण०, विषममग्नित्वम् (चनि. ३.१५)

–शिख–न., सुवर्णम् (रा. १३.३)

–शेखर–न., वनस्पति०, कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)

–षड्ज–पु., रोगलक्षण०, अग्निसङ्गः (सुचि. ४.३२)

–ष्टोम–पु., वनस्पति०, सोमप्रकारः (सुचि. २९.७)

–सङ्ग–पु., रोगलक्षण०, अग्निमान्द्यम्, अग्निः यस्मात् सज्यते लीयते सः तेन वातश्लैष्मिकग्रहणीविसूचिकालसकविलम्बिकादिविकारा गृह्यन्ते. (सुसू. ११.८)

–सदन–न., रोग०, अग्निमान्द्यम् (अहसू. ११.७)

–सन्ताप–पु., अग्निस्वेदः (सुचि. ४.२६)

–समता–स्त्री., अग्निसाम्यम् (सुनि. १.१०)

–सम्भव–पु., अग्निजारः, कुसुम्भम्, कौसुम्भम् (ध. ६.२१; रा. ४. १८९)

–सम्भ्रम–पु., उत्पातप्रदीप्तिः (सुचि. २४.९१)

–सह–वि., अग्निसहनसमर्थः (र. ३०.११.)

–सहन–पु., ज्वलनस्वभावनिर्मुक्तः (र. २.१५६)

–साद–पु., रोगलक्षण०, अग्निमान्द्यम् (सुनि.१.१७)

–सादन–न., अग्निसादः (सुउ. ४०.११६)

–सार–न., रसाञ्जनम् (रा. १३.२२२)

–स्कन्द–पु., देवता० (असंउ. १ पृ. ९)

–स्कन्ध–पु., महान् अग्निराशिः (अहसू.२.३४)

–स्वेद–पु., स्वेद०, तापोपनाहद्रवोष्मभेदेन चतुर्विधः (असंसू. २६.३) द्र० ' स्वेद '

अग्न्यधिष्ठान–न., शारीर०, ग्रहणी, जाठराग्नि–स्थानम् (चचि. १५.५६)

अग्निक–पु., वनस्पति०, चित्रकः (सुउ. २३.१०)
अजमोद (सुउ. ९.१९) मोरटः (सुक. २.४४)
कलिकारिका (सुसू. ३७. १०)
भल्लातकः (ध. ३.१४३)

–बभ्रु–पु., सर्प०, मण्डली (सुक. ४.३४ (२)

अग्नीषोमसंयोग–पु., आर्तवस्य शुक्रस्य च मिथः संयोगः (सुशा. ३.४)

अग्र–न., परिमाण०, पलम् (चवि. ६.४)

–ग्रहण–पु., प्रथमतः ग्रहणम् (अहसू. ९.१५)

–च्छद–पु., तरुणपत्रम् (चचि. २९.१४१)

–ज–वि., पूर्वजम् (चचि.७.१२)

–पत्रक–पु., वनस्पति०, नीली, नीलिनी (ध. १.२३३)

–प्ररोह–पु., अग्रिमभागः (सुशा. ५.११)

–रूप–न., पूर्वरूपम् (असंसू. २.२८)

–वक्त्र–न., यन्त्र०, सर्पफणसदृशं यन्त्रम् (असंचि. १३ पृ. ८१)

–वर्ति–स्त्री., सूत्रमयी घनवर्तितावर्तिः (सुचि. ८.३०)

–वेदना–स्त्री., पूर्वरूपम् (कासू. २५.१४)

अग्रह–पु., अप्रशस्तस्थानस्थितक्रूरग्रहानधिष्ठितः कालः (चइं. १२.६८)

अग्राहिन्–वि., विकृतमुखम्, यन्त्रदोष० (सुसू. ७.१९)

अग्रोपहरणीय–वि., अध्याय०, कर्मणामग्रे उपहरणं येषां यन्त्रशस्त्रादीनां तानि अग्रोपहरणानि तान्यधिकृत्य कृतोऽध्यायः (सुसू. ५.१)

अग्र्य–वि., श्रेष्ठम् (सुचि. ९.१८)

पु., एककार्यकराणामौषधानां योऽत्यर्थं कार्यकरः सोऽग्र्यः (चसू. २५.४१)

–चन्दन–न., वृक्ष०, धवलचन्दनम् (चवि. ६.१७)

–मति–वि., कुशाग्रीयमतिः (सुचि. १०.३)

–लवण–न., सैन्धवम् (चचि. २३.९६) सैंधव.

–संग्रह–वि., अध्याय० (असंसू. १३.१)

अग्र्याणां नाम हिताहिततमानामाहारविकाराणां संग्रहः (चसू. २५.४०) (असंसू. १३)

स यथा–अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्, उदकमाश्वासकराणां, (सुरा श्रमहराणां), क्षीरं जीवनीयानां, मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां, लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणामग्र्यं हृद्यानां, कुक्कुटो बल्यानां, नक्रेतो वृष्याणां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणां, क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां,(तिन्दुकमन्नद्रव्यरुचिकराणां),आमं कपित्थमकण्ठ्यानामाविकं सर्पिरहृद्यानामजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यरक्तसांग्राहिकरक्तपित्त–प्रशमनानामविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानां, महिषीक्षीरं स्वप्नजननानां, मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणां, गवेधुकान्नं कर्शनीयानामुद्दालकान्नं विरूक्षणीयानामिक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था अम्लपित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमननास्थापनानुवासनोपयोगिनां, त्रिवृत्सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां,स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, राखा वातहराणामामलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानामेरण्डमूलं वृष्यवातहराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणां, पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, मुस्तं सांग्राहिकदीपनीयपाचनीयानामुदीच्यं निर्वापणदीपनीयपाचनीयच्छर्दितीसारहराणां, कट्वङ्गं सांग्राहिकपाचनीयदीपनीयानामनन्ता सांग्राहिकरक्त–पित्तप्रशमनानाममृता सांग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानां, बिल्वं सांग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानामतिविषा दीपनीयपाचनीयसांग्राहिकसर्वदोषहराणामुत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, दुरालभा पित्तश्लेष्मप्रशमनानां, गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानां, कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानां, काश्मर्यफलं रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, पृश्निपर्णी सांग्राहिकवातहरदीपनीयवृष्याणां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला सांग्राहिकबल्यवातहराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां,हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानामम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणां, यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानां, तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानां,क्रव्यान्मांसरसाभ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानां, क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां, समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणां, चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानां, राखागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानां, लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनां, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीयरोपणीयानां, वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनामग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, मृद्भृष्टलोष्ट्रनिर्वापितमुदकं तृष्णाच्छर्द्यतियोगप्रशमनानामतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां, यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसंधुक्षणानां, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारो सेव्यानां, कालभोजनमारोग्यकराणां, तृप्तिराहारगुणानां, वेगसंधारणमनारोग्यकराणां, मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणां, गुरुभोजनं दुर्विपाककराणामेकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणां, क्षीण्वतिप्रसङ्गः शोषकराणां, शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ड्यकराणां, पराघातनमश्रद्धाजननानामनशनमायुषो ह्रासकराणां, प्रमिताशनं कर्शनीयानामजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानां,

विषमाशनमग्निवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानामायासः सर्वापथ्यानां, मिथ्यायोगो व्याधिकराणां, रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानां, ब्रह्मचर्यमायुष्याणां, परदाराभिगमनमनायुष्याणां, संकल्पो वृष्याणां, दौर्मनस्यमवृष्याणामयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां, विषादो रोगवर्धनानां, स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः शोषणानां, निवृत्तिः पुष्टिकराणां, पुष्टिः स्वप्नकरणामतिस्वप्नस्तन्द्राकराणां, सर्वरसाभ्यासः बलकराणां, एकरसाभ्यासः दौर्बल्यकराणां, गर्भशल्यमाहार्याणामजीर्णमुद्धार्याणां, बालो मृदुभेषजीयानां, वृद्धो याप्यानां, गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारणानां संनिपातो दुश्चिकित्स्यानामामो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां, कुष्ठं दीर्घरोगाणां, राजयक्ष्मा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणां, जलौकसोऽनुशस्त्राणां, बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानौषधिभूमीनां, सोम ओषधीनां, मरुभूमिरारोग्यदेशानामनूपोऽहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक्चिकित्साङ्गानां, नास्तिको वद्यर्थानां, लौल्यं क्लेशकराणामनिर्देशकारित्वमरिष्टानामनिर्वेदो वार्तलक्षणानां, वैद्यसमूहो निःसंशयकराणां, योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमौषधीनां, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानां, संप्रतिपत्तिः कालज्ञानप्रयोजनानामव्यवसायः कालातिपत्तिहेतूनां, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणामसमर्थता भयकराणां, तद्विद्यसंभाषा बुद्धिवर्धनानां; आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनामायुर्वेदोऽमृतानां, सद्वचनमनुष्टेयानामसद्ग्रहणं सर्वाहितानां, सर्वसंन्यासः सुखानामिति ।

अग्र्या–स्त्री., प्राणिद्रव्य० घनीभूतं गव्यं पित्तम् गोरोचना (ध. ३.२८ पृ. ९८)

अग्लानि–स्त्री., रोगलक्षण०, ईषद्ग्लानिः (सुउ. ३९.११८)

–कर–वि., हर्षक्षयं न करोतीत्यर्थः (सुसू. ३४.२३)

अघोरमन्त्र–पु., मन्त्रविशेषः,

अघोरमन्त्रो यथा– 'ॐ ह्रीं ह्रीं हुं अघोरतर प्रस्फुट प्रस्फुट प्रकट प्रकट कह कह शमय शमय जात जात दह दह पातय पातय ओं ह्रौं ह्रैं ह्रौं हुं अघोराय फट्, इति । (र. ६.२१ टीका)

अङ्क–पु., रेखा (र. ७.२९)

–पाद–पु., चर्मचटकः (चसि. ३.१२)

–लोड्य–न., शाक०, ह्रस्वोत्पलकन्दः । शाकमस्य गुरुविष्टंभि शीतलं च (चसू. २७.११७)

–वृक्ष–पु., कदम्बः (ध. ५.१०४)

अङ्कुर–पु., मृदुनालम्, एषणार्थप्रयुक्तमेकमनुशस्त्रम् (सुसू. ८.१९)

अग्रपल्लवः (सुचि. ३८.८५)

अङ्कुरित–वि., विरूढः (चवि. २ [४].१५)

अङ्कुश–पु., न., हस्तिचालनार्थं शस्त्रम् (सुसू. ७.१०)

–वदन–न., शलाकायन्त्र०, अङ्कुशतुल्याकृतिमुखं वदनं यस्य तत् (सुसू. ७.१४)

अङ्कुशिका–स्त्री., वातवेदना०, अङ्कुशनिपाताकर्षणसदृशी वेदना. (सुसू. २२.११)

अङ्कोट–पु., अङ्कोलः (सुक. १.७२) (असंसू. ३९.१२)

–पुष्प–न.,अङ्कोलपुष्पम्, तद् विषहरं भवति. (सुक. १.७२)

अङ्कोठ–पु., वृक्ष०, अङ्कोलः (सुक. ७.३४)

'अङ्कोल्ल' इति लोके (ड. सुसू.३७.१२)

अङ्कोल–पु., वनस्पति०, (चचि. २३.२४४)

चीरितस्वल्पपत्रः दीर्घपर्णः कण्टकी तैलफलो वृक्षविशेषः (र. १०.३२)

" अङ्कोटोऽङ्कोलको रेची निर्दिष्टो दीर्घकीलकः,
पीतसारस्ताम्रफलो गन्धपुष्पो निकोचकः । "
(ध. १.२५८)

गुणाः—कटुक उष्णस्तीक्ष्णः स्निग्धो रेचनः सूतशुद्धिकृद्वातकफघ्नः कुक्कुराखुविषघ्नः ग्रहजन्तुविषभूतविषलूताविषकण्ठशूलघ्नः (ध. १.२५८)

अङ्कोलस्य पुष्पं विषहरम् (सुक. १.७२)

अस्य फलं श्लेष्मलं, गुरु, विष्टम्भि, अग्निजिच्च; (चसू. २७.१५९) मूलं सर्वमूषिकविषघ्नम् (असंउ. ४६) एतद्बीजसंभूतं तैलं श्वित्रनाशनार्थमुपयुज्यते (र. ५.२४१)

–तण्डुल–पु., अङ्कोलबीजम् (र. १८.२१)

अङ्कोलक–पु., अङ्कोलः (ध. १.२५८)

अङ्कोल्ल–पु., अङ्कोलः (अहसू. ६.१२०)

अङ्ग–न., सकलं शरीरम् (असंशा. ५.३)

शरीरस्य षडङ्गानि अन्तराधि–सक्थि–बाहु–शिरांसि च । (सुसू. ३५.१२)

विभागः, आयुर्वेदस्य अष्टावङ्गानि (अहसू. १.६)

शरीरस्य अवयवाः (सुशा. ५.३)

षट्संख्यावाचकं पदं, यथा 'वेदेन्दुनेत्राङ्गरसाङ्गभागाः' (र. २६.५४–५५)

पु., उन्मार्गगमनम्, अङ्गैर्गत्यर्थत्वात् (अहसू. १२.५०)

–क्षय (च्छाय)–पु., (यो) पोगरस्य नामत्रयाणामन्यतमम्. (र. ५.८४.)

–गन्ध–पु., अङ्गस्य गन्धः, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

–ग्रह–पु., रोगलक्षण०, अङ्गमर्दः (चचि. २९.९६)

–ग्लानि–स्त्री., रोगलक्षण०, अङ्गशोषः, देहजाड्यम् (चचि. २९.३८)

–तुदन–न., रोगलक्षण०, सूचीवेधवदङ्गवेदना (र. १६.७७)

–द–पु., अङ्गरागः, बाहुभूषणम् (चक्र. चशा. ८.९)

–दौर्बल्य–न., रोगलक्षण०, बलहानिः (चसू. १४.१४)

–प्रग्रह–पु., रोगलक्षण० अङ्गग्रहः (चसि. २.१२)

–प्रत्यङ्गविभाग– पु., अङ्गानां प्रत्यङ्गानां पृथक्त्वम् (असंशा. २.२२)

–प्रदूषण–न., अङ्गदुष्टिः (चसू. ११.३९)

–प्रदेश–पु., अङ्गप्रत्यङ्गानि, तदुपरितनभागाश्च (सुनि. ५.४)

–भङ्ग–पु., रोगलक्षण०, अङ्गानां स्फोटनमिव वेदना, अङ्गानां जङ्घोरूप्रभृतीनां भङ्ग इव भङ्गः चूर्णनमिव (अहसू. १२.५०.)

–भेद–पु., रोगलक्षण०, अङ्गानां भेदः (चनि. ५.११)

–मर्द–पु., रोगलक्षण० (चसू. ४.१७ (४४) अङ्गोद्वेष्टनमिव वेदना, स्फुटनिका इत्यन्ये (सुउ. ५५.१६)

अङ्गानि विमृद्यन्ते इव (सु. उ. २४.५)

रसदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८.९)

रक्तदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९, चसू. १४.२२)

–मर्दप्रशमन–वि., शामकगण०, अङ्गमर्दघ्नः (चसू. ४.८)

–राग–पु., गात्ररञ्जनं, विलेपनं (सुचि. २५.४३) शरीरस्य रक्तिमा (सु.उ. ४२.११)

–रुह–पु., शारीर०, केशः (सुचि. ३०.१५)

–वर्धन–वि., बृंहणकरम् (चचि. १.[१].७०)

–वादन–न., चेष्टा० (असंसू. ३.९६)

–विनिश्चय–पु., अङ्गानां निर्णयः (सुशा. ५.४६.) अंगविनिश्चयार्थं मृतशरीरस्य कोथनपूर्वकं छेदनं सुश्रुतेन वर्णितं तद्यथा–मृतं समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं, निःसृष्टान्त्रपुरीषं, अ(आ)वहन्त्यामापगायां निबद्धं, पञ्जरस्थं, आ. को. २ मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्। सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुवल्कलकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयेत्स्वगादीन्सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा (सु. शा. ५. ४९)

–विवर्णता–स्त्री., स्वाभाविकवर्णस्य अन्यथा भावः (चचि. १२.११)

–वेदना–स्त्री., रोगलक्षण०, अङ्गमर्दः (चनि. २.६)

–व्यसनिन्–वि., छिन्ननासादिः एवंप्रकारः दूतः मरणसूचकः (च. इं. १२.१७)

–शीर (र्ष) ण–न., रोगलक्षण०, शरीरावयवानां विगलनम्, चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (कासू. २७.३५)

–शूल–पु., रोगलक्षण०, अङ्गमर्दः (चचि. ३.२४४)

–संशोष–पु., रोगलक्षण०, कार्श्यम् (चचि. २८.७३)

–सदन–न., रोगलक्षण०, अङ्गसादः (अहसू. १७.१६) अवयवानां ग्लानिः, अङ्गानामनुत्साहः, रसदोषजविकारेष्वेकः

–साद–पु., रोगलक्षण०, अङ्गसदनम् (सुउ. २४.२३) (अहसू. ४.१०)

–सावर्ण्य–न., अङ्गसमानवर्णता (सुचि. ९.३८)

अङ्गावदरण–न., रोग०, अङ्गस्यावदरणं स्फुटनं विदारणं च, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

अङ्गावसादन–न., रोगलक्षण०, अङ्गानां दौर्बल्यम् (चचि. १.३३)

अङ्गार–पु., अग्निः (चसू. १४.२८) अभस्मसात्कृतो दग्धकाष्ठखण्डः (सुसू. २९.११) कोकिलः (र. ७.१६)

–कोष्ठकस्तम्भ–पु., अग्निकुण्डस्तम्भः (असंसू. २६.१५)

–कोष्ठी–स्त्री., साग्निमृण्मयकोश०, खराणां द्रव्याणां सत्त्वपातनी कोष्ठी (र. १०.३४–३८)

–ग्रन्थिक–वनस्पति० हिमावली (रा. परि. १५.१८)

–चूडक–पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५२)

–यान–न., अङ्गारपूर्णशकटिका (सुउ. ६४.२५) अग्नियानम् (असंसू. ४.१८)

–वल्लरी–स्त्री., वनस्पति०, भार्गी (ध. १.६८) (रा. ६.९५)

–वल्लिका–वल्ली–स्त्री., वनस्पति०, भार्गी (ध. १.६८) महाकरञ्जः (ध. ५.११०)

–शूल्य–वि., शूलस्थं कृत्वा अङ्गारे भर्जितम् (चसू. २६.८४)

अङ्गारकमणि–पु., जाङ्गमद्रव्य०, प्रवालम् (रा. १३.७३)

अङ्गिरस–पु., महर्षि०, हिमालये इन्द्रादेशाद् रसायन-प्रयोगं कृतवान् (चचि. १ [४] ३)

अङ्गुल–न., मान० (असंशा. ७.३३)

–मित–न., अङ्गुलमानम् (सुशा. ६.२८)

–राजि–पु., राजिमान् सर्पविशेषः (सुक. ४.३४ (३)

अङ्गुलास्थि–पु., अङ्गुलगतमस्थि (का. शरीरविचय)

अङ्गुलि–स्त्री., हस्तपादशाखासु प्रत्यङ्ग०, प्रतिशाखायां पञ्च, मिलित्वा विंशतिः (सुशा. ५.४)

अङ्गुष्ठः, प्रदेशिनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका चेतिक्रमेण पञ्चाङ्गुलयः (सुसू. ३५.१२)

–त्राणक–न., यन्त्र०, (असंसू. ३४.१२.)

–दाह–पु., रोगलक्षण०, सविषान्नपानरसस्पर्शेन कराङ्गुलीनां ज्वलनम् (चचि. २३.११२)

–पर्वन्–न., मान०, अङ्गुलस्य विशेषतः करमध्यमाङ्गुलस्य (आढमल्ल) मध्यभागः सन्धिस्वरूपः, अयं शरीरमानार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३५.१२) (चवि. ८.११७)

अवयव०., अंगुलिग्रंथिः (सुसू. ३५.४)

अवयव०., अङ्गुलिशलाका (सुसू. १८.१८)

–प्रमाण–न., प्रमाण०, अङ्गुलिः, करशाखा, तया मानम् (चवि. ८.११७)

–फला–स्त्री., वनस्पति०, निष्पावी (रा.परि. ७.१००)

–शस्त्र–न., शस्त्र०, तच्च द्विविधम् (१) अन्तर्मुख-संज्ञितं कृशतरशशधरकानुकारिणाऽर्धद्वयसंहित-मध्यकीलितेन मध्यमाङ्गुल्यङ्गुष्ठप्रविष्टलोहकटक-नियमितं शस्त्रम् (२) एकावयवं मध्यमाङ्गुली-प्रविष्टकण्टकं शस्त्रम् (सुचि. १५.१२)

–शस्त्रक–न., अङ्गुलिशस्त्रम् (अहसू. २६.१३) (असंसू. ३४-२६)

–शूल–पु., रोगलक्षण० (चसि. २.१६)

–शोष–पु., रोगलक्षण०, (चसि. २.१६)

–सन्धि–पु., शारीर०, अङ्गुलीनां सन्धिः (चचि. २९.२६)

–स्तम्भ–पु., रोगलक्षण०, अङ्गुलेर्निश्चलत्वम् (चसि. २.१६)

अङ्गुलिका–स्त्री., कीट० तन्नामकपिपीलिकाभेदः; तथा दष्टे श्वयथुरग्निस्पर्शवदाहशोफौ भवतः (सुक. ८.३४)

अङ्गुली–स्त्री., शारीर०, अङ्गुलिः (सुचि. ३.२४)

अङ्गुल्यन्तर–न., स्थानविशेषः (सुनि. १३.३२)

अङ्गुष्ठ–पु., अङ्गुलिः सार्धद्व्यङ्गुलप्रमाणः (सुसू. ३५.१२)

–मूल–न., अङ्गुष्ठस्य मूलभागः (सुसू. ३५.१२)

–संमित– वि., अंगुष्ठपरिणाहा (वर्त्तिः) (चसू. ५.२४)

अङ्गुष्ठोदरप्रमाण–न., प्रमाण० विंशतितमभागोनषड्-यवप्रमाणम्=५$\frac{३}{२०}$ यवाः (सु. शा. ४.४)

अङ्घ्रि–पु., शारीर०, पादः (अहसू. २.३१)

–मूलम्–(वृक्षादेः) (र. १४.९४)

–बला–स्त्री. वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. १.९०)

अचक्षुष्य–वि., चक्षुषेऽहितम् (अहसू. ५.५५)

अचङ्क्रमणशील–वि., आस्यासुखी, चङ्क्रमणं गमनागमनं यो न करोति (च. चि. २९.८)

अचरणा–स्त्री., योनिरोग०, अधावनाचरणादचरणा (चसू. १९.४ (९) अधावनाजाता जन्तवः योन्यां कण्डूं कुर्वन्ति, तया कण्डूया स्त्री अतिनरकाङ्गिणी भवति (चचि. ३०.१८)

श्लेष्मजा–यस्यां स्त्री ग्राम्यधर्मे पुरुषादधिका भवति, तेन बीजं न गृह्णाति (सुउ. ३८.१६) (विप्लुता) (अहउ. ३३.४९)

अचला–स्त्री., पार्थिवद्रव्य०, मनःशिला (र. १२.१०४)

अचिकित्स्य–वि., चिकित्सितुमशक्यः, असाध्यः (रोगः) बलमांसक्षये सति अष्टौ व्याधयः चिकित्सार्थमनर्हा भवन्ति, वातव्याधिः, अपस्मारः, कुष्ठम्, शोफः, उदरम्, गुल्मः, मधुमेहः, राजयक्ष्मा च । (चइ. ९.८–९)

अचिन्त्य–वि., चिन्तनशक्तिबाह्यम्, चिन्तनशक्त्यतीतः, रसवीर्यविपाकादिनियमैरचिन्तनीयप्रभावयुक्तत्वा-दचिन्त्यः (सु. शा. ३.४)

अचिरजात–वि., असंपूर्णकाले जातः, विच्युतः (च. शा. ४.२९)

अचिरप्रजाता–वि., अचिरप्रसूता (चनि. ३.१३)

अचेतन–वि., जडः, प्रकृतिः तत्कार्याणि च अचेतनवर्गः (सु. शा. १.८)

हतौजो ज्वरलक्षण० जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां च चेतनारहितो भवति; हतौजो ज्वररोगी (सुउ. ३९.४३.).

निरिन्द्रियम् (चसू. २६.१०)

अचेतस–वि., रोगलक्षण०, नष्टसंज्ञः (सु.चि.३४.१९)

अचोक्ष–वि., अपवित्रम्, मलिनम् (सुसू. ४६.४७६)

अचौक्ष–वि., अचोक्षम् (सुउ.६०.५४)

अच्छ–वि., अघनम् (चचि. १५.१०)

केवलम् (सुशा.१०.२२) तनु (सुसू.४५.१९९)

निर्मलम् (चशा.८.४८) केवलम् (चसू. १३.७)
–पान–न., केवलस्नेहपानम् (सुचि. ३१.२१)
–पेय–पु., केवलस्नेहपानम्, अच्छश्च पेयश्च (चक्र० चसू. १३.२६)
तत्पानविधिः (अहसू. १६.२९–३०)
–वारुणी–स्त्री., स्वच्छसुरा (असंचि. ९ पृ. ५९)
–सुरा–स्त्री., विशदं मद्यम् (अहसू. ३.१२)
–स्नेह–पु., केवलस्नेहः (सुचि. ३१.२१)

अच्छिद्र–वि. निबिडम् (चशा. ६.२८)

अच्युतावास–पु., वनस्पति० पिप्पलः, अश्वत्थः (रा. ११.११८)

अज–पु., प्राणि०, अयं वातप्रकृतिः (सुशा. ४.६७)
अजचर्म धूमार्थमुपयुक्तम् (सुउ. ६०.३८)
अजपुरीषस्य क्षारो विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् (चचि. १३.१६२)
अजबस्तिर्नामाजस्य मूत्राशयः, बस्त्याख्योपक्रमार्थमुपयुज्यते (चसि. ९.५२)
अजमांसगुणाः–अदोषलं, नातिशीतगुरुस्निग्धं शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणं च (चसू. २७.६१–६३)
अजमांसरसो राजयक्ष्मणि प्रशस्यते (चचि. ८.६७)
अजमेदो नेत्ररोगेषु रसाञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १९ पृ. २४७)
इदं शाखादमेदसामग्र्यम् (चसू. २५.३८)
अजयकृन्प्लीहानावुभावपि नक्तान्ध्ये नेत्ररोगे शूल्यपक्वौ भक्षणार्थमुपयुज्येते (सुउ. १७.२६)
तथा च नेत्ररोगेषु तर्पणाद्युपक्रमेषूपयुज्यतेऽस्य यकृत् (असंउ. १९ (पृ. २४९)
नक्तान्ध्येऽजयकृत्प्लीहानावञ्जनार्थमुपयुज्येते (सुउ. १७.२६)
अजरोमाणि ग्रहचिकित्सायां धूमार्थमुपयुज्यन्ते (सुसू. ६०.३८).

अजा–स्त्री., पशु०, छागी (चसू. १.९३)
वर्करी (सुउ. ४१.५६) (सुसू. ४५.५२)
अजाघृतगुणाः–दीपनीयं, चक्षुष्यं, बलवर्धनं, कासे, श्वासे, क्षये, चापि पथ्यं, पाके लघु (सुसू. ४५.९८)
अजादधिगुणाः–कफपित्तघ्नं, लघु, वातक्षयापहं, दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् (सुसू. ४५.६८)
मधुरं कषायमुष्णं मधुरपाकं रुच्यं पाचनं नेत्रदोषघ्नम् (ध. ६. १९१; रा. १५.२४७)
अजादुग्धगुणाः– शोषिणां हितं, दीपनं, लघु, संग्राहि, श्वासकासरक्तपित्तनुत्, सर्वव्याधिहरं, गोदुग्धतुल्यगुणं च, "अजानामल्पकायत्वात्कटुतिक्तनिषेवणात् । नात्यम्बुपानाद्व्यायामात्सर्वव्याधिहरं पयः ॥" (सुसू. ४५.५१)
'अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यसंग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठम्' (चसू. २५. ४०.)
अजामांसगुणाः–मधुरं, नातिशीतं, स्निग्धं, लघु, रुच्यं, बल्यं, पुष्टिकरं, वातपित्तघ्नं च (ध. ६.३८५ रा. १७.४०५)
अजामूत्रं भेषजत्वेनोपयुज्यते, तत्तु कषायमधुरं, पथ्यं दोषहरणं च (चसू. १.१००)
इदं लवणानुरसं कटु, रूक्षं, तीक्ष्णोष्णं, लघु, पित्तलं च भवति, "कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान् । गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु" (अहसू. ५.८३)
आघ्राणेन हिक्काशमनं भवति (सुउ. ५०.२२)
अजामेदो मूढवाते उपयुक्तम् (चचि. ११.२७)
अजालेण्डं शोषे उद्वर्तनेनोपयुक्तम् (का राजयक्ष्माचि) अजाशकृत्कषायतिक्तं हिध्माश्वासहरम (असंसू. ६.१४५)
अजालयो बर्करीगृहम्, तत्सेवनेन शोषनाशो भवति यथाहि–अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ्मांसालयानि प्रतिसेवमानः । स्नानादि नानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥ (सुउ. ४१.५६)
–करीष–पु. न., अजपुरीषम् (चचि. १३.१६२)
–कर्ण–(पु., वृक्ष० शालभेदः (चवि. ८.१४४)
पत्रमस्य छागकर्णवत्; 'पियाल साल' 'साल' इति लोके (सुचि. १९.३३ ड.)
सर्जः (सुसू. ३८.१२)
'गन्धमुण्ड' इत्येके (ड.सुचि. ९.१४)
असनः गीलकोऽश्वकर्णः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (ड. सुचि. ३४.१७)
–कर्णक–पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४)
वनस्पति०, अजशृङ्गी (चचि. १ (४) ७)
अजगन्धा, 'बोबई' इति लोके (ड. सुचि. १७.१४)
सोमसमवीर्या महौषधिः (सुचि. ३०.५)
हस्तिपर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी । अजस्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी । अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा ॥ (सुचि. ३०.१७–१८)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति०, अजमोदा, 'फोफान्धी' इति केचित् (च. सू. २.४–५)

'फोफान्धा' इति ख्याता (चचि. २३.२१३)
अरण्यतुलसी (सुसू. ३७.१३-१५)
वनयवानी (चसू. २७.१७३)
वनयवानी गुणाः-सुगन्धा, रोचनी, नातिकटुका दोषोत्क्लेशिनी च (चसू. २७.१७३)
'जवानिका', 'बोथई' इत्यन्ये (ड. सुसू.४४.१६)
बोथयिका, लतौषधी इत्यन्ये (ड. सुसू. ३७.६)
बोवयिका (ड. सुचि. ५.२८)
'बोवयिका' (बोविका) (सुचि. १८.४८)
अजगन्धाया गुणाः-कटुः, उष्णा, वह्निकृत्, वातकफघ्नी, ज्वरगुल्माष्ठीलानाहशूलोदरकर्णरोगघ्नी च (ध. २.१०१)

-गर-पु., बिलेशय महासर्प० स निर्विषः, असौ ग्रसनात् शरीरप्राणहरो भवति (सुक, ४.३८)
सोऽर्शसां हितः । (सुसू. ४६.७८)

-गरी-स्त्री., वनस्पति०, सोमसमवीर्या महौषधिः (सुचि. ३०.५)
कपिलैः चित्रैः मण्डलैः सर्पाभा, पंचपर्णिनी, पंचारत्निप्रमाणा च भवति (सुचि.३०.१०)
उत्पत्तिस्थानमस्याः सिंधुनददेवसुंदह्रदयोश्च जलान्तः (सुचि. ३०.३०-३२)

-गल्लि (ल्ली)-स्त्री., अजगल्लिका (र. २५.१., सुशा. ४.४)

-गल्लिका-स्त्री., क्षुद्र रोग० तस्याः अधिष्ठानं तृतीया त्वक् श्वेता नाम (सुनि. १३.४) कफवाताभ्यां स्निग्धा, सवर्णा, नीरुजा, मुद्गनिभा पिटिका जायते; एषा बालानां भवति (असंउ. ३६ (पृ. ३१४)

-दण्डी-स्त्री., वनस्पति०, ब्रह्मदण्डी (रा. परि. ५.४७)

-भक्षा-स्त्री., वनस्पति०, धन्वयासः (रा. ३.२२)

-मुदा-स्त्री., वनस्पति०, अजमोदा (र. २७.१२६)

-मोदक-पु., वनस्पति०, अजमोदा (चसू. २३.१८)

-मोदा-स्त्री., वनस्पति० (चसू. ४.९. [६]
यवनिका (सुसू. ३८.२२)
दीप्यकः (असंसू. १६. ४०) (अहसू. १५.३३)
गुणाः— तिक्ता, कटुः, उष्णा, रूक्षा, वह्निदीपनी, रुचिकरी, कफवातघ्नी, हिक्का-आध्मान-अरुचि-कृमिजठरामयघ्नी (ध. २.९९)

-मोदाद्वय-न., अजमोदा, यवानी च (र. १६.५८)

-रुहा-स्त्री., कन्द०, अगद०, " कन्दः श्वेतः सपिड़को भेदे चाञ्जनसन्निभः । गन्धलेपनपानैस्तु विषं जरयते नृणाम् । दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः । विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता।" (सुक. १.७८)

-लोमी-स्त्री., वनस्पति०, सोमसमवीर्यमहौषधि० (सुचि. ३०.५)
" गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसम्भवे " (सुचि. ३०.२३)
उत्पत्तिस्थानं काश्मीरस्थं क्षुद्रकमानसं सरः (सुचि. ३०.३३)
श्वेतदूर्वा (सुउ.६०.४७)

-शृङ्गी-स्त्री., वनस्पति०, कर्कटशृङ्गी, विषाणिका (चक. ११.१३)
मेढिकः, वल्लिपद्ममूलेष्वेकम्. (सुसू. ३८.७२)
मेषशृङ्गी (सुसू. ३७.१३-१५)

अजका-स्त्री., नेत्ररोग०, पर्यायः अजकाजातम्, नेत्रकृष्णगतो रोगः (सुउ. ५.३)

-जात-पु., न., नेत्ररोग० (सुउ. १. ३६.)
अस्मिन् रोगे नेत्रकृष्णभागे अजापुरीषप्रतिमः रुजावान्, सलोहितः, लोहितपिच्छिलाश्रुः, कृष्णभागं विदार्य एकोच्छ्रायो भवति (सुउ. ५.१०)
चिकित्सा-अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या चोदकं विस्राव्य व्रणं च सर्पिषा सह गोमांसचूर्णेन पूरयेत्; यदि अजकाजातस्य वर्त्म उच्चतां गच्छेत् तदा बहुशोऽवलिखेत् (सुउ. १३.३६-३७)

अजटा-अजटी-स्त्री., वनस्पति०, भूधात्री, भूम्यामलकी (काचि. बालग्रह. पृ. १०१)

अजडा-स्त्री., धान्य०, वनस्पति०, शूकशिम्बी (चचि. २ [२] १८-१९)

अजर-न., सुवर्णम् (रा. १३.३)
वि., जरारहितम् (चचि. ३.१४)

अजरक-न., अजीर्णम् (असंचि.१८ (पृ.१०२)

अजरण-न., रोगलक्षण०, अजीर्णम् (र. २१.११५)

अजरा-स्त्री., वनस्पति०, जीर्णदारुः, वृद्धदारुभेदः (रा. १५७)

अजस्र-वि., संततम् (असंउ. २३ (पृ. १६८)

-आहार-वि., अनवरताहारशीलः (सुशा. ४.९०)

अजाक्षी-स्त्री., काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४३)

अजाजिक-पु., जीरकम् (रा. ६.१००)

अजाजी-स्त्री., जीरकम् (चसू. २.४) कृष्णजीरकम् (र.२३. ३६-३७) यवानी (र.१६.५८) शुक्लजीरकम् (रा. ६.१०२)

अजातव्यञ्जन–वि., स्त्रीपुरुषभेदानुमापकलिङ्गं श्मश्रुवादिकं यस्य न संजातम् (चवि. ८.१२२)

अजातसार–वि., गर्भोत्पत्तिप्रारम्भाच्चतुर्थमासपर्यन्तं गर्भः प्रशस्तगुणरहितो मृदुधातुः साररहितश्च भवति सोऽजातसार इत्युच्यते (चशा. ८.२३)

अजादनी–स्त्री., धन्वयासः (रा. ३.२२)

अजान्त्री–स्त्री., वृद्धदारुकः (ध. ४.१०७, रा. ३.१५६) बस्तान्त्री (रा. ३.२)

–अजिघ्रत्व–न., गन्धाज्ञता (सुचि. ३९.३०)

अजित–पु., अगद०, स्थावरजङ्गमानां विषाणां जेता (सुक. ५.६३–६५) (वि.,) न जितं (सुक.२.४९) प्राणि०, अजितनामकः मूषिकविशेषः तस्य दंशलक्षणम् अंगकृष्णत्वं, छर्दिः, मूर्च्छा, हृद्ग्रहश्च, (सुक. ७.२१) सर्पिर्विशेषः (सुउ. ३९.२६४.)

अजिता–स्त्री., खनिज०, सौराष्ट्री (ध. ३.१०५)

अजितात्मा–वि., अजितेन्द्रियः (सुउ. ५६.५)

अजिन–न., जाङ्गमद्रव्य०, व्याघ्रादिचर्म (चसू. ६.१५) सुखस्पर्शरोमचर्म (अहसू. ३.१३) पु., प्राणि०, मूषिकभेदः (असंउ. ४६)

अजिर–पु., मूषकविशेषः (असंउ. ४६)

अजीर्ण–न., रोग०, आहारस्य अपचनम् (चसू. १.९२) सामान्यलक्षणम्– "तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा । शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥ जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिप्रवाहणम्। अरोचकोऽविपाकश्च घोरमन्नविषं च तत् ॥" (चचि. १५.४५) अजीर्णम्–आमं विदग्धं विष्टब्धम् इति कफपित्तानिलैः त्रिविधम् । केचित् रसशेषाजीर्णं चतुर्थमिच्छन्ति । (सुसू. ४६.४९८–५०१) आमाजीर्णलक्षणम्– अजीर्णमन्नं माधुर्यं गतमामसंज्ञम् । (सुसू. ४६.४९९) "तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोफो गण्डाक्षिकूटयोः । उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥" (असंउ. ११.५५) विदग्धाजीर्णलक्षणम्– "विदग्धे भ्रमतृष्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः। उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते" ॥ (मा.) विष्टब्धाजीर्णलक्षणम्– "विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः । मलवातप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपीडनम् ॥" (मा.) रसशेषाजीर्णलक्षणम्– आहारस्य एव पक्वस्य उर्वरितो रसो रस शेषः, तद् भवमजीर्णम्। तत्र उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते, हृद्गुरुता लालास्रावश्च भवति। (सुसू. ४६.४९८–५०३) "रसशेषेऽविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे । यावत् संतिष्ठते ह्यस्य दुष्टोऽन्नस्य रसो हृदि । तावन्मर्माणि भिद्यन्ते विषं पीतवतो यथा ।" (मा.) अजीर्णहेतुः– अल्पम्बुपान–विषमाशन–वेगविधारण–स्वप्नविपर्ययैः (सुसू. ४६.५००) चिन्ता–शोक–भय–क्रोध–दुःखशय्या– प्रजागरैश्च मात्राभ्यवहृतं पथ्यमप्यन्नं न जीर्यति । अजीर्णोपद्रवाः– मूर्च्छा–प्रलाप–वमथु–प्रसेक–सदन–भ्रमादयः कदाचित् मरणमपि । (सुसू. ४६.५०४) अजीर्णचिकित्सा– "लंघनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम् । विदग्धे वमनं यद्वा यथावस्थं हितं भवेत् ॥" (असंसू. ११.५८)

–कण्टक–पु., सिद्धयोग० (र. १६.११३–१५)

–शीलिन्–वि., अजीर्णाशनशीली (अहसू. ८.१३)

अजीर्णाध्यशन–न., अजीर्णाशनम् अध्यशनं च (चसि. १२.१४ (५) एतद् ग्रहणीदूषणानां श्रेष्ठं (चसू. २५.४०) मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषकरं च ।

अजीर्णाशन–न., व्युष्टाजीर्णे चतुर्विधे भोजनम् (काखि. ६.६१) ग्रहणीदूषणानां श्रेष्ठम् (असंसू. १३.३)

–शीलिन्–अजीर्णस्यापक्वस्याशनमजीर्णाशनम्, तत् शीलितुं शीलं यस्य सः। (चवि. २.१२)

अजीर्णाहार–वि., अजीर्णे आहारो यस्य (असंसू. १०)

अजेय–वि., सिद्धघृतस्य नाम (सुक. २.४७–४९) इदं घृतं सर्वविषहरं दूषीविषापहं विशेषेण ।

–आख्य–वि., अजेयं नाम यस्य, तत् (सुक.१–८०)

अज्वर–वि., ज्वरमुक्तः "विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम् । युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥" (चचि. ३.३२९)

अञ्जन–न., पार्थिवद्रव्य०, सौवीरमञ्जनम् (चसू. ३.५) स्रोतोजमञ्जनम् (चसू. ५.३९) रसाञ्जनम् (सुउ. ४५.३२) कज्जलम् (सुसू. १३.११) अञ्जनप्रकाराः– गुटिकारसचूर्णानि त्रिविधानि अञ्जनानि। महाबलानां रोगाणां–गुटिकाञ्जनम्, मध्यानां रसक्रियाञ्जनं, हीनानां चूर्णाञ्जनं (नेत्ररोगेषु) योजयेत् (सुउ. १८.५८, असंसू. ३२.९) पुनश्च लेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिविधमञ्जनम् (अहसू. २३.१०–१२)

स्नेहनम् इति चतुर्थम् (असंसू. ३२.७)
अञ्जनगुणाः–सुखं लघुनिरीक्षणं, चक्षुषा दृढं दर्शनं, नेत्ररोगेभ्यः संरक्षा च (सुचि. २४.१७–१९)
सौवीराणि सर्वाणि अञ्जनानि भृङ्गराजपत्ररसैः विशुध्यन्ति (र. ३.११४)
अञ्जनसत्त्वपातनविधिः–
मनःशिलासत्त्वपातनविधिवत् अञ्जनानां सत्त्वपातनं कार्यम् । (र. ३.११५)
अञ्जनायोग्याः–श्रम–उदावर्त–रुदित–मद्य–क्रोध–भय–ज्वर–वेगाघात–शिरोदोषैरार्तानाम् अञ्जनं नेष्यते; रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भाद्युत्पत्ति-भयात् । (सुउ. १८.६८–६९)
व्यजनं लक्षणमिति यावत् (सुउ.६०.२३)

अञ्जनकी–स्त्री., वनस्पति० नीलाञ्जनिका, शारदं फलं, श्रीफलिकेति लोके. श्रीफलिका, नीली, महानीली इति यावत् (ध. १.२३२–३४ रा. ४.३५३ पृ. ५५)
पित्तार्बुदे अस्या रसेषु घृतपानं प्रशस्तम् (सुचि. १८.३४)

अञ्जना–स्त्री., नेत्ररोग०, अञ्जननामिका (सुउ. १.३७)
–नामिका–स्त्री., नेत्ररोग०, नेत्रवर्त्मनि जातः पिडका-स्वरूपः (सुउ. ३.१५) (असंउ. ११. पृ. ८८)
लक्षणानि–"दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा। मृद्वी मंदरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥" (सुउ. ३.१५)
वर्त्ममध्ये वर्त्मान्ते वा रक्तेन ताम्रा मुद्गमात्रा कण्डू–ऊषा–रुग्वती स्थिरा पिटिका । (असंउ. ११ पृ. ८८)
–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति०, 'काजळी' इति लोके, कार्पासीभेदः कृष्णकार्पासी, (र. ३०.८१)
–पात्र–न., उपकरण० अञ्जनार्थं पात्रम्; पात्रे तु कुर्यात् सौवर्णे मधुरम्, राजते अम्लम्, मेषशृङ्गमये लवणम्, कांस्ये तिक्तम्, वैदूर्यमये अश्ममये वा कटुकम्, ताम्रमये आयसे वा कषायम्, नलप्लक्षपद्मकरफटि-कशंखान्यतमे शीतम्, एवमव्यापन्नगुणं भवत्यञ्जनम् (असंसू. ३२.१०)
–युग्म–न., स्रोतोञ्जनं रसाञ्जनं च (अहसू. १५.३७)
–वर्ति–स्त्री., नेत्राञ्जनविधावौषधिद्रव्याणि जले पिष्ट्वा कृता वर्तिः (सुउ. ११.६–७)
–विधि–पु., अञ्जनप्रयोगः (अहसू. २३.१)
–व्यापद्–स्त्री., अञ्जनदोषः (सुउ. १८.६९–७३)

अञ्जनाभ–वि., अञ्जनवर्णं, कृष्णवर्णम् (सुचि. २५.३६)

अञ्जनाभक–न., कन्दविष० (असंउ ४०)

अञ्जनादिगण–पु., अञ्जनादिवनस्पतीनां वर्गः
"अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः ।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं तथा ॥"
(सुसू. ३८.४१–४२)

अञ्जनिका–स्त्री., नेत्ररोग० अञ्जनवाटी, अञ्जनपेटिका इत्यर्थः (असंसू. ८.९६)

अञ्जनी–स्त्री., वनस्पति०, कालाञ्जनी (रा. परि. ४.४३) कटुका (रा. ६.५६)

अञ्जलि–पु., मान० (चक. १२.९३)
चतुर्गुणं पलम् अञ्जलिः 'कुडव' इति पर्यायः; प्रसृति-द्वयम् कुडवप्रमाणम् (ड. सुचि. २९.१०)
पलद्वयं तु प्रसृतं तद् द्वयं कुडवोऽञ्जलिः (र. ११.७)
सादरं करद्वययोजनम् (सुउ. ३७.१५)

अञ्जलिका–स्त्री., शलाका० अञ्जल्याकारदर्वीविशेषः (असंसू. ३४.१७)

अञ्जलिकारिका–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१०९)

अञ्जलिमुख–न., स्वस्तिकयन्त्र०, जलकुक्कुटमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)

अटजी–स्त्री., वनस्पति०, तुलसी, आश्रोतनार्थमुप-युक्ता (काखि. १३.४१)

अटरूषक–पु., वनस्पति०, वासा (ध. १.२३)

अटालत्व–न., विस्तृतत्वम् (चनि. ३.१४) विवृतत्वम् (चशा. ४.१६)

अट्टहासक–पु., वनस्पति०, कुन्दः (रा. १०.२५६)

अणिमन्–पु., सूक्ष्मत्वम्, अणुभावत्वम्, अष्टसिद्धिषु एका (र. १.५३)

अणिमोक्ष–पु., कीलमोक्षः (चवि. ३.३८)

अणु–पु., तृणधान्य०, चीनः, अयं गौणः श्यामाक-सदृशः कषायमधुरलघुवातलः (चसू. २७.१७)
वनस्पति०, अश्मन्तकः (सुउ. १९.१३)
धान्य०, व्रीहिः (रा. १६.७९)
मान०, आरम्भकमानम्, सूक्ष्मं, लघु (र. ११.१)
अतिसूक्ष्मम् (चवि. ७.१०)
अल्पम् (सुशा. ३.३)
–ज्योतिस्–वि., अरिष्टलक्षण०, स्तोकदृक्, अल्पतेजाः (असंशा. १०.२९) स्वल्पप्रकाशः, ज्योतिः, सकलशरीरान्तर्गतं तेजः, मन्दप्रभः (चइ. ११.३)
–ज्योतीय–वि., अध्याय० (चइ. ११.१)
–ता–स्त्री., अल्पता, व्याध्यादीनां मार्दवम् (चसू. १६.५)

–तैल–न., योग०, अणूनां स्रोतसां हितम्, अणूनीन्द्रियस्रोतांसि प्रविशति (चसू. ५.५६) तस्योत्पादनविधिः (चचि. २६.१४१ अहसू. २०.३७) तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरिपीतान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वा अवक्षुद्य महति कटाहे पानीयेनाभिप्लाव्य क्वाथयेत्, ततः स्नेहमम्बुपृष्ठाद्यदुदेति तत् सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं स्नेहपाककल्पेन विपचेत्, एतदणुतैलमुपदिशन्ति वातरोगिषु; अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यत्व इत्यणुतैलम् । (सुचि. ४.२८)

अथ महापञ्चमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसितमुषितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्मनिवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्, तत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत्तत् पाणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्; ततस्तैलं वातहरौषधक्वाथ-मांसरस–क्षीराम्लभागसहस्रेण सहस्रपाकं विपचेद्यावता कालेन शक्नुयात् पक्तुं, प्रतिवापश्चात्र हैमवती दक्षिणापथगाश्च गन्धा वातघ्नानि च; तस्मिन् सिध्यति शङ्खानाध्मापयेद्दुन्दुभीनाघातयेच्छत्रं धारयेद्वालव्यजनैश्च वीजयेद्ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्, तत् साधु सिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, तदेतत् सहस्रपाकमप्रतिवार्यवीर्यं राजार्हं तैलम्; एवं भागशतविपक्वं शतपाकम् । (सुचि. ४.२९)

–त्व–न., सूक्ष्मत्वम्, मनसो गुणः (चशा. (१.१९)

–द्वारा–वि., सूचीमुखी (चचि. ३०.३२) (सुचि. १.४६)

–बहुविदारित–न., पाटितास्थिभङ्गलक्षणम्, अणूनि बहूनि विदारणानि यस्य तत् (सुनि. १५.१०)

–मुख–वि., अणु सूक्ष्मं मुखं यस्य सः (सुचि. १.५४)

–मुष्टिक–पु., वनस्पति० विषमुष्टिः (रा. परि. ४.३९)

–रेवती–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)

–स्रोतस–न., सूक्ष्मस्रोतः (चक. १.५) वि., अत्यल्पाग्रच्छिद्रम् (सुचि. ३६.९)

अण्वस्थि–न., अल्पास्थि (सुशा. ४.१२)

अण्ड–न., जाङ्गमद्रव्य०, प्राण्याधारं वर्तुलम् (सुचि. २६.२६ चचि. २ (१) ४९) मुष्कः (सुचि. २६.२५ चचि. २ (१) ४२)

–गज–पु., वनस्पति०, चक्रमर्दः (ध. ४.५)

–घ्नी–स्त्री., रेवतीग्रहजुष्टयोनि०, यस्मिन् स्त्रिया अण्डं प्रपतति (कारेवतीक. ३६.३७)

–ज–वि., एका जंगमयोनिः, अण्डाज्जातः अण्डजः, 'खगसर्पसरीसृपप्रभृतीन्यण्डजानि' (सुसू. १.३०) पु., पक्षी (चनि. ४.५०)

–लौहित्य–पु., शूकधान्य० (असंसू. ७.१६)

–हस्तिन्–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)

अण्डिका–स्त्री., मान० चत्वारो यवाः, चत्वारो माषा इत्यन्ये (चक. १२.८८)

अतत्त्वाभिनिवेश–पु., मानसरोग० हेतुलक्षणादिरजोमोहावृतात्मनः तस्य रोगिणो दोषाः हृदयं समुपाश्रित्य, मनोबुद्धिवहाः सिराः संदूष्य तिष्ठन्ति । वृद्धाभ्यां रजस्तमोभ्यां बुद्धौ मनसि च आवृते व्याकुले हृदये अल्पचेतनो मूढो दोषैः नित्यानित्ये हिताहिते बुद्धिं विषमां कुरुते (चचि. १०.५७–६३)

अतन्द्रित–वि., अनलसम् (सुचि. २.६१)

अतर्पण–वि., पुष्टिक्षयकरम्, मेदोहानिकरम् (चसू. २१.२०)

अतसी–स्त्री., तैलधान्य० (चसू. ३.१८)
उपनाहोपयोगि (चसू. १४.३६)
उमा (चसू. १३.१०)
उष्णातसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी पित्तोल्बणा कटुविपाका (सुसू. ४६.४९)
अतसीलेपः शूलघ्नः (चचि. २९.१४०)
शोथपाचनी (सुसू. ३७.९)
अतसीगुणाः–मधुरा तिक्ता उष्णा गुरुः कटुविपाका बल्या शुक्रघ्नी रक्तघ्नी पित्तकफघ्नी कुष्ठघ्नी च (ध. ६.११५)

–तैल–न., उमाबीजतैलम् प्रमेहे शाकसिद्धार्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.६)
तद्गुणाः–उष्णं त्वग्दोषकृत् कफपित्तकृत् (सुसू. ४५.११५)
मधुरं, कषायं, पिच्छिलं, बलासकृत्, वातघ्नं, कफकासघ्नं च (रा. ५.१९६)

अतिकथन–न., बहुभाषणम् (सुशा. १.२५)

अतिकन्दक–पु., वनस्पति० हस्तिकंदः (रा. परि. ७.३५)

अतिकल्य–वि., अतिनीरोगः (चचि. १. (४). ३)

अतिकामा–वि., निवृत्तेच्छेऽपि पुरुषे मैथुनमिच्छन्ती (चशा. ८.६)

अतिकाय–वि., बृहच्छरीरो मनुष्यः, प्रवृद्धलिङ्गः (सुउ. ३८.१८)

अतिकार्श्य–न., अपचयलक्षण० बलाभावः (सुसू. १५.३३)
अतिकेसर–रा–पु. स्त्री., वनस्पति०, कुब्जकः (रा. १०.२४८., ध. ५.१४६)
अतिक्रम–पु., प्रमादः (अहसू. १८.३८)
अतिक्रान्त–वि., तन्त्रयुक्ति० पूर्वं भूतम् (सुउ. ६५.१६)
अतिक्रान्तता–स्त्री., दूरगमनम् (सुनि. १५.७)
अतिक्रान्तमद्य–न., व्यापन्नमद्यम् (चचि. १४.९)
अतिक्रान्तावेक्षण–न., तन्त्रयुक्ति०, यत् पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तं नाम अतीतं तस्य अवेक्षणम् (सुउ. ६५.३१)
अतिक्लीब–वि., अतिविलम्बितोच्चारणम् (चसू. ८.२४)
अतिक्षिप्त–न., अस्थिभग्न०, अतिप्रेरितं भग्नम्; द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोः दूरगमनम् (सुचि. ३.१८)
यस्मिन् सन्धिमुक्ते लक्षणम्–अतिक्षिप्ते द्वयोः संध्यस्थ्नोः अतिक्रान्तता वेदना च भवति (सुनि. १५.७)
चिकित्सासूत्रम्–अतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत् (सुचि. ३.१८)
अतिगति–स्त्री., दूरप्रवेशः (चसि. ५.५)
अतिगन्ध–पु., खनिज०, गन्धकः (रा. १३.१६६)
वनस्पति०, भूतृणः (रा. ८.७३)
वनस्पति०, मुद्गरः (रा. १०.२१)
अतिगन्धालु–स्त्री., वनस्पति०, पुत्रदात्री (रा. परि. ३. ४७)
अतिगन्धिका–स्त्री., वनस्पति० (ध. २.९)
अतिगुहा–स्त्री., शालिपर्णी (चचि. २३.२१३)
पृश्निपर्णी (सुसू. १९.२९)
अतिचङ्क्रमण–न., अत्यधिकं संचरणम् (चसि. १२. (३) १४)
अतिचरण–न., मैथुनम् (सुउ. ३८.१६)
(अतिचरणा)–स्त्री., रोग० योनिरोग०, अतिव्यवायेन कुपितः पवनः स्त्रियाः योनौ शोफसुप्तिरुजः करोति (चचि. ३०.१९)
श्लेष्मजयोनिरोग०, या अतिव्यवायाद् बीजं न विन्दति, गर्भधारणं न करोति (ड. सुउ. ३८.१६)
अतिचरा–स्त्री., वनस्पति०, पद्मा (ध. ४.९०)
अतिचर्या–स्त्री., अत्यटनम् (सुसू. २१.१९)
अतिच्छत्रक–पु., भूतृणः (रा. ८.७२)
अतिच्छत्रा–स्त्री., वनस्पति०, शतपुष्पा (चचि. ९.४६)
अरुणकोकिलाक्षः (च.वि. ८.१३९)
मधुरिका (चचि.१ (४).६)
द्रोणपुष्पीभेदः (सुसू. १९.२९)
सोमसमवीर्यमहौषधि० उत्पत्तिस्थानम् काश्मीरस्थं क्षुद्रकमानसं सरः (सुचि. ३०.३२–३३)
"एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा । छत्राऽतिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसंभवे" ॥ (सुचि.३०.१४)
महौषधि० (सुचि. ३०.५)
गौतमा (असंउ. ९ (पृ. ७६)
विषाणिका (अरुण. अहसू. २९.३१)
अतिजाड्य–न., रोगलक्षण०, अतिशयक्लेदः (सुचि. ३६.२२)
अतितन्द्रा–स्त्री., रोगलक्षण०, तन्द्राऽऽधिक्यम् (चसू. ५.३१)
अतितर्पण–न., अतिबृंहणम् (सुशा. ३.१६)
अतितीक्ष्णा–स्त्री., वनस्पति०, राजिका (ध. ४.६०)
अतितीव्रा–स्त्री., गण्डदूर्वा (रा. ८.२३४)
अतितृप्ति–स्त्री., रोगलक्षण० रक्तस्रास्रुतिहेतुः (अहसू. २७.३५)
अतितेजस–न., विद्युत्सदृशं तीक्ष्णं तेजः वज्राग्निः (सुसू. १२.३९)
अतिथि–पु., खनिजद्रव्य० शिलाजतु (ध. ३.१६५)
–व्रत–वि., अतिथौ यथोचितम् अर्घ्यादियुक्तं व्रतमाचरतीति अतिथिव्रतः (चशा. ४ (२).३७)
अतिदग्ध–न., रोग०, चतुर्विधेष्वग्निदग्धेषु एकम्, 'अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, व्रणश्च अस्य चिरेण रोहति, रूढश्च विवर्णो भवति (सुसू. १२.१६)
अतिदाह–पु., रोग०, अतिदग्धता (अहसू. ३०.४८)
अतिदीप्ति–स्त्री., अतितीक्ष्णता, अतिदीपनम् (अहसू. ११.३४)
अतिदीप्य–पु., वनस्पति०, चित्रकभेदः (रा. ६.१२७) (द्र० 'चित्रक')
अतिदृष्टिप्रेरण–न., शलाकाभ्रमणे दोषविशेषः, तस्माद् रक्तस्रवणं रक्ताभरूपदर्शनं च भवति (असंउ. १७ पृ. १२८)
अतिदेश–पु., तन्त्रयुक्ति० यत्किंचिदेव प्रकाश्यार्थमनुक्तार्थसाधनाय एव 'एवं अन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते' (चसि. १२.४२)
प्रकृतेन अनागतस्य साधनमतिदेशः (सुउ. ६५.१७)

अतिदेह–पु., महाभोगशरीरः (असंसू. ६.६४)

अतिद्रव–वि., द्रवभूयिष्ठम् (असंसू. १०.७९)

अतिद्रवाशन–न., अतिद्रवद्रव्याणामाहारः
गुणाः–बहुमूत्रता, प्रतिश्यायः, विड्भेदः, पार्श्वभेदः, उत्क्लेशश्च (काखि. ५.३५)

अतिनिद्रता–स्त्री., रोगलक्षण० (चसू. ५.३१)
"अपच्यमानो बाहुल्यात् स्रोतांस्यावृणुते कफः ।
ततः स्रोतःसु रुद्धेषु जायते गात्रगौरवम् ।
गुरुगात्रस्य चालस्यमालस्यादतिनिद्रता"
(असंसू. ९.५२–५३)

अतिनिरूढ–वि., बस्तिव्यापद्०, अतिविरेचनवल्लक्षणानि अस्य (सुचि. ३८.१०)

अतिपतित–वि., विगतः व्यतीतः (चवि. ५.१२८)

अतिपत्र–पु., वनस्पति०, हस्तिकन्दः (रा. परि. ७.३५)

अतिपत्रक–पु., वनस्पति०, सागः (रा. ९.६)

अतिपातित–वि., रोगलक्षण०, अस्थिभङ्गस्य प्रकारः,
यत्र अस्थि निःशेषतः छिन्नं वर्तते, भग्नम् (सुनि. १५.१०)
स्थानाच्युतम्, अवलम्बमानम्, भग्नम् (सुसू. १८.३०)

अतिपातिन्–वि., आशुकारि (सुसू. ५,४१)

अतिपिञ्जर–वि., रोगलक्षण०, बहुपिञ्जरवान् (व्रणः) (चचि. २५.२४)

अतिपिडक–वि., रोगलक्षण०, बहुपिडकायुक्तः (व्रणः) दुष्टव्रणभेदः (चचि. २५.२४)

अतिपूतिक–वि., रोगलक्षण०, बहुपूययुक्तः (व्रणः) (चचि. २५.२४)

अतिप्रताम्यत्–वि., अत्यर्थं ताम्यन् तमः प्रपश्यन् (सुनि. १६.६१)

अतिप्रलाप–पु., रोग०, अशीतिवातविकारेष्वेकः; अतिजल्पनम्, असंबद्धबहुभाषित्वम् (चसू. २०.११)

अतिप्रवयस–वि., अतिप्रवरं वयो यस्य (चचि. ३०.१७७)

अतिप्रवृत्त–वि., अतिनिर्गतम् (सुसू. १४.३०)

अतिप्रवृत्तिः–स्त्री.. अतियोगः (चवि. ५.२४)

अतिप्रसङ्ग–पु., अतिमैथुनम् (सुउ. ५८.५१)
अतिप्राचुर्यम्, दीर्घकालानुबन्धो वा (सुशा. २.१८)
अत्यभिधानदोषः (चनि. ५.४)

अतिबला–स्त्री., वनस्पति०, बला, बलाभेदः (चसू १५.४४)
पीतबला, बलाभेद; (सुचि. ४.१०)

कङ्कतिका (सुक. ८.५१)
काकतिक्ता.(चचि. ३.२६७)
गुणाः—तिक्ता, कटुः, वातघ्नी, कृमिदाहतृष्णाविषच्छर्दिक्लेदघ्नी च (ध. १.२८६)

अतिबाल–वि., असंपूर्णसर्वधातुः (चचि., २(४).४१)

अतिबृंहित–वि., अतिशयेन बृंहणं, अनपेक्षितमात्रया सेवनं येन कृतं सः; अतिबृंहणम् 'अतिस्थौल्यापचीमेहज्वरोदरभगंदरान् । काससंन्यासकृच्छ्रामकुष्ठादीनतिदारुणान्' करोति (अहसू. १४.१९)

अतिभाष्य–न., अत्यधिकभाषणम् (चसि. १२.१३(१)

अतिमहायोनि–स्त्री., अतिविवृता योनिः, सान्निपातिकी योनिव्यापत्, महायोनिपर्यायः

अतिमात्र–वि., मात्रयाऽधिकम् (अहसू. ८.४)

अतिमात्रक–वि., संयोगात् स्वरूपात् प्रवृत्तेः वा आधिक्यम् (अहसू. १.१९)

अतिमात्रप्रणीत–वि., पुनः पुनः अतिशयेन वा प्रणिहितं (नेत्रम्)

अतिमात्राशन–न., कर्म०, मात्रामतिक्रम्य आहारग्रहणम् (चसू. २५.४०)

अतिमुक्त–पु., वनस्पति०, तिन्दुकः (सुचि. ३१.५)
आवन्तकः (सुउ. ४५.१६)
गुणाः—कषायः, शिशिरः, सुगन्धिः, श्रमहरः, हृद्यः, पित्तघ्नः, पित्तदाहज्वरोन्मादहिक्काच्छर्दिघ्नश्च (रा. १०.२६१)

अतिमुक्तक–पु., वनस्पति०, अतिमुक्तः (रा. १०.२६०)
माधवीलता, 'अवेतक' इति लोके (ड, सुउ. ६०.३४)
–तैल–न., तैल०, आवन्तकतैलम् (सुसू. ४५.१२०)

अतिमुक्ता–स्त्री., वनस्पति०, अतिमुक्तकः (असंउ २ पृ. २७)
–तैल–न., स्नेह०, (ध. ६.१४१)
तद्गुणाः—शीतं, गुरु, श्लेष्मलं, केश्यं, वातपित्तघ्नम्

अतिमुस्तक–पु., वनस्पति०, मुस्तकभेदः (असंचि. २३)

अतिमोदा–स्त्री., वनस्पति०, वनमल्लिका (रा. १०.२३६)
गणिकारी (रा. परि. १०.३१)

अतियव–पु., वनस्पति०, धान्य०, निःशूकः कृष्णारुणयवः (सुसू. ४६.४३.)

अतियोग–पु., वाङ्मनःशरीराणामतिप्रवृत्तिः (चसू. ११.३९)

अतिप्रयोगः (सुचि. ३४.२२)
अतिमात्रस्वलक्षणता (चसू. ११.४२)
अतिमात्रं संयोगः (चसू. ११.३७)

अतिरसा–स्त्री., वनस्पति०, शतावरी (चसू. ४.१०)
ऋद्धिः (चसू.४.१०) जलजं यष्टिमधु (चचि.१०.३५)
क्लीतनकं यष्टिमधुविशेषः (रा. ६.१८४)
रास्ना (ध.१.२७०) मूर्वा (असंउ. १० पृ. ८४)

अतिरुहा–स्त्री., वनस्पति०, मांसरोहिणी (ध. ४.९४)

अतिरूढ–वि., अतिवृद्धम् (सुउ. ७.१६–१७)

अतिरोप्य–पु., ये शालयः एकवारमुत्पाट्य द्विस्त्रिर्वा अन्यत्र रोप्यन्ते ते.
"रोप्यातिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः ।
अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्धनाः ॥"
(सुसू. ४६.१८)

अतिलङ्घन–न., लङ्घनव्यापत्, अतिमात्रं लङ्घनम् अत्यपतर्पणम् । अतिलङ्घनाद् बलहानिः, पिपासा, मुखशोषः, तंद्रा, निद्रा, अनिद्रा वा भ्रमः क्लमः श्वासाद्युपद्रवाः कास–स्वरक्षय–च्छर्दि–हिक्कादयो भवन्ति (सुउ., ३९.१००)

अतिलवण–वि., लवणभूयिष्ठम् (असंसू. १०)

अतिलोल–वि., अतिचपलः, अतिलोलुपः (सुउ.६०.१५)

अतिवर्तन–न., अतिप्रवृत्तिः, बहिर्गमनम्
(चसू. १७.७७)
(परिव०) कठिनीकरणम् 'पुरीषं चातिवर्तयेत्' उष्ट्रादिपुरीषवत् कठिनं कुर्यात् इति
(ड, सुउ. ५५.३८)
(परिव०) परित्यागः, 'लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते' न परित्यज्य याति इत्यर्थः
(ड. सुउ. ३९.८२)

अतिवाक्करण–(वि.) अतिभाषमाणः (चचि. ९.२१)

अतिविष–न., वनस्पति०, अतिविषा (चचि. ६.३८)

अतिविषम–वि., एकं संवृतमपरं विस्तृतम् (चइ. ३.६)

अतिविषा–स्त्री., वनस्पति० (चसू. २५.४०)
गुणाः—तिक्ता, कटुः, उष्णा, कटुपाका, पाचनी, दीपनी, कफपित्तघ्नी, ज्वरामाऽतिसारकासविषच्छर्दिघ्नी (ध. १.१०)
श्यामाभेदः (सुउ. ४०.३५)
भङ्गुरा (अहसू.१५.३५)

अतिवृत्तपुरीषता–स्त्री., गुल्मपूर्वरूपलक्षण०, उदावर्तः
(चनि. ३.१५)

अतिवृत्ति–स्त्री., अतिप्रवृत्तिः (सुशा. २.१९)

अतिशयोपवर्णन–न., अतिरिक्तस्याऽर्थस्य ख्यापनम्
(सुउ. ६५.३३)

अतिशीताशिन्–वि., अतिशीतान्नभोजी (काखि. ५.३०)
दोषाः—शूलं, कफवाताभिवृद्धिः, ग्रहणीमार्दवं, कासो हिक्का च.

अतिशुष्काशन–न., शुष्कद्रव्यभूयिष्ठं भोजनम्
(काखि. ५.३६)
दोषाः—विष्टम्भो मूत्रशकृद्विबन्धोऽतृप्तिश्च

अतिस्निग्ध–वि., नेत्रप्रत्यासन्नम् (चशा. १.१२३)

अतिसमय–पु., बहुभिः मिलित्वा कृतो नियमः
(चसू. ८.२५)

अतिसरण–न., रोगलक्षण०, अतीसारः (र. १६.४१)

अतिसार–पु., (अतीसार) रोग०,
निरुक्तिः—अतिसरणात् अतिसारः
(असंनि. ८.१७)
अत्यन्तसरणात् अतीसारः (सुउ. ४०.१)
संप्राप्तिः—अब् धातुः अन्तरग्निं मन्दीकृत्य वातप्रेरितः सन् पुरीषयुक्तः अतीव अधःसरति ।
(सुउ ४०.६)
उत्पत्तिकथा—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः; नालम्भाय प्रक्रियन्तेस्म । ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्ना-भागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः । अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्वामालम्भः प्रवर्तितः । तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे । (चचि.१९.४)
तथा चान्यत्र—
"दीर्घसत्रेण यजतः पृषध्रस्य महात्मनः । आलम्भ्याः पशवः क्षीणास्ततो गावः प्रकल्पिताः ॥
तासामुपकृतानां च गवामत्यर्थसेवनात् । असात्म्यत्वादथोष्णत्वाद् गौरवाच्च विशेषतः ॥ अतिस्नेहाच्च संक्षीणो जाठराग्निस्तदा किल । अतीसारः पुरोत्पन्नो दोषधातुमलाश्रयः ॥ अथ तेनैव कल्पेन सम्प्रत्येष महागदः" । संख्या–षड् अतीसाराः, वातज–पित्तज–कफज–संनिपातज–शोकज–आमजाः इति । पुनः द्विविधः सामः निरामश्च तथा सासृक् निरसृश्च ।
(असंनि. ८.१४)
पूर्वरूपाणि हृदय–नाभि–गुद–उदर–कुक्षीणां कुक्षि-

पु वा पीडा, गात्राणां ग्लानिः वैकल्यं वा वातस्य संनिरोधः, वर्चसः अप्रवृत्तिः, आध्मानम्, अन्नाविपाकश्च । (सुउ. ४०.७–९)

१) वातजः अतिसारः–पक्वं वा विबद्धम् अल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसन् शुष्कमुखः, कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली, भ्रष्टगुदः मुहुर्मुहुः विग्रथितम् उपवेश्यते पुरीषं वातात् । (चचि. १९.५)

२) पित्तजः अतिसारः–हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसंतापपाकपरीत इति । (चचि. १९.६)

३) कफजः अतिसारः–स्निग्धं, श्वेतं, पिच्छिलं, तन्तुमदामं, गुरु, दुर्गन्धं, श्लेष्मोपहितम्, अनुबद्धशूलं, अल्पाल्पम्, अभीक्ष्णम् अतिसार्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदबस्तिवङ्क्षणदेशः, कृतेऽप्यकृतसंज्ञः, सलोमहर्षः, सोत्क्लेशः, निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति । (चचि. १९.७)

४) संनिपातजः अतिसारः–अस्मिन् पुरीषं वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं भवति । वाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तोऽयम् अतीसारः कृच्छ्रसाध्यो भवति । (मा)

५) शोकजः अतिसारः–शोकजातिसारः वातपित्तातिसारसमलिङ्गः । (असंनि. ८.१४)

संप्राप्तिः–

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य जन्तोर्बाष्पोष्मा कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य तस्य रक्तं क्षोभयेत्, तच्च रक्तमधस्तात्काकणन्तीप्रकाशं (गुञ्जाफलसंकाशं) विड्विमिश्रं ह्याविड्वा निर्गन्धं गन्धवद्वा निर्गच्छेत्, अयं शोकोत्पन्नोऽतिसारो दुश्चिकित्स्यो वैद्यैः कष्टसाध्य इति प्रदिष्टः । (सुउ. ४०.९३–९४ मा.)

भयजः अतिसारः–भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्ते द्रावयेच्छकृत् । वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम् । वातपित्तसमं लिङ्गैराहुः । (असं. ८.१३)

६) आमजः अतिसारः–आमाजीर्णोपद्रुताः संप्रदुष्टा दोषाः कोष्ठं क्षोभयन्तः सन्तः कृच्छ्रात् नानावर्णं न एकशः, बहुशः, सभक्तं ससिक्थं सारयन्ति (सुउ. ४०.१६)

अतीसारे शकृद्वर्णाः–

हारिद्रः, हरितः, नीलः, मांजिष्टः, मांसधावनाभः, रक्तः, कृष्णः, श्वेतः, वराहमेदःसदृशः इत्येवमादयः । (चचि. १९.९)

अतीसारोपद्रवाः–श्वासः, शूलं, पिपासा, क्षीणत्वं, ज्वरनिपीडितत्वम् (सुसू. ३३.१९)

शोफ–शूल–ज्वर–तृष्णा–श्वास–कास–अरोचक–च्छर्दि–हिक्का–मूर्च्छादयः अतीसारोपसर्गाः (सुउ. ४०.२०–२१)

असाध्यलक्षणानि–यस्य पुरीषं घृत–मेदो–वेसवाराम्बु तैलादिवत्, मज्जासदृशं, क्षीरतुल्यं, मधुतुल्यं, मञ्जिष्ठोपमं, मस्तुलुंगसदृशम्, आमगंधिकं, शीतम्, उष्णं, कुणपगन्धिकं, सौवीराञ्जनसदृशं, नीलादिरेखायुतं, मयूरपिच्छासदृशैः संव्याप्तम्, पूयतुल्यं, पङ्काभं च अस्ति ।

उत्साहादिरहितः असंवृतगुदः पक्वगुदत्वे सति बहिर्निर्गतोष्मकः शोफाद्युपद्रवैर्युक्तः अजितेन्द्रियश्च न चिकित्स्यः । (सुउ. ४०.१९)

अतिसारघ्नी–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (ध. १.११)

अतिसारिकी–वि., अतिसारविकारशमनी (चवि. ५.२८)

अतिसृति–स्त्री., रोग०, अतीसारः (र. १६.६१)

अतिसौरभ–पु., आम्रः (ध. ५.३)

अतिसौहित्य–न., अतितृप्तिः, तृप्त्यतिक्रमः (असंसू. ११.७) (चसू. ५.७)

अतिसंवृता–स्त्री., योनिव्यापत्०, अतिसंकुचितमुखी, सूचीवक्त्रा (सुउ. ३८.१९)

अतिस्थौल्य–न.,विंशतिश्लेष्मविकारेषु एकः (चसू. २०.१७)

अतिस्थूलता, अयं मेदोदोषजः (सुसू. २४.९)

अतिस्वप्न–पु., निद्राधिक्यम् (चसू. २६.४३ (१)

अतिस्वेद–पु., रोगलक्षण०, अतिशयेन स्वेदः, चत्वारिंशत्पित्तविकारेषु एकः (चसू. २०.१४)

अतिस्वेदन–न., रोगलक्षण०, स्वेदस्य अत्यधिकत्वम् (चनि. ५.७)

अतीत–वि., पतित (सुशा. १०.५७)

अतीतकाल–न., निग्रहस्थानविशेषः, अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चाद् उच्यते । (चवि. ८.५८)

व्यतिक्रान्तकालम् (सुचि. २४.९८)

अतीतवासस्–न.. जीर्णवस्त्रम् (सुचि. २४.१०१)

अतीतागमन–न., गतकाले जातस्य पुनरागमनम् (चशा. १.८८)

अतीतावेक्षण–न., तन्त्रयुक्तिविशेषः, अतीतावेक्षणं नाम यत् अतीतमेव उच्यते । (चसि. १२.४४)

अतीन्द्रिय–न., चक्षुरादिभ्यः इन्द्रियेभ्यः सूक्ष्मतरं दुरवबोधम्, अतिक्रान्तम् इन्द्रियम् अतीन्द्रियम्

इन्द्रियं चक्षुरादिकम् अतिक्रम्य वर्तते इति वा। (चसू. ८.४)

अतीसार–पु., अतिसारः (सुउ. ४०.६)

अतुल्यगोत्र–वि., असगोत्रः (चशा. २.३)

अतुल्यगोत्रीय–पु., अध्याय० (चशा. २.१)

अतुल्यवीर्य–वि., विषमवीर्यः (चक. १२.५६)

अतृप्ति–स्त्री., रोग० चत्वारिंशत्पित्तविकारेषु एकः (चसू २०.१४)

रोगलक्षण० (असंसू. २०.१४)

अतैल–न., सर्षपस्नेहादि (चवि. ८.१५०)

अत्यग्नि–पु., रोग०, अतिप्रदीप्तः अग्निः, तीक्ष्णाग्निः (चसू. २७.२१९)

अत्यन्तशोणित–न., खनिजद्रव्य०, सुवर्णगैरिकम् (ध. ३.१७०)

अत्यम्ल–न., वनस्पति०, वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति०, गुणाः–अम्ला, तीक्ष्णा, दीपनी, रुच्या, वातश्लेष्मघ्नी, प्लीह–शूल–गुल्मघ्नी च (रा. परिशिष्ट पृ. ३३२)

अत्यम्ला–स्त्री., वनस्पति०, वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)

अत्यय–पु., व्यापत्, विनाशः (सुचि. ३७.८०) (सुचि. ३३.४५)

अत्यर्क–पु., वनस्पति०, राजार्कः, अर्कभेदः, शुक्लार्कः (रा. १०.२९)

अत्यर्थ–वि., अत्यधिकम् (चइ. ७.३०)

–रसिक–वि., अतिस्वादुरसयुक्तः (चइ. २.२२)

–विवृत–वि., अतिशयेन निर्गता (चइ. ८.११)

–संवृत–वि., अत्यधिकान्तःप्रविष्टा (चइ. ८.११)

अत्यादान–न., अतिप्रमाणेन ग्रहणम् (चशा. १.१२४) अतिच्छेदनम् (सुचि. २२.५१)

अत्यानन्दा–स्त्री., योनिरोग०, अतिविषयसेवनेनापि तृप्तिं न गच्छति इति स्वरूपम् (सुउ. ३८.१५)

अत्यासन–न., अतिमात्रम् आसनम् (चसि. १२.१४(४)

अत्युग्र–न., वनस्पति०, हिङ्गु (ध. २.३६)

वि.,–**कर्णकर्कशः**, श्रुतिपरुषः (चशा. १.११८)

–गन्धा–स्त्री., वनस्पति०, गिरिकर्णी (ध. ४.८५)

अत्युत्पिण्डित–वि., अत्यर्थनिर्गतम् (चइं. ३.६)

अत्युल्बणानिल–वि., अतिप्रबलवाता (चसू. १३.६८)

अत्युष्णगात्र–वि., रोगलक्षण०, अत्युष्णावयवः (सुउ. ३९.२४)

अत्यूह–पु., प्रतुदपक्षिविशेषः, डाहुकः, दात्यूहः इति पाठान्तरम्। (चसू. २७.५०)

अत्रि–पु., आयुर्वेदज्ञः महर्षि० (चचि. १ (४) ३)

–ज–पु., अत्रिपुत्रः (चचि. १२.४)

–पुत्र–पु., आत्रेयः पुनर्वसुः (अहसू. १.३)

अत्र्यात्मज–पु., अत्रिपुत्रः (चचि. १२.३)

अथ–अ., च, समुच्चये (चचि. १२.११)

अथर्वन्–पु., अथर्ववेदः (चसू. ३०.२०) अथर्ववेदविद् (सुसू. ३४,६)

अथर्वणकृत–वि., अथर्ववेदप्रणीताभिचारिक–मन्त्रैः कृतो मारणात्मको रोगविशेषः। 'दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशस्तका अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च; तेऽपि द्विविधाः—विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च, पुनश्च द्विविधाः-संसर्गजा आकस्मिकाश्च' (सुसू. २४.७)

अथर्ववेद–पु., ऋग्वेदादिचतुर्षु वेदेषु एकः (सुसू. १.६) 'इह खलु आयुर्वेदो नाम उपाङ्गम् अथर्ववेदस्य'

अदभ्र–पु., श्लेष्मप्रकोपणः सौम्यकीटविशेषः (असंउ. ४३ पृ. ३५१)

अदिति–स्त्री., देवता०, सूर्यमाता (असंशा. १२.८)

अदृढसौहृद–वि., शिथिलस्नेहः (सुशा. ४.६५)

अदृढस्नेहकोष्ठ–वि., निर्बलस्निग्धकोष्ठः; स्नेहनं स्नेहः, दृढः स्नेहकोष्ठो यस्य स दृढस्नेहकोष्ठः। न दृढस्नेहकोष्ठोऽदृढस्नेहकोष्ठः इति (अरुण. अहसू. १९.३७)

अदृष्ट–न., सर्वजनसामान्याधर्मः; विदृष्टम् (सुसू. ६.१६) (सुशा. ८.३)

–कारित–वि., अदृष्टेन सर्वजनसामान्येनाधर्मेण कारितं, कर्तुं प्रयोजितम् (ड. सुसू. ६.१६)

–शोणिता–वि., रोगलक्षण, शोणितदर्शनं विनाऽपि शूलं भवति यस्याः सा (असंशा. ४.५)

–सूर्य–वि., ईषद् दृष्टः सूर्यो यस्मिन तत् (अहसू. ३.२४)

–हेतु–पु., प्राक्तनकर्महेतुः, अनाकलित–हेतुः (सुसू. २१.१०)

अदृष्टार्तवा–वि., ऋतुकालेऽदृष्टमार्तवं यस्याः सा (सुशा. ३.६)

अदृष्टार्थ–वि., प्रमाणान्तरेण यस्य अर्थस्योपलब्धिः न भवति सः (चवि. ८.३८)

अदृष्टिपूतना (अन्धपूतना)–स्त्री., स्त्रीशरीरधारी ग्रहविशेषः (असंउ. ३)

अदेशिक (अदैष्टिक)–वि., वैदेशिकः, अनुत्तमस्थाननिवासी; दुर्दैवयुक्तः (र. ७.३०)

अद्धा–अ., अवितथम् (चइ. ४.४)

अद्भुतरूप–न,. न कदापि यद्भवति तदद्भुतम्, आश्चर्यम्, आश्चर्यकारिरूपम् (च. शा. ६.२७)
अद्य–न., भक्ताद्यन्नम् (सुसू. ४६.४९४)
अद्यतन–न., वधस्थानम् (सुसू. २.१०)
अद्रि–पु., पर्वतः (ध. ३.३४) (रा. २.३५)
–**कर्णिका**–स्त्री. वनस्पति०, गिरिकर्णिका (र. २९.३४)
–**कर्णी**–स्त्री., वनस्पति०, गिरिकर्णी (रा. ३.१२३)
–**ज**–न., महारसविशेषः शिलाजतु (र. २.१)
–(**जा**)–स्त्री., सैंहली पिप्पली (रा. ६.१२०)
–**जतु**–न., शिलाजतु (चचि. १६.१८)
अधरगुद–न., शारीर०, येन पुरीषं निष्क्रामति तत्, पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०)
अधरवासस्–न., शरीरस्याधो नाभेर्धारितं वस्त्रम् (असंसू. ३.९३)
अधरौष्ठ–पु., अधस्तनः ओष्ठः (सुसू. ३१.५)
अधर्म–पु., पापम् (सुशा. १.१६)
कायवाङ्मनसां दुश्चरितम् (सुसू. ६.१९)
पूर्वजन्मकृतं पापम् (सुशा. ३.३६)
ऐहिकः अधर्मः (चवि. ३.२०)
अधस्–अव्य., अधस्तात् (सुउ. ३९.२११)
अल्पम्, अर्वाक् (सूचि. ३७.१०२)
(**अधः**) **काय**–पु., न., शरीरस्याधोभागः (सुशा. ६.२६)
–**कायशोष**–पु., लक्षण०, सक्थिशाखावयवस्य शोषः, शुष्कत्वम्,–नितम्बमर्मविद्धस्य लक्षणम् (सुशा. ६.२६)
–**पात**–पु., पारदसंस्कार०, अधःपातनम् (र. ९.९)
–**पातन**–न., पारद संस्कार० (र. २.३४)
–**पातनकोष्ठी**–स्त्री., यन्त्र,० अङ्गारकोष्ठीभेदः (र. २.३४)
–**पुष्पी**–स्त्री., वनस्पति० गोजिह्वा (रा. ६.१८०)
–**शय**–वि., अधोमुखशायी (सुउ. २७.१३ ड)
–**शल्य**–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६०)
–**शोधन**–परिव० न., अधःशोधनं नाम विरेचनास्थापनम् (सुचि. २.८६)
–**स्रंसिन्**–वि., विष्यन्दनशीलम् (चसू. २६.४३.(३)
(**अधो**) **गतिस्वभाव**–वि., अर्वाग्गमनशीलम् (सुसू. ४१.४ (१))
–**गुडा**–स्त्री., वनस्पति०, वृद्धादारक (चसू. १.७७)
–**भक्त**–वि., भैषज्यकाल० भक्तस्यानन्तरम् (सुउ. ६४.७०) (काखिल. ३.४७.)
व्यानाख्ये विगुणे प्रातराशस्यान्ते, उदानाख्ये विगुणे सायमाशस्यान्ते, तत् पूर्वकायस्य बलाधानार्थं तद्वतेषु व्याधिषु श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय स्थूलीकरणार्थं च । (असंसू. २३.)
–**भाग**–वि., अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इति (चक. १.४)
–**भागहर**–वि., विरेचनम् (सुसू. ३९.४)
–**भागिक**–वि., विरेचनद्रव्यम् (सुचि. ३४.६)
–**भाज**–वि., निम्नगतिमत् (चसू. २६.४१)
–**मुखा**–स्त्री., वनस्पति० गोजिह्वा (रा. ६.१८०)
अधारणत्व–न., धारणाशक्तेरभावः (चवि. ८.१८)
अधिक–न. वि., वाक्यदोषप्रकारः अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतम्, यद्वाऽऽयुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किंचिदप्रतिसंबद्धार्थमुच्यते यद्वा पुनः प्रतिसंबद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तदोषत्वादधिकम् (चवि. ८.५४)
वि., अतिरिक्तः (सुनि. १६.२४)
–**दन्त**–पु., दन्तमूलगतरोग० (सुचि. २२.२३) 'अधिदन्त' द्रष्टव्यः
–**दन्तता**–स्त्री., दन्तानां संख्याधिक्यम् (कासू. २०.६)
–**मांसज–अर्मन्**–न., नेत्रशुक्लगतरोग०, अधिमांसार्म (सुउ. ४.६)
अधिकण्टक–पु., वनस्पति०, धन्वयासः (ध. १.२२)
अधिकरण–न., आधारः (सुसू. ३५.३५) आधार.
तन्त्रयुक्ति०, यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम् (चसि. १२.४१) (सुउ. ६२.८)
स्थानम्, अंगम्, आशयो वा द्रव्याणि यत्र कर्म कुर्वन्ति तदधिकरणम् (चसू. २६.१३; सुसू. ४१.५)
सिद्धान्त–पु., यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमानेऽन्यान्यप्यधिकरणानि सिद्धानि भवन्ति (चवि. ८.३७)
अधिकाङ्ग–वि., प्राकृतापेक्षयाऽधिकेनाङ्गेन युक्तः (असंशा. २.५४)
अधिकार–पु., अधिकरणम्, विषयः (चवि. ७.८)
योग्यत्वम् (सुसू. २६.७)
अधिजिह्व–पु., जिह्वागतरोग० जिह्वायाः प्रबन्धनेऽधस्ताज्जिह्वाङ्ग (ग्र) तुल्यः शोफः सहाङ्कुरः कफपित्तरक्तैर्लालोषास्तम्भयुतः खरस्पर्शयुतो रुक्कण्डूभ्यां युतः वाक्याहारविघातं करोति (असंउ २५)
कण्ठगतरोग० (सुनि. १६.५२)
अधिजिह्विका–स्त्री., रोग०, अधिजिह्वसंज्ञः (चचि. १२.७७)

अधिदन्त–पु., अस्थिप्रदोषजदन्तमूलगतरोग० (चसू. २८.१६) (सुनि. १६.२४)
अधिको दन्तः सोऽधिदन्ताख्यो रोगः तस्यैव वर्धनः, वर्धनकः, खलिवर्धनः, खलवर्द्धन इति पर्यायाः । तत्र अधिदन्ते जायमाने रुग् जायते जातमात्रे सा प्रशाम्यति । (मानि. असंउ. २५)

अधिदैवत–न., अधिष्ठात्री देवता, यथा–बुद्धेर्ब्रह्मा, अहंकारस्य ईश्वरः, मनसश्चन्द्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति । (सुशा. १.७)

अधिपति–पु., ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सद्यःप्राणहरं संधिमर्म । (सुशा. ६.६, ७, ९)
मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् सिरासन्धिः; संनिपातो रोमावर्तोऽधिपतिः; तत्रापि सद्योमरणम् । संख्याया एकमर्धाङ्गुलप्रमाणं च तत् (सुशा. ६.२७)

अधिभूत–न., बुध्द्यहंकारमनःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियपञ्चक-वागादिकर्मेन्द्रियपञ्चकानां विषयाः (सुशा. १.७)

अधिमन्थ–पु., नेत्ररोग० (सुसू. १४.३०)
अभिष्यन्दस्यैव अचिकित्सितस्य तीव्रं स्वरूपमधि-मन्थः (सुउ. ६.११)
ऊर्ध्वजत्रुगानामङ्गानां चातिमन्थनादधिमन्थः (असंउ. १९)
सामान्यलक्षणम्–नेत्रमुत्पाट्यत इव, अत्यर्थं निर्म-थ्यत इव, शिरसोऽर्धं च निर्मथ्यत इव वेदना (सुउ. ६.११)
सर्वेऽधिमन्था यथास्वमभिष्यन्देभ्योऽधिकवेदना भवन्ति, शङ्खदन्तकपालेषु अतिरुक्षाश्च (असंउ. १८)
अधिमन्थाश्चत्वारः वात–पित्त–कफ–रक्तभेदेन (सुउ. ६.३)
वातजाधिमन्थलक्षणम्–नेत्रस्योत्पाटनं, मन्थनं, संघर्ष–तोद–निर्भेद–मांससंरब्धाविलाकुञ्चनं–आस्फोटन–आध्मान–वेपथु–व्यधनेत्यादिलक्षणानि शिरसोऽर्धभागे भवन्ति (सुउ. ६.१२–१३)
कर्णयोर्नदनं भ्रमः ललाटाक्षिभ्रुवादयः अरण्या मथ्यन्त इव (असंउ. १८)
पित्तजाधिमन्थ लक्षणम्–नेत्रं रक्तराजिचितं, स्रावि, वह्निनेवावदह्यते, दाहि, यकृत्पिण्डोपमं, क्षारेणाक्तं यथा क्षतं तद्वत्, प्रपक्वोच्छूनवर्त्मान्तं, सस्वेदं, पीतदर्शनं, मूर्च्छाशिरोदाहयुतं च भवति (सुउ. ६.१४–१५) (असंउ. १८)
कफजाधिमन्थलक्षणम्–नातिसंरब्धं (नातिक्षुब्धं) नेत्रं, स्रावः, कण्डूः, शैत्यं, गौरवं, पैच्छिल्यं, दूषिका, हर्षणं, भवति दुःखरूपं च पश्यति पांशुपूर्णमिवाविलं नासाध्मानं, शिरोदुःखं च जायते (सुउ. ६.१६–१७)
कृष्णमण्डलं नतं शुक्लमण्डलमुन्नतम् (असंउ. १८)
रक्तजाधिमन्थलक्षणम्–बन्धुजीवप्रतीकाशं, स्पर्शना-क्षमं, ताम्यति, रक्तास्रावः, निस्तोदो भवति, अग्नि-निभा दिशः पश्यति, कृष्णभागो रक्तमग्नोऽरिष्टवच्च लक्ष्यते, दीसरक्तपर्यन्तमक्षि इति (सुउ. ६.१८–१९)

अधिमांस–न., रोग०, अधिरूढं मांसम्, बहिर्मार्गे त्वङ्मांसस्थितो मांसप्रदोषजोऽयं रोगः (चसू. ११.४९) (सुसू. २४.९)
पु., दन्तमूलगतरोगः, अधिमांसकपर्यायः (सुनि., १६.१३) (विशेषार्थेऽधिमांसको द्र०)
–विकार–पु., अधिमांसविशेषः, अर्शोरोगः (चचि. १४.५)
शिश्नापत्यपथगलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मत्व-चादिगतानामधिमांसानां 'अर्शांसि' इति संज्ञा तन्त्रान्तरे । (चचि. ५.६)

अधिमांसक–पु., दन्तमूलगतरोगः (अहउ. २१.२७) (सुनि. १६.२६)
कफदोषेण हानव्ये पश्चिमदन्तमूलमांसे उत्पन्नोऽयं-व्याधिर्महाशोथयुक्तो महारुजो लालास्रावी कील-वद्वनुकर्णरुजाकरो भवति, भोजनं च प्रतिहन्ति । छेद्योऽयं रोगः (सुचि. २२.२४) (सुसू. २५.५)

अधिमांसार्मन्–न., नेत्रशुक्लगतरोग०, (सुउ. ४.६)
शुष्कासृक्पिण्डवच्छ्यावं बहलं पृथु यन्मांसं सिते नेत्रभागे जायते तत् (असंउ. १३)

अधिष्ठान–न., स्थानम् (चशा. ७.७) आश्रयः (सुसू. १.२२) दूष्यम् (चचि. १४.६)

अधृति–स्त्री., असंतोषः (सुउ. ४५.९)

अधृष्य–वि., आक्रमितुमशक्यम् (काधूपकल्प.,)

अधौत–वि., अशुद्धम्, अक्रियमाणशौचम् (सुनि. १३.५७)

अध्यण्डा–स्त्री.,वनस्पति०, शूकशिम्बी, कपिकच्छुः, सौर-पाका (चचि. ३.२६७)

अध्यमृता–स्त्री., वनस्पति०, त्रिवृच्छ्यामा (रा. ६.३६९)

अध्यर्ध–वि., अधिकार्धम् (सुचि. ९.१८)

–धार–न., शस्त्र०, तद् ह्रस्ववक्त्रं छेदने भेदने च योज्यम् (अहसू. २६.७)

–मास–पु., पक्षत्रयम्, सार्धमासः (सुशा. १०.१६)

अध्यर्बुद–न., रोग०, अर्बुदभेदः, अर्बुदोपरिजातमर्बुदम् (सुनि. ११.२०)

अध्यवसान–न., निश्चयः (चवि. ४.५)

अध्यवसाय–पु., बुद्धेर्व्यापारः (सुशा. १.१७)

अध्यशन–न., अशनप्रकार० पूर्वभक्तेऽपरिणते भोजनम् (काखि. ६.५९ चवि. १५.२३६)

अजीर्णे भोजनम् (सुसू. ४६.५०९)

ग्रहणीदूषणानामग्र्यम् (चसू. २५.४०)

अध्यस्थि–न., रोग०, अस्थनि यदधिकमस्थि तत्, अस्थिवृद्धिदोषेण जायमानो रोगः (चसू. २८.१६) (सुसू. २४.९)

अध्यात्म–वि., आत्मानमधिकृत्य प्रवर्तमानम् (चसू. ८.१३)

आत्मन्यधि अध्यात्मम्, आत्मशब्दोऽत्र स्वशरीरवचनः (सुशा. १.७)

तत्त्वम्–न., (चसू. २५.२८) तत्व.

–लोक–पु., सर्वप्राणिजनः (चसू. २६.४४)

चेतनलोकः (चचि. २६.२९२)

अध्याय–पु., प्रकरणम्, अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता (चसू. ३०.७०)

अध्रुष–पु., तालुगतरोग०, तालुदेशे लोहितः स्तब्धः रुग्ज्वराढ्यः शोफः (सुनि. १६.४२)

अध्वन्–पु., मार्गः, मार्गाक्रमणम्, प्रभूतं पर्यटनम् (सुउ. ५८.२२)

दीर्घमार्गाटनम् (सुउ. ४१.१६)

(अध्व–) कर्शित–वि., अध्वगमनेन कर्शितः (चसू. १३.४७)

–गमन–न., पादाभ्यां प्रदीर्घमार्गगमनम् (सुनि. ८.३)

–प्रशोष–पु.,रोग०, शोषभेदः, अध्वा दीर्घमार्गाटनं, तेन जातो धातुक्षयः (सुउ. ४१.२१)

तेन स्वस्ताङ्गता संसृष्टपरुषच्छविः प्रसुप्तगात्रावयवत्वं शुष्कक्लोमगलाननत्वं भवति । (सुउ. ४१.२१)

–हत–वि., अध्वना हतः, श्रान्तः (चसि. २.८)

अध्वर–पु., यागः (सुचि. २९.१०)

अनक्ष–वि., इंद्रियरहितम् (सुशा. ३.१८)

अनङ्ग–पु., कामः.

न, मैथुनायोग्यमङ्गम्.

अङ्ग–जघनं, नाङ्गं-अनङ्गमङ्गसदृशं जघनकार्यनिर्वर्तनयोग्यं मुखादिकमुच्यते । केचिन्मुखेन तत् कुर्वन्ति, तन्निषिध्यते । (अहसू. ७.७१ अरुण)

अध्यात्माधिभूताधिदैवतवर्णनम्–हा अध्यात्म अधिभूत व अधिदैवताचा तक्ता.

अध्यात्मम्	अतधिभूम्	अधिदैवतम् ।
१) बुद्धिः	बोद्धव्यम्	ब्रह्मा
२) अहंकारः	अहंकर्तव्यम्	ईश्वरः, रुद्रः
३) मनः	मन्तव्यम्	चन्द्रमाः
४) श्रोत्रम्	श्रोतव्यम्	दिशः
५) त्वचा (त्वक्)	स्पर्शनीयम्	वायुः
६) चक्षुः	द्रष्टव्यम्	सूर्यः
७) रसनम्	रसनीयम्	आपः, वरुणः
८) घ्राणम्	घ्रातव्यम्	पृथिवी, भूमिः.
९) वाचा (वाक्)	वक्तव्यम्	अग्निः
१०) हस्तौ	आदातव्यम्	इन्द्रः
११) पादौ	गन्तव्यम्	विष्णुः
१२) पायुः	विसर्जनीयम्	मित्रः
१३) उपस्थम्	आनन्दनीयम्	प्रजापतिः ।

अनङ्गदीपन–वि., कामोत्तेजकम् (सुसू. ६.२६)

अनध्यक्ष–वि., यस्याः पालनकर्ता समीपस्थो नास्ति सा स्त्री (चवि. ८.१३)

अननुयोग–पु., अनुयोगाभावः, 'अनुयोज्यस्याननुयोगः' इति निग्रहस्थानविशेषः, इदं गौतमनये पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानम् (चवि. ८.६५)

अननुयोज्य–न., वादे निग्रहस्थानविशेषः अनुयोज्यस्य विपर्ययः (चवि. ८.५१)

अनन्त–वि., अविनाशी (सुशा. १.९)
पु., वनस्पति०, धन्वयासः (ध. १.२२ पृ. ११)
दिव्यसर्प०, (असंउ. ४१ पृ. ३३०)
न., खनिज० अभ्रकम् (रा. १३,२)
खनिज०, सुवर्णम् (सुशा. १०.१३)
–चूर्ण–न., सुवर्णचूर्णम् (सुशा. १०.१३)
–वात–पु., शिरोरोग०, त्रिदोषात्मको रोगः अस्मिन्मन्याघाटयोरतितीव्रा रुजः अक्षिभ्रुवशङ्खदेशेषु दोषाणामवस्थितिः गण्डपार्श्वेषु कम्पः हनुग्रहः, नयनामयाश्च भवन्ति (चसि. ९.८६) (सुउ. २५.१३,१४)

अनन्ता–स्त्री., वनस्पति०, उत्पलसारिवा, दुरधगर्भावल्ली (सुचि. ३.६१)
दूर्वा (सुशा. १०.६०)
अनन्तमूलम् (चसू. ४.१५)
धन्वयासः (सुउ. ३९.२०८)
तृण०, श्वेतदूर्वा (ध. ४.१४४)
अग्निमन्थः (रा. ९.१३६)
नागवल्ली (ध. ३.१)

अनन्न–न., निरन्नम्, औषधसेवनकालः (अहसू. १३.३७)
अनन्नं नाम केवलमौषधं ह्यस्तनेऽन्ने जीर्णे प्रातः उपयुज्यते, तस्मिंश्च जीर्णे पुनराहारः । निरन्नोपयोगात्तदतिवीर्यं भवति । तस्माद् बलवत्सु रोगिषु कफोद्रेके च तत् प्रशस्तम् । बालवृद्धवनितासुकुमारेषु तद्ग्लानिकरं भवति । (सुउ.६४.६७ असंसू. २३)
अभक्तम् इति पर्यायः ।

अनन्नाभिलाष–पु., रोगलक्षण० अनन्नाभिनन्दनम् (चनि. १.३३)
कफजविकार०, मधुररसातियोगोद्भवो विकारः । (चसू. २६.४३ (१)

अनपत्य–वि., क्षीणशुक्रः (र. १२.७)

अनपर–वि., अनन्यः, अपरशब्दः परवाचकः, ' (प्रकृतिपुरुषौ) ' उभावपि नित्यौ उभावप्यनपरौ ' न विद्यतेऽपरो याभ्यां तावनपरौ यतस्तावेव प्रकृतिपुरुषौ महदादिभ्यः परौ । (सुशा. १.९)

अनपवादप्रति (ती) कार–वि., योऽपवादस्य नाम निन्दायाः प्रतिकारं न करोति (चवि. ८.१३)

अनभिषङ्ग–पु., फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणम्, सात्त्विकगुणविशेषः (सुशा. १.१८)

अनभिष्यन्दि–वि., व्याधीनामनुत्पादकम्, सद्यो व्याधिकरणीयामवस्थां स्यन्दयत्यापादयति यद् द्रव्यं तदभिष्यन्दि, स्रोतसामुपलेपकारि वा, तद् विपरीतमनभिष्यन्दि (सुचि. ३२.२९ (ड.)
दोषान् व्याधीन् झटिति यदभिष्यन्दते उत्पादयति तदभिष्यन्दि, विपर्ययेणानभिष्यन्दि । (सुसू. ४५.२५ (ड.)

अनर्थ–वि., अर्थरहितम् (चशा. ३.१५)

अनर्थक–न., वाक्यदोष० अर्थहीनमक्षरग्राममात्रम् (चवि. ८.५४)

अनर्थान्तर–न., एकार्थः, समानार्थः (चवि. ६.४)

अनल–पु., तेजः, अग्निः (सुशा. १.४)
खनिज०, स्वर्णम् (र. ८.१७)
वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८१)
वनस्पति०, भल्लातकः (रा. ११.२०)
–दल–न., रसभस्मना बद्धरसेनान्येन वा लोहेन किमपि मृतं लोहं पीतवर्णं प्रजायते तत्, स्वर्णदलमित्यपरपर्यायः (र. ८.१७)
–प्रभा–स्त्री., वनस्पति०, ज्योतिष्मती. (रा. ३.३९५)
–भ्रंश–पु., रोगलक्षण० अग्निमान्द्यम् (र. १२.१२७)
–साद–पु., लक्षण०, अग्निमान्द्यम् (सुसू. ४६.२४५)

अनलङ्कारिक–वि., शरीरविभूषणार्थं यन्न प्रयुज्यते (चवि. ७.७)

अनवद्य–वि., अगर्ह्यः, निर्दोषः (अहउ. ४०.४१)

अनवपतितशब्द–वि., अग्राम्यशब्दम् (चवि., ८.३)

अनवबद्ध–वि., त्वङ्मांसादिधातुषु अनासक्तम्, शल्यप्रकारः (सुसू. २७.३)

अनवस्थान–न., रोगलक्षण० चाञ्चल्यम्, अस्थिरत्वम् चलचित्तत्वम् (चनि. १.२१)

अनवस्थायी–वि., चञ्चलचित्तः, अस्थिरमतिः (सुशा. ४.९०)

अनवस्थित–वि., स्थानान्तरप्राप्तम् (सुउ. ३९.१०३)
–चित्तत्व–न., चित्तस्थानवस्थितिः (चसू. २०.११)
–सत्त्व–वि., चञ्चलचित्तः (असंसू. ८.१९)

अनवस्थितात्मन्–वि., चञ्चलचित्तः (सुशा. ४.६५)
अनवहितत्व–न., अन्यमनस्कत्वम्, अवधानरहितत्वम् (चवि. ८.१८)
अनवाप्ति–स्त्री., अनुपलब्धिः (सुचि. ३४.४)
अनशन–न., लङ्घनम् (चनि., १.२८)
'आयुषो ह्रासकराणां श्रेष्ठम्' (चसू. २५.४०)
अल्पभोजनम् तद्घातप्रकोपकारणम् (सुसू. २१.१९)
अनस्थि–वि., अल्पकोमलास्थि (सुशा. २.४७)
बीजरहितं (फलादि) (चचि. १.५८)
अनहङ्कृत– वि., अहंकारहीनः, अनुद्धतः (चवि. ८.८)
अनागत–वि., ईषदागतः (सुचि. २४.१)
भविष्यत् (चशा. १.९१)
भविष्यकालः (रा. परि० २१.१८)
–विज्ञान–न., ग्रहलक्षण०, भविष्यद्विज्ञानम् (सुउ. ६०.४)
अनागताबाधाप्रतिषेधनीय–पु., अध्याय०, (सुचि. २४.१)
अनागतावी–वि., अप्राप्तप्रसववेदना (चशा. ८.४०)
अनागतावेक्षण–न., तन्त्रयुक्ति०, यदनागतं विधिं प्रमाणीकृत्यार्थसाधनम् (चसि. १२.४४)
अनागतस्य भविष्यतोऽवेक्षणमवलोकनं कार्यार्थम् (सुउ. ६५.३०)
अनातपशुष्क–वि., आतपे यन्न शुष्कम्; छायाशुष्कम् (चचि. १.५८)
अनातुर–वि., स्वस्थः, रोगरहितः (चइ. ८.८)
अनात्मवत्–वि., अजितेन्द्रियः, अपथ्यसेवी (सुचि. ३.३)
आत्मा, प्रयत्नः इति पर्यायौ, स्वास्थ्यानुवृत्त्यनुकूल-प्रयत्नशून्यः (हाराणचंद्र सुनि. २.४)
मूढबुद्धिः (सुचि. ३०.४)
अनादरोपक्रान्त–वि., असम्यगुपक्रान्तः (चचि. २१.४२)
अनादिः–वि., न विद्यते आदिः कारणं (उत्पत्तिः) यस्य, उत्पत्तिरहितः (सुशा. १.९)
अनादिनिधन–वि., जन्ममृत्युरहितम्; आद्यन्तरहितम् (असंसू. ४.३)
अनादिमध्यनिधन–वि., आदिरुत्पत्तिः आद्यन्तयोरन्तरा मध्यं, निधनं विनाशः एतैर्वर्जितः (कालादिः) (सुसू. ६.३)
अनानुपूर्व्य–न., यथोक्तक्रमत्यागः यथा–उष्णं निषेव्य सहसा शीतसेवा, तद्विपर्ययश्च; अनुचिते काले शीतोष्णसेवा च । (चनि. ५.६)

अनाप्यायमान–वि., अतृप्यन्, न वर्धमानः (चनि. ६.१०)
अनामक–पु., बालरोग०, मातृकादोषः, गुदकुट्टः (असंउ. २)
अनामन्–पु., बालरोग०, गुदकुट्टः (असंउ. २)
अनामय–न., रोगाभावः, आरोग्यम्,
अनामा–स्त्री., अनामिका (र. ७.२९)
अनामिका–स्त्री., शारीर०, अङ्गुष्ठाच्चतुर्थाङ्गुलिः, (सुसू. ३५.१२)
अनामी–स्त्री., अनामिका (अहसू. २५.३८)
अनायत्तत्त्व–न., अनधीनत्वम् (सुचि. ३०.४)
अनायास–पु., यक्षनाम०, येन नष्टं काश्यपतन्त्रं कलियुगे धारितम् (काकल्प. २४)
अनायुष्य–वि., आयुषो ह्रासकरम् (चवि. २.७)
अनार्तव–वि., अयोग्यर्तुषूत्पन्नः (चशा. १.१२६) (चसू. २७.३१६) (अहसू. ५.७)
अनार्तवस्तना–वि., अरजस्का, अल्पस्तनी च (सुउ. ३८.१८)
अनार्य–वि., आराद् दूरात् पापेभ्यो यातः इति आर्यः, तद्विपरीतोऽनार्यः (चक्र. चसू. ८.१९)
अनार्यक–न., वनस्पति०, काष्ठागरु, अगरु (ध. ३.२५) (रा. १२.४२)
अनार्यतिक्त–पु., वनस्पति०, किराततिक्तः (ध. १.३३)
अनाविल–वि., प्रसन्नम् (सुचि. १२.२०)
–दर्शन–न., वि., अकलुषिता दृष्टिः, निर्मलदृष्टि-युक्तम् (सुउ. १९.७)
अनास्थाप्य–वि., आस्थापनबस्तावयोग्यः (चसि. २.१४)
अनिग्रह–पु., यन्त्र०, अनिबन्धनः संदंशयन्त्रभेदः (सुसू. ७.११)
अनिज–वि., आगन्तुः (चचि. १२.४)
अनित्यता–स्त्री. मरणम् (चसू. ३०.२५)
अनिमित्त–वि., तदात्वेऽनुपलभ्यमाननिमित्ता (चइं. १.७)
अनिमिषाक्ष–वि., रोगलक्षण०, स्तब्धाक्षः (सुनि. १.७३)
अनिर्देशकारित्व–न., रोगिदोषः, वैद्योपदिष्टानाम-कर्तृत्वम्, अनिर्देशकारित्वमरिष्टानां अन्यम् (चसू. २५.४०)
अनिर्देश्यरस–वि., अव्यक्तरसम् (सुसू. ४५.३)
अनिर्वेद–पु., दौर्मनस्याभावः, उत्साहः, 'अनिर्वेदो वार्तलक्षणानां श्रेष्ठम्' (चसू. २५.४०)

अनिल–पु., देवता०, वायुः (सुसू. २१.८)
वातदोषः (अहसू. १.११)
–ग्रह–पु., रोग० वातावरोधः अशीतिवातरोगेष्वेकः (कासू. २७.१९–२०)
–घ्नक–पु., वनस्पति० बिभीतकः ।
–ज्वर–पु., रोग० वातज्वरः (र. १२.२१)
–मूढता–स्त्री., रोगलक्षण० वायोः सम्यगसंचारः (अहसू. १३.२३)
–रक्त–न., रोग० वातरक्तसंज्ञकः; वातादिमिश्रं रक्तम् (असंशा. ६.२२)
–सूदन–वि., वातनाशकम् (चचि. १७.९०)
अनिलान्तक–पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रापरि. ८.१७)
अनिलापह–पु., वनस्पति० कुलित्थः (ध. ६.१०५)
वि., वातघ्नं (सुचि. २२.३६)
अनिलायन–न., वायुमार्गः (सुनि. १६.६१)
अनिलारि–पु., योग० 'वातारि' इति प्रसिद्धः (र. २१.५०)
अनिष्टदिष्ट–वि., अहितकरत्वेन उक्तम्, अनिष्टकारकं दैवम् (असंउ. ३३)
–पाक–पु., अनिष्टपूर्वकर्मभिः उत्पन्नः पाकः (असंउ. ३३)
अनुकण्ठन–न., स्तोकपानम् (असंउ. २४.)
अनुकरण–न., अनुकृतिः (चनि. ७.७ (१)
अनुकर्ण–न., कर्णसमीपदेशः (असंशा. ७.२३)
अनुकूला–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)
अनुकेसरा–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.६२)
अनुक्रोश–परिव० पु., दया, अनुकम्पा (चशा.४.३८ (१)
अनुग–वि., व्याप्तम् (सुउ. ४७.६७)
अनुगत–वि., एकीभूतम् (सुचि. ५.२२)
अनुगामिन्–वि., रोगानुगामी (असंसू. २२)
अनुगुण–वि., अनुकूलः (सुनि. ३.१४)
अनुगुप्त–वि., कृतरक्षं, वाद्यननुगमनीयम् (चवि. ७.२२)
अनुग्रथित–वि., विग्रथितम् (चचि. १९.५)
अनुचित–वि., अनभ्यस्तम् (सुचि. २४.९७)
अनुज–न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२ रा. १२.१५४)
अनुतर्ष–न., अनुपानम्, मुहुर्मुहुः दीयमानं पानम् (चचि २४.१४.८)
अनुत्तम–वि., अत्युत्कृष्टः (सुनि. ३.१४)
अनुत्थित–वि., नोन्नमिता (असंसू. ३६.८)
अनुत्सेक–पु.,वि., क्रोधस्य गर्वस्य च अभावः, क्रोधरहितः, अनुद्धतो वा (चवि. ८.१३)
अनुदक्षिण–अ., सव्यम् (असंसू. ३)
अनुद्वृत्त–वि., अनुच्छलितम्, अवमितम्, कर्षणकृत-परावृत्त्या हि दंष्ट्राणामधोमुखत्वम् (सुक. ३.२९)
अनुधूप–पु., धूपप्रकार०, धूपस्य अनु-पश्चात् दीयते यः सः (काक धूप०)
अनुनय–पु., सान्त्वनापूर्वकं वचनादि (सुउ. ४६.२३)
अनुन्नत–वि., ईषदुन्नतः, तनुः (सुनि., १०.३)
अनुपक्रम–वि., न विद्यते उपक्रमः प्रतीकारः यस्य सः, असाध्यस्यैकः प्रकारः, प्रत्याख्येय इति यावत् (चसू. १०.९) (असंसू. २)
लक्षणानि–त्रिदोषजः क्रियापथमतिक्रान्तः, सर्वमार्गानुसारी, औत्सुक्यारतिसंमोहकरः, इन्द्रियनाशनः, सारिष्टो, दुर्बले सुसंवृद्धो व्याधिः प्रत्याख्येयो भवति । (चसू. १०.१९–२०)
अनुपक्व–वि., अपक्वो हीनपक्वो वा (र. १८.२९)
अनुपचारवचन–न., अननुकूलवचनम्, प्रतिकूलवाक्यम् (चसू. ११.३९)
अनुपत्यक–वि., यद्विदूरम् अन्यस्य महतो गृहस्य तत् (गृहम्) (चसू. १५.६)
अनुपद्रव–वि., उपद्रवरहितम् (चचि. ३.५०)
अनुपशय–पु., असात्म्यम्, दुःखकारकम् (चसू. ११.३८)
व्याध्यसात्म्यम् (अहनि. १.८)
औषधान्नविहाराणामसुखकर उपयोगो रोगेषु, अयमुपक्रमो गूढलिङ्गव्याधीनां परीक्षायामुपशयेन साकं प्रयुज्यते (चनि. १.१०) (चवि. ४.८)
अनुपस्कृतविद्य–वि., शास्त्रान्तरज्ञानेन नास्त्येवोपस्कृता विद्या यस्य सः; आयुर्वेदज्ञः सन् शास्त्रान्तरेणापि असंस्कृतः (चवि. ८.४)
अनुपहतरेतस्–वि., शुद्धशुक्रः, सुप्रजाजननक्षमः (चशा. ३.३)
अनुपातिन्–वि., सम्बन्धि (चशा. १.८१)
अनुपान–नि., अन्नादनु पश्चात्पीयते तत् (सुसू, ४६.४१९)
गुणाः–अनुपानं तर्पयति प्रीणयति ऊर्जयति बृंहयति पर्याप्तिं अभिनिर्वर्तयति, भुक्तमवसादयति, अन्नसंघातं भिनत्ति, मार्दवमापादयति, क्लेदयति, जरयति आहारस्य सुखपरिणामितां आशुव्यवा-

यितां चोपजनयति, आयुषे बलाय च भवति (चसू. २७.३२५)

तदादौ कर्शयेत्पीतम्, स्थापयेन्मध्यसेवितम्। पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत्। (सुसू. ४६.४३८)

'अनुपाने तु सलिलमेव श्रेष्ठम् सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्यत्वात् जीवनादिगुणयोगाच्च' (असंसू. १०.४२)

दोषभेदेनानुपानम्–

'स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते।
अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम्॥
हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा।
अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विषार्तिषु॥'
(सुसू. ४६,४२९)

सर्वद्रव्याणामनुपानानि (सुसू. ४६) इत्यत्र द्रष्टव्यानि

अनुपाने वर्ज्याः–

ऊर्ध्वजत्रुगदश्वासकासप्रसेकहिध्मास्वरभेदोरःक्षतिनः गीतभाष्यप्रसक्ताश्च (असंसू. १०.५५–५६)

अनुपाश्रित–वि., आसनरहितम् (सुचि. २४.९८)

अनुपीत–वि., भावितम् (सुउ.११.११)

अनुपूर्ववृत्त–वि., यदनुपूर्वशः वृत्तं नाम वर्तुलं तत् (असंशा. ८.३२)

अनुपूर्वशः–अ., पूर्वसदृशः; अनुशब्दः सदृशार्थोऽत्र (सुचि. २.३४)

अनुप्रणिधान–न., प्रयत्नः, कर्तव्यम् (चवि. ६.१४)

अनुप्रविष्ट–वि., अनन्तरप्रविष्टम्, यथा पृथिव्यादिभूतस्य उत्पत्त्यनन्तरमन्यस्य जलादेस्तत्र प्रवेशः तद्विशिष्टमनुप्रविष्टम् (सुशा. १.२१)

अनुप्राप्त–वि., आश्रितः (सुनि. ८.३)

अनुबद्धशूल–वि., रोगलक्षण० पश्चात्सातत्येन शूलयुतम् (चचि. १९.७)

अनुबन्ध–पु., सम्बन्धः (चवि. ६.९)

उत्तरकालः अन्यकालो वा (चवि. ३.४६)

पुनरुद्भवः (सुउ. ३९.१६४)

पश्चाद्भाविफलम् 'अनुबन्धः खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति, कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो वा भावः' (चवि. ८.७४)

कार्यस्य आयतीयं (उत्तरकालिकं) फलम् (चवि. ८.३)

कारणम् (सुउ. ३९.५६)

आयुः अनुबन्धाति आयुरपरापरशरीरादिसंयोगरूपतया (चसू. १.४२)

परतन्त्रः––व्याधिर्दोषो वा (चवि. ६.११)

अनुबध्नाति अनुबध्यते इति अनुबन्धः, अनुगामित्वम्, गौणत्वेन स्थितिः (अहृचि. ३.७०)

–कोप–वि., दीर्घकालकुद्धम् (चशा. ४.३८ (२)

अनुबन्ध्य–पु., स्वतन्त्रः स्पष्टाकृतिः यथास्वं समुत्थानोपशयश्च (असंसू. २२)

अनुबल–वि., अनुबन्धरूपः (चचि. ३.४४)

अनुबाधन–वि., दीर्घकालावस्थायि विकारकारि (चचि. १.५)

कालान्तरेण प्राणहरणम् (असंसू. १२)

अनुमत–न., तन्त्रयुक्ति० परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम् (सुउ. ६५.२८)

यथा "गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्येके" इत्यादि एकीयमतं प्रतिपाद्य अप्रतिषेधादनुमन्यते (चसि. १२.४३)

अनुमान–न., प्रमाण० अनुमीयते अनेन वस्तुस्वरूपमिति (चसू. ११.७)

युक्त्यपेक्षः तर्कः (चवि. ८.४०)

तर्कः; अप्रत्यक्षज्ञानम् (सुसू. १४.३)

अनुमार्जन–(परिव०) न., अनुमर्दनम् (सुचि. ३.३२)

प्रच्युतस्य सन्ध्यस्थनो मार्गोपलम्भार्थम् अनुमार्जनं विधेयम्।

अनुयन्त्र–न., स्वल्पयन्त्रकार्यकरम् (अहृसू. २५.३९–४०)

पर्यायः––उपयन्त्रम् (सुसू. ७.१५)

अनुयन्त्राणि––अयस्कान्तरज्जुचर्मान्तर्वस्त्राश्मसुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखशाखावालचलोष्मकालपाकहर्षभयानि (असंसू. ३४)

अनुयव–पु., वनस्पति०, शूकधान्य० निःशूको यवः तद्गुणाः यवान्ययूनाः (अहृसू. ६.१५)

अनुयोग–पु., प्रश्नः, तद्विद्यानां तद्विद्यैः सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा (चवि. ८.५२)

अनुयोज्य–न., तन्त्रयुक्ति०, अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तत्, सामान्यतो व्याहृतेष्वर्थेषु विशेषग्रहणार्थं यद् वाक्यं तदप्यनुयोज्यम् (चवि. ८.५०)

अनुरस–पु., पश्चादुपलभ्यते यो रसः (चसू. २६.२३)

अनुलेप–पु., लेपनम् (सुउ. ११.६)

अनुलेपन–न., उपक्रम०, स्नानाद्यनन्तरं गन्धद्रव्यैः शरीरस्य लेपः (चनि. १.३६)
गुणाः–'सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम् । स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम् ॥'
(सुचि. २४.६३)
अनुलेपने अयोग्याः– येषां स्नानं निषिद्धं तेषामनुलेपनमपि निषिद्धम् । (सुचि. २४.६४)
–परिक्लेशन–न.,रोगलक्षण०, गन्धचन्दनादिलेपने क्लेशः (चनि. १.३३)

अनुलोम–वि., अधोमार्गगामि, विरेचनमिति यावत् (चसि, ६.३)
लोमानुकूलम्–येनैवावर्तेन लोमानि सन्ति तेनैवावर्तेन शस्त्रावचारणम् (सुसू. ५.७)
शल्यतन्त्रे प्रवेशमार्गेणैव शल्यस्याहरणं प्रतिलोमं, तद्विपरीतमनुलोमम् (सुसू. २७.६)
–ग–वि., अधोगम् (चिनि. २.१७)
–अधोमार्गगतः–व्याध्यादिः (चइ. ७.२०)
–विशोधन–न., उपक्रम०, अधोमार्गेण शोधनं विरेचनं बस्तिश्च (काखील. ७.३)
–संभाषा–स्त्री., वादप्रकार०, सन्धायसंभाषा (चवि., ८.१७)
–हरण–न., उपक्रम०, रेचनम्, अधोमार्गेण मलनिस्सरणम् (चवि., ७.२७)

अनुलोमता–स्त्री., अधोमार्गेण सुखेनैव निःसरणम् (चसू., १६.६)

अनुलोमन–न., उपक्रम०, संशोधनं–तस्य साधनं विरेचनं बस्तिश्च (सुचि., १४.९)
अनुलोमगत्या मूढगर्भादिशल्याहरणम् (सुशा. १०.१०)
वि., वातादीनामधःप्रवर्तनम् (सुसू. ४६.३१९)

अनुलोमनी–वि., अनुलोमकारिणी (अहसू. ८.१६)

अनुल्बण–वि., अनुद्धतः (अहसू. २.३१)

अनुवक्रग–वि., ग्रहः समाक्रान्तं राशिं मुक्त्वा पुनः भुक्तराशिं नक्षत्रं वा याति स वक्रगः, पुनश्चानुगत एवोत्तरस्थानेऽनुवक्रगः । (सुसू. ३२.४)

अनुवर्ण–न., रसक्रियायां निर्दिष्टभागादधिकद्रव्यप्रक्षेपणम् (र. ८.४९)

अनुवर्तन–न., यथापूर्ववर्तनम् (चसू. १६.६)
अनुविधानं, स्वीकरणम् (चसू. १३.१३)
(परिव.) अनुकूलवर्तनम् (सुशा. १०.४६)

अनुवर्तमान–वि., ज्वरादीनां विकाराणां बलवत्त्वेन दीर्घकालमनुवर्तनम्, परस्परबलमभिवर्धयन्, एककालं वर्तमानो वा (चवि. ६.८)

अनुवासन–न., उपक्रम०, स्नेहः (चवि. ८.१५०)
स्नेहबस्तिः (चसू. १.९०)
तैलप्रधानो बस्तिः (चसू. २.१४)
'अनुवसन्नपि न दूषयति अनुदिवसमपि वा दीयते इत्यनुवासनम्' (सुचि. ३५.१८.)
अनुवासनं यथाहौंषधसिद्धः स्नेहनार्थं स्नेहः स्नेहविधौ, स चतुर्धा अभिहितः । (असंसू. २८.७)
अनुवासनप्रकारा द्रव्याणि च–
"अनुवासनं तु स्नेह एव । स्नेहस्तु द्विविधः स्थावरात्मको जङ्गमात्मकश्च । तत्र स्थावरात्मकः स्नेहस्तैलमतैलं च । तद्द्वयं तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यामः, सर्वस्तैलप्राधान्यात् । जङ्गमात्मकस्तु वसा मज्जा सर्पिरिति । तेषां तैलवसामज्जासर्पिषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेषु अनुवासनीयेषु, यथोत्तरं तु पित्तविकारिषु, सर्व एव वा सर्वविकारेष्वपि योगमुपयान्ति संस्कारविधिविशेषादिति ।"
(चवि. ८.१५०)
मात्राबस्तिरपि अनुवासनस्य भेद एव (असंसू. २८)
उत्तरबस्तिरपि स्नेहनेऽनुवासनवत् । (असंसू. २८)
अनुवास्याः—य एव आस्थाप्यास्त एवानुवास्याः । रूक्षातिदीप्ताग्नयः केवलानिलार्ताः च विशेषेण (चसि. २.१९)
अननुवास्याः—य एव अनास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः तथा निरन्नपाण्डुरोगकामलाप्रमेहप्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चोभेदार्तपीतविषगरपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठाः । (असंसू. २८)
अनुवासनमात्रा—मध्यवयस्कमाश्रित्य अनुवासनस्योत्तमादिमात्राभेदेन त्रैविध्यमुक्तम् यथा–षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत् । कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने । गयी तु यथा प्रमाणविहिताच्च बस्तेः पादांशः स्नेहबस्तिः स्नेहविकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽनुवासनं, तस्यापि विकल्पः अर्धमात्रा प्रकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति ।
एतेन तन्मते षट्पलप्रमाणः स्नेहबस्तिः तदर्धेन पलत्रयप्रमाणमनुवासनम् । तस्यार्धेन सार्धपलप्रमाणः मात्राबस्तिरिति (सुचि. ३५.१८)
अनुवासनस्य विधिः कालश्च—

'विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय वै ।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ॥
(सुचि. ३७.३)

यः अनुवासनार्हः तस्य साधुतया अभ्यङ्गस्तथोष्णाम्बुना शनैः स्वेदनं करणीयम् । अनन्तरं शास्त्रानुसारेण भोजनं कृत्वा चङ्क्रमणं कार्यम् । शकृन्मूत्रविसर्जनानन्तरं तस्मै अनुवासनं (अनुवासनबस्तिः) देयम् ; अनुवासनस्य निरूहोक्तविधिना प्रणिधानं कार्यम् । (सुचि. ३७.५८–५९)

अनुवासनबस्तिप्रदानानन्तरं वाक्शतपर्यन्तं हस्तपादाद्यङ्गानि प्रसार्य उत्तानावस्थायामेव तिष्ठेत् । गात्रप्रसरणात् स्नेहवीर्यं सर्वशरीरे विसर्पति । अनन्तरं तस्य हस्तपादतलयोः स्फिचोश्च (स्नेहस्य शीघ्रागमननिषेधार्थम्) शनैः शनैस्त्रीन् त्रीन् वारान् ताडयेत् । तदनन्तरमातुरेण सह शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत् । एवं दत्तबस्तौ तेन पुरुषेण मन्दायासं मितभाषणं च कर्तव्यम् । स्वास्तीर्णायां शय्यायां यथेच्छम् आसीत । स्नेहाचारिके तेन मग्नेन भाव्यम् ।
(सुचि. ३७.६०–६२)

सम्यगनुवासितस्य लक्षणम्–
सम्यगनुवासितस्य पुरुषस्य दत्तोऽनुवासनबस्तिः अनिलेन पुरीषेण च सह शीघ्रं त्रिचतुरादियामात् प्रत्यागच्छति । अत्र ओषचोषादिवेदना न भवन्ति ।
(सुचि. ३७.६७)

अनुवासनोपगानि द्रव्याणि यानि अनुवासनक्रियायां साहाय्ये नोपगच्छन्ति । (चसू. ४.८)

अनुवासनोपग-गणः 'रास्नासुरदारुबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राऽग्निमन्थश्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति ।'
(चसू. ४.१३)

अनुवासित–वि., दत्तानुवासनः (असंसू. २८.४६)
(सुचि. ३८.३)

अनुवास्य–वि., अनुवासनयोग्यः (चसि. २.१९)

अनुविद्ध–वि., मिश्रितम् (सुनि. ६.१०)

अनुवृत्ति–स्त्री., सातत्यम् (चसू. १२.८)

अनुवेल्लित–न., व्रणबन्ध०, अनुवेल्लितं शाखासु
(सुसू. १८.१७)

अनुशय–पु., अनुबन्धः, अनुसृत्य सम्बन्धः, सततसम्बन्धः, प्राप्तिः (चसू. २१.१२)
कोपः (चचि., ६.३) उपाधिः (काखिल. १.२२)

अनुशयी–स्त्री., क्षुद्ररोग०, कफान्मस्तके जायमाना सवर्णा अल्पसंरम्भा अन्तःप्रपाका गम्भीरपिटिका
(सुनि. १३.२३)

अनुशस्त्र–न., हीनशस्त्रं शस्त्रसदृशं वा, शस्त्रकर्मसाधकद्रव्यान्तरम् (सुसू. ८.१५)
अनुशस्त्राणि तु जलौकःक्षाराग्निसूर्यकान्तकाचस्फटिककुरुविन्दनखशाकशेफालिकादिखरपत्रसमुद्रफेनशुष्कगोमयादीनि (असंसू. ३४.३२)
(अहसू. २६.२७)

अनुशासन–न., उपदेशः (काचि) शिष्योपक्रमणीय०

अनुशिष्टिप्रतिकार–वि., आज्ञाधारकः (चवि. ८.८)

अनुषङ्गिन्–वि., पुनर्भावि (चसू. २५.४०)
चिरकालस्थायी (चचि. २१.३४)

अनुष्ण–वि., अल्पोष्मा (चचि. ३,२८१)
–वल्लिका–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा (रा. ८.२२६)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० शीतवीर्ययुक्तो वृक्षः यथा–क्षीरिवृक्षः (सुसू. ३७.२३)

अनुसन्दिग्ध–वि., सन्देहयोग्यो विषयः
(चवि.८.४३)

अनुसमाधि–पु., अनुष्ठानम् (चशा. ४.४१)

अनुसुख–अ., यथासुखम् (सुशा. १०.९)

अनूक–न., सादृश्यम् (चशा. ४.३६)
प्राक्तनी अव्यवहिता जातिः (चशा. २.२७)
शीलम् (सुशा. ४.६७) स्वभावः, स्वरूपचेष्टानुकरणम् (अहशा. ३.८९)

अनून–अ., निरवशेषेण साकल्येन (काखिल., ५.२६)

अनूप–वि., अम्बुप्रायदेशविशेषः, 'प्रचुरोदकवृक्षः निवातः दुर्लभातपः बहुदोषश्च अनूपः' (चवि.३.४८)
सोऽहितदेशानामभ्यः, (चसू. २५.४०)
अनुगता आपो यस्मिन् सोऽनूपः (चसू. १९.१६)
–ज–न., वनस्पति०, आर्द्रकम् (ध. २.८४)
(रा. ६.१३२)

अनूपालु–पु., वनस्पति०, पानीयालुः,
गुणाः–पानीयालुस्त्रिदोषघ्नः संतर्पणकरः परः,
(रा. ७.३१)

अनृजु–न., वनस्पति०, तगरम् (ध. ३.५३)

अनृतु–पु., रजःस्रावेतरकालः (सुशा. २.१८)

अनेकशफ–वि., विभक्तखुरः छागादिपशुः
(सुसू. ४६.४३३)

अनेकाग्र–वि., व्याकुलचित्तः (असंशा. १०.२१)
(चइ. ११.३)

अनेकान्त–पु., तन्त्रयुक्ति०, 'क्वचित्तथा क्वचिदन्यथा

इति यः, सः अनेकान्तः' यथा–केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं केचिद्रसं केचिद्वीर्यं केचिद्विपाकमिति । (सुउ. ६५.२४)

अनौषध–न., दोषकोपनद्रव्यम् तद् द्विप्रकारम्, बाधनम् अनुबाधनं च; तत्र सद्यःप्राणहरं बाधनं, कालान्तरेण प्राणहरम् अनुबाधनम् (असंसू. १२) वि., अचिकित्सितम्, चिकित्सायामौषधिरूपेणानुपयुक्तम् (अहसू. ९.१०)

अनौषधिभूत–वि., व्याधिनिवारणेऽनुपयुक्तम् (सुसू. ४१.५)

अन्त–पु., मरणम् (चइ. १.२२)
समाप्तिः, निर्णयः, "वादान्सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव । पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्वतौ ॥ (चसू. २५.२७)
उत्तरकालः (चइ. ६.१८)
हस्तपादाद्यन्तिममङ्गम् (चइ. ९.६ सुउ. ४४.३९)
कनीनिकापाङ्गम् (सुउ. १८.६६)

अन्तक–पु., रोग०, संनिपातज्वरभेदः, तल्लक्षणम्–दाहं परितापनं च करोति, मोहं ददाति, शिरःप्रकम्पं विदधाति, हिक्कां तनोति, कसनं च करोति । असाध्योऽयम्, मर्यादा त्वस्य दश दिनानि । (मा ज्वरः)

अन्तर्–अ., मध्ये (सुसू. ३२.४)
–गल–पु., शारीर०, गलस्यान्तर्भागः (चसू. १८.२२)
–गृह–न., मध्यगृहम् (सुचि. २७.८)
–ज–वि., अन्तर्मार्गाश्रितः (चचि. २१.२७)
–दाह–पु., चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)
लक्षण०, शरीरस्यान्तोऽन्त्रादावुष्णस्पर्शरूपो दाहः (चचि. ३.३९) कोष्ठे दाहः (असंसू. २०)
–धूम–वि., संस्कार०, शरावे प्रस्थापितस्यौषधिद्रव्यस्य पिधानान्यच्छाद्याधस्तादग्नौ तथा पचनं यथा धूमो न बहिर्गच्छति (चचि. १५.१७५) (र. २८.३२)
–नखमुष्टि–पु., स्त्री., अन्तरीकृतनखमुष्टिपरिमाणम् (चक. १.१४)
अन्तर्नखा मुष्टिः, यस्मिमुष्टौ नखानि न दृश्यन्त इत्यर्थः (असंक. १)
–महानाद–पु., भैषज्य०, शङ्खः (रा. १३.२४३)
–मुख–वि., मुखान्तर्गतम् (सुशा. ८.८)
न., शस्त्र०, अध्यर्धमङ्गुलफलं केशप्रमाणधारमष्टाङ्गुलप्रमाणदीर्घं जिह्वधारमर्धचन्द्राननं मध्यमुखं विस्रावणोपयोगि शस्त्रम् (सुसू. ८.३)
–मुखमुष्टि–स्त्री., अन्तर्नखमुष्टिः (असंक. १)
–मुखी–स्त्री., योनिव्यापद्०, विंशतियोनिरोगेष्वेकः (चचि. ३०. ३०–३१)
तल्लक्षणम्–अत्याशितायाः सुरते विषमं स्थितायाः वायुरन्नेनोत्पीडितः सन् योनेः स्रोतसि स्थितश्च सन् साश्थिमांसं तीव्ररुजं योनेर्मुखं वक्रयेत् साऽन्तर्मुखी, वक्रमुखी वा (असंउ. ३८)
–मृत–वि., गर्भकुक्षौ मृतः (सुनि. ८.१२)
–लोहित–वि., लक्षण०, कोष्ठमध्यपतितं रुधिरम् (सुचि. २.५१)
यस्य कोष्ठमध्ये रक्तस्य स्रावः, बहिरनिःसृतरक्तम् (मा. १७)
–वक्त्रदाह–पु., अन्तर्मुखे दाहः (असंसू. ८)
–वत्नी–स्त्री., गर्भिणी (चशा. ८. १६)
–विद्रधि–स्त्री., शरीरस्यान्तरङ्गेपूत्पन्नो विद्रधिः (सुसू. ४३.३) (सुशा. ८.१७)
–वेग–वि., अन्तःकोष्ठादौ वेगो नाम गतिर्यस्य सः (चचि. ३.३३)

अन्तर–न., अवकाशः, छिद्रम् (सुशा. ९. १३)
अवसरः, कालः (सुउ. ३९. ३२०)
मध्यम् (सुसू. ३५. १२)
कारणम् (चसू. २७.३४७)
–पान–न., पाचनम् (औषधम्) (चसि.८.२३)
–पानक–न., क्वाथः, पानम् (असंउ. २.) काढा.
–भक्त–न., औषधकाल०, यत्पूर्वाह्णभक्ते जीर्णे मध्याह्ने भेषजमुपयुज्यते, तास्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम् (असंसू. २३)

अन्तरग्नि–पु., जठराग्निः (चचि. १५.२१४) (सुचि. ३१.५६)

अन्तरा–अ. मध्ये (सुचि. ३७.७०)
–भक्त–न. औषधकाल०, यत्पूर्वापरयोर्भक्तयोः प्रातःसायन्तनयोर्भोजनयोः अन्तरा–मध्ये पीयते (सुउ. ६४.७३)

अन्तरात्मन्–पु., जीवः, आत्मा (चशा. ४.८)

अन्तराधि–पु., शिरोबाहुसक्थिवर्ज्यः, सर्वो मध्यमः भागः, अन्तरा धीयन्ते शिरःप्रभृतयः पञ्चावयवा यस्मिन् (चशा. ७.५) (सुसू. ३५.१२)

अन्तरायाम–पु., वातरोग०, तल्लक्षणम्–अन्तरायम्यते

ग्रीवा, मन्या च स्तभ्यते, भृशं दन्तानां दशनं, लाला, पृष्ठायामः, शिरोग्रहो, जृम्भा, वदनसङ्गश्च (चचि. २८.४३–४४) तत्संप्राप्तिः–यदा वातो मन्ये संस्तभ्यान्तर्धमनीरुपेत्य सकलं देहं व्याप्नोति तदा जन्तुरायम्यतेऽङ्गमन्तर्धनुरिव भवति, नेत्रयोः स्तम्भं कफोद्गमं च करोति (असंनि.१५)

अन्तराशय–पु., महास्रोतः (चक. १२.५२)

अन्तराश्रय–पु., कोष्ठम् (चचि. २५.२६)

अन्तरिक्ष–न., खनिज., अभ्रकम् (रा. १३.२) अभ्रक.

–**जल**–न., दिव्योदकम् (रा. १४.३२०)

अन्तरिक्षानुकारिन्–वि., आन्तरिक्षं जलं यदनुकरोति (अहसू. ५.५)

अन्तरूष्मन्–पु., दोषधातुमलसन्निपातजनितोऽग्निः (असंशा. ६)

अन्तः–**कुक्षि**–पु., गर्भाशयान्तर्भागः (चशा. ६.२२)

–**कोटरपुष्पी**–स्त्री. वनस्पति०, नीलबुध्ना (चसू. १.८२)

–**कोष्ठ**–पु., आभ्यन्तरमार्गः (चसि. २.९)

–**परिमार्जन**–न., भेषज०, यदन्तःशरीरमनुप्रविश्य व्याधीन्प्रमार्ष्टि तद्भेषजम् (चसू. ११.५५)

–**प्रविष्ट**–वि. अन्तराकृष्टं जिह्वादि (चसि. ६.५४)

–**शल्य**–वि., अन्तर्गतं शल्यं यस्मिंस्तत् (अहसू. २८.२)

अन्त्य–वि., मरणस्वरूपम् (चइ. १२.४४)

अन्त्यावसायिनी–स्त्री., चण्डाला स्त्री (चशा. ८.५२)

अन्त्र–न., शारीर., कोष्ठाङ्ग. (सुशा. ५.९)

तदुत्पत्तिः–रक्तश्लेष्मप्रसादाद्भवति (सुशा. ४.२६–२७)

रक्तमांसप्रसादादन्त्राणि (असंशा. ५.४८)

द्विकान्यन्त्राणि स्थूलक्षुद्रभेदेन बृहल्लघुभेदेन वा (सुशा. ५.६)

आयामः–सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसाम्, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि (सुशा. ५.९)

शुष्कान्त्रम्, उपयन्त्रेष्वेकम् (अहसू. २५.४०)

शस्त्रच्छेदानन्तरं सिरादिबन्धनार्थमस्य प्रयोगः।

–**कूज**–पु., रोगलक्षण, अव्यक्तशब्दः गुडगुडादिशब्दो वा पक्वाशयस्थकुपितवातकृतः (सुनि. १.२३)

–**कूजन**–न. रोगलक्षण०, अन्त्रकूजः (सुक. ३.८) पहा 'अन्त्रकूज'.

–**पाचक**–न. स्थावरविषभेदः, ससस्तु त्वक्सारनिर्यासविषेषु एकम् (सुक २.५)

–**पूरण**–न. रोगलक्षण०, अन्त्राशयेऽभिन्नेऽपि सूक्ष्मैः, खैः अन्त्रस्य रक्तेन पूरणम्, तेन अन्त्राशयस्य गौरवं भवति (सुचि. २.१८)

–**भेदन**–न., रोगलक्षण०, अन्त्रे भेदनवद् वेदना भवति (चचि. १३.१४)

–**वर्धमन्**–रोग०, अन्त्रवृद्धिः (अहसू. २५.३६)

–**वल्लिका**–स्त्री., वनस्पति०, सौम्या (रापरि. ३.३१)

–**वृद्धि**–स्त्री., रोग०, तत्संप्राप्तिर्लक्षणं च–भारहरणाद्यायासविशेषैः प्रकुपितो वायुः स्थूलान्त्रस्येतरस्य चैकदेशं क्षुद्रान्त्रावयवं वा विगुणमादाय स्वनिवेशादधो गत्वा वङ्क्षणसंधिमुपेत्य तत्र ग्रन्थ्याभं श्वयथुं करोति, तदुपेक्षणेन कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कवृद्धिं करोति, आध्मातो बस्तिरिवाततः प्रदीर्घो भवति, अवपीडितश्च सशब्दमूर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते।

(सुनि., १२.६) (अहनि. ११.२९)

अन्त्रवृद्धिर्द्विविधा–यदा तु स्वनिवेशादधोगतमन्त्रं फलकोशं प्रविश्य मुष्कवृद्धिं करोति तदा सा 'कोशप्राप्ता' इति कथ्यते (सुचि. १९.२२) यदा तु स्वनिवेशादधोगतमन्त्रं फलकोशमप्राप्तमन्तरैव तिष्ठति तदा 'अप्राप्तफलकोशा' इति कथ्यते (सुचि. १९.२१)

–**संमूर्च्छन**–न., रोगलक्षण०, अन्त्रपरिवर्तनम्, बद्धगुदोदरस्य हेतुष्वेकः (चचि. १३.३९)

–**स्फुटन**–न., रोगलक्षण०, अंत्रे स्फुटनवद्वेदना (चचि. १३.१४)

अन्त्राद–पु., कृमि०, असौ कफजोऽन्त्राण्यत्तीत्यन्त्रादः (चसू. १९.४) (९)

अन्त्रालजी–स्त्री., क्षुद्ररोग०, कफवातजा घनाऽवक्रोन्नता परिमण्डलाऽल्पपूया पिटिका

अन्ध–वि., दृष्टिहीनः (सुशा. २.२५)

–**कारी**–स्त्री., पारददोष०, कृष्णत्वकरः कञ्चुकाख्यो दोषः (र., ११.२२)

–**पूतना**–स्त्री. रोग०, बालानां ग्रहरोगेष्वेकः, तल्लक्षणम्–एतज्जुष्टोऽभैकः स्तनद्वेषातिसारकासहिक्काच्छर्दि–ज्वरादिभिः पीड्यमानो दुष्टवर्णतनुरधोमुखशयानो काङ्क्षिकाद्यम्लगन्धिकश्च भवति (सुउ. २७.१३) दृष्टिसादोऽक्षिरुक्कण्डूः पोथकीजन्म शूनता स्वरक्षीणता वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वं च भवति (असंउ. ३) स्त्रीविग्रहवान्ग्रहः, तच्चिकित्सा–

' अक्षिरोगचिकित्साभिः शमयेदन्धपूतनाम् '
(का. बालग्रहचिकित्सा)

–पूतनाप्रतिषेध–पु. अध्याय० (सुउ. ३३.)

–मूषा–स्त्री., यन्त्र०, मूषाभेदः, मूका मूषा, संपुटिता मूषा (र. २.१३७)

–यन्त्र–न., अन्धमूषा (र. ५.४३) पहा–'अंधमूषा'.

–वडवाग्नि–पु., यन्त्र० यद् गन्धकादिजारणार्थ-मुपयुज्यते (र. २७.७८)

अन्धालजी–स्त्री. क्षुद्ररोग०, दुष्टौ श्लेष्मानिलौ स्नायुश्रिता अवक्त्रामल्पपूयामकण्डुरामामोदुम्बरसंकाशां परि-मण्डलामन्तर्मुखीं पिडिकां जनयतः, साऽन्धालजी (सुनि. १३.६); 'अलजी'. नाम्ना वाग्भटे, आन्त्रालजी–नाम्ना माधवनिदानेऽस्य निर्देशः । ' अंत्रालजी ' पहा

अन्धाहिक–पु., सर्प० जलबिलशायीति प्रसिद्धस्तस्य दंशोऽन्धत्वकरः (सुक. ४.३८)
निर्विषसर्प०,–(सुक. ४.३४) (४)

अन्ध्रण–न., बन्धनम् (र. १०.५.)

अन्न–न., अद्यते इत्यन्नम् (सुक. १.१)
आहारः (सुसू. ४६.४६४)
ओदनम् (सुउ. ३९.३१८)
अन्नपानम् (सुउ. ६४.५)
" अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम् " (चसू. २५.४०)

–काल–पु. अन्नग्रहणयोग्यः कालः (चचि. १९.२३)
(अहसू. १८.२९)

–क्लम–पु. भोजनजनितः श्रमः (सुसू. ४६.४८७)

–गति–स्त्री., अन्नगमनमार्गः, अन्नवहस्रोतः
(सुनि. १६.५३)

–गृद्धि–स्त्री., रोगलक्षण०, अन्नाभिलाषा
(चसि. २.१८)

–जा–वि., हिक्काभेदः (सुउ. ५०.१०) भक्तोद्भवेत्यस्य पर्यायः (अहनि. ४.१९) त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः रूक्षतीक्ष्णासात्म्यान्नपानैर्या भवति, सात्म्यान्नपानेन च या शमं याति सा (अहनि. ४.१९–२१)

–जात–न., आहार्याणि द्रव्याणि (चनि. २.४)

–त्रिक–न., त्रिविधमन्नम् वातपित्तकफकरमिति
(चचि. २४.६९)

–द्विष्–वि., अन्नं द्वेष्टीति अन्नद्विट् (चसू. १३.५५)

–द्वेष–पु. रोगलक्षण० अन्नस्य द्वेषः, पित्तज्वर-लक्षणेषु एकम् (चनि. १.२४)

–पक्तृ–पु. जाठराग्निः (चचि. १५.३८.)

–परिवर्त–पु. अन्नस्य परिवर्तः देशादिहेतुकोऽन्न-विनिमयः (चनि. १.२८.)
सहसैवाक्रमेण कृतान्नाभ्यासः (अहनि. १.२१)

–परिवर्तन–न. असात्म्यभोजनम्, क्रीतान्नभोजनम्
(अहनि. १.२१)

–पान–(न.) आहारः, अन्नपानं च
(असंसू. १०.७५)

–पानक्रम–पु., आहारविधानम् (चचि. ३.१९६)

–पानरक्षाकल्प–पु., अध्याय० (सुक. १.१)

–पानरस–पु., अन्नपानस्य सारः सर्वधातूनां पोषक-स्थायी रसः, (सुसू. १४.११)

–पानविधि–पु., अध्याय० (सुसू. ४६.१)

–प्रवेश–पु., मुखद्वारा अन्नस्य कोष्ठे प्रापणम्
(अहसू. १२.५)

–प्राशन–न., संस्कार० बालेभ्यः प्रथमतः अन्न-प्रदानम् (असंउ. १) तच्च षष्ठे मासि कुर्यात् (सुशा. १०.४९) जातदन्तस्य दशमे मासि कारयेत् (काखिल. १२.१५–५८)

–मद–पु., रोगलक्षण० अन्नेन भुक्तेन हर्षक्षयः (सुक. २.३०)

–मय–वि., अन्नेन युक्तः, 'देहेऽन्नमयाः सर्वे भावाः' (असंशा. ६)

–रक्षा–स्त्री., अध्याय० (अहसू. ७)

–रस–पु., भक्तमण्डः (असंशा. ६)
निःशेषपरिपक्वस्य अन्नस्य रसः (सुचि. ३७.४८)

–रसखेद पु., रोगलक्षण०, अन्नरसे खेदः, अवसादः, सर्वरसेषु अनिच्छा (चनि. १.२१)

–वहस्रोतस्–न., शारीर० अन्नवहमार्गः
(असंशा. ६) तस्य मूलम्–आमाशयः वामं च पार्श्वम् (चवि. ५.८) आमाशयः अन्नवाहिन्यश्च (धमन्यः) (सुशा. ९.१२) दुष्टिलक्षणानि–अन्नाभिलषणम् अरोचकाविपाकौ छर्दिश्च (चवि. ५.८) दुष्टिकारणानि–अतिमात्रस्य अकाले अहितस्य च भोजनात् पावकस्य च वैगुण्यात् अन्नवाहीनि स्रोतांसि दुष्यन्ति (चवि. ५.१२) विद्धलक्षणानि–आध्मानं, शूलान्नद्वेषौ, छर्दिः, पिपासा, आन्त्र-, मरणं च । (सुशा. ९.१२)

–वहनाडी–स्त्री., अन्नवहस्रोतः (र. १३.४८)

–वाहिनी–धमनी स्त्री., शारीर० सा च अन्नवहस्रो-तसोः मूलम् " अन्नवहे द्वे तयोर्मूलम् आमाशयो-न्नवाहिन्यश्च धमन्यः (सुशा. ९.१२)

–विष–न., अजीर्णविषमाशनादिकारणैर्दुष्टेनाग्निनाऽपच्यमानं शुक्तत्वं प्राप्तं विषवत् परिणामकरमन्नम् (चचि. १५.४६)

–वीर्य–न., अन्नप्रभावः (अहसू. १२.१५)

–शल्य–न., शल्यभूतमन्नम् (सुसू. २७.५)

–श्रद्धा–स्त्री., भक्ताकाङ्क्षा (सुउ. ६४.८४)

–संयोग–पु., अन्नोपयोगः (अहसू. २९.१५)

अन्नाद–वि. अन्नमत्तीति अन्नादः, केवलान्नभक्षको बालस्तृतीयादिसंवत्सरादूर्ध्वं भवति (सुसू. ३५.२९)

अन्नादि–पु., अन्नस्य भक्तस्य आदिः आरम्भः (अहसू. १३.३७–३८)

यस्मिन् भुक्ते पश्चात् तत्कालमेव भुक्तं भुज्यते । तदपानाख्ये वायौ विगुणे सति दीयते । सुखपरिणामकरत्वादग्लानिकरत्वाच्च वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनासु तत् प्रशस्तं भवति । प्राग्भक्तं, भक्तादौ इत्यस्य पर्यायौ । (सुउ. ६४.६९)

अन्नानुपान न., अन्नस्य अनुपानम् (चसू. २७.३१९)

अन्नावग्रह–वि., अन्नेन अवग्रहः सहसोर्ध्वकायप्रतिबन्धोऽवष्टम्भो यस्येति अन्नावग्रहम्, अन्नमध्यप्रयुक्तम् अन्नात् पूर्वं वा, "काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः । स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत् (चचि. १५.२०५) (अहचि. १०.७२ अरुण) (असंचि. १२)

अन्नाश्रद्धा–स्त्री., रोग० अन्नविद्वेषः रसदोषजविकारेषु एकः (सुसू. २४.९)

–अन्य–न., अपरम् (सुचि. १४.८) दुसरे.

–धान्य–न., विजातीय–धान्यम् (अहसू., ६.१४१)

–परिवार–वि., अन्यव्याधिपरिवाराः परतंत्रस्वरूपाः (असंसू. २१)

–प्रकृति–वि., विजातीयप्रकृतिः (चशा. ६.११)

–भाव–(परिव.) पु., स्वरूपाच्च्युतस्य विपरीतगुणावाप्तिः, यथा कृष्णानां शुक्लता (सुसू. ३२.३) मरणम् (सुचि. १४.८)

–योनि–स्त्री., असवर्णा (चसू. ८.२२) अजामहिष्यादिः (अहसू. ७.७०) विपरीत–कारणम् (सुसू. ४२.८)

–लक्षण–वि., यः भविष्यद्व्याधिख्यापकः पूर्वरूपसंज्ञकः (सुसू. ३५.१८)

–शास्त्र–न., आयुर्वेदेतराणि व्याकरणसांख्यज्योतिःशास्त्रादीनि; कायचिकित्सादीनि इत्यन्ये । (सुसू.४.६)

अन्यतरनिष्ठा–स्त्री., अन्यतररूपाऽवस्था (चवि. ८.१३४)

अन्यतस्–अव्य., पृष्ठतः (सुउ. ६.२७)

(अन्यतो) वात–पु., नेत्ररोग०, योऽवटुकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वा अन्यतो गतो वा वातः भ्रुवि लोचने वा रुजां करोति, सोऽन्यतोवातः । अन्यतः स्थितः वायुः अन्यतो वेदनां करोति इत्यतः अन्यतोवातः (सुउ., ६.२७;) वायुः मन्याक्षिशङ्खतः अन्यतो वा तीव्रां व्यथां करोति, नेत्रञ्च पैच्छिल्यरागशोफादिरहितं पर्यश्रुसङ्कुचितं विदधाति । (असंउ १८)

अन्यथा–अ., प्रकारान्तरेण, अतथात्वे वा (चचि. ३.६५) (चशा. ८.५५)

–काम–पु., अगम्यागमनम् (अहसू. २.२१)

–कार–वि., भिन्नरूपम् (अहसू.१२.६९)

–क्रिया–स्त्री., अन्यथाकरणम्, संस्काराधानम् (चसू. १६.३३)

–चर–वि., विमार्गगः (सुउ. २०.६)

–दर्शिन्–वि., अन्यप्रकारदर्शी (सुसू. २.७)

–भाव–पु., विपरिणामः, स्वरूपाच्चलनम् (सुशा. ४.७८)

अन्या–स्त्री., वनस्पति०, हरीतकी (र. २२.८१)

अन्यादोडी–स्त्री., वनस्पति०, जीवन्तीभेदः

तद्गुणाः–कटु, तिक्ता, उष्णा, दीपनी, रुच्या, कफवातघ्नी, कण्ठामयरक्तपित्तदाहघ्नी च।

"अन्यादोडी तु जीवन्ती शाकश्रेष्ठा सुखालुका । बहुपर्णी दीर्घपत्रा सूक्ष्मपत्रा च जीवनी" (रा. परि. ४.४१–४२)

अन्यान्यता–स्त्री., भेदः (चशा. १.४९)

अन्येद्यु–पु., रोग०, अन्येद्युष्कः (चचि. ३.३४)

अन्येद्युष्क–पु., रोग०, विषमज्वरभेदः, अहोरात्रे यः एककालं प्रवर्तते (चशा. १.११३) (सुउ. ३९.७०) (चचि. ३.३५३)

अन्योन्य–वि., परस्परम् (सुशा. १.२१) (चशा. १.३७)

–मूर्च्छन–न., परस्परमिश्रीभावः (अहसू. १३.२६)

अन्योन्यानुप्रविष्ट–वि., परस्परानुप्रविष्टम् । आकाशवायुतेजजलपृथ्वीनां परस्परानुप्रवेशेन पाञ्चभौतिकद्रव्यनिष्पत्तिः, एवं तानि अन्योन्यानुप्रविष्टानि । (सुशा. १.२१)

अन्योन्यावरण–न., परस्परावरणम्, यथा एकदोषेण अन्यदोषस्य मार्गावरोधः (चचि. २८.१९९)

अन्वक्षम्–अ., तत्क्षणमेव, न क्षणान्तरे; अक्षस्य यन्त्रस्य अनु–पश्चात् अन्वक्षम् (सुशा. ३.४) (सुचि. ३७.६४)

अन्वय–पु., अनुबन्धः, संबन्धः (चनि. ८.१८) संभूतिः (चचि. ३.१७६–१७७) कुलं, वंशो वा (सुसू. २.३)

अन्वास–पु., अनुवासनम् (असंसू. २९)

अन्वासन–न., अनुवासनम् (अहसू. १९.२)

अप्–स्त्री., महाभूत०, जलम् (चसू. ८.९) इदं सत्त्वतमोबहुलम् । (सुशा. १.२०) देवता०, रसनस्य अधिदैवतम् आपः । (सुशा. १.७)

–चर–पु., जलचरः (अहसू. ६.५०)

–पान–न., जलपानम् (अहसू.२८.३९)

–(अब्)–धातु–पु., कायद्रवः श्लेष्मपित्तरसादिकः (सुउ.४०.६) स्वेदः (सुउ. ३९.२४) शरीरधातुगतः उदकभागः (चचि. २२.१९)

अपकर्षण–न., तन्त्रयुक्ति०, पृथक्करणम्, अपवादेन कथनम् । (सुउ. ६५.१८) ह्रासः (सुचि., ६.१७) दुर्बलीभवनम् (सुउ. ६२.६) ऊर्ध्वगतस्याधःकर्षणम् (सुचि., १५.३) चिकित्सोपक्रमः, निर्हरणम् । तच्च द्विविधम् बाह्यान्तर–भेदेन। तत्र बाह्यमपकर्षणं ग्रन्थ्यर्बुदोपपक्ष्मकृमिशल्यादिषु शस्त्रहस्तयन्त्रादिभिः । अभ्यन्तरं पुनर्वमनविरेचनादिभिः । (असंसू. १२.६)

अपक्ति–स्त्री., रोग०, विंशतिश्लेष्मविकारेषु एकः (चसू. २०.१७) (अहसू. १२.५३)

अपक्षेपण–न., अङ्गस्याऽधोनयनम् (अहसू. १२.७)

अपगम–पु., निर्गमनम् (असंनि. २)

अपगमन–न., देहान्तरगमनम् (चशा. ३.१३)

अपचय–पु., रोगलक्षण०, कृशत्वम् (सुसू. १०.५)

अपचार–पु., अपथ्याचरणम् (चचि. ३.२५) दृष्टाहाराचारौ (सुसू. २४.५) (सुउ. २७.६)

अपचारिन्–वि., अयथार्थकारी (सुचि. ५.४)

अपचित–वि., नष्टम्, अप्राप्तम् (सुउ. ५७.१६)

अपचिति–स्त्री., पूजा (चनि., ७.२३)

अपची–स्त्री., रोग० बहिर्मार्गजः (चसू. ११.४९ असंउ. ३४) अयं ग्रन्थिरूपः व्याधिः चिरकारी च । (सुनि. ११.११,) स्थानमस्य रोहिणी नाम त्वक् (सुशा. ४.४,) (चचि. २८.१३५,) निरुक्तिः–चयप्रकर्षात् अपची । संप्राप्तिः–हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषु उपचितं मेदः कफश्च ग्रन्थिं कुरुतः । लक्षणम्–स्थिरा वृत्ता आयता स्निग्धा अल्परुजा ग्रन्थिर्भवति । आमलकास्थिमात्रैः मत्स्याण्डजालप्रतिमैः अनन्यवर्णैः ग्रन्थिभिः सा उपचीयमाना भवति । ताः कण्डुयुताः प्रभिन्नाः स्रवन्ति, नश्यन्ति, भवन्ति च अन्याः । अयं रोगः सुदुस्तरः । (सुनि. ११.१०) अस्य ' गण्डमाला ' इत्यपरं नाम (असंउ. ३४.) अस्मिन् शस्त्रकर्मापि क्रियते । (सुचि. १८.२७.)

अपतंसन–न., रोगलक्षण०, पतनम् (चचि. २८.१८)

अपतन्त्रक–(पु.,) वातरोग० (सुनि. १.६६;) सम्प्राप्तिः लक्षणानि च–अधःप्रतिहतो वातः कफान्वितः सन्नूर्ध्वं व्रजन् हृदाश्रिता नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरः शङ्खौ च पीडयन् गात्रं परितः आक्षिपेत्, धनुर्वच्च नामयेत्, तदा कृच्छ्रादुच्छ्वसिति, कपोत इव कूजति, स्तब्धस्तमीलितदृक् निःसंज्ञश्च भवति । (चसि. २.२२) (चसि. ९.१२–१४ असंनि. १५.)

अपतर्पण–(न.,) लङ्घनम्, अनशनादि (चवि. २.१३) तत् त्रिप्रकारम्–लङ्घनम्, लङ्घनपाचनम्, दोषावसेचनं च (च. ३.४०) चिकित्सोपक्रमः (असंसू. २४; अहसू. १४.१) कर्शनम् (चसू. २३.२९) व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेषु एकः (सुचि.१.८) ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितगर्भिणीवृद्धबालभीरवश्चैतेऽपतर्पणे निषिद्धाः (सुचि. १.१२) अपतर्पणद्रव्यं नाम लङ्घनद्रव्यं तच्च अग्निवाय्वाकाशात्मकम् (अहसू. १४.३) यथा–कुलत्थादीनि (अहसू. २४.२१,२२.३६)

अपतर्पित–वि., कर्शितः (सुचि. २३.४) अपतर्पितस्य रूपाणि–शूलम्, अरतिः, आध्मानम्, गुदप्रकोपः, ज्वरः, अङ्गदाहः, श्रमः, मोहः, तृष्णा, शय्यासनस्त्रीविषयेष्वभक्तिः (का. भोजनकल्प. १७.१८)

अपतानक–पु., वातरोग०, (चसि. २.२२) अयं मध्यममार्गजः (चसू. ११.४९) आक्षेपकभेदः (सुनि. १.५२) यः आक्षेपकः अन्तराऽन्तरा

पातयति, सः अपतानकः, स त्रिविधः दण्डापतानकः अन्तरायामः बहिरायामः च। संप्राप्तिः लक्षणं च–अधःप्रतिहतो वायुः ऊर्ध्वं व्रजन् हृदाश्रिताः नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरः शङ्खौ च पीडयन् परितः गात्रमाक्षिपति धनुर्वच्च नामयति, तत्र कृच्छ्रादुच्छ्वासः, स्तब्धस्तस्तमीलितदृक्त्वम्, कपोत इव कूजनम् निःसंज्ञता च। किंच वायुना हृदि मुक्ते स्वास्थ्यं, हृदि चावृते अस्वास्थ्यं। (चचि ९.१४) द्रष्टव्यं–'अपतंत्रक' (असंनि. १५) (अपतान–पाठः) (अहनि. १५.१९–२०)

तस्य रिष्टलक्षणानि–स्रस्ताक्षत्वं भ्रुवि वक्रता स्वेदो वेपथुः प्रलापित्वं खट्वापातित्वं (खट्वापादकल्पैः हस्तपादैः प्रसृतैः पतनशीलत्वम्) बहिरायामित्वं च (सुचि. ५.१८)

अभिघातनिमित्तः–आघातजन्यः अपतानकः स च असाध्यः (सुनि., १.५९)

गर्भपातनिमित्तः–गर्भपतनकारणाज्जातः अपतानकः, स धातुक्षयात्प्रकुपितेन केवलवातेन भवति; सोऽप्यसाध्यः (सुनि., १.५९)

शोणितातिस्रावजः धातुक्षयात्प्रकुपित; केवलवातजः, सोऽपि असाध्यः (सुनि. १.५९)

अपत्य–न., संततिः (सुचि. २६.३९)

–जीव–पु., वनस्पति०, पुत्रजीवः (रा. परिशिष्ट ९.३१)

–जीवक–पु., वनस्पति०, पुत्रजीवः। (रा. परि. ९.३१) ('पहा–पुत्रजीव'.)

–दा–स्त्री., वनस्पति०, पुत्रदा (रा. परि. ४ पृ. ३३७)

–पथ–पु., शारीर०, अपत्यमार्गः, कुक्षिस्थं गर्भः येन पथा निष्क्रामति, स गर्भस्य मार्गः। (चशा. ६.२४) (चचि. १४.६)

योनिः (सुनि. ८.३) (असंशा. ४.२९)

–मार्ग–पु., शारीर०, योनिमार्गः (चचि. ३०.२२३)

–संतान–न., अपत्यपरम्परा, पुत्रपौत्रादिवंशसातत्यम् (चचि १.९)

अपत्रवल्लिका–स्त्री., वनस्पति०, सौम्या (रा. परि. ३.३१)

अपथ्य–वि., अहितम् (अहसू. २.७)

अपदंश–पु., रोग०, उपदंशः (असंउ. ३८)

अपदेश–पु., तन्त्रयुक्ति०, अनेन कारणेन इति कार्यं प्रति हेतुकथनम्; यथा मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयति, (सुउ. ६५.१५) अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञानार्थसाधनाय हेतुवचनम्। यथा–"वाताज्जलं जलाद् देशं देशात्कालं विद्याद्दुष्परिहार्यत्वात् गरीयस्तरम्–"। (चसि. १२.४२.)

अपद्वार–न., अमार्गः (सुक. १.२२)

अपनयन–न., दूरीकरणम् (सुचि. ३८.५,) यथा बालस्य स्तनादपनयनम्, स्तनपानाद् दूरीकरणम्. (असंउ.)।

अपप्रजाता–स्त्री. अकाले पतितगर्भा (सुनि. ९.२६) असम्यक् प्रजाता नाम अयथाकालप्रसूता (सुउ. ३९.२२)

अपप्रसूता–स्त्री., असम्यक् प्रसूता (अहसू. १६.८)

अपबाध्यमान–वि. मर्मपीडाकरम् (सुसू. २७.१३)

अपबाहुक–पु., रोग०, अवबाहुकः (असंनि. १५) (सुनि. १.८२)

अपमार्जन–न., मृजा, स्वच्छीकरणम् (चशा. ८.२७) शातनम् (केशनखरोमादेः) (सुचि. २४.७३.)

अपरा–स्त्री. शारीर०, गर्भिण्या गर्भाशये गर्भस्य पोषणार्थं जातः, गर्भनाभिनाडीसंबद्धः अवयवविशेषः 'अमरा' इति लोके ख्यातः (चशा. ६.२३,) गर्भिण्याः आर्तवं गर्भेण अधः प्रतिहतम् अपरं अपरं चोपचीयमानम् 'अपरा' इत्याहुः। (असंशा. २,) (सुशा. ४.४,) गर्भावरणं जरायुसंज्ञम्। (सुचि. १५.१७.) गर्भावरणविशेषः। 'उल्ब' इति लोके (सुचि. ३७.१२५) अपतिता अपरा आनाहाध्मानौ कुरुते। (सुशा. १०.२१)

–मुख–न., जरायुमुखम् (काशा. जातिसूत्रीय पृ. ५७)

अपराजित–पु., सविषकीट०, कणभः। (सुक. ८.२६)

योग०, ग्रह–कृत–मानसोन्मादादिविकारघ्नः (सुउ. ६०.४७)

अपराजिता–स्त्री., वर्ति०, तिमिरकुकूणकादिनेत्रामयघ्नी (असंउ. १९)

वनस्पति०, विष्णुकान्ता, शमी, हपुषा, गिरिकर्णी, शेफालिः (निर्गुण्डीभेदः) (ध. ५.१७३) (रा. ८.१५५)

अपरान्त–पु., देश०, कोङ्कणः (अहसू. ५.११)

अपराह्ण–पु., दिनभाग०, दिनस्य तृतीयः प्रहरः (सुशा. २.२८)

पञ्चधा विभक्तेऽहनि चतुर्थो भागः, द्विधा विभक्तेऽहनि द्वितीयो भागः (सुचि. २८.३)

अपरिज्ञान–न., वादे निग्रहस्थान० (चवि. ८.३५)

(अविज्ञातार्थम् इति न्यायसू० (५.२.९)

अपरिनिष्ठित–वि., अनुभवहीनः (सुसू. ३.४८) (असंसू. २.१०)

अपरिपक्व–वि., आमम् (सुनि. ६.४)

अपरिम्लान–पु., वनस्पति०, कुर(रु)बकः, रक्तसैरेयकः कुरुबकः स्मृतः (ध. १. २७८,) (रा. १०.४१२)

अपरु–पु., वनस्पति०, खदिरः (ताम्रकंटकः रा. ८.३६ पृ. १२)

अपर्याप्त–वि., अपक्वम् (सुसू. ४६.२१०)

अपर्युषित–वि., तद्दिनसिद्धम् अन्नादि (सुसू. ४६.३३९)

अपर्वदण्ड–पु., वनस्पति०, रामकाण्डः, रामशरः तद्गुणाः–अम्लः कषायः ईषदुष्णः रुचिप्रदः पित्तकृत् कफवातघ्नः च (रा. परि. ८.३६)

अपलाप–पु., मर्म०, वक्षोमर्म (सुशा. ६.६) अंसकूटयोः अधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोः (सुशा. ६.२५) एष सिरामर्म (सुशा. ६.७) कालान्तरप्राणहरः (सुशा. ६.११) संख्यया द्वौ (वामदक्षिणभेदेन) मानम् अर्धांऽङ्गुलम् (सुशा. ६.२५) तत्र विद्धे रक्तेन पूयभावगतेन मरणम्

अपवर्ग–पु., तन्त्रयुक्ती०, साकल्येनोद्दिष्टस्य एकदेशापकर्षणम् (चसि. १२.४३) अभिव्याप्य अपकर्षणम्, यथा अस्वेद्या विषोपसृष्टाः अन्यत्र कीटविषात् (सुउ. ६५.१८) मोक्षः (चसू. २७.३५०–३५१) निवृत्तिः (चशा. ५.११)

अपवाद–पु., यत्र कश्चिन्नियमो न संगच्छते तद् उदाहरणम् (चवि. ८.१३४) (असंसू. २३.८)

अपवृत्त–वि., विपरीतानुष्ठानपरः (सुउ. ६०.२६) वलितम् (सुचि. १५.९.) स्थानात् स्रस्तम् (सुसू. ११.२८., चचि. ३०.४५.)

अपशोक–पु., वनस्पति०, अशोकः (रा. १०.२-७०.,)

अपसव्य–वि., अपसव्यम्; दक्षिणमित्यर्थः (असंसू. ३.४७.,)

–वस्त्र– अपसव्योपवीतः (सुउ. ६०.१२.,)

–वासस्–(परिव., वि.,) दक्षिणाङ्गाश्रितमुत्तरीयवासः यस्य सः (सुसू. २९.८.)

अपस्तन–वि., त्यक्तस्तनपानः (कासं. खिल., ८.१०५.) अ., स्तनाद्विदूरम् (असंउ. १,.७१.)

अपस्तन्य–वि., त्यक्तस्तन्यः (अहउ. १.३९.,)

अपस्तम्भ–पु., वक्षःस्थानगतं मर्म (सुशा. ६.१०) स्थानम्–उरसःपार्श्वद्वयं वामदक्षिणभेदेन एतत् सिरामर्म, तत्र व्यधे सति शोणितपूर्णकोष्ठतया वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां कालान्तरेण मरणम्, संख्यया द्वौ, मानम् अर्धांङ्गुलम् (असंशा. ६.६.,)

अपस्मार–पु., रोग०, निरुक्तिः–स्मारः (स्मृतिः) नाम भूतार्थविज्ञानम् तद् भूतार्थविज्ञानं यस्मिन्नपगतं भवति स व्याधिरपस्मारः (सुउ. ६१.३) तत्र तमः प्रवेशः बीभत्सचेष्टाश्च स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्लवाद् भवन्ति (चचि. १०.३. चनि. ८.५) अस्मिंश्च विकारे किञ्चित्कालावस्थिता विगतसंज्ञता भवति ।

संप्राप्तिः– रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसां प्रकुपिता दोषाः अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयं तथा इन्द्रियायतनानि च उपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते । तत्रावस्थिताः सन्तः कामक्रोधभयलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिश्च ईरिता हृदयमिन्द्रियायतनानि सहसाभिपूरयन्ति तेन च जन्तुरपस्मरति (चनि. ८.४)

अपस्मारव्याधौ कुपिता मलाः द्वादशाहात्, पक्षाद् मासाद्वा स्तोककालान्तरं वेगं कुर्वन्ति (चचि. १०.१३)

"देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि क्वानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ॥"
(सुउ. ६१.२०)

प्रथमा उत्पत्तिः– दक्षाध्वरध्वंसे विविधभूताशुचिस्पर्शात् देहिनामपस्माराणामुत्पत्तिः अभूत् (चनि. ८.११)

संख्या–चतुर्विधोऽपस्मारः वातजः पित्तजः कफजः संनिपातजः (सुउ ६१.१०.११; चनि. (१०.८. चनि. ८.३)

पूर्वरूपम्–भ्रूव्युदासः, सततमक्ष्णोः वैकृतम्, अशब्दश्रवणं, लालासिङ्घाणकप्रस्रवणम्, अनन्नाभिलाषा, अरोचकाविपाकौ, हृदयग्रहः, कुक्षेराटोपः, दौर्बल्यम्, अस्थिभेदः, अङ्गमर्दः, मोहः, तमसो दर्शनम्, मूर्च्छा, अभीक्ष्णं भ्रमः, स्वप्ने मदनर्तनव्यथनवेपनपतनादीनि (चनि. ८.६)

"हृत्कम्पः शून्यता स्वेदः ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिँस्तु भविष्यति भवत्यथ ।"
(सुउ. ६१.७)

रूपम्–अविद्यमानानि रूपाणि पश्यति, पतति, जिह्वाक्षिभ्रुवः प्रस्फुरन्ति । स्रवल्लालः हस्तौ पादौ विक्षिपन् दोषवेगे विगते सुप्तवत्प्रतिबुध्यते । (चचि. १०.७,८)

वातजोऽपस्मारः– अभीक्ष्णमपस्मरणम्, उत्पिण्डिताक्षित्वम्, असाम्ना विलपनं, फेनोद्वमनम्। अतीवग्रीवाध्मानं, पूरितस्तब्धग्रीवत्वम्, आविद्धशिरस्त्वं, विषमविनताङ्गुलित्वं, पाणिपादानवस्थितत्वम्, नखनयनवदनत्वचाम् अरुणपरुषश्यावत्वम्, अनवस्थितचपलपरुषरूक्षरूपदर्शनं, वातलानुपशयत्वं, विपरीतोपशयत्वं च क्षणेन ससंज्ञत्वं चेति लक्षणानि । (चनि. ८.८) (१)

'कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद् रूपाणि चानिलात् ॥'
(चचि. १०.९)

''वेपमानो दशन् दन्तान् श्वसन् फेनं वमन्नपि ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति ॥''
ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः।'
(सुउ. ६१.११,१२)

वातापस्मारे 'हृदि तोदः' इति विशेषलक्षणम्
(सुउ. ६१.१६)

पित्तजोऽपस्मारः– अभीक्ष्णमपस्मरणं, क्षणेन ससंज्ञत्वम्, अवकूजनं, भूम्यास्फालनं, नखनयनवदनत्वचां हरितहारिद्रताम्रत्वं, रुधिरोक्षितोग्रभैरवादीक्षरूषितरूपदर्शनं, पित्तलानुपशयत्वं, विपरीतोपशयत्वं चेति लक्षणानि । (चनि. ८.८) (२)

'पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः ।
सतृष्णोष्णानलब्याललोकदर्शी च पैत्तिकः ॥'
(चचि. १०.१०)

'तृट्तापस्वेदमूर्च्छार्तो धुन्वन्नङ्गानि विह्वलः ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्वं पीतं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्स पित्तभव उच्यते ।'
(सुउ. ६१.१३,१४)

कफजोऽपस्मारः–चिरादपस्मरणं, चिराच्च संज्ञाप्राप्तिः, पतनं, नातिविकृतचेष्टत्वं, लालोद्वमनं, नखनयनत्वचां शुक्लत्वं, शुक्लगुरुस्निग्धरूपदर्शनं, श्लेष्मलानुपशयत्वं, विपरीतोपशयत्वं चेति लक्षणानि
(चनि. ८.८ (३)

'शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतोहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्यन् शुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥
(चचि. १०.११)

''शीतहृल्लासनिद्रार्तः पतन्भूमौ वमन्कफम् ।
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति ॥''
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारः कफात्मकः
(सुउ. ६१.१४,१५)

संनिपातजोऽपस्मारः–समवेतसर्वलिङ्गम् अपस्मारं सांनिपातिकं विद्यात् । असौ असाध्यः
(चनि. ८.८ (४)

त्रिषु अपि वातजादिषु अपस्मारेषु प्रलापः, कूजनं, क्लेशः इति प्रत्येकं लक्षणानि भवन्ति
(सुउ. ६१.१६)

अपस्मारो व्याधिः न दोषजः इति केषांचिन्मतम् । आगन्तुरपस्मारः नास्ति इति सुश्रुतमतम्
(सुउ. ६१.१७,१९)

अपस्मारोपद्रवाः–बहुशः अपस्मरणं, प्रक्षीणता, भ्रूचलितत्वं, नेत्रद्वयविकृतियुक्तत्वम्
(सुसू. २३.२६)

अपस्मारस्य अरिष्टलक्षणम्–
मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम् ।
स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥
असत्तमः पश्यति यो यःश्रुणोत्यसतः स्वनान् ।
बहून् बहुविधान् जाग्रत्सोऽपस्मारेण वध्यते ॥
(चइ. ५.२२,२३, असंउ. १०, अहउ. ७.)

–चिकित्सित–(न.,) अध्याय० (चचि. १०)

–नाशन–पु., योग० (र. २३.८–१६)

–निदान–न., अध्याय० (चनि. ८.)

–प्रतिषेध–पु., अध्याय०, (सुउ. ६१.)

अपस्मृति–स्त्री., रोग०, अपस्मारः (अहसू. २७.१२.)

अपस्वर–क्रि. वि., अव्य., विकृतस्वरं यथा भवति तथा
(चइ. ९.१४., असंशा. ९.)

अपाक– वि., अविद्यमानपाकः, ईषत्पाको वा.
(सुचि. १.३३.)

अपाकिन्–वि.. जठरानलेन पक्तुमशक्यम्
(सुक. २.२०)

अपाङ्ग–पु., शारीर०, भ्रूपुच्छान्तः (सुसू. २३.६.)
नेत्रसंधिविशेषः (असंशा. ५.)
शङ्खसंधिः, शङ्खः (ड. सुउ. ६२.३३.)
(अपाङ्गी)–स्त्री., शारीर०, सिराविशेषः, भ्रूपुच्छान्तस्थ सिरा (सुशा. ८.१७.) अक्ष्यामयेषु अस्याः व्यधनमुक्तम्.
देश–पु., शारीर०, कर्णपुत्रिकाया अधस्तिर्यग्देशः
(सुसू. १६.२३.)

–मर्मन्–न., भ्रूपुच्छान्तयोरधः अक्ष्णोः बाह्यतः अपाङ्गौ नाम मर्मणी तयोर्व्यधात् आन्ध्यं, दृष्ट्युपघातो वा भवति (सुशा. ६.२७.) एतदपाङ्गमर्म, शिरोमर्म, सिरामर्म च. विद्धं च सद् वैकल्यकरं, संख्यया द्वे (सुशा. ७.२२.) मानतोऽर्धाङ्गुलञ्च। (सुशा. ६.२७.)

अपांधातु–पु., अब्धातुः, कायद्रवः (सुउ. ४०.६)

अपान–पु., शारीरवायुविशेषः (सुनि. १.१९) तन्निरुक्तिः–अपानिति अधोदेशान्निःसरति, इत्यपानः, कर्म चास्य मूत्रपुरीषादेरधः अपनयनम्। न., गुदस्थानम् (अहसू. १२.९.,) निश्वासः (चशा. १.७०)

अपामार्ग–वनस्पति०, (चसू. २.३,) श्वेतापामार्गः रक्तापामार्गः तोयापामार्गश्चेति त्रिविधः; अस्य मूलं व्रणेषु मांसवर्धनार्थमुपयुज्यते। (सुसू. २७.३०;) बीजानि च शीर्षविरेचनार्थमुपयुज्यन्ते। (चसू. २.३–५;) अपामार्गक्षारोऽपि उपयुज्यते। (सुसू. ११.११;) 'अन्धडक' इति लोके (सुसू. ३९.६) अपामार्गगुणाः–तिक्तः कटुः, उष्णः, ग्राही, वान्तिकृत्, कफघ्नः, अर्शः कण्डूदरामय–रक्तविकार–व्रणसिध्मापची–मेहघ्नः (ध. १.२६०, रा. ४.२६४.२६५) 'अपामार्गः सरस्तीक्ष्णः दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः॥ निहन्ति हृद्रुजाध्मानकण्डूशूलोदरापचीः।' (भा प्र०)

–तण्डुल–पु., अपामार्गस्य निस्तुषं बीजम् (चसू. २०.१)

–तण्डुलीय–पु., अध्याय (चसू. २)

अपाय– पु., अभावः (चचि. २२.८१) व्याध्यपगमनम् हानिः (चइ. १.३)

अपार्थ–(क)–वि,. प्राकृतार्थरहितं, निरर्थकम्, व्यर्थम् (सुक. १.२०) न; वाक्यदोषविशेषः, अर्थयुक्तपदानि परस्परमसंबध्दानि यत्र प्रयुक्तानि तत्र तद् वचनमपार्थकम्। यथा चक्रनक्रवंशाः। अपार्थकं नाम यद् अर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकम् (चवि. ८.५४)

अपालाप–न., मर्मविशेषः, अपलापः (असंशा. ७)

अपांवाहिस्स्रोतस्–न., उदकवहस्रोतः (सुउ. ४८.५)

अपाश्रय–पु., प्रतिवाहकः, उपधानम् (सुशा. १०.३) प्राङ्गणावरणम्, मत्तवारणः (हलायुधकोशः)

अपिधान–न., कपाटम्, आच्छादनम् (चशा. ८.३३)

अपीनस्–पु., रोग०, नासारोग०, दुष्टप्रतिश्याय०, पीनसः (चचि. २६.११४ सुउ. २२.६)

अपुनर्भव–पु., पुनरुत्पादाभावः (असंसू. २.१२) पुनः पूर्वरूपग्रहणे पूर्वप्रकृतेः अङ्गीकारे वाऽसमर्थः (लोहादीनाम्) (र. ८.२८)

–कर–वि., नष्टस्य पुनरुत्पत्तिनिवारकम् (असंसू. १२.३)

अपुनर्भाव–पु., अपुनर्भवः (अहसू. ७.–५०.र. १०.४९)

अपुष्प–पु., वनस्पति०, उदुम्बरः (र. २२.१५५)

–फलद्–पु., पनसः (रा. परि. ११.१०)

–फलसंबन्ध–पु., उदुम्बरः (ध. ५.८६)

अपुंस्–पु., लक्षण०, क्लीबः (चचि. ३०.१८९-१९०)

अपूप–पु., कृतान्न०, (चसू. २७.२६५) मण्डकः (असंउ. ४) पिष्टकृतास्तनवो विस्तृता अपूपाः (अहसू. ६.४२) धान्य०, गोधूमः (रा. १६. १५१)

अपूर्व–(परिव. वि.) प्रथमम्। (सुचि.२६.१९)

–वैद्य–पु., अपूर्वः, आश्चर्यभूतः वैद्यः (अहसू. १.१)

–संभव–पु., अभूतपूर्वस्योत्पत्तिः (असंशा. १२.३)

अपेतराक्षसी–स्त्री., तुलसी, सुरसा (चचि. १०.३९)

अपेलव–वि., उद्धृतस्नेहम् (चचि. १३.१०१)

अपेहिवाता–स्त्री., वनस्पति०, प्रसारणी (सुचि. १८.४)

अपोह्य–वि., अपसारणीयम्, त्याज्यम् (सुउ. ६०.२१)

अप्रकम्प्य–वि., स्थिरः, अपरिवर्तनीयः (अहसू. ७.५०)

अप्रकृतक–वि., प्रकरणसम्बद्धार्थरहितम् (चवि. ८.६०)

अप्रगुण–वि., विचलितम्, विकृतम्, यत्स्वकार्यं न करोति (चसू. १३.५७)

अप्रचेतन–वि., स्पर्शज्ञानरहितम् (सुचि. ५.३२)

अप्रजस्–वि., अपत्यरहितम् (असंसू. ९.६९)

अप्रजा–स्त्री., योनिरोग०, लब्धगर्भायाः असृक्स्रावेण गर्भो न तिष्ठति (चचि. ३०.१६)

अप्रतान्त–वि., अबुभुक्षितः (चचि. १५.२३३)

अप्रतिकारसेविन्–वि., चिकित्सामकुर्वाणः (सुउ. २०.८)

अप्रतिवार–वि., दुर्निवार्यम् (सुचि. ४.२९)

–वीर्य–वि., दुर्निवारशक्तिः (सुनि. १६.५३) (सुचि. ४.२९)

अप्रतिषिद्ध–वि., अनिषिद्धम्। (सुउ. ६५.२८)

अप्रतिसम्बद्धार्थ–वि., वाक्यदोष०, असंबद्धम्, असङ्गतम् (वाक्यादि) (चवि. ८.५४)

अप्रतीघात–पु., अस्पर्शत्वम्, आकाशस्य स्पर्शनेन्द्रियगोचरं लक्षणम् (चशा. १.२९) 'येनेन्द्रियेण

यस्य भावो गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तस्याभावोऽपि गृह्यते' इति नियमात् ।
अप्रतिहननम्–(सुशा. ७.८)

अप्रमत्त–वि., सावधानः (सुचि. ९.४१)

अप्रमेय–वि., प्रमातुमशक्यम् (सुसू. ४६.३३१)

अप्रयत–वि., अपवित्रम् (चइ. १२.१०)
–भाव–पु., अशुचित्वम् (असंउ. ७)

अप्रवात–पु., अप्रवेगो वायुः (असंसू. १२)

अप्रहर्ष–पु., लक्षण०, स्त्रीविषयेऽनभिलाषः, लिङ्गशैथिल्यम् (सुसू. २४.९)

अप्राप्तफलकोशा–(वि.,) वृषणग्रन्थिकोशमप्राप्ता, (अन्त्रवृद्धिप्रकारः,) (सुचि. १९.२१)

आप्राप्तातीतकाल–(वि.,) कालपूर्वं, कालातीतं वा (सुसू.) (४६.४७१)

अप्राप्तावी–(वि.,) अनागतप्रसववेदना(सुशा. १०.९)

अप्राप्तोदीरण–(न.,) लक्षण०, वेगाभावेऽपि वेगोदीरणम् (चचि. ३०. २३३)

अफल–पु., व्रीहिः (रा.१६.११७)

अफूक–न., निर्यास० खसखसफलस्य निर्यासः, उपविषभेदः, तद्गुणाः–शोधनं शोषणं, ग्राहि, वृष्यं, बल्यं, वातपित्तकरं, कफघ्नं संनिपातघ्नं च (ध. ६.१२१.)

अफेन–न., अफूकम् (रा. ६.१९१)

अफेनक–न., अफूकम् (ध. ६.१२१)

अबद्धमांसहर–(वि.,) लक्षण०, अनिबिडमांसहरः (चचि. १ पा. २.३)

अबन्ध्य–वि., बन्धनायोग्यम् (सुसू. १८.३२)

अबलश्रोत्र–वि., लक्षण०, रुद्धश्रवणमार्गः, शब्दश्रवणासमर्थः (अहसू. २०.२७)

अबला–स्त्री. स्त्री (सुशा. ३.१२)
–क्षीर–न., स्त्रीस्तन्यम् (सुउ. १२.४३)

अबात्मक–वि., आप्यम्, जलीयम् (सुशा. ४.१२)

अबीज–वि., प्रजोत्पादनेऽसमर्थम् (सुशा. २.५)

अबुद्धित्व– न., अबोधः, मन्दबुध्दित्वम् (चसू. १६.१५)

अब्ज–न., कुमुदम् (ध. ४.१५४)

अब्जिनी–स्त्री., पद्मिनी (ध. १.४०)

अब्द–पु., मुस्ता (सुचि. ३८.५१)
वालकम् (र. १८.४८)
–ध्वनि–पु., वनस्पति०, तण्डुलीयकः (र. १०.२२)

अब्धि–पुं., समुद्रः (रा. ३.४)
–डिण्डीर–न., समुद्रफेनः (र. २४.१४)
(अहसू. १५.२५)

अब्रह्मचर्य–न., स्त्रीसमागमः (अहसू. ७.५२)

अभक्त–न., अभोजनं, विगुणं भोजनम् (चचि. १२.५)
औषधकालविशेषः, यत् केवलमन्नरहितमौषधम् उपयुज्यते तत्, अनन्नमिति पर्यायोऽप्यत्रावधेयः । (सुउ. ६४.६६, असंसू. २३.१३)
–च्छन्द–पु., रोगलक्षण०, भक्तारुचिः(सुउ.४१.१३)
भोजनानभिलाषः (ड. सुचि. २.१४)
वि., अन्नश्रध्दाविहीनः, 'यस्य नान्ने भवेच्छ्रध्दा सोऽभक्तच्छंद उच्यते । कुपितस्य भयार्तस्य यश्च भक्तनिरोधजः । (मा. नि. अरोचक–मधु)
–रुज्–स्त्री., अन्नारुचिः (सुउ. ४९.११)

अभङ्गुर–वि., राजिरहितम् (सुसू. ३६.३)

अभय–न., वनस्पति०, हरीतकी (चसू. ५.६४)
उशीरम् (चसू. ३.२९)

अभया–स्त्री., वनस्पति०, हरीतकी (चसू. २६.५१)
–गुड–पु., पाण्डुरोगघ्नो योग० (सुउ. ४४.१६)
–प्रयोग–पु., अभयायाः प्रयोगः संतर्पणव्यापत्तिनाशकोऽयम् (चसू. २३.१७)
–प्राश–पु., योग०, हरीतकीप्राशोऽगस्त्यहरीतक्यादिप्राशो वा (चसू. २३.९)

अभयामलकीय–पु., अध्यायपाद० (चचि. १ पा. १)

अभयारिष्ट–पु., मद्य०, ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगादिहरः, विशेषेण अर्शोघ्नः (चचि. १४.१३८–१४३)

अभाव–पु., विनाशः (चचि. १३.५१)

अभिकाम–वि., अभिलाषुकः (सुउ. ६०.१२)
स्त्रीसंजिगमिषुः (सुचि. २४.१३१)

अभिकामा–वि., पुरुषसंजिगमिषुः (सुचि. २४.१३१)

अभिखिन्न–वि., लक्षण०, आक्रान्तम् (चक. १२.८)

अभिग्राहक–वि., अधिष्ठातृ (चशा. ३.१३)

अभिघात–पु., आघातः (चचि. ३.१११–११२)
–काल–पु., शरीरप्रवेशकालः (चनि. ७.१७)

अभिघार–पु., न., क्षीरविकार०, घृतम् (ध. ६.१४४)

अभिघारित–वि., ईषद् घृताक्तं (सुचि. ३०.५)

अभिचार– पु., प्रयोग०, हिंसार्थोऽथर्वमन्त्रहोमादिः, आगन्तुज्वरस्य हेतु०, (चचि. ३.१११–११२)
मन्त्रादिभिर्मारणप्रयोगः (सुउ. ३९.७९)

अभिजन– पु., विशुद्धकुलम् (चसू. ८.१८,)

अभिजित्– पु., ऋषि०, रोगापहरणचिन्तार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेष्वेकः (चसू. १.१०)

अभिज्ञान–न., चिह्नम् (चशा. ८.४४)

अभिताप– पु., रोगलक्षण०, तापः रोग०, अश्वज्वर० (अंसनि. १.५)

अभितापन–वि., सर्वतः तापयतीति (सुउ. २०.१२)

अभितापन–वि., रोगलक्षण०, अभितो द्रवणं नाम पलायनम्, यथा पित्तोन्मादे (चनि. ७.७ (२)

अभिद्रुत–वि., लक्षण०, पीडितम् (सुउ. ५५.१८)

अभिद्रोह–पु., परपीडार्था प्रवृत्तिः (चवि. ४.८) शत्रुभावः, वैरम् (चनि. १.१५)

अभिधर्षण–न., धृष्टता, अनादरः पूज्येषु (चशा. १.१०४) आवेशः (चचि. ९.१६)

अभिधारण–न., यन्त्र०, अग्निधारणयन्त्रम् (र. १६.६०)

अभिध्या–स्त्री., मनसा पराभिद्रोहचिन्तनम् (चसू. ७.२७) परगुणाद्यसहिष्णुता) अहसू. २.२२)

अभिध्यातृ–वि., मनसा द्रोहणशीलः (चशा. ८.२१)

अभिध्यायिन्–वि., ध्यानशीलः, चिन्तनशीलः (असंशा. २)

अभिनव–वि., अनतिक्रान्तसंवत्सरम् (सुसू. ३६.७)

अभिनिर्वृत्ति–स्त्री., उत्पत्तिः (चवि. ८.७२) व्यक्तता (चशा. ३.१२)

अभिनिवेश–(परिव.) पु., निश्चयः (चसि. २.२५)

अभिन्नचक्षुस्–वि., अभिन्नतारकः, अभिन्नदृष्टिः (चचि. २६.२५६)

अभिन्यास–पु., रोग० सन्निपातज्वरभेदः,

संप्राप्तिः–उरःस्रोतोनुगामिन आमाभिवृद्ध्या प्रकुपितास्त्रयो दोषा बुद्धीन्द्रियमनोगताः सन्तो महाघोरमभिन्यासं जनयन्ति । अस्य मर्यादा पञ्चदिनानि ।

तेनास्य रुग्णस्य श्रुतौ नेत्रे च प्रसुप्तिः, न कस्यांचित् चेष्टायामीहा, तथा च गन्धस्पर्शशब्दानां नैव बोधः। अनेन रुग्णेन शिरोऽभीक्ष्णं लुठ्यते, आहारो नाभिनन्द्यते, कूज्यते, तुद्यते, परिवर्तनमीह्यते, अल्पमल्पं किञ्चित् प्रभाष्यते च । अयम् अभिन्यासो ज्वरोऽसाध्यः (मानि. २३)

अभिपन्न–वि., आक्रान्तः (सुउ. ४२.८९)

अभिप्रपन्न–वि., अभिमुखं प्राप्तम् (सुशा. ९.७)

अभिप्राय–पु., अभ्यर्थनम्, भोजनादीच्छा, 'श्रद्धामभिप्रायेण परीक्षेत' (चवि. ४.८)

अभिप्रेत–वि., निर्णीतं स्वीकृतं च यत्तत् (अहसू. १२.१३)

अभिप्रेर्यमाण–वि., गतिमान्, प्रेरितः (सुशा. ३.४)

अभिप्लावन–(परिव.) न., प्रक्षेपणम्, मिश्रीकरणम् (सुचि. ४.२८)

अभिभव–पु., पराभवः (सुनि. ५.६)

अभिभवन–(परिव.) न., अभिभवः, कुट्टनम् (सुचि.२८.१९)

अभिमान–पु., अहंकारः (अहसू. १२.१३)

अभिमुख–वि., संमुखः (सुशा. ५.४५)

अभिमृष्ट–वि., मर्दितम् (सुक. ४.१३)

अभियात्–वि., गच्छत् (चनि. ६.६)

अभियुक्त–वि., अनुष्ठानपरम् (अहसू. १२.७३)

अभियोग–पु., सोत्साहः दीर्घः प्रयत्नः (चवि. ८.१४)

अभिलाष–पुं., इच्छा (चनि. ७.७(२)

अभिवाहिन्–वि., अभिवहनशीलम् (सुशा. ९.१३)

अभिविधान–न., आनुगुण्येन अवस्थानम् (चवि. ८.७८)

अभिवृद्धि–स्त्री., विशेषरूपेण वृध्दिः (चनि. १.२१)

अभिव्यञ्जक–पु., ज्ञापकः (सुसू. ४१.३)

अभिशङ्का–स्त्री.,अभिषङ्गः, मनोभिषङ्गः, कामाद्यभिषङ्गः (सुउ. ३९.२१)

अभिशप्तक–पु., मिथ्याभिशंसजन्यरोग०, ऋषीणामाऽऽक्रोशाज्जातो रोगः (सुसू. २४.७)

अभिशस्तक–पु., अभिशप्तकः (सुसू. २४.७)

अभिशाप–पु., देवद्विजसिध्दादीनामभिशपनम् । (सुउ. ३९.२१) शापः, (चचि. ३.१११–११२) आगन्तुज्वरनिदान०, (चनि. १.३०) मन्त्रविशेषः (सुसू. ६.१९)

–**जज्वर**–परिव. पु., रोग०, आगंतुज्वर० (चनि. १.३०)

अभिषङ्ग–पु., भूतादिसंसर्गः (चचि. ३.१११–११२, (चसू. २०४)

–**ज–ज्वर**–परिव. पु., आगंतुज्वर० (चनि. १.३०) ग्रहाभिषंगाद् अकस्माद् हसितरुदिते भवतः । (असंनि. २.३७)

अभिषव–पु., आसुतकल्प०, मद्यम् (काखि. ३.३५)

अभिषवण–न., मिश्रणम् (चशा. ८.१७)

अभिषुक–पु., फल०, उत्तरापथिकं फलम्, (चचि.२९.६६) 'पिस्ता' इति केचित्, (अहको.)

" वातामाभिषुकाक्षोटमुकूलकनिकोचकः ।
गुरूष्णस्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः ॥
वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः ।"
(चसू. २७.१५७,१५८)

काबुलादौ प्रसिद्धः फलविशेषः, अभिषुरिति लोके। (सुसू.४६.१८६, उ;) स्नेहयोनिफलम्–(१३.१०,) अङ्कुर इति हाराणचंद्रः ।

अभिषुत–वि., निषिक्तम्, मिश्रितम् (चशा.८.१७)
ऋत्विग्भिः स्रापितं पीडितम् (सुचि.२९.१०)

अभिषूक–पु., अभिषुकः (अहसू.६.१२०)

अभिषेक–पु., संस्कार०, अग्नौ विद्रुते लोहे निमेषाष्टकानन्तरं परिक्षिप्तं जलम् । द्रुते वह्निस्थिते लोहे विरम्याष्टनिमेषकम् । सलिलस्य परिक्षेपः सोऽभिषेक इति स्मृतः ॥" (र.८.५५)

अभिष्टुति–स्त्री., स्तुतिः अभीष्टः स्तोत्रपाठः
(चइ.. १२.७८)

अभिष्यण्ण–न. वि., अभिष्यन्दयुक्तम्, मेदःकफाभिव्याप्तम् (सुचि. ४०.४४)
द्रवप्रधानश्लेष्मविकारयुक्तम् (चसू. १३.५४)

–गुद–वि., गुदात्स्रावोऽभिष्यन्दते यस्य सः, अतिसारविकारयुक्तो वा । (चसू.१३.५४)

अभिष्यण्णानन–वि., मुखात् स्रावोऽभिष्यन्दते यस्य सः अत्यधिकलालास्रावी वा अन्यश्लेष्मविकारी वा
(चसू.१३.५४)

अभिष्यन्द–पु., दोषधातुमलस्रोतःसु क्लेदः
(सुसू. ४६.५१)
मूत्रनिस्यन्दः (सुचि. १२.१९)
नेत्ररोग०, 'प्रायेण सर्वे नयनामयास्तु भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः' । (सुउ. ६.५)
संख्यासंप्राप्तिः–वातजः, पित्तजः, कफजः, रक्तज इति चतुर्विधः । (मा)
वातजः–निस्तोद-स्तम्भ-रोमहर्ष-संघर्ष-पारुष्य-शिरोभिताप-विशुष्कत्वादिवातजलक्षणानि नेत्रे भवन्ति ।
(सुउ. ६.६)
नासानाहोऽल्पशोफता, शङ्खाक्षिभ्रूललाटास्यानां तोदस्फुरणभेदनानि, शुष्कारुणा दूषिका, अच्छं शीतमश्रु, चला रुजः कृच्छ्रान्निमेषोन्मेषणम्, जन्तूनां सर्पणमिव वेदना । अक्षि आध्मातमिव सूक्ष्मशल्यैः आचितमिव चाभाति । स्निग्धोष्णैश्च उपशमनम् । (असंउ. १८)
पित्तजः–दाहः प्रपाकः शिशिराभिनन्दः धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयः इति पित्तजलक्षणानि भवन्ति ।
(सुउ. ६.७)
शोफो, वर्त्मनः बहिःश्यावता, अन्तःक्लेदः पीतोष्णमश्रु,रागपीताभदर्शनमक्ष्णः क्षारोक्षितत्वं क्षतत्वं च ।
(असंउ. १८)
कफजः–उष्णाभिलाषः नेत्रगुरुता, अक्षिशोफः, उपदेहः, श्वैत्यमतिशैत्यम्, मुहुः पिच्छिलः स्रावः ।
(सुउ. ६.८)
महान् कण्डुः, निद्रा, अन्नानभिनंदनं, सान्द्रस्निग्धबहुश्वेतपिच्छावदूषिकाश्रुता भवति ।
(असंउ. १८)
रक्तजः–" ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च । राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च । पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ।" (सुउ. ६.९)
अश्रुराजिदूषिका, शुक्लमण्डलदर्शनानां रक्तत्वं तथा च पित्ताभिष्यन्दलक्षणानि । (असंउ. १८)
अयं साध्यो नेत्ररोगः ।

–नाशिनी–स्त्री., सिध्दौषधि०, नेत्राभिष्यन्दनाशिनी वर्तिः (र. २३.३२)

अभिष्यन्दन–वि., अभिष्यन्दकरं दध्यादि
(अहसू. १३.१८)

अभिष्यन्दमान–वि., आपूर्यमाणम् (चनि. ५.९)

अभिष्यन्दिन्–वि., दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजनकम् (सुसू. ४६.५०)
गुण०, उपलेपकारी (सुचि. ४०.३१)
आभिमुख्येन स्यन्दयति मालिन्यात् स्रोतसां स्रुतिरूपं श्लेष्माणं करोति (अहसू. ६.२५)

अभिष्वङ्ग–पु., आसक्तिः (असंशा. ५.१९)

अभिसन्न–वि., अभितः सर्वथा अवसन्नम्
(चचि. ८.५७)

अभिसंप्लव–पु., आत्मनोऽभिमतः अनात्मन्यभिसंप्लवः । आत्मनोऽनात्मगोचरतया आत्मबुध्दिरित्यर्थः (चशा. ५.१०)

अभिसर–वि., आनेता, प्राणानामभिसरः प्राणानामानेता (चसू. २९.५)

अभिहत–न., अभिघातः (सुसू. ४२.९८) (२)

अभिहनन–न., शस्त्रादिभिस्ताडनम् (चनि. ७.७ (२)

अभिहुत–वि.,ऋत्विग्भिरग्नौ प्रक्षिप्तम् (सुचि. २९.१०)

अभीराजि–पु., कीट०, अनेन दष्टे सति वातप्रकोपः वातरोगाश्च भवन्ति । (सुक. ८.५–८)

अभीरु–स्त्री., वनस्पति०, शतावरी (सुउ. ४२.७०)

अभीक्ष्ण–अ., पुनः पुनः, अनवरतम् (चसू. ८.६)

अभीष्ट–पु., तिलकः (रा. १०. २६७)

अभेद्य–न., हीरकम् (ध. ६.५६.)

अभेषज–न., यदौषधाद् विपरीतं तत् । विपरीतं नाम रोगजननलक्षणार्थकारि । 'अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात् । (चचि. १.१५) अभेषजं द्विविधं–बाधनं सानुबाधनं च (चचि. २.५)

अभ्यक्त–वि., लिप्तम् (सुचि. ३४.१२)

–सन्निभ–वि., तैलस्निग्धकल्पः, (चइ. ८.९)

अभ्यङ्ग–पु., उपक्रम०, शरीरे तैलविमर्दनम् । 'तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक्च जायते । ' (चसू. ५.८६)

गुणाः–अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः ।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः ।
(सुचि. २४.३०.) स्नेहस्य सिरामुखादिभिः शरीरसन्तर्पणकालं केचिदत्र पठन्ति ।
"रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम् ।
ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम् ॥
रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पञ्चभिरेव तु ।
षड्भिर्मांसं प्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च ॥
शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत् ।
तत्रस्थान् शमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान् ॥"
(सुचि. २४.३०–३४ ड.)

अभ्यङ्गनिषेधः–
'केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत् ।
तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथंचन ॥
"तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः ।
पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥
शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः ।
सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत् ॥"
(सुचि.२४,३५–३७)

अभ्यञ्जन–न., अभ्यङ्गः (चसू. १.८७,) तैलम् (ध. ६.१२५) अञ्जनप्रकार० (असंउ. १४) (प्रत्यंजन' पाठः इंदु.)

–यन्त्र–न., यन्त्र०, अभ्यञ्जनयन्त्रं षडङ्गुलं बस्तियन्त्राकारं मुखतोऽकर्णिकं मूलमुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेशस्रोतस्कम् (असंसू. ३४.१३.)

अभ्यनुज्ञा–स्त्री., निग्रहस्थान०, 'अभ्यनुज्ञा नाम सा यः इष्टानिष्टाभ्युपगमः' (चवि. ८.६२,) मतानुज्ञा च "स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गः (गौ. न्या. सू. ५.२.२१)

अभ्यन्तरयातनेत्र–वि., रोगलक्षण०, कोटरान्तः–प्रविष्टाक्षिगोलकः (सुउ. ५६.११))

अभ्यन्तरायाम–पु., वातरोग०, अन्तरायामः (चचि.२८.३५)
" अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः ।
तदास्याऽभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली "
(सुनि. १.५६)

अभ्यर्दित–वि., पीडितम् (सुउ. ४९.९)

अभ्यवपात–पु., परमार्थतो नात्मनि ममता (चशा. ५.१०)

अभ्यवहरण–परिव. न., भोजनम् (सुचि. २३.४)

अभ्यवहार–पु., आहारः (चसू. २५.४०.)

अभ्यवहार्य–वि., अभ्यवहर्तुं भोक्तुं योग्यम्, भक्षणीयम् (चनि. ४.५०)

अभ्यवहृत–वि., भक्षितम् (असंसू. १०)

अभ्यसूया–स्त्री., छिद्रान्वेषितया परगुणेषु दोषारोपणम् (सुसू. १.२५-३)

अभ्यागमन–अभिव्यक्तिः (चनि.१.२१)

अभ्यास–पु., सततक्रिया, भावाभ्यसनम् शीलनम्, (चसू. २६.३० अहसू. १२.५५) सामीप्यम् (सुनि.४.५)

अभ्युद्य–वि., अभ्युद्गतम् (चइ. १२.४३)

अभ्युदय–पु., स्वर्गः (चसू. ११.२७.) सुखस्य हेतुः, सुखागमः (सुसू. ३५.३७)

अभ्युदीरण–परिव.- न., प्रकोपनम्, वर्धनम् (सुसू. १२.१७)

अभ्युपगम–पु., गुरुवाक्यादीनामङ्गीकारः (सुसू. ६.२०)

–सिद्धान्त–पु., अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम सः, यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः । (चवि. ८.३७,) अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणम् अभ्युपगमसिद्धान्तः । (गौ. न्या. सू. १.१.३१)

अभ्युपपत्तृ–पु., अकम्पानुकम्पया अनुग्रहीता (चसू. ८.१८)

अभ्युपाय–पु., अमोघः उपायः, सुष्ठु साधनम् (असंसू. २२.१६)

अभ्र–न., वनस्पति०, मुस्ता (सुउ. १०.४) मेघः (सुक. ७.४१) अभ्रकम्, महारसेष्वेकम् । (र. २.१)

–कदली–स्त्री., वनस्पति० वन्यकदली, वर्षगात्

प्रागेव मेघानां गर्जनाशब्देनापीयमङ्कुरिता भवति, कोंकणे प्रसिद्धा (र. १९.३९)

–काल–पु., वर्षाऋतुः, श्रावणभाद्रपदौ (चशा. २.४५)

–ग्रास–पु., पारदसंस्कार० (र. १.३१)

–पटव–न., अभ्रकम् (ध. परि. ६.३–४)

–संप्लव–पु., मेघानां सर्वतोगमनम् (सुउ. ७.२१)

–सार–पु., वनस्पति० कर्पूरः (रा. १२.५६)

अभ्रक–न., महारस० तद्गुणाः–स्निग्धं, प्रज्ञाकरं, जरानाशनं, वृष्यम्, आयुष्यं, बल्यं, रुच्यं, दीपनं, पाचनं, वातपित्तघ्नं, क्षयघ्नं, सकलगदघ्नं च । (ध. परि. ६.३–४.)

अभ्रङ्कष–वि., अत्युच्चम् (अहसू. ३.३३)

अभ्योष–पु., काण्डस्थः अपक्वो भृष्टो यवः (असंसू. १०)

अमत्र–न., शरावस्थाल्यादिपात्रम् (चइ. १२.३९.,) (असंनि. ५–९.)

अमत्रक–न., अमत्रम् (कासि. १)

अमर–पु., देवः (सुचि. २८.२६)
खनिज०, पारदः (रा. १३.४२)
वनस्पति०, देवदारुः (सुचि. ३७.११)

–कण्टिका–स्त्री., वनस्पति०, शतावरी (रा. ४.४३७)

–काष्ठ–न., देवदारुः (सुउ. ११.८)

–गुरु–पु., धन्वन्तरिः (सुनि. ९.३)

–तरु–पु., देवदारुः (असंचि. २.३)

–दारु–न., देवदारुः (ध. १.७७)

–प्रभु–पु., इन्द्रः (चसू. १.२२)

–वर–पु., देवश्रेष्ठः (सुसू. १.३)

–वरायुधसाह्वय–पु., वनस्पति०, वज्रकन्दः (सुचि. १७.४१)

अमरा–स्त्री., वनस्पति०, निर्गुण्डी (असंउ. ८)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७)
मूर्वा (रा. ३.१०)
नदीवटः (रा. ११.११६)
अपरा, गर्भस्य नाभिनाडीप्रतिबध्दा 'अमरा' इति लोके । चक्र०, (चशा. ६.२३) ('अपरा' द्रष्टव्या) 'अपरा' पहा.

अमराजरा–स्त्री., कुमारी (रापरि. ५.१०)

अमरार्त–वि., देवगृहीतम् (चचि. ९.६८)

अमराह्व–पु., वनस्पति०, देवदारुः (सुउ. ५२.१४)

अमरी–स्त्री., मूर्वा (रा. ३.१०)
कृष्णपुष्पा, निर्गुण्डी (र. २३.१९)
नीलदूर्वा (र. २३.१९)
आकाशवल्ली, तन्तुमयीयं निष्पत्रा वृक्षोपर्येवोत्पद्य तिष्ठति, 'अमरवेल' इति लोके (र. २३.१९)

अमर्त्य–वि., अमानुषम् (चचि. ९.१७)

अमर्ष–पु., अक्षान्तिः, असहिष्णुता (चचि. ९.१२) (चनि. ७.८)

अमर्षण–वि., असहिष्णुः, अक्षमी (सुशा. ४.९०)

अमलभास्कर–पु., यस्मिन् दिनभागे अमलः प्रबलरश्मिर्भास्करः स मध्याह्नः (चसू. १३.१९)

अमला–स्त्री., सातला (ध. १.२३८)

अमात्रा–स्त्री., मात्राया हीनत्वमाधिक्यं वा (असंसू. ११.१०)

अमात्रावत्त्व–न., मात्राया हीनत्वमधिकत्वं वा (चवि. २.७)

अमात्राशन–न., अशनस्य हीनताऽऽधिक्यं वा (असंसू. १०.३४)

अमानुषोपसर्गप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ६०.१)

अमिलातक–पु., वनस्पति०, राजतरणी (रा. १०.२४६)

अमूर्तत्व–न., अदृश्यत्वम् (चसू. २०.१२)

अमृणाल–न., उशीरम् (चसू. ३.२६)
लामज्जकम् (ध. ३.८६.)

अमृत–न., समुद्रमन्थनोद्भूतमृत्युहरद्रव्य० (सुचि. १५.६)
जरादिहरम् (चचि. १.७८)
वि., अमृतमिव दोषप्रकोपस्याकरणात् (सुसू. ङ ४५.३)

–कन्दा–स्त्री., गुडूची (ध. १.५)

–घृत–न., सिद्धघृत०, तद्गुणाः–परं विषसंशमनम्, मृतं संजीवयेत् (चचि. २३.२४२–२४९) (सुक. ६.१२.१३)
घृतम्–(ध. ६.१४४. रा. १५.२०२)
वनस्पति०, गुडूची (र. १८.२१४)
पारदः (रा. १३.४१)
विषम्, वत्सनागाख्यम् (र. १२.६९)
पु., वाराहीकन्दः (रा. ७.१३५)
मकुष्ठकः (रा. १६.१४५)

–प्राशघृत–न., सिद्धघृत० (चचि. ११.३५–४३)

–फल–न., वनस्पति०, आमलकम् (चचि. ७.१४७)
पु., वनस्पति०, पटोलम् (ध. १.५०)

–**फला**–स्त्री., द्राक्षा (रा. ११.७४)
–**फलाख्य**–न., पारे(ले)वतम् (रा. ११.८८)
–**रसपाक**–पु., योग० भल्लातकघृतप्राशः (असंउ. ४९)
–**रसा**–स्त्री., द्राक्षा (रा. ११.७६)
–**लता**–स्त्री., गुडूची (ध. १.१)
–**वटी**–स्त्री., सिद्धौषधि०, इयमजीर्णश्लेष्मवातघ्नी (र. १६.१६०–१६१)
–**वल्ली**–स्त्री., गुडूची (चचि. १.७७)
–**संभवा**–स्त्री., गुडूची (ध. १.३)
–**स्रवा**–स्त्री., वनस्पति०
"ज्ञेयाऽमृतस्रवा वृक्षरुहाख्या तोयवल्लिका। घनवल्लीसितलतानामभिः शरसंमिता ॥"
गुणाः–ईषत्तिक्ता पथ्या–रसायनी विषघ्नी व्रणकुष्ठ–आम–कामला–श्वयथुघ्नी, इयं चित्रकूटप्रदेशे प्रसिद्धा (रा. परि. ३.४५.)
स्त्री., रुदन्ती. (रा. परि. ५.१५)
–**हस्त**–वि., पताकादिचिह्नांकितपाणिकः, अनामिकाधःस्थरेखाङ्कः (र. ७.२९.)

अमृतक–पु., वनस्पति०, आम्रातकः (असंसू. २६.६)
अमृतका–स्त्री., गुडूची (चसू. १४.३१)
अमृता–स्त्री., वनस्पति०, गुडूची (सुसू. १२.२३.) (चसू. २५.४०)
हरीतकी, (ध. १.२०५)
आमलकम् (रा. ११.३२५)
इंद्रवारुणी (रा. ३.३७३)
तांबूली (ध.परि. ३.१)
दूर्वा (रा. ८.२२७)
द्रष्टव्या दूर्वा, दूर्वाभेदः, नीलदूर्वा (रा. ८.२२६)
आसुत०, सुरा (रा. १४.३०२)
खनिज०, तुवरी, सौराष्ट्री (ध. ३.१०५)
अमृतासङ्गः खर्परिकातुत्थकम् (ड. सुक. १.५४)
–**कन्द**–पु., वनस्पति०, गुडूचीकन्दः (र. ११.५७)
–**क्षार**–पु., गुडूचीक्षारः (सुउ. ४१.३८)
–**द्वय**–न., गुडूची हरीतकी च (सुचि. ३७.२०)
–**फल**–पु., पटोलः (ध. १.५०)
–**सङ्ग**–न., तुत्थम् (चसू. ३.१०)
मयूरतुत्थम् (चचि. १४.५५)
कर्परिका अमृता गुडूची आसङ्गो रसाञ्जनम् (असंउ. ३०)
–**संज्ञ**–पु., खर्परिकातुत्थम् (चचि. ७.११४)

अमृताख्यघृत–न., सिद्धघृत०, इदं विषबाधायां हृदयरक्षाकरम् (सुक. १.७९–८०.)
अमृतागम–पु., अमृतं गुणः, तदुत्पत्तिः (चचिं. १. ३.११.)
अमृताद्यतैल–न., सिद्धतैल०, इदमुन्मादादिहरं वातरक्तादिहरं च (चचि. २८.१५७) (चचि. २९.१०३–१०९)
अमृतार्णव–पु., सिद्धौषधि०, (र. १८.१८५–८८.)
अमृतोद्भव–वि., अमृतेन सहोद्भवो यस्य (सुनि. १.३) न., तुत्थम् (रा. १३.२०५)
(अमृतोद्भवा) स्त्री. ताम्बूली (ध. ३.१.)
अमोघा–स्त्री., वनस्पति०, पाटला (चसू. ४.१८)
विडङ्गम् (ध. २.११)
आमलकी (चसू. ४.१८)
लक्ष्मणा (चसू. ४.१८)
अमोह–पु., मोहाभावः, निश्चिन्तमनस्कता (सुसू. ३४.१४)
अम्बर–न., वस्त्रम् (सुचि. ३०.७)
आकाशम् (सुचि. ३५.२७)
अभ्रकम् (रा. १३.२)
–**धारण**–न., वस्त्रधारणम् (चसू. ५.९५)
–**पीयूष**–न., विष्णुपदामृतम् (शा. १.५.४९)
अम्बष्ठका–स्त्री., वनस्पति०, अम्बष्ठा (ध. ३.११६)
अम्बष्ठकी–स्त्री., वनस्पति०, पाठा (ध. १.७०)
अकर्णविद्धा (चक्र. चसू. ४.९)
अम्बष्ठा–स्त्री., वनस्पति०, पाठा (चचि. १५.११३)
पाठा मयूरशिखाख्या (अहसू. १५.४०)
यूथिका (रा. १०.२५०)
क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४४)
महाकरञ्जः (ध. ५.११०)
माचिका, 'साकूर' इति लोके (उ. सुचि.११.१०)
'मोहवा' इति लोके, 'सूक्ष्मपत्रा' चाङ्गेरी, 'अम्बाडा 'अम्बिका' (र. १०.८०–८१)
'साकुरडा' (सुउ. २१.४८) अम्बिका–माचिका
अम्बष्ठागुणाः–
'अम्बिका तु रसे तिक्ता तथोष्णा कफनाशनी।
अर्शोघ्नी श्वयथूत्थानपरिपन्थितया स्मृता ॥'
'माचिका तु कषाया च कण्ठ्या वातबलासजित्।
पित्तप्रकोपशमनी व्रणशोधनरोपणी ॥'
"अम्बष्ठा सा कषायाम्ला कफकण्ठरुजापहा।

वातामयबलासघ्नी रुचिकृद्दीपनी परा।" (ध. ३.११६)

अम्बष्ठादिगण–पु., वर्ग० (सुसू. ३८.४६)

तद्गुणाः–पक्वाऽतीसारनाशनः, संधानीयः पित्ते हितः व्रणरोपणः (असंसू. १६.३२.)

अम्बष्ठिका–स्त्री., अम्बष्ठा (रा. ४.१७०)

अम्बा–स्त्री., अम्बष्ठा (ध. ३.११६)

अम्बाला–स्त्री., अम्बष्ठा (रा. ४.१७०)

अम्बालिका–स्त्री., अम्बष्ठा (ध. ३.११६)

अम्बिका–स्त्री., अम्बष्ठा (ध. ३.११६)

श्वेताम्ली (रा. परि. ४.३७)

अम्बु–न., जलम् (सुशा. २.३३)

जलमहाभूतम् (चचि. १५.२९)

वनस्पति०, वालकम्, सुगन्धितृणविशेषः, 'वाळा' 'खस' इति लोके (र. १२.६८)

आहारपाकजो व्यापी रसधातुः (सुशा. २.३३)

स्वरसः (र. २.८६)

–कर्मन्–न., क्लेदसंश्लेषादिकं जलकर्म (अहसू. १२.१५)

–कामित्व–न., रोगलक्षण०, तृष्णास्वलक्षणम् (चचि. २२.८)

–कुक्कुट–पु., जलचरपक्षिविशेषः (असंसू. ७)

–कुक्कुटिका–स्त्री., जलकुक्कुटी कृष्णवर्णा,'बुडियाक' इति लोके (सुसू. ४६.१०५)

–कुक्कुटी–स्त्री., वारिचरपक्षि०, जलकुक्कुटी (चसू. २७.४३)

–चर– पु., हंसादिप्राणि० (चसि. १२.१८) (४)

–ज–जन्म–न., वनस्पति०, कुमुदम् (रा. १०.२४३)

सैन्धवम्, लवण०, उशीरविशेषः

वत्सनाभो वा (र. ११.४७)

पु., शङ्खः (सुक., ४.२६)

–द–पु., मेघः (र. ४.२९)

मुस्ता (सुउ. ६१.३१)

अश्मन्तकः (रा. ९.२९०)

–द–क्षय–पु., शरद्ऋतुः (सुचि. ३०.२५)

–दागम–पु., वर्षाऋतुः (सुचि. ३०.३२)

–दानीक–न., मेघघटा (सुचि. ३०.३८)

–धर–पु., मुस्ता (ध. १.४०)

–धिस्रवा–स्त्री., कुमारी (रा.परि. ५.११)

–पान–न., जलपानम् (अहसू. ५.१३)

–पूर्ण–पु., रोग०, उल्बकः (असंउ. २)

–प्रसाद–पु., वनस्पति०, कतकम् (रा. ११.२३५)

–प्रसादनफल–न., कतकम् (ध. ३.१७२)

–योनि–वि., जलोत्पन्नम् (अहसू. ९.२)

–रुह–न., कुमुदम्, पुण्डरीकरक्तोत्पलादिकम् (सुउ. ४७.६३)

–रुहा–स्त्री., पद्मा (रा. ५.१३१)

–लम्ब–वि., अम्बुना लम्बमानः, अतिनिर्भरत्वात्। (अहसू. ३.४२)

–वल्लिका–स्त्री., कारवल्ली (रा.७.२७८)

–वह–वि., उदकवहम् (चचि. २०.१६.)

–वासा–स्त्री., पाटला (ध.१. १२०)

–वासिनी–स्त्री., (ध. १२०)

–वाहिन्–वि., उदकवहम् (चवि., ६.११)

–संभव–वि., समुद्रोत्पन्नम्, अम्बुसंभवत्वेन विषस्य वर्षाप्रकोपित्वम् (चचि. २३.६;७)

अम्भस्–न., जलम् (ध. ६.३०२)

(अम्भः) श्यामाका–स्त्री., वनस्पति०, जलजा ओडिका (चसू. २७.१७)

–ज–न., कुमुदम् (रा. १०.२४३)

–जपत्र–न., कमलपत्रम् (अहसू. २४.१८)

एतत् पुटपाके उपयुज्यते.

–द–पु., मुस्ता (सुउ. ३९.२२४)

–धर–पु., वनस्पति०, मुस्तम् (सुउ. ५२.३१)

–धि–पु., समुद्रफेनः (र. ३०.५७)

–धिपल्लव–पु., प्रवालम् (रा. १३.७३)

–रुह–न., कुमुदम् (रा. १०.२४३)

–सार–न., मौक्तिकम् (रा. १३.६६)

अम्ल–पु., रस०, तद्गुणकर्माणि—अम्लरसः भुक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यम् आस्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति; जरयति, प्रीणयति, लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च। स एवंगुणोऽपि एक एव अत्यर्थम् उपयुज्यमानः दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयति अक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति अपि क्षताभिहतदष्टदग्धभग्नशून-प्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितमर्दितच्छिन्नभिन्नविश्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयति आग्नेयस्वभावात्, परि-

दहति कण्ठमुरो हृदयं च । (चसू. २६. (२)
अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः ।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः ।
(अहसू. १०.१०)
प्रायोऽम्लं पित्तलम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्
(असंसू. १८.२६)
भूतेजसोर्बाहुल्यादम्लो रसो भवति (असंसू. १८)
वनस्पति०, मातुलुङ्गम् (रा. ११.२६)
अम्लवेतस :–(ध. २.९६)
आसुत०, सुरासौवीरकधान्याम्लादिकम्
(ड. सुचि. ५.१८)
काञ्जिकम् (चसू. १४.३३) आंबट कांजी.
मथिततक्रं० (ध. ६.१४६)

–अम्लक–पु., लक्षण० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः
(चसू. २०.१४) सान्तदाहहृदयशूलोद्गारोम्लकः
(असंसू. २०)

–काञ्जिक–न., मद्यविशेषः, तद्गुणा अवस्रंसि विबन्धघ्नं दीपनं च । स्पर्शात् दाहज्वरघ्नं पानात् वातकफापहं च । (चसू. २७.१९२)

–काञ्जिकबीज–न., अम्लकाधःस्थितद्रव्यम्
(सुसू. ११.२१)

–काण्ड–न., लवणतृणम् (रा.परि. ८.५७)

–कामता–स्त्री., रोगलक्षण०, अम्लेच्छा
(चशा. ४.१६)

–गण–पु., वर्ग०, (सुचि. १.५२)

–गन्ध–पु., अम्लसहचरितगन्धः (चचि. २५.२७)

–चुक्रिका–स्त्री., चिञ्चा (रा. ११.४१)

–चूड–पु. चिञ्चा (रा. ११.४१)

–जम्बीरक–पु., निम्बूकं (रा. ११.२२)

–नायक–पु., अम्लवेतसः (रा. ६. १४७)

–नित्य–वि., नित्याम्लरससेवी (चशा. ८.२१)

–पञ्चक–न.,
पञ्चाम्लकं समुद्दिष्टं तच्चोक्तं चाम्लपञ्चकम् ॥
' कोलदाडिमवृक्षाम्लचुल्लिकाचुक्रिकारसम् ।
(र. १०.८३)
बीजपूरकजम्बीरं नारङ्गं साम्लवेतसम् ।
फलं पञ्चाम्लकं ख्यातं तिन्तिडीसहितं परम् ।'

–पत्रक–पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. १.१९४)
भेण्डा (रा. परि. ४.२५)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति०, क्षुद्राम्लिका
(रा. ५.४३)

–पत्री–स्त्री., क्षुद्राम्लिका, पलाशी (रा. ५.४४)

–पर्णी–स्त्री., शाक०, चुक्रिका, ' चांगेरी ' ' चुका ' इति लोके (र. ५.६६)

–पाक–वि., अम्लः पाको यस्य सः
(अहसू. ५.६३)

–पित्त–न., रोग०, अम्लपित्तोद्गिरणस्वरूपो व्याधिः स्वहेतूपचितं विदग्धं अम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमिति यावत् । अम्लपित्तसामान्यलक्षणम्—अविपाकः क्लमोत्क्लेशौ तिक्ताम्लोद्गारगौरवं । हृत्कण्ठदाहोऽरुचिश्चेति । अस्मिन् रोगे पित्तं प्रधानं वातकफावप्यत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ । ऊर्ध्वाधोगमनभेदाद्विविधमम्लपित्तम्, तत्राधोगतस्य लक्षणम्—तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहास्तथैव हरितपीतकृष्णरक्तादिबहुवर्णं दुर्गन्धि च तदम्लपित्तमधोमार्गेण प्रयाति (मधु.) । कदाचिद् हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वादीनि लक्षणानि भवन्ति । ऊर्ध्वगामिनोऽम्लपित्तस्य लक्षणानि–वान्तं पित्तं हरितपीतकनीलकृष्णमारक्तं रक्ताभं मांसोदकाभं तथैवातीवाम्लमतिपिच्छिलाच्छं लवणकटुतिक्तादिविविधरसयुक्तं श्लेष्मानुजातं चास्ति । भुक्ते विदग्धेऽथवाप्यभुक्ते कदाचित्तिक्ताम्लवमिं करोति, एवंविधमेवोद्गारं करोति । तथैव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसश्च रुजं करोति । करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं कफपित्तं जनयति । कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्रं रोगचयं च करोति । अम्लपित्ते वातस्य कफस्य वा संसर्गान्नानालक्षणानि भवन्ति । तेन तदम्लपित्तं भिषङ्मोहकरमस्ति । तत्र वातसंसृष्टेऽम्लपित्ते कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि तमसो दर्शनं विभ्रमविमोहहर्षादीनि लक्षणानि । कफसंसृष्टे तु कफनिष्ठीवनगौरवजडताऽरुचिशीतसादवमिलेपास्तथा दहनसादबलसादकण्डूनिद्राश्चेति । अम्लपित्तस्य साध्यासाध्यता—नवाम्लपित्तरोगः साध्यो यत्नेन, चिरोत्थितस्तु याप्यो भवति कस्यचित्कृच्छ्रसाध्योऽपि भवति । (मा. अम्लपित्तनिदानम्) काश्यपस्तु प्रकुपितवातादीनामन्यतमो दोषः कायाग्निं मन्दीकरोति । मन्दाग्नौ चाशितादिकमामाशये स्थितं शुक्ततां याति पित्तदूषणात्, रसधातौ व्यम्ले सति भुक्तं विदह्यते, एवमयं व्याधिरामाशयोत्थस्तदाश्रये च कफपित्ते इत्यम्लपित्तसंप्राप्तिं वर्णयति, तथैवानूपदेशे प्रायेणैषः रोगः संभवतीति ।
(काखिल. १६)

–पूर–न., वनस्पति०, वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४३)
–पेषित–वि., काञ्जिकपेषितम् (सुउ. २६.३५)
–प्रियता–स्त्री., आमलक्यादिष्वम्लवस्तुषु प्रीतिः (चनि. १.३३)
–प्रीति–स्त्री., लक्षण०, अम्लरसवस्तुषु प्रियता (अहसू. ११.१७)
–फल–पु., वनस्पति० (आम्रः रा. ११.२)
वृक्षाम्लम् (रा. ११.२)
–फलासव–पु., आसव० (सुसू. ४६.४३२)
–वदर–न., वनस्पति० (चसू., ४.१४)
–बीज–न., वनस्पति०, वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)
–महीरुह–पु., वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)
–मेह–पु., रोग०, पित्तजप्रमेह० (सुनि. ६.११)
'अम्लरसगन्धमम्लमेही मेहति
–योग–पु., अम्लरसोपयोगः मधुरतृप्तस्य पथ्यम् अम्लम् (सुसू. ४६.४१९)
–लोणिका–स्त्री., क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)
–वनी–स्त्री., क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४४)
–वर्ग–पु., सौवीरकतुषोदकधान्याम्लादिख्यातः (सुसू. ११.१९)
–वल्ली–स्त्री., तिलकन्दः (रा.परि. ७.५३)
–वाटक–पु., आम्रातकः (घ. ५.१२)
–वास्तुक–न., चुक्रम् (रा. ७,६४)
–विपाक–पु., विपाक०, त्रिविधविपाकेषु एकः (अहसू. १२.२६)
–वृक्ष–पु., वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)
–वेतस–पु., न. वनस्पति० (चसू. २७.१५२)
अम्लवेतसगुणाः–कषायः कटुः अत्यम्लः उष्णः रूक्षः अरोचकघ्नः कफवातघ्नः तृट् जन्त्वर्शोहृद्वाधाश्मरीगुल्मश्रमघ्नः (ध. २.९७)
अम्लवेतसफलगुणाः–अम्लवेतसस्य फलं रूक्षोष्णं वातश्लेष्मघ्नं भेदनं च वर्तते। (चसू. २७.१५२)
–शाक–न., वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४३)
–शाकाख्य–न., चुक्रम् (रा. ७.६४)
–शाख–पु., वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)
–शृत–वि., अम्लैः पाचितम् (तैलघृतादि) (सुउ. ४०.१०८)
–सर्पिस्–न., चाङ्गेरीघृतम् (चचि. १९.११६)
चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतमुत्क्थितं घृतमम्लघृतं (चक्र) चाङ्गेरीघृतं वेत्युच्यते। घृतमिदं गुदभ्रंशरुजापहं पानेऽनुवासने च निरामाणां प्रशस्यते। (चचि. १९.४२–४३)
–सात्म्यता–स्त्री., अम्लरसाभ्यासः (काखिल. ५.४३)
अम्लद्रव्याणां सातत्येनोपसेवनम्
–सार–पु., अम्लवेतसः (रा. ६.१४६)
निम्बूकः (रा. ११.२२)
चिञ्चायाः सारः (रा. ११.४१)
हिन्तालः (रा. ९.९८)
आसुत० (रा. १५.२९२)
–सारक–पु., आसुत० काञ्जिकम् (रा. १५. २९४)
–स्कन्ध–पु., आम्राम्रातकाद्यम्लद्रव्यसंग्रहः (चवि. ८.१४०)
(अम्ला), स्त्री., चिञ्चा, क्षुद्राम्लिका (रा. ११.३)
अम्लाङ्कुश–पु., अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
अम्लातकी–स्त्री. पलाशी (रा. प. ३.५०.)
अम्लादिवाटा–स्त्री., ताम्बूली, नागवल्ली (रा. ११.७)
अम्लाध्युषित–न., नेत्ररोग० (सुउ. १.३२)
लक्षणम्–अम्लेन विदाहिना वा भुक्तेन यस्मिन नेत्रं संछादितं लोहितकैः सनीलैः शोफान्वितं च भवति, पैत्तिकोऽयं साध्यश्च (सुउ. ६.२८)
अम्लाशिन्–वि., अम्लरससेवी (असंसू. ६)
अम्लिक–न., चिञ्चा (र. १०.८०)
अम्लिका–स्त्री., चिञ्चा, पलाशी, कन्दप्रधाना कामरूपे प्रसिद्धा अम्लिका। अम्लस्कन्धे एकं द्रव्यम्। (चवि. ८.१४०)
रोगलक्षण० अम्लोद्गारः (सुसू. २१.२७)
–कन्द–पु., शाक० तद्गुणाः–लघुः नात्युष्णः ग्राही वातकफघ्नः ग्रहण्यर्शोमदात्ययेषु शस्तः (चसू. २७.१२१)
अम्ली–स्त्री., चिञ्चा (रा. ११.३६)
अम्लीका–स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (अहसू. १०.२५)
लक्षण०, अम्लोद्गारः (सुनि. २.८)
–भाव–पु., पाकोन्मुखता (अहसू. २६.४८)
अम्लोद्गार–पु., रोगलक्षण० अम्लोद्गिरणम् (असंसू. ३६.)
अम्लोद्गिरण–न., रोगलक्षण०, पित्तलक्षण०, अम्लरसयुक्तमुद्गिरणम् (चसू. १७.३३)
अम्लोषित–पु., नेत्ररोग० अम्लाध्युषितम् तत्संप्राप्तिर्लक्षणानि च–पित्तरक्तोल्बणैः मलैः अम्लतां नीतोऽन्नसारः सिराभिः नेत्रमारूढः सन् नेत्रं श्यावलोहितं सशोफपाकदाहाश्रु आविलदर्शनं च करोति। (असंउ. १८.)

अयथाप्राण–अ., प्राणा बलम्, तदतिक्रम्य यथा स्यात् तथा (असंसू. १३.)

अयथाबल–अ., शक्त्यतिक्रमेण (चचि. ८.१५)
वि., स्वबलाधिकबलापेक्षी (आरम्भः)
(चचि. ८.१३)

अयथारम्भ–पु., अयोग्यः उपक्रमः (सुचि. ९.३)

अयन–न., गमनमार्गः (चवि. ५.३ असंशा. ६.)
सूर्यमार्गः, अयने द्वे दक्षिणायनमुत्तरायणं च । वर्षाशरद्हेमन्ता ऋतवो दक्षिणायने, शिशिरवसन्तग्रीष्मा उत्तरायणे (अहसू. ३.२) (असंसू. ४)
उत्तरायणम्, सूर्यस्य उत्तरदिग्गमनकालः ।
(सुसू. ६.७)
–**भूत**–वि., अभ्यासान्मार्गीभूतमिव, अभ्यस्तम्
(चवि. ८.२५)
–**मुख**–न., गतिद्वारम् (चनि. ६.११)
गमनमार्गः (चसू. २८.५)

अयन्त्रणसुख–वि., न विद्यते यन्त्रणा (मर्यादा) यस्मिन् तथाविधं सुखं यस्मिन् (अहसू. १३.७)

अयस्–न., खनिजधातु० लोहम् (घ. ६.२६)
लोहं वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०)
बहुवचनेन त्रपु–सीस–ताम्र–रजत–कृष्ण–लोहादिधातूनां स्वीकारः क्रियते (सुउ. ५४.३१)

(अयः) शिष्ट–न., खनिज०, लोहोच्छिष्टम् लोहकिट्टम्, मंडूरः (ध. ६.३५)

–**कान्त**–न., पु. खनिजधातु०, कान्तलोहम्
(रा. १३.२७)
लोहधातवाकर्षणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७. १५)
स च आकर्षकद्रावकचुम्बकभ्रामकभेदात् चतुर्विधः
(सुसू. ७.१५)
उपयन्त्रेष्वेकः । यद्यप्ययस्कान्त इति सामान्येनोपात्तस्तथाप्यत्र कर्षको ग्राह्यः (सुसू. २७.४)

–**कृति**–स्त्री., लोहकल्पविशेषः, तत्कल्पना–तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण षोडशवारान निर्वापयेत्, ततः खदिराङ्गारतप्तानि उपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् घनतान्तवपरिस्रावितानि (सुचि. १०.११) इयमयस्कृतिः दुःसाध्यमपि कुष्ठं मेहं वा साधयति, स्थूलं कर्शयति पाण्डुशोफमपहन्ति सन्नमग्निमुद्धरति विशेषतो राजयक्ष्मघ्नी । (असंचि. २१)

(अयो) गुड–पु., लौहगुडिका (चसू. १.१३१)

–**घटन**–न., लोहस्य निर्माणम् (असंसू. ४०)

–**मल**–न., लोहसिङ्घाणकम्, एतत्पाण्डुरोगशमनम्
(सुउ. ४४.२४)
खनिजविशेषः, लोहोच्छिष्टम् (रा. १३.३६)
मण्डूरः (रा. १६.१२२)

–**रजस्**–न., लोहचूर्णम् तच्च पाण्डुरोगशमनम् । "सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाप्ययोरजः । पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद्भिषक् ॥"
(चचि. १६.६७)
अयोरजः पाण्डुघ्नानां श्रेष्ठम् (असंसू. १३)

–**स्तम्भिनी**–स्त्री. वनस्पति० लिङ्गिनी
(रापरि. ३.१७)

अयान–न., हस्त्यश्वरथादिसामान्ययानव्यतिरिक्तं यानम्
(चनि. ७.७)

अयुक्तियुक्त–वि., मात्राकालादीनविचार्य सेवितम्
(अहनि. ६.१०)

अयुग्म–वि., विषमसंख्याकम् (चशा. ८.४)

–**ग्रन्थि**–वि., युगलग्रन्थिरहितम् (सु.चि. २४.५)

–**पर्ण**–पु., सप्तपर्णः (रा. १२.१३८)

अयुत–न., संख्याविशेषः दशसहस्रम् (सुउ. ६०.२२)

अयोग–पु., ईषद्योगः (सुशा. २.५३)
असम्यग्योगः अतियोगमिथ्यायोगौ (चवि. ७.६)
प्रतिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् (चसि.६.३१)
अभावः, असंयोगः, सर्वशः अप्रवृत्तिः, हीनयोगस्यापि समावेशोऽस्मिन् ।
(चसू. ११-३७; ३९; ४२;).

अयोनि–स्त्री., योनिरुत्पत्तिकारणम् । अयोनिः अप्रजा वन्ध्या वा । अयोग्ययोनिः (चचि. ३०,१३५)
योनीतरमुखादिस्थानम् (सुचि. २४.११९)

अयौगिक–वि., योगानुपयोगि (चवि. ८.१४९)

अरक–पु., चक्रनाभितः चक्रपरिधपर्यन्तं गतं चक्राधारं काष्ठम् (सुशा. ७.४)

अरकीलिका–स्त्री.. रोग० चर्मकीलम् अरशलाकाकारा कीलिका (काचि. पृ. १२८)

अरजस्का–स्त्री., रोग०, विंशतियोनिव्यापत्सु एका । अनार्तवा योनिः तल्लक्षणम्–योनिगर्भाशयस्थं पित्तम् आर्तवं सन्दूषयेत् तत्र कार्श्यं वैवर्ण्यं च भवति ।
(चचि. ३०.१७)

अरणि–स्त्री., अग्न्युत्थापनकाष्ठम् (चसि. ९.७६)

वनस्पति०, अग्निमन्थभेदः (रा. ९.१३८)

–निभ–वि., अग्निदाहोपमः (वेदनादिः) (चसि. ९.७६)

अरणिक–पु., (वनस्पति०) अग्निमन्थः (अहसू. १५.२४)

अरणी–स्त्री., (वनस्पति०) अग्निमन्थः (ध. १.११०) दन्तीभेदः, तद्गुणाः–तिक्ता उष्णा दीपनी शोधनी कफवातघ्नी शूलत्वग्दोषोदरार्शोघ्नी च (ध. १.२२५)

अरण्य–न., वनम् (रा. ११.११२)

–कदली–स्त्री., (वनस्पति०) गिरिकदली (रा. ११.११२)

–कार्पासी–स्त्री., वनस्पति० भारद्वाजी. तद्गुणाः–हिमा रुच्या व्रण-शस्त्रक्षतापहा (रा.परि. ४.४७) वात-संशमनवर्गे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.७) पानात्यये शमनी; कार्पासिनी, वनकार्पासिनी इत्य-परपर्यायाः (सुउ. ४७.३४)

कुलत्थिका–स्त्री., वनस्पति०, कुलत्थिका (रापरि. ५.१८)

–कुसुम्भ–पु., वनस्पति०, कुसुम्भभेदः (रापरि. ४.१८९)

–गवय– पु., पशुविशेषः, कूलचरवर्गीयः वन्यगवयः (सुसू. ४६. ९४)

–जीर–पु., वनस्पति०, वनजीरः (कः) (रा. ६.१०७)

–धान्य–न., वनस्पति०, नीवारः (ध. ६.८७) वनस्पति० शालिः (ध. ६७१.)

–मुद्ग–पु., वनस्पति०, मकुष्ठकः–का (रा. १६.१४५)

–मुद्गा–स्त्री., वनस्पति०, मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)

–वासिनी–स्त्री., वनस्पति०, अत्यम्लपर्णी (रापरि. ३.३९)

–वास्तुक–पु., वनस्पति०, कुणञ्जरः (रापरि.५.२९)

–सूरण–पु., वनस्पति–, सूरणभेदः, सितसूरणः (रा. ७.८)

अरति–स्त्री., मनस्तापजनितरोगलक्षणम् (अहसू. १.३३) (चचि. ३.३६) असुखम्, न कुत्रापि स्थानास-नादौ अवस्थितिः, चेतसोऽनिर्वृतिः ।

अरत्नि–पु., स्त्री., शारीर०, कफोणिका (चवि. ८.१०७) प्रकोष्ठः, (चशा. ७६) मानविशेषः, निष्कनिष्टेन मुष्टिना हस्तेन यत् परिमाणं तत्, विंशत्यङ्गुलहस्तः (चसू. १४.४६) विस्तृतकनिष्ठिकाङ्गुलिमुष्टिक-हस्तः, चतुर्विंशत्यङ्गुलहस्तः (सुचि. ३०.१०) (सुशा. ८.८)

अरला–स्त्री., पक्षि० (असंशा. १२)

अरलु–पु., वनस्पति०, टिण्टुकः (र. १६.९५) 'टेंटू' इति लोके ।

–त्वक्–स्त्री., वनस्पति०, टिण्टुकस्य त्वक् (सुउ. ४०.४१)

अरलुक–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११४) वनस्पति०, मयूरजङ्घः (असंउ. ५४)

अरविन्द–न., वनस्पति० कमलम्, रक्तपद्मम् (रा. १०.२४३) कुमुदम् (ध. ४.१५४) खनिजधातु०, ताम्रम् (रा. १३.१०)

अरसग्राहिता–स्त्री., रोगलक्षण० रसानवबोधकत्वम् (सुशा. ६.२७)

अरसज्ञता–स्त्री., रोग०, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू.२०.११) रसस्य अप्रतिपत्तिः (चसू. २८.९)

अरसज्ञा–वि., कामोपभोगेऽरसिका (चचि. ३०.१३६)

अरि–पु., खदिरः (रा. ८.४०)

–मर्द–पु., कासमर्दः (ध. ४.११)

–मेद–पु., वनस्पति० इरिमेदः खदिरभेदः विटखदिर इति (चसू. ४.१७) (सुसू.१४.३६) 'दुर्गन्धखैर' इति महाराष्ट्रभाषायाम् वनस्पति०, बिल्वः (ध. १.१०७) क्षारवृक्षविशेषः रामकः (सुक. ६.३)

–मेदक–पु., वनस्पति०, इरिमेदः (ध. ५.१३३) कीटविशेषः, मूत्रपुरीषविषोऽसौ, अग्निप्रकृतिकः पित्तजरोगान् करोति । (सुक. ३.५, ८.९) आग्नेयकीटविशेषः (असंउ. ४३)

–मेदा–स्त्री., वनस्पति०, विट्खदिरः (चसू. ४.१८)

–लोह–न., लोहादिधातुशत्रुः, एकस्थयोः लोहयोः अग्नियोगेन गारकोष्टीस्थमूषायां धमनेन प्रथमं यन्नश्यति तस्य ततोऽवशिष्टं चिरकालस्थायि द्वितीयं लोहं अरिः इति निगद्यते । यथा-ताम्रवङ्गौ, ताम्ररजते स्वर्णरजते इत्येवमादीनि (र. ५.१७) ताम्रशत्रुः यशदः, (र. ५.१७)

अरिष्ट–वि., न विद्यते पूर्वं रिष्टं यस्य (अहशा. ५.२) न., भविष्यतो मरणस्य लिङ्गम् (सुसू. २८.२) नियतमरणख्यापकं लिङ्गम् । (चइ. २.५) शरीरशीलप्रकृतीनामकस्मादनिमित्ततः विपर्यासः । (सुसू. ३०.२)

पर्यायः–रिष्टं चापि तदुच्यते
अरिष्टमृत्युसंबंधः–सुश्रुतमतेन रिष्टे दृष्टेऽपि रसायनतपोजप्यतत्परैरमलैर्ब्राह्मणैस्तस्य निवारणं शक्यम् । (सुसू. २८.४)
चरकमतेन तु सर्वथाऽशक्यम् । (चइ. २.५)
–पुरःसर–वि., अरिष्टपूर्वकम् (चइ. २.५)
–पाक–पु., अरिष्टफलम् (सुसू. २८.५)

अरिष्टक–पु., वनस्पति०, कृष्णवर्तुलफलः, 'रीठा' इति लोके (उ० सुशा.४.२) कृष्णफलः (इ. असंउ.४४)
अरिष्टम्, फेनिलम् (सुउ. ३१.७)

अरिष्टा–स्त्री., वनस्पति०, कटुरोहिणी, प्रजास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)
कटुका–(रा. १.३८)
नागबला–(रा. १.२८४)
मन्त्रसंस्कृता रज्जुः, सर्पदष्टस्य दंशोपर्यरिष्टां बध्नीयात् (चचि. २३.२५,) मन्त्रसूत्रवेणिकाया नाम (असंउ. ४२)
–तैल–न., स्नेह०, निम्बतैलम् (ध. ६.१३९)

अरिष्टाभ–वि., अरिष्टसदृशम् (चइ. २.६)
पु., न., आसुत०, सुरा (रा. १४.३०३) मद्य० 'आसवसदृक्सन्धान०', "पक्वौषधाम्बुसिद्धं यन्मद्यं तत्स्यादरिष्टकम् । अरिष्टं लघुपाकेन सर्वतश्च गुणाधिकम् ॥ अरिष्टस्य गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समाः (भाप्र. सन्धान. २१.२२) तद्गुणाः– 'शोषार्शोग्रहणी' दोषपाण्डुरोगारुचिज्वरान् ।
हन्त्यरिष्टः कफकृतान् रोगान् रोचनदीपनः' ॥ (चसू. २७.१८५)
अयं द्रव्यसंयोगसंस्काराद्गुणैरधिको बहुदोषहरो दोषाणां शमनो, दीपनः, कफवातघ्नः सरः पित्तविरोधनः । शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णार्शसां हितः । (सुसू. ४५.१९४)
न., यन्न रिष्टं तत्, सुरक्षितं, सूतिकागृहादि (सुशा. १०.५)
पु., वनस्पति०, पार्वतेयः निम्बः (चचि. ३.२५८)
फेनिलवृक्षः (सुचि. ९.२८) रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८६)
किराततिक्तः (ध. १.३४)
लशुनः (ध. ४.६६)
निम्बः (सुउ. ३९.२२२)

अरुंषिका–स्त्री., क्षुद्ररोग०, अयं मूर्धस्थानगतः आदौ पिटिकारूपः पश्चाद्व्रणरूपश्च व्याधिः । लक्षणम्– पित्तासृक्श्लेष्मजन्तुभिः कङ्कुसिद्धार्थफलरूपा बहुमुखाः क्लेदबहुलाः पिटिकाः केशभूमौ स्युः । (सुनि. १३.३६; असंउ. २७) बालानां सा त्रिदोषजा । सा च चतुर्धा–वाताधिकाया लक्षणम्–शूलतोदाऽऽटोपस्फुरणाऽऽनाहपामायुक्ता । पित्ताधिकाया लक्षणम्–ज्वरतृष्णादाहमोहमदप्रलापयुक्ता । कफाधिकाया लक्षणम्–शैत्यपैच्छिल्यबहुक्लेदारुचिस्तैमित्ययुक्ता । त्रिदोषाधिकापूर्वोक्तवातादिसर्वलक्षणा । तत्र चिकित्सासूत्रम्–'अरुंषिकासु सततं शिरसो मुण्डनं हितम् । स्नापनं म्रक्षणं चैव व्रणतैलैरनेकशः' (काचि. द्विव्रणीय.)

अरुचि–स्त्री., लक्षण०, अरोचकः, प्रार्थितान्नभक्षणाऽसामर्थ्यम् (चसू. १३.२१)
(चचि. १६.१४;) रुचेरभावः
अन्नाजीर्णेन मुखस्य विरसत्वम् ।
(र. २.५३) अन्नाभिलाषाभावः । (अहनि. २.७)

अरुज–पु., आरग्वधः (रा. ९.३३४)

अरुण–वि., ईषद्रक्तवर्णम् (सुचि. २३.५)
पु., वनस्पति० पुन्नागः (रा. परि. १०.११)
गुडः (रा. १४.१९८)
खनिज०, हिङ्गुलः (र. २०.६८)
मूषिक० एतद्दष्टे क्रुद्धो वातो वातजान्विकारान्कुरुते, दंशे ग्रन्थिमण्डलकर्णिका उग्रः पिडकोपचयो भृशदारुणः शोफश्च जायते (सुक. ७.२५ असंउ. ४६)
न., वनस्पति०, कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)
खनिज०, सिन्दूरम् (रा. १२.१६१)
–कमल–न., रक्तपद्मम् (रा. १०.२४१)
–कुष्ठ–न., रोग०, महाकुष्ठेष्वेकं, तद्वातदोषोत्कटतया भवति, लक्षणम्–तनुविसर्पितोदभेदस्त्रापयुक्तम् । एतदुत्पत्तावेव असाध्यम् व्याधिस्वभावात् । गयी (सुनि ५.८)
–दत्त–पु., । वाग्भटकृतस्याऽष्टाङ्गहृदयाख्यस्य ग्रन्थस्य टीकाकारः अनेन सर्वाङ्गसुन्दरा नाम टीका कृता (अहसू. १.१)
–मधुर–न., विष० रक्तवत्सनाभः (र. १८.१६२)
–वर्णता–स्त्री., ईषत्ताम्ररूपता, ईषद्रक्तवर्णता (चचि. ९.१०)
–वर्णत्व–न., लक्षण०, ईषत्ताम्ररक्तवर्णता, (चनि. १.२१)

–विष–न., प्रदीपनाग्न्याऽऽख्यातं रक्तं दीप्तिमद्विषम् तच्च महादाहकरम् (र. १८.४)

अरुणा–स्त्री., मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
गुञ्जा (रा. ४.४६)
इंद्रवारुणी (रा. ३.३७१)
अतिविषा (रा. ६.८)
–सिरा– (सुशा. ७.१८) द्र० 'सिरा'

अरुणाक्षता–स्त्री., लक्षण०, चक्षुष ईषद्रक्तत्वम् (चनि. ७.७) (१)

अरुणाभ–वि., ईषल्लोहितम् (सुसू. ४४.३)

अरुणावभासत्व (ता)–न., स्त्री., अरुणवर्णत्वम्, अशीतिवातविकारेष्वेकः (असंसू. २०., चसू. २०. ११)

अरुणी–स्त्री., वनस्पति०, मञ्जिष्ठा, जया इति केचित् (र. २४.१७)

अरुन्तुद–वि., मर्मस्पृक्, मर्मभेदकवचनादि, (असंसू. ३)

अरुन्धती–स्त्री., तारका०, (चइ. ११.५) वसिष्ठभार्या, (सुसू. ३०.२०)

अरुष्क–पु., भल्लातकः (ध. ३.१४३)

अरुष्कर–पु; न; भल्लातकः, कुष्ठघ्नगणोक्तं द्रव्यम् (चसू. ४.११–१३); 'अरुष्करश्चित्रकमूलं च शुष्कार्शः-प्रशमनानां श्रेष्ठम् (असंसू १३)

(अरुष्का)–स्त्री., क्षुद्ररोग०, अरुंषिका (चसू. १३.३५) 'खवडा' पहा.

अरुस्–पु., न., रोग०, व्रणः (सुनि. १३.३६, चशा. ७.४)

अरोग–वि., व्याधिरहितः, नीरोगः (असंसू. ५)
–ता–स्त्री., आरोग्यम्, (अहसू. १.२०)
–वृत्त–न., स्वस्थवृत्तम् (चशा. ८.६५)

अरोचक–पु., रोगलक्षण०, प्रार्थितेऽपि उपयोगसमयेऽनभिलाषः (चचि. ९.२२)
मुखप्रविष्टस्यापि नाभ्यवहारः (सुसू. २४.९)
रोग०, तत्पर्यायाः अभक्तच्छन्दोऽङ्गीक्रियते । तथा च वृद्धभोजः जन्तोः मुखे प्रक्षिप्तं चान्नं मुहुः न स्वदते इत्येव लक्षणोऽरोचकः यस्मिन् विकारे सति, भोजनं मनसा चिन्तयित्वा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि वा द्वेषमायाति जंतुः, स भक्तद्वेष इत्युच्यते । यस्मिन् चान्ने श्रद्धा न भवेत् सोऽभक्तच्छंद इत्युच्यते । (ड. सुउ. ५७.३)
सम्प्राप्तिः–दोषैः पृथक्सर्वैश्च तथा कामक्रोध-शोकभयलोभाश्चित्तविपर्ययाच्चाऽन्नवहेषु स्रोतस्सु हृदि च प्रगाढे व्याप्तेऽन्ने रुचिर्न भवति । (चचि. २६.१२४ सुउ. ५७. ३)
संख्या–पञ्च अरोचका वातज–पित्तज–कफज-सन्निपातज–मनःसन्तापाद्यागन्तुजभेदात् (असंनि. ५)
लक्षणानि–वातजे परिहृष्टदन्तत्वं कषायवक्त्रत्वम् (चचि.२६. १२४)
हृच्छूलं हृत्पीडनमाननवैरस्यं च (सुउ. ५७.४) (असंनि. ५)
पित्तजे–कट्वम्लमुष्णं विरसं पूति च जायते । (चचि.२६.१२५)
हृदये दाहचोषयोर्बाहुल्यं जिह्वातिक्तत्वं मूर्च्छा पिपासा च (सुउ. ५७.४)
कफजे–वक्त्रं माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसम्बद्धयुतं भवति । (चचि. २६.१२५)
कण्डूः श्लेष्मसंतिरङ्गग्लानिस्तन्द्रा मधुरास्यत्वं कण्ठ-सादोऽभ्यवहरणाद्यशक्तिश्च (सुउ.५७.५)
सन्निपातजे–नैकरसं मुखं भवति (चचि. २६.१२६)
सर्वदोषलिङ्गानि भवन्ति (सुउ. ५७.५)
विरसमुखत्वम् (असंनि. ५)
आगन्तुजोऽरोचकः–हेतुः शोकभयातिलोभक्रोधाऽहृद्याशनाऽहृद्यगन्धादिः स्यात् । (चचि. २६.१२६)
लक्षणम्–वैगुण्यं नाम मनसो व्याकुलत्वं मोहो जडता च । अस्मिन्नरोचके सामान्या चिकित्सा–भोजने रुच्युत्पादनाय आप्तुं शक्यं यद्यत् तस्य प्रियं तस्मै तत्तद्देयम्, मनोदैन्यविनाशाय बोधन-मेव महद्भेषजं नान्यत् । (सुउ. ५७.१६) चिन्ता-कृतोऽशुचिदर्शनजश्चाऽरोचक आगन्तौ अरोचकेऽन्तर्भवति । अस्मिंश्चित्तविपर्ययाज्जाठराग्नेरुपघातो भवति, अन्नाऽप्युपरिनिर्दिष्टा प्रियवस्त्वादिप्रदान-रूपा चिकित्सा करणीया । एतेषु सान्निपातिकोऽ-साध्यः । (सुउ. ५७. ५)

अरोचिष्णु–वि. अरोचनशील; अरुचिकरः (चसू. २६.४३(५))

अर्क–पु., सूर्यः, सूर्यदेवता (अहसू. १८.१६)
कुरुविन्दो मणिविशेषः, ताम्रमित्यन्ये (चचि. ७.८६)

वनस्पति०, (चसू. १.११४) अर्को द्विविधः, श्वेतरक्तभेदात् । अस्य मूलं त्वक् पत्रं पुष्पं बीजं चेति पञ्चांगं तथा क्षीरं क्षारश्चापि चिकित्सायामुपयुज्यन्ते ।
श्वेतार्क–मूलं शिरोविरेचनम् (सुसू. ३९.६) भूतघ्नं (असंउ. ८) व्रणसंशोधनं घृतेन सह, (सुसू. ३७.१६) अस्य पल्लवः मूलं त्वक्च कुष्ठहराणि । (चचि. ७.११२) अङ्कुरः रक्तस्रावणार्थम् (असंसू. ३६) विशेषतस्त्वक् कृमियुक्तव्रणे उपयुक्ता (अहसू. २९.७६) पत्रं नाडीस्वेदार्थमुपयुज्यते (चसू. १४.३१) पुष्पं कृमिनाशनार्थं जलविषनाशनार्थमुपयुक्तम् (असंसू. ८) तथा शूलोदरघ्नं च; बीजं गलगोडीविषं जयेत् (चचि. २३.२१६) क्षीरं कुष्ठहरप्रदेहे (चसू. ३.१२) वमने विरेचने च, (चसू. १.११४) श्वदंशे विषनिर्हरणार्थं विशोधनरूपेणोपयुज्यते (सुक. ७.५१) अर्कक्षारस्तु शोषिणे तज्जलसंस्कृतयवभक्ष्यरूपेण दीयते (सुउ. ४१.३८) अस्य काष्ठं दन्तपवनार्थमुपयुज्यते, (चसू. ५.७३) अर्कः उपविषम् (ध. ७.१३०) अर्कस्य सामान्यगुणाः–तिक्तः कटुः उष्णः शोधनो दीपनः सरो वातघ्नः कण्डू–व्रण–शोफ–जन्तु–कुष्ठ–प्लीह–कृमिघ्नः । (ध. ४.१३) सर्पविषे हृदयावरणार्थम् उपयुज्यते । (सुक. ५.१७–१८) स्वेदोपगं, भेदनीयम् (चसू. ४. १३,९) उदररोगे लेपार्थम् (असंचि. १७) क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु । कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ (भाप्र.,) रक्तार्कपुष्पमाखुविषघ्नम् (शानि.,) अर्को द्विविधोऽपि वातसंशमनः (सुसू. ३९.७) श्वेतार्कः अर्शसाम् आलेपनार्थमुपयुक्तः (सुचि. ६.१२)

–कान्ता–स्त्री., सुवर्चला (रा. ४.१४४)

–चन्दन–न., वनस्पति०, चन्दन०, रक्तचन्दनम् (रा. १२.१०) रक्तचंदन.

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति०, अलर्कः इन्दु 'राजार्क' इति यावत् (असंउ. ४५)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति०, अर्कपत्रसदृशी लता, अन्ये 'अर्कपर्णम्' इत्याहुः । मण्डूकपर्ण्यादिवर्गे शाक० (सुसू. ४६.२६२)
श्वेतदूर्वा०, वृक्षजातिः (ड. सुशा. १०.६९)

–प्रिया–स्त्री., जपा (रा. परि. १०.३९)

–भक्ता–स्त्री., वनस्पति०, आदित्यभक्ता (रा.४.१४४)

–मूर्ति–पु., सिद्धयोग०, ज्वरादिहरः (र. २३.३)

–वल्लभ–पु., वनस्पति०, बन्धूकः (रा. परि. १०.३५)

–वेध–न., वनस्पति०, तालीसपत्रम् (रा. ६.८२)

–हिता–स्त्री., वनस्पति०, आदित्यभक्ता (रा. ४.१४४)

अर्कादिगण–पु., अर्कादिवर्गः अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्च इत्यर्कादिको गणः, एष कफमेदोविषापहः, कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनश्च । (सुसू. ३८. १६–१७, असंसू. १६)

अर्कादिवर्ग–पु., अर्कादिगणः (अहसू. १५.२८-२९)

अर्कावर्त–पु., शिरोरोग०, सूर्यावर्तः (चसि. ९.८६)

अर्केश–पु., सिद्धयोग०, अर्शोहरः (र.१५.६६)

अर्केश्वर–पु., सिद्धयोग, सुप्तवातविनाशकः (र. २१.१९)

अर्कोत्तम–वनस्पति०, अर्क, मन्दारः. व्रणशोधनोऽसौ (सुसू. ३७.१६)

अर्कोत्तमा–स्त्री., अर्कसहिता उत्तमा (त्रिफला) (सुसू. ३७.१६)

अर्गल–पु., न., स्त्री., द्वारबन्धनम् (असंउ. २५; अहशा. ३.५१.)

अर्गला–स्त्री; द्वारबन्धनम् (अहशा. ३.५,)

अर्घ्यार्ह–पु., वनस्पति०, मुचकुन्दः (रा. परि. १०.२५)

अर्चन–न., पूजनम् (अहसू. ४.३३)

अर्चनाकाम–वि., योऽर्चनामिच्छति, अर्चनार्थं पुष्पधूपादिकमन्विष्यति वा, सः (चचि. ९.२३)

अर्चिस्–न., ज्वाला, तेजः (अहसू. ७.१४)

अर्जक–पु., वनस्पति०, श्वेतपर्णासः (चसू. २७.१७०)
हरितशाक०, कुठेरकः (उ. सुसू. ३९.६)
तुलसीभेदः (चचि. ११,८५)
बर्बरिकाकारः लघुमञ्जरीकः सूक्ष्मपत्रः निर्गन्धः श्वेतकुठेरकः (ड. सुसू. ३८.१८)
अर्जकमूलं योनिरोगेषु उपयुज्यते (असंउ. ३९)
अर्जकबीजमरण्यतुलसीबीजम् (असंशा. ३)
एतद्बीजकल्कः किक्किसव्याधौ लेपादिषु उपयुज्यते (असंशा. ३)

अर्जकगुणाः–तिक्तः शीतवीर्यः कटुः (ध.) तथा च उष्णवीर्यः (इति रा,) लघुः, रूक्षः, तीक्ष्णः, कटुपाकः, पित्तवर्धनः (सुसू. ४६.२३५)
श्लेष्मघ्नः विषघ्नः दुष्टरक्तघ्नश्च (ध. ४.५४)
अयं नाडीस्वेदार्थमुपयुज्यते (चसू. १४.३२)
अस्य शाकं हृद्यमास्वादनीयं पित्तोत्क्लेशकरं च (चसू. २७.१७०)

अर्जुन–वि., श्वेतः धवलः (सुनि. १०.१२)
नेत्ररोग० नेत्रस्य शुक्लभागे शशरुधिरोपम एको बिन्दुर्भवति (सुउ. ४.७)
लक्षणम्–नीरुक्श्लक्ष्णः शशलोहितलोहितो बिन्दुर्नेत्रस्य शुक्लभागे भवति (असंउ. १३)
साध्योऽयम् (सुउ. १.३८)
वनस्पति० (चसू.४.१७, सुसू, ३८.८) (अहसू. १५.४१)
श्वेतवल्कलवान् वृक्षः पुष्पं नेत्राञ्जने उपयुज्यते (सुउ. १२.११)
स्थावरजङ्गमविषे धूपार्थमुपयुज्यते (असंसू. ८)
अर्जुनः प्रदेहेन कुष्ठहरः (चसू. ३.५)
उदर्दप्रशमनः (चसू. ४.१७)
विशेषेण हृद्रोगे उपयुक्तः (चचि. २६.९८)
शीतकषायः रक्तपित्तप्रशमनः (सुउ. ४५.२३)
अर्जुनगुणाः–कषायः उष्णः (शीत इति भाप्र.)
वातरोगवर्धनः, पित्तकफघ्नः, व्रणश्रमतृष्णाघ्नः (ध. ५.११४)
मेदोमेहव्रणघ्नः (भाप्र.) रक्तस्तम्भकृत् इति (ध. ५.११४)

अर्णव–पु., समुद्रः (चइ. १२.८४)
–फेन–पु., प्राणिजद्रव्य०, समुद्रफेनः (चचि. २६.२४७)
–मल–पु., समुद्रफेनः (सुउ. १७.२१)
पर्यायः उपयोगश्च–फेनः, अनुशस्त्रम्, लेखने प्रयुक्तम् । (असंसू. ३४, सुचि. १.४०)
न., जलम् (रा. १४.३१७)
(अर्णो) भव–पु., जाङ्गमद्रव्य०, शङ्खः (रा. १३.२४३)

अर्ति–स्त्री., रोगलक्षणं वा पीडा, शूलः व्याधिः (सुचि. ३७.६६; चशा. १.८८)
–काल–पु., व्याधिसमयः (चशा. १.८९)
–विस्मरण–न., वेदनाविस्मृतिः, वेदनाशमनं वा (चशा. ८.३१)

अर्थ–पु., प्रयोजनम् (चसू. २६.१२)
अर्थ्यते याच्यते इत्यर्थः (सुशा. १०.५३) (अहसू. १.२)
इन्द्रियार्थः, शब्दादिगुणः (चसू. १.४९)
शारीर० हृदयम् (चसू. ३०.३)
अभिधेयः (चसू. २६.३७)
प्रकरणम् (चसू. २६.१०)
शब्दादितन्मात्रा, बीजात्मकमाकाशम् आदिभूतम् (चशा. १.१७)
–चिन्तक–वि., शारीरावयव–हृदयचिन्तकः (चसू. ३०.५)
–तत्त्व–न., विषयस्य निश्चितं ज्ञानम् सिद्धान्तो वा. (चवि., ८.७)
–पञ्चक–न., विषयपञ्चकं शब्दादि (चसू. ३०.४)
–पुनरुक्त–न., वाक्यदोष०, स एवार्थः शब्दान्तरेण पुनर्यत्राभिधीयते तत्र उपर्युक्तो दोषः यथा 'भेषजमौषधं साधनमिति' (चवि. ८.५४)
–प्राप्ति–स्त्री., प्रमाण०, अर्थापत्तिः । 'अर्थप्राप्तिर्नाम यत्र एकेनार्थेन उक्तेन अपरस्यार्थस्य अनुक्तस्यापि सिद्धिः । (चवि. ८.४८)
–योजन–न., लीनस्य असङ्गतस्य चार्थस्य प्रकाशनं, संगतीकरणम् (सुउ. ६५.४)
–वश–पु., अर्थानुरोधः (सुसू. १.४०)
–संग्रह–पु.,अर्थानां संक्षेपेण प्रतिपादनम् (चनि. १.१४)
–संतति–स्त्री., अर्थसमूहः (सुसू. ३.१२)
–साधन–न., प्रयोजनसिद्धिः (सुसू. ३.५३)
–सिद्धक–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (रा. ४.११७)

अर्थान्तर–न., प्रकृतादर्थाद् अप्रतिसंबद्धार्थम् (गौसू. ५.२-७); "अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह, यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह" (चवि. ८.६४.)

अर्थापत्ति–स्त्री., तन्त्रयुक्ति०, "यद् अकीर्तितमर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः ।" (सुउ. ६५.२०) यथा च नक्तं दधिभोजननिषेधः अर्थाद्दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते । (चसि. १२.४२;) अन्यच्च पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थाद्रात्रौ भुङ्क्ते ।

अर्थाभास–वि., छलभेद० अर्थवदिव आभासते इति; 'वाग्वस्तुमात्रमेव,' (चवि. ८.५६)

अर्थिन्–वि., याचकः (चचि. २४.२०)

अर्थ्य–वि., अर्थादनपेता, अर्थेन अप्रधानेन मध्यमस्थानीयेन युक्ता । (असंसू. ३)

अर्दन्–न., (परिव०) हिंसा, प्रपीडनम् (सुनि. १.६९)

अर्दित–पु., न., रोग०, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

मध्यममार्गजो वातव्याधिः (चसू. ११.४९)

'एकायामः' इति अपरे (अहनि. १५.३७)

सामान्यरूपम्–मुखं जिह्मं करोति (चसू. २०.११)

संप्राप्तिः–प्रकुपितो वायुः शिरोनासौष्ठचिबुकललाटे क्षणसन्धिगः सन् मुखमर्दयित्वा मुखार्धं ग्रीवां च वक्रीकृत्य अर्दितं जनयति (सुनि. १.६९)

पूर्वरूपाणि–रोमहर्षः वेपथुः आविलनेत्रता वायोरूर्ध्वं प्रसर्पणम् त्वचि स्वापः तोदः मन्याग्रहः हनुग्रहश्च (सुनि. १,७१)

लक्षणम्–उक्तं हसितमीक्षितं वायुर्वक्रीकरोति । शिरःकम्पः, वाक्सङ्गः, स्तब्धनेत्रता, दन्तचालः, स्वरभङ्गः, श्रुतिहानिः, क्षवग्रहः, गन्धाज्ञानं, स्मृतेर्मोहः, सुप्तस्य त्रासः, निष्ठीवस्य पार्श्वतो गमनम्, एकस्याक्ष्णः निमीलनम्, जत्रोरूर्ध्वं शरीरार्धे अधरे वा तीव्रा रुजो जायन्ते (असंनि. १५)

चरके तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽर्दितः पठितः (चचि. २८.३८)

तस्य संप्राप्तिः–अतिवृद्धो वायुः शरीरार्धमेकं प्रपद्य बाहुं, पादं जानु चोपशोष्य वक्त्रार्धं वक्रीकरोति तस्य लक्षणानि–मुखं जिह्मं करोति, नासाभ्रूललाटाक्षिहनुः वक्रीकरोति, आस्ये भोजनं वक्रं व्रजति न समं, मुखेन खादति किन्तु वक्त्रैकदेशेन, वक्रनासिका, कथने स्तब्धनेत्रत्वम्, क्षवथुनिग्रहः, अस्य वाक् दीना, जिह्वा, समुत्क्षिप्ता कला च सती सज्जति, दन्ताश्चलन्ति, श्रवणौ बाध्येते, स्वरो भिद्यते, पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डानां रुजा भवन्ति । (चचि.२८.३८–४२)

अर्दितः वेगितया न सर्वकालं भवति । अर्धाङ्गस्तु सर्वकालं व्याप्य भवति । चक्रः ।

वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धांगवाते तु सर्वदैवेति भेदः (मधुकोशः) । असाध्यलक्षणम्–क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः वेपनस्य चार्दितं न सिध्यति, तथा च गाढं त्रिवर्षमपि न सिध्यति (सुनि. १.७३)

–**अर्दिताकृतिकरण**–न., अर्दितस्य व्याधेः आकृतिकरणं तेन अर्धवक्त्रभ्रमणादिरूपकरणम् (चनि. ७.६)

अर्ध–वि., विभागः (र. १५.५८, चइ.१.२१)

–**कटीशूल**–पु., रोगलक्षण०, वातरोगे यस्मिन्नन्यतरः कटीभागः शूल्यते । (र. १५.५८)

–**कपाटसन्धिक**–पु., बन्ध०, पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः बाह्यदीर्घैकपालिः इतरालपपाल्यासह अभ्यन्तरसन्धानेन अर्धकपाटवद्यत्र सन्धीयते स बन्धः । (सुसू. १६.१०)

–**काय**–पु., शरीरस्य दक्षिणो वामो वा पक्षः (अहनि. १५.३९)

–**कैशिकी**–वि., शस्त्रधारा० अर्धकेशप्रमाणा तन्वी (धारा०) (सुसू. ८.१०)

–(**चन्द्र**)–पु., आकृति०, यत्रार्धचन्द्रवद् आकृतिर्दोहेन जायते सः । (असंसू. ४०)

–(**चन्द्रा**)–स्त्री., त्रिवृच्छ्यामा (ध. १. २४३)

–**चन्द्राकृति**–वि., छेद०, अर्धचन्द्राकारः (सुसू. ५.१४)

–**चन्द्रानन**–न., शस्त्र०, अर्धचन्द्रास्यसंज्ञं शस्त्रम् । (अहसू. २६.११)

–**चन्द्रिका**–स्त्री. वनस्पति०, कर्णस्फोटा (रापरि. ३.४१)

–**तिक्त**–पु., किरातिक्तः (रा. ९.५२)

–**तृतीय**–वि., अर्धं तृतीयं यस्य तत्, तृतीयादूनार्धम्, सार्धद्वयम् इति । (सुचि. ३१.७)

–**धार**–न., शस्त्र०, एतत्संज्ञकं छेदनोपयोगि तिर्यग्धारं शस्त्रम् (चशा. ८.४४) एतस्य शस्त्रस्य अर्धपर्यन्तमेव धारा वर्तते, तस्मादर्धधारम् । (सुसू. ८.३) एतद्वक्रधारम् (चक्रधारं पाठः) आयामे अष्टाङ्गुलं फलसन्धौ अङ्गुलविस्तारं, द्व्यङ्गुलदीर्घं, भेदनेऽपि उपयोगि शस्त्रम् । (सुसू. ८.३)

–**पलिक**–वि., मान० अर्धपलम् कर्षद्वयपरिमितम् (सुचि. २८.३)

–**पात्र**–न., अर्धाढकम् (सुउ. ५८.५३)

–**भेद**–पु., शिरोरोग० अर्धावभेदकापरपर्यायः (सुउ. २५.१६)

–**मास**–न., काल०, पक्षः (असंशा. ९.२३)

–**मासूरी**–वि., शस्त्रधारा० मसूरदलधारार्धतन्वी (असंसू. ३४.३५)

–रात्र–पु., न., मध्यरात्रः (सुचि. २४.११७)
रात्रेर्मध्ययामद्वयं 'सात्त्विका अर्धरात्रं स्वपन्ति
(ड. सुशा. ४.३३)
तत् स्वभावः–" भूगोलाधःस्थितसूर्यत्वाद् आतपाभावेऽपि कालस्वभावात् आहारवशाच्च शारदलिङ्गानि भवन्तीति भिषजो मन्यन्ते तच्च दोषचयप्रकोपप्रशमविषयानुरोधात् ज्ञेयम्"
(सुसू.६.१४ ड.)

–लाङ्गल–क., पु., भगन्दरे प्रयुक्तानां छेदानामेकतमः छेद०, पार्श्वच्छेदोऽर्धलाङ्गलः अर्धहलसदृशच्छेदः (असंउ. ३३) 'दललाङ्गलः' अस्य पर्यायः
(अहृउ. २८.३०)

–वेदधर–वि., अर्धज्ञानधरः शास्त्रज्ञः कर्मज्ञो वा
(सुसू. ३.५०)

–शक्ति–स्त्री., स्वशक्त्यर्धम्, बलार्धम्.
(अहृसू. २.११)

–शिरोरुजा–स्त्री., रोग० अर्धावभेदकः
(का. दुष्प्रजातचि. ११.१२)

–सौहित्य–न., अर्धतृप्तिः
(सुसू. ४६.४९५; असंसू. ११)

अर्धाङ्गवात–पु., रोग० पक्षवधः (र. २१.१५)

अर्धाढक–न., मान० द्वात्रिंशत्पलानि, चतुःषष्टिपलानि इत्येके । (सुउ. ५५.४५)

अर्धावभेद–(क., पु. न.,) शिरोरोग० अर्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः । (अहृउ. २३.७.)
संप्राप्तिः–कुपितो वातः केवलः सकफो वा शिरसोऽर्धं गृहीत्वा मन्याभ्रूकर्णशंखाक्षिललाटार्धे शस्त्राराणिनिभां तीव्रां वेदनां कुर्यात् ।
(चसि. ९.७४.७६;) लक्षणम्-शिरोर्धभागेऽकस्मात् पक्षाद्दशाहाद्वा भेद-तोद-भ्रम-शूला भवन्ति, अतिवृद्धस्तु लोचनं कर्णं वा विनाशयेत् ।
(सुउ. २५.१५; असंउ. २७;) त्रिदोषजोऽयं व्याधिः । (सुउ. २५.१५;) व्याधिरयं चिकित्सितं विनाऽपि उपशाम्यति (असंउ. २७)

अर्बुद–पु., पर्वत०, गुर्जरप्रान्तीयः, 'अबूचा पहाड' इति लोके । अस्मिन् पर्वते 'चन्द्रमाः' इति सोमविशेषः उपलभ्यते । (सुचि. २९.२७) अस्य पार्श्वे मृद्वारशृङ्गकमुपलभ्यते । (र. ३.१६२)
न., द्वितीयमासे नपुंसकगर्भस्य रूपं संस्थानं वा (सुशा. ३.१८) । तत् संस्थानं डल्हणमतेन वर्तुलफलार्धम् । गयीमतेन शाल्मलीमुकुलाकारम् (सुशा. ३.१८) इन्दुमतेन परिवृत्तम्
(असंशा. २)
चक्रपाणिमतेन वर्तुलोन्नतम् (चशा. ४.१०)
पु., न., रोग०, उत्सेधप्रधानः, (चसू. १८.३३) ग्रन्थिसदृशोऽयम् (सुनि. ११.१३) संप्राप्तिः–वृद्धा दोषा अनियतदेशे मांसमभिप्रदूष्य ग्रन्थिसदृशमुत्सेधं कुर्वन्ति । अस्य अधिष्ठानं रोहिणी नाम त्वक् (सुशा. ४.४)
लक्षणम्–तत् मांसोपचितं वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महद् अनल्पमूलं चिरवृद्धि अपाकं च भवति । अस्यापाकत्वे कारणम्–कफाधिकत्वं मेदोबहुत्वं दोषस्थिरत्वं ग्रथनं च (सुनि. ११.१३, १४, २१) अर्बुदोऽयं ग्रथितो महान् भवति । (असंउ. ३४)
सङ्ख्यातः षड्विधम्, वात–पित्त–कफ–रक्त–मांस–मेदोज–भेदात् (सुनि. ११.१४)
लक्षणानि–वातपित्तकफमेदोजानां लक्षणानि वातादिग्रन्थिलक्षणैः समानानि भवन्ति (सुनि. ११.१५)
रक्तजस्य संप्राप्तिलक्षणे–प्रदुष्टो दोषो रुधिरं संपीड्य सिराश्च संकुच्य शोणितं पाचयेत् । अनन्तरं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धं मांसपिण्डं सस्रावमुन्नह्यति । अजस्रं दुष्टरुधिरप्रवृत्तिं करोति । रक्तार्बुदपीडितः रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवति
(सुनि. ११.१६)
रक्तार्बुदमेतदसाध्यम् (सुनि.११.१७)
रक्तार्बुदं तालुमध्यगतम्–तस्य लक्षणम्–तालुमध्ये पद्माकारः शोफो भवति । तेन मांसपिण्डं साङ्कुरम् उद्गतं भवति (भोजः) प्रदुष्टं रक्तं स्रवति, तेन चातुरः पाण्डुर्भवति (सुनि. १६.४३)
अत्र भोजवचनम्–" उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका । पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैः नाशा (नासा ?) चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तत्तालर्बुदसंज्ञितम् । " गयी
तालर्बुदमसाध्यम्. मांसजार्बुदस्य संप्राप्तिः लक्षणं च–मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे प्रदुष्टं मांसमवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णं त्वक्सदृशवर्णम् अपाकम् अश्मोपमम् अप्रचाल्यं शोफं करोति, विशेषतश्च एतत् मांसपरायणस्य भवति । एतदसाध्यम्
(सुनि. ११.१८)
अर्बुदसाध्यासाध्यता–वात–पित्त–कफ–मेदोजानि । चत्वारि अर्बुदानि साध्यानि । रक्तमांसजे द्वे

असाध्ये । (असंउ. ३४,) साध्येष्वपि यत् संप्रस्रुतं मर्मणि स्रोतस्सु वा जातं, यच्च अचाल्यं, पूर्वजाते-ऽर्बुदे जातं तदसाध्यम् । (सुनि. ११.१९,) अत्र चिकित्सासूत्रम्-'सर्वाण्यर्बुदानि छेद्यविषयाणि । (सुसू. २५.३,) अर्बुदमशेषं समुद्धरेत् । सशेष-दोषमाशु पुनर्भवति । (सुचि. १८.४२) अर्बुदे-ऽग्निकर्म-चिकित्साऽपि क्रियते (सुसू. १२.१०); अर्बुदस्थानानि-अर्बुदानि क्वचिदेवानियतप्रदेशे, कपाल (असंउ. २७) तालु (असंउ. २७) नासा (सुउ. २२.१८) नेत्रवर्त्मादि (सुउ. ३.२४) नियतप्रदेशेष्वपि संभवन्ति ।

अर्बुर–न., आहुल्यम् (रा. परि. ४.३३)

अर्मण–पु. न., मान०, द्रोणः, चतुर्गुणः कंसः (असंक. ८.)
चतुराढकं, चतुर्विंशत्यधिकसहस्रतोलम् (र. ११.८)

अर्मन्–न., नेत्ररोग०, नेत्रस्य शुक्लमण्डलगतो मांस-संचयरूपो व्याधिः, तस्य प्रकाराः–प्रस्तार्यर्म, शुक्लार्म, क्षतजार्म, (लोहितार्म) अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म इति पञ्च (सुउ. ४.३)

अर्वाचीन–वि., नातिदूरप्रविष्टम् (अहसू. २८.१९)

अर्शस्–न., रोग०, निरुक्तिः-"अरिवत् विशसन्तीत्य-र्शांसि" । (असंनि. ७.)
गुदकीलस्वरूपमेतत् अर्शसां क्षेत्रमधिष्ठानं च सर्वेषां चार्शसां गुदस्यार्धपञ्चाङ्गुलावकाशे त्रिभा-गान्तरास्तिस्रो गुदवलयः क्षेत्रमिति, केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्ति अर्शसां तद्यथा–शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति । तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां तु अर्शांसीति संज्ञा तत्रेऽस्मिन् (चचि. १४.६) सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च। (चचि. १४.६) (असंनि. ७) अयं बहिर्मार्गजो व्याधिस्तथा अन्तर्मार्गजोऽपि । (चसू. ११.४९) तस्याधिष्ठानं मांसधरा नाम त्वक् । (सुशा. ४.४) संप्राप्तिः–यथोक्तैश्चयप्रकोपणैः प्रकुपिता दोषाः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधम-नीरनुप्रपद्य अधो गत्वा गुदमागम्य गुदवलीः प्रदूष्य तत्र मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति (सुनि. २.४) "दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन् । मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥" (अहनि. ७.२)
संख्या–द्विविधान्यर्शांसि कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि; तत्र बीजं गुद-वलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् । तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः–मातापित्रोरपचारः पूर्व-कृतं च कर्म । तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण । (चचि. १४.५)
अथेतराणि षड्विधानि पृथग्दोषैः संसृष्टैः सन्निप-तितैः शोणितेन च । तत्र वातश्लेष्मोत्तराणि शुष्काणि, रक्तपित्तोत्तराण्यार्द्राणि । (असंनि. ७) 'षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति ।' (सुनि. २.३) पूर्वरूपाणि–
'विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥
ग्रहणीदोषपाण्डुर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥'
(चचि. १४.२१)
सुश्रुते तु–अन्नेऽश्रद्धा, कृच्छ्रात्पक्तिः, परिदाहः, पिपासा, अक्ष्णोः श्वयथुः, अन्त्रकूजनं, गुदपरिकर्तनं, कासः, श्वासः बलहानिः
भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च । (सुनि. २.८)
अश्मगर्भोदनाभित्वम्, बहुमूत्रत्वम्, आलस्यं गुल्मरोगाशङ्का च । (असंनि. ७)
सामान्यरूपम्–पूर्वरूपाणि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति (सुनि. २.९) सर्व एव अर्शसो भवति अतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः; अश्मरीशर्करावान् अनियतविबद्धमुक्तामपक्व-विभिन्नशुष्कवर्चाः अन्तरान्तराश्वेतपाण्डुहरितरक्त-पीतारुणतनुसान्द्रपिच्छिलोपवेशी नाभिवंक्षणोद्दे-शप्रचुरपरिकर्तिकान्वितः सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्ष-प्रमोहः, अल्पशुक्रप्रजः, अल्पभुक्, सिरासन्तत-गात्रः, क्रोधनो दुरुपचारः, कासश्वासतृष्णापीन-सारोचकपाणिपादवदनाक्षिकूटश्वयथुक्षवथुवेपथुवम-थुपरीतः, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षामभिन्नस्वरः, कर्णरोगी, सज्वरः, साङ्गमर्दः, सर्वपर्वास्थिशूलः, अन्तरान्तरा हृदयकुक्षिपार्श्वपृष्ठबस्तित्रिकग्रहोपतप्तः, प्रध्यानपरः परमालसश्च । (असंनि. ७), वातजा-र्शोलक्षणानि–परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि, कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति अर्शांसि । तैरुपद्रुतः सशूलं संहतमुपवेश्यते, कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति, गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि च अस्य तन्निमि-

त्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्. नखनयनदशनवदन-मूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति। (सुनि. २.१०). तीक्ष्ण-स्फुटितमुखानि, सिद्धार्थबिम्बीखर्जूरफलप्रमाणानि वक्राणि शूलोदावर्तकराणि अर्शांसि भवन्ति। (असंनि. ७) पित्तजार्शोलक्षणानि-पित्तात् नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्र-सदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति अर्शांसि। तैरुपद्रुतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपा-सामूर्च्छाश्च अस्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयन-दशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति (सुनि. २.११) किञ्च तानि रक्तपीत–कृष्णानि, मृदुशिथिलानि, स्पर्शासहानि, विस्रगन्धीनि दाहपाकवन्ति अरुचि-कराणि च (असंनि. ७)

श्लेष्मजार्शोलक्षणानि–श्लेष्मजानि श्वेतानि महामू-लानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्रवन्ति, कण्डूबहुलानि च भवन्त्यर्शांसि। तैरुपद्रुतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदन-मूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति (सुनि. २.१२)

गुरुस्तब्धश्लक्ष्णपिच्छिलानि सुप्रसुसानि स्पर्शक्षमाणि वंक्षणानाह–नाभिपरिकर्तिका–हृल्लास–प्रसेक-कास-श्वास–कृच्छ्रमूत्र–प्रमेहेन्द्रियोपलेपाग्निमार्दवक्लैब्या-मविकारप्रबलानि भवन्ति (असंनि. ७)

रक्तजार्शो-लक्षणानि–रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुम-काकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदा अवगाढपुरीषपीडितानि भवन्ति तदा अत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, तस्य चाति-प्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति।
(सुनि. २.१३)

सन्निपातजानि अर्शांसि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि
(सुनि. २.१४)

सहजार्शोलक्षणानि–तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यम्। विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पांसूनि दारुणानि अन्तर्मुखानि। तैरुपद्रुतः कृशः अल्पभुक् सिरासन्ततगात्रः, अल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः, क्रोधनः, अल्पाग्निप्राणः, परमालसश्च, तथा घ्राणनासाशिरोऽक्षिश्रवणरोगी सततम् अभ्रकू-जाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते।
(सुनि. २.१०–१५)

अर्शसां परमः उपद्रवः उदावर्तः दुर्नाम्नामित्यु-दावर्तः परमोऽयमुपद्रवः।" (असंनि. ७)

अर्शोऽरिष्टानि–

"तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रसृतशोणितम्।
शोफातीसारसंयुक्तमर्शोन्याधिर्विनाशयेत्।"
(सुसू. ३३.१०)

साध्यासाध्यत्वम्–बाह्यवलिजातानि, अचिरोत्पति-तानि अर्शांसि सुखसाध्यानि, द्वितीयवलौ आश्रि-तानि द्वन्द्वजानि परिसंवत्सराणि कृच्छ्रसाध्यानि। त्रिदोषाणि सहजानि च अभ्यन्तरवलौ स्थितानि असाध्यानि। (चचि. १४.२६–३२)

अर्शसां चिकित्सासूत्रम्–

"यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधद्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः॥"
(चचि. १४.२४७)

चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा–भेषजं, क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति। अचिरकालजातान्यल्पदोष-लिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि। भेषजेषु कुटज-भल्लातकौ श्रेष्ठौ। मृदुप्रसृतावगाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण। कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना तनुमू-लान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण। शस्त्रकर्म तु अभुक्तवतः कुर्वीत (सुचि. ६.१३–१९)
(सुसू. ५.१६

अपथ्यम्–

"वेगावरोधस्त्रीपृष्ठ्यानानि उत्कटुकासनम्।
यथास्वं दोषलं चान्नम् अर्शस्सु परिवर्जयेत्॥"
(सुचि. ६.२२)

अन्यानि अर्शांसि–

कर्णजम् अर्शः, कर्णरोग०, कर्णस्थानाश्रितम्

संप्राप्तिः–प्रकुपिता दोषा ऊर्ध्वमागताः कर्णेऽर्शांसि जनयन्ति। लक्षणानि-कर्णबाधिर्यं, शूलं, पूति-कर्णता च (सुनि. २.१७)

घ्राणजम् अर्शः, नासागतरोग०, संप्राप्तिः–प्रकुपिता दोषा ऊर्ध्वमागता घ्राणयोः मांसशोणिते प्रदूष्य अर्शांसि जनयन्ति।

लक्षणानि-अतिमात्रप्रतिश्यायः, क्षवथुः, कृच्छ्रो-च्छ्वासता, पूतिनस्यं, सानुनासिकवाक्यत्वं, शिरो-दुःखं च भवति (सुनि. २.१७)

त्वक्स्थम् अर्शः–त्वग्गतरोग०, चर्मकीलपर्यायः व्यानो वायुः कफं गृहीत्वा त्वचो बहिः कीलो-पमं स्थिरखरमर्शः करोति (मा. सुनि. २.१८)

नाभिजम् अर्शः-नाभिरोग०, लक्षणम्-"गंडूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च" । (सुनि. २.१७)

नेत्रजम् अर्शः-नेत्ररोग०, प्रकुपिता दोषा ऊर्ध्वमागता मांसशोणिते प्रदूष्य नेत्रयोरर्शांसि जनयन्ति । लक्षणानि-वर्त्मावरोधः नेत्रवेदना, नेत्रस्रावः, दर्शननाशश्चापि (सुनि. २.१७)

मेढ्रजं योनिजं च अर्शः-प्रकुपितास्तु दोषाः मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति । ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते । तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते, कूर्चकिनोऽभ्यन्तरम् उपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्ति, उपद्रवन्ति च पुंस्त्वम् । योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणः छत्राकारान् करीरान् जनयन्ति ते तु योनिमुपद्रवन्ति आर्तवं च । (सुनि. २.१७)

वक्त्रजम् अर्शः-

लक्षणानि-कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिन् स्थाने उत्पन्नेष्वर्शस्सु गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं, मुखरोगाश्च भवन्ति (सुनि. २.१७)

(अर्शः) कुठार-क., पु., सिद्धयोग० अर्शोघ्नश्चायम् (र. १५.९ र. १५.६९)

अर्शोग्रन्थि-पु. रोग० अर्शोऽनुग्रथितवर्चस्त्वम् (चचि. १५.१०२)

-घ्न-पु., वनस्पति०, कन्द०, सूरणः (ध. परि. ४.६)

योग० शूलार्शोहरः (र. १५.३०)

वि., कषाय० अर्शोहरो महाकषायः; पञ्चशन्महाकषायेष्वेकः (चसू. ४.८)

-घ्नवटक-पु., सिद्धयोग० अर्शोनाशनः अग्निदीप्तिकरश्च (र. १५.२५)

-भगन्दर-पु., रोग० भगन्दरभेदः (असंउ. ३३)

तत्स्वरूपम्-कफपित्ते पूर्वोत्थमर्शः आश्रित्य कुप्यतः अर्शोमूले कण्डू-दाहादिमान् शोफो भवेत् सः पक्वभिन्नः सन् अर्शसः मूलं क्लेदयन् गतिभिरजस्रं स्रवति (असंउ. ३३)

-यन्त्र-न., नाडीयन्त्रम् (सुसू. ७.१३)

यन्त्राकृतिः-तत्र यन्त्रं लोहं, दान्तं, शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं पुंसां षडङ्गुलपरिणाहं नारीणां तलायतम् (सुचि. ६.११)

तत् त्रिविधम् (असंसू. ३४)

द्विपार्श्वच्छिद्रं एकपार्श्वच्छिद्रं छिद्ररहितं च (इन्दु) छिद्रं त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरविस्तारम् । यदङ्गुलमवशिष्टं तस्याधोऽर्धाङ्गुलमुपरि तथार्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकम् । द्विच्छिद्रं दर्शनार्थम् एकच्छिद्रं शस्त्रक्षाराग्निकर्मणि, एकच्छिद्रेणैतेषामतिक्रमो न भवति तृतीयं छिद्ररहितं शम्याख्यं अर्शःपीडनार्थम् ॥ (असंसू. ३४)

-वर्त्मन्-न., नेत्ररोग० अयं नेत्रवर्त्मनि पिडकारूपो भवति । ताः पिडकाः ग्रीष्मकर्कटीबीजनिभाः मन्दवेदनाः सूक्ष्माः खराः भवन्ति (सुसू. ३.१३) तत्स्वरूपम्-अन्तर्वर्त्म रक्तेन स्तब्धं स्निग्धं रक्तं सदाहरुक् स्रावि अधिमांसं जायते, विच्छिन्नं च विवर्धते, (असंउ. १२); साध्यः अयं व्याधिः, (सुउ. १.४१); अस्य चिकित्सा शुष्कार्शोवत् कार्या (सुउ. १५.२९.)

अर्शस्-वि., अर्शोरोगयुक्तो (चसि. २.१८) अर्शोरोगी, (सुचि. ३२.१९)

अर्हत्-पु., बुद्धः (अहसू. १८.१८.)

अर्हि-स्त्री., यन्त्र० यस्योपरि लोहादिकं संस्थाप्य घनेन संकुट्यते (र. ७.५); 'ऐरण' इति लोके।

अल-न., खनिजधातुविष०, हरितालम् (चचि. १७.७८)

वृश्चिकलाङ्गूलम् (सु. क. ३.५)

-गर्द-पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ [१])

-(गर्दा)-स्त्री., जलूका० सविषजलौकानामन्यतमा सा रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी च (सुसू. १३.११.)

-विष-न., विष० वृश्चिककण्टकविषम्, अल-आर-शब्देनात्र वृश्चिक-लाङ्गूलस्थितः ज्ञेयः, (सुक. ३.५)

-विषा-स्त्री., लूता० इयमुद्भिदा वायुरोगदा च भवति (असंउ. ४४); दंशलक्षणानि-दंशस्थाने पीतलोहितमण्डलाः पिटकाः सर्षपप्रमाणा भवन्ति तालुशोषज्वररुजाच्छर्दिदाहशिरःकम्पाः भवन्ति (असंउ. ४५)

अलक-न., हरितालम्, तालम् (र. २१.१३९)

अलका-स्त्री., नगर० यक्षनगरी (असंउ. ५)

अलकाधिपति-पु., कुबेरः (सुक. ७.६१)

अलक्त-न., वनस्पति०, कुसुम्भम् (ध. ६.११८)

-रस-पु.. अलक्तस्य रसः (चचि. १७.१३२)

अलक्तक–पु., न., भैषज्य० लाक्षा० (ध. ३.८२)
कर्पटः वस्त्रम् (सुसू. १२.९)
आर्द्रालक्तकः, आर्द्रकर्पटः

अलक्तकरस–क्षौद्रेण श्रेष्ठः रक्तवान्तिहरः (र. १४.२७)

अलक्ष्मी–स्त्री., तेजोहीनता, कान्तिहीनता, मालिन्यम् (चसू. ५.९५)

अलङ्करण–न., भूषाकरणम् (चनि. ७.७ [१])

अलजी–स्त्री., क्षुद्ररोग०, यवाकारा मांसाश्रिता घना अवक्त्रा कफवाताभ्यां जायमाना पिडका (असंउ. ३६)
'अन्धालजी' नाम्ना सुश्रुते 'अन्त्रालजी' नाम्ना माधवनिदानेऽस्या निर्देशः (सुनि. १३.६)
प्रमेहपिडका (चनि. ४.४८)
एषा स्फोटवती दारुणा ताम्रा सशूला परिस्रुताग्रा बहिर्मार्गाश्रिता पिटका रक्तोल्बणा साध्या अल्पमेदस्कप्रमेहपीडितेषु जायते (सुनि. ६.१८, चचि. १२.८८) (चसू. १७.१०६, चसू. ११.४९)
विना प्रमेहमपि एषा दुष्टमेदसो जायते (चसू. १७.१०४)
यथा बालानां तेषु एषा बहूपद्रवा आशुपाका विसर्पवती च भवति (काचि. द्वित्रणीय)
भेद्यपिडकेयम् (सुसू. २५.६)
शूकदोष० दुष्टशूकावचारणात् लिङ्गे जायमाना प्रमेहपिडकालजीलक्षणैर्युक्ता (सुनि. १४.७) 'प्रमेहदोषजा अधःकाये विशेषेण शूकदोषजा लिङ्गे' गयदासः ।
नेत्रसंधिगतरोग०, (सुउ. २.३)
ताम्रतादाहशूलतोदाश्रुसंकुलतादिपर्वणीलिङ्गैरुपेता इयं पिडका शुक्लकृष्णसंधौ भवति । (सुउ. २.८)
पर्वण्यलज्योः स्थानलक्षणयोरैक्येऽपि तनुत्वस्थूलताभ्यां भेदः, तन्वी पर्वणी स्थूला पुनरलजी, असाध्यश्च (सुउ. १.३९)
नेत्रवर्त्मगतरोग०, कनीनिके वर्त्मनोर्बहिर्भागे पक्वो रक्तपूयस्रावी ग्रन्थिरयम् स्रुतः सन् मुहुर्मुहुराध्मायते (अहउ. ८.२३) भेद्योऽयं रोगः (अहउ. ८.२७)

अलम्बुषा–स्त्री., वनस्पति०, लज्जालुकाभेदः (असंचि. १०)
महाश्रावणी, महामुण्डीका, (असंचि. १०)
'गोरखमुण्डी' इति लोके ।

अलर्क–पु., रोग० सारमेयदष्टस्य ज्वररोगः "अलर्कः कुक्कुरेषु" (असंउ. ४६.१)
उन्मत्तकुक्कुरः उन्मत्तशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादयो वा, (सुक.७.६२) तल्लक्षणम्–घ्रुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञावहाः सिराः श्रिताः संज्ञां मुष्णन्तः तस्य धातूनामतिदारुणं क्षोभं कुर्वते । तेन स सारमेयो लालावान् अन्धो बधिरः नताननः स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धश्च सन् सर्वतोऽभिधावति । (असंउ. ४६) (सुक. ७.४३–४५)
वनस्पति०, अर्कः, (ध. ४.१६)
श्वेतार्कः, मन्दारः (चसि. १०.२३) राजार्कः (ध. ४.१६)
–जुष्ट–वि., उन्मत्तकुक्कुरादिना दष्टः (सुक. ७.६१)
–विष–रोग, उन्मत्तकुक्कुरदंष्ट्राविषम्, (सुक. ७.५८), लक्षणम्–एतेन हृद्रोगः शिरोरोगो ज्वरः स्तम्भतृष्णामूर्च्छाश्च भवन्ति । सुप्तः कृष्णमसृक् क्षरति (असंउ. ४६)
असाध्यलक्षणम्–यस्य कुक्कुरदष्टस्य विषं स्वयं कुप्येत्, स न जीवति । (सुक. ७.५८),
येन दष्टः तच्चेष्टारुतं कुर्वन्नादर्शसलिलादिषु तमेव चाकस्मात् पश्यन् विनश्यति । (असंउ. ४६)
उपद्रवः–अलर्कविषे भूतानुबन्धो भवति (सुक. ७.५९) चिकित्सा–दंशस्थाने उष्णसर्पिषा दाहः । अगदैश्च प्रदेहः । पुराणघृतपानं देयम् (असंउ. ४६)
भूतानुबन्धनाशार्थं दैवव्यपाश्रयचिकित्सा कार्या । (सुक. ७.५९)

अलवणा–स्त्री., ज्योतिष्मती (सुसू. ३८.१६)

अलस–वि., निश्चलः, गतिहीनः, (अहसू. ८.११)
पु., क्षुद्ररोग०, अस्मिन् दुष्टकर्दमसंस्पर्शात् शोणितकफदोषाच्चाङ्गुल्यः व्रणकण्डूक्लेदान्वितान्तराः भवन्ति (सुनि. १३.३२ असंउ.३६)

अलसकः–अजीर्णजन्यरोग०, (अहसू. ८.१२)
लाघर–लाघरव–लाघरको ज्वरांगमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो कुम्भकामलानामा पाण्डुरोगभेदः, (सुउ. ४४.६-१२)
हलीमकः, पाण्डुरोगभेदः, (असंनि. १३)
अलासः, जिह्वागतरोग०, (असंउ. २५)
मूषिक०, (सुक. ७.४), तद्दष्टलक्षणम्–दंशे रुजा ज्वरः ऊर्ध्ववायुर्ग्रीवास्तम्भश्च (सुक. ७.१८)

अलसक–वि., मन्दगतिः (चवि. २१.३८)

पु., अजीर्णरोग०, निरुक्तिः–

"प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते ।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः"

(असंसू. ११)

लक्षणम्–आमदुष्टिजन्यश्छर्द्यतीसाररहितोऽन्तर्मार्गजोऽयं व्याधिः । संप्राप्तिः–दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यतिमात्राण्यभिदर्शयति । (चवि. २.११)

शूलादीन्युपजनयत्यतिमात्राणि (असंसू. ११)

कुक्षावानाहः प्रतमनं निरुद्धवायोरितस्ततो धावनमधोवातनिरोधः पुरीषाप्रवृत्तिस्तृष्णावरोध उद्गारावरोधोऽन्त्रकूजनमार्तस्येव दुःखशब्दश्चेत्येतानि लक्षणानि (सुउ. ५६.७–८)

साध्यासाध्यता–नैकदोषोद्भवः कृच्छ्रसाध्यः (सुउ. ५६.३ ड.)

बाल–अलसकलक्षणम्–'शिरो न धारयति यो भिद्यते जृम्भते मुहुः । स्तनं पिबति नात्यर्थं ग्रथितं छर्दयत्यपि ॥ विषादाध्मानारुचिभिर्विद्यादलसकं शिशोः ॥ (कासू. २५.२७–२८)

न., क्षुद्रकुष्ठरोग०, तच्च वातकफाधिकम् (चवि. ७.२९)

कण्डूमद्भिः सरागैर्गण्डैः संयुक्तम् (चवि. ७.२३)

अलसल–न., निश्चलता (असंसू. ११)

अलसान्द्र–पु., शिम्बिधान्य० राजमाषः चवलः (हेमा) 'चवळी' इति लोके; गुणाः–कषायरसप्रभावान्नपुरीषभेदी न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता रसे पाके च मधुरः सन्तर्पणः स्तन्यकरो रुचिप्रदश्च (सुसू. ४६.४५)

अलसीभूत–वि., स्त्यानो विष्टब्धः (चवि. २.१३)

अलाघव–न., रोगलक्षण० गौरवम्, लाघवस्याभावः (चसू. १४.२०)

अलातवर्ण–अलातस्तप्ताङ्गारः तस्य वर्णो यस्मिंस्तत् (चइ. ३.६)

अलाबु (बू) –स्त्री., न., वल्लीफलशाक० (चसू. २७.११२)

दीर्घवर्तुलादिभेदादनेकविधा (सुसू. ४६.२.१५)

गुणाः–मधुराऽतिशीतला रूक्षा गुर्वी भिन्नविट्का च ।

न., पु., नाडीयन्त्रम् (सुसू. ७.१३)

यन्त्रार्थे अलाबु कटुकं प्रयोजयेत् (सुसू. १३.७)

अवगाढत्वचि स्थितसुप्तकफदुष्टशोणितनिर्हरणार्थम इदं यन्त्रमुपयुज्यते (सुशा. ९.२५.२६) (अहसू. २६. ५४ सुसू. १३.४)

यन्त्रस्वरूपम्–द्वादशाङ्गुलदीर्घोऽष्टादशांगुलपरिणाहस्त्रिचतुरङ्गुलवृत्तसमुच्छ्रितमुखः (असंसू. ३४)

कार्यपद्धतिः–परिवेष्टितप्रदीप्तकुशजपिचुगर्भश्च प्रयोज्यः । (असंसू. ३४)

सान्तर्दीपया मध्यदीपसहितया अलाब्वा शोणितावसेचनं कार्यम् । (सुसू. १३.८)

–शकल–न., तुम्बीफलकर्परिका, व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. १८.१६)

अलाम्बु–स्त्री., क्षीरतुम्बी (रा. १.२३९)

अलास (अलस)–पु., जिह्वागतरोग०, (सुनि. १६.३८)

अयं जिह्वायास्तलेऽधोभागे प्रगाढशोफः कफपित्तरक्ताज्जिह्वास्तम्भकर उन्नतः पक्वो मांसशातनो मत्स्यगन्धिर्भवेत् (अहउ. २१.३३)

त्रिदोषजोऽयमसाध्यः (सुनि. १६.३८ ड.)

चिकित्सासूत्रम्–नवोत्थिते तीक्ष्णाः प्रतिसारणा देयाः सिरावेधनं च, न चात्र शस्त्रमवचारयेत् । (असंउ. २६)

अलि–पु., कीट०, वृश्चिकः (असंउ. ४२)

वनस्पति०, भृङ्गराजः (र. २९.४४)

स्त्री., वृश्चिकाली (र. २९.४४)

अमरवल्ली–(र. २१.३३)

–कुलसंकुल–पु., वनस्पति०, कुब्जकः (रा.१०.२४८)

–दूर्वा–स्त्री., तृण०, मालादूर्वा० द्रष्टव्या 'दूर्वा' (रा. ८.२३२)

–नीलकेश–वि., भृङ्गवर्णवन्नीलकेशः श्लेष्मप्रकृतिलिङ्गम्–(सुशा. ४.७३)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० (रापरि. ५.४०)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति०, वृश्चिकाली (रापरि. ९.७)

–मोहनी–स्त्री., वनस्पति०, केविका (रापरि.१०.३३)

–स्कन्ध–पु., वनस्पति०, कुलित्थः (ध. ६.१०५)

अलिका–स्त्री., वनस्पति०, भृङ्गराजः (र. २.६८)

अलिङ्ग–वि., यस्य लिङ्गं न विद्यते सः (सुशा. १.९)
अलिञ्जर–पु., बहुजलधरपात्रम् (असंचि. ९.)
अलोचन–वि., निर्जालका (कुटिः) (चसू. १४.५२)
अलोड्य–वि., अक्षोभ्यम् (अक्षरम्) (चशा. ३.८)
अल्प–वि., यथोचितप्रमाणहीनम् (सुचि.३६.११)
–कायत्व–न., शरीरस्य अल्पप्रमाणत्वम् (सुसू. ४५.५६)
–क्षीरा–वि., अल्पं क्षीरं यस्याः सा (काश्यपसू. लेह्याध्याय)
–दोषेन्धन–वि., अल्पं दोषस्वरूपमिन्धनं यस्य सः (सुउ. ३९.६५)
–निद्रता–स्त्री., रोगलक्षण० निद्राल्पत्वम् (अहसू. ११.७)
–पत्रिका–स्त्री., अपामार्गभेदः क्षुद्रापामार्गः (रा. ४.३९)
–प्राण–वि., कायवाङ्मानसीषु क्रियास्वल्पशक्तिः अल्पबलः (सुसू. १५.३३)
–प्राणता–स्त्री., लक्षण० मानसबलहानिः मांसापचयः क्रियास्वशक्तिः (चनि. १.३३)
–प्राणत्व–न., लक्षण० अल्पशक्तित्वम् (सुसू. १५.३३)
–बलत्व–न., लक्षण० उत्साहहानिः (सुसू. १५.३३)
–वस्तित्व–न., आयामे बस्तेरल्पत्वम् (सुनि. ३.११)
–मेदस्क–वि., लक्षण० क्षीणमेदस्कः (चचि. १६.६)
–रक्त–वि., लक्षण०, क्षीणरक्तः (चचि.१६.६)
–रेतस्–वि., लक्षण० अल्पशुक्रः क्षीणवीर्यः (सुचि. २६.४) (परिव०) प्रकृत्यैव स्तोकरेताः (सुसू. १.८ [८])
–वह्नि–वि., लक्षण० अल्पाग्निः (अहसू. ८.१०)
–वेगता–स्त्री., लक्षण० मंदगतित्वम् यथा पक्वशोफे (अहसू. २९.५)
–शुक्रता–स्त्री., लक्षण० शुक्रहीनता (सुशा. ६.२४)
–सत्त्व–वि., लक्षण० अल्पमनोबलः (चचि. ९.५) (असंसू. २३)
–साधन–वि., अल्पभेषजः (चवि. ८.११८)
अल्पाभिष्यन्दिन्–वि., गुण० दोषधातुमलस्रोतसां मंदक्लेदप्राप्तिजनकम् (सुसू. ४५.५०)
अल्पायुस्–वि., अदीर्घायुः (सुसू. ३५.४)
लक्षणानि–पर्वाणि ह्रस्वानि मेहनं सुमहद् उरसि अनुलोमप्रतिलोमावर्तं–मनायतं पृष्ठं श्रवणौ स्थानात् ऊर्ध्वौ नासिका उच्चा, हसतो जल्पतो च दन्तमांसप्रदर्शनं भ्रान्तवद्दर्शनं पञ्चविंशतिवर्षाणि जीवति (सुसू. ३५.४ ९–११).
अल्पक–पु., वनस्पति०, धन्वयासः (रा. ३.२५)
अल्पास्थि–न., परूषकम् (रा. ११.८४)
अल्पीयःखा–वि., लक्षण०, अल्पतरयोनिद्वारा, अल्पतरं खं योनिमुखं यस्याः सा (सुनि. १३.५०) कन्या ह्यनार्तवाऽल्पीयःखा भवति, (मधुकोशः)
अल्लुका–स्त्री., वनस्पति०, धान्यकम् (ध. २.६३)
अवकर–पु., विष्किरपक्षि० (चसू. २७.४९)
अवकाशकर–वि., स्रोतोविकासी (चसू. २६.४३ (३)
अवकुश–पु., पर्णमृग०, गोलाङ्गूलः वानरः (सुसू. ४६.७६ जलजप्राणि० (काखिल. २४.५३)
अवकूलन–(परिव०)न., पाचनम्, अग्नावुष्णीकरणम् (सुउ. ४०.८२)
अवक्रान्ति–स्त्री., अवतरणम्, उत्पत्तिः संप्राप्तिः स्वरूपलाभः (सुशा. ३.१) (चशा. ३.१) (अहशा.) (१.१) (असंशा. २.१)
अवक्षिप्त–न., संधिमुक्तप्रकारः, सन्धिविश्लेषस्त्रीत्रा च रुक् (असंउ. ३२) (सुनि. १५.७)
अवक्षिप्त–त्व–न., तिर्यक्क्षिप्तत्वम् (सुसू. ३२.४)
अवक्षुत–न., छिक्का (चइ. १२.२६.)
अवक्षोदन–(परिव०) न., सुष्ठु चूर्णीकरणम् (सुचि. ४.२८)
अवगाढ–वि., अभ्यन्तराश्रयम् (सुशा. ८.२६) गम्भीरम् (सुचि. १. १३१.) अभ्यन्तरमूलम् (सुनि. १०.६)
–दोष–वि., रोगलक्षण० अभ्यन्तरपूयम् (सुसू. १७.१४)
–पद–अ., बहुप्रविष्टशस्त्रपदम् (असंउ. २८)
अवगाह –पु., चिरं जलावस्थानम् (चसू. ६.४७) स्नानम् (चसू. १.११२) द्रवपूर्णभाजने निमज्जनम् (सुउ. ३९.२७४) द्रवस्वेदप्रकारः, अवगाहस्वेदः (असंसू. २६) यथा क्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठावगाहः (चसू. १४.४५)
–स्वेद–पु., उपक्रम० अवगाहनेन स्वेदः (अहसू. १७.११)

अवगाहन–न., मज्जनम् (सुचि. २४.३३)
उपक्रम० तैलघृतपयःक्वाथपूरितद्रोण्यां शरीरावयवस्य मज्जनम् (चचि. २८.१०९)
अवगुण्ठन–न., उपक्रम०, अक्ष्णश्चूर्णवस्त्रादिभिराच्छादनम् (असंउ. १९)
अवगुत्थ–न., शाक० वेगनामा, काकादनीत्यर्थः (सुसू. ४६.२२१)
अवघट्टन–न., ताडनम् (सुशा. ८.१९)
अवघातक–पु., आरग्वधः (चक. ८.३)
अवचारण–(परिव०) न., योजना, उपयोगः (सुचि. २९.१२)
अवचूर्णन–न., चूर्णस्य विकिरणम् (चचि. ७.१०४)
व्रणोपक्रमः (सुचि. १.८)
व्रणोपरि चूर्णप्रक्षेपः (सुचि. २१.३)
स च शोधनरोपणभेदेन द्विविधः (सुचि. १.७४) (सुसू. ३८.१९, २७–२८)
अवचेष्टित–न., कर्म० उत्थानचङ्क्रमणादि (सुउ. ३९.१६३)
अवच्छादन–न., लेपनमुद्वर्तनं वा (चचि. २३.१७४)
अवजृम्भण–न., रोगलक्षण०, आकुञ्चनं प्रसारणं वा (चशा. ८.२७)
गात्रप्रसारणम् (चक्रः) (परिव०) (चशा.८.३८)
अवट–पु., गर्तः (सुउ. २९.८)
अवटु–पु., शारीर०, ग्रीवायाः पश्चिमो भागः (सुउ. ६.२७)
कृकाटिकाभागसन्धौ गर्तः (सुचि.३ .३८)
पु., गर्तः (सुसू. ३५.१२)
अवडीन–न., पक्षिणोऽवक्षेपणम् (काइ. १९)
अवतत–वि., व्याप्तम् (सुउ. ५७.३)
अवतरण–न., प्रवेशः (सुचि. २४.९१)
अवतारगवेषिन्–वि., छिद्रान्वेषी (असंउ. ७)
अवदंश–पु., पानरुचिजननार्थं यद् व्यञ्जनं भक्ष्यते तत् (चचि. २४.१८)
–क्षम–वि., रुचिजनने समर्थः (चसू. २७.१४५)
शिग्रुः पु., (ध. ४.३९)
अवदरण–न., रोगलक्षण०, विदरणम् (सुनि. ६.१३)
अवदात–पु., गौरः (चशा. ८.९)
–वर्ण–वि. गौरवर्णः, पीतवर्णः (चशा. ८.१५)
अवदानवचन–न., प्रशस्तवचनम् (कासू. २८.५)
अवद्य–वि., निन्द्यम् (असंनि. ६)
अवधूनन–न., उत्क्षिप्य चालनम् (सुचि. ३६.१३)
अवनतशिरस्क–वि., अवनतं शिरो यस्मिँस्तत् (चशा. ८.२४)
अवनद्ध–वि., वेष्टितम् (चचि. १.७५)
अवनाम–पु., अवनमनम् (असंशा. ८)
अवनामित–वि., अधोगतम् (सुचि. ३.१६)
अवनिप्रदेश–पु., भूमिप्रदेशः (सुचि. ४.२९)
अवनी–स्त्री., वनस्पति०, त्रायमाणा (रा. ५.३७९)
अवनुन्नत्व–न., प्रेरितत्वम् (चनि. १.२१)
अवन्ति–स्त्री., मालवप्रदेशः, मालवाः (अहसू. ५.११)
–सोम– न., काञ्जिकम् (चचि. १९.२६)
अवन्ध्य–वि., सफलम् (अहशा. १.२८)
अवन्ध्या–स्त्री., कर्कोटकी (ध. १.१८७)
अवपतित–वि., (परिव०) ग्राम्यम् (चवि. ८.३)
अवपाटन–न., शस्त्रकर्म० (रं. २५.१२)
विदारणम् (सुनि. १३.५०)
अवपाटिका–स्त्री., क्षुद्ररोग० मेढ्रचर्मावपाटनजन्यविकारः लक्षणम्–यदा नरोऽल्पीयःखां कन्यां स्त्रियं वा हर्षाद्बलाद्वा गच्छेत् हस्ताभिघाताद्वा बलेन चर्मोद्वर्तयति तदाऽस्य मेढ्रचर्मावपाट्यते । इयमेवावपाटिका (सुनि., १३.५०–५२)
अवपाटित–वि., एकदेशोत्पाटितम् (चनि. १.२१)
अवपीड–पु., उपक्रम० (चसू. २४.४६)
अवपीड्य दीयत इति (सुउ. २३.४)
नासया प्रणीयमानः कल्कोऽवपीडसंज्ञः (असंसू. २९)
स द्विविधः–शोधनस्तम्भनश्च 'स्यादवपीडो द्विधा मतः' शिरोविरेचनार्थं शोधनप्रकारः (चसि. ९.९०)
घ्राणप्रवृत्ते रुधिरे स्तम्भनः (चचि. ४.९७)
उन्मादे उपक्रम० (चनि.७.८)
कृमिदन्तरोगे हितकरः श्लेष्माभिष्यन्देऽपि उपयुक्तः (सुउ. ११.३)
संज्ञाप्रबोधनार्थं विविधरोगेषूपयोगः–
" विषाभिघातसंन्यासमूर्च्छामोहापतन्त्रके ।
मदापस्मारकामार्तिचिन्ताक्रोधभयादिषु ॥
मानसेषु च रोगेषु मूढव्याकुलचेतसाम् ।
संज्ञाप्रबोधहेत्वर्थमवपीडं प्रयोजयेत् " ॥
(सुचि. (ड. विदेह.) ४०.४४, ४५)
अपतानकविकारे सद्यःसंज्ञाप्रबोधनार्थं तीक्ष्णोऽवपीडः (नस्यं) दीयते (सुचि. ५.५.१८)
स च तीक्ष्णैः शुण्ठ्यादिभिः कल्ककाथरसादिभिः

कृतोऽवतिष्ठते यस्याष्टौ बिन्दव उत्तमा मात्रा, षण्मध्यमा, चत्वारः कनिष्ठा (अहसू. २०.७)

अवपीडक–न., स्नेहयोजना (चसू. ७.७)
तस्य योजनाद्वयं यथा–'मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्। जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्'। (अहसू. ४.६, ७)

अवबद्ध–वि., विशेषेणाऽसक्तम् (सुसू. २७.३)
शल्यप्रकारः–

अवबद्धदोष–वि., अतिबद्धदोषम् (८.१२७)

अव (प) बाहुक–पु., वातरोग, सम्प्राप्तिर्लक्षणं च–अंसदेशस्थितो वायुरंसबन्धनं सिराश्चाकुञ्चयावबाहुकं जनयेत् (सुनि. १.८२)
अस्यैकः प्रकारः कफवातनिमित्तजः (मधुकोशः)
अन्यो धातुक्षयनिमित्तजवातकोपजनितः (सुचि. ५.२३)
चिकित्सासूत्रम्–धातुक्षयनिमित्तजे सिराव्यधो निषिद्धः (सुचि. ५.२३)
अत्र बृंहणं नस्यं हितम् (अहसू. २०.४)

अवभञ्जन–न., वेदना० संचूर्णनवद् वेदना (सुसू. २२.११)

अवभासिनी–स्त्री., शरीर० सप्तत्वक्षु प्रथमा, सर्ववर्णान् अवभासयति, पञ्चविधां छायां च प्रकाशयति व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना (सुशा. ४.४)
चरके 'उदकधरा' अष्टांगसंग्रहे 'भासिनी' नाम्ना निर्दिष्टा (चशा. ७.४) (असंशा. ५)

अवमन्थ–क–पु., शूकदोषनिमित्तरोग० (सुनि. १४.८)
ग्रथितशोफवान् गुह्यस्थानगतः कफवातासृग्भिर्जायते (सुनि. १४.८)
संप्राप्तिर्लक्षणं च–गुह्यस्थाने बहवो दीर्घा मध्यतो दीर्यमाणा वेदनारोमहर्षवत्यः पिटिका भवन्ति (असंउ. ३८)
'अधिमन्थ' इति माधवे, भेद्यरोगोऽयम् (सुसू. २५.६)
कर्णव्यधे उपद्रव०, कर्णपाल्या असम्यग्व्यधेन जायमान उपद्रवः, कण्डूकरोऽयम् (सुसू. १६.२६ [७])

अवमन्थन–न., (परिव०) रक्तस्रावणोपक्रम०, उत्कृत्य चालनम्, आरया चर्मकारशस्त्रेणावमथ्य रक्तं स्रावयेदित्यर्थः (सुचि. ३.२३)

अवमर्शन–न., घर्षणम्; स्पर्शनम् (सुक. ८.३९)

अवमानित–वि., उपेक्षितम् (सुशा.२.५१)

अवमार्जन–न., मार्जनम्, यथा विषस्य प्रतिलोमेन मार्जनं मन्त्रैरेव कार्यमिति (चचि. ३३.६१)

अवमूत्रित–न., मूत्रविषैर्जन्तुभिर्मूत्रितम् (चसू. २६.४३ [२])

अवम्य–वि., वमनायोग्यः (चसि. २,८)

अवयव–पु., शरीरस्य अङ्गम् (सुसू. १४.३) तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति (सुसू. ३५.१२) (चवि. ८.११७; चसू. २७.३३४)
परमाणुरूपाऽवयवांशाः (चशा. ७.१७)
घटकात्मकद्रव्यम्। (चवि. १.१०)

–प्रभाव–पु., अवयवात्मकद्रव्यस्य गुणविशेषः (चवि. १.१०)

–सदन–न., रोगलक्षण० गात्रसादः (असंसू. २०)

–समुत्थ–वि., एकदेशोत्थितः (सुचि., २३.३)

अवयवावसाद–पु., रोगलक्षण० अवयवस्य स्वकर्मण्यसामर्थ्यम् (सुसू. २५.३६–३७)

अवर–वि., कनिष्ठम् (चसि., १.१२)
निकृष्टम् (असंसू. १०)

–काल–पु., हीनकालः अयोगकालः (चचि. १९.५)

–सत्त्व–वि., हीनसत्त्व (चवि. ८.११९.)

अवरान्न–न., वैदलाऽन्नं माषादि (सुसू. ४६.४९)

अवरुद्ध–वि., संग्रहीतम् (सुसू. २२.८)

अवरोध–पु., संग्रहः (सुसू. २४.४) समावेशः (सुसू. ४.६) अन्तर्भावः, संकलनम् (चचि. १३.३८)
स्कन्धदेशः (सुसू. २९.१०)

–रत–वि., परिजनावृतः अन्तःपुरस्थो वा (सुशा. १०.५०)

अवरोधन–न., निग्रहः, नियमनम् (चनि. ७.८)

अवरोहिन्–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११३)

अवलम्बक–पु., कफदोष०, अवलम्बनादवलम्बकः कफः (असंसू २०)

अवलम्बन–न., अवलम्बककफस्य स्थैर्यबलदानधारणादि कर्म (अहसू. १२.१६)

अवलम्बिन्–वि., लम्बनशीलः (सुनि. १६.६२)

अवलिका–स्त्री., वनस्पति०, धान्यकम् (रा. ६.९७)

अवलेखन–न., शस्त्रकर्म० घर्षणेनोन्नतभागस्य निम्नताकरणम् (सुचि.९.१०)
कङ्कतिकादिना केशप्रसाधनम् (सुक. १.२५)

अवलेपन–न., लेपनम् (सुचि. ४.३०)
अवलेहिका–स्त्री., लेह्यमौषधम् (सुसू. ४६.४१२)
अवल्गुज–पु., वनस्पति०, बाकुची (चसू. २७.३३) (ध. १.१६५)
(अवल्गुजा) स्त्री., अवल्गुजः (चसू. २७.३३) (ध. १. १६५)
–**फल**–न., बाकुचीबीजम्, एतत्कफवातप्रणुत् (सुसू. ४२.११) (असंसू. १२.९१)
–**रसायन**–न., बाकुचीरसायनम् (सुचि. २८.३)
अवशातन–न., मांसस्य शटितत्वाद्गलनम् (सुक. ४.३७)
अवश्यकार्य–वि., अवश्यं करणीयम् (मूत्रोत्सर्गादिकम्) (अहसू. ३.९)
अवश्यंभाविन्–वि., यन्निश्चयेन भवति (असंनि. १.४)
अवश्याय–पु., हिमम् (चसि. ९.७४) मेघं विना सूक्ष्मजलनिपातः (सुउ. ६४.११)
अवष्टब्ध–वि., कृतावष्टम्भः धारितः (असंनि. ५)
अवष्टम्भ–पु., धारणम्, देहधारणशक्तिः (अहसू. ११.५) धैर्यम् (चशा. ५.१२)
–**कर**–वि., आधारदायकम्, अवलम्बनप्रदम् (चसू. २४.७८०)
अवष्टम्भन–वि., बलप्रदम् (चसू. ५.१०२)
अवसन्न–वि., अवसादहेतोः अन्तःप्रविष्टम् (सुउ. १९.६)
–**वर्त्मन्**–वि., अवसन्नानि प्रान्तभूतानि वर्त्मानि यस्य सः (चचि. २५.२४)
अवसर्पण–न., ह्रासः (काशा. पृ. ४४)
अवसर्पिणी– स्त्री., अशुभः कालः, अवनतिकालः (काशा. पृ. ४४)
अवसाद–पु., चित्तदेहयोर्ग्लानिः (सुसू.१५.१३)
अवसादक–पु., ग्लानिः मनोऽवसादः (चसू. १६.१४)
अवसादन–न., रोगलक्षण० अप्रवृत्तिः वैकल्यं, ग्लानिः (सुसू. ३२.३, सुचि. ३७.९१)
व्रणोपक्रमः, उन्नतव्रणस्य उत्सन्नमांसस्य वा निम्नत्वकरणम् (सुचि. १.८., चचि. २५.४२)
–**गण**–पु., अवसादनार्थे प्रयुक्तानां द्रव्याणां वर्गः (सुउ. १२.१५)
कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला ।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ।
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ।
(सुसू. ३७. ३१)
अवसादनी–स्त्री., वनस्पति०, शिंशपा (ध. ५.१२१)
अवसादिन्–वि., भूमौ पतितं लीनं भवति (चचि. १९.५)
अवसान–न., विनाशः (चवि. ३.३८)
अवसेक–पु., परिषेकः (सुउ. ४७.३६) क्षरणम् (सुचि. ३६.७)
अवसेचन–न., विस्रावणम् (असंसू. ३६०) व्रणोपक्रमवर्गः, अवसेचनशब्दोऽत्र वमनविरेकशोणितविस्रावणाद्यन्तर्बहिःप्रमार्जने वर्तते, न तु केवल एव विस्रावणे (सुसू. १७.१७)
अवस्तीर्ण–वि., आच्छादितम् (सुउ. ५०.९)
अवस्था–स्त्री., कालविभागः दशा (चवि. ८.१३२) (सुसू. ३५.३०) (सुउ. ४७.११)
अवस्थान–न., स्थैर्यम् स्थिरमतित्वम् (चवि. ४.१०) (परिव०) अन्तर्भावः (सुचि. २.९७.)
अवस्थान्तरबाहुल्य–न., अवस्थाविशेषाणां प्राचुर्यम् (सुसू. २०.१०)
अवस्थित–वि., अल्पस्थानाश्रितम् (सुचि. ४.११)
–**सत्त्व**–वि., स्थिरसत्त्वम् (चवि. ८.१२४)
अवस्रंसमान–वि., अधःपतमानः (सुनि. ८.३)
अवस्रस्तत्व– न., स्थानादधःप्रलम्बनम् (सुसू. ३२.४)
अवाक्पुष्पी–स्त्री., वनस्पति०, शतपुष्पा (ध. २.१) मिश्रेया (रा. ४.५) अपामार्गः (चचि. ७.११४) अधःपुष्पी (चचि. २९.६२)
अवाक्शिरस्–वि., नतमस्तकः (चवि. ८.१३) निम्नशिराः (चशा. ६.२४)
अवाक्शिरसीय–पु., अध्याय० (चइ. ८.१)
अवाङ्मुख–वि., अधोमुखः (सुचि. ८.२७)
अवाप्ति–(परिव०) स्त्री., प्राप्तिः (सुचि. ३४.४) (चवि. ८,९०)
अवारणीय–वि., न विद्यते वारणं येषां तानधिकृत्य कृतः (सुसू. ३३.१)
अवार्यता–स्त्री., असाध्यता (सुसू. ३३.३)
अवार्यवीर्य–वि., अप्रतिहतवीर्यः (सुक. ५.६३)
अवालुक–पु., वनस्पति०, पानीयालुः (रापरि. ७.३१)
अवि–स्त्री., पशू०, उरभ्रः मेषः अविदुग्धम्–मधुरं, स्निग्धं, गुरु पित्तकफावहं–केवलवातेषु पथ्यम्, वातकासे हितम् (सुसू. ४५.५४–५५) हिक्का–श्वासकरमुष्णम् (चसू. २७. २२३)
' श्लेष्मपित्तजननानां श्रेष्ठम् ' (चसू. २५.४०)
' क्षीराणामहिततमम् ' (चसू. २५.३९)

आविकं दधि—मधुरं मधुरपाकमत्यभिष्यंदि दोषलं कफवातप्रकोपकम् दुर्नामकोपनम्
(सुसू. ४५.७१–७२)
तद्घृतम्—लघुपाकं न च पित्तलम् कफवातघ्नं योनिरोगशोषकंपेषु हितम् (सुसू. ४५.१०१)
अहृद्यानाम् अद्यम् (असंसू. १३)
अविमूत्रम्—तिक्तकटुकं, सक्षारमुष्णं वातघ्नं कास-श्वासप्लीहोदरशोषवर्चोग्रहेषु हितम्
(सुसू. ४५.२२४) आघ्राणेन हिक्काघ्नम् (सुउ. ५०.२२) अविमांसम्—मधुरं शीतं गुरु बृंहणम् (चसू. २७.६२) अतिशीतं, स्निग्धं, त्रिदोषकरमभिष्यंदि (अहसू. ६,६४) औरभ्रं मधुरं शीतं गुरु विष्टम्भि बृंहणम्। आविकं मधुरं मांसं किंचिद्गुरु बलप्रदम् ॥ (रा. १७.४०८)

–प्रिय–पु., वनस्पति०, श्यामाकः (रा. १६.१४०)

–प्रिया–स्त्री., वनस्पति०, श्वेता (रा. ५.४६)

अविकल्पक–वि., न शरीरस्य कृत्रिमतापादिगुणेन भेदकः तथौषधस्य च न प्रमाणोत्कर्षापकर्षभेदकारकः
(चवि. ८.१२८)

अविकारिन्–वि., गुणव्यापत्तौ अपि अल्पविकारं निर्विकारं वा (सुसू. ३४.२३)

अविक्लवकर–वि., अग्लानिकरम्, अहर्षकरं च
(सुसू. ३५.३७)

अविक्लिति– स्त्री., केवलप्रयोगः (चवि. ८.१३६)

अविघात–पु., विघातकराभिघातादिविरहः
(चशा, ६.१२)

अविचेष्टन–न., लक्षण०, निष्क्रियत्वम् (चचि. १८.१७)

अविदग्ध–वि., असंयुक्त (सुउ. ६३.४)

अविधेय–वि., आज्ञापितोऽपि यः यथानिर्देशं कर्म न करोति (चसि. २.६ असंसू. २.२०)

अविपाक–पु., लक्षण०, अजीर्णम् (चसू. १६.१३)

अविपाकता–स्त्री., लक्षण०, अजीर्णावस्था
(सुसू. ४५.१५)

अविभाग–पु., अपृथक्त्वम् (सुशा. ९.३)

अविभ्रम–वि., अग्लानिकरः (चवि. ८.९४)

अविमुक्त–पु., वनस्पति०, अतिमुक्तकः (ध. ५.१५३)

अविवर्ण–वि., ईषद्विविधवर्णम्
यत् वस्त्रादिलग्नं सत् प्रक्षाल्यमानमपि न विवर्णतां याति तत् (सुसू. १४.२२)
ईषद्विवर्णः (सुनि. ११.६)
अविशिष्टवर्णम् (सुउ. २२.१६)

अविशारद–पु., अदृष्टसमः (चवि. ८.२१)

अविशुद्ध–वि., वमनविरेचनाभ्यामविशुद्धदेहः
(सुचि. ३७.९३)

अविशेष–पु., ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्ति-निवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनम् (चशा. ५.१०)

–ग्राहिन्–वि., ज्ञाज्ञद्वन्द्वेषु सामान्यदर्शी
(चशा. ५.१०)

अविशोषित–वि., अलंघितम्, असम्यग् लंघितम्
(का. विशेषकल्प० पृ. २१९)

अविषादकर–वि., शरीरमनसोरग्लानिकरम्
(चवि. ८.९४)

अविसरण–न., अप्रसरणम् (सुनि. १०.१६)

अविसर्गिन्–वि., अविसर्जनशीलः (सुउ. ३९.६९)

अवीनस–पु., नासागतरोग०, तस्य लक्षणानि–सघुर्घुरश्वासः, पीनसाधिकवेदना, अवेरिव नासिका प्रक्लिन्ना सती अविच्छिन्नं पिच्छिलं शीतं पक्वं घनं सिंघाणकं स्रवति, अष्टांगहृदयेऽयं रोगः 'अपीनस' नाम्ना निर्दिष्टः (असंउ. २३)

अवृत्ति–वि., न विद्यते वृत्तिर्जीविका यस्य
(अहसू. २.२२)

अवेक्षण–न., अवेक्षा, परीक्षणम् (चचि. ३०.२९६)

अवेक्ष्यावेक्ष्यकारिन्–वि., समीक्ष्यकारी (चवि. ८.१३)

अव्यक्त–वि., न व्यक्तम्, अदृश्यमूर्तिकम्, सूक्ष्मम्
(सुनि. १.७)
न., प्रकृतिः मूलप्रकृतिः सांख्ये (सुशा. १.३)

–विग्रह–वि., विद्यमानाविद्यमानांगप्रत्यंगः अंगानां च बीजरूपतया स्थितत्वेन सत्त्वम् अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम् (चशा. ४.९)

अव्यथा–स्त्री., वनस्पति० कदली, गुडूची, हरीतकी वा
(चसू. ४.१८ (चक्र०)

अव्यध्य–वि., वेधनायोग्या (सुशा. ७.२२)

अव्यय–वि., निर्विकारः (सुशा. ३.४)
पु., आत्मा (चशा. ४.८)

अव्यवसाय–पु., अनिश्चयः, संशयः (चसू. २५.४०)

अव्यवस्था–स्त्री., अनियमः (असंनि. २.२२)

अव्यवस्थितमति–वि.,अनवस्थितबुद्धिनिश्चयः
(सुशा., ४.६६)

अव्यापक–वि., अव्याप्तिदोषग्रस्तम् (चवि. ८.६७)

अव्यापत्ति–स्त्री., रोगराहित्यम्, आरोग्यम्
(चवि, ८.८९)

अव्यापन्न–वि., प्रकृतिस्थम्, अविकृतम् (सुसू. २१.३)
–ऋतुकृत–वि., कालस्वभावकृतः, पित्तादिचयकृतः (सुसू. २४.७)
अव्याहत-गति–वि., अपरित्यक्तस्वमार्गः, अनवरुद्धमार्गः (चचि. २८.४)
अशक्य–वि., असाध्यम् (चचि. १७.१४९)
–प्रातिलोम्यत्व–न., यस्य प्रातिलोम्यं नाम अनुलोमवैपरीत्येन नयनम् अशक्यं, तत् अशक्यप्रातिलोम्यं, तस्य भावः, यथा उभयमार्गगे रक्तपित्ते वमनम् अपथ्यम् ऊर्ध्वप्रवृत्तत्वात्, विरेचनमपथ्यम् अधःप्रवृत्तत्वात् (असंनि. ३)
अशन–पु., वनस्पति०, बीजकः (सुउ. ४५. ३४)
न., भोजनम्, अन्नम् (सुचि. ३७.५५)
अयुक्ताशनप्रकाराः—समशनं, विषमाशनम्, अध्यशनं, विरुद्धाशनं विरुद्धवीर्याशनं वा, अमात्राशनं, अजीर्णाशनम्, अत्यशनं, प्रमिताशनं, प्रमृताशनम्, अतिरूक्षाशनमित्येवमादयः । एते प्रकारा आमयोत्पत्तौ मूलहेतुभूताः सन्ति, केचित्तु घोरव्याधिजनका मृत्युकारका वा भवन्ति (चचि. १५.२३५; चसू. २५.४०; चसू. २६.१०३; सुसू. ४६.५०८; सुसू. २०.१९; काखि. ५.६०–६२) अपथ्यकराणामेतेषामशनानां विवरणं तत्तत्स्थाने द्रष्टव्यम् ।
–प्रविचार–पु., स्वस्थावस्थानां वयःप्रकृतिसात्म्यासात्म्यरोगादीनवेक्ष्य कृताः शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिका द्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्था द्वादशविधा अशन–प्रविभागाः (सुउ. ६४.५६)
अशनायित–वि., बुभुक्षितः (सुचि. २९.१२)
अशनि–पु., मुशलवदधःपतनशीलो मारणात्मकः पदार्थविशेषः (सुसू. २४.७)
वज्रम् (सुक. ४.३६)
खनिजद्रव्य०, हीरकम् (ध. ६.५५)
अशब्द–पु., शब्दाभावः (चइ. ४.१९)
–श्रवण–न., लक्षण० शब्दाभावेऽपि शब्दश्रवणम् (चचि. ८.६)
रोग० अशीतिवातविकारेषु एकः (चसू. २०.११)
–श्रुति–स्त्री., लक्षण० अशब्दश्रवणम् (असंसू. २०)
अशस्त–वि., अमंगलम् अप्रशस्तम् (असंसू. ३)
–स्वप्नदर्शन–न., अप्रशस्तानाममङ्गलानां वा स्वप्नानां दर्शनम् (चसू. १६.१५)
अशस्त्रकृत्य–वि., शस्त्रकर्मण्ययोग्या (सुशा. ७.२२)
अशाखा–स्त्री., वनस्पति०, शूली (रापरि. ८.६८)
अशित–न., (चसू. २८.३) चतुर्विधान्नस्यैकः प्रकारः (सुशा. ४.१९) भक्तादि (सुसू. ४६.४९४)
भोज्यम् अद्यम् इत्यस्य पर्यायौ (सुसू. १४.३)
पेयलेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्याद्यथोत्तरम् (सुसू.४६.४९४)
विकृतभोजनः (सुसू. ४६.४८२)
–जफल–पु., वनस्पति०, मधुनारिकेरः (रा. ११.११०)
अशिर–न., खनिजद्रव्य०, हीरकम् (ध. ६.५६)
अशुक्लचंदन–न., रक्तचंदनम् (सुउ. ५०.१७)
अशुचिदर्शन–न., अमेध्यवस्तुदर्शनम्, बीभत्सादिदर्शनम् (सुउ. ५७.६)
अशुद्ध–वि., अकृतस्नेहस्वेदवमनविरेचनः (सुचि. ३७.४३)
कलुषितम् (सुचि. २४.११७)
अशुभोदय–वि., मरणकारणम् (चइ. ४.६)
अशोक–पु., वृक्ष० लोहितकुसुमः (सुसू. ३८.१४ (ड)
अयं वसंते पुष्पितो भवति (सुसू. ६.२७.२९)
अस्य त्वक्पुष्पबीजपल्लवादयो भैषज्यार्थमुपयुज्यन्ते । पुष्पमंजनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.८) बीजं कासशमनार्थमुपदिष्टम् (काचि.) वेदनास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)
अशोकगुणाः–मधुरः (रा), तिक्तः कषायश्च (भाप्र.), शीतो, हृद्यः सन्धानीयः, कृमिहारकः (रा.) ग्राही, वर्ण्यः (भाप्र.), पित्तघ्नः, अर्शः कृम्यापचित्रणदाहश्रमगुल्मशूलोदराध्माननाशनः (रा.) तृषाशोषविषास्रजित् (भाप्र.) (ध.५.१५९)
–रोहिणी–स्त्री., वनस्पति०, कटुका. संज्ञास्थापनगणे. (चसू. ४.१८; चक. १.२३)
अशोकसदृशपत्रा लता (चक. १.२३)
अशोचा–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१००)
अशौण्ड–पु,, अमद्यपः, शुण्डा मद्यशाला, तत्प्रचारी शौण्डः, न शौण्डः अशौण्डः, मद्यनिवृत्तः इति (चवि. ८.१३)
अश्मन्–पु., पाषाणः (असंउ. १ पृ. १)
खनिजद्रव्य०, मनःशिला (र. ३०.५६)
स्वर्णमाक्षिकम् (र. ३०.५६)
रोग०, अश्मरी (असंसू. ५.२३)
अनुयन्त्र०, (अहसू. २५.३९)
सुश्रुतेऽष्ठीलाश्मनाश्ना एतदनुयन्त्रं पठितम् (सुसू. ७.१५)

(अश्म)–कदली–स्त्री., वनस्पति०, काष्ठकदली (रा. ११.११०)
–केतु स्त्री., क्षुद्रपाषाणभेदा (रा. ५.२१५)
–गर्दभ–पु., रोग०, पाषाणगर्दभः (र. २५.२)
–गर्भ वि., अश्मा गर्भेऽभ्यन्तरे यस्य तत् मणिविशेषः, मरकतम् (असंसू. २१.४)
–गर्भज न., मणिविशेषः (ध. ६.४९)
–घनस्वेद पु., त्रयोदशस्वेदेष्वेकः (चसू. १४.३९) घनाश्मस्वेदः, अस्य पर्यायः (असंसू. २६) स्वेदनविधिः–पुरुषायाममात्रमधिकं वा घनं समं च शिलातलं वातहरदारुदीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वाऽग्निमपोह्योष्णोदकेन प्रोक्ष्य तं कौषेयाविकसंस्तरं कृत्वा तस्मिन् स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः कौरवाजिनकौषेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः स्वापं कुर्यात् । (चसू. १४.४७.५०)
–घ्न–पु, वनस्पति०, पाषाणभेदः (ध. १.१५७)
–ज–न., खनिजद्रव्य०, शिलाजतु (ध. ३.१६५) मुंडलोहम्, लोह० (रा. १३.२९)
–जतु–न., शिलाजतु (चचि. १६.८१)
–जतुक–न., खनिजद्रव्य०, शिलाजतु. (रा. १३.२२९)
–ज-जतु–(परिव.) न., शिलाजतु (सुउ. ४१.५७)
–जित्–वनस्पति०, पाषाणभेदः (ध. १.१५७)
–भिद्–पु., वनस्पति०, पाषाणभेदः, (चचि. २६.४६)
–भेद–पु., वनस्पति०, पाषाणभेदः (सुउ. ५८.४७)
–भेदक–पु., वनस्पति०, (चसू. २३.१५) (ध. १.१५७)
–मलचूडा–स्त्री., वनस्पति०, गुंजा (रा. ३.४७)
–लाक्षा–स्त्री., खनिजद्रव्य०, शिलाजतु (रा. १३.२२९)
–सार–पु., शिलाजतु (सुउ. ५९.२४.२५) पु., न., लौहम् (र. ५.१)
–स्वेद–पु., अश्मघनस्वेद०, (चचि. ३.४८.४९)

अश्मक–पु., जानपद०, अवन्तिजनपदस्य दक्षिणपश्चिमस्यां दिशि स्थितो गोदातटवर्ती जनपदः यस्य राजधानीं प्रतिष्ठानं, पौंडन्यं वा मन्यन्त ऐतिह्यविदः; तत्रस्थो जनो वा (चचि. ३०.३१७)

अश्मन्त–न., वनस्पति०, अश्मन्तकः (असंसू. १५)

अश्मन्तक–पु., वृक्ष० मालुयासदृशपत्रो वृक्षः (चसू. १.११४) अम्लोटसदृशो यमलपत्रकः (सुसू. ४६.१७०) युग्मपत्रकः, (सुचि. २५.१९) अम्लोटकसदृशो वृक्षः, तस्य वल्कलं सीवनार्थमुपयुज्यते (सुसू. २५.२०) मालुकपर्णः (असंउ. ४४) (इंदु पृ. ३६५.६६) अश्मन्तकगुणाः–कषायो, मधुरः शीतः, संग्राही पित्तकफघ्नः रक्तदोषप्रमेहविदाहतृष्णाविषमज्वरविषच्छर्दिप्रभृतिरोगघ्नः (ध. १.१९४) मूत्रसंग्रहणीयगणे उपदिष्टम् एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) अश्मन्तकफलगुणाः–कषायं हिमं स्वादु वातकफजित् च (सुसू. ४६.१७०) वनस्पति०, पाषाणभेदी, पाषाणभेदः, अम्लस्कन्धे द्रव्य० (चवि. ८.१४०) अम्लपत्रः (सुशा. १०.५९) गर्भस्रावपरिहारार्थं गर्भिण्या द्वितीयमासे उपयुज्यते । (सुशा. १०.६२) पतिष्यति गर्भे शोणितस्यादर्शने वेदनायां च सत्यामश्मन्तकशतावरीपयस्या सिद्धं पयः पाययेत (सुशा. १०.५७) मणिविशेषः (सुउ. १५.२६.२८)

अश्मरी–स्त्री., रोग०, मार्गे स्रोतसि वा विशेषतो मूत्रमार्गे संभूतः पाषाणविशेषः । हेतुः संप्राप्तिश्च सुश्रुते–तत्र असंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य बस्तिमश्मरीं जनयति (सुनि. ३.४) संप्राप्तिश्च चरके–पवनो बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं कफं वा यदा विशोषयेत्तदाऽश्मरी उपजायते, यथा गोः पित्तेषु रोचना भवति (चचि. २६.३६) अप्सु स्वच्छा (स्था) स्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे; कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरी–संभवस्तथा । संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः । तद्वद्बलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः (सुनि. ३.२४.२७)

अश्मरीपूर्वरूपम्–सुश्रुते–
ज्वरो बस्तिपीडारोचकौ मूत्रकृच्छ्रं बस्तिशिरोमुष्कशेफसां वेदना कृच्छ्रावसादो बस्तगंधत्वं मूत्रस्येति । यथास्ववेदनावर्णं दुष्टं सान्द्रमथाविलम् । पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः ॥ (सुनि., ३.५.६)

अश्मरीसामान्यलक्षणम्–सुश्रुते–
'अथ जातासु (अश्मरीषु) नाभिबस्तिसेवनी-मेहनेष्वन्यतमस्मिन् महती वेदना मूत्रधारासंगः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदप्रकाशमत्या-विलं ससिकतं विसृजति धावनलङ्घनप्लवनपृष्ठ-यानोष्णाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति (सुनि. ३.८)

अश्मरीसंख्या–चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः तद्यथा–श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण च. (सुनि., ३.३)

वाताश्मरीलक्षणम्–तस्य (वाताश्मरीपीडितस्य) मूत्रप्रतिघातात्तीव्रवेदना भवति, तदाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति, नाभिं पीडयति मेढ्रं प्रमृद्नाति, पायुं स्पृशति, विशीर्यते, विदहति-वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेणास्य च मेहतो निःसरन्ति।

वातिका–अश्मरीरूपम्–
अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिकीमिति विद्यात् (सुनि. ३.१०)

अश्मरी (पित्तजा)–
तस्य मूत्रप्रतिघाताद् ऊष्यते चूष्यते दह्यते पच्यंत इव बस्तिरुष्णवातश्च भवति। अश्मरी चात्र सरक्तपीतावभासा कृष्णा भल्लातकास्थि-प्रतिमा मधुवर्णा वा भवति (सुनि. ३.९)

अश्मरी (कफजा)–
तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दाल्यते भिद्यते निस्तुद्यत इव च बस्तिः गुरुः शीतश्च भवति। अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधूकपुष्पवर्णा वा भवति (सुनि. ३.८)

शुक्राश्मरीलक्षणम्–
'सा मूत्रमार्गमावृणोति मूत्रकृच्छ्रं बस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते। (सुनि. ३.१२)

शर्करा सिकतामेहो भस्माख्यश्चेत्यश्मरीविकाराः (सुनि. ३.१३)

मूत्रमार्गगताया अश्मर्या लक्षणम्–
दौर्बल्यं सदनं काश्यं कुक्षिशूलमरोचकः। पाण्डुत्वमुष्णवातश्च तृष्णा हृत्पीडनं वमिश्चेति। (सुनि. ३.१७) प्रायेण वातजादयस्तिस्रोऽश्मर्यो बालानां जायन्ते। (सुनि. ३. ११)

–व्रण–पु., बस्तेरश्मरीहरणशस्त्रकर्मजन्यव्रणः (सुशा. ६.३४)

अश्मोत्थ–न., खनिजद्रव्य०, शिलाजतु (रा. १३.२२९)

अश्रद्धा–स्त्री. रोगलक्षण०, अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याऽहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परंत्वनिच्छा. रसप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.९)

अश्रु–न., नेत्रोदकम् (सुउ. ५५.४)

–जोदावर्त–पु., उदावर्तव्याधिविशेषः हर्षशोकाभ्यां समुद्भूतान्यश्रूणि तेभ्यः समुत्पन्न उदावर्तः। आनंदजं शोकसमुद्भवं वा अश्रुप्रवृत्त्युन्मुखं यः निग्रहान्न मुंचति तस्य शिरोगुरुत्वं तीव्रा नयनामयाः पीनसप्रतिश्यायादयश्च भवन्ति। (सुउ.५५.१२ड)

–पात–पु., लक्षण० रोदनम् (सुशा. २.२५)

–मार्ग–पु., अश्रुस्रोतः (सुउ. १. ११.१२)

–मोक्ष–पु., लक्षण० अश्रुनिःसारणम् (सुउ. ५५.२८)

–सिरा–अश्रुवहा सिरा (ड सुउ. २.५)

अश्रवागमन–न., रोगलक्षण० अश्रूणाम् आगमनम् (चनि. १.३३)

अश्व–पु., पशु० घोटक (च.सू. २७.३५)
कफप्रकृतिकोऽयम् (सुशा. ४.७६)
अश्वमांसगुणाः–उष्णं, लघु, बल्यं, पित्तकरं, दाहकरं, वातघ्नं. प्राणि० श्वेताश्वस्य खुरमषीनवनीतेन युक्ता व्यङ्गेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३७ पृ. २७९)

अश्वजद्रव्याणाम् उपयोगाः—
दन्तः–एडगजादियोगे कुष्ठप्रशमनार्थम् उपयुक्तः (चचि. ७.१६०)

पित्तम्–शिरःस्थितविषप्रशमनार्थम् उपदिष्टम् (चचि. २३.७२.)

मांसम्–शोषिणे हितम् (सुउ. ४१.३७)

मूत्रम्–दीपनं कटुतीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् वातहरं कृमिदद्रुषु शस्तं च (सुसू. ४५.२२५)
कुष्ठविषव्रणापहम् (सुसू. १.१०४)
शकृद्रसः– रक्तपित्तशमनः (चचि. ४.६९)
अश्वास्थिक्षारः–हस्तिमेहे पानार्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.९)

–कटक–पु., घोटककविकाचूडकम् (सुसू. ७.१५)

–कर्ण–पु., वनस्पति० शालवृक्षः सर्जरसभेदः जांगलदेशे विशेषेण जायते (चक. १.८) सर्जभेदः (सुक. ६.२२) ह्रस्वशालाः गन्धमुण्डः अश्वत्थसदृशो वृक्षः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (सुसू. ३८. ८.९)

हिमालयोत्तरे पार्श्वे अश्वकर्णो महाद्रुमः (र. २.१४२)
अश्वकर्णः गर्दभाण्डः (सुउ. ३१.५)
जरणद्रुमः (रापरि. ९.३)
कुशिकः (अहसू. १५.१९)
जरणद्रुमोऽश्वकर्णस्ताक्ष्यप्रसवश्च सस्यसंवरणो धन्यश्च दीर्घपर्णः कुशिकस्तरुः कौशिकश्चापि (रा.परि.९.३)
अश्वकर्णगुणाः—अश्वकर्णः कटुस्तिक्तः स्निग्धः पित्तास्रनाशनः। ज्वरविस्फोटकण्डुघ्नः शिरोदोषार्तिकृन्तनः॥ (रापरि. ९.३)
उदर्दप्रशमनगणे (चसू. ४.१७)
अश्वकर्णत्वक्चूर्णं व्रणरोपणार्थमुपयुक्तम् (सुसू. ३७.२७)
उपदंशे लेपनार्थम् (सु. उ. ३१.५)
अस्य पुष्पं महासुगंधिनामागदे उपयुक्तम्। (सुक. ६.२२)
अश्वकर्णस्य फलं कषायरसप्राये क्षीरिवृक्षफलादिवर्गे वर्णितम् (सुसू. ४६.१६३)
फलगुणाः—कषायं, मधुरं, रूक्षं, गुरु, शीतलं, लेखनं, विबन्धाध्मानजननं, स्तम्भनं, वातकोपनं, कफपित्तजित् (असंसू. ७.१८१.८४)
अश्वकर्णः मधुस्रवा इति नाम्ना पूर्वदेशे प्रसिद्धः चतुष्पादादिनखदन्तपरिक्षते अयं लेपार्थम् उपयुज्यते। (असंउ. ४६)
N. O.—Dipterocar paceae
L.—Shorea Robusta Gaertu
Eng.—Sal Tree
हिं.—साल
म.—साल
गु.—साळ
बं.—साल, राल, धूना
त.—तलूरा Taloora
अस्थिभग्न० काण्डभङ्गस्य प्रकारः अश्वकर्णवद् विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम् (सुनि. १५.१०)

–कर्णक–न., अस्थिभग्न० अश्वकर्णम् (सुनि. १५.१०)
–क्षुर–पु., वनस्पति० गिरिकर्णिका (ध. ४.८४)
–खरज–पु., पशु० अश्वतरः (ध. ३८४.२६७)
–खुरक–पु., वनस्पति० स्यंदन–कोकिलाक्षः (चक्र.) श्वेतस्पंदः (चचि. २३.२४५)
स्यंदन
कोकिलाक्षः
–खुरा–स्त्री., वनस्पति०, गिरिकर्णी (असंउ. ४ पृ. ३९)
–गन्ध– पशु० गवयः (धपरि. ६.३४)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० (चसू. ४.१०)
इयं मदगंधिका कषायतिक्तरसा, कटुः (रा. ४. ४०३; ध. १.२७२)
"अश्वगन्धाऽनिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा।
बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णातिशुक्रला॥" (भा. प्र. ५.४.१९०)
बल्यगणे (चसू. ४.१०)
बृंहणीयगणे (चसू. ४.९)
मूलम् ऊर्ध्वभागदोषहरम् (सुसू. ३९.३)
रसायनविधिनोपयुज्यते (असंउ. ४९ पृ. ४४५)
कृशानां पुष्टिं कुरुते (रा. १८.१८७)
कर्णपालिरोगेऽभ्यंगतैले उपयुक्तम् (सुचि. २५.२६)
व्रणरोपणवर्तिधूपयुज्यते (सुसू. ३७.२३)
श्लेष्मजशोफप्रलेपे उपयुक्तम् (सुसू. ३७.६)
कण्डूादिहरमुद्वर्तनार्थम् (चसू. ६.८)
अश्वगंधाक्षारं श्वासे मधुसर्पिषा सह लिह्यात् (चचि. १७.१७०)
अश्वगंधासवः प्रसहमांसाशने अनुपानार्थं उपदिष्टः (सुसू. ४६.४३३)
वनस्पति० अश्वगन्धा (र. २०.१३५)
–घ्न–पु., वनस्पति० करवीर (ध. ४.१)
–घ्नी–स्त्री. वनस्पति० तेजोवती (ध. १.२६६)
–जल–न., अश्वमूत्रम् (र. ५.२२३)
–तर–पु., पशु० वेगसरः स च–
अश्वायां खराज्जातः (च. सू. २७.३५)
प्रसहवर्गीयः प्राणी.
अश्वत्थ–पु., वनस्पति०, पिप्पलः (चक. १.८; सुसू. ३८.४८)
(अश्वत्था)–स्त्री., वनस्पति० श्रीवल्ली. (रापरि. ८.३३)
(अश्वत्थी)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीभेदः (रा. ११.१२२)
–फलम्–न., पिप्पलस्य फलम् (चसू. २७.१६४)
–फला–स्त्री., हपुषा. (ध. २.९) (रा.४.१४)
–बला–स्त्री., शाक०
शाकं आश्वबलं रूक्षं बद्धविण्मूत्रमारुतम् (सुसू. ४६.२६१) अर्शःसु क्षारपातनानंतरं

पथ्यम्; शाकार्थमुपयुज्यते (सुचि. ६-८)

-मार-पु., वनस्पति० करवीरः, श्वेतकरवीरः, स्थावर-मूलविषविशेषः (सुक. २.५)

-मारक-पु., करवीरः (ध. ४-१; रा. १०.१)

-मूत्री-स्त्री., वनस्पति० सल्लकी. (ध. ३.१३५; सुउ. ४२.९४.९५)

-मोहक-पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.१.)

-युज्-पु., नक्षत्र० अश्विनी. (चक्र. ९.१३)

-रोधक-पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.१.)

-लिण्ड-न., अश्वशकृत् (असंउ. २ पृ. २६)

-संनिभा-स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीविशेषः (रा. ११.१२२)

-हन्-पु., करवीरः (चसू. ३.१७; ध. ४.१.)

अश्वा-स्त्री., तुरगी. अश्वादुग्धम् अम्लं, लवणं, लघु, वृष्यं, दीपनं, देहस्थैर्यकरं, बल्यं, गौरवकांतिकृत्, सरं, रुचिकरं, श्वासवातहरम् (ध. ६.१७२)

अश्वायाः शकृद्रस-क्षीर-मांसरस-रुधिरैर्द्राक्षाऽश्वगन्धा-मगधा-सिताभिः सिद्धम् घृतं शोषघ्नम्। (सुउ. ४१.४९)

स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा. (अहचि. २३)

अश्वाऽपान न., वडवायोनिः (सुसू. २३.१२)

अश्वान्तक-पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.२)

अश्वावरोहक-पु., वनस्पति० अश्वगन्धा (ध. १.२७२)

अश्वकर्णः इक्षुरको वा. (चसि. १०.३७)

अश्वावरोहिका-स्त्री., अश्वगंधा. (चसि. १०.३७)

अश्विन्-पु., देवता० (नित्यं द्विवचनान्तः) अश्विनौ अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ।
प्रजापतेरायुर्वेदमधीत्येन्द्राय दत्तवन्तौ॥ (चसू. १.४.५)

यज्ञस्य च्छिन्नं शिरस्ताभ्यां पुनः समाहितं; पूष्णः प्रशीर्णाः दशनाः भगस्य नष्टे नेत्रे वज्रिणो भुजस्तम्भश्च ताभ्यामेव चिकित्सितः पुनः सुखीकृतः सोमाभिपतितश्चंद्रो राजयक्ष्मणा गृहीतश्च चिकित्सितः पुनः सुखीकृतः।

वीतवर्णस्वरोपेतो विकृतिं गतः कामी भार्गवश्च्यवनो वृद्धः सन् ताभ्यां पुनर्युवा कृतः। एतैरन्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ इन्द्रादीनां महात्मनां भृशं पूज्यौ बभूवतुः। द्विजातिभिः ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राः धूम्राः पशवस्तथा नाना हवींषि च ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते। शक्रोऽश्विभ्यां सह स्तवने सोममश्नुते भगवान् सौत्रामण्यामश्विभ्यां सह मोदते। वेदवाक्येषु इन्द्राग्नी अश्विनौ च द्विजैर्यथा स्तूयन्ते। न तथाऽन्या देवताः। अजरैरमरैर्विबुधैरधिपैर्ध्रुवैर्भिषजावश्विनौ पूज्येते। (चचि. १.४ ४० तः ४९)

अष्टन्-वि., संख्या० (चसू. १९.१)

-कटुर-न., योग० गृध्रस्यूरुग्रहादिषूपयुज्यते (चचि. २७.४७)

-धातुकी-वि., अष्टतत्त्वसमुदायात्मिका खादिपञ्चकबुद्ध्यव्यक्ताहंकाररूपा (चशा. १.६३) (चशा. ११.७)

-पदी-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४)

-मान-न., मान० प्रसृतम् द्वे पले प्रसृतं विदुः अष्टमानं तु विज्ञेयं। (चक. १२.९३)

-मासिकरसायनम्-न., सिद्धौषधि० (र. २६.१७.२२)

-रात्र-न., अष्टमी रात्रिः अष्टरात्रमन्तरं कृत्वा अष्टानां रात्रीणां समाहारः (चसू. ५.१५)

-रूप-वि., अष्टौ रूपाणि यस्य तत्; यथा अष्टरूपम् अव्यक्तम् (सुशा. १.३)

-वर्ग-पु., गणविशेषः

द्वे मेदे द्वे च काकोल्यौ जीवकर्षभकौ तथा।
ऋद्धिर्वृद्धिश्च तैः सर्वैरष्टवर्ग उदाहृतः॥ (शार्ङ्गधर मअ. १९)

-विधशस्त्रकर्मीय-पु., अष्टविधशस्त्रकर्माधिकृत्य कृतोऽध्यायः सुश्रुते सूत्रस्थानस्य पंचविंशतितमः अध्यायः। (सुसू. २५.१)

-शतो (ता) रिष्ट-पु., योग० काश्मर्य धात्रीत्यादीनां सप्तफलानां जीर्णगुडस्य च प्रत्येकं शतमस्मिन् अरिष्टे उपयुक्तम्। एतदरिष्टं शोथशामकम्। (चचि. १२.३२, ३३. असंचि. १९)

-(अष्टा) कपाल-वि., अष्टसु कपालेषु पाचितः हविर्द्रव्य० (काशा. जातिसूत्रीय० ८)

-पद्-न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२.)

पु., चतुरंगक्रीडनार्थं पटः (सुसू. ३०.१९)

अष्टपदेन लेखाभिः कोष्ठसंतानं चतुरंगक्रीडनार्थमुच्यते (ड.सुसू. ३०.१९)

अष्टांग-वि., अष्टावंगानि यस्य (सुसू. १.९) शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रम्, वाजीकरणतन्त्रमिति अष्टावङ्गान्यायुर्वेदस्य एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते। (सुसू. १.७.९)

–पूरण–वि., अष्टाङ्गानां पूरयिता. (असंसू. १)

–लवण–न., भैषज्य०
सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् । त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम् ॥ एतल्लवणमष्टांगमुच्यते । तत् परमग्निसंदीपनं स्रोतोविशोधनं कफप्राये मदात्यये उपयुज्यते ।
(चचि. २४.१७७, १७८)

–संग्रह–पु., अष्टाङ्गानि संहृत्य कृतः संग्रहः
(असंसू. १)

–हृदय–न., वाग्भटकृत आयुर्वेदीयो ग्रन्थः
(अहृसू. १.५)

अष्टोदरीय–पु., चरकसूत्रस्थानस्य एकोनविंशोऽध्यायः
(चसू. १९.१)

अष्टौनिन्दितीय–पु., चरकसूत्रस्थानस्यैकविंशोध्यायः
(चसू. २१.१)

–अष्टामिका–स्त्री., मान० द्वे सुवर्णे.
(चक. १२.९१)
कर्षद्वयम् (असंक. ८)

अष्ठील (ला)–स्त्री., पु., उत्तरापथे प्रसिद्धो वर्तुलपाषाणः चर्मकाराणां वर्तुलदीर्घालौहिभाण्डिः
(ड सुनि. १.९०)
दीर्घो लोहमयो ग्रन्थिर्लोहकारेषु प्रसिद्धः. (चक)
(चचि. १३.३७)
शारीर० नरशरीरे ग्रन्थिसदृशो बस्तिद्वारस्थितोऽवयवः पौरुषमित्यपरं नाम.
(सुनि. ३.१९)
रोग० त्रयोदशबस्तिविकारेष्वेकः तत्संप्राप्तिलक्षणे– वायुर्बस्तिगुदमाध्मापयन्रुध्वा चोन्नतां चलां तीव्रार्तिमष्ठीलां करोति, तया मूत्रविण्मार्गाणामवरोधो भवति । (चसि. ९.३६)
सुश्रुतेऽयं रोगो वातविकारेषु " वाताष्ठीला " इति नाम्ना वर्णितः । (सुनि. १.९०)
अष्ठीलिकाऽस्य पर्यायः (शारं. १.७.१०९)

अष्ठीलाश्मन्–पु., दीर्घवर्तुलपाषाणः उपयंत्रम्
(सुसू. ७.१५)
अस्थिदेशोत्तुण्डितस्य शल्यस्याहरणार्थं हस्ततलभग्नस्य चिकित्सार्थमस्योपयोगः
(सुचि. ३.३५; सुसू. १७.११)

अष्ठीलिका–स्त्री., वातरोगः, वाताष्ठीला अष्ठीला वा ।
(र. १८.१८७)
गुह्यरोगः, विषमा कठिना भुग्ना वातकृता पिटका ।
(अहृउ. ३३.१६)
सुश्रुतेऽयं रोगः शूकदोषेषु लिखितः
(सुनि. १४.५)

असंकीर्ण–वि., असंकटम्, असंकुलम् (सुसू. ४६.४४६)

असंकुलप्रकरण–वि., अनाकीर्णप्रकरणम्
अमिश्रीकृतप्रकरणं वा । (चवि. ८.३)

असंजातसारत्व–न., काटिन्याभावः (असंशा. ४)

असंवृतगुद–रोगलक्षण० असंकुचितगुदः विवृतगुदः ।
(सुउ. ४०.२१)

असंसर्ग–वि., असक्तवेगः (चक्र. चसि. १२.९)
–अमैथुनम्–पु., (सुसू. १९.१५)

असंहत–वि., नात्यच्छं नातिघनम् (सुसू. १४.२२)
द्रवम् (अहृसू. २७.१)

असत्–वि., अनाचारः पुरुषः (सुचि. २४.१३३)
–पक्ष–पु., अनागमपक्षसिद्धः पक्षः (चसू. ३०.८२)
–प्रदर्शिन्–पु., रोगलक्षण० अयथार्थं पश्यति
(सुउ. १९. ६.७)
–वादिन्–प्रतिरसपाकवादी, पाकत्रयवादी, गुणकर्तृत्ववादी वा सुश्रुतमतानुसारेणासद्वाद्यस्ति.
(सुउ. ६५.५)

(असद्) ग्रहणम्–न., अयथार्थज्ञानम्
(चसू. २५.४०)

असन–पु., वनस्पति० उदर्दप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम्
(चसू. ४.१७)
दन्तकाष्ठोपयोगि द्रव्यम् । (चसू. ५.७३)
बीजकः पूर्वदेशे प्रसिद्धः छागकर्णसदृशपत्रः पीतशालः (सुसू. ३८. ८)
शृङ्गाटकादिवर्गोक्तं प्रमेहघ्नमेकं द्रव्यम्
(सुचि. ११.१०)
बीजकसारः (ड. सुचि. ९.३०)
विजयसारः (र. २०.९८)
अशनस्तु महासर्जः सौरिर्बन्धूकपुष्पकः ।
प्रियको बीजकः श्यामः सुनीलः प्रियशालकः ॥
असनगुणाः–कटुकषायस्तिक्तः उष्णः सारकः कफवातघ्नः पित्तास्रवातार्तिगलदोषरक्तमण्डलादिरोगघ्नः
(ध. ५.१२५)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० अपराजिता (चवि. ८.१३९)
दारुपर्णी (चचि. २६.७०) गोकर्णी.
–पुष्पक पु., षष्टिकभेदः कृष्णषष्टिकः (सुसू. ४६.८)

असनादि–पु., द्रव्यगणः असनः आदिः यस्मिन् । तस्य द्रव्याणि–असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः खदिर–कदरभण्डी शिंशपामेषशृङ्ग्यः त्रिहिमतलपलाशा-

जोङ्गकः शाकशालौकमुक्तधवकुलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाश्च । (अहसू. १५.१९.२०)

गुणाः–श्वित्रकुष्ठकफकृमिपांडुरोगप्रमेहमेदोदोषनिबर्हणः

असन्धिभग्न–न., रोग०, भग्नप्रकारः संधिं त्यक्त्वाऽन्यस्थाने भग्नम् (असं. उ.२२)

सुश्रुतेऽस्य " काण्डभग्न " इति निर्देशः (सुनि. १५.४)

एतद् भग्नं द्वादशविधम्–कर्कटकम्, अश्वकर्ण, चूर्णितं, पिच्चितम्, अस्थिच्छलितं, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अतिपातितं, वक्रं, छिन्नं, पाटितं, स्फुटितमिति । (सुनि. १५.८)

असम्पातिन्–वि., सुनिर्गतम् (चशा. ८.५१)

असात्म्य–न., शरीरेण सह यदात्मतामविकृतरूपतां न याति तत् । एतेन यदुपयुक्तं प्राकृतरूपोपघातकं भवति तत् असात्म्यम् (चशा. १.१२७)

–अभ्याससात्म्याभावः (सुशा. १०.२८)

–ज–वि., सहसा पूर्वाभ्यासत्यागादपराभ्याससेवनाज्जातः । (अहसू. ३०.५९)

–भोजन–न., अनभ्यस्तद्रव्याणां सेवनम् । (चचि. १५.४२)

–सेवन–अनभ्यस्तानां वाङ्मनःकर्मणां सेवनम् (काखि. ६.५८)

असात्म्यार्थसंयोगः–पु., असात्म्यविषयेणेन्द्रियस्य संयोगः स त्रिविधः अयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । (चशा. १.१२७)

असात्म्यार्थागम–पु., विषयाणां हीनमिथ्यातियोगाः असात्म्या भवन्ति, तथाविधविषयैः सह इंद्रियाणां संयोगः । (चशा. १.९८)

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग–पु., असात्म्यार्थैः सहेन्द्रियाणां संयोगः (चनि. १.३)

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगसारणी

इन्द्रियं	अयोगः	अतियोगः	मिथ्यायोगः
१ श्रवणम्	अश्रवणम्	अतिश्रवणम्	उच्चपरुषभीषणादिश्रवणम्
२ स्पर्शनम्	अस्पर्शनम्	अतिस्पर्शनम्	अभिघातविषवातादिस्पर्शनम्
३ दर्शनम्	अदर्शनम्	अतिदर्शनम्	सूक्ष्मातिदूरभास्वद्दर्शनम्
४ घ्राणम्	अनाघ्राणम्	अत्याघ्राणम्	पूत्यमेध्यातितीक्ष्णोग्राघ्राणम्
५ रसनम्	अरसग्रहणम्	अतिरसग्रहणम्	अपथ्यविषमरसग्रहणम्

सर्वव्याधिसाधारणं त्रिविधं निदानम् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगस्तस्मिन्नेकं निदानम्, प्रज्ञापराधः परिणामश्चान्यौ द्वौ । (चशा. १.११८ तः १२६) (चवि. १.३)

असाधक–वि., अपरिणामकरम्, अकार्यकरम् (चवि. ८.९५)

यद्वाक्येन हेतुरहितेन वाक्यविषयस्य सिद्धिर्न भवति तत् । (चवि. ८.६७)

असाध्य–वि., न विद्यते साधनं यस्य (चसू. १.६३)

न., अनुपक्रमम्, तद्याप्यमनुपक्रममिति कृत्वा द्विविधम् । (असंसू. २ चसू. १०.९)

" प्रत्याख्येय " इत्यस्य पर्यायः स च विशेषेणानुपक्रमे व्याधौ प्रयुज्यते । (चसू. १०.१९)

असाध्वीक्षित–न., अमंगलदृष्टिः (कासू. १९)

असामन्–न., विस्वरः, उच्चस्वरः (चनि. ८.८) (चइं. ८.१९)

असार–वि., अभ्यन्तरसारवर्जितम् (सुसू. २९.१२)

विशुद्धतरधातुविहीनः, सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते (चवि. ८.११४)

यंत्रदोष० अशुद्धलोहादिघटितं, तनु दुर्बलम्० (सुसू. ७.१९)

न., वनस्पति० काष्ठागरु, अगरुविशेषः (रा. १२.४२)

असित–वि., ईषत् कृष्णम्। (सुउ. ४१.२५)
कृष्णवर्णम् (सुनि. १०.४)
पु., मूषिकः अस्य विषेण रक्तच्छर्दिः जायते। (अष्टांगसंउ. ४.४६ पृ. ३७४)
पु., वनस्पति०, मुद्गः (ध. ६.८१)
ऋषि० रोगापहरणचिंतनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८)

असिता–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली. (चचि. १९.१०७)
आग्नेयत्वतविशेषः, इयं स्वेदजा तथा पित्तविकारकारिणी, तस्याः दंशो विड्गन्धिः कृष्णक्लेदशोफयुक्तो भवति तथा कृष्णः दुष्टरक्तस्रावश्च। (असंउ. ४४,४५ पृ. ३६२,३७१)

–घन–न., खनिजधातु०, कृष्णाभ्रकम् (र. २७.३७)
राजीसिरासंततं, वि. असिता नाम कृष्णा राज्यः सिराश्च ताभिः संततं व्याप्तम्। (चचि. १३.२५)

–सर्षप–पु., धान्य० रक्तसर्षपः
सिद्धार्थकवत् अस्य गुणाः
"पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः।
सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपि॥
तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न-
स्तथा गुणश्चासितसर्षपोऽपि॥"
(सुसू. ४६.४९)

–सोम–पु., वनस्पति० सोमलता. (र. ३०.४८)

–(असित–असिता)–असितांजनी, स्त्री., वनस्पति. कालाञ्जनी (रा. परि. ४.४३)

असितानन–पु., वनस्पति० बिल्व. (ध. १.१०७)

असितालु–पु., वनस्पति० नीलालुः (रा. ७.३२)

असितोत्पल–न., वनस्पति० नीलोत्पलं कृष्णोत्पलमित्यर्थः। (चशा. ८.२४ रा. १०.२४८)

असिपत्र–पु., वनस्पति० इक्षु. (रा. १४.१८०)

असिशिंबि (बी)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः। मधुरा, कषाया, शीतला, रुचिदायिनी, श्लेष्मपित्तजित्, व्रणदोषघ्नी। (रा. ७.९७)

असु–पु., प्राणाः (चइ. ११.२४)
जीवितम् (अहसू. ७.४२)

–क्षय–लक्षण० प्राणक्षयः (चइं. ११.२४)
मृत्युः (सुसू. १.४१)

असुर–पु., भूताधिपति. (असंउ. ७ पृष्ठ ५९)
भैषज्य० बिडलवण, अर्क (र. ११.९१)

असूयक–वि., परोत्कर्षासहिष्णुः परगुणमत्सरी असुरकायस्य लक्षणमेतत् (सुशा. ४.८८)

असूयन–न., द्वेषबुद्धिः अपरिपूर्णता इति इंदुः (असंनि. ५.२७)

असूया–स्त्री.,– गुणेषु दोषारोपणम्। (सुशा. ४.९१)
नागकेसरम् (र. १७.६६)

(असृक्)–क्षय पु., लक्षण० रक्तक्षयः। (चचि. १६.३३)

–पित्त–न., रोग० रक्तपित्तम्। (अहसू. ५.३३)

–प्रक्लेद–पु., लक्षण० अस्रावस्रवणम्। (असंचि. २०)

–संपद्–स्त्री., आर्तवस्य सुष्ठुभावः शुद्धार्तवमित्यर्थः (चशा. २.६)

–स्रावण–वि., रक्तस्रावकरः (सुनि. १.१८)
न., पंचकर्म० रक्तविस्रावणं, रक्तमोक्षणम् (असंसू. २४–४६)

(असृग्)–दर–पु., स्त्रीरोग० असृग् रजः दीर्यते अस्मिन् इति असृग्दरः–प्रदरः–रक्तप्रदरः (चचि. ३०–८७) (सुशा. २.१८)

–धरा–स्त्री., षट्त्वक्षु द्वितीया (चशा. ७.४) सुश्रुते लोहिता नाम्नाऽस्या निर्देशः (सुशा. ४.४)

असृग्बुद–न., गुह्यरोगः (अहउ ३३.२४)
लक्षणम्–अस्मिन् रोगे शिश्ने सरागासितस्फोटानां पिटिकानां चोत्पत्तिर्भवति तीव्रा च वेदना। सुश्रुतेऽयं रोगो रक्तार्बुदनाम्ना शूकदोषेषु लिखितः (सुनि. १४.१३)

असृगामय–पु., लक्षणम् रक्तष्ठीवनम् (सुउ. ४१.१५)

असृग्वहा–वि., समा, गूढा, स्निग्धा, शुद्धरक्तवहा सिरा (असंशा. ६)
सिराप्रकारः (सुशा. ७.१८)

असृज्–न., शारीरधातु० रक्तधातुः (चसू. १.६८)
स्त्रीशोणितम्, आर्तवमित्यर्थः (सुनि. ९.२७)
वनस्पति० कुंकुमम्. (ध. ३.१२)
स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का. (घ. ३.६२)

अस्कन्दमान–वि., अस्त्यानम् (सुसू. १४.४१)

अस्कन्दिन्–वि., स्त्यानत्वरहितम् (सुसू. १४.२१)

अस्कन्न–वि., अस्त्यानम् (अहउ. ३६.५२)

अस्त–न., रहितम्, गतम् (सुसू. ४४.५)

–दोष–वि., दोषरहितम् (सुसू. ४४.५)

–पलित–वि., लक्षण० पलितरोगवर्जितः। (अहसू. २०.३९)

अस्थानहासिन्–वि., लक्षण० कालेऽप्रसङ्गे हसतीत्यस्थानहासिन् । (असंसू. ८)

अस्थायित्व–न., अस्थिरत्वम्, अनवस्थितत्वम् (सुसू. १५.३७)

अस्थि–न., शारीरधातु० रसादिसप्तधातुष्वेकः । (अहसू. १.१३)

देहे शरीरधारकः कठिनतमः सारो धातुः (सुसू. ४.५ (सुशा. ५.१८)

अस्थ्नो जनिः (उत्पत्तिः) स्वोष्मणः कृतः पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः खरत्वं प्रकरोति । ततोऽस्य नृणामस्थि जायते । अस्थ्नां मध्ये समीरणः सौषिर्यं करोति । (चचि. १५.३०.३१)

अस्थ्यपि द्रवरूपमस्त्येव स्रोतोवाह्यमिति कृत्वा (चक्र. चवि. ५.८) उत्पत्तिकालः सुश्रुतमतेन रसोत्पत्त्यनन्तरं विंशतितमे दिनेऽस्थिधातुर्भवति । (डसुसू. १४.१४)

पराशरमते–षष्ठे दिनेऽस्थि जायते. (चक्र. चचि. १५.३१)

अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च कुर्वन्ति (सुसू. १५.४ (१)

तत्स्वरूपम्–कठिनं स्थिरम् (अहशा. ३.५)

मज्जपूर्णं सुषिरम् (का. शा.)

अस्थिसाराणां लक्षणम्–पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्च अस्थिसाराः । ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा आयुष्मन्तश्च भवन्ति (चवि. ८.१०९)

महाशिरःस्कन्धदृढदंतहन्वस्थिनखास्थिभिरन्विताः । (सुसू. ३५.१६)

दोषसंबन्धः–तत्रास्थनि स्थितो वायुः (अहसू. ११.२६)

अस्थिमानं निर्दिष्टमागमे । स्वनामविशेषात् पञ्चप्रकाराण्यस्थीनि । तद्यथा–कपालरुचकतरुणवलयनलकानि । (सुशा. ५.२०)

देहोर्ध्वताधारणं मज्ज्ञः पोषणं च तस्य कर्म (असंसू. १९)

शरीरिणां त्वङ्मांसेषु तस्माच्चिरविनष्टेष्वस्थीनि न विनश्यन्ति यत एतानि देहिनां साराणि । अत्र सिराभिः स्नायुभिश्च निबद्धानि, मांसान्यस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते न पतन्ति च । (सुशा. ५.२१)

तस्योपधातुः–दन्ताः (शार्ङ्ग) नखरोमाण्यस्थ्नां मलः 'स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नाम्' (चचि. १५.१९)

क्षीणमस्थिदन्तनखरोमकेशशातनरौक्ष्यपारुष्यसंधिशैथिल्यास्थितोदास्थिबद्धमांसाभिलाषैर्देहं पीडयति । (असंसू. १९)

वृद्धमस्थि अध्यस्थिभिरधिदन्तैश्च देहं पीडयति (असंसू. १९)

चिकित्सा–अस्थिसमानगुणः समानगुणभूयिष्ठो वाऽऽहारः (चशा. ६.९)

यथा–मज्जास्थिस्नेहसंयुतानि मांसानि (डसुसू. १५.२९)

अस्थिबद्धमांसाशनम् (असं सू. १९)

तरुणास्थीनि (चशा. ६.१०)

क्षीरबस्तयश्च (असंसू. १९)

अस्थिसंख्याः–त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते

शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि । तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते । एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूरावितिं त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, श्रोण्यां पञ्च; तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि द्वे अंसफलके ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति । एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा, कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि । तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि(सुशा. ५.१८–२०)

फलबीजम्, कुलकम् (चचि. १ (१.४७)

इदमाहारौषधार्थे प्रयुक्तं द्रव्यम् (चसू. १.६९)

शिखिबर्हिबलाकास्थ्नां धूमो विषनुत् (चचि. २३.९८)

–क्षत–न., लक्षण० अस्थनि जातं क्षतम् । (सुसू. २३.८)

अस्थिसंख्यातुलनाकोष्टकम्

अस्थिनाम	चरक	सुश्रुत	अ. संग्रह	काश्यप.
नखाः	२०	—	२०	
पाणिपादशलाकाः	२०	पाणिपादतलास्थीनि १६	२०	
पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि	६०	६०	६०	
पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि	४	—	शलाकाबंधनम् ४	
पादगुल्फाः	४	२	२	
पादकूर्चास्थीनि	—	१०	४	
हस्तकूर्चास्थि	—	मणिबन्धास्थि	—	
पार्ष्ण्यस्थिनी	२	२	२	
मणिकौ	२	—	—	
अरत्न्यस्थीनि	४	प्रकोष्ठास्थीनि ४	४	
जङ्घास्थीनि	४	४	४	
जान्वस्थिनी	२	२	२	
जानुकपालिके	२	—	—	
ऊरुनलके (ऊर्वस्थि कूर्परम्)	२	२	२	
बाहुनलके (बाह्वस्थि)	२	२	२	
श्रोणिफलके	२	—	—	
भगास्थि	१	१	१	
नितम्बास्थिनी	—	२	२	
गुदास्थि	—	१	—	
त्रिकसंश्रितम्	—	१	१	
पर्शुकाः	२४	पार्श्वास्थीनि ७४	२४	
स्थालकास्थीनि	२४		२४	
स्थालकार्बुदानि	२४		२४	
अंसौ	२	—	२	
अंसफलके	२	२	२	
अक्षकास्थिनी	२	२	२	
जत्रु	१	—	२	
उरोस्थीनि	१४	६	८	
पृष्ठगतास्थीनि	४५	३०	३०	
ग्रीवागतास्थीनि	१५	९	१३	
कण्ठनाडीगतास्थीनि	—	४	४	
हन्वस्थि	१	२	२	
हनुमूलबन्धनास्थिनी	२			

अस्थिसंख्यातुलनाकोष्टकम्

अस्थिनाम	चरक	सुश्रुत	अ. संग्रह	काश्यप.
नासिकागण्डकूटललाटास्थि	१	—	—	
नासास्थीनि	—	३	३	
गण्डास्थिनी	—	२	२	
कर्णास्थिनी	—	२	२	
शङ्खास्थिनी	२	२	२	
तालुकास्थिनी	२	१	२	
दंताः	३२	३२	३२	
दन्तोलूखलाः	३२	—	३२	
शिरःकपालास्थीनि	४	६	६	
सम्पूर्णसंख्या	३६०	२८६	३४८	

–गत–वि., अस्थिमध्यान्तराले प्रविष्टम् (सुसू. २६.१०)

–ग्रन्थि–पु., रोग० अस्थिजो ग्रन्थिः, अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत् अस्थि सोऽस्थिग्रन्थिः (असंउ. ३४)

–च्छलित–न., रोग० अस्थिच्छलमिव विद्यते यस्मिँस्तत्। अस्थिकाण्डभग्नस्य प्रकारः लक्षणम्–यत्पार्श्वयोरस्थिहीनोद्वृतं तद्। (डसुनि. १५.१०) पार्श्वगतस्तोकाऽस्थिविश्लेषाद्भवति (मा)।

–च्छल्लिक–न., रोग० अस्थिच्छलिम् (डसुनि. १५.१०) द्र० 'च्छलित'

–(च्छल्लिका)–स्त्री., रोग० अस्थिच्छलितम् (असंउ. ३२ पृ. २३६) द्र० 'च्छलित'

–च्छल्लित–न., रोग० अस्थिच्छलितम्। (सुनि. १५.८) द्र० 'च्छलित'

–जाल–न., शरीरस्थरचना० अस्थिकृतजालम् अस्थिजालानि चत्वारि, एकैकस्मिन्मणिबन्धे गुल्फे च। (सुशा. ५.१२)

–तोद–पु., लक्षण० अस्थनि सूचिविद्धवद्वेदना (सुसू. २४.९ अहसू. ११.१९)

–दोषज–वि., अस्थिदोषोद्भवम्। (सुसू. २४.९)

–दोषजव्याधि–पु., रोग० अस्थिदोषेण जनितो व्याधिः स च अध्यस्थिः, अधिदन्तः, दन्तभेदः, अस्थिभेदः, अस्थिशूलम्, विवर्णता, केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्च। (चसू. २८.१६) कुनखप्रभृतयः अस्थिदोषजाः (सुसू. २४.९)

–नेत्र–न., यन्त्र० अस्थ्नां कृतं बस्तिनेत्रम् (चसि. ३.७)

–पञ्जर–पु., कङ्कालः (काफक्कचि.)

–पर्व–न., अस्थिसंधिः (सुनि. १.३९)

–प्रदोषजव्याधि–पु., रोग० अस्थिदोषजव्याधिः (चसू. २८.१६)

–भङ्ग–पु., रोग० अस्थिसन्धानभग्नता, अस्थ्नां भङ्गः, भग्नं वा; तद्विविधं; सन्धिमुक्तं, काण्डभग्नं च। (सुनि. १५.३–४)

–भेद–पु., व्याधिलक्षण० अस्थीनि भिद्यन्ते इव यस्यां सा वेदना। (चनि. ८.६) अस्थ्नः भेदः अस्थिभङ्गः। (चचि. २५.३२)

–मध्यमज्ञान्–पु., अस्थ्नः मध्यभागे स्थितो मज्जधातुः (चचि. १५.२६)

–मर्मन्–न., मर्मभेद० अष्टावस्थिमर्माणि (सुशा. ६.४) यस्य मर्मणो लक्षणानि च. सन्निपातेऽस्थिबाहुल्यं बाहुल्येनास्थिजनितानि द्वे कटीकतरुणे, द्वौ नितम्बौ द्वे अंसफलके द्वौ शङ्खौ च इत्येवमष्टौ। (डसुशा. ६.७ असंशा. ७.२९)

–वहस्रोतस्–न., अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोमूलम् (चवि. ५.८) अस्थिवहनार्थं स्रोतः (चवि. ५.८) तस्य दुष्टिहेतुः–अतिव्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनाद्वातलानां च सेवनादस्थिवाहीनि स्रोतांसि दुष्यन्ति। (चवि. ५.१७)

तत्कृतरोगाः–अध्यस्थ्यधिदन्तौ दन्तास्थि भेदशूलौ विवर्णता केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्च भवन्ति । (चसू. २८.१६)
(सुश्रुतसंहितायामस्थिवहानां स्रोतसां नोल्लेखः)

–विदृष्ट–वि., अस्थन्यत्यासक्तम् (सुसू. २७.१४)

–विद्ध–वि., रोग०, अस्थन्यभिताडितः; लक्षणम्–निशादिनेषु घोरा रुजः सर्वास्ववस्थास्वशान्तिस्तृष्णाऽङ्गसादः श्वयथू रुक् च । (सुसू. २५.३९)

–विमुक्त–वि., बीजरहितम् । (सुसू. ४४.६२)

–विवर–न., अस्थिच्छिद्रम् । (सुसू. २७.२४)

–विष–न., विष०, 'विषहतास्थि सर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि' (सुक. ३.५)

–शल्य–न., शल्य०, अस्थिरूपं शल्यम्; अन्नेन सहाभ्यवहृतमस्थिशल्यं यदा गुदेऽसम्यगागतं भवति तदा शरीरबाधाकरं भवति (सुनि., ४.९) मत्स्यकण्टकमन्यद्वाऽस्थिशल्यं कण्ठेऽवलग्नं सूत्रेण सूत्रप्लोतेन वा वेष्टितयाऽङ्गुल्याऽपहरेत् ।
(असंसू. ३७.१२)

–शून्यता–स्त्री., रोगलक्षण०, रिक्तता, पूरणाभावात् । मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च । (सुसू. १५.९)

–शूल–न., रोगलक्षण० मध्यममार्गजो रोगः
(चसू. ११.४९)
अस्थिविद्धवद् वेदना । अस्थिप्रदोषजविकारेष्वेकः
(सुसू. २४.९)
लक्षण० मज्जास्थिकुपितानिलस्यैकं लक्षणम्–अस्थिपर्वणां भेदः सन्धिशूलं, मांसबलक्षयः संतता रुक् अस्वप्नश्च मज्जास्थिकुपितेऽनिले भवन्ति ।
(चचि. २८.३३)

–शोष–पु., लक्षण० अस्थिशोषम् अस्थिगतवातस्यैकं लक्षणम् । (सुनि. १.२८)
अत्राऽऽस्थापनं प्रधानतमं चिकित्सितम्
(चसि. २.१६)

–श्वेत–वि., अस्थिवत् श्वेतः । (चई. ८.१३)

–संघात–पु., अस्थिमेलनम् चतुर्दशाऽस्थ्नां संघाताः तेषां स्थानानि एकैको गुल्फजानुवंक्षणमणिबन्धकूर्परकक्षासु त्रिकशिरसोरेकैकः
(सुशा. ५.१६ असंशा. ५.६६)

–सन्धि–पु., अस्थिमेलनस्थानम्–सन्धि
(असंशा. ५.९५)

–सम्बन्धन–पु., वनस्पति० प्रियङ्गुः (धनि. ६.९०)

–स्राव–पु., रोग० (र. ३०–३०.६६)

अस्थ्याश्रय–वि., अस्थिसंश्रित । (चसू. २८.२७)
अत्र भेषजं–पञ्चकर्माणि वमनविरेकनस्यादीनि तथा तिक्तोपहितक्षीरसर्पींषि च । (चसू. २८.२७)

–सार–पु., अस्थिसारः शक्तिर्देहस्य श्रेष्ठो धातुर्वा यस्य सः । (चवि. ८.१०७)
लक्षणम्–महाशिरःस्कन्धः दृढदन्तहन्वस्थिनखः ।
(सुसू. ३५.१६)
गुणाः महोत्साहाः, क्रियावन्तः, क्लेशसहाः सारस्थिरशरीराः आयुष्मन्तश्च । (चवि. ८.१.७)
अस्थिकंकाल, अस्थिपंजर (सुशा. ५.२१)
मज्जा–(रा. ६.३८२)

–स्तम्भ–पु., लक्षणम्० अस्थिगतिविघातः
(चसि. २.१६)

अस्थिर–वि., चलम् (सुचि. २२.२९)
अकठिनम् (सुचि. ५.३२
–जल–न., वहत्पानीयम् । (सुचि. ३.५६)

अस्निग्ध–वि., ईषत्स्निग्धम् । (सुचि. ३७.४५)
न स्निग्धः–अस्निग्धस्य लक्षणानि-पुरीषं ग्रथितं, रूक्षं वायुः अप्रगुणः, पक्ता मृदुः, गात्रस्य खरत्वं रौक्ष्यं च
(चसू. १३.५७)

–दारुक–न., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०४)

अस्पर्शारि–पु., वनस्पति० धन्वयासः (र. २५.७६)

अस्र–पु., कोण, धारा (र. २.५७)
न., शारीर धातु० रक्तम् (र. २०. १९७)
नयनजलम् (डसुक. ३.३५)
वनस्पति० कुंकुमम् (ध. ३.१२)
अस्रशब्दः स्रावबाची' आस्रावः (सुनि.१०.१२)

–खदिर–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३६)

–पवन–न., रोग० वातरक्तम् (अहसू. १०.१३)

–बिन्दुच्छदा–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा
(रापरि. ७.५६)

–मण्डल–न., रोग० लोहितमण्डलम्, रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१३)

–रोधिनी–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६०)

–वात–पु., रोग० वातरक्तम् । (र. २८.५२)

–विशोधन–वि., रक्तदुष्टिहरम् । (अहसू. १०.२०)

–विस्रुति–स्त्री., उपक्रम० रक्तस्य स्रावः रक्त मोक्षः
(असंसू. २४)

अस्रिपत्–वि., पालिपत्, धारावत् । (सुचि. ३५.३२)

अस्व–वि., आत्मन्यतिरिक्तम्, अनात्मीयम्
(चशा. ५.१२)

अस्वप्न–पु., रोग० निद्रालप्तत्वं, निद्रानाशः अशीति वातविकारेष्वेकः । (चसू. २०.११)

अस्विन्न–वि., अस्वेदितम् (सुचि. ३७.९३)

अस्वेद–पु., लक्षण० स्वेदराहित्यं स्वेदावरोधो वा (चचि. ३.४०) स्वेदायोगः (अहसू. २७.३६)

अस्वेदन–न., व्याधिलक्षण० धर्माभावः स्वेदाभावः (चनि. ५.७ सुउ. ४६.२२)

अस्वेद्य–वि., स्वेदानर्हः (अहसू. १७.२१)

अहतवासा–वि., अहतम् अधौतं शुद्धं शुक्लं वा वासो वस्त्रम् तदावृता सा अहतवासा (सुशा. २.२५)

अहन्–न., दिनम् (अहसू. १.८)

(अहः) स्वप्न–पु., दिवा स्वापः (अहसू. १६.२७)

(अहो) रात्र–पु.. न., कालविभागः दिवा निशम् त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम् (सुसू. ६.५)
सूर्योदयद्वय–परिच्छिन्नः कालः
श. क. द्रु., शरदि वसन्ते च सममहोरात्रं भवति (सुसू. ४६.४७०–७१)

अहंकार–पु., अभिमानः राजसगुणः (सुशा. १.१८)
प्रकृतेः महान् महतोऽहङ्कार उत्पद्यते अयं त्रिगुणात्मकः सांख्यानां पञ्चविंशतितत्त्वेष्वेकः (सुशा. १.४)

अहर्षण–न., शुक्रप्रदोषजरोग०सत्यपि ध्वजोत्थाने मैथुनाशक्तिः (चक्र. चसू. २८.१८)
स्त्रीसेवनेऽनुत्साहः ।

अहास्यहासिन्–पु., लक्षण० अहास्यविषये हास्यवान् (चइ. ११.२०)

अहि–पु., प्राणि० सर्प० (असंउ. ४१पृ. ३३२)
वनस्पति० नागकेसरः (र. २६.५६)
खनिजद्रव्य० सीसकम् (र., ५.२२०)

–केसर–पु., न., वनस्पति० नागकेसरः (असंचि ९ तर्टेप्रत पृ. ५५)

–चर्मन्–न., सर्पनिर्मोकः घृतेन सह धूपार्थम् उपयुज्यते (असंउ. ४ पृ. ३८)

–च्छत्रा–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा । (रा. ४.१)

(इक्षुविकार)–शर्करा. (ध. २.१०४)

–ज–पु., कीट०, वायव्यकीट (असंउ. ४३ पृ. ३५१)

–दमनी–स्त्री., वनस्पति० नागदमनी

–दर्वी–स्त्री., वनस्पति० नागदमनी दर्वीकन्दः दर्वीकरकन्दः (र. ३०.४६)

–निर्मोक–पु., जाङ्गमद्रव्य० सर्पकञ्चुकः(असंचि.१०) (तर्टेप्रत पृ. ५७)
मषी चास्य गण्डमालादिष्वभ्यङ्गार्थम् । (असंउ. ३५ पृ. २६५)

–निर्मोचक–पु., सर्पकञ्चुकः सर्पनिर्मोकः धूपार्थमुपयुक्तः (र. २३.६)

–पताक–पु., सर्प० स निर्विषः' (सुक. ४.३४) (४)

–पुष्प–न., वनस्पति० नागकेसरम् (सुचि. १७.२८)

–पूतन–न., बालरोगः (सुनि. १३.५८)
पर्यायाः–केचित्तं मातृकादोषं वदंत्यन्येऽहिपूतनम पृष्ठारुर्गुदकुट्टं च केचिच्च तमनामिकम् । (अहउ. २.७०)
संप्राप्तिर्लक्षणानि च–दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्यावनेन च कण्डूदाहरुजावद्भिः पिडकाभिः समाचितः । अहिपूतनको नाम यथादोषं सुदारुणः ॥ भोजः ॥ स्विन्नस्यास्राप्यमानस्य शिशोः शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौते गुदे रक्तकफप्रकोपादन्तःकण्डूमान् भूर्यरुपद्रवस्तस्रो व्रणो जायते । तस्य कण्डूयनादनेके स्फोटा उद्भवन्ति तेषामेकीभूतं घोरं व्रणमहिपूतनं विद्यात् (सुनि. १३.५८, अहउ. २.६९)
साध्यासाध्यता–साध्योऽयं रोगो बालानाम् ।
चिकित्सा–मातुः स्तन्यं पित्तश्लेष्महरैः शोधयेत् अन्तरपानार्थे श्वेतचन्दनं श्रृतशीताम्बुना देयम् । पानार्थे पटोलपत्रत्रिफलारसांजनविपाचितं घृतं बालकाय दद्यात्; व्रणपरिषेकार्थे त्रिफला बदरीप्लक्षत्वक्वाथं, व्रणलेपनार्थे श्वेतचन्दनक्षौद्रताक्ष्यशैलप्लेपः; रागकण्डूत्कटे जलौकसा रक्तस्रावं कुर्यात् ।

–फणामुखं–पु., यन्त्र० शङ्क्वाकारः शलाका–यन्त्रस्य भेदः, "व्यूहनक्रियौ द्वादश षोडशाङ्गुलौ द्वावहिफणामुखौ" (असंसू. ३४.१५) सुश्रुते इदं यन्त्रं सर्पफणमुखं यन्त्रनाम्ना निर्दिष्टम् (सुसू. ७.१४)

–फणावक्त्र–न., यन्त्र० अहिफणामुखम् (अहसू. २५.३१) अहिफणामुखयन्त्रम्

–फेनक–न., वनस्पति निर्यास० अफूकम् । (ध६. १२१ रा. ६.१९१)

–भुक्–स्त्री., वनस्पति० नाकुलि (रा ७.१५२) गन्धनाकुली (रा. ७.१५२)

–मर्दिनी–स्त्री., वनस्पति० गन्धनाकुली (रा. ७.१५४)

–मार–क–पु., वनस्पति० हरिमेदः । (ध. ५.१३३)

–मेद–क–पु., वनस्पति० हरिमेदः । (ध. ५.१३३)

–लता–स्त्री., वनस्पति० गन्धनाकुली (रा. ७.१५४)

अहिंस्रा–स्त्री., वनस्पति० बृहती (सुसू. ३७.३)
जटामांसी (सुउ. ४५.३३)

अहिण्डुका–स्त्री., सविषकीट० विश्वम्भरभेदः लक्षणम्–दष्टस्थाने तोददाहकण्डूशोथाश्च भवन्ति । (ड. सुक. ८.३३)
चिकित्सा–तद्विषनाशकः शिरीषाद्यगदः
"शिरीषं तगरं कुष्ठं शालिपर्णी सहानिशे ।
अहिण्डुकाभिर्दष्टानामगदो विषनाशनः ।"
(सुक. ८.५२)

अहित–वि., अपथ्यम् । (असंसू. १०.३१)
–सम्भूत–वि., अपथ्यादिभिर्वृद्धिङ्गतः (सुउ. ३९.६६)

अहित्थ–पु., वनस्पति० वनमेथिका (ध. ६.११३)

अहृद्य–वि., मनसोऽप्रियम् (सुचि. २६.९)
अरुचिकरम् । (सुउ. ४९.३)
हृदयाय अहितम् । (अहसू. ५.२६)

अहेतु–पु., असाधको हेतुः हेत्वाभासः । अहेतुस्तु चरकविमाने त्रिविधः; प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसमश्च । (चवि. ८.५७)
–क–वि., हेतुरहितम् कारणरहितम् (सुउ. ४०.१६३)

अह्रीक–वि., ह्री लज्जा, तद्धीनः लज्जाहीनः ।

आकण्ठम्–अव्य., तृप्तिपर्यंतम्, कण्ठपर्यंतम् अतिमात्रम् । (अहसू. १८.१४)

आकर–पु., उपादानम् । (असंसू. ६.१३३.३४)
कारणरूप द्रव्य.
खनिः (र. २३.३९)
समुदायः (असंसू. ६.१३४)
–संकर–पु., उत्पत्तिकारणानां संयोगः (असंसू. ६.१३४)

आकरालका–स्त्री., विदलधान्य० मसूरिका. (ध. ६.९५)

आकर्णिकम्–अव्य., कर्णिकां मर्यादीकृत्य (सुचि. ३८.३)

आकस्मिक–वि., कारणं यस्य नोपलभ्यते तद् विनैव संसर्गप्राक्तनकर्मपीडित्वेन जातो रोगः । (सुसू. २४.७)

आकाङ्क्षा–स्त्री., इच्छा० (सुचि. ३७.६९)

आकार–रूपम् । (च. इं. १.३)

आकार–पु., अभिनयः (चवि. ८.२०)
आकृतिः लक्षणम् । (अह. नि. १)

–करभ पु., वनस्पति० गुणाः–कटुक उष्णो बलकृद्वातघ्नः शोथप्रतिश्यायघ्नश्च, (शालिग्रामनि.)
N. O.—Compositae
L—Anacylus Pyrethrum
Eng—Pellitony
हिं.—अकरकरा; म.—अक्कलकारा;
गु.—अक्कलकरो; बं.—अकीरकोरा
ता.—अक्किरकारम्;

आकाश–न., महाभूत० नभः, सत्वबहुलमिदम् (सुशा. १.२०)
–गङ्गा स्त्री., नभसि नद्याकारा घनतारकसंततिः । (सुसू. ३०.२०)
–ज–वि., आकाशोत्पन्नं द्रव्यगुणादिकम् (असंशा. ५)
–दर्शन–न., नीलवर्णज्वालाया दर्शनम् (र. १३.३३)
–देवता 'आकाशं खानि ते पान्तु' इति (सुसू. ५.२८)
खनिज० अभ्रकम् । (रा. १३.२)
–मांसी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः शीता वर्णकारिणी, शोफव्रणनाडीरुजालूतागर्दभजालघ्नी च । (रा. १२.९५)
N. O.—VALERIANACEAE
L.—NOR DAS TOCHYE JATA MANSI
ENG.—SPIKENARD.
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० ख वल्ली० (रापरि. ३.१९)
–सलिल–न., दिव्योदकम् । (रा. १४.३२०)
हिं.–जटामांसी;
म.–जटामांसी;
फारसी–सुबूल.

आकाशात्मक–वि., आकाशीयम् । (चशा. ४.१२)
आकाशगुणभूयिष्ठं द्रव्यादि । (चसू. २६.११)

आकुञ्चन–न., संकोचक्रिया (सुशा. ७.३)
कुटिलीकरणवद् वेदनाविशेषः (सुसू. २२.११)

आकुल–वि., व्यस्तं व्याकुलमसंगतम् (चवि. ८.६७)

आकुली–स्त्री., वनस्पति० गन्धनाकुली (र. १७.६९–७५)
गंधनाकुली.

आकृति–स्त्री., लक्षणम् (चचि. ३.८–९)

आकृष्ट–न., आक्रोशः (सुसू. २९.४४)

आकोटनम्–न., पीडनं, ताडनम् । (चशा. ८.४१)

आकोठितम्–वि., ताडितम् । (चचि. १३.४८)

आक्त–वि., मिश्रितम्। (सुचि. ९.१६)
आक्रन्द–पु., आक्रोशस्वनः। (सुसू. २९.४४)
आक्रमण–न., क्रामणं, संक्रामणम्। घनसारचतुर्जात-कंकोलं कटुकीफ (प) लम्, फ (प) लं ताम्बूल-वल्लीनां रसस्याक्रमणं परम्। (र. ३०.९०)
आक्रय–पु., मूल्यम्। (चसू. १५.३)
आक्ष–वि., अक्षस्य बिभीतकस्येदं तैलफलादि (सुसू. ४६.२००)
आक्षिक–न., बिभीतकम्। (सुसू. ४६.१९४)
अक्षिकीफलम्। (सुसू. ४६.१९४ ड.)
आक्षिकी–स्त्री., बैभीतकी (बिभीतककृता) सुरेयं पाण्डुरोगव्रणहिता दीपनी च।
आक्षेप–पु., आकर्षणम्। (अहसू. २८.५)
आदानम् (अहसू. २१.१२)
क्षोभः (अहसू. ५.९)
वातरोग० आक्षेपक० (चचि. २८.२३)
आक्षेपकनामकः एकः वातिकः रोगः
आक्षेपक–पु., वातरोग० अशीतिर्वातविकारेष्वेकः। (चसू. २०.११)
निरुक्तिः–हस्त्यारूढपुरुषस्येव देहचालनादाक्षेपादाक्षेपकः, 'मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपक इति स्मृतः। (सुनि. १.५१)
संप्राप्ति–यदा कुपितो वायुः सर्वा धमनीरभ्येति तदा स मुहुर्मुहुर्देहमाक्षिपति। (सुनि. १.५१)
लक्षणम्–गात्राणां पाणिपादयोश्च मुहुराक्षेपणं सस्नायुकण्डराणां सिराणां संशोषणञ्च। सर्वेष्वाक्षेपकेषु गते वेगे स्वास्थ्यं भवति। (चचि. २८.५०)
अपतानकस्य दण्डायामादिभेदा आक्षेपकस्य विशेषाः। (सुनि. ५२.५८)
आक्षेपण–न., अंगविक्षेपः (सुनि.१.३१)
अङ्गस्याकर्षणेन त्रोटनम् (इन्दु) (सुनि. १५.३)
आक्षोड–पु., अक्षोटः (ध. ५.६०)
आखु–पु., मूषकः (सुशा. ४.६७)
वृक्षमूषिकः (सुउ. ४१.३६)
-कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० मूषककर्णी, मूषिकपर्णी. (चसू. ४.११ र. ११.५२–५७)
-कर्णी–स्त्री., वनस्पति० मूषककर्णी–मूषकपर्णी. (चसू. ४.११ (१५)

N. O.—IPOMOCA RENNIFORMIS

L—LECT CARE MOFIFLORA

हिं.—मूसाकानी.
म.—उंदीरकानी, भोपनी.
गु.—उंदीरकानी
बं.—उंदूरकानी पाना
त.—चवारिया रकून्तल
फा.—गोरोमुष, सतर.
-दंती–(चसि., ८.९.१०)
दन्ती नामक वनस्पति०
-घृत–न., योग० इदं मूषकैः सह विपक्वमस्ति, ऊर्ध्वजत्रुजरोगेषूपयुज्यते। (चचि. २६.१७५)
-पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (ध. १.२२९) (चचि. ३०.१०७)
-पर्णी–स्त्री., वनस्पति० दन्ती. (चसि. ८९.१०)
-विन्ना–स्त्री., वनस्पति० मूषकपर्णी, मूषिकपर्णी (असंउ. ४६ पृ. ३७८)
-विषहन–पु., वनस्पति० देवदाली (ध. १.१७३)
-वृक्ष–वनस्पति० मदनफलम् (असंउ. ४६ पृ. ३७८)
आगति–स्त्री., संप्राप्ति. (चनि. १.११)
आगन्तु–वि., पश्चात्कालभावि (चइ. १२.६५)
बाह्यहेतुजोऽभिघातनिमित्तो निजेतरो रोगप्रकारः (चसू. २०.३, सुसू. १.२५)
हेतवः–अभिशापाभिषङ्गाभिघातपतनपीडनबन्धनव्यधनरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादयः (चसू. २०.४, अहसू. ४.३२)
निजागन्त्वोर्भेदः–निजो दोषोत्थः; तस्मिन् पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते, ततो व्यथाऽभिनिर्वर्तते बाह्यहेतुजस्त्वागन्तुः तस्मिन् प्रहारेण व्यथापूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम् (असंसू. २२)
आगन्तुभेदाः–शारीराः मानसाश्च (चसू. १.३६)
आगन्तुरोगाः–आगन्तुज्वरः (असंनि. २.३५)
आगन्तुविद्रधिः (सुनि. ९.१३)
आगन्तुशोफः (चसू. १८.४)
आगन्तुशल्यम् (सुसू. २६.६) एते शारीराः। कामक्रोधलोभाद्याश्च मानसाः। (अहसू. ४.३२)
-भवा–वि., सप्तविधनिद्रास्वेका (असंसू. ९.६८)
शस्त्रप्रहारादिना जाता सुश्रुते 'आगन्तुकी' नाम्नैषा निर्दिष्टा।

आगन्तुक–वि., शारीरेतरशल्यप्रकारः। (सुसू. २६.४)
शारीरं दन्तरोमनखादिधातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो पदार्थास्तृणकाष्ठपाषाणलोहलोष्ट्रप्रभृतयो दुःखमुत्पादयन्ति। (सुसू. २६.६)

आगन्तुकी–वि., सप्तविधनिद्रास्वेका। (चसू. २१.५८)
रिष्टभूता, शस्त्रप्रहारादिना वा जाता विसंज्ञता। 'आगन्तुभवा' नाम्नाऽस्या निर्देशो वाग्भटे (अहसू. ९.६८)

आगम–पु., आगच्छत्यस्मादिति आगमो हेतुः (चवि. २२.२४)
हेतुः, कारणं, निदानं योगः संयोगो वा (चशा. १.९८)
आगमनं, प्रवेशः, प्रारम्भो वा (अहनि. २.१०)
आयुर्वेदः, तस्योपदेशो वा (असंसू. २२)
आगमयति बोधयति सूक्ष्मविप्रकृष्टानर्थानित्यागमः, वेदः, शास्त्रम् (सुसू. ४०.४)
परीक्षणार्थे प्रयुक्तेषु प्रमाणेष्वेकम् (सुसू. १.१६)
आप्तागमः। (चसू. ११.२७)
आप्तोपदेशः। (चवि. ४.३)
आप्तवचनम्। (चवि. ४.४)
ऐतिह्यम्। (चवि. ८.४१)
इत्येतेऽस्य पर्यायाः
प्राचीनो रसाचार्यः। (र. ६.५२)

आगमावर्ती–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.८)

आगस्त्य–वि., अगस्त्यवृक्षस्येदम् (सुसू. ४६.२८२)

आगार–न., गृहम्, स्थानम्. (सुचि. ६.४)
–कर्णिका–स्त्री., गृहसंबन्धिकाष्ठः, गृहाच्छादनमध्ये गृहाच्छादनकाष्ठनिबन्धनी। (चसू. ३०.५)
–गोधिका–स्त्री., प्राणि० गृहगोधिका (सुचि. १.१०८)
–धूम–पु., भित्तिषु संचितो धूमः, गृहधूमः (सुचि. ९.१०)

आग्नेय–न., कृत्तिकानक्षत्रम् (असंउ. ४१ पृ. ३३८)
खनिज. सुवर्णम् (रा. १३.३)
महाभूतस्याग्नेः शरीरकार्ये शरीरांशो वा
आग्नेयानि–दर्शनं रूपं
पित्तमूष्मा पक्तिः संतापो मेधा वर्णो भास्तेजः शौर्यञ्चेति (असंशा. ५.११) (चशा. ७.१६)
यदग्निगुणभूयिष्ठं तत् तेजोभूयिष्ठम् (सुशा. ३.३)

आग्नेयी–स्त्री.,–छाया० इयं विशुद्धरक्ता दीप्ताभा दर्शनप्रिया च। (चइ. ७.११)
–ऋतु–पु., आग्नेयकालः, ग्रीष्मः (सुचि. ३.८–९)
–काल–पु., आदानकालः (असंसू. ४.६)
–ज्वर–पु., ज्वरस्य विधिभेदः (चचि. ३.३२)
–धूप–पु., धूप. का धूपकल्पाध्यायः
–मर्मन्–न., तेजोभूयिष्ठं मर्म, तच्च सद्यःप्राणहरम्। (सुशा. ६.१६)
–लोक–पु., अग्निभूताधिदैवतस्वभावो लोकः
–विसर्प–पु., रोग. विसर्पविशेषः आग्नेयो वातपित्ताभ्याम्। (चचि. २१.१४)
–व्याधि–पु., पैत्तिको रोगः (चनि. १.४)

आघट्टक– पु.,वनस्पति. अपामार्गभेदः, रक्तापामार्गः, अपामार्गः (रा. ४.३९०)

आघात–पु., अवरोधः, दुष्टिः (सुउ. ५८.१)
–काल–पु., ग्रहादीनामावेशकालः (चचि. ९.११)

आघातन–न., वधस्थानम्, घातस्थानम् (चसू. ८.१९)

आघ्रात–वि., उत्पलादिपुष्पानुप्रविष्टं नस्योपयोज्यं वामकं द्रव्यं; घ्राणेन गृहीतम्

आचमन–न., योनिप्रक्षालनोदकम् (सुशा. २.१२–१३ ड.)
वनस्पति० वालकम् (ध. १.४७)

आचमनीय–वि., पात्र० आचम्यते येन पात्रेण तत् (चसू. १५.७)

आचय–पु., समन्ताच्चयनम्, समुदायः (अहसू. ७.२३)

आचार–पु., शास्त्रशिक्षाकृतो व्यवहारः (चइं. १.३)
कायवाङ्मानसं कर्म। (सुसू. १.२७)
कुलदेशाद्यनुगतं लौकिकं विधानम् (सुसू. २.३)
–चपल–वि., सर्पसत्वलक्षण०
व्यापारे चपलः। (सुशा. ४.८९–९०)
–रसायन–न., आचार एव रसायनम् यथा सत्यभाषणं, अक्रोधः, मद्यमैथुनान्निवृत्तिः, अहिंसा, प्रियभाषणं जपशौचपरता, धैर्यं, दाननित्यता, देवगोब्राह्मणाचार्य–गुरुवृद्धार्चनरतिः, नित्यमानृशंस्यपरता, नित्यं करुणार्द्रता, समजागरणस्वप्नता, युक्तिज्ञता,शास्त्राचारता, अध्यात्मप्रवणेंद्रियता, वृद्धास्तिकजितात्मनां सेवा, धर्मशास्त्रपरता च आचरणमेतत् नित्यरसायनमेव अपि च एतैर्गुणैस्समुदितै रसायनं यः प्रयुङ्क्ते स यथोक्तान्सर्वान्रसायनगुणान् समश्नुते। (चचि. १.४ ३०–३५)

-विधि-पु., पथ्याचारः—उष्णोदकोपचारी ब्रह्मचारी, क्षपाशयश्च स्यात्, यान्यहानि स्नेहं पिबेत्तान्यहानि, व्यायामवेगसंरोधशोकवर्षहिमातपप्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यशनसंस्थितिनीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च त्यजेत्। अग्रेऽपि तावन्त्येवाहानि व्यायामादि सर्वं त्यजेत्, सर्वकर्मसु व्याधिक्षीणेषु च प्रायोऽयमेव क्रमः
(असंसू. २५.४१-४४)

आचारिक-वि., स्नेहविध्युक्तः आहारादिनियमः
(अहसू. २८. २५)
आरोग्यनियमः। (सुचि. ६.४)
चर्या. (सुचि. ३८.११३)

आचार्य-पु., गुरुः, शास्त्राधिगमहेतूनां श्रेष्ठः।
(चसू. २५.४०)
मोक्षशास्त्रोपदेष्टा। (चशा. ५.१२)

आच्चित-वि., व्याप्तम्। (सुनि. १६.६)
युक्तम्। (सुचि. ३०.३५)

आचूची-स्त्री., बालानामौषधदानस्य साधनम्।
(कासि. ३ (पृ. १५४)

आचूषण-न., उपक्रम० चूषणम्-शृङ्गेण, अलाबुना (ब्वा) मुखेन वा स्तन्य-रक्तादीनां निष्कासनम्
(सुसू. ७.१७)

आच्छादन-न., आवरणम्। (अहसू. २६.४१)
आवापः (र. ८.५४)

आज-वि., अजस्य अजायाः वा इदम्

आजन्म-अ., जन्मप्रभृति. (अहसू. १०.७)
-सात्म्य-न., जन्मकालाद्यदुपशेते तत्
(अहसू. १०.७)
-सुरभिपत्र-पु., वनस्पति. जम्बीरः (रा. १०.८१)

आजानेय-पु., उत्तमकुलजातोऽश्वः। (चशा.८.९)
" आजानन्ति यतः संज्ञामाजानेयास्ततः स्मृताः "
(शब्दक. अश्वतन्त्रे.)

आज्ञा-स्त्री., अनुल्लङ्घनीय आदेशः
(सुसू. ३४.१०-११)
-विधेय-वि., आदेशकारी (सुक. १.१४-१६)
-सिद्ध-न., सिद्धयोग. कमलाविलासरसस्य अपरं नाम, निश्चितगुणकारि (र. २६.५२-५३)

आज्य-न., घृतम् (रस. २.७५)

आञ्छन-न., आकर्षणेन स्वस्थाने स्थापनम्
(सुचि. ३.१८)
यन्त्रकर्म. (सुसू. ७.१७)
भग्नोपक्रमः (सुचि. ३.१८)

आटक-पु., गुग्गुलुः (र. २०.१३०-१३६)

आटरूष-पु., वनस्पति० वासकः अयं तिक्तः कटुस्तुवरकः (भा. प्र.) शीतो, लघुः, स्वर्यो, हृद्यो, वातकृत् (भा. प्र.) कफपित्तघ्नो, रक्तविकारकासक्षयच्छर्दिकुष्ठज्वरतृष्णारक्तपित्तकामलावैकल्यादिघ्नः शाकार्थमप्युपयुज्यते. (ध. १.२३ (चसु. ३.३) (सुसु. ४६.२६२.२७०)
NO.—ACAN THACEAE
L.—ADHATODA VASIKA
हिं.—अडूसा, बिसोंटा, वासा.
म.—अडुळसा
गु.—अरडुसो.
बं.—वाकस, छोट वाकस.
त.—अधडोडे.

आटरूषक-पु., आटरूषः (सुसू. ४६.२६२.२७०)

आटव्या-स्त्री., वनस्पति०, कण्टकारीभेदः, कासघ्नी इति नाम (ध. १.९८)

आटा-स्त्री., पक्षि०, (अहसू. २६.१०)
-मुख-न., शस्त्र० आटीमुखम् (असंसू. ३४.२७)
(सुसू. ८.४)
-वदन-न., शस्त्र० आटीमुखम् (अहसू. २६.१०)

आटालत्व-न., विस्तृतत्वम् अटालत्वम् (चनि. ३.१४)

आटी-स्त्री., पक्षि० जलवर्धनी (सुसू. ८.४)
अयं समुद्रतीरे कोङ्कणप्रान्ते उपलभ्यते, बकसदृशः प्रसिद्धः पक्षी. द्रष्टव्यं 'आटा'.
-मुख-न., शस्त्र० अङ्गुष्ठायतं फलं, सप्ताङ्गुलं वृन्तं, केशप्रमाणधारं विस्रावणोपयोगि शस्त्रम्
(सुसू. ८.३)

आटोप-पु., रोगलक्षण० उदरे गुडगुडशब्दः
(चनि. ८.६)
उदरापूरः (सुउ. ४२.८)
नाभेरधो मन्दसञ्चारवायुता। (असंनि.११)
ईषत्सशब्दमाध्मानम्। (सुसू. १५.१५)
वातादीनामप्रवृत्तिः (सुक. १.४२)
रुजापूर्वकक्षोभः। (सुनि. ९.२०)
क्षोभः (अहसू. २८.८)

आडुक-न., पात्र० बालानामौषधप्रदानार्थं क्षुद्रनौकाकारं साधनम् (कासि. ३ पृ. १५५)

आढ-न., मान० आढकम् (र. ९.३९)

आढक-न., मान० चतुःप्रस्थमाढकम् (चक. १२.९४)
षट्पञ्चाशदधिकद्विशततोलमानम् २५६ तोलकाः
(र. १४.५६)
पात्रकापरपर्यायम् (र. ११.८)

(आढकी)–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०६) वनस्पति० शिम्बीधान्य० (चसू. २१.२६ घ. ६.९३) तद्गुणाः–कषाया, स्वादुः शीता कटुर्लघुः किञ्चिद्वातकरी, संग्राहिणी, कफपित्तघ्नी, मेदोरक्तपित्तघ्नी, लेपोपयोगिनी च, त्रिप्रकारैषा सितासितरक्तभेदात्। (ध. ६.९३)

NO.—PAPILIONACEAE
L—CAJANUSINDICUS
ENG.—PIGEON PEA, DHULL
हिं. —अडहर. अरहर. तोर. डुमुर.
म. —तुरटी.
गु. —तुवर, डंगरी.
बं. —अडहर, आइरी.
त. —तुवरै, इयवै.
फा. —शाखुल.

आढ्य–वि., धनवान् (अहसू. १.२९)
–पवन–पु., रोग० ऊरुस्तम्भः (अहसू. १५.३६)
–मारुत–पु.. रोग० आढ्यवातः वातरक्तम् (अहसू. १९.८) द्र० "आढ्य पवन"
–रोग–पु., वातरक्तम् (असंनि. १६.५)
–रोगिन्–वि., वातरक्ती (अहसू. १७.२२)
–वात–पु., रोग० वातरक्तम्, अयमाढ्यानां प्रायो भवतीत्याढ्यरोगः (चक्र) चचि. २९.११)

आणि–स्त्री., मर्म७ जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलम् आणी नाम, स्नायुमर्मैतद् वैकल्यकरं च। तत्र (विद्धस्य) शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च (सुशा. ६.७)

आणी–स्त्री., आणि मर्म (सुशा. ६.७) द्र० 'आणि'

आण्डूक–न., खनिज०, वङ्गम् (रा. १३.१४)

आतङ्क–पु., व्याधिः, दोषाः, यक्ष्म, ज्वरः (चनि. १.५, चवि. ६.४, चचि. ३.११)
–विपरीत–वि., केवलव्याधिघ्नं भेषजम् (चवि. २.१३)

आतत–वि., व्याप्तम्। (सुशा. ९.९) (सुसू. १७.५, सुनि. १२.६)

आतप–पु.. सूर्यातपः, रविप्रकाशः, तेजःपरमाणुपुञ्जः, तद्गुणाः–पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत् (सुचि. २४,८६)
–त्र–न., छत्रम् (असंशा. ८.३२) लंघनप्रकारः, आतपसेवनम्। (चसू. १२.१८) मध्यबलस्थूलमनुष्येषु स्थौल्यापनयनाय (चसू. १२.२३) दुष्टव्रणपीडितेषु कुष्ठिषु तैलपानाभ्यङ्गादनन्तरमन्तःशोधनार्थं प्रयुक्तश्चिकित्सोपक्रमः (सुचि. ९.६६)
–दग्ध–परिवः रोग० सूर्यातपादिभिः दाहः (सुसू. १२.३८)
–सह–वि., य आतपं सहते सः (चसू. १३.४७))
–सहत्व–न., लक्षण० आतपसेवने क्षमत्वम् (चनि. १.३३)
–हत–वि., सूर्यतेजसा हतम्। (चसू. २७.३१६)

आतपासहत्व–वि., लक्षण० आतपस्यासहिष्णुत्वम् (चनि. १.३३)

आतस्य–वि., अतस्या इदम्। (चसू. २७.२९२)

आतुर–वि., रोगी. (चसू. १.२४, सुचि. ३३.५)
–गुण–पु., रोगिणो गुणः "निर्देशकारित्वमातुरगुणानां श्रेष्ठम्" (चसू. २५.४०) (असंसू. १३,) द्रष्ट० 'रोगिन्.'

आतुरावस्था–स्त्री., आतुरस्यावस्थारूपः कालः, स कालाकालरूपो द्विविधः कार्याकार्यविचारतः। (चवि. ८.१३२)

आतुरोपक्रमणीय–पु., अध्याय० (सुसू. ३५.१)

आतुरोपद्रवचिकित्सित–न., अध्याय० (सुचि. ३९.१)

आतुर्य–न., आतुरस्य भावः रोगः (चवि. १.७९)

आत्त–वि., गृहीतम्। (अहसू. १.२८)

आत्मन्–पु., जीवः ज्ञानप्रतिसंधाता, क्षेत्रज्ञः (चसू. १.४२) (सुशा. ५.३)
देहः (सुशा. ३.७)
कर्मात्मा, बद्धपुरुषः (सुसू. १५.४१)
जीवात्मा, मनः (चवि. ८.३९)
–गुप्त–न., आत्मगुप्तायाः फलम्, कपिकच्छुः (सुसू. ४६.३६)
(–गुप्ता)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (सुउ. ५२.४१) द्र० 'आत्मगुप्त'.
–गुप्तातैल–न., कपिकच्छुबीजभवं तैलम् (ध. ६.१३५)
–गुप्ताशूक–पु., वनस्पति० कपिकच्छोः शूकः (चसू. १८.४)
–ज–वि., आत्मनो जायत इति (चशा. ३.३) न., गर्भस्यात्मजन्यो भावः (चशा. ३.१६) तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृति–स्वर–वर्ण–विशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेति (चशा. ३.१०) मन्मथः (चचि. २.३–३०)

–जा–स्त्री., वनस्पति० पुत्रजीवा (चक्र) (चचि. ३.२६७)

–प्रत्यक्ष–वि. मानसप्रत्यक्षज्ञानविषयः, सुखदुःखेच्छाद्वेषादय आत्मप्रत्यक्षाः (चवि. ८.३९)

–रक्षा–स्त्री., भूतावेशनिषेधार्थं मन्त्रैरात्मनो रक्षणम् (चचि. २३.६१)

वनस्पति० इन्द्रवारुणीभेदः, महेन्द्रवारुणी (ध. १.२५०)

–लिङ्ग–न., स्वरूपम् । (सुनि. १०.३)

–वत्–वि., बुद्धिमान् । (सुसू. ३४.९)

वशी, संयमी (सुचि. ५.१९)

–विज्ञान–न., आत्मविद्या. (असंसू. ५.४२)

–शल्या–स्त्री., वनस्पति० = शतावरी (रा. ४.४३९)

–संपद्–स्त्री., अर्थग्रहणे प्रयत्नशालित्वम् । (चसू. ८.४)

आत्मनः चिरायुष्ट्वकारकधर्मयुक्तता (चशा. ६.३०)

आत्मनः शुक्रशोणितसंयोगाधिष्ठातुः शुभजीवकर्मयुक्तत्वम् । (चशा. २.६)

–साक्षिक–वि., आत्मोपलभ्यमानम् (चशा. १.८३)

–सात्म्य–न., आत्मनः स्वस्य सात्म्यम् (चवि. १.२५)

आत्मोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७२)

आत्ययिक–वि., अत्ययो विनाशो भवति अस्मादिति विघातकः (च.नि. २.११)

आत्रेय–पु., ऋषि० अत्रेरपत्यमात्रेयः पुनर्वस्वपरनामा, भरद्वाजशिष्यः, अग्निवेशादीनां गुरुः, भरद्वाजादायुर्वेदं प्रतिगृह्य शिष्येभ्यो दत्तवान् । (चसू. १.२)

–भद्रकाप्यीय–पु., अध्याय० (चसू. २६.१)

–भिक्षु–पु., ऋषि० (चसू. १.९)

–शासन–न., आत्रेयस्य वैद्यकशास्त्रम् (चसू. १.९३)

आथर्वण–पु., वेद० अथर्ववेदः

आदंशशोफ–पु., रोगलक्षण० दंशस्याऽऽसमन्ताज्जायमानः शोफः । (सुक ४.३७)

आदर्श–पु., दर्पणः (चइ. १२.७७)

प्रतिबिम्बदर्शनार्थं पूर्णचंद्राकारं कांस्यमयः (सुसू. ३०.२१)

–मण्डल–पु., सर्प० मण्डलिजातीयः (सुक.४.३४) (२)

आदान–पु., न; काल० आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनां च बलमित्यादानम् । (चसू. ६.४)

वसंतग्रीष्मवर्षास्वय ऋतवः आदानकालः अस्मिन्सूर्यः प्राणिनां बलमादत्ते (चचि. ३.४७)

न०, आवापः प्रक्षेपः (सुसू. ४६.३५२)

ग्रहणम्. हस्तस्य विषयः (सुशा. १.५)

–कर्मन्–वि., आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स (प्राणः) (चचि. १५.६)

आदानी–स्त्री., वनस्पति० घोषकभेदः । (चशा. ४.८७)

आदारिबिम्बी–स्त्री., वनस्पति० आदारशिम्बी, आलिः आउलिः (डसुउ. ४४.१९)

आदारी–स्त्री., वनस्पति० वेल्लान्तरसदृशपुष्पा लोहितफला, आलिः (डसुउ. ४४.१९)

वनस्पति० 'आदारी काकहन्ताळी तोया खदिरवल्यपि' (इन्दु) असंउ. १ पृ. ४)

आदि–पु., कारणम्, उत्पत्तिः (सुशा. १.४)

–काल–पु., कृतयुगम् (चचि. १९.४)

–देव–पु., शङ्करः ब्रह्मादिर्वा (सुसू. १.२१)

–बलप्रवृत्त–वि., शुक्रशोणितस्थितदोषजनितः तेऽपि द्विविधा मातृजाः पितृजाश्च (सुसू. २४.५)

–मधु–न., पुराण मधु (र. १७.६२–६४)

–वन्ध्या–स्त्री., वन्ध्याभेद० आजन्मवन्ध्या, पापकर्मविनिर्मिता (र. २२.१–२)

आदित्य– पु., देवता० रविः, असावेव स्वरश्मिभिः शीतोष्णवर्षाः गतिविशेषेण कालविभागं च कुरुते (सुसू. ६.४)

पुरा द्वादश आदित्या आसन्, इन्द्रो भगः पूषाऽर्यमा मित्रावरुणौ धाता विवस्वानंशो भास्करस्त्वष्टा विष्णुरिति, तेषां त्रयोदशो गुहोऽभवदहस्पतिर्नाम । (का. रेवतीकल्प ६. पृ. १८८)

–कान्ता–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (ध. ४.९८)

–पर्णिनी–स्त्री., वनस्पति० सोमसमवीर्यौषधिः तदुत्पत्तिस्थानं देवसुंदहृदः सिंधुनदश्च ।

एषां मूलिनी, सुरक्तांशुककोमलैः पञ्चभिः पत्रैर्युक्ता, आदित्यानुवर्तिनी, कनकाभा, जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पिणी च (सुचि. ३०.१९–२०)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० आदित्यपर्णिनी सूर्यावर्तः (चक्र) (चचि. २६.२६८)

सूर्यकान्ता, सूर्यवल्ली (चचि. १. (४) ७)

आदित्यानुवर्तिनी (सुचि. ३०–३१)

–भक्ता–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला सूर्यमुखी तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा, (शीता. रा.) स्वर्या, कफघ्नी, स्फोटत्वग्दोष–कण्डू–व्रण–कुष्ठ–भूत–ग्रह–शीतज्वरघ्नी च (घ. ४.९९)
N.O. COMPOSIEAE
(NAD. VOL. I/614)
L.—HELIANTHUS ANNOUS LINN.
हिं.—सूरजमुखी
म.—सूर्यफूल, सूरजमुखी
गु.—सूरजमुख
बं.—सूरजमुखी
त.—आदित्य भक्तिचेट्टु
फा.—गुली अफताब

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (घ. ४.९८) द्र० 'आदित्यभक्ता'

आदिम–पु., कश्चिद्रससिद्धिप्रदायकः सिद्धः (र. १.२–५)

आदृत–वि., सादरः (सुक १.२४)

आदेयवाक्य–वि., ग्राह्यवचनः (ग्राह्यं वचनं यस्येति) (चशा. ४.३७–३)

आद्य–न., अन्नम्। (चसू. ६.५०)

आद्यमत–वि., आध्मायमानः (चसि. २.१२)

आधान–न., स्थापनम्। (असंनि. १.२१)

आधार–पु., औषधिधारणार्थं नेत्रगोलकाद्बहिः माष-पिष्टकृता पाली (असंसू. ३३.४)
कफामपित्तपक्वादीनामाशयोऽधिष्ठानं वा। (अहृशा. ३.१०)

आधारी–स्त्री., वनस्पति० गुडूची, शतावरी (र. १७.४३–४६)

आधि–पु., मनोव्याधिः। (असंउ. ९. (पृ. ७३)

आधिदैविक–वि., देवेष्वधिकृत्य यद्वर्तते तदाधिदैविकम् (सुसू. २४.४)

आधिभौतिक–वि., भूतेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तदाधिभौतिकम्। (सुसू. २४.४)

आध्मात–वि., आध्मानयुक्तपुरुषः। (असंसू. २७.१०)
वातपूर्णम्। (सुनि. १.८८)

–कन्धर–वि., समन्ताद्ध्माता कंधरा ग्रीवा यस्य (अहृउ. ७–१०)

–ग्रीव–वि., पूरितस्तब्धग्रीवः। (चनि. ८.८)

आध्मान–न., रोगलक्षण० उदरे वायोरतीव संचयः अनिलपूरणम्। (चसू. २६.१०२)
वातरोग०, वातनिरोधाद्यदा उदरमतीवाऽऽध्मात-मत्युग्ररुजं साटोपं च भवति तं रोगमाध्मानमिति विद्यात् (सुनि. १.८८.)
वाग्भटे 'आनाह' इत्यस्य संज्ञा (अहृनि. ११.६०)
अस्य चिकित्सा—लंघनं, पाणितापः (स्वेदनं) फलवर्तिक्रिया पाचनीय–दीपनीय,–बस्तिप्रयोगाः लङ्घनानन्तरमन्नकाले जीरकादि–दीपनसिद्धान्य-न्नानि च देयानि (सुचि. ५.२६)

आध्मापन–न., आध्मानम् (चसि. १.३३)

आध्यात्मिक–वि., आत्मसंबद्धम्, आत्मन्यधिकृत्य वर्तत इति. (सुसू. २४.४)

आनडुह–वि., वृषभस्येदम् (चर्मादि) (चशा. ८.१०)

आनद्ध–वि., आनाहयुक्तम्, आध्मातम् (सुउ. २४.६) आच्छादितम् (सुसू. ६.३१)

–वस्ति–वि., रोगलक्षण० आध्मातमूत्राधारः (सुउ. ५५.१०)

–वस्तिता–स्त्री., बस्तिप्रदेशेऽत्याध्मानम् (सुशा. ९.१२)

आनन–न., शारीर० मुखम्। (असंशा. ८.३०)

–दूषिक–पु., क्षुद्ररोग० मुखदूषिका (र. २५.२)

आनन्द–पु., कामः (सुशा. १.५)

–भैरव–पु., सिद्धयोग० त्रिदोषजातिसारघ्नः (र. १६.७–१०)

(–भैरवी)–स्त्री., सिद्धयोग० इयमश्मरीं हन्ति। (र. १७.१२–१३)

–भैरवघृत–न., सिद्धयोग० त्वग्वातघ्नमिदम् (र. २१.१७०–७१)

आनाम–पु., आनमनम्, वक्रीकरणम् (सुचि. ३३.४६)

आनाह–पु., स्थौल्यम्, परिणाहः (अहृसू. २५.१४)
रोगलक्षण० उदरस्याध्मानम् वायुना परीपूरणम्। (चवि. २.७)
रोग० तस्य संप्राप्तिः–क्रमेण निचितमामं शकृद्वा भूयो विगुणानिलेन (उन्मार्गवायुना) विबद्धं सद् यथामार्गं न प्रवर्तते, स आनाहः (सुउ. ५६.२०–२१)
"यस्य वातः प्रकुपितः कुक्षिमाश्रित्य तिष्ठति।
नाधो व्रजति नाप्यूर्ध्वमानाहस्तस्य जायते॥"
(चसू. १८,३२

स आमसमुद्भवः पुरीषजश्च, आमसमुद्भवे तृष्णा, प्रतिश्यायः, शिरोविदाहः, आमाशये शूलमामाशयगुरुत्वमुत्क्लेशनमुद्गारविघातनं चेति लक्षणानि (सुउ. ५६.२१–२२)

पुरीषजानाहलक्षणानि–कटि–पृष्ठ–पुरीष–मूत्राणां स्तंभशूलौ, श्वासः, कुक्ष्यानाहः विड्वमनं, वातवर्चोनिरोधः, तृष्णोद्गारावरोधः कुक्षौ निरुद्धवायोरुपरिधावनम् (सुउ. ५६.२२–२३)

बालानामानाहरोगे लक्षणानि–विशालस्तब्धनयनता पर्वभेदोऽरतिः क्लमो मूत्रानिलविट्रोधश्च (कासू.२५.१९)

वंक्षणाश्रये आनाहे लक्षणम्–वंक्षणप्रदेशे संनद्धवातादिवत् (चचि. १४.१३३)

सामान्यचिकित्सा—स्वेदनपाचने गुदे वर्तिनिवेशनं नाड्या चूर्णप्रधमनं निरूहानुवासनबस्तिश्च। (सुउ. ५६.२४–२५)

आनील–न., खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३)

आनुपूर्वी–स्त्री., क्रमः परिपाटी (सुउ. ६५.२९)

आनुबन्धिक–वि., अनुबध्नाति, जन्मान्तरेऽप्यनुगच्छतीति। (चवि. ८.३७)

आनुलोमिक–वि., अनुलोमत्वकरम् (अहसू. १९।४७.४८)

आनुलोम्य–न., प्रवर्तकत्वम्। (सुनि. १.१०)

आनुवासनिक–वि., अनुवासनबस्तावुपयुक्तम् (स्नेहादि) (चचि. ३.२५१)

आनूप–वि., अनूपसंश्रयादानूपः (चसू. २७.५४)

पु., जलभूयिष्ठो देशः

तल्लक्षणम्–तत्र बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः (सुसू. ३५.४२)

हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः शिशिरपवन बहुलोवञ्जुलवानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः (चक. १.८)

अहितदेशानां श्रेष्ठः। (चसू. २५.४०)

–पिशित–न., आनूपप्रदेशस्थप्राणिनां मांसम् (चसू. ५.५)

स च पञ्चविधः–कूलचराः, प्लवाः, कोषस्थाः, पादिनो मत्स्याश्च (सुसू. ४६.९३)

–भूमि–स्त्री., आनूपदेशः, आनूपभूमिः अहितदेशानां श्रेष्ठा (असंसू. १३.३)

–मज्जा–स्त्री., स्नेह० महिषादीनां मज्जा; तस्याः गुणाः–मधुरा, गुर्वी, उष्णा, वातघ्नी च (सुसू. ४५.१३१)

–मांस–न., आनूपदेशचारि प्राणिजं मांसम् तद्गुरूष्णस्निग्धमधुरं बलोपचयवर्धनं वृष्यं वातहरं कफपित्तवर्धनं व्यायामदीप्ताग्निभ्यो हितम् (चसू. २७.५७)

–वर्ग–पु., आनूपदेशवासिप्राणिवर्गः (सुसू. ४६.९३)

–वारि–न., आनूपदेशस्थं जलम्, तदनेकदोषमभिष्यन्दि गर्हितं च (सुसू. ४५.३७)

–शफ–पु., महिषादीनां खुरः। (सुचि. १.९२)

आनृतिकत्व–न., राजसगुण०, मिथ्यावचनशीलता (सुशा. १.१८)

आनृशंस्य–न., सात्विकगुण० अक्रूरकर्मकारित्वम् (सुशा. १.१८)

आन्तरिक्ष–वि., आकाशीयभावः आकाशभूतगुणः आन्तरिक्षास्तु–शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च. (सुशा. १.१९)

वि., आकाशभूयिष्ठम्। (चशा. ७.१६)

वि., अन्तरिक्षादागतम्, मेघोदकम्, उदकानां श्रेष्ठम्। (सुसू. ४५.३ चसू. २५.४०)

आन्तरीक्षानुकारिन्–वि., यदन्तरीक्षमनुकरोति स्वच्छत्वादिभिर्गुणैः। (असंसू. ६)

आन्ध्य–न., नेत्ररोग० अन्धत्वम्, लिङ्गनाशः (सुशा. ६.२७ असंउ. १७)

आन्ध्र–पु., दाक्षिणात्यजनपदविशेषः (असंशा. १२.१९)

आपगा– स्त्री., नदी (सुचि. ३०.३९)

आपद्–स्त्री., संकटम्, व्याधिः। (चसू. १५.३)

आपन्न–वि., प्राप्तम् (चशा. ४.९)

–गर्भा–वि., लब्धगर्भा, गर्भिणी (असंशा. ४.३)

–सत्वा–स्त्री., लब्धगर्भा, गर्भिणी (सुउ. ४९.४–५)

आपमार्ग–पु., वनस्पति० अपामार्गः (र. २५.८६)

आपाकशाक–न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध २.८५)

आपातभद्र–वि., आपाततः कल्याणकारी (चवि. १.१६)

आपान–पु., धूमस्याक्षेपविसर्गौ (चसू. ५.३६)

न., पानम्, मद्यपानम् (चचि. २४.७५)

तत् सात्विक – राजस – तामसभेदात् त्रिविधम् (चचि. २४.७५–७८)

आपिञ्जर–न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२)

आपीत–पु., वनस्पति० नन्दीवृक्षः (ध. ३.१८)
न., खनिज० स्वर्णमाक्षिकम् द्रष्टव्यं ' माक्षिक '
(रा. १३.२०९)
न., वनस्पति० पद्मकेसरम् (ध.४.१६५)

आपोथन–न., विश्लेषणम् (सुचि. ३.५२)
प्रहरणम् (चचि. १.१४७)

आपोथिताग्र–वि. ईषत्क्षुण्णाग्रम् (चसू. ५.७१.७२)

आप्त–वि., यथार्थवक्ता, अवितर्कस्मृतिविभागविद्
निष्प्रीत्युपतापदर्शी (चवि. ४.४)
यथार्थम् (चक्र) (चवि. ८.८२)

–वचन–न., आप्तोपदेशः (चवि. ४.४)

आप्तागम–पु., वेदः शास्त्रवादः (चसू. ११.२७)

आप्तास्थित–वि., आप्तैराश्रितम् (सुसू. ४६.४४६)

आप्तोपदेश–पु., ऐतिह्यम् आप्तवचनं वेदादिः
(चवि. ८.४१)

आप्तोपसेविन्–वि., आप्तस्योपसेवकः आप्तवचनानुकारी-त्यर्थः (असंसू. ५.४६)

आप्ति–स्त्री., संप्राप्तिः (अहसू. १.२२)

आप्य–वि., जलीयम् (सुशा. १.१९)
पाञ्चभौतिकमपि जलगुणभूयिष्ठम्
(चसू. २६.११)
यद् द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसा-कफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च अब्धातु-प्रधानम् । (चशा. ७.१६)
आप्यास्तु–रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो, गुरुता, शैत्यं, स्नेहो, रेतश्च (सुशा. १.१९)

आप्यायन–न., वर्धनम् (सुसू. १.८. (८)

आप्यायनक–न., घटयन्त्रम् रसस्य बलकारकम्
(र. ९.५१)

आप्यायमान–वि., पुष्यमाणम् । (असंसू. ४.७)

आप्लावन–न., द्रवम्, द्रवद्रव्यम् (चशा. ८.४१)
भावना, मूत्रादिभिर्द्रव्याणां भावनम्
(सुसू. ४४.८४–८५)

आप्लुत–वि., व्याप्तम् (चइं. १०.१४)
मिश्रितम्, पूर्णम् (सुचि. ८.३०)

आफोट–पु., वनस्पति० आस्फोटः अर्कभेदः
(काखि. १५.१७)

आबाध–पु., शारीरो मानसो वा व्याधिः
(सुसू.२४.१२)
पीडा (सुसू. ४६.४३८–३९)

(आबाधा)–स्त्री., पीडा (सुचि.२४.१)

–वर्जन–न., मर्मोपघातकहेतुवर्जनम् (चसि. ९.१०)

आभरण–न., भूषणम्, पोषणम् (असंसू. ८.४४)

आभा–स्त्री., वृक्ष० बब्बूलः (बर्बुरः)
(र. २३. ४३–४४)

आभास–पु., पारदबन्ध०, योगयुक्तः पारदः पुटनानन्तरं भावनानन्तरं च यदा विमुक्तो भूत्वा स्वभावं याति तदाऽनेन शब्देन व्यवह्रियते (र. ८.१७)
पुटितो यो रसो याति योगं मुक्त्वा स्वभावताम् ।
भावितो धातुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृतैः ॥
(र. ११.६८)

आभिप्रायिक–वि., अभिप्रायप्रयोजकम्, इष्टम्
(चशा. ८.५०)

आभीर–पु., कुरुक्षेत्राद्दक्षिणां दिशमाश्रितो देशः; गुर्जर-देशस्य दक्षिणपूर्वभागस्थो नर्मदामुखप्रदेशः ।
(काखिल. २५.१४)

आभुग्न–वि., ईषज्जिह्मम्, कुब्जीभूतम्
(सुनि. १५.१०)

–शिरस्–वि., संकुचितं शिरः यस्य स आभुग्नशिराः गर्भः (सुनि. ८.५)

–सक्थी–वि., मूढगर्भ० यस्य आभुग्ने संकुचिते सक्थिनी जङ्घे सः (सुचि. १५.९)

–सक्थी–वि., यस्याः जानुमध्ये सक्थिनी संकुचिते सा (सुशा. १०.८)

आभोग–पु., परिपूर्णता, प्रमाणं, विस्तारः परिधिर्मध्य-भागः । (र. १०.३४–३९)

आभ्यन्तर–वि., शरीरान्तर्वर्ति । (सुउ. २३.५)
पु., शारीर० महास्रोतः (असंसू. २२.१५)

आम–वि., अपक्वम् । (सुसू, ४६,२०९)
अश्रुतम्, अक्वथितम् (पयः स्नेह इ०)
(चनि. २.४)
पु., जठरानलदौर्बल्यादामाशयगतोऽपक्वोऽन्नरसः ।
(अहसू. १३.२५)
धात्वग्निदौर्बल्यादधातुस्थितोऽपक्वोऽन्नरसः धात्व-ग्निभिरपाकादामः (सुसू. १५.३२ (डल्हण)
कोद्रवेभ्य उत्पन्नविषस्येव अतिदुष्टदोषाणामन्यो-न्यसंमूर्च्छनादुत्पन्नो आमः (अहसू. १३.२६)
मलसंचयः प्रथमा दोषदुष्टिर्वा
(चचि. १५.९३ (चक्र)
आमस्वरूपम्–गुरु, अनेकवर्णं, स्निग्धं, बहुपिच्छिलं तन्तुमद्, दुर्गन्धं, द्रवरूपम् ।
(अहसू.१३.१७ (अरुणदत्त)
आमावस्था—आमसंपृक्ता दोषा दूष्या रोगश्चा

सामाः, आमवियुक्ता निरामा इत्युच्यते।
(अहसू. १३.२७)
रोग० विंशतिकफरोगेष्वेकः (कासू. २७.४१)
स द्विविधः-विसूचिका अलसकश्च (चसू. १९.३)
दण्डालसकविलम्बिकारोगावामजन्यौ
(अहसू. ८.१३-२८)

-कोशिन्-वि., आरूढकर्णस्य वर्धनेन जायमानोऽयं दोषः, असम्यग्रूढमध्यकर्णः (सुसू. १६.२४)

-गन्धास्यत्व-न., रोगलक्षण० रक्तपित्तस्य वक्त्रे विस्रगन्धित्वम्। (अहनि. ३.५)

-(गन्धा)-स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०९)

-गन्धि-वि., आमस्यापक्वाऽऽहाररसस्वरूपस्य गन्धोऽस्यास्तीति, विस्रगन्धिः अम्लगन्धिर्वा
(चचि. १५.५४)

-गन्धिक-वि., आमगन्धि, आमगन्धयुक्तः
(सुउ. ४०.१७५)

-गन्धित्व-न., रोगलक्षण० रक्तपित्ते पूर्वरूपविशेषः।
(चनि. २.६)

-गर्भ-पु., षण्मासं यावद्गर्भः (सुउ. ४२.१३)
अपक्वो गर्भोऽण्डादिरूपः (चशा. ६.१०)

-(गर्भा)-स्त्री., आमो गर्भो यस्याः सा
(चशा. ८.३१)

-गर्भभ्रंश-पु., रोग० आमगर्भस्य भ्रष्टता पतनं वा (असंसू. २७.७)

-गर्भशेष-पु., आमगर्भपतनानन्तरं तस्य अपरादिकः शल्यरूपः शेषः (असंशा. ४.१०)

-घ्नी-स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३८)

-ज्वर-पु., रोगावस्था० तरुणज्वरः सामज्वरः आमावस्थितो ज्वरः। (अहसू. १८.७)

-तैल-न., अपक्वतैलम्, तिलकल्कनिपीडनेन मुष्टितः परिस्रुतं तैलम् (सुसू. १६.७)
सद्यस्कमनग्निसंबद्धं तैलम् (सुचि. ३.३४)
तलभङ्गेऽस्थिभङ्गे च परिषेकार्थमुपयुज्यते।
(असंउ. ३२ (पृ. २४१)

-दोष-पु., अग्निमान्द्यादपक्वो रसधातुरामाशयस्थो दुष्टश्च आम इत्युच्यते; स एव आमदोषः
(सुउ. ५०.४)

-पक्वाशय-पु., शारीर० आमस्य पक्वस्य चाशयः, कोष्ठः, महास्रोतः शरीरमध्यमित्येतस्य पर्यायाः आभ्यन्तररोगमार्गश्च (चसू. ११.४८)

-पक्वाशयचर-वि., कोष्ठचरः (सुनि. १.१६)

-पक्वाशयान्तर-न., आमाशयस्य पक्वाशयस्य च यदन्तरं तद्, आमाशयपक्वाशययोर्मध्यभागः
(सुशा. ९.७)

-पक्वैषणीय-वि., अध्यायसंज्ञाविशेषः, सुश्रुतसूत्रस्थानगतसप्तदशोऽध्यायः (सुसू. १७.१)

-पाचन-वि., आमस्य पाचनं करोति तत्
(सुसू. ३८.२३)

-पित्त-न., आमावरोधवृद्धपित्तम्।
(चचि. २२.१५)

-प्रजाता-स्त्री., या आमगर्भं प्रसूते सा।
(चसि. २.१४)

-प्रदोष-पु., रोग०, आमः, अपरिपक्वरस-धातुरूपेणाऽऽमेन जनितो विकारः (चवि. २.१०)

-प्रदोषिकी-वि., आमविकारशमनी चिकित्सा
(चवि. ५.२६)

-मत्स्यगन्धिन्-वि., आममत्स्यस्येव गन्धो यस्य तत् (पुरीषम्) (चचि. १९.९)

-यव-पु., ईषद्भृष्ट-अदलितयवः (चचि. २२.२८)

-लिङ्ग-वि., आमलक्षणान्वितम् (अहसू. ८.२८)

-लोष्ट-न., आममृत्पिण्डः (सुउ. ४६.२१

-वात-पु., रोग० (चचि. २८.१९५)
सम्प्राप्तिः-मन्दाग्नेर्विरुद्धाहारचेष्टस्य निश्चलस्य स्निग्धान्नं भुक्त्वा व्यायामं कुर्वतो नरस्य वायुप्रेरित आमः श्लेष्मस्थानं गच्छति ततो वातविदग्धः सन् धमनीः प्रतिपद्यते, वातपित्तकफदूषित आमः स्रोतांस्यभिष्यन्दयति, दौर्बल्यं हृदयगौरवं च करोति, स्वरूपम्-युगपत्कुपितावामवातौ अन्तः कोष्ठे त्रिकसंधिप्रवेशकौ सन्तौ गात्रं स्तब्धं कुरुतः स व्याधिरामवात उच्यते। सामान्यलक्षणम्-अङ्गमर्दस्तृष्णाऽरुचिरालस्यं ज्वरोऽपाको गौरवमङ्गशून ता च।
अतिवृद्धामवातलक्षणम्-हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसंधिषु सरुजशोथं करोति, स देशो वृश्चिकैर्व्याविद्ध इवात्यर्थं रुजते, तत्र दोषलक्षणानि-पवनानुगे आमवाते शूलः, पित्तानुगे दाहरागौ, कफदुष्टे स्तैमित्यं कण्डुर्गुरुता च भवति।
उपद्रवाः-अग्निदौर्बल्यं प्रसेकोऽरुचिर्गौरवमुत्साहहानिर्वैरस्यं दाहो बहुमूत्रता कुक्षिकाटिन्यं शूलं निद्रानाशः तृट्छर्दिर्भ्रमो मूर्च्छा हृद्ग्रहो विड्ग्रहो जाड्यमत्रक्रूजनमानाहश्च। साध्यासाध्यत्वम्-एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषजो याप्यः, सांनिपातिकः सर्वदेहचरः कृच्छ्रः (मा०)

–विकार–पु., अजीर्णान्नजन्याधिः (अहसू. ८.२०)
–विष–न., रोग० विषसदृशलिङ्ग आमदुष्टिजन्यः असावाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वादसाध्यः (चवि. २.१२)
–शकृत्–न., अपक्वपुरीषम्; इदं कुक्षिशूलहेतुः (सुउ. ४२.१२४)
–शूल–पु., रोग० आमाज्जायमानः शूलः (र. ३०.३७)
शोफ–पु., आमावस्थितः शोफः (अहसू. २९.२)
–सन्न–वि., आमेन मन्दीभूतः (अहसू. ८.१८)
आमण्ड–पु., वनस्पति० एरण्डः (ध. १.२९५)
आमय–पु., रोगः (चनि. १.५)
प्रायेणामसमुत्थत्वेनामयः (चक्रः)
लिङ्गम्–लिङ्गरूपो व्याधिः । (चसू. २९.४)
न., वनस्पति० कुष्ठम् । (सुउ. ३९.२५६)
आमलक–न., वनस्पति०
तद्गुणाः–अम्लं, तिक्तं, मधुरं, शीतं, लघु, रूक्षं । (सुसू. ४४.७०–७१.)
वृष्यं रसायनं रुच्यं त्रिदोषघ्नं विशेषतः । पित्तघ्नं ज्वरदाहवमनप्रमेहशोफपित्तास्रश्रमविबन्धाध्मान-विष्टम्भघ्नम् (ध. १.२१५)
इदं वयःस्थापनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)
दाडिमाद्यम्लफलेषु श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३४)
कुष्ठघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.११–१३)
कासहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.१६)
विरेचनोपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
तन्मज्जा–अस्थ्यभ्यन्तरं स्निग्धमधुरद्रव्यम्;
तद्गुणाः–मधुरकषायं, पित्तनाशनं, तृष्णाच्छर्दि-निलघ्नं च (सुसू. ४६.२०६)
च्यवनप्राशाद्यनेकरसायनयोगानामामलकं प्रधानं द्रव्यम् (च. चि. १.१)
बालमामलकं व्यङ्गेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते । (असंउ. ३७)

N.O.—EUPHOR BIACEAE
ENG.—EMBLICA MYRO BALAN
L.–EMBLICA OFFICINALIS
हिं. — आमला
म. — आवळा
गु. — आवळो
बं. — आम्ला

त. — (तुप्पो)
फा. — आम्लझम्
(आमलकी)–स्त्री., वनस्पति० आमलकम् । (चक १०८)
तद्बीजं पाण्डुरे अ सृग्दरे प्रशस्तम् । (चचि. ३०. ११६–११७)
–घृत–न., सिद्धघृत०
रसायनविध्युपयुक्तं चेद् अजरायुःप्रदं सर्वामय-प्रशमनं च (चचि. १ (२) ४–६)
–रसायन–न., सिद्धयोग० दीर्घायुःप्राप्त्यर्थमुपयु-ज्यते (चचि. १ (१) ७५)
आमलकावलेह–पु., आमलककल्प अजराऽऽयुःप्रदम् (चचि. १ (२) ७)
आमलकाद्यघृत–न., सिद्धघृत० पित्तगुल्मशमनमेतत् (चचि. ५.१२२)
(आमलकी) पत्र–न., वनस्पति० तालीसकम् (ध. २.५३)
आमलक्यादिगण–पु., आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्र-कश्चेति गणोऽयं सर्वज्वरापहः कफारोचकनाशनो दीपनश्चक्षुष्यो वृष्यश्च (सुसू. ३८.६०–६१)
आमलसार–पु., गन्धकभेदः शुकपिच्छाख्यः पीतवर्णः । (र. ३.१५)
आमाजीर्ण–न., रोग० अजीर्णभेदः अजीर्णम् (सुउ. ४०.९५)
आमातिसार–पु., रोग० आमेनारब्धोऽतिसारः (अहसू. १९.४)
अतिसारस्य आमावस्था (चचि. १९.१५)
आमानिल–पु., रोग० आमवातः (र. २१.५०)
आमान्वय–पु., आमसंबन्धः (चशा. ८.२५)
आमाशय–पु., शारीर० आशयविशेषः, जन्तोर्नाभिस्त-नान्तरमामाशय इत्युच्यते, अत्राशितं खादितं पीतं लीढं च विपच्यते । (चवि. २.१७)
अन्नवहानां स्रोतसां मूलम् । (चवि. ५.८)
पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकः । (चशा. ७.१०)
अयं पित्ताशयस्योपरिष्टात्तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वा-त्तेजसश्चंद्र इव आदित्यस्य स चतुर्विधस्याऽऽहार-स्याऽऽधारः स च तत्रौदकगुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति, अयम् आमाशयः श्लेष्मस्थानम् (सुसू. २१.१२.)
असौ विशेषेण पित्तस्य स्थानम् 'आमपक्वाशयौ स्थानं विशेषात्पित्तवातयोः' (कासू. २७.१२)

आमाशयद्वार–न., शारीर० आमाशयद्वारसमीपे वर्तमानम् (हृदयाख्यं मर्म) (सुशा. ६.२५)

आमाशयसमुत्थ–वि., आमाशयाश्रयम् कफपित्तजं सर्वमेव रोगानीकम् । (चवि. ६.३)

आमाशयोत्क्लेश–पु., आमाशये दोषाणामुत्क्लेशनम् (चचि. २०.८.)

आमाशयोष्मन्–पु., जाठराग्निः । (चचि. ३.२७३)

आमिष–न., जङ्गमद्रव्यम् मांसम् (चसू. १.६८)
निर्यास० गुग्गुल (सुचि. ३७.१५)

आमुष्मिक–वि., परलोकभवम् । (सुसू. १.४)

आमोद–पु., वनस्पति० शतावरी (र. २१.१३९)
–जननी–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूलं (ली) (ध. ३.२)

आम्नाय–पु., आगमः (चशा. ८.४६) वेदः ।

आम्भस्–वि., आप्यम् । (असंशा. ५.१२)

(आम्भसी)–वि., छायाविशेषः शुद्धवैडूर्यविमला सुस्निग्धा छाया (चइं. ७.१२)

आम्र–पु., न., वनस्पति०
वृक्षविशेषः अस्य फलं भक्षणार्थं तथा पुष्पपल्लवबीजादीनि च भैषज्यार्थमुपयुज्यन्ते,संपक्वाम्रफलगुणाः–मधुरं कषायानुरसं गुरु स्वादुपाकं हृद्यं वर्णकरुच्यं रक्तमांसबलप्रदं बृंहणं शुक्रवर्धनं वातघ्नं पित्ताविरोधि च । (ध. ५.१)
अस्य पुष्पं दृष्टिरोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते । (सुउ. १७.८–१०)
अस्य पल्लवाश्छर्दिनिग्रहणम् (चसू. ४.१४ (२८)
अस्यास्थि पुरीषसंग्रहणीयम् (चसू. ४.१५ (३१)
अस्य फलं मूत्रसंग्रहणीयम् (चसू. ४.१५ (३३)
तथा रक्तपित्तशमनम् । (सुउ. ४५.२३)
बालामं कषायकट्वम्लं रूक्षं वातास्रपित्तकृच्च । (असंसू. ७.१८८)
पर्यागतामं साम्लं स्वादु स्निग्धं गुरुमारुतघ्नमपित्तलं हृद्यं श्लेष्ममांसशुक्रबलप्रदं च । (असंसू. ७.१८९–९०)
राजाम्रं (आम्रभेदः) तुवरं स्वादु विशदं शीतलं गुरु ग्राहि रूक्षं विबन्धाध्मानवातकृत् कफपित्तनुच्च (भाप्र.)
कोशाम्रं (आम्रभेदः) बालं कोशाम्रं ग्राहि वातघ्नमलोष्णं गुरु पित्तलं च (भाप्र.)
N.O.—ANACARDIACEAE
L.—MANGIFEKA INDICA
ENG.—MANGO
हिं.—आम
म.—आंबा
गु.—आंबो
बं.—आम
त.—मामरं, तितळं, मांति
न., मान० पलम्, द्वे पलार्धे आम्रम् (चक. १२.९२)
–गन्धकृत्–पु., वनस्पति० समाष्टीलः (रापरि. ४.१)
–पल्लव–पु. कोमलमाम्रपर्णम्, छर्दिनिग्रहणगणोक्तं द्रव्यम् । (चसू. ४.१४–२८)
–पेशी–स्त्री., शुष्कः आम्रसारभागः (र. १६.१७–२४)
–शालि–पुं., शालि० रक्तशालिः (रा. ६.८७)

आम्रातक–पु., नः., वनस्पति० आम्रसदृशफलवृक्षः "आम्राटकः", "वनाम्रः", "आम्राडकः" (चक्र) इत्यपि नामानि
तत्फलगुणाः—कषायं मधुरमम्लं शीतं गुरु वृष्यं रक्तपित्तकरं कफकरं किञ्चिद्वातकृद् दीपनं च (ध. ५.१२)
तथा बृंहणं तर्पणं बल्यं च, इदं विष्टभ्य जीर्यति (सुसू. ४६.१५५)
हृद्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.१०)
N.O.—ANACARDIACEAE
L.-SPONDIASMANGIFERA
हिं.—अंबाडा
म.—आंबाडा
गु.—जंगली आंबो, अंभेडा
बं—आमडा

आम्रान्त–पु., वनस्पति० राजाम्रः (ध. ५.११)

आम्रास्थि–न., आम्रफलान्तर्गतं कठिनं बीजम्, बीजान्तर्गतमज्जा, पुरीषसंग्रहणीयगणोक्तं द्रव्यम् । (चसू. ४.१५–३१)

आम्रास्थिमध्य–न., आम्रफलमज्जा, पक्वातिसारजित् (सुउ. ४०.७०)

आयत–वि., दीर्घम् (सुचि. २४.४)
–यामा–वि., दीर्घप्रहरा निशा । (सुसू. ४६.४६८)

आयतन– न., स्थानम् । (चसू. २९.३)
स्थान अधिष्ठानहेतुः निदानम् । (चनि. १.३)

आयताक्ष–वि., रिष्टलक्षण० आयतेऽक्षिणी यस्य सः, विस्फारितनेत्रः । (चइं. १०.९)

आयत्त–वि., आधीनम्। (अहसू. ७.५३)

आयम–न., आकर्षणम्। (चचि. २८.४४) द्विधाभवनम्। (सुउ. ५१.१२)

आयम्यमान–वि., आकृष्यमाणम्। (सुउ. ५१.१३)

आयस्–न., खनिज० तीक्ष्णलोहम् द्र० 'लोह.' (रा. १३.३०)
वि., लोहनिर्मितम्। (र. ३.१७३)

–चूर्ण–न., लोहचूर्णम्, गोमूत्रयुक्तत्रिफलासहितं पाण्डुरोगशमनम्। (सुउ. ४४.२१)

–पात्र–न., लोहपात्रम्, घृतमायसे पात्रे निदध्यात्। (असंसू. १०.३६)

–पिण्डक–पु., लोहपिण्डः। (असंसू. ६.२६)

–पूटक–न., लोहभवं पूटकम्। चसू. १४.२६)

–भाजन–न., लोहपात्रम्। तत्र कषायरसप्रधानमञ्जनं स्थापयेत्। (अहसू. ३०.१६; सुउ. ४४.३२–३३।

–मल–न., लोहकिट्टम्, इदं कुम्भाह्वयं पाण्डुरोगं हन्ति। (सुउ. ४४.३२-३३)

आयाम–पु., रोगलक्षणम्, अवयवानामनैच्छिक आतानः. (चसू. १४.२४)
वातरोग० स द्विविधः अन्तरायामो बाह्यायामश्च। (चचि. २८.३५)
दैर्घ्यम्। (चवि. ८.११७)

–विस्तारसम–वि., इष्टशरीरलक्षणम्. आयामो दैर्घ्यं, विस्तारस्तिर्यक्परिमाणं समं यस्य तत् शरीरम्. (चवि. ८.११७)

–व्यायामोत्तुण्डिता–स्त्री., बालनाभिरोग० नाड्या असम्यक्कल्पनोत्पन्ननाभिपाकजनितो दोषः, आयामव्यायामाभ्यां दीर्घपीनत्वयुता (चशा. ८.४५)
सुश्रुते 'तुण्डि' इति संज्ञितो रोगः। (सुशा. १०.४३)

आयास–पु., अल्पक्रियया श्रमः। (चसू. १७.६६)
श्रमाधिक्यम्, असौ सर्वापथ्यानां श्रेष्ठः। (चसू. २५.४०) दुःखम्। (चनि. ७.४)

आयुध–न,, शस्त्रम् (असंसू. ४०.१५)

आयुष्य–वि., आयुषे हितम्, आयुर्वर्धनम् (अहसू. २.१६)

आयुस्–न.. शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगः, जीवितम् पर्यायाः–धारि, अनुबन्धः, नित्यगः (चसू. १.४२)

आयुष्यम्–प्राणलक्षणवायुना योगः। (चवि. ८.९१) (३.३४)
दीर्घायुः दीर्घजीवितम्। (चइं. १२.८८)
न., घृतम् (रा. १५.२०२)

(आयुः) क्षपण–न., आयुर्विनाशः (सुचि. २९.१५)

(आयुर्) ज्ञ–पु., आयुर्वेदज्ञः, आयुर्ज्ञानवान् वैद्यः (असंशा. १०.३५)

–ज्ञानफल–न., आयुर्ज्ञानस्य फलम्, आयुज्ञानफलं तु विद्यादनायुषि भेषजदानम् (चइं.११.२८)

–प्रकर्ष–पु., परमदीर्घायुष्ट्वम्। (चचि. १ (१.७३)

–प्रकर्षकृत्–वि., परमदीर्घजीवितकरः (चचि. १ (३) २३)

–प्रकर्षार्थ–वि., आयुःप्रकर्षः प्रयोजनं यस्य (चचि. १ (४) ३७)

–प्रद–वि.,दीर्घायुःप्रदः। (चचि. १ (३.४७)

–वृद्धिकृद्गण–पु., दानं, दया, शीलं, सत्यं, कृतज्ञता, ब्रह्मचर्यं, मैत्री रसायनानीति पुण्यायुर्वृद्धिकराण्येतानि (र. ३०.११३)

–वेद–पु., आयुषो वेदः भिषजां शास्त्रम् आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः (चसू. ३०.२३)
आयुरस्मिन्विद्यत इति
आयुर्ज्ञायतेऽनेनेति
आयुरनेन प्राप्नोतीति (सुसू. १.१५)
हिताहितसुखदुःखादिभेदाच्चतुर्विधमायुः एतस्य चतुर्विधस्यायुषो हिताहितं मानमित्येतदस्मिन् व्याख्यातम्. (अहसू. १.२)
अयं वातपित्तकफाश्रयः, (कवि. १) आयुर्वेदो नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूस्तस्य पुनरष्टधा विभजनं तेनैव कृतम्। (सुसू. १.६)
तस्याष्टावङ्गानि–कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं, विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं, वाजीकरणमिति। (चसू. ३०.२८)
अयं चरक–सुश्रुत–काश्यपवाग्भटादिमहर्षिभिः संहितारूपेण परिष्कृतः, अस्य प्रयोजनम् व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थानां स्वास्थ्यरक्षणं चेति) (सुसू. १.१४)
आयुर्वेदोऽमृतानां जीवितप्रदानहेतूनां श्रेष्ठः। (चक्र. चसू. २५.४०)

–वेदरसायन–न., टीका, संज्ञाविशेषः, हेमाद्रिणा कृता अष्टाङ्गहृदयस्य टीका।

–वैदिकसमय–पु., संकेतविशेषः, आयुर्वेदे अस्य शब्दस्य अयमर्थो भवतीति (चवि. ८.५४)

(आयुष्) काम–वि., दीर्घायुष्कामः (चचि. २[४]४०) (चचि. १ [१] ५७)

(आयुष्) कामरसायन–न., रसायनविशेषः युक्तरथादि (सुचि. २८.९.२४)

–कामीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (अहसू. १.१)

–मत्–वि., दीर्घायुः (सुसू. ३४.२१)

पु., वनस्पति० जीवकः (ध. ५.१५५)

आर–न., खनिज० पित्तलम् (१.१२.२१)

रौप्यम् (र. ५.२१९)

मुण्डलोहम् (रा. १३.२९)

वृश्चिकपुच्छकण्टकः (सुक. ३.५)

–कूट–पु., न., पित्तलम् (र. ५.२१९)

आरग्वध–पु., वनस्पति० तद्गुणाः तिक्तोऽतिमधुरः (रा) उष्णः, शीतः (रा) गुरुः त्रिदोषघ्नो, विशेषतः कफघ्नः कृमिशूलोदरप्रमेहमूत्रकृच्छ्रगुल्मज्वरकण्डूकुष्ठविष्टम्भघ्नश्च । (ध. १.२१९)

अयं मृदुर्मधुरशीतलश्च, हृद्रोगवातासृग्दावर्तादिरोगेषु बाले वृद्धे क्षीणे क्षते सुकुमारे मानवे चाधिकं पथ्यः । (चक. ८.४–५) कुष्ठघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.११.१३) फलमस्य विरेचनार्थं प्रयुज्यते । (चसू. २.१०) कषायोऽस्य विद्रध्यादिधावनार्थमुपयुज्यते (सुचि. १६.२४) मूलं वल्मीकलेपनार्थम् । (सुचि. २०.५०)

N. O.—LEGUMINOSAE, CACSALPINIACEAE

L.—CASSIA FISTULA

ENG.—PURGING CASSIA

हिं.—अमलतास

म.—बाहवा

गु.—गरमालो

बं.—सोन्दाल

त.—कोन्नै

फा.—खियारे चंबर

आरग्वधादिगण–पु., आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गे (ङ्गे) ष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति, अयं श्लेष्मविषापहः मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनश्च । (सुसू. ३८.६–७) (अहसू. १५,१८)

आरग्वधादिघृत–न., सिद्धघृत० कफगुल्मापहमिदम् (सुउ. ४२.३७)

आरग्वधीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. ३.१०)

आरणिक–पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१११)

आरण्यमाष–पु., माष० तद्गुणाः–स्वजात्यपेक्षया रूक्ष, कषायोऽविदाही च (सुसू. ४६.३६)

आरतकम्पन–न., रोगलक्षण० अविश्रान्तकम्पनम् (चई. ७.२७)

आरनाल–न., पु., आसुत० काञ्जिकम् (चचि. २७.४६) निस्तुषीकृतैरामैः पक्वैर्वा संधितैर्गोधूमैरारनालं भवति, (भाप्र.)

आरम्भ–पु., प्रयत्नः कृतिः (चवि. ८.६७) चिकित्सा (चनि. ३.१६)

–फल–न., कर्मफलं कर्मपरिणामो वा (चवि. ८.३८)

–सामर्थ्य–न., उपक्रमसामर्थ्यम् । (सुसू. ४०.३)

आरा–स्त्री., व्यधनोपयोगि शस्त्रम् । अष्टाङ्गुलायामं वा, अर्धाङ्गुलवृत्तास्यं तिलप्रमाणफलं दूर्वाङ्कुरपरीणाहं, गोपुच्छसन्निभवृन्तं शस्त्रं चर्मकाराणामारेव (सुसू. ८.४ (ङ) अहसू २६.२५)

उपयोगः—कर्णपालीव्यधने (सुसू.१६.२) पक्वामसंशये शोफव्यधने (अहसू. २६.२५) अस्थनि वायौ निरुद्धे सति अस्थिवेधनार्थम् (सुचि. ४.९०) उन्मादे मदविनाशार्थं व्यथादाने प्रयुक्तमेतत् (सुउ. ६२.१९)

वारिचरवर्गीयः पक्षी (चसू. २७.४३)

–कुट्ट–न., खनिज० पित्तलम् । (रा. १३.१७)

आराम–पु., उपवनं, उद्यानम् (सुशा. ७.३)

–शीतला–स्त्री., वनस्पति० नन्दा, महानन्दा वा, तद्गुणाः—तिक्ता शीतला पित्तहारिणी दाहशोषशमनी विस्फोटव्रणरोपणी च । (रापरि.१०.५२)

आराव–पु.,शब्दः ध्वनिः (चवि. ३.७. (३)

आरुक–न., वनस्पति० फलविशेषः तद्गुणाः—मधुरं शीतं हृद्यमर्शःप्रमेहगुल्मरक्तदोषघ्नम् । (ध. ५.३८) कार्तिकेयपुरे प्रसिद्धमिदम्, संपक्वफलं नात्युष्णं गुरु स्वादुप्रायं मुखप्रियं बृंहणं क्षिप्रं जरणशीलं नातिदोषलं च. (चसू. २७.१३२); अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धम् । (सुसू. २२.८ ड)

इदं हिमालयदेशे काबूलदेशे चोपलभ्यते

N. O.—ROSACEAE

L.—PRUNUS COMMUNIS

हिं.—आलुबुखारा

म.—अलबुखार, अरुक

गु.—आलु

बं.—आलुबखेरा

आरुष्कर–न., पु., वनस्पति० भल्लातकः ।
(सुसू. ४६.१९६)
–तैल–न., भल्लातकस्नेहः । (असंसू. ६.१०६)
आरुष्करोत्थतैल–न., भल्लातकस्नेहः (ध. ६.१३८)
आरेवत–पु., वनस्पति० आरग्वधः । (ध., १.२१९)
न., वनस्पति० पारेवतम् । (ध.५.६६)
आरोग्य–न., धातुसाम्यम्, प्रकृतिः सुखम्
(चसू. ९.४)
तल्लक्षणम्—सत्वलक्षणसंयोगः, वैद्यद्विजातिषु भक्तिः, साध्यत्वं, निर्वेदाभावः (आत्मन्यवज्ञा) च, (चइ. १२.८७) आरोग्यलक्षणानि–अन्नाभिलाषो, भुक्तस्य सुखेन परिपाकः सृष्टविण्मूत्रवातत्वं, शरीरस्य लाघवं, सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं, सुखस्वप्न–प्रबोधनं बलवर्णायुषां लाभः, सौमनस्यं, समाग्निता चेति (काखि. ५.६–८)
आरोग्यं धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलम् ।
(चसू. १.१५)
–वर्धनी–स्त्री., सिद्धयोग० इयं नागार्जुनप्रणीता गुटी एषा पाचनी, दीपनी, हृद्या, मेदोविनाशिनी मलशुद्धिकरी सर्वरोगेषु प्रशस्ता विशेषतः कुष्ठेषु ।
(र. २०.१११)
–शिम्बी–स्त्री., वनस्पति० आरग्वधभेदः कर्णिकारः
(ध. १.१२१)
–सागर–पु., सिद्धियोग०, पाण्डुरोगार्शःश्वास–शिरोरोगवमिज्वराग्निमान्द्योदावर्तघ्नः
(र. १९.६९–७६)
आरोग्यवृत्ती–स्त्री., आरोग्यस्य सातत्यम् (चवि.३.३६)
आरोट–पु., पारदबन्ध० सम्यक् शोधितो रसः आरोटः कथ्यते, अयं क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः; शनैर्व्याधिविनाशनश्च । (र. ११.६७)
वि., शुद्धम् । (र. २९.२३)
आरोहद्ध्यधा–वि., उपर्युपर्यारोपितशस्त्रपदा ।
(सुशा. ८.१९)
आर्घ्य–न., मधु० अर्घा नाम मधुमक्षिकास्ताभिः संपादितं मधु आर्घ्यसंज्ञम्, तद्गुणाः—अतिचक्षुष्यं, कफपित्तहरं, रसे कषायं, पाके कटु, बल्यं, तिक्तमवातकृच्च । (सुसू. ४५.१३३–३८)
उष्णेन सहार्घ्यं न विरुध्यते । (ड.)
आर्त–वि., पीडितः (सुसू. ४६.४४४)
–गल–पु., स्त्री., वनस्पति० नीलसहचरः
(सुउ. १७.५१)
कण्टकफलः (सुउ. ९.१९)
ककुभः सुगन्धमूलः, 'कौहा' इति पूर्वदेशे प्रसिद्धः । (सुसू. ३८.१०)
–गला–स्त्री., वनस्पति० नीलसहचरः (सुउ. १७.५१)
नीलसहचराख्य–आर्तगलगुणाः–कटुस्तिक्तः चक्षुष्यः कफमारुतघ्नः शूलकण्डूकुष्ठव्रणत्वग्दोषशोफघ्नः
(रा. १०.४१८–४२०)
आर्तव–न., स्त्रीगतोपधातु० शोणितं, रजः (सुशा. २.५)
स्त्रीबीजम् । (सुशा. २.३६) शुक्रम् (सुसू.१४.१४३)
व्याख्या–रक्तमेव स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः (असंशा. १)
आर्तवस्य प्रतिमासं स्रावो भवति, द्वादशवर्षादारभ्य पञ्चाशत्पर्यन्तमत ऊर्ध्वं क्षयं याति (अहशा. १.७)
शुद्धार्तवलक्षणम्–प्रतिमासमुत्पद्यमानं पिच्छदाहार्तिरहितं पञ्चरात्रानुबन्धि नातिबहु नात्यल्पं च ।
(चचि. ३०.२२५)
गुञ्जाफलपद्मालक्तकेन्द्रगोपसंकाशं च ।
(चचि. ३०.२२६)
शशरुधिरलाक्षारसोपमं धौतं च विरज्यमानं शुद्धम् ।
(असंशा. १.२०)
क्षीणार्तवं नाम आर्तवस्य स्वप्रमाणहानिः; तल्लक्षणम्–यथोचितकालादर्शनमार्तवस्यालपता योनिवेदना च
(सुसू. १५.१२)
दुष्टार्तवमष्टविधम्–वातार्तवं, पित्तार्तवं, श्लेष्मार्तवं, रक्तेन कुणपार्तवं, श्लेष्मवाताभ्यां ग्रन्थ्यार्तवं, रक्तपित्ताभ्यां पूयार्तवं, मारुतपित्ततः क्षीणार्तवं, सन्निपातेन मूत्रपुरीषगंधि, ग्रन्थ्यार्तवं, पूतिपूयार्तवं, क्षीणार्तवं, मूत्रपुरीषार्तवं चासाध्यमन्यत्साध्यम् ।
(सुशा. २.५)
उपचितार्तवम्–काले मासेनोपचितमार्तवं वायुर्धमनीभ्यां योनिमुखं नयति, एतदीषत्कृष्णं स्निग्धं चास्ति । (सुशा. ३.१०)
आर्तवादर्शनसंप्राप्तिः दोषावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति
(सुशा. २.२१)
आर्तववहे द्वे स्रोतसी–तयोर्मूलं गर्भाशयः आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च । (सुशा. ९.१२)
वि., यथोचितकालसंभवम्, वसन्ताद्यृतूद्भवम् ।
(चवि., ८.४)
–दुष्टि–(दोषः) स्त्री., लक्षण० आर्तवविकारः
(असंशा. १.३०)

–वह–वि., गर्भाशयस्य रक्तवाहिन्यः (सुशा. ४.२४)
–वाहिनी–वि., गर्भाशयस्य रक्तवाहिन्यो धमन्यः (सुशा. ९.१२)
–विषा–वि., कीट० लूता, आर्तवे विषं यस्याः सा। (सुक. ३.५)
आर्तवादर्शन–न., लक्षण० आर्तवस्यादर्शनम्, गर्भोत्पत्तिलक्षणेष्वेकम् । (चशा. ४.१६)
आर्तवार्ति–स्त्री., आर्तवरोगः (सुशा. २.१३)
आर्द्र–न., वनस्पति० आर्द्रकम् । (र. २२.८०)
–पाणिन्–वि., आर्द्रहस्तः; आर्द्रपाणिनमनुवासयेदित्यस्य भोजनादविलम्बितकालेऽनुवासयेदित्यर्थः । (सुचि. ३७.५४)
–पेशिका–स्त्री., आर्द्रकदीर्घखण्डम् ।
–माषा–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी । (ध. १.१३६)
–शाक–न. वनस्पति०, आर्द्रकम् । (ध. २.८५)
–संतानता–स्त्री., आर्द्रः करुणरसभावितत्वात् त्यक्तकाठिन्यः संतानश्चित्तवृत्ति–परंपरा यस्येत्यार्द्रसंतानः, तस्य भाव आर्द्रसंतानता, परमकारुणिकत्वम् । (हे०) (अहसू. २.४६) (चचि. २४.१७६)
आर्द्रक–न., वनस्पति०, कन्द० शुण्ठीविशेषः तद्गुणाः–कटूष्णं विपाके शीतलं लघु हृद्यं दीपनं रुचिदं स्वर्यं वृष्यं कफवातघ्नं शोफकण्ठरोगविबन्धानाहशूलघ्नम् । (ध. २.८४) स्वादुपाकि (र. १७.११८–१२०)
आर्द्रा–स्त्री., आर्द्रकम्, अतिविषा । (ध. १.११) वि., अशुष्कम्, क्लिन्नम् (र. २३.७०–७४)
आर्द्राख्य–न. वनस्पति० आर्द्रकम् । (ध. २.८५)
आर्द्राञ्जन–न., रसाञ्जनम्, नेत्ररोगे प्रतिसारणार्थमुपयुज्यते । (सुउ. १३.६–८)
आर्द्रिका–स्त्री., वनस्पति० आर्द्रधानिका (अरुण) कुस्तुम्बरी (हे० अहसू. ६.१०९)
आर्य–पु., साधुवृत्तः । (असंसू. ८.४)
–परिग्रह–वि., आर्यः परिग्रहो नाम भार्यादिपरिवारो यस्य सः । (असंसू. ८.४)
–प्रकृतिक–वि., आर्यस्य श्रेष्ठस्येव स्वभावो यस्य सः । उदारमनस्कः, उदात्तचरितः (चवि. ८.८)
आर्या–स्त्री., श्रेष्ठ, प्रजा (इं. असंउ. १ पृ. ४)
–तारा–स्त्री., देवताविशेषः (असंसू. ८.९४)
आर्यापराजिता–स्त्री., विद्या० एषा मातुर्बालकस्य च रक्षित्री । (असंउ. १ पृ. ४)
आर्यापर्णशबरी–स्त्री., विद्या० एषा मातुर्बालकस्य च रक्षित्री । (असंउ. १ (पृ. ४)
आर्यावलोकितेश्वर–पु., देवता० चिकित्साद्यारम्भेऽसावर्च्यते । (असंसू. ८.९४)
आर्ष–वि., सात्विककायेषु एकः ऋषिसत्वाधिष्ठितः । (चशा. ४.३७ (२) ऋषिकृतम् । (चसू. ३०.१७)
–भी–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)
आल–न., खनिज० हरितालम् (ड. सुउ. ५२.२२) वृश्चिकपुच्छकण्टकः । (सुक. ३.५)
–विषा–स्त्री., लूता० (सुक. ८.१०९-११०)
आलक–न., खनिज० हरितालम् । (र. ९.७४) वनस्पति० शालिपर्णीविशेषः (ध. १.८८)
आलक्तक–न., अङ्गरागोपयोगिद्रव्य० अलक्तकम्
आलभ्य–वि., वध्यः, आलभनयोग्यः । (चवि. ८.५४)
आलम्बन–न., आधारः । (सुशा. ५.५३)
आलम्भ–पु., मारणम्, यज्ञीयबलिः, हिंसनम् । (चचि. १९.४)
आलर्क–वि., उन्मत्तसारमेयसंबन्धि विषादि । (असंउ. ४६, पृ. ३८१)
आलस्य–न., लक्षण० कर्माभावः । (चचि. ३.२८-२९) शक्तस्यापि कर्मण्यनुत्साहः । (र. १९.४४)
आलाल–वि., लालेव, समन्ताल्लालारूपम् । (चनि. ४.२२)
–मेह–पु., प्रमेहभेदः, कफदोषप्रधानः (चनि. ४.१०) वाग्भटे अयं 'लालामेहः' । (अहनि. १०.१३; असंनि. १०) अस्मिन् प्रमेहे मूत्रं लालेव तन्तुयुतं पिच्छिलं भवति । (चनि. ४.२२)
आलिकन्द–पु., वनस्पति० मालाकन्दः । (रापरि. ७.४४)
आलु–पु.,न., वनस्पति० कन्दविशेषः । (चसू.२५.३९) इदं रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं गुरु बहुशुक्रकरं स्तन्यवृद्धिकरं च (सुसू. ४६.२९८–९९) इदं गुल्मे वर्ज्यम् । (सुउ. ४२.७५–७६) कासालुः । (रा.परि. ७.२८)
आलुक–पु, न., आलुः । (चसू. २५.३९) आलुकं कन्दानामहिततमम् ।
आलुड्–क्रि., विलोडन । (सुसू. ४३.३)
आलूक–न., वनस्पति०, एलवालुकम् । (ध. ३.७६)
आलेप–पु., उपक्रम० लेपः । (सुसू. १८.६)
आलेपन–न., उपक्रम० लेपः (चसू. १.९०)

आलोचक–पु., दृष्टिस्थोऽग्निः स एवाऽऽलोचकपित्तमित्युच्यते । (सुसू. २१.१०)
न., पित्त० दृष्टिस्थं रूपालोचनाच्चालोचकम् । (असंसू. २०.५)
खनिज० कान्तलोहप्रकारः (ध.६.२९)

आलोडन–न., द्रवीकरणम्, द्रुतत्वापादनम् । (चचि ७.४५)
मज्जनम् (र.२.१५७)

आवन्तिक–वि., अवन्तिदेशस्थितो जनः । आवन्तिकाः तैलाऽम्लसात्म्याः । (चचि. ३०.२१७)

आवरण–न., अवरोधः, गतिनिरोधः (चचि. २८.५९)

आवर्त–पु., वर्तुलम्, मण्डलम् । (सुशा. ५.४३)
मर्म० स्थानम् :–भ्रुवोरुपरि संख्या–द्वौ आवर्तौ मानम्–अर्धाङ्गुलम् ; प्रकारः–सन्धिमर्म, वैकल्यकरं च विद्धलक्षणम्–आन्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा । (सुशा. ६.६)
कीट० वातप्रकोपणोऽयम् । (असंउ. ४३)
न., खनिज० माक्षिकम् (हेममाक्षिकम्) (ध. ३.१४८)

आवर्तक–पु., भ्रमिः (चइ. ८.६)
कीट० अष्टादश वायव्यकीटेष्वेकः (सुक. ८–६–८)

आवर्तकी–स्त्री., वनस्पति० कषाया; अम्ला; शीता; वृष्या; ऊर्ध्वाधोदोषनाशिनी, पित्तघ्नी, अतिसार-कुष्ठघ्नी च। (ध. १.१९८)
वनस्पति० अरणी । (ध. १.२२५)
वनस्पति० दन्तीभेदः, लता. (असंचि. २१)
नेत्ररोगेषु लिङ्गनाशोपद्रवविशेषः, श्वेतारुणा आवर्तवद् अनवस्थिता तारा एनां न विध्येत् । (असंउ. १७)

आवर्तन–न., संस्कार० (परिव.) द्रवीकरणम् द्रावयित्वा मर्दनेन एकीकरणम्–गालनम् । (र. ११.११०)

आवसथ–पु., न. गृहम् । (चचि. १. [२] ११)

आवस्थिक–वि., विकारविशेषितः बाल्याद्यवस्थाविशेषितः (कालः) (चवि. १.२२ (६)

(आवस्थिकी)–स्त्री., तत्तदवस्थाविशेषे प्रयोगोचिता (चिकित्सा क्रिया वा) (चचि. १५.१९८)
अवस्थानुरूपा चिकित्सा । (चचि. २९ १६५)

आवान–वि., शुष्कम् । (चसि. ६.८०)

आवाप–पु., प्रक्षेपः स्नेहादिषु द्रव्यप्रक्षेपः (चचि. २८.१७१)
द्रुते लोहादौ द्रव्यान्तरस्य प्रक्षेपः (र. ८.५४)

आवास–पु., संस्कारानन्तरं पुनः पूर्वस्वभावं प्राप्तः पारदः । (र. ८.१७)
पु., आश्रयः अधिष्ठानम् । (अहशा. ३.९३)

आविक–वि., अविः प्राणिविशेषः उरभ्रः तस्येदमाविकम् । (चसू. २७.६२)
न., उरभ्ररोमव्यूतं वस्त्रम्, कम्बलः (सुसू. १८.१६)

–शाटक–पु., न., कम्बलः (चसू. १४.३७)

आविग्न–पु., न., वनस्पति०–करमर्दकम् (ध. ५.१०२)

आविद्ध–वि., वक्रम् । (चवि. ८.२०)

शिरस्क–वि., ताडितशिरस्कः । (चनि. ८.८१)

आविल–वि., घनम्, कलुषम्, समलम् (अहसू. २७.४१ सुउ. ६.१२)

–दर्शन–न., लक्षण० आकुलदर्शनम् (सुउ. ६.२६)

–मूत्र–वि., लक्षण० कलुषमूत्रलक्षणः (सुनि. ६.२६)

–मूत्रता–स्त्री., लक्षण० कलुषमूत्रता (अहनि. १०.७)

–लोचन–वि., लक्षण० दूषिकास्राभ्यां मलिने लोचने यस्य । (सुक. ५.४१)

आविलाक्ष–वि., लक्षण० ओदनमण्डवदश्रुपूर्णेक्षणः ।

आविष्ट–वि., ग्रस्तः (सुचि. ३६.७)

आवी–स्त्री., प्रसववेदना, गर्भनिष्क्रमणकाले जायमानः शूलविशेषः । (सुशा. १०.९ चशा. ८.३७)
योनेर्मूत्रकफप्रसेकादीन्यावीलिङ्गानि वा (सुनि. ८.१२)

आवृत–अभिसर्पता बलवता दोषेण अभिभूतो दुर्बलो दोषः प्रत्यावृत्तः सन् ' आवृतः ' इत्युच्यते (सुचि. ५.२९ ड; चचि. २८.६५)
आच्छादितः (र. १२.५)

–गति–वि., रुद्धगतिः (चसू १७.८०)

–मार्ग–वि., (परिव०) प्रतिबद्धमार्गः । (सुशा. २.२१)

–मार्गत्व–न., अवरुद्धगतित्वम् । (चसू. २१.५)

आवृत्ति–स्त्री., आवरणम् । (र. २१.१८५)

आवेगी–स्त्री., वृद्धदारुकः । (घ. ४,१०७)

–आवेधन–(परिव०) न., ताडनम्, आघातः (अहउ. ७.१०)

आवेश–पु., पिशाचराक्षसग्रहादिभिर्ग्रहणम्, येन अपस्मारोन्मादादयो विकाराः संजायन्ते (र. २३.६)
परपुरशरीरप्रवेशः, योगिनामैश्वरबलविशेषः । (चशा. १.१४१)

आवेशन–न., भूतविद्यासमुद्दिष्टोपचारविशेषः समन्त्रसर्षपादिभिस्ताडनम्, भूताभिषंगोत्थज्वरे त्रय उपचाराः—बन्धः, आवेशनं, पूजनं च। (सुउ. ३९.२६५)

आव्यध–क्रि., ताडने। (अहउ. ७.९०)

आशय–पु., शारीर० अवस्थानविशेषः अधिष्ठानं सञ्चयस्थानम्, आधारः (सुशा. ५.८)

शरीरधात्ववकाशः स्रोतो वा आशयः (चवि. ५.९)

पुरुषाणामाशयाः सप्त–वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशय इति स्त्रीणां तु अष्टमोऽधिको गर्भाशय इति (सुशा. ५.८)

शार्ङ्गधरे स्त्रीणां त्रयोऽधिका आशयाः उक्ताः धराशयः (गर्भाशयः) स्तन्याशयौ च। (शार्ङ्गधर प्रथमखंड)

काश्यपसंहितायां तु 'विण्मूत्रक्रिमिपक्वामकफवाताशया इति पूर्वतः किञ्चित् भेदेन सप्ताशया गणिताः (खिल. ९.१६)

–संभव–पु., आशयानामुत्पत्तिः वायुराशय्य आसमन्तात् निवासं कृत्वाऽभ्यासयोगेनाऽऽशयसंभवं करोति। (सुशा. ४.३०)

आशादिरिपुसंभव पु., निर्यास० भूमिजो गुग्गुलुः (रा. १२.१८८)

आशिस्–स्त्री., आशंसनम्, आशीर्वादः प्रशंसा। (सुचि. १९.६९)

फलश्रुतिः (चचि. १ (२) ९)

आशीविष–न., मूलविषम्। (असंउ. ४१ इन्दु)

पु., दर्वीकरसर्पविशेषः भौमः। (सुक. ४.३४ (९)

दृष्टिनिश्वसनादिभिः, परमाशासनेन इच्छामात्रेण वाऽशुघातको दिव्यः सर्पः। (चचि. २३.१६०)

आशीविषोपम–वि., सद्योमारणे आशीविषदिव्यसर्पसमाः, श्मशानचैत्यवल्मीकाश्रयाः चक्रवज्रगदाकुन्तत्रिशूलजटाधराः, रक्तास्यनयना ये भौमसर्पास्ते आशीविषोपमाः सन्ति। (असंउ. ४२)

आशु–(अव्य०,) शीघ्रम् (सुक. २.२२)

वि., विषगुणः शीघ्रं प्राणहननकारि (सुक. २.१९)

द्रव्यगुणः तैलं यथाऽम्भसि तथा देहे शीघ्रं धावमानः। (भाव. पूर्वखण्ड)

–कर–वि., शीघ्रघाती। (अहउ. ३५.७)

–कारिन्–वि., रोगगुणः दोषगुणो वा (सुनि. १.९ अहनि. ३.१७)

शीघ्रमत्ययकारी, य आशु शरीरघातं करोति। (चनि. २.११)

द्रव्यगुणः–तैलं यथाऽम्भसि तथा देहे शीघ्रं धावमानः (सुसू. ४६.५२४)

–कारितर–वि., अतिशीघ्रं प्राणात्ययकारी (असंउ. ४०)

–कोपित–पु. व्रीहिः (रा. १६.११२)

–क्रिया–स्त्री., लघुहस्तता, शीघ्रशस्त्रकर्मकरणम्, शस्त्रवैद्यस्य गुणः; आशुक्रियया रोगिणः क्लेशो न भवति (सुसू. ५.१०)

–ग–वि., शीघ्रगामी। (चचि. २४.३०)

–घातिन्–वि. आशुमारकम्। (सुक. ३.३९)

–जा– वि)., शीघ्रं जायमाना। (सुनि. १४.६)

–त्व–न., आशुगत्वम्, शीघ्रप्रसरणशीलता। (सुसू. ४६.५२४; सुउ. ४७.५)

–पाकिता–स्त्री., शीघ्रपाककारित्वम्। (अहसू. ९.१८)

–भावन–न., आशुगत्वम्, शीघ्राविष्करणशीलता। (चचि. २४.३२)

आश्चोतन–न., नेत्ररोगेषु उपक्रम० अक्षिपूरणम् नेत्रे औषधबिन्दुपातनं परिषेको वा (चचि. २६.२३९; सुउ. ९.४)

–विधि–पु.; निवातस्थानस्थ तस्य आतुरस्य वैद्यो वामेन पाणिना लोचनमुन्मील्याऽपाङ्गदेशे भाजनं निधायाऽन्येन नाम दक्षिणकरेण पिचुवर्त्या शुक्त्या प्रलम्बमानया दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलात् नातिनिकटात् नातिदूरात् कनीनिकेऽवसेचयेत्। अनन्तरं कोमलेन वस्त्रखण्डेन शोधयित्वा चैलेन कोष्णजलप्लुतेनाऽक्षि मृदु स्वेदयेत्। तत्रापि वातकफयोः स्वेदनं पित्तरक्तयोस्तु शीतमिति। (अहसू. २३.२–६)

स्नेहन–लेखन–रोपणभेदेन त्रिविधमाश्चोतनमुक्तम्, लेखने सप्ताऽष्टौ वा बिन्दवः, स्नेहने दश बिन्दवो, रोपणे तु द्वादश।

औषधधारणकालः–लेखनं वाकशतं धार्यम्, स्नेहनं द्वे वाकशते धार्यम्, रोपणं तु त्रीणि वाकशतानि। (सुउ. १८.४६)

आश्चोतनाञ्जनविधि–पु., अध्यायसंज्ञा० (अहसू. २३.१)

आश्मरथ्य–पु., ऋषि०, रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१०)

आश्रम–पु., तपस्विनां निवासस्थानम् (सुशा. ३.२४) जीवनवृत्तिमुद्दिश्य कृत आयुषो भागविशेषः ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वानप्रस्थ-यतयश्चत्वार आश्रमाः । (सुसू. २९.५)

आश्रय–पु., अधिष्ठानम् । (चचि. ३.३५)

आश्लेष–पु., परिष्वङ्गः, आलिङ्गनम् । (अहसू. ७.६७)

आश्वबल–वि., अश्वबलाया इदम् । (सुसू. ४६.२६१)

आश्वयुज–पु., आश्विनमासः । (अहसू. ५,४)

आश्वलायन–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.९)

आश्वास–पु., आश्वासनम्, आश्वासो बलकराणां श्रेष्ठः । (असंसू. १३.३)

सांत्वन (सुशा. २.२८)

–कर–वि., सान्त्वनकरम्, प्राणबलकरम्, उदक–माश्वासकराणां श्रेष्ठम् । (चसू. २५.४०)

–जनन–वि., मार्गादिशुष्कदेहानां प्राणजननम् (सुसू. ४५.३)

आश्वासन–न., उपक्रम० यथा योनियन्त्रपीडितस्य जातमात्रस्य शिशोर्मूर्च्छानिवारणार्थं प्राणजननार्थं प्राणानां प्रत्यानयनाय वा शीतेन जलेन सेचनम् । (सुशा. १०.१३)

आसंग–पु., रसाञ्जनम् । (असंउ. ३०)

आसंगिम–पु., उपक्रम० विशेषः पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः । (सुसू. १६.१०)

आसन–न., उपवेशनम्, उपविष्टस्य स्थितिः (सुसू. १९.१२)

आसन्दी–स्त्री., आसन० (काखिल. ११.२०)

आसन्नप्रसवा–वि., अद्य वा श्वो वा आसन्नः प्रसवः यस्याः सा (गर्भिणी) (अहशा. १.७४) तस्याः लक्षणानि–क्रमो ग्लानिर्मुक्तबन्धने इव अक्षिणी निष्टीविकामूत्रपुरीषबाहुल्यं शिथिलकुक्षिताऽधोगुरुत्वम् । अनन्नाभिलाषः उदरहृदयकटिबस्तिवङ्क्षणेषु वेदना, योन्यां च तोदभेदशूलस्फुरणस्रवणानि भवन्ति । तदनन्तरम् आवीनां प्रादुर्भावो गर्भोदकप्रवाहश्च । (असंशा. ३.१६)

आसव– पु., न., मद्यम्, आसवाश्च नानाविधौषधक्वाथगुडादि कृत्वा धातक्यादिचूर्णाधिवासिताः । (सुचि. ६.२१) यद् अपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः । (शाम. १०.२)

–द्रु–पु., तालः (रा. ९.९३)

–योनि–स्त्री., आसवकारणम्, येन आसवः निर्मातुं शक्यस्तत्, धान्य-फल-मूल-सार-पुष्प-काण्ड-पत्र-त्वचोऽष्टौ चाऽऽसवयोनयः शर्करानवमीकाः एवं नवधान्यासवाः, सुरा-सौवीर-तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्लाः षट्; फलासवाः षड्विंशतिः–मृद्वीकाखर्जूर-काश्मर्यधन्वन-राजादन-तृणशून्य-परूषकाऽभयाऽऽमलक-मृगलिण्डिका-जाम्बव-कपित्थ कुवल-बदर-कर्कन्धु-पीलु-प्रियाल-पनस-न्यग्रोधाऽश्वत्थ-प्लक्ष कपीतनोदुम्बराऽजमोद-शृङ्गाटकशङ्खिनीफलासवाः ।

मूलासवा एकादश-विदारिगन्धाऽश्वगन्धा-कृष्णगन्धा-शतावरी-श्यामा- त्रिवृद्-दन्ती-द्रवन्ती-बिल्वोरुबूक-चित्रकमूलाद्याः । सारासवा विंशतिः–शाल-प्रियका-अश्वकर्ण-चन्दन–स्यन्दन–खदिर–सप्तपर्णाऽर्जुनाऽसनाऽरिभेद-तिन्दुक–किणिही–शमी–शुक्ति-शिंशपा-शिरीष-वञ्जुल-धन्वन-मधूकाद्याः । पुष्पासवा दशः–पद्मो-त्पल-नलिन–कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-मधूक-प्रियङ्गु-धातकीपुष्पैर्दश; काण्डासवाश्चत्वारः–इक्षु–काण्डे-क्ष्विक्षुबालिका-पुण्ड्रकाः ।

पत्रासवौ द्वौ–पटोल-ताडकपत्रासवौ । त्वगासवाश्चत्वारः–तिल्वक-लोध्रे-लवालुक-क्रमुकसम्भवाः । शर्करासव एकः, एवं चतुरशीतिरासवा भवन्ति । (चसू. २५.४९)

आसवाम्ल–न., अम्लद्रव्य० द्विक्षारसैन्धवादिकानां काञ्जिके मिश्रणं कृत्वाऽम्लत्वं यावद् भूमौ स्थापयित्वा जायमानः पारदस्य दीपनोपयोगी कल्पः (र. ११.५०)

आसादित–वि., साधितम् (सुचि. २८.२३)

आसिक्तक्षीरिक–वि., अध्यायपादसंज्ञा० चरकसंहितायां चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्यायस्य द्वितीयपादस्य नाम (चचि. २(२) १)

आसीन–पु., वनस्पति० तिन्दुकादिकफपित्तजिद्गणे एकं द्रव्यम्, तस्य फलगुणाः कषायमधुरं रूक्षं शीतलं गुरु लेखनं विबन्धाध्मानजननं स्तम्भनं वातकोपनम् । (असंसू. ७.१८१–१८४)

आसीनप्रचलायित–न., स्थिति० प्रचल इव आचरति आसीनस्य नाम उपविष्टस्य प्रचलायितं नाम अव-

घूर्णितम्; न तु प्रस्वपनं सर्वसार्विकया, गुणाः—आसीनप्रचलायितं तु अरूक्षमनभिष्यन्दि च भवति। उक्तं च खारणादिना—' इन्द्रियातिश्रमाद्रूक्षो वातलो जागरो निशि, तदालस्याद्दिवास्वप्नः स्निग्धः पित्तकफोल्बणः आसीनप्रचलः स्वप्नो निरभिष्यन्दिबृंहणः ' इति (अहसू. ७.५६)

आसुत—न., शुक्तसन्धितं कन्दादिकम्, चिरकालावस्थानादम्लीभूतं कन्दादियुक्तं शुक्तम्, आसुतमुच्यते (चसू. २७.२८४; अहसू. ५.७८)

आसुर—वि., असुरस्येदम्। (सुशा. ४.८९)

आसुरी—स्त्री., वनस्पति० राजिका (र. ३०.६३)
न., लवण० बिडम् (ध. २.२८)
वि., राजसकायविशेषः
लक्षणम्—ऐश्वर्यवान् रौद्रः शूरस्तीव्रकोपः परगुणे मत्सरी एकाशी निर्दयः आत्मपूजको बह्वाशी च। (चशा. ४.४५) (सुशा. ४.८८)

—सत्व—वि., राजसकाय०
आसुरकायः। (सुशा. ४.८८)

आसूरी—स्त्री., वनस्पति० राजिका (र. ३०—६३; असंसू. ७)
शाक० राजिका मण्डका वा फञ्जीचिल्ल्यादिगणे। (चसू. २७.१०१)

आसेक्य—पु., षण्ढविशेषः (सुशा. २.४४)
पित्रोर्बीजस्यात्यल्पबलत्वादासेक्यो भवति। सरेतस्कोऽयं षण्ढः। सोऽन्यपुरुषान्निजमुखे व्यवायं कारयित्वा ततः सिक्तं शुक्रं प्राश्य ध्वजोच्छ्रायं लभते। अतो ' मुखयोनिः ' इति व्यपदिष्टः। (सुशा. २.३८)
चरके ' वक्री ' नाम्नाऽस्य निर्देशः (चशा. २.२०)
अष्टांगसंग्रहे मातुः पितुर्वाऽत्यल्पबलबीजत्वादासेक्योत्पत्तिर्निर्दिष्टा; न तु मातापित्रीरत्यल्पबीजत्वात्। द्वयोर्बीजदोषाद् वक्रध्वजस्योत्पत्तिः कथिता। (असंशा. २)

आसोट—पु., वृक्ष० वनस्पति० अक्षोटः (चचि. ११.३७)

आस्तरण—न., शयनादिषु यद् अजिनकम्बलादिकं भूमौ आस्तीर्यते तत् (असंसू. ८.४३)

आस्तिक—वि., दत्तमस्ति हुतमस्ति परलोकोऽस्तीत्येवं मतिर्यस्य सः (सुसू. ३४.२२)

आस्तिक्य—न., सात्विकगुणः, अस्ति धर्ममोक्षपरलोकादिकमिति मतिरस्येति आस्तिकः

आस्थापन—न., उपक्रम० निरूहबस्तिः। (चसू. १.८४)
वयःस्थापनाद्दोषस्थापनाद्वाऽऽस्थापनमित्युच्यते। (असंसू. २८.६)
आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चस्ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट् प्रसृतेभ्यः। तत ऊर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशवर्षस्य तु द्वादशप्रसृता। इदं मानं सप्तति वर्षाणि यावत्। परं चातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतार्हस्यापि अष्टाविच्छन्ति। (असंसू. २८.२२)
आस्थापनं भुक्तवते न देयम्। (सुचि. ३८.१९.२०)

—स्कन्ध—पु., आस्थापनोपयुक्ता द्रव्यगणाः—ते च षट्—मधुराम्ललवणकटुकतिक्तकषायभेदात् (चवि. ८.१३७)

आस्थापनोपग—वि., आस्थापनक्रियायां सहायत्वेन अपायक्षपणपूर्वकं गुणवर्धनपूर्वकं च उपगच्छतीति, सप्तमहाकषायवर्गे एको गणः, त्रिवृद्विल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेऽमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति। (चसू. ४.१३)

आस्थाप्य—वि., आस्थापनयोग्यो व्याधिः रोगी वा; विशेषतस्तु सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गबलवर्णमांसरेतक्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तशुद्धातिसारपर्वभेदाऽभितापप्लीहगुल्मशूलहृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठकटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजःक्षयार्तविषमाग्निस्फिक्जानुजङ्घोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाह्वङ्गुलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशोषस्तम्भाऽऽध्मानकूजपरिकर्तिकाऽल्पाल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो। विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्चैतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तम्। (चसि. २. १६)

आस्फालन—न., ताडनम्, उल्लालम्। (र. २. १६४ अहसू. ५.९)

आस्फोट—पु., अर्कः (रा. १०.२५)

आस्फोटक—पु., आफोटः (रा. १०.२५)

आस्फोटन—न., कम्पः, प्रहरणम्। (सुउ. ६२.८)

आस्फोटा (ता)—स्त्री., वनस्पति० सारिवा। (सुउ. ३९.२५७)
अर्कः (सुउ.३९.२५७
विष्णुक्रान्ता—(र. २९.७९)

अमरमल्लिका । (चचि. २३.२४३)
गिरिकर्णिका । (र. २५.७)
मुकुन्दा । (असंउ. ६)
अस्फुरमल्लिका । (चचि. १५.१२५)

आस्फोत–पु., न., वनस्पति० अर्कः रक्तार्कः (असंउ.३०)
सारिवा (सुउ. ११.११)
रक्तार्कः (च. चि. ७.११२)

(आस्फोता)–स्त्री., आस्फोटा (सुसू. ११.११)

–पल्लव–पु., न., अर्कस्य पल्लवः कल्कादिभिर्व्रणशोधनायोपयुज्यते । (असंउ. ३५)

–मूलसिद्धघृत–न., योग० अर्कमूलसिद्धं घृतम् । अस्य पानं मूषिक-विषापहं भवति । (सु. क.७.४८)

आस्य–न., शारीर० मुखम् । (चवि. ८.११७)
मुखकुहरम् । (सुउ. ४१.२०)
प्रमाणतः पञ्चाङ्गुलमास्यम् (चवि. ८.११७)

–गन्ध–पु., मुखगन्धः । (चसू. ५.२९)

–दाह–पु., रोगलक्षणं मुखदाहः (चसि. २.१३)

–पाक–पु., रोग लक्षण० मुख-पाकः (अहसू. २.४)

–पूति–स्त्री., रोगलक्षण० मुखदुर्गन्धः । (असंसू. ३.३१)

–प्रसेक–पु., रोगलक्षण० मुखस्रावः (असंसू.३.३१)

–बाष्प–न., मुखफूत्कारजनितोष्मा; ईषदभ्याहतं नयनमास्यबाष्पसंस्वेदितं चेत् क्षणेन तन्नीरुजं भवति । (सुउ. १९.५)

–मल–पु., मुखस्थो मलः । (असंसू. ३.३१)

–रोग–पु., मुखरोगः (चचि. २.२२)

–लेप–पु., उपक्रम० मुखलेपः । (सुउ. १९.३)

–विपाक–पु., रोग०मुखदाहः चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

–वैरस्य–न., रोगलक्षण० उचिताद् आस्यरसाद् अन्यथात्वम् । (चसू. २८.९)

–शोफ–पु., रोगलक्षण० मुखशोफः अर्शरोगे रिष्टलक्षणमेकम् (असंशा. ११.१२)

–शोष–पु., रोगलक्षण० मुखशोषः (अहसू. ६.१३२)

–संस्रवण–न., रोगलक्षण० मुखे लालास्रावः (चनि. ७.६, चशा. ४.१६)

–स्रवण–न., रोगलक्षण० आस्यलालास्रावः

आस्या–स्त्री., आसनम्, स्थितिः, सुखोपविष्टस्य स्थितिः । (सुचि., २४.७८)

तद्गुणाः–वर्णकरी, कफकरी, स्थौल्यकरी, सौकुमार्यकरी सुखदा च (सुचि. २४.७९)

–सुख–न., उपाविष्टस्य चेष्टोपरमः तेन कृतं सुखम् (चचि. ६.४)

आस्योपदेह–पु., रोगलक्षण० मुखे मलोपलेपः (चचि. १५,६८)

आस्योपलेप–पु., रोगलक्षण० मुखलिप्तता । (अहसू. १६.२३)

आस्राव–पु., स्रवणम् । (चसू. ५.२८)
नासारोग० अत्र जलोपमः श्लेष्माऽजस्रं नासापुटात्स्रवति । (र. २४.२०)

आस्वादन–न., रसग्रहणम् । (सुचि. २९.१०)

आहत–न., आहननम् आघातः " नपुंसके भावे क्तः " (चसू. १३.९६) (सुसू. २९.४५)
रोगकारण० आघात । (चसू. १३.१६)

आहरण–न., यन्त्रकर्म० उपक्रम० आनयनम् निर्हरणं वा शल्यस्य । (सुसू. ७.१७, सुचि. १.८)

–हेतु–पु., (शल्यस्य) आहरणोपायः, महतामणूनां वा सर्वशल्यानां द्वावेवाऽऽहरणहेतू भवतः—प्रतिलोमोऽनुलोमश्च (सुसू. २७.६)

आहरणोपाय–पु., आकर्षणोपायः (अहसू. २८.१९)

आहव–पु., संग्राम (सुसू. २.१०)

आहार–पु., आहियते इति आहारः, अन्नपानादि सर्वम्, स च प्राणिनां प्राणहेतुर्मूलं पुनर्बलवर्णौजसां च । ब्रह्मादेरपि लोकस्य स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः आहारः, आहारादेवाऽभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च, तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यम् । (सुसू. ४६.३)
संक्षेपेण सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् (चसू. २७.३५०)
स्वरूपम्–पञ्चमहाभूतात्मके देहे आहारोऽपि पाञ्चभौतिकः, सम्यग् विपक्वो भूत्वा स्वान् गुणानभिवर्धयति । स पुनः षड्रसात्मकः–मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदेन गुणतः पुनर्गुरुलघुभेदेन द्विधा । (सुसू. ४६.५२५)
आहारगुणाः–आहारसम्पत्–बलवृद्धिकर–भावेष्वाहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकस्तृप्तिकरः, उष्णं, स्निग्धं मात्रावद्वीर्याऽविरुद्धमित्याहारसाद्गुण्यम्; आहारकर्माणि–सद्यः प्रीणनो, बलकृद्देहधारकः, आयुष्करो, ग्राजिष्णुत्वकृत् समुत्साहकरः, स्मृतिकर ओजस्करोऽग्निवर्धनश्च । (सुचि. २४.६८)

आहारप्रकाराः–चतुर्विधमन्नम्–पेय–लेह्य–भोज्य–भक्ष्यभेदात्। (सुसू. ४६.४९४)
षड्विधम्–चूष्य–पेय–लेह्य–भक्ष्य–भोज्य–चर्व्य–भेदात्– (भापू. ४)
अष्टविधं पुनरन्नमिति केचित्। भोज्य–पेय–चोष्य–लेह्य–खाद्य–चर्व्य–निष्पेय–भक्ष्यभेदात्
(ध. ७.८६)
स्वभावभेदेन आहारो द्विविधः गुरुर्लघुश्च; दिव्योदकरक्तशालिषष्टिकमुद्गैणलावादयो लघवः, क्षीरेक्षुव्रीहिमाषानूपामिषादयो गुरवः।
(असंसू. १०.५)
तत्र सप्त आहारकल्पनाः–स्वभाव–संयोग–संस्कार–मात्रा–देश–कालोपयोग–व्यवस्थाभेदेन स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूताः। (असंसू. १०.४)
आहारकालः—स्वस्थानस्थेषु दोषेषु स्रोतःसु विमलेषु च। जातायां च–प्रकाङ्क्षायामन्नकालं विदुर्बुधाः॥ (काखिल० ५.१०)
विसृष्टे, विण्मूत्रे, विशदेन्द्रिये, गुरुत्वरहिते देहे, मधुराम्लधूमगन्धिवियुक्ते उद्गारे, निराकुले हृदयेऽधः प्रवहति वाते, भक्ताकाङ्क्षायामनायासश्रमरहिते, बुभुक्षोदयात्तब्धतारहिते कुक्षावाहारो दातव्यः। (सुउ. ६४.८४)
आहारमात्रा–आहारस्य सम्यग् युक्तं प्रमाणं पुनरग्निबलापेक्षि, दुर्बलाग्निविवृद्धये एककालं तथा हीनमात्र एव आहारो दातव्यः। (सुउ. २. ६४.६५) यावान् आहार एककालं भुज्यते पुरुषेण, स आहारराशिः (असंसू. १०.९) तस्य प्रमाणं तु जठरस्य द्वौ भागावन्नेन प्रपूरयेत् जलादिना पानेनैकमंशं प्रपूरयेच्चतुर्थं तु पवनादीनामाश्रयमवशेषयेत्।
(अहसू. ८.४६)
आहारगतिः परिणामश्च–स खलु विधिवत् अभ्यवहृतमन्नजातं प्राणेन वायुना कोष्ठमाकृष्टं द्रवैर्विभिन्नसंघातं स्नेहेन मृदूकृतमामाशयस्थं समानेन अभिसंधुक्षितोऽन्तरग्निः पचति यथा बाह्याग्निः स्थालीस्थतोयतण्डुलं पचति (असंशा. ६.५७)
आहारपरिणामकरा भावाः–पुनरूष्मा वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयोगश्च इति। तत्रोष्मा पाचयति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः सर्ववपुर्व्याप्तिमभिनिर्वर्तयति। समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः संपद्यते। (असंसू. १०.६१)
(कोष्ठात् हृदयं प्राप्तः) आहाररसो व्यानविक्षिप्तो यथास्वं सप्तसु धात्वग्निषु क्रमात् पच्यमानः स्वात्मभावप्रच्युतिसमनन्तरमेव प्राप्तरक्तादिधातुसंज्ञकः कालवदस्खलितबलप्रमाणो देहमूर्जयित्वा धातून् धातुमलांश्च पुष्णाति। (असंशा. ६.६४)
आहारविधिः—उष्णं स्निग्धं मात्रावत् जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं, नातिविलम्बितमजल्पन्, अहसन् तन्मना भुञ्जीत। आत्मानं च सम्यगभिसमीक्ष्य भुञ्जीत। अयं विधिः अरोगाणामातुराणां च हिततमो भवति।
(चवि. १.२४)
आहारविधिविशेषाऽऽयतनानि अष्टौ। प्रकृति–करण–संयोग–राशि–देशकालोपयोगसंस्थोपयोक्तार–इत्यष्टौ। (चवि. १.२१)
बुभुक्षितेन पुरुषेण वातपित्तप्रशमनाय प्रथमं मधुरो रसः ग्राह्यः सः पक्वाशयगतं वायुं जयति। अम्ललवणौ मध्यभोजनस्थौ पित्ताशयेऽग्निदीप्तिं कुरुतः अन्ते कफजयाय कट्वादयः। मतांतरं त्वादौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि, ततः पेयान् ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्च अत्रापि घनं पूर्वं समश्नीयादिति केचिदाहुः। (सुसू. ४६.४६० तः ४६३ ड)
बालानां पुष्टिवर्धकमन्नं–शालिषष्टिकानां विशेषतः पुराणानां निस्तुषैः क्षालितैर्भृष्टैस्तण्डुलैः साधिताः सस्नेहलवणाः द्रवाः लेह्याः, तथा च गोधूमानां यवानां वा चूर्णं यथासात्म्यं देशाग्निबलकालं क्षुधां चाऽभिसमीक्ष्य बालकमाशयेत्।
(काखिल. १२.१९–२०.२३)

–परिणामधातु–पु., आहारपरिणामभवो धातुः रसाख्यः। (चनि. १.२०) (चशा. ७.१५)
–प्रसादाख्य–वि., आहारप्रसाद इति आख्या यस्य सः रसः। (चमू. २८.४)
–मल–पु., आहारस्य मलः, विण्मूत्रम् इत्यर्थः
(सुसू. ४६.५२८)
वातोऽपि आहारमलः। (चसू. २८.४ चक्र)
–रस–पु., रस गतौ धातुः अहरहः गच्छति इत्यतो रसः
(सुसू. १४.१३)
तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्य आहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रसः इत्युच्यते, तस्य हृदयं स्थानम्।
(सुसू. १४.३)

तत्र सर्वधातूनाम् अन्नपानरसः प्रीणयिता भवति ।
"रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
अन्नात्पानाच्च मतिमान् आचाराच्चाप्यतन्द्रितः" ॥
(सुसू. १४.१२)

-विधिविधान-न., आहारविषये नियमकथनम् । (चवि. १.३४)

-शक्ति-स्त्री., आहारग्रहणस्य सामर्थ्यम्; रुग्ण-परीक्षणस्यैकं साधनम् आहारशक्तिः अभ्यवहरण-शक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्यते (चवि. ८.१२०)

आहार्य-पु., पञ्चदशकर्णबन्धेषु एकः । द्रष्टव्यः कर्णबन्धः (सुसू. १६.१०)

न., आहरणीयम्, आकर्षणीयम् शस्त्रकर्म; शस्त्र-कर्मस्वेकम्

-विषय-शर्कराश्मितस्त्रः, दन्तमलः, अश्मरी, शल्यं, मूढगर्भः, गुदे निचितं वर्चः इति आहार्यविषयाः, (सुसू. २५.११-१२)

आहित-वि., प्रयुक्तम् (सुचि. २७.४)

आहुल्य-न., वनस्पति०
तिक्तम्; शीतम्; चक्षुष्यम्; पित्त-दोषनुत्; मुखरुक्कुष्ठकण्डूतिजन्तु-शूलव्रणापहम्
आहुल्यं हलुराख्यं च गरं तखटं तथा । शिम्बी-फलं सुपुष्पं स्यादर्ढुरं दन्तकाष्ठकम् । हेमपुष्पं तथा पीतपुष्पं काञ्चनपुष्पकम् । नृपमङ्गल्यकं चैव शरत्पुष्पं त्रिरेकधा ॥ (रा. ४.३३-३४)

इ

इक्षु-पु., वनस्पति० तृण० तस्य गुणाः—
मधुरः, मधुरविपाकः, गुरुः, शीतः, स्निग्धः, बल्यः, वृष्यः, मूत्रलः, रक्तपित्तप्रशमनः कृमिकफकरश्च (सुसू. ४५.१४८; ध. ४.१२०)

बालेक्षुः-कफकरः मेदकरः मेहकरश्च तरुणेक्षुः-स्वादुः, ईषत्तीक्ष्णः, वातहृत्, पित्तनुत्,
वृद्धेक्षुः-रक्तपित्तहरः क्षतहृत्, बलवीर्यकृत् (भाप्र. इक्षुवर्गे;)

मूत्रजननानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)
श्रमहरद्रव्येष्वेकम् (चसू. ४.१६)
शुक्रशोधनद्रव्यम् (चसू. ४.१२)

इक्षुजातयः—पौण्ड्रकः, भीरुकः, वंशकः, श्वेतपोरकः, (शतपोरकः) कान्तारः, तापसेक्षुः, काष्ठेक्षुः, (काण्डेक्षुः); सूचिपत्रकः, नैपालः, दीर्घपत्रः, नीलपोरः, कोशकृत् इत्येता द्वादश, तासां गुणाः-

पौण्ड्रकः भीरुकश्च-सुशीतः, मधुरः, स्निग्धः, बृंहणः, श्लेष्मलः, सरः, अविदाही, गुरुः, वृष्यः ।
वंशकस्तु आभ्यां तुल्यगुणः किञ्चित्सक्षारश्च ।
श्वेतपोरस्तु वंशकवत् किञ्चिदुष्णः वातहा च ।
तथैव कान्तारतापसौ वंशकानुगतौ ।
काष्ठेक्षुरपि एवंगुणः परं वातप्रकोपणश्च, सूचिपत्रः, नीलपोरः, नेपालः, दीर्घपत्रकः । एते वातलाः कफ-पित्तघ्नाः, कषायाः विदाहिनः ।
कोषकारः-गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः (सुसू. ४५.१४९ तः १५५)

अवयवविशेषेणेक्षोर्माधुर्यम्-इक्षो रसः अतीव मधुरो मूले, मध्ये मधुरः, अग्रेषु पर्वसंधिषु च इक्षूणां लवणो रसः स एव दन्तनिष्पीडितः, अविदाही, कफकरो, वातपित्तनिवारणो वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यश्च ।
यान्त्रिकस्तु गुरुः विदाही विष्टम्भी च (सुसू. ४५.१५५ तः ५८)

इक्षुरसपानं श्रेष्ठं पाण्डुरोगे (सुउ. ४४.१८)
सर्वोदरेषु च (असंचि. १७.)
रक्तपित्ते च (चचि. ४.९; सुसू. ४६.४३१)

इक्षुरसपूपकः-कृतान्नविशेषः इक्षुरसे भाविताः
पोलिकाः गुर्व्यस्तर्पणा वृष्याश्च (चसू. २७.२६९)

इक्षुविकृतयः-इक्षोः जाताः फाणितगुडशर्करादयः (सुसू. ४५.१५९)

इक्षुशुक्तम्-इक्षुरसजन्यः आसुत-विशेषः स लघुः, (असंसू. ६.१३६)

N. O.—GRAMIMEAE
L.—SACCHAHRUM OFFICINARUM
ENG.—SUGAR CANE
हिं.-गन्ना, इख, उंख, गांडा, पौंडा
गु.-शेरडी
म.-ऊस. ऊंस
बं.-इक्षु. आक. कुशिर
ता.-इक्कु
फा.-नेशकर, केशकर.

-काण्ड-पु., काशः (ध. ४.१३०) (असंसू. १४.३)
-कुसुम-काशः (ध. ४.१३०)
-गन्ध-पु., वनस्पति० क्षुद्रगोक्षुरः (रा. १.१३१)
-गन्धा-स्त्री., क्षीरविदारी (ध., १.१४९)
कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४९)
-ज-वि., शाक० (सुसू. ४६.२९३)

–जात–पु., गुडः (सुचि. ९.४४)

–दर्भा–स्त्री., वनस्पति०, मधुरा, कषाया, रुच्या, सन्तर्पणी, कफपित्तहरा, स्निग्धा, लघुः । (रा.परि. ८.४७)

–पत्रक–पु., जूर्णा (रा. १६.१६७)

–बालिका–स्त्री., कोकिलाक्षः (असंसू. १५.२२)

–बालिकारसमेह– पु., श्लेष्मनिमित्तः प्रमेहभेदः: इक्षुमेहः (चसू. १९.४(९)

–मूल–न., इक्षोर्मूलम्, महाकषायवर्गे कण्ठ्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०)
पञ्चतृणमूलेष्वेकम् (चचि १.४४)
पु., मोरटः (चसू.४.१०)

–मेह–पु., प्रमेहरोग० अस्मिन् रोगे रुग्णः इक्षुरस––मिवातिमधुरं, शीतम् ईषत्पिच्छिलाविलं च मेहति । (असंनि. १०.११)
चिकित्सा—इक्षुमेहिन वैजयन्तीकषायं पाययेत । वैजयन्ती नाम अग्निमन्थः (सुचि. ११.९)

–योनि–स्त्री., इक्षुजाति० करङ्कशालिः अतीवमधुरः इक्षुरयम् (रा. १४.१८५)

–वर्ग–पु., इक्षुगणः, पौण्ड्रकादयः सर्वे इक्षवः (अहसू. ५.४२.५४)

–वल्लरी–स्त्री., क्षीरविदारी (रा. ७.१९६)

–वल्ली–स्त्री., क्षीरविदारी (ध. १.१४९)

–वाटिका–स्त्री., इक्षुजातिविशेषः, करङ्कशालिः, (रा. १४.१८५)

–वाटी–स्त्री., इक्षुवाटिका (रा. १४.१८५)

–वालिका–स्त्री., कोकिलाक्षः
इक्षुवालिका, खागालिका, स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२)
काश तृणम् (चसू. ४.१२)

–वालिकामेह–पु., रोग० कफजप्रमेहविशेषः, इक्षुरसतुल्यमूत्रत्वादिक्षुमेहः ।

–वालिकारसमेह–पु., प्रमेहरोग० इक्षुमेहः कफप्रधानः प्रमेहभेदः (चनि. ४.१०)

–वालु–स्त्री., वनस्पति० इक्षुवालिका (असंक. ४)

–विकार–इक्षुजातं द्रव्यम्; इक्षुविकृतिः गुडफाणित–शर्कराादिः प्रमेहरोगे वर्ज्यः पु., (सुचि. ११.५)

–विकृति–स्त्री., इक्षुजातं द्रव्यम्, इक्षुविकारः (चसू. ५.५)

–सार–पु., गुडः (ध. ४.१२८)

इक्षुक–पु., वनस्पतिः० शरभेदः स्थूलशरः (सुसू. ३८, ७५) (ध. ४.१३५)

इक्षुर–पु., इक्षुभेदः, कृष्णेक्षुः (रा. १४.१८७)
शरः, स्थूलशरः (रा. ८.२११; ध. ४.१३५)
कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४९)

इक्षुरक–पु., कोकिलाक्षः (चसू. ४.१२)
काशः (ध. ४.१३०)
वनस्पति० स्थूलशरः (रा. ८.२१२)

इक्ष्वाकु–पु., राज० यस्य पुत्रा राजतैलोपयोगेन गतिमायुर्बलं सुखं च लेभिरे (का० फक्करोगचिकित्सा०)
वैवस्वतमनोः पुत्रविशेषः (चचि. १९.४)
कटुतुम्बी (चस. २.७)
अस्याः पुष्पं वमनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४३.७)
क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)

–कल्प–पु., इक्ष्वाकोः कल्पः चरकसहितायां कल्पस्थाने तृतीयाध्यायस्य नाम (चक. ३.१)

–कुसुम–न., इक्ष्वाकुः कटुकालाबुः तस्याः पुष्पम्; वमनार्थमुपदिष्टम् (सुसू. ४३.७)

इक्ष्वादि–वि., इक्षुरादिर्यस्य सः (वर्गः)
तृणपञ्चमूलपठितानां शरवर्जितानामिक्षुकुशकाशशालिमूलादीनां वर्गः (चसि. ८.४०)

इक्ष्वारिका–स्त्री., काशः (असंचि. ५)

इङ्गितज्ञ–वि., मर्मज्ञः - वैद्यः (सुक. १.१८)

इङ्गुद–पु., इङ्गुदी (असंसू.३.२१)
पुत्रजीवः (चचि. १८.६९)

(इङ्गुदी)–स्त्री., वनस्पति० मदगन्धिवृक्षः तस्य त्वक् शिरोविरेचनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.६)
तस्या गुणाः–कटुरुष्णा, रसायनी, वातघ्नी, कफघ्नी, जन्तुघ्नी, व्रणघ्नी, फेनिला, लघुर्मदगन्धिनी च । (रा. परि. ८.१७)
N. O.—SIMA ROUBACEAE
L.—BALANITES ROXBFRG HIVI
ENG.—DELIL
हिं.–हिंगण, हिंगोट, इंगोट.
म.–हिंगणबेट
गु –हिंगर
बं.–हिंगोर, जियापुता.
त.–नानजुंडा. इंकुणमरं

–क्षार–पु., इङ्गुदीवृक्षस्य क्षारः भेषज द्रव्य० लौहरसायने उपयुक्तः (चचि. १ (३) १५)

–तैल–न., इङ्गुदीबीजतैलम्, तच्च प्रमेहे शाकसिङ्क्ष्यर्थमुपयुज्यते । (सुचि. ११.६)

तस्या गुणाः–अनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहरम् (सुसू. ४५.११५)

–त्वच्–स्त्री., इङ्गुदीवल्कलम्, धूम्रपाने उपयुक्तम् (सुउ. ५२.२२)

–फल–न., इङ्गुदीवृक्षस्य फलं, तस्य गुणाः–तिक्तमधुरं, स्निग्धोष्णं, कफवातघ्नं च (चसू. २७.१४६) इङ्गुदीफलान्तर्गतो मज्जा रक्तपित्तशमनः (सुउ. ४५.२६)

–बीज–न., इङ्गुदीवृक्षस्य बीजम् (सुचि. २५.२२)

–मज्जन्–पु., इङ्गुदीफलान्तर्गतो मज्जा (सुउ. ४५.२६)

–मूल–न., इङ्गुदीवृक्षस्य मूलम्, ग्रन्थ्यादौ लेपार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३५)

इच्छा–स्त्री., आत्मगुण० इदं मम अस्त्वित्यभिलाषः, कामः, अर्थाभिलाषः (सुशा. १.१७ सुसू. १.२५ (३)

इच्छाभिघात–पु., वाञ्छितस्याऽप्राप्तिः, वाञ्छितपदार्थाऽनवाप्त्या अरोचकोत्पत्तिः, इच्छाभिघातः; चित्तविपर्ययजारोचकस्य निदानविशेषः। एतेन कायाग्निरुपहन्यते ततश्चाऽरोचकः (सुउ. ५७.१६)

इज्या–स्त्री., यागः (सुशा. ४.८१)

इडाजात–पु., गुग्गुलुः (रा. १२. १८८)

इण्डरी–स्त्री., पक्वान्नः (वै. श. सिं.) पदार्थ० (असंउ. ४९)

इत्कट–पु., शर० (इन्दुः, असंचि. १३)
वनस्पति० महती खगाली (सुचि. ७.९ ड.)
सूक्ष्मपत्रिका दीर्घलोहितयष्टिका काण्डविशेषरूपा 'इकडी' इति लोके (अरुणदत्तः अहसू. १५.२४)
तृणविशेषः, स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२)

–मूल–शरभेदविशेषस्य मूलम्; स्तन्यजननं मूत्रविरेचनीयं च (चसू. ४.१२.१५)

इन्दीवर–न., नीलोत्पलं, नीलपद्मम् (सुशा. ४.७२)
दीर्घपत्रो बहुलपुष्पः कर्णपूरकाख्यः शरबालिकाभेदः (सुचि. ७.११.१७)
कुरण्टकभेदो दीर्घपत्रो बहुलपुष्पः क्षुपविशेषः (सुसू. ३८.१२)

इन्दीवरी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुः शीता पित्तश्लेष्मापहारिका चक्षुष्या कासदोषघ्नी व्रणकृमिहरा च
इन्दीवरी युग्मफला दीर्घवृंतोत्तमारणी।
पुष्प-मञ्जरिका द्रोणी करम्भा नलिका च सा॥
(रापरि. ३.२७)

–कन्द–पु., कमलकन्दः, कन्दवर्गे एकः (सुसू. ४६.२९८)

इन्दीवरिणी–स्त्री., वनस्पति० उत्पलिनी (रा. १०.२५०)

इन्दु–पु., अष्टाङ्गसंग्रहस्य, अष्टाङ्गहृदयस्य च 'शशिलेखा'-टीकायाः कर्ता, आचार्यवाग्भटस्य शिष्येषु प्रधानः। संख्यासंकेतः; एक संख्याया संकेतशब्दः (र. २६.५४)
कर्पूरः, (ध. ३.३१)
चुक्रिकाशाकम् (र. १६.५८)
प्रसारणी (र. १६.५८)

–कमल–न., कुमुदम् (रा. १०.२४६)

–कलिका–स्त्री., केतकी (रा. १०.२)

–खण्डा–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (रा. ६.१११)

–पुष्पिका–स्त्री., कलिकारी (फ. ४.९)

–रत्न–न., मौक्तिकम् (र. २३.३९)

–राजी–स्त्री., बाकुची (असंउ. ४४)

–रेखा–स्त्री., बाकुची (र. १८.४७)

–लेखा–स्त्री., बाकुची (ध. १.१६६)

–लोहक–न., रौप्यम् (रा. १३.८)

–शफरी–स्त्री., अश्मन्तकः (रा. ९.२९०)

इन्दुक–पु., अश्मन्तकः (रा. नि. ९.२९०)

–कन्द–पु., शाक० केसुककन्दः (चसू. २७.११४)

इन्द्र–पु., देवता० देवानामधिपतिः भरद्वाजाय आयुर्वेदं दत्तवान् (चसू. १.३)
आयुर्वेदतन्त्रं ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिः अधिजगे तस्माद् अश्विनौ अश्विभ्याम् इन्द्रः भृग्वादिमहर्षिभ्यो रसायनं वाजीकरणं चोपदिदेश (सुसू. १.२०; चचि. १.४)
श्लेष्मप्रकृतिदेवः (सुशा. ४.७६)
हस्तयोरधिदैवतमिन्द्रः (सुशा. १.७)
'सत्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु' इति रक्षामन्त्रः, (सुसू. ५.२६)
सूर्यः (असंशा. १२.)
इन्द्रनीलसंज्ञको मणि० (सुसू. ४६.३२९.३३०)

–कील–पु., स्थान० इन्द्रार्थं कीला न्यस्यन्ते यस्मिन् देशे स प्रदेशः यागार्थं निखातयूपोपलक्षितः। (सुचि. २४.८९)

–गोप–पु., मृगनक्षत्रे संजातो रक्तवर्णकः लघुकीट० अस्य गुणाः–उष्णो, रूक्षोऽधोवभेदकृतन्द्रादिकफप्रधानरोगनाशनो, योनिशैथिल्यनाशनश्च। (र. २२.१२५) (चचि. ३०.२२६)

इन्द्रगोपकसंयुक्तं केतकीस्वरसं सैन्धवं स्वर्णपुष्पिकां वैक्रान्तं च सर्वं भाण्डे विनिक्षिपेत्सुसाहं स्वेदयेत्तस्मिन्; अनया रीत्या वैक्रान्तद्रुतिर्भवति (र. ४.७६)

–गोपक–पु., इन्द्रगोपः (चचि. ३०.२२६)

–चिर्भिटा–स्त्री., इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१)

–द–पु., सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः (र. १.३)

–दारु–पु., देवदारुः (ध. १.७६)

–धनुस्–न., मेघावृते नभसि सूर्यकिरणैः संजाता सप्तवर्णयुता भासमाना धनुराकृतिः (असंसू. ४.४१)

–धूम–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९–५३)

–नील–पु., नीलवर्णो मणि० (असंसू. ४.४०)

–पर्णी–वनस्पति० इन्द्रपुष्पी, लाङ्गलिकी (सुचि. १७.१५)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० कण्टकीकृष्णपुष्पकरञ्जः वृक्षः (सुसू. ३८.१६)
लाङ्गलकी, कलिकारी इत्यर्थः (सुसू. ३८.१७)

–बस्ति–पु., मर्म० पार्ष्णि प्रति त्रयोदशाङ्गुले जङ्घामध्ये अधःशाखायां तथैव करमूलंप्रति प्रकोष्ठमध्ये ऊर्ध्वशाखायाम् स्थितं कालान्तरप्राणहरमर्धाङ्गुलपरिमितं मांसमर्मेदम्, तत्र विद्धे सति शोणितक्षयेण मरणं भवति। **संख्या**–प्रतिशाखमेकम् एवं चत्वारि (सुशा. ६.६)

–बीज–न., इन्द्रयवः कुटजबीजम् (सुसू. ४४.२७)

–मद–पु., जलौकारोगः असम्यग्वमनात् सततं च निपातनाज्जायमानोऽयं जलौकसां रोगः; अष्टांगहृदये 'रक्तमद' इति नाम्ना तस्य निर्देशः, अनेन रोगेण पीडिता जलौका न चेष्टते सलिलं प्राप्य च सीदति; रक्तावसेचने तस्याः प्रयोगो निषिद्धः (सुसू. १३.२२; अहसू. २६-३९)

–मुष्कक–न., कन्दविषः (असंउ. ४०)

–यव–पु., कुटजबीजम्, कुटजवृक्षकस्य यवाकृतिबीजवत्त्वात्।
गुणाः–कटुस्तिक्त उष्णः (शीतः इति राजनिघण्टौ) दीपनः रक्तार्शोनाशनः अतिसारवमिशूलघ्नः, त्रिदोषघ्नश्च। (चक. ५.४ सुसू. ३८.६ ध.२.१५)
ENG.-SEEDS OF HOLARR HENA
ANTI DYSENTERICA

–लुप्त–न., रोग० क्षुद्ररोग०
रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितं, रोमाणि च्यावयति, ततः श्लेष्मा स शोणितो रोमकूपान् रुणद्धि ततोऽन्येषां रोम्णामसंभवः (सुनि. १३.३३.३४)
इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, इति कार्तिकः। (मानि.)
पर्यायशब्दाः–खालित्यं, रुज्या, रुह्या, खल्लिः (अहउ. २३.२६)
लवणरसस्याऽतियोगोऽस्य एको हेतुः (चसू. २६.४३ (३)
इन्द्रलुप्ते वाग्भटमतेन केशानां शातनं सहसा भवति (अहउ. २३.२६९)
तत्र चिकित्सा–इन्द्रलुप्ते स्निग्ध–स्विन्नस्य मूर्ध्नि सिरां मोक्षयेत्। शिलाकासीसतुत्थकैः समरिचैः कल्कैर्लेपः कार्यः, अथवा कुटन्नटदारुकल्कैर्लेपनं शस्तम्, अवगाढं प्रच्छयित्वा गुञ्जाकल्कैर्मुहुर्मुहुर्लेपयेत्। (सुचि. २०.२४ तः २६)
तथैव इन्द्रलुप्तापहम् अभ्यञ्जने शस्तं मालत्यादितैलम् (सुचि. २०.२६)
ALOPESIA

–वज्राग्नि–पु., विद्युत्तेजोदग्धः आगन्तुकरोगः (सुसू. १२.३९)

–वडवा–स्त्री., जातहारिणी, रेवतीग्रह० (का० रेवतीकल्प० ५५)

–वल्लरी–स्त्री., इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७२)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० मत्स्याक्षकः मत्साण्डकः गण्डदूर्वा इति वा (सुउ. २८.७)
वनस्पति० ऐन्द्री (असंउ. ६)

–वारु–पु., इन्द्रवारुणी (ध. १.२४८)

–वारुणिका–स्त्री., इन्द्रवारुणी (र. १२.२९७–९८)

–वारुणी–वनस्पति० लता० (ध. १.२४८)
गुणाः–कटुका–तिक्ता–अत्युष्णा (ध) शीता (रा) रेचनी–कफघ्नी–कृमि–व्रणोदरगुल्मकुष्ठज्वरापहा।
N. O. CUCURBETACEAE
L.—CETRULLUS COLOCYN THIS
ENG.—BITTER CUCUMBER
हिं.—इन्द्रायण, फरफेंदु, बडी इन्द्रफला
म.—कडु **इन्द्रावण, कवंडळ,** लघु **इन्द्रावण.**
गु.—इंदरवाणियु, गावसुकणु, इन्द्रवरुणा.
बं.—राखालशशा, राखालताडु, कुंदरुकीबडमाकाल.
त.—पेयिकोम्मट्टी.
फा.—खुर्जयल्तल्ख.

–वृक्ष–पु., कुटजः (सुउ. ६१.३४)
देवदारुः (ध. १.७७)
–वृद्धा–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगेष्वेकः
लक्षणम्–वातपित्तोत्था पद्मपुष्करवत् मध्ये पिडकाभिः समाचिता पिडकी (सुनि. १३.११)
अ. संग्रहे तु सैव विद्वेति नाम्नोल्लिखिता (असंउ. ३६)
तत्र चिकित्सा–पित्तजविसर्पवत् क्रिया कार्या, मधुरौषधैः सिद्धैर्घृतैः रोपणीया (सुचि. २०.७–८)
–सुरा–स्त्री., इन्द्रवारुणी (सुचि. ३७.३४)
–सूनु–पु., अर्जुनः (रानि. ९.१९२)
इन्द्रा–स्त्री., कोकिलाक्षः (चक. ७.१९)
इन्द्राक्ष–पु., ऋषभकः (ध. १.१२५)
इन्द्राणिशाक–न., वनस्पति० मत्स्याक्षकम् निर्गुण्डी वा (चचि. २१.९०)
–घृत–न., लशुनादिसिद्धघृत० राजयक्ष्मचिकित्सिते उपयुक्तम् (काचि. राजयक्ष्माचिकित्सा)
इन्द्राणी–स्त्री., इन्द्रवारुणी (र. २१.२७)
शेफाली निर्गुंडी (रा. ४.११९)
भद्रैला स्थूलैला (रा. ६.७१)
कृष्णनिर्गुण्डी (चचि. २१.८५)
इन्द्राभ–पक्षि–पु., मल्लकङ्कः (चसू. २७.४९)
इन्द्रायुध–न., शक्रधनुः (सुसू १३.११)
हीरकम्, खनिजोपल० (रा. १३.५८)
विष० कन्दविष० (असंउ. ४०)
(इन्द्रायुधा)–स्त्री., सविषजलूकानामन्यतमा, इन्द्रायुधवद्दूर्ध्वराजिभिश्चित्रिता (सुसू. १३.११)
इन्द्राह्वा–स्त्री., इन्द्रवारुणी (घ० १-२४८)
इन्द्रिय–न., पुरुषस्य विषयज्ञानार्थं कर्मार्थं वा साधनीभूतः शारीरभावविशेषः । अवयवविशेषो वा इन्द्रियं द्विविधं ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षुर्घ्राणरसनसंज्ञकानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि बाह्यानि, मनश्चाऽन्तरिन्द्रियं, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एवम् एकादशेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः (सु. शा. १.४)
तानि पाञ्चभौतिकान्यस्मदृर्शने प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि च (चचि. १५.१२ चक्र ।)
इन्द्रियोत्पत्तिः–वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात् कफरक्तवाहिनां स्रोतसां महाभूतानां च प्रसादाद्वा (सुशा. १.४; असंशा. ५.५०)
बुद्धीन्द्रियम् (चसू. ८.७; चशा. १.२२)
केवलचक्षुरादिपंचज्ञानेन्द्रियाणि
शुक्रम् (चचि. ३०.१२६; सुउ. ५५.४)
मूत्रेन्द्रियम्, मूत्रमार्गः (का. मूत्रकृच्छ्रचि.)
रिष्टम्, अरिष्टम् वा (चइ. १.१)
इन्द्रशब्देन प्राण उच्यते, तस्यान्तर्गतस्य लिङ्गं रिष्टाख्यम् (चइ. १.१ चक्र.)
पु., इन्द्रियाध्यायः इन्द्रियस्य रिष्टरूपस्य प्रतिपादकोऽध्यायः इन्द्रियः (चवि. ८.१२४; चइ. ११ चक्र.)
भौतिकाधिष्ठानशक्तिरूपम् इन्द्रियम् (सुसू. १५. ४०. ड.)
–ज–वि., इन्द्रियजातः व्याधिः (चसू. २८.२९)
–दौर्बल्य–न., रोगलक्षण० इन्द्रियगतशक्तिन्यूनत्वमिन्द्रियाधिष्ठानदौर्बल्यं वा (सुसू. २०.१९)
–द्रव्य–न., ज्ञानेंद्रियाणां प्राधान्येनाऽऽरम्भकं द्रव्यम्, पञ्चेंद्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति। (चसू. ८.९)
इन्द्रियपोषकद्रव्यम्, पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरपंचेंद्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि । (चसू. २८.४)
–प्रवृत्ति–स्त्री., स्वस्वविषयोपलब्धौ इन्द्रियाणां प्रवर्तनम् (चसू. ८.५)
–प्रसाद–पु., इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यम् (सुसू. ४६.३)
–प्राणवह–वि., इन्द्रियसंचारी प्राणो येन मार्गेण वहति (गच्छति) स गमनमार्गः (चसि. ९.४)
–बुद्धि–स्त्री., तेन तेन कारणभूतेन चक्षुरादिना इन्द्रियेण जायमानं ज्ञानम् यथा, चक्षु–बुद्धिः पुनः क्षणिकं नामचाक्षुषं ज्ञानं तच्च निश्चयात्मिका च; (चसू. ८.३–१२)
–बोधन–वि., इन्द्रियपाटवकरम् (सुसू. ४५.१७१)
–वध–पु., लक्षण० ज्ञानेन्द्रियाणां कार्यनाशः कुपितवातस्य लक्षणम्, इन्द्रियवधं इत्यनेनाश्रुत्य घ्राणादर्शनारसनास्पर्शानि वेदितव्यानि (चचि. २८.२९; सुनि. १.२४)
–विज्ञान–न., इन्द्रियगतरिष्टविज्ञानम् (चइ. ४,२७)
–शुद्धि–स्त्री., इन्द्रियाणां पाटवं, वैमल्यम् (चसू. १६.६)
–संशुद्धि–स्त्री., घ्राणादीन्द्रियगतदोषशोधनम् (चसू. ५.३७)

–संश्रय (संभव)–वि., बाह्येन्द्रियजन्यम् (चइ. ४.५)

–स्थान–न., स्थानविशेषः, इन्द्रियस्य रिष्टस्य स्थानमिन्द्रियस्थानम् (चइ. १.१)

इन्द्रियाच्छय–न., चक्षुरादीनां स्वस्वविषयेषु पाटवम् (चसि. १.५१)

इन्द्रियात्मन्–पु., इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वक्रियाहेतुः–(आत्मा) (चशा. ४.८)

इन्द्रियाधिकार–पु., इन्द्रियम् अधिकृत्य कृतं प्रकरणम् (चसू. ८.३)

इन्द्रियाधिष्ठान–न., शारीर० ज्ञानेन्द्रियस्य आश्रयस्थानावयवः, यथाऽक्षि चक्षुरिन्द्रियस्याधिष्ठानम् (चसू. ८.३)

इन्द्रियानीक–न., ज्ञानेन्द्रियाणामानीकं समूहः तस्य रिष्टान्यधिकृत्य कृतोऽध्यायः चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने चतुर्थाध्यायस्य नाम (चइ. ४.१)

इन्द्रियाभिग्रह–पु., इन्द्रियेऽधिष्ठानम्, मनसः एकं कर्म (चशा. १.२१) (चशा. १.२२; चसू. ८.३)

इन्द्रियायतनदोष–पु., ज्ञानेन्द्रियस्थानस्य रोगो ज्ञानेन्द्रियस्थानविनाशो वैकल्यं वा (सुसू. २४.९)

इन्द्रियार्थ–पु., चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियग्राह्यो विषयः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चविषयाः

इन्द्रियोपक्रमणीय–वि., अध्यायसंज्ञा० इन्द्रियोपक्रमणमधिकृत्य कृतोऽध्यायः । (चसू. ८.१)

इन्द्रियोपघात–पु., लक्षण० ज्ञानेन्द्रियनाशः (असंसू. ३०)

इन्द्रियोपताप–पु., लक्षण० चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वकर्मगुणहानिः (सुसू. ४२.१० (३)

इन्द्रियोपशम–पु., लक्षण० इन्द्रियस्य निग्रहः (असंसू. ५.)

इन्द्रियोपशयः–वि., इन्द्रियानुपघातकं, इन्द्रियसुखावहम् (चवि. ८.१५१)

इन्द्रोक्तरसायन–न., इन्द्रेणोक्तो रसायनकल्पः अस्मिन् रसायने निम्ना हिमवत्प्रभवाः दिव्याश्चौषधयो भवन्ति–ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा, जीवनीयाश्चान्याः । सेवनविधिः फलञ्च–पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात्परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसंपदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः (चचि. १. (४) ६)

इन्धन–न., अग्नेराहारः (अहसू. ३.८)

इभ–पु., हस्ती, गजः (सुउ. ५६.२५)

(इभा)–स्त्री., हस्तिनी (सुउ. ४१.४९)

–कणा–स्त्री., गजपिप्पली (सुउ. ५२.४२)

–कर्णिटका–स्त्री., गोक्षुरः (र. १५.४०)

–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० गजकर्णीति प्रसिद्धा, अर्शःप्लीहग्रहणीकुष्ठादिनाशने मूलकुठाराख्ये रसयोगे उपदिष्टा (र. १५.४०)

–कृष्णा–स्त्री., गजपिप्पली (सुउ. ५२.३८)

–केसर–न., नागकेसरम् (सुचि. ३८.५२)

–गन्धा–स्त्री., स्थावरफलविषभेदः (सुक. २.५)

–पुट–न., गजपुटम्, त्रिंशदङ्गुलमिते खाते घटसंपुटितमौषधं संस्थाप्य ऊर्ध्वाध उपलानि स्थापयित्वा परिपचनम् (र. २.१९)

–शुण्डी–स्त्री., हस्तिशुण्डी (र. ११.९१)

इयत्ता–स्त्री., मर्यादा, परिमाणम् (असंसू. ३४.३)

इरा–स्त्री., सुरा; मद्यविशेषः (ध. ६.२५५)

–वती–स्त्री., वटपत्री (रा. ५.२११)

इरिमेद–पु., वनस्पति० खदिरभेदः अरीमेदः विट्खदिरः, गुणाः–कषायस्तिक्तः, शीतः (ध.) उष्णः (रा.) रक्तस्तम्भनः, आमस्तम्भनो, मुखरोगहरो, भूतविनाशकः, शोफातिसारकासघ्नो, विषवीसर्पनाशनश्च (ध. ५.१३३)

हिं.—दुर्गंधि खैर.

म.—शेण्याखैर. गंधिया हिवर, घाणेरा खैर.

गु.—गंधिलो खेर; इरिमेद.

बं.—गुयेवाब्ला विट्खयेर.

इरिवेल्लि–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोग० त्रिदोषजा सर्वदोषलक्षणयुता शिरोगता वृत्ता उग्ररुजा सज्वरा पिडका (सुचि. २०.७–८)

इरिवेल्लिका–स्त्री., इरिवेल्ली (सुनि., १३.१५)

इलि–पु.,मत्स्यजातीयप्राणि० (काखिल. २४.५०.५१)

इली–पु., इलीः (काखिल. २४.५०.५१)

इलीष–पु., इलिः (काखिल. २४.५०.५१) द्र० 'इलि'

इल्य–न., इलिः मत्स्यजातीयप्राणि०, इलिः, इली, इलीशश्च अस्य पर्यायाः (काखिल. २४.५०-५१) द्र० 'इलि'.

इष–पु., आश्विनो मासः (सुसू. ६.६)

इषीका–स्त्री., काशशलाका, दर्भतूली (अहसू. २१.१९)
इषु–पु., शरः (ध. ४.१३५)
–**पुङ्खिका**–स्त्री., शरपुङ्खा (र. ११.५२)
इष्ट–वि., प्रियं हितं च (चचि. १५.१२)
प्रियमात्रम् (सुसू. ४६.४५९)
–**गन्ध**–वि., यथोक्तप्रमाणगुणैरुपेतम् (असंशा.८)
मनोहारिगन्धोपेतम् (सुउ. ४७.२६)
–**संस्कार**–पु., रुचिकरः पथ्यश्च संस्कारः (सुसू. ४६. ४५९)
इष्टक–पु., इष्टः, एरण्डः (चचि. १४.४३)
इष्टका–स्त्री., गृहादिनिर्माणार्थं कृतो दग्धमृत्खण्डः पक्वेष्टिका (सुचि. ३२. ५)
ऊष्मस्वेदार्थम् उद्घर्षणार्थं च इयं प्रयुक्ता भवति (सुचि. २४.५ड)
–**पथक**–न., लामज्जकम् (ध. ३.८६)
–**स्वेद**–पु., जलाद्यवसिक्तया, आर्द्रालक्तकपरिवेष्टितया वा तप्तेष्टकया कृतः स्वेदः (सुचि. ३२.५)
गुल्मेऽस्यावचारणमुपदिष्टम् (सुउ. ४२.५६)
इष्टि–स्त्री., यज्ञः (चचि. ८.१८९)
इष्टिका–स्त्री., इष्टका (सुचि. २४.५६) पहा 'इष्टका'
–**यन्त्र**–न., गन्धकजारणार्थं यन्त्र० भूमौ वर्तुलं गर्तं विधाय मल्लं गम्भीरोदरं क्षुद्रं मृण्मयं पात्रं तद्गर्तमध्ये संस्थाप्य तत्रैकामिष्टिकां मध्यगर्तवतीं च निधाय इष्टिकागतगर्तं परितोऽङ्गुलोच्छ्रायमालवालं विधाय तद्गर्ते पारदं क्षिप्त्वा तद्गर्तमुखे वस्त्रं प्रसार्य तच्च दृढं बध्वा तदुपरि समभागं गन्धकं दत्वा न्युब्जमल्लेन गर्तमुखं रुद्ध्वा मल्लपालिमध्यभागं मृदा सम्यक् रुद्ध्वोपरि वन्योपलैः कपोतपुटं पुनः पुनर्देयम्। इष्टिकया पारदस्य यन्त्रणात् एतद्यन्त्रमिष्टिकायन्त्रनाम्ना कथितम्। तेन निर्धूमगन्धकजारणं कार्यम्। (र. ९.५२ तः ५५)
इष्वास–पु., इषुमोक्षकः, बाणमोक्षकः (चवि. ८.४२)

ई

ईक्षण–न., दर्शनम् (अहसू. २४.१)
ईक्षणाञ्जन–न., नेत्राञ्जनम्, अञ्जनम् (सुउ.३९.२६३)
ईक्षित–न., दृष्टिः दर्शनम् (असंशा. ८.३२)
ईति–स्त्री., उपद्रव० रोगादिदुर्दैवम् (सुसू. ५.३२)
ईतयः–अन्नादिक्षयहेतवोऽतिवृष्ट्यादयः
अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः खगाः।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥ (सुसू. ५.३२ ड)
अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडैता ईतयः स्मृताः॥
(कामन्दकीय–रघु० १.६३ मल्लिनाथ० नीतिसारः १३.६३)
अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः।
असत्करश्च दण्डश्च परचक्राणि तस्कराः॥
ईप्सित–वि., इष्टम्, अपेक्षितम् (सुचि. ३४.५)
ईप्सु–वि., इच्छुकः, अभिलाषी (सुउ. ६०.१२)
ईरण–पु., वातदोषः (सुचि. २४.१०८; अहसू. १५.१२)
ईरिण–न., ऊषरं क्षेत्रम् (सुक. ३.१०)
ईरित–वि., प्रेरितः (चनि. ८.४)
विलायितः (चसू. ६.२२)
ईर्ष्यक–पु., दृग्योनिः, सरेतस्क-षण्ढपुरुषः; दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते। ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः। (सुशा. २.४१) ईर्ष्यारतिः इत्यस्य चरकवाग्भटोक्तपर्यायः
ईर्ष्या–स्त्री., मनोविकार० परसंपत्तावसहिष्णुता (सुसू. १.२५(३)
समाने द्रव्ये परसंबंधप्रतिषेधेच्छा (चसू. ७.२७)
–**रति**–पु., ईर्ष्यकः षण्ढः (चशा. २.२०; असंशा. २)
ईर्ष्यकः दृग्योनिषण्ढः द्र० 'ईर्ष्यक'.
ईर्ष्यालु–पु., नपुंसक, ईर्ष्यकः (असंशा. २.४५)
द्र० 'ईर्ष्यक'
ईर्ष्यु–वि., ईर्ष्यायुक्तः (चशा. ८.२१)
ईशकोण–पु., ऐशानी दिक्; रसशालाया ईशकोणके सिद्धवस्तूनां स्थापनं प्रकुर्यात्। (र. ७.४)
ईशान–पु., महेश्वरः (सुचि. २९.१३)
ईशानी–स्त्री., शमी (ध. ५.९५)
ईश्वर–पु., सृष्टिकारणम्, परमात्मा (सुशा. १.११)
रुद्रः अहङ्कारस्याऽधिदैवतम्। (सुशा. १.७)
धनाढ्याः विशेषेण सुकुमाराश्च। ईश्वरा हि प्रायेण सुकुमाराः स्निग्धाश्च भवन्ति। (चक्रपाणि, चक्र. ७.२५)
(**ईश्वरा**)–स्त्री., वन्ध्यकर्कोटकी (असंउ. ४२)
(**ईश्वरी**)–स्त्री., वन्ध्यकर्कोटकी (र. २९.३४ रा. ३.२७३) द्र० 'ईश्वरा'.
रुद्रजटा (रापरि. ३.२४)
नाकुली (रा. ७. १५२)
लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६)

ईषिका–स्त्री., शरिका (चसि. २.२२)
ईह्–क्रि., चेष्टायाम् (सुउ. ३९.३२१)
ईहा–स्त्री., चर्या, चेष्टा, वाञ्छा (अहसू. १.३६) (सुशा. ४.४९)
ईहित–न., चेष्टितम्; कायिकं कर्म (अहसू. ११.१५)

उ

उ–पु., शिवः, धत्तुरो धात्री वा (र. २०.२२२) (शब्दस्तोमः)
उखर–न., खनिजलवणम् (ध. २.३२)
उखल–पु., तृण० भूरिपत्र० बलदो रुच्यः पशुभ्यः सर्वदा हितः (रापरि. ८. ४६)
उखा– स्त्री., शारीर० कक्षशिरःपार्श्वयोर्निम्नभागः (चशा. ७.११)
–**पात्र**–स्थाली (सुउ. ४४.३४)
उग्र–(परिव) वि., तीव्रम्, तीक्ष्णम्, सक्रोधम् अत्यन्तमसहनीयम् (चइ. १२.६८)
न., वनस्पति० वत्सनाभः (ध. ७.१२८)
(उग्रा)–स्त्री., वनस्पति० वचा (सुउ. ५१.२७)
मेथिका (ध. ६.१११)
यवानी (रा. ६.१४१)
–**कर्मन्**–वि., मारणादिदुष्कार्यप्रवृत्तः (चइ. १२.१७)
–**काण्ड**–पु., वनस्पति०–काण्डीरः (ध. ४.६२)
–**गन्ध**–पु., वनस्पति० कुठेरकः (रा. १०.८४)
पु., रसोनः (रा ७.९४)
न., निर्यास० हिङ्गुः (रा. ६.५९)
वनस्पति०–पु., कट्फलम् (रापरि. ८.१०)
–(**गन्धा**)–स्त्री., वनस्पति० वचा (सुउ. ५०.५३)
अजगन्धा; ब्राह्मी (रा. ४.१५३)
यवानी (ध. २.९१)
–**गन्धिका**–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१)
–**रेवती**–ग्रह० सा प्रजां हन्ति, 'ब्रह्मस्वहारिणां लोके विषमाणां दुरात्मनाम्। तस्कराणां शठानां च प्रजां हन्त्युग्ररेवती' ॥ (का. रेवतीकल्प. १७)
–**वीर्य**–पु., न., निर्यास० हिङ्गुः (रा. ६.५९)
–**शब्द**–पु., हस्तेन ताडिते उदरे आनाहवत् जायमान उच्चैर्नादः (सुनि. ७.९)
वि., उत्कटशक्तियुक्तम् (सुक. २.१८)

उचित–वि., अभ्यस्तम् (चसू. ६.४१)
उच्चटक–पु., वनस्पति० उच्चटा (चसि. १२.१८–७)
उच्चटा–स्त्री., वनस्पति० घुर्घुराख्यशणघण्टकारफलोऽल्पो विटपः, सरयूपकण्ठे वारेन्द्र्यां च प्रायशः उपलभ्यते (सुचि. ३८.८४)
तामलकी (रा. ५.१४४)
उच्चतरु–पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा. ११.१०४)
उच्चय–पु., समूहः (र. २.५)
उच्चीयन्ते संगृह्यन्ते विक्षिप्ताः पदार्था अनेनेत्युच्चयः राशीकृत्य स्थापनम् (अहसू. १.४)
उच्चाटा–स्त्री., वनस्पति० नागरमुस्ता (रा. ६.६२)
उच्चार–पु., विष्ठा (सुचि. २४.९८)
शब्दोच्चारः (चशा. ८.५२)
–**शायिन्**–(परिव० वि०,) उच्चारं घुर्घुरकादिं कृत्वा शेते इति (चशा. ८.५२)
उच्चिटिङ्ग–पु.. कीट० वायव्यः (असंउ. ४३)
वृश्चिकभेदः तनुदीर्घश्च (असंउ. ४३)
शुकतुण्डविषः कीटः (सुक. ३.५)
उच्चिटिङ्गदष्टलक्षणानि चास्य वृश्चिकदंशवद्भवन्ति (चचि. २२.१५३)
उच्चैर्भाष्य–(न.,) उच्चस्वरेण भाषणम्
उच्चैःश्रवस्–(पु.,) अमृतमन्थनोत्पन्नस्तुरगः, शक्रवाहनभूतः (सुचि. १५.६)
उच्चैःश्रुति–(स्त्री.,) तारस्वरमात्रश्रवणम् अल्पशब्दस्य तु सर्वथैव अश्रवणम् (चसू. २०.११)
उच्छादन–(न.,) गन्धद्रव्येण शरीरमार्जनम्, उत्सादनम्, उद्वर्तनम् (असंचि. ९)
उच्छिङ्घन–(परिव. न.,) उच्छ्वासेन वायोरन्तर्नयनम् (असंउ. २४)
उच्छिङ्घन–(न.,) लक्षण० छिक्का (सुउ. १७.६४)
नासिकया वायोरन्तःप्रवेशनम्, नेत्रे विलम्बिन्युच्छिङ्घनं कार्यम् (सुउ. १९.८)
उच्छिन्दन–(न.,) लक्षण० क्षुत् (असंसू. २९.१६)
उच्छीर्षक–वि., उच्छ्रितशिरस्कम् (सुचि. ३६.२३)
न., शय्यायाश्शिरोभागः (असंउ. १)
उच्छ्रून–वि., लक्षण० उन्नतशोफयुक्तम् (असंसू. ४०.५)
उच्छ्रय–पु., संबन्धः आधिक्यम् (सुउ. ३८.१४)
उच्छ्राय–पु., आधिक्यम्, उन्नतत्वम् (सुचि. ३४.१९) दीर्घत्वम् (सुसू. ३५.१२)
उच्छ्रित–वि., लक्षण० उत्सेधम् (सुसू. १२.१०)
उच्छ्रताक्ष–वि., उच्छ्रनाक्षम् (चवि. १७.६१)

उच्छ्रिति–स्त्री., उच्छ्रयः, संबन्धः, आधिक्यम् (सुउ. ३८.१७)

उच्छ्वास–पु., लक्षण० श्वासागमः (सुशा. २.५५)

उच्छ्वासारोधक–वि., लक्षण० उच्छ्वासस्य आसमन्ताद् रोधकः (सुउ. ४२.१३२)
श्वासागमस्य आसमन्ताद् रोधकः

उच्छ्वासावरोध–पु., श्वासनिर्गमावरोधः
–बस्ति–पु., वायोर्निष्कासनं कृत्वा गृहीतो बस्तिः (चसि. ५.९)

उच्छ्वासावरोधन–न., लक्षण० श्वासग्रहणस्य अवरोधः (सुनि. ९.२१)

उच्छ्वासोपरोध–पु., लक्षण० उच्छ्वासे कृच्छ्रत्वम् श्वासागमस्य अवरोधः (असंसू. २९.१६)

उज्जृम्भण–न., लक्षण० जृम्भायाः प्रवृत्तिः (र. १२.९)

उज्ज्वल–पु., षष्टिक० कुधान्यभेदः (चसू. २७.१४)
पु., शृङ्गाररसः (अहसू. २.३१)
वि., शोभनः (अहसू. ३.४१)
न., सुवर्णम् (रा. १३.१)

उज्ज्वाल–पु., कुधान्य० उज्ज्वल (अहसू. ६.९)
द्र० 'उज्ज्वल'.

उटज–पु., न., पर्णशाला (असंचि. ७)

उटिका–स्त्री., उडुकम्, उडुः=नक्षत्रम् उडुकशब्दः सप्तविंशतिसंख्यार्थे (र. २०.२२२)

उडुप–पु., न., पिधानम् (चवि. ७.२३)

उडुपति–पु., सोम० (सुचि. २९.८)

उडुम्बर–पु., उदुम्बरः (सुचि. २६.२९)

उण्डुक–पु., शरीर० पोट्टलकः (सुशा. ४.२५)
पक्वाशयैकदेशे विभक्तमलाधारः उण्डुकः अत उण्डुकात् पक्वाशयो भिन्नः (सुशा. ५.७)
शोणितकिट्टप्रभवः उण्डुकः (सुशा. ४.२५)
चरके पुरीषाधारशब्देन उण्डुकः प्रतिपादितः (सुशा. ड. ४.१७;)
उण्डुकस्थं मलं मलधरा कला विभजते (सुशा. ४.१७)

उत्कट–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)
पु., रक्तेक्षुः (अहसू. १५.२४)
धान्य० शालि० कषायमधुरलघ्वादिगुणः (चसू. २७.१८)
शरः (ध. ४.१३५)

उत्कटक–पु., आसन० (असंसू. २८)
द्र० 'उत्कटासन.'

(उत्कटा)–स्त्री., वनस्पति० सैंहली पिप्पली (रा. ६.११९)

उत्कटासन–न., शरीरसंस्थिति० गुदपार्ष्णिसमायोगः सुशा. ३.१६; (सुनि. २.४)

उत्कर–पु., अवकरः (असंसू. ६)
समूह (सुसू. ४५.९)

उत्कर्तन–न., छेदः, ऊर्ध्वस्य कस्यचिदङ्गस्य कर्तरीशस्त्रेण छेदनम् (सुक. ८.१३०)

उत्कर्ष–पु., समृद्धिः, आधिक्यम् (सुसू. ४१.३)

उत्कर्षण–न., अधोगतस्योर्ध्वकर्षणम् (सुसि. १.३)

उत्कार–पु., लक्षण० उद्गारः (सुसू. ३१.१६)

उत्कारिका–स्त्री., भक्ष्यवस्तु० पूपलिका (अहसू. ८. ४५)
'पोलिका' इति लोके (चचि. १७.८३)
लप्सिका (सुचि. २६.१७)
रोटिका (सुचि. १.८)
संयावप्रकारः (सुचि. १०.५)
उत्कारिकाशब्देन तत्साध्यः स्वेदो विवक्षितः षष्ट्युपक्रमेष्वन्यतम उपक्रमः (सुचि. १.८)
–कल्प–पु., उत्कारिकायाः पाककल्पः (चक. १.२३)

उत्कारी–स्त्री., उत्कारिका (असंचि. ५)
'द्र० उत्कारिका'

उत्काशन–न., उच्चैर्घोषेणाज्ञापनम् (असंसू. ३६)

उत्कासन–न., रोग० कासः (सुसू. २२.८)
उत्कृष्टं कासनम् (सुसू. २७.५)

उत्कुञ्चा–स्त्री., भक्ष्यवस्तु० उत्कारिकाः (चचि. १५.२२७)
तिलवातामादीनां दृषदि पिष्टानां उष्णोदकमृदित-पिंडा उत्कुञ्चा उच्यन्ते.

उत्कुटुक–वि., उत्कटकम् (सुचि. ३८.५)
द्र० 'उत्कटासन'.
उत्कुटुकासन, उत्कटिकस्य चिरासनस्थितिः; (सुचि. ६.२२) द्र० 'उत्कटासन'.

उत्कुपितचक्षुस्–वि., उक्षण० अभिष्यन्नं चक्षुः, अभिष्यन्दाख्योऽक्षिरोगः (अहसू. २.७)

उत्कोठ–पु., रोग० त्वचि रागवदतिकण्डूमन्मण्डलम् (असंउ. ३६)

उत्क्रम–पु., यथानिर्दिष्टक्रमाद्विपरीतः क्रमः (अहसू. ११.२९)

उत्कुब्जा–स्त्री., भक्ष्य० तिलमाषादीनां दृषदि पिष्टाणामुष्णोदकमृदिताः पिण्डा उत्कारिका वा द्र० 'उत्कुब्जा' (चचि. १५.२२७)

उत्कृष्ट–न., संत्रस्तरुतम् (चइ. १२.२६)

उत्क्रोश–पु., जलचरपक्षि० कुररभेदः, मत्स्याशी (सुसू. ४६.१०५)
कुरलः, (च. सू. २७.४३)
(परिवः) उच्चैः कूजनम् (अहसू. ७.१५)

उत्क्लिष्ट–वि., स्वस्थानाद्बहिर्निर्गतः (सुचि. ३४.५.)
–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० सरक्तेन वातादिदोषत्रयेण यद्वर्त्म उत्क्लिष्टमुत्क्लिष्टं सदकस्मान्म्लानतामेति (असंउ. ११)

उत्क्लेद–पु., क्लिन्नता मुखस्य शरीरस्य वा (र. ५.५३)
आर्द्रीभावः (सु. सू. ४६.१९)

उत्क्लेश–श्लेष्मनिष्ठीवनम् (सुउ. ६१.१६)
पु., लक्षण० (चसू. १३.५९)
अन्तरवस्थितदोषाणामितस्ततः संचलनं न पुनस्तत्प्रवृत्तिः (सुउ. ३९.१०१)
क्षोभः, प्रकोपः (सुचि. ३४.४)
स्वस्थानाच्च्यावनम् (चसू. १६.७)
थूत्करणम् (डसुउ. ४०.११)
–जनन–वि., थूत्कारप्रवर्तकम् (सुसू. ४६.१२८)

उत्क्लेशन–न., उत्क्लेश (अहसू. १९.६१) द्र० 'उत्क्लेद'.

उत्क्लेशनबस्ति–पु., दोषोत्क्लेशनार्थमुत्क्लेशौषधयुक्तो बस्तिः (सुचि. ३८.९२)

उत्क्लेषक–पु., सविषकीट० तद्गुणाः अग्निप्रकृतिकः, पित्तरोगकारी च (सु. क. ८.७–१२)

उत्क्वथित–न., वि., क्वाथः क्वथितम् (चसू. २३.१०)

उत्क्षिप्त–वि., लक्षण० स्थानादूर्ध्वगतः (चसि. ५.१०)
–त्व–न., ऊर्ध्वक्षिप्तत्वम्, भ्रूपक्ष्मप्रभृतीनां स्थानादूर्ध्वगमनम् (सुसू. ३२.४)

उत्क्षेप–पु., अङ्गस्योर्ध्वनयनम् (अहसू. ३.३९)
मयूरपिच्छादिकृतव्यजन० (अहसू. ३.३९)
शारीरमूर्ध्वगतसिरा० (अहशा. ३.३३)
–मर्मन्–मर्म० ऊर्ध्वजत्रुगतमर्मणी, स्थानम् शङ्खयोरुपरिकेशान्ते, स्नायुमर्मणी, अर्धाङ्गुले विशल्यप्राणहरे च (सुशा. ६.६. सुशा. ६.६–७;२७)

उत्क्षेपण–(परिव) न., ऊर्ध्वक्षेपणम् (सुशा. १०.४६)

उत्खात–वि., उन्मूलितः (सुसू. ६.३३)

उत्तम–वि., उत्कृष्टः, धवलः, श्रेष्ठः (चसि. ३.५५)

(उत्तमा)–स्त्री., त्रिफला (र. १५.४३)
रोग० शूकदोषजन्यपिडका० (सुनि. १४.११)
गुह्यरोग० रक्तपित्ताभ्यां जाता माषमुद्गनिभा पिटिका (असंउ. ३८)
–कण्ठिका–स्त्री., वनस्पति० कारवेल्लकसमद्विव्रफलगुच्छा सर्वाङ्गदुग्धा वल्ली उत्तमारुणी, सेहुण्डः (र. १०.८८–८९)
–कन्यका–वाराहीकन्दः (र. १०.८८–८९)
कुमारी, कन्यका, कुमारी, उत्तमा दुग्धिका (र. २०.७५)
–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० अजशृङ्गी, (र. १०.८८–८९)
पीतकरवीरः (र. १०.८८–८९)
–चन्दन–पु., न., धवलचन्दनम् (चचि. २०.३२)
–देह–पु., मस्तकम् (चसि. ३.५५)
–धूप–पु., पूतनाग्रहरोगे उपयुक्तो धूपकल्पः (का. धूपकल्प. १)
–मद–मदावस्था० तृतीयावस्था, ओजसि विहते विशेषेणात्यर्थं हते उत्तमो मदो भवति (चचि. २४.३७)

उत्तमाङ्ग–न., शिरो जत्रूर्ध्वभागो वा (सुउ. १.९)

उत्तमारणी–स्त्री., वनस्पति० उत्तमकरणी (सुचि. १०.८)
इन्दीवरी (रापरि. ३.२७)
योधामल्ली गोधामल्ली वा (सुचि. ६.१२)

उत्तर–वि., अधिकः (सुसू. ३४.६)
प्रधानम् (सुचि. ३७.८)
न., पृष्टस्य प्रतिवचनम् (चवि. ८.८२)
साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यवचनं, वैधर्म्योपदिष्टे वा साधर्म्यवचनम्, (चवि. ८.३६)
–गुद–न., पञ्चदश कोष्ठाङ्गेष्वेकम्, यत्र पुरीषमवतिष्ठते; बृहदन्त्रस्योपान्त्यभागः (चशा. ७.१०)
–तन्त्र–न., पश्चिमतन्त्रम्, तच्च परिशिष्टरूपम् (सुसू. ३.४३)
–दन्त–पु., ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थो दन्तः (कासू. २०.६)
–देहली–स्त्री., द्वारशाखयोरुपर्यासक्तं काष्ठम् (असंउ. १)
–पाद–पु., पादपृष्ठम् (कासू. २८.)
–बस्ति–पु., उपक्रम० (चसू. १३.२४)
बस्तिप्रकार० उत्तरमार्गेण दीयमानः तथा श्रेष्ठगुणतया वोत्तरबस्तिः (चसि. ९.५० चक्र)

निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयते इत्युत्तरबस्तिः (असंसू. २८)

उत्तरबस्तियन्त्रम्–नाडीयन्त्र०

अजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमजं स्नेहमुद्गविमृदितं विगतच्छिद्रशिराग्रन्थिस्कन्दं नातिवर्तुलं मृदु दृढं कषाय–रक्तं सुखसंस्थाप्यौषधप्रमाणं न्युब्जं विवृताननं निवेश्य तस्मिन् कर्णकयोर्दैढेन सूत्रेण घनं समं च बध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुखबन्धनार्थं सूत्रमुपधायाऽनुगुप्तं निधापयेत् (असंसू. २८)

उत्तरबस्तिनेत्रम्–द्विविधं. पुरुषाणां स्त्रीणां चैके त्रिविधमाहुः (बालानाम् अपि) (सुसू. ७.१३ ड;.)

उत्तरबस्तिनेत्रप्रमाणम्–(१) पुरुषाणाम्–चतुर्दशाङ्गुलप्रमाणं जातीपुष्पवृन्तसदृशाग्रं सर्षपच्छिद्रं सौवर्णराजतादिभवं वा, मध्ये संनिविष्टकर्णिकं मूले द्विकर्णिकं च (सुचि. ३७.१००–१०१)

(१) स्त्रीणाम्–स्त्रीनेत्रं दशाङ्गुलप्रमाणं चतुरङ्गुले संनिविष्टकर्णिकं मुद्गवाहिच्छिद्रं मूत्रस्रोतःपरिणाहं, मूत्रस्रोतःस्थौल्यम्, केचित् स्त्रीनेत्रं मेढ्रायामसममिच्छन्ति अपत्यमार्गे पुरुषेन्द्रियस्थूलनेत्रं किञ्चिदधिकच्छिद्रं च (सुचि. ३७.१०३–१०४)

उत्तरबस्तिविधानं मूत्राघाते मूत्रशुक्रार्तवदोषे अश्मरीव्रणे हितम् (सुचि. १.११०)

उत्तरबस्तिविधिः—(१) पुरुषाणाम्–अथातुरं स्निग्धस्विन्नं वातमूत्रपुरीषनिर्गमात् प्रशिथिलाशयं सघृतक्षीरां यवागूं पीतवन्तं सावष्टम्भके समं निषण्णम्। उष्णेन तैलेन स्वभ्यक्ते बस्तिमूर्धानं स्तब्धमेहनं पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य मूत्रमार्गं ततो बस्तिनेत्रं घृताभ्यक्तं षडङ्गुलानि यावच्छनैः शनैः विदध्यात्। (केचित् नेत्रस्य प्रणिधानं मेढ्रायामसममिच्छन्ति। ततो बस्तिमवपीडयेन्नेत्रं निर्हरेच्च)

(२) स्त्रीणाम्–पुरुषबस्तिवत् पूर्वकर्म कृत्वोत्तानायायूर्ध्वजान्वै स्त्रियै योनिमुखं प्रति सुमृदुपीडितं बस्तिं दद्यात् (सुचि. ३७.१०८)

स्त्रीणामपत्यपथे मूत्रमार्गे च बस्तिः।

कार्यम्—प्रसूतानामप्रसूतानां च प्राप्तगर्भग्रहणकालानां गर्भाशयशोधनार्थमपत्यमार्गे चतुरङ्गुलं निदध्यान्नेत्रम्। मूत्रकृच्छ्रादिविकारेषु तासामुभयरूपाणामपि मूत्रमार्गेऽङ्गुलं निदध्यान्नेत्रम्। कन्यानामप्राप्तद्वादशवर्षाणां मूत्रकृच्छ्रादौ मूत्रवर्त्मन्येकमङ्गुलं निदध्यात्। अंगुलिप्रमाणं तासामेवाङ्गुलिसदृशं ज्ञेयम्। (सुचि. २७.१०४–१०५ ड.)

आर्तवकाले स्त्रीणामपावृत्ता योनिर्बस्तिं गृह्णाति किन्तु योनिशूलावत्यये प्राप्ते सत्यनार्तवकालेऽपि योनिमार्गेण बस्तिः दीयते। (असंसू. २८.७०)

स्नेहप्रमाणम्–उत्तरबस्तेः स्नेहद्रव्यप्रमाणं पञ्चविंशं वर्षमारभ्य परमं प्रमाणं प्रकीर्तितं, तत्, सुश्रुतमतानुसारेण प्रकुञ्चप्रमाणं भवति, चरकमतानुसारेण तत्पुनः अर्धपलम्, पंचविंशादधोबुद्ध्यनुसारेण मात्रा प्रयोक्तव्या। सांवत्सरिकबालके स्नेहपलस्य पञ्चविंशतितममंशमारभ्य द्विवात्सरिकादौ प्रतिवत्सरं पञ्चविंशतितमस्यांशस्य वृद्धिं विदध्यात यावत् पञ्चविंशतिवार्षिकस्य पलं स्यात्।

(सुचि. ३७.१०२ ड.)

स्त्रीणां स्नेहमानम्–उत्तरबस्तेः स्नेहस्य परमं प्रमाणं स्वाङ्गुलिमूलसंमितं प्रसृतं वर्तते। अस्याऽर्वाग्बुद्धिविकल्पितं प्रमाणमुपयोक्तव्यम्। गर्भाशयशोधनार्थं च स्नेहमात्राद्विगुण्यं च।

(सुचि.३७.१०६) (सुचि. ३७.११५)

निरूहोत्तरबस्तिप्रमाणम्–१) पुरुषाणाम् उत्तरबस्तेः क्वाथप्रमाणं मात्रायाः बस्तिशोधनार्थं स्वहस्तसंमितं प्रसृतं वर्तते–२) स्त्रियाः प्रसूतायाः प्रसूतिरहिताया वा गर्भग्रहणयोग्यायाः गर्भाशयशोधनार्थं द्विप्रसृतं वर्तते–३) कन्येतरस्याः (अप्रसूतायाः प्रसूतायाः वा) कन्यायाः अप्राप्तद्वादशवर्षाया बस्तिशोधनार्थं पुरुषवत् स्वहस्तमितं प्रसृतमेव वर्तते

(सुचि. ३७.११६–११७)

उत्तरबस्तिगुणाः–दुष्टं शुक्रशोणितं चाङ्गनानां कष्टसाध्यं पुष्पोद्रेकं, पुष्पनाशं, मूत्राघातान् मूत्रदोषान्, योनिव्याधिं, अपरायाः निर्गमरोधं, शुक्रोत्सेकं, शर्कराम्, अश्मरीं बस्तिवंक्षणमेहनशूलान् अन्यानपि बस्तिगतान् घोरान् व्याधीन्नाशयति।

उत्तरबस्तेः सम्यग्दत्तलिङ्गानि व्यापदः क्रमश्च स्नेहबस्तिवदेव (सुचि. ३७.१२७)

स्नेहेऽनागच्छति सति शोधनैर्गणैः संयुक्तां बस्तिं वर्तिं वा विदध्यात्, अथवा बस्तिद्वारमेषणीं प्रवेशयेत्, नाभ्यधः प्रदेशं वा उत्तरमुष्टिना पीडयेत्

(सुचि. ३७.११७–१८.१९)

–**बस्तिकर्मन्**–न., उत्तरबस्तिविधिः, व्रणस्य षष्ठ्युपक्रमेषूपदिष्टः (सुचि. १.८)

–**बस्तिसिद्धि**–स्त्री., अध्याय० (चसि. १२.१)

–भक्त–वि., भैषज्यकाल० भक्तोत्तरम् औषधसेवनकालः (अहसू. १६.२२)

–भक्तक–वि., उत्तरभक्तः (असंसू. ५)

–मुष्टि–पु., स्त्री., मुष्टेरग्रभागः (सुचि. ३७.११९)

–वातिक–वि., वातप्रधानो विकारो रुग्णो वा (चसू. १४.४४)

न., वातप्रधाने विकारे हितं मूलादि (चसू. १४.४४)

बिल्वोऽग्निमन्थकाश्मरीपाटलाबलाबृहतीशालपर्णीकरमर्दादिद्रव्याण्युत्तरवातिकं विजानीयात् (चक्र. चचि. ८.७३)

–वायु–पु., उत्तरो मरुत्, तत्र षड्ऋतुषु मध्ये हेमन्ते उत्तरदिशो जातत्वादुत्तरो वायुर्वहति (सुसू. ६.२३.२४)

–वारुणी–स्त्री., वनस्पति० उत्तमारणी (र. २५.६४)

इन्द्रवारुणी (र. २५.६४–६६)

उत्तरक–न., सरम् । दक्षः उपरितनद्रवांशः (चक. १.१७)

उत्तरण–न., विशिष्टेण निर्वापणेन कोमलं विचित्रसंस्कारकरणोचितं च जातं लोहम् बीजापरपर्यायम् (र. ८.३१)

उत्तरापथिका–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाप्रकारः (ध. ५.५८)

उत्तरासङ्ग–पु., उत्तरीयं वस्त्रम्, संव्यानम् (चइ. १२.२७ सुसू. ३.५४)

उत्तरीय–न,, संव्यानम्, उत्तरासङ्गः । (र. ४.६१)

द्र० 'उत्तरासङ्ग'

उत्तान–वि., देहस्य पृष्ठप्रदेशः धरण्यां निधाय शयानः, ऊर्ध्वमुखः (अहसू. १९.४६)

(उत्ताना)–स्त्री., अत्युन्नता योनिः (चचि. ३०.८२)

–देह–वि.,उत्तानशरीरः (चसि.३.२६)

–पत्रक–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः (ध. १.२९६)

उत्तुण्ड–(परिव.) उन्नतम् वारिबुद्बुदवदुन्नतं शल्यम् दृश्यमुखम् (अहसू. २८.२१)

उत्तुण्डकी–स्त्री., वनस्पति० करञ्जकः, उत्तुण्डक्यास्तिक्तता तिन्दुकेन सह मधुरायते (असंसू. ७)

उत्तेजन–न., दीपनम् (असंसू. २५)

उत्त्रास–पु., लक्षण० भयम् (असंउ. ३)

उत्त्रासन–न., खड्गहस्तस्य योधस्य दर्शनादिनाऽऽकुलीकरणम्, एषा चिकित्सोन्मादादिवातरोगे प्रयुज्यते (अहसू. १९.४९)

उत्थान–न.,उद्योगः, पौरुषम् (चवि. ८.१३.)

क्रियारम्भः (चवि.४.१०)

उत्पत्तिः, संप्राप्तिः (सुचि.१.३) (सुचि.९.६८)

कारणम् (सुउ. ३८.३१)

उत्थापक–पु. यो रुग्णमुत्थापयति सः परिचारकः (चसू. १५.७)

उत्थापन–न., पुष्टिजननम् (चचि. २८.९६)

मृतस्य भस्मीभूतस्य लोहस्य पुनःस्वरूपापादनम् (र. ८.४०)

पारदसंस्कार० स्वेदनेन सूर्यतापेन वा मूर्च्छनजन्यदोषाणां विनाशनं कृत्वा पारदस्य चाञ्चल्यतेजस्वित्वगौरवादिकविशिष्टस्वरूपापादनम् (र. ८.६५)

उत्थापनक–न., घटयन्त्रम् (र. ९.५१)

पारदस्योत्थापनकरम् (र. ९.५१)

उत्थित–वि., जातम् (सुचि. १.१४)

उत्थितोपतरु–पु., वनस्पति० सरलः (रा. १२.१३६)

उत्पत्ति–स्त्री., जननम् (असंशा. २)

–कारण–(परिव.,) न., वायुः, संभवहेतुः, भूतानां भावकरो हेतुः (सुनि. १.७)

–हेतु–पु., उत्पत्तेः साक्षात्कारणम् । (सुनि. १२.३)

उत्पल–न., नीलकमलम् (सुचि. २८.२३)

रक्तं च रात्रिविकासि (र. १९.१०२)

शाक० कषायं रक्तपित्तहरं च (चसू. २७.११५)

वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)

नीलोत्पलगुणाः—जलगन्धापनयनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४५.१२)

–कन्द–पु., न., रक्तोत्पलकन्दः (अहसू. ६.९१)

नीलोत्पलस्य कन्दः (सुसू. ४६.३०८)

–कन्दक–न., उत्पलकन्दः (अहसू. ६.९१)

–किञ्जल्क–पु., पद्मकेसरम् सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

–नाल–पु., शाक० कमलनालः, शाकमस्य शीतं स्वादुकषायं कफमारुतकोपनं च (चसू.२७.११७)

अस्य क्षारः सकफे सपिच्छे कण्ठमार्गगे ग्रथिते रक्ते उपयुज्यते (असंचि. ३)

–पत्र–न., शस्त्र० उत्पलपत्रतुल्यं तीक्ष्णधारं षडङ्गुलप्रमाणं छेदनभेदनोपयोगि (सुसू. ८.३–४)

–भेद्यक–पु., कर्णबन्धाकृति० पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः, वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलभेद्यकः (सुसू. १६.१०)

उत्पलक–न., शुष्कं छगणम्, छाणं, गोवरम् (र. ५.४३–४४)

उत्पलादिवर्ग–पु., उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति । तद्गुणाः–दाहपित्तरक्तविनाशनः पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरः (सुसू. ३८.५२–५३)

उत्पलिनी–स्त्री., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२५०)

उत्पाचित–वि., पाकं नीतम् (सुचि. ९.२०)

उत्पाटक–पु., कर्णपाल्यां कर्णवेधापयोगेन जायमानः उपद्रवः (सुसू. १६.२६) [६]

उत्पाटन–न., शल्यतन्त्रे उपक्रम० (चसू. ११.५५)
व्रणवेदना० (सुसू. २२.११)
वाताधिमन्थे लक्षण० नेत्रस्य बहिरूर्ध्वं वा कर्षणवत् पीडा (सुउ. ६.१२)

उत्पात–पु., कर्णरोग० गुर्वीभरणभाराद्यैः प्रकुपितात् पित्तशोणितात् श्यावादिगुणः स्फोटादिसंयुक्तश्च यः श्वयथुः स उत्पातो नाम रोगः (असंउ. २१)
अनिष्टसूचकं निर्घातादि, आगामिभयसूचकं धूमकेतुदुःस्वप्नादिदर्शनं च (सुउ. ३९.२६७)
नेत्ररोग० सिरोत्पातः (सुउ. १.३७)
अत्र मञ्जिष्ठादिसिद्धं तैलमुपयोज्यम् (सुचि. २५.१६.१७)

–रोग–पु., रोग० पुनःपुनरुपक्रममाणेऽपि अयं शान्तिं नैति (काखिल. १५.१४)

उत्पिण्डिताक्ष–वि., रोगलक्षण० पिण्डीभूते इव अक्षिणी यस्य सः (चनि. ८.८)

उत्पिष्ट–वि., चूर्णितम् (सुसू. ४५. ११२)
न., सन्धिमुक्तभग्न० विशेषेणोत्पिष्टे संधावुभयतः शोफो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारका वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति (सुसू. ४२.१०.(२)

उत्पीडन–परिव० –न., उन्नमनम् (सुनि. ६.४)

उत्पुटक–पु., कर्णवेधापयोगेन जायमान उपद्रव० (सुसू. १६.२६.(६)

उत्पुटन–परिव० न., लक्षण० दरणम् (असंउ. २२)

उत्पेष–पु., हेतु० संध्यस्थिघर्षणम् (चवि. ५.१८)

उत्पेषण–न., हेतु० अस्थिपर्वादीनां घर्षणम् (चसू.१८.४)

उत्प्लवन–न., मण्डुकवदुड्डयनम् (र. २.७.८)

उत्स–पु., निम्नादुत्तिष्ठज्जलस्थानम्; उत्सा इति पर्यायः (चक्र. चसू. २७.२१४)

उत्सङ्ग–पु., अङ्कः (सुचि. ६.४)
बन्ध० (असंसू. ३८.४२)

वर्त्मनोऽधः क्रोडभागः (सुउ. ३.९)
व्रणवस्तुप्रदेश०, शिखरम्, चिरस्थितपूयावदारणगम्भीरशुषिरव्रणवस्तुप्रदेशः उत्सङ्गतुल्यत्वादुत्सङ्गः (सुचि. १.३४)
पूयस्य सङ्ग उत्सङ्गः (सुचि. १२.४)

(उत्सङ्गा)–स्त्री., नेत्ररोग० उत्सङ्गिनी (असंउ. ११)

उत्सङ्गिन्–वि., विंशतिव्रणभेदेष्वेकः, स्थूलपर्यन्तो व्रणाद्बहिः पूयावकाशस्योत्सङ्गवान् (चचि. २५.२०–२१)

उत्सङ्गिनी–स्त्री., वर्त्माश्रयनेत्ररोग० (सुउ. ३.१०)
लक्षणम्–रक्तेन रक्ता तत्तुल्यपिटिकाभिराचिता पिटिका (असंउ. ११)
चिकित्सा–छेदपूर्वकं लेखनं कार्यम् (सुउ. १३.१६)
सर्वजोत्सङ्गिनी–साध्य नेत्ररोग० (सुउ. १.४०)

उत्सन्न–वि., उत्कटः (सुनि. ५.६) उद्वृतमांसः (चचि. २५.२०–२१) वृद्धः (चसू. १३.५३)
उच्छ्रितम् (चक. ७.२७)

उत्सर्ग–पु.. विसर्जनम्, उत्सर्जनं, प्रवर्तनम् (चसू. २८.२२)
प्रायोभावी सामान्ये नियमः (चवि. ८.१३४)

उत्सर्पिणी–स्त्री., उन्नतिकालः (काशा. पृ. ४४)

उत्सा–स्त्री., निम्नादुत्तिष्ठज्जलस्थानम्

उत्सादन–न., उद्वर्तनम्, पिष्टादिना शरीरमलापकरणम् (चसू. १.९१)
उपक्रम० निम्नव्रणस्य उन्नतिकरणम्, मांसवर्धनम् (सुचि. १.८)
परिशुष्कमांसानां अल्पमांसानां गंभीराणां च वातात्मकानां रक्तपित्तात्मकानां चापामार्गादिभिः सर्पिःसंस्कारं आलेपनं च कर्तव्यम् (सुचि. १.८२)
उत्सादनीयद्रव्याणि–अपामार्गाश्वगन्धा, तालपत्री, सुवर्चलादीनि (सुसू. ३७.३०)
मांसवर्धनम् (ड. सुसू. ३७.३०)

उत्साह–पु., चैतसिको धर्मः, मनस उल्लासः (सुचि. ३८.५०) (चसू. १८.४९)
सर्वचेष्टासूद्योगः (अहसू. ११.१)
अध्यवसायः (अहसू. ११.१ हेमा.)

उत्सुहितस्रोतस्–वि., ऊर्ध्वपूरितस्रोतसः शिशोः कास-श्वासवमीप्रादुर्भावः (सुशा. १०.२९)

उत्सृष्ट–वि., त्यक्तम् (सुसू. ४६.४७६)
–बहिर्वेग–वि., त्यक्तविण्मूत्रादिकः (सुचि. ३८.३)

उत्सेक–पु., आधिक्यम्, प्रवर्तनम् (सुचि. ३७.१२६)
अतिगर्वः (चसू. ८.२७)
उत्सेध–पु., उन्नतिः (चवि. ८.११७)
उन्नतत्वम् (चसू. १८.८)
शोफः (असंनि. १३)
उच्छ्रायः (र. ९.६)
उत्सेहन–न., उन्मार्गगमनम् (चवि. १.२५ (७)
अन्यनाडीगमनमन्नस्य (असंसू. १०.२५)
उदक–न., जलम् (चसू. २७.९८)
–ज–न., वनस्पति० पद्मम् (सुउ. ४२.१०८)
–धरा–स्त्री., त्वग्विशेषः, षट्सु त्वक्षु प्रथमा बाह्यत्वक् (चशा. ७.४)
–पायित–वि., पायना, निर्वृत्तानां शस्त्राणामग्नितप्तानां तत्क्षणाद्द्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना (सुसू. ८.१२)
–पूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्श–वि., जलपूर्णदृतेश्चालनात यः संस्पर्शस्तद्वत्संस्पर्शो यस्य–उदरस्य सः; जलोदररोगावस्था० (चवि. १३.४७)
–पूर्णोदर–वि., उदकनिमज्जनादितो बहुपीतोदकः (सुसू. २७.२०)
रोग० तत्स्वरूपं चिकित्सा च जलनिमज्जनाद् जलमृतादीनां मृतोपमानां जलपूर्णमुदरम् भवति । एवं विधमुदकपूर्णोदरं नरमवाक्शिरसमवपीडयेद्, धुनीयाद्वामयेद्वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् (सुसू. २७.२०)
–प्रक्षेपण–न., सलिलपूर्णे भाजने वस्त्रादिपीडिते आकण्ठमपरशीतजलनिक्षेपः जलशीतलकरणोपायेष्वेकः (सुसू. ४५.१९)
–प्रादुर्भाव–पु., उदरे जलोत्पत्तिः (चचि. १३.४८)
–मञ्चिका–स्त्री., निक्षेपण० आकाशान्तराले निरन्तरनिहितवेत्रवेण्वादिविरचिता वेत्रगृहाद्यभिधाना जले भूम्यादिस्पर्शाभावाद्दोषान्तरानुदयार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४५.१८)
–मूर्च्छित–वि., जलसंयुक्तः (चचि. १३.४३)
–मेह–पु., कफमेहरोग० शीतं श्वेतं निर्गन्धं बहूदकमिव स्वच्छं मूत्रं मेहति (चनि. ४.१०)
तत्र चिकित्सा–पारिजातकषाय उपयुक्तः (सुचि. ११.९)
–वहस्रोतस्–न., अब्धातुवहस्रोतस्.
उदकवहे द्वे स्रोतसी तयोर्मूलं तालु क्लोम च तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च (सुशा. ९.१२)
–सात्म्य–(परिव) न., सात्म्य० उदकग्रहणाद्द्रवद्रव्याणां सात्म्यं गृह्यते (सुसू. ३५.३९)
उदकान्तरित–वि., उदकस्य भोजनमध्ये पानम्, आदौ पिण्डीमध्ये जलम् अन्ते च पिण्डी इति उदकान्तरितम्, सक्तुभक्षणविधावुदकान्तरितभक्षणं न विहितम् (अहसू. ६.३९)
उदकीर्य–पु., वनस्पति० करञ्जभेदः, अस्य फलं पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थमुपयुज्यते, चिरबिल्वः (ध. ५.१०९)
उदकीर्यका–स्त्री., वनस्पति०=उदकीर्यः (सुसू. २.९) द्र० 'उदकीर्य'
(उदकीर्या)–स्त्री., वनस्पती०=उदकीर्यः (चसू. ३९.९) द्र० 'उदकीर्य'
उदकुम्भ–पु., जलपूर्णकुम्भः प्रस्थानेऽस्य दर्शनं शुभम् (सुसू. २९.२७)
(उदकुम्भी)–स्त्री., उदकुम्भः (असंसू. ३८)
उदकोष्ठ–पु., उदकसञ्चयार्थं पात्र० (चसू. १५.७)
उदक्प्रवण–वि., उदीच्यां निम्नम् (चशा. ८.१०)
उदगयन–न., उत्तरायणम्, सूर्यस्य उत्तरस्यां दिशि संक्रमणम् (चवि. ८.९)
उदग्र–वि., उन्नतम् (सुशा. १०.४६)
–वयस्–वि., तरुणः (सुचि. २६.३)
उदञ्चन–न., पिधान शरावः (चसू. १५.७)
उदधि–पु., समुद्रः (सुचि. ३५.३०)
–कफ–पु., समुद्रफेनः (असंउ.२४.२३१)
–फेन–पु., समुद्रफेनः, जाङ्गमद्रव्य०
तद्गुणाः–शीतः कषायोऽतिलेखनश्च (ध.३.१५४)
–मल–पु., समुद्रफेनः (असंसू.१२.२२)
उदपान–पु., न., उदकं पीयते येन तद् (चसू. १५.६)
कूपः सरः (असंउ. ४ पृ. ४१)
–घट–पु., उदकपानार्थं घटः (चवि. ३.३६)
उदमन्थ–पु., जलालोडितसघृतसक्तवः (चसू. ६.१८)
बहुद्रवाः सक्तवो ग्रीष्मादन्यस्मिन्नृतौ गर्हिताः (असंसू. ७.२४४)
उदय–पु., जन्म, उत्पत्तिः (चचि.३.५)
–भास्कर–पु., सिद्धौषधि० कजलीकल्पः,
तद्गुणाः–प्रमेहरक्तपित्ताऽतिसारश्वासकासनाशनः (र. १७.११०–१२०)
सर्वशूलनाशनोऽनुपानं ताम्बूलपत्रखण्डम् (र. १८.१४८–१५३)

–मार्तण्ड–पु., सिद्धौषधि० कज्जलीकल्प०
गुणाः–उदरशोफभगन्दरनाशकः
(र. १९.३६–३८)

उदयन–न., मोक्षोपायः (चशा. ५–१२)

उदयादित्य–पु., सिद्धौषधि० कज्जलीकल्प० गुणाः—श्वेतकुष्ठस्य साध्यस्याऽसाध्यस्य वा विनाशकरः
(र. २०.२०६–२१३)
जरारजनीहरः (र. २६.५–७)

उदर–न., शारीर० अन्तराधेरेकमुपाङ्गम्।
उदरे चतस्रः पेश्यः (असंशा. ५)
चतुर्विंशति सिराः (असंशा. ६)
दशाङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलमुदरम्
(चवि. ८.११७; असंशा. ८.३०)
पुरुषाणाम्—ईषदुन्नतमुदरम् अशिथिलम्, अकठिनं अविपुलं प्रशस्यते। दारिद्र्याय शुष्कम्। उन्नतं भोगाय। विशालविषमं विषमशीलभोगाय भृशशुष्कं चानपत्यम् (कासू. २८.६; पृ. ४८)
स्त्रीणाम्—अधस्तादुपचितमसिरमतिविपुलमवलीकमनायुषे। मध्यं नाभेरुपरिष्टादनायुषे। एकवलिकं धन्यम्। द्विवलिकं बुद्धिलाभाय। त्रिवलिकं सौभाग्याय चतुर्वलिकं प्रजायुषे। बहुवलिकमधन्यमनायुषे भवत्युदरम्। (कासू. २८.६; पृ. ४८)
पु., रोग० महागदेष्वेकः,
उदरोत्लेधाद्भवति, उदरगुहायां जायमान उदकसञ्चयपर्यवसायी शोथयुक्तो विकारः (र. ३.१३७)
कोष्ठानुसार्यन्तर्मार्गजो व्याधिः (चसू. ११.४९)
प्रकारः—वातपित्तकफसंनिपातक्षतबद्धयत्कृत्प्लीहोदकभेदैर्भिद्यमानः उदकचयावसायी उदरव्याधिः
(र. १२.१)
उपद्रवयुक्तश्चाऽवार्यो भवति (सुसू. २३.१४)
निदानं सम्प्राप्तिश्च—यस्य वातः प्रकुपितः सन् त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः शोथं जनयति तस्य च कुक्षौ उदररोगो जायते (चसू. १८.३१)
मलसञ्चयादिकारणैरूर्ध्वाऽधोधातवो वातादयोऽम्बुवाहिनीर्वाहिनीः रुध्वा प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य त्वङ्मांससन्धिगाः सन्तः कुक्षिमाध्माप्योदरं कुर्युः (असंनि. १२.३–४); दुष्टो रसोऽनिलवेगनुन्न उपस्नेहवत् कोष्ठाग्निःसृत्य त्वचः समुन्नम्य शनैरासमन्ताद्विवर्धमानः जठरं करोति (सुनि. ७.६–७)
सर्वमेवोदरमतिमात्रदोषसञ्चयानुबन्धेन स्रोतोमुखनिरोधात् व्याकुलानिलतया प्रजायते। सर्वं सर्वात्मकं कृच्छ्रतमं च (असंचि. १७.१)
मन्दाग्नित्वं मुख्यं कारणं तथा अजीर्णं मलिनान्नसेवनं जठरे मलसञ्चयश्च (असंनि. १२)
स्नेहादिमिथ्याचरणं चापि कारणम् (सुनि. ७.५)
लक्षणम्—(सामान्यम्) सर्वेष्वप्युदरेषु तन्द्रा सदनं मलसङ्गो दाहोऽल्पवह्निता श्वयथुराध्मानमन्त्रे उदकसम्भवश्च (असंनि. १२)
शुष्कतालुः शुष्कौष्ठः शूनपादकरोदरो नष्टचेष्टाबलाहारः कृशः प्रध्मातकुक्षिः प्रेतरूपश्च दृश्यते
(असंनि. १२)
कुक्षेराध्मानमाटोपः पादकरस्य शोफो मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चेत्येतान्युदरलक्षणानि
(चचि. १३.२१)
गुल्मप्रकटितानि लक्षणानि (सुनि. ७.५)
पूर्वरूपाणि—क्षुन्नाशोऽन्नं चिरात् सविदाहं पच्यते जीर्णाऽजीर्णस्याज्ञानम् सौहित्याऽसहिष्णुता बलनाशः शश्वद् अल्पचेष्टितेऽपि श्वासः विड्वृद्धिः विडप्रवृत्तिः पादयोः किञ्चिच्छोफो बस्तिसन्धौ किञ्चिद्रुक् लघ्वल्पाऽभोजनैरतिततता जठरे राजीजन्म वलीनाशश्चेत्येतानि भवन्ति
(असंनि. १२.७–१०)
वातोदरम्–पाणिपान्मुष्कसंन्धिषु शोफः कुक्षिपार्श्वोदरकटिपृष्ठेषु रुजा पर्वभेदनशुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसंग्रहस्त्वगादीनां श्यावारुणत्वमकस्मात्हासवृद्धियुक्तं चोदरं सतोदभेदं तनुकृष्णसिराभिस्ततं चोदरं तच्चाऽऽहतं सदाध्मातदृतिवच्छब्दं करोति सरुक् शब्दो वायुः सर्वतोगतिः सन् विचरत्युदरे (असंनि. १२.१४–१७)
रूक्षादिकर्शनान्नैः कुक्ष्यादिगो वायुः कुपितः सन्नग्निं हत्वा कफमुध्दूय तेन रुद्धगतिस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः सन् उदरमाचिनोति
(चचि. १३.२३–२४)
पित्तोदरम्–ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट्कटुकास्यता भ्रमोऽतिसारस्त्वगादौ पीतत्वं हरिद्वर्णं चोदरं पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्णं च दह्यते धूमायति मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते च
(असंनि. १२.१६–१८.१९)
अचिराभिवृद्धिश्च भवति (सुनि. ७.१०)
कटूम्लादिभिः समाचितं पित्तमनिलकफौ प्राप्य मार्गं रुध्वोन्मार्गमास्थितं सदाऽऽमाशयेऽग्निं निहत्योदरं कुरुते (चचि. १३.२३–२७)

कफोदरम्–अङ्गसदनं स्रावः श्वयथुगौरवं निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासस्त्वगादीनां शुक्लत्वमुदरं तु स्तिमितं स्निग्धं श्वेतराजीततं चिराभिवृद्धिकठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरं महच्च जायते (असंनि. १२)

अन्यायामादिभिः क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतो वायुरन्त्रगो भूत्वा श्लेष्माणं पीडयन्नुदरं कुर्यात् (चचि. १३.२९–३०)

संनिपातोदरम्–त्रिदोषकोपनैस्तैस्तैस्तथा स्त्रीदत्तैः रजोमलैर्गरदूषीविषादिभिश्च सञ्चिताः सरक्ता मलाः कोष्ठं प्राप्य शोफमूर्च्छाभ्रमान्वितं शीघ्रपाकं सुदारुणं त्रिदोषजमुदरं कुर्वन्ति । तच्च शीतवाताभ्रदर्शनेऽतीव बाधकम् (असंनि. १२.२२–२४)

छिद्रोदरम्–अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैर्भुक्तैरत्यशनेन वाऽन्त्रं भिद्यते पच्यते चान्त्रं तच्छिद्रैः स्रवन् आमः सविड्रसोऽल्पाल्पं गुदाद् बहिरेति–स कुणपगन्धतुल्यः पिच्छिलः पीतलोहितश्च भवति । अवशिष्ट आमो जठरमापूर्योदरं जनयति । तन्नाभेरधो वर्धते च शीघ्रं जलात्मतामेति । उद्रिक्तदोषलक्षणं श्वासतृड्भ्रमैश्च व्याप्तं वर्तते (असंनि. १२.३४–३८)

बद्धोदरम्–पक्ष्मवालैरन्नेन सहोपभुक्तैः सहोदावर्तैर्दुर्नामभिरन्त्रोपलेपिभिरन्नैर्बद्धायने गुदे कुपितोऽपानवायुर्वर्चःपित्तकफान् रुध्वोदरं करोति। तत्र दाहस्तृट् ज्वरः क्षवः कासः श्वासोरुसदनं शिरोहृन्नाभिपायुषु रुजा मलसङ्गोऽरुचिश्छर्दिरित्यादीनि लक्षणानि भवन्ति। उदरं तु मूढमारुतस्थिरं नीलारुणसिराराजीनद्धमराजिकं वा भवति तच्च नाभेरुपरि प्रायो गोपुच्छिकाकृति जायते ।

(असंनि. १२.३०–३१)

यकृदुदरम्–अत्याशितस्य यानपानादिचेष्टितैः संक्षोभादतिव्यवायभाराध्वगमनव्याधिकर्शनैर्दक्षिणपार्श्वाश्रितं यकृत्स्थानाच्युतं विवर्धते वा रसादिभ्यो विवृद्धं शोणितं तद्विवर्धयति । तदष्ठीलेवाऽतिकठिनं कूर्मपृष्ठवत्प्रोन्नतं क्रमेण वर्धमानं कुक्षावुदरं करोति। तत्र श्वासकासपिपासाऽऽस्यवैरस्याऽऽध्मानपीडाज्वरपाण्डुत्वमूर्च्छाच्छर्दिदाहमोहाश्च भवन्ति । उदरमरुणाभं विवर्णं वा नीलहारिद्रराजिमच्च भवति।

(असंनि. १२.२८–२९)

प्लीहोदरम्–तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात् यकृतोदरस्य प्लीहजठरे एवावरोध इत्येतत् प्लीहोदरं विद्यात्

(चचि. १३.३८; असंनि. १२.२४–३०)

उदरम् अतोयम्–अरुणमशोफं नातिभारिकं सिराजालगवाक्षितं गुडगुडशब्दवद्वातो नाभिं विष्टभ्य वेगं कृत्वा नश्यति हृत्कटीनाभिपायुवंक्षणेषु वेदना भवति वायोः सशब्दनिश्चारो बद्धविट्कताऽल्पमूत्रताऽनलो नातिमन्दो लौल्यमविरसं च मुखं स्यात्

(असंनि. १२.११–१३; चचि. १३.५५–५८)

उपेक्षिते सति–उदराणामुपेक्षया दकोदरे एव सर्वेषां पर्यवसानम् । दोषाः स्वस्थानच्युताः पाकाद्द्रवाः सन्धीन् स्रोतोमुखानि द्रवीकुर्युः । बाह्यस्रोतःसु विहतः स्वेदस्तिर्यगास्थितस्तदेवोदकमाप्याय्य पिच्छां कुर्यात् । तदोदरं गुरु स्थिरं वृत्तमाहतेऽप्यशब्दं मृद्वपगतराजिकं नाभ्यां स्पृष्टं चेत्सर्पणशीलं च भवति । तदनूदकजन्म तेन चाऽधिका कुक्षिवृद्धिः सिरान्तर्धानं दकोदरोक्तलक्षणानि च भवन्ति

(असंनि. १२.४२–४६)

उदकोदरम्–निदानसम्प्राप्तिलक्षणानि–प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसा आमाम्बुपायिनोऽत्यम्बुपानात्क्षीणस्याऽतिकृशस्य जलमूर्च्छितः कफो वायुश्चाऽम्बुमार्गान् रुध्वोदराश्रितौ तत्स्थानात्तदेवाम्बु वर्धयेताम् । तत् उदरं तृष्णागुदस्रतिरुजाकासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिराततं तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथुयुतं महत्स्निग्धं स्थिरमावृत्तनाभि च भवति

(असंनि. १२.३८–४१; चचि. १३.४५–४८)

उदरोपद्रवाः—छर्द्यतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गाद्युपद्रवा जातोदकावस्थानन्तरं प्रादुर्भवन्ति (चचि.१३.४९)

एवंप्रकारकम् अचिकित्स्यं ज्ञेयम्। पार्श्वभङ्गोऽन्नविद्वेषः शोफो विरेचनद्रव्यैर्बहुशो विरिक्तं पुनः पूर्यमाणमुदरम् (सुसू. ३३.१४)

साध्यासाध्यत्वम्—अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि च अवशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत्

(सुचि. १४.३)

वातपित्तकफप्लीहसंनिपातदकोदराणि यथोत्तरं कृच्छ्राणि बद्धोदरच्छिद्रोदरे च प्रायः पक्षादूर्ध्वं मारयतः । रिष्टोक्तोपद्रवान्वितं जातसलिलं सर्वमप्युदरमसाध्यम् । जन्मनैव सर्वमप्युदरं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् । बलिनो नवोत्थितं तदजाताम्बु यत्नसाध्यं ज्ञेयम् (असंनि. १२.४६–४८)

तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि ।

(सुचि. १४.३)

चिकित्सा—उदररोगविशेषे सामान्ययोगाः (१) एरण्डतैलमहरहर्मांसं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेत उदकवर्जी (२) माहिषं मूत्रं क्षीरेण गव्येन पिबेत् सप्तरात्रम् (३) उष्ट्रीक्षीराऽऽहारः—त्यक्तान्नसलिलो भवेत् पक्षं यावद् (४) पिप्पली वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनाऽऽसेवेत (५) निकुम्भतैलं सैन्धवाजमोदायुक्तं पानार्थम् (६) शृङ्गवेररसविपक्वं क्षीरमासेवेत (७) आर्द्रशृङ्गवेररसपात्रशतसिद्धं तैलं वातशूले प्रयुञ्जीत (८) चव्यशृङ्गवेरकल्कं सरलदेवदारचित्रकं वा पयसा पिबेत् (९) मुरङ्गीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं पयसा पिबेत् (१०) ज्योतिष्कफलतैलं क्षीरेण स्वर्जिकाहिङ्गुमिश्रं पिबेत् (११) गुडद्वितीयां हरीतकीं भक्षयेत् (सुचि. १४.१०)

उदररोगे लवणमुपयुज्यते (चसू. १.९२)

उदररोगे आनाहवर्तिरुपयोज्या (सुचि. १४.११)

दकोदरे जलनिर्हरणं कार्यम् (सुचि. १४.१८)

स्वेदचिकित्सा—वातारब्धे कफारब्धे चोदररोगे स्वेदो विधेयः, स च स्वेदः आजलप्राप्तेः । अत ऊर्ध्वं सर्वेषामस्वेद्यत्वम् । छिद्रोदरदकोदरिणोरेव तत्र निषेधोऽन्येषु यथास्वं स्नेहादयः प्रयोज्याः (डसुचि. १४.५)

शस्त्रचिकित्सा—बद्धगुदे परिस्राविणि च शस्त्रकर्म कर्तव्यम् (सुचि. १४.१७)

उदररोगेऽभुक्तवतः शस्त्रकर्म कुर्वीत । अन्नपूर्णकोष्ठत्वाद्यत्रदानादिभिः कष्टं मरणं वा प्राप्नोत्यातुरः। (डसुसू. ५.१६)

पथ्यापथ्यम्—उदरी गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत् । शालिषष्टिकगोधूमान् नीवारांश्च नित्यमश्नीयात् । (सुचि. १४.४)

जठर्यन्नं नाद्यात् तोयपानं च वर्जयेत् ईषत्सांद्रमुद्धृतस्नेहं स्वादु तक्रं पाने हितम् (चचि. १३.१०१)

अयं वमनार्थं न योग्यः (सुचि. ३३.१४) (असंचि. अ. १७ अहृनि. १२ अहृचि. १५)

उदरचिकित्सित—पु., अध्याय० उदररोगस्य चिकित्सार्थं कृतोऽध्यायः (चचि. १३.१)

उदरमर्म—न., मर्म० गुदं बस्तिः नाभिश्चेति त्रीणि भवन्ति उदरमर्माणि (सुशा. ६.६ अहृशा. ४.१)

उदराद—पु., श्लेष्मजः क्रिमिविशेषः (चवि. ७.१२)

उदरामय—पु., उदरे जातो व्याधिः अतीसारः (ड.) सुउ. ४०.८३) (चचि. १९.६०)

उदरावेष्ट—पु., रोग० उदरस्यावेष्टनमिव आवेष्टः अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. १९.४ (९)

क्रिमि० विंशतिक्रिमिजात्यन्तर्भूतेषु सप्तसु कफजेष्वेकः (चसू. १९.४ (९)

उदर्द—पु., रोग० (चसू. २०.१०)

व्याधिस्वरूपम्—प्रायः शिशिरसम्भवः, सरागैः कण्डूमद्भिरुत्सङ्गैर्मण्डलैः सहितो बहिःशरीरे त्वगुपरि भवति । उदर्दस्तु कफाधिकः वाताधिकं तु शीतपित्तम् ।

शीतपित्तोदर्दयोः सामान्यं निदानं—शीतमारुतसंस्पर्शादुष्टौ कफमारुतौ पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पत उदर्दं शीतपित्तं च जनयतः ।

उदर्दलक्षणम्—बहिस्त्वचो वरटी नामककीटविशेषदष्टसंस्थानः सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् शोथः । भेषजसाध्यो व्याधिः कटुकरसेनोपहन्यते (मा.) (चसू. २६.४३ (४) अहृसू. १०.१७)

उरोऽभिष्यन्द उदर्दः केषांचिच्छीतवेपथुरुदर्दः (असंसू. २०.१६—१७)

—प्रशमन—वि., महाकषायवर्गे तिन्दुकप्रियालादि (चसू. ४.१७ (४३)

उदर्दित—वि., उन्मादरोगेऽरिष्टलक्षणेषु एकम् उदर्दयुक्तः ऊर्ध्ववातार्दितो वा (चइ. ५.१९)

—त्व—न., ऊर्ध्वकाये पीडितत्वम् (चनि. ७.६)

उदर्य—पु., वि., जाठराग्निः, जठरस्थः (चचि. १५.७)

उदश्वित्—न., तक्रभेदः नष्टार्तवोपचारेषु पानार्थमेकं द्रव्यम्, अर्धोदकं तक्रम् दध्यर्धप्रमाणेन जलेन सह आलोडितं तक्रम् (सुशा. २.२२)

एतच्च काललवणसहितं वातशूले प्रशस्तम् (सुउ. ४२.९२)

दधिसमभागजलेन कृतं तक्रम् (चवि. ८.१३६)

सस्नेहं सजलं तक्रमुदश्विदिति कथ्यते (सुसू. ४५.८५)

उदश्वित—न., उदश्वित्, (ध. ६.२११)

उदान—पु., देहस्थवायु० वायोः पञ्चप्रकाराः प्राणोऽपानसमानोदानव्यानाः । ऊर्ध्वमागच्छन्वायुरुदानः । (सुनि. १)

उद् ऊर्ध्वं अनिति श्वसिति अनेन प्राणी इति (सुनि. १.१४)

तत्स्थानम्—उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरःकण्ठ एव च (चचि. २८.७)

तत्कर्म—वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नः उर्जाबलवर्णादि (चचि. २८.७)

तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते
(सुनि. १.१५)
आवृतः (उदानः)–वातावृतः—
व्यानादिभिः (व्यानोऽपानः, प्राणश्च) त्रिभिरेवोदानः आवृतो भवति (अहनि. १६.५०–५२)
(१) प्राणावृतः–तल्लक्षणानि—
शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वाससंग्रहः उच्छ्वाससंग्रहो हृद्रोगो मुखशोष इत्येते उदाने प्राणावृते भवन्ति, तस्योर्ध्वभागिकं कर्म कार्यं आश्वासनं तथा।
(चचि. २८.२०६–२०७; असंनि. १६)
(२) अपानावृतः–तल्लक्षणानि—
अल्पोऽग्निर्मोहोऽतीसारो भवति। तत्र चिकित्सा–वमनं कर्तव्यं तथा च दीपनं ग्राहि चाऽशनं कार्यम्
(चचि. २८.२१०–२११)
व्यानसहित उदानश्छर्दिकरः (सुउ. ४९.७)
पित्तावृतः–तल्लक्षणानि–नाभ्युरसोः क्लमो दाहो मूर्च्छाऽऽदीनि रूपाण्योजोभ्रंशः सादश्च
(चचि.२८.२२३–२२४)
कफावृतः–तल्लक्षणानि–गुरुगात्रत्वम् रुचिर्वाक्स्वरयोर्ग्रहो बलवर्णयोः प्रणाशः (असंनि. १६)
(चचि.२८.२२४–२२५)

–प्रकोप–पु., निदानं व्याधयश्च क्षवथूद्गारच्छर्दिनिद्राविधारणैर्गुरुभारातिरुदितहासाद्यैर्विकृत उदानः कण्ठरोधमनोभ्रंशच्छर्द्यरोचकपीनसगलगण्डादीन् जत्रूर्ध्वसंश्रितान् रोगान् करोति
(असंनि. १६.२३.२४)

–भाव–पु., ऊर्ध्वगतिस्वभावः (चचि. १८.६)

उदार–वि., अपीडाकरम् (सुउ. ३९.२६१)
आधिक्येन संपन्नः (सुउ. १२.४)
धर्माऽविरुद्धो मनोऽनुकूलश्च (सुउ. ४१.५८)

–गन्धि–वि., उत्तमगन्धि, सुगन्धि; सुगन्धिपुष्पाधिवासितम् (सुउ. ४८.२४)

–धी–वि., महती धीः यस्य (सुउ. १८.३)

–रस–पु., जाङ्गलमांसरसः (सुउ. ४७.३६)

–वीर्य–वि., उत्कृष्टशक्तियुक्तम् (चचि. १२.५७)

उदावर्त–पु., वातरोग० ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनामा–
–वर्तो भ्रमणं यस्मिन् रोगे स उदावर्तः, पुरीषं वायुना वर्तुलीकृतमुदावर्तमिति केचिन्मन्यन्ते लोकप्रसिद्धत्वात् (सुउ. ५५.१)
स च द्विविधः (१) वेगविरोधजः (२) उपद्रवरूपश्च,
वेगनिरोधज उदावर्तः–अत्र न वेगान् धारणीयोक्तन्यायेनोच्चारनिरोधजादय उदावर्ता उच्यन्ते।
(चसू. १९.४; (३))
तेच वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारान्तरेन्द्रियक्षुत्तृष्णाश्वासनिद्रावमिवेगनिरोधजा भवन्ति त्रयोदशसंख्याकाः (सुउ. ५५.४)
वातनिरोधज उदावर्तः–लक्षणम्—
–आध्मानशूलौ, हृदयोपरोधः, शिरोरुक्, श्वासोऽतीवहिक्का, कासः, प्रतिश्यायो, गलग्रहो, घोरं श्लेष्मपित्तप्रसारणं च (सुउ. ५५.७)
चिकित्सा—स्नेहविधिः, स्वेदविधिर्वर्तयो, भोजनानि, पानानि बस्तयश्च कर्तव्याः (चसू. ७.१३)
पुरीषनिरोधज उदावर्तः–लक्षणम्—
आटोपशूलौ, परिकर्तनं, पुरीषसङ्ग ऊर्ध्ववातः, पुरीषमास्यादपि निरेति (सुउ. ५५.८)
चिकित्सा—स्वेदोभ्यङ्गावगाहौ, वर्तयो, बस्तिकर्म, प्रमाथ्यन्नपानं च हितम् (चसू. ७.९)
मूत्रनिरोधजउदावर्तलक्षणम्—
कृच्छ्रेणाऽल्पमल्पं मूत्रं कुरुते, आनद्धबस्तिता, मेढ्रगुदवंक्षणबस्तिनाभिमुष्कप्रदेशेषु शूलाश्च भवन्ति
(सुउ. ५५.९–१०)
चिकित्सा—स्वेदाऽभ्यङ्गावगाहान् सार्पिषोऽवपीडकम्, त्रिविधं बस्तिकर्म च कुर्यात् (चसू. ७.७)
जृम्भानिरोधजउदावर्तलक्षणम्–मन्यास्तम्भो गलस्तम्भः, शिरोविकाराः श्रोत्राननघ्राणविलोचनोत्था विकारा भवन्ति (सुउ. ५५.११)
चिकित्सा–वातवत्
चिकित्सा–सर्वं वातहर
बाष्पनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–आनन्दजं शोकसमुद्भवं प्राप्तमुदकमभुञ्जतः शिरोगुरुत्वं पीनसस्तीव्राश्च नयनामयाः (सुउ. ५५.१२)
हृद्रोगोऽरुचिभ्रमाः (चसू. ७.२२)
चिकित्सा–स्नग्मो मद्यं प्रियाः कथाः (चसू.७.२२)
उद्गारनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–घोराः पवनप्रसूताः विकारा हिक्का, श्वासोऽरुचिः, कम्प उरसो हृदयस्य च विबन्धः (सुसू. ५५.१४) (चसू. ७.१८)
चिकित्सा–हिक्कावत्कार्या (चसू. ७.१८)
क्षवथुवेगनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–शिरोऽक्षिनासाश्रवणेषु गाढं रोगा भवन्ति, कण्ठास्ययोर्वायुना

पूर्णत्वं व्यथा च, तथा च कूज उच्छ्वासाप्रवृत्तिः (सुउ. ५५.१३)

मन्यास्तम्भोऽर्दितार्धावभेदमिन्द्रियाणां दौर्बल्यम् (सुउ. ७.१७)

चिकित्सा–ऊर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदः सनावनो धूम औत्तरभक्तिकं घृतं च (चसू. ७.१७)

छर्दिनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–छर्दैश्च विघाताज्जायमाने उदावर्ते येन वाताद्यन्यतमेन दोषेण विदग्धं तदन्नं स्यात्तद्दोषाधिकं कुष्ठं भवति (सुउ. ५५.१४) कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयास्तथा च ज्वरः कुष्ठं हृल्लासो वीसर्प इत्येते च गदा भवन्ति (चसू. ७.१४)

चिकित्सा–भुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमो लङ्घनं रक्तमोक्षणं रूक्षान्नपानं व्यायामो विरेक इत्येतानि कर्तव्यानि (चसू. ७.१५)

शुक्रनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–मूत्राशये पायौ मुष्कयोश्च शोफो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च शुक्राश्मरी तस्य स्रवणं वा (सुउ. ५५.१५)

चिकित्सा—अभ्यङ्गाऽवगाहौ, मदिरा चरणायुधैभक्षणं, शालिः पयो निरूहो मैथुनं च (चसू. ७.११)

क्षुन्निरोधजउदावर्तलक्षणम्–तन्द्राऽङ्गमर्दौ वैवर्ण्यं दौर्बल्यमरुचिर्विभ्रमो दृष्टेः कृशता च (सुउ. ५५.१६)

चिकित्सा–स्निग्धोष्णं लघु भोजनम् (चसू.७.२०)

तृष्णानिरोधजउदावर्तलक्षणम्–कण्ठशोष आस्यशोषः श्रवणावरोधो हृदि व्यथा श्रमः सादश्च (सुउ. ५५.१६)

चिकित्सा–शीतं तर्पणम् च. (चसू. ७.२१)

श्वासनिरोधजउदावर्तलक्षणम्–गुल्महृद्रोगसंमोहाः (सुउ. ५५.१७) चिकित्सा–विश्रामो वातचिकित्सा च (चसू. ७.२४)

निद्रानिरोधजउदावर्तलक्षणम्–जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्राशिरोरुगक्षिगौरवं च (सुउ. ५५.१७)

चिकित्सा–स्वप्नः संवाहनानि च (चसू. ७.२३)

अपथ्यजउदावर्तलक्षणं संप्राप्तिश्च–कटुकषायतिक्तैर्भोजनैः कुपितः कोष्ठानुगो वायुर्वातमूत्रपुरीषासृक्फमेदोवहानि स्रोतांसि उदावर्तयति पुरीषं चाऽतिवर्तयति (सुउ. ५५.३७–३८)

चिकित्सा—स्रुग्णं तैललवणाऽभ्यक्तं स्नेहस्वेदानन्तरं निरूहयेत्। दोषानुसारं च भोजनानन्तरमनुवासनबस्तिः प्रयोज्यः। यदि एतेनापि शान्तिं न गच्छेत्तर्हि सुदारुणोऽयमुदावर्त इति मत्वा रोगिणं बहुशः स्विन्नं कृत्वा स्नेहविरेचनैर्युञ्ज्यात् (सुउ. ५५. ४१–४२)

अत्र सर्वेष्वप्युदावर्तेषु वायोः सद्भावात्सामान्येन स्नेहस्वेदनादिका वातनाशन्य एव क्रियाः कार्याः। क्रियाभिश्चैताभिर्वायुरात्ममार्गं प्रतिपद्यते (सुउ. ५५.१९)

संप्राप्तिर्लक्षणानि च–मुद्गकोद्रवादिरूक्षैः संग्राहिभिः पदार्थैः कुपितो वायुः स्वस्थाने वर्धते तस्माच्च बली भवति। अनेन च कारणेनाऽधोवहानि स्रोतांसि संरुध्य वातविण्मूत्रसङ्गं करोति। ततश्च विविधवातरोगसमुत्पन्ना तीव्रा रुजा भवति आध्मानोदराऽऽवेष्टादिरूपिणी। (असंनि. ७)

चिकित्सा–पिप्पल्यादितैलानुवासनं योजयेत् (अहृचि. ८.८८–९२)

उपद्रवाः—आध्मानशूलपुरीषसङ्गपरिकर्तिकादयः। चिकित्सा–यथा स्वं कर्तव्या। (सुउ. ५५.३६; असंसू. ५; अहृसू. ४.)

(उदावर्ता)–स्त्री., योनिरोग० उदावृत्ता योनिः वेगोदावर्तनान्मारुतो योनिं प्रपीडयति सा पीडितोदावृत्तं फेनिलं रजः कृच्छ्राद्विमुञ्चति (सुउ.३८.९)

आर्तवे विमुक्ते सा तत्क्षणं सुखं लभते (चचि. ३०.२६) (असंचि ३.)

–विबन्ध–पु., लक्षण० उदावर्तेन विबन्धः। उदावर्तस्य चाऽत्रामयुक्तत्वादनुवासनसाध्यता न भवति। तदोदावर्तप्रशमनं निरूहः (चशा. ८.२९)

उदावर्तिनी–स्त्री., योनिव्यापद्० उदावर्ता (चसू. १९.४ (९)

द्र० 'उदावर्ता'

उदावृत्ता–स्त्री., योनिरोग० उदावर्ता (असंउ. ३८) (अहृउ. ३३.३३–३४)

पहा 'उदावर्ता'

उदासीनपरिषद्–स्त्री., परिषद्० त्रिविधानां परिषदामेकतमा (चवि. ८.२०)

उदाहरण–न., दृष्टान्तः (चसू. ३०.१८)

उदित–वि., उक्तम् (र. ८.६३)

उदीच्य–न., वनस्पति० श्वेतवालकम्, ह्रीबेरः (सुचि. ३७.३९)

गुणाः—निर्वापणदीपनीयपाचनीयच्छर्दिहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

पित्तादिज्वरार्तहितजलसंस्कारि (सुउ. ३९.१०९)

उदीरण–वि., प्रेरकः (चचि. २८.६०)

न., प्रवर्तनं बहिर्निष्कासनं मलादीनाम् (चशा. १.१०३)

(परिव०), उत्कटीकरणम्, वायुस्तेज उदीरयति (सुशा. ३.४)

आशयाच्चयवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते (चचि. १५.१०)

उदीरित–वि., उल्लेखितम्, उत्पाटितम् (सुनि. १०.१४)

उदीर्ण–वि., बहिर्निर्गतः समुत्पन्नः (चशा. ६.८)

–ता–स्त्री., प्रकृतिभूतस्य बलासस्य कर्म, वृद्धिंगतता, उत्साहशीलता (सुशा. ७.१२)

–पित्ता–(ग्रहणी) वि., स्त्री., लक्षणं० उदीरितं पित्तं यस्यां सा उदीर्णपित्ता ग्रहणी (चसू. १३.६९)

उदुम्बर–पु. वनस्पति० क्षीरीवृक्ष० यज्ञाङ्गम्, न्यग्रोधादिगणे, धूमपानप्रयोगैकं द्रव्यम् (चसू. ५.२२)

मूत्रसंग्रहणीयगणस्थमेकं द्रव्यम्। (चसू. ४.१५)

गुणाः–न्यग्रोधादिगणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधको रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् (सुसू. ३८.४८–४९)

रूक्षो गुरुर्मधुरस्तुवरोवर्ण्यः ।

निर्वापणालेपनानां श्रेष्ठम् (असंसू. १३)

हिं.—गूलर, गुल्हार

म.—उंबर

गु.—उम्बरो, उम्बरडो

बं.—यज्ञ डुमुर

ता.—अत्तिमरम्

रक्तजकृमि० (असंनि. १४)

न., कुष्ठ–भेदः पित्तदोषौत्कट्येन भवति (सुनि.५.७–८)

वेदनादाहरागकण्डूभिः परीतमुदुम्बरफलाभासं पिञ्जरवर्णरोमयुक्तं च दृश्यतेऽस्य रूपम् (र. २०.३४) (असंनि. १४)

खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९) तांबे.

मान० निष्कचतुष्टयमुदुम्बरम् (र. ११.४–५)

(उदुम्बरी)–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. १.१४२)

–क्षीर–(परिव०) न., भावनाद्रव्य० (र. १६.११–१३)

तद्भावितसिद्धतिलानां तैलेन सिद्धः पिचुर्योनिरोगघ्नः (चचि. ३०.७७–७८)

–त्वच्–(परिव०) स्त्री., वानस्पत्य० अत्यग्निशान्त्यर्थमुपदिष्टा (चचि. १५.२३०)

–दला–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० दन्तीपर्यायः (चक. १२.३)

–पल्लव–(परिव०) पु., शाक० कषायाः स्तम्भनाः शीताः पित्तातिसारिणां हिता उदुम्बरपल्लवाः (चसू. २७.१०५)

–फल–न.,उदुम्बरस्य पक्वं फलं रक्तपित्तशमनम् (सुउ. ४५.२३)

अस्य रसः सर्वतृष्णाशमनः (सुउ. ४८.२२–२३)

–भस्मन्–(परिव०) न., उदुम्बरकाष्ठानि दग्ध्वा कृतं भस्म । एतद्विक्काशमनार्थं मधुघृतयुतं लेहयेत (सुउ. ५०.२०)

–शलाका–(परिव०) स्त्री., ताम्रमयी शलाका व्रणा लेखने उपयुज्यते (सुउ.१८.६३)

–शलाटु–पु., वानस्पत्य० आममुदुम्बरफलम् । आजेन पयसा सहैतस्मिन् पीते सति गर्भः स्थिरीभवति (चशा. ८.२४)

–सम–वि., कर्षप्रमाणम् (सुउ. ५८.३८)

उदुम्बरफलप्रमाणम् (डसुचि. २६.२९)

–समिध–(परिव०) स्त्री., उदुम्बरोद्भवा समिध् (चशा. ८.१०)

उदुम्बरादिचूर्ण–न., उदुम्बरमूलचित्रकनिम्बबाकुचीनां चूर्णम् (र. २०.२२६)

उदूखल–पु., न., उलूखलः (चचि. १.७५)

संधिप्रकार० कक्षावङ्क्षणदशनेषूदूखलाः संधयः तत्र कक्षावङ्क्षणेषु चेष्टावन्तो दशनोदूखलास्तावत्स्थिराश्च (सुशा.५.२७–२८)

उद्गत–वि., स्वस्थानादूर्ध्वं गतम् (सुनि. १५.१०)

–मृत्युकल्प–वि., उपस्थितमृत्युसमः (सुउ. २५.१८)

उद्गताक्ष–वि.,लक्षण० उद्गते अक्षिणी नेत्रे यस्य सः (सुचि. ३४.१९)

उद्गातृ–पु., सामवित् (सुसू. ३४.१७)

उद्गार–पु., लक्षण० बहिर्गतिस्रावप्रादुर्भावप्रवाहभाषणादिबह्वर्थकोऽयं शब्दविशेषः, उद्गतस्य वायोर्मुखान्निःसरणमुद्गीरणम् (सुसू. २६.१३)

–निग्रह–पु., लक्षण० उद्गारविनिग्रहः

–बाहुल्य–न., लक्षण० ऊर्ध्ववातः (सुनि. २.८)

–विघातन–न., लक्षण० आमसमुद्भवाऽऽनाह–लक्षणम् । उद्गारस्याऽऽसम्यक् प्रवृत्तिः (सुउ. ५६.२१–२२)

-विनिग्रह-पु., लक्षण० उद्गारस्याऽप्रवृत्तिः वातज्वरस्यैकं लक्षणम् (चनि, १.२१)
द्र० ' उद्गारविघातन. '

-विशुद्धि-स्त्री., लक्षण० शुद्धवातस्योद्गारः जीर्णान्नस्य लक्षणम् । आहारग्रहणयोग्यकालस्य सूचकं लक्षणमेतत् (असंसू. २५)
मधुराम्लधूमगन्धरहितोद्गारः (सुउ.६४.८४)(परिव)

उद्गिरण-(परिव०) न., लक्षण० वमनम्, उद्गारः (सुउ. ४०.१७४)

उद्-घर्षण-न., अस्नेहौषधचूर्णादिभिर्घर्षणम् फेनकेष्टकादिभिर्वा, तद्गुणाः-सिरामुखविविक्तत्वं, त्वक्स्थस्याऽग्नेस्तेजनं, कण्डूकोठानिलापहं, मलरोगापहम्, फेनकः ऊर्वोः स्थैर्यलाघवे आशु संजनयति (सुचि. २४.५३-५६)

उद्-घाटन-न., उत्थापनम्, सुवर्णत्वादिप्राप्तस्य ताम्रादिलोहद्रव्यस्य पारदेन मलिनतानिवारणमुत्कृष्टवर्णतानयनं च । लोहे तदेकीभूते च सूते दशांशेन चूर्णप्रक्षेपणम् ।
'उत्थापनम्' इत्यपरपर्यायम् (र. ८.९५)

उद्दानक-पु., वनस्पति०-शिरीषः (रा.९.१८९)

उद्दालक-पु., वनस्पति० शूकधान्यभेदः, आरण्यकोद्दुः, बहुवारः, तद्गुणाः-त्वग्दोषिभिः सेव्यम्, पुराणाः प्रमेहे पथ्याः षष्टिकाल्पान्तरगुणाः, स्थौल्ये उपयुज्यमानः उद्दालकस्तु वीर्येणोष्णो लेखनो वातलो लघुः रूक्षः स्वादुः कषायः श्लेष्मजिद्बद्धमूत्रविट् च (सुचि. ९.५)
रक्तपित्तकरः (चनि. २.४)

उद्दालकान्न-न., उद्दालकेन सिद्धमन्नम् ।
विरूक्षणीयानां श्रेष्ठम् । (चसू. २५.४०)

उद्दालन-न., प्रशमनम् (चचि.७.१६०)

उद्दिष्ट-वि., संक्षेपेण कथितम् (चवि. २.६)

उद्देश-पु., संक्षेपाऽभिधानम्
(चक. १.१२; चसि. १२.४२)
प्रदेशः (सुचि. २९.३०)
नामकथनम् (चसू. १९.४)

उद्धत-(वि.) वृद्धम्, विपुलम् (चवि. ८.१०४)
प्रकुपितः (सुचि. ९.४२)

उद्धरण-न., ग्रन्थवचनस्योल्लेखः (असंसू. ३४.२३)

उद्धस्त-वि., विकृतदर्शनः, ऊर्ध्वहस्तः (सुउ. ६०.१५)

उद्धार-पु.,तन्त्रयुक्ति० परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणम् (चसि. १२.४५)

उद्धूयमान-वि., लक्षण० ऊर्ध्वगमनप्रवृत्तम् (चचि. १७.४६)

उद्धूलन न., चूर्णानामूर्ध्वक्षेपणम्, चूर्णप्रलेपनं च (सुउ. ६०.५३)

उद्धृत-वि., बहिर्निष्कासितम् (सुशा. ९.१२)

-शल्य-वि., स्रोतोविद्धस्य शल्यमुद्धृतम् (सुशा.९.१२)

-स्नेह-वि., मन्थनेन यस्य स्नेहो नाम घृतमुद्धृतं तद् (सुचि. २४.९९)

उद्धृतास्थि-वि., उद्धृतान्यस्थीनि (बीजानि) यस्मात्स आमलकादिः (चचि. १ (३) ३)

उद्ध्वंसन-न., उपघातः स्वरसादेः यथा भवति तथा (चनि. ६.४)

उद्बद्ध-वि., उपरिबद्धः यथा मारणार्थं गले बद्धः पाशः (र. २३.२९)

उद्बन्ध-पु., वधार्थमुपयुक्ता गलबन्धकारिणी रज्जुः; एवंविधया रज्ज्वा मरणं वा (चचि. २३.५३)

-मृत-वि., उद्बन्धेन मृतः (चचि. २३.२४९)

उद्बन्धक-वि., गलबन्धेन मृतकल्पः (असंउ. ८)

उद्भिज्ज-वि., भुवमुद्भिद्य जाता वनस्पतयः, इन्द्रगोप मण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः (सुसू. १.३०)
औद्भिद (परिव०) न., लवण० रोमकलवणम्, द्रष्टव्यं रोमकलवणम् (ध. २.३२)

उद्भिद-न., निम्नप्रदेशात् ऊर्ध्वोत्तिष्ठज्जलस्थानम् (सुसू. ४५.४)
शाक० छत्राकम् तच्च पञ्चप्रकारकम् पलालजातम् इक्षुजातम् कारिषं वेणुजातं भूमिजं च (सुसू. ४६.२९३)

उद्भिन्न-वि., विकसितम् (सु. ४७.६३)

उद्भीषण-वि., भयोत्पादकम् (चशा. १.११९)

उद्भ्रान्त-वि., (दोषः) उन्मार्गगामी (चवि. ८.४)
वि., इतस्ततः पलायनपरः (चवि. ३.३६)

उद्यान-न., उपवनम् (असंसू. ४)

-दीर्घिका-स्त्री., क्रीडावनवापी (अहसू. १३.८)

उद्र-पु., पानीयबिडालः कूलचरवर्गीयः (सुसू. ४६.९४)

उद्रिक्त-वि., अधिकम् (अहसू. ६.५८)

उद्रेक-पु., अकालप्रवृत्तिः (सुचि. ३७.१२५)
प्रकोपः आधिक्यम् (सुउ. ४१.८)
वनस्पति० महानिम्बः (रा. ९.४६)

उद्रेकिन्-पु., वनस्पति० महानिम्बः (ध. १.३१)

उद्वम–पु., छर्दनम् (अहसू. ४.१८)

उद्वर्तनम्–न., गात्रमर्दनम् (द्रव्यं क्रिया च) १) त्वगवघर्षणम् २) स्नानात्पूर्वं त्वगवघर्षणार्थमुपयुज्यमानं चूर्णम् आमलक्यादि; कफहरं मेदसः प्रविलापनं त्वक्प्रसादनकरमङ्गानां च स्थिरीकरणमुद्वर्तनम् ३) पादाभ्यामङ्गावयवानां पीडनं येन व्यायामजनितः श्रमः शाम्यति। (र. २०.७६) (सुचि. २४.५१)

उद्वहन–न., इन्द्रियार्थानां धारणं, वायोरुदानस्य कर्म (सुसू. १५.४ (१)

उद्वामिन्–वि., यः फेनपूयरुधिरादीनि उद्वमति; एतच्च रिष्टलक्षणम् (सुसू. ३२.४)

उद्विग्न–वि., चलितः. हृष्येन् मयूर उद्विग्न इत्यन्नोद्विग्नश्चलितः मयूरो हृष्येत्तुष्येदित्यर्थः (सुक. १.३१–३२) भीतः (सुसू. २९.७–८)

उद्वृत्त–वि., परावृत्तमुखः (चसि. ९.४४)

–फल–वि., स्थानादूर्ध्वगताण्डः (सुसू. ११.१८)

–फलयोनि–वि., स्थानादूर्ध्वगतगर्भाशया (सुसू. ११.२८) (असंसू. ३९.५)

उद्वृत्तौष्ठ–वि., उत्सन्नवर्त्मा व्रणः (सुसू. २३.१२)

उद्वेग–पु०, मनोविकार० अरतिः, अनवस्थितिश्चेतसः (चनि. ७.४)

न., वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९)

उद्वेजन–न., ग्रहोपसृष्टलक्षणेष्वेकम् उद्वेगः, पीडा भीतिः (सुशा. १०.५१)

द्र० 'उद्वेग.'

उद्वेजनीय–वि., व्याकुलचित्तताजननी कथा (सुशा. १०.३)

उद्वेपक– पु., वेपथुः, कम्पः (चवि. ८.९८)

उद्वेष्टन–न., रोगलक्षण० वेष्टितवत् वेदना, अङ्गमोहनम्, अङ्गस्य ग्रथनमिव (सुचि. ३६.४५, असंउ ४३)

उन्दुक–पु., न., उण्डुकः, रक्तकिट्टात् उन्दुकः (असंशा. ५.४८)

मलाधारः (सुशा. ४.१७)

उन्दुर–पु., मूषकः (असंसू. ८.११८)

–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२१)

द्रवन्ती (डसुसू. ३८.१८.१९)

दन्तिनी (डसुसू. ३८.१८.१९)

उन्दुरु– पु., उन्दुरः (सुक. ७.३६)

उन्द्र–पु., उद्रः, पानीय–बिडालः (सुचि. ४.१७)

उन्नमन–न., शरीरान्तर्भागे प्रविष्टस्याऽधः–स्थितस्य शरकर्णादेरुर्ध्वीकरणमेतद्यन्त्रकर्म (सुसू. ७.१७)

उन्नति–स्त्री., उत्सेधः (अहसू. २२.१५)

उन्नहन–न., उन्नाहः ऊर्ध्वीकरणम् तच्चानामितसंधिमुक्तकाण्डभग्नानां प्रतीकारोपायः (डसुचि. ३.१७)

उन्निद्रता–स्त्री., लक्षण० निद्राराहित्यम् (असंनि. २)

उन्मत्त–वि., वातुलः (सुक. ३.४३)

उन्मादरोगयुक्तः (चशा. ३.१५)

पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.११)

–चित्तत्व–न., उद्भ्रान्तचित्तत्वम् उन्मादपूर्वरूपम् (चनि., ७.६)

–उन्मत्ताख्यरस–पु., योग० समभागौ पारदगन्धकौ धत्तूरफलजद्रवेण मर्दयित्वा पुनश्च त्रिकटुना सह मर्दयेत्। रसोऽयं सन्निपाते नस्यार्थमुपयुज्यते (र. १२.११५–११६)

उन्मत्तक–पु., धत्तूरः (र. २३.५ ध. ४.७)

उन्माद–पु., रोग० उन्मादः (र. १२.९९)

उन्मन्थ–पु., कर्णामय० कफवातजोऽयम् (सुचि. २५.३)

स्वरूपम्–कर्णे दुर्विद्धे सति पाल्यां वायुः प्रकुप्यति, कफसहितश्च कफवर्णवेदनं शोफं करोति (सुचि. २५.७)

अयं विकारः सकण्डूकः (सुचि. २५.८)

स्थिरः स्तब्धो भवति (असंउ. २१ पृष्ठ १५२)

चिकित्सा–तालपत्र्यश्वगन्धार्कबाकुचीफलसैन्धव–सरलालाङ्गलीभिः कुलीरवसयाऽथवा गोधावसया सहितं पाचितं तैलमुन्मन्थनाशकं भवति (सुचि. २५.१८–२१)

उन्मन्थक–पु., उन्मन्थः (चशा. ८.३२) द्र० 'उन्मथ'

उन्मर्दन–न., उपक्रम० हस्ततलेन मर्दनम् (चशा. ८.३२)

उन्माद–पु., मानसरोग० प्रवृद्धा दोषा मनोवहस्रोतांसि प्राप्ताः सन्तः यस्मान्मनो भ्रमयन्त्यतोऽयं मानसो व्याधिरिति सम्बन्धः (सुउ. ६२.३)

उत्पत्तिकथा–तस्मिन् हि दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां भयत्रासशोकैरुन्मादानामुत्पत्तिरभूत् (चवि. ८.११)

सामान्यलक्षणम्–उन्मादो नाम मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशील–चेष्टाचारविभ्रमः (चनि. ७.५)

निरुक्तिः–उन्मादः यः शारीर–मानसैरुन्मार्गदोषैः मनसो मदः (असंउ. ९ पृष्ठ ७२)

सामान्यहेतवः सम्प्राप्तिश्च–विरुद्ध–दुष्टाऽशुचि-भोजनानि देवगुरुद्विजादीनां प्रधर्षणं, विषमा-श्चेष्टा भयहर्षादिपूर्वो मनोऽभिघातः, एतैरल्पसत्वस्य प्रदुष्टा मला बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य मनोवहानि स्रोतांस्यधिष्ठाय नरस्य चेत आशु प्रमोहयन्ति (चचि. ९.४–५)

संख्या सम्प्राप्तिः—पञ्चोन्मादा भवन्ति वात-पित्तकफसंनिपातागन्तुजभेदात् (चनि. ७.३)

मनोऽभिघातात्षष्ठः (सुउ. ६२.४–५)

पूर्वरूपाणि–शिरःशून्यता, चक्षुराकुलता, कर्णयोः स्वनो हृद्ग्रह उच्छ्वासाधिक्यमास्यस्रावोऽन्नाभिलाषाऽरोचकाऽविपाकावस्थाने ध्यानायाससंमोहोद्वेगाश्च सततं लोमहर्षोऽभीक्ष्णं ज्वर उन्मत्तचित्तत्वमुदर्दित्वं व्याधेरर्दिताकृतिकरणं, स्वप्ने भ्रान्तचलितानवस्थिताऽप्रशस्तरूपाणां दर्शनं तैलयन्त्रारोहणं वातकुण्डलिकाभिरुन्मथनं कलुषजलावर्ते निमज्जनं चक्षुषोश्चाऽपसर्पणम् इत्येवमादीनां स्वप्ने दर्शनम्। (चचि. ७.६)

सामान्यलक्षणानि–धीविभ्रमः सत्वपरिप्लवः पर्याकुलादृष्टिरधीरताऽबद्धवाक्त्वं शून्यं हृदयं तथा च मूढचेताः सन् सुखदुःखे, आचारधर्मौ न जानाति तेन चाऽशान्तः सन् अपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञ इतस्ततो भ्रमति (चचि. ९.६–७)

वातजोन्मादलक्षणम्–परिसरणमजस्रमकस्मादक्षिभ्रुवौष्ठांसहन्वग्रहस्तपादाङ्गविक्षेपणं, सततमनियतगिरामुत्सर्गः। फेनागमनं स्यात्, स्मितहसितनृत्यवादित्रसंप्रयोगाश्चाऽस्थाने, वीणावंशशम्याताल-शब्दानुकरणमुच्चैरयानैर्यानम् अभूषणद्रव्यैर्भूषणमलब्धाभ्यवहार्येषु लोभो, लब्धेषु चावमानस्तीव्रं मात्सर्यं च। काश्यं, पारुष्यमुत्पिण्डिताऽरुणाक्षिता वातोपशय–विपर्यासाऽनुपशयिता च (चनि. ७.७ (१)

पित्तजोन्मादलक्षणम्–अमर्षः, क्रोधः, संरम्भश्चाऽस्थाने, शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टिभिरभिहननं स्वेषां परेषां वा, पलायनं, प्रच्छायशीतोदकाऽन्नाभिलाषोऽतिवेलं सन्तापस्तापस्ताम्रहरितहारिद्रसंरब्धाक्षिता पित्तोपशयविपर्यासाऽनुपशायिता च (चनि. ७.७. (२)

कफजोन्मादलक्षणम्–स्थानमेकदेशे, तूष्णींभावोऽल्पशश्चंक्रमणं, लालासिंघाणस्रावोऽनन्नाभिलाषो रहस्कामता बीभत्सत्वं, शौचद्वेषः, स्वप्ननित्यताऽऽनने श्वयथुः, शुक्लस्तिमितमलोपदिग्धाक्षित्वं, श्लेष्मोपशयविपर्यासाऽनुपशयिता च (चनि. ७.७ (३)

सांनिपातिकजोन्मादलक्षणम्–त्रिदोषलिङ्गसंनिपाते तु सांनिपातिको ज्ञेयः (चनि.७.७)

मनोऽभिघातजोन्मादः हेतवो लक्षणं च—कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यादयो हेतवः (चचि. ९.८६)

यदेवास्य मनसि स्थितं तद्बुद्धिपूर्वकं यत्किञ्चिदेवजल्पति चित्रं जल्पति विसंज्ञो गायत्यथहसति रोदिति मूढसंज्ञ इति लक्षणानि (सुउ. ६२.१३)

विषजोन्मादलक्षणम्—रक्तेक्षणो हृतबलेन्द्रियभाः, सुदीनः, श्यावानन उपेक्षितः सन्म्रियते (सुउ. ६२.१२)

वेगान्तरेऽपि सम्भ्रान्तो, नष्टच्छायो भवति (असंसु ९ (पृष्ठ. ७४)

आगन्तुकोन्मादलक्षणं–यस्तु दोषनिमित्तेभ्य उन्मादेभ्यः समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेष समन्वितो भवत्युन्मादस्तमागन्तुकमाचक्षते।

केचित्पुनः पूर्वकृतं कर्माऽप्रशस्तमिच्छन्ति तस्य निमित्तं तस्य च हेतुः प्रज्ञापराध एव इति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः; प्रज्ञापराधाध्ययंदेवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचगुरुवृद्धसिद्धाऽऽचार्यपूज्यानवमत्याऽहितान्याचरति। तेन च देवादयस्तमुन्मत्तं-कुर्वन्ति।

पूर्वरूपम्—देवगोब्राह्मणतपस्विनां हिंसारुचित्वं, कोपनत्वं, परापकाररुचित्वमरतिरोजोवर्णच्छायाबलवपुषामुपतप्तिः स्वप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्तनं च (चनि. ७.१०–११)

रूपाणि–अत्यात्मबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारण स्मरणज्ञानवचनविज्ञानानि। अनियतश्चोन्मादकालः। आवेशप्रकारः–देवादयोऽवलोकयन्तो, गुर्वादयोऽभिशपन्तः पितर आत्मानं दर्शयन्तो, गन्धर्वाः स्पृशन्तो यक्षाः समाविशन्तो, राक्षसा आत्मगन्धमाघ्रापयन्तः, पिशाचा आरुह्य वाहयन्तस्तमुन्मत्तयन्ति।

अभिघातकालः–पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य कर्मणः परिणामकाले, एकस्य शून्यगृहवासे, चतुष्पथाधिष्ठाने वा सन्ध्यावेलायामप्रयतभावे वाऽमापूर्णादिपर्वसन्धिषु वा मिथुनीभावे रजस्वलाभिगमने, विगुणे वाऽध्ययनबलिमङ्गलहोमप्रयोगे, नियमव्रतब्रह्मचर्यभङ्गे वा महाहवे वा देशकुलपुरविनाशे, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रियाः वा प्रजनन-

काले, विविधभूताऽशुभाशुचिस्पर्शने वा, वमन-विरेचनरुधिरस्रावेऽशुचेरप्रयतस्य वा चैत्यदेवायतना-दिगमने वा मांसमधुतिलगुडमद्योच्छिष्टे वा दिग्वा-ससि वा निशिनगरनिगमचतुष्पथोपवनश्मशानाऽऽ-घातनाभिगमने वा द्विजगुरुसुरयतिपूज्याभिधर्षणे वा धर्माख्यानव्यतिक्रमे वाऽप्रशस्त–कर्मारम्भेवा, प्रयोजनम्–उन्मादकरभूतानामुन्मादकरत्वे हिंसार-तिरभ्यर्चनम्–हिंसादिनोन्माद्यमानोऽग्निं प्रविश-त्यप्सु निमज्जति स्थलात् श्वभ्रे वा पतति शस्त्रकशा-दिभिरात्मानं हन्त्यन्यच्च प्राणवधार्थमारभते किञ्चित् । (चनि. ७.१०–१७.)

उन्मादो बालेषु–प्रलापोऽरतिर्वैचित्यं चेति बालो-न्मादस्य मुख्यानि लक्षणानि (कासू. २५.२०)

चिकित्सा–स्नेहस्वेदवमनविरेचनाऽऽस्थापनाऽनुवास-नोपशमननस्यधूमधूपनाऽञ्जनावपीडनप्रधमनाऽभ्यङ्ग-प्रदेहपरिषेकाऽनुलेपनवधबन्धनाऽवरोधनवित्रासन विस्मापनविस्मारणाऽपतर्पण सिराव्यधनानि, यथास्वं भोजनविधानं निदानविपरीतमौषधादि च (चनि. ७. ८;) यद्यपि उन्मादचिकित्सिते सुश्रु-तेन वातादिजोन्मादचिकित्सा नोक्ता तथाप्यपस्मार-क्रियावदुन्मादे वातादिदोषचिकित्साकार्या यथादो-मिति प्रतिपादितम् (सु. उ. ६२.३३)

स्निग्धस्विन्नमुन्मादार्तं तीक्ष्णैः रेकैः शिरोविरेकैश्च विशोधयेत्सर्षपस्नेहसंयुतैरवपीडैर्नस्यैश्चोपक्रमेत् तथा श्वगोमांसैः सततं धूपयेत्सर्षपतैलेन च सदा नस्या-भ्यङ्गौ कार्यौ । सर्पदर्शनं कशाताडनं यन्त्रणामग्निना च त्रासनं जरत्कूपवास इत्याद्युपक्रमाः कार्याः (सुउ. ६२.१४–१९)

रत्यभ्यर्चननिमित्त आगन्तुकोन्मादः मन्त्रौषधिमणि-मङ्गलबल्युपहारहोमनियमव्रतप्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि (च. नि७.१६)

सामान्या मानसचिकित्सा–तद्विद्यसेवाऽऽत्मादि-विज्ञानं त्रिवर्गस्यान्वेक्षणं चेति भैषज्यम् (चसू. ११.४६–४७)

साध्यासाध्यत्वम्–अधोमुखः ऊर्ध्वमुखः क्षीणमांस-बलो नरोऽनिद्रः सन्नसंदेहेन विनश्यत्यसाध्यो वा भवति (सुसू. ३३.२५)

अरिष्टलक्षणानि–ध्यानायासोद्वेगयुक्तोऽस्थानसम्भ-वेन मोहेन ग्रस्तोऽरतिमान् सञ्जातबलहानिराहार-द्वेषी, लुप्तचित्तउदर्दितः, क्रोधनत्रासबहुलः, सत्कृत्प्रहसिताननो, मूर्च्छापिपासाबहुलोऽरिष्ट-सूचके स्वप्ने रक्षोगणैः साकं नृत्यज्जलनिमज्जनं पश्यति । (चइ. ५.१८–२१)

अक्लिष्टमानवं देवादयः स्वयं नोपक्लिश्नन्ति । यत् तु एतेऽनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं तत्तूपक्लिश्यमानस्य कुकर्मतयैव (चनि. ७.१९–२०)

विगतोन्मादलक्षणम्–इन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां च प्रसादो, धातूनां प्रकृतिस्थत्वं च (असंउ. ९. पृ. ७९) संदर्भग्रंथ–(अहउ. ६)

–चिकित्सित–पु., अध्याय० (चचि. २.१)

–निदान–न., अध्याय० (चनि. ७.१)

–प्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ६२.१)

उन्मान–न., मान० द्रोणः, चतुराढकं चतुर्विंशत्यधिक-सहस्रतोलकं वा मानम् (र. ११.८–९)

उन्मार्ग–पु., स्वस्थानातिरिक्तमन्यत्स्थानम् (सुउ. ६२.३)

उन्मार्गिन्–वि., भगन्दररोगप्रकार० (सुनि. ४.९)

उन्मित–वि., तुलया मितः (चचि. १.४१)

उन्मेष–पु., चक्षुषोरुन्मीलनम् कर्मपुरुषस्य गुणेष्वेकः (सुशा. १.१७)

देहे वातकर्म० (चशा. ७.१६.)

उपकरण–न., साधनं कर्तुः सम्पाद्ये कार्ये सहकारितया व्याप्रियते (चवि. ८.७०)

संदंशादिसाधनम् (चवि. ७.१५)

भेषजम् (चनि. २.२२)

–वत्–वि., रोगप्रतिकारे आवश्यकचिकित्सासाधनैः सुसंपन्नः (सुचि. ५.१९)

उपकल्पना–स्त्री., समीपढौकना, आहारद्रव्यस्य तत्तद्-धात्वादिमयेषु आधारभूतेषु पात्रेषु उपकल्पनम् । (सुसू. ४६.४४९)

१–कार्ष्णायसे घृतं देयम् २–राजते पेया देया ३–फलानि सर्वान् भक्ष्यांश्च दलेषु प्रदद्यात् ४–परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रदद्यात् ५–प्रद्रवाणि रसाँश्च राजतेषूपहारयेत् ६–कट्वराणि सर्वान् खडाँश्च शैलेषु दापयेत् ७–ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुश्रुतं पयः पानीयं दापयेत् ८–राग-षाडवसट्टकान् शीतलेषु शुभेषु काचस्फटिकपात्रेषु वैदूर्यचित्रेषु दद्यात् (सुसू. ४६.४४८–४५२)

उपदेशः (चक. १.३)

उपकल्पनीय–वि., अध्याय० चरकसूत्रे शोधनोपकल्प-नामधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चसू. १५,१)

काश्यपसंहितासूत्रस्थाने अध्यायः
(कासू. २४ पृ. २९)

उपकालिका–स्त्री., वनस्पति० पृथ्वीका (ध. २.५९)

उपकुञ्चा–स्त्री., वनस्पति० पृथ्वीका, कृष्णजीरकम्, बृहज्जीरकम् (ध. २.५९)
सूक्ष्मैला (चक. १३.२३)

उपकुञ्चिका–स्त्री., उपकुञ्चा (चचि. १३.१२५)
द्र० 'उपकुञ्चा'

उपकुञ्ची–स्त्री., 'उपकुञ्चा' (ध. २.५९)
द्र० 'उपकुञ्चा'

उपकुण्डन–परिव० न., विपाचनम् (चवि. ७.२१)

उपकुल्या–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (चचि. ७.१४५) (सुचि. ९.८)

उपकुश–पु.,दन्तरोग० रक्तपित्तसमुत्पन्नोऽयं व्याधिः लक्षणम्–दन्तवेष्टेषु दाहः पाकश्च तेन दन्ताश्चलन्ति। आघट्टिताः सन्तो मन्दवेदना युतं रक्तं स्रवन्ति : रक्ते सुते च आध्मायन्ते । मुखं पूति जायते
(सुनि. १६.२१.२२.)
चिकित्सा–वमनविरेचनाभ्यामूर्ध्वमधश्च कायं शोधयित्वा शिरोविरेचनेन शिरः शोधयेत् । अनन्तरं काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैः रक्तमोक्षः करणीयः । मधुना सह सव्योषलवणैः प्रतिसारणं करणीयम् । नागरनैचुलफलसर्षपपिप्पलीयुक्तस्य जलस्य कवलं धारयेत् । काकोल्यादिभिः सिद्धं घृतं कवलार्थं नस्यार्थं चोपयोक्तव्यम्। (सुचि. २२.१९–२१)

उपक्रम–पु., चिकित्सा–कर्म (अहसू. १४.१)
उपक्रमाश्च समासतो द्विविधाः–लंघनं बृंहणं चेति। लंघनं द्विविधं । शोधनं शमनं च । शोधनं दोषान् बहिरीरयेत् तच्च पंचधा–निरूहो वमनं कायरेकः शिरोरेकोऽस्रविस्रुतिश्च । शमनं-यद्दोषान्न शोधयति, समान्नोदीरयति विषमांश्च समीकरोति । तच्च सप्तधा–पाचनं, दीपनं, क्षुत्, तृड्, व्यायाम, आतपो, मारुतः इति ।
(अहसू. १४.७., चसू २२.१८)
सर्वे रोगाणां षड्डुपक्रमा भवन्ति लंघनं, बृंहणं, रूक्षणं, स्नेहनं, स्वेदनं स्तम्भनं च (चसू. २२.४)
(१) देहे यत् किञ्चित् लाघवकरं तल्लंघनम्
(२) यत् शरीरस्य बृहत्त्वं जनयेत्तत् बृंहणं मतम्
(३) रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यज्जनयति तद्रूक्षणम्
(४) स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकं स्नेहनम् (५)
स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदकारकं च स्वेदनम् (६)
यद् गतिमन्तं चलं ध्रुवं स्तम्भयति तत् स्तम्भनम् ।
(चसू. २२.९.१२)
व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति (सुचि. १. ८)
बृंहणं शमनं त्वेवंवायोः पित्तानिलस्य च
(असंसू. २४.९., अहसू. १४.७)

उपक्रम्य–वि., चिकित्सनीयः । (असंसू. २४)

उपक्रान्त–वि., चिकित्सितः । (सुनि. १५.१५)

उपक्लिष्टसत्व–वि., रजस्तमोभ्यामुपहतचेताः (चनि. ७.४)

उपक्लेदन–न., द्रवीकरणम् (चवि. १.१८)

उपक्षित–वि.,भोक्तुं दत्तमन्नम् (सुक. १.३४)

उपक्षीणौजस्–वि., उपक्षीणम् ओजो यस्य सः (चसू. १४.१९)

उपगमन–न., समीपे गमनम्, उत्पत्तिः (अहसू. ८.५५)

उपघात–पु., विनाशः (चसू. २८.२०)
बाधा (सुचि. २७.१)
मर्मसमीपदेशस्य घातः (सुशा. ६.४१)

उपचक्र–पु., ककरभेदः कृशचञ्चुर्मदाविलः (सुसू. ४६.५०)
चकोरभेदः (चसू. २७.४७)
गुणाः–तस्य मांसरसो ज्वरे हितः । ककरवदस्य गुणा भवन्ति

उपचक्रक–पु., उपचक्रः (सुसू. ४६.६४)
द्र० 'उपचक्र'

उपचय–पु., पुष्टिः (चसू. १.८७ सुचि. ३५.४)
–वर्धन–वि., पुष्टिकरम् (चसू. १.८७)

उपचार–पु., चिकित्सा (अहसू. ५.६६)

उपचिक्षुपर्णी–स्त्री., वनस्पति० (असंचि. १० पृ. ६५)

उपचित्रा–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११८)
दन्ती (ध. १.२२३)

उपजिह्व–पु., (असंउ. २५) (**उपजिह्वा**) स्त्री०
(चसू. २४.९)
शारीरावयव० जिह्वाया अधोगता जिह्वा तथोपरिगता च ग्राह्या । षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गेष्वेकम् । द्वे उपजिह्विके (चशा ७.११) अधिजिह्वासदृश उपजिह्वः । रोग० जिह्वाया उपरिस्थितः शोफः
(असंउ. २५. (पृ. १७९)

उपजिह्वक–पु., उपजिह्वः (र. २४.४६)
द्र० 'उपजिह्व'

उपजिव्हिका–स्त्री., उपजिह्वा (चशा. ७.११)
द्र० 'उपजिह्व'
रोग० जिह्वागतो मुखरोग० (सुनि. १६.३६)
मांसप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१४)
(सुसू. २४.९) उपजिह्वकाश्रितः
शोफः (चचि. १२.७७) (असंउ. २५. पृ. १७९)
जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः, प्रसेककण्डूःपरिदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्वि । जिह्वाया अधो भवति (सुनि. १६.३९)
चिकित्सा—उपजिह्वाया लेखनं कृत्वा क्षारेण जिह्वां प्रतिसारयेत् । शिरोविरेकगण्डूषधूमा उपयोक्तव्याः [गण्डूषः कफव्रणहरद्रव्येण] कफकण्टकहरद्रव्येण वा, धूमो वैरेचनिकः
(सुचि. २२.४८)

उपजीव्य–वि., आश्रयदाता (असंसू. ३)

उपजोषम्–(अव्यय.) यथेच्छम्
(काकभोजन कल्प० ॥ १३ ॥)

उपतप्त–वि., दुष्ट ((चशा. ३.१७)
पीडितम् अनुपतप्तम्–अपीडितम् (परिव०)
(चसू. ८.१७; अहसू. ८.३३)

उपतप्ति–स्त्री., विनाशः (चनि. ७.११)

उपताप–पु., किञ्चिद्वैकल्यम् (चसू. २८.२०)

उपदंश–पु., गुह्यरोग० लेह्यरोग० (सुनि. १२.१)
(सुसू. २५.४)
निदानम्–हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनाद्योनिप्रदोषाद्विविधापचारैः शिश्ने उपदंशा भवन्ति (मा;) ककैशरोमां नारीमुपसेवमानस्य दोषाः श्वयथुमुपजनयन्ति स एवोपदंशः (सुनि. १२.७)
सम्प्राप्तिः—अतिमैथुनादिभिः प्रकुपिता दोषा मेढ्रमागम्य क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति
(सुनि. १२.७–९)
संख्यासम्प्राप्ति–वातिकः पैत्तिकः श्लैष्मिकः सांनिपातिको रक्तजश्च (सुनि. १२.१८)
लक्षणानि–१) वातजः–मेढ्रे शोफाश्चित्रारुजः, स्तम्भस्त्वक्परिपोटनं च २) पित्तजः–मेढ्रे पक्वोदुम्बरसंकाशः श्वयथुर्ज्वरश्च ३) कफजः–कठिनः स्निग्धः, कण्डूमान्, शीतलो गुरुश्च शोफः मेढ्रे, ४) सांनिपातिकः–सर्वलिङ्गत्वं तथा च मुष्कयोरपि श्वयथुस्तीव्रा रुगाशुपचनं, दारणं कृमिसम्भवश्च ५) रक्तजः–असितस्फोटसम्भवोऽस्रस्रुतिर्ज्वरश्च
(असंउ. ३८ पृ. २८४–८५)
साध्यासाध्यत्वम्–रक्तजो याप्यः संनिपातजोऽसाध्यः पृथग्दोषजाः साध्याः (असंउ. ३८ पृ. २८५)
रिष्टलक्षणम्-शोथकृमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते । सामान्यचिकित्सा–आमावस्थायां संशोधनालेपनसेकशोणितमोक्षणैर्यथापाकं न याति तथा प्रतिकुर्यात् । पाकावस्थायां शस्त्रेणोपचरेत् । प्रक्षालनार्थं करवीरस्य जात्या आरग्वधस्य वैजयन्त्याः पत्राणि प्रयुञ्जीरन् । सौराष्ट्र्यादि चूर्णं क्षौद्रादिसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम् । गोजिह्वादिसिद्धं तैलं रोपणार्थं युक्तम् । स्वर्जिकादिचूर्णं व्रणे विसर्पनाशकम् । (सुचि. १९.३६–४८)
स्निग्धस्विन्नस्य देहिनो मेढ्रमध्ये सिरां विध्येदथवा जलौकसः पातयेत् । अत्यर्थमुच्छ्रितानुभयतो वमनविरेचनाभ्याम् हरेत् । दुर्बलस्याप्राप्तविरेचनस्य वाऽत्यर्थमुच्छ्रितान् दोषान् निरूहेण हरेत्
(सुचि. १९.२५–२७)
विगतोपदंशलक्षणम्–रुक्शोफशान्तिः
(सुचि. १९.२६)
व्यञ्जनम् सुउ. ४१.३८)
वनस्पति०–समष्ठिलः (रा. परि. ४.१)
–क्षम पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०)

उपदग्ध–वि., अतिपाकत्वेन ज्वलितम्
(सुसू. ४६.४७८)

उपदेश–पु., कथनम् (सुसू. ४०.४)
आप्तवचनम् (चवि. ४.७)
आगमप्रमाणम् (चवि. ८.८३)
तन्त्रयुक्ति० एवं कुर्यादित्युपदेशः यथा 'तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् '।
(सुउ. ६५.१४)

उपदेह–पु., मलः (चसि. २.२१)
मलरूपः उपलेपः (सुचि. ३६.१७)
मलवृद्धिः (चशा. ६.१७)
उपलेपः (परिव.) (सुचि. १६.१४)

उपद्रव–पु., रोगः (सुचि. ३३.१)
उपद्रवति, उत्पद्यमानस्यव्याधेः समीपे उपैतीत्युपद्रवः, उपद्रवस्य व्याधेः पश्चाज्जायमानत्वात् । उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव । तत्र प्रधानो व्याधिः । व्याधेर्यो गुणभूत उपद्रवस्तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति । स तु पीडाकरतरोभवति पञ्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वाद् । तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत । (चचि. २१.४०)

व्याधेरुपरियोव्याधिर्भवत्युत्तरकालजः ।
उपक्रमाविरोधीच स उपद्रव उच्यते ॥
(सु. उ. ३९.२९०).
पूर्वोद्भवनिमित्तेन योऽपरो जायते गदः ।
तमुपद्रवमित्याहुः अतीसारो यथा ज्वरे ॥
(कासु. २७.५७)

उपद्रुत–वि. उपद्रवव्याप्तः (सुशा. १०.९)

उपधा–भोगतृष्णा० (चशा. १.९५)
अन्यव्यपदेशः, व्याजः (चचि.८.१५६)

उपधातु–पु., धातोरुपादानभूताज्जातोऽन्यधातुः
(चचि. १७.१७)
खनिजद्रव्य० (ध. ७.८८)

उपधान–न., आवरणम् (चशा. ८.४३)
उपशीर्षकम् (सुचि. ३८.३)

उपधारण–न.,विषयस्य बुद्धौ स्थापनम् (चवि. ८.२१)

उपधिः–पु., छद्म (चवि. ४.८)
लेप०मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा विषहरणाय यत् दीयते
(चचि. २३.५३)

उपधेय–वि., यवाग्वादिद्रव्येषु आधायोपयुज्यमानः ।
(चवि. ८.१३६)

उपनख–न., शारीरावयव० नखसमीपं स्थानम्
(सुसू. २३.६)
न., रोग० चिप्पम् (सुनि. १३.२२)

उपनत–वि., सन्निधाने प्रणययुक्तः (सुसू. २.८)

उपनन्द–पु., दिव्यसर्प० (असंउ. ४१ पृ. ३३०)

उपनय–पु., न्यायावयव० उदाहरणापेक्षः तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः । नित्यपुरुषानुमानेऽकृतत्वहेतौ 'तथा पुरुषः' इति वाक्यमुपनयः
(चवि. ८.३१)

उपनयन–न., शिष्यस्य गुरोः समीपे वेदाध्ययनार्थं दीक्षाप्रदानम् (सुसू. २.३)
तद्विधिः–उपनयनीयं तु ब्राह्मणं प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तम् चतुरस्रं स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन दर्भैः संस्तीर्य पुष्पलाजभक्तैः रत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च तत्रोल्लिख्य अभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरिवृक्षाणां न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां दधिमधुघृतात्काभिर्दार्वीहौमिकेन विधिना स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहुयात् सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिस्ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात् । शिष्यमपि कारयेत् ।
(सुसू. २.३)

उपनासिका–वि., (सिरा) नासासमीपस्था
(सुशा. ८.१५)

उपनाह–पु., उपक्रम० स्वेद० उपनाहशब्दस्त्विह 'णह' बन्धने इत्यस्य इति उपनाहः । (सुचि. ३२.१२)
उपनह्यते चर्मपटादिना इत्युपनाहः (अहसू. १७.२)
बहलं लेपं दत्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्याङ्गस्य बन्धनम् (चसू. १४.३५)
विधिः–उपनाहस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत् । एवं काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलाऽतसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः शाल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्
(सुचि. ३२.१२)
नेत्ररोग० नेत्रे कृष्णदृष्टिमण्डलयोः ईषत्पाकः कण्डूप्रायो नीरुजो महान् ग्रन्थिस्वरूपः (सुउ. २.४)
चिकित्सा—उपनाहं स्विन्नं व्रीहिमुखेन भित्त्वा मण्डलाग्रेण लेखयेत् प्रतिसारणान्तरं च पिप्पल्यादिभिः उष्णेन वारिणा प्रक्षाल्य घृतेन सिक्तमभ्यक्तं मधुसर्पिषा ऊर्ध्वाधः कर्णयोश्च यवसक्तुभिः पिण्डीं दत्वा बध्नीयात् । तथा पटोलपत्रामलकक्काथेन चाश्चोतयेत् (अहउ. ११.१–२) (सुउ.१४.९–१०)

उपनाहन–न., स्वेद० उपनाहः (सुउ. १२–४५)
द्र० 'उपनाह'

उपनीत–वि., दत्तम् (असंसू. ८)
–**बल**–वि., अध्ययनात् प्राप्तं ज्ञानबलं येन सः
(असंसू. ९)

उपन्यूषम्–अ., किञ्चिच्छेषायां रात्रौ (चवि. ८.७)

उपपक्ष्मक–पु., रोग० वर्त्मस्वन्यान्यधिकानि पक्ष्माण्युद्भवन्ति यस्मिन् (असंसू. ४०.३)

उपपक्ष्मन्–न., नेत्रे पक्ष्मसमीपस्थमवान्तरपक्ष्म, उपपक्ष्मणां निर्हरणे षडङ्गुलसंदंश उपयुज्यते
(अहसू. २५.८)

उपपन्न–वि., सहितम् (सुनि. १६.५४)

उपपादन–न., संयोजनम्–सम्पादनम् (परिव०)
(सुचि. ५.७; असंशा. ४)

उपपादनीय–वि., उपक्रमणीयः, शरीरबलादिसम्पद्युक्तः
(चवि. ७,१६)

उपप्लव–पु., दुःखागमः (चशा. ५.८)
वृद्धिः, दूषणम् (सुचि. १.४)

उपप्लुता–स्त्री., योनिरोग० गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासेन छर्दिनिःश्वासनिग्रहात्क्रुध्दो वायुरुपनीय कफं योनिं

प्रदूषयेत् । पाण्डुमास्रावं श्वेतं कफं सतोदं स्रवति । कफवातामयव्याप्ता योनिरुपप्लुता कथ्यते ।
(चचि. ३०.२१-२२)
(अरु. अहृउ. ३३.४८-४९; असंउ. २८ पृ. २९३)

उपभूत–पु., वनस्पति० नीलि (ध. १.२३३)

उपमर्द–पु., मृदूकरणम् (काशा. जातिसूत्रीयः (पृ.८५)

उपमान–न., प्रमाण० प्रसिद्धसाधर्म्यात्सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टस्यार्थस्य साधर्म्यसाधनम् (सुसू. १.१६)

उपयन्त्र–न.,शरीराङ्गे धमन्यादिकेऽवयवे वोपयुज्यमानानि द्रव्याणि । तानि च पञ्चविंशतिप्रकाराणि । स्वल्पयंत्रकार्यकरणादुपयन्त्राणि । रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कललतावस्राष्ठीलाऽश्ममुद्गरपाणितलपादतलाऽङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखबालाऽश्वकटशाखाष्ठीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तक्षाराऽग्निभेषजानीति । उपमितानि यन्त्रैरिति उपयन्त्राणि । अनुयन्त्राणीति वाग्भटे पाठः (सुसू. ७.१५)

उपयुयुक्षु–वि., उपयोगं कर्तुमिच्छुः, उपयोक्तुम् इच्छुः (सुचि. २९.१०)

उपयोक्तृ–वि., यः किमप्युपयुङ्क्ते सः (चवि. १.२२)

उपयोग–पु., भोजनं, सेवनमाचरणम् (चवि. १.१५)

–नियम–पु., आचारपद्धतिः, आहारोपयोगः एवं कर्तव्यं एवं च न कर्तव्यं इत्येतादृशविवेचनात्मिका पद्धतिः (चवि. १.२१ (७)

–व्यवस्था–स्त्री., उपयोगनियमः (असंसू. १०.१६)

–संस्था–स्त्री., उपयोगनियमः (चवि. १.२२ (७)

उपयोजन–न., (परिव) उपयोगः (सुचि. ३१.५) (डल्हण सुचि. ३१.१)

उपरतकायाग्नि–वि., नष्टजाठराग्निः (चवि. २.१३)

उपरत्न–न., रत्न० (ध. ७.९१)

उपरम–पु., विनाशः, शमनम् (चसू. १६.२७) निवृत्तिः (चशा. ५.८)

उपरस–पु., खनिजद्रव्य वि० (ध. ७.९३) सप्त चैते उपरसास्ते च गन्धतालककासीसशिलाकंकुष्ठभूषणराजावर्ताः गैरिकं च (र. ६.४२)

उपराग–पु., ग्रहणं, राहुग्रहः (असंशा. १२.५)

उपरिज–वि., उपरिजातः, उपरिस्थः (सुचि. २२.२७)

उपरुद्धायुस्–वि., गतायुः, समाप्तायुः (चई. ९.४)

उपरूढ–वि., विरूढम् अव्रणीभावमागतम् (सुचि. ८.५)

उपरोधन–न., पीडा, ग्रहः (अहृसू. ४.३)

उपल–पु., पाषाणः (सुसू. २९.९-१५) अश्मा (असंउ. १२.४) न., वन्यच्छगणम् (र. ५.१८)

–कान्त–न., कान्तपाषाणः (र. १७.१३५-३६)

–भेद–पु., वनस्पति० पाषाणभेदकः (ध. १.१५७)

–(भेदी)–स्त्री., उपलभेदः (रा.५.२०९)

–सन्धी–स्त्री., अल्पं वन्यच्छगणम् (र. १०.५४-५५)

–साठी–स्त्री., उपलाः कठिना महान्तो वन्यच्छगणाः, ततोऽल्पदेहाः साव्यः (र. १०.५४-५५) शुष्कच्छगणम् (र. ७.१८)

–सारी–स्त्री., छगणम् (र. १०.६६)

उपलेप–पु., आवरण० लेपः (चनि. ५.१०) मलवृद्धिः स्रोतःसु । (सुचि. ३७.९१)

उपलेपन–न., लेपनम् (सुचि. २७.८)

उपवर्णन–न., ख्यापनम् (सुउ. ६५.३३)

उपवात–पु., अल्पवातः (चशा. ८.२४)

उपवान–वि., उपशुष्कम् (असंउ. १ (पृ. ३)

उपवास–पु., उपक्रम० अथर्ववेदे चिकित्सा० (चसू. ३०.२१) भोजनपरित्यागः अस्यापि संशमनीयत्वम् (सुउ. ३९.१३४)

–शोष–पु., रोग० क्षुत्प्रभृतिभिः उपशोषितः (सुसू. १५.३३)

उपविष–न., वानस्पत्यो विषभेदः अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकं गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः इत्येताः सप्त उपविषजातयः
लाङ्गली विषमुष्टिः करवीरं जया नीलकः कनकोऽर्कश्वेत्युपविषवर्गः (र. १०.८७)
विषतिन्दुकबीजमहिफेनं रेचकं धत्तूरबीजं विजया गुञ्जा भल्लातकोऽर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः इत्यपि गणो मतः (ध. ७.१३०)

(उपविषा)–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (ध. १.१०)

उपविष्टक–न., गर्भरोग० सञ्जातसारे महति च गर्भे गर्भिण्या अपथ्यसेवनाद् योने रक्तरूपोऽन्यादृशोऽपि परिस्रावो भवति तदा गर्भवृद्धिर्न भवति वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः गर्भाशये एव तिष्ठति । योनिपरिस्रावात्कुपितो वायुः पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्य गर्भस्य रसवहां नाडीं प्रतिपीड्याऽवतिष्ठते दोषप्रतिच्छन्ननाड्यां रसस्य असम्यग् वहनान्नाडीरोधाद्गर्भस्य वृद्ध्यभावो गर्भश्च सस्फुरस्तिष्ठति । तं तथाविधं गर्भमुपविष्टकमाहुः । तेनोदरं न वर्धते ।
(अहृशा. १४-१५)
(असंशा. ४.११; र. २२.२८-२९)
संख्यासम्प्राप्तिः–उपविष्टको वातेन पित्तेन कफेन च त्रिविधा भवति (असंशा. ४)

सामान्यचिकित्सा–जीवनीयबृंहणीयमधुरौषधसिद्धानां सर्पिषां तथा पयसां रसानामामगर्भाणां च उपयोगः गर्भवृद्धिकरः । तथा सम्भोजनमेतैरेव च घृतादिभिः । सुभिक्षाया अभीक्ष्णं यानवाहनादिभिः क्षोभणमार्जनजृम्भणैरुपपादनम् (असंशा. ४) एवं गर्भो न वर्धते तदा गर्भिणीं तीक्ष्णैर्द्रव्यैर्विरेचयेत् । अपरापातनीयैर्वा प्रयोगैर्गर्भं पातयेत्
(इन्दु असंशा. ४.१२-२२)

उपवेशन–न., आसना, उपविष्टस्थितिः
(काखिल. अ. १२.८-१४)
(परिव०) अतिसरणं, मलविसर्जनम्
(सुचि. ३६.४०)
(परिव०) बालकस्य संस्कार० किञ्कुद्वयमात्रलिक्षायां धरण्यां धरण्यादिस्वाहान्तेन मन्त्रेण चतुर्दिशं बलिं दत्वा पञ्चमे मासि पुण्येऽहन्युपवेशयेत्
(असंउ. १ पृ. ९)
अत्युपवेशनाच्च इमे दोषा अतिबालस्य रोगिणो वा समुत्पद्यन्ते । स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरो विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानम् ।
अतिबालस्य च निर्घातं गात्रभेदनं । निर्घाताज्जर्जराङ्गत्वं तेन वेदना, तया च ज्वरसम्भवस्तस्माच्च बालस्य कठोराङ्गत्वं वृद्धिश्च तस्य न भवति । अन्यच्च यत्स बालश्चिरोपवेशनात् मक्षिकाकृमिकीटसर्पाखुनकुलवेलाझञ्झानिलादीनां गम्यो भवति ।
(कासंखिल अ. १२.९-१४)

उपशम–पु., शान्तिः (सुचि. ३१.१२)

उपशमनीय–वि., योगः बृंहणम् (चसू. २६.८)
शामको योगः (चचि. १९.५०)

उपशय–व्याध्युपलब्धिकारण० हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधान्नविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः । (चनि. १. ६.)

उपशान्त–वि.. लीनीभूतः (सुशा . १०.५७)

उपशीर्षक–पु., बालरोग० वातदुष्टे कपाले देहसमानवर्णो रुजारहितः शोफो भवति स उपशीर्षकनामा रोगः । गर्भस्याप्ययं रोगो भवति
(असंउ. २७. पृ. १९८)
(अहउ. २३.२१) चिकित्सा–उपशीर्षके नवे जन्मोत्तरं जाते वातव्याधिचिकित्सितं कुर्यात् । पक्वे च विद्रधिविहितं कर्म कुर्यात्
(अरु. अहउ. २४. १९-२०)
अभ्यक्तं च स्वेदयित्वोपनाह्येद्यथा विदाहो न भवति (असंउ. २८. (पृ. २०४)

उपशुष्कक–पु., गर्भरोग० नागोदरपर्यायः । प्रतिमासमार्तवात् प्रत्यहं वाऽतियोनिस्रावाद्गर्भो वृद्धोऽपि परिहीयते । स चिराच्चिरात्स्पन्दते । कुक्षिश्च वृद्धोऽपि परिहीयते । (असंशा. ४.११)
चिकित्सा–उपविष्टकवच्चिकित्सा कर्तव्या ।
(असंशा. ४.१३)

उपशोष–(परिव०) पु., लक्षण० कर्शनम्
(असंशा. ४. चनि. ६.१०)

उपशोषण–न., उपशोषः (चनि. ६.१०)
वि. शोषकः, आर्द्रताविनाशकः
(सूच.२६.४२.५)

उपश्लेष–पु., सान्निध्यम्, सन्निपातादिज्वरनिदानम्
(चनि. १.२८)

उपष्टब्ध–वि., धारितः, बलयुक्तः (चशा. ६.२३)

उपष्टम्भन–न., उपस्तम्भनम्, आधारः, आलम्बनम्,
(असंसू. ९.३६)

उपसन्धान–(परिव०.) न., आरोपणम्, उपरि समीपे वा स्थापनम् (सुचि. ३२.१०)

उपसंभृत–वि., समीपस्थापितम् (सुसू. ११.१८)

उपसर्ग–पु., उपद्रवः (चचि. २२.७)
अन्यरोगाभिघङ्गः (असंनि. ५.५९)
संक्रामकः ज्वरादिरोगः अमानुषोपसर्गादयः
(सुउ. १.६)
व्याकरणे धातोः पूर्वमुपयुज्यमानाः क्रियासंबन्धसूचकाः प्रादयः (सुचि. २.९६)
–ज–वि., रोगपीडितसमीपवर्तिनो जायमानो ज्वरादिरोगः (सुसू. २४.७)
–संज्ञा–स्त्री., अनर्थहेतुत्वभावना (चशा. ५.१२)

उपसर्गात्मिका–वि., स्त्री., तृष्णारोग०
(चसू. १९.४-(४)

उपसर्जन–न., ग्रहणम् (असंक त. प्र. पृ. १३८)
संसर्गः (चक. १.२१)

उपसंस्कृत–वि., विशुद्धम् (सुचि. २७.८)

उपसंहरण–न., एकत्राऽऽहरणम् (सुचि. ३.६)

उपसंहित–वि., संधिना युक्तम्, अनुकूलम्
(चवि. ८.२५)

उपसि (शि) ध्न–न., उपक्रम० चूर्णादीनामाघ्राणम्
(सुउ. ५५.२९)

उपसूत–पु., उपरसः (र. १२.१४)

उपसृष्ट–वि., संयुक्तम् (सुशा. २.५)
गृहीतम् (सुउ. २८.३)

उपसेक–पु., अन्नस्योपरि तक्रादिना सेचनम् (चनि., २.४)
व्यञ्जनम् येन मिश्रीकृत्यौदनादि भुज्यते (अहसू. ६.१७)

उपसेवन–न., भोजनम् (चसि. ४.४२)
व्यञ्जनम् (चचि. १९.११५)

उपस्कर–पु., उपकरणद्रव्यम् (असंशा. १२.१३.)
सामग्री (र. ७.३४)

उपस्कृत–वि.,संस्कारादिभिः संस्कृतम् (चवि. ८.८७)
–क्षीर–न., मेषजैः संस्कृतं दुग्धम् (चशा. ८.३२)
–तनु–वि., संस्कृतशरीरः (अहसू. १७.१८)
–भेषज–न.,संस्कृतमौषधम् (चवि., ८.८७)

उपस्तम्भ–पु., स्तम्भ० शरीरधारको भावः (चसू. ११.३४)
अवरोधः, अवष्टम्भः (सूचि. ३८.१६.१७;)
शरीरधारणम्, ' पुरीषमुपस्तम्भं करोति (सुसू. १५.६)
स्तब्धता (सुउ. ४२.१२४)
–त्रितय–न., आहारः स्वप्नोऽब्रह्मचर्यम् एभिरुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुषः संस्कारः । (असंसू. ९.३६,)

उपस्थ–पु., न., कर्मेन्द्रिय० (चशा. ७.७)
जननेन्द्रियम् (सुशा. १.४)
मेढ्रं पुरुषाणां, योनिः स्त्रीणाम् (सुसू. १५.९)

उपस्थातृ–पु., परिचारकः (चसू. ९.३)

उपस्थान–न., सांनिध्यम्, रक्षणम् (चशा. १.१४६)

उपस्थित–वि., प्रत्यासन्नम् (चशा. ६.२४)
–काल–पु., प्रत्यासन्नकालः (चशा. ६.२४)
–गर्भा–स्त्री., निकटीभूतगर्भा, आसन्नप्रसवा (असंशा. ३.१८)
–प्रसवा–स्त्री., आसन्नप्रसवा (सुशा. १०.७)
प्रसवोत्सुका, (भाप्र.) गर्भपः; अद्य वा श्वो वा यस्या गर्भिण्याः प्रसवः बालजन्म भवति सा (अहशा. १.७४)
–श्रेयस्त्व–न., अचिरादेव प्राप्तकल्याणता " उपस्थितश्रेयस्त्वं श्रेयस्करमार्गानुष्ठानेन परीक्षेत " (चवि. ४.८)

उपस्नेह–पु., निःस्यन्दः, उपलेपः (चशा. ६.२३)
सूक्ष्मायनैराप्यायनमुपस्नेहः (गयी मुनि. ३.२४)
स्निग्धत्वम् (असंशा. २.३३)

उपस्नेहन–(परिव०) न., पुष्टिः (सुशा. ७.३)

उपस्नेह्य–वि., उपस्नेहयोग्यः (कासिद्धि. अ. ७ पृ. १६७)

उपस्पर्शन–(परिव०) न., आचमनम् (सुचि. २९.१०)
उदकस्पर्शनम् (सुचि. २९.१०)
स्नानम् (परिव०) (चसू. ८.१८)

उपस्वेद–पु.,विरलाल्पबाष्पसंयुतो वातः, आर्द्रता (चक. १.११)
घर्मः, सगर्भवृत्तिसाधनम् (चशा. ६.२३)

उपस्वेदन–(परिव०) न., स्वेदनम् (सुचि. २७.८)
(परिव०) पाचनम् (सुचि. ३२.११)

उपहत–वि., दूषितम् (सुचि. ६.१७)
–भल्लातक–पु., कृम्यादिर्दूषितो भक्षितो वा भल्लातकः (सुचि. ६.१७)
–मनस्–वि., उपहतं दूषितं मनो यस्य सः (चनि. ७.४)
–वासस्–(परिव.) वि., मलिनवासाः (चसू. ८.१८)

उपहार–पु., आहार० नैवेद्यः देवादीनां शान्त्यर्थम् (चनि. ७.१६)
देवादिषु गवाश्वप्रभृतीनामुपायनम्, अन्ये-उपहारो देवतानां सपशुर्बलिः (सुसू. ६.२१ (ड.)
दानम् (चचि. ९.२३)
धूपदीपादिकं पूजोपकरणम् (सुक. ५.१२)

उपहित–(परिव० वि.,) उपधानसहितम् ' न अनुपहितं शयनं प्रपद्येत ' । (चसू. ८.१९)

उपाकरण–न., मन्त्रसंस्कारः, यथा पशोर्देवतार्थत्वेन कल्पनम् अभिमन्त्र्य पशोः क्रतौ हननं च (चचि. १९.४)

उपाङ्ग–न., अङ्गमेवाल्पत्वादुपाङ्गम् । तद्यथा देहस्य बाहुजङ्घे शिर इत्यङ्गानि, करचरणनासिकादीन्युपाङ्गानि, अङ्गसमीपमित्येके (सुसू. १.६)
(परिव०) पु., स्नेहः स्नेहदानम्, उप समीपे अंज्यते लिप्यते अनेन इति उपाङ्गः नाम स्नेहः (चवि. ३.३८) यथा रथांगस्य उपाङ्गेन स्नेहदानेन दृढत्वं भवति (चसू. ५.८५)

उपात्त–वि., प्राप्तम्, अदृष्टादागतम् (असंसू. ८.६)

उपादान–(परिव०) न., कारणम्, आधारः, अर्थः, आश्रयः (चशा. १.१३५)
समवायि कारणम्, यथा घटस्य मृत्तिका (र. १०.३)

उपाध्याय–पु., वैदिककर्मोऽभिज्ञो याज्ञिकः (सुशा. २.२७)

उपानत्क–वि., सपादत्राणः (सुचि. २४.८९)

उपानह– स्त्री., पादत्राणम् (सुचि. २४.७३)
चर्मपादुका (इन्दु. असंसू. ३)
पादहिता (सुसू. २९–९)
चर्मकृतं पादत्राणम् (असंसू. ८.४३) (इन्दुः)
गुणाः––अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलदक्षुक्रक्षणम् । (असंसू. १२. ९३)
उपानद्रहितस्य चङ्क्रमणे अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुरूपाद्घातादिदोषाः (सुचि. २४.७३)

उपाय–पु., साधनम् (अहसू. २९.८०)
योजनापद्धतिः (चसू. २६.१३)
'द्रव्याणि यथा कुर्वन्ति स उपायः' (सुसू.४१.५)
यथा स्वरसकल्कशृतशीतफाण्टघृततैललेहमोदकोत्कारिकादिप्रकारेण यथा कुर्वन्ति (सुसू. ४१.५)
कर्तृकरणकार्ययोनित्रयस्य सौष्ठवमभिधानं (चवि. ८.७८)
उपायो नाम भयदर्शन–विस्मापन–विस्मारण–क्षोभण–हर्षण–भर्त्सन–वध–बन्ध–स्वप्न–संवाहनादिः, अमूर्तो भावविशेषः (चवि. ८.८७)
उपगमनं व्याधिमेलक इत्यर्थः (चइ. १.३)
–**बल**–न., चिकित्साबलम् (असंसू. ८.६)
–**वित्**–वि., उपायज्ञः, यत्रशस्त्रावचारणादि यो जानाति सः (अहसू. २५.४०)

उपायार्थ–वि., उपायेन अर्थः प्रयोजनम् (चवि. ८.७८)

उपालम्भ–पु., तत्रयुक्ति०, उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम् (चवि. ८.५९)

उपावर्तन–न., विरामः, परावर्तनम्. (सुचि. ६.४)

उपाश्रय–पु., उपधानभेदः (चसू. १५.७) अवष्टम्भकम् (सुचि. ३७.१०९)

उपास्त्र–न., उ(अ)पास्त्रं शास्त्रनियमवर्जितं धनुः (सुचि. ११.११)

उपोदक–पु., वनस्पति०

उपोदका–स्त्री., वनस्पति० उपोदिका,

उपोदकी–स्त्री., वनस्पति० उपोदिका

उपोदिका–स्त्री., वनस्पति० पत्रशाक० उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य (चसू. २६.८९)
तिलकल्कसिद्धमुपोदिकाशाकं नाश्नीयात्संस्कारविरुद्धत्वात् । (सुसू. २०.१४)
गुणाः—मधुरा कषाया स्निग्धा हिमा सरा उष्णवीर्या (रा. ७.३४) भेदिनी (चसू. २७.९४)
वृष्या वातपित्तघ्नी श्लेष्मकरी रुच्या विष्टम्भकारिणी (रा. ७.३४) मदविनाशिनी (च. सू. २.३३)
हिं. —पोई.
म. —**थोर मयाळ** (अहको). **थोरवेल**
बं. —पुई शाक
त. —पचनैक्कीरे पोतकी

उप्त–वि., प्ररोहार्थं भूमौ निक्षिप्तं धान्यम् (चशा. ८.१८)

उभय–वि., सर्व० (सुचि. ७.३५)
–**कालम्**–अ., सायंप्रातरित्यर्थः (सुचि. ७.३५)
–**ज्ञ**–वि., शास्त्रज्ञः कर्मज्ञश्च (सुसू. ३.४७)
–**भाग**–वि., ऊर्ध्वाऽधोभागे प्रच्यवमानम् (चनि. २.९)
–**भागहर**–वि., वमनं विरेचनं च कोशातक्यादि (सुसू.३९.५)
–**वृत्ति**–वि., उभाभ्यां क्षीरान्नाभ्यां वृत्तिर्यस्य सः, यथा बालः क्षीरपोऽन्नादश्च (असंउ. २. पृ. १६)
–**संश्रित**–वि., अन्तःश्रितः बहिःश्रितश्च यथा विसर्पः (चचि. २१.२३)

उभयतोभाग–वि., वमनविरेचनकरम् (असंक. ८ त. प्र. पृ. १६६)
यथोन्मादचिकित्सिते विषाणिका देवदालिका कारवेल्लिकादि तीक्ष्णमुभयतो दोषहरं द्रव्यं शोधनार्थं देयम् (सुउ. ६२.१४)

उभयतोमुख–वि., उभयतो मुखं यस्य तत् यथा नाडीयन्त्रं स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं बस्त्युत्तरबस्तिधूमयन्त्रादीनि नाडीयन्त्राणि (सुसू. ७.१३)

उभयतःशुद्ध–वि., वमनविरेचनाभ्यां शुद्धः (सुउ. ३९.१३२)

उभयार्थकर–वि. व्याधिहेतुत्वं व्याधिलक्षणं च करोति इति (चनि. ८.२०)

उभयार्थकारि–वि., हेतुव्याधिविपरीतम् यथौषधम् (असंसू. १२.९)
यत् हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति यथा छर्द्यां छर्दनम् दैवव्यपाश्रयमौषधञ्च (असंसू. १२.९)

उमा–स्त्री., वनस्पति० अतसी (अहसू. ६.२४)
–**जं तैलम्**–न., अतसीतैलम् (अहसू. ५.६१)
–**पति**–पु., सिद्धयोग०, मासेन सर्वरोगनाशकः, संवत्सरेण वलीपलितनाशकः (र. २७.७१.–७६)
–**प्रसादन**–पु.,ज्वरघ्नयोग०, शीतज्वरापहः, चातुर्थिकज्वरनाशकः (र. १२.५६–५९)
–**लेप**–पु., अतसीलेपः (चचि. २९.१४०)
–**शम्भु**–पु., सिद्धयोग० सन्तापशोषबलहीनतातृषाप्रमेहघ्नः वासास्वरसेन युक्तः (र. १७.५२–६१)

उम्पास–पु., वनस्पति०=व्रीहिः (रा. १६.११८)
उम्पिका–स्त्री., वनस्पति०=व्रीहिः (रा. १६.११८)
उरग–पु., कृष्णसर्पः, तस्य वसा यष्टीमधुकचूर्णान्विता वातजतिमिरेऽञ्जनार्थं हिता (सुउ.१७.३५)
भूताधिपति० (असंउ. ७ पृ. ५९)
ग्रह० नागग्रहः, 'पञ्चम्यामपि चोरगा..... विशन्ति' (सुउ. ६०.१८)
उरण–पु., मेषः (चसि. ११.२०)
जाङ्गलमृग० (चसू. २७.४५)
उरभ्र–पु., मेषः (सुउ. ५१,५३)
कीट० स वायव्यः वातकोपनः वातरोगान् करोति (सुक. ८.५–८)
–वसा–स्त्री., जाङ्गमद्रव्य० नेत्ररोगेषु अञ्जनार्थं उपयुज्यते (असंउ. १६.१२१)
उरभ्रक–पु., उरभ्रः (असंउ. ४३. पृ, ३५१)
उरस्–न., शारीर०, वक्षः द्वादशाङ्गुलोत्सेधं प्रमाणतः (चवि. ८.११७)
'अष्टादशाङ्गुलविस्तारमुरः' (सुसू. ३५.१२)
अवलंबकश्लेष्मणः स्थानम् (अहसू. १२.१५)
स्तनयोरन्तरालम् (सुउ. ६२.३३)
श्लेष्मस्थानम् (सुसू. २१.७)
ग्रीवामूलादधस्ताद्धृदयोर्ध्वं स्तनयोर्मध्यस्थानमुरः (सुसू. १८.१८)
अस्मिन् चतुर्दशास्थीनि (चशा. ७.६)
अस्मिन्मर्माणि नव, तानि च एकं हृदयमर्म, स्तनमर्मणी द्वे, स्तनरोहितमर्मणी द्वे, अपलापमर्मणी द्वेऽपस्तम्भमर्मणी द्वे । इति (सुशा. ६.५)
उरः-क्षत–न., उरोरोग०, उरस्यभ्यन्तरे क्षतादुरःक्षतम् 'उरस्यन्तःक्षते सति' (इन्दु; असंनि. ३.३३)
सामान्यस्वरूपम्–उरोरुक्कासः श्लेष्मरक्तनिष्ठीवनं च सम्प्राप्तिः–यदा हि पुरुषो दुर्बलोऽपि सन् बलवतासह विगृह्णात्यतिमात्रं वा भारमुद्वहत्यभिहन्यते वाऽन्यद्वा ।
किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते तदा तस्याऽतिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते । तस्योरःक्षतमुपद्रवते वायुः । तत्राऽवस्थितो वायुः । श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंसृज्य शोषयन् पित्तं च दूषयन्विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक्च ।
तस्य.....योंऽशः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्च जायते । ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतिमत्त्वाच्च वायोः, कण्ठस्योद्ध्वंसनाच्च कासः सततमस्य संजायते । स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति । शोणिताऽऽगमनाच्चाऽस्य दौर्बल्यमुपजायते । एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति (चनि. ६.४)
पूर्वरूपम्—एतस्याव्यक्तलक्षणमेव पूर्वरूपम् (चचि. ११.१२)
उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते । क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥ (चचि. ११.१३)
लक्षणम्—उरोभेदनविभजने, पार्श्वपीडनमङ्गवेपनं, क्रमेण वीर्यबलवर्णरूप्यग्निहानिर्ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं अग्निवधाद्विड्भेदश्च कासमानस्य सुदुर्गन्धो दुष्टः पीतो विंग्रथितो बहुः सरक्तोऽसितः श्यावः श्लेष्मा प्रवर्तते । सक्षतः अत्यर्थं क्षीयते शुक्रौजसोः क्षयात् । (चचि. ११.९–११)
'सन्तप्तवक्षाः सोऽत्यर्थं दूयनात् परिताम्यति'—मोहं याति (सुउ. ४१.२५)
विधिः—चरके राजयक्ष्मणि चतुर्विधेषु हेतुषु साहसज एको हेतुः (चनि. ६.३)
सुश्रुते धातुक्षयहेतुष्वेको रक्तक्षयजः । (सुउ. ४१.२७)
वाग्भटे पञ्चकासेष्वेकः उरःक्षतजः (असंनि. ३.३३–३७)
साध्यासाध्यता–'अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः । परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ (चचि. ११.१४)
रोगोऽयं धातुशोषे राजयक्ष्मणि वा पर्यवस्यति, रोगी म्रियते वाऽकस्मात् । 'सानाथ्यात्साध्यः सामर्थ्यात्साध्यः–पाठः (असंनि. ३.४२)
चिकित्सासूत्रम्–'साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षन् जीवितमात्मनः' (चनि. ६.५)
'उपद्रवांश्च स्वरवैकृतादीन् जयेद्यथास्वम् ।' (सुउ. ४१.२३)
कासात् उपेक्षया श्वासक्षयस्वरसादादयो रोगा भवन्ति ततस्तं त्वरया जयेत्तस्याऽऽशुकारित्वात् । (असंनि. ३.४३)
चिकित्सा–वृषो लाक्षा तथा नागबलाभ्यासोऽत्रोपयुज्यते (असंसू. १३.३)
अमृतप्राशः (अहचि. ३.९४–१०१)
तथा कूष्माण्डकरसायनमप्यत्रोपयुक्तम् । (अहचि. ३.११४–११८)

-क्षतशोष-पु., शोषभेद० उरःक्षतनिमित्ताद् धातुक्षयः शोषो वा भवति (सुउ. ४१.२६-२७)

-सुप्तता-स्त्री., लक्षण० रक्तजप्रतिश्यायस्य लक्षण० (असंउ. २३ पृ. १६७)

-स्रोतस्-न., सूक्ष्मस्रोतः (चचि. २८.१९३)

उरस्य-वि., उरःसंबद्धम् कर्म (सुउ, ४१.२४)

(उरो)-गल-न., कीट० पिपीलिका (असंउ. ३१. त. प्र. पृ, २९९)

उलुंगिलपाठः (असंउ. ३१ पृ, २३२)

-घात-पु., रोग० लक्षण०-'उरःक्षतं गुरु स्तब्धं पूतिपूर्णकफो रसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः ॥ 'ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः' (डसुउ. २४.१२)

रोग०, लक्षणम्-'पित्तश्लेष्मोत्तरो व्याधिरुरोघातस्त्रिदोषजः । स्वहेतुकुपिता दोषा उरोघातं चतुर्विधम् ॥ कुर्वन्ति सेवमानानां लौल्यमध्यशनादि च । शीतज्वरः प्रतिश्यायः कण्ठः शुकैरिवावृतः (काचि. उरोघात पृ. १३२)

बाल्ये तस्य लक्षणविशेषः-'निष्टनत्युरसाऽधिकम्' (कासू. २५.३८)

-धूमायन-न., व्याधिलक्षण० उरसो धूमोद्वमनमिव (चचि. १८.१५)

-रुज्-स्त्री., रोगलक्षण० उरोभवं दुःखम् (चचि. ११.१३)

-रोग-पु., उरसि जायमानो रोगः (चचि. १.७१)

-विबन्ध-(परिव०) पु., रोगलक्षण० रज्वादिभिर्बद्धमानमिवोरसि दुःखम् (हे. अहसू. ४.८)

उरु-वि., विस्तीर्ण, गम्भीरम् (र. २४.९)

-पूग-पु., वनस्पति० श्वेतैरण्डः, नेत्ररोगे उपयुक्तं द्रव्यम् (काखि. १३.३२)

-माण-पु., वनस्पति० औत्तरापथिको फल० वनस्पतिनामा मधुरस्निग्धफलवृक्ष० (चचि. २९.६५)

गुणाः-गुरूष्णस्निग्धमधुरः बलप्रदो वातघ्नो बृंहणो वृष्यः कफपित्तप्रवर्धनश्च (चसू. २७.१५७-१५८) मेध्यः हृद्यः वयस्थापकश्च

हिं.-नास्पति (हाराणचंद्र)

म.-वायवर्णा.

-मूलक-वि., गम्भीरमूलम् (र. २४.९)

स्तम्भा-स्त्री., कदली (रा. ११.१०७)

उरुबु-पु., (सुचि. ३८.४३) **उरुबुक**-(चसू. ४.९) **उरुबूक**-(सुसू. ४६.२५४;) **उरुबुक**-(चचि. ३.२६७;) पु., **उरुबूका**, स्त्री., (असंसू. ७. १४६) **उरुबुकः**-एरण्डः (चसू. ४.९) **उरूबूक**=शुक्लैरण्डः (सुसू. ४६.२५४;) **रक्तैरण्डः**, (चचि. ३.२६७) (रा. ८.४४६) शाक० तल्लघु भिन्नशकृत्तिक्तं च (चसू. २७.१०८) **उरुबूक-तैलम्**-एरण्डतैलम् (असंचि. १७. त.प्र.पृ. ९८)

-पत्र-न., एरण्डपत्रम् (अहसू. २४.१८)

मूल-न., एरण्डमूलम् (सुउ. ५१.४९)

उरुबूक-पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः=एरण्ड (रा. ८.४४६)

उर्वरी-स्त्री., वनस्पती०=व्रीहिः (रा. १६.९८)

उर्वारु-न., वनस्पति०=एर्वारुकम् (ध. १.१७६)

-तैल-परिव० न., एर्वारुतैलम् (ध. ६.१४२)

उर्वी-स्त्री., भूमिः (सुसू. ६.८)

पृथिवी (सुशा. १.४)

न., मर्म० सक्थिमर्म० उरुमध्ये वैकल्यकरं सिरामर्म, 'सिरामर्मैदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरञ्च,' संख्या-वामदक्षिणभेदेन द्वे, तद्व्यधेन शोणितक्षयात् सक्थिशोषः (सुशा. ६.६)

उलका-चुल्लका पाठः स्त्री० रोहे जातो राग० "पतङ्गीकल्कतो जाता लोहे तारे च हेमता । दिनानि कतिचित् स्थित्वा यात्यसौ उलका (चुल्लका) मता ॥" (र. ८.५१-५२)

उलुङ्गिल-न., कीट०, पिपीलिका (असंउ. ३१ पृ. २३२)

उलुम्ब-पु., होलकाः, मुद्गकलायादिशिम्बा अग्निपक्वा होलका इत्युच्यन्ते ।

गुणाः-लघवः कफमेदोविशोषणाः (सुसू. ४६.४१०)

-क-पु., सरसाः,-सार्द्राः-भृष्टयवाः (सुचि. १०.५)

उलूक-पु., पक्षि० प्रसहवर्गीयः (चसू. २७.३६) (सुसू. ४६.७४;) दिवाभीतः (सुउ. ६०.३८) घूकः (काखिबालग्रह) अस्य मांसं यक्ष्मिणे प्रशस्तम्, छद्मना देयम् (सुउ. ४१.३६) चर्मरोमाणि ग्रहचिकित्सायां धूमार्थमुपयुज्यन्ते । (सुउ. ६०.३८)

मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्माणि वातश्लेष्मात्मके उन्मादे सेकाञ्जनप्रधमननस्यधूमेषूपयुज्यन्ते (चचि. ९.७४.७५)

उलूकमांसगुणाः पित्तलम्, भ्रांतिकरणम्, वातलम्, शोषणम् (ध. ६.४७४)

–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र०, उलूखमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)

उलूखल–न.,उदूखलम् (चशा. ७.६)
तण्डुलकण्डनोपयोगि साधनम् (सुशा. ५.२७)

–संधि–पु., अस्थिसंधिप्रकार०, उलूखलाकृतिः संधिः, 'संधयः..... कक्षावङ्क्षणदशनेपूलूखलाः' (सुशा. ५.२७)
कक्षासंधी द्वौ, वङ्क्षणसन्धी द्वौ, दशनसंधयो द्वात्रिंशदित्येते उलूखलसंधयः (सुशा. ५.२७;) (असंशा. ५.७७)

उलूप–तृण०, (चवि. ३.७. (३)

उल्का–स्त्री., आकाशात् पतन् तेजःपिण्डः (सुसू. ३२.४)

–पात–पु., तारकापातः, आकाशाज्ज्वलदग्निगोलपातः, उत्पातेष्वेकः (सुचि. २४.९२; चवि. ३.७ (३)

उल्ब–न., गर्भकोशः, जरायुः (असंउ. १. (पृ. १)
जातमात्रस्य बालस्य त्वगुपरि दृश्यमानः गर्भकाले संचितः चिक्कणद्रव्यविशेषः, उल्बदोषः, जातमात्रमेव बालमुल्बात्सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत् । (असंउ. १)

उल्बक–पु., रोग० जातमात्रबालस्य रोगः, लक्षणम्–गर्भाम्भसोऽवमनात् कण्ठगतस्य श्लेष्मणः संपर्काद्वा दुष्टो रसो हृदये मार्गानावृणोति । तत आवृतमार्गत्वाद्बद्धमुष्टिः बालो हृद्रोगाक्षेप्रकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिरभिभूयते । सहजोऽम्बुपूर्णश्च तस्यापरपर्यायौ (असंउ. २ (पृ. ३२)

उल्बण–वि., विपुलम्, बहुलम् (सुचि. ३४.५)

–मारुत–वि., बहुवातः (अहसू. १९.३४)

उल्मुक–न., अङ्गारः (चसू. १७.९८)

उल्लापक–पु., मिथो भाषणम् (असंसू. २१)
–न., स्तोत्रम् (चशा. ४.३७ (७) (चसू. १५.७)

उल्ली–पु., वनस्पति०=पलाण्डुः (रा.७.१००)

उल्लुप्त–वि., पिष्टमिव कृतम्, शूल्य०, परिशुष्कमांसं निरंतरं छेदनातिशयेनाणुशश्छिन्नत्वात्पिष्टमिव उल्लुप्तपिष्टम्; उल्लुप्तमिति पाचका वदन्ति । (सुसू. ४६.३५५)
बस्तिप्रणेतृदोष०, उल्लुप्तमिह बस्तिपीडनदोषः, यः पीडनविच्छेदं कृत्वा पीडयते सः, तदेवोल्लुप्तत्वमिति, चक्र० (चसि. ५.८)

उल्लेख–पु., वमनम् (चचि. २८.१९६)
आहारस्य च्छर्दनम्, तच्छोषपूर्वरूपम् (चनि. ६.१५)

उल्लेखन–न., वमनम् (चचि. २४.४४)

उल्लोडित–न., दधिसरः (चसू. १३.६६)

उशीर–पु.न; तृण० तस्य सुगन्धिमूलमुपयुक्तम् (सुसू. ३८,२४)
पित्तसंशमनवर्गे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.८) (अहसू. १३.६) तिक्तस्कन्धे एकं द्रव्यम् (अहसू. १०.२८) दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४० असंसू. १३.३) शुक्रशोधनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२ (२०) (असंसू. १५.२५) वर्ण्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१० (८) (असंसू. १५) दाहप्रशमनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७ (४१) (असंसू. १५.४०) अङ्गमर्दप्रशमनगणे एकं द्रव्यम (चसू. ४.१७ (४४) धूम्रपाने उपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ५.२१) सारिवादिगणे एकं द्रव्यम्, (असंसू. १६.५) छर्दिनिग्रहणगणे एकं द्रव्यं (चसू. ४.१४ (२८) गुणाः–तिक्तो मधुरानुरसः शीतो लघुः स्वेदघ्नो वातपित्तघ्नो दाहक्लान्तिज्वरतृष्णाप्रमेहरक्तविकारदौर्गन्ध्यश्रमहरः (ध. ३.१४) 'उशीरं पाचनं ज्वरातिसारवमथुरक्तपित्तक्षतापहम्' (असंसू. १२.७८–७९)
हिं.—खस, काला वाला.
म.—काळा वाळा.
गु.—काळो वाळो.
बं.—खश.
त.—वेहि वेर.

उशीरादितैल–न., सिद्धतैल०, उशीरलोध्रत्रिफलाप्रियङ्गुभिर्द्रव्यैः सिद्धं तिलतैलं कफजतिमिरे नस्यार्थमुपयोज्यम् (सुउ. १७.४१)

उषण–पु., रस०, कटुरसः (असंसू. १.३५)

उषणा–स्त्री., पिप्पली (रा. ६.११०)

उषर–वि., लवणयुक्तम् (चक. १.९)

उषा–स्त्री., रोगलक्षण० दाहः (सुचि. २.२२–२३)
अरतिमान् दाहः (अहसू. २९.४)

उषित–वि., स्थितम् (सुचि. ४.२९)
रात्रौ स्थितम् (सुउ. ४१.३८)
पर्युषितम् (अहसू. ७.३६)

उष्ट्र–पु.,–पशु० उष्ट्रिका (र. १०.७९) उष्ट्री, स्त्री., (चसू. १.९४) ग्राम्यवर्गीयः (सुसू. ४६.८५) वातप्रकृतिः पशुः (सुशा. ४.६७) मरुभूमौ वर्तमानः (सुचि. ७.१८–१९) '(उष्ट्री) क्षीरमुदरश्वयथुघ्नानां श्रेष्ठम्' (असंसू. १३.३) 'अल्पाहारतया.....उष्ट्रीणां (पयः) .....अलवणम् (काखि. २२–पृ. ३५६) श्वयथुरोगे मासं सप्ताहं वा भोजनवारिवर्जनपूर्वं योजनात्तद्रोगहरम् (चचि. १२.२६) दुग्धगुणाः–स्वादु (सु) ईषल्लवणमुष्णं, रूक्षं, लघु, दीपनं, (अहसू.) वातकफघ्नं आनाहकृमिशोफोदरकुष्ठ-गुल्मश्वासहरम्, विषघ्नं (सु.चसू. २७.२२०) दुर्बलाय प्राणभृत् (चचि. १३.१८३; सुसू. ४५.५३) (असंचि. १७ त. प्र. पृ. ९५) (अहसू. ५.२५) (ध. ६.१७१) बहुत्वाच्च घनत्वाच्च बल्यं पुष्टिकरं पयः । गुरु वृष्यं च निर्दिष्टं मधुरं च विशेषतः ॥ (काखि. २२. पृष्ठ ३५६) दधिगुणाः–स्वाद्वम्लमी-षत्क्षारं गुरु (सु) कटु विपाके भेदि (सु) वातघ्नं अर्शकुष्ठकृम्युदरशूलघ्नं च (सुसू.४५.७० ध. ६.१९४) नवनीतगुणाः– लघुविपाकं शीतलं व्रणकृमिकफा-स्रववातघ्नं विषनाशनम् (रापरि. १५.११) घृतगुणाः–मधुरशीतकटुविपाकि दीपनं कफवातघ्नं शोफकृमिविषकुष्ठगुल्मोदरमूर्च्छाप्रमेहोन्मादगर-ज्वरापस्मारहरम् (सुसू. ४५.१००; ध.६.१५०) मांसगुणाः–शोषिणे हितम् (सुउ. ४१.३७) स्वादूष्णं शीतं (रा) लघुपाकि चक्षुष्यं बल्यं पुष्टिकरं रुच्यं वीर्यकरम् त्रिदोषघ्नमर्शोमेदहरम् (ध. ६.३८०) मूत्रगुणाः–सतिक्त श्वासकासघ्नमर्शोघ्नं चौष्ट्रमुच्यते । (चसू. १.१०३) गजोष्ट्रादीनां पुंसां मूत्रं ग्राह्यम् (हे. अहसू. ५.८२–८३) तत्कटुतिक्तलवणोष्णं बल्यं पित्तलं वातघ्नं शोफ-कुष्ठोदरोन्मादकृम्यर्शोघ्नम् (सुसू. ४५.२२८) (ध. ६.४९५) पुरीषगुणाः–शुष्कपुरीषचूर्णोऽवचारितमन्नं प्रमेहे उपयुज्यते (सुचि. ११.११) तस्य दन्तोपयोगः–दन्तः एडगजादियोगे कुष्ठप्रश-मनार्थम् (चचि. ७.१६०) क्षतशुक्रहरवर्त्युपयोगी च (असंउ. १४. पृ. १०४) शकृदादिसिद्धघृतं शोषे उपयुक्तम्, तच्च उष्ट्र्याः शकृद्रसक्षीरमांसरसरुधिरैः द्राक्षाश्वगन्धामगधा-सिताभिः सिद्धम् (सुउ. ४१.४९) उष्ट्रास्थिक्षारः पु० क्षार०, हस्तिमेहे पानार्थमुपयुज्यते (सुचि. २१.९)

–काण्डी–स्त्री., वनस्पति० एतस्याः बीजं मधुरं वृष्यं सन्तर्पणं च, गुणाः–तिक्ता उष्णा रुच्या हृद्दोगाग्नी च (रापरि. १०.४३)

–ग्रीव–पु., भगन्दररोग० (सुनि. ४.६)

–धूमक–पु., वृश्चिक० उष्ट्रवध्दूमवर्णत्वात् उष्ट्रधूमको, रात्रिचारो वा, दंशलक्षणम्–दंशेनाऽङ्गानां शीता-म्बुना सेक इव, शेफस्स्तम्भः हृष्टरोमता च, सः साध्यः (असंउ. ४३ पृ. ३५४–५५)

–भक्षिका–स्त्री., वनस्पति० दुरालम्भाभेदः धन्व-यासः (रा. ३.२२)

–रथ–पु., उष्ट्रेण युक्तो रथः (सुसू. २९.६)

उष्ट्रिका–स्त्री., वृश्चिकाली (रापरि. ९.७)

उष्ण–पु., गुण० विंशतिगुणेष्वेकः शीतविपरीतगुणः स्वेदने शक्तिः (अहसू. १.१८) वीर्यसंज्ञको गुणः, अग्निगुणभूयिष्ठः (सुसू. ४१.११) अस्य कर्म–क्लेशकरं, भेदनं, पाचनं, मूर्च्छातृट्स्वेददाह-करम् (सुसू. ४६.५१४) वातघ्नः (सुसू. ४१. ११) त्वगिन्द्रियग्राह्यस्पर्शः (चशा. ६.१०) घर्मः, आतपः (सुसू. ३०.२१) वि., अग्निगुणभूयिष्ठम्, यथा उष्णवीर्यद्रव्यम् (चक. १.५)

–कामत्व–न., रोगलक्षण० उष्णाभिलाषः (अहसू. ११.६) द्र० 'उष्णकामिता'

–कामिता–स्त्री., रोगलक्षण० उष्णाभिलाषः (सुसू. १५.१५)

–काल–पु., ग्रीष्मकालः, वसन्तग्रीष्मात्मकश्चातुर्मा-सिकः (चसू. ११.४२)

–गण–पु., उष्णवीर्यौषधसंग्रहः, वातरोगे सेकलेप-क्वाथेषूपयुज्यते । (सुचि. १७.४)

–गर्भगृह–न., गृहमध्यगतमुष्णस्वभावं गृहम् (चसू. १४.२८)

–जल–न., (उष्णाम्बु) क्वथितं जलम् (चचि. १३.१६१ सुसू. ४६.४२०)

–तोय–न., अनुपान० उष्णजलम् (सुसू. ४६.४२०) द्र० 'उष्णाम्बु'

-दाह-पु., लक्षण० उष्णेन कृतो दाहः उष्णेन कालेन उष्णेनाहारादिना च दाहः (इंदु. असंसू. ६)

-दोष-पु., उष्णकालसमुद्भवो दोषो रोगो वा (असंसू. ९)

-निःश्वास-पु., लक्षण० उष्णस्पर्शः उच्छ्वासः (चचि. २३.१६८)

-फला-स्त्री., वनस्पति० बिम्बीभेदः, मधुरबिम्बी= बिम्बी (रा. ७.३०४)

-वात-पु., उष्णस्पर्शो वायुः, स ग्रैष्मिकः शारदो वा, 'उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा' (सुसू. १२.३८)

मूत्ररोग० त्रयोदशबस्तिविकारेष्वेकः (चचि. ९.३८) मूत्राघात० (सुउ. ५८.२३) संप्राप्ति-व्यायाम-अध्व-आतपैर्वातावृतं पित्तं कृच्छ्रादधः स्रावयेत् । लक्षणम्-बस्तिमेढ्रगुदं च प्रदहन् हारिद्रवर्णं रक्तं सरक्तं वा मूत्रमधः स्रवति । (सुउ. ५८.२२)

चिकित्सासूत्रम्-मूत्रदोषे पञ्चकर्मक्रमो हितः । ततः संशुद्धदेहानां हिताश्चोत्तरबस्तयः ।
(सुउ. ५८. ४९-५०)

चिकित्सा-शृतशीतपयोऽन्नाशी चन्दनं तण्डुलाम्बुना । पिबेत् सशर्करं श्रेष्ठमुष्णवाते सशोणिते ॥
(भाप्र. मूत्राघात चि; असंनि. ९.२८, अहनि. ९.३५.३६)

-वायु-पु., दुष्टवात, उष्णस्पर्शः बाह्यो वायुः (चवि. ३.७ (१); असंसू. ९. ९६)

-विधि-पु., क्रिया० यथा स्वेदः (सुउ. ३९.२६६)

-वीर्य-न., वीर्यं० आग्नेयम्, स्वेदने शक्तिः (अहसू. ९.१८-१९)

-शरीर-वि., रोगलक्षण० तप्ताङ्गः ज्वरार्तः (चचि. ३०.२४४)

-स्वभाव-वि., स्वभावतः उष्णम् (अहसू. ३.१४)

उष्णाभिप्रायता-स्त्री., लक्षण०, उष्णप्रियता (चनि. १.२१ चनि. १.२७)

उष्णाभिप्रायिन्-वि., उष्णस्य अभिप्रायः-इच्छा अस्यास्तीति (चचि. ३.२६७)

उष्णाभिभूत-वि., उष्णजन्यव्याधिग्रस्तः (चसि. १.३५)

उष्णाम्बु-न., उष्णं जलम्, कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम्, स्रोतोमार्दवकरम् । (सुउ. ३९.१०६-१०७)

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं बस्तिशोधनम्। हिध्माऽध्मानानिलश्लेष्मसद्यःशुद्धौ० नवज्वरे । कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षु च शस्यते ॥

उष्णाम्बुतप्त-वि., उष्णोदकेन उष्णीकृतम् (अहसू. २०.१९)

उष्णाम्बुपरिषेक-पु., उष्णाम्बुस्नानम्, "उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः । तेनैव चोत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥ (अहसू. २.१७)

उष्णार्त-वि., रोगलक्षण० घर्मपीडितः (सुसू. ४५.१४४)

उष्णाश्रुपात-पु., रोगलक्षण०, (सुउ. ५.७)

उष्णीष-पु., न.. शिरोवेष्टनम्, शिरस्त्राणम् (सुक. १.१५) केशबन्धपट्टकः (असंसू. ८)

गुणाः-पवित्रं केश्यमुष्णीषं रजोवाताऽऽतपापहम्। (सुचि. २४.७५)

शलाकायाः उष्णीषम्-शलाकायाः कार्पासवेष्टिताग्रम्, तत्प्रमार्जनक्रियासूपयुक्तम् (सुसू. ७.१४)

उष्णोपचार-पु., उष्णाऽऽहारादिः (अहसू. ५.६६)

उष्णौषध-न., अग्निगुणभूयिष्ठं द्रव्यम् (चक. १.५)

उष्मन्-पु., औष्ण्यम् (अहसू. ११.२)

बाष्पम् (चशा. ८.१९ असंसू. ८)

अग्निः (अहसू. १३.२५)

जठराग्निः (चचि. १५.२१५)

भूताग्निः (चचि. १५.१३)

-दाह-पु., उष्णेन कालेनोष्णेनाहारादिना च दाहः (असंसू. ६)

-देह-पु., देहस्यौष्ण्यं, देहोष्मा (असंसू. २९)

(उष्म)-स्वेद-पु., स्वेद० सोऽष्टधा भिद्यते, पिंडः, संस्तरः, नाडी, घनाश्मा, कुंभी, कूप, कुटी, जेन्ताक इति (असंसू. २६.७)

उस्र-पु., किरणः (सुउ. ६०.१९)

ऊ

ऊखरज-न., लवणद्रव्य०=रोमकम् (रा. ६.४०)

औषर-क (रा. ६.५१)

ऊद्र-पु., वारिशयप्राणि० जलबिडालः (चसू. २८.४०)

ऊनम-न., पात्रस्थे जले क्षिप्तस्य लोहादि-भस्मनः उपरिधान्यादिगुरुद्रव्य-स्थापनेनाऽपि हंसवत्तरतः इयं संज्ञा (र. ८,२९)

ऊरु-पु., शारीर० अधःशाखायाः प्रत्यङ्गम्, द्वौ ऊरू, (डसुशा. ५.४) स्थानम्-जानुवङ्क्षणयोर्मध्यम्, (सुउ. ६४.२६) जानूपरितनभागो वङ्क्षणसंधि-

पर्यन्तम् (सुसू. ३५,१२) आयामः–अष्टादशाङ्गुलप्रमाणः, 'प्रमाणतश्च·····अष्टादशाङ्गुलावूरू' (चवि. ८.११७; सुसू. ३५.१२)
'अष्टादशाङ्गुलायामे जङ्घे ऊरू च' (असंशा. ८)
परिणाहः–त्रिंशदङ्गुलपरिक्षेपौ—ऊरू' (चवि. ८.११७)
'त्रिंशदङ्गुलपरिणाहौ ऊरू' (असंशा. ८.३०)
प्राशस्त्यम्–अनुपूर्ववृत्तावूरू (असंशा. ८.४५)

–ग्रह–पु., रोग०, ऊरुस्तम्भः (चचि. २७.३३)

–दौर्बल्य–न., रोगलक्षण० ऊर्वोः दौर्बल्यम् (चचि. १४,१३३)

–नलक–पु., अस्थि० ऊरौ स्थितं नलकाकारास्थि
'एकमूरावितिं' (सुशा. ५.१९)
'द्वावूरू नलकौ' (चशा. ७.६)

–पिण्डिका–स्त्री., प्रत्यङ्ग० षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेका, 'ऊरुमध्ये द्वे ऊरू पिंडिके' (चशा. ७.११)

–मूल–न., शारीरस्थान० वङ्क्षणप्रदेशसमीपे 'लोहिताक्ष' मर्मणः स्थानम् (असंशा. ७)

–शूल–पु., रोगलक्षण० ऊर्वोः शूलः (चसि. ९.१६)

–शोष–पु., रोगलक्षण० ऊरुस्तम्भः (चसि. २.१६)

–संग्रह–पु., रोगलक्षण० ऊरुग्रहः ऊर्वोराकर्षणमिव स्थितिः (चसू. १४.२३)

–सदन–न., रोगलक्षण० ऊर्वोः सादः सदनम् (चसि. ७.४१) ऊर्वोः शक्त्यभावः (चसू. १६.८)

–साद–पु.. रोगलक्षण० ऊर्वोः सादः, अशीतिर्वातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

–स्तम्भ–पु., रोग०, निरुक्तिः–मेदसा सह श्लेष्मा वातपित्ते अभिभूय स्थैर्यशैत्याभ्यामूरू स्तम्भयेत्। स ऊरुस्तम्भः (चचि., २७.१४) ऊर्वोः स्तम्भः, अशीतिर्वातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
संप्राप्तिः—मेदोबलोत्कटः कफदोषो मेदसा सह वातादीन् कोष्ठे क्षितमामं चाशु रुद्ध्वा गौरवादधोगैः सिरादिभिरूरू याति, सक्थिजङ्घोरू च पूरयति, तेन चोर्वोरकर्मण्यता स्तैमित्यं च जायते। स ऊरुस्तम्भः (चचि. २७.१०–१२)
पूर्वरूपम्–प्राग्रूपं ध्याननिद्राऽतिस्तैमित्याऽरोचकज्वराः। रोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥ (चचि. २७.१५)
लक्षणम्–गौरवं ध्यानमङ्गमर्दः स्तैमित्यं तन्द्रा छर्द्यरुचिज्वराः पादयोः सदनं कृच्छ्रोद्धरणं सुप्तिः कम्पो दाहः भेदस्फुरणादिरुक् च (चचि. २७.१३) (असंनि. १५.४९–५४; अहनि. १५.४७–५१).
साध्याऽसाध्यत्वे–नवः साध्यः, सर्वलक्षणयुक्तः पुराणोऽसाध्यः (चचि. २७.१९)
चिकित्सा–अवस्थाविशेषेण यद्यप्याढ्यवाते स्नेहः प्रतिषिद्धस्तथापि यदा कफमेदसोर्भूयस्त्वेन परिक्षयः स्यात्तदा स्नेहादिकं कर्म विधीयते (सुचि. ५.३९)

ऊरुस्तम्भचिकित्सित–पु., अध्याय०, (चचि. २७.१

ऊर्ज–पु.,कार्तिकमासः (चसि. ६.५)
इषोर्जौ शरत् (सुसू. ६.६)
''शरदूर्जसहौ पुनः'' (चसि.६.५)

ऊर्जस्–न., बल० उत्साहः (चचि. १.४)

–कर–वि., बलाधायकम् (चचि. १.४)

–करभेषज–(परिव०) न., औषध०, ऊर्जः प्रशस्तभावस्तत्करं साधनमर्थात्स्वस्थत्वेन व्यवहियमाणस्य पुंसो जरादिस्वाभाविकव्याधिहरं तथाऽप्रहर्षव्यवायक्षयितालप्यशुक्रत्वाद्यप्रशस्तशारीरभावहरम् (चक्र. चचि. १.४)

ऊर्जा–स्त्री., उत्साहः यथा 'स्नानमूर्जाबलप्रदम्', (अहसू. २.१६) मनसः प्रहर्षः, 'यथा अनुपानं करोत्यूर्जाम्,' (अहसू. ८.५२) प्राणनं, प्रीणनं वा (अहसू. १२.६)

ऊर्ण–र्णा–न., स्त्री., मेषः, मेषा (चवि. ७.१३)

–नाभि–पु., कीट० लूता (र. २७.१६)

ऊर्णांशु–पु., मेषलोम (चक्र. चवि. ७.१३)

ऊर्ध्व–वि., श्रेष्ठम्, उपरितनम् (असंशा. ६.७)

–कण्टका–स्त्री., शतावरी (रा. १.२९१)

–कण्टा–कण्टिका–स्त्री., महाशतावरी (ध. २.२९३ रा. ४.४४२)

–काय–पु., कायस्य ऊर्ध्वभागः (सुचि. ३.५४)

–ग–पु., उदानः (चचि. २८.२०९)

–गम–वि., ऊर्ध्वं गच्छतीति (अहसू. ९.११)

–गुद–पु., मुखरोग० अर्शोगुल्मकफादिभिः अधः प्रतिहतो वायुर्वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन् ऊर्ध्वं याति, स रोगो नामा ऊर्ध्वगुदः (असंउ. २५. पृ. १८२)

–जत्रुग–गत–वि., जत्रुग्रीवामूलं तस्योर्ध्वभागगतम् (सुनि. १.१४., सुसू. ४६.४३८.)

–जत्रुगद–पु., ऊर्ध्वजत्रुगतो रोगः (अहसू. ८.५३)

–जत्रुज–वि., जत्रुण ऊर्ध्वं जातः (चसू. ५.३२)

–जत्रूत्थ–वि., ऊर्ध्वजत्रुभागो नाम शिरोग्रीवम्, तत्र जायमानो रोगः (चचि. २६.१३३)
द्र० 'ऊर्ध्वजत्रुज.'

–जानु–वि., यो जङ्घे संकोच्य उत्तानश्शिरं शेते, यश्चोर्ध्वं तिष्ठति सः "नोर्ध्वजानुश्शिरं तिष्ठेत् इति चिरकालमूर्ध्वजानुस्थितिं निषेधति"
(अहसू. २.३७)

–पातन–न., पारदसंस्कार०, पातनप्रकारः "ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वभाजने। नागवंगौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः॥" (र. ११.३४)
अग्निसंयोगाद्घटसंपुटाधःस्थपारदस्योपरितनघटे आहरणम्। पारदसंस्कारो यत्र चतुर्थांशेन ताम्रेण सह मर्दितं पारदं स्वापयित्वा नागवङ्गविनाशार्थं घटसंपुटे स्थापयित्वाऽग्निनोर्ध्वघटे समाकर्षणं कुर्वन्ति। (र. ११.३४)

–पाद–वि., ऊर्ध्वगाः पादा यस्य सः
(असंशा. १२.१३)

–भक्तिक–वि., भुक्तस्यानन्तरं यत्सेव्यते तत्
(चचि. १८.३४)

–भाग–वि., ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजते इति, "दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्।"
(चक. १.४)

–भागिक–वि., वमनद्रव्य० (डसुचि. ३४.६)

–भाज्–वि., ऊर्ध्वं भजते इति ऊर्ध्वभाज्
(चसू. २६.४१)

–मारुत–पु., रोग० ऊर्ध्ववातः (सुचि. १.१३)

–राजी–स्त्री., उपरिभागे रेखा (अहसू. ७.६)

–रोग–पु., जत्रूर्ध्वरोगः (अहसू. १८.३)

–वह–वि., ऊर्ध्वं वहति इति, यथोर्ध्वगामि स्रोतः
(चसि. २.२१)

–वात–पु., श्वासः (चचि. २२.४० चक्र)
वातरोग० अधःप्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वोद्गारबाहुल्यं करोति स ऊर्ध्ववातः (मानि.)

–वायु–पु., ऊर्ध्ववातः (अहसू. ४.३)
द्र० 'ऊर्ध्ववात'

–व्यञ्जन–न., ऊर्ध्वचिन्हं ऊर्ध्वरेखात्रयरूपलक्षणाभिव्यक्तिः (चशा. ८.५१)

शिरस्–वि., ऊर्ध्वं शिरः यस्य सः (चशा. ६.२२)

–श्वास–पु., श्वासरोग० (सुसू. ३८.५)

–स्रोतस्–न., शरीरस्योर्ध्वभागे वर्तमानं स्रोतः
(चचि. १८.६)

–हर–वि., वमनम् (चचि. १२.१७)

ऊर्ध्वाग्र–वि., ऊर्ध्वमुखम् (चइं. ७.२७)

ऊर्ध्वाङ्ग–न., शारीर० ऊर्ध्वजत्रुभागः, शिरः
(अहसू. १.५)
आयुर्वेदतन्त्र०, आयुर्वेदस्याष्टाऽङ्गेष्वेकम्, शालाक्यतन्त्रम्, 'यत्रोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां नेत्रकर्णघ्राणादिसंश्रितानामाश्योतनशलाकादिनोपशमोवर्ण्यते, तदूर्ध्वचिकित्सानामाऽङ्गम्
(अरु; अहसू. १.५)

ऊर्ध्वानिल–पु., वातरोग०, ऊर्ध्ववातः (अहसू. २१.३)

ऊर्ध्वानुलोमिक–वि., ऊर्ध्वहरं अनुलोमहरं च वमनविरेचनद्विविधकर्मकरम् (चसू. २६.६९)

ऊर्ध्वाभिघातिन्–वि., ऊर्ध्वजत्रूत्थरोगी (सुशा. १०.९)

ऊर्ध्वास्रपित्ति–वि., ऊर्ध्वगरक्तपित्तवान् (सुचि. ३३.१५)

ऊर्मिका–स्त्री., मुद्रिका (र. ५.२३९)

ऊर्वस्थि–न., अस्थि० ऊरौ स्थितमस्थि (सुशा. ५.१९)

ऊर्वस्थिनिर्गमन–न., संधिविश्लेष० ऊरुसन्धिविश्लेषः
(सुचि. ३.२७)

ऊर्वी–स्त्री., ऊरुः ऊरुः संबन्धि वा (सुशा. ७.२२)

–सिरा–परिव० स्त्री., उर्वीमर्मातिसान्निध्यादेकस्मिन् सक्थि ऊर्वी संज्ञे द्वे सिरे (सुशा. ७.२२)

ऊष (र) पु., ज्वर० भूमेः ज्वरः, ऊष्मा
(असंनि. १.५)

ऊषक–पु., क्षारमृत्तिका, वाराणसीसमीपे बडहरदेशे बाहुल्येन लभ्यते (सुसू. ३८.३७)

ऊषकादिगण–पु., "उषकसैंधवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गुनि चेति। ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविश्लेषणः। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः॥" (सुसू. ३७.३८) अस्मिन् गणे अष्टाङ्गसंग्रहे तुत्थकमधिकम्
(असंसू. १६.१७) (अहसू. १५.२३)

ऊषक्षार–पु., ऊषरभूमिजातः क्षार०, गुणाः–उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी बलापहश्च (सुसू. ४६.३२४)

–सूत–वि., ऊषरजातं लवणं, गुणाः–कटुकं छेदि उपयुक्तं सत्कटु (सुसू. ४६.३२१)

ऊषण–पु., रस० कटुकः यथा मरीचादीनाम् "रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः"।
(अहसू. १.१४)
न., वनस्पति०=मरिचम् (चचि. १५.१११)
पिप्पलीमूलम् (ध. २.७५)

(ऊषणा)–स्त्री., पिप्पली (ध. २.७३)

ऊषर–वि., लवण–क्षाररसप्रधाना मृत्तिका (चचि. १६.१७; चवि. १.१८)
–**देश**–पु., दग्धमृदिव प्रदेशः, तत्रस्थं जलं लवणरसयुक्तं भवति (असंसू. ६.९) लवणयुक्ता भूमिः (चक. १.९)
–**प्रसूत**–न., ऊषरदेशजम्,=औषरकम्, साम्भारलवणम् (सुसू. ४२.११)

ऊषा–स्त्री., रोगलक्षण० प्रादेशिको दाहः, अग्निना दह्यमानस्यैव दुःखं दाहः, क्षारेणेवोषा (हे अहसू. ७.१९) पित्तजहृद्रोगलक्षणेष्वेकम् (सुउ. ४३.७) क्षारमृत्तिका, वस्त्रधावनार्थे उपयुक्ता (असंसू. २७)

ऊषायण–न., दाह०, ओषः पित्तगुल्मे लक्षणम्, (काचि०) गुल्मचिकित्सा १२ (पृ. १२२)

ऊष्मन्–पु., अग्निः, उष्णत्वं (चशा. ६.१५)
पाचकवन्हिः (चनि. १.२०)
आहारपरिणामकरभाव० तस्य कर्म पचनम् (चशा. ६.१५)
पित्तम् (सुशा. ३.१८) औष्ण्यं, शरीरस्थपित्तस्य कार्यम् (सुसू. १५.२)

(ऊष्म)–स्वेद–पु., स्वेद०, बाष्पस्वेदः, विधि :–ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोह-पिण्डानग्निवर्णानग्निरासिञ्चेदम्लद्रव्यैर्वा, तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत् मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्काथपूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्। पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाऽधोमुखेन तस्या मुखमभिसंधाय तस्मिंश्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं रोगिणं स्वेदयेत्। (सुचि. ३२.५)

ऊष्माधिक्य–न., ऊष्मणः आधिक्यम्, चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

ऊष्मान्त–पु., वर्णाक्षरवर्ग० श ष स हा इति (चशा. ८.५०)

ऊष्माभितप्त–वि., ऊष्मणा संतप्तः, यथाऽग्न्यातपादिना (सुनि. ५.३)

ऊष्मायण–न., औष्ण्यम्, कुष्ठस्य पूर्वरूपम् (चनि. ५.७;) पित्तोदरस्येकं रूपम् (चचि. १३.२८)

ऊह–पु., आलोचनज्ञानं निर्विकल्पकम्, मनस एवं कर्म। "इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥" (चशा. १.२१)
अश्रुतस्य परिकल्पना (सुचि. ५.२९)

ऊहापोह–पु., चर्चा; विचारः, त्याज्यात्याज्य० विवेचनम् (चवि. ८.१४९)

ऊह्य–न.. तन्त्रयुक्ति० मनोविषयाणामेकः, यत्संभावनयोह्यते 'एवमेतद्भविष्यति' इति। (चशा.१.२०;)
'यदनिर्दिष्टं बुद्ध्याऽवगम्यते तदूह्यम्। (सुउ. ६५.४०)
"यथापरिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्।" (चसि. १२.४४)

ऋ

ऋक्ष–पु.. न., नक्षत्रम्, यथाऽऽर्द्रादीनि नक्षत्राणि (सुसू. २९.३–४)
मृग० नीलाण्डः, रोरुरिति प्रसिद्धः, जङ्गालमृगेष्वेकः (सुसू. ४६.५४)
वन्यपशु० भल्लूकः, अतिलोमशो गुहाशयः पशुः (चसू. २७.३५ सुसू. ४६.७२) स मर्कटसदृशलोमशः (हे० अहसू. ६.४८) तस्य चर्म घृतेन सह धूपार्थमुपयुज्यते (असंउ. ४) चर्मरोमाणि चास्य ग्रह–चिकित्सायां धूपनार्थमुपयुज्यंते (सुउ. ६०.३८) तस्य पित्तेन सिद्धं तैलमपस्मारे पानाभ्यङ्गार्थं प्रशस्तम्। (सुउ. ६१.२४) मांसमस्य यक्ष्मणे उपयुक्तम् (चचि. ८.१५३) वसा तिमिररोगे मधुयुक्ताऽञ्जनार्थमुपयुज्यते। (असंउ. १६ पृ. १२०)
ऋक्षदंशेन विषबाधा भवति। (सुक. ७.४२)
ऋक्षविषलक्षणम्—व्यालविषवत् कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमादयो भवन्ति। (असंउ. ४६ पृ. ३७६)
–**जिह्व**–न., पित्तजकुष्ठ०, ऋष्यजिह्वम् (सुनि. ५.७)
–**पित्त**–न., भल्लूकपित्तम्, एतत्सिद्धं तैलम् अपस्मारे पानाभ्यंगेषु प्रशस्तम् (सुउ. ६१.२४)
विषहरम् (असंसू. ८.२९)
–**प्रिय**–पु., वनस्पति०=ऋषभ (रा. ५.१५८)
–**मुख**–वि., स्वस्तिकयन्त्र० ऋक्षमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)

ऋक्षार्हा–स्त्री., वनस्पति०=महामेदा (रा. ५.१६४)

ऋच्–स्त्री., मन्त्र०, यथा पशुपतेः ऋक्, शिवस्तवार्थं कृतो मन्त्रविशेषः, पाशुपत्यऋचः (चचि.२.१८)

(ऋग्)–वेद–पु., चतुर्णां वेदानामेकः (चसू. ३०.२०)

ऋचीक–पु., ऋषि०, जीवकस्य पिता (काकसंहिताकल्प २० पृ. २२६)

ऋजीष–न., सोमकल्प० नीरसं सोमलताचूर्णम् (काक–रेवतीक० ४ पृ. १८८)

ऋजु–वि., सरलम् (सुचि. २४.४)
प्राञ्जलम् (सुसू. १४.२६)
पु., रोग० भगन्दर० (असंउ. ३३ पृ. २४८)
वनस्पति०=माडः (ध. ५.७०)

–ग्रन्थि–स्त्री., सीवनप्रकारेष्वेकः ऋजुग्रन्थिसदृशो बन्धो यस्यां सेवन्यां सा (सुसू. २५.२२)

–वेध–पु., अवक्रव्यधः (सुचि. १८.२६)

–सर्प–पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४)

ऋजूकरण–न., वक्रस्य सरलीकरणम् यथा शल्यस्य गर्भस्य वा (सु.७.१७) (सुचि. १५.३)

ऋतु–पु., काल० (चसू. ६.३)
कालपर्यायः (सुचि. ३.८)
शाल्यादीनामंकुरोत्पत्त्यनुकूलकालः (सुशा.२.३३)
द्विमासात्मकः कालविभागः
'द्विमासिकमृतुं कृत्वा षडर्तवो भवन्ति' (सुसू. ६.६) ते च "शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमाः' (अहसू० ३.१)
स्त्रीणामार्तवकालः (चनि. ३.१३)
(सुशा. २.२५;) तस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिवयः प्रायो द्वादशवर्षादूर्ध्वं प्रवर्तते पञ्चाशतः क्षयं याति (अहशा. १.७)
स्रावानुबन्धकालः–प्रायस्तत्स्रावक्षयहं वहति (अहशा. १.७)
तदीषत्कृष्णं विगन्धं च (अहशा. १.२३)
गर्भग्रहणयोग्यकालः (सुशा. ३.९)
स्त्रीणामपत्यफलप्रदः कालः (सुशा. ३.६)
'आर्तवस्रावदिवसाद्दतुः षोडशरात्रयः । गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भाप्रगर्भप्रकरण २)
स्त्रीणां गर्भग्रहणयोग्योऽवस्थाविशेषः ऋतुर्बीजकालः (काशा जातीसूत्रीय ५ पृ. ८०) 'ऋतुर्द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः' । यद्दतुः षोडशरात्रस्तास्वाद्यं स्रावदिनत्रयमन्तिमं योनिसंकोचदिनं न गणनीयम्' । (सुशा. ३.६)
'शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि इति केचित्,' (असंशा. १.४०) तत्र विशेषः ब्राह्मणीनामृतुर्द्वादशाहमेकादशाहं क्षत्रियाणां दशाहं वैश्यानां नवरात्रमितरासाम् (काशा जातीसूत्रीय ५.८०); 'घृतक्षीरादिनित्यासु मुदितासु कफात्मसु आर्तवं तिष्ठति चिरम्' (असंशा. १.६७) ऋतुर्व्यतीतः ऋत्वतः, ऋतौ व्यतीते नार्या योनिर्गर्भाशयः संव्रियते संकोचं याति (सुशा. ३.९)

–चर्य, चर्या–पु., स्त्री., ऋतवः षट्, तेषु चर्या चरणं, वर्तनम्, 'उभयलोकहितमाहारविहारचेष्टितमिति यावत् (अहसू. ३.१) ऋतावृतौ चर्या ऋतोर्वा चर्या, "ऋतुचर्या हि शीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया" (असंसू. ९)

–चर्याध्याय–पु., अध्याय० (सुसू. ६.१)

–ज–वि., ऋतौ जातः, यथा ऋतुकृतः रोगः (चशा. २.४५)

–पर्यय–ऋतुविपर्ययः, ऋतुविरुद्धः, यथा ऋतुचर्यामतिक्रम्याहारविहारस्वप्नादीनां सेवनादीनि (सूउ. ३९.२०)

–प्रकृति–स्त्री., ऋतोर्वातादिदोषकृतस्वभावः यथा ऋतोर्वसन्तस्य कफप्रकृतिः वर्षाया वातप्रकृतिः शरदः पित्तप्रकृतिः (काखि. २.४७)

–प्रवर्तनी–वि., स्त्रीणां मासिकस्रावप्रवर्तनकरी यथा शतपुष्पा (काकशतपुष्पा ५–६ पृ. १८५.)

ऋतुमती–स्त्री., रजस्वला, रजसाभिप्लुता नारी (सुशा. २.३१) ऋतुकालयुक्ता (चशा. ४.७) गर्भग्रहणयोग्या (सुशा. ३.७-८) व्याख्या–"गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे । (चशा. ४.७)
लक्षणम्–पीनप्रसन्नवदना प्रक्लिन्नात्तमुखदन्ता नरकामा प्रियकथा स्वस्तकुक्ष्यक्षिकेशा स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिक्हृषौत्सुक्यपरा च (सुशा. ३.७.८) ऋतुकाले गर्भाशयस्य मुखं विवृतं भवति, तच्च वायोः क्रियावतः कालसहायस्यायत्तम्, 'विवृताविवृतमुखत्वं हि योनेर्गर्भग्रहणाऽग्रहणहेतुः' । (अहशा. १.२२) 'ऋतावतीते योनिः सा शुक्रं नांतः प्रतीच्छति' । (अहशा. १.२२)

–वैकारिक–वि., ऋतुविकाराय हेतुभूतः (चवि. ३.४)

–व्यापत्ति–स्त्री., ऋतुविपर्ययः, स संनिपातादिज्वरनिदानम् (चनि. १.२८)

–संधि–पु., शिशिरवसन्तयोर्ग्रीष्मप्रावृषोरित्यादिकयोरन्त्यश्चादिश्च यौ सप्ताहौ तावृतुसन्धिरिति स्मृतौ । पूर्वस्यर्तोरन्त्यः सप्ताहः उत्तरस्य चाद्यः सप्ताह एवं चतुर्दशाहादृतुसन्धिः । तस्मिन्नृतुसन्धौ

पूर्वर्तुसंबन्धी विधिः क्रमात् त्याज्यः। उत्तरर्तुसंबन्धी क्रमात्सेव्यः सहसा हि परित्यागशीलनक्रियमाणेऽसात्म्यजा रोगाः स्युः। (हे० अहसु. ३.५८)

–सात्म्य–न., ऋतौ यदुपशेते तत् (चसू. ६.३) ऋत्वभिहितान्नपानादि (सुसू. ३५.३९)

–सुख–वि., यत्र यद्योग्यं सुखावहं वा तदनुसारेणेत्यर्थः यथोष्णकाले शीतस्पर्शं शीतकाले उष्ण स्पर्शम्। (चचि. ८.१७९)

(–सुखा)–वि., सर्वेषु ऋतुषु यत्र सुखं भवति तत्स्थानम् यथा कुटी (चचि. १.१९)

ऋतुस्नाता–स्त्री., ऋतुकालजातैवस्रवणादनन्तरं चतुर्थेऽहनि स्नाता (सुशा. २.४८) तत्रपरिचर्या–'पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः॥ (सुशा. २.२६) ऋतुमतीपरिचर्या–'ऋतौ प्रथमदिवसात्प्रभृति ब्रह्मचारिणी स्यात्, दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान्परिहरेत् (सुशा. २.२५)

ऋद्धि–स्त्री., कन्द० गौडदेशेप्रसिद्धः लताकन्द० (सुसू. ३८.३५) 'ऋद्धिर्वृद्धिश्च कन्दौ द्वौ भवतः कोशयामले। श्वेतरोमान्वितः कन्दो लता जातः सरन्ध्रकः॥ तूलग्रन्थिसमा ऋद्धिर्वामाऽवर्ता फला च सा। वृद्धिस्तु दक्षिणाऽवर्तफला प्रोक्ता महर्षिभिः॥ (रा. ५.१८९-९०)

सा वृद्धिसहितोपयुज्यते चिकित्सायाम् (सुचि. ३७.१३)

गुणाः–मधुरा, तिक्ता, शीता, सुस्निग्धा, रुचिमेधाकरी, कफवर्धनी, शुक्रवर्धनी (ध. १.१४५) बल्या (भाप्र.) वातपित्तकफघ्नी, क्षयरक्तदोषज्वरघ्नी, (ध.) कुष्ठ कृमिघ्नी, (रा.) मूर्च्छाघ्नी (भाप्र.)

ऋद्ध्यभावे वाराहीकन्दो योज्यः, "मेदाजीवककाकोलीऋद्धिद्वन्द्वेऽपिवाऽसति। वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत्॥ (भाप्र. मिश्रप्र. ६.१५६)

ऋषभ–क–पु., पशु०, बलीवर्दः, वृषभः (सुचि.२६.७) आर्षभचर्म–बलीवर्दचर्म, प्रसवकाले प्रजायिन्या मृदुशयनोपरिप्रच्छादनार्थमुपयुक्तम् (असंशा. ३.१२)

अगद० सर्पविषे उपयुक्तः (सुक. ५.६८–७३)

कन्द०, वृषशृङ्गसदृशः (सुसू. ३८.४–५)

वृषभः, कूर्चशीर्षकः (सुचि. १७.१०)

अष्टवर्गान्तर्गतद्रव्येष्वेकम् (सुसू. ३८.३५–३६; चसू. ३.२२)

शुक्रजननगणेष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२) (१९)

जीवनीयवर्गे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.९ (१)

रक्ताऽनिलार्तिहरप्रदेहे (चसू. ३.२२)

गुणाः–स्वादुः शीतो गर्भसंधानकारको बल्यः शुक्रकफवर्धनो वातपित्तघ्नो रक्तपित्तक्षयदाहज्वरादिरोगघ्नः कार्श्यघ्नः ऋषभाभावे विदारिकन्दोयोज्यः (ध. १.१२५) (भाप्र. मिश्रप्र. ६.१५६)

–द्विप–पु., न., कुरुक्षेत्रात् पूर्वो देश० (काखि. २५.८.)

ऋषभक–पु., वनस्पति० ऋषभः (चसू. ४.९)

ऋषभी–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (सुसू. ३८. ४–५)

ऋषि–पु., तपस्वी, मुनिः (चनि. ७.१०)

रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुना शास्त्रप्रणयने आधारत्वेन गृहीतानां तन्त्रकृतामेकस्तन्त्रकर्ता (र. १.५–९)

भूताधिपति० (असंउ ७ ५९)

वनस्पति०–दमनः (ध. ३.६६)

–पुत्रक–पु., दमनः (ध. ३.६४)

–ऋषद्धय–पु., आयुर्वेदज्ञो ऋषि०, रोगभेदे तस्य मतम् 'षड्रोगाः षड्रसत्वादन्नपानस्येति' (कासू. २७.३)

–श्रेष्ठा–स्त्री., वनस्पति०–ऋद्धि (ध. १.१४५)

–सत्त्व–वि., सात्विक प्रकृतिभेदः, सात्विककाय० यस्मिन्मनुष्ये जप–व्रत–ब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेवित्वं विज्ञानज्ञानसंपन्नत्वमित्येवमादयो गुणा दृश्यन्ते सऋषि-कायो ज्ञेयः (सुशा. ४.८७)

–स्रष्टा–स्त्री., वनस्पति–ऋद्धि (ध. १.१४५)

ऋष्य–पु., जाङ्गलमृग० खरजिव्हो हरिणभेदः, नीलाण्डो हरिणः (चसू. २७.४६. सुनि. ५.७)

अस्य पित्तं ग्रहचिकित्सायामुपयुज्यते (सुउ. ६०.४०) ऋष्यचर्ममसी श्वासहरलेहे उपयुक्ता (सुउ. ५१.३८)

–गन्धा–स्त्री., वनस्पति०, बृंहणीयवर्गे एकं द्रव्यम्, (चसू. ४.९. (२) मधुरस्कन्धे द्रव्य० (चवि. ८.१३९)

–जिव्ह– न., महाकुष्ठ०, सप्तकुष्ठभेदेष्वेकः "ऋष्यजिह्वाकृतिप्रोक्तमृष्यजिह्वम्" (असंनि. १४)

–प्रोक्ता–स्त्री., वनस्पति०–अतिबला (चचि २९.७२)

माषपर्णी (चसू. ४.१०)
ऋद्धिः (चचि. ३.२५८)
शतावरी (ध. १.२९१)
कपिकच्छुः (असंसू. १५.१२)

ए

एक–वि., संख्या० (चसू. १९.३)
समानम् (असंसू. ९.९४)
प्रधानम् (अहसू. १२.३२)
–कारण–न., प्रधानकारणम् (अहसू. १२.३२)
–काल–अ., एकवारम् (सुउ. ६४.३२)
समानकालत्वम् (असंशा. २)
–कालिक–वि., एकवारं प्रयुज्यमानम् (सुउ. ६४.५६)
–कुष्ठ–न., क्षुद्रकुष्ठ०, वातकफाऽधिकं कुष्ठम् (चचि. ७.२९.) लक्षणम्–अस्वेदनं महावास्तु मत्स्यशकलोपमम् (चचि. ७.२१)
–कोलीसक–पु., कोष्ठिकायां संस्थापितायाः मूषिकाया उपरि शिखरवदापूर्णभरिता आध्मानेन च मूषाकण्ठोपरितनभागपर्यन्तमागताः कोकिलाः (र. ८.३५)
–ताल–न., यत्र० कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् तालं नाम प्रदेशः, एकं तालं एकः प्रदेशो यस्य तत्, एतेन मत्स्यशकलवत् प्रतनुमुखैकप्रदेशमेकतालम् तत्प्रमाणं द्वादशाङ्गुलानि (सुसू. ७.१२)
–त्व–न., एकी भावः, संमूर्च्छनम् (सुनि. ६.४)
–देश–एक भागः (असंसू. ७.२१०)
–देशप्रकोपण–न., दोषाणां स्ववैगुण्याद् दोषः खेषु सज्जमानस्तत्र विकृतिं जनयति । एवं तत्तद्देशे दोषप्रकोपणं भवति (चचि. १५.३७-३८)
–दंष्ट्र–पु., सविषप्राणि० तेन दष्टेन शोफो रुक् पीतत्वं तृष्णा च जायते (चचि. २३.१५४)
–द्वार–वि., एकमुखः, यथाबस्तिः (असंशा. ७.९)
–नाडिका-स्त्री., एक घटिका (असंसू. ८.५६)
–नाभिक–पु., एकनाभिनाडिकः, यमगर्भयोरेका पोषिका गर्भनाभिनाडी अपरासंबद्धा प्रथमत एकैव, तयोर्विशेषः–'तुल्यं मरणजीवितम्' (का० रेवतीकल्प ॥ ५८ ॥)
–नाभिप्रभव–वि., गर्भावस्थायां ययोः पोषिका नाडी एकैव तावेकनाभिप्रभवौ यमगर्भौ, तयोरेक एकनाभिप्रभवः (का० रेवतीकल्प ॥ ५६ ॥)
–पक्ष–पु., देहस्यार्धभागः, दक्षिणो वामो वा (चचि. २८.५३) अन्यतरपक्षः (असंनि. १५.४१)
–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति०=गन्धपलाशः (रा. ६.८९)
–पशु–पु., श्रेष्ठपशुः (चइं. १२.७३)
–माता–स्त्री., वनस्पति० इयं विषहरा (असंउ. ४०)
–मार्ग–पु., एक एव मार्गो यस्य सः, यथा एकमार्गाश्रयो व्याधिः (अहसू. १.३१)
–योनि–स्त्री., एक कारणम् (अहसू. ६.४२)
–रससात्म्य–न., एक एव रसो यस्योपशेते सः, एकरससात्म्यस्य पंचरसा असात्म्या भवन्ति (चवि. ८.११८)
–रसाभ्यास–पु., एकरसस्य सततं नियमेन सेवनम्। दौर्बल्यकराणां श्रेष्ठमेतत् (चसू. २५.४०); 'एक रसाभ्यासो दौर्बल्यारोचकान्यतमदोषप्रकोपकराणां श्रेष्ठः (असंसू. १३)
–रूप–न., एकं लक्षणम् (अहसू. २४.२२)
–वीर–पु., वनस्पति० कटुकः उष्णस्तोद–गृध्रसी–कटिपृष्ठादिशूलपक्षाभिघातनुत् वातघ्नश्च (रा. परि. ८.८)
–वृन्द–पु., कण्ठगतरोग० लक्षणम्–कफरक्तजो वृत्तोन्नतो यः श्वयथुर्मन्ददाहः कण्डूयुतोऽपाक्यगुरुमृदुश्वासौ व्याधिर्नाम्नैकवृन्दः (सुनि. १६.५५) एकवृन्दो गलपार्श्वगो रोग इत्युक्तम्(असंउ. २५) चिकित्सा–एकवृन्दं जलौकादिभिर्विस्राव्य शोणितावसेचनं कृत्वा शिरोविरेचन–धूमलेपन क्षारादिभिः तत्र शोधनं करणीयम् (सुचि. २२.६६)
–शफ–पु., एको द्विविधाऽभिन्नः शफः खुरो यस्य सः यथा अश्वादिः (चसू. २७.२२१)
–(शफा)–स्त्री., वडवादिः (असंशा. १२) एकशफाक्षीरस्य गुणाः–अश्वतरीखरीमृगीखड्गिनीनां दुग्धं रसेन मधुराम्लं, लवणानुरसं, वीर्येणोष्णं, रूक्षं, लघु, बल्यं विशेषतः शाखागतवातहरं च (सुसू. ४५.५६-५७) स्थैर्यकरम् (चसू. २७.२२१) घृतगुणाः–कषायमुष्णवीर्यं पाके लघु कफनाशनं दीपनं बद्धमूत्रं च (सुसू. ४५.१०२) विड्बन्धकरम् (ध. ६.१७४) मांसगुणाः–सलवणं, मेषमांसवद् गुणेन (सुसू. ४६.९०) वसा–जाङ्गलानामेकशफानां वसा, पित्तगुल्मेऽनुवासनार्थं हिता (सुउ. ४२.२३) लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नी (सुसू. ४५.१०)

-सक्थिप्रतिपन्न-पु., मूढगर्भ०, एकेन सक्थ्ना योनिमुखमागतः । सुश्रुते मूढगर्भप्रकारेष्वयं द्वितीयः मूढगर्भः (सुचि. १५.९)

-सरगम-पु., विषापहो गण०, (सुक. ५.८४-८६)

एकतोमुख न., नाडीयन्त्र०, तत्स्रोतोगत शल्योद्धरणार्थं रोगदर्शनार्थमाचूषणार्थं क्रियासौकर्यार्थं च यथा रक्ताहरणार्थमलाबुभगन्दराशोंयन्त्रादीनि (सुसू. ७.१३)

एकाख्य-न., कुष्ठरोग०, 'एकाख्यं महाश्रयम्' अस्वेदं मत्स्यशकलसन्निभम् (असंनि. १४.२२) द्र. 'एक कुष्ठ.'

एकाङ्ग-न., शरीराङ्गानामेकम् (मानि वात ४) पु., वातरोग०, पक्षवधः (र. २१.१६४)

एकाङ्गक-पु., एकाङ्ग वातरोग०, रेवतीरोषसंभूतः (का० बलिग्रहचि. (पृ. १००)

एकाङ्गगवात-पु., शरीरप्रत्यङ्गानाम् अन्यतमाङ्गगतो विकृतो वातः (सुचि. ४.११)

एकाङ्गरोग-पु., वातरोग अशीतिर्वातविकारेष्वेकः एकाङ्गव्यापकः, यथा ज्वरादिषुशीतत्वादीनाम्, कदाचिदेकव्यापकत्वम् (चसू. २०.११) पक्ष वधः, गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायुर्विशोष्य च।.....एकाङ्ग रोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः॥ (असंनि. १५.४२)

एकाङ्ग-वात-पु., रोग० शरीरस्यान्यतरभागे तोदः कृशता पुनः पुनश्चलनं शीतस्पर्शश्चेति वर्तन्तेऽस्मिन्-लक्षणानि (र. २१.६७)

एकाङ्ग-विकार-पु., एकाङ्ग रोग०, एकस्मिन्नङ्गे य उत्पद्यते सः (ड) सुसू. १४.३०)

एकाङ्ग-संश्रित-वि., एकस्मिन्नङ्ग एवाश्रितः रोगादिः (चचि. २८.१९)

एकाधिष्ठानीय-पु., एकस्मिन्नधिकरणे स्थितः । समानाधिकरणः (चवि. ६.१०)

एकान्त-पु., तन्त्रयुक्ति० सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः, यथा त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वाम-यति एव (सुउ. ६५.२३) अतिशयः (सुउ. ३९.१००)

एकान्तग्रहण-न., एकपक्षाश्रयित्वम् (चवि. ३.३६)

एकान्तग्राहिन्-वि., एकस्यैव पक्षस्य दुराग्रहेण ग्रहणं करोति इति (चवि. ८.१७)

एकान्तनियम-पु., निश्चितनियमः (असंसू. ७.२१२)

एकान्ततः-अ., निश्चयेन (सुशा. ३.१६)

एकान्तर-वि., एकमन्तरीकृत्य भवति तत् (असंसू. ९)

एकान्तरीकृत-वि., एकमन्तरीकृत्य यत्कृतं तत् (अहसू. ७.४८)

एकायाम-पु., वातरोग० अर्दितम् (असंनि१५.३९)

एकावर्त-वि., एकाऽऽवर्ताकाराज्वाला यस्य सोऽग्निः । सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः । स्फुटतिच सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात् । (चचि. २३.१०८.१०९)

एकाशन भोजन-न., एक काल भोजनम्; तत् सुख-परिणामकराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

एकाशिन्-वि., एकाक्येवाश्नाति सः । तच्चासुरत्व-लक्षणम् (सुशा., ४.८८.८९)

एकाष्ठील-पु., वनस्पति० राजार्कः (ध. ४.१६)

(एकाष्ठीला)-स्त्री., वनस्पति०=पाठा (चसि. १०.२३)

एकेषीका (एकैषिका)-स्त्री., वनस्पति०, अंबष्ठेति (चक्रः, चचि. ३.२६७)
त्रिवृदिति जेज्जटः, एकैषीकेति जेज्जटपाठः (चचि. ३.२६७)
शतावरी (सुचि. १७.१४)
शुक्लमूला, त्रिवृत् (सुसू. ७.६)
मांसी (इन्दुः), (सुसू. ४५.१२६)
महादूर्वा (इं, असंउ. २६)
मयूरशिखा इं, (असंउ. ६ पृ. ५२)
बकपुष्पवृक्षः (असंचि. १४.)

एकैषिकातैल-न., तैल०, गुणाः---मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माऽभिवर्धनं च (सुसू. ४५.१२६)

एडक-पु., मेषः (चइं. १.१४)
अरण्यच्छागलः (चक्र० चइं. १.१४)

(एडका)-स्त्री., तृष०=मुस्ता एरका (सुचि. ७.२४)

एडगज-पु., वनस्पति=चक्रमर्दः (ध. ४.४)

एण-पु., जाङ्गल पशु० (चसू. २७. ४६)
जङ्घालवर्गीयः (चसू. ४६.५५)
कृष्णहरिणः (सुसू. ४६.३३३)
गुणाः---'कषायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा संग्राही रोचनो बल्यो ज्वरापहश्च (सुसू. ४६.५५)
'एणस्य षड्सत्वेऽपिकषायमधुरोत्कटत्वात् कषाय-मधुर इत्युक्तम् । एणस्तु प्रमेहिणामहितो बस्ति-शोधनत्वात् (डसुसू. ४६.५५)

एणादी नामसृक् रक्तधातुः—रक्तपित्तेऽतिनिः स्रुतरक्ते क्षौद्रेण पिबेत् (सुउ. ४५.२८) अतिप्रवृत्ते रुधिरे एणस्य रुधिरं दीयते (सुसू. १४. ३६) काकोल्यादिक्काथं वा शर्करामधुमधुरं पायये-देणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरंक्षीरयूष-रसैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात् (सुसू. १४.३६) एणमांसं मृगमांसानामग्र्यम् (चसु. २५.३८); तन्मधुरं मधुरपाकि त्रिदोषशमनं शिवं लघु बद्धविण्मूत्रं शीतं च (चसू. २७.७७–७८.) क्रव्यभुगेणमांसयोः ससैन्धवः पुटाह्वयः ससर्पिः समधुरस्तिमिरेहितः (सुउ. १७.३५.)

–पद–पदी–पदा–पु., स्त्री. संकीर्णलृता० स च 'उपादिके' त्युच्यते । दंशलक्षणानि दंशः पर्यन्तेषु रक्तवर्ण आकृत्या कृष्णतिलाऽऽकृतिर्दाहमोहाऽग्नि-वीसर्पतृड्भिमिश्वासकासयुक्तश्च भवति । (एणपदी) (असंउ. ४४ (पृ. ३६२); ४५. (पृ. ३७३) सोऽसाध्यः (सुक. ८.१२५)

(एणी)–स्त्री., कृष्णमृगी, हरिणी; अस्याः शक्रद्रसक्षीर-मांसरसरुधिरैर्द्राक्षाऽश्वगन्धामगधासिताभिः सिद्धं घृतं शोषघ्नम् (सुउ. ४१.४९)

–पद–पु., मण्डलीसर्प० (सुक. ४.३४ (२)

(–पदा–) वि., स्त्री., हरिणीपदा तथा (जङ्घा) (चशा. ८.५१)

(–पदी–) स्त्री., एणपदा (सुक. ८.१२५)

एनोभाक्–वि., पापभाजनम् (सुसू. २.७)

एरका–स्त्री., वनस्पति० होग्गलः, शिरोरुजायां प्रदेहे लोहैरकापद्मकचोरकैश्च (चसू. ३.२४) (चचि. २९.१३४) मुस्तातृणम् (चसू. ३.२७) गुन्द्रा (चसू. ३.२७) एडका, एडा (ड.सुचि. ७.२४)

एरण्ड–पु., वनस्पति०, क्षुपजातीयः श्वेतरक्तभेदाद्विधा (ध. १.२९५) वातशमनः (चसू. ३९. ७) अङ्गमर्दप्रशमनः (चसू. ४.१७ (४४) नाडीस्वेदे उपयुक्तः (चसू. १४.३१) स्वेदोपगः (चसू. ४.१३ (२२) एरण्डपत्रं वातजव्रणे आच्छादनार्थमुपयुक्तम् (सुचि. १.११२) एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) आस्थापनेषूपयुक्तम् (चसू. २.१२) एरण्डबीजम् एरण्डबीजमज्जा, सा विशेषेण स्नेह भूयिष्ठा, विरे-चनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.४) एरण्डबीजोद्भवस्नेहः=एरण्डतैलम् (सुसू. ४४.७५;) एरण्ड-गुणाः–तिक्तः स्वादुरुष्णो गुरुर्वृष्यो वातघ्न उदावर्त-प्लीहारोगगुल्मबस्तिशूलाश्रवृद्धिशोणितविकारघ्नः (ध. १.१२५)

हिं.—एरण्ड, सफेद एरण्ड.
म.—एरंड.
गु.—धोलो एरण्डो.
बं.—भेरेण्डा.
त.—आमणक्कु.
फा.—बेदंजीर.

–जटा–स्त्री., एरण्डमूलम् (अहसू. १७.२)

–तैल–न.,स्नेह०एरण्डबीजोद्भवः स्नेहः एरण्डतैलम् (सुसू. ४४.७५) तद्विरेचनम् 'विरेचने एरण्ड-तैलं श्रेष्ठम् (चसू.१३.१२) मधुरं कटुकषाया-नुरसमुष्णं गुरुतीक्ष्णं, मधुरपाकि, दीपनं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं बल्यमधोभागदोषहरं योनिशुक्रविशोधनं रसायनम् (सुसू. ४५.११४) कफवातहरं श्लेष्माभिवर्धनं वातरक्तगुल्महृद्रोग-जीर्णज्वरहरम् (२७.२८९) एरण्डजं तैलं यथा-दोषानुबन्धं पयोमांसरस–त्रिफला–यूष–मूत्र–मदिरादिभिः युक्तं सत् मेदः कफसंसृष्टेषु गुल्मोदर-ब्रध्नादि व्याधिषु, गृध्रस्यादि सर्ववातरोगेषु मेदः कफपित्तरक्तेन विबद्धमार्गे वाते च प्रशस्तम् (चचि. २६.२७–२८) रक्तैरण्डस्य तैलमुद-रव्याधौ अनुवासनार्थमुपयुज्यते (असंचि १७. (तप्रपृ. ९८) बस्तिपार्श्वजानूरुत्रिकपृष्ठास्थिशूला-ऽऽमवातशोफकुष्ठघ्नम् । (ध. ६.१३१) तदुप-योगाः–कषायस्वादुतिक्तैश्च योजितं पित्तघ्नम्, एरण्डतैलं कुष्ठत्रिकटुकान्वितं लिह्यात्, सुखोद-कमनु पिबेत् इत्ययं विरेचको योगः त्रिफलाक्वा-थेन त्रिगुणेन युक्तमैरण्डतैलं पीतं सुकुमारेषु विरेच-येत्, क्षीररसाभ्यामपि तद्वत् (सुसू ४४.७५)

–तैलाभ्यास–पु., एरण्डतैलस्य विधिपूर्वकं पुनः पुनरुपयोगः, 'एरण्डतैलाभ्यासो वर्ध्मगुल्माऽनिल-शूलहराणां श्रेष्ठः' (असंसू. १३)

–द्वादशक–न., क्वाथकल्प०, एरण्डफलमूलानि गोक्षुरकमूलं शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका शृगालविन्ना सहदेवा महासहा क्षुद्रसहा कोकिलाक्षकमूलम् एतेषां क्वाथो यवक्षारयुतः सर्वशूलानां प्रशमनः (सुउ. ४२.११२–११५)

-पत्रक्षार-पु., एरण्डपत्राणि दग्ध्वा कृतः क्षारः, स व्योषतैलगुडान्वितः कासहरः (चचि. १८.१७१)

-पत्रिका-स्त्री., दन्ती (रा. ६.३३९)

-फला-स्त्री., दन्ती (रा. ६.३३९)

-बस्ति-पु., बस्तिकल्प०, एरण्डमूलादिसिद्धेन द्रव्येण दीयते स बस्तिः, अयं दीपनः लेखनीयोऽस्ति जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठशूलं कफावृतं मारुतनिग्रहं च विण्मूत्रवातग्रहणं सशूलमाध्मानाश्मरीशर्कराऽनाहार्शोग्रहणीप्रदोषान् शमयेत् (चसि. ३.४२) स कफावृतो मारुतं शमयेत् (का० खिल ८.९७-१०३)

-सिद्धपयस्-न., सिद्धदुग्धकल्प०, एरण्डपल्लवे मूले त्वचि वा सिद्धमजापयः सेचनार्थमाश्रोतनार्थं च वाताभिष्यन्दे उपयुज्यते (सुउ. ९.११-१२)

-सीसक-पु., एरण्डस्य काष्ठम्, भटित्रे उपयुक्तम् (चसू. २६.८४)

एरण्डादितैल-न., सिद्धतैल० विसर्पश्वेतकुष्ठहरम् (र. २०.२-४;)

एर्वारु-क-न., वल्लीफल० (सुचि. ३१.५)

हिं.—ककडी.

म.—काकडी, वालुक, काकडी.

गु.—काकडी.

बं.—काँकड, वडकाँकड.

फा.—खियाजर्ड, खियाताजर.

ग्रीष्मकर्कटी (सुचि. १८.२९) ग्रीष्मकर्कटिका बीजानीषत्सैन्धवयुक्तानि तोयेन पिबेत्, तन्मूत्रजोदावर्तघ्नम् (सुउ. ५५.२७) एतद्बीजकल्कः ससैन्धवः सकाञ्जिको मूत्रकृच्छ्रे पेयः (सुउ. ५८.२९) एर्वारुतैलं ग्रीष्मकर्कटिकाबीजाजातं तैलम् (सुसू. ४५.१२०)

तद्वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् (असंसू. ६.१०९-१०) तन्मधुरं मूत्रविसर्जनमग्निमांद्यकरं च (सुसू. ४५.१२०) तृप्तिदम् (ध. १.१७६)

राजकर्कटी, शाकवर्गीया (चसू. २७.११०)

लोमशा कर्कटी (सुचि. ३१.५)

संपक्वस्य गुणाः—मधुरं, शीतलं, गुरु, रूक्षं, मुखप्रियं, दाहतृष्णाश्रमार्तिनुत् (चसू. २७.११०-१११) मधुरं, सक्षारं, रुच्यं कफवातकृत् नातिपित्तलम् (सुसू. ४६.२१९)

-रस-पु., कर्कटीरसः (सुसू. २२.८)

एल-न. सुगन्धिद्रव्य, एला एव (सुउ.५७.७)

एलवालु-क-न., वनस्पति०=एलावालुकं ऐलेयम् (असंसू. १२.६८)

एला-स्त्री., सुगन्धिफल०, सा सूक्ष्मस्थूलभेदाद्द्विधा (सुसू. ३८.२४) 'एला सूक्ष्मफला वरा' (भा.प्र) बीजं फलं च तस्या उपयुक्तम्, एलाद्वय एला-युग्म-(असंसू. १६) गुणाः—तिक्ता, शीता, लघ्वी, सुगन्धा, पित्तकफहरा हृद्रोगबस्तिदोषघ्नी (रा. ६.७२) बीजमस्याः वमने उपयुक्तम्। (चसू. २.७) शिरोरुजायां प्रदेहे। (चसू. ३.२४) श्वासहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६ (३७) अंगमर्दप्रशमनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७ (४४) धूमपानद्रव्ये उपयुक्तं द्रव्यम् (चसू ५. २१) व्रणसंशोधनवर्तिकल्कघृततैलेषूपयुज्यते (सुसू. ३७.१३) शीतघ्नप्रदेहे (चसू. ३.२८) कुष्ठादिरोगहरप्रदेहे (चसू. ३.५) शिराव्यधनानन्तरमप्रवृत्ते रक्ते तत्प्रवर्तनार्थमुपयुक्तद्रव्येष्वेकम् (सुसू.) १४.३५) सक्षौद्रोपदंशव्रणे लेपार्थम् (असंउ. ३९) सूक्ष्मैला शिरोविरेचने उपयुक्ता (चसू. २.४) अञ्जननामिकायां प्रतिसारणार्थम् (सुउ. १४.६) सूक्ष्मैलागुणाः—मधुरा-शीता हृद्या रोचनी दीपनी। मूत्रकृच्छ्रश्वासकासक्षयघ्नी च। (ध. २.४४)

ताम्बूलद्रव्येषु एकं द्रव्यम्। (चसू. ५.७७) अणुतैलद्रव्येषु एकं द्रव्यम्। (चसू. ५.६४) स्थूलैला (सुक. ६.१४) स्थूलैलाभद्रैलागुणाः—तिक्ता, लघुः, कफवातघ्नी, मुखशोधिनी, मस्तकशोधिनी, विष-व्रण-बस्तिकण्डुबस्तिरुजाघ्नी। (ध. २.४६)

स्थूलैला विषघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११. (१६)

-गन्धिक-न., वनस्पति०=एलावालुकम् (रा. ४.१३४)

-फल-न., वनस्पति०=एलावालुकम् (रा. ४.१३४)

-युग्म-न., वनस्पति० एलाद्वयम्, स्थूलैला सूक्ष्मैला च (असंसू. १६.३७)

एलादिगण-पु., एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुदारुकुङ्कुमानि पुन्नाग-

केशरं चेति । गुणाः–एलादिगणो वातकफघ्नः, विषघ्नः, वर्णप्रसादनः, कण्डूपिडकाकोठनाशनश्च (सुसू. ३८.२४.२५)

एलादिगुटिका–स्त्री., कल्प०, गुणाः—कास–श्वास–ज्वर–हिक्का–छर्दि–मूर्च्छा–मद–भ्रम–रक्तनिष्ठीवन–पार्श्वशूल–स्वरभेद–क्षयक्षतघ्नी, तर्पणी वृष्या च (चचि. ११.२१–२४)

एलादिघृत–न., सिद्धघृत० गुणाः–घृतमेतच्चक्षुष्यादि-बहुगुणवत्तया शोष–पाण्डु–भगन्दर–श्वास–स्वर-भेदकास–हृद्रोगेषु पथ्यं विनाऽपि गुणकारि (सुउ. ४१.५४)

एलावालुक–न., वनस्पति०, (रा. ४.१३५) कृष्णगन्धि-कटूफलसदृशम् (सुसू. ३८.१४–१५) वेदना-स्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८–४७) शुक्रशोधनगणे (चसू. ४.१२–२०) गुणाः–कषायमत्यन्तशीतम् (ध.) लघु सुगन्धि (भाप्र.) अत्युग्रम्, कुष्ठगन्धिकम् (डसुउ. ३९.१२६) कटुकं पाके (भाप्र.) रोचनम्, कफवातघ्नम्, 'विषकण्डूव्रणकुष्ठमूर्च्छौज्वरदाहघ्नम्,' 'तृट्कासा-रुचिहृद्रुक्पित्तास्रमूत्ररोगगुदकृमिघ्नम् (भाप्र.)

एलाह्व–न., वनस्पति०=एलावालुकम् (रा. ४.१३४) द्र० 'एलवालुक'

एलीयक–पु., वनस्पति० विडङ्गसमाकारं सुगन्धि द्रव्यम्, एलावालुकम्, कुमार्याः सत्वम् (र. २१.१८७)

एलेयकामृतप्राश–पु., सिद्धौषधि० अङ्गदाहशिरोदाह-रक्तपित्तशिरोरोगनेत्ररोगकम्पभ्रमान् नाशयति । (र. २१.१९८–२०४)

एल्वालु-क–वनस्पति०=एलावालुक (चचि. १५.१६५;) (रा. ४.१३३) द्र० 'एलवालुक'

एषण–न., शल्यतन्त्रे उपक्रम० (चसू. ११.५५) शलाकया गत्यवेक्षणम् (चचि. १२.९७) गतिव्रणोत्सङ्गादीनां शल्यादेर्वा गण्डूपदमुखेन शलाकायन्त्रेणान्वेषणम् (सुसू. ७.१७) श्लक्ष्ण-करीरादिनिक्षेपेण शलाकाप्रवेशेन वा व्रणस्य मार्ग-विनिश्चयः, षष्ट्युपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)

–कर्म–न., एषणम् (असंसू. ३४.१५)

एषणी–स्त्री., शलाकायत्रं० एषणार्थमन्वेषणार्थम् वा, (सुचि. ३७.११९) तस्याः प्रकाराः—तीक्ष्ण-कण्टकमुखी प्रथमयवपत्रमुखी गण्डूपदाकारमुखी इति त्रयः (सुसू. ८.११) यन्त्राध्याये पठिताया एषण्या आकृतिर्गण्डूपदमुखी, प्रमाणं तु यथायोग-परिणाहदैर्घ्यम्, शस्त्रेषु पुनरेषण्याः प्रमाणमष्टाङ्गुल-माकृतिस्तु तीक्ष्णकण्टकयवपत्रमुखी (सुसू. ८.४) एषणीमृदुकठिनभेदाद्द्विधा, मृद्वी औद्भिदैरण्डा-दिनालैः कठिना पंचलोहकृता । गम्भीरे मांसले देशे व्रणः लोहशलाकयैष्यः, जेज्जटः (चचि. २५. ८१–८२) शलाकाशस्त्र० सूचीसंस्थाना क्षाराक्तसूत्रप्रतिबद्धा नाडीनां भगन्दरगतीनां च भेदने (असंसू. ३४.३१)

एष्य–न., वि., अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम्, एषणीयं नाड्यादि (सुसू. ५.५) एष्यविषयः–नाड्यः सशल्या उन्मार्गिणश्च व्रणाः (सुसू. २५.११)

ऐ

ऐकध्य–न., एकीभावः (सुचि. २८.६) एकधाकरणम् (सुचि. ६.१५) एकत्रीकरणम् (सुउ. ५८.५४)

ऐकशफ–वि., एकशफस्येदं (अहसू. ५.२७)

ऐकाहिक–वि., रोग० विषमज्वर० अस्मिन्प्रत्यहं नियते काले ज्वर आयाति बहुधा शीतपूर्वम् (र. १२.६३) द्र० 'ज्वर'

ऐक्यकारिता–स्त्री., समानकार्यत्वम् (असंसू. १९.१४)

ऐक्षव–वि., इक्षुभवं यथा गुडादिः (सुशा. ४.४३–४४)

ऐङ्गुद–वि., इङ्गुदस्येदं, यथा काष्ठम्, तत् सूति-कागारार्थमुपयुज्यते (चशा. ८.३३)

ऐङ्गुदीसमिध्–स्त्री., इङ्गुदसमित्काष्ठम् (चशा. ८.१०)

ऐडगज–वि., एडगजसम्बन्धि (असंसू. १२.९१)

–ज–बीज–न., एडगजबीजम् (असंसू. १२.९१)

ऐणेय–वि., एणसम्बन्धि यथा चर्मादि (चसू. ६.२५)

ऐतिह्य–न., प्रमाण० आप्तोपदेशो वेदादिरागमप्रमाणम् (चवि. ८.४१) इतिहासः (चवि. ८.४१)

ऐन्दव–न., नक्षत्र० मृगशीर्षम् (असंउ. ५ पृ. ५५)

ऐन्दवी–स्त्री., वनस्पति०–बाकुची (रा. ५.२२७)

ऐन्दुक–वि., शाक० इन्दुकस्येदं, निक्षारम् इदं गुरु-विशदं शीतं समभिष्यन्दि (चसू. २७.११५)

ऐन्द्र–वि., चित्तप्रकृति० शुद्धसत्त्वस्य प्रकारः (चशा. ४.३७ (२)

पु., वनस्पति०–देवसर्षपकः (रा. परि. ९.४२)

–जल–न., मेघोदकम्, इदं त्वव्यक्तरसम्। अन्तरिक्षात्पतितं सर्वमप्यैन्द्रमेव। प्रधानमेतन्नरेंद्रपेयं च। (चसू. २७.१९६)

–तोय–न., आंतरिक्षमुदकम्, तृष्णाशमनार्थमेतत्प्रशस्तम् "अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु। तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्वुणं वाऽन्यत्॥" (चचि. २२.२५)

–रसायन–न., रसायनार्थं सिद्धौषधि० एतज्जराव्याधिप्रशमनं, परं स्मृतिमेधाकरं, वातरोगश्वित्रकुष्ठजठरगुल्मप्लीहापुराणविषमज्वरमेधास्मृतिज्ञानहररोगप्रशमनम् (चचि. १ (३) २४–२९)

–व्याधि–(परिव.) पु., इन्द्रियस्य व्याधिः, "मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते। शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः॥" (चशा. १.१२८)

ऐन्द्रियक–वि., इन्द्रियस्य इदं (चशा. १.१२८)

ऐन्द्रियकत्व–न., इन्द्रियग्राह्यत्वम् (चवि. ८.३२)

ऐन्द्री–स्त्री., वनस्पति०–इन्द्रवारुणी (चसू. ३.२७)
मत्स्याक्षकभेदः (ड. सुउ. ६२.३०)
महाकषायवर्गे बल्यगणे एकं द्रव्यं (चसू. ४.१७(७)
एला, सूक्ष्मैला (रा. ६.६८)
भद्रैला स्थूलैला (रा. ६.७०) (असंसू. १.५५८)
इन्द्राणी (असंउ. १ (पृ. ३)
एलाद्वयम् (चचि. २९.९४)

ऐरण्ड–वि., एरण्डस्येदम् (अहसू. ६.१६९)
–ज–तैल–न., ऐरण्डतैलम् (सुसू. ४८.३)

ऐरण्डाद्युत्कारिका–स्त्री. उपनाहयोग० वातार्बुदे उपयुक्ता (असंउ. ३५ (पृ. २६२)

ऐरावणी–स्त्री., वनस्पति० ऐरावतम् (असंसू. १४)

ऐरावतक–पु., न., वनस्पति० अम्लातकं नारङ्गं वा (चसू. २७.१६१)
फल०, नारङ्गम् (सुउ. १२.४२)
जम्बीरम् (सुसू. ४६.१६२)
'ऐरावणिको, ऐरवणिका कृष्णलोहिताऽल्पफला' (ड. सुसू. ४६.१९१)

ऐरावतिक–पु., नारङ्गः (ध. ५.२०)

ऐरावती–स्त्री., वनस्पति० नागबला (सुचि. ३८.८५)
वटपत्री (रा. ५.२११)

ऐरिण–न., पार्थिवद्रव्य०–उद्भिदलवणं सैन्धवम् (रा. ६.४०)

ऐर्वारु–पु., वनस्पति० कर्कटी० बालैर्वारुगुणाः–पित्तहरं शीतं च (असंसू. ७.१३५–१३६)

ऐलेय–न., वनस्पति०–एलावालुक, अरुण (अहसू. १५.२६) (र. २१.१९८)
द्र० 'एलवालुक.'
–तैल–न., सिद्धतैल०, पित्तरोगे प्रशस्यते (र. २१.१९०)
–सर्पिस्–न., सिद्धघृत० पित्तविकारनाशकं शिरोभ्रमवातादिविकारनुत् (र. २१.१८७–८८)

ऐलेयक–न., वनस्पति–एलावालुक (र. २१.१९८)
द्र० 'एलवालुक'

ऐश्वर–वि., ईश्वरकृतमीश्वरसंबन्धि वा योगप्रभावादुत्पन्नैश्वर्यकृतम् ऐश्वरं बलम्; "आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥ इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्। शुद्धसत्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥" (चशा. १.१४१)

ऐश्वर्य–न., वैभवम् (चशा. ४.३७ (३)
योगजनितसिद्धी० (चशा. ३.९)
अष्टगुणैश्वर्य–न., अष्टविधमैश्वर्यम्, 'अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता॥' एतदष्टगुणमैश्वर्यं योगलभ्यमपि सोमरसायनाल्लभ्यते (ड. सुचि. २९.१३)

ऐहिक–न., इहलोकभवम् (सुसू. १.४)

ओक–पु., अभ्यासः, औचित्यम् (चवि. १.३२)

ओकस्–न., औचित्यम्, अभ्यासः (चसू. ६.४)
स्थानम् (१३.९)
–सात्म्य–न., अभ्याससात्म्यम् (चवि. १.२२)
औचित्यादभ्यासाद्यदुपशेते (चसू. ६.४९)

ओघ–पु., समूहः (असंसू. ४)

ओं–कार–पु., 'ओम्' शब्दः, ओम् इति उच्चारणम्। मंगलशब्दः (असंशा. १२.८)

ओजस्–न., शारीर० ओजस्तु हृदयस्थमपि व्यापि (असहृ. ११.३७)
सर्वधातुसाररूपम् (चचि. १५.३) सर्वधातूनां परं तेजः ओजः (असंसू. १९) शरीररसस्नेहः (असंसू. १९) सप्तधातुस्नेहः (सुसू. ६.१५) स्वरूपम्–सोमात्मकम् (अहसू. ११) मधुरं शीतं स्निग्धं स्थिरं श्लक्ष्णं गुरु मृदु बहलं पिच्छिलं प्रसन्नमिति दशगुणमोजः (चचि. २४.३१) शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकं शुक्लं च (सुसू. १५.२३) सरं विविक्तं मृत्स्नम् (सुसू. २१) सर्पिर्वर्णि

लाजगन्धि (चसू. १७.७५) ओजः शुक्रस्य मलः (अहशा. ३.६४) ओजः शुक्रस्योपधातुः (शार्ङ्ग. पू. ५)

ओजःसारं काश्यपसंहितायामुल्लिखितमस्ति (कासू. २८)

द्विविधमोजः परमपरं च । अर्धाञ्जलिप्रमाणं श्लैष्मिकम परम् ओजः (चशा. ७.१५) अल्पप्रमाणं तु परं, यदभिप्रेत्योक्तं 'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्' इति (चसू. १७.७४) तत्रान्तरेऽप्युक्तं प्राणाश्रयस्यौजस अष्टौ बिन्दवो हृदयश्रिता इति (चक्रः) अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्यो हृदयाश्रिता एव । प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौजः क्षीयते नाष्टबिन्दुकम् । ओजसा प्रीणिताः सर्वदेहिनो वर्तयन्ति, तद्ऋते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते (चसू. ३०.९)

ओजो देहस्थितिनिबन्धनम् । देहसंश्रया विविधा भावा ओजसो निष्पद्यन्ते । ओजसि तिष्ठति सति पुरुषो तिष्ठति (अहसू. ११.३७-३८)

ओजःक्षय-अभिघातक्षुधादिभ्य ओजः संक्षीयते (सुसू. १५.२४-२५) ओजःक्षये दुर्बलः पुरुषोऽभीक्ष्णं बिभेति, व्यथितेन्द्रियो दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामः सन् ध्यायति (चसू. १७.७३) ओजसः विस्रंसो व्यापत्क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवन्ति संधिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसंनिरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता, वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो, मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये (सुसू. १५.२६-२७)

प्रभावः शक्तिः, वीर्यम् (सुचि.९.७१) (सुसू. १८.४४)

श्लेष्मा, बलम् प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा सचैव ओजः स्मृतः काये.... । (चसू. १७.११७)

-संख्यात-वि., ओजोरूपः (चनि. ४.७)

-सार-वि., ओजःसारयुक्तः (कासू. २८)

न., धातुसारविशेषः (कासू. २८)

'रसरुधिर.....ओजांसि पंचेंद्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि'

(ओजस्) कर-वि., ओजोजनकम् (चसू. ५.९४)

(ओजो) गुण-पु.; ओजसो गुणः, मद्यगुणेभ्यस्तीक्ष्णोष्णरूक्षादिभ्यो विपरीतगुणमोजः (असंनि.६)

-निरोध-पु., ओजोनाशः (सुउ. ३९.४५)

-अपहरण-नि., ओजसोऽपहारः (असंशा. १)

-वर्धन-(परिव०)-वि., ओजसो वर्धकं द्रव्यम्; 'मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि चौजसो वर्धनान्याहुः (कासू. २७.१६)

-वहा-स्त्री., धमनी० ओजो वहति यस्यां यया वा सा धमनी, सा महामूला मता, मूलं च तस्या हृदयम्, तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (चसू. ३०.८)

-विस्रंस-पु., रोग० (असंसू. १९) बलविस्रंसः लक्षणम्-'संधिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासंनिरोधश्च (परिव०) (सुसू. १५.२४)

ओजोशन-वि., ओजोऽष्टबिन्दुकमश्नातीत्योजोशनः (चक्र. चशा. २.१०)

ये रजनीचरा ओजोभक्षकाः सन्ति न ते शरीरं भक्षयन्ति (चशा. २.१०)

'असृग्वसामांसभुजः सुभीमा, निशाविहाराश्च (सुउ. ६०.२२)

ओजस्य-वि., ओजोजनकम् (अहसू. ५.२०)

ओण्ड्रकाख्या-स्त्री., वनस्पति०-जपा (रापरि. १०.९३)

ओदन-पु., कृतान्न० भक्तम् । अद्रवाणि सिक्थानि ओदनः (चसू. १३.२३) तस्य लघुगुरुभेदेन वर्णनम्-लघुः-ओदनः सुधौतः, सम्यक्प्रक्षालिततण्डुलः, विमलः कण्डनाद्धौतत्वेन चापगतावशिष्टः मलः, शुद्धः स्वयमेव धवलस्तण्डुलः (सुसू. ४६.३४७)

मनोज्ञः सुरभिः 'सम्यक्पक्वः 'सम्यक्प्रस्रावितमण्ड उष्णो विशुद्धो विभक्तसिक्थः एवंभूत ओदनो लघुर्भवति । तण्डुलान् पञ्चगुणे तोये पचेत् (ड. सुसू. ४६.३४७)

गुरुः ओदनः-'अधौतोऽप्रसृतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ।' (सुसू. ४६.३४८) (चसू. २७.२५७-२६०)

'गुरुः क्षीरादि-साधितः' (अहसू. ६ ३१.)

द्रव्यान्तरसंयुक्तः ओदनः-'स्नेहैर्मांसैः फलैः कन्दैः विदलाम्लैश्च संयुताः । गुरवो बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः ॥' (सुसू. ४६.३४८, ३४९)

भृष्टतण्डुलजः ओदनः-'लघुः सुगन्धिः कफहा विज्ञेयो भृष्टतण्डुलः ।' (सुसू. ४६.३४८)

विषवान् ओदनः-'ओदनो विषवान् सान्द्रः यात्यविस्राव्यतामिव । चिरेण पच्यते पक्वो भवेत्

पर्युषितोपमः ॥ मयूरकण्ठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छा-प्रसेककृत् । हीयते वर्णगन्धाद्यैः क्लिद्यते चन्द्रि-काचितः ॥' (अहसू. ७.३४) सविषतोयसाधित ओदनः-'ओदनः साधितस्तेन भुक्तमात्रो विदह्यते। विदग्धः पच्यते कृच्छ्रात् पक्वो मूर्च्छाज्वरप्रदः ॥ दर्शयेत् सर्वतो नील-पीतलोहितकर्बुरम् ।
(असंसू. ८.७५-७६)
सम्यक्सिद्धौदनः-'ओदनो विशदः सिद्धः सुस्विन्नो निःस्रुतो मृदुः । तण्डुलैः सकलप्रायैरक्षीणैश्चापि पच्यते ॥' (काखि. ४.७०) तद्विपरीतो असम्यक् सिद्धः ॥ 'अस्विन्नत्वम् अक्लेदस्त्वसाकल्यमनिस्रवः विरसोऽविशदः शीतः' इति ।

ओदनपाकी-स्त्री., वनस्पति०, मधुरस्कन्धे द्रव्य०, नीलाझिन्टी (चक्र. चवि. ८.१३९)
नीलभेण्डी (चक्र. चचि. ३.२५८)
बाणः जेज्जटः (चचि. ३.२५८)

ओदनाह्वया-स्त्री., वनस्पति०, बला (ध. १.२८०)
महासमङ्गा (असंक. ५ (पृ. १५६ त. प्र.)
लज्जालुः (असंक. ५)

ओदनिका-वनस्पति० बला (ध. १.२८० रा. ४. ४३२)

ओष-पु., रोग०, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः
(चसू. २०.१४)
स्वेदारतिमान् ओषः (असंसू. २०.१४)
लक्षण०, दाहभेद; ईषद्दाहः (सुचि. ३७.६७)
'पार्श्वस्थितेनेव वह्निना पीडा'
(चक्र. चसू. २०.१४)
'अग्निसामीप्यमिवोपतापः (ड. सुनि. ३.९)
'एकदेशिको दाहः (ड. सुसू. २१.३२)

ओषध-न., दीपनादिकं द्रव्यम् 'ओषधं द्रव्यसंयोगं ब्रुवते दीपनादिकम्' (काइ. ४ पृ. ८९)

ओषधि-धी-स्त्री., उद्भिज्ज०, 'फलपाकनिष्ठा ओषधयः'
(सुसू. १.२९)
ओसो नाम रसः अस्यां धीयते इति ओषधिः
(काखि. ३.२७)
'ओषध्यः फलपाकान्ताः' (चसू. १.७२)
'ओषधीनां परा भूमिः हिमवान्' (चचि. १.३८)
द्रव्यम्, 'द्रव्याणि पुनरोषधयः । तास्तु द्विविधा-स्थावरा जङ्गमाश्च ।' (सुसू. १.२८) पार्थिवे-ष्वप्योषधिशब्दो वर्तते । (ड. सुसू. १.२८)
-**पति**-पु., चन्द्रमाः (सुचि. ३०.३०)
-**पुष्पगन्ध**-पु., ओषधीनां पुष्पगन्धः
विषौषधिपुष्पगन्धः (ड. सुउ. ३९.२१)

ओष्ठ-पु., शारीर०, आस्यबहिर्वर्ती स्थूलाकारोऽवयवः तत्प्रमाणं चतुरङ्गुलम् । (चवि. ८.११९)
दन्तच्छदः, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकः । ऊर्ध्वाऽधर-भेदाद्द्वावोष्ठौ (चशा. ७.११) मुखावयवः
(सुनि.१६.४)
-**कोप**-पु., रोग० ओष्ठप्रकोपः ओष्ठरोग०
(असंउ. २५ पृ. ३७५)
-**चिमिचिमा**-स्त्री., रोगलक्षण० ओष्ठयोः चिमचिमा-यमानत्वं पिप्पल्यादिस्पर्शादिव (चचि. २३.११३) सर्षपलिप्तस्येव दुःखम् (हे अहसू. ७.२१)
-**जाड्य**-न. लक्षण० ओष्ठस्तम्भः (हे. अहसू. ७.२१)
-**दालन**-न., रोग लक्षण० ओष्ठस्य गाढविदारणम् द्विधाभूत ओष्ठः (सुनि. १६.५)
-**पाक**-पु., रोगलक्षण० ओष्ठयोः पाकः
(चनि. १.२४)
-**पारुष्य**-न., रोगलक्षण० ओष्ठस्य कर्कशता, स्नेह-गण्डूषधारणात्तस्य शमो भवति (असंसू. ३.२९)
-**पुष्प**-पु., वनस्पति० बन्धूकः (रा. परि. १०.३५)
-**प्रकोप**-पु., रोग० ओष्ठकोपः ओष्ठरोगः (सुनि. १६.४)
-**भेद**-पु., रोग० अशीतिर्वातविकारेष्वेकः, ओष्ठस्य भेदः (चसू. २०.११) (असंसू. २०.१३)
-**रोग**-पु., रोग० ओष्ठावयवस्य रोगाः; भोजमते अष्टौ ओष्ठयोः रोगाः (मानि) (सुनि. १६.३) वृद्धवाग्भटे तु एकादश (इंदु असंउ. पृ. १७६.२५) तेषां नामानि वातजः पित्तजः कफजः संनिपातजो (त्रिदोषजः) रक्तजो मांसजो मेदोजः क्षतज इति अष्टौ । 'तत्रौष्ठकोपाः वातपित्तश्लेष्मसंनिपात-रक्तमांसमेदोऽभिघातनिमित्ताः । (सुनि. १६.४) खण्डौष्ठः ग्रथितौष्ठः जलार्बुदश्च इत्यष्टाङ्गसङ्ग्रहे एकादश उक्ताः (असंउ. २५ पृ. १७५)
वातज ओष्ठरोगः-तल्लक्षणम्-'कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ । दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः ॥ (सुनि. १६.५)
पित्तजः-लक्षणम्-तीक्ष्णासहत्वं, ओष्ठौ पीतौ नीलौ च, सर्षपाकृतिभिः पिटकाभिश्चितौ बहुक्लेदौ, शीघ्र-पाकावोष्ठौ भवतः (सुनि. १६.६) (असंउ. २५)
कफजः-लक्षणम्-कफेन शीतासहौ गुरू शूनौ सवर्णैः पिटकैराचितौ स्यातामोष्ठौ । तथा च कण्डू-मन्तौ पिच्छिलौ शीतलाववेदनौ च भवतः ।
(सुनि. १६.७) (असंउ. २५ पृ. १७५)

संनिपातजः–तल्लक्षणम्–संनिपातादोष्ठौ नानावणा नानावर्णपिटकैराचितौ इति (अहउ. २१.६)
दुर्गन्धास्रावपिच्छिलौ सहसैव म्लानौ कदाचित्संशूनौ सरुजौ विषमपाकिनौ वा (सुनि. १६.८)
(असंउ. २५)
रक्तजः-तल्लक्षणम्–ओष्ठौ रक्तवर्णौ भूत्वा शोणितं स्रवतः । तथा स्रावाद्गते क्षीणे खर्जूरसदृशमर्बुदं भवेत् । अत्र ओष्ठौ खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ भवतः । (असंउ. २५) (सुनि. १६.९)
मांसजः-तल्लक्षणम्–मांसाद्दुष्टान्मांसपिण्डोपमावोष्ठौ क्रमाच्च तयोः कृमयः भवन्ति । ओष्ठौ गुरू स्थूलौ च स्याताम् । सृक्कस्योभयतो जन्तवो मूर्च्छन्ति । (सुनि. १६.१०) (असंउ. २५)
मेदोजः-तल्लक्षणम्–मेदसा दुष्टेनौष्ठौ तैलाभौ श्वयथुक्लेदवन्तौ कण्डूयुक्तौ मृदू च भवतः । स्फटिकसंकाशमच्छमास्रावं कुरुतः गुरू च भवतः ।
(सुनि. १६.११) (असंउ. २५)
क्षतजः-तल्लक्षणम्–क्षतजावसकृदवदीर्येते परिपाट्येते च । ग्रथितौ च पुनरोष्ठौ स्यातां सकण्डूकौ च
(सुनि. १६.१२ असंउ. २५) क्षतेन कुपितावोष्ठावसकृदवदीर्येते पाट्येते च । पुनस्तथाप्यचिकित्सिते सति कण्डूयुक्तौ स्याताम् तौ ग्रथितौ (इन्दु) (असंउ. २५ पृ. १७६)
खण्डौष्ठलक्षणम्–' य ओष्ठो वातेन द्विधा कृतो भवति, स रोगो नाम्ना खण्डौष्ठः' (असंउ. २५;)
जलार्बुदलक्षणम्–वातकफाद्धेतोर्जलार्बुदवज्जलार्बुदमोष्ठे भवति (असंउ. २५ पृ. १७६)
चिकित्सा—वातजे ओष्ठरोगे नाडीस्वेदमभ्यञ्जनं साल्वणं चोपनाहनं वातहरतैलं नस्यार्थे हितम् । पित्तरक्ताभिघातोत्थमोष्ठरोगं जलौकाभिरुपाचरेत् पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यात् । कफजे रक्ते हृते शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवलश्च योज्यः । मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः । एतदोष्ठप्रकोपाणां साध्यानां कर्म कीर्तितम्
(सुचि. २२.३–१०;)
खण्डौष्ठचिकित्सा–' स्निग्धस्विन्नस्य खण्डौष्ठस्यौष्ठान्तौ विलिख्य सुश्लिष्टौ क्षौमसूत्रेण सीव्येत् । शतधौतघृताभ्यक्तां चास्मै कवलिकां व्रणस्योपरि दद्यात् । प्रक्लिन्नं च व्रणं व्रणचिकित्सया साधयेत् । तथा वातहरमधुरौषधसिद्धं तैलं नस्यम् ।' (असंउ. २६ पृ. १८४) जलार्बुदचिकित्सा–' जलार्बुदं भित्त्वा त्रिकटुकटुकातेजोवतीयवक्षारसर्जिकासैन्धवकासीसचूर्णैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् । अवगाढमतिवृद्धं वा क्षारेणाऽग्निना वा दहेत् ।
(असंउ. २६ (पृ. १८५)
–स्फुटन–न., लक्षण०, ओष्ठस्य विदारणम्, स्नेहगण्डूषधारणात् तस्य शमः (असंसू. ३.८)
ओष्ठोपमफला–स्त्री., वनस्पति०, बिम्बी (ध. १.२०२)
ओस–पु., रसः (काखिल. ३.२७)

औ

औकुल–वि., ओकुलः काण्डस्थमपक्वं भृष्टम् सस्यम्, ओकुलस्य इदम्; काण्डस्थानि अपक्वानि भृष्टानि गोधूमादिसस्यानि (असंसू. १०.६६)
औखर–न., पार्थिवलवण०, रोमकम् (रा. ६.४०)
औचित्य–न., अभ्यासः (चसू. ६.४९)
आनुकूल्यम् (चचि. ३०.३१५)
औडुम्बर–पु., कृमि०, शोणितजस्ताम्रवर्णेऽण्वाकारो वृत्तश्चापादश्च, सौक्ष्म्याच्च अदृश्यः (चवि. ७.११)
औत्तरभक्तिक–वि., भुक्तादुत्तरं सेव्यते इति ।
(चचि. ८.९२)
औत्पातिक–वि., न.,–उत्पातसंबन्धि अरिष्टसूचकनिमित्तम् (चइ. १२.२५) उत्पातः शुभा शुभसूचको भूतविकारादि, शकुनापशकुनादि ।
(चइ. १२.२५–३२)
औत्पातिकमशुभं लक्षणम् (चइ. १.३)
आकस्मिकम् (चइ १२.६०)
औत्सुक्य–न., उत्सुकस्य भावः, विषयोत्कण्ठाऽऽगतोऽभिलाषः (अरु. अहसू. १.१)
अविचार्य कार्यप्रवृत्तिः (हे. अहसू. १.१)
उत्सुकता (चइ. १२.४७) रतौ सातिशयोऽभिलाषः (सुशा. ३.८)
चिन्ता, व्यग्रत्वम् (चसू. १०.२०)
औदक–वि., उदके भवः, जलसंबन्धि (सुशा. १.३)
–कन्द–पु., औदकाः कन्दाः, कसेरु–शालुक–नदीमाषकादयः (सुशा. १०.५७)
–पिशित–न., मत्स्यादीनामौदकानां प्राणिनां मांसम्, तत्प्रकृतितः गुरु आहारद्रव्यम् (चसू. ५.५)
–भाव–पु., उदके भव औदकः, नदीसमुद्रादिषु वसन्तः मत्स्यकूर्मादय औदका भावा इत्युच्यन्ते
(सुशा. १.३)
–मज्जा–स्त्री., स्ने० मत्स्यादीनां मज्जा, तस्या गुणाः—मधुरा गुर्वी उष्णा वातघ्नी च
(सुसू. ४५.१३१)

-मांस-न., कूर्मादिजलचराणां मांसम् (चसू. ६.११) मत्स्यकर्कटकशिशुमारप्रभृतीनां मांसम् (सुचि. ५.२२) जलचारिप्राणिजं मांसम् (सुसू. १२.२४) औदकमांसं स्नेहनार्थमुपयुक्तम् (चसू. १३.९१) -वनस्पति-पु., कमलकुमुदकल्हारप्रभृतयः (सुचि. १६.१०-१४)

औदनिक-पु., उपकार्यभूतः भक्तस्य साधकः, महानसनियुक्तः परिचारकेष्वेकः (सुक. १.१७)

औदरिक-पु., अतिभक्षणशीलः, बह्वाशी, घस्मरः, घस्मरत्वमासुरसत्वलक्षणम् (सुशा. ४.८९)

औदर्य-वि., उदरे भवः इति, उदरस्थ इति (चवि. १.२५. (१)

औदुम्बर-पु., शोणितजः कृमि०, औडुम्बरः (चसू. १.४ (९;) वि., ताम्रमयम् (सुउ. १८.८५) वि., उदुम्बरवृक्षभवम्, उदुम्बरस्येदम्, यथा औदुम्बरं भस्म (सुउ. ५०.२०) न., कुष्ठ०, सप्तमहाकुष्ठेष्वेकम्, पित्ताऽधिकतरं कुष्ठम् (चचि. ७.२७;) (सुनि. ५.८) ताम्राणि ताम्रखररोमराजिभिरवनद्धानि बहलानि बहुबहलपूयरक्तलसीकानि कण्डूक्लेदकोथदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि ससंतापक्रिमीणि पक्वोदुम्बरफलवर्णानि भवन्ति। (चनि. ५.८ (२); (चचि. ७.१५) -पात्र-न., ताम्रमयं पात्रम् (चक्र. चचि. १.५१)

औद्दालक-वि., मधु०, कपिलकीटाः स्वल्पा वल्मीकेषु अन्तर्मधु चिन्वन्ति, तत्कीटभवमौद्दालकम्। 'औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषाऽपहम्' (सुसू. ४५.१३३)

औद्भिद-वि., उद्भिद्य पृथिवीं जायते इति औद्भिदम्। (चसू. १.६८) लवण०, उत्कारिकालवणम् (चक्रचचि. १५.८५) (अहसू. १०.२७) पञ्चलवणेष्वेकम्' केचिच्छाम्भरिलवणमाहुः (चसू. १.८८) भूमिमुद्भिद्योत्पन्नस्य क्षारोदकस्य सूर्यरश्मिभिः वह्निना वा क्वथनाद्यत् लवणम् उत्पद्यते, तत्। गुणाः-लघु तीक्ष्णमुष्णमुत्क्लेदि सूक्ष्मं वाताऽनुलोमनं तिक्तं कटु क्षारं च (चसू. २७.३०३ सुसू. ४६.३१९) रोमकलवणम् (ध २.३२) द्रष्टव्यं 'रोमक' -द्रव्य-न., द्रव्यभेद०, औद्भिदं वनस्पतिजं द्रव्यम्। औद्भिदं तु वनस्पति-वानस्पत्य-वीरुदौषधिभेदेन चतुर्विधं भवति।' (असंसू. १२.४)

औन्मादिक-वि., उन्मादकारी, बुद्धिभ्रंशहेतुः (चशा. १.१०५)

औपत्यक-पु., ज्वररोग०, उपत्यका पर्वतासन्नभूमिः, तदुद्भवो ज्वर औपत्यकः। (सुउ. ३९.५७)

औपद्रविक-वि., उपद्रवानधिकृत्य प्रवृत्तोऽध्यायः। उत्तरतन्त्रे प्रथमाध्यायस्य नाम (सुउ. १.१)

औपधिक-(औदरिक. पाठः)-वि., छद्मपरः (सुशा. ४.८८) छद्मप्रचारी (चशा. ४.३८(१) (चशा. ८.२१) उपधिर्नाम छद्म, उपधिः यस्य स्वभावः, स औपधिकः, कपटजीवी (इंदु. असंशा. २.६१)

औपधेनव-पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३) न., शल्यतन्त्र० (सुसू. ४.९)

औपनासिकी-वि., स्त्री., सिरा०, नासासमीपवर्तिनी (सुशा. ७.२२)

औपपादुक-वि., आत्मनः शरीरान्तरसम्बन्धोपपादकम् (चक्र चशा.३.३)

औपम्य-न., प्रमाण०, उपमानप्रमाणम्, अन्येनाऽन्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्, यथा दण्डेन दण्डकस्य (चवि. ८.४२)

औपसर्गिक-वि., व्याधि०, उपद्रवसंज्ञः, यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति, स तन्मूल एव उपद्रवसंज्ञः (सुसू. ३५.१८) पु., -रोग-पु., उपसर्गजो रोगः यो ज्वरादिरोगपीडितजनसंपर्काद्भवति स उपसर्गजो रोगः, उपसर्गाजात औपसर्गिकः। औपसर्गिका रोगाः शीतलादयः(ड) 'कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥' (सुनि. ५.३४) कारणानि अस्य-गात्रसंस्पर्शनिःश्वाससहभोजनशय्यासनवस्त्रमाल्यानुलेपनादीनि। (सुनि. ५.३४)

औपाधिक-पु., 'औपाधिक' उपाधिराश्रयः तत्सम्बन्धवानौपाधिकः; द्र० (र. ११.१७-१९) द्र० 'औपधिक' -दोष-पु., परिव० रसदोष०, कञ्चुकशब्दवाच्यास्ते च सप्त (र. ११.१७-१९)

औरभ्र-पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३) न., शल्यतन्त्रेष्वेकं तन्त्रम् (सुसू. ४.९) वि., उरभ्रसम्बन्धि, मेषसम्बन्धि (चसू. १३.८३)

-पयस्-न., मेषीदुग्धम्, आविकं पयः(ध. ६.१६९)
-मांस-न., मेषमांसम्, तद् बृंहणं गुरु पित्तश्लेष्मावहं च (सुसू. ४६.८८)
-रस-(परिव०)-पु. उरभ्रः प्राणि० तस्य मांसरसः (चसू. १३.८३)
और्णिक-वि., ऊर्णाकृतवस्त्र०, ऊर्णिकासमुद्भवम्। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि' (अमर) कम्बलः नानाविधः (सुउ. ३९.२७५)
-पट्ट-पु., आविकपट्टः, स अनग्निस्वेदसाधनः (सुचि. ४.१७)
-वस्त्र-न', मेषादिलोमजातं वस्त्रम्; सामान्यवातोपक्रमेष्वेकः (सुचि. ४.२५)
और्व-वि., पार्थिवद्रव्य०, उर्वी पृथ्वी तद्भवम् उद्भिदम्, लवणम् (ध. २.३२)
-लवण-न., उद्भिज्जलवणम्, सैन्धवादिलवणषट्कम् (र. २३.४४)
औला-स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४.५४२)
औलुकी-वि., स्त्री., उलूकस्य अयं उलूक्या वा इति। उलूकीवसा, चुलूकीवसा (असंसू. ६.११३)
औशनस्-पु.,अगद०, उशनसा शुक्रेण कथितः (असंउ. ४०.३२०)
वि.,-तन्त्र०, उशना नामा ऋषिस्तत्कृतं तन्त्रमौशनसम् (चवि. ८.५४)
औषध-न., भेषजम् (चसू. १.२४) (सुसू. १.३८) चिकित्सितम् (चचि. १.३)
यथा दोषाणामौषधं बस्त्यादि (अहसू.१.२५)
वनस्पति०, शुण्ठी (सुचि. २३.१२)
न., चिकित्साद्रव्यम् (चसू. १.७१) यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिवृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तेभ्यः (चवि ८.८७)
औषधिद्रव्यज्ञानोपायः-रूपाऽवबोधो वनगोचरेभ्यः (असंसू. १२.१०१) गोपालतापसव्याधवनचारिमूलाऽऽहारेभ्यो भेषजव्यक्तिर्भवति (सुसू. ३६.१०) देशभेदेन गुणभेदः हैमवतमौषधं सौम्यं पथ्यं च। वैन्ध्यं भेषजमाग्नेयम् (असंक. ८) प्रशस्तौषधभूमिः-तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके श्मशानचैत्यदेवयजनागारसभाश्वभ्रारामवल्मीकोषरविरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते (चक. १.९)

ग्रहणकालः—वर्षावसन्तयोर्भेषजानामचिरप्ररूढं शाखापलाशं ग्राह्यम्। ग्रीष्मे शिशिरे वा मूलानि ग्राह्याणि। शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि। हेमन्ते साराणि यथर्तुफलपुष्पाणि च ग्राह्याणि (असंक८ त. प्र. पृ. १६७)
औषधस्य विविधपरीक्षा विषयाः-योग्यमपि चौषधमेवं परीक्षेत-इदमेवं रसवीर्यविपाकमेवं गुणमेवं द्रव्यमेवं कर्मैवं प्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवं निषिद्धमेवं उपसंस्कृतमेवं संयुक्तमनया मात्रयैवंविधस्य काल एतावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा। तथा तेनाऽनेन वा विशेषेण प्रयुक्तमिदमकरोत् (असंसू. २३.८)
कल्पभेदाः-चूर्ण-शीतकषाय-स्वरस-अभिषव-आसुतक्रिया-फाण्ट-कल्क-क्वाथ भेदेनौषधकल्पः सप्तधा (काखिल. ३.३३-३५)
पञ्चविधस्तु भेषजानां कषायः (कल्पः) निर्यासः, कल्कः, निर्यूहः, शीतः, फाण्टश्च। (असंसू. ८)
नृपतेरौषधयोजना-यन्मात्रावद्योजितं पाके लघु हृद्यं दोषप्रशमनमल्पया मात्रयाऽपि कार्यकरं प्रबलवीर्यं प्रसादकरं बलरक्षकमल्पदोषकरमग्लानिकरं संस्कारगुण-सम्पन्नं तदुपयुक्तम् (काखिल. ३.३१-३३)
अनन्यकार्योऽवहितो मन्त्रिगुरुसम्मतं सर्वगुणसंस्कारसम्पन्नमौषधमास्वादितपूर्वं परिचरैः स्वयमनुप्रयोजयेत् (असंसू. २३.३३-३५) भेषजसम्पत्-सुभूमौ जातं काले चोद्धृतं कालेनोत्पन्नमविकार्यग्नितोयजन्तुविण्मूत्रजरादिभिरनुपहतं तत्तद्रोगयोग्यं क्रमेण च विधिवदुपपादितम् (कासू. २६.५)
औषधविधिः—द्विविधमौषधमूर्जस्करं रोगघ्नं च 'स्वस्थस्यौर्जस्करं किञ्चित्किञ्चिदार्तस्य रोगनुत् (चचि. १.४)
'उभयमपि चोभयात्मकम्। बाहुल्येन तु निर्देशः तत्रोर्जस्करं द्विविधं रसायनं वाजीकरणं च। रोगघ्नमपि द्विविधम्—रोगस्य प्रशमनमपुनर्भवकरं च। (असंसू. १२.३)
पुनश्च द्विविधम् द्रव्यमद्रव्यं च। तत्र द्रव्यं त्रिविधम्—भौममौद्भिदं जङ्गममिति। अद्रव्यं पुनरुपवासानिलातपच्छायामन्त्रसान्त्वदानभयोत्रासक्षोभणहर्षणभर्त्सनस्वप्नजागरणसंवाहनादि। (असंसू.१२.४)

तत्पुनर्द्विविधम्–व्यपाश्रयभेदाद्दैवयुक्तिव्यपाश्रयं चेति। (चवि. ८.८७) (असंसू. १२.५)

त्रिविधमौषधम्–दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयमाहारौषधयोजनादि। सत्वावजयः पुनरहितान्मनोनिग्रहः।

(असंसू. १२.५)

पुनरपि च त्रिविधम्–अपकर्षणं प्रकृतिविघातनं निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधा बाह्याऽभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यमपकर्षणं ग्रन्थ्यर्बुदोपपक्ष्मकृमिशल्यादिषु शस्त्रहस्तयन्त्रादिभिः। अभ्यन्तरं पुनर्वमनविरेचनादिभिः। प्रकृतिविघातनं संशमनम्। तद्बाह्यमभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यम्। अभ्यन्तरं यदन्तरमनुप्रविश्याऽविक्षोभयद्दोषाञ्छमयति। निदानत्यागो यथादोषं शीतोष्णासनव्यायामादीनां वर्जनं स्निग्धरूक्षाद्यभ्यवहारश्च। तत्र शस्त्रादिसाध्ये भेषजमनुक्रमते न तु भेषजसाध्ये शस्त्रादि।' (असंसू. १२.६)

पुनरपि त्रिविधम्–हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतमुभयार्थकारि च। तत्र हेतुविपरीतं गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि तथेतरस्मिन्नितरत्। व्याधिविपरीतं द्वौ मूलोपक्रमौ तौ च स्नेहस्वेदौ लङ्घनबृंहणे पञ्चकर्माणि वमनादीनि सधूपधूमाञ्जनादीनि च। तथा विस्लापनोपनाहनपाटनादीनि। उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयमौषधम्। तथा छर्द्यां छर्दनमतीसारेऽनुलोमनं मदात्यये मद्यपानं तुच्छदग्धेऽग्निप्रतपनं पित्तेऽन्तर्गूढे विमार्गगे वा स्वेदः कटुम्ललवणतीक्ष्णोष्णाभ्यवहारश्च बहिःप्रवर्तनाय स्वमार्गोऽऽपादनाय च। श्लेष्मणि चान्तर्निगूढे स्तब्धे बहिःशीतोपचारस्तत्पीडितस्योष्मणोऽन्तःप्रवेशेन कफविलयनायेति। एवंविधं ह्यविपरीतमेव सन्नेषजं हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति (असंसू. १२.७–९)

पचनकालः–त्रिभिर्यामैर्मध्यमाग्नेर्भेषजस्य पाकः (ड. सुचि. ३३.३६) जीर्यत्काललक्षणम्–जृम्भाशब्दद्वेषमुखशोषाऽरतिक्लमतन्द्रा उद्वेष्टनं हस्तपादानाम्, आलस्यं चेत्येतानि जीर्यति भेषजे लिङ्गानि भवन्ति

(काखिल. ३.६९)

सावशेषौषधलक्षणम्–क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजाऽरतिर्बलहानिश्चेत्येतानि सावशेषौषधलक्षणानि। (चसि. ६.२७)

जीर्णौषधलक्षणम्–अनिलोऽनुलोमः स्वास्थ्यं क्षुधा तृष्णा बलं प्रसन्नमनस्त्वमिन्द्रियपाटवमुद्गारस्यौषधगन्धादिविरहितत्वमित्येतानि जीर्णौषधलक्षणानि

(चसि ६.२६)

औषधमात्रा–मात्राया व्यवस्थानं नास्ति। देहदोषबलवयोदेशकालाँश्चाऽऽलोच्य भेषजमवचारयेत (असंक. ८. त. प्र. पृ. १६८) उत्तरोत्तरासु वयोऽवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति, यथा बाल्ये (सुसू. ३५.३०) मात्रावदौषधम् अल्पमात्रत्वे सत्यपि प्रशस्तमहावेगं बहुदोषहरं सुखकरं पाके लघ्वास्वादने सुखकरं प्रसन्नत्वकरं रोगघ्नं व्यापत्तावपीषद्विकारकारि नातिग्लानिकरं गन्धवर्णरसोपेतं यदौषधं तन्मात्रावज्ज्ञेयम्'

(चसि. ६ १५.१६)

अल्पमात्रायाः परिणामः–'तथा बलवति बलवद्व्याध्यातुरेऽल्पबलमल्पं वा भेषजमकिञ्चित्करं भूय एव दोषमुत्क्लिश्य व्याधिमुदीरयेत्।' (असंसू. २३.७)

औषधप्रमाणम्–बाल्ये औषधमात्रादिविशेषः–जातस्य शिशोः प्रथमे मासि रक्तिकाप्रमाणौषधस्य मात्रा स्यात्। साच मधुक्षीरसिताघृतैः सहाऽवलेहरूपेण देया। संवत्सरं यावन्मासादूर्ध्वं प्रतिमासमेकैका रक्तिका वर्धयितव्या। वर्षादूर्ध्वं षोडशवर्षपर्यन्तं प्रतिवर्षं माषप्रमाणेन वृद्धिः स्यान्मात्रायाम् आससप्ततेश्च सैव मात्रा स्यात्। वार्धक्ये क्रमेण मात्राया ह्रासः कर्तव्यः (ड. सुसू. ३५.३०) क्षीरपाय–क्षीराज्यालोडितौषधस्याङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसम्मिता मात्रा। क्षीरान्नादाय–कल्कस्य कोलास्थिसम्मिता मात्रा। अन्नादाय–कोलसम्मितौषधमात्रा (सुशा. १०.३८;) 'द्विगुणा द्व्यग्रपर्वाङ्गुलिजीवनीयानां। तथा संशमनस्य च।' (काखिल. ३.९०) दीपनीयानां चूर्णानामौषधमात्राऽग्रपर्वाङ्गुलिः (काखिल., ३.८९–९०) ऊर्ध्वभागविरेचने नाम वमने तथा विरेचनेऽर्धाग्रपर्वाङ्गुलिरौषधमात्रा (काखिल., ३. ९१) अष्टमासं यावद्बालाय यथारोगमौषधमौषधस्य चतुर्भागस्नेहमिश्रितं देयम्। अतः परं जलपिष्टमौषधं सघृतं देयम् (काखिल., ३.८६–८७)

व्याधावौषधयोजना–सर्वेषामपि व्याधौ 'यथास्वं निदानविपरीतमौषधमवचारयेत्।' (असंसू. ११.४८) हेतुविपरीतेनौषधेन कृतेनाऽपि न शाम्यति तदा 'सति त्वनुबन्धे निदानविपरीतमपास्य व्याधिविपरीतमेव तदर्थकारि वा।' (असंसू. ११.४९)

मृद्वल्पौषधपानार्हः–यो दुर्बलोऽल्पदोषयुक्तः पूर्वं शोधितः कृशो यस्य कोष्ठस्वरूपज्ञानं नास्ति तेनाऽल्पमात्रमौषधं पेयम् । तथा तत्राऽल्पमात्रया सौम्यमौषधं वारंवारं पीतं सद्धितकरं भवति (असंसू. २७.४६–४७) स्नेहस्य पानात्पूर्वं मृदु भेषजं देयं ततोऽग्न्युत्तेजनं कोष्ठलघुता च भवति (असंसू, २५.४५)

औषधस्य तीक्ष्णमध्यमृदुता–यदौषधं जलाग्निकीटैरसंसृष्टं देशकालगुणानुगतं नवं मात्राधिकं तुल्यवीर्यैर्द्रव्यैर्भावितं पूर्वं स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति । एतद्विपर्यये मन्दतां प्रतिपद्यते ।

व्याधेस्तीक्ष्णत्वमध्यत्वमृदुत्वानि ज्ञात्वा रुग्णस्य च बलं विचार्य तीक्ष्णमध्यमृदून्यौषधानि प्रयोज्यानि । यदि रुग्णो निर्बलो व्याधिश्च तीक्ष्णस्तदा मृद्वौषधं प्रयोज्यम् (असंसू. २७.५९–६०)

आशुशुध्यर्थं प्रतिपक्षमौषधम्–यथास्वलक्षणैः कर्मभिश्च बुध्याऽपि दोषमवगमयेत् । तद्यथा–किमाहारेण कुपितो वायुः किं विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति । ततश्च प्रतिपक्षमेवौषधं प्रयुज्यमानमाशु सिद्धये सम्पद्यते । तत्र मधुराम्ललवणा रसाः कटुतिक्तकषायाश्चेतरेतरप्रतिपक्षाः ।' (असंसू. २३.३)

औषधस्य तत्त्वम् ' उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम् । देशेऽन्यत्राऽपि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च ॥' (असंसू. २३५–३६)

औषधाऽगारम्–औषधसंग्रहस्थानम्, भेषजाऽगारम् (सुसू. ३६.१६)

औषधीनां हस्ते निबन्धनम्–मन्त्रिता सिद्धौषधिर्हस्ते बध्यते यथा मूषका अजरूहा वा हस्ते बद्धा विषापहा (असंसू. ८.१११)

–कर्म–न., औषधकार्यम्, यथा ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनादि (सुसू. ४०.५)

–काल–पु., औषधप्रदानकालः, 'न हि अप्राप्ताऽतीतकालमौषधं यौगिकं भवति ।' (असंसू. २३.१२)

दश औषधसेवनकालाः १ अभक्तं, केवलमौषधं २ प्राग्भक्तं पूर्वभक्तस्य, (का,) ३ अधोभक्तं अधोभक्तस्य (का.) ४ मध्येभक्तं–मध्येभक्तस्य (का.) ५ अन्तराभक्तम् भक्तयोः मध्ये (का.) ६ सभक्तम् भक्तयुक्तं ७ सामुद्गम् भुक्तस्यादावन्ते (का.) ८ मुहुर्मुहुः सभक्तमभक्तं वा मुहुर्मुहुः ९ ग्रासम्–ग्रासे संमिश्र्य (का. १०) १० ग्रासान्तरम् ग्रासान्तरे (का.) (सुउ. ६४.६५) (काखि. ३.४४.१३)

११ ' निशि च ' इति एकादशधावचारणम् (असंसू. २३.१२)

–गुण–पु., औषधमत्र द्रव्यं, तस्य गुणा गुरुमन्दादयः ' बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ।' (असंसू. २ अहसू. १.२८)

–ग्राम–पु., औषधसमूहः (असंसू. २३.१०)

–ज्ञान–न., औषधस्य ज्ञानम्, ' तज्ज्ञानं व्याधिज्ञानात्सूक्ष्मतरम्– (काखिल. ३.१७)

–पेषक–पु., औषधपेषणं करोति यः, परिचारकः (चसू. १५.७)

–मात्रा–स्त्री., औषधस्य मात्रा, भेषजप्रमाणम् (सुशा. १०.३८)

–वेग–पु., औषधस्य वेगः शक्तिः परिणामो वा (चसि. २.१२)

–संरम्भ–पु., भेषजक्षोभः (अहसू. २३.२८)

–सार–पु., औषधवीर्यम् (सुचि. १.११७)

–स्तम्भन–न., स्तम्भयति इति, स्तब्धता, स्थिरीकरणम्, स्वेदनस्य विपरीतमौषधम् (असंसू. २६) 'श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरं यद्द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत्स्तम्भनं स्मृतम् ।' (चसू. २२.१२) यत् सरं कषायं मधुरं च तिक्तं च तत्प्रायः स्तम्भनम् (असंसू. २६) ' विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च...स्तम्भनम् औषधं देयम् ' (असंसू. २६)

–स्वेदन–न., स्वेदकरमौषधम्, ' द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजं स्वेदनम् ' (असंसू. २६)

औषधि–धी–स्त्री., वनस्पतिः (सुचि. ३०.३) प्रभावयुक्ता वनस्पतिः, यस्या उपयोगेन व्याधिरुपशाम्यति (चनि. ७.१६) ≠ Ca.Su.1.1.54

–ग्राम–पु., औषधीनां समूहः (अहसू. १८.१६)

–गन्धजज्वर–पु.,–ज्वर० (औषधगन्धजः) (सुउ. ३९.७७)

–ग्रहणकाल–पु., वनस्पतीनां संग्रहणकालः, ' तत्र यानि कालजातान्युपागतसंपूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरसस्पर्शप्रभावाणि प्रत्यग्राण्युदीच्यां दिशि स्थितानि, तेषां शाखा पलाशमचिरप्ररूढपर्णानां शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तुपुष्पफलमिति मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः सम्पूज्य देवताः अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुखः उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् । ' (चक. १.१०)

औषर–क–न., लवण०, ऊषरदेशभवं लवणम् (चसू. २५.३९ रा. ६.५१)

औष्ट्र–वि., उष्ट्रस्येदम् (चसू. १.१०३)

औष्ण्य–न., उष्णवीर्यम्, शैत्यस्य नाशनम् (सुउ. ४७.४)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

क

क–न., जलम्, नीरं कं सलिलं जलम् (ध. ६.३०२)
–ज–न., वनस्पति० कमल (रा १०.२४३)

कंस– पु., मान०, आढकप्रमाणम् (चसि ३.४४) प्रस्थाष्टकं कंसः (चक. १२.९४) (असंक ८ त. पृ. १६९) षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयतोलकम् (२५६) इति यावत्
न., खनिजधातु०, कांस्यम् (र. १२.२१)
–हरीतकी–स्त्री., योग०, कंसे दशमूलकषाये हरीतकीनां शतं गुडं च दत्त्वा कृतो लेहः अयं श्वयथौ उपयुक्तः (चचि. १२.५०–५२)

कंसीय–न., कांस्यम् (रा १३.२४)

ककारादिगण–पु., वर्ग०, कण्टकारी–काञ्जिकं–कच्छपः तैलं राजिका निम्बूकं कतकं कलिङ्गफलं कूष्माण्डं कर्कटी मयूरी कुक्कुटः कारवेल्लं–कर्कोटी वृन्ताकं कपित्थं चेति । (र ११.१२९)

ककुत–पु., वनस्पति०,=ऋषभ–कः (ध. १.१२५)

ककुद–पु., सर्प०, दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)

ककुभ–पु., वनस्पति०, जाङ्गलदेशोद्भवो वृक्षः सुगन्धिमूलो विटप० (डसुक. ६.३) शुक्रमेहे उपयुक्तः (सुचि. ११.९) सूतिकायाः आचमनस्नानादौ षडङ्गकल्पनाकल्पितशिरीषककुभसलिलमुपयुक्तम् (सुचि. १५.२४) शिरीषककुभक्वाथात्तान् पिचून् विकेशिकाप्रायान्कार्पासादिमयान्योनौ विनिक्षिपेत् (अरु. अहशा. २.४४)

ककेरुक–पु., कृमि०, पुरीषजकृमि० (चवि. ७.१३) (असंनि. १४.५७)

कक्कोल–पु., वनस्पति०,=कङ्कोलः (चचि. २६.२१०;)

कक्कोलक–न.,=बृहत्कक्कोलकम् (सुसू. ४६.२०२)

कक्ष–पु., शारीर०, बाहुमूलम् (सुसू. ५.१३) शारीर, बाहुमूलाधःकोटरदेशः, कक्षा, वामदक्षिणभेदेन द्वे अंतराधिप्रत्यंगे (सुशा. ५.४)
वनस्पति०, तृणम् (चचि. १७.६९)
तृणादिबहुलः प्रदेशः (सुसू. १७.१६)
काष्ठसमूहः (चसू. १३.७२)
–ग्रन्थि–पु., रोग०, कक्षायां जायमानो ग्रन्थिः, कक्षा (र. २४.१३१)
–धरमर्मन्–न., कक्षाधार (असंशा. ७.७;) कक्षाधरमर्म, (अहशा.) यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं नाम मर्म, तस्मिन् विद्धे पक्षाघातः, स्नायुमर्मेदम्, एकांगुलप्रमाणम् वैकल्यकरं च (सुशा. ६.२४) शाखामर्मेदम् कक्षाक्षमध्यः कक्षाधारः 'कक्षाधरः' (इन्दु) तस्मिन् विद्धे कुणित्वम् (असंशा. ७.७) सिराश्रयो मर्मविशेषः (अहशा. ४.४२–४३)
–पार्श्व–पु., मर्म०, कक्षधरमर्म, पार्श्वसमीपे कक्षयोः समीपभवाभ्यां कक्षधराभ्यां सह सम्बद्धः (सुशा. ६.२८) द्र० 'कक्षधर'

कक्षा–स्त्री., शारीरप्रत्यङ्ग०, प्रमाणम्–अष्टौ स्कन्धौ कक्षे च (असंशा. ८.३०) 'कक्षावुन्नतौ पृथुलौ पीनौ सुव्यञ्जनौ प्रशस्येते । विपरीतावधन्यौ (कासु. २८ पृ. ४८)
रोग०, क्षुद्ररोगः, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४) लक्षणम्–बाहुपार्श्वोसकक्षासु कृष्णस्फोटा सवेदना पित्तप्रकोपसम्भूता पिडका (सुनि. १३.२६)
'यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः ।' (चचि. १२.९१) 'यज्ञोपवीतप्रतिमा इति यज्ञोपवीतव्याप्यस्थानमात्रव्यापकाः स्फोटा एव कक्षाशब्दाख्याः ।' (चक्र.) प्रायकक्षाऽऽसन्नदेशेषु साऽनिलात्पित्तात् सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः पिटका भवन्ति (असंउ. ३६.) चिकित्सा–चक्रतैलं प्रशमनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४४–४८)
'पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक् । रोपयेत्सर्पिषा पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः ॥ (सुचि.२०.७–८)

कक्ष्या–स्त्री., रोग०, कक्षा (चक.१२.९)

चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (असंसू. २०)
द्र० 'कक्षा'
'सुविभक्तस्थानम् ।' (इन्दु)
गृहप्रकोष्ठः (असंसू. ८.६१

कङ्क–पु., पक्षि० (चसू. २७.४९)
प्रसहवर्गीयः, दीर्घचञ्चुर्महाप्रमाणः कङ्कस्यात्कङ्कमल्लाख्यो बाणपत्रार्हपक्षकः । लोहपृष्ठो दीर्घपादः पक्षाधः पाण्डुवर्णभाक् ॥ (ड. सुसू. ४६.७४) अस्य पुरीषं पक्वशोथस्य विदारणं करोति, . . .' कङ्कानां पुरीषाणि च दारणम् ।' (सुसू. ३७.१०)

–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र०, कङ्कमुखाऽऽकारानुगतत्वात्कङ्कमुखयन्त्रम्, सर्वेषु स्थानेष्वधिकारित्वाद्यन्त्रेषु प्रधानम्, 'निवर्तते साध्ववगाहते शल्यं निगृह्योद्धरते यस्मात् यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि । (सुसू. ७.२२)
(असंसू. ३४'२१ अहसू. २५.४)

कङ्कण–पु., पार्थिवद्रव्य०, शुद्धगन्धकः (र. १२.१०४)

कङ्कतक–कङ्कतक न., काष्ठादिमयं बहुदन्तं केशसंयमनम्, प्रसाधनम् (असंसू. ८.४९)

कङ्कता–स्त्री., वनस्पति०, अतिबला (ध. १.२८६)

कङ्कनी–स्त्री., तृणधान्य०, कङ्गुः, प्रियङ्गुः (ध. ६.९०)

कङ्कु–पु., पक्षि०, प्रतुदवर्गीयः (चसू. २७.५२)

कङ्कुष्ठ–न., भैषज्यद्रव्य०, ' सुवर्णक्षीरीनिर्यासः '
(ड. सुसू. २८.१३)
खनिजद्रव्य०, विरङ्गम् रङ्गदायकम्, ' उसारे-रेवन्' नाम्ना प्रसिद्धम्, स तु सम्प्रति नोपलभ्यते अतो भेषजादिकर्मणि तत्समानगुणं बोदारशृङ्गं, गृह्णन्ति (र. ३.१) 'कङ्कुष्ठं सिद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यम्बुभावितम् ।' (र. ३.१२७) 'पर्वतीयमृत्तिका०, तद्द्विधा रजताभं स्वर्णाभं च ।' (शब्दकल्पद्रुमः) कङ्कुष्ठं द्विविधं नालिकाख्यं तथा रेणुकञ्च । गुणाः–तिक्तं कटु उष्णं रसरञ्जनमतिरेचनं कफघ्नं वातघ्नं च गुल्मोदावर्तशूलव्रणशूलनाशनम् (ध. ३.१४१) यवपरिमाणमात्रया ग्राहिभिः पदार्थैः सह खादेत्, ताम्बूलैः सह भक्षितं विरेचनेनाऽऽसून्नाशयेत् । कङ्कुष्ठविषनाशाय जीरसौभाग्यकसमं बर्बूरीमूलिकाक्वाथे भूयोभूयः पेयम् (३.१२९–१३१)

कङ्केलि–पु., वनस्पति०,–अशोकः (रा. १०.२७०)

कङ्कोल–पु., न., वनस्पति०, मरिचाकृतिसुगन्धिद्रव्य० वल्लीफलम् (सुसू. ४६.४८५) ताम्बूलद्रव्येष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ५.७७) (असंसू. १२.८४–८५)
गुणः–कटुस्तिक्त उष्णो लघु रुच्यो दीपनः पाचनः कफवातघ्नो, वक्त्रवैरस्यनाशनो मुखजाड्यहरो, वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनस्तृष्णापहः
(असंसू. १२.८४–८५) (ध. ३.३७)
हिं. शीतलचिनी, कबावचिनी, चिनीकबाब.
म. कंकोळ. कापूरचिनी.
गु. चणकबाब.
न., कङ्कोलक, ना. वनस्पति० बृहत्कङ्कोलकम् कङ्कोलकम् (सुसू. ४६.२०२)

कङ्गु–पु., तृणधान्य० (अहसू. ६.११) तज्जाततण्डुलभक्तः पीतवर्णो जायते (र. ११.१३१)
(सुचि. ३१.५)
गौरकृष्णषष्टिकः, सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यः
(सुसू. २०.५)
वरकसदृशः स्थूलकङ्गुर्नाम वरकः । गुणाः–मधुरः कषायः शीतलो रूक्षः स्वादुविपाको रुच्यो भग्नास्थिबन्धकृत् पित्तघ्नो वातकृद्दाहभग्नाऽस्थिशमनः
(ध. ६.९०)
तस्य चूर्णं रोपणार्थं प्रशस्यते (सुसू. ३७.२८)

–कूर–पु., प्रियङ्ग्वोदनः (असंउ. ४९. पृ. ४०८)

कङ्गुक–पु., वनस्पति०=कङ्गु (ध. ६.९०)

कङ्गुणी–स्त्री., वनस्पति०, ज्योतिष्मती
(र. ३०.१५–२२)
तेजोवती (र. १०.७२–७६) (रा. ३.३९२)
प्रियङ्गुः (रा. १६.१४२)

–पत्र–पु., वनस्पति०, पण्यन्धः (रापरि. ८.५८)

कङ्गुनी–स्त्री., वनस्पति०, प्रियङ्गुः (रा. १२.२८)

कङ्ग्विष्टिका–स्त्री., कङ्गुधान्यस्य पिष्टमयी इष्टिका
(असंउ. ४९. पृ. ४०८)

कच–पु., केशः (सुचि. १.१०८)
न., वनस्पति०,=वालकम्, (ध. १.४७)

–रिपुफला–स्त्री., वनस्पति०, शमी (रा. ८.१५२)

–शतन–न., केशपतनम् (असंसू. ३१.३०)

कचामोद–न., वनस्पति०, वालकम् (रा. १०.६९)

कचोर–पु., वनस्पति०,=कर्चूरः (र. २१.१७–७३)

कच्चक–पु., वनस्पति०, ' कवहक ' इति मालवके प्रसिद्धः । ' स च मध्यलेखानिचितऋजुपत्र ईषद्वक्तमूलः (ड) अश्मरीचिकित्सायामुपयुक्तः ।
(सुचि. ७.६)

कच्छ–पु., न., देश०, अनूपो देशः, 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः। (अमरकोषः) तथा कच्छान्तरुहा नीलदूर्वा (रा ८.२३७)

–प–पु., जलस्थलोभयचरः प्राणि०; कूर्मः (चचि. १९.३८) (धनि. ६.४३०) अस्य मांसरस उपयुक्तः, तद्गुणाः स्निग्धो बलदः पुंस्त्वकरो वातघ्नश्च (ध. ६.४३०)
वनस्पति०–तूणि (रा. १२.३१)
रोग० अयं कफजस्तालुगतरोगः, तल्लक्षणम्—कूर्मवदुन्नतोऽल्पवेदनश्चिरजः पाण्डुरवर्णः शोथस्तालुदेशे भवति। (सुनि. १६.४३ असंउ. (पृ. १७९)
रोग० क्षुद्ररोगः कच्छपिका (र २५.१)

–पयन्त्र–न., पारदस्य स्वेदनार्थं यन्त्रम्, यन्त्रस्वरूपम् विस्तीर्णे जलपूर्णे पात्रेऽन्यं विस्तीर्णं खर्परं स्थापयित्वा तन्मध्ये षण्मृत्कर्पटसन्धिलिप्ता मूषा संस्थाप्या। प्रथमतो मूषायां बिडं तन्मध्ये पारदं च स्थापयित्वा मूषामुखे लघुलोहकटोरिकां निधाय लेपं कुर्यात्। खदिराङ्गारैर्घटकर्परं पूरयित्वा प्रज्वालयेत्। एतत्प्रकारकं यन्त्रं कच्छपयन्त्रमित्युक्तम्। अनया रीत्या कच्छपयन्त्रस्थः स्वेदितः पारदोऽन्यधातुना सह मर्दितो द्रुतं जरति। (र. ९. १३–१५)

कच्छपिका–स्त्री., प्रमेहपिडका० कच्छपिकैषा भोजे 'कूर्मिका'। (सुनि. ६.६) लक्षणम्, सा महावास्तुपरिग्रहाऽवगाढाऽर्तिनिस्तोदा श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठनिभा पिडका वर्तते। (चसू. १७.८३) (असंनि. १०.२०)

–पी–स्त्री., क्षुद्ररोग० (सुनि. १३.८) (सुचि. २०.५) लक्षणम्–वातकफोत्थाः कच्छपपृष्ठवदुन्नताः पञ्च वा षड् वा कठिनाः पिडका वर्तन्ते। पिडकायुक्तं रोगं कच्छपीमिति विद्यात्। (सुनि. १३.८) (असंउ. ३६ पृ. २६८) चिकित्सा–पूर्वं स्वेदयेत्। मनःशिलातालकुष्ठदारुकल्कैर्लेपं कुर्यात्। परिपाकगतां पिडकां भित्त्वा व्रणवत् समुपाचरेत्। (सुचि. २०५.६) बालानां कच्छपिका श्लक्ष्णोन्नता कफप्राया भवति (काचि) द्विव्रणीय (पृ. १२६)

–रुहा–स्त्री., वनस्पति मुस्ता (रा. ६.६२)

कच्छान्तरुहा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः श्वेतदूर्वा

कच्छु–पु., स्त्री., रोग० कच्छुः कण्डूः (सुनि., ५..१५)

–ग्री–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (रा.४.१२)

कच्छुरा–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (चसू. ४.१५-३२)
फणिहारि–धन्वयासकाख्यः (चसि. ८.३८)
फणिकारी कच्छुरा (इन्दुपाठः)
(असंउ. २२ पृ. १६४)
बहुकण्टका (सुउ. ४०.७४) धन्वयासः (ध. १.२०)
शूकशिम्बिः शूकशिम्बा (सुसू.३९.७) (सुउ. ४०.११०)
मारुतातीसारे कच्छुरामूलैश्च साधितं क्षीरं भोजने पथ्यम्। (सुउ. ४०.११०) पिच्छाबस्त्युपयुक्तमेकं द्रव्यम्। सदधिका कच्छुरा–कङ्कतिकानाम्नी शूलातिसारनाशिनी (सुउ. ४०.११३)

कच्छू–स्त्री., रोग० क्षुद्रकुष्ठेष्वेकम्। लक्षणम् स्फिक्पाणिपादप्रभवाः सदाहाः स्फोटाः कच्छूपदवाच्याः। (सुनि. ५.१५) चिकित्सा–नक्तमालजं तैलमभ्यङ्गार्थमुपयुज्यते। कटुकौषधिसिद्धेन तैलेन अभ्यङ्गो हितः। (सुचि. २०.१७–१९)

–ध्मा–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (ध. २.९)

–रा–स्त्री., वनस्पति० कच्छुरा द्र० 'कच्छुरा' (अहसू. १५.३८)

कच्छोत्था–स्त्री., वनस्पति० कच्छरुहा मुस्ता (रा.६.५९)

कज्जल–न., अञ्जनद्रव्य० दीपशिखोद्भवः, तुत्थकं कज्जलतुल्यभागं ताम्रपात्रे सर्पिर्युतं घृष्टं अञ्जनं प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपयुक्तम्। (सुउ. १२.५३)
कज्जली (र. २०.६४–६७)

कज्जली–स्त्री., पारदकल्प० "धातुभिर्गन्धकाद्यैश्च निर्द्रवैर्मर्दितो रसः–(पारदः) सुश्लक्ष्णः कज्जलाभोऽसौ कज्जलीत्यभिधीयते॥" (र. ८.५)

–बन्ध–पु., पारदबन्ध० पारदगन्धयोः सुश्लक्ष्णा कज्जली तत्तद्रोगनाशकविशिष्टौषधिसंयुक्ता कज्जलीबन्ध इत्युच्यते। 'कज्जलोपमा कज्जली तत्तद्योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते।' (र. ११.७५)

कञ्चीपद–पु., देश० कुरुक्षेत्राद् दक्षिणदेशः। द्रविडचोलदेशस्य राजधान्यासीत्; अद्यत्वेपि 'काञ्ची-काञ्चीवरम्' इति प्रसिद्धैव।
(काखि. २५.१२ पृ. ३६४ का उपोद्घाते पृ. ६९)

कञ्चुक–पु., पारददोष० कञ्चुकः आवरणम्, पारदस्य पर्पट्याद्या गुणाच्छादका दोषाः (र. १.८१)
नागवङ्गादिसप्तदोषाः (र. ८.६४) सप्तकञ्चुकाः–

' पर्पटी, पाटिनी, भेदी, द्रावी, मलकरी, अन्धकारी, ध्वांक्षी, इति सप्तकञ्चुकाः (र ११.२२)

कञ्चुका–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (ध १.२७२)

कञ्चुकिन्–पु., वनस्पति० हरिमन्थः चणकः (रा १६.१५६) यवः (रा १६.१२४)

कञ्चुकी–स्त्री. वनस्पति० क्षीरकञ्चुकी, क्षीरीवृक्ष इति यावत् (र ११.५३-५७) क्षीरान्विता मूलकतुल्यकन्दा सप्ताष्टपत्रा सितरक्तकाण्डा श्वेतवपुः शब्दात् घनगर्जितात् पल्लवान् बिभर्त्येषा रसायनविधिना उपयुज्यते । (असंउ. ४९. पृ.४२७)

कञ्चोली–स्त्री., चषकः, कटोरी, वाटिका (र. ७.२१)

कञ्ज–न., वनस्पति०, कमलम् (र. १०.२४३)

कञ्जीर–पु., वनस्पति०, गण्डीरः ' कडवा सुरण ' इति म. भाषायाम् । (असंसू. ७.१४९)

कट–पु., कटिः इत्यमरः किलिञ्ज–तृणम्– (गी.ल.को.)

–कटेरी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (चचि. ६.३२) (ध. १.१६) (असंचि. १४)

–पूतना–स्त्री., बालग्रह० शीतपूतना (काचि.) बालग्रहः

–भा–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिका (असंउ. ४५)

–भी–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (ध. १.२६७) कृष्णश्वेतभेदेन द्विधा, तत्र श्वेताऽधिकगुणा, कटुः, उष्णा, वातकफहरा, गुल्मविषाऽऽध्मानशूलाऽजीर्णरुजाशमनी । केचित् कटभीं गिरिकर्णिकां आहुः । (रापरि. ९.३७ सुक. ५ १७-१८) लताशिरीषः, कण्टकशिरीषः, लघुज्योतिष्मती लता (सुचि. ३१.५)

–शर्करा–स्त्री., अग्निदग्धशर्करा (सुचि. २३.४) अदग्धसुधापाषाणः गाङ्गेष्टी (सुसू. ११.११)

कटङ्कटेरी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (चचि. ६.३२) (ध. १.५९) (असंचि.१४)

कटत्र–न., कषायितश्रमेखण्डः (र.७.५-९)

कटम्भर–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११४)

(कटम्भरा)–स्त्री., रेवतीग्रह० जातहारिणी; अन्यलक्षणम्–

–' विनापुष्पं तु या नारी यथाकालं प्रणश्यति । कृशा हीनबला क्रुद्धा साऽपि चोक्ता कटम्भरा ॥ ' (काक. रेवतीकल्प० ३२.३३)

वनस्पति० महापैशाचिकघृते एकं द्रव्यम्; कटभी (चक्र. चचि. ९.४७) महाबला (रा. ४.४२४)

कटाह–पु., भाण्ड० लोहादिनिर्मितं भाण्डम् (सुसू. ५.६) व्रणकर्मोपयोगार्थं भाण्डम् (असंसू. ३८.१५) लोहपात्र० द्रवस्वेदार्थमुपयुज्यते (सुचि. ३२.१३) महति कटाहे कुण्डे द्रोण्यां वाऽवगाहयेत् (असंसू. २६.६) तैलपात्र० (सुचि. २५.४०) पाठभेदः

कटि–स्त्री.. शारीर० वातस्थानेष्वेकम् (चसू. २०.८) विस्तारप्रमाणम्–अष्टादशाङ्गुलविस्तीर्णा कटी (सुसू. ३५.१२) अस्थिघटितः श्रोणिपर्यायो भागो य ऊरुनलकास्थिभ्यां संधीयते । "कंबर" इति म. भाषायाम् । (अहसू. १२.१) श्रोणि–वातः, **श्रोणिगुदसंश्रयः** तदुपरि अधोनाभेः पक्वाशयः (सुसू. २१.१६) पक्वाशयकटीसक्थिस्थानं वातस्य (अहसू. १२.१) **मुहुश्चारी** (वातः) **पक्वाधानगुदालयः** (सुनि. १.९) **पक्वाधानालयोऽपानः** (सुनि. १.१५) **पुरीषाधानं**.....पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च (चशा. ३.६) **पुरीषाधारश्च**.....पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च (चशा. ७।१०) कफामपित्तपक्वानां **वायो**मूत्रस्य (अहशा. ३।११) आशयास्तु **वाताशय**–पक्वाशयः मूत्राशयः... (इति सुशा. ५.८)

–कपाल–न., अस्थि० कपालसदृशं अस्थि (सुनि. ४.४ असंशा. ५.७५)

–कपालवेदना–स्त्री., रोगलक्षण० कटीरुजा (सुनि. ४.४)

–ग्रन्थि–पु., लक्षण० कटिप्रदेशस्थो ग्रन्थिः (र. २४.१३१)

–ग्रह–पु., रोगलक्षण० कटेर्ग्रहः (चचि. ११.१३) वेदना० कट्या ग्रहणम् (सुउ ४०.१०८) कट्याश्रितः शूलः (र. १८.१२८)

–दौर्बल्य–न., लक्षण० कटिस्थानस्य दौर्बल्यम् (चचि.१४.१३३)

–भग्न–न., रोग० वङ्क्षणसन्धेर्विश्लेषणम्, चिकित्सा (कटिभङ्गे) विश्लेषितमस्थि यद्यधोगतं स्यात् तर्हि तदूर्ध्वं कृत्वा बध्नीयात् । ऊर्ध्वगतं चेदधः–कृत्वा बध्नीयात् (सुचि. ३२.८)

–वर्ष–पु., कुरुक्षेत्रात् पूर्वदेशः, वङ्गदेशे वर्धमानप्रान्ते वर्तमानः कटवाप्रदेशोऽयमित्युच्यते । (का उपोद्घाते पृ. १३७) (काखिल. २५.७)

–शूल–पु., न., रोग० चतुःषष्टिसूतिकारोगेष्वेकः (काखि. ११.७–१४)

–सङ्ग्रह–पु., रोगलक्षण० कटिग्रहः (चसू. १४.२२)

कटिकतरुण-कटिकतरुणमर्मन्–न., शारीर० मर्म० पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटिकतरुणे नाम मर्मणी। (सुशा. ६.२६) पृष्ठमर्मेदम् (सुशा. ६.६) श्रोणिकाण्डास्थिस्थानेऽस्थिमर्म (सुशा. ६.७) वामदक्षिणभेदेन द्वे मर्मणी–अर्धाङ्गुलप्रमाणं कालान्तरप्राणहरं च (असंशा. ७.१६)

कटिल्ल–न., वनस्पति० दीर्घपत्रा वर्षाभूः (अरु,) रक्तपुनर्नवा (हेमाद्रि अहसू. ६.७८)
कारवेल्लम् (र. २.२७.२८)

कटी–स्त्री., कटी (सुसू. ३५.१२)

कटु–पु., गुण० रस० तिक्तः, कटुः षड्सेष्वेकः (चसू. १.६६) ऊषणम् (सुसू. ४६.३३६) कफप्रशमनः
कटुः स्यात् कटुतिक्तयोरित्यमरः। रसलक्षणं–उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां कटुः। स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च॥
तिक्तरसः पित्तप्रशामकः
(चसू. १.६० र. २.७९ अहसू. १२.५२)
योग० त्रिकटु, शुण्ठीमरिचपिप्पली चेत्येषां समभागमिश्रितं चूर्णम्। (र. ५.१९)
पु., वनस्पति० राजिका (र. १०.७३–७६)
अपामार्गः (र. ३.३८८)
कटुका (रा. ६.५६)
चित्रकः (ध. २.८०)
स्त्री., कट्वी (रा. परि. ३.४३)
(कट्वी–स्त्री., वनस्पति० कटुरोहिणी (सुसू. ४४.२६)
कटुका (सुचि. ३७.३७ रा. ६.५६)
काकमाची (ध. ४.२१)

–कामता–स्त्री., लक्षण० कटुरसस्येच्छा (चचि. १६.२५)

–ग्रन्थि–स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीमूला (ध. २.७५)
शुण्ठी (रा. ६.१२९)

–तिक्तक–पु., वनस्पति० शणः (रा. परि. ४.१०)

–तिक्तका–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (ध. १.२००)

–तुण्डिका–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (रा. ३.३०२)

–तुम्बिका–तुम्बिनी–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी (र. ११.५२–५७) (रा. ३.२३४)

–तुम्बी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्तातीक्ष्णा हिमा (भाप्र.) कटुविपाकी (भाप्र.) वामका हृद्या (भाप्र.) वातजित् (रा.) पित्तघ्नी (भाप्र.) कासश्वासच्छर्दिविषज्वरशोफव्रणशूलघ्नी, अपरासङ्गे योनिधूपनार्थम् (सुशा. १०.२१) पल्लवा लेपनार्थम् (चचि. १४.५७)
(ध. १.१७०)

–तैल–न., भैषज्यद्रव्य० सर्षपतैलम् (अहसू. ७.४१) तत् प्लीहनाशने परमौषधम्। कटुतैलं योनिधूपनद्रव्येषु मिश्रणार्थम्। (सुशा. १०.२१) गुणाः–कटुतिक्तमुष्णं पित्तदाहकरं ग्राहि कृमिकण्डूकुष्ठमेदोवातरोगेषु शस्यते। (र. १७.१९)
कटुरसयुक्ततैलम्, निम्बाऽतसीकुसुम्भमूलक–जीमूतकवृक्षककृतवेधनाऽर्ककम्पिल्लकहस्तिकर्णपृथ्वीकापीलुकरञ्जेङ्गुदीशिग्रुसर्षपसुवर्चलाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि। तद्गुणाः–तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगाऽपहराणि चेति। (सुसू. ४५.११५)

–त्रय–न., योग० त्रिकटु (ध. ७.६) शुण्ठी मरीचं पिप्पली (र. १३.४९) इति त्रीण्येतानि त्रिकटुपदेन व्यपदिश्यन्ते।

–त्रिक–न., त्रिकटु (सुसू. ३७.१३–१५) (रा. २२.४)

–त्रिकाढ्य–वि., त्रिकटुप्रधानः (सुउ. ४०.१४५)

–दला–स्त्री., बनस्पति० कर्कटी (रा ७.२५२)

–निष्पाव–पु., वनस्पति० निष्पावभेदः–निष्पावः (रा १६.१७७)

–पत्र–न., वनस्पति० पर्पटः (रा ५.६६)

–पत्रक–पु., स्त्री., वनस्पति० सितार्जकः, अर्जकभेदः, कुठेरकः (रा. १०.८५)
सुमुखः
वनबर्बरिका (ध. ५.५८)

(–पत्रिका) स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रचञ्चुः (रा परि ४.२२)
कारी (रापरि. ८.२६)

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० क्षीरिणी काञ्चनक्षीरी (ध. २४० १)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० क्षीरिणी कांचनक्षीरी- (ध. १–२४०)

-फल-पु. स्त्री, न, (फल) वनस्पति० पटोलः (रा ३.७३)

-फला-स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी (रा ३.२३४) काकमाची (ध. ४.२१) लताकस्तूरी, अन्ये दक्षिणापथप्रसिद्धं सुगन्धि पद्मलमाहुः (चक्र. चचि. २८.१५२) श्रीवल्ली (रापरि. ८.३३)
न., (फलम्) वनस्पति०-कट्फलम् (र. २७.१२६)
-कङ्कोलफलम्-कङ्कोलः (असंसू. १२.८४.)

-बीजा-स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (रा. ६.१०९)

-भद्र-न., वनस्पति० शुण्ठी (ध. २.८२)

-भेदिनिका-स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः, कृष्णजीरकः (रा. ६.१०४)

-मत्स्यक-पु., जलचरप्राणि० शफरी शुष्कमत्स्यो वा (चक्रः चचि. ३०.१२१)

-मूल-न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११२)

-रस-पु., रस० ऊषणः रसः (सुसू. २१.११) श्लेष्मघ्नरसः श्लेष्मणः पैच्छिल्यं गौरवं चाशु निहन्ति । (काखि. ६.२५) तस्य कर्म-गलामयो-दर्दकुष्ठालसकशोफजित्, व्रणावसादनः क्लेदमेदो वसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः; दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणश्छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः । अतियोगेन तृष्णा शुक्रबलक्षयं मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथां करोति । (अहसू. १०.१७-१९) कफप्रशमनः (चसू. १.६६) रसलक्षणम् जिह्वाग्रमुद्वेजयति, चिमचिमां कुर्वन् अक्षिनासास्यं स्रावयति, कपोलौ दहन्निवावतिष्ठते । (अहसू. १०.५)

-रोहिणी-स्त्री., वनस्पति० स्तन्यशोधनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२ (१८) लेखनीयगणेष्वेकम् (चसू. ४.९ (३) कटुका (सुसू. ३७.१६) (अहसू. १५.१५)

-लावण्य-न., कटुत्वं लवणत्वं चेति । (असंसू. १२.३९)

-वार्ताक-पु.,वनस्पति० बृहतीभेदः, वनवृन्ताकी, वन्यवार्ताकीफलम् (र. १०.७३-७६)

-वार्ताकिनी-स्त्री., वनस्पति०, कण्टकारीभेदः कासघ्नी (ध. १.९९)

-वार्ताकी-स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः लक्ष्मणा (रा. ४.१२४)

-विपाक-पु., विपाक०, द्रव्यस्य त्रिविधेषु विपाकेष्वेकः, (असंसू. १.३८)

-स्नेह-पु., वनस्पति०, सर्षपः (ध. ४.४२)

कटुक-पु., रस०, कटुस्तिक्तो रसः, यथा शुण्ठीमरिचादिद्रव्यस्य (चसू. १.६५ सुसू. ४२.९ सुसू.४६.३७९)
कटुः, पु., वन० रस०
पु., वनस्पति०, सर्षपः (ध. ४.४२)
स्त्री., वनस्पति०, कटुका (ध. १.३७)
न., वनस्पति०, त्रपुसम् (ध. १.१७५)
खदिरसारः (सुचि. २४.२१)
लताकस्तूरी तांबूलद्रव्येष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ५.७७) (सुचि. ४६.२०२) (र. १३.६५)
मरीचम् (रा. ६.१३६)
वि. कटुरसात्मकं यथा मरीचादि(सुसू. ४६.३२१) 'प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यं चाऽमृतापटोलनागरपिप्पलीलशुनेभ्योऽन्यत्र ।' (असंसू. १८.२६)

-गण-पु., कटुकद्रव्याणां संग्रहः । कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकं कुठेराद्या हरितकाः (अहसू. १०.३०-३१) (असंसू. १८.२४)
द्र० कटुकवर्गः

-दौग्धिक-न., वनस्पति० (असंउ. ४४ पृ. ३६८)

-प्रियता-स्त्री., रोगलक्षण० (चनि. १.३३)

-फल-न., वनस्पति० लताकस्तुरिकाफलम् (सुसू. ४६.२०२)

-बिन्दु-पु., अवलेहकल्प०, शोथप्रमर्दनः (काखि. १७.४४-४५)

-रसयोनि-स्त्री., कटुरसस्योत्पत्तिस्थानम् (असंसू. १८.३०)

-रोहिणी-स्त्री., वनस्पति०, कटुका (ध. १.३७)

-वर्ग-पु., कटुकरसद्रव्यसंग्रहः, 'पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रुमधुशिग्रुमूलकलशुनसुमुखशीतशीतशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकावल्गुजफलचण्डागुग्गुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि द्रव्याणि सालसारादिश्चप्रायशः कटुको वर्गः ।' (सुसू. ४२.११)
कटुकस्कन्धः (चवि. ८.१४२) द्र० कटुकस्कंध.

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति०, कट्वी (रा. परि. ३.४३)

-सर्पिस-न., सिद्धयोग०, सिद्धघृतकल्पः (काक विशेषकल्प पृ. २२३)

–सात्म्यता–स्त्री., भोजने कटुरसस्य अधिकाभ्यासः, तस्या गुणदोषाः 'पक्तेरुपचयं कार्श्यं रौक्ष्यं शुक्रबलक्षयम् । पित्ताऽनिलप्रवृद्धिं च कुर्यात् कटुकसात्म्यता ॥' (काखि. ५.४५)

–स्कन्ध–पु., द्रव्यसंग्रह०, कटुकवर्गः, 'पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदार्द्रकविडङ्गकुस्तुम्बुरुपीलुतेजोवत्येलाकुष्ठभल्लातकाऽस्थिहिङ्गुनिर्यासकिलिममूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुकखरपुष्पभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकाऽर्जकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकक्षारमूत्रपित्तानि इति ।' (चवि. ८.१४२) द्र० कटुकवर्ग.

कटुका–स्त्री., वनस्पति० कटुरोहिणी (सुउ ४२. १११) (असंउ ४२) **गुणाः**–तिक्ता कटुः शीतला लघु रूक्षा भेदनी दीपनी हृद्या (भा. प्र.) रेचनी पित्तकफहरी रक्तदोषदाहाऽरोचकश्वासविषमज्वरहरा (ध. १.३७)

हिं.—कुटकी.
गु.—कडु.
म.—कुटकी, काळी कुटकी.
बं.—कटकी.
फा.—खर्वके सियाह.

कटुकाद्यघृत–न., सिद्धघृत० पांडुरोगे उपयुक्तम् (चचि. १६.४७-४९)

कटुकालाबु–स्त्री., वनस्पति०, तिक्ततुम्बी (सुशा. १०.२१) (चक. ३.३)

कटुकालाबूनी–स्त्री., कटुकालाबूनी;

कटुकालाम्बुनी–स्त्री., कटुकालाबुनी;
वनस्पति० तिक्त तुण्डी (रा. ३.३०२)

कटुकास्यता–न., रोगलक्षण०, पित्तज्वरस्य एकं लक्षणम्, मुखस्य कटुरसत्वम् (चनि. १.२४)

कटुकिका–स्त्री., वनस्पति० तन्मूलकल्कोऽर्शरोगे तक्रेणोपयुक्तः (असंचि. १०)
अरण्यकासमर्दिका, कटुतिक्तपुष्पाऽर्कफलाकारफला प्रसिद्धा (ड. सुसू. ४६.२६२)
तिक्तारिका (ड. ४६. २६२)

कटुवल्ली–(रापरि. ३.४४) गुणाः–'कटुका शीता रुच्या कफनाशनी श्वासार्तिज्वरराजयक्ष्मनिवारिणी (रापरि. ३.४४)

कटूषण–न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११२) शुण्ठी (रा. ६.१२९)

कटोरिका–स्त्री., शरावः (र.९.१३–१४)

कटोरी–स्त्री., चषकम् (र. ७.१२)

कट्फल–पु., न., वनस्पति० वेदनास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८–४७) सन्धानीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.९ (५) शुक्रशोधनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२–२०)
व्रणाऽवचूर्णनार्थम् उपयुक्तं द्रव्यम् (काचिद्व्रणीयअ० १८)
सोमवल्कलः (सुसू. ३८.४३)–लघुकाश्मर्यः, जातिपत्रिकावदस्य बीजोपर्यपि कोमला त्वग्वर्तते, सैव रामपत्री (अहकोष) गुणाः–रक्तपित्ते पिपासां दाहं च शमयति (चचि. ४.७३) कटुस्तुवरस्तिक्त उष्णस्तीक्ष्णो रुच्यः क्षुत्करः (शालिग्राम नि.) कफवातघ्नो गुल्ममेहाऽग्निमान्द्यदाहज्वराऽर्शोऽग्रहणीपाण्डुकासश्वासगलामयमुखरोगादीनां नाशकः (ध. १.७३)

हिं.—कायफल;
म.—कायफळ, कुम्भ्याचे फळ;
गु.—करी फल (नाड.) कायफल (शालि.)
बं.—कायफल, कायशाल (शालि.)
फा.—उदुलवर्क (शालि.)

पु., कुमुदा, रोहिणीभेदः (अहसू. १५.२६)
न. काश्मरी (ड. सुक. ५.७५)
कङ्कोलम् (रा. १२.६९)
(कट्फला)स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा ४.१२१)
वार्ताकी (रा ७.१२८)
काश्मरी (रा. ९.१४६)
देवदाली (रा. ३.२४२)
मृगाक्षी (रा. ७.२५)
काकमाची (रा. ४.३५)

कट्वङ्ग–पु., वनस्पति०, अरलुः, स्योनाकः, श्योनाकः (चचि. ३०.९२) (सुउ. ६१.२३) (ध. १.११४) टिण्टुकः
तिन्दुकः (असंचि. ५)

कट्वम्लरसत्व–न., पित्तस्य कर्म (असंसू. २०.२०)
वनस्पति–तिक्ततुण्डी, बिम्बी (रा. नि. ३.३०२)

कट्वर–न., सस्नेहं तक्रम्, 'सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम् ।' (सुसू. ४६.४५१) (चचि. ३.२६७) 'अन्ये तु सौवीराम्लमथात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः ।' (ड. सुसू. ४६.४५१)
निर्जलं तक्रमम्लं वा तक्रम् (चनि. २.४)
अस्नेहं दधि (सुसू. २१. २१)

कट्वलाबु–पु., वनस्पति०, कटुतुम्बी (र. ५.१६५)
कट्वी–स्त्री., वनस्पति कटुरोहिणी (सुसू. २४.२६)
कटुका. (सुचि. २७.३७ रा. ६.५६)
कट्व्यञ्जनी–स्त्री., वनस्पति० कटुका (रा. ६.५६)
कठिञ्जर–पु., वनस्पति० कुठेरकः, अर्जकः (रा. १०.८४)
कठिन–वि., गुण० काठिन्यकरः गुणः मृदुविरुद्धः, त्वगिन्द्रियग्राह्यो गुणः (चशा. ६.१०) 'दृढने कर्मणि शक्तिः' (हे अहसू. १.१८) पार्थिवद्रव्य गुणः (सुसू. ४१.४ (१)
पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११७)
–**फल**–पु., वनस्पती० कपित्थः (रा. ११.१५५)
कठिना–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)
–**संस्थान**–वि., कठिनं स्वरूपं यस्य, स गुल्मः, 'गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः । अविवर्णः स्थिरश्चैव ह्यपक्को गुल्म उच्यते ॥' (चचि. ५.४०)
कठिल्ल–पु., वनस्पति० पुनर्नवा, कठिल्लकः (चक्र.) (चचि. ३.१८९)
कठिल्लक–पु., न., वनस्पति० पुनर्नवा (ध. १.२७४)
पुनर्नवाभेदः, रक्तपुनर्नवा (चक्र.चचि. ३.१८९)
पुनर्नवाशाकम् (डसुउ. ३९.१५१)
न., फलशाक० कारवल्ली, तस्य फलं कारवेल्लकम् (र. १८.४७–५२)
कडर्य–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १. ३४)
कडायखञ्ज–पु., रोग० कलायखञ्जः (अहनि १५–४६)
कडार–न., खनिजधातु० मुण्डलोहम् (ध.६. २७)
मृदु कुण्ठं कडारं च त्रिविधं मुण्डमुच्यते । यद्भृतं भज्यते भङ्गे कृष्णं स्यात्तत्कडारकम् ॥ (र. ५. ७४–७७)
कण–पु., 'कुण्डक्र–' इति ख्यातः, खण्डतण्डुलः, 'कणी इति म. भाषायाम् (चशा. ८.३४) (असंउ. १ पृ. ५)
वनस्पति० पिप्पली (अहसू. १५.१)
(कणा) स्त्री., पिप्पली (र. २.७५ ध., २.७३)
–**गुग्गुलु**–पु. निर्यास० गुग्गुलु० (रा. १२.१८६)
गुणाः–कटुरुष्णः सुरभिः रसायनः
शुक्लजीरकः (ध. २.६८)
बृहत्पाली, वन्यजीरकः (ध २.७२)
वातकफघ्नः शूलगुल्मोदराऽऽध्मानघ्नः । (रा. १२.८६)
–**जीरक**–पु., वनस्पति० जीरकभेदः, शुक्लजीरकः (ध. २.६८)
कृष्णजीरकः (ध. २.७०)
–**जीर्णा**–(स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः, श्वेतजीरकम् (रा. ६.१०२)
–**धूप**–पु., धूपकल्प० कणायुक्तो बालग्रहापहः
–**भ**–पु., कीट० मक्षिका चतुष्पदः (ड.सुक ८.२६) मुखसंदंशविषः (सुक. ३.५) अस्य विषयुक्तदंशेन विसर्पादिलक्षणं भवति (चचि. २२.१५२) दंशलक्षणानि शूलशोफविसर्पवमथुज्वरा जायन्ते दंशः कर्णिकाकारः श्यावरक्तो विशीर्यते च (असंउ. ४३) (मा.नि. विषरोग ४९) 'सर्वे एव कणभाः साध्याः ।' (ड. सुक ८. २६–२७)
–**भक**–पु., सविषकीट० अग्निप्रकृतिकः पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८) (असंउ. ४३ पृ. ३५१)
–**वीरका**–स्त्री., मनः शिलाप्रकारः, 'मनःशिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरका । खण्डाख्यातेति ...।' (र. ३.९६) लक्षणम्–'तेजस्विनी च निगौरा ताम्राभा कणवीरका ।' (र. ३.९८)
कणक–पु., धान्यनिस्तुषः (चशा. ८.४७)
–**क्षार**–न., खनिजद्रव्य० टङ्कणक्षारः (रा. ६.२९)
कणाह्वा–स्त्री., वनस्पति० शुक्लजीरकः (रा. ६.१०२)
कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० तरणी (ध. ५.१४५)
धान्यावयव० कुण्डकाज्जातः स्थूलतण्डुलावयवः (चशा. ८.३४)
कण्ट–न., खनिजधातु० मुण्डभेदः (ध. ६.२७)
(कण्टा)–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टकः (रा. १०.२४०)
–**तनु**–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२१)
–**दला**–स्त्री., वनस्पति०केतकी (रापरि १०.१)
–**पत्रफला**–स्त्री., वनस्पति० ब्रह्मदण्डी (रापरि ५.४७)
–**पत्रिका**–स्त्री., वनस्पति० वार्ताकी (रा. ७.१२७)
–**पाद**–पु., वनस्पती० विकङ्कतः (रा. ९.५४)
–**पुङ्खा**–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुरुष्णा कृमिशूलविनाशिनी (रापरि. ४.९ पृ. ३३५)
–**पुङ्खिका**–स्त्री., वनस्पति० कण्टपुङ्खा (रापरि. ४.९)
–**फल**–पु., वनस्पती० क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.३३१)
गोक्षुरः (ध., १.१०३)
धत्तुरः (रा. १०.१२)
लताकरञ्जः (रापरि. ८.२४)
पनसः, (रापरि. ११.९)

-फला-स्त्री., वनस्पती० कर्कोटकी (रा. ७.२७६)
कारवल्ली (रा. ७.२७८)
जीमूतकः, देवदाली (रा. ३.२४३)
-फली-स्त्री., वनस्पती० झिञ्झिरीटा
(रापरि. ४.५३)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पती० श्रीवल्ली (रापरि. ८.३०)
-वार्ताक्-न., वनस्पति० कण्टमयी वार्ताकी
(र. १०.७३)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० तेजः फलः (रापरि. ११.१८)
-वृन्ताकी-स्त्री., वनस्पति० वृन्ताकी, वार्ताकी
(रा. ७.१२७)
-वेध्य-वि., कण्टकवेधि, कण्टकेन यथा विध्येदेवं भस्मार्थं घनाघातेन तनूकृतं लोहताम्रादिधातुपत्रम्
(र. १२.१४८-१५१)
वृन्ताकी, वार्ताकी (रा. ७.१२७)
त्रपुसम् (रा. २.४६)
कण्टपुङ्खा (रापरि. ४.९; पृ. ३३५)
द्र० कण्टपुङ्खा
बर्बुरः (रापरि. ८.१२)
वंशः (रा. ७.२१४)

कण्टक-पु., वनस्पत्यंग०, तीक्ष्णाग्रं वनस्पत्यङ्गम्
(चसू. १.७३)
पु., वनस्पति० गोकण्टक (इन्दु असंउ. २८ पृ. २०३) गोक्षुरः (रा. ३.१३०)
बिल्वः (ध. १.१०७)
रोग० जिह्वागतरोग० जिह्वागतकण्टकाख्यो रोगः, स त्रिभिर्दोषैस्त्रिविधः । लक्षणम्-वातेन जिह्वा स्फुटिता शाकच्छदनप्रकाशा च भवति । पित्तेन जिह्वा परिदह्यते सरक्तैः कण्टकैश्च व्याप्ता भवति । कफेन जिह्वा गुर्वी बहला मांसोद्गमैः शाल्मली-कण्टकाभैः व्याप्ता भवति (सुनि. १६.३६)
न., प्राणिनः अङ्ग० मत्स्यादिजं कण्टकम्, यथा मत्स्यास्थि (अहसू. २८.३७)
रोग० कदरः (गयिटीकायां भोजः)
द्र० कदर. (सुनि. १३.३०-३१) द्र० 'कदर'
-त्रिक-पु., वनस्पपति० गोक्षुरः (ध. १.१०२)
-द्रुम-पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२११)
-प्रावृता-स्त्री., वनस्पति० कुमारी (रापरि. ५.११)
-मूल-न., वनस्पत्यङ्ग० करमर्दाऽऽदिकं कण्टकपञ्च-मूलम् (ड.) कण्टकसंज्ञगणः (सुचि. ३७.३८)
-वेध्य-वि., कण्टकेन वेध्यम्, बब्बूलादिकण्टकैर्वेध्य-स्वधर्मविशिष्टं पत्तलम् धातुपत्रम् (र. ५.१७)
-शूकभूत-वि., शूकं नामाऽग्रम्, कण्टकस्याग्रमिव स्थितः (सञ्जातः) (सुनि. १६.५१)
-संज्ञगण-पु., कण्टकाख्यगणः (सुसू. ३८.३७) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति गुणाः-'परं कफानिलहरं मधुराऽनुरसं पक्वाशय-विशोधनम्' (ड. सुसू. ३८.७३)

कण्टकाख्यपञ्चमूल-न., गण० कण्टकसंज्ञगणः, कण्टकाऽऽख्यं तु श्वदंष्ट्राशतावरीसैर्यकहिंस्राकरमर्दैर्भवति । सर्वदोषहरं च तत्पञ्चमूलम्
द्र० 'कंटक संज्ञ गण' (असुसू. १२.६२)

(कण्टकाढ्या)-स्त्री., वनस्पति० शाल्मली
(ध. ५.१२७)
कुब्जकः, (ध. ५.१४६)

कण्टकाढ्य-पु., वनस्पति० कुब्जकः (रा. १०.२४८)

कण्टकालुक-पु., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ६.२६)

कण्टकारिका-स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी
(चसू. ४.१४)
बृहत्यादिगणे एका (सुसू. ३८.३१-३२)

कण्टकारी-स्त्री., वनस्पति० कण्ठ्यगणे (चसू. ४.१०) हिक्कानिग्रहणगणे (चसू. ४.१४ (३०) अङ्गमर्दप्रशमनगणे (चसू. ४.१७ (४४) कासहरगणे (चसू. ४.१६ (३६) श्वयथुहरगणे तथा लघुपञ्चमूले शीतप्रशमनगणे (चसू. ४.१६(३८) (चसू ४.१७ (४२) गुणाः कटुस्तिक्तोष्णा दीपनी कफवातघ्नी श्वासकासप्रतिश्यायज्वररुच्याऽऽमदोषहृद्रोगहरा (ध. १.९५)
हिं.—कटेरी, लघुकटाई, भटकटैय्या, रेंगनी,
म.—रिंगणी, भुईरिंगणी, लघुरिंगणी.
गु.—बेठी भोरिंगणी;
बं.—कंटकारी.
त.--कण्डनकटारी;
(शालि २७७-७८) (नाड.११५०) 'कण्टकारिका कासघ्नानां श्रेष्ठा ।' (असंसू. १३.३)
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां मूत्रकृच्छ्रे सफाणितं
(चसू २.२२) व्रणशोधनतैले उपयुक्तम् ।
(सुसू ३७.१८) वातकृच्छ्रे उपयुक्तम् ।
(सुउ ५९.१७) कण्टकारीफलं शाकार्थमुपयुज्यते
(सुसू. ४६.२६२)
वनस्पति-लक्ष्मणा (ध १.९७)

–घृत–न., सिद्धघृत० वातकासे विशेषेणोपयुक्तम् कफरोगघ्नम् (चचि १८.१२५) (चचि १८.३५)

–सिद्धपयस्–न., वाताऽभिष्यन्दे सेचनार्थमाश्चोतनार्थं वा कण्टकारीमूलसिद्धमजापयो हितकरम् (सुउ. ९) (११–१२)

कण्टकिन्–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१५७)
वनस्पति–वंश (रा. ७.२१)
विकंकतः वृक्षकंटकारिका (सुसू. ३८.६७)
खदिरः (ध. १.९५) (असंचि. २. त. प्र. पृ. ८)

(कण्टकिनी)–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (ध. १.९५)
वार्ताकी (रा ७.१२८)
कुरण्टकः (रा. १०.४१९)
खर्जूरः मधुखर्जूरी (रा. ११.७१)
कण्टकिलता (असंशा. १२०.१८)

(कण्टकि) फल–पु., वनस्पति०–समष्टिलः (रापरी ४.१)

–वृक्ष–पु., कण्टकयुक्तो वृक्षः यथा–खदिरबदराऽरिमेद–स्नुग्दारुप्रभृतयः (सुचि १०.४)

कण्टारिका–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारि (रा. ४.१२१)

कण्टारी–स्त्री., वनस्पति० बृहती (र. ११.१२९)

कण्टालिका–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (ध. १.९५)

कण्टालु–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२१)

कण्टिन–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६१)
वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३२)
क्षुद्रगोक्षुरगोक्षुरः, (रा. ३.१३१)
गोक्षुरः, (ध. १.१०२)

कण्ठ–पु., शारीरावयव० (चशा ७.९) गलः, कण्ठस्यान्तर्भागः (इन्दु) (असंउ २५ पृ. १८०) ग्रीवायाः पुरस्ताद्भागोऽवटुनोपलक्षितः (सुशा. ५.१९) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चसु. २९.३) (चशा. ७.९) कफस्य स्थानम् (अहसू १२.३)

–कुब्ज–पु., वि., रोग० संनिपातज्वरभेदः (मानि)

–क्षणन–न., लक्षण० कण्ठेक्षतवत् पीडा. (असंक. ३ तप्र.पृ. १५०)

–गतरोग–पु., रोग० गलरोगः, मुखाऽऽयतने गले भवो रोगः, ' सप्तदश कण्ठे ।' (सुनि. १६.३) (सुनि. १६.४६) कण्ठे अष्टादश (असंउ २५ पृ. १८०–८२)

–घ्न–वि., ' स्वरसादकृत् । (हे) ' कपित्थमामं कण्ठघ्नम्, (अहसू ६.१२६)

–जनन–वि., कण्ठाय हितम्, कण्ठ्यगणः (असंसू १५.१४)

–तालु– न,. शारीर० कण्ठस्योर्ध्वतनो भागः (चशा ८.४१)

–धूम–पु., लक्षण० कण्ठे धूमोद्वमनमिव (सुउ. ४७.२१–२२)

–धूमायन–न., लक्षण० कण्ठे धूमोद्वमनवद् वेदना (सुउ. ४५.७)

–ध्वंस–पु., रोग० अशीतिर्वातविकारेष्वेकः स्वरस्य नाशः (असंसू. २०.१३)

–नाडी–स्त्री., शारीरावयव० (सुशा. ६.२७) सा मण्डलसन्धिप्रकारेण रचिता, ' कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः ।' (सुशा. ५.२७) कण्ठनाडीदेशः, स्वरस्थानम् (सुशा. ५.१९)

–नाड्यस्थि–न., अस्थि० कण्ठनाड्यां चत्वार्यस्थीनि तरुणास्थिप्रकाराणि, तत्र मण्डलाश्चाऽस्थिसन्धयः (सुशा. ५.१९)

–पाक–पु., रोगलक्षण० गलपाकः (चनि. १.२४)

–पीडन–न., रोगहेतु० गलस्रोतोनिरोधनम्; तत्कृतव्याधिस्वरूपम्–' बाहुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद्वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि लालास्रावं, फेनाऽऽगमनं संज्ञानाशं चाऽऽपादयति ।' तत्रोपायः–' तमभ्यज्य संस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं दद्याद्रसं च वातघ्नं विदध्यादिति ।' (सुसू. २७.२२)

–भङ्ग–पु. रोग० = स्वरसादः, ग्रीवाया अविधारणम् (मानि विषनि) (सुक. ३.४०–४१)

–रोग–पु., कण्ठगतरोगः (असंसू. ६.१८)

–विशोधन–वि., कण्टरोधहरम् (अहसू. १०.१६)

–वेदना–स्त्री., लक्षणम्–'पीतमुद्विरति स्तन्यं, विष्टम्भिश्लेष्म सेवनेन ईषज्ज्वरोऽरुचिर्ग्लानिः कण्ठवेदनयार्दितः–' (कासू. २५.९)

–शल्यावलोकिनी–वि., यत्र० ' कण्ठाभ्यन्तरशल्याऽवलोकनार्थं दशाङ्गुला नाडी ।' (अहसू. २५.१३)

–शालूक–पु., कण्ठगतरोग० लक्षणम्–' कोलाऽस्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्ठशूकभूतः खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यः (सुनि. १६.५१)

चिकित्सा–रक्तावसेचनं कार्यम् अशेषच्छेदः कर्तव्यः एककालमल्पशः स्निग्धमन्नं भोक्तव्यम्, प्रतिसारणकवलधूमादिविधिर्जलशुण्डीचिकित्सावत्करणीयः (सुचि. २२.६४–६५)

–शुण्डी–स्त्री., मुखतालुस्थः अवयव० मुखे जिह्वोपरि स्थिता (सुनि १६.४१)
रोग० कण्ठशुण्डीरोगः लक्षणम्–श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मातबस्तिप्रकाशः तृष्णाकासश्वासकृत् (मानि मुख रोग) चिकित्सा–अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंदंशेन गलशुण्डिकामाकृष्य मण्डलाग्रेण छेदयेत् त्रिभागम्। अत्यादानात्स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च। हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लालानिद्राभ्रमस्तमः। तत्र कफनाशनं धूमं कवलं प्रतिसारणं च योजयेत्॥ (सुचि. २२. ४९–५६)

–शोष–पु., लक्षण० कण्ठस्य शोषः (चनि. १.२१) (चनि. ४.४७)

–श्वयथु–पु., लक्षण० कण्ठस्थानस्थः शोथः (कासू. २५.११)

–संशुद्धि–स्त्री., कण्ठगतदोषशोधनम् (चसू. ५.३७)

–सिरा–स्त्री., शारीरावयव० कण्ठस्थिता अष्टौ मातृकाः सद्यः प्राणहराणि मर्माण्येतानि (सुशा. ६.९)

कण्ठक–पु., रोग० कण्ठगतो रोगः लक्षणम्–कण्ठके श्वयथुः कण्ठे ज्वारुचिशिरोरुजः। (कासू. २५.११)

कण्ठामय–पु., कण्ठरोगः गलगण्डादिः (अहसू. ६.१४)

कण्ठालङ्कारक–पु., वनस्पति० काशः (रा. ८.२०१)

कण्ठावधमन–(परिव०) न., लक्षण० कण्ठे शब्दविशेषः (चनि. ६.७)

कण्ठिन्–पु., वनस्पति० कलायः (ध. ६.१०३)

कण्ठीरविन्–पु., वनस्पति० वासकः आटरूषः (रा., ४.२८)

कण्ठेगुण–पु., अलङ्कार० 'कण्ठावलम्बी' (हे. अहसू. १३.५)

कण्ठोर्ध्वंस–पु., रोग० अशीतिर्वातविकारेष्वेकः कण्ठस्योर्ध्वंसः (चसू. २०.११)
रोगलक्षण० कण्ठभङ्गः उर्ध्वंसः उत्कासिका।
द्र० कण्ठोर्ध्वंस (सुउ. ४१.१३ असंनि. ५.१७)

कण्ठोपलेप–पु., रोग० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः कण्ठस्योपलेपः गौरवशब्दोच्चारणाशक्तिसूचकम् (चसू. २०.१७) (असंसू. २०.१५) लक्षण० (असंनि. ३.३२) द्र० कण्ठोपलेप

कण्ठ्य–वि., कण्ठाय हितम् स्वर्यम् महाकषायवर्गे एको गणः (अहसू. ५.१६ चसू. ४.८)

–गण–पु., गण० स्वरहितौषधानाम् गणः 'सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारी कैटर्यहंसपादीबृहती कण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति।' (चसू. ४.१० (९) तान्येव कण्ठजननानि स्वर्याणि (असंसू. १५.१४)

कण्डक–पु., औषधियोग० लेपः (असंउ. ६. पृ. ५८) न. तण्डुलक्षोदनचूर्णम् (असंउ. १ पृ. ५)

कण्डकण्ठ–पु., वनस्पति० अपामार्गः (रा. ४. ३८७)

कण्डनी–स्त्री., कण्डनोपयोगिनी भूमौ काष्ठादिनिर्मिता, इतस्ततश्चालनोपयोगिनी खातरूपा वा, उलूखलम् 'मुसलम्' (र. ७.५–८)

कण्डरा–स्त्री., शारीरावयव० महास्नायुः (चसू. ५.६०) स्नाय्वः 'वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः' (सुशा. ५.३१) 'स्नायवां वृत्तानां महतां कण्डरासंज्ञा' (इन्दु. असंशा. ५.८३) संख्या–षोडश कण्डराः (सुशा. ५.६) चतुर्दश कण्डराः (काशा. पृ.६६) स्थानानि पादहस्तग्रीवापृष्ठाणि। तासां चतस्रः पादयोः–'द्वे द्वे करचरणेषु (असंशा. ५.६१) तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु (सुशा. ५.११) उपधातु० (चचि. १५.१७)
'कण्डराशब्दः स्नायुवाचकः' (डसुउ. १.१९–२०)
'स्थूलस्नायुः।' (चक्र. चचि. १५.१७)

कण्डला–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (ध. १.१५१)

कण्डीर–पु., वनस्पति० जीरकः (असंसू. ७.१५७)

कण्डु–स्त्री., रोग० खर्जूः (चक्र. चसू. अ. २०.१५) खर्जूः (अस. अहसू. १२.५३) श्लेष्मकृत् लक्षणम् (असंसू. २०.१२०) बाले लक्षणम्–"घर्षत्यङ्गानि शयने। रोदितीच्छति मर्दनं शुष्ककण्डूर्दितं विद्यात्ततश्चार्द्रां प्रवर्तते सुखायते मृद्यमानं मृद्यमानं च शूयते। शूनं स्रवति सस्वोढामार्द्रायां शूलदाहवत्॥–" (कासू. २५. ३०–३१) संशोधनयोग्यः विकारः (चसू. १६. १३) एलादिगणः कण्डूनाशनः (अहसू. १५.४४) चन्दननलदादीनि–दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति (चसू. ४.११–१४) कुष्ठाद्युद्वर्तनं कण्डूहरम् (चसू. ३.९)
लक्षण० (चसू. ५.२९) पित्तस्य कर्म (चसू. २०.१५) श्लेष्मणः कर्म, 'कर्माणि तु श्लेष्मणः

कण्डूस्थैर्यगौरवोपदेह. . . . . श्वेतवर्णता चेति। (असंसू. २०.२०) स्नानेन शमनीयं लक्षणम् (चसू. ५.९२; अहसू. २.१६)

कण्डुल–पु., वनस्पति० कन्दशाकम्, सितसूरणः (रा. ७.५)

कण्डुला–स्त्री., वनस्पति० अत्यम्लपर्णी (रापरि. ३.३९)

कण्डू–स्त्री., कण्डुः (चसू. १३.३५) रेवतीग्रहस्य नाम (कावालग्रहचि. पृ. ९९)

करी–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (असंसू. १६.३) (अहसू. १५.९) कारी कपिकच्छूः

–घ्न–वि., कषायवर्ग० (चसू ४.८) कण्डूं निघ्नन्ति (असंसू. १५.१९) कण्डूघ्नगणः (चसू ४.११) पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३३)

–मका–स्त्री., कीट० विश्वम्भरभेदः (ड.) सविषः असौ, 'कण्डूमकाभिर्दष्टे पीताङ्गच्छर्ध्यतीसारज्वरादिभिराहन्यते ।–' (सुक. ८.३३) चिकित्सा–'कण्डूयकाभिर्दष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः। दिवा ते नैव सिध्यन्ति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥–' (सुक. ८.५३)

कण्डूक–पु., रोग० बालस्य गलरोगः, लक्षणम् 'कण्डूके श्वयथुः कण्ठे ज्वारुचिशिरोरुजः ।–, (कासू. २५.११)

कण्डूति–स्त्री., रोगलक्षण० कण्डूः (र. ३.१०१)

कण्डूयन–न., कण्डूशमनार्थं यद् घर्षणं तत् (चशा ८.३२)

कण्डूल–पु., वनस्पति० कन्दः सूरणः (रा. ७.५)

कण्डेर–क–पु., वनस्पति० शाक० तण्डुलीयः (असंचि. १३)

कतक–पु., न., वनस्पति० शशकपुरीषप्रतिमं फलम् 'निवळीचे बी' इति म. भाषायाम् कतकफलम् (सुसू. ४५.१७) (धनि. ३.१७२) निर्मलीवृक्षस्य फलम्, तोयप्रसादनं फलम् (सुसू. ४२.११) विषघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११ (१६) दृष्टिप्रसादकम्–कतकस्य फलम् (काक षड्कल्प. १०.३१) फलगुणाः–कटु तिक्तं शीतलमुष्णं (रा.) चक्षुष्यं रुच्यमम्बुप्रसादनं दृष्टिप्रसादनं (का.) मूत्रग्रहे उपयुक्तम् काखि. (१४४.४५) तृष्णा-विष-नेत्ररोग-शूलकृमि-मूत्रकृच्छ्रशर्कराऽश्मरीहरम् (सुचि. ७.७) (ध. ३.१७२)

'नेत्रोत्थरोमविध्वंसि विधिनाऽञ्जनयोगतः। (रा. ३.१७३)

हिं.–नेलमल, नेइमल;
म.–निर्मली, निवळी.
त.–टोट्टामारम;

कतमानिशरीरीय–पु., अध्याय० (चइ. ६,१)

कतिधापुरुषीय–पु., अध्याय० (चशा. १.१)

कत्तृण–न., तृण० गन्धतृणम् (चसू. २.१३) रोहिषतृणम् (चसू. ४.१२ (१७) (सुउ. ५२.१४) (असंचि. १;) आस्थापनेऽस्य मूलमुपयुज्यते (चसू. २.१३) स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२ (१७) कासघ्नयोगे एकं द्रव्यम् (सुउ. ५२.१४) कफवातज्वरे श्वासघ्नयोगे (असंचि. १) गुणाः–कटुतिक्तकषायं (भाप्र.) कफपित्तघ्नं श्वासकासहृद्रोगविषूचिकाऽजीर्ण–शूलहरं, रक्तदोषघ्नं शस्त्रदोषहरं शल्यदोषहरं बालग्रहघ्नं च.

हिं.–रोहिष सौन्धिया, गन्धेजवास, रसघास.
म. रोहिष, सुगन्ध रोहिषतृण,
ब.–रामकर्पूर.
फा.–खबालमामून.

कथरी–स्त्री., वनस्पति० कन्थारी (रापरि.) (८.२०)

कथा–स्त्री., शास्त्रवार्ता (हे. अहसू. ३.२५) पूर्वपुरुषवृत्तान्तप्रबन्धरचना (सुसू १९.८)

–श्रवण–न., (परिव.) उपक्रम० मद्यपानजदाहे तच्छमाय हेमन्त–हिमालयमलयाऽऽदिपर्वतश्रीताम्भोहरितद्रुमजलाशयचन्द्र इत्येतेषां मनोज्ञाः कथा दाहार्तं श्रावयेत् (सुउ. ४७.६३)

कदम्ब–क–पु., वनस्पति० वृत्तपुष्पः वृक्षः (ध. ५.१०४) प्रावृषि पुष्पितः (सुसू. ६.३२) (सुसू. ३८.१४) धाराकदम्बः (रा. ९.१७२) वेदनास्थापनगणे (चसू. ४.१८ (४७) न्यग्रोधादिगणे (सुसू. ३८.४८) गुणाः–कषायस्तिक्तः कटुः शीतः व्रणरोपणः शुक्रकफविदोषघ्नः कासदाहविषघ्नः (ध. ५,१०४)

हिं.–कदम्ब.
म.–कदम्ब, कळम्ब,
गु.–कदम्ब.
बं.–कदम.
त.–वेळकदम्ब,

न., शाक० गुणाः–विशदं गुरु शीतं समभिष्यन्दि (चसू. २७.११४)

–निर्यात–पु., कदम्बो बहुफलस्तस्य निर्यासः शुक्रशोधनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२ (२०)

–पुष्पगन्ध–पु., धान्य० व्रीहि (१६.१०२)

(कदम्बा)–स्त्री., वनस्पति० जीमूतकः देवदालीभेदः देवदाली (रा. ३.२४३)

–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० महाश्रावणिका मुण्डी (रा. ५.२१९)

–पुष्पिका–स्त्री., वनस्पति० श्रावण्यां मुण्डीभेदः मुण्डी (ध. १.१६०)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० अलम्बुषा, मुण्डकेति लोके (ड.) इयं श्लीपदरोगे काकादन्यादिपानीयक्षारे प्रयुक्ता (सुचि. २९.६३–६५)

भूमिकदम्बः (डसुउ. ४४.१९) कदम्बभेदः, कदम्बः (रा. ५.१७४)

कदम्बक–पु., वनस्पति० हरिद्रुः (रापरि. ९.२६)

कदम्बा, स्त्री., वनस्पति० जीमूतकः, देवदालीभेदः, देवदाली (रा. ३.२४३)

कदर–पु., वनस्पति० खदिरभेदः, श्वेतखदिरः (खदिर) (रा. १३५) (चसू. २५.४९) खदिराकारः श्वेतसारः (डसुसू. ३८.८) (अहसू. १५.१९) विटखदिरः (चक्र. चचि. ३.२५८) खदिरः (रा. १.३९) उददर्दप्रशमने (चसू. ४.१७)

पु. न. रोग० हस्तपादस्थानगतः क्षुद्ररोगः बदरमात्रो ग्रन्थिविशिष्टोऽसौ; लक्षणम्–पादे शर्करादिभिः पीडिते कण्टकादिभिः क्षते वा मेदोरक्तानुगैर्दोषैः कीलवत्कठिनो निम्नमध्योन्नतः कोलमात्रः सरुक्स्रावी ग्रन्थिर्जायते (सुनि. १३.३०–३१) (असंउ.३६ पृ. २७२) **चिकित्सा**–कदरं तु शस्त्रेणोत्कृत्याऽग्नितप्तेन तैलेन दहेत् (सुचि. २०.२३)

कदली–स्त्री., प्राणि० मृगभेदः, बिलेशयः 'कदलीहट्ट' इति ख्यातः (चसू. २७.३८) महाबिडालसमो व्याघ्राऽऽकारः (सुसू. ४६.७८) (असंसू. ७.७६–७७)

वनस्पति० रम्भा (अहसू. १५.२६) अनुपदेशोद्भवो वृक्षः (चक. १.८) दीर्घपत्रा गुच्छफला क्षारनिष्कासनार्थमुपयुक्तेषु द्रव्येष्वेका (सुसू. ११.११) अस्याः क्षारोऽविमूत्रेण पीतः शर्करारोगनाशकः (सुचि. ७.२२) फलानि बालपक्वभेदेन द्विधोपयुज्यन्ते बालं फलं विशेषेण कषायम्, फलगुणाः–मधुरं कषायं शीतं मृदु गुरु पित्तहरं कफकरं रक्तपित्तघ्नम्। (ध. ४.७५)

कदलीपुष्पं कृमिहरम्

हिं.–केला.

म.–केळ.

गु.–केळा.

बं.–काला.

त.–कदली.

कनकरम्भा, सुवर्णरम्भा

फलगुणाः–स्वल्पाशने दीपनी तृष्णापहा दाहविमोचिनी (रा. ४.११६)

काष्ठकदली, कदलीभेदः कदली (ध. ४.७८)

–क्षार–पु., कदल्याः क्षारः कुष्ठहरप्रलेपे उपयुक्तः (चचि. ७.८९)

–गर्भ–पु., गर्भस्था कदली (चक्र. चचि. २१.७३)

–दल–न., कदलीपर्णम्, रक्तपित्ते प्रच्छादनार्थमुपयुक्तम् (चचि. ४.१०७)

–फल–न., कदल्या फलम्, 'दध्ना तक्रेण तालफलेन वा कदलीफलं नाभ्यवहरेत्।' (असंसू. ९ अहसू. ७.३५)

–मृग–पु., मृगवर्गीयः, कदली, 'बृहत्तमबिडालसमो व्याघ्राकारः।' (ड. सुचि. ८.३७)

कदाहार–पु., कुत्सिताहारः (चशा. ८.२४)

कदुष्ण–वि., ईषदुष्णम् (असंक. २.१४६)

कनक–पु., वनस्पति० तूणिः नन्दिवृक्षः (ध. ३.१८)

किङ्किरातः (रा. १०.४१५)

चम्पकमूलम् (र. ३०.६४)

आरग्वधः (र. ३०.६४)

पु., न., धत्तूरः (चचि. २३.७८) पीतधत्तूरः (सुशा. ४.६०) कृष्णबीजपुष्पो धत्तूरः (र. ११.९०–९२) उपविष० (र. १०.८७) धत्तूरः (रा. ४.७)

पु., निर्यास० कणगुग्गुलु (रा. १२.१८६)

कासमर्दः (ध. ४.११८)

न. लोह० सुवर्णम् (र.१४१) खनिजधातुः सुवर्णम् (ध. ६.१ सुचि. २४.१०१) बाह्यरसायने उपयुक्तम् (चचि. १.५८)

लोहेष्वन्यतमम् (र १.४१)

(पुं. न.) वनस्पति० नागकेसरम् (चचि. १.४९) (चचि. १४.१६६), (ध. २.४८)

–क्षीरी–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (सुसू. ११–१३ ध १-२४२)
कङ्कुष्ठम् (चक्र. चचि. ७११)
–क्षीरीतैल–न., सिद्धतैलम् योग० कण्डूनाशकम् (चचि. ७.१११–११६)
–गैरिक–न., सुवर्णगैरिकम् (सुक २.५१-५२)
–पुष्पी स्त्री., वनस्पति० कांचनक्षीरी, श्वित्रप्रशमनं लेपे (चचि. ७.१६७)
–प्रभ–(पु.,) वनस्पति० सोम० (सुचि. २९.५)
–प्रभा–(स्त्री.,) वनस्पति० तेजस्विनी, तेजोवती (रा. ३.३९२)
सुवर्णयूथा, यूथिका (रा. १० २५२)
–प्रसवा–(स्त्री.,) वनस्पति० सुवर्णकेतकी, केतकीभेदः (रापरि. १०.३)
–बिन्द्वरिष्ट–(पुं.,) अरिष्टयोग० महाकुष्ठघ्नः (चचि. ७.७६-७९)
–रम्भा (स्त्री.,) वनस्पति० सुवर्णकदली, कदली (रा. ११.११४)
–रस–(पु.,) खनिज० हरितालम् (रा. १३.५९)
–सार–(पु.,) धत्तूररसः (२५.११९)
–सुन्दर–(न.,) पारदयोग० त्वग्विकारनाशकः (र. २०.५०–५२); राजयक्ष्मादिघ्नः (र. ४.२-१४) ग्रहण्यादिहरः (र. १६.५२ तः ५४;) अर्शोरोगविषमज्वरवातरोगादिघ्नः (र. १५.५३–५८)
–सुन्दर न. सिद्धौषधिपारदयोगसुवर्णाभ्रकसत्त्वे समभागिके तत्समं च गन्धकं मूषायां विपाच्य त्रिकटुचित्रकविडङ्गवत्सनाभपारदशृङ्गीदेवदारूणि चार्धभागिकानि संमील्याजमूत्रेण संमर्दयेत् । मात्रा-गुञ्जा; फलम्–वातकफजकुष्ठमर्शोऽग्निमान्द्यनाशकम् (र २०.५०–५२)
–स्तम्भा–(स्त्री.,) वनस्पति० सुवर्णकदली (कदली) (रा. ११.११५)
कनकलोद्भव–(पुं.,) वनस्पतिनिर्यास० सर्जरसः रालः, 'राळ' इति लोके (रा. १२ १७६)
कनकाकरोद्भव–(न.,) खनिजतुत्थकः, तुत्थम् (डसुउ. १७.३९)
कनकाभिधाना–(स्त्री.,) सुवर्णक्षीरिका, कांचनक्षीरी (सूचि. २५.३८) पाठभेद द्र० 'कनकक्षीरी'
कनकारक–(पु.,) वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९३)
कनकारिष्ट–(पुं. न.) अरिष्टयोग० अर्शोघ्नः (चचि. १४.१५८–१६८)
कनकाह्वय–(न.,) वनस्पति० कङ्कुष्ठम्, मित्यन्ये (ड. सुसू. ४४.४९–५१)
कनखल–(न.,) ग्राम० गङ्गातीरस्थानम् (काकसंहिताकल्पाध्याय २.२१–२२)
कनिष्ठा–(स्त्री.,) कनिष्ठिका (सुसू. ३५.१२)
कनिष्ठिका–(स्त्री .,) शरीरावयवाऽङ्गुलि० (सुचि. २४,४) लघुतमाऽङ्गुलिः अङ्गुष्ठात्पञ्चमाऽङ्गुलिः (सुसू. ३५.७) तस्या आयामः हस्तकनिष्ठिकायाः सार्धाङ्गुलः सार्धाङ्गुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ । (सुसू. ३५.१२) पादकनिष्ठिकायामः नखं विहाय एकाङ्गुलम्, 'पादाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ द्वयङ्गुलायते, प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानामिका कनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः ।' प्रदेशिन्याः सकाशान्मध्यमाङ्गुलिः पञ्चमभागहीना, ततोऽपि मध्यमायाः सकाशात् अनामिकापञ्चमभागहीना, ततोऽपि अनामिकायाः कनिष्ठिका पञ्चमभागहीनेत्यर्थः, पञ्चमभागस्तु अर्धाङ्गुलमात्रः (ड. सुसू. ३५.१२)
–परिणाह–वि., कनिष्ठिकासमस्थूलमित्यर्थः (सुचि. ४०.५)
कनीन–पु., शारीर० कनीनक (सुउ. १५.९) (असंसू. ५.५२)
कनीनक–पु., शारीर० नेत्रगतो नासासमीपस्थः सन्धिः (सुउ. १५.९) (असंसू. ३२ (४) अहसू. २३.३) नासासमीपस्थः प्रदेशः (सुउ. १.१६)
कनीनका–स्त्री., कनीनक द्र० कनीनक (अहसू. ३३.३)
कनीनी–स्त्री., शारीर० कनिष्ठिका (अहसू. २.३;) (अहसू. २५.३८)
कनीयस्–पु., वनस्पति० सोमभेदः (सुचि. २९.५)
कन्था–स्त्री., वस्त्र० अनेकवस्त्रसंयोगजं प्रावरणम् (चशा. ५.१२)
वनस्पति० कन्थारी (रापरि. ८.२०)
कन्थारी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुतिक्तोष्णा दीपनी रुच्या कफवातघ्नी शोफघ्नी रक्तग्रन्थिरुजापहा (रापरि ८.२०)
कन्द–पु., वनस्पति० ग्रन्थिरूपं मूलम् (चसू. १.७४; र. २.८३;) औदकाः कन्दा यथा कशेरुशृङ्गाटकशालूकादयः (सुचि. ५.२२) अग्राह्याः कन्दाः—यथा 'बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं क्रिमिभक्षितम् । कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ्न रोहति ॥' (सुसू. ४६.३१२)

(सुसू. ४६.३१२) शाकोपयोगिकन्दाः—विदारी-कन्द-शतावरी-बिस—मृणाल-शृङ्गाटक-कशेरुक-पिण्डालुक—मध्वालुक—काष्ठालुक—शङ्खालुक—रक्तालुक—इन्दीवरोत्पलकन्दप्रभृतीनि (सुसू. ४६. २९८) तद्गुणाः—मधुराः शीता गुरवो रक्तपित्तहरा बहुशुक्रकराः स्तन्यवृद्धिकराश्च (सुसू. ४६.२९९) सूरणः (धपरि. ४.६)

वनस्पतिकन्द० अरण्यसूरणः सूरणभेदः वनसूरणः (र ११.९०—; रा ५.८)

रोग० गुदस्थस्थूलमांसाङ्कुरः अर्शोभेदः (सुनि. २.४)

(कन्दा)—स्त्री., वनस्पति० कन्दोद्भवा, गुडूची (ध.नि. १.५)

न. वनस्पति० गृञ्जनम् (रा. ७.५५)

–ग्रन्थिन्—पु., वनस्पति० रोमकन्दः गुणाः—मधुरः शीतो गुरुर्वृष्यः सन्तर्पणो मूत्रकृच्छ्रदाहशोष-प्रमेहघ्नः (रा परि ७.२४)

–फल—न., वनस्पति० कङ्कोलकम् (ध ३.३७)

–फला—स्त्री., वनस्पति० विदारिका विदारी (रा. ७.१९४)

–बहला—स्त्री., वनस्पति० तिलकन्दः (रा. ७.५३)

–मूल—न., वनस्पति० मूलकम्(रा. ७.५०)

–राल—पु., वनस्पति० आक्षोडः अक्षोटः (रा. ११.८२)

–रोहिणी—स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.४)

–लता—स्त्री., वनस्पति० कडुहुञ्ची (७.२८१)

मालाकन्दः (रापरि. ७.४४)

–वर्धन—पु., वनस्पति० सूरणः (धपरि. ४.६)

–वल्ली—स्त्री., वनस्पति० त्रपुस० वन्ध्याकर्कोटकी

–विष—न., स्थावरविषभेद० तन्नामानि—कालकूट-वत्सनाभ—सर्षप—वालक—कर्दमक—वैराटक—मुस्तक-शृङ्गीविष—प्रपुण्डरीक—मूलक—हालाहल—महाविष—कर्कटकानि इति त्रयोदश कन्दविषाणि (सुक. २.५) 'कन्दजानि तु वाल—साक्तुक—कौञ्चक—बलाहलक-गालव—मर्कटक—करवीर—केन्द्रायुध—साङ्कोचक—लाङ्गलक—तैलपयकुशमुस्तेन्द्रमुष्कक—रोहिषाजनाभ-कादीनि (असंसू. ४०. पृ. ३१०) गुणाः—तीक्ष्ण-विषत्वात्सद्यःप्राणहरम्, उग्रवीर्यम् (सुक. २. ११) ज्वरहिध्मातन्द्रादन्तहर्षहनुस्तम्भगलग्रहफेन-वमनाऽरुचिश्वासमूर्च्छाकरम् (असंउ. ४०. पृ. ३३०)

–सूरण—पु., वनस्पति० सूरणः (धपरि. ४.६)

कन्दामृता—स्त्री.,वनस्पति० गुडूची (रा. ३.३)

कन्दार्ह—पु., वनस्पति० सूरण (धपरि. ४.६)

कन्दाद्य—पु., वनस्पति० वनकन्दः धरणीकन्दः (रापरि. ७.४२)

कन्दालु—स्त्री., वनस्पति० कासालुः (रापरि. ७.२८)

धरणीकन्द (रापरि. ७.४२)

कन्दोत्थ—न., वनस्पति० पुण्डरीक० नीलोत्पलम् कुमुदम् (रा. १०.२४८)

कन्दोद्भवा—स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.५)

कन्दरोद्भवा—स्त्री., वनस्पति० चतुष्पत्री, क्षुद्रपाषाण-भेदः (रा. ५.२१५)

कन्दर्प—पु., कामदेवः (सुचि. २९.१८)

–पलाण्डुः—पु., वनस्पति० (गी. ल. को.)

जीव—पु., वनस्पति० कामवृद्धि (रापरि. ४.५१)

कन्दल—न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध. २.८४)

(कन्दली)—स्त्री., वनस्पति०—पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

कन्दाल—पु., वनस्पति० करवीरकन्दः तैलकन्दः (रापरि. ७.५३)

कन्दिन्—पु., वनस्पतिकन्द० सूरणः (रा. ७.५)

कन्दु—पु., स्त्री., लोहमयं न्युब्जं पचनपात्रम् यथाऽपूप-पचनार्थम् (सुसू. ४६.३५७ अहसू. ६.४२) कन्दुपाचितमांसम्—जलोपसेकं विना केवले लोहमये पात्रेऽग्निना तप्तं मांसम् (सुसू. ४६.३५६)

वनस्पति० करवीरः (रा. १०.२)

–यन्त्र—यंत्र० जलयुक्ता वस्त्रेण मुखावच्छिन्ना स्थूला स्थाली, यस्यां स्थालिकान्तरपिहितमुखायां वस्त्रो-परि निक्षिप्तं स्वेद्यद्रव्यमधोभागस्थितेनाग्निना स्वेद्यते । यद्वा वस्त्रस्थाने तृणोपरि तृणक्षेपेण निर्मीयमाणया स्थाल्यादिकृतसंकेता स्वेदनीययन्त्र-मित्यपरसंज्ञम् । (र. ९.७६–७८)

–संस्थान—वि., वर्तुलाकृतिः (असंसू २६.१५)

कन्दुक—पु., वनस्पति० पूगीफलम् (र. ११.१३१)

–न., अपूपपचनपात्रम्, तापस्वेदार्थम् (सुचि३२.४)

–यन्त्रम्—न.. कन्दुकयन्त्रम् (र. ५.२४३)

कन्धरा—स्त्री., शारीरावयव० ग्रीवा (असंउ. २७. पृ. १९७) (असंशा. ८.३२)

कन्यकपञ्चमूली—स्त्री., वनस्पतियोग० लघुपञ्चमूलम् (सुउ. ४८ २१)

कन्यका—स्त्री. वनस्पति० कुमारी (रापरि ५.१०) (र. १४.५२)

भद्रैला, द्र० एला (ध. २.४६)

कन्या–स्त्री., अप्राप्तद्वादशवर्षा (सुचि. ३७.१०५)
वनस्पति० स्थूलैला (इन्दु.असंउ. २८.२०९)
गुडूची (ध. १.५)
वाराहीकन्द (रा. ७.१३४)
घृतकुमारी, द्र० कुमारी (रापरि ५.१०)
(र. ११.१०३)
महौषधि० सोमसमवीर्या महौषधिः, 'कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः । कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी
(सुचि. ३०.५–१६) तस्याः प्राप्तिस्थानं काश्मीरस्थं क्षुद्रकमानसं सरः; तत्र वसन्ते दृश्यते
(सुचि. ३०.३३)

कपट–न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८२)

कपटा–स्त्री., वनस्पति० कासघ्नी, कण्टकारीभेदः
(ध. १.९८)

कपटेश्वरी–स्त्री., कण्टकारी (ध. १.९८)
लक्ष्मणा (रा. ४.१२४)

कपर्द–पु., जाङ्गमद्रव्य० कपर्दिका (धपरि. ३.२४)
(र. ३.१३४)

कपार्दिका– (स्त्री.) जाङ्गमद्रव्य० गुणाः कटुतिक्तोष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफघ्नी कर्णशूलव्रणगुल्मशूलनेत्ररोगपरिणामशूलग्रहणीक्षयहरा
(धपरि. ३.२४)

कपाट–(पु) काष्ठपट्टकपर्यङ्कः (असंउ ३२.२४२)

–शयन–(न.,) भग्नजङ्घोर्वोः कपाटेऽवस्थितिः कपाटशयनविधिः अयं जङ्घोरुभङ्गयोः पश्चात्कर्मविशेषः । भग्नो भागः कपाटे कीलैः स्थिरः क्रियते, येन चलनवर्जितत्वादस्थिसन्धानं सत्वरं भवति । इदं च कपाटमिव कपाटं भग्नावयवसदृशम् । तस्मिंश्च भग्नमवयवं सम्यगवस्थापयित्वा तत्राऽपि तस्य स्थिरीकरणार्थं पञ्च कीलाः कथ्यन्ते–ते च उभयतो द्वौ द्वौ तले चैक इति पञ्च (सुचि. ३.४८–४९); उभयभङ्गापेक्षया तु सप्तभिरेव कीलैः यत्नणम् । तथाहि उभयतो बहिर्द्वौ गुल्फयोर्द्वौ जानुनोर्द्वौ वङ्क्षणयोः तले चैक एवं सप्त ।' (ड. सुचि. ३.४८–४९)

–संधिक–पु., बन्ध० पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः, अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरितरालपपाल्या सह बहिःसंधानात्कपाटवत्सन्धानं यत्र, सः कपाटसन्धिकः
(सुसू. १६.१०)

कपाल–पु., न., मृद्घटखण्डः (सुचि. २०.६०)
न., अस्थि० (चसू. ५.६०)
कपालास्थि–जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि (सुशा. ५.२०)
न., शारीर० शिरसः उपरितनः प्रदेशः (असंउ.२७)
न., रोग० कपालकुष्ठम् (चनि. ५.८(१))

–कुष्ठ–न., रोग० महाकुष्ठेष्वेकम्, रूक्षाऽरुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि तनूनि उद्वृत्ततनूनि सुप्तवत्सुप्तानि हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलानि अल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशुगतिसमुत्थानानि आशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि च कपालकुष्ठानि विद्यात् (चनि. ५.८(१) कृष्णकपालिकासदृशवर्णत्वात् कपालकुष्ठम्
(सुनि. ५.७–८) द्र० 'कुष्ठ'

–चूर्ण–न., नवमृण्मयघटखण्डचूर्णम् (सुसू. १६.१५)

–मालिनी–स्त्री., रेवतीग्रह० यस्याः स्त्रियाः जातमपत्यं चतुर्दशेऽहनि विनश्यति सा जातहारिणी
(का. रेवती क. ४७)

–रोग–पु., शिरोरोगः (चसि. २.२२) शिरस्येव कपाले व्याधिः (असंसू. २७)

कपालिका–स्त्री., शरावकर्परिका (सुचि. १.९६)
दन्तरोग०, दन्तशर्करोपेक्षिता सत्यणशो दन्तकपालानि शातयति । (सुनि. १६.३३ असंउ. २५)
लेखनचिकित्सा कार्या (सुचि. २२.३८)

कपालिन्–पु., सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः आचार्यः (र. १.२)

कपाली–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (रा. ६.१६)

कपि–पु., पशु० मर्कटः (अहशा. ३.९५)
सुगन्धिद्रव्य० तुरुष्कः (ध. ३.२२)

–कच्छू–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, तिक्ता, शीता (उष्णा च) गुरुर्बल्या, वृष्या, बहुमला, पुंस्त्वदायिनी, वातघ्नी, पित्तास्रघ्नी, दुष्टव्रणनाशिनी (चसू. २७.३४) (ध. १.१५१–१५२)
हिं.—कौंछ, किवाँच.
म.—**कुहिलीचे बीज, खाजकुहिली.**
गु.—कउचों, मेरवनी शीगनी बी.
बं—आलकुशी, धनारगुण्ड, दया, शुयाशिँबी.
ता.—युनाइक, कालि.

–कच्छूफलोपमा–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका, जन्तुकारी (रा. ३.१२८)

–कच्छूबीजतैल–न., तैल० कपिकच्छूबीजभवं तैलम् मधुरं, कषायमुष्णं, स्निग्धं, गुरु च
(ध. ६.१३५)

–चूत–पु.,वनस्पति० आम्रातकः (ध. ५.१२)
–ज पु., सुगन्धिद्रव्य० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
द्र० 'कपि'.
–तैल न., सुगन्धिद्रव्य० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
–त्थ पु., वनस्पति० (चसू. २५.४०;) आमं कपित्थं मधुराम्लकषायतिक्तं, शीतमस्वर्यं, ग्राहि, वृष्यं, वातकरं, कण्ठघ्नं, विषघ्नम् (चसू. २७.१३६–१३७) त्रिदोषकृत् (असंसू. ७) कफहरं च (ध. २.१०२) पक्वं कपित्थं मधुराम्लं कषायं, गुरु, कण्ठशोधनं, दोषघ्नं, विषघ्नं, ग्राहि, सुगन्धि, रुचिप्रदम् (चसू. २७.१३६-१३७) कफवातहरं, श्वासकासारुचितृष्णाहरं, हिध्मावमथुजित् (असंसू. ७; ध. २.१०२); सर्वं ग्राहि विषघ्नम्. नालच्छेदनानन्तरं बालकपित्थपत्रकषायेण स्नापयेत् (असंउ. १) विषसंसृष्टेऽञ्जने अस्य पुष्पमञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुक. १.६९–७१) कपित्थरसो मधुसंयुक्तो मूषिकविषे उपयुज्यते (सुक. ७.३८) अस्य रसः हिक्काशमनार्थमुपयुक्तः (सुउ. ५०.२५) वृन्तं पित्तविदग्धायां कफविदग्धायां च दृष्टावञ्जनविधिनोपयुज्यते (सुउ. १७.७) कपित्थपञ्चाङ्गघृतं सर्वमूषकविषहरम् (सुक. ७.४०)
हिं.—कवट, कविठ.
म.—**कवठ.**
गु.—कविट.
बं—कगबेल.
ता. विलाकपिट्टम्, वेल्लिल.
फा.—कविटा.
न., वनस्पति० एलावालुकम् (ध. ३.७६)
द्र० 'एलवालुक'.
–त्थतैल न., योग० योनिदौर्गन्ध्ये पिच्छिले योनिस्रावे च कपित्थसिद्धतैलं पिचुभिर्योजयेत्; (का. धात्रीचि.)
–त्थासव (पु. न.) आसुत० कपित्थफलस्यासवः (असंसू. १०)
–पिप्पली स्त्री., वनस्पति० रक्तपुष्पोऽपामार्गः (ध. १.२६३) 'अपामार्ग'
द्र० 'अपामार्ग.'
–प्रिय पु., वनस्पति० कपित्थः (ध. २.१०२) आम्रातकः (ध., ५.१२)
–भवबीज न., वनस्पति० कपिकच्छुबीजम् (र. २७. १२६–१२७) द्र० कपिकच्छु
–रथ पु., वानराणां रथः (असंशा. १२)
–रोमफला स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा.३.२०१)
–लोला स्त्री., वनस्पति० रेणुका (ध. ३.५१)
–लोह न., पित्तलधातुः (ध. ६.१८)
–ष्ठल पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवत-पार्श्वसमेतेषु महर्षिष्वेकः (च. सु. १.९)
–सख्य न., वानरमैत्र्यम्, शोषिणां स्वप्नानां दर्शनेऽरिष्टत्वेन लक्ष्यमाणम् (सुसू. २९.६८–७१)

कपिञ्जल–पु., विष्किरपक्षि० गौरतित्तिरिः (चसू. २७.४७)
तन्मांसं सरक्तपित्तश्लेष्मविकारेषु मन्दवातेषु शस्तम् (चसू. २७.६८)
ऋषि० रोगापहरणाचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.९)

कपिञ्जलक–पु., पक्षि० (ध. ६.१०) कपिञ्जलः

कपिल–पु., प्राचीनो रसाचार्यः, आद्यसांख्याचार्यः (र. ६.५२)
वर्ण० किञ्चित्ताम्रः, उज्ज्वलपिङ्गलवर्णः (सुनि. ६.२६ असंसू. ६. (चवि. ८.९९)
मूषिक० दष्टलक्षणम्–व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमस्तृषा च (सुक. ७.२३–२४)
पित्तलधातुः, राजरीतिः (ध. ६.)
आग्नेयलूता० इयं च स्वेदजा वर्तते, सा पित्तविकारदा भवति। तया दष्टस्य ताम्रा स्थिरा पिडका शिरोगौरवं, दाहस्तिमिरो भ्रमश्चेत्येतानि लक्षणानि भवन्ति (सुक. ८.१०५)
जलौका० निर्विषाणां जलौकानामन्यतमा, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां युक्ता, स्निग्धमुद्गवर्णा (सुसू. १३.१२) द्र० 'जलौका.'

कपिला–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः, उत्तरापथिका, द्र० 'द्राक्षा' (ध. ५.५८)
कुमारी (रापरि. ५.११)
रेणुका (ध. ३.५१)
कुर्शिशपा (ध. ५.१२१)
शिंशपा (रा. ९.१९८)
–द्राक्षा–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः, उत्तरापथिका (रा. ११.७६)
–फला–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः उत्तरापथिका (रा. ११.७६)
–शिंशपा–स्त्री., वनस्पति० कुर्शिशपा (रा. ९,२०१)

कपिलाक्षी–स्त्री., वनस्पति० कुशिंशपा (रा. ९.२०१) मृगाक्षी (रा. ७.२५७)

कपिलिका–स्त्री., कीट० पिपीलिकाभेदः, दंशे चाग्नि-स्पर्शवद्दाहः शोफः श्वयथुश्च (सुक. ८.३४) द्र० पिपीलिका.

कपीतक–पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२४ ध. ५.८१)

कपीतन–पु., वनस्पति० गर्दभा(ण्डः) (चचि. ३.२५८) कपिचूडो वानीराख्यः (अरु. अहसू. १५.४१) आम्रातकः (हे. अहसू. १५.४१) गन्धमुण्डः (चसू. ४.१५) शिरीषः (ध. ५.११२) पार्श्वपिप्पलः (चसू. २५.४९)

कपीलु–पु., वनस्पति० काकतिन्दुकः (रा. ११. ५२–५३ ध. ५.४१)

कपीष्ट–पु., वनस्पति० राजादनः (ध. ५.९१)

कपोत–पु., प्रतुदपक्षि० पारावतः, स द्विविधः गृहवासी वनवासी च, वनवासी पाण्डुकः, गृहवासिमांसगुणाः–कषायं मधुरविपाकं विशदं शीतं रक्तपित्तनिबर्हणं (चसू. २७.७२) वनवासिमांसगुणाः—गृहवासि-कपोतमांसात्किञ्चिल्लघुतरं शीतं स्वल्पमूत्रकरं च (चसू. २७.७३) शिलाजतुमाक्षिकधातुभ्यां व्याप्त-देहः कुलत्थकपोतौ यावज्जीवं विवर्जयेत् (सुचि. १३.१९) पाण्डुककपोतस्य पुरीषं पक्वशो-थस्य विदारणं करोति (सुसू. ३७.९–१०) अष्टादशमूषिकेष्वेकः, एतद्विषतः संनिपातजा रोग ग्रन्थयः कर्णिकाश्च भवन्ति (सुक.७.६ असंउ.४६) कपोताभः (सुनि. ६.२६) न., खनिज० अञ्जनम् (ध. ३.१५१) (रा. १३.२१५)

–चरणा–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)

–पङ्का–स्त्री., वनस्पति० कपोतवङ्का, सुवर्चला (असंउ. ४.)

–पुट–न., पुट० घटसंपुटितौषधाय भूमावष्टसंख्याकै-र्वनच्छगणैर्दीयमानं पुटम् (र. १०.५८)

–पुरीष–न., कपोतशकृत्, विशेषतः पाण्डुकस्य पुरीषं पक्वशोथस्य दारणं करोति (सुसू. ३७.१०) श्लेष्माऽर्बुदे प्रलेपार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३५; (सुचि. १८.३६)

–बाणा–स्त्री., वनस्पति० नलिका (रा. १२.८८)

–वङ्का–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला (सुउ. ३२.३) कटभीसदृशपत्रा विटपी मध्यदेशे प्रसिद्धा (सुचि. ७.२५) शिरीषसदृशपत्रः स्वल्पविटपः (सुसू. ३८.१२)

–वर्णता–स्त्री., कपोतसदृशो नीलोऽरुणो वा वर्णः (सुसू. १२.८)

–वर्णा–स्त्री., वनस्पति० सूक्ष्मैला (ध. २.४४) द्र० 'एला'

–वर्णी–स्त्री., वनस्पति० सूक्ष्मैला, द्र० 'एला' (रा. ६.६८)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० सूक्ष्मैला (चवि. ८.१३९) द्र० 'एला'

–वेगा–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (ध. ४.१००)

–सार–न., खनिज० स्रोतोऽञ्जनम् (रा. १३.२२६)

कपोतान्ध––वि., अरिष्टलक्षण० "कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यति" (चक्र. च. ३.६)

कपोताभ–पु., मूषिक० (सुक. ७.६) द्र० 'मूषिक'

कपोल—पु., प्रत्यङ्ग० गल्लः (अहसू. १०.४)

कफ–पु., दोष श्लेष्मा, केन जलेन के जले वा फलति वर्धते इति कफः। श्लेषणकर्मकरः पिच्छिलो देह-धातुः (सुसू. २१.५) रसस्य मलः (चचि. १५. १८) शरीरस्थः सौम्यधातुः। उत्पत्तिः–अम्भः-पृथिवीभ्यां कफः समुत्पद्यते (असंसू. २०) कफगुणाः–शीतो गुरुर्मन्दः स्निग्धः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः (अहसू. १.१२) पटुर्मृदुर्गौल्यवाँश्च (रा. २१.८) तत्स्थानानि उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्या-माशयो रसः। मेदो घ्राणं जिह्वा च (अहसू. १२. ३) प्राकृतकर्माणि—स्नेहो बन्धः, स्थिरत्वं, गौरवं, वृषता, बलं, क्षमा, धृतिरलोभश्च (चसू. १८.५१) तद्भेदाः स्थानानि च पञ्च–अवलम्बक उरसि, क्लेदक आमाशये, बोधको जिह्वामूले, तर्पकः शिरसि, श्लेषकः संधिषु तिष्ठति (अहसू. १२.१५–१८) वृद्धिकालाः–बाल्ये, दिवसस्य निशायाश्च प्रथमे भागे, भुक्तस्य प्रथमकाले, तथैव वसन्ते कफवृद्धिर्भवति (अहसू. १.८) द्र० 'दोष'

–घ्नी–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (रा. ४.१३) शेरणी.

–पूर्णदेह–वि., रोगलक्षण० कफस्य गौरवादिभिर्ल-क्षणैर्युक्तः (सुउ. ५२.९)

–पूर्णास्यता स्त्री., रोगलक्षण० कफपूर्णमुखता (अहसू. २२.११)

–प्रकृति (स्त्री.,) दोषप्रकृति० दूर्वेन्दीवरसुवर्ण-गोरोचनशरकाण्डान्यतमवर्णः समसुविभक्तस्निग्ध-

स्थिरसुकुमारश्लिष्टमांससन्धिबन्धः परिपूर्णचारुगात्रो महाललाटोरुबाहुर्व्यक्तसितासितप्रसन्नायतविशालपक्ष्मलाक्षः सिंहमृदङ्गघनघोषः, क्षुत्पिपासोष्णसहिष्णुः बह्वोजोबलशुक्रव्यवायापत्यश्चिरशोषमाल्यानुलेपनो बाल्येऽप्यरोदनः, पेशलः सत्यवादी, स्मृतिमान्, धृतिमान् अलोलुपः, कटुतिक्तकषायोष्णरूक्षेच्छोपशयश्च भवति (असंशा. ८.१५) क्षुत्तृड्दुःखक्लेशधर्मैरतप्तः सात्विको धर्मात्मा, विनीतः प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा घननीलकेशः प्रच्छन्नं, दृढं चिरं च वैरं दधानः। समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातः स्वल्पभोज्यपि बलवान् सुस्निग्धविशालदीर्घसुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षोऽल्पक्रोधो वदान्यः, क्षमावान् दीर्घदर्शी, दीर्घसूत्री, गम्भीरः कृतज्ञः ऋजुर्विपश्चित्सुभगसुलज्जो भक्तो गुरूणां, स्थिरसौहृदश्च ब्रह्मारुद्रेन्द्रवरुणताक्ष्यर्हंसगजसिंहाऽश्वगोसदृशवृत्तिः, स्वप्ने पद्मविहङ्गमालाजलाशयानां द्रष्टा (अहृशा. ३.९६–१०३) प्रियदर्शनो मधुरप्रियश्च (सुशा. ४.७२–७६) श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमंदस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः, तस्य स्नेहाच्छेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः मृदुत्वात् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात्प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात्सारसंहितस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मदचेष्टाहारव्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात्साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात्सुश्लिष्टसारसंधिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात्प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति, त एवंगुणयोगाच्छेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति। (चवि. ८.९६)

-प्रसेक–पु., रोगलक्षण० श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति स कफप्रसेकः (चवि. ८.१२१)

-रक्तमूर्ति–वि., कफरक्तजः (सुनि. १६.३८)

-रक्तयोनि–वि., कफरक्तोत्पन्नः (सुनि. १६.३९)

-विरोधिन्–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३६)

-संस्रव–पु., रोगलक्षण० कफस्रुतिः (सुउ. ५७.५)

कफारि–पु., वनस्पति० शुण्ठी (रा. ६.१३०)

कफान्तक–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रा. ८.१२)

कफावृति–स्त्री., कफावरणम् (चसि. ३.४१)

कफाह्वय–पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः (रा.९.४८)

कफाशय–पु., कफस्थानम्, आमाशयोर्ध्वभागभूतं वक्षः (चक्र. चचि. २०.२६)

कबन्ध–न., जलम् (रा. १४.३१७)

कबरी–स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध. २.३८)
केशबन्धः (रा. परि. १८.१८)

कमठ–पु., जलचरप्राणि० कच्छपः (र. ११.१२९)

कमण्डलु–पु., वनस्पति० प्लक्षः (ध. ५.८१)

कमल–न., वनस्पति० पुष्पभेदेन त्रिविधं श्वेतं रक्तं नीलं च (ध. ४.१५२) गुणाः–शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित् तृष्णादाहास्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् (भा. प्र.)
हिं.—कमल.
म.—कमळ.
गु.—कमल.
बं.—पद्म.
ता.—तामरै.
ताम्रम् (र. २१.१३९)
जलम् (रा. १४.३१७)

कमलाविलासकरस–पु., पारदयोग० लोहाभ्रपारदगन्धकसुवर्णयुक्तः, पाण्डुहिक्कामन्दाग्निहलीमकसर्वप्रमेहनाशकः (र. २६.५१–५३)

कम्प–पु., लक्षण० वेपथुः, गात्रकम्पनम् (सुनि. १.२७)

-वात–पु., वातरोग०लक्षणम्–हस्तपादतलानां कम्पो भ्रमणं, निद्रानाशः बुद्धिक्षयः च (र. २१.१४७–४८) 'सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वैपथुसंज्ञकः

कम्पन–न., लक्षण० कम्पः (चइ. ७.२७)

कम्पिल्ल–पु., खनिजद्रव्य० कम्पिल्लकः (र. ३.१३४)

कम्पिल्लक–पु., वनस्पति० रेचनगणोक्तं द्रव्यम् (च. वि. ८.१३६) दद्रुकण्ड्वादित्वग्दोषेष्ववचूर्णनार्थम् (चसू. ३.१०) श्यामादिगणे गुल्मादिरोगहरम् (सुसू. ३८.२९) कटुरुष्णो लघुः कफघ्नो व्रणगुल्मोदरविबन्धाध्मानकृमिकासजन्तुश्लेष्मोदरनुत् (ध. ३.१३८) पित्तासृङ्मेहविषाश्मनुत् (भाप्र.)
हिं.—कवीला, कमीला, कमला.
म.—**कपिला, शेंद्री**
गु.—कपिलो.
बं.—कमिलागुडि, कमिल, कमलगुण्डी.
त.—चुवन्नेचारि, कपिल पोडि.
का.—कनबेला.

खनिजद्रव्य० साधारणरसेष्वेकः, इष्टिकाचूर्णसंकाश-श्चन्द्रिकाढ्यः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नः, **गुणाः**–पित्तव्रणा-ध्मानविबंधहारी श्लेष्मोदरार्तिगुल्मकृमिनाशकः, मूलामशोफशूलज्वरघ्नोऽतिरेचनश्च (र. ३.१३६–१३७)

–तैल–न., फलतैल० गुणाः–कटु, कटुविपाकमुष्णं तीक्ष्णं, लघु, सरं, वातकफघ्नं कृमिकुष्ठप्रमेहशिरो-रोगापहरं च (सुसू. ४५.११५)

–स्नेह–पु., तैल० तिक्तकटुकषायस्नेहेष्वेको दुष्टव्रण-विशोधनः, अधोभागदोषहरः, कफवातहरः कृमि-घ्नश्च (सुसू. ४५.१२४)

कम्बल–पु., ऊर्णावस्त्रम् (असंसू. ४)

कम्बलि–पु., ऋषि० सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रस-सिद्धिप्रदायकः (र. १.२–५)

कम्बा–स्त्री., शलाका (र. ७.१२)

कम्बु–पु., जांगमद्रव्य० शङ्खः (ध. ३.१७९)

–काष्ठा–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४००)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति, शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३)

–पूत–पु., जांगमद्रव्य० शङ्खः (रा. १३.२४३)

मालिनी–स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३)

कम्बुकी–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (र. ११. ५३–५७)

कम्भारी–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४६)

कम्भिका–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११७)

कर–पु.,प्रत्यङ्ग० हस्तः (अहसू. २५.४०) (सुचि. ३८.४०) द्र० 'हस्त'

–घाट–पु., वनस्पति० मदनः (असंउ. ४४)
मूलविष० यस्य त्वचि निर्यासे मूले च विषं वर्तते (सुक. २.५)
देश० करहाटः, स्कान्दे सह्याद्रिखण्डे काराष्ट्र-देशस्य राजधानी, सांप्रतं 'कराड' इति प्रसिद्धः (काखिल. २५.१४)

–च्छद–पु., वनस्पति० सागः (धपरि. ५.३)
सिन्दूरी सिन्दूरपुष्पी (रापरि. १०.१९)

–ज–पु., शारीर० नखः (चशा. ८.५१)
वनस्पति० करञ्जः (चसू. ३.१३)
नखम् (ध. ३.५८)

–जोडि–पु.,कन्द० रसबन्धादिवश्यकृत् (रापरि.७.५७)

–पत्र–न., शस्त्र० खरधारं दशाङ्गुलदीर्घं, विस्तारे-द्व्यङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धमस्थां छेदोपयोगि (अहसू. २६.१६)

–पत्रिका–स्त्री. प्रसहपक्षि० (ड. सुसू. ४६.७४)

–पर्ण–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः (रा. ८.४४७)
द्र० 'एरण्ड'

–(पर्णी)–स्त्री., वनस्पति० भेण्डा (रा. ४.२६)

–पाददाह–पु., लक्षण० करयोः पादयोश्च दाहः (चचि. ६.१४)

–प्रचित–वि., करेण कराभ्यां वा संचितम् (चचि.१८.(३) ३)

–प्रचितीय–पु., अध्यायपाद० (चचि. १ (३) १)

–प्राप्य–वि., हस्तग्राह्यम् (अहसू. २८.२२)

–भु–पु., पशु० रोहिणः (रापरि. ६.३४)

–मर्द–पु., न., वनस्पति० तद्विधम्–ग्रामजं वनजं चेति, आमं तु दीपनं दाहकरम् (ध. ५.१०३)
कृष्णवर्णद्राक्षारूपं बीजबहुलमम्लमधुरं वन्यं फलम् (र. १०.८०–८१) तत्त्वम्लं रक्तपित्तकरम् (चसू. २७.१६१) तत्तृषापहं रुच्यं पित्तकृत् (सुसू. ४६.१५६)
आर्द्रं करमर्दं कफपित्तप्रदं सरं गुरूष्णं वातघ्नम् (असंसू. ७.२०३)
पक्वं करमर्दं मधुरं शीतं पित्तघ्नमरुचिरक्तपित्तघ्नम (ध. ५.१०३)
त्रिदोषघ्नं विषघ्नम् (रा. ५.१६९)
हिं.—करोन्दा.
म.—करवन्द.
गु.—करमदा.
बं.—करम्चा.
ता.—पेरु कळाच्चेटि.

–मर्दिका–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५.५६)

–रुह–पु., वनस्पति० नखः (घ. ३.५८)

–वन्द–न., वनस्पति० करमर्दः (र. १०.८०–८१)

–वीर–पु., वनस्पति० उपविषेष्वेकम्, स श्वेतरक्त-पीतकृष्णपुष्पभेदाच्चतुर्विधः (सुचि. १९.३७–३९)
कटुस्तिक्तः कषायमधुरः (सुसू. ३८.६५) उष्ण-श्चक्षुष्योऽश्वमारणो ज्वरकुष्ठकण्डूविषव्रणस्फोटघ्नः (ध. ४.१)
कुष्ठघ्नगणे (चसू. ४.११) किक्किसोत्पत्तिकाले कण्डूप्रशमनार्थं करवीरसिद्धतैलेनाभ्यङ्गः (चशा. ८.३२)
अस्य कषायाणि व्रणशोधनानि (सुसू. ३७.१३-१४)
त्वगस्य दद्रुघ्ना, पत्राण्यस्य व्रणप्रक्षालने उपयुज्यन्ते (सुचि. १९.३७–३९)
पुष्पमस्य जलगन्धनाशनम् (असंसू. ६) मूलमस्य

शिरोविरेचने उपयुक्तम् (सुसू. ३९.६) तथा च कुष्ठनिघृदनलेपे उपयुक्तम् (चसू. ३.१५)
हिं.—कनेर, कनैली.
म.—**कण्हेर.**
गु.—कणेर.
बं.—करवी.
ता.—मलै अलरी, अयमरम्.
सोम० (सुचि. २९.६)
अर्जुनवृक्षः (वैशसि.)

-वीरकन्द-पु., वनस्पति० तैलकन्दः (रापरि. ७.५०)

-वीरभुजा-स्त्री., वनस्पति० आढकी (ध. ६.९३)

-वीर्य-पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३)

-हाट-पु., वनस्पति० कमलकन्दः (र. २७.११७)
मरुबकः (र. २७.११७)
आकारकरभः (र. २७.११७)
मदनः (चचि. २६.१५. चक. १.२७) (सुचि. १८.४५)
महापिण्डीतरुः (रा. परि. ९.३३)

-हाटक-न., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.१६३)

(-हाटिका-) स्त्री., मूषा (र. १०.१)

करक-पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६३)
वनस्पति० दाडिमः (ध. २.६१)
वनस्पति० अस्य त्वक्सारनिर्यासः
विषरूपः (असंउ. ४०)
वनस्पति० करीरः (रा. ८.१६६)
वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९३)
पक्षि० रणगृध्रः (ध. ६.३३)

(करका)-स्त्री., वनस्पति० कारवल्ली (त्रपुसविशेषः) (रा. ७.२७८)
वर्षोपलः (अमरकोश) पाण्याची गार.

करङ्कशालि-पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८५)

करञ्ज-पु.; वनस्पति० गुणाः-तिक्तः कटूष्णस्तीक्ष्णो लघुश्चक्षुष्यो वातकफापहः पित्तघ्नः, कुष्ठोदावर्त-गुल्मार्शोनुत् (भाप्र.) रक्तपित्तनुत् (सुउ. ४५.२५) जन्तुप्रमेहनुत् (सुसू.४६.१९७-९८)
रक्तदोषव्रणक्लीहवृद्धिकृमिभूतयोनिरोगघ्नः (रा. ५.१०७) फलम्-अस्थिबीजं स्नेहयुक्तम् (चसू. १३.१०) कृमिहरम् (चवि. ७.१७) कफवातघ्नं प्रमेहार्शःकृमिकुष्ठघ्नं च (भाप्र. पूर्वखण्डः;) विष्टम्भि पित्तश्लेष्माविरोधि च, (असंसू. ७) काष्ठम्। दन्तविशोधने उपयुज्यते, (चसू. ५.७३) त्वक्-व्रणे सेकलेपार्थं हिता, (अहसू. २९.७६) पत्रम्-कटुपाकमुष्णलघुभेदनं कफवातघ्नं पित्तलमर्शःकृमिशोथहरम्, पुष्पम्-उष्णवीर्यं वातकफघ्नं च, (भाप्र.) मूलम्-शिरो-विरेचनार्थम् (सुसू. ३९.६) अङ्कुराः-अग्नि-दीपना रसे पाके च कटुकाः पाचनाः कफवातार्शः-कुष्ठकृमिविषघ्नाः शोथहराश्च (वैशसिं.)
हिं.—करंज, कंजा.
म.—करंज.
बं.—करंचा, धारकरानिआ, नाटा करञ्ज.
गु.—करंज.
ता.—पंकुमरम्, पुंगम्मारम्.

करञ्जिका-स्त्री., वनस्पति० नक्तमालः, करञ्जभेदः, क्षारागदे आवापार्थमुपयुज्यते (सुक. ६.३)

-तैल-न., तैल० (चसू. १३.१०) गुणाः तिक्तं नात्युष्णम् (असंसू. ६.) अनिलकफकृमिकुष्ठ-प्रमेहशिरोरोगापहारि (सुसू. ४५.११५)

-द्वय-न., आरग्वधादिगणे अर्कादिगणे च (सुसू. ३८.६-७; सुसू. १६.१७)
एकश्चिरबिल्वो द्वितीयः कण्टकी विटपकरञ्जः (सुसू. ३८.६-७)

करट-पु., धान्य० रूक्षणात्मकः (रा. ६.१०९)

करण-न., कार्याभिनिवृत्तौ प्रयतमानस्य कर्तुरुपकरणाय यत्कल्प्यते तत्करणम् (चवि. ८.७०)
साधनम् (र. ७.८)
असाधारणं कारणम् (तर्कसंग्रहः) व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम् (परमलघुमञ्जूषा)
इन्द्रियम् (चशा. १.५४-५६) (सुशा. ४.३७)
ज्योतिःशास्त्रीयसंज्ञा० दिनभागभेदः अर्धतिथिः (चसू. १५.९)
बवबालवादि (सुसू. २.४)
स्वाभाविकद्रव्याणामभिसंस्कारः (चवि. १.२२(२)

-प्राप्त वि., स्वकर्मणि युक्तः निपुणः (सुसू. ८.१९)

करणायतन-न., बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कार-स्थानानि (सुउ. ४६.४)

करण्डक-पु., पात्र० हस्तिदन्तादिनिर्मितकरण्डः (र. १७.७८-८१)

करण्डफलक-पु., वनस्पति० कपित्थः (रा. ११.१५५.)

करभ पु., प्राणि० उष्ट्रः (सुउ. ६०.४१)
प्रत्यङ्ग० मणिबन्धात् कनिष्ठिकापर्यन्तो हस्तबहिर्भागः (वैशसि) मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः ।
(करभा) स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.८)
–काण्डिका स्त्री., वनस्पति० उष्ट्रकाण्डी (रापरि. १०.४३)
–प्रिया स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रदुरालम्भा, द्र० 'धन्वयास' (रा. ३.२३)
–वल्लभ पु., वनस्पति० पीलुः (ध. ५.५१)
कपित्थः (रा. ११.१५५)
करभादनिका स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रदुरालम्भा (रा. ३.२३) द्र० 'धन्वयास'
करभादिका–स्त्री., मूषा (र. १०.१)
करभीक्षीर–न., उष्ट्रीक्षीरम् (असंचि. १९.१०६) द्र० "उष्ट्र"
करम्भ–पु., वनस्पति० उत्तमारणी (अहसू. १५.२४) स्थावरविषभेदः, यस्य पत्रं, फलं, पुष्पं, त्वक्सारनिर्यासश्च सर्वं विषमयं भवति (सुक. २.५)
(करम्भा)–स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रा. परि. ३.२७)
कराम्ल–पु., न., वनस्पति० करमर्दः (ध., ५.१०२)
कराल–पु., धान्य० मधुरः शीतो गुरुर्ग्राही वातलो रुच्यः कफपित्तघ्नः (ध. ६,१०९)
वनस्पति० शालुकः, कृष्णार्जकः (ध. ४.५६)
जङ्गाल० हिमवदादिपर्वतेषु दृश्यते, 'कस्तूरीमृगः' (सुसू. २०.५)
अधोनिष्क्रान्तदन्तोऽयम् (सुसू. ४६.५४)
वि., दन्तुरः, उन्नतदन्तः (सुशा. १०.२५)
दन्तरोग० अस्निग्धिकटानां दन्तानां प्रादुर्भावः (असंउ. २५)
करिन्–पु., हस्ती (रा. ६.११६)
(करिणी)–स्त्री., कणभ० सविषकीटभेदः (सुक. ८.२६–२७)
वनस्पति० हस्तिशुण्डी (र. १६.९९–१०२)
गजपिप्पली (र. १६.९९–१०२)
इन्द्रवारुणी (र. १६.९९–१०२)
(करि–) कणा–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (ध. २.७८)
चविका (रा. ६.११५)
–पत्र–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८२)
–पुट–न., गजपुटम् (र. २२.२४–२९)
–विजयभू–स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (र. १७.६७–६८)
नागदमनी, (र. १७.६७–६८)
करिल्लका–स्त्री., वनस्पति० कारवल्ली (रा. ७.२७)
करीर–पु., वनस्पति० मरुजो द्रुमः (चचि. ३०.८२; चसू. २७.१४) उष्ट्रप्रियः, गुडपत्रवृक्षः (सुसू. ४६.२८३) अयं निष्पत्रकः ग्रन्थिलस्तीक्ष्णकण्टको वृक्षः (रा. ८.१६६) गुणाः–कटुः स्वादुस्तिक्त उष्णो रुच्यः आध्मानकरः कफकरः (रा.) वातकफघ्नो गुदकीलारोचकश्वासशूलछर्दिखर्जूव्रणघ्नः । (ध. ५.९९) पुष्पं शाकत्वेनोपयुज्यते, शाकगुणाः–पाके कटु वातहरं सृष्टमूत्रपुरीषं च (सुसू. ४६.२८३) फलम्–सकषायं मधुरं शीतं पित्तकफघ्नं च (चसू. २७.१४२) करीरफलोद्भवतैलगुणाः–एतत्तैलं रसकर्मोपयोगि (र. १०.७३–७६)
हिं.—कचरा, कवरा, करेर.
म.—नेपती.
गु.—केरडी.
बं.—करील, कचरा.
ता.—कर्याल.
फा.—कुराका, केविर.
वंशाङ्कुरः (चचि. १४.१०) संयोगतः पयसा सह विषतुल्यं भवति (सुसू. २०.८)
उपोदिकाचञ्चवादीनां कोमलो नालः (सुचि. १.४१)
मांसांकुरः (सुनि. २.१७)
अनुशस्त्र० अंकुरः (सुसू. ८.१५)
–ग्रन्थिल–पु., वनस्पति० करीरः (रा. ८.१६६)
करीशिफा–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पलीमूलम् (र. १४.५३–५४)
करीष–पु. न. शुष्कगोमयम् (चसू. १४.२६)
गवादिशकृच्चूर्णम् (अहसू. १७.६)
करुणवेदिन्–वि., करुणया सत्त्वानि वेदयतेऽनुभवति पश्यतीति (चचि. १ (४) ३२)
करुणी– स्त्री., वनस्पति० ग्रीष्मकाले पुष्पयुक्ता; पुष्पं रक्तवर्णम्, तद्गुणाः कटुतिक्तोष्णा वातकफघ्नी, आध्मानविषविट्च्छर्दिजन्वूर्ध्वरोगश्वासहारिणी च (रा. परि. १०.२७–२८)
करेणु–स्त्री., पशु० हस्तिनी (सुसू. ४५.४७)
वनस्पति० सोमसमवीर्या महौषधिः, काश्मीरे क्षुद्रमानससरसि भवति (सु. चि. ३०.५)

करेणुका–स्त्री., पशु० हस्तिनी (असंचि. ९)
करेवर–पु., धूप० तुरुष्कः (रा. १२.३७)
कर्क–पु., वनस्पति० आमलक (रा. ११.३३१)
कर्कट–पु., वनस्पति० क्षुद्रामलकः, गुणाः–कषायः शीतो लघुः रुच्यो दीपनो ग्राही चक्षुष्यः कफपित्तघ्नः (रा. ११.३३१)
बिल्वः (ध. १.१०६)
कर्कटशृङ्गी (र. १७.४८–५०)
प्राणि० कर्कटकः (अहसू. ६.५२)
न., विषम्, इदं कपिवर्णम् (र. २९.१५)
–शृङ्गी–स्त्री., वनस्पति० हिमालये वृक्षविशेषस्य पर्णेषु शाखासु च संस्थितानि क्षुद्रकीटकजन्यानि शृङ्गकाकृतीनि लघुगोलकानि कर्कटशृङ्गीति नाम्ना प्रसिद्धानि सन्ति, गुणाः–तिक्तोष्णा वातपित्तघ्नी कासश्वासयक्ष्मोर्ध्ववातवान्तितृष्णारुचिज्वरहिक्कातिसाररक्तपित्तनाशिनी (ध. १.८५)
हिं.—काकडाशिंगी.
म.—**काकडशिंगी**
बं—काकडाशृङ्गी.
गु.—काकडाशिंगी.
ता—कक्कटशिंगी.
कर्कटक–पु., जलचरप्राणि० कर्कटः (चसू. २७.४०) स द्विविधः कृष्णशुक्लभेदेन पादिवर्गे एकः (सुसू. ४६.१०९–११०) 'खेकडा' इति मराठीभाषायाम्
न., कन्दविष०, (सु. क. २.५)
लक्षणम्–अन्यसेवनाद् उत्पतति हसति दन्ताँश्च दशति (सुक. २.१८).
अस्थिभग्न० कर्कटसदृशमस्थिभग्नम्, लक्षणम्–समूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटम् (सुनि. १५.१०)
(कर्कटिका)–स्त्री., फल० कर्कटी (र. ३०.३४)
वनस्पति० त्रपुसम् (ध. १.१७५)
कर्कटकिनी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८५)
कर्कटाख्या–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (चचि. २८. १६०)
द्र० 'कर्कटशृंगी'.
कर्कटाह्व–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३४)
कर्कटाह्वया–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५)
द्र० 'कर्कटशृंगी.'
कर्कटाह्वा–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृंगी (रा. ६.१११)
कर्कटी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा शीता लघुर्मूत्रला रुच्या कफपित्तघ्नी मूत्ररोधमूत्रकृच्छ्राऽश्मरीवान्तिश्रमदाहादिरोगघ्नी च (रा. ७.२५१–२५४)
हिं.—काकडी.
म.—**काकडी.**
बं.—खिरा.
गु.—काकरी.
त.—मुळवेळरी.
एर्वारुकम् (रा. ७.२६२)
चिर्भटः (रा. ७.२६२)
देवदाली (रा. ३.२४३)
घोण्टा (रा. ८.२२)
कर्कन्धु–धू–स्त्री., वनस्पति० बदरभेदः, क्षुद्रबदरम् (चसू. ४.१३) शृगालबदरी (चसू. २७.१३२)
विरेचनोपगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
फलमस्या आसवार्थमुपयुज्यते (चसू. २५.४९)
पित्तश्लेष्मप्रकोपणी (चसू. २७.१३२)
आमकर्कन्धुगुणाः–पित्तकफावहा, पक्वाया गुणाः–मधुरा स्निग्धा सरा पित्तानिलहरा च (सुसू. ४६.१४५)
हिं—छोटे बेर.
म—**लघुबोर.**
बं.—सेया कुल.
मान० अष्टमाषकम् (चचि. २६.१९३)
कर्कन्धुक–न., वनस्पति० कर्कन्धुः (ध. ५.९६)
द्र० 'कर्कन्धु.'
कर्कन्धू–स्त्री., वनस्पति० कर्कन्धुः (चसू. २७–१३२ रा. २१.१४६)
द्र० 'कर्कन्धु'.
कर्कश–वि., खरस्पर्शयुक्तम्, कठोरम् (चचि. ७.१७)
गुणाः–खरः खरस्पर्शः (सुसू. ४६.२९७)
आर्द्रीभावविनाशकरः (सुसू. ४६.५१६)
(कर्कशा)–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.८)
–च्छद–पु., वनस्पति० पटोलः (ध. १.४९)
–दला–स्त्री., वनस्पति० दग्धा (रा. ९.२८)
कर्कारु–पु., वनस्पति० षड्भुजा, त्रपुसभेदः खर्बुजः (अहसू. ६.८७) द्र० 'त्रपुस'
–तैल–न., कर्कारुबीजभवं तैलम्, इदं मधुरं मधुरविपाकं सृष्टमूत्रं वातपित्तप्रशमनं अग्निमान्द्यकरञ्च (सुसू. ४५.१२०)

कर्कारुक–न., वनस्पति० त्रपुसभेदः वाडवं त्रपुसम् (सुचि. ३१.५) द्र० त्रपुस.
कूष्माण्डभेदः, प्रवाहिकायामेतत् दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन च भोजयेत् (चचि. १९.३२) उपनाहे वातार्बुदे उपयुज्यते (सुचि. १८.२९–३०)

कर्किन्–पु., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (असंउ. ४८)

कर्केतन–पु., रत्न० पद्मरागः, अयं विषापहः (चचि. २३.२५२)
माणिक्यम् (असंउ. ४२. इन्दुः)

कर्कोट–न., वनस्पति० कर्कोटकीभेदः–तिक्ता कर्कटी (हे. अहसू. ६.७६) द्र० ' कर्कोटकी. '
सर्पविशेषः (र. १०.७६)

कर्कोटक–पु., शाक० तिक्ता कर्कटी । गुणाः–कफपित्तहरः तिक्तः शीतः कटुपाकी च (चसू. २७.९६)
वनस्पति० कासमर्दः (ध. ४.११८)
पु., न., कम्पिल्लकः (अहसू. ६.७८)
वनस्पति० इक्षुः (ध. ४.१२०)
न., वनस्पति० वन्ध्याकर्कोटकी (र. २.१५०)

कर्कोटकी–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (र. ७.२८८)
राजकोशातकी (चक. ४.३)
महाकोशातकी (ध. १.१८९)
गुणाः–कटुतिक्ता दीपनी रुच्या त्रिदोषघ्नी विष-शिरोरोगनाशिनी (ध. १.१८७)
म.—**कर्टोली.**
गु.—कंटोलना, कर्तोला, कंकोला.
बं.—कंक्रोल.
रेवतीग्रह० सा दारुणा जातहारिणी (क. रेवती क. ५४)

कर्कोटिका–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (रा. ७.२६९)

कर्कोटी–स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यालता वन्ध्याकर्कोटकी (र. ११.४८)

कर्चूर–पु., न., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्त उष्णो रोचनो दीपनो मुखवैशद्यकृत् हृद्यो वातकफघ्नः प्लीहरोगगुल्मार्शोगलगण्डकासघ्नः (ध. ३.९४)
श्वासहिक्काहितः सुगन्धिश्च (चसू. २७.१५५)
हिं.—कचूर.
म.—कचोरा, नरकचोरा, काचरी.
गु.—कचूरी.
बं.—एकांगी.
त.—कस्तूरी मंजल, निर्विशम्.
फा.—जरंबार, जद्वार खाटा.

कर्ण–पु., शारीर०, ऊर्ध्वजत्रुगतः (चशा. ७.७)
श्रोत्रेन्द्रियं यस्याऽधिष्ठानम् (सुसू. ३५.१२)
श्रोत्रेन्द्रियस्याधिष्ठानम् (चसू. ८.१०)
प्रमाणतश्चतुरङ्गुलः (चवि. ८.११७)
रक्षाभूषणनिमित्तं बालानां कर्णौ विध्येते (सुसू. १६.३)
ज्ञानेंद्रिय० श्रोत्रेन्द्रियम् (सुसू. ३५.१२)

–कण्डू–स्त्री., कर्णरोग०, लक्षणम्–कर्णे संचितेन श्लेष्मणा कण्डूर्भवति (सुउ. २०.११)
चिकित्सा–क्रमेण सस्वेदवमनं वैरेचनिको धूमो मूर्धविरेचनम्, कफहारकः सर्वश्च विधिः (सुउ. २१.५६)

–क्ष्वेड–पु., कर्णरोग० अनेकविधहुंकारादिश्रवणम् (सुउ. ४०.१७३)
लक्षणम्–श्रमात् क्षयाद्रूक्षकषायभोजनात् प्रकुपितः पित्तादि–संसृष्टो वायुः शब्दपथे प्रतिष्ठितः सन् विरिक्तशीर्षस्य कर्णक्ष्वेडं करोति । कर्णनादस्तु केवलवातारब्धो वंशघोषानुकारिशब्दान्वितो भवति इति द्वयोः भेदः (सुउ. २०.९)

–क्ष्वेडन–न., कर्णक्ष्वेडः (असंशा. ६.४०)
द्र० ' कर्णक्ष्वेड.'

–क्ष्वेडिन्–वि., कर्णनादवान् (चचि. १६.१३)

–गतरोगप्रतिषेध–पु., गतरोगप्रतिषेध अध्याय० (सुउ. २१.१)

–गतरोगविज्ञानीय–गतरोगविज्ञानीय–वि., अध्याय० कर्णगते रोगे विज्ञानम् अधिकृत्य कृतः (सुउ. २०.१)

–गूथक–पु., कर्णरोग०, कर्णमलः, संचितः कफो यदा पित्ततेजसा शुष्को भवति तदा कर्णे मलसंचय-रूपः कर्णगूथकः जायते (सुउ. २०.११)

–च्छिद्र–न., कर्णमध्यः, कर्णविवरम् (सुउ. २१.५८)

–तर्पण–न., उपक्रम० तैलादिना कर्णपूरणम् (चसू. ५.८४)
तत् कर्णयोस्तृप्तिकरं बलकरं वा बाधिर्यादिविनाशक-त्वेन (चसू. १३.२५)

–तैल–न., श्रुतिमान्द्यनाशकरं तैलम् (चसू. १३.२५)

–धार–पु., नाविकः (सुसू. ३४.१८)

–नाडी–स्त्री., कर्णरोग० (असंसू. ३४.८)

–नाद–पु., कर्णरोग० (असंउ. २१)
वाते कर्णस्रोतःस्थिते भेरीमृदङ्गशङ्खवंशादीनां विविधान् स्वरान् शृणोति (मा. कर्ण)

–पाक–पु., कर्णरोग. कर्णे कर्णयोर्वा पित्तप्रकोपात् पाको भवति तेन पीडाकराणि विकोथविक्लेदादीनि भवन्ति (सुउ. २०.१५)

–पाली–स्त्री., शारीर०, बाह्यकर्णस्याऽधोभागः (अहसू. २९.४९)

–पीठ–न., प्रत्यङ्ग० पुत्रिकोपरिप्रदेशः (ड. सुसू. १६.११)

कर्णाधोभागः (असंउ. १)

–पुत्रक–पु., न., प्रत्यङ्ग० कर्णपाल्या अधोभागः (चशा. ८.५१)

बाह्यकर्णः, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.११)

–पूरक–पु., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९) कदम्बः (ध. ५.१०४)

–पूरण–न., उपक्रम० तैलेन कर्णस्य पूरणम् (सुचि. २४.२९)

ऊर्ध्वकायगते भग्ने कर्णपूरणं शस्तम् (सुचि. ३.५४)

कर्णपूरणविधिः–कर्णे तैलादिपूरणं कृत्वा कर्णमूलं विमर्दयन्तैलादि यावन्मात्राशतं धारयेत्तेन रुजो मार्दवं स्यात् (असंसू. ३१)

–प्रतिनाह–पु., कर्णरोग० संप्राप्तिलक्षणे–कर्णविक्लेदस्नेहस्वेदाभ्यां विलयनं प्राप्तो घ्राणमुखं प्रपद्यते तदा कफमारुताभ्यां सन्निपातेन वा जायमानः कर्णप्रतिनाहो भवति स चासौ सकलशिरोरोगकारी (सुउ. २०.१२)

–प्रपाक–पु., कर्णरोग० कर्णपाकः (सुउ. २०.१५) द्र० 'कर्णपाक'

–बन्धाकृति–स्त्री., बन्धाकृति०, कर्णवेधनानन्तरं तद्बन्धनाकृतिः, सा च पञ्चदशविधा तद् यथा नेमिसन्धानकः उत्पलभेद्यकः, वल्लूरकः, आसङ्गिमः, गण्डकर्णः, आहार्यः, निवेधिमः, व्यायोजिमः, कपाटसंधिकः, अर्धकपाटसंधिकः, संक्षिप्तः, हीनकर्णः, वल्लीकर्णः, यष्टिकर्णः, काकौष्ठकश्च (सुसू. १६.१०)

–भग्न–न., रोग० कर्णस्य भग्नम्, भग्नः कर्णः कुटिलोऽन्तःप्रविष्टो वा स्यात्। भग्नं कर्णसमं घृतप्लुतं च कृत्वा बध्नीयात्। सद्यःक्षतविधानेन चोपाचरेत्। मधुघृताभ्यङ्गशीतपरिषेकादि (सुचि. ३.४५)

–मूल–न., प्रत्यङ्ग० कर्णपर्यन्तः तदङ्गुलप्रमाणम् (सुसू. ३५.१२)

–मोटी–स्त्री. वनस्पति० कर्णस्फोटा (र. १६.९९–१०२)

–रुज्–स्त्री., रोग० कर्णशूलः (चसू. १३.१६)

–रोग–पु., कर्णगतरोगाः, चरकमतेन चत्वारः कर्णरोगाः वातजपित्तजकफजसंनिपातजभेदात्, तत्र वातजलक्षणं नादः कर्णमलस्य शोषोऽतिरुक् तनुः स्रावोऽश्रवणं च। पित्तजे सरागः शोफो दरणं विदाहः कर्णश्च सपीतपूतिः। कफजे वैश्रुत्यं कर्णस्य कण्डूः स्थिरशोफः शुक्लस्निग्धवर्णत्वमल्पा च रुक् भवति। संनिपातजे ह्येतानि सर्वाणि लक्षणानि संभवन्ति तत्र यस्य दोषस्य प्राबल्यं भवति स्रावोऽपि तस्य वर्णसादृश्यमधिगच्छति (चचि. २६.१२७–१२८)

सुश्रुतमतेन तु अष्टाविंशतिः कर्णरोगाः ते च कर्णशूलं, प्रणादो, बाधिर्यं, क्ष्वेडः, कर्णस्रावः, कर्णकण्डूः, कर्णवर्चः, कृमिकर्णः, प्रतिनाहो, द्वौ विद्रधी, कर्णपाकः, पूतिकर्णश्चतुर्विधाश्चः, सप्तविधं कर्णार्बुदं, चतुर्विधः कर्णशोफश्च (सुउ. २०.३–५)

–विदारिका–स्त्री., कर्णरोग० अयं संनिपाताज्जायते, लक्षणम्–कर्णसमवर्णः सवेदनः स्तब्धः श्वयथुः। उपेक्षितश्चेत् पक्वः सन् कटुतैलनिभं स्रावं स्रवति, कृच्छ्राच्च रोहति रूढा च कर्णशष्कुलीं संकोचयति (अहउ. १७.१७–१८)

–विद्रधि–पु., कर्णरोग० संप्राप्तिः–कर्णकण्डूयनाद् व्रणे जाते सति विद्रधिलक्षणस्तीव्ररूपोऽयं स्यात् (असंउ. २१)

–वेदना–स्त्री., कर्णरोग० लक्षणम्–हस्ताभ्यां कर्णस्पर्शः भृशं शिरोभ्रमः अरतिः, अस्वप्नः अरोचकश्च (कासू. २५.७)

–वेध–पु., संस्कार० कर्णव्यधः (असंउ. १)

–वेधनी–स्त्री., शस्त्र० कर्णव्यधार्थे सूचिः। इयं त्रिभागसुषिरा व्यङ्गुला च (अहसू. २६.२६)

–व्यध–पु., संस्कार० रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणनक्षत्रमुहूर्तेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभासिते शनैःशनैर्दक्षिणहस्तेन ऋजु विध्येत्। प्रतनुकं सूच्या बहलमारया; पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य; वामं कुमार्याः ततः पिचुवर्तिं प्रवेशयेत् (सुसू. १६.१–३)

–व्यधन–न., शस्त्र० एतत् व्यङ्गुलायतमङ्गुलसुषिरं घनं वा यूथिकामुकुलाग्रं भवति (असंसू. ३४)

–व्यधबन्धविधि अध्याय० (सुसू. १६.१)

–शष्कुलिका–स्त्री., प्रत्यंग० कर्णगतावर्तकः षट्-पञ्चाशत् प्रत्यङ्गेष्वेकम्, द्वे कर्णशष्कुलिके (चशा. ७.११)

–शूल–पु., न,, कर्णरोग० कर्णस्य शूलम् अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) भेदनवत् पीडाप्रधानलक्षणः कर्णरोगः। स्वरूपम् "हनुशङ्खशिरोग्रीवं भिन्दन्निव वायुः कर्णयोः शूलं कुरुते" (सुनि. १.८४) संप्राप्तिः–विमार्गगः समीरणः कफादिदोषैर्यथा–दोषमावृतः सन् कर्णयोः समन्ततः शूलमतीव करोति। अयं दुरुपचरो मतः (सुउ. २०.६) चिकित्सा–आर्द्रक–मातुलुङ्ग–दाडिम–तिन्तिडीकप्रभृतीनां स्वरसैः अजामूत्र–शुक्त–सुरा–लवणैः सिद्धं तैलं कर्णशूले उपयुज्यते (सुचि. ५,२४) अयं स्वेद्यः (चसू. १४.२०)

–शोथ–पु., कर्णरोग० द्र० 'कर्णशोफ'

–शोधन–न., शलाकायत्र० एतदश्वत्थपत्रप्रान्तं स्रुवाननं च वर्तते (अहसू. २५.३५)

–शोफ–पु., कर्णरोग० कर्णशोथः, (सुउ. २०.१६) कर्णस्य शोफप्रधानो रोगः, वातपित्तकफरक्तजत्वेन सन्निपातेन वा चतुर्विधः कर्णशोफः (सुउ. २०.५)

–स्फोटा–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्ता हिमा सर्वविषग्रहभूतादिदोषसर्वव्याधिविनाशिनी (रापरि.. ३.४१–४२)

हिं.—१) जंगली हुरहुर.
२) हुरहुर
३) कानफटा

म.—१) पिवळा तिळवण
२) कानफुटी
३) मोठी तिळवण, हुरुहुरु

–संस्राव–पु., कर्णरोग० कर्णस्रावः (सुउ. २०.१०) द्र० "कर्णस्राव"

–स्राव–पु., कर्णरोग० (असंसू. ३७.२५) कर्णस्रावः, शिरोभिघातात् जलमज्जनात्कर्णविद्रधेश्च प्रपाकाद्वाय्वावृतः कर्णः पूयमभिसंस्रावयेत् स कर्णसंस्रावः (सुउ. २०.३–१०)

कर्णक–पु., संनिपातज्वरभेदः, प्रलापश्रुतिह्रासकण्ठग्रहाङ्गव्यथाश्वासकासप्रसेकादिलक्षणानि तथैव ज्वरः, कर्णान्तयोः कपोलानां च पीडा, अस्य कालमर्यादा मासत्रयम्, कष्टसाध्यः, केषाञ्चिन्मतेन त्वयं साध्यः (मा. ज्वर १६) द्र० 'ज्वर'

पु., शाक० तिक्तः स्वादुः कषायः कटुपाकी ग्राही वातकृत् पित्तजित् (असंसू. ७)

कर्णाटी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६६)

कर्णाभरणक–पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३४)

कर्णारि–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९२)

कर्णार्बुद–न., कर्णरोग० तस्य लक्षणं–कर्णस्य रुक्, पूतित्वं बधिरत्वं च (असंउ. २१.) (र. २४.१)

कर्णार्शस्–न., कर्णरोग० तल्लक्षणं–'रुक्पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च' (असंउ. २१) (र. २४.१)
द्र० 'कर्णार्बुद'.

कर्णावटु–पु., प्रत्यंग० कर्णस्य गर्तः (सुसू. ३५.१२)

कर्णावभञ्जनमुख–न., स्वस्तिकयन्त्र० तित्तिरमुखसदृशयन्त्र० एतत् मसूराऽऽकृत्या कीलेनावबद्धं तथा मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गं वर्तते। तदस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिष्टम् (सुसू. ७.१०)

कर्णि–स्त्री., वनस्पति० गणेरुका. (ध. परि. ५.२)

कर्णिका–स्त्री., कर्णिका कमलमध्यकोशः (सुक. ७.८–९)
लक्षण० तत्समानाकारो ग्रन्थिः कर्णिका
लक्षण० कर्णिकाकारो ग्रन्थिः (चचि. २३.१७८)
वर्तुलाकृतिरुत्सेधः (चसि. ३.१०)
छत्राकारा मांसकन्दी (सुचि. ३५.७) (सुक. ८.१३६–१३७)
'पद्मकर्णिकाकारत्वात्कर्णिका भण्यते' (ड.)
वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.११२)
वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२)
उपकरण० इदं गजहस्ताग्राकारं शाकच्छेदनायोपयुज्यते (र. ७.२१)

कर्णिकार–पु., वनस्पति० आरग्वधभेद० "कर्णिकारो रसे तिक्तः कटूष्णः कफशूलहृत्। उदरकृमिमेदघ्नो व्रणगुल्मनिवारणः॥" (रा. ९.३३७)
वनस्पति० कृतमालः 'कृतमालो मधुः शीतः पित्तघ्नो मधुरः सरः। तत्फलं मधुरं बल्यं वातपित्ताऽऽमजित्सरम्॥' (ध. १.२२२)
कण्टकिवृक्षः किंचिद्वक्रपुष्पः (र. १०.९२)
गणेरुका (ध. परि. ५.२)
लोहितपुष्पवृक्षः (असंशा. पा. सा. ८.१४)

कर्णिन्–पु., वनस्पति० आरग्वधः (ध. १.२१९)

कर्णिनी–योनिव्यापद्० अप्राप्ते गर्भनिष्क्रमणकाले प्रवाहणं कुर्वन्त्यः गर्भेण पिहितोऽनिलः श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः सन् योनौ कर्णिकां–पद्मबीजकोशाकारं मांसग्रन्थिं जनयेत् (चचि. ३०.२७–२८. ३८.)

कर्णी–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४७)

कर्तरी–स्त्री., शस्त्र० इयं दशाङ्गुला शरारिमुखी (सुसू. ८.७ ड.) ' कर्तरी त्रिभागपाशा व्रणस्नायुकेशसूत्रच्छेदनार्थम् ' (असंसू. ३४.२७)

कर्तरीय–न., स्थावरविष०, अस्य त्वक्सारो निर्यासश्च विषमयो भवति (सुक. २.५)

कर्तृ–पु., यः स्वातन्त्र्येण कर्म करोति स एव ' कारण ' संज्ञयाभिधीयते, (चवि. ८.६९) निदानम्, हेतुः (चनि. १.३) अत्र ' स्वतन्त्रः कर्ता ' इति पाणिनीयसूत्रमप्यनुसन्धेयम्

कर्तृण–(न., वनस्पति० भूतिकम् (असंउ. ४. इन्दु)

कर्दम–(पु.,) पङ्कः, (सुचि. १७.६)
रोग०, विसर्पभेदः, सप्तविसर्पेष्वेकः, (चसू. १९.४ (२) द्र० ' कर्दमविसर्प '
शालि., पंकिलभूमिजः, आहारार्थं हितः (सुसू. २०.५)
विष. तत्कर्दमसदृशं वर्तते (र. २९-१६)

–वर्त्म–न., नेत्ररोग० (सुउ. ३.६) अस्मिन् कृष्णकर्दमोपमं च नेत्रवर्त्म भवति (असंउ. ११)

–विसर्प रोग० लक्षणम्–कफपित्तं प्रकुपितं सदेकदेशे विसर्पति देहिनं प्रक्लेदयति च । तद्विकाराः– शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते । प्रायश्चामाशये विसर्पत्यल्पसक एकदेशग्राही । यस्मिन्नवकाशे विसर्पो विसर्पति सोवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति, संज्ञास्मृतिहन्ता च । तं कर्दमविसर्पपरीतमन्विकित्स्यं विद्यात् (चचि. ८. २१.३)

कर्दमक–पु., रोग० विसर्पभेदः द्र० ' कर्दमविसर्प ' (चचि. २१.१४)
राजिमान् सर्प०; ४.३४(३)
शालि० अतिशयपङ्किले स्थाने उत्पद्यते (सुसू. ४६.४)
कन्दविष० तज्जन्यानि लक्षणानि प्रसेको विड्भेदो नेत्रपीतता च (सुक. २.५)

कर्दमिन्–पु., वनस्पति० मुद्गरः (रापरि. १०.२१)

कर्पर–पु., पात्र० खर्परम्, ज्वालासन्तप्तं कपालम् (अहसू. ६.४२)

कर्पराल–पु., वनस्पति० अक्षोटः (ध. ५.६०)

कर्परिकातुत्थ–न., खनिज० तुत्थम् (ध. ३.१४५)

कर्परीतुत्थक–न., खनिज० तुत्थम् (ध. ३.१४५)

कर्पूर–पु. न., सुगन्धिद्रव्य० इदं शुभ्रतरनिर्यासरूपं ज्वालाग्राहि द्रव्यम्, भुक्तेरितकफनाशनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४६.४८३–४८५; चचि. २८.१५३;)
गुणाः–कटुस्तिक्तो मधुरः शीतः (उष्णः. रा.)
चक्षुष्यो मदकरस्तृष्णामेदोविषापहः (ध., ३.३१)
कफापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनं च, मुखशोषे वैरस्ये चापि युक्तम् (सुसू. ४६.२०२-२०४)
छेदनः (असंसू. १२); तांबूलद्रव्येष्वेकम् (चसू. ५.७७)

हिं.—कपूर, कापूर.
म.—कापूर.
गु.—कपूर.
बं.—कर्पूर.
त.—कर्पूर.
फा. कफूर.

–गन्धिनी–स्त्री., सुगन्धिकन्द० ' आंबाहलदी ' (हजारी) लोके (र. १०.९१)

–निर्यास–पु., निर्यास० कर्पूरः (चसू. ५.७७)

–मूली–स्त्री., वनस्पतिमूल० कर्पूरगन्धिनी (र. ३०.४५)

कर्बुदार–पु., वनस्पति० काञ्चनः चक्र (चसू. २७.९९)
श्वेतकाञ्चनः (चसू. ४.१३)
वमनोपगणे एकं द्रव्यम्
काञ्चनारः (चक. १.१४)
वसन्ते जातपुष्पः
श्लेष्मातकः (सुसू. ३९.३)
श्लेष्मातकभेदः (सुसू. ४६.२४९)
नीलझिण्टी (असंचि. ९)

–तैल–न., सिद्धतैल० मधुरतैलवर्गे एकम् (सुसू. ४५.१२०)

कर्बुदाराङ्कुर–पु., काञ्चनाङ्कुरः (सुउ. ४७.४६)

कर्बुदारक–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११,१४८)

कर्बुर–वि., शबलम् चित्रवर्णम् (र. २.५८)
पु., वनस्पति० पौण्ड्रक इक्षुभेदः (रा. १४.१८३) द्र० 'इक्षु'
न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२)
(कर्बुरा)–स्त्री., कीट० सविषजलौकाभेदः
सा वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिश्च जलौका (सुसू. १३.११)
–फल–पु., वनस्पति० साकरुण्डः (रापरि. ६.१६)
कर्मन्–न., क्रिया, चलनम् (चसू. १.५२)
स्यन्दनगमनादिका चेष्टा, प्रयत्नवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः (चसू. ११.३९)
द्रव्याणि यत्कुर्वन्ति तत् भेषजद्रव्यव्यापारः शोधनादिः (सुसू. ४१.५)
चिकित्सा (सुसू. ५.३)
पञ्चकर्म (चसि. १.३)
रक्तस्रावनिरूहबस्तिसंस्कारः (सुसू. २०.१४)
वैशेषिकदर्शनोक्तपदार्थेष्वेकः (चसू. १.२८)
संयोगे च विभागे च कारणीभूतो द्रव्यनिष्ठः (पदार्थेषु परिगणितः) व्यापारः (चसू. १.५२)
जन्मान्तरकृतं कारणम् अदृष्टम् (चसू. ११.१२)
(कर्म)–ज रोग–पु., कर्म-पूर्वजन्मकृतं पापपुण्यादिः तज्जो रोगः (चसू. २५.१९)
–निष्ठा–स्त्री., कर्मणो निष्ठा–निष्पत्तिः क्रिया परिसमाप्तिः (चसू. २६.६६)
–पथ–पु., क्रियामार्गः (सुसू. ९.३)
आचारः। दशधर्मपथान् रक्षन् जयन्नाभ्यन्तरानरीन्
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम्
संभिन्नालापं व्यापदमभिध्यां दृग्विपर्ययम्
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ (असंसू. ३.११६–११७)
–पुरुष–पु., कर्मफलभावपुरुषः–पंचमहाभूतशरीरिसंयोगेन संजातः चिकित्साधिकृतः पुरुषः (सुशा. १.१६) तस्य गुणाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च । (सुशा. १.१७)
–फल–न., कार्यफलम्, कर्मणः परिणामः शुभाशुभस्वरूपः (चवि. ८.३७)
यस्य कर्मफलस्य आसक्तिर्न विद्यते तस्य कर्मणः फलं न भवति इति सांख्ये सिद्धान्तः, 'न मुक्तः कर्म आनुबन्धिकं कुरुते निःस्पृहत्वात् (चवि. ८.३७)
–बस्ति–पु., बस्तिप्रकार० प्रागेकस्नेहबस्तिरन्ते पञ्चस्नेहास्तथा निरूहा द्वादश सहानुवासना इत्येवं त्रिंशद्वस्तयः 'कर्म-बस्ति' इत्युक्तम् (अरु. अहसू. १९.६३)
–लोभ–पु., कर्म-चिकित्साकर्म, तस्य लोभो वृत्तिर्लोभ इत्यर्थः (चसू. २९.९)
–विपत्ति–स्त्री., चिकित्सितनाशः (सुसू. २९.५)
–विभ्रम–पु., कर्मण्यविज्ञानम्, यथा सौधं पयोऽज्ञप्रयुक्तं विषवद् हन्तीति (सुसू. ४४.७९)
–विरुद्ध–न., संस्काराद्विरुद्धम् (सुसू. २०.१४)
–वैचित्र्य–न., पूर्वजन्मकृतं वैचित्र्यम् अदृष्टम् (असंशा. २.४६)
–वैशेष्य–न., कर्मवैशिष्ट्यम् (सुशा. ९.३)
–वैषम्य–न., शारीरमानसवाङ्मयकर्मणो हीनमिथ्यातियोगरूपम् (र. २३.१–२)
कर्मर–पु., वनस्पति० कर्मारकः (रापरि. ११.१३)
कर्मर–क–पु., वनस्पति० कर्मारकः (रापरि. ११.१२)
(कर्मरी)–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (रा. ६.८६)
कर्मात्मन्–पु., संसार्यात्मा (चसू. २१.३५)
इन्द्रियम् (चसू. २१.३५)
कर्मार–पु., वनस्पति० कर्मारकः (रापरि. ११.१३)
कर्मारक–पु., न., वनस्पति० फलगुणाः–अम्लं उष्णं पित्तकरं वातहृत्, पक्वकर्मारं तु मधुराऽम्लं बलपुष्टिरुचिप्रदम् (रापरि. ११.१३)
हिं.—कमरख.
म.—**करमर, कमरख.**
गु.—कमरख.
बं.—कमरंग.
ता.—तमरताई.
लोहकारः (सुसू. ८.१९)
कर्मेन्द्रिय–न., कर्मण आश्रयभूतमिन्द्रियं कर्मेन्द्रियाणि पञ्च । हस्तौ पादौ गुदमुपस्थं वाक्चेति । आहरणगमनोत्सर्गहर्षविसर्गाश्चेति तेषां पञ्च क्रमेण कर्माणि (सुशा. १.४)
कर्वट–न., कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेश० (काखिल. २५.९)
कर्शन–न., कृशीकरणम् (अहसू. ५.५६) (परिव०) लङ्घनम्, उपवासः (सुशा. ३.१६)
कर्ष–पु., न., मान० द्वौ द्रङ्क्षणौ, 'विद्याद् द्वौ द्रंक्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च' शाणचतुष्टयम् (असंक. ८) सार्धद्वयप्रमाणधरणम् (सुचि. ३१.७) निष्कचतुष्टयम् (र. ११.४)

–फल–पु., वनस्पति० बिभीतकः (ध. १.२१२)
कर्षक–न., कान्तलोह०; यल्लोहजातं कर्षयेत्तत् कर्षकम् (र. ५.८९)
कर्षण–न., लाङ्गलेन भूमिविलेखनं कर्षणसंस्कृता भूमिः (चसू. ११.२३)
धान्य० कुलित्थः (ध. ६.१०५)
(कर्षणी)–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६२)
कर्षणीया–स्त्री., वनस्पति० गोजिव्हा, गवेधुका (रा. ४.१८१)
कर्षू–स्त्री., अल्पमुखोऽभ्यन्तरविस्तीर्णो गर्तः (चसू. १४.५१)
–**स्वेद**–उपक्रम० त्रयोदशस्वेदेष्वेकः (चसू. १४.५१) यावदायामविस्तारः पुरुषो भवेत् तावानेव भूप्रदेशः खनितव्यः । स च भूप्रदेशोऽङ्गारैर्दह्यात्, अङ्गाराँश्च अपोह्य तस्यां भूमौ वातहरद्रवाणां सेचनं कुर्यात् । तस्यां च भूमौ शाययेतातुरम् । अयमुष्मस्वेदप्रकारः सर्वाङ्गे वात उपयुज्यते (सुचि. ४.१०)
कल–वि., सूक्ष्मः (चइ. १.१४)
मधुरः (अहसू. ३.४०)
पु., वनस्पति० बदरम् (र. ११.१३१)
लघुबदरम् (र. २५.११९)
पु., पक्षि० कलविङ्कश्चटकभेदः (र. ११.१३१)
खनिज० मनःशिला (रा. २५.११९)
(अम्बिका)
–**कलोद्भव**–पु., निर्यास० रालः (ध. ३.१२१)
–**जात**–न., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०२)
–**धौत**–न., खनिज० रौप्यम् (रा. १३.८)
–**मूकता**–स्त्री., अव्यक्तवचनता, विरुद्धाशनाजायमानविकारविशेषः (चसू. २६.८४)
–**हंस**–पु., पक्षि० राजहंसः (असंसू. २१)
कलन–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११६)
कलन्दु–स्त्री., वनस्पति० घोली (रा. परि. ७.८७)
कलभ–पु., तरुण हस्ती (रा. परि. २३.५५) (पृ. ४२६)
(कलभी)–स्त्री., वनस्पति० चञ्चुः (रा. परि. ४.१८)
कलभोन्मत्त–पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.१२)
कलम–पु., शूकधान्य० शालिभेदः, वेदाग्रहारेषु प्रसिद्धः महाशालेर्मनागल्पगुणस्तृष्णाघ्नस्त्रिमलापहः (चसू. २७.८)
अन्तर्वैद्यां कलविरिति प्रसिद्धः (सुसू. ४६.४) (ड)
स एव महातण्डुल इति काश्मीरेषु प्रसिद्धः (अहसू. ६.१) (अरुण)
सर्वप्राणिनामाहारार्थे हितः (सुसू. २०.५)
कलमोत्तम–पु., वनस्पति० गन्धशालिः (रा. १६.९३)
कलम्ब–पु., वनस्पति० सूप्यशाकभेदः फञ्जीचिल्ल्यादिगण एकः (चसू. २७.१०१)
वनस्पति० कदम्बः (अहसू. ६.९३)
(कलम्बी)–स्त्री., वनस्पति० उपोदकी (रा. परि. ७.७४)
कलल–न., गृहीतकाठिन्यः मिश्रितशुक्रशोणितरूपगर्भः (असंशा. २)
सिङ्घाणप्रख्यम् (सुशा. ३.१८)
गर्भ० या ऋतुस्नाता नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् तस्याः कुक्षौ वायुरार्तवमादाय गर्भं करोति स मासि मासि विवर्धते, एवंविधाया गर्भिण्याः गर्भलक्षणं कललं जायते तत्त पैतृकैर्गुणैः वर्जितमस्ति. (सुशा. २.४८–४९)
–**ज**–पु., निर्यास० रालः (रा. १२.१७७)
कलविङ्क–पु., प्रतुदपक्षि०, ग्राम्यचटकः (चसू. २७.५२)
भृङ्गराजः, काकचटकः भृङ्गराजाद्भिन्नः, रक्तशिराः कृष्णग्रीवो ग्रामचटकाकारः पक्षिविशेषः (सुसू. ४६.५९ ड.)
पारावतः (चइं. १.१४)
कलश–पु., मान०, द्रोणः, चतुर्गुणः कंसः (चक. १२.९५)
(कलशी)–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (चचि. ३.१८६–१८७)
कलस–पु., न., कलशः (सुसू. ४४.२९)
(कलसी)–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (सुचि. ३७.२४)
कला–स्त्री., षोडशो भागः (र. ९.८४)
गुणः, सूक्ष्मो भागः (चसू. १२.१)
कालमान० त्रिंशत्काष्ठात्मको भागः (सुसू. ६.५)
शारीर० स्नायुभिः प्रतिच्छन्नान् जरायुणा संततान् श्लेष्मणा वेष्टितान् तान् कलाभागान् विदुः, धात्वाशयान्तरमर्यादा, यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमूष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुसारो रसशेषो सोऽल्पत्वात् कलासंज्ञः । ताः कलाः सप्त–मांसधरा, रक्तधरा, मेदोधरा, श्लेष्मधरा, पुरीषधरा, पित्तधरा, शुक्रधरा चेति (सुशा. ४.५–२३) (असंशा. ५.३५)

मान०, शाणः, धरणद्वयं, माषचतुष्टयं, तोलकपादं मानम् (र. ११.३)
खनिज०, मनःशिला (ध. ३.९६)
–वृत्त–पु., धान्य० कुलित्थः (ध. ६.१०५)

कलाटक–पु., धान्य० व्रीहिभेदः द्र० 'व्रीहि' (रा. १६.११३)

कलाप–पु., समूहः (चचि. ४.१०८) (असंचि. ९)
वनस्पति० गण्डदूर्वा (ध. ४.१४५)

कलापिन्–पु., पक्षि०, मयूरः (र. १०.९०)

(कलापिनी)–वनस्पति० मुस्तभेदः, नागरमुस्ता, द्र० 'मुस्त' (रा. ६.६२)

कलाय–पु., शिम्बीधान्य०, स द्विविधः, त्रिपुटो वर्तुलश्च (सुसू. ४६.३०) गुणाः–वर्तुलकलायस्तिक्तः शीतः कटुपाकश्च (चसू. २७.९७) त्रिपुटकलायः परमवातलः (चसू. २७.२९) कलायः पूयवर्धनो व्रणदुष्टिकरश्च । व्रणिनामहितः (सुसू. १९.१६)
अयं मधुरः शीतो रूक्षो लघुर्ग्राही वातकरो रुच्यः पुष्टिदः कफपित्तघ्नो दाहविनाशकरश्च (ध. ६.१०३)
आमदोषकरश्च (रा. १६. १६५)
हिं.—मटर, कैराव.
म.—**वाटाणा.**
गु.—वटाणा.
बं.—बांडुला मटर.
त.—पटाणी.

(कलाया)–स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा (रा. ८.२३५)
–खञ्ज–पु., वातरोग०, संप्राप्तिः–प्रकुपितो वातः सक्थिकण्डराद्वयसंधिबन्धनशैथिल्यं कृत्वा कलाय-खञ्जरोगं करोति । लक्षणम्–यस्तु प्रक्रामन् वेपते खञ्जवच्च गच्छति तं मुक्तसंधिप्रबन्धनं रोगं विद्यात् (सुनि. १.७८)
–शाक–पु., शाक०, त्रिपुटकभेदः, गुणाः–कषायो मधुरपाकी गुरुः कफपित्तघ्नः वातलश्च (सुसू. ४६.२४८)

कलाह्व–पु., वनस्पति० (रा. ११.५२)

कलि–पु., कलिपुरुषः, देवताविशेषः (चसू. ५.९८)
स्त्री.,–रेवतीग्रह० सा चतुर्थेऽहनि अपत्यं विनाशयति (का.रेवतीक. ४५)
–कलहशील–वि., कलिर्वांचिकः, कलहस्तु शारीरिकः तत्परशीलं स्वभावो यस्याः सा (चशा. ८.२१)
–तरु–पु., वनस्पति० भल्लातकः (असंचि. २२)
बिभीतकः (वैशसिं.)
–द्रुम–पु., वनस्पति० बिभीतकः (ध. १.२१२)
–माल–वनस्पति० उदकीर्यः, पूतिकरञ्जः (रा. ९.१८०)

कलिक–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७०)

(कलिका)–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.८)

कालिकारी–स्त्री., वनस्पति०, गुणाः–कटूष्णा तिक्ता उष्णा सरा कफवातघ्नी श्वयथुगर्भशल्यव्रणापहा (ध. ४.९)
हिं.—कलिहारी.
म.—**करिया नाग.**
गु.—खड्या नाग.
बं—बिशलांगुलि.
त.—अक्किनिविलम्.

कलिङ्ग–पु., न., वनस्पति० अलाब्वाकारं मधुरफलम्, तद्गुणाः–मधुरः शीतो वृष्यः सन्तर्पणो बल्यो वीर्यपुष्टिवर्धनः पित्तघ्नो दाहश्रमघ्नः (रा. ७.२७१)
वातकृत् (असंनि. १.१५)
हिं.—तरबुज, हिन्दोना, जमाऊका.
म.—**कलिंगड, टरबूज.**
गु.—तरबूज, तडबूब; करिगु.
बं.—तरमूज.
त.—चक्करै, क्कुम्मट्टि, पिच्चापलं.
पु., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८९)
वनस्पति० कुटजः (ध. २.१३)
स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (र. १८.१०९–११०)
देश० कुरुक्षेत्रात् पूर्वदेशविशेषः (काखिल. २५.९)
–बीज–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (रा.९.२२)
–यव–पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (चचि. ७.९१)

कलिङ्गक–न., फल० कलिङ्गम् (र. ११.१२९)
वनस्पति० इन्द्रयवः (चक. ५.४ ध. २.१५)

कलु–पु., धान्य० व्रीहिभेदः (रा. १६.११३) द्र० 'व्रीहि'

कलुष–वि., अस्वच्छम्, मलिनम् (अहसू. ५.६६)
–पारावत–पु., मण्डलिसर्प० (सुक. ४.३४ (२)
–भोजन–न.. समलभोजनम् (सुउ. ६२.६)

कलुषीकृत–वि., संसृष्टः (चशा. ४.९)

कलेवर–न., शरीरम् (असंशा. ५.१०४)
कलोड्य–न., पद्मबीजम् (अहसू. ६.९२)
कल्क–पु., कल्प० (चसू. ४.७) दृषदि पेषितं सद्रवं द्रव्यम् (सुउ. ५८.२७) आलेप० शुष्कं द्रव्यं द्रवेणाऽऽप्लुत्य पिष्टम्। चूर्णीकृतमार्द्रमौषधिद्रव्यम् (सुसू. ५.६)
वनस्पति० बिभीतकः (ध. १.२१२)
सुगन्धिद्रव्य०, तुरुष्कः (ध. ३–२२)
–**पेष्य**–वि., कल्कस्वरूपप्राप्तिपर्यन्तं द्रव्यस्य पेषणं क्रियते तत् (सुचि. ९.६१)
–**फल**–पु., वनस्पति० दाडिमः (र.२.७२)
–**बन्ध**–पु., पारदबन्ध० स्वेदनमर्दनादिभिः साधितः सन् पङ्कत्वं प्राप्तः पारदः। चुल्लीस्थे लौहे कटाहे मयूरतुत्थकृतालवालके गङ्गापत्रीस्वरसं पारदं च प्रक्षिप्य यथा पारदो रसमग्नः स्यात्तथा रसमन्तराऽन्तरा दत्वा मन्दाग्निना चतुष्प्रहरपर्यन्तं पाचयेत्ततो निम्बूरसेन क्षालयेत्। एवं स्वेदेन पारदः पङ्कवद्भवति (र. ११.७४)
–**रोध्र**–पु., वनस्पति०, शाबरलोध्रः (रा. ६.२४०)
कलिधर्मघ्न–पु., बिभीतकः (रा. ११.३२३)
कल्किवृक्ष–पु. बिभीतकः (रा. ११.३२२)
कल्प–पु., कल्पना, विधिः (चक. १.१)
सामर्थ्यम् (र. १७.६८)
भ्रान्तिः (र. १७.६८)
चरकसुश्रुतादौ स्थानविशेषः
योजना (सुसू. ३.२८)
औषधियोग० औषधीनां संयोगेन केवलमेकमौषधं भावचूर्णनभस्मीकरणादिसंस्कारेण सिद्धम् (र. ११.८८)
–**वैशेष्य**–न., कल्पनावैशिष्ट्यम् (चक. ७.६)
–**स्थान**–न., वमनविरेचनानां कल्पास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति (चक. १;)
कल्पाङ्घ्रि–पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६५)
कल्पोपनिषद्–स्त्री., कल्प एव उपनिषद्, चरकसंहितायां कल्पस्थानम् (चसू. ४.४)
कल्पन–न., छेदनम् (चशा. ८.४४)
कल्पः, योगः, भैषज्यकल्पना (चचि. ३.१६२)
–**विधि**–पु., छेदनविधिः गर्भनाभिनाडीछेदनविधिः (चशा. ८.४४)
कल्पना–स्त्री., योगः विधिः (सुउ. १८.८३)
–**सिद्धि**–स्त्री., कल्पनाशब्देनेह पञ्चकर्माङ्गकल्पनोच्यते तस्य सिद्धिः (चसि. १.१)
अध्याय० (चसि. १.१)
कल्माष–पु., वनस्पति० शालिभेदः, गन्धशालिः (रा. १६.९३)
कल्य–वि., नीरोगः (चवि. ८.७)
न., प्रातः (सुउ ५८.३९)
कल्याण–न., खनिज०, सुवर्णम् (रा. १३.१)
(कल्याणी)–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१)
बीज–न., वनस्पति० मसूरिका (रा. १६. १४९)
–**मातृक**–वि., कल्याणी माता यस्य सः, मृतमातृक इत्यर्थः, (कासलेहाध्याय पृ. ४)
–**मित्र**–न., कल्याणे शुभकर्मणि मित्रं–सहायः सन्मित्रमिति यावत् (अहसू. २.२१)
कल्याणक–पु., भैषज्ययोग० कल्याणकगुड इति नाम्नाऽपि प्रसिद्धः, मन्दाग्निकुष्ठकामलामेहग्रहणीपाण्ड्वादि रोगेषु प्रशस्तः (चक. ७.४० ४५)
कल्याणकावलेह–पु., योग० सर्वातीसारनाशकः (काखि. १०.८८)
कल्याणाभिनिवेश–पु., श्रेयस्करमार्गानुष्ठानम् (चवि.४.८)
कल्याणाभिनिवेशिन्–वि., कल्याणविषये यत्नपरः सत्त्वसारलक्षणेष्वेकं लक्षणम् (सुसू. ३५. १६)
(कल्याणिका)–स्त्री., खनिज० मनःशिला (रा. १३.१५८)
कल्याणिका नाम रसक्रिया नेत्ररोगार्थमुपयुज्यते (काखिल. १३.७९.८०)
–**घृत**–न., घृत० एतज्जीर्णज्वरश्वासकासगुल्मोन्मादगरान् हन्ति। अपस्मारामिमान्ध्यनुत्, क्लीबानां वन्ध्यानां क्लैब्यवन्ध्यत्वादिविनाशी, पाण्ड्वामयघ्नं बुद्धिप्रदं नयनहितं रेतोमार्गरुग्विनाशी गर्भप्रदं च (चचि. ९.३५–४१) (सुउ. ३९. २२५–२२९)
–**लवण**–न., योग० विसूचिकाऽलसकविलम्बिका वातव्याधिघूपयोज्यम् (सुउ. ५६.१६)
कल्याणिनी–स्त्री., वनस्पति० (रा. ४.४२२)
कल्याणी–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१)
कवक–न., वनस्पति० छत्रकं, सुखण्डकसंज्ञः छत्रकभेदः (सुसू. २०.८)

(कविका)–स्त्री., कटकम् (डसुसू. २७.१४)
केविका (रा.परि. १०.३३)

कवच–पु., न., संनाहः (सुक. १.२५–२७ ड.)
अङ्गत्राणम् (असंसू. ८.४३)
पु., वनस्पति० पर्पटः (ध. १.४५)

कवल–पु., उपक्रमः गण्डूषभेदः (ड. सुउ. ६४.३८.३९)
व्याख्या–मुखपूर्णे सति यः संचारयितुं शक्यते स कवल उच्यते (अहसू. २२.१२) अयं चतुःप्रकारः स्नेही प्रसादी शोधनो रोपणश्च। चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधितरोपणौ। स्निग्धोष्णैः स्नेहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः। पित्ते कटूम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे। कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे॥' धारणकालः तावच्च धारयितव्यः अनन्यमनसोन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः पुनश्चान्यो ग्रहीतव्यः (सुचि. ४०.६३)
शुद्धिलक्षणम्–समानयोगलक्षणानि व्याधेरपचयो वैशद्यं तुष्टिर्वक्त्रलघुतेन्द्रियप्रसादश्च
(सुचि. ४०.६५)
अतियोगः–कवलस्यातियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णाऽरुचिः क्लमश्च भवति (सुचि. ४०.६६)
हीनयोगः–हीने कवले जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानं भवति (सुचि. ४०.६६) कवलविषयाः 'मन्याशिरःकर्णमुखाक्षिरोगाः प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः। हृल्लासतन्द्रारुचिपीनसाश्च विशेषात्कवलग्रहेण साध्याः (अहसू. २२.१२)
मुखरोगे दोषादिविभागेन उपयुक्ताः कवला दोषं वीक्ष्य क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः तैलघृतैरपि कवलान् विदध्यात्॥' (सुचि. २२.७६)
कवलोऽपूर्णपञ्चसंवत्सरे बाले न प्रयोज्यः
(असंसू. २९.२२)

(कवलिका)–स्त्री., व्रणकल्कौषधाच्छादनद्रव्यम्, सा चौषधस्वरसनिस्सरणनिवारणार्थं पलाशोदुम्बरादीनां त्वक्पत्रादिकृता (ड. सुसू. ५.१७)
–ग्रह–पु., उपक्रम०, गण्डूषभेदः कवलस्य धारणम् (सुउ. ५३.८)
मान० कर्षपर्यायः, द्वौ द्रङ्क्षणौ कवलग्रहं विद्यात्
(चक. १२.९१)

कवलालुक–न., वनस्पति० घोली (रापरि. ७.८७)

कवलित–वि., ग्रासीकृतम् (र. १.४२)

कवाट–पु., न., कपाटः (असंसू. २१.४)

कवोष्ण–वि., ईषदुष्णम् (असंचि. १०)

कव्य–न., पितृदेयम् (असंउ. ४२)

कशा–स्त्री., चर्मयष्टिः (ड. सुउ. ६२.१८)

कशेरुक–पु., न., तृण० क्षुद्रमुस्ता (चचि. २९.५८)
चिञ्चोडका शाक० (चसू. २७.११६)
मधुरस्कन्धे द्रव्यविशेषः (चवि. ८.१३९)
मागधम् (अरुण. अहसू. ६.९२)
गुण्डकन्दः (चसू. ३.२१)
सरक्ते पवने प्रदेहार्थं देयम्
कसेरुकगुणाः–कषायोऽल्पमधुरः शीतोऽतिखरः रक्तपित्तप्रशमनः दाहश्रमापहः॥
(रापरि. ८.६४)
गुरु विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ
(सुसू. ४६.३०४)
लोमशकृष्णवर्तुलसूक्ष्मस्तडागकन्दः
(हे. अहसू. ६.९२)
गर्भस्थापनार्थं उपयुक्तः, "शृङ्गाटकपुष्करबीजकशेरुकान् भक्षणार्थं दद्यात्" (चशा. ८.२४)
शिरःपार्श्वांसशूलेषु प्रलेपने (चचि. ८.८४)

कश्यप–पु., महर्षिः० हिमालये इन्द्रादेशात् रसायनप्रयोगं कृतवान् (चचि. १. (४) ३)
रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८)
काश्यपसंहिताकारः ऋषिः (कासू.२७.३)
काश्यप एवाग्रे तपसोऽग्रेणाविन्दत रेवतीम्
(काक. रेवतीक. ६२)
इन्द्रशिष्यः (कावि.)

कषाय–पु., रस० षड्रसेष्वेकः, कफपित्तप्रशमनः
(चसू. १.६६)
वायूर्व्योर्बाहुल्यात्कषायरसो भवति
(सुसू. ४२.३)
कषायरसलक्षणम्–स वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षयति पीडयति च (सुसू. ४२.९) गुणाः–संशमनः संग्राही संधानकरः पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता रूक्षः शीतो लघुश्च (चसू. २६.४३) शोधनो लेखनः क्लेदोपशोषणः (सुसू. ४२.१०) रूक्षगुणत्वात् विशोषिभावाच्च पित्तस्य द्रवगुणस्य ह्रासकः
(काखि. ६.२९–३०)

त्वक्प्रसादनोऽस्रविशोधनश्च (अहसू. १०.२०) अपवादः–प्रायः कषायशीतं स्तम्भनं चान्यत्र हरीतक्याः (असंसू. १८.२६) कषायरसस्याधिकाऽभ्यासे कफपित्तक्षयो वायोः प्रकोपः पक्तिमार्दवं रक्तशान्तिश्च भवति (काखि. ५.४७) कषायरसोऽत्यर्थमुपयुज्यमानः आस्यं शोषयति, वाचं निगृह्णाति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वातमूत्रपुरीषरेतांस्यवगृह्णाति, कर्षयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खरविशदरूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकाऽर्दित–प्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति। (चसू. २६.४३) कषायस्कन्धः–हरीतकी–प्रियङ्ग्वनन्ताक्षौद्र–लोध्रकट्वङ्ग–कट्फल–धव–धन्वन–धात्रीफल–धातकीपुष्प–पद्मा–पद्मक–पद्मपुष्प–नागकेसर–कुमुदोत्पल–तुङ्ग–तिन्दुक–कदम्बोदुम्बर–प्लक्ष–वट–बिभीतक–विकङ्कत–जम्ब्वाम्रास्थ्याम–कपित्थाऽश्वत्थ–मोचरस–समङ्गा–सोमकल्प–सप्तपर्ण–स्यन्दना–ऽसन––सल्लकी–शाल–ताल–पियालैलवालुक–परिपेलव–जिङ्गिणी–बदरी–खदिर–कदराऽरिमेद–कास–कसेरुक–वंशाऽश्मन्तकाऽशोक–शिरीष–शिंशपा–पलाश–शमी–शण–शङ्खनाभि–मेषशृङ्गी–वरुण–खर्जूर–स्फूर्जक–सर्ज–भूर्जार्जुना–ऽऽजकर्ण–प्रवाल–मुक्ताञ्जन–गैरिक–बिस–मृणाल–प्रभृतीनि (असंसू. १८.२५)

पु., मण्डलीसर्प० (सुक. ४.३४ (२)

पु., क्वाथः (चसू. ४.३)

पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३)

धवः (रापरि. ९.८)

(कषाया)–स्त्री., अम्बष्ठा (ध. ३.११६)

खर्जूरी (ध. ५.५३)

धन्वयासः (र. ३.२३)

–दन्त–पु., मूषिका०, दष्टलक्षणम्–निद्रा हृच्छोषः काश्यं च जायते (सुक. ७.१९–२०)

–द्रुम–पु., कषायरसोत्कटो वृक्षः न्यग्रोधादिः (चशा. ८.२४)

–यावनाल–पु., वनस्पति० तुवरयावनालः (ध. १६.१७१)

–रक्त–वि., कषायभावनया रक्तीकृतः (चक्र चसि. ११)

–रसता–स्त्री., कषायरसास्वादत्वम् (अरु) रसान्तरेऽपि कषायग्रहणम् (हे अहसू. १२.५१)

–वर्ण–पु., गैरिकवर्णः रक्तवर्णो वा (चचि. १९.९)

–वर्त्मता–स्त्री., लक्षण० रूक्षवर्त्मत्वम् (अहसू. २३.६)

–वासिक–पु., कीट० (सुक. ३.५)

–वृक्ष–पु., कषायरसयुक्तो वृक्षः (चचि. ४.१०४)

कषायाभ–वि., कषायवत् आभा यस्य तत् (चचि. ४.१२)

कषायास्यता–स्त्री., लक्षण० मुखस्य कषायरसत्वम् (चनि. १.२१) अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

कषायिन्–पु., वनस्पति० लकुचः (रा. परि. ९.४४)

सर्जकः (रा. ९.२०५)

कष्टशब्द–वि., कठिनार्थशब्दम्, नातिप्रसिद्धार्थम् (चवि. ८.२०)

कसन–न., रोग० कासः (र. १६.६७)

कसना–स्त्री लूता०, दंशनात् पिच्छिलं शीतलं च रुधिरं स्रवेत्, कासश्वासौ च भवतः (सुक. ८.११४–११५)

कसेरू–पु., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८)

चिञ्चोढम् (सुचि. १७.६)

गुण्डकन्दः (रापरि. ८.६३)

अस्थि० पृष्ठास्थि (रा., १८.६२)

कसेरूक–पु., ईषन्नीलपीतमणिः (चक्र.) (चचि. १७.१२६)

वनस्पति० मुस्ता (सुचि. ३७.३०)

वनस्पति०, नागरमुस्तकम् (सुचि. २२.४०) द्र० 'मुस्त'

वनस्पति० मागधम् (अहसू. (६.९२)

कस्तूरिका–स्त्री., सुगन्धिद्रव्य० (चचि. २८.१५२)

इयं कस्तूरिमृगनाभिजन्या (ध. ३.२८)

गुणाः–तिक्ता कटुश्चक्षुष्या कफवातघ्नी विषमुखशोषमुखरोगकिलासकफजदुर्गन्धनाशिनी च (ध. ३.२८)

प्रकारः–'कपिला पिङ्गला कृष्णेति कस्तूरी त्रिविधा' (ध.३.२८)

लक्षणम्–'स्वादे तिक्ता पिञ्जरा केतकीनां गन्धं धत्ते तोलने च लाघवमस्ति । याऽप्सु न्यस्ता नैव वैवर्ण्यमीयात् सा कस्तूरी राजभोग्या प्रशस्ता ॥' (रा. १२.५१)

–मृग–पु., कस्तूरीहरिणः (र. १.११–२१)

कह्लार–न., रक्तपद्मम्, रक्तोत्पलम् (सुसू. ३९.८)
सौगन्धिकोत्पलम् (सुउ. ४७.५७)
कुमुदम् (ध. ४.१५४ रा. १०.२४६)
कह्लार–पु., वनस्पति० सौगन्धिकः
(अरु. अहसू. ३.३५)
सन्ध्याविकाशि पद्मिनीपुष्पम् (हे. अहसू. ३.३५)
काक–पु,. धान्य०, शालिः (ध ६.७१)
प्रसहपक्षि० कृष्णवर्णोऽयम् (सुसू. ४६.७४)
वातप्रकृतिकोऽयम् (सुशा. ४.६७) शोषे बृंहणार्थं प्रशस्तः (सुउ. ४१.३६) प्रतुदवर्गीयपक्षी (रा. १७.३) तन्मांसगुणाः–लघु चक्षुष्यं दीपनमायुष्यं बृंहणं बल्यं क्षतदोषक्षयापहं च (ध. ६.४६८)
(काकी)–स्त्री., वनस्पति० काकोली (रा. ३.१६६)
–घ्नी–स्त्री., महाकरञ्जः (ध. ५.११०)
–चण्डीश्वर–पु., तन्त्रकर्तृविशेषः (र १.६)
–जङ्घा–स्त्री., वनस्पति० अस्याः क्षारः श्लीपदनाशनः (सुचि. १९.६३) काकाङ्घी (र. ११.५२) काकजङ्घागुणाः–तिक्तोष्णा वर्ण्या कफघ्नी ज्वर-रक्तपित्तकृमिविषव्रणबाधिर्याजीर्णजीर्णविषमज्वरघ्नी-च (ध. ४.२३)
हिं.–मसी, चकशोनी.
म.–कांग.
गु.–अघेडी.
बं.–कांगुडकाडली.
–जम्बू–स्त्री., जम्बूभेदः, (रा.११.१३२) लघुजम्बूः, भूमिजम्बूः (र १७.४६) द्र० ' जम्बू '
–तिक्ता–स्त्री., वनस्पति० शार्ङ्गेष्टा (अरु) करञ्जिका (हे अहसू. १५.१७)
–तिन्दु–पु., वनस्पति० तिन्दुकभेदः (ध ५.४१) द्र० ' तिन्दुक '.
–तिन्दुक–पु., वनस्पति० फलगुणाः–कषायमम्लं गुरुवातविकारकृत्, पक्वं तु मधुरं किञ्चित्कफकृत्, पित्तघ्नं कान्तिहृच्च (ध. ५.४१., रा. ११.५२–५३)
हिं.–तुमल.
बं.–मकागाव.
–तुण्ड–पु., जलचरपक्षि० श्वेतकारण्डवः
(असंसू. ७)
–तुण्डक–पु., काकतुण्डः (चसू. २७.४२)
–तुण्डफला–स्त्री., वनस्पति० काकनासा
(ध. ४.२५)
(–तुण्डा)–स्त्री., वनस्पति० काकनासा
(रा. ३.४०)
(–तुण्डी)–स्त्री., वनस्पति० काकादनी
(रा. ३.४४)
खनिज० पित्तलभेदः (ध. ६.१८)
–दन्तिका–स्त्री., वनस्पति० काकादनी
(रा. ३.४४)
–नन्दिका–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा
(इंदु. असंनि. ७.१९)
–नासा–स्त्री., वनस्पति० वायसीफलं, वासाफलं (चक्र) (चसि. ४.९) अस्याश्च फलभक्षणान्मत्स्या काकाश्च म्रियन्ते (र. ५.२४६) वायफला (ड. सुचि. ३७.२०) काकनासागुणाः–तिक्ता, कटुः, कषाया, (भाप्र) मधुरा, उष्णा, शिशिरा (रा) व्रणशोधनी, रसायनी, दार्ढ्यकरी, वामनी, पित्तघ्नी, कफघ्नी, पलितनाशनी, शोफार्शःश्वित्रकुष्ठनुच्च (भाप्र.) (ध. ४.२५)
–नासिका–स्त्री.. वनस्पति० नासाफला, काकतुण्डकः (चचि. २.६४)
–नीला–स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः (रा ११.१३२)
–पद–न., काकपदाकारो व्रणः (चचि. २३.६६)
–पाद–पु., विकङ्कतः (ध. ५.४३)
(–पादा)–स्त्री., द्र० काकजङ्घा (ध. ४.२३)
–पीलु–पु., वनस्पति० काकतिन्दुः तिन्दुकभेदः
(रा. ११.५२)
द्र० काकादनी (ध ४.२७)
–प्राणा–स्त्री., वनस्पति० द्र० काकनासा (रा ३.४१)
–फल–पु., वनस्पति० निम्बः (रा ९.४३)
(–फला)–स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः
(रा. ११,१३२)
–बीजक–पु., तिन्दुकभेदः काकतिन्दुः (रा. ११.४२)
–भाण्डिका–स्त्री., वनस्पति० महाकरञ्जः
(ध. ५.११०)
–मद्गु–पु., जलचरपक्षि० अस्य वसा अहिततमा
(चसू. २५.३९)
–माची–स्त्री., अस्याः पर्णानि कुष्ठादिषूद्वर्तनार्थमुप-युज्यन्ते (चसू. ३.१७) इयं नात्युष्णशीतवीर्या भेदिनी त्रिदोषघ्नी च (चसू. २७.८९) उष्णवीर्यत्वादियं पित्तवर्धिनी (सुसू. ४०.५) पत्रशाक० (सुसू. ४६.२६६) गुडेन संयोगा-दहिता (सुसू. २०.११) (र. ११.५५) गुडफला (अरु.) अहसू. १५.३०) कामाता (हे) अहसू. ६.७४) काकमाचीगुणाः–तिक्ता,

कटुः, सोष्णा, स्वर्या, वृष्या, रसायनी, त्रिदोषघ्नी, कुष्ठशूलार्शःशोफकण्डूतिनाशिनी च (ध ४.२१)
हिं.–मकोय, कवैया.
म.–लघुकावळी, कांगोणी.
गु.–कांगोणी, पीलुडीनी जात.
बं.–गुडकाई.
त.–मणत्तक्काळि.

–मात–स्त्री., वनस्पति० द्र० काकमाची (रा ४.३६)

–मुख–न., यंत्र० काकमुखसदृशं स्वस्तिकयत्रम् (सुसू. ७.१०)

–मुद्गा–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)

–वन्ध्या–स्त्री., वन्ध्या०, सकृत्प्रसूः स्त्री (र. २२.४)

–वल्लभा–स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः (रा. ११.१३२)

–शिम्बी–स्त्री., वनस्पति० द्र० काकादनी (रा. ३.४३)

–शोणित–न., काकस्य रक्तम् (असंउ. १२.२२२)

–साह्वया–स्त्री., वनस्पति० काकादनीभेदः (ध. ४.२९)

–स्फूर्ज–पु., वनस्पति० तिन्दुकभेदः (रा. ११.५२)

काकण–न., रोग० सप्तकुष्ठभेदेष्वेकं त्रिदोषजमिदम् (चचि. ७.२७)
काकणन्तिकावर्णान्यादौ, पश्चात्तु सर्वकुष्ठलिंगसमन्वितानि पापीयसा सर्वकुष्ठलिङ्गसंभवेनानेकवर्णानि काकणानीति विद्यात् (चनि. ५.८)

काकणक–न., द्र० काकणम् (चचि. ७.१३)

काकणन्तिका–स्त्री., गुञ्जा (चचि .७.२०)
चिरिहिण्टिका, काकादनी (सुनि. २.१३)
काकादनी (ध. ४.२७)

–फल–न., गुञ्जाफलम् (सुनि. २.१३)

काकणन्ती–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (सुउ. ४०.१४)

–काकादनी (ध. ४.२७)

काकल–न., शारीर० तालुमूलम् (चसु. १८.२०)
शरीर० कण्ठमध्यम् (इन्दु) (असंशा. ५.८९)

काकलीद्राक्षा–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः (रा. ११.७९)

काकलक–पु., धान्य० षष्टिकभेदः (सुसू. ४६.८)
शारीर० गलमणिः (सुशा. ५.२६)
काकलम् (सुशा. ५.३७)

काकाक्षी–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (रा ३.४१)
त्रिवृत् (ध. १.२४५)

काकाण्ड–पु., वनस्पति० (चचि. २३.२१७)
तिन्दुकभेदः (रा. ११.५२)
महानिम्बः (रा. ९.४६)
शूकरशिम्बी.
(चक्र.) चसू. २७.३४; सुसू. ४६.३६ (ड)

–फल–न., वनस्पति०, अश्वकः, कपिकच्छुसदृशशिम्बः (सुसू. ४६–३६)

(काकाण्डा)–स्त्री., शिम्बीभेदः, विषमूर्च्छायामञ्जने नस्ये चोपयुक्ता (चचि. २३.४९)

(काकाण्डी)–स्त्री., वनस्पति०, तेजोवती (रा. ३.३९३)
दधिपुष्पी (ध. १.१५३)
लूता० काकाण्डिका, सा उपपादिका उच्यते (असंउ. ४४) ईंदुपाठः पृ. ३६२)

काकाण्डकी–स्त्री.,–काकमाची. (असंउ. ४४; (ईंदु पृ. ३६६)

काकाण्डिका–स्त्री., लूता० तद्दंशलक्षणम्–दंशः पाण्डुरक्तोऽतिवेदनो भवति । तृष्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः उच्छ्रिता भवन्ति । (सुक. ८.१२६) स्मृतिमोषाक्षेपकौ चेति । (असंउ. ४५)

काकाण्डोला–स्त्री., वनस्पति० कोलशिंबी (चसू. २७.३४)
कटभी, (अरु.) निःशूका कपिकच्छुः (हे अहसू. ६.२२)

काकाण्डोलाफल–न., काकाण्डोलाफलम् (स्निग्धोष्णं मधुरं, गुरु, बल्यं, वृष्यं, वातहरं, बहुमलं, पुंस्त्वप्रदं च) (चसू. २७.३४)

काकादनी–स्त्री., वनस्पति० काकतिन्दुकः (ड. सुउ. ४४.१९)
कृष्णश्रीफलिका (ड. सुक. ७.३१)
वायसतिन्दुका (ड. सुचि. १४.८)
काकहिंस्रा (ड. सुचि. १९.६३)
गुञ्जा०, काकणन्तिका (ध. ४.२७)
अर्कफलसमानाकारगर्भितफला वल्ली, काकपीलुः काकवल्लरी (र. २९.१२१)
काकादनीगुणाः–तिक्ता, कटुः, उष्णा, केश्या, वृष्या, रुच्या, दिव्यरसायनी, वातकफघ्नी, ग्रहदोषोर्ध्वगदपलितघ्नी च (ध. ४.२७)
हिं.–रती.
म.–गुंज.
बं.–कुंच.

काकाम्र–पु., वनस्पति० नद्याम्रः (रा. परि. ४.१)

काकाह्वयोदुम्बरिका–स्त्री., वनस्पति० काष्ठोदुम्बरिका (ड. सुक. ४७.३७)

काकाह्वा–स्त्री., काष्ठोदुम्बरिका (चक्र. चचि. २१.९०)
काकजङ्घा (रा. ४.३८)
काकमाची (ध. ४.२१)

काकाह्वानोदुम्बरी–स्त्री., वनस्पति० काकसंज्ञोदुम्बरिका (सुचि. ९.२५)

काकिनी–स्त्री., मान० रक्तिका (र. १४.७२)
पार्थिवद्रव्य० कपर्दिका (र. १०.४)
या नारी कृष्णपक्षे पुष्पवती भवति सा काकिनीत्युच्यते सा रसबन्धे प्रयोगे रसायने चोत्तमा मता (र. ६.३३)

काकुभ–वि., ककुभस्य नाम अर्जुनवृक्षस्य इदम् (चचि. २९.१४३)

काकुलीमृग–पु., भूमिशयसर्प० श्वेतः श्यामः चित्रपृष्ठः कालक इति तस्य चत्वारो भेदाः । (असंसू. ७.७६) (चसू. २७.३७)

काकेक्षु–पु., तृण०–कशः (ध. ४.१३०)

काकेन्दुक–पु., वनस्पति० तिन्दुकभेदः काकतिन्दुकः (ध. ५.४१)

काकोच्छ्वास–पु., अरिष्टलक्षण० काकवद् व्यात्ताननः श्वसिति । (सुसू. ३१.१४)

काकोदुम्बरिका–स्त्री., वन० काष्ठोदुम्बरिका उपकुशाख्ये दन्तरोगेऽस्याः पत्राणि रक्तविस्रावणार्थमुपयुज्यन्ते । (सुचि. २२.१९)
वनस्पति० फल्गुः (र. ११.११६) जघने फला (र. २०.६३)
काकोदुम्बरिकागुणाः–स्वादुः, कटुः, अम्ला, शीता, ग्राहिणी, कफपित्तघ्नी, कण्डूकुष्ठव्रणरक्तपित्तशोफपाण्डुघ्नी च (ध. ५.८८)
हिं.–कठूमर, कठगूलरी.
म.–काळा उंबर.
गु.–काळो उंबरो.
बं.–यज्ञडुमर, काकडुमर.
त.–पेयति, काट्टत्ति.

काकोली–स्त्री., वनस्पति० जीवनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९)
शुक्रजननमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.१२) अङ्गमर्दप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)
बृंहणीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.९)
स्नेहोपगमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) काकोलीगुणाः स्वादुः शीता मधुरविपाका श्लेष्मशुक्रवर्धिनी वातपित्तप्रशमनी ज्वरदाहक्षयरक्तविकारघ्नी च (ध. १.१३२)
वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३)

–द्वय–न., काकोली क्षीरकाकोली (असंसू. १५.२६)

काकोल्यादिगण–पु., वर्ग० काकोलीक्षीरकाकोली जीवकर्षभकमुद्गपर्णी-माषपर्णी-मेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं चेति । वर्गोऽयं जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यः श्लेष्मकरः पित्तशोणितानिलनाशनश्च । (सुसू. ३८.३५–३६)

काकौष्ठक–पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः (सुसू. १६.१०)

काखोर्द–पुं., अष्टादशभूताधिपतिष्वेकः (असंउ. ७ इन्दु)

काङ्कायन–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेष्वेकः (चसू. १.१२) यज्ञः पुरुषविषये विवदमानो मुनिः (चसू. २५.२२)
बाल्हीकभिषगिति तस्यापरं नाम (चशा. ६.२१)

काङ्क्षा–स्त्री., हृदि आहारेच्छा (सुउ. ३९.१०४)
अन्नाभिलाषः (ड. सुनि. ७.७)

काङ्क्षी–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५)
सौराष्ट्रिका (चक्र) (चचि. २३.५४)
स्फटिका (र. २.१०५)

काङ्गुक–पु., व्रीहि० षष्टिकभेदः (सुसू. ४६.८)

काच–न., लवणभेदः काचलवणम् (र. १९.२६)
पु., पार्थिव० अनुशस्तेष्वेकम् (सुसू. ८.१५)
स्फटिकः (असंसू. १२.२१)
नेत्ररोग० (चचि. २३.७३) अस्य लिङ्गनाशतिमिरनीलिकाश्चेति पर्यायाः (सुउ. ७.१८) दृष्टेः तृतीयपटलगतस्तिमिराख्यो रोगः । अत्र दोषेण दृष्टेः रागप्राप्तिर्भवति (सुउ. ७.१८) रागप्राप्तस्य तिमिरस्य काच इति संज्ञा (सुउ. ७.१५) काचसंप्राप्तिलक्षणे–तिमिराख्योऽयं नेत्ररोगो दोषे तृतीयपटलाश्रिते सति काचतां प्राप्नोति । तेन ऊर्ध्वमीक्षते नाधः । दृष्टिस्तनुचैलावृतोपमं यथावर्णं च रज्यते क्रमाद् हीयते च (ड. सुउ. ७.१५) काचस्य दोषानुरोधेन लक्षणानि–वातेन आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानि भ्रमन्तीव च रूपाणि काचपीडितः पश्यति । पित्तेन आदित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान् शिखिबर्हविचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति । कफेन स्निग्धानि सितानि गौरचामर-

गौराणि श्वेताभ्रप्रतिमानि च रूपाणि पश्यति । अत्यर्थमसूक्ष्माणि रूपाणि पश्यति । व्यभ्रेऽभ्रसम्प्लवं तथा सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि रूपाणि पश्यति । रक्तेन धूमधूम्राणि तमांसि विविधानि रूपाणि पश्यति । सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानि रूपाणि च पश्यति । समन्ततः सर्वाण्येव बहुधा द्विधा वा तथा हीनाधिकाङ्गानि ज्योतींष्यपि च पश्यति (सुउ. ७.१८-२४)
नेत्ररोगोऽयं स्नेहादिक्रियया याप्यः (डसुउ. ८.४५)

-घटी-स्त्री., काचपात्रम् (र. २७.४६)
-तिलक-न., काचलवणम् (रा. ६.४४)
-पात्र-न., काचमयं पात्रम् (सुसू. ४६.४५३)
-मणि-पु., काचः, योनिधूपनद्रव्येष्वेकम् (चशा. ८.४१)
-मल-न., काचलवणम् (रा. ६.४५)
-लवण-न., पार्थिव० तत् वर्णतः कृष्णम् । तद्गुणाः ईषत्क्षारं रुच्यं दीपनं दाहकं पित्तलं कफवातघ्नं गुल्मशूलहरं च (र. १९.२६-२९)
-संभव-न., काचलवणम् (रा. ६.४४)
-सौवर्चल-न., काचलवणम् (रा. ६.४४)

काचाक्ष-पु., जलचरपक्षी० कपर्दीपाकः (सुसू. ४६.१०५)
काचोत्थ-न., काचलवणम् (रा. ६.४५)
काजल-वि., अल्पं जलं यस्मिन् तत् (असंसू. ९.८२)
काञ्चन-पु., वनस्पति० चम्पकः (ध. ५.१४२)
धत्तूरः (र. १८.३९)
शालिभेदः (अहसू. ६.२)
न., नागकेसरम् (रा. ६.७३)
खनिज० सुवर्णम् (सुसू. २९.७२; ध. ६.१)

(काञ्चनी)-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा, स्वर्णक्षीरी (र. १८.१०४) काञ्चनारः (र. १५.८) गोरोचना, (रा. १२.३४) काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४२)

-कदली-स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५)
-क्षीरी-स्त्री., सुवर्णक्षीरी (सुचि. ३०.१६)
तद्गुणाः-तिक्ता, शोधनी, पित्तघ्नी, दोषसंघातशमनी, कृमिविषरक्तपित्तघ्नी च (ध. १.४१)
कटुः, शमनी, रेचनी, कफघ्नी, शोफपित्तज्वरघ्नी च (रा. ५.३६४)
-गैरिक-न., खनिज० दाक्षिणात्यप्रसिद्धं काञ्चनवर्णं गैरिकं छर्दिशमनम् (चक्र.) चचि. २०.३२)
सुवर्णगैरिकम्, चूर्णमस्य पाण्डुशमनार्थं उपयुज्यते (सुउ. ४४.२१)
-पुष्पक-न., वनस्पति० आहुल्यम् (रा. ४.३४)
-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० गणिकारी (रा. १०.३१)
-रस-पु., खनिज० माक्षिकः (र. २.७९)

काञ्चनक-पु., स्वर्णशालिः (सुसू. ४६.४)
पद्मकेसरम् (ध. ४.११६)
धत्तूरकः (ड. सुसू. ३९.७)
न., खनिज० हरितालम् (रा. १३.५९)
वनस्पति० पद्मकेसरम् (ध. ४.१६५)

(काञ्चनिका)-स्त्री., वनस्पति० गणकारी (रापरि. १०.३१)

काञ्चनार-पु., वन० कोविदारः (ध. १.१.१९६; रा. १०.२९४)
काञ्चनारक-पु.. काञ्चनारः (ध. १.१९६)
काञ्जि-स्त्री., काञ्जिकम् (र. ३०.९२)
काञ्जिक-न., आसुत० (ध. ६.२४९) नाडीस्वेदोपयोगि द्रव्यम् (चसू. १४.३३) नष्टार्तवोपचारेष्वेकं द्रव्यम् (सुशा. २.२२) पक्वधान्यकृतं संधानम्, पारदस्वेदनोपयोगि । (र. ११.२६) अस्य आरनालमित्यपरं नाम । तन्निर्माणविधिः-निस्तुषीकृतैरामैः पक्वैर्वा गोधूमैः संधितैरारनालं स्यात् । गुणैस्तत् सौवीरसदृशम् । (भाप्र.) नूतनमृन्मयकुम्भं कटुतैलेन लेपयेत् । निर्मलं जलं तस्मिन् क्षिपेत् । राजिकाजाजिसैन्धवं हिंगुविश्वानिशाः ओदनं वंशपल्लवान् ओदनकुलित्थयोः जलं, वटकखाण्डवं च तस्मिन्निधाय, मुद्रां दत्वा, दिनत्रयं स्थापयित्वा, ततो वस्त्रे गालितं काञ्जिकं भवेत् । (शानि.)
काञ्जिकगुणाः-अम्लं रूक्षमुष्णं (असंसू. १७.२२)
अवस्रंसनं दीपनं स्पर्शाद्दाहज्वरापहं सेवनाद्वातकफघ्नं विबन्धशोफमूर्च्छाशूलश्रमाध्माननाशनं च (ध. ६.२४९)

(काञ्जिका)-स्त्री., जीवन्ती (रा. ३.१७८)
पलाशी (रापरि ३.५०)
-प्रसाद-पु., काञ्जिकस्योपरितनोऽच्छो भागः (सुसू. २२.८)

काठिन्य-न., अमृदुत्वम् (अहसू. १२.५३)
काढक-न., काथः (काखि. १३.६७)
काण-पु., नेत्ररोग० (चसि. २.२१; सूचि. २२.३०)

काणा–स्त्री. वनस्पति० द्र० काकोली (उ., सुउ. ६०.४८; असंउ. ८; (इंदुः)

–कपोत–पु., पक्षि० प्रतुदवर्गीयः (असंसू. ७.१०९) अल्पारुतकपोतभेदः (हे. अहसू. ६.६०) वनवासी पाण्डुकपोतः; अरुणवर्णकः कपोतः (उ. सुसू. ४६.६९)
काणकपोतगुणाः–कषायः स्वादुर्लघणो गुरुश्च । (सुसू. ४६.६९)
सर्वदोषकृत् (अहसू. ६.६०) काणकपोतः पक्षिणामहिततमः । (चसू. २५.३७)

–काण्ड–न., मृदुर्वृक्षखण्डः (र. १५.९३) काष्ठखण्डम् (र. १७.१२) पु. पूर्वापरसंच्छिन्नोऽस्थ्यवयवः (सुनि. १५.४)
वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३३)
वनस्पति० (ध. ४.१३५)

–कटुक–पु., वनस्पति० काण्डीरः (ध. ४.६२)

–काण्डक–पु., वनस्पति० काशः (रा. ८.२०१)

–कीलक–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३८)

–गुण्ड–पु., वनस्पति० गुण्डः (रा. ८.६०)

–चित्रा–स्त्री., वर्ति० सैन्धवादिभिर्निर्मिता सर्वाक्षिरोगान् जयति (असंउ. १९.२४९)
सर्प० राजिलजातीयः (असंउ. ४२. इंदु पृ. ३२३)

–पुङ्खा–स्त्री., वनस्पति० शरपुङ्खा (रा. ४.६)

–भग्न–न., रोग० अस्थिकाण्डभङ्गः (सुनि. १५.४) अस्थिभङ्गस्य प्रकारः, (सुनि. १५.१०) तस्य सामान्यलक्षणम्–श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्तनं–स्पर्शासहिष्णुत्वम्, अवपीड्यमाने शब्दः, स्वस्तांगता, विविधवेदनाप्रादुर्भावः, सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति (सुनि. १५.९) काण्डभग्नं द्वादशविधम्–कर्कटकमश्वकर्णं चूर्णितं पिच्चितमस्थिच्छल्लितं काण्डभग्नमज्जानुगतमतिपातितं वक्रं छिन्नं पाटितं स्फुटितमिति (सुनि. १५.८)

–रुहा–स्त्री., कटुका (ध. १३७)

–लवण–न., भैषज्य० वनस्पति० काण्डैः लवणे च साधितो योगः तत् प्रक्रिया–स्नुहीकाण्डवार्ताकुशिग्रुलवणानि समांशानि संक्षुद्य, घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जभिः, प्रक्षिप्य शुष्कगोमयेन दाहयेत् । एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु इति (सुचि. ४.३१)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० काण्डीरः (र. २.३०)

–शाखा–स्त्री., वनस्पति० सौम्या (रापरि. ३.३१)

–संधि–पु., वंशाङ्कुरः (रा. ७.२१९)

–हीन–पु., लोध्रः (ध. ३.१७५)

काण्डेक्षु–पु., वनस्पति० काशः (ध. ४.१३०)
इक्षुभेदः श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१)
बृहदिक्षुः (चक्र.) चचि. १०.३३)
श्वेतेक्षुः शुक्रशोधनगणोक्तमेकं द्रव्यम् । (चसू. ४.१२)

काण्डेक्षुका–स्त्री., वनस्पति० तृणपञ्चमूलेष्वेकम् महती खगाली (सुसू. ३८.७५)
इक्षुः (सुसू. ३८.७५ ड)

काण्डक–पु., स्वल्पप्रमाणः खण्डः (चचि. १३.८१)
न., वालुकम् (ध. १.१७८)

(काण्डिका)–स्त्री., धान्य० कराल (ध. ६.१०९)

काण्डीर–पु., वनस्पति० (चक. १.२५)
गाण्डीरः (असंसू. १५.२०)
काण्डीरगुणाः–कटुः तिक्तः तृष्णः सरः दुष्टव्रणलूतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनश्च । (ध. ४.६२)

कात्यायन–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः । (चसू. १.११)

काथरा–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–तिक्ता, दीपनी, वातघ्नी च । (रापरि. ५.३६)

कादम्ब–पु., वारिचरपक्षि० कलहंसः (चसू. २७.४२) कलहंसोऽतिधूसरपक्षोऽसौ प्लववर्गीयः संघातचारी च (सुसू. ४६.१०५)
न., स्थावरविष० पुष्पविषमेतत् (सुक. २.५;)

कादम्बरी–स्त्री., आसुत० मद्यम् (ध. ६.२५६)
वनस्पति० कदम्ब (ध. ५.१०४)

कादम्बर्य–पु., वनस्पति० कदम्बभेदः (ध. ५.१०५)

कादि–पु., वनस्पति० कारवेल्लम् (र. १२.१०४)
कादिकगणः (र. १४.१०–१३)

कादिकगण–पु., ककारारब्धद्रव्याणां गणः–कङ्गुः कन्दुकः (पूगः) कोलः (मध्यमो बदरः) कुक्कुटः कलः (बदरः) क्रोडः (वराहः) कुलत्थाः कण्टारी (बृहती) कटुतैलं (राजिकातैलं) कृष्णगालकः (मधुरः) कूर्मः कलायः कणा (पिप्पली) कर्कारुः कटिल्लकं कतकं कर्कोटकं कर्कटी काली काञ्जिकं च अयं श्रीकृष्णदेवोक्तः (र. ११.१३१)

कानन–न., वनम् (सुसू. ६.२८)
उद्यानम् (सुउ. ४७.५७)

–दीर्घिका–स्त्री. उद्यानदीर्घिका अवतरणवापी (सुउ. ४७.५७)

काननोपल–न., आरण्योपलं, वन्यच्छगलमिति यावत् (र. २१.२०)

कान्त–पु., वनस्पति० नन्दीवृक्षः (रा. १२.३१)
न., खनिज० लोहभेदः (ध. ६.२८)
कान्तलोहम् (र. १.२२)
वनस्पति० कुङ्कुमः (रा. १२.२१)
वि., कमनीयम्, मनोहरम् (सुचि. २४.६६)

(कान्ता)–स्त्री., वनस्पति० रेणुका (रा. ६.९९)
बृहती (ध. १.९३)
त्रिसंधिः (रा. १०.३७)
वाराहीकन्दः (ध. ४.९२)
एलाभेदः, भद्रैला (रा. ६.७१)
मञ्जिष्ठा (चचि. २५.११६)
वनमल्लिका (ध. ५.१४०)
प्रियंगु (र. २०.६)

–नाग–पु., अञ्जन० (र. २८.९२)

–पुष्प–पु., वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९३)

–मल–पु., मण्डूरः (र. २७.३७)

–रस–पु., सिद्धयोग० कान्तलोहभस्म तत्समश्च पारदो गन्धकः टङ्कणं चेति सर्वं त्रिदिनं मत्स्यपित्तेन मर्दयेत् आर्द्रकस्वरसेन च नवज्वरे दद्यात् (र. १२.१४८)

–रसायन–न., सिद्धयोग० अनेन समृद्धा देहसिद्धिः प्राप्यते तथा च वृष्यत्वं पुत्रप्राप्तिश्च साध्यते दीपनं च भवति (र. २६.३७)

–लोह–न., खनिज० तस्य शोधनम्–कान्तलोहं तप्तं कृत्वा त्रिफलाक्वाथे सप्तवारं निर्वापयेत्। अनेन तत् शुद्धं भवति (र. ५.१३७–१३९)
तस्य मारणम्–शुद्धं कान्तं जम्बीरादिना अम्लेन पेषयित्वा, लोहापेक्षया चतुर्थांशेन पारदभस्मना तत् प्रलेपयेत् तत् पुटवह्नौ पचेत्। अथवा समभागैस्ताप्यगंधाश्महरतेजोभिः कान्तं लिप्त्वा गजपुटैः पचेत्। कान्तलोहं ग्रामकादिभेदात् चतुर्विधम्, ग्रामकं कनिष्ठं चुम्बकं मध्यमं कर्षकमुत्तमं द्रावकमुत्तमोत्तमं च। (र. ५.६४) व्याधिनाशे ग्रामकं चुम्बकं च प्रशस्तं वर्तते। रसकर्मणि रसायनकर्मणि च कर्षकं द्रावकं च हितम्।
पक्वजम्बूफलच्छायं कान्तलोहमुत्तमं वर्तते (र. ५.१३६)
मारुतातपविक्षिप्तं कान्तलोहं वर्ज्यम्।
कान्तलोहगुणाः–कान्तायोऽतिरसायनोत्तरतरं स्वस्थे चिरायुःप्रदं स्निग्धं मेहहरं त्रिदोषशमनं शूलामूलापहम्। गुल्मप्लीहयकृत्क्षयामयहरं पाण्डूदरव्याधिनुत् तिक्तोष्णं हिमवीर्यकं किमपरं योगेन सर्वार्तिनुत् (रर. ५.१०४)

–लौह–न., कान्तलोहम् (रा. ५.१३६)
द्र० 'कांत लोह'

–संज्ञ–न., खनिज० वैक्रान्तम् (ध. ६.४४)

कान्तलक–पु., वनस्पति० नन्दीवृक्षः (ध. ३.१८)

कान्ताभ्रकरसायन–न., सिद्धयोग० पाण्डुशोफोदरानाहग्रहणीशोषकाससंततपुराणविषमज्वरकुष्ठप्रमेहनाशकम् (र. २६.४२–४७)

कान्तादिरसायन–न., सिद्धयोग० व्याधिवार्धक्यनाशकमिदम् (र. २६.३१)

कान्तायस–न., खनिज० कान्तलोहभेदः (रा. १३.२७)

कान्तार–पु., वनस्पति० इक्षुः (ध. ४.१२०)
वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९३)
देश० कुरुक्षेत्रस्य दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानः (काखि. २५.१४)

(कान्तारिका)–स्त्री., कीट० मक्षिकाभेदः तद्दष्टस्य कण्डूशोफदाहरुजो भवन्ति (सुक. ८.३५)

कान्ति–स्त्री., शोभा (सुसू. ४५.९६)
वनस्पति० वाराहीकन्दः (ध. ४.९२)

–दा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२८)

कान्यकुब्ज–पु., देश० अत्र स्वर्णसन्निभं माक्षिकमुपलभ्यते (र. २.८३)

कापालिक–पु., धातूनामुपरि रञ्जनयोगेन जातो रक्तादिवर्णः। सूतस्य खोटबद्धादिरूपस्य अभ्रकसत्त्वादीनां च वङ्गकापालिकानागकापालिकाकालिकादिदोषः। कपालिककापीलिककापालिकापरपर्यायाः। कापालिकाः योगाः धातुवादकर्मणि पूर्वं प्रसिद्धाः। लोहादिधातूनां सुवर्णकरणं धातुवादः (र १०.९६)

कापिल–वि., कपिलाधेनुसंबन्धि (असंउ. १६)

–पित्त–न., जाङ्गम० गोपित्तं, गोरोचनम्, नेत्ररोगे कणादिद्रव्यभावनोपयोगि (असंउ. १६)

–बल–पु., ऋषि० कपिलबलपुत्रो दृढबलः। तन्त्रपूरणकर्तृष्वेकः (चचि. ३०.२९०)

–बलि–पु., कापिलबल (चचि. ३०.२९०)
द्र० 'कापिलबल'.

कापोत–न., खनिज० अञ्जनम् (रा १३.२१५)

काप्य–पु., महर्षि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.११)

काम–पु., मनोविकार० विषयेच्छा (चनि ८.४)
राजसगुण० भोगेच्छा (सुशा १.१८)
इन्द्रियार्थेष्वभिकाङ्क्षा (सुसू. १.२५ (३)
स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः (सुशा. १०.५३)
वनस्पति० आम्रभेदः, राजाम्रः (रा ११.१०)
वनस्पति० कामदमनकः (र ११.९५)
(**कामा**)–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (र. ११.१०९)
द्र० 'काकमाची'.
–**कर्मान्त**–पु., मदनव्यापारः (अरु.) अहसू. ३.२४)
वि., कामकर्म मदनव्यापारम् अन्तन्ति बध्नन्ति स्वसौन्दर्येणोत्तरोत्तरं वर्धयन्ति इति कामकर्मान्तः मदनव्यापारवर्धकः (हे)
–**कान्ता**–स्त्री., वनस्पति० अतिमुक्त–कः (रा. १०.२६०)
–**काली**–स्त्री., जलचरपक्षि० (चसू २७.४४)
–**खड्गदला**–स्त्री., वनस्पति० केतकीभेदः (रा १० ३–४)
–**ज**–वि., विषयवासनाभवज्वरः (सुउ. ३९.७८)
–**जननी**–स्त्री., तांबूलमूली (धपरि ३.२)
–**ज्वर**–पु., आगन्तुज्वर० विषयवासनाभवः ज्वरः तल्लक्षणम्–ध्याननिःश्वासबहुलत्वम् (चचि. ३.१२२)
एतस्मिन् किंकर्तव्यतामूढत्वं तन्द्राऽरोचकमालस्यं हृदयवेदना गात्रपरिशोषणं च भवति (सुउ ३९.७८)
–**दा**–स्त्री., वनस्पति० तांबूलम्–ली (धपरि ३.२)
–**देवरस**–पु., सिद्धयोग०, अतिवृष्यं रसायनमिदम् (र. २७.२८)
–**धेनु–रस** (परिव०) पु., सिद्धयोग०, अग्निदीप्तिकृद्वृष्यो वपुःस्थैर्यकृच्च (र २७.६६)
–**पिप्पली**–स्त्री., मदनबीजम् (र. ११.९५)
–**फल**–पु., आम्रभेदः, राजाम्रः (रा. ११.१०)
–**भक्ष**–वि., यथाकामं भक्षणशीलः (चचि.१ (१) ७५)
–**मोदी**–स्त्री., जाङ्गम० कस्तूरिका (रा. १२.४८)
–**रूपका**–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (ध. ४.९७)
–**रूपिणी**–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१)
–**वती**–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८४)
–**वल्लभ**–पु., वनस्पति० आम्रः (रा ११.१)
–**वृक्ष**–पु., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४१)
वनस्पति० बिंदुकली इति लोके (र ११.१०९)
–**वृद्धि**–पु., वनस्पति० अस्य बीजमुपयुज्यते । **गुणाः**–मधुरो बलवर्धनः कामवृद्धिकरो रुच्यो बहुलेन्द्रियवृद्धिदश्च (रापरि. ४.५१)
–**शर**–पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.१)
कामम्–अव्य., यथेष्टम् (सुचि. २४.६०)
कामयमान–वि., अभिलषन् (अहसू. १.२)
कामल–न., कामला एव कामलम् (र. ५.७८)
कामला–स्त्री., रोग० पाण्डुरोगभेदः (चक्र. चचि. १६.३४) चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४;) रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१२) संप्राप्तिः–यः पाण्डुरोगी अत्यर्थं पित्तलानि निषेवते तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा कामलारोगाय कल्पते । एषा कोष्ठशाखाश्रया बहुपित्ता कामला (चचि. १६.३५) पित्तोल्बणस्य पित्तकरद्रव्यातिसेवनात् पाण्डुरोगाद्यतेऽपि अयं भवेत् (असंनि. १३.१९) लक्षणानि–कामली हारिद्रनेत्रो हारिद्रत्वङ्नखाननो रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियो दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितश्च भवति (चचि. १६.३५) पाण्डुरोगान्तेऽन्यरोगान्ते वा अम्लाद्यपथ्यसेविनो वदनं देहश्च विशेषतः पाण्डुर्भवति । तन्द्रा बलक्षयश्च भवतः (सुउ. ४४.१०–११) कफरुद्धपथकामलासंप्राप्तिलक्षणम्–कफसंमूर्च्छितो वायुः यदा पित्तं बहिः क्षिपेत् तदाऽऽतुरः श्वेतवर्चा हारिद्रनेत्रमूत्रत्वग् भवति । क्रमेण च पित्तं यदा शाखासमाश्रितं भवेत् तदा आटोपविष्टम्भहृदयगुरुत्वदौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिध्माश्वासारुचिज्वराश्च भवन्ति (असंचि. १८)
कफरुद्धपथकामला शाखाश्रितकामलातो न भिन्नेति चक्रपाणिदत्तः (चचि. १६.१२४–१२७)
बालानां क्षीरजा कामला भवति । तल्लक्षणम्–कुपिते पित्ते स्तन्यं दौर्गन्ध्यम् ऋच्छति । तत्पिबतः शिशोः पाण्डुामयः कामला च भवेत् । कामलार्दितो बालः पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रो निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहश्च भवति (कासू. २५.३५) (चचि. ३०.२४५)
तस्याः असाध्यलक्षणम्–कृष्णपीतशकृन्मूत्रः शूनः सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रस्ताम्यन् दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितो नष्टाग्निसंज्ञः कामली क्षिप्रं विपद्यते (चचि. १६.३७–३८)

कामलिन्–वि., कामलारोगयुक्तः (चसू. १४.१८)
कामाङ्ग–पु., वनस्पति० आम्रः (ध. ५.१)
कामाता–स्त्री., वनस्पति०, काकमाची
(हे. अहसू. ७.३६) द्र० 'काकमाची'.
कामात्ता–स्त्री., वनस्पति० काकमाची
(र. १२.७४; अहसू. ७.३६)
द्र० 'काकमाची'.
कामादिज–वि., कामादिजन्यं व्याध्यादि (चचि. ३.१२५)
कामानन्दा–स्त्री., जाङ्गमकस्तूरिका (रा. १२.४७)
कामायुध–पु., वनस्पति० आम्रभेदः राजाम्रः
(रा. ११.१०)
कामारि–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (रा. ६.५१)
कामासक्ता–स्त्री., (सुचि. २६.८)
कामिन्–पु., वनस्पति० ऋषभक (रा. ५.१५८)
(कामिनी)–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८३)
आसुत० मद्यम् (रापरि. १४.३०१)
वृक्षादनी (ध. ४.९७)
कामेश्वर–पु., सिद्धयोग० शोफपाण्डुनाशनोऽयम्
(रा. १९.११०)
कामेश्वरमोदक–पु., सिद्धयोग० अयं रसराट् क्षय-नाशको वृष्यताऽऽपादको नैकव्याधिहरो बुद्धि-प्रागल्भ्यकृच्च (र. २७.१२६-१२९)
कामेष्ट–पु., वनस्पति० आम्रभेदः राजाम्रः (रा. ११.८)
कामोपजीव–पु., वनस्पति० कामवृद्धिः (रा. ४.५१)
द्र० 'कामवृद्धि'.
काम्पिल्लक–पु., वनस्पति० कपिल्लकः (असंसू. १४.४)
काम्पिल्यराजधानी–स्त्री., देश० (चवि. ३.३)
काम्बलिक–पु., यूष० दधिलवणतिलादिकृतः ईषदम्लः
(चक्रचसू. १३.२३)
दधिमस्त्वम्लसिद्धयूषः (ड. सुउ. ४२.९६)
सौवर्चलाजाजीबीजपूरकसौरभैः संयोज्य मथितः स्वच्छः काम्बलिको भवेत् (सुसू. ४६.३७६)
काम्बोजिका–स्त्री., वनस्पति० कूविका माषपर्णी (गयी)
बाकुची (रा. ४.२२७) (डसुचि. १९.४२-४३)
रक्तगुञ्जा (र. १६.१४)
काम्बोजी–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)
माषपर्णी (ध. १.१३६)
काम्भोजी–स्त्री., वनस्पति० खदिरभेदः, विट्खदिरः
(रा. ८.३८)
गुञ्जा (रा. ३.४७)
काम्ली–स्त्री., पार्थिव० सौराष्ट्री (असंउ. ९. इंदु)
काय–पु., शरीरम् (अहसू. १.१)
चित्तप्रकृतिः (सुशा. ४.८८)
चीयते प्रशस्तदोषधातुमलैरिति कायः
(अरु. अहसू. १.५)
-चिकित्सा–स्त्री., आयुर्वेदाङ्गविशेषः ज्वरातिसार-प्रभृतीनां कायरोगाणां संशमनं षट् कायचिकित्सा तन्त्राणि–अग्निवेशभेडजातुकर्णपराशरहारीतक्षार-पाणिप्रोक्तानि (सुउ. १.६)
कायस्य नाम अन्तरग्नेश्चिकित्सा (चसू. ३०.२८)
देहचिकित्सा (सुसू. १.७)
-छिद्र–न., शरीरस्रोतः (चइं. १२.५२)
-निबन्धन–न., योगपट्टम् (चक्र. चशा. ५.१२)
-मान–न., तृणादिरचितागारम्
(हे) अरु. अहसू. १३.९)
वेण्वादिनिष्पादितगृहम् (अरु.) शिबिरम्
(हे अहसू. ३.३५)
-यात–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.१९)
-रेक–पु., विरेचनम् (हे अहसू. १४.५)
-स्था–स्त्री., वनस्पति० आमलकी
(चक्र. चचि. २६.८३)
सुरसा (चक्र.) (चचि. १७.१४१)
हरीतकी (रा. ११.३०७)
एलाभेदः भद्रैला (रा. ६.७१)
एलाभेदः सूक्ष्मैला (रा. ६.६९)
तुलसी (रा. १०.७७)
हरीतकी सुरसश्च (इन्दु. असंउ. ९)
कायाग्नि–पु., कायनिर्वर्तकः अग्निः जाठराग्निः
(चसू. ६.२२)
कार–न., जलभेदः आन्तरीक्षजलप्रकारेष्वेकम्, करा वर्षोपलास्तेषां तोयं कारं तच्चाऽव्यक्तरसम् । ऐन्द्रं कारं हिमं च यज्जलं तदव्यक्तरसं विद्यात (चसू. २७.२००) (सुसू. ४५.७) द्र० 'जल'
(कारी)–स्त्री., वनस्पति० 'कारी तु कारिका कार्या गिरिजा कटुपत्रिका । तत्रैता कण्टकारी स्यादन्या त्वाकर्षकारिका' ॥ (रा.परि. ८.२६) गुणाः–कषायमधुरा गुरुर्दीपनी ग्राहिणी रुच्या कण्ठशोधनी पित्तनाशनी च (रापरि. ८.२६)
कारक–पु., कारणं, निदानम् द्र० 'निदान'.
(असंनि. १)
वि., करको वर्षोपलस्तद्भवं जलं, कारं जलमित्यर्थः
(र. १४.३५१)

(कारिका)–स्त्री., वनस्पति० कारी (रापरि. ८.२६)
द्र० 'कारी'

कारञ्ज–वि., करञ्जस्येदम् कारञ्जफलम्
(चसू. २७.१६०) (सुसू. ३७.३२)

कारण–न., अनन्यथासिद्धंकार्यनियतपूर्ववृत्ति। यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्, हेतुः (सासं जातिसू०) निदानम्, "इह खलु हेतुर्निमित्तम् आयतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्"
(चनि. १.३)
कारणं नाम तद् यत्करोति, स एव हेतुः स कर्ता
(चवि. ८.६९)
आत्मा भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा
(चशा. ४.८)

–ज्ञ–वि., तत्त्वज्ञानी (चशा. १.४१)

कारणानुरूपं कार्यम्–कारणे ये गुणाः सन्ति तेषां कार्येऽप्यनुबन्धो भवति, यद्गुणं कारणं तद्गुणं कार्यमिति (सांख्यसिद्धान्तः) (सुशा. १.१०)

कारणानुविधायि कार्यम्–कार्यस्य कारणानुरूपत्वम्
(असंशा. २.४)

कारण्डव–पु., काकवक्त्रो दीर्घचरणः कृष्णवर्णो हंसविशेषः संघातचारिप्लवेष्वेकः (चसू. २७.४१) अन्ये करह (ई) वमाहुः (सुसू. ४६.१०५)

कारभ–वि., करभायाः नाम उष्ट्र्या इदं पयस्, न; औष्ट्रं दुग्धम्, द्र० 'उष्ट्रः'
(चचि. १३.१८३–१८४)

–मूत्र–न., औष्ट्रं मूत्रम्, द्र० 'उष्ट्र.'
(सुसू. ४५.२२८) (सुचि. ९.६९)

कारम्भा–स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ३.१६)

कारली–स्त्री., वनस्पति० कारवल्ली (र.२२.१२४)

कारवल्ली–स्त्री., वनस्पति० कटुरसफलपत्रा शाकवल्ली अस्याः फलं शाकफलमिति उपयुज्यते
(र. १२.३०) (रा. ७.२७८)
गुणाः––तिक्ता, उष्णा, दीपनी, रक्तदोषकरी, कफवातघ्नी, अरोचकघ्नी, च (रा. ७.२७८)
हिं––करेला, करेली.
म.––**कारले.**
गु.––कारेला. कडवा वेला.
बं.––बडकरेला उच्छे; छोटकरला उच्चे.
त.––पाकै, मितिपाकल.
फा.––कारेलाह.

कारवी–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (असंचि. १६)
अजगन्धा (ध. २.१००)
जीरकभेदः, कृष्णजीरकम् (चसू. २७.३०७)
द्र० "जीरक"
यवानी (ङ सुसू. ४६.२३०)
राजिका (ङ सुसू. ६४.२३०)
स्वल्पद्राक्षा, गोस्तनिका (चचि. २४.१८२)
अल्पजीरकम्, द्र० 'जीरक' (चचि. १३.१२६)
शतपुष्पा (ध. २.१).
कुडुहुच्ची (क्षुद्रकारलिका) (रा. ७.२८०)

कारवेल्ल(क)–न., वनस्पति० कारवल्ली (असंसू. ७.१२२, सुसू. ४७.२६९)
पु., खनिज० खर्परप्रकारः, कारवेल्लवर्णत्वात् आकारत्वाच्च कारवेल्लक इति संज्ञा
(र. २.१५२)

(कारवेल्ली)–स्त्री., वनस्पति० कारवेल्लिका
(र. २.३०-३१)

(कारवेल्लीका)–स्त्री., वनस्पति० कारवल्ली
(सुसू. ३९.५)

कारस्कर–पु., वनस्पति० विषतिंदुः, गुणाः–कटुस्तिक्तः उष्णः कफवातजित् वातामयास्रकण्डूतिकुष्ठामार्शोव्रणापहः 'कारस्करस्तु किंपाको विषतिन्दुर्विषद्रुमः । गरद्रुमो रम्यफलः कुपाकः कालकूटकः ॥' (रापरि. ९.३५)
हिं.––कुचला.
म.––**काजरा. कुचला.**
गु.––झेर कोचला.
बं.––कुंचिले.
ता.––विषमुट्टि.
फा.––इफराकी.

कारीष–वि., करीषस्येदम् (सुसू. ४६.२९३)

कारेणव–वि., करेणुर्हस्तिनी तद्भवम्
(सुसू. ४५.१०४)

कार्कट–पु., वनस्पति० कर्कटः (रा. ११.३३१)

कार्कश–न., शाकविशेषः, स्वल्पकर्कोटकः
(चसू.२७.९७)

कार्कश्य–न., लक्षण० दुःस्पर्शत्वं, कठिनत्वम्, परुषत्वम्
(असंनि. ५.५१)

कार्तस्वर–न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२)

कार्तिक–पु., कालविभाग० चैत्रादिद्वादशमासेष्वेको मासः (र. १५.३९)

कार्पास–न., भैषज्य०, तूलः (सुसू. १८.१६)
कार्पासतन्तुविरचितं वस्त्रम्
व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. १८.१६)
पु., वनस्पति० कार्पासी (र. २३.६)

(कार्पासी)–स्त्री., स्वनामख्याता वनस्पति०
(रा. ४.२४, असंशा. ३.१४)
गुणाः–मधुरा शीता स्तन्या बलकारिणी पित्त-कफघ्नी तृष्णा-दाह-श्रम-भ्रान्ति-मूर्च्छाहरा च । कार्पासः कार्पासिका कार्पासिकी इत्यपि अस्याः नामानि सन्ति (रा. ४.४५)
हिं.—कपास. वनकपास.
म.—**कापशी. कापूस.**
गु.—वणरु कपास.
बं.—कार्पास, वनकार्पास.
त.—परुत्ति, उत्तिरी.
फा.—कुतुन, पुंवेदना.

–पिचु–पु., कार्पासखण्डः (चशा. ८.४३)

–मूल–न., कार्पास्याः मूलं, विषजोन्मादे पानार्थम् उपयुज्यते (असंउ. ४७)

–विहितोष्णीषा (शलाका)–वि., कार्पासेन विहितम् उष्णीषं शिरोवेष्टनमिव यस्याः सा (शलाका) (अहसू. २५.३४)

कार्पासास्थि–न., कार्पासबीजम् (चचि. १८.७५)
गुणाः—स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु च
(र. २३.६)

कार्पासिनी–स्त्री., अरण्यकार्पासी (भारद्वाजी) पानात्यये शमनी, वातसंशमनगणे (सुसू. ३९.७) (सुउ. ४७.३४)

कार्मण–पु., न., परद्रोहार्थो मन्त्रादियोगः
(चचि. २३.५९ असंसू. ८)
वशीकरणम् (असंउ. ४०)
कृत्रिमयोगः (इन्दु. असंउ. १०)

कार्मिक–वि., कर्मोपयोगी (असंउ. ४२)

कार्मुक–वि., कार्यकरम् (सुसू. ४१.५)
पु., वनस्पति० अतिमुक्तकः (ध. ५.१५३) वंशः (ध. ४.१३७)
खदिरविशेषः सोमवल्कः, श्वेतसारः द्र० 'खदिर' (ध. १.२७)
महानिम्बः (ध. १.३१)
हिज्जुलः (रापरि. ८.७०)

(कार्मुका)–स्त्री., पुष्पवती माधवी लता । अतिमुक्ता (अहसू. १५.३०)

कार्य–न., कार्यं तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिम् अभिसंधाय प्रवर्तते कर्ता (चवि. ८.७२) कार्यं प्रागभाव-प्रतियोगि (तर्कसंग्रहः)

(कार्या)–स्त्री., वनस्पति० कारी (रापरि. ८.२६).

–ज्ञान–न., कार्यप्रवृत्तिजनकबाह्यविषयज्ञानम्
(चशा. ३.१९)

–निमित्त वि., कार्योत्पन्नः भावः (चवि. ८.७४)

–निवृत्ति स्त्री., व्याधेरुपशमः (सुउ. १८.४७)

–प्राप्ति–स्त्री., कार्योत्पत्तिः (चवि. ८.८४)

–फल न., कार्यफलं पुनस्तत् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिः इष्यते (चवि. ८.७३)

–योनि–स्त्री., कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमेव आपद्यते
उपादानकारणं समवायिकारणं वा (चवि. ८.७१)

कार्श–पु., वनस्पति० कर्चूरः (ध. ३.९४)

काश्यं–न., लक्षण० कृशता, उपशोषिताल्परसधातुजन्यं मांसहीनशरीरं मांसक्षयो वा (सुनि. ३.१७) रोग० (चचि. ११.६५) रसदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९) रसनिमित्तमेव स्थौल्यं काश्यं च (सुसू. १५.३२) स्थौल्यात् काश्यमेव वरम् (असंसू. २४.५१) (अहसू. १४.३१) क्षुधो निग्रहात् जायते तथैव वृद्धो वातः काश्यादीन् कुरुते (अहसू. ४.११. (१.६); काश्यंजनकानि कारणानि रूक्षान्नपानानां सेवा लङ्घनं प्रमिताशनं वा वमनादिक्रियातियोगः शोकः वेगनिद्राविनिग्रहो रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याऽभ्यासः जरा प्रकृतिः आनुवंशिकी कृशप्रकृतिर्विकारानुबन्धः क्रोधश्च । कृशस्य लक्षणानि–कृशो न सहते व्यायामं अतिसौहित्यं, क्षुत्पिपासामयौषधमतिशीतोष्णमैथुनम् । कृशं प्रायो ग्रहणीगता रोगाः प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्माऽर्शांस्युदराणि चाभिबाधन्ते (चसू. २१.११–१४) काश्यें चिकित्सासूत्रम्–तत्र सर्वं पानान्नभेषजं बृंहणं योजयेत् । अचिन्तया चित्ततुष्ट्या प्रियदर्शनादिना ध्रुवं संतर्पणेन निद्राभ्यासेन च कृशो वराह इव पुष्यति
(अहसू. १४.३३-३४)
वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४)
वनस्पति० कर्चूरः (ध. ३.९४)
वनस्पति० लकुचः (रापरि. ९.४४)

कार्षिक–वि., कर्षप्रमाणम् (चचि. १३.१६३)

कार्ष्णगन्धिक–वि., कृष्णगन्धः शोभाञ्जनः, तत्कृतः कार्ष्णगन्धिकः पिण्डः (चचि. १४.४२)

कार्ष्णायस–न., कृष्णलोहपात्रं, 'कान्तलोहपात्रम्' इत्यन्ये (सुसू. ४६. ४४९)

कार्ष्णी–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४४०)

कार्ष्ण्य–न., कृष्णवर्णता (चशा. ४.१६)
खनिज० मण्डूरः (रा. १३.३६)

काल–वि., कृष्णवर्णः (का. सूत्रकृच्छ्रचि.)
पु., नवद्रव्येषु एकं द्रव्यम् । 'खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः' (चसू. १.४८;) क्षणादिव्यवहारहेतुः । कालो हि भगवान् स्वयम्भूः अनादिमध्यनिधनः । संकलयति कालयति वा भूतानि इति कालः । कलयति संक्षिपतीति वा कालः, अथवा कालयति मृत्युसमीपं नयति इति वा कालः, अन्ये 'कालयति' इत्यत्र कलयति इति पठन्ति, कलयति संख्याति इति वा कालः । संकलयति भूतानीति वा, सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति वा (सुसू. ६.३) स एव संवत्सरादिस्वरूपो जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयनिमित्तमिति कालकारणिकाः (सुशा. १.११;) स द्विविधः–संवत्सरो नित्यगो वा, आतुरावस्था आवस्थिको वा (चवि. ८.८४;) (चवि. १.२२) (सुसू. ४६.४६४) तत्र संवत्सरो द्विधा, त्रिधा, षोढा, द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य (चवि. ८.१२५) द्विधा–आदानविसर्गभेदेन, त्रिधा–शीतोष्णवर्षलक्षणः, षोढा–वसन्तादिऋतुभेदेन, द्वादशधा–काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, यामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन (असंसू. ४.४;) (असंसू. २३.९) (चसू. २६.१३) चिकित्सिते अवेक्षाभेदेनाऽवस्थाभेदेन च कालस्य विभागो यथा–दिनाऽऽतुरौषध–व्याधि–जीर्णलिङ्गर्तुभेदेन षड्विधः । तत्र दिनावेक्षो यथा पूर्वाह्णे वमनम्, आतुरावेक्षो यथा बलवान् प्रातर्निरन्नो भेषजं पिबेत्; दुर्बलस्तु लघुपथ्यान्नैर्युक्तं भेषजमद्यात् । औषधावेक्षं यथा–भैषज्यकालः प्रातरेव निरन्नं तथा प्राग्भोजनं च, प्रातर्भोजनोत्तरकालं, सायं भोजनोत्तरकालं, मध्ये-भुक्तं तु यदर्धं भुक्त्वोपयुज्यते, पश्चात् पुनरर्धं भुज्यते; मुहुर्मुहुः सभक्तम् अभक्तं वा भुज्यमानम्; सामुद्गं नाम यद् भक्तस्याऽऽदावन्ते च, अन्तराभक्तं नाम यदन्नेन संयोगात् संस्काराद्वातद्विमिश्रितं भुज्यते । ग्रासग्रासान्तरं चैवं दश भैषज्यकालाः । तथैवाऽपाने विगुणेऽन्नादौ, समाने विगुणे भोजनमध्ये, व्याने विगुणे प्रातराशस्योदाने भोजनोत्तरं वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते । श्वासकासपिपासासु मुहुर्मुहुः अवचार्यम् । हिक्किने लघुनान्नेन संयुतं सामुद्गं देयम्; अरुचौ तु विचित्रैर्भोज्यैः संयुक्तमौषधं हितम्, व्याध्यवेक्षः कालो यथा–ज्वरे आमयस्य कालं वीक्ष्य ज्वराहादारभ्य षडहे यथाक्रमं पेयाकषाय–क्षीर–सर्पिः–विरेचनं देयम् । जीर्णलिङ्गापेक्षः कालो यथा–क्षुद्वेगमोक्षौ लघुतां विशुद्धिं जीर्णलक्षणं चावेक्ष्य भेषजमादेयमन्यथा हि दोषवत् स्यात् । ऋतुकालावेक्षं यथा–दोषाणां चयादीन् वीक्ष्य ऋतौ अवेक्ष्य सेव्यं वर्ज्यं वा आहारविहारौषधादिकर्म चिकित्सा कार्या (चचि. ३०.२९६–३०६)
पु., मृत्युः, ज्वरस्य मारणात्मकत्वात् स कालो यमो नियतिर्मृत्युरित्यादिनामभिरुच्यते (सुउ. ३९.९५)
वनस्पति० व्याघ्रनखम्, सुगंधिद्रव्यविशेषः (रा. १२.११०)
कासमर्दः (ध. ४.११८)
चित्रकविशेषः (रा. ६.१२७)
रालः (रा. १२.१७७)
न., शारीर० कालकम् (सुउ. १.१९)

(काला)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)
त्रिवृत् श्यामा (ध. १.२४३)
नीलिनी (ध. १.२३२;) (असंउ. २६)
कालानुसारिवा, सारिवा (सुउ. ५८.५९)
काकोली (चचि. ३.२५८)
कासमर्दः (सुचि. १७.१४)
अहिंस्रा (सुसू. ३७.६) (वैशसिं)
कटुहिंस्रा (सुचि. १८.१३)
हिंस्रा (सुचि. १८.४६)
ग्रहमाता (असंउ. ४)

(काली)–स्त्री., वनस्पति० कालिः (ध. २.७०)
कृष्णजीरकः
त्रिवृच्छ्यामा (र. ११.१३१)
कालाञ्जनी (रापरि. ४.४३)
पोतकी (ध.४ परि० ५) शीतला, स्निग्धा, श्लेष्मला, वातपित्तजित्
वि., कृष्णवर्णयुक्ता (असंशा. ४.१६)

-कल्प-वि., ईषत् मृत्युसदृशम् (सु.क. ४.४१)
-कुष्ठ-न., वनस्पति० कंकुष्ठम् (ध. ३.१४१)
-कूट-पु., विष० कन्दविषभेदः (सुक. २.५)
न., महाविषं कालकूटाख्यं श्रीशेन सद्य एव निपीतं तदवशिष्टं कन्दादिरूपेण जातेषु विषेष्वन्यतमं काकचञ्चुनिभं च (र. २९.१५) (र. २९.७)
शुष्को जम्बीरफलरूपो वर्तुलकन्दो, घ्राणमात्रान्मृत्युदायकं तीव्रं विषं भवति (र. २.१५)
पु., वनस्पति० सर्जकः (रा.९.२०४)
-कूटक-पु., वनस्पति० कारस्करः (रा. परि. ९.३५)
-घातिन्-वि., विषप्रकारः, विषस्य उपयोगादिवसादन्यो दिवसपक्षमासादि कालः तस्मिन् हन्तुं शीलम् अस्येति कालघाति (विषम्) (सु.क. २.११)
-चक्र-न., निमेषादियुगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमुच्यते (सुसू. ६.९)
-चोदित-वि., कालप्रेरितावसानः, मुमूर्षुः (चइं. ११.१९)
-च्छिद्र-न., कालरहितः कश्चिदवकाशः (चशा. ६.२८)
-ज-वि., काले जातम् (चचि. १. (२) ४.)
-जात-वि., स्वकाले संजातम् (चक. १.१०)
-ताल-पु., वनस्पति० तमाल (रा.परि. ९.१५)
-त्रिक-न., शीतोष्णवर्षालक्षणस्त्रिविधः कालः (चचि. २४.६८)
-दंष्ट्रा-स्त्री., मृत्युः (असंसू. ९.१३६)
-नियत-वि., कालेन निश्चितम् (असंसू ९. १११-११२)
-निर्यास-पु., वनस्पति० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)
-पक्व-वि., कालेन पक्वः आसन्नमृत्युत्वात्पूर्णकालः (चइ. २.२२) (असंशा. ९.१७)
-पत्रका-स्त्री., वनस्पति० पत्रविषविशेषः (असंउ. ४०)
-(पत्रिका)-स्त्री., वनस्पति० पत्रविषम् (इंदु. असंउ.४०)
-परिहीत-वि., कालसंबद्धः (चसू. ६.५)
-परिणाम-पु., कालेन परिणमनम् । तत्र वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्यास्ता एव कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो भवन्ति हेमन्ते (सुसू. ६.११, चशा.४.२७)
-पालक-न., वनस्पति० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)
-पाश-पु., कालस्य नाम मृत्योः पाशः (चइ. ११.१६)
-पिपीलिका-स्त्री., कीट० कृष्णवर्णपिपीलिकाभेदः, मर्कोटः (अहृचि. १५) उदररोगे अत्रसंधानार्थमुपयुज्यते (सुचि. १४.१७) द्र० 'पिपीलिका'.
-पुच्छ-पु., पशु० हरिणभेदः, तस्य मांसरसो जीर्णज्वरे हितः (चचि. ३.१९०)
-पुच्छक-पु., पशु० ललत्कृष्णपुच्छः कूलचरमृगः, हरिणभेदः (सुसू. ४६.९४. चशा. ८.२४. चसू. २७.४६)
-पुष्प-पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.१२)
-पेशिका-स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः, कृष्णजीरकः (ध. २.७०) द्र० ' जीरक. '
-प्रकर्ष-पु., कालपरिणामः (चचि. १.२२) (२) (सुनि. ८.८)
-प्रकृति-स्त्री., कालस्वभावः, कालस्वभावसंबद्धो दोषः (चवि. ३.४८)
गर्भोत्पत्तिकाले विद्यमानं कालरूपं कारणम् । यथा कालस्वभावस्तथैव गर्भशरीरं भवति (चवि. ८.९५)
-प्रतीक्षण-न., कालप्रतीक्षा (चसू. १३.७७)
-प्रियकरी-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा.४.४०२)
-बलप्रवृत्त-वि., शीतोष्णवातवर्षाप्रभृतिनिमित्तो रोगः कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षाप्रभृतिनिमित्तास्तेऽपि द्विविधा व्यापन्नर्तुकृता अव्यापन्नर्तुकृताश्च (सुसू. २.४७)
-बस्ति-(परिव०) पु., बस्तिप्रयोगः, अत्र षोडश संख्याका बस्तयो दीयन्ते । प्रथमः स्नेहबस्तिः, ततः निरूहषट्केनान्तरीकृताः षट् स्नेहाः इति क्रमेण द्वादश, अन्ते च त्रयः स्नेहबस्तय एवं षोडश (चसि. १.४८)
पञ्चदशसंख्याकाः बस्तयः, एकः पूर्वं स्नेहः, अन्ते त्रयः स्नेहाः तथा षट् स्नेहाः पञ्चभिर्निरूहबस्तिभिरन्तरिताः (अरु अहसू. १९.६४)
-भोजन-न., युक्ते काले भोजनम् । आरोग्यकराणां श्रेष्ठं भवति (चसू. २५.४०)
-मल्ल-पु., वनस्पति० अर्जक (चचि. ३.२६७) (जज्जटः)
-मल्लिका-स्त्री., वनस्पति० अर्जक (चचि. ३.२६७) (जज्जटः)

–माल–पु., वनस्पति० अर्जकः (चचि. ३.२६७) (ध. ४.५६)
कृष्णार्जकः कृष्णमल्लिका, 'बर्बरिका इति लोके' (ड. सुसू. ३८.१८)

–(मालक)–पु., वनस्पति० अर्जकः कृष्णपत्रा क्षुद्र-तुलसी (चक १.२५) (चवि. ८.१४२)

–(माला)–स्त्री., वनस्पति० अर्जकः, तुलसीभेदः (सुसू. ४६,२२१) (अहसू. १५.३०) (असंसू. १६.२४)

–(मालिका)–स्त्री., वनस्पति० अर्जकः, कृष्णकुटेरकः कृष्णार्जकः (असंसू. ७.१५७)

–माषी–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)

–मुष्कक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (असंसू. ३९.७) (अहसू. ३०.८)

–मूल–पु., वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२७)

–मृत्यु–पु., योग्यकाले आयुषः पूर्णत्वात् समागतो मृत्युः (चवि. ३.३७)

–मेषिका–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)

–मेषी–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
जीरकभेदः कृष्णजीरकः (रा. ६.१०५)
द्र० 'जीरक.'
बाकुची (ध. १.१६६)
त्रिवृत् (श्यामा) (ध. १.२४३)

–मेह–पु., रोग० पित्तजप्रमेहभेदः, पित्तस्य परिकोपेन यो मषीवर्णमुष्णमजस्रं मूत्रं प्रमेहति, तं कालमेहिनं विद्यात् (चनि. ४.२५) (चसू. १९.४) (९) (असंनि. १०.१२)

–योग–पु., कालस्य संयोगः, शरीरवृद्धिकरभावेष्वेकः (चशा. ६.१२)

–रात्रि–स्त्री., मृत्युरात्रिर्यमभगिनी (सुनि. १०.१३)
रेवतीग्रह० जातहारिणी (का. रेवतीकल्प. ३८)

–लवण–न., लवण० बिडलवणम् (चचि. १३.१३४)
सौवर्चलम् (सुउ. ४२.९२)

–लोह–न., खनिज० तीक्ष्णलोहम्, कृष्णायसम् (ध. ६.२८; र. २५.६७; चचि. १७.१२९)

–लोहरजस्–न., काललोहस्य चूर्णम्; मण्डूरम् (चचि. ७.१७१; चसू. २१.२३)

–वित्–वि.,कालज्ञः (असंसू. ५)

–विध्वंसनरस– पु., पारदयोग० सुवर्णरौप्यताम्र-धत्तूरादियुक्तः पाण्डुनाशनः (र. १९.४९-५७)

–विनिश्चय–पु., कालविचारः (४३.१०)

–विपर्यय–पु., विषमकालः, कालदुष्टिः (चसू. २८.७)

–विभाग–पु., ऋत्वादिरूपः कालभेदः (सूचि. ३.१२)

–वृन्त–पु.. वनस्पति० पाटला (असंसू. १४.३)

–वृन्तिका–स्त्री., वनस्पति० पाटला (ध. १.१२०)

–वेदिन्–वि., रोगिणोऽन्यस्य चाऽवस्थास्वभावविशेषानुमितं कालं ज्ञातुं शीलमस्येति कालवेदी (असंसू. २.९)

–वैकृत–न., कालस्य विकृतत्वं विषमत्वं वा यथा प्राप्तत्वाद्विपरीतस्वरूपम् (असंसू. ९.८६)

–शाक–न., शाक० श्राद्धार्हं कालियाशाकम्। गुणाः–कटु, शीतवीर्यं, दीपनं, रक्तं, पित्तकफहरं, वातकृत्, सरं, रुच्यं, मेध्यं, बल्यं, गरशोफजित् (चसू. २७.९१; सुसू. ४६.२७२;) (भाप्र.,) चुंचुशाक-मिलेके, कैडर्यपत्रमिति केरलेषु केचित्। कलंबभेदः, नाडीकशाकं द्विविधं तिक्तं मधुरमेव च (अहकोष)
हिं.–नाडिकाशाक, नरिचा.
बं.–नलितपाटू.
म.–**कुळीची भाजी, नाडीशाक.**
गु.–करली.

–शालि–पु., कृष्णशालि, द्र० 'शालि' (रा. १६.८६)

–शेय–न., आहारद्रव्य० तक्रम् (असंचि. १०)

–षड्क–न., रात्रिदिवसयोः षड्भागाः ते च पूर्वाह्ण-मध्यान्हाऽपराह्ण-प्रदोषाऽर्धरात्रप्रत्यूषाः इति (सुउ. ३९.६२)

–संपत्–न., कालस्य अनतितीक्ष्णत्वादिरूपा संपत् (गुणवत्त्वम्) (चशा. २.६)

–संप्राप्ति–स्त्री., संप्राप्तिभेदः, सङ्ख्या–प्राधान्य–विधिविकल्प–बल–कालविशेषैर्भिद्यमाना संप्राप्तिः द्र० 'संप्राप्ति' (च. १.१२ (१)

–स्कन्ध–पु., वनस्पति० विट्खदिरः खदिरभेदः, द्र० 'खदिर' (र. ८.१८)
तमालः (सुसू. ३८.८)
तिन्दुकः (ध. ५.४०)
उदुम्बरः (रा. ११.१३६)

–स्फोट–पु., रोग० तस्य चिकित्सा–पुत्रजीवस्य मज्जां तु जलैः पिष्ट्वा प्रलेपनात्। कालस्फोटं विषस्फोटं सद्यो हन्यात्सवेदनम् (र. २४.१२९)

–स्वभाव–पु., कालस्य स्वभावः, अनेन च ग्रीष्मे कृताभ्यां देहाऽऽहारयोर्लघुरूक्षत्वाभ्यां चीयमानोऽपि लघुः रूक्षो वायुर्न कुप्यति उष्णेन प्रतिबद्धत्वात् । वर्षाकाले जायमानाम्लविपाकेनाहारेण चीयमानमप्यविपाकं पित्तं न कुप्यति शीतेन प्रतिबद्धत्वात् । शिशिरे देहे आहारे च संजाताभ्यां स्निग्धशीताभ्यां प्रकृत्या स्निग्धशीतोऽपि श्लेष्मा चीयते, न तु कुप्यति शीतेन घृतवद् घनीभूतत्वात् ।
(अहसू. १२.२५–२८)

–स्वभावमार्ग–पु., कालस्य स्वाभाविको मार्गः । आदानकाले निसर्गकाले वा सूर्यस्य मकरकर्कराशिमध्ये भ्रमणम् (असंसू. ४.६)

कालक–पु., कृष्णवर्णः (सुनि. १३.४३)
धान्य०, (सुसू. २०.५)
सर्प० (असंसू. ७.७६)
न., शारीर०, नेत्रगतं कालकास्थि
(सुउ. १. १९)

–चूर्ण–न., योग० पाठा, व्योषम्, रसाञ्जनं त्रिफला, लोध्रं, चित्रकः, इत्येभिर्युक्तः दन्तास्यगलरोगेषु गण्डूषधारणार्थमुपयुज्यते
(चचि. २६.१९४–१९५)

कालङ्कृतक–पु., वनस्पति० कासमर्दः (चक. १.२५)

कालङ्कृत–पु., वनस्पति० कासमर्दः (चवि. ८.१३५)

कालाकालसंज्ञा–स्त्री., आतुरावस्थासु तु कालाकालसंज्ञा । तद्यथा–अस्यामवस्थायामस्यौषधस्य कालोऽकालो वा (असंसू. २३.१२)

कालागरु–न., वनस्पति० अगरु-भेदः कृष्णागरु, द्र० 'अगरु' (रा. १२.४०)

कालाञ्जन–न., अञ्जनम्, सौवीराञ्जनम्
(सुउ. ४५.३२ ड.)

कालाञ्जनी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुः, उष्णा, मलामकृमिशोधनी, अपानावर्तशमनी जठरामयहारिणी च (रापरि. ४.४३)

कालानुवर्तिन्–वि., कालपराधीनः (चसू. २७.१९७)

कालानुसारक–न., वनस्पति० तगरम्
(रा. १०.१०३)

कालानुसारिन्–पु., वनस्पति० तगरम् (सुचि. ३.६०)

कालानुसारिवा–स्त्री., वनस्पति० सारिवाभेदः, कृष्णसारिवा, द्र० 'सारिवा.' (सुउ. ५८.६५, सुचि. २२.६९)
तगरभेदः (सुक. ६.१७)

कालानुसारी–स्त्री., वनस्पति० कृष्णसारिवा, द्र० 'सारिवा', (सुचि. २०.५५)

कालानुसार्य–न., तगरम् (जज्जटः) (चचि. ३.२५८)
शैलजम् इति केचित् (सुसू. ३७.२६)
(शैलजम्–शैलेयम्) चन्दनभेदः (चचि. ३. २५८. (चक्र)

कालानुसार्यक–न., खनिज० शैलेयम् (ध. ३.७३)

कालानुसार्या–स्त्री., कालानुसारिवा
(सुक. ५.६५–६८)
तगरम् (सुचि. १७.१५)
चन्दनभेदः, द्र० 'चन्दन' (चचि. ४.१०३)

कालानुसार्यादितैल–न., योग० कालानुसारी, अगरु, एला, जाती, चन्दनम्, पद्मकम्, शिला, दारु, अमृता, तुत्थम् एतैः सिद्धं तैलं रोपणार्थं युज्यते
(असंउ. ३१. तप्रपृ. २९८)

कालान्तरप्राणहर–वि., मर्मप्रकार० कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासान्मारयन्ति, तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति (सुशा. ६.२३) द्र० 'मर्म'

कालान्ध–वि., कालेन आसन्नतरमृत्युनाऽन्धत्वं प्राप्तः
(चइं. ११.१८)

कालापेक्ष–पु., ऋत्वहोरात्रवयोव्याधिभोजनेषु प्रत्येकं क्रियमाणो भेदः तं तं कालं अपेक्षते इति कालापेक्षः (चचि. ३०.३०८) द्र० 'काल'.

कालाभ्रक–न., खनिज० कृष्णाभ्रकम्
(र. २०.११) द्र० 'अभ्रक'

कालाम्ल–वि., कालेन अम्लम् (अहसू. ५.७८)

कालायक–न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)

कालायशाक–न., शाक० त्रिपुटक–कलायस्य पत्राणि शाकत्वेनोपयुज्यंते, गुणाः–भेदनं मधुरं रूक्षमतिवातलं च (सुसू. ४६–२७७)

कालायस–न., खनिज० लोहभेदः, कृष्णलोहः, द्र० 'लोह' (चचि. १.५८)

कालि–पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७) धोत्रा.
स्त्री., जीरकभेदः, कृष्णजीरकः (ध. २.७०) द्र० 'जीरक'

कालिका–स्त्री., वनस्पति० काकोली (रा. ३.१६६)
कर्कटशृङ्गी (रा. ६.१११)
कालीयकम् (सुउ. ५१.२३)
जीरकभेदः (स्थूल) जीरकः (ध. २.५९)
द्र० 'जीरक'
खण्डः (र. १७.१३७)

कर्णगतदैवकृतछिद्रसमीपवर्तिनी कृष्णवर्णा सिरा (सुसू. १६.५)

कालिङ्ग–पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (र. १०.९७)
फल० कलिङ्गः (र. ३०.६३)
कलिङ्गडम् (अहसू. ६.८७)

–मान–न., मान० कलिङ्गदेशे भवं मानम् । मानं च द्विविधं, कालिङ्गं मागधं च, कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमिति कथ्यते (चक. १२ .१०५)

कालिनी–स्त्री., रसबन्धनप्रयोगयोग्या स्त्री । तस्या लक्षणम्–श्यामवर्णा, पद्मलोचना, कुञ्चितकेशी, सुरूपा, तरुणी, विस्तीर्णजघना, शुभा, पीनस्तनभारेण नम्रिता, चुम्बनालिङ्गनस्पर्शकोमला, मृदुभाषिणी, अश्वत्थपत्रसदृशयोनिदेशसुशोभिता, कृष्णपक्षे पुष्पवती च या नारी सा 'कालिनी' इति कथ्यते । रसायने, रसबन्धप्रयोगे च उत्तमा स्मृता (र. ६.३३)

कालिन्द–न., फलशाक०, कृष्णबीजं कूष्माण्डसदृशं फलम् ; कलिन्द इति लोके । तद्गुणाः–दृष्टिशुक्रक्षयकरं कफवातकृच्च (सुसू. ४६.२१४)

कालिन्दक–पु., वनस्पति० जोन्नालः, कूष्माडभेदः (सुसू. ९.४) द्र० 'कूष्माण्ड'

कालिन्दी–स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३८)
त्रिवृत् (ध. १.२४३)

–रक्ता–त्रिवृत् श्यामाभेदः रक्ताकालिन्दी (रा. ६.३६९) द्र० 'त्रिवृत्'

कालीय–न., शारीर० रक्तस्थानिलयोगात् कालीयम् (असंशा. ५.४८)
कालीयकम् (रा. १२.१५ सुचि. २५.३९)
कृष्णचन्दनम् (सुचि. २०.३५)
द्र० 'चन्दन' 'कालीयक'

कालीयक–न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८४)
कृष्णचन्दनम् (असंचि. १८)
चन्दनभेदः, मलयादि चन्दनमिति प्रसिद्धम् (सुसू. ३८.८ चचि. १६.५४)
पीतचन्दनम्–गुणाः–तिक्तं, शीतं, हृद्यं, परं कान्तिदं कुष्ठश्लेष्मानिलापहं, कण्डूविचर्चिकादद्रुकृमिहृत् रक्तपित्तजित् (ध. ३.८ रा. १२.१५)
हिं.—पीला चंदन.
म.—**पिवळे चंदन.**
गु.—पीळो चंदन.
बं.—पीत चंदन.
फा.—संदल अबीयज,

कालुष्य–न., मलसंकीर्णत्वम्, मलिनता (र. ८.९५)

कालेयक–पु., वनस्पति० कालीयकः (सुसू. ३९.९)
न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (इंदुः असंउ ३० ; ध. १.५८)
दारुहरिद्रानुकारि द्रव्यम् (सुउ. ४४.३१)
कालीया काष्ठं, कृष्णचंदनम् (चसू. ३.२६)
कालीयकः (सुक. ६.१५)
अगरु (ध. ३.२७)
कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)

कालोत्थलवण–न., काललवणम्, सौवर्चलम् (चचि. १५.१७१)

कालोपपन्न–वि., आवस्थिककालयोग्यम् (सुउ. २४.१८)

कालिकाभेदा–स्त्री., वनस्पति० महाकरञ्जः (ध. ५.११०)

कावीर–कुरुक्षेत्रात् दक्षिणदेशविशेषः सोयं कावेरीनदीपरिसरप्रदेशः संभाव्यते (काखि. २५.१२)

काश–पु., वनस्पति० इक्षुरकः, श्वेतचामरपुष्पो नाम तृणविशेषः, चमरपत्रस्तृणपञ्चमूलेष्वेकः, स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२); मूत्रविरेचनीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) काशमूलं निर्वापणप्रदेहे (चसू. ३.२७) वीरतर्वादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.१२) कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञकः, मूत्रदोषविकारं, रक्तपित्तं च विनाशयेत् (सुसू. ३८.७५).
गुणाः—स्वादुर्हिमस्तर्पणो वृष्यो बलकृद्रुच्यः पित्तास्रकृच्छ्रजित्, श्रमशोषदाहहरः आमशोषक्षयापहः (ध. ४.१३० ; रा. ८.२०२)
पित्ताश्मरीनाशनः (सुचि. ७.९).
हिं.—कास. काही.
म.—**कसाई, कसाड.**
गु.—कांसडो.
बं.—केशेघास.

काशिपति–पु., धन्वन्तरिः, सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः काशीराजो मुनिः राजर्षिः (सुउ. १८.३)
राजर्षि० वामकः
यज्ञःपुरुषविषये विवदमानेषु एकः (चसू. २५.५)

काशीराज–पु., वाराणसीजनपदनृपतिः, धन्वन्तरिः काशिपतिः (सुसू. १.३)

काशीस–न., खनिज० कासीसम् (चसू. ३.५)

काश्मरी–स्त्री., वनस्पति० 'श्रीपर्णी' 'गांभारीवृक्षः'

वृक्षविशेषः, काश्मरीमूलगुणाः–तिक्तं, कटु, स्वादूष्णवीर्यं, त्रिदोषघ्नं, रक्तपित्तश्रमदाहज्वरतृष्णाविषशोफहरं च (सुक. ६.१८; सुसू. ४६.१८५; ध. १.११७)

हिं.—खंभारी, कंभारी, शिवण.

म.—शिवण, सीवनी.

गु.—**शिवन, सीवनी.**

बं—गांभारी, गाभार.

त.—पेरु कुमिळ, गुम्मडु तेक्कु.

–पत्र–न., काश्मरीवृक्षस्य पत्रम्, तच्च रक्तपित्ताभ्यां दूषिते व्रणे दीयते (सुचि १.११३)

–फल–न., गाम्भारीफलम्, तद्गुणाः–हृद्यं, शीतवीर्यं, केश्यं, रसायनं, मेध्यं, रक्तसांग्राहिकं, वातनाशनं, मूत्रविबन्धघ्नं, रक्तपित्तनाशनं च (सुसू. ४६.१८५) सारिवादिगणे (सुसू. ३८.३९)

काश्मर्य–पु., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७) (चसू. ४.१६; सुसू.३८.६८)

न., काश्मर्याः इदम् (सुउ. ३९.१७३)

(काश्मर्या) स्त्री., काश्मरी (ध. १.११७)

–तैल–(परिव) न., तैल०, तद्गुणाः–मधुरं, कषायं, वातपित्तप्रशमनं च (सुसू. ४५.१२१)

काश्मीर–न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (ध. १.६६) कुङ्कुमम् (ध. ३.३२)

(काश्मीरी)–स्त्री., उत्तरापथिकद्राक्षाभेदः (रा. ११.७७) द्र० 'द्राक्षा'

–ज–न., कुङ्कुमम् (रा. १२.२१) केशर.

–जीरका–स्त्री., वनस्पति०, कृष्णजीरकः (ध. २.७०) द्र० 'जीरक'

काश्मीरिका–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५.५६)

काश्यप–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२)

–संहिता–स्त्री., आयुर्वेदीयकौमारभृत्यविषयकः प्रधानो ग्रन्थविशेषः, तस्य अपरं नाम वृद्धजीवकीयं तन्त्रम् । काश्यपसंहिता संपूर्णा नाद्यापि प्राप्ता । उपलब्धा चेयं त्रुटिताऽपि कौमारभृत्यविषये यावदुपलब्धग्रन्थातिरिक्तमहत्त्ववशात् प्रकाशिता दृश्यते (का.)

काश्यपोक्तविरेचन–न., योग० हरीतकी सलवणा मागधी मरिचानि च । दूषीविषार्तानां श्रेष्ठविरेचनम् (असंउ. ४०)

काषायवासिक–पु., सविषकीटविशेषः स सौम्यः, श्लेष्मप्रकोपणः कफविकारान् करोति (सुक, ८.१३)

कापायी–स्त्री., कीट० मक्षिकाभेदः, प्राणहरा, तथा दष्टस्य कण्डूशोफदाहरुजःश्यावपिडकोत्पत्तिर्ज्वरादय उपद्रवाश्च भवन्ति । कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिकेत्येवं षण्मक्षिकाः । तासु काषायी स्थालिका च प्राणहरे (सुक. ८.३५) द्र० 'मक्षिका'

काष्ठ–न., दारु (र. १. ४१)

(काष्ठा)–स्त्री., कालविभाग०, पञ्चदशाक्षिनिमेषात्मकः, द्रष्टव्यं 'काल' (सुसू. ६.५)

–कदली–स्त्री., वनस्पति० कदलीभेदः, रानकदली, गुणाः–मधुरा, शीता, गुरुः, मन्दाग्निजननी, दुर्जरा, रुच्या, रक्तपित्तहरा, विषघ्नी च । द्वितीया काष्ठकदली श्वेता । वनकदल्यपि; विषघ्नी स्वादुकदली पाषाणकदली तथा (ध. ४.७९)

–गोधा–स्त्री., वनस्पती. गोधाकारा ओषधिः । द्रोणीप्रावेशिकरसायनेषूपयुक्ता (चचि. १ (४) ७)

–जम्बू–स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः, द्र० 'जम्बू' (रा. ११.१३४)

–दारु–न., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०४)

–द्रु–पु., वनस्पति० पलाशः (रा. १०.२७४)

–धात्री–स्त्री., वनस्पति० आमलकभेदः (रा. ११.३२९) द्र० 'आमलक'

–पाटला–स्त्री., वनस्पति० पाटलाभेदः (ध. १.१२२) द्र० 'पाटला'

–रजनी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)

–वल्लिका–स्त्री., वनस्पति० कट्वी (रापरि. ३.४३)

–सारिवा–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६१)

काष्ठक–न., वनस्पति० अगरुभेदः, काष्ठागरु द्र० 'अगरु.' (रा. १२.४२)

(काष्ठिका)–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा. ११.११०)

काष्ठागरु–न., वनस्पति० अगरुविशेषः द्र० 'अगरु' (रा. १२.४२)

काष्ठालुक–न., वनस्पति० कन्दशाकम् (सुसू. ४६.२९८)

काष्ठीरसा–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०७)

काष्ठेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, द्र० 'इक्षु' (सुसू. ४५.१५३)

काष्ठौषधि–स्त्री., वृक्षवल्ल्यादीनामौषधोपयोगि मूलत्वक्सारपुष्पपत्रादिकम् (र. १.४१)

कास–पु., तृणविशेषः । काशः । श्वेतचामरपुष्प ।

मधुरस्तिक्तः स्वादुपाकः शीतः स्वरो मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहरक्तक्षयपित्तजरोगहन्ता च
(ररस. ३०.५६)

कास–पु., व्याधिविशेषः । कासनिरुक्तिः–' कस गतिशातनयोः ' कसनादिति यथोक्तगतिमत्त्वात् तथा उरःप्रभृतिशातनाच्च " कास " इत्यन्वर्थसंज्ञयोच्यते (चक्र. टी.) (चरकचि. १८.८) " नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तंभयंस्ततः । शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात् कास उच्यते ॥ (चचि. १८.८)

निदानम्: विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रूक्ष-अभिष्यन्दि-भोजनानि, शीतपान–शीतासन–शीतस्थानानि धूमानलानिलरजांसि, व्यायामकर्मभार–अध्व–वेगाघातापतर्पणानि, आमदोष–अभिघात–स्त्री–क्षयरोग–प्रपीडनानि, विषमाशन-अध्यशन-अनशन-समशनानि, क्षवथुसंधारणम्, एतानि खलु कासस्य हिक्काश्वासयोश्च कारणानि (सुउ. ५२.३–४)

पूर्वरूपम्–कण्ठे कण्डूः, भोज्योपरोधः, प्राकृतिकस्वरालपविकृतिः, अरोचकः, अग्निसादः, गलतालुशोषः, चिह्नान्येतानि भाविनि कासे भवन्ति
(सुउ. ५२.६)

शूकपूर्णाभकण्ठत्वम्, हृदयस्य अस्वास्थ्यं च ।
(असंनि. ३.२०)

सामान्यस्वरूपम्–प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः संभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः । निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषः (सघोषः) कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु
(सुउ. ५२.४)

संभिन्नकांस्यस्वरतुल्यघोषः–
जर्जरितकांस्यशब्दानुकारी स्वरः (उ.)

संप्राप्तिः–धातुक्षयावरणकारिभिः अन्यैश्च हेतुभिः क्रुद्धः अधःप्रतिहतः–प्राणः । ऊर्ध्वं रसस्य स्वस्थाने तिष्ठन्नुरसि उपपद्यते। उदानेन सज्जंस्तत्र कण्ठे चानुप्रपूर्य च। वाहिनीर्गलमूर्धस्थास्ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव। क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरःपार्श्वे च पीडयन् । विवृतत्वान्मुखेनैति भिन्नकांस्योपमध्वनिः । यस्मात्तस्मात्स्वर्णोजोबलमांसक्षयावहः । **संख्या**:—वात–पित्त–कफ–क्षत–क्षयजः (असंनि. ३)

वात–पित्त–श्लेष्म–क्षत–क्षयैः पञ्च कासाः स्मृताः
(अहनि. ३. १७–१८)

वातजः—कुपितो वातलैर्वायुः उरःकण्ठवक्त्राणां शुष्कत्वम्, हृत्पार्श्वोरःशिरसा शूलम्, मोहक्षोभस्वरक्षयान् महावेगरुजास्वनं शुष्ककासं च करोति । स अङ्गानि हर्षयन् शुष्कं कफं कृच्छ्रान्मुक्त्वा अल्पो भवति (असंनि. ३. २७–२८) वातकासे–सततकासवेगः भवति । (मानि; सुउ. अ. ५२.५)

पित्तजः–अक्षिकफयोः पीतत्वम्, तिक्तास्यत्वम्, ज्वरः, भ्रमः, पित्तासृग्वमनं, तृष्णा, वैस्वर्यम्, धूमकः, मदः । कासवेगेन ज्योतिषाम् दर्शनम् इव च भवति (असंनि ३.२९)

कफजः–अल्परुग् उरः, मूर्धहृदयं स्तिमितं गुरु च । कण्ठोपलेपः, सदनं, पीनसः, छर्दिः, अरोचकः, रोमहर्षः घनस्निग्धश्वेतश्लेष्मणः प्रवर्तनं च
(असंनि. ३.३०)

क्षतजः–**(तल्लक्षणम्)**-अयथाबलसेवितैः युद्धाद्यैः साहसैः अन्तःक्षते उरसि पित्तानुगतः कुपितो बली वायुः कासं करोति, तेन सशोणितं (कफं) पीतं श्यावं शुष्कं ग्रथितं कुथितं बहु च कफं ष्ठीवति पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैवर्ण्यकम्पवांश्च भवति । कण्ठरुक्, उरसो विभिन्नत्वमिव, तीक्ष्णसूचीभिः हृदयं तुद्यमानमिव, पार्श्वशूलम् (असंनि. ३.३१–३५) पारावत इव कूजनम्, सासृङ्मूत्रत्वं, पृष्ठकटीग्रहः वीर्यपक्तिरुचिबलवर्णहानिश्च जायते तथा स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् । कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा । सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना । दुःखपर्वेण शूलेन भेदपीडाभितापिना । पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः । पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् (चचि. १८.२१–२२)

उरःक्षतजः कासविशेषः । उरःक्षतोद्भवः । स गात्रशूल–ज्वर–दाह–मोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी (सुउ. ५२.१०–११)

असाध्योरःक्षतजकासलक्षणम् । गात्रेषु शूलं ज्वरः दाहः मोहः एतल्लक्षणवान् उरःक्षतजकासी अचिकित्स्यः

क्षयजः–व्याधिविशेषः क्षयज इति । क्षयो धातुक्षयः, तेन राजयक्ष्मसंबंधानां क्षीणधातुपुरुषभवानां तथा जराकासस्य च धातुक्षयजस्य क्षयजशब्देन ग्रहणं भवति (चक्रः)

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा ।
पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥
(चचि. १८.४) तल्लक्षणम्–राजयक्ष्मणः कुपिताः वातप्रधानाः धातवः राजयक्ष्मकारणैः कासं कुर्वन्ति । ततः पूतिपूयोपमं पीतं विस्रं हरितलोहितम् ।

कफं ष्ठीवति । पार्श्वे अपनीयेत इव । हृदयं पततीव च भवति । अकस्मात् शीतोष्णेच्छा, बह्वशित्वं, बलक्षयः, स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वम्, श्रीमद्दर्शननेत्रता, सर्वाणि क्षयरूपाणि च भवन्ति ।

(असंनि. ३.३६–३९)

(शुक्रक्षयजकासः)–रतिः विषयसेवनं तस्मादतिरिक्तात् शुक्रक्षयो जायते तस्मात्समुत्पन्नः कासः । प्रक्षीणमांसः दुर्बलः शुष्यन् पूयसहितं रुधिरं निष्ठीवति । वातादिकासानां हृच्छंखमूर्धोदरपार्श्वशूलीत्यादि–दोषत्रयलिंगानि अस्मिन् भवन्ति, तस्मादेष शुक्रक्षयजः दुश्चिकित्स्य इति कायचिकित्साविदः कथयन्ति । "स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी" एतत् क्षयकासलक्षणम् इति केचित् । क्षतजकासस्य असाध्यावस्थालक्षणम् इति च केचित् ॥ यद्यपि क्षयजकासलक्षणानि 'शुष्यन् विनिष्ठीवति' इत्यस्मिन् श्लोके न तादृक्–दृग्गोचरी–भवन्ति तर्ह्यपि 'ससर्वलिंगम्' इत्यनेन क्षयजकासलक्षणानि ज्ञातव्यानि ।

सर्वदोषलिंगानि–क्षामाननत्वं, बलस्त्वौजसां क्षीणत्वं, भिन्नस्वरत्वं, निरंतरं शुष्ककासः, हृच्छंखादिषु शूलं उरोविदाहः, ज्वरः, वक्त्रशोषः, तिक्तमुखत्वं, तृषा, कटुपीतवमनं, पीतवर्णता, परितोदाहः, सदाहकसनं, कफलिप्ताननत्वं, शिरोरुक्, कफपूर्णतनुः, अंगग्लानिः, अंगगौरवं, भोजनारुचिः, कफसान्द्रकसनं, इत्यादीनि दोषत्रयलिंगानि शुक्रक्षयजे कासे भवन्ति । क्षयस्य क्षयकासस्य च भेदो यद्यपि नोपलभ्यते तथापि क्षये यानि ज्वरादीनि लक्षणानि भवन्ति तानि एकदोषारब्धानि साध्यासाध्यत्वं–त्रीन्साध्यान्साधयेत् पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् (चचि. १८.३१)

तस्य साध्यासाध्यत्वादि (सुउ. ५२.१३) पञ्चप्रकारेषु कासेषु शक्तिमताम् अर्थात् यूनां सर्वेऽपि साध्याः; वृद्धानां अर्थात् क्षीणशक्तीनां सर्वेऽपि याप्याः । क्षतज–क्षयजौ यूनामपि दुश्चिकित्स्यौ याप्यौ च (मा. काय०)

सामान्यचिकित्सा–शृङ्ग्यादिचूर्णम् सरामठं उष्णाम्बुना पेयम् । त्रिफलादिलेहः सितामधुसर्पिर्भ्यां योज्यः । पथ्यादिचूर्णम् घृतमधुभ्यां लिह्यात् । पिप्पलीचूर्णं ससैन्धवम् उष्णाम्बुना पेयम् । गुडं सपिप्पलीनागरं खादेत् । सितां द्राक्षां सकृष्णाम् अद्यात् । वंशलोचनां घृतमधुभ्यां खादेत् । धान्यादिचूर्णं दधिमण्डेन पिबेत् । हरेणुकां समागधीं दक्षा पिबेत् । हारिद्रादिचूर्णं सबस्तमूत्रं पेयम् । दन्त्यादिचूर्णं सुखाम्बुना ग्राह्यम् । घृतभृष्टबदरीपत्रचूर्णं ससैंधवं खादेत् । कर्षार्धप्रमाणं हिंगु सौवीरकाम्लरसाभ्यां वा पिबेत् । मरिचचूर्णम् मधुना लिह्यात् । भाङ्ग्यादिकृता वर्तिः धूमविषये प्रयोज्या, वंशच्छल्यादिकृता वर्तिः सघृता धूमार्थं योज्या । मुस्तादिकृताः वर्तयः सपयोऽनुपानं धूमार्थं योज्याः । सीधुं मरिचान्वितं पिबेत् । निदिग्धिकादिसिद्धान् मुद्गान् मधुना खादेत् । द्राक्षादिसिद्धं शृतं क्षीरं मधुना मिश्रितं पेयम् । अधिकशुण्ठीयुक्ताम् उत्कारिकां घृते पाचयित्वा त्रुट्यादिकृतपेयां मधुमिश्रां सहोत्कारिकया पिबेत् (सुउ. ५२.१३–२४)

वातचिकित्सा–स्नैहिकविरेचनम्, आस्थापनम्, अनुवासनं, स्नैहिकधूमपानं, उष्णघृतपानं, यवागुः (मांसरससिद्धा) पयःपानम्, (वातहरद्रव्यसिद्धपयःपानम्) लेहाः (सघृताः) **विशोषचिकित्सा** षट्पलघृतं, विदारिगन्धादिघृतं, वासाघृतं, कल्याणगुडः अगस्त्यावलेहश्च (सर्वकासविनाशगुणित्वात्) (सुउ. ५२.२६–२७)

पैत्तिक–कास–चिकित्सा–विदारिगन्धादिघृतं शर्करापक्षेपपूर्वकं पूर्वाह्णे देयं पित्तकासं हन्ति । खर्जुरादिचूर्णं सितामधुसर्पिर्भ्यां लिह्यात् । मञ्जिष्ठादीनि उपकुल्यान्तानि तुल्यभागानि चूर्णीकृतानि मधुना लिहेत् । आमलकस्य चूर्णं सघृतं विपक्वं क्षीरेण सह पिबेत् । काकोलिवर्गयवगोधूमानां सुसूक्ष्मं चूर्णं मधुघृतयुक्तक्षीरेण पेयम् । गुडोदकं समरिचं सक्षौद्रं पिबेत् । कल्याणगुडं खादेत् कासश्वासाद्यनेकामयनाशनम् । अगस्त्यावलेहम् उपयुञ्जीत । काकोल्यादिघृतं कुलीरादिघृतं वा ग्राह्यम्

(सुउ. ५२.३१–४७)

कफकास–सामान्य–चिकित्सा–वमनं विरेचनं नस्यं पिप्पल्यादिकृतम् । वैरेचनिकधूमाः । कवलग्रहाः लेहाः कटुकोष्णाः । विशोषणम् । विशोष–चिकित्सा–त्रिकटुचूर्णम् । विडङ्गसिद्धघृतम् । निर्गुण्डीसिद्धघृतम् । पाठादिघृतम् । कल्याणगुडः अगस्त्यावलेहः उभयोः अपि सर्वकासादिविनाशित्वम् (सुउ. ५२.२८–३१)

उरःक्षतजकासचिकित्सा–विदारिगन्धादिघृतं सशर्करं प्रातः ग्राह्यं क्षतजकासविनाशार्थम् । खर्जूरादि-

चूर्णम् (खर्जूरादिभिस्तुल्यभागैः कृतं चूर्णम्) सिताक्षौद्रघृतप्रगाढं लेह्यम् । मञ्जिष्ठादिपिप्पल्यन्तानां सप्तद्रव्याणां चूर्णं मधुना लिहेत् । आमलकचूर्णं सघृतं विपक्वं क्षीरेण सह पिबेत् । काकोलिवर्गयवगोधूमानां सूक्ष्मं चूर्णं मधुघृतयुक्तक्षीरेण पेयम् । गुडोदकं समरिचं सक्षौद्रं पिबेत् । कल्याणकगुडः उपयोज्यः कासश्वासाद्यनेकामयविनाशी । अगस्त्यावलेहश्च उपयोज्यः कासश्वासाद्यनेकामयविनाशी । काकोल्यादिघृतं चोपयोज्यम् । शतावर्यादिघृतं ग्राह्यम् ॥ पित्तकासे यानि खलु घृतादीनि भेषजानि तानि सर्वाणि उरःक्षतजकासे उपयोज्यानि । उभयोरपि तुल्यमेव चिकित्सितम् ।
(सुउ. ५२.३१–४७)

क्षयोत्थकासचिकित्सा–विदारिगन्धोत्पलसारिवादिघृतं सशर्कराप्रक्षेपं पूर्वाह्णे ग्राह्यम् । खर्जूरादि–धान्यन्तानां सप्तद्रव्याणां तुल्यभागानां चूर्णं सिता मधु सर्पिः प्रगाढं लिह्यात् । मञ्जिष्ठादि–मागध्यन्तानां सप्तद्रव्याणां चूर्णं मधुना विलिहीत । आमलकचूर्णं सघृतं विपक्वं सह क्षीरेण पिबेत् । काकोलिवर्गयवगोधूमानां सुसूक्ष्मं चूर्णम् मधुघृतयुक्तक्षीरेण पिबेत् । गुडोदकं मरिचोपदंशं सक्षौद्रं पिबेत् । कल्याणकगुडाख्यः अवलेहविशेषः उपयोज्यः कासश्वासस्वरभेदाद्यनेकव्याधिविनाशकः । अगस्त्यावलेहः उपयोज्यः श्वासकासपाण्डुामयाद्यनेकव्याधिगजकेसरी । कुलीरादिघृतं काकोल्यादिघृतं शतावर्यादिघृतं चोपयोज्यम् । पित्तकासे यानि खलु घृतचूर्णादीनि भेषजानि कथितानि तानि सर्वाणि क्षयोत्थकासे उरःक्षतजकासे च उपयोज्यानि । पित्त–क्षत–क्षयादित्रयाणामपि सामान्यं चिकित्सितम्
(सुउ. ५२.३१–४७)

कासघ्न–पु., वनस्पति० बिभीतकः
(रानि. ११.३२३ पृ. ५१.)

–**वर्ग**–कासघ्नगणः द्राक्षाऽऽमलकपुनर्नवावृश्चीवदुरालभाऽभयाकृष्णाः कासं घ्नन्ति सशृङ्गी तामलकी कण्टकारी च (असंसू. १५.३६)

कासघ्नी–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी
(धनि. १.६८ पृ. २०)
वनस्पति० कण्टकारीविशेषः
(धनि. १.९८ पृ. २५)

कासचिकित्सित–न., अध्याय० कासचिकित्सानिरूपणार्थं कृतः अध्यायः (चचि. १८.१)

कासनाशनरस–पु., भैषज्य० ताम्रलोहाभ्रकभस्मानि कासमर्दागस्त्यत्रिफलाऽम्लवेतसरसैः परिमर्दितो जायते (ररस. १३.२८)

कासनाशिका–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृद्भेदः रक्तत्रिवृत्
(रानि. ६.३६९ पृ. ५७–५८)

कासप्रतिषेध–पु., अध्याय० कासाभिधव्याधिविशेषचिकित्सा । कासप्रतिषेधारव्यः सुश्रुतस्य उत्तरतंत्रस्थः द्विपंचाशत्तमोऽध्यायः (सुउ. ५२.१–२)

कासप्रसंग–पु., सततकासः । शोषे उरःक्षतस्य कारणम्
(चनि. ६.१०)

कासमर्द–पु., वनस्पति० कासमर्दकः
(धनि. ४.११८ पृ. १५७)
प्रसिद्धः पत्रशाकविशेषः, 'कासविंद' इति लोके तद्गुणाः–मधुरः कफ-वातघ्नः पाचनः कफशोधनः विशेषतः पित्तहरः सतिक्तश्च (सुसू. ४६.२३६)
हिं.—कसौंदी, कासिंदा.
म —**कासिंदा, कासविंदा.**
गु.—कासोंदरी.
बं.—कालकासुंद.
त.—पोन्नाविरै, पैयाविरै.
अस्य यूषः हिक्काश्वासनिवारणार्थम् उपयुक्तः
(चचि. १७.९९)

–**क**–पु., वनस्पति० कासमर्दः
(सं. कासचि. अ.४. पृ. २२)

कासमर्दन–पु., वनस्पति० पटोलम्
(रानि. ३.७४ पृ. १७)

कासमुक्तिद–पु., वनस्पति० पटोलम्
(धनि. १.५० पृ. १७)

कासरगुग्गुलु–पु., महिषाक्षकः । गुग्गुलुविशेषः कासरः महिषः (वैशसिं) उदरव्याधौ उपयुज्यते
(असंचि. १७.९६)

कासरोधज–रोग० तत्र कासहा विधिः कार्यः
(अहसू. ४.१३)

कासहर–(गणः) महाकषायवर्गे एकः गणः
(चसू. ४.१६)
कासघ्नः पञ्चके महाकषायवर्गे एको गणः
(चसू. ४.८)

कासहरी–स्त्री., वनस्पति० कासमर्दः कण्टकारी, भार्ङ्गी वा (ररस. १२.४८)

कासारि–पु., वनस्पति० कासमर्दः
(धनि. ४.११ पृ. १५७)

कासालु–पु., वनस्पति० स्वनामख्यातः कासालुः कासकन्दश्च०.....।
(रानिपरि. ७ वर्ग २८ पृ. ३४९)
"खंवरे आलु" इति। कोंकणदेशे
वं.–खाम् आलु.
म.–**कासाळु, कासाळूचा कांदा.**

कांसिका–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)

कासी–स्त्री., खनिजद्रव्य० सौराष्ट्री, तुवरी
(रानि. १३.१६४ पृ. ११६)
–**कन्द**–पु., वनस्पति०, कासालुः
(रानिपरि. ७ वर्ग २८. पृ. ३४९)

कासीस–तुत्थकः, भस्मसदृशं किंचिदम्लं लवणरसं च। व्रणशोधनकल्कतैलघृतेषु उपयुज्यते
(सुसू. ३७.१६)
उपधातुविशेषः, हिराकस इति लोके
(सुचि. ९.५५)
(चचि. २१.१२६ र. २.१०५)
–**किट्ट**–न., कासीसत्वक्, त्वक् नाम उपरितनो भागः (इंदुः असंउ. २८)
–**द्वय**–न., कासीसस्य द्वौ भेदौ; एकं पांशुधातुसंज्ञम्, अपरं पुष्पकासीसाख्यम् (अहसू. १५.२३)
–**बद्ध**–पु., पारदयोग० पारदः कासीसयुक्तः पारदः पलमात्रं पंचगुणेन कासीसेन युतम् अर्जुनत्वग्–रसेन प्रहरमात्रं मर्दयित्वा शरावसंपुटस्थं वराहपुटेन पचेत्। अनुपानं–शाणमात्रबाकुचीचूर्णं मधु च। मात्रा वल्लम्। समयः मासत्रयम्। श्वित्रं दद्रु च नाशयति (र. २०.१७८–१८०)
–**प्रकाराः**–एकं भस्मसदृशं, किंचिदम्लं, लवणरसं, द्वितीयं पुष्पकासीसम् ईषत्पीतं तुवररसम्
(सुसू. ३८.३७)
वालुकासीसं पुष्पकासीसं च (र. ३.५५)
गुणाः–कषायम्, अम्लम्, उष्णम् (शिशिरं, रा.) चक्षुष्यं, कान्तिवर्धनं, वातकफघ्नं, विष-नेत्ररुक्-श्वित्रकुष्ठव्रणघ्नं, खर्जूकृमिहरं कचरंजनं च
(ध. १२३)
उष्णकारिगणे (सुसू. ३८.३७) व्रणेषु उत्सन्न-मांसेषु मांसस्फोटनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.३१) द्रुदप्रमुखत्वग्रोगेषु अवचूर्णनार्थमुपयुज्यते (चसू. ३.१०) लेपार्थम् उपयुक्तम् (चचि. २१.१२६) शोधनम्–सकृद् भृङ्गाम्बुना क्लिन्नं कासीसं निर्मलं भवेत्। कासीसं शुद्धिमाप्नोति पित्तैश्च रजसा स्त्रियः॥ (र. ३.५९)
सत्वपातनविधिः–क्षाराम्लमर्दितं ध्मातं कासीसं सत्वं मुञ्चति (र. ३.६१)

कांस्य–न., कृत्रिमधातु० भागाष्टकपरिमाणताम्रेण द्विभागेन वङ्गेन च विद्रुतेन कांस्यं भवेत्, पुष्पतैलिक-भेदेन द्विविधं कांस्यम्, सौराष्ट्रभवं कांस्यमुत्तमम्
(र. ५.२१२–२१५) तद्गुणाः– सतिक्तं (सु.) कषायानुरसं (असं.) उष्णं (ध.) विशदं रूक्षं लघु (असं.) सरं (भाप्र.) लेखनं चक्षुष्यं (सु.) रुच्यं दीपनपाचनं वृष्यं बल्यं च (ध.) कफवात-जित् (सु.) पित्तापहम् (असं.) (सुसू. ४६.३२८) (असंसू. १२ ध. ६.२३) बस्तिनेत्रनिर्माणे एतदुपयुज्यते (चसि. ३.७)
–**नील**–पु., न., कांस्यापमार्जनमसी (सुउ. ५४.३६) कांस्यमसी कफार्बुदे मूत्रेण सह लेपार्थमुपयुज्यते
(सुचि. १८.३६)
–**भाजन**–न., कांस्यपात्रम्। जलपानार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४५.१३) एतस्मिन्दशरात्रपर्युषितं सर्पि-र्नाश्नीयात् (सुसू. २०.१४)
–**मल**–पु., न., भैषज्यद्रव्य० नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.१३) तीक्ष्णाञ्जनदुर्बलस्य नेत्रस्य प्रत्याश्वासनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.५०)
–**रजस्**–भैषज्यद्र० नेत्ररोगेषु वर्तिनिर्माणे उपयुज्यते
(असंउ. १९)
–**विमल**–न., खनिज० विमलभेदः (धपरि. ६.७)

कांस्याक–न., खनिज० कांस्यम् (ध. ६.२३)

कांस्यापमार्जनमसी–स्त्री., कांस्यापमार्जनस्योल्लेखन-नीलिका, दीपस्योपरि अर्धोच्छादिते कांस्यभाण्डे संलग्ना लेखनेन संगृहीता मसी (सुउ. १८.१०३)

कांस्याभ–वि., आपाण्डुपीतम् (सुउ. ७.३०)
सितम् (सुउ. ४.९)

काहल–पु., वाद्यविशेषः (र. ६.१४)

किंशुक–पु., पलाशः (ध. ५.१६१)
न., पलाशपुष्पम् (सुसू. ४६.२८८)
(असंसू. ७.१२५–१२६)
–**क्षार**–पु., क्षार० पलाशक्षारः (चचि. १(३)–१५)
–**तैल**–न., पलाशतैलं, पित्तश्लेष्मप्रशमनम्
(असंसू. ६.१११)
–**फल**–न., पलाशवृक्षफलम्; जन्तुप्रमेहनुत्, रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहं च
(सुसू. ४६.१९७)

-भस्मन्-न., पलाशपुष्पभस्म, कृष्णमूषिकदंशे शिरीषफलं कुष्ठं च पलाशभस्मोदकेन सह पिबेत् (सुक. ७.१३)

किंशुकोद्भव-वि., पलाशोद्भूतम् (असंसू. ६.१११)

किक्कस-पु., किक्किसः (असंचि. १९)
द्र० 'किक्किस'.

किकिकश-पु., शोणितजकृमि० अदृश्योऽयं कृमिः दुश्चिकित्स्यो न त्वसाध्यः (सुउ. ५४.१५)

किक्किस-पु.,न., लक्षण० चर्मविदरणम् (चशा. ८.३२) ऊरुस्तनोदरेषु वलिविशेषा रेखाकाराः प्रायो गर्भिण्यवस्थायां ये जायन्ते ते किक्किससंज्ञाः। रेखास्वरूपस्त्वक्संकोचः (चशा. ८.३२. असंशा. ३.९)

किक्किसाद-पु., राजिमान्, सर्पविशेषः द्र० 'सर्प' (सुक. ४.३४.(३)

किक्विस-न., किक्विस (अहशा. १.५८)

किङ्कर-पु., भृत्यः (अहसू. २८.२८)

किङ्किणी-स्त्री., वनस्पति० विकङ्कतः (ध. ५.४३)

किङ्किराट-पु., वनस्पति० किङ्किरातः (ध. ५.१५६)

किङ्किरात-पु., वनस्पति० सहचरविशेषः, पीतसहचरगुणाः-कषायः, तिक्तः, उष्णः, दीपनः, कफवातघ्नः, शोफकण्डूतिरक्तदोषत्वग्दोषघ्नः (रा. १०.४१५)
हिं.—कटसरैया, पियावासा.
म. **पिवळा कोरंटा, तांबडा कोरंटा, निळा कोरंटा.**
गु.—कांटा अंशेलीयो, पीळां फुल, राता फुलनो.
बं—झाँटी, कुलझाँटी, पितझाँटी, नीलझाँटी, लालझाँटी.
ता.—शेमुळळी.

किञ्ज-न., वनस्पति० पद्मकेसरः (ध. ४.१६५)

किञ्जल्क-पु., केशरः केसरो वा, पुष्पतन्तुः पद्मोत्पलकुमुदानाम्। गर्भस्थापनार्थम् उपयुज्यते (चशा. ८.२४)
अञ्जनद्रव्यम् (सुउ. १७.११)
न., पद्मकेसरः (ध. ४.१६५)
नागकेसरः (रा. ६.७३)

किटिकिटापयन-न., लक्षण० 'किटिकिट' इति दन्तध्वनिविशेषः (चसि. ६.७२)

किटिभ-न., रोग० क्षुद्रकुष्ठम् (चसू. ३.७) हस्तिचर्मवत् श्यावं किण-खरस्पर्शं परुषं चर्म यत्र भवति (मा)प्रसारणीयोऽयं रोगः (सुसू. ११.७)
चिकित्सा-किटिभे सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहाः उपयुज्यंते (सुचि. ३१.५)
पु., कीट० श्लेष्मप्रकोपणः सौम्यः सविषकीटविशेषः (सुक. ८.१३)

किटिम-न., रोग० किटिभम् (चचि. ७.२९)

किटिमार-पु., वनस्पति० हंसपादी (र. २०.१३)

किट्ट-न., मलः (र. २.३४)
मूत्रपुरीषादिस्वरूपो मलः (चचि. १५.१५)
असारभागः। तत्र आहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यम्। अन्नधात्वादिकिट्टं, यथा-अन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य कफः, असृजः पित्तम्, मांसस्य खमलः, मेदसः स्वेदः, अस्थ्नः केशलोमनखाः, मज्ज्ञः अक्षित्वग्विशां स्नेहः, शुक्रस्य ओजः (चसू. २८.४) (चचि. १५.१५) द्र० 'मल.'
लोहमलः, मण्डूरः (र. ९.६२)
लोहोच्छिष्टम् (मण्डूरः) (ध. ६.३५)

किण-पु., व्रणस्थानम् (चचि. ७.२२)

किणिही-स्त्री., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६० चवि. ७.२१)
कटभी (चसू. ४.११ (१५) (सुसू. ३९.६ रापरि. ९.३७)
नीलस्यन्दा (सुक. ५.७५)

किण्व-न., सुराबीजम्, सुराकांजिकाद्यधःस्थितद्रव्यम् (सुसू. ३७.२१) (चसू. १४.३५) शोथपाचनम् (सुसू. ३७.९) व्रणेधूत्सन्नमांसेष्ववसादनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.३१) उपनाहस्वेदे उपयुक्तम्, विशेषतः उदररोगे (असंचि. १७)

किण्वाहि-स्त्री., किणिही (श्वेतस्यंदः) (सुउ. ६१.२३)

किण्वोदकपिष्टसमवाय-पु., सुराबीजोदकतण्डुलपिष्टानां संयोगः। अन्योन्यगुणानुप्रवेशाद्यथा किण्वोदपिष्टानामुद्रेको भवति तथा दुष्टहेतूनां समवाये वातादीनामुद्रेको भवति (सुसू. २१.२८)

कितव-पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७)
चोरकः (ध. ३.७१)

किन्नर-पु., देवयोनिविशेषः (चचि. २१.३)

किप्य-पु., पुरीषजकृमिविशेषः (सुउ. ५४.८)

किंपाक-पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)

कियन्तःशिरसीय-पु., अध्याय० (चसू. १७.१)

किरात-पु., विन्ध्याचलसमीपवर्ती कश्चन देशविशेषः 'तप्तकुण्डं समारभ्य समक्षेत्रान्तिकं शिवे। किरात-

देशो विज्ञेयो विन्ध्यशैलेऽवतिष्ठते ॥' इत्येवं शिवशक्तिसंगमतन्त्रोक्तत्वात् (र. २.७९)

–तिक्त–पु., न., वनस्पति० गुणाः–तिक्तः शीतो लघुर्वातकरः कफपित्तघ्नो रक्तविकृतिशोफकास-तृष्णाज्वरघ्नः व्रणरोपणः कुष्ठकण्डूतिनाशनः (ध. १.३३ असंसू. १५.२३) पाण्डुरोगशमनार्थ-मुपदिष्टम् (सुउ. ४४.२५)

हिं.—चिरायता.

म.—**किराईत, काडेचिराईत.**

गु.—करियातु.

बं.—चिरेता.

त.—चिरायत्तु, किरायत्तु,

फा.—नेनिहाद.

–तिक्तक–पु., न., वनस्पति० किराततिक्तः भूनिम्बः (सुसू. ४६.२६२; चसू. ४.१२)

–तिक्तकतैल–न., तैल० मधुरं, मधुरविपाकं वातपित्तप्रशमनं, शीतवीर्यमभिष्यन्दि, सृष्टमूत्रम-ग्निसादनं च (सुसू. ४५.१२०)

किरातक–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध.१.३६),

किरीटिन्–पु., वनस्पति० अर्जुनः (ध. ५.११४)

किलाट–पु., क्षीरकूर्चिकापिण्डः कूर्चिकीभूतक्षीरस्य घनभागः, यं लोकाः क्षीरांशुमित्याहुः, सूदास्तु किलाटीति, तद्गुणाः–गुरुः कफवर्धनः वातघ्नः पुंस्त्वनिद्राप्रदः तर्पणो बृंहणश्च (सुसू. ४५.९१; सुसू. ४६.४०९; चसू. २७.२३४) मुद्गः (ध. ६.८१)

किलास–न., रोग० कुष्ठभेदः, श्वित्रं, श्वित्रकुष्ठं वा इति अपरपर्यायौ (चसू. २६.१०९); इदं त्वग्गतमेव अपरिस्रावि च (सुनि. ५.१७) तत्र हेतुः–' वचांस्य-तथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥' (चचि ७.१७७); प्रायशः किलासं त्रिदोषजम्; दोषे रक्ताश्रिते रक्तवर्णम्; मांससमा-श्रिते ताम्रम्; मेदःश्रिते च श्वेतं भवति (चचि. ७.१७४) स्थानसंश्रयः चतुर्थी ताम्रा नाम या त्वक् सा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना (सुशा. ४.४) तृतीया त्वक् इति चरकसंहितायाम् (चशा. ७.४) वातात् रूक्षारुणं रक्ताश्रयं च; पित्तात् कमलपत्रवत ताम्रं सदाहं रोमविध्वंसि मांसाश्रयं च; कफात् श्वेतं घनं गुरु सकण्डु मेदोधात्वाश्रयं च। (अहनि. १४.३८); श्वित्रं द्विविधं दोषजं व्रणजं च

तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् (मा. भोजः) साध्यासाध्यत्वम्–अशुक्लरोम, अरक्तरोम, असंश्लिष्टं, तनु, नवं, नातिचिरोत्थितम्, अनग्नि-दग्धजं, मध्यावकाशे उच्छ्रूनं यत् श्वित्रं तत् साध्यं उच्यते। यत् गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातं वर्षगणो-त्पन्नं, परस्परतः अभिन्नं, बहुलं च तत् श्वित्रं नैव सिध्यति (चचि. ७.१७५; अहनि. १४.४०)

किलिञ्ज–पु., न., आस्तरणविशेषः, कटः (सुचि. ३२.७)

देवनलः (सुचि. ३२.७)

काष्ठपट्टिका (सुचि. ३२.११; (असंचि. २१)

वंशादित्वग्ग्रथितपेटिकाकारः (सुसू. १०.४)

किलिञ्जक–पु., आस्तरणविशेषः, कटः (चवि. ७.२२)

किलिम–न., वनस्पति० देवदारुः (चक. ७.१५ ध. १.७६)

किल्बिष–न., दोषः, रोगः (सुचि. २८.७)

किष्कु–पु., स्त्री., मान०, हस्तः (चवि. ८.११)

किसल–पु., किसलयः, पल्लवः (र. ३०.५६)

कीचक–पु., वनस्पति० वंशः (ध. ४.१३७)

नलः (रा. ८.२२१)

–वेणुः–पु., वाद्य० सुषिरवंशस्य वेणुः (असंशा. १२.८)

कीचकाह्वय–पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१६)

कीट–पु., सूक्ष्मदेहः प्राणी, मशकपिपीलिकादिः क्रिमिः सविषक्रिमिणा रोगोत्पत्तिर्मरणं वा भवति (चचि. २३.१४)

विषकीटो वृश्चिकादिः, उत्पत्तिः–सर्पाणां शुक्र-विण्मूत्रशवपूत्यण्डसंभवाः वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटाः संभवन्ति (सुक. ८.३) वायव्याग्नेय-सौम्यसंकीर्णभेदेन चतुर्विधाः कीटाः भवन्ति (असंउ. ४३)

सामान्यविषलिङ्गम्–सविषविषप्राणिदंशे सामान्य-लक्षणम्–कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम् । विदाहरागरुक्पाकाः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम् । दंशावदरणं, स्फोटाः कर्णिका, मण्डलानि, ज्वरश्च; विपरीतं तु निर्विषे ॥ (चचि. २३.१७८) अम्बु-प्रकृतयः (कफप्रकृतयः सौम्या वा) कीटाः तेषां नामानि विश्वंभरः, पञ्चशुक्लः, पञ्चकृष्णः, कोकिलः, सैरेयकः, प्रचलको, वलभः, किटिभः, सूचीमुखः, कृष्णगोधा, काषायवासिको, गर्दभस्रोटक इति त्रयोदश कीटा भवन्ति, श्लेष्मप्रकोपिणां मध्ये

विश्वंभरप्रचलककृष्णगोधाकाषायवासिकांश्चतुरो वर्जयित्वा नवान्ये मुखसंदंशविषा वर्तन्ते (सुक. ८.१२)

चतुर्विंशत्यग्निप्रकृतयः कीटाः तेषां नामानि–कौण्डिन्यकः, कणभको, वरटीपत्रो, वृश्चिको, विनासिका, ब्राह्मणिका, बिन्दुलो, भ्रमरो, बाह्यकी, पिच्चिटः, कुम्भी, वर्चकीटोऽरिमेदकः, पद्मकीटो, दुंदुभिको, मकरः, शतपादकः, पञ्चालकः, पाकमत्स्यः, सूक्ष्मतुण्डो, गर्दभी, क्लीतः, कृमिशरारी, उत्क्लेशकश्च पित्तप्रकोपणानां मध्ये कौण्डिन्यकवरटीभ्रमरपिच्चिटवर्चःकीटमकरशतपदपञ्चालकपाकमत्स्यकृष्णतुण्डान् विहाय शेषाश्चतुर्दश मुखसंदंशविषा वर्तन्ते (सुक. ८.८) वायव्यः–अष्टादशवायव्याः कीटास्तेषां नामानि–कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी, शृंगी, शतकुलीरकः। उच्चिटिंगोऽग्निनामा, चिच्चिटिंगो, मयूरिका। आवर्तक उरभ्रः सारिकामुखः, वैदलः, शरावकुर्दैऽभीराजिः, परुषश्चित्रशीर्षकः, शतबाहू, रक्तराजिश्च। वातप्रकोपणानां कुम्भीनसादीनां मध्ये शृंग्युच्चिटिंगशरावकुर्दैचित्रशीर्षकान् वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दश मुखसंदंशविषा वर्तन्ते (सुक. ८.५) सर्वदोषप्रकृतिः–द्वादश सर्वदोषप्रकृतिकाः कीटाः तेषां नामानि–तुङ्गीनासो, विचिलक–स्तालको, वाहकः, कोष्ठागारी, क्रिमिकरो, मण्डलपुच्छकः, तुण्ड (ङ्ग) नामः, सर्षपिको, वल्गुली, शंबुकोऽग्निकीटश्च। तैर्दष्टानां सर्पवत् वेगज्ञानानि भवन्ति। तास्ता वेदनास्तीव्रा सान्निपातिका रोगाश्च भवन्ति। दंशः क्षाराग्निदग्धवत् रक्तपीतसितारुणश्च। सर्वदोषप्रकृतिकानां मध्ये वाहकसर्षपशंबूकान् वर्जयित्वा नव मुखसंदंशविषा वर्तन्ते (सुक. ८.१६) श्लेष्मप्रकृतिकीटविषस्य लक्षणानि छर्दिररोचकम्, हृल्लासः, प्रसेकः, उत्क्लेशः, पीनसम्, मुखमाधुर्यम्, शरीरे शैत्यम्। तत्र चिकित्सा श्लेष्माधिकं विषं लेखनच्छेदनस्वेदनवमनैर्जयेत्। अग्निप्रकृतिकीटविषस्य लक्षणानि–संज्ञानाशः, उष्णनिःश्वासौ, हृद्दाहः, कटुकास्यता, मांसस्यावदरणं (व्रणमुखात् मांसस्य खण्डशः पतनम्) शोफो, रक्तपित्तम्। तत्र चिकित्सा–पैत्तिकविषं शीतैः सेकैः प्रलेपैश्च शमयेत् (असंउ. ४३); वात प्रकृतिकीटविषस्य लक्षणानि–हृत्पीडा, ऊर्ध्वश्वासः, स्तंभः, सिरायामोऽस्थिषु पर्वसु च रुक्, घूर्णनमुद्वेष्टनम्, गात्रश्यावता च। तत्र चिकित्सा–पिण्याकेन दंशव्रणे लेपः तैलेन अभ्यंगः। नाडीपुलाकाद्यैः स्वेदो, बृंहणोपक्रमः कर्तव्यः (असंउ. ४३) उग्रविषैः कीटैर्दष्टे सर्पवत् समुपाचरेत् (सुक. ८.४२); कर्णस्रोतःप्रविष्टे कीटे लक्षणानि–तोदो गौरवं भरभरायणं स्पन्दमाने चाऽभ्यधिकं वेदना। तत्र चिकित्सा–सलवणेनाम्बुना मधुसुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम्, निर्गते च कीटे तदुत्सर्जनम्। तत्रैव तु मृते पाककोथक्लेदा भवन्ति। तेषु कर्णस्रावोक्तं कुर्यात्प्रतिनाहोक्तं च (असंसू. ३७.२५)

–कल्प–पु., अध्याय० (सुक. ८.१) कीटविषविज्ञानीयः कल्पः। कीटविषभेषजकल्पनात् सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने अष्टमोऽध्यायोऽयम् (सुक. ८.१)

–घ्न–पु., खनिज० गन्धकः (रा.१३.१६७)

–दष्ट–न., कीटदंशः। अनुग्रविषदष्टे तीव्रार्तिर्भवति। उग्रविषदष्टे तु मन्दार्तिरिति। तथा च दंशो नातिभिन्नो नात्युन्नतोऽतिन्यथायुक्तश्च भवति (सुक. ८.४१)

–दष्टव्रण–पु., कीटविषोत्थव्रणविशेषः। तत्र चिकित्सा—दुष्टव्रणवत् कार्या (सुक. ८.१३५)

–मर्द–पु., पारदयोग० पारदगन्धकाजमोदाविडङ्गविषमुष्टिपलाशबीजानि एकद्वित्रिचतुःपंचषड्भागिकानि चूर्णयित्वा मधुना निष्कमात्रं लेह्यानि तदुपरि च मुस्तायाः क्वाथः पेयः कृमिनाशनोऽयं योगः (र. २०.२४४)

–मारी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६६)

–विष–न., कीटस्य विषम् (सुक. ३.३१)

–शत्रु–पु., वनस्पति० विडङ्गम् (सुउ. १२.४४)

–संमत–वि., कीटसदृशः (चचि. २३.१४०)

कीटारि–पु., वनस्पति० विडङ्गम् (र. २६.४८)

कीरप्रियः–पु., वनस्पति०. निम्बः (र. १३.६८)

कीरवर्णक–न., वनस्पति० स्थौणेय (रा. १२.१२५)

कीरी–स्त्री., पत्रशाक० इयमार्द्रभूमौ प्रसरणशीला (र. ११.१२९)

शुकस्त्री (र. ११.१२९)

कीरेष्ट–पु., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४३)

अक्षोटः (ध. ५.६०)

आम्रः (ध. ५.१)

जलमधूकम् (रा. ११.५९)

कीर्ण–वि., अवचूर्णितम् (सुसू. ४४.८५)

(कीर्णा)–स्त्री., गुण्डिता (सुचि. २.४६)

–पुष्प–पु., वनस्पति० मोरटः (ध. १.१५)

कीर्णाङ्ग–वि., व्याप्तम् अङ्गं यस्य, अङ्गाश्रयं रिष्टं लक्षणम् आह यः पांसुनेव कीर्णाङ्गो योऽङ्गे घातं न वेत्ति वा (असंशा. १०.१०)

कीर्तनी–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३३)

कील–पु., रोग० मांसप्रदोषजरोगेष्वेकः, अर्शांसि (चसू. २८.१४)

यन्त्र० शङ्कुः, तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि अष्टादशांगुलप्रमाणानि मसूराकृतिभिः कीलैरवबद्धानि अस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते (सुसू. ७.१०)

मूढगर्भप्रकारः तत्र कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघः इति चतुर्विधो मूढगर्भो भवति (सुनि. ८.४)

द्र० 'मूढगर्भ' ऊर्ध्वबाहुशिरःपादः कीलवद् योनिमुखं निरुणद्धि अतः कील इत्युच्यते (सुनि. ८.४)

–पादिका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७)

कीलता–स्त्री., वनस्पति० कुसुम्भः (ध. ६.११८)

कीलाट–पु., किलाटः (इंदुः, असंसू. ६.७८)

कीलाल–न., जलम् (ध. ६.३०२)

कीशरोमा–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (रा. ३.२२)

कु–स्त्री., पृथ्वी (र. २०.२२२)

भैषज्य० कांक्षी, सौराष्ट्री (र. २०.२२२)

कृष्णमृत्तिका (र. २०.२२२)

अव्य०, कुत्सितम्, निन्द्यम्, अल्पम् वा

–कुण्ड–पु., वनस्पति० कूष्माण्ड (असंसू. ७.१४१)

–चन्दन–न., चन्दनवृक्ष०, रक्तचन्दनं सालसारादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू ३८.८) रक्तपित्ते प्रलेपार्थमुपयुक्तम् (चचि. ४.१०३) पित्तसंशमनवर्गे (सुसू. ३९.८) पटोलादिगणे (सुसू. ३८.३३) मलयाद्रिचन्दनम्–प्रियङ्ग्वादिगणे (सुसू. ३८.४५) **गुणाः**–स्वादु, शीतवीर्यं, तिक्तं, सुगन्धि, व्रणरोपणं, पित्तकफापहं, वर्ण्यम् (ध. ३.७;) वातपित्तज्वरघ्नं च विस्फोटोन्मादभूतहृत् (रा. १२.१४)

म.—**रक्तचंदन, लालचंदन.**

गु.—बडीगुंची, हतीगुंची.

बं.—रक्तकम्बुल, रञ्जन.

त.—मंजदी, अनेगुण्डुमनी.

–चेला–स्त्री., शाक० अकर्णविद्धिकाभेदः । तिक्ता, कटुपाकिनी, शीता, कफपित्तहरा च (चसू. २७.९५)

–चैला–स्त्री., वनस्पति० पाठा (अरुअहसू. ६.७७) कृष्णपाठा (हे. अहसू. ६.७७)

–तित्तिर–पु., पक्षि०, विष्किरेष्वेकः, तित्तिरभेदः, पाण्डुः कपिलः द्र० 'विष्किर;' (सुसू. ४६.५९)

–तिली–स्त्री., सूक्ष्मतिलजातिः कुन्तिली इति (हे०) चञ्चुसदृशीदीर्घपत्रा, तिक्ता, कटु पाकी, शीता, ग्राहिणी, वातला, कफपित्तजिच्च (अहसू. ६.७६)

–तुम्बक–पु., शाक० द्रोणपुष्पिका, फञ्जीचिल्ल्यादिगणे (चसू. २७.९८)

पत्रशाकमिदम् । स्वादुपाकरसः, शीतः, कफघ्नो, नातिपित्तलः, लवणानुरसो, रूक्षः, सक्षारो, वातलः, सरश्च (सुसू. ४६.२७४)

–तृण–न., वनस्पति० रोहिषं तृणम्, कत्तृणम् (रा. ८.१०६)

–धान्य–न., कुत्सितं धान्यम्, कुधान्यवर्गः–कोरदूषकश्यामाकनीवारशान्तनुवरकोद्दालकप्रियङ्गुमधूलिकानान्दीमुखीकुरुविन्दगवेधुकसरबरुकतोद (य)पर्णीमुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः कुधान्यविशेषाः । प्रभृतिग्रहणेन झण्टी धर्मंटीजोन्नलिकादयः ग्राह्याः (सुसू. ४६.२१) तद्गुणाः कषायमधुराः कटुविपाकिनो रूक्षा उष्णा बद्धनिस्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः श्लेष्मघ्नाश्च (सुसू. ४६.२२)

–नख–पु., न., रोग० क्षुद्ररोगः (सुनि. १३.२२) अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः भवेत्तं कुनखं विद्यात् । कुलीनमिति अपरा तस्य संज्ञा । अस्थिप्रदोषजो विकारोऽयम् (सुसू. २४.९) तत्र चिकित्सा–चिप्परोगवत् कुनखमुष्णाम्बुना सिक्तं दुष्टमांसमुत्कृत्य स्रावयेत्, अनन्तरं चक्रतैलेनाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत् । ततो बन्धनं बध्नीयात् यत्राऽशक्यं तत्राग्निना दहेत् मधुरौषधसिद्धेन तैलेन च रोपयेत् (सुचि. २०.११)

–नखिन्–वि., कुनखरोगपीडितः (सुशा. २.२५)

–नटी–स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. १२.१६४; ध. ३.९६)

–नटीघृत–न., सिद्धघृतं० मनःशिलाघृतम् (र. ३.१७१)

–नामन्–न., रोग० अर्शः (असंचि. १०)

–नीली–स्त्री., वनस्पति० तैरिणी (रापरि. ४.१५)
–पाक–पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)
–मार्ग–पु., वनस्पति० अपामार्गः (र. २०.२२२) धत्तूरः (र. २०.२२२)
–रूप्य–न., खनिज० वङ्गम् (रा० १३.१४)
–वङ्ग–न., खनिज० सीसकम् (रा. १३.२०)
–वज्रक–न., खनिज० वैक्रान्तः (रा. १३.५०)
–वैद्य–पु., अनधीतशास्त्रकर्माभ्यासो वैद्यनामधारी अनिपुणो वैद्यः (सुशा. ६.४०)
–शाल्मलि–स्त्री., वनस्पति० रोहितकः (ध. ५.१३०)
द्र० 'रोहितक'.
–शिम्बिवल्ली–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (सुसू. ४६.४६)
–शिंशपा–स्त्री., वनस्पति० शिंशपाभेदः (ध. ५. १२१) द्र० 'शिंशिपा'

कुकुन्दर–पु.,न., शारीर० स्फिचोरुपरितनौ द्वावुन्नतभागौ (चशा. ७.११) कुमाराणां प्रशस्ताप्रशस्तलक्षणम् कुकुन्दरौ गम्भीरावलोमशौ प्रविभक्तौ समौ प्रशस्येते। लोमशौ प्रव्रज्यायै। प्रदक्षिणावर्तौ तु धन्यौ। विपुलौ दीर्घायुषाम्। श्लिष्टावनायुषाम् (कासू. २८.६)
मर्म० द्वे मर्मणी, पार्श्वजघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतः नातिनिम्ने कुकुन्दरे नाम। तत्र विद्धे सति स्पर्शाज्ञानम्। अधःकाये चेष्टोपघातश्च। संधिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकरे च (सुशा. ६.२६)

कुकूण–पु., नेत्ररोग० कुकूणकः (असंउ. २)
द्र० 'कुकूणक'.

कुकूणक–पु., नेत्ररोग० बालानाम् अक्षिवर्त्मभवो नेत्ररोगः अनन्नभोजिनो बालस्य स्तन्यदोषाज्जायते श्लेष्मलोहित-संभवो व्याधिः (कासि. १३.३–८)
लक्षणानि–शिशुः सकण्डुरं नेत्रवर्त्म, तथा नासाललाटमक्षिकूटं च मृन्द्नाति, सूर्यप्रभां न सहते सततस्रवन्नेत्रश्च तिष्ठति नेत्रवर्त्मानि उन्मीलयितुं न क्षमते (सुउ. १९.९) वर्त्मशूलमुच्छून-ताम्राक्षत्वं वीक्षणाक्षमत्वं च। अयं दन्तोत्पत्ति-निमित्तजो व्याधिः (असंउ. ११) तत्र चिकित्सा–क्षीरपायिनं पीतदुग्धं बालं मध्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वाऽपामार्गफलचूर्णैः वामयेत्। अशनदुग्ध-भुजंबालं सवचाभिरपामार्गफलचूर्णैर्वामयेत्। जम्ब्वाम्रादिपत्रकषायैरस्य वर्त्मपरिधावनं तथा सेचनम्। गुडूचीघृतेन त्रिफलाघृतेन वा आश्योतनम्। मनःशिलाद्यञ्जनम्। नेपालजाद्यञ्जनम्। कृष्णलोहचूर्णं घृतादिघृष्टमञ्जनार्थम्। व्योषाद्यञ्जनम् (व्योषादिगुटिकाञ्जनम्) निम्बच्छदाद्यञ्जनम्। जलौकाभिः रुधिराहरणम्, शेफालिका-पत्रैर्विनिर्लेखनं त्रिकटुकादिभिः क्षौद्रयुतैश्च प्रतिसारणम्। तथैव स्तन्यदोषचिकित्सा अपि मातुर्धात्र्या वा यावच्छक्यं करणीया (सुउ. १९.१०–१६ काखि० १३)

कुकूल–पु., न., करीषाग्निः (चचि. १.७५)
अपां बाष्पस्वेदः। गोशकृदादिचूर्णसन्तापः इत्यन्ये (अहसू. ६.४२ अरुण)
चूर्णाग्निः (असंउ. २)

कुक्कुट–पु., विष्किरपक्षि० स्वनामप्रसिद्धः, ताम्रचूडः (चसू. २७.४८)
हिं.—मुरगा.
म.—**कोंबडा.**
बं.—कुकडा.
बल्यानां श्रेष्ठः (चसू. २५–४०) (असंसू. १३.३) कुक्कुटः श्रोत्रस्वरवयोदृशां पथ्यो, वृष्यो, ग्राम्यः पुनः श्लेष्मलो गुरुश्च (अहसू. ६.५९) अन्नवृद्धिशूले उपयुक्तं (र. १८.४३) कुक्कुटवसा, विष्किरशकुनिवसानां श्रेष्ठतमा (चसू. २५.३८) कुक्कुटमांसं नेत्ररोगेषूपयुक्तम् (असंउ. १९) उष्णं, स्निग्धं, लघु, स्वर्यं, दीपनं, बृंहणं, वृष्यं, बल्यं, वातहरं च (ध. ६.४५८) कुक्कुटाण्डकपालं (चचि. २६. २५३) कुक्कुटाण्डत्वक् (असंउ. १४) कुक्कुटाण्डदलं (सुउ. १८.१०१) वा व्रणशुक्राख्ये नेत्ररोगे वर्तिकर्मणि अञ्जनार्थं च उपयुज्यते। तथैवोत्सन्नमांसेषु व्रणेषु अवसादने प्रशस्तं भवति (सुसू. ३७.३१) कुक्कुटघृतं तु ऊर्ध्वजत्रु-विकारेषूपयुक्तम् (चचि. २६.१७५)
वनस्पति० शितिवारः (ध. १.१५५)

(कुक्कुटी)–स्त्री., कुक्कुटवर्गे स्त्रीलिङ्गी प्राणि० (असंशा. ४.२०)
शाल्मली (ध. ५.१२७ र. २०.३६) (सुउ. २९.७६०.४८ असंउ. ४९)
–पुट–न., पुट० भूमितले वितस्तिद्वितयमात्रनिम्न-विस्तारे खाते दीयमानं पुटम् (र. १०.६०)

कुक्कुटाण्डक–पु., धान्य० व्रीहिभेदः, वर्णेन आचार-तश्च कुक्कुटाण्डसमाः तण्डुला यस्य सः कुक्कु-टाण्डको व्रीहिभेदः (सुसू. ४६.१२) द्र० 'व्रीहि.

कुक्कुटी–स्त्री., (सुउ. २९.७ ६०.४८)
–पुट–न., कुक्कुटपुटम् (र. १२.११०)
कुक्कुणक–पु., रोग० कुकूणकः (काखि. १३.१)
–चिकित्सित–पु., अध्याय० (काखि. १३)
कुक्कुभ–पु., प्राणि० ताम्रचूडभेदः, वनकुक्कुटः (चसू. २७.४७)
कुक्कुर–पु., प्राणि० शृगालभेदः, सारमेयः, मांसगुणाः– उष्णो विपाके वातनाशनः (ध. ६.४४२)
कुक्षि–स्त्री., शारीर० बाह्यप्रत्यङ्गम्, पार्श्वान्तरालः (सुसू. २९. १०) उदरपार्श्वदेशः (चचि. १३.३७ कासू. २८.६) प्रशस्ताप्रशस्तलक्षणम्–कुक्षिसमुन्नतौ प्रशस्येते। लोमशौ प्रव्रज्यायै सिरालौ कुभोजनाय। निम्नौ दारिद्राय। समौ मध्यत्वाय । दक्षिणोन्नतौ पुत्रजन्मने । वामोन्नतौ विपरीतौ (कासू. २८) उदरम्, शारीर० उदरान्तरावकाशः (चसू. १८.३१ अहसू. ११.१३) आमाशयः, जठरम् (असंसू. १०.७५) (अहसू. ८.४६) गर्भाशयः (चशा. ६.२० २.१६) (४.७५ चनि. ३.१४ सुशा. २.४८) (सुनि. ९.८७)
–ग्रह–पु., लक्षण० कुक्षेर्ग्रहः (चसि. ९.६) (अहसू. १७.२६) ग्रहो नाम स्तम्भ इव गात्रस्य वातेन चेष्टानिरोधः
–रन्ध्र–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८. २२१)
–रोग–पु., रोग० कुक्षिरत्र पुरीषाशयादिस्तत्रस्थो विकारः (चचि. १५.४९) अतीसारः (हे. अहसू. ६.२८)
–शूल पु., न.,–रोग० आमसमुद्भवो रोग० यदा मारुतः कुक्षौ वह्निमाक्रामति तदा भुक्तं न पच्यते। उपस्तब्धता च भुक्तस्य जायते । श्वसन्नयं रुग्ण आमशकृच्छूलेन मुहुर्मुहुराहन्यते। आसीनः, शयानस्तिष्ठन्वा न सुखं भजते। अयं वातज आमजन्यः कुक्षिशूलः (सुउ. ४२. १२३–१२५)
–संग्रह–पु., लक्षण० कुक्षिग्रहः (चसू. १४.२२)
–स्थ–वि., गर्भाशयस्थः (सुशा. १०.५४)
कुक्ष्यवस्रंस–पु., गर्भाशयस्याधोभागे अवतरणम्। प्राप्तप्रसवाया गर्भिण्या लक्षणम् (काजाति. शा. (पृ. ८४)

कुङ्कुम–न., वनस्पति० सुगन्धिद्रव्यम्, एलादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.२४) अस्य पुष्पगुणाः–सुगन्धि विशदं हृद्यं श्लेष्मपित्तविषघ्नं च (सुसू. ४६.२८७) गुणाः–कटुस्तिक्तम्, उष्णं, कायकान्तिकृदरोचनं, श्लेष्मवातघ्नं, व्रणशोधनं, कासकण्ठरुजाघ्नं, शिरःशूलविषदोषनाशनम् (ध. ३.१२ रा. १२.२२) कण्डूपिडकाकोठनाशनम् (सुसू. ३८.२५) हिं.—केसर, केशर; जाफरान. म.—**केशर.** गु.—केशर. बं.—कुंकुम. त.—कुंकुमं. का.—फरकी मास.
कुङ्कुमाद्यगद–पु., अगद० शतपद्विषनाशनः (सुक. ८.४९–५१)
कुच–पु., शारीर० स्तनः (सुशा. ३.८) (कासू. १९)
–फल–पु., वनस्पति० दाडिमम् (रा. ११.९४)
कुचैली–स्त्री., पाठा (रा. ६.९९)
कुज–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (उत्पल) (ध. ४.१५०)
कुञ्चन–न., नेत्ररोग० यदा वाताद्या दोषा वर्त्मसंकोचं जनयन्ति तदा द्रष्टुं न पार्यते स रोगः कुञ्चनमिति कथ्यते (मा०) लक्षण० संकोचनम् (चचि. २८.७२) (सुचि. ४.१६), (सुउ. ३९.८७)
कुञ्चिका–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८५) (चचि. ३०.५४;) (ध. ६.१११) स्थूलजीरकम्, कारवी कुञ्चिकाऽजाजी कबरी धान्यतुम्बरु। अन्नगन्धहरं, रुच्यं, दीपनं, कफवातजित् (चसू. २७.३०७) (असंसू. १२.६३) (ध. २.५९)
कुञ्चित–वि., कुटिलम्, वक्रम् (सुचि. २५.३६) न., वनस्पति० तगरः (ध. ३.५३)
(कुञ्चिता)–स्त्री., कुटिलीभूता (सिरा) दुष्टव्यधे सिराप्रकारः (सुशा. ८.१९)
(कुञ्ची)–स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः, स्थूलजीरकः, कुञ्चिका (ध. २.५९) द्र० 'जीरक.'
कुञ्जर–पु., वनस्पति० गजपिप्पली (र. २७.३७) प्राणि० गजः (सुचि. २९.१६) (सुक. १.६२)

कुञ्जरा–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०)
–क्षारमूल–न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५१)
–शुण्डिका–स्त्री., वनस्पति० हस्तिशुण्डी (र. २७.३८)
कुञ्जवल्लरी–स्त्री., वनस्पति० निकुञ्जिका (रापरि. ८.३५)
कुञ्जिका–स्त्री., वनस्पति० निकुञ्जिका (रापरि. ८.३५)
कुटकास्थि–न., श्रोणिकाण्डास्थि मयूरास्थीति लोके (सुसू. २३.६)
कुटज–पु., स्वनामप्रसिद्धो वनस्पति० 'कुडा' इति लोके ख्यातः (चसू. २.७) इन्द्रवृक्षः, शक्रः, गिरिमल्लिका, वत्सक इत्यादीन्यस्यापरनामानि भवन्ति (चक. ५.४)
प्रावृषि कुटजः पुष्पितो भवति (सुसू. ६.३३) अस्य बीजम् इन्द्रजव, इन्द्रयव इति वा लोके प्रसिद्धं वर्तते (चसू. १.८३) महाकषायवर्गे, अर्शोघ्नगणे तथा कण्डूघ्नगणे च निर्दिष्टः (चसू. ४.११ (१२)
द्विविधो हि कुटजः स्त्रीपुरुषभेदेन । बृहत्फलः, श्वेतपुष्पः, स्निग्धपत्रः, पुमान् भवेत्, अणुफलवृन्तः श्यावारुणपुष्पोऽस्ति इति (सुसू. ११.११)
आरग्वधादिगणे निर्दिष्टः (सुसू. ३८.६)
क्षारनिष्कासनार्थम् उपयुक्तेषु द्रव्येष्वेकः (सुसू. ११.११)
कुटजोऽतिसारे इति अव्ययसंग्रहे उल्लिखितः (अहउ. ४०.४९)
रक्तार्शःप्रशमनानां श्रेष्ठः (असंसू. १३.३) अस्य शारदानि फलानि वमनोपयोगीनि (असंसू. १४.३)
गुणाः–कटुस्तिक्तः, कषायो, रूक्षः, शीतवीर्यः, पित्तप्रशमनः, कुष्ठातिसाररक्तपित्तार्शस्त्वग्दोषनाशनः (ध. २.१३)
हिं.—कुडा; कूड; कोरेया; कुठेया.
म.—**कुडा.**
गु.—कुडो;
बं.—कुडची गाछ; करची.
ता.—कुटचप्पालै.
फा.—झबन–इ–गुंगिषक–इ–तलक.
–त्वच्–स्त्री., कुष्ठहरलेपे उपयुक्ता (चसू. ३.१५) श्लेष्मपित्तरक्तसंग्रहणीयोपशोषणानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०; असंसू. १३)
–पुष्पकल्क–पु., योग० आमलकरसेन साकं मधुयुतः कुटजपुष्पाणां कल्कः, सर्वमेहेषूपयुक्त एक औषधियोगः (सुचि. ११.८)
–फल–न., वनस्पति० कुटजबीजः इन्द्रयवः (सुसू. ४३.५) बृहत्यादिगणे तथा हरिद्रादिगणे निर्दिष्टः (सुसू. ३८.३१)
–बीज–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (सुसू. ३८.२७) कुष्ठहरलेपे उपयुक्तम् (चसू. ३.१४)
कुटजाभिधा–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रयवः) रा. ९.२२)
कुटजाफल–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (रा. ९.२१)
कुटजीव–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (रापरि. ९.३१)
कुटजोद्भव–पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (असंसू. १६ अहसू. १५.३५)
कुटन्नट–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (सुसू. ३८.१४; ध. १.११४)
वन्यकः फञ्जीदमनकः (सुक. ६.१७)
न., तगरः (सुउ. ११.५)
कैवर्तमुस्तकम् (चचि. १५.१२५)
(चसि. १०.२३)
परिपेलवः (असंउ. १०)
कुटप–न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (ध. १०.२४३)
कुटपिनी–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४.१५७)
कुटरणा–स्त्री., वनस्पति० अरुणमूलत्रिवृत् (अहसू. १५.४५)
कुटामोद–न., भैषज्य० जवादि (रापरि. १२.७)
कुटिञ्जर–न., शाक० फञ्जीचिल्ल्यादिगणे (चसू. २७.९९) ताम्रमूलकः शाकविशेषः (अहसू. ६.९३)
कुटिल–न., खनिज० वङ्गः (र. २.७५)
वनस्पति० तगरः (ध. ३.५३)
पु., भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४३)
(कुटिला)–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)
–सिरा–स्त्री., अनृजुः सिरा, सा अशस्त्रकृत्या (असंशा. ६.२१)
कुटिलोपस्थ–वि.,लक्षण० कुटिलं नाम वक्रं जातम् उपस्थं यस्य । रिष्टलक्षणम् (चचि. १३.५२)
कुटी–स्त्री., वनस्पति० मुरा (ध. ३.६७)
रसायनप्रयोगार्थं निर्मितं गृहम् (र. २८.१०० असंसू. २६.१४)
–प्रवेश–पु., कुटीनिवासः (चचि. १. (४) २७)

-प्रावेशिक-वि., उपक्रम० रसायनप्रयोग० कुटी-प्रवेशेन यत् क्रियते तत् कुटीप्रावेशिकम्। रसायनानां द्विविधं प्रयोगम् ऋषयो विदुः। एकं कुटीप्रावेशिकं द्वितीयं वातातपिकं च। कुटीप्रावेशिकविधिः-आदौ कुटीं कारयेत्, तद्यथा-नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणां निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे, पूर्वोत्तरस्यां दिशि सुभूमौ कुटीं कारयेत्। सा च विस्तारोत्सेधसंपन्ना, त्रिगर्भा, सूक्ष्मलोचना, घनभित्तिः, ऋतुसुखा, सुस्पष्टा, मनसः प्रिया, अशस्तशब्दानामगम्या, स्त्रीविवर्जिता इष्टोपकरणोपेता, सजवैद्यौषधद्विजा च भवितुम् अर्हति। अथ उदगयने शुक्लपक्षे तिथिनक्षत्रपूजिते मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते दिने, कृतवापनः धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितो, मानसान् दोषान् विधूय, भूतेषु मैत्रीं चिंतयन्नग्रे देवताः द्विजातींश्च पूजयित्वा, देवगोब्राह्मणान् प्रदक्षिणं कृत्वा, तां कुटीं प्रविशेत् (चचि. १.१६-२४)

-स्वेद-पु., स्वेद० कुटीं नात्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहकल्कधनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूमप्रदीप्तखदिराङ्गारपूर्णैहसन्तिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्ये च शय्यां स्थापयित्वा तत्रस्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः (असंसू. २६.१४) तत्र कुटीस्वेदः-पूर्वोक्तायां कुटीमध्ये स्वास्तीर्णां शय्यामुपकल्पयेत्, प्रावाराजिनकौशेयकुथकंबलगोलकैर्हसन्तिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्तां च सर्वशः परिवार्यान्तराऽभ्यक्त आरोहेत् (चसू. १४.५२-५४) चतुर्द्वारायां कुट्यां स्वेदयोग्यं पुरुषमुपवेश्य, चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं पुरुषं स्वेदयेत् (सुचि. ३२.१०)

कुटुम्बक-पु., वनस्पति० भूतृणम् (ध. ४.४७)

कुटुम्बिनी-स्त्री., वनस्पति०, गुणाः-मधुरा, ग्राहिणी, कफपित्तनुद्, व्रणास्रदोषकण्डूतिनाशनी, रसायनी च (रा. परि. ५.२३)

कुट्टक-न., कुट्टितम्, कुट्टनेन अणुशः कृतम् (चचि. २. (४) १९)

कुट्टन-न., चूर्णीकरणम् (अहसू. २६.२३)

कुट्टित-वि., चूर्णितम् (असंसू. २६.२२)

-सिरा-स्त्री., या पुनः पुनः अनासादिता (अप्राप्ता) अनुत्थिता। अंतयोः बहुशः शस्त्राभिहता सा 'कुट्टिता' सिरा भवेत्। दुष्टे सिराव्यधे लक्षणमेकम् (सुशा. ८.१९)

कुट्टिम-पु., वनस्पति० दाडिमम् (ध. २.६१)

कुठरणा-स्त्री., वनस्पति० शुक्ला त्रिवृत् (असंसू. १६.३९)

कुठारच्छिन्ना-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (र. २८.५४) कन्दगुडूची (र. २८.५४)

कुठारिका-स्त्री., व्यधनोपयोगि शस्त्र० कुठारतुल्या कुठारिका, कुठारिकाया वृन्तं सार्धसप्ताङ्गुलायतम्, फलमर्धाङ्गुलायामं गोदन्तसदृशं समं च। व्यधने कुठारिका-व्रीहिमुख-आरावेतस-पत्रकाणि सूची च (सुसू. ८.४) कुठारिका पृथुदण्डा गोदन्ताकारा अर्धाङ्गुलफला अस्थ्याश्रितसिराव्यधार्था (असंसू. ३४.२८)

कुठारी-स्त्री., शस्त्र० कुठारिका (अहसू. २६.१२)

कुठिञ्जर-पु., कुरहञ्जणः, 'कोल्हसुआ' इति लोके, कुनाडिकेति क्वचित्, तत्र कुनाडिका गोनाडिका लोणिकादि शाकवर्गे। सामान्यगुणाः-स्वादुपाकरसः शीतः कफघ्नो नातिपित्तलो लवणानुरसो रूक्षः सक्षारो वातलः सरश्च (सुसू. ४६.२७४)

कुठेर-पु., वनस्पति० कुटेरकः (अहसू. ६.१०६) कुठेरादिगणे एकं द्रव्यम् (अहसू. १०.३१)

कुठेरक-पु., वनस्पति० अर्जकः (चवि., ७.१७) (रा. १०.८५ ध. ४.५४)
शाक०, फञ्जीचिल्ल्यादिगणे एकं द्रव्यम् (चसू. २७.१०१)
बर्बरिकाभेदः, पिप्पल्यादिवर्गीयमेकं द्रव्यम् (सुसू. ४६.२२१)
नन्दीवृक्षः (ध. ३.१८)

कुडव-पु., न., मान० प्रसृतद्वयं चतुष्पलं वा षोडशतोलकमित्यर्थः। अस्याऽपरपर्यायोऽञ्जलीति (चक. १२.९३) शुष्काणां द्रव्याणां चतुर्भिः पलैः कुडव आर्द्राणां चाऽष्टाभिरिति। जेज्जटस्त्वार्द्राणां द्रवाणां च चतुष्पलं कुडवमाह (सुचि. ३१.७)

कुडुहुञ्ची-स्त्री., वनस्पति० त्रपुसविशेषः, 'क्षुद्रकारलिका' इति नाम्ना प्रसिद्धा, गुणाः-कुडुहुञ्ची तिक्ता कटुरुष्णा रुचिकारिणी दीपनी रक्तानिलदोषकरी पथ्या च। कारलीकन्दमशोंघ्नं मलरोधविशोधनम्। योनिनिर्गतदोषघ्नं गर्भस्रावविषाऽपहम्॥ (रा. ७.२८०-२८३)

कुड्मल-न., वनस्पति० नीलपद्मम् (ध. ४.१५०)

कुड्मलक-न., वनस्पति० नीलपद्मम् (रा. १०.२४८)

कुड्य-न., भित्तिः (असंशा.१०.१७; र. १०.३४)

–कीटक–पु., कीट० 'कवडिगणा' 'करडिकाणा' इति वा ख्यातः (चशा. ८.१९)

कुणज–शाक० फञ्जादिशाकवर्गीयः (रापरि. ७.९५)

कुणञ्ज–पु., वनस्पति० कुणञ्जरः (रापरि. ५.२९)
(कुणञ्जी) स्त्री., कुणञ्जरः (रापरि. ५.२९)

कुणञ्जर–पु., वनस्पति० शाकभेदः, अस्याऽपरनामानि कुणजर, कुणञ्जी च कणञ्जोऽरण्यवास्तुकः कुणञ्जो मधुरो रुच्यो दीपनपाचनो हितः। (रापरि. ५.२९)

कुणञ्जी–स्त्री., वनस्पति०, कुणञ्जरः (रापरि. ५.२९)

कुणप–वि., शवगन्धि, दुर्गन्धयुक्तम् (चइ. २.१३. सु. उ. ४५.१०)
पु., न., शवः (असंसू. ८.२१)
–गन्धिन् वि., शवगन्धी (असंसू. ८.२१)

कुणावी–स्त्री., भक्ष्य० यवपर्पटी (सुचि. १९.५)

कुणि–वि., लक्षण० कुब्जितकरः (चसि. २.२१)
सङ्कुचितबाहुमध्यः (सुशा. ६.२४)
–ता–स्त्री., लक्षण० हस्तस्य हस्ताङ्गुलीनां वा कुब्जत्वम् (असंशा. ७.६)

कुण्टरिका–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९६)

कुण्ठ–वि., शस्त्रदोष० स्थूल धारत्वेन अरोमवाहि (सुसू. ८.९)
न., मुण्डभेदः लोहप्रकाराणामन्यतमस्य मुण्डाख्यस्योपप्रकारः (र. ५.७४) द्र० 'मुण्डलोह'
वनस्पति० गुण्ठ (ध. १.८३)
–ता–स्त्री., लक्षण० करस्य कस्मिन्नपि व्यापारे स्तब्धतया अप्रवृत्तिः
–शस्त्र–न., अरोमवाहि शस्त्रम् (अहसू. २७.३५)

कुण्ड–न., पात्र० द्रोणिः (अहसू. १७.११)
–भेदिन्–वि., भ्रष्टयोनिः तेन प्रच्छादितात्मीयनिन्दितजातिः (चक.)
–मुसल–न., तण्डुलादयो येन कुट्यन्ते तन्मुसलम् हस्तमुसलमित्यर्थः (चशा. ८.३४)

कुण्डल–पु., न., आभूषण० कर्णकुण्डलम् (सुउ. ७.८; चचि. ३०.७)
बस्तिरोग० बस्तिकुण्डलः (चसि. १२.१६;) (र. २२.१५५)

(कुण्डली)–स्त्री., उपकरण० कुण्डलाकारं कुण्डम्. (र. ७.९)
वनस्पति० गुडूची (ध. १.२)
कोविदारः (ध. १.१९६)
सर्पिणी (रापरि. ५.३९)

कुण्डलिन्–वि., आवर्तमानतया स्थितः (चसि. ९.३९)

कुतल–पु., न., वनस्पति० तिलकाण्डम् (इंदु.असंउ.२६)
क्षारोऽस्य मूषिकविषे पाने उपयुज्यते (असंउ. ४६ त. प्र. पृ. ३६८)

कुत्स–न., वनस्पति० कुष्ठम् (र. १२.९८)

कुत्सित–वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०८)

कुत्सिताम्ब–वनस्पति० कदम्बः (अहसू. १५.२६)
कळंब.

कुथ–पु., स्त्री., न., कार्पासपूरितप्रावरणम् (असंसू. ४.१८)

(कुथा)–स्त्री., आस्तरणम् (असंसू. २६.१२)

कुथक–पु., न., चित्रकम्बलः (चसू. ६.१५)

कुदितिका–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.९९)

कुद्दाल–पु., धान्य० कोद्रवः (रा. १६.१३७)
वनस्पति० अश्मन्तक (रा. २.२९०)
कोविदारः (ध. १.१९६)

कुन्त–पु., आयुध० (सुसू. २८.१८)
–वेध–पु., संस्कार० कुन्तसमानसंदशाग्रधृतपिण्डीभूतरसेन तारादौ द्रुते सुवर्णाद्युत्पादनम्। नागं वंगं ताम्रं च एकस्मिन् पात्रे अन्यस्मिन् पात्रे पारदं निक्षिप्य तेषां संयोजनं कुन्तवेधः इति उच्यते (र. ८.९२)

कुन्तल–पु., उपकरण० दर्वी विधाराच्छुरिका कूर्चो वा (र. १७.६२)
न., वनस्पति० वालकम् (रा. १०.६९)

(कुन्तली)–स्त्री., शाक० चञ्चुसदृशी दीर्घपत्रा। गुणाः–तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजिच्च (असंसू. ७.११७)
–क्षार–पु., भैषज्य० यवक्षारः (असंचि. १७)
–वर्धन–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२०)

कुन्तलिका–स्त्री., गौरवर्तुलावगुण्ठितफला 'चिरपोटिका' इति प्रसिद्धा, अस्याः पत्राणि शाकत्वेन उपयुज्यन्ते। गुणाः–स्वादुः तिक्ता च सूक्ष्मतिलजातिः इति केचित् (सुसू. ४६.२७६)

कुन्तिनीबीज–न., जेपालः (रा. ६.३४४)

कुन्तिली–स्त्री., वनस्पति० कुन्तली (अहसू. ६.७६)
द्र० 'कुन्तली.'

कुन्थन–वि., दुःखितः (चचि. ३०.२४०)

कुन्द–पु., मत्स्यजातीयः प्राणि० (काखिल. २४.५०)
वनस्पति० श्वेतपुष्पक्षुपः (र. १०.९३) (सुउ. ५१.३८)

गुणाः–अतिमधुरः कषायः शीतः केश्यः कफपित्तहरः सरो दीपनपाचनः (रा. १०.२५७) कुन्दस्य कुसुमं हृद्यं स्वल्पगन्धि मनोहरम् (ध. ५.१५०)
हिं.—कुन्द.
म.—**कुन्द, कागडा.**
गु.—जेलर.
बं.—कुंद.

कुन्दक–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (रा. १२.१९०)
द्र० 'कुन्दुरु.'

कुन्दर–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१)
'द्र०–कुन्दुरु.'

कुन्दुरु–पु., वनस्पति० शाकभेदः (चचि. २६.६४) (चचि. २८.१५३)
निर्यास० गन्धद्रव्यम् (र. २२.१६७)
गुणाः–मधुरः कटुकस्तिक्तो वातश्लेष्मामयापहः, पाने लेपे च शिशिरः प्रदरामयशान्तिकृत्, कफपित्तार्तिदाहनुत् (ध. ३.१३२) (रा. १२.१९१)
हिं.—कुन्दरु, गंधविरोजा.
म.—**साळईचा डिंक.**
गु.—किन्दुरु.
बं.—कुंदुरुखोटी.
त.—कुंदुरुक्कं.
फा.—कन्दुरुमी.

कुन्दुरुक–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१) (सुसू. ३८.२४) द्र० 'कुंदुरु.'

(कुन्दुरुकी)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५)

कुन्द्रगोपुर–पु., निर्यास० कुन्दुरुः (ध., ३.१३१)
द्र० 'कुंदुरू'.

कुपिका–स्त्री., काचकूपी (र. ७.१९)

कुप्य–न., खनिज० सुवर्णरूप्येतरलोहः । सुवर्णरूप्याभ्यामन्यो धातुः । अन्ये तु अघटितं रूप्यादिकं कुप्यमिति आचक्षते (सुउ. ४०.१४६)
रौप्यम् (ध. ६.५)

कुबेर–पु., देवता० धनदः (सुसू. १९.२३)

कुबेराक्ष–पु., वनस्पति० लताकरञ्जः (रापरि. ८.२४)

(कुबेराक्षी)–स्त्री., वनस्पति० काष्ठपाटला (ध. १.१२२) (सुउ. ३५.३) (सुसू. ३९.७)

कुब्ज–वि., लक्षण० उन्नतपृष्ठः (चशा. ३.१५)
वनस्पति० गुञ्जा (सुचि. ७.६)
अपामार्गः (रा. ४.३८८)

–कण्टक–पु., वनस्पति० खदिरभेदः (ध. १.२७)
द्र० 'खदिर'

–गर्भ–पु., सहजरोग०, कुब्जत्वयुक्तो गर्भो वातप्रकोपेण गर्भिण्याश्च दौहृदविमाननाद्भवति (सुशा. २.५१,३०.१८)

–त्व–न., वातरोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) स्नायुगतोऽनिलः कुब्जत्वं, खल्लिं बाह्यायाममन्तरायामं सर्वांगैकांगरोगांश्च कुर्यात् (चचि.२८.३५) स्नायुविद्धलक्षणेषु कौब्ज्यमपि एक लक्षणत्वेन कीर्तितम् (सुसू. २५.३७)

कुब्जक–पु., वनस्पति० अस्य पुष्पमञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.८) गुणाः–स्वादुः, कषायः, शीतः, सुरभिः, रसायनः, त्रिदोषशमनः, वृष्यः, संग्रहणः (ध. ५.१४७) पुष्पं तु शीतलं वर्ण्यं दाहघ्नं वातपित्तजित् (रा. १०.२४९)
हिं.—गुलाब, सेवती, कूजा.
म.—**गुलाब, काटेशेवंती.**
गु.—गोलाबनु फूल.
बं.—श्वेतगोलाप, गोलाप.
त.—गोलाप्पु.
फा.—गले, गुलेमुशकी, गुलिसुसुर्ख.

कुब्जीभवन–न., लक्षण० पृष्ठे प्राप्तमुन्नतत्वम् (असंउ. २)

कुमर्तिका–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः (ध. १.९७) द्र० 'कण्टकारी.'

कुमार–पु., देवता० कार्तिकेयः (सुसू. १९.२३)
बालकः (चशा. ८.५१) पञ्चवर्षपर्यन्तं कौमारम्– (रापरि. १८.११) कुमारस्य दीर्घायुर्लक्षणानि-तद्यथा–एकैकजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः, सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते, स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्याऽतिसंपन्नमीषत्प्रमाणातिवृत्तमनुरूपमातपत्रोपमं शिरः, व्यूढं दृढं समसुश्लिष्टशङ्खसध्यूर्ध्वं, व्यञ्जनसंपन्नमुपचितं वलिभमर्धचन्द्राकृति ललाटं, बहलौ विपुलसमपीठौ समौ नीचैर्वृद्धौ पृष्ठतोऽवनतौ सुश्लिष्टकर्णपुत्रकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ ईषत्प्रलम्बिन्यावसंगते समे संहते महत्यौ भ्रुवौ, समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे बलवती तेजसोपपन्ने स्वङ्गापाङ्गे **चक्षुषी**, ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसंपन्नेषदवनताग्रा **नासिका**, महद्भ्रुसुनिविष्टदन्तमास्यम्, आयामविस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतिवर्णयुक्ता **जिह्वा**, श्लक्ष्णं युक्तोपचयमूष्मोपपन्नरक्तं **तालु**, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः **स्वरः**, नातिस्थूलौ नातिकृशौ

विस्तारोपपन्नावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ, महत्यौ हनू, वृत्ता नातिमहती ग्रीवा, व्यूढमुपचितमुरः गूढं जत्रु पृष्ठवंशश्च विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ असंपातिनी स्थिरे पार्श्वे वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू सक्थिनी अङ्गुलयश्च महदुपचितं पाणिपादं स्थिरा वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः प्रदक्षिणावर्ता सोत्सङ्गा च नाभिः, उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ अनुपूर्वं वृत्तावुपचययुक्तौ ऊरू नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे प्रगूढसिरास्थिसन्धी जङ्घे नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ, प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषगुह्यानि तथा स्वप्नप्रजागरणायासस्मितरुदितस्तनग्रहणानि, यच्च किञ्चिदन्यदप्युक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतिसंपन्नमिष्टं, विपरीतं पुनरनिष्टम् (चशा. ८.५१) बालास्त्रिविधाः–क्षीरपाः, क्षीरान्नादा, अन्नादा इति । तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति (सुसू. ३५.२९) कुमारस्य प्रथमोपवेशनविधिः–पुण्येह्नि पञ्चमे मासि चतुर्दिशं बलिं दत्वा द्विकिष्कुमात्रं लिप्तायां धरण्यामुपवेशयेत्। तत्र मन्त्रः–" धरण्यशेषभूतानां माता त्वमसि कामधुक् । अजरा चाप्रमेया च सर्वभूतनमस्कृता ॥ चराचराणां लोकानां प्रतिष्ठास्व्ययासि च। कुमारं पाहि मातेव ब्रह्मा तदनुमन्यताम् " इति। उपवेशनादनु च बालस्य कटपूरुजान्वादीन् मर्दयेत् (असंउ. १,) षष्ठे मास्युपवेशनं कुर्यात् (काखि. १२.६–९) कुमारागारम्–वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतङ्गं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात्; तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसंपूर्णम् (चशा.८.५९) तथैववृद्धस्त्रीवैद्यसेवितं निर्मत्कुणाखुमशकं च शस्यते (असंउ. १.) शयनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः, स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः, असति संभवे अन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः । धूपनानि पुनर्बाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः मणयश्च धारणीयाः । कुमारस्य खड्गरुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः, ऐन्द्र्याद्याश्चौषधयो जीवकर्षभकौ च यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः प्रशंसेयुरथर्ववेदविदः। क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्ति अभिरामाणि चागुरूणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चाविस्रासनानि स्युः । न ह्यस्य वित्रासनं साधु । तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् यदि त्वातुर्यं किञ्चित् कुमारम् आगच्छेत् तत् प्रकृतिनिमित्तपूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषधदेशकालाश्रयान् अवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेत । तथा असौ शर्म लभते चिराय । क्रमेण असात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत्। तथा बलवर्णशरीरायुषां संपदमवाप्नोति

(चशा. ८.६०–६५)

कुमारस्य आहारः–प्रथमदिवसे त्रिकालं मधुसर्पिषी अनन्तामिश्रितेमन्त्रपाविते शिशुं प्राशयेत्, द्वितीये तृतीये च दिवसे लक्ष्मणासिद्धं घृतं त्रीनेव कालान् भोजयेत्। तृतीयदिवसात् प्रभृति मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तच्चलं देहवृद्धये । मातृस्तन्याभावे धात्रीस्तन्यं योजयेत्। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्वृणं पिबेत्, लघुपञ्चमूलेन सिद्धं शर्करायुतं च

(अहृउ. १.१२–२०)

षष्ठे मासि क्रमादन्नप्राशनं प्रयोजयेत्। अन्नं चिरान्निषेवमाणो बालो नातुर्यमश्नुते । यथा यथा चान्नं भजेत् तथा तथा स्तन्यं त्यजेत् (असंउ. १)

(कुमारी)–स्त्री., रेवतीग्रहस्य नाम

(काचि बालग्रह० पृ. ९९)

वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७४)

गुणाः–तिक्ता, हिमा, मदगन्धिः, कफापहा, पित्तकासविषश्वासकुष्ठघ्नी, रसायनी च (रापरि. ५.१२)

हिं.—कुवारपाठा.

म.—कोरफड, कोरफांटा.

गु.—कुवार.

बं.—घृतकुमारी.

त.—कुमारी, कट्टालै.
फा.—दरखते सिन्न.

–जीव–पु., शाक० जीवशाकम्, फञ्जीचिल्लयादिगणे (चसू. २७.१००)

–तन्त्र–न., कौमारभृत्यतन्त्रम्; अष्टाङ्गनामायुर्वेदस्यैकमङ्गम् । बालग्रहाणां विज्ञानं साधनमुत्पत्तिं कारणं च कुमारतन्त्रेऽभिहितम् । कुमारतन्त्रे एकादश अध्यायाः संति (सुसू. ३.३५–३७)

–धार–पु., बालचर्यायां सहाय्यकः पुमान् । अलोलुपः अभियुक्तः सदाचारी नातिस्थूलश्च कुमारधारः (असंउ. १)

–प्राश–पु., सिद्धकल्पः, बालानामुपयुक्तोऽवलेहः सुश्रुतोक्ताश्च ते चत्वारः सौवर्णादिप्राशो, मत्स्याक्षकादिप्राशोऽर्कपुष्प्यादिप्राशो हेमचूर्णादिप्राशश्च । एते कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः (सु. शा. १०.७०)

–बन्ध–पु., पारदबन्ध० द्विगुणाभ्रकजीर्णः पारदः । ग्रन्थान्तरे चतुर्गुणाभ्रजीर्णः कुमारः इति (र.११.८३) द्र० 'पारद.'

–वर्तनी–स्त्री., कुरुक्षेत्रात् पूर्वस्यां दिशि स्थितो देशः (काखि. २५.७)

–शिराभरद्वाज–पु., ऋषि० कुक्षौ गर्भस्य सर्वेन्द्रियाधिष्ठानभूतं शिर एव प्रथमाभिनिर्वर्तत इति अयं प्रतिपन्नः (चशा. ६.२१)

कुमारक–पु., वनस्पति० वरुणः (ध. ५.१९)

कुमाराबाध–पु., बालरोगः (स्कन्दग्रहप्रभृतयः) (सुउ. १.५)

(कुमारिका)–स्त्री., नेत्रगतप्रतिबिम्बरूपा (कुमारिका) (चई. ७.३, असंशा. ९.९)

वनस्पति० कर्कोटकी (ध. १.१८७)
वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)
मल्लिका (रा. १०.२२७)
एला० (रा. ६.७०)

कुमारी–स्त्री., (रा. ३.२७४)

–वर्ति–स्त्री., योग० हरीतक्यादिनिर्मिता एषा वर्तिः सर्वश्लेष्माक्षिरोगघ्नी (असंउ. १९)

कुमुद–न., वनस्पति० पद्मभेदः, मूत्रविरजनीयगणे एकं द्रव्यम् । (चसू. ४.१५ (३४) श्वेतकमलम्, उत्पलादिगणे (सुसू. ३८.५२ सुसू. १३.१४) असृक्प्रशांतिकरं श्वेतकमलम् (सुउ. ४०.१२१) संग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठम् (असंसू. १३.३) चन्द्रोदयविकासि उत्पलं, शाकत्वेनोपयुज्यते । पुष्पशाकगुणाः–मधुरं, पिच्छिलं, स्निग्धं, ह्लादि, शीतलं च, (सुसू. ४६.२८५) कुमुदगुणाः–स्वादु, पाके तिक्तं, शीतलं, कफापहं, रक्तदोषहरं दाहश्रमपित्तप्रशान्तिकृत् ॥ (ध. ४.१५५) "नीलोत्पलमतिस्वादु शीतं सुरभिसौख्यकृत् । पाके तु तिक्तमत्यन्तं रक्तपित्तापहारकम्" ॥ (रा. १०.२४९)

हिं.–छोटा कंवळ, नीलोफर.
म.–कृष्णाकमळ.
गु.–नीलोपल.
बं.–शालुक.
त.–वेलम्बल.
भैषज्य० कर्पूरः (रा. १२.५६)

(कुमुदा)–स्त्री., कीट० वायुरोगदा वायवी लूता, दंशलक्षणानि–दाहः, स्फोटः, स्फुरणं, तोदः, पिच्छिलक्लेदविस्रावः, श्वासो, गलग्रहश्च (असंउ. ४५,)

वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४७)
शालिपर्णी (रा. ४.११३)
धातकी (रा. ६.१५२)
कट्फलः (ध. १.७३)
पृश्निपर्णी (ध. १.९१)

(कुमुदी)–स्त्री., मूषा (र. १०.१)

–किञ्जल्क–पु., कुमुदस्य बिसम् । सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठम् (असंसू. १३.३) (चसू. २५.४०)

–गन्धिनी–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृज्भेदः (ध. १.२४५)

–घ्नी–स्त्री., क्षीरविष० स्थावरविषभेदः, यस्य क्षीरं विषमयं भवति (सुक. २.५)

–नाल–पु., शाक० इदं स्वादुकषायं शीतं कफमारुतकोपनं च (चसू. २७.११७)

–बान्धव–पु., चन्द्रः (र. २७.५८)

–राज्य–न., कुरुक्षेत्राद्दक्षिणस्यां दिशि स्थितः कश्चन देश० (काखि. २५.१३)

कुमुदिनी–स्त्री., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२५०)

कुमुदोत्पल–न., वनस्पति० श्वेतोत्पलम्, पित्तसंशमनवर्गे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.८)

कुमुद्वती–स्त्री., स्थावरविष० क्षीरविषा, फलविषा च (असंउ. ४०. सुक. २.५)
पद्मिनी (ध. ४.१५७)
कुमुदम् (रा. १०.२५०)

कुम्भ–पु., दृढावयवोऽल्पमुखो घटः, कलशः (चसू. १५.७) (सुसू. ११.११)
मान० द्रोणद्वयं, शूर्पपर्यायः (चक. १२.९६) (चचि. १.७६)
वनस्पति० जेपालः (र. २९.५६)
पु., न., त्रिवृत् (अहसू. १५.२)
रोग० कुम्भकामला (सुउ. ४४.६)

–कामला–स्त्री., रोग० कामलारोगप्रकारः, कुम्भः कोष्ठस्तदाश्रया कामला, कुम्भकामला (चचि. १६.३७)
पाण्डुरोगी योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते, तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा कामलारोगाय कल्पते। हारिद्रनेत्रो हारिद्रत्वङ्नखाऽननो रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो, हतेन्द्रियशक्तिः, दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः, इत्येवं लक्षणः स भवति। एषा कोष्ठशाखाश्रया कामला मता। कालान्तरात् सा एव कृच्छ्रसाध्या कुम्भकामला भवति (मा; सुउ. ४४.६)

–कारिका–स्त्री., वनस्पति० कुलत्था (रापरि. ५.१९)

–कारी–स्त्री., वनस्पति० कुलत्थिका (ध. ३.१५६)

–तुम्बी–स्त्री., वनस्पति० अलाम्बुनीविशेषः, गुणाः–मधुरा, शिशिरा, पित्तहारिणी, गुरुः, सन्तर्पिणी, रुच्या, वीर्यपुष्टिबलप्रदा च (रा. ७.२३६)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डिका (ध. १.१८३)

–बीजक–पु., वनस्पति० रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८६)

–योनि–पु., वनस्पति० अगस्त्यः (असंउ. १६)
द्रोणपुष्पी (रापरि. ५.४८)

–सर्पिस्–न., एकादशशतं वत्सरानुषितं घृतम्। एतद् रक्षोघ्नं स्यात्, द्र० 'घृत' (सुसू. ४५.१०९)

कुम्भक–पु., मान० द्रोणः। चतुराढकं चतुर्विंशत्यधिकसहस्रतोलकं वा मानम् (र. ११.८)

कुम्भसाह्व–पु., रोग० कुम्भकामला (सुउ. ४४.११)

कुम्भसी–स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८)

कुम्भाण्डी–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (रा. ७.२६९)

कुम्भालाम्बु–स्त्री., वनस्पति० कुम्भतुम्बी (रा. ७.२३६)

कुम्भाह्वय–पु., रोग० पाण्डुरोगभेदः, कुम्भकामला (सुउ. ४४.६)

(कुम्भिका)–स्त्री., गुह्यरोग० रक्तपित्तोत्था, जाम्बवास्थिनिभा आशुजा पिटिका (असंउ. ३८)
पाटला (सुउ. ३२.७–४०.१५४) (ध. १.१२०)
स्वेद०, द्र० 'कुम्भीस्वेद' (चसू. १४.३९)

(कुम्भी)–स्त्री., वनस्पति० कटूफलः (र. ११.९०–९२)
दन्ती (रा. ६.३३९)
कुम्भीरः (असंचि. ६.)

कुम्भिनीफल–न., वनस्पति० जेपालबीजम् (ध. १.२२८)
भूपाटली (असंचि. ६)

कुम्भिन्–पु., अग्निप्रकृतिककीट० (सुक. ८.९) (असंउ. ४३)

कुम्भी–स्त्री., वनस्पति० कटूफलः (असंचि. ६)
दन्ती (असंचि. ६)
कुम्भीरः (असंचि. ६)

–पुट–न., राजपुटम् (र. १६.१३०)

–मद–पु., हस्तिमदः (रापरि. ६.२०)

कुम्भी–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)
भूपाटली (रा. ५.४३)
पाटलाभेदः स्थलकुम्भी (सुउ. ५९.१७) द्र० 'पाटला'
कटूफलः जलकुम्भी (रा. ११.९०)
जेपालबीजम् (र. १२.१२९)
वनस्पति० कुम्भीक इति ख्याता (चवि. ८.१४४)
वर्त्मरोग० पित्तेनान्तर्वर्त्मनिकुम्भीकबीजवद्वाह्याः पिटकाः आध्मायन्ते भिद्यन्ते च। कुम्भीपिडका (असंउ. ११)
महाघटः (चचि. २८.१११)
स्थालिः, सच्छिद्रा घटिका, स्वेदनार्थं यन्त्रम् (अहसू. १७.१०)
क्षुद्रकुम्भः (सुचि. ३२.५)

–फल–न., वनस्पति० कटूफलः (र. ४.६८)
जेपालम् (र. ४.६८)

–बाष्प–पु.,न., कुम्भीस्वेदः (अहसू. १९.४१)
द्रष्टव्यं 'कुम्भीस्वेद.'

–बीज–न., वनस्पति० जेपालम् (ध. १.२२८)

–मुख–पु., दुष्टव्रणस्य प्रकारः (चचि. २५.२५)

–स्वेद–पु., स्वेद०, आनूपोदकमांस–वातघ्नद्रव्यक्काथपूर्णां कुम्भीं कृत्वा भूमौ निखन्य तदुपरि शय्यां संस्थाप्य अग्निसंतप्त–लौहपाषाणादीन् क्काथे निक्षिप्य तदुत्पन्नबाष्पैश्च गात्रं स्वेदयेत्। अन्ये

वातहरादिद्रव्यपूर्णां सजलां कुम्भीं कृत्वा बाष्पान् गृह्णीयात् (सु. उ. ३८.२२) स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्काथ्योपश्लिष्योपविष्टस्तद्वदूष्माणं गृह्णीयात् । भूमौ वा निखाय तदूर्ध्वमासनं शयनं वा नातिघनप्रच्छदं परितः प्रलम्बमानकुथाकम्बलगोणिकं निधाय तत्रस्थस्योष्माणं गृह्णतः कुम्भ्यामग्निवर्णानयोगुडानुपलांश्च शनैर्निमज्जयेदिति कुम्भीस्वेदः
(असंसू. २६. चसू. १४.३९)

कुम्भीक–पु., वनस्पति० स्थलकुम्भिका
(सुचि. १७.२७)
प्रियङ्ग्वादिगणे वनस्पति० श्लक्ष्णत्वक्को रोमशः कुम्भी नाम वृक्षो यस्य त्वग् वस्त्राकारा भवति
(सुसू. ३८.४५)
पाटला (सुसू. ३८.४५)
स्वल्पविटपः (सुसू. ३८.४५)

(कुम्भीका)–स्त्री., रोग० शूकरोगः, लक्षणम्–रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभा कृष्णा कुम्भीफलवच्च कुम्भीका ज्ञेया भेद्यरोगोऽयम्
(सुनि. १४.६ सुसू. २५.७)
नेत्ररोग० नेत्रवर्त्मगतः पिडकास्वरूपः, द्र० 'कुम्भीकपिडका' (सुउ १.४२. ३.१०)
वनस्पति० कटूफलः (ध. १.७३)

–पिडका–स्त्री., वर्त्मरोग० नेत्रवर्त्मनि कुम्भीकबीजप्रतिमाः पिडकाः, कुम्भीका इति व्यपदिष्टाः
(सुउ ३.१०)

–बीज–न., कुम्भीका स्थलकुम्भी, तद्बीजं दाडिमफलबीजाकारम् (सुउ. ३.१०) उंडिणीचे बी.

–षण्ड–पु., जातजरोग० कुम्भीकनामा सरेताः षण्डः । गुदयोनिः, कुम्भिलः इति अपरपर्यायौ यः पुरुषः स्वे गुदे स्वकीयपायौ, अब्रह्मचर्यात् अन्यपुरुषात् व्यवायं कारयित्वा पश्चात् स्त्रीषु विषये पुमानिव प्रवर्तते पुरुषवद्व्यवायं करोति, स कुम्भीकनामा षण्डो ज्ञेयः । अन्ये तु प्रथमं स्त्रीषु विषये तासामेव गुदविवरे पशुवत् पृष्ठभागे शिथिलेन एव मेहनेन प्रवर्तते । किंनिमित्तमेतदित्याह अब्रह्मचर्यात् क्लैब्यात् संजातशुक्रस्याऽप्रवृत्तित्वात् । ततश्च अन्यथा विप्रकृत्या ध्वजोच्छ्राये संजाते स एव स्त्रीषु पुरुषवत् प्रवर्तते स कुम्भीकनामा नपुंसकभेदः । गुदयोनिरयम् । अस्योत्पत्तिहेतुस्तन्त्रान्तरे वर्णितः । यथा–"मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद्बीजदौर्बल्यतया पितुश्च ।" गयी तु कुम्भीकोत्पत्तिहेतौ काश्यपोक्तं श्लोकमाह । यथा–"अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेद्दतौ । अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भिलस्तदा" इति
(सुशा. २.४०)

–षण्ढ–पु., कुम्भीकषण्ड (सुशा. २.४०)
द्र० 'कुम्भीक षण्ड'

कुम्भीका–स्त्री., (सुसू. २५.७)

–चिकित्सा–स्त्री., कुम्भीकायाः प्रतिदिनं नाडीस्वेदेन स्वेदनं कार्यम् । सुस्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहैश्च कुम्भिकामुपनाहयेत् । अनया रीत्या यदा सा ग्रन्थिः पक्वतां गच्छेत्तदा तस्या भेदनं करणीयम् । शुद्धायां सत्यां तस्या रोपणार्थं त्रिफला-लोध्र-तिन्दुकाऽऽम्रातक-सिद्धतैलस्योपयोगः कार्यः
(सुचि. २१.५)

कुम्भीकिनी–स्त्री., रोग० कुम्भिका, नेत्रवर्त्माश्रयो नेत्ररोगः (सुउ. १३.१६)

कुम्भीनस–पु., कीट० वायव्यः पवनकोपनः वातजरोगान् करोति (सुक. ८.५ असंउ. ४३)

कुम्भीर–पु., जलचर० अस्य वसा मत्स्यवसास्वहिततमा
(चसू. २५.३९)
घडीयालः महानक्रसदृशो जलचरप्राण्यौपादिष्वेकः
(सुसू. ४६.१०९)
कुम्भिनं हस्तिनमपीरयति इति कुम्भीरः । वारिशयप्राणि० (सुसू. २७.४०)
बं.—हांगर.
म.—**मगर.**
वनस्पति० गुणाः–कटुः कषायोष्णो ग्राही वातकफाऽपहः (रापरि. ९.१९ अहसू. ६.५२)

कुयष्टिक–पु., प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७.७४)
द्र० 'प्रतुद'

कुरङ्ग–पु., जङ्घालवर्गे पशु०, हरिणभेदः, चतुरगतिः, न कृष्णो न ताम्रश्चतुरङ्ग इति लोके, चतुःशृङ्गो भेदुलापतिः
(सुसू. ४६.५७ ३३३. सुउ. ३९.१५३)
सर्वप्राणिनामाहारार्थं हितमस्य मांसम्
(सुसू. २०.५)
अस्य मांसरसो गर्भस्थापनार्थमुपयुक्तः
(चशा. ८.२४)

–नाभी–स्त्री., भैषज्य० कस्तूरिका (रा. १२.४७)

कुरङ्गिका–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (रा. ३.१७४)

कुरण्ट–पु., वनस्पति० सुनिषण्णकः, शितिवारकः (अहसू. १५.२४)
कुरण्टकः (रा. १०.४१९)

कुरण्टक–पु., वनस्पति० सहचरभेदः पीतसहचरः (र. ११.९१)
सहचरपुष्पशाकगुणाः–रक्तपित्तघ्नम् (सुसू. ४६.२८८)
विसर्पचिकित्सायामालेपनार्थमुपयुक्तम् (चचि. २१.८९)
गुणाः–तिक्तो हिमः शोफतृष्णाविदाहनुत्। केश्यो वृष्यो बल्यः त्रिदोषशमनश्च ॥ (ध. १.२७९)
हिं.—कांटसरैया.
म.—**पिवळा कोरांटा.**
गु.—कांटा शेरिओ.
त.—शेमुल्ली.

(कुरण्टिका)–स्त्री., वनस्पति० कृष्णसूक्ष्मफलः क्षुपः वीरतर्वादिगणे पठितः (सुसू. ३८.१२)
वनस्पति० अम्लानसदृशपत्रकुसुमा हरितपुष्पा। अन्ये कुनालिकाकुरण्टिके उत्तरापथजे इत्याहुः। पत्रगुणाः–स्वादुपाकरसं, लवणानुरसं, शीतं, कफघ्नं, नातिपित्तलं च (सुसू. ४६.२७४–७५)

कुरव–पु., वनस्पति० कुरबकः (र. २५.५२)
कफजकृमि० (असंनि. १४.५२)

(कुरवी)–स्त्री., वनस्पति– सैंहली–पिप्पली (रा. ६.१२०)

कुरबक–पु., वनस्पति० श्वेतमन्दारकः (रा. १०.३१; सुक. ५.८६)
वनस्पति० रक्तसहचरः (र. २९.८९ असंसू. ३४.२८) गुणाः–कटुरुष्णो वातामयशोफनाशनो ज्वरनुदाध्मानशूलकासश्वासार्तिप्रशमनो वर्ण्यश्च (रा. १०.४१४)
शालिषष्टिकभेदः, द्र० 'षष्टिक' (सुसू. ४६.८)
–नाम्नी–स्त्री., वनस्पति० कुरबकः (रा. १०.४१९)

कुरम्बा–स्त्री., वनस्पति० द्रोणपुष्पी (रापरि. ५.४८)

कुरम्बिका–स्त्री., वनस्पति०, द्रोणपुष्पी (रापरि. ५.४८)

कुरर–पु., पक्षि० प्रसहजातीयोऽयम् (चसू. २७.३७) "कुरेति शब्दं राति कुरति शब्दं करोति "कुरशब्दे तुदादौ" अस्य रोमाणि श्वासे उपयुक्तानि (चचि. १७.११८)
चिल्ल्याकारो नादोत्थापितमत्स्यो हस्तमत्स्यग्राही, अरुणः, श्वेतमस्तको, मत्स्यग्राही च (सुसू. ४६.७४; सुसू. ४६.१०५)
प्लवजातीयः पक्षी (सुसू. ४६.१०५)
कङ्कमलसदृशजलचरः पक्षी (सुसू. ४६.१०५)
–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र० (सुसू. ७.१०)
द्र० "यन्त्र"

कुरराङ्घ्रि–पु., वनस्पति० देवसर्षपकः (रापरि. ९.४३)

कुरी–स्त्री., तृणधान्य० गुणाः–हरितं तन्मधुरं बलप्रदञ्च। तदेव पक्वं वाजिनां पुष्टिकृत् (रा. १६.१७९)

कुरु–पु., देश० (सुचि. २९.१७)
–क्षेत्र–न., मध्यदेशाद्योजनशतं परं कुरुक्षेत्रं देशविशेषो वर्तते (काखिल. २५.५)

कुरुट–पु., वनस्पति० शितिवारः (रा. ४.२०७)

कुरुण्टक–पु., वनस्पति० कुरुण्टकः (सुसू. ३८.६)

(कुरुण्टिका)–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टिका, शरबालिकाभेदो, लोहितपुष्पः (सुचि. ७.१०)

कुरुण्ड–पु., वनस्पति० साकुरुण्डः (रापरि. ६.१६)

कुरुबक–पु., वनस्पति० कुरबकः (सुसू. ४२.११)

कुरुबकाकृति–वि., शलाका० रक्तसहचरपुष्पमुकुलाकारा, तथा लिङ्गनाशं कफोत्थपटलसंज्ञं विध्येत् (अहसू. २६.१३)

कुरुबाहु–पु., पक्षि० विष्किरजातीयः नीलग्रीवो रक्तशिखः श्वेतपक्षः (अहसू. ६.४४)

कुरुवाहक–पु., पक्षि० कुरुकुरुकः विष्किरेष्वेकः (सुसू. ४६.५९)

कुरुविन्द–न., लवण० काचलवणम् (रा. ६.४५)
पु., मणि० पद्मरागो,' निशानोपल' इत्यन्ये- लेखनचूर्णाञ्जनघटकद्रव्यम् (सुउ. १५.२५) लोहि, तरत्नम्, व्रणेधूत्सन्नमांसेष्ववसादने प्रशस्तम् (सुसू. ३७.३१–३२)
माणिक्यम् (र. ४.७)
कुधान्य० व्रीहिगुरुः (ङ०) कोरदूषकादिकुधान्यवर्गे पठितः (सुसू. ४६.२१) कुरुक्षेत्रजव्रीहिभेदः (चसू. २७.१४)
वनस्पति० मुस्ता (सुक. ३.१४)
माषः (ध. ६.९९)
पाषाण० येन निशितानि लोहानि तीक्ष्णानि भवन्ति, अनुशस्त्रेष्वेकः (सुसू. ८.१५)

कुरुविन्दक–पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०)

कुरुवीरक–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९२)

कुरूटक–पु., वनस्पति० शितिवारः (अहसू. ६.९३)

कुर्कुटी–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (र. २०.२६)
बन्दाल कुकुन्दर (र. २०.२६)
(इति अम्बिकादत्तशास्त्री) (र. २०.२६)

कुर्द्द–पु., वायव्यः कीट० (असंउ. ४३)

कुलक–पु., न., पटोलः (ध. १.४९)
(चचि. २६.१५६ काखिल० १३.४५)
कारवेल्लकः (चचि. २७.२७)
पु., मूषिकः एतद्विषतो रुजा, स्रावो दंशमण्डले राजयश्च (असंउ. ४६)
–**कर्कटी**–स्त्री.. वनस्पति० चीणाकर्कटी (रा. ७.२६०)

कुलक्षयकरी–स्त्री., रेवतीग्रह० सा असाध्या जातहारिणी (का–रेवतीकल्प. ५०)

कुलजविकार–पु., पितृपितामहादिकारणोद्भूतो रोगः कुलविकाराः सर्वेऽसाध्याः (चचि ६.५७)

कुलञ्ज–पु., वनस्पति० गुणाः–कटुः तिक्तः उष्णो दीपनो मुखदोषनुत् (रापरि. ६.११)
हिं.—कुलिंजन. कोष्ठकुलींजन.
म.—**कोळिंजन.**
गु.—कुलिंजन नानूंकुलिंजन मोटे.
बं.—कुलंजन.
त.—पेरा रट्टै, पेरिआ रेटा.
फा.—खिरद्दारु.

कुलञ्जन–पु., वनस्पति० कुलञ्जः (रापरि. ६.११)
द्र० 'कुलञ्ज.'

कुलत्थ–पु., शिम्बीधान्य०, ताम्रबीजः, रसतः कषाय उष्णो विपाके कटुः कफमारुतघ्नः, शुक्राश्मरीगुल्मनिषूदनश्च तथैव सांग्राहिकः, पीनसकासहारी च (सुसू. ४६.३७) स्वेदोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३ (२२) वातामयिनां प्रदेहे उपयुज्यते (चसू. ३.१८) कुलत्थो मधुरो रक्तपित्तलो विपाकेऽम्लो विदाही लघुः शोफघ्नश्च (असंसू. ७.२८) कासहिक्काश्वासपीडितेभ्यो हितः (चसू. २७.२६) आस्थापने प्रयुज्यते (चसू. २.१२) आम्लपित्तजननानां श्रेष्ठः
(चसू. २५.४०)
म.—**हुलगा, कुळीथ.**
गु.—कुळती.
त.—कोल्लु.
बं.—कुलती, कुर्टी–कालाई.
हिं.—कुळथी.
फा.—किल्लन.
–**क्षार**–पु., क्षार० कुलत्थानां भस्म । कृमिघ्नपानादौ घटकं द्रव्यम् (सुउ. ५४.३९)
–**यूष**–पु., यूष० कुलत्थयूषगुणाः–अनिलहरः श्वासपीनसनाशनः, तूनी–प्रतूनी–कासाऽर्शो–गुल्मोदावर्तनाशनश्च (सुसू. ४६.३७२)
दाडिमाद्यम्लसहितः ससैन्धवमरिचोऽयं वातशूलघ्नः (सुउ. ४२.९३)

कुलत्थादिघृत–न., सिद्धघृत० वातिकेऽपस्मारे हितम्, कुलत्थ–यवकोल–शणबीज–पलंकषा–जटिला–दशमूलं पथ्या चोत्काथ्य बस्तमूत्रेण सह घृतं पचेत् । अत्र मूत्रमेको भागः, क्काथश्च चतुर्गुणो ग्राह्यः (सुउ. ६१.२८) कुलत्थरसयुक्तं पञ्चकोलशृतं घृतं कफजे कासे हिक्काश्वासे च पाययेत्
(चचि. १८.१२९)

कुलत्थिका–स्त्री., वनस्पति०, अरण्यकुलत्थिका (सुचि. १६.२६) गुणाः–कषाया, कटुका, शीता, चक्षुष्या, स्थावरजङ्गमविषं हन्ति, अनेकशो नेत्रस्रावान् अपहन्ति विस्फोट–कण्डू–अर्ति–व्रणदोषनिबर्हणीति प्रथिता (ध. ३.१५७; रा. १३.२२०) अरण्यकुलत्थिका–गुणाः–कटुस्तिक्ता, चक्षुष्या व्रणरोपणी, अर्शः–शूलविबन्धाध्मानशमनी च
(रापरि. ५.१९)

कुलपत्र–पु., वनस्पति० दमनः (रा. १०.१२०)

कुलप्रकृति–स्त्री., पितृपितामहादिकारणभूता तत्तद् वंशविशेषगुणयुक्ता शारीरिकी मानसिकी वा प्रकृतिः । सप्तप्रकृतयः–जाति–कुल–देश–काल–वयोबल–प्रत्यात्म–संश्रयाः (असंशा. ८.२२)

कुलवर्णा–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् (रक्तत्रिवृत्)
(रा. ६.३६९)

कुलहल–पु., वनस्पति० मुण्डी
(सुसू. ३८.१८; अहसू. १५.३०)
वनस्पति० भूकदम्बकः, अलम्बुसाख्यः
(अहसू. १५.३०)

कुलाल–पु., कुम्भकारः (र. १०.२८)

कुलाली–स्त्री., वनस्पति० कुलत्थिका (ध. ३.१५६)

कुलहल–पु., वनस्पति० मुण्डी, मुण्डितिका
(सुसू. ४६.२२१)

कुलिङ्ग–पु., प्रतुदपक्षि० वन्यो ग्राम्यचटकाकारः (सुसू. ४६.६७) वनचटकाकारः पीतमस्तकः (चचि. १८.१४८) तस्य गुणाः–मधुरः, स्निग्धः, कफशुक्रविवर्धनः (सुसू. ४६.७१) वृष्यपूपलिकादियोगे उपयुक्तः (चचि. २(२)११)

विष्किरपक्षि० (धपरि. ६.१०)
वनस्पति० उच्चटाभेदः, शुक्रजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२(१९); असंसू. १५.२४)
मूषिक० दष्टलक्षणानि–दंशः शोफो, दंशमण्डले राज्यश्च (सुक. ७.२०)

कुलिङ्गाक्षी–स्त्री., वनस्पति० पेटिका, मधुरस्कन्धे पठितमेकं द्रव्यम् (चवि. ८.१३९)

कुलिङ्गक–पु., प्रतुदपक्षि० कुलिङ्गः कालचटकः (अहसू. ६.४९; चसू. २७.३६; चसू. २७.५१)

कुलित्थ–पु., शिम्बीधान्य० कुलत्थः (ध. ६.१०५)
कुलित्थिकामूल, न., वनकुलत्थमूलम् कुलत्थिकामूलम् (असंउ.३७)

कुलिन्–पु., वनस्पति० कोविदारः (ध. १.१९६)

कुलिश–न., मणि० हीरकः (ध. ६.५५)
पु,. जलचर० समुद्रजो मत्स्यः (सुसू. ४६.११८)

कुली–स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.९३)

कुलीन–वि., सुकुले जातः (सुक. १.८)
न., क्षुद्ररोग० कुनखरोगः (सुनि. १३.२३)

कुलीर–पु., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (असंउ. २०)
जलचरप्राणि० कर्कटः (सुउ. ५२.४७)
(असंसू. ७.१०३; सुचि. २५.१८)
गृहचटकः, (सुचि. २६–२६)
कुलीरो मत्स्यः, (सुचि. २६–२६)
रसमण्डपे पूजनीया देवता० (र. ६.२५)

(कुलीरा)–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५)

–कपाल–न., कच्छपवराटकः (असंउ. ६)

–भृङ्गी–स्त्री.. वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५)

–रस–पु., कर्कटप्राणिनो मांसरसः (असंसू. ८.९४)

–शृङ्गी–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (चसू. ४.१४. (३०) असंउ. ५०)

कुलेचर–पु., न., वनस्पति० छत्रकभेदः, खुखुण्डकः, उद्भिदशाकम्, गुणाः–कफकरं, सुष्टमूत्रपुरीषं च (सुसू. ४६.२९०)

कुलेवर–पु., न., शाक० कुलेचरः (सुसू. ४६.२९०)

कुल्माष–पु., न., यवपिष्टम्, उष्णोदकसिक्तम्, ईषत्स्विन्नम्, अपूपीकृतम्, कुल्माषमाहुः (चसू. २७.२६०)
यवमुद्गकुलत्थचणकादयोऽर्धस्विन्ना इति (चशा. ६.११ सुसू. २०.१३) (अहसू. ११.३२) पारियात्रास्तु मुद्गान् मसूरान् उत्स्विन्नमृदितान्, कुल्माषानाहुः
(चचि. २०.२८) गुणाः—वातलो, रूक्षो, गुरुर्भिन्नवर्चाश्च (सुसू. ४६.४९) संग्राही, (असंसू. ७.२२४) वारुणीकुल्माषाभ्यां बलाकां नाश्नीयात्संयोगविरुद्धत्वात् (सुसू. २०.१३)

कुल्माषाभिभव–न., आसुत० काञ्जिकन् (ध. ६.२४९)

कुल्या–स्त्री., अल्पा कृत्रिमा सरित् (सुशा. ७.३)

कुल्लुका–स्त्री., चुल्लका (र. ८.५१)

कुवल–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (ध., ४.१५०)
कुमुदभेदः, जलजपुष्पम्, शाकत्वेनोपयुज्यते (सुसू. ४६.२८५)
बदरभेदो, महाकषायवर्गे हृद्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१० (१०) आसवार्थमुपयुक्तम् (चसू. २५. ४९) विरेचनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३. (२४) बृहद्बदरीफलम् असंसू. १५.१५.) द्र० ' बदर. '

कुवलय–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (ध., ४.१५०)
रक्तोत्पलम् (सुसू. १३.१४)
ईषन्नील धवलमुत्पलम्, उत्पलादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.५२)

कुवलयिनी–स्त्री., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२५०)

कुश–पु., वनस्पति० दर्भः (ध. ४.१३३)
तृणपञ्चमूलेष्वेकः (चसू. २.२६)
ह्रस्वदर्भो मृदुः सूचीपत्रो वीरतर्वादिगणे एकः (सुसू. ३८.१२) मूत्रविरेचनीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५ (३५) कुशमूलं निर्वापणप्रदेहे (चसू. ३.२७) अधोभागहरद्रव्येष्वेकम् (सुसू. ३९.४)
स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२ (१७) द्र० ' दर्भ. '

(कुशा)–स्त्री., वेणुदलम्, वंशादिकम्बिका (अहसू. २९.५९)
भग्नबन्धनम्, भग्नव्रणबन्धनद्रव्यं वा (सुचि. ३.६)
कुशानिर्माणार्थं मधुकोदुम्बराऽश्वत्थ–पलाश–ककुभ–वंश–सर्ज–वृक्षाणां च त्वच उपसंहरेत् (सुचि. ३.६)

–द्वय–न., स्थूलसूक्ष्मभेदेन दर्भद्वयम् (अहसू. १५.२४) द्र० ' दर्भ. '

–पत्र–न., शस्त्र०, कुशपत्रतुल्यम्। तन्मानं द्व्यङ्गुलं रुचकं त्र्यङ्गुलं फलम्। वृन्तं त्र्यङ्गुलं (द्व्यङ्गुलं)

मध्ये "तीक्ष्णाग्रं कुशपत्रार्धमङ्गुलं दैर्घ्यतः फलम्। वृन्तं स्यात् त्र्यङ्गुलं यस्य कुशपत्रं तदुच्यते"। (इति हाराणचंद्रः) कुशपत्रे तन्त्रान्तरं, "वृन्तं स्यात् त्र्यङ्गुलं मध्ये कुशपत्रस्य लक्षणमिति" (चक्रः,) विस्रावणोपयोगि शस्त्रम् (सुसू. ८.४)

-पुट–न., वनस्पति० कुशपत्रम् (चक्र. १.१३)

-मुस्तक–न., कन्दविष० (असंउ. ४०)

-मूढ–पु., कुशविरचितः पुटकः (सुसू. ४३.३)

-शय्या–स्त्री., दर्भशय्या (सुचि. २९.१२)

-हस्तक–न., संमार्जनी (चसू. १५.७)

कुशाग्र–न., दर्भाग्रम् (असंउ. १)

कुशादिपञ्चमूल–न., द्रव्यगण०, कुश–काश–नल–दर्भकाण्डे–क्षव इति पञ्चमूलानि (सुचि. ३८.५१)

कुशाम्र–पु., वनस्पति० क्षुद्राम्रः (असंउ. २२)

कुशालिन्–पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. १.१९४)

कुशाटा–स्त्री., शस्त्र० इदं शस्त्रं वदने स्रावे योज्यम् (अहसू. २६.१० अरुणदत्त)

कुशपत्रम्, आटामुखं चेति शस्त्रद्वयमाह कुशाटा इति (हेमाद्रिः)

कुशाम्रशिम्बी–स्त्री., फल० गुणाः–मधुरा, वातपित्तहरा, हिमा च (असंसू. ७.३३)

कुशिक–पु., ऋषि० हिरण्याक्षापरनामा (चसू. २५.१६) रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.११)

-तरु–पु., वनस्पति० जरणद्रुमः (रापरि. ९.१३)

कुशेशय–न., कुमुदम् (ध. ४.१५४) रक्तपद्मम् (रा. १०.२४३ र. ४.१०)

कुशोदक–न., कुशैः षडङ्गविधिना कृतमुदकं कुशोदकं ज्ञेयम्। प्रमेहे पेयत्वेनोपयुक्तम् (चचि. ६.४६)

कुष्कुण्ड–न., वनस्पति० पललादिच्छत्रिका (चशा. ६.११)

कुष्ठ–न., वनस्पति० कुलिञ्जनम्, सुगन्धिद्रव्यम्। कोष्ठः एलादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.२४) सिराव्यधनान्तरमप्रवृत्ते रक्ते तत् प्रवर्तनार्थमुपयुज्यमानं द्रव्यम् (सुसू. १४.३५) वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धकसुवर्णप्राशद्रव्येष्वेकम् (सुशा. १०.६८) शीतघ्नप्रदेहे उपयुक्तम् (चसू. ३.२८) आस्थापनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३ (२५) त्वग्रोगेष्ववचूर्णनार्थम् (चसू. ३.१०) वातसंशमनवर्गे द्रव्यमेकम् (सुसू. ३९.७) महाकषायवर्गे लेखनीयगणे एकम् (चसू. ४.९ (३) शुक्रशोधनगणे द्रव्यमेकम् (चसू. ४.१२ (२०) शिरोरुजायां प्रदेहार्थम् (चसू. ३.२३) गुणाः–तिक्तं कटूष्णं कफमारुतरक्त(पित्त)जित् त्रिदोषविषकण्डूंश्च कुष्ठरोगांश्च नाशयेत् (ध. ३.५०) विसर्पविषकण्डूतिखर्जूदद्रुघ्नं कान्तिकृच्च (रा. १२.९८)

हिं.—कूठ.

म.—**कोष्ठ.**

गु.—कुठ, उपलेट.

बं.—कुड.

त.—गोष्टम्.

फा.—कोश्नह्.

रोग० बहिर्मार्गजरोगेष्वेकः (चसू. ११.४९) रक्तदोषजरोगः (चसू. २८.११) दीर्घरोगाणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) (असंसू. १३.३) पापरोगः (सुनि. ५.३०) व्युत्पत्तिः–त्वगादीन् कुष्णातीति कुष्ठम् (चनि. ५.६) कालेन उपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः (असंनि. १४.६) अधिष्ठानम्–चतुर्थी ताम्रा नाम त्वक्, पञ्चमी वेदिनी नाम त्वक् (चशा.७.४) (सुशा. ४.४) रोगहेतवः–ब्रह्मस्त्रीसजनवधपरस्वहरणादिभिः कर्मभिः कुष्ठस्य संभवः (सुनि. ५.३०) गात्रसंस्पर्श–निःश्वास–सहभोजन–शय्याऽऽसनवस्त्र–माल्यानुलेपनादीनि (सुनि. ५.३४) शीतोष्णव्यत्यासमननुपूर्व्योपसेवमानस्य तथा संतर्पणाभ्यव्यवहार्यव्यत्यासं, मधुफाणितमत्स्य–लकुच–मूलककाकमाचीसततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नतः, चिलिचिमं च पयसा, हायनकयवकचीनकोद्दालककोरदूषप्रायाणि चान्नानि क्षीरदधितक्रकोलकुलत्थमाषातसीकुसुम्भस्नेहवन्ति, एतैरेवाऽतिमात्रं सुहितस्य च व्यवायव्यायामसंतापान्त्युपसेवमानस्य, भयश्रमसंतापोपहतस्य च सहसा शीतोदकमवतरतो, विदग्धं चाऽऽहारजातमनुल्लिख्य विदाहीन्यभ्यवहरतश्छर्दिं च प्रतिघ्नतः, स्नेहांश्चाऽतिचरतस्त्रयो दोषा युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते, त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते, तेषु शिथिलेषु दोषाः प्रकुपिताः स्थानमधिगम्य संतिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति (चनि. ५.६) विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वतां कुष्ठं समुपलभ्यते (चचि., ७.८) तस्मिन् दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां हविष्प्राशात् कुष्ठो-

त्पत्तिरभूत् (चनि. ८.११) स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषात् कुष्ठशोणितशुक्रयोः । यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥ (सुनि. ५.२७)

नागाभ्रं भक्षिते सति मण्डलकुष्ठं भवति (र. २. ६) संप्राप्तिः—पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्य अनिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रतिपद्य समुद्धूय बाह्यं मार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति, यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निःस(श्र)रति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्य अप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं प्रतिपद्य धातूनभिदूषयति (सुनि ५.३ चनि. ५.६) दोषाः सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषं श्लथीकृत्य दूषयन्ति ततो बहिः संचरन्तस्त्वचो वैवर्ण्यं कुर्वन्ति तत्कुष्ठमुशन्ति । कुष्ठसंप्राप्तौ त्रयो दोषा रसरक्तत्वङ्मांसादयश्चत्वारो दूष्या इति सप्तको द्रव्यसंग्रहः (असंनि. १४.४; चचि. ७.९)

संख्यासंप्राप्तिः—तत्र द्विविधानि कुष्ठानि—महाकुष्ठानि क्षुद्रकुष्ठानि च, तत्र सप्त महाकुष्ठान्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति, तत्र महाकुष्ठानि—अरुणौदुम्बर—ऋष्यजिह्व—कपाल—काकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभं (मं) पामा रकसा चेति, सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्मकाणि सक्रिमीणि च भवन्ति (सुनि. ५.५) चरकसुश्रुतयोः कुष्ठनामभेदः—चरके महाकुष्ठं मण्डलं क्षुद्रकुष्ठानि अलसं विपादिका शतारुषी विस्फोटश्चर्मदलं चेति, सुश्रुते महाकुष्ठमरुणं, क्षुद्रकुष्ठानि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठं परिसर्पो विसर्पो रकसा चेति (अहनि. १४.३०) पूर्वरूपाणि—अस्वेदनमतिस्वेदनमतिश्लक्ष्णता पारुष्यं वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वं गौरवमुष्णायनं श्वयथुर्वीसर्पागमनमभीक्ष्णं च काये कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्वदग्धदष्टभग्नक्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पव्रणानामपि दुष्टिरसंरोहणं च (चनि. ५.७; चचि. ७.१२); दोषभेदेन कुष्ठप्रकाराः—वातेन कापालं पित्तादौदुम्बरं कफान्मण्डलाख्यं विचर्ची च वातपित्तादृक्षाख्यं वातश्लेष्मणश्चैककुष्ठकिटिभसिध्मालसविपादिकाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषीपुण्डरीकविस्फोटपामचर्मदलानि सर्वदोषेभ्यः काकणम् (असंनि. १४) वातजकुष्ठलक्षणानि—रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलः संकोचनमायामः पारुष्यं खरभावो हर्षो श्यावारुणत्वं च (चचि. ७.३४) पित्तजकुष्ठलक्षणानि—दाहो रागः परिस्रवः पाको विस्रो गन्धः क्लेदोऽङ्गपतनं च (चचि. ७.३५) कफजकुष्ठलक्षणानि—श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यमुत्सेधगौरवस्निग्धा जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदश्च (चचि. ७.३६); सप्तमहाकुष्ठानां क्रमेण लक्षणानि—यत्कृष्णारुणकपालाभं रूक्षं परुषं तनु तोदबहुलं विषमं तत् कापालं कुष्ठम् । यद्दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिञ्जरमुदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं, यच्छ्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलं कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलं, यत्कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनं ऋष्यजिह्वसंस्थानं तद्दृष्यजिह्वमुच्यते । यत् श्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमं सोत्सेधं सदाहं च तत्पुण्डरीकम् । यच्छ्वेतं ताम्रं तनु तथा घृष्टे सति रजो विमुञ्चत्यलाबूपुष्पवर्णं तत्सिध्मं प्रायेण चोरसि भवति । यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनं त्रिदोषलिङ्गयुक्तं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति (चचि. ७.१४–२०) वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोदभेदस्रावपयुक्तान्यरुणानि, पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृतिवर्णान्यौदुम्बराणि, ऋष्यजिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋष्यजिह्वानि; कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि; काकणन्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्तकृष्णानि काकणकानि; तेषां चतुर्णामप्युष्णोषपरिदाहधूमायनानि क्षिप्रोत्थानप्रपाकभेदित्वानि क्रिमिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि । पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पौण्डरीकाणि श्लेष्मणाऽतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च दद्रुकुष्ठानि तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता कण्डूश्चिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि (सुनि. ५.७) महाकुष्ठेष्वेतेषु सामान्येन त्वक्संकोचस्त्वग्भेदस्त्वग्विदारणं त्वक्स्वपनं अङ्गसादैश्चैतानि लक्षणानि भवन्ति (सुनि. ५.८) क्षुद्रकुष्ठानि—यदस्वेदनं महावास्तु मत्स्यशकलोपमं तदेककुष्ठम् । चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवच्छ्यावं किणखरस्पर्शं परुषं तत्किटिभम् । यत्पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनं तद्वैपादिकम् । यत्कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैर्युक्तं तदलसकम् । यत्सकण्डूरागपिडकमुद्गतं मण्डलं तद्दद्रु । यद्रुक्षं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति तच्चर्मदलम् ।

संस्पर्शासहं च तत् । श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका यत्र सा पामा । ये स्फोटाः श्वेतारुणभासः स्युस्तनुत्वचश्च ते विस्फोटाः । यद्दक्तं श्यावं सदाहार्तिं बहुव्रणं तच्छतारुः । सकण्डूकाः श्यावाः बहुस्रावाः पिडकाः सा विचर्चिका । (चचि. ७.२१–२६) येन शरीरं कृष्णारुणं भवेत्तदेककुष्ठम् । येन कण्डूः व्यधनौषचोषास्तलेषु भवन्ति तच्चर्मदलम् । यत्सर्वतो विसर्पवत्सर्पति त्वग्रक्तमांसान्यभिभूय मूर्च्छाविदाहारतितोदपाकान् करोति स विसर्पः । याः पिडकाः स्रवन्त्यः शरीरे शनैः सर्पन्ति स परिसर्पः । यत्प्रायश ऊर्ध्वकाये कण्डून्वितं श्वेतमपायि च तत्सिध्म विद्यात्तनु च । या राज्योऽतिकण्डूतिरुजो रूक्षा गात्रेषु भवन्ति सा विचर्चिका । या कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना पादगता च सा विपादिका । यत्स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु स्निग्धकृष्णं च तत्किटिभम् । सास्रावकण्डूपरिदाहकाभिः अणुकाभिः पिडकाभिर्युक्ता सा पामा । स्फिक्पाणिपादप्रभवैः स्फोटैः सदाहैरतियुक्ता सा कच्छूर्निरुच्या । शरीरे या कण्डून्विता पिडका संस्रावहीना च सा रकसा (सुनि., ५.९–१४)

सप्तधातुगतस्य कुष्ठस्य क्रमेण लक्षणानि–कुष्ठे त्वचि समाश्रिते सति स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च भवति । कुष्ठे शोणितसंश्रिते सति त्वक्स्रावो रोमहर्षः स्वेदस्राभिप्रवर्तनं कण्डूर्विपूयकश्चैव भवति । बाहुल्यं वक्त्रशोषः कार्कश्यं पिडकोद्गमश्च भवति । कुष्ठे मांससमाश्रिते सति तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च । कुष्ठे मेदःसमाश्रिते सति दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयः क्रिमयः गात्रभेदनं च भवति । कुष्ठे ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते सति नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते क्रिमिसंभवः स्वरोपघातश्च भवति (सुनि., ५.२१–२५)

उपद्रवाः–दोषभेदेन कुष्ठोपद्रवाः–वातजाः श्यावारुणवर्णत्वं, परुषता, रौक्ष्य–शूल–शोष–तोद–वेपथु–हर्ष–संकोचाऽऽयास–स्तम्भ–सुप्ति–भेद–भङ्गाः । पित्तजाः–दाह–स्वेद–क्लेद–कोथ–स्राव–पाक–रागाः । श्लेष्मजाः–श्वैत्य–शैत्य–कण्डू–स्थैर्य–गौरवोत्सेधोपस्नेहोपलेपाः । **सर्वसाधारणाः**–अङ्गभेदः, प्रस्रवणमङ्गावयवानां पतनानि, तृष्णा–ज्वराऽतीसार–दाह–दौर्बल्याऽरोचकाऽविपाकाः । क्रिमयस्तु–त्वगादींश्चतुरः सिराः–स्नायु–तरुणास्थीन्यप्यादद्ते (चनि. ५.१०–११) **कुष्ठे रिष्टलक्षणानि**–कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्यते । क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम् ॥ (चइ. ५.१४); कुष्ठं विशीर्यमाणाङ्गं रक्तनेत्रं हतस्वरम् । मन्दाग्निं जन्तुभिर्जुष्टं हन्ति तृष्णाऽतिसारिणम् ॥ (असंशा. ११); नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् । पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥ (चइ. ५.१५) **कुष्ठे साध्यासाध्यता**–प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् । पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् (सुसू. ३३.९) महाकुष्ठानां महत्वं क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वं चेति (सुनि. ५.७) कपालकुष्ठोदुम्बरकुष्ठमण्डलकुष्ठर्ष्यजिह्वकुष्ठपुण्डरीककुष्ठसिध्मकुष्ठानि साध्यानि । काकणकुष्ठमसाध्यम् (चनि. ५.८) जन्मान्तरेऽपि कुष्ठस्यानुबन्धो भवति (सुनि ५.३१) **कुष्ठचिकित्सा**–आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम् । औषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात् ॥ यस्तेन मुच्यते जन्तुः स पुण्यां गतिमाप्नुयात् (सुनि. ५.३२) हरिद्रागोमूत्रयोगो मञ्जिष्ठादियोगो लाक्षादियोगोऽरिष्टसप्तपर्णयोगः, पिप्पलीमूत्रयोगश्चित्रकगोमूत्रयोगस्त्रिफलाघृतयोगो, निम्बक्वाथः, खदिरयोगः, स्नानार्थं रोध्रादियोगस्त्रिवृत्योगश्चाऽर्कादियोगो, लाक्षादितैलं, कारभमूत्रयोग आरग्वधादिसिद्धघृतयोगो, गोमूत्रयवतिक्तसिद्धघृतयोगो, रसाञ्जनगोमूत्रयोगो, लेपार्थं विविधा योगाः (सुचि. ९) सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषूपयुज्यन्ते (सुचि. ३१.५) **कुष्ठे शोधनमावश्यकम्**–मासान्मासात्कुष्ठिनं विरेचयेत् । त्रिरात्रात् त्रिरात्रात् नस्यं दद्यात् । पक्षात्पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयात् । रक्तमोक्षणं च वर्षस्य द्विः कृत्वाऽल्पाल्पमेव स्रावयेत् (सुचि. ९) **पथ्यापथ्यम्**–असेव्याः पदार्थाः–मांसं, वसा, दुग्धं, दधि, तैलं, कुलत्था, माषा, निष्पावा, इक्षु, पिष्टविकाराः, अम्लं, विरुद्धाहारोऽध्यशनमजीर्णं, विदाह्यभिष्यन्दि, दिवासुसिर्व्यवायः सुरासेवनं च । **विहितानि पथ्यानि**–त्वग्दोषी शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवश्यामाकोद्दालकादीन् पुराणान् भुञ्जीत । मांससात्म्याय रुग्णाय मेदोरहितं जाङ्गलं मांसं देयम् । अभ्यङ्गार्थे वज्रकतैलमुपयोज्यम् । उत्सादनार्थे आरग्वधादिकषाय उपयोक्तव्यः । **पानम्**–परिषेकाऽवगाहेषु खदिरकषाय उपयोज्यः । अपि च

नीचरोमनखत्वं, श्रान्तत्वमौषधतत्परत्वम् आस्थेयम् (सुचि. ९) **संदर्भाः**—(चसू. १.११–२५.२८ चशा. ७) (चनि. ५.८ चचि. ७) (चइ. ५) (सुनि. ५) (सुशा. ४) (सुसू. ३३) (सुचि. ९) (सुसू. २४) (सुचि. ३१) (असंसू. १३.१६–३६) (असंनि. १४) (असंशा. ११.१२) (अहनि. १४ का.) कुष्ठचिकित्सा (र. २.६ २.५३ १२.८ २२.१५८) श्वित्रमथवा किलासकुष्ठम्–कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत्। निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधात्वन्वयसंश्रयम् ॥ वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्। सदाहं रोमविध्वंसि कफात् श्वेतं घनं गुरु ॥ सकण्डूरं क्रमाद्रक्त–मांसमेदस्सु चादिशेत्। वर्णेनैवेद्दगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ तथा च भोजः–" श्वित्रं तद् द्विविधं विद्यात् दोषजं व्रणजं तथा। तथा मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं द्विविधं प्रोक्तमात्मजं परजं तथा। परसंस्कारसंस्पर्शात् यत्तत्परजमुच्यते ॥ तदात्मजं विजानीयात् यद्देहेष्वनिलादिजम् " (मा)

–कुठार–पु., पारदयोग० पारदः कर्षमात्रो, द्वौ कर्षौ गन्धक एतयोः कञ्जलीतिलपर्णीभृङ्गराजमुण्डीनां स्वरसैः संमर्द्य पिपल्ल्यामलकीवचामरिचविडङ्गान् कर्षमात्रान् वत्सनाभं शाणमात्रं श्वेतजीरकं कर्षार्धं मृतताम्रं पलार्धं तन्मानां च शुण्ठीं निक्षिप्य भृङ्गराजरसे स्निग्धे घटे पचेत्। चणकमात्राश्च गुटिकाः कुर्यात्। अनुपानं कुष्ठशुण्ठीचित्रकत्रिफलासैंधवान्तं चूर्णम्। फलं सर्वकुष्ठनाशः (र. २०.६४–६७)

द्वितीयः पाठः–पारदभस्मगन्धकलोहताम्रगुग्गुलुत्रिफलाविषमुष्टिचित्रकशिलाजतूनां प्रत्येकं षोडशनिष्कं करञ्जबीजचूर्णं चतुःषष्टिनिष्कं, चतुःषष्टिनिष्कं च ताम्रभस्म, इत्येतत्सर्वं मधुघृताभ्यां विलोड्य स्निग्धभाण्डे स्थापयेत्। द्विनिष्कं खादेत्; पथ्यं मधुघृतगुडास्तदभावे गुडोदनो दाहे सति पातालगारुडीमधुपुष्पीधान्यकानां सितायुक्तः कर्षमितः क्वाथो, वान्तिदाहे च नागबलामूलं; फलं गलत्कुष्ठविनाशनम् (र. २०.१५०–१५५)

–केतु–पु., वनस्पति० भूम्याहुल्यम् (रापरि. ४.३६)

–घ्न–वि., द्रव्यगण० कुष्ठहरो महाकषायवर्गे एको गणः, द्रव्याणि कुष्ठघ्नानि (असंसू. १५.१८) खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातीप्रवाला इति दश (चसू. ४.११ (१३); असंसू. १५.१८)

पु., न., वनस्पति० खदिरः (चचि. २३.५४) हिमावली (रापरि. ६.१८) पटोलः (रा. ३.७४)

(–घ्नी)–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा०(चचि. ७; सुचि. ९)

–ज–पु., कृमि० शोणितोद्भवः, कुष्ठाज्जातोऽदृश्योऽयं कृमिर्दुश्चिकित्स्यो नत्वसाध्यः (सुउ. ५४.१५)

–तैल–तैल० कुष्ठचूर्णयुक्तं तैलं कफविसर्पेऽभ्यङ्गार्थे उपयुक्तम् (काखि. १४) नवजातबालस्य नाभ्युपचारे उपयुक्तम् (असंउ. १)

–तोदन–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३६)

–दोष–पु., कुष्ठरोगः (सुनि. ५.२८)

–दोषापहा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२८)

–नाशन–पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८) वाराहीकन्दः (७.१३५) पारदयोग० पारदगन्धकमाक्षिकताम्रशिलाजत्वम्लवेतसानष्टमांशगुडेन संमर्द्य गुटिकाः कुर्यात्। अनुपानं घृतं मधु च । फलं–शतारुकुष्ठनाशनम् (र. २०.३०) पारदभस्म द्विनिष्कं, गन्धकं चतुष्पलं, सार्धचतुष्पलं चित्रकं, बाकुचीबीजचूर्णं चतुर्विंशतिपलं, मरिचं द्वादशपलं सर्वमेकत्र संयोजयेत्। अनुपानं मधु । फलं सर्वकुष्ठविनाशनम् (र. २०.१०८)

–नाशिनी–स्त्री., काकमाची (रा. ४.३६) बाकुची (ध. १.१६६)

–पिशाच–पु., योग० महानिम्बस्य सारेण गन्धकपिष्टिं संमर्द्य गुडूची बाकुची प्रियङ्गुत्रिफलासंयुतां तां चाऽऽयसे पात्रे न्यसेत्। मात्रा तोलकम्। उपयोगो भक्षणं लेपश्च । कालमर्यादा मासषट्कम्। फलं कुष्ठनाशः कान्तिवृद्धिश्च (र. २०.६१)

–विध्वंसन–पु., लेप० पारदटङ्कणगन्धार्कपिप्पलीकुष्ठचन्दनानि मातुलुङ्गरसेन संमर्द्य विलेपयेत्। लेपोयं कुष्ठनाशनः (र. २०.४९)

–व्रण–पु., कुष्ठरोगजन्यो व्रणः (सुचि. २.९४)

–सूदन–पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३४)

–हन्–पु., वनस्पति० पटोलः (ध. १.५०)

–हन्तृ–पुं., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३६)

कुष्ठान्तपर्पटी–स्त्री., पारदयोग० समानाः पारदगन्धकताम्रवत्सनाभाः, सर्वेषां तुल्यः पुनर्गन्धक इत्येतान्संगृह्य किंचिद् विघट्टयेत्। घृताभ्यक्ते लोहपात्रे

यावद्द्रवं पचेद् । रम्भापत्रेऽथवा पटे पर्पटीं पातयेत् । मात्रा एकमाषः । अनुपानं निष्कैकं बाकुचीचूर्णम् । फलं गजचर्मनाशः (र. २०. १७४)

कुष्ठारि–पु., वनस्पति० पटोलः (रा. ३.७४)
खदिरः (रा. ८.३२)
खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६७)
स्त्री., वनस्पति० भ्रमरारिः (रापरि. १०.४१)

कुष्ठित–वि., संजातकुष्ठम् (सुनि. ५–२८)

कुष्माण्ड–पु.. वल्लीफलशाक० कूष्माण्डम् (अहसू. ६.८७)
–तैल–न., मधुरतैलवर्गे एकं तैलम् (सुसू. ४५.१२०) द्र० 'मधुरतैल'

कुसुम–न., देवकुसुमम्, वनस्पति० लवङ्गम् कर्णिकापातने लेपनार्थमुपयुज्यते (सुक. ८.१३६)
–धन्वन्–पु., वनस्पति० मदनः (असंचि. ९)

कुसुमाञ्जन–न., भैषज्य० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)

कुसुमाण्डक–पु., धान्य० शालिभेदः (अहसू. ६.२) द्र० 'शालि.''

कुसुमायुधरस–पु., पारदयोग०, वृष्ययोगः, पलद्वयं पारदं, चतुष्पलं गन्धकं, पादन्यूनपलं स्वर्णभस्म, स्वर्णविमलामाक्षिकेषु प्रत्येकं पलद्वयम्, लोहकान्तलोहमण्डूरकृष्णाभ्रकभस्मनां प्रत्येकं कर्षं, सर्वमेकत्र मूषायामाच्छादनरहितायां संभृत्य वालुकायन्त्रे पाचयेत् । पचनसमये ब्राह्मी–वासा–गजपिप्पली–शुण्ठी–त्रिकटुमेषशृङ्गीनिर्गुण्डिकामुशलीहस्तिशुण्डी–चित्रकाणां द्रवान् दद्यात् । पाकान्ते पुनरेतैर्द्रावैः संमर्द्य लघुपुटं दद्यात् । मात्रा वल्लत्रयम् । कालमर्यादा मासत्रयं, पथ्यं मधुराहारो, फलं सुरतभोगसामर्थ्यम् (र. २७.३७–४२)

कुसुमासव–न., मधु (ध. ६.२३३)

कुसुमास्त्र–पु., देवता० कामः, शृङ्गाररसस्याऽधिदैवतम् (र. २७.३३)

कुसुम्भ–पु., न., तैलधान्य० (चसू. १३.१०)
रसे पाके च कटुकं, कफघ्नं, विदाहिभावादहितम् (सुसू. ४६.४८)
रूक्षं वातलं रक्तपित्तकफापहम् । (ध. ६.११९)
अस्य पत्राणि शाकत्वेनोपयुज्यंते । फञ्जीचिल्ल्यादिगणे । (चसू. २७.१०१) अर्शोरोगनिवृत्तये उपयुक्तं कुसुम्भशाकम् (र. १५.८६)
हिं.—कर्डई, कुसुम.
म.—कर्डई.
गु.—कुसुंबो.
बं.—कुसुमफूल.
त.—चेन्तुरुक्कु, चेन्तूरकं.
फा.—गुलेमास्कर. खसकदाना.
–तैल–न., कुसुम्भस्य तैलम् । गुणाः–उष्णं, विपाके कटुकं, गुरु, विदाहि, सर्वदोषप्रकोपणं च (चसू. २७.२९३) (ध. ६.१३४) रक्तपित्तकरं, तीक्ष्णमचक्षुष्यं च (सुसू. ४५.११९) कुसुम्भतैलमध्ये संस्थापिता द्रुतयश्चिरकालं तिष्ठन्ति (र. ४.७८) कृमिहारि, तेजोबलापहं यक्ष्ममलापहं पुष्टिबलक्षयकरं सद् च, दृष्टेः कण्डूमपि करोति (रा. १५. १९९) प्रमेहनाशनम् (सुचि. ३१.५)
–बीज–न., कुसुम्भजं बीजम् (अहसू. ६.२४)
–स्नेह–पु., कुसुम्भबीजोद्भवस्नेहः, कुसुम्भतैलम्, स्थावरस्नेहानामहिततमः (चसू. २५.३९) कुसुंभतैलम्

कुसुम्भक–पु., वनस्पति० कुसुम्भम् (र. ११.५२)
न., शालिपर्णी (ध. १.८९)

(कुसुम्भका)–स्त्री., वनस्पति०, दारुहरिद्रा (ध. १.५९)

कुस्तुम्बरी–स्त्री., वनस्पति० धान्यकम्, 'कोथिंबीर' इति लोके ख्यातं, व्यञ्जनोपयोगि शाकम्, पुष्पफलोपेतो हरितधान्यविटपम्, आर्द्राकुस्तुम्बरीत्युच्यते । आर्द्राकुस्तुम्बरीगुणाः–भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता, स्वादुसौगन्ध्यहृद्यतां कुर्यात् । शुष्काकुस्तुम्बरीगुणाः–किंचित्कटुका तिक्ता मधुरा पाके, स्निग्धा, तृड्दाहनाशनी, दोषघ्नी, स्रोतोविशोधनी च । संस्कारार्थमनेकधा कृतान्नेषूपयुज्यते (सुसू. ४६.२३०) च्छर्दिशमनार्थमुपयुज्यते (सुउ. ४९.३० असंसू. १५.२९)

कुस्तुम्बरु–न., वनस्पति० धान्यकम्, कुस्तुम्बरी (चक. १.२३; सुसू. ४६.२२१ सुचि. २०.३८; सुउ. ३९.१७२; सुसू. ३८.५०; र. २८.५०; ध. २.६३)

कुस्तुम्बुरु–न., वनस्पति० कुस्तुम्बुरी (सुसू. ३८.५०)

कुह–न., वनस्पति० बदरम् (ध. ५.९६)

कुहक–पु., शास्त्रहीनः परमविश्वासकारको, मायावी, अन्ये तु विस्मापकः दम्भाद्ययोगादविस्मापककायादिवेशः (सुसूड. १०.३)

प्राणि० मण्डूकः, तेन दष्टस्य पुरुषस्य दंशे कण्डूर्भवति, मुखात् पीतफेनागमश्च
(सुक. ८.३१) द्र० ' मण्डूकः '

कुहर–न., विवरम् (र. १७.५२)

कूचिकर्णक–पु., कर्णरोग० (असंउ. २१ ; र. २४.१)
गर्भावस्थायामेव वातात् संकुचिता कर्णशष्कुली
(इंदु असंउ. २१)

कूचिका–स्त्री., शस्त्र० (र. ७.२२)

कूचीका–प्राणि० बिलेशयः (असंसू. ७.७६)

कूज–पु., अव्यक्तवचनं कूजनम् (सुउ. ५५.१३)

कूजन–न., लक्षण० कण्ठेनाऽव्यक्तशब्दोच्चारणम्
(सुउ. ३९.३७) अत्रकूजनम् (चइ. १०.२०)

कूट–पु., उन्नतभागः (चचि. ९.२०)

–पाकल–पु., रोग० सन्निपातज्वरः, स समैर्दोषैः प्रकुपितः सन्निपातः (का. क.–विशेषकल्प०)
गजस्य पैत्तिको ज्वरः (वैशसिं.) अचिरेण वैकृत-विवर्तदारुणः कलभं कठोर इव कूटपालकः
(मालतीमाधवे. १.३९)

–शाल्मलि–स्त्री., रोहितकः (ध. ५.१३०)

–स्थ–पु., न., व्याघ्रनखः (ध. ३.६०)

कूटन–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४३)

कूटरणा–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत्, श्यामा
(चक. ७.४)

कूटागार–न., वर्तुलाकारं गृहं जेन्ताकस्वेदार्थम् । (चसू. १४.४६) अन्ये तु वस्त्रादिकृतं संचारिगृहं कूटागारमाहुः (चशा. ३.१४)

कूणीत–वि., निमीलितम् (सुउ. ६.२६)

कूनटी–स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. १३.७२)

कूप–पु., मृत्तिकेष्टकादिभिर्बद्धोऽसोपानो जलाशयः
(सुसू. ४५.४ ; चसू. २७.२१४)
खातम् (असंसू. २६.१३)

(कूपा)–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (रा. ७.२०४)

–स्वेद–पु., स्वेद० स्वेदनार्थं शयनविस्तारं कूपं कृत्वा तस्योपरि निहितायां खट्वायां स्थितः कूपस्थेनाऽग्निना स्विद्यते (चसू. १४.३९; असंसू. २६.१३)

कूपिका–स्त्री., काचकूपी (र. २.१०८)

कूर–पु., कृतान्न० भक्तम्, अन्नम्
(इंदुः असंउ. ४९ पृ. ४०८)

कूर्च–पु., कुञ्चिका (सुशा. ५.४९ चचि. ७.५०)
पु., न., शस्त्र० (चचि. ७.५०)
' सूची कूर्चः ' इत्यपरं नाम (अहसू. २६.२२)
शारीर० कूर्चसदृशाः कूर्चाकृतयो वा स्नाय्वादि-विशेषाः । ते च षट्-हस्त-पादग्रीवामेढ्रेषु, हस्तयोर्द्वौ पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः (सुशा. ५.१३) मर्म० सङ्ख्या–प्रतिशाखमेकैकमिति चत्वारि, स्थानं क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चौ नाम । तत्र विद्धे सति पादस्य भ्रमणवेपने भवतः । स्नायुमर्मेदं चतुरङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च
(सुशाड. ६.२४ असंशा. ७.४)

(कूर्चा)–स्त्री., शारीर० कूर्चः, संख्यातः षट्
(सुशा. ५.६)
द्विचत्वारिंशत् (काशा.) द्र० ' कूर्च '.

–शिरस्–न., मर्म० सङ्ख्या–प्रतिशाखमेकैकमिति चत्वारि । स्थानम्–गुल्फसन्धेरधः, अधः शाखायां, तथैव मणिबन्धसंधेरध ऊर्ध्वशाखायामुभयतः कूर्चशिरो नाम । तत्र विद्धे सति रुजाशोफौ स्नायुमर्मेदमेकाङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च
(सुशा. ६.२४ असंशा. ७.४)

–शीर्षक–पु., वनस्पति० जीवकः (ध.१.१२३)

–शेखर–पु., वनस्पति० (ध. ५.७४)

कूर्चक–पु., न., कुञ्चिका (सुचि. ६.८)
दन्तकाष्ठस्याऽग्रिमो भागः (सुक. १.४८)

कूर्चन–न., जर्जरीकरणसाधनम्, शिलापुत्रकमुसलादि
(चचि. १.४७)

कूर्चास्थि–न., शारीर० कूर्चसंश्रितानां पञ्चानामस्थ्नां नाम । अधःशाखायां पञ्चदशाऽङ्गुल्यस्थीनि, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, (तले चत्वारि कूर्चास्थीनि पंच, गुल्फास्थि एकं,) पार्ष्ण्यस्थ्येकं, जङ्घायां द्वे, जानुनि एकम्, एकं च ऊरुनलक-मिति त्रिंशदस्थीनि भवन्ति (सुशा. ५.१९)

कूर्चिक–पु., आहारद्रव्य० क्षीरेण समं दधि तक्रं वा पक्वम् । गुरु च एतत् (चसू. ५.११)

(कूर्चिका)–स्त्री., विग्रथितं क्षीरं घनत्वमापन्नम् (सुसू. ४६.४०३) विग्रथितं तक्रम् । पित्तप्रकोपकारणम् (सुसू. १.२१) अतिसेवनं विसर्पहेतुः (चचि. २१.१८) बल्या शुक्रनिद्राकफकरा विष्टंभिगुरु-दोषला च (अहसू. ५.४१)
भूमिशयप्राणि० संकुचः (चसू. २७.३८)

–मस्तु–न.,–आहारद्रव्य० दध्ना सह पयसि पक्वं यन्मस्तु तत् कूर्चिकमस्तु । केवलस्य दध्नः यन्मस्तु तत्प्राकृतमस्तु (चचि. १२.२९)

कूर्पर–पु.,–शारीर० प्रत्यङ्गमेकम् (सुशा. ५.४)
भुजमध्यं कुहणिकः (सुसू. ३५.१२)
" कफोणिः कुहुणी " इति लोके (सुशा. ६.२४)
कूर्परसन्धिः कोरप्रकारकः (सुशा. ५.२७)
कूर्परसन्धिस्थाने एकोऽस्थिसंघातस्तथैवैकः सीमन्तः (सुशा. ५.१६–१७)
–मर्मन्–न., शारीर० प्रकोष्ठबाह्वोः संधाने कूर्परं नाम मर्म । तत्र विद्धे सति कुणिः सङ्कुचितबाहुमध्यो भवति । (ड०) वैकल्यकरं त्र्यङ्गुलप्रमाणं संधिमर्मेदम् (सुशा. ६.२४) (असंशा. ७)

कूर्म–पु., वारिशयप्राणि०, कच्छपः, स तु पादिषु श्रेष्ठो, नानाविधो वर्तुलदीर्घमहदादिभेदेन (सुसू. ४६. ३३३; १०९) अस्याण्डानि वाजीकरणार्थमुपयुक्तानि (२६.२६)
हिं.—कछुवा.
बं.—काछिम.
म.—**कासव.**
तालुगतरोग० मांसकच्छपः आलेख्योऽवस्थाभेदेन च कूर्मः छेद्योऽपि (डसुचि. २२.५७)
–कपाल–पु., कूर्मपृष्ठम् (इंदु. असंउ. २८.)
–पित्त–न., कूर्मस्य पित्तम् । अञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.१४)
–मषी–स्त्री., कच्छपस्य मषी । अन्तर्धूमदग्धस्य कच्छपस्येङ्गुदतैलप्लुता मषी, गण्डमालादिष्वभ्यङ्गार्थं प्रयुज्यते (असंउ. ३५)
–मांस–न., कच्छपमांसम् । तन्मेधास्मृतिकरं शोषघ्नं पथ्यं च (चसू. २७.८४)
–रोग–पु., कच्छपाकारः शोथः, कमठरोगः यकृत्प्लीहवृद्धिः (र. १८.२०९)
–शीर्षक–पु., वनस्पति० जीवकः (रा. ५.१५४)

कूर्माकार–वि., कूर्मस्य इव आकारो यस्य, बहिर्गोलाकारमित्यर्थः (चशा. ८.५१)

कूर्माकृति–वि., कूर्माकारम् (असंशा. ८.३२)

कूलचर–वि., कूलं नद्यादितटं तत्र चरन्ति भक्षयन्ति भ्रमन्ति च ये ते पशवः कूलचराः । गज–गवय–महिष–रुरु–चमर–सृमर–रोहित–वराह–खड्गि–गोकर्ण–काल–पुच्छकौन्द्र–न्यङ्कुरण्यगवयप्रभृतयः । तेषां सामान्यगुणाः–रसपाकयोर्मधुराः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला कफवर्धना वातपित्तहराश्च (सुसू. ४६.९४)

कूलच्छाया–स्त्री., कूलं तीरं तच्छाया (अहसू. २.४१)

कूलित–वि., पक्वम् (सुउ. ४०.८७)

कूलेचर–पु., आनूपप्राणि० कूले चरतीति (ध. परि. १)
लुलायगण्डवाराहचमरीवारणादयः कूलचराः (रा. १९.४२१ पान २७०) (रा. १७.१७)
गुणाः–मधुराः शीताः स्निग्धाः मरुत्पित्तहरा, वृष्या बलावहाः, शुक्राढ्याः, श्लेष्मवर्धनाः (रा. १७.१८)

कूश्माण्ड–पु., भूताधिपति० (असंउ. ७)
द्र० ' भूताधिपति '.

कूष्माण्ड–पु., न., वनस्पति० फलशाकं, वल्लीफलं, गुणाः–वातपित्तजित्, बस्तिशुद्धिकरम्, वृष्यं, हृद्यं, चेतोविकारजित् (ध. १.१८४) स्वादु मूत्राघातहरं प्रमेहशमनं कृच्छ्राश्मरीच्छेदनं विण्मूत्रग्लपनं तृषार्तिशमनं जीर्णाङ्गपुष्टिप्रदं वृष्यम् अरोचकहरं बल्यं पित्तापहं च (रा. ७.२७०) शाक० पक्वं तु एतत् मधुराम्लं लघु सृष्टमूत्रपुरीषं सर्वदोषनिबर्हणं च (चसू. २७.११३)
हिं.—पेठा, कोहडा, कोहला.
म.—**कोहळा.**
गु.—दार कोहोळुं, भुरु कोळुं.
बं.—कुमडागाछ.
त.—कलियाणपूचुणि.

(कूष्माण्डी)–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (ध. १.१८३)
–खण्ड–न., योग० कूष्माण्डरसस्य पलशतं, समभागं गोक्षीरमामलकीचूर्णं च अष्टपलं लघु पचेत्, यावत् तत् पिण्डितं भवेत् । अष्टपलां च सितां निक्षिपेत् । मात्रा पलार्धम् । फलमम्लपित्तं क्षपयति (र. १८.२२४)
–तैल–न., तैल० गुणाः–शीतलं गुरु वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं च (असंसू. ६.१०९ ध. ६.१४२)

कूष्माण्डक–पु., शाक० सर्पच्छत्रम्, फञ्जीचिल्ल्यादिगणे पठितः (चसू. २७.१०२)

(कूष्माण्डिका)–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (ध. १.१८३)
–रसायन–न., योग० तद्गुणाः–कासहिध्माश्वासज्वररक्तपित्तक्षतक्षयघ्नमुरःसंधानकरं मेधास्मृतिबलप्रदं च (असंचि. ५)

कृकण्टक–पु., प्राणि० सविषोयं (चचि. २३.२०८)

कृकर–वनस्पति० चव्यम् (रा. ६.११६)
करीरः (रा. ८.१६६)

(कृकरा)–स्त्री., पिप्पली (रा. ६.१०९)

कृकलास–पु., सविषकीट० सरटः (चनि. ६.१३)
तस्य दर्शनं रुतं चाप्रशस्तम् (सुसू. २९.३७) स

'चतुष्पादो दीर्घपत्र उल्ललाटो बहुप्रजः । वृक्षावलयो दन्तविषः कृकलास इति स्मृतः ॥' (डसुक. ८.२४-२५) मषी चास्याऽन्तर्धूमदग्धस्य गण्डमालादिष्वभ्यङ्गार्थं उपयुज्यते (असंउ. ३५)

-दंशलक्षणम्-'इयावत्वमथ काष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा । मोहः पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥' (चचि. २३.१४९)

कृकवाकु-पु., पक्षि० कुक्कुटः; सविषान्ने दृष्टे एव कृकवाकुर्विरौति (असंसू. ८.२३) ग्रहप्रतिषेधार्थेऽस्य धूमो देयः (असंउ. ६)

कृकाटिका-स्त्री., मर्म० कृकाटिकामर्म (सुशा. ६.६)

-मर्मन्-ऊर्ध्वजत्रुगतं मर्म (ग्रीवामर्म) (सुशा. ६.६) संधिमर्म, 'तत्र जानु...कृकाटिकाश्चेति संधिमर्माणि (सुशा. ६.७) शिरोग्रीवयोः सन्धाने (सुशा. ६.२७) वैकल्यकरमर्म 'विधुरे सकृकाटिके' (सुशा. ६.१२-१३) मर्मसंख्या द्वे कृकाटिके (सुशा. ६.६) एतदर्धाङ्गुलमितम् (सुशा. ६.२७) तत्र विद्धस्य चलमूर्धता (असंशा. ७.२३)

कृच्छ्र-वि., कृच्छ्रसाध्यम् कष्टसाध्यम् (अहसू. ११.१२) रोग० मूत्रकृच्छ्रम् (चसि. ९.३२)

-देशज-वि., मर्मसंध्यादिजम् (चसू. १०.१५)

-द्वितीय-पु., आपदि सहायः (चसू. ८.२५)

-पुरीषत्व-न., लक्षण० कष्टेन मलप्रवृत्तिः (चचि. २८.२९)

-प्रसवा-वि., कष्टेन प्रसूयमाना (काकरेवती ८०)

-बोध-लक्षण० कृच्छ्रोन्मीलनम् (अहसू. २०४)

-मूत्र-वि., लक्षण० मूत्रकृच्छ्रेण युक्तः (चसू. १३.३२)

-मूत्रता-स्त्री., रोगलक्षण० कष्टेन मूत्रप्रवृत्तिः (चचि. ४.२६,२७)

-साध्य-वि., महता यत्नेन चिरात्साध्यः (चनि. ८.३३)

कृच्छ्रारि-पु., वनस्पति० बिल्वान्तरः (रापरि. ८.३०)

कृच्छ्रावबोध-पु., लक्षण० कृच्छ्रेण जागृतिः (असंसू २९.६) द्र० 'कृच्छ्र बोध.'

कृच्छ्रावसाद-पु., कष्टयुक्ताऽङ्गग्लानिः, अङ्गसदनं वा (सुनि. ३.५)

कृच्छ्रोत्थानप्रशम-पु., लक्षण० चिरोत्थानप्रशमः (चसू. १८.७ (३)

कृच्छ्रोन्मीलन-न., वर्त्मरोग० तत्र वायुर्वर्त्माश्रयाः सिराः प्राप्य सुप्तोत्थितस्य सवेदनं पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनं वर्त्मस्तम्भमश्रु च कुरुते। तत्र विमर्दनाच्च शमः स्यात् (असंउ. ११ त. प्र. पृ. २२०)

कृत-न., संस्कृतम्, यथा तप्तलोष्टैः कृतं जलम् (सुउ. ४८.१८)

सस्नेहलवणं कटुकयुक्तम् (चसू. २७.२६२)

चिकित्सितम् (चसि. १.३)

-कृत्यता-कृतकार्यता, कर्मकर्तृत्वम् (चनि. ७.२०)

-क्षण-वि., अनन्यव्यापारत्वेनाऽध्ययनाय कृतकालपरिग्रहः कृतावसर इत्यर्थः (चक्र० चवि. ८.७)

-घ्न-वि., यः कृतमुपकारं न स्मरति सः, स नोपक्रम्यः न चिकित्सनीयः (चसि. २.४)

-चङ्क्रमण-पु., विहितगमनमात्रः (अहसू. १९.२३)

-च्छिद्रा-स्त्री., कोशातकी (ध. १.१९२)

-जाप्य-वि., कृतजपः, संपादितं जाप्यं नाम जपो येन सः (चचि. १४.३)

-तस्कर-पु., मिथ्याचौरः कृत्रिमचौरः (सुउ. ड. ३९.२५९)

-त्राणा-स्त्री., त्रायमाणा (ध. १.२५४)

-नस्तकर्मन्-वि., कृतं नस्तकर्म येन सः (चसि. २.१४)

-फल-न., वनस्पति०, कङ्कोलकम् (ध. ३.३७)

-मदा-स्त्री., वनस्पति० धातकी, भंगा; (र. ११.९४)

-माल-पु., वनस्पति० आरग्वधः (चक. ८.३) मृग० (असंसू. ७.६९)

-मालक-पु., कर्णिकारः (ध. १.२२१)

-(माला)-स्त्री., ग्रहमातृ०

सेना सुसेना माता च महासेना यशस्विनी ।
कृतमाला कृतशिरा एतास्तु ग्रहमातरः ॥" (असंउ. ४)

-युग-न., कालविभाग० पौराणिकी इयं कालगणना (चवि. ३.२४) (चशा. ५)

-यूष-पु., शुण्ठीलवणादिसंस्कृतो यूषः (चसू. २७.२६२) (अहसू. १८.२९)

-वापन-वि., कृतक्षौरः (चचि. १.२१)

-वीर्य-पु., आचार्यः, गर्भस्याङ्गसम्भवविषये 'पूर्वं हृदयं भवति इति मतस्य प्रतिपादकः (सुशा. ३.३२)

-वेधन-पु., वनस्पति० कोशातकी (चक. ३.१७)

-(वेधना)-स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (२.२८६)

-(वेधनी)-स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९२)
-वेधनतैल-न., कोशातकीतैलम् (सुसू. ४५.११५)
-संसर्जन-वि., कृतपेयादिक्रमः (चचि. ३०.२५६)
कृतक-वि., कृत्रिमम् (र.२५.१०४)
पु., सुगन्धिद्रव्य०, तुरुष्क (ध. ३.२३)
न.,-लवण०, बिडम् (ध. २.२८)
खनिज०, रसाञ्जनम् (रा. १३.२२१)
कृतानुयात्र-वि., कृतानुगमः (सुउ. २५.१६)
कृतान्न-न., संस्कृतमन्नम् (सुसू. ४६.३४०)
कृतोपचार-वि., पुष्पैः कृतरचनाविशेषं यथा-धारागृहम् (सुउ. ४७.६१)
कृत्त-वि., लक्षण० छिन्नम् (चचि. १.३ (३)
-नख-छिन्ननखः (सुचि. २.५७)
कृत्तिका-स्त्री., षट्संख्योपेताः सप्तर्षिभार्याः (सुउ. २८.२०)
कृत्य-वि., साध्यः (सुसू. २३.१)
-(कृत्या)-स्त्री., अभिचारः (चचि. ९.७२) अभिचारदेवता (असंउ. १०. (इन्दु पृ. ८२) कुपितमात्रिकाभिचारजनिता राक्षसी (सुसू. ५.२०)
-ता-स्त्री., विद्वेषः (सुक. १.४-६) तथा च कृत्यशब्दार्थोऽमरकोषे,-कृत्यं क्रिया देवतयोस्त्रिषु विद्विष्टकार्ययोः इति (ङ०)
कृत्याकृत्यविधि-अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २३.१)
कृत्रिम-पु., सुगन्धिद्रव्य० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
जवादि (रापरि १२.६)
निर्यास०; चीनकर्पूरः (रा. १२.६३)
लवण०; नीलकाचोद्भवम्, काचलवणम् (रा. ६.४५)
-गुणोपधान-न., देशकालादिविरोधे सति तद्गुण-प्रतीकारार्थं यत् क्रियते तत्, यथा-शीते शीतप्रतीकारार्थमुष्णसदनादिकरणम् (चसि. २.२३)
-विष-न., विविधैरौषधैर्मिलित्वा यत्क्रियते तत् (अहसं. ३५.६ चचि. १३.१३२ सुक. २.२४-२५)
कृत्रिमक-न., लवण०; बिडलवणम् (ध. २.२८)
कृत्स्न-वि., सर्वम् (सुनि. ६.२३)
कृमि-पु., कृमि० क्रिमिः (चवि. ७.९)
-कर-पु., कृमि० प्राणनाशनः संकीर्णः (असंउ. ४३)
-कर्ण-पु., कर्णरोग० (र. २४.१) लक्षणम्-यदा कर्णे जन्तवो मक्षिकाश्च पतन्ति सूक्ष्मकृमीन् उत्पादयन्ति तेन च मलसंचयान्मार्गरोधो भवति तदा कृमिकर्णको भवति । 'अयं व्याधिः सांनिपातिकः, इति विदेहोक्तिः (सुउ २०.१३)
-कर्णक-पु., कृमिकर्णः (र २४१)
-ग्रन्थि-पु., नेत्ररोग०, अपाङ्गे कनीने वा कण्डूषापक्ष्मपोटवान् पूयास्राव्यार्तिमान् कृमियुतो ग्रन्थिर्भवेत् (असंउ १३)
-घाति-न., वनस्पति० विडङ्गम् (सुउ ४२.४२-४४)
-घ्न-पु., वनस्पति० बीजपूरकम् (ध. ५.२३)
भल्लातकः (रा. ११.२०१)
पलाण्डुः (रा. ७.१००)
कोलकन्दः (रापरि ७.३८)
न., उपक्रम०, कृमिनाशनं (सुचि १.८) (अहसू. ५.५६)
-(घ्नी)-स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (ध २.२१) धूमपत्रा (रापरि ५.८)
-घ्नवर्ग-पु., क्रिमिघ्नवर्गः (चसू ४.११)
-घ्नावलेह-पु., कृमिहरलेहः (सुउ ५४.२७)
-च्छिद्-पु., वनस्पति०, विडङ्गम् (र. २०.६५)
-जग्ध-न., वनस्पति० अगरुभेदः, काष्ठागरु
-जलज-पु., भैषज्य० कृमिशङ्खः (रा. १३.२४७)
-जा-स्त्री., प्राणिजद्रव्य० लाक्षा (ध. ३.८२)
-जित्-न., वनस्पति० विडङ्गम् (अहसू. १०.३०) कृमिघ्नम् (असंसू. १२.३८)
-जुष्ट-वि., कृमिभक्षितम् (सुसू. ४६.२९७)
-तरु-पु., वनस्पति०, कोषास्रः (ध. ५.९)
-दन्तक-पु., दन्तरोग० वातप्रकोपात् कृष्णः छिद्री चलः स्रावी संरम्भी महारुजोऽनिमित्तरुजः कृमिदन्तकः (सुनि., १६.२९)
-दोष-पुं., रोग० कृमिप्रकोपः (सुउ. ४०.५)
-पात-पु., पारदयोग० मनःशिलाजमोदेन्द्रयवादियुक्तोऽयं योगविशेषः क्रिमिपातकारी (र. २०.२४१-४२)
-प्रतिभट-न., वनस्पति० विडङ्गम् (र. १३.६८)
-भक्षण-वि., लक्षण० कृमिभिर्भक्ष्यमाणो व्रणः, अनेन व्रणलक्षणेन व्रणस्य कृच्छ्रत्वमुपजायते (चचि. २५.३१)
-लोह-न., खनिज० मुण्डलोहम् (रा. १३.२९)
-वारिरुह-पु., भैषज्य० कृमिशङ्खः (रा. १३.२४७)
-शङ्ख-पु., भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४७)
-शरारिन्-पु., आग्नेयकीट० (इन्दु असंउ. ४३)

–शराविन्–पु., आग्नेयकीट० (असंउ. ४३)
–शूलघ्न–पु., पारदयोग० शूलनाशनः (र. २०.२४०)
–सरारिन्–पु., कृमि० अयं सविषः, अयमग्नि-प्रकृतिकः पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)
–हर–न., वनस्पति० विडङ्गम् (अहसू. २०.३७)
–हा–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (ध. २.११)
–हृद्रद–पु., कृमिजहृद्रोगः (चचि. २६.१०३)

कृमिण–वि., कृमिव्याप्तम्, कृमिण इति कथम्, कृमयोऽस्य विद्यन्ते इति कृमिणः (असंशा. ११)
–कोष्ठ–वि., लक्षण० कृमियुक्तकोष्ठः (असंसू. २७.७)

कृमीलक–पु., वनस्पति० मकुष्ठकः (ध. ६.९२)

कृश–वि., लक्षण० अमेदस्वी, अष्टनिन्दितपुरुषेष्वेकः (सुसू. १५.३५) अल्पमांसो निर्मांसो वा (सुउ. ४०.१७४) दुर्बलः (सुसू. ४६.४२९)
प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७.७२)
–शाख–पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६६)

कृशर–पु., आहारद्रव्य० लवणार्द्रकहिङ्गुदालिसंमिश्रास्तण्डुलाः सलिले पक्वाः कृशराशब्देन व्यपदिश्यन्ते। तैः संभूता इयं शुक्रवर्धनी बल्या गुरुः पित्तकफकरी बुद्धिदा विष्टम्भमलमूत्रकरी दुर्जरा च (भाप्रमिश्रप्र)
पिण्डस्वेदार्थमुपयुज्यते (चसू. १४.२५)

(कृशरा)–स्त्री., आहारद्रव्य० कृशरः (सुचि. २५.३५)
–पिण्ड–पु., तिलतण्डुलमाषकृतयवागूपिण्डः वातशूले स्वेदनार्थमुपयुक्तः (सुउ. ४२.८९)

कृशाङ्गता–स्त्री., रोग० रसप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१०)

कृशानु–पु., वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२४)
कृशानुरग्निः, सर्वेऽग्निपर्यायवाचिनः शब्दाश्चित्रकौषधिवाचका इति सङ्केतः
अग्निः (र. १२.१७)

कृशाशय–वि., दोषशून्याशयः (चसि. १२.४)
तिलतण्डुलमाषकृता यवागूः (चसू. १३.६६)
तिलौदनः (सुचि. २५.३५)
तिलतण्डुलमाषकृता पेया (अहसू. ७.३८)

कृषि–स्त्री., धान्योत्पादनव्यापारः (असंसू. ३)

कृषिका–स्त्री., वनस्पति० मूषककर्णी (रापरि. ३.२१)

कृष्ण–पु., वनस्पति० राजसर्षपकः (१६.७०)
जीरकभेदः कृष्णजीरकः (ध. २.७०)
द्र० ' जीरकः '
मरिचम् (ध. २.८८)
कृष्णा, पिप्पलीत्यर्थः (र. ३०.१०७)
खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१)
अञ्जनम् (ध. ३.१५१)
वर्ण० (सुसू. ३२.३)
मूषिक० दष्टलक्षणानि दंशे शोफोऽसृक्छर्दिः (सुक. ७.१३)
लवण० कृष्णलवणम् (हे. अहसू. १०.२७)
नयनस्य कृष्णमण्डलाख्यो भागः (सुउ. १.११–१२)

(कृष्णा)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (सुचि. १५.२०–२१)
सारिवा (ध. १.१६२)
द्राक्षा (ध. ५.५६)
नीली नीलिनी (रा. ४.३५०)
कटुका (रा. ६.५५)
काश्मरी (९.१४७)
लूता० दंशलक्षणम्–पुरीषगन्धिरल्पासृग्ज्वरमूर्च्छा-वमीदाहकासश्वासहेतुः (सुक. ८.११६–१७)
जलौका० अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिरा (सुसू. १३.११)
–कञ्चुक–पु., वनस्पति० चणकः (ध. ६.१०१)
–कपालिकाशूर्प–पु., कृष्णकपालिकेषिका नलमुञ्जवंशादिभवा। तत्कृतः शूर्पः (चशा. ८.४२)
–कर्कटक–पु., कर्कट० अयं पादिष्वेको बल्यः कोष्णोऽनिलापहश्च (सुसू. ४६.१११)
–कर्मन्–न., रूढानां शुक्लव्रणानां समानवर्णापादकं कर्म, येन स व्रणस्त्वक्सवर्णो भवति (सुचि. १.८)
–कापोती–स्त्री., वनस्पति०, सोमसमवीर्या महौषधिः ' सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम्। एवं रूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत् ॥' (सुचि. ३०.१२,१३) ' .....गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य अभिधारितमभिहुतं च सकृदेवोपयुञ्जीत ' (सुचि. ३०.५)
–काम्बोजिका–स्त्री., कृष्णगुञ्जाफलम् (र. १८.४८)
–काष्ठक–न., वनस्पति० अगरू (रा. १२.४०)
–गतरोगविज्ञानीय–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ.५.१)
–गन्ध–पु., वनस्पति० शिग्रुः (चचि. ८.१२९)
–(गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० शिग्रुः, शमीत्यपरे (ड. सुचि. १८.५)

-गन्धासव-पु., आसुतं तत्तदनुपानविचारानुसारं पर्णमृगमांसभक्षणोत्तरमयमनुपानविशेषत्वेन प्रोक्तः पर्णमृगाणामनुपानविशेषः (सुसू. ४६.४३२)

-गलक-पु., पक्षि० मयूरः (र. ११.१३१)

-गोक्षीर-न., कृष्णधेनोर्दुग्धम् (र. १८.५१)

-गोधा-स्त्री., सविषप्राणि० गुणाः-सौम्या श्लेष्मप्रकोपणी कफविकारहेतुः (सुक. ८.१२-१५)

-गौर-पु., व्रीहि० शीतः स्निग्धो लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नश्च (चसू. २७.१३)

-चूडिका-स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (रा. ३.४६)

-चूर्ण-न., खनिज० मण्डूरम् (रा. १३.३६)

-जटा-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)

-तण्डुला-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५) कर्णस्फोटा (रापरि. ३.४१)

-तुण्ड-पु., कीट०, गुणाः-अयं सविषः अग्निप्रकृतिकोऽसौ पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)

-धत्तूर-पु., वनस्पति० धत्तुरः (र. २३.१३)

-नाग-न., खनिज० सीसकम् (र. १७.६७-६८)

-पर्ण-न., कृष्णताम्बूलपत्रम् (र. २०.२१६-२१७)

-पाकफलं-पु. न., वनस्पति० करमर्दकम् (ध. ५.१०२)

-पाटली-स्त्री., वनस्पति० कृष्णपुष्पा पाटली (असंउ. ८)

-पाण्डुत्व-न., लक्षण० कृष्णत्वसहितं पाण्डुत्वम् (चचि. १६.१७)

-पिण्डीतक-पु., वनस्पति०, मदनभेदः कृष्णमदनः (असंउ. २८) द्र० 'मदन'

-फला-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६५)

-बर्बर-पु., वनस्पति० बर्बरभेदः कृष्णबर्बरः (रापरि. १०.४८)

-बीज-न., पिप्पलीतण्डुलः, नेत्रपाकेऽञ्जनार्थमुपयुक्तः (सुउ. १२.४४)

-भारद्वाज-द्र० 'बर्बर'

-भूमिजा-स्त्री., वनस्पति० गोमूत्रिका (रापरि. ८.४८)

-भेदा-स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३७)

-मण्डल-न., नेत्रगतः कृष्णवर्णो वर्तुलाकारो विभागः (सुउ. १.१५)

-मत्स्य-पु., मत्स्य० अयं नादेयो नाम नदीसमुद्भवः। लक्षणम्-'कृष्णमत्स्यस्तु शकली बहुकण्टकसंयुतः। कषायवर्णो रक्ताक्षः...'(सुसू. ४६.११३-११४) अपतानके अस्य वसोपयुज्यते (सुचि. ५.१८)

-मल्लिका-स्त्री., वनस्पति० अर्जकभेदः, कृष्णार्जकः (ध. ४.५६) द्रष्टव्यं 'अर्जक'

-मांस-न., शारीर० यकृत् (र. २३.६१)

-माणिक्य-पु., (र. २०.३१-३२) पारदयोग० सुवर्णमाक्षिकगन्धकयुक्तः कुष्ठनाशनः

-मालुक-पु., वनस्पति० अर्जकभेदः कृष्णार्जकः (रा. १०.८६) द्र० 'अर्जक'

-मीन-पु., मत्स्य० कृष्णमत्स्यः कण्टकयुक्तो मत्स्यः (र. २८.७७)

-मुद्ग-पु., वनस्पति० मुद्गभेदः 'वासन्ताः कृष्णमुद्गाश्च' मुद्गाः कृष्णवर्णा इत्यर्थः (ध. ६.८३) द्र० 'मुद्ग'.

-मुष्कक-पु., वनस्पति०, मुष्ककः (ध. ५.१३२)

-मूला-स्त्री., वनस्पति० सारिवा (र. १७.४३-४६)

-मूली-स्त्री., वनस्पति० कृष्णमूला (र. १७.४३-४६)

-लवण-न., लवण० सौवर्चलम् (ध. २.३०)

-ला-स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (ध. ४.२९) काचलवणम्, नीलकाचोद्भवम् (रा. ६.४४)

-लोह-न., खनिज० लोहभेदः तीक्ष्णलोहम् (सुसू. ३८.६२-६३) गुणाः-चक्षुष्यं कषायं स्वादु तिक्तकं लेखनं शीतं वातलं कृमिकुष्ठकफनाशनं गात्रशैथिल्यपालित्यपाण्डुरत्वघ्नं शोषशोफविनाशि च (असंसू. १२.१७-१८)

-लोहक-न., खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

-लोहाद्यञ्जन-न., अञ्जन० कुमाराणां कुकूणके हितम् (सुउ. १९.१४)

-वर्ग-पु., द्रव्यगण० रसकर्मणि प्रशस्तः, कदलीकारवल्ली त्रिफला नीलिका देवनलः कर्दमः कासीसं बालाभ्रं चेति (र. १०.९४)

-वल्लिका-स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२८) द्र० 'जन्तुका'.

-वल्ली-स्त्री., सारिवा (ध. १.१६२)

-वृन्तका-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७)

-वृन्ता-स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (ध. १.१३६)

-व्रीहि-पु., वनस्पति० व्रीहिः (ध. ६.७२) व्रीहिषु श्रेष्ठः कृष्णतुषतण्डुलः, अयं कषायानुरसो लघुश्च (सुसू. ४६.१४)

-शण-पु., वनस्पति० शणः, कृष्णपुष्पशणवृक्षः (चचि. २६.२६९)

-शालि-स्त्री., वनस्पति० व्रीहिभेदः कृष्णव्रीहिः (ध. ६.७०)
-शालुक-पु., वनस्पति० अर्जकभेदः, कृष्णार्जकः (ध. ४.५६) द्र० 'अर्जक'
-शिंशपा-स्त्री., वनस्पति० शिंशपा० (रा. ९.१९८)
-शिग्रु-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६२)
-शैरेयक-पु., वनस्पति० झिण्टिका, कृष्णझिण्टी (चक्रः चचि. २६.२६८) 'कृष्णसैरीयकः' इत्यपि (चचि. २६.२६८)
-सत्त्व-न., कृष्णरूपाकृतिः (सुउ. ६१.१२)
-सर्प-पु., सर्प० राजिमन्थः (चचि. २३.१३६) दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१); दर्वी फणा, तां करोति उन्नमयति कुपितः सन्निति दर्वीकरः
-सर्पमसी-स्त्री., कृष्णसर्पस्य दग्धत्वेनातिकृष्णत्वं प्राप्तस्य चूर्णम् (सुचि. ९.१७)
-सर्पविष-न., विष०, दूष्योदरे उपयुज्यते, तदर्थं-भिक्षुकाण्डानि वल्लीफलानि वा कृष्णसर्पेण भक्षयेत् (सुचि. १४.८)
-सर्पशिरस्-न., नेत्ररोगेषु तर्पणार्थमस्य क्वथ-नोत्पन्नः स्नेह उपयुज्यते (असंउ. १९)
-सर्पाख्या-स्त्री., वनस्पति०, वाराही, इयं काश्मी-रादिदेशेषु वसन्तकाले दृश्यते (सुचि. ३०.३४)
-सर्षपा-स्त्री., वनस्पति०, राजसर्षपकः (ध ४.४३)
-सारथि-पु., वनस्पति०, अर्जुनः (रा ९.१९२)
-सारा-स्त्री., वनस्पति० शिंशपा (ध. ५.१२१)
-सारिवा-स्त्री., वनस्पति० सारिवा (सुसू. ३८.४.५)
-सिकता-स्त्री., कृष्णवर्णवालुका, इमामग्निवज्ज्वलितां विधाय जले प्रक्षिप्य तज्जलं तृष्णासु शमनार्थं पेयम् (चचि २२.४४)
-सैर्यक-पु., वनस्पति०, कुरण्टभेदः (र. ३०. ५८.५९) द्र० 'कुरण्टक'
-हिरण्य-पु., वनस्पति० धत्तुरभेदः कृष्णधत्तुरः (र. १७.१३७)

कृष्णा-स्त्री.,
कृष्णाख्या-स्त्री., पुनर्नवा (रा. ५.४१०)
कृष्णागुरु-न., वनस्पति०, अगरुः (ध. ३.२५)
कृष्णाजाजी-स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः कृष्णजीरकः (ध. २.७०)
कृष्णाजिन-न., कृष्णासारचर्म (सुचि. २९.१२)
कृष्णाञ्जनी-स्त्री., वनस्पति०, कालाञ्जनी (रापरि ४.४३)
कृष्णात्रेय-पु., ऋषि०, 'कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः।' (चक्रः, चचि. १५.१३१) 'नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम्' (चचि. १६.७१) केचित्तु श्रीकण्ठदत्तशिवदाससेनादिभिः शालाक्यविषये उद्धृतेभ्यः कृष्णात्रेयवचनेभ्यः कृष्णात्रेयपुनर्वस्वोर्भेदं मन्यन्ते; शालाक्यतन्त्रप्रणेता कृष्णात्रेयोऽन्यः, परं पुनर्वसोरपि कृष्णात्रेय इति नास्ति नास्ति सन्देहलेशोऽपि, चरकप्रतिसंस्कारे भेलतन्त्रे च तस्य कृष्णात्रेयनाम्नोल्लेखात् इति आचार्ययादवजीकृता चरकसंहिताप्रस्तावना
कृष्णादिघृत-न., घृत०; कफजापस्मारे उपयुक्तम् (सुउ. ६१.३०)
कृष्णायस-न., खनिज० लोहम् (ध. ६.२६) सीसकम् (रा. १३.२१) कृष्णलोहचूर्णम्, नेत्ररोगेऽञ्जनार्थमुपयुक्तम् (सुउ. १९.१४)
कृष्णारुण-पु., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०)
कृष्णार्जक-पु., वनस्पति० अर्जकभेदः, गुणाः—कटुरुष्ण-रुच्यः सुखप्रसवकारकः कफवातघ्नः कृत्रिमविष-रक्तदोष-नेत्रामयविनाशनम् (ध. ४.५६)
कृष्णालु-पु., वनस्पति० नीलालुः (रापरि. ७.३२)
कृष्णाश्रयविकार-वि., नेत्रस्य कृष्णमण्डलगतो रोगः, अयं सव्रणोऽव्रणपाकात्ययाऽश्रयजभेदाच्चतुर्विधः (सुउ. ५.३)
कृष्णाह्वा-स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (सुउ. १७.८-१०)
कृष्णेक्षु-पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८७)
कृष्णोदरश्वेतकपोत-पु., सर्प०; दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)
कृष्णोदुम्बरिका-स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)
-कृष्णका-स्त्री., वनस्पति० राजिका (ध. ४.६०)
कॢप्तनख-वि., शस्त्रवैद्यलक्षणेष्वेकः छिन्नश्लक्ष्णनखः (सुचि. ७.३०)
कॢप्तीभावः-पु., अप्रवृत्तिः (चनि. १.२१) भेदः स्फुटनं यथा नखादीनाम् (चनि. १.२१)
केकिन्-पु., पक्षि०, मयूरः (र. ११.१२९)
(केकि)-शिखा-वनस्पति० बर्हिचूडा (रापरि. ५.१३)
केतकसूची-स्त्री., वनस्पति० (असंउ. ६)
केतकिक्षार-पु., केतकिजः क्षारः, स च वातगुल्महरः (सुउ. ४२.४५)

केतकी–स्त्री., वनस्पति०; जातिः (रा. १०.२१३)
सुगन्धिपुष्पवृक्ष०; प्रावृषि केतकी पुष्पिता भवति । इयं श्वेतस्वर्णभेदेन द्विधा । श्वेताया गुणाः–कटुः स्वादुस्तिक्ता लघुः कफघ्नी; स्वर्णकेतकीगुणाः–तिक्तोष्णा चक्षुष्या (भाप्र) वैक्रान्तद्रावणे केतकीरस उपयुक्तः (र. ४.७६–७७)
केतक्याः कुसुमं वर्ण्यं केशदुर्गन्धनाशनं च । स्वर्णकेतक्यास्तु मदकारि सुखकरं च । तदतिशीतं कटु कफपित्तापहं रसायनं बल्यं देहदार्ढ्यकरं च (धपरि. ५.१)
–**स्तन**–पु., केतक्याः आदौ स्तनाकारतुल्यः पश्चाच्च प्ररोहरूपः स्थूलः अवयवः (र. ३०.५८)
केतु–पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.११०)
केदार–पु., क्षेत्रम् (सुसू. ४५.४)
जलाशय० अवनिपतितजलसंचयस्थानम् (सुसू. ४५.४)
षष्टिकभेदः (सुसू. ४६.८)
–**कटुका**–स्त्री., वनस्पति० कटुका (रा. ६.५६)
–**कुल्या**–स्त्री., न्याय० कुल्याभिः कृत्रिमाभिरल्पसरिद्भिः केदारो यथोपस्निह्यते तथा सिराभिः शरीरमुपस्निह्यते (सुशा. ७.३)
–**ज**–न., वनस्पति० पञ्चकम् (रा. १२.१४९)
केबुक–पु., वनस्पति० तिक्तस्कन्धे द्रव्य० पत्तूरः (चवि. ८.२०।५) शाक० (चचि. १४.१०)
गुणाः–रक्तपित्तहरो हृद्यो सुलघुः कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहरः (सुसू. ४६.२६२,२६३)
केबुकाकन्द–पु., कन्द० अस्य निर्यासः श्लीपदे पानार्थमुपयुज्यते (सुचि. १९.६२)
केम्बुक–न., वनस्पति० गुणाः–तिक्तं, पाके कटु, शीतं, वातकृत् कफपित्तघ्नं च (अहसू. ६.७८)
केलूट–पु. न. कन्दशाक० जलोदुम्बरः, गुणाः–रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु (अहसू. ६.९२)
केवल–वि., अमिश्रितं, एकमात्रम् (सुसू. ३५.४७)
–**वात**–पु., शुद्धवातः (अहसू. ६.६५)
–**वातरोग**–पु., पित्तादिदोषेण असंसृष्टः केवलवातारब्धः रोगः (सुचि. ३३.१४)
केवलामलकरसायन–न., रसायन०, यतेन्द्रियो ब्रह्मचारी सावित्रीं मनसा ध्यायन् पयोवृत्तिः संवत्सरं गवां मध्ये वसेत् । संवत्सरान्ते पौर्णीं माघीं फाल्गुनीं वा तिथिं त्र्यहोपवासं कारयेत् । शुक्लपक्षे आमलकीवनं प्रविश्य बृहत्फलाढ्यमामलकीद्रुममारुह्य शाखागतं फलं पाणिना गृहीत्वाऽमृतागमपर्यन्तं ब्रह्म जपँस्तिष्ठेत् । तदा क्षणमामलकेऽमृतमवश्यं तिष्ठति । अमृतसंयोगात्तानि शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च भवन्ति । तेभ्यो यावन्ति भक्षयेत्तावन्ति वर्षसहस्राण्यागतयौवनैर्जीवेत् । एषां सौहित्यं गत्वा अमरसंनिभो भवति । अस्य श्रीर्वेदाः वाग्रूपिणी देवता च स्वयमुपतिष्ठन्ते (चचि. १ (३) ९.१४)
–**केवा**–स्त्री., वनस्पति०, केविका (रापरि १०.३३)
–**केविका**–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा शीता पित्तहरा वातश्लेष्मरुक्पित्तच्छार्दिघ्नी दाहश्रमहरा च (रापरि. १०.३३) द्र० 'केवा'
केवुक–पु., वनस्पति०, केसुरः (ड. सुउ. ५४.२५)
केवुकाकन्द–पु., वनस्पति० केबुकाकन्दः (सुचि. १९.६२) द्र० 'केवुकाकन्द'
केश–पु., रोम (चसू. १.६९) अस्थो मलः (चचि. १५.१९) (सुसू. २९.९–१५)
(केशी)–स्त्री., वनस्पति० गन्धमांसी (ध. ३.४७)
शतावरी (असंउ. ९)
भूतकेशी (चचि. ९.४५)
–**घ्न**–न., केशनाशकम् (अहसू. ६.१३०)
–**दोष**–पु., रोग० केशदृष्टिः, अस्थिप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१६)
लक्षण० केशशातः, केशच्यवनमिति यावत् (अहसू. २०.४)
–**प्रसाधनी**–स्त्री., वनस्पति० कङ्कतिका (सुचि. २४.२९)
–**भू**–स्त्री. केशभूमि. (अहसू. २२.३०)
–**भूमि**–स्त्री., त्वक्, केशोत्पत्तिस्थानम् (चचि. २६.१३२) मस्तकम् (असंसू. २९.१७)
केशभूमिः स्निग्धा लोहिता निर्मला निर्व्रणा च प्रशस्यते (कासू. २८.६)
–**भूमिस्फुटन**–रोग०, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
–**मथनी**–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२)
–**मुष्टि**–पु., वनस्पति० महानिम्बः (ध. १.३१)
विषमुष्टिः (रापरि. ४.३९)
–**रञ्जन**–पु., वनस्पति० भृङ्गारकः (ध. ४.११)
न., श्वेतकेशानां कृष्णीकरणम् (र. ३०.६१)
–**रुह**–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३३)

–(रुहा)–स्त्री., वनस्पति० महाबला (ध. ४.२)
दन्ती (ध. १.२२५)
–रूपा–स्त्री., वृक्षादनी (रा. ५.१४२)
–लुञ्चन–न., केशोत्पाटनम् (असंउ. २)
–वर्धनी–स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२४)
–विधृति–स्त्री., लक्षण० रोम्णामवलम्बनम्, स्वेदस्य कचरोमधारणमपि (अहसं. ११.५)
–शात–पु., लक्षण० केशच्यवनम् (सुक. ३.४१–४२)
–सीमन्तकृत्–पु., रोग० ज्वरभेदः सीमन्तः केशमार्गः, केशेषु सीमन्तान् करोतीति केशसीमन्तकृत्, अयमसाध्यो ज्वरः (चचि. ३.५२–५३)
–हन्त्री–स्त्री., वनस्पति० शमी (ध. ५.९५)
केशानी–स्त्री., वनस्पति० मांसी (रा. १२.९०)
केशर–पु., न., वनस्पति० पद्मकेशरम् (सुउ. ४५.३३)
नागकेशरम् (चसू. ५.२०)
बकुलः (सुउ. ४७.६१)
केशरिन्–पु., जलचरपक्षि० (चसू. २७.४२)
केशरुहा–स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२४)
केशवावास–पु., पिप्पलः (ध. ५.७८)
केशाद–पु., रक्तजकृमि० अयं ताम्रवर्णः, इमे अणवो वृत्ताश्चापादाश्च, सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः (चवि. ७.११)
केशान्त–पु. शङ्खयोरुपरिभागः (सुसू. ३५.१२)
केशार्हा–स्त्री., वनस्पति० महानीली (रा. ४.३५३)
केशिका–स्त्री., शतावरी (रा. ४.४३९)
केशोण्डुक–न., केशैः कृतं विटकं पुञ्जो वा, कण्ठगतशल्यादेर्वमनेनोद्धरणार्थमुपयुज्यते। वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत् (सुसू. २७.१९)
केशोन्दुक–न., केशोण्डुकम् (अहसं. २८.३७)
द्र० 'केशोण्डुक'.
केश्य–वि., केशहितम् (अहसं. ५.६०)
वनस्पति० अगरुभेदः, कृष्णागरुः (रा. १२.४०)
द्र० 'अगरु'.
वालकम् (ध. १.४७)
भृङ्गराजः (रा. ४.२०)
केसर–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२६)
बकुलः (रा. १०.२६२)
पद्मकेसरम् (रा. १०.२६२)
–नागकेसरम् (ध. २.४८)
खनिज० कासीसम् (ध. ३.१२३)
–वर–न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)
केसराम्ल–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (ध. ५.२२)
केसरिका–स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२४)
केसरिन्–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (ध. ५.२२)
कैंशुक–वि., पलाशसंबन्धि (सुउ. १०.९)
कैकशेय–पु., ऋषि० (चसू. १.१२)
कैटभ–पु., असुरविशेषः (सुक. ३.१८)
कैटर्य–पु., वनस्पति०; पर्वतनिम्बः (चसू. ४.१८)
कट्फलम् (चसू. ४.१०)
कैडर्य–पु., न., वनस्पति० सुरभिपत्रम् (असंउ. ६)
निम्बभेदः, कैडर्यनिम्बः (रा. ९.४८)
–निम्ब–पु., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्तः कषायः शीतो लघुः सन्तापशोषकुष्ठरक्तविकारक्रिमिभूतविषादिरोगघ्नः (रा. ९.४८)
हिं.—कृष्णनिंब, मीठा निंब.
म.—कढीनिंब.
गु.—मीठो लिंबडो.
बं.—घोडानिम.
त.—करुवेप्पिलै.
महानिम्बः (सुउ. २८.४)
पूतिकरञ्जः (असंउ. १०, इन्दु)
कटभी (रापरि. ९.३७)
कैण्डर्य–पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः (असंसू. १५)
कैण्डर्यक–पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः (असंचि. १३)
कैतक–न., वनस्पति० केतकीपुष्पम् (असंसू. १२.८९)
कैदार–पु., धान्य० शालिभेदः, अनूपजः शालिः, गुणाः–मधुरो वृष्यो बल्यः पित्तनिबर्हण ईषत्कषायोऽल्पमलो गुरुः कफशुक्रलः (सुसू. ४६.१७)
द्र० 'शालि.'
कैरला–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (ध. २.११)
कैरली–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (ध. २.११)
कैरव–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४६)
विडङ्गम् (काखिल. ११.९७)
(कैरवी)–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा ५.१८५)
कैरविणी–स्त्री., वनस्पति०; उत्पलिनी (रा १०.२५०) द्रष्टव्यं 'कुमुद'
कैरात–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (रा. ९.५०)
प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५०)
–तिक्त–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (रा ९.५०)
कैलास–पु., पर्वत० (चचि. १३.३)
कैलिञ्जी–स्त्री., किलञ्जसाधनानां कुशकाशादिद्रव्याणामियं कैलिञ्जी (सुचि. ३२.७)

कैवर्तिका–स्त्री., वनस्पति०, गुणाः– कषाया लघुर्वृष्या कफनाशिनी कासश्वासहरा मन्दाग्निदोषनुच्च (रापरि. ३.३५)

कैवर्तिमुस्त–न., वनस्पति० जलमुस्तम् (ध १.४३)

कैवल्य–न., मोक्षः (सुशा. १.८)

कैशिकी–स्त्री., व्यधनानां कुठारिकादीनां सूचीकुशपत्रादीनां केशप्रमाणा धारा (सुसू. ८.१०)

कोककर्कटिका–स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरिका (रा. ११.७१)

कोकनद–न., वनस्पति० पद्मभेदः, रक्तपद्मम् (चवि. ६.१७) (ध. ४.१५२)

कोकिल–पु., प्रतुदपक्षि० स्त्री., कोकिला (चक. १.८) (सुक. १.३१) द्र० 'प्रतुद'

सविषमूषिकभेदः, तद्दष्टलक्षणम्–उग्रग्रन्थयो ज्वरो दारुणो दाहश्च (सुक. ७.२४–२५)

सविषकीट० गुणाः–सौम्यः श्लेष्मप्रकोपणः सन् कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२–१५)

अर्धदग्धं काष्ठम् (र. २.१२५)

–गुडिका–योग० द्राक्षाक्षुद्रादियुक्तः, नेत्ररोगेषु उपयुक्तः (काखि. १३.५०–५१)

कोकिलाक्ष–पु., वनस्पति० गुणाः–मधुरः शीतः बल्यः रुच्यः सन्तर्पणः वृष्यः कफघ्नः पित्तातिसारनुच्च (र. ११.१००)

हिं.—तालमखाना, कैलया.

म.—**विखरा, तालीमखाना.**

गु.—एखरो.

बं.—कुलियारवाडा, कुलेकाँटा, कुलव, शूलमर्दन.

त.—नीरमुळ्ळी.

कोकिलाक्षक–पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८७) खग्गली, कोकिलाक्षः (ड. सुउ. ५८.४४)

कोकिलानन्द–पु., राजाम्रः (रा. ११.८)

कोकिलावास–पु., आम्रः (रा. ११.३)

कोकिलेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८७)

कोकिलेष्टा–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१३०)

कोकिलोत्सव–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.८) आम्रः (रा. ११.२)

कोटर–पु., वनस्पति० अङ्कोलः (रा. ९.३८३)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुकः (ध. ४.१०७)

कोटि–स्त्री. वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३) स्त्री., संख्या० (सुउ. ६०.२२)

कोटिक–पु., प्राणि० मण्डूकभेदः तेन दष्टस्य दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा, दंशे कण्डूर्मुखतः पीतफेनागम इत्यादीनि लक्षणानि भवन्ति (सुक. ८.३१)

(कोटिका)–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

कोटी–स्त्री., कोटिः (सुउ. ६०.२२)

कोट्टकारक–पु., जाङ्गलमृग० (चसू. २७.४५)

कोठ–पु., रोग० लक्षणम्–वरटीदष्टसंकाशः कण्डूमान्स्रकफपित्ताढ्योहितः क्षणिकोत्पादविनाशश्च (चचि. ३.१०८) रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१३) पीडकः, लवणरसस्यातियोगतो भवति (सुसू. ४२.१०)

लक्षण० (अहसू. ४.१७)

–फल–न., फल० (चसि. ११.१२)

(फला)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (चक. ४.३)

कोड–पु., प्राणि० प्रसहवर्गीयः, मांसगुणाः–मधुरः, कटुपाकी, वातघ्नश्च (काखिल. २४.३८,३९)

कोथ–पु., पूतीभावः (चसू. २०.१५) मृतशरीरक्लेदः (असंसू. ६.२१) पित्तकर्म (हे. अहसू. १२.५२)

कोथक–पु., नेत्ररोग० (काखिल १३.४९)

कोद्दालक–पु., धान्य० शालिभेदः (चनि. ४.५) द्र० 'शालि'

कोद्रव–पु., कुधान्य० गुणाः–मधुरस्तिक्तः शीतो रूक्षो गुरुर्ग्राही वातकृत् पित्तकफघ्नो विषघ्नश्च (ध. ६.८६) कोद्रवो रक्तपित्तं हन्ति, विदाहि रक्तपित्तं करोति (असंसू. ७.३०)

हिं.—कोदो, कोदव.

म.—**हरीक, भगर.**

गु.—कोदरो.

बं.—कोदो धान, गोम. त. वरकु.

वन्यतण्डुलः, अयं मलविशोषी विण्मूत्रसंगकृच्च (र. १६.१)

कोरदूषः, सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यः (सुसू. २०.५)

तृणधान्य० गुणाः–शीतो लघुः पवनकृल्लेखनः कफपित्तहृत् (अहसू. ६.११)

कोनालक–पु., जलचर० श्यामपृष्ठश्वेतोदरः प्लवेष्वेकः (सुसू. ४६.१०५,१०६)

कोप–पु., मनोभाव० क्रोधः (चनि. १.१५)

प्रकोपः दोषसंस्थाने एव संचयापेक्षया अधिकदोषवृद्धिः (सुसू. २१.१९)

वातादेरुन्मार्गगामिता (असंसू. २०९–१०)

कोपन–वि., यद्दोषादीन् कोपयति, नामातिशये वर्धयति तत् (अहसू. १.१६)
कोपनक–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)
कोमल–वि., अनिष्पन्नवर्णं पञ्चवर्णं वा (र. ४.५५)
–**पत्रक**–पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०)
कोयष्टि–पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५०)
पु., पक्षि० कोयष्टिः (सुसू. ४६.६७)
कोर–पु., शारीर० संधिप्रकारभेदः, कोरो नाम गर्तः, तदाकृतयः कोराः, अङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः (सुशा. ५.२७)
–**दूष**–पु., धान्य० कोद्रवः (चसू. २७.१६) कोद्रु.
–**सन्धि**–पु., शारीर० अस्थिसन्धिभेदः, कोरः (सुशा. ५.२७ असंशा. ५.७७)
कोरक–न., कलिका (सुउ. ११.१५)
वनस्पति० चोरकः (र. २९.९४)
कक्कोलकः (र. २७.१३९–१४१)
लवङ्गम् (असंक. १)
–**क्षारः**–न., क्षार० मालतीमुकुलक्षारः (चचि. ७.१६८)
कोरङ्गी–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (६.१०९)
एलाभेदः सूक्ष्मैला (ध. २.४४) द्र० 'एला'
कुरण्टकः (१५.३९)
कोल–न., वनस्पति० बदरम् (चसू. २.१२)
चव्यम् (रा. ६.११५)
मरिचम् (र. २६.१७–१८)
द्रव्यगण० पञ्चकोलम् (सुउ. ३९.२१७)
मान० द्वौ शाणौ (चक. १२.८९)
मान० वटकः निष्कद्वयं कोलः (र. ११.४)
अर्धकर्षः (सुउ. ५१.२४)
तोलकः (चक. २.११)
(कोला)–स्त्री., चव्यम् (सुउ. ५१.३३)
पिप्पली (ध. २.७३)
(कोली)–स्त्री., बदरी (अहसू. १५.४१)
–**कन्द**–पु., वनस्पति० गुणाः–कटुः उष्णः कृमिदोष-वान्तिविच्छर्दिविषदोषनाशनश्च (रापरि. ७.३८)
हिं.—जंगली पियाज.
म.—**कोलकन्द.** जंगली कंद.
गु.—बनकन्दो.
बं.—जंगली पियाज.
त.—नारी वेंगायम्.
फा.—पियाज इ. दस्ता इ. हिंदी.
–**तैल**–न., बदरमज्जातैलम् (सुसू. ४५.१२०)
–**पालिका**–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (रा. ७.२०४)
–**बदरासव**–पु., आसुत० (सुसू. ४६.४३३)
–**भाण्डिका**–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१७)
–**मज्जा**–स्त्री., कोलाष्ठीलाभ्यन्तरीयो मृदुभागः कोलाभ्यन्तरम् (चचि. २०.२९)
–**मूल**–न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (ध. २.७५)
–**वल्ली**–स्त्री., वनस्पति० चविका (चचि. ३.२१०)
–**सीधु**–पु., कोलकृतमद्यम् (चक. ८.९)
कोलक–न., कङ्कोलः (र. ११.९४)
अङ्कोलः (रा. ९.३८४)
बदरम् (ध. ५.९६)
मरिचम् (ध. २.८८)
कोलाम्ल–पु., वनस्पति० बदरभेदः अम्लबदरम् (चचि. ३.१८६–१८७) द्र० 'बदर'
कोलास्थिदल–न., मान० बदरास्थिमज्जविदलप्रमाणम् (सुसू. ७.१४)
कोलास्थिमज्जा–स्त्री., बदरास्थिजातं बीजम् (सुउ. ५०.२६) द्र० 'कोलमज्जा'.
कोलोदक–न., कोलसिद्धं जलम् (चशा. ८.३२)
कोविका–स्त्री, मूषा० (र. १०.१)
कोविदार–पु., वनस्पति०; गुणाः–कषायः संग्रहणो रोपणो दीपनः कफवातघ्नो गण्डमालागुदभ्रंशकुष्ठ-केशरोगमूत्रकृच्छ्रनाशनश्च (ध. १.१९६)
वमनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
सर्पविषे हृदयावरणार्थमुपयुज्यते (सुक. ५.१७–१८)
शाक०; फञ्जीचिल्ल्यादिगणे एकं द्रव्यम् (चसू. २७.१००)
पुष्पशाकगुणाः–मधुरं मधुरविपाकं रक्तपित्तहरं च (सुसू. ४६.२८१)
हिं.—पीला कचनार.
म.—**कोरळ, पिवळा कांचन.**
गु.—कांचनार.
बं.—पीतकांचन.
त.—मन्तारै.
कोश–पु., ग्रन्थ्यावरणम् (चचि. १२.७९)
व्रणबन्ध० (सुसू. १८.१७,१८)
सूक्ष्ममुखं बृहन्मध्यकुहरं खदिरतरुसारनिर्मित-भाजनम्, अस्मिन्नञ्जनं स्थाप्यते (सुउ. १७ २१.२२)
अन्तःपूरणवस्तु (सुउ. २२.२०)
चर्मकोशः (सुनि. १३.४७.४८)

(**कोशी**)–स्त्री., सुगन्धिद्रव्य० नखे (ध. ३.५८)

–**कार**–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः. गुणाः–गुरुः शीतलो रक्तपित्तक्षयापहः (सुसू. ४५.१५५) द्र० 'इक्षु'

–**धान्य**–न., शमीधान्यानि माषादीनि (सुचि. ३२.११)

–**फला**–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. ३.१८९)
त्रपुसम् (रा ७.२४६)
देवदाली (रा. ३.२४३)

–**बन्ध**–पु., व्रणबन्ध०, छिन्नशाखायामसौ प्रयोज्यः (असंउ. ३१)

–**वती**–स्त्री., वनस्पति० कटुकोशातकी (सुचि. १८.२०,२१)

–**स्थ**–पु., आनूपप्राणि०, गुणाः–मधुरः शीतस्निग्धः मधुरविपाकी बृंहणो बहुमलकारी वृष्यः बल्यः वातपित्तघ्नः श्लेष्मवर्धनः (सुसू. ४६.१०८–११०)

–**स्थान**–न., धनसंचयस्थानम् (असंसू. ८)

कोशातक–पु., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९२) द्र० 'कोशातकी'.

(**कोशातकी**)–स्त्री., वनस्पति०; गुणाः–तिक्ता कटुरुष्णा कुष्ठपाण्डुप्लीहाशोफगुल्मगरनाशनी; अप्रगाढा कोमला प्रशस्ता (ध. १.१९२) सा चतुर्विधा बृहत्फलाऽल्पफला पीतपुष्पा श्वेतपुष्पेति भेदात् (डसुसू. ११.११) तस्याः स्वरसः उभयतोभागहरः (सुसू. ३९.५) लघुः रक्तपित्तहरा ज्वरश्वासकासारुचिघ्नी (सुसू. ४६.२६२–२६३) व्रणशोधनद्रव्ये उपयुज्यते (सुसू. ३७. १७.–१९) क्षारनिष्कासनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ११.११) वमनोपगद्रव्येष्वेका (असंसू. १४.५)
हिं.—कडवी तोरई.
म.—**कडू दोडका.**
गु.—कडवी घिसोडी.
बं.—झिंगा.
त.—पैप्पीक्कम्.
देवदाली (सुचि. १०.८)

कोशाम्र–पु., वनस्पति०, क्षुद्राम्रः; गुणाः–अम्लः कटुरुष्णो गुरुर्वातघ्नः कफपित्तकरो रुच्यः कुष्ठघ्नो रक्तशोधनो विदाही शोफकारी (ध. ५.९) स्नेहविरेचनद्रव्यम् (सुचि. ३१.५) अस्य स्नेहस्तिक्तः कटुः कषायोऽधोभागदोषहरः कृमिकफकुष्ठानिलहरः दुष्टव्रणशोधनश्च (सुसू. ४५.१२४) अम्लो मधुरः सरो बल्यः पथ्यो रोचनः पाचनो विषव्रणहरश्च (ध. ६.१३४) अस्य मज्जा मधुरा स्निग्धा पित्तानिलापहा अग्निबलकृच्च (सुसू ४६.२०७)
हिं.—कोशंभ, छोटा आम, कोशाम.
म.—**लाल रानआंबा.** कोशांबा, कोशिंब.
गु.—कोशम.
बं.—केओडा, केवडाफल.
त.—काट्टुमामर.

कोषकार–पु., कीट०, कौशेयतन्तुनिर्माता (चशा. १.९६)

कोषवती–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (सुउ. ५६.१७)

कोष्ठ–पु., शारीर० (चसू. २८.३१) **सर्वमुदरम्** (सुउ. ४२.८०) **आम–अग्नि–पक्व–मूत्र–रुधिर–उण्डुक–फुफ्फुसेत्यादीनां स्थानम्** (सुचि. २.१२) **महास्रोतः, आभ्यन्तरो रोगमार्गः** (चसू. ११. ४८.) **आमपक्वाशयाश्रयः** (अहसू. १२.४६) **महास्रोतसि विभागविशेषः** (सुशा. ४.१६) **'कोष्ठशब्देनात्र आहारपाकाधारो रसमूत्रपुरीषाधारो ग्रहण्यभिधानः' गयी** (सुनि. ७.६,७) **स क्रूरमृदुसममध्यादिभेदाच्चतुर्विधः** (अहसू. १.९) **तत्र क्रूरो बहुवातश्लेष्मा दुर्विरेच्यस्तत्र तीक्ष्णगुणोपेता मात्रोपयोज्या** (सुचि. ३३.२१) **मृदुर्बहुपित्तयुक्तः, स क्षीरेणापि विरिच्यते, तत्र मृद्वी मात्रैव योज्या** (सुचि. ३३.२१) **मध्यः समदोषयुक्तः स एव साधारण इत्युच्यते, तत्र विरेचनार्थं मध्यमा मात्रा** (सुचि. ३३.२१)

(**कोष्ठी**)–स्त्री. **यन्त्र० धातूनां सत्त्वस्य पातनार्थं शुद्ध्यर्थं वा भूमौ खनित्वा निर्मितमग्निगृहम्** (र. २.१६९) **तत्षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं हस्तैकमात्रमायतं समं च** (र. ९.४६)
मृण्मयकोशः (र. १०.३९)

–**भेद**–पु., रोग० लक्षणानि ज्वरो दाहो मूत्रमार्गान्मुखाद्रुदाच्च रक्तप्रवृत्तिर्मूर्च्छा श्वासस्तृडाध्मानमभक्तच्छन्दो विण्मूत्रवातसङ्गस्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता लोहगन्धि मुखं गात्रदौर्गन्ध्यं हृच्छूलः पार्श्वशूलश्च; यदा कोष्ठो भिन्नो रक्तेन पूर्यते तदेमानि लक्षणानि भवन्ति । (सुचि. २.१३–१५) तत्र विण्मूत्रवातानां स्वैः स्वैर्मार्गैर्गमनं ज्वराध्मानाद्युपद्रवराहित्यं च साध्यलक्षणम् (सुचि. २.५५) आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयति, अतिमात्रेणाध्मानेन शूलेन च विनश्यति । पक्वाशयस्थे रुधिरे शूलो गौरवं च भवेत् । नाभेरधस्ताच्छीतत्वं खेभ्यश्च

रक्तागमो भवति । अभिन्नोऽप्याशयः सूक्ष्मैः स्रोतोभिः स्यन्दमानेन रक्तेन पार्श्वेऽभिपूर्यते । तत्रान्तर्लोहितं शीतपादोच्छ्वासकरानन रक्ताक्षं पाण्डुवदनमानद्धत्वं च तं विवर्जयेत् । (असंउ. ३१.२९९) क्लिष्टछिन्नान्त्रभेदेन भिन्नकोष्ठो द्विविधस्तत्र प्रथमे लक्षणान्यल्पानि, द्वितीये तीव्रत्वादतिबाधकानि; तत्रापि प्रथमः संशयितायुर्द्वितीयस्तु नैव जीवति (असंउ. ३१) अयं शस्त्रसाध्यः (असंउ. ३१.२९९)

-रुजा-स्त्री., लक्षण० कोष्ठशूलः (अहसू. १६.११)

-वात-पु.. लक्षण०; कोष्ठे प्रभूतो वातः (चचि. १३.३८)

-विदाह-पु., लक्षण० कोष्ठे दाहवत्पीडा (सुसू. ४२.१०२)

-विरुद्ध न., कोष्ठायाहितम् (चसू. २६.९५)

-शूल-पु., लक्षण०, उदरशूलः (चचि. १३.३८)

-संक्षोभ-पु., लक्षण० आमाशयपक्वाशयादिस्थानानां चलनम् (सुनि. ८.३)

कोष्ठागारिका-स्त्री., कीट० (सुशा. १०.५७) द्र० 'कोष्ठागारिन्'

कोष्ठागारिन्-पु., सविषकीट० अयं प्राणनाशनः; तेन दष्टस्य सर्पवद्वेगज्ञानं तीव्रा वेदना सांनिपातिकाः विकाराश्च भवन्ति, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतासितारुणः क्षाराग्निदग्धवच्च भवति (सुक. ८.१५-१८)

कोष्ठाङ्ग-न., नाभिहृदयादिपञ्चदशविधाङ्गम्, तानि च नाभिर्हृदयं क्लोम यकृत् प्लीहा वृक्कौ बस्तिः पुरीषाधानमामाशयः पक्वाशयः उत्तरगुदमधरगुदं क्षुद्रान्त्रं स्थूलान्त्रं वपावहनं च (चशा. ७.१०)

कोष्ठानाह-पु., लक्षण० (चसू. १४.२१)

कोष्ठाभिसरण-न., कोष्ठे गमनम् (चवि. ७.१६) क्षीरगुडादिलोभेन कोष्ठमहास्रोतःपरिसरे समन्ताद् (कृमीणां) आगमनम्, इतस्ततः चलनं वा

कोष्ठिका-स्त्री., कोष्ठी (र. १०.३३)

कोहकारक-पु., मृग० (असंसू. ७.३३)

कोहल-पु., यवसक्तुकृतं मद्यम्, गुणाः-त्रिदोषो भेद्यो वृष्यो वदनप्रियश्च (सुसू. ४५.१८०)

कौक्कुट-वि., कुक्कुटपक्षिसंबन्धि (चसू. १३.८३)

-पुट-न., कुक्कुटपुटम्, भूमितले वितस्तिद्वयोच्छ्रिते तावदेव विस्तृते खाते पूरितैश्छगणैः घटसंपुटितद्रव्यस्य परिपचनम् (र. २.१३५)

कौञ्जी-स्त्री., बालग्रह० पूतनाग्रहः (काचि. बालग्रह पृ. १०१)

कौट-पु., वनस्पति० कुटजः (ध. २.१३)

-ज-पु., वनस्पति० कुटजः (ध. २.१३)

-जफाणित-न., कुटजफाणितम्, क्वाथप्रकाराणामेकतमोऽयम् (सुउ. ४०.८९-९०)

-जयव-पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (सुउ. ४०.४०)

कौटिल्य-न., वनस्पति० चाणक्यमूलम् चाणाख्यमूलम् (रा. ७.५३)

-दयित-पु., योग० विषहर० (असंउ. ४०)

कौडविक-न., मान०, कुडवपरिमितः (असंचि. ५)

कौण्डिन्य-पु., ऋषि० (चसू. १.१०)

कौण्डिन्यक-पु., कीट०; शकृन्मूत्रविषः (सुक. ३.५) आग्नेयकीट०; (असंउ. ४३) अयं पित्तजविकारान् करोति (सुक. ८.८-१२) द्र० 'कीट'

कौण्य-न., लक्षण० कुणेर्भावः, करवैकल्यम्, नष्टकरत्वम् (सुनि. ५.१८)

कौतुकमङ्गल-न., विशिष्टकाल एव यो रक्षाबन्धो बाह्वादौ बध्यते तत् कौतुकम्, तद् एव मङ्गलत्वात्कौतुकमङ्गलम् (असंशा. ३.१८)

कौत्स-पु., ऋषि०; द्वित्रिवेगं वमनं कनीयः, चतुष्पञ्चवेगं मध्यमं षट्सप्तवेगमुत्तममित्यस्य वमनविषये मतम् (कासिद्धि. ३ पृ. १५२)

कौन्ती-स्त्री., वनस्पति० रेणुका (ध. ३.५१)

कौन्तेय-पु., अर्जुनः (रा. ९.१९२)

कौप-न., कूपसंबन्धि, कूपोदकम् (सुसू. ४५.८)

कौपीन-न., कटिवस्त्रम् (चशा. ५.१२)

कौबेर-न., चित्तप्रकृति०; शुद्धसत्त्वस्य प्रकारः (चशा. ४.३७ (६) मध्यस्थत्वं सहिष्णुत्वमर्थप्राप्तिसंचयपरत्वं महाप्रसवशक्तित्वं चास्य लक्षणम् (सुशा. ४.८४) वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)

कौब्ज्य-न., कुब्जत्वम् (सुशा. १०.४६)

कौमार-वि., कुमारसंबन्धि (का. धात्रीचि. पृ. १४५)

-धूप-पु., योग० धूपकल्पः (काकधूपकल्प पृ. १७०)

-भृत्य-न., आयुर्वेदस्याऽष्टाङ्गेष्वेकम्, कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थं तन्त्रम् (सुसू. १.५) आयुर्वेदस्याष्टतन्त्राणामादिमं तन्त्रम् । वृद्धजीवकेन निर्मितं तन्त्रम् (काक. २७) तद् वात्स्येन प्रतिसंस्कृतम् (काक.)

कौमारी-स्त्री., वाराहीकन्दः (रा. ७.१३४)

कौम्भघृत–न., घृत० पुराणघृतभेदः (काखिविसर्पचि.)
सर्पिर्दशाब्दिकं नाम दशवर्षपुराणं सर्पिः (चसू. २४.५७) शतवर्षस्थितम् (सुउ. १२.४)
कौरव–न., पु., कार्पासम् (चसू. १४.४९)
कौर्पर–पु., संधि० बाहुमध्यगतः सन्धिः (चसू. ३.३२)
कौलक–न., वनस्पति० (काखिल) पटोलभेदः (चसू. २७.९७)
कौलत्थ–पु., यूष० (सुक. ५.१८, १९)
कौलाली–स्त्री., मूषायोग्या मृत्तिका (र. १० ६.७); कुलालः कुम्भकारः कुलालस्येयमिति कौलाली मृत्तिका, कुलालकर्मोचितत्वादियं मृत्तिका मूषाक्षमाऽपि ज्ञेया
कौशल्य–पु., कोशलदेशः (काखिल. २५.९)
कौशिक–पु., ऋषि० यज्ञःपुरुषविषये विवदमानेष्वेकः (चसि. ११.४)
प्राणि० उलूकः (सुसू. २९.३६, ३७)
वनस्पति० जरणद्रुमः (रापरि. ९.१३)
गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)
कौशिकी–स्त्री., नदीसंज्ञा (सुचि. ३०.३४)
कौशेय–न., वस्त्रप्रकारः कोशाकारकिमिलालातन्तुरचितः पट्टः (सुउ. ३९.२७५)
राङ्कवादिवस्त्रम् (अरु. अहसू. १७.५)
पट्टसंज्ञं वसनम् (अरु.) (अहसू. ३.१३)
तसरसंज्ञं वस्त्रम् (सुचि. ४.२५)
कौषेय–न., कौशेयम् (चसू. ६.१५)
कौष्ठिक–वि., (कुष्ठव्याधिप्रकरणम्) (चचि. १५.१२८)
–नवक–न., योग० (इंदु. असंउ. ३७) (त. प्र. पृ. ३१२)
कौसुम्भ–न., शाक० कौसुम्भशाकम् (चसू. २७.११०)
(कौसुम्भी)–स्त्री., व्रीहि० (रा. १६.११७)
–शाक–न., वनस्पति०, गुणाः–मधुरं कटूष्णं दृष्टिप्रसादरुचिदीप्तिकरं विण्मूत्रदोषापहरं मदघ्नं च (रापरि ७.८१)
रूक्षं श्लेष्महरं लघु (सुसू. ४६.२७२) अम्लं गुरु पित्तकृत् सरं च (अहसू. ६.१०१)
हिं.—कुसुम्बर, कुसुम.
म.—**करडई**, कर्डी;
गु.—कुसुंबी, कसंबी, कव्री;
बं.—कजिरेह;
त.—सेन्दुरकम्, सेन्दुरुक्काई, कुसुम्बविराई;
फा.—खसकदान;
खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)
कुसुम्भम् (रा. १६.१८९)
कौसेन्दुक–पु., धान्य० व्रीहि० (रा. १६.९७)
कौस्तुभ–पु., रत्न० कुं पृथ्वीं स्तुभ्नाति व्याप्नोति इति कुस्तुभः समुद्रः तत्र भवः कौस्तुभः (असंशा. १२.८)
कौहली–स्त्री., सुराभेदः (असंसू. ६.२७) द्र० 'सुरा'
क्रकच–पु., शस्त्र० करपत्रम्, (इन्दुः असंनि. ५.४२) संनिपातज्वर० वातमध्यपित्ताभिवृद्धकफहीनैरसौ भवति । तल्लक्षणम्–स्तब्धाङ्गः स्तब्धदृष्टिर्हत इव शेते, बह्वनश्नतः पुरीषं चातिमात्रं विरिच्यते । सर्वेषां स्रोतसां पाकश्च (का. विशेषकल्पाध्यायः)
(क्रकचा)–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रापरि. १०.२)
–च्छद–पु., वनस्पति० केतकी (धपरि. ५.१)
–पत्र–पु., वनस्पति० शाकः (रा. ९.६)
क्रकर–पु., पक्षि० (चसू. २७.४९) तद्गुणाः–लघुर्हृद्यो मेधाग्निबलवर्धनो वृष्यो वातपित्तहरश्च (सुसू. ४६.६३–६४)
हिं.—करेटु कुवार.
बं.—करकटीया.
म.—**करढोक.**
क्रथ–पु., लक्षण० अकस्मादुच्छ्वासावरोधः (सुचि. ४०.१६)
क्रथन–न., लक्षण० स्वपतः कण्ठे घुर्घुरारवः अकस्माच्छ्वासाऽवरोधः (सुसू. १५.३२)
पु., अकस्मादुच्छ्वासावरोधः क्रथनं एतत्क्रियावांश्च क्रथन इत्युच्यते (चशा. ८.२१)
क्रन्दनम् (चसि. २.२२) नासाशब्दः (इन्दुः असंनि. ४.१३)
क्रम–पु., उपक्रम०, चिकित्सा (सुचि. २२.५२)
अनुक्रमः (चसि. १.३)
विधिः (अहसू. १६.२८)
परिपाट्या यथोचितसंनिवेशः (न्याय.)
उद्दिष्टानामर्थवशाद्यथावद् ग्रहणम् (न्याय.)
परिपाटी (चवि. ८.३)
–कोविद–वि., पेयादिक्रमाभिज्ञः (चसि. १२.६.)
–पूरक–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३)
–विरुद्ध–वि., क्रमं त्यक्त्वा यन्निषेव्यते तत्, यथा विण्मूत्रमनुत्सृज्य भुज्यमानं क्रमविरुद्धं भवति (चसू. २६.९७)
–सेवन–न., परिव० अन्नपानादीनां विधियुक्तं सेवनम् (चवि. ५.२२)

क्रमुक–पु., वनस्पति० पूगफलम् (रा. ११.७१)
(सुसू. ३८.२९)
न.,–वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)
वृक्षरोध्रः (सुसू. ड. ३८.८)
पट्टिकालोध्रः (चक्र. चचि. ४.७४–७६)
(असंउ. ६)
लोध्रभेदः (ध. इ. १७७)
ह्रस्वपूगफलम् (चक्र. चचि. ७.८१)
–प्रसून–पु., वनस्पति० धूलीकदम्बः (रा. ९.१७३)
क्रमोत्पत्ति–स्त्री., क्रमश उत्पत्तिः (चचि. १५.२४५)
क्रमोपयोग–पु., क्रमेणोपयोगः, क्रमेण योगः, क्रमः चिकित्सा उपयोगो योजना चिकित्साकरणमित्यर्थः (सुउ. ६१.१८)
सुष्ठुपद्धत्या उपयोगः (चवि. ३.३६)
क्रय–पु., पण्यम् (चसू. १५.३)
क्रव्य–न., मांसम् (सुउ. १७.३५)
–भुज्–वि., गृध्रादिः (सुउ. १७.३५)
क्रव्याद्–वि., मांसादप्राणी व्याघ्रादिः (असंचि. ७)
क्रव्याद–वि., मांसादो व्याघ्रादिः, तन्मांसरसो ग्रहण्यां शस्तः (चचि. १५.११६) क्रव्यादमज्जा लघुशीतकषायो रक्तपित्तघ्नश्च (सुसू. ४५.१३१)
(क्रव्यादी) स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)
क्रव्यान्मांसरसाभ्यास–पु., मांसादमांसरसस्य सततं नियमेन सेवनम्, अयं ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानां च श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)
क्रव्यादप्रसह–वि., वानरमूषककुलिङ्गमधुह्राव्यतिरिक्ता द्वीप्यादयो, मांसाहारत्वात् (अहसू. ६.६२–६३ हे)
क्रव्यादरस–पु., योग० गुरुमांसगुरुभोज्यपाचनोऽत्यग्निदीपनश्च (र. १६.१४०–४७)
क्रशिमन्–पु., कार्श्यम् कृशता, कृशस्य भावः (अहसू. १४.३३)
क्राथिन्–वि., हिंसाशीलः (ड. सुशा. ४.६४)
क्रथनशीलः सुप्तः सन् नासाद्वारेण शब्दं करोति, (इन्दु. असंशा. ८.१४)
क्रान्त–न., पारदसंस्कार० क्रामणम्, रसस्य शरीरान्तःस्थसर्वधातुषु व्याप्तिरेकीभावो वा (र. २७.२०–२३)
(क्रान्ता)–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२०)
क्रामण–न., पारदसंस्कार० वेधद्वारा तारादीनां स्वर्णादिविधायकम्। पारदस्य लेपावापाद्युपयुक्तस्य लोहधात्वन्तःप्रवेशाभिव्याप्तिकारकम् (र. ३.७३)

क्रिमि–पु., कीट० (चसू. १.१०१)
कोष्ठपुरीषादिबाष्पसम्भवो जीवः(ड. सुसू. १.३०)
ध्वजभङ्गरोगे लिङ्गे जातो जन्तुविशेषः (चचि. ३०.१७४–७५)
रोग० कृमिजन्यो व्याधिरयं तन्नाम्नैव ज्ञायते। कृमयो बाह्याभ्यन्तरभेदतो द्विविधाः। तथा बहिर्मल-कफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः। नामतश्च विंशतिविधाः। तदुत्पत्तिः–आमपक्वाशये कफजानां पुरीषजानां तथा धमन्यां च रक्तजानां कृमीणां सम्भवः। तत्सम्प्राप्तिः–अजीर्णादिभिः प्रकुपिताः श्लेष्मादिदोषाः पुरीषादीन्यधिष्ठाय कृमीन् जनयन्ति (चवि. ७.९–१३)
सञ्जातकृमिलक्षणम्–ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। अरोचकोऽतिसारश्च (सुउ. ५४.१८–१९)
तत्र बहिर्मलोद्भवास्तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रया बहुपादाः सूक्ष्माश्च यूकालिक्षादिनामतो ज्ञेयाः। ते कोठपिटिकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते (असंनि. १४.४६–४७)
आभ्यन्तराः कृमयः–तत्र रक्तजा रक्तवाहिशिरास्थानाः (असंनि. १४.५४) सप्तसङ्ख्याकाः। नामतः केशादा रोमादा नखादा दन्तादाः किक्किशाः कुष्ठजाः परीसर्पाश्च। ते रक्तवर्णाः कृष्णवर्णाः स्निग्धाः पृथवश्च भवन्ति। तेभ्यो रक्ताधिष्ठानजा विकारा कुष्ठविसर्पपिडकादयो भवन्ति (सुउ. ५४.१५)
पुरीषजाः कृमयः सप्तसङ्ख्याकाः। तेऽजवा वियवाः किप्याश्चिप्यागण्डूपदाश्चूरवो द्विमुखाश्चेति नामतः। तेऽतीव वृद्धा आमाशयोन्मुखा यदा भवन्ति तदा आस्योद्वारनिःश्वासा विच्छिन्नधानुविधायिनो भवन्ति। अधोविसर्पणं तेषां स्वभावः (असंनि. १४.५५–५६) एते श्वेता सूक्ष्माः केचित् पुच्छेषु स्थूलाश्च (सुउ. ५४.९) पृथुवृत्ततनुस्थूलाश्यावपीतसितासिता इति (असंनि. १४.५५) ते गुदानुसरणं गुदतोदनं शूलमग्निमान्द्यं पाण्डुत्वं विष्टम्भं बलसंक्षयं लालास्रावमरुचिं हृद्रोगं विड्भेदं च कुर्वन्ति (सुउ. ५४.९–१०) पारुष्यकार्श्यरोमहर्षाश्चेति। (असंनि. १४.५८) कफजाः कृमयः षट्सङ्ख्याकाः। दर्भपुष्पा महापुष्पाः प्रलूनाश्चिपिटाः पिपीलिका दारुणाश्चेति नामतो ज्ञेयाः। एतेषामेव कर्मविशेषेण मज्जादा नेत्रलेढारस्तालुश्रोत्रभुजश्चेति

संज्ञान्तराणि (सुउ. ५४.१३) एते रोमशा रोममूर्धानः सपुच्छाः श्यावमण्डला रूढधान्याङ्कुराकाराः शुक्लास्तनवश्च (सुउ. ५४.१२) ताम्रावभासा इति (असंनि. १४.४९) ते शिरोहृद्रोगवमथुप्रतिश्यायकराः (सुउ. ५४.१२) हृल्लासाऽऽस्यश्रवणाविपाकारोचकमूर्च्छाज्वरानाहकार्श्यकराश्च (असंनि. १४.५२) अन्तर्जाः कुष्ठैकहेतवः । तेषु कफजा अधिकतरम् (असंनि. १४.४८) तत्साध्यासाध्यत्वम् – पुरीषजाः कफजाश्च दृश्याः साध्याश्च । रक्तजा अदृश्या याप्याश्च । रक्तजेष्वपि केशादरोमादनामानौ अत्यन्ताद्दश्यत्वादसाध्यौ (सुउ. ५४.१९–२०)

–कर–पु., कीट० सविषोऽसौ एतद्दष्टे वेगज्ञानं सर्पवज्ञवति, तास्ताश्च तीव्रा वेदना भवन्ति, तथा सान्निपातिका रोगा भवन्ति, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतासितारुणः, क्षाराग्निदग्धवच्च (सुक. ८.१५–१८)

–कर्णक–पु., कर्णरोग० वातादिभिः स्वकारणकुपितैर्दूषिते ये श्रोत्रसंबंधिनी मांसासृजी तयोर्विक्लेदस्तज्जन्याः कृमयः कर्णं भक्षयन्तस्तीव्रां रुजं कुर्युः त्रिदोषजोऽयमिति विदेहः (सुउ. २१.५१)

–कोष्ठ–वि., क्रिमियुक्तः कोष्ठो यस्य, विरेचनयोग्योऽसौ (चसि. २.१३)

–ग्रन्थि–पु., नेत्ररोग०, तल्लक्षणम्–वर्त्मशुक्लयोः संधौ ग्रन्थिः क्रिमियुक्तो भवति । ते कृमयः कण्डूं कृत्वा अन्तश्चरन्तो नयनं दूषयन्ति । साध्योऽयम् (सुउ. २.९)

–घ्न–न., वनस्पति० विडङ्गम् (चसू. २३.१८)
वि., क्रिमिनाशनम् (चसू. १.९७)

–घ्नगण–पु., द्रव्यगण० अक्षीवमरिचगण्डीरकेवुकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणिहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिकाऽऽखुपर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि द्रव्याणि (चसू. ४.११, असंसू. १५.२०)

–घ्नवर्ग–पु., द्रव्यगण० (असंसू. १५.२०) द्र० क्रिमिघ्नगण.

–जाति–स्त्री., क्रिमीणां जातिः, विंशतिः क्रिमिजातयः समुद्दिष्टाः (चसू. १९.३)

–जिघांसु–वि., क्रिमिपीडितो व्याधितः कृमिहननेच्छुः (सुउ. ५४.४०)

–दन्तक–पु., दन्तरोग० मारुताधिकैस्त्रिभिर्दोषैर्मूलसहितं दन्तमाश्रित्य तन्मज्जनि शोषिते अंतर्दन्ते च सुषिरेऽन्नमलपूरिते सति मूलस्य पूतित्वात् सूक्ष्माः क्रिमयो जायन्ते । ततश्च अकारणमेव तीव्रार्तिस्तथा शमश्च भवति । तथा संरम्भान्वितः कृष्णश्चलः प्रलूनाख्यः पूयरक्तस्रावी दन्तः कृमिदन्तक इति संज्ञितः (असंउ. २५)

–रोगप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ५४.१)

–शत्रु–पु., वनस्पति० विडङ्गम् (डसुउ. ६१.३६)

–शूक–पु., क्रिमिजः शूकः, क्रिमिजशूकाच्छोथोत्पत्तिर्भवति (चसू. १८.४)

क्रिमिल–वि., कृमियुक्तं कृमिकारकं वा (चसू. २७.२१५)

क्रिम्याशय–पु., शारीर० 'विण्-मूत्र-क्रिमि-पक्वा-ऽऽम-कफपित्ताशयाः पृथक् सन्त्येते देहिनां कोष्ठे (का. शा. गर्भावक्रान्तिः ९)

क्रिया–स्त्री., चिकित्सा० कायवाङ्मनोनिर्वृत्तं वा कर्म (सुउ. ४१.४)
शरीरस्य उत्क्षेपणावक्षेपणप्रसरणाकुञ्चनलक्षणात्मिका चेष्टा (सुसू. २५.३६)
शस्त्रक्रिया (सुचि. ७.२९)
शास्त्रोदितं कर्म (सुसू. १.२२)

–कल्प–पु., अध्याय० क्रियाणां तर्पणपुटपाकादीनां कल्पनं करणं वा अधिकृत्य कृतोऽध्यायः, सुश्रुतोत्तरतंत्रे अष्टादशोऽध्यायः (सुउ. १८.१)

–काल–पु., चिकित्साकालः (सुसू. १.३८)
द्रव्याणि यस्मिन् काले क्रियां कुर्वन्ति सः (सुसू. ४१.५)

–क्रम–पु., चिकित्साविधिः (असंसू. ५.१८)

–क्रमविधि–पु., क्रियाचिकित्सा, तस्याः क्रमः तस्याऽनुष्ठानं विधिः (चचि. ३.६०.६१)

–क्षय–पु., क्रियायाश्चिकित्सायाः कायवाङ्मानसकर्मणां वा क्षयः 'क्रियाक्षयकरत्वाच्च इत्युच्यते पुनः (सुउ. ४१.४)

–पथ–पु., उपचरणविधिः (सुचि. ६.९)
चिकित्सितम् (सुचि. ५.१९) अत्र चिकित्सितपदे भावे क्तप्रत्ययो ज्ञेयः, तेन चिकित्सितं चिकित्सा इत्यर्थः

–योग–पु., संशमनसंशोधनादीनां सम्यग्योगः (सुउ. १.२५)
उपक्रमः (सुउ. १.२५)

–विक्रयिन्–वि., चिकित्साया विक्रयं कुर्वाणः केवलद्रव्यप्राप्तिदृष्ट्या चिकित्सां विदधानः (असंसू. २.२१)

–विभाग–पु., चिकित्साभेदः (सुचि. ५.२७)

-सिद्धि-स्त्री., अध्याय० (कासि. ५)
-सूत्र-न., चिकित्सासूत्रम् (चनि. ४.५५)
-संकर-पु., यौगपद्येन उपक्रमद्वयप्रयोगः (सुसू. ३५.४८)
-हीन-पु., पारदबन्ध० (र. ११.६९)

क्रियाभ्यास-पु., क्रियाणामुष्णोदकस्वेदक्षीरवृक्षकषाय-योजनादीनामभ्यसनम्, अर्थाद् अनवरतमुपसेवनम् (सुचि. ७.३३)

क्रीडनक-न., बालानां क्रीडार्थं पशुपक्ष्यादीनां चित्राणि मूर्तयो वा (काखिल. १२.६) अल्पं क्रीडनं क्रीडनकम्, अत्र अल्पार्थे कन्प्रत्ययः
क्रीडावस्तु (चशा. ८.६३)

क्रीडा-स्त्री., लोकप्रसिद्धैर्हस्तपादप्रक्षेपैर्नर्मपूर्वकं क्रीडनम् (सुचि. ११.११)
-भूमि-स्त्री., क्रीडनार्थं निर्मिता स्थली क्रीडाङ्गणम् (असंउ. १)

क्रुकरमस्तक-न., वनस्पति० चव्यम् (रा. ६.११५)

क्रुद्ध-वि., प्रकुपितः (सुनि. १.२२)
-शूर-वि., क्रुद्धे सति शूरः (चशा. ४.३८ (४)

क्रूर-पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः रक्तपुनर्नवा (ध. १. २७६) द्र० 'पुनर्नवा'
वनस्पति०-ध्रुवकः (रापरि. ९.४०)
-कर्मन्-स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रापरि. ५.२१)
न., पशुवधादिकं क्रौर्यमूलकं कर्म (सुसू. २९.१५)
-कोष्ठ-वि., क्रूरं कोष्ठं यस्य (चक. १२.७९) वात-बहुलकोष्ठः, अस्य श्यामादिभिरपि कष्टेन विरेचनं जायते (र. २८.७३)
-गन्ध-पु., खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६७)
(-गन्धा)-स्त्री., वनस्पति० कन्थारी (रापरि. ८.२०)
(क्रूरा)-स्त्री., वनस्पति० रक्तपुनर्नवा पुनर्नवाभेदः (रा. ५.४०६) द्र० 'पुनर्नवा'

क्रोड-पु., शारीर० उरः (चसू. २७.३३४)
हृदयस्थानम् (सुसू. ४६.१३०)
प्राणि० वराहः (रा. ११.१३१)
वनस्पति० वाराहीकन्दः (रा. ७.१३५)
-कन्या-स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (रा. ७.१३४)
-चोडा-स्त्री., वनस्पति० महामुण्डी (रा. ५.२१९)
-पुट-न., वराहपुटम् (र. २.८७)

क्रोडेष्टा-स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५९)

क्रोध-पु., मनोभाव० कोपः 'क्रोधमभिद्रोहेण नाम परपीडांप्रवृत्त्या परीक्षेत (चवि. ४.८)
राजसगुणः (सुशा. १.१८)
रुद्रकोपः स एव रुद्राज्ञया लोके ज्वररूपेणाऽऽगतः (चचि. ३.२५)
यक्ष्मपर्यायः (चचि. ८.११)
पित्तोन्मादस्य लक्षणेष्वेकं लक्षणम् (चनि. ७.७ (२)
-प्रचुरता-स्त्री., लक्षण० क्रोधस्याऽऽधिक्यम्, शोणि-तजो विकारः (चसू. २४.१४)
-विष-न., क्रोधेन विषम् (ड. सुक. १.४)
-संरम्भ-पु., क्रोधस्यावेशो वेगो वा (असंसू. ३६.११)

क्रोधाग्नि-पु., रुद्रकोपस्वरूपोऽग्निर्ज्वररूपः स भस्म-प्रहरणः त्रिशिरा नवलोचनो ज्वालामालाकुलो ह्रस्वजङ्घोदरश्च (चचि. ३.२४)

क्रोशन-न., आर्तस्वरेण रोदनम्, आक्रोशः (सुशा. ९.१२)

(क्रोशना)-स्त्री., ग्रह० रेवतीग्रहः (का. रेवतीकल्पः)
तस्या लक्षणम्-उदरस्थो यया क्रोशेत्क्रोशना नाम सा स्मृता ।

क्रोष्टुक-पु., प्राणि० शृगालः (सुनि. १.७६)
-पुच्छिका-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. १.९०)
वनस्पति० गोलोमिका (रा. परि. ५.३२)
-मेखला-स्त्री., पृश्निपर्णी (रा. ४.११८) (असंउ. ४२)
-शिरस्-न., रोग० वातरोगः तत्संप्राप्तिलक्षणे जानुमध्ये वातशोणितजो महारुजः स्थूलः शोफो भवति । स च शृगालमस्तकाकारः (ड. सुनि. १.७६) (असंनि. १५.५४)
-शीर्षक-पु., क्रोष्टुकशिरः (अहसू. २७.१६)

क्रोष्टुफल-पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रा. परि. ८.१८)

क्रौञ्च-पु., पर्वत० अयं स्कन्ददेवोऽसूदयत् (सुउ.२८.१४)
पक्षि० प्लवजातीयो जलचरः (चसू. २७.४१)
द्र० प्लव.
सविषान्नपरीक्षणपक्षिष्वेकः; क्रौञ्चस्तु विषसंसृष्टं दृष्ट्वान्नं मदमृच्छति (सुक. १.३१)
क्रौञ्चिरः (सुसू. ४६.१०५)
अस्याऽस्थि मूत्रदोषहरम् । 'कैचर' इति लोके (सुउ. ५८.४४)
वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

क्रौञ्चक–न., कन्दविष० ज्वरहिध्माफेनवमनादिकरम् (असंउ. ४०.३३०) 'कन्दविष'

(**क्रौञ्चिका**)–स्त्री., मूषा (र. १०.१)

(**क्रौञ्ची**)–स्त्री., वनस्पति० पद्मबीजम् (रा. १०.२५६)

(**क्रौञ्ची**)–स्त्री., बालग्रह० पूतना (काबालग्रहचि.) मूषा (र. १५.४४)

–मुख–वि., स्वस्तिकयत्र० क्रौञ्चमुखसदृशं यत्रम् (सुसू. ७.१०)

क्रौञ्चादन–न., वनस्पति० धिञ्जुलिका शीतलं गुरु विष्टम्भि चेदम् (चसू. २७.११६) क्रौञ्जुलिका (जेज्जटः) (चचि. ३.२५८)

(**क्रौञ्चादनी**)–स्त्री., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

क्रौञ्चास्थि–न., क्रौञ्चपक्षिणोऽस्थि (चसू. २३.१५) मूत्रकृच्छ्रकृमिमेहस्थौल्यापहमेतत् (असंसू. २४)

क्रौडी–स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (रा. ७.१३४)

क्लम–पु., लक्षण० मन इन्द्रियग्लानिः (चसू. ७.३३) अनायासः श्रमः 'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। स क्लम इति विज्ञेयः स च इन्द्रियार्थप्रबाधकः॥ (सुशा. ४.५१) तन्द्रालक्षणेऽप्येकम् 'निद्रायां प्रबोधितस्य क्लमाभावः तन्द्रायां तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति' (ड. सुशा. ४.४९)

–घ्न–वि., क्लमनाशनम् (असंसू. ६)

–च्छेदिन्–वि., क्लमनाशनम् (असंसू. ७.२०६)

क्लान्त–वि., लक्षण० श्रान्तः (चसू. २१.३५)

–तमा–वि., रोगलक्षण० मांसशोणितादिभिर्हीना अतितमां क्लान्ता, क्लान्ततमा (चशा. ४.२३)

क्लिन्न–वि., लक्षण० आर्द्रतां यातम्, आर्द्रितं वा (र. ३.५०)

(**क्लिन्ना**) स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (रा. ४.१२४)

–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० यद्वर्त्म बाह्यतोऽल्परुजं शूनमभ्यन्तरे च क्लिन्नं स्रवद्रूपं कण्डूनिस्तोदबहुलं, तत्क्लिन्नवर्त्मेति ज्ञेयम् (सुउ. ३.२१)

क्लिष्ट–वि., लक्षण० म्लानम् (चसि. ६.१३) निन्दितम् (चशा. १.१०७) आर्तम्, पीडितम् (चचि. १३.१३) क्लेशयुक्तम्, दुःखयुक्तम् (चशा. ६.३१)

–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० यदुभयमपि वर्त्म मृद्वल्पवेदनमकस्माद्रक्तं च जायमानं दृश्यते, तत् क्लिष्टवर्त्म ज्ञेयम्। इदं रक्तजं साध्यं च। (सुउ. ३.१८) श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन यदुभयं वर्त्म बन्धुजीवनिभं क्लिष्टमांसमिव च जायते तदपि क्लिष्टवर्त्म बोध्यम्। अयं विदेहोक्तो नेत्ररोगः (सुउ. ३.१८)

क्लीत–पु., कीट० आग्नेयकीटः सविषोऽसौ (असंउ. ४३) एतेन दष्टस्य नरस्य पित्तनिमित्तजा रोगा भवन्ति (सुक. ८.११–१२)

क्लीतक–न., मूलविष० स्थावरविष अष्टसु मूलविषेष्वेकम्। अनेनोपसेवितेन उद्वेष्टनप्रलापमोहा भवन्ति (सुक. २.५)

वनस्पति० यष्टीमधु (चसू. १.८१) एतद् द्विविधम्–आनूपं स्थलजमिति (च. सू. १.८१)

क्लीतनक–पु., मूलविष० क्लीतकम् (असंउ. ४०)

(**क्लीतनी**)–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५०)

क्लीतन–न., वनस्पति० यष्टीमधुभेदः। क्लीतनं द्विविधम्–जलजं स्थलजं च। तत्र स्थलजं क्लीतनकं क्लीतनं क्लीतिकेति नामभिर्ज्ञायते। जलजं तु मधुपर्णी मधूलिकेति। क्लीतनगुणाः–मधुरं शीतलं गुरु रुच्यं बल्यं चक्षुष्यं वृष्यमस्रपित्तापहं च (ध. १४४) द्र० 'यष्टीमधु'

(**क्लीतनिका**)–स्त्री., मूलविष० क्लीतकम् (असंसू. १४) वनस्पति० जलजं यष्टीमधु (असंसू. १४.४)

क्लीतनीयक–न., वनस्पति० क्लीतकम् (रा. ६.१८४)

(**क्लीतिका**)–स्त्री., वनस्पति० स्थलजं क्लीतनम् (ध. १.१४४) द्र० 'क्लीतन'

क्लीब–पु., हीनसत्त्वः (चसू. ८.२५) नपुंसकः दुष्टबीजः (चक्र. चशा. २.१९) क्षीणशुक्रः पुरुषः (सुसू. ११.२८) नैष क्षारेणोपक्रम्यः (सुसू. ११.२८) सुरताशक्तः (भाप्र.)

–ता–स्त्री., लक्षण० पुरुषस्य भावो धर्मो वा पौरुषम् तद्विरुद्धमपौरुषं नाम क्लीबता (सुशा. ९.१२) नपुंसकता, स्त्रीसंसर्गाद्धि सद्यः स्यात् क्लीबता बलिनामपि (असंसू. ९.७७)

क्लेद–पु., शरीरस्थं जलम्, द्रवद्रव्यविशेषो वा (चसू. २६.४३ (६) आहारपरिणामकरभावविशेषः, अन्नशैथिल्यापादनं तस्य कर्म (चशा. ६.१५) आर्द्रत्वम् (सुसू. १८.२१) शोणितादिविकारः (अरु.) मलार्द्रत्वम् (हे. अहसू. १२.५२)

-वाहन-न., क्लेदस्य बहिर्गमनम् (अहसू. ११.५)
-विधृति-स्त्री., स्वेदस्य श्रेष्ठं कर्म, क्लेदस्य विधारणम् मध्यमत्वक्स्नेहकचरोमधारणम्
(अरु. अहसू. ११.५)
-विशोषण-न., रूक्षणं, क्लेदस्य विशोषणम्
(चशा. ८.३१)

क्लेदक-पु., कफः क्लेदकबोधकतर्पकादिपञ्चप्रकारकः, तत्राऽयमामाशयस्थः अन्नसङ्घातस्य क्लेदनात्क्लेदकः
(असंसू. २०.६ अहसू. १२.१७)

क्लेदन-पु., अम्लरसस्य गुणविशेष आर्द्रताजनकः (सुसू. ४२.१०) आर्द्रभावः (सुसू. ४१.४ (२)

क्लेदाच्यूषण-वि.,विशदगुणस्य कर्म. आर्द्रीभावविनाशकरः
(सुसू. ४६.५१७)

क्लेशभीरु-वि., दुःखासहनशीलः, (अहसू. १६.२१)

क्लैब्य-न., लक्षण० नपुंसकत्वम् (चचि. ३०.१५४)
रोग० शुक्रप्रदोषजरोगेष्वेकः, ध्वजानुच्छ्रायः (चक्र. चसू. २८.१८) तत्कारणानि-असात्म्यसेवनादुष्टयोनिगमनादभिघाताच्छूकातिसेवनादिभिर्बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात्क्लैब्यं संपद्यते, तल्लक्षणम्-संकल्पप्रवणो वश्यां प्रियामपि स्त्रियं लिङ्गशैथिल्यान्न याति, कदाचिद्याति चेत् श्वासार्तः स्विन्नगात्रो मोघसंकल्पचेष्टितो म्लानशिश्नो निर्वीर्यश्च भवेत् (चचि. ३०.१५५-५७) तत्पञ्चविधम्-बीजोपघातजं जरासंभवं शुक्रक्षयजं शोफश्छेदजं वृषणोत्पाटनजं च, तल्लक्षणानि-बीजोपघातजे नरः पाण्डुवर्णः सुदुर्बलोऽल्पप्राणः प्रमदास्वल्पहर्षश्च भवेत् (चचि. ३०.१६०) जरासंभवे क्षीणधातुर्विवर्णो दीनश्च भवेत् (चचि. ३०.१६१) क्षयजे अनशनक्रोधशोकादिभ्यो रससंक्षयस्तेन च शुक्रक्षयस्ततः क्लैब्यम् (चचि. ३०.१८१) शोफसश्छेदनात्क्लीबता वृषणोत्पाटनाच्च क्लैब्यम् (चचि. ३०.१८८) अन्त्ये द्वे असाध्ये
सुश्रुते-क्लैब्यप्रकाराः षट्-मानसमाहारजं शुक्रक्षयजं मर्मच्छेदजं सहजं शुक्रनिरोधजं चेति, तत्र मानसम्-तैस्तैरहृद्यैर्भावैः रिरंसो रन्तुमिच्छोर्मनसि क्षते द्वेष्यस्त्रीसंप्रयोगाच्च भवति (सुचि. २६.९) आहारजम्-कटुकाम्लोष्णलवणैरतिसेवितैः सौम्यधातुक्षयाद्भवति (सुचि. २६.१०-११) शुक्रक्षयजम्-अतिव्यवायशीलनाद्वाजीकरणाभावाज्जायमानाद् ध्वजभङ्गाद्भवति (सुचि. २६.११) मर्मच्छेदजम्-महता मेढ्ररोगेण मर्मच्छेदेन वा पुंस्त्वोपघातो भवति, सहजम्-जन्मप्रभृति यः क्लीबस्तत्क्लैब्यं सहजम् (सुचि. २६.१३) शुक्रनिरोधजम्-बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद्ब्रह्मचर्यतश्च भवति (सुचि. २६.१४) तत्र सहजं मर्मच्छेदजं च असाध्यम्, इतराणि साध्यानि
तत्सामान्यचिकित्सा-रक्तमोक्षणस्नेहपानानि, सस्नेहं विरेचनं, यथावस्थमनुवासनमास्थापनं वा, जरासंभवक्षयजयोः स्नेहस्वेदौ सस्नेहं शोधनं क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा यापनबस्तयो रसायनप्रयोगाश्च
(चचि. ३०.१९६-२०३)
यापनबस्तिर्मुस्तादिबस्तिरिति
(चक्रः चचि. ३०.१९६-२०३)

क्लोम-(तिलकम्) तस्य (हृदयस्य) अधोदक्षिणतो यकृत् क्लोम च (सुशा. ४.३१) (चशा. ७.१०) 'कालखण्डादधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकं प्रसिद्धम् (ङ० सुनि. ९.१८) वृक्कादूर्ध्वं पिपासास्थानम् क्लोम,' (मानि. मधुकोशः) हृदयावयवम्
(चक्र. चचि. १३.४५)
हृद्दक्षिणतो मांसग्रन्थिः (हे. अहसू. १२.३)
पिपासास्थानम्, उदकवहानां स्रोतसां मूलम्
(चवि. ५.८) (अहसू. १२.३)

(क्लोम)-नाडी-स्त्री., मण्डलसंधिस्थानम्
(सुशा. ५.२७)

क्लोमन्-न., शारीर० पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम्

क्लोमापकर्षण-न., लक्षण० क्लोमापकर्षणाकारा वेदना
(चक्र. चसि. ९.६)

क्वचित्स्थ-वि., कण्ठताल्वादितत्तत्स्थानगतः (दोषः)
(चचि. १२.९)

क्वथित-न., क्वथनं क्वाथः कषायो वा (र. २.१७)
वि., शृतम्, पाचितम् (असंसू. ६.२९)
-शीत-वि., आदौ क्वथितं पश्चाच्छीतम्
(अहसू. ५.१८)

क्वाथ-पु., कल्पद्रव्यं द्रवेणाप्लुत्य शृतं क्वाथ इत्युच्यते। क्षुण्णे द्रव्यपले मृत्पात्रस्थे षोडशगुणं पानीयं क्षिपेत्। तदष्टमांशावशेषितं गृहीतं क्वाथ इत्युच्यते। क्वाथपानमात्रा-क्वाथस्य पलमुत्तमा मात्रा। त्रिभिः कर्षैर्मध्यमा मात्रा। कर्षद्वयं निकृष्टा च मात्रा
(भा. प्र. भेषज. ३०)
केचिद् वैद्याः क्वाथ्यद्रव्यपले षोडशगुणं पानीयं क्षिप्त्वा, क्वाथयित्वा चतुर्भागावशिष्टं जलं क्वाथमिति

वदन्ति । क्काथे वातपित्तकफातङ्के क्रमशश्चतुर्थाष्टमषोडशांशा सिता प्रक्षेप्या । एतत्प्रमाणविपरीतो मधुप्रक्षेपः कार्यः । जीरकगुग्गुलुक्षारलवणानि शिलाजतुहिङ्गुत्रिकटुकानि च शाणप्रमाणानि क्काथे प्रक्षेप्तव्यानि । क्षीरं घृतं गुडं तैलं द्रवं कल्कं चूर्णादिकं च कर्षसम्मितं क्काथे निक्षिप्येत
(सुचि. ११.८ काखिल. ३.४२-४३) (भा. प्र.)

क्काथन-न., क्काथवज्जले उत्क्कथनम् (र. २.३६-३७)

क्षण-पु., कालस्य सूक्ष्मो भागः (अहसू. १.२४)
निर्यास० रालः (ध. ३.१२१)

-दा-स्त्री. वनस्पति० हरिद्रा (सुउ. १७.७)

-दान्ध्य-न., नेत्ररोग० नक्तान्ध्यम्, रात्र्यन्ध्यम् (सुउ. १७.१६)

क्षणन-न., क्षतजननम् (चनि. ६.४)
छेदनम् (सुचि. ७.३६)

क्षणादि-वि., क्षणादारभ्य संवत्सरपर्यन्तः कालः (अहसू. १.२४)

क्षणिका-वि., आशुतरविनाशिनी इन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजं तत्तदिन्द्रियविशिष्टं ज्ञानं (बुद्धिः) न तु बौद्धसिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिनी (चसू. ८.१२)

क्षणिन्-वि., कृतक्षणः, क्षणो नाम मुहूर्तो नियमो वा कृतो येन (चचि. १(४).२७)

क्षत-न., रोग० तन्निरुक्तिः त्वग्रक्तमांसक्षायव्यस्थ्यादिक्षणनात्क्षतमिति। तत् छिन्नभिन्नपिच्चितभेदेन त्रिविधम् (असंउ. ३१)
आगन्तुव्रणः (सुनि. ९.११)
पाषाणलगुडादिभिरुद्भूतः सद्योव्रणप्रकारः (सुचि. २.९०)
उरःक्षतम् (परिव०) (चसू. १४.१८)
वि., क्षतोरस्कः (ड.सुचि.३५.२१, चसू. १४.१८)
अतिदारितम् उरः (सुउ.४१.२४)

-कण्ठ-वि., लक्षण० कण्ठे क्षतं यस्य (असंसू. ३७.२१)

-क्षम-पु., वनस्पति० खदिरः (ध. १.२५)

-क्षीण-वि. लक्षण० उरःक्षतेन क्षीणः (चचि. ११.३-८)

-क्षीणचिकित्सित-पु., अध्याय० (चचि. ११)

-गुद-वि., लक्षण० क्षतयुक्तं गुदं यस्य, अविरेच्योऽयम् (चसि. २.१२)

-घ्री-स्त्री., भैषज्य० लाक्षा (ध. ३.८२)

-ज-वि., क्षतजन्यो ज्वरादिः (चचि. ३.२७२)
न., आर्तवरक्तम् (ड. सुउ. ४२.१३)
रक्तम् (र. ५.१०९)

(जा)-स्त्री., रोग० तृष्णाभेदः, व्रणनिमित्ता तृष्णा (सु. उ. ४८.६) द्र० 'तृष्णा'

-जसगन्धिक-वि., लक्षण० रुधिरसमानगन्धिकः विस्रगन्धः (सुउ. २७.८)

-जार्मन्-न., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्-नेत्रस्य शुक्लभागे अरुणपद्मप्रभं वृद्धिमुपयन्मांसमस्ति । एतद्रक्तजं साध्यं च (सुउ. ४.५०)

-ज्वर-पु., रोग० उरःक्षते जायमानो ज्वरः (चचि. २९.१०१)

-पायु-वि., लक्षण० क्षतगुदः (अहसू. १८.११)

-विधान-न., क्षते चिकित्साविधिः (सुशा. ९.१२)

-विधि-पु., क्षतस्य क्षौद्रघृततैलाभ्यङ्गादिका यथावस्थं चिकित्सा । 'क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद्विधिः' (सुचि. २.७६)

-विसर्प-पु., रोग० विसर्पभेदः, तत्संप्राप्तिः-दोषबहुलस्य त्रिदोषबहुलस्येति केचित् (ड.) नरस्य पित्तं रक्तं च शस्त्रव्यालदन्तनखादिभिर्जातं सद्यःक्षतव्रणमुपेत्य शोफं कुरुतः । तल्लक्षणम्-स शोफः श्यावः सलोहितोऽतिज्वरदाहपाकोऽसितैः कुलत्थसदृशैः स्फोटैः कीर्णो भवति (सुनि. १०.७) एष पित्तविसर्पलक्षणो द्रुतगतिज्वरदाहपाकस्फोटप्रभेदबहुलश्चेति भोजः । अयमसाध्यः । (सुनि. १०.८) द्र० 'विसर्प'

-विसर्पण-न., लक्षण० क्षतप्रसारः (सुनि. ५.४)

-शुक्रक-न.,-नेत्ररोग० पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ त्वचं छित्त्वा तोदाश्रुरागवत् शुक्रं जनयति, तत् कृष्णमण्डलं पक्वजम्बूनिभं किञ्चिन्निम्नं च भवति, एतत् कृच्छ्रसाध्यम् । द्वितीयपटलव्यधात् याप्यम् । तृतीयपटलच्छेदाद् व्रणैर्निचितमसाध्यम् । तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता च (असंउ. १३)

क्षतातुर-वि., व्रणातुरः, (सुउ. ६०.३)

क्षतान्त्र-न., रोग० उदरभेदः छिद्रोदरम् । अस्य क्षतोदरं परिस्राव्युदरमिति नामनी । तत्संप्राप्तिलक्षणे-अस्मिन् अन्नसंबद्धं शर्कराकाष्ठास्थिकण्टकादिशल्यमुदरंगतं सत् अन्त्रं भिनत्ति । तस्मादन्त्रात् सलिलप्रकाशः स्रावः गुदतो भूयः प्रचलेत् । उदरं नाभेरधो वृद्धिमेति निस्तुद्यते विदह्यते च । द्र० 'उदर' (सुनि. ७.१९-२१)

क्षतोत्थ-न., क्षतजं शोणितम्. (सुउ.४१.४९)

क्षतोदर-न., रोग० उदरभेदः छिद्रोदरम् (चचि. १३.२२) द्र० 'उदर'

क्षतोरस्क–वि., लक्षण० उरःक्षतयुक्तः (अहसू. १९.४)
क्षतोष्मन्–पु., क्षतस्थानीयोष्मा (सुनि. ९.१२)
क्षते प्रहारसंघट्टजनितं तेजः (सुचि. १.४)
क्षत्र–न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०३)
क्षत्रिय–पु., ब्राह्मणादिवर्णेष्वेकः (सुसू. २.३)
पु., सर्पजातिविशेषः, असौ स्निग्धवर्णो भृशकोपनः, सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्राम्बुजराजचिह्नयुक्तः (सुक. ४.२६)
–वरा–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी (ध. १.१७०)
क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)
क्षपण–न., उपक्रम० सर्वथोच्छेदनम् (चचि. २७.२५)
ह्रासः (परिव०) (सुसू. १५.३६)
संशमनम् (सुसू. १५.१७)
–क्रिया–स्त्री., कफादिक्षयकरी चिकित्सा, श्लैष्मिक-गुल्मशूलादिषु हिता (सुउ. ४२.७४)
क्षपा–स्त्री., रात्रिः (सुनि. १०.११)
–शय–वि., रात्र्यामेव स्वपितीति (चसू. १३.६२)
क्षम–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३१)
(क्षमा)–स्त्री., क्षान्ति, सहिष्णुत्वम् (अहसू. ११.३)
सर्वंसहता (सुसू. ३४.११)
(क्षमा)–शान्तिपर–पु., वनस्पति० दमनः (ध. ३.६६)
क्षय–पु., लक्षण० शोकादिभिः संजातो हृदयस्थायिनो रसस्य क्षयः (चनि. ६.३)
धातुक्षयः (चनि. ८.१९) (सुउ. २०.९)
ह्रासः, न्यूनत्वम् (चसू. १७.४)
क्षीयमाणशरीरावस्था (सुसू. १४.३)
स्वप्रमाणहानिः (सुसू. १५.२४–२६)
रोग० ज्वरः देहक्षयहेतुत्वात्क्षयः (चचि ३. १३)
शोषसंज्ञकस्य राजयक्ष्मणः पर्यायसंज्ञा, क्रिया-क्षयकरत्वात्क्षयः (सुउ. ४१.४)
राजयक्ष्मा (असंनि. ५)
–तृष्णा–स्त्री., रोग० धातुक्षयजा तृष्णा (चचि. २२.५०) द्र० 'तृष्णा'
क्षव–पु., छिक्का (सुउ. ५५.४)
वनस्पति० क्षुवकः (रापरि. ९.४०)
राजिका (ध. ४.६०)
फणिज्जकाकारः परियात्रे प्रायो भवति (सुउ. ५६.१७)
क्षवक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (चक. १.२५) (रा. ४.३८८) श्वेतापामार्गः (चचि. २६.१८४)
छत्रकः तद्गुणाः–स्वादुपाकः पिच्छिलो विष्यन्दी कृमिलो वातलो नातिपित्तश्लेष्मकरः कफहरः सृष्टमूत्रपुरीषश्च (सुसू. ४६.२९०–९१)
छिक्किनी (कासि. ४)
राजिका (ध. ४.६०)
राजमाषः (रा. १६.१३५)
सुरसागणोक्तमेकं द्रव्यम्, क्षवथुकारः फणिज्झ-काकारः (ड. सुसू. ३८.१८–१९)
(क्षवथु)–पु., छिक्का, ' प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथि स्थितौ । नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत् ॥' (ड. सुशा. ४.५०) ऊर्ध्वस्रो-तोऽवस्थितयोः प्राणोदानयोराकुलितयोर्नासाविव-रतो निर्गमनम् (ड. सुसू. २६.१३; चनि. ६.१३)
–ज–पु., रोग० षड्दावर्तप्रकारेष्वेकः (चसू. १९.४ (३) क्षवथुविघाताज्जायमानोदावर्तस्य लक्षणम्–शिरोक्षिनासाकर्णेषु रोगाः कण्ठमुखयोर्वायुपूर्णत्व-वद् भानम्, कण्ठमुखयोरतीव तोदः अव्यक्तवचन-त्वमुच्छ्वासावरोधो मन्यास्तम्भादयश्च विकारा अस्मिन् भवन्ति (सुउ. ५५.१३)
(क्षविका)–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२३)
क्षाम–वि., लक्षण० क्षीणम्, कृशम् (चवि. ८.९८)
क्षीणबलकायः (ड. सुचि ३४.१६)
–ता–स्त्री., लक्षण० निर्बलता (अहसू. २७.३६)
–स्वर–वि., लक्षण० दुर्बलस्वरः (सुउ. ४७.७५)
क्षामानन–वि., लक्षण० क्षीणमुखक्रियः (डसुउ. ५२.८)
क्षार–पु., कल्प० अनुशस्त्रेष्वेकम्, शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः छेद्यभेद्यलेख्यकरणात् त्रिदोषघ्नत्वाद् विशेषक्रियावचारणाच्च (सुसू. ११.३) तन्नि-रुक्तिः–क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः (सुसू. ११.४) तत्कर्म–तीक्ष्ण उष्णो लघुः रूक्षः क्लेदी पक्ता विदारणो दाहनो दीपनश्छेत्ता (अग्निसन्निभश्च) (चसू. २७.३०६) रोपणः शोधनः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकुष्ठविषमेदोनाशनः पुंस्त्वोपघातकश्च (र. १७.६५)
प्रतिसारणीय–पानीयभेदाद्विधा
पलाशतिलनालाश्वदंष्ट्रकदलीक्षाराः पानीयाः ।
प्रतिसारणीयो मृदुमध्यतीक्ष्णभेदात् त्रिधा
तत्कृतिः–कृष्णमुष्ककं खण्डशः पाटयित्वा निर्वाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरादीपयेत् । उपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म षड्गुणजले महति कटाहे आलोड्य मूत्रैर्वा

यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य दर्व्योऽवघट्टयन् विपचेत् । यदाऽच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च भवति तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्य पुनरप्यावधिश्रयेत् । नातिद्रवसान्द्रं दृष्ट्वाऽवतार्य सुगुप्तं स्थापयेत् । एवमेव कुटजपलाशार्कर्णादिषु क्षारकृतिः । एष मृदुः । पाकसमये सुधाकटशर्कराभस्मशर्कराशङ्ख-नाभीनां प्रक्षेपेण मध्यमः । दन्तीद्रवन्तीचित्रकादि-प्रक्षेपणेन तीक्ष्णः (सुसू. ११.११–१३)

क्षारस्याष्टौ गुणाः–नातितीक्ष्णो, नातिमृदुः श्लक्ष्णः शुक्लः पिच्छिलोऽविष्यन्दी सौम्यःशीघ्रश्च (सुसू. ११.१६)

अष्टौ दोषाः–अतिमार्दवश्वैत्यौष्ण्यतैक्ष्ण्यपैच्छिल्य-सर्पितासान्द्रतापक्वताहीनद्रव्यताश्च

पानीयक्षारयोग्याः–

गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकार्तार्ताः

प्रतिसारणीययोग्याः–

कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासादयः

क्षारायोग्याः–दुर्बलबालस्थविरभीरुसर्वाङ्गशूनोदरि-णस्तथा मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिवर्त्मरोगादीनि स्थानानि । क्षारदग्धं त्रिविधम्–सम्यग्दग्धमतिदग्धं हीनदग्धं च । सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमना-स्रावश्च । अतिदग्धे दाहपाकरागस्रावाङ्गमर्दक्लम-पिपासा मूर्च्छा मरणं वा (सुसू. ११.१७–१८)

हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च (सुसू. ११.२६)

क्षारपातने मात्रा–नखोत्सेधप्रमाणाऽऽद्या, द्विगुणा मध्यमा, त्रिगुणा महती, पित्ते श्लेष्मणि वाते च यथासङ्ख्यं प्रयोज्या (ड. सुचि. ६.४)

पायनाद्रव्येष्वेकम्, तत्पायितं शस्त्रं शरशल्यास्थि-च्छेदनेषु प्रयुञ्जीत (असंसू. ३४.३४)

क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

न., भैषज्य० सामुद्रलवणम् (ध. २.३४)

भैषज्य० बिडम् (ध. २.२८)

–कर्मन्–न., क्षारोपयोजनम्, व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)

–कल्प–पु., क्षारोत्पादनविधिः (सुचि. ४.३२)

–कृत्य–वि., क्षारेण कृत्यश्चिकित्सनीयः, क्षार-कर्मयोग्यः (सुसू. ११.२८)

–गुडिका–स्त्री., योग० ग्रहणीनाशिनी (चचि. १५.१८३–१८५)

विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्वासकासघ्नी (चचि. १२.४३–४६)

–घृत–न., घृत० इदमग्निविवर्धनं ग्रहण्यां च शस्तम् (चचि. १५.१७१)

–जल–न., क्षारसंस्कृतमुदकम्, अर्कामृताक्षारजलो-षिता यवाः शोषिणे प्रशस्ताः । तत्कृतिः–पानाय भोजनायाथ भस्म स्राव्यं चतुर्गुणे जलेऽर्धमवशिष्टे तु क्षाराम्भः (सुउ. ४१.३८)

–तन्त्रविद्–वि., क्षारविधायकतन्त्रज्ञः (चचि. ५.६४)

–ताम्र–न., योग० सर्वशूलविनाशकः (र. १८.१६०)

–तैल–न., तैल० बाधिर्यादिकर्णरोगेषु पूरणायोप-युज्यते (चचि. २६.२२८) क्षारोदकेन सिद्धं तैलम् (सुचि. २.८८) कफवातोत्थजीर्णज्वरेष्वभ्यङ्गार्थ-मुपयुज्यते (सुउ. ३९.२७३)

–त्रय–न., सर्जिक्षारं यवक्षारं टङ्कणक्षारं च (ध. ७.६९)

–दग्ध–वि., क्षारेण दग्धः (अहसू. २९.७२)

–दला–स्त्री., वनस्पति० पलाशलोहिता (रापरि. ७.६६)

–दोष–पु., क्षारस्याऽतिमार्दवश्वैत्यौष्ण्यादिदोषाः नव दश वा (सुसू. ११.१७) (असंसू. ३९)

–द्रव्य–न., क्षारकल्पार्थमुपयुक्तं द्रव्यम्, मुष्कक-कुटजपलाशार्कर्णपारिभद्रादीनि (सुसू. ३७.१०)

–निष्यन्द–पु., क्षारगालनविधौ यः पिच्छिलो रक्तो-ऽच्छस्तीक्ष्णः परिस्रावो भवति स क्षारनिष्यन्दः (अहसू. ३०.१५)

–पञ्चक–न., पलाश–तिल–मुष्कक–सर्जिका–यव-क्षाराः, एतेषामेव संमील्य क्षारपञ्चकमुच्यते (ध. ७.७७)

–पर्पट–पु., क्षारयुक्तः पर्पटः, अयं रुच्यो लघीयांश्च (असंसू. ७.५४)

–पाकविधि–पु., अध्याय० (सुसू. ११)

–पाणि–पु., पुनर्वसोरात्रेयस्य षण्णां शिष्याणां तन्त्र-कर्तृणामेकतमोऽयं तन्त्रकर्ता (चसू. १.३१)

–पायित–वि., संस्कार० अग्नितप्त–शस्त्राणां तीक्ष्ण-तावाप्तये क्षारद्रव्येषु निर्वापणम् (सुसू. ८.१२)

–बन्ध–पु., पारदबन्ध० शङ्खशुक्तिवराटाद्यैः संसा-धितः पारदः प्रक्रिया चास्य–भस्मीकृतानां शङ्ख-शुक्त्यादीनां वृक्षक्षारादीनां च मूषां कृत्वा तत् संपुटे निहितसम्पुटितः पारदो लघुपुटदानेन भस्मीभवति (र. ११.७१)

–बल–न., क्षारस्य शक्तिः, उष्णतीक्ष्णत्वादीनामौत्कट्यम् (सुचि. ६.४)

–मेलक–पु., भैषज्य० सर्वक्षारः (रा. ६.५७)

–मेह–पु., रोग० पित्तजमेहभेदः गलितक्षारद्रवेण वर्णगन्धरसस्पर्शैः सदृशमूत्रत्वात् क्षारमेहः (सुनि. ६.११) द्र० ' प्रमेह '.
गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षुतक्षारोपमं मेहति (चनि. ४.२५)

–यूष–पु., अपामार्गादिजक्षारयुक्तो यूषः (चचि. १७.९७)

–लवण–न., भैषज्य० लवणभेदः लोणारक्षारम् (रा. ६.५३)

–लेप–पु., उपक्रम० मषश्चित्रबाह्यार्शःकुष्ठादिषु योज्यः (अहसू. ३०.३–४)

–वटी–स्त्री., योग० रक्तगुल्मारुचिमन्दाग्निग्रहण्यर्शःशूलनाशिनी (र. १८.१७४)

–वर्ग–पु., क्षारसंग्रहः, मुष्ककुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकाऽऽरग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाकोशातक्यः (सुसू. ११.११)
यवक्षारस्वर्जिकाक्षारपाकिमटङ्कणक्षारप्रभृतयः (सुसू. ४६.३२२)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२०)

–श्रेष्ठ–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ५.१३२)
पलाशः (ध. ५.१६२)
न., लवणभेदः वज्रकक्षारम् (रा. ६.५५)

–षट्क–न., षट् क्षाराः–कृष्णतिलपलाशवचापामार्गकुटजमुष्ककेभ्यो जाताः (ध. ७.७०)

–सूत्र–न., कार्पासकृता वर्तिः भगन्दरे गत्यवदारणे उपयुज्यते (चचि. १२.९७) कृशदुर्बलभीरूणां मर्माश्रितनाडीच्छेदने समुपयुज्येत (सुचि. १७.२९)

–स्वर्जिन्–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः (रा. ६.२६)

क्षारागद–पु., योग० विसूचिकालसकविलम्बिकादिनाशनः (सुउ. ५६.१५) एतल्लिप्सा दुन्दुभिध्वजपताकादयो दर्शनस्पर्शश्रवणादिभिः सर्पादिसर्वविषहरा भवन्ति (सुक. ६.३–७)

क्षाराञ्जन–न., नेत्ररोगे अञ्जन० बलासग्रथितनाशनम् (सुउ. ११.१०–१२)

क्षाराम्बु–न., क्षारजलम् (अहसू. २९.७६)

–गण्डूष–पु., क्षारजलचुलुकः श्लेष्मचयापहः (असंसू. ३१)

क्षाराम्लसर्पिस्–न., योग०चाङ्गेरीकोलाद्यम्लक्षारसाधितं घृतम्, चाङ्गेरीघृतेत्यपरपर्यायम्, अतीसारामाजीर्णादिनाशनम् (चचि. १९.४३) (चसि. ६.६४)

क्षाराष्टक–न., अपामार्गपलाशार्कतिलमुष्कयवाग्रजसर्जिकाटङ्कणाश्चेत्यष्टौ क्षाराः (ध. ७.६६)

क्षारासव–पु., आसुत० मध्वादिना पलाशक्षारपानीयेन सह निष्पादितः, महाकुष्ठचिकित्सितोक्तः कुष्ठहरः (सुउ. ५७.१५)
विरेचनार्थे कृतः सुराकल्पः (सुसू. ४४.३०–३४)

क्षारोदक–न., क्षारं गालयित्वा यदुदकं गृह्यते तत्। वातश्लेष्मशोफेषु परिषेकार्थमुपयुज्यते (ङ. सुचि. १.१७)
क्षारक्वाथः (सुसू. ११.११)

क्षिति–स्त्री., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३१)
भैषज्य० गोपित्तम्, रोचना (र. १०.१७)

–खेचर–पु., भूनागः, इन्द्रगोपः भूनागसत्त्वं कासीसं च (र. १०.१७)

–ज–वि., भूमिजं शाकादि (सुसू. ४६.२९३)

–धर–पु., पर्वतः (चक. १ र. १७.६८)

–धररुधिर–न., गैरिकम् (र. १७.६८)
शिलाजतुः (र. १७.६८)

–फल–न., हरितमुद्गः (र. १७.६६)
धात्रीफलम् (र. १७.६६)

–बदरी–स्त्री., वनस्पति० बदरभेदः भूबदरी (रा. ११.१६२) द्र० ' बदर '

–रुह–वि., वृक्षः (चक. १.८)

क्षिप्र–न., मर्म० स्नायुमर्म पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म (सुशा. ६.२४) अधःशाखायां वामदक्षिणभेदेन द्वे तत्प्रमाणमङ्गुलार्धम् (सुशा. ६.३२) तत्र विद्धस्य रक्तस्रुतिः (असंशा. ७.४) आक्षेपकेण मरणम्। कालान्तर–प्राणहरमेतत् (सुशा. ६.३२)

–कारिन्–वि., आशुकारि (चसू. २८.७)

–पाक–पु., आशुपाकः (असंसू. ८)

(क्षिप्रा)–स्त्री., शुक्तिका, भारविरहिता (७.५–२२)

क्षिप्रम्–(अव्य०) नातिद्रुतं नातिविलम्बितम् (सुसू. ४६.४६५)

क्षिप्रोत्थान–वि., लक्षण० आशूद्गमो यस्य (सुनि. ९.८)

क्षीण–वि., लक्षण० उत्साहोपचयबलरहितः (ङ. सुउ. ४०.२१)

दुर्बलः शक्तिहीनः (सुचि. २६.४)
क्षयी (चसू. १३.४१)
अध्वादिखेदेन हीयमानबलः (सुचि. २.७८)
–बल–वि., लक्षण० कर्मनिर्वर्तनासमर्थः (सुउ. ५२.८)
–बलीय–वि., क्षीणबलसम्बन्धि (सुचि. २६.१)
इदं वाजीकरणचिकित्सितशब्दस्य विशेषणम्
–रक्त–वि., लक्षण० हीनं रक्तं यस्य (असंसू.३६.२०)
(रक्ता)–स्त्री., जातः स्त्रीशोणितस्य–रजसः क्षयो यस्याः (चचि. ३०.२२४)
–रेतस्–पु., लक्षण० कारणविशेषैः स्वमानादल्पीभूतं रेतो यस्य, क्षीणशुक्रः (सुसू. १.८ (८)
–संधानकर–वि., क्षतक्षीणे उरःसंधानकरः (चसू. २६.४३ (१)
क्षीणायुस्–वि., क्षीणमायुर्यस्य, यस्य भेषजचिकित्सादयो निष्फला भवन्ति स क्षीणायुः (काइं. ५)
क्षीणेन्द्रिय–वि., लक्षण० क्षीणमिन्द्रियं यस्य (चसि. १२.१६ (११)
अतिक्षीणशुक्रः (चसि. १.३४)
क्षीर–न., प्राणिज० दुग्धम्–गोमहिष्यादिभवम् (र. ११.३७)
गोक्षीरम् (सुचि. ४०.६७)
भैषज्य० अर्कसेहुण्डादीनां दुग्धवत् स्रावः (चसू. १.७३)
जलम् (रा. १४.३१८)
पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः, धूपोपयोगी (ध. ३.१३३)
–कन्द–पु., वनस्पति० क्षीरविदारी (रा. ७.१९६)
(–कन्दा)–स्त्री., क्षीरविदारी (ध. १.१४९)
–काकोली–स्त्री., वनस्पति० काकोलीभेदः (सुसू. ३८.३९)
जीवनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९)
बृंहणीयगणोक्ता (चसू. ४.९) शुक्रजननगणोक्ता (चसू. ४.१२)
स्नेहोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
इयं किञ्चित्कृष्णवर्णाऽत्यन्तं च क्षीरं स्रवति (र. २०.३३) द्र० 'काकोली'
क्षीरकाकोलीगुणाः–रुच्या वृष्या बस्तिशोधनी कफपित्तघ्नी हृद्रोगरक्तपित्तकासश्वासक्षयघ्नी च (ध. १.१३४.)
हिं.—क्षीरकाकोली;
म.—**श्वेतकाकोली, दूधकाउली.**
त.—वेळैइरळि.
–काण्डक–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२४)
स्नुक् (रा. ८.३५६)
–काष्ठा–स्त्री., वनस्पति० वटभेदः, नदीवटो वटी वा (रा. ११.११६) द्र० 'वट'.
–घृत–न., क्षीरमथनसमुद्भूतनवनीतोत्थितं घृतम् (सुसू. ४५.१०५)
–घृताभ्यास–पु., क्षीरघृतयोः सततं नियमेन सेवनम्। इदं रसायनानां श्रेष्ठम् (चसू.२५.४०)
–ज–न., आहारद्रव्य० दधि (रा. १५.२४५)
–तुम्बी–स्त्री., वनस्पति० तुम्बीभेदः वल्लीफलशाकी स्वादुश्वेततुम्बी (र. ११.१२५) तद्गुणाः–सुमधुरा स्निग्धा वृष्या गर्भपोषकृत् वातप्रदा बलपुष्टिविवर्धनी पित्तघ्नी च (रा. ७.२३८)
हिं.—लौकी.
म.—**दुध्या भोपळा.**
गु.—तुंबडी.
बं.—तोंबी.
त.—काडुचुरै.
फा.—तल्ख.
–तैल–न., क्षीरसिद्धं तैलम्, इदम् अर्दितातुराणामुपयोज्यम् (सुचि. ५.२२)
–दल–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२४)
–दान–न., दुग्धप्रयोगः, क्षीरं व्रणे उत्सर्गतो निषिद्धमपि भग्नेऽपवादत्वात् प्रयुज्यते। अव्रणे भग्ने उष्णं क्षीरमिति केचित्। उभयत्रापि नेति केचित्। तत्र च पूयजनकत्वं हेतुत्वेन कल्पयन्ति (सुचि. ३.५)
–दोष–पु., स्तन्यविकृतिः (चचि. ३०.२१९)
–दौर्गन्ध्य–न., लक्षण० स्तन्यगतदुर्गन्धदोषः (चचि. ३०.२७४)
–द्रुम–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)
–धारावदोहिता–वि., (पिप्पली) पिप्पलीकल्कादुपरि क्षीरधारावदोहः कर्तव्यः, क्षीरं च तावद्देयं यावत् पानयोग्याः पिप्पल्यो भवन्ति। वृष्योऽयं योगः (चचि. २ (३) १२)
–प–वि., स्तननिःसृतक्षीरपायी एकसंवत्सरात्मको बालः (सुसू. ३५.२९)
–पयोनिधि–पु., श्वेतसमुद्रनाम्ना संप्रति संकेतितः समुद्रः (र. ३.२३)
–पर्णिन्–पु., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३)

–पलाण्डु–पु., पलाण्डुभेदः, तद्गुणाः–स्वादुर्गुरुः स्निग्धः पिच्छिलो रुच्यो बल्यो मेध्यः कफपुष्टिदः स्थिरधातुकारी रक्तपित्ते शस्तश्च (सुसू. ४६.२४७)

(क्षीरा)–स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२)

–पाक–पु., जलशुक्तिः (सुसू. ११.११)

–पात्र–न., मान० क्षीरस्याऽऽढकम् (सुचि. २.४४)

–पिष्ट–वि., क्षीरे पेषितम् (सुचि. १.५०)

–पीत–वि., (परिव.) दुग्धभावितम् (सुचि. ३.५७)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० इयं रसायनयोग्या (चचि., १(४)६)

–पूपक–पु., क्षीरप्रधानः पूपकः गुरुस्तर्पणो वृष्यश्च (चसू. २७.२६९)

–पूर्णलोचन–वि., क्षीरेण इव पूर्णे लोचने यस्य, सः शुक्रसारः

–पेया–स्त्री., कृतान्न० क्षीरसिद्धा पेया उदरिणामुपयोजनीया (असंचि. १७.१०१)
दीर्घोपवासिनां नृणां कृते प्रशस्यते (काखिल. ४.७७)

–बस्ति–पु., उपक्रम० औषधिदुग्धेन साधितो बस्तिः (सुसू. १५.१२) पित्तगुल्मे उपयुज्यते, (चचि. ५.३४) पित्तोदरे उपयुक्तः (चचि. १३.६८)

–मधुरा–(स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (ध. १.१३४)

–मोरट–पु., वनस्पति० मोरटः लूतदंशे पानार्थमुपयुज्यते (सुक ८.१३२; ध. १.१५)
क्षीरविकृतिः किलाटमस्तु पीलुपर्णी (सुसू. ४२.११)

–मोरटा–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा मधुस्रवा (इंदु. असंउ. ४४)

–यवागू–स्त्री., क्षीरसिद्धा यवागूः (चक. १.१७)

–योग–पु., योग० वाजीकरक्षीरप्रयोगः अयमपत्यकरः (चचि २ (३) ८–१०)

–लता–स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारी (रा. ७.१९७)

–वर्ग–पु., सर्वेषां क्षीराणां संग्रहः (अहसू. ५.२०–२८)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारी (ध. १.१४९)
मधुरस्कन्धगतद्रव्यविशेषः क्षीरलता (चक्र. चवि. ८.१३९)

–वहा– स्त्री., शारीर० स्तनगता स्तन्यवहा नाडी (चचि. ३०.२३६)

–विकार–पु., क्षीरजन्यो व्याधिः (चशा. ८.५६)

–विकृति–स्त्री., क्षीरोद्भवं दध्याद्याहारद्रव्यम्, इदं प्रकृतितो गुरु (चसू. ५.५)

–विदारी–स्त्री., वनस्पति० दीर्घकन्दा विदारिकन्दो मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतस्पर्शो बल्योऽतिमूत्रलो वातपित्तघ्नश्च (ड. सुचि. ५.७)
क्षीरकन्देत्यपरपर्याया, कन्दोऽयं विनालसनालभेदेन द्विविधः । आद्यो रोगहर्ता द्वितीयश्च वयस्तम्भी । क्षीरविदारीगुणाः—मधुराऽम्ला कषाया तिक्ता पित्तघ्नी शूलमूत्रविकारघ्नी च (ध. १.१४९)
हिं.—बिलाई कंद.
म.—**पांढरा भुईकोहळा.**
गु.—भोयकोळुं, फगबेलानो कंद.
बं.—भुई कुम्हडो.
त.—निलप्पूचिकिळंकु.

–विशोधन–वि., स्तन्यशुद्धिकरम्, पाठा–महौषध–सुरदारु–मुस्त–मूर्वा–गुडूचीवत्सकफलकिराततिक्त–कटुरोहिणीसारिवाश्च (चशा. ८.५६)

–विष–न., स्थावरविष० कुमुदघ्नी–स्नुही–जाल. क्षीरिणि त्रीणि क्षीरविषाणि, तल्लक्षणम्–विड्भेदो गुरुजिह्वता फेनागमश्च (सुक. २.५–१०)

–विषाणिका–स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (ध. १.१३४)
वृश्चिकाली (रापरि. ९.९)

–वीर्य–न., क्षीरगुणः (सुसू. ४५.९५)

–वृक्ष–पु., **वनस्पति०** (र. ३०.६५)
राजादनः (रा. ११.१४६)
उदुम्बरः (ध. ५.८६)
क्षीरिवृक्षः (र. ३०.६५)

–वृक्षत्वच्–स्त्री., विषजे शिरोरोगे नस्यविधानेनोपयुज्यते (असंउ. ४७)

–वृक्षासव–पु., आसुत० प्रतुदानामनुपानम् (सुसू. ४६.४३३)

–वृत्ति–वि., क्षीरेणैव वृत्तिर्जीवनं यस्य, क्षीराहारः (चचि. १३.१९१)

–वैवर्ण्यनाशन–वि., स्तन्यवर्गजवैवर्ण्यविकारहरं भेषजम्, यष्टीमधूकमृद्वीकादि (चचि. ३०.२७१)

–शाक–न. पु., दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतघनद्रवभागं क्षीरं कूर्चिका, सैव पाकाद्विना क्षीरशाकः (असंसू. ६०.७९)

–शीर्ष–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३)

–शुक्ल–पु., वनस्पति० राजादनः (रा. ११.१४७)

–शुक्लक–पु., वनस्पति० राजादनः (धनि. ५.९१)

–शुक्ला–स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारिका (चचि., १.७६ ध. १.१४९)

–सर्पिस्–न., क्षीरोत्थितं सर्पिः (चक्र, चचि.३०.६९)
क्षीरमथनोत्थघृतम् (ड. सुउ. ५८.५३)
क्षीरोत्थितनवनीतसर्पिः (ड. सुचि. २६.२०)
क्षीराक्तं घृतम् (सुचि. ३४.११)
–सात्म्य–वि., क्षीरोपशयः सैन्धवाख्यो जनः क्षीरोचितो नित्यशीलनात् "क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः (चचि. ३०.३१७)
–सौहित्य–न., क्षीरेण तृप्तिः (चचि. १९.४७)
–स्राव–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३)
क्षीरपक–न., खटिका (हे अहसू. ३०.१६)
क्षीरान्न–न., दुग्धौदनम् (र. ३०.४७)
क्षीरान्नाद–वि., दुग्धान्नभोजी (बालः) (सुसू. ३५.२९)
क्षीरालसक–पु., बालरोग० तत्संप्राप्तिलक्षणानि—धात्री यदा सन्निपातप्रकोपनान्यासेवेत तदाऽस्यास्रयो मला युगपद्वक्षोऽभिप्रपन्नाः क्षीरवहा रसायनीः समनुसृत्य सङ्कीर्णलिङ्गं स्तन्यमावहन्ति । तत् पिबतः कुमारस्य सलिलोपममच्छं विच्छिन्नमामं दुर्गन्धि नानावर्णवेदनं फेनिलमतिसार्यते । पीतश्वेतमूत्रताविष्टम्भतृष्णाज्वरच्छर्दिविजृम्भिकाशुष्कोद्गारारुचिभ्रमाङ्गभङ्गविक्षेपकूजनघ्राणाक्षिमुखपाकदृष्ट्युपप्लवस्वरसादादयश्चास्य प्रादुर्भवन्ति । तं क्षीरालसकमत्ययं चाचक्षते (असंउ. २)
क्षीराशय–पु., शरीर० स्तन्याशयः (चचि., ३०.२३८)
क्षीरिका–स्त्री., वनस्पति० व्रीहि (रा. १६.९९)
दुग्धिका क्षीरयुक्तपत्रमयीयम् । गुणाः–गुरुः रूक्षा गर्भकृद्विष्टम्भिनी कुष्ठकृमिनाशिनी मलमूत्रहृच्च (र. १६.११–१३)
–पुष्पक–पु., सर्प० निर्विषसर्पः (सुक. ४,३४ (४)
क्षीरिन्–पु., वनस्पति० वटः (ध. ५.७६)
अर्कः (रा. १०.२४)
प्लक्षः (रा. ११.१२४)
राजादनः (ध. ५.९१)
गोधूमः (रा. १६.१५१)
स्नुही (रा. ८.३५५)
वंशलोचना (र. २१.१८१–८६)
सर्प० निर्विषोऽयम् (असंउ. ४१)
(क्षीरिणी)–स्त्री., वनस्पति० दुग्धिका, इयं विरेचनी (चक्र चसू. २.९–१०)
पीतपुष्पा दुग्धिनी (र. ३०.३२)
काश्मर्यः (र. ९.१४७)
काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४०)
क्षीरिणीगुणाः–कटुस्तिक्ता रेचनी कफपित्तघ्नी शोफतापपित्तज्वरकृमिदोषघ्नी च (रा. २.३६४)
कुटुम्बिनी–(रापरि. ५.२१)
क्षीरकाकोली (र. २६.१२)
सारिवाभेदः श्वेतसारिवा (र. २०.६८–७४)
अर्कपुष्पी (सुचि. ९.२७)
क्षीरम्तुबी(रा. ७.२३९)
(क्षीरि)–कपीतन–पु., वनस्पति० आर्द्रशिरीषः, पानकमस्य क्षतजतृष्णायां प्रशस्तम् (सुउ. ४८.२६)
–प्ररोह–पु.. न्यग्रोधादिक्षीरिवृक्षाणामङ्कुराः, एतैः रोपणवर्तयो विधीयन्ते (सुसू. ३७.२३)
–वृक्ष–पु., न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षगर्दभाण्डाः (ड. सुचि. २.६५)
उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो मधुकः प्लक्ष एव च । पञ्चैते क्षीरिवृक्षाः स्युः (चक्र. चचि. ११.५६)
पीतकः, स एव कशेरुकः (इन्दु. असंसू. ७.१२४)
–वृक्षत्वच्–स्त्री., न्यग्रोधादिक्षीरिवृक्षाणां त्वचः, एतत्वक्कषाया व्रणरोपणसेचनादिषूपयुज्यन्ते । क्षीरिवृक्षपत्राणि रक्तपित्तदूषितव्रणेषु उपयुज्यन्ते (सुक. ५.५९–६०)
–वृक्षफल–न., न्यग्रोधादिक्षीरिवृक्षफलानि, तद्गुणाः–कषायमधुरसाम्लानि गुरुविष्टम्भिशीतलानि नातिमारुतकोपनानि (सुसू. ४६.१६५)
रूक्षलेखनविबन्धाध्मानजननानीति च (असंसू. ७.१८१–१८४)
–वृक्षादितैल–न., तैल० जीर्णज्वरादिष्वभ्यङ्गार्थमुपयुज्यते (सुउ. ३९.२५७–५८)
–वृक्षाम्बु–न., क्षीरिवृक्षक्काथः, कवलग्रहेषूपयुज्यते (असंसू. ३.३१)
–शुङ्ग–पु., वटादीनामविकसिताः प्रवालाः गर्भरक्षकद्रव्याणामन्यतमाः (सुशा. १०.६१)
–शुङ्गसर्पिस्–न., घृत० अतिसारोपद्रवशूलपरिकर्तिकादिनाशनम् (सुउ. ४०. १०३)
–क्षीव–पु., वनस्पति० अक्षीवः (चचि. ३.२६७)
क्षीरोत्थितसर्पिस्–न., दुग्धोत्थं घृतं रक्तातिसारे प्रशस्तम् (चचि. १९.७७)
क्षीरोद–पु., क्षीरसमुद्रः (सुचि., २९.१७)
क्षुण्णाग्र–वि., क्षुर्ण्ण=कुट्टितं अग्रं यस्य (असंसू. ३०.१४)
क्षुत्–स्त्री. छिक्कितम्, छिक्का (सुउ. ३९.२९)
–स्तम्भ (परिव०)–पु., लक्षण० छिक्काया अनिर्गमनम् (सुउ. ३९.२९)

क्षुत–न., छिक्का (सुसू. २९.४५)

क्षुति–स्त्री., छिक्का (अहसू. २.३५)

–**धारण**–न., क्षवथोर्विधारणम्, क्षवथुरोधः, क्षुतिधारणात् शिरोतीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तंभार्दितानि भवन्ति (अहसू. ४.९)

क्षुद्र–न., फाणितम् (सुचि. ३१.३९)

(क्षुद्रा)–स्त्री., वनस्पति० लघुकण्टकारिका, पाठादिगणे प्रोक्ता, सा च मधुमेहघ्नी (सुचि. १२.९)
कण्टकारी (ध. १.९५)
यावनाली हिमशर्करा (रा. १४.१६३)

–**कण्टा**–स्त्री., कण्टकारी (रा. ४.१२१)

–**कण्टारिका**–स्त्री., अग्निदमनी (रा. ४.४)

–**कण्टिका**–स्त्री., कण्टकारी (रा. ४.१२०)

–**कारलिका**–स्त्री., वनस्पति० कडुहुच्ची (रा. ७.२८१)

–**कारवल्ली**–स्त्री., कुडुहुच्ची (रा. ७.२८१)
द्र० ' क्षुद्रा कारलिका '.

–**कुलिश**–न., खनिज० वैक्रान्तम् (ध. ६.४४)

–**कुष्ठ**–न., कुष्ठप्रकारः चर्मदलाद्येकादशकुष्ठानि । क्षुद्रकुष्ठाभिधेयानि (सुनि. ५.५)

–**क्षुर**–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (रा. ३.१३१)

–**गुड**–पु., फाणितम् (चचि. १.५८)

–**गुडभेदः** क्षुद्रगुडो असितगुड इत्युच्यते (चसू. २७,२३९)

–**चञ्चु**–स्त्री. वनस्पति० तद्गुणाः—मधुरा, कटुः, कषायिका, उष्णा, दीपनी, विबन्धकृत्, शूलगुल्मार्शःशमनी च (रापरि. ४.२२)

–**चन्दन**–न., वनस्पति० रक्तचन्दनम् (ध. ३.४)

–**चम्पक**–न., वनस्पति० नागचम्पकः (रा. १०.२४२)

–**चिर्भटा**–स्त्री., वनस्पति० गोपालकर्कटी (रा. ३.२६४)

–**जन्तु**–पु. क्रिमिः (इन्दु., असंसू. ६.२२)
मक्षिकादयः क्षुद्रजन्तवः (अहसू. ७.१८)

–**जातीफल**–न., वनस्पति० क्षुद्रामलकम् (रा. ११.३२९)

–**जीवा**–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७७)

–**तुलसी**–स्त्री., वनस्पति० कुठेरकः (रा. १०.८४)

–**दीप्य**–पु., वनस्पति० यवानी, क्षुद्रजीरकम्; अजमोदा (र. २०.१३०)

–**दुःस्पर्शा**–स्त्री., वनस्पति० अग्निदमनी (रापरि. ४.४)

–**दुरालम्भा**–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२२)

–**धात्री**–स्त्री., वनस्पति० कर्कटः (रा. ११.३३१)

–**पत्र**–पु., वनस्पति० वनजीरः (रा. ६.१०७)

–**पर्ण**–पु., वनस्पति० कुठेरकः, अर्जकः (ध. ४.५४)

–**पिप्पली**–स्त्री., वनस्पति० वनपिप्पली (रा. ६.१२२)

–**पुत्रा**–वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१५१)

–**पोतिका**–स्त्री., वनस्पति० मूलपोती (रा.७.७८०)

–**फला**–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ध. १.२४८)
कण्टकारी, (रा. ४.१२१)
गोपालककंटी (रा. ३.२६४)
अग्निदमनी (रा. ४.३) द्र० ' क्षुद्रकंटारिका '

–**मातृ**–स्त्री., वनस्पति० वार्ताकिनी (ध. १.९८)

–**मुस्ता**–स्त्री., वनस्पति० गुण्डकन्दः (रा. ८.६३)

–**रोग**–पु., रोग० अजगल्लिकादिः, क्षुद्रं हेतुलक्षणचिकित्सितादि यस्य (सुनि. १३.१) पूर्वाचार्यपठिता पारिभाषिकीयं संज्ञा, संख्यया चतुश्चत्वारिंशत् एते क्षुद्ररोगाः (सुनि. १३.३.) भोजे तु मूषिकाकर्णमुष्ककोशफलार्शःप्रभृतयोऽधिकविकाराः पठ्यन्ते, ते च सुश्रुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव (मानिमधुकोश)

–**रोगचिकित्सित**–न., अध्याय० (सुचि. २०)

–**वर्षाभू**–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (ध. १.२७४)

–**वल्ली**–स्त्री., वनस्पति० मूलपोती (रापरि. ७.७८)

–**वार्ताकिनी**–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः (रा. ४.१२३) द्र० ' कण्टकारी '

–**विकार**–पु., क्षुद्रव्याधिः, क्षुद्रविकाराः पुनर्यदेवाङ्गमाविशन्ति तदुपपदमेव नाम लभन्ते यथा नखशङ्खललाटभेदाः सान्तर्दाहकण्ठहृदयोपलेपादयः, तेषां हि तथैव स्वरूपमुपदिष्टं भवति (असंसू. २०)

–**शङ्ख**–पु., भैषज्य० शङ्खभेदः, तद्गुणाः–कटुस्तिक्तः शूलहारी दीपनश्च (रा. १३.२४६) द्र० ' शंख '

–**शणपुष्पिका**–स्त्री., शणपुष्पीभेदः (रा. ४.३००) द्र० ' शणपुष्पी '

–**शार्करिका**–स्त्री., भैषज्य० हिमशर्करा (रा.१४.१६३)

–**शामा**–स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३७)

–**श्वास**–पु., पञ्चश्वासप्रकारेष्वेकः, तल्लक्षणम्–किञ्चित्कर्मारभमाणस्य नरस्य यः श्वासः प्रवर्तते निषण्णस्य च शान्तिमेति सः (सुउ. ५१.७) नायमङ्गप्रबाधको नायं भोजनपानादीनामुचितगतिनिरोधको नायं काञ्चिद्रुजमापादयेत् । बलिनोऽसौ साध्यः (चचि. १७.६५–६७)

–श्वेता–स्त्री., वनस्पति० अर्कादिगणोक्ता, श्वेतस्यन्दा, श्वेतपुष्पा (सुसू. ३८.१६–१७)
गिरिकर्णिका (रा. ३.१२४)
–सहा–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (चक्र. चक. ४.१६)
मुद्गपर्णी विदारिगन्धादिगणोक्ता (सुसू. ३८.४–५) (ध. १.१३८)
मधुरस्कन्धोक्ता, कुमारी (चक्र. चवि. ८.१३९)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१)
–सुवर्ण–न., खनिज० पित्तलम् (रा. १३.१७)
–हिक्का–स्त्री. रोग० हिक्काभेदः तत्संप्राप्तिलक्षणे–यदा क्षुद्रवातो कोष्ठाद्वयायामपरिघट्टितः सन् कण्ठे प्रपद्यते तदा स क्षुद्रां हिक्कां करोति, नैषातिदुःखानोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी, नचोच्छ्वासान्नपानमार्गावरणी, आयस्यतो वृद्धिं भुक्तमात्रे च मार्दवं याति, येन हेतुना अस्याः प्रवृत्तिर्निवृत्तिरपि तेनैव व्यायामादिना हेतुना हृदयक्लोमकण्ठतालुसमाश्रिता भवति, मृद्वीयं साध्या च (चचि. १७.३४–३७).
क्षुद्रकमानस–न., काश्मीरस्थं सरः यत्र गायत्रादिसोमविशेषा उपलभ्यन्ते (सुचि. २९.३०)
क्षुद्रघ्र–पु., मान० कोलः (असंक. ८)
क्षुद्राग्निमन्थ–पु., वनस्पति० अग्निमन्थभेदः (ध. १.११२) द्र० 'अग्निमन्थ'
क्षुद्राञ्जन–न., फाणिताकृतिः रसक्रियाञ्जनं (उ.) नेत्ररोगहरम्, गोमूत्रादिविपाचितमेकम्, यकृद्रसभावितं द्वितीयम्, त्रिफलाभावितं तृतीयम्, एतत् त्रिप्रकारकं राज्यन्ध्ये उपयुक्तम् (सुउ. १७.१९–२०)
क्षुद्रान्त्र–न., शारीर० पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१० चशा. ३.६) मातृजमिदम् (चशा. ३.६) द्र० 'अन्त्र'
क्षुद्रापामार्गक–पु., वनस्पति० अपामार्गभेदः (ध. १. २६३)
क्षुद्रामलक–न., वनस्पति० आमलकभेदः क्षुद्रामलकगुणाः—स्वादु कषायं कटुकं शीतं पित्तघ्नमस्रदोषघ्नं च (रा. ११.३३१) द्र० 'आमलक'.
क्षुद्राम्र–पु., वनस्पति० आम्रभेदः कोशाम्रः (ध. ५.९) द्र० 'आम्र'
क्षुद्राम्ला–स्त्री., वनस्पति० शशाण्डुली (रा. ७.१०३)
क्षुद्राम्लिका–स्त्री., वनस्पति० चाङ्गेरी तद्गुणाः–साम्ला सोष्णा वह्निबलनी रुचिकृत् कफापहा ग्रहणीदोषदुर्नामघ्नी च (रा. ५.४५) स्वादुः कषायका चेति (ध. ५.३६)
क्षुद्रिका–स्त्री., मूर्धगता सिरा (असंशा. ६.२१)
क्षुद्रेङ्गुदी–स्त्री.,वनस्पति० धन्वयासः (रा.३. २५)
क्षुद्रेर्वारु–पु. वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५०) गोपालकर्कटी (रा. ३.२६४)
क्षुद्रैला–स्त्री., सूक्ष्मैला (ड. सुक. ६.१७)
क्षुद्रोपोदकी–स्त्री., वनस्पति० उपोदकीभेदः, तद्गुणाः–कषाया मधुरा कटुकोष्णा निद्रालस्यकरी रुच्या विष्टम्भश्लेष्मकारिणी च (रा. परि. ७.७६)
क्षुमा– स्त्री., वनस्पति० अतसी (सुसू. २५.२०) व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. १८.१६) कौशेयं सोमरसायनविधौ शय्यायामास्तरणार्थमुपयुज्यते (सुचि. २९.१२)
–तैल–परिव०–न., अतसीभवं तैलम् । तद्गुणाः—वातघ्नं मधुरं बलापहं कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलं च (सुसू. ४५.११६)
–धूम–पु., कौशेयवस्त्रस्य धूमः क्षौमं दग्ध्वोत्पाद्यमानो धूमः (चक्र. चचि. १८.१४६)
–ध्याम–न., अतसीभववस्त्रभस्म (सुसू. २५.२७)
–निचय–पु., कौशेयवस्त्राणां समूहः (असंउ. १)
–पट्ट–परिव०–पु., कौशेयः पट्टः अनग्निस्वेदस्यैकं साधनम् (सुचि. ४.१७)
–मषी–स्त्री., वस्त्रभस्म (हे. अहसू. २७.४९)
–लक्तक–पु., चीनांशुकम् (चचि. ३०.११३)
–सूत्र–न. अतसीसूत्रम् व्रणौष्ठसीवनोपयोगि द्रव्यम् (सुसू. २५.२०)
क्षुध्–स्त्री., क्षुधा, आहारसेवनेच्छा (चसू. १६.५) बुभुक्षा (सुउ. ५५.५) क्षुत्पिपासादिः स्वाभाविको व्याधिः (सुसू. १.२५ (४)
(क्षुत्)–क्षाम–वि., लक्षण० क्षुधया क्षीणः (चचि. १९.२३)
–तृट्सहोदय–पु., क्षुत्पिपासयोर्युगपदुदयः (अहसू. १४.१७)
(क्षुद्)–विघात–पु., क्षुधो निग्रहः (सुउ. ५५.३४)
–वेगनिग्रह–पु., क्षुद्वेगस्य निग्रहो नाम रोधः, एतस्मात् कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्याङ्गमर्दारुचिभ्रमा भवन्ति (चसू. ७.२०) (अहसू. ४.११) तन्द्रादृष्टिमान्द्ये च (सुउ. ५५.१६)
क्षुधा–स्त्री., अन्नाभिलाषा (रापरि. ८.३०)
–कुशल–पु., वनस्पति० बिल्वान्तरः (रापरि. ८.३०

क्षुधाभिजनका–स्त्री., वनस्पति० राजसर्षपकः (ध. ४.४३)

क्षुधाभिजनन–पु., वनस्पति० राजमाषः (रा. १६.१३५)

क्षुपक–पु., ह्रस्वशाखाशिफः क्षुद्रवृक्षः अतिबालवृक्षः (सुसू. २३.१७ सुचि. २९.१२)

क्षुब्धचित्त–वि., भीतचित्तः (सुचि. २४.११८)

क्षुमा–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११५)
व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. १८.१६)
कौशेयं सोमरसायनविधौ शय्यायामास्तरणार्थमुपयुज्यते (सुचि. २९.१२)

क्षुर–पु., वनस्पति० मुञ्जः (ध. ४.१३२)
गोक्षुरः (ध. १.१०३)
क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.१३१)
शरः (ध. ४.१३५)
महापिण्डीतरुः (रा. ९.३३)
–**पत्र**–पु., वनस्पति० शरभेदः स्थूलशरः (रा. ८.२१२) द्र० ' शर '
–(**पत्रिका**)–स्त्री., वनस्पति० पालक्यम् (रापरि. ७.७२)

क्षुरक–पु., वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८)
गोक्षुरः (ध. १.१०३)
कोकिलाक्षः (रा. परि, ४.४९)
क्षुवकः (रा. परि. ९.४०)

क्षुरप–पु., शस्त्र० क्षुरिका, केशशातनोपयोगी अयम् । अत्र " क्षुरप " इत्येव ग्राह्यम् (र. ७.५-२२)

क्षुरप्र–पु., शस्त्र० क्षुरपः (र. ७.५-२२)

क्षुराग्निमन्थ–पु., वनस्पति० अग्निमन्थभेदः (ध. १.११२) द्र० ' अग्निमन्थ '

क्षुराङ्ग–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (रा. ३.१३)

क्षुरिकापत्र–पु., वनस्पति० शरः (रा. ८.२११)

क्षुल्ल–पु., वनस्पति० भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०)

क्षुल्लक–पु., भैषज्य० क्षुद्रशङ्खः (रा. १३.२४६)

क्षुव–पु., वनस्पति० राजमाषः (रा. १६.१३५)

क्षुवक–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–कषायः कटुस्तीव्रगन्धः कफवातघ्नो भूतग्रहादिदोषघ्नश्च (रा. परि. ९.४०)
हिं.—नकछिक्कनी.
म.—**नाकशिंकणी.**
गु.—नाकछीकणी.
बं.—छिकनी.
त.—पेटमरुट्टी.
फा.—वेरगाउजवा.

क्षेत्र–न. पु., उत्पत्तिस्थानम्, भूमिः (सुसू. १३.२४) प्रभवस्थानम्, कुलपुरुषः (चक्र. सुसू. ३५.५) अव्यक्तक्षेत्रज्ञवर्जितं महदादिभूतपर्यन्तं क्षेत्रम् (चशा. १.६५)
देहदेशः (चचि. १४.६)
गर्भाशयः स्त्रीशरीरं वा (सुशा. २.३३)
–**कर्कटी**–स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५०)
–**गुण**–पु., भूमिगुणः (चचि. १(४).११)
–**चिर्भिटा**–स्त्री., वनस्पति० चिर्भटम् (रा. ७.२६२)
–**जा**–स्त्री., कण्टकारीभेदः श्वेतकण्टारिका (रा. ४.१२४)
वनस्पति० चणिका (रापरि. ८.६५)
गोमूत्रिका (रापरि. ८.४८)
शिल्पिका (रापरि. ८.४९)
–**ज्ञ**–पु., पुरुषः आत्मा कर्मपुरुषः (ड. सुशा. १.३) (चशा. १.५) अयं सांख्यदर्शने सर्वगतो नित्यश्च सुश्रुते प्रतिशरीरं भिन्नः पुरुषः (सुशा. १.१६) शरीररूपक्षेत्रस्य ज्ञाता (सुशा. ३.४)
–**दूती**–स्त्री.. वनस्पति० श्वेतकण्टारिका (ध. १.९७)
–**पारंपर्य**–न., क्षेत्रस्याव्यक्तवर्जितस्य महदादित्रयोविंशतिकस्य परंपरा नाम संततिः तदेव पारंपर्यम्, परम्परा एव पारम्पर्यम् (चशा. १.८२)
–**रुहा**–स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५०)
–**वास्तुक**–पु., वनस्पति० चिल्लि (सुसू. ४६.२५६ २६०.३३५.) (चक्र चसू. २७.९८) शाकवर्गे श्रेष्ठः लघुपत्रशाकं, वास्तुकतुल्यं, सक्षारं, पथ्यं, रुचिकरं, प्रमेहमूत्रकृच्छ्रघ्नं, श्लेष्मपित्तघ्नं च (रा. परि. ७.६६) गुणैः वास्तुकवत् ज्ञेयं (सुसू. ४६.२६१) हिं.—बथुआशाक.
–**संभव**–पु., वनस्पति० चक्षुः (रापरि. ४.१८)

क्षेत्रिणी–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)

क्षेत्रीकरण–न., उपक्रम० पारदसेवनयोग्यशरीरत्वविधानम् (र. ११.६७)

क्षेप–पु., प्रसारणम् (सुनि. १.७४)
–**वेध**–(परिव०) पु., पारदसंस्कार० द्रुते ताम्रवङ्गादिधातौ सुवर्णकरणार्थं पारदस्य प्रक्षेपणम् (र. ८.९१) ध्मानेन मूषायां लोहे ताम्रादौ द्रुते सति पारदस्य यत्प्रक्षेपणं सः क्षेपवेधः (र.८.९१)

क्षेत्रेक्षु–पु., वनस्पति० जूर्णा (रा. १६.१६७)

क्षेम–पु., न., रक्षणम् (अरु.,) लब्धपरिपालनम् (हे. अहसू. ७.२)

क्षेमक–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)
क्षैरेय–वि., क्षीरस्येदं पायसादि (अहसू. ६.४१)
पु., पायसः (अरु. अहसू. ७.४१)
(क्षैरेयी) स्त्री., क्षीरेण साधिता पेया (असंसू. २५.७०)
क्षोणिनाग–पु.. जन्तु० भूनागः "कंचुआ" "दानवा" (र. ४.४७)
क्षोद–पु., चूर्णनम् (असंनि. २.८)
क्षोभ–पु., क्षुब्धता (र. १.६१; अहनि. १.१०)
क्षोभण–वि., क्षोभजननम् (असंसू. १२.३)
क्षोभिणी–वि., श्वसन–प्राणायामादि–क्रिया (अहसू. २८.१७)
क्षौद्र–न., मधुभेदः, अष्टमधुजातिष्वेकं क्षुद्रमक्षिकाभवं क्षौद्रम्, तत् क्षुद्राभिः पिङ्गलवर्णमक्षिकाभिर्निर्मितमिति तत् कपिलवर्णम् (चसू. २७.२४३)
तद्गुणाः–शीतलं लघु लेखनं च (सुसू. ४५.१३३)
–घृत–न., मधुघृतसंयोगः सन्धानार्थमुपयुज्यते (सुउ. १४.३–४)
–ज–न., भैषज्य० सिक्थकम् (रा. १३.१७४)
–(जा)–स्त्री., भैषज्य० माध्वी सिता (रा. १४.१६८)
–धातु–पु., खनिज० हेममाक्षिकम् (रा. १३.२१०)
–प्रिय–पु., वनस्पति० जलमधूकः (रा. २१.५९)
–मेह–पु., रोग० वातजप्रमेहेष्वेकः, अस्मिन् मधुवत् मधुरसवर्णसदृशं मेहति (सुनि. ६.१२)
–शर्करा–स्त्री., भैषज्य० माध्वी सिता (रा. १४.१६८)
क्षौद्रेय–न., भैषज्य० सिक्थकम् (रा. १३.१७४)
क्षौद्रोत्थ–न., मधूच्छिष्टं सिक्थकम् (सुचि. २५.३९)
क्षौम–न., अतसीवस्त्रम्, क्षुमा, अतसी, तत्तन्तुनिर्मितं क्षौमम् (वस्त्रम्) (सुसू. २५.२७, २८)
क्षौमक–न., क्षौममेव क्षौमकम् अतसीवस्त्रम् (चशा. ८.४७)
क्ष्मा–स्त्री., पृथ्वी (अहसू. ९.१)
क्ष्वेड–पु., वनस्पति० कोशातकी (चक. ६.३)
जीवकः (ध. १.१२३)
शब्द० गर्जना (चई. ८.२०)
व्रणे शब्दवैकृतम् 'खटखटा' शब्दः (सुसू. २८.१६)
कर्णरोग० कर्णक्ष्वेडः कर्णनादः केवलवातारब्धो नानाविधशब्दान्वितोऽयम् (ड. सुउ. २०.९)
विषम् (र. १२.१०१)
वि., वक्रं दुष्टम् (असंशा. ११.५४)
(क्ष्वेडा)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९२)
क्ष्वेल–पु., क्ष्वेडः विषम् (र. २९.७९)

ख

ख–न., महाभूत० आकाशम् । पञ्चमहाभूतेष्वेकं द्रव्यम् (चसू. १.४८, चसू. ८.९)
रन्ध्रं छिद्रम् (चनि. २.८)
(सुशा. ९.१०; डसुशा. ९.१३; अहसू. ११.३६)
स्रोतः, (चसू. १३.४८; सुचि. ३५.२५.)
इन्द्रियम् (सुसू. ५.२८)
खनिज० अभ्रकम् (र. ३०.१–२)
अभ्रकम् (रा. १३.२.)
–ग–पु., पक्षी (सुसू. १.३०)
खनिज० कासीसम् (र. २०.१०३)
पुष्पकासीसम् (र. ११.४९)
कीटः (असंशा. १०)
खनिज० अभ्रकम् (र. २.४५)
–गपुङ्खा–स्त्री., वनस्पति० शरपुङ्खा (रा. परि. ४.६)
–गुणाधिक–वि.. आकाशीयगुणाधिकम् (असंसू.६)
–गेश्वर–पु. पारदयोग० पारदाभ्रकार्जुनादिनिर्मितोऽयं कुष्ठश्वासकासघ्नः (र. २०. १०३–१०७)
–द्योत–पु., सविषकीट० ज्योतिरिङ्गणः, (सुउ. ७.३)
तल्लक्षणम्—अयं लाक्षारुधिरवर्णाभः श्वेतबिन्दुविचित्रितः क्षुद्रको ह्यग्निसंकाशो निशि अग्निवद् भ्राजते तेन दष्टः दह्यते । दंष्ट्राविषः श्वेतबिन्दुः सपक्षः षट्पदोऽयम् (ड. सुक. ८.२४–२५)
–द्योतक–न., सविषफल० फलविषेषु एकम्, (सुक. २.५) द्र० 'फलविष'
–द्योताभ–वि., खद्योतस्याभा इव आभा यस्य सः (सुउ. ७.३)
–द्रु–पु. वनस्पति० प्रियालः (रा. ११.१०२)
–पुट–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रा.१२.१११)
–पुर–पु., वनस्पति० सल्लकीनिर्यासः (हे. अहसू. १५.४३)
कुन्दरुकः वनस्पति० कुन्दरुः (अहसू. १५.४३)
फलमज्जा (र. १७.१३५)
वनस्पति० पूग–फलम् (ध. ३.३९)
–मल–पु. रन्ध्रमलः, मांसधातोर्मलः, शरीरे च्छिद्रं कर्णनासिकात्वग्रन्ध्रादि, तत्रस्थो मलः (चक. चचि. १५.१९)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० आकाशवल्ली, गुणाः–कटुका, मधुरा, वृष्या, रसायनी, बल्या, दिव्यौषधिपरा, पित्तनाशिनी (रापरि. ३.१९)

–वारि–न., दिव्यौदकमन्तरिक्षं जलम्, वृष्टयम्बु (रा १४.३२०) द्र० 'जल'

–वैगुण्य–न., स्रोतोवैगुण्यं स्रोतोदुष्टिः (चचि. १५.३७ सुसू. २४.१०)

–संभवा–स्त्री.. वनस्पति० मांसीभेदः, आकाशमांसी (रा. १२.९५)

–सत्त्व–न., अभ्रकसत्त्वम् (रा. २०.६८–७४)

खज–पु., मन्थानदण्डः (चक्र. चचि. ११.५९)
मन्थनदण्डः (ड. सुउ. ५८.५५)
दध्याहननकाष्ठम् (अरु. अहसू. १९.४१)
पञ्चाङ्गुलो हस्तः (चचि. २९.७८)
शस्त्र० (असंसू. ३४)
नासाभ्यन्तरतोऽसृग्हरणार्थमुपयुज्यते (अहसू. २६.२३)
खजस्त्वर्धाङ्गुलायतोऽष्टकण्टकमुखस्ताम्रो लौहो वा (असंसू. ३४)

(खजा)–स्त्री., खजः 'रवी' इति म. भाषायाम् (सुचि. २६.३५)

–मथित–वि., खजेन मन्थानदण्डेन आलोडितम् (असंसू. २८)

–मूर्च्छित–वि., खजया खजेन वाऽऽलोडितम् (असंचि. ५)

खञ्ज–पु., वातरोग० सक्थिकण्डराश्रितः विकलगतिलक्षणो वातरोगः, सम्प्राप्तिः यदा वायुः कट्यां स्थितः सन् सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेत् तदा खञ्जो भवेत् (सुनि. १.७७ असंनि. १५)
एकसक्थिवधात्खञ्जः । एकपादस्य पङ्गुत्वम् 'किञ्चिद्गतिमत्त्वात्खञ्जः ।' गयदासः (सुनि. १.७७)
चिकित्सा–सिराव्यधो वातव्याधिचिकित्सितं च (सुचि. ५.२३)

खञ्जत्–वि., गतिविकलत्वमनुभवन्निव गच्छति यः सः (सु. नि. १.७८)

–ता–स्त्री., लक्षण० (चसू २०.१२)
विकलगतित्वम् (चसू. २०.१२ सु. शा. ६.२४)

–त्व–रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः पादेनैकेन विवशत्वम् (चसू. २०.११)
सुखेन गन्तुमसमर्थत्वम् द्र० 'खञ्ज'

खञ्जन–न., मर्दनादिनाऽऽमागारधूमानुरचितमुपस्तरणम् यं खरजिमित्याहुर्मृदङ्गवादकाः (सुसू. ३१.६)
पक्षि० खञ्जरीटः शुक्लकृष्णवर्णः (सुसू. ३१.६)

खञ्जनक–पु., धान्य० व्रीहिभेदः (ड. सुसू. ४६.१२)

खञ्जरीट–पु., धान्य० व्रीहि० (ड. सुसू. ४६.१२)
प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७)
सितासितवर्णो द्रुतललितगतिः (ड.) 'कवडिया' इति लोके (ड.) 'ताजवा पक्षी' इति (गी. ल. को.) (सुसू. ४६.६७)

खट–पु., कृतान्न० खटति कांक्षति रुग्ण एनमिति खटः (काखिल १०. ९३–९४)

खटिका–स्त्री., मृद्भेदः, 'खडिया' 'खडी' इति लोके (र. १२. ३८–३९)
खटी मृत्तिका (र. ९. ६४)
खनिज० गन्धकभेदः, खटिकाकारः श्वेतवर्णो गन्धकः ' श्वेतस्तु खटिकाकारो लेपनाल्लोहमारकः (र. ३.१४.) द्र० 'गन्धक. '

खटिनी–स्त्री., भैषज्य० मृद्भेदः, खटिका (र. १८. ७८–७९)

खट्वा–स्त्री., व्रणबन्ध० खट्वाकारश्चतुष्पादः स हनुशङ्खगण्डेषु विधेयः (सुसू. १८.१७ असंसू. ३८;) द्र० 'बन्ध'
पर्यङ्कः (सुसू. १८. १७)
वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३)

–पातिन्–वि. लक्षण० खट्वायाः पतितुं शीलमस्य इति (सु. चि. ५.१८)

–पादी–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुभेदः, दधिपुष्पी (रा. ७.२०४)

खट्वाङ्गनामिका–स्त्री., वनस्पति० वटपत्री (रा.५.२११)

खट्वाङ्गी–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३)

खड–पु., कृतान्न० यूषप्रकारः (काखिल० १०.९३)
सतक्रशमीधान्यः सतक्रशाकश्च, 'खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत्' (सुसू. ४६.४५१)
खडो द्विविधः, (१) सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि संग्राहकाणि खलानि इति (२) सतक्रशाकस्तु कपित्थतक्रचाङ्गेरीमरीचाऽजाजिचित्रकैः सुपक्वः खडयूषोऽयम् (सुसू. ४६.३७६)
खलः फलैः (चक्र. चचि. ८.१२८)
रागकर्पूरः (चक्र. च. नि. २.४)
'मुद्गयूषरसं तक्रं धान्यजीरकसंयुतम्। सैन्धवं सहितं खडयूष इति स्मृतम्' (भाप्र.)

कपित्थदाडिममरिचादिभिः सुपक्वं तक्रम्
(ड. सु. उ. ४०.२७)

-यवागू-स्त्री., खडेन सिद्धा यवागूः
(सुसू. ४६.३७८)

-यूष-पु., यूष० (चचि. १९.२५) द्र० 'खड'

खडु-पु., शारीर० पादजङ्घासंधिः गुल्फसंधिः
(सुनि. १.७९)

खडुल-पु., शारीर० गुल्फसंधिः (सुनि., १.७९)

खडुलक-पु., शारीर० गुल्फसंधिः (सुनि. १.७९)

खड्ग-पु., प्राणि० आनूपश्चतुष्पादः पशुः
वन्यपशु० गण्डकः; (सुसू. ६.२३; अहसू.६.५१)

-शिम्बी-स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी
(रा. परि. ७.९७)

खड्गिन्-पु., पशु० गण्डकः अस्य मांसं मांसवृद्धिकरम्
(चचि. ८.१५४)

खण्ड-वि., असमग्रम् (सुसू. ८.९)
शस्त्रदोष० (असंसू. ३४)
पु., रससिद्धः (र. १.२-५)
आदिमचन्द्रसेनलङ्केशादिषु सप्तविंशतिसंख्याकेषु अन्यतम आचार्यः
शर्करा० खण्डशर्करा (सुसू. ४५.१६२)
(अहसू. ५-४९) द्र० 'शर्करा'
न., खनिज० लवणभेदः बिडम् (रा. ६.३६)

(खण्डा)-स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः नागबला
(ध. १.२८४)

-कल्पन-(परिव०) न., खण्डकरणम् (सुचि. ४.२८)

-केश-न., रोग० इन्द्रलुप्तम् (र. २४.८३)

-खाद्य-व., शर्कराप्रचुरं भक्ष्यम् (अहसू. ७.७६)
योग० वासाभार्ङ्गीमृताभीरुसाधितोऽयं क्षयकास-कुष्ठादिहरः (र. २८.४८-५३)

-जा-स्त्री., भैषज्य० तवराजेति शर्कराभेदः
(रा. १४.१६५)

-पूर्विका-स्त्री., खनिज० खण्डाख्या मनःशिला इयं चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा च (र. ३. ९६-९९)
द्र० 'मनःशिला.'

-फण-पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४०)

-मोदक-पु.; भैषज्य० तवराजशर्करा
(रा. १४. १६५)

-लवण-न., खनिज० लवणभेदः, बिडम्
(ध. २.२८)

-शर्करा-स्त्री., इक्षुविकार० शर्कराभेदः, द्र० शर्करा
(चसू. २७.२४०)

-सार-पु., भैषज्य० तवराजशर्करा (रा. १४.१६५)

-सिता- स्त्री., खण्डशर्करा, द्र० 'शर्करा,'
(अहसू. ५.४९)

खण्डक-पु., वनस्पति० मुद्गभेदः कृष्णमुद्गः (ध. ६.८३)
द्र० 'मुद्ग.'
भैषज्य० मधुभवा शर्करा मधुशर्करा
(रा. १४.६१)

खण्डकाप्य-पु., ऋषि० (असंशा. ३)

खण्डाख्या-स्त्री., खनिज० मनःशिलाप्रकारः 'चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा खण्डपूर्विका, द्र० 'मनःशिला.'

खण्डामलक-पु., आमलकीखण्डः
(र. २०.२३३-२२६)

खण्डासव-पु., आसुत० मधुरद्रव्येषु अनुपानार्थमुपयुक्तः (सुसू .४६.४३२)

खण्डिका-स्त्री., शिम्बीधान्य० त्रिपुटकलायः कलायभेदः, कलाय (चसू. २७.२८)

खण्डिन्-पु., वनस्पति० वनमुद्गः मुद्गपर्णी
(र. २३.७१)

खण्डौष्ठ-पु., ओष्ठरोग० तल्लक्षणम्-अस्मिन् वातेनोष्ठो द्विधा भवति (असंउ. २५.)

खदिर-पु., वनस्पति० जाङ्गलदेशोद्भवो रक्तसारो वृक्ष० (चक. १.८) गायत्रीपर्यायः (सुसू. ३८.८-९) अस्य काष्ठं दन्तपवनार्थमुपदिष्टम् (अहसू. २.२) उदर्दप्रशमनगणे (चसू. ४.१७. (४३) (असंसू. १५) कुष्ठघ्नगणे (चसू. ४.११) (१३) (असंसू. १५) 'कुष्ठघ्नानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) (असंसू. १३.) कुष्ठादिहरप्रदेहे उपयुक्तः (चसू. ३.३.) असनादिगणे (असंसू. १६.) अस्य कषायः शनैर्मेहे उपयुक्तः (सुचि. ११.९) द्रावणसत्वपातनार्थं मत्स्यकोकिला उपयुक्ताः (र. ८.३६.) गुणाः-तिक्तः (कषायश्च) शीतः पाचनो रेतोविशोषणः, दन्त्यश्च, रक्तपित्तकुष्ठामकास-कण्डु-क्रिमिशोफ-व्रणहरः (ध. १.२६) मेह-श्वित्रज्वरपाण्डुघ्नः (भा. प्र. मिश्र) श्वेतखदिररक्तखदिरविट्खदिरादयः खदिरभेदाः । श्वेतखदिरगुणाः-तिक्तः कटुः कषायः उष्णः कण्डूतिभूतकुष्ठघ्नः कफवातव्रणापहश्च (रा. ८.३५) रक्तखदिरगुणाः

कटुः कषायः उष्णः गुरुस्तिक्तः आमवातास्रवातघ्नो व्रणभूतज्वरापहश्च (रा. ८.३७) विट्खदिरगुणाः– कटुस्तिक्तः उष्णः रक्तव्रणोत्थदोषहरः कण्डूतिविषविसर्पज्वरकुष्ठोन्मादभूतघ्नः (रा. ८.३९)
हिं.—खैर.
म.—**खैर.**
गु.—खेर.
बं.—खदेरगाल.
त.—वोदळं.
खदिरसारः न., (असंसू. १)
खादिरः (रा. ८.४१)

(खदिरी)–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुभेदः, वैपरीत्याह्वा, लज्जालुः (रा. ५.१६०)
वराहक्रान्ता (असंक. ४)

–कषाय–पु., योग० खदिरक्वाथः, त्वक्कण्ठरोगापचिमेहकुष्ठघ्नः (असंचि. २१)

–घृत–न., घृत० खदिरसारसिद्धं घृतम्, रक्तपित्तप्रबलेषु कुष्ठेषूपयुक्तम् (चचि. ७.१३५)

–निर्यास–खदिरनिर्यासः (च. चि. ७.९७)
खदिरः, तद्गुणाः—कटुस्तिक्त उष्णः कफवातहृत रुचिकृद्दीपनो व्रणकण्ठामयघ्नः (रा. ८.४१)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१५९)
खदिर० अरिखदिरः (रा. ८.४०) द्र० 'खदिर'

–वारि–न., खदिरेण सिद्धं जलम् (सुचि. ९.६६)

–विधान–न., खदिरस्य स्वरसकल्प० तद्यथा 'प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा मध्यममूलं छित्त्वाऽयोमये कुम्भे तदधोऽव्यवहिते निदध्याद्यथा तस्य रसग्रहणसामर्थ्यं जायेत, ततस्तत्खदिरखण्डं गोमयमृदाऽवलिप्तमवकीर्येन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेद्यथाऽस्य दह्यमानस्य रसः स्रवत्यधस्तात्, यदा जानीयात्पूर्णं भाजनमिति, अथैनमुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन्पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च, प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोऽभिवृद्धिर्भवति' (सुचि. १०.१३)

–सार–पु., खदिरकाष्ठसारः (चचि. १८.६४)

खदिरका–स्त्री., भैषज्य० लाक्षा (रा. ६.१४१)

खदिराङ्गार–पु., खदिरकाष्ठाग्निः (असंसू २६)

खदिराम्बु–न., खदिरवारि, कवलग्रहार्थमुपयुक्तम् (असंसू. ३)

खदिरारिष्ट–पु., आसुत० खदिरकृतोऽरिष्टः, अयं मांसगते विषे शमनार्थमुपयुज्यते (चचि. २३.१८८)

खदिरासव–पु., आसुत० अनेकशफानां छागादीनां मांसभक्षणोत्तरम् अनुपानत्वेन प्रोक्तोऽयम् (सुसू. ४६.४३२)

खदिरोद्भूत–पु., निर्यास० खदिरनिर्यासः (रा. ८.४१)

खनि–स्त्री., खानी आकरः (र. २.४)
खन्यते भू रत्नाद्यन्वेषणार्थमिति

खनी–स्त्री., खनिः (र. २.४)

खर–पु., गुण० (अहसू. १.११) वातस्य गुणः श्लक्ष्णविरुद्धः (चशा. ६.१०) (हे. अहसू. १.१८)
श्लक्ष्णत्वनाशनः (चसू. १२.४) कर्कोटफलवत्स्पर्शः (सुसू. ४१.४) (३) कर्कशः (सुसू. ४६.५१६)
कठिनः (सुनि. ३.१०) अमृदुः (अहसू. १.११)
लेखने शक्तिः अस्य गुणस्य (अहसू. १.१८)
तस्य कर्मस्तम्भनमतिसारादीनाम् (सुसू. ४६.५१६)
पशु० ग्राम्यवर्गीयः (चसू. १.९४) (सुसू. ४६.८५)
खमस्यास्तीति कण्ठविवरं महत्, खरः (असंशा. ३) (अहसू. ६.४८)
वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२५)
कुश० मृदुदर्भः (ध. ४.१३३) द्र० 'दर्भ'
न., खनिज० खरलोहम्, तीक्ष्णलोहप्रकाराणामन्यतमम्, तत्कठिनमलकवत्कुटिलरेखाभी रहितं तथा भङ्गे सति पारदाभं नमने च भङ्गुरं वर्तते
द्र० 'तीक्ष्णलोह' (र. ५.८०)
उपरसभेदः (र. २.१३९)

–काष्ठिका–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४२२)

–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० गाङ्गेरुकी (नागबला.) (ध. १.२८४)

–गन्धिनिका–स्त्री., वनस्पति० गाङ्गेरुकी नागबला (ध. १.२८४)

–चर्मा–स्त्री., प्राणि० गोधा (ध. परि. ६.३९)

–जिह्व–वि., लक्षण० खरा कर्कशा श्लक्ष्णविपर्यया जिह्वा यस्येति (सुउ. ३९.३९)

–त्व–न., लक्षण० दुःस्पर्शत्वम्, दुःखेन स्पृश्यमानत्वम् (चनि. ५.७)

–द्रुम–पु., वनस्पति० सुगन्धिधूपः श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३)

–धार–वि., शस्त्रदोष० कर्कशधारम् (सुसू. ८.९)
शस्त्रगुण० करपत्रशस्त्रस्य गुणः (अहसू. २६.१६)

–नासा–स्त्री., वनस्पति० आम्रः (असंउ. ४)

–पत्र–पु., वनस्पति० जम्बीरभेदः फणिज्जकः (ध. ४.५२) सागः (रा. परि. ९.६)
यावनाल (रा. परि. ८.३८)
न., अनुशस्त्र० यथा शाकशेफालिकादीनां पत्रम् (असंसू. ३४)

–(पत्री)–स्त्री., धान्य० गवेधुका (रा. ४.१८०)
वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)

–पाक–(परिव.) पु., स्नेहपाक० लक्षणम् 'स्नेहे सिद्धे सति यत्र भेषजं कृष्णमवसन्नं भर्जनात्किञ्चिद् भृष्टप्रायं विशदं चिक्कणं च भवति तत्र खरपाकं विद्यात्' (ड. सुचि. ३१.११) तस्योपयोगः–बस्तिकर्णपूरणार्थम्, 'बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति' (सुचि. ३१.११)

–पुष्प–न., वनस्पति० पिप्पल्यादिवर्गे भेषजद्रव्यम्, मरुबकः, क्षवकभेदः, 'बोडयिका' इति लोके (ड. सुसू. ४६.२२१) (चवि. ८.१४२)

(–पुष्पा) स्त्री., कटुकस्कन्धे द्रव्य० खरपुष्पा (सुसू. ३८.१८–१९)
अजगन्धा (ध. २.१००)
कट्फलम् (चवि. ७.१७)

–बुक–पु., वनस्पति० "मरुबकः" (असंसू. १६)

–बुस–पु., वनस्पति० "मरुबकः" (अरु. अहसू. १५.३०)

–भक्ष्य–वि., अमृदुभोजनः (सुसू. ४६.४४५) खराणि भक्ष्याणि यस्येति। "ऋहलोर्ण्यत्" इत्यनेन निष्पादितं अभक्ष्यपदं भक्ष्यपदार्थपरं ज्ञेयम् (सुसू. ४६.४४५)

–मञ्जरि–स्त्री., वनस्पति० अपामार्गः (सुचि. २५.१४)

–मञ्जरी–स्त्री., अपामार्गः, "कृदिकारादक्तिनः" इति मञ्जरिशब्दात् "ङीष्" प्रत्ययः स्त्रीत्वविवक्षायाम् (ध. १.२६०)

–मुख–वि., कर्कशमुखम्, यथा कङ्कमुखादीनि यन्त्राणि खरमुखानि भवन्ति (सुसू. ७.९)

–मूत्र–न., गर्दभमूत्रम् (चसू. १.१०४)

–यष्टिका–स्त्री., वनस्पति० बला (ध. १.२८०)

–वृषभ–पु., चण्डबलीवर्दः (चक्र. चशा. ८.४१)

–शूक–पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.७१)

–सार–न., खनिज० तीक्ष्णलोहभेदः (ध. ६.२८) द्र० 'तीक्ष्णलोह'

–स्कन्धा–स्त्री., वनस्पति० खर्जुरी (ध. ५.५३)

खरक–पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६५)

खरांशिका–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (र. २०.२१७)

खराश्वा–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (चचि. २६.६०)

खराहार–वि., कठिनाहारसात्म्यः (चसू. २७.३४४)

खराह्वा–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (चचि. १४.४३ ध. २.९८) (असंसू. ७)
जीरकभेदः, कृष्णजीरकम्, हरितवर्गीया (चसू. २७.१७२) द्र० 'जीरक'

खरीभूत–वि., अत्यर्थरूक्षः (चचि. १६.३१)

खर्जुघ्न–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२४)

खर्जू–स्त्री., रोग० कण्डूः० (अरुण अहसू. १२.५३)
"खर्ज व्यथने" इत्यस्माद्भौवादिकाद्धातोः कृषिचमि (उ० १।८२) इत्यनेन खर्जति व्यथते शरीरमनयेति खर्जूः

खर्जूघ्न–पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.१२)
चक्रमर्दः (रा. ४.९)

खर्जूर–पु., न., फल० (असंसू. १५) खर्जूरभेदाः–मधु–भू–पिण्ड–राजखर्जुर–भेदेन चतुर्धा, पिण्डखर्जूरं मधुरफलेषु श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३४)
श्रमहरगणे (चसू. ४.१६ (४०)
अपक्वखर्जूरफलं–
कषायम् (अहसू. १०.३२) शुष्कखर्जूरः रक्तपित्ते उपयुक्तः (चचि. ४.७१) तत् सजलं सशर्करं पित्तशूलशमनम् (सुउ. ४२.१०८) खर्जूरं वातहरमपि कोष्ठे वातं करोति इति स्वभावविशेषः, 'वातहृत्त्वेऽपि मृद्वीका खर्जूरं कोष्ठवातकृत्' (असंसू. ७) अस्य शाकं रक्तपित्तक्षयापहम् (चसू. २७.११६) तद्गुणाः–मधुरं मधुरपाकि, शीतलं, गुरु, (स्निग्धं च) हृद्यं, तर्पणं, बृंहणं, वृष्यं (बल्यं च) रुचिकृत्कृमिकृत् (वातपित्तजित्–च) क्षतक्षयरक्तपित्तजित् (अभिघात–दाहघ्नं–च) (चसू. २७.१२७ ध. ५.५३) खर्जूरस्य मस्तकमज्जा नाम वृक्षाग्रमज्जा स्वादुरसपाकः शुक्रलः वातघ्नः कफवृद्धिकरः रक्तपित्तहरश्च (सुसू. ४६.३१०)

हिं.—खजूर, छुहारा.
म.—खजूर.
गु.—खजूरां, खारेक.
बं.—खजूर, खेजूर.
त.—पेरिच्चु, तमररुतव.

खर्जूरी–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरवृक्षः (र. ११.३७)
–**नालिकेरासव**–पु., आसुत० गुह्याशयानां मांसेष्वनुपानार्थम् (सुसू. ४६.४३२)
–**पत्रक**–पु., रोग० परिस्रावीभगन्दरस्य संस्थानविशेषस्य नाम, तच्च मध्यनाडीच्छेदनस्य पार्श्वद्वयस्थानां मुखानां तिर्यक्छेदेन पङ्क्तिद्वयेन भवति (ङ. सुचि. ८.२६) द्र० 'भगन्दर'
–**फल**–न., खर्जूरीवृक्षस्य फलम्, खर्जूर (सुउ. ४५.२०)
–**मध्य**–न., खर्जूरमस्तकमज्जा, अन्ये खर्जूरास्थीन्याहुः (सुउ. ५०.२७) 'खर्जूरस्य मस्तकं शाखापुच्छः' (इन्दु. असंउ. २८.)
–**मस्तक**–न., खर्जूरवृक्षस्याग्रभागः (चचि. २६.१६८)
–**मांस**–न., खर्जूरफलसस्यम्, खर्जूरफलस्योपरितनो भक्षणीयो भागः (चक्र. चचि. २०.२८)

खर्जूरादिमन्थ–पु., पेयकल्प० खर्जूरादिकृतः 'मन्थः खर्जूरमृद्वीका वृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः परूषकैः सामलकैः सद्यस्तृष्णार्तिरोगजित्। गुणाः–स्वादुरम्लस्थैर्यवर्णबलप्रदः सद्यः संतर्पणश्च (असंसू. २४)

खर्पर–पु., खनिज० अष्टमहारसेष्वेकः रसकः (र. २.१५८)

खर्परक–पु., आयतमुखः शरावः (र. ३.९२)

खर्बुर–पु., वनस्पति० निष्पावभेदः कटुनिष्पावः (रा. १६.१७७) द्र० 'निष्पाव'.

खर्व–पु., वनस्पति० कुब्जकः (रा. १०.२४८)

(खर्वा)–स्त्री., वनस्पति० गाङ्गेरुकी नागबला (रा. ४.४२८)

खर्वण–पु., कश्चित्प्राचीनो रसविद्राजा (र. ८.४४–४६)

खल–पु., व्यञ्जन० खडः, (अरु. अहसू. १६.३४) द्र० 'खडयूष'.
वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.१२)
–**चरीयन्त्र**–न., यन्त्र० पारदसंस्कारार्थम्, 'जलहारियन्त्रम्।' 'वलभीयन्त्रम्' इत्यपराऽभिधानम्। यन्त्रभूते लोहपात्रे आभ्यन्तरोपकण्ठे पार्श्वयोर्वसजनार्थं वलयद्वयं कार्यम्। वलयमध्ये तु प्रवेशार्हकोष्ठकं लौहं स्वल्पपात्रमन्यद्विधाय मूर्च्छितरसगर्भितं तत्स्वल्पपात्रं प्रवेश्य वलयोरवसञ्जितं कृत्वा स्थूलपात्रे काञ्जिकं प्रभूतं दत्वा चुल्यां मन्दाग्निना प्रहरद्वयपर्यन्तं स्वेदयेत्। अनेन सम्मूर्च्छितस्य पारदस्य उत्थापनं साधु भवति सूक्ष्मे कान्तमये पात्रे कृतेन स्वेदनेन उत्थापितः पारदः गुणवान् भवति। एतद्धि खलचरीयंत्रं 'बलभीयंत्रम्' इत्यपरनाम्ना प्रसिद्धम् (र. ९.४७–४९)

(खला)–स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४)

खलक–पु., शारीरसन्धि० खडकः गुल्फसन्धिः (सुनि. १.१७९)

खलति–स्त्री., रोग० शिरःकपालगतो व्याधिः, स्खलन्ति केशा अस्मादिति खलतिः (असंउ २७;) खालित्यम्, (चचि. २६.३९) केशानां शातनम् (सुचि. २५.६३२) क्षारस्यात्युपयोगोद्भवः (चवि. १.१७) लवणरसोऽत्युपयुक्तः खलतिं जनयेत् (चसू. २६.४३.३) तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा खलतिं करोति (चचि. २६.१३२) पैत्तलान्यासेवमानायालब्धगर्भायाः प्रकुपितं पित्तं गर्भस्य खलतिं करोति। सम्प्राप्तिः–इन्द्रलुप्तप्रकारेणैव जन्म। लक्षणम्–वातादग्निदग्धा वा स्यात् पित्तात् स्विन्नसिरा वृत्ता स्यात्, कफात् घनत्वं भवति। त्वचि वर्णांश्च यथादोषं निर्दिशेत्। सर्वदोषैः सर्वलक्षणा। असाध्यलक्षणम्—नखप्रभाऽसाध्या स्यात्। अग्निदग्धतुल्या रोमरहिता सदाहा च या जायते साऽप्यसाध्या स्यात् (असंउ. २७) खलति–इन्द्रलुप्तयोर्भेदः—खलतौ केशानां क्रमात् शातनं नतु इन्द्रलुप्तवत् सहसा केशशातनं भवति (असंउ. २७) कार्तिकवचनात् शिरस्येव खलतिः, इमश्रूष्वेवेन्द्रलुप्तम्। चिकित्सा—गुञ्जाविशालामरिचैः कटुतैलं विपाचितं खलतिं शमयत्यम्लपिष्टमष्टगुणं विषात् (र. २४.९०–९१)

खलतिक–पु., खालित्यरोगयुक्तः (असंशा. २)

खलवर्धन–पु., दन्तरोग० खलिवर्धनः (असंउ. २५)

खलि–पु., पिण्याकः, यथा सर्षपखलिः, सर्षपखलः रूक्षणद्रव्येष्वेकम् (चसू. २२.२९)
–**वर्धन**–पु., दन्तरोग० लक्षणम्–मारुतेनाधिको दन्तो तीव्रवेदनो जायते। सामऽयेण जायमानात् दन्तोद्भवात् पूर्वकालिकी इयं तीव्रवेदना (सुनि. १६.२४–२५)

खलीघ्न–वि., खली–खल्ली वातरोग० तद्रोगहरं खलीघ्नं, खल्लीरोगघ्नम् (असंसू. ११)

खल्ल–न., यंत्र० द्रोणीसम्पुटसदृशसंस्थानम् (सुउ. २१.९) द्र० 'खल्व'

–मुखयन्त्र–न., शलाकायत्र० खल्लसंज्ञकस्यौषधमर्दनपात्रस्य खलं मध्ये मुखमिव मुखं यस्य तद्यन्त्रम् बोद्धव्यम्। "त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि क्षारौषधप्रणिधानार्थम्" (सुसू. ७.१४)

(खल्ली)–स्त्री., खातम् (असंसू. ३४)
लक्षण० हस्तपादावमोट्टनम् (चसू. १४.२३)
वातरोग० विश्वाची गृध्रसी च तीव्ररुजान्विते सत्यौ खल्लीति व्यपदेशं प्राप्नुतः (असंनि. १५) (चचि. २८.५७)

खल्लिका–स्त्री., चुल्लुका (र. ५१)

खल्व–पु., यन्त्र० द्रोण्याकारं पेषणोपयोगि यन्त्रम् (रा. २.९४) शुष्कौषधीनां पिष्टीकरणाय पेषितपूर्वाणां च द्रवेण मर्दनाय निर्मितं लौहं पाषाणमयं वा यन्त्रम्। (र. ६.४०) तत् त्रिविधम्, अर्धचन्द्राकारं वर्तुलाकारं तप्तखल्वश्च (र. ९.७२) खल्वनिर्माणयोग्या शिला नीला श्यामा स्निग्धा दृढा गुरुः षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा। घर्षणी द्वादशाङ्गुला विंशत्यङ्गुलदीर्घा वा स्यादुत्सेधे दशाङ्गुला। खल्वप्रमाणं तत् ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसमर्दने (र. ९.७९–८२) अर्धचन्द्राकारः खल्वोऽयं दशाङ्गुलोच्छ्रितः षोडशाङ्गुलायतो दशाङ्गुलविस्तरः सप्ताङ्गुलगभीरो द्व्यङ्गुलपालीको द्वादशाङ्गुलघर्षणीसमेतः सूतादिमर्दने परमो मतः (र. ९.८४–८५)

खस्खस–पु., वनस्पति० तिलभेदः, तस्य बीजं सूक्ष्मतण्डुलः खस्खसः, (ध. ६.१२०) गुणाः–मधुरः, मधुरपाकी, गुरुः, वृष्यः, बल्यः, कान्तिप्रदः, शुक्रलः, वातघ्नः
हिं.—खसखस
म.—**खसखस**
गु.—खरखस
बं.—पोस्तदाना
त.—गसगस
फा.—तुख्मेकोकनार

–रस–पु., उपविष० खस्तिलनिर्यासः, खस्खसफलस्य निर्यासः, अहिफेनम्, अफूकम् (रा. ६.१९१)

खस्तिलवल्कल–पु., खस्खसफलम्, तस्य निर्यासोऽफूकम् (ध. ६.१२०–१२१)

खाण्डव–पु., पानकभेदः, (अहसू. ७.६) आहारद्रव्य० मधुराम्ललवणनानासुगन्धिद्रव्यकृतं खाद्यम् (असंचि. ५)
गुणाः–हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागखाण्डवाः प्रीणनाश्रमतृट्छर्दिमदमूर्च्छाश्रमच्छिदश्च (असंसू. ७.५४)

–युक्ति–स्त्री., खाण्डवकल्पना (असंसू. ७.१८५)

खात–वि., खनितम्, अवदारितम्, 'खनु अवदारणे' इति भौवादिको धातुः (असंसू. २६)
पु., जलग्रहणार्थं भूकुण्डिका (असंसू. ६.)

खादन–न., लक्षण० यथा जिह्वायाः खादनम्। संशोधनार्थौषधपानान्यवहितवेगनिग्रहजन्यम् इदं लक्षणम् (चसि. ६.७२)

खादि–वि., आकाशादि खम् आकाशम् आदिर्येषां तानि खादीनि पञ्चभूतानि आकाशो वायुरग्निरापः पृथ्वी–इति पञ्चभूतानि द्रव्यसंज्ञकानि (चसू. १.४८)

खादित–वि., अन्न० लड्डुकादि कठिनान्नम्, यस्य भक्षणार्थं चर्वणमावश्यकम् (सुशा. ४.१९)

खादिर–पु., निर्यास० खदिरनिर्यासः
गुणाः–कटुस्तिक्त उष्णो रुच्यो दीपनो वातकफघ्नो व्रणः–कण्ठरोगहरः (रा. ८.४१)
वनस्पति० खदिरभेदः, विटूखदिरः द्र० 'खदिर' (रा. ८.३८)

खाद्य–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३१)
अष्टविधाहार्यद्रव्येष्वेकम् (रा. २०.८६)

खानिष्क–पु., मांस० परिशुष्कमांसम्, वेसवारभेदः, गुणाः–परं गुरुर्दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः (सुसू. ४६.३६४)

खारि–स्त्री., मान० गोणीपर्यायः, शूर्पद्वयम्, द्रोणचतुष्टयम् (चक. १२.९६) षण्णवत्यधिकचतुःसहस्रतोलकमानम् (४०९६) (र.१४.६०–६४)

–जल–न., क्षारोदकम् (र. २०.७५)

(खारिका) स्त्री., पात्र० चषकः, कटोरी, वाटिका (र. ७.२१)

खारिक–न., वनस्पति० पारेवतभेदः, 'द्र० पाले (रे) वत' (रा. ११.९०)

खारी–स्त्री., मान० खारी (चक. १२.९६)

खार्जूर–न., आसुत० खार्जूरमद्यम्, गुणाः–मार्द्वीकगुणैरूनं, वातलं, विशदं, रुच्यं, कफघ्नं, कर्शनं, लघु, कषायमधुरं, हृद्यं, सुगन्धीन्द्रियबोधनम् (सुसू. ४५.१७४, अहसू. ५.७३)

खालित्य–न., रोग० खलतिर्निष्केशः स्खलितकेशो वा खलतेर्भावः खालित्यम्, शिरसि केशहीनत्वम् (चवि. ८.९८) खल्वाटत्वम्, चान्दिलत्वमिति लोके (ड. सुसू. ३५.२९)

खिल–न., परिशिष्टम् (का. संहिताकल्प सूत्र. ८)

–स्थान–न., काश्यपसंहितायां खिलं परिशिष्टं स्थानं खिलस्थानम्। तत् संहितायाम् अन्त्यं नवमं स्थानम् (काखिल.)

खिलीभवन–न., पथिग्रहणे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानग्रहणे असामर्थ्यम् (चइ. १२.४७)

खुड–पु., शारीर० संधिः (चचि. २९.११)

रोग० वातशोणितम्, वातरक्तम् (असंनि. १६)

–वातता–स्त्री., वातरोग० सन्धिगतवातता गुल्फवातता (चचि. २८.७३)

–स्तम्भ–पु., वातरोग० ऊरुस्तम्भः (असंसू. १२)

खुडकावात–पु., रोग० वातकण्टकः (सुनि. १.७९)

खुडल–पु., शारीर० जङ्घापादयोः संधिः (सुचि. १८.२६)

खुडलक–पु., शारीर० खुडलः (ड. सुचि. १८.२६)

खुडुक–पु., शारीर० खुडकः, गुल्फसन्धिः (ड. सुनि. १.७९)

खुड्डाक–वि.,अल्पम्, यथा खुड्डाकपद्मकम्, अल्पपद्मकं (तैलम्) (चचि. २९.११५ चसू. ९.१ चक्र.)

–चतुष्पाद–पु., अध्याय० (चसू. ९.१)

–पद्मकतैल–तैल० पद्मकोशीरनिशायष्टीमधुकादिसाधितमिदं तैलं वातशोणिते उपयुज्यते (चचि. २९.११४)

खुड्डिका–वि., अल्पा, यथा खुड्डिका गर्भावक्रान्तिः अल्पा गर्भावक्रान्तिः (चशा. ३.१)

खुर–पु., भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८)

शफः (चसू. १.६९)

हस्तपादौ, 'खुरशब्देन हस्तपादावुच्येते' (मा. मधुकोश. सुनि. ८.४)

खुरक–न., खनिज० वङ्गम् (र. ५.२१२)

खुरवङ्गम्, वङ्गप्रकारयोरन्यतरत् (र; ५.१६१)

खुरवङ्गस्य लक्षणम्, खुरवङ्गं धवलं कोमलं द्रुतद्रावं गुरु तथा शब्दरहितं च वर्तते (र. ५.१६२)

द्र० 'वङ्ग'

खुरखुरायन–न., खुरखुरेतिशब्दानुकरणरूपं शब्दनम् (असंनि. ५.२५)

–नख–पु., शारीर० पादनखः (असंसू. ८)

खुलक–पु., शारीर० खुडुकः, गुल्फसन्धिः (ड. सुनि. १.७९)

खेचर–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४२)

कासीसम् (र. १०.१७)

–त्व–न., आकाशगामित्वम् (र. ११.७९)

खेट–पु., दोष० श्लेष्मा (चशा. ४.९)

–भूत–वि., श्लेष्मीभूतः, श्लेष्मसदृशः (चक्र. चशा. ४.९)

खेद–पु., लक्षण० अवसादः (चनि. १.२४)

खेदित–वि., जातक्षोभम् (अहसू. ५.९)

खोट–पु., पिण्डः (र. १९.६९)

पारदबन्ध० (र. ११.७२) द्र० खोटबन्ध'.

–बन्ध–पु., बद्धो यः खोटतां याति ध्मातो ध्मातः क्षयं व्रजेत्, खोटबन्धः स विज्ञेयः (र. ११.७२)

ख्याति–स्त्री., स्वाभाविकी स्तुतिः (सुसू. १३.३४)

ग

गगन–न., खनिज० महारसेष्वेकः अभ्रकम् (र. १.४२०)

–गर्भवटी–स्त्री., पारदयोग० सूताभ्रतीक्ष्णताम्रगंधकादिसाधिता इयं वातकफरोगहरा (र. २१.१५५)

गगनाम्बु–न., जल० आन्तरिक्षं जलम्, द्र० 'जल' (सुसू. ४५.२५)

गङ्गापत्री–स्त्री., वनस्पति० गुणाः—कटुरुष्णा वातजित् व्रणरोपणी (रा. परि. १०.४५)

गङ्गाम्बु–न., जल० दिव्याम्बु (अहसू. ५.२) द्र० 'जल'

गज–पु., पशु० हस्ती आनूपदेशस्थः कूलचरः (चसू.२७.३९; सुसू. ४६.९४)

श्लेष्मप्रकृतिकोऽयम् (सु. शा. ४.७६)

पु., वनस्पति० नागकेसरवृक्षः, नागकेसरम् (सुचि. २५.३८)

–कणा–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (असंचि. १६)

–कन्द–पु., वनस्पति० हस्तिकंदः (रापरि ७.३६)

–कर्ण–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (असंचि. १६)

महापर्णः भूपलाशः (असंचि.१६)
–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० कुमारी (असंउ. ४२)
–कृष्णा–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (ध. २.७८)
–चर्मन्–न., रोग० क्षुद्रकुष्ठभेदः, चर्माख्यं कुष्ठम्, ' हस्तिचर्मवत् खरस्पर्शं कुष्ठम् '
(इंदुः अहनि. १४.२० र. २०.९२)
–चर्या–स्त्री., गजानामारोहणम्, हस्तिशिक्षायामति-विस्तृतं सांग्रामिकमाभ्यासिकञ्च
(ड. सुचि. ११.११)
–चिर्मटा–स्त्री., वनस्पति० श्वेतपुष्पी, नागदन्ती
(ध. १.२५२)
–दन्तफला–स्त्री., वनस्पति० (डङ्गरी, ध. १.८१)
–दान–न., वनस्पति० हस्तिमदः (रा. परि. ६.२०)
–पति–पु., गजश्रेष्ठः, (असंसू. ८)
–पिप्पली–स्त्री., वनस्पति० चविकायाः फलम्, चव्यफला, कटुः स्वादुपाकी उष्णा रूक्षा वातकफघ्नी स्तन्यविवर्धिनी वर्णविवर्धिनी च (ध. २.७८)
हिं.—गजपीपल, बडी पीपली.
म.—गजपिंपळी.
गु.—गजपीपर.
बं.—गजपीपुल.
त.—अत्तित्तिप्पिली.
–पुट–न., पुट० राजहस्तमाननिम्नविस्तारे खाते पञ्चशतवनोपलैः संपुटितमूषायां दीयमानं पुटम्
(र. १०.५४–५५)
–प्राण–वि., गजबलः (चचि. १ (३)२१)
गजसमबलः (असंउ. ४९)
–बृंहित–न., हस्तिस्वनः प्रस्थाने प्रशस्तः
(सुसू. २९.३०)
–भक्ष–पु., सर्प० निर्विषोऽयम् (असंउ. ४१)
वनस्पति० तालः (रा. ९.९३)
–(भक्षा)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५)
–भक्षक–पु., वनस्पति० पिप्पलः (रा. ११.११८)
–मद–पु., भैषज्य० हस्तिमदः (रापरि. ६.२०)
–मौक्तिक–न., गजगण्डस्थले स्थितं मौक्तिकम्, इदं विषापहमिति ख्यातम् (चचि. २३.२५२–२५३)
–वल्लभा–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९५)
गिरीकदली (रा. ११.११२)
(गजा)–स्त्री., भैषज्य० लवणभेदः, वज्रकक्षारः
(रा. ६.५५)
गजाण्ड–न., वनस्पति० पिंडमूलम् (रा. ७.५७)
गजाशन–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७८)
(गजाशना)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी शल्लकी (ड)
(सुउ. ४०.१५५)
गजाख्य–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)
गजाह्वा स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (सुउ. ६०.४०)
गजेन्द्रस्कन्ध–पु., भद्रवारणसमूहः "संघातेऽपि... स्कन्धः करिनरतुरङ्गाणाम्" (हलायुधे ८.११)
गजेष्टा–स्त्री., वनस्पति० विदारी, विदारिका (रा.७.१९३)
गजोषणा–स्त्री., वनस्पति० श्रेयसी, गजपिप्पली
(रा. ६.११७)
गञ्जाकिनि–स्त्री., वनस्पति० विजया, भङ्गा (ध. १. १३०; (र. १६.७८; भाप्र. मिश्र)
गञ्जा (र. १५.७०)
गञ्जाकिनीकन्द (र. १५.७०.)
गडदेशज–न., भैषज्य०, गाढलवणम्, साम्भरलवणम्
(रा. ६.४७)
गडोत्थ–न., भैषज्य० साम्बरलवणम् (रा. ६.४७)
गण–पु., गण्यते इति गणः समूहः (ड. सुसू. ३८.३)
कथकचारणादिः रथकारचारणादिः
(सु. चि. ड. २४.९८)
–कारिका–स्त्री., वनस्पति० गणेरुका
(ध. परि. ५.२)
क्षुद्राग्निमन्थः, द्र० ' अग्निमन्थ '
(रा. ९.१३८)
–धूप–पु., धूपकल्प० सर्वभूतरुजापहोऽयम्
(काक. १)
–रूपक–पु., वनस्पति० राजार्कः (ध. ४.१६)
–हास–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)
गणिका–स्त्री., पण्याङ्गना, वेश्या (सुचि. २४.९८)
वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४८)
गणिकारिका–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राग्निमन्थः, अग्निमन्थः
(कात्रि. गुल्म. ३२)
गणिकारी–स्त्री., वनस्पति० सुगन्धिः कामवर्धिनी वृष्या त्रिदोषशमनी दाहशोषहरा (रापरि. १०.३१)
गणेरु–स्त्री., वनस्पति० गणेरुका (धपरि. ५.२)
गणेरुका–स्त्री., वनस्पति० शोधनी श्लेष्महरा शोफ–रक्तविकार–व्रण–कुष्ठहरा (धपरि. ५.२)
गणेशभूषण–न., खनिज० सिन्दूरम् (रा. १२.१६१)
गण्ड–पु., षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकः (चशा. ७.११)
वामदक्षिणभेदेन द्वे शीर्षप्रत्यङ्गे (सुशा. ५.४)
नेत्रकपोलमध्यदेशो गण्डः (इति अमरटीका गल्लः सुसू. २३.५)

रोग० गलगण्डः (चसू. ११.४९)
ग्रन्थिरूपः (चसू. १.११८)
गण्डमालादि (चसि. ७.९)
अग्निदग्धसदृशस्फोटः (सुनि. १०४)

–कर्ण–पु., बन्ध० पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः, सानुबन्ध-कपोलमांसमुत्कृत्य बाह्यदीर्घपाल्यग्रभागो यस्मिन् बन्धविशेषे सन्धीयते स कर्णबन्धः (सुसू. १६.१०) द्र० 'कर्णबन्ध'

–ता–स्त्री., लक्षण० ग्रन्थित्वात् (का. खिल. ९.४८)

–दूर्वा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, तद्गुणाः–मधुरा, शीता, वातपित्तघ्नी, ज्वरभ्रमतृष्णाश्रमघ्नी (ध. ४.१४५) द्र० 'दूर्वा'

–मालक–पु., प्राणि० जलचरोऽयम्, मांसगुणाः–'पाके च मधुरो वृष्यो गुरुश्च' (काखिल. २४.४१-४२)

–माला–स्त्री., रोग० इयं बहुभिर्गण्डैर्गलस्य पार्श्वे भवति (चचि. १२.७९)
शोफविशेषरूपा मालाकारा गण्डाः (चवि. ७.१४९)
अयं मांसदोषजो विकारः (चसू. २८.१४ सुसू. २४.९)
सम्प्राप्तिः लक्षणानि च–लक्षणम्—मेदःस्थाः कण्ठ-मन्याक्षकक्षवङ्क्षणगताः दोषाः सवर्णकठिनस्निग्धान्वार्ताकामलकाकृतीन् अवगाढान्बहूँस्तथा चिरपाकान्गण्डान्कुर्वन्ति । ताः प्रभिन्नाः अल्परुजः कण्डुलाः स्रवन्ति नश्यन्ति अन्ये भवन्ति च। दीर्घकालानुबन्धी चायं व्याधिर्गण्डमालानाम्ना च पठितः। असौ दूर्वेव क्षयवृद्धिभाग् वर्तते (असंउ. ३४) 'ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा.....चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति.....मेदःकफाभ्यां खलु एष रोगः। (सुनि. ११.१०–१२) असाध्यलक्षणम्–ज्वरच्छर्दिपार्श्वरुक्कासपीनसादियुताऽसाध्या (असंउ. ३४) चिकित्सा—अयं मांसवृद्धिभवत्वात् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः उपक्रम्यः । (अहसू. ११.३०)

–(मालिका)–स्त्री., रोग० गण्डमाला (र. २४.५८)
वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६०)

–स्पन्दन–न., लक्षण० गण्डः कपोलस्य उपरितनो भागः, तस्य कम्पः (चसि. ९.६)

गण्डक–पु., प्राणि० भूमिशयः गोधाभेदः (चसू. २७.३८) बिलेशयवर्गीयः प्राणि० (ड. सुसू. ४६.७८)
आनूपपशु० खड्ग इत्यपरनामा (चसू. २७.३९)
यक्ष्मिणोऽस्य मांसमुपयोज्यम् (चचि. ८.१५४)
गोमांससमाश्चाऽस्य मांसगुणाः, 'कफपित्तकरं मांसं गवाम्.....खड्गमांसं च तत्समम् (काखि० २४.३०) मांसगुणाः—कषायं रूक्षं कफवातघ्नम् (सुसू ४६.१०३) मधुरं बलकृद्-भिष्यन्दि स्नेहनं बृंहणं वर्ण्यं श्रमघ्नम् (चसू. २७.८४) पर्यायाः—
हिं.—गेन्डा, गंडा, गैंडा,
बं.—गण्डार, गाण्डार.
म.—**गेंडा.**

गण्डालजी–स्त्री., रोग० गण्डरोगो गण्डे दाहरुजान्वितः स्थिरः शोफः (असंउ. २५)

गण्डाली–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)

गण्डाशय–पु., शारीर० गण्डस्थानं कपोलः (असंउ.१)

गण्डास्थि–न., अस्थि० द्र० 'अस्थि' (सुशा. ५.१९)

गण्डाह्वया–स्त्री., क्षुद्ररोग० गन्धनामा इति वाग्भटः, गन्धमाला इति माधवः, कक्षासमानैका स्फोटाकारा त्वग्गता पित्तजन्या पिडका (र. २५.२)

गण्डीर–पु., वनस्पति० स्नुहीवृक्षः (चवि. ७.१७) (सुचि. ४.३२) (असंचि. १८) (अहसू. १५.३३) स्नुही (ध. १.२३५)
शाक० (वै. श. सिं.) अम्लस्कन्दे द्रव्यम् (चवि. ८.१४०) स्थलजलभेदेन द्विविधः, तत्र स्थलजो हरितशाकम् (ड. सुसू. ४६.२२१)
गण्डीरो महान् कन्दप्रायः कार्तिकेयपुराणादौ (चचि. १२.२९) हरितो रक्तशुक्लभेदाद्विविधः (चसू. २७.१७१)
वनस्पति० शमठः (चक्र. चसू. २७.१०६) कफं नाशयति, क्रिमिघ्नगणे प्रोक्तानां द्रव्याणामन्यतमम् (चसू. ४.११ (१५)
तुलसीभेदः (चनि. २.४)
शूलप्रशमनगणे (चसू. ४.१७ (४५)
मञ्जिष्ठा (च. वि. ७.१७)
न., वनस्पति० तिक्तसूरणः, सूरणभेदः, द्र० 'सूरण.' (र. १३.६३)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० शिरोविरेचनद्रव्येषु, शमठ इति चक्र. (चवि. ८.१५१)

गण्डीरारिष्ट–पु., आसुत० पाण्डु–कामला–मेह–हृद्रोग-वातशोणित-विषमज्वरारोचक-श्वास-कास–ग्रन्थ्य-र्बुद–कृमिहरः (असंचि. १८)

गण्डूपद–पु., प्राणि० भूनागः, किञ्चुलुकः (चवि. ७.१२) शोषिणेऽयमशनार्थं हितः (सुउ. ४१.२६) "मृष्टमत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद्गण्डूपदानपि" इत्यादिभिर्नानावचनैरयं शोषिणे देयः (ड. सुउ. ४१.३६) कृमि० सप्तविधपुरीषजेष्वेकः, लक्षणम्–गण्डूपदाः कृमयो दीर्घा रक्तवर्णाश्च भवन्ति। तज्जन्यलक्षणम्–ते गुदे कण्डूं जनयन्ति, शूलमाटोपं शकृद्भेदमग्निनाशं च कुर्वन्ति (सुउ. ५४.८)

–मुखा–स्त्री., शलाका० द्विप्रकारका इयमेषणकर्मण्युपयुक्ता (अहसू. २५.२९)

गण्डूष–पु., उपक्रम० मुखरोगे उपयुक्तः उपक्रमोऽयम् (चसू. १३.२५) मुखे पूर्णे सति यः सञ्चारयितुमशक्यः स्यात्, स गण्डूष उच्यते (अरु. अहसू. २२.१२) चुलुकः (सुचि. ४०.६२) स स्नेहिकः शमनः शोधनो रोपणश्चेति चतुर्विधः (अहसू.३१ अहसू.२२.१) वाते स्निग्धो गण्डूषः, पित्ते शमनः, कफे शोधनो मुखव्रणसाधने रोपणाख्यश्च (अरु. अहसू. २२.१–२) स्वाद्वम्लकटुसाधितैः स्नेहैः कृता गण्डूषा वाते उपयुक्ताः (अहसू. २२.२) वातिके मुखरोगे तथा विशेषतो दन्तहर्षे दन्तचाले च तिलकल्कोदकं, गण्डूषधारणे नित्यं तैलं हितम्, (अहसू. २२,६) पैत्तिके तिक्तकषायमधुरौषधैः कृता गण्डूषाः पित्तसंशमनाः (अहसू. २२.२) 'ऊषादाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे। विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा" (अहसू. २२.६–७) कफे तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः कृता गण्डूषा हिताः (अहसू. २२.३) आशुक्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम्' (अहसू. २२.९) रोपणो गण्डूषः कषायतिक्तकैः स्यात् (अहसू. २२.३) 'वैशद्यं जनयत्याशु संदधातिमुखे व्रणात्। दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम्' (अहसू. २२.७–८) गण्डूषमात्रा–मुखकुहरे गण्डूषार्थं तावन्मात्रमुदकं ग्राह्यं यावता मुखं न सञ्चालयितुं क्षमेत (असंसू. ३१) गण्डूषकालः–नस्याऽनन्तरं गण्डूषधारणं कार्यम् (असंसू. ३) धारणावधिः–यावत्कफपूर्णास्यता स्रवन्नासानेत्रता च दृश्यते तावदयं धारणीयः (अहसू. २२.११) अतियोगलक्षणम्–'मुखशोषपाककृमाऽरुचिहृदयद्रवस्वरसादकर्णनादैरतियोगमुपलक्षयेत्।' (असंसू. ३१) अयोगलक्षणम्–'जाड्यरसाज्ञानारुचिप्रसेकोपलेपैरयोगं लक्षयेत्' (असंसू. ३१) सम्यग्योगलक्षणम्–अकालवलिपलिततिमिरव्यङ्गतिलकालकादीन् प्रशमयति (असंसू. ३१) सुखोष्णोदकगण्डूषः–प्रतिदिनं सुखोष्णोदकगण्डूषैर्वक्त्रलाघवं जायते, 'सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम् (अहसू. २२.१०) वक्त्रदग्धे गण्डूषः क्षारादिदाहे च 'तिलानीलोत्पलं सर्पिः शर्कराक्षीरयुक्तः सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो दाहनाशनः (सुचि. ४०.६७–६८) विषकृतमुखरोगे–सेव्यचन्दनपद्मकैः ससोमवल्कतालीसपत्रकुष्ठाम्बुतानतैः' कृता गण्डूषाः हिता भवन्ति (अहसू. ७.२२)

गण्डोपधान–न., गण्डपदेन मस्तकादीनामुपधानम् (सुचि. ५.१६)

गतचन्द्रिक–वि., निश्चन्द्रम्; यथा हस्ततलस्थितमभ्रकभस्म आतपे दृष्टं चन्द्रिकाविहीनं जायते, तदेव निश्चन्द्रम् (र. १६.११)

गतशोक–पु., वनस्पति० अशोकः (असंसू १६) (अहसू. १५.२६)

गतायुस्–वि., गतमायुः यस्य सः, आसन्नमरणः (सुसू. ३०.६) भविष्यन्मरणचिह्नम् (सुसू. ३२.५)

गति–स्त्री., चलनम्, गमनम्, चङ्क्रमणम् (चसू. १७.४. अहसू. १२.७) प्रशस्ताप्रशस्तगतिलक्षणम्— 'मत्तगजवृषभसिंहशार्दूलहंसगतयोऽधिपतयः स्तिमितगतयो धन्याः। चपलगतयश्चपलसुखदुःखलाभिनः, तिर्यग्गतयस्त्वधन्याः स्खलनाश्राङ्गविस्फोटिनश्चाऽप्रशस्ताः' (कासू. २८) मार्गः, (चसू. १०.१२) रोग० नाडीरोगः, नाडीव्रणः (सु. नि. १०.१०; असंउ. ३४) (सुसू. ५.१२)

–क्षय–पु., लक्षण० गमनेऽशक्तता (सु. नि. ५.२७)

–स्खलन–न., लक्षण० गमने स्खलनम् (असंनि.२)

गतिमत्–वि., गतिर्बहिर्निस्सरणम्, तद्वन्ति गतिमन्ति पुरीषादीनि (चसू. १८.४९)

गद–पु., व्याधिः, रोगः, गद्यते पीड्यतेऽनेनेति करणेऽच्प्रत्ययान्तोऽयम् अथवा गद्यति पीड्यति इति अच्प्रत्ययान्तो ज्ञेयः। हलायुधः (चसू १४.३; चनि. १.५ सुनि. १.३२)

पु., न., वनस्पति० कुष्ठम्
(असंउ. ४५;८; र.२०.१९२)

(गदा)–स्त्री., वनस्पति० कुष्ठम् (र. ३०.६४)

गदातिचार–पु., रोगाणामसम्यगुपचारः
(चचि. २६.७७)

गदौघ–पु., विकारसमूहः (सुसू. ३५.५०)

गद्गद–पु., रोग० जिह्वागतवातरोगः, अव्यक्तवाग्, उदानवातजन्योऽव्यक्तवाग्लुप्तपदव्यञ्जनलक्षणो रोगः (चसि.२.२२) संप्राप्तिः–सकफो वायुः शब्दवाहिधमनीरावृत्य गद्गदं करोति (सुनि. १.८५)
वि., अव्यक्तवाक्, लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी
(सुनि. १.८५)

–वाच्–वि., लक्षण० अस्पष्टवचनः (सुक. २.२७)

गद्याण–पु., मान० माषषट्कमानम् (र. १६.५५)

गन्तृ–वि., संसरणशीलः (सुशा. ३.४)

गन्दुक–पु., क्रीडनक० कन्दुकः (काखि. १२.६) चेंडू.

गन्ध–पु., गुण० घ्राणेन्द्रियग्राह्यः (चसू. ८.११)
पार्थिवः गुणः (चशा. ७.१६) सुरभ्यसुरभिस्वरूपः (सुशा. १.४)
सुगन्धः (अहसू. १३.५) गन्धः, दक्षिणापथगाः चन्दन–जातीफल–कङ्कोल–लवङ्गादिसम्भवाः (सुचि. ४.२९) हैमवता गन्धाः कस्तूरी–शठी–कुष्ठ–मांसी–सरल–सुरदार्वीत्येवमादिप्रभवाः
(सुचि. ४.२९)
खनिज० गन्धकः (र. २.२; रा. १३.१६७)
गन्धकभेदः, वटसौगन्धिकः (ध. ३.११४)
द्र० 'गन्धक.'
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.७९)
शालि० सुगन्धिशालिः, द्र० 'शालि'
(रा. १६.१२०)
वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२)
प्रियङ्गुः (र. २२.१३९)
न., वनस्पति० शालिपर्णीभेदः द्र० 'शालिपर्णी,'
(ध. १.८९)

गन्धक–पु., खनिज० (चचि. ७.७१)
उपधातुष्वेकः (र. २.४१–४२)
भेदाः–शुकचञ्चुनिभः श्रेष्ठः पीतवर्णः मध्यमः शुक्लवर्णः कनिष्ठः इति केषांचिन्मते त्रिविधः। मतान्तरे तु 'श्वेतादिभिर्वर्णैर्गन्धकश्चतुर्धा'
(र. ३.१४)
तत्र श्वेतः 'खटिका लेपने गन्धमारणे लोहमारणे उपयुक्ता।' पीतः–'पीत, आमलकसारो रसायने उपयुक्तः।' रक्तः–'शुकतुण्डाख्यो धातुवादविधौ वरः।' कृष्णः–'दुर्लभः जरामृत्युनाशनः'
(र. ३.१५–१६)
श्रेष्ठस्य लक्षणम्–शुकपिच्छसमच्छायो नवनीतसमप्रभः मसृणः कठिनः स्निग्धः श्रेष्ठो गन्धकः, अशुद्धस्य दोषाः–अशुद्धगन्धकः कुष्ठं भ्रमं पित्तरुजां करोति तथा रूपं बलं वीर्यसुखं च निहन्ति रसेन्द्रः। शोधनविधिः–१ घटीमात्रं पयः स्विन्नः वारिधौतो गन्धको गव्याज्यविधृतो वस्त्राद्गलितः शुद्धिमृच्छति
(र. ३.२० (२))
भृङ्गराजरसैः स्विन्नः गन्धकः शुध्यति। गन्धकस्य गन्धहरणम्–ततः शुद्धं गन्धकं समुद्धृत्य नवमालीदेवदालीवज्र्यर्कपयोऽम्लवर्गैः स्वेदयित्वा मर्दयित्वा च गन्धहीनं कुर्यात्। गुणाः—मधुरः कटुस्तिक्त उष्णः कटुविपाको दीपनः पाचनो रसायन आमघ्नः सूतजिच्च। अयं कण्डूकुष्ठविसर्पविषकृमिकच्छूत्वग्दोषहरः। विशेषतः कुष्ठरोगं निहन्ति
(ध. ३.१०९)
पथ्याऽपथ्यम्–गन्धकसेवने क्षाराम्लतैलसौवीर–विदाहिद्विदलान्यपथ्यानि (र. ३.३४–३५)
द्रावणविधिः—षोडशांशेन त्रिकटुना संयुक्तं श्लक्ष्णचूर्णितं गंधकं हस्तादीषदूने वस्त्रे प्रसार्याऽनन्तरं तद्वेष्टयित्वा सूत्रेण विवेष्टय यामप्रहरपर्यन्तं तिलस्नेहे निमज्जयेत्। अनन्तरं सन्दंशद्वारा तां वर्तिं धृत्वा प्रज्वालयेत्। एवं द्रुतो गन्धो बिन्दुशः कांचभाजने निपतत्ययमेव गन्धकद्रावः
(र. ३.२८–३०)
हिं. म. गु. बं.–गन्धक.
फा.—गोगिर्द; (शालिग्राम निघण्टु पृ. ७४४)
गन्धकभेदः, वटसौगन्धिकः (ध. ३.११४)

–तैल–न., योग० पामाकण्डूहरम् (३.४३)

–द्रुति स्त्री., योग० आर्द्रकस्वरसेन पिष्टं गन्धकेन संमर्दितं तुत्थं दशनिष्कं तत्प्रमाणं चाभ्रकं ताम्रं च खर्परे भर्जयित्वा चूर्णयेत्ततश्च कन्दुकयन्त्रे भर्जयेत्। गन्धकं च तत्र शनैः क्षिपेत्। जलप्रस्थे नीलाञ्जनं शिलाजतु च कर्षप्रमाणं क्षिप्त्वा मर्दयेत्ततः पात्रे संस्थाप्य प्रसादं स्रावयेदातपे च शोषयेत्। एतत् सर्वनेत्ररोगान्हरेत्। विशेषतश्च व्रणं कुष्ठं पिल्लं काचं कुकूणकं च। व्रणान् विरोपयेत्। अनुपानं स्तन्यघृतदुग्धानि (र. २३.७८–८४)

–योग–पु., गन्धकेन सह कृतो योगः, कुष्ठघ्नोऽसौ
(चचि. ७.७१)

(गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० (ध. २.१००)
शमी (रा. ८.१५२)
शठी, सटी (रा. ६.८७)
–कन्दक–पु., वनस्पति० गुण्डकन्दः (रापरि.८.६३)
–कारी–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१५५)
–कुटी–स्त्री., वनस्पति० मुरा (ध. ३.६७)
–कुसुम–पु., वनस्पति० बीजपूरकम् (ध. ५.२३)
(–कुसुमा)–स्त्री., वनस्पति० गणिकारी (रापरि. १०.३१)
–गर्भ–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०७)
–चेलिका–स्त्री., भैषज्य० गन्धकेलिका, कस्तूरिका (ध. ३.२८)
–तण्डुल–पु., शालि० गन्धशालिः द्र० 'शालि', (रा. १६.९३)
–तन्मात्र–न., पञ्चतन्मात्रेष्वेकम्, अनुद्भूतो गन्धः, सूक्ष्मा पृथिवी (सुशा. १.४)
–तृण–पु., सुगन्धतृणम्, भूतृणम् (रापरि. ८.४४)
–तैल–न., सुगन्धद्रव्यकल्कयुक्तं तैलम्, गन्धद्रव्याऽधिवासितं तिलोद्भवं तैलम् (चक्र. चचि. २६.२२५)
तैल० शैलेयरास्नांशुमत्यादिसाधितम् इदमुत्तममस्थिस्थैर्यकृद्, वातपित्तकृतान् रोगानाशु जयति (असंउ. ३२)
तैल० काकोलीयष्ट्याह्वमंजिष्ठादिसाधितमिदं भग्नसाधकम् (सुचि. ३.५५–५६)
–दला–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६०.१५०)
–दोष–पु., अनिष्टगन्धता (सुसू. ४५.११)
–द्रव्य–न., सुगन्धिद्रव्यं कुष्ठतगरादि (अहसू. २१.१८)
–धूमज–पु., वनस्पति० अगरु (रा. १२.३९)
–नाकुली–स्त्री., वनस्पति० सर्पगन्धा, 'सूक्ष्मपत्रा परा ज्ञेया सर्पाक्षी गन्धनाकुली। (इन्दु असंउ. ४५) अस्या भेदौ—(१) नाकुली, सर्पगन्धा, (२) महासुगन्धा, सर्पाक्षी, तत्र महासुगन्धा किञ्चिच्छ्रेयसी; सामान्यगुणाः—तिक्ता कटुरुष्णा त्रिदोषहरा व्रणरोपणी, कृमिरोगवृश्चिकमूषकसर्पविषघ्नी (ध. ४.१०५; रा. ७.१५५)
हिं.—नकुलकन्द, चन्द्रा, नाई.
म.—मुंगुसवेल, हडकइ, अडकइ.
गु.—नकुलकन्द.
बं.—नाकुली.
त.—चिवन्त, अमल्पोरि.
फा.—विषमुंगरी.
रास्नाभेदः (चक्र. चचि. ३.२६७)
सुगन्धमूला रास्ना (सुक. ६.२२)(असंउ. ४४)
चव्यम् (रा. ६.११५)
–नामा–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगः, लक्षणम्–प्रायः कक्षासन्धेषु देशेषु सानिलात्पित्तात् स्फोटसन्निभा त्वग्गता महती एका पिटिका जायते (सुनि. १३,१७) (असंउ. ३६) चिकित्सा—घृतसेकोपदेहैः तमुपक्रमेत (सुचि. १७.३ सुचि. २०. ७–८)
–नाशन–न., दुर्गन्धनाशनम्, यथा पाटलाकरवीरादिपुष्पैर्जलस्य दुर्गन्धनाशनम् (असंसू. ६)
–निशा–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.९०)
–पत्र–पु., वनस्पति० फणिज्जकः (रा. १०.८०)
बिल्वः, (रा. ११.१३४)
बर्बरः (रा. परि. १०.४८)
–पत्रक–न., वनस्पति० सुरपर्णम् (रा. परि. १०.५०)
–पत्रा–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.८९)
(–पत्रिका)–वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५०)
गन्धपलाशः (रा. ६.९०)
गङ्गापत्री (रा. परि. १०.४५)
(पत्री)–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०२)
अम्बष्ठा (रा. ४.१७१)
–पद्म–पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)
–पलाश–पु., वनस्पति० शठीभेदः। गुणाः–कषायः कटुर्मधुर उष्णस्तीक्ष्णः स्वर्यः सरः कफवातघ्नः पित्तलः कास-श्वास-सिध्म-ज्वर-शूल-च्छर्दिघ्नः (ध. १.६४)
–पलाशक–पु., सुगन्धिद्रव्य० गन्धपलाशः, गन्धपलाशिका, 'गन्धपलाशी' इति कश्मीरे प्रसिद्धा (वै. श. सि.)
आनाहयुक्तशूले बस्तिद्रव्येषु उपयुक्तः (काखि. १८.४९–५०)
–पाषाण–पु., खनिज० गन्धकः (ध. ३,१०९)
वटसौगन्धिकः गन्धकभेदः (ध. ३.११४)
–पिशुन–वि., पिशुनः सूचकः गन्धपिशुनो गन्धसूचको नाम गन्धाढ्यः (चचि. २ (४) १२)
न., गन्धद्रव्य० पिशुनम्–स्पृक्का केशरस्तगरः (चचि. २. (४) १२)
–पीता–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.९०)
–पुष्प–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११.१४९)
अङ्कोलः (ध. १.२५८)

–पुष्पक–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११६)
–(पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. परि. १०.२)
नीलिनी, नीली (रा. ४.३५१)
–प्रियङ्गु–स्त्री., वनस्पति० शोणितपित्तातियोग (वेग)-प्रशमनानां श्रेष्ठा (असंसू. १३) (चसू. २५.४०)
–फल–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५)
कपित्थः (ध. २.१०२)
तेजःफलः (रापरि. ११.१८)
(–फला)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९६)
वनमेथिका (रा. ५.१८४)
–फलिका–स्त्री., वनस्पति० एला (रा., ६.६९)
–फली–स्त्री., वनस्पति० चम्पककलिका, चम्पकः (रा. १०.२४०)
–बद्ध–वि., गन्धकेन चाञ्चल्यनिर्मुक्तावस्थायां प्राप्तः पारदः (र. १२.१४)
–बहल–पु., वनस्पति० गन्धशालिः, द्र० ' शालि ' (रा. १६.९३)
–बहुल–पु., वनस्पति० सितार्जकः, द्र० ' अर्जक ', (रा. १०.८५)
–(बहुला)–स्त्री., वनस्पति० गोरक्षी (रापरि. ५.३०)
–बीजा–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८४)
–मङ्गला–स्त्री., वनस्पति० अगरुभेदः, मङ्गल्या (रा. १२.४५)
–मांसी–स्त्री., वनस्पति० मांसीभेदः, गुणाः–कषाया, तिक्ता, शीता, वर्ण्या, रक्षोघ्नी, केश्या, त्रिदोषघ्नी, कण्ठामय, रक्तपित्त–विषमज्वर–भूतज्वरहरा (ध. ३.४७)
हिं.—जटामांसी, बालछड.
म.—जटामांसी.
गु.—जटामांसी.
बं.—जटामांसी.
त.—जटामांचि.
फा,—सुबलुतिव.
–मादन–पु., खनिज० गन्धकः (ध. ३.१०९)
गन्धकभेदः, वटसौगन्धिकः द्र० ' गन्धक ' (ध. ३.११४)
गिरि० हिमालयस्योत्तरतो मेरोश्च पूर्वतः स्थितो भद्राश्ववर्षप्रत्यासन्नः सुगन्धिवनराजिराजितः कश्चित्पर्वतः (असंउ ४)
(–मादनी)–स्त्री., वनस्पति० मुरा (रा. १२.१२३)
भैषज्य० लाक्षा (रा. ६.१४२)
–माला–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगः (मानि) सुश्रुते ' गन्धनामा ' इति नाम्ना वर्णिता (सुनि. १३.१७)
–मालिनी–स्त्री., वनस्पति० शालिभेदः सुगन्धिशालिः (द्र० ' शालि ' (रा. १६.१०५)
मुरा (ध. ३.६७)
–माल्यनिषेवण–न., गन्धद्रव्यस्य पुष्पादिमयमालादिकस्य शरीरे धारणम्, माला एव माल्यम्, स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः गन्धमाल्यं नाम गन्धयुक्तप्रसून-विरचिता माला तन्निषेवणं शरीरे धारणम् (चसू. ५.९६)
–माल्या–स्त्री., वनस्पति० शालिभेदः, सुगन्धशालिः द्र० ' शालिः ' (रा. १६.१०५)
–मूल–पु., वनस्पति० कुलञ्जः (रापरि. ६.११)
कर्चूरः (ध. ३.९४)
–मूलक–पु., वनस्पति० कचूरः (ध. ३.९४)
(–मूला)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१६)
पद्मा (ध. ४.९०)
(–मूलिका) स्त्री., वनस्पति० माकन्दी (रा.परि. ७.१५)
–मोदिनी–स्त्री., वनस्पति० गन्धफली
चम्पकः (रा १०.२४०)
वृक्षादनी (रा. १४२)
–मोहिनी–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४२)
–रस–न., भैषज्य० बोलम् (ध. ३.६२)
–राज–पु. वनस्पति० मुद्गरः (रापरि. १०.२१)
निर्यास० कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६)
न. वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.२)
जवादि (रा. परि. १२.६)
–राजक–न., वनस्पति० कालेयकम्, अगरु (रा. १२.४०)
–वती–स्त्री. वनस्पति० मुरा (ध. ३.६७)
–वधू–स्त्री., वनस्पति० कपटम् कत्तृणम् (ध.१.८२)
–वल्क–न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७७)
–वल्लरी–स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२५)
–वह–पु., वायु (असंनि. ४)
–वृक्ष–पु. वनस्पति० वरुणः (ध. ५.११९)
–वृक्षक–पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०५)

–वेदिनी–स्त्री., शारीर० नासागतसिरा (असंशा. ६)
–शालि–स्त्री., धान्य० सुगन्धशालिः द्र० 'शालि' (रा. १६.९३)
–संभवा–स्त्री. धान्य० सुगन्धशालिः द्र० 'शालि' (रा. १६.१०५)
–सर्पिस्–न., घृत० लशुनसिद्धघृतयोगः तत् पानभोजनभ्रक्षणेषु प्रयुक्तं श्वित्रनाडीकृमीणां नाशकम् (काकलशुन ९८)
–सार–पु., वनस्पति० कर्चूरः (रा. ६.१५६)
मुद्गरः (रा. परि. १०.२१) द्र० 'गंधराज.'
न., वनस्पति० श्रीखण्डम्, चन्दनम् (घ. ३.१)
शालि सुगन्धशालिः, द्र० 'शालि.' (रा. १६.१०५)
सुवर्णयूथा, द्र० 'यूथिका.' (रा. १०.२५२)
आरामशीतला (रा. परि. १०.५२)

गन्धन–पु., धान्य० सुगन्धिव्रीहिभेदः, शीतस्निग्धलघ्वादिषष्टिकाल्पान्तरगुणः (चसू. २७.१४) अहसू. ६.१०)

गन्धर्व–पु., देवयोनि० (चनि. ७.१०) गन्धं साहित्यसङ्गीतादिजनितं प्रमोदम् अर्वति गच्छति प्राप्नोति इति गन्धर्वः, अर्व गतौ भ्वादिस्थः, शकन्ध्वादिवत्पररूपमत्र ज्ञेयम्।
देवगायकः, हाहाहुहूप्रभृतिः (सुसू. ५.२१)
गानम्, चक्र (चचि. २४.७४)
भूताधिपतिविशेषः (असंउ. ७.)
वनस्पति० एरण्डः (र. २.४५)
–ग्रह–पु., ग्रह० गन्धर्वाविष्टलक्षणानि हर्षयुक्तः, पुलिनक्रीडनशीलो, वनक्रीडनशीलः, शोभनचारो, गीतगन्धपुष्पादिप्रियो नृत्यन्नीषद्धसनशीलः (सुउ. ६०.१०) (सुशा. ४.७१)
द्र० 'गंधर्वोन्मत्त.'
–तैल–न., एरण्डतैलम्, 'तथा गन्धर्वतैलं वा श्रेष्ठं स्नेहविरेचनम्' (काखि. ७.६२)
–हस्त–पु., वनस्पति० एरण्डः (असंचि. ११; सुचि. ३३.७)
–हस्तक–पु., वनस्पति० एरण्डः (ध. १.२९५)
(–हस्तका)–स्त्री., वनस्पति० एरण्डः (सुउ. ३५.३)

गन्धर्वोन्मत्त–पु., गन्धर्वग्रहजुष्टाऽऽतुरः, लक्षणम्–चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमधृष्यं मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथाऽनुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात् (चचि. ९.२०) द्र० 'गंधर्वग्रह.'

गन्धाज्ञान–न., लक्षण० गन्धज्ञानहानिः, फणामर्मविद्धस्य लक्षणम् (सुशा. ६.२७) तस्य अरिष्टत्वम्, 'विपर्ययेण यो विद्याद्गन्धानां साध्वसाधुताम्। न वा तान् सर्वशो विद्यात् तं विद्याद्विगतायुषम्। द्र० 'रिष्ट.' (च. इ. ४.२१)

गन्धाढ्य–पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)
न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.३)
जवादि (रापरि. १२.६)

गन्धाढ्या–स्त्री., वनस्पति० वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)
द्र० 'मातुलुङ्ग'
मुरा (ध.३.६७) द्र० 'गन्धमादिनी'
गन्धपलाशः (रा. ६.९०)

गन्धाधिक–न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (रा. १२.२३)

गन्धानी–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०५)

गन्धारिका–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.३)

गन्धाली–स्त्री., वनस्पति० शठी (ध. १.६१)

गन्धालु–पु., धान्य० गन्धशालिः द्र० 'शालि' (रा. १६.९३)

गन्धाश्मगर्भ पु., पारदयोग० पारदगंधकचित्रकादिसाधितोऽयं स्पर्शवातनाशनः (र. २१.३१.३२)

गन्धाश्मन्–पु., खनिज० गन्धकः (ध. ३.१०९; र. ३.१)

गन्धितृण–न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (रा. १२.२३)

गन्धिनी–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा सालेयीवृक्षः इति लोके प्रसिद्धः (र. २३.४३–४४)

गन्धिपर्ण–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३९)

गन्धेन्द्रिय–न., घ्राणेन्द्रियम् (सुशा. १.१९)

गन्धोत्कट–पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.११९)

(गन्धोत्कटा)–स्त्री., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६४)

गन्धोत्तरा–वि. गन्धप्रधाना (सु. चि. २२.५५)

गन्धोत्पल–न. सौगन्धिककमलम्, सितपद्मम्, कमलपुष्पम् (र. २२. १३४.)

गन्धोदक–न., भैषज्य० सिद्धोदकम्, गन्धा एलादिगणोक्ताः तैः सिद्धम् उदकम् (सुउ; १७.४०)

गन्धोद्वेग–पु. लक्षण० गन्धद्वेषः शुभगन्धस्यापि द्वेषः (सु.शा ३.१५.)

गन्धोपल–पु. न. खनिज० गन्धकः (रा. १६.११६)

गभस्ति–पु., सूर्यः, किरणः (असंसू. ४)

गमन–न., चलनम् (चनि. ७.१६)
न., दैवव्यपाश्रयौषध० विदूरदेवादिगमनम् (चसू. ११.५४) तीर्थक्षेत्रादिगमनम् (चनि. ७.१६)

गम्भारी–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७)

गम्भीर–पु., न., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)
वि., **निम्नम्** (असंउ. ३०); यथा गम्भीर-भाजनम् (सुचि. ३८.३५)

(गम्भीरा)–स्त्री., नेत्ररोग० दृष्ट्याश्रयोऽयम् (सुउ. ७.३४–३५)

–नाभि–वि., लक्षण० नाभेर्निम्नता। दीर्घायुर्लक्षणेष्वेकम् (सुसू. ३५.४)

–सत्त्व–वि., लक्षण० सत्त्वस्य गम्भीरता। दीर्घायुर्लक्षणेष्वेकम् (सुसू. ३५.४)

–स्वर वि., लक्षण० गम्भीरस्वरता, स्वरस्य गाम्भीर्यं नाम सुस्निग्धाऽनुनादित्वम् (सुसू. ३५.४)

गम्भीरानुगत–वि., दूरप्रविष्टः (चक. ७.११)

गम्भीरिका–स्त्री., नेत्ररोग० लक्षणम्–विरूपा श्वसनोपसृष्टा दृष्टिरभ्यन्तरतः सङ्कोचं याति, रुजावगाढा च भवति। अयमक्षिरोगो गम्भीरिकेति व्यपदिश्यते (मानि.)

गय–पु., राज० (का फक्करोग चि.)

गर–पु., न., विष० (चनि १.२८) कृत्रिमविषम् (चसू. २७.२२९) तच्च संयोगजं विषम् (सुनि. ७.११.१२) नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनां मन्दवीर्याणां विषाणां योगो गर इति कथ्यते (असंउ. ४०) कीटदेहचूर्णानां नानौषधयोगात्तथाऽनुलेपनतो गरत्वं भवति (सुक.८.२४-२५)
रोग० कृत्रिमविषजन्यो व्याधिरपि गरसंज्ञः, सम्प्राप्तिः—स्त्रियः सौभाग्यार्थं स्वेदरजोनानाङ्गजान्मलान् शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् अन्नमिश्रितान् यच्छन्ति तैः पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते (चचि. २३. २३३–२३४)
लक्षणम्—मर्मप्रधमनग्रहणीदोषविषमज्वरलिङ्गानि चास्य भवन्ति (चचि. २३.२३४–२३५) तेनार्तः पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निः कासश्वासज्वरार्दितः प्रतिलोमेन वायुना स्वप्नचिन्तापरायणः मेहोदरयकृत्प्लीही दीनवाग्दुर्बलोऽलसः शोफवान्सततार्धमातः शुष्कपादकरः क्षयी भवति। गरार्तः स्वप्ने गोमायुमार्जारनकुलव्यालवानरान्, शुष्कान् वनस्पतिजलाशयान्पश्यति। आत्मानं वर्णव्यत्यासेन मन्यते गौरं कृष्णत्वेन, कृष्णं गौरत्वेन च। तद्विहतेन्द्रियः सर्वं विकर्णनासानयनं पश्येत्। सोऽचिकित्सितश्चैनाशमाप्नोति (असंउ. ४०)
न., वनस्पति० आहुल्यम् (रापरि. ४.३३)

–घ्न–पु., वनस्पति० बर्बरः (रापरि. १०.४८)
वनबर्बरिका (ध. ४.५८)
शालुकः, वनबर्बरिका (रा. १०.८६)

–द्रुम–पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)

–मणि–पु., मणि० (चचि. २३.२५३)
गरवैकृतापहो मणिः

–संज्ञ–न., विष० गर इति संज्ञा यस्य तत् (चचि. २३,१४)

गरल–न., वनस्पति० विषवृक्षः कारस्करः (र. १६.१६८)
वत्सनाभः (ध. ७.१२८) (र. २०.४१–४६)

गरलारि–पु., खनिज० मणिभेदः गारुत्मतं रत्नं (ध. ६.४९) मरकतमणिः (वै. श. सि.)

गरागरी–स्त्री., वनस्पति० जीमूतपर्यायः (चक्र. चक. २.३)
जीमूतकः
देवदाली (ध. १.१७३)

गरार्दित–वि., गरेण पीडितः (चसू. १३.५५)

गरुड–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११३)

(गरुडी)–स्त्री., वनस्पति० पातालगरुडी (र. ३०.९८–९९)

गरुडाञ्जन–न., योग० अञ्जनवर्तिः अनेनाञ्जनेन गरुडस्येव दृष्टिर्भवति (र. २३.४६–४८)

गरुडाहृत–पु., वनस्पति० सोमलता० (सुचि. २९.६)

गरुडोद्धारक–पु., मणि० गारुत्मतः (र. ४२–३)

गरुडोद्गीर्ण–न., खनिज० मरकतमणिः (वै. श. सि.)
गारुत्मतम्, गुणाः—मधुरं शीतलं वृष्यं पुष्टिदमम्लपित्तहरं विषघ्नं भूतनाशनम् (ध. ६.४९)

गरुत्मत्–पु., पक्षि० गरुडः (र.२.१२९)

गर्गरक–पु., मत्स्य० सामुद्रः (सुसू. ४६.११८–११९)
न., विष० मूलविषमेतत् (सुक. २.५ असंउ.४०)
द्र० 'मूलविष'

गर्जर–वनस्पति० गुणाः—मधुरं किञ्चित्कटु, रुच्यं, कफापहं, पित्तहरम्, आध्मान–कृमि–शूल–दाह–ज्वर-तृषापहम् (रा. ४.६९)
हिं.—गाजर.
म.—**गाजर.**
गु.—गाजर.
बं.—गाजर.
त.—गज्जर किल.
फा.—गाझर.

गर्जाफल–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रा. परि. ११.२०)

गर्दभ–पु., पशु० ग्राम्यवर्गीयः (४६.८५ इ.) स वातप्रकृतिकः (सुशा. ४.६७) अस्य मांसं शोषिणे हितम् (सु. उ. ४१.३७)
मांसगुणाः–कटु, लघु, पित्तकरं, कफकरं बल्यं बृंहणम् (ध. ६.३८२) मूत्रम्–अस्य मूत्रमपस्मारोन्मादग्रहविनाशनम् (चसू. १.१०४) कृमिमेहघ्नम् (असंसू. ६) (अहसू. ५.८२–८३) पुरीषम् मेहे उपयुक्तम्, गर्दभविष्ठावचारितानि अन्नानि मेहिने दद्यात् (सुचि. ११.११)

(गर्दभी)–स्त्री., गर्दभेषु स्त्रीजातीया; तस्या दुग्धं मधुरमम्लं लवणानुरसं रूक्षं गुरु बल्यं दीपनं वातघ्नं कास–श्वास–बालरोगघ्नम् (ध. ६.१७३) गर्दभीदधिगुणाः–मधुरमम्लमुष्णं रूक्षं लघु दीपनं पाचनं रुच्यं वातहरम् (ध. ६.१९६) गर्दभीघृतगुणाः–कषायमुष्णं, पाके लघु, दीपनं बल्यं कफघ्नं मूत्रदोषहरम् (ध. ६.१५२) अस्याः शकृद्रसक्षीर–मांसरसरुधिरैर्द्राक्षाऽश्वगन्धामरंगधा–सिताभिः सिद्धं घृतं शोषघ्नम् (सुउ. ४१.४९) गर्दभीमूत्रगुणाः–कटु क्षारमुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कफवातघ्नं गर–हृद्रोग–ग्रहणी–कृमि–भूत–कम्पघ्नम् (ध. ६.४९६)
वनस्पति० श्वेतकण्टकारिका लक्ष्मणा, द्र० 'कण्टकारी' (रा. ४.१२५)
कासघ्नी, वार्ताकिनी (१.९२)
गिरिकर्णिका (रा. ३.१२३)
कीट० सविषोऽयं, अग्निप्रकृतिकः पित्तजविकारकारी (सुक. ८.१०)
रोग० क्षुद्ररोगः, पिटिकारूपः, वातपित्ताभ्यां जायमानः (असंउ. ३६) पिडकाचितं सरक्तमुत्सन्नं मण्डलं वृत्तं भवति (सुनि. १३.११–१२) चिकित्सा–इदं शीतलेपसेकादिभिः उपाचरेत् तथा मधुरौषधसिद्धेन सर्पिषा रोपयेत् (सुचि. २०.८)

–मणि–पु., मणि० धूमवर्णोऽयम्, अयं विषशान्त्यर्थं धारयितुमुपयुज्यते (असंउ. ४२)

–शाक–न., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)

गर्दभाण्ड–पु., वनस्पति० वृक्षः (ध. ५.८१)

गर्दभि–पु., कीट० आग्नेयप्रकृतिकः (असंउ. ४३)

गर्दभिका–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगः, तल्लक्षणम्–यन्मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितं रुजाकरं च, तं गर्दभिकामिति विद्यात्, वातपित्तजेयम्। द्र० 'गर्दभी' मा. क्षुद्ररोगनिदान (असंउ. ३६) द्र० 'गर्दभी'.

गर्भ–पु., कुक्षिस्थो जीवः (चशा. ३.३) वयोऽवस्था संज्ञा० गर्भाशयगतं शुक्रमार्तवं जीवसंज्ञकं, प्रकृतिः सविकारा च तत्सर्वं गर्भसंज्ञकम् (चशा. ३.३) एतेन पञ्चविंशतिको राशिर्गर्भः (सुशा. ५.३) शुक्रशोणितमेलकमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्वसंप्रयोगात् तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते (चशा. ३.३) 'तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति तेज एनं पचति आपः क्लेदयन्ति पृथिवी संहन्ति आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा शरीरमिति संज्ञां लभते (सुशा. ५.३) षट् धातुको गर्भः–अन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारचेतनाधिष्ठानभूतः (चशा. ४.६) भावसमुदायाद्गर्भस्योत्पत्तिः नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भो मातृजश्च पितृजश्चाऽऽत्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्चायं गर्भोऽस्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति (चशा. ३.१४) गर्भस्य केशश्मश्रुलोमाऽस्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसमेदोमज्जशोणितहृन्नाभियकृत्प्लीहाऽन्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णस्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुःसुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्वजानि भक्तिः शीलम् (चशा. ३) (७.१३) वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि (सुशा. ३.३३) गर्भस्य कोष्ठेऽवस्थितिः–गर्भ आभुग्नोऽभिमुखः शेते स्त्रिया गर्भाशये (सुशा. ५.४५) मातुः पृष्ठाऽभिमुख ऊर्ध्वशिराः आस्तेऽन्तःकुक्षौ (चशा. ६.२२)
ललाटे कृताञ्जलिर्मातुः पृष्ठाभिमुखो गर्भकोष्ठे दक्षिणपार्श्वमवतिष्ठते पुमान्, वामं स्त्री, मध्यं नपुंसकम् (असंशा. २) अवाक् परिवर्तनम्–गर्भः परिवृत्तोऽवाङ्मुखो भवति प्रसवकाले (असंशा. ३) स्त्रियां गर्भोत्पत्तिलक्षणम्-गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः, स्तनयोः स्तन्यम्, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोः काष्ण्यमत्यर्थं तथाऽऽर्तवाऽदर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाऽभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता चेति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति (चशा. ४.१६) (सुशा. ४.२४) अव्यक्तगर्भस्य वर्तनं गर्भः परतन्त्रवृत्तिर्मात्राधी-

नवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्तयति (चशा. ६.२३) निषेकात्प्रभृति गर्भाशयोपस्नेहोपस्वेदौ वर्तनम् (असंशा. २)

व्यक्तीभवद्गर्भस्य पुष्टिः—ततो व्यक्तीभवद्गर्भस्यास्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा तस्यां मातृहृदयम्। ततो मातृहृदयादाहाररसो धमनीभिः स्पन्दमानोऽपरामुपैति। ततः क्रमान्नाभिम्। ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमानः प्रसादबाहुल्याद् धात्वादिपुष्टिकरः संपद्यते। तथा रोमकूपैरुपस्नेहः रस एव च पयोभूतः (असंशा. २)

गर्भपरिवृद्धिहेतुः—गर्भस्य रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति (सुशा. ४.५७) मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात्स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति (चशा. ४.२७) गर्भस्य मासानुमासिकी वृद्धिः—'प्रथमे मासि कललं जायते' (सुशा. ३.१८) प्रथमे मासि द्रवीभूतं शुक्रार्तवं तिष्ठति (भा. प्र. गर्भप्रकरणम्) तत्र च प्रथमेऽहनि कललम्, दशाहनि बुद्बुदाकारम्, पञ्चदशाहे घनं स्यात्, विंशाहे मांसपिण्डकम्, पञ्चविंशतितमे प्राप्ते पञ्चमहाभूतसम्भवो मासेनैकेन च पिण्डस्य पञ्चतत्त्वं प्रजायते। पञ्चतत्त्वानि हस्तपादशिरोऽवयवान् सञ्जनयन्ति (हारीत.) (असंशा. १. १७–१८) मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति (गर्भोपनिषद्) द्वितीये मासि घनः संपद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा (चशा. ४.१० सुशा. ३.१८) पञ्चाशद्दिने सम्प्राप्तेऽङ्कुराणां च सम्भवः (असंशा. १.१९) मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते (गर्भोपनिषद्) शुक्रादस्थि अस्थितो मांसमुभाभ्यां स्नायवः स्मृताः .....निवर्तन्ते' (काशा, असमानगोत्रीय अ०) तृतीये मासे—'तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्चपिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति' (सुशा. ३.१८) 'मासत्रये तु सम्प्राप्ते हस्तपादौ प्रवर्धेते' (हाशा. १.२१) 'मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति' (गर्भोपनिषद्), आचार्यमतानि—१ शौनकः पूर्वं शिरः संभवति, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्; २ कृतवीर्यः पूर्वं हृदयमिति, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, ३ पाराशर्यः, पूर्वं नाभिरिति, ततो हि वर्धते देहो देहिनः, ४ मार्कण्डेयः पूर्वं पाणिपादमिति तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य ५ सुभूतिर्गौतमः, पूर्वं मध्यशरीरम्, तन्निबद्धत्वात्सर्वगात्रस्य संभवः, ६ धन्वन्तरिरुत्तरपक्षप्रतिपादकः, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह गर्भस्य तारुण्ये सर्वेषु अङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिस्तान्येव कालप्रकर्षात्प्रव्यक्तानि भवन्ति इत्याह (सु. शा. ३.३२) सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाऽभिवर्तन्ते (च. शा. ४. ११) चतुर्थे मासि—चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति गर्भहृदयप्रव्यक्तीभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति तत्स्थानत्वात्तस्माच्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीम् आचक्षते (सुशा. ३.१८) 'स्थिरत्वमापद्यते गर्भः' (चशा. ४.२०) 'चतुर्थेके तु लोम्नां सम्भवश्चात्र दृश्यते' (हाशा. १) 'चतुर्थे...गर्भश्च स्थिरो भवति' (असंशा. २) 'अथ चतुर्थे मास्यङ्गुल्यो जठरकटिप्रदेशो भवति' (गर्भोपनिषद्) पञ्चमे मासि—'पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति' (सुशा. ३.३०) 'पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च' (असंशा. २) 'पञ्चमे मासि पृष्ठवंशो भवति' (गर्भोपनिषद्) पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः (चशा. ४.२१) 'षष्ठे बुद्धिः' (सुशा. ३.३०) केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्तानि बलवर्णोपचयाश्च (असंशा. २) मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति' (गर्भोपनिषद्) गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः (चशा. ४.२२) सप्तमे मासि—सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः' (सुशा. ३.३०) गर्भः सर्वैर्भावैराप्यायते' (चशा. ४.२३) 'सर्वैः सर्वाङ्गसंपूर्णैर्भावैः पुष्यति (अहशा. १.५७) सर्वेण जन्मजीवनलक्षणेनार्थेनाङ्गैश्च संपूर्णो भवति। अकालप्रसवात् गर्भस्य जन्मजीवनलक्षणोऽर्थो न ज्ञाप्यते। तथा चास्मिन् मासि गर्भो जातो जीवति किन्त्वकालप्रसवित्वान्न तथा दीर्घजीवितत्वादिकं स्यात् (अरु. अहशा. १.५७) 'जीवेन संयुक्तो भवति' (गर्भोपनिषद्) गर्भः सर्वधात्वङ्गसंपूर्णो भवति तथा स्थूलैर्वातपित्तकफैः संबन्धितो भवति (काशा.) 'अष्टमे मासि गर्भ ओजसः सद्भावाज्जातो जीवति (इन्दु.) अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजो निरोजस्त्वान्न जीवेत्' (सुशा. ३.३०) 'अनेन ओजसः स्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति'

(विज्ञानेश्वर.) सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वसंपूर्णो भवति' (गर्भोपनिषद्) 'अष्टमे गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिर्वाहिनीभिर्मुहुरोजः परस्परमाददाते' (असंशा. २) गर्भस्यासंपूर्णत्वादष्टमे... ओजः परस्परमाददाते । (च. शा. ४.२४) किञ्चित्कालमस्योच्छ्वसनं स्यात्तच्छिन्नस्यैवाऽङ्गस्यौजःसंस्कारानुवृत्तिकृतम् (असंशा. २.२५) नवमे मासि–नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यस्मिन् जायते (सुशा. ३.३०) 'अथ नवमे मासि सर्वलक्षणसंपूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति' (गर्भोपनिषद्)। गर्भवासकालः–दश चान्द्रमासाः (सुउ. ४२.१५) योगक्षेमः–योगक्षेमो मातुः समानो भवति (चक्र. चशा. ४.१५) यमगर्भोत्पत्तिः–बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने कुक्षिमागतौ द्वौ जीवौ यमावित्यभिधीयेते (सुशा. २.३७)

यमगर्भलक्षणम्–गर्भिण्याः कुक्षिः पार्श्वद्वयोन्नत्या मध्यनिम्नो भवति (सुशा. ३.३४) (अरु. अहृशा. १.७२)

गर्भबहुत्वम्–वायुना बहुशो भिन्ने बीजे सति यथास्वं बह्वपत्यता (अहृशा. १.६) लिङ्गहेतुः–आर्तवेनाऽधिकेन कन्या, अधिकेन शुक्रेण पुत्रो भवति (चशा. २.१२) शुक्रस्य बाहुल्यात्पुमान् आर्तवस्य बाहुल्यात्स्त्री, तयोः साम्ये नपुंसकम् (अहृशा. १.५)

गर्भस्य लिङ्गस्य अनुमानम्–प्राग्दक्षिणस्तनस्तन्या, पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी। पुन्नामदौहृदप्रश्नरता पुंस्वप्नदर्शिनी। उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले। पुत्रं सूते (अहृशा. १.६९–७१) पुंगर्भलक्षण–विपरीतानि स्त्रीगर्भलक्षणानि यथा दक्षिणस्तनविपरीतलक्षणं वामस्तने प्राक् पयोदर्शनमित्येवमादीनि (सुशा. ३.३४)

गर्भवर्णकरहेतुः–तत्र शुक्रे शुक्रे घृतमण्डाऽऽभे वा गर्भस्य गौरत्वं तैलाऽऽभे कृष्णत्वं मध्वाभे श्यामत्वम्। तथा क्षीरादिमधुराणामुपयोगान्मातुरुदकविहाराच्च गौरता, तिलान्न-विदाहिनां कृष्णता। व्यामिश्राणां श्यामता। देशकुलानुवृत्तितश्च वर्णभेदः। तथा तेजोधातोरुदकाकाशसंपर्कात् गौरता, भूवायुसंपर्कात्कृष्णता, सर्वधातुसाम्ये श्यामता' (असंशा.) गर्भावस्थायां गर्भस्वभावविशेषः–'जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते। वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति' (सुशा. २.५४) (असंशा. २) गर्भस्य श्वसनादिकर्मनिःश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति। मातुर्निःश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसम्भवान् (सुशा. २.५५) 'वातमूत्रपुरीषाणि गर्भस्थो न करोति। (सुशा. २.५३) गर्भस्य बुद्धिः गुणाश्च–'भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः। भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥ ..... अभ्यस्ता पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्।' (सुशा. २.५७–५८) प्रसवकालः–'नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुः आदशमान्मासात्। एतावान्प्रसवकालः। वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य' (चशा. ४.२५) गर्भस्य प्रसवार्थं गतिः–'समासतस्तु त्रिविधा गतिः ऊर्ध्वा तिर्यङ्न्युब्जा च' (असंशा. ४) गर्भप्रकृतिः–'शुक्रार्तवगर्भाशयकालेषु, मातुश्चाहारविहारयोरेकोऽनेको वा यो दोषो भवति आधिक्येन..... प्रकृतिर्जायते।' नचास्य स्वारम्भकदोषविपरीतगुणैराहारविहारैश्च झटिति शरीरं बाध्यते (इन्दु. असंशा. ८)

गर्भविकृतेः सामान्यहेतवः-पित्रोर्नास्तिक्यं पुराकृताशुभं वातादीनां कोपश्चेत्येतैः कारणैर्गर्भो विकृतिमाप्नुयात् (सुशा २.५) गर्भोपघातकरा भावाः 'अतिव्यवायमायासं भारं गुरु प्रावरणम्। अकालजागरस्वप्नं कठिनोत्कटकासनं शोकक्रोधभयोद्वेगवेगश्रद्धादिविधारणं तथोपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुरुविष्टम्भिभोजनं रक्तं निवसनं श्वभ्रकूपेक्षां मद्यमामिषम्। उत्तानशयनं यच्च स्त्रियो नेच्छन्ति तच्च त्यजेत्॥ तथा च रक्तस्रुतिं शुद्धिं बस्तिमामासतोऽष्टमात्॥ एभिः आमो गर्भः स्रवेत् कुक्षौ वा शुष्येन्म्रियेत वा॥ (अहृशा. १.४४–४७) दौहृदावज्ञाजन्यव्याधयः–विकलगतित्वं शरीरबुद्धिजाड्यं मान्द्यं जडत्वं कुणित्वमित्येवमादयः (सुशा. ३.१८-)

'श्रद्धाविघाताद्गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा' (अहृशा. १.५४)

दुःखशीलत्वस्य हेतुः–ऋतुमत्याः स्नानानुलेपनाद्दुःखस्वभावो भवति, विकृतजरायुणाच्छादनं जरायुदोषः। गर्भशय्यायां स्थितो यो बालः (गर्भः) तस्योपरि वेष्टितोऽल्पविकारत्वाज्जरायुदोषः (आढमल्लः (शार्ङ्गधर) (पूर्वखण्ड अ. ७.१८१)

एतेऽष्टौ गर्भरोगा भवन्ति

उपविष्टक–नागोदर–मक्कल–मूढगर्भ–विष्कम्भ–गूढगर्भ–जरायुदोषगर्भपातरूपाः (शार्ङ्ग. पू. ख. ७.१८१) जातमृतस्य पूर्वरूपाणि—गर्भिण्याः सन्धिशोथोऽङ्गपाको विक्रामश्च गुरुर्भवेत् (काखि. १०,१६५) शोचन्त्याः परिदेविन्या प्रध्यायिन्या अङ्गुलिस्फोटशीलाया जटिलाया मलिनायाश्च अपत्यं न जीवति (का. खि, १०.१६७)

–काल–पु., गर्भवासकालः, स दशमासरूपः (चक्र. चचि. ५.१७२.) (सुउ. ४२.१५)

–कोश–पु., शारीर० गर्भाशयः (सुसू. ३३.१३)

–कोष–पु., शारीर० गर्भकोशः, गर्भाशयः (सुसू. ३३.१३)

–कोषपरासंग–पु., गर्भाऽऽशयस्याऽतिशयेन निरोधः, स्वस्थानात्परस्थानं गत्वा गर्भस्य सङ्गः निरोध उत्पद्यते । अनेन प्रकारेण परासङ्ग इति केचित् (सुसू. ३३.१३)

–कोष्ठ–पु., न., शारीर० गर्भार्थः कोष्ठः गर्भकोष्ठः (चनि. ३.१३) गर्भाशयः (असंशा. २)

–कोष्ठविशुद्धि–स्त्री.. गर्भकोष्ठस्य शोधनम् (चशा. ८.३१) (असंशा. ४)

–क्षमा–वि., स्त्री. गर्भधारणयोग्या–स्त्री. (असंशा. ३)

–क्षय–पु., गर्भरोग० वर्धमानकुक्षित्वह्रासपूर्वकः गर्भस्य क्षयः, लक्षणम्–गर्भक्षये गर्भास्पंदनमनुन्नत-कुक्षिता च (सुसू. १५.१२)

–गति–स्त्री., गर्भाशये गर्भस्थितिः, प्रसवे गर्भनिर्ग-ममार्गः, गतिस्त्रिविधा–ऊर्ध्वा, न्युब्जा तिर्यक्च (असंशा. ४)

–गृह–न., अन्तर्गृहम्, बृहद्गृहमध्येऽपरं क्षुद्रगृहम् (ड. सु. उ. ६४.२५–२६) (चसू. ६.१४)

–च्छिद्र–न., गर्भमार्गः (सुशा. ५.३९)

–च्यवन–न., लक्षण० गर्भपतनम् (कासू. २२.१४ असंशा. ४)

–च्यावनमन्त्र–(परिव०) पु., मूढगर्भनिःसरणार्थं मन्त्रः (सुचि. १५.५–८)

–ज–वि., गर्भाज्जातः 'अष्टौ गर्भजा गदाः ' (शार्ङ्गधर पूर्व ७.१८१) यथा–गर्भजा गदा गर्भरोगा उपविष्टकगर्भादयोऽष्टौ

–द–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (रा. परि. ९.३१)

–दात्री–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदा (रा. परि. ४.२७)

–दाह–पु., गर्भरोग० (कासू. २२.१४)

–द्रावण–न., संस्कार० गर्भद्रुतिः (र. ८.७२)

–द्रुति–स्त्री., संस्कार० रसस्य गर्भेऽभ्रलोहादिकानां द्रुतिः रसीभवनम्; कवलितस्य द्रव्यस्य पारदगर्भे द्रुतीकरणम् (र. ८.८०)

–धारिणी–स्त्री., शारीर० अपरा (चक्र. चशा.८.३२)

–धृष्–स्त्री., यदनुष्ठानाद्गर्भः स्थितिं दधाति (अहशा. १.४३)

–नाडी–स्त्री., गर्भमार्गः अपत्यपथः (सुशा. १०.९)

–नाडीप्रबन्ध–पु., गर्भनाड्याः बंधनम् (सुशा. १०.९)

–नाभिनाडी–स्त्री., गर्भनाडी, नाभिनाडी, नाडी, गर्भनालम् (सुशा. ३.३१) 'गर्भनाभिनाडी मातृरसवहनाड्यां प्रतिबद्धा ' (सुश्रुतः,) गर्भस्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यां प्रतिबद्धा अपरा, तस्यां धमनीभिः मातृहृदयं (प्रतिबद्धं) (असंशा. २) गर्भनाडीमातुराहाररसवीर्यमभिवहति । 'गर्भं कुल्येव केदारं नाडी प्रीणाति तर्पिता ' (सुशा. ३.३१–३२ ड.)

–निर्गम–पु., स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणार्थं गमनम् (सुशा. १०.९)

–निर्हरण–न., उपक्रम० गर्भस्याऽऽहरणम् (सुचि. १५.५)

–पतन–न., गर्भरोग० गर्भस्य पातः अकालपतनम् ग्राम्यधर्मयानवाहनादीनि गर्भपतनकारणानि (सुशा. १०.५७)

–परिक्षय–पु., गर्भरोग० गर्भशोषः, गर्भपरिक्षये मृगाजाविवराहाणां संस्कृतान् गर्भान्वाञ्छति वसाशूल्यप्रकारादीन् भोक्तुमिच्छति (ड. सुसू. १५.३१–३४)

–परिवर्तन न., गर्भस्य परितश्चलनम् (काजातिसूत्रीय)

–परिवृद्धि–स्त्री., गर्भवृद्धिः (सुशा. ४.३७)

–परिस्राव–पु., स्त्रीरोग० गर्भाशयाद्गर्भस्याकाले नाम चतुर्थमासात्पूर्वं च्युतिः, गर्भस्रावः (चचि. ३०.१००)

–पात–पु., गर्भविच्युतिः, लक्षणम्—' आचतुर्थात्ततो मासात् स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ।' चतुर्थमासादनन्तरं घनावयवत्वान्मूढगर्भो भवति पञ्चमषष्ठयोरित्युपलक्षणं सप्तमादिमासमप्युपलक्ष-यति । (गयी) अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद्विप्रसव इति आचार्यप्रामा-ण्याद् व्यवहाराच्च मन्यंते, मूढगर्भः (सुनि. ८.१०) गर्भिण्या बहुमूर्च्छिताया गर्भः पतति (काखि. १०.१६१)

-पातन–न., उपक्रम० गर्भस्यौषधियन्त्रशस्त्रादिभिरुपायैः पतनार्थं प्रयोगः, 'अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्' (सुचि १५.११)

-पातिनी–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९)

-प्रस्रवण–न., गर्भस्रवणम् (सुनि. ८.१०)

-बाधाभय–न., गर्भस्य पीडाविषयकं भयम् (सुशा. ३.१९)

-भागप्रपीडन–न., गर्भावयवदुष्टिः, सम्प्राप्तिः–'दोषाऽभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते। स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते (सुशा. ३–१७)

माता च गर्भे प्रधानं कारणम्, येनाऽऽसेकात् प्रभृति प्रसवपर्यन्तं मातुरेव गुणदोषावनुविदधाति गर्भः (चक्र. चशा. ३.३)

-मातृ–स्त्री., गर्भिणी (अहशा. २.६२)

-मार्ग–पु., शारीर० अपत्यपथः (असंशा. ३)

-मोचन–न., स्वबन्धाद्गर्भस्य विमोचनम् (सुनि. ८.३)

-यन्त्र–न., यन्त्र० सर्वं यन्त्रं भूम्युदरे एव अवस्थितं विद्यात्तद्गर्भयन्त्रम्, 'गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिकाभस्मकारणम्। चतुरङ्गुलदीर्घां तु व्यङ्गुलोन्मितविस्ताराम्। मृण्मयीं सुदृढां मूषां, वर्तुलं कारयेन्मुखम्।...कर्षेत्तुषाऽग्निना भूमौ स्वेदयेन्मृदुमानवित् (र. ९. ३०–३३)

-रस–पु., शुक्रशोणितसंयोगेन कललावस्थायां गर्भस्य रससाररूपता (चसू. ३०.९०)

-रूप–न., गर्भलक्षणम् (चशा. २.८)

-लक्षण–न., लब्धगर्भाया लक्षणम् (सुशा. २.४९)

-लिङ्ग–न., गर्भलक्षणम् (चशा. २.२३)

-वास–पु., गर्भस्य गर्भाशये वासः, स कलियुगे दशमासिकः, कृतयुगे सप्तरात्रावधिकः, त्रेतायामष्टमासिकः (काशा. ४)

-विघातक–वि., गर्भघातकरः भावः (चशा. ४.४३)

-विच्युति–स्त्री., गर्भविमुक्तिः गर्भस्याकालपतनम् (सुनि. ८.९)

-विद्रव–पु., गर्भस्रावः अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवः (मधुकोशः मानिमूढगर्भनिदानम्।)

-वृद्धिप्रपीडन–न., गर्भवृद्धिजं प्रपीडनम् (अहनि. ७.१४)

-वेश्मन्–न., गृहान्तर्वर्तिगृहम् (हे अहसू. ३.१६)

-व्याकरण–न., गर्भविषयकं विवरणम् (सुशा. ४.१)

अध्याय० (सुशा. ४.१)

-व्यापद्–स्त्री., गर्भसम्भवजो व्याधिः (असंशा. ४.१)

गर्भव्याधिः मरणं वा तस्य लक्षणम्–गर्भिण्याः नेत्रे मुस्तोत्थिताकारे, कर्णौ पादौ च शीतलौ, केशाश्च जटिलास्तस्या गर्भो विपद्यते। (काखिल. १०.१६१) गर्भिण्याः नाभ्याः उपरिष्टाद्गर्भ उभे पार्श्वे निषेवते मध्ये वा तिष्ठति सोऽपि विपद्यते (काखिल. १०.१६३) गर्भिण्याः सन्धिमोक्षे रुक् मृष्टान्नेऽरुचिर्निश्रेष्टः स्वप्नकामायास्तस्या गर्भो विपद्यते (काखिल. १०.१६४) गर्भमृत्युहेतवः–मातुर्मानसाऽऽगन्तुभिरुपतापैः प्रपीडितः तथा व्याधिभिश्च प्रपीडितः कुक्षौ गर्भो व्यापद्यते (सुनि. ८.१३)

-शङ्कु–पु., यन्त्र० गर्भनिर्हरणार्थं उपयुक्तस्तत्स्वरूपं शङ्कुतुल्योऽष्टाङ्गुलः प्रणताग्रो मूढगर्भे आहरणे (असंसू. ३४ (अहसू. २५.३२)

-शय्या–स्त्री., शारीर० गर्भः शेते अस्यामिति गर्भशय्या नाम गर्भाशयः (सुशा. ५.३९)

-शल्य–न., गर्भ एव शल्यम् (चशा. ८.३१) गर्भशल्यमाहार्याणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४० असंसू. १३)

-शातन–न., गर्भपातनम् (सुनि. ८.३)

-शोणित–न., गर्भसम्बन्धि रक्तम् (काखिल. ९.३७–३८)

-शोष–पु., गर्भरोग० गर्भस्य शुष्कत्वम्, तत्रोपचरणं गर्भशोषे...क्षीरं परममुच्यते (काखि. २२)

-संग–पु., गर्भरोग० कर्म, 'विलोमापानवायुना गर्भो जीवन्यदि न निःसरेत् स गर्भसङ्ग इत्युक्तः (र. २२.१००) जीवतो गर्भस्य सङ्गोऽप्रसवः (इन्दु असं.४) सङ्गास्त्रिविधाः 'स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा (सुचि. १५.४) तत्सङ्गेऽनिलो हेतुः, अत्रानिलः प्रसूतिमारुतः, 'गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत्' (सुशा. १०.११)

-संधारण–न., गर्भस्थापनम् (सुशा. १०.५७)

-संपीडन–न., गर्भजन्यप्रपीडनम् (चसू. १८.६)

–संभवद्रव्य–न., गर्भस्य सम्भवः उत्पत्तिस्तद्धेतुभूतं द्रव्यं शुक्रशोणितादि (सुसू. ४.५)

–संभवा–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, भद्रैला (रा. ६.७) द्र० 'एला'

–संस्थान–न., गर्भस्याऽऽगमनप्रकारः यथा मूढगर्भस्य आगतिः (असंशा. ४)

–समय–पु., प्रसूतिसमयः (चशा. ८.३२)

–स्थ–वि., गर्भावस्थायां स्थितः (सुशा. २.५३) **गर्भाशयस्थः** (असंशा. २.६५)

–स्थापन–न., गर्भस्य स्थिरीकरणम् (चशा. ८.२०) (चशा. ८.२४)

वि., द्रव्यगण० गर्भस्थापनवर्गः प्रजास्थापनवर्गः (चशा. ८.२०) ऐन्द्री–ब्राह्मी–शतवीर्या–सहस्र–वीर्या–अमोघा–अव्यथा–शिवा–अरिष्टा–वाट्य-पुष्पी–विष्वक्सेनकान्ता, इति दश इमानि प्रजा-स्थापनानि भवन्ति (चसू. ४.१८) गर्भस्थापनार्थं पान–स्नानधारणादिभिरुपयोगोऽस्य वर्गस्य उक्तः (असंशा. १) गर्भसंधारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत् (सुशा. १०.५०)

–स्थापनविधि–पु., गर्भस्थिरीकरणविधिः, अयं विधिः गर्भस्रावपातयोः साध्याऽवस्थायामुपयुक्तः (चशा. ८.२४)

–स्फुरण–न., गर्भस्यावयवानां चलनम्

–स्राव–पु., गर्भरोग० गर्भप्रस्रवणम्, गर्भस्य द्रवाव-स्थायां विमुक्तिः, 'मासचतुष्टयं यावद्गर्भविमुक्तिः स्रावरूपा भवेत्' (भोजः, गयिटीकायाम्) (सुनि. ८.१०)

पूर्वरूपम्–'स्त्री चेदापन्नगर्भा परिहार्याण्यासेवेत तदा बस्तिपार्श्वश्रोणियोनिमुखेषु शूलं पुष्पदर्शनं च स्यात्' (असंशा. ४) साध्यासाध्यत्वम्–'अस-म्पूर्णत्रिमासायास्तु पुष्पदर्शने गर्भः प्रायो न तिष्ठत्यसञ्जातसारत्वात्' (असंशा. ४) चिकित्सा गर्भिणीं मृदुसुखशिशिरास्तरणशयनस्थामीषदवनत-शिरस्कां शीतप्रदेहपरिषेकादिभिरुपाचरेत्' (सुशा. १०.५७)

सहस्रधौतेन सर्पिषाऽधोनाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्। अतिस्रवति तु रक्ते शशैणहरिणरुधिरं वा सक्षौद्रं पाययेत्। जीवनीयशृतं वा क्षीरं पिबेत्। रक्तपित्त-क्रियाश्च शोधनवर्ज्याः प्रयुञ्जीत। सौम्याश्च मनोऽनु-कूलाः कथाः शृणुयात्। अदृष्टशोणितां तु पलाण्डुरस-सिद्धं क्षौद्रयुक्तं सर्पिः पाययेत् (असंशा. ४.२–५)

आमान्वये विरुद्धोपक्रमत्वाद्रूक्षशीतानि प्रयुञ्जीत प्रागुपवासम्, ततो दुरालभाऽमृतोशीरपर्पटकघन-चन्दनातिविषाबलाकट्वङ्गधान्याकक्काथपानम्। तृण-धान्यशालिषष्टिकपेयानामशनं च मुद्गादियूषैः। आमगर्भे तु पतिते मद्यानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययेत्। गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमार्तविस्मरणार्थं च। ततः क्षीणनैर्बलानुरक्षिभिरस्नेहैराहारैरादोषधातु-क्लेदसिद्धेः। आमगर्भशेषेण हि पुनः पुनरकुशल-मनुषज्ज्येत तस्मात्तीक्ष्णैरनवशेषयन्नुपाचरेत्। ततः-परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारैश्च दीपनीयपाचनीय-जीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरैरिति (असंशा. ४.७–९)

यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि स्त्रियं उद्दाल-कादीनां लवणस्नेहवर्जितयवागूभिः पाचनीयोप-संस्कृताभिरुपाचरेत् लंघनपूर्वम्। पतितगर्भाया बस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेत् (ड. सुशा. १०.५७)

गर्भस्रावपरिहारार्थं गर्भस्रावप्रथायां प्रातिमासिको-क्तान्काथान्योजयेत् (सुशा. १०.६२–६४) (असंशा. ४.५३–५९)

(–स्रावी) स्त्री., गर्भं स्रवति इति। रोग० वन्ध्य-त्वम्, यत्र चतुर्थमासात्प्राक् गर्भिण्याः गर्भः स्रवति (र. २२.४)

स्त्री., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९७)

–सू–स्त्री., गर्भं स्रवति इति गर्भसूः। गर्भस्राविणी (काचिगुल्म. अ. १५–१७)

–हृदय–न., गर्भावयव० गर्भस्य हृदयम् (सुशा. ३.१८)

गर्भात्मन्–पु., अन्तरात्मा, जीवः, 'गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यस्तं जीव इत्याचक्षते' (चशा. ३.८)

गर्भाधान–न., गर्भस्योत्पादनार्थं क्रिया (सुशा. १०.५६)

गर्भाप्यायन–न., गर्भपोषणम्, गर्भवृद्धिः (सुशा. १०.६४–६५)

गर्भाम्भस्–न., गर्भोदकम् (असंउ. १)

गर्भारि–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः सूक्ष्मैला (रा. ६.६९) द्र० 'एला'

गर्भार्थिनी–स्त्री., अपत्यकांक्षिणी (सुचि. १५.३५) गर्भकांक्षिणी (चचि. ११.७७)

गर्भावक्रान्ति–स्त्री., गर्भस्य मेलकः उत्पत्तिः (चशा. ३.१, चशा. ४.१)

गर्भावक्रान्तिशारीर–न., अध्याय० (सुशा. ३.१) (चशा. ४.१) (काशा.)

गर्भाशय–पु., स्त्रीशारीर० योन्यास्तृतीयाऽऽवर्ते तस्य स्थानम् (सुशा. ५.४३–४५) 'धरा गर्भाशयः प्रोक्तः ' (भाप्र.) स आशयविशेषः (सुशा. ५.८) गर्भाधारः यत्र गर्भशय्या प्रतिष्ठिता (ड. सुसू. १४.१८) गर्भस्याशयः अवस्थानप्रदेशः (सुनि. ८.३) तस्य स्थानम्–स्त्रीणां तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः संनिकृष्टः (सुचि. ७.३३) भगस्याऽधः स्त्रियाः बस्तिरूर्ध्वं गर्भाशयः स्थितः । गर्भाशयश्च बस्तिश्च महास्रोतःसमाश्रितौ (वैतरणः डल्हणटीका) (सुचि. ७.३३) रूपम्—' यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः' (सुशा. ५.४४–४५) स जरायुणा परिवीतः (काशा गर्भावक्रान्ति अ. ९) आर्तववहस्रोतसां मूलं गर्भाशयः (सुशा. ९.१२) 'सूक्ष्माः केशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः सिराः । गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद्बीजाय कल्पते ' (इति विश्वामित्रः सुसू. १४.१०).

गर्भाशयबीजभाग–पु., स्त्रीकरभाव० गर्भाशयोत्पत्ति–बीजभागः, गर्भाशयस्य तथा बीजस्यार्तवरूपस्य जनको भागः (चक्र. चशा. ४.३० चशा. ४.१४)

गर्भाशयशूल–पु., लक्षण० गर्भाशये शूलः स शूलः गर्भाशयकटिवङ्क्षणेषु भवति (सुशा. १०.५७)

गर्भासना–स्त्री., स्त्रीशारीर० गर्भाशयः (चसि. ९.६२)

गर्भास्पन्दन–न., लक्षण० गर्भस्याचलनं । निश्चलत्वम्, अन्तर्मृतगर्भलक्षणम् (सुनि. ८.१२) (असंशा. ४)

गर्भिणी–स्त्री., स्त्रीणामवस्था० गर्भयुक्ता स्त्री (चनि. ३.१४) गर्भवती (अहसू. १४.९)

सामान्यलक्षणम्—स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमः । अस्याः अक्षिपक्ष्माणि संमील्यन्ते अकामतश्छर्दयति, शुभाद् गन्धादुद्विजते, प्रसेकः सदनं च भवति (सुशा. ३.१४–१५) आर्तवाऽदर्शनमास्यास्रवणमनन्नाभिलाषोऽरोचकोऽम्लकामता गुरुगात्रत्वं स्तनयोः स्तन्यमौष्ठ्योः काष्ण्यं श्वयथुः पादयोः योन्याश्चाटालत्वं विवृतत्वम् (चशा. ४.१६)

मासविशेषलक्षणम्–चतुर्थे मासि लक्षणम्–गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण (चशा. ४.२०)

'पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवति–...तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण' (चशा. ४.२१)

'षष्ठे मासि...गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण ' (चशा. ४.२२)

'सप्तमे मासि...गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति' (चशा. ४.२३) 'अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता...मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते...तस्मात् गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च म्लाना' (चशा. ४.२४)

गर्भिणीपरिचर्या–गर्भिणी नित्यस्नाता मृष्टा सुप्रक्षालनादपनीतशरीरमला शुक्लवस्त्रधरा शुचिः देवविप्रपरा सौम्या च सदा भवेत्'

(काखिल. १०.१७६–१८१) (का. गर्भिणीचिकित्सा०)

'गर्भिणी प्रथमदिवसात्प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान्क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत, नचायासयेच्छरीरं पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसम्बाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ।' (सुशा. १०.३) अष्टमे...आस्थापयेत्पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति । अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवात् । एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते' (सुशा. १०.४) 'पिचुं चास्या योनौ निधापयेत् । शीतं वातघ्नपत्रभङ्गाम्भःस्नानेऽन्वहं हितम् ॥ निःस्नेहाङ्गीं नवमात् मासात्प्रभृति न वासयेत्–स्थापयेत्

(अहशा. १.६८–६९)

'प्राक्चैव नवमान्मासात्सूतिकागृहमाश्रयेत् । तत्र सा सूतिमुदीक्षेत सूतिकापरिवारिता'

(अहशा. १.७३–७४)

गर्भिणी–तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०) (असंसू. १३) **गर्भिणीपरिहार्यविषयाः**–'तदा प्रभृति व्यवायमतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत' (सुशा. ३.१६) साऽस्नेह्या (चसू. १३.५४) अस्वेद्या (चसू. १४.१६) अवम्या (अहसू. १८.३) अनास्थापनीया (सुचि. ३५.२१)

'गर्भिणी.....नैवोन्नता न प्रणता न गुरुं धारयेच्चिरम्। उद्वेजनं तथा हास्यं सङ्घातं चाऽपि वर्जयेत्' (का० गर्भिणीचिकित्सा०) 'सूत्रेण तनुना रज्वा स्तम्भनं बन्धनानि च। वर्जयेद्गर्भिणी नित्यं कामं बन्धानि मोक्षयेत्' (का जातिसूत्रीय) (शा०) **गर्भिणीरोगचिकित्सा**––

गर्भिणीपुष्पदर्शने प्रायो गर्भो न तिष्ठति असञ्जातसाराऽवस्थायाम्, तत्र गर्भस्रावोपक्रमणवत् चिकित्सा (असंशा. ४) 'गर्भिणीव्याध्युत्पत्तौ... गर्भाऽविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः (सुशा. १०.६७) चतुर्थे मासि–जायमाने **कफरोगे** सर्पिर्भिरन्नपानैर्वा फलयुक्तेन क्षीरेणेक्षुरसेन वा वामयेत्, **पित्तरोगे** चतुरङ्गुलसिद्धेन रसेन पयसा वा विरेचयेत्, **वातरोगे** वातमूत्रनिरोधे शूले वा एरण्डपत्रं क्षीरेण पिबेत् (काखिल. १०.१४७–१५१) पञ्चमे मासि–मधुरं चाऽनुवासनं हितम् (काखिल. १०.१५२) सप्तमे मासि–गर्भिण्याः पीनमांसस्य शमनं क्षारकर्माऽग्निकर्म भग्नास्थिचिकित्सां तथाऽस्थिश्लेषणचिकित्सां शस्त्रकर्म च प्रयोजयेत् (काखिल १०.१५४–१५५)

गर्भिणीज्वरचिकित्सा–तृणपुष्पाणां गन्धाद्गर्भिण्या जायते ज्वरः। गर्भिणीनां ज्वरोष्मणाऽभितप्तो गर्भो विक्रियां याति (काखिल. १०. ४–१०) गर्भिणीज्वरे उत्पन्नायां तृष्णायां जलं नात्युष्णं पातव्यम्। वातश्लेष्मसमुत्थे ज्वरे शीतं जलं विषवद्भवति। पित्तकृते ज्वरे शृतशीतं जलं प्रशस्यते। (काखिल. १०.१२–१५) गर्भिण्याः **तरुणे ज्वरे नस्यं न देयम्**, नस्यदानेन गर्भः कुणिरन्धो दुर्बलेन्द्रियो वा जायते, शिरोविरेकेण वातरोगी भवति, धूमपानेन गर्भः पतेद्विवर्णो वा जायते, तस्मादेतानि गर्भिण्यै न प्रदापयेत् (काखिल. १०.१८–२८)

जीर्णज्वरे चि० वातघ्नैरौषधैः सिद्धं क्षीरं यवागूर्वा रसो वा हितः (काखिल. १०.४३–४४) गर्भिण्या **आमातिसारे** पाचनानि पक्वातिसारे सङ्ग्रहणानि दद्यात् (काखि. १०.७०–९०) अपतानके आक्षेपके च। चि०–'मातुलुङ्गरसः पेयो बिडसैन्धवसंयुतः (काखिल. १०.१११–११२) पार्श्वोपग्रहे–पार्श्वस्तम्भे दशमूलयूषो देयः (काखिल. १०.१०६–१०७)

मुखपाके चि०––हरिद्रादारुनिष्क्वाथं कवलार्थं ग्राहयेत् (काखिल. १०.१०८–१०९)

कामलाचिकित्सा–'पिप्पल्यं कोठमूलानि वाजिलिण्डरसस्तथा। दधि माहिषं देयम्' (काखिल. १०१२७–१२८)

हृच्छूलचिकित्सा––वातिके सैन्धवयुतो मातुलुङ्गरसो योज्यः, पैत्तिके प्रियङ्गुपिप्पलीभद्रमुस्तारेणुबदरचूर्णं च क्षौद्रेण सह समुपयोज्यम्, श्लैष्मिके पिप्पली–पत्र–चोच–प्रियङ्गुचूर्णं मातुलुङ्गरसैः सह लेह्यम् (काखिल. १०.१२८–१३०)

कासचिकित्सा–वातिके कर्कटशृङ्गी–शरट–भार्गी–पिप्पलीचूर्णमातुलुङ्गरसप्लुतं लेह्यम्, पैत्तिके मधूलिका–गोक्षीरी–पिप्पली–द्राक्षा–शर्कराक्षौद्रयुक्ता लेह्या, श्लैष्मिके पिप्पली–त्रिफला–रास्ना–भद्रदारुचूर्णं समाक्षिकं लेह्यम् (काखिल. १०.१३१–१३५) क्षतकासे मधुक–शङ्खचूर्ण–जीवलाक्षा–शर्करा मधुसहिता लेह्या (काखिल. १०.१३४–१३५) **श्वासकासचिकित्सा**–मयूरपिच्छश्वाविच्छल्यकरोमाणि पिप्पलीतण्डुलकोलमूलचूर्णं मधुसर्पिर्भ्यां लिहेत् (काखिल. १०.१३५–१३६)

हिक्काचिकित्सा–पिप्पलीगैरिकभार्गी-हिङ्गुकर्कटकीनां समभागानां लेहः (काखि. १०.१४२)

मूत्रग्रहचिकित्सा–शतावरी दर्भमूलं मधुकं क्षीरमोरटः। पाषाणभेदकोशीरं कतकस्य फलानि च॥ एषां क्वाथरसं कल्कं क्षीरं वा पाययेन्निषक्। मूत्रग्रहेषु सर्वेषु...(काखिल. १०.१४४–१४५)

विषचिकित्सा–वमनादिर्विषघ्नैस्तु संसृष्टः स्यादुपक्रमः॥ पाठाऽमृता सोमवल्कं द्वे सहे कुटजं तथा॥ क्षीरक्वथितमेतत्तु पेयं नार्या विषापहम् (काखिल. १०.१५६–१५७)

छर्दिचिकित्सा–मातुलुङ्गरसः लाजाः कोलमज्जाऽञ्जनं दाडिमसारः इत्येषां सशर्कराक्षौद्रो लेहः वातात्मिकां छर्दिं हन्ति । दाडिमाम्लो रसः लवणवर्जितो वातच्छर्दिहरः । शर्करामधुसंयुक्तं लाजचूर्णसमायुतम् । चातुर्जातककल्केन हृद्यं पुष्पैः सुवासितम् । तण्डुलधावनसहितं पित्तच्छर्दिप्रशमनम् । आम्रजम्बुप्रवालानि सितानि सुश्रुतानि तु । क्षौद्रयुक्तानि पेयानि श्लेष्मच्छर्द्यां विशेषतः (काखिल. १०.११८–१२४) तत्र पथ्यम्–भोजनार्थे हितं यूषं मुद्गैर्दाडिमसाधितं व्यपेतस्नेहलवणं हृद्यं छर्दिविनाशनम् (काखिल. १०.१२४–१२५) **गर्भिणीशोथचिकित्सा**–भद्रदारुसहितं वर्षाभूमूलक्वाथं गर्भिणीशोथनाशार्थं मधुसंयुक्तं पिबेत् (काखिल. १०.१२६–१२७) **ऊर्ध्ववातचिकित्सा**–भद्रदारुहरीतक्यौ सैन्धवं कुष्ठमेव च। सफाणितं घृतं चैव लेह ऊर्ध्वानिलापहः (काचि गर्भिणी चि० (काखिल. १०.१४१) उदावर्तचिकित्सा–'उदावर्तो हि समुपेक्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीमतिपातयेत्, तं वातहरस्निग्धान्नपानैरुपाचरेत् । मधुकसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । तदसिद्धौ निरूहयेत् विगतविबन्धां च स्नातामशितां सायं तेनैव तैलेनानुवासयेत् (असंशा.४.२५ **आसन्नप्रसवलक्षणम्**–'तन्नोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदनाभवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च' (सुशा. १०.७ असंशा. ३.) **प्रसवमानायाः लक्षणम्**–'जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने । सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी (सुशा. १०.६)

–चिकित्साध्याय–पु., अध्याय० (का. गर्भिणी चि०)

–मातृक–पु., गर्भिणी माता यस्य सः । तदुक्तम् 'गर्भिणीमातृकः क्षिप्रं स्तन्यस्य विनिवर्तनात् । क्षीयते म्रियते वाऽपि स फक्को गर्भपीडितः' (का. फक्कचि. ११)

–व्याकरण–न., अध्यायसंज्ञा० (सुशा. १०.१)

गर्भोत्पत्ति–स्त्री., गर्भसम्भवः (सुशा. २.३५)

गर्भोत्पाद–पु., गर्भजननम्, शुक्रधातोः कर्म (असंसू. १. अहसू. ११.४)

गर्भोत्पीडन–न., गर्भवृद्धिप्रपीडनम् (असंशा. ३)

गर्भोदक–न., आविप्रादुर्भावादनन्तरं योनितो यदुदकं वर्तते तत् (असंशा. ३)

गर्भोदकप्रवाह–पु., गर्भोदकस्य स्रावः (असंशा. ३) आविप्रादुर्भावादनन्तरं जरायुमार्गं प्रतिपद्यते गर्भोदकसहितः (चशा. ८) (चरक-इंग्लिशभाषान्तरम्, डॉ. मेहता) (चशा. ८)

गर्भोदकस्रुति–स्त्री., गर्भोदकस्य स्रावः, आविप्रादुर्भावादनन्तरं गर्भोदकस्य योनितः स्रावः (अहशा. १.७६)

गर्भोपघातकर–वि., गर्भनाशकरः (चशा. ४.१७) (चशा. ४.१८) (असंशा. २)

गर्भोपचरणीय –वि., गर्भोपचरणमधिकृत्य कृत इति गर्भोपचरणीयः, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे'... अध्याय० (असंशा. ३)

गर्भोपपत्ति–स्त्री., बीजग्रहणकालः, गर्भोपपत्तिर्नाम गर्भोपलब्धिः तद्विशिष्टः कालोऽत्र सूच्यते (चक्र. चशा. २.२५)

गर्भोपाकणिक–पु., धान्य० व्रीहिभेदः (रा. १६.१०१) द्र० 'व्रीहि'

गर्मूटी–स्त्री., धान्य० श्यामाकभेदः, श्यामाकसदृशा कषायमधुरवातलसंग्राह्यादिगुणा (चसू. २७.१८) (असंसू. ७)

गर्मोटिका–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, शीता, सारिणी, दाहहारिणी च (रा. परि. ८.५१)

गर्ह्या–स्त्री., निन्दा (असंसू. २.१२)

गर्हित–वि., निन्दितमयोग्यम् (सुचि. २४.६२)

गल–पु., शारीर० अवयवविशेषः । मुखस्याभ्यन्तरे गीर्यतेऽनेन इति गलः (अहसू. १२.५)

–कीलक–पु., गलरोग० गले कीलवन्मांसांकुरः, चिकित्सा–'गलकीलकनुत्यर्थं विषतिन्दुसनागरम् । हरीतक्या च संयुक्तं मुखे धारय सन्ततम्' (र. २४.३३)

–गण्ड–पु., गलरोग० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७) मांसप्रदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८.१४) बहिर्मार्गजो रोगः (सुसू. २४.९) तस्य स्थानम्––षष्ठी रोहिणी नाम त्वक् (सुशा. ४.४) 'गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः । (चचि. १२.७९) समधुररसस्यातियोगतो भवति (सुसू. ४२.१० (१) सामान्यलक्षणम्–यस्य गले निबद्धः श्वयथुर्मुष्कवल्लम्बते महान्वा ह्रस्वो वा स गलगण्डः (सुनि ११.१२) सम्प्राप्तिः–प्रकुपितः श्लेष्मा बहिस्त्वग्भागे संश्रित्य शनैर्मुष्कवत् शोफं सञ्जनयति (चसू. १८.२१) (असंउ. २५)

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ मन्ये मेदश्च संसृत्य गण्डं कुरुतः (सुनि. ११.२२) 'वातकफमेदांसि पृथग्गलगण्डकारणानि तेन त्रय एव गलगण्डाः, व्याधिस्वभावात्पैत्तिकस्तु न भवत्येव' (मधुकोष, मानि.) गलगण्डभेदाः–वातजः श्लेष्मजः मेदोजः इति त्रय एव गलगण्डाः । वातजगलगण्डलक्षणम्–वर्णेन कृष्णारुणः कृष्णसिरावनद्धः तोदयुक्तः तस्मिंश्च वृद्धे सति तालुगले शोषः विरसास्यता च (सुनि. ११.२३) (असंउ. २५) वातजगलगण्डस्यावस्थाभेदो मेदोऽन्वितो गलगण्डः । लक्षणम्–मेदोन्वित उपचितोऽतिस्निग्धतया कालेन चारुजो भवेत् । पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाकः कदाचित्पाकमियात् मेदोजगलगण्डिन आस्यवैरस्यं तालुगलप्रशोषश्च भवेत् (सुनि. ११.२३–२४) कफजलक्षणम्–स्थिरः कफसमानवर्णः शोफ उग्रकण्डूः शीतस्पर्शः चिराभिवृद्धो मन्दरुजो भवति वृद्धे सति स गले लेपं मधुरास्यतां च कुर्यात्

(सुनि. ११.२५–२६ असंउ. २५)

मेदोजगलगण्डलक्षणम्–स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो नीरुक् अतिकण्डुरल्पमूलोऽलाबुवत्प्रलम्बते, कफजगलगण्डसमलक्षणः, देहस्य वृद्धौ मेदोजो गलगण्डो वृद्धो भवेद्देहस्य क्षये तस्य क्षयो भवति, वृद्धे सति गले शब्दं कुरुते स्वरे चाल्पतां आधत्ते

(सुनि. ११.२६–२७) (असंउ. २५)

असाध्यलक्षणम्–क्षीणं कृच्छ्राच्छ्वसंतं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तं भिन्नस्वरं गलगण्डिनं विवर्जयेत् (सुनि. ११.२८) चिकित्सा–स्वेदोपनाहे विस्रावणं च गलगण्डे कुर्यात्

(सुचि. १८.४८–५०)

वातकफजयोर्गलगण्डयोः पाकं प्राप्तयोः पक्वव्रणशोफस्य च चिकित्सा हिता (सुचि. १८.५०)

मेदोजगलगण्डरोगे स्निग्धतनोर्नरस्य ऊरुमूलसंश्रितसिरां विध्येत् । शस्त्रेणाऽऽपाट्य विदार्य मेदः समुद्धृत्य चैनं सीव्येत् । मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेत् । दाहे च मधुघृताऽवचारणम् । गाढश्च बन्धः यवभोजनं च हितम् (१८.५२–५५) गलगण्डरोगेऽन्नपानम्–'कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा हिताय देयाः ।' (सुचि. १८.५१)

–गण्डनिदान–(परिव०)–न., अध्याय०

(सुनि. ११.१)

–गोडिका–स्त्री., सविषप्राणि० गलगोडी

(चचि. २३.१५६)

–गोडी–स्त्री., सविषप्राणि० गृहगोधा ज्येष्ठा गृहगोधिका, एकीयमते तु सरटः (चक्र)

(चचि. २३.१५६) 'गृहगोधिका'

–गोलिका–स्त्री., सविषकीट० सा च षट्प्रकारका श्वेता–कृष्णा–रक्तराजी–रक्तमण्डला–सर्षपिका च । ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्ज्यलक्षणम्–दाहशोफक्लेदा भवन्ति । सर्षपिकादष्टलक्षणम्–सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च भवति । एतासु सर्वासु सर्षपिका प्राणहारी (सुक. ८.२९) तद्दष्टेऽगदः–रजन्यागारधूमः वक्रं कुष्ठं बीजं पलाशजम् । अगदः विषनाशनः

(सुक. ८.४८)

–गोली–स्त्री., सर्प० सा निर्विषा (सुक. ४.३४. (४)

–ग्रन्थि–पु., गलरोग० गले ग्रन्थिः (र. २४.१३१) तत्र पारदविमलादिलेपः कार्यः (र. २४.५५)

–ग्रह–पु., गलरोग० सोऽन्तर्गले भवति, शोफप्रधान आशुकारी रोगः, सम्प्राप्तिर्लक्षणं च–' यस्य प्रकुपितः श्लेष्मा स्थिरः सन् अन्तर्गले तिष्ठति, आशु च संजनयेच्छोफं, तस्य गलग्रहो जायते (चसू. १८.२२) अयं शिरोविरेचनार्हः (चसि. २.२२) किंचाऽयं स्वेद्यः (चसू. १४.२०) धूमपानशम्यः न तु शम्यः शमनीय इत्यर्थः (चसू.५.२८) बालस्य गलग्रहे लक्षणम्–ज्वरारुचिमुखस्रावाः

(कासू. २५.११)

लक्षण० गलमार्गोऽवरोधः (चचि. ४.२६)

–पाक–पु., रोग० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः, गलपक्वता (चसू २०.१४ चइ. ११.१५)

–रोग–पु., गले ये रोगा भवन्ति, ते गलामया गलरोगा वा, कण्ठरोगाः (सुनि. १६.४६) गलेऽष्टादशामयाः भवन्ति (अहउ. २१. ६४–६६) गलरोगनामानि—' कण्ठगतास्तु रोहिण्यः पञ्च, कण्ठशालूकम्, अधिजिह्वो, वलयो, बलासः (अलासः), एकवृन्दः, वृन्दः, शतघ्नी, गिलायुः, गलविद्रधिः, गलौघः, स्वरघ्नः, मांसतानो, विदारी चेति (सुनि १६.४६) (गयी,= गलामयः)

(चसू. २६.१०२)

–लेप–पु., लक्षण० गले श्लेष्मणः प्रसक्तिः आवरणं च (सुउ. ५२.७)

–विद्रधि–पु., गलरोग० विद्रधेः सदृशः सर्वगलव्यापः शोथविशेषः । शीघ्रजन्मा स च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव

(मधुकोश. मानि.) लक्षणम्—महारुजो दुर्गन्धयुक्तपूयसदृशमलस्रावी शोफः
(सुनि. १६.५९ असंउ. २५)
चिकित्सा–अमर्मस्थितं सुपक्वं गलविद्रधिं शस्त्रेण भेदयेत् (सुचि. २२.६७)

–शालूक–पु., न., गलरोग० कण्ठशालूकः
(सुनि १६.५१) मांसप्रदोषजरोगेष्वेकः
(चसू. २८.१४) सम्प्राप्तिर्लक्षणं च–कफसम्भवः पिशिताङ्कुराचितः ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः खरः स्थिरो भवति (सुनि. १६.५१)
याप्योऽयं रोगः (सुसू. २३.८) चिकित्सा–शस्त्रसाध्योऽयम्, विस्राव्य कण्ठशालूकं शोधनादीनाचरेत् (सुचि. २२. ६४–६६)

–शुण्डिका–स्त्री., शारीर०
तालुमूलस्थः (चसि. २.२२)
षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.११)
गलरोग०
तालुमूलस्थगलशुंड्यवयवस्य शोथवृद्धियुक्तो रोगः
(सुनि. १६.४०)
मांसदोषजोऽयं विकारः (सुसू. २४.९)
सम्प्राप्तिः–तालुमूले अयं कफाद्रक्तान्विताद्भवति। प्रकुपितः श्लेष्मा काकले व्यवतिष्ठते शोफं च आशु सञ्जनयति सा गलशुण्डिका (चसू. १८.२०)
लक्षणम्–मत्स्यबस्तिसदृशो मृदुर्दीर्घः प्रलम्बः पिच्छिलः शोफो भवति, तृष्णाकासश्वासकृद्भवति, नासयाऽऽहारं प्रेरयन्कण्ठोपरोधमिकृद्भवति
(सुनि., १६.४१) (असंउ. २५)
चिकित्सा–छेद्यरोगोऽयम् (सुसू. २५.३–५) गलशुण्डिकामङ्गुष्ठाङ्गुलिसन्दंशेनाऽऽकृष्य मण्डलाग्रेण शस्त्रेण च्छेदयेत् गलशुण्डिकां त्रिभागं च्छेदयेदर्धं वा। नोत्कृष्टं न हीनं च। अतिच्छेदनादतिशोणितस्रावो भवति कदाचिच्छोणितस्रावाद् रोगी पञ्चत्वमप्याप्नुयात्। अल्पमात्रच्छेदनाल्लालास्रावः शोथो निद्रा भ्रमस्तमो भवेत्
(सुचि. २२.४९–५६)

–शुण्डी–स्त्री., गलरोग० गलशुण्डिका कण्ठशुण्डी
(चसू. ५.३०; सुनि. १६.४१)

–शोफ–पु., लक्षण० शोफोऽयं उदानवायुगतिरोधकः अन्नजलाऽवरोधी च (सुनि. १६.६०)

–शोष–पु.,– लक्षण० कण्ठशोषः (चनि, ३.९)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० गलग्रहः (सुउ.५५.११)

–स्रोतस्–न., शारीर० मुखान्तर्गतः गलमार्गः
(अहसू. २६.१५)

गलत्कुष्ठ–न., रोग० काकणाख्यं महाकुष्ठम्। लक्षणम्–'पादयोः श्वयथुस्तोदो गलन्त्यङ्गुलयो यदि। नासिकास्वरयोर्भङ्गो गलत्कुष्ठस्य लक्षणम्'
(र. १०.७)

गलन्ती–स्त्री., पात्र० स्रवन्ती, यथा–गलन्ती नाडी अनवरतं धारया जलादि स्रवन्ती दृश्यते वारिधारिका संज्ञां प्राप्ता। वंशादिमयी समालोक्यते (अरु.) यथा–गलन्ती कुम्भी, सच्छिद्रा घटिका
(हे अहसू. १७.१०)

गलामय–पु., गलरोगः कण्ठरोगः (चसू. २६.१०२)
(सुचि. २४.२३)

गलार्बुद–न., गलरोग० कण्ठगतोऽयं व्याधिः, सम्प्राप्तिर्लक्षणं च—वातादयो मला जिह्वाया अवसाने कण्ठस्य प्रारम्भे वा पाकरहितं स्थिरं लोहितमरुजं च शोफं जनयन्ति स शोफो गलार्बुदमित्युच्यते
(असंउ. २५; सुचि. २२.८१)

गलौघ–पु., गलरोग० कफरक्तजोऽयं तीव्रज्वरयुक्तः शोथप्रधानो गलरोगः (सुनि. १६.६०) लक्षणम्–कण्ठे घोरः श्वयथुर्भवति स गलमार्गेऽर्गल इव जायते, प्राणानिलान्नजलरोधकः, शिरोजाड्यतन्द्रालालाप्रसेकादीन्करोति (असंउ. २५) श्वसितमपि निरुध्यते (असंउ. २६) चिकित्सा–गलौघोऽसाध्यः कीर्तितः। प्रत्याख्याय समुपाचरितव्यः
(सुचि. २२.८०–८१)
द्रुतं तेषु क्रिया कार्या (असंउ. २६)

गलोड्य–न., वनस्पति० पद्मबीजम्, पित्तप्रबले वातरक्ते उपयुक्तम् (सुचि. ५.८)

गल्लु–पु., रत्न० (असंचि. ६)

गल्लिर–पु., कर्णरोग० उन्मन्थः, 'उन्मन्थो गल्लिरश्च सः
(असंउ. २१)

गवय–पु., पशु० कूलचरः गोसदृशः, सास्नाककुदरहितः (अहसू. ६.५१) गलकम्बलशून्यः आनूपपशुः
(चसू. २७.३९)
अस्य मांसगुणाः–मधुरं मधुरपाकं स्निग्धं कासजिच्छुक्रलं च (सुसू.४६.९७) (धपरि. ६.३५)
(असंसू. ८)

गवयोद्भव–न., वनस्पति० तवक्षीरम् (रा. ६.८८)

गवल–वि., माहिषम्, गवलं माहिषशृंगम्
(इंदु. असंसू. ८.९६)

गवाक्षित–वि., सच्छिद्रम् (सुशा. ५.१२) विरचित-निरन्तरजालकाकाररन्ध्रनिकरपरिकलितम् (ड.सुशा. ५.१२) जालकैरिव व्याप्तम्, गवामक्षीव इति गवाक्षः, गवाक्षा जालकानि अस्य सञ्जातानि इति गवाक्षितम् (सुशा. ९.९) 'सिराभिरिदं शरीरं गवाक्षितं पिनद्धमाततं च' (असंशा. ५)

गवाक्षी–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४)
शाखोटः (रापरि. ९.३०)
इन्द्रवारुणी (र. २१.५५-५८)
(अहसू. १५.४) (असंसू. १६)

गवादनी–स्त्री.,वनस्पति० इन्द्रवारुणी
(ध. १.२४८) (असंउ. १०)
गिरिकर्णी (ध. ४.८५) (असंउ. २)

गवाम्प्रिय–पु., धान्य० श्यामाकः (ध. ६.८८)

गवेधुक–पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४(१)
–पु.,–न., तृणधान्य० (चसू. २.२५)
(अहसू. २.१०) 'गरल इति लोके' (सुसू. ४६.२१ ड.) (असंउ. ४२) शूकधान्य-मिदम्, श्यामाकसदृशोऽयम्, ग्राम्याऽरण्यभेदेन द्विविधः, घुलुञ्चः । गुणाः–कषायो मधुरो लघुः शीतः कफपित्तघ्नो वातकरः (चसू. २७.१७)
न.,–खनिज० गैरिकम् (ध. ३.१६७)

गवेधुका–स्त्री., धान्य० गुणाः–कटुः शीतला पित्तनाशनी दन्तविषार्तिजित् (ध. ६.१८१; असंसू. ७)
हिं.—गरहेडुआ.
म.—**कसरु.**
गु.—थेगी.
बं.—गडगडे.
त.—काट्टुकोतुमै.

गवेधुकान्न–न., गवेधुक–क्षुद्रधान्यस्य सिद्धमन्नम्, तच्च कर्शनीयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३)

गवेषण–न,, अन्वेषणम् (सुउ. ६५.४२)

गव्य–वि., गोरिदम्, गोसम्बन्धि दुग्धदधिघृतमूत्र-शकृन्मांसरसादि (चसू. १३.८३)

(गव्या)–स्त्री., भैषज्य० गोरोचना, गोपित्तादिसम्बन्धा-दियं गव्या इति सुष्ठु संज्ञिता (रा. १२.३४)

–पित्त–न., गोमांसम्, रक्तपित्तहेतुः
(चनि. २.४)

–रस–पु., गोमांसरसः (चसू. १३.८३)

गह्वर–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५)

(गह्वरा)–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (रा. ६.१६)

गाङ्ग–वि., आन्तरिक्षजलभेदः (सुसू. ४५.७)
द्र० 'जल'

गाङ्गेय–पु., न., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०)
(सुउ. १७.१८)
खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.१)

(गाङ्गेयी)–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (असंउ. ४४)

गाङ्गेरु–पु., वनस्पति० नागबला (असंसू. ७)

गाङ्गेरुक–स्त्री., नागबलाफलम् (चसू. २७.१४२)

गाङ्गेरुकी–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः,
(ध. १.२८४) द्र० 'बला'

गाढलवण–न., लवण० गडलवणम् (रा. ६.४७)

गाढवर्चस्–वि., रोग० गाढविट्कः (चसू. १३.३२)

गाढोच्छादन–न., उच्छादनं, गाढं निबिडं घनं वा घर्षणम् (असंनि. १)

गाण्डीर–न., शाक० गण्डीरम्, स्थलजजलजत्वाद्विविधम् । गुणाः–विदाहि रूक्षं तीक्ष्णोष्णं बद्धविण्मूत्रं त्रिदोषकरं च (चसू. २७.१७१)

गाण्डीविन्–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९१)

गात्र–वि., स्थूलम् अत्र गात्रपदं न मूलतः स्थूलार्थकम्, परं गात्रवत्त्वेन लक्षणया स्थौल्यपरम् (र. ४.१०)
शरीरावयवः (सुशा. १०.४६)

–पारुष्य–न., लक्षण० गात्रकाठिन्यम्
(चसू. १७.५६)

–भञ्जन–न., लक्षण० गात्रेषु भङ्गवत् पीडा
(चचि. २८.२५)

–वादित्र–न., गात्रमेव वादित्रम्, गात्रमेव वाद्य-भाण्डम् (सुचि. २४.९५ ड.)
विक्षेप–पु., रोग० हस्तादेरितस्ततो विक्षेपः
(चचि. ३.७८)

–विश्लेष–पु., विघटनम् (सुसू. १२.१६)

–वेष्टन–न., पीडाविशेषः (चसि. ७.४९)

–शूल–पु., लक्षण० गात्रवेदना (चक. ७.४४)

–संस्पर्श–पु., अवयवसंस्पर्शः (सुनि. ५.३३.३४)

–सदन–न., लक्षण० अङ्गग्लानिः (सुचि. ३५.२३)

–साद–पु., लक्षण० अङ्गग्लानिः (सुउ. ३९.१६४)

–सुप्तता–स्त्री., रोग० गात्रस्य स्पर्शज्ञानाभावः
(चचि. २८.२२)

–स्फुरण–न., लक्षण० गात्राणां स्पन्दनं कम्पो वा
(चचि. २८.२५)

गात्रायाम–पु., लक्षण० वातरोगः, अवयवस्य आयामः
(असंसू. ११)

गाथा–स्त्री., धर्मादिसम्बन्धी श्लोकः, गीयते इति गाथा (चसू. १५.७)

गान्धर्व–वि., गान्धर्वसत्त्वम्, शुद्धसत्त्वस्य प्रकारः (चशा. ४.३७(७))

–काय–(परिव०) पु., सात्त्विककायविशेषः यस्मिन्नरे गन्धमाल्यप्रियता नृत्यवादित्रकामिता विहारशीलता च दृश्यते, स गन्धर्वकायः (सुशा. ४.८५)

–चित्त–वि., गीतादिनिरतः (सुशा. ४.६४)

–शब्द–पु., गीतम् (चसि. ६.५८)

गान्धारी–स्त्री., वनस्पति० यासः (रा. ३.२६) कण्टकारी (र. १६.११–१५)

गाम्भीर्य–न., गम्भीरस्थानाश्रितत्वम्, कृतास्पदत्वम् (चचि. २८.७४)

गायत्र–पु., वनस्पति० सोमभेदः (सुचि. २९.७)

(गायत्री)–स्त्री., वनस्पति० खदिरः (ध. १.२५) देवता० देवताविशेषाधिष्ठितस्त्रिपदात्मको द्विजोच्चार्यो वैदिको मन्त्रविशेषः (सुसू. २९.७२)

गार–पु., तडागमृत्तिका, जले चिरशीर्णा वा मृत्तिका (र. १०.१३–१४)

–कोष्ठी–स्त्री., शोधितलौहादिभस्मकारकः मृण्मयकोशविशेषः (र. १०.४४–४८)

–मूषा–स्त्री., मूषा० षड्गुणदग्धगारो लोहकिट्टं शणं कृष्णमृत्तिका कोकिलभस्मेत्येतेषां मिश्रणान्निर्मिता मूषा (र. १०.१५)

गारुड–न., खनिज० गारुत्मतम् (ध. ६.४९) अञ्जन (असंउ. ४२)

(गारुडी)–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रा. परि. ३.३२)

गारुत्मत–न., मणि० मरकतः (ध. ६.४९)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० पाची (रा. परि. १०.४६)

गार्ग्य–पु., ऋषि० (चसू. १.१०) जन्मप्रभृतिबालानां बस्तिकर्मोपकल्प्यमित्ययमूचिवान् (क्लासि. १.११)

गालन–न., वस्त्रेण मलनिरासपूर्वकं सारभागोद्धरणम् (सुसू. ४४.६०)

गालव–पु., ऋषि० हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१०) कन्दविषः (असंउ. ४०)

गाला–स्त्री., वनस्पति० मदनफलम् (असंचि. १)

गालोड्य–न., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

गिरि–पु., पर्वतः (असंउ. २)

–कदम्बक–पु., भूकदम्बकः (असंउ. २)

–कदली–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, शीता, गुर्वी, रुच्या, बल्या, वीर्यकरी, पित्तघ्नी, तृष्णादाहशोषघ्नी च (रा. ११.११२)

हिं.—केला.

म.—**केळे**; बीयुक्त केळे, रानकेळ.

गु.—केलुं.

बं.—कला.

त.—वाळे.

–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (रा. ३.१२५) गिरिकदम्बः (असंउ. ४२)

–कर्णी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–तिक्ता शीता चक्षुष्या त्रिदोषघ्नी विषदोषनेत्रविकारकुष्ठनाशिनी च (ध. ४.८५)

हिं.—सफेद कोयल.

म.—**श्वेत गोकर्णी.**

ग.—धोळी गरणी.

बं.—हापरमाली.

–ज–पु., वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९४)

न.,–खनिज० शिलाजतु (चचि. ३०.१४८) गैरिकम् (रा. १३.२३१)

(–जा) पाषाणभेदः (रा. ५.२१६) गोधूमः (ध. ६.९७) मल्लिका (रा. १०.२२५) गिरीकदली (रा. ११.११२) कारी (रापरि. ८.२६)

–जानन्दिकेश–पु., श्रीशङ्करः (रा. १८.२१६)

–जानुजा–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (ध.१.२५४)

–धातु–पु., खनिज० गैरिकम् (रा. १३.२३१)

–निम्ब–पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः (रा. ९.४८)

–पीलु–न., वनस्पति० परूषकम् (रा. ११.८४)

–पुष्पक–न., वनस्पति० शैलेयम् (रा. १२.१३१)

–भू–स्त्री., वनस्पति० पाषाणभेदः (रा. ५.२१५)

–मल्लिका–स्त्री., वनस्पति० कुटजः (ध. २.१३)

–मृद्भव–न., खनिज० गैरिकम् (रा. १३.२३१)

–रम्भा–स्त्री., वनस्पति० गिरीकदली (रा. ११.११२)

–वर्तक–पु., पक्षि० वर्तिकाभेदः (चसू. २७.४९)

–(वर्तिका)–स्त्री., पक्षि० वर्तकः (अहसू. ६.४५)

–वासिन्–पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रा. परि. ७.३६)

–शा–स्त्री., प्रतुदपक्षि० गिरिवर्तिका (सुसू. ४६.६७)
–संभव–पु., खनिज० शिलाजतु (र. २.१२४)
–सर्प–पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)
–सार–पु., खनिज० लोहम् (चचि. १ (२) ५.६)
–सिन्दूर–पु., साधारणरसेष्वेकः (र. ३.१३४–१३५)
सिन्दूरः (ध. ३.१०३) 'महागिरिषु चाल्पीयान् पाषाणान्तःस्थितो रसः । शुष्कः शोणः स विज्ञेयो गिरिसिन्दूरसंज्ञकः'
–ह्वा–स्त्री., वनस्पति० १) श्वेतस्यन्दः २) गिरिकर्णी (सुचि. १८.३४)
गिरिण्ड–न., शुष्कं छगणम् (र. ७.१८)
गिरिण्डक–न., गिरिण्डम् (र. २.१२२)
(गिरिण्डिका)–स्त्री., काचकूपी (र. ७.२०)
गिलायु–पु., रोग० गलरोगः, लक्षणम्–गले कफरक्तजः आमलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक्ग्रन्थिर्भवति, तेन अन्नं लग्नमिव संलक्ष्यते (सुनि १६.५८)
कृच्छ्रोच्छ्वासः कृच्छ्राभ्यवहृतिश्च (असंउ. २५)
अयं शस्त्रसाध्यः (सुचि. २२.६६) विशेषतो भेद्यश्च (सुसू. २५.५–८)
गिलायुक–पु., रोग० गिलायुः (असंउ. २५)
गिलोड्य–वनस्पति० कन्दोऽयं प्रावृड्जातः शणपत्राकारः वल्लीयुक्तः चर्मण्वतीनदीभवश्वेतवर्तुलपाषाणसदृशः (सुचि. ११.१०) मधुरवर्गे एकः (सुसू. ४२.११)
गीर्लता–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३. ३९३)
गीर्वाणकुसुम–न., वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८५)
गुग्गुलु–पु., निर्यास० गुणाः–कटुस्तिक्तः कषाय उष्णः पिच्छिलो लघुः सूक्ष्मो रूक्षो वर्ण्यः स्वर्यो रसायनः कफवातघ्नो बस्तिरोगमेदोरोगव्रण-मेहशोफकृमिवातोदरग्रहीहार्शोभूतविकारादिनाशनः (ध. ३.१२७) सुगन्धिः तीक्ष्णः कटुपाकः सरो हृद्यः स्निग्धश्च स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्व-पकर्षणस्तैक्ष्ण्यात्कफवातघ्नः सरत्वात् मलपित्तनुत्, सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः, सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः गुल्मोदावर्तभगन्दरकण्डूरुचिश्वित्रार्बुदग्रन्थ्याढ्यः वातकुष्ठकोष्ठसन्ध्यस्थिगवायुघ्नः (सुचि. ५.४०–४५) अग्र्यसंग्रहेष्वेकं द्रव्यम्, वृष्यवातहराणां श्रेष्ठः (असंसू. १३) व्रणधूपनद्रव्येष्वेकः (सुसू. ५.१८) स्थौल्यनाशनः (सुसू. १५. ३२) अभ्यवहारतो विशदः स्वादुरपचीनः (असंसू. १२) पक्वशोथप्रभेदनार्थमुपयुक्तः (चचि. २५.५३) अयं योगवाही सर्वर्तुयोग्यो जरापाप्ममलामयघ्नोऽग्निमेधास्मृतिपाटवकृच्च गुग्गु-ल्वतिसेवनजा व्याधयः–तिमिरवदनशोष–क्लीबता–कार्श्य–मेह–शमल–शैथिल्य–देहरूक्षत्वादयश्च (असंउ. ४९) पित्तकृत्, भग्नसन्धानकृद्वाम-वातघ्नश्च, 'माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा । तिक्तत्वात्कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा' (भाप्रमिश्रप्र. ६.३८–४१)
अयं पञ्चविधो–महिषाक्षो, महानीलः कुमुदः पद्मो हिरण्यश्च (भाप्रमिश्र. ६.३३)
हिं.—गूगल, गुगर.
म.—**गुग्गुळ.**
गु.—गुग्गुल मुकुल.
त.—मैचाक्षि.
फा.—वोएजहुदान.
गुच्छ–पु., समूहः (रा. ९.१८४)
–कणिश–पु., वनस्पति० रागी (रा. १६.१७८)
–करञ्ज–पु., वनस्पति० कटुस्तिक्त उष्णो वातघ्नो विषकण्डूविचर्चिकाकुष्ठस्पर्शत्वग्दोषनाशनश्च (रा. ९.१८४)
हिं.—करंज, करंजभेद.
म.—**चापडा करंज, घाणेरा करंज, वावळा.**
गु.—करंज, चरेल कणसे.
बं.—डहर करंज, नाटा करंज.
त.—पुंगामारम.
(गुच्छी)–स्त्री., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४)
–दन्तिका–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०६)
–पत्र–पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९३)
–पुष्प–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३८)
–पुष्पक–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४)
(–पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५२)
(–पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० सिगृडी (रा.परि.४.३१)
रीठाकरञ्जः करञ्जभेदः (रा. ९.१८६)
–फल–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८६)
राजादनः (रा. ११.१४७)
(–फला)–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (रा. ११.७४)
कदली (रा. ११.१०६)
काकमाची (रा. ४.३६)

निष्पावी (रापरि. ७.९९)
अग्निदमनी (रापरि. ४.३)
-बुध्ना-स्त्री., वनस्पति० गुण्डाला (रापरि. ५.४२)
-मूलका-स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रा. परि. ८.६६)

गुच्छल-पु., वनष्पति० करञ्जभेदः रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८६)

गुच्छाह्वकन्द-पु., वनस्पति० गुणाः-मधुरः शीतो वृष्यस्तर्पणो दाहनाशनश्च (रा. परि. ७.६१)

गुञ्जा-स्त्री., वनस्पति० श्वेतरक्तभेदात् द्विविधा; गुणाः-तिक्तोष्णा वान्तिकरी वश्या शूलविषघ्नी च (रा. ४.२९)
कफविसर्पे हिता (सुचि. १७.१५) वाजीकरण-चिकित्सायामस्या मूलमुपयुज्यते (सुचि. २६.३४)
मूलविषविशेषः (असंउ. ४०) 'गुञ्जा-गर्भादि-रसेषूपयुज्यमानमेकं द्रव्यम्' (वैशसिं. राचि. हृद्रोगचिकित्सा.)
हिं.—रत्ति. घोंगची.
म.—गुंज.
गु.—चणोठी, राती, गुंची.
बं.—कुंच.
त.—कुंडुमणि.
फा.—चश्मेखरूस.
मान० षड् यवैरेका गुञ्जा (र. ११.२)

गुञ्जाकिनी-स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (र. १८.८२.८३)
-कुटिका-स्त्री., सामान्यतो द्रवयुक्तद्रव्यस्य मर्दनेन घनीभूता वर्तुलपिण्डिः, खल्वी रसायनानाम्, औद्भिदानां तु लेहवत्संसाध्य गुडं शर्करां वा अभि-मिश्र्य क्वचिद्गुग्गुलुना वा संमर्द्य निर्मीयते (र. १२.१२१-१२३)
-मुख-वि., अतीक्ष्णाग्रम् (सुचि. ३५.१२)

गुटिकाञ्जन-न., अञ्जन० वाताभिष्यन्दे उपयुज्यते (सुउ. ९.१५-१५)

गुटिकाह्वयलवण-न., पाकादिनिर्वृत्तत्वाद्गुटिकाभूतमेव गुटिकालवणमुच्यते, तच्च वृक्षलवणमिति ख्यातम्। गुणाः-कफवातक्रिमिहरं लेखनं पित्तकोपनं दीपनं पाचनं भेदि च (सुसू. ४६.३२०)

गुटिकीकृत-वि., गुटिकारूपं कृतम्, अगुटिका गुटिका सम्पद्यमाना, तथा कृतम् (सुसू. ४४.१०)

गुड-पु., इक्षुविकार० अयं धौताधौतपुराणनवभेदेन चतुर्धा (चसू. २७.२३९) तत्राधौतगुणाः-मधुरः सक्षारः नातिशीतः स्निग्धः मूत्ररक्तशोधनः वातघ्नः नातिपित्तजित् मेदः कृमिकरः बल्यो वृष्यश्च (सुसू. ४५.१६०)
'प्रभूत-कृमिमज्जासृङ्-मेदोमांसकरो गुडः' (चसू. २७.२३८)
धौतगुणाः-मधुरो वातपित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनश्च (सुसू. ४५.१६१)
पुराणगुणाः-स्वादुतरः स्निग्धो लघुरग्निदीपनो विण्मूत्रामयशोधनो रुच्यो हृद्यः पित्तघ्नो वातघ्न-स्निदोषघ्नो ज्वरहरः सन्ताप-शांतिप्रदः श्रमहरः पाण्डुप्रमेहान्तकः पथ्यश्च (रा. १४.१९९)
नवगुडगुणाः-श्लेष्माग्निसादकृत् (अहसू. ५.४८)
दाहकर्मण्युपयुक्तः (सुसू. १२.४) मद्यनिर्माणे चोपयुज्यते धातकीगुडतोयानि कारणं मद्यशुक्तयोः, लेपार्थमुपयुज्यते (असंसू. ७.२४३) (असंउ. ३५)
हिं.—गुड, गूड, मीठा.
म.—गूळ.
गु.—गोड, गोल.
फा.—कन्देस्याह.
मोदकः, लड्डुः, गुटिका (चचि. ११.५५)
पिण्डः, गोलकः (चसू. १४.५७)
-जा-स्त्री., वनस्पति० यावनालः (रा. १४.१६३)

(गुडा)-स्त्री., वनस्पति० सुधा (चक. १०.८)
-गुडायत्-वि., 'गुड' 'गुड' इति शब्दयुक्तम् (चचि. १३.५५)
-तृण-पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८०)
-पाक-पु., रसक्रियावलेहः (र. २२.११७-२०)
-पानक-न., गुडसंस्कृतं पानकम् (चक १०.१४)
-पुष्प-पु., वनस्पति० मधुकः (ध. ५.४५)
-पूर-पु., गुडयुक्तभक्तान्नविशेषः (असंउ. ४)
-फल-पु., वनस्पति० कतकम् (रा. ११.२३५)
पीलुः (ध.५.५१)
बदरम् (ध. ५.९६)
-भल्लातक-न., योग० भल्लातकैः सिद्धो गुडः (चचि. १. (२) १६)
-मञ्जरी-स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिणी (ध. परि. ३.३२)
-लावणिक-पु., गुडेन लवणेन च संस्कृतो भक्ष्य-विशेषः (चक. १२.२२)
-वैकृत-न., गुडविकृतिः, विकृतम्, एव वैकृतम्, विकृतं विकारः (चचि. ६.४)

-शर्करा-स्त्री., इक्षुविकार० इयं क्षीणक्षतानां हिता वृष्या स्निग्धा च (चसू. २७.२४१)
गाङ्गेटीफलम्, पित्तशूले उपयुज्यते
(सु. उ. ४२.७०)
-शुक्त-न., आसुत० गुडकृतं मद्यम् (असंसू. ६)
-सीधु-पु., न., आसुत० गुडकृतः सीधुः
(चचि. २६.१८)
-सौहित्य-न., गुडस्य तृप्तिः, 'मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुडसौहित्यं वितरेत्' (सुचि. ७.३५)
-हरीतकीयोग-पु., योग० वातरक्तरोगेषूपयुज्यते
(सुचि. ५.१२)
गुडाकेशय-पु., वनस्पति० अक्षोटः (रा. ११.८२)
गुडापूप-पु., भक्ष्य० सोमालकम् (असंउ. ८ इन्दुः)
गुडाश्रय-पु., वनस्पति० अक्षोटः (ध. ५.६०)
गुडिका-स्त्री., गुटिकारूपमूत्रशर्करा (सुउ. ५९.१४)
गुडूचिका-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.५)
गुडूची-स्त्री., वनस्पति० वयःस्थापनगणे एकं द्रव्यम्
(चसू. ४.१८)
गुणाः-तिक्ता कषाया कटुः (स्वादुविपाका म. पा.) उष्णा पित्तमेदःशोषण्याऽऽयुष्या मेध्या संग्रहणी बल्या त्रिदोषघ्नी रसायनी जन्तुरक्तार्शःकुष्ठज्वर-तृष्णापाण्डुवातरक्तच्छर्दिप्रमेहकण्डूविसर्पविषवली-पलितनाशिनी च (ध. १.१) तृप्तिघ्नी स्तन्यशोधनी
(चसू. ४.११-१२)
दाहप्रशमनी (चसू. ४.१७) व्रणशोधनी
(सुसू, ३८.६-७)
दीपनी (असंसू. १३) कामलाघ्नी
(असंसू. १२.७२)
गुडूचीपत्रं कफजे व्रणे आच्छादनार्थमुपयुज्यते
(सुचि. १.११५)
गुडूचीतानः गुडूचीप्रभवस्तन्तुः व्रणसीवनार्थमुपयुज्यते (सुसू. २५.२०-२१)
हिं.—गिलोय, गुलंचा.
म.—**गुळवेल.**
गु.—गलो, गडो.
बं.—गुलंच.
त.—चीन्तिल.
फा.—गलोय.
गुडूच्यादिगण-पु., द्रव्यगण० गुडूचीपञ्चकारिष्टधान-कारक्तचन्दनानि, गुणाः-पित्तश्लेष्मघ्नो ज्वरच्छर्दि-दाहतृष्णाघ्नोऽग्निकृच्च (अहसू. १५.१६)
गुडूच्यादिघृत-न., घृत० गुडूचीपिप्पलीमूर्वाहरिद्रा-श्रेयसीवचानिदिग्धिकाकासमर्दपाठाचित्रकनागरेत्येतानि द्रव्याणि चतुर्गुणे जले आपादभागशेषं पक्त्वा तत्समं सर्पिश्च संमिश्र्य यथाविधि सिद्धं कुर्यात्। एतद्घृतमश्वासक्षयकासनाशनम्
(चचि. १८.१६१-१६२)
गुडोद्भवा-स्त्री., गुडविकार० शर्करा, गुडविकृतत्वात्
(रा. १४.१५९)
गुड्डुडायन-न., गुडगुडेत्यव्यक्तशब्दः पार्श्वशूले लक्षण-विशेषः (सुउ. ४२.११८) गुडगुडा इति अव्यक्ता-नुकरणपरः शब्दः
गुण-पु., पदार्थ० तल्लक्षणं-द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः, 'समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः' (चसू. १.५१) द्रव्याश्रित इन्द्रियग्राह्यो रूपरसादिकः पदार्थः (सुसू. ४६.५१४) 'अर्था... विषया गुणाः' (चशा. १.३१) धर्मः
(अहसू. ९.५)
गुणनामानि संख्या च-'सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः.....'
(चसू. १.४९)
आयुर्वेदे विंशतिगुणाः-गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्ष-मन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्ण-खरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः (चशा. ६.१०)
रसवीर्यविपाकानामपि गुणसंज्ञा
(अहसू. ९.२२ है)
नानाद्रव्याश्रिता गुणाः-कर्मभिरनुमीयन्ते
(सुसू. ४६.५१४)
सांख्ये त्रयो गुणाः सत्त्वं रजस्तमश्चेति
(सुशा. १.३)
'सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः'
(अहसू. १)
आयुर्वेदे सांख्ये च गुण-गुणिनोः परमार्थतो भेदो नास्त्येव (चशा. १.६४ चक्र.)
शरीरधातवो मलाश्चापि गुणा इत्युच्यन्ते
(चशा. ६.१७)
प्रसादः उत्कृष्टो भागः (सुउ. १.२०)
फलं विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणाः
(सुउ. ४७.१२)
अणिमादिसिद्धि०, स्वभावो वा (सुउ. ६०.२०)
आकाशादिभूतम्,...'स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते....।'
(चशा. ४.८)
रज्जुः, सूत्रं वा (सुउ. १.१९)

प्रमाणं, संख्याया आवृत्त्या वर्धनम्, यथा द्विगुणं द्विप्रमाणम् (अहक. ६.१५)
अप्रधानः (चक. १२.४४)
सद्गुणः (सुसू. ४०.१०)
-कर्णिका-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१)
-ग्रहण-न., भूतग्रहणम् (चशा. ४.८)
-त्रय-न., सत्त्वरजस्तमांसि (असंसू. २१.३२)
-प्रिया-स्त्री., वनस्पति० दन्ती (ध. १.२२३)
अतिविषा (ध. १.११)
-विनिक्षेप-पु., गुणपरिमाणम् (चवि. ८.१९)
-संपद्-स्त्री., उत्कृष्टगुणता (चसू. १.१३३)
-सम्पन्न-वि., इष्टै रसगन्धस्पर्शवर्णैरुपेतम् (अन्नम्) (सुसू. ४६.४४६)
-सार-पु., न., गुणोत्कर्षः (अहसू. ९.१५)
-सू-स्त्री., वनस्पति० कार्पासी (रा. परि. ४.४५)
गुणाढ्य-पु., वनस्पति० अङ्कोटः (रा. ९.३८४)
गुणान्तराधान-न., संस्कारः (चवि. १.२१ (२)
गुणिन्-पु.,गुणयुक्तः भूतरूपगुणवानात्मा (चशा. ४.८)
गुणोज्ज्वला-स्त्री., वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४८)
गुण्ठ-पु., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८३)
अरु. वृत्ततृणः कुदगुण्ठिका (अहसू. १५.२४)
गुण्ड-पु., वनस्पति० अयं वृत्तस्थूललघुभेदेन त्रिधा, स्थूलस्तु अधिकगुणः, गुणाः-मधुरः शीतः कफपित्तघ्नः अतिसारदाहरक्तहरः (रापरि. ८.६०)
-कन्द-पु., वनस्पति० गुणाः-अल्पमधुरः कषायः शीतोऽतिखरो रक्तपित्तदाहश्रमापहः (रापरि. ८.६३)
(गुण्डा)-स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रापरि. ८.६६)
गुण्डाख्य-पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५५)
गुण्डाला-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुस्तिक्तोष्णा शोफव्रणविनाशिनी (रापरि. ५.४२)
गुण्डासिनी-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुस्तिक्ता उष्णा पित्तघ्नी दाहश्रमव्रणदोषश्वयथुघ्नी च (रापरि. ८.६६)
गुण्डूरूकी-स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.९९)
गुण्डूग्रन्थि-पु., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८)
गुद-न., शारीर० गोदते खेलति चलति वा अपानवायुरनेन इति गुदम्। दशप्राणायतनेष्वेकम् (चसू. २९.३)
बहिर्मुखस्रोतसामेकम् (सुशा. ५.१०) मर्म० (चशा. ७.९) एतत्सार्धचतुरङ्गुलप्रमाणम्, स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलम् (सुनि. २.५) एतद्वक्तश्लेष्मप्रसादाज्जायते (सुशा. ४.२६-२७) उत्तरगुदमधरगुदमित्यस्य द्वौ भागौ (चशा. ७.१०)
-किट्ट-पु., रोग० बालरोगः, अहिपूतनः (र. २२.१४७)
-कील-पु., अर्शोरोगः (सुसू. ४६.३०७)
-कुट्ट-पु., रोग० बालरोगः अहिपूतनः (असंउ. २)
-क्षणन-न., लक्षण० गुदनाशनम् (चचि. १४.९)
-ग्रह-पु., लक्षण० बस्तावभिहते संभवदेकं लक्षणम् (चसि. ९.६)
गुदे वातवेदना (चइ.१०.१७)
-ज-न., अर्शोरोगः (असंसू. १२.४९)
-निष्क्रमण-न., लक्षण० गुदाद्बहिरागमनम् (चवि. ७.१३)
-निस्सरण-न., लक्षण० गुदभ्रंशः (चचि. १९.४२)
-परिकर्तन-न., लक्षण० गुदस्य सर्वतः कर्तनवद् वेदना (सुचि. ३४.८)
-परिभ्रंश-पु., रोग० गुदभ्रंशः (र. १६.४१)
-पाक-पु., रोग० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४) रक्तप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१२)
-पार्श्व-परिव. पु., गुदसमीपभागः (सुनि. ४.९)
-भ्रंश-पु., रोग० गुदस्य स्वस्थानाच्च्युतिः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) मध्यममार्गजो विकारः (चसू. ११.४९) तत्र चिकित्सा-गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्। वायोर्विनिर्गमार्थं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा गोफणाबन्धं कारयेत्। मुहुर्मुहुः स्वेदः कार्यः। महत्पञ्चमूलसिद्धं तैलं पानाभ्यङ्गार्थं यथाबलं प्रयोजयेत् (सुचि. २०.६१-६३)
-मण्डल-न., गुदं परितो भागः (सुचि. ८.२४)
-मर्मन्-न., उदरमर्म (सुशा. ६.६)
अधरगुदस्थानं येन पुरीषं निष्क्रामति (चशा. ७.१० चक्र.)
मांसमर्म, 'गुदरोहितानि...मांसमर्माणि' (सुशा. ६.७)
सद्यः प्राणहरं मर्म (सुशा. ६.९)
एतदेकमेव चतुरङ्गुलं च (सुशा. ६.२५)
-वलि-स्त्री., गुदस्थिता वलयः, अध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति तिस्रः

चतुरङ्गुलायताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः । प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रैव (सुनि. २.५)

–वलीमुख–न., गुदवल्या द्वारम् (असंसू. २८)

–विद्ध–न., गुदस्य च्छेदः (सुचि. ७.३६)

–शूल–पु., न., लक्षण० सातत्येन गुदपीडा (चचि. १३.४१)

–शोथ–पु., लक्षण० गुदश्वयथुः (चसू. २५.४०)

–श्वयथु–पु., लक्षण० गुदशोथः (चचि. १४.६२)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० गुदस्तब्धत्वम् (चसि., ६.८९)

–स्राव–पु., लक्षण० गुदात्स्रावः (अहसू. १६.३१)

–स्राव–पु., गुदमार्गेण जलादेः स्रावः (चचि. १३.४७)

गुदाङ्कुर–पु., रोग० अर्शोरोगः (र. १३.८२)

गुदार्ति–स्त्री., गुदशूलः (असंसू. २०.१३)
अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

गुदालय–वि., गुद एव आलयः स्थानं यस्य सः (अपानो वायुः) (सुनि. १.९)

गुदाश्रयरोग–वि., गुदस्थानाश्रितरोगाः अर्शोभगन्दराहिपूतनादयः (सुनि. १.२०)

गुदास्थि–न., अस्थि० (सुशा. ५.१९)

गुदास्थिविवर–न., गुदास्थिसंबन्धि विवरम् (सुनि. ३.१९)
तत्र स्थिता अवयवा बस्तिः, बस्तिशिरः, पौरुषं वृषणं गुदमित्येवमादयः (सुनि. ३.१९)
तत्संबन्धीन्यस्थीनि पञ्च श्रोण्यस्थीनि (सुशा. ५.१९)

गुदोत्तर–न., गुदस्योत्तरभागः (चशा. ३.६)

गुदोपलेप–पु., गुददुष्टिः (चचि. १५.२०६)
गुदस्योपलिप्तत्वम्, मलेन गुदावरोधः (सुसू. ४२.१० (१)

गुदौष्ठ–पुं., शारीर० प्रमाणं–' रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धः ' अर्धाङ्गुलमस्य प्रमाणमित्यर्थः (सुनि. २.६)

गुन्द्र–पु., गुन्द्रा (भाप्रनि.)

(गुन्द्रा)–स्त्री., दर्भ०, कुशः (ध. ४.१३३)
तृणजातिः (असंउ. ४४ इन्दु.)
रक्तपित्ते प्रलेपार्थम् (चचि. ४.१०३)
जलतृणः एरका (हे;) शर इत्यपरे, पदएरकः (अरु;)
गुच्छपुष्पिकेति केचित् (सुसू. ३९.८) मूत्रविरेचनीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५)
पट्टोरकभेदः (सुचि. ३७.३१)
पट्टरकभेदः भद्रमुस्ता (सुचि. १७.६)
गुलुञ्चः (चसू. ४.१२ चक्र)

गुन्द्रा–स्त्री., (ध. ४.१३३) मृदुदर्भः

–भस्मन्–न., योग० गुन्द्रां मनःशिलां हरतालं चैकीकृत्य दग्ध्वा साधितं भस्म यच्च उपदंशविसर्पाणां शमनम् (सुचि. १९.४६–४७)

गुपित–वि., आकुलीकृतम् (सुउ. ४२.५–६)
व्याकुलितम्, परस्परमतिक्रान्तम् (सुचि. २.६२)

गुप्त–वि., रक्षितम् (असंसू. ८)

(गुप्ता)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)

–गन्धि–न., वनस्पति० एलवालुकम् (रा. ४.१३४)

–फल–न., कपिकच्छूफलम् (सुउ. ४६.२३)

–स्नेह–पु., वनस्पति० अङ्कोलः (रा. ९. ३८३)

–हृदय–वि., विषघ्नै रक्षितहृदयः प्रच्छादितहृदयः (सुक. १.८५)

गुप्ति–स्त्री., मन्त्रादिना पिशाचादिभ्यो रक्षा (चवि. ३.१५)

गुरडक–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११४)

गुरु–पु., गुणविशेषः पृथिवीसोमगुणभूयिष्ठोऽलघुः (चशा. ६.१०)
यस्य द्रव्यस्य बृंहणे शक्तिः स गुरुः (हे. अहसू. १.१८)
अयमग्निगुणविपरीतत्वादग्निमान्द्यकरः (असंसू. ११)
अयं चिरपाकी (सुसू. ४५.१९८)
गुणतः पाकतश्च यद्गौरवकरं तद्द्रव्यम् (सुउ. ५०.३०) तस्य कर्माणि अग्निसादोपलेपबलोपचयतर्पणबृंहणानि (सुसू. ४६.५१७)
महान् (अहसू. १२.७१)
अध्यापकः उपदेशकः (चनि. ७.१०)
मातृपितृप्रभृतयः (सुउ. ४१.५८)
भूताधिपतिः (असंउ. ७)
वनस्पति० शिंशपा (ध. ५.१२१)
कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)
खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३)

–कोष्ठ–वि., क्रूरकोष्ठः, मलपूर्णकोष्ठः (चसि. ७.७)

–गात्रता–स्त्री., गात्राणां गौरवम्, विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७)

–गात्रत्व–न., लक्षण० गात्राणां गुरुत्वम् (चनि. १.३३)

–तण्डुला–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११८)

–ता–स्त्री., लक्षण० गुरुत्वम् (असंसू. ७.१६७)

-प्रवृत्ति-वि., गुरुत्वभावम् (चवि. ८.१२७)
-प्रावरण-न., रल्लकादिप्रावरणं गुरुत्वेन परिहितं सन्निरग्निकस्वेदोपयोगि (सुचि. ३२.१५)
-बीज-पु., वनस्पति० मसूरिका (रा. १६.१४९)
-भोजन-न., दुर्जरमन्नं तदशनं वा (असंसू. १३)
-लाघव-न., गुरुत्वं लघुत्वं च (सुसू. ४६.१३० चसू. २७.३४३)
-लाघवचिन्ता-स्त्री., द्रव्याणां गौरवलाघवविषयको विचारः, स च अल्पबलमन्दक्रियसुकुमारसुखोचितानां कृते आवश्यकः (चसू. २७.३४३)
-शालि-वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.९९)
-समुत्थान-वि., यत्संशोधनक्लिष्टं शरीरं महता प्रयत्नेन चिरेण च कालेन प्रकृतिं प्राप्नोति (चवि. ८.१२७)
गुरुक-वि., लक्षण० गौरवयुक्तम् (सुचि. ५.३२)
गुरुवक-पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१४४)
गुर्जरमण्डल-न., गुर्जरदेशः (र. ३.१६२)
गुर्वाक-पु., वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९)
गुर्वीफल-न., वनस्पति० पूगीफलम् (र. १६.१७-२३) लघुकपिकच्छूफलम् (र. १६.१७-२३)
गुलाल-पु., वनस्पति० भूतृणम् (र. ८.७३)
गुलिका-स्त्री., कल्प० गुटिका गोलाकारं भैषज्यद्रव्यम् (चचि. १५.१८४)
-मुख-वि., गुलिकासदृशमतीक्ष्णाग्रं मुखं यस्य (अहसू. १९.१०)
गुलुच्छकन्द-पु., वनस्पति० गुच्छाह्वकन्दः (रा. परि. ७.६१)
गुल्फ-पु., शारीर० पादजङ्घयोर्मध्ये स्थितः संधिभागः (चवि. ८.१०७)
'दशगुल्फतलयोः' (सुशा. ५.३७)
एकं जालकम् (सुशा. ५.१२ ड)
पञ्च स्नायवः (सुशा. ५.२९)
अस्थिसंघातः (सुशा. ५.१६)
-कर्ण-पु., गुल्फस्य कर्ण इव भागः (सुचि. १८.२६)
-ग्रह-पु., गुल्फस्य ग्रहः अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
-मर्मन्-न., मर्म० सक्थिमर्म (सुशा. ६.६) गुल्फसंधिस्थाने (सुशा. ६.२४) संधिमर्म० (सुशा. ६.७) रुजाकरमर्म, 'गुल्फौ द्वौ.....कूर्चशिरांसि च रुजाकराणि जानीयात्' (सुशा. ६.२४) तत्र विद्धस्य स्तब्धपादता खञ्जता वा (सुशा. ६.२४)
गुल्फमर्मणी द्वे (सुशा. ६.१४)
एतद् द्वयमङ्गुलप्रमाणम् (सुशा. ६.२८)
'सन्धिमर्मैदं द्वयङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च (सुशा. ६.२४ ड.)
-शूल-पु., लक्षण० गुल्फस्य शूलः (चसि. २,१६)
-शोष-पु., लक्षण०, गुल्फस्य शोषः (चसि. २.१६)
-संधि-पु., पादजङ्घयोर्मध्ये संधिः (असंशा. ७.१४) कोरजातीयः एकश्चलसंधिः, 'जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः (सुशा. ५.२६-२७)
-स्तम्भ-पु., लक्षण०, गुल्फस्य स्तम्भः (चसि. २.१६)
गुल्फास्थि-न., अस्थि०, द्वे गुल्फास्थिनी (सुशा. ५.१९)
गुल्म-पु.,-रोग० रक्तदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८. १२) हृन्नाभ्योरन्तरे संचारी वाऽचलो वा चयापचयवान् यो ग्रन्थिः स गुल्मः (सुउ. ४२.४) गुल्मव्यपदेशो, लोके तत्सादृश्यात् गुल्मनिरुक्तिः "कुपितानिलमूलत्वाद् गुदमूलोदयादपि। गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते" संहतिविशेषेण अवस्थिता मनुष्यवृक्षादयो गुल्मव्यपदेशं भजन्ते (सुउ. ४२.५-६ डल्हणः) गुड्यते वेष्टयतेऽनेनेति गुल्म इति हलायुधः (मा.) गुल्मोत्पत्तिः-तस्मिन् हि दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतामभिद्रवणतरणधावनप्लवनलङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्। (चनि. ८.११) संप्राप्तिः-मिथ्याहारविहारतः प्रकुपिता वातादयो बस्तिनाभिपार्श्वहृदयेषु ग्रन्थिरूपिणं गुल्मं पञ्चधा जनयन्ति (मा.) अयं बाह्यान्तरभेदेन द्विधा। तत्रान्तरगुल्मलक्षणानि-बस्तिकुक्षिहृत्प्लीह्नां वेदनाऽग्निवर्णबलानां च भ्रंशो वेगानामप्रवृत्तिश्च (असंनि. ११.४६) बहिर्गुल्मलक्षणानि-कोष्ठाङ्गेषु नातिरुगवकाशस्य वैवर्ण्यं बहिरधिकमुन्नतता च (असंनि. ११.४७) पूर्वरूपम्-अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकावग्निवैषम्यं विदाहो भुक्तस्य पाककाले चायुक्त्या छर्दिरुद्गारश्च, वातमूत्रपुरीषवेगानां चाप्रादुर्भावः प्रादुर्भूतानां चाप्रवृत्तिरीषदागमनं वा, वातशूलाटोपान्त्रकूजनापरिहर्षणातिवृत्तपुरीषताऽबुभुक्षादौर्बल्यानि सौहित्यस्य चासहत्वम् (चनि. ३.१५)

लक्षणम्–स्वहेतुभिः प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीभूतमाशुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्। मुहुराधमति मुहुरल्पत्वमापद्यते। अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति। मुहुः पिपीलिकासंप्रचार इवाङ्गेषु तोदभेदस्फुरणायामसंकोचसुप्तिहर्षप्रलयोदयबहुलस्तदाऽऽतुरः सूच्येव शङ्कुनेवाभिसंविद्धमात्मानं मन्यते। दिवसान्ते ज्वर्यते। शुष्यति चाऽस्यमस्य। उच्छ्वासश्चोपरुध्यते हृष्यन्ति च रोमाणि वेदनायाः प्रादुर्भावे। अयं वातगुल्मः। पित्तगुल्मे तु स्वहेतुभिः प्रकुपितं पित्तं मारुतेन सह प्रकोपमापद्यते। पित्तं त्वेनं विदहति कुक्षौ हृद्गुरसि कण्ठे च। स दह्यमानः सधूममिवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितम्। गुल्मावकाशश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति शिथिल इव स्पर्शासहोऽल्परोमाञ्चश्च भवति। हरितहारिद्रत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति। कफगुल्मे स्वहेतुभिः प्रकुपितः श्लेष्मा मारुतेन सह कुप्यति। स शीतज्वरविशेषारोचकाविपाकाङ्गमर्दहृद्रोगच्छर्दिनिद्रालस्यस्तैमित्यगौरवशिरोभितापानुपजनयति। श्वैत्यं त्वङ्नखादिषु सांनिपातिकगुल्मस्तु त्रिदोषहेतुलिङ्गसंनिपाते भवति। स विरुद्धोपक्रमत्वादसाध्यः। शोणितगुल्मस्तु स्त्रिया एव भवति। (चनि. ३.१३)

अनुपशयः–वातगुल्मे रूक्षं कषायतिक्तं कटु च नोपशेते (चचि. ५.११) उपद्रवाः–वातगुल्मे प्लीहाटोपान्त्रकूजनाविपाकोदावर्ताङ्गमर्दमन्याशिरःशङ्खशूलब्रह्मरोगाः, पित्तगुल्मे ज्वरभ्रमदवथुपिपासागलतालुमुखशोषप्रमोहविड्भेदाश्च, कफगुल्मे कासश्वासप्रतिश्यायराजयक्ष्माणश्च (चनि. ४)

असाध्यलक्षणम्–शूलाटोपान्त्रकूजनदौर्बल्यनखवैवर्ण्यारुचिहृल्लासकासातिज्वरतृष्णातन्द्राप्रतिश्यायसहितो गुल्मो न सिध्यति (चचि. ५.१६९–१७१)

गुल्म-रक्तगुल्मयोर्भेदः–गुल्मस्य पाको नास्ति। स त्वष्सु बुद्बुदवच्चयं याति। रक्तजानां पाको भवति (सुउ. ४२.६–७)

चिकित्सासूत्रम्–गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत्। स्नेहस्वेदौ वातहरौ। स्नेहोपसंहितं च मृदुविरेचनं बस्तीश्चाम्ललवणमधुराँश्च रसान् युक्त्याऽवचारयेत् (चनि. ३.१६) रक्तगुल्मः शस्त्रसाध्यः, 'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः' (चचि. ५.१९)

–केतु–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४८)
–चिकित्सित–न., अध्याय० (चचि. ५.१)
–निदान–न., अध्याय० (चनि. ३.१)
–मूल–न., वनस्पति० आर्द्रकम् (रा. ६.१३२)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.३)

गुल्मक–पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.२)

गुल्मावकाश–पु., गुल्मस्यावकाशः स्थानं प्रदेशो वा (चनि. ३.९)

गुह–पु., कुमारः कार्तिकेयः गूहति रक्षति देवसेनामिति गुहः (काचिबालग्रहचि.)
रेवतीग्रहस्य भ्राता (काचिबालग्रहचि.)

(गुहा)–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. १.९०) (सुक. ८.५१३)
शालिपर्णी (रा. ४.११३) (सुक. ६.३ ड)

गुहा–स्त्री., (ध. १.९०)
–शय–वि., गुहासु निवसन्वन्यः प्राणी (ध. परि. ६.६) सिंहव्याघ्रवृकतरक्षुवृक्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगोर्वारुकप्रभृतयः (सुसू. ४६.७२–७३)
गुणाः–मधुर उष्णः स्निग्धो गुरुर्बल्यो वातघ्नो गुह्यनेत्रविकारघ्नश्च (ध. परि. ६.६०)

गुह्य–न., गुदं गुह्यं गोपनीयं वस्त्रादिना इति गुह्यं, तत्समीपभागो वा (अहसू. ५.५८)
–पत्र–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)
–बीज–पु., वनस्पति० भूतृणम् (रा. ८.७३)
–रोग–पु., गुह्यभागे जायमाना उपदंशप्रदरादयो रोगाः (र. १२.–१८)
संप्राप्तिः संख्या च–मुष्टिदन्तनखोत्पीडादिभिर्दुष्टा दोषा गुह्यंगता उपदंशादीन् त्रयोविंशतिरोगान् जनयन्ति (असंउ. ३८) ते च उपदंशोऽशैः सर्षपिकावमन्थौ कुम्भिकाऽलज्युत्तमा पुष्करिका संव्यूढपिटिका मृदितमष्ठीलिका ग्रथितं निवृत्तमवपाटिका निरुद्धमणिः स्पर्शहानिः शतपोनकस्त्वक्पाकमांसपाकासृग्दरं मांसार्बुदं विद्रधितिलकालका इत्यादयः (असंउ. ३८) तत्र मांसार्बुदमांसपाकविद्रधितिलकाश्चत्वारोऽसाध्याः, शेषा एकोनविंशतिः शीघ्रमुपाचरिताः कृच्छ्रेण साध्याः (असंउ. ३८)
–रोगप्रतिषेध–पु., अध्याय० (अहउ. ३४)
–विज्ञान–न., लक्षण० गुप्तस्य गूढस्य विज्ञानम् (सुउ. ६०.४)
–वेदना–स्त्री., लक्षण० पायुवृषणमेहनानां शूलम् (अहसू. ४.१९)

गुह्यक–पु., देवयोनि० (चवि. ३.७ (३)
गूढ–वि., गुप्तम् (चशा. ८.५१)
–**पत्र**– पु., वनस्पति० करीरः (ध. ५.९९)
अङ्कोटः (रा. ९.३८३)
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० बकुलः (ध. ५.१५४)
सप्तपर्णः (ध. ३.८०)
–**मल्लिका**–स्त्री., वनस्पति० अङ्कोटः (रा. ९.३८३)
–**मूल**–वि., भूमिगुप्तमूलः कन्दादिः (सुउ. ४२.५–६)
–**मूलोदय**–वि., गूढमूलः गुप्तकारणात् उत्पत्तिर्यस्य (सुउ. ४२.५–६)
–**लिङ्ग**–वि., अव्यक्तलक्षणो (रोगः) (चवि. ४.८)
–**संधि**–वि., गुप्तः संधिर्यस्य सः दीर्घायुर्लक्षणेष्वेकं लक्षणम् (सुसू. ३५.५)
–**सिर**–वि., गुप्ताः सिरा यस्य सः दीर्घायुर्लक्षणानामन्यतमम् (सुसू. ३५.५)
–**स्नायु**–वि., गूढाः स्नायवो यस्य सः दीर्घायुर्लक्षणानामन्यतमम् (सुसू. ३५.५)
गूढास्थिसंधि–वि., गुप्तास्थिसंधिः (सुसू. ३५.१६)
गृञ्ज–पु., समण्डयवौदनः (चवि. २०.२८)
गृञ्जन–न., वनस्पति० मूलकविशेषः; तस्य गुणाः–तिक्तं कटूष्णं गुरु दुर्गन्धि कटुविपाकि रुच्यं दीपनं हृद्यं कफवातघ्नं गुल्मघ्नम् (ध. ४.३७)
रक्तमूलकम् (चक. १.२५)
लशुनः (ध. ४.६६)
रसोनभेदः (सुउ. ५६.१४)
गृञ्जनक–न., शाक० रसोनकसदृशं शोभाञ्जनं वा (चवि. १२.६३)
पलाण्डुभेदः (चवि. १४.२०२)
लोहितपलाण्डुः (चवि. १७.१३१)
स्वल्पनालपत्रः पलाण्डुः, अयं ग्राही तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शःसु हितोऽपित्तिनां स्वेदनाभ्यवहारार्थं हितः (चसू. २७.१७४) द्र० ' पलाण्डु '
गृद्धि–स्त्री., गर्धनम्, अभिलाषः (रसेषु) (चवि. १५.६२)
गृध्नु–वि., लुब्धः, लोलुपः (चवि. ४.५०)
गृध्र–पु., पक्षि० गृध्यति अभिकांक्षति मांसमिति गृध्रः, प्रसहवर्गीयः (धपरि. ६.१४) प्रतुदवर्गीयः (रापरि. ७.३) वातप्रकृतिकः मांसाशी (सुशा. ४.६७) अयं योजनदृष्टिः (सुसू. ४६.७४;) अस्य मांसं शोषिणे बृंहणार्थं देयम् (सुसू. ४१.३६) गुणाः–मधुर उष्णः स्निग्धः सन्तर्पणो बल्यः पित्तकरो दाहरक्तपित्तहेतुर्विशोषोन्मादशुक्रक्षयभस्मकादिरोगहेतुः (धपरि. ६.१४) तस्य पुरीषं पक्वशोथस्य दारणं करोति (सुसू. ३७.१०) श्लेष्मार्बुदे प्रलेपार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३५) वसा तिमिररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.३५)
–**क्षार**–पु., विषदिग्धविद्धे प्रतिसारणार्थमुपयोज्यः (असंउ. ४०)
–**गन्धित्व**–न., शुष्करेवतीलक्षण० (असंउ. ३)
–**नखी**–स्त्री., वनस्पति० बदरी (३८.७३)
–**पत्रा**–स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रापरि. ५.८)
–**मुखयन्त्र**–न., स्वस्तिकयन्त्र० गृध्रमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)
गृध्रसी–स्त्री., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
संग्राहिः–प्रकुपितो वायुः सक्थनः कण्डरामाश्रित्य सक्थनः क्षेपं निगृह्णाति (सुनि. १.७४) वातेन वातश्लेष्मोद्भवेन गृध्रसी द्विधा (चचि. २८.५७) रूपम्–सक्थनः क्षेपनिग्रहणं स्तम्भरुक्तोदादिलक्षणं क्रमात् स्फिक्कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापददेशेषु भवति (चचि. २८.५६)
तत्र वातजगृध्रसीलक्षणम्–जानुकटयूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता तोदश्च (मा;) वातश्लेष्मजगृध्रसीलक्षणानि–तन्द्रा गौरवं वह्निमार्दवं भक्तद्वेषश्च (मा.)
गृध्राणी–स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रा. परि. ५.८)
गृष्टि–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४७)
वाराहीकन्दः (ध. ४.९२)
एकवारप्रसूता गौः (चचि. ९.४३) सकृद् एकवारं गर्भं गृह्णाति इति गृष्टिः
गृष्टिका–स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (ध. ४.९२)
गृह–न., निवासस्थानम् (चशा. १.४३)
–**कन्या**–स्त्री., वनस्पति० कुमारी (र. ११.३१–३२) (रापरि. ५.१०)
–**कपोत**–पु., पारावतः (असंउ. ४३)
–**कार**–पु., गृहं करोति रचयति, सः (चशा. १.४३)
–**कुक्कुट**–पु., ग्राम्यकुक्कुटः (सुचि. ९.१९)
–**कुलिङ्ग**–पु., प्रतुदपक्षि०, पुण्डूचटकः ग्रामचटको वा (सुसू. ४६.६७)
–**गोधिका**–स्त्री., प्राणि० पल्ली (मा.) तस्या दंशलक्षणानि–स्वेदस्तोदः श्वयथुर्दाहः हृत्पीडा ग्रन्थिसंभवश्च (चचि. २३.१५६) (असंउ. ४३)

वरमठीकृतं मृण्मयं गृहमुपचारात् लक्षणया गृहगोधिकेत्युच्यते, इदं पयसि निर्वापितं पीतं च छर्दिशमनम् (सुउ. ४९.३१)

-गोपिक-स्त्री., प्राणि० पल्ली, गृहगोधिका (सुउ. १८.९४-९७)

-गोलिका-स्त्री., प्राणि० पल्ली, गृहगोधिका (असंउ. ४३)

-द्रुम-पु., वनस्पति० शाकः गृहनिर्माणोपयोगिदारुविशिष्टत्वादयं गृहद्रुम इति सुष्ठु व्यपदिश्यते (रापरि. ९.६)

-धूप-पु., धूपकल्प० (काकल्प १.)

-धूप-पु., आगारधूमः (चसू. ३.५)
गृहे महानसादौ भित्त्युपरि संचितो धूमः (चचि. ७.८७)

गृहीतगर्भा-वि., लब्धगर्भा (सुशा. ४.२४)

गेयप्रिय-पु., वनस्पति० मुद्गरः (रापरि. १०.२२)

गेहधूम-पु., गृहधूमः (र. २२.१५८)

गैरिक-न., खनिज० गिरौ पर्वते भवति इति गैरिकम्, मृत्तिकाभेदः (चसू. १.७०)
शोणितास्थापनगणे (चसू. ४.१८)
गैरिकम्, पाषाणगैरिकं च, तत्र सुवर्णगैरिकं स्निग्धं शोणितवर्णं च पाषाणगैरिकं कठिनं ताम्रवर्णकम्। गुणाः-सुवर्णगैरिकं मधुरं स्निग्धं नेत्र्यं कषायं रक्तपित्तघ्नं हिध्मावमिविषघ्नं च पाषाणगैरिकमपि एतद्गुणयुक्तं परं तत्र मात्राऽल्पीयसी, गवां दुग्धैर्भावितं गैरिकं शुद्धिमाप्नोति। गैरिकं तु स्वयमेव सत्त्वरूपं भवति। अतस्तस्य सत्त्वपातनस्यावश्यकता नास्तीति नन्दिमतं वाग्भटसंमतम्, एतद्विषये मतान्तरम क्षारयवक्षारादयोऽम्ला जम्बीरादयस्तैः स्विन्नाद्गैरिकात्सत्त्वं बहिरागच्छेत्। गैरिकसत्त्वं लोहमेव भवतीति वृद्धसंकेतः (र. ३.५३)
पारदकर्मण्युपयुक्तेष्वष्टोपरसेष्वेकं द्रव्यम् (र. ३.१)
विसर्पे (चचि. २१.८२) कुष्ठे (चसू. ३.५) च प्रदेहार्थं, रक्तपित्ते (चचि. ४.७३) पिपासादाहशमनार्थं सम्यग्दग्धे (सुसू. १२.२३) आलेपनार्थं सिरोत्पाते चाञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.१७)
खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.१)

(गैरिका)-स्त्री., खनिज० गैरिकं मृद्विशेषः (सुचि. २५.३८)

गैरिकाक्ष-पु., वनस्पति० जलमधूकः (रा. ११.५९)

गैरिकोदकप्रतीकाश-वि., गैरिकमिश्रजलवत् पाण्डुलोहितम् (सुसू. १४.२१)

गो-पु., स्त्री., प्राणि० गच्छति प्राप्नोति प्राणिवर्गे श्रैष्ठ्यम् इति गौः (चसू. २७.३५) कफप्रकृतिः (सुशा.४.७६) ग्राम्यपशूनामन्यतमः (सुसू. ४६.८५)
गोदुग्धगुणाः-क्षीरवर्गेऽयम् (चसू. २५.३८) मधुरं रसपाकयोः शीतं स्निग्धं गुरु वातपित्तघ्नं जीवनीयं रसायनं रक्तपित्तहरमल्पाभिष्यन्दि च (सुसू. ४५.५०-५१) बल्यं हृद्यं मेध्यं पुंस्त्वकरमत्यन्तरुच्यं कान्तिकरमोजोवर्धकं श्वेतवर्णगवां वातघ्नं कृष्णानां पित्तघ्नं रक्तानां कफघ्नं च (ध. ६.१६४) दधिगुणाः-विपाके मधुरं स्निग्धं दीपनं बलवर्धनं रुच्यं वातापहं च (सुसू. ४५.६७-६८) ग्राहि (ध. ६.१९०) घृतगुणाः-सर्पिषामग्र्यम् (चसू. २५.३८) विपाके मधुरं वातपित्तघ्नं चक्षुष्यं बल्यं विषघ्नं च (सुसू. ४५.९७) शीतं हृद्यं मेध्यं दीपनं वृष्यं (ध. ६.१४६) तद्विधम् क्षीरोत्थं दध्युत्थं च (सुचि. ३१.४. ड.) मांसगुणाः-मृगमांसेष्वहिततमम् (चसू. २५.३९) गुरु (चसू. ५.११) इदं केवलवातेषु पीनसविषमज्वरशुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयेषु हितम् (चसू. २७.७९) गोमूत्रगुणाः-मधुरं कृमिघ्नं कण्डूघ्नमुदरे हितम् (चसू. १.१०१) स्थौल्ये उपयुज्यमानेष्वेकं द्रव्यम् (सुसू. १५.३२) कुष्ठघ्नं (चसू. ३.१३) शिरोविरेचनं (सुसू. ३९.६) कटु तिक्तं सक्षारमुष्णं तीक्ष्णं लघु लेखनं सरं दीपनं मेध्यं पित्तकरं कफवातघ्नं त्वग्दोषहरं (ध. ६.४८८) पाचनं (असंसू. ६.१४३) शूलगुल्मोदरानाहघ्नं (सुसू. ४५.२२०) विरेकास्थापनादिधूपयुज्यते मूत्रप्रयोगसाध्येषु प्रयोजयेत् (सुसू. ४५.२२०-२२१) भेदि (असंसू. ६.१४३) गोपित्तगुणाः-कुष्ठादिषु प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चसू. ३.६) इदमुन्मादे नस्यार्थेऽञ्जनार्थे चोपयुज्यते (चचि. ९.६७) एतत्सिद्धं तैलमपस्मारे पानाभ्यङ्गधूपयुक्तम् (सुउ. ६१.२४-२५)
सौराष्ट्रीसत्त्वपातनार्थमुपयुक्तम् (र. ३.७३)
गोरोमगुणाः-धूपनार्थम् (काधूपकल्प. १)
अस्यान्तर्धूमदग्धं भस्म हिक्काशमनार्थं क्षौद्रोपेतं लिह्यात् (सुउ. ५०.२०) शकृद्गुणाः-गोशकृद्रसः

रक्तपित्ते उपयुक्तः (चचि. ४.६९) मूषकविषे उपयुक्तम् (सुक. ७.३८) अञ्जनद्रव्यपेषणार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.११–१२) शिरोविरेचनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. ३९.६) वृश्चिकस्य तीक्ष्णमध्यविषे सुखोष्णं गोमयं स्वेदनार्थमुपयुज्यते (सुक. ८.६८–६९)

शुष्कं गोमयं दाहार्थमुपयुज्यते (सुचि. ४.३०)

गोवैरं रससाधने श्रेष्ठम् (र. १०.५९)

गोदन्तः–दहनकर्मण्युपयुज्यमानेषु द्रव्येष्वेकम् कुष्ठेउद्दालनार्थमुपयुज्यते (चचि. ७.१६०) (सुसू. १२.४)

पृथिवी (अहसू. १०.१)

वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५८)

–कण्ट–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (ध. १.१०३)

–कण्टक–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (ध. १.१०२)

वनस्पति० क्षुद्रकण्टकः (रा. ३.१३१)

विकण्टकः (रापरि. ११.१९)

–कर्ण–पु., प्राणि० गोमुखहरिणः (चसू. २७.४७)

गोकर्णसदृशकर्णः कूलचरपशुः 'गोन' इति प्रसिद्धः (डल्हण) गोकर्णसदृशकर्णो रासभाकारः (हे)

मांसगुणाः–मधुरं स्निग्धं मृदु कफावहं रक्तपित्तघ्नं विपाके मधुरं च (सुसू. ४६.१०४)

–(कर्णी)–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)

–क्षुर–पु., वनस्पति० श्वयथुहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) मूत्रविरेचनगणे एकः (चसू. ४.१५) (चसू. २५.४०) गुणाः–मधुरः शीतो मधुरविपाकी बृंहणो वृष्यो दीपनस्निदोषघ्नो रसायनः शूलहृद्रोगमूत्रकृच्छ्रप्रमेहाश्मरीदाहनाशनश्च (ध. १.१०२)

हिं.—गोखरू.

म.—गोखरू.

बं.—गोखरी.

त.—नैरिंची.

फा.—तुखमेखार.

–क्षुरक–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (ध. १.१०२)

–क्ष्वेड–पु., पक्षि० प्रतुदवर्गे गोनर्दपक्षी (असंसू. ७)

–क्ष्वेडक–पु., प्रतुदपक्षि० गोनर्दः (ड) 'घोडाकङ्क' इति ख्यातः (च) (सुसू. ४६.६७)

–चन्दना–स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (सुचि. २८.२२)

सविषजलौका० इयं गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी (सुसू. १३.११)

–चर–पु., शब्दादिको विषयः (चशा. १.३१)

गवां संचारस्थानम्, गावश्चरन्ति तृणादि भक्षयन्ति अस्मिन्निति (चसू. २७.३११)

–चरविभ्रम–पु., इन्द्रियार्थविभ्रमः (सुउ. ७.१०)

–चर्मन्–न., गोचर्माख्यं मानम्, इदं भूमिमानम् (कोवि. ३)

'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डैर्निवर्तनम् । दश तान्येव गोचर्म' (इति शब्दकल्पद्रुमः)

–जल–न., गोमूत्रम् (सुउ. ४४.३४)

–जा–स्त्री., वनस्पति० गोलोमिका (रापरि. ५.३२)

–जापर्णी–स्त्री., वनस्पति० दुग्धफेनी (रापरि. ५.३४)

–जिह्वा–स्त्री., वनस्पति० गवेधुका (रा. ४.१८०)

शाक० दार्विपत्रिका, मण्डूकपर्ण्यादिगणे (चसू. २७.९७)

चतुष्पादिकृतनखदन्तक्षते विषशमनार्थमुपयुक्ता (चचि. २३.२२०)

गुणाः–कषायमधुरा स्वादुपाका शीता लघ्वी पित्तघ्नी च (सुसू. ४६.२६४)

–जिह्विका–स्त्री., शारीर० गौर्वाक् वचनकारणभूता प्रधानजिह्वा (चशा. ७.११)

–जीर्णक–पु., संस्कृता यवा, धेनुना खादिता यवा, द्वितीयदिने तच्छकृति लब्धाः कुष्ठघ्नयोगेषूपयुज्यते (असंचि. २१)

–तीर्थ–न., सलिलगोपथः, रेवतिबलिनिवेदनस्थानम् (सुउ. ३१.९)

–तीर्थक–पु., छेद० (सुचि. ८.१०) 'पार्श्वगतेन शस्त्रेण छेदः' (असंउ. ३३) एतद्विषये मतत्रयम् गच्छतो गोर्मूत्रगतिसदृशोऽथवा गोतीर्थं गोयोनिस्तदाकारोऽथवा गोतीर्थं निपानं येन गावः पिबन्ति तत्खुराङ्कितवच्छेदविशेषः (सुचि. ८.१०)

–त्र– न.; कुलम् (सुचि. २४.६८)

शरीरम् (सुचि. २४.६८)

–दन्त–पु., भैषज्य०, गोदन्तः (चचि. २३.२०३)

–दन्तमसी–स्त्री.; गोदन्तस्य भस्म, अञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.६८)

खनिज० हरितालम् (ध. ७.११९)

–नर्द–न., वनस्पति० परिपेलवम् (तृणविशेषः) (अहसू. १५.२६)

पक्षि० बकः (चचि. १२.२४)

श्वेतवर्णकङ्कः (चसू. २७.४९)

गोक्ष्वेडः (अहसू. ६.४५)

–नस–पु., सर्प० मण्डलिसर्पः (सुक ४.३२ (२) यदाऽसौ स्थविरस्तदा॰दृष्टिनिःश्वासविषो भवति (चचि. २३.१३६)
(खनिज० वैक्रान्त (ध. ६.४४)
(–नसी)–स्त्री., वनस्पति० सोमसमवीर्या (सुचि. ३०.५) इयं द्विपर्णिनी मूलभवाऽरुणा कृष्णमण्डला द्व्यरत्निप्रमाणा गोनसाकृतिश्च (सुचि. ३०.११–१२) काश्मीरेषु क्षुद्रकमानससरसि वसन्ते वर्षायां च जायते (सुचि. ३०.३२–३४)
–नास–पु., खनिज० वैक्रान्तम् (रा. १३.५०)
–पति–पु., वनस्पति० ऋषभः (ध. १.१२५)
–पाल–पु., गोमहिष्यजादिपालकः (सुसू. ३६.१०)
(–पाली)–स्त्री., वनस्पति० गोपालकर्कटी (रा. ३.२६४) गोरक्षी (रा.परि. ५.३०)
–पालकर्कटी–स्त्री., वनस्पति० त्रपुसविशेषः, तद्गुणाः–मधुरा शीता पित्तघ्नी मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहदाहशोषघ्नी (रा. ३.२६४)
–पित्त–न., भैषज्य० गोरोचना (असंसू. ८)
–पुट–न., वनस्पति० परिपेलम् (रा. ८.१०५; ध. ३. ५५)
(–पुटा) स्त्री., भद्रैला (रा. ६.७१)
–पुर–न., देवालयद्वारम् (असंउ. ४)
–पुरक–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१)
–पुररक्षित–पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३) केचित्तु 'गोपुररक्षितौ' इति नामद्वयं मन्यते (सुसू. १.३)
–पुरीषाग्नि–पु., गोमयाग्निः (चचि. १५.१७७)
–मक्षिका–प्राणि० गोशरीरे स्वभावादेव निवसन्ती मक्षिका (र. २४.१०)
–मती–स्त्री., वनस्पति० गोरोचना (ध. ३.२०)
–मत्स्य–पु., नादेयो नदीभवो मत्स्यः (सुसू. ४६.११३–११४)
–मयचूर्णप्रकाश–पु., गोपुरीषचूर्णवत् प्रकाशो वर्णो यस्य, तस्य रजस उत्तमाङ्गे दर्शनम्, इदं मासिकमरिष्टमित्यवगन्तव्यम् (सुसू. ३२.४)
–मयचूर्णाभ–वि., गोमयचूर्णसदृशम्, मूर्ध्नि एतस्योत्पत्तिररिष्टत्वेन मासान्तजीवनसूचिका (चइ. १२.३)
–मयचूर्णीय–वि., अध्याय० (चइ. १२.१)
–मांसमसी–स्त्री., गोमांसस्य क्षारः (सुचि. १७.३८)
–मातृ–स्त्री., जातहारिणी प्रसक्ता गोमाता, या गोपालस्य प्रजां हन्ति (कारेवतीकल्प १५.१६)
–मायु–पु., जम्बूकः, वातप्रकृतिरयम् (सुशा. ४.६७) गां विकृतां वाचं मिनोति प्रक्षिपति इति गोमायुः
–मुख–पु., ऋषि० रससिद्धिप्रदायकेष्वेकः (र. १.२–५)
–मूत्रिका–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, वृष्या, गोदुग्धदायिनी च (रा. परि. ८.४८)
–मेद–न., रत्न० (चसू. २३.१५) गोमेदसा समानवर्णत्वादेतद्रत्नं गोमेदमुच्यते, श्रेष्ठगोमेदलक्षणम्–निर्मलगोमूत्रसमानवर्णं निर्मलं स्निग्धं सर्वतः समानाकारं भारेण गुरु दलरहितं मसृणं प्रकाशयुक्तं गोमेदं ग्राह्यम् । यत्तु विगतच्छायं लघु रूक्षं चिपिटाकारं पटलान्वितपत्रयुक्तं दीप्तिरहितं पीतवर्णं काचसदृशाभं तत् त्याज्यं भवति । गुणाः–दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं मेध्यं कफपित्तक्षयपाण्डुनाशकं वर्तते (र. ४.५७–६०) लोहितो पीतो वाऽयं मणिः (ड) (सुनि. ३.७) पुष्परागाभो मणिः कलुषजलस्य प्रसादनकरः (सुसू. ४५.१७)
–यान–न., गोवाह्यशकटः (सुसू. २९.२४)
–रक्ष–पु., वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१२८)
(–रक्षी)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा तिक्ता शीता पित्तनाशिनी दाहविस्फोटवान्त्यतीसारज्वरदोषविनाशिनी (रा. परि. ५.३०) गोरक्षदुग्धी (रा. परि. ५.५३)
–रक्षकर्कटी–स्त्री., वनस्पति० त्रिभंटम् (ध. १.१८०)
–रक्षतुम्बी–स्त्री., वनस्पति० कुम्भतुम्बी (रा. ७.२३६)
–रक्षदुग्धी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा शीता वृष्या ग्राहिणी रसे सिद्धिगुणप्रदा (रापरि. ५.५३)
–रङ्क–पु., वनस्पति० जलमधूकः (ध. ५.४९)
–रथ–पु., गोशकटम् (चइ. १२.८६)
–रस–पु., गोर्निष्पन्नाः सर्वे एव दुग्धतक्रदधिनवनीतादयो रसा गोरसशब्दवाच्याः (चसू. २७.२३६) न., चतुर्थांशजलतक्रम् (धनि. ६.१८९)
–रेखा–स्त्री., गोक्षुरः (र. १७.६७–६८) गोरोचनं वा (र. १७.६७–६८)
–रोचन–स्त्री., गोपित्तम् (रा. १२.२३ असंउ. १)
–लीढ–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२०)

–लोमिका–स्त्री., वनस्पति० कटुस्तिक्ता हिमा ग्राहिणी दीपनी त्रिदोषघ्नी मूलरोगास्रदोषघ्नी च (रापरि. ५.३२)

–लोमी–स्त्री., वनस्पति० संज्ञास्थापनद्रव्याणामन्यतमा (चसू. ४.१८)
दूर्वा (ध. ४.१४४)
वचा (ध. २.६)
काश्मीरस्थक्षुद्रकमानसरसि महौषधिर्गोलोमी जायते (सुचि. ३०.३२.३३)

–वन्दनी– स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ३.१६)

–वर–न., शुष्कच्छगणखण्डं गोवैरम् (र. १०.५९)

–वरपुट–न., गोवरैस्तुषैर्वा दीयमानं पुटम् (र. १०,६०)

–विन्द–ऋषि० रससिद्धिप्रदायकेष्वेकः (र. १.२–५)

–वृषण–पु., वृषभाण्डम् (सुसू. १३.११)

–शीर्ष–न., वनस्पति० चन्दनम् (ध. ३.१)

–शृङ्ग–न., वनस्पति० बर्बुरः (रापरि. ८.१२)

–ष्ठ–पु., गावस्तिष्ठन्ति विश्राम्यन्ति इति गवां विश्रामस्थानम् (चशा. ८.१९)

–ष्ठी–स्त्री., लोकवार्ता (अहसू. ३.२५)
सभा, सम्भाषणम् (सुचि., २४.१०१)

–ष्फण–पु., बन्ध० (असंसू. ३८)

–ष्फणाबन्ध–पु., बन्ध०, असंगते व्रणे चर्मणाऽसौ प्रयोज्यः (असंउ. ३१)

–संभवा–स्त्री., वनस्पति० गोलोमिका (रापरि. ५.३२)

–सर्ग–पु., गवां किरणानां सर्गः प्रादुर्भावोऽत्र इति यद्वा गाः किरणान्सृजति आविर्भावयति इति गोसर्गः; प्रभातकालः (चइ. ८.२४; सुचि. २४;११७)

–सलिल–न., गोमूत्रम् (र. २०.२०४)

–स्तनाकारमूषा–स्त्री., मूषा० शिखायुक्ताच्छादनसहिता गोस्तनाकारा मूषा (र. ९.५९–६०)

–स्तनी–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५–५८)

–स्तनीमूषा–स्त्री., गोस्तनाकारमूषा (र. १०.२६)

गोजी–स्त्री., वनस्पति० गोजिह्वा (असंउ. ४४)
दार्वीपत्रिका, शाखोटक इत्यन्या (सुचि. १८.३२)

–पत्र–न., वनस्पति० गोजी, पत्रमस्यानुशस्त्रत्वेनोपयुज्यते (सुसू. ४.१५) (सुचि. २२.१९)

गोटुभ–पु., प्राणि० जलचरोऽयं (काखिल. २४.४१–४२)

गोणिक–न., धान्यादिवहनाधारः (असंसू. २६)

गोणी–स्त्री., मान० शूर्पद्वयम् (चक. १२.९६)

गोधा–स्त्री., प्राणि० बिलेशयोऽयं (चसू. २७.३८)
दंष्ट्रानखविषा (सुक. ३.५) मांसगुणाः–मधुरं कषायं शीतं बलवर्धनं विषघ्नं बृंहणं वातपित्तशमनं श्वासरक्तविकारक्षयघ्नं च (धपरि. ६.३९) विषघ्नं (असंसू. ७.९७) हिक्काशमनार्थं मांसरस उपयुक्तः (सुउ. ५० २९) मांसरसः कुष्ठहरे प्रलेपे उपयुक्तः (चचि ७.८८) पित्तमृषभेऽगदे उपयुक्तम् (सुक. ५.६८) नेत्ररोगेषु उपयुज्यते (असंउ. १६) ग्रहचिकित्सायाम् उपयुज्यते (सुंउ. ६०.४०) एतत्पित्तसिद्धं तैलमपस्मारे पानाभ्यङ्गेषूपयुक्तम् (सुउ. ६१. २४–२५) अस्याः दर्शनं रुतं चाप्रशस्तम् (सुसू. २९. ३६-३७) संयोगतः पयसा सह विषतुल्या भवति (सुसू. २०.८) गोधामांसरसस्य नित्योपयोगेन शार्कर्यश्मरी मेही च भवति (चशा. ८.२१) गोधायाः पाटितं यकृदर्धं पिप्पलीभिः पूरितं शुचिमृत्तिकया लिप्तम् अग्निना च विपाचितं सद् दिनत्रयं यावद् भक्षितं चेदसंशयं नक्तान्ध्यं हन्ति। किञ्च तदन्तःस्विन्नाऽपि पिप्पली मधुना अञ्जनेन सह प्रयुक्ता नियतं नक्तान्ध्यनाशाय कल्पते (सुउ. १७.२४)

–पदी–स्त्री., वनस्पति० मुसलीकन्दः (रा. परि., ७.५८)
वनस्पति० हंसपदी (रा. ५.१६८)

–वती–स्त्री., वनस्पति० वटपत्री (रा. ५.२११)

–स्कन्ध–पु., वनस्पति० इरिमेदः (ध. ५.१३३)

गोधिनी–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२३)

गोधूम–पु., धान्य० (चसू. २७.२१) गुणाः–मधुरः शीतः स्निग्धो गुरुर्वृष्यो जीवनः संधानकरो बृंहणो बल्यः सरः शुक्रवर्धनो वातपित्तघ्नः (ध. ६.५७) सरक्ते वाते प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चसू. ३.२३) रुचिप्रदः श्लेष्मकरः (चसू. ४६.४३–४४) वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. २५) गोधूमश्चक्षुष्योऽपि तैलपक्वो दृष्टिनाशनः (असंसू. ७) गोधूमपिष्टं सूक्ष्ममुखव्रणपीडनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.११) गोधूमचूर्णमन्थोऽत्यग्निनाशनः (चचि. १५.२२६)
हिं.—गेहूं.
म.—गहूं.

गु.—घऊं.
त.—गोदुमु.
–विकृति–स्त्री., गोधूमप्रकृतिको मोदकादिः (अहसू. ३.१२)
–संभवा–स्त्री., निर्यास० वंशरोचना (ध. २.५६)
गोधूमक–पु., सर्प० राजिमानयम् (सुक. ४.३४ (३)
–(गोधूमी)–स्त्री., वनस्पति० गोलोमिका (रापरि. ५.३२)
गोधैरक–पु., सविषकीट० तद्दष्टलक्षणम्–शोफो दाहो रुजा ग्रन्थिप्रादुर्भावो ज्वरश्च, एतेन दष्टो न जीवति (सुक. ८.२८)
गोप–पु., रक्षकः, गोपः गोपालकः (चसू. १.१२०)
–कन्यका–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (असंउ. ४५)
–कन्या–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६१)
–कर्कटिका–स्त्री., वनस्पति० गोपालकर्कटिका (रा. ३.२६४)
–घोट–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (ध. ५.४३)
–(घोटा)–स्त्री., वनस्पति० विकङ्कतः (ध. ५.४३)
–(घोण्टा)–स्त्री., वनस्पति० घोटाबदरी (सुचि. ११.१०)
कर्कोटी (सुसू. ३८.६–७ ड.)
पूगभेदः (सुसू. ३८.६–७ ड.)
बदरभेदः (सुसू. ३८.६–७ ड)
–भद्रा–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४७)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६१)
मूर्वा (रा. ३.११)
–सुता–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (अहसू. १५.९)
गोपक–न., निर्यास० बोलम् (ध. ३.६२)
गोपन–न., वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२)
गोपा–स्त्री., सारिवा० (ध. १.१६१)
–नसी–स्त्री., गृहाच्छादनाधारकाष्ठम् (चसू. ३०.५) "आच्छादने स्याद्वलभी गृहाणां गोपानसी दारु च वक्रसंस्थम्" इति (हलायुधे ३०३) गोपायति रक्षति गृहम् इति गोपानसी
(गोपी)–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (असंसू. ८)
–पुत्र–पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५०)
गोफणा–स्त्री., व्रणबन्ध० पाषाणगुडकोत्क्षेपकारिणीं गोफणां विदुः, तदाकृतिर्बन्धश्चिबुकनासौष्ठबस्तिषु विधेयः (सुसू. १८.१७)
गोफणिका–स्त्री., बन्ध० कौपीनकम्, कच्छोटकम् (सुचि. २.६७)
सीवनप्रकारेष्वेकः (सुसू. २५.२२)
गोरट–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३८)
गोल–पु., वर्तुलाकारः पिण्डः (रा. १८.११४–११५)
वनस्पति० बोलः (र. १५.६८)
बालक्रीडनककाष्ठमयवर्तुलकन्दुकः (काखिल. १२.६)
मूषा (र. २०.५०–५१)
काचकूपी (र. ७.२०)
–फल–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३२)
–मूषा–स्त्री., मूषा० पुटनीयद्रव्यगर्भा मुखरहिता सर्वत्र गोलकवदाकारा मूषा, एषा सत्वरद्रवरोधिनी (र. १४.२९)
गोलक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (ध. ५.१३२)
लोष्टः पिण्डिः (र. २.४७–४८)
उपधानविशेषो गोलाकारत्वाद् गोलकः (चसू. १४.५३)
(गोला)–स्त्री., खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६)
(गोलिका)–स्त्री., गुटिका (र. १६.१५१–५३)
वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)
गोह्वा–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (ध. १.२०२)
गौड–वि., गुडोद्भवं, गुडविकारः (सुसू. ४५.२१२)
आसुत० गुडप्रकृतिक आसवः, अयं तर्पणो दीपनः सृष्टभिन्नशकृद्वातश्च (चसू. २७.१८६)
–पानक–(परिव०) न., गुडकृतपानकम् (सुसू. ४६.३८८–८९)
–सीधु–पु., आसुत० गुणाः–कषायमधुरः पाचनो दीपनश्च (सुसू. ४५.१८२)
गौडारिष्ट–पु., आसुत० पाण्डुरोगे उपयुक्तम् (सुउ. ४४.३६)
गौडिक–वि., गुडेन संस्कृतं संसृष्टं वेति गुडोद्भवमन्नम् (चसू. २३.४)
समितावेष्टिता गुडप्रधानोदरा गौडिका लड्डुका इत्युच्यन्ते। गुणाः—बृंहणो गुरुरनिलनाशनोऽदाही पित्तहरः शुक्रवर्धनः शुक्रलश्च (सुसू. ४६.३९५)
वनस्पति० मधूकः (ध. ५.४८)
गुडकृतमद्यविशेषः (अहसू. १३.२)
–सीधु–पु., आसुत० गुडकृतं सस्यकम् (सुउ. ५५.२३)
गौतम–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८; चचि. ११.४)

गौधूमिका–स्त्री.,गोधूमकृतभक्ष्यविशेषः (चसू. २७.२७१)

गौधेर–पु., सर्प० सविषोऽयं गोधेरः गोधेरकः (धपरि. ६.३९)
गोधिकात्मजः, स दर्वीकरविषसमः (असंउ. ४१)

गौधेरक–पु., सर्प० गोधायां सर्पाजातश्चतुष्पादः कृष्णसर्पेण तुल्यः (चचि. २३.१३४)

गौर–न., खनिज० हरितालम् (ध. ७.११९)
पद्मकेसरम् (ध. ४.१६५)
कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)
धवः (रापरि. ९.८)
पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०७)
कर्पूरः (रा. १२.५६)
इङ्गुदी (रापरि. ८.१७)
धान्य० शालिभेदः (चसू. २७.१३)

(गौरा)–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५)

(गौरी)–स्त्री., सिरा० (असंशा. ६) श्वेतवर्णशिराभेदः, सा कफं वहति (सुशा. ७.१८) 'यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः शिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः॥' (सुशा. ७.१३)
गोरोचना (ध. ३.२०)
वनस्पति० हरिद्रा (असंउ. २२)
आकाशमांसी (रा. १२.९५)
प्रियङ्गुः (रा. १२.२८)
धवः (धपरि. ५.४)
मल्लिका (रा. १०.२२५)
मञ्जिष्ठा (रा.६.१५)
दूर्वा (रा. ८.२२७)
तुलसी (ध. ४.५०)
सुवर्णवर्णा (भूमिः), (सुसू. ३६.३)

–चामर–पु., श्वेतकेशग्रथितं मशकनिवारणम् (सुउ. ७.२१–२२)

–जीरक–पु., वनस्पति० जीरकभेदः शुक्लजीरकः (ध. २.६८) द्र० 'जीरक'

–तित्तिरि–पु., तित्तिरिभेदः (सुसू. ४६.६३)

–दण्ड–वि., वनस्पति० अपामार्गभेदः (असंशा. १) द्र० 'अपामार्ग.'

–रम्भा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)

–शालि–पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.७०)

–षष्टिक–पु., वनस्पति० षष्टिकशालिधान्यभेदः (अहसू. ६.८)

–सर्षप–पु., सर्षपभेदः श्वेतसर्षपः (चशा. ८.१९)

–सुवर्ण–न., वनस्पति० शिशिरं पथ्यं कफपित्तज्वरदाहारुचिभ्रान्तिरक्तश्रमहरम् (रापरि. ७.९१)

गौरव–न., लक्षण० गुरुभावः (चसू. १६.१३)
क्रियास्वसामर्थ्यम् (चचि. १६.४)
तत्सामान्यलक्षणम्–आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रमभिमन्यते। तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् (सुशा. ४.५५)

गौराङ्गी–स्त्री., वनस्पति० एला (रा. ६.६८)

गौरामलक–पु., आर्द्रतया गौरवर्णं आमलकः (चचि. २२.३६)

गौराहिक–पु., निर्विषसर्पः (सुक. ४.३४. (४)
रसप्रदोषरोगेष्वेको रोगः (चसू. २८.९)

गौरिजेय–न., खनिज० अभ्रकम् (रा.१३.२)

गौरी–स्त्री., सिराविशेषः, इयं कफरक्तवाहिनी (असंशा. ६)

–ज न., खनिज० अभ्रकम् (रा. १३.२)

–तेजस्–न., खनिज० अभ्रकम् (र. २.३)

–पाषाण–पु., खनिज० गौरीपाषाणः, सोमलः (धपरि. ६.१४) अयं त्रिविधः–स्फटिकाभः, शंखाभो, हरिद्राभश्च, साधारणरसेष्वेकः (र. ३.१३४.१३५) अस्य शोधनं–प्रथमं गौरीपाषाणं कारवल्लीफलमध्ये स्थापयेत्। अनन्तरं हण्डिकामध्ये दोलया स्वेदयेत्। दोलायन्त्रे कारवल्लीक्वाथं क्षिपेत्। प्रहरत्रयं स्वेदनं कुर्यात्। एवं स शुद्धो भवति। गुणाः–रसबन्धकरः स्निग्धः दोषनाशनः पारदवीर्यकरः (ध. पा. २९१.३१५)

–पुष्प–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.३)

–पुष्पभव–न., खनिज० गन्धकः (र. ३.१७)

–ललित–न., खनिज० हरितालम् (रा. १३.५९)

–सृष्टि–पु., खनिज० गन्धकः (र. १.६०)
अभ्रकम् (र. १.६०)

गौर्यादिघृत–न., पित्तजविसर्पे समुपयुज्यमानो घृतविशेषः (सुचि. १७.१०–१३)

गौल्या–स्त्री., वनस्पति० चणिका (रा. परि. ८.६५)

ग्रथित–वि., ग्रन्थियुक्तम् (चसू. १३. ५७) घनीभूतम् (चद. ६.११)
न., रोग० अयं गुह्यरोगः; शूकैः आकीर्णमिव नाम

आवृतमिव लिङ्गं भवति । कफजो व्याधिरयम् (असंउ. ३८.३२०)

ग्रन्थिरिवोन्नतः (सुसू. १७.३)

ग्रथितास्रता–स्त्री., लक्षण० पुरीषग्रन्थियुक्तमन्त्रम्, पुरीषस्रोतोविद्धस्य लक्षणम् (सुशा. ९.१२)

ग्रन्थार्थ–पु., शास्त्रार्थः (सुउ. १९.१८)

ग्रन्थि–पु., रोग० उत्सेधरूपः शोफः, तत्स्थानं रोहिणी नाम त्वक्, संप्राप्तिः–कफप्रधानाः मलाः मेदोमांसासृजि प्राप्य वृत्तोन्नतं श्वयथुं कुर्वन्ति । अयं वातपित्तकफास्रमांसमेदोऽस्थिशिराव्रणजभेदात् नवविधः (असंउ. ३४) लक्षणम्–वातजः–आयामतोदभेदान्वितोऽसितः स्थानात्स्थानान्तरगतिरकस्माद्वृद्धिहानिमान् मृदुर्बस्तिरिवानद्धो विभिन्नः सन् स्वच्छास्रस्रावी च, पित्तजः–सदाहो रक्तपीताभान्यतरो द्रुतपाकी भिन्नः सन् भिन्ने उष्णास्रस्रावी च; कफजः–नीरुजो घनः शीतः सवर्णः कण्डूमान्, स च पक्वो घनपूयस्रावी, रक्तजः–दोषैर्दुष्टे रक्ते जन्तुपूच्छायमाप्नुवत्सु सिरामांसं संश्रित्य ग्रन्थिर्भवति । स सस्रावः पैत्तलक्षणः सदाहः पीताभो रक्तो वा द्रुतपाकी भिन्नश्च उष्णास्रस्रावी, मांसजः–मांसलाहारैर्दूषितेन मांसेन जायते स स्निग्धो महान् कठिनः सिरानद्धः कफाकृतिर्नीरुजो घनः शीतः सवर्णः कण्डूमान् पक्वश्च घनपूयास्रावी भवति; मेदोजः–मेदुराहारैः प्रवृद्धं मेदस्त्वचि मांसे वा वायुना नीतं ग्रन्थिरूपं जायते स भृशस्निग्धो मृदुश्चलः श्लेष्मतुल्याकृतिर्देहक्षयवृद्धिक्षयोदयश्च; भिन्नोऽयं घनताम्रसितासितमेदःस्रावी च, अस्थिजः–अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं यदस्थि तन्निमित्तो ग्रन्थिः, सिराजः–पदातेः सहसा जलावगाहनाद् व्यायामाद्वा प्रतान्तस्य रुद्धो वायुः सशोणितं सिराजालं संपीड्य संकोच्य वक्रीकृत्य विशोष्य च ग्रन्थिं कुरुते । स निःस्फुरो नीरुजश्च भवति; व्रणजः–अरूढे रूढमात्रे वा व्रणेऽपथ्यसेविनो नवे बन्धरहिते वा व्रणे, गात्रेऽश्माभिहते वा कुपितो वातोऽसृतं दुष्टमस्रं संशोष्य व्रणं ग्रथितं कुर्यात् । स सदाहः कण्डूमाँश्च भवति; (असंउ. ३४) एतेषु दोषास्रमेदोजाः पञ्च साध्याः स्थूलखराश्चलाः मर्मकण्ठोदरस्थाश्च असाध्याः (असंउ. ३४) चिकित्सासूत्रम्–छेदनं भेदनं जलौकावचरणमग्निपरिवेषणं च (सुसू. १२.१०; चसि. १८.८–११; सुसू. २५.५)

ग्रथनं यथा व्रणबन्धस्य ग्रन्थिः (असंसू. ३८)

–क्षतक्रिमि–पु., ग्रन्थ्युपलक्षितं यत्क्षतं तत्र ये कृमयस्ते (सुसू. २३.८)

–दल–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)

(–दला)–स्त्री., वनस्पति० मालाकन्दः (रापरि. ७.४४)

–दूर्वा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वा (रा. ८.२३२)

–निकुञ्चन–न., ग्रन्थिसंकोचः ग्रथितत्वम् (चचि. २३.१७७)

–पत्र–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)

–पर्ण–न., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)

(–पर्णी)–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२९) दूर्वा (रा. ८.२३४)

–फल–न., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३२) कपित्थः (रा.११.१५५) साकुरुण्डः (रापरि. ६.१६)

–मूढता–स्त्री., ग्रन्थेरदर्शनम् (सुसू. ३३.२१)

–मूल–न., वनस्पति० गृञ्जनम् (रा. ७.५५)

(–मूला)–स्त्री., वनस्पति० दूर्वा (रा. ८.२३२)

–रेतस्–न., शुक्रदुष्टिः (असंशा. १)

–वात–पु., ग्रन्थिजन्यो वातरोगः (र. १५.५६–५७)

–विसर्प–पु., रोग०, स्वरूपम्–स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकश्चाभिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये संजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तानां रक्तानां तदुपतापाज्ज्वरातीसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः। स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणामतिपतितो विवर्जनीयो भवति (चचि. २१.३६)

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सित–न., अध्याय० (सुचि. १८.१)

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डनिदान–न., अध्याय० (सुचि. ११.१)

ग्रन्थिक–पु., कर्णवेधापयोगेन जायमानोपद्रवः (सुसू. १६.७)

वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.१९)
वनस्पति०–न., पिप्पलीमूलम् (ध. २.७५)
(सुचि., ३७.३७)

ग्रन्थिन्–पु., वनस्पति० हिमावली (रापरि. ६.१८)

ग्रन्थिनिका–स्त्री., वनस्पति० महामुण्डी (५.२२०)

ग्रन्थिल–न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११३)
विकङ्कतः (ध. ५.४३)
तण्डुलीयकः (रा. ५.२०)
करीरः (ध. ५.९९)
चोरकः (रा. १२.१२८)
हिमावली (रापरि. ६.१८)
कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)

(ग्रन्थिला)–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५९)
मालादूर्वा (रा. ८.२३२)
दूर्वाभेदः, गण्डदूर्वा (रा. ८.२३४;) द्र० दूर्वा,

ग्रन्थी–स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (र. १९.४५–४८)

ग्रस्त–वि., सर्वात्मना मीलितः (र. १५.४४–४६)
सर्वथानुच्चारः (चक्रः) (चइ. १.१४)

–यन्त्र–न., पारदबन्धनार्थं निर्मिता स्थूलमूषोदराविष्टाऽऽद्यन्तसमानवर्तुला तले च चिपिटा मूषा (र. ९.६७)

ग्रह–पु., सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणम् (चइ. ४.१४)
" भत्रिपादान्तरे राहोः केतोर्वा संस्थितो रविः ।
चतुष्पादान्तरे चन्द्रस्तदा सम्भाव्यते ग्रहः ॥"
(तिथितत्त्वे)
राहुः (चशा. ५.१४)
विज्ञानम्, उपलब्धिः (चनि. १.४२)
निग्रहः, सङ्गः, अवरोधः (र. ५.२३९)
लिङ्गम्, ज्ञापकं चिह्नं वा गृह्यते ज्ञायतेऽनेनेति ग्रहः (चइं. ५.१२)
सूर्यादिदेवता० ज्योतिश्शास्त्रादेवास्य ज्ञानम् (सुसू. ३२.४)
" सूर्यश्चन्द्रो मङ्गलश्च बुधश्चापि बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति नव ग्रहाः ॥"
सोमपानपात्रम्, गृह्यते उपादीयतेऽनेनेति ग्रहः पात्रम् इति व्युत्पत्तिलभ्योऽयमर्थः (चचि. १ (४) ४६ चक्रः)
ग्रहचिकित्सा, ग्रहार्तत्वम् (हे), अष्टाङ्गायुर्वेदे एकमङ्गम् (अहसू. १.५)
देवादिः, तस्यावेशलक्षणम्, तत्र गुप्तविज्ञानमनागतविज्ञानममानुषी क्रिया क्रोधनत्वमनवस्थितिश्च मनःशरीरयोर्भवति (सुउ. ६०.४) तत्राऽसाध्यलक्षणम्–यः ग्रहाविष्टो विस्फारितनेत्रस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही निद्रालुरतिकम्पमानः स्थले स्थले पतनशीलः पर्वतगजवृक्षाश्वभ्रनदीतटाकादिविच्युतः सन् ग्रहाविष्टो वार्धकेन भावेन जुष्ट एतादृशलक्षणवान् साध्यो न भवति (सुउ. ६०.१६) तत्र नस्याभ्यञ्जनसेकादिश्चिकित्सा (सुउ. ६०.४०) दैवव्यपाश्रयचिकित्सायां च जपाः सनियमा होमा रक्तानि गन्धमाल्यानि कुङ्कुमरक्तकरवीरादीनि बीजानि सर्षपयवप्रभृतीनि लड्डुकफेनकगुडादयो भक्ष्याः (सुउ. ६०.२८.२९) देवाद्यनुचरेभ्यस्तत् ग्रहणनियतदिनेष्वेव यथेष्टानि मांसानि रुधिराणि वा देयानि । इष्टत्वं च वस्त्रादिवस्तूनां विविधानां 'सन्तुष्टः शुचिरपि चेष्टगन्धमाल्यः' इत्यादिग्रहलक्षणतो ज्ञातव्यम् (६०.३०,३१)
भूतपिशाचादिग्रहलक्षणम् (चचि. ९.२१) सज्जुष्टलक्षणम्–प्रततं रोदनं ज्वरः (असंउ. ३) ऊर्ध्वनिरीक्षणम् (सुशा. १०.५१)
असाध्यलक्षणम्–अतिस्तब्धाङ्गत्वं स्तनद्विट्त्वं ग्रहाविष्टवच्चेष्टितं च (सुउ. २७.१७) चिकित्सा–आथर्वणोक्ता ग्रहचिकित्सा ग्रहशान्त्यादिका, उन्मादेऽपि ग्रहोद्दिष्टा चिकित्सा (सुउ. ६२.३३)
ग्रहोपसर्गहेतुः–'त्रासयेन्नाविधेयं च त्रस्तं गृह्णन्ति हि ग्रहाः । वस्त्रपातात् खरस्पर्शात् पालयेल्लङ्घनाच्च तम्' (असंउ. १) ग्रहनामानि–स्कन्दग्रह-स्कन्दापस्मारशकुनिरेवतीपूतनाऽन्धपूतनाशीतपूतनामुखमण्डिकानैगमेषा इति (सुउ. २७.४–५)
ग्रहग्रहणकालः–देवग्रहाः पौर्णमास्यां, दैत्यासुराः सन्ध्ययोर्गन्धर्वा अष्टम्यां, यक्षाः प्रतिपदि, पितरः कृष्णपक्षे, उरगाः पञ्चम्यां, रक्षांसि निशि, पैशाचाश्चतुर्दश्याम् (सुउ. ६०.१७) तीव्रतपांसि दानं व्रतानि धर्मो नियमः सत्यं गुणाश्चाणिमादिसिद्धिरूपाः । एते सप्त गुणा देवादिग्रहेषु नित्याः सन्ति । देवादिपिशाचान्तेषु समस्तव्यस्तरूपेण । देवग्रहाणां समस्ता असुरादिग्रहाणां व्यस्ताः यथाप्रभवं ज्ञेयाः (सुउ. ६०.२०) ग्रहाणां बलिद्रव्याणि बलिस्थानानि च–देवग्रहाणां छत्रकुशस्वस्तिकाऽपूपाज्यघृतपायसादिर्बलिहोममादौ कृत्वा देवग्रहासुराणां चत्वरादौ, गन्धर्वाणां मद्यमांसाकुलो

जाङ्गलो गोष्ठे, यक्षाणां हृद्ये वेश्मनि कुल्माषासृक्सुरा अतिमुक्तककुन्दाब्जैः सह, पितॄणां कुशास्तरणं कृत्वा नदीकूले तिलगुडपायसादिः, नागानां तत्रैव गुडमध्वासवपायसादिः, रक्षसां चतुष्पथादौ भयङ्करे वने वा मांसासृक्सुरादिः, पिशाचानां शून्यागारेऽपक्वपशूपहारो मद्योत्कटो बलिश्च देयः (सुउ. ६०.३२–३७)

–कारिका–स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४)

–घ्न–पु., वनस्पति० सर्षपः (ध. ४.४२)

–घ्नधूप–पु., बालग्रहघ्न–धूपकल्पविशेषः (का धूपकल्पाध्याय १)

(–घ्नी)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतसर्षपः (काचिउदावर्त अ.)

–चार–पु., रविसोममंगलादिग्रहाणामन्यराशिप्रवेशः (असंशा. १२.३)

–च्छाया–शनैश्चरादीनां पिशाचादीनां वा बाधा (सुशा. १०.४६)

–नाशिनी गुटिका–स्त्री., भैषज्य० पाननस्याञ्जनलेपस्नानोद्वर्तनधूपनार्थमुपयुज्यते (र. २२.१६२.१६३)

–मातृ–स्त्री.. ग्रहरोगकारकेष्वेका; मातृग्रहसंख्या नामानि च–औला, नीला, खला, काला, नकुला, गृहकारिका, सेना, सुसेना, माता, महासेना, यशस्विनी, कृतमालाऽक्षतशिरा इति त्रयोदश ग्रहमातरः (असंउ. ४)

ग्रहण–न., ग्रन्थादिधारणम् (चवि. ४.८) धारणं, संधारणं, यच्च बडिशयन्त्रस्य कार्यम् (असंसू. ३४.) आत्मा, गृह्णाति भूतानि पाञ्चभौतिकशरीरप्रवेशापदेशेन इति ग्रहणम्, आत्मा (चशा. ४.८)

(ग्रहणी)–स्त्री., शारीर० अग्न्यधिष्ठानम् (चचि. १५.५६) नाभेरुपरि ग्रहणादन्नस्य ग्रहणीति संज्ञा; अग्निबलेनोपस्तम्भितोपबृंहिता चापक्वमन्नं धारयति वामपार्श्वतः पक्वं सृजति । अग्निबले (दुर्बले) मन्दे क्षीयमाणे वा साऽपक्वमेवान्नं सृजति (चचि. १५.५६–५७ चक्र.) ग्रहणी स्थूलान्त्रस्य वामभागेऽपि स्थिता । 'वामाश्रयोऽग्निर्ग्रहणी गुदं च' (चसि. ३.२४) तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म (सुशा. ६.२४) वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपरि अधो नाभेः पक्वाशयः (सुसू. २१.६) पित्ताशयस्योपरिष्टात् आमाशयः (सुसू. २१.१२) पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य (सुसू. २१.६) कोष्ठस्था अग्न्यधिष्ठानभूता नाडी (चसू. १३.६८ चक्र.) पित्तधरा नाम या षष्ठी कला सा पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणीति प्रकीर्तिता (सुउ. ४०.१६८) पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गार्गलेव सा स्थिता (अहृशा. ३.५०)

स्त्री., रोग० अग्न्यधिष्ठानभूतायाः ग्रहण्या बलमग्निः सोऽप्यग्निर्ग्रहणीमाश्रितस्तस्मादग्नौ प्रदुष्टे ग्रहणी संदूषिता भवति । ततो व्याधिरूपत्वमापद्यते । सा दुष्टा सती दुष्टमदुष्टमन्नं पक्वमपक्वं वा बहून्वारान् मुञ्चति । विसृष्टं तद्दुर्गन्धि कदाचिद्बद्धं कदाचिद्द्रवं वेदनायुक्तं च भवति (सुउ. ४०.१६५) संप्राप्तिः–सा चतुर्विधा पृथग्दोषजा सर्वदोषजा च; निवृत्तेऽप्यतीसारे मन्दाग्नेरपथ्यसेविनो ग्रहणीव्याध्युत्पत्तिसंभवः, अनुत्पन्नातीसारस्यापि ग्रहणीव्याध्युद्भवः; अग्निनिर्वापणकारणैर्ग्रहणीदोषात्तद्व्याधिसंभवः (सुउ. ४०.१६५) पूर्वरूपाणि–अन्नविदाहोऽङ्गसाद आलस्यं पिपासा कृमिः कर्णक्ष्वेड अन्नकूजनं बलक्षयोऽरुचिः कासश्च (सुउ. ४०.१७२) चिरात्पचनमल्पकः प्रसेक आस्यवैरस्यं भ्रम आनद्धोदरता (असंनि. ८) गौरवम् (चचि. १५.५५) सामान्यलक्षणम्, शूनपादकरत्वं कृशत्वं संधिपीडा सर्वरसलोलुप्यं पिपासा छर्दिर्ज्वरोऽरुचिबाहुल्यं दाहो लालास्रावस्तमक आस्यवैरस्यं शुक्तोद्गिरणं तिक्ताम्लाद्युद्गिरणं लोहगन्धिधूमगन्ध्यामगन्ध्युद्गिरणं च (सुउ. ४०.१७३–१७४) धूमको मूर्च्छा शिरोरुग्विष्टम्भश्च (असंनि. ८) वातजग्रहणीलक्षणम्–पायुहृदयपार्श्वद्वयोदरमस्तकेषु शूलः कृष्णारुणवर्णैर्नखविण्मूत्रनयनाननैर्हृत्पाण्डूदरादिरोगाशङ्का चास्य भवति (सुउ. ४०.१७५) तालुशोषस्तिमिरः कर्णस्वनः पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विसूचिका सर्वरसगृद्धिः क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका जीर्णे जीर्यति चाध्मानं, भुक्ते स्वास्थ्यं समश्नुते चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवद्वर्चः पुनःपुनः सृजति । पायुरुक् श्वासः कासश्च; (असंनि. ८) कण्ठशोषो वैरस्यं पाकाम्लता हृत्पीडा खराङ्गता दौर्बल्यं च (चचि. १५.६०–६४) पित्तजग्रहणीलक्षणम्–पायुहृदयपार्श्वद्वयोदरमस्तकेषु दाहः, नीलपीतरक्तासितवर्णैः नखविण्मूत्रनयनाननैस्तथा हृत्पाण्डूदरादिरोगाशङ्का च अस्य भवति (सुउ. ४०.१७५)

पीताभत्वं नीलपीताभमलसर्जनं पूत्यम्लोद्गारो हृत्कण्ठदाहोऽरुचिस्तृष्णा च (असंनि. ८)
कफजलक्षणानि–पायुहृदयपार्श्वद्वयोदरमस्तकेषु गौरवं, पाण्डुवर्णैर्नखविण्मूत्रनयनाननैः हृत्पाण्डूदरादिरोगाशङ्का च अस्य भवति (सुउ. ४०.१७७) अन्नं दुःखं पच्यते छर्दिररोचकः आस्योपदेहो निष्ठीवनं कासो हृल्लासः पीनसं हृदयस्योन्नत्वभावनोदरगुरुता स्तैमित्यं दुष्टमधुरोद्गारः स्त्रीष्वहर्षणं भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टिर्गुरुवर्चःप्रवर्तनम् (असंनि. ८) त्रिदोषजलक्षणानि – एतत्सर्वलक्षणोपेता (सुउ. ४०.१७५) उपद्रवाः – ज्वरोऽरोचकः शूलः करपादशोफश्च (सुउ. ४०.१७४) साध्यासाध्यलक्षणमतीसारवत् ज्ञेयम् (ग्रग्रहणी.)
सामान्यचिकित्सासूत्रम्–स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवास्तक्रयोगा दीपनानां च सर्पिषां ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः
(चचि. १५.१९६–१९८; सुउ. ४०.१७७–१८१)

–कपाट–पु., पारदयोग० पारदगन्धकातिविषाहरीतक्यभ्रकभस्मक्षारद्वयमोचरसवचाविजयाः घटकद्रव्यत्वेन जम्बीररसे संमर्द्य औषधमेतत् क्रियते । मात्रा माषार्धम्, अनुपानम्–मधु, मधु घृतञ्च
(र. १६.१०८,१०९)

–गजकेसरी–पु., पारदयोग० पारदगन्धकयोः कज्जलीं द्रावयित्वा तत्र कपर्दिकाभस्म, माक्षिकं, गन्धकं च क्षिपेत् काष्ठेन च विलोडयेत् । ततश्च कदलीदले प्रक्षिपेत् । अथ समभागं स्वर्णं रसार्धं कपर्दिकाभस्म गन्धकं च द्रावयित्वा कदलीदले क्षिपेत्। उभौ संचूर्ण्य लोहपात्रे निक्षिप्य तत्र तोलकमात्रं माक्षिकं निश्चन्द्रं चाभ्रकमतिविषां दुरालम्भां मोचरसं जीरकं सर्वं समांशकं पारदाच्चार्धांशकं प्रक्षिप्य जयन्ती–महाराष्ट्री–भङ्गाऽश्वगन्धापञ्चकोलानां कषायेण भावयेत्ततश्च शुष्कं चूर्णयेत् । मात्रा–वल्लः, अनुपानम्–शुण्ठी घृतं च, पथ्यं–सघृतं दधि तक्रम्, फलम्–ग्रहण्यतीसारनाशनं दीपनमामहननं च (र. १६.७८–९०)

–गद–पु., ग्रहणीरोगः (असंनि. ८)

–दोष–पु., ग्रहणीरोगः (असंनि. ८)

–दोषचिकित्सित–न., अध्याय० (चचि. १५.१)

ग्रहाधिपति–पु., ग्रहस्वामी तत्संख्या नामानि च–देवा असुरा गन्धर्वा यक्षाः पितरो भुजङ्गमा रक्षांसि पिशाचाश्च इति अष्ट (सुउ. ६०.६)

ग्रहाबाध–पु., दुष्प्रसूतायाः सूतिकाया ग्रहरोगविशेषः (काखिल. ११)

ग्रहावेश–पु., ग्रहग्रहणम्, ग्रहप्रवेशः, अयमात्मनो देहप्रवेशवत्सूर्यस्य वा सूर्यकान्तमणिप्रवेशवददृश्यः (सुउ. ६०. १९)

ग्रहोत्पत्ति–स्त्री., ग्रहाणामुत्पत्तिः, तत्रेयं कथाऽनुसंधेया–शम्भुना गुहस्य रक्षणक्रीडनमनोविनोदनार्थमग्निना कृत्तिकोमाभ्यां च सहितेन स्कन्दादयो नवग्रहाः स्त्रीपुरुषशरीरा विनिर्मिताः । एते ग्रहा दिव्यशरीराः स्वावेशेनैव ज्ञायमाना न चक्षुर्विषयभूताः । तेषु स्कन्दस्कन्दापस्मारनैगमेषाः पुंग्रहाः शकुनीरेवतीमुखमण्डिकाः पूतनात्रितयञ्चेति षट्संख्याकाः स्त्रीग्रहाः । तत्र स्त्रीग्रहा अत्यर्थं रजस्तमोगुणाः स्कन्दादयस्तु अल्परजस्तमस्काः । तेषु शिवेन स्कन्दः पार्वत्या नैगमेषोऽग्निना स्कन्दापस्मारश्च तथैव गङ्गोमाकृत्तिकाभिश्च शकुन्यादिषट्संख्याका निर्मिताः । एते अजाननादिविचित्राकृतयः सन्ति । उत्पत्त्यनन्तरं कार्तिकेये देवसेनापतिपदत्वे समारूढे स्कन्दादयस्तदग्रे समुपस्थितास्तं स्वस्ववृत्तिं कल्पयितुमयाचन्त । ते च श्रीबाहुलेयेन शिवंप्रति संप्रेषिताः । श्रीशिवः कृतनमस्कारान् तानवोचत् । भो बालकाः श्रुणुत । एतज्जगच्चितयं तिर्यग्योनिमानुषदेवैश्च सहितम् । ते सर्वे परस्परमुपकारका एवं विश्वमखिलं स्वे स्वे कर्मणि नियतम् । भवन्तः सर्वे बालग्रहरक्षणार्थं संसृष्टास्तस्मात् तेषु बालेष्वेव भवतां वृत्तिरस्तु । तदपि न सर्वेष्वर्भकेषु किन्तु कुलधर्माद्याचाररहितेषु विनष्टपूजाभिक्षेषु कुलेषु समुत्पन्नानां बालानामेव ग्रहणेनैव वृत्तिर्वर्ततां । एतत्क्रियया भवतां बलिपूजालाभोऽपि भवेत् । एवं तेषामुत्पत्तिरुक्ता । तेषु स्कन्दग्रहोऽतीवदारुणो दुश्चिकित्स्यतमोऽन्ये तु स्कन्दापस्मारादयोऽसम्पूर्णलक्षणाश्चेत् साध्याः सर्वरूपास्त्वत्युग्रत्वाद्दुश्चिकित्स्याः । केचन स्कन्दनामा प्रथमो ग्रहः कार्तिकेय एव सोऽपि बालकान् पीडयति इति ब्रुवते–तदसत्; यतो रुद्राग्निसंभवः स्कन्दो नैव बालान् पीडयति तदनुचरा एव पीडयन्ति । स तु दैवस्वभावत्वान्नमस्कारेणैव तुष्यति (सुउ. ३७.९–२०)

ग्रामजादि–स्त्री., वनस्पति० निघ्पावी (रापरि. ७.९९)

ग्रामाघात–पु., मारीभयजन्यग्रामहननम्
(सुचि. २४.९१)

ग्रामीणा–स्त्री., वनस्पति० पालक्यम् (रापरि. ७.७२)

ग्राम्य–वि., ग्रामवासिपशुः (सुसू. १२.२४) " अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रवस्तोरभ्रमेदपुच्छप्रभृतयो ग्राम्याः (सुसू. ४६.८५) गुणाः–वातहरा दीपनाः कफपित्तलाः (धवर्गेतर १६) बृंहणो रसपाकाभ्यां मधुरो बलवर्धनः (सुसू. ४६.८५)

(ग्राम्या)–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३२) तुलसी (ध. ४.५०)

–**कुक्कुट**–पु., ग्रामे भवः कुक्कुटः; गुणाः–स्निग्धोष्णो, वातहा बृष्यः स्वेदस्वरबलकरो बृंहणो गुरुतरो वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः (सुसू. ४६.६५–६६)

–**कोशातकी**–स्त्री., वनस्पति० धामार्गवः (रा. ७.२८४)

–**धर्म**–पु., मैथुनम्, " मैथुनं कथ्यते सद्भिः सम्बन्धग्राम्यधर्मयोः– " (सुनि. ८.३) (हलायुधे ८३८)

–**मज्जा**–स्त्री., स्नेह० गवोष्ट्रबस्तादीनां मज्जा, तस्याः गुणाः–मधुरा–गुर्वी–उष्णा–वातघ्नी च (सुसू. ४५.१३१)

–**वल्लभा**–स्त्री., वनस्पति० पालक्यम् (रापरि. ७.७२)

–**वास**–पु., ग्रामे वासः, ग्रामवासाद् ग्लानिरप्रभावो वैस्वर्यं वैवर्ण्यमसुखमसुखानुबन्धश्चेति दोषाः (चचि. १ (४).४)

–**शफ**–पु.. अश्वादीनां ग्राम्यपशूनां शफः (सुचि. १.९२)

–**सत्त्व**–पु., गवादिः प्राणी (सुउ. ५०.१९)

–**सत्त्वास्थिजभस्म**–न., गवादीनां ग्राम्यपशूनाम् अस्थिजं भस्म (सुउ. ५०.१९)

–**सुख**–न., संभोगसुखम् (अहसू. ७.६८)

ग्रावन्–पु., पाषाणः, पाषाणरूपः कठिनो लोहधातुः (र. १०.५२)

ग्रास–पु., कवलः, घासः (८.७२–७३)
स्वर्णादिधातूनां पारदेन ग्रसनम् (र. ८.७२–७३)
रत्नदोष० (र. ४.३६)
औषधकाल० यदौषधं प्रतिग्रासमुपयुज्यते (सुउ. ६४.८०)

–**मान**–न., एतावन्मानस्य पारदस्येतावन्मानानां स्वर्णादिभोज्यद्रव्याणां ग्रासीकरणसामर्थ्यम् (र. ८.७१)

–**शल्य**–न., ग्रासः शल्यमिव (सुसू. २७.२१) तत्र चिकित्साग्रासशल्यमम्बुना प्रवेशयेत् स्कन्धे वा मुष्टिनाऽभिहन्यात्। कण्ठस्थं श्लेष्माणमन्नलवं वा प्रधमनोत्काशनावकाशनैर्निर्वमेत् (असंसू. ३७)

ग्रासान्तर–अ., भैषज्यकाल० (असंसू. २३) प्राणे प्रदुष्टे सति ग्रासान्तरमौषधं नाम पूर्वोत्तरयोर्ग्रासयोर्मध्ये दीयते (चचि. ३०.३००)

ग्राह–पु., प्राणि० मकरः (ड. सुसू. ४६.१०९)

ग्राहक–पु., वनस्पति० शितिवारः (रा. ४.२०७)

ग्राहणीया–वि., उपदेष्टव्यार्थाभिधायिनी (वाक्) (चशा. ८.३७)

ग्राहिन्–वि., मलावरोधकम् (र. ३.१२९) दीपनं पाचन कृत्वा यद्द्रवं शोषयति तद्द्रव्यम् (र. ३.१२९)
पु., वनस्पति० कपित्थः (ध. २.१०२)

(ग्राहि) फल–न., वनस्पति० कपित्थः (र. ११.१५५)

–**वर्ग**–पु., षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तः प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थ्यादिपुरीषसंग्रहणीयवर्गः (चसि. ८.२४)

(ग्राहिका)–स्त्री., चषकः (र. ७.२१)

(ग्राहिणी)–स्त्री., वनस्पति० कपित्थः (र. ३.१२९)

(ग्राही)–स्त्री., आविः, प्रसववेदना (काजातिसू.स्त्रीय;)

ग्रीवा–स्त्री., प्रत्यंग० मन्या (चसू. २०.८) शिरोधरा, चतुरङ्गुलोच्छ्राया (सुसू. ३५.१२) विंशत्यङ्गुलपरिणाहा (ड. सुसू. ३५.१२) सा एकैव (सुशा. ५.४)

–**दुर्धरता**–स्त्री., ग्रीवाया मन्याया दुःखेन धारणम् (र. ३३.१४२–१४३)

–**रोग**–पु., ग्रीवाया रोगः (चसि. २.२२)

–**स्तम्भ**–पु., लक्षण० ग्रीवायाः स्तम्भः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

–**हुण्डन**–न., लक्षण० ग्रीवास्तम्भः (चचि. २८.२२)

–**हृदयान्तर**–न., प्रमाणम्, द्वादशाङ्गुलम्, दीर्घायुपुरुषलक्षणम् (सुसू. ३५.१२)

–**ग्रीवावमर्द**–पु., ग्रीवायां पीडा; रिष्टलक्षणभेदः (असंशा. ११)

ग्रीष्म–पु., ऋतु० षडर्तुष्वेकः (चसू. ६.४) ग्रसते रसान् आदानकालावरुद्धत्वेन इति ग्रीष्मः, उष्णलक्षणो ऋतुः (चवि. ८.१२७) ज्येष्ठाषाढौ वैशाखज्येष्ठौ वा (सुसू. ६.७–१०)

–**चर्या**–स्त्री., ग्रीष्मे आचरणविधिः, धर्मकाले सरांसि वापीर्वनानि सकमलोत्पलाः स्रजः सालवृन्तानि-

लाहारान् शीतगृहाणि सुलघूनि च वासांसि निषेवेत । शर्कराखण्डादिदिग्धानि सुगन्धीनि पानकानि मन्थांश्च सशर्करान् सेवेत । शीतं सघृतं मधुरद्रवं भोजनं हितम् । रात्रौ स्नुतेन शर्करामधुरेण च पयसा भोजनं हितकरम् । हर्म्यसंस्थिते नूतनपुष्पास्तृते शयने चन्दनार्द्राङ्गः सुखैरनिलैः स्पृश्यमानः शयीत (सुउ. ६४.४१–४६)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० करुणी (रापरि. १०.२७)

–सुन्दरा–वनस्पति० 'गोमाशाक' कुसरीति नाम्ना प्रसिद्धः पुष्पक्षुपः (१६.९९–१०२)

ग्रीष्मकर्कटीत्येके (११.५२–५७)

ग्रीष्मोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० वनमल्लिका (रा. १०.२३६)

ग्रैष्म–वि., ग्रीष्मसम्बन्धी (अहसू. १३.१४)

ग्रैष्मिक–वि., ग्रीष्मभवो ग्रीष्मसम्बन्धी वा (चसू. १४.१५)

ग्रैष्मी–स्त्री., वनस्पति० वनमल्लिका (ध. ५.१४०)

ग्लपन–न., अवृष्यत्वम् (सुसू. ४१.४ (४) वि., ग्लानिकरम्, ग्लपयति ग्लानिमापादयति इति ग्लपनम् (अहसू. ६.३४)

ग्लपित–वि., पीडितम् (अहसू. ५.३८)

ग्लानि–स्त्री., रोग० तत्र लक्षणानि–वक्त्रमधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनभ्रमोऽन्नाभिलषणाभावश्च (सुशा. ४.५४)

सादः, म्लानत्वम् (सुउ. ३९.६४)

शक्त्यभावः, कर्मस्वक्षमत्वम्, मनसस्तापलक्षणम् (चचि. ३.३६)

मांसापचयो हर्षक्षयो वा (चवि. १.१८) (चक्र.)

क्लमः (सुशा. ३.१३) रसक्षीणत्वजन्यं लक्षणम् (अहसू. ११.१७ अहसू. ९.९)

ग्लास्नु–वि., ग्लायति धात्वपचयं प्राप्नोति इति ग्लास्नुः । ग्लानियुक्तः (चवि. १.१८)

घ

घटिका–स्त्री., यन्त्र० (असंसू. ३४)

कालपरिमाण० (र. २.७४)

घटितकर्णिक–वि., संपादिता कर्णिका यस्मिंस्तत् (अहसू. १९.१४)

घटी–स्त्री., क्षुद्रघटः (असंसू. ३४)

वनस्पति० अलाबूः (अहसू. २५.२८)

–यन्त्राख्यग्रहणी–स्त्री., रोग० ग्रहणीरोगभेदः यस्मिन् स्वपतो रोगिणः पार्श्वशूलो गलज्जलघटीवत् ध्वनिश्च । असाध्योऽयं रोगः (मा.)

घट्टन–न., परिव० चालनम् (सुचि. ३.२०)

संघर्षः (असंसू. ३७)

घण्टा–स्त्री., वनस्पति० अतिबला (रा. ४.४३०)

नागबला (रा. ४.४२८)

–बीज–न., वनस्पति० दन्तीभेदः (रा, ६.३४४)

घण्टाख्य–पु., वनस्पति० (रा. ८.२३१)

घण्टाल–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३१)

(घण्टाली)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९२)

घन–वि., स्रावरहितम् (अहसू. २७.४१)

पिण्डीभूतम् (सुउ. २४.२०)

वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०)

उशीरम् (चसि. ३.१४)

माषपर्णी (र. २.३०–३१)

गुडूची (र. २.३०–३१)

खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

वङ्गम् (ध. ६.१३)

अभ्रकम् (र. २.४)

आहारद्रव्य० दधि (चचि. १५.२२९)

निरन्तरम्, वारंवारम् (सुउ. २०.१५ ड.)

(घना)–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७२)

गुडूची (र. २.३०)

रुद्रजटा (रापरि. ३.२४)

–कफ–पु., सान्द्रकफः (चचि. १८.८५)

–घोष–पु., गम्भीरध्वनिः, गर्जना (असंशा. ८)

–च्छद–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८२)

–द्रुम–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११–१९)

–धूप–पु., बहलः धूपः (चचि. ३.२५९)

–नाद–पु., वनस्पति० मेघनादः (र. २५.१०५)

तण्डुलीयम् (र. २५.१०५)

–फल–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.२०) द्र० 'घनद्रुम'

–मूल–पु., वनस्पति० मोरटः (रा. ३.१३)

–रव–पु., मेघनादः (र. २०.७५)

तण्डुलीयम् (र. २०.७५)

–रस–पु., वनस्पति० वालकम् (र. २०.६८–७४)

मूर्वा (र, २०.६८–७४)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० अमृतस्रवा (रापरि. ३.४५)

–सार–पु., सुगन्धिद्रव्य० कर्पूरः (र. १८.२११)
–सारक–पु., सुगन्धिद्रव्य० कर्पूरः (रा. १२.५६)
–स्पर्शत्व–न., निबिडस्पर्शता, हस्तादिना स्पृष्टे सति पाषाणतुल्यः स्पर्शः (अहसू. २९.९)
–स्वन–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (ध. ४.११६)
घनात्यय–पु., ऋतु० शरदृतुः (चसू. ६.४३)
हेमन्तः (चशा. २.४५)
घनान्त–पु., शरदृतुः (अहसू. ३.५६)
घनाश्मस्वेद–पु., स्वेदचिकित्साविशेषः, तद्विधिः–पुरुषायाममात्रमधिकं वा घनं समं च शिलातलं भूप्रदेशं वा वातहरदारुदीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वा अग्निमपोह्योष्णोदकाम्लादिभिरभ्युक्ष्य यथोक्तप्रच्छदे संस्तरवत्स्वेदयेदिति (असंसू. २६)
–घनोदय–पु., मेघागमनकालः (असंसू. ४.४६)
घर्म–पु., घरति अङ्गाज्जलमनेनेति घर्मः, आतपः (चचि. ७.११८)
स्वेदः (र. १२.१७–१९)
ऋतु० ग्रीष्मः (अहसू. १६.१३)
–मास–पु., कालविभाग० अत्र पश्चिम इति विशेषणमनुसन्धेयम्; तेन पश्चिमो घर्ममासो ज्येष्ठ इति चक्रः साधुः । ज्येष्ठमासः (चवि., ३.३)
घर्मांशु–पु., सूर्यः (सुउ. १७.६४)
घर्मान्त–पु., वर्षाकालः (सुसू. २१.२०)
घर्माम्बु–न., उष्णजलम् (चचि. ३.१९४)
प्रस्वेदः (सुउ. १७.५५)
घर्मूटी–वि., धान्य० (सुसू. ४६.२१ ङ)
घर्ष–पु.,घर्षणम् (अहसू. २३.१)
परस्परसंश्लेषः (अहसू. २३.६)
घर्षणी मुसली घृष्यते घर्षणविषयीक्रियतेऽनेनेति घर्षः (र. ९.८४)
घर्षण–न., मर्दनम् (असंसू. ३)
(घर्षणी)–स्त्री., द्वादशाङ्गुलोत्सेधा खल्वमध्ये मर्दनार्थमुपयुज्यमाना दण्डाकारा शिला, मुसली वा (र. ९.८०)
घर्षिणी–स्त्री., वनस्पति० कांचनक्षीरी (ध. १.२४०)
घस्मर–वि., बहुभक्षकः (चसू. १३.५०)
घसति भक्षयति विशेषेणेति
घस्र–पु., दिवसः घसति भक्षयति अन्धकारमिति घस्रः
(घस्री)–स्त्री., घर्षणी (र. ९८.४)
घाटा–स्त्री., शारीरज अन्तःकण्ठस्थमस्थि, अवटुः (चसू. १७.१९)
ग्रीवायाः पश्चाद्भागः (चसि. ९.८४)
शङ्खस्योपरिभागः (असंउ. २७)
घाटाल–वि., उन्नतपर्यन्तः, यस्य घाटा नामोर्ध्वभागो महानस्ति सः (सुनि. ९.१०.११)
घुण–पु., कृमि० (र. ३०.११५)
–दन्त–पु., विवरयुक्तो दन्तः (कासू. २०.८)
–प्रिया–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (अहसू. १५.३३)
घुणाक्षर–न., काष्ठकीटदशनजनिताक्षरम्, घुणाख्येन कीटकेन काष्ठक्षरणपूर्वकं कृतं रन्ध्रमक्षरविशेषसमत्वादतर्कितोपनतत्वं काकतालीयत्वं वा सूचयति (र. ३०.११५.१६)
घुर्घुरक–पु., मार्जारशब्दानुकारी ध्वनिः (सुक. ४.३७)
स कफावरुद्धेन श्वासेन भवति (चइ. १०.१८)
घुर्घुराशब्दः–पु., घुर्घुरकः, घुर्घुराकारशब्देन वेदनया युक्तम् (सुसू. २८.१६.१७)
(घुर्घुरिका)–स्त्री., लक्षण० (चचि. १२.७५)
घुसृण–न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)
घूकावास–पु., वनस्पति० शाखोटः (रानि. ९.३०)
घूर्णन–न., भ्रमणम् (असंउ. ४३)
लक्षण० चक्रवद् भ्रमणं, निद्रायां लुण्ठनम्
घृत–न., स्नेह० (चसू. २७.२३१–३२) (ध. ६.१४४) महास्नेहेष्वेकम् (चसू. १.८६) उत्पत्तिः–गोमहिष्यादीनां दुग्धात् तज्जदध्नो वा स्नेहसाररूपेण घृतं पृथग्भवति नवनीतस्याग्निसंस्कारेण घृतं जन्यते (अहसू. ५.३७) मधुरस्कन्धे श्रेष्ठम् (असंसू. १८) गुणाः–मधुरं सौम्यं मृदुशीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च (सुसू. ४५.९६) पित्तेऽभ्यधिकं घृतं लिह्याद्वातेऽधिकं घृतं पिबेत् (असंचि. ५) शैत्यात्पित्तं जयेत् स्नेहाद्वातं जयेत् योगसंस्कारतः कफं जयेत् (असंचि. २) वातपित्तप्रशमनानामग्र्यम् (चसू. २५.४०) सर्पिः खलु पित्तं जयति सततमभ्यस्यमानं माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च, तस्मात्सर्पिः पित्तजित् (चवि. १.१४) घृतपानं पित्तशूलशमनम् (सुउ.

४२.१०६) धीस्मृतिमेधाग्निकांक्षिणं घृतं शस्यते (असंसू. २५) श्रेष्ठं विषहरं (असंउ. ४०) घृतं क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्यमपि विशेषतो दीपनम् (असंसू. १७) भोजनादावन्ते च श्रुतिनिग्रहजविकारशमनार्थं घृतसेवनं प्रशस्तम् (चसू. ७.१७) इदं संस्कारात् कर्मसहस्रकृत् (अहसू. ५.३९) हितत्वेनाभ्यस्यमानमेकं द्रव्यम्, स्नेहनार्थं वर्षान्ते शरदि च घृतं युज्यते (असंसू. २५) घृतात्तैलं गुरु तैलाद्वसा वसायाश्च मज्जा गुरुः (असंसू. २५) मज्जावसातैलेभ्यो घृतं संस्कारस्यानुवर्तनात् माधुर्यादविदाहाच्च श्रेष्ठम् (असंसू. २५) पित्तेऽपि केवलं सर्पिर्न पेयं सामे तु विशेषतो नोपयोक्तव्यम् उपयुक्तं चेत् सर्वदेहोपघातं कृत्वा संज्ञामपि मारयेत् (असंसू. २५)

–पर्णी–पु., वनस्पति० करञ्जः (ध. ५.१०७)

–पर्णीक–पु., वनस्पति० करञ्जः (ध. ५.१०७ रा. ९.१७८)

–पान–न., सर्पिषः सेवनम् (सुउ. २१.३)

–पानार्ह–पु., परिव० घृतपानार्थं योग्यः (सुचि. ३१.१५)

–पूर–पु., आहारद्रव्य० घृतापूपः (सुउ. ४२.१०१–१०२ ड.) (सुउ. २६.३८) गुणाः–प्राणकरो हृद्यः कफावहो वातपित्तहरो वृष्यो गुरू रक्तमांसकृच्च (सुसू. ४६.३९४)

–मण्ड–पु., स्नानघृतोपरितनः स्वच्छो भागः (सुचि. ३४.१३) गुणाः–अयं घृततुल्यगुणोऽपि रौक्ष्यतैक्ष्ण्यतनुत्ववान् (असंसू. ६.७८) घृतसंतानिका (चचि. २१.९४) घृतस्योपरि स्नानभागः (चक्र चचि. १८.१५५)

–मण्डलिका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (ध. ४.१११)

–सात्म्य–वि., घृतोपशयः (काखिल. ५.४८)

–स्निग्धिलक्षण–न., परिव० सम्यक्सिद्धं घृतं, तस्य लक्षणम्, शब्दफेनयोरुपशमो गन्धवर्णरसादिसमृद्धिश्च (सुचि. ३१.१२.१३)

–हेतु–पु., नवनीतम् (ध. ६.२२९)

घृणाफल–पु., वनस्पति० कलिङ्गः (रा. ७.२७१)

घृताभ्यक्त–वि., घृतावचारितम् (सुचि. ६.४)

घृताची–स्त्री., वनस्पति० एला (रा. ६.७१)

घोटी–स्त्री., वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)

घोणा–स्त्री., घोणतो भ्रमतः प्राणापानवायू अनया इति घोणा, यद्वा घोणाति गृह्णाति वस्तुगन्धमिति घोणा । शारीर० नासा (सुचि. १८.२६)

घोण्टा–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुका मधुरोष्णा वातघ्नी व्रणकण्डूतिकुष्ठासृग्दोषश्वयथुनाशिनी (रापरि. ८.२२)

हिं.—झरबेर.

म.—चन्याबोर.

गु.—गांगोर.

बं.—सेयाकुळ.

पूरा० (अरु. अहसू. १५.१७)

वनबदरीविशेषः (र. २५.१९)

–फल–न., वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९)

घोर–वि., दारुणम् (सुनि ९.४)

(घोरा)–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (रा. ३.२४३)

–पुष्य–न., खनिज० कांस्यम् (रा. १३.२४)

–फडा–स्त्री., प्राणि० गोधा (धपरि. ६.३९)

घोल–न., आहारद्रव्य० दण्डाहतं सस्नेहमजलं दधि (सुसू. ४५.८५)

(घोला)–स्त्री. वनस्पति० घोली (रापरि. ७.८७)

घोलिका–स्त्री.,वनस्पति० घोली (रापरि. ७.८७)

(घोली)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–अम्ला लवणा रुच्या वातकफापहा च (रापरि. ७.८७)

हिं.—नोंनिया छुणियाशाक.

म.—घोळ.

गु.—लुणी झिणी.

बं.—लुनी.

त.—परप्पुक्कीरै.

फा.—खुरफा.

घोष–पु., न., आहतं सदितरापेक्षया अधिकतरं घोषति शब्दं करोति इति घोषं कांस्यमिति साधीयो निर्वचनम् । खनिज० कांस्यम् ध. झ. ढ. ध. भाः इति वर्णाः (चशा. ८.५०) (च. ६.२३)

(घोषा)–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पी (ध. २.१) वनस्पति० ककंटशृङ्गी (रा. ६.११०) कोशातकी (र. १०.७३–७६)

–पुष्प–न., खनिज० कांस्यम् (ध. ६.२३)

घोषाकृष्ट–न., चतुर्थांशेन हरितालेन युक्तं कांस्यं वङ्गनालेन ताडयित्वा वङ्गाद्विमुच्य ताम्रावशिष्टं विधीयते, तदेयं संज्ञा (र. ८.३८)

घ्राण–न., शारीर० पञ्चबुद्धीन्द्रियेष्वेकम् (चशा. ७.७) घ्राणेन्द्रियं तच्च पार्थिवम् (चशा. ७.१६) जिघ्रतीत्यनेन घ्राणम् (चसू. ८.८) तस्य पृथिवी द्रव्यं, नासिकायामधिष्ठानं, गन्धो विषयः, घ्राणबुद्धिरिन्द्रियबुद्धिः (चशा. ७.७) बहिर्मुखं स्रोतः देहे द्वे नासाद्वारे बहिर्मुखे स्रोतसी (सुशा. ५.१०) कफस्थानेष्वेकम् (अहसू. १२.३)

–क्लेद–पु., नासिकास्थद्रवमलः (असंसू. २९)

–गन्ध–पु., लक्षण० नासास्थपूतिगन्धः (चसू. ५.२९)

–नाश–पु., रोग० गन्धग्राहकघ्राणेन्द्रियस्य नाशः (चसू. २.६) अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.२१)

–प–वि., घ्राणेन धूमं पिबति (चसू. ५.४७)

–पाक–पु., रोग० नासारोगः (चचि. २६.११५) संप्राप्तिः–पित्तं स्वहेतुना नासापुटे कुपितं दाहशूलाभ्यां युक्तं तत्रैव त्वङ्मांसं पचेत् स घ्राणपाकः (असंउ. २३)

–मार्ग–पु., नासामार्गः (असंशा. ७.२३)

–स्राव–पु.. लक्षण० नासास्रवः, अतिस्नेहपानजलक्षणेष्वेकम् (अहसू. १६.३१)

घ्राणार्बुदयन्त्र–न., यन्त्र० तन्नाड्याकारं द्व्यङ्गुलायतमेकच्छिद्रं प्रदेशिनीपरिणाहम्, नासार्बुदे दर्शनार्थं चिकित्सार्थं चोपयुज्यते (असंसू. ३४)

घ्राणार्शोयन्त्र–न., यन्त्र०, घ्राणार्बुदयन्त्रवत् इदं यन्त्रमवगन्तव्यम् (असंउ. ३४)

घ्रातृ–वि., घ्राणेन्द्रियस्य गन्धबोधहेतुः, गन्धज्ञाता (सुशा. ३.४)

घ्रेय–वि., घ्राणक्रियार्हम् (चक. १.२८)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

च

चकोर–पु., पक्षि० (चसू. २७.४७)
अयं रक्ताक्षः, विष्किरेष्वेकः (सुसू. ४६.५९) विषसंसृष्टमन्नं दृष्ट्वा चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते (सुक. १.३०,३१) तस्याण्डं क्षीणरेतःकासहृद्रोगक्षतेषु हितम् । तन्मधुरमविदाहि सद्यो बलकरं च (चसू. २७.८५) अस्य मांसगुणाश्चटकमांसवत् (अहसू. ६.४४)

चकोराक्षि–न., चकोरपक्षिणो नेत्रम्, विषं दृष्ट्वा तद्विरज्यते (चचि. २३.११०)

चक्र–न., पानीयोद्धरणार्थं नियुक्तं वाह्यमानं चक्राकारं यन्त्रम् (चचि. १५.२१)
तैलनिष्पादनार्थं तिलनिष्पीडनयन्त्रम् (सुसू. ४४.४७)
चक्र न., (सुसू. ४४.४७) (चचि. १५.२१)

–(चक्र)–गज–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)

–चापसमुद्भवा-स्त्री., वनस्पति० भूतुम्बी (रा. ७.२४१)

–तैल–न., चक्रपीडितं तैलम्, चक्रे ह्यभृष्टा एव तिलादयः पीड्यन्ते चेत्, ते गुणवत्तरा भवन्ति (सुसू. ४४.४७–४८)
अन्ये पुनरणुतैलकल्पेन गृहीतमपक्वं तैलं चक्रतैलमाहुः (सुचि. ३.१२)

–दन्तीबीज–न., जेपालः (रा. ६.३४४)

–नख–पु., व्याघ्रनखम् (रा. १२.११०)

–नाभि–स्त्री., चक्रस्य मध्यभागः (सुशा. ७.५)

–नायक–पु., व्याघ्रनखम् (रा. १२.११०)

–मर्द–पु., वनस्पति०, गुणाः—कटुरुष्णः कान्तिसौकुमार्यकरो मेदोघ्नो वातकफनाशनो दद्रुकण्डूतिव्रणकुष्ठपामाघ्नश्च (ध.४.४)
हिं.—चकवड, पमार.
म.—टाकळा.
गु.—कुवाडियो.
बं.—धनेवार, चकुण्डा.
त.—तकरै.
फा.—संजिमवोया.

–मर्दिनी–स्त्री., वनस्पति० अलक्तकः (रापरि. ६.१२)

–मुद्गक–पु., ऋषिमुद्गकः (चसू. २१.२५)

–यन्त्र–न., यन्त्र० गर्ताकारयन्त्रम् (र. २५.५७, ५८)

–योग–पु., बन्ध०; वर्तुलकुशादानपूर्वकं चक्रवद्बन्धनम्; भग्नं पुरुषं भूमावुत्तानं शाययेत् । यस्य पादस्योर्वस्थि निर्गतं स्यात्तस्यैव पार्ष्णिभागो वलवता वैद्येन स्वहस्तोपरि ग्रहीतव्यः । ततश्च चक्रवद्भ्रामतो दक्षिणं परिभ्रमणीयः । एवं कृते विमुक्तः ऊरुः पुनः स्वस्थानं प्रतिपद्यते (सुचि. ३.२७)

–लक्षणा–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.२)

–लताम्र–पु.,आम्रभेदः राजाम्रः (रा. ११.११)

–वर्तिन्–पु., वनस्पति० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२)

–(वर्तिनी)–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (ध. ४.८८)
जटामांसी (रा. १२.९१)

–वाक–पु., पक्षि० जलचरोऽयं (चसू., २७.४४) द्वन्द्वचरो निशावियोगी, प्लवजातीयः (सुसू. ४६.१०५, १०६) मांसगुणाः–स्निग्धं गुरु शुक्रलं बल्यं रुच्यं वातघ्नं च (ध. ६.४५४)
हिं.—चकवा.
बं.—रामचका.
म.—चक्रवाक.

–वेधक–न., आसुत० सूक्तम् (रा. १५.२९२)

चक्रक–पु., वनस्पति० करीरः (ध. ५.९९)

(चक्रका)–स्त्री., सोम० सोमसमवीर्यमहौषधिः, 'श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्यासमां क्षुपाम् । चक्रकामोषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम् ॥' (सुचि. ३०.१८–१९) चक्रकायाः पयः सकृदेवोपयोक्तव्यम् (सुचि. ३०.५)

(चक्रा)–स्त्री., भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (ध. १८५)

चक्राङ्गा–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.६१)

चक्राङ्गी–स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध., १.३८)
सुदर्शनलता अम्लवास्तुकम् (२१.१०४–११०)
चक्राह्व–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.४)
चक्रवाकः (सुसू. ६.३०.३१) 'द्र० चक्रवाक'.
(चक्रिका)–स्त्री., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.४)
चक्राकृतिर्वैटिकादिः (र. ५.१२६)
–बन्ध–पु., भैषज्य० गन्धकमनःशिलाहरितालयुक्तः (र. २२.२४–२९) शूलगुल्मभगन्दरग्रहण्युदरादिहरः
चक्रिन्–पु., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)
(चक्री)–स्त्री., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.५)
चक्रिका (र. २.१९)
व्याघ्रनखम् (रा. १२.११०)
चक्षुस्–न., शारीर० चष्टे आचष्टे रूपमिति चक्षुः, शारीर० पञ्चबुद्धीन्द्रियेष्वेकम्, तच्च तैजसम्, (चशा. ७.७) तस्य तेजो द्रव्यं शिरःसंश्रयस्थानं नेत्रेऽधिष्ठानं रूपं विषयः, रूपबुद्धिरिन्द्रियबुद्धिः (चशा. ७.७) पित्तस्थानेष्वेकम् (अहसू. १२.३) तच्चोभयनयनगोलकाधिष्ठितमेकमेव (चसू. ८.८)
–(चक्षुः)–काम–वि., दृष्टिकामः (चसू. १३.४१)
–प्रसादन–न., दृष्टिप्रसादनम् (सुचि. २४.७०)
–(चक्षुर्) ग्रहण–न., लक्षण० दृष्टयवरोधः (सुक. ४.३९)
–बुद्धि–स्त्री., चाक्षुष्यं चक्षुषा निर्वृत्तं ज्ञानम् (चसू. ८.१२)
चक्षुरपसर्पण–न., लक्षण० चक्षुर्व्यपगमः (चनि. ७.६)
चक्षुष्य–वि., चक्षुष्यम् चक्षुषे हितम् (चसू. २७.३००)
खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१५)
प्रपौण्डरीकम् वनस्पति० (ध. ३.९२)
शिग्रुभेदः नीलशिग्रुः (रा. ७.६२) द्र० 'शिग्रु'
(चक्षुष्या)–स्त्री., खनिज० अञ्जनम् (ध. ३.१५६)
गुणाः–कषाया कटुः शीता चक्षुर्हिता विषनेत्रस्रावविस्फोटकण्डूव्रणदोषघ्नी (ध. ३.१५६)
वनस्पति० मेषशृङ्गी (रा. ९.११३)
कुलत्था (रापरि. ५.१८)
वनकुलत्थिका (चचि. २६.२५०) अस्या एकस्या अपि स्तन्यसंयुक्तायाः कल्पो नेत्ररोगे प्रशस्तः (काकल्प० षट्कल्पाध्यायः)
चक्षूरोधन–न., नेत्रयोः क्रियाप्रतिबन्धः (अहसू. ७.२३)
चङ्क्रमण–न., परिभ्रमणम् (सुचि. ३९.३४) कुटिलगत्या परिभ्रमणम् (सुचि. २४.८०) गुणाः–अग्निबलायुर्वर्धनं मारुतस्यानुलोमनं खुडस्तम्भभ्रमहननं च (असंसू. १२) तदेवोपानद्रहितमनारोग्यं मनायुष्यमचक्षुष्यम् (सुचि. २४.७३)
चञ्चु–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा कषाया मलशोषणी तीक्ष्णा गुल्मोदरविबन्धार्शोग्रहणीरोगघ्नी च (रापरि. ४.१८)
हिं.—चंचु, चेबुना, चेबुका.
म.—**चंचू**.
गु.—छुछ.
बं.—चेचको.
शाक० प्रवाहिकायां बहुस्नेहेन युक्तोपयोज्या (चचि. १९.३२)
एरण्डभेदः रक्तैरण्डः (रा. ८.४४६)
–पत्र–पु., वनस्पति० चञ्चुशाकः (रापरि. ४.१८)
–बीजक–न., चञ्चुशाकबीजम् (र. २०.२–४)
रक्तैरण्डबीजम् (र २०.२–४)
–मालिका–स्त्री., दंशस्योपरि पिडकासदृशैराचितानि क्षतानि पदानि वा (ड सुक. ४.१५.१६) सर्पदष्टस्थानस्य पार्श्वे वटप्ररोहाग्रतुल्यो विषोत्पन्नोऽङ्कुरः (गयी) (सुक. ४.१५.१६)
चञ्चुक–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः (ध. १.२९६)
चञ्चुर–पु., वनस्पति० चञ्चुः (रापरि. १.१८)
चटक–पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५२) मांसगुणाः—मधुरं स्निग्धं बलशुक्रवर्धनं मारुतनाशनं संनिपातप्रशमनं च (चसू. २७.७५) शीतं लघु कफघ्नम् (ध. ६.५०) तद्दण्डं क्षीणरेतःकासहृद्रोगक्षतेषु हितं मधुरमविदाहि बलकरं च (चसू. २७.८६) रक्तष्ठीवी चटकाण्डरसं पिबेत् (चचि. ११.२५–२६) तद्वसा तु अहिततमा (चसू. २५.३९)
(चटकी)–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (ध. ४.२९)
चटचटायम–न., वातिकव्रणे वेदनाविशेषः (सुचि. १.७)
चटित–न., वेदना (चनि. १.२१)
चण–पु., वनस्पति० चणकः (रा. १६.१५६)
–द्रुम–पु.. वनस्पति० क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.१३१)
-पत्री–स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रापरि० ५.१५)
चणक–पु.,–धान्य० (चसू. २७.२८) गुणाः–मधुरः शीतो रूक्षो वातलः पुंस्त्वघ्नो दीप्तिकरो वर्ण्यो

बल्यो रुच्य आध्मानकरः कफपित्तघ्नो रक्तविकार-मेहनाशनश्च (ध. ६.१०१)
हिं.—चना, चने, छोला.
म.—हरभरा.
गु.—चणा.
बं.—छोलारगाछकट.
फा.—नखूद.

(चणका)-स्त्री., वनस्पति० मसूरिका (ध. ६.९५)

(चणिका)-स्त्री., वनस्पति० गुणाः—अतिमधुरा वृष्या बल्या बीजतृणसहिता च (रापरि. ८.६५)

-क्षारोदक-न., चणकपञ्चाङ्गात् क्षारपातविधिना पातितस्य क्षारस्य जलेन मिश्रणम् (र. १६.१४०-१४५)

-प्रयोग-पु., संस्कार० रात्रौ कान्तलोहपात्रे जले स्थापितान् चणकान् सुक्लिन्नान् मुष्टिमितान् भक्षयेत्। मर्यादा—षण्मासाः। फलं—नैकव्याधि-विनाशः कुष्ठप्रमेहपाण्डुयक्ष्मकामलानिर्मूलनञ्च। पथ्यं तक्रम् (र. २६.३९)

चणकाम्ल-न., चणकशाकोद्भवो द्रवः (र. १०.८०) अम्लम्लं दन्तहर्षणं लवणानुरसं रुच्यं शूलाजीर्ण-विबन्धनुत् (वैशसिं.)

चण्ड-वि., शीघ्रकोपः, आसुरसत्त्वलक्षणम् (सुशा. ४.८८)
न., आसुत० सूक्तम् (ध. ६.२४६)

(चण्डा)-स्त्री., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)
कपिकच्छूः (ध. १.१५१)
आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)
लिङ्गिनी (रापरि. ३.१७)
द्रवन्ती (ध. १.२२९)
दन्ती (चक. १२.३)
चोरहुली, श्वासहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)
अजमोदाकारं सुगन्धिद्रव्यम् (सुसू. ४२.११)
दूर्वाभेदः (रा. ८.२२९) द्र० 'दूर्वा'
कोपना (अरु. अहसू, १५.४३)

-संग्रहगदैककपाट-पु., रसयोग० ज्वरगुल्मार्शो-ऽतिसारनाशनः (र. १६.५१-६१)

-हासा-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.२)

चण्डक-पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.२)

(चण्डिका)-स्त्री., रेवतीग्रह० त्रयोदशे दिनेऽपत्यं विनाशयति (कारेवतीक. ४६)

चण्डातक-पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.२)

चण्डाल-पु., चाण्डालः (असंशा. १२.१८)

(चण्डाली)-स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१७)

-कन्द-पु., वनस्पति० गुणाः—मधुरो रसायनः कफपित्तघ्नः कफपित्तास्रदोषविषभूतादि दोषघ्नः (रापरि. ७.४८)

चतुर्-वि., संख्याविशेषः (सुशा. १०.२२)

-गुण-न., चतुःप्रमाणम्; चतुरावृत्तिकम् (चक. १२.१०१)

-जात-न., त्वगेलापत्रकेशरम् (सुशा. १०.२२) त्वक्पत्रैलं त्रिजातकं, तदेव सकेसरं चतुर्जातम् (अहसू. ६.१६०)

-भद्र-पु., बस्तिकल्पोऽयं (काखिल. ८.२२-२३)

-विध-वि., चतुःप्रकारकम् (सुउ. २२.९)

-विंशतिक-पु., पुरुष० चतुर्विंशतितत्त्वयुक्तः पुरुषः प्रकृतिर्महानहंकारः एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पंचभूतानि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि। अत्र प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतौ एव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति तेन चतुर्विंशतिकः पुरुष इति अविरुद्धम् (चक्रः चशा. १.१७)

-हस्त-वि., हस्तचतुष्टयसम्मितम् (सुसू. २.४)

चतुरङ्गुल-पु., वनस्पति० आरग्वधः (ध. १.२१९)

चतुरम्ल-न., अम्लचतुष्टयम्, चतुरम्लं हृद्यवर्गे प्रथमोक्तं वृक्षाम्लाम्लवेतसदाडिमबदररूपम् (चचि. १५.१११)

चतुरस्र-वि., चतुष्कोणम् (सुसू. २२.५)

चतुःश्रेयस्-वि., चत्वारि देहाग्निबलचेतःसम्बन्धीनि श्रेयांस्यस्येति चतुःश्रेयः (चिकित्सितम्) (चनि. ८.३७)

(चतुः-) सुधारस पु., भैषज्य० ताम्रसुवर्णरौप्य-युक्तः जीर्णशूलगुल्महरः (र. २१.१०४-११५)

-स्नेह-न., घृततैलवसामज्जानश्चत्वारः स्नेहाः (सुसू. ४४.४७-४९)

(चतुष्-)-पत्री-स्त्री., वनस्पति० पाषाणभेदप्रकारः (रा. ५.२१५)

-पथ-पु., मार्गचतुष्टयसंयोगः (सुचि. २४.८९)

-पद-पु., वनस्पति० भेण्डा (रापरि. ४.२५)

-पददंश-पु., रोग० लक्षणम्-मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनं रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमश्च (चचि. २३.२२९.२३०)

-पदाभिगमन-न., पश्वादिभिर्गमनं मैथुनमिति यावत् (चचि. ३०.१६६-१६८)
-पदीगमन-न., अजादिभिश्चतुरंघ्रिभिः सह मैथुनक्रिया (सुनि. १२.७)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)
-पादकीट-पु., चतुष्पादकीटप्रतिसूर्यकादिः (ड. सुक. ८.२८)
-पादक्षत-न., हस्त्यश्वप्रभृतिपशुभिः कृतं क्षतं, तेन रागज्वरस्रावरुजो भवन्ति, शूयते पच्यते च (असंउ. ४६)
-पुण्ड्र-पु., वनस्पति० भेण्डा (रापरि. ४.२५)
-प्रयोग-पु., पाननस्याभ्यङ्गानुवासनानि (असंउ. ३२)
-फला-स्त्री., वनस्पति० नागबला (रा.४.४२७)
चतुर्थ-वि., तुरीयः (सुचि. ९.९)
-कर्मगुणप्राप्त-वि., त्वग्धातोश्चतुर्थं मेदः तस्य कर्माणि शोधनादीनि, तेषां तु गुणाः फलं, तेन मेदोगतं संशोधनादिगुणविशिष्टमित्यर्थः। अथवा चतुर्थे मेदसि स्थितं चतुर्थम्, तस्य कर्माणि गुणाश्च दौर्गन्ध्योपदेहपूयादयस्तैः प्राप्तं युक्तं कुष्ठादि (सुचि. ९.६)
-भक्त-वि., एकाहमुपोष्य द्वितीयेऽहनि सायंभोजनम् उपसेवमानः (सुचि. ९.१९)
-भक्तान्तरित-वि., पक्षादूर्ध्वं प्रथमेऽहनि सायंप्रातर्भोजनद्वयं निषेव्य द्वितीयदिने प्रातर्भुक्तवतो यदा चतुर्थं भुक्तं भोजनमन्तरितं वर्जितं तदा स एवमुच्यते। चतुर्थं भोजनं वर्जितं यस्य सः (सुचि. १३.२४-२५)
चतुर्थक-पु., रोग० चतुर्थे दिने भवति इति चतुर्थकः विषमज्वरभेदः (चशा. १.११३ चचि. ३.७२ सुउ. ३९.७०-७१) अस्थिमज्जगो दोषश्चतुर्थकज्वरं कुरुते। चतुर्थके चतुर्थदिनभावित्वमस्ति। चतुर्थको द्विविधं प्रभावं दर्शयति। तत्र श्लैष्मिकः पूर्वं जङ्घाभ्यामनिलसंभवश्च पूर्वं शिरस्तः संभवति। तदनन्तरं निखिलदेहं व्याप्नोति। चतुर्थकविपर्ययस्तु मध्ये दिनद्वयं भूत्वा आदावन्ते च मुञ्चति
(चतुर्थिका)-स्त्री., मान० पलम् (चक. १२.९२) (असंक. ८)
-विपर्यय-पु., रोग० चतुर्थकज्वरः; एष दिनद्वयं मध्ये भूत्वा आदौ अन्ते च मुञ्चति (चचि. ३.७३) (सुउ. ३९.५५)
चत्वर-न., चतुष्पथः; चत्यते स्त्रीक्रियते बल्यादि अस्मिन् इति चत्वरम् (सुउ. ६०.३३) अङ्गणम् (सुउ. ६०.३३)
चन्दन-पु., न., वनस्पति० सुगन्धिद्रव्यम्(चसू.४.१०) गुणाः-स्वादुस्तिक्तः कषायः कटुः शीतो गुरू रूक्षो रक्तप्रसादनो वृष्यो दाहहरो रक्तपित्तविषतृड्दाहकृमिघ्नश्च (ध. ३.१) तत्सप्तविधं श्रीखण्डशबरपीतपतङ्गरक्तचन्दनबर्बरहरिगन्धभेदेन (भाप्र.) दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) महाकषायवर्गे कण्डूघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) वर्ण्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) अङ्गमर्दप्रशमनगणे (चसू. ४.१७) धूम्रपाने उपयुज्यते (चसू. ५.२१) अञ्जनार्थमुपयुक्तम् (सुउ. १७.२७) रक्तातीसारे उपयुक्तम् (चचि. १९.८६) शुक्रमेहे समुपयोज्यम् (सुचि. ११.९) कुणपपूयार्तवे समुपयुज्यते (असंशा. १.३८)
हिं.—संदल.
म.—**चंदन.**
बं.—चन्दन.
गु.—सुखड.
फा.—सन्दलु, सफेद.
वनस्पति० मधुकसारः (सुउ. २६.३४)
(चन्दना)-स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध.१.१६२)
-गोपा-स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६२)
-पुष्प-न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध. ३.४१)
-पुष्पक-न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध. ३.४१)
-रूषित-वि., चन्दनलिप्तम् (असंसू. ४)
-सार-न., क्षार० वज्रकक्षारः (रा. ६.५५)
-सारिवा-स्त्री., वनस्पति० सारिवा० (ध. १.१६२)
चन्दनाञ्जन-न.,-अञ्जन० षड्विधतिमिररोगापहमिदम् (र. २३.५६.५७)
चन्दनादिवर्ति-स्त्री., लेखनवर्तिः, नेत्ररोगेषूपयुज्यते (सुउ. (१२.१३.१४)
चन्दनाद्यतैल-न., शीतवीर्यं तैलं, दाहज्वरप्रशमनम् (चचि. ३.२५८)
चन्दनोदुम्बरयोग-पु., योग० अभिष्यन्दे उपयुज्यते, चन्दनोदुम्बरे क्षीरपिष्टेऽञ्जनं पित्ताभिष्यन्दे उपयुक्तम्; चन्दनोदुम्बरं भृशतरं चूर्णितं बस्रबद्धं तोयप्लुतमाश्योतनाञ्जनम् (सुउ. १०.१०)

चन्द्र–पु., देवता०, सोमः (अहसू. १८.१६)
वनस्पति० कर्पूरः (ध. ३.३१)
खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३)
–कला–स्त्री., तोलमानं सूतं ताम्रं च त्रिदिनं मर्दयित्वा गुटिकां कुर्यादग्नौ शोषयित्वा पुनः संमर्दयेत् । ततो द्वितोलेन गन्धकेन कज्जलिकां कृत्वा मुस्तादाडिमदूर्वाकेतकीसहदेवीकुमारीपर्पटरामशीतलिकाशतावरीणां रसैर्भावयेत् । ततो गुडूचीसत्त्वं पर्पटोशीरपिप्पलीशृङ्गाटसारिवाणां च समानं चूर्णं प्रक्षिप्य द्राक्षादिकषायेण सप्तकृत्वः भावयेत् । अनन्तरं वस्त्रेऽवगुण्ठ्य परिपीड्य गुटिकां कुर्यात् । अयं सर्वपित्तविकारनाशनो योगः । विशेषतो दाहनाशनो रक्तपित्तप्रदरमूत्रकृच्छ्रनाशनश्च
(र. १४.१३.२२)
–कान्त–पु., रत्न० चन्द्रकिरणसंसर्गादस्माज्जलधाराः निपतन्ति तज्जलगुणाः–रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहं पित्तघ्नं विमलं च
(सुसू. ४५.२७)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० सटी (ध. १.६२)
–चक्र–वि., छेद० चक्राकारसादृश्याच्चन्द्रमण्डलाकारश्छेदः (सुचि. ८.२७)
–चन्दन–न., चन्दनभेदः हरिचन्दनम्
(र. १२.१९)
–दल–न., रसभस्मना बद्धरसेनान्येन वा लोहेन साधितं यल्लोहं भस्मीभूय श्वेतवर्णं याति तत्
(रा. ८.१७)
–पाद–न., चन्द्रकिरणः दाहज्वरे शमनार्थं चन्द्रपादस्पर्शो हितावहः (चचि. ३. २६६)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी कासघ्नी
(ध., १.९९)
कण्टकारी लक्ष्मणा (रा. ४.१२५)
–प्रभा–स्त्री., भैषज्य० बोलजातिफलमधुकमधुयष्टिखादिरसारकर्पूरामलकसठीशतावरीघोण्टाम्लवेतसशालिपर्णीकासीसधत्तूरमुद्गपर्णीदाडिमबीजानि समभागानि दुग्धेन दक्षा लाङ्गलीक्काथेन कटुतुम्बीरसेन मुद्गयूषेण च भावयित्वा तदीया गुटिकाः कारयेत् । अयं प्रमेहाञ्जयति (र. १७.३९, ४०)
–बाला–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः सूक्ष्मैला (ध. २.४४) ' एला '
–भूति–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.६)
–मण्डलच्छेद–पु., छेद० चन्द्रमण्डलाकारच्छेदः
(सुसू. ५.१४)
–लेखा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६६)
–लोहक–न., खनिज० रौप्यम् (रा. १३.७)
–वपुस्–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.६)
–वर्चस्–वि., लक्षण० चन्द्रस्थवर्चस्तेज इव वर्चो यस्य सः दिवा सूर्यस्य चन्द्रवर्चस्त्वमिंद्रियार्थविप्रतिपत्तिलक्षणम् (सुसू. ३०.१६)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (रा. ५.४३५)
माधवी (रापरि. १०.२९)
–शीतल–न., चन्द्रेण शीतलीकृतम्
(अहसू. ३.३३)
–शूर–न., वनस्पति०, गुणाः–बलपुष्टिवर्धनमस्रग्वातगदद्वेषि हिक्काघ्नं वातश्लेष्मातिसारिणां हितं च
(भाप्र.)
हिं.—हालो हालिम.
म.—आहाळीव.
गु.—अशेळियो.
बं.—हालिम.
फा.—हालमतुख्मतरातेजक.
–सूर्य–पु., योग० तुत्थं पारदो गन्धकश्चेति समभागिका जम्बीररसेन त्रिदिनं मर्दिताः पुनरेवं समभागेन त्रिकटुनाऽभिमिश्रिताऽमुं संज्ञां प्राप्नुवन्ति । अनुपानं–नागवल्लीरसः; प्रमाणं गुञ्जाद्वयम्, पथ्यं दुग्धम्; अनुपानभेदेनासौ शैत्यज्वरशूलापस्मारगुल्मप्लीहोदरवान्तीर्नाशयति
(र. १२.५०–५१)
–सेन–पु., सप्तविंशतिरससिद्धिप्रदायकानामेकतमः
(र. १.२–५)
–हास–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.६)
–(हासा)–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (चचि. १.४)

चन्द्रक–पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. १.१९४)
कर्पूरः (र. २९.७२–७४)
मरीचम् (रा. ६.१२८)
पार्श्वेषु कण्टकवलयितो वर्तुलो मत्स्यः
(सुसू. ४६.११८–१९)
जलोपरि दृश्यमानतैलबिन्दोराकृतिः
(चचि. १९.९)
मयूरपिच्छे चन्द्राकारो मेचकः चन्द्रवत्कायते प्रकाशते इति चन्द्रकः (सुचि. ३४.१३)
मयूरपिच्छम् (सुउ. ४०.२०)

(चन्द्रकी)–स्त्री., लक्षण० लिङ्गनाशोपद्रवः कांस्यसमच्छाया चन्द्रकसंस्थानदृष्टिः (असंउ. १७)

चन्द्रमस्–पु., देवता० (सुशा. १.७) मनसोऽधिदैवतम् (सुशा. १.७) द्विजानामयं राजा, पुनः समुद्रमन्थनकाले समुद्रादाविर्भूत इति चन्द्रमा द्विर्जातत्वाद् द्विजः (सुउ. ४१.५) अस्य राज्ञश्चन्द्रमसः शोषरोगः पुराऽभूदिति शोषो राजयक्ष्मेत्युच्यते (सुउ. २९.५) सोमस्य महौषधेः स्थानाकृतिवीर्यविशेषैर्भिद्यमानानां नाम्नामेकतमम् (सुउ. २९.५)

चन्द्राणी–स्त्री., वनस्पति० सटी (ध. १.६२)

(चन्द्रा–) स्त्री., भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (रा. ६.११०)

चन्द्रांशुकल्प–वि., अत्यर्थशुभ्रम् अत्यर्थशुभ्रत्वेऽपि चन्द्रांशुत ऊनं धावल्यं बोध्यम् । (२ (२) २७)

चन्द्राब्ज–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४६)

चन्द्राभिधा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)

चन्द्रार्क–न., खनिज० रौप्यस्य षोडश भागास्ताम्रस्य च द्वादश इत्येवमेकत्र द्रावयित्वा मेलनाज्जातम् (र. ८.२३)

चन्द्रार्ध–वि., अर्धचन्द्राकारच्छेदः (सुचि. ८.२७.२८)

चन्द्रालोक–पु., वनस्पति० कर्पूरः (रा. १२.५६)

चन्द्रावती–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (र. ११.९५)

चन्द्रावलेह– पु., भैषज्य० असौ पित्तोन्मादभ्रममूर्च्छोच्छर्दिकासक्षयपाण्डुरोगापहः (र. २१.१८१–१८६)

चन्द्रास्पदा–स्त्री., भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८६)

चन्द्रिका–स्त्री., वनस्पति० कर्णस्फोटा (रापरि. ३.४१)
मेथिकाभेदः वनमेथिका (रा. ५.१८५)
द्र० 'मेथिका'
मल्लिका (रा. १०.२२५)
कण्टकारी० लक्ष्मणा (रा. ४.१२५)
एलाभेदः सूक्ष्मैला (रा. ६.६९) द्र० 'एला'
अभ्रकस्यापक्वे भस्मनि हस्ततले संपिष्टे सति, सूर्यातपे दृश्यमानाश्चन्द्रिकाकृतयः (र. २.१४)
मण्डलाकारो धातुस्नेहः (चचि. २०.१९)
मत्स्यविशेषः चन्द्रकः (अहसू. ६.५३)

चन्द्रिकाञ्चित–वि., जलक्षिप्ततैलबिन्दुसदृशैश्चन्द्रिकैराचितो व्याप्तः (अहसू. अरु. ७.४)

चन्द्रिकाम्बुज–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४६)

चन्द्रेष्टा–स्त्री., वनस्पति० कुमुदम्; तल्लता कुमुदिनी (रा. १०.२५०)

चन्द्रोदय–पु., योग० आदौ पारदवङ्गौ संमर्द्य ततो गन्धकाभ्रके पृथङ्मर्दयेन्मेलयित्वा च जम्बीररसेन मर्दयेत् । ततो लघुपुटं दत्त्वा चित्रकेण कुमार्या च सप्तसप्तवारं भावयेत् ।
अनुपानम्–गुडमिश्रजीरकचूर्णं जीर्णज्वरे, कुमारीरसः कासे, त्रिफलाक्वाथः श्वासे, गुडूचीक्वाथश्च उन्मादधनुर्वातयोरिष्यते (र. १५५.१५९)
योग० विषहरोऽगदः (असंउ. ४०)

चपल–पु., खनिज० पारदः (ध. ६.३७)
खनिज० महारसः (धपरि. ६.१०) गुणाः–तिक्तो मधुर ऊष्णः स्निग्धो लेखनो देहलोहकरणोऽतिवृष्यो रसबन्धकरणस्त्रिदोषघ्नश्च; अयं गौरश्वेतारुणकृष्णहेमाभताराभभेदात् षोढा (धपरि. ६.१०)
राजमाषः (रा. १६.१३५)
चोरकः (रा. १२.१२७)
मूषिकदष्टलक्षणम्–च्छर्दिर्मूर्च्छा च तृष्णासहिता (सुक. ७.२२–२३)

(चपला)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (ध. २.७३, र. १२.४८)
आसुत० सुरा (ध. १४.३०१)

चमर–पु., प्राणि० चमति भक्षयति तृणादि इति चमरः महिषाकृत्यानूपमृगः । मांसगुणाः– स्निग्धं मधुरं कासजिद्विपाकमधुरं वातपित्तघ्नं च (सुसू. ४६.१००)
हिं.—चमरपुच्छि गौ, चमरगई, चमरगाय, सुरेगाय.
बं.—चमरी.
म.—चवरीगाय, चमरी.

चमरिक–पु., वनस्पति० कोविदारः (ध. १.१९६)

(चमरी)–स्त्री., चमरीमृगः (ध. परि. ६.३४)

चम्प–पु., मत्स्यजातीयप्राणि० (काखिल.) (२४.५०–५१)

चम्पक–पु., वनस्पति० गुणाः—अतिकटुस्तिक्तः शीतः सुगन्धिर्हृद्यः कफपित्तघ्नो विषदाहकुष्ठकण्डूव्रणघ्नः (ध. ५.१४२)
रक्तपित्तघ्नः शीतोष्णश्च (सुसू. ४६.२८८)
हिं.—चम्पा.
म.—सोनचांफा, पिवळा चांफा.
गु.—रायचम्पो, पीळो चम्पो.

–रम्भा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११४)

चय–पु., दोषस्य स्वस्थाने संचयः (चसू. १७.११४) लक्षणानि–दोषस्य स्वधाम्न्येव वृद्धिः,

वृद्धिहेतुषु प्रद्वेषो विपरीतगुणेच्छा च (असंसू. २०) सुश्रुतस्तु चये एव संचयप्रकोपौ अभिप्रैति प्रकोपे च प्रसरस्थानसंश्रयव्यक्तिरिति निश्चप्रचम् (सुसू. २१.१८–३६)

–काष्ठा–(स्त्री., चयमर्यादा (असंसू. ५)

–कृत्–वि., त्रयाणां दोषाणां चयं करोति इति त्रिदोषकरम् (अहसू. ५.४७)

चर–पु., चारी, आनूपचरो जलचर आकाशचरो धन्वचर-श्चेति चतुर्विधश्चारी (चसू. २७.३३२) आहारविहारौ, चर्यते आचर्यते भक्ष्यते च इति चर आहारविहारतात्पर्यकः (सुसू. ४६.१२८) खनिज० कपर्दिका (धपरि. ३.२४)

चरक–पु.. ऋषि० अग्निवेशतन्त्रस्य संस्कर्ता (चसू. १. समाप्तिसूत्रम् चचि. ३०.२७९) वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६५)

चरण–पु.,चतुर्थो भागः (र. २६.३७)

–वेदस्य शाखा–(सुचि. २८.१९)

–लेप–पु., शुक्रवर्धकः पादलेपः (अखंड. ५०)

चरणायुध पु., कुक्कुटः (चसू.२७.६७)

चरमधातु–पु., शुक्रम् र. २७–३२)

चरमसंन्यास–पु., पश्चाद्गाविसकलकर्मसंन्यासः (चशा. १.१५४)

चराचर–पु., खनिज० कपर्दिका (धपरि. ३२४)

'पीताभा ग्रन्थिला पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका ।
रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका ॥'
(र. ३.१४५)

चरु–पु., ओदनः (काजातिसूत्रीयशा. ८)

चर्पटि–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९–५३)

चर्मन्–न., शारीर० त्वक् (चशा. ७.१६)

'बाह्यत्वक्संहतिश्चर्म' (असंसू. २०)

कुष्ठरोग० लक्षणानि–हस्तिचर्मवत् खरस्पर्शं च चर्म (असंनि. १४)

–कषा–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८) (चचि. २३.६६)

–कसा–स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (ध. ४.९४)

–कील–पु., न., बहिर्मार्गजरोगः लक्षणं संप्राप्तिश्च–व्यानस्तु कुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते (सुनि. २.१८) (असंनि. ७) तेषु कीलेषु वातेन तोदो जायते, कफेन सवर्णत्वं ग्रन्थिलत्वं च, पित्तशोणितजस्तु रौक्ष्यकार्ष्ण्य-श्लक्ष्णत्वयुक्तः तत्र समुदीर्णत्वं खरत्वं च सर्वचर्म-कीलेषु दृश्यते (सुनि. २.१९–२०) छेद्योऽयं रोगः (सुसू. २५.३–५) तत्राग्निकर्मचिकित्सा कार्या (सुसू. १२.१०)

–गोणी–स्त्री., चर्मप्रसेवकः, चर्मप्रवेशको वा; अनग्नि-स्वेदस्य साधनम् (सुचि. ४.१७)

–चेट–पु., निशाचरपक्षिः यश्च दिने वृक्षालम्बमानो निद्राणो दृश्यते (र. २४.१२)

–दरण–न., रोग०, त्वगवदरणम् (असंसू. २०.१४)

–दल–न., रोग० कुष्ठरोगः क्षुद्रकुष्ठेष्वेकम्, रक्त-दोषजरोगः, लक्षणम् (चसू. २८.१३) सकण्डु, सस्फोटं, सरुक्, रक्तं, स्पर्शासहं, दलनशीलं चर्म (चचि. ७.२४) इदं दोषभेदेन चतुर्विधम् (काखिल.) (१५.६) तस्याधिष्ठानं तृतीया श्वेता नाम त्वक् (सुशा. ४.४) इदं प्रायः पित्तश्लेष्मा-धिकम् (चचि. ७.३०)

–दलन–न., रोग० चर्मावदरणम्, षण्णामपि त्वचां दरणम्, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

–पट्ट–न., चर्मखण्डम् (अहसू. २२.२८)

–मसी–स्त्री., चर्मरक्षा (चचि. ९.४९)

–रङ्गा–स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (ध. १.१९८)

–वृक्ष–पु., पूर्वदेशे नौवृक्षः (सुक. ५.४३–४६ ड) भूर्जवृक्षः (वैशसि.)

–हस्त–वि., चर्ममयदृत्यादिधारी एतादृशो दूतो गर्हितः (सुसू. २९.९–१५)

चर्मरी–स्त्री., फलविषम् (सुक. २.५)

चर्मसाह्वा–स्त्री., वनस्पति० सातला (चक. ११.३)

चर्माख्य–न., रोग० चर्मदलम्; वातकफाधिकं कुष्ठम् (चचि. ७.२९)

चर्मानुरञ्जन–न., खनिज० हिङ्गुलम् (ध. ६.४०)

चर्मान्त–न., चर्मावयवः उपयन्त्रेष्वेकम् (सुसू. ७.१५)

चर्मार–पु., शुकतुण्डाख्यो हिङ्गुलः (र. ४.१५५)

चर्मीवृक्ष–पु., वनस्पति० लकुचद्रुमाकारो महावृक्षः (सुचि. ११.१०)

चर्या–स्त्री., चरितुम् आचरितुमर्हं तच्चर्यम् । शास्त्रनियत आचारः (सुसू. ६.१)

चल–वि., अस्थिरः (चसू. १.५९) स्थानात्स्थानान्तर-गतिः (चसू. १८ (१) ७) चञ्चलः, स्पन्दनः

'चला वाताशयसिरासन्धिजिह्वादयः' (सुसू. ३२.३) प्रेरणे शक्तिमान् (अहसू १.१८) वायुः चलति गच्छति वहति सदागतिमत्त्वादिति चलो वायुः (अहसू. ११.१)
वनस्पति० नखम् (ध. ३.५८)

-पत्र-पु., वनस्पति० (ध. ५,७८)

-मल-वि.. प्रवृत्त्युन्मुखमलः (र. १६.९६)

-मूर्धता-स्त्री., शिरःकम्पः कृकाटिकामर्मविद्धस्य लक्षणम् (सुशा. ६.२७)

-सुमुहूर्त-पु., (परिव०) इन्द्रमुहूर्तः, दिवसस्य दशमो मुहूर्तः (चचि. १ (२) चक्र. ११)

-स्थूलगल-वि., लक्षण० शीतलेऽपि काले तैलपानार्होऽयम् (चसू. १३.४४)

-स्थूलोदर-वि., लक्षण० शीतलेऽपि काले तैलपानयोग्योऽयम् (चसू. १३.४४)

चलत्कोष्ठी-स्त्री., यत्र० कोष्ठीयन्त्रम्, इतस्ततश्चालने सौकर्यं यथा स्यात्तथा निर्मिता कोष्ठी (र. ७.६)

चलामय-पु., चलस्य वातस्य आमयो रोगः, वातरोगः (अहसू. २७.४२)

चवल-पु., वनस्पति० राजमाषः (ध. ६.८४)

चविक-न., वनस्पति० चव्यम् (ध. २.७७)

(चविका)-स्त्री., वनस्पति० चव्यम् (असंसू. १५)

-शिरस्-न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (ध. २.७५)

चव्य-न., वनस्पति० गुणाः-कटूष्णं लघु दीपनं रोचनं कफवातघ्नं जन्तुकासश्वासशूलघ्नं च (ध. २.७७) दीपनीयगणे, तृष्निग्रहणे अर्शोघ्नगणे शूलप्रशमगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.९, ११-१७)
हिं.-चव्य, गजफल.
म.-**कंकल चवचिनी, चवक.**
बं.-चएर, चाई.
त.-चव्यम्
गजपिप्पलीमूलम् (ड. सुसू. ३८.२२-२३)

चव्यक-न., वनस्पति० चव्यम् (रा. ६.११५)

(चव्या)-स्त्री., वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४५)

-जा-वनस्पति० गजपिप्पलीमूलम् (रा. ६.११७)

-फला-स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (रा. ६.११७)

चषक-न., शरावः, वाटिका, चषति भक्षयति पिबति अनेन इति चषकं चषको वा (र. ७.१९)
सुरापानपात्रम् (असंचि. ९)

चाङ्गेरी-स्त्री., पत्रशाक०, चाङ्गेरीशाकम्। क्षुद्रामिलिका-नामाम्ललोणिका शाक० (चसू. २७.९३; ध. ५.३६) गुणाः-अम्ला कषाया मधुरोष्णा दीपनी वातकफे हिता ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी (सुसू. ४६.२७३, चसू. २.१९) अतीसारजित् (रापरि. ७.८६)
हिं.-अमरुल.
म.-**अंबुटी, भुईसर्पटी.**
बं.-अमरुल शाक.

-घृत-न., गुदभ्रंशे प्रशस्तम् (चचि. १९.४२-४३)
द्र० 'अम्लसर्पिस्'

-यूष-पु., चाङ्गेरीशाकयूषः दध्ना सर्पिषा वा कृतोऽयं वातघ्नः (का. खिल० ४.५३)

-शाक-न., वनस्पति०, चाङ्गेरी 'द्र० चांगेरी

चाचा-स्त्री., शिरोरोग० इन्द्रलुप्तम् (असंउ. २७)

चाटालत्व-न., विस्तृतत्वम् (चनि. ३.१४; चशा. ४.१६)

चाणाख्यमूलक-न., वनस्पति०, मूलकभेदः, इदं मरुसंभवं स्थूलमूलं महाकंदं च। गुणाः-तिक्तं, कटूष्णं, रुच्यदीपनं, परं ग्राहकं, गुरु, कफवातापहं क्रिमिगुल्मनाशनं च
(ध. ४.३५ रा. ७.५४ पृ. १४१)

चाण्डाल-पु., चण्डालः, चण्डाल एव चाण्डालः, यद्वा चण्डति बुन्धति सततमिति चाण्डालः
(असंशा. १२)

चाण्डाली-स्त्री., शाल्मली; पञ्चगुरिया; लिङ्गिनी; चाण्डालकन्दवल्ली (र. १७.४१)

चातुर्जातक-न., जायते इति जातं, चतुरवयवं जातं चतुर्जातम्, तेन चातुर्जातकं-चतुर्णां त्वगेलादीनां समूहः। भैषज्यवर्ग० त्वक्-एला-पत्रक-नागकेशराणां समः समूहः। अस्यापरं नाम चातुर्भद्रकमिति। गुणाः-स्वरभेदश्वासकासमुखदोषविनाशनम्। वृष्यं बल्यं च योगार्हं चातुर्जातं रसायनम्
(ध. ७.११ पृ. ३००)

चातुर्थक-पु., चतुर्थ एव चातुर्थः, तेन चातुर्थकचातुर्थिकशब्दौ समानार्थौ। चतुर्थको ज्वरः प्रथमे दिने तथैव दिनद्वयं विश्रम्य चतुर्थे दिने यो ज्वर आगच्छति स चातुर्थको नाम विषमज्वरः
(सुउ. ६१.३७)

चातुर्थिकहर-पु., चतुर्थकज्वरहरो योगः० पारदस्य एको भागो, गन्धकोऽर्धभागिकस्तालकं भागत्रयं, मनःशिला पादभागिका, सर्वमेकत्र कारवल्लीदलरसेन प्रहरत्रयपर्यन्तं मर्दयेत्, वालुकायंत्रे च पाचयेत्, अयं चातुर्थिकहरो रसः (र. १२.१०५)

चातुर्भद्रक–न., भैषज्यवर्ग० अत्रापि चातुर्जातकवद् व्युत्पत्तिरनुसंधेया । शुण्ठी–अतिविषा–मुस्ता–गुडूचीनां समः समूहः (ध. ७.७ पृ. ३००)
एला–त्वक्–तमालपत्र–मरिचैर्जातैः समः समूहः (ध. ७.९ पृ. ३००)

चान्द्री–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (रा. ६.८ पृ. ९)
बाकुची (रा. ४.२२६ पृ. ३८)
कण्टकारीभेदः (रा. ४.१२५ पृ. २५)

चापल–न., चपलस्य भावः चापलम् । ह्रापल्यम्, चलनम् (असंसृ. ३.५४)

चापवट–पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२ पृ. १८३)

चामर–पु., न., चमर्याख्यमृगविशेषस्य लोमभिः निर्वृत्तं चमर्या इदमिति चामरम् (असंसृ. ८.४७)

(चामरा)–स्त्री., वृश्चिकाली (रापरि. ९.८ पृ. ३६४)

चामीकर–न., खनिज० चमीकरो रत्नाकरविशेषः, तत्र भवं चामीकरम्, सुवर्णम् (ध. ६.२ पृ. २०५)
पु., प्राणि० स विषं दृष्ट्वा छर्दयति (असंसृ. ८.२३)

चाम्पा–स्त्री., क्षुद्ररोग० इन्द्रलुप्तम् (र. २४.८७)

चाम्पेय–पु., वनस्पति० चम्पकः (ध ५.१४२ पृ. १९९)
न., नागकेसरम् (ध. २.४८ पृ. ७९)

चाम्पेयक–न., वनस्पति० पद्मकेसरम् (रा. १०.२६२ पृ. १६७)

चार–पु., गतिः चर्यते गम्यते इति चारः (असंनि. १५.६)
वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२ पृ. १८३)

चारक–पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२ पृ. १८३)

चारटिका–स्त्री., नीलिनी (रा. ४.३५० पृ. ५५)

चारटी–स्त्री., पद्मा (ध. ४.९० पृ. १५२)
कुम्भी, ब्रह्मयष्टिका इत्यन्ये । महापैशाचिकघृते एकं द्रव्यम् (चचि. ९.४५) पद्मचारिणी गुप्ता (असंउ. ४२)

चारण–पु., देवयोनि० अयं चारयति प्रचारयति स्तुतिसङ्गीतविद्यां तज्जन्यकीर्तिं वा देवानां स्तुतिपाठकाः (चचि. १. (४).३.)
न., पारदकर्तृकग्रासभक्षणकरणम् । 'चारणा 'पर्यायम् । जारणाप्रकारः, स्वर्णादिधातूनां पारदे मेलनम् (र. ८.७२)

(चारणा)–स्त्री., पारदस्य मध्ये ग्रासयोग्य-पदार्थ-प्रक्षेपणं चारणा (र. ८.७९)

चारु–न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (ध. ३.१२.पृ.९५)
पद्मकम् (ध. ३.८८.पृ. ११३)

–केशरा–स्त्री., वनस्पति० तरणी (ध. ५.१४५. पृ. १९९)

–केसरा–स्त्री., वनस्पति० चारुकेशरा (ध. ५.१४५. पृ. १९९)

–दर्शन–पु., प्लक्षः (ध. ५.८१. पृ. १८५)
पशु०; रोहिणः, रुरुः (धपरि. ६.३५ पृ. २९३)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (ध. १.२८९ पृ. ६६)

–फला–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५.५६ पृ. १७९)

–मोदा–स्त्री., वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४८ पृ. २००)

–रत्न–न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२ पृ. २०५)

–रूप–न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२ पृ.२०५)

चारुटा–स्त्री. भूधात्री (रा. ५.१४५ पृ. ११३)

चारुष्क–पु., जाङ्गलमृग०, हरिणभेदः (चसू. २७.४६)
चारुशरीरः स्वल्पतनुमृगभेदः (सुसू. ४६.५४)

चारुष्कर–पु., चारुष्कः (चसू. २७.४६; सुसू. ४६.५४)

चाल–पु., स्पन्दः वायोरेकं कर्म (चसू. २०.१२)
दन्तरोग० दन्तचालः (असंउ. २५)

चालन–न., कम्पनं, स्थानात् स्थानान्तरं प्रति शल्यस्य नयनम्। चतुर्विंशतियन्त्रकर्मस्वेकम् (सुसू. ७.१७)

(चालनी)–स्त्री., द्रव्यगालनोपयोगि यन्त्रम् । सा चालनी तु त्रिविधा १) वैणवीभिः शलाकाभिः निर्मिता गुणैश्च ग्रथिता सा सदा स्थूलद्रव्याणां गालने हिता ॥ २) चूर्णचालनहेतोरन्या वंशजा चालनी कर्णिकारस्य शाल्मल्या हरिजातस्य चतुरङ्गुलविस्तारयुक्तया कंबया निर्मिता ॥ ३) कुण्डल्यरत्निविस्तारा छागचर्माभिवेष्टिता । वाजिबालाम्बरानद्धतला चापरा चालनी ॥ सूक्ष्मतरं रजो धर्तुं धारयितुं वा तया प्रचालनं कुर्यात् (र. ७.११–१३)

चाष–पु., प्रसहपक्षि० (ध. वर्गेतराणि. १४ पृ. २८७)
चषति भक्षयति, इति चाषः कनकवायस इति ख्यातः, नीलवर्णः पक्षि० (चसू. २७.३६) इन्द्रनीलमणिसदृशपक्षः शस्तदर्शनः (सुसू. ४६.७४) प्रस्थाने चाषदर्शनं प्रशस्तम् (सुसू. २९.२९) कर्णायसः (सुउ. ३५.६) किकिदिवः (र. १०. ९०) चातकः (र. १०.९०)
हिं.—नीलकण्ठ.
म.—**तासपक्षी, मणिकंठ.**
मत्स्य०, तस्य दर्शनं पुण्यकरम् (काइ. ३.१०)

चाषची–स्त्री., प्राणि० (असंउ. ६)

चास–पु., पक्षि०, चाषः (सुसू. ७.१०)

–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र०, चासमुखसदृशं यन्त्रम् अस्थिविदष्टशल्योद्धरणोपयोगि (सुसू. ७.१०)

चिकित्सक–पु., वैद्यः (सुसू. १.३५)

चिकित्सन–न., चिकित्सितं; चिकित्सा; उपचारः (र. १२.७)

चिकित्सा–स्त्री., रुक्प्रतिक्रिया (चसू. २.३६) धातुसाम्यक्रिया (सुसू. ३.२६) रोगापनयनम् (सुशा. १.१३) प्राणी यावदुच्छ्वसिति यावद् भेषजमत्ति च तावच्चिकित्सा कर्तव्या (र. ३०.१२१) क्वचिदर्थः, क्वचिन्मैत्री, क्वचिद्धर्मः, क्वचिद्यशः, क्वचिदभ्यासयोग इत्येवंप्रकारेण चिकित्साया नानाफलानि संति, तेन चिकित्सा निष्फला नास्ति (असंउ. ५०)

–प्रविभागविज्ञानीय–वि., अध्याय० (सुउ. ८.१)

–प्राभृत–वि., चिकित्सा प्राभृतम् उपायनं यस्य इति, प्राभ्रियते दानार्थं धार्यते स्मेति प्राभृतम् । चिकित्साप्रभृतरूपा सदा यत्नेन आतुरोपढौकनीयत्वेन च यस्य विद्यते सः (चसू. १६.३ चक्र)

–प्राभृतीय–वि., चिकित्साप्राभृतेति शब्दमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चसू. १६.१)

–संपद्–स्त्री., चिकित्सायाः संपत्, पादचतुष्टयस्य भिषक् भेषजम् आतुरः परिचारक इति पादचतुष्टयम् । चत्वारः पादा यदा गुणवन्त उपपद्यन्ते तदा साध्यो व्याधिर्नातिवर्तते (कासू. २६.३)

–सम्पदीय–वि., अध्यायविशेषः (कासू. २६.१)

–स्थान–न., चिकित्साभिधायकं कृतं स्थानम् । चिकित्साध्यायानां त्रिंशत्संख्यानां समूहः चरकसंहितायाः षष्ठस्थानम् (चचि. १) सुश्रुतसंहितायाश्चतुर्थस्थानं चत्वारिंशदध्यायात्मकम् (सुसू. ३.२६ सुचि. १) अष्टाङ्गसंग्रहस्य चतुर्थं स्थानञ्चतुर्विंशत्यध्यायात्मकम् (असंचि. १)

चिकित्साङ्ग–न., चिकित्साया अङ्गम् । वेषु च भिषक्प्रधानमङ्गम् । यथा भिषक् चिकित्साङ्गः (असंसू. १३.३)

चिकित्साधिकृत–वि., चिकित्सितकर्मफलमवाप्नोति इति चिकित्सायां फलभोक्तृत्वेनाधिकृतत्वात् चिकित्साशास्त्रोपयोगी पुरुषः । पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः, स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः (सुशा. १.१६)

चिकित्सार्ध–न., चिकित्साया अर्धभागः । बस्तिः चिकित्सार्धम् इति ब्रुवन्ति (चसि. १.३९-४०)

चिकित्सित–न., भेषजम् (चचि. १.१) चिकित्सितं द्विप्रकारं प्रोक्तम् । औषधं भेषजं चेति (काइ. ३०)

चिकित्सितार्थ–पु., चिकित्सितस्य अर्थो नाम विषयः (चचि. १.१४)

चिकुर–न., खनिज० पोगरसंज्ञकं लोहम् (र. ५.७८)

वि., नीलप्रभम्, तत्र चिकुरं नीलमित्यर्थेन गृह्यते (हजारी० र. ७८)

चिक्कण–वि., स्निग्धस्थानम् । (सुचि. ३१.११. र. २०.७६)

न.. वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९ पृ. १०३)

(चिक्कणा)–स्त्री., पूगफलम् (ध. ३.३९ पृ. १०३)

चिक्कस–न., भैषज्य० इदं पैत्तिके दंशे लेपार्थमुपयोज्यम् (असंउ. ३९) ईषद् भृष्टानां यवानां चूर्णम् (असंउ. १०)

चिक्का–स्त्री., वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९ पृ. १०३)

चिक्किर–पु., मूषिक० तद्दष्टलक्षणम्–एतद्विषतः शिरोदुःखं, शोफो, हिध्मा वमिर्भ्रमश्च भवन्ति (असंउ. ४६)

चिक्किर–पु., चिक्किरः मूषिकः (सुक. ७.१५)

चिच्चिटिङ्ग–पु.. तन्नामकीट० वायव्यः, पवनकोपनः, अस्य दंशात् वातजरोगाः भवन्ति (सुक. ८.५)

चिञ्चा–स्त्री., वनस्पति०, अम्लिका, तिन्तिणी । फलानि च अर्धचन्द्राकाराणि

हिं.—अम्ली, अंव्ली, इमली, इंब्ली, अम्लिका.

म.—चिंच.

गु.—अम्लिना, चिंचोरा.

बं.—तेंतुल, अम्ब्ली, तितिल.

त.—पुलियान.

फा.—अंबला, अन्बलाह.

गुणाः–आमफलमतीवाम्लं पित्तकृल्लघु रक्तकृद् वातशमनं प्रकामं बस्तिशुद्धिकरम् । पक्वं तु मधुराम्लं भेदि विष्टम्भि वातजिच्च । अस्य त्वग्भस्म कषायोष्णं कफघ्नमनिलनाशनञ्च (ध. ५.३३)

पक्वचिञ्चाफलरसो मधुराम्लो रुचिप्रदः ।
शोफपाककरो लेपाद् व्रणदोषविनाशनः (रा. ११.३९)

–सार–पु., अम्लसारः, चिञ्चाफलस्य सारः । गुणाः–अतीवाम्लः वातघ्नः कफदाहकृत् । समानप्रमाण-

शर्करामिश्रस्तु दाहपित्तकफार्तिनुत्
(रा. ११.४१० पृ. १७५)

चिञ्चाम्ल–न., चिञ्चासारः (रा. ११.४१ पृ. १७५)

चिञ्चिका–स्त्री., चिञ्चा (ध. ५.३३ पृ. १७४)

चिञ्चिटाङ्ग–पु., वायव्यकीट० (असंउ. ४३)

चिञ्चुका–स्त्री., वनस्पति०, मूत्राघातचिकित्सायामुपयुज्यते (असंचि. १३)

चिञ्चुपर्णी–स्त्री., शाक० (असंचि. १०)

चिडा–स्त्री., वनस्पति०, कपटं (कट्तृण०)
गुणाः–उष्णा दीपनी कफवातहरा रक्तपित्तजित्
(ध. १.८२ पृ. २२)
सरलः (ध. ३.७८ पृ. १११)

चिति–स्त्री., चीयते श्मशानाग्निरस्यामिति चितिः चिता शवदाहनचुल्ली
(असंसू. ३.६)

चित्त–न., चित्यते संज्ञायतेऽनेन इति चित्तम्, मनः
(अहसू. १२.४)
–खेद–पु., चित्तखिन्नता, मनःपीडा०
(असंसू. ९.६८)
–नाश–पु., संज्ञानाशः (सुउ. ६१.१५) (सुशा. ६.२८) मनसो विचारादिशून्यता (चचि. २२.९) बुद्धिनाशः, भ्रमः (चसि. ९.६)
–प्रसादन–न., चित्तस्य तुष्टिः मनःशान्तिः। उन्मादे चित्तप्रसादनं कर्तव्यम् (सुउ. ६२.३४)
–भ्रम–पु., सन्निपातज्वर० यदि कथमपि पुंसां जायते कायपीडा भ्रममदपरितापो मोहवैकल्यभावो विकलनयनहासो गीतनृत्यप्रलापः तमसाध्यं केऽपि चित्तभ्रमाख्यमभिदधति। अस्य मर्यादा वह्न्यष्टौ वासराः। साध्योऽयमिति केचित् (मा. ज्वर. १२)
–विपर्यय–पु., अरोचकनिदान०, कामशोकभयादिभिर्विलुप्तचित्तत्वम् (सुउ. ५७.३)
–विभ्रंश–पु., किंकर्तव्यतामूढत्वम्
(सुउ. ३९.७८)
–विभ्रम–पु., मानसरोग० विभ्रान्तचित्तत्वम्
(सुचि. ३३.१८)

चित्र–वि., नानाप्रकारम् (सुउ. ६२.१३)
न., कुष्ठभेद०, श्वित्रम् (र. २९.८९)
चित्रकः (र. १३.८२)
पु., कालिङ्गम् (रा. ७.२७१ पृ. ४४)
एरण्डः (ध. १.२९५ पृ. ६७)
अशोकः (ध. ५.१५९ पृ. २०३)
तिलकः (ध. ५.१५८ पृ. २०२)
राजिमान् सर्प० रजन्याः पश्चिमे यामे चित्राः सर्पाश्चरन्ति (सुक.. ४.३१)

(चित्रा)–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी
(रापरि. ३.२१ पृ. ३३१)
सुतश्रेणी (रापरि. ४.१६ पृ. ३३६)
मृगाक्षी (रा. ७.२५८ पृ. ४२)
दूर्वा (रा. ७.२३५ पृ. १६४)
दन्ती महाकषायवर्गे भेदनीयगणे एकं द्रव्यम्
(चसू. ४.९)
द्रवन्ती (ध. १.२२९ पृ. ५४ (असंउ. ३१)
(चक. १२.३)
एरण्डः (सुचि. २.४८)
मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६ पृ. १०)
इन्द्रवारुणी (असंसू. १५.९) चित्राण्डिका पटोलफलाकारफला आरण्यका चण्डकेत्यर्थः
(ड. सुसू. ३९.३)
द्रवन्ती (सुसू. ३९.३)
गोरक्षकर्कटी, लोहितैरण्डो वा (चसू. १३.१०)
कीट० वायव्यलता० इयमुद्भिदा वर्तते। सा दंशे रक्ता पिटका विसृता स्थिरा च भवति। सा पीतास्रावा, महाव्रणा पर्वभेदशिरस्तापज्वरशोफविसर्पिणी च भवति, स्वयंभिन्ना कृष्णत्वं च प्राप्नोति
(असंउ. ४४.४५)
नक्षत्र० (चचि. २६.२४८)
कृतान्नवर्गे अपूप० (सुचि. १०.५ ड)

–गन्ध–न., उपरस० हरितालम् (ध. ७.११९ पृ. ३१५)

–गन्धक–न., उपरस० हरितालम्
(ध. ७.११९ पृ. ३१५)

–घट–पु., घटो यश्चित्रित इव स्थाप्यते यद्वा चित्रः कर्बुरितः कल्माषितो वा घटः (चवि. ३.३६)

–घना–स्त्री., वनस्पति० सातला (रा.४.३६० पृ.५६)

–तण्डुला–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम्
(ध. २.११ पृ. ७१)

–त्वच्–पु., वनस्पति० भूर्जः
(रा. परि. ९.२२ पृ. ३६५)

–दीप–पु., चित्रे लिखितो दीपः। दीपचित्रमित्यर्थः
(चचि. २ (१) १७)

–धातु–पु., नानावर्णधातुः (चचि. ३०.३)

–पक्ष–पु., प्रतुदपक्षि० बृहच्छुकः
(ध. परि. २.१२ पृ. २८६)

-पत्र-पु., पक्षि० मयूरः (असंउ. ४२)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० द्रोणपुष्पी (रापरि. ५.४८ पृ. ३४४)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० कर्णस्फोटा (रापरि. ३.४१ पृ. ३३३)
महाराष्ट्री (रापरि. ४.१३ पृ. ३३५)
पृश्निपर्णी (रा. ४.११८ पृ. २४)
-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा (रा. ४.१७१ पृ. ११८)
-पृष्ठ-पु., भूमिशयसर्प० काकुलीमृगाख्यसर्पस्य भेदः (चसू. २७.३७) (असंसू. ७.७६)
-प्रपाक-पु., नानाविधप्रपाकः (सुनि. ९.७)
-फल-न., वनस्पति० शीर्णवृन्तम् (ध. १.१७९ पृ. ४२)
कलिङ्गः (रा. ७.२७१ पृ. ४४)
-फला-स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६ पृ. ३३०)
इन्द्रवारुणी (ध. १.२५० पृ. ५८) "चित्राण्डिका" (सुउ. ३२.८)
गुडदुग्धिका (सुउ. ५८.६६)
चिर्भटम् (रा. ७.२६२ पृ. ४२)
वार्ताकी (रा. ७.१२८ पृ. २६)
कण्टकारी (रा. ४.१२१ पृ. २५)
चित्रपला (असंउ. ६)
-बीज-पु., वनस्पति० एरण्डः (रा. ८.४४७ पृ. ६८)
-भानु-पु., चित्राः सप्तविधा भानवः किरणा यस्य तथाविधः आदित्यः (सुचि. १५.६; असंशा: ३.२८)
चित्रकः, वनस्पति० (ध. २.८० पृ. ८६)
-भेषजा-स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८ पृ. १८७)
-मण्डल-पु., मण्डलिसर्प० (सुक. ४.३४ (२)
-मूल-न., चित्रकमूलम् (र. ४.६८)
-योधिन्-पु., वनस्पति० अर्जुनः (ध. ५.११४ पृ. १९३)
-लता-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६ पृ. १०)
-वर्णा-स्त्री., सविषपिपीलिका० तन्नामकसविषपिपीलिकाभेदः । तद्दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः (सुक. ८.३४)
-वल्लिक-पु., वनस्पति० कलिङ्गः (रा. ७.२७१ पृ. ४४)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५७ पृ. ४२)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७५ पृ. ५८)
-शिरस्-पु., कीट०, मुखसन्दंशविशार्धितमूत्रपुरीषविषः (सुक. ३.५) अत्र संदंशशब्देन ऊर्ध्वाधरदंतकृतसंदंशः कर्कटादिकीटानां पुरः पदकृतसंदंशो वा ग्राह्यः । तथैव विशार्धितशब्देन शर्धो दुर्गंधयुतोऽधोवातसंज्ञको ग्राह्यः
-शीर्ष-पु., वायव्यः कीट०, चित्रशिराः (असंउ. ४३)
-शीर्षक-पु., चित्रशीर्षः, कीट०, गुणाः- वायव्यो वातकोपनोऽसौ वातरोगान् करोति (सुक ८.६)

चित्रक-पु.. मण्डलिसर्प० (सुक. ४.३४ (२)
वनस्पति० क्षुप० अस्य मूलमुपयुज्यते। सिकतामेहे उपयुक्तम् (सुचि. ११.९) अधोभागदोषहरम् (सुसू. ३९.४०) क्षारनिष्कासनार्थमुपयुक्तेषु द्रव्येष्वेकः (सुसू.११.११) पक्वशोथस्य विदारणं करोति (सुसू. ३७.१०) शार्कं त्वस्य कफं नाशयति (चसू. २७.१०६) महाकषायवर्गे दीपनीयगणे, तृप्तिघ्नगणे, अर्शोऽघ्नगणे, शूलप्रशमनगणे, लेखनीयगणे, भेदनीयगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९-१७) दीपनीययवाग्वां शूलघ्नयवाग्वां चोपयुज्यते (चसू. २,१८) गुणाः- चित्रकस्तु द्विधा शुक्लारुणभेदेन । सितासितारुणभेदेन त्रिधेति केचित् । रक्त एव प्रशस्तः । पीतसितासितैः पुष्पैः चित्रको यथास्वं ज्ञेयः । पीतासितश्च सितादसितः यथोत्तरं गुणवान् भवेत् । तद्वत् स युक्तविधिना त्वग्दोषिणां मेहिनां तथैव उदररोगिणामपि रसायनं भवेत् । विशेषतः श्वित्रिणां कृष्णो हितकरः । श्वेतपुष्पचित्रको ग्रहण्यर्शोविकारघ्नोऽतीसारनाशनो वयसः स्थापनो मेध्यो वर्तते मेधाभिवर्धनो जाठराग्निप्रदीपनः तेजोवर्णकरश्चैव कफहा च पीतचित्रकः ॥ नावनीतके (अ. ह्र. कोष) चित्रकोऽग्निसमः पाके कटुकः, कफशोफजित्, वातोदरार्शोग्रहणीक्षयपाण्डुविनाशनः ॥ (ध. २-८१. पृ. ८६)
हिं.—लालचित्रक, चित्र, लालचित्र.
म.—लालचित्रक.
बं.—लालचिट, रक्तोचित्र.
त.—शिवप्पु चित्रमूलं, चितिरमोल, कोडिमूलि

-घृत-न; चित्रकमूलसिद्धात्क्षीरात्कृतं घृतम् । क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते घटे स्थितं क्षीरं साधु

विमृद्य, तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं उपयुज्यते। इदं शोथहरम् ॥ (चचि. १२.५८.)
उदररोगहरं चित्रकसिद्धं घृतम् (चचि. १३.११६)

चित्राङ्ग–न; खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४७ पृ. २१५)
हरितालम् (रा. १३.५८ पृ. ३१६)
पु., वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२५; पृ. ८६)
चित्रकभेदः रक्तचित्रकः (रा. ६.१२७; पृ, ८६)

(चित्राङ्गी) स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६. पृ. १०)

चित्रायस–न., खनिजधातु० तीक्ष्णलोहम् (रा. १३.३०; पृ. २११)

चित्रोत्थान–वि., नानाविधोद्गमः यथा वायोर्विषमक्रियत्वात् वातविद्रधेरुद्गमो नानाविधः (सुनि. ९.७)
–**मूल**–न., चित्रकस्य मूलम्। दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)
–**यूष**–पु. सिद्धयूष० (का. खिल० ४.३९).

चित्रकादिघृत–न., चित्रकत्रिकटुसैंधव–हिङ्गु-पत्री-चव्य-अजमोदा–दाडिम–पिप्पलीमूल-जीरकद्वय–हपुषा-धान्यकैः समैः दध्यारनालबदरमूलकस्वरसैः सिद्धं घृतं वातगुल्मे देयं; तत्त्वग्निमान्द्याऽऽटोपशूलादीन् हन्ति (सु. उ. ४२.२५).

चित्रला–स्त्री., वनस्पति० गोरक्षी (रापरि. ५.३० पृ. ३४२)

चित्रा–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२१ पृ. ३३१)
–**क्षुप**–पु., द्रोणपुष्पी (रापरि. ५.४८ पृ. ३४४)
–**फलतैल**–न., दन्तीफलतैलम्। वातोदरिण आस्थापने अनुवासने च उपयुज्यते (सुचि. १४.५)

चिन्तक–पु., चिन्ताबहुलः (चसू. १३.५२)

चिन्ता–स्त्री., मनोविकार० (चनि. ७.४) आध्यान, व्यग्रता, वैक्लव्यम् (चनि. ८.४)
विचारः (अहसू. १४.२२; सुशा. १.१३)
कफोपशमनी मेदोऽनिलश्लेष्मनाशनी (अहसू. ७.६३) (अहसू. १३.११)
–**मणि**–पु., सिद्धयोग० द्विभागगन्धकेन पारदं कोरण्टनिर्गुण्डीस्वरसेन चिञ्चात्वक्क्वाथेन चैकैकं दिनं विमर्दयेत्। गोलकं च कृत्वा लवणयन्त्रे पुटं दद्यात्। उद्धृत्य पारदचतुर्थांशे गन्धके तत्परिपाचयेत्। ततश्च गन्धकसमभागं वत्सनाभं प्रक्षिप्य चित्रकक्वाथे पाचयेत्। मात्रा–वल्लः, अनुपान–मधुयुक्तमेरण्डतैलम्। परिहार्यम्–तैलं शीतं च। फलं–तूनीप्रतितूनीगुल्माध्मानविबन्धशूलानां विनाशः (र. १८.११४–११७)
सिद्धयोग० सर्वांगसुन्दररसः, अभ्रकगन्धकपारदाः पृथक् पृथक् तोलैकैकं गृहीत्वा अर्धतोलकं वत्सनाभमर्धतोलकं च तिन्तिणीफलं समादाय सर्वं मसृणत्वोदयं यावच्छनैर्मर्दयेत्। ततश्च षडङ्गुलायतदीर्घे गर्ते नागवल्लीदलैः पूरिते सूतकल्कं स्थापयेत् कूटयेच्च। स्वाङ्गशीतलं तं वत्सनाभतिन्तिणीफलाभ्यां, मिश्रयित्वा खल्वे विमर्दयेत्। मात्रा–गुञ्जैका। दधिभक्तं भोजनम्। शृङ्गबेराद्यनुपानेन त्रिदोषजा विषमज्वरा अग्निमान्द्यं ग्रहण्यतिसाराश्च नश्यन्ति (र. १२.६४.७३)

चिन्त्य–वि., कर्तव्यतया अकर्तव्यतया वा यन्मनसा चिन्त्यते तत् मनोविषयः (चशा. १–२०, न.)
इन्द्रियनिरपेक्षं मनो यद्गृह्णाति तच्चिन्त्यम्। यदि वा इन्द्रियगृहीतमेवार्थं यत् पुनरिन्द्रियनिरपेक्षं मनो गृह्णाति तच्चिन्त्यम् (चसू. ८–१६)

चिन्मय–वि., चैतन्यरूपम्; अतिसूक्ष्मम् (र. १.५५)

चिपिट–वि., चिपिटाकारम् (र. ४.१२)
पु., कीट० शकृन्मूत्रविषः (सुक. ३,५)
कफजकृमि० दर्भपुष्पमहापुष्पादीनां षण्णामेकतमः (सुउ. ५४.१२)

(चिपिटा)–स्त्री.. निष्पावी (रापरि. ७.१०० पृ. ३७६)
गुण्डासिनी (रापरि. ८.६६ पृ. ३६३)

चिपिटिका–स्त्री., चर्मचे(वे)ली। विशुष्यमाणत्वात्त्वचश्चर्मचे(वे)लीसंभवः। व्रणे शुष्का सूक्ष्मा श्वेता या उच्चटति त्वक्, सा चर्मचेली कथ्यते (सुसू. २३.१९)

चिप्प–न., नखमांसस्थः। प्रपाकी क्षुद्ररोग० लक्षणम्–नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च दाहपाकौ वेदनां च कुरुतः (सुनि. १३.२१) अङ्गुलिवेष्टकम् (सुनि. १३.२१. ङ.)

चिप्य–न., क्षुद्ररोग० चिप्पम् (सुचि. २०.९)
द्र० 'चिप्प'.
(पु.) पुरीषजकृमि० (सुउ. ५४.८)

चिबुक–न., शारीर० हन्वग्रभागः, षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गेष्वेकम् (चशा, ७.११) प्रमाणतस्तच्चतुरङ्गुलम् (चवि. ८.११७) ओष्ठाधोमांसास्थिपिण्डिका। तद् द्व्यङ्गुलप्रमाणम् (सुसु. ३५.१२)

चिमचिमा–स्त्री., सर्षपलिप्तवद् दुःखानुभवः (अहसू. १०.५)

चिमिचिम–न., वेदना० चिमचिमा (असंसू. ८.२६) द्र० ' चिमचिमा '.

चिमिचिमायन–न., परिव० वेदना० (चसू. १८.७ अहसू. ७.२१) द्र० ' चिमचिमा '.

चिर–अव्यय० चिरकालम् (असंसू. २०.२०)

–कारिता–स्त्री., दीर्घकालानुबन्धित्वम् (अहसू. १२.५४)

–कारित्व–न., कार्यादौ विश्रब्धत्वं चिरेण कार्यनिर्वर्तकत्वम् (असंसू. २०.२०)

–ग्राहिन्–वि., चिरेण बहुतिथकालापगमेनापि वैरादिग्रहणशीलः (सुशा. ४.७२)

–जीविका–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२७ पृ. १९५)

–जीविन्–पु., वनस्पति० जीवकः (ध. १.१२३ पृ. ३०)

–जीवी–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२७ पृ. १९५)

–तिक्त–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (र. १६.६७)

–निमेष–वि., रोगलक्षण० चिरं निमेषः अक्षिनिमीलनं यस्य सः (चशा. ८-२१)

–पत्रक–पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३ पृ. १९४.)

–पाकिन्– पु., वनस्पति० कपित्थः (ध. २.१०२ पृ. ९०.)

–पाली–पु., कुरुक्षेत्राद्दाक्षिणात्यदेशः (काखिल. २५.१३) रावणसेनापतेस्त्रिशिरोनामकस्य नाम्ना पूर्वं त्रिशिरःपल्लीति नामासीत्, तस्या एव समयवशेन त्रिचनापल्लीति नाम्ना प्रसिद्धिरभूत् (का. उपोद्घाते)

–पुष्प–वनस्पति० बकुलः (रा. १०–२६३ पृ. २०२)

–बिल्व–पु., वनस्पति० करञ्जः महाकषायवर्गे भेदनीयगणे लेखनीयगणे च एकं द्रव्यम् (चसू. ४.९)

–बिल्वक–पु., वनस्पति० पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०७ पृ. १९१)

–बिल्वाङ्कुर–पु., वनस्पति० करञ्जवृक्षस्याङ्कुरः दीपनः कफवातघ्नः सरश्च (असंसू. ७–१४६)

–सिद्ध–वि., अतिकालसिद्धम् (सुसू. ४६.४७७)

चिरटी–स्त्री., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५२)

चिरायुस्–पु., तालः (रा. ९.९३ पृ. १८२)

चिरिण्टी–स्त्री., वनस्पति० शंखपुष्पी (रा. ३.१७१; पृ. १५७)

चिरिपाली–पु., कुरुक्षेत्राद्दाक्षिणात्यदेशः (काखिल. २५.१३) द्र० ' चिरपाली '.

चिरिबिल्व–पु., वनस्पति० पूतिकरञ्जः (अहसू. ६.९८)

चिरीटी–स्त्री., प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७.७४)

चिरोत्थ–वि., चिरेण उत्था उत्थितिर्यस्य, बहुकालभवम् (सुउ. २१.५०)

चिरोत्थित–वि., दीर्घकालोत्पन्नम्, चिरकारीत्यर्थः (सुचि. ५.१४)

चिरोत्सृष्ट–वि., बहुकालं यावत्परित्यक्तम् (सु.चि २५.४)

(**चिरोत्सृष्टा**) वि., प्रभूतकालत्यक्ता (सुनि. १२.७)

चिर्भट–न., वनस्पति० त्रपुस० गौरक्षकर्कटी प्रवाहिकायां बहुस्नेहेन भोजयेत् (चचि. १९.३२) डङ्गरं मालवेषु प्रसिद्धम्; अतिप्रसिद्धं जालन्धरादिषु (अहसू. ६.८७) फलशाक० वर्चोभेदे हितकरम् (चसू. २७.११२) गुणाः—बालचिर्भटं पित्तहरं शीतं च (असंसू. ७.१३५) मधुरं रूक्षं पित्तकफापहम् (ध. १.१८०; पृ. ४३) बाल्ये चिर्भटा तिक्ता किञ्चिदम्ला पाके गौल्योपेता दीपनी च शुष्का रूक्षा श्लेष्मवातघ्नी जाड्यघ्नी रोचनी (रा. ७.२६४; पृ. ४३)

चिर्भिट–न., वनस्पति० चिर्भटम् (असंनि. १.१५)

(**चिर्भिटा**)–स्त्री., वनस्पति० चिर्भटम् (रा. ७.२६२ पृ. ४३)

चिर्भिटिका–स्त्री., वनस्पति० चिर्भटम् (रा. ७.२६२ पृ. ४३)

चिलिचिम–पु., मत्स्य० अयं मत्स्येष्वहिततमः (चसू. २५.३०)

चिलिचिमं पयसा सह नाभ्यवहरेत् (चसू. २६.८४)

शकली, लोहिताक्षः, सर्वतो लोहितराजिः प्रायो भूमौ चरति (सुसू. २०.८) कर्दमशैवालादौ (अगोचरे) यतो विचरति अतस्त्रिदोषकरो भवति (असंसू. ७.१०२)

चिल्ल–पु., प्रसहप्राणि० (ध. परि. १४)

चिल्लक–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३८)

(**चिल्लिका**)–स्त्री., वनस्पति० चिल्ली (रापरि. ७.६६) क्षेत्रवास्तुकम्

चिल्लट–पु., भूमिशयप्राणि० चियारः (चसू. २७.३८) बिलेशयप्राणि० (असंसू. ७.७६)

चिल्लि–पु., प्रसहपक्षि० चिण्डः, चिल्लः, शोषिणे हितः (सुसू. ४६.७४)

-मुख-न., स्वस्तिकयन्त्र० अस्थिविदृष्टशल्योद्धरणोपयोगि (सुसू. ७.१०)

चिल्ली-स्त्री., वनस्पति० शाक० क्षेत्रवास्तूकः (चसू. ४६.३३५)
गौडवास्तूकः (चसू. २७.९८) यवशाकम्, यवशाकान्तरम् (सुसू. ४६.२६१) रक्तवास्तूकम् (सुचि. ६.८)
श्वेतचिल्ली शुनकचिली इति प्रकार० (रापरि. ७.६६)

चिह्न-न., चिह्नयते लक्ष्यते अनेनेति चिह्नम्; रूपं, लक्षणम्। " तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम् " (चनि. १.९)

चीडा-स्त्री., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२ पृ. १२१)

चीन-पु., देश० तत्रस्था लोकविशेषाः चीना एव (चवि. १.१७)
धान्य० शालिभेदः (चनि. ४.५) कङ्गुतुल्यव्रीहिधान्य० शीत-स्निग्धादिषष्टिकात्पान्तरगुणः (चसू. २७-१४) षष्टिकभेदः (ड. सुसू. ४६.८) बन्ध० बहुभिश्चीनांशुकैः कृतो व्रणबन्धः स चाऽपाङ्गयोर्विधेयः (१८.१७; असंसू. ३८.४२)

-कर्पूर-पु., कर्पूर०गुणाः-चीनकः कटुस्तिक्तोष्ण ईषच्छीतः कफापहः कण्ठदोषहरो मेध्यः पाचनः कृमिनाशनः (रा. १२.६३ पृ. १०१)

-ज-न., खनिजधातु० तीक्ष्णलोहम् (रा. १३.३० पृ. २११)

-पट्ट-न.. व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम्। चीनदेश एवोत्पद्यते, तद्देशजनास्तु चीनयुगपट्टमिति वदन्ति। स च पत्रोर्णस्यैव भेदः (सुसू. १८.१६)

-पिष्ट-न., खनिजधातु० सीसकम् (ध. ६.२१; पृ. २०९)

-पिष्टक-न.. खनिजधातु० सीसकम् (ध. ६,२१; पृ. २०९)

चीनक-पु., निर्यास० चीनकर्पूरः (रा. १२.६३; पृ० १०१)
वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ६.९; पृ. २२५)

चीनाक-न., वनस्पति० वल्लीफलम्। 'चीणकम्' (अहसू. ६.८७)

चीनाकर्कटी-स्त्री., वनस्पति० कर्कटीफल० त्रपुस० गुणाः—रुच्या, शिशिरा, पित्तनाशनी, मधुरा, तृप्तिदा, हृद्या, दाहशोषापहारिणी (रा. ७.२६०; पृ. ४२)

चीर-न., वल्कलम् (र. २९.९४)

-पत्री-स्त्री., वनस्पति० चिल्ली (रापरि. ७.६६ पृ. ३५३)

-पर्ण-पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४ पृ. १९४)

-राज्य-न., जनपद० कुरुक्षेत्राद्—दक्षिणदेश० सोऽयमद्यत्वे म्हैसूरराज्येऽन्तर्भवति (कां. सं. उपोद्घाते) (काखिल. २५.१३)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० बिल्वान्तरः (रा. ८.३० पृ. ३५९)

चीरक-पु., जनपद० कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेश० (काखिल. २५.९)

चीरल्लि-पु., पक्षि० 'चील' 'चिल्ल' इति वा लोके (सुउ. ३५.६)

चीरिपत्र-पु., वनस्पति० कारवल्ली (रा. ७.२७८ पृ. ४५)

चीर्ण-वि., पारदसंस्कार०, ग्रस्तं कृतचारणं वा (र. ३०. १०६)

चुक्र-न., वनस्पति० गुणाः-अम्लपत्र, लघूष्ण, वातगुल्मनुत्, रुचिकृत्, दीपनं, पथ्यम्, ईषत् पित्तकरं च (रा. ७.६४; पृ. ३५२)
हिं.—चुका.
म.—चुका.
बं.—चुका.
आसुत० अम्लं, शुक्तम् (ध. ६.२४६ पृ. २५० अहसू. १७.३)

-(चुक्रा)-स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (ध. ५.३३ पृ. १७४)

-फल-न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४ पृ. ८९)

-वास्तूक-न., वनस्पति० चुक्रम् (रा. ७.६४ पृ. ३५२)

चुक्राम्ल-न., चिञ्चासारः (रा. ११.४१; पृ. १७५)
वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४३ पृ. ८९)

चुक्राह्वा-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४३ पृ. १७५)

चुक्रिका-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४३ पृ. १७५)
चिञ्चा (ध. ५.३३ पृ. १७४)
चुक्रम् (र. १०.८३)
आसुत० (रा. १५.२९२ पृ. २५०)

चुक्रीका–स्त्री., वनस्पति० चाङ्गेरीशाक०
(चचि. २४.१५१)

चुचुक–पु., वनस्पति०, शाक० फञ्जादिशाकवर्गोक्तमेकं शाकम् (रापरि. ७.९४: पृ. ३५५)

चुचुन्दरी–स्त्री., प्राणि० दीर्घतुण्डनखी सुगंधिमूषिका; चिचुंद्री इति लोके। मधुरा स्निग्धा शुक्रवर्धनी व्यवायिनी च (ध. ६.४३२ पृ. २७४)

चुञ्चु–स्त्री., वनस्पति० चञ्चः (रापरि. ४.१८ पृ. ३३६)

–पर्णिका–स्त्री., नाडीचभेदः, शाक० फञ्जीचिल्ल्यादिगणे (चसू. २७.१००)

चुञ्चु–स्त्री., पत्रशाक० नाडिकाकारपत्रः 'चुंचु' इति लोके। तद्गुणाः—पाके लघुर्जन्तुघ्नः पिच्छिलः व्रणिनां हितः, कषायमधुरः, ग्राही, त्रिदोषहरश्च (सुसू. ४६.२५१) पिच्छाबस्त्युपयुक्तं द्रव्यम् (सुउ. ४०.११३) कषायमधुरशाकवर्गे एकं द्रव्यम्
(सुसू. ४६.२४९)

चुण्टी–स्त्री., अबद्धकूपः 'भुआ' नाम नद्याः समीपे तत्कालकृता लघुकूपिका; गिरिपल्वलम्–पल्वलम् अखात इति (सुसू. ४५.४ ड.)

चुमचुमायन–न., वेदना० चुमुचुमायनम्
(ङ सुसू. ४२.१०) द्र० चुमुचुमायन

चुमुचुमायन–न., वेदना० सर्षपकल्कावलिप्तानामिवाङ्गानां वेदना (सुनि. १.२५)

चुम्बक–न., खनिजद्रव्य० कान्तलोहप्रकारः
(ध. ६.२९ पृ. २११)
कान्तलोहस्य पञ्चप्रकारेष्वेकम्। कान्तलोहं पञ्चविधं स्मृतम्–भ्रामकं, चुम्बकं, कर्षकं, द्रावकं, रोमकान्तं च (र. ५.८९)
पु., अन्यैकदेशग्राही पल्लवग्राही विद्वान्। कृपणः
(र. ६.८)

चुम्भल–न., वस्त्रचुम्बलं, पट्टमयः कोमलपिण्डः
(असंशा. ४.३८)

चुरु–पु., कफजक्रिमि० (चसू. १९.४ (९)

चुलुक–न., कवलः (र. १२.३७)

चुलुकिन्–पु., वारिशयप्राणि०, मत्स्यभेदः, सागरवराहः (चसू. २७.४०); प्राणि०, शिशुमारः
(चचि. २८.१२८)

चुल्लका–स्त्री., लोहे जातो रोग०, केषाञ्चिदोषधिद्रव्याणां कल्केन लोहे सञ्जाता तारत्वहेमत्वरूपा पतङ्गी कतिचिद्दिनानि स्थित्वा नश्यन्ती चुल्लकेति व्यपदिश्यते (र. ८.५१)

चुल्लिका–स्त्री., वनस्पति० शाक०, लोणिका
(र. १०.८३)

चुल्लुकी–स्त्री., मत्स्य०, चुलुकी, अस्या वसा मत्स्यवसानामग्र्या (चसू. २५.३८)

चूचुक–न., शारीर०, स्तनाग्रभागः
(सुचि. १७.४७; असंशा. ७.१३)

–आकृति–वि., चूचुकाकारम्, स्त्रीकुचाग्रसमाकारम्
(अहसू. २५.२६)

चूचू–पु., वनस्पति० नाडीकाकारपत्रः चुञ्चू शाकवर्गे श्रेष्ठ
(डसुसू. ४६.३३५)

चूञ्चू–पु., वनस्पति० नाडिकाकारपत्रः चुञ्चू शाकवर्गे श्रेष्ठः (सुसू. ४६.३३५)

चूडा–स्त्री., शिखा (कासू. २१)

–करण–न., चौलम्, बालस्य प्रथमकेशकर्तनम्। षोडशसंस्कारेष्वष्टमः संस्कारः (कासू. २१)
तृतीये वर्षे चौलम् (आश्व. गृह्यसूत्रम् १।१७।१)
सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्
(पारस्करगृह्यसूत्रम् २।१।१)

–करणीय–वि., अध्याय० चूडाकरणं नाम चौलमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (कासू. २१)

–मणि–पु., वनस्पति० काकमाची०
(ध. ४.२९ पृ. १४०)

चूडाम्ल–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम्
(रा. ६.१४४ पृ. ८९)

चूडाला–स्त्री., वनस्पति० सुस्था (रा. ६.६१ पृ. १५)

चूत–पु., वनस्पति० आम्रः (ध. ५,१ पृ. १६९)
आम्रवृक्ष०, स च वसन्ते पुष्पितो भवति (सुसू. ६.२७) "अपुष्पफलवानाम्रः पुष्पितश्चूत उच्यते। पुष्पैः फलैश्च संयुक्तः सहकारः स उच्यते"
(ध. ५.१ पृ. १६९)

चूतास्थि–न., आम्रफलास्थि (र. १६.११०)

चूरु–न., पुरीषज–कृमि०, सप्तानाम् अजवावियवादीनामन्यतमः (सुउ. ५४.८)

चूर्ण–पु., न., सुपिष्टं वस्त्रगालितं शुष्कं द्रव्यम्
(चचि. १.४७; सुसू. ३७,११)
कल्क० (असंक. ८) सुधा, चन्यताम्बूलपत्रसहितद्रव्येष्वेकम् (सुचि. २४.२१; र. १२.३८)
क्षार०, ताम्बूले समुपयुक्तानि क्षारापराभिधानानि चूर्णानि—अर्जुनवृक्षजमर्काह्वयं, कुटजं, करञ्जजं, जलजं, मौक्तिकं, शैलाह्वयं, स्फाटिकयं, शुक्त्यादिजं च
(ध. ३ परि. २०)

कङ्कोलकम् (ध. ३.३७ पृ. १०२)

-पारद-न., खनिज० हिङ्गूलम् (ध. ६.४० पृ. २१४)

-प्रकुञ्च-पु., चूर्णस्य मुष्टिः । कराङ्गुलिचतुष्कमूलावधिमितं चूर्णम् (सुसू. ४३.३)

-प्रयोग-पु., चूर्णस्य नानाकर्मसु योजना ग्रहण्यामविकारेषु व्रणावर्त्मज्ञनादिषु च (काखिल. ३.३६) असृक्स्थापनाय चूर्णस्य उपयोजनम् (असंसू. ३६.१०) असृक्स्रावणाय चूर्णानि (असंसू. ३६.१०); अञ्जनार्थम् (असंसू. ३२.९); प्रतिसारणार्थम् (असंसू. ३१.१३) नस्यार्थम् (असंसू. २९.५)

-बस्ति-पु., आस्थापनबस्ति० स शूलादिविकारेषूपयुक्तः (काखिल. १८.४८)

-वज्र-न., वैक्रान्तम् (रा. १३.५० पृ. २१५)

-शोधन-न., व्रणशोधनकल्प० कासीसादिकम् (सुचि. १.६२ ङ)

चूर्णक-पु., षष्टिकशालिभेदः (सुसू. ४६.८)

चूर्णः, सुधा (चइ, १०.१९)

अरिष्टलक्षण० निरतिशयं रुग्णस्य दन्तेषु श्वेतक्षारसदृशः सुधासदृशो वा मलः सञ्चितो दृश्यते (चइं. १.२१)

चूर्णाञ्जन-न., योग० चूर्णस्वरूपमञ्जनम् । चूर्णाञ्जनद्रव्याणि समुद्रफेनः, सैन्धवं, शङ्खो, मुद्गः, शुक्लमरिचम् एतेषां चूर्णैरञ्जिते नेत्रे कण्डूरक्लिन्नवर्त्मानि च विनश्यन्ति (सुउ. १२.५१) तस्य प्रमाणं-शलाकाद्वयं लेखनचूर्णस्य, तिस्रो रोपणस्य, चतस्रः प्रसादनस्य इति (सुउ. १८.६० ८५-९३)

चूर्णायस्कृति-स्त्री., योग० चूर्णयुक्ता अयस्कृतिः (चचि. १३.७३)

चूर्णित-वि., बहुधा खण्डीकृतम् (सुसू. १८.३०)

न., काण्डभग्नस्य प्रकारः, क्षुण्णमस्थि तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम् ; चूर्णितं भग्नम् (सुनि. १५.१०)

वि., व्रणभेदः अस्थिसमाश्रितो व्रणः (अहसू. २९,६८)

चूलिका- स्त्री., लवण० चुल्लिकालवणं नवसागरः (र. ३०.८)

-पटु-न., लवण० नवसागरः (र.१२.७६)

-लवण-न., लवण० नवसागरः (र. ४.६७ र. १०.६९ रा. १४.१; र. ३. १४२)

चूलिनी-स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२७ पृ. १९५)

चूषण-न., कर्षणम् चूषणं पानम्, लक्षणया पानार्थं मुखेन पेयद्रव्याकर्षणमपि चूषणपदवाच्यमिति अवधेयम् (अहसू. २५.२६)

आचूषणयन्त्रं शृङ्गादि (अहसू. २८.३५)

चेतकी-स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५ पृ. ४९)

चेतन-न., ज्ञानवत् चेतति संजानीते इति चेतनः (चसू. १.४७)

(चेतना)-स्त्री., चैतन्यम् (असंशा. २.१६)

ज्ञानकारणम् आत्मा (चशा. ६.४)

-च्युति-स्त्री., लक्षण० चित्तनाशः (सुउ. ३९.३७)

-धातु-पु., भूतात्मा (चशा. ४.८) आत्मा (चसू. २५.९ ; सुशा. ३.१८) केवलश्चेतनः पुरुषः पुरि शरीरे शेते इति व्युत्पत्त्या य आत्मा पुरुषशब्देनोच्यते सः (चशा. १.१६; २.३२) ज्ञानाधिकरण आत्मा (चसू. ११.१३)

-निबन्ध-न., वैशेष्यचेतनाधातोर्मर्मसु विशेषेण निबद्धत्वम् (चसि. ९.३)

-वत्-पु., चेतना ज्ञानं तद्वान्, चेतनायुक्त आत्मा पुरुषो वा (सुशा. १.९; चशा. ४.८)

वि., सेन्द्रियं (द्रव्यम्) (चसू. २६.१०)

-स्थान-न., संवेदनास्थानम् । हृदयम् । संवित्स्थानम् (सुशा. ४.३१)

चेतनाधिष्ठान-वि., चेतनाया अधिष्ठानं चेतना अधितिष्ठति अस्मिन् इति चेतनाधिष्ठानम्, हृदयमित्यर्थः (चशा. ७.८)

चेतनाधिष्ठानभूत-वि., चेतनस्य आत्मनः अधिष्ठानभूतं शरीरम् (चशा. ६.४)

चेतनानुवृत्ति-स्त्री., चैतन्यसंतानः चेतनायाः प्रवाहसातत्यमित्यर्थः (चसू. ३०.२२)

चेतनिका-स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (रा. ११.३०६)

चेतनीया-स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७ पृ. ३४)

चेतयितृ-पु., चेतनः, साक्षी, पुरुषः । चेतनपुरुषसंसर्गादचेतनमयव्यक्तं चेतनावदिव 'अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्, इति सांख्यकोशोऽनुसन्धेयो भवतीति पुरुषश्चेतयिता (सुशा. १.८)

चेतस्-न., मनः (चसू. ८.४ असंनि. २०.४२)

-समवायिन्-वि., मनःसंबंधि (चसू. ११.३८)

(चेतो-) विकार–पु., उन्मादादिमानसिकविकारः (सुचि. ४०.४६)

चेतिका–स्त्री., वनस्पति० जाती (ध. ५. १३७ पृ. १९८)

चेल–न., वस्त्रम् (चशा. ८.२४)

चेष्टा–स्त्री., क्रिया (चशा. ६.७)
व्यापारः (चसू. ८.४)
कायपरिस्पन्दः (ड. सुसू. २.३)
चलनात्मकं कर्म, वायवीयो भावः (सुशा. १.९)
कायवाङ्मनोव्यापारः (अहसू. ११.१)
प्रसारणाकुञ्चनविनमनोन्नमनतिर्यग्गमनानि पञ्च चेष्टाः । अन्ये तु गतिप्रसारणोत्क्षेपणनिमेषोन्मेषैः पञ्चभिः प्रकारैः पञ्चधा । प्राकृतव्यानस्य कर्म (सुनि. १.१८)

–निवृत्ति–स्त्री., क्रियात्यागः (अहसू. २८.८)

–प्रचार–पु., शयनपरिवर्तनादिगतिः (सुसू. १९.६)
आकुञ्चनप्रसरणादिका क्रिया (सुचि. ३.७०)

–प्रणाश–पु., लक्षण० चेष्टानां प्रणाशः (चसू. १७.५९)

चेष्टाहारव्यपाश्रय–वि., चेष्टाहारगोचरम् । चेष्टाहारविषयम् (चसू. ६.३)

चेष्टित–न., कार्यम् (सुचि. ३८.१६)

चेष्टोपघात–पु., चेष्टाहानिः (सुशा. ६.२६)

चैतन्य–न., चेतना, ज्ञानम् (चसू. १.५६)

चैत्य–न., रचितमायतनं चित्यस्य इदम् इति चैत्यम्
वैदिकबौद्धजैनादीनाम् (चइ. १२.२८)
पु., न., ग्रामदेवताश्रयो महातरुः (चचि. २३,१५९ चसू. ८.१९)
देवालयः, वेदिः यज्ञस्थानम् (चक. १.९)
बौद्धालयः (सुशा. १०.३ चनि. ७.१४) (अहसू. २.३३)
श्मशानवृक्षः (सुचि. २४.९२)
चिता (असंसू. ३.४५)

–द्रुम–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.८० पृ. १८५)

चैत्ररथ–न., उद्याननाम; गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्येदं वनम् (चसू. २६.६)

चैलवेणिका–स्त्री., वस्त्रपट्ट० (अहसू. २२.२९)

चैलिक–न., कर्पटम् (१८.४३)

चोक्ष–वि., निर्मलम् (असंउ. ४)

चोच–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०; पृ. ७९ सुचि. १७.१५; असंसू. १६.३७) (अहसू. १५. ४३; र. २१.१९०–९७)
त्वग्भेदो, वनवासिका त्वक् । सुगन्धद्रव्य० (सुसू; ३८.२४)
स्थूला त्वक् यां शाल्मकमित्याचक्षते (सुक. ६.३)
नारिकेलफलम् (अहसू. ८.४५; ३.३१)
पनसफलम् (अहसू. ३.३१)

चोर–पु., कुरुक्षेत्राद्दक्षिणदेश०, 'चोरः, चोलः' इत्येक एव । पद्मपुराणे चोलस्य द्रविडदेशे उल्लेखोऽस्ति । ग्रैसुरस्य दक्षिणतः कावेरीसरित्तीरवर्ती " तंजोर " इति साम्प्रतिकप्रदेशविशेषविख्यातः (काखिल०, २५.१३)

–पुष्प–न., वनस्पति०, यवानीपुष्पम्; ग्रन्थिपर्णः (र. १६.६८)

चोरक–पु., वनस्पति०, चोरपुष्पिका, शिरोरुजायां प्रदेहे उपयुज्यते (चसू. ३.२४) संज्ञास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८) गन्धद्रव्यमेतत् (सुसू. ३८.२४; चक. १.२३) विषघ्नं द्रव्यम् (सुक. ५.८४) महापैशाचिकघृते एकं द्रव्यम् (चचि. ९.४५) गुणाः—शिशिरस्तिक्त उग्रगन्धो, विषघ्नो, रक्तदोषघ्नः कुष्ठकण्डूव्रणकृमिसमीरजित् (ध. ३.७१; पृ. १११) उष्णो, वातकफापहो नासामुखरुजाजीर्णकृमिदोषविनाशनः (रा. १२.१२९; पृ. ११०)

–पत्र–पु., वनस्पति० लाक्षावृक्षः (सुसू. ३८.४८)

चोल–पु., देश० द्र० 'चोर' (काखिल २५.१३)

चोष–पु., चूष्यमाणस्येव वेदना० (सुउ. ४३.७)
आकृष्यमाणस्येव दाहप्रकारः (सुचि. ३७.६७)
पिपासा (सुसू. २२.११.१७.५)

–कुञ्ची–स्त्री., वनस्पति० एला (रा. ६.६९ पृ. ७८)

चोषण–न., क्रिया०, विपरीतरतजन्यदाहोपशमनार्थं पुरुषेण आदौ लिङ्गं वस्त्रादिना निबध्य चूषणीयम् (र, २५.७०)

चौक्ष–वि., शुचि, शुद्धम् (चचि. ९.२१)

चौक्षाचार–वि., चौक्षः शुचिः आचारो यस्य सः

चौण्ड्य–वि., अबद्धकूपश्चण्टी, तस्योदकं तत्र भवं वा चौण्ड्यम् । चौण्ड्यं चौण्डं वा । तत्तु प्रावृषि पिबेत् (सुसू. ४५.८)
चौण्ड्यजलं–चुण्टीभवं पानीयं तत्तु अग्निकरं, रूक्षं मधुरं, कफकृन्न च । 'शिलाकीर्णं स्वयं श्वभ्रं नीलाञ्जनसमोदकम् । लतावितानसंच्छन्नं चौण्ड्यमित्यभिधीयते' (सुसू. ४५.३४)

चौण्ड–वि., चौण्ड्यजलं; पर्वतादौ पाषाणनिम्नस्थितमुदकं त्रिदोषहरम् (असंसू. ६.१२)

चौण्ड्य–वि., चौण्ड्यम् (असंसू. ६.१२)

चौरक–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८ पृ. ११०)

चौहार–(पु.) वनस्पति० यवानीविशेषः, यवानिका जन्तुनाशन इत्यपरपर्यायः । तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णो वातश्लेष्मघ्नः श्रेष्ठो, दीपनो, दन्तरोगगुल्मोदर-शूलाऽर्शआध्मानकृमिच्छर्दिघ्नो विशेषात्कृमिनाशनः (ध. २.९३; रा. ६.१४२)

च्यवन–पु., ऋषि०, योगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः । च्यवनप्राशनामकरसायनस्य प्रथममुपयोगं कृत्वा स सुवृद्धोऽपि पुनर्युवाऽभूत् (चचि. १.७२)

न., (पार्श्वतः) स्खलनं संधीनाम् (चइ. ३.४) स्रावः । शीघ्रत्वेनावस्रंसनम् (सुसू. १५.५ (१)

–प्राश–पु., रसायनयोग०, तस्य पाठः–बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिर्बला चतस्रः पर्ण्यः, पिप्पल्यः, श्वदंष्ट्रा, बृहतीद्वयं, शृङ्गी, तामलकी, द्राक्षा, जीवन्ती, पुष्करागुर्वभयाऽमृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ, शटी, मुस्तं, पुनर्नवा, मेदा, एला, चंदनमुत्पलं, विदारी, वृषमूलं, काकोली, काकनासिकेत्येतेषां पलोन्मितान्भागान्ग्राहयेत् । चतुःशतभागान् आमलकस्य ग्राहयेत् । तदैकध्यं जलद्रोणे विपाचयेत् । एतान्यौषधानि गतरसानि ज्ञात्वा तं रसं गृहीत्वाऽऽमलकं निष्कुलं कृत्वा तैलसर्पिषोः पलद्वादशके भृष्ट्वा, मत्स्यण्डिकाया अर्धतुलां दत्वा लेहं साधयेत् । सिद्धशीते लेहे षट्पलं मधुनः प्रदापयेत् । तुगाक्षीर्याश्चतुष्पलं, पिप्पल्या द्विपलं, त्वगेलापत्रकेशराणां प्रत्येकमेकं पलं निदध्यात् । च्यवनप्राशः रसायनः कासश्वासहरः क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानामङ्गवर्धनः, स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितं, पिपासां, मूत्रशुक्रस्थान्दोषानपकर्षति । अस्य सेवनेन मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वम् आयुःप्रकर्षं इन्द्रियबलं, स्त्रीषु प्रहर्षम्, अग्निवृद्धिं, वर्णप्रसादं, वातानुलोम्यं, जरानाशं नवयौवनं च प्राप्नुवन्ति (चचि. १.६२–७४)

च्यावन–वि., विस्रावणः (चसू. २६.४३ (३) (परिव०) च्युतिः पातनम् (काखिल. १०.२३; सुनि. ८.३.

–मन्त्र–पु., गर्भपातनमन्त्रः (सुचि. १५.५)

च्युत–वि., स्खलितं स्थानादधोगतम् (सुशा. ३.४ सुसू. ४५.११२) लम्बितं, विश्लिष्टं, सन्धिमुक्तप्रकारः (सुनि. १५.१२)

च्युतांस–वि., च्युतौ स्थानाद् भ्रष्टाविवांसौ यस्य सः (चइं. १२.४)

छ

छगण–न., गवादिपशूनामार्द्रो मलः (र. ३.४१)

छगल–पु., प्राणि० छागः अजः इति यावत् (र. २०. ५५); ग्राम्यपशुष्वेकः पशुः । तद्गुणाः–नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफोऽनभिष्यन्दी पीनसनाशनश्च (सुसू. ४६.८७)

छगलान्त्रिका–स्त्री., वनस्पति० बस्तान्त्रिः (ध. १.१ पृ. ६८)

छगलान्त्री–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारकभेदः बृक्षभेदः, श्यामादिगणे निर्दिष्टा (सुसू. ३८.२९) तस्याः पत्राणि शाकत्वेनोपयुज्यंते । चुक्रवादिशाकवर्गे निर्दिष्टा (सुसू. ४६.२४९) अस्याः मूलं ग्राह्यम् । विरेचनद्रव्येषु निर्दिष्टा (सुसू. ३९.४)

छगलाम्बु–न., छागमूत्रम्, अजामूत्रम् (सुउ. ५२.२२)

छत्र–पु., वनस्पति० भूतृणम् (ध. ४.४७०; रा. ८.४२ पृ. १४३.३६०)

न., आतपत्रम् (असंउ. ४२)

(छत्रा)–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.२ अहसू. २९.३१ पृ. ६९)

मिश्रेया वनस्पति० (रा. ४.६ पृ. ६९ असंसू. ३८.२३ चचि. ९.४६)

द्रोणपुष्पीभेदः वनस्पति० (सुसू. १९.२९)

धान्यकम्, वनस्पति० (असंउ. ९)

कोकिलाक्षः वनस्पति० (चवि. ८.१३९)

महौषधि० सोमसमवीर्या महौषधिः । एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा । छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे ॥ तस्याः उत्पत्तिस्थानं काश्मीरस्थं दिव्यं क्षुद्रमानसं नाम सरः (सुचि. ३०.१४ ३२.३३)

–गुच्छ–पु., वनस्पति० गुण्डः (रापरि. ८.६० पृ. ३६२)

–जारि–स्त्री., शाक० करीषपललादिजा बहवो जातयो ज्ञेयाः । इयं जातिः शीता, पीनसकर्त्री मधुरा गुर्वी च (चसू. २७.१२३)

-धान्य–न., वनस्पति० धान्यकम् (ध. २.६३ पृ. ८२)

-धारण–न., छत्रस्य धारणम्। तस्य गुणाः–वर्षा-निलरजोघर्महिमादीनां निवारणम्। वर्ण्यं चक्षुष्य-मौजस्यं शंकरं छत्रधारणम् (चसू. ५.५०१; सुचि. २४.७६) वर्ण्यं नेत्रहितं वातवर्षातपापहम् (असंसू. १२.९४)

-पर्ण–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (ध. ३.८०; पृ. ११२)

-पुष्पक–पु., वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८ पृ. २०२)

छत्रकी–स्त्री., लक्षण० नैकवर्णा छत्रनिभा तारा दृष्टिर्वा (असंउ. १७.२४०)

छत्राक–पु., वनस्पति० जालबर्बुरः गुणाः–शीतं गुरु मधुरं नातिवातलं पीनसकरं च (चसू. २७.१२४) (रापरि. ८.१४; पृ. ३५७)

न., शाक०, शिलीन्ध्रः, (र. ३०.९३)

हिं.—सांपकी छत्री, कुकरमुत्ता.

म.—आळंबें, अळंबी.

(छत्राकी)–स्त्री. वनस्पति० गन्धनाकुली (ध. ४.१०५ पृ. १५५)

छद–पु., न., वृक्षस्य पत्रं यथा निम्बच्छदम्

छदन–न., वृक्षस्य पत्रम् (सुनि. १७; असंचि. २.५१) तमालपत्रम् (ध. २.५२ पृ. ८० सुउ. ५१.५०)

छद्मा–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१७; पृ. १०)

छद्मिका–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.२; पृ. ८)

छद्मोपसिद्ध–वि., छद्मना व्याजविशेषेण सिद्धं (**मांसं**) जुगुप्सानिवारणार्थमस्य प्रयोजनं वर्तते (चचि. ८.१५७)

छन्द–पु., अभिलाषः (सुसू. ४६.४१८) इच्छा.

छन्दानुवर्तिन्–वि., चित्तानुगुणकारी (अहसू. १३.७)

छर्दन–पु., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४४; पृ. १३)

मदनः (ध. १.१६८ पृ. ३९)

न., वमनम् (चसू. १.७९ सुउ. ४९.१६) (चइ. ९.७ चनि. ६.१४ सुउ. ४२.१०४)

-गण–पु., वमनगणः (अहसू. १५.१)

छर्दासनिका–स्त्री., वनस्पति० कर्कटी (रा. ७.२५२ पृ. ४१)

छर्दि–स्त्री., लक्षण० वान्तिः वमनम् (चचि. २०.५) आमाशयात् मुखमार्गेण दोषाणां बहिर्गमनम्। रोग० निरुक्तिः–दोषो वेगैराननं छादयन् अङ्गभङ्गनैः अर्दयन् वक्त्राद्बहिर्निश्चरतीति छर्दिः (सुउ. ४९,६) अन्तर्मार्गज एको रोगः (चसू. ११.४९)

संप्राप्तिः—वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन्। आमाशयोत्क्लेशकृतांश्च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत् (चचि. २०.७) व्यानेन सह एकीभूत उदानो विरुद्धाहारसेवनाद् वृद्धान् दोषानुदीरयन् भृशमूर्ध्वमागच्छति (सुउ. ४९.७)

संख्या–वातजा–पित्तजा–कफजा–सन्निपातजा–द्विष्टार्थजेति पञ्चविधा। (चचि. २०.६ असंनि. ५. ३०) पूर्वरूपम्–प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम्। अशने द्वेषः (सुउ. ४९.८ चचि. २०.६) सामान्यरूपम्–उत्क्लेशाऽऽस्यलावण्यप्रसेकाऽरुचयश्च सर्वास्वपि छर्दिषु भवन्ति। वातजा–अस्यां वायुर्नाभिं पृष्ठं च रुजन् आहारमुत्क्षिपेत्। ततोऽल्पाल्पं विच्छिन्नं फेनिलं कषायं च वमति। तथा शब्दोद्गारयुतं कृष्णमच्छं कृच्छ्रेण वेगवच्च भवति। कासास्यशोषो हृत्पीडा मूर्धपीडा, स्वरपीडा क्रमश्च भवन्ति। पित्तजा–क्षारोदकनिभं धूम्रं हरितपीतकं सासृगम्लं कटूष्णं च वमति तृष्मूर्च्छा दाहतापाश्च भवन्ति। कफजा–स्निग्धं घनं श्वेतं श्लेष्मतन्तुगवाक्षितं मधुरं लवणं भूरिप्रसक्तं लोमहर्षणं च वमति। मुखश्वयथुमाधुर्यतन्द्राहृल्लासकासाश्च भवन्ति। सर्वजा–सर्वदोषलिङ्गा भवति। छर्दिर्वेगवती मूत्रशकृद्गन्धिः सचन्द्रिका। सास्रविट्पूयरुक्कासश्वासवत्यनुषङ्गिनी॥ सा असाध्या (असंनि. ५) द्विष्टार्थयोगजा बीभत्सजा वा–द्विष्टाशुचिपूत्यमेध्यादिकाद् घृणाकरात् जाता छर्दिः अस्यां यथादोषलक्षणं जानीयात्। दौहृदजा–दौहृदविमाननाज्जाता, अन्ये च गर्भनिमित्तामाहुः। अस्या लक्षणानुसारेण तद्दोषजत्वं परिकल्पनीयम्। आमजा–विसूच्यादिजाता छर्दिः। लक्षणानुसारेणाऽस्यास्तत्तद्दोषजत्वं परिकल्पयेत्। सात्म्यप्रकोपजा अकस्मात् सात्म्यत्यागाज्जाता छर्दिः। कृमिजा–कृमिजन्या छर्दिः (सुउ. ४९.१२); तस्या लक्षणानि–शूलवेपथुहृल्लासाः कृमिहृद्रोगलक्षणानि च भवन्ति (असंनि. ५) कृमिहृद्रोगलक्षणानि–श्यावनेत्रता, तमःप्रवेशो, हृल्लासः, शोषः, कण्डूः, कफस्रुतिः, प्रततं हृदयं क्रकचेन दार्यत इव। बीभत्सजा, दौहृदजा, आमजा, सात्म्यप्रकोपजा, कृमिजा इति छर्दिभेदाः कैश्चित्कृताः। परम् अनेकप्रकारापि एकैव पञ्चमी छर्दिरिति सुश्रुतः, पञ्चस्वपि छर्दिषु यथास्वलक्षणैर्दोषं विजानीयात्। असाध्या–क्षीणस्योपद्रवयुक्ता-

ऽसृक्पूययुक्ता, सचन्द्रिका प्रसक्ता च। सामान्यचिकित्सा–सर्वाश्छर्दयो यत आमाशयोत्क्लेशभवाः सन्ति तस्मात्तास्वनशनरूपलङ्घनमेवादौ हितकरं भवति। लङ्घनं बलिनो हितम् (सुउ. ४९.१२–१५) चिकित्सा–छर्द्यां योगाः (सुउ. ४९.२७–३५) बीभत्सजां छर्दिं हृद्यतमैर्द्रव्यैः शमयेत्। दौहृदीं छर्दिं काङ्क्षितैः फलैर्जयेत्। लङ्घनैः वामनैश्च आमजां छर्दिं जयेत्। हृद्रोगवत्कृमिजछर्द्यां चिकित्सां कुर्यात् (सुउ. ४९.२५–२६) आहारादिपथ्यम्–वमनादिशोधन–पेयादिक्रमानंतरं लघु परिशुष्कं सात्म्यमन्नं देयम् (सुउ. ४९.१७); संदर्भाः–(चसू. ११.); (चचि. २०); (चचि. ८.६२); (चनि. १.२७); (चसू. १६.७); (चशा. ४.१६); (सुउ. ४९); (सुशा. ३.१५); (असंशा. ११.); (असंनि. ५); (कासू. २५).

–घ्न–पु., वनस्पति० किराततिक्तः
(ध. १.३४ पृ. १४)

–चिकित्सित–न., अध्याय० (चचि. २०.१)

–निग्रहज–वि., छर्दिनिग्रहाज्जातो (रोग); यथा कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्डुामयज्वराः कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्च (चसू. ७.१४)
द्र० 'उदावर्त'

–निग्रहण–वि., छर्दिघ्नम्। छर्दिं निगृह्णाति हन्ति इति छर्दिनिग्रहणः महाकषायवर्गे एको गणः
(चसू. ४.१४)

–प्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ४९.१)

–विघात–पु., छर्द्यांघातो रोगहेतु० छर्दिविघातजो रोग० उदावर्ताख्यः (सुउ. ५५.१४)

छर्दिका–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रांता
(ध. ४.११५; पृ. १५७)

छर्द्यांघात–पु., छर्दिविघातः (सुउ. ५५.३१)

छल–न., वचनविघातः छलं नाम परिशठमर्थाभासमपार्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव (चवि. ८.५६) वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या च्छलम्
(चक्र. चवि. ८.५६)

छल्ल–न., वल्कलम् (सुनि. १५.१०)

छल्ली—स्त्री., वनस्पति० वृक्षविशेषः स्वनामख्यातः
(असंउ. २)

छवि–स्त्री., प्रभा, कान्तिः (असंसू. ३१.१४; र. २.६२)

छाग–पु., ग्राम्यपशु० अजः (असंसू. ६.११४)
(ध. वर्गेतराणि १६; पृ. २८७)

–कर्ण–पु., वनस्पति० सर्जः (असंसू. १६.१३)

–पयस्–न., अजादुग्धम्
(चसू. २७.२२२ ध. ६.१६७ पृ. २३९ चचि. १९.७१)

–मूत्र–न., अजामूत्रम्
(सुसू. ४५.२२३, असंसू. ६.१४४)

–यकृत्प्रयोग–पु., योग० नक्तान्ध्यचिकित्सायां मगधासमन्वितं छागयकृत् हुताशने विपाच्य भक्ष्यमाणं नक्तान्ध्यं निहन्ति (सुउ. १७.२५)

–लोह–न., अजरुधिरम् (र. २९.३९)

छागल–पु., "द्र० छागः" (र. ३.८०)
छागसम्बन्धि (र. १०.७९)

–पञ्चक–न., आजपञ्चकम्। यथा–अजायाः मूत्रं दधि, दुग्धं, घृतं, शकृद्रसश्चेति (र. १०,७९)

छागलान्त्रिका–(स्त्री.,) वनस्पति० वृद्धदारुकः
(ध. ४.१०७; पृ. १५५)

छागलान्त्री–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुकः
(ध. ४.१०७; पृ. १५५)

छागान्तराधि–पु., अवयव० छागस्य शरीरमध्यम्
(चचि. १४.२०९)

छागिका–स्त्री., ग्राम्यपशु० अजा (र. १०.८८)

छाण–न., छगणम् (र. ७.१८)

छात्र–न., मधुप्रकार० पीतका, पिङ्गला यत्कुर्वन्ति छत्रकाकारं हैमवते वने मालववने च तच्छात्रम (मधु)। अष्टौ मधुजातयः–पौत्तिकं, भ्रामरं, क्षौद्रं, माक्षिकं, छात्रं, आर्घ्यमौद्दालकं दालं च (सुसू. ४५.१३३) छात्रमधुगुणाः–स्वादुपाकं, गुरु, हिमं, पिच्छिलं, रक्तपित्तजित्, श्वित्रमेहकृमिघ्नं च (सुसू. ४५.१३७)

छादन–न., आच्छादनम् (चचि. २५.४१)
पु., वनस्पति० आर्तगलः (सहचरभेदः)
(रा. १०.४१७ पृ. ६४)

छादयत्–वि. पूरयत् (सुउ. ४९.६)

छाया–स्त्री., आतपाभावः आतपस्थितानां वृक्षादीनां स्वाकृत्यवच्छिन्नातपाभावः (चचि. १.३९; सुसू. ३४.५; सुचि. २४.८६)
प्रकाशस्थितानामपि वृक्षादीनां वा स्वाकृत्यवाच्छिन्नप्रकाशाभावः

दर्पणगतं प्रतिबिम्बम् (चचि. ९.१८)
वर्णः प्रभा (चसू. २४.३६) " वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी । आसन्ना लक्ष्यते च्छाया प्रभा दूराच्च लक्ष्यते " (चइं. ७.१६)
वर्णप्रभाश्रयं प्रतिच्छायास्वरूपं वा रूपविशेषः । (चवि. ४,७) छाया पञ्चविधा–तत्र आकाशाद् अमलखड्गाकाशनीलनिर्मला सस्नेहा सप्रभेव । वातात्पांशुभस्मरूक्षारुजोऽरुणा श्यावा निष्प्रभा स्वेदमलगन्धिः । तेजसो हुतहुताशविद्युत्तप्ततपनीयरक्ता दृष्टिसुखा । अम्भसो वैदूर्येन्द्रनीलविमला घना सुस्निग्धा । भुवो रुचिराभा घना स्थिरा स्निग्धा शुद्धा, श्यामा श्वेता च । तासां वायव्या विनाशाय क्लेशाय चातिमहते, शेषास्तु सुखोदयाः । (असंशा. ९.६ ; चइं. ७,१०)
(सुसू. ३१ ; चइ. ७)
पोगरलोहविशेषः । अत्र पाठभेदोपलब्ध्या ' छाया ' पदम् (र. ५.७८)

-विप्रतिपत्ति–स्त्री., अध्यायसंज्ञा० छायावैकृतम् विप्रतिपत्तिर्विपरीतावबोधः (सुसू. ३१.१) छाया पञ्चविधा–स्निग्धा विमला रूक्षा मलिना संक्षिप्ता इति । वर्णश्चतुर्विधः—गौरः, कृष्णः, श्यामः, गौरश्यामः । प्रभा सप्तविधा–रक्ता, पीता, सिता, श्यावा, हरिता, पाण्डुरा, असिता इति
(सुसू. ३१)

-विवर्तन–न., (परिव.) छायायाः अन्यथा भवनं छायावैकृतमित्यर्थः, छायाविषयकरिष्टलक्षणम्
(चइ. ७.७)

-विशुष्क–वि., छायायां शुष्कम्
(सुउ. ६२.३२)

-शुष्क–वि., छायायां शुष्कम् (सुउ. १७.१८ ; चचि. २३.१०४)

छासि–न., तक्रम् (ध. ६.२११ पृ. २४६)

छिद्र–वि., अवकाशः, स्रोतः, रन्ध्रम् (सुशा. १.१९ ; चशा. ७.१२ ; चइ. ८.२० ; चचि. ४.१६)
अस्य शब्दस्य दैवादित्वेन दैवादिशब्देषु एव संनिवेशः साधुः । दैवकृतं छिद्रम्–नेत्रे कर्णपाल्यां च सिराजालवर्जितं शास्त्रनिर्दिष्टं स्थानम् (सुउ. १७.५९; सुसू. १६.३) दैवकृते छिद्रे इति दैवेन कर्णव्यधार्थं सूर्यालोकदृश्यमानप्रतनुप्रदेशरूपं सिरादिभी रहितं, निर्लोहितागमनं च छिद्रं कृतमस्तीति भावः (सुसू. १६.३)

-प्रहारिन्–वि., छिद्रेषु प्रहर्तुमस्ति शीलमस्येति छिद्रप्रहारी (चशा. ४.३८. (२)

-वैदेही–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली
(रा. ६.११७ ; पृ. ८५)

छिद्रान्त–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८.२२२; पृ. १६२)

छिद्राफल–न., भैषज्यद्रव्य० मायाफलम्
(रापरि. ६.२२ पृ. ३४६)

छिद्रिन्–वि., सच्छिद्रः कृमिकृतच्छिद्रः (दन्तः)
(सुनि. १६.२९)

छिद्रोदर–न., रोग० उदररोगभेद० (चचि. १३.४३ ; सुचि. १४.१७ ; सुनि. ७.१९; चसू. १९.४ (१); असंनि. १२.३६ ; अहसू. १९,५)
द्र० ' उदर '

छिन्न–वि., सद्योव्रणस्य प्रकारः (सुचि. २.९) ऋजुस्तिर-श्चीनोऽपि आयतो व्रणो गात्रस्य च पातनं हस्तादि-सम्बद्धं छिन्नम् इत्यभिधीयते (सुचि. २.१०)
अस्थिभग्नस्य प्रकारः, अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नम्
(सुनि. १५.१०)
महाकुष्ठेष्ववस्था० (र. २९.२६)
पु., श्वासभेद०, छिन्नश्वासः द्र० ' छिन्नश्वास, श्वास ' (सुउ. ५१.११)

(छिन्ना)–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.१; पृ. ७ र. २२.७५)
महामुण्डी (रा. ५.२२० पृ. ३८)

-ग्रन्थिनिका–स्त्री., वनस्पति० मुण्डी
(ध. १.१६० ; पृ. ३०)

-ग्रन्थी–स्त्री., वनस्पति० तिलकन्दः
(रापरि. ७.५३; पृ. ३५१)

-पत्रा–स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा
(रा. ४.१७१; पृ. ११८)

-रुह–पु., वनस्पति० तिलकः
(रा. १०.२६६; पृ. २०२)

-(रुहा) स्त्री., वनस्पति० गुडूची
(ध. १.१० पृ. ७ सुसू. ३८.३५ र. २८.४१)
सल्लकी (रा. ११.१९७ पृ. १२२)
केतकीभेदः, सुवर्णकेतकी (रा. १०३, पृ. २०४)

-रूढ–वि,. पूर्वं छिन्नः पश्चादूढः शालि०

-रोहा–स्त्री., वनस्पति० गुडूची
(असंसू. १६.३९; अहसू. १५.४५)

-श्वास–पु., श्वासभेदः, पञ्चश्वासप्रकारेष्वेकः (चसू. १९.४ ; चचि. १७.५२) लक्षणम्–आध्मानं बस्तिदाहः सवेदनं कष्टाच्छ्वसनम्
(सुउ. ५१.११)

छिन्नांशुका–स्त्री., विषमच्छिन्नदग्धाभा सरुग् दृष्टिः (असंउ. १७.)

छिन्नाङ्गी–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.२ पृ. ८)

छिन्नोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.१ पृ. ७.)

छिल्लि–स्त्री., वृक्षत्वक् (र. १८.११४)

छिल्ली–स्त्री., वृक्षत्वक् (र. १७.१८)

छुच्छुन्दर–पु., मूषिक० तद्दष्टलक्षणं–तृट्, छर्दिर्ज्वरो, दौर्बल्यं, ग्रीवास्तम्भः, पृष्ठशोफो, गन्धाज्ञानं, विसूचिका च (सुक. ७.१६–१७ असंउ ४६)

(छुच्छुन्दरी)–स्त्री., मूषिक०, गन्धमूषिका (सुशा. १०.५१ असंशा. १२.९)

छुरिकापत्री–स्त्री., वनस्पति० श्वेता (रापरि. ५.४६ पृ. ३४४)

छेद–पु., छेदनम्, द्वैधीकरणम् (सुसू. १८.२१)
भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौदन्तवेष्टककक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्यक्छेदः उक्तः (सुसू. ५.१३)
लक्षण० (चसू. १७.२९)

–शब्द–पु., छेदशब्दोच्चारणं शुभसूचकम् 'ग्रन्थ्यर्बुदादिषु रोगेषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः' (सुसू. २९.४२)

छेदक–न., खनिजधातु० कान्तलोहम् (रा. १३.२८ पृ. २११)

छेदन–न., उपक्रम०, शल्यतन्त्रे शस्त्रादिना द्विधा अनेकधा वा करणम् (चसू. ११.५५, सुचि. १.८) (सुचि. १५.३)
षड्विधशस्त्रकर्मस्वेकम् (चचि. २५.५५)
साक्षाच्छेदनक्रियाजन्यवेदनासदृशो वेदनाविशेषः (सुसू. २२.११)
छिद्यंते शारीरावयवा अनेन इति छेदनं (शस्त्रम्) (चशा. ८.४४)

छेदनावकाश–पु., छेदनस्थानम् (चशा. ८.४४)

छेदनीय–वि., अपतर्पणकारकम् (चसू. २६.८)
पु., वनस्पति० कतकम् (ध. ३.१७२ पृ. १२९)

छेदिन्–वि., मेदःश्लेष्मादिग्रन्थिघ्नः (क्षारकर्मविशेषः) (अहसू. ६.१५१)

छेद्य–न., अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम् (सुसू. ५.५)
छेद्या रोगाः–भगन्दरो, ग्रन्थिः, श्लैष्मिकस्तिलकालको व्रणवर्त्म, सर्वाण्यर्बुदानि, अर्शो वातिकं श्लैष्मिकं च, चर्मकीलोऽस्थिमांसगं शल्यं, जतुमणिर्मांससंघातो, गलशुण्डिका, स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं, शतपोनकोऽधृष उपदंशो मांसकन्धाधिर्मांसकश्च (सुसू. २५.३–५)

–रोगप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. १५.१)

ज

जगत्–न., सृष्टिः (सुशा. १.३)

–प्रधानभिषज्–पु., श्रीधन्वन्तरिः (र. १.१)

जगल–पु., आसुत० भक्तकिण्वकृता सुरा (चसू. २७.१८१)
मद्यस्य घनतरभागः, तस्य गुणाः–ग्राही, उष्णः पक्ता रूक्षः, तृट्कफशोफकृत्, हृद्यः, प्रवाहिकाऽऽटोपदुर्नामाऽनिलशोषहृत् (सुसू. ४५.१८०–८१)
शोफघ्नः (चसू. २७.१८१)

जग्ध–वि., भक्षितम् (सुचि. ९.५२)

जघन–पु., प्रत्यंग० कट्याः पुरोभागः, भगास्थिसमीपो भागः (सुशा. ३.८) अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च (चवि. ५.८) कट्याः पश्चिमो भागः (सुशा. ६.२६)
स्त्रीकटिः (सुशा. १०.६)

–सक्त–वि., कटिसक्तः (सुचि. १५.१२)

जघन्य–वि., पश्चाद्भवम् (चसू. २०.७)
अन्तिमम् (सुचि. ७.२८)

–वेग–पु., अल्पो हीनो वा वेगः वमने जघन्य–मध्यप्रवरा इति त्रयो वेगा भवन्ति तथैव विरेचनेऽपि (चसि. १.१३)

जङ्गम–वि., गतिशीलः प्राणी, मनुष्यादिः (चसू. २६.३९)
पु., चतुर्विधाः जङ्गमाः जरायुजः अण्डजः स्वेदजः उद्भिज्जश्च (सुसू. १.३०)

–विष–न., विष०, जङ्गमप्राणिनां विषम्; सर्पाः कीटोन्दुरालूतावृश्चिका गृहगोधिकाः। जलौकामत्स्यमंडूकाः कणभाः सकृकंटकाः। श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः ये चापि दंष्ट्रिणः तेषां दंष्ट्रोत्थं विषं जङ्गमं विषमित्युच्यते (चचि. २३.९–२०)
तस्याधिष्ठानानि 'दृष्टिनिःश्वासदष्टानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशार्धिततुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति' (सुक. ३.४)
विषजन्यलक्षणानि–निद्रां तंद्रां क्लमं दाहं सपाकं लोमहर्षणं शोफमतिसारं च जनयेत् (चचि. २३.१५)

–विषविज्ञानीय–वि., अध्याय० (सुक. ३.१)

जङ्गमात्मक–वि., प्राणिजः स्नेहादिः, जङ्गमात्मकस्तु वसा मज्जा सर्पिरिति (चवि. ८.१५०)

जङ्घा–स्त्री., शारीर० गुल्फजानुमध्यः, जान्वधस्ताद्भागः (चवि. ४.११७)

-पिण्डिका-स्त्री., जङ्घाया मांसपिण्डम्, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.११)
-मध्य-न., जङ्घाया मध्यम् (असंशा. ८.३०)
-रुजा-स्त्री., लक्षण० जङ्घायाः शूलम् (अहसू. १४.३०)
-शूल-पु., लक्षण० जङ्घायाः शूलमयी वेदना (चसि. २.१६)
-शोष-पु., लक्षण०, जङ्घायाः शोषः (चसि. २.१६)
-संग्रह-पु., लक्षण० जङ्घाया आकुञ्चनादिकर्माक्षमत्वम् (चसू. १४.२३)
-सदन-न., लक्षण० जङ्घायाः सादो नाम अवसादोऽनुत्साहः, तेन जङ्घादौर्बल्यम् (चसि. ७.४१)
-स्तम्भ-पु., लक्षण० जङ्घायाः स्तम्भः (चसि. २.१६)
जङ्घार्ति-स्त्री., लक्षण० जङ्घाशूलम् (चसू. १४.२३)
जङ्गल-पु., पशु० प्रशस्तजङ्घावान् पशुरित्यर्थः । एणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रापृषतचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयः जंघालाः (सुसू. ४६.५४) तन्मांसगुणाः-कषायं मधुरं लघु वातपित्तहरं तीक्ष्णं हृद्यं बस्तिशोधनञ्च (सुसू. ४६.५४)
जङ्घास्थि-न., शारीर० जंघादेशस्थोऽस्थिविशेषः (सुशा. ५.१९)
जटा-स्त्री., वनस्पति० मूलम् (र. ५.१८०) मूळ.
स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (सुक. ६.१५)
-मांसी-स्त्री., वनस्पति० १ क्षुपं, हिमालयेऽत्युच्चप्रदेशेऽस्योत्पत्तिः, तत्कंदः कंदतैलं च चिकित्सायामुपयुज्यते; ससूक्ष्मकेसरापिङ्गजटाकृतिः, मधुरा, तिक्ता, कषाया, शीता, स्निग्धा, कान्तिबलप्रदा, पित्तघ्नी, मेध्या, दाहविसर्पकुष्ठभूतपित्तमदनाशिनी च (र. १०.१६.१८) २ कृष्णजटामांसीभेदः, तद्गुणाः-मधुरा, कषाया, बल्या, त्वचाकान्तिप्रसादनी, वातकफघ्नी, विषपित्तास्रनाशिनी (ध. ३.४५) ३ भूतजटामांसी, मांसीभेदः, तद्गुणाः-कषाया कटुः शीतला, मोदकान्तिकारिणी, पित्तकफघ्नी, भूतदाहघ्नी (रा. १२.९२) 'मांसीद्वयं कषायं च वर्ण्यपित्तकफापहं रक्षोघ्नं च सुगन्धि स्याद्वातघ्नं केश्यमुत्तमम्' (ध. ३.४८) ४ आकाशमांसी (अभ्रमांसी) मांसीभेदः, शीता, वर्ण्या, शोफनाडीव्रणरुजालतागर्दभजालनाशिनी (रा. १२.९६)
हिं.—जटामांसी.
म.—जटामांसी.
गु.—जटामांसी.
बं.—जटामांसी.
ता.—जटामांसी.
फा.—सुबुल.
-मूला-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३९)
-रुद्रा-स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रा. परि. ३.२५)
-वती-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (रा. १२.९१)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रा. परि. ३.२५)
जटायु-पु., वनस्पति० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)
जटाल-पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११३)
मुष्ककः (रा. ११.२२१)
गुग्गुलुः (रा. १२.१८३)
(जटाला)-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (रा. १२.९१)
जटिन्-पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५१)
सौम्यकीट० श्लेष्मप्रकोपणः (असंउ. ४३)
जटिल-पु., वनस्पति० कर्चूरः (रा. ६.१५६)
दमनः (रा. १०.११९)
-(जटिला)-स्त्री., वनस्पति० वचा (काखिल ११.९६)
जटामांसी (चसू.४.१८)
गुञ्जा (चसू. ४.१२)
जटिलीभावः पु., केशानामन्योन्यमेलनम् (चनि. ४.४७; सुनि. ६.५)
जटीभूत-वि., जटा इव परस्परसंयुक्तम् (चइ. ८.४)
जठर-न., शारीर० अन्नधिष्ठानमुदरम् (चचि.१३.३७)
रोग० उदररोगः (सुनि. ७.७)
-व्यथा-स्त्री., रोग० उदररोगः (र. २.५३)
अतिसारः (र. २.५३)
-शिखिन्-पुं., जाठराग्निः(र, २७.६६)
जठरामय पु., रोग० अतिसारः (चचि. १९.८५)
उदररोगः (र. २२.२८)
जठरार्दित-वि., जठररोगेण नाम उदररोगेण पीडितः (चसू. १३.५५)
जठरिन्- वि., उदररोगयुक्तः (चइ. ६.११)
जड-वि., मन्दबुद्धिः (चशा. ३.१५)
न., खनिज० सीसकम् (रा. १३.२०)
-ता-स्त्री., लक्षण० निःस्पन्दता (सुक. ४.३७)
जतु-न., वनस्पति० लाक्षा (सुसू. २७.१८) (ध. ३.८२)

-कृता-वि., लाक्षामयी (सुचि. २०.४३)
-द्रुम-पु., वनस्पति० कोशाम्रः (ध. ५.९)
-पादप-पु., वनस्पति० कोशाम्रः (ध. ५.९)
-प्रकाश-वि., लाक्षाप्रकाशः, लाक्षासदृश इत्यर्थः (सुचि., १३.४)
-मणि-पु., क्षुद्ररोग० तत्स्वरूपम्, नीरुजं, सममुत्सन्नं, मण्डलमीषद्रक्तं, श्लक्ष्णं, सहजम् (सुनि. १३.४१)
चर्मकीलसदृशः सरुजः (असंउ.३६.३१६)
एनं समुत्कृत्य क्षारेण वह्निना वा प्रदहेत् (सुचि. २०.३२-३३)
अयं छेद्यः (सुसू. २५.४-५)
-मुख-पु., धान्य० व्रीहिभेदः जतु लाक्षा, तदाकृति मुखं यस्यासौ जतुमुखः, व्रीहिविशेषः (सुसू. ४६.१२ ङ)
-प्लुत-वि., लाक्षालिप्तम् (असंचि. १०)
जतुका-स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (ध. ४.८८)
प्राणि०, चर्मचटिका (चचि. १४.४८)
जतूकर्ण-पु., पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यः, तन्त्रकर्तृणामेकतमः (चसू. १.३१)
जतूमुख-पु., धान्य० व्रीहिः (अहसू. ६.८)
जत्रु-न., शारीर० स्कन्धकक्षासन्ध्यस्थि (चशा. ७.६)
ग्रीवामूलम् (सुसू. ४६.४४०)
-मूल-न., शारीर० कण्ठादधोविद्यमानो जत्रुद्वयमध्यभागः (असंनि. ४.२१)
-लुण्डन-न., लक्षण० लुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशः; वक्षस उपरोधः (चचि. २८.२२)
जत्वश्मक-जत्वश्मज-न., खनिज० शिलाजतु (रा. १३.२२९)
जन-पु., लोकः (चनि. ६.१३)
(जन)-पद-पु., जनवसतिस्थानम् (चवि. ३.२०)
मण्डलम् (चक्र. चनि. ६.१३)
-पदमण्डल-न., जनपदानां समूहः (चवि. ३.३)
-पदोद्ध्वंस-पु., असामान्यवतामप्येभिः प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति । ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा-वायुरुदकं, देशः, काल इति । तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्, तद्यथा-यथर्तुविषममतिस्निग्धमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धबाष्पसिकतापांशुधूमोपहतमिति । उदकं तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शं क्लेदबहुलमपक्रान्तजलचरविहङ्गमुपक्षीणजलाशयमप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् । देशं पुनः प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शं क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृपव्यालमशकशलभमक्षिकामूषकोलूकश्वमाशानिकशकुनिजम्बूकादिभिस्तृणोलूपोपवनवन्तं प्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनं प्रध्मातपत्रिगणमुत्क्रुष्टश्वगणमुद्भ्रान्तव्यथितविविधमृगपक्षिसङ्घमुत्सृष्टनष्टधर्मसत्यलज्जाचारशीलगुणजनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं रूक्षताम्रारुणसिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं ससंभ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाक्रन्दितशब्दबहुलं चाहितं विद्यात् । कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत् (चवि. ३.१३-७) स्वभावतो वातादजलं, जलादेशं, देशात्कालं गरीयस्तरं विद्यात् । वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं चाऽसत्कर्म पूर्वकृतं, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव । तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति । तस्य प्रतिकारोपायाः पञ्च कर्माणि, विधिवदसायनोपयोगः, भेषजैर्दैहवृत्तिः, सत्यं, दया, दानं, बलयः, देवतार्चनं, सद्वृत्तानुवर्तनं, शान्तिः, आत्मरक्षणं, शिवानां जनपदानां सेवनं, ब्रह्मचर्यं, ब्रह्मचारिणां च सेवनं, धर्मशास्त्रादिश्रवणं, सात्विकैः धार्मिकैः सह संवादः (चवि. ३.१३-१७)
-पदोद्ध्वंसकर-वि., जनपदानामुद्ध्वंसं करोति इति जनपदोद्ध्वंसकरः जनपदानामुद्ध्वंसो येन भवति तत् (चवि. ३.७)
-पदोद्ध्वंसन-न., जनपदोद्ध्वंसः (चवि. ३.५)
-पदोद्ध्वंसनीय-वि., अध्याय० (चवि. ३.१)
-प्रिय-पु., वनस्पति० नीलशिग्रुः (रा. ७.६२) द्रष्टव्यं 'शिग्रु;'
धान्यकम् (रा. ६.९८)
-वल्लभ-पु., वनस्पति० रोहितकभेदः, श्वेतरोहितः (रा. ८.२१८) द्रष्टव्यं 'रोहितक;'
जनक-पु., राजर्षि० वैदेहः (चशा. ६.२१)
जननी-स्त्री., माता (कासू. लेहाध्याय)
वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६)

जन्तुका (ध. ४.८८) द्र० 'जतुका'
कटुका (ध. १.३८)
जटामांसी (रा. १२.९१)
अलक्तकः (रा. ६.१२)
(जना)–स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३८)
जनिष्ठा–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९)
जनेष्ट–पु., वनस्पति० मुद्गरः (रा. १०.२२)
(जनेष्टा)–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२८) द्र० 'जतुका'.
ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
जाती (रा. १०.२३२)
जन्ती–स्त्री., जयन्ती, कृमिपर्यायः (र. २०.२२२)
जन्तीनु–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (र. २०.२२२)
जन्तु–पु., नरः (चचि. ३.२०७)
कीट० (चचि. ७.३६)
कृमिः (सुसू. ४६.२४५)
रोगोत्पादकः कृमिः (र. ५.१९३)
यूका (सुचि. २४.२९)
–कम्बु–पु., भैषज्य० कृमिशङ्खः (रा. १३.२४७)
–कारी–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (ध. ४.८८) द्र० 'जतुका'.
अलक्तकः (रा. ६.१२)
–कार्दित–वि., (क्षुद्र) जन्तुदष्टः, जन्तुदष्टबालस्य लक्षणानि–स्वस्थोऽपि बालो निशि न शेते, रक्तबिन्दुचिताङ्गश्च भवति (कासू. २५.३९)
–कृष्णा–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (ध. ४.८८) द्र० 'जतुका'.
–घ्न–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२७)
हिङ्गु (ध. २.३६)
विडङ्गम् (र. ५.२०२)
(–घ्नी)–स्त्री., विडङ्गम् (रा. ६.१५)
–घ्नी वटी–स्त्री., पारदयोग० पारदगन्धकमण्डूराखुकर्ण्यादिभिः सिद्धो भल्लातकपलाशबीजादियुक्तोऽयं योगः कृमिकुष्ठनाशकः (र. २०.१३०.३६)
–जग्ध–वि., जन्तुभिर्भक्षितम् (अहसू. ५.४४)
–जित्–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. ११.१८)
–जुष्ट–वि., जन्तुयुक्तम् (अहसू. ६.१४१)
–दुष्ट–वि., कृमिदुष्टम् (असंसू. ४०.५)
–नाशन–पु. वनस्पति० यवानिका (ध. २.९३)
न., हिङ्गुः (रा. ६.५९)
–फल–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.१३७)
–माता–पु., कृमि० शोणितजः (चसू. १९.४.(९)
–मारी–स्त्री., वनस्पति० निम्बूकः (रा. ११.१२)
–रस–पु., वनस्पति० अलक्तकः (रा. ६.१२)
–हन्त्री–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (ध. २.११)
जन्तुका–स्त्री., वनस्पति० लाक्षा (रा. ६.१४२)
नाडीहिङ्गु (ध. २.४०)
लता० कृष्णवल्ली, वृक्षरुहा, बहुपत्रा, दीर्घफला, तिर्यक्फला कपिकच्छूफलोपमा इत्यस्याः स्वरूपम् (रा. ३.१२७.२९) गुणाः–तिक्ता, शीता, रुचिकरी, दीपनी, पित्तकफघ्नी, दाहतृष्णाविमिघ्नी, रक्तदोषनाशिनी (ध. ४.८८) द्र० 'जतुका'
जन्तुमत्–वि., कृमियुक्तम् (अहसू. ५.७)
जन्मन्–न., जननम् (चशा. ३.८)
(जन्म)–काल–पु., प्रसवकालः (सुनि. ८.१४)
–बलप्रवृत्त–वि., शुक्रशोणितदुष्टिं विनाऽपि मातुरपचारबलजातः (रोगः) (ड. सुसू. २४.५)
जन्मर्क्ष–पु., जन्मराशिः (इन्दुः असंशा० १२.१४) जन्मनक्षत्रम् (सुसू. ३२.४)
जन्मादि–पु., गर्भाधानकालः जन्मन आदिरुत्पत्तिः कारणं वा, तेन गर्भाधानकालोऽपि (अरु. अहसू. १.९)
जप–पु., कर्म० ईश्वरस्मरणम् । ॐकारपूर्वकगायत्र्याद्यावर्तनम् 'तज्जपस्तदर्थभावना' इति योगसूत्रमप्यनुसन्धेयम् (ड. सुउ. ६०.२८.२९)
(जपा)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुः उष्णा इन्द्रलुप्तकनाशकृत् (रा. १०.३९)
हिं.—जासन्द.
म.—**जासवन्द.**
गु.—जासुद.
बं.—जाबा.
ता.—शाम्बरात्तै.
जमदग्नि–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. ७.८)
जम्बीर–पु., न., वनस्पति० फणिजकः (ध. ४.५२)
अर्जकः (रा. १०.८४)
मरुबकः (ध. ४.५४)
शाक० हरितशाकमुत्तरापथे जम्बीरगन्धि किञ्चिदम्लम् (ड). तस्य गुणाः—पाचनस्तीक्ष्णः, सुरभिर्मुखवैशद्यकारकः रुच्यो, दीपनो, वातकफघ्नः, कृमिनाशकः (चसू. २७.१६० सुसू. ४६.२३२)

वनस्पति० बृहन्निम्बूकं वक्त्रशोधि दन्तहर्षणं मधुरं अम्लं कटुकं गुरु रुच्यं तर्पणं वातकफघ्नं पित्तलं तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् (सुसू. ४६.१६२) नात्यम्लं जम्बीरं गुरु वातश्लेष्मविबन्धहृच्च कटुकमधुरं अम्लं सुप्रतीतं जम्बीरं रुच्यं दीपनं त्रिदोषघ्नं अतिसारे तर्पणम्। जम्बीरफलगुणाः—तत्रामं—मधुरं अम्लं रुच्यं दीपनं पाचनं बल्यं पथ्यं वातघ्नं पित्तकारकं पक्वफलं मधुरं रुच्यं तर्पणं पुष्टिप्रदं, वर्ण्यं पित्तकफनाशनं वीर्यवर्धनं च (रा. ५.१४)

हिं.—जम्बीर, पहाडी निम्बू.

म.—**लिम्बू.**

गु.—मोटुनिम्बु.

बं.—कर्णनेम्बु.

ता.—पेरिया एलिमिच्चम्.

जम्बु–पु., वनस्पति० जम्बूः (चसू. ४.१५)

जम्बुक–पु., पशु० शृगालः (चसू. २७.३६)

वनस्पति० टिण्टुकः (१.११५)

(जम्बुका) स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः, काकलीद्राक्षा, (र. ११.७९) द्र० ' द्राक्षा '.

जम्बू–पु., पशु०, शृगालः (र. १८.१७९)

वनस्पति० फलविशेषः, मधुरः, अम्लः, कषायः, शीतो रुच्यो ग्राही, पित्तकफघ्नो भृशवातलः (चसू. २७.१४०) मूत्रसंग्रहणीयगणे पुरीषविरजनीयगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) छर्दिघ्नः (चसू. ४.१४) रक्तपित्तशमनः (सुउ. ४५.२३) अकण्ड्यः (अहसू. ६.१२८) तस्य पत्राणि कुकूणके रोगे नेत्रधावनार्थमुपयुज्यन्ते (सुउ. १९.१३) श्रमदाहकण्ठरोगशोषकासश्वासातिसारकृमिघ्नः स च राजजम्बूकाकजम्बू (=क्षुद्रजम्बू) भूमिजम्बूभेदेन त्रिविधः। महाजम्बूगुणाः—मधुरः, कषायः, उष्णः, विष्टम्भकरः, श्रमहरः, स्वर्यः, कफघ्नः, शोषश्रमातिसारश्वासकासघ्नः। काकजम्बूगुणाः—मधुरकषायाम्लः, मधुरपाकी, गुरुर्दाहश्रमातिसारघ्नो, वीर्यपुष्टिबलप्रदः। भूमिजम्बूगुणाः—कषायो, मधुरो, ग्राही, पित्तकफघ्नो, हृद्यः, कण्ठदोषघ्नो, वीर्यपुष्टिप्रदः (रा. ११. १२८–३५) जम्बूफलास्थिगुणाः—संग्राही (चसू. २.२८) दन्तकाष्ठगते विषे जिह्वादन्तौष्ठमांसानां शोथे प्रतिसारणार्थमुपयुज्यते (सुक. १.४८–४९)

हिं.—जामुन, जाम.

म.—**जाम्भूळ.**

गु.—जाम्बूदो.

बं.—कालाजाम.

ता.—नागम्.

वनस्पति० नागदमनी, कटुस्तिक्ता उष्णा तीक्ष्णा त्रिदोषघ्नी उदाराध्मानदोषघ्नी कोष्ठशोधनकारिणी (रा. परि. ५.२४–२५)

–द्वय– न., वनस्पति० जम्बूभेदौ, एको राजजम्बूर्बृहत्फलो, द्वितीयः काकजम्बूः स्वल्पफलः (ड. सुसू. ३८.४८) द्र० ' जम्बू '

–फलास्थि–न., जम्बूफलस्य बीजम् (सुक. १.४९)

जम्बूक–पु., पशु० शृगालः वातकफजोन्मादे जम्बूकस्य पित्तमूत्रशकृल्लोमनखैश्चर्मभिः सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् (चचि. ९.७४)

वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४२)

वनस्पति० केतकी (ध. ५.१४)

जम्ब्वस्थि–न., जम्बूफलास्थिः (चचि. १९.५४)

जम्ब्वोष्ठ–न., यन्त्र० जम्ब्वोष्ठं जम्बूफलसदृशमुखाग्रा कृष्णपाषाणरचिता वर्तिः (सुचि. ८.३२) दहनोपकरणेष्वेकम् (सुसू. १२.४)

जम्भ–पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)

जम्भल–पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)

वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३)

जम्भीर–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. ११.१८)

जय–पु., देवता० विषशमनमन्त्रे उल्लिखितः,

' पिष्यमाणमिमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत्।
मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता
(चचि. २३. ९०)

(जय)–पाल–पु., वनस्पति० दन्तीबीजम् (ध. १.२२७)

–पालरस–पु., पारदयोग० गन्धकताम्रजयपालयुक्तः पाण्डुशोथघ्नः (र., १९.९१–९२)

–सुन्दर पु., पारदयोग० पारदसुवर्णरौप्यताम्रादियुक्तः, सूतिकारोगवन्ध्यत्वघ्नः (र. २२.५–१४)

जयन्तिका–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८१)

जयन्ती–स्त्री.,वनस्पति० हरिद्रा (ध, १.५५)

अग्निमन्थः (११.५२–५७)

चक्रमर्दः (र. ३.१०४–५)

बलामोटा (ध. ४.१)

(जया) स्त्री., देवता० (चचि. २३.९०)

जया–स्त्री.,वनस्पति० भङ्गा (र. १४.३७–४७)
अग्निमन्थः (असंउ. ९)
हरीतक्री (र. १८.१३९)
चक्रमर्दः (र. १८.१०६.९)
दूर्वाभेदः, नीलदूर्वा (रा. ८.२२६) 'दूर्वा' द्र० 'दूर्वा'
कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)
बलामोटा (असंउ. ९)
शमी (रा. ८.१५५)
नीलिनी (ध. १.२३३)
जयन्ती (चचि. ९.४५)

–गुलिका–स्त्री., योग० हरिद्रानिम्बवत्सनाभादियुक्ता, क्षयकासपाण्डुकुष्ठादिनाशिनी ।
भस्मसूतगुडक्षौद्रघृतैः सह निषेवितम् ।
जरां जयेदतो नाम्ना गुलिकेयं जयोदिता
(र. २९.१३८–५१)

–द्वय–न., वनस्पति० चक्रमर्दो हरीतकी च (अहसं. १५.२१)

–युग–न., वनस्पति० भङ्गा जयन्ती च (र. १९.३९–४१)
हरीतक्यग्निमन्थश्च (र. १९.३९–४१)
हरीतकी जयन्ती च (र. १९.३९–४१)

–वहा–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (ध. १.२२५)

जयाह्वा–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३४१)

जरडी–स्त्री. वनस्पति० गर्मोटिका (रा. ८.५१)

जरण–वि., पाचनः (सुसू. ४५.१८५)
न., वार्धक्यम् (र. २.७४)
पु., जाठराग्निः जीर्यते अशितखादितपीतादिकम् अन्नमनेनेति जरणो जाठराग्निः (चवि. ६.२१)
वनस्पति० जीरकम् (रा. ६.१००)
न., हिङ्गुः (ध. ३.३६)

(जरणा)–स्त्री., वनस्पति० कृष्णजीरकम् द्र० जीरक (ध. २.७०)

(जरण)-द्रुम–पु., वनस्पति० स्निग्धः, कटुस्तिक्तः पित्तास्र–ज्वर–विस्फोट–कण्डु–सिरादोषार्तिकृन्तनः (रा. ९.१३)

–शक्ति–स्त्री., अन्नपाचनसामर्थ्यम् (चवि. ८.१२०)

जरत्ता–स्त्री., वार्धक्यम् (असंउ. ४९)

जरद्गव–पु., पशु० वृद्धवृषः (चसि. ११.२०)

जरा–स्त्री., जीर्यति इति जरा वार्धक्यम्, षष्टिवर्षोत्तरमिति (चरक) सप्ततिवर्षोत्तरमिति (सुश्रुतवाग्भटौ;) तत्कारणानि,–'पन्थाः शीतं कदन्नं च वयोवृद्धाश्च योषितः । मनसः प्रातिकूल्यं च जरायाः पञ्च हेतवः (र. २६.२) जरानाशनार्थं रसायनचिकित्सोपयुज्यते (सुचि. २९.३)
पाकः (सुउ. ४६.१२)

–कास–पु., रोग० यो जरया देहक्षयकारिकया कृतः कासः, स याप्यः, यस्तु दोषकृतः स साध्य एव भवतीति दर्शयति (चचि. १८.३०)

–शोष–पु., रोग० शोषभेदः असौ जरावस्थायां जरया देहक्षयकारिण्या कृत इति ज्ञेयम् । तल्लक्षणानि–कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेंद्रियः कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः (सुउ. ४१.१९)

जरायु–पु., गर्भस्यावेष्टनरूपं गर्भावरणम् (सुशा. २.५४) उल्बाकारो येन वेष्टिताः प्राणिनो जायन्ते उल्बाकार इत्यनेन जरायुसदृशत्वमेव आकारेऽभिप्रेतं नतु केवलमुल्बाकृतिरिति (सुशा. ४.७)
भैषज्य० अग्निजारः (ध. ६.२१)

–ज–पु., जरायुः–गर्भावरणं, तस्माद् जातो यः, स प्राणी, चतुर्विधभूतग्रामेष्वेको, यथा पशुमनुष्यव्यालादयः (काखिल. २२) जरायुः अमरा नाम नाडी येन वेष्टिता मनुष्यादयः प्रजायन्ते (चशा. ३.६)

–प्रपातन–न., उपक्रम० जरायोः पातनम् (चशा. ८.३१)

जर्जर–पु., वाद्यभाण्डम् (चइ. १.१४)
वि., त्यक्तस्थैर्यम् (इन्दुः असंउ. २६)

जर्जरित–वि., पीडितः (चचि. २८.१७१)

जर्जरीकरण–न., (परिव.) पिष्टीकरणम् (चक. १.१४)

जर्तिल–पु., वनस्पति० तिलः (ध. ६.१२२)

जल–न., महाभूत० रसगुणबहुलद्रवद्रव्यम्; उत्पत्तिः–सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्राव्यक्तरसाश्च (चसू. २६.३९) पाञ्चभौतिकद्रव्योत्पत्तौ हेतुभूतं, पण्णां रसानां समवायिकारणं, सर्वं जलमैन्द्रं नभस्तलात्पतति । एकत्वेऽपि देशकालाश्रयभेदेन तद्बहुविधं भवति । दिव्यमुदकं प्रकृत्या शीतं शुचि शिवं मृष्टं लघुगुणयुक्तमस्ति । आकाशात्पतितं जलं सोमवायव्यैः स्पृष्टं भवति । हिताहितत्वे तद्देशकालमपेक्षते ।
गुणाः–जीवनं, तर्पणं, धारणं, आश्वासजननं, श्रमक्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमे-

कान्ततः पथ्यतमं च (सुसू. ४५.३) हृद्यं, लघु, शीतलं, निर्गन्धम् (सुसू. ४५.२०) आश्रयभेदेन जलगुणाः श्वेते कषायं, पाण्डुरके तिक्तकं, कपिले क्षारसंसृष्टम्, ऊषरे लवणान्वितं, पर्वतविस्तारे कटु, कृष्णमृत्तिके मधुरमेतद् महीस्थस्य जलस्य षाड्गुण्यमाख्यातम् (चसू. २७.१९९-२०१) पृथिव्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण, तत्र स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणं च, अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं, तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं च, वायुगुणभूयिष्ठायां कषायं, आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसं, तत्प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, ततश्चेयमान्तरीक्षालाभे (सुसू. ४५.६ असंसू. ६) कालभेदेन जलगुणाः—वार्षिकं जलं—गुर्वभिष्यन्दि मधुरं, शारदं—तनु लघ्वनभिष्यन्दि, एतत्तु सुकुमाराणां स्निग्धभूयिष्ठभोजनानां भोज्यभक्ष्यलेह्यपेयेषु च शस्यते । हैमन्तं स्निग्धं वृष्यं बलहितं गुरु, शैशिरं—हैमन्ताल्लघुतरं कफवातजित्, वासन्तिकं—कषायमधुरं रूक्षं, ग्रैष्मिकम्—अनभिष्यन्दि, (चसू. २७.२०३-६) आन्तरीक्षं चतुर्विधं, धारं, कारं, तौषारं, हैममिति; तेषां धारं प्रधानं लघुत्वात्, तत्पुनर्द्विविधं गाङ्गं सामुद्रं चेति । तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति । तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिण्डमकुथितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति पर्जन्ये बहिष्कुर्वीत स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यं; वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम् । सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्भवति । गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपाददीताश्वयुजे मासि । शुचिशुक्लवितप्तपटैकदेशच्युतमथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे निदध्यात् । तत् सर्वकालमुपयुञ्जीत, तस्यालाभे भौमम् (सुसू. ४५.७) अशुद्धजलस्य शुद्धीकरणम्—अग्निक्वथनं, सूर्यातपप्रतापनं, तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ठाणां वा निर्वापणं नाम निक्षेपणं प्रसादनं च कर्तव्यं, नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति (सुसू. ४५.१२) सप्त कलुषस्य जलस्य प्रसादनानि भवन्ति । कतकगोमेदकबिसग्रन्थिशैवालमूलवल्काणि मुक्तामणिश्चेति (सुसू. ४५.१७) पञ्च प्रक्षेपणानि—फलकं त्र्यष्टकं मुञ्जवलयम् उदकमञ्जिका शिक्यं; सप्त शीतीकरणानि '—प्रवातस्थापनं उदकप्रक्षेपणं यष्टिकाभ्रमणं व्यजनं वस्त्रोद्धरणं वालुकाप्रक्षेपणं शिक्यावलम्बनं (सुसू. ४५.१९) जलपाने पात्रविचारः—सौवर्णे, राजते, ताम्रे, कांस्ये, मणिमये, भौमे वा पात्रे सुगन्धि जलं पिबेत् (सुसू. ४५.१३) भौमं जलं सप्तविधं—नादेयं कौपं सारसं ताडागं प्रास्रवणम्, औद्भिदं चौण्ड्यमिति । नादेयं द्विविधं; एकं तु लघु रूक्षं लेखनं दीपनं वातलं, अन्यत्तु मधुरं गुरु सान्द्रम् अभिष्यन्दि कफकारकं; कौपं—सक्षारं लघु दीपनं पित्तलं कफघ्नं, वाप्यं—सक्षारं कटु पित्तलं वातकफघ्नं, सारसं—मधुरं कषायं लघु बल्यं तृष्णाघ्नं; ताडागं मधुरं कषायं कटुपाकि वातलं; प्रास्रवणं—लघु दीपनं हृद्यं कफघ्नं; वैकिरं कटु सक्षारं लघु दीपनं कफघ्नं; कैदारं—मधुरपाकि गुरु दोषलम्; औद्भिदं—निम्नप्रदेशादूर्ध्वमुत्तिष्ठमानं जलं वर्षासु पिबेत् महागुणत्वात् । मधुरं पित्तशमनमविदाहि (सुसू. ४५-७; ३१-३५) जलग्रहणकालः—सर्वेषामेव भौमानां प्रभाते ग्रहणं शैत्यत्वात् (सुसू. ४५.२४) तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत महागुणत्वात्; शरदि सर्वं प्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडागं वा; वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा; ग्रीष्मेऽप्येवं; प्रावृषि चौण्ड्यमनभिवृष्टं सर्वं चेति (सुसू. ४५.८) स्वस्थे जलपानविधिः—भक्तस्यादौ पीतं जलमग्निसादं कृशाङ्गतां मध्ये पीतं मध्याङ्गतां धातूनां साम्यं सुखं जरणं च; अन्ते पीतं स्थूलत्वमामाशयादूर्ध्वं कफं च करोति; (असंसू. ६.४१-४२) दुर्बलाल्पाग्निगुल्मपाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिरम्बु न पेयम् । स्वस्थोऽपि शरन्निदाघाभ्यां ऋतेऽल्पशः पिबेत् । (अहसं. ५.१३-१५) ऊर्ध्वांगमारुताविष्टा हिक्काश्वासकासिनः उरसि क्षता भुक्त्वा उदकं न पिबेयुः तद्धि कण्ठोरसि स्थितं आहारजं स्नेहं हरित्वा भूयो दोषाय कल्पते (चसू. २७.३२४-५) शीतजलगुणाः—मूर्च्छापित्तोष्णदाहविषमदात्ययभ्रमक्लमतमकवम्यूर्ध्वगरक्तपित्तनाशकम् (सुसू. ४५.२८-२९) शीताम्बुनिषेधः—पार्श्वशूलप्रतिश्यायवातरोगग्रहाध्मानस्तैमित्यनवज्वरहिक्कासद्यःशुद्धस्नेहपीता जलं न पिबेयुः (सुसू. ४५.२९-३०) उष्णोदकगुणाः—वातकफघ्नं, मेदोघ्नं आमघ्नं, दीपनं बस्तिशोधनं, श्वासकासज्वरहरं, नित्यं पथ्यकरम् (सुसू. ४५.३९-४०)

स्वादुपाकि शीतं लघु (असंसू. ६.३५–३७)
क्वथितशीतोदकं वर्षासु संचितं पित्तोपशमनार्थमुपयुज्यते । किञ्च पित्तविषमद्यजे ज्वरे हितकारकम् (सुउ. ६४.९)
विविधनदीजलगुणवर्णनम्–पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, लघूदकत्वात्, पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्; दक्षिणाभिमुखा नातिदोषलाः, साधारणत्वात् तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यावन्त्याअपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पथ्या बलारोग्यकरा इति । शीघ्रवहा नद्योऽमलोदका लघ्व्यो मन्दगाः कलुषाः शैवालसंछन्ना गुर्व्यः (सुसू. ४५.२१)
हिमवत्प्रभवा नद्यः पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धाभिहतोदका देवर्षिसेविताः पुण्याः पथ्याः पाषाणसिकतावाहिन्यो नद्यो विमलोदकाः, मलयप्रभवा अमृतोपमं जलं धारयन्ति (चसू. २७.१०–११) ·
व्यापन्नजललक्षणानि–पङ्कशैवालतृणपर्णाविलास्तृतं, सूर्येन्दुपवनादृष्टं, अभिवृष्टं, घनं, गुरु, फेनिलं, जन्तुमत्तप्तमतिशैत्यतो दन्तग्राहि, अनार्तवं, दिव्यं प्रथमार्तवं, लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् (अहसू. ५.६७)
संस्कारभेदेन जलं–मृद्भ्रष्टलोष्टप्रभवं जलं, तच्च छर्दिघ्नं (चचि. २०.३०)
सिकताकृतं जलं तृष्णाशामकं, सुवर्णरौप्यादिभिरग्नितप्तैर्जलं तृष्णाशामकं (सुउ. ४८.१८)
शरीरस्थः अब्धातुः; शरीरे तस्य दशाञ्जलिप्रमाणम् (चशा. ७.१५)

न., क्वाथः (सुचि. ९.२३)
वनस्पति० उशीरम् (चचि. ७.१३०)
वालकम् (चसू. ३.२७)

–काम–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११७)
–कामुका–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रा. ५.२१)
–कूर्मक–न., रोग० उदरभेदः, कूर्मरोगः (र. २२.२८)
–कोष्ठक–पु., जलद्रोणी, अवगाहनोपयोगि महत्पात्रम् (चसू. १४.३४)
–गण्ड–पु., वनस्पति० जलगण्डीरकः (ड.)
जलपिप्पलिका (सुचि. ९.२१)
–गद–पु., रोग० उदररोगः (र. १८.२०७–९)
–गर्भता–स्त्री., रत्नदोषः पानीयगर्भताख्यः (र. ४.३६)
–चारिन्–पु., जलचरः (असंसू. ७.१०६–८)
–ज–पु., जले जातः इति जलजः प्राणिविशेषः (चसू. २४.७)
वनस्पति०–हिज्जुलः (रा. ८.७०)
भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४३)
मौक्तिकम् (र. २३.६१)
वनस्पति० जलमुस्तम् (ध. १.४३)
कमलम् (रा. १०.२४३)
शालिः (ध. ६.७१)
भैषज्य० लवणभेदः लवणारम् (रा. ६.५३)
–जन्मन्–स्त्री., प्राणि० जलौकाः (अहसू. २६.५३)
–त्रास–पु., रोग० व्याधितेन श्वादिना दष्टस्य श्लेष्मा प्रकुपितश्चेतोवाहिनीर्धमनीरनुप्रविश्य संज्ञानाशमापादयति सद्यः कालान्तराद्वा । ततो नरः स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा, श्रुत्वा, वा जलं त्रस्यति । एतज्जलत्रसनं रिष्टं, मरणलक्षणं कीर्तितम् (सुक. ७.४८ –४९)
रोग० अत्र रेवतीग्रहावेशाद् जलत्रासः (का. रेवतीकल्प. ६९)
–द–पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४१)
मधुकः (ध. ५.४८)
भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९)
खनिज० अभ्रकम् (र. १२.२२)
–दात्यय–पु., कालविभाग० शरद्ऋतुः (चक. चक. ७.५७)
–दोष–पु., (परिव०) जले गन्धवर्णरसादिषट्प्रकाराभिव्यज्या व्यापत्तिरूपा दोषाः (सुसू. ४५.११)
–द्रोणी–स्त्री., बृहत्पात्रम् (र. ७.६)
–धर–पु., वनस्पति० तिनिशः (रा. परि. ९.२४)
–धिफेन–पु., भैषज्य० (र.२३.४७) समुद्रफेनः
–नील–न., रत्न० नीलमणेः प्रकारविशेषः (र. ४.५१)
(–नीली)–स्त्री., वनस्पति० जलमुस्तम् (रा. ८.६४)
–पिप्पलिका–स्त्री., वनस्पति० तिक्ता, कषाया, शीता, लघु, हृद्या, रुच्या, रूक्षा, दीपनी, शुक्रला, संग्राहिणी, रक्तदाहव्रणापहा. (भाप्र.) श्वासभ्रममूर्च्छातृष्णापहा (ध. ४.६४)

हिं.—जलपीपर, पनिसिगा.
म.—**जल पिंपळी.**
गु.—रतवेलियो.
बं.—पनिसिगा.
फा.—पीपलआवी.
शाक० कटूष्णतीक्ष्णरूक्षा, वातकफहरा (चसू. २७.१७१)

–पिप्पली–स्त्री., वनस्पति० महाराष्ट्री (रापरि. ४.१३)
–बन्ध–पु., पारदबन्ध० शिलोदकादिविशिष्टैर्जलैर्बन्धनम् (र. ११.८८)
–वस्ति–पु., जलद्रतिः (चचि. २५.५२)
–बिन्दुजा–स्त्री., वनस्पति० यावनालः (रा. १४.१६३)
–मञ्जरी–स्त्री., पारदयोग० पारदगन्धकमरिचादियुक्ता, नवज्वरघ्नी (र. १२.१४८–५१)
–मण्डपिका–स्त्री., वनस्पति० शैवालम् (र. १८.२३५)
वारिपर्णी (र. १८.२३५–३६)
जलकुम्भी (र. १८.२३५–३६)
–मधूक–पु., वनस्पति० गुणाः–मधुरः शीतो बल्यो रसायनो वृष्यश्छर्दिघ्नः (ध. ५.४९)
–मुस्त–न., वनस्पति० कटुतिक्तकषायं 'शीतं, स्निग्धं, कान्तिकरं, मेध्यं, वातघ्नं, अन्धताविसर्पकण्डुकुष्ठविषसंतापव्रणघ्नम्' (ध. १.४३)
–मृत–पु., जले मृतः, जलपानेन मृतः, तस्य लक्षणानि विष्टब्धपायुमूर्धाक्षमाध्मातोदरमेहनं शीतपादकराननं जानीयात् (चक्र, चचि. १०.४७)
–मृत्तिका–स्त्री., भैषज्य० जीर्णकिट्टरजो बब्बुलक्काथेन परिमर्दितं गुडचूर्णसमन्वितं लेहवत्कृतम्–इयं हि जलमृत् (र. ९.६२–६३)
–मृद्–स्त्री., जलमृत्तिका (र. ९.६२)
द्र० 'जलमृत्तिका'
–यन्त्र–न., यन्त्र० रसायनोपयोगि, घटसंपुटे पारदगन्धकादिकं संस्थाप्य तदधोऽग्निरुपरिष्टाच्च जलं यस्मिन् स्थाप्यते, तादृग्रचनाविशिष्टमेकं यन्त्रम् (र. १७.२)
जलसिञ्चनसाधनम् (चचि. २४.१५८)
–योग–पु., उपक्रम० शीतजलपूरितकटाहे उपकम्यं नरम् आकण्ठं मज्जयित्वा तत्रैव तदुपवेशनम् (र. १२.११३–११४)
–रोध–पु., जलनिरोधयुक्तप्रदेशः (सुसू. २९.२२)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० शृङ्गाटकः (रा. ७.१८)
–वहनाडी–स्त्री., स्रोतो० उदकवहस्रोतः (र. १३.४८)
–वहस्रोतस्–न., स्रोतो० उदकवहस्रोतः (सुनि. ७.२२)
–वास–पु., वनस्पति० विष्णुकन्दः (रा. ७.४०)
न., उशीरम् (रा. १२.२५)
–(वासा)–स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रा. ८.६६)
–विक्रमा–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९६)
–वेतस–पु., वनस्पति० वेतसः (असंउ. ४६)
वानीरः (रा. ९.१७)
–शुक्ति–स्त्री., प्राणी० कोशस्थवर्गे निर्दिष्टः (सुसू. ४६.१०८)
–शूक–पु., वनस्पति० शैवालम् (असंउ. २२)
जलनीलिका, जलान्तर्वर्ती रोमयुक्तः सविषप्राणी वा (सुसू. १६.१९)
–सन्त्रास–पु., रोग० जलत्रासः (असंउ. ४६.३६७)
द्र० 'जलत्रास'.
–संभव–पु., वनस्पति० वानीरः (रा. ९.१७)
द्र० 'जलवानीर.'
–स्था–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः गण्डदूर्वा द्र० दूर्वा. (रा. ८.२३४)
–स्राव–पु., नेत्ररोग० पैत्तिकविकारः, असाध्योऽयम् (सुउ.१.३१)
–हारिणी–स्त्री., प्रणाली (सुशा. ७.३ ड.)
–हारियन्त्र–न., यन्त्र० वलभीयन्त्रम्, खलचरीयन्त्रम् (र. ९.४७–४९)

जलाख्यक–पु., वनस्पति० जलमधूकः (ध. ५.४९)
जलाधार–पु., पात्र० तोयाधारः (र.९.७–८)
जलाभ–वि., जलसमानः जलवत् (स्रावः) (चचि. २६.१०५)
जलाभिरमण–न., जलातिक्रीडनम्, जलसंतरणादि (सुउ. ४०.५)
जलामोद–न., वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२६)
जलायुका–स्त्री., कीट० जलौकाः (सुक. ३.४)
जलाराति–स्त्री., वनस्पति० अगस्त्यभेदः, रक्तागस्त्यः (र.१७.१११)
द्र० 'अगस्त्य'.

जलार्बुद–न., ओष्ठरोग० वातकफाज्जलबुद्बुदवदोष्ठे जलार्बुदं भवति (असंउ. २५)

जलालु–पु., वनस्पति० पानीयालुः (रा. परि. ७.२)

जलालूक–न., वनस्पति० पद्ममूलम् (ध. ४.१६३)

जलावह–पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४१)

जलाशया स्त्री., वनस्पति० गुण्डाला (रा. परि. ५.४२)

जलाश्रय–पु., वनस्पति० गुण्ड (रा. परि. ८.६१)
न., वनस्पति० लामज्जकम् (ध. ३.८६)

(जलाश्रया)–स्त्री., वनस्पति० गर्मोटिका (रा. परि. ८.५१)
शूली (रा. परि. ८.६८)
शृङ्गाटकः (रा. परि. ७.१८)

जलास्रव–पु., नेत्ररोग० वायुः क्रुद्धो जलवाहिनीः सिराः प्राप्य वर्त्मशुक्लसन्धिकनीनकाज्जलाभमश्रु स्रावयति तेन नेत्रं सरुगरागशोफं स्यात् (असंउ. १३)

जलूका–स्त्री., कीट० जलौका (र. २२.१४७–५०)

बन्धु–पु., पारदबन्ध० (र. ११.६५)

जलेचर–पु., जले चर्या यस्य सः जले चरति इति जलेचरः (चसू. २७.५४) एतन्मांसगुणाः– मधुरम्, उष्णं, गुरु, स्निग्धं, वृष्यं, बलोपचयवर्धनं, व्यायामिदीप्ताग्नीनां च हितकरं, वातहरं, कफपित्तवर्धनम् (चसू. २७.५७–५८)

जलेरुहा–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रा. परि. ५.२२)

जलेशय–पु., जलचरप्राणी (चवि. ३.७)

जलोदर–न., रोग० उदरम् (र. १९.१)

जलोद्भव–न., नेत्राञ्जनविशेषः स्रोतोञ्जनम् (सुउ. १७.४०)
भैषज्य० शङ्खः (सु. उ. १७.४०)

(जलोद्भवा)–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी, लघुब्राह्मी (रा. ५.१५१)

जलोद्भूता–स्त्री., वनस्पति० गुण्डाला (रा. परि. ५.४२)

जलौकस्, जलौका–स्त्री., कीट० जलायुका (सुक. ३.५) जलूका (र. २२.१४७–५०) जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलौकसः (सुसू. १३.९) ता द्विविधाः सविषा निर्विषाश्च, तत्र दुष्टाम्बुसर्पमण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीषजा रक्तश्वेतातिकृष्णतनुस्थूलचपलपिच्छिलाः स्थूलमध्या रोमशाः शक्रायुधवद्विचित्रोर्ध्वराजीचिता वा सविषाः । पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धविमलविपुलसलिलशैवालजाः शैवालश्यावा नीलोर्ध्वराजयो वृत्ताश्च निर्विषाः (असंसू. ३५.४) तत्र सविषाः–कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति । तासु, अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा, रोमशा, महापार्श्वा, कृष्णमुखी अलगर्दा; इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रा इन्द्रायुधा; ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका, गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति । ताभिर्दष्टे पुरुषे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र महागदः पानालेपननस्यकर्मादिषूपयोज्यः । इन्द्रायुधादष्टमसाध्यम् । अत्र दष्टपदं दंशार्थे, अथ निर्विषाः– कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति । तत्र, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धा मुद्गवर्णा कपिला; किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च पिङ्गला; यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी; मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका; मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी; स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका, सा च पश्चर्थे हस्त्यश्वादीनामर्थे । तासां क्षेत्राणि–यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि (सुसू. १३.११–१३) तासां ग्रहणम् आर्द्रचर्मणा–तासां पोषणम्–एता नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य निदध्यात्; भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवालं वल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य; शय्यार्थं तृणमौदकानि च पत्राणि; तासामवचारणं जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा, विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमयचूर्णैर्यथरुजः स्यात् । गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदकप्रदिग्धगात्रीः सलिलसरकमध्ये मुहूर्तं स्थिता विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत् । श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपिचुप्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्; अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं वा दद्यात्, शस्त्रपदानि वा कुर्वीत; यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् । यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद्गृह्णातीति; गृह्णन्तीं चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वा धारयेत् । देशे तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमियमादत्त इति; शुद्धमाददानामपनयेत्; अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् । पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैल-

लवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेदामुखात्, वामयेत् तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति (सुसू. १३.१७, १९–२२) जलौकाः पित्तदुष्टशोणितनिर्हरणार्थं सुखिनां रक्तस्रावार्थं योजयेत् (अहसू. २६.३५)

जलौकावचारणीय–वि., अध्याय० (सुसू. १३.१)

जल्प–पु., वादः पक्षाश्रितयोः संभाषणम् (चवि. ८.२८)

जल्पक–पु., वादी प्रतिवादी वा (चवि. ८.१८)

जल्पान्तर–न., सामयिकसर्वार्थादिविशेषितो जल्पकविशेषः (चक्र चवि. ८.१८)

जव–पु., वेगः (सुचि. २७.८)
वनस्पति० यवः (रा. १६.१२५)

(जवा)–स्त्री., वनस्पति० जपा (रा. परि. १०.३९)

जवनिका–स्त्री., पटलम् (असंसू. ३३.४)

जवनी–स्त्री., वनस्पति० यवानी (र. २६.५४–५५)

जवादि–न., सुगंधिद्रव्य० तद्गुणाः–उष्णं, स्निग्धं, सौगन्धिकं, मोहनाह्लादकारकं, वातघ्नं; नीलं जवादि संस्निग्धं; ईषत्पीतं जवादि सुगन्धदं; उभयमप्यातपे बहलामोदं, सर्वमपि राजसदृशानां योग्यम् जवादिकस्तुरी० (रा. १२.६–८)

जवोपरोध–पु., वेगस्योपरोधो विघातः (चसू. २१.४)

जागत–पु., वनस्पति० सोमवल्ली (सुचि. २९.७)

जागर–पु., जागरणम् (अहसू. २२.२६)

जागरण–न., निद्राया अभावः (चनि. १.३३) रात्रौ जागरणं रूक्षम्। कफमेदोरोगिणां विषपीडितानां च रात्रौ जागरणं हितकारकम् (सुशा. ४.४८) अपथ्यमप्यभ्यासान्नोपघातकम् (सुशा. ४.४१)

जागरिष्णु–वि., जागरणशीलः (सुसू. ३३.२५)

जागुड–न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)

जाङ्गम–वि., जङ्गमप्रभवम्, जङ्गमस्येदमिति वा जाङ्गमम्, मधुगोरसपित्तवसामज्जाऽसृगामिषविण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखखुरकेशलोमरोचनादीनि जाङ्गमद्रव्याणि (चसू. १.६८–६९)

जाङ्गल–पु., वि., देश० अल्पोदकद्रुमः प्रवातः प्रचुरातपः स्वल्परोगतमो देशः (चवि. ३.४७) आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च (सुसू. ३५.४२) क्लेशसहारोगशरीरदीर्घायुप्रायजनपदोऽयं कटुकरसयोनिः (असंसू. १८.३०)

–तैल–न., तद्गुणः–कफजगुल्मेऽनुवासनार्थं हितकरम् (सुउ. ४२.२३)

–पल–न., जाङ्गलमांसम् (अहसू. ३.३०)

–मांस–न., जाङ्गलप्राणिनां मांसम्, तद्गुणाः–रसे कषायमधुरं, शीतवीर्यं, लघु, विशदं, रुच्यं, मांसानां चोत्तमम्, यस्मिन् सन्निपाते पित्तमधिकं वातो मध्यः कफश्च स्वल्पस्तत्र जाङ्गलं मांसं हितकारकम् (असंसू. ७.८७–८८)

–रस–पु., जङ्गालविष्किरमांसरसो गुल्मिनां पाने हितः (सुउ. ४२.५३–५४)

–वर्ग–पु., मांसवर्गाणां षण्णामेकतमः स चाष्टविधः–जङ्गालाः, विष्किराः, प्रतुदाः, गुहाशयाः, प्रसहाः, पर्णमृगाः, बिलेशयाः, ग्राम्याश्चेति। तेषां जङ्गालविष्किरौ प्रधानतमौ (सुसू. ४६.५३)

–वसा–स्त्री., जाङ्गलप्राणिनां वसा (सुउ. ४२.२३)

–वैहङ्ग–वि., परिव० जाङ्गलविहङ्गा लावादयस्तेषां मांसरसो जङ्गलवैहङ्गपदाभिधेयः शूले भोजनार्थम् उपयुज्यते (सुउ. ४२.९१)

जाठराग्नि–(परिव०) पु., अग्नि० जठरेऽन्नस्य पक्ता, जाठरो भगवानीश्वरोऽन्नस्य पाचको रसानाददानः सौक्ष्म्याद् विवेक्तुं नैव शक्यते (सुसू. ३५.२७)

जाड्य–न., लक्षण० गौरवम् (असंसू. ३२.१९)
अपटुता (ड. सूचि. ३८.९)
स्तब्धता (सुचि. २४.१४)

जाड्यारि–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. ११.१८)

जाण्डक–पु., प्राणि० मरुदेशोद्भवः प्राणी, पृष्ठमात्रे संकोचमुपयाति। अस्य रोमाणि हिक्काश्वासकासरोगोपयुक्तानि (चचि. १७.११८)

जात–वि., उत्पन्नः (चशा. ८.४६)

–कर्म–न., जातमात्रस्य वेदोक्तं कर्म (चशा. ८.४६) नालकर्तनादिकं कर्म (काखिल. १२.३)

–कर्मोत्तर–वि., अध्याय० जातकर्मानन्तरं विषयप्रतिपादकः अध्यायः (का. खिल. १२.१)

–घ्नी–स्त्री., योनिरोग० रौक्ष्यादनिलः कुपितो जायते तेन दुष्टार्तवं भवति तदुष्टार्तवाज्जातं सुतं जातमात्रं हन्ति (अहउ. ३३.३४)

–दशन–वि., लक्षण० उद्भूतदन्तः (असंउ. १)

–प्राण–वि., लक्षण० जातबलः (सुचि. ९.४१)

–मद–वि., जातो मदो यस्मिन्नसौ वसन्तादिः (कालः) (चचि., २.३–३०)

–मात्र–वि., सद्योजातः, तस्यौषधस्य प्रमाणं विडङ्ग-फलमात्रम् (का. लेहाध्याय)

–रस–वि., व्यक्ताम्लम्, मधुगन्धम् (सुसू. ४४.४४)

–रूप–न., खनिज० सुवर्णम् (चचि. २.३–११)

–वेग–वि., उद्वेगोऽतिवेगो वा उदग्रो वेगो यस्य, स उद्वेगः, अतिशयितो वेगो यस्यासौ अतिवेगः (चक्र. चचि. २८.४८)

–वेदस्–पु., अग्निः (सुउ. १८.८६)

–शर्कर–वि., जातं शर्कराचूर्णं यस्मिंस्तादृशो (दन्तः) (चइ. ३.६)

–सत्व–वि., जातकृमिः (सुचि. ९.५१)

–हारिणी–स्त्री., देवता० नारीणां बालानां च ग्रहः, (काक. रेवती) रेवतीग्रहस्य स्वरूपम्–इयं देवता पुष्पं हन्ति, वपुर्हन्ति, गर्भांश्च हन्ति, जातांश्च हन्ति, जायमानांश्च, जनिष्यमाणांश्च हन्ति, तस्मात् जातहारिणीति संज्ञिता (कारेवतीकल्प. ७) सा त्रिविधा–साध्या, याप्याऽसाध्या च पुनश्च लोकभेदतः सा दैवी, मानुषी, तिरश्चीनेति त्रिविधा (कारेव. ६२) तत्र मानुषी जातहारिणी रजस्वलां, गर्भिणीं प्रसूतां कुटीगतां वा स्त्रियं क्रुद्धा रेवती त्रिषु कालेष्वाविशते। अधर्मम् ऋते जातहारिणी नारीं न विशते। वर्णो वर्णान्तरां, लिङ्गिनीं कारुकीमिति चतुर्विधाः स्त्रिय आविश्य जातहारिणी स्त्रियं प्रविशति। यां स्त्रियम् आविश्य जातहारिणी अन्यां नारीं प्रविशति तत्र प्रथमाविष्टाया वर्णादिनामधेयं जातहारिणीं प्राप्नोति (कारेक. ६८)

सामान्या चिकित्सा–यां स्त्रियमाश्रित्य ऋतुमतीं नारीं जातहारिणी प्रविशति सा स्त्री एनाम् ऋतुमतीमवसिञ्चेत्। स्वेन भागधेयेन एनां प्रजावतीं करोति। बालके जातहारिणीलक्षणानि–उच्चैर्भृशं रोदनं, स्तन्यबाधा, ज्वरः, तन्द्रा, प्रमीलकः, शिरोभितापो, वैवर्ण्यं, पाण्डुपीतता, तृष्णा, अतिसारस्तालुशोषः, प्रहर्षणं, मुखपाको, मुखस्फोटो, विसर्पः, कामला, श्वासः, कासः, श्रुतिः, क्षणात् शीतीभवनं, मृतप्रायत्वम्, निश्चेष्टता, स्तन्यद्वेषो, मृदुना रोगेणापि दारुणपीडानुभवः (कारेक. ७२–७८)

जातारिष्ट–वि., यस्यारिष्टानि मृत्युपुरःसराणि लक्षणानि संजातानि सः (चनि. ६.१६)

जाति–(परिव.) स्त्री., जन्मकारणम् (चशा. ८.१) जन्म (चशा. ३,१३) संप्राप्तिः (चनि. १.११)

वनस्पति० जाती (र. १७.५२–५३)

–कोश–पु., वनस्पति० जातिपत्री (ध. ३.३३) जातीफलम् (चचि. २६.२१०)

–(कोशा)–स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री (ध. ३.३३)

–कोशक–पु., जातिकलिका (असंचि. २३)

–कोषक–पु., वनस्पति० जातीफलम् (चचि. २८.१५२)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० कटुः, उष्णा, वर्ण्या, लघुः, कायशान्तिदा, वक्त्रदुर्गन्धहारिणी, कफघ्नी विषघ्नी (सुसू. ४६.२०२–३ ध. ३.३३)

हिं.—जावित्री.

म.—जायपत्री.

गु.—जावंत्री.

ता.—जौथीक.

फा.—जवित्री.

–प्रवाल–पु., वनस्पति० जात्याः पल्लवानि (असंसू. १५.१८)

–फल–न., वनस्पति० जातीफलम् (र. १७-३९-४०)

–शुङ्ग–न., वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५)

–सस्य–न., वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५)

–सात्म्य–न., मनुष्यजातेरनुकूलम्, यथा शाल्यादयः, मृगपक्षिजातीनां च तृणपतङ्गादीनि (सुसू. ३५.३९)

–सार–न., वनस्पति० जातीफलम् (रा. १२.६७)

–सूत्रीय–वि., अध्याय० (चशा. ८.१ काशा. १)

–स्मर–वि., यः पूर्वां जातिं जन्मकुलविशेषं वा सम्भूतिं स्मरति सः (चशा. ३.१३)

जाती–स्त्री., वनस्पति० तिक्ता, शीता, कफपित्तजित्, मुखपाकव्रणकुष्ठघ्नी, कलिकागुणाः,–चक्षुष्या, व्रणविस्फोटकुष्ठनुत्; पुष्पगुणाः–सुगन्धि, सर्वश्रेष्ठं मनोज्ञं वातकफजित् सुकुमारम् (ध. १३७-८) (रा. १०. २३१-३) कषायतिक्तोष्णा शिरोमुखदन्तार्तिविषकुष्ठरक्तस्रावनाशिनी (र. १७. ५२-३)

हिं.—जाती. जाई.

म.—जाई, मालती.

बं.—जाती.

जातीफलम् (चसू. ५.७७)

आमलकी (चक्र. चचि. ७,७०)

–कोश–पु., वनस्पति० जातिपत्री (सुसू. ४६.२०२)
–पल्लव–पु., मालतीपत्राणि; एतेषां कल्कः अर्बुदेषु व्रणशोधनायोपयुज्यते (असंउ. ३५.)
–प्रवाल–पु., मालतीपत्रम्, कुष्ठघ्नवर्गीयमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११)
–फल–न., वनस्पति० तिक्तं, कटु, लघु, कफघ्नं, वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यतृष्णाघ्नम् (सुसू. ४६.२०२–३) कषायं, उष्णं, दीपनं, ग्राहि, वृष्यं, वातघ्नं, प्रमेहातिसारकण्ठरोगघ्नम् (ध. ३.३५)
हिं.—जायफळ.
म.—जायफळ.
गु.—जायफळ.
बं.—जायफळ.
ता.—जथिकै.
–फलरस–न., वनस्पति० आमलकी (ध. १.२१५)
–फला–स्त्री., वनस्पति० आमलकी (रा. १७.३२३)
–रस–पु., भैषज्य० बोलः (अहसू. १५.४३)
जातीका–स्त्री., वनस्पति० जाती (असंचि. २३)
जातुक–न., वनत्पति० शालिपर्णी शुक्ला शालिपर्णी (सुसू. ४६.२७४)
(जातुका)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (असंसू. ७.)
–शाक–न., शाक० वंशपत्रिका (चक्र. चसू. २६.८४)
पौष्करशाकम् (सुसू. २०.१३)
जातुष–वि., जतुनो विकारो जातुषम् इति । लाक्षामयम् (सुसू. २७.१७)
जातोदक–वि., लक्षण० जातमुदकं यस्मिन् तत् (चचि. १३.५१) द्र० उदर
जात्यन्ध–वि., जन्मान्धः (सुशा. २.३५)
जात्यादिकुसुमाष्टक–न., वनस्पति० जातीयूथीराजवल्लीचम्पकप्रभृतीनां पुष्पाणामष्टकम् (र. १९. ३९)
जात्यादिघृत–(परिव.) न., घृत० मर्मजव्रणनाडीव्रणनाशकम् (र. २४.१०२–४)
जानु–शारीर० जङ्घोरुसंधिः (चवि. ८.११७)
मर्म० (असंशा. ७.४)
–कपालिक–न., अस्थि० (चशा. ७.६)
–कपालिका–स्त्री., अस्थि० जानुकपालिकम् (चशा. ७.६)
–तुल्यासन–न., जानुप्रमाणोत्सेधं पीठम् (अहसू. १८.२०)
–भेद–पु., रोग० जान्वोर्भेदवद्वेदना, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
–मर्म–न., मर्म० जानुसन्धिस्थाने (सुशा. ६.२४) सक्थिमर्म (सुशा. ६.६) सन्धिमर्म (सुशा. ६.७) वैकल्यकरमर्म (सुशा. ६.१२–१३) जानुमर्मसंख्या–द्वे–वामदक्षिणभेदेन मानं–त्र्यङ्गुलम् (सुशा. ६.२८) तत्र विद्धस्य लक्षणम्–खञ्जता (सुशा. ६.२४)
–विश्लेष–पु., रोग० जानुनः विश्लेषः अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
–शूल–पु., लक्षण० जानुनः शूलः (चसि. २.१६)
–शोष–पु., लक्षण० जानुनः शोषः (च. सि. २.१६)
–संग्रह–पु., लक्षण० जानुनः संग्रहणम् एकत आकुञ्चनम् (चसू., १४.२३)
–स्तम्भ–पु., लक्षण० जानुनः स्तम्भः (चसि. २.१६)
जान्वर्ति–स्त्री., लक्षण० जानुशूलम् (चसू. १४.२३)
जान्वस्थि–न., अस्थि० जानुनोऽस्थि (सुशा. ५.१९)
जाम्बव–वि., जम्बूवृक्षभवं जम्बूसंबद्धं वा (अहसू. ६.१२७)
न., वनस्पति० जम्बूफलम् (चसू., २५.४०)
खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३)
(जाम्बवी)–स्त्री., वनस्पति० जम्बू (रापरि. २४)
–वदन–न., यन्त्र० जम्बूफलमुखाकारं शलाकायन्त्रम् (सुसू. ७.१४)
जाम्बवती–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रापरि. ५.२४)
जाम्बवाभास–वि., लक्षण० जम्बूफलसदृशः, जाम्बवाभासौ ओष्ठौ यस्य, तस्य दुर्लभं जीवितम् (सुसू. ३१.५)
जाम्बवास्थि–न., जम्बूफलान्तर्गतबीजम् (सुनि. १४.६)
जाम्बवोष्ठ–न., यन्त्र० (असंउ. ४४) जम्बोष्ठम्, जाम्बवौष्ठम् द्र० 'जांबववदन'
जाम्बवौष्ठ–न., यन्त्र० (सुसू. ५.६) जम्बूफलसदृशमुखाग्रा कृष्णपाषाणरचिता वर्तिः
जाम्बूनद–न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.१)
जायमान–वि., उत्पद्यमानः (चशा. ४.३)
जारक–पु., कीट० वायव्यजातीयः सविषः कीटः (असंउ. ४३)

जारण–पु., वनस्पति० कासमर्दः (रा. ४.१७७)
न., गालनपातनव्यतिरेकेण घनहेमादिग्रासपूर्वकं पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वम् (र. ३.११)

(जारणा)–स्त्री., पारदेऽनन्तदृढसम्बन्धेनैकीभावः; (र. ८.७२) सा द्विविधा, समुखा निर्मुखा च, मुखवतः पारदस्य कठिनानां लोहानां भक्षणे सामर्थ्यमिति समुखा; पारदे बीजस्य चतुर्थांशभागाऽऽदानेन नाम ग्रसनेन जायमाना निर्मुखा (र. ८.७२-७७)

(जारणा)–यन्त्र–न., यन्त्र० द्वादशाङ्गुलदीर्घलोहमूषाच्छिद्रमध्यामेकस्यां गन्धकं विलिप्यान्यस्यां मूषायां पारदं निदध्यात् । उभयोरुत्तानयोरेवं सन्धिं विलिप्योर्ध्वाधोऽग्निं प्रज्वालयेद्येन द्रुतो गन्धकच्छिद्रद्वारोपरितनमूषायाऽधःस्थितपारदे पतति (र. २०.२३)

(जारणी)–स्त्री., वनस्पति० स्थूलजीरकम्, पृथ्वीका (रा. ६.९१)

जारद्गव–वि., वृद्धगोभवः जरद्गवो वृद्धवृषभः, तच्चर्मनिर्वृत्तो 'जारद्गव' इति (चक्र. चसि. ३.१०)

जाल–न., नेत्ररोग० लक्षण० नेत्रशुक्लभागगतजालाभः सन्तानः, सिराजालम् (सुउ. ४.८)
शारीर० सूत्रादिकृतरचना० (सुशा. ५.१२) तस्य संख्या–षोडश जालानि, मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परगवाक्षितानि चेति; यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् (सुशा. ५.१२)
–क्षीर–न., क्षीरविष० स्थावरविषभेदः (सुक. २.५)
–गर्दभ–पु., क्षुद्ररोग० पित्तोल्बणैर्दोषैर्वीसर्पणशीलो दाहज्वरकरः शोथो जायते (सुनि. १३.१४) सुतीव्रो रक्तपाकयुक्तः शोफः (चचि. १२.९९) तस्य चिकित्सा पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेत् मधुरौषधसिद्धेन घृतेन रोपयेत् (सुचि. २०.७-८)
–धरा–स्त्री., सिरा० जालानीव जालानि मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिजानि कूर्चशिरोव्यापीनि, तानि धारयन्ति यास्ताः (ड. सुशा. ७.२२)
–बर्बुर–पु., वनस्पति० कषायः, उष्णः, रूक्षः, वातकफहृत्, दाहपित्तकृत्, वातामयविनाशकः (रापरि. ८.१४)
–मालिनी–स्त्री., वनस्पति० देवताडकः (चक्र.)
देवदाली (चचि. २३.२०६-७)

जालक–न., जन्तुलालाविरचितजालकाकारं मण्डलम् (सुउ. ७.८)
कन्दविष० (असंउ. ४०) द्र० 'विष'
–गर्दभ–पु., रोग० जालगर्दभः (चचि. १२.९९)

जालाख्यरोग–परिव० पु., नेत्ररोग० महान् सरक्तो जालाभः कठिनसिरः (मा. नेत्र;) द्र० 'जाल'

जालावतत–वि., जालव्याप्तम् (चचि. २१.३४)

जालाश्मगर्दभ–पु., क्षुद्ररोग० जालगर्दभः (र. २५.२)

जालिक–वि., सूक्ष्मानेकच्छिद्रः (चसि. ५.६-७)

जालिनी–स्त्री., रोग० प्रमेहपीडकाभेदः, सिराजालवती, स्निग्धस्रावा, महाशयार्तितोदा, सूक्ष्मच्छिद्रेति तल्लक्षणानि (चसू. १७.८३)
बालपीडका० कफप्राया, सिराजालतनुच्छिद्रवती (काचि. द्विव्रणीय)
वनस्पति० देवदाली (र. ५.१५०)
कोशातकी (सुक. ७.१५ ध. १.१९२)
क्षीरविष० (असंउ. ४०) द्र० 'विष'
लूता० दंशलक्षणानि–तीव्रशोथो रुजा स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषो दंशोऽवदीर्यते भिद्यते इति (सुक. ८.१२४)

जाविताह्वय–न., वनस्पति० जलमुस्तम् (ध. १.४३)

जाहक–पु., प्राणि० अयं बिलेशयवर्गे डह्लणेन निर्दिष्टः (सुसू. ४६.७८)

जिघांसु–(वि.,) हन्तुम् इच्छुः, हननेच्छावान् इत्यर्थः (सुउ. ५४.२०)

जिघृक्षा–(परिव.) स्त्री., ग्रहीतुमिच्छा, ग्रहणेच्छा (असंशा. १०)

जिङ्गिणी–स्त्री., वनस्पति० मधुरा, कटुपाका, योनिशोधनी, वातघ्नी, व्रणातीसारघ्नी (ध. ३.२२)
हिं.—जिङ्गिनी, काश्मल.
म.—मोई, मुया.
गु.—मवेडी.
बं.—जिओल.
ता.—ओतियमर.

जिङ्गिनी–स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिणी (ध. ३,२२) (सुसू. ३८.१४ चचि. ३०.८३) द्र० 'जिङ्गिणी'.

जिङ्गी–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)

जिजीविषु–वि., जीवितुमिच्छुः (सुउ. ५५.३)

जिज्ञासा–स्त्री., परीक्षा (चवि. ८.४६)

ज्ञातुमिच्छा (सुसू. १४.३)

जिञ्झिरा–स्त्री., वनस्पति० झिञ्झिरीटा (रापरि. ४.५३)

जितहस्त–वि., चिकित्सायां यशस्वी भिषक् जितः सुष्ठु सम्पादितो हस्तो नाडीस्पर्शादिः भेषजप्रयोगश्च येन सः, कारणे कार्योपचाराद्धस्तो नाडीस्पर्शभेषजप्रयोगादिवाचकः (चवि. ८.४)

जितात्मा–वि., जितेन्द्रियः (चसू. २९.७)

जितेन्द्रिय–वि., इन्द्रियजेता वशीकृतेन्द्रियवर्गः (अहसू. ४.२४)

जितेन्द्रियाह्व–पु., वनस्पति० कामवृद्धिः (रापरि. ४.५१)

जिह्म–न., वनस्पति० तगरं (ध. ३.५३)

(जिह्मा)–स्त्री., कुटिला (चचि. २८.४१)

–**भ्रू**–वि., वक्रभ्रूः (सु. उ. ६१.९)

–**शल्य**–पु., वनस्पति० खदिरः (ध. १.२५)

जिह्माक्ष–वि., लक्षण० वक्रलोचनः (सुउ. ६०.९)

जिह्मीकरण–न., परिव० लक्षण० नासिकाया वक्रीकरणम् इदं रिष्टलक्षणम् (चइं. १०.५)

जिह्मक–पु., रोग० सन्निपातज्वरभेदः, तस्य लक्षणानि श्वासः, कासः, परितापविह्वलता, कठिनकण्टकयुक्तजिह्वता, बधिरत्वं, मूकत्वं, बलहानिः, मर्यादा–षोडश वासराः, अयं व्याधिः कृच्छ्रसाध्यः । केषांचिन्मते अयं साध्यः (मा. ज्वर. २२)

जिह्वा–स्त्री., शारीर० मुखावयवः कर्मेन्द्रियम् (चशा. ७.७) जिह्वावयवस्योत्पत्तिः–कफरक्तमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते (सुशा. ४.२८)

रसनेन्द्रियम्, सा च रसनेन्द्रियाधिष्ठानरूपा (चसू. ८.१०)

रसना–(सुशा. १.४)

–**कण्टक**–पु., जिह्वारोग० स त्रिविधः–वातजः, पित्तजः, कफजश्च; तत्र वातदूषिता कंटका–शाकपत्रवत् खरा, सुप्ता, स्फुटितजिह्वा; पित्तजा–रक्तमांसांकुरयुक्ता, दाहयुक्ता जिह्वा; कफजा–शाल्मलीकण्टकाभैः कण्टकैश्चिता बहला गुर्वी जिह्वा (सुनि. १६.३७) (असंउ. २५) द्र० 'जिह्वारोग'

–**गतरोग**–पु., रोग० जिह्वारोगः (सुनि. १६.३६)

–**जाड्य**–न., लक्षण० जिह्वास्तम्भः (अहसू. ७.२१)

–**तल**–पु., जिह्वाया अधोभागः (सुनि. १६.३८)

–**निर्गम**–पु., लक्षण० जिह्वायाः बहिरागमनम् (चसि. ९.६)

–**निर्लेखन**–न., कर्म० उपकरण० जिह्वालेखनम् जिह्वा निर्लिखिता निर्मला क्रियते अनेनेति जिह्वाशोधनार्थं घर्षणम् (चसू. ५.७४–७५) (सुचि. २४.१३)

जिह्वानिर्लेखनार्थं सौवर्णं राजतं ताम्रं वा काष्ठमयं मृदुपत्राकारं दशाङ्गुलं मृदु स्निग्धं साधनमुपयुञ्जीत। तेन सुखं जिह्वां लिखेत्, जिह्वानिर्लेखनं जिह्वाया मलं वैरस्यं, दौर्गन्ध्यं जडत्वं च हरति (भा. प्र. पूर्वदिनचर्या ४०.४१)

–**निष्क्रमण**–न., लक्षण० जिह्वाया बहिरागमनम् (असंनि. ५.४६)

–**निस्सरण**–न., लक्षण० जिह्वाबहिर्निर्गमनम् (डसुचि. ३४.१२)

–**निःसर्पण**–न., (परिव०) लक्षण० जिह्वाबहिर्निर्गमनम् (ड सुचि. ३४ १२)

–**प्रबन्ध**–पु., जिह्वामूलम् (सुनि. १६.५२)

–**प्रबन्धन**–न., जिह्वामूलम् (असंउ. २५)

–**बन्धन**–न., शारीर० जिह्वाया बन्धनम् (असंशा. ५.१९)

–**मूल**–न., शारीर० जिह्वाया मूलम् (चसू. १८.१९)

–**रोग**–पु., रोग० स तु पञ्चविधः, वातपित्तकफजास्त्रिविधाः कण्टकाः, उपजिह्विकोऽलासश्च । तत्रालासस्य लक्षणानि–कफरक्तदुष्टिजन्यो जिह्वातलस्थः प्रगाढशोथः जिह्वास्तम्भः, भृशं जिह्वामूलपाकः (सुनि. १६.३८) द्र० जिह्वाकण्टक

–**विशोधन**–वि., जिह्वाया विशोधनं कुर्वाणं चूर्णम् (चचि. ८.१४३)

–**शोफ**–पु., लक्षण० जिह्वाशोथः (असंशा. ११.३)

–**श्वयथु**–पु., जिह्वायाः शोथः (चइ. ११.१५)

–**स्तम्भ**–पुः, वातरोग० वाग्वाहिनीसिरासंस्थो वातो जिह्वां स्तम्भयति । तेनान्नपानवाक्येष्वसामर्थ्यं जायते (असंनि. १५.३३)

जिह्वेन्द्रिय–न., ज्ञानेन्द्रिय० जिह्वाग्रस्थेन्द्रियं, रसेन्द्रियम् (सुचि. २४.२२)

जीमूत–पु., वनस्पति० मुस्ता (सुचि. ३७.२७ ध. १.४१)

देवदाली (सुचि. ३१.५)

न., अभ्रकम् (र. १९.३)

पु., मेघः जीवनं जलं मूत्रयति स्रावयति इति जीमूतः (सुसू. २९.३०)

–**कल्प**–पु., योग० देवदालीकल्पः (चक. २.१)

जीमूतक–पु., वनस्पति० देवदाली (सुचि. १८.२०–२१)
–**कल्प**–पु., अध्याय० (चक. २.१)
–**तैल**–न., देवदाली फलतैलम् अनिलकफकृमिकुष्ठादिरोगापहरम् (सुसू. ४५.११५)
जीमूतादिगुटिका–स्त्री., पारदयोग० अभ्रकगन्धकलोहताम्रवत्सनाभादियुक्ता मध्वनुपानपूर्विका रात्रौ सेव्यमाना सकलोदरनाशिनी (र. १९.३)
जीर–पु., न., वनस्पति० जीरकम् (र. १६.६४)
जीरक–पु., न., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुः उष्णः रूक्षो दीपनो वातघ्नो गुल्माध्मानातिसारग्रहणीकृमिनाशकः; शुक्लकृष्णभेदेन जीरको द्विविधः तत्र शुक्लजीरकः–मधुरः, कटुः, शीतो, रुच्यश्चक्षुष्यः, आध्मानकृमिविषनाशकः, कृष्णजीरकः–कटुः, उष्णः, रुच्यश्चक्षुष्यो, ग्राही, कफघ्नो, जीर्णज्वरशोथनाशकः (ध. ६६.७०) (रा. ६.१००–१०६)
हिं.—सफेदजीरा, शहाजीरा.
म.—जिरे.
गु.—सफेद जीरन्.
बं.—सफेद जीरा.
ता.—जीरक.
फा.—झीरा.
(जीरिका)–स्त्री., वनस्पति० वंशपत्री (रा. ८.५४)
–**द्वय**–न., श्वेतजीरकं कृष्णजीरकं चेति, द्र० 'जीरक' (र. १२.५६–५९)
जीरकाख्या–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.९८)
जीरकादिषाडव–पु., योग० जीरकत्र्यूषणनागकेशरहरिद्रायुक्तः, सर्वमूषिकविषघ्नः (असंउ. ४६)
जीर्ण–वि., जरायुक्तम् (असंसू. ४.)
सुपक्वं सम्यक्परिणतमशितखादिताद्यन्नम्।
जीर्णलक्षणानि–क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिः (चचि. ३०.३०३)
पु., वनस्पति० जीरकम् (रा. ६.१००)
न., वनस्पति० शैलेयम् (ध. ३.७३)
(जीर्ण)–गन्ध–वि., गन्धकजारितः (पारदः) तेन गन्धजीर्ण इत्येवार्थः प्राप्नोति (र. ३.१५७–१५८)
(जीर्णा)–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुः (रा. ३.१५७)
पृथ्वीका (रा. ६.९१)
–**घृत**–न., घृत० प्राचीनघृतम्, दशवत्सरावस्थितं घृतम् (चसि. ९.७७) तत्पानं संन्यासरोगातुरे प्रबुद्धसंज्ञे सति प्रशस्तम् (सुउ. ४६.२४)
–**ज्वर**–पु., रोग० देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णो भूत्वाऽनुवर्तते। सामान्यतः सन्तताद्यिज्वरेषु दशाहाद्यनन्तरमस्य मन्दत्वेनावस्थितिः। जीर्णज्वरे वातः पित्तं च देहेऽतिरौक्ष्यं जनयतः, तस्मादस्मिन् ज्वरे घृतं प्रशस्यते; घृतस्य वातपित्तजिताम्यत्वात्, (अहृचि. १.८४) यो ज्वरः त्रिसप्ताहे व्यतीते तनुतां गच्छति तथा क्षीहाग्निसादं कुरुते, स जीर्णज्वरः (मधुकोश, माज्वर. ६५.)
–**ज्वरादि**–पु., पारदयोग० नागवङ्गताम्रगन्धकजेपालादियुक्तः, जीर्णज्वरघ्नः (र. १४.१६०-३)
–**दारु**–पु., वनस्पति० वृद्धदारुः (रा. ३.१५७)
–**नेत्र**–न., बस्तिनेत्रदोषेष्वेकः (चसि. ५.४–५)
–**पत्र**–पु., वनस्पति० पूगः (रा. ६.२४०)
–**पत्रिका**–स्त्री., वनस्पति० वंशपत्री (रापरि. ८.५४)
–**पर्ण**–पु., वनस्पति० पूगः (ध. ३.१७७)
–**पिण्याक**–न., पुराणपिण्याकम् (असंसू. ११.३५)
–**पुष्पक**–न., वनस्पति० परिपेल्लम् (ध. ३.५५)
–**बुध्न**–पु., वनस्पति० पूगः (रा. ६.२४०)
–**बुध्नक**–न., वनस्पति० परिपेल्लम् (ध. ३.१०५)
–**रस**–पु., जीर्णपारदः (र. २४.९३)
–**वज्र**–न., खनिज० वैक्रान्तम् (ध. ६.४४)
जीर्णान्तिक–वि., जीर्णे यत् प्रयुज्यते तत् (अहृसू. ४.७)
जीर्णान्न–न., परिणताहारः (सुचि. ३७.६८)
जीर्णाहार–पु., परिणताहारः (असंसू. ११.६९–७०)
द्र० 'जीर्णान्न'.
जीव–पु,. चेतनाधातुः, आत्मा (चशा. ३.३)
जीवति प्राणिति इति जीवः प्राणः (सुसू. १४.४४)
–**दा**–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७७)
–**दात्री**–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७)
जीवन्ती (रा. ३.१७७)
–**नेत्रा**–स्त्री., वनस्पति० सैंहलीपिप्पली (रा. ६.१२०)
–**पृष्ठा**–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७८)
बृहज्जीवन्तिका (रा. ३.१७९)
–**प्रिया**–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (रा. ११.३०६)
–**भद्रा**–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७७)
ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
–**रक्त**–न., जीवनहेतुधातुरूपं शोणितम् (चक.) तेन मिश्रितमन्नं वायसः श्वा वा भक्षयेत्तर्हि तज्जीवशोणितम्; न चेत् पित्तमादिशेत् (चसि. ६.७९)

यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितम् (सुचि. ३४.१४) शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाश्रयं रक्तं जीवशोणितम् (सुचि. ३४.१३) तस्य पञ्चभूतगुणाः–विस्रता, द्रवता, रागः, स्पन्दनं, लघुता (सुसू. १४.८–९) जीवशोणितातिप्रवृत्तेश्चिकित्सा–काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुतेन सुशीतेनास्थापयेत् (सुचि. ३४.१३)

–लिङ्ग–न., शरीरे आत्मनो लक्षणम् (चवि. ८.६०)

–वर्धनी–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (ध. १.१४०)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (रा. ३.१६९)

–शाक–पु., वनस्पति० जीवन्तः (रापरि. ७.८९)

–शुक्रा–स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (रा. ३.१६९)

–शोणित–न., जीवरक्तम् (चसि. ६.७९)

–शोणितातिप्रवृत्ति–स्त्री., जीवरक्तातिप्रवृत्तिः, द्र० 'जीवरक्त' (सुचि. ३४.१३)

–श्रेष्ठा–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७)

–संयोग–पु., जीवस्य सम्यग्योगः (चशा. ४.५)

जीवक–पु., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५०) एष विषसंसृष्टमन्नं दृष्ट्वा म्रियते (सुक. १.३१)

पु., वनस्पति० स्नेहोपगगणैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) जीवनीयगणेऽष्टवर्गे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९;३.२२) गुणाः–मधुरः शीतः शुक्रलः कफकरो वातपित्तघ्नो रक्तपित्तदाहज्वरक्षयघ्नः (ध. १.१२३)

शाक० लोणिकादिशाकवर्गेऽप्येकं द्रव्यं, स्वादुरसपाको लवणानुरसः शीतो रूक्षः सरो वातकरः कफघ्नो नातिपित्तलः (सुसू. ४६.२७४)

कूर्चशीर्षकः (डसुसू. ३८.४)

ऋषि० ऋचीकतनयः, स महातन्त्रकाश्यपसंहितां संचिक्षेप (काक. २०)

जीवञ्जीव–पु., पक्षि० जीवजीवकः (अहसू. ७.१५;६.४६)

जीवञ्जीवक–पु., जीवञ्जीवः (अहसू. ७.१५,६.४६) (चइ. १२.७५)

जीवद्वत्सा–वि., जीवन् प्राणन् वत्सस्तर्णको यस्याः सा (चशा. ८.५२)

जीवन–वि., यो जीवयति सः प्राणधारणः (सुसू. ४६.५१७) (चसू. २६.४३१)

पु., वनस्पति० जीवकः (रा. ५.१५४)

न., जलम् (रा. १४.३१७)

वि., ओजोवृद्धिकरम् (र. २९.३५)

(जीवन)–पञ्चमूल–न., वनस्पति० शतावरीवीराजीवन्तीजीवकऋषभकानां मूलानि (ध. ७.२५) (अहसू. ६.१७०)

–संज्ञ–पु., जीवनीयो गणः (असंसू. १६.६)

जीवनिका–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (रा. ११.३०६)

(जीवनी)–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (ध. १.१४०)

अन्यादोडी (रापरि. ४.४१)

मेदा (रा. ५.१६०)

महामेदा (रा. ५.१६३)

शाक० फञ्जादिशाकवर्गोक्तं शाकम् (रापरि. ७.९४)

जीवनीय–वि., प्राणधारणक्रियौपयिकम् (चसू. १.१०८)

जीवने हितः (चसू. ४.८)

न., घृतम् (ध. ६.१४४)

(जीवनीया)–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (ध. १.१४०)

–गण–पु., द्रव्यगण० जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि (चशा. ४.९) (असंसू. १५)

–घृत–न., घृत० जीवनीयादिगणोक्तद्रव्यैर्विपाचितम्, तद्गुणाः–बलवर्णकरं वलीपलितनाशनं वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदं वातरक्तपाण्डुरोगादिषूपयुक्तम् (चचि. २९.६१–७०) पित्तोन्मादनाशकम् (चचि. ९.७६) शुष्काक्षिपाकेऽस्य नस्यं प्रशस्तम् (सुउ. ९.२२)

–तैल–न., तैल० पित्ते जीवनीयसाधितमनुवासनं हितम् (चसि. ३.३७०)

–वर्ग–पु., (परिव.) जीवनीयगणः (चसू. ४.९)

–सर्पिस्–न., घृत० जीवनीयघृतम् (चचि. ९.७६)

जीवनीयाम्बु–न., जीवनीयशृतं जलम् (असंउ. १.)

जीवन्त–पु., वनस्पति० बृहद्वान्धारः (अरु.) रक्तनालो मार्षः (हे अहसू. ६.९४) शाक० गुणाः–मधुरो दीपनः पाचनो बल्यो बृंहणो वृष्यो बस्तिशोधनः (रापरि. ७.८९–९०)

जीवन्ति–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (चसू. ३.२५)

जीवन्तिक–न., शाक० वातपित्तनुत् (चसू. २७-१०७)

(जीवन्तिका)–स्त्री., शाक० जीवन्ति (र. १०.९३)

जीवन्ती–स्त्री., शाक० जीवनीयगणेष्वग्रणीः स्नेहोपग-

गणे वयःस्थापनगणे श्वासहरगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९,१३,१६,१८) पटोलसमानपत्रा, कन्दवती (सुउ. ५१.२७) गुणाः–मधुरा, शीता, चक्षुष्या, कफकरी, वीर्यकरी, त्रिदोषघ्नी, रक्तपित्त-क्षयदाहज्वरघ्नी (ध. १.१४०–१४१) स्निग्धा, लघु, रसायनी, ग्राहिणी (भाप्र.) बल्या (र. २८.७४–७५)

हिं.—जीवन्ती.
म.—जीवन्ती.
गु.—राडारुडी.
बं.—जीवन्ती.
अन्यादोडी (रा. ४.४१)
गुडूची (ध. १.३)
ताम्बूली, नागवल्ली (ध. परि. ३.२)
हरीतकी (रा. ११.३०७)
सुवर्णनाला (चसू. ५.६५)

–घृत– (परिव.) न., घृत० एकादशरूपराजयक्ष्मण्यु-पयुक्तम् (चचि. ८.१११–११३)

–तैल–न., तैल० मधुरं, मधुरपाकं, शीतवीर्यं, वात-पित्तशमनं, सृष्टमूत्रमग्निसादनमभिष्यन्दि च (सुसू. ४५.१२०)

–शाक–न., शाक० (चसू. २५.३८) चक्षुष्या, त्रिदोषघ्नी (सुसू. ४६.२५२) शाकेषु जीवन्ती श्रेष्ठा (असंसू. ७.१६८)

जीवन्त्यादि–तैल–न., तैल० पित्तरक्तरोगार्दितेषूपयुज्यते (सुचि. ३७.२३–२६)

जीवला–स्त्री., वनस्पति० सिंहली पिप्पली (रा. ६.१२०)

जीवा–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७७)

जीवादान–न., रोग० रक्तस्रावाधिक्यम् (चसू. २०.१४) जीवशोणितस्य हरणं तेन च जीवित-नाशः, वमनविरेचनातियोगेनायमुपद्रवो भवति (चसू. १५.१३)

जीवाभिसन्धान–वि., जीवं रक्ष्यत्वेन अभिसन्धत्ते विचारयति लक्षयति वा तज्जीवाभिसन्धानं (रक्तम्) (चसि. ६.८२)

जीविका–स्त्री., उपजीविका (काशा.)
खनिज० पारदः (र. १.८३–८४)
अन्या जीवगतिर्दैवी जीवोऽण्डादिव निष्क्रमेत् ।
स तांश्च जीवयेज्जीवांस्तेन जीवो रसः स्मृतः '

जीवित–न., आयुः (चसू. १.४२)
प्राणाः (र. १.३३)
आहारद्रव्य० दुग्धम् (ध. ६.१६१)

जीविताभिसर–पु., प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धौ वैद्यः, जीवितमायुरभिसरति अभिसारयति नाम प्रापयति रोगिणमिति जीविताभिसरः (चसू. ११.५३)

जीवितायतन–न., प्राणायतनम् (असंशा. ६.२७)

जीविनी–स्त्री., वनस्पति० काकोली (रा. ३.१६७)

जीवोपक्रमण–न., जीवात्मप्रवेशः, शुक्रशोणितमेलने जीवात्मा पूर्वकर्मतः प्रविशति (चचि. ३०.१२६)

जीव्य–पु., वनस्पति० जीवकः (रा. ५.१५४)

(जीव्या)–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७७) हरीतकी (रा. ११.३०७)

जुगुप्सु–वि., निन्दकः (सुसू. ३४.२४)

जुङ्गक–पु., वनस्पति० वृद्धदारुकः (ध. ४.१०७)

जुष्ट–वि., सेवितम् (चचि. १२.३) युक्तः (सुचि. ३.३)

जूनल–पु., वनस्पति० धवलयावनालः (रा. १६.१६९) द्र० 'जूर्णाह्वय'

जूर्णल–पु., वनस्पति० धवलयावनालः (रा. १६.१६९) द्र० 'जूर्णाह्वय'

जूर्णा–स्त्री., धान्य० (अहसू. १४.२१) गुणाः–शीता, रूक्षा, गुरुर्वृष्या, विष्टम्भिनी, कफपित्तघ्नी (ध. ६.१०८)

हिं.—ज्वार.
म.—जोंधळा.
गु.—जुवार.
बं.—देधान.
ता.—जोन्नु.
फा.—जुरेमखा.

जूर्णाह्व–पु., धान्य० जूर्णाभेदः (अहसू. १४.२१) गुणाः–कषायः मधुरो लघुः वातलः कफपित्तघ्नः शीतः संग्राही शोषणः (चसू. २७.१८)

जूर्णाह्वय–पु., धान्य० जूर्णाभेदः (रा. १६.१६९) जूर्णाह्वयस्य यावनालस्य प्रकाराः–धवलयावनालः, तुवरयावनालः, रक्तयावनालः, शारदयावनालः । गुणाः–धवलयावनालस्तु गौल्यो बल्यस्त्रिदोषजित् । वृष्यो रुचिप्रदोऽशोंघ्नः पथ्यो गुल्मव्रणापहः । तुवर-यावनालस्तुवरश्च कषायश्च । रक्तयावनालो हितस्तु-वरश्च । "तुवरो यावनालस्तु कषायोष्णो विशोफ-कृत् । संग्राही वातशमनो विदाही शोषकारकः ।

शारदो यावनालस्तु श्लेष्मदः पिच्छिलो गुरुः । शिशिरो मधुरो वृष्यो दोषघ्नो बलपुष्टिदः"
(रा. १६.१७०–७३ पृ. २२९)

जूर्ति–स्त्री., रोग० ज्वरः (र. २२.७७)

जृम्भ–पु., जृम्भा, एकमनिलोच्छ्वासं पीत्वा विवृताननः सबुद्वेष्टन् श्वासं सनेत्रास्यं मुञ्चति स जृम्भः
(सुशा. ४.५०)

जृम्भण–न., लक्षण० जृम्भा (चनि. ७.४९) वायुकृता मुखविवृतिः (चसि. ३.२८–२९) श्वासोच्छ्वासस्य विशेषस्वरूपं जृम्भणम् (सुशा. ४.४९)

(जृम्भा)–स्त्री., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः
(चसू. २०.११) (चनि. १.३३)
एकं श्वासं पीत्वा चैतन्यशिथिलत्वाद्विदीर्णवदनः सन् तं श्वासमुद्वमेत्, सा जृम्भा कथ्यते
(शार्ङ्ग. ५७.२६)
जृम्भाया विधारणादुदावर्तोद्भवः (सुउ. ५५.४१)
जृम्भायाः निग्रहादुदावर्तो भवति, स वातप्रकोपजः जृम्भानिग्रहजे उदावर्ते मन्यास्तम्भो गलस्तम्भः, सूर्यावर्तादिशिरोरोगाः, कम्पसुप्त्यादिवातरोगाः, कर्णरोगा मुखरोगा नासारोगा नयनामया इत्येवमादयो विकारा भवन्ति (सुउ. ५५.११)

जृम्भा–स्त्री., (चसू. २०.११)

जृम्भिका–स्त्री., जृम्भा (अहसू. ४.१२)

जृम्भोपघात–पु., जृम्भावेगावरोधः, एतस्मादुदावर्तो भवति (सुउ. ५५.११) द्र० 'जृम्भा'

जेन्ताक–पु., कूटागारम्, इदं स्वेदविधावुपयुज्यते
(चसू. १४.४६)

–स्वेद–पु., स्वेद० जेन्ताकनिर्माणं स्वेदविधिश्च जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत–तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्नमनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तःसमन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कुमात्रं पुरुषप्रमाणं मृण्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत्, तं च खादिराणामाश्वकर्णादीनां वा काष्ठैः पूरयित्वा प्रदीपयेत्; स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि गतधूमान्यवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति, तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेश्यैनमनुशिष्यात्–सौम्य ! प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः, न च त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद्बारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणाञ्जह्याः। तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथंचन मुञ्चेथाः, त्वं यदा जानीयाः विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक्प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघूभूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, अपगतसंतापक्लमस्तु मुहूर्तात् सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीयाः, इति जेन्ताकस्वेदः
(चसू. १४.४६)

जेपाल–पु., वनस्पति० दन्तीबीजम्, प्रसिद्धं विरेचनं बीजम् (र. ५.२४९) गुणाः–कटुरुष्णश्च कृमिहारी विरेचनो दीपनः कफवातघ्नो जठरामयशोधनः (ध. १.२२८)
हिं.—जमालगोटा.
म.—जयपाल, जेपाल.
गु.—नेपाल.
बं.—जैपाल.
ता.—नीरेवेलम्.
फा.—तुखमेबेदं, जीरखताई.

जैत्र–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४१)

जैपाल–पु., वनस्पति० जेपालः (र. ५.२४९)

जोङ्गक–न., वनस्पति० अगरुः (चचि. १८ (४) १५)
(अहसू. १५.१९)

जोन्नलिका–स्त्री., धान्य० जूर्णा (ड. सुसू. ४६.२१)

ज्ञ–वि., ज्ञाता (वैद्यः) (सुउ. ११.१०)
पु., आत्मा. (चशा. ४.८)

ज्ञान–न., बुद्धिः, अनुभवः, ज्ञायते अनेन इति, प्रमाणम् (चवि. ४.७) आत्मज्ञानम् (सुशा. १.१८)
तत्त्वावबोधः, मनोधर्मः (सुसू. ३६.६)
आयुर्वेदः (च. सू. ३०.३१)

-चक्षुस्-न., ज्ञानार्थं ज्ञानरूपं वा चक्षुः (चसू. १.२८) ज्ञानं चक्षुरिव, तत्त्वज्ञानम् (सुशा. ५.५०)

-वती-वि., विदुषां परिषद् (चवि. ८.२०)

-समुदाय-पु., प्रमाणसंघातः (चवि. ४.५)

ज्ञापक-वि., आवेदकः, ज्ञापयति निवेदयति निदानाद्यवस्थां सूचयति इति ज्ञापकः (अहसू. १.२९)

ज्ञेय-वि., मनोज्ञेयम्, इन्द्रियनिरपेक्षतया ग्राह्यम् (चशा. १.२०)

ज्यायस्त्व-न., बृहत्त्वम्, अप्रशस्तगुणबृहत्त्वम् अप्रशस्तगुणप्रकर्षशालित्वं वा (चसू. २५.४२)

ज्येष्ठबला-स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२४)

ज्येष्ठा-स्त्री., वनस्पति० त्रिफला (र. २५.१०५)

-मालक-पु., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४४)

ज्योतिष्क-पु., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०) (सुचि. ९.१०)

(ज्योतिष्का)-स्त्री., वनस्पति० मेथिका (ध. ६.१११)

ज्योतिष्मती-स्त्री., वनस्पति० शिरोविरेचनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) (सुसू. ३९.६) ज्योतिष्मतीक्षीरं विरेचनार्थमुपयुज्यते (असंसू. १४) गुणाः-तिक्ता, कटुी, उष्णा, रूक्षा, सरा, वमनी, दीपनी, बुद्धिमेधास्मरणकृत्, विरेचनी, वर्णकरी, दाहकरी, कफवातघ्नी च (ध.१.२६८)

हिं.—मालकांगनी.

म.—मालकांगोणी.

गु.—मालकांकणी.

बं.—लताफटकी.

ता.—वावजी.

फा.—काल.

कटभी (ध. १.२६७)

काकमर्दनिका (सुसू. ४२.११)

(ज्योतिर्) लता-स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५)

(ज्योतिष्) काया-स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (ध. १.२६७)

ज्योतिस्-स्त्री., अग्निः, तेजः, पञ्चमहाभूतेष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ८.९) सकलशरीरान्तर्गतं तेजः (चइं. ११.३)

पित्तम् (सुनि. २.२५-२६)

अग्निशिखा (सुचि. २४.९६)

तारका (सुचि. २४.९६)

वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८४)

(ज्योती)-रथ पु., निर्विषसर्प० (सुक. ४.३४ (४)

-रस-पु., रत्न० (इन्दु असंचि. ६)

ज्योत्स्ना-स्त्री., चन्द्रिका, तद्गुणाः-मधुरशीतला (असंसू. १२)

ज्योत्स्नी-स्त्री., वनस्पति० पटोलः (रा. ३.७४)

ज्वर-पुं., रोग० रसप्रदोषजरोगेष्वेको व्याधिः (चसू. २८.९) 'ज्वर संतापे' ज्वरयति संतापयति शरीराणीति ज्वरः (चनि. १.३५) संतापात्मा व्याधिः, "ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोऽशनोऽन्तकः। क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः। जन्मान्तयोर्मोहमयः सन्तापात्माऽपचारजः। नानायोनिषु विविधैर्नामभिर्जायते॥" (अहनि. २.१-२) यथा दन्तिशरीरे पाकलो नाम ज्वरः, अश्वशरीरेऽभितापकः, गोशरीरे गोकर्णकः, पक्षिशरीरे मकरः, श्वशरीरे अलर्कः, मत्स्येष्विन्द्रमदः, ओषधीषु ज्योतिः, धान्येषु चूर्णकः अप्सु नीलिका, मानुषेषु ज्वरः इति। सर्वे प्राणभृतः सज्वरा इव जायन्ते म्रियन्ते स महामोहस्तदभिभूता देहिनः प्राग्देहिकं कर्म न स्मरन्ति। सर्वप्राणिनां च ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते। देहेन्द्रियमनस्तापकरः प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहह्रासकरः श्रमक्लममोहाहारोपरोधसंजननः।

ज्वरोत्पत्तिः-द्वितीये युगे वर्षाणां सहस्रमक्रोधव्रतमास्थितं शर्वमसुरा अभिदुद्रुवुः। समर्थोऽपि दक्षः प्रजापतिस्तानसुरान्न निवारितवांस्तथैव स्वीये यज्ञे माहेश्वरं भागं न कल्पितवान्। अथोत्तीर्णव्रतः शिव एतादृशं दक्षव्यतिक्रमं बुद्ध्वा क्रुद्धो ललाटे चक्षुः सृष्ट्वा तानसुरान् दग्ध्वा दक्षयज्ञमप्यनाशयत्। स एव रुद्रक्रोधो ज्वर इति नाम्ना लोके प्रसिद्धिमगमत् (चचि. ३.१५-२५) दक्षावमानेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य निःश्वासात् ज्वरसंभव इति तन्त्रान्तरम्।

हेतुः संप्राप्तिश्च-मिथ्याहारादिभिः कुपितो वातादिदोषः प्रविश्याऽऽमाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाऽऽद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति (चनि. १.२०) **संख्या**-**अष्टविधा ज्वराः तत्र दोषैः सप्तधा अष्टमश्चा-**

ऽऽगन्तुः । **विधिभेदाः**–१ शारीरमानसश्चेति द्विविधः । २ सौम्याग्नेयश्चेति द्विविधः । ३ अन्तर्वेगबहिर्वेगश्चेति द्विविधः । ४ प्राकृत-वैकृतश्चेति द्विविधः । ५ साध्यासाध्यश्चेति द्विविधः । ६ दोषकालबलाऽबलात् पञ्चविधः । ७ सप्तधातुगतत्वात् सप्तविधः । **ज्वरसामान्यलक्षणम्**–स्वेदावरोधः संतापो युगपत् सर्वाङ्गग्रहणं च यत्र रोगे दृश्यते स ज्वरो व्यपदिश्यते (मा. ३) **पूर्वरूपाणि**–श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः शीतवातातपादिषु इच्छाद्वेषौ जृम्भाऽङ्गमर्दौ गुरुता रोमहर्षोऽप्रहर्षः । एतानि पूर्वरूपाणि भवन्ति (मा. १) **वातज्वरस्य लक्षणानि**–विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं, नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं कृष्णीभावश्च; अनेकविधोपमाश्चलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानां; तद्यथा–पादयोः सुप्तता पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणम् ऊर्वोः सादः, कटीपार्श्वपृष्टस्कन्धबाह्वंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथितचटितावपाटितावनुन्नत्वमिव, हन्वोः स्वव्यापाराकरणम्, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यता आस्यवैरस्यं वा, मुखतालुकण्ठशोषः पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहोऽन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाऽविपाकाः, विषादजृम्भाविनामवेपथुश्रमभ्रमप्रलापप्रजागररोमहर्षदन्तहर्षाः, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति । **पित्तज्वरस्य लक्षणानि**–युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण कटुकास्यता घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकस्तृष्णा, मदो भ्रमो मूर्च्छा पित्तच्छर्दनमतीसारोऽन्नद्वेषः; सदनं स्वेदः प्रलापो रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः शीताभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति; **श्लेष्मज्वरस्य लक्षणानि**–युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तमात्रे पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वंमनन्नाभिलाषः श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्यं, हृल्लासो, हृदयोपलेपः स्तिमितत्वं, छर्दिर्मृद्वग्निता, निद्राधिक्यं स्तम्भस्तन्द्रा कासः श्वासः प्रतिश्यायः शैत्यं, श्वैत्यं च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं च शीतपिडका भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति । द्वन्द्वजाः–**वातपित्तज्वरलक्षणानि**–तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा, कण्ठाऽऽस्यशोषो, वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः पर्वभेदो जृम्भा च । **वातकफज्वरलक्षणानि**–स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा, गौरवं, शिरोग्रहः, प्रतिश्यायः, कासः, स्वेदाऽऽप्रवर्तनं संतापो मध्यवेगश्च । **पित्तकफज्वरलक्षणानि**–लिप्ततिक्ताऽऽस्यता, तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा मुहुर्दाहो, मुहुः शीतं च । **सान्निपातिकज्वरलक्षणानि**–क्षणे दाहः, क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने सस्रनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः तन्द्रा मोहः प्रलापः कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः परिदग्धा खरस्पर्शा च जिह्वा कफमिश्ररक्तपित्तस्य ष्ठीवनं परं स्रस्ताङ्गता शिरसो लोठनं, तृष्णा, निद्रानाशो, हृदि व्यथा स्वेद–मूत्र–पुरीषाणां चिरादर्शनमल्पशः कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनं कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां दर्शनं मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च । चिरात्पाकश्च दोषाणामिति सन्निपातज्वराकृतिः (माज्वर.)

निदाने त्रयोदशसन्निपातभेदाः-सन्धिकाऽन्तक–रुग्दाह–चित्तभ्रम-शीताङ्ग–तन्द्रिक–कण्ठकुब्ज-कर्णक–भुग्ननेत्र–रक्तष्ठीवि–प्रलापक–जिह्वकाऽभिन्यासा इति त्रयोदशेभ्यो व्यतिरिक्तो हरिद्रकः इति संनिपातज्वरः । **विधिभेदेन शारीरमानसौ**–(१) शारीरो ज्वरः पूर्वं देहे जायते ततश्च मनसि मानसो ज्वरः पूर्वं मनसि पश्चात् देहे जायते इति विशेषः तत्र मनसि वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिरिति मनस्तापलक्षणं तथैवेन्द्रियाणां वैकृत्यं च

सौम्याग्नेयज्वरौ–केवलवातारब्धः केवलकफारब्धस्तथा वातकफात्मकश्च ज्वरः सौम्यस्वभावः स सौम्यत्वेनोष्णमिच्छति, केवलपित्तात्मको वातपित्तात्मकश्च ज्वर आग्नेयः स शीतमिच्छतीति विशेषः वायुः परं योगवाहः सतु संयोगादुभयार्थकृत् तेजसा युक्तः दाहकृत् सोमसंश्रयात् शीतकृच्च (चचि. ३.२८)

अन्तर्वेगस्य ज्वरस्य लक्षणानि–अन्तर्दाहोऽधि-

कस्तृष्णा, प्रलापः श्वसनं, भ्रमः । सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो, दोषवर्चो विनिग्रहः । **बहिर्वेगस्य ज्वरलक्षणानि**–बाह्यः संतापोऽभ्यधिकस्तृष्णादीनां मार्दवं सुखसाध्यत्वं च । शीतपूर्वज्वरः–त्वक्कूस्थौ श्लेष्मानिलावादौ शीतं जनयतः तयोः प्रशान्तयोरन्ते पित्तं दाहं करोतीति शीतपूर्वः । यदा त्वक्स्थं पित्तमादावतीव दाहं करोति श्लेष्मानिलावन्ते शीतं कुरुतस्तदा दाहपूर्वो ज्वरः । एतयोर्ज्वरयोः दाहपूर्वः कृच्छ्रसाध्यः (सुउ. ३९.५९–६१)

दोषकालबलाबलात् पञ्चविधज्वरास्ते च संततः सततोऽन्येद्युष्कस्तृतीयकश्चतुर्थकश्चेति

(मा. ज्वर. ३१)

प्राकृतवैकृतज्वरौ–कालस्वभावप्रकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते तज्जातीयाच्च दोषादुद्भूतो ज्वरः प्राकृत उच्यते । कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः वर्षाकालप्रकृतिभूतेन वातेन कृतो ज्वरः प्राकृतः स्यात् (चक्र.) वर्षासु वातज्वरः प्राकृतः शरदि पित्तज्वरः प्राकृतः वसन्ते च कफज्वरः प्राकृतः (अरुण.) एभ्योऽन्यश्च ज्वरः वैकृतो ज्वरो दुःसाध्यः, परन्तु वातजन्यः प्राकृतो ज्वरोऽसाध्य एव । साध्यासाध्यज्वरौ बलवत्स्वल्पदोषेष्वनुपद्रवो ज्वरः साध्यो, बहुभिर्बलिभिर्हेतुभिर्जातो बहुलक्षणः, शीघ्रमिन्द्रियनाशनो यो ज्वरः स प्राणान्तकृदसाध्यश्च । सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो वातोत्तरो ज्वरः सप्ताहान्नरं हन्ति । एवं पित्तोत्तरो ज्वरः दशाहात् कफोत्तरश्च द्वादशाहान्नरं हन्ति । धातुगतज्वराः १) रसगतज्वरलक्षणानि–गुरुता, हृदयोत्क्लेशः, सदनं, छर्दिः, अरोचको, दैन्यमिति । २) रक्तगतज्वरलक्षणानि–रक्तनिष्ठीवनं, दाहो, मोहश्छर्दनं विभ्रमः, प्रलापः, पिडका, तृष्णेति । ३) मांसगतज्वरलक्षणानि–पिण्डिकोद्वेष्टनं, तृष्णा, सृष्टमूत्रपुरीषता, ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपो, ग्लानिरिति । ४) मेदोगतज्वरलक्षणानि–भृशं स्वेदस्तृषा, मूर्च्छा, प्रलापश्छर्दिर्दौर्गन्ध्यमरोचको, ग्लानिरसहिष्णुतेति । ५) अस्थिगतज्वरलक्षणानि–अस्थां कूजनं, श्वासो, विरेकश्छर्दिर्गात्राणां विक्षेपणमिति । ६) मज्जागतज्वरलक्षणानि–तमःप्रवेशो, हिक्का, कासः, शैत्यं, वमिरन्तर्दाहो महाश्वासो ममैच्छेद इति । ७) **शुक्रगतज्वरलक्षणानि**–शैफसः स्तब्धता, शुक्रस्य मोक्ष इति । **सामज्वरलक्षणानि**–लालाप्रसेको, हृल्लासो, हृदयाशुद्धिररोचकस्तन्द्राऽऽलस्यमविपाक आस्यवैरस्यं, गुरुगात्रता, क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं, स्तब्धतेति । **निरामज्वरलक्षणानि**–क्षुदक्षामता, गात्राणां लघुत्वं, ज्वरमार्दवं, दोषप्रवृत्तिरष्टाह इति । **पच्यमानज्वरलक्षणानि**–अधिकज्वरवेगस्तृष्णा प्रलापः, श्वसनं, भ्रमो, मलप्रवृत्तिरुत्क्लेश इति । **ज्वरमोक्षलक्षणानि**–स्वेदो, लघुत्वं, शिरसः कण्डूर्मुखस्य पाकः, क्षवथुरन्नलिप्सेति । **ज्वरमुक्तलक्षणानि**–दाहः, स्वेदो, भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञिता, कूजनमास्यवैगन्ध्यमिति । (माज्वर.) **आगन्तुज्वरः**–चतुर्विधः–अभिघातजोऽभिषङ्गजोऽभिचारजोऽभिशापजश्च

१) **अभिघातजः**–शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टयरत्नितलद्विजैस्तद्विधैर्हते गात्रे स ज्वरोऽभिघातजः स्यात् । प्रायो वायू रक्तं प्रदूषयन् सन् सन्यथाशोफवैवर्ण्यं सरुजं ज्वरं करोति । २) अभिषङ्गजः–कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य ज्वरो भूताभिषङ्गजश्च ज्वरोऽभिषङ्गजो ज्ञेयः । वायुः कामशोकभयात् कुप्यति पित्तं, क्रोधात् कुप्यति, भूताभिषङ्गात् त्रयो दोषाः कुप्यन्ति । विषवृक्षानिलस्पर्शादभिषक्तस्याभिषङ्गजो ज्वरो भवतीत्येके । सिद्धानामभिचाराभिशापाभ्यां सुदुःसहः सन्निपातज्वरो भवति; **कामज्वरे**–ध्याननिःश्वासबाहुल्यमस्ति, **शोकजे**–बाष्पबाहुल्यम्, **भयज्वरे**–त्रासप्रायत्वम्, **क्रोधजे**–बहुसंरम्भोऽस्ति, **भूतावेशेऽमानुषं लक्षणम्, विषसंभवे**–मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठतेति विविधज्वरेषु लक्षणानि भवन्ति (चचि. ३.११४–१२४) ज्वरे दोषपाचनार्थं ज्वरशमनार्थं च लङ्घनादि कर्तव्यम् । लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसश्चेति ज्वरकराणां दोषाणां पाचनानि स्युः । तानि च यथावस्थं क्रमशो वा प्रयोक्तव्यानि

(अहृचि. १.२१)

–गजहरिरस–पु., पारदयोग० हिंगुलाभ्रकगंधकयुक्तः ज्वरघ्नः (र. १२.२२)

–नाशिनी–स्त्री.,वनस्पति० गुडूची (ध. १.२)

–हन्त्री–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा

(ध. १–१७; रा. ६.१७)

–हरगण–पु., पञ्चाशन्महाकषायवर्गेष्वेकः (चसू. ४.१६) सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकबिभीतकानि दश

(चसू. ४.१६.)

ज्वराङ्कुश–पु., पारदयोग० गन्धकटङ्कणशंखभस्मादि-युक्तः ज्वरघ्नः (र. १२.६०–६३)

ज्वरान्तक–पु., वनस्पति० नेपालनिम्बः
द्र० किराततिक्तः (ध. १.३३; रा. ९.५२)
आरग्वधः (ध. १.२१९ ; रा. ९.३३३)

ज्वरारि–पु., वनस्पति० गुडूची (ध. १,१ रा. ३.१)

ज्वलदौषधि–स्त्री; वनस्पति० या रात्रौ ज्वलन्ती दृश्यते (र. १.११–१४)

ज्वलन–पु., अग्निः ज्वलति दीप्यति इति 'ज्वलनः (चसि. ३.६४ अहसू. १८.६०)

(ज्वलनी) स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (ध. १.६५)
मूर्वा (रा. ३.११)

ज्वलनाभ–न., वनस्पति० आलकम् (ध. १–८९)

ज्वलित–पु., अग्निः (र. १५.६९)
वि., दीप्त (र. १५.६९)

ज्वाला–स्त्री., अग्निज्वाला (चचि. ३.२३–२४)

–मालाकुल–वि., ज्वालाव्याप्तः क्रोधाग्निर्ज्वररूपः (चचि. ३.२३–२४)

–मुखी–वनस्पति० स्त्री., ज्वालासमपुष्पी, लाङ्गली (र. २०.२६)

चित्रकः (र. १२.१२१–२२)
वन्या क्षुद्रफला जम्बूः (र. ४.६७–६८)

झ

झण्टी–स्त्री., धान्य० (ड) सुसू. ४६.२१)

झण्डु–पु., वनस्पति० स्थूलपुष्पा, कटुः कषायो ज्वरभूतग्रहापहः (रापरि. ५.५२)
हिं.—लालमुरगा.
म.—झेंडू.
गु.—मुखमल. गलगोटो.
फा.—काजेखरुस.

झण्डूक–पु., वनस्पति० झण्डुः (रापरि. ५.५२; ३४४)

झरत्कोष्ठी–स्त्री., कोष्ठीविशेषः आसवादिनिर्माणे उपयुक्ता कोष्ठी (र. ७. ५–६)

–शब्द–पु., ज्वालायाः शब्द इव शब्दः, ज्वालायाः पाचकस्य जाठरानलस्य वा शब्दः (चइ. ४.२०)

झर्झर–न., यष्टि० खरखरकः (चक्र.) पन्नगभयनाशनार्थं झर्झरपाणिना भवितव्यम् (चचि. २३.२५०)
झनझणायमानं लोहमयं कटकाकारम्
(इन्दु) असुंउ. ४२)

झर्झरीकृत–वि., ईषत्पिष्टम् (र. ५.२४०)

झषा–स्त्री., वनस्पति० गाङ्गेरुकी (ध.१.२८४)

झिञ्झिणी–स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिनी (ध. ३.२२)

झिञ्झिरीटा–स्त्री., वनस्पति० कण्टफली, पीतपुष्पा च, गुणाः–कटुका, कषाया, शीता, वृष्या, संतर्पणी, बल्या, महिषीवृक्षवर्धिन्यतिसारजित् (रा. ४.२८.५३)

झिण्टि–स्त्री., धान्य० श्यामाकसदृशी कषायमधुरवातलशीतत्वादिगुणा (चसू. २७.१८)

झिण्टिका–स्त्री., वनस्पति०, गुणाः–कटुका, तिक्ता, वातकफघ्नी, दन्तामयशूलशोफकासत्वग्दोषविनाशिनी च (रा. १०.४२१ ध. १.२७८)

झिण्टी–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टः (ध. १.२७८ रा. १०.४१९)

झिरिण्टिका–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रा. परि. ५.२१)

झुञ्झु–पु., वनस्पति० झुञ्झुरकः (अहसू. ६.९४)

झेण्डूक–पु., वनस्पति० झण्डुः (रा. परि. ५.५२)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

ट

टङ्क–पु., वनस्पति० नीलकपित्थकः (ध. ५.११ रा. ११.९)
राजान्नः (ध. ५.११)
क्षार०, टंकणः (र. ५.२१)
न., वनस्पति० कपित्थभेदः, नीलकपित्थवृक्षः (सुसू. ४६.१९२)
काश्मीरप्रसिद्धं फलम् (चसू. २७.१३६) (र. २०.४१-४२)
-भसित–न., कपालभृष्टं शुद्धं टङ्कणम् (र. १६.११८)

टङ्कण–पु., भैषज्य० टंकणक्षारः (ध. २.२२)
श्वेतटङ्कणम् (ध. २.२२. रा. ६.३१)
सौभाग्यम् (र. २०.२१)
-क्षार–पु., भैषज्य० टङ्कणः (ध. २.२२) गुणाः–कटु-रुष्णः, पित्तकरो, दीपनः, कफवातहरः, स्थावरविष-कासश्वासहरश्च ।
हिं.—सुहागा.
म.—टांकणखार.
गु.—टंकणपाढियो.
बं.—सौहागा.
ता.—एलिगारम्.
फा.—तीगार.

टिण्टिकेर–न., वनस्पति० करीरफलम् (चक्र. चचि. १४.१०)

टिण्टुक–पुं., वनस्पति० स्योनाकः, टिण्टुकस्य मूलं ग्राह्यम् (ध. १.११५) दशमूलेष्वेकम् (सुसू. ३८.६८-६९) गुणाः–तिक्तः, शीतलः, पित्तश्लेष्म-वातघ्नो बस्तिरोगाऽऽमवातातीसारकासारुचिसंनि-पातज्वरघ्नश्च तत्फलगुणाः–कटुलवणाम्लमुष्णं लघु, दीपनं, पाचनं, हृद्यं, रुचिकृत्, कफवातहरम् (ध. १.११५ रा. ९.१४४-४५)
हिं.—सोनापाठा.
म.—टेंटु, खारासिंगा.
गु.—अरलू.
बं.—सोनागाछ.
ता.—पन.

टीका–स्त्री., व्याख्यानरूपा वृत्तिः (र. २०.२२२)

टुण्टुक–न., वनस्पति० टिण्टुकः (चचि. २३.७०) (सुचि. ३१.५)

टेण्डूक–पु., वनस्पति० पृथुशिम्बः (रा. ९.१४१)

ड

डङ्करी–स्त्री., वनस्पति० (ध. १.१८१) व्रपुसभेदः, (ध. १.१८१) गुणाः–शीतला, रुच्या, दाहपित्ता-स्रदोषजित्, शोषहृत्तर्पणी, गौल्या, जाड्यहा, मूत्ररोधनुत्; वालं डाङ्करिकं फलं सुमधुरं शीतं रुचिकरं संतर्पणं पुष्टिदं बल्यं वीर्योन्मेषकरं पित्ता-पहं तृष्णादाहनिबर्हणं भ्रान्तिश्रमध्वंसनं तदेव पक्वं मधुरं गुरु तृड्दाहरक्तघ्नम् (रा. १.२६८)

डमरुकाख्ययन्त्र–न., यन्त्र० यन्त्रस्याधस्तादग्निः कार्यः, एतद्यन्त्रं डमरुकाख्यं पारदभस्मकर्मण्युपयुज्यते; एकस्यां रसयुक्तायां स्थाल्यामन्यां न्युब्जां स्थालीं स्थापयित्वा तन्मुखसंधिं निरुध्य यजायते तत् (र. ९.५८)

डम्बरिन्–स्त्री., वि., स्तब्धाक्षावलोकी, संरम्भवान् (चक्र.) डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजा-नता (चइ. ६.१९)
डम्बरः संरम्भो गुरुस्तिमिताक्षत्वं वा, तद्वान् डम्बरी

डह्लण–पु., समस्तजनपदतिलककल्पे श्रीभादानकदेशे नगरीवरमथुरासमीपेऽङ्कोलानामकं वैद्यस्थानमस्ति, यत्र सौरवंशजा ब्राह्मणाः समस्तभूपतिमान्याऽश्वि-नीकुमारसमानाः पार्वणचन्द्ररुचिरयशःप्रसाधित-दिङ्मण्डला वैद्या अभूवन्; तदन्वये गोविन्दनामा चिकित्सकशिरोमणिरभूत्। ततस्तत्पुत्रो भिषक्शिरो-मुकुटमणिर्जेयपालः संजातः । तत्तनयश्च समस्त-शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भरतपालः संजातः; तत्पुत्रः स्वकुल-नभस्तलचन्द्रमा विवेकबृहस्पतिः श्रीसहपालदेव-नृपतिवल्लभः श्रीडह्लणः समभूत्, तेन श्रीजेज्जटं टीकाकारं श्रीगयदासभास्करौ च पञ्जिकाकारौ श्रीमाधवब्रह्मदेवादीन् टिप्पनकारांश्चोपजीव्याऽऽयु-

वैद्यशास्त्रसुश्रुतव्याख्यानाय निबन्धसंग्रहः क्रियते
(सुसू. १.१)

डाङ्गरी–स्त्री., वनस्पति० डङ्गरी (ध. १.१८१)

डिण्डिमाणवक–पु., प्रतुदपक्षि० डिण्डिमोत्कटध्वनिः
(सुसू. ४६.६७)

डिण्डिमानक–पु., प्रतुदपक्षि० डिण्डिमवदुत्कटध्वनिः
(चसू. २७.५१)

द्र० 'डिण्डिमाणवक'.

डिण्डीरमोदक–न., वनस्पति० गृञ्जनम्
(ध. ४.३७ रा. ७.५५)

डुडुरक–पु., शाक० पत्राणि शाकत्वेनोपयुज्यन्ते, तद्गुणाः–स्वादुः, सक्षारो, लवणानुरसः, स्वादुपाकः, शीतो, रूक्षः, सरो, वातलो, नातिपित्तलः, कफघ्नः
(सुसू. ४६.२७४–७५)

डुण्डुक–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (इन्दु) असंउ. २२)

डोरली–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२१)

ढ

ढालन–न., प्रक्षेपणम्, विद्रुतद्रव्ये निक्षेपणम्
(र. २.१.६७.६८)

ढेकीयन्त्र–न., स्थापितौषधियुक्तपारदस्य घटस्य गलादधःस्थच्छिद्रे वंशनालं प्रक्षिप्य तदेव तलस्थितजलगर्भे परस्परसंपुटितकांस्यपात्रद्वयमध्ये प्रवेशयेद्येन वह्नितापितघटादुत्थितः पारदो वंशनालद्वारा कांस्यपात्रस्थे जले पतति, ढेकीयन्त्रापरपर्यायम्
(र. ९.१७–१९)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

त

तक्कारी–स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः बृहत्पञ्चमूलेष्वेका (असंउ. १)

तक्र–न., आहारद्रव्य० दुग्धविकृतिः, मथितं दधि तक्रमित्युच्यते। तद्द्विविधम्–सजलं निर्जलं च। पुनश्च सजलं द्विविधं सस्नेहं निःस्नेहं च। तत्र निर्जलं तक्रं ससरं घोलमित्युच्यते। असरोदकं तु मथितमित्युच्यते। दधिचतुर्थांशजलं सामान्यतस्तक्रमित्युच्यते। अर्धवारिकं मथितं दध्युदश्वित्यिदित्युच्यते। मथितं दधि सारहीनं छच्छिकानाम्ना प्रसिद्धम्। तक्रसामान्यगुणाः–कषायाम्लं, स्वादु, स्वादुपाकमुष्णं, लघु, पथ्यं, दीपनं, प्रीणनं, वृष्यं, संग्राहि, स्वादुविपाकित्वान्न च पित्तप्रकोपणं कषायोष्णविकाशित्वाद्रूक्षत्वाच्च कफे हितं वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वाद्धितकरं, ग्रहणीदूषिणां तक्रं दीपनग्राहिलाघवाद्विशेषतः पथ्यम् (चचि. १५.११८–११९) शोफोदरार्शोमूत्रग्रहारुचिप्लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपाण्डुरोगादींश्च जयेत्। (चसू. २७.२२९) सद्यस्कं तक्रमविदाहि। (अहसू. ५.३३–३४) (अहचि. १०.४–५; भा.प्र.) आमं तक्रं कोष्ठे कफं हन्ति कण्ठे तु कफं करोति, पीनसश्वासकासादौ सिद्धमेव तक्रमुपयोजयेत्। (असंसू. ७) मन्दजातं तक्रं मरुत्कोपि रूक्षाभिष्यन्दि दुर्जरम्, तदेवातिजातं भृशाम्लौष्ण्यतैक्ष्ण्यात्परं पित्तकरम् (अरु. अहसू. ५.३३) घोलं तु दधिगुणमेव (ड. सुसू. ४५.८५) उदश्वित्कफकृद्वल्यमामघ्नं च, छच्छिका लघ्वी पित्तश्रमतृषाहरा। समुद्धृतघृतं तक्रं लघु विशेषतः पथ्यं च। स्तोकोद्धृतघृतमर्धादीषत्सस्नेहं गुरु वृष्यं कफापहम्। अनुद्धृतघृतं तक्रं सान्द्रं गुरु पुष्टिप्रदं कफप्रदं च, (भाप्र.) शीतकाले अग्निमान्द्ये अरुचौ स्रोतसां रोधे वातामयेषु च तक्रममृतोपमं स्यात् (भाप्र;) तथैव कफोत्थेषु रोगेषु कोष्ठस्थवातस्य दुष्ट्यां प्रशस्यते (सुसू. ४५.८७) तक्रनिषेधः–क्षते दुर्बले मूर्च्छाभ्रमदाहेषु रक्तपैत्तिके रोगे तथैवोष्णकाले तक्रं न दद्यात् (सुसू. ४५.८६)

हिं.—छाछ, मठ्ठा.

बं.—घोल.

म.—ताक.

गु.—छाश.

–कूर्चिका–स्त्री., तक्रविकृति० विनष्टं घनावयवं तक्रम्; गुणाः–ग्राहिणी, वातला, रूक्षा, दुर्जरा च (सुसू. ४५.९०)

–जन्म–न., दधि दुग्धविकृति० तक्रस्य जन्म यस्मात्तत् तक्रजन्म; दधि (ध. ६.१८८)

–पिण्डक–पु., तक्रजघनभागः (चक्र. चचि. १४.९) तक्रकूर्चिकाया एव स्रुतद्रवो घनो भागो, विशदो, गुरु, रूक्षो, ग्राही च (चसू. २७. २३६)

–भक्षा–स्त्री., वनस्पति० तक्राह्वा (रापरि. ४.२९)

तक्राभ्यास–पु., उपक्रम० तक्रस्य सततं सेवनम् (चसू. २५.४०)

तक्राम्ल(यूष)–पु., कृतान्न० तक्रेण क्रियते योऽम्लयूषः सः, तद्गुणाः–पित्तकृत्, विषरक्तप्रदूषणश्च (सुसू. ४६.३७७)

तक्रारिष्ट–पु. न., आसुत० यमान्यामलकहरीतकीमरिचानां प्रत्येकं पलत्रयं गृहीत्वा पञ्चलवणानि च पलांशानि समादाय एकत्र चूर्णयेत्। तत्र तक्राढकेन योजितं तक्रारिष्टं सम्पद्यते। इदं तक्रारिष्टं दीपनं ग्रहण्यां विशेषतो लाभकरं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहञ्च (चचि. १५.१२१–१२२)

तक्राह्वा–स्त्री., वनस्पति० कटुः कृमिघ्नी व्रणनिर्मूलयित्री (रापरि. ४.२९)

द्र० 'तक्रभक्षा'.

तक्षक–पु., सर्प० अस्य विषं घोरं प्राणहरं च (चचि. २३.१९४–१९५)

तक्षण–न., कृशीकरणम्, तनूकरणम् (असंचि. १०)

तगर–पु., वनस्पति० मदनः (ध., १.६८) शीतप्रशमने एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७;) तद्गुणाः–कषायः (ध.) तिक्तः (रा.) उष्णः (ध.) शीतः

(रा.) स्निग्धस्निदोषघ्नः, दक्शीर्षविषदोषघ्नो भूतापस्मारनाशनः (ध.) भूतोन्मादघ्नः (रा.)

हिं.—तगर.

म.—तगर.

गु.—तगर.

बं.—टगर.

तडाग–पु., जलाशय० (चक्र. चसू. २७.२१४) (सुसू. ४५.४)

तडिद्गुण–पु., विद्युल्लता (सुउ. ७.१९–२०)

तण्डुल–पु., आहारद्रव्य० धान्यादिसारः (चसू. ५.९)

पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (ध. ४.११६)

न., वनस्पति० बिसम् (ध. ४.१६१)

व्रीहिः (र. २०.१९८–९९)

तद्गुणाः–नवस्तण्डुलः सुदुर्जरः स्वादुरसो बृंहणश्च; पुराणस्तण्डुलः सन्धानकृन्मेहहरश्च (सुसू. ४६.४१६–४१७)

प्रमाण० अष्टौ रक्ताः सर्षपाः (चक. १२.८७) 'अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलः'

(तण्डुली)–स्त्री., वनस्पति० शशाण्डुली (रापरि. ७.१०३)

यवतिक्ता (ध. १.२५६) (रा. ३.३८१)

विडङ्गम् (ध. २.११)

–कण्डन–न., तण्डुलगुण्डनम् (ड. सुसू. १३.२२)

–नामन्–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७५)

तण्डुलाम्बु–न., तण्डुलधावनाम्बु (चक्र.) अन्ये तु तण्डुलाद् द्विगुणमम्लं तण्डुलेन समं चिरं स्थितं तत्तण्डुलाम्बु वदन्ति" (चक्र.) (चचि. १५. १२९–३०) प्रक्षालितं तण्डुलोदकम् (सुचि. ३४.११)

तण्डुलिन्–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७४ ध. ४.११६)

तण्डुलीय–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः पत्रशाकम् (ध. ४.११६ रा. ५.१७४)

मेघनादः (र. ४.६४–६५) गुणाः–लघुर्मधुरः, शीतो, रूक्षो, दीपनो, रुच्यो, मधुरः, पथ्यः, पित्तकफास्रजिद्विषरक्तपित्तदाहघ्नः

हिं.—चौलाई.

म.—तांदुळजा.

गु.—तांदलजानी भाजी.

बं.—कांटा नटिया.

त.—मुष्टुक्विरइ.

फा.—सफेदमर्ज.

–दल–न., वनस्पति० गुणाः–हिमं, ग्राहकं, रुचिदायि अर्शःपित्तरक्तविषकासविनाशि, दाहशोषशमनं, मधुरविपाकम् (रा. परि. ७.८३)

तण्डुलीयक–पु., वनस्पति० तण्डुलीयः (चसू. २७.९५) (सुसू. ४६.२५६)

(तण्डुलीयका)–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (रा. ६.१५)

–मूल–न., मूषकविषे एतत्सिद्धघृतं पाने हितम् (असंउ. ४६)

तण्डुलीयकादिवर्ग–पु., तण्डुलीयकोपोदिकाऽश्वबलाचिल्लीपालङ्क्यावास्तूकप्रभृतीनि; तेषां सामान्यगुणाः–सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च, मन्दवातकफान्याहुः रक्तपित्तहराणि च (सुसू. ४६.२५६–५७)

तण्डुलोदक–न., तण्डुलधावनोदकम् (चचि. १९.५१)

तण्डुलाद्द्विगुणमम्लं तण्डुलेन समं चिरं स्थितं तत्तण्डुलाम्बु वदन्ति (चचि. १५.१३०)

गुणाः–संग्राहि, तण्डुलाम्बु स्यात्कषायं मधुरं लघु विषदाहतृषाच्छर्दिपित्ततापविनाशनम् (भाप्र.)

" जलमष्टगुणं दत्त्वा पलं कण्डिततण्डुलात् ।
भावयित्वा ततो देयं तण्डुलोदककर्मणि ॥ "

तण्डुलोद्भव–न., वनस्पति० पलाशगन्धा (ध. २.५८) (रा. ६.८८)

(तण्डुली)–बीज–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (ध. ४.११६)

तत्कर–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः, गुणाः–लघुः श्वयथुपचनः, शान्तिरक्तार्तिपाण्डुभ्रान्तिश्वासज्वरकफहरोऽरोचकघ्नः (रा. १.४.४७)

तत्त्व–न., यथार्थं, तात्त्विकम्, वास्तविकम् (चशा. १.५५)

निर्णयः (चवि. ८.३३)

–चतुर्विंशति–स्त्री., सांख्यदर्शनोक्तो व्यक्ताऽव्यक्तप्रकृतेः प्रपञ्चः अव्यक्तमहदहङ्कारा एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चभूतानीति चतुर्विंशतिः । एषा शरीराधिष्ठानभूतानां जडतत्त्वानां चतुर्विंशतिः (सुशा. १.४)

चरकमतानुसारेण तु उदासीनं पुरुषमव्यक्तायामेव प्रकृतौ प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृहीतः (चक्र. चशा. १.१७)

तत्त्वतः–अव्य० परमार्थतः (ड. सुचि. ३४.२२)

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थ–वि., यथावदधीतशास्त्रो यथावज्ज्ञाततदर्थश्च, वैद्यगुणेष्वेकः (सुसू. ३४.१९–२०)

तदर्थकारिन्–वि., विपरीतार्थकारी, व्याधिप्रशमस्वरूपं कार्यं करोति इति (चवि. २.१३)

तदात्वसुखसंज्ञक–वि., तत्कालसुखफलः (योषिदाहारादिः) (असंसू. ९.८५)

तद्रूप्य–न., आहारद्रव्य० दधि. (रा. १५.२४५; ध. ६.१८८)

तद्विद्य–वि., तज्ज्ञः (सुसू. ४.६)

–**वृत्त**–वि., तद्विद्यः; अत्र वैद्यः वैद्यस्य वृत्तिः चरितार्थसाधनं व्यवसायो वा यस्य स तद्विद्यवृत्तः शिष्यः (चवि. ८.८)

–**संभाषा**–स्त्री., तच्छास्त्राध्यायिना सह संभाषणम् (चवि. ८.६)

तनिक–न., शाक० (असंसू. ७.१२४–२६)

तनु–वि., स्वच्छम् (चक्र. चचि. २२.२६)
कृशम् (चचि. ५.४)
सूक्ष्मम् (सुउ. ६०.११)
अच्छम् (ड. सुसू. १४.२१)
विरलम् (सुउ. ४.४)
द्रवम् (चचि. १८.८५)
अघनम् (सुचि. १०.११)
स्त्री., शरीरम् (सुचि. २७.३)

(तन्वी)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११४)
पृश्निपर्णी–(ध. १.९१)
हिङ्गुपत्री–(ध. २.३८)

–**क्षीर**–पु., वनस्पति० आम्रातकः (ध. ५.१२)

–**च्छाय**–पु., वनस्पति० जालबर्बुरः। गुणाः–कषायः उष्णो, रूक्षः, कफहृद्दाहकारको वातामयविनाशकृत (रापरि. ८.१४)

–**त्र**–न., कवचम् (ड.) तनुं त्रायते रिपुकृतप्रहारादिति तनुत्रम् (सुक. १.५५)

–**त्व**–न., लक्षण० अस्थूलत्वम् (चसू. १३.४५)

–**त्वचा**–स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.११०; रा. ९.१३८)

–**नेत्र**–न., परिव० बस्तिनेत्रदोषः, अनेन क्षोभो भवति (चसि. ५.४–५)

–**बीज**–पु., वनस्पति० बदरः (रा. ११.१६०; ध. ५.९६)

–**मार्दव**–न., शरीरमृदुत्वम् (अहसू. ११.३)

–**राग**–वि., लक्षण० ईषल्लोहितमल्परागं वा (नयनम्) (सुउ. १९.६–७)

–**रुह्**–न., रोम, लोम, केशः (अहसू. २९.८)

–**वस्त्र**–न., सूक्ष्मवस्त्रम् (ड.) सुचि. ३२.१२)

तन्तु–पु., सूत्रम् (अहसू. ७.६)

तन्तुक–पु.. मण्डलीति सर्प० (सुक. ४.३४–२)

तन्त्र–न., शास्त्रम् (अहसू. १.४); तन्त्रमितरेतराभिसम्बद्धस्य अर्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम् (चवि. ८.३७)
आयुर्वेदः (चसू. ३०.३१)
चिकित्साङ्गभूतं कर्म, उपक्रमः (चसू. २४.४०)
त्रायते शरीरमनेन इति तन्त्रम्, शास्त्रचिकित्सा च (ड. सुउ. ६५.१)
शरीरम् (चसू. १२.८)

(तन्त्री)–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (कासं जातिसूत्रीय)

–**कर्तृ**–वि., शास्त्रकारः (चसू. २६.३७)

–**प्रयोग**–पु.,तन्त्रं शरीरं, तस्य परिपालनार्थं सद्वृत्तोक्तः प्रयोगः (चनि. ७.४)

–**भूषण**–वि., शास्त्रालङ्कारभूतः (सुसू. ३.४२)

–**यन्त्र**–न., शरीरस्य यन्त्रं सिरास्नाय्वादिरूपं, तच्च तन्त्रयन्त्रम् (चइ. १२.४४)

–**युक्ति**–स्त्री., तन्त्रस्याधीतशास्त्रस्य युक्तिर्योजना। योजना द्विविधा–वाक्ययोजना योगोद्देशनिर्देशाद्या, अर्थयोजना अधिकरणपदार्थादयः (ड सुउ. ६५.१) अर्थयुक्तिः (सुउ. ४१.६–७) नामानि–अधिकरणादीनि द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तिनामानि कीर्तितानि–अधिकरणम्; योगः; पदार्थः; हेत्वर्थः; उद्देशः; निर्देशः; उपदेशः; अपदेशः; प्रदेशः; अतिदेशः; अपवर्जः; वाक्यशेषः; अर्थापत्तिः विपर्ययः; प्रसङ्गः; एकान्तः; अनेकान्तः; पूर्वपक्षः; निर्णयः; अनुमतम्; विधानम्; अनागतावेक्षणम्; अतिक्रान्तावेक्षणम्: संशयः; व्याख्यानम्; स्वसंज्ञा; निर्वचनम्; निदर्शनम्; नियोगः; विकल्पः; समुच्चयः; ऊह्यम् (सुउ. ६५.३)

–**युक्तिप्रयोजन**–न., वाक्ययोजनम्, अर्थयोजनं च द्विविधं तन्त्रयुक्तीनां प्रयोजनम्, असद्वादिप्रयुक्तवाक्यानां प्रतिषेधः, स्ववाक्यसिद्धिः, अन्यक्तलीनाऽनिर्मललेशोक्तानामर्थानां प्रसादनं तन्त्रयुक्तितो भवति (सुउ. ६५.४–५–६)

–**युक्त्यध्याय**–पु., परिव० अध्यायसंज्ञाविशेषः (सुउ. ६५.१)

तन्त्रक–वि., प्रेरकं धारकं च (चवि. ८.११९)
(तन्त्रिका–)–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.३)
–कर्णरोग–' कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वातेन तन्त्रिका' (असंउ. २१)
तन्त्रानुशीलन–न., सततं शास्त्राभ्यासः (असंसू. २२.२२)
तन्त्वाकृति–वि., (क्रिमिः) तन्तुरिव दीर्घसूत्राकृतिः (चवि. ७.१२)
तन्दुल–पु., शाक० तण्डुलीयः (र. १२.१०१–१०३)
तन्दुलाम्बु–न., तण्डुलधावनोदकम् (असंशा. ४.५)
तन्दुलीयक–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (र. २६.१२)
तन्द्रा–स्त्री.,–रोग० रसप्रदोषजविकारः (चसू. २८.९) विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७) वैकारिकी तमोवातकफात् तन्द्रा भवति (सुशा. ४.५६) संप्राप्तिः–वायुनोदीरितः कफो हृदयं समवस्कन्द्य हृदयाश्रयान् ज्ञानादीन् समावृणोति तदा तन्द्रोपजायते । तल्लक्षणम्–हृदये व्याकुलीभावो, वाक्चेष्टेन्द्रियेषु गौरवं मनोबुद्ध्यप्रसादश्चेति (चसि. ९.२१–२४) इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिः अग्रहणं गौरवं जृम्भणं क्लमः (सुशा. ४.४९) लक्षण० (सु. उ. ३९.३५) निद्रातन्द्रयोर्भेदः निद्रायाः प्रबोधितस्य क्लमाभावः, तन्द्रायां तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति निद्राभेदः (ड. सुसू. ४५.३) आलस्यम् (सुसू. ३.५५)
–कृत्–स्त्री., वनस्पति० विजया, भङ्गा (ध. १.१३०)
तन्द्रालु–वि., तन्द्रायुक्तम्, श्लेष्मतमोऽनिलभूयिष्ठम् (चशा. ८.२१)
तन्द्रि–स्त्री., लक्षण० तन्द्रा (सुउ. ४४.११)
तन्द्रिक–पु., रोग० सन्निपातज्वरभेदः (मा.१४) लक्षणानि–प्रभूता तन्द्रार्तिज्वरकफपिपासाकुलतरो भवेच्छ्यामा जिह्वा पृथुलकठिना कण्टकवृता । अतीसारश्वासक्लमथुपरितापश्रुतिरुजो । भृशं कण्ठे जाड्यं शयनमनिशं तन्द्रिकगदे । अस्य मर्यादा पञ्चविंशतिः वासराः । साध्योऽयं ज्वरः (मा. १४)
तन्द्री–स्त्री., रोग० तन्द्रा (चसू. १३.५९)
तन्मयत्व–न., तदात्मकत्वम् (सुशा. १.१०)
तन्मात्र–न., अनुद्भूतस्वरूपं शब्दादि एव तन्मात्रसंज्ञम्, तामसाहंकारात् शब्दतन्मात्रादिपंचकं जायते । शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गंधतन्मात्रं चेति पंचतन्मात्राणि । शब्दतन्मात्रादि पंचभ्य आकाशादीनि महाभूतानि संजातानि (सुशा. १०.४)
तपन–पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (रा. ९.१३८) शुक्लार्कः (रा. १०.२९) भल्लातकः (ध. ३.१४३)
–तनुनष्टा–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.२५२)
तपनीय–न., लोहितसुवर्णम् (चसू. २४.२२) धान्य० शालिप्रकाराणामन्यतमः (चसू. २७.९) खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२)
तपनीयक–न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२. रा. १३.१)
तपनेष्ट–न., खनिज० ताम्रम् (रा. १३.११)
तपस्–पु., कालविभाग० (असंउ. ४९) माघमासः (चचि. १ (२)११) तपति संतापयति शरीरादि कृच्छ्रव्रतादिना इति तपः (ड. सुउ.६०.२०)
(तपः)–पर–पु., तपस्वी, यश्च विशिष्टतपःप्रभावेण मरणं निवारयति (सुसू. २८.५)
(तपो)–धना–स्त्री., वनस्पति० श्रावणी, मुण्डिका (ध. १.१५९)
–विघ्नाशन–वि., तपोविघ्नोपजीवी (असुरः) (चचि. ३.१६)
(तपश्)–चक्षुस्–वि., तपसा प्राप्तं चक्षुर्यस्य सः (सुशा. ५.५०) अत्र डल्हणटीकानुसारेण तपश्चाक्षुरिति कर्मधारयत्वेन विगृहीतः, तेन तपांसि एव चक्षूंषि इत्येव प्राप्नोति इत्यनुसन्धेयम्
तपस्य–पु., कालविभाग० फाल्गुनमासः (चचि. १ (२) ११)
तपस्विन्–पु., वनस्पति० करञ्जः (ध.५.१०७रा.९.१७८) दमनः (ध. ३.६४)
(तपस्वि)–पत्र–पु., वनस्पति० दमनः (ध. ३.६४ रा. १०.१२०)
(तपस्विनी)–स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)
तप्त–वि., संतप्तम् (सुसू. ४५.१२)
–खल्व–पु.,यन्त्र० नवाङ्गुलो दीर्घः निम्नत्वे च षडङ्गुलः। मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्च लोहमयः खल्वः । खल्वाकृतिं चुल्लीं कृत्वा अङ्गारैश्च परिपूर्य तस्यां तं खल्वं निवेश्य पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् । औषधं च मर्दयेत् । अयं तप्तखल्वः (र. ९.८८.९०)

–रूपक–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५)

–लोमश–न., खनिज० कासीसम् (ध. ३.१२३)

तप्ताम्बुप्रविलायित–वि., उष्णाम्बुकुम्भीबाष्पेण द्रवीकृतम् (हे. अहसू. २४.५)

तप्तायःपिण्ड–पु., तप्तलोहपिण्डः, जलव्यापत्तौ जले निर्वापणार्थं तप्तायोलोहपिण्ड उपदिष्टः (सुसू. ४५.१२)

तमक–पु., रोग० श्वासभेदः (चसू. १७.१०१)
न., वनस्पति० तामलकी, भूधात्री (ध. ३.८४)

–श्वास–पु., रोग० संप्राप्तिः स्वरूपं च–यदा वायुः प्रतिलोमं स्रोतांसि प्रतिपद्यते तदा स वायुः श्लेष्माणं समुदीर्य ग्रीवां शिरश्च संगृह्य पीनसं करोति, पश्चात् श्लेष्मणावृतः कण्ठे घुरघुरशब्दं करोति, प्राणाधिष्ठानहृदयप्रपीडकं श्वासं च करोति, तेन श्वासवेगेन तमसि प्रविशतीवेति निश्चेष्टो भवतीति। अमुच्यमानेन कफेनातीव दुःखितो भवति; तस्यैव श्लेष्मणो विमोक्षान्ते मुहूर्तं सुखं प्राप्नोतीति; वातकफारब्धत्वादुष्णमभिनन्दति। शयानस्यास्य पार्श्वे वायुनाऽवगृह्यते परमस्याऽऽसीनस्य सुखप्रत्ययो जायते। असौ तमकश्वासी उच्छ्रिताक्षः स्विद्यता ललाटेनोपलक्षितः। भृशमर्तिमान् विशुष्कास्यो मुहुःश्वासो दृश्यते। मुहुर्गजारूढस्येवाखिलगात्रं चाल्यते; मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च श्वासो विवर्धते। इत्येवं स्वरूपस्तमकश्वासः प्रायो याप्य एव। नवोत्थितश्चेत् क्वचित् साध्यो भवति। स एव ज्वरमूर्च्छापरीतः प्रतमक इति संज्ञां लभते (चचि. १७.५५–६२)

तमस्–न., प्रकृतेस्त्रिगुणेष्वेकगुणः। अयं विषादात्मको नियमनकरो गुरुर्वरणकः (सुशा. १.३)
मरणम् (चइ. १२.४४)
'तमोऽन्त्यम्' इत्यस्यैव मरणरूपं तमः इत्यर्थ इति (चक्र;)
अन्धकारः (चचि. १७.६४)
मानसदोष० (चसू. १.५७)
अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
रस-प्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.९) मूर्च्छा (चसू. २४.३९)
नेत्ररोग० (चचि. १७.१२८)
ज्वरो मोहकर्तृत्वात् तम इत्युच्यते (चचि.३.१३)
तमोगुणो मोहादिस्वरूपस्त्रिगुणेष्वेकः (चसू. ८.५)

(तमः)–प्रवेश–पु., लक्षण० ज्ञानाभावः, निःसंज्ञता (चचि. १०.३)
रोग० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)
कुपितरक्तस्य विकारः (कासू. २७.६२–६५)

–प्रवेशन–न., लक्षण० अन्धकारदर्शनम् (ड. सुउ. ३९.८८)

(तमो)–गृह–न., शून्यगृहम् (चचि. ९.३०)

–दर्शन–न., लक्षण० अन्धकारदर्शनम् (सुसू. २४.९)

–भवा–स्त्री.,तमोगुणोद्रेकेण समागता निद्रा (असंसू. ९.६८)

–भूत–वि., तमःसदृशं 'तमोभूते' इति अत्र भूतशब्द उपजायते (ड. सुउ. ७.१६)

–वृद्धि–स्त्री., लक्षण० पुनः पुनस्तमोदर्शनम् (ड. सुक. ८.१२४)

तमाल–पु., वनस्पति० तापिच्छः तापिञ्जो वेल्यप्यस्य नामास्ति (रापरि. ९.१५)
फलमस्य साम्लमधुरम्, तद्गुणा :–मधुरं शिशिरं गुरु बल्यं वृष्यं तृषादाहश्रमभ्रान्तिहरं कफपित्तहरं च (रापरि. ९.१६)
हिं.—तमाल.
म.—झारम्बी.
बं.—तमाल.
ता.—चितकामाराकु.
वरुणः (ध. ५.११९)
भूधात्री (ध. ३.८४)
तमालपत्रम् (रा. ६.८०)

–पत्र–न., वनस्पति० तद्गुणाः–लघु, तिक्तोष्णं, कफवातविषापहमशोंहृल्लासारोचकापहं मुखमस्तकशोधनं बस्तिकण्डूतिदोषघ्नम् (ध. २.५२; रा. ६.७९)

तमालक–पु., वनस्पति० तमालः (रा. ९.१५) द्र० 'तमाल'
तमालपत्र (ध. २.५२; रा. ६.८०)

(तमालिका)–स्त्री., वनस्पति० ताली (रा. परि. ३.३७) द्र० 'तमाली'
भूधात्री (ध. ३.८४; रा. ५.१४४)

तमालिनी–स्त्री., वनस्पति० तामलकी, भूधात्री (ध. ३.८४)

तमालिका–भूधात्री (ध. ३.८४) (रा. ५.१४४)

(तमाली)–स्त्री., वनस्पति० ताली (रा. परि. ३.३७)

तरक्षु–पु., प्राणि० प्रसहजातीयमृगादनव्याघ्रः (चसू. २७.३५)
मृगशत्रुः (सुसू. ४६.७२) अस्य पित्तं विषहरम् (असंसू. ८.२९)
हिं.—तरख्.
म.—तरस.
बं.—नेकडिया बाघ.
ता.—कळितैष्पुली.
शृगालः (ध. ६.४४१)
–**मुख**–न., स्वस्तिकयन्त्र० तरक्षुमुखेन सदृशं मुखं यस्य तत्, इदमस्थिविदष्टशल्योद्धरणोपयोगि (सुसू. ७.१०)

तरङ्ग–पु., ऊर्मिः (असंसू. ४.५२)

तरट–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३०) (ध. १.१६८)

(तरटी)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–तिक्तमधुरा, गुरुर्बल्या कफावहा (रा. परि. ८.३२)

तरणी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, स्निग्धा, पित्तदाहज्वरापहा (रा.) शीतला, ग्राहिणी, श्लेष्मपित्तघ्नी, मुखपाकघ्नी अग्निजित्, तृष्णाविच्छर्दिवारिणी (ध. ५.१४५)
हिं.—गुलाब.
म.—गुलाबाचे फूल.
गु.—गुलाब.
बं.—गोलाप.
फा.—गुलसुर्ख.
गुलाब, कांटेशेवती.

तरवट–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.४)
भैषज्य० (र. १७.६२–६४)
न., वनस्पति० आहुल्यम् (रा. परि. ४.३३)

तरस्विन्–वि., वेगवान् (र. २.५९)

तरु–पु., वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५)
अशोकः (रा. १०.२७२)
–**भुज्**–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४२) (ध. ४.२७)
–**राज**–पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९३)
–**रुहा**–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (ध., ४.९७)
–**रोहिणी**–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४१) (ध. ४.९७)
–**वल्ली**–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२९) (ध. ४.८८)
–**स्था**–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४२) (ध. ४.९७)

तरुण–वि., नवम् (सुसू. ४५.१९९)
मृदु (सुशा. ५.२०)
आमम् (सुचि. १६.१६)
प्रत्यग्रम् (सुसू. ४६.३३६–३३९)
न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८२)
एरण्डः (ध. १.२९५)
जीरकः (रा. ६.९१)
प्रत्यग्रम् (सुसू. ४६.३३६–३३९)

(तरुणी)–स्त्री., वनस्पति० गृहकन्या, आरामतरुणी (चक्र.) (चसि. १०.३१)
कुमारी (रा. ५.११)
दन्ती (ध. १.२२३ रा. ६.३३९)
कत्तृणम् (ध. १.८२)
षोडशवर्षप्राप्ता (सुशा. २.२०–२१)
–**ज्वर**–पु., नवज्वरः (चचि. ३.१६२)
–**दधि**–न., नवं दधि (र. १८.२११)
–**बन्ध** –पु.,पारदबन्ध० चतुर्थांशाभ्रकेण जारितः पारदः (र. ११.८४)

तरुणास्थि–न., अस्थिप्रकारविशेषः तरुणमस्थि (चशा. ६.१०) कोमलमस्थि (सुनि. १५.१६) घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकूटेषु तरुणसंज्ञान्यस्थीनि (सु.सू. ११.२९)

तरुणास्थिमर्मन्–न., नासावंशास्थिमर्म, शृङ्गाटकसंज्ञम् (ड. सुउ. २२.१२–१३)

(तरुणी)–कटाक्षकाम–पु., वनस्पति० तिलकः " पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्यां स्त्रीणाम्...." इत्यनेन तरुणीकटाक्षस्पृहत्वं तिलकस्य युज्यते खलु (रा. १०.२६७)

तरूट–पु., शाक० कह्लारकन्दः (चक्र. चसू. २७.११६) अस्य निष्कारक इत्यपि संज्ञा (चक्र. चचि. १४.९) तरूटगुणाः शीतलं गुरु विष्टम्भि (चसू. २७.११६)

तर्क–पु., अप्रत्यक्षज्ञानम्, अनुमानम् (चवि. ४.४) शास्त्रसहितोऽयं ज्ञानसाधनानां श्रेष्ठः (असंसू. १३) (चसू. २५.४०)
–**ग्रन्थार्थ**–पु., ऊहेन सहितः शास्त्रार्थः (सुउ. १९.१८)

तर्कारी–स्त्री., शाक० जयन्ती (चचि. २६.१३८)
जया, उत्सादनार्थमुपयुक्ता (चचि. ८.१७६)
अरणिका (सुउ. १७.५१)
वनस्पति० जीमूतकः (ध. १.१७३) (रा. ३.२४४)
अग्निमन्थः (ध. १.११०)

तर्क्य–वि., अनुमानगम्यम् (चशा. ७.१४)

तर्जन–न., वाचा भयोत्पादनम् (चचि. ९.३१)
भर्त्सनम्, अत्राऽयं परिवर्तितः, तर्जयेदिति क्रियोपलम्भात् (सुशा. १०.४६)

तर्पक–पु., पञ्चविधकफप्रकारेष्वेकः, तस्य स्थानं शिरः, स इन्द्रियतर्पणं करोति (असंसू. २०) (अहसू. १२.१८)

तर्पण–वि., तर्पयतीति (चसू. २६.४३ (१)
तृप्तिकरं यत् तद् (चसू. ५.३९) (सुसू. ४६.४३४)
कल्प० मृद्वीकामधुकादिसाधितजलेन सशर्करेणाऽऽलोडिताः सघृतक्षौद्रा लाजसक्तवः (सुउ. ४५.१४)
नेत्रोपक्रम० अक्षितर्पणम् (सुक. १.६९–७०) नेत्रकोशयोः क्लिन्नमाषचूर्णेन परिमण्डलावाधारौ कृत्वा घृतमण्डपूरणम् (सुउ. १८.५–८) आश्योतनाञ्जनाभ्यां नयनस्य दौर्बल्यं भवत्यतस्तर्पणादेरुपयोगो युक्तः (सुउ. १८.४) तस्य विधिः–दिवसस्याष्टमे भागे गते शेषे वा निर्वातातपरजोधूमे कृतनीलपीतान्यतरजवनिके वेश्मनि जीर्णभुक्तस्य सुखशयनगतस्योत्तानस्य सुमृदितमाषपिष्टकल्केन नेत्रकोशाद्बहिर्ब्यङ्गुलोच्छ्रायावाधारौ परिमण्डलावसम्बाधौ समावपरिस्राविणौ कृत्वा तत्रोष्णोदकप्रविलीनं निमीलिते नेत्रे यथार्हौषधविपक्वं क्षीरं सर्पिर्मण्डं वा तावत् सेचयेत् यावन्निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि भ्रूरोमाणि च । पञ्चवाक्शतानि स्वस्थे, कफे षट्, पित्तेऽष्टौ, वाते दश वाक्शतानि यावत् तर्पणं स्थाप्यम्। अनेन क्रमेण एकाहं वाते, द्व्यहं पित्ते, पञ्चाहं कफे तर्पणप्रयोगः कर्तव्यः (सुउ. १८.५–१२)

तर्पणादिक्रम–पु., उपक्रम० विरेचनाद्यनन्तरं तर्पणमादौ दीयते इति कृत्वा तर्पणादिक्रम इति संज्ञा ज्ञेया । पेयादिक्रमोक्ता पद्धतिरेव अस्मिन्नुपक्रमविशेषे प्रयुज्यते । तथापि मद्यनित्येषु कफपित्ताधिकेषु हीनविशोधितेषु वा पेयास्थाने तर्पणमेव देयम्, पेयाया अभिष्यन्दित्वात् । तर्पणानन्तरं यूषभक्तादिकं क्रमेणोपयुज्यते । अत्र कालादिरपि पेयादि क्रमवद् अवगन्तव्यः । द्र० पेयादिक्रमः (सुचि. ३९.१३–१४)

तर्ष–पु., तृषा (चसू. २०.१२) तृष्णा (चचि. २२.१९)

तर्षण–न., लक्षण० तृष्णा (असंसू. २०.२०)

तल–पु., न., शारीर० हस्ततलम् (ड. सुचि. ३८.३३)
मर्म० तलहृदयम् (सुशा. ६.१०–११)
द्र० 'तलहृदय.'
–**कोट**–पु., वनस्पति० अङ्कोटः (सुउ. ५१.४५)
–**पोटक**–पु., वनस्पति० तरवटः (र. १७.६५–६६)
–**हृदय**–न., मर्म० (असंशा. ७.४) तले हृदयमिव परिरक्षितव्यं तलहृदयम्, मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम (सुशा. ६.२४) पादतलमर्म–सक्थिमर्म–" तत्र सक्थिमर्माणि... तलहृदय...विटपं चेति " (सुशा.६.६) पादतले सक्थिमर्म–स्थानविशेषः–" मध्यमाङ्गुलिमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य " (सुशा. ६.२४) मांसमर्म–" तत्र तलहृदयं...मांसमर्म " (सुशा. ६.७) कालांतरप्राणहरमर्म—" तलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः... एतानि कालान्तरहराणि तु " (सुशा. ६.१०–११) (विद्धस्य) तत्रापि रुजाभिर्मरणम् (सुशा. ६.२४) एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ (सुशा. ६.२५) तलहृदय–(तल) मर्म–" अथ शाखायां वामदक्षिणभेदेन (तलहृदय) मर्म (आधुनिकं मतम्) मानम्–अर्धाङ्गुलम् (सुशा. ६.२९) " मांसमर्मेदमर्धाङ्गुलं कालान्तरप्राणहरं च " (ड.) सुशा. ६.२४)

तलाह्वय–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८३)

तल्प–न., शय्या (अहसू. ३.३६)

तवक्षीर–न.,वनस्पति० निर्यास० वंशरोचना (ध. २.५८)
वनस्पति० तवक्षीरी (ध. २.५८ रा. ६. ८८)

(तवक्षीरी)–स्त्री., वनस्पति० तवक्षीरम्, गुणाः–मधुरा, कषाया, रूक्षा, पित्तघ्नी, अस्रारुचिव्रणश्वासक्षयकासदाहनाशिनी च (असंसू. १२.२९)
हिं.—तवाखीर.
म.—तवकील.
गु.—तवखार.
बं.—तवक्षीर.
फा.—तवाशीर.

तवराज–पु., शर्करा, गुणाः–अतिमधुरः, पित्तश्रमतृषापहो, बृष्यो, विदाहमूर्च्छार्तिभ्रान्तिशान्तिकरः, सरः (ध. २.१६५–६६)

तस्कर–पु., वनस्पति० चोरकः, गुणाः–चोरकस्तीव्रगन्धोष्णस्तिक्तो वातकफापहः। नासामुखरुजाजीर्णकृमिदोषविनाशनः ॥ (सुचि. ३७.१७)

–स्नायु–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (ध. ४.२५)

तस्याशितीय–वि., अध्याय० (चसू. १४.१५ चसू. ६.१)

ताटाक–वि., न., तटाकस्येदमिति ताटाकं (जलम्) जलभेदः, तडागस्थं जलम् (असंसू. ६.१२)

ताडक–पु., वनस्पति० तालवृक्षः पत्राण्यस्याऽऽसवार्थमुपयुक्तानि (चसू. २५.४९) स्त्री., वनस्पति० देवदाली (ध. १.१७३)

ताडन–न., दण्डाभिहननवद् वेदना (सुसू. २२.११) संस्कार० परस्परमिलितयोर्धात्वोर्वङ्कनालेन प्रकर्षेणाऽऽध्मानं कृत्वा घोषाद्वङ्गनाशनेन ताम्राहरणवदेकस्य धातोराहरणम् (र. ८.३२)

ताडाग–वि., पुरुषव्यापारकृतस्तडागस्तस्योदकं तत्तु हेमन्ते सेवेत (सुसू. ४५.८) गुणाः–वातलं, स्वादु, कषायं, कटुपाकि च (सुसू. ४५.३२)

तान्त–वि., लक्षण० रूक्षस्वरम् (चसू. ८.२४) खिन्नम् (काखिल. ३.५३–५४) कृशम् (असंसू. ३२.१४) ग्लानम् (अहसू. २३.२३)

तान्तव–वि., तन्तुभिर्निर्मितं वस्त्रम् (ड. सुचि. ३५.१४)

तान्त्रिक–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६,५१)

ताप–पु., संतापः (चचि. ११.६१) ज्वरः (असंक्षतक्षयकास चि. ५) रोगः (र. २७.१३२–३३) स्वेद० (अहसू. १७.१)

–स्वेद–पु., उपक्रम० स्वेदभेदः । अयं पाणिकांस्यफालवालुकावस्त्रघटिकादिभिः साक्षादग्निना प्रयोक्तव्यः (असंसू. २६.४)

–हानि–स्त्री., लक्षण० संतापस्य अल्पत्वम् (असंनि. २.२१)

तापन–न., शरीरसंतापनमाग्नेयद्रव्यस्य कार्यम् (सुसू. ४१.४(३))

तापस–पु., वनस्पति० नीवारः (ध. ६.८७) इक्षु० तस्य गुणाः वंशकेक्षुवत् ज्ञेयाः (सुसू. ४५.१५३)

(तापसी)–स्त्री., वनस्पति० सठी (शठी) (ध. १.६५)

–ज–न., वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२)

–द्रुम–पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रा. ८.१७)

–पत्र–पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.१२०)

–प्रिय–पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५,७२) स्त्री., द्राक्षा (ध. ५.५६)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० इङ्गुदः पुत्रजीवकः (ड. सुसू. ३८.१६)

तापिच्छ–पु., खनिज० तमालः (रा. ९.१५)

तापिज–न., खनिज० माक्षिकभेदः, हेममाक्षिकम् (ध. ३.१४८) द्र० 'माक्षिक'

तापी–स्त्री., नदी० (असंउ. ४९)

–ज–न.,तापीनदीजं सुवर्णमाक्षिकं रजतमाक्षिकं च (सुचि. १३.१७)

ताप्य–पु., न., खनिज० माक्षिकं; तापीनद्यां जायमानं ताप्यम्, अत एव ताप्यपदं माक्षिकाभिधायकम् (र. २.७९) उपलोहविशेषः (चचि. १६.७८)

ताप्यक–न., खनिज० हेममाक्षिकम् (रा. १३.२०९) स्वर्णमाक्षिकम् (र. ४.५०)

ताप्यादिरसायन–न., भैषज्य० माक्षिकाभ्रशिलाजतु युक्तम्, सर्वरोगघ्नम् (र. २६.५०)

तामरस–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (ध. ४.१५०) कमल (रा. १०.२४३)

तामलकी–स्त्री., वनस्पति० भूम्यामलकी (चक्र. चचि. ३.२१९–२०) भूधात्री (सुउ. ३९.२१९) मधुरा तिक्ता कषायाम्ला शिशिरा कफास्रघ्नी पित्तमेहविनाशनी दृष्टिदाहनिवारणी च (ध. ३.८४)

तामस–वि., तमोगुणभूयिष्ठम् (चशा. १.१२३ सुशा. ४.९४) तमोगुणयुक्तपुरुषः (सुसू. ३५.३८) मोहः (सुशा. १.१८) गुणाः–विषादित्वं, नास्तिक्यमधर्मशीलता, बुद्धेर्विरोधो, ज्ञानं, दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता, निद्रालुत्वं च; तामसकायास्त्रिविधाः पशुसत्त्वो मत्स्यसत्त्वो वानस्पत्यसत्त्वश्चेति (सुशा. ४.९८)

(तामसी)–स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (रा. १२.९१)

ताम्बूल–न., लता० अस्याः पत्रं पूगफलादिसहितमास्यवैशद्यार्थं भक्ष्यते (चसू. ५.७७) ताम्बूलयोगः–जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च । कङ्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा । तथा कर्पूरनिर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च (चसू. ५.७७)

(ताम्बूली)–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूलंलता (धपरि. ३.३) नागवल्ली; गुणाः–मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् । हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् । प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम् (सुचि. २४.२२–२३) सेवनकालाः–सुप्तोत्थानोत्तरं, भोजनानन्तरं, स्नानानन्तरं, वमनानन्तरम् (सुचि. २४.२३)

ताम्बूलसेवनायोग्याः–रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छा-परिताः रूक्षदुर्बलमर्त्या आस्यशोषिणश्च (सुचि. २४.२४)

हिं.—नागरवेल.

म.—नागवेल.

बं.—पान.

गु.—नागरवेल.

ता.—वेट्टिली.

–पत्र–न., वनस्पति० नागवल्लीपत्रम्

गुणाः–तीक्ष्णोष्णं, कटु, पित्तप्रकोपणं, सुगन्धि, विशदं, तिक्तं, स्वर्यं, वातकफापहं, स्रंसनं, कटुकं पाके कषायं, वह्निदीपनं, वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्या-दिविनाशनं च (सुसू. ४६.२७९–८०)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (ध. परि. ३.३)

ताम्यमान–वि., अत्यर्थं तमः प्रविशन् मूर्च्छां प्राप्तः (ड. सुउ. ५९.७)

ताम्र–न., खनिजद्रव्य० बाह्यरसायने प्रयुक्तम् ((चचि. १.५८)

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा (चसू. १.१३१)

बस्तिनेत्रं कर्तव्यम् (चसि. ३.७) तस्य भेदाः–ताम्रं द्विप्रकारकं भवति। एकं म्लेच्छं द्वितीयं नेपालकम्। उभयोर्मध्ये नेपालनामकं ताम्रं श्रेष्ठमुच्यते। नेपालम्–नेपालवर्तमानखन्युत्थं ताम्रं नेपालमित्युच्यते। नेपालताम्रं सुस्निग्धं, मृदुलं, रक्तवर्णं, घनघातसहं गुरु तथा निर्विकारं (विकारा वमनादिबाहुल्यादय इति) वर्तते (र. ५.५०)

म्लेच्छम्–नेपालादन्यत्खन्युत्थं ताम्रं म्लेच्छमित्यु-च्यते म्लेच्छताम्रं सितं कृष्णारुणच्छायं, कठिनं तथाऽतीव वमनकारि वर्तते। तत् प्रक्षालितं सत् पुनः कृष्णं भवति (र. ५.४९)

गुणाः–मधुरं, कषायं, तिक्तं, शीतलं, कटु, कफ-पित्तनुद्विबन्धशूलपाण्डूदरगुल्मकण्ठगुदामयशोफो-रक्लेशभ्रममोहदाहनाशनम् (ध. ६.९)

शोधनम्–निम्बुरसमर्दितसैन्धवलवणेन लिप्तताम्रप-त्राणि ध्मानेनाग्निवर्णानि कृत्वा सौवीरे काञ्जिकवि-शेषे क्षिपेत्। एवमष्टवारं कृते सति ताम्रं विशुध्यति।

मारणम्–जम्बीररसेन संम्यक् मर्दिताभ्यां रसगन्ध-काभ्यां लेपितं ताम्रं शरावस्थं कृत्वा त्रीणि गज-पुटानि दातव्यानि। एवं ताम्रं भस्मतां याति। (ताम्रसमपारदगन्धकौ ग्राह्यौ) (र. ५.५९)

ताम्रम् (सोमनाथाख्यं भस्मविधानम्) शुल्बसमः सूतः, सूतसमानो गन्धकः, गन्धकार्धभागं तालं, तालार्धा च शिला चेति सर्वं यथोक्तभागं गृहीत्वा सम्मर्दनेनाञ्जनसमानवर्णां कज्जलीं विधाय तां च यन्त्राध्यायस्थगर्भयन्त्रमूषोदरे क्षिप्त्वा तदुपरि च ताम्रपत्राणि स्थापयित्वा (पिधाय सन्धिरोधं कृत्वा) यामपर्यन्तं पाचयेत्। ततः स्वाङ्गशीतं कृत्वा तत्स्थं ताम्रभस्म प्रचूर्णयेत्। सोमनाथनामकमेतत् ताम्र-भस्म त्रिगुञ्जं चतुर्गुञ्जं वा तत्तद्रोगानुपानसहितं लिहेत। तत् परिणामशूलादिरोगान् हन्ति (र. ५.६१–७१)

ग्राह्यताम्रलक्षणम्–जपाकुसुमसंकाशं स्निग्धं मृदु घनक्षमम्। लोहनागोज्झितं ताम्रं नेपालं मृत्यवे शुभम् (र. ५.५१) त्याज्यताम्रलक्षणम्–श्वेताव-भासं कृष्णशोणं लघु घनाघातेन स्फुटनशीलं रूक्षं दलयुक्तं च। तत् रसकर्मणि नैव योग्यम्। अशुद्ध-ताम्रसेवनजन्यविकाराः–अशुद्धं सेवितं ताम्रं वान्ति-मूर्च्छाभ्रमोत्क्लेदं कुष्ठं शूलं च करोति। तथा तदायुर्घ्नं कान्तिवीर्यबलापहं वर्तते। उत्क्लेद-भेदभ्रमदाहमोहास्ताम्रस्य पञ्च दोषा वर्तन्ते। अति-दुर्धरा अप्येते शोधनोत्तरं नश्यन्ति येन ताम्रं रसवीर्यपाकसुधासमं भवति (र. ५.५४)

ताम्रस्याऽमृतीकरणम्–येन केनचिद्विधिना भस्मी-कृतं ताम्रं जम्बीरादिना एकेनाम्लेन मर्दितव्यम्। मर्दितं च तत्सूरणकन्दमध्ये निरुध्य सर्वतो मृल्लिप्तं विधाय शुष्कं सद् गजपुटेन पचेत्। एवं ताम्रं सर्वदोषहरं भवति। कदापि ताम्रं वान्तिं भ्रान्तिं विरेकं च न करोति (र. ५.६०–६१) ताम्र-भस्मसेवनविधिः–ताम्रभस्म चूर्णयित्वैव वल्ल-मात्रं त्रिगुञ्जं वा प्रयोज्यम्। तत् पिप्पलीमधुना सह ग्राह्यम्। माषैकमानं पिप्पलीचूर्णं ग्राह्यम्। तच्छ्वा-सकासादीन् हन्ति तथा रसायनेऽपि युक्तमात्रया उपसेव्यम् (र. ५.६६–६८)

हिं.—तांबा.

म.—तांबे.

गु.—त्रांबुं.

बं.—तामा.

ता.—तांपरं.

(ताम्रा)–स्त्री., वनस्पति० तालीं (रा. ३.३७)

त्वचा० चतुर्थी त्वक्, व्रीहेरष्टभागप्रमाणा (असंशा. ५.३०)

-कण्टक-पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३६)
गुणाः-कटुः कषायस्तिक्तोष्णो गुरुर्वातघ्नः आमवात-व्रणभूतज्वरघ्नश्च (रा. ८.३६)
-गर्भ-न., खनिज० तुत्थम् (रा. १३.२०५)
-चूड-पु., पक्षि० कुक्कुटः (चसू. २.३२) तन्मांसं बृंहणं, स्निग्धं, वीर्योष्णं, वातहरं, गुरु, चक्षुष्यं, शुक्रकरं च (र. १८.४१)
-दुग्धी-स्त्री., वनस्पति० गोरक्षदुग्धी (रापरि. ५.५३)
-द्रुति-स्त्री., भैषज्य० कण्टकवेध्यानि ताम्रपत्राणि पलमानानि । कर्षैकं पारदं द्विकर्षं च गन्धकमित्येतयोः कज्जलीं जम्बीररसेन संमर्द्य पङ्कवज्जातेन तत्कल्केन लेपयेत् खरातपे च यामं स्थापयेत् । ततस्तेन ताम्रं द्रवति (र. १८.२२५.३४) दारुणमम्लपित्तकासक्षयार्शःकामलाग्रहणीपाण्डुकुष्ठरक्तपित्तखालित्योदरवातरोगप्रतिश्यायविद्रधिविषमज्वरवलीपलितनाशिनीयं वर्षशतायुषा प्रयोक्तारं योजयति (र. १८.२२५-३४)
किंच काचार्मपिल्लाभिष्यन्दव्रणशुक्लं विनाशयेत् (र. २३.७०-७४)
-धातु-पु., खनिज० गैरिकम् (ध. ३.१६७)
-पत्र-पु., वनस्पति० जीवन्तः (र. ७.८९)
-पर्पटिका-स्त्री., योग० ताम्रपात्रे विनिक्षिप्ता ताम्रपर्पटिका भवेत्, स्वरभेदादिघ्नी (र. १३.८०-८२)
-पाटला-(ध. १.१२०)
-पात्री-स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा ५.१६६)
-पुष्प-पु., वनस्पति० कोविदारः (ध. १.१९६)
(पुष्पा)-स्त्री., वनस्पति० पाटला (ध. १.१२०)
-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् (रा. ६.३६९)
(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०)
-फल-पु., वनस्पति० अङ्कोटः (ध. १.२५८)
-बीज-पु., वनस्पति० कुलित्थः (र. १६.१६६)
-भाजन-न., ताम्रपात्रम्, सिध्मशमनार्थं ताम्रभाजनस्थः कुष्ठाद्यौषधीनां लेपो योज्यः (चचि. ७.११७-१८)
-मूला-स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६१)
-मूली-स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (ध. १.२०)
-रजस्-न., ताम्रस्य सूक्ष्मचूर्णम्, नेत्ररोगेषु सूक्ष्मताम्रं मन्थादिषु लेखनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.१३-१४)
-लिप्त-न., कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेशविशेषः (काखिल. २५.९)
-लोचन-वि., रक्ताक्षः, लोहिताक्षः (ड. सुउ. ४७.६७)
-वर्ण-पु., वनस्पति० कुलित्थः (ध. ६.१०५)
-वर्णक-पु., वनस्पति० पल्लिवाहः (रा. ८.५६)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० तालीं (रापरि. ३.३७)
रामतरुणी (सुशा. १०.५९)
मञ्जिष्ठा-(सुशा. १०.५९) (असंशा. ४)
-सार-न., वनस्पति० रक्तचन्दनम् (ध. ३.४)
ताम्रक-पु., प्राणि० गवयः रोहिणः (ध. ६.३४)
(ताम्रिका)-स्त्री., वनस्पति० काकमाची, चूडामणिः (ध. ४.२९)
ताम्रादिवर्ति-स्त्री., योग० ताम्रनागरौप्यपारदमाक्षिकयुक्ता सर्वनेत्ररोगघ्नी (र. २३.४०)
ताम्राभ-वि., लक्षण० रक्तवर्णः पुरुषः (सुउ. ४७.६७)
ताम्रायस-न., ताम्रधातुः, तस्य रजो नेत्ररोगेऽञ्जनार्थमुपयुक्तम् (काखिल. १३.३३)
ताम्राष्टक-न., भैषज्य० हिङ्गुत्रिकटुमधुयष्टिसौवर्चलतिन्तिडीक्षारताम्रभस्मयुक्तः अयं योगः शूलघ्नः (र. १८.१६१)
तार-न., खनिज० रौप्यम् (र. १३.२९-३०)
रूप्यम् (ड. सुक. ३.१४) (ध. ६.५)
भैषज्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२) (रा. १३.६६)
रोग० श्वेतवर्णम्, श्वेतकुष्ठमित्यर्थः (र. २०.२२२)
(तारा)-स्त्री., वनस्पति० चिडा, कपटम् (ध.१.८२)
प्राचीना रसशास्त्रविदुषी (र. १६.१३८)
भैषज्य० रत्नविशेषः मौक्तिकम् (ध. ६.६२) (रा. १३.६६)
-तण्डुल-पु., वनस्पति० यावनालः (ध. ६.१०८) (रापरि. १६.१६८)
-पुष्प-पु., वनस्पति० कुन्दः (ध. ५.१५०) (रा. १०.२५६)
-माक्षिक-न., खनिज० रौप्यमाक्षिकम् (र. २.८०)
-रक्ती-स्त्री., वरलोहेन रक्तीकृतं स्वर्णं हेमरक्ती इत्यभिधीयते हेमरक्तीवदियं तार्ररक्ती निर्मीयते (र. ८.१२.१५)
-विमल-न.,खनिज० विमलविशेषः (ध. परि. ६.७)
-शुद्धिकर-खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१) (रा. १३.२१)
तारक-न., स्त्री., शारीर० नेत्रावयवः कनीनिकम् (असंशा. ८.३२)
नेत्रस्य कृष्णविभागः (सुसू. ३५.१२)

(तारका)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ध. १.२४८) (रा. ३.३७१)
भैषज्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२) (रा. १३.६६)
तारटी–स्त्री., वनस्पति० तरटी (रापरि. ८.३२)
ताराभ्र–पु., निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१) (रा. १२.५६)
तारावट्ट–न., तीक्ष्णलोहप्रकाराणामन्यतमः (र. ५.८०)
तारुण्यजनवल्लभा–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११८)
तार्क्षी–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रापरि. ३.३२)
तार्क्ष्य–न., अञ्जनभेदः (र. ३०.५४; सुउ. ५१.२१)
गरुडोद्गारः रत्नविशेषः (र. ४.६)
भैषज्य० विषघ्नः (र. २५.१२१–२२) सामान्यगुणाः–ओजोवृद्धिकरं ज्वरच्छर्दिविषश्वाससंनिपाताग्निमान्द्यदुर्नामपाण्डुशोफघ्नं च, तद्द्विविधम्–श्रेष्ठं कनिष्ठं च, श्रेष्ठगुणाः–हरिद्वर्णं, गुरु स्निग्धं, स्फुरद्रश्मिचयं, मसृणं, भासुरं, स्थूलम् (र. ४.२२) कनिष्ठगुणाः– कपिलं, कर्कशं, नीलं, पाण्डुवर्णं लघ्वाकारं मानतो लघुकं वा चिपिटं, विकटं, कृष्णं रूक्षं च (र. ४.२३)
पक्षि० गरुडः (सुचि. ३८.७) अयं कफप्रकृतिकः (सुशा. ४.७६)
–प्रसव–पु., वनस्पति० जरणद्रुमः (रापरि. ९.१३)
–शैल–न., खनिज० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)
तार्ण–वि., तृणमयं शल्यम् (सुसू. २६.१९)
–मूल–न., तृणमूलम् (कामूत्रकृच्छ्रचि.)
तार्तीयनेत्राभिध–पु., वनस्पति० चित्रकः तार्तीयस्तृतीयः, शम्भोस्तृतीयनेत्रमेवाभिधा नाम यस्य सः, अग्निपर्यायवाचित्वात् (र. १३.६८)
ताल–पु., वनस्पति० ताडी (ड. सुसू. ४६.१७७)
मधुरः, शीतः, सरो मदकृत्पित्तकफजिद्दाहश्रमशोषनुत्; पक्वं तालफलं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्धनं दुर्जरं बहुमूत्रं च तन्द्राभिष्यन्दशुक्रदम्; तालमज्जा तु तरुणः किञ्चिन्मदकरो लघुः, श्लेष्मलो वातपित्तघ्नः सस्नेहो मधुरः सरः तालजं तरुणं तोयमतीव मदकृदम्लीभूतं तु पित्तकृद्वातदोषहृच्च (भाप्र. मिश्रप्र.) तालस्य मस्तकमज्जा नाम वृक्षाग्रमज्जा स्वादुरसपाकः शुक्रलः वातघ्नः कफवृद्धिकरः रक्तपित्तहरश्च (सुसू. ४६.३१०)
हिं.—ताड.
म.—ताड.
बं.—ताल.
ता.—पनैमरं.
तालीसपत्रम् (ध. २.५२; रा. ६.८३)
तृणराजः (अहको.)
खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकारः (ध. ६.२८)
हरितालम् (ध. ७.१२०)
वामहस्तेन वादनम् (चनि. ७.७)
(ताली)–स्त्री., वनस्पति० मुशली (र. २७.३७–३९)
गुणाः–कषाया, कफदोषविनाशिनी, मुखकण्ठोत्थदोषघ्नी, श्लेष्मशुद्धिकरी (रा. परि. ३.३८)
तामलकी, भूधात्री (ध. ३.८४)
पाटला (ध. १.१२०. रा. ९.१५०)
–क्षीर–न., वनस्पति० तवक्षीरम्, पलाशगन्धा (ध. २.५८ रा. ६.८९)
–ज–वि., तालफलादि (चक्र. चसि. ११.२४)
–द्रुम–पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९२)
–पत्री–स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४)
मूषिकपर्णी (सुचि. २५.१८)
मूषाकर्णी (र. ३०.४७–४९)
मुषली (सुसू. ११.१३)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४)
–प्रलम्ब–पु., शाक० तालाङ्कुरः (चसू. २७.११५)
इदं शाकमुरःक्षतरुजापहं स्वादु च (चसू. २७.११५)
–मस्तक–न., तालस्योर्ध्वभागः (असंचि. ५.)
–मूल–न., तालवृक्षस्य मूलम् (सुउ. ५१.३९)
–(मूली)–स्त्री., वनस्पति० मुसलीकन्दः (रापरि. ७.५८)
भैषज्य० मुसली, गुणाः–मधुरा, तिक्ता, वृष्योष्णा, बृंहणी, रसायनी, दाहश्रमहरा च (र. १८.७८)
–मूलिका–स्त्री., वनस्पति० मुषली, मूषकपुच्छाकारशिफा (ड. सुचि. ७.१८) मुसलीकन्दः (रापरि. ७.५८)
–यन्त्र–न., यन्त्र० द्वादशाङ्गुलप्रमाणं, मस्यशकलाकारमिदं कर्णादिप्रवेशि, कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७.१२)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० नारिकेलः (ध. ५.७४)
–वृन्त–पु., सोमविशेषः (सुचि. २९.६)
व्यजनम् (असंसू. ४.)

–शस्य–न., फल० तालफलम्, बृंहणस्निग्धशीतं बल्यं मधुरं च (चसू. २७.१३०)
ताल० तालमस्तकमज्जा (चसू. २७.११६)
–संभूत–न., वनस्पति० तवक्षीरम् (रा. ६.८९)
–सस्य–न., तालफलम् (चचि. १८.१५४)

तालक–पु., कीट० सविषकीटोऽयम्; गुणाः–प्राणनाशनः, तेन दष्टस्य वेगलक्षणं सर्पवत् भवति, तास्ताश्च तीव्रा वेदनास्तथा सान्निपातिका रोगाश्च भवन्ति, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतसितारुणः क्षाराग्निदग्धवत्तीक्ष्णवेदनश्च (सुक. ८.१५–१८)
पु., वनस्पति० तालः (र. २८.७४–७५)
पु., खनिज० हरितालम् (र. २.१७१)
(तालिका)–स्त्री., वनस्पति० (रापरि. ३.३७)

तालकेश्वर–पु., भैषज्य० (र. २०.९२–१०२) पारदनागहरितादियुक्तः सर्वकुष्ठघ्नः (र. २०.९२–१०२)

ताली–स्त्री., वनस्पति० मुशली (र. २७.३७–३९) पाटला (रा. ९.१५०) तामलकी, भूधात्री, (ध. ३.८४) गुणाः–कषाया, कफदोषविनाशिनी, मुखकण्ठोत्थदोषघ्नी श्लेष्मशुद्धिकरा (रापरि. ३.३७)
स्त्री., वनस्पति० पाटला (रा. ९.१५०)
–तल–न., भूधात्रीमूलम्, मुशलीमूलम् (सुचि. १७.२५)
–पत्र–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८३)

तालीश–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (सुसू. ३९.६)
–पत्र–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (सुउ. १७.१७)

तालीस–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (ध. २.५३)
–पत्र–न., वनस्पति० गुणाः–तिक्तं मधुरमुष्णं दीपनं हृद्यं कफपित्तवातनुत्, श्वासकासमुखरोगहिक्काक्षयच्छर्दिघ्नम् (ध. २.५३)
हिं.—तालीसपत्र.
म.—लघुतालीसपत्र.
गु.—तालीसपत्र.
ताबं.—लीसपत्र.
ता.—तालिचपत्तिरि.

तालु–न., शारीर० मुखगतावयवः, उदकवहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८)
–कण्टक–बालरोग० तालुमांसे कफः कुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्। तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥'' तालुपातः स्तनद्वेषः, कृच्छ्रात्पानं, शकृद्द्रवम्, तृडास्य कण्डूक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिरित्यादीनि अस्मिन् रोगे लक्षणानि भवन्ति (अहउ. २.६३–६४) (र. २२. १४२–४३)
–पाक–पु., रोग० तालुरोगः तालुनः पाकः (चनि.१.२४) लक्षणम्–पित्तेन तालुमध्येऽत्यर्थं घोरः पाको भवति, स तालुपाक इति नाम्ना प्रसिद्धः (सुनि. १६–४५)
–पात–पु., लक्षण० (मा बालरोग० १३)
–पिटिका–स्त्री., रोग० तालुगतव्याधिः, वातात् तालुमांसे दुष्टे पिटिकाः सरुजः खरा बह्व्यो घना स्रावान्विताश्च भवन्ति। तास्तालुपिटिकाः स्मृताः (असंउ. २५)
–पुप्पुट–परिव० पु., रोग०तालुरोगः,लक्षणम्–श्लेष्ममेदोभ्यां तालुदेशे नीरुक् स्थायी कोलाभः शोफो भवति (सु. नि. १६.४४)
–भेद–पु., लक्षण० तालुनो भेदः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (असंसू. २०–१३)
–रोग–परिव० पु., तालुगतो रोगः, तन्नामानि–गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अधृषः, मांसकच्छपः, अर्बुदं, मांससङ्घातः, तालुपुप्पुटः, तालुशोषः, तालुपाक इति (सुनि. १६.४०)
–लेप–पु.,लक्षण० (चसि. १२.१४) तालुनि श्लेष्मण आवरणं, प्रसक्तिः (सुउ. ५२.७)
–विद्रधि–पु., तालुगतो दाहयुक्तः पाकपर्यवसायी शीघ्रविदाहित्वादेव विद्रधिः इत्यभिधीयतेऽसौ शोफः (चचि. १२.७७) (अहनि. ११.५७)
–विपाक–पु,. तालुविकृतिः बालानां तालुदेशे तालुकण्टकाख्यरोगे जायमानो दाहो विदरणं च (र. २२.१४२–४३)
–शोष–पु., लक्षण० (सुनि. १६.४५) तालुन्यत्यर्थं शोषः, तथा तालु दीर्यते, वातात् श्वासो भवति, सोऽनिलोत्थतालुशोषो ज्ञेयः, तालुशोषः पित्तादिति केचित् (मा.)
–संहति–स्त्री., रोग० तालुगतरोगः, अस्मिन् रोगे तालुमध्ये रुजया विना मांसं संहतं भवति (असंउ. २५)

तालुक–न., अस्थि० ताल्वस्थि (चशा. ७.६)

तालेश्वर–पु., भैषज्य० पारदहरितालगन्धयुक्तः, सर्वकुष्ठघ्नः, (र. २०.३६–४०)

ताल्वर्बुद–न., रोग० तालुगतरोग० पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद् रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम्। दुष्टं

मांसं नीरुजं तालुमध्ये कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः
(मा. सुनि. १६.४३)

तालवस्थि–न., परिव० अस्थि० तालुकास्थि
(सुशा. ५.१९; १०.४२)

तिक्त–पु., रस० षड्रसेष्वेकः (चसू. १.६५)
गुणाः–वाय्वाकाशगुणभूयिष्ठः, पित्तघ्नः, श्लेष्मघ्नश्च सौम्यः रूक्षः लघुः शीतः (सुसू. ४२.४–७)
वनस्पति० किराततिक्तः (असंचि. १)

(तिक्ता)–स्त्री., वनस्पति० यवतिक्ता (ध. १.२५६) (रा. ३.३८१)
बिम्बी (ध. १.२०२) (रा. ३.३०२)
कटुका (ध. १.३८)
मूर्वा (रा. ३.१०)
कटुकी (र. २०.१११–१५)
षड्भुजा (ध. १.२५५) (रा. ७.२५५)
पाठा (ध. १.७०) (रा. ६.९९)
कटुतुम्बी (ड) (सुउ. ६०.४७)

–कन्दक–पु., वनस्पति० सटी, गन्धपलाशः
(ध. १.६४)

–कोशातकी–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी
(र. १३.७६–७८)

–घृत–न., घृत० तिक्तद्रव्यसाधितं घृतम्
(सुउ. ११.४)
श्वयथौ पानार्थमुपयुज्यते, कुष्ठचिकित्सोक्तम्
(असंचि. २१.११०)

–तण्डुला–स्त्री., वनस्पति० (ध. २.७३ रा. २.१०९)

–तुण्डी–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी
(रा. ३.३०२ ध. १.२०२) गुणाः–कटुस्तिक्ता, रुच्या, पथ्या, कफनाशिनी, वान्तिविषारोचकरक्तपित्तविनाशिनी (ध. १.२०२ रा. ३.३०२)

–तुण्डीर–न., वनस्पति० बिम्बी (र. ५.१७७)

–दुग्धा–स्त्री., वनस्पति० मेषशृङ्गी
(ध. १.८७ रा. ९.२१३)
काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४०)

–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० पाठा
(ध. १.७० रा. ६.९९)

–फल–पु., वनस्पति० कतकम्
(ध १.१७६ रा. ११.२३५)

–(फला)–वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५)

–बीजा–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी (ध. १.१७०)

–मरीच–पु., वनस्पति० कतकम्
(ध. १.१७६ रा. ११.२३६)

–यवा–स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी
(रा. ६.३८१ ध. १.२५६)

–रस–पु., रस० अयं स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो विषघ्नः क्रिमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनस्त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जलसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात्खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपादयति बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति
(चसू. २६.४३(५)

–रोहिणी–स्त्री., कटुरोहिणी (चचि. ७.१४०)
स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३८)
(सुउ. ४५.३२)

–वक्त्रता–स्त्री., लक्षण० प्रायः सर्वेषु पैत्तिकविकारेषु संभवत् तिक्तमुखत्वम् (सुउ. ४९.१०)

–वर्ग–पु., आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णीवेत्रकरीरहरिद्राद्वयेन्द्रयववरुणस्वादुकण्टकसप्तपर्णबृहतीद्वयशङ्खिनीद्रवन्तीत्रिवृत्कृतवेधनककोटककारवेल्लवार्ताककरीरकरवीरसुमनःशङ्खपुष्प्यपामार्गत्रायमाणाऽशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलापुनर्नवावृश्चिकालीज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः
(सुसू. ४२.११)

–शाक–पु., वनस्पति० वरुणः (ध. ५.११९)

–षट्पलघृत–न., घृत० 'इदं कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्डामयश्वयथुहारि पामाविसर्पपिडकाकण्डूमदगण्डनुत्सिद्धम्' (चचि. ७.१४०–४३)

–सर्पिस्–न., तिक्तघृतम्; महातिक्तघृतं च
(चचि. ९.७६) (सुचि. ९.९)
कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुविसर्पषाण्ड्वोर्ध्वजत्रुरोगेष्वप्युपयुज्यते (सुचि. ९.९)

–सात्म्यता–स्त्री., तिक्तरसस्याधिकाभ्यासः (काखिल) अत्र तिक्तरसस्य सातत्येन उपसेव्यमानत्वमपि आत्मन्युपशयत्वेन शरीरारोग्यकारित्वात् तिक्तसात्म्यता (काखिल. ५.४६)

–सार–पु., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०८)

–स्कन्ध–पु., चन्दननलदादितिक्तद्रव्याणां संग्रह० चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बतुम्बुरुकुटजहरिद्रादारुहरिद्रामुस्तमूर्वाकिराततिक्तककटुकरोहिणी-

त्रायमाणाकारवेल्लिकाकरीरकरवीरकेवुककठिल्लकवृषमण्डूकपर्णीकर्कोटकवार्ताकुकर्कशकाकमाचीकाकोदुम्बरिकासुषव्यतिविषापटोलकुलकपृष्ठागुडूचीवेत्राग्रवेतसविकङ्कतबकुलसोमवल्कसप्तपर्णसुमनार्कावल्गुजवचातगरागुरुवालकोशीराणीति
(चचि. ८.१४३) (सुसू. ४२.११)

तिक्तक–पु., रस० तिक्तरसः, अयं तरुणज्वरपाचनः, (तिक्तः) (चचि. ३.१४२)

तिक्तला–स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (चक. ११.३)

तिक्ता–स्त्री., (रा. ३.३८१)
–द्वय–न., वनस्पति० कटुका काकतिक्ता च (अहसू. १५.४०)

तिक्तालाबु–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बिनी (सुसू. ४६.२१५)

तिक्तालाबुकबीज–न., तिक्तालाब्वा बीजम् (चचि. ७.१०८)

तिक्तास्यता–स्त्री., लक्षण० तिक्तमुखत्वम् (सुउ. ३९.५०)
चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

तिक्तिका–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (ध. ४.२१२) (रा. ४.३६)

तिक्तेक्ष्वाकु–पु., कटुकालाबुः (चक्र चचि. २३.२०६)

तिक्तेक्ष्वाकादितैल–न., तैल० एतत् तैलं कण्डूकुष्ठमारुतकफविनाशनम् (चचि. ७.१०८–११०)

तिक्तोद्गिरण–न., लक्षण० तिक्तरसयुक्तमुद्गिरणम् (चसू. १७.३३)

तिजला–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (ध. ६.१०२) (रा. १६.१०८)

तितिक्षत्–वि., प्राणान् उत्क्रमणार्थे तीक्ष्णीकर्तुं त्वरयितुं वा इच्छन् (चइं. १०.३)

तितिक्षा–स्त्री., क्षमा (सुशा. १.१८)

तित्तिडी–स्त्री., चिञ्चा (र. १२.६४–७३)
–फल–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (ध. २.९५) (रा. ६.१४३)

तित्तिडीक–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)

(तित्तिडीका)–स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (ध. ५.३३)

तित्तिर–पु., पक्षि० तित्तिरिः (ध. ६.४८)

तित्तिरी–पु., पक्षि० (सुउ. ४०.८४) तन्मांसगुणाः–कषायं, मधुरं, शीतं, स्निग्धं, लघु, ग्राहि, वर्ण्यं, वीर्यप्रदं, बल्यं, त्रिदोषघ्नं, हिक्काश्वासघ्नं च (धपरि. ६.४८) गुरुण्णं, मेधाग्निवर्धनम् (सुसू. ४६.६१) धन्वानूपनिषेवणान्नातिमधुरं, नात्युष्णं, नातिगुरु, वातोल्बणं दोषत्रयं शीघ्रं संजयेत् (चसू. २७.६७–६८) गौरकृष्णभेदेन तित्तिरिर्द्विविधः, तयोः गौरः प्रशस्तः कपिञ्जल इति कथ्यते (र. १८.४२)
हिं.—तीतर.
म.—तित्तिरपक्षी.
बं.—तितोर.
त.—चिंबिलघु.

–पक्षतुल्यशुक्र–न., परिव० लक्षण० नेत्रस्य कृष्णभागो तित्तिरिपक्षवर्णं शुक्रं भवति (सुउ. ५–७)

–फल–न., वनस्पति० रेचकः (ध. १.२२७)

तिथि–स्त्री., तन्यते विस्तार्यते वर्धमानक्षीयमाणचन्द्रकलोपलक्षितकालेनेति तिथिर्दिनम्, ज्योतिः–शास्त्रीया संज्ञा (चसू. १५.९) चन्द्रकलोपलक्षितः काल इति ज्योतिर्विदः (सुचि. २९.१०)

तिनि–पु., वनस्पति० तिनिसः (सुचि. १६.४३)

तिनिश–पु., वनस्पति० स्यन्दनः (ड. सुक. ६.३) गुणाः कषाय उष्णो ग्राहको दाहजननः कफजिद्वातामयरक्तातिसारजित् (रा. ९.२४)
हिं—तिनिस.
म.—तिवस.
गु.—हम्मो.
बं.—जारुलगाछ.

तिन्तिडिका–स्त्री., वनस्पति० अम्लफलवृक्षः, चिञ्चा (असंचि. ७)

तिन्तिडी–स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (र. १९.९९)

तिन्तिडीक–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम्, (ड.) अम्लिकाफलम् (सुचि. ५.२४) आमफलगुणाः–वातापहं पित्तबलासकृच्च। संपक्वफलगुणाः–ग्राह्युष्णं, दीपनं, रुच्यं, कफवातनुच्च (सुसू. ४६.१५९)

तिन्तिणीक–न., वनस्पति० अम्लद्रव्यम्, वृक्षाम्लम् (र. १०.८०)

तिन्दु–पु., वनस्पति० तिन्दुकः (र. २९.११४)

तिन्दुक–पु., वनस्पति० (चशा. ८.४७) तत्फलगुणाः–आमतिन्दुकगुणा :–अम्लोष्णं, लघु, संग्राहि, स्निग्धं, पित्ताग्निवर्धनम्; पक्वतिन्दुकगुणाः–कषायं, संग्राहि, वातकोपनं, विपाके गुरु, मधुरं, कफपित्तजिच्च (सुसू. ४६.१६८)
मान० कर्षः (असंक. ८; चक. १२.९१.)

(तिन्दुकी)–स्त्री., वनस्पति० तिन्दुः तिन्दुलः (सुचि. २१.१०)
हिं.—तेंदू.
म.—टेंभुर्णी.
गु.—टिंबरवो.
बं.—तेंद.
ता.—तुंपि.

तिन्दुकिनी–स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (ध. १.१९८)

तिमन–(परिव०) न., क्लेदनम् (असंड. ४९.)

तिमि–पु., समुद्रजो महत्तमो मत्स्यः (डसुसू. ४६.११८)

तिमिङ्गिल–पु., सागरजमत्स्य० तिमिं नाम महान्तं मत्स्यं गिलति इत्यनेन अस्य तिमिमत्स्यतो महत्तरत्वं स्पष्टम् (चसू. २७.४०)

तिमिर–पु., न., नेत्ररोगः अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) संप्राप्तिः अवस्थाश्च–नेत्रस्य प्रथमं पटलं सिरानुसारिणि दोषे श्रिते सति, तैमिरिको नरः अव्यक्तं रूपं पश्यति। व्यक्तमपि कदाचित् निमित्तमन्तरेण पश्यति। द्वितीयं पटलं दोषे प्राप्ते सत्यभूतमपि पश्यति, भूतं यत्नात्पश्यति, आसन्नं दूरे सूक्ष्मं च नेक्षते। विपर्यासेन दूरान्तिकस्थं रूपं मन्यते। दोषे मण्डलसंस्थाने मण्डलानीव पश्यति। दृष्टिमध्यस्थे दोष एकमेव वस्तु द्विप्रकारं पश्यति। बहुधा स्थिते दोषे एकमेव वस्तु बहुप्रकारं पश्यति। दृष्टेरभ्यन्ताश्रिते दोषे ह्रस्वं वृद्धं वृद्धं च ह्रस्वं पश्यति। अधःस्थिते दोषे समीपस्थं पदार्थं नेक्षते। उपरिष्टात्स्थिते दोषे दूरगं न पश्यति। पार्श्वस्थे दोषे पार्श्वस्थितमपि रूपं न पश्यति। अयं तिमिरसंज्ञो रोगः। तृतीयपटले स्थिते दोषे काचत्वं प्राप्नोति। तेन काचेनोर्ध्वमीक्षते न त्वधः। तच्च तनुवस्त्रच्छन्नसदृशम्। दृष्टिश्चात्र दोषानुसारेण रज्यते। उपेक्षमाणस्याचिकित्सितस्य तृतीयं पटलं मुक्त्वा चतुर्थपटलं गतो दोषः लिङ्गनाशं कुर्वन् दृष्टिमण्डलं छादयेत्। वातजतिमिरे नरो व्याविद्धमिव पश्यति। चलं धूमाविलमरुणाभासं मुहुः प्रकृतिस्थनयनेन पश्यति। तथा जालादीनि मुहुः पश्यति। अचिकित्सितत्वेन काचत्वं प्राप्ते दृक् अरुणाऽऽस्यमनासिकं पश्यति। तथा चन्द्रदीपादीनामनेकत्वं वक्रमवक्रमिव च मन्यते। वृद्धः काचो रजोधूमावृतामिव च दृष्टिं कुर्यात्। तथा स्पष्टाऽरुणाऽऽभां विस्तीर्णां सूक्ष्मां वा हतदर्शनां दृष्टिं कुर्यात्। पित्तजे तिमिरे नरो विद्युदादिदीपितं तथा मयूरतित्तिरिपत्राभं प्रायेण नीलं च पश्यति। काचे काचनीलसदृशी दृष्टिर्भवति। तादृगेव काचनीलाभासं पश्यति। किंचाऽर्केन्दुपरिवेषादीन् पश्यति। लिङ्गनाशाद् दृष्टिर्भ्रमरनीला निरालोका स्निग्धा च भवति। पित्तेन ह्रस्वसंज्ञा दृष्टिर्भवति। ह्रस्वसंस्थानाऽल्पदर्शिनी वा पित्तविदग्धसंज्ञा दृष्टिः पीता पीताभदर्शना च भवति। श्लेष्मजतिमिरेणार्तः प्रायः स्निग्धं शुक्लं च पश्यति। काचे तु निष्प्रभेन्द्रकादिभिरिवाचितं पश्यति। सा दृष्टिः सिताभा स्यात्। लिङ्गनाशे तु मूर्तः कफो दृष्टिगतः स्निग्धो दृष्टिविनाशनश्च दृश्यते। पद्मिनीपुटसंस्थितश्चलजलबिन्दुवत् दृश्यते। आतपे चासौ बिन्दुः संकुचति। छायायां प्रसरति। रक्तजतिमिरवान् रक्ताभं तम इव च पश्यति। काचेन रक्ता कृष्णा वा दृष्टिः स्यात्। तस्यां तादृगेव रूपमीक्ष्यते। लिङ्गनाशेऽपि काचवत् दृष्टिर्निष्प्रभा हतदर्शना च स्यात् (अहृउ. १२.१–२२)

पु., वनस्पति० तिनिशः (सुउ. ५१.३२)

तिरस्कृत–न., तिरोहितम् (चशा. १.८०)

तिरीटक–पु., वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५)

तिर्यञ्च–वि., वक्रम् (सुनि. १.८)

(तिर्यक्)–पातनयन्त्र–न., दीर्घे एकस्मिन् घटे पारदोऽन्यस्मिंश्च जलमुभयोः संयोगार्थं नताधोनालः, येन चुल्ल्यामारोपितादीर्घघटादग्नितापेनोत्थितः पारदोऽन्यस्मिन् पात्रे पतति (र.९.१०–१२)

(तिर्यग्)–ग्–वि., तिर्यग्गामी (सुनि. १.८)
–गत–वि., शाखामार्गगत उन्मार्गगतो वा (चनि. ८.३८)
–प्रधमनकोष्ठी–स्त्री., मृण्मयकोशः, उच्छ्राये द्वादशाङ्गुला मूले च चतुरङ्गुला, तिर्यक् प्रधमनक्रियानुकूल्येन स्थापितमुखा कोष्ठी (र. १०.४७)
–फला–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (ध. ४.८८) (रा. ३.१२७)
–योनि–स्त्री., पश्वादियोनिः (चनि. १.३५)

तिल–पु., न., तैलधान्य० (चसू. २७.३०) (सुसू. ४६.३९) (ध. ६.१२२)
कृष्णसितेति द्विविधः, पीतहरितलोहिता इति केचित् (ड) सर्वेषु कृष्णस्तिलः प्रधानः (सु)

मधुरः, कटुकः, ईषत् कषायः, तिक्तः, सांग्राहिकः, दंत्यः, पथ्यः, अग्निमेधाजननः, अल्पमूत्रः, व्रणशोधनः, उष्णः, पित्तकरः, बल्यः, स्निग्धः, व्रणे लेपने पथ्यः, त्वच्यः केश्यः अनिलहा (सुसू. ४६.३९)

कफपित्तकृत् (चसू. २७.३७) हिमस्पर्शः (ध. ६.१२२)

हिं.—तिल.

म.—तीळ.

गु.—तल.

बं.—तिल.

ता.—नूवू.

न., परिमाण० (चचि. १० (३) २५)

पु.,—त्वग्रोग० पित्तले नरे पित्तस्य औष्ण्यात् त्वचि तिलाकारं चिह्नं जायते (चवि. ८.९७)

–कण–पु., भर्जिततिलः (चसू. ४.१५)

–कन्द–पु., वनस्पति० तिलकन्दः (रापरि. ७.५२)

गुणाः–मधुरः, शीतः, पित्तघ्नः, श्वासकासपित्तप्रकोपविषव्रणहरः (रापरि. ७.५४)

–कल्क–पु., तिलानां कल्कः (सुचि. १.६५)

व्रणरोपणस्तिलकल्कः (सुचि. १.६७ सुसू. ११.२२)

शोधनस्तिलकल्कः (सुचि. १.६७)

–काम्बलिक–पु., कृतान्न० तिलप्रधानः काम्बलिकः (चसू. १३.८५)

–कालक–पु., क्षुद्ररोग० त्वक्स्थाः तिलाभाः कृष्णाः अवेदनाः पिटिकाः (सुसू. १२.१०)

गुह्यरोग० संनिपातेन गुह्ये पक्वानि मांसानि कृष्णीभूय समन्ततो विशीर्यन्ते, ते तिलकालकाः (असंउ. ३८)

–कुन्तल–पु., तिलकाण्डम् (असंसू. ३९.१०)

–क्षार–पु., तिलस्य क्षारः (चसू. ३.१४)

–चित्रपत्रक–पु., वनस्पति० तैलकन्दः (रापरि. ७.५०) द्र० तिलकंद

–ज–न., स्नेह० तैलम् (ध. ६.१२५)

–जीवन–न., जीवनं जलम्, तेन तिलजीवनं तिलक्काथपर्यायः, तिलक्काथः, तिलमज्जा (र. २५.८५)

–तैल–न., तिलात् कृष्टं तैलम् (चसू. १३.१२)

तिलेषु भवं तैलं तच्च स्थावरस्नेहोत्तमम्, गुणाः–आग्नेयमुष्णं, मधुरं, मधुरविपाकं, बृंहणं, प्रीणनं, व्यवायि, सूक्ष्मं, विशदं, गुरु, सरं, विकाशि, वृष्यं, त्वक्प्रसादनं, शोधनं, मेधामार्दवकरम् (सुसू. ४५.११२)

–नाल–पु., तिलकाण्डम् (सुसू. ११.११)

–नालज–वि., तिलनालदाहात्कृतः यथा क्षारः (चचि. १३.१७०)

–परिपीडन–न., चक्रम्; तिलपरिपीडनक्रियोपयुक्तम् (सुचि. ४.२८)

–पर्ण–न., वनस्पति० चन्दनम् (ध. ३.१; रा. १२.१)

(–पर्णी)स्त्री.,–वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०९)

बदरकः (इन्दु. असंउ. १०)

चोरकः श्रीहस्तिनी (ड. सुसू. ४६.२३९)

हुलहुलः इति ख्यातः (चक्र. चचि. ३.२६७)

पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३); (ध. ३.१३३)

–पर्णक–न., वनस्पति० चन्दनम् (ध. ३.१)

–पर्णिक–न., वनस्पति० तैलपर्णिकः सरलरसः (सुक. ६.१४)

–(पर्णिका)–स्त्री., शाक० हुलहुलिका (चसू. २७.९७)

चोरकः, श्रीहस्तिपर्णी (सुसू. ४६.२२१) (र. ११.५२–५७)

–पिष्ट–न., आहारद्रव्य० (चसू. १३.२४)

–पीडक–न., यन्त्र० तिलानां तैलनिष्पादनोपयोगि यन्त्रम् (चसू. २५.२७)

–भेद–पु., वनस्पति० खस्तिलः (ध. ६.१२०)

–मषी–स्त्री., तिलभस्म, अरुंषिकानामके शिरोरोगे लेपनार्थमुपयुज्यते (असंउ. २८.)

–वासी–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०८)

–विकृति–स्त्री., कृतान्न० मोदकादिः मयूराण्डकादिः (हे अहसू. ६.३४) (ड सुसू. ४६.३८१)

–शाक–न., शाक० (चसू. २७.१०९)

–संभव–न., स्नेह० तैल (ध. ६.१२५.)

तिलक–पु., वनस्पति० गुणाः–अस्य त्वक्षषाया, मधुरा उष्णा (रा) अयं स्निग्धो, लघुः, पुंस्त्वघ्नो बल्यो वातपित्तकफघ्नः, पुष्टिकरो हृद्यो मेदोविवर्धनः दन्तरोगकृमिशोफव्रणरक्तदोषघ्नः (ध. ५.१५८)

हिं.—तिलकपुष्प.

म.—तिलपुष्पक.

गु.—तिलकवृक्ष,

अक्षम् (ध. २.३०)
लोध्रः (ध. ३.१५७)
तिलकालकः (र. २४.४०)
त्वग्योग० (चसू. १८.२५)
(तिलकी)–स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३)
तिलनी–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (ध. ६.१०२) (रा. १६.१०९)
तिलाङ्कितदल–पु., वनस्पति० तैलकन्दः (रापरि. ७.५०)
तिलातस्याद्युपनाह–पु., स्वेद० केवले वाते उपयुज्यते (ङ) सुचि. ३२.१२)
तिलादिकल्क–पु., योग० श्वदंष्ट्राविषजित् (असंउ. ४६.)
तिलादिलेप–पु., किञ्चित् भृष्टतिलाः सर्षपयुक्ताः मातुलुङ्गरसयुक्ताः । लेपाद् अक्षिरागरुजोर्हराः (सुउ. १७.८८–८९)
तिलोत्सेधतनु–वि., तिलोत्सेधप्रमाणम् (चचि. १ (३).१६)
तिल्वक–पु., वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५)
पट्टिकारोध्रः (सुचि. १४.५)
–घृत–न., घृत० उदररोगे विरेचनार्थमुपयुज्यते (सुचि. १४.१०)
–घृतचतुर्थ–वि., तिल्वकघृतं चतुर्थं येषु तानि, हरीतकीचूर्णप्रस्थेत्यादि (सुचि. १४.१०) गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरेत्यादि (सुचि. १४.१०) चव्यचित्रकेत्यादि (सुचि. १४.१०) वातव्याध्युक्त-तिल्वकघृतम् (सुचि. ४.२७)
–सर्पिस्–न., लोध्रादिसिद्धं घृतम्, एतद्वातरोगेषु स्नेहविरेचनार्थमुपयुज्यते (सुचि. ४.२७)
तिष्ठत्–वि., ऊर्ध्वीभवन् (ङ. सुउ. ४२.१२५)
तिष्य–पु., नक्षत्र० पुष्यनक्षत्रम् (चवि. ८.९)
तिस्रैषणीय–वि., अध्याय० तिस्रैषणाशब्दोऽस्मिन्नस्तीति चरकसूत्रस्थानगतैकादशोऽध्यायः (चसू. ११.१)
तीक्ष्ण–पु., झटिति कार्यकारी गुणः (चशा. ६.१०)
अग्निगुणभूयिष्ठो वीर्यसंज्ञको गुणः (सुसू. ४१.११)
शोधने शक्तिः (हे अहसू. १.१८) राजिका-मरिचादिष्वनुभूयमानो गुण० तैजसद्रव्यगुणः (सुसू. ४१.४ (३)
द्रव्यस्य शोधने कर्मणि शक्तिः, गुण० तस्य कर्मणि दाहपाककरत्वं, स्रावणत्वं च (सुसू. ४६.५१८)
वि., शीघ्रकारि, मन्दविपरीतः सूचीव भिनत्ति (अरुणः) (अहसू. १.१८) मुखे दुःखोत्पादकम् (सुसू. ४५.१९९)
कोपनम् (सुउ. ६२.९) शीघ्रतरदोषस्रावणकारि यथा विरेचनं द्रव्यं तीक्ष्णं भवति (सुचि. ३३.३३)
पु., वनस्पति० कुशः (रा. ८.२०७)
कुन्दुरुः (ध. ३.१३१) (रा. १२.१९०)
क्षुवकः (रा. परि. ९.४०)
न., वनस्पति० मरीचम् (र. १२.६४–७३)
खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)
(तीक्ष्णा)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (ध. १.१५१) (रा.३.२०२)
चविका (ध. २.७७) (रा. ६.११६)
तेजस्विनी (ध. १.२६६) (रा. ३.३९२)
पिप्पली (र. ११.५०)
–कण्ट–पु., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२६)
इङ्गुदी (रापरि. ८.१८)
–कण्टक–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रापरि. ८.१२)
करीरः (ध.५.९९)
–(कण्टका)–स्त्री., कन्थारी (रापरि. ८.२०)
–कण्टकमुखी–स्त्री., एषणीशस्त्र० (सुसू. ८.११)
–कन्द–पु., वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१००) (ध. ४.७१)
–क्षार–पु., त्रिविधक्षारेष्वेकः (सुसू. ११.१३)
–गन्ध–पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः नीलशिग्रुः द्र० शिग्रु (रा. ७.६२, ध. ४.४१)
वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१) द्र० 'तीक्ष्ण'
व्रणगन्धविशेषः (सुसू. २८.९–१०)
(तीक्ष्णगन्धा)–स्त्री., शोभाञ्जनकः (ङ. सुउ.२३.४)
वनस्पति० कन्थारी (रापरि. ८.२०) द्र० कंटका. श्वेतवचा (ध. १.१०; रा. ६.१०) द्र० वचा
राजिका (ध. ४.६०)
–तण्डुला–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (ध. २.७३)
–पत्र–पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२)
–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० तुम्बुरुः (र. १६.९९–१०२) द्र० तीक्ष्णपत्र
–पावक–पु., रोग० तीक्ष्णाग्निः (भस्मकः) (चचि. १५.५०)
–पुष्प–न., वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८५)
–(पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रापरि. १०.१.)

-फल-पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२)
द्र० तीक्ष्णपत्र
तेजःफलः (रापरि. ११.१७)
-(फला)-स्त्री., वनस्पति० राजक्षवकः (ध. ४.४३)
(रा. १६.७०)
-मञ्जरी-स्त्री., वनस्पति० नागवल्ली ताम्बूलवल्ली
(ध. परि. ३.३)
-मुख-पु., पारदयोग० पारदः सुवर्णं बिडलवणं हरितालं बोलः कान्तलोहं मण्डूरोऽभ्रकं गन्धकं माक्षिकं चेति। सर्वे एते कुमारीरसेन मर्दितगजपुटे परिपाच्याः। अयं अर्शसां नाशनः
(र. १५.६८)
-मूल-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०)
कुलञ्जः (रा. परि. ६.११)
-लोह-न., लोह० खरं, सारं, हन्नालं तारावट्टं वाजिरं काललोहाभिधानं चेति तीक्ष्णलोहं षड्विधं विद्यते
(र. ५.८०) (सुचि. १०.११)
-वल्क-पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२)
द्र० 'तीक्ष्णपत्र'
-विष-वि., तीक्ष्णं विषं यस्य स तीक्ष्णविषः कीटः, तद्दष्टलक्षणम्, तद्यथा ज्वरोऽङ्गमर्दो रोमाञ्चो, वेदना, छर्दितीसारस्तृष्णा, दाहो, मूर्च्छा, विजृम्भिका, वेपथुः, श्वासो, हिक्का, शीतं (दारुणम्) पिडकोपचयः, शोफो, ग्रन्थयो मण्डलानि
(सुक. ८.१९-२३)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० पीलुः (असंसू. १६.३९)
-वेगार्त-वि., तीक्ष्णवेगपीडितः (सुउ. ३९.९४)
-शूका-स्त्री., वनस्पति० यवः (ध. ६.७८)
-सार-पु., वनस्पति० करीरः (ध. ५.९९)
स्त्री.,-वनस्पति० शिंशपा (रा. ९.१९८)
तीक्ष्णक-पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८)
तीक्ष्णाग्नि-वि., लक्षण० दीप्ताग्निः (सुचि. ३३.५५)
पु., स गुर्वप्यन्नं पचति तथा सर्वोपचारसहश्च जाठराग्निः (चवि. ६.१२)
विविधेषु विक्रियापन्नेष्वग्निषु पित्तदोषजनितोऽयं तीक्ष्णो जठराग्निः (सुसू. ३५.२४)
तीक्ष्णायस-न., लोह० तीक्ष्णमायसम्
(चचि. १(३).१६)
तीर्थ-पु., उपाध्यायः (अरुण) गुरुः
(हे अहसू. १.२८)
न., नद्यादिघट्टम् (ड. सुक. ३.१०)

तीव्र-न., उग्रम्, इन्द्रियोद्वेजकम् (चइ. १२.२३)
खनिज० तीक्ष्णलोहम् (रा. १३.३०)
(तीव्रा)-स्त्री., वनस्पति० सुरसा (रा. १०.७७)
तरटी (रापरि. ८.३२)
तेजस्विनी (ध. १.२६६ रा. ३.३९३)
यवानी (ध. २.९४)
तेजस्विनी (रा. ३.३९३)
गण्डदूर्वा (ध. ४.१४५) द्र०' दूर्वा '
-कन्द-पु., वनस्पति० सूरणः (रा. परि. ७.६)
-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० यवानी (ध. २.९४)
(रा. ६.१४१)
-ज्वाला-स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५२)
-बलि-पु., अपक्वः पशूपहारो मद्योत्कटः
(ड. सुउ. ६०.३७)
-मात्सर्य-न., लक्षण० तीव्रद्वेषः (चनि. ७.७(१)
तीव्रावी- परिव० स्त्री., अतीव प्रसववेदना
(काखिल. ११.४४)
तुकाह्वया-स्त्री., वनस्पति० (असंउ. २)
तुगा-स्त्री., वनस्पत्यङ्ग० तुगाक्षीरी (अहसू. १५.१२)
भैषज्य० वंशलोचना, वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम् (ड) सुउ. ५२.१७)
भैषज्य० वंशरोचना (ध. २.५५)
-क्षीरी-स्त्री., निर्यास० वंशरोचना
(चचि. १.(१)६८)
तुगाख्या-स्त्री., निर्यास० तुगा, वंशरोचना
(सुउ. ४५.३२)
तुङ्ग-पु., वनस्पति० पुन्नागः (चक्र. चसि. १०.२२)
न., वनस्पति० पद्मकेसरम् (ध. ४.१६५)
(तुङ्गा)-स्त्री., निर्यास० वंशरोचना (रा. ६.८६)
शमी (ध. ५.९५)
(तुङ्गी)-स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (ध., २.१००)
-क्षीरी-स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (ध., २.५५)
-नास-पु., सविषकीट० गुणाः-प्राणनाशनः, तेन दष्टस्य सर्पवत् तीव्रा वेदनाः, सान्निपातिका रोगाश्च भवन्ति दंशश्च रक्तपीतसितारुणो भवति क्षाराग्निदग्धवच्च प्रतीयते (सुक. ८.१५-१८)
(असंउ. ४३)
तुङ्गिनी-स्त्री., वनस्पति० सहस्रवीर्या (रा. ४.४४१)
(ध., १.२०३)
तुण्ड-न., मुखम् (सुक. ३.४) मुखाग्रम्
(इन्दु. असंउ. १०)

(तुण्डी)–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (ध., १.२०२)
मधुरबिम्बी (ध. १.२०२ रा. ७.३०४)
–नाभ–पु., कीट० प्राणनाशकः कीटः (असंउ ४३)
–नाम–पु., सविषकीटः (सुक. ८.१५–१८)
–विष–वि., तुण्डे विषं यस्य सः, वरटीशतपदीशूक-शृंगिभ्रमरादयः तुण्डविषाः (सुक. ३.५)
तुण्डाहत–न., सर्पेण अदंष्ट्रया कृतो दंशः (वैशसि.)
तुण्डि–स्त्री., वातेनाध्मापितायाः सरुजाया नाभेस्तुण्डिरिति नाम (असंउ. २.)
–केर–न., वनकार्पासी, वनकार्पासीसमुद्भवं फलम्, एतत् फलं जले पिष्टं पाययेत् क्षतजतृष्णाशमनार्थम् (सुउ. ४८.२७)
–केरफला–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (ध. १.२२)
–(केरी)–स्त्री., वायव्यः कीटविशेषः (असंउ. ४३)
वनस्पति० वनकार्पासिका (सुनि. २.१०) (असंनि. ७.)
वनकार्पासीफलतुल्याकारशोथतया इयं रोगे निरूढा। तालुगतरोगविशेषः (सुसू. २५.८)
–केरिका–स्त्री., वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४५)
कण्ठगतव्याधिः, लक्षणानि–कंठे हनुसंध्याश्रितः कार्पासीफलाकारः पिच्छिलो मंदरुक् कठिनश्च शोफो भवति, स नाम्ना तुंडिकेरिका इत्युच्यते (असंउ. २५.)
–नाभि–स्त्री., नाभिरोग० मुखयुक्तनाभिः (सुशा. १०.४३)
तुण्डिका–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (ध. १.२०२)
वनकार्पासीफलम् (र. २९.१२१–२२)
तुत्थ–न., खनिज० तुत्थकम् (ध. ३.१४५)
(तुत्था)–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३२)
महानीली (रा. ४.३५३)
एलाभेदः सूक्ष्मैला (ध. २.४४) द्र० 'एला'
–खर्पर–न., मयूरतुत्थम् (र. २.१३४)
तुत्थक–न., खनिज० मयूरतुत्थम् (सुचि. ९.६१)
गुणाः–कटुः, तिक्तं, कषायं, उष्णं, (रा) शीतं, (ध) चक्षुष्यं, रसायनं, रुच्यं, दीपनं, पुष्टिवर्धनं, वान्तिकरं, दृष्टिरोगश्वित्रविषवेगत्वग्दोषविनाशनम् (ध. ३.१४५)
इदमेव मयूरतुत्थं खर्परिकातुत्थमित्युच्यते (चचि. ७.१०८)
ऊषकादिगणे (सुसू. ३८.३७) प्रक्लिन्नवर्त्मनि नेत्ररोगप्रकारे तुत्थकं कज्जलतुल्यभागं ताम्रपात्रे घृष्टं सर्पिर्युतमञ्जनं कार्यम् (सुउ. १२.५३)

हिं.—नीलाथोथा.
म.—मोरचूद.
गु.—मोरथुथु.
बं.—तूतिया.
ता.—तुरिचि.
तुद्यमान–वि., लक्षण० पीड्यमानम् (चसू. १७.३९)
तुन्द–वि., स्थूलः (र. १६.१५०)
न., शारीर० उदरम् (र. १८.१९४)
तुन्दिलफला–स्त्री., वनस्पति० त्रपुसम् (रा. ७.२४६)
तुन्नसंज्ञा–स्त्री., सेवनी (असंउ. ३१)
तुन्नसेवनी–स्त्री., सीवनप्रकारेष्वेकः यथा वस्त्रं पाटितं तन्तुवायकः संदधाति तद्वत् (सुसू. २५.२२)
तुमुलस्वन–वि., प्रचण्डगर्जितः (मेघः) (सुसू. ६.३१)
तुम्ब–पु., यत्र० अलाबूः (चचि. २९.३७)
(तुम्बी)–स्त्री., वनस्पति० कटुकालाम्बुनी (ध. १.१७०)
सरलः (ध., ३.७८) (रा. १२.१३६)
इक्ष्वाकुः (चक. ३.३)
तिक्तालाबूः, गुणाः–तिक्ता, कटुः, कषाया, अधोभागदोषहरा, कृमिकुष्ठकफानिलहरा, दुष्टव्रणशोधनी (सुसू. ४५.१२४)
–बीज–न., भैषज्य० इक्ष्वाकुफलबीजम् (चक. ३.१५)
तुम्बरु–पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२) (असंसू. ७)
–तैल–न., स्नेहविशेषः (ध. ६.१३८–३९)
तुम्बिका–स्त्री., वनस्पति० कटुकालाम्बुनी (ध. १.१७०) (रा. ३.२३४)
तुम्बिनी–स्त्री., वनस्पति० कटुकालाम्बुनी (ध. १.१७०) (रा. ३.२३४)
कटुतुम्बिनी (र. १०.७३–७६)
तुम्बुरु–पु., धान्य० (चसू. २७.३०३) कटुर्मधुरस्तिक्तः (रा.), उष्णस्तीक्ष्णो वह्निदीपनः, कफवातशूलाऽपतन्त्रोदराऽऽध्मानकृमिगुल्मान्नाशयति (ध. २.४२) वातशूलघ्नः (चक. ४.१५) (सुउ.४२.६९)
हिं.—तुंबरु.
म.—चिरफळ.
गु.—तुंबरुफल.
बं,—तेजबलेरगाछ.

तुरग–पु., वनस्पति० अश्वगन्धा (र. ३०.७९)
–**चर्या**–स्त्री., विक्रमवाञ्छितोपशल्यसंहितासु हयारोहणम् (सुचि. ११.११)
–**प्रिय**–पु., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४)
तुरगाह्वा–स्त्री., वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)
तुरगी–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (ध. १.२७२)
तुरङ्गगन्धा–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (सुउ. ४१.४१)
तुरङ्गवर्चस्–पु., अश्वपुरीषम्, अस्य स्वरसो रक्तपित्तशमनः (सुउ. ४५.३१)
तुरङ्गिका–स्त्री., वनस्पति० जीमूतकः (रा. ३.२४४)
तुरङ्गी–स्त्री., वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)
तुरुष्क–पु., सुगन्धिद्रव्य० धूपभेदः सिह्लकः (चक्र. चचि. २८.१५३ (असंउ. १) गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णः स्निग्धः स्वादुः कटुको वातकफपित्तघ्नः (रा) कुष्ठाश्मरीमूत्राघातभूतज्वरघ्नः (ध. ३.२२)
हिं.—शिलारस.
म.—शिळारस.
गु.—शिलारस.
बं.—शिलारस.
ता.—चिलारचं.
वनस्पति० यवानी (ध. २.९४)
तुर्यांश–पु., चतुर्थांशः (असंशा. ६)
तुलसी–स्त्री., वनस्पति० सुरसा (ध. ४.५०) गुणाः–कटुः, तिक्ता, ह्रद्योष्णा, दाहपित्तकारिणी, दीपनी, कुष्ठकृच्छ्ररक्तपित्तपार्श्वशूलहिक्काश्वासकासविषपूतिगन्धकफनाशिनी । सितासितकुसुमभेदाद्द्विविधा (र. १८.१७४–७६)
हिं.—तुलसी.
म.—तुळस.
गु.—तुलसी.
बं.—तुलसी.
ता.—तुलसी.
फा.—रेहान्.
तुला–स्त्री., मान० पलशतम् (असंक. ८)
तुलिक–पु., कार्पासगोलकावृतमुखी तृणकाष्ठादिशलाका (र. २२.१२६)
तुलिनी–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)
तुल्ययोनित्व–न., एकहेतुजन्यत्वं यथा चक्षुस्तेजोजन्यं रूपं च तेजोजन्यमिति चक्षूरूपयोस्तुल्यतेजोजन्यत्वम् । आयुर्वेदे तुल्ययोनित्वस्य सिद्धान्तः इन्द्रियार्थग्रहणे स्वीकृतः । तद्यथा—" इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थानां च पाञ्चभौतिकत्वेऽपि यस्य भूतस्य यत्रेन्द्रिये आधिक्यं तेन तेनेन्द्रियेण तस्य तस्यैव गुणाः शब्दादयो गृह्यन्ते । इन्द्रियेण चक्षुरादिना रूपादिकमात्मीयं मानव उपादत्ते । तद्यथा–तैजसं चक्षुस्तैजसमेव रूपमादत्ते । तुल्ययोनित्वादेकभूतहेतुत्वात् । भूतं हि स्वयोनिमभिधावति जलमिव जलम् (ड) सुशा. १.१५)
तुल्यशीला–स्त्री., समानस्वभावा (सुचि. २४.१३०)
तुल्या–स्त्री., वनस्पति० आढकी (ध. ६.९३)
खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५)
तुवर–पु., वनस्पति० यावनालभेदः तुवरयावनालः द्रव्यं यावनालम् (रा. १६.१७१)
न., कषायरसम् (र.५.३०)
(तुवरी)–स्त्री., वनस्पति० आढकी (ध. ३.१०५)
खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५)
–**धान्य**–पु., वनस्पति० यावनालभेदः तुवरयावनालः (ध. ६.१०८) (रा. १६.१७१)
द्र० 'यावनाल'
–**यावनाल**–पु., वनस्पति० जूर्णाविशेषः (रा. १६.१७१)
तुवरक–पु., वनस्पति० पश्चिमसमुद्रभूमिषु पलाशानुकारी वृक्षः; अस्य स्नेहो महाव्याधिघूपयोज्यः (सुचि. ३१.५) तद्गुणाः–महाप्रभाव उत्कृष्टतमः कुष्ठमेहापहस्तस्य मज्जानो मात्रया पीता नरं शोधयन्ति (सुचि. १३.२०–३४ ; असंउ. ४९)
हिं.—चौलमोगरा.
म.—कडुकवठ, कंवठी.
(तुवरिका)–स्त्री., भैषज्य० कांक्षी (र. ३०.६४–६५) नेत्ररोगेष्वक्षिक्षालनार्थमुपयुज्यते (असंउ. २०.२५३)
–**तैल**–न., तुवरकः पश्चिमार्णवतीरजोऽयं वृक्षः तत्फलतैलं सर्वेषु कुष्ठेषूपयुज्यते (असंचि. २१) गुणाः–उष्णं, मधुरं, कषायं, तिक्तानुरसं, वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिप्रशमनमुभयतोभागदोषहरं च (सुसू. ४५.१२२)
–**तैलप्रयोग**–पु., तैलस्य पञ्चाहिकप्रयोगः कुष्ठहरः प्रथमः; तस्यैव खदिराम्बुसिद्धस्य विशिष्टावस्थे कुष्ठे द्वितीयः प्रयोगः, तदेव सर्पिर्मधुखदिरकषायविधिना प्रयुज्यमानं तृतीयप्रयोगत्वेन व्यपदिश्यते । परोऽपि

पञ्चाशद्दिनावधिको नस्यप्रयोगो रासायनिकश्चतुर्थः स्मृतः । किंच मज्जप्रयोगः पञ्चमः । अञ्जनप्रयोगश्च षष्ठः (सुचि. १३.२०–३५)

तुवरकास्थि–न., तुवरकबीजं (असंचि. २१)

तुवरानुरस–न., तुवरोऽनुरसतयाऽऽस्वाद्यते यस्मिंस्तत् तुवरानुरसम्, अन्ये तु तुवरशब्देन कषायमाहुस्तेन किञ्चित्कषायानुरसमित्यर्थः (चक्र. चचि. २२.२६)

तुष–पु., धान्यत्वक् (सुचि. ५.१८ र. १४.६०)

तुषाम्बु–न., सन्धान० यत्सतुषैर्यवैः क्रियते । तद्गुणाः–दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् (सुसू. ४५.२१३)

हिं.—यवोंकी कांजी.

म.—**जवाच्या कोंड्याचे पाणी.**

तुषार–पु., वनस्पति० चीनकः (ध. ३.३१) (रा. १२.६३)

कर्पूरः (ध. ३.३१ रा. १२.५६)

अवश्यायः (अहसू. २.४०)

तुषोद–न., आसव० तुषोदकम् (ध. ६.२५१)

तुषोदक–न., आसुत० (चसू. २७.१९१)

सतुषयवकाञ्जिकम् (सुसू. ४४.४०–४४)

तुष्ट–पु., वनस्पति० तिन्दुकः (ध. ५.४०)

तुष्टि–स्त्री., मनःसंतोषः (सुसू. १५.५ (१)

वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१८५. रा. ५.१८८)

तुहिन–पु., वनस्पति० कर्पूरः (ध. ३.३१)

तुहिनोदक–न., हिमपानीयम् (सुउ. ४७.५५)

तूणि–पु., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्तो वृष्यः पुष्टिकरो वीर्यदो, कण्डूकुष्ठव्रणगण्डमालासंनिपातरक्तविकार-दाहशिरोरोगश्वेतकुष्ठानि त्रिदोषाँश्च हन्ति (ध. ३.१८)

हिं.—टूना.

म.—**देवदारी.**

बं.—हण्डीब्रिक्षा.

वातरोग० (सुसू. ४६.३७२–७३)

स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३२)

तूणीक–पु., वनस्पति० तूणिः (ध. ३.१८) द्र० 'तूणि'.

तूद–न., फलविशेषः, अम्लं परूषकफलसदृशं गुणत्वेऽपि ततोऽल्पान्तरगुणम् (चसू. २७.१३५)

हिं.—शहतूत.

म.—**शहातूत.**

गु.—शेतूत,

बं.—तूत.

ता.—मळुकट्टैचेटि.

वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४) द्र० 'तूल'

लक्षण० तोदनम्, तुद्यतेऽनेन दन्तः इति तूदम् यद्वा तुदति इति तूदम् (आम्रातकम्) (अहसू. ६.१३८)

तूनसेवनीसंधि–पु., अस्थिसंधिप्रकारः (असंशा. ५)

तूनी–स्त्री., रोग० (र. १८.११६–१७) पक्वाशयाद्रुदोपस्थं तीव्ररुजो वायुश्चरन् तूनी भवेत् (असंनि. ११ सुनि. १.८६)

तूर्णक–पु., शालिभेदः (चसू. २७.८)

तूर्णम्–(अव्य०) शीघ्रम् (सुचि. ३६.१३)

तूल–न., वनस्पति० गुणाः–मधुरमम्लं वृष्यमग्निकरं बल्यं वर्ण्यं सरं वातपित्तकफदाहनाशनम् (ध. ५.६४)

–फल–न., शाल्मलीफलादि । व्रणबन्धनद्रव्यम् (सुसू. १८.१६)

पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२६)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२११)

तूष्णींभाव–पु., स्तब्धता (धनि. ७.७ (३)

तृण–न., वनस्पति० कुशकाशादि (सुक. ३.१३)

पु.,–वनस्पति० कुशः (रा. ८.२०८)

(तृणी)–स्त्री., वनस्पति० सठी (रा. ६.८७)

–कुङ्कुम–न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा. १२.२३) गुणाः–कटुरुष्णं, कफवातशोफकण्डूतिपामाकुष्ठाम-दोषघ्नम् (रा. १२.२३)

–केतुक–पु., वनस्पति० वंशः (ध. ४.१३७)

–गौर–न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (रा. १२.२३)

–ग्रन्थि–स्त्री., वनस्पति० हिमा (रापरि. ३.१३)

–धान्य–न., वनस्पति० कुरी (रा. १६.१७९)

–निम्ब–पु., वनस्पति० नेपालनिम्बः (रा. ९.५२)

–पञ्चमूल–न., (सुसू. ३९.८)

'तृणाख्यं पित्तजिद्भेशरकाशेक्षुशालयः ।
एतैरेकीकृतं पञ्चमूलं तु तृणसंज्ञितम् ॥
(ध. ७.२६)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० इक्षुदर्भा (रापरि. ८.४७)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रापरि. ८.६६)

–पुत्रिक–पु., पुरुषाकृतिभूयिष्ठोऽपुरुषः, व्यवायेच्छा-युक्तः किन्तु व्यवायसामर्थ्यहीनः (चशा. ४.३१)

–पुष्प–न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (ध. ३.२३) (रा. १२.२३)

-(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० सिन्दुरी (रापरि. १०.१९)
-पूली-स्त्री., तृणमयी पुरुषाकृतिः (चचि. २(१).१८)
-बल्वजा-स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रापरि. ८.४०)
-बीज-पु., वनस्पति० श्यामाकः (ध. ६.८८)
-बीजोत्तम-पु., वनस्पति० श्यामाकः (ध.६.८८)
-मूल-न., सुगन्धितृणमूलम् (चचि. ४.१०३) (सुचि. ३७.३१)
(-मूली)-स्त्री., केतकी (सुक. ६.२१)
-राज-पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८) नारिकेलः (रा. ११.१०५)
-वालुक-न., वनस्पति० उशीरम् (ध. ३.१४)
-शीता-स्त्री., वनस्पति० महाराष्ट्री (रापरि. ४.१३)
-शुण्ठ-पु., वनस्पति० गुण्ठः (ध. .(३१८
-शूनी-स्त्री., केतकी (ड सुक. ६.२१)
-शून्य-न., फल० केतकी, अस्य फलमासवार्थमुपयुक्तम् (चसू. २५.४९)
-शून्यकन्द-पु., केतकीमूलम् (सुचि. १८.१०)
-शून्यफल-न., फल० केतकीफलम् (सुसू. ४६.१९४)
-शोषक-पु., सर्पविशेषो राजिमान् (सुक. ४.३४(३)
-संज्ञक-पु., पञ्चानां तृणमूलानां समाहारः (सुसू. ३८.७५)
तृणाम्ल-न., वनस्पति० लवणतृणम् (रापरि. ८.५७)
तृणास्त्र-न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (ध. ३. रा. १२.२३)
तृणेक्षु-स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रापरि. ८.४०)
तृणोत्तम-पु., वनस्पति० उखलः (रापरि. ८.४६)
तृणोत्थ-न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (ध. ३ रा. १२.२३)
तृणोद्भव-न., वनस्पति० नीवारः (रा. १६.१३९)
तृणोलप-न., तृणगुल्मम् (हे अहसू. २९.१३)
तृतीयक-पु., विषमज्वर० (चचि. ३०.६६)
अस्थिमज्जगो दोषस्तृतीयकज्वरं कुरुते । अस्मिन् ज्वरे तृतीयदिनभावित्वमस्ति । केचिद्विषमज्वरं भूताभिषङ्गोत्थं वदन्ति । तृतीयकस्तु त्रिविधः । कफपित्तात् त्रिकग्राही वातकफात्मकः पृष्ठग्राही, वातपित्ताच्छिरोग्राही (चचि. ३.६७-७१)
तृप्ति-स्त्री., संतोषः अयमाहारगुणानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) लक्षण० (चसू. ४.८) विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७) अनन्नाभिलाषः (र. १८.४४)
-घ्न-वि., तृप्तिरोगघ्नः (चसू. ४.८)
तृष्-स्त्री., द्विविधलङ्घनान्तर्गतशमन० उदकवर्जनम् (अहसू. १४.७) जलपानेच्छा (सुउ. ६१.१६)
तृषा-स्त्री., जलेच्छा (चसू. १४.१४)
तृष्णा-स्त्री., लक्षण० पानीयसेवनेच्छा (चसू. १६.५) पिपासा (चनि. ४.४८) इच्छाद्वेषस्वरूपा वासना (चशा. १.३४) व्याधिः (चचि. २२.१) हेतुः संप्राप्तिश्च-भयश्रमबलसंक्षयैः पित्तलैश्च चितं पित्तं सवातमूर्ध्वं प्रसरत् तालुप्रपन्नं सत् तृष्णां जनयति (मा) रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः संशोष्यातिबलौ पित्तवातौ तृष्णां कुरुतः (चचि. २२.६) पूर्वरूपम्, तालोष्ठकण्ठास्यानां विशोषणं दाहश्च, तथैव संतापो मोहो भ्रमो विप्रलाप इति पूर्वरूपाणि तृष्णोत्पादकाले विशेषतो भवन्ति (सुउ. ४८.७) भेदाः-तिस्रः दोषजाः, क्षतजा क्षयजा आमजा भक्तजा चेति सप्त तृष्णाः (मा) लक्षणानि---वातजतृष्णायां क्षामास्यता, स्रोतोनिरोधः शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिः, शंखयोः शिरसि वा तोदः, विरसवक्त्रता । पित्तजतृष्णायां मूर्च्छा, विलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः, शीताभिनन्दनं, परिदूयनमुपतापोऽन्नविद्वेषः मुखतिक्तता च । कफजतृष्णायां निद्राधिक्यं गुरुत्वं मधुरास्यता तृष्णार्दितत्वं भक्तद्वेषः प्रसेकश्च । क्षतजतृष्णायां रसक्षयः आभीक्ष्ण्येनाम्भःपानेऽपि सुखप्रत्ययाभावः हृत्पीडा कम्पः शोषः शुष्कता तृष्णा च । आमजतृष्णायां त्रिदोषलिङ्गयुक्तेयं तृष्णा हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री; अन्नजा तृष्णा । स्निग्धाम्ललवणं गुर्वन्नं भुज्यमानमाशु इमां तृष्णां करोति । (मा;) तृष्णाया अन्ये प्रकाराः तच्छमनोपायाश्च-श्रमोद्भवा तृष्णा-श्रमजन्यतृष्णायां मांसरसो गुडोदकमथवा मन्थः प्रशस्तः (सुउ. ४८.३०) स्नेहपानजा तृष्णा-अस्यामुष्णं जलं प्रभूतं पातुमिष्यते (सुउ.४८.३१) मद्यपानजा तृष्णा-पाटलोत्पलकन्दमुद्गपर्णीसाधितं पिप्पलीमिश्रहिमशीतलं जलं मद्यतृष्णायां प्रशस्तम् (सुउ. ४७.५१) उष्णोद्भवा तृष्णा-उष्णोद्भवां तृष्णां सुशीतं सशर्करं सेक्षुरसं जलं हन्ति (सुउ, ४८.३२) व्याधिपीडितः पुरुषः जलं

काङ्क्षन् यदि जलं न लभते, तर्हि स आशैव मरणमाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा लभेत । तस्मात् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः पूर्वमेव तृष्णां जयेत् (चचि. २२.६०)
सर्वतृष्णासु पित्तशमनो विधिः कार्यः (सुउ. ४८.३३)
इच्छाद्वेषस्वरूपा वासना (चशा. १.१३४)

-घात-पु., लक्षण० तृष्णाघातज उदावर्तः, अस्मिन् शीतलमन्थयवाग्वादीनां पानं कार्यम् (सुउ. ५५.३४)

-घ्न-वि., तृष्णां हन्ति हरतीति (चसू. १.१०९)

-निग्रहजरोग-पु., तृष्णाया निग्रहो नाम अवरोधः तस्मात् निग्रहाच्छोषोऽङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्रदा भवन्ति । तत्र सर्वशीतो विधिर्हितः (असंसू. ५.१४)

-निग्रहण-वि., तृष्णाशमनः (चसू. ४.८)

-निग्रहणवर्ग-पु., (परिव०) नागरधन्वयवासमुस्तपर्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीहीबेरधान्यकपटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति (चसू. ४.१४)

-प्रतिषेध-पु., अध्याय० (सुउ. ४८.१)

तृष्णाधिक्य-न., लक्षण० तृष्णाया आधिक्यम् (चसू. २०.१४)

तृष्णाभिघात-न., तृड्विगविघातजोदावर्तः (सुउ. ५५.१६)

तृष्णारि-पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६५)

तृष्णालु-वि., लक्षण० पिपासायुक्तः (चचि. ३०.२४४)

तृष्णोपशमनी-वि., तृष्णाया उपशमनी अपहन्त्री (चिकित्सा) (चवि. ५.२६)

तृष्यत्-वि., तृष्णायुक्तः (चसू. १६.१०)
तृषारोगवान् (चसू. १४.१८)

तेजन-न., दीपनम् (सुचि. २४.५२)
वनस्पति० मुञ्जतृणम् (चचि. १ (३). ३)

(तेजनी)-स्त्री., वनस्पति० मोरटः (ध. १.१५)
मूर्वा (असंचि. २.)
तेजोवती (ध. १.२६६)

तेजनाह्वय-पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०४)

तेजवती-स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (ध. १.२६६)

तेजस्-न., देहोष्मा (चचि. १५.३)
त्वक्स्था दीप्तिः (ड. सुचि. ३८.५०)
पित्तोष्मा (ड.सुउ. ४७.७०-७१)
रञ्जकपित्तम् (सुसू. १४.५) अग्निः (सुसू. १४.५)
पराक्रमः (सुसू.४५.९६)

(तेजः-) पथ-पु., जठरानलमार्गः (सुसू. ४६.५१३)

-फल-न., वनस्पति० गुणाः-कटु तीक्ष्णं दीपनं बालरक्षाकरं वातश्लेष्मघ्नमरुचिघ्नं च (रा. परि. ११.१७)

(तेजो-) धातु-पु., तेजः (सुशा. २.३५)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० अग्निमन्थभेदः, क्षुद्राग्निमन्थः (रा. ९.१३८) द्र० ' अग्निमन्थ '

-ह्वा-स्त्री., वनस्पति० तेजस्विनी, तेजोवती (सुचि. ९.६१; ध. १.२६६)

तेजस्विनी-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-दीपनी, पाचनी, रुच्या, कफवातघ्नी (ध. १.२६६)
मूर्वा (रा. ३.१०)

तेजिनी-स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (र. ११.९४; असंशा. ४)

तेजिवाह-पु., अश्वजाति० (र. ३.१२५)

तेजोवती-स्त्री., वनस्पति० मर्दनिका (ड सुचि. २२.२४)
गुणाः-श्लेष्मवातघ्नी, रुच्या, दीपनी (ध. १.२६६)
हिं.—तेजमल.
म.—नेपाळी धनिया.
फा.—तेजबळ.
महाज्योतिष्मती लता (सुचि. २४.८)
काकमर्दनिका (ड. सुउ. ५१.२८)
चविका (चचि. १७.१४१)

तेर-पु., वनस्पति० तैरिणी (रापरि. ४.१५)

तेरण-पु., वनस्पति० गुणाः-तिक्तः शिशिरोऽरुणवर्णकरो व्रणघ्नश्च (रापरि. ४.१५)

तैजवल्ली-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४४०)

तैजस-वि., अग्निगुणनिर्वृत्तः (सुशा. १.१९)
अहङ्कारभेदः राजसोऽहङ्कारः (सुशा.१.४)
उष्णः (सुसू. १४.३)
न., आहारद्रव्य० घृतम् (रा. १५.२०२)

(तैजसी)-स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (रा. ६.११७)

तैत्तिर-वि., तित्तिरस्य संबन्धि मांसरसादि (चसू. १३.८३)

तैन्दुक-वि., तिन्दुकवृक्षस्येदम्, तिन्दुकवृक्षभवम् (चशा. ८.३३)

तैमिरिक-वि., तिमिरव्याधियुक्तः (चसू. १४.१९; सुचि. ३३.१४)

तैमिर्य-न., रोग० तिमिरम्; तिमिरमेव तैमिर्यम् (र. २३.४६; चचि. १४.११)

तैरिणी–स्त्री., वनस्पति० (रापरि. ४.१५) द्र० 'तेरण'

तैर्यग्योन–वि., तिर्यग्योनिजातो गोगजाश्वादिः तिर्यग्योनिभवः तैर्यग्योनः (सुउ. ३९.१३)

तैल–न., आहारद्रव्य० (चसू. १.७३) तिलोद्भवं मुख्यम् एरण्डकरञ्जकुसुम्भादीनां बीजेभ्योऽपि तैलं निष्पद्यते सर्वंतैलेषु स्वयोनिवद्गुणकर्माणि भवन्ति, तिलोद्भव तैलगुणाः–स्वादुकषायानुरसोष्णं, सूक्ष्मं, व्यवायि, तीक्ष्णं, पित्तलं, बद्धविण्मूत्रं, बल्यं, त्वच्यं, मेधाग्निवर्धनम् । वातघ्नं न श्लेष्मवर्धनं, संयोगात् संस्कारात् सर्वरोगहरम् (चसू. २७.२८७)

तैलात् परं वातघ्नं किञ्चिदपि औषधं नास्ति व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहादिगुणैः संस्काराच्च बलवत्तरं भवति । तत्तु सूक्ष्ममार्गाश्रितान् गदान् क्षिप्रतरं हन्ति । स्नेहेन वातस्य रौक्ष्यं गुरुत्वाद्वातस्य लघुतामौष्ण्याद्वातस्य शैत्यं हत्वा तैलमाशु मनःप्रसादं वीर्यं बलं वर्णं पुष्टिमग्निं च ददाति (चसि. १.३०) वातश्लेष्मप्रशमनानामग्र्यम् (चसू. २५.४०)

ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु च देहिषु तैलं विशेषतः शस्यते (असंसू. २५.१२–१३)

स्नेहनार्थं प्रावृषि तैलं युञ्ज्यात् (असंसू. २५.१५–१६)

कृशानां बृंहणाय स्थूलानां कर्शनाय च तैलमेव अलम् । तैलप्रयोगाद् दैत्याधिपतयो निर्विकारा युद्धेऽजरा जितश्रमाः प्राप्तातिबला बभूवुः (असंसू. ६)

भैषज्य० सिह्लकम्, शिलारसः इति यावत् (र. २१.१३९)

–कन्द–पु., वनस्पति० गुणाः–कटुरुष्णो रसबन्धको देहसिद्धिकरश्च, वातापस्मारविषशोफघ्नः (रा. परि. ७.५०)

–गण्डूष–पु., तैलस्य मुखे धारणम् (चसू. ५.८०) तैलगण्डूषधारणगुणाः–हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनोपचयः परं च रसज्ञानमन्ने च उत्तमा रुचिः, अनेन कण्ठशोषो नस्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम् । दन्ताः क्षयं न यान्ति दृढमूलाश्च भवन्ति नाम्लेन शूल्यन्ते न हृष्यन्ते परानपि खरान् भक्ष्यांश्च भक्षयन्ति च (चसू. ५.७८–८०) (असंसू. १३.३०) दन्तबलरुचिकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

–घृत–न., योग० द्राक्षाकाश्मर्यादिसिद्धं कटुतैलं मत्स्यमाषदध्यादिसिद्धं घृतं च मिलित्वा तैलघृतं उत्पाद्यते एतद् दीपनं स्नेहनं बल्यं ग्रहणीपार्श्वरोगप्लीहगुल्मनिवारणं च (काकटुतैलक १६.१७) व्योषजात्यादिभिर्दैग्धा च सिद्धं तैलघृतमिदं शूलातिसारविनाशकम् (सुउ. ४०.५६)

–दान–न., तैलस्य दानं, तैलयुक्तो बस्तिः (चसि. १.२९)

–द्रव्य–न., कङ्गुणीतुम्बिन्यादि (र. १०.७३–७५) तैलद्रव्याणि–कङ्गुणीतुम्बिनीधोषाकरीरश्रीफलकटुवार्ताकसिद्धार्थसोमराजीबिभीतकअतसीबीजमहाकालीनिम्बबीजतिलअपामार्गबीजदेवदालीदन्तीबीजतुम्बुरुअङ्कोलधत्तूरभल्लातकपलाशाः ॥

एतेभ्यस्तैलान्युद्धृत्य रसकर्मण्युपयोक्तव्यानि (र. १०.७३)

–द्रोणी–स्त्री., अवगाहार्थे पात्रविशेषः, तैलयुक्ता द्रोणी बद्धगुदे परिस्राविणि चोदररोगे शल्यकर्मानन्तरं व्रणित्वेनाध्मानक्लेशनिवृत्त्यर्थमुपयुज्यते (सुचि. १४.१७)

–निर्यास–न., भैषज्य० जवादि (रा. परि. १२.७)

–पाक–पु., तैलपातनं; विध्युक्ता तैलसिद्धिः (र. १२.१४) आसन्नपाके तैले परीक्षणार्थं बलाकायाः पक्षमेकं क्षिपेत् । स च यदा भ्रमराङ्गनीलो भवेत् तदा तैलं विपक्वं विद्यात् (सुचि. २५.३०–३१)

–पायना–स्त्री., शस्त्रतीक्ष्णीकरणार्थं संस्कार० पातुं प्रयोजना (ड.) निवृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणाद्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना (हाराणचंद्र) । पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु । तत्र क्षारपायितं शस्त्रं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं च मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु । तैलपायितं च सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषूपयुज्यते (सुसू. ८.१२)

–पेय–न., कन्दविष० (असंउ. ४०) द्र० 'कन्दविष'

–फल–पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रा. परि. ८.१८) बिभीतकः (रा. ११.३२२)

(फला)–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११५) न., तिलोमास्फोतादि (चचि. २६.४८) एरण्डफलतिलादि (चसू. ३.१८)

–बीज–पु., वनस्पति० भल्लातकः (रा. ११.२०१)

–भाविनी–स्त्री., वनस्पति० जाती (ध. ५.१३७)

–योनि–न., तिलादि, सतैलफलम्, तैलकारणं द्रव्यम् (चचि. १५.२२७)

-लशुन-न., योग० लशुनसिद्धं तैलम् अपस्मारे हितम् (चचि. १०.६४)

-व्यापद्-स्त्री., तैलादियोगजन्यविकृतिः (चसू. २.३०)

-सात्म्यता-स्त्री., भोजने तैलस्याधिकाभ्यासः (काखिल. ५.५०)

-सिद्धि-परिव० स्त्री., तैलसाधनम्, तैलपाकः (सुचि. ३१.१२-१३)

तैलाक्ता-स्त्री., तैलाभ्यक्ता (सुचि. २५.२०)

तैलागरु-न., वनस्पति० अगरुभेदः दाहागरु (रा. १२.४३) द्र० 'अगरु'

तैलावचारण-न., तैलप्रक्षेपः, तैलप्रयोगः पिचुसेकाऽनुवासनादितैलोपयोगः (सुउ. ४०.११२)

तैलोचित-वि., यस्य तैलमुचितम्, तैलाभ्यस्तः (चसू. १३.४६)

तैल्वक-वि., तिल्वकस्येदं तैल्वकम् (सुउ. ४४.१५)

-घृत-न., विरेचनघृत० पाण्डुरोगे रेचनार्थमुपयुक्तम् (सुउ. ४४.१५)

तिल्वकः पट्टिकारोध्रस्तेन सुसंस्कृतं तैल्वकं घृतम् कफपित्तविदग्धयोर्दृष्ट्योर्हितम् (सुउ. १७.४-६)

-भस्मन्-न., योग० तिल्वककाष्ठानि दग्ध्वा कृतं भस्म। एतद् क्षौद्रघृतयुक्तं हिक्काशमनार्थं लिह्यात् (सुउ. ५०.२०)

-सर्पिस्-न., घृत० तिल्वकसिद्धं घृतमम्लाध्युषिते नेत्ररोगे पेयम्। शुक्तिकारोगेऽपि घृतमिदं कार्यकारि (सुउ. १०.१४)

तोटक-पु., कीट० शकृन्मूत्रविषः चिपिटपिच्चिटकप्रभृतीनामन्यतमोऽयम् (सुक. ३.५)

तोत्र-न., सूचिप्रकारः (सुउ. ४६.२२)

तोद-पु., लक्षण० तुद्यत इव वेदना (सुचि. १.७) (सुउ. ६१.१६)

तुद्यते इति तोदः व्यथा इति यावत् तुदनम् (र. २४.७४)

विच्छिन्नं शूलम् (सुसू. १३.२१)

-पर्णी-स्त्री., धान्य० तोयपर्णी (सुसू. ४६.२१)

तोदन-न., फलशाक० तत्फलं-कषायं मधुरं रूक्षं कफवातजिच्च (सुसू. ४६.१६७)

लक्षण० सूचिभिस्तुद्यमानत्ववद् वेदना (सुसू. २२.११)

तोय-न., जलम् (सुसू. ४५.२०)

क्वाथः (सुचि. १८.६)

स्वरसः (र. २.८६)

वनस्पति० वालकम्, मद्यपानजदाहे वालकजलपरिषेको हितः (सुउ. ४७.५८) (ध. १.४७)

-द-पु., वनस्पति० मुस्तकम् (र. २५.१००) मेघः (सुचि. ३०.८)

-धातु-पु., अब्धातुः (र. १६.४)

-नाडी-स्त्री., तोयस्याऽऽगमनार्थं नाडी प्रणाली इव, पक्वव्रणे पूयस्यागमनार्थं मार्गः (सुसू. २२.८)

-पर्णी-स्त्री., धान्य० तोयपर्णी (सुसू. ४६.२१) शूकधान्यं, श्यामाकसदृशी गुणैः कषायमधुरा शीता लघुः वातला कफपित्तघ्नी सङ्ग्राहिणी शोषणी च (चसू. २७.१७)

-पिप्पली-स्त्री., वनस्पति० जलपिप्पली (ध. ४.६४) महाराष्ट्री (रा. परि. ४.१२)

-फला-स्त्री., वनस्पति० उर्वारुकम् (ध. १.१७६)

-मृत्तिका-स्त्री., जलमृत्तिका (र. ९.६०)

-वल्लिका-स्त्री., वनस्पति० अमृतस्रवा (रा. परि. ३.४५)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० काण्डीरः (ध. ४.६२)

-श्यामाक-पु., त्रिविधश्यामाकमध्ये एकः, 'श्यामाकशब्देन 'तोयश्यामाक' उच्यते (ड.) (सुसू. ४६.२१)

तोयाधा-पु., अधस्तनघटस्थापितस्योष्णतयोर्ध्वघटमानीतस्य पारदस्य आसनार्थं शीतोपायत्वेनाख्यातः पातनायन्त्रोपरितनभाण्डं परितो गलादधश्चतुरङ्गुलोत्सेधमानो जलाधारः (र. ९.६)

तोरण-न., आर्द्रवंशादिरचितं प्रतोल्याकारम् (सुसू. २९.३२)

तोल-पु., मान० कर्षः (र. ११.४-६)

तौलिक-न., रत्न० मौक्तिकम् (ध. ६.६२)

तौवरक-न., तुवरकस्येदमिति तौवरकम्, तौवरफल० तद्गुणाः-कषायं कटुविपाक्युष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनं कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं च (सुसू. ४६.१९६)

-तैल-न., स्नेह० तुवरवृक्षफलोद्भवं तैलम्। कुष्ठव्याधिषूपयुज्यते (असंउ. ४९)

-स्नेह-पु., तुवरवृक्षफलोद्भवं तैलम् (सुसू. ४६.४२३)

तौवरकल्क-पु., योग० कषायरसद्रव्याणां कल्कः; यथा-कासीससौराष्ट्रीत्रिफलामोचरसादितुवरद्रव्याणि तेषां कल्कः (चचि. ३०.१२४-२५)

तौषार-पु., वि. आन्तरीक्षजलप्रकारेष्वेकम्, अवश्यायजं निशाजलम् (सुसू. ४५.७)

त्याग–पु., कीर्तिधर्मार्थं बहुप्रकारको वित्तविसर्गः (सुसू. ३४.१०–११)

त्रपु–न., खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३, सुसू. ४६.३२९) जिह्वानिर्लेखन–यन्त्रोत्पादनार्थम् उपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ५.७४)

मन्थादिनेत्ररोगेषु लेखनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.१४) (सुसू. ४६.३२९)

त्रपुक–न., खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३)

त्रपुष–न., वनस्पति० त्रपुसम् (चसू. १.८१–८४)

त्रपुषीमूल–न., वनस्पति० कर्कटीमूलम्। अस्य कल्कस्तण्डुलाम्बुना सह रक्तपित्तशमनः (सुउ. ४५.२४)

त्रपुस–न., फलशाक० (चसू. २७.११०) कर्कटीभेदः (ध. १.१७५) गुणाः–मधुरं, शीतं, गुरु, मूत्रबस्तिविशोधनं, रुच्यं, पित्तं, छर्दिभ्रमविदाहहृद्रोगहरम् (ध. १.१७५) तिक्तरसयुक्तम् (सुसू. ४६.२१६) वमने आस्थापने चोपयुज्यते (चसू. १.८१–८४)

हिं.—खीरा.

म.—तौशी कांकडी.

गु.—तांस्ली.

बं.—शसा.

वनस्पति० वालुकम् (हे. अहसू. ६.८७)

खनिज० वङ्गम् (रा. १३.१४)

(त्रपुसा)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ध. १.२५०)

(त्रपुसी)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ध. १.२५०) कर्कटी (रा. ७.२५२)

–**कर्कटी**–स्त्री., वनस्पति० त्रपुसम् (रा. ७.२४६)

–**तैल**–न., स्नेह० कर्कटीफलतैलम् (सुसू. ४५.१२०) गुणाः–शीतलं, वातपित्तहरं, केश्यं, श्लेष्मलं, गुरु च (असंसू. ६)

त्रप्वादिगण–पु., द्रव्यगण० त्रपुसीसताम्ररजतकृष्णलोहसुवर्णानि लोहमलश्चेति, अयं गरक्रिमिहरः पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरः (सुसू. ३८.६२–६३)

त्रयोदशाङ्गतैल–न., तैल० व्रणरोपणमिदम्, चन्दनकर्कटशृङ्गीमाषपर्णीमुद्गपर्णीहरेणुगुडूचीमृणालनीलोत्पलमांसीपद्मकत्रिफलाभिः घृतवसामज्जभिर्वृतं त्रिवृतं तैलं सेकार्थं व्रणरोपणार्थमुपयुक्तम् (सुचि. २.३९–४१)

त्राणा–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा. ५.३७९)

त्रायन्ति–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा, पटोलमूलादिक्काथे श्वयथुहरेऽस्य निर्देशः कृतः (चचि. १२.५३) (चक. ७.५९)

त्रायन्तिका–स्त्री., वनस्पति० मदयन्तिका, मेहे प्रियङ्ग्वादिगणोक्तं द्रव्यम् (सुचि. ११.१०)

त्रायन्ती–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (असंचि. १.६२–६४; ध. १.२५४)

त्रायमाणका–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (ध. १.२५४)

त्रायमाणा–स्त्री., वनस्पति० (चचि. १३.७०)

गुणाः–कटुः कषाया तिक्ता उष्णा कफपित्तघ्नी रक्तविकारगुल्मज्वरभ्रमतृष्णासूतिकाशूलश्रमक्षयच्छर्दिविषग्लानिहरा च (ध. १.२५४)

हिं.—त्रायमाण.

म.—त्रायमाण.

गु.—त्राहिमान.

बं.—वनभादुलिया.

त्रास–पु., रत्नदोष० वक्रता (र. ४.३६)

त्रासन–पु., वनस्पति० कलायः (ध. ६.१०३)

न., उपक्रम० अकस्माद्भयोत्पादनम् (अहसू. १३.२ चचि. ९.७९–८४)

त्रि–वि., संख्या० (ध. ७.६)

–**कटुक**–न., योग० पिप्पली मरिचं शुण्ठीति द्रव्यत्रयम् (ध. ७.६)

'पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रयमेतद्विमिश्रितम्
त्रिकटु (ध. ७.६)

–**कटुकादिकवल**–पु., उपक्रम० शुण्ठीमरिचपिप्पलीप्रभृतीनां कल्केन तैलादिभिः कवलः (सुचि. ४०.६१)

–**कण्ट**–पु., सविषकीट० कणभः (सुक. ८.२६)

–**कण्टक**–पु., वनस्पति० गोक्षुरकः (चचि. २८.१७३)

लघुपञ्चमूलेष्वेकम् (सुसू. ३८.६६–६७; र.१३.८७–८८)

सविषकीट० कणभः, त्रिकण्टकैर्दष्टस्य दंशः श्वयथुमान् नानावर्णोऽथवा सितश्च भवेत्। तत्र मोहो वर्चसो भेदश्च स्यात् (असंउ. ४३)

–**कूटलवण**–न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६.४९)

–**कूर्चक**–न., शस्त्रविशेषः त्रयः कूर्चाः यस्य तत् (सुसू. ८.४)

–कोणक–पु., वनस्पति० गुण्डः (रापरि. ८.६०)
–कोश–वि., त्रयः कोशाः पर्वाणि यस्य तत् त्रिकोशम् अ. त्रिकाण्डम् (हेअहसू. २१.७)
–कोषाफलित–वि., त्रिभिः पर्वभिर्भिन्नैः समन्वितम् (चसू. ५.५०)
–क्षार–न., योग० यवसर्जिकाटङ्कणात्मकं क्षारत्रयम् (र.५.२१९)
–गन्धक–न., योग० पत्रत्वगेलानां सुगन्धिभेषज-द्रव्याणां समूहः (चचि. १६.८९)
हरितालमनःशिलागन्धकानां योगः (र. २१.२९–३०)
–गुणा–स्त्री., सत्वरजस्तम इति त्रयो गुणाः, तैरन्विता त्रिगुणा (प्रकृतिः) (सुशा. १.९)
–जात–न., योग० त्वग् एलापत्रकं चेति (र. २०.७२)
–जातक–न., त्रिसुगन्धम् त्रिजातम् (त्वक्पत्रैलम्) (अहसू. ६.१६०)
–त्रिक–न., द्रव्यगण० त्रिफला, त्रिकटु त्रिजातकमिति (र. १३.६३)
–दण्ड–पु., परस्परसंयोगविधृतकुम्भादिधारकः (चसू. चक्र. १.४६)
–दश–पु., देवः (र. १.६७)
–दशमञ्जरी–स्त्री., वनस्पति० तुलसी (रा. १०.७८)
–दशाह्व–पु., देवदारुः (चक्र. चचि. २८.१६२)
–दिवोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः भद्रैला (रा. ६.७०) द्र० 'एला'
–दोष–पु., वायुपित्तकफाः (र. २.१४९)
–धारक–पु., वनस्पति० गुण्डः (रा. परि. ८.६०)
–नेत्र–पु., पारदयोग० पारदशुल्बहरिणशृङ्गादि-साधितोऽयं पक्तिशूलनाशनः (र. १८.११२)
रसताम्रगन्धकादिसाधितोऽयं पक्तिशूलनाशनः (र. १८.१४३–१४६)
(–नेत्रा)–स्त्री., वनस्पति० वाराही (र. ७.१३४)
–पटु–न., लवणत्रयं सैन्धवसौवर्चलबिडानीति (र. २३.४७–४८)
–पत्र–पु., वनस्पति० बिल्वः (र. ११.१३४)
–पदा–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६५)
–पर्ण–पु., वनस्पति० पलाशः (ध. ५.१६१)
(–पर्णी)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (ध. १.८७)
हंसपादिका (असंसू. ७.१३९–४३) (चसू. २७.१०२)
मूर्वा (ध. १.१३)

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२६)
दुग्धिका (सुसू. ४६.२७४)
तिलकन्दः (रा. परि. ७.५३)
–पादिका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६५) (अहसू. १५.९)
–पादी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (ध. ४.१११) (अहसू. १५.९) (असंसू. १६)
–पुट–पु., वनस्पति० कराटः (ध. ६.१०९)
वि., त्रिकोणम् (अहसू. २८.१८)
–(पुटा)–स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६)
कर्णस्फोटा (रा. परि. ३.४१)
त्रिवृद्भेदः, रक्ता त्रिवृत् (ध. १.२४५)
द्र० 'त्रिवृत्'
एलाभेदः भद्रैला (ध. २.४६) द्र० 'एला'
–(पुटी)–स्त्री., आकार० त्रिकोणाकारा (चचि. २६.३७)
–पुटक–वि., व्रणाकृति० त्रिकोणाकारः (सुसू. २२.५)
–पुटोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः भद्रैला, (ध. २.४६) द्र० 'एला'
पु., विदलधान्य० स्वल्पः त्रिपुटः, अल्पः करालः (सुसू. ४६.२७)
–पुरा–स्त्री., त्रिपुराख्या देवी (ह. र. २०.५६)
–पुरान्तक–पु., पारदयोग० पारदजीवकचित्रकादि-साधितोऽयं वातजपित्तजकफजकुष्ठानां नाशकः (र. २०.५४–५६)
–पुरुषानूक–वि., त्रिपुरुषनामानुरूपम्, त्रिपुरुषा-धिष्ठितम् (चशा. ८.५०)
–प्रकृति–वि., दोषप्रकृतिः ऋतुप्रकृतिः रोगप्रकृति-श्चेति त्रिप्रकृतिर्व्याधिः (का. खिल. २.४९)
–प्रकोपण–वि., असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगपरिणाम-प्रज्ञापराधकारणकः (चचि. १७.४)
–फला–स्त्री., योग० हरीतकी, आमलकं, बिभीतक-मिति त्रयाणां फलानां समाहारः, विरेचनार्थमुप-युज्यते (चसू. २.९–१०;ध. ७.१) बिभीतका-भयाधात्रीफलैः स्यात् त्रिफला समैः । त्रिफलागुणाः– कफपित्तघ्नी, मेहकुष्ठविनाशनी, चक्षुष्या दीपनी विषमज्वरनाशनी च (सुसू. ३८.५३–५७)
योग० द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाणि (चचि. २६.८७)
त्रिफलाचूर्णं रोपणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.२७) (असंसू. १६)

–**फलागुग्गुलु**–पु., योग० त्रिफलायुतो गुग्गुलुः व्रण्यानां श्रेष्ठः (असंसू. १३)

–**फलाघृत**–न., सिद्धघृत० त्रिफलाक्काथकल्कपक्कमिदं घृतं तिमिररोगेषु सर्वशो हितम् (सुउ. १७.२१)

–**फलारसायन**–न., रसायन० जरणान्ते मधुसर्पिर्भ्यामेकामभयां प्रागभुक्तान्मधुसर्पिर्भ्यां द्वे बिभीतके, भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि खादेत् । त्रिफलाया रसायनमेकवर्षपर्यन्तं प्रयोजयेत् । अनेन नरो वर्षशतं जीवति । अजरो व्याधिरहितश्च भवति (चचि. १(३).४१–४२)

–**फलासव**–पु., आसुत० कुष्ठरोगविनिहन्ता योगः (चचि. ७.८१) (सुसू. ४६.४३३)

–**फली**–स्त्री., योग० त्रिफला (रा. २२.१)

–**बीज**–पु., वनस्पति० श्यामाकः (रा. १६.१४०)

–**भण्डि**–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् (ड. सुउ. ५६.२७) शुक्ला त्रिवृत् (सुसू. ४४.१५)

–**भण्डी**–स्त्री., वनस्पति० रक्ता त्रिवृत् (ध. १.२४९) द्र० 'त्रिवृत्'

त्रिवृद्भेदः (चक. ७.४)

मण्डला–स्त्री., लूता० दंशलक्षणम्–त्रिमण्डलाया दंशेऽसृक् कृष्णं स्रवति दीर्यते च, बाधिर्यं कलुषा दृष्टिर्नेत्रयोर्दाहश्च भवति (सुक. ८.१०१)

–**मधु**–न., घृतं गुडो मधु चेति मधुरत्रयम् (र. ६.३७)

–**मधुर**–न., शर्करामधुघृतम् (र. ३०.८१)

–**मर्मीय**–वि., अध्याय० (चसू. २८.२९)

–**मर्मीयचिकित्सित**–न., अध्याय० (चचि. २६.१)

–**मलापह**–वि., त्रिदोषघ्नः (चसू. २७.११)

–**योनिरस**–पु., पारदयोग० ताम्रपारदादिसाधितोऽयं पाण्डुशोफविनाशनः (र. १९.१०३–१०६)

–**रात्र**–पु., रोग० तृतीयकाख्यो ज्वरः, यस्मिन्नेकं मध्यं दिनं मुक्त्वाऽर्धात्तृतीये दिने ज्वर आगच्छति (र. १२.५९)

–**लवण**–न., सैन्धवसौवर्चलबिडानि, इदं वातशूलघ्नम् (सुउ. ४२.६९)

लवणसमूहः (ध. ७.६८)

–**लवणादिचूर्ण**–न., योग० उदरव्याधावुपयुज्यते (असंचि. १७.९६)

–**लिङ्ग**–वि., वातपित्तश्लेष्मणां त्रयाणां लिङ्गानि यस्मिंस्तद् (सुनि. ७.१२)

–**लोह**–न., सुवर्णरौप्यताम्राणि (र. २३.२५–२६)

–**वर्ग**–पु., त्रिफला (सुउ. ४१.४५) धर्मार्थकामाः (चसू. ३०.२४; अहसू. २.३०)

–**वर्गत्रितय**–न., त्रिफला त्रिकटु त्रिजातकं च (असंसू. ३.१६)

–**वर्णक**–न., त्रिजातम् (सुसू. ४४.७)

–**वर्ष**–वि., संवत्सरत्रयातीतम् (सुनि. १.७३)

–**विक्रम**–पु., पारदयोग० ताम्रपारदगंधकादिसाधितोऽयम्, अश्मरीनिर्हरणः (र. १७.९–११)

–**विधकुक्षीय**– वि., त्रिविधकुक्षिशब्दप्रारब्धः (अध्यायविशेषः) (चवि. २.१)

–**विधरोगविशेषविज्ञानीय**– वि., त्रिविधरोगविशेषविज्ञानमधिकृत्य कृतः (अध्याय०) (चवि. ४.१)

–**विधशिष्य**–पु., तीव्रमध्यमन्दबुद्धिरिति त्रिविधः शिष्यः, तेषां सर्वेषां विशेषतो मन्दबुद्धीनामर्थसौकर्याय शास्त्रविस्तरः (चचि. ३०.२३१)

–**विधशिष्यबुद्धि**–स्त्री., उत्कृष्टमध्याल्पबुद्धयस्त्रिविधाः शिष्याः, तेषां मतिः (चवि. ८.३)

–**वृत्**–स्त्री., वनस्पति० (चसू. ४.१३) श्यामश्वेतभेदेन द्विधा; तद्गुणाः–कटुरुष्णा, विरेचनी, कफघ्नी, कृम्युदरज्वरशोफपाण्डुप्लीहाकण्डूकुष्ठव्रणान्हन्ति (ध. १.२४४) (रा. ६.३६८) श्यामा त्रिवृद्विरेचने श्रेष्ठा (ध. १.२४४) विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) (चक. ७.३.) कषाया मधुरा विपाके कटुका रूक्षा कफपित्तप्रशमनी, रौक्ष्याच्चानिलकोपनी, तस्या मूलं तु त्रिविधं श्यामं चारुणमेव च, तयोर्मुख्यतरमरुणप्रभम्, सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितकरम् (चक. ७,३–७) श्यामा त्रिवृदतीवतीक्ष्णा, आशुकारित्वान्मोहयेद्धातुक्षयं कुर्यात् मूर्च्छयेत् तैक्ष्ण्यात् हृत्कंठं कर्षति, आशु दोषहरम् । अपि च ये नराः क्रूरकोष्ठा बहुदोषाश्च तेषां कृते शस्यते (चक. ७. ८–९) श्यामादिगणे (सुसू. ३८.२९) (सुसू. ३९.४) अरुणात्रिवृद्गुणाः–कषाया मधुरा कटुविपाकोष्णा रूक्षा बहुरेचनी कफपित्तहरा वातप्रकोपणी (ध. १.२४६–४७) रक्तत्रिवृद्गुणाः–तिक्ता कटुरुष्णा रेचनी ग्रहणीमलविष्टम्भहारिणी हितकारिणी च (रा. ६.३७०)

हिं.—पिठोरी, निशोथ.

म.—निशोत्तर.

गु.—तेड.

बं.—दूधकलयी.

त.—शिवदाई.

–वृच्छाक–न., शूले शूलशमनार्थं त्रिवृच्छाकेन स्निग्धमुष्णं भोजनं प्रशस्तम् (सुउ. ४२.९०)
–वृत–न., त्रिःपरिवृता गर्भकुटी (सुचि. २९.१०)
(–वृता)–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृच्छ्यामा (चक.७.४)
–वृतायोगकिण्वा–त्रिवृद्योगयुक्तं किण्वं यस्यां सा (चक. ७.७१)
–वृत्ता–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)
–वृत्स्नेह–पु., त्रिभिस्तैलसर्पिर्वसाभिर्वृतो व्याप्तः स्नेहसंयोगस्त्रिवृत्संज्ञः (सुचि. १८.४)
–वृदष्टकसंज्ञ–पु., विरेचनयोग० व्योषत्रिजातमुस्ता-विडङ्गादिसिद्धः (सुसू. ४४.५४–५९)
–वृद्विरेक–पुः, त्रिवृता सिद्धघृतेन विरेकः, अयं कफजे तिमिरे उपयुज्यते (सुउ. १७.३०)
–वृन्मूल–न., विरेचनद्रव्याणां मूलेषु त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठम्, तदरुणाभं ग्राह्यम् (सुसू. ४४.३)
–वेला–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् श्यामा (रा. ६.३६७)
–शाकपत्र–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५)
–शिख–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५)
–शिखदला–स्त्री., वनस्पति० मालाकन्दः (रा. परि. ७.४४)
–शिरस्–वि., त्रीणि शिरांसि यस्य, स क्रोधाग्निः ज्वररूपः (चचि. ३.२३)
वनस्पति० स्त्री., पाठा (रा. ६.९९)
–शूलिन्–पु., अग्निः (र. ५.१२९)
–शूली–स्त्री., वनस्पति० शिवलिङ्गी (र. २९.३६)
–शोथीय–वि., त्रिशोथमधिकृत्य कृतोऽध्यायविशेषः (चसू. १८.१)
–संकर–वि., ऋतुप्रकृत्यादित्रयाणां संकरो मिश्रणं यस्मिन् स (ज्वरः) यथाऽऽतुरस्य वातप्रकृतिः ऋतुर्वातप्रकृतिः (वर्षा) वातज्वरश्चेति त्रिसंकराः एवमेव पित्तस्य कफस्य च (काखिल. २.४७)
–संधि–स्त्री., वनस्पति० वल्लीरूपा सा त्रिविधा–सिताऽसिता रक्ता, गुणाः–रुच्या कफकासहरा, त्वग्दोषशमनी च (रा. परि. १०.३७)
–संध्यकुसुमा–स्त्री., वनस्पति० त्रिसंधिः (रा. परि. १०.३७) द्र० 'त्रिसंधि'
–सम–वि., समभागा हरीतकी शुण्ठी गुडूची च (रा. २२. काखिल. १७.३२)
–सुगन्धि–स्त्री., सुगन्धिद्रव्यत्रयं त्वक्तमालैलाः (सुउ. ५२.४०)
–सूत्र–वि., त्रीणि सूत्राणि यस्मिन् सः, यथा–हेतु-लिङ्गौषधानि सूत्र्यन्ते यस्मिन् येन वा स आयुर्वेदः (चसू. १.२४)
–स्कन्ध–वि., त्रयः स्कन्धा यस्मिन् सः यथा हेतु-लिङ्गौषधानि स्कन्धा विभागा यस्य स आयुर्वेदः (चसू. १.२५)
–स्थूण–न., तिस्रः स्थूणा यस्य तच्छरीरम्; आगारस्याऽऽधारका यथा स्तम्भास्तथा शरीरस्यापि वातपित्तकफास्त्रय आधारका, अतः शरीरं त्रिस्थूणमित्युच्यते (सुसू. २१.३)
त्रिक–न., शरीर० गुदास्थ्नः प्रभृति कटिकपालोर्ध्वपर्यन्तो भागः (चवि. ८.११७; असंशा. ८.३०) पृष्ठवंशस्याऽधोभागः, शिरोबाहुद्वयसन्धानस्थानम् (ड सुसू. २१.१४) पृष्ठवंशाधारः (हे. अहसू. १२.१५) ग्रीवायाः अंसद्वयस्य च यः संयोगः, स त्रिकः (ड. सुशा. ६.२६) बाहुग्रीवास्थित्रय-संघातः त्रिकम् (ड. सुसू. २२.१०)
–ग्रह–पु., लक्षण० त्रिकस्य ग्रहः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
–ग्राहिन्–वि., लक्षण० त्रिकं स्तम्भयति इति (चचि. ३०.७१)
–वेदना–स्त्री., लक्षण० त्रिकभागे वेदना (चचि. २८.२८–२९; सुनि. १.२४)
–संधि–पु., बाहुग्रीवास्थित्रयसंघातः (ड. सुसू. २२.१०)
त्रिकास्थि–न., अस्थि० (सुशा. ५.१९) द्र० 'अस्थि'
त्रुटि–स्त्री., परिमाण० अणुषट्कमानम् (र. ११.१)
वनस्पति० सूक्ष्मैला (र. १.२८; ध. २.४४)
द्र० 'एला'
त्रेतायुग–न., युग० चतुर्णां युगानामेकम्, अयं पौराणिकः कालविभागः (चवि. ३.२४)
त्रैफलघृत–न., त्रिफलादिभिः सिद्धं घृतम्, शोणित-पित्तरोगयोर्विशेषहितम्, सर्वतिमिरेषु शोधनार्थ-मुपयुक्तम् (सुउ. १७.२९)
त्रैफलसर्पिस्–न., त्रिफलासिद्धं घृतम्, अम्लाध्युषिते पेयम्, शुक्तावप्येतदुपयुक्तम् (सुउ. १०.१४)
त्रैलोक्य–न., त्रयाणां लोकानां समूहः (र. १२.२०)
–डम्बर–पु., पारदयोग० सूतार्कगंधचपलाजयपाला-दिसाधितोऽयं ज्वरघ्नः (र. १२.२०)
–तिलक–पु., पारदयोग० कृष्णाभ्रककाचटंकणपारद-गुग्गुलुत्रिफलादिसाधितोऽयं उदावर्तविड्बंधसूति-कारोगादिहरः (र. १५.८१)

-विजय–न., तैल० पारदगंधकायस्ताम्रगुग्गुल्वादि-साधितं तैलं पानादिषु प्रयोजितं सर्वकुष्ठान्नाशयति (र. २०.१६८)

-(विजया)–स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (र. २७.१०६–१०९)

-सुन्दर–पु., पारदयोग० पारदगंधकाभ्रकादिसाधितोऽयं वातोदरनाशनः (र. १९.१८–२०)

त्रैवृत–वि., कल्प० यथा त्रिवृता सिद्धं घृतं तैलं वा (सुउ. ५९.१८)

त्रैष्टुभ–पु., वनस्पति० सोमभेदः (सुचि. २९.७)

त्रोटक–पु., कीट० गुणाः–सौम्यः, श्लेष्मप्रकोपणः, अयं कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२–१५)

त्र्यक्ष–पु., देवता० शंकरः ईशानः त्रीणि अक्षीणि नेत्राणि यस्य स त्र्यम्बकः (र. ७.१-२)

त्र्यक्षदिश–स्त्री., शिवस्य दिशा शिवाधिष्ठिता ऐशानी दिक् (र. ७.१–२)

त्र्यम्बक–न., खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९)
पु., देवता० शंकरः (चचि. २३.८१)

त्र्यम्बकफल–पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा. ११.१०५)

त्र्यष्टक–न., जलपात्रस्थापनार्थमाधार० अष्टास्रदण्डत्रयसंयोगरूप आधारविशेषः; इदं भूम्यादिस्पर्शजदोषापनुत्तये समुपयुज्यते (सुसू. ४५.१८)

त्र्यस्र–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रा. १२.११०)
वि., त्रिकोणाकारो (व्रणः) (सुचि. २.५)

(त्र्यस्रा)–स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६)
रक्तात्रिवृत (ध. १.२४५) द्र० 'त्रिवृत्'

त्र्यस्रफला–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५) (रा. ११.१९६)

त्र्याहल–पु., त्रिभिश्चरणयुगलचञ्चुभिराहलन्ति विलिखन्तीति विष्किराः (सुसू. ४६.५९)

त्र्याहिक–पु., रोग० 'दिनं हित्वा प्रत्येति स तृतीयकः' (चवि. ३.६७) तृतीयेऽह्नि भवो ज्वरः तृतीयकः (र. १२.६३)

त्र्यूष–न., त्रिकटु (ह. र. २९.६३)

त्र्यूषण–न., शुण्ठी पिप्पली मरीचमिति त्रयम्, त्रिकटुकमिति (चचि. १२.२४; ध. ७.६)

त्र्यूषणघृत–न., घृत० त्र्यूषणत्रिफला द्राक्षाकाश्मर्यादिसाधितमिदं कामलाकासज्वरादिरोगेषूपयुक्तम् (चचि. १८.३९–४२)

त्वच्–स्त्री., शारीर० मांसजन्य उपधातुः (चचि. १५.१७) मांसवहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८) त्वगुत्पत्तिः–गर्भे शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्य संतानिका इव सप्त त्वचो भवन्ति (सुशा. ४.४) असृजः पच्यमानस्य षट् त्वचो भवन्ति (असंशा. ५.२४) स्पर्शनेन्द्रियस्याधिष्ठानम् (चसू. ८.१०) त्वक्। संख्याशरीरे षट् त्वचः इति चरकः। सुश्रुते तु सप्त त्वचः, शरीरे षट् त्वचः, तद्यथा–उदकधरा त्वग्बाह्या, द्वितीया त्वसृग्धरा, तृतीया सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना, चतुर्थी दद्रुकुष्ठसंभवाधिष्ठाना, पञ्चमी त्वलजीविद्रधिसंभवाधिष्ठाना, षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते पर्वसु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानि च इति षट् त्वचः। एताः षडङ्गशरीरमवतत्य तिष्ठन्ति (चशा. ७.४) त्वचां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्वान् वर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना च; द्वितीया लोहिता नाम, षोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, द्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमषकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नामाष्टभागप्रमाणा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पञ्चमी वेदिनी नाम पञ्चभागप्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना; सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना (सुशा. ४.४)
इंद्रिय० सर्वशरीरवर्ति स्पर्शनेन्द्रियं त्वगिन्द्रियमित्यभिधीयते (सुशा. १.४)
वनस्पत्यङ्गत्वग् (चसू. १.७३) गन्धद्रव्येष्वेकम् (सुसू. ३८.२४) (चसू. ५.२१) गुणाः–इदं त्वगाख्यं गन्धद्रव्यं कटु उष्णं (शीतं, (रा.) तीक्ष्णं, लघु, बस्तिशोधनं कण्ठशुद्धिकरं कफवातघ्नं विषकण्ठरुजावक्त्ररुजाशिरोरुजाकासघ्नं च (ध. २.५०)

हिं.—दालचीनी.
म.—दालचिनी.
गु.—दालचीनी.
बं.—दालचिनी.
ता.—इलवङ्कप्पट्टै.
अश्मन्तकः (ध. १.१९४)

-क्षीरी-स्त्री., वनस्पति० तुगाक्षीरी (चचि. २९.६४)
भैषज्य० वंशलोचना (सुसू. ४४.१६)
(ध. २.५५)
-गन्ध-पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)
-दाह-पु., लक्षण० त्वचो दाहः (चसू. २०.१४)
-दोष-पु., त्वग्रोगः (चसू. ३.२९)
कुष्ठम् (ड. सुसू. २४.९)
न., वनस्पति० कुष्ठम् (रा. १२.९७)
-दोषारि-पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः
(रा. परि. ७.३६)
-पत्र-न., वनस्पति० त्वक्पत्रिका (सुउ. ४७.३२)
-परिपुटन-न., लक्षण० त्वच उच्चटनम्
(सुसू. १७.५)
-पाक-पु., लक्षण० त्वचः पाकः (सुनि. १४.१३)
गुह्यरोग० पित्तासृग्भ्यां ज्वरदाहवान् त्वक्पाकः भवति द्र० 'शूकदोषः' (असंउ. ३८)
-भेद-पु., लक्षण० त्वचो भेदः (चशा. ८.३२)
-वात-पु., रोग० देहस्फोटनं पादतलविदारणं हस्तपादतलानां च विदाह इत्येतान्यत्र वर्तन्ते लक्षणानि (र. २१.१७१)
-विष-न., स्थावरविष० (सुक. २.५) द्र० 'विष'
-सवर्ण-वि., त्वचा सवर्णम् (ड.) रूढव्रणलक्षणेष्वेकम् (सुसू. २३.२०)
-सार-पु., वनस्पति० वंशभेदः, रन्ध्रवंशः
(रा. ७.२१६)
वंशः (ध. ४.१३७) (सुसू. ८.१५)
विशुद्धत्वग्युक्तः पुरुषः, तल्लक्षणम्-स्निग्धश्लक्ष्ण-मृदुप्रसन्न-सूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेव त्वक् चास्य भवति (चवि. ८.१०३) रससारः सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमा त्वक्सारः (सुसू. ३५.१६)
वनस्पति० शणः (रा. परि. ४.१०)
-सारभेदिनी-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रचञ्चुः
(रा. परि. ४.२२)
-(सारा)-स्त्री., भैषज्य० वंशरोचना (रा. ६.८६)
-सुगन्ध-पु., वनस्पति० नारङ्गः (ध. ५.२०)
-(सुगन्धा)-स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः भद्रैला (ध. २.४६) द्र० 'एला'
-स्फोटन-न., लक्षण० त्वचां स्फुटनम्
(सुउ. ४४.५)
त्वगवदरण-न., लक्षण० बाह्यत्वङ्मात्रावदरणम्
(चसू. २०.१४)
त्वगवदलन-न., लक्षण० त्वचो भागशः पतनम्
(सुचि. २९.१२)
त्वच्-न., वनस्पति० त्वच् (ध. २.५०)
त्वच्य-वि., त्वचे हितः (चसू. ५.८७)
त्वरितक-पु., धान्य० षष्टिकवत्त्वरितं पच्यते इति व्रीहिभेदः (सुसू. ४६.१२)
त्वष्टा-स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (ध. ४.१००)
त्वाष्ट्र-न., खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९)
त्सरु-पु., असिमुष्टिः (अहसू. २६.१७)

द

दंश-पु., कीट० (चइ. २.२१)
दन्तः (कासू. २०.५)
वनमक्षिका (सुसू. १८.२९)
भक्षितस्थानम् (ड.) दष्टस्थानमिति यावत्
(सुक. ३.४२)
दन्तेन कर्तनम् (सुसू. १३.२१)
वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.३९)
यन्त्र० सन्दंशः (र. ३.४५)
-मूल-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०)
दंशावदरण-न., विषगतपित्ताधिक्येन दंशस्थानस्फोटनम् (चचि. २३.१६८)
दंष्ट्रा-दंत० राजदन्तसमीपवर्ती बस्तः, तत्सन्निकृष्टा दंष्ट्रा
(कासू. २०.४)
-पद-न., सर्पादिकृतदंशस्य स्थानम् (चचि. २३.१२७)
-विष-न., दंष्ट्रायाः विषम् (चचि. १३.१३२)
वि., दंष्ट्रागतविषवान् (भौमः सर्पः) मार्जारश्ववानरादयोऽपि दंष्ट्राविषाः (सुक. ३.५)
दंष्ट्रिन्-पु., प्राणि० वराहः (र. १२.७५)
दक-न., उदकम् (असंचि. १.४२)
-लावणिक-वि., यूष० अयं अल्पमांसादिकृतः स्वच्छश्च (असंसू. ७.५१)
दकोदर-न., रोग० जलोदरम् (चसू. १९.४(१)
(सुनि. ७.४) द्र० 'उदर'
दकोदरयन्त्र-न., यंत्र० दकोदरस्रावणार्थं नाडीयन्त्रम्
(सुसू. ७.१३)
दक्ष-पु., नृप० (अहसू. १८.१६)
देवताविशेषः (चचि. ३.१७)
प्राणि० कुक्कुटः (अहसू. ७.१६)
शीघ्रकारी (हे.) कर्मणि चतुरः
(अरु. अहसू. १.२८)

चतुरः (सुक. १.१४)

–पुरीष–न., कुक्कुट–शकृत् (असंउ. ३५)

–यज्ञ–पु., दक्षेन कृतो यज्ञः (चचि. १९.४)

दक्षाण्ड–पु., न., दक्षः गोष्ठकुक्कुटः तस्याण्डम् (चचि. ११.२५)

कुक्कुट्याः अण्डम्, वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५७)

दक्षिण–पु., अभिजातः कुलीनः (ड. सुक. १.१४)

(दक्षिणा)–स्त्री., अनुकूला (इन्दु. असंउ. १)

दक्षिणानिल–पु., वसन्ते दक्षिणदिशो जातत्वान्मलय-पर्वतस्थितचन्दनसुरभिर्दक्षिणो वायुः (सुसू. ६.२८)

दक्षिणायन–न., दक्षिणां दिशं प्रति सूर्यस्य गमनम् (चसू. ६.४)

दक्षिणावर्तकी–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रा. परि. ९.७)

दक्षिणावर्ता–स्त्री., वनस्पति० मेषशृङ्गी (ध. १.८७)

दग्ध–न., वनस्पति० शालिपर्णीभेदः, आलकम् (ध. १.८८)

(दग्धा)–स्त्री., वनस्पति० (रा. परि. ९.२८) गुणाः–कटुकषायोष्णा, पित्तप्रकोपणी दीपनी, कफवात-निकृन्तनी (रा. परि. ९.२८)

–गुद–पु., लक्षण० अयं स्वेदनानर्हः (अहसू. १७.२३)

–रुह–पु., वनस्पति० तिलकः (रा. १०.२६६) (ध. ५.१५८)

–(रुहा)–स्त्री., वनस्पति० दग्धा द्र० दग्धा (रा. परि. ९.२८)

–लक्षण–न., कृष्णता, क्षारादिदग्धस्य लक्षणम् (सुसू. ११.१९)

–स्नेहपाक–पु., स्नेहपाक० खरपाकः, कृष्णोऽवसन्नः, ईषद्विशदं चिक्कणं भेषजं अभ्यवहारार्थं नोपयुज्यते; अयं बस्तिकर्णपूरणयोरुपयुज्यते (सुचि. ३१.११)

–हस्त–वि., अदैष्टिकादिलक्षणयुक्तो रसकर्मणि वर्जनीय-हस्तः (वैद्यः) (र. ७.३०)

दग्धिका–स्त्री., वनस्पति० दग्धा (रा. परि. ९.२८) द्र० दग्धा

दण्ड–पु., लौहादिवलयैर्निबद्धा दीर्घनिष्ठुरकाष्ठयष्टिः (सुसू. २९.७)

न., घटिका (र. ५.२२९)

–कन्दक–पु., वनस्पति० धरणीकन्दः (रापरि. ७.४२)

–धारण–न., दण्डस्य धारणम् (चसू. ५.१०२) तद्गुणाः–स्खलतः संप्रतिष्ठानं, शत्रुनिषूदनमवष्टंभनं, भयघ्नमायुष्यं च (सुचि. २४.७८)

–मुष्टिहत–वि., दण्डेन मुष्ट्या च ताडितम् (चचि. २८.३२)

–वात–पु., रोग० दण्डापतानकः (र. २१.१४८)

–वृक्षक–पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८. ३५६)

दण्डक–पु., रोग० दण्डवद् दृश्यते इति दण्डकः (चवि. ८.४२) तल्लक्षणानि आमबद्धायनः कफान्वितो वायुरङ्गं संस्तभ्य दण्डवत् करोति असावसाध्यः (असंनि. १५.४२)

अवयवस्य काष्ठवत्स्तम्भनम् (चसू. २०.११) (असंसू. ५.३१)

दण्डकालसक–पु., रोग० दण्डकालसकः (अहसू. ८.१३)

दण्डापतानक–पु., वातरोग० (सुनि. १.५३) दण्ड-वत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः, मारुतः पाणिपादसिराः स्नायूः कण्डराश्च संशोष्य पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तब्धाति (चचि. २८. ५१–५२)

दण्डालसक–पु., रोग० अस्मिन् व्याधौ शरीरस्य दण्ड-वत् स्तम्भनम्, तल्लक्षणम्–वातेन शूलभ्रमानाह-कम्पस्तम्भादयः, पित्ताच्च ज्वरातिसारान्तर्दाहतृट्-प्रलयादयः, कफाद् अङ्गगौरववाक्संगष्ठीवनादयश्च भवन्ति; दुश्चिकित्स्योऽसौ (अहसू. ८.८–१२)

दण्डाहत–न., आहारद्रव्य० मथितम् (ध. ६.१८९) (अहसू. १४.२२)

दण्डिन्–पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.११९)

दण्डैरका–स्त्री., वनस्पति० तृण० (चचि. २६.५१) गुन्द्राख्यगुल्मो, नलो वा (चक्र चक. १.२५)

दत्तनावन–वि., दत्तनस्यः, दत्तं नस्यं यस्मै सः (अहसू. १९.४)

दद्रु–पु., कुष्ठरोग० पित्तश्लेष्माधिकं कुष्ठम् (चसू. ३.७) द्र० 'कुष्ठ'

–घ्न–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.९)

–मण्डल–न., चर्मरोग० (सुसू. ११.७) द्र० 'कुष्ठ'

–हस्त–न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०२)

दधि–न., आहारद्रव्य० (चसू. २७.२२५) (ध. ६.१८७) दधिगुणाः–अम्लं रसे पाके च (चसू. २७.२२५) कषायानुरसम् (सुसू. ४५.६५)

उष्णं (ध. ६.१८७) स्निग्धं (भाप्र.) गुरु (अहसू. ५.२९) (भाप्र.) रोचनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनं बृंहणं मङ्गल्यं च (चसू. २७.२२५) पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहम् (सुसू. ४५.६५) ग्राहि मेदःकरं शुक्रलं च (ध. ६.१८७) रक्तपित्तकरं शोफकरं च (ध. ६. १८७) प्राणकरं (सुसू. ४५.६५) वातघ्नं (ध. ६.१८७)

दधिभेदाः—तत् सप्तविधम्—स्वाद्वम्लमत्यम्लं, मन्दजातं, शृतक्षीरभवं, ससारमसारं चेति, मधुरदधिगुणाः—मधुरं महाभिष्यन्दि कफमेदोविवर्धनम् । अम्लं दधि कफपित्तकृत् । अत्यम्लं दधि रक्तदूषणम् (सुसू. ४५.६६)

मन्दजातं दधि नाम न सम्यग्दधिभावमापन्नं दधि । तत्तु विदाहि सृष्टविण्मूत्रं त्रिदोषकृच्च (सुसू. ४५.६७)

शृतक्षीरभवं दधि गुणवद्भुच्यं वातपित्तहरं धात्वग्निबलवर्धनं च । असारं दधि कषायं (रूक्षं) ग्राहि, विष्टम्भि, दीपनीयं, लघुतरं, रुचिप्रदं, वातलं च (सुसू. ४५.६५–८३)

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु दधिनिषेधः, तथा रक्तपित्तकफोत्थविकारेषु च दध्यहितकरम् (चसू. २७.२२७)

जातं दधि नाम मन्दकावस्थामुत्सृज्य घनतया जातं तच्च मधुरमीषदम्लं भवति । तत्तु विशेषेण वातघ्नम् (चसू. २७.२२८) अजातं दधि—वातलं (असंसू. ७.२४२) दधिसरः शुक्रलः । दधिमण्डः श्लेष्मवातघ्नः स्रोतोविशोधनश्च (चसू. २७.२२८) गुर्वेव दधि वह्निं कुरुते (असंसू. १७.४२) स्निग्धमपि दधि श्वयथुकरम् । न तथा तद्विकारयोः स्निग्धयोरपि तक्रनवनीतयोः श्वयथुकारित्वम् (असंसू. ७.२३१)

गुडयुक्तं दधि स्नेहनं हृद्यं वातघ्नं च (सुसू. ४६.३८४)

मन्दकं दधि अभिष्यन्दकराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

दधिसेवननियमाः—रात्रौ दधि न भुञ्जीत । तथोष्णं दधि न सेवेत । अमुद्गसूपमक्षौद्रमघृतसितोपलमनामलकं न सेवेत । नित्यं न सेवेत । मन्दकं न सेवेत, अन्यथा तत् ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमकरं भवति (अहसू. ५.३१–३३)

हिं.—दही.
म.—दही.
गु.—दही.
बं.—दई.
ता.—तयिर.
वनस्पति० कपित्थः (रा. ११.१५५)
धूप० श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३)

–ज–न., आहारद्रव्य० नवनीतम् (रा. १५.२५७)
–पुष्पिका–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिका (ध. ४.८४) (रा. ३.१२३)
–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० स्वादुरसा (कटुः) उष्णा (शिशिरा) गुरुः रक्तनी वातघ्नी (वातामयकरी) (रा) सन्तापपित्तदोषारोचकघ्नी च (ध. १.१५३)
–फल–पु., वनस्पति० कपित्थः (ध. २.१०२)
–भव–न., आहारद्रव्य० नवनीतम् (ध. ६.२२४)
–मण्ड–पु., मस्तु (चनि. २.४) (सुउ. ५२.१८)
–मण्डोद्भव–न., आहारद्रव्य० नवनीतम् (ध. ६.२२९)
–मस्तु–न., दध्युदकम् (चसू. १४.३३) सुजातस्य दध्नो द्रवभागः (सुसू. ४६.४२७)
–मस्तुक–पु., दधिसरः (सुचि. ३१.३८)
–मुख–पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)
–सर–पु., दध्न उपरितनो भागः, नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. २००) (सुउ. ४०.१३७)

दधित्थ–न., वनस्पति० कपित्थः (चसू. २.१९) (सुउ. ४९.२७) (सुउ. ३९.३०३)
पु., वनस्पति० कपित्थः (ध. २.१०२)
दध्यम्ल–न., दध्नाऽम्लीकृतम् (किमपि द्रव्यम्) (चक. १.१२)
आहारद्रव्य० मथितम् (ध. ६.१८९)
दध्युत्तर–न., दधिसरः (चक्र चचि. १७.७४)
दध्युत्तरक–न., दध्नः सरः (सुउ. १२ ४०)
दनु–पु., खनिज० गन्धकः (र. २२.३३)
–ज–पु., खनिज० गन्धकः (ह) (र. २०.७७)
दन्त–पु., शारीर० मुखस्थः कठिनश्चर्वणादिसाधनोऽवयवः (चशा. ४.१४) नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः (चशा. ७.६) (सुसू. २६.२२) (असंशा. ९.१४)
तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः । यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहःसूद्भिद्यन्ते । यावत्स्वेव च मासेषु

जातस्य सत उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते । तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्तसंज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति, अपवित्रो हि सः । तयोरुभयतः पार्श्वयोरपि बस्तौ तयोरपि दंष्ट्रे, शेषाः स्वरूढा हानव्या इति चोच्यन्ते, तथाऽधस्तात् । तत्र कुमारीणामाशुतरमल्पाबाधकरं च दन्तजन्म, सुषिरत्वाद्दंशानां मृदुस्वभावाच्च, प्रकृष्टकालमाबाधबहुलं तु कुमाराणामाचक्षते, घनत्वाद्दंशानां स्थिरस्वभावाच्च । दन्तानां निषेकमूर्तित्वोद्भेदवृद्धिपतनपुनर्भावनिवृत्तिस्थितिपरिक्षयचलनपतनदृढत्वदुर्बलताजातिविशेषान्निषेकात् स्वभावान्मातापित्रोरनुकरणात् स्वकर्मविशेषाच्चेत्याचक्षते महर्षयः । नृणां तु चतुर्थादिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते । तत्र सदन्तजन्म च पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामङ्गल्या भवति । चतुर्विधं तु दन्तजन्माचक्षते सामुद्गं, संवृतं, विवृतं दन्तसंपदिति । तत्र सामुद्गं क्षयि, नित्यसंपातात्, संवृतमधन्यं मलिष्ठं, विवृतं वीतमनित्यलालोपहतमसंछन्नदन्तत्वादाशुदन्तवैवर्ण्यकरमासन्नाबाधमिति । चतुर्थे तु मासि दन्ता निषिक्ता दुर्बला भवन्त्याशुक्षयिणश्चामयबहुलाश्च, पञ्चमे स्यन्दनाश्च प्रहर्षिणश्चामयबहुलाश्च षष्ठे प्रतीपाश्च मलग्राहिणश्च विवर्णाश्च घुणदन्ताश्च भवन्ति, सप्तमे द्विपुटाः स्फोटिनश्च राजिमन्तश्च खण्डाश्च रूक्षाश्च विषमाश्चोन्नताश्च भवन्ति, तथाऽष्टमे मासि सर्वगुणसंपन्ना भवन्ति । पूर्णता समता घनता शुक्लता स्निग्धता श्लक्ष्णता निर्मलता निरामयता किञ्चिदुत्तरोन्नतता, दन्तबन्धनानां च समता रक्तता स्निग्धता बृहद्घनस्थिरमूलता चेति दन्तसंपदुच्यते (कासू. २०.४७)

(दन्ती)–स्त्री., वनस्पति० (ध. १.२२३) गुणाः– कटुका उष्णा तीक्ष्णा दीपनी शोधनी कफवातघ्नी उदरार्शोव्रणाश्मरीशूलामदोषत्वक्दोषहरा च (ध. १.२३)

अस्याः श्यावानि मूलानि कल्पे उपयोक्तव्यानि (चक्र. १२.३)

हिं.—अजयपालवृक्ष.

म.—दाती.

गु.—दाती.

बं.—दन्तीगाछ.

ता.—नाकतेन्ति.

क्षीरविष० (असंउ. ४०) (अहसू. १५.४५) द्र० ' क्षीरविष '

हस्तिदंतः (चसि. ३.७)

–काष्ठ–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा. ९.५५) दन्तशोधनार्थमुपयुक्तं काष्ठम् (सुक. १.२५)

–काष्ठक–न., वनस्पति० आहुल्यम् (रा.परि. ४.३३)

–खादन–न., लक्षण० परस्परं दन्तपीडनम्; दन्तैर्दन्तानां पीडनम्

–खादिन्–वि., लक्षण० यस्तु मारुतप्रकृतिः, स सुप्तः सन् दन्तान् किटिकिटायते (सुशा. ४.६०)

–ग्राहिता–स्त्री., लक्षण० अतिशीततया दन्तान् कार्याक्षमान् करोति (सुसू. ४५.११)

–चलन–न., लक्षण० दन्तमांसे दन्तोलूखले च दन्तस्य इतस्ततश्चलनम्, चलदन्तत्वम् (कासू. २०.५)

–चाल–पु., लक्षण० चलदन्तत्वम्, दन्तशैथिल्यम् (चसि. २.२२) (कासू. २७.१९–२५) (अहसू. २२.५)

–च्छद–पु., ओष्ठः (असंउ. २६.)

–जन्मन्–न., दन्तोत्पत्तिः (कासू. २०.३) चतुर्विधं दन्तजन्म–सामुद्गं, संवृतं, विवृतं, दन्तसंपदिति (कासू. २०.७) द्र० ' दन्त '

–जन्म–संवृतं–वेष्टितदन्तजन्म (कासू. २०.७)

–जन्म–सामुद्गं–संपुटयुक्तदन्तोद्भवः (कासू. २०.७)

–जन्म–विवृतं–ओष्ठेनानाच्छादितं दन्तजन्म

–जन्मिकाध्याय–पु., (परिव०) अध्याय० (कासू. २०.१)

–दुर्बलता–स्त्री., लक्षण० दन्तस्य कार्ये दौर्बल्यम् (कासू. २०.५)

–दृढता–स्त्री., लक्षण० दन्तस्य कार्ये दृढत्वम् (कासू. २०.५)

–दौर्बल्य–न., लक्षण० दन्तानां दुर्बलता (चसू. ५.२८)

–धावन–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४) खदिरः (ध. १.२५)

न., दन्तमार्जनम्, धावनं शुद्धिरिति यावत् दन्तरोगी तद्विवर्जयेत् (सुचि. २२.४२)

–धावनकूर्चक–न., दन्तधावनानां करञ्जकादीनां कुटिलाग्रम् (सुसू. २७.१९)

–नाडी–स्त्री., दन्तरोग० दन्तमूलजो व्याधिः अयं पंचधा–वातपित्तकफसन्निपातागन्तुभेदात् (असंउ. २५) (सुचि. १६.२६)

-निवृत्ति-स्त्री., दन्तपतनादनन्तरं तस्यापुनर्भवः (कासू. २०.५)

-निषेचन-न., (परिव०) दन्तसंभवः (कासू. २०.४)

-निष्पीडित-वि., दन्तैः पीडितम् (सुसू. ४५.१५७)

-पतन-न., दन्तस्य पतनम् (कासू. २०.५)

-परिक्षय-पु., दन्तस्य क्षयः क्षीणत्वम् (कासू. २०.५)

-पवन-न., दन्तधावनकाष्ठम्, पूयते शुध्यते अनेनेति पवनं दन्तधावनकाष्ठे रूढम्(चचि. २३.११६)

-पवननिषेध-परिव० पु., दन्तपवनार्थमयोग्याः (सुचि. २४.४-१२)

गलरोगे, तालुरोगे, ओष्ठरोगे, जिह्वारोगे, आस्यपाके, श्वासे, कासे, हिक्कायां, छर्दिरोगे, दुर्बलत्वे, अजीर्णभक्ते, मूर्च्छायां, मदपीडिते, अर्दिते, शिरोरोगे, तृषायां, श्रमे, पानक्लमे, कर्णशूले, दन्तरोगे च दन्तपवनं निषिद्धमुक्तम् (सुचि. २४.४-१२)

-पातन-वि., चलतां दन्तानां पातकरम् (शरपुङ्खमुखयन्त्रम्) (अहसू. २५.३३)

-पुप्पुट-पु., दन्तरोग० दन्तमूलगतोऽयं व्याधिः, द्वयोस्त्रिषु वा दन्तमूलेषु कफास्राद्वदरास्थिनिभो घनस्तीव्ररुक् च शोफो भवति। स च शीघ्रं पच्यते। स दन्तपुप्पुटो नाम दन्तरोगः (असंउ. २५) तस्य चिकित्सा-अस्मिन् व्याधावुत्पन्ने सति रक्तावसेचनं प्रथमं करणीयम्। अनन्तरं पञ्चलवणैः सह क्षारो मधुना सह प्रतिसारणार्थं योजनीयः। तथा शिरोविरेको मधुकोत्पलपद्मकैः सह त्रिफलासिद्धस्नेहेन नस्यं करणीयम्। स्निग्धं चापि भोक्तव्यम् (सुचि. २२.१२-१३)

-पुप्पुटक-पु., दन्तमूलगतरोग० दन्तमांसस्य शोफप्रधानो रोगः दन्तपुप्पुटः (सुनि. १६.१६)

द्र० 'दंतपुप्पुट'.

-फला-स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (रा. ६.११०)

-बीजक-पु., वनस्पति० दाडिमः (रा. ११.९३)

-बीजा-स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३९)

-भाण्ड-न., दन्तनिर्मितं पात्रम् (रा.१२.४३.४४)

-भेद-पु., दन्तरोग० दन्तस्य भेदः (चसू. २०.११) (असंउ. २५ असंसू. २०)

-मांस-न., दन्ताधारमांसम् (चचि. १२.७८) (अहसू. २.३)

-मूल-न., दन्तोत्पत्तिस्थानम् (सुनि. १६.१८) (असंशा. ८.३२)

-मूलगतरोग-पु., दन्तमूलास्थ्याश्रयिरोगः शीतादो दन्तपुप्पुटकः, दन्तवेष्टकः, शौषिरो, महाशौषिरः, परिदरः, उपकुशो, दन्तवैदर्भो, वर्धनोऽधिमांसो नाड्यः पञ्चेति (सुनि. १६.१३)

-लेखन-न., शस्त्र० (असंसू. ३४.२४)

-लेखनक-न., शस्त्र० (अहसू. २६.१९)

-वल्क-न., दन्तत्वक् (सुनि. १६.३३)

-विद्रधि-पु., दन्तरोग० दन्तमूलगतोऽयं व्याधिः। सरक्तैर्वातादिभिर्दोषैर्दन्तमांसेऽन्तर्बहिश्च गुरुः सरुग्दाहश्वयथुश्च भवति, स च भिन्नः पूयास्रं स्रवेत् स रोगो दन्तविद्रधिः (असंसू. २५) (चचि. १२.७८)

-वृद्धि-स्त्री., परिव० दन्तस्य वर्धनम् (कासू. २०.५)

-वेष्ट-पु., दंतरोग० दुष्टशोणितजोऽयं व्याधिः, अस्मिन् चलाः दंताः पूयरुधिरं स्रवन्ति (मा) (सुसू. २३.८)

-वेष्टक-पु., दन्तानां वेष्टकः (चशा. ७.११)

-वैदर्भ- पु., दन्तरोग० (सुसू. २५.९) लक्षणम्-घृष्टेषु दन्तमूलेषु महान् संरम्भो जायते, दन्ताश्चला भवन्ति च। स अभिघातजो वैदर्भो नाम व्याधिः (सुनि. १६.२३-२४) शस्त्रेण दन्तमूलशोधनम्। क्षारस्योपयोगः कर्तव्यः। सर्वोऽपि चिकित्सा शीतगुणप्रधाना करणीया (सुचि. २२.२२)

-शङ्कु-पु., शस्त्र० कपालिकाशर्करादिदन्तदोषहरणाय शङ्कुः (सुसू. ८.३-४)

-शठ-पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४), वृक्षाम्लः (चचि. ३.२६७) (सुसू. ४६.१९१) (र. १८.२२६)

कपित्थः (रा. ११.१५५)

-(शठा)-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)

-शर्करा-स्त्री., दन्तरोग० लक्षणम्-दन्तेषु शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तशर्कराख्यो रोगः। सेयं दन्तशर्करा दन्तानां शुक्लादिगुणहारिणी (सुनि. १६.३२) शर्करामुद्धरेत्, परं दन्तमांसानि मा हिंस्यात्। अनन्तरं मधुना सह लाक्षाचूर्णेनाऽवशिष्टशर्करां प्रतिसारयेत् (सुचि. २२.३६-३७)

-शुद्धि-स्त्री., दंतधावनम्, तस्य विधिः-दन्तशोधनद्रव्येण मृदुना कूर्चेन दन्तमांसाबाधनेनैकैकं दशनं घर्षयेत् (सुचि. २४.८-९)

-शूल-पु., लक्षण० दन्तस्य शूलः (चसि. २.१६)
-शैथिल्य-न., लक्षण० दन्तस्य शैथिल्यम् (चसू. २०.११) (असंसू. २९.१३)
-शोधन-न., दन्तशुद्धिः (सुचि. २४.८-९)
(-शोधनी)-स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः कृष्णजीरकः (रा. ६.१०५) द्र० ' जीरक '
-शोष-पु., लक्षण० दन्तस्य शोषः (चंसि. २.१६)
-स्तम्भ-पु., लक्षण० दन्तस्य स्तम्भः (चसि. २.१६)
-स्थिति-स्त्री., दन्तस्य स्थिरत्वम् (कासू. २०.५)
-संपद्-स्त्री., सर्वगुणसंपन्नता, अष्टमे मासि निषिक्ता नाम उद्भूता दन्ताः सर्वगुणसंपन्ना भवन्ति (कासू. २०.८) द्र० ' दन्त '
-हर्ष-पु., दन्तरोग० दन्तस्य हर्षः (चचि. २.२२) (सुनि. १६.३०) लक्षणम्-यस्य दशनाः शीतमुष्णं च स्पर्शनं न सहन्ते । सोऽयं समीरणाद्भवति (सुनि. १६.३०) (असंउ. २५) सुखोष्णाः स्नेहा वातव्याधिपठितत्रिवृत्सर्पिः वातघ्नकषायाश्च कवलार्थमुपयोजनीयाः । स्नैहिक-धूमस्य, स्नैहिक-नस्यस्य, स्नैहिक-भोजनस्याप्युपयोगः करणीयः (सुचि. २२.३४-३६)
-हर्षण-पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)
-हर्षप्रमर्दन-वि., दन्तहर्षनाशकः (सुचि. २२.३४)
दन्ताद-पु., शोणितजकृमि० दन्तान्दन्तमांसानि चात्तीति दन्तादः । अदृश्योऽयं कृमिः । दुश्चिकित्स्यो नत्वसाध्यः । (सुउ. ५४.१५) दन्तादचिकित्सा-अचलं कृमिदन्तं स्वेदयेत् । ततो रक्तमोक्षणं च विधेयम् । तथा च वातहरद्रव्यैरवपीडनं नाम नस्यमुपयोज्यम् । वातघ्नसिद्धतैलैर्गण्डूषाः करणीयाः । तत्स्थाने भद्रदार्वादिभिश्च लेपः स्निग्धं भोजनं चोपयोज्यम् । चलं कृमिदन्तमुत्पाट्य दन्तसुषिरमग्नितप्तशलाकादिभिश्च दहेत् । विदारीयष्ट्याह्वादिसिद्धं तैलं नस्यार्थमुपयोज्यम् (सुउ. ५४.३७)
दन्ताधान-पु., वनस्पति० निम्बूकः (रा. ११.२२)
दन्तान्तर-न., दन्तयोर्मध्ये योऽवकाशः सः (सुसू. ४६.४८३)
दन्ताशय-पु., शारीर० दन्तस्थानम् (असंउ. २)
दन्तिनी-स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)
-बीज-न., वनस्पति० जेपालः (रा. ६.३४४) (ध. १.२२७)
दन्तिमद-पु., वनस्पति० हस्तिमदः (रा. ६.२०)
दन्ती-स्त्री., वनस्पति० (ध. १.२२३) गुणाः-कटुका उष्णा तीक्ष्णा दीपनी शोधनी, कफवातघ्नी उदरार्शव्रणाश्मरीशूलामदोषत्वग्दोषहरा च
-शलाटु-पु., दन्तीफलम् (चचि. १६.५१)
-स्नेह-पु., तैल० तद्गुणाः-तिक्तः कटुः कषायश्चाऽधोभागदोषहरः कृमिकफकुष्ठानिलहरो दुष्टव्रणशोधनश्च (सुसू. ४५.१२४)
-हरीतकी-स्त्री., योग० दन्तीचित्रकहरीतक्यादिसाधितोऽयं गुल्मार्शःश्वयथुकुष्ठकामलारोचकग्रहण्यादिहरः (असंचि. १६)
दन्तुरत्वच्-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२७)
दन्तोलूखल-न., शारीर०दन्तानामुलूखलम् (चशा.७.६)
दन्त्यरिष्ट-पु., आसुत० दन्तीचित्रकपंचमूलादिसिद्धोऽयं ग्रहणीपांडुरोचकघ्नो दीपनः शुष्काशोंघ्नश्च (चचि. १४.१४४-४७ सुचि. ६.१४)
दन्त्यादिगण-पु., द्रव्य० गण० दन्तीत्रिवृच्चित्रकपलाशमूलत्रिकटुत्रिफलाऽष्टवर्गविडंगपलाशबीजमुस्तकजीरकैलाकण्टकारीणां समूहः लोहकल्पार्थमुपयुज्यते (र. २८.६२)
दन्दशूक-वि., पुनः पुनर्भक्षणशीलः, दष्टुं शीलं अस्य इति (चक्र चवि. ८.९७)
दम-पु., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६६)
-वशान्वित-पु., वनस्पति० दमः (ध.३.६६)
दमन-पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६)
न., वनस्पति० तद्गुणाः- तिक्तः कषायः कटुकः शीतलो हृद्यस्त्रिदोषघ्नो विषभूतकण्डूकुष्ठविस्फोटहरश्च (ध. ३.६४)
(दमनी)-स्त्री., वनस्पति० अग्निदमनी (रापरि. ४.४)
दमनक-पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.१९)
दमयन्ती-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२५)
दम्पती-पु., जायापती (सुचि. २४.९२.)
दम्भ-पु., कुहकवृत्तिता (ड.) राजसगुणः (सुशा.१.१८)
दर-पु., लक्षण० दरदरिका, हृत्कम्पः (चसू. १७.३१)
-द-पु., न., खनिज० हिङ्गुलः (र. १.१८८) (ध. ६.४०)
दरण-न., (परिव०) वेदना० आरया दीर्यते इव (सुउ. ४३.६)
दरिद्र-पु., निर्धनः (सुचि. ३०.४)
दर्दुर-पु., खनिज० खर्परप्रकारः (र. २.१५२)
प्राणि० मण्डूकः (इन्दु. असंउ. ४३)
शालिधान्य० (चसू. २७.१४)

(दर्दुरी)–स्त्री., वनस्पति० मण्डूकपर्णी (र. १२.८८)
दर्प–पु., भैषज्य० कस्तूरिका (अहसू. ३.११)
दर्पण–पु., आदर्शः (चचि. ९.१८) (सुउ. ६०.१९)
दर्भ–पु., वनस्पति० सः खरमृदुभेदेन द्विधा; गुणाः–मधुरः, शीतलो रुच्यः पित्तघ्नो मूत्रकृच्छ्ररक्तपित्तज्वरतृषाश्वासकामलाघ्नः (ध. ४.१३३) तृणपंचमूलेष्वेकम् (अहसू. १५.२१) स्तन्यजननगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२) (सुसू. ३८.७५–७६)
हिं.—दाभ.
म.—दर्भ.
गु.—कुश.
बं.—कुश.
–कुसुम–पु., कफजकृमि० (असंनि. १४.५२) द्र० 'कृमि'
–पञ्चक–न., तृणपञ्चमूलम् (असंचि. ८) (हे.
–पत्र–पु., वनस्पति० काशः (रा. ८.२०१)
–पुष्प–पु., श्लेष्मजकृमि० (चवि., ७.१२. सुउ. ५४.१२) द्र० 'कृमि'
सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)
पु., सर्प० राजिमान् (सुक. ४.३४ (३)
–मूल–न., दर्भस्य मूलम् (अहसू. ६.१७१)
–संस्तरशायिनी–वि., यस्याः शयनं दर्भासने अस्ति सा (सुशा. २.२५)
दर्भाह्वय–पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०४)
दर्विका–स्त्री., चमसः (र. ३.३४)
दर्वी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)
दर्व्याकारः शलाकायत्र० (सुचि. ६.८ असंसू. ३४ असंउ. ३५)
–कर–पु., सर्प० वातदोषकरमस्य विषम् (चचि २३.१२४)
तद्गुणाः–मधुरः, कटुपाकी, अतिचक्षुष्यः, सृष्टविण्मूत्रमारुतश्च (सुसू. ४६.८४)
दर्वीकराः फणावन्तः दिवा चरन्ति; तरुणा दर्वीकरा मृत्युहेतवः (सुक. ४.३१–३२)
दर्वीकराः–कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासर्पः शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, गण्डफणः, ककुदः, पद्मो, महापद्मो, दर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रूकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिरा, अलगर्दः, आशीविषः इति (सुक. ४.३४ (१)
–करदंश–पु., एतद्दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदः, कृष्णो, निरुद्धरक्तः, कूर्माभो, वातव्याधिकरः (चचि. २३.१२७)
–करविष–न., तल्लक्षणम्–दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्वरावसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनागमनं स्रोतोवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति (सुक. ४.३७)
–प्रलेप–पु., योग०–पलाशनिर्दाहरसेन साधितोऽयं कुष्ठहरः (चसू. ३.१६)
–विलेपन–न., पाकक्रियायां पाकस्य सान्द्रीभवनमादर्वीलेपनं कर्तव्यम्–तथा सान्द्रत्वं दर्वीप्रलेपनेन ग्राह्यम् (चचि. २३.१०२)
दर्व्याकृति–स्त्री., दर्वी; दारुहस्तकस्तदाकृतिः (सुसू. ७.१४)
दर्शन–न., चक्षुः (चक्र. चचि. २३.१२०)
पञ्चबुद्धीन्द्रियेष्वेकम् (चशा. ७.७)
दृष्टिः (सुउ. १७.५२)
आलोकनम् (चनि. ७.६)
व्याध्यादिपरीक्षाप्रकारः (अहसू. १२.५५)
दल–पु., पर्णम् (डसुचि. ४.१०७)
शिम्बीधान्यस्य निस्तुषस्य खण्डः (सुसू. ७.१४)
न., वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. १०.२)
दलाम्ल–न., वनस्पति० शाकम्, चुक्रम् (रापरि. ७.६४)
दव–पु., दावानलः (सुउ. ४१.३०)
दाहः तापो वा (असंसू. २०)
दवथु–पु., लक्षण० चक्षुरादिष्वत्यर्थं तापः च (चचि. २१.३०) (चसू. २६.४३(४) (असंसू. २०.१६)
दवन–न., लक्षण० संतापः (सुउ. ४५.९)
दशन्–वि., सङ्ख्या० (सुउ. २१.२९)
दशन–पु., दन्तः (सुचि. २२.२९)
प्रत्यङ्ग० (सुसू. ३५.१२)
न., भक्षणम् (सुनि. १५.३)
–च्छद–पु., ओष्ठः (चइ. ११.२०) (असंउ. २५)
दशप्राणायतनीय–वि., अध्याय० दश प्राणायतनानि अधिकृत्य कृतोऽध्यायविशेषः (चसू. २९.१)
दशभागावशेष–वि., पाकेन दशमो भागोऽवशिष्टो यस्य स (रसः) (चचि. १.४६)

-मूल-न., लघुपञ्चमूलं बृहत्पञ्चमूलं च मिलित्वा (ध. ७.२२-२३) गुणाः-हिक्काशिरोरुजाश्वास-संनिपातज्वरतन्द्रापार्श्वशूलहरम् (ध. ७.२२-२३) (चसू. ३. १९-२०) (सुसू. ६६.७१) (असंसू. १५) (अहसू. १५.३)

-(मूली)-स्त्री., दशमूलानि (चसू. २.२७)

-मूलहरीतकी-स्त्री., योग० दशमूलत्रिकटुत्रिजात-यवक्षारादिसाधितोऽयं श्वयथूदरज्वरारोचकाविपाकपाण्डुरोगगुल्ममेहश्वासकासकार्श्यामवातामलपित्त-मलदोषशुक्रदोषहरा (असंचि. १९.१०७)

-मूलीघृत-न., सिद्धघृत० दशमूलव्योषक्षारलवणादि-सिद्धमिदं कफगुल्महरम् (चचि. ५. १४२)

-सार-न., योग० यष्टीद्राक्षाधात्रीचंदनैलवालकादि-साधितमिदं सर्वपित्तविकारमेहतृष्णादिहरम् (र. १८-२४०)

दशा-स्त्री., सदशस्य वस्त्रप्रान्तः (सुसू. २९०.१०) (असंशा. १२.४)

दशाङ्ग-पु., योग० मांसीत्वक्पत्रसुरसमनोह्वाशीत-कुंकुमनिशाव्याघ्रनखशुण्ठीसाधितोऽयं विषनाशनः (असंउ. ४०)

न., दशमूलम् (सुउ. ५७.१४)

दशाङ्गयोग-पु. योग० कफजच्छर्दौ शमनार्थं प्रदिष्टः योगविशेषः (सुउ. ४९.२३) नागरं धान्यकं भार्गीमभयां सुरदारु वचां पर्पटकं मुस्तं भूतीकं कट्फलं च ग्राह्यम् (सुउ. ३९.१९३)

दशाङ्घ्री-स्त्री., दशमूलम् (र. १६ ७४)

दशाष्टक्रिया-स्त्री., अष्टादश पारदसंस्काराः (र. ७.३७)

दष्ट-न., व्याडादिभिर्दैशः (ड. सुसू. ४२.१०)

-निपीडित-न., सर्पदंशभेदः (असंउ. ४१)

दष्टक-न., सर्पदंशभेदः, अयं सर्पदंशः असाध्यो वर्तते (असंउ. ४१)

दष्टौष्ठ-वि., लक्षण० क्षत ओष्ठो यस्य सः (सुशा. १०.५१)

दस्र-पु., वैद्यविशेषौ, अश्विनौ (र. २७.१४३)

दहन-पु., वनस्पति० भल्लातकः (ध. ३.४३)

चित्रकः (ध. २.८०)

आसुत० सूक्तम् (ध. ६.२४६)

महाभूतम्, अग्नेः रूपम्-एकगुणवृद्ध्यन्वयेन त्रिगुण-त्वाच्छब्दस्पर्शरूपगुणत्वम् (सुसू. ४२ (४)३)

न., उपक्रम० दाहः, क्षारादिना औषधकर्म (सुसू. ४०.५) (अहसू. १५.१)

(दहनी)-स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)

-विशेष-पु., दाहप्रकारभेदः (सुसू. १२.११)

दहनागरु-न., वनस्पति० दाहागरु (रा. १२.४३)

द्र० 'अगरु'.

दहनारांति-पु., जलम् (रा. १४.३१८)

दाक्षिणात्यक-पु., वनस्पति० नारिकेलः (ध. ५.७४)

दाक्षिण्य-न., परापेक्षिणी प्रकृतिः, परच्छन्दानुवर्तिता (सुसू. ४५.२०७)

दाडिम-पु, न., वनस्पति० फलविशेषः (चसू. २७. १४९-५०) महाकषायवर्गे हृद्यगणे छर्दिनिग्रहण-गणे श्रमहरगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०, १४,१६) तद्विविधम्, अम्लं मधुरं च; साधारण-गुणाः-अम्लं कषायं मधुरमुष्णम् (च) शीतलम् (रा. ११.९५-९६) स्निग्धम् (रा.) लघु (भाप्र.) ग्राहि, दीपनं, हृद्यम् (रा.) रुच्यं, तर्पणं, शुक्रलं, मेधाबलावहं, वातघ्नं, कफपित्तविरोधि, त्रिदोषघ्नम् (भाप्र.) कासघ्नम् (रा.) हृत्कण्ठमुख-गन्धघ्नं, तृड्दाहज्वरनाशनम् (भाप्र.) तत्र मधुरं दाडिमं पित्तघ्नं प्रशस्तं च। रूक्षाम्लं दाडिमं पित्तानिलकोपनम् (च) अम्लं दाडिममुष्णं वात-कफापहम् (सुसू. ४६.१४१-४२) स्वाद्वम्लं दाडिमं किञ्चित् पित्तकरं लघु (भाप्र.) दाडिमपुष्प-रसो घ्राणगो रक्तपित्ते उपयुज्यते (असंचि. ३)

हिं.—अनार.

म.—डाळिंब.

गु.—दाडम.

बं.—डालिम.

ता.—मातुळै.

-पुष्पक-पु., वनस्पति० रोहितकः (ध. ५.१३०)

-यूष-पु., दाडिमसंस्कृतयूषः (का खिल. ४.३६)

-वेत्रासव-पु., आसुत० (सुसू. ४६.४३२)

दाडिमादिरसक्रिया-स्त्री., रसक्रिया० दाडिमाद्यवलेहः (सुउ. १२.४२)

दाडिमाद्यघृत-न., घृत० पाण्डुरोगे उपयुक्तम् (चचि. १६.४४-४६)

दाडिमाष्टक-पु, योग० चातुर्जातयवान्यादियुक्तः, अतिसारे समुपयोज्यः (असंचि. ११.)

दाडिमीसार-पु., वनस्पति० दाडिमः (ध. २.६१)

दात्यूह-पु., पक्षि० प्रतुदजातीयोऽसौ, कालकण्टकः (सुसू. ४६.६७)

दाधिकघृत-न., घृत० गुल्मप्लीहाशूलनाशनम् (सुउ. ४२.२९-३०)

दाधिकाख्यसर्पिस्–न., घृत० दाधिकघृतम् (असंचि. १६) द्र० दाधिक घृत.

दान–न., वनस्पति० हस्तिमदः (रा. परि. ६.२०)

दानवप्रिया–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (ध. परि. ३.२)

दान्त–वि., शिक्षितः (चचि. ९.८२)
पु., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६४)

दाम–न., व्रणबन्ध० संबाधेऽङ्गे विधेयः (सुसू. १८.१७–१८)
ग्रैवेयकादिपुष्पाभरणम् (सुसू. १९.२५)

दारक–पु., पुत्रः (काकरेवती)

दारण–न., उपक्रम० (चसू. ११.५५) विदारणम् (सुचि. १५.३) पाटनम् (सुचि. ४.९) शरकर्णादिशल्यस्य द्विधाकरणम् (सुसू. ७.१७)

दारणक–न., रोग० कपालगतरोगः, कफवाताभ्यां हेतुभ्यां कण्डूकेशच्युतिस्त्वापरौक्ष्यकृद्यत् सुसूक्ष्मं त्वचः स्फुटनं, तद् दारणकमिति विद्यात् (असंउ. २७)

दारवी–वि., काष्ठमयी, दारुणा निर्मिता दारुमयी वा इति दारवी (सुचि. २०.४३)

दारी–स्त्री., रोग० विपादिका (सुनि. १३.२९)

दारु–न., वनस्पति० देवदारुः (ध. १.७६)
–**कण्टक**–पु., खनिज० पित्तलम् (ध. ६.१९)
–**कदली**–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा. ४१.११०)
–**निशा**–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)
–**पत्रिका**–स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध. २.३८)
–**पत्री**–स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (रा. ६.६२)
–**पीता**–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८४)
–**मत्स्याह्वा**–स्त्री., प्राणि० गोधा (रा. १९.१७)
–**वाह**–पु., राजर्षि० कश्यपशिष्यः (कासू. २५.३)
–**विभावरी**–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (र. २२.७८)
–**शल्य**–न., काष्ठशल्यम् (अहसू. २८.४४)
–**हरिद्रा**–स्त्री., वनस्पति० महाकषायवर्गे लेखनीयगणे, कण्डूघ्नगणेऽर्शोघ्नगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९–११)
तिक्ता, कटूष्णा, रूक्षा, व्रणमेहकर्णरुजामुखरुजाकर्णकण्डूनेत्रकण्डूविसर्पत्वग्दोषनाशिनी (ध. १.५७ रा. ६.८५–८६)
तस्यास्त्वक् त्रिदोषजेऽतिसारे उपयुज्यते (चचि. १९.८०)
अस्याः सारः शीर्षविरेचने उपयुज्यते (चसू. २.५)
हिं.—जर्की–हलद.
म.—दारुहळद.
बं.—दारहळदी.
ता.—कस्तुरिमंजल.

दारुक–न., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३)

दारुण–वि., तीक्ष्णः (चसू. १८.४१) कठिनम् (सुचि. ७.३)
किञ्चित् कालानुपातादेव बलवत्त्वान्मारयति (चवि, ६.३)
पु., कृमि० (सुउ. ५४.१२)
वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०)
–**कर्मन्**–न., कठिनीकरणम्, व्रणस्य षष्ठ्युपक्रमेष्वेक उपक्रमः (सुचि. १.८)
–**प्रतिबोधिन्**–वि., कृच्छ्रोन्मीलिन् (अहसू. १६.६)

दारुणक–पु., क्षुद्ररोग० कफवातप्रकोपेण केशभूमिर्दारुणा, कण्डुरा, रूक्षा भवति प्रपाट्यते च (सुनि. १३.३५) द्र० 'दारणक'

दारुणाख्य–पु., रोग० दारुणकः, चूर्णकः इति पर्यायः (चइं, १२.५२)

दारुणीभूत–वि., परुषीभूतम्, रूक्षीभूतम् (चवि., ८.१२७)

दार्ढ्य–न., दृढता (अहसू. १६.९)

दार्दुर–वि., मण्डूकविषम्, दर्दुरस्येदमिति दार्दुरं (विषम्) (चचि. २३.२०९)
–**दंश**–पु., मण्डूककृतो दंशः (असंउ. ४३)

दार्विका–स्त्री., वनस्पति० गवेधुका (रा. ४.१८०)

दार्वी–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (चसू. ५.६३)
–**करीरासव**–पु., आसुत० (सुसू. ४६.४३२)
–**काथसमुद्भव**–न., भैषज्य० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)
–**घृत**–न., घृत० रक्तपित्तप्रबले कुष्ठे उपयुक्तम् (चचि. ७.१३५)
–**हौमिकविधि**–पु., दार्वीहोमप्रोक्तकल्पः सप्रणवमहाव्याहृतिभिः ॐ भूः स्वाहेत्यादिभिर्हवनम् (सुसू. २.४)

दार्व्यादिघृत–न., घृत०, त्रिदोषजाऽतिसारे उपयुज्यते (सुउ. ४०.७७–७८) (सुउ. ४०.१०४–१०५)

दाल–न., मधुभेदः दलोद्भवं मधु; गुणाः–कषायं, उष्ण-

मस्लं, पित्तकृत्, कटुपाकि, छर्दिमेहप्रशमनं, रूक्षम् (सुसू. ४५.१३३) (सुसू. १३९.१४०) द्र० 'मधु'

दालन–पु., दन्तरोग० अस्मिन् रोगे दन्तास्तीव्ररुगन्विता दाल्यन्ते । अयं वातजः (सुनि. १६.२८)

(दाला)–स्त्री., वनस्पति० अरिः (रा. ८.४०)

(दाली)–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (रा. ३.२४४)

दाव–पु., वनाग्निः (असंसू. ४.२८)

–दीपित–वि., दावाग्निप्रकाशितः (असंसू. ४.२८)

दावाग्निमल–पु., भैषज्य० अग्निजारः (ध. परि. ६.२१)

दाशपुर–न., वनस्पति० जलमुस्तम् (ध. १.४३)

दाशमूलिकनिरूह–पु.,परिव० बस्तिभेदः, दशमूलसिद्धो निरूहः (चचि. १३.६५)

दासपुर–न., वनस्पति० परिपेल्लम् (ध. ३.५५)

दासी–स्त्री., वनस्पति० काकजङ्घा (ध. ४.२३)

कुरण्टकः (रा. १०.४२०)

नीलपुष्पा (रा. १०.४१७)

–कुरुण्टक– पु., वनस्पति० कुरुण्डकः (सुसू. ३८.६)

दाह–पु., रोग० सर्वाङ्गदहनमिव संतापः, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४) स सप्तप्रकारकः, तत्र प्रथमो मद्यजः–मद्यपानकुपितपित्तोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितस्त्वचं प्राप्तो घोरं दाहं प्रकुरुते । तत्र पित्तवद्भेषजम् (सुउ. ४७.५४) द्वितीयो रक्तजः–कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं सद् अतीव दहति । तल्लक्षणानि–संचूषणं, दाहस्ताम्राभता, ताम्रलोचनता, लोहगन्धांगता, लोहगन्धवदनता, दहनावकीर्णवद् वेदना (सुउ. ४७.६७–६८) अन्ये तु रक्तजो भोजनं कुर्वतोऽनेकधा शोचतो रक्तं दाहो भवति तेनात्यर्थं दह्यते । तृष्णा, मूर्च्छा, प्रलाप इति (सुउ. ४७.७६–७७) तृतीयः पित्तजः–पित्तज्वरसमानि लक्षणानि चिकित्साऽपि पित्तज्वरसमा कार्या (सुउ. ४७.७७) चतुर्थस्तृष्णानिरोधजः–तृष्णानिरोधाद् अब्धातौ क्षीणे समुद्धतं तेजो मन्दचेतस आतुरस्य सबाह्याभ्यन्तरं देहं दहेत् । तेन संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते । (सुउ. ४७.७०–७१) पञ्चमोऽवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजः (मा) रक्तेन पूर्णकोष्ठस्य दाहो दुःसहो भवति । तत्र सद्योव्रणीयोक्तं लक्षणं चिकित्सां च विद्यात् । (सुउ. ४७.७३–७४) षष्ठो धातुक्षयजः–अस्मिन् दाहे मूर्च्छा, तृषा, क्षामस्वरः, क्रियाहीनता, भृशं सदनं, पीडेति लक्षणानि भवन्ति । तत्र वातघ्नी रक्तपित्तोक्ता क्रिया (सुउ. ४७.७५) सप्तमो मर्माभिघातजः मर्मण्याघातेन दाहो भवति सोऽसाध्यतमः (सुउ. ४७.७८) सर्वदाहेषु यदा आतुरस्य शीतगात्रता भवति, तदा ते सर्वेऽसाध्याः (सुउ. ४७.७८) लक्षण० अग्निदग्धस्येव वेदना० (सुनि. १.३२) उपक्रम० अग्निकर्म दहनं शलाकाप्रभृतिभिः सिरासंकोचनार्थं शोणितस्थापनार्थं च, अनेन दग्धानां रोगापुनर्भावस्य सुश्रुतेनोक्तत्वात् उपक्रमविशिष्टत्वम् (सुसू. १४.४०) (सुसू. १२.३)

–प्रशमन–पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे एको गणः, दाहघ्नः (चसू. ४.८) लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूचीह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि (चसू. ४.१७)

दाहनी–स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.५१)

दाहागरु–न., वनस्पति० अगरुभेदः, द्र० 'अगरु' (रा. १२.४३)

दाहाभिभूत–वि., दाहाधिक्येनाक्रान्तः (सुउ. ४७.५८)

दाहार्ह–वि., दहनयोग्यः (असंसू. ४०.५)

पु., वनस्पति० चित्रकभेदः, कालः द्र० 'चित्रक' (रा. ६.१२७)

–काष्ठ–न., वनस्पति० अगरुभेदः, दाहागरु, (रा. १२.४३) द्र० 'अगरु'

–गल–वि., लक्षण० लिप्तकण्ठः (सुउ. ५३.६)

दिग्ध–वि., लिप्तम् (सुउ. ५३.६)

युक्तम् (ड. सुउ. ६४.४३)

–विद्ध–वि., विषलिप्तबाणताडितो व्रणः, तल्लक्षणानि–सद्यो विद्धं कृष्णरक्तं निःस्रवेद्व्रणः पाकं यायादभीक्ष्णं च दह्यते, क्षतारकृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थं पूति, शीर्णमांसमनवरतं याति सोऽयं तृष्णामूर्च्छाभ्रान्तिदाहज्वरयुतो भवति (सुक. ५.५७–५८)

दिति–स्त्री., कश्यपस्त्री, दैत्यमाता (असंशा. १२)

दिन–न., तिथिः (सुसू. २९.१९)

सप्तसंख्यामानम् (र. ११.१०३)

–कर–पु., खनिज० ताम्रम् (र. १३.५४)

–चर्या–स्त्री., दिने यच्चरणं तत्, प्रतिदिनं यत्कर्तव्यं तत् (अरु) दैनन्दिन आहारो विहारश्च (हे. अहसू. २) (चसू. ५; सुचि. २४; असंसू. ३) दिने दिने चर्या दिनस्य वा चर्या; चर्या नाम चरणमाहारविहारचेष्टितमिति यावत्, प्रतिदिने

यत्कर्तव्यम् (अरु. अहसू. २०.१) स्वस्थपुरुष आयुषो रक्षार्थं ब्राह्मे मुहूर्ते रात्रेश्चतुर्घटिकावशेषे काले प्रबुद्धयेत्, जीर्णाजीर्णनिरूपणादिकां शरीरचिन्तां निर्वर्त्य, मूत्रपुरीषादेः कृतशौचविधानो दन्तशुद्धिं कुर्यात्, दन्तकाष्ठं भक्षयेत्, दन्तधावनचूर्णेन वा दन्तान्विशोधयेत्, शीतजलेन लोचने सिञ्चेत्, सौवीरमञ्जनमक्ष्णोर्हितं नित्यं भजेत्, तथैव सप्तरात्रे श्लेष्मस्रावणार्थं रसाञ्जनं योजयेत्, ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत्, जराश्रमवातनाशार्थं त्वग्दार्ढ्यार्थं च नित्यमभ्यङ्गमाचरेत्, शारीरलाघवार्थं कर्मसामर्थ्यार्थं च व्यायामं कुर्वीत, व्यायामानन्तरं देहमनुसुखं मर्दयेच्च, त्वक्प्रसादनकरं कफहरं चोद्वर्तनं कुर्यात्, ततः स्नानं कुर्यात्, स्नानेन कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृषादाहादीनां शमो बलप्राप्तिश्च भवति, उष्णाम्बुनाधःकायस्य परिषेको बलावहः, केशचक्षुर्बलार्थिभिः शीतजलेन स्नातव्यम्, पूर्वे आहारे सम्यग्जीर्णे हितं मितं भोक्तव्यं भोजनविधौ शास्त्रोक्तेनान्नपानेन भवितव्यम् (अहसू. २) भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः, ततः पादशतं गच्छेदनन्तरं वामपार्श्वेन संविशेत् (सुसू. ४६.४८७)

–जन्मन्–न., प्रभातम् (र. २०.२२०)

दिनान्ध–पु., नेत्ररोग० पित्तविदग्धदृष्टिः; अत्र भावप्रधाननिर्देशो द्रष्टव्यः, तेन दिनान्धत्वं प्राप्नोति इत्यर्थः (सुउ. १७.१२)

–पति–पु., खनिज० ताम्रम् (र. १२.३९)

दिलीप–पु., राज० यत्पुत्रा राजतैलोपयोगेन गतिमायुर्बलं सुखं च लेभिरे (का फक्करोगचिकित्सा)

दिवा–अव्य० दिने (सुशा. ४.४१)

–करावर्त–पु., शिरोरोग० सूर्यावर्तः (काचि. ५)

–निद्रा–स्त्री., दिवास्वप्नः (सुशा. ४.४१)

'विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम' तज्जन्यव्याधयः–अरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुत्वकण्डूपामादाहच्छर्यङ्गमर्दहृदस्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षितातालुलेपाः पिपासा श्लेष्मपीडा च (चसि. १२.१४७) प्रतिश्यायशिरोगौरवज्वराः (सुशा. ४.३८) दिवास्वप्नाद् व्रणे शोफकण्डूरागरुक्पूयस्रावबृद्धिर्भवति (असंसू. ३८.२५) दिवास्वपनमपथ्यमप्यभ्यासान्नोपघातकम् (सुशा. ४.४१)

रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम् (सुशा. ४.३८) बालवृद्धस्त्रीकर्षितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम् (सुशा. ४.३८) श्वासहिध्मातिसारतृष्णाशूलपीडितानामपि हितकरम् (सुशा. ४.४८)

दिवास्वापो ग्रीष्मादन्यत्र गर्हितः, अजीर्णिना भोजनात्प्रागेव सुप्यताम् 'स्वप्यात्...अभुक्तवान्' (असंसू. ७.२४४)

–बलिन्–वि., दिवा यस्य बलं प्रवृद्धं भवति, दिवा वा यो वर्धते स शोथः (चचि. १२.१२)

–स्वपन–न., दिवानिद्रा (सुशा. ४.३८)

–स्वप्न–पु., दिवानिद्रा (सुशा. ४.४८)

–स्वप्नविकृति–स्त्री., दिवास्वप्नजनिता विकृतिः; अस्यां कासश्वासप्रतिश्यायशिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकाग्निदौर्बल्यानि भवन्ति (सुशा. ४.३८) द्र० 'दिवानिद्रा'

–स्वप्नसात्म्य–वि., दिवास्वप्नः सात्म्यं यस्य सः (सुसू. ३५.३९)

–स्वप्नोचित–वि., दिवानिद्रा हितकरी यस्य सः (अहसू. ७.५९)

–स्वाप–पु., दिवानिद्रा (सुशा. ४.३८)

दिविज–न., वनस्पति० हरिचन्दनम् द्र० 'चन्दन' (रा. १२.१९)

दिवोदास–पु., राज० (सुसू. १.३)

दिव्य–वि., मेघजं जलम् (सुनि. ३.२६)

पु., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४)

गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)

सर्प० 'वासुकिस्तक्षकोऽनन्तः सगरः सगरालयः । तथानन्दोपनन्दाद्याः समिद्धाग्निसमप्रभाः' दिव्येभ्यो नमोऽस्तु तेषु कुद्धेषु चिकित्सा नास्ति (असंउ. ४१)

न., वनस्पति० हरिचन्दनम्, चन्दनम् (रा. १२.१९)

लवङ्गम् (ध. ३.४१)

(दिव्या)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (रा. ८.२२९)

ब्राह्मी (रा. ५.१४९)

महामेदा (रा. ५.१६३)

वन्ध्याकर्कोटकी (रा. ३.२७३)

हरीतकी (रा. ११.३०७)

-गन्ध-वि., उत्तमगन्धः (व्रणः) अयं दिव्यगन्धो व्रणो मुमूर्षूणामेव विपरीताविपरीतगन्धत्वेन ज्ञेयः (सुसू. २८.११)
खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६७)
-(गन्धा)-स्त्री., वनस्पति० बृहच्चञ्चुः (रापरि. ४.२०)
भद्रैला (रा. ६.७१)
-जल-न., आन्तरीक्ष जलम् (अहसू. २०.३८)
-तुम्बी-स्त्री., वनस्पति० भूतुम्बी (रा. ७.२४१)
-तेजा-स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (ध. ४.१००)
-पुष्प-पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.३)
चम्पकः (रा. १०.२३९)
-(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० महाद्रोणा (रापरि. ५.५०)
-मूलिका-स्त्री., सोमवल्ल्यादिदिव्यौषधिः (र. ११.८६)
-रस-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४३)
-लता-स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)
-सार-पु., वनस्पति० सर्जः (रा. ९.२०५)

दिव्यक-पु. सर्प० निर्विषजातीयः (सुक. ४.३४ (४)

दिव्यानुकारिन्-वि., गुणतो दिव्यजलसमं (जलम्) (असंसू. ६)

दिव्याम्भस्-न., आन्तरीक्षं जलम्, इदं नेत्ररोगे चूर्णाञ्जनादिसाधने उपयुज्यते (असंउ. १९)

दिव्येलक-पु., सर्प० वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः, अयं राजिलसर्पवत् वर्तते (सुक. ४.३४) द्र० ' सर्प '

दिव्योदक-न., आन्तरीक्षं जलम्; द्र० ' जल ' (रा. १४.३२०)

दिव्योदकानुपान-न., तनुपानार्थमान्तरीक्षं जलम् द्र० ' जल ' (असंसू. ९.१५)

दिव्यौषधि-स्त्री., सोमलतादिकाश्चतुःषष्टिर्दिव्यौषधयः (र. ८.७८)

दिश्-स्त्री., दिशा (चसू. १.४८)
देवता० श्रोत्रस्याधिदैवतम् (सुशा. १.७)

(दिक्-)प्रासादा-स्त्री., वनस्पति० कुलत्था (रा. १३.२१९)

-संख्या-स्त्री., दशदिशः-प्राच्याग्नेयीदक्षिणानैर्ऋती-प्रतीचीवायव्युदीचीशान्यूर्ध्वाऽधराः (र. २३.७५)

(दिग्-) वासस्-वि., नग्नः (चनि. ७.१४.)

दीक्षा-स्त्री., गुरुतो मन्त्रादिग्रहणम् (सुसू. ६.२१)

दीन-वि., लक्षण० क्लिष्टचित्तः (ड. सुउ. ३९.१४३)
अगम्भीरः (चक्र. चचि. २८.४१)
न., वनस्पति० तगरम् (ध. ३.५३)
-मनस्-वि., क्लिष्टचित्तः (सुउ. ३९.२९१)
द्र० ' दीन '

दीनार-पु., मान० निष्को त्रिंशद्गुञ्जामानं वा (र. ११.१०३)

दीप-पु., स्नेहाशः (दीपकः) (चशा. ५.१५)
-गन्ध-पु., दीपस्य गन्धः (असंशा. १०.९)
-वह्नि-दीपाकारोऽग्निः (र. १२.१६१)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० सरलः (ध.३.७८)

दीपक-पु., औदर्याग्निः, दीपकः (र. १६.१५५-५८)
वनस्पति० कासमर्दः (रा. ४.१७७)
जीरकम् (रा. ६.१००)
यवानी (ध. २.९१)
सर्प० अयं राजीमद्वर्गीयः बिलेशयेष्वेकः तन्मांस गुणाः-मधुरः कटुपाकी सृष्टविण्मूत्रमारुतोऽति-चक्षुष्यः (सुसू. ४६.८४)

दीपन-वि., जाठराग्निदीप्तिकरम् (र. २.३)
पु., जाठराग्निः (र.३.३२)
न., अग्निभूयिष्ठं द्रव्यम् (सुसू. ४१.६)
पारदसंस्कारविशेषः स्वर्णताम्रादिधातुभिः सैंधवादिपाषाणादिभिः सर्पाक्ष्यादिमूलैश्च घटयन्त्रमध्यस्थस्य पारदस्य बुभुक्षितत्वजननेन कवलीकरणशक्त्युत्पत्त्यर्थं दिनत्रयपर्यन्तं स्वेदनम् (र. ८.७०)
पु., वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१००)

(दीपनी)-स्त्री., वनस्पति० पाठा (रा. ६.१९)
मेथिका (ध. ६.१११)
यवानी (ध. २.९१)
-जीवन-(रसेन्द्रः)-पु., पारदयोग० गन्धकसैन्धवपिप्पलीचित्रकादियुक्तः शोथहलीमककामलाशूलाजीर्णनाशकः (र. १६.१६६)

दीपनीय-पु., अग्निदीप्तिकरः; महाकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.८) पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि (चसू. ४.९)
वनस्पति० यवानी (ध. २.९१)

(दीपनीया)-स्त्री., वनस्पति० यवानी (ध. २.९१)
-गण-(वर्ग) पुं., दीपनीयो वर्गः (असंसू. १५)
-वर्ग-पु., दीपनीयद्रव्याणां समूहः (चसू. ४.९ असंसू. १५)

दीपाग्नि–पु., दीपस्येव मन्दोऽग्निः (र. १६.१५७)

दीपाशय–पु., दीपधारिका, दीपगृहं वा (चशा. ५.१५)

दीपिका–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८४)

–**तैल**–न., तैल० महत्पञ्चमूलयुक्तम्, कर्णवेदनाहर-तैलम् (सुउ. २१.२१–२२)

–**यन्त्र**–न., यन्त्र० दीपिकायन्त्रम्, इदं पारदस्य तिर्यक्पातनसंस्कारे समुपयुज्यते (र. ११.४१)

–**यन्त्र**–न., यन्त्र० जलपूर्णपात्रमध्यगते घटखर्परे मृत्तिकामयीं वङ्कनालाकारां नलिकां स्थापयित्वा तस्योपरिभागे क्षारलवणसहितः पारदः स्थाप्यते, ततः सन्धिरोधं विधायाग्निः प्रदीयतेऽन्यनलिकया चोर्ध्वभागाच्च पारदस्तिर्यक् पात्यते–इदं दीपिका-यन्त्रम् (र. ९.१६)

–**रस**–पु., पारदयोग० पिप्पलीजम्बीरकुमारीयुक्तः, अयं सर्वज्वरघ्नः (र. १२.२३–२७)

दीप्त–पु., न., नासारोग० (चचि. २६.११७) दाह-युक्तायां नासायां निःश्वासो यदा धूमवद्बहिरायाति नासा च ज्वलितेव भवति तदा अयं रोगो ज्ञेयः (सुउ. २२.१४–१५)

न., खनिज० कांस्यम् (रा. १३.२४)

सुवर्णम् (रा. १३.२)

वनस्पति० हिङ्गु (रा. ६.३०)

दीप्तक–न., खनिज० कांस्यम् (रा. १३.२४)

(दीप्ता)–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९)

ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५)

सातला (ध. १.२३८)

वि., सूर्योद्भासिता दक्षिणा वा (दिक्) (चइ. १२.२९–३०)

दीप्ताग्नि–पु., प्रदीप्तो जाठराग्निः (र. २.५९)

दीप्तामर–पु., पारदयोग० गन्धकताम्रयुक्तः पित्तगुल्म-नाशकः (र. १८.६२–६६)

दीप्ति–स्त्री., जठराग्निदीपनम् (चसू. १३.४३)

भैषज्य० लाक्षा (ध. ३.८२)

नासारोग० दीप्तम् (असंउ. २३)

दीप्य–पु., वनस्पति० निम्बूकः (रा. ११.२२)

यवानी (ध. २.९१)

जीरकम् (रा. ६.१००)

न., जीरकम् (ध. २.६६)

(दीप्या)–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरभेदः (ध. ५.५५) द्र० 'खर्जूर'

उपकुञ्ची (रा. ६.९१)

दीप्यक–पु., वनस्पति० अजमोदा (सुउ. ५७.८, ध. २.९८)

यवानी (रा. ६.१४०)

दीर्घ–वि., आयतम् (चवि. ८.११७)

पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)

व्रीहिः (रा. १६.११२)

स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११८)

–**कणा**–स्त्री., वनस्पति० जीरकभेदः, शुक्लजीरकः (ध. २.६८) द्र० 'जीरक'

–**कण्ट**–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रा. परि. ८.१२)

–**कन्द**–पु., वनस्पति० मुखालुः (रा. परि. ७.२२)

–**कन्दक**–न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५१)

–**कन्दिका**–स्त्री., वनस्पति० मुसलीकन्दः (रा. परि.७.५८)

–**काण्ड**–स्त्री., वनस्पति० गुण्डः (रा. परि. ८.६०)

–**काण्डा**–स्त्री., वनस्पति० व्रत्सादनी (रा. परि. ३.३३)

–**काल**–पु., वनस्पति० अङ्कोटः (रा. ९.३८४)

–**कीलक**–पु., वनस्पति० अङ्कोलः (ध. १.२५८)

–**कूरक**–न.. धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८१)

–**कृष्णा**–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०८)

–**ग्रन्थि**–पु., वनस्पति० गजपिप्पली (रा. ६.११७)

–**च्छद**–पु., वनस्पति० शाकः (ध.परि. ५.३)

–**जिह्वी**–स्त्री., असुरकन्या (का. रेवतीकल्प. ६)

–**जीरक**–पु., वनस्पति० जीरकभेदः, शुक्लजीरकः (ध. २.६८) द्र० 'जीरक'

–**तरु**–पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)

–**तुण्डनखी**–स्त्री., बिलेशयप्राणि० चुचुन्दरी (ध. ६.४३२)

–**तुण्डी**–स्त्री., बिलेशयप्राणि० चुचुन्दरी (ध. ६.४३२)

–**तृण**–पु., वनस्पति० पल्लिवाहः (रा. परि. ८.५६)

–**दण्डक**–पु., वनस्पति० एरण्डः (ध. १.२९५)

–**दण्डी**–स्त्री., वनस्पति० गोरक्षी (रा. परि. ५)

–**दर्शिन्**–वि., दूरदर्शी (च. शा. ४.३७ (३))

–**द्रुम**–पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२)

–**नाद**–पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९)

–**नाल**–पु., वनस्पति० गुण्डः (रा. परि. ८.६१)

जूर्णा (रा. १६.१६७)

कत्तृणम् (रा. ८.१०८)
-निःस्वन-पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९)
-नेत्र-न., बस्तिनेत्रदोषः दीर्घबस्तिनेत्रजन्यो दोषः अतिगतिर्नाम दूरप्रवेशः (चसि. ५.४-५)
-पटोलिका-स्त्री., वनस्पति० पटोली (ध. १.५२ रा.७. ७६)
-पत्र-पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९३)
पलाण्डुः, राजपलाण्डुः (रा. ७.१०३)
पुनर्नवा (ध. १.२७४)
जलमधूकः (ध. ५.४९)
शरः (रा. ८.२०९)
(-पत्रा)-स्त्री., वनस्पति० अन्यादोडी (रा. परि. ४.४१)
कदली (ध. ४.७५)
केतकी (रा. परि. १०.२)
गन्धपलाशः (ध. १.६४) (रा. ६.९०)
द्रोणपुष्पी (रा. परि. ५.४८)
-पत्रक-पु., वनस्पति० हिज्जुलः (रा. परि. ८.७०)
इक्षुः (सुसू. ४५.१५४)
जलदः (ध. ५.४८)
वेतसः (ध. ५.११६)
लशुनः (ध. ४.६६)
(-पत्रिका)-स्त्री., वनस्पति० कुमारी, गृहकन्या (रा. परि. ५.१०)
शालिपर्णी (रा. ४.११३)
वचा, श्वेतवचा (रा. ६.१०)
(-पत्री)-स्त्री., वनस्पति० पलाशी (रा. परि. ३.५०)
बृहच्चञ्चुः (रा. परि. ४.२०)
-पर्ण-पु., वनस्पति० जरणद्रुमः (रा. परि. ९.१३)
(-पर्णी)-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. १.९१) (रा. ४.११८)
त्रपुसम् (ध. १.१७५)
-पल्लव-पु., वनस्पति० शणः (रा. परि. ४.१०)
-पादप-पु., वनस्पति० पूगः (रा. ११.७१)
तालः (रा. ९.९२)
-पुच्छिका-स्त्री., प्राणि० गोधा (रा. १९.१७)
-पुत्र-पु., वनस्पति० जलमधूकः (ध. ५.४९)
-पुष्प-पु., वनस्पति० श्वेतमन्दारकः (रा. १०.३१)
-प्रेक्षण-वि., दीर्घदृष्टिः आयताक्षः (सुसू. ३५.४)
-फल-पु., वनस्पति० आरग्वधः (ध. १.२१९)
-फलक-पु., वनस्पति० अगस्त्यः (रा. परि. १०.१३)
(-फला)-स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा, मृद्वीका (रा. ११.७६)
जन्तुका (ध. ४.८८) (रा. ३.१२९)
कोशातकी (रा. ७.२८८)
-बीजा-स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)
-मूल-पु., वनस्पति० बिल्वान्तरः (रा. परि. ८.३०)
यासः (ध. १.२२)
मोरटः (ध. १.१५)
न., लामज्जकम् (ध. ३.८६)
(-मूला)-स्त्री., वनस्पति० मोरटः (ध. १.१५)
धन्वयासः (सुसू. ३८.४५)
शालिपर्णी (सुसू. ३८.४५) (ध. १.८८)
-मूलक-पु., वनस्पति० शरः (रा. ८.२१२)
न., मूलकम् (रा. ७.५०)
-रङ्गा-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५५)
-रागा-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५५)
-रोहिषक-न., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०८)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रा. परि. ३.३३)
पलाशी (रा. परि. ३.४९)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७६)
-वालुक-पु.,वनस्पती० बृद्धदारुः (ध. ४.१०७)
-वृत्त-पु., वनस्पति० विष्णुकन्दः (रा. परि. ७.४०)
-(वृत्ता)-स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रा. परि. ३.२७)
-वृत्तफला-स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)
-वृन्त-पु., वनस्पति० टेण्टुकः (सुउ. ४०.८१ अहसू. १७. ८)
-वृन्तक-पु. वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४१)
-शर-पु., धान्य० जूर्णा (रा. १६.१६७)
-शाख-पु., वनस्पति० शणः (रा. परि. ४.१०)
-शाखिका-स्त्री., वनस्पति० नीलाम्ली (रा. परि. ४.३८)
-शिम्बिक-पु., वनस्पति० राजमाषः (रा. १६.१३५)
-शूक-पु., धान्य० शालिः (चसू. २७.८; अहसू. ६.१)
-सूत्रता-स्त्री., चिरेण कार्यकारित्वम् (चनि. १.३३)
-सूत्री-वि., चिरकारी (असंशा ८.१६)
-स्कन्ध-पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)

दीर्घक–पु., वनस्पति० जीरकभेदः शुक्लजीरकः (ध. २.६८) द्र० 'जीरक'
न., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६)
(दीर्घिका) स्त्री., सोपानपुष्करिणी (सुउ. ४७.५७)
वनस्पति० हिङ्गुपत्री (२.३८)
दीर्घाङ्गुलिपर्वन्–वि., महाङ्गुलिग्रन्थिप्रमाणः (सुसू. ३५.४)
दीर्घार्त्यर्क–पु., वनस्पति० श्वेतमन्दारकः (रा. १०.३१)
दीर्घायुस्–वि., शतवर्षपर्यन्तमायुर्यस्य सः तत्र महापाणिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुं, विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजङ्घामेढ्रग्रीवं, गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिमनुच्चैर्बद्धस्तनमुपचितमहारोमशकर्णं, पश्चान्मस्तिष्कं स्नातानुलिप्तं मूर्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरं पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं दीर्घायुषं जानीयात् (सुसू. ३५.४)
पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२)
जीवकः (रा. ५.१५५; ध. १.२३)
दीर्घोर्वारु–पु., वनस्पति० डङ्गरी (र. १.१८१)
दुःकोष्ठ–वि., क्रूरकोष्ठः (सुचि. ३३.१५)
दुःख–न., प्रतिकूलवेदनीयम् (चवि. ८.३९)
कायवाङ्मानसी पीडा (सुसू. १.२३)
रोगः (चक्र. चशा. १.९२) पीडा, तच्च दुःखं त्रिविधमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकमिति (सुसू. २४.४)
वि., दुःखकरः, दुःखबहुलः कष्टसाध्यो वा (चचि. ३.४८)
–जीविन्–वि., दुःखी, दुःखेन जीवितुं शीलमस्य (असंसू. ३.७८)
–प्रसविनी–वि., दुःखेन प्रसूते या सा (चचि. १६.४६)
–बहुलता–स्त्री., दुःखाधिक्यम् (सुशा. १.१८)
–वर्धन–पु., कर्णरोग० कर्णपालीरोगः (सुचि. २५.३)
कर्णो दुर्विद्धः सन् वर्धितस्तस्मिन् कण्डूदाहपाकरुजावान् संनिपातजः शोफो भवति (असंउ. २१)
–वृद्धि–स्त्री., कर्णरोग० दुःखवर्धनः (र. २४.१)
द्र० 'दुःखवर्धन'.
–शय्या–स्त्री., दुःखोत्पादिका शय्या (चचि. २.९)
दुःखाश्रय–पु., शरीरम् (चक्र. चशा. १.९५)
दुःशुद्ध–वि., अयोगेनाविशुद्धम् (चक. १२.६४)
दुःस्पर्शा–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (सुचि. ११.९) (ध. १.२०)
कण्टकारी (ध. १.९५)
कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)
दुकूल–न., सूक्ष्मं क्षौमम्, श्लक्ष्णवस्त्रभेदः (सुशा. ३.२३)
पट्टवस्त्रम् (सुसू. १८.१६)
–पट्ट–न., पट्टवस्त्रम् (ड. सुशा. ३.२३)
दुग्ध–न., आहारद्रव्य० उत्पत्तिः–स्त्रीगोमहिष्यादिभ्यः संभवः। दुग्धगुणकर्माणि–प्रायशो मधुरं, मधुरपाकि, शीतं, स्निग्धं, प्रीणनं, बृंहणं, वृष्यं, मेध्यं, बल्यं, मनस्करं, जीवनीयानां श्रेष्ठं, श्रमहरं, विहतसंधानं, सर्वप्राणभृतां सात्म्यं, शमनं, शोधनीयं, दीपनीयं, वातपित्तघ्नं, श्वासकासरक्तपित्ततृष्णाक्षीणक्षतपाण्डुरोगाम्लपित्तशोषगुल्मोदरातिसारज्वरदाहशोथयोनिशुक्रप्रदोषाप्रचुरमूत्रग्रथितपुरीषेत्यादिषु पथ्यं प्रशस्तं च; नस्यालेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु विरेचने स्नेहने च दुग्धं सर्वत्रोपयुज्यते। (चसू. १.१०७–१२)
दुग्धमनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु पिच्छिलं श्लक्ष्णं सरं मृदु सर्वप्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्याद् जीर्णज्वरोन्मादमूर्च्छाभ्रममददाहहृद्बस्तिदोषप्रवाहिकाग्रहण्यर्शःशूलगर्भस्रावेषु प्रशस्तं क्रमहरं पाप्मापहं वाजीकरणं रसायनं वयःस्थापनमायुष्यं तुल्यगुणत्वादोजसो वर्धनं बालवृद्धानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् (सुसू. ४५.४९)
प्राधान्येन दुग्धमष्टविधम्–गव्यं माहिषमाजं ऐणमाविकमैभं कारभमेकशफं चेति (असंसू. ५२.५४) दुग्धं रसस्य उपधातुः रसात् स्तन्यं प्रासादजम् प्राधान्येन दुग्धमष्टविधम्–गव्यं माहिषमाजं ऐणमाविकमैभं कारभमेकशफं चेति (असंसू. ५२.५४) (चचि. १५.१७) धारोष्णदुग्धगुणाः–जीर्णज्वरतृट्शूलप्रवाहिकाविबद्धानिलवर्चोनाशनम् (असंचि. २.४५–४६) अक्वथितदुग्धगुणाः–अभिष्यन्दि प्रायशो गुरु च; (सुसू. ४५. ६१;) अतिपक्वदुग्धगुणाः–शीतं, गुरु, बृंहणं च, (सुसू. ४५.६३) शृतदुग्धगुणाः–उदरिभ्य आस्थापने विरेचने, आहारविधिक्रियासु पाने च प्रयोज्यम् (सुचि. १४. १९;) शालिषष्टिकयोस्तथोपवासाध्वभाष्यस्त्रीव्यायामक्लान्तबालवृद्धेष्वनु-

पानार्थम् उपयोज्यम् (असंसू. १०. ४६;) अनिष्टगन्धमम्लं, विवर्णं, विरसं, सलवणं, विग्रथितं पयो न सेव्यम् (सुसू. ४५.६४)

हिं.—दूध.

म.—दूध.

गु.—दूध.

बं.—दुध.

ता.—पालू.

दुग्धम्, जीर्णज्वरेषूपयुक्तम् (चचि. ३.२३९) दुग्धं ज्वरक्षीणस्य वमनविरेचनभेषजापेक्षया मलहरणाय हितम् (चचि. ३.१७०) उपवासाध्वभाष्यस्त्रीमारुतातपकर्मक्लान्तानां पयोऽनुपानं पथ्यम् (चसू. २७.३२२) शालिमुद्गादिभोजिनां युद्धसन्तापविषमद्यरुजासु च हितम् (सुसू. ४६.४२६) प्रयोगापचिताङ्गानामुदरिणां सर्वधातुक्षयार्तानां सर्वप्रयोगाणामनु क्षीरं हितम् । तेन च दोषानुबन्धरक्षा बलस्थैर्यं च भवति (चचि. १३.१९३) सदाहपिपासार्तानां सुखावहम् (सुउ. ३९.१४४) गण्डूषकवलाद्यर्थमुपयुज्यते (असंसू. ३१.७) पयोगुणाः—स्वादु सरं शीतं वातघ्नं च (असंसू. ७.२४१) आमं पयोऽभिष्यन्दि गुरु, शृतं लघ्वनभिष्यन्दि, अतिशृतं गरीयः, धारोष्णममृतोपमं च (अहसू. ५.२८)

–तुम्बी–स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)

–दा–स्त्री., वनस्पति० चणिका (रा. परि. ८.६५)

–पान–परिव० न., क्षीरपानम् (सुचि. २४.९९)

–फेनी–स्त्री., वनस्पति० कदुस्तिक्ता शीता रुच्या रसायनी विषनाशिनी व्रणापसारिणी च (रा. परि ५.३४)

हिं.—दुधिया.

म.—लघुदुधी.

गु.—दुधेली मोटी.

ता.—दुधी.

फा.—निशाशत.

–बीजा– स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३९)

–वर्ग– पु., हस्तिनी, वडवा, गौः, उष्ट्री, गर्दभी, स्त्री, अजा, अविका इत्येतासां दुग्धानि; उदुम्बरः पिप्पलोऽर्को वटो रोध्रो दुग्धिका स्नुहीभेदा उत्तमारणी चैतासां क्षीराणि (र. १०.८९) अत्र हस्तिन्यादीनां प्राणिनो दुग्धवर्गः, उदुम्बरादीनां तु वानस्पतिको दुग्धवर्गो ज्ञेयः ।

–हरिणी नाडी–स्त्री., दुग्धवहा नाडी (सुचि. १७.४७)

दुग्धनिका–स्त्री., वनस्पति० अपामार्गः (रा. ४.३९०)

दुग्धिका–स्त्री., (र. १४.८८–८९) क्षीरिणी (र. १४.३७.४६)

दुच्छाय–वि., मलिनकान्तिः (अहसू. ११.४०)

दुटि–पु, जलजप्राणि० (का. खिल अ. २४.५३)

दुद्रुम–पु., वनस्पति० पलाण्डुः (ध. ४.७१)

दुन्दुभि–पु., निःस्वातः (सुसू. २९.३०) प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५१) असुर० स्कन्देनासौ निहतः (काचि. बालग्रह) आग्नेयकीट० (असंउ. ४३)

–स्वनीय–वि., अध्याय० (सुक. ६.१)

दुन्दुभिक–पु., सविषकीट० आग्नेयत्वात् स पित्तजरोगान् करोति (सुक ८.१०)

दुरभिग्रह–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६१)

दुरभिग्रहा–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२०) कपिकच्छूः (ध. १.१५१)

दुराकर्ष–वि., आकृष्टुमशक्यम् (अहसू. २८.२६)

दुराचर–वि., दुःखेनोपचर्यते (सुउ. २०.६)

दुरात्मन्–वि., दुःखितान्तःकरणः (सुउ. ३९.९३) अजितेन्द्रियः (सुउ. ४०.२१)

दुराधर्ष–पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८)

दुराधर्षा–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रा. परि. ५.२१)

दुरारुह–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५) नारिकेलः (रा. ११.१०५) तालः (ध. ५.६८)

दुरारुहा–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरः (रा. ११.६५)

दुरारोहा–स्त्री., वनस्पति० श्रीवल्ली (रापरि. ८.३३) खर्जूरः (ध. ५.५३)

दुरालभा–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (चसू. ४.१४)

दुरालभासव–पु., आसुत० ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्रभृतिरोगेषु शस्तः (चचि. १५.१५२–१५५)

दुरालम्भा–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (चचि. १८. १२७)

दुरितशमनी–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२)

दुर्ग–वि., गम्भीरम् (चसू. २४.४५) पु., निर्यास० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)

दुर्गन्ध–वि., कुत्सितगन्धम् (सुसू. ४५.१९८) तस्य

कर्माणि हृल्लासोऽरुचिकरत्वं च (सुसू. ४६.५२२)

(दुर्गन्धा) स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६६)

दुर्गाध–वि., अगाधम् (सुउ. १.८)

दुर्गाह्लाद–पु., निर्यास०
भूमिजगुग्गुलुः (रा. १२.१८८)

दुर्ग्रह–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६०)

दुर्ग्रहोपसर्ग–पु., दुष्टानां स्कंदादिबालग्रहाणां संसर्गः (सुशा. १०.४६)

दुर्जरा–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (ध. १.२६७)

दुर्दर्शन–वि., दुःखेन दृश्यते (सुनि. २.१५)

दुर्दिन–न., मेघाच्छादितं दिनम् (अहसू. ३.४६)

दुर्धर–पु., वनस्पति० ऋषभः (ध. १.१२५)

(दुर्धरा)–स्त्री., रेवतीग्रह० (का. रेवतीकल्प. ३७.३८)

दुर्धर्षा–स्त्री., वनस्पति० कन्थारी (रा. परि. ८.२०)
जम्बूः (रा. परि. ५.२४)

दुर्नामन्–पु., रोग० अर्शस् (र. २१.८९)

दुर्नामारि–पु., वनस्पति० सूरणः (ध. परि. ४.६)

दुर्निबन्धन–न., दुर्बन्धनम्, अनुचितबन्धनम् (सुनि. १५.१४)

दुर्न्यास–पु., दुःस्थापनम् (सुनि. १५.१४)

दुर्बल–वि., प्राणहीनः, क्षीणः (सुसू. ११.९), मन्दः (चचि. १५.५१–५२)

दुर्भग–वि., अमनोरमाकारः (सुशा. ४.६४)

दुर्भगक–न., रोग० भगन्दरः (र. २.१०)

दुर्मनस् वि., गतोत्साहः (अहसू. ११.४०)

दुर्मरा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः श्वेतदूर्वा (ध. ४.१४४) द्र० 'दूर्वा'
शतावरी (रा. ४.४४०)

दुर्मेधस्त्व–वि., दुष्टबुद्धित्वं, तामसगुणः (सुशा. १.१८)

दुर्मेल–वि., परस्परं न संमील्यते यथा कठिनं लोहं मृदु च स्वर्णं परस्परं न संमील्येते (र. २.८५)

दुर्मोहा–स्त्री., वनस्पति० काकादनी (ध. ४.२७)

दुर्योग–पु., दुष्प्रयोगो, मिथ्याप्रयोगः (सुचि. ३४.२२)

दुर्लभ–पु., वनस्पति० कर्चूरम् (ध. ३.९४)

(दुर्लभा)–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२०)
लक्ष्मणा (ध. १.९७)

–हेतुक–वि., दुर्लभो दुर्ग्रहो हेतुः कारणं यस्य सः (असंसू. ७.२६२)

दुर्वर्ण–न., वनस्पति० एलावालुकम् (ध. ३.७६)

दुर्वान्त–वि., असम्यग्वामितः (सुचि. ९.४२)

दुर्विधेया–स्त्री., वनस्पति० सठी (ध. १.६२)

दुर्हृद्–वि., दुष्टं हृदयं यस्य सः, दुर्बुद्धिः (कासू. १९)

दुश्चक्रम–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (रा. ३.१३०)

दुश्चिकित्स्य–वि., असाध्यः दुःखेन चिकित्सनीयः (सुसू. ३३.५)

दुश्छर्दन–वि., यो दुःखेन छर्दयति सः (च. सि. २.८)

दुष्कर–वि., दुश्चिकित्स्यम् (सुचि. ८.११)

दुष्कुल–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)

दुष्कृत–न., असत् कृतम् (अहसू. १२.३५)

दुष्ट–वि., दोषकारकम् (चचि. १२.५) विषादिभिर्दोषकरम् (सुसू. ४६.४७६)

–क्षीरा–वि., दुष्टं क्षीरं यस्याः सा (चशा. ८.५६)

–ग्रह–पु., स्कन्दापस्मारादिकग्रहः (सुसू. २३.१६)

–पीनस–पु., नासारोग० पीनसः अप्रतिकुर्वतः नरस्य प्रतिश्यायोत्तरं पीनसस्य दुष्टत्वमत्रानुसन्धेयम् (सुसू. २४.१७)

–प्रतिश्याय–पु., नासारोग० प्रतिश्यायः अत्रापि दुष्टपीनसशब्दगदुष्टविशेषणस्य तात्पर्यमतिदेश्यम् (सुउ. २४.१५–१६)

–मद्य–न., विकृतमद्यम्, नवम्, व्यापन्नम्, अकालजम् (सुउ. ४०.४)

–यान–न., अयोग्यं वाहनम् (अहसू. २.३५)

–योनि–वि., योनिरोगपीडिता स्त्री (र. २२.३८–४०)

–रक्त–न., दूषितरक्तम् (अहसू. २७.२–५)

–रक्तापगम–पु., दूषितरक्तस्य निस्सरणम् (असंसू. ३५.७)

–रक्तापगमन–न., दूषितरक्तस्य निस्सरणम् (अहसू. २६.४७)

–व्रण–पु., दूषितो व्रणः (सुसू. २२.७)

–व्रणविधि–पु., अशुद्धव्रणस्य चिकित्सितम् (सुचि. २.९४)

–शोणित–न., दूषितरक्तम् (चनि. १.३०)

दुष्टात्मन्–वि., दुष्टो हि आत्मा स्वभावो यस्य सः (सुउ. ६०.९)

दुष्टादुष्ट–वि., दुष्टश्चायमदुष्टश्चेति तेन पिता हि पुत्रस्य दुष्टोऽप्यदुष्टत्वाद् आप्त एव भवति (चक्र. चवि. ४.४)

दुष्टाम्बु–न., दुष्टं जलम् (सुउ. ४०.४)

दुष्टास्र–न., दुष्टरक्तम् (असंसू. ३६.१७)

दुष्टास्रसंभव–पु., दुष्टरक्तसंभवः (असंसू. ७.२५१)

दुष्टि–स्त्री., दूषणम् (चनि. ५.७)

दुष्टेक्षित–न., दुष्टमीक्षितम्, 'स्वभावनष्टे शुष्के वा दुष्टे साध्वीक्षिते हितम् (कासंसू. १९)

दुष्पत्र–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)

दुष्प्रजाता–वि., दुःखेन प्रसूता, यस्याः प्रसवः कष्टेन जातः सा (काचि. दुष्प्रजा. ३)

दुष्प्रधर्षा–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरः (ध. ५.५३) धन्वयासः (रा. ३.२०)

दुष्प्रधर्षिणी–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (ध. १.९५)

दुष्प्रवेशा–स्त्री., वनस्पति० कन्थारी (रापरि. ८.२०)

दुष्प्रसू–वि., दुःखेन प्रसूयते इति (सुउ. ३८.१३)

दुःस्पर्श–पु., वनस्पति० लताकरञ्जः (रापरि. ८.२४) बदरम्, भूबदरी (रा. ११.१६४)

(दुःस्पर्शा)–वनस्पति० धन्वयासः (सुउ. ५५.२५) खवल्ली (रापरि. ३.१९)

दुस्सह–पु., बालोपग्रह० (का. द्विव्रणीयचि.)

(दुस्सहा)–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रापरि. ५.२४)

दुहितृकाम–वि., अपत्यत्वेन कन्यामभिलषन् (असंशा. १)

दूत–पु., स्त्रीपुरुषादिर्यं आतुरेण प्रेष्यते स दूतः (सुसू. २९.३) दूतस्य शुभलक्षणानि शुक्लवासाः, शुचिः प्रियदर्शनः स्मृतिमान्विधिकालज्ञोऽलंकृतो मङ्गलवान् स्वस्थः प्राङ्मुखमासीन इति (सुसू. २९ २३–२६) तस्याऽशुभलक्षणानि–रौद्रस्वरूप उद्विग्नो न्यूनाधिकाङ्गो विकृत आर्द्रजीर्णोपसव्यैकमलिनवस्त्रधारी (सुसू. २९.१५–२३)

दूतादिविज्ञान–न., अध्याय० (असंशा. १२.१)

दूताधिकार–पु., दूतानां शुभाशुभादित्वस्य विचारो यत्र कृतः, सोऽधिकारः (चइ. १.३)

दूयन–न., लक्षण० दुःखमङ्गमर्दः (चसू. १७.५४) अतिवेदना (सुउ.४१.२५)

दूरजनान्तनिलय–वि., (परिव०) दूरे ग्रामान्निलयो गृहं यस्य सः (सुसू. ४६.९१)

दूरपानीयगोचर–वि., (परिव०) पानीयादूरे निवासी (मृगः) (सुसू. ४६.९)

दूरमूल–पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०५) धन्वयासः (ध. १.२२)

दूरेक्षण–न., दूरस्थितस्य वस्तुनः प्रेक्षणं नेत्रविकारकारणानामेकतममिदम् (सुउ. १.२६)

दूर्वा–स्त्री., तृण० (चसू. ३.२७) साधारणगुणाः—कषाया, मधुरा, शीता, रुच्या, तृष्निदा, कफपित्तघ्नी, तृष्णाच्छर्दिदाहमूर्च्छाग्रहभूतनाशिनी, श्रमनाशिनी, रक्तपित्तापहा (रा. ८.२३६) त्वगामयघ्नी (र. १७.१२२) विसर्पनाशिनी (र. १३.१३) दूर्वाभेदाः—नीलदूर्वा—मधुरा, तिक्ता, शीता, रोचनी, कफवातघ्नी, रक्तपित्तातिसारज्वरघ्नी; श्वेतदूर्वा—मधुरा, अतिशीता, रुच्या, पित्तघ्नी, छर्दिदाहतृष्णाकासामातिसारघ्नी, गण्डदूर्वा–मधुरा, शीता, पित्तवातघ्नी, ज्वरभ्रमतृष्णाश्रमापहा; वल्लीदूर्वा—मधुरा तिक्ता शीता पित्तकफघ्नी, तृष्णाच्छर्दिनाशिनी (ध. ४.१४३–४७; रा. ८.२२६–३६)

हिं.—दूब.

म.—हरळी.

गु.—नीली घ्रो.

बं.—दूर्वा.

ता.—अरुकु.

वनस्पति० सठी (ध. ६.८७)

–सोम–पु., सोम० (सुचि. २९.५)

दूर्वानलवेत्रासव–पु., आसुत० (सुसू. ४६.४३३)

दूषक–पु., धान्य० शालिवर्गीयाणामेकतमः द्र० 'शालि' (सुसू. ४६.४)

(दूषिका)–स्त्री., नेत्रमलम् (सुउ. ६.१६)

दूषण–न.. दोषकारणम् (चवि. ६.१०)

दूषणात्मन्–वि., दूषणस्वभावः (अहसू. ७.५१)

दूषीविष–न., विष० कालान्तरप्रकोपि विषम् (चक्र. चसू. २१.४५) (चचि. २३.३१)

यद्यपि न प्राणहरं तथापि बहुदोषकरम् (चचि. २३.१४०)

यस्मादेशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशो दूषितं विषं रसादिधातून् दूषयते तस्माद्दूषीविषं स्मृतम्, विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा स्वभावतो गुणविप्रहीनं वा विषं दूषीविषतामुपैति। तस्य पूर्वरूपाणि–निद्रा, गुरुत्वं, विजृम्भणं, विश्लेषो रोमहर्षोऽङ्गमर्दः. तल्लक्षणानि–दूषीविषेणार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्यमुखः, पिपासामूर्च्छावमीगद्गदवाणीविषण्णतादूष्योदरलिङ्गो भवति, प्रायेण दूषीविषं तदर्दिते नरे अन्नमदमविपाकमरोचकं, मण्डलकोठमोहान्धातुक्षयं, पादकरास्यशोफं दकोदरं, छर्दिमतिसारं करोति। त्रैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा कुर्यात्। उन्मादमानाहश्च जनयेत्। शुक्रं क्षपयेत्। गाद्गद्यं

कुष्ठं वा जनयेत् (सुक. २.२५-३३) उपद्रवाः ज्वरदाहादयः, चिकित्सा सम्यक् शुद्धं च दूषीविषार्तं दूषीविषार्यगदं पाययेत् (सुक. २.५०,५३,५४)

दूषीविषारि-पु., योग० अयं दूषीविषे विषान्तरेष्वपि दध्ना मधुना वा संयुतः पेयः (सुक. १.४३)

दूष्य-वि., यद्दोषैर्दुष्टं भवति रसादिकं मलादिकं च तत् (चवि. ८.१०१)

दूष्युदर-न., रोग० उदरभेदः (सुनि. ७.१३-१४) द्र० 'उदर'

दूष्योदर-न., रोग० सान्निपातिकमुदरम् (चसि. २.१५)

दृढ-वि., अजर्जरम् (सुचि. ३५.१२)
पु., वनस्पति० लकुचः (रा. परि. ९.४४)
न., वनस्पति० एलावालुकम् (ध. ३.७६)
खनिज० हीरकम् (ध. ६.५६)
लौहम् (र. २३.४०)

-काण्ड-पु., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०८)
वंशः (रा. ७.२१५)

-(काण्डा)-स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रा. परि. ३.३३)

-क्षुरा-स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रा. परि. ८.४०)

-ग्रन्थि-पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१५)

-च्छद-पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९३)
न., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०८)

-तरु-पु., वनस्पति० धवः (रा. परि. ९.८)

-ता-स्त्री., स्थैर्यम् (चवि. ८.५)
लक्षण० काठिन्यम् (चसू. १३.४५)

-तृण-पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०५)

-त्वच्-पु., वनस्पति० यावनालः (रा.परि. ८.३८)

-नील-पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा. ११.१०४)

-पत्र-पु., वनस्पति० वंशः (रा. परि. ७.२१५)

-पत्री-स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रा. परि. ८.४०)

-पादा-स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (ध. १.२५६)

-पादी-स्त्री., वनस्पति० भूधात्री (रा. ५,१४४)

-प्ररोह-पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२५)

-फल-पु., वनस्पति० नारिकेलः (ध. ५.७४)

-फलस्थिति-पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा. ११.१०५)

-बल-पु., ऋषि० चरकसंस्कृतस्याग्निवेशतन्त्रस्य सप्तदशचिकित्साध्यायैस्तथा कल्पसिद्धिस्थानाभ्यां पूरणमकरोत् । यक्ष्मचिकित्सितान्तानष्टावध्यायान् तथाऽर्शोऽतिसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय सप्तदशाध्याया ज्ञेया अवशिष्टाः (चक्र. चचि. ३०.२९०)

-बीज-पु., वनस्पति० बर्बुरः (रा. परि. ८.१३)
चक्रमर्दः (रा. ४.९)
बदरम् (रा. ११.१५७)

-मूल-न., वनस्पति० मन्थानकः (रा. परि. ८.५५)

-मूल-पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०५)

-लता-स्त्री., वनस्पति० (रा. परि. ३.३३)

-वल्क-पु., वनस्पति० पूगः (रा. ११.७१)
पु., वनस्पति० लकुचः (रा. परि. ९.४४)

-स्कन्ध-पु., वनस्पति० राजादनः (ध. ५.९१)

-(वल्का)-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा (ध. ३.११६ रा. ४.१७०)

दृढाग्नि-पु., बलवानग्निः (चचि. ३.१७२)

दृढेन्द्रिय-वि., दृढानि स्वकार्यकरणक्षमाणीन्द्रियाणि यस्य सः (सुचि. ३१.५६)

दृढोत्थान-पु., दृढारम्भः (सुशा. ४.८६)

दृति-स्त्री., चर्मपुटकम् (सुसू. ९.४) पानीयपूर्णखल्ली (सुचि. १५.१२)

दृप्त-वि., मदोन्मत्तः (असंसू. ४.१०)

दृश्-स्त्री., दृष्टिः (अहसू. १२.२)

(दृक्)-प्रद-न., खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१४)

-प्रसादा-स्त्री., वनस्पति० कुलत्था (ध. ३.१५६)

(दृग्)-घ्न-वि., दृष्टिनाशकम् (अहसू. ६.३४)

-विपर्यय-पु., शास्त्रदृष्टिवैपरीत्यं नास्तिकत्वादि (अरु). आप्तवाक्येष्वप्रमाणबुद्धिः (हे. अहसू. २.२२)

(दृङ्) नाश-पु., लक्षण० दृष्टिनाशः (अहसू. २३.५)

दृश्य-वि., प्रत्यक्षोपलब्धिविषयम् (चशा. ७.१३)

दृषद्-स्त्री., शिला (सुचि. २७.८)
मांसादिपेषणार्थं कृतः पाषाणविशेषः (सुसू. ४६.३६४) घर्षणार्थं पाषाणखण्डविशेषः (कासू. लेहाध्याय)
वनस्पति० पाषाणभेदः (ध. १.१५७)

-(दृषत्) पत्री-स्त्री., वनस्पति० सिगृडी (रापरि. ४.३१)

-सार-न., खनिज० मुण्डलोहम् (रा. १३.२९)

दृष्ट-वि., दर्शनविषयीभूतम् (चसू. २५.४०)

-कर्मता-स्त्री., बहुशः कर्मानुभवः (चसू. २५.४०)

-कर्मन्-वि., अभ्यस्तकर्मा (अहसू. १.२८) छेदादौ स्नेहादौ च कुशलः (सुसू. ३४.१९) बहुशश्चिकित्सितरोगो वैद्यः (सुसू. १०.३)

-रिष्ट–वि., दृष्टं रिष्टं नाम मरणसूचकं लक्षणं यस्मिन् तत् (असंशा. १०.३१)

दृष्टान्त–वि., पु., यस्मिन्नर्थे मूर्खाणां लौकिकानां पण्डितानां च योऽर्थोऽविवादसिद्धः स दृष्टान्तो भवति । विदुषां बुद्धिसाम्यं–यथाऽऽदित्यः प्रकाशकस्तथैव सांख्यज्ञानं प्रकाशकम् (चवि. ८.३४)
न्याये पञ्चावयववाक्ये उदाहरणम्–यथा नित्यः पुरुषः, अकृतकत्वादिति हेतौ, अकृतकमाकाशं तच्च नित्यमिति दृष्टान्तः

दृष्टापचारज–वि., ऐहिकलौकिकाद् व्याधिकारणाज्जातः (अहसू. १२.५७)

दृष्टार्तव–वि., दृष्टमार्तवं यस्मिन् काले, स दृष्टार्तवः कालः ऋतुः स च द्वादशरात्रं भवति (सुशा. ३.६)
दृष्टार्तवर्तुमत्त्वादेव स्त्री ऋतुमती दृष्टार्तवा वा अभिधीयते (सुशा. ६.८)

दृष्टार्थ–वि., प्रत्यक्षज्ञानवान् (सुशा. ५.५१)
प्रमाणान्तरोपलब्धियोग्यार्थः (चवि. ८.३८)

दृष्टि–स्त्री., कृष्णमण्डलस्य मध्यवर्ति रूपग्राहकंचक्षुरिन्द्रियम् (सुउ. १.१३) नेत्रम् (सुसू. १२.९)
मसूरदलमात्रा, पञ्चभूतप्रसादजा, खद्योतविस्फुलिङ्गाभाऽव्ययतेजोभिर्विशिष्टा (सुउ. ७.३–४)
दृष्ट्याश्रयं मण्डलम् (सुउ. १७.१)
अतीन्द्रियदर्शनम् (चशा. १.१४०-४१)
उपलब्धिः (चइ. ४.२५)

-कृशता–स्त्री., दृङ्मांद्यम् (सुउ. ५५.१६)
-क्लेद–पु., दृष्टिगतं जलम् (सुचि. २४-१८)
-गतदोष–(परिव०)–पु., रोग० द्र० 'नेत्ररोग'
-गतरोग–पु., रोग० द्र० 'नेत्ररोग' (सुउ. १७.१)
-गतरोगप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ.१७.१)
-गतरोगविज्ञानीय–वि., अध्याय० (सुउ. ७.१)
-दूषण–वि., दृष्टिरोगप्रदः (अहसू. ६.४०)
-प्रदा वर्ति–स्त्री., भैषज्य० त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वगादिभिः कृता एषा वर्तिः अभिन्नचक्षुषोऽन्धस्य दृष्टिप्रदा (चचि. २६.२५४–५६)
-प्रसाद–पु., नयनगोलकस्य संरम्भरागादिरुजाहरणपूर्वकं निर्मलीकरणम् (सुउ. १९.४)
-प्रसादन–वि., दृष्टेर्नैर्मल्यजननम् (सुउ. १७.७०)
-बल–न., दृष्टेः सामर्थ्यम् (असंसू. ३१.१५)
-भाग–पु., चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठानम् (सुशा. २.३५)
-मण्डल–न., शारीर० नेत्रगतमण्डलम् (असंशा. ५.५२) नेत्रे कृष्णताराग्रवर्ति विभाग० (सुउ. १.१५)
-विभ्रम–पु., लक्षण० दृगभ्रमः (असंसू. ८.३७)
-विशारद–वि., शालाक्यतन्त्रनिपुणः, नेत्रचिकित्सकः (सुउ. १.१३)
-विष–वि., दृशि विषं यस्य सः (सर्पः) (सुक. ३.५)
-हनन–(परिव०) न., रोग० दृष्टिनाशः (सुउ. ६.२०)

दृष्ट्यन्तर–न., दृष्टी कृष्णतारके मसूरदलप्रमाणे भवतः तयोर्दृष्ट्योरन्तरं चतुरङ्गुलम् (सुसू. ३५.१२)

दृष्ट्याश्रयरोग–पु., रोग० पित्तविदग्धदृष्ट्यादयः षड्रोगास्तेष्वेकः (सुउ. ७.३४–३५)

दृष्ट्युपघात–पु., लक्षण० आघातजन्यं दृष्टिवैकल्यम् (सुशा. ६.२७)

दृष्ट्युपरोध–पु., लक्षण० दृष्टिमन्दता, सविषान्नसेवनाद् भवति (चचि. २३.११४)

देव–पु., इन्द्रादिः (चनि. ७.१०) (सुक. ५.९)
अमानुषगुणयुक्तो राजा देव इति संज्ञितः, तस्य गुणाः–आज्ञा, त्यागः, क्षमा, धैर्यं, विक्रमश्च (सुसू. ३४.१०–११)
मेघः (सुउ. ६१.१९)
खनिज० पारदः (रा. १३.४३)

(देवी)–स्त्री., पार्वती देवी (र. ११.१३०)
वनस्पति० अतसी (रा. १६.१८७)
कर्कोटकी (ध. १.१८७)
पाठा (ध. १.७०)
बला, बृहद्बला (र. ११.३७–३९)
भूतुम्बी (रा. ७.२४१)
मूर्वा (ध. १.१३)
मृगाक्षी (रा. ७.२५८)
वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)
शालिपर्णी (रा. ४.११४)
स्पृक्का (ध. ३.६२)
लिङ्गिनी (रा. परि. ३.१७)
हरीतकी (रा. ११.३०७)
-काष्ठ–न., वनस्पति० देवदारुः (ध. १.७७)
-कुरम्बा–स्त्री., वनस्पति० महाद्रोणा (रा. परि. ५.५०)
-कुसुम–न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध. ३.४१) लवंग.
-गन्धा–स्त्री., वनस्पति० महामेदा (रा. ५.१६४)

-गिरि–पु., पर्वत० अत्र चन्द्रमोऽभिधानः सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२७)

-जुष्ट–वि., देवाविष्टः, सन्तुष्टः शौचयुक्तो गन्धमाल्याभिलाषी निस्तन्द्रो यथार्थभाषी तेजस्वी निमेषरहितो वरप्रदाता ब्रह्मण्यश्च भवति देवग्रहाविष्टो नरः (सुउ. ६०.८)

-ताड–पु., वनस्पति० देवदाली (ध. १.१७३)

-ताडक–पु., वनस्पति० देवदाली (च. क. २३).

-दंशक–न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८०)

-दण्डा–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः नागबला (रा. ४.४२८) द्र० 'बला'

-दारु–पु. न., वनस्पति० सुगन्धिवृक्षः (चसू. ३.२५) व्रणधूपनद्रव्यम् (सुसू. ३७.२१) तद्गुणाः–तिक्तः, उष्णः, स्निग्धो (ध), रूक्षो (रा), वातकफज़िदामदोषविबन्धाऽऽध्मानप्रमेहभूतदोषघ्नः (ध. १.७६) शोथतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित् (र. १३.४९)

हिं.—देवदार.

म.—देवदार.

गु.—देवदार.

बं.—तून.

त.—देवदारु.

फा.—देवदार.

-दारुतैल–न., तैल० तिक्तं कटु कषायं दुष्टव्रणशोधनं कृमिकफकुष्ठानिलहरम् (सुसू. ४५.१२३)

-दाली–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–तिक्ता, कटु, उष्णा, छर्दिकृत्, कफघ्नी, ज्वरश्वासकासहिध्माऽरुचिक्षयशोथपाण्डुकामलागरभूतनाशिनी (रा. ३.२४४–२४५) (ध. १.१७३–७४)

हिं.—सोनैया.

म.—देवडांगरी, देवदाली.

गु.—कुकडवेला.

बं.—देयाताडा.

-दासी–स्त्री., वनस्पति० बीजपूरकः (रा. ११.३४)

-दुन्दुभि–पु., वनस्पति० तुलसी (ध. ४.५०)

-दूती–स्त्री., वनस्पति० बीजपूरकः (रा.११.३३)

-द्रु–पु., वनस्पति० देवदारुः (र. २६.३८)

-द्रुम–पु., वनस्पति० देवदारुः (र. २६.३६)

-द्रोह–पु., मनोभाव० देवगुरुसिद्धानां द्रोहः (सुसू. २४.७)

-धान्य–न., वनस्पति० यावनालः (रा. १६.१६९)

-धूप–पु., निर्यास० रालः (र. २०.१९६)

-नालोत्तम–पु., वनस्पति० महानलः (ध. ४.१४२)

-निर्मिता–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.३)

-पर्ण–न., वनस्पति० सुरपर्णकः (रा. परि. १०.५०)

-पुत्रिका–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

-पुत्री–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

-प्रिय–पु., वनस्पति० भृङ्गराजभेदः पीतभृङ्गराजः (रा. ४.२१) द्र० 'भृङ्गराजः'

-बला–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा. ५.३७९)

-मणि–पु., वनस्पति० महामेदा (ध. १.१२७)

-यजनागार–न.,देवयजनस्याऽगारम् (चक. १.९)

-लाङ्गुलिका–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रा. परि. ९.८)

-वन्ध्या–स्त्री., देवकोपेन जायमानो वन्ध्याभेदः (र. २२.२)

-शत्रु–पु., दैत्याख्यो ग्रहः (सुउ. ६०.९)

-शत्रुजुष्ट–पु., दैत्यग्रहाविष्टः, तल्लक्षणानि–प्रस्वेदयुक्तो देवद्विजगुरुनिन्दको वक्रलोचनो निर्भयो विमार्गाहितदृष्टिः प्रभूतैरप्यन्नपानैरसन्तुष्टो दुष्टस्वभावश्च भवति (सुउ. ६०.९)

-शेखर–पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.१२०)

-श्रेणी–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (ध. १.१३)

-सर्षपक–पु., वनस्पति० कटुरुष्णो रुच्यः कफनाशनो जन्तुदोषहरो वक्त्रामयविशोधनः (रा. परि. ९.४२)

-सहगिरि–पु., (परिव०) पर्वत० अत्र चन्द्रमोऽभिधानः सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि.२९.२७)

-सहा–स्त्री., वनस्पति० महाबला (ध. १.२८२)

-सुन्द–पु., जलाशय० अत्र चंद्रमोऽभिधानः सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२८)

-सेना–स्त्री., अष्टोत्तरशतमङ्गलपदार्थेष्वेकः (असंशा. १२.८)

-हृद्या–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (ध. परि. ३.२)

देवता–स्त्री., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७)

देवल–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१०)

देवाह्व–पु., वनस्पति० देवदारुः (अहसू. १५.३५)

देवाह्वय–पु., सुरदारुः (अहसू. १५.९)

देवाह्वय–न., वनस्पति० सहदेवा विश्वदेवा च (अहसू. १५.९)

देवार्ह–न., वनस्पति० सुरपर्णकः (रा. परि. १०.५०)
(देवार्हा)–स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४-४२५)
(देवी) काण्डा–स्त्री., वनस्पति० महाद्रोणा (रा. परि. ५.५०)
देवी-भागवतम् (र. २२.२०-२१)
–रज–न., खनिज० गन्धकः (र. २.२)
–शास्त्र–न., देवी पार्वती, तदुक्तं रसविद्याशास्त्रम् (र. २२.२०-२१)
–शुक्र–न., खनिज० अभ्रकम् (र. २.२)
देवेष्ट–पु., निर्यास० रालः (रा. १२.१७६)
गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)
(देवेष्टा)–स्त्री., वनस्पति० महामेदा (रा. ५.१६३)
बीजपूरकः (रा. ११.३४)
देवोन्मत्त–पु., देवाविष्टः, लक्षणानि–सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यमकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनं देवोन्मत्तं विद्यात् (चचि. ९.२०)
देश–पु., स्थानम् (चवि. १.२२ (२) **अधिष्ठानम्** (चवि. ८.७५) **देशो द्विविधः भूमिः, आतुरश्च** (चवि. ८.८४) **भूमिर्देहश्च** (अहसू. १.२३) **भूमिप्रविभागः त्रिप्रकारकः-आनूपो जाङ्गलः साधारणश्च** (चक. १.८-९) (सुसू. ३५.४२)
–प्रधान–पु., देशाध्यक्षो देशाधिपो वा (चवि. ३.२०)
–सात्म्य–न., देशविपरीतगुणम् (चवि. १.२२ (५) **भूमिसात्म्यम्, तच्च समुदायैकदेशभेदेन द्विविधं–तत्र समुदायस्य यथा–जाङ्गलदेशे यावाहाराचारावानूपे तौ विपरीतौ, आनूपे कफोल्बणत्वेन कफविपरीतगुणरूक्षादिगुणोपेतौ आहारविहारौ देशावयवानामपि यथा बाह्लीकपल्लवचीनादीनां माषगोधूममाध्वीकादिभिः सात्म्यम्** (सुसू. ३५.३९)
–सात्म्याध्याय–पु., अध्यायविशेषस्य संज्ञा (काखिल. २५.१)
–देशिक–पु., गुरुः (र. ७.३०) उपदेष्टा (असंनि. ६.७)
–देश्य–वि., प्रायेण तुल्यम् (सुक. ४.३६)
देह–पु., शरीरम् (सुउ. ६६.६-७) स्थूलकृशमध्यभेदेन त्रिविधो देहः (सुसू. ३५.३३) द्र० 'शरीर'
–कृत्–वि., शरीरदार्ढ्यकारी (र. २.७१)
–खेद–पु., देहश्रमः (असंसू. ९)
–चिन्तक–वि., शरीरविषये विचारणपरः (सुउ. ३७.१०)
–द–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४२)
–(दा)–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (ध. परि. ३.३)
–धातु–पु., रसादिधातुः (चचि. १५.५)
–धारण–न., देहस्य धारणम् (असंसू. १०.३)
–धृष्–वि., देहधारकः (सुनि. १.१३)
–प्रकृति–स्त्री., देहस्वास्थ्यम् (चक. चसू. ७.४०)
–बन्ध–पु., देहस्य मूर्तिराकृतिश्च (असंशा. ८.३२)
–बल–न., देहसामर्थ्यम् (सुसू. १५.५ (१)
–बृहत्त्वकृत्–वि., पुष्टिप्रदम्, देहबृंहणकरम् (असंसू. २४.५८)
–भेद (परिव०)–पु., देहविनाशः, मृत्युः (सुनि.१.२१)
–वृत्ति–स्त्री., देहस्यारोग्यम् (चवि. ३.१४)
–वेदना–स्त्री., शारीरव्यथा (कासू. २५.४)
–सन्धुक्षण–न., शक्त्युपचयलक्षणबलसंदीपनं पुष्ट्यादिवहमित्यर्थः (ड, सुचि. ३१.५७)
–संभवहेतु–पु., देहोत्पत्तिहेतुः (सुसू. २१.३)
–सात्म्य–न., देहस्य सात्म्यं नाम उपशयः (असंसू. ७.२३५-२३६)
देहली–स्त्री., गृहद्वाराधःकाष्ठम् (चशा. ८.१९) द्वारदेहसंरक्षिका (र. १०.३६)
देहिन्–वि., देहवान् देहविशिष्टो वा (आत्मा) (चशा. १.७९)
पु., मनुष्यः (सुचि. ३६.२७)
देहेन्द्रियमनस्तापिन्–वि., देहमिन्द्रियं मनश्च तापयति पीडयतीति (चचि. ३.४)
देहोष्मन्–पु., सकलशरीरगतोष्णत्वम् (चचि. ३.१३०) देहस्यौष्ण्यम् (असंसू. ३७.२६)
देहौजस्–न., देहस्यौजः, देहसारः (चसू. १७.६०)
दैत्यमेदज–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८८)
दैत्या–स्त्री., वनस्पति० मुरा (ध. ३.६७)
दैन्य–न., लक्षण० क्लिष्टचित्तता (सुसू. १.२५ (३) ग्लानिः (ड. सुउ. ३९.८३) रोदनादि (चवि. ४.८)
दैर्घरात्रिक–वि., दीर्घकालानुबंधी अथवा दीर्घां रात्रिं मरणरूपां करोतीति दैर्घरात्रिकः (ज्वरः) (चचि. ३.५२-५३)
दैर्घ्य–वि., दीर्घताऽधिक्यं वा (अहसू. ४.३०)
–श्रवस–पु., ऋषिः (असंसू. ९.११५)
दैव–न., पौर्वदेहिकमात्मकृतं यत् कर्म तद् दैवम्, 'दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्' (चवि. ३.३०) **तच्च कालजरोगस्य हेतुः** (चशा. १.११६)

वि., देवस्येदमिति दैवम्, देवनिमित्तकं देवसम्बन्धि वा (सुसू. २९.१७-१८)

-जन्मन्-वि., दैवात् पूर्वजन्मकृतकर्मणो जन्म उत्पत्तिर्येषां ते (रोगाः) अदृष्टहेतवः (असंसू. २२.४)

-बलप्रवृत्त-वि., दैवशक्तिजातः द्र० 'रोग' (सुसू. २४.७)

-व्यपाश्रय-वि., अदृष्टसंश्रयी (उपक्रमविशेषः) व्याधिप्रतिकारार्थमदृष्टमाश्रित्य क्रियमाणं बलिमङ्गलादि (चसू. १.५८) मन्त्रौषधिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमना-दिदैवव्यपाश्रयं औषधं भेषजम् (चसू. ११.५४; चवि. ८.८७)

दोःपाद-पु., हस्तः पादश्च (र. २३.७)

दोग्ध्री-वि., दुग्धवती (चशा. ८.५२) बहुक्षीरा (सुशा. १०.२५)

दोलायन्त्र-न., यन्त्र० स्वेदनयन्त्रम्, तत्स्वरूपं मुखस्योभयतः कृतद्वारद्वये स्थापितस्य दण्डस्य मध्ये निहितायाः पोट्टल्याः परिपाचनार्थं निर्मितं द्रवेणार्धपूरितं भाण्डम् (र. ९. ३-४)

दोष-पु., वातादिः, तत्संज्ञा निरुक्तिश्च-दूषणस्वभावत्वाद्दोषः, दूषयति नाम विकारं जनयतीति दोषः (असंसू. २०.३) तत्सङ्ख्या-वायुः पित्तं कफश्चेति समासतस्त्रयो दोषाः (चसू. १.५७; अहसू. १.६) रक्तस्यापि दोषत्वं सुश्रुतवचनाधारेण पूर्वटीकाकारैराषाढधर्मदासादिभिः स्वीकृतमस्ति (मधुकोश मा. पंचनिदान) तत्र वायौ, वा गतिगन्धनयोरिति धातुः । पित्ते, तप सन्तापे इति । श्लेष्मणि, श्लिष आलिङ्गने इति । एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मा इति च रूपाणि भवन्ति (सुसू. २१.५) तत्पर्यायाः-वायुर्वातः पवनो मारुतः समीरणश्चेति वातस्य, पित्तमग्निश्चेति पित्तस्य, श्लेष्मा कफो बलासश्चेति कफस्य, तदुत्पत्तिः-पञ्चमहाभूतेभ्यः अविकृतानां वातादिदोषाणामुत्पत्तिः, तत्र वाय्वाकाशधातुभ्यो वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा (असंसू. २०.३) तद्देवताः-वातपित्तकफा द्वे द्वे देवते आश्रिताः । वायुर्मारुतमाकाशं च, पित्तमग्निमादित्यं च, कफः सोमं वरुणं च श्रितः (का.वि.) अविकृतदोषाणां स्थानानि-त्रिदोषाः सर्वदेहचराः सर्वदेहव्यापिनश्च सन्ति । तत्रापि हृदयादूर्ध्वं कफो विशेषेण, पित्तं हृदयनाभ्योर्मध्यभागे वायुर्नाभेरधोभागे च तिष्ठति । पुनश्च पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियं स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः । नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसो दृक्स्पर्शनं च पित्तस्थानानि, नाभिस्तत्र विशेषतः । उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं जिह्वा च कफस्थानानि तत्रोरस्तु विशेषतः (अहसू. १२.१-३) तत्कालः-अहोरात्रिभुक्तानामन्तमध्यप्रथमकालेषु क्रमशो वातपित्तकफानामुत्पत्तिर्वृद्धिर्वा भवति । तथा बाल्ये कफस्य, यौवने पित्तस्य, वार्धक्ये वातस्य च वृद्धिर्भवति (अहसू. १.८) ऋतुषु दोषगतिः-वायोर्ग्रीष्मे चयो, वर्षासु प्रकोपः, शरदि प्रशमश्च; पित्तस्य वर्षासु चयः, शरदि प्रकोपो हेमन्ते प्रशमश्च; श्लेष्मणः शिशिरे चयो, वसन्ते प्रकोपो ग्रीष्मे प्रशमश्च भवति । तत्र ग्रीष्मकाले लघुरूक्षादिभिरोषधीभिस्तद्विधो वायुर्लघुरूक्षे देहे चीयते, परन्तु ग्रीष्मकालस्यौष्ण्याद्वातस्य प्रकोपो न भवति । वर्षासु सर्वगुणैर्वातस्य प्रकोपो भवति । वर्षास्वम्लविपाकादिभिरोषधीभिस्तादृशं पित्तं चयं याति । वर्षाकालस्य शैत्यतः पित्तस्य कोपो न भवति । वर्षाशीतोचिताङ्गानां नराणां वर्षासु संचितं पित्तं शरद्यर्करश्मिभिः सहसा तापेन कुप्यति । हेमन्ते शिशिरे च स्निग्धशीताभिरोषधीभिः कफश्चीयते । कालदेह्योस्तुल्यत्वेऽपि स्कन्नत्वात्कफस्य प्रकोपो न भवति । वसन्ते सूर्यसन्तापात्कफस्य विलयनं, ततः प्रकोपश्च भवति (अहसू. १२.२४-२७) दोषसम्बन्धाद्यग्निस्वरूपम्-वातेन विषमोऽग्निः पित्तेन तीक्ष्णः, कफेन मन्दश्च भवति । समैर्दोषैः समोऽग्निर्भवति । कोष्ठोऽपि वातेन क्रूरः, पित्तेन मृदुः, कफेन मध्यः, समैरपि दोषैश्च मध्य एव भवति (अहसू. १.८-९) दोषाणां गतिविशेषाः-अवस्थाभेदेन दोषगतिः प्राकृती वैकृती चेति द्विविधा । वर्षादिषु पित्तादीनां चयप्रकोपप्रशमास्तु कालकृता गतिः । क्षयः स्थानं वृद्धिश्चेति दोषाणां प्रमाणतस्त्रिविधा गतिः । ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चेति देहे त्रिविधा गतिः । तथा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु च त्रिविधा गतिः (चसू. १७.११२-११५) अविकृतदोषकर्माणि - उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा-

वेगप्रवर्तनैर्धातूनां सम्यग्गत्याऽक्षाणां पाटवेन चाविकृतो वायुर्देहमनुगृह्णाति । अविकृतं पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैर्देहमनुगृह्णाति । अविकृतः श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिर्देहमनुगृह्णाति (अहसू. ११.१–३) तथा च शुक्रार्तवादिसहकारितया दोषा एव देहसंभवहेतवो भवन्ति (सुसू. २१.३) विकृतवृद्धदोषकर्माणि– काश्यैकार्ष्यौष्णकामित्वादीनि वातस्य, पीतविण्मूत्रनेत्रत्वगादीनि पित्तस्य, अग्निसदनप्रसेकाऽऽलस्यगौरवादीनि श्लेष्मणश्च (अहसू. ११.५-७; असंसू. १९.६) दोषसामान्यचिकित्सा – क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति (सुचि. ३३.३) कुपितं त्वविरोधयन् चये एव दोषं जयेत् । सर्वकोपे शेषदोषाविरोधतो बलीयांसं दोषं जयेत् (अहसू. १३.१५; असंसू. २१.१५-१७) शरीरजानां वातपित्तकफानां विकृतदोषाणां क्रमेण बस्तिविरेकवमनानि तैलघृतमधूनि च परमौषधानि (अहसू. १.२५-२६) रोगः (चवि. ६.४; सुसू. ४१.१०) प्रमादः (चवि. ८.५४)

(दोषा)–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (र. २८.८९)

–कर्मजव्याधि–पु., रोगप्रकार० अल्पके हेतौ महारम्भो व्याधिर्दोषकर्मजः (अहसू. १२.५८)

–कृतदुष्टि–(परिव०) स्त्री., दोषैः कृता दुष्टिः (असंसू. १९.१९)

–कोपकारण–न., दोषाणां कोपहेतुः, असात्म्यैरर्थैः संयोगः, कालो दुष्कृतं कर्म चेति त्रीणि कारणानि 'कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यादिमात्रकः' इत्यनेनाऽपि दोषाणां कोपकारणानि उक्तानि स्फुटम् (अहसू. १२.३५)

–क्षयविकार–पु., वातादिदोषाणां क्षयादुद्भूतो विकारः, यथा क्षीणो वायुः प्रसेकारुचिहृल्लासादीन् करोति । स्तम्भशैत्यानियततोददाहारोचकादींश्च पित्तम् । श्लेष्मा च भ्रमोद्वेष्टनाऽनिद्राऽङ्गमर्दपरिशोषादींश्च करोति (असंसू. १.९९–११)

–घातिन्–वि., दोषघ्नं हिक्काच्छर्दादिरोगघ्नं च (अहसू. ६.१२६)

–घ्न–वि., रोगहरम् (सुसू. ३४.२३)

–चय–पु., दोषाणां स्वधाम्नि वृद्धिः (असंसू. ५)

–दुर्बल–वि., दोषैर्दुर्बलो तैर्व्याधितो वा (सुसू. १३.११)

–धातुभिषग्जित–न., यद्विकृतं दोषं धातुं चैककालं साम्यावस्थां नयति तत् भेषजादि (चवि. ३०.१५१)

–धातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय– वि., अध्याय० (सुसू.१५)

–नाशन–वि., दोषशामकत्वेन दोषनाशनम् (चवि. १६.९२२)

–निबद्धायुस्-वि., मलादिरूपे देहस्थे दोषे निबद्धमायुर्यस्य (चसि. १०.१२)

–निर्हरण–(परिव०) न., दोषाणां वमनविरेचनादिना शोधनम् (सुचि. ३३.५०)

–पचन–न., दोषाणां निरामावस्थाऽऽपादनम् (असंचि. १)
अत्रपक्वस्याऽपि दोषस्य लङ्घनादिना पाचनं सङ्ग्रहनिनीषया कार्यमिति ज्ञेयम् (अहचि. १.१०३) तथैव ' धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते' इत्यनेन चरकवचनेन दोषाणां पचनं प्रसादस्तरादिपर्यवसितमुक्तमेवेति अनुसन्धेयम् ।

–परिप्लुति–स्त्री., दोषस्य समन्तादागमनम् (सुउ. १७.८२)

–पाक–पु., दोषस्य पक्वता तल्लक्षणम् –'दोषप्रकृतिवैकृत्यं ज्वरदेहयोः लाघवम् इन्द्रियवैमल्यं च' (मानि. मधु. चक. १२.६५; अहनि. २.३३)

–पाचन–वि., आमसंसृष्टानां दोषाणां पाचकम् (सुसू.३८.२८)

–प्रकृति–स्त्री., दोषस्वभावः (सुसू. ६.१९.)
तस्य तस्य दोषस्याऽधिक्येन संजाता प्रकृतिः (चवि. ६.१३)
येन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते तेन दोषेण आरब्धा प्रकृतिर्दोषप्रकृतिरुच्यते (चवि. ८.९५)
वि., व्याधिः दोषो नाम दोषवैषम्यं एव प्रकृतिः कारणं हेतुर्वा यस्य सः (व्याधिः) (चवि. ६.४)

–प्रकृतिवैकृत्य–न., उच्छ्रिताया दोषप्रकृतेरन्यथात्वम् (सुउ. ३९.११६)

–प्रच्यावन– न., उपक्रम० दोषाणां प्रकर्षेण निर्हरणम् (सुचि. १.१२७)
विरेचनम् (सुसू. ३९.११)

–प्रतिपक्ष–वि., दोषविपरीतम् (असंसू. ३६)

–प्रभाव–पु., दोषस्य कार्यविशेषकारित्वम् (चवि. १.१२)

–प्रमाण–न., वातादेरल्पाऽनल्पादिपरिमाणम् (चवि. ४.८)

–प्रशमन–वि., दोषशामकम्, लङ्घनादिना (द्रव्यम्) (चसू. १.६७)

–बलप्रवृत्त–वि., दोषा वातादयो रजस्तमसी च। तेषां बलं शक्तिः, तत्प्रवृत्तो व्याधिः। स च पक्वाऽऽमाशयसमुत्थभेदाद्विविधः।
पुनश्च शारीरमानसभेदाद्विविधः (सुसू. २४.५)

–बहुल–वि., मलरूपपुरीषादिबहुलम्, पुरीषादिबहुलम् (सुउ. ४०.१३०)

–बीज–न., दोष एव बीजम् (असंनि. २.६७)

–भक्षित–वि., लक्षण० वातादिदोषैराक्रान्तम्, पूयभक्षितम् (मांसादि) (अहसू. २९.७)

–भेद–पु., दोषप्रकारः, वृद्धिक्षयसाम्यविभेदतो दोषभेदस्त्रिधा (असंसू. १.२३)
त्रिदोषाणां परस्परमेलनेन संभूतः संसर्ग० दोषभेदास्त्रिषष्टिः, ते एवम्– एकशः षट्, द्विशः पञ्चविंशतिः, त्रिशश्च द्वात्रिंशत् (सुउ. ६६.४)

–भेदविकल्प–पु., अध्याय० (सुउ. ६६.१)

–भेदीय–वि., अध्यायविशेषः (असंनि. १५)

–लक्षण–न., वातादिदोषाणां रूक्षशीतत्वादिलक्षणानि (अहसू. १२.५४)

–लिङ्ग–न., (परिव०) वातादिदोषलक्षणम् (सुउ. ५६.१०)

–वक्तृ–वि., देवद्विजगुरूणां दोषोद्घाटकः निन्दकः (सुउ. ६०.९)

–वती–स्त्री., विरुद्धधर्मयोरेकत्रसमावेशरूपदोषयुक्ता (चवि. ६.४)

–वर्जित–वि., कृमिविषशस्त्राद्युपघातादिदोषैरत्यक्तम् (सुसू. ३६.१३)

–वाहिस्रोतस्–न., (परिव०) स्रोतो० वातादिदोषवाहकं स्रोतः, समानवायोः स्थानमेतत् (चचि. २८.८)

–विकल्पविद्–वि., दोषाणां विकल्पस्य ज्ञाता (चसू. २६-२७)

–विग्रथित–वि., दोषमिश्रितम् (सुचि. ३४.६)

–विभ्रान्तचेतस्–वि., रोग० दोषवृध्या विभ्रान्तं चेतो यस्मिन्, स उन्मादः (चक.चक. १०.५)

–विष–न., दोष एव विषम् (असंनि. २.६८)

–वृद्धिविकार–पु., वातादिदोषवृद्धया जायमानो व्याधिः (असंसू. २०.३७) ते च व्याधयः काश्यैकार्ष्ण्यादयो वातस्य, पीतत्वग्ग्लानीन्द्रियदौर्बल्यादयः पित्तस्य, श्वैत्यशैत्यादयश्च कफस्येति (असंसू. १९.६)

–वेग–पु., दोषगतिः (चचि. १०.८)

–वेगोदय–पु., दोषवेगवृद्धिः (असंसू. ३२.६)

–वैषम्य–न., दोषविकृतत्वम्, दोषाणां प्राकृतप्रमाणन्यूनत्वं प्रमाणाधिक्यं वा चयप्रकोपप्रभृतिरोगावस्थारूपमनुसंधेयम् (असंसू. १.४३; अहसू.१.२०)

–शमन–वि., दोषशामकम् (लङ्घनादिना), दोषप्रशमनम् (सुसू. ४६.४३७)

–शमनत्व–न., दोषशमनसामर्थ्यम् (असंसू. १२)

–संघात–पु., दोषाणां मेलनम् (चक. १.५)

–संघातभेदन–वि., दोषसमूहपृथक्करणम् (सुसू. ४६.४३६)

–समता–स्त्री., दोषसाम्यम् (सुनि. १.१०)

–समुच्छ्रिति–स्त्री., दोषाणामौत्कट्यम्, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा प्रकर्षः (सुचि. ६.२१)

–साम्य–न., वातादिदोषाणां समत्वं–प्रकृतिस्थत्वम्, दोषाणां स्वरूपादप्रच्युतिः (अरु.) अविकृतत्वम् (हे. अहसू. १.२०; असंसू. १)

–स्थान–न., प्राकृतदोषसंश्रयस्थानम् (सुसू. २१.६; अहसू. १२.१८) तदपि पूर्वरूपावस्थायां विकृतत्वेन दोषाणां स्थानसंश्रयः (सुसू. २१.३३)

–स्यन्द–पु.,उपक्रम०रक्तपित्तादिदोषाणां निर्हरणम (असंशा. ५.४६)

–स्रोतस्–न. स्रोतो० दोषवहस्रोतः (सुउ. ३९.१०७) दोषश्च स्रोतश्चेति (सुउ. ३९.१०७)

–स्वभाव–पु., दुष्टीकरणस्वभावः (चशा. ६.१८)

–हर–न., उपक्रम० शोधनम् (ड. सुउ. ४२.१४०)

–हरण–न., उपक्रम० शोधनम् (अहचि. १.१०३) द्र० 'दोषहर.'

–हारिन्–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७१)

दोषल–वि., दोषजनकम् (सुशा. १०.३२) आमसंचयकारि (हे. अहसू. ५.४१)

दोषाग्नि–पु., दोष एवाग्निः (सुचि. १.१८)

दोषानद्ध–वि., आमदोषव्याप्तम् (सुचि. १.१२)

दोषानुकर्षिणी–वि., दोषनिर्हरणी (मात्रा) (चसू. १३.३४)

दोषानुगमन–न., संसृष्टेषु प्रधानदोषस्याप्रधानदोषेण अनुसरणम् (असंनि. ३)

दोषानुपशयित–वि., दोषाज्ञातम् (असंशा. ८)

दोषानुशयिता–वि., उल्बणवातादिभिवितोऽन्यभिचारिणी (प्रकृति.) (चक्र. चसू. ७. ४०)

दोषापकर्षण–न., उपक्रम० दोषाणां संशोधनम् (चवि. ७.३३)

दोषाप्रवृत्ति–स्त्री., लक्षण० वातादीनां निश्चलता (ड. सुउ. ३९.११७)

दोषावसेचन–न., उपक्रम० अपतर्पणभेदः शोधनम् (चवि. ३. ४३; असंसू. ११. ४६)

दोषाशय–पु., दोषाणां (विकृतिजनकत्वेन) संश्रयस्थानम् (चचि. १३. ११८)

दोषोच्छ्राय–पु., दोषोद्रेकः (सुउ. ३९.२०२)

दोषोच्छ्राय–(पु.,) दोषास्यौत्कव्यम् (सुचि. १.१२)

दोषोत्क्लेश–पु., दोषस्थो विक्लेदनलक्षण उत्क्लेशः (ड. सुचि. ३७.४७)

दोषोत्क्लेशिन्–पु., वनस्पति० वनबर्बरिकाभेदः (ध. ४.५८) द्र० ' बर्बर '

दोषोत्थ–वि., कुपितदोषसमुत्पन्नो व्याध्यादिः (अहसू. १२.५८)

दोषोदर–न., रोग० दोषजन्यमुदरम् (चसू. १.१०१)

दोषोद्रेक–पु., दोषस्याऽऽधिक्यम् (असंसू. २९)

दोषोपचय–पु., दोषपुष्टिः (सुसू. ६.१०)

दोषोपप्लवविशेष–पु., दोषाणां विशिष्टा दुष्टिः, स विशेषः पञ्चदशप्रकारकः, वातपित्तश्लेष्मशोणितान्येकशो द्विशश्त्रिशः सर्वशश्चेति संकरेण पञ्चदशप्रकाराणि । शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके इति व्रणाधिकारे (सुचि. १.५; सुसू. २१.२८)

दोषोपलिप्तवदना–स्त्री., सिरा० दोषव्याप्तमुखा सिरा (असंसू. ५)

दोस्–पु., न., शारीर० हस्तः (र. २३.७)

दोहद–पु., गर्भिण्या इच्छा, दौहृदम्, तृतीये चतुर्थे वा मासि गर्भिणीनां जायमाना इन्द्रियार्थेष्वभिप्रायाः (चनि. ३.१४; र. २२.४५)

दोहन–न., दोहनपात्रम्, दुहन्ति गां पयोऽस्मिन् दोग्धारः इति दोहनं दोहनपात्रमिति यावत् (सुचि. ३१.४२)

दौर्गन्ध्य–न., लक्षण० दुर्गन्धित्वम् (चसू. ५.९३)

दौर्बल्य–न., लक्षण० बलहीनता (चसू. १६.७; सुनि. ३.१६) शरीरबलहानिः मांसाऽपचयः (चनि. १.३३)

दौर्बल्यता–स्त्री., दुर्बलक्रियता, अत्र ' दुर्बलस्य कर्म ' दौर्बल्यम्, तस्य भावो दुर्बलता, तेन पितुर्बीजस्य दुर्बलक्रियता (चशा. २.२०)

दौर्मनस्य–न., लक्षण० दुश्चित्तत्वम् (सुसू. २९.४५) दौर्मनस्यमवृष्याणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)

दौर्हृद–न., गर्भिण्या इच्छा, दोहदः. तन्निरुक्तिः– स्वहृदयं गर्भहृदयं चेति द्वे हृदये यस्याः सा द्विहृदया, तस्या इदं दौर्हृदम्। तद्धेतुः– प्राक्तनकर्मसंबन्धाद्दैवयोगाच्च दोर्हृदं हृदि जायते (सुशा. ३.२८) दौर्हृदकालः–पक्षत्रयात्प्रभृत्यापञ्चमान्मासाद्दौर्हृदकालः (इन्दु. असंशा. २.१५–१७.) गर्भस्वभावान्मातुश्चतुर्थादिमासेष्विन्द्रियार्थप्रार्थना (ड. सुसू. २४.५) प्राप्तदौर्हृदा गुणान्वितं सुतं प्रसूते। अलब्धदौर्हृदा त्वात्मनि गर्भे वा भयं लभेत (सुशा. ३.१९–२१) श्रद्धाविघाताद्गर्भस्य विकृतिश्च्युतिर्वा भवति (अहशा. १.५४; असंशा. २.२०) प्रार्थनायां च तीव्रायां काममहितमप्यस्यै हितोपसंहितं दद्यात् । श्रद्धाविघातस्तु न करणीयः (असंशा. २.१९) येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौर्हृदविमानना भवेत् तस्मिन् तस्मिन्निन्द्रिये सुतस्यार्तिः प्रजायेत (सुशा. ३.१९–२१) दौर्हृदेऽवमानिते वातप्रकोपेण गर्भः कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिम्मिणो वा भवति (सुशा. २.५१) राजसंदर्शनविषये दौर्हृदे सत्यर्थवन्तं महाभागं कुमारं सूते। तथा दुकूलपट्टादिविषयेऽलङ्कारैषिणं ललितं च, आश्रमे संयतात्मानं, देवताप्रतिमायां पार्षदोपमं, व्यालादिदर्शने हिंसाशीलं, गोधामांसाशने सुषुप्सुम्, गोमांसे बलिनं, माहिषे शूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्, वाराहे स्वप्नालुं शूरम्, मृगमांसाद्वनचरं जङ्घालम्, सृमराद्विभ्रमनसम्, तैत्तिरान्नित्यभीतं सुतं सूते। यथा समभिध्याति सा तथा शरीराऽऽचारशीलैः समानं सुतं जनयति (सुशा. ३.१८–२७)

–विमानन–न., गर्भिण्याः श्रद्धाविघातः (सुशा. ३.१८; असंशा. २. २०)

(–विमानना)–स्त्री., दौर्हृदखण्डितत्वम् (सुशा. ३.२१)

दौर्हृदावमानन–(परिव०) न., गर्भिणीश्रद्धाया असम्पूर्तिः (सुशा. २.५१)

दौर्हृदिनी–स्त्री., द्विहृदया नारी (सुशा. ३.१८; असंशा. २०.१७)

द्यूत–पु., न., क्रीडा० पाशकादिक्रिया, कैतवम् (सुचि. २४.१०१)

द्यो–स्त्री., स्वर्गलोकः (सुचि. ३०.३)

द्रङ्क्षण–न., मान० शाणद्वयम्, 'शाणौ द्वौ द्रंक्षणं विद्यात्' (चक. १२.८९) कोलम्, तोलकार्धम् (र. २०.३६)

द्रव–पु., आप्यो गुणः सान्द्रविपरीतः (चशा. ६.१०; सुशा. १.१९) तस्य कर्म प्रक्लेदनम् (सुसू. ४६.५२०) उदकधातुः (सुउ. ४०.१२५.)
न., आहारद्रव्य० तक्रभेदः, मथितम् (ध. ६.१८९)
वि., द्रुतिमद्द्रव्यम् (सुशा. १.१९)

–ता–स्त्री., द्रवभावः (सुसू. १४.९)

–द्रव्य–न., जलीयं द्रव्यम्, तोय-क्षीर-दधितक्रेक्षु-रसादि (अहसू. ५.१)

–द्रव्यविज्ञानीय–पु., अध्याय० (अहसू. ५)

–धातु–पु., द्रवत्वगुणयुक्तो धातुः (चचि. १५.२४) धातोर्द्रवरूपोंऽशः (चचि ४.८)

–रसा–स्त्री., भैषज्य० लाक्षा (रा. ६.१४२)

–स्वेद–पु., स्वेद० द्रवद्रव्यैः स्वेदः, स द्विविधः परिषेकावगाहभेदात् (सुचि. ३२.३) तद्विधिः – वातहरद्रव्यक्काथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत् । एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याऽम्लघृत-वसामूत्रेष्ववगाहेत्सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेत् (सुचि. ३२.१३; असंसू. २६.६; अहसू. १७.१)
द्र० 'स्वेद'

द्रवन्ती–स्त्री., वनस्पति० सुतश्रेणी (रापरि. ४.१६)
आखुकर्णी (रापरि. ३.२१) आखुपर्णिका, मूषिकपर्णी, (सुउ. ५२.२०; असंउ. १०)
समुद्रैरण्डः (इन्दु. असंउ. १०) चीरितपत्रा, दन्तीभेदः, फलमस्या विरेचने उपयुज्यते (चसू. २.१०, १.७८; चक. ११.१३; सुउ. ४२.६३)
द्रवन्तीगुणाः– मधुरा शीता रसायनी रसबन्धनी त्रिदोषघ्नी ग्रहणी-तृष्णा-ग्रन्थि-प्रमेह-जठर-गर-पाण्डु--कृमिकोष्ठ-भगन्दर-हृद्रोग कृमि-ज्वर-शूलशमनी च (ध. १.२२९; चक. ११.१३.)
हिं.–बडी दन्ती.
म.–थोरदांती, मोगली एरंड.
गु.–मोटो नेपालो, रतनजोत.
बं.–सांबरी, बृहद्दन्ती.
त.–कटलामणक्कु.
फा.–दंतीनाहरी.

–स्नेह–पु., स्नेह० शम्बरीतैलम्, तद्गुणाः–तिक्त-कटुकषायोऽधोभागदोषहरः कृमिकफकुष्ठाऽनिलहरो दुष्टव्रणशोधनश्च (सुसू. ४५.१२४)

द्रविड–पु., देश० दाक्षिणात्यजनपदः (इन्दु. असंशा. १२.१२; काखिल. २५.१३)

(द्रविडी)–स्त्री., वनस्पति० एला (असंचि. ४)

द्रवोत्तर–वि., द्रवाढ्यं द्रवप्रधानं भोजनादि (सुसू. ४६.४१०)

द्रव्य–न., षट्सु पदार्थेष्वेकम् (चसू. १०.२८)
वैशेषिकसंमतसप्तपदार्थेष्वेकम् (चवि. ८.२७)
आधारकारणम् (चसू. १.६४) तल्लक्षणम्–क्रिया–गुणवत्समवायिकारणम् (चसू. १.५१; सुसू. ४०.३)
आहारभेषजादि सर्वं द्रव्यं पञ्चभूतात्मकम्, तथा-त्वेऽपि भूयसा व्यपदेशादाकाशीयवायवीयतैजसाप्य-पार्थिवभेदात्पञ्चविधम्, तत्र–आकाशीयं श्लक्ष्ण-सूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्द-बहुलं मार्दवसौषिर्यलाघवकरं च, वायवीयं सूक्ष्म-रूक्षादिगुणं वैशद्यादिकरं च, तैजसमुष्णतीक्ष्णादिगुणं दहनादिकरं च, आप्यं शीतस्तिमितादिगुणं स्नेहन-ह्लादनादिकरं च, पार्थिवं स्थूलसारसान्द्रादिगुणं स्थैर्यबलादिकरं च (चसू. २६.११; सुसू. ४१.३४; अहसू. ९.५-९)
तच्च पुनः सचेतनाचेतनभेदेन द्विधा (चसू. २६.१०; सुसू. १.२८) विचित्रप्रत्ययारब्धसमानप्रत्यया-रब्धभेदेन द्विधा, विचित्रप्रत्ययारब्धं यवादि समान-प्रत्ययारब्धं गोधूमादि च (अहसू. ९.२७-२८)
भौममौद्भिदं जाङ्गमं चेति त्रिधा (असंसू. १२.३)
शमनकोपनस्वस्थहितभेदेन त्रिधा (असंसू. १.३७)
ऊर्ध्वभागहर–अधोभागहर–उभयतोभागहरभेदात् त्रिधा, ऊर्ध्वभागहरं मदनफलादि, अधोभागहरं निकुम्भकुम्भादि, उभयतोभागहरं कोशातकीश-ङ्खिनीसप्तलादि (सुसू. ३९.३-५) मधुरादिरसभेदा त्षट्प्रकारकं मधुराम्ललवणकटुतिक्त कषाया-ऽऽत्मकम् ।
द्रव्यगुणाः–गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिर-सूक्ष्मविशदाः सविपर्यया लघुतीक्ष्णोष्णरूक्षखर-द्रवकठिनचलस्थूलपिच्छिला दश गुणा गुरुमन्दा-दिविपरीताः क्रमशो ज्ञेयाः विंशतिः (अहसू१.१८)
द्रव्यवीर्यम्– गुरुस्निग्धहिममृदुलघुरूक्षोष्णतीक्ष्णभे देनाष्टविधं (अहसू. ९.१२-१३) शीतोष्णवीर्येण द्विविधेति च (अहसू. ९. १७)

द्रव्यविपाकः– मधुराम्लकटुभेदात् त्रिविधः (अहसू. ९. २१) पाकस्य द्विविधत्वमेव सुश्रुतेन सिद्धान्तितं तद्यथा–'आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च' (सुसू. ४०. १०) अत्रापि मधुरः पाके गुरुः कटुकश्च पाकतो लघुरिति गुरुलघुत्वं बोध्यं सुश्रुतानुसारेण

द्रव्यकर्म– वमनविरेचनबस्तिनस्यशिरोविरेचनानि पञ्चकर्माणि (चसू. २६. १०) बस्तिर्विरेको वमनं शिरोरेकोऽस्रविसृतिः (अहसू. १४.७)

द्रव्यस्य रसादिसाम्येऽपि विशिष्टं कर्म प्रभावः (अहसू. ९. २६)

–प्रभाव–पु., द्रव्यस्य विशेषकर्मकर्तृत्वम्, अत्र द्रव्यप्रभावेण रसक्रमोक्तवीर्यविपाकविपरीतौ वीर्यविपाकौ अपि बौद्धव्यौ इति चक्रपाणिः (च. वि. १.१२)

–रसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ४०)

–विकारप्रभावतत्त्व–न., द्रव्यविकारयोः प्रभावनिर्णयः (चवि.१. ११)

–विशेषविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ४१)

–संग्रहणीय–वि., अध्याय० (सुसू. ३८)

–संभार–पु., द्रव्याणामेकत्र आहरणं समूहो वा (असंसू. २५.३)

द्रव्यापहृत्–पु., वनस्पति० चोरकः (र. २२.१६७)

द्रव्याभिनिर्वृत्ति–स्त्री., द्रव्यस्योत्पत्तिः (सुसू. ४१.३)

द्रष्टृ–वि., दर्शनकर्ता आत्मा (चशा. ४.८) रूपज्ञापकः (सुशा. ३.४)

द्राक्षा–स्त्री., फल० महाकषायवर्गे कण्ठ्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) कासहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६; असंसू. १५.३६) विरेचनोपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३; असंसू. १४.४) ज्वरहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६; असंसू. १५.३८) श्रमहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६; असंसू. १५.३९) स्नेहोपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (असंसू. १५.२६) मधुरफलवर्गे श्रेष्ठा (सुसू. ४६.३३४) आसवोपयोगिनी (असंसू. ६.१३३) रसवीर्यवृद्धिकरी (र. ११.३७) आर्द्रा द्राक्षाऽम्ला गुरुरुष्णवीर्या सरा पित्तकफप्रदा वातघ्नी च (असंसू. ७०.३०३) द्राक्षागुणाः–मधुराऽम्ला कषाया स्वादुपाका शीता गुरुः स्निग्धा रुच्या वृष्या सन्तर्पणी पित्तघ्नी रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयमूत्रदोषहरा च (ध. ५.५६) सृष्टमूत्रविट् चक्षुष्याऽनिलतिक्तास्यत्वमदात्ययकासस्वरभेदनुच्च (सुसू. ४६.१८३-१८४; अहसू. ६.११५-११७)

हिं.–अंगूर, मुनक्का.

म.–द्राक्ष.

गु.–द्राक्ष, धराख.

बं.–मनेक्का, आंगूर. किसमिस.

त.–तिराक्षै.

फ.–किशमिश, आंगूर.

–रस–पु., द्राक्षाया रसः, मृदुकोष्ठस्य विरेचनकरः (चसू. १३.६७)

–लेह–पु., योग० द्राक्षापिप्पलीतवक्षीरीनागरमधुकादिसाधितोऽयं पाण्ड्वाऽऽमयहृद्रोगकामलाहलीमकज्वरगुल्मोदरशोफोदावर्तहरस्तथा विरेकसाध्यव्याधिहरश्च (असंचि. १८)

–सर्पिस्–न., सिद्धघृत० द्राक्षालशुनादिसिद्धं घृतम्, राजयक्ष्महरमेतत् (का. राजयक्ष्मचि.)

द्राक्षासव–पु., आसुत० अयं मध्वासवसमः–छेदी तीक्ष्णो मेहपीनसकासजिद्दीपनश्च (असंसू. ६.१३२)

द्राक्षोत्तमा–स्त्री., फल० गोस्तनी द्राक्षा (चक्र. चचि. २०.३३)

द्राघिष्ठ–न., वनस्पति०कत्तृणम् (रा.८.१०८)

द्रामिली–स्त्री., वनस्पति०एला (र. २९.१३०)

द्राव–पु., द्रावणम्, स्त्रीणां कामपूर्तिजन्यं सुरतक्रीडाकालिकं मानभङ्गपुरस्सरवश्यतापादनं शैथिल्यं वा (र. ११.६५)

द्रावक–न., भैषज्य०सिक्थम् (रा.१३.१७४; ध.३.११९)

खनिज० टङ्कणभेदः, श्वेतटङ्कणम् (ध. २.२२; रा. ६.३१) द्र० 'टङ्कण'

एतल्लोहधातुद्रावकम्

कान्तलोहप्रकारेष्वेकम् (र. ५.८९)

–कन्द–पु., वनस्पति० तैलकन्दः (रापरि. ७.५०)

द्रावण–न., संस्कार० कठिनानां धातूनां द्रुतिकरणम् (र. १०.८२)

लवणबिडम् (ध. २.२८)

–गण–पु., लोहादिद्रुतिकरो गणः, गुडगुग्गुलुगुञ्जाघृतमधुटङ्कणानि (र. १०.९८)

–वर्ग–पु., गुडगुग्गुल्वादिद्रावणगणः (र. ३.९१)

द्रावणक–पु., खनिज० टङ्कणक्षारः (ध. २.२२)

द्राविक–न., लवण० सौवर्चलम् (रा. ६.३८)

द्राविड–पु., वनस्पति० कर्चूरम् (ध. ३.९४)
(द्राविडी)–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, सूक्ष्मैला (सुसू. ३८.५४; ध. २.४४) द्र० 'एला'
द्राविडक–न., लवण० बिडम् (रा. ६.३६)
द्रावित–वि., द्रुतभावमापादितम् (र. २.३८)
द्राविन्–पु., खनिज० टङ्कणक्षारः (ध. २.२२)
द्रावी–स्त्री., पारदसप्तकञ्चुकेष्वेकः, लोहादिद्रावको दोषः (र. ११.२२)
द्रुत–वि., द्रुतभूतम् (र. २.३८)
–**गति**–वि., शीघ्रविसरणशीलम् (सुनि. १०.५)
–**द्राव**–वि., शीघ्रद्रवणशीलम् (र. २.९३)
–**मति**–वि., लक्षण० उद्भ्रान्तमनाः (ड. सुउ. ६०.११)
द्रुति–स्त्री., स्वरसः (र. १७.३५)
रसादेः स्थिररूपा द्रवस्थितिः (र. १.१०) औषधाध्मानयोगेन धात्वादिकस्य लोहस्य या द्रवाकारस्थितिः सा द्रुतिः (र. ८.८३)
तल्लक्षणम्– निर्लेपत्वं द्रुतत्वं तेजस्त्वं लघुता सूतेनाऽसंयोगश्चेति पञ्चधा श्रेष्ठद्रुतिलक्षणम् (र. ८.८२)
–**बन्ध**– पु., पारदबन्ध० रसोपरसधातूनां या बहिर्द्रुतयस्ताभिः पारदस्य जारणं मारणं च। ईदृग्बद्धः पारदो दुःसाध्यरोगहरः (र. ११.८१)
द्रुपदी–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४२)
द्रुम–पु., वृक्षः (चसि. ३.७)
–**व्याधी**–पु., भैषज्य० लाक्षा (ध. ३.८२)
द्रुमारुहा–स्त्री., वनस्पति० कैवर्तिका (रापरि. ३.३५)
द्रुमेश्वर–पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)
द्रोण–पु., मान० चतुर्गुणः कंसः (चक. १२.९५) षोडशप्रस्थाः (चचि. २९.१०५) आढकचतुष्टयम् (सुचि. ३१.७; असंक. ८) द्वादशाधिकपञ्चशतपलानि (सुउ. ५२.४३) चतुर्विंशत्यधिकसहस्रतोलकानि (र. ११.७-८)
न., रत्न० वैकुण्ठम् (इन्दु. असंउ. ४२)
द्रोणि–स्त्री., भाण्ड० द्रोणी, इयं द्रवस्वेदाद्यर्थमुपयुक्ता (सुचि. ३२. १३)
–**चुल्ली**–स्त्री., द्रोण्याकाराऽङ्गारकोष्ठी (र. १६.६२)
–**ज**–न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६. ४९)
–**लवण**–न., लवण० तद्गुणाः–लवणमल्पोष्णमीषत्स्निग्धमविदाहि भेदनमल्पपित्तलं शूलघ्नं च (रा. ६.४९)

द्रोणी–स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रापरि. ३.२७) दारुकृतं नौसदृशं भाण्डम् (ड. सुचि. २.७८; चचि. १(२).१०; असंसू. २६.६) जलक्षेपणी (सुचि. १०.१३)
–**पुष्पी**–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुरुष्णा रुच्या पथ्या वातकफाऽपहाऽग्निमान्द्यहरा वातरोगाऽपहारिणी (रापरि.५. ४८)
हिं.–गोमा, मधुपाटी.
म.–बहुफूल.
गु.–कुलनुफूल.
बं.–दारुणफूला.
ता.–तुंबेकीरी
द्रौण–न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६.४९)
द्रौणेय–न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६.४९)
द्वन्द्व–न., द्विकरूपं मिथुनं द्वयम् (चशा.१.६९)
–**ज**–वि., दोषद्वयाज्जातः (चचि. ३.८९; सुउ. ३९.४६)
द्वन्द्वन–न., द्वन्द्वानम् (र. ८.४८) द्र० 'द्वंद्वान'
द्वन्द्वान–न., द्रव्यद्वयस्यैकत्रमर्दनेन ध्मानेन चैकत्रीकरणम् (र. ८.४८)
द्वान्द्विक–वि., द्विदोषजम् (चनि. १.२९)
द्वारदा– स्त्री; वनस्पति० शाकतरुः (चवि. ८.१३९)
द्वारपक्ष–पु., द्वारस्य पक्षः, द्वारपार्श्वः (चशा. ८.४७; असंउ. १)
द्वाःस्थ–पु., द्वारपाल (असंसू. ८.६१)
द्वि–वि., संख्या० (सुनि.१.८)
–**ककुद्**– पु., पशु० उष्ट्रः (असंचि. १०)
–**करञ्ज**–न., पूतिकरञ्जो नक्तमालश्चेति करञ्जद्वयम् (असंसू. १६.१५)
–**कर्ण**–वि., द्विकर्णिकम् (असंसू. ३४.१८)
–**क्षार**–न., यवक्षारः स्वर्जिकाक्षारश्चेति क्षारद्वयम् (र. ११.५०)
–**गुण**–वि., गुणद्वययुक्तम्, यथा शब्दस्पर्शगुणो वायुः (सुनि. १.८)
–**जीरक**–न., श्वेतकृष्णजीरकद्वयम् (र. १६.३६)
–**तालक**–न., तालयन्त्र० द्वे ताले नाम प्रदेशौ यस्य तत्, मत्स्यशकलवत् प्रतनुमुखद्विप्रदेशं द्वितालम्, इदं कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७.१२)
–**तिक्ता**–स्त्री., कटुका काकतिक्ता च (अरु.) कटुका करञ्जिका च (असंसू. १६.३४; हे. अहसू. १५.४०) किराततिक्तककटुरोहिणीति, स्तन्यशोधनगणे (चक. चसू. ४.१२)

-दल-न.,मुद्गाढकीमसूरादिदलद्वययुक्तं शिम्बीधान्यम् (र. ३.३५) रसलोहानां मारकमिदम्(र. ३०.६३)

-निशा-स्त्री., हरिद्रा दारुहरिद्रा च (असंसू. १६.३४; अहसू. १५.४०; र. २४.८३)

-पञ्चमूल-न., दशमूलम्-ह्रस्वपञ्चमूलं बृहत्पञ्चमूलं च (चसि. ३.५९; सुशा. १०.४५)

-पञ्चमूलरस-पु., लघुबृहत्पञ्चमूलयोः क्वाथः, निरूहेण सर्वोऽनिलव्याधिहरोऽयम् (चसि. ३.३५)

-पाद्-वि., मनुष्यमयूरकुक्कुटादिः (इन्दु.) वनमानुषमर्कटादिः (चक्र.) एतेषां नखदन्तक्षतानि सविषाणि, रागज्वरस्रावरुजान्वितानि शूनानि च भवन्ति (चचि. २३.२१९; असंउ.४६)

-प्रभव-वि., द्वे प्रभवस्थाने यस्य तत् (रक्तपित्तम्) (सुउ. २२.९)

-बिन्दुक-वि., बिन्दुद्वयमात्रम्, अत्र शेषाद्विभाषेति कप्प्रत्ययो विहितोऽस्ति (अहसू. २०.२९)

-बृहती-स्त्री., कण्टकारिका महोटिका च (असंसू. १६.१५; अरु. अहसू. १५.२१) कण्टकारीद्वयम् (र. २९.६५)

-मार्ग-वि., अधरोत्तरमार्गद्वयं यस्य तद् (रक्तपित्तम्) (सुउ. २२.९; चचि. ४.२४)

-मुख-वि., कृमि० मुखद्वययुक्तः, सप्तविधेषु पुरीषजकृमिष्वेकः (सुउ. ५४.८)

-योनि-वि., द्विप्रभवम् स्थावरजङ्गमात्मकम् (चसू. २५.३६)

-रद-पु., पशु० गजः (सुउ. ५७.१०)

-रदकिञ्जल्क-पु., वनस्पति० नागकेसरम् (र. १२.१२१)

-रदरदन-पु., गजदन्तः, अञ्जनस्थापनार्थमस्य पेटिका विधीयते (असंसू. ८.९६)

-रदाह्वया-स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (र. १२.१२१)

-रेतस्-वि., षण्ढ० द्विधा स्त्रीत्वपुरुषत्वोपजनकत्वेन स्थितं रेतो बीजं यस्य स द्विरेताः किंवा स्त्रीपुरुषलिङ्गी।
उपतप्तबीजाच्छुक्रशोणितादेतादृशी संभूतिः (चशा. २.१८)

-रेफगणसंमता- स्त्री., वनस्पति० तरणी (ध. ५.१४५)

-वार्ताकी- स्त्री., कण्टकारीद्वयम् (असंउ. २)

-विधोपक्रमणीय- वि., अध्यायसंज्ञा० (अहसू. १४.१)

-व्रणीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (कासंचि. द्विव्रणीयचि. १)

-व्रणीयचिकित्सित- न., अध्याय० (चचि. २५; सुचि. १)

-शफ-वि., पशु० द्वौ शफौ यस्य सः, यथा हरिणगोमहिषादिः (चचि. १७.११८)

-हृदया-वि., द्वितीयं हृदयं यस्याः सा-गर्भिणी (ड. सुशा. ३.१८; असंशा. २.१७)

द्विज-पु., विद्यासमाप्त्या द्वितीयं जन्म यस्य भवति सः (चचि. १ (४) .५३)
द्विर्जन्म यस्य स दन्तः (चसू. १७.६७; अहसू. ६.४०)
वनस्पति० तुम्बरुः (ध. २.४२)

(द्विजा) - स्त्री., वनस्पति० रेणुका (ध. ३.५१)

-कुत्सित-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५.९४)

-प्रिया-स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (धपरि. ४.४)

-सौम्या (रापरि. ३.२९)

द्विजामय-पु., दन्तव्याधिः (असंसू. ३.२९)

द्विधालेख्य-पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९८)

द्विपपिप्पली-स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (ध. २.७८; र. २९.८७)

द्विरन्न-न., द्वितीयं भोजनम्, अत्र द्विः अन्नमिति पदच्छेदः, तेन क्रियाविशेषणपूर्वपदः कर्मधारयोऽयं बोध्यः, अन्यथा क्रियाविशेषणत्वेन समासाभावात् (सुसू. ४६.४९२)

द्विरुत्तर-वि., पूर्वपूर्वद्रव्याद् उत्तरोत्तरं द्रव्यं द्विगुणम्, द्विरुत्तरं द्विगुणम् (सुउ. ५५.४४)

द्विष्ट-वि., प्रतिपुरुषाप्रीतिजनकम् (चचि. २०.१८) मनःप्रति घातकम् अरुचिकरत्वात् (सुसू. ४६.४७७)

द्वीप-न., वनस्पति० कङ्कोलम् (ध. ३.३७)

-कर्पूरज-पु., निर्यास० चीनकर्पूरः (रा. १२.६३)

-खर्जूरी-स्त्री., वनस्पति० पारेवतभेदः, महापारेवतम् (रा. ११.९०; ध. ५.६६) द्र० 'पारेवत'

-ज-न., वनस्पति० पारेवतभेदः, महापारेवतम् (रा. ११.९०) द्र० 'पारेवत'

द्वीपिका-स्त्री., वनस्पति० हिंस्रा, कण्टकारी (चक्र. चक. १.२२)
शतावरी (ध. १.२९१)

द्वीपिन्-पु., हिंस्रपशु० चित्रव्याघ्रः (ड. सुसू. ४६.७२; अहसू. ६.४८; धपरि. ६.६)

वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०; असंसू. ७.१५८; र. २९.८५)

(द्वीपि)-चर्मन्-न., चित्रव्याघ्रस्य चर्म, घृतमिश्रं धूपनोपयोगि (असंउ. ४)

-नख- पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रा. १२.१११)

-पत्र-न., चित्रकपत्रम्, अक्षिरोगे परिषेकार्थम् (काखिल. १३.५९)

-पित्त-न., भैषज्य० चित्रव्याघ्रस्य पित्तम्, विषहरमिदम् (असंसू. ८.२९)

-मद-पु., भैषज्य० हस्तिमदः (रापरि. ६.२०)

-मुख-न., स्वस्तिकयन्त्रभेदः, चित्रव्याघ्रमुखसदृशं यन्त्रम्, अस्थिनिमग्नशल्योद्धरणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७.१०)

-विष-न., चित्रव्याघ्रस्य विषम्, तल्लक्षणम्- कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमविदाहरागरुक्पाकशोफग्रन्थिविकुञ्चनानि दंशाऽवदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च भवन्ति (असंउ. ४६)

-शत्रु-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (ध. १.२९१)

द्वेष-पु., शत्रुता (चवि. ४.८) अप्रीतिः, तिरस्कारः (सुशा. १.१७; सुसू. १.२५(३))

द्वेष्या-वि., शत्रुभूता स्त्री., (सुचि. २४.११५)

द्वैप-वि., द्वीपिनश्चित्रव्याघ्रस्य संबन्धि (चर्मादि) (असंचि. २२; सुचि. ९.१६)

द्वैहृदय्य- न., दौर्हृदम्, द्विहृदयस्य भाव इति द्वैहृदय्यम्, भावार्थकोऽत्र ष्यञ्प्रत्ययः (चशा.४.१५)

द्व्यङ्गुल-न., अङ्गुलद्वयम् (असंशा. ७.३३)

द्व्यन्तर-वि., द्वाभ्यामन्तरितम् (असंसू. ९.३४)

द्व्यन्तरीकृत-वि., द्वाभ्यामन्तरीकृतम् (अहसू. ७.४८)

द्व्यहग्राहिन्-वि., रोग० विषमज्वरः, मध्येऽहनी ज्वरयति, आदावन्ते च मुञ्चति । चतुर्थकविपर्ययोऽयम् (चवि. ३.७३; चशा. १.११३)

द्व्याहिक-वि., रोग० यः प्रतिदिनं द्विवारं ज्वरयति सः (र. १२.६३)

ध

धत्तूर-पु., वनस्पति० उपविषमेतत्, स च सितनीलकृष्णलोहितपीतभेदात्पञ्चविधः, तत्र कृष्णः श्रेष्ठः, धत्तूरगुणाः- कटुरुष्णः कान्तिकरो भ्रमकृद्व्रण-कुष्ठज्वरत्वग्दोषकण्डूतिखर्जूघ्नश्च (ध. ४.७; र.१९. ४९) अस्य सेवनेन नरः सर्वं पीतकं पश्यति, अपि च तस्य कम्प--लाला--मद--च्छर्दिस्मृतिभ्रंश-भ्रमादयो भवन्ति (असंउ. ४०)

हिं.-धतूरा.

म.- **धोत्रा, धोतरा.**

गु.-धंतुरो.

बं.-धुत्तूरा.

त.-ऊमत्तै, इलकं.

फा.-तातुलह, कौसाबमात.

धत्तूरक-पु., वनस्पति० धत्तूरः (असंउ. ४०)

धनञ्जय-पु., वनस्पति० अर्जुनः (चचि. ४.७५., ध. ५.११४)

धनादक्ष-पु., वनस्पति० लताकरञ्जः (रापरि. ८.२४)

धनिक-न., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९७)

(धनिका)-स्त्री., वनस्पति० धान्यकम् (असंचि. ११; असंशा. ३.३५)

धनु-पु., वनस्पति० भल्लातकः (ध. ३.१४३)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि.९.२०)

धनुस्-न., चापः (चवि. ८.४२)

-स्तम्भ-पु., रोग० अस्मिन् शरीरं वातेन धनुरिव वक्रं भवति । स बाह्याभ्यन्तरभेदाद्द्विधा अङ्गुल्यादिसंश्रितो वेगवान्वायुः शरीरं धनुरिवाभ्यन्तरं नामयति सोऽभ्यन्तरायामः, बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बली वायुर्देहं धनुरिव बाह्यतो नामयति स बाह्यायामः (सुनि. १.५४-५७)

(धनुः)-कम्प-पु., वातरोग० बाह्यायामः (असंनि. १५.२९)

(धनुर्)-द्रुम-पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१५)

-लता-स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रा. ३.३) सौम्या, (रापरि. ३.२९)

-वक्र-वि., धनुरिव वक्रम् (असंशा. ७)

(-वक्रा)-स्त्री., सूचीभेदः, चापवत्कुटिला सूची, मानतः सार्धद्वयङ्गुला, पक्वाशयामाशयमर्मसु सीवनोपयोगिनी (अहसू. २६.२९)

-वात-पु., वातरोग० धनुःस्तम्भः (र. ३.१५१)

(धनुश्)-चल-पु., वातरोग० धनुःस्तम्भः (र. २१.१४१)

धनुष्य-पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१५)

धनेशायतन-न., पर्वत० हिमालयः (चसि. ३.३)

धनैषणा-स्त्री., धनेच्छा (चसू. ११.३)

धन्य-पु., वनस्पति० जरणद्रुमः, (रापरि. ९.१३)

धन्या-स्त्री., वनस्पति० कोशातकीभेदः महाकोशातकी (ध. १.१९०) द्र० ' कोशातकी '.

धन्व-पु., वनस्पति० वमनोपयोगिद्रव्येष्वेकम् (असंसू. १४.२) पिच्छिलगुणोऽयम् (असंशा. ४.३८)

–ज–वि., धन्वस्य काष्ठादि, दन्तधावने निषिद्ध-मेतत् (असंसू. ३.)

–भूमि–स्त्री., देश० जाङ्गलो मरुदेशश्च (सुशा. १०.१७)

–भूमिजाता–वि., धन्वभूमौ जातं जननं गर्भमोचनं यस्याः (सुशा. १०.१७)

–यवास–पु., वनस्पति० धन्वयासः (चचि. ७.१४५; असंसू. १५.२९)

–यवासक–पु., वनस्पति० धन्वयासः (चसू. ४.१४; ध. १.२०)

–यास–पु., वनस्पति० अर्शोघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११;) तृष्णानिग्रहणगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४)

तद्गुणाः – स्वादुस्तिक्तः कटुर्लवणोऽम्लः (रा.) शीतः उष्णः वातपित्तघ्नो दाहविषमज्वरतृषाच्छर्दि-प्रमेहमोहज्वरगुल्मघ्नश्च क्षुद्रधन्वासश्चाम्लमधुरो ज्वरकुष्ठकासश्वासश्रमघ्नः पारदशुद्धिकरश्च (ध. १.२०)

हिं.—धमासा.

म.—धमासा.

गु.—धमासो.

बं.—दुरालभा.

त.—काञ्चोरी.

फा.—वादावर्द.

–यासक– पु., वनस्पति० धन्वयासः (अहसू. १०.२९)

–रस– पु., जाङ्गलमांसरसः (अहसू. १९.५१)

धन्वन–पु., वनस्पति० धनुर्वृक्षः, बदरीसदृशपत्रः (ड सुचि. १५.९) अस्य फलमासवार्थमुपयुक्तम् (चसू. २५.४९)

धान्वनगुणः– कटुकः कषाय उष्णो दाहशोषकरो ग्राही कफनाशनः कण्ठामयशमनश्च (रापरि. ९.२०)

हिं.—धामिन, धाम्नि.

म.—धामिन, धामण.

गु.—धामण.

बं.—धामनागाछ.

–मृत्स्न–न., धनुर्वृक्षपिच्छा (सुचि. १५.९)

धन्वन्तरी–पु., देवता० आदिदेवः, अमराणां जरामृत्यु-हरः (सुसू. १.२१;) ऋषि० धनुः शल्यशास्त्रम् तस्यान्तं पारमियर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः (चशा. ६.२१;) (सुसू. १.३;) दिवोदासः, सुश्रुतमहर्षेराचार्यः (सुनि. १.२-३; असंसू. ८.९४)

सिद्धयोग० पारदगन्धकटङ्कणादिनिर्मितो योगः सर्वकुष्ठविनाशकोऽयम् (र. २०.१३७)

–भाग–पु., रोगिषु धन्वन्तरिभागस्य दानेनैव वैद्यस्य पाककालहिंसापापमपगतं भवति, तद्यथा– सिद्धरसस्यार्थं तैलघृतलेहानां चाष्टमो लोहचूर्ण-वटकादीनां सप्तमो भागः वैद्याय देयः (र. ८.२)

धन्विन्–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९३) बकुलः (रा. १०. २६३)

धन्वोत्थरस–पु., जाङ्गलमांसरसः स्वेदात्पूर्वोऽय-माहार्यः (असंसू. २५.६३; अहसू. १६.३६)

धमन–पु., वनस्पति० नलः (ध. ४.१४१) निम्बः (रा. ९.४४)

(धमनी)–स्त्री., नाडी० शोणितवाहिनी नाडी (चनि. ६०.८)

तन्निरुक्तिः – ध्मानाद्धमनी, रसवहानां स्रोतसां मूलम् ताः संख्यया दश (चवि. ५.८) द्वे धमनीशते (चशा. ७. १४) (काशा.) अन्या एव हि धमन्यः .... शिराभ्यः नाभिप्रभवाश्चतुर्विंश-तिर्धमन्यः (असंशा. ६.२८) ऊर्ध्वगा दश, अधोगामिन्यो दश तिर्यग्गामिन्यश्च चतस्रः (सुशा. ९.३–९) ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदि-तादीन्विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । तासु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत्, तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते शब्दादींश्चतुरः प्रत्येकं द्वाभ्यां द्वाभ्यामित्यष्टाभी रजःप्रवर्तितात्म-प्रयत्नप्रबोधमनोऽनुगताभिर्धमनीभिर्गृह्णीते, मनस-श्चाणुत्वादेकत्वाच्च तासां युगपत्प्रवृत्तिर्नास्तीति तासां या धमनी मनसाऽनुयुज्यते तयैव रूपादिष्व-न्यतममात्मा गृह्णीते, न पुनर्युगपदेव रूपादिकं सर्वं सर्वाभिरिति, स्पर्शग्रहणं च तिर्यग्गाणां कर्म (ड) द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिन्यौ, द्वे स्तनसंश्रिते स्त्रियाः स्तन्यं वहतः, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः । एता ऊर्ध्वनाभेरुदर-पार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहून्धारयन्ति यापयन्ति च । अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्न-पानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः

शरीरं तर्पयन्ति अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां च अन्नपानरसम्। रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति। आमपक्वाशये च त्रिधा जायन्ते ताश्चिंशत्, तासां वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय ते एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञे द्वे वर्चोनिरसन्यै स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गामिनीनां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति। एताभिर्नाभेरधः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च। तिर्यग्गाणां तु धमनीनां चतसृणामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसंख्येयाः। ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकाऽवगाहावलेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते (सुशा. ९.३-९; अहशा. ३.३९-४०) धमनीक्रिया-धमन्य आकाशादिपञ्चमहाभूतसमुदायसमुत्पन्नाः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान्भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले विनाशं यान्ति (सुशा.९.११)

वनस्पति० पृश्निपर्णी० (रा. ४.११७)

नलिका (ध. ३.४३)

धमनी-(स्त्री.,) इयं शोणितादिवाहिनी (चनि. ६.८)

-जाल-न. धमनीनां समुदायः (चसू. २१.१५)

-तत-वि., सिरासन्ततः (सुशा. ४.६५)

लक्षण० सिराव्याप्तः (ड. सुउ. ६२.८)

-प्रतिचय-पु., विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः, धमन्युपलेपः (चसू. २०.१७; असंसू. २०.१५)

-प्रविचय-पु., धमनीप्रतिचयः (चसू. १६.८४)

-बन्ध-पु., उपक्रम० विषप्रतिबन्धार्थं मन्त्रादिभिर्धमनीबन्धनम् (चचि. २३.६१)

-मर्मन्-न., मर्म० कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यः, द्वे नीले द्वे च मन्ये तत्रैकस्मिन्पार्श्वे एका नीला मन्या चैका, एवमपरस्मिन्नपि, जातित एतानि सिरामर्माणि, मानमेषां चतुरङ्गुलमितम् वैकल्यकरमिदं मर्म, तत्र विद्धे मूकता स्वरवैकृत्यमरसग्राहिता च भवति (सुशा. ६.२७)

-लेपक-पु., रोग० विंशतिकफजरोगेष्वेकः (कासू. ३७.१९-४२)

-विवृतत्व-न., धमनीनां विस्तृतत्वम् असंवृतत्वं वा (सुशा. १०.१४)

-व्याकरण-न., अध्याय० (सुशा. ९.)

धयन्ती-वि., स्वयं पिबन्ती (सुचि. २४.९२)

धरण-न., मान० एकोनविंशतिर्मध्यमनिष्पावाः (सुचि. २२.७५) पलस्य दशमो भागः (इन्दु. असंचि. २३ शाणः पादतोलकम् (र. १७.१२१) माषद्वयम् (र. ११.३)

धरणी-स्त्री; ग्रह० रेवती (का. बालग्रहचि.)

-कन्द-पु., वनस्पति० तद्गुणाः-मधुरः कफपित्तघ्नः वक्त्रदोषकुष्ठकण्डूतिनाशनःकफपित्तामयघ्नश्च (रा. परि ७.४२)

-धरसार-वि., धरणीधराः पर्वतास्तेषां सारो लौहं तद्वत्सारो बलं यस्य, 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः (चचि.१.६१)

धरा-स्त्री., वनस्पति० मेदा (ध. १.१२७)

धराभिध-पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४८)

धर्म-पु., धियते लोकोऽनेनेति धर्मः, 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः' इति महाभारते, धरतेर्मनिन्प्रत्ययः, (अरु.) (अहसू. १.२) कायवाङ्मनोभिः सुचरितम् (ड.सुउ. ६०.२०; अहसू. २.२०) श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञाद्यनुष्ठानम् (सुशा. १०.५३) पुण्यम्, (सुशा. ३.३६)

-द्वार-न., धर्मशास्त्रम् (चसू. ११.२८)

-पत्तन-न., वनस्पति० मरिचम् (ध. २.८८)

-पाद-पु., धर्मस्य चतुर्थांशः, (चवि. ३.२५)

-प्रकाशक-वि., यो धर्मं प्रकाशयति सः (चसू.३०.२९)

-भृत्-वि., धार्मिकः धर्मं बिभर्ति आत्मनि धारयति इति धर्मभृत् (सुनि. १.३)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० पिप्पलः (रा. ११.११९)

धर्मिणी-स्त्री., वनस्पति० रेणुका (रा. ६.१००; र. १२.१२१)

धर्मेतरपुरःसर-वि., धर्मेतरोऽधर्मः, स एव पुरःसरः यस्य सः अधर्मपुरस्कृतः अधर्मसहितो वा (सुशा. २.३७)

धर्षण-न., धर्षः आक्रमणम् आस्कंदनम् (सुचि. २५.६)

धव-पु., वनस्पति० इन्द्रवृक्षः (ड. सुचि. ३४.१७)

शकटवृक्षः (सुसू. ३७.२८; अहसू. १५.१९)

कुष्ठादिहरप्रदेहे उपयुक्तः (चसू. ३.३)

जाङ्गलदेशोद्भवोऽयम् (चक. १.८) दृढशुष्कदारुर्मधुरत्वग्विशिष्टः पाण्डुरवृक्षभेदः (रा. ९.८) धवगुणाः– कषायः कटुः शीतः पित्तलः (रा.) रुच्यो दीपनः पित्तकफघ्नो वातकफघ्नः प्रमेहार्शःपाण्डुघ्नश्च (धपरि. ५.४) कुष्ठमेदोघ्नश्च (सुसू. ३८.८-९; असंसू. १६.१२; अहसू. १५.१९) गुल्माश्मरीशुक्रदोषनाशनश्च (सुसू. ३८.२०-२१; असंसू. १६.२६; अहसू. १५.३२) काष्ठमस्य दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२०) त्वगस्य लेपनेनोपदंशहरा (सुचि. १९.३३) व्रणरोपणी च (सुसू. ३७.२८) बीजमस्य लोहकाठिन्यनाशनवर्गोक्तम् (र. १०.९७)

हिं.–धय, धाउरा.

म.–धावडा.

गु.–धावडो.

बं.–धाऊयागाछ.

धवल–पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३. १७९)

पक्षि० प्रतुदजातीयोऽसौ (धपरि. ६.१२)

निर्यास० चीनकर्पूरः (रा. १२.६३)

वनस्पति० धवः (रा. ९.८)

(धवला)–स्त्री., वनस्पति० पाटलाभेदः, काष्ठपाटला (रा ९.१५२;) द्र० 'पाटला'

सितपाटलिः (रापरि. १०.१७)

न. वनस्पति० मरिचम् (रा ६.१३८)

–यावनाल–पु., (परिव०) धान्य० जूर्णाभेदः (रा. १६.१६८)

धवलेक्षुक–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१) द्र० 'इक्षु'

धवलोत्पल–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४६)

धातकि–स्त्री., वनस्पति० धातकी (असंसू. १५.३१; अहसू. १५.३८;)

धातकी–स्त्री., वनस्पति० महाकषायवर्गे सन्धानीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९; असंसू. १५.१०) (अहसू. १५.३८) अस्याः पुष्पं मूत्रविरजनीयगणोक्तम् (चसू. ४.१५; असंसू. १५.३४) पुरीषसंग्रहणीयगणोक्तम् (चसू. ४.१५; असंसू. १५.३१) विषजशोफे प्रच्छिते प्रतिसारणोपयोगि (सुक. १.४९) रक्ताभिष्यन्देऽञ्जनोपयोगि (सुउ. १२.११–१२) आसवकारणम् (चसू. २५.४९) (असंसू. ७.२४३) धातकीगुणाः–कटुरुष्णा मदकृत् गर्भस्थापनी प्रवाहिकातीसारकृमिरक्तविकारविसर्पव्रणविषघ्नी च (ध. ३.९०) पित्ते हिता व्रणरोपणी च (सुसू. ३८.४७; अहसू. १५.३८;)

हिं.–धायके फूल, धावइ.

म.–धायटीफूल, पुलशायि.

गु.–धावडीना फूल.

बं.–धाइफूल.

त.–तातरिप्पूवु., काट्टात्तिप्पू.

धातक्यभिषुत–पु., आसुत० धातकीफलासवः, अयं हृद्यो रूक्षो रोचनदीपनश्च (चसू. २७.१८८ असंसू. ६,१२१)

धातु–पु., आश्रय आधारः (चचि. २१.१५) तन्निरुक्तिः–पुरुषधारणाद्धातुः (चक्र. चशा. १.३) दधतीति धातवः, रसरक्तमांसादयः कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः; (ड. सुशा. ४.५) शरीरधारणपोषणहेतुः रसरक्तादिरूपः (सुसू. १४.२०) वातादिदोषः (चचि. ३.७३) (का. जातिसूत्रीयशा.) वातादिः रसादिश्च (असंसू. १०.७४) सत्त्वबुद्धीन्द्रियादिः, (चक्र. चचि. २४.३६) धातुसंख्या नामानि च– रसादयः सप्त धातवः, ते रसरक्तमांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि (चचि. १५.१६; सुशा. ५.६) धातूत्पत्तिः– आहाररसाद्रसादिसप्तधातूनामुत्पत्तिः, तत्क्रमः– रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदो मेदसोऽस्थि ततो मज्जा ततः शुक्रं च (चचि. १५.१६) एवं पूर्वधातोरुत्तरधातुः संभवति क्षीरदधिन्यायेन (चचि. १५.२८–३४; असंसू. १.३१) धातुवृद्ध्यादिक्रमः– पूर्वो वृद्धो धातुः परं वर्धयति क्षीणश्च परं क्षपयति (असंसू. १९.१६–१९) दुष्टाश्च वातादयो दोषा रसैर्धातून् दूषयन्ति (असंसू. १९.१६–१९) धात्वग्नयो नाम धातूष्माणः सप्तसंख्याकाः, रसोष्मरक्तोष्मेत्यादयः (चक्र. चचि. १५.३८) देहधातारः सप्त धातवः सप्तभिर्यथास्वमग्निभिः ते च किट्टप्रसादरूपं द्विविधं पाकं यान्ति। यथा रसस्य किट्टं कफः प्रसादश्च रक्तमित्यादि (चचि. १५.१५–१८) परिणाममापद्यमानानामयनार्थेन देशान्तरप्रापणेन धातूनामभिवाहीनि स्रोतांसि भवन्ति (चवि. ५.३) तानि च धातुवाहीनि स्रोतांसि सप्त, रसवाहिरक्तवाहीत्यादीनि (चवि. ५.१३–१९) धातुसाराश्च सप्त, त्वग्रक्तमांसमेदोस्थिमज्जशुक्रभेदेन, सत्त्वेन सत्वसारश्चेत्यष्टौ (चवि. ८.१०२)

धातुकर्माणि– रसादिधातूनां क्रमशः प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणं पूरणं गर्भोत्पादश्चेति कर्माणि (असंसू. १.३३; अहसू. ११.४) धातुमलाः– रसस्य कफः, रक्तस्य पित्तम्, मांसस्य खेषु श्रोत्रमुखादिषु स्रोतःसु जायमानो मलः मेदसः स्वेदः, अस्थ्नां नखरोमाणि, मज्ज्ञोऽक्षिपुरीषत्वचां स्नेहश्चेति धातूनां मलाः

सुवर्णादिखनिजद्रव्यम् (ध. ७.८७; र. १.६४–६५)

'स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च — ' इत्यादि–सप्तधातवः तत्रापि धातुमलस्य मण्डूराभिधायकत्वं पारदसप्तकञ्चुकवाचकत्वं रसशास्त्रेऽतीवप्रसिद्धमेव। खनिज० गैरिकम् (चशा. ५.१२; र. ५.१५; रा. १३.२३१)

न., खनिज० माक्षिकम्, स्वर्णमाक्षिकम् (ध. ३.१४८)

–कासीस–न., खनिज० कासीसम् (ध. ३. १२३)

–क्षय–पु., रोग० रसादीनां नाशः (अहसू. १०. १६)

–क्षयकर–वि., धातुविनाशकम् (असंनि. १५.८)

–ग–वि., धातुस्थो दोषादिः (अहसू. १७.२९)

–गति–स्त्री., रसादीनां पोष्यं धातुप्रति गमनम् (चसू. १८.४९)

–ग्रहण–न., धातुवहस्रोतः (सुसू. १५.२३)

धातवो गृह्यन्तेऽनेन इति धातुग्रहणं नाम धातुवहस्रोतः

शरीर० हृदयम्, धातुवहस्रोतसां स्थानत्वात् (ड. सुसू. १५.२३)

–चूर्ण–न., कल्प० हरितालपुष्पकासीसरसाञ्जनादिचूर्णम्, इदमुत्सन्नमांसेषु व्रणेष्ववसादने प्रशस्तम् (सुसू.३७. ३२-३३)

–ज–न., खनिज० शिलाजतु (ध. ३.१६५)

–पक्तृ–वि., धात्वग्निः (चचि. १५. ३८)

–प्रदूषण–वि., वातादिदोषाणां समत्वेन शरीरधारणात्मकानां तथा रसादिधातूनां दूषकं द्रव्यम् (चसू. १.६७)

–प्रसादसंज्ञक–वि., धातूनां प्रसादो धातुप्रसादः, स एव संज्ञा यस्य तत्, पञ्चेन्द्रियद्रव्यम्, अत्यर्थशुद्धेनैव धातुप्रसादेनेन्द्रियारम्भ इति (चक्र. चसू. २८.४)

–भेद–पु., मूलघटकतत्त्वानां भिन्नत्वम् (चशा. १.३)

–माक्षिक–न., खनिज० माक्षिकम् (ध. ३.१४८)

–राग–पु., गैरिकमनःशिलादिधातुभिरानीतो वर्णः (र १.११–१५)

–वर्धन–वि., रसादिधातून् वर्धयति यत् तत् (अहसू. ५.२०)

–वल्लभ–न., खनिज० टङ्कणक्षारः (रा. ६.२९)

–वाद–पु., स्वर्णादिधातूनां शोधनं मारणं च, लोहादिहीनधातुभ्यो हेमाद्युत्कृष्टधातुनिर्माणम् (र. ७.३४)

–विष–न., स्थावरविषभेदः, फेनाश्महरितालं च द्वे धातुविषे, अनेन हृत्पीडनं मूर्च्छा तालुदाहश्च भवति (सुक. २.५–१०; असंउ. ४०)

–वैषम्य–न., वातादिधातूनां स्वमानान्न्यूनत्वमधिकत्वं वा, विकारः 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ' (चसू. ९.४)

–व्यूहन–न., धातुरचना धातुवहनं च (चक्र. चशा. ४.१२)

–संनिभ–वि., गैरिकसमानम् (र. २.८८)

–समता–स्त्री., धातुसाम्यम्, धातु मलोपधातूनां साम्यम् (सुनि. १-१०)

–सामान्य–न., धातूनां समानत्वम्, एकविधत्वं च (अहसू. ६.६४)

–साम्य–न., सर्वधातूनां समप्रमाणत्वम्, आरोग्यम् तल्लक्षणम् – रुगपगमनं स्वरवर्णयोगः शरीरोपचयो बलवृद्धिरभ्यवहार्याऽभिलाषो रुचिराहारकाले–ऽभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणं, यथाकालं निद्रालाभो वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं सुखेन च प्रतिबोधनं वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणामव्यापत्तिश्चेति (चवि. ८.८९)

–साम्यकृत्–वि., धातुसाम्यकरम् (अहसू. ६-२७)

–सार–पु., न., धातोर्बलम्, धातुसाराणि सप्त, अष्टमं च सत्त्वसारम्, विशुद्धतरो धातुः सारशब्देनोच्यते (चवि. ८. १०२-१०९., सुसू. ३५.१६)

–स्थिरत्व–न., रसादिधातूनां स्थैर्योपादनम् (सुचि. ३३.२७; अहसू. १८.६०; असंसू. २७. ६५)

–हन्–पु., खनिज० गन्धकः (ध. ३.१०९)

रसादिधातवो नित्यं क्षीयमाणाः सन्तोऽशितादिजनितधातुमाहार्यैव स्वास्थ्यं जनयन्ति (चसू. २८.३; असंसू. १.३२)

धातुकि–स्त्री., वनस्पति० धातकी (असंसू. १६.३२)

धातुकी–स्त्री., वनस्पति० धातकी (असंसू. १७.४३)

धातूष्मन्–पु., रसादिधातुगतमौष्ण्यम्, धात्वग्निः (असंनि. ५.१९)

धातृ–वि., धारणकर्ता आत्मा जगतो धारणाद्धाता (चशा. ४.८) पञ्चमहाभूताऽऽत्मकशरीरादिसंयोगधारणहेतुः क्षेत्रज्ञः (ड. सुशा. ३.४) देवता० ब्रह्मा, प्रजापतिः (असंसू. २८.३५)

(धात्री) स्त्री.,–बालसङ्गोपनार्थं नियुक्ता स्त्री, उपमाता (चचि.३०.२२९) स्तन्यदात्री (चशा. ८.५२; कासू. १९) बालकपोषयित्री (ड. सुउ. २७.६) कुमारपरिचारिका (सुसू. १६.३) माता, स्तनदायिनी च (अरु.अहउ. १.२८–२९) तल्लक्षणानि–धात्री यथावर्णं नाम समानवर्णा मध्यमप्रमाणा मध्यमवयस्काऽरोगा शीलवत्यचपलाऽलोलुपाऽकृशाऽस्थूला प्रसन्नक्षीराऽलम्बौष्ठ्यलम्बोर्ध्वस्तन्यव्यङ्गाऽव्यसनिनी जीवद्वत्सा दोग्ध्री वत्सलाऽक्षुद्रकर्मिणी कुलवती श्यामा नाम तप्तकाञ्चनवर्णाभा स्त्री च ईदृशी धात्री बालस्याऽऽरोग्यबलवृद्धये भवति (सुशा. १०.२५; असंउ. १) यन्त्र० घर्षणी घर्षो वा (र. ९.८४). वनस्पति० आमलकी (चसू. ४.१८; सुउ. १२.११–१२) (असंसू. १५.४९) इयं वयःस्थापनी (चसू. ४.१८) अस्याः पुष्पाण्यञ्जनार्थमुपयुज्यन्ते (सुउ. १२.११–१२)

धात्रिका–स्त्री., वनस्पति० आमलकम् (रा. ११.३२५)

धात्री–स्त्री., (चसू. .४.१८)

–**चिकित्सित**–वि., अध्याय० (का. धात्रीचि.)

–**द्वेष**–पु., लक्षण० धात्रीविषयेऽप्रीतिः (कासू. २५.३६)

–**पत्र**–न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८२)

–**परीक्षा**–स्त्री., स्तन्यदाऽयाः परीक्षणम् (चशा. ८.५२) द्र० 'धात्री'

–**फल**–न., वनस्पति० आमलकम् (ध, १.२१५) (सुउ. ४४.२७)

–**मूल**–वि., धात्री स्तन्यदात्री मूलं कारणं यस्य तत्सुखदुःखादि (का. धात्रीचि.)

–**यूष**–पु., कल्प० मुद्गामलकनिर्यूहः, अयं पञ्चकर्मसूपयुक्तः (काखिल. ४.३७)

धात्रेयी–स्त्री., वनस्पति० आमलकम् (रा. ११.३२६)

धात्वग्नि–पु., धातुगतमौष्ण्यम् (चचि. १५.३८)

धात्वन्तरस्थ–वि., एकस्माद्धातोरन्यो धातुर्धात्वन्तरं तत्र स्थितो लीनो वा (सुउ. ३९.६५) धात्वन्तरं नाम कला, तत्र स्थितः (सुउ. ३९.६५)

–**शा**–पु., धात्वन्तरम्, स्रोतःसिराधमनीरसायन्यादि (चवि. ५.९; असंशा. ६.५०)

धात्वाहार–वि., धातुराहारो यस्य सः (धातुः)

धानक–पु., मान० माषकः (असंक. ८)

(धानका)–स्त्री., वनस्पति० धान्यकम् (असंचि. ११) (अहसू. १५–१६)

धाना–स्त्री., भक्ष्य० भृष्टयवादिधान्यम्, तद्गुणाः–लेखनी तर्पणी दुर्जरा च (चसू. २७.२६६) विष्टम्भिनी रूक्षा गुरुश्च (अहसू. ६.३८; चचि. १२.१०; सुचि. १०.५)

भृष्टयवाः लघवः कफमेदोविशोषणाः (सुसू. ४६.४१०) श्वासव्याधिहराः (सुउ. ५१.३६)

भृष्टं धान्यम् (अहसू. ६.३८).

धानी–स्त्री., वनस्पति० धान्यकम् (ध. २.६३) पीलुः (ध. ५.५१)

धानेय–न., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९७)

धानेयक–न; वनस्पति० धान्यकम् (ध.२.६३)

धान्य–न., आहारद्रव्य० शूकधान्यं शिम्बीधान्यं शाल्यादिसर्षपान्तम् (सुसू. ४६.४-५२) तत्र सर्वमपि नवं धान्यमभिष्यन्दि, संवत्सरोषितं लघु विरूढं विदाहि गुरु विष्टम्भि दृष्टिदूषणं च, अनार्तवं कुङ्कुमादिव्याधिहतमपक्वमभूमिजमूषरोपलकादिसविषभूमिजं नवं च धान्यमगुणवत्, एतद्विपरीतं गुणवत् (सुसू. ४६.५०-५१; अहसू. ६.२५) तत्र रक्तशालिषष्टिकौ यवगोधूमौ च शूकधान्येषु वरौ तथा मुद्गाढकीमसूराश्च शिम्बीधान्येषु प्रवराः (चसू. २७.२१–२४; सुसू. ४६.३३२) वनस्पति० धान्यकम् (चसू. ३.८; सुउ. ४७.३०. अहसू. १४.२५; रा. ६.९७) परिपेलम् (अहसू. १५.२६; रा. ८.१०५)

(धान्या)–स्त्री., वनस्पति० धान्यकम् (ध. २.६३)

–**ज**–न., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९७)

–**तुम्बुरु**–न., वनस्पति० हरित० धान्यकम् (चसू. २७.३०७; असंसू. ७.१५६)

–**तुम्बुरुयूष**–पु., धान्यतुम्बुरुकाथः, सर्वविषापहोऽयम् (चक. ४.१५)

–**नागरसिद्धतोय**–न., कल्प० धान्यकशुण्ठीभ्यां षडङ्गविधिना सिद्धं तोयम् (चक्र.) इदं स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं च भिनत्ति (चसि. ४.४३)

–**बीज**–पु., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९८)

–**माष**–पु., मान० व्रीहिमाषः (चशा. ८.१९) तण्डुलद्वयम् (चक. १२.८७–८८) सुवर्णमाषकस्य द्वादशो भागः (सुचि. ३१.७) वनस्पति० माषः (ध. ६.९९)

–मृद्–स्त्री., धान्यमूलमृत्तिका (इन्दु.) इयं काण्डचित्राख्यसर्पविषे प्रलेपोपयोगिनी (असंउ. ४२)

–यूष–पु., धान्यप्रधानो यूषः, अयं प्रवाहिकानाशनः (चचि. १९.३५)
कुलत्थादिधान्यकृतो यूषः, अयं वातविकारिणां हितः (सुचि. ४.१४)
अखण्डितानां धान्यानां सर्वेषां समभागिनां माषतिलनिष्पावसर्षपादते साधितश्चित्रकदाडिमाभ्यां संस्कृतश्च धान्ययूषो भवति। मुख्योऽयं धान्ययूषः (काखिल. ४.४२-४३)

–राज–पु., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४)

–वीर–पु., वनस्पति० माषः (रा. १६.१५४)

–श्रेष्ठ–न., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.८१)

–स्वेद–पु., उपक्रम० माषादिकोष्णधान्यस्वेदः, धान्याम्लम्, अयं छिन्नादिषु स्वेदोपयोगी (सुचि. २.२५) माषादिशिम्बीधान्येन स्वेदनम् (ड.) वमनादिव्यापदि वातशूले स्वेदनार्थमुपयुज्यते (सुचि. ३४.९) द्र० 'स्वेद'

धान्यक–पु., मान० चतस्रोऽण्डिकाः, धान्यमाषः (चक. १२.८९)
न., हरित० कुस्तुम्बरुधान्यम् (चसू. ३.८) शीतप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७; असंसू. १५) तृष्णानिग्रहणगणोक्तमेकं द्रव्यम्, (चसू. ४.१४) कण्डूादिहरोद्वर्तने उपयुक्तम्, (चसू. ३.८) आर्द्रं धान्यकं रोचनं सुगन्धं नातिकटुकं दोषोत्क्लेशकरं च (चसू. २७.१७३)
धान्यकगुणाः– स्वादु कषायं शीतं स्निग्धं मधुरविपाकि चक्षुष्यं हृद्यं पित्तकफघ्नं तृड्दाहकासच्छर्दिज्वरघ्नं च (ध. २.६३; असंसू. १६) रोचनं दीपनं वातकफघ्नं दौर्गन्ध्यनाशनम् (चसू. २७.३०७) रुच्यमन्नगन्धहरं च (असंसू. १२)
हिं–धनिया, कोथुंबुरि.
म.–धने. कोथिंबीर.
गु.–धाणा, कोथमीर.
बं.–धने.
ता,–कोत्तूमल्लि, उत्तंपरि.
फा.–किश्निज.

(धान्यका)–स्त्री., वनस्पति० धान्यकम् (ध. २.६३)

धान्याक–न., वनस्पति० धान्यकम् (र. ११.१२५.)

धान्याभ्रक–न., कम्बलवस्त्रावगुण्ठितमभ्रकचूर्णं शालियुक्तं दिनमेकं काञ्जिके क्षिप्त्वाऽपरस्मिन्दिने मर्दनेन वस्त्रादायाति तत् (र. २.१९)

धान्याम्बु–न., काञ्जिकम् (चसू. २५.४९)
कुस्तुम्बरीफलसिद्धं जलम्, इदं तृष्णासु शस्तम् (चचि. २२.६१)

धान्याम्ल–न., आसुत० काञ्जिकम् (चक. चक. १.१२) (ध. ६.२४९) शालीजूर्णाह्वकोद्रवादिकृतं मद्यम् (सुसू. ४५.२१४)
तत्कृतिः – षष्टिकधान्यस्य प्रस्थं नीरप्रस्थद्वये क्षिप्त्वाऽऽधारभाण्डं संरुध्य भूमिगर्भे संस्थाप्य पक्षाच्च समुद्धृत्य वस्त्रपूतं कारयेत्। जातरसं सत् सर्वकर्मसु योजयेत् (सुसू. ४२.११)
तद्गुणाः– स्पर्शोद्दाहनाशनं गण्डूषधारणात्कफनिर्हरणं मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषक्लमापहं लघु दीपनं जरणं भेदि हितमास्थापने समुद्राश्रितजनानां सात्म्यं च (सुसू. ४५.२१४-२१६) कृमिनाशनं च (सुउ. ५४.२८) तीक्ष्णोष्णं पित्तकृद्रुच्यं बस्तिशूलनुद्वातकफापहं च (अहसू. ५.७९) तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं च (असंसू. ३१.८-९)
धान्याम्लं माषादेर्वैदलानां तालफलादीनामनुपानम् (सुसू. ४६.४२७,४३३) शाकावरान्नेषु चाऽनुपानम् (असंसू. १०.४६)
वातशोफजव्रणे परिषेकार्थमिदम् (सुचि. १.१७) दाहाभिभूते ज्वरे परिषेकोपयोगि (सुउ.३९.२८४) कुक्षिशूले परिषेचनोपयोगि (सुउ. ४२.१३०) अर्शःप्रयुक्तक्षारस्य प्रक्षालनोपयोगि (सुचि. ६.४) विरेचनोपयोगिद्रव्येष्वेकम् (असंसू. १४.४)

धान्याम्लबीज–न., धान्याम्लतलस्थं द्रव्यम् (हे. अहसू. ३०.३३)
किण्वम् (असंसू. ३९.१२)

धान्यासव–पु., आसुत० धान्यकृत आसवः, सुरासौवीरादिधान्यासवाः षट् (चसू. २५.४९)

धान्योत्तम–पु., श्रेष्ठो व्रीहिः (रा. १६.७८)

धान्व–वि., जाङ्गलदेशोद्भवं प्राण्यादि (असंचि. ४)

धान्वन–वि., धन्वनस्य संबन्धि फलादि (सुसू. ४६.१७०)

–यूष–पु., जाङ्गलमांसरसः, अयं पित्तशूले हितः (सुउ. ४२.१०७)

धान्वन्तरघृत–न., घृत० भल्लातकबिल्वपिप्पलीमूलादिसाधितं घृतम्, एतन्मेहश्वयथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्रधिपिडकानां नाशनम् (सुचि. १२.५; असंचि. १९.)

धान्वन्तरसर्पिस्–न., घृत० दशमूलहरीतकीदेवदार्वादिसिद्धं घृतम् । एतत्सर्वप्रमेहपिटिकाकुष्ठविषशोफार्शोगुल्मविद्रधिप्लीहजठरश्वासकासवर्धमपाण्डुरोगवातशोणितोन्मादाऽपस्मारहरम् (असंचि. १४)

धान्वन्तरीय–वि., धन्वन्तरितन्त्राध्यायी, शल्यविद्, धन्वन्तरिणा कृतं तंत्रं धान्वन्तरीयं, धान्वन्तरीयं तन्त्रमधीते सःधान्वन्तरीयः (चचि. ५.४४; असंशा. ५.१००)

धान्वीरक–पु., रोग० धनुःस्तम्भः (का, भोजनक.)

धापयन्ती–वि., पाययन्ती (सुचि. २४.९२)

धामक–न., खनिज० कान्तलोहम् (रा १३.२८)

धामन्–न., सारभागः, उत्कृष्टांशः (चनि. ६.९)
स्थानम् (असंसू. २३.४)
शारीरं तेजः (अहसू. ७.७६)

धामार्गव–पु., ऋषि० बडिशः (चसू. १२.७)
पु.,न., वनस्पति० पीतघोषकः (चक. चक.४.३; सुउ. ४७.३७) राजकोशातकी (हे.) कोशफलम् (अरु. अहक. १.३५) धामार्गवगुणाः – तिक्तं मधुरमुष्णं पक्वामाशयशोधनं वृष्यं वमनकृद्वातकफघ्नं गरगुल्मोदरकासघ्नं श्लेष्माशयस्थितकण्ठवक्त्रस्थकफजरोगघ्नं व्रणरोपणं च (चक. ४.४-५; सुसू. ४३.८; अहक. १.३५; ध. १.१८९)
हिं.–घिया तोरई, नेनुआ.
म.–**घोसाळे.**
गु.–गलका.
बं.–हस्तिघोषा, धुन्दुल.
त.–यानैपीर्क्कु.
फा.–खियार.
–कल्प–पु., अध्याय० (चक. ४)
–फल–न., पीतघोषकफलम्, वमनद्रव्येष्वेकम् (चवि. ८.१३५)

धार–वि., आन्तरिक्षजलेष्वेकम्, धाराभिः पततीति धारं जलम्, तत्कारतौषारहैमेभ्यः प्रधानतमं लघुत्वात्। तद्गाङ्गसामुद्रभेदेन द्विविधम् । गाङ्गं सर्वदा सेव्यं सामुद्रं त्वाश्वयुजे सेव्यम् (सुसू. ४५.७)
द्र० 'जाल'

(धारा)–स्त्री., उपक्रम० सेकः (चचि. १४.२१७)
प्रवाहः (सुशा. ८.११)
शस्त्रधारा, भेदनलेखनव्यधनविस्रावणच्छेदनोपयोगि–प्रधाना शस्त्रसंपत् । तत्र शस्त्रधारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमासूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी छेदनानामर्धकैशिकी च (सुसू. ८.१०)
वनस्पति० गुडूची (ध. १.१)

धारण–पु., स्तम्भः धार्यते गृहोपरि स्थितपटलादि अनेन इति धारणः स्तम्भः (अहसू. ७.५२)

धारणी–स्त्री., विद्या०नेत्ररोगेऽञ्जनमन्त्रः, " नमश्चक्षुःपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय । ॐ चक्षुःप्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा " (असंसू. ८.९९-१००)
न., ज्ञानस्य बुद्धौ स्थैर्यम् (चवि. ८.१८)
इन्द्रियाणां धारणशक्तिः (चशा. ३.१०)
वातकर्म० विधारणम् (सुसू. १५.४ (१)
बलदानम् (सुसू. १४.३)
वेगावरोधः (अहसू. ४.७)
अस्थिकर्म० शरीरस्य स्तम्भवद्धारणम् (असंसू. १.२३; अहसू. ११.४)
वि., बीजधारणकारकः (संयावः) (चचि. ३०.१०७)

धारणात्मक–वि., हृदयगृहीतवस्तूनाममोचकः (सुशा. ३.२५)

धारणीया–स्त्री., वनस्पति० धरणीकन्दः (रापरि. ७.४२)

धारा–स्त्री., सेकः (चचि. १४.२१७)
–कदम्ब–पु., वनस्पति० कदम्बभेदः (ध. ५.१०५)
द्र० 'कदम्ब'
–गृह–न., यदुपरि जलधाराः सततं पतन्ति तत्, अम्बुपूर्णसदनम् (चचि. ३.२६१; सुउ. ४७.६०)
दाहप्रशमनार्थमत्र निवासः प्रशस्तः (चचि. ४.१०६; चचि. २४.१५९)
–धरात्यय–पु., शरदृतुः, धाराधरा मेघाः, तेषामत्ययोऽन्तः यस्मिन् सः (चसू. ६.४४)
–फल–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३०)
(–फला)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (रा. ७.२८८)
–फलक–पु., वनस्पति० कर्मारः (रापरि. ११.१३)
–संस्थापन–न., शस्त्रधारास्थिरीकरणम् (सुसू. ८.१३; असंसू. ३४.३७)

धारिन्–वि., आयुः शरीरं धारयति पूतितां गन्तुं न ददातीति (चसू. १.४२) शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूपात् शरीरधारणाद्धारि (चसू. ३०.६)

(धारि)–लोहित–न., जीवशोणितम्, रक्तधातुः (चवि. ४.७)

धारोष्णदुग्ध–न., सद्योदोहनेन गृहीतमसंस्कृतमुष्णस्पर्शं पयः । इदं वातपित्तज्वरहरम् (चचि.३.२३८) पित्तरक्तावृतेऽनिले प्रशस्तम् (चचि. २९.८२) तद्गुणाः– धारोष्णं गोपयो बल्यं शीतं लघ्वमृतोपमं दीपनं त्रिदोषघ्नं च। धाराशिशिरं गोपयस्त्याज्यम् (भा. प्र.)

धार्तराष्ट्र–पु., पक्षि० हंसभेदः, तदण्डं क्षीणरेतः कासहृद्रोगक्षतेषु हितं मधुरमविदाहि सद्यो बलकरं च (चसू. २७.८५)

–**पदी**–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६८)

धावन– न., पार्श्वतो गमनम् (चक्र. चइं. ३.४)
उपक्रम० प्रक्षालनम्, धावति शुध्यति इति धावनम् प्रक्षालनम् (सुचि. २२.३१; असंसू. ३८.५३)

(धावनी)– स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (चचि. ३.१८७,–२२४; ध. १.९५)
पृश्निपर्णी (ध. १.९०)

धी–स्त्री., प्रज्ञाभेदः यश्च बाह्याध्यात्मिकानां भावानां हिताहितपरिच्छेदविभागकारी, (अरुणः) (चक्र. चशा. १.९८; अहसू. १.२६)

धीतिका–स्त्री., शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयः (चसू. १४.६१)

धीमत्–वि., अनुक्तदुरुक्तोहापोहलक्षणबुद्धियुक्तः (सुसू. ३४.२०)

धीर–पु., वनस्पति० ऋषभः (ध. १.१२५)

(धीरा)–स्त्री., वनस्पति० शिंशपा (रा. ९.१९८)
काकोली (रा ३.१६६)
तेजोवती (रा. ३.३९४)

धुकधुकास्वन–पु., लक्षण० कर्णगतो धुकधुकेति शब्दः (असंशा. १०.८)

धुक्षण–वि., अग्निदीपनम्, धुक्ष सन्दीपनक्लेशनजीवनेषु इति भौवादिको धातुः, धुक्ष्यते सन्दीप्यतेऽनेनेति धुक्षणम् अग्निसन्दीपनम् (चवि. ६.१२)

धुन्वत्–वि., विक्षिपत् 'धुञ् कम्पने' इति स्वादौ (ङ. सुउ. ६१.१३)

धुरन्धरी–स्त्री., वनस्पति० धवः (धपरि. ५.४)

धुस्तूर–पु., वनस्पति० धत्तूरः (र. २५.९०)

धूप–पु., उपक्रम० धूपनम् (चनि. १.३६)
अगुर्वादिधूपः (अहसू.३.१५) धूपानुधूपप्रतिधूपाश्रेति कर्मभेदात् त्रिविधो धूपः । स च जाङ्गमस्थावराश्रयत्वाद् द्वियोनिः । तद्द्रव्याणि–वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गुघृतसिद्धार्थकसर्षपत्वग्देवनिर्माल्यमक्षतादीनि च । रक्षोघ्नचतुरङ्गिकनन्दकश्रीधूपदशाङ्गमाहेश्वरादयो बहुविधा धूपाः (का. धूपकल्प)

–**यन्त्र**–न., यन्त्र० यथोक्तं लौहं पात्रं विधाय तत्कण्ठाधो द्व्यङ्गुले देशे जलाधारं लघुपात्रं निधाय तस्मिन् लोहशलाकास्तिर्यङ् निधाय तत्र स्वर्णपत्राणि स्थापयेत् । तेषामधोभागे धूमद्रव्यं निक्षिपेत् । यन्त्रपात्रमपरेण न्युब्जपात्रेणाऽऽच्छादयेत् । मृदा सन्धिलेपं कृत्वा यन्त्रस्याऽधो वह्निं कुर्यात् । उक्तविधानेन स्वर्णपत्राणि कृष्णानि भवन्ति (र. ९.६९-७२)

–**वृक्ष**–पु., निर्यास० श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३)

धूपन–न., लक्षण० धूमायनम् धूपितवत् त्रासः, धूममिवोद्वमनम् (चसू. १७.५८. १८.७; अहसू. ३०.४८)
उपक्रम० धूपनद्रव्यैर्धूमदानम्, ज्वरापस्मारोन्माददंशव्रणादिष्वयं विधीयते (चचि. १०.५१; सुउ. ६२.१६)
तद्द्रव्याणि–नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकादीनां पुरीषतुण्डपक्षादीनि (चचि. १०.५१) सुगन्धिद्रव्याणि च (चचि. ३.१७६) नृकेशपीतसर्षपजीर्णगुडादीनि च (असंउ. ४३) तद्गुणाः– कठिनानां व्रणानां शैथिल्यकरं शिथिलानां च कठिनत्वापादकं रुक्स्रावगन्धकृमिहरं शैथिल्यमार्दवहरं च (चचि. २५.१०८-१०९)

धूपनाङ्ग–न., धूपद्रव्यम्, श्रीवेष्टकसर्जरससरलदेवदारुत्वक्सारादीनि धूपद्रव्याणि (सुचि. १.८०-८१)

धूपागरु–न., वनस्पति० अगरुभेदः, दाहागरु (रा. १२.४३) द्र० 'अगरु'

धूपाङ्ग–पु., निर्यास० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३)

धूपाधिवासित–वि., धूपितैर्वस्त्रैर्युक्तः (असंसू. ४.१४)

धूपार्ह–न., वनस्पति० अगरुभेदः, कालेयकम् (रा. १२.४०) द्र० 'अगरु'

धूपिताम्बर–वि., धूपितैर्वस्त्रैर्युक्तः (अहसू. ३.४७)

धूर्ष्य–पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०८)

धूम–पु., गृहधूमः (र. २.१६५)
भेषजयुक्तं धूम्रस्वरूपं द्रव्यम् (चसू. ५.२६)
ग्रहोपक्रम० अजकर्कशल्यकोलूकचर्मरोमाणि हिङ्गुबस्तमूत्रादीनि तद्द्रव्याणि। एतद्धूपनाद्बलवद्ग्रहोपशमः (सुउ. ६०.३१)

–**कवल**–पु., धूमभागः (चसू. ५.४७)

–गन्धिक–वि., लक्षण० उद्गारस्य धूमस्येव गन्धः यस्य यस्मिन्वा तत् (सुउ. ४०.१७५)

–ज–न., लवणभेदः वज्रकक्षारः (रा. ६.५५)

–दर्शिन्–पु., नेत्ररोग० पैत्तिकोऽयम्, तल्लक्षणम्–शोक–ज्वरायासशिरोभितापैर्नरस्य दृष्टिरभ्याहता सती सधूमकान्भावान्पश्यति । साध्योऽयम् (सुउ. ७.३९; सुउ. १.३२)

–धूम्र–वि., धूमवेष्टितमिव धूमेन धूम्रम् मलिनमिति यावत् (सुउ. ७.२२-२३)

–नस्यकवलग्रहचिकित्सित–न.,अध्याय० (सुचि. ४०१)

–नेत्र–न., धूमपानोपयुक्ता नलिका (चसू. ५.२४) द्र० ' धूम्रपान '

–नेत्रक–न., धूमनेत्रम् (अहसू. २१.८)

–प–वि., धूमपानं कुर्वाणः (चसू. ५.३५; अहसू. २१.२२)

–पान–न., उपक्रम० धूम्रस्वरूपस्य भेषजयुक्तस्य द्रव्यस्य जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने जातानामुच्छेदाय च मुखेन घ्राणेन वा सेवनम् । स सेवनीयो धूमः कर्मभेदात्पञ्चविधः । प्रायोगिकस्नैहिकवैरेचनिककासघ्नवामनीयाख्याः पञ्च (चसू. ५.२६; सुचि. ४०.३) दोषभेदात् त्रिविधः स्निग्धो मध्यस्तीक्ष्णश्चेति स्निग्धस्य बृंहणो मृदुश्चेति पर्यायौ (सुचि. ४०.४) मध्यस्य शमनप्रायोगिकौ पर्यायौ (सुचि. ४०.४; असंसू. ३०.४) तीक्ष्णस्य शोधनवैरेचनिकौ पर्यायौ (सुचि. ४०.४) वाते स्निग्धःवातकफे मध्यः, कफे तीक्ष्णश्च (अहसू. २१.२) धूमपानद्रव्याणि — हरेणुकाप्रियङ्गुपृथ्वीकाकेशरनखादीनि प्रायोगिकधूमद्रव्याणि। वसाघृतमधूच्छिष्टजीवकर्षभकादीनि मधुरद्रव्याणि स्नैहिकधूमद्रव्याणि । श्वेताज्योतिष्मतीहरितालमनःशिलाअगरुपत्रादयश्च गन्धा वैरेचनिकधूमद्रव्याणि (चसू. ५.२०–२६) हरिद्रापत्रैरण्डमूलादीनि च (चचि. १७.७७–८०; असंसू. १४.७) भार्गीवचाहिङ्गुवेणुत्वगादीनि कासघ्नधूमद्रव्याणि (सुउ. ५२.२१) धूमपानकालः– प्रायोगिको दन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषूपयुक्तः । स्नैहिको मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरुषितमैथुनान्तेषूपयुक्तः । वैरेचनिकः स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषूपयुक्तः । (सुचि. ४०.१३) कासघ्नो ग्रासान्तरेषूपयुक्तः सुचि. ४०,१८) प्रायोगिकस्य नाम मध्यस्याऽष्टौ कालाः (चसू. ५.३३) मृदोरेकादश तीक्ष्णस्य च पञ्चकालाः (असंसू. ३०.८)

धूमयन्त्रम् — तन्नेत्र बस्तिनेत्रद्रव्यभवमग्रमूलयोर्गोपुच्छाकारं कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाग्रपरिणाहं राजमाषधूमवर्तिप्रवेशच्छिद्रमृजु त्रिकेशं श्लक्ष्णं शिथिलशलाकागर्भं शमनादिषु क्रमादातुराङ्गुलमानेन चत्वारिंशद्द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यङ्गुलं कुर्यात् कासघ्ने वमने च दशाङ्गुलं व्रणधूपनार्थेऽष्टाङ्गुलं कुर्यात्। (असंसू. ३०.९)

धूमपानविधि :— आत्मवान् नरः सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां धूमद्रव्यनिर्मितां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत्। उरःकण्ठादिरोगेषु मुखेनैव पिबेत्। शिरःकर्णाऽस्थिनासास्थेषु रोगेषु नासातः पिबेत्। विशेषतः प्रायोगिकं घ्राणेन स्नैहिकं मुखनासाभ्यां वैरेचनिकं नासिकया कासघ्नवामनीयौ च मुखेनैव पिबेत्। तदुद्वमनं तु मुखेनैव। नासाकृतमुद्वमनं तु दृग्विघातकृद्भवति (ड. सुचि. ४०.६-९)

धूमोपद्रवाः— अकालपीतो धूमो भ्रममूर्च्छाशिरोरुजो घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानां दारुणमुपघातं च करोति (सुचि. ४०.१२) तत्सम्यग्योगातियोगायोगाः— सम्यग्योगे हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिः शिरसो लाघवं रोगोपशमश्च, अयोगे अविशुद्धस्वरत्वं सकफकण्ठत्वं मस्तकस्तैमित्यं रोगापशमश्च, अतियोगे तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यानि शिरोभ्रमणमतिरक्तस्रावश्च भवति (सुचि. ४०.१७; असंसू. ३०.१७; चसू. ५.५२-५५)

धूमायोग्याः— अपूर्णाष्टादशवर्षस्य धूमपानं वर्ज्यम् (असंसू. २९.२२) रक्तपित्ताऽर्तिविरिक्तोदरमेहिनस्तिमिरोर्ध्वाऽऽनिलाध्मानार्थाः, क्षीरक्षौद्रस्नेहमत्स्यमद्यदधिविषाशिनो धूमाऽयोग्याः तथा शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे निशि जागरिते च धूमो वर्ज्यः (चसू. ५.२७-३२; अहसू. २१.२-३) धूमप्रशस्तिः– धूमपानेन नरः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मना दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननो भवति। तथा श्वासकासपीनसविस्वरत्वानि कर्णास्याऽक्षिस्रावकण्डूर्तिजाड्यानि पाण्डुताहिध्मातन्द्रादयश्चैनं न स्पृशन्ति (सुचि. ४०.१५; अहसू. २१.२२)

–पूर्ण–वि., धूमेन मृतम्, अस्य मांसमभक्ष्यम् (असंसू. ७.१०५)

-वक्त्रकपान-वि., मुखेन धूमं पिबन् पुरुषः (चसू. ५.३२-३३)
-वर्ति-स्त्री., धूमपानार्थं कृता वर्तिः (चचि. ३.२५५)
-विभ्रम-पु., धूमपानजन्यः संक्षोभः (चसू. ५.४६)
-वेध-पु., संस्कार० धूमायमाने वन्हौ अन्तर्मूषान्तस्थः तद्वन्हिमध्ये प्रक्षिप्तोऽयः पारदस्तत्सम्बन्धि धूमस्योर्ध्वस्थापिततास्रादिपत्रे सम्पर्काद् यत् स्वर्णरजतापादनं, स धूमवेधः (र. ८.९३)
-सार-पु., गृहधूमः (र. २१.१७२)

धूमक-पु., चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः, धूमोद्वमनमिव (चसू. २०.१४; असंसू. २०.१४)
शिरोग्रीवाकण्ठतालुषु धूमाऽयनम् (असंसू. २०.१६)

(धूमिका)-स्त्री., पक्षि० प्रतुदजातीयः, धूम्याटः (चसू. २७.३७; अहसू. ६.५०)

धूमपिका-स्त्री., पक्षि० प्रसहवर्गीयः (सुसू. ४६.७४)

धूमर-पु., नेत्ररोग० धूमदर्शी (असंउ. १५)

धूमागद-पु., योग० तगरकुष्ठशिरीषपुष्पसर्पशिरांसि घृतेन प्रज्वाल्य कृतो धूमः। विषघ्नोऽयम्। (चचि.२३.९९)

धूमागम-पु., लक्षण० मुखे धूमोपस्थितिवद् वेदनाविशेषः (च.नि२.६)

धूमायन-न., लक्षण० अज्ञानां धूमोद्वमनमिव (सुसू. २२.११; सुउ. २९.१४) कण्ठे धूमवत् करणम् (असंनि. ५०.१६)

धूमोत्थ-न., लवणभेदः वज्रकक्षारः (रा. ६.५५)
गृहधूमः, धूमादुत्थानमुत्पत्तिर्यस्य (र. २९.४४-४९)

धूमोद्गम-पु., गृहधूमः (र. २०.७५)

धूमोपघात-पु., धूमपानव्यापत् (असंसू. ३०.२)

धूमोपघातप्रतीकार-पु., धूमव्यापच्चिकित्सितम् (असंसू. ३०.६)

धूमोपहत-वि., धूमेन प्रपीडितः (सुसू. १२.२९)

धूम्र-वि., धूम्रवर्णः (चचि. १ (४).४६)
पु., भैषज्य० तुरुष्कः (ध.३.२२)
-पत्रा-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-तिक्तोष्णा रुच्या दीपनी शोफकृमिकासहरा च (रापरि. ५.८)
-पवन-वि., धूम्रवर्णः पवनो यस्मिन्, एतादृशो देशोऽहितः (चवि. ३.७८३)
-मूलीका-स्त्री., वनस्पति० शूली (रापरि. ८.६८)
-वर्ण-पु., भैषज्य० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
-वृत्तफला-स्त्री.,वनस्पति० शशाण्डुली (रापरि. ७.१०३)

धूम्राह्वा-स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रापरि. ५.८)
द्र० 'धूम्रपत्रा'

धूम्रिका-स्त्री., वनस्पति० शिंशपा (रा. ९.१९८)

धूर्त- पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७; र. १२.११२)
चोरकः (रा. १२.१२७)
न., लवणभेद; बिडम् (ध. २.२८)

धूर्तर-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४१)

धूर्धर-पु., वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५७)

धूर्य-पु., वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५७)

धूलिकदम्ब-पु., वनस्पति० कदम्बभेदः (ध. ५.१०५)
-द्र० 'कदंब'

धूलिपुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. १०.१)

धूसर-पु., वनस्पति० मुद्गभेदः धूसरमुद्गः (रा. १६.१३०)
-द्र० 'मुद्ग'

(धूसरा-)स्त्री., वनस्पति० पाटली (रापरि. ५.४४)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० हस्तिशुण्डी (रापरि. ५.२०)

धृति-स्त्री., प्रज्ञाभेदः धैर्यम् (चशा १.९८)
संयमः (चवि. ४.८) सात्विकगुण० मनसो नियमात्मिका बुद्धिः (सुशा १.१८) मनःसंतुष्टिः (ड. सुसू. २.३)
-भ्रंश- पु., लक्षण० मनोनियमनकर्त्री बुद्धिःशक्तिर्वा, तस्या भ्रष्टत्वम् । चशा. १.१००)

धेनुका-स्त्री., सिराव्यधव्यापत्० सिरा व्यधनप्रदेशस्य शस्त्रपदैर्बहुवारताडनान्मुहुर्मुहुः रक्तं स्रवन्ति। धेनुस्तनैरिव स्रवणात् सा धेनुकेत्युच्यते। (ड. सुशा. ८.१९)

धेनुजिह्वा-स्त्री., वनस्पति० गवेधुका (रा. ४.१८०)

धेनुदुग्ध-न., वनस्पति० चिर्भटम् (ध. १.१८०)

धैर्य-न., धीरता, मनसो विपद्यप्यदैन्यम्, धैर्यमविषादेन परीक्षेत (चवि. ४.८)

धौत-वि., संस्कारवशान्निर्मलम् (अहसू. ५.४७)
न., खनिज० रौप्यम् (रा. १३.८) रुपे.
भूनागमृत्तिकां क्षारयित्वा गृहीतं कृष्णवर्णं रज एव धौतम् (र ८.४७)
-माक्षीक-न., खनिज० स्वर्णमाक्षीकम्, रौप्यमाक्षीकं वा (र. १५.५३-५४)
-वाससू-न., निर्मलं वस्त्रम् (असंसू. ३.७३)

धौम्य-पु., ऋषि०रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२)

ध्मान-उपक्रम०-न., नस्यपञ्चकम्, प्रधमनाख्यं नस्यम् (अहसू. २०.८)
अङ्गारप्रज्वालनार्थं भस्त्रिकादिना प्रध्मानम् (र.२.२९)

ध्मापन–न., चूर्णादीनां नासादिषु प्रक्षेपणम् (चसि.९.९१)

ध्यान–न., लक्षण० चिन्तनम् (चनि. ७,६)
चिन्ता (हे अहसू. ११.३९)
अनवरतकार्याकार्यचिन्तनम् (सुसू.१९.२०)

–चक्षुस्–न., ध्यानं समाधिविशेषः समानाकारप्रत्ययसंततिर्ध्यानमिति योगग्रन्थेभ्य उन्नेयम् । तदुपलब्धिसाधनं चक्षुर्ध्यानचक्षुः । ध्यानं चक्षुरिव ध्यानचक्षुः (चक. चसू.१.१७)

ध्याम–वि., ईषत्कृष्णम् (सुसू.२८.१३) दग्धेष्टकादिवर्णम् (सुक.८.१२२)
न., रोहिषतृणम्, कत्तृणम् (चचि.२८.१५४)
गन्धतृणम्, भूतृणम् (सुचि.२२.६९)

–क्वाथ–वि., ध्यामो मलिनः क्वाथः क्वाथ्यद्रव्यं यस्मिंस्तद् व्यञ्जनादि (अरु.अहसू.७.५)

–मण्डलता–स्त्री., मलिनं वर्तुलं यत्र तद्व्रणादि, तद्भावो मलिनमण्डलता । विषस्पृष्टं वस्त्रमीदृग्वर्णं नाम कृष्णमलिनवर्तुलोपेतं भवति (अहसू. ७.११)

ध्यामक–न., वनस्पति० रोहिषतृणम् कत्तृणम्, (चचि.१२.६६) (सुक. २.५१; ध. १.८०; र.२२.१६७) प्रायोगिकधूमार्थमुपयुज्यते (अहसू. २१.१४;) गरादिसर्वविषेषूपयुज्यते (असंउ.४०) गन्धतृणम् (चसू. ५.२१) क्षौमकम्, (जज्जट) (चचि. ३.२६७; अहचि. १.१३८)

ध्येय–न., मनोविषयाणामेकम्, भावनाविषयं ज्ञानम् (चशा. १.२०)

ध्रुव–पु., वनस्पति० वटः (ध. ५.७६; सुसू. ५.२९)

(ध्रुवा)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (ध.१.८७)
वि., निश्चितम् (सुचि. ७.२९) निश्चित.

ध्रुवम्–अव्य., निश्चितम्, शाश्वतम् (सुशा. २.३३)

ध्वंशी–स्त्री., मान० त्रसरेणुः, धूलिः (चक.) (चक. १२.८७)

ध्वंसक–पु., रोग० मद्यजोऽयम् । त्यक्तमद्यस्य पुनः सहसाऽनुचितमद्यसेवनेन वातात् कष्टतमोऽसौ व्याधिर्भवति । तल्लक्षणम्–अस्मिन् श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दाऽसहिष्णुता तन्द्रानिद्रातियोगश्च भवति (चचि. २४.२०१; असंनि. ६.२२.३०)

ध्वज–पु., पताकाया दण्डः (चइ. १२.२८–३०) (सुसू. २८.१९)
लिङ्गम्, पुरुषेन्द्रियम् (चचि. ३०.१५४–१५५) (असंशा. २.४३)

–क्षय–पु., रोग० मेढ्रनाशः (सुचि. १९.३७)

–द्रुम– पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)

–भङ्ग–पु., गुह्यरोग० क्लैब्यकारणेष्वेकम् (चसू. १९.४ (५)
शूकातिसेवन रेतःप्रतिघातादिभिर्हेतुभिर्ध्वजभङ्गो भवति । स वातपित्तकफरक्तसन्निपातभेदात् पञ्चविधः तत्र वातजे ध्वजभङ्गे मेढ्रे श्वयथुर्वेदना रागश्चोपलक्ष्यते । पित्तजे-तीव्राः स्फोटा जायन्ते लिङ्गपाकश्च भवति । कफजे-मेढ्रे मांसवृद्धिर्भवति व्रणाश्च भवन्ति । पुलाकोदकसङ्काशः श्यावारुणप्रभः स्रावः वलयीभवनं, परिग्रहश्च कठिनो भवति । रक्तजे–ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा छर्दिश्च भवति । नीलमाविललोहितं कृष्णं रक्तं च स्रवति । सन्निपातजे–बस्तौ वृषणयोः सीवन्यां वङ्क्षणेष्वग्निदग्धवत् तीव्रो दाहः, पिच्छिलः पाण्डुश्च स्रावो मन्दश्चयथुः श्वयथौ च कृम्युद्भवः क्लेदः पूतिगन्धित्वं मणिमेढ्रमुष्काणां विशीर्णत्वंच भवति (चचि. ३०.१६३–१७५) र. २७.४९; सुचि. २६.१२)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)

–ध्वजोच्छ्राय–पु. शिश्नोत्थानम् (सुशा. २.४५) असंशा. २.)

ध्वनिमूल–न., वनस्पति० आकाशवल्ली, खवल्ली (र. १०.२२)

ध्वाङ्क्ष–पु., पक्षि० काकः, ध्वांक्षति कांक्षति आमिषादिकं मृतपशोरपि इति ध्वांक्षः (सुसू. ६.२३)

(–ध्वाङ्क्षी)–स्त्री., पारददोष० सप्तकञ्चुकेष्वेकः, कालिमा, काकपक्षवत्स्नैग्ध्यकारिणी (र. ११.२२)

–जङ्घा–स्त्री., वनस्पति० काकजङ्घा (ध. ४.२३)

–जम्बू–स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः काकजम्बूः (रा. ११.१३२) द्र० ' जम्बू '.

–तुण्डफला–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (ध. ४.२५)

–तुण्डा–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (रा. ३.४०)

–दन्ती–स्त्री., वनस्पति० काकादनी (रा. ३.४४)

–नखी–स्त्री., वनस्पति० काकादनी (ध. ४.२७)

–नाम्नी–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४३)

–नाशिनी–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (ध. २.९)

–नासा–स्त्री., वनस्पति० काकनासा, (ध. ४.२५)

–नासिका–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (रा. ३.४१)

–माची–स्त्री. वनस्पति० काकमाची, (ध. ४.२१)

ध्वाङ्क्षादनी–स्त्री., वनस्पति० काकादनी (रा.३.४३)
ध्वाङ्क्षिका–स्त्री., वनस्पति० काकोली, (रा. ३ १६६)
ध्वाङ्क्षोलिका–स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२)
ध्वाङ्क्षोली–स्त्री. वनस्पति० काकोली (रा. ३१६७)

न

नकुल–पु., प्राणि० भूमिशयोऽसौ (चसू. २७,३८) बिलेशयः (सुसू. ४६.७८; रा. १७.१) असौ स्थूलपुच्छो रक्तनेत्रो बभ्रुदेहो भुजङ्गशत्रुश्च भवति (सुशा. ४.७१) अस्य मांसं शोषे छद्मना केनापि व्याजेन वा देयम् (सुउ. ४१.३६) अस्य वामगमनं प्रशस्तम् (सुसू. २९.३६) निरग्नि-स्वेदार्थमस्य चर्मगोण्युपयुज्यते (सुचि. ४.१७)
(नकुला)–स्त्री., ग्रहमाता० (असंउ. ४.)
(नकुली)–स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (र ३०.४८)
–पित्त–न., भैषज्य० नकुलस्य पित्तम्, अपस्मारे नकुलपित्तसिद्धतैलं पानाभ्यङ्गेषु प्रशस्तम् (सुउ. ६१.२४) इदं हरितालविषे नस्याञ्जनार्थ-मुपयुज्यते (असंउ. ४०) ग्रहचिकित्सायां चोपयुज्यते (सुउ. ६०.४०)
नकुलाढ्या–स्त्री., वनस्पति० गन्धनाकुली (रा.७.१५३)
नकुलान्ध–वि., नकुलान्ध्यवान् (अहउ. १२.२३–२४)
नकुलान्ध्य–न., नेत्ररोग० सर्वजोऽयम्, तल्लक्षणम्–अस्मिन् नकुलदृष्टिर्विद्योतते। दिवा चित्राणि रूपाणि पश्यति रात्रौ च न किञ्चिदपि पश्यति। असाध्योऽयम् (सुउ. ७.४०; असंउ. १५.)
नकुलेष्टा-स्त्री., वनस्पति० गन्धनाकुली (ध. ४.१०५)
नक्तक–पु., कर्पटावयवः जीर्णं वस्त्रम् (चसू. १४.११)
नक्तम्–अव्य० निशि (अहसू. २.४७)
–चर–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)
–चारिणी–वि., या रात्रौ चरति सा गर्भिणी (चशा. ८.२१)
नक्तमाल–पु., वनस्पति० करञ्जः (चसू. ४.११; सुचि. १६.१६; अहसू. ३०.९; ध. ५. १०७) अस्य क्वाथः स्नानव्याजेन श्वयथावुपयुज्यते (असंचि. १९) अस्य फलं नयनाञ्जनेन ग्रहबाधायामुपयुज्यते (सुउ. ६०.४४)
नक्ता–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९)
नक्तान्ध–वि., नक्तान्ध्ययुक्तः (सुसू. ४६.२८२)
नक्तान्ध्य–न., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्-अस्मिन् सूर्येऽस्तङ्गते स्तम्भमागताक्षिषु पटलेषु स्थिता दोषा दृशं स्थगयन्ति, तेन ईद्दग्दोषदूषितनयनो रात्रौ न पश्यति। अह्नि दृष्टिपथाद्भ्रष्टा मला व्यक्तदर्शने साहायकमाचरन्ति (सुउ.७.३८; असंउ. १५.)
नक्ताह्व–पु., वनस्पति० करञ्जः बीजान्यस्य प्रलेपधूपाञ्जनानस्यैर्विसूचिकानाशनानि (असंसू. ११.५२)
नक्र–पु., मत्स्यभेदः (सुचि. २६.२६; अहसू. ६.५३)
–रेतस्–न., नक्रस्य शुक्रम् इदं वृष्याणामग्र्यम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)
नक्राण्ड– पु. न., नक्रस्याण्डम्, वृष्यमिदम् (चचि. २ (२) २८)
नक्षत्र–न., तारका इयं ज्योतिःशास्त्रीया संज्ञा (चसू. १५.९) क्रान्तिवृत्तस्थससविंशतिनक्षत्राणि अश्विन्यादिरेवत्यन्तानि प्रसिद्धानि (सुसू. २.४) नक्षत्रविशेषे ज्वरादिविशेषरोगाः संभवन्ति (असंनि. १)
रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६६)
–चरित–न., उल्कापातादिभिर्जन्मनक्षत्राऽभिहननम् (सुसू. ६.१९)
–नामन्–न., नक्षत्रदेवतानुकारि नाम (सुशा.१०.२४)
–पीडन–न., क्रूरग्रहाणां बाधनम् (ड. सुउ. ३९.४१)
–पीडा–स्त्री., नक्षत्राणां पीडा (सुसू. २८.६)
–शीतल–वि., नक्षत्रसम्बन्धात्शीतम् (अहसू. ३.३३)
नक्षत्राकृतिविस्तार–पु., वनस्पति० जूर्णाभेदः धवलयावनालः (१६.१६८)
नख–पु. न. प्रत्यङ्ग० करजः नखरः
तत्सङ्ख्या–विंशतिर्नखाः, (चशा. ७.६) अस्रो मलः, (सुसू. ४६.५२९) अनुयन्त्रेष्वेकम् (असंसू. ३४.३७; अहसू.२५.४०) अनुशस्त्रेष्वे-कम्, (सुसू. ८.१५)
न., सुगन्धि० धूमपानार्थमुपयुज्यते (चसू. ५.२०) तद्गुणाः–कटूष्णं कफविषकुष्ठ-कण्डूव्रणभूतपीडाहरं च (ध. ३.५८; र. १७.११०–११६)
हिं.–नख.
म.–नखला.
गु.–नखला.
बं.–नखी.
फा.–ताखुनपर्या.
–च्छेदन–न., नखकर्तनम्, (सुशा. २.२५)
–च्छेद्या–स्त्री., वनस्पति० मेदा, (रा. ५.१६०)
–दन्तक्षत–न., नखदन्तानां व्रणः, (चचि. २३.२१९)

-दोष-पु., नखेषु जायमानो विकारः (चसू. २८.१६)
-द्वय-न., हस्तिनखं व्याघ्रनखं च (असंउ. १०)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० वृश्चिका (रापरि. ५.४०)
-पुष्प-न., नखे श्वेतचिह्नम् मरणसूचकारिष्टानामेकतममिदम् (चइ. १२.५५)
-(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११४)
-पूर्विका-स्त्री., वनस्पति० निष्पावी (रापरि. ७.९९)
-प्रिय-पु., वनस्पति० नीलः (रापरि. ९.११)
-भेद-पु., अशीतिवातविकारेष्वेकः नखानां भेद; (चसू. २०.११; असंसू. २०.)
-विष-वि., नखे विषं यस्य, तादृशाश्च मार्जारश्वानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटा नखविषास्तथा दंष्ट्राविषाः (सुक. ३.५)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० नीलः (रापरि. ९.११) द्र० 'नखप्रिय'.
-शङ्खक-पु., भैषज्य० क्षुद्रशङ्खः (रा. १३.२४६)
-शस्त्र-न., शस्त्र० एतत् एकतो वक्रधारमुखमन्यतश्च ऋजुधारमुखमेवं द्विमुखमिदम् । प्रमाणमस्य नवाङ्गुलम् । इदं सूक्ष्मशल्योद्धृतौ छेदभेदप्रच्छानलेखनेषूपयुक्तम् (अहसू. २६.१८) तस्य फलं द्व्यङ्गुलायाममेकाङ्गुलविस्तृतम् (डसुसू. ८.४) एकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतो वत्सदन्तमुखं प्रमाणतोऽष्टाङ्गुलं सूक्ष्मशल्योद्धृतावुपयुज्यते (असंसू. ३४.३१)
-शात-पु., लक्षण० नखपातनम् (ड. सुक. १.३७; असंसू. ८.२५)
-शूल-पु., लक्षण० नखस्य शूलवद्वेदना (चसि. २.१६)
-शोष-पु., लक्षण० नखानां शुष्कत्वम् (चसि. २.१६)
-सन्धि-पु. शारीर० नखानां संधिस्थानम् (सुचि ३.२३)
-स्तम्भ-पु., लक्षण० नखस्य स्तम्भः (चसि २.१६)
नखर-पु., प्रत्यङ्ग० नखम् (चचि. १०.३८)
नखराश्व-पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.२)
नखाद-पु., कृमि० शोणितजोऽयम् । नखानत्तीति नखादः । अदृश्योऽयम् (सुउ. ५४.१५)
नखान्तर-न., नखानां मध्यः (असंसू. ३९.५)
नखालु-पु., वनस्पति० नीलः (रापरि. ९.११)
नग-पु.,वृक्षः न गच्छति अवशीर्यते दृढमूलत्वादिति नगः, (ड. सुउ. ६०.१६)
पर्वतः (सुक.५.७६)
-जा-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रपाषाणभेदः (रा. ५.२१६)
-जित्-पु., वनस्पति० पाषाणभेदकः (रा. ५.२०९)
-भिद्-पु., वनस्पति० पाषाणभेदकः (घ.१. १५७)
-मृत्तिका-स्त्री., पर्वतस्य शोभनगन्धा मृत्तिका, विषहरेयम् (ड. सुक. ५.७६-७८)
-वृत्तिक-पु., वनस्पति० जिङ्गिनी, (ड.) गुडमञ्जनिका वृश्चिकाली (सुचि. २०.१२)
-वृत्तिका-स्त्री., वनस्पति० शल्लकी, (सुचि. १५.९; सुक. ५.७६)
नगरोत्था-स्त्री., मुस्ताभेदः, नागरमुस्ता, (रा ६.६१)
नगाश्रय-पु. वनस्पति० हस्तिकन्दः, (रापरि. ७.३६)
नग्नजीव-पु., वनस्पति० पुंसवनविधावुपयुक्तः (असंशा. १.६१)
नट-पु. वनस्पति० अशोकः (रा १०.२७२) नलः, (घ. ४. १४१)
(नटी)-स्त्री., वनस्पति० नलिका, (घ. ३.४३)
-मण्डक-न., खनिज० हरितालम्, (घ ७.११९)
-मण्डन-न., खनिज० हरितालम् (रा. १३.५८)
नड-पु., वनस्पति०नलः, (घ. ४.१४१)
नत-न., वनस्पति० तगरम् (चसू. ३.२८; ड सुउ. १८.१०३; अहसू. १५.५; घ. ३.५३)
नद-पु., सिन्धुशोणादिः (ड. सुसू. ४५.४)
नदी-स्त्री., गङ्गाद्या (ड.) तत्र शीघ्रवहा नद्योऽमलोदका लघ्व्यः । मन्दगास्तु शैवालच्छन्नाः कलुषाश्चगुर्व्यः । पश्चिमाभिमुखा नद्यो लघूदकत्वात् पथ्याः, पूर्वाभिमुखा गुरूदकत्वादप्रशस्ताः । दक्षिणाभिमुखाः साधारणत्वान्नातिदोषलाः । देशतः, सह्यप्रभवा नद्यः कुष्ठं जनयन्ति । विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवद्भवा हृद्रोगशिरोरोगश्वयथुश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति । पारियात्रप्रभवास्तु पथ्या बलारोग्यकर्यश्च । मरुदेशगता नद्यः प्रायेण सतिक्तलवणा लघ्व्यः समधुराः पुरुषाणां हितावहा बले हिताश्च (सुसू. ४५.२१-२३; अहसू. ५.११)
वनस्पति० अग्निमन्थः (रा.९.१३६)

नदिज–पु., धान्य० यावनालः (रापरि. ८.३८)
नदी–**कदम्ब**–पु., वनस्पति० महामुण्डी (रा. ५.२२०)
–**कान्त**–पु., वनस्पति० हिज्जुलः (रापरि. ८.७०)
–**(कान्ता)**–स्त्री., वनस्पति० काकजङ्घा (ध. ४.२३)
–**ज**–पु, वनस्पति० यावनालः (रापरि. ८.३८)
हिज्जुलः (रापरि. ८,७०)
निष्पावभेदः कटुनिष्पावः (रा. १६.१७७)
वनस्पति० ' निष्पावः '
न., लवण० सैन्धवम् (सुउ. १७.२७)
खनिज० सुवर्णमाक्षिकम्, एतत् कुम्भकामला–रोगघ्नम् (सुउ. ४४.३१; सुचि. ९.२५)
स्रोतोञ्जनं शङ्खो वा यामुनं सौवीरम् (र. २३.४०)
–**जशिम्प्याद्यञ्जन**–न., अञ्जन० सैन्धवहरित-मुद्रादिभिर्निर्मितमञ्जनम्। एतद्विवान्धानां प्रशस्तम् (सुउ. १७.२७)
–**भल्लातक**–पु., भल्लातकभेदः, नदीपिप्पलिका (ड.) गण्डोपली (ड.) शीतपूतनाजुष्टे परिषेकार्थ-मुपयुज्यते (सुउ. ३४.५; का बालग्रहचि.)
चुच्च्वादिवर्गोक्तं शाकम्। नन्दीभल्लातकः, अस्याऽऽमानि फलानि पल्लवाश्च शाकत्वेनोपयुक्ताः (सुसू. ४६.२४९)
–**माषक**–पु., शाक० नन्दीमाषकः, वानीरकः, अयं विशदो गुरुः शीतः समभिष्यन्दी च (चसू. २७.११४)
–**वट**–पु., वनस्पति० वटभेदः, वटी (रा. ११.११६)
–**सर्ज**–पु., वनस्पति० अर्जुनः (ध. ५.११४)
नद्याम्र–पु., वनस्पति० आम्रभेदः, समष्टिलः (रापरि. ४.१)
नद्युदुम्बरिका–स्त्री., वनस्पति० उदुम्बरभेदः (रा. ११.१४०) द्र० ' उदुम्बर '
नन्द–पु., सर्प० दिव्यसर्पः (असंउ. ४१.)
(नन्दा)–स्त्री., वनस्पति० स्नुही (चक. १०.८)
आरामशीतला (रापरि. १०.५२)
(नन्दी)–स्त्री., वनस्पति० तुण्डेरिका (अरु. अहसू. ६.९२)
नन्दकधूप–पु., धूप० घृतं त्वचा तरक्षोर्बिडलोमचर्माणि प्रसहानां पुरीषं च। एतेषां धूपो ग्रहापहः (का. धूपकल्प)
नन्दन–पु., स्थावरविष० विषवृक्षोऽयम्, अस्य फलं त्वक् सारो निर्यासश्च विषमयः। फलेन मुष्कशोफदाहाऽन्नद्वेषा भवन्ति। त्वक्सारनिर्यासैरास्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्फसंस्रवा भवन्ति (सुक. २.५)
वि., आह्लादकरम्, हर्षकरम् (चसू. ३०.१५)
–**ज**–न., वनस्पति० हरिचन्दनम् (रा. १२.१९)
नन्दनक–पु., फलविष० नन्दनः (असंउ. ४०)
नन्दिक–पु., वनस्पति० नन्दिवृक्षः (ध. ३.१८)
नन्दिकेश्वर–पु., देवता० षष्टिबालग्रहस्य पञ्चमो भ्राता (का. बालग्रहचि.)
नन्दिन्–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४)
अपामार्गः (४.३८८)
नन्दिवृक्षः (रा. १२.३१; अहसू. १५.४१)
जयवृक्षः (अरु; अहसू. १५.४१; असंसू. १६.३५)
मेषशृङ्गी (हे अहसू. ६.७७)
प्राचीनो रसाचार्यः (र. १.५-९; र. ९.६४-६६)
रसमण्डपे पूजनीया देवता (र. ६.२५)
(नन्दि)–**तरु**–पु., वनस्पति० धवः (ध. परि ५.४)
–**वारल**–पु., मत्स्य० सामुद्रोऽयम् (सुसू.४६.११८)
–**वारलक**–पु., मत्स्य० सामुद्रोऽयम् (सुसू. ४६.११८)
–**वृक्ष**–पु., वनस्पति० तद्गुणाः – कटुस्तिक्तः सुगन्धी पुष्टिवीर्यदोऽन्नदाहजिच्छिरोर्तिश्वेतकुष्ठघ्नश्च (ध. ३.१८)
(नन्दिनी)–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)
रेणुका– (ध. ३.५१)
नन्दी–स्त्री., वनस्पति० तुण्डेरिका (अरु. अहसू. ६.९२)
–**माषक**–पु., वनस्पति० वानीरकः (हे) वानीरः (अहसू. ६.९२)
–**मुख**–पु., पक्षि० प्लवजातीयोऽसौ (चक. १.८)
आटीभेदः पत्राटी (सुसू. ४६. १०५)
व्रीहि० आडीचञ्चुसदृशस्तण्डुलः (सुसू. ४६.१२)
–**मुखमुख**–न., यन्त्र० स्वस्तिकयन्त्रम्, पत्राटी-मुखसदृशम्, इदं शल्योद्धरणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७.१०)
–**मुखी**–स्त्री., जलचरपक्षि० पत्राटी (चसू. २७.४३)
कुधान्य० मर्कटहस्ततृणभेदः (सुसू. ४६.२१)
गोधूमभेदः, तद्गुणाः–पथ्या शीता कषायमधुरा लघुश्च (अहसू. ६.१६)
–**वृक्ष**–पु., वनस्पति० प्ररोही गर्दभाण्डः, पार्श्व-पिप्पलः (ड.) न्यग्रोधादिगणोक्ता गुणाः–व्रण्यः

सङ्ग्राही भग्नसाधको रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृच्च (सुसू. ३८.४८–४९;) (असंसू. १६.३२) अम्बष्ठादिगणोक्ता गुणाः –पक्वातीसार-नाशनः पित्ते हितश्च (सुसू. ३८.४६–४७; अहसू. १५.३८)

काश्मरी (ड. सुसू. ३८.४६–४७)

नन्दीश्वर–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १५.४४–५२)

नन्द्यावर्त–पु., वनस्पति० तगरम् (र. २३.४६)

नन्द्यास्य–पु., जलचरपक्षि० नन्दीमुखः आटीभेदः (अहसू. ७.८१-८३)

नपुंसक–न., न स्त्री न च पुमान्, क्लीबः (सुशा. ३.५; असंशा. २.३८)

–**कर**–वि., नपुंसकत्वव्यञ्जकं चिह्नम् (चशा. ४.१४)

नप्तृका–स्त्री., पक्षि० घुडुरुका, इयं विष्किरजातीया हुङ्कारकारिणी पाण्डुरोदराऽल्पा च (सुसू. ४६.५९)

नभ–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०–२४३) मास० श्रावणः (चक्र. चसि. ६.५)

नभस्–पु., कालविभाग० श्रावणः द्वादशमासानामेकतमः (सुसू. ६.६)

–**वत्**–पु., वायुः (र. १२.१-८) अत्र नभवत्पदं तज्जन्यपक्षवधादिवातरोगाभिप्रायकम्

नभस्य–पु., कालविभाग० भाद्रपदः द्वादशमासानामेकतमः (सुसू. ६.६)

–**प्रथम**–वि., नभस्याद् भाद्रपदात्प्रथमः पूर्वो मासः श्रावणः (चसू. ७.४६)

नमस्करी–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (असंसू. १६.३२; अहसू. १५.३८)

नमस्कारी–स्त्री., वनस्पती० लज्जालुः (ध. ४.१०९)

नमेरु–पु., वनस्पति० देवदारुः (का. जातिसूत्रीय शा.) सुरपुन्नागः (रापरि. १०.१०)

नयन–न., शारीर० नेत्रम् नीयते दृष्टिविषयोऽनेन इति नयनम् (असंशा. ९.११)

–**प्रवेश**–पु., लक्षण० नेत्रस्यान्तर्गमनम् (असंसू. २७.३७)

–**प्लव**–पु., लक्षण० नयनयोरश्रुपूर्णत्वम् (सुउ. ३९.२५)

–**बुद्बुद**–न., अक्षिगोलकः (सुउ. १.१०)

–**संमीलन**–न., नेत्रसङ्कोचः (सुसू. ४२.१० (२)

नयनान्तर–न., प्रत्यङ्ग० नयनयोर्मध्यम् (सुसू. ३५.१२)

नयनाभिघात–पु., (परिव०) नेत्रस्याऽऽघातः (सुउ. १९.१)

नयनाभिघातप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. १९.)

नयनामय–पु., नेत्ररोगः (असंसू. ३२.६)

नर–पु., पुमान्, पुरुषः (सुशा. ४. ९७.)

–**कामा**–वि., पुंस्यभिलाषवती (स्त्री) (सुशा. ३.७–८.)

–**चेष्टिता**–स्त्री., नारीषण्डः (सुशा. २.४३)

–**नामन्**–पु., वनस्पति० नीलः (रापरि. ९.११)

–**वारि**–न., नरमूत्रम्, इदं रसकशुद्ध्यर्थमुपयुक्तम् (र. १३.१—१०)

–**वाहन**–पु., रसवैद्यः, सप्तविंशतिसङ्ख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः (र. १.२–५)

–**षण्ड**–पु., क्लीबः पुरुषः (चशा. २.१७)

नराधिप–पु.,वनस्पति० कृतमालः (ड.) कर्णिकारः (सुचि. ३७.११)

नरिष्यत्–पु., मनुपुत्रः (चचि. १९.४)

नरेन्द्र–पु., वनस्पति० किरमालकः (ड.) आरग्वधः (सुक. ५.६१)

प्राचीनो रसाचार्यः (र. १.५–९)

नरेन्द्रद्रुम–पु., वनस्पति० आरग्वधः (सुचि. ९.४०)

नर्तक–पु., वनस्पति० नलः (ध. ४.१४१)

(**नर्तकी**)–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)

नल–पु., वनस्पति० तृण० धमनः (सुचि. ५.८) दूर्वाकाराङ्कुरोऽन्तःसुषिरस्तृणविशेषः, तृणपञ्चमूलेष्वेकः (सुसू. ३८.७५) अस्य मूलं रक्तपित्ते प्रलेपार्थमुपयुक्तम् (चचिं. ४.१०२) श्वदंशे पानलेपनयोर्हितं (असंउ. ४६.) पित्तशोफे प्रलेपार्थमुपयुक्तम् (सुसू. ३७.४) नलगुणः – कषायो मधुरः शीतो रुच्यो दीपनो वीर्यवृद्धिकरः पित्तघ्नो मूत्ररक्तपित्तघ्नश्च (ध. ४.१४१) वीरतर्वादिवर्गोक्ता नलगुणाः–वातघ्नोऽश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः (सुसू. ३८.१०–११; असंसू. १६.१८; अहसू. १५.२४)

हिं.—नरसल, नल.

म.—लघुदेवनळ.

गु.—नडगल, नाळी.

बं.—नल.

त.—कोरुक्के, तण्टरुम्पुल्लु

(**नली**)–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)

द्र० ' नर्तकी. '

न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (ध. ४.१५२)

–**द**–न., वनस्पति० जटामांसी (चसू. ४.११; सुउ. ३१.४; असंउ. ४५; अहसू. २१.१३)

वनस्पति० उशीरम् (सुउ. ३९.१७३; असंउ. २८)
उशीरभेदः लामज्जकम् (सुक. ६.१४)

(-दा)-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)

नलक-पु. वनस्पति० कलायः (ध. ६.१०३)

(नलिका)-स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रापरि. ३.२७)
नलिकागुणाः-मधुरा तिक्ता कटुः शीता तीक्ष्णा गुरुर्मलशोधनी रक्तपित्तविषकृमिवातोदरार्शःशूलघ्नी च (ध. ३.४३; चचि. २८.१५२; र. २९.१२१-१२२)

नलकास्थि-न., अस्थिप्रकार० नलकवदस्थि हस्तपादाङ्गुलितले कूर्चेषु मणिबन्धयोर्बाहुजङ्घाद्वये च नलकास्थीनि भवन्ति (सुशा. ५.२०; असंशा.५.७२)
एतानि च भज्यंते (सुनि. १५.१६)

नलिका-स्त्री., र. ६.४३)
-यन्त्र-न., यन्त्र० नलिकायन्त्रम् (र. ९.४३)
नलिकाघटितं तैलादिनिष्पीडनयन्त्रम् (र. २१.७०)

नलिन-न., वनस्पति०रक्तपद्मम् (चचि. ३.२५८) (सुसू. १३.१४; ध. ४.१५२)
श्वेतमष्टदलपद्मम् (चक्र. चसू. २५.४९)
कमलम् (चसू. ४.१५; रा. १०.२४३)
फञ्जीचिल्यादिगणोक्तं शाकम्, पद्ममृणालम् (चसू. २७.१०१)

नलिन-केशर-न., पद्मकेशरम् (सुसू. ३८.४१)

नलिनी-स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४.१५७)
-भवपङ्क (परिव०)-पु., पद्मतलकर्दमः (सुचि. २५.२९)
-रुह-न., वनस्पति० बिसम् (ध. ४.१६१)

नलिनीका-स्त्री., फञ्जादिगणोक्तं शाकम्, पद्ममृणालम् (चसू. २७. १०१)

नल्व-पु., मान० द्रोणः (असंउ. ५)

नल्वण-पु., न., मान० द्रोणः (चक. १२.९५; असंक. ८.; र. ११.८-९)

नव-पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः, रक्तपुनर्नवा (रा. ५.४०८) द्र० 'पुनर्नवा'

(नवा)-स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (र. २६.२४)
न., खनिज० अभ्रकम् (धपरि. ६.३-४)
वि., सद्योजातम्, तत्कालाहृतम्, नूतनम्, नातिजीर्णम् (सुउ. २४.१८; सुसू. ४६.३३९)
संख्या० एकोनदश (सुउ. २७.१)
-ग्रहाकृतिविज्ञानीय-वि., अध्यायसंज्ञा०(सुउ. २७)
-ज्वर-पु., रोग० तरुणज्वरः (चचि. ३.१३८-१३९; र. १२.११०)
-ज्वरमुरारि-पु., पारदयोग० पारदगन्धकमनःशिलानां समप्रमाणानां कर्कोटिकारसेन संमर्दनात् सिद्धो रसः शर्करानुपानोऽसौ तण्डुलीयकरसानुपानो वा; नवज्वरनाशनः (र. १२.१६४-१६६)
-ज्वरारि-पु., पारदयोग० प्रत्येकं कर्षसंमितयोः शुद्धपारदगन्धकयोः कृतां कज्जलीमार्द्रकरसेन विमर्द्य गोलकं कुर्यात् । नवमृत्पात्रे तं गोलकं ताम्रपात्रेणाच्छाद्य व्रीहिस्फुटनमात्रं वालुकायन्त्रे विपचेत् । ततः सिद्धोऽयं रस आर्द्रकरसानुपानो नवज्वरविनाशनः (र. १२.१४२-१४७)
-द्रु-पु., वनस्पति० प्रियालः (रा. ११.१०२)
-धान्य-न., न्यूनसंवत्सरोषितं धान्यम् (सुसू. ४६.५१)
तद्गुणाः - अभिष्यन्दी दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदको दोषसञ्जननः पूयवर्धनश्च (सुसू. १९.१७; सुसू. ४६.५१; अहसू. २९.३९-४०)
-धान्यादिवर्ग-पु.,न्यूनसंवत्सरोषितानां शालिव्रीहिषष्टिकादीनां माषतिलकलायकुलत्थादीनां च गणः
-ध्वान-पु., देश० कुरुक्षेत्राद्दक्षिणदेशः (काखिल. २५.१२)
-नीत-न., आहारद्रव्य० तक्रजः स्नेहः ।
तद्गुणाः मधुरं शीतं स्निग्धं मधुरविपाकि हृद्यं रोचनं दीपनं ग्राहि चक्षुष्यं वृष्यं जीवनं बृंहणं वातपित्तघ्नं क्षयारुच्यर्दितप्लीहग्रहण्यर्शोक्षिरोगरक्तपित्तविषोन्मादशोफघ्नं च (ध. ६.२२९; र. २३.१९) क्षीरोद्भवनवनीतगुणाः-संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजिच्च (सुसू. ४५.९३; असंसू. ६.७३; अहसू. ५.३६) नवोद्धृतनवनीतगुणाः-संग्राहि दीपनं हृद्यं ग्रहण्यर्शोघ्नमर्दितारुचिनाशनम् (चसू. २७.२३०) वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषघ्नं पित्तानिलहरं च (सुसू. ४५.९२ ; अहसू. ५.२५; असंसू. ६.७२),
-नीतक-न., नवनीतम् नवनीतमेव नवनीतकम्, (र. २०.२००)
-नीतज-न., भैषज्य० घृतम् (ध. ६.१४४)
-नीतोद्भव-न., भैषज्य० नवनीतमुद्भवति, अथवा उद्भवति अस्मात् इति उद्भवः कारणम्, नवनीतमुद्भवः कारणं यस्य तत्, कार्ये कारणोपचारात् दधि (ध. ६.१८८)
-पीनस-पु., अपक्वपीनसः (अहसू. २०.१२)
-प्रसूता-स्त्री., नवसूतिका (सुचि. ३३.३०)

-मद्य-न., अनतीतसंवत्सरं मद्यम्, तद्गुणाः - अभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनमनिष्टगन्धि विरसमहृद्यं विदाहि च (सुसू. ४५.१९२-१९३)

-मालिका-स्त्री., पुष्प० वनमल्लिका (असंसू. २१.४)

-लोचन-वि., नव लोचनानि यस्य स क्रोधाग्निर्ज्वररूपः (चचि. ३.२३)

-विध-वि., नवप्रकारम् (हे. अहसू. २३.२५) अयं शब्दष्टीकायामेव वरीवर्ति ।

-सार-पु., सार० नवसादरः, अष्टसु साधारणरसेष्वेकः (र. ३.१३४) करीरपीलुकाष्टेषु पच्यमानेषूद्भूतः क्षारः, तद्गुणाः - तीक्ष्णः क्षारः सरो जठराग्निकृन्मांसजारणो रसेन्द्रजारणो लोहद्रावणो गुल्मोदरविष्टम्भशूलप्लीहाऽऽस्यशोषघ्नश्च (ध.२.१-४)

-सारक-पु., क्षार० नवसारः (र. ३.१३४-१३५ ,

नवाङ्गिनी-स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५)

नवायसचूर्ण-न., योग० त्रिफलाचित्रकत्रिकटुविडङ्गमुस्तानां नव भागाः, तावन्त एव च कृष्णायश्चूर्णस्य भागाः । एतेषां मिश्रणाज्जातं चूर्णम् । कृष्णात्रेयेण कथितमेतत् । एतत् पाण्डुरोगहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहं तथा दीपनं शोफाविपाककासश्वासप्रमेहनाशनं च (चचि. १६.७०-७१; सुचि. १२.११;असंचि. १४.)

नवालाम्बु-स्त्री., वनस्पति० कुम्भतुम्बी (रा. ७.२३६)

नवेगान्धारणीय-वि., अध्याय० (चसू. ७.)

नवोद्धृत-वि., सद्यस्कम् (चसू. २७.२३०)

नवौदन-पु., नवतण्डुलनिर्मितमन्नम् (असंसू. ४.१७)

नव्य-पु., पुनर्नवाभेदः, रक्तपुनर्नवा (रा. ५.४०८) द्र० ' पुनर्नवा '

नष्ट-वि., अन्तर्हितम् (सुउ. ४७.१२)

-कर्मक्रियागुण-वि., लक्षण० नष्टानि कर्माणि क्रिया-गुणाः क्रियाफलानि च यस्य (सुउ. ४७.१२)

-निद्र-वि., लक्षण० विगतनिद्रः (अहसू. ५.६४)

-पिष्ट-वि., बन्ध० नष्टचाञ्चल्यादिरूपः पारदो मूर्तिबद्धरूपः सन् नष्टपिष्टः इत्युच्यते (र. ८.६६)

-पिष्टि-स्त्री., नष्टपिष्टत्वम् (र. ८.६६)

-पुष्पा-वि., विगतार्तवा (काधात्री चि.)

-मानस-वि., लक्षण० अपस्मरणः (ड. सुउ. ४६.१२)

-रक्त-न., आर्तवनाशः (सुशा. २.२२)

-संज्ञ-वि., लक्षण० संज्ञानाशस्वरूपव्याधिलक्षणविशेषयुक्तः (चसू. १४.१७) विषयग्रहणशक्तिरहितः (सुक. ५.४३)

-सिर-वि., समुद्धृतसिरासन्ततिः (चक्र. चसि. ३.११)

-सूर्य-वि., सूर्यस्यादर्शनं यत्र सूर्यालोकरहितम् (अहसू. ३.२४)

-स्वरता-स्त्री., लक्षण० आत्यन्तिकः स्वराभावः (सुसू. ३२.४)

नस्तस्-(अव्य.,) नासिकांतः, नासिकायां वा

(नस्त):-**कर्मन्**-न., नस्यकर्म (चसि. ९.८९; चनि. १.३६)

-तर्पण-न., उपक्रम० नस्यम् (चसू. १३.२५)

-प्रच्छर्दन-न., शिरोविरेचनम् (चसू. १.८५)

नस्य-न., उपक्रम० व्रणस्य षष्ठ्युपक्रमेष्वेकः, स्नैहिकं नस्यम्, इदं रुजावत्सु वाताऽऽविष्टेषु रुक्षेषूर्ध्वजत्रुजेषु व्रणेषु च देयम् (सुचि. १.१२६) तन्निरुक्तिः- औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम् (चसि. ९.८८; सुचि. ४०.२१; अहसू. २०.१)

तद्विविधम्- शिरोविरेचनं स्नेहनं च ।

तदपि पञ्चविधम्- नावनमवपीडो ध्मापनं धूमः प्रतिमर्शश्च (चसि. ९.८९) तथा-नस्यं शिरोविरेचनं प्रतिमर्शोऽवपीडः प्रधमनं च (सुचि.४०.२१) तत्र प्रतिमर्शः स्नेहनस्यम् । स मर्शप्रतिमर्शभेदेन द्विधा, कल्कादिभिरवपीडः, तीक्ष्णकल्कादिभिर्मूर्धविरेचनः, विरेचनश्चूर्णो ध्मानम् (अहसू. २०.७) तत् त्रिविधम्- विरेचनं बृंहणं शमनं च (अहसू. २०.२; असंसू. २९.४) तत्र नावनं स्नेहनशोधनभेदेन द्विविधम्, अवपीडः शोधनस्तम्भनभेदेन द्विधा, धूमः प्रायोगिकवैरेचनिकस्नैहिकभेदेन त्रिविधः (चसि. ९.९०-९२) तत्र शिरोविरेचनं स्तम्भसुप्तिगुरुत्वादिश्लैष्मिकशिरोरोगेषु शस्यते (चसि. ९.९३; सुचि. ४०.२३; असंसू. २९. ५; अहसू. २०. २,३) तर्पणं शिरःकम्पार्दितादिवातात्मिकेषु रोगेषु शस्यते (चसि. ९.९४) शमनं च रक्तपित्तादिरोगेषु केशदोषेषु च शस्यते (चसि. ९५; असंसू.२९.७; अहसू. २०.७) बृंहणं वातजशूले तथा सूर्यावर्तस्वरक्षयनासास्यशोषवाक्सङ्गकृच्छ्रोन्मीलनाऽवबाहुकेषु शस्यते (असंसू. २९.७; असंसू. २०.७)

विरेचननस्यद्रव्याणि – यथास्वं यौगिकाः स्नेहाः सर्षपतैलादयः, मरिचशुण्ठ्यादिसाधितकल्कक्वाथादयः, मधुसैन्धवमासवाश्च (असंसू. २९.७; अहसू. २०.५) बृंहणद्रव्याणि – धन्वमांसोत्थरसा रुधिरं मोचरसादिर्बृंहणद्रव्यसाधितस्नेहाश्च (असंसू. २९.६; अहसू. २०.६) शमनद्रव्याणि धन्वमांसोत्थरसादीनि शमनौषधसाधितस्नेहादीनि क्षीरोदकान्यणुतैलं च (असंसू. २९.७; अहसू. २०.६) दोषभेदान्नस्यद्रव्याणि – केवलवाते वसा, पित्ते सर्पिः, सवाते कफे तैलम् समारुते पित्ते मज्जा च (सुचि. ४०.५६–५७)

नस्यकालः – दोषभेदाद्–वातरोगेष्वपराह्णे रात्रौ च, श्लेष्मरोगेषु प्रातः, पित्तरोगेषु च मध्याह्ने नस्यं देयम्. (अहसू. २०.१३) ऋतुभेदात् – शीते दिनमध्ये ग्रीष्मे सायं वर्षासु च विद्यमाने आतपे नस्यं देयम् (अहसू. २०.१५) वयोभेदाद् – ऊनसप्ताब्देऽतीताशीतिवत्सरे च नस्यं न देयम् (अहसू. २०.३०; असंसू. २९.२१) प्रतिमर्शस्त्वबाल्याद् यावदायुस्तथा तल्पोत्थिताद्यिचतुर्दशसु कालेषु शस्यते (सुचि. ४०.५१)

नस्यमात्रा – तत्र मर्शस्य दश बिन्दव उत्कृष्टा मात्रा, अष्टौ बिन्दवो मध्यमा मात्रा, षट् बिन्दवश्च कनिष्ठा मात्रा। प्रतिमर्शोऽवपीडशिरोविरेचनानामुत्तममध्यमकनिष्ठा मात्रा अष्टषट्चतुर्बिन्दवः (सुचि. ४०.३६; अहसू. २०.१०) नस्यप्रदानविधिः – उत्तानशयानस्य प्राक्कृतावश्यकस्य किञ्चित् प्रलम्बशिरसः किञ्चित् पादोन्नतस्य नरस्य नासापुटे स्नेहं दद्यात्। ग्रीष्मे प्राक्सूर्ये, शीते मध्यसूर्ये च नस्यं दद्यात् (चसि. ९.९८-१००) नस्यान्ते वाक्शतमुत्तानं तिष्ठेत्। अनन्तरं कण्ठशुद्धये धूममुष्णाम्बु कवलांश्च सेवेत (अहसू. २०-२२)

नस्यस्य हीनातियोगादयः– सम्यग्योगे सुखोच्छ्वासः स्वप्नबोधाक्षपाटवानि भवन्ति (सुचि. ४०.३३-असंसू. २९.३८; अहसू. २०.२३) अतियोगे कण्ठगुरुताप्रसेकारुचिपीनसा इन्द्रियविभ्रमाश्च भवन्ति (सुचि. ४०.३४; अहसू. २०२३; असंसू. २९.१८) अयोगेऽक्षिस्तब्धता नासास्यशोषो मूर्धशून्यता च भवति (सुचि. ४०.३५)

नस्यव्यापदः– हीनातिमात्रादिभिस्तृष्णोद्वारादयो दोषनिमित्ता दोषक्षयजाश्च व्याधयो भवन्ति। (सुचि.४०.४८)

नस्यायोग्याः – तोयमद्यगरस्नेहपीतानां भुक्तभक्तशिरःस्नातस्तु कामानां क्षुतासृजां दत्तबस्तीनां शुद्धानां च न देयम्। तथाऽनार्तवे दुर्दिनेषु च न देयम् (चसि. २.२०; सुचि. ४०.४७; असंसू. २.१२) नस्येनोर्ध्वजत्रुजा रोगा शाम्यन्ति। इन्द्रियाणां वैमल्यमास्यसौगन्ध्यं च भवति। हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसां वलं वलीपलितखालित्यनाशश्च व्यङ्गानां भवति (सुचि. ४०.५४–५५) नस्यशीलिनो घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसो दृढेन्द्रिय अपलिता भवन्ति (चसू.५.५७-६२; अहसू. २०.३९; कासिद्धि. ४)

–कर्मन्–न., नासाद्वारेण भेषजदानम् (चसू. ५.५७)

–शीलिन्–वि., नस्याभ्यासी (अहसू. २०.३९)

नस्यानर्ह–वि., नस्यायोग्यः (सुचि. ४०.४७)

नहुष–पु., नृप० सोमवंशीयोऽसौ (काफक्चि.)

न., वनस्पति० तगरम् (ध. ३.५३)

नाकलायक–पु., वनस्पति० व्रीहि (रा. १६.१०२)

नाकिनी–स्त्री., ग्रह० रेवती (का. रेवतीकल्प.)

नाकुलान्ध्य–न., नेत्ररोग० नकुलान्ध्यम् (सुउ. १.३९)

नाकुली–स्त्री., वनस्पति० सर्पसुगन्धा (जज्जट) (चचि. ३.२६७; इन्दु. असंसू. ४२)

चविका (चक्र. चचि. ३.२६७; इन्दु. असंसू. ४२; र. १७.४३)

रास्ना (चचि. २३.२१२; इन्दु. असंसू. ४२)

शङ्खिनी (ध. १.२५६)

नाकुलीगुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा त्रिदोषघ्नी मूषकविषकृमिघ्नी च (ध. ४. १०३) वृश्चिकसर्पविषनाशिनी, व्रणरोपिणी (र. १८.६२–६३)

हिं.—नकुलकन्द, चन्द्रा.

म.—मुंगुसकांदा, सांपसंद, नावळी.

गु.—नकुलकन्द, नोळवेल.

बं.—नाकुली, चन्द्रा.

त.—चिवन्त, अमल्पोरि.

फा.—विषमुंगरी, छोटाचांद.

–द्वय–न., रास्ना तृणराज्ञा च (चचि. ९.४६)

नाकुलीयक–पु., वनस्पति० नाकुली (असंसू. ८.१२२)

नाक्षत्रिकनामन्–न., जन्मनक्षत्रसम्बन्धकृतं नाम (चशा. ८.५०)

नाग–पु., खनिज० सीसकम् (र. १.४१)

वनस्पति० नागकेसरः (सुसू. ४५.१२; र. २१.२५–२८)

ताम्बूलम् (र. २४.१३६)
एरण्डः (र. २१.२५-२८)
सल्लकी (असंशा. ४.३८)
ग्रह० भुजङ्गमः (सुउ. ६०.३६)
देवयोनि० वासुक्यादिः (सुसू. ५.२१)
पशु० गजः (सुचि. २८.२६)
न., सुगन्धि० नखम् (इन्दु. असंउ. ८)
खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१)
नागकेसरम् (सुसू. ४६.२८७; ध. २.४८)
वत्सनाभः (ध. ७.१२८)

(नागा)-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (र. २१.२९)

-कन्द-पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३६)

-करण्डक-पु., हस्तिदन्तविनिर्मितं सिद्धौषधिस्थापनपात्रम् (र. १७.८३-८४)

-कर्ण-पु., वनस्पति० एरण्डभेदः, रक्तैरण्डः (र. २५.९८; रा. ८.४४६) द्र० 'एरण्ड'

-किञ्जल्क-न., वनस्पति० नागकेसरम् (ध. २.४८)

-कुमारी-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.२)

-कुमारीका-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१७) गुडूची (रा. ३.२)

-केसर-न., वनस्पति० तद्गुणाः- तिक्तं अल्पोष्णं लघु कफवातघ्नं बस्तिरुग्विषवातास्रकण्डूशोफकण्ठशीर्षरुग्घरं च (ध. २.४८)
हिं.—नागकेशर.
म.—नागकेशर.
गु.—नागकेशर.
बं.—नागेश्वर.
त.—नाकेचुरं, नाकप्पू.

-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (रा. ७.१५२)

-गर्भ-न., खनिज० सिन्दूरम् (ध. ३.१०१)

-चपल-न., अर्कदुग्धेन मर्दितं त्रिंशत्पलमानं सीसकं तावत्कालं पुटयेद् यावत्कालपर्यन्तं तत् कर्षावशिष्टं स्यात् । एतत् कर्षावशिष्टं सीसकं नागचपलमित्युच्यते । (र. ८.४२-४३)

-चम्पक-पु., वनस्पति० वनचम्पकः, तद्गुणाः- कटुरुष्णो वर्ण्यश्चक्षुष्यो वह्निस्तम्भको वातकफघ्नो व्रणरोपी च (रा. १०.२४२)

-छत्रा-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२६)

-ज-न., खनिज० सिन्दूरम् (ध. ३.१०१)

-जिह्वा-स्त्री., खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६)

-तुम्बी-स्त्री., वनस्पति० भूतुम्बी (रा. ७.२४१)

-दन्ती-स्त्री., वनस्पति० काष्ठपाटला, इयमपस्मारे नावनार्थमुपयुक्ता (चक्र. चचि. १०.४२)
दन्तीभेदः (चक्र. चचि. २३.२४१)
दन्ती (ङ. सुसू. ३८.१६-१७)
इन्द्रवारुणीभेदः (सुक. ६.३)
पर्वपुष्पिका (अरु.) पर्वपुष्पी (हे. अहसू. १५.२८)
श्वेतपुष्पी- (ध. १.२५२; असंसू. १६.२९)
नागदन्तीगुणाः- कटुस्तिक्ता रूक्षा मेधाकृत् पाचनी शुभदायिनी वातकफापहा विषदोषघ्नी गुल्मशूलोदरव्याधिकण्ठदोषनिकृन्तनी च (रापरि. ५.२६)

-दमनी-स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रापरि. ५.२४)
वन्ध्यकर्कोटकी- (ध. १.१८६)
बलामोटा- (ध.परि. ४.३)
नागदन्ती- (र. २५.१०९) द्र० 'नागदन्ती.

-पत्नी-स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)

-पित्त-न., हस्तिनः पित्तम्, एतत्सिद्धं तैलमपस्मारे पानाभ्यङ्गेषु प्रशस्तम् (सुउ. ६१.२४-२५)

-पुरग-न., खनिज० सीसकम् (रा. १३.२०)

-पुष्प-न., वनस्पति० नागकेसरम् (चचि. १४.१६१; सुउ. ४७.३०; सुसू. ३८.४५; ध. २.४८)
नागकेशरपुष्पसमपुष्पो महातरुः (ङ. सुसू. ३८.२४-२५)

-पुष्पफला-स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (रा. ७.२६९)

-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० यूथिकाभेदः (रा. १०.२५१) द्र० 'यूथिका'

-फल-पु., वनस्पति० पटोलः (रा. ३.७४)

-बला-स्त्री., वनस्पति० क्षतक्षीणे पुष्टयायुर्बलाऽऽरोग्यकरी । (चचि. ११.९१) पानात्यये शमनार्थं प्रशस्ता (सुउ.४७.३४) शोषघ्नी (का राजक्ष्मचि.) तद्गुणाः— मधुराम्ला कषाया कटुस्तिक्तोष्णा (बल्या) (असं.) वातघ्नी (क्षतक्षीणहिता) (असं.) कण्डूतिकुष्ठव्रणपित्तविकारघ्नी च (ध. १.२८४; असंसू. १२.८३; र.२०.१९-२२)
हिं.—गुलसकरी.
म.—गांगेटी, तुकाटी, खरेटी.
गु.—गंगेटी, काण्टालोबल.
बं.—गोरखचाकुले, गोरखचाकुलिया.
फा.—शालेते, दश्ति.

-बलाप्रयोग-पु., नागबलारसायनम्, अनेन शोषो नश्यति (सुउ. ४१.५७)
-बलाभ्यास-पु., नागबलायाः सततं शीलनं नाम सेवनम् (असंसू. १३. ३)
-बलारसायन-न., योग० नागबलाया मूलानां श्लक्ष्णपिष्टचूर्णस्य सततं सेवनम्। रसायनमिदं वयःस्थापनं शतायुःकरं च (चचि. १(२).११)
-बलासर्पिस्-न., घृत० पित्तरक्तक्षतक्षयकासघ्नं च (असंचि. ५)
-बुद्धि-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९-५३)
-बोधि-पु., प्राचीनो रसाचार्यः, रससिद्धिप्रदायकोऽसौ (र. १.२-५)
-बोधिन्-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १५.५८-६५)
-भू-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रपाषाणभेदः (रा. ५.२१५)
-मूत्र-न., हस्तिमूत्रम् (सुसू. ४५.२२६)
-मृत्तिका- स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (असंशा. ४.३८)
-रङ्ग-न., फल० नारङ्गः (चसू. २७.१५६; ध. ५.२०)
-रेणू-पु., खनिज० सिन्दूरम् (रा. १२.१६०)
-लता-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूलम् (र. २७.३४-३६)
-वधू—स्त्री., पशु० हस्तिनी (सुउ. ६४.१२)
-वल्ली-स्त्री., लता० ताम्बूलम् (र. ११.११०)
विन्ना--स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणीभेदः (सुउ. ६२.३१) द्र० इन्द्रवारुणी
नागदन्ती-श्वेतपुष्पी (इन्दु. असंउ. ९)
-शुण्डी-स्त्री., वनस्पति० डङ्गरी (ध. १.१८१)
-सुंदर-पु., पारदयोग० पारदगन्धकनागयुक्तः अयमतिसारगुदभ्रंशार्शःप्रवाहिकानाशनः (र. १६.३६-४१)
-स्फोता-स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)
नागदन्ती (रापरि. ५.२६)
-हनु-पु., सुगन्धि० नखम् (ध. ३.५८)
-हन्त्री-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३)
नागर-पु.न., मुस्ताभेदः पिण्डमुस्तः (ध. १.४१)
वनस्पति० शुण्ठी (चसू. २.१८; ध. २.८२; असंसू. १६.२९)
मुस्ता (चक. चसू. २.२१)
गर्जरम् (ध. ४.६९)
-धान्याम्भस्-न., शुण्ठीधान्यकानां जलम् (क्वाथः) (अहसू. १९.३३)
-मुस्ता-स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.६१)
नागरादिक्वाथ-पु., योग० नागरदीप्यकादिसिद्धोऽयं क्वाथः शूलहरः (सुउ.४२.१२७)
नागरादिघृत-न., घृत० नागरत्रिफलादिसिद्धं घृतम् सर्वोदरघ्नं दीपनीयं च घृतमिदम् (चचि. १३.११५-११६)
नागराद्यचूर्ण-न., योग० इदं पित्तग्रहण्यां शस्तम् (चचि. १५.१२९-१३२)
नागराह्व-न., वनस्पति० शुण्ठी (रा. ६.१३०)
नागादिवर्ति-स्त्री.,पारदयोग०नागपारदामलकीमौक्तिकयुक्ता इयं पित्ताभिष्यन्दाधिमन्थादिरोगघ्नी (र. २३.३९)
नागारति-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३)
नागारि-स्त्री.,वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)
नागार्जुन-पु., प्रसिद्धो रसाचार्यः (र. ९.६४-६६)
नागाह्व-पु., वनस्पति० नागचम्पकः (रा. १०.२४२) द्र० 'चम्पक' (ध. ५.१४२) वनचम्पकः
(नागाह्वा)-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ३.३) लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)
न., वनस्पति० नागकेसरम् (असंसू. १६.८; अस. हे. अहसू. १५.१४)
नागाह्वय-न., वनस्पति० नागकेसरम् (असंसू. १६.३७; अहसू. १५.४३)
नागिनी-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७; र. ११.९०-९२)
लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)
ताम्बूलम् (र.२६.८-१०)
नागीय-न., वनस्पति० नागकेसरम् (रा. ६.७३)
नागेन्दु-स्त्री., वनस्पति० सठी (रा. ६.८७)
नागेन्द्रद्विज-पु., हस्तिदन्तः (र. २३.६)
नागोदर-पु., रोग० उपशुष्ककः तत्सम्प्राप्तिलक्षणम्-उपवासादिव्रतपराया गर्भिण्याःकदाहारेण वातप्रकोपकाहारविहारेण प्रतिमासमार्तवातिस्रवणेन च गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति। कालान्तरमवतिष्ठते। कुक्षिश्च परिहीयते। अस्पन्दनश्च भवति गर्भोऽल्पस्पन्दनो वा (चशा. ८.२६; असंशा. ४.१३ र. २२.२८)
सुश्रुते तु, शुक्रशोणितं वायुनोपरुद्धमवक्रान्तजीवं कदाचित्प्रलीयमानमकुथितमवतिष्ठते तस्य नागोदर इति संज्ञा (सुशा. १०.५७)
नाड-पु., पत्रपुष्पफलानां सुषिरः काण्डः (चसू.१. ७३)

नाडिका–स्त्री., काल० नाडयति भ्रंशयति कालं स्वपरिमाणेन इति नाडिका, त्रयोविंशतिः कलाः (असंसू. ४.५)

नाडी–स्त्री., दन्तनाडी (सुचि. २२.२६)
नलिका, नालम् (चशा. ६.२३) ताम्रादिरचितनलिका (सुसू. २७.१७)
वंशादिनलिका (अहसू. १७.१०)
प्रणालिका अन्त्रनाडी (सुनि. ७.१७)
शारीर० स्रोतः (चवि. ५.९; असंशा. ६.५०)
शाक० नाडीचः तद्गुणाः–तिक्तं शीतं कटुपाकि कफपित्तहरं च (चसू. २७.९७-९८)
वनस्पति० गण्डदूर्वा (ध. ४.१४५)
रोग० नाडीव्रणः (चसू. १३.४६; सुनि. १०.१०)
तन्निरुक्तिः–व्रणान्नाडीवत्-प्रणालीवत् पूयो वहतीति नाडी (सुनि. १०.१०)
तन्निदानं सम्प्राप्तिश्च–पक्वशोफस्या भेदाद्व्रणेऽपथ्यसेविनश्च पूयो मांसादीननुप्रविश्य दूरमभिधावति (असंउ. ३४)
तत्स्थानम् — त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्म्माणि चेत्यष्टौ स्थानानि (सुनि. १०.९)
तत्सङ्ख्या—वातजा, पित्तजा, कफजा, सन्निपातजा शल्यजा चेति पञ्च (सुनि. १०.१०; असंउ. ३४)
द्वन्द्वजास्तिस्रः वातपित्तजा पित्तकफजा वातकफजेति (ड. सुनि १०.१०)
तत्र वातजा परुषसूक्ष्ममुखी सशूला विवर्णा रात्रौ अभ्यधिकफेनिलोद्गमा च (सुनि. १०.११; असंउ. ३४) पित्तजा तृड्ज्वरदाहकृत् पीतोष्णपूतिपूयस्रावा दिवाऽत्यधिकस्राविणी च (सुनि. १०, ११; असंउ. ३४) कफजा विपुलसान्द्रधवलपिच्छिलस्राववती स्तिमितरुक् कठिना कण्डूला निश्यभ्यधिकव्यथा च (सुनि. १०.१२; असंउ. ३४)
सन्निपातजा दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषकारिणी (सुनि. १०.१३; असंउ. ३४)
शल्यजा - अनाहृतमन्तःस्थितं शल्यं नाडीं करोति साऽल्पमुष्णं तनु फेनाऽनुविद्धं सास्रं सरुजं पूयं निर्यं वहति (सुनि. १०.१४; असंउ. ३४)
तत्साध्यासाध्यता–त्रिदोषप्रभवाऽसाध्या शेषाश्चतिस्रः यत्नसाध्याः (सुचि. १७.१७) भेद्यरोगोऽसौ (सुसू. २५.५-७)

नाडी-कलाय–पु., सुवर्चलाभेदः, सकुलाक्षकः, तद्गुणाः – तिक्तं पाके कटुर्ग्राही वातलः कफपित्तजिच्च (अहसू. ६.७७)

–कल्पनविधि–पु, गर्भनाभिनाडीच्छेदनविधिः (चशा. ८.४४)
–घ्न–वि., नाडीहरम् (सुचि. १७.३८)
–तिक्त–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (रा. ९.५२)
–द्वय–न., नलनालः एरण्डपत्रनालश्च (सुसू.१६.२९)
–धूम–पु., उपक्रम० नाड्या गृहीतो धूमः। कासप्रतिश्यायवतां शिरःपीडावतां नासायाः स्रावे हृदि च ताम्यति सति अष्टाङ्गुलोन्मितया दशाङ्गुलोन्मितया वा नाड्या धूमः प्रयोज्यः (चचि. १८.६५-६६)
–भङ्गशाक–न., नाडीपल्लवशाकम् (सुसू. २०.१३)
–मार्ग–पु., कण्ठस्रोतोमार्गः कण्ठनाड्यधोमार्गः (र. १४.५२)
–मुखाकृति–वि., लक्षण० नालिकामुखवदाकृतिमत् (सुनि.२.१०)
–यन्त्र–न., यन्त्र० सुषिरमेकानेकमुखं स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं रोगदर्शनार्थं क्रियासौकर्यार्थमाचूषणार्थं च स्रोतोद्वारप्रवेशि यथायोगदीर्घं यन्त्रम् विंशतिप्रकारकमिदम् (सुसू. ७.१३; असंसू. ३४.९; अहसू. २५.११)
–व्रण–पु., नाड्या युतो व्रणः (सुचि. १.४१)
–व्रणप्रक्षालनयन्त्र–न., यन्त्र० तत् षडङ्गुलं बस्तियन्त्राकारं मुखतोऽकर्णिकं मूलमुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेशस्रोतस्कम् (असंसू. ३४.१३)
–स्वेद–पु., स्वेद० मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनपिशितशिरःपदादीनामुष्णस्वभावानां यथार्थमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनामुत्क्वथितानां स्वेदनद्रव्याणां बाष्पमनुद्वमन्त्यां कुम्भ्यां शरेषीकावंशाद्यन्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाऽष्टभागमूलाऽग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वतो बिल्वैरण्डादिवातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया नाड्या वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरेत्। अनेन विहतचण्डवेगोऽनृजुगामी बाष्पस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयति (चसू. १४.४३; सुउ. २१.७; असंसू. २६.१०)
–हिङ्गु–न., निर्यास० तद्गुणाः कटूष्णं दीपनं कफवातघ्नं विष्टम्भविबन्धामदोषानाहघ्नं च (ध. २.४०)

नाथ–पु., स्वामी, ईश्वरः (असंसू. २८.३६.)
नाद–पु., रोग० कर्णनादः (चचि. २६.१२७)

नादेय–पु., वनस्पति० वानीरः (रापरि. ९.१७)
काशः (रा ८.२०१)
मुस्ताभेदः, पिण्डमुस्तः (ध. १.४१)
(नादेयी) – स्त्री., वेतसभेदः मेघपुष्पः (ध. ५.११७)
जम्बूभेदः, काकजम्बूः (ध. ५.८४; रा. ११.१३२) द्र० ' जम्बू '
वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१११).
मुस्ता (रा. ६.६१)
जम्बूभेदः, जलजम्बूः (ड. सुचि. ४.३२)
न., लवण० सैन्धवम् (सुउ. ११.१६; ध. २.२५)
खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१४)
–जल–न., नद्या नदस्य वा जलम्; तद्गुणाः–वातलं रूक्षं दीपनं लघु लेखनं च। कासाञ्जन नदीनां जलमभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कफावहं च (सुसू. ४५.७-३१) वर्षासु नादेयं जलमग्राह्यम् (अहसू. ५.२०)
–मत्स्य–पु.,नदीजो मत्स्यः, रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिगोमत्स्यकृष्णमत्स्यवागुज्झारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयो नादेयाः। तद्गुणाः – मधुरा गुरव उष्णा वृष्याः स्निग्धा अल्पवर्चसो रक्तपित्तकरा मारुतापहाश्च (सुसू. ४६.११३-११४)

नाना–अव्य०., बहुविधम् (रापरि. ७.२४)
–कन्द–पु., वनस्पति० कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)
–करण–न., अनेकभेदभिन्नतापादनम् भेदकरणम् (सुनि. ६.२६)
–त्व–न., पृथक्त्वम् (ड. सुउ. २९.१००)
–द्रव्यात्मकत्व–न., अनेकद्रव्यसमुद्भूतत्वम् अनेकेभ्यो द्रव्येभ्यो लब्धतद्भावत्वम् (असंसू.६.९७)
–रुजा–स्त्री., लक्षण० वातादिकृततोददाहकण्ड्वादिवेदना (सुनि. १६. ५७)
–रूप–वि., अनेकप्रकारम् (अहसू. १२.३०)
–वर्ण–अनेकविधवर्णः (सुउ. ४०.८१)

नानात्मक–वि., नानास्वभावम्, अनेककारणम् (हे अहसू. ९.१७)

नानात्मज–वि., वातादिभिर्दोषान्तरासंसृष्टैर्जायमानम् (चक्र. चसू. २०.१०)

नान्दीमुख–न., फल० मुरजमुखाकृति खर्जूरद्राक्षाऽऽमलकादि, नान्दीमुखश्राद्धाय हितमेतत् (चशा. ८.३५)

(नान्दीमुखी)–स्त्री., धान्य० यविका इयं मधुरा स्निग्धशीतला च (चसू. २७.२२)

नापाक–पु., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

नाभस–वि., आकाशसम्बन्धि (अहसू. ९.१०)

(नाभसी)–स्त्री., छायाविशेषः इयं निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभा च पञ्चच्छायानामन्यतमेयम् (चइ. ७.१०)
–द्रव्य–न., आकाशीयं द्रव्यम् (अहसू. ९.९)

नाभसप्रकृति–वि., (परिवि०) आकाशभूतप्रकृतिः नाभसप्रकृतिको नरः शुचिश्चिरजीवी च भवति अस्य कर्णनासादिच्छिद्राणि महान्ति भवन्ति (सुशा. ४.८०)

नाभाग–पु., मनुपुत्रः वैवस्वतमनोर्नवमः पुत्रः (चचि. १९.४)

नाभि–स्त्री., शारीर० उदरावर्तः (सुशा. ९.७) असौ मातृजोऽवयवः (चशा. ३.६) पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चशा. ७.९) नाभ्यां विशेषेण प्राणा व्यवस्थिताः। यतश्च साऽन्तरग्न्यधिष्ठानम् (सुशा. ७.५; असंशा. ६.२९) चतुर्विंशतिधमनीनां प्रभवस्थानम् (सुशा. ९.३) सिराणां प्रभवस्थानम् (सुशा. ७.३) देहे ज्योतिःस्थानम् (सुशा. ४.५८) विशेषतः पित्तस्य स्थानम् (अहसू. १२.२)
गर्भदेहवर्धनमूलस्थानम्—गर्भिण्या गर्भाशये गर्भनाभिनाडी गर्भस्य नाभ्यां प्रतिबद्धा भवति। नाड्यां चापरा, तया अपराख्यया नाड्या गर्भस्य पोषणं जायते (सुशा. ३.३२)
–ग्रह–पु., लक्षण० बस्त्यभिघातजनितो नाभेर्ग्रहः (चसि. ९.६)
–ज–वि., नाभौ जातम् (चसू. १७.१०१)
न., सुगन्धि० कस्तूरी (र. २७.११७)
–नाडी–स्त्री., नाभिसंसक्ता नाडी (चशा. ६.२३)
गर्भस्य नाभिनालः (सुशा. १०.१२)
–नाल–पु., न., नाभिसम्बद्धा नलिका (असंउ. १)
–प्रपीडन–न., उपक्रम० नाभेः पीडनम् (असंउ. २७.१५)
–प्रभवा–वि., गर्भनाभिसम्भूता, नाभितः सम्भवो यस्याः सा प्रभवति इति प्रभवः उत्पत्तिः, अथवा प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः उत्पत्तिकारणम् (सुशा. ९.३)
–बन्धन–न.,उपक्रम० गर्भनाभेर्बन्धनम् (चशा. ८.४४)

-मण्डल-न., नाभिप्रदेशः (सुसू. ५.२६-२७)

-मर्मन्-न., मर्म० म्रियते पुरुषो यस्मिन्नभिहते तन्मर्म तत्स्थानम् उदरं, पक्वामाशययोर्मध्ये (सुशा. ६.६-२५) जातितः सिरामर्म (सुशा. ६.७) सङ्ख्ययैकम्, मानतश्चतुरङ्गुलपरिमितम् (सुशा. ६.२९) सद्यःप्राणहरमिदम् (सुशा. ६.९; असंशा. ७.१०)

-यन्त्र-न., यन्त्र० दृढस्थूलविस्तृतमृत्पात्रमध्ये गर्तं कुर्यात्। तत्र पारदं गन्धकं च निदध्यात्। ततो गर्तस्य समन्ततोऽङ्गुलोच्छ्रायं कुड्याकारं बन्धं कुर्यात्। अनन्तरं तं गर्तं गोस्तनाकारमूषया न्युब्जया पिदध्यात्। तोयमृदाख्यया मृदा संधिं रुद्ध्वा सम्पाद्य वा संशोष्योपरिस्थितमल्लभागमाकण्ठं जलेन पूरयेत्। यन्त्रस्याधस्ताच्च वह्निं प्रज्वालयेत् (र. ९,५९-६१)

-रुज-स्त्री., लक्षण० नाभिप्रदेशे रुजा (चसि. ७.९)

-विद्रधि-पु., रोग० नाभिजो विद्रधिः, तल्लक्षणम् हिक्काऽऽटोपश्च (सुनि. ९.१६-२०)

-शूल-पु., लक्षण० नाभिप्रदेशे शूलवद्वेदना (चचि. १३.४१)

-हृदयान्तर-न., नाभिहृदयोरन्तरम्। तच्च द्वादशाङ्गुलम् (सुसू. ३५.१२) इदं दीर्घायुर्ज्ञापकम्

नाभिक-न., शङ्खनाभिः, शङ्खस्य मध्यगता वर्तुलाकारा नाभिः। इयमक्षिरोगे उपयुक्ता (का. षट्कल्पाध्यायः)

(नाभिका)-स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३७)

नाभ्यर्ति-स्त्री., लक्षण० नाभिशूलम् (चचि. २०.८)

नामन्-न., अभिधानम् (सुउ. ३९.९; असंउ. १)

(नाम)-करण-न., संस्कार० शततमे दिने पूर्णे संवत्सरे वा शिशोर्नामाभिधानं कुर्यात्। तन्नाम पूज्यं त्रिपुरुषानूकमादिघोषवदक्षरमवृद्धं कृतमूष्मान्तं नक्षत्रदेवतायुक्तमनरातिप्रतिष्ठितं मङ्गल्यमन्तरन्तःस्थं निर्दुष्टं च स्यात् (असंउ. १)

-कर्मन्-न., नामकरणम् नामकरणसंस्कारसमये क्रियमाणं होमादि कर्म (चशा. ८.५०; ५१)

नाम्यमान-वि., सङ्कोच्यमानम् (अरु. हे; अहसू. ८.१६; असंसू. ११.३४)

नारङ्ग-पु., न., वनस्पति० फलविशेषोऽयम् तद्गुणाः- अम्लं मधुरमुष्णं गुरु दुर्जरं (सु) हृद्यं विशदं भक्तरोचनं रोचनं बलकरं वातहरमामशूलश्रमकृमिशूलघ्नं च (सुसू. ४६.१६१; ध. ५.२०; र. २३.१७-१८)

हिं.—नारंगी.

म.—नारिंग.

बं.—नारंगालेबुक.

गु.—नारंगीलिंबु.

फा.—नारंज.

त.—किचिलि.

न., वनस्पति० गर्जरम् (रा. ७.९८)

नारद-पु., देवर्षि० रोगापहरणचिन्तार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८; सुसू. ५.३१)

-कन्दक-न., वनस्पति० गृञ्जनम् (ध. ४.३७)

नाराचक-न., स्थावरविष० त्वक्सारनिर्यासविषम्, इदं प्रसेकास्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोवेदनाकरम् (असंउ. ४०; सुक. २.५-९)

चूर्ण० त्रिफलादन्त्यादिनिर्मितं चूर्णम्। इदमुदावर्तादिरोगभगन्दराशोघ्नम् (काउदावर्त चि.)

नारायण-पु., पारदयोग० पारदगन्धकगुग्गुल्वादिनिर्मितो रसयोगः। अयं दुःसाध्यकुष्ठक्षयभगन्दरशूलमूलगुल्मपाण्डुताग्रहणीमन्दाग्निनाशनः (र. २०.११८-१२१)

(नारायणी)-स्त्री.,वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३८)

-चूर्ण-न., योग० गवाक्षीशङ्खिनीतिल्वकादिनिर्मितं चूर्णम्, इदं विशेषेणोदररोगे उपयुक्तम् (चचि. १३.१२५-१२८)

-तैल-न., तैल० शतावरीप्रधानैर्द्रव्यैर्निर्मितं तैलम्। इदं वातव्याधिष्वभ्यङ्गार्थमुपयुज्यते (र. ११.१३३)

-प्रिय-न., वनस्पति० कालीयकम् (ध. ३.८)

नारिकेल-पुं.. न., वनस्पति० फल० आनूपदेशोद्भवोऽयम् (चक. १.८) तद्गुणाः-मधुरं शीतलं गुरु हृद्यं स्निग्धं पित्तकरं (पित्तघ्नम्) (रा.) बल्यं मांसदं वृष्यं बृंहणं बस्तिशोधनं तृष्णाशोषघ्नं च (चसु. २७.१३०; सुसू. ४६.१८०; ध. ५.७४; असंसू. ७.१७५; अहसू. ६.११९; र. १७,४३-४६) नारिकेलस्य मस्तकमज्जा नाम वृक्षाग्रमज्जा स्वादुरसपाकः शुक्रलः वातघ्नः कफवृद्धिकरः रक्तपित्तहरश्च (सु. सू.४६.३१०)

हिं.—नारियल.

म.—नारळ, माड.

गु.—नारिएल.

बं.—नारिकेल.

त.—तेंकु.

फा.—शोजहिन्दी; नारीयल.

(नारिकेली)–स्त्री.. वनस्पति० नारिकेलः (र. १८.१११)
–**तैल**–न., स्नेह०तद्गुणाः–शीतं गुरु केश्यं श्लेष्मलं वातपित्तहरं च (ध. ६.१४१; असंसू. ६.१०९) वाजीकरं क्षीणधातुपोषणं मूत्राघातप्रमेहश्वासकास-यक्ष्मघ्नं मेधाकृत् क्षतभरणं च (सुसू. ४५.१२०)
–**पाक**–पु,. नारिकेलकल्पः सौश्रुतः तद्विधिः—वाराहीमुशल्योः कन्दौ धत्तूरमहिफेनं धन्वयासं कपिकच्छुफलानि च पृथक् संचूर्ण्य कार्पासफल-मज्जजातेन दुग्धेनाऽऽलोड्य सूर्यातपे शोषयेत्। एवं प्रत्येकं सप्तवारं भावयित्वा नारिकेलगर्भं पूरयेत्। तद्वारं च रुध्वा द्वात्रिंशद्गुणितदुग्धेना-ऽन्तराऽन्तरा दर्व्या संवर्त्य दाढ्योंपगमपर्यन्तं भाण्डे पचेत्। शीतं चूर्णीकृतं च घृतेन पचेत्। ततो जातीफललवङ्गैलाचूर्णं तस्मिन्निक्षिप्य गुटिकाः कुर्यात्। पाकोऽयं वातरोगप्रमेहघ्नो बल्यो वृष्यश्च (र. २६.५६.६२)
नारिकेलोदक–न., नारिकेलमध्यगतम् उदकम् तद्गुणाः–स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं वृष्यं बस्तिशोधनं गुरु पिपासाघ्नं च (सुसू. ४५.४३–४४; ध. ६.३५१; अहसू. ५.१९)
नारिषण्ड–पु., स्त्रीनपुंसकः (चशा. २.१७)
नारी–स्त्री. वनस्पति० अश्वबला, बल्वजसदृशपत्रा, द्रोणीप्रावेशिकरसायनेष्वेका (चचि. १ (४)७.)
–**दधि**–न., मानुषं दधि; तद्गुणाः—स्निग्धं मधुरविपाकं बल्यं गुरु सन्तर्पणं चक्षुष्यं दोषघ्नञ्च (सुसू. ४५.७३—७४)
–**प्रसङ्ग**–पु., नारीष्वतिशयेन मैथुनार्थं प्रवृत्तिः (सुउ. २४.३)
–**स्तन्य**–न., मानुष्याः (स्त्रियाः) दुग्धम् (सुसू. ४५.५७—५८)
नारीष्टा–स्त्री., वनस्पति मल्लिका (रा. १०.२२५)
नाल–पु.,न., नलिका, दण्डः (अहसू. ३०-११; र. १०.२४)
नाभिनालः (असंशा. ३ (७) ३४; र. ३.१२५)
स्रोतस् (सुउ. ५८.१५)
मेहनम्–मिह्यते सिच्यते शुक्रमनेनेति मेहनार्थेऽपि नालपदं रूढं, सेचनावस्यन्दनयोरेकार्थत्वात् (सुउ.३७.११०)
(नाली) स्त्री., नाडी (चचि. २२.६)
–**पात**–पु., नाभिनालपतनम् (असंउ. २)
–**वंश**–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८.२२२)
नालक–पु., धान्य० कलायः (ध. ६.१०३)
नालान्धमूषा– स्त्री., नालयुक्ता सम्पुटितमूषा गोस्तनाकारमूषा, नालयुक्तांधमूषा (र. १८.२१-२२)
नालाभिबन्धन–न., नाभिनालस्य निबन्धनम् (असंउ. १)
नालिक–न., निर्यास० बोलम् (ध. ३.६२ अ)
(नालिका)–स्त्री., शाक० गोनाडीचः (चसू. २७.१०१) इयं स्तन्यजननी (सुशा. १०.३०)
तद्गुणाः–वातला पित्तघ्नी मधुरा च (सुसू. ४६.२७३) दीर्घनालरूपा कलम्बुसंज्ञा, (अरु.) नाड्याकारा सूक्ष्म-सुषिरा बहुतोयजा श्लक्ष्णा च। (हे.) कलम्बादि-वर्गोक्ता गुणाः – स्वादुः सलवणा रूक्षा वातश्लेष्मा करी गुरुः शीतला सृष्टविण्मूत्रा विष्टम्भ जरणशील-स्नेहाढ्या सती च नातिदोषला (अहसू. १०.९३-९५) कङ्कुष्टभेदः, इयं पीतवर्णा गुरुः स्निग्धा श्रेष्ठा च (र. ३.१२०-१२२)
–**यन्त्र**–न., यन्त्र० वालुकायन्त्रभेदः, तत्र वालुका-स्थाने लवणं निक्षिप्य तस्मिन् लोहनालगतस्य निरुद्धसूतस्य पचनं कुर्यात्। अतिमृदुस्वेदोपयोगि यन्त्रमिदम् (र. ९.४३)
–**शाक**–न., नालिका (सुसू. ४६.२७३)
द्र० ' नालिका '.
नालिकेर—पु., वनस्पति० नारिकेलः (सुसू. ४५.१२०)
–**तैल**–न., स्नेह० नारिकेलतैलम् (सुसू. ४५.१२०; असंसू. ६.१०९)
नालिकेरक–पु., वनस्पति० नारिकेलः (धनि. ५.७४)
नालिकेरासव–पु., आसुत० नारिकेलासवः अयं गुह्याशयमांसभक्षणोत्तरमनुपाने विहितः। (सुसू. ४६.४३३)
नावन–न., उपक्रम०नस्यम् (चसू. ५.३९; अहसू. २.६)
नावनिकतैल–न., नस्यार्थमुपयुक्तमणुतैलादिकम् (चचि. ३.२५५)
नासत्य–पु., देवानांभिषजौ अश्विनीकुमारौ (र. २०.८५)
नासा–स्त्री., शारीर०शीर्षप्रत्यङ्गम्, नासिका (सुशा. ५.४)
वनस्पति० आटरूषः (रा. ४.२९)
–**गतरोगप्रतिषेध**—पु., अध्यायसंज्ञा (सुउ. २३)
–**गतरोगविज्ञानीय**–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. २२)
–**परिशोष**–पु., नासारोग० तल्लक्षणम् अस्मिन् घ्राण-

गतः कफो मारुतपित्ताभ्यां शोषितो भवति । तेन च ऊर्ध्वाधःश्वासोच्छ्वासकर्मण्यतीव क्लेशा भवन्ति (सुउ. २२.१७-१८; र. २४.२०)

-परिस्राव—पु., नासारोग० तल्लक्षणम्-नासातोऽनवरतमविशिष्टवर्णं जलाभमच्छं स्रवति । रात्रौ चाधिकतरं स्रवणं भवति । अस्मिन् रोगे स्रावः शृंगाटकाख्यस्रोतसि प्रविलायितात् कफात् जायते (सुउ. २२.१६-१७)

-पाक—पु., नासारोग० नासिकापाकः (सुउ. २३.५; र. २४.२०) अस्मिन् रोगे बाह्याभ्यन्तरी क्रिया पित्तहारिणी एव योज्या (सुउ. २३.५.६)

-पिटिका—स्त्री., नासारोग० नासापुटकम् तल्लक्षणम्-अन्तर्नासायां शुष्कः श्लेष्मा पिटिकावस्थां प्राप्नोति (र. २४.२०; असंउ. २४)

-पुट-पु., शारीर० नासिकापुटकः तत्प्रमाणम्-अङ्गुलस्य त्रिभागेन सहाङ्गुलं त्रिभागाङ्गुलम् तावन्मात्रतिर्यङ्मित एको नासापुटः (ड) संख्यया द्वौ (सुसू. ३५.१२; असंशा. ८.३०)

-पुटभाग-पु., प्रत्यङ्ग० द्वयोर्नासापुटयोर्बहिर्भागः प्रमाणतोऽयं प्रत्येकमङ्गुलद्वयमितः (सुसू. ३५.१२)

-प्रतीनाह-पु., नासारोग० वातेन नासा प्रतिनह्यते बध्यते इव । तल्लक्षणम्-उदानो वायुः कफावृतो भूत्वा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात् तदा नासा प्रतिनह्यते बध्यते इव वातेन, सच नासाप्रतीनाहो भवति (सुउ. २२.१५-१६)

-रोग-पु., नासागतो व्याधिः, तत्संख्या-एकत्रिंशन्नासारोगाः । ते इमे-अपीनसः पूतिनस्यं नासापाकः शोणितपित्तं पूयशोणितं क्षवथुर्भ्रंशथुर्दीप्तो नासानाहः परिस्रवो नासाशोषश्चत्वारि नासार्शांसि नासाशोफाश्चत्वारो नासार्बुदानि सप्त प्रतिश्यायाश्च पञ्च । एवमेकत्रिंशन्नासारोगाः (चचि. २६.११०-११६; सुउ. २२.३-५.२०; असंउ. २३; र. २४.२०)

-वंश-पु., शारीर० नासास्थिदण्डः (सुसू. ३२.४; असंशा. ८.३२)

-वदनावरोध-पु., उपक्रम० नासावदनयोर्निरोधनम् तेनान्तःप्रविष्टो वायुः रुद्धस्रोतोविवरणं कृत्वा मूर्छामपहन्ति (सुउ. ४६.१८)

-शोष-पु., नासारोग० तल्लक्षणम्-- कुद्धोऽनिलो मूर्ध्नि कफं संशोष्य नासाशृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च करोति (चचि. २६.१११; सुउ. २३.११) तथा शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं च भवति (असंउ. २३)

-श्वयथु-पु., नासारोग० तल्लक्षणम्—वातादयो दोषा घ्राणाश्रिताऽसृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य नासायाः श्वयथुं कुर्वन्ति (चचि.२६.११५)

-संवेदन-पु., वनस्पति०काण्डीरः (ध. ४.६२)

-सन्नत्व-(परिव.) न., नासाया अन्तःप्रविष्टत्वम् (सुचि. ३.४३)

-स्राव-पु., नासारोग० नासापरिस्रावः (चसि.२.२१; सुउ. २३.१०)

-स्रोतस्-न., शारीर० नासारन्ध्रम् (ड. सुचि. ४०.६३; असंसू. २९.१४)

-स्रोतोभव-वि., नासास्रोतसि जातः (रोगादिः) (सुउ. २२.२०)

-हुण्डन-न., घ्राणनाशः (चक्र. चचि.२८.२२)

नासाग्र-न., शारीर० नासान्त्यभागः (असंसू. २९.१४)

नासाग्रपाक-पु., लक्षण० नासाग्रस्य पाकः (चचि. २६.१०६)

नासाध्मान-न., लक्षण० कफावृतत्वाद्वायुना नासिकापूरणम् (सुउ. ६.१७)

नासानाह--पु., नासाप्रतीनाहः (सुउ. २३.९)

नासार्बुद-पु., न., नासारोग० नासाभवोऽर्बुदसदृशो व्याधिः अर्बुदं नाम स्रोतःपथे विपुलं कोषवच्च यत् तत् । सच मांसास्रदोषाद्भवति । असौ सप्तविधः । पृथग्दोषजस्त्रिविधः, द्वन्द्वजस्त्रिविधः सन्निपातजश्चैकः (चचि. २६.११६; सुउ. २२.१६-२० असंउ. २३)

नासार्शस्—न., नासारोग० नासायां जायमानो मांसाङ्कुरः, स पृथग्दोषात् सन्निपाताच्च चतुर्विधः (सुउ. २२.१८; असंउ. २३)

नासावभङ्ग--पु., लक्षण० नासास्रोतोवैगुण्यम्, तच्चानुनासिकवाक्यत्वेन ज्ञेयम् (ड. सुक. ३.४१)

नासिका—स्त्री., पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानेष्वेका, घ्राणम् (चशा. ७.७) प्रमाणत इयं चतुरङ्गुला (चवि. ८.११७) सा शिरसो द्वारम्, तत्र निषिक्तमौषधं स्रोतःशृङ्गाटकं प्राप्य मूर्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादिशिरामुखानि च व्याप्योर्ध्वजत्रुगतान् दोषानपकर्षति (चसि. ९.८८; अहसू. २०.१) इयं उदानस्य विचरणस्थानम्, उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् (अहसू. १२.५)

-गण्डकूटललाटास्थि—न., शारीर० अस्थि० नासिकागण्डकूटललाटानामस्थि । तत्त्वेकमेवमूलत्वान्नासादीनाम् (चशा. ७.६)

-पाक—पु., नासारोग० तल्लक्षणम्—घ्राणस्थितं पित्तं नासायां व्रणान् करोति तीव्रतरः पाकश्च भवति नासायामार्द्रत्वं पूतित्वं च दृश्यते (सुउ. २२.९)

-मुख–न., प्रत्यङ्ग० नासाद्वारम् (सुशा. १०.२५)

-वंश–पु., नासानलिका (चई. ८.१०)

-शोष–पु., रोग० नासाशोषः (असंउ. २३)

नास्तिक–वि., परलोकादिर्नेति मन्यमानः, नास्ति परलोकादि इति मतिर्यस्य, सः (चसू. २५.४०)

नास्तिक्य–न., तामसगुण० आस्तिक्याभावः । धर्ममोक्षपरलोकादिकं नास्तीति बुध्द्याचरतीति नास्तिकः, तस्य भावो नास्तिक्यम् (सुशा. १.१८)

-बुद्धि–स्त्री., नास्त्येव परलोक इति विपर्ययज्ञानम् (चसू. ११.७)

नाह–पु., परिणाहः (अहसू. २५.१७)
न., उपक्रम० बन्धनम् " सैरण्डपत्त्रया शोफं नाह्येदुष्णया तया " (सुचि. १.२६)

निःशल्य–वि., शल्यरहितम्, तल्लक्षणम्—प्रसन्ने व्रणे नातिस्पर्शासहिष्णुषु प्रान्तेषु शोफे तापे चाल्पे सति निःशल्यं ज्ञेयम् (असंसू. ३७.३९)

(निःशल्या)–स्त्री., वनस्पति०दन्ती (रा.६.३३८)

निःशूक–पु., वनस्पति० शालिभेदः मुण्डशालिः (रा. १६.८९). द्र० 'शालि' व्रीहिः (रा. १६.८०)

निःशेषविषनाशिनी–स्त्री., वनस्पति०बलामोटा (ध. परि. ४.३)

निःश्रेणी–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (ध. ५.५३)

निःश्रेयस–न., मोक्षः (चसू. ११.२७)

निःश्लेष्मपित्त–वि., लक्षण० निर्गते श्लेष्मपित्ते यस्मात् श्लेष्मपित्तरहितः, अतिविरिक्तस्य एकलक्षणम्. (चसू. १६.१०)

निःश्वास–पु., श्वासप्रवेशः (हे. चसू. १८.४९)
फूत्कारः (ड. सुक. ३.४)

-विष–वि., निःश्वासे फूत्कारे विषं यस्य दिव्यः सर्पो निःश्वासविषो भवति (सुक. ३.५)

निःसङ्ग–वि., निर्गतोऽभिघातहेतोः सङ्गः सम्बन्धो यस्य स व्रणः (सुचि. १.१११)

निःसंज्ञत्व–न., लक्षण० चेतनारहितत्वम् (ड. सुउ. ५१.१२)

निःसंपात–वि., उल्लोचसहितं देशादि (सुसू. ४६.४५८)

निःसंशय–वि., संशयरहितम् (सुशा. ५.४७)

निःसार–वि., लक्षण० अपगतधातुसारः (चचि. १६.६)
निर्गतसारमाहारादि (सुसू. ४६.५२७)
पु., वनस्पति० टिण्टुकः (९.१४२)

(निःसारा)–स्त्री., वनस्पति० कदली (ध. ४.७५)

निःसुखत्व–न., दुःखम् (अहसू. १३.१२)

निःसृता–वि., लक्षण० स्थानच्युता बहिरागता (चसि. ६.५५)

निःस्नेह–वि., स्नेहरहितम् (चसू. २७.३१६)

-फला–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः श्वेतकण्टारिका (रा. ४.१२६) द्र० ' लक्ष्मणा '

-सिद्ध–वि., स्नेहेन विना सिद्धम् (चसू. २७.३१६)

निःस्पृह–वि., उपादित्साजिहासाशून्यः उपादित्सा ग्रहणेच्छा, जिहासा त्यागेच्छा ताभ्यां रहितः, निरिच्छः (चशा. ५.१७)

निःस्यन्द–पु., उपस्नेहः (सुनि. ३.२३)
मूत्रम् (ड. सुचि. ७.३३)

निःस्रुतरक्ता–वि., लक्षण० अतिस्रुतरक्ता (सूतिका) (काखिल. ११.७१)

निःस्वन–वि., निःशब्दम् (असंसू. ३.२८)

निकुच–न., फल० इदं पित्तश्लेष्मप्रकोपि (चसू. २७.१३२) फलानामहिततमं च (चसू. २५.३९)

निकुञ्चन–न., क्रिया० संकोचनम् (चसि. १२.१८(१५)

निकुञ्ज–पु., अल्पकुञ्जः, लतादिपिहितोदरम् (चक. १.८)

निकुञ्जक–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११७)

(निकुञ्जिका)–स्त्री., वनस्पति० निकुञ्जिकागुणाः—कटुकाऽम्ला वातकफापहा शोफघ्नी च (रापरि. ८.३५)

निकुम्भ–पु., वनस्पति० दन्ती (सुउ. ४२.४९; अहसू. १५.२; र. २९.५६, कुष्ठादिहरप्रदेहोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ३.५)
वनस्पति० जेपालः (ध. १.२२७)

(निकुम्भा)–स्त्री., वनस्पति० जेपालः (ध. १.२२८)
दन्ती (ध. १.२२३)

-कल्क–पु., कल्प० निकुम्भकल्कोऽयं सशीतजलः कामलापहः (असंचि. १८)

-तैल–न., निकुम्भक्वाथकल्केन सिद्धं तैलम् (चक्र. चसि. ११.३३) प्रमेहे शाकसिद्धयर्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.६)

-बीज-न., वनस्पति० जेपालः (रा. ६.३४४)

निकुम्भादिविरेचनगण-पु., द्रव्यगण० निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुकशङ्खिनीनीलिनीतिल्वकानी, शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं मूत्रं चेति (अहसू. १५.२)

निकृन्तक-पु., खनिज० गन्धकभेदः वटसौगन्धिकः (ध.३.११४)

निकेत-पु., शरीरधात्ववकाशः आशयः स्रोतःपदार्थकोऽयं शब्दः (चवि. ५.९)

निकोचक-पु., वनस्पति० अङ्कोटः (ध. १.२५८., असंचि. २४)

न., फल० औत्तरापथिकमिदम्, तद्गुणाः- मधुरम् उष्णं स्निग्धं गुरु बलप्रदं वातघ्नं बृंहणं वृष्यं कफपित्तप्रवर्धनं च (चसू. २७.१५७; सुसू. ४६.१८७)

निकोचन-वि., सङ्कोचकः (अहसू. १०.३)

निक्षेपण-न., यत्र जलं स्थाप्यते तत् पञ्चप्रकारकं —फलकं त्र्यष्टकं मुञ्जवलयं उदकमञ्चिका शिक्यं चेति अत्र निक्षिप्तमुदकं भूम्यादिस्पर्शाभावात् निर्दुष्टं भवति (सुसू. ४५.१८)

निगद्-वि., निर्मलं स्वच्छं च (चचि. २६.६८)

निगम-पु., नगरम्, बहुवसतिः (चनि. ६.१३)

निगमन-न., न्यायावयव० पञ्चानां न्यायावयवानामेकतमोऽयम् अवयवः, यश्च हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् (चवि. ८.३१)

हेतुसाधितसाध्यधर्मकथनम् (चसू. ३०.१८)

निगर्भा-वि., सुषिरा (चसू. ५.२४)

निगूढरोमन्-वि., अपरिलक्षितरोमा (ड. सुनी. १२.७)

निग्रह-पु., लक्षण० अप्रवृत्तिः (चसू. १६.८)

-प्राप्त-वि., निग्रहणीयत्वेन ज्ञानः (चवि. ८.५८)

-भय-न., जल्पवितण्डोक्तनिग्रहाद् भयम् (चवि.८.१७)

-स्थान-न., वादाङ्ग० पराजयप्राप्तिः विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्, निग्रहस्य पराजयस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति निग्रहस्थानम् (चवि. ८.६५)

निघण्टु-पु., कोशः आयुर्वेदोदितौषधीनां पर्यायगुणादिवर्णनपरः कोषविशेषः (र. ७.२६)

निचय-पु., सन्निपातः (चनि. ३.३)

-गुल्म-पु., रोग० सन्निपातजो गुल्मः द्र० गुल्म (चनि. ३.३)

निचयोदरिन्-वि., सन्निपातोदरयुक्तः (चचि. १३.१०२)

निचित-वि., संचयं प्राप्तः (सुउ. ४०.१३८)

क्षीणम् (चइं. ७.३१)

निचिति-स्त्री., काष्ठानामौत्तराधर्येणावस्थितिः (सुसू. ११.११)

निचुल-पु., वनस्पति० हिज्जलः (चक्र. चचि. १०.२० रापरि. ८.७०)

जलवेतसः (ड. सुचि. ३७.४०) फलमस्य विरेकार्थमुपयुज्यते (चसू. २.१०)

वेतसः (ध. ५.११६)

न., फल० वातामादिवर्गोक्तमिदम् तद्गुणाः-मधुरमुष्णं स्निग्धं गुरु बृंहणं बल्यं वातपित्तकफहरं च (सुसू. ४६.१८७)

--क्षार-पु., वेतसक्षारः, कुष्ठहरप्रलेपोपयुक्तः (चचि. ७.८९)

निचुलक-पु., वनस्पति० जलवेतसः (ड. सुक. ६.३)

निज-वि., शारीरदोषसमुत्थम् स्वधातुवैषम्यनिमित्तजं च (चसू. ११.४५)

न., कृत्रिमधातु० कांस्यम् (ध. ६.२३)

-द्राव-पु., उद्भिज्जादेः स्वरसः (र. २०.८३)

-विकार-पु., शरीरान्तर्गतदोषैर्वैषम्यपूर्वकं व्यथां कुर्वद्भिर्जायमानो व्याधिः (अहसू. ४.३५)

निजातिशाणहुल्या-स्त्री., धान्य० व्रीहिभेदः (रा. १६.९७) द्र० ' व्रीहि '

नितम्ब-पु., शारीर० कटिपश्चाद्भागः (सुसू. २३.६) मर्म० अस्थिमर्म श्रोणिकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ (सुशा. ६.७; सुशा. ६.२६) वामदक्षिणभेदेन संख्यया च द्वौ। मानतोऽर्धाञ्जुलपरिमाणौ, कालान्तरप्राणहरौ । तद्विद्धेऽधःकायशोषो दौर्बल्यान्मरणं च (सुशा. ६.२६)

नितम्बास्थि-न., अस्थि० (सुशा. ५.१९) द्र० 'अस्थि'

नितम्बिनी-स्त्री., नारी (र. ११.१०८)

नित्य-वि., त्रिकालावस्थायि, नोत्पन्नं न विनाशं गच्छतीति (चशा. १.५९) भावस्वरूपो ध्वंसाप्रतियोगी यस्य ध्वंसो नास्ति (सुशा. १.९)

-ग-वि., नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तद्रूपञ्च आयुः (चसू. १.४२)

नित्यं गमनशीलः अहोरात्रादिरूपः कालः (चवि. १.२१-(६)

-भाव-वि., नित्यस्वरूपम्, आत्मवाय्वादि (सुनि.१.६)
-शूला-वि., लक्षण० नित्यं शूलविद्धावेदनासदृश-वेदनावती (असंशा. ४.१६)
नित्यातुर-वि., लक्षण० नित्यव्याधितः (असंशा. ८.१९)
नित्योपदिग्ध-वि., लक्षण० नित्यमुपलिप्तमिवाङ्गं यस्य तादृशः क्लिन्नशरीरः (चचि. ३०.२४७)
नित्योपयोगिक-वि., सदोपयोगवान्, नित्योपयोगी (अहसू. ६.१७२)
नित्योपसेवन-न., नियमेन शीलनम्, सततताभ्यासः (अहसू. २०.३२)
नित्योष्मन्-वि., लक्षण० अवयवगतमुष्माणं नित्यं बिभ्राणः नित्यमूष्मणा सहितोऽवयवो वा (चइं.३.४)
निदधान-न., स्थापनम् (ड.सुचि. ५.१८)
निदर्शन-न., युक्तिः (चवि.३.३६)
लक्षणम् (काखिल. ११.५८; सुउ. ४२.८६)
तन्त्रयुक्ति० दृष्टान्तेनार्थः प्रसाध्यते यत्र तत् दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम् (सुउ. ६५.३६)
मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः, विज्ञातमर्थं यथेति (चक्र. चसि. १२.४४)
निदाघ-पु., ऋतु० ग्रीष्मकालः (ड. सुउ. ६४.४८)
निदान-न., व्याध्युपलब्धिकारण० हेतुः निदानपंचकेष्वेकः, कारणम् (चनि. १.६)
उत्पत्तिहेतुः (सुनि. १.१)
ते च - व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकत्वाच्चत्वारः असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगपरिणामप्रज्ञापराधाश्त्रिधा, रुग्दोषोभयकारणाद्वौ द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च (मा. मधु.)
हेतुलक्षणनिर्देशरूपम् (सुनि. १.१)
-त्याग-पु., कारणपरिवर्जनम् (असंसू. १२.६)
-परिवर्जन-न., रोगकारकहेतूनां सर्वतस्त्यागः, पथ्यम् (सुउ. १.२५)
-विपरीत-वि., हेतुविपरीतम् (भेषजादि) (चवि. ३.४२)
-विपर्यय-पु., हेतुविरुद्धत्वम्, यथा-संतर्पणोत्थेऽपतर्पणम् शीतोत्थे उष्णम् (अहसू. ८.२२)
-स्थान-न., प्रकरण० हेतुलक्षणप्रतिपादकं स्थानम् (सुसू. ३.१४)
निदानार्थकर-वि., निदानं रोगहेतुः तस्यार्थः प्रयोजनं व्याधिजननम्, तत्करोतीति निदानार्थकरो नाम व्याधिजनकः । यथा--रक्तपित्ताज्ज्वरो ज्वरसन्तापाच्च रक्तपित्तम् (चनि. ८.१६)

निदिग्धिका-स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (चचि. ३.२२०; असंचि. १६; ध. १.९५; सुउ. ५८.३९)
निद्रा-स्त्री., शयनम् स्वापः, सुषुप्तिः (सुउ. ५५.५) मेध्यानाडीमनःसंयोगाद्देहेन्द्रियाणां सुखभोगः (सुसू. १.२५ (४) निद्राहेतुः-श्लेष्मतमसी च (सुशा. ४.५६) निद्रासंप्राप्तिः-स्रोतःसु श्लेष्मावृतेष्विन्द्रियेषु श्रमात् स्वकर्मभ्य उपरतेषु देहिनं निद्राऽऽविशति (असंसू. ९.५५) मनसि क्लान्ते क्लमान्विताः कर्मात्मानः नाम (इन्द्रियाणि) विषयेभ्यो यदा निवर्तन्ते, तदा मानवः स्वपिति (चसू. २१.३५) निद्राप्रकाराः- त्रिविधेति (ड.) चतुर्विधेति (अरु.) सप्तविधेति (असंशा. ९.६८) तत्र त्रिविधा-तामसी वैकारिकी स्वाभाविकी चेति भेदात्। तत्र तामसी—अनवबोधिनी सा प्रलयकाले भवति। वैकारिकी विकारैः संपद्यते। स्वाभाविकी तु त्रिप्रकारा तमोभूयिष्ठा रजोभूयिष्ठा सत्त्वभूयिष्ठा चेति। प्रथमा तमोभूयिष्ठा नाम अहस्सु निशासु च भवति। रजोभूयिष्ठा रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं भवति। अन्त्या च सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे भवति (सुशा. ४.३३) चतुर्धा-अकाले सेविता मिथ्यायोगरूपा, अतिप्रसङ्गात् सेविताऽतियोगरूपा, न च सेविता हीनयोगरूपा, काले सेविता सम्यग्योगरूपा च। तत्र सम्यग्योगरूपा सुखायुषीकुर्यात्। शेषास्तिस्रः सुखायुषी पराकुर्यात् (अहसू. ७.५४) सप्तधा निद्रा—कालस्वभावा, आमयजा, चित्तखेदोद्भवा, देहखेदोद्भवा, कफोद्भवा, आगन्तुभवा, तमोभवा चेति। एतासु प्रथमा कालस्वभावा शरीरं धारयति। अन्त्या तमोभवा पापा दुष्टा शेषाः पञ्च व्याधिहेतुसमुद्भवाः (असंसू. ९.६) निद्रागुणाः—आहारादिवत् निद्रा देहस्थितिकारिणी तथा सुखदुःखे पुष्टिकार्श्ये बलाबले वृषताक्लीबता ज्ञानाज्ञाने जीवितमरणे च निद्रायत्ते (चसू. २१.३६) रात्रौ जागरणं रूक्षं,दिवा निद्रा ग्रीष्मकालादृतेऽन्येष्वृतुषु स्निग्धा कफपित्तकरी च। आसीनप्रचलायिता निद्राऽरूक्षाऽनभिष्यन्दिनी च (अहसू. ७.५५) कालशयनात् पुष्टिवर्णबलोत्साहाग्निदीप्त्यतन्द्राधातुसात्म्यानि भवन्ति। (सुचि. २४.८८) अकालशयनात्मोहज्वर स्तैमित्यपीनसशिरोरुक्शोफहृल्लास-स्रोतोरोधाग्निमन्दता भवन्ति (अहसू. ७.६१)

अहितनिद्रया हलीमकशिरोजाड्यस्तैमित्यमतिभ्रंश-शोफारोचकार्धावभेदककण्डूरुक्कोठपिटिकाकास-गलामयविषवेगप्रवृत्तयश्च भवन्ति (असंसू. ९.४९-५१)

-कर–वि.,निद्राजनकः (सुचि. २४.७०)

-क्षय–पु., लक्षण० निद्रायाः क्षयः (चचि. ११.६५)

-नाश–पु., लक्षण० निद्राया नाशः (चसू. १६.१४)
रोग० निद्राक्षयः तत्कारणानि–कायशिरसो विरेको वमनं रक्तमोक्षणं धूमक्षुत्तृड्व्यथाहर्षशोकाश्रिन्तोत्कण्ठाऽसुखाशय्यारूक्षान्नं कालश्लीलक्षयोऽनिलपित्तयोर्वृद्धयादयश्च (असंसू. ९.५३-५६) तजन्या रोगाः– अङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिका जाड्यग्लानिश्रमापक्तितन्द्रा वातजा व्याधयश्च (असंसू. ९.५६) तत्र चिकित्सासूत्रम् – अभ्यंगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणं गात्रस्योद्वर्तनं संवाहनानि शालिगोधूमादिनिर्मितं स्निग्धं मधुरं भोजनं बिलेशयानां विष्किराणां मांसरसा द्राक्षादिफलोपयोगो मनोज्ञशयनासनयानानि च (सुशा. ४.४२-४६)

-निग्रहज–वि., रोग० उदावर्तभेदः निद्राविधारणाज्जायमानो (व्याधी) (अहसू. ४.१२)

-प्रणाश–पु., लक्षण० निद्रानाशः (असंसू. ५.३३)

-भ्रंश–पु., लक्षण० निद्रानाशः (अहसू. ११.६)

-विधारणज–पु., रोग० उदावर्तभेदः, निद्राया विधारणात् जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा शिरोरोगोऽक्षिगौरवं च भवति (चसू. ७.२३) तत्र चिकित्सा—स्वप्नसंवाहनाभ्यङ्गादीनि (चसू. ७.२३)

निद्राघात–पु., लक्षण० निद्राया विघातः [सुउ.५५.३५]

निद्रातियोग–पु., निद्राया अतिशयेन सेवनम् (सुशा. ४.४७)

निद्राधिक्य–न.,लक्षण० विंशतिश्लेष्मविकाराणामेकतमः, अतिनिद्रता (चसू. २०.१७; चनि. १.३३)

निद्राभिघात–पु., रोग० निद्रावेगविघातः (सुउ. ५५.१७)

निद्रारि–पु., वनस्पति० निम्बभेदः नेपालनिम्बः (रा. ९.५२; ध. १.३५) द्र० 'किराततिक्त' किराततिक्तः (ध. १.३५)

निद्रालु–स्त्री., वनस्पति० वार्ताकिनी (ध. १.१०१; रा. ७.१२८)
वनबर्बरिका (रा. १०.८८)

-त्व–न., तामसगुण० सुषुप्तिशीलता (सुशा. १.१८)

निधन–न., विनाशः, मृत्युः (सुसू. ३१.३०)
जन्मतः सप्तमं नक्षत्रम् (इन्दुः असंनि. १.२१)

निपतित–वि. लक्षण० विकलाङ्गः (ड. सुउ. ३९.४०)

निपात–पु., च तु इत्यादीन्यव्ययानि निपातसंज्ञानि (सुचि. २.९६)
संयोगः स्पर्शः रसनायोगश्चेति (चक्र.चसू. २६.६६)

निफेन–न., निर्यास० अफूकम् (रा. ६.१९१)

निबन्ध–पु., निश्चित्य बध्नातीति निबन्धो मूलम् (ड.) मूलम् (सुनि. ९.३०)

निबन्धन–न., अधिष्ठानम् (अहसू. ११.३७)

(निबन्धनी)–स्त्री., मांसरज्जुः भग्नपशुकादिबन्धनार्थमुपयुज्यते (सुचि. ३.२९)

निबर्हण–न., नाशनम्, विनाशः (अहसू. ५.८१)

निभ–वि., तुल्यम्
न., प्राकाश्यम्, स्वरूपम्, उपदेशः (सुउ.१३.१०)

निभृत–वि., विनीतः (चक्र. चवि. ८.८)

(निभृता)–स्त्री., अव्यग्रा (इन्दु. असंउ. १)

निमग्नरूप–वि., लक्षण० अंतःप्रविष्टरूपम्, ईषद्दृश्यरूपम् (ड. सुउ. ५.४)

निमज्जन–न., बुडनम् (चनि. ७.६)

निमि–पु., राजर्षि० शालाक्यतंत्रकर्ता वैदेहः (चसू., २६.५)

निमित्त–न., हेतुः, कारणम् (सुचि. ३४.३)
चिह्नम्, शकुनः (चइ. १२.२१)
निदानम् (चनि. १.३)

-विपरीत–वि., हेतुविपरीतम् (चवि. ३.१३)

निमित्तानुरूपा–वि., निमित्तमनुसृत्य वर्तते सा।
निमित्तसदृशी विकृतिः (चइ. १.७)

निमिष–पु, नेत्ररोग० वातजोऽयं असाध्यश्च (सुउ. १.२९)

निमीलन–(परिव०) न., संकोचः (सुशा. ४.३२)

निमेष–पु., चक्षुषोर्निमीलनम् (चशा. ७.१६; सुशा. १.१७)
कालविभाग० लघ्वक्षरमकारादि तस्योच्चारणं कण्ठताल्वादिव्यापारेणोदीरणम् तत्प्रमाणो निमेषः (सुसू. ६.४)
नेत्ररोग० असौ नेत्रवर्त्मगतः, तल्लक्षणम्—उच्चैः संभाषणाद् वायुर्वर्त्मसंश्रया निमेषणीः सिराः प्रविष्टः सन् वर्त्मानि चालयेत्, स निमेषाख्यो व्याधिः (सुउ. ३.२५) असौ वेदनारहितः (असंउ. ११)

-काल–पु., सूक्ष्मतमकालविभागः 'अक्षिपक्ष्मपरिक्षेपो निमेषः परिकीर्तितः। द्वौ निमेषौ त्रुटिर्नाम

द्वे त्रुटी तु लवः स्मृतः ' इत्यग्निपुराणे
(चशा. १.५०; सुसू. ६.४)

निमेषणी–स्त्री., सिरा० नेत्रवर्त्मस्था सिरा, यद्बलेन निमेषोन्मेषौ स्याताम् (सुउ. ३.२५)

निम्न–वि., गम्भीरम् (र. ९.८४)
नीचैस्तनः, लीनः, मग्नः (र. १.६७)

-ग–न., जलम्, निम्नमधस्तनं देशं स्वसमानस्तरावाप्तये गच्छति इति निम्नगं जलम् (रा. १४.३१८)

-स्थान–न., गर्तकूपवद् गम्भीरं स्थलम्
(सुशा. १०.४६)

निम्ब–पु., वनस्पति० कण्डूघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) कुष्ठादिहरप्रदेहोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ३.३) मण्डूकपर्ण्यादिशाकवर्गोक्तमेकं द्रव्यम्, तिक्तं पित्तकफापहं च तत् (सुसू. ४६.२६२–२७०) निम्बगुणाः–तिक्तः, शीतो ऽपक्वशोथपाचनः पक्वव्रणशोधनः कफपित्तघ्नो रक्तकुष्ठकण्डूव्रणकृमिशोफहृदयदाहविषदोषनाशनश्च (ध. १.२९; असंसू. १२.७३)
हिं.—नीम, निम.
बं.—निम, निंब.
म.—कडुनिंब, कडुलिंब.
गु.—कडू लिंबडो.
त.—वेंपु.
फा.—दरखहक, दरख्तहक.
किराततिक्तः (ध. १,३४)

-कषाय–पु., योग० निम्बक्वाथः सुरामेहघ्नः
(सुचि. ११.९)

-घृत–न., घृत० निम्बत्वक् साधितं घृतम् रक्तपित्तप्रबलेषु कुष्ठेषूपयुक्तम् (चचि. ७.१३५)

-च्छदाद्यञ्जन– न., अञ्जन० कुकूणके उपयुक्तम्
(सुउ. १९.१२)

-तरु–पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०)

-तैल–न., स्नेह० निम्बतैलगुणाः—तिक्तं अल्पोष्णं. वातपित्तकफघ्नं, कुष्ठशिरोरोगघ्नं (सुसू. ४५.११५) कृमिघ्नं च (ध. ६.१३५) वल्मीकव्याधौ रोपणार्थमुपपुज्यते (सुचि.२०.५५) (असंउ.३७) रसकर्मण्युपयुज्यते (र. १०.७३.७६)

-त्वच्–स्त्री,, निम्बत्वक्तत्कल्कलेपो व्रणजकृमिनाशकः
(अहसू. २९.७६)

-धूप–पु,, निम्बस्य त्वक्पत्रपुष्पफलमूलानां धूपः सघृतः सर्वारिष्टहरः (काक.१.३५)

-निर्यास–पु., निम्बस्य निर्यासः नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १२.१३.१४)

-पत्र–न., निम्बस्य पर्णानि, रक्षोघ्नधूपनद्रव्येष्वेकम् (सुसू. १९.२८) कर्णिकापातनोपयोगि
(सुक. ८. १३६)

-पुष्प–न., निम्बकुसुमं शाकत्वेनोपयुज्यते, कफपित्तहरं कुष्ठघ्नं च (सुसू. ४६.२८६)

-प्रसव–पु., निम्बपल्लवः, कफजतृष्णायां वमनोपयोगी
(सुउ. ४८.२१)

-फल–न., निम्बफलगुणाः–रूक्षोष्णं कटुपाकि लघु वातकफघ्नं जन्तुप्रमेहनुच्च (सुसू. ४६.१९७)

-बीज–न., निम्बस्य बीजम् वमनोपयोगि
(चसू. २.७-८)
वातजग्रन्थ्यादिषु लेपार्थम् (असंउ. ३१)
पु., वनस्पति० राजादनः (रा. ११.१४६)

-मूल–न., निम्बस्य मूलम् वमनार्थमुपयुज्यते
(सुसू. ३९.३)

-यूष–पु., कृतान्न० तद्गुणः दीपनो हृद्यः पित्तघ्नः कफमेदोविशोषी कृमिकुष्ठज्वरापहश्च
(सुसू. ४६.३७० ३७१)

निम्बरक–पु., वनस्पति० महानिम्बः (ध. १.३१)

निम्बारिष्ट–पु., आसुत० कुष्ठमेहकृमिघ्नो ऽयं वरुणेन विनिर्मितः निम्बपंचांगखदिरसारहरितक्यादिसंधितोऽयं (असंचि. २१)

निम्बुक–न., वनस्पति० जम्बीरः (र. १०.८०)

निम्बूक–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. ११.२२)

निम्बोदक–न., निम्बक्वाथः, वामकः, स्तन्यदोषहरणश्च
(सुचि. १७.४३)

नियति–स्त्री., दैवम्, पूर्वजन्मार्जितौ धर्माधर्मौ, नियतिरेव सर्वस्य कारणमिति नियतिवादिनो जोघुष्यन्ते
(ड. सुशा. १.११)
ज्वरः (सुउ. ३९.९५)

नियन्तृ–वि., नियामकः, शास्ता (चसू. १२.८)

नियम–पु., निबन्धनम् पथ्याचरणम् अथर्ववेदोदितचिकित्साविशेषः (चसू. ३०.२१)
मनःसंकल्पादिनिरोधः (ड.) शौचं संतोषस्तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानं च (सुचि. २९.१०)
शास्त्रोदितो व्रतावस्थामौनादिविधिः (सुसू. ६.३०)
निषेधः (ड. सुचि. ३८.९८)
उपवासादिः (ड. सुचि. ३९.१४)
अक्रोधो, गुरुशुश्रूषाशौचमाहारलाघवमप्रमादश्चेति पञ्च नियमाः (ड. सुचि.१.१३३)

नियमन–न., पारदसंस्कार० पारदस्य चाञ्चल्यनिवारणार्थं रोधनसंस्कारानन्तरं विधीयमानः स्वेदनसंस्कारः (र. ८.६२)
पु., वनस्पति० निम्बः (ध.१.२९)

नियमात्मिका–वि., नियमयुक्ता संयमरूपा (चशा. १.१००)

नियुद्ध–न., बाहुयुद्धम् (ड. सुउ. ६४.३८)
निरग्निकः स्वेदः स्वेदोत्पत्तिप्रभविष्णुरयं निरग्निकः स्वेदः (सुचि. ३२. १५)

नियोग–पु., तन्त्रयुक्ति० इदमेव कर्तव्यमिति नियमो नियोगः, यथा–पथ्यमेव भोक्तव्यम् (सुउ. ६५.३७)

निरग्निकस्वेद–पु., स्वेद० आतपो गुरुप्रावरणं नियुद्धमध्वगमनं भारहरणं व्यायामो निपातोऽमर्षश्चेति साक्षादग्निसम्बन्धराहित्येनाऽयं निरग्निकः स्वेदः (सुचि. ३२.१५; चसू. १४.६४) (अहृ. सू. १७.१८-२९) द्र० ' स्वेद '

निरङ्कणा–स्त्री., वनस्पति० नीरकणा जलपिप्पली रसोपरसशुद्ध्यर्थमुपयुक्ता (र. ३.१३२)

निरङ्कुश–वि., स्वायत्तः स्वाधीनः निर्नियन्तृकः (असंसू. ८.५)

निरत्यय–वि., निर्भयः (चचि. २८.१४४)
निर्गतव्यापत्, अत्ययो व्यापत्, तद्रहितः (सुशा. ४६.२)
निर्दोषम् (सुउ. ४७.२९)
अबाधम् (सुसू. ४६.४६३)

निरनुबन्ध–वि., निर्विकल्पम् निःसंज्ञकम् अत्रेदं क्रियाविशेषणत्वेन प्रयुक्तमस्ति (अहृसू. ७.७७)

निरन्न–वि., परिवर्जितान्नः (सुचि.६.१३)

निरप–पु., धान्य०व्रीहिः--(रा. १६.७९)

निरपत्य–वि.,सन्तानरहितः, अपत्यहीनः(चचि.२(१)१६)

निरपत्रपा–वि. लज्जाशून्या, अपत्रपा लज्जा, तद्रहिता (सुनि. ८.११)

निरपेक्षरूक्षा–वि., अपेक्षारहिता निःस्नेहा च (असंनि. १)

निरवशेषतस्–अव्य., संपूर्णतया (सुचि. २२.३७)

निरस्तमुष्क–वि., लक्षण०यस्याण्डकोषौ भिन्नौ तादृशौ भिन्नाण्डकोषो मनुष्यः (सुचि. २.६६)

निराकरिष्णु–वि., तामससत्त्वलक्षण० निराकरणशीलः (चशा. ४.३९ (१)
–ता–स्त्री., पाशवगुण०निराकरणशीलता स्मृतिहीनता च (सुशा. ४.९५)

निराबाध–वि., निर्गता बाधा यस्मात् तत्, बाधारहितम् (चसू. १३.४०)
–गृह–न., धूलिधूमवातातपादिरहितं गृहम् (सुउ. १७.६७)

निराम–वि., लक्षण० आमदोष रहितं पक्वं (ज्वरादि) (चचि. ३.१६७.६८)
–ज्वर–पु., परिपक्वज्वरः, तल्लक्षणम्–क्षुत्क्षामता गात्रलघुत्वं ज्वरमार्दवं दोषप्रवृत्तिरष्टाहश्चेति (चचि. ३.१३७)
–मल–पु., आमरहितो दोषो वातादिः, निरामलक्षणम्–स्रोतःशुद्धिर्लघुत्वं बलवत्त्वं वायोः सम्यक्संचार उत्साहः पक्तिर्मलप्रवृत्तिरन्नाभिलाषा क्षुमाभावश्च (अहृसू. १३.२४)

निरामय–वि., स्वस्थः, व्याधिरहितः (सुसू. ४६.४२९)

निरालम्बा–स्त्री., वनस्पति० आकाशमांसी (रा. १२.९५)

निराश–वि., निर्गता आशा यस्मात् वितृष्णः (चचि. ६.३)

निराश्रय–वि., मर्माद्यनाश्रितः, जिह्वादन्तसन्ध्याद्यप्राप्यदेशमनाश्रितो व्रणादिः (सुसू. ५.८)

निराहार–वि., कृतोपवासः अभोजी (सुचि. ३८.२२)

निरिन्द्रिय–वि., इन्द्रियरहितं, तच्च अचेतनम् (चसू. १.४८)

निरीश–वि., स्थाय्यात्मरहितः (चशा. १.४७)

निरीह–वि., निश्चेष्टः निर्व्यापारः (असंचि. ८)

निरुच्छ्वासिन्–वि., लक्षण० निरुद्धोच्छ्वासः (ड. सुउ. ४२.८०)

निरुच्छ्वासिकरण–न., श्वासावरोधात्मकं कर्म (असंशा. ४.३२)

निरुञ्जिका–स्त्री., ग्रह० रेवतीग्रहसंज्ञाविशेषः

निरुत्थ–वि., अपुनर्भवम् लोहादि भस्म (गुडगुञ्जादिकेन ध्मात्वा जातं) रौप्येण सहितं मूषायां ध्मात्वा तेन न लगति चेत् तदा इयं संज्ञा (र. ८.३०).
–लोह–न., अपुनर्भवं लोहभस्म, तत्परीक्षा यथा-षोडशांशस्वर्णमाक्षिकयुते घृतमधुभ्यां मर्दिते कान्ते समप्रमाणं रूप्यं प्रक्षिप्याग्नौ द्रावयित्वा यदि लोहं स्वप्रमाणावशिष्टमेव उपलभेत तर्हि तन्निरुत्थं जानीयात् (र. २८.१७)

निरुद्गार–वि., उद्गाररहितः ग्रन्थिरहितः अस्यां अवस्थायां घर्षणसमये भेषजस्य खल्वान्निर्गमनं न भवति (र. ९.८२)

निरुद्ध–वि., अवरुद्धः, विबद्धः (चशा. २.८) (सुनि. १३.५४) संकुचितः

–**प्रकश**–पु., मेढ्रजक्षुद्ररोग० तल्लक्षणम्—वातोपसृष्टं चर्ममणिं संश्रयते तेन मूत्रस्रोतोरोधो भवति। मूत्रमवेदनं मन्दधारं प्रवर्तते। मणिश्च न विदीर्यते (सुनि. १३.५२-५३)

–**मणि**–पु., क्षुद्ररोग० निरुद्धप्रकशः मणेर्विकासरोधश्च भवति (असंउ. ३८)

निरुपम–पु., कीट० पञ्चगौधेरकेष्वेकः, सविषोऽसौ, तेन दष्टस्य शोफः दाहरुजौ च भवतः (सुक. ८.२८)

निरुपस्तम्भ–वि., अनावृतः (चक्र. चचि. २८.७५)

निरुल–पु., जलचर० सामुद्रो मत्स्यः (सुसू. ४६.११८)

निरूढ–वि., कृतनिरूहबस्त्युपचारः (सुचि. २४.३६)

(निरूढा)–स्त्री., वनस्पति० मकुष्टका (ध. ६.९२)

निरूह–पु., उपक्रम० पञ्चकर्मस्वेकम्, बस्तिभेदः आस्थापनेत्यपरपर्यायः, निःस्नेहिकोऽल्पस्नेहो वाऽयम्, तन्निरुक्तिः–शरीररोहणात् दोषनिर्हरणादचिन्त्यवीर्यप्रभावतया चास्मिन्नूहासम्भवान्निरूह इति (सुचि. ३५.१८; असंसू. २८.३) तद्गुणाः– वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृत् सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहो विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदो विष्वक्स्थितदोषचयनिरसनः सर्वविकारशामकश्च (चसि. १. २७–२८) तत्कालनियमः– तत्र विरेचनादूर्ध्वमन्नसंसर्गेण दिनानि षट्, ततो मधुरादिरससंसर्गमाचरेत्, स्नेहपानेनापि दिनानि षडतिक्रामेत्, ततो दिनत्रयं लघूष्णं भुञ्जानश्चतुर्थेऽहनि स्नेहाभ्यक्तः स्वेदितश्चास्थापनं सेवेत (सुचि.३६.५१) तत्कल्पनम् – निरूहकल्पनार्थं विंशतिपलानि बस्तिकल्पोक्तं दशमूलादि, अष्टौ मदनफलानि, सामान्यपरिभाषया षोडशगुणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्, चतुर्भागावशेषश्च तत्क्वाथो ग्राह्यः। ततस्तस्मादेवंकृतात् क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत्। पित्तेऽधिके षष्ठांशं कफेऽधिके स्वस्थे च पुरुषेऽष्टमांशं स्नेहं त्रिपलिकं प्रकल्पयेत्। सर्वत्र वाते पित्ते कफे स्वस्थे च, कल्कात् पेष्यद्रव्यादष्टमं भागं त्रीणि पलानि कल्पयेत्, यथा वा बस्तिरत्यच्छोऽतिसान्द्रोऽतिघनो न भवति तथा कल्कः कल्पयितव्यः। पलमात्रं गुडं मधुपट्वादिविशेषं च युक्त्या प्रकल्पयेत् (अहसू. १९.३८–४०) निरूहयौगिकानि द्रव्याणि – क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसा लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपो वचा एला त्रिकटुकं रास्नादीनि मधूलिकान्तानि द्रव्याणि (सुचि.३८.२४–२८; असंसू.१४.५) द्रव्यप्रमाणम्–स्वस्थे पुरुषे क्वाथस्याष्टौ, स्नेहस्य पादोनपञ्च, कल्कस्य त्रीणि। क्रुद्धेऽनिले क्वाथस्याष्टौ, स्नेहस्य षट्, कल्कस्य त्रीणि। क्रुद्धे पित्ते क्वाथस्याष्टौ, स्नेहस्य चत्वारि, कल्कस्य त्रीणि। क्रुद्धे कफे क्वाथस्याष्टौ, स्नेहस्य त्रीणि, कल्कस्य त्रीण्येव पलानि। लवणादीनां प्रमाणं तु दोषभेषजयोः सामान्यविशेषन्यायेन गुणं अवलोक्य सम्यक् प्रकल्पयेत् (सुचि. ३८.२९–३०) वयोऽनुरूपं प्रमाणम्–आद्ये वर्षे प्रसृतार्धं तत आद्वादशादर्धप्रसृताभिर्वृद्धिः द्वादशतः परमष्टादशपर्यन्तं प्रसृताभिवृद्धिः सा चासप्ततेः (चसि. ३.३१–३२) तद्द्रव्यसंयोजनम् माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमादावपेत्। निरूहाणां संयोजने विधिरयम् (अहसू. १९.४६) तत्प्रदानविधिः—अथानुवासितमभ्यक्तं सुस्विन्नशरीरं मध्याह्ने शुचौ वेश्मनि योग्यशय्यायां वामपार्श्वशायिनं वामसक्थिप्रसारितं दक्षिणसक्थ्याकुञ्चितं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा बस्तिद्रव्यं बस्तौ प्रक्षिप्याशयं बुद्बुदरहितं वातरहितं च कृत्वा बस्तिनेत्रं बस्तौ स्थापयित्वा सूत्रेण द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्टयाकर्णिकं बध्नीयात्। अत उत्तरं बस्तिप्रणिधानविधिना नातिद्रुतं नातिविलम्बितं सकृदेव बस्तिमवपीडयेत्। नेत्रमपनीय च मृदुकोष्ठपुरुषापेक्षया त्रिंशन्मात्रामुपेक्षेत (सुचि. ३८.३–६) ततो दत्तमात्रे निरूहे उत्तानस्तन्मनाः कृतोपधानः सञ्जातवेगः सन्नुत्कटकः सृजेत् (अहसू. १९.४६) तत्पश्चात्कर्म निरूढं वातादिदोषानुसारेण बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रममनुवासयेत् (सुचि. ३७.४६ दोषभेदेन-निरूहसङ्ख्या— वातघ्नौषधदशमूलादिभद्रदार्वादिनिःक्वाथसैन्धवयुतः स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णरसान्वित एको बस्तिर्वाते हितः। पित्ते च न्यग्रोधादिगणपद्मकादिगणसिद्धौ मधुरशिशिरौ घृतदुग्धेक्षुरसमधुयुक्तौ बस्ती। कफे चाग्वधादिवत्सकादियुता रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकास्त्रयो बस्तयः (अहसू. १९.५६-५९) निरूहस्यातिशीलनाद्वातवृद्धिर्जायते (अहसू. १९.६५) निरूहयोग्याः–गुल्मानाहखुडड्डीहशुद्धातिसारशूलिनो जीर्णज्वर-

प्रतिश्यायशुक्रानिलमलग्रहातुरा वर्ध्माश्मरीरजोनाश-दारुणानिलपीडिताश्च (अहसू. १९.२-३) दुर्निरूढे मूत्रार्त्यरुचिजाड्यानि भवन्ति (सुचि. ३८.८-९) द्र० ' बस्ति '

-क्रम-पु., निरूहस्य क्रमः अनुक्रमविधानम् (ड. सुचि. ३८.१)

-क्रमचिकित्सित-न., अध्याय० (सुउ. ३८.१)

निरूह्य-वि., निरूहबस्तियोग्यः निरूहितुं योग्यो निरूह्यः (असंसू. २८.१३)

निरोजस्-वि., ओजोहीनः (सुशा. ३.३०)

निरोध-पु., मरणम् (चसू. ३०.२५) विनाशः (चसू. १६.२८)

पारदसंस्कार० निरोधनम्, यत्र पारदं गोऽजाविनरनारीणां मूत्रशुक्ररक्तसैन्धवैश्च मर्दयित्वा कुपिकास्थं कृत्वा भूगर्ते च निधाय तदुपरि त्रिदिनपर्यन्तमेकविंशतिदिनपर्यन्तं वाऽग्निं ददाति, येन स मुखकरो (तीक्ष्णः) भवति । केचन सैन्धवलवणजलेन दोलायन्त्रे दिनमात्रं तस्य स्वेदनं कुर्वन्ति (र. ११.४७)

निर्ऋति-पु., रक्षसां पितामहः (ड.) देवानुचरगणेष्वेकः (सुउ. ६०.२५)

निर्गत-वि., विश्लिष्टम् (सुचि. ३.२७)

-त्व-न., बहिर्निःसरणम् (सुसू. ३२.४)

निर्गद-वि., निर्दोषम् (असंचि. १३; अहसू. ३.२२)

निर्गन्ध न., वनस्पति० चन्दनभेदः बर्बरः (ध. ३.९)

निर्गुण-वि., गुणरहितोऽल्पगुणः (सुशा. ३.३५)

निर्गुण्डिका-स्त्री., वनस्पति० निर्गुण्डी (र. २.९०)

निर्गुण्डी-स्त्री., वनस्पति० कटुस्तिक्तोष्णा वातकफघ्नी, कृमिकुष्ठरुक्प्लीहगुल्मारुचिकण्डूतिशूलहृद्रोग-कासघ्नी च (ध. ४.८१; चसू. ४.११; चचि. ८.८४)

हिं.—सम्हालू, न्यवारी.

म.—काळी निर्गुंडी.

गु.—नीली नगोड.

बं.—नीलनिर्शिंदा.

ता.—करूनोच्चिल.

फा.—मिसवान.

निर्गुण्डीभेदः शेफालिनिर्गुण्डी (भ. ४.८३)

नीलसिन्धुवारः (ड. सुउ. ५२.३०)

निर्घात-पु., वज्रपातः (चवि. ३.७.३)

रोगलक्षण० आघातजपीडावद्दुःखम् (काखिल. १२.११)

निर्घातन-ज., चतुर्विंशतियन्त्रकर्मस्वेकम्, इतश्चातश्चालनात्मकं यन्त्रकर्म (सुसू. ७.१७)

निर्घृण-वि., निष्कृपः (चक्र. चसू. ७.५७)

निर्घृणित्व-न., लक्षण० जुगुप्सारहितम्, विगतलज्जत्वम् (चनि. ६.१३)

निर्घोष-पु., अत्युच्चशब्दः (चचि. १८.१२)

निर्जय-पु., उपशमः (सुउ.१३.११)

निर्जरसर्षप-पु., वनस्पति०देवसर्षपकः (रा. ९.४३)

निर्जीव-पु., पारदबन्ध० जीर्णाभ्रको जीर्णगन्धो वा पारदो भस्मीभूतः 'चतुर्थांशेन जीर्णवज्राभ्रकसत्वो जीर्णषड्गुणगन्धो वा' (र. ११.७७)

निर्णय-पु.,तन्त्रयुक्ति०पूर्वपक्षस्य यदुत्तरं स निर्णयः (सुउ. ६५.२६)

विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थानम् (चसि. १२.४२)

निर्दहन-न., वेदना० भस्मसात्करणवद् वेदना (सुचि. १.७)

वह्निना निःशेषं दह्यमानत्ववद् वेदना (सुसू. २२.११)

(निर्दहनी)-स्त्री., वनस्पति० चित्रकः (सुउ. ५७.१०)

अजमोदा (सुसू. ५७.१०)

मोरटः, मूर्वा, अग्निमन्थः (ड. सुचि. ४.३२)

गणकारिका (ड. सुउ. ५५.४८)

निर्देश-पु., तन्त्रयुक्ति० विस्तर-वचनं निर्देशः यथा-शारीरमागन्तुकं चेति शल्यम् (सुउ. ६५.१३)

विवरणम् (सुशा. ६.१)

-कारित्व-न., आतुरगुण० वैद्योपदिष्टार्थकर्तृत्वम् (चसू. ९.९) द्र० ' रोगिन् '

भिषग्वश्यत्वम् इदमातुरगुणानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३) द्र० ' रोगिन् '

निर्दोह-पु., उपक्रम० स्तन्यनिर्हरणम् (कासू. १९)

निर्द्रवद्रवर्तित-वि., अनतिद्रववर्तितं शुष्काख्यं व्यञ्जनादि (चक्र. चचि. २४.१७३)

निर्धूनन-(परिव०) न., आलोडनम् (सुचि. २.५९)

निर्धूम-वि., विगतधूमावस्थः यथा गन्धकहरितालसोमलमनःशिलादिकानां ज्वलन-शीलानां विगतधूमावस्थायामग्नावस्थितिः (र. ९.६१)

निर्धूमीपन-न., उपक्रम० प्रधमनम्, पिप्पलीकट्फलादिचूर्णस्य नाड्या नासान्तःप्रापणम् अनेनावबद्धशल्योद्धरणं विधीयते (सुसू. २७.४)

निर्बन्ध-पु., संबन्धः (चशा. ४.१५)

निर्बीज–वि., बीजरहितम् (ध. ५.५८; रा. ११.७९)
पु., पारदबन्ध० पादांशसुवर्णजीर्णो, गन्धके च समभागेन क्रमेण पिष्टीकृतः पुटितश्च पारदः (र. ७८ ११)
(निर्बीजा)–स्त्री.,वनस्पति० द्राक्षाभेदः, काकलीद्राक्षा (ध. ५.५८; रा.११.७९) द्र० ' द्राक्षा '
निर्भक्त–वि., आहाररहितम् (सुउ. ४७.१४)
निर्भर्त्सन–पु., रंजनद्रव्य० अलक्तकः (रापरि. ६.१२)
निर्भुग्न–वि., अतिकुटिलम् (चचि. ३.१०४)
(परिव०) परिवर्तनम् , उत्तानीकरणम् (सुउ.१३.४) वक्रीभवनम् (अहसू. २८.४५)
निर्भेद–पु., लक्षण० शस्त्रेण विदारणवद् वेदना (सुउ. ६.१२)
(परिव०) निःसरणम् (सुनि. ६.४)
निर्मथन–न., लक्षण० मन्थानविलोडनवद् वेदना (सुचि. १.७; सुउ. ४३.६)
निर्मथ्या–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)
निर्मन्थन–न., मंथनम्, विलोडनम् (ड. सुक. ३.२८)
निर्मल–न., खनिज० महारसभेदः, विमलम् (ध. परि. ६.६)
खनिज० महारसभेदः अभ्रकम् (ध. परि. ६.३)
निर्माल्य–न.,वनस्पति० स्पृक्का (इन्दु. असंउ. ८)
शिवनिर्माल्यं बिल्वफलम् (र. २३.६)
(निर्माल्या)–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)
निर्मोक–पु., कञ्चुकः, सर्पत्वक (र. २२.१०५;) (सुचि. २९.२५)
निर्यन्त्रण–लि., वातातपादिनिषेधरहितो भैषज्य-प्रयोगादिः (सुसू. ४४.५३)
निर्यन्त्रणाशिन्–वि., निर्यन्त्रणं यन्त्रणारहितं स्वच्छन्दम् अन्नादिकमत्ति इति निर्यन्त्रणाशी (चक. ७.४९)
निर्यातन–न., निर्गमनम् (र. ८.७७)
निर्यास–पु., औद्भिदान्निर्गतो रसः (चसू. १.७३)
निश्च्यूतः वृक्षान्निःस्रवन् श्लक्ष्णश्चिक्कणो घनद्रावः (र. १७.१२१)
क्वाथः (र. २५.७१)
भेषजकल्प० सद्यः समुद्धतप्रक्षालितक्षुण्णस्य तान्तवनिष्पीडितस्य स्वरसः (असंक.८)
वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२६)
-विष–न., स्थावरविष० सप्त निर्यासविषाणि अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दन-नाराचकानि (सुक. २.५)
निर्यासविषेणऽऽस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यकफसंस्रवा भवन्ति (सुक. २.९) द्र० ' विष '
निर्यूह–पु., क्वाथः (चचि. १.४७. सुचि. २२.३४)
षडङ्गविधानसिद्धं जलम् (चचि. १९,५०)
निर्लेखन–न.; उपक्रम० पुनःपुनर्लेखनं शस्त्रादिना (सुचि. १.३९)
निर्लोह–न., भैषज्य० बोलम् (ध. ६२)
निर्लोहित–वि., स्रुतरक्तम्, अपनीतरक्तम् (अहसू. २८.२५)
निर्वचन–न., तत्रयुक्ति० निश्चितं वचनम्, यथा–
आयुर्विद्यतेऽस्मिन् अनेन वा, आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः (सुउ. ६५.३५)
पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः यथा–ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् (चसि.१२.४४)
यथा विविधं सर्पतीति विसर्पः (चसि. १२.४४)
निर्वलीक–लक्षण० वलीरहितम् (चसि. ३.१६, अहसू. २९.२९)
निर्वातशयनस्थित–वि., वातरहिते देशे शय्योपरि वर्तमानः (असंसू. २५.३७)
निर्वाप–पु., तप्तलोहस्य जले प्रक्षेपणम् (र. ८.५६)
निर्वापन–न., उपक्रम० व्रणस्य षष्ठ्युक्रमेष्वेकः, सेकलेपादिभिर्वेदनोपशमः (सुचि. १.८)
दाहौष्ण्यशमनम् (चचि. २५.४०)
रोपणम् (चसू. ३.२६)
दाहप्रशमनम् (चसू. १३.१४)
औषधस्य शीतजलस्य वा परिषेकः (चसू. १८.५, निर्वाहणम्, साध्ये द्रुते लोहे वङ्कनालेनान्य-लोहप्रक्षेपणम्, एकीकरणम् (र. ८.२४)
(जले) निःक्षेपणम् (सुसू. ४५.१२)
निर्वाहण–न., लक्षण० प्रवाहणम् (चचि. १४.९) निर्वापणम्, एकीकरणम् (र. ८.२४)
निर्वाहिका–स्त्री., रोग० प्रवाहिका (काखिल ४.८१)
निर्विकार–वि., निर्व्यापारः (सुचि. ७.३१) नीरोगः (चसू. १.५६)
निर्विष–वि., विषरहितः निर्विषाः सर्पा गलगोलीशूकपत्रा-दयः (सुक. ४.३४. (४)
गोनसादिः (ड. सुउ. ६२.१७)
ईषद्विषः (ड. सुक. ४.१००)
न., सर्पदंश० अविषं तत् (सुक. ४.१४)
निर्वृत–वि., अपेतदुःखानुबन्धि (अहसू. २३.२८)
निर्वृति–स्त्री., सुखम् (चसू. २१.२९)

शान्तिः (सुसू. ४१.७) सा च पुष्टिकराणां श्रेष्ठा (असंसू. १३)

निर्वृत्त–वि., जातमात्रम् (सुसू. ४३.३)

निर्वृत्ति–स्त्री., निष्पत्तिः (सुशा. ३.३६)
अभिव्यक्तिः (चसू. १.६४)

निर्वेग–वि., निश्चलम् (ड. सुसू. ४५.४०)

निर्वेद–पु., आत्मन्यवज्ञा, आत्मलाघवकल्पना (चइ. १२.८७)

निर्वेधिम–पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः पीठोपमपालिरुभयतः क्षीणपुत्रिकाश्रितः कर्णबन्धः(सुसू.१६.१०)

निर्व्यलीक–वि., त्वक्सङ्कोचरहितम् (सुचि. ७.३०)

निर्व्यूढ–वि., धातूनां द्रावणेनैकीकृतम्, धमनद्वारा अन्तःप्रवेशेन ऐक्यमापन्नम् (र. २१.१९४)

निर्हरण–न., उपक्रम० हरणम् दोषादीनाम् (ड. सुउ. ३९.१२४)

निर्हार–पु,, मलादिनिर्गमः (चक. चसि., ११.३०)

निर्हृतशल्या–वि., अपहृतशल्या (सुचि. १५.१९)

निलयन–न., उपवेशनम् (सुसू. ३२.४)
(परिव०) श्लेषणम् (सुचि. ३३.४०)

निवात–वि., वायुरहितं स्थानादि (सुचि.२४.८५)
न., एकान्तस्थलम् (चचि. ९.७८)
पु., स्वेद० निरग्निकः (सुचि. ३२.१५) द्र० 'स्वेद'

–शरण–न., निर्वातगृहम् (असंसू. २६.९)

निवारण–न., चिकित्सा (सुउ. ४७.२४)

निवासवृक्ष–पु., आवसतरुः (चशा.५.१०)

निवृत्त–न., गुह्यरोग० परिवर्तिका (असंउ. ३८)
निर्गतं, परिवृत्तम् (असंउ. ३८)

–चर्मन्–न., क्षुद्ररोग० परिवर्तिका (सुनि. १३.४८)

–प्रसवा–स्त्री., यस्या अनुजननकालः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं सा (सुशा. १०.६६)

–सन्ताप–वि., शारीरमानसदुखःरहितः, व्याधिमुक्तः (सुचि. ३०.३)

–सन्तापीय–वि., अध्याय० निवृत्तसन्तापेतिशब्दमधिकृत्य कृतः (सुचि. ३०)

निवृत्ति–स्त्री., परावृत्तिः सा च सुखमिति जेगीयते (चशा. ५.८)
वैराग्यम्, निवृत्तिः पुष्टिकराणां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०)
उपरमः (चइ. ११.७)

–काल–पु.; निर्गमनसमयः (अहसू. १९.२०)

–लक्षण–न., निवृत्त्यनुगुणं लक्षणम् (चवि. ८.८०)

निवेश–पु,, स्थापनम्, आश्रयणम् (असंसू. ८.६)

निवेशन–न., गृहम् (असंसू. ८.७)

निशा–स्त्री., रात्रिः (सुसू. ५.२७)
वनस्पति० दारुहरिद्रा (६.८४)
हरिद्रा (सुचि. १७.२१; ध. १.५४; र. ११.१०५)

–कल्कयुक्ताम्भस्–(परिव०) न., हरिद्राकल्कयुक्तं जलं यच्च जलौकास्थापनार्थमुपयुज्यते जलौकोपक्रमे (अहसू. २६.४०)

–चर–पु., पिशाचः, राक्षसः (सुसू. ५.२२)
देवादिग्रहः निशाविहारित्वात् असृगादिभोजित्वाच्च राक्षसादय इत्येके (सुउ. ६०.६)
वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२७)

–छद–पु., वनस्पति० शटी (ड. सुचि. ३८.४३)
द्र० ' सठी ' ' शठी '

–द्वय–न., हरिद्रा दारुहरिद्रा च (अहसू. १५.४०)

–पर्युषित–वि., निशागमं यावत्स्थापितत्वात् शीतकषायः (चक्रः चचि. २१.५८)

–वन–पु., वनस्पति० शणः (रा. परि. ४.१७)

निशाटक–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८३)

निशान–न., शस्त्रधाराकरणम् [सुसू. ८.१३]

(निशानि)–स्त्री., अनिशितधाराणां शस्त्राणां निशानार्थं माषयूषप्रभा श्लक्ष्णशिला (असंसू. ३४.३७)

निशान्धता–स्त्री., नेत्ररोग० नक्तान्ध्यम् (र. २९.१३८)

निशान्धा–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२७)

निशित–न., खनिज० लोहभेदः तीक्ष्णलोहम् (र. १३.३०)

–निस्त्रिंश–पु., तीक्ष्णखड्गः (सुक. ४.३६)

निशिस्थित–वि., शीतकषायः (चचि. ३.२०७)

निशीथ–पु., अर्धरात्रम् (असंउ. ६.)

निश्चन्द्र–वि., चन्द्रिकया निर्मुक्तम् (र. २.४५)

निश्चन्द्रिक–वि., लक्षण० चन्द्रिकारहितम् (र. २.१४)

निश्चयात्मिका–वि., वस्तुस्वरूपपरिच्छेदात्मिका बुध्यादिः (चसू. ८.१२)

निश्चला–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११४)

निश्चारक–पु., रोग० अतीसारस्यावस्थिको भेदः । प्रवाहिकाया अवस्थाभेदोऽपरपर्यायश्च, पुरीषक्षयापरपर्यायः (ड. सुउ. ४०.१४५)

निश्चेष्टाधरकाय–वि., लक्षण० चलनवलनादिश्चेष्टा, तद्रहितोऽधरकायो यस्य सः (का. फक्कचि.)

निश्च्युतित–वि., परिस्रावितम् (सुचि. ६.१८)

निःश्रेणिका–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– नीरसोष्णा पशूनामबलप्रदा (रापरि. ८.५०)

निःश्वसित–न., श्वासप्रवेशनम् (सुशा. २.५५)
निश्वास–पु., श्वासस्याशरीरान्तःप्रवेशनम् (अरु.) श्वास-
प्रवेशः (हे. अहसू. ११.१
श्वासनिर्गमः (सुनि. ५.३३)
निषण्ण–वि., उपविष्टम् (सुचि. ३७.१०९)
निषिक्त–वि., निक्षिप्तम् अवसिक्तम् (सुचि. ६.१३)
निषूदन–वि., विनाशकः (अहसू. १५.३१)
निषेक–पु., क्षरणम्, रोपणम् (असंसू. ९.७१)
–**सात्म्य**–न., जन्मसात्म्यम्, निषेको योनौ
शुक्रस्थापनं, लक्षणया निषेको जन्म, कारणे
कार्योपचारात् (कासू. २३.३०)
निषेकाभिमुख वि., क्षरणाभिमुखम् (असंसू. ९.७१)
निष्क–पु., मान० शाणः, धरणद्वयं, मावचतुष्टयं
तोलकपादश्च (र. ११.३),
न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३)
निष्कुट–पु., गृहोपवनम् (ड.) वनगहनम् (सुउ. ३०.८)
गृहारामः (इन्दु. असंउ. ५.—)
(**निष्कुटी**)–स्त्री., वनस्पति०गुल्मभेदः सूक्ष्मैला
(ध. २. ४४) द्र० ' एला '
निष्कुल–वि., निरस्थि, निर्बीजम् (चचि. १.६६).
निष्कुलीकरण–न., निष्फलीकरणम् निर्बीजीकरणम्
(सुचि. २७.९)
निष्कोषण–न., दन्तरङ्गकैः पुरुषैर्दन्तनिशानार्थमुपयुज्य-
मानः सविषः शाणो दन्तकाष्ठं वा (सुसू. २३.८)
निष्क्रमण–न., बहिःक्षेपणम् (अहसू.१२.९)
निष्क्रियत्व–न., चिकित्साकरणे निर्वर्तनीयत्वम्
(चचि. २५.३४)
निष्क्वाथ–पु., क्वाथः, रसकापरपर्यायः (सुशा. १०.१६;
र. २२.२०)
कल्प० चतुर्भागावशेषः क्वाथः (सुचि. ३१.६)
निष्टनन–(परिव०) न., दुःखोद्गारः प्रवाहणम् कुन्थनम्
(कासू. २०.२६)
निष्ठा–स्त्री., मोक्षः (चशा. ५.२६)
निष्ठीव–पु., मुखस्थितलालात्यागः (अहसू. १३.२४)
निष्ठीवन–न., (परिव०) निष्ठीवः (सुचि. ४०.३०)
निष्ठीविका–स्त्री., निष्ठीवनम् (चसू. ८.२१)
निष्ठुर–पु., खनिज० (कृत्रिमधातुः) पित्तलम्
(ध. ६.१९)
निष्ठ्यूत–न., ष्ठीवितः उद्गान्तः श्लेष्मा (चइ. ९.१८)
निष्ठ्यूति–(असंचि. ५.२४)
निष्पतद्यन्त्रसलिल–न., यन्त्रपतितं जलम्
(असंसू. ४.३८)
निष्पतन–न., स्रावः (चचि. २६.११९)
निष्पत्रक–पु., वनस्पति० करीरः (रा. ८.१६)
निष्परीहार–वि., निर्यन्त्रणः (सुसू. ४४.८८)
अनियन्त्रणः (अहसू. १९.९६९)
निष्पाव–पु., विदलधान्य० शिम्बीधान्यम्, वल्लो
वातपित्तलोऽसौ (चसू. २७.३३) अस्य पयसा
सहाभ्यवहरणं विरुद्धम् (चसू.२६.८४) गुणाः–
उष्णो गुरुर्मूत्रस्तन्यकरः, सरो विदाही, शुक्र-
नाशनः शोषशोफकृद्घातघ्नो रक्तपित्तघ्नश्च
(ध. ६.११०) मधुरः कषायो रूक्षोऽम्लपाकी
वातविबन्धकृद्विषश्लेष्मशोथहृच्च (भाप्र.) कटुनि-
ष्पावो निष्पावभेदः, तद्गुणाः–तिक्तः कटुकः कषायो
गुरू रूक्षो वातलोऽस्रप्रदः कफदो त्रिदोषनुच्च
(रा. १६.१७६.७७)
हिं.—निष्पाव, भटवांसू.
म.—पावटा.
गु.—ओलिया वाल.
बं.—भेटरासू सीम.
ता.—वेळवरै.
श्वेतशिम्बी (चनि. २.४)
शाक० फल्गीचिल्लपादिगणोक्तः अयं मधुरो गुरू
रूक्षः शीतवीर्यो विष्टभ्य जरणशीलः पुरीषभेदी च
(चसू. २७.१००).
मान० द्विगुञ्जः (र. ११.२)
धरणस्य एकोनविंशतितमो भागः (सुचि.३१.७).
(निष्पावि)–स्त्री., वनस्पति० हरिच्छुभ्रभेदादियं द्विविधा,
निष्पावीगुणाः—कषायमधुरा सरा मेध्य-दीपनी
रुचिकरी कण्ठशुद्धिकरी च। निष्पावीद्वयं समान-
गुणम्। तत्र शुभ्रा सङ्ग्राहि समवीर्या ईषच्छ्रेष्मा वर्तते
(रा. परि. ७.९९)
निष्पावाम्बु–न., निष्पावोदकम्, निष्पावक्वाथः आमाशय-
गते विषे वमनायोपयोगि (असंसू. ८.३८)
निष्पीडितरस–वि., निर्गतरसम् (अहसू. ६.९३)
निष्पीत–वि., क्षीणम् (चसू. १३.४७)
–**कफ**–वि., लक्षण० क्षीणकफः (चसू. १३.४७)
–**मेदस्**–वि., लक्षण० क्षीणमेदाः (चसू. १३.४७)
निष्पुरीष–वि., लक्षण० क्षीणवर्चाः (ड. सुउ. ४०.१३२)
निष्पेष–पु., चूर्णनम्, आघातः घर्षणम्
(चचि. ३०.१६६)
निष्प्रत्यनीक–वि., यस्य प्रत्यनीकः प्रतिपक्षी न विद्यते
सः (चचि. ३.५६)
निष्क्रियः (सुसू. २१.३०)

निष्प्रभत्व–न., लक्षण० प्रभाहानिः (सुसू. १५.७)
निसर्ग–पु., स्वभावः (सुउ. ६१.२१)
निःसृता–वि., अधःस्रस्ता (चचि. ३०.४४)
निस्तन्द्र–वि., ग्रहग्रस्तलक्षण० तन्द्रारहितः (सुउ. ६०.८)
निस्तलन–न., भर्जनम् (अहसू. ७.३७)
निस्तुष–वि., निर्गततुषम् (असंसू. ७.३९)
पु., वनस्पति० गोधूमः (१६.१५१)
–यव–पु., तुषरहितो यवः (असंसू. ८.९४)
निस्तोद–पु., वेदना० नियतप्रबन्धप्रवृत्ता रुक्, सैव विच्छिन्ना, शूलमित्युच्यते (अहसू. २९.३)
लक्षण० सूचीभिर्व्यधनमिव पीडा (सुउ. ३८.११)
निस्तोदन–न., लक्षण० निस्तोदः सूच्येव व्यधनम् (सुउ. ६.६)
निस्त्रिंश–पु., खड्गः (सुशा. ४.७२)
–पत्रक–पु., वनस्पति० स्नुही (ध. १.२३५; चक्र. १०.८)
(–पत्रिका)–स्त्री., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५५)
–शिम्बिका–स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी (रापरि. ७.९७)
निहित–वि., धृतम्, स्थापितम् (सुचि. ३०. २९-३०)
नीच–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२७)
वि., अपकृष्टो म्लेच्छादिः (सुचि. २४.९०)
–नखरोमन्–वि., क्लृप्तत्वात् कर्तनप्रसाधननखरः, अल्पं नखरोमादि यस्य सः (सुसू २.६)
–वज्र–न., खनिज० वैक्रान्तम् (रा. १३.५०)
नीचैःकदम्ब–पु., वृक्ष० लघुकदम्बः (सुउ. ५१.४०)
नीप–पु., वृक्ष० कदम्बः (चक. १.१४; ध. ५.१०४)
कदम्बभेदः धाराकदम्बः (रा. ९.१७२)
कदम्बभेदः धूलिकदम्बः (ध. ५.१०५)
अयं प्रावृषि पुष्पितो भवति (सुसू. ६.३२)
नीर–न., जलम् (ध. ६.३०२)
–कणा–स्त्री., वनस्पति० जलपिप्पलिका (र. ११.५७)
–ज–न., वनस्पति० नीलोत्पलम् (सुचि. २५.३३)
मणि० मौक्तिकम् (रा. १३.६६)
पु., वनस्पति० दर्भः (ध. ४.१३३)
–द–पु., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८)
नीरसा–स्त्री., वनस्पति० निश्रेणिका (रापरि. ८.५०)
नीरुज–वि., नीरोगः (र. १.६९)
विगतपीडम्, अखण्डितम् (र. १८.२१)
न., वनस्पति० कुष्ठम् (र. १८.२१)
नील–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११४)
वनस्पति०, नीलगुणाः– कटुकः कषाय उष्णो लघुर्वातामयनानाश्वयथुनाशनश्च (रापरि. ९.११)
पशु० गवयः (धपरि. ६.३५)
न., नीलाञ्जनम् (र. २३.८०)
वनस्पति० तालीसपत्रम् (ध. २.५३)
खनिज० तुत्थम् (रा. १३.२०५)
खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१४)
रत्न० एकच्छायं गुरु स्निग्धं स्वच्छं पिण्डितविग्रहं मृदु मध्यलसज्ज्योतिः सप्तधा नीलमुत्तमं मतम् (र. ४.५४) नीलगुणाः– दीपनं वृष्यं त्रिदोषघ्नं विषमज्वरदुर्नामश्वासकासघ्नं च (र. ४.५६)
वि., नीलवर्णम् सामावस्थायां पित्तस्य वर्णः (सुसू. २१.११)
(नीला)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीभेदः (रा. ६.१०४)
गिरिकर्णी (३.१२५)
वार्ताकिनी (रा. ७.१२८)
नीलिनी (रा. ४.३४९)
पुनर्नवाभेदः नीलपुनर्नवा (रा. ४.५.१०) द्र० ' पुनर्नवा '
भैषज्य० लाक्षा (रा. ६.१४२)
ग्रहमातृ० (असंउ. ४)
वनस्पति० नीलक्षीरा नीलपुष्पा लताप्रतानबहुला द्रोणीप्रावेशिकरसायनेपूक्ता औषधिः (चचि. १ (४) ७)
धमनी० (असंशा. ७.२१)
गलपार्श्वगतधमनी (चक्र. सुशा. ६.२७)
ग्रीवापार्श्वस्थितसिरा (अरु. सुशा. ६.२७)
मर्म० कण्ठनाडीमुभयतः द्वे नीले द्वयोः पार्श्वयोः सिरामर्मणी चतुरङ्गुले वैकल्यकारिणी च (सुशा. ६.२७)
सिरा० नीलवर्णैषा, पित्तवाहिनी च (सुशा. ७.१८)
(नीली)–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३४९; र. २९.३४; र. २०.६८)
कालाञ्जनी (इन्दु. असंक. २)
वनस्पति० नीलवृक्षः, नीलापराजिता वस्त्ररञ्जनोपयोगिनी, एतद्रसेन नीलाख्यं रत्नं विशुद्ध्यते (र. ४. ६४)
श्रीफलिका (सुसू. ४४.२२)
शारदं फलम् श्रीफलम् (ड. सुचि. १९.६८)
नीलाञ्जनिका (सुक. ६.१५)
–कटुकी–स्त्री., वनस्पति० कृष्णवर्णा कटुकी. (र. ८.६०.६४)

–**कण्ठ**–पु., पारदयोग० पारदगन्धकलोहशुल्बादि-साधितोऽयं श्वासादिसर्वरोगहरः (र. १३.६३)
न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५०)
–**कण्ठाक्ष**–पु., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५)
–**कन्द**–पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३)
न., वनस्पति० मूलकम् (ध. ४.३३)
–**कपित्थ**–पु., वनस्पति० राजाम्रः (ध. ५.११)
–**कपित्थक**–पु., वनस्पति० राजाम्रभेदः (रा. ११.९)
द्र० ' राजाम्र '
–**कमल**–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (रा. १०.२३९)
–**काच**–पु., नेत्ररोग० पैत्तिकोऽयम् याप्यः
(सुउ. १०.३२)
–**काचोद्भव**–न., लवण० सामुद्रम् (रा. ६.४४)
–**कारक**–न., आसुत० सूक्तम्, चुक्रम् (ध. ६.२४६)
–**कुरण्ट**–पु., वनस्पति० कुरण्टकभेदः (रा. १०.४१९)
द्र० ' कुरण्टक. '
–**कुसुमा**–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टकभेदः
(रा. १०.४१९) द्र० ' कुरण्टक '
–**केशी**–वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५०)
–**क्रान्ता**–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (रा. ५.१७३)
–**गन्धिन्**–न., खनिज० नीलगर्भारुणवर्णं माणिक्यम्, तत् नीलवर्णं गङ्गोदकसमुद्भूतं नीलवर्णान्तरा-रुणवर्णप्रभायुक्तम् (र. ४.११)
–**ग्रीव**–पु., देवता० श्रीशङ्करः (र. १३,३८)
–**ग्रीवगलालय**–न., विषम् (र. १३.३८)
–**घृत**–न., घृत० असाध्यकुष्ठहरम् घृतमिदं पानाभ्यङ्गयोरुपयुज्यते (सुचि. ९.२९.३२)
–**ज्योतिस्**–वि., वनस्पति० भीमलता, एषा बुन्दी-सन्निधौ वर्तमाने दुर्गे रात्रौ नीलवर्णेन प्रकाशमाना उपलभ्यते (र. ४.४६)
नीलदूर्वा, तृणरूपा दिव्यौषधिः (र. १८.४७)
नीलज्वालाभिधा लता (र. २६,३३)
–**झिण्टी**–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टकभेदः (रा. १०.१९)
द्र० 'कुरण्टक'
–**तरु**–पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा.११.१०४)
–**ताल**–पु., वनस्पति० तमालः (रा. ९.१५)
–**तुत्थ**–न., खनिज० मयूरतुत्थम् (र. १४.२०)
–**दूर्वा**–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः (ध. ४.१४३)
द्र० ' दूर्वा '
–**द्रुम**–पु., वनस्पति० सर्जकभेदः (रा. ९.२०९)
द्र० ' सर्जक '
–**ध्वज**–पु., वनस्पति० तमालः (रा. ९.१५)
–**नामा**–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०८)
–**निर्यासक**–पु., वनस्पति० सर्जकभेदः नीलबीजः
(रा. ९.२०९)
–**पङ्कज**–न., वनस्पति० नीलपद्मम् (रा. १०.२३९)
–**पत्र**–पु., सर्जकभेदः (रा. ९.२०९) द्र० 'सर्जक'
गुण्डः (रापरि. ८.६०)
दाडिमः (रा. ११.९४)
–**(पत्री)**–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३४९)
–**पद्म**–न., वनस्पति० तद्गुणाः–स्वादु शीतं सुगन्धि रुच्यं केश्यं पित्तघ्नं च (ध. ४.१५०)
–**पिण्डीण्डी**–स्त्री., वनस्पति० नीलाम्ली
(रापरि. ४.३८)
–**पुनर्नव**–पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः (रा. ५.४१०)
द्र० ' पुनर्नवा '
(पुनर्नवा)–स्त्री., पुनर्नवाभेदः (रा. ५.४११)
द्र० ' पुनर्नवा '
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (ध. ४.८१)
भृङ्गराजभेदः (रा. ४.२२)
–**(पुष्पा)**–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (ध. ४.८५)
(–पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (ध. ४.११५)
विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)
नीलिनी (रा. ४.३४९)
अतसी (ध. ६.११५)
–**पुष्पिका**–स्त्री., वनस्पति० अतसी (रा. १६.१८६)
–**पोर**–इक्षु० अयं वातलः कफपित्तघ्नः सकषायो विदाही च (सुसू. ४५.१५४)
–**फला**–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१२८)
–**बीज**–पु., वनस्पति० सर्जकभेदः (रा. ९.२०९)
द्र० ' सर्जक '
–**भृङ्गराज**–पु., वनस्पति० भृङ्गराजभेदः
(रा. ४.२२)
–**मक्षिका**–स्त्री., कीट० मक्षिकाभेदः (सुसू. ३०.१०)
–**मञ्जरी**–स्त्री., वनस्पति० निर्गुण्डीभेदः शेफाली
(ध. ४.८३)
–**मण्डल**–न., वनस्पति० परूषकम् (रा. ११, ८४)
–**मल्लिका**–स्त्री., वनस्पति० कपित्थः
(रा. ११.१५५)
–**माष**–पु., वनस्पति० राजमाषः (ध. ६.८४)
–**मृत्तिका**–स्त्री., खनिज० पुष्पकासीसम्
(ध. ३.१२५)

-मेह-पु., रोग० षट्पित्तजप्रमेहेष्वेकः, तल्लक्षणम्-पित्तस्य परिकोपे चाषपक्षनिभमल्पं मूत्रं मेहति (चनि. ४.३१) सफेनमच्छं नीलं मेहति (सुनि. ६.११; असंनि. १०.२२)

-लोह-न., खनिज० वर्तलोहम् (रा. १३.३४)

-वर्ण-न., वनस्पति० परूषकम् (ध. ५.६२) (ध. ५.६२) द्र० जम्बू.

(-वर्णा)-स्त्री., वनस्पति० जाम्बूभेदः काकजम्बूः (ध. ५.८४) द्र० 'जम्बू'

-वर्षाभू-स्त्री., वनस्पति० नीलपुनर्नवा (रा. ५.४१०) द्र० पुनर्नवा

-वृक्ष-पु., वनस्पति० नीलः (रा.९.११)

-वृन्तक-न., वनस्पति० तूलम्(ध. ५.६४; रा.९.८६)

-शिग्रु-पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः (रा. ७.६२) द्र० 'शिग्रु'

-शिलाजतु-न., खनिज० ताम्रपर्वतजन्यं शिलाजतु (र. २३.८०)

-सार-पु., वनस्पति० तिन्दुकः (ध. ५.४०) सर्जकभेदः (रा. ९.२०९)

-सिन्दुक-पु., निर्गुण्डीभेदः शेफालिका (रा. ४.११९)

(सिन्दुका)-स्त्री., निर्गुण्डी (ध. ४.८१)

-स्पन्दा-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (ध. ४.८५)

नीलक-पु., वनस्पति० नीली (र १०.८७) उपविष० कृष्णापत्रो धत्तूरः (र. १०.८७) असनः (रा. ९.२०७) भृङ्गराजभेदः (रा. ४.२२)

(नीलिका)-स्त्री., क्षुद्ररोग० तत्सम्प्राप्तिलक्षणे-प्रकुपितं पित्तं शोणितं प्राप्य शुष्यति, तस्य नीलिका जायते (चसू. १८.२५) शोकक्रोधादिकुपिताभ्यां वातपित्ताभ्यां मुखादन्यत्र गात्रे कृष्णं मण्डलं जायते। तत् वातात् परुपस्पर्शं श्यावं च। पित्तात् ताम्रान्तमानीलं मण्डलम्। कफात् श्वेतान्तं कण्डूमन्मण्डलम्। रक्तात् रक्तान्तमाताम्रं सोषं चिमिचिमायमानं मण्डलं भवति (असंउ. ३६) चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४) रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू.२८.१२;असंसू.२०.१४) नेत्ररोगः लिङ्गनाशः तिमिराख्यः काचसंज्ञितो दृष्टिचतुर्थपटलगतः सन् नीलिका भवति (सुउ. ७.१८) वनस्पति० नीलिनी (चक्र. ११.१४; ध. १.२३२; र. १०.९४) निर्गुण्डीभेदः शेफालिका (रा. ४.११९) खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३) नीलाञ्जनिका (सुचि. ९.३७)

-काच-पु., नेत्ररोग० लिङ्गनाशः, चतुर्थपटलगते दोषे काचसंज्ञितस्तिमिरः (डसु. ७.१८)

स्नेह-पु., श्रीफलिकास्नेहः, तद्गुणाः-तिक्तः कटुः कषायोऽधोभागदोषहरः कृमिकफकुष्ठानिलहरो दुष्टव्रणशोधनश्च (सुसू. ४५.१२४)

नीलाञ्जन-न., खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१५) नीलाञ्जनगुणाः-गुरु, स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहं रसायनं सुवर्णाभं लोहमार्दवकारकम् (र. ३.१०८)

(नीलाञ्जनी)-स्त्री., वनस्पति० कालाञ्जनी (रापरि. ४.४३)

नीलान्द्रग-पु., पशु० गवयः (धपरि. ६.३५)

नीलाब्ज-न., वनस्पति० नीलपद्मम् (रा. १०.२३९)

नीलाभ्र-न., कृष्णवज्राभ्रकम्,कृष्णाभ्रम् (र. १७.६७)

नीलाम्बर-न., वनस्पति० तालीसपत्रम् (रा. ६.८३)

नीलाम्लान-पु., वनस्पति० आर्तगला (रा. १०.४१७)

नीलाम्ली-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः—मधुरा, रुच्या कफवातहरा च (रापरि. ४.३८)

नीलालिकुलसङ्कुला-स्त्री , वनस्पति० कुब्जकः (ध. ५.१४६)

नीलालु-पु., वनस्पति० तद्गुणाः— मधुरः शीतः पित्तघ्नः पित्तदाहश्रमापहश्च (रापरि. ७.३२)

नीलाश्मज-न., खनिज० तुत्थम् (रा. १३.२०५)

नीलाश्मन्-पु., खनिज० राजावर्तः (ध. ६.६०)

नीलिनी-स्त्री., वनस्पति० तिक्ता (कटुः) (रा.) उष्णा केश्या कफघ्नी वातकफघ्नी (रा.) कटिदोषविषोदरवातरक्तकृमिनाशिनी कासामगुल्मज्वरापहा च (रा.) (ध. १.२३२)

हिं.—नील.

म.—नीळ. गुळी.

गु.—गळी.

बं.—नीलगच्छी.

त.—अवरि, अवुरि.

फा.—दओरो. खाट्-ए-निला.

नीलसमाह्वा, नीलबुह्वा (भा), (चक्र.) अस्याः फलपत्राणि विरेचकानि (चसू. २.९)

नीलाञ्जनिका (चसि. १०.२६; चचि. ३.२९९)

नीलपुष्पा, श्रीफलिका (सुचि.३७.१५)
नीलाञ्जनिका, शारदं फलम् (ड.) विरेचने उपयुक्ता (सुचि. ३१.५)
रजनिका, शारदफला (ड. सुउ. ६१.३६)
पशु० गवयः (ध. परि. ६.३४)
–घृत–न., स्नेह० गुल्मप्लीहकुष्ठश्वित्रजठरव्यङ्गशोफज्वरपाण्डुरोगोन्मादहरम् (असंचि. १६)

नीली–स्त्री., वनस्पति० (सुचि. २५.२८)
–दल–न., नीलाञ्जनिकापत्रम् (सुचि. २५.२८)
–रोग–पु., क्षुद्ररोग० नीलिका (सुचि. १३.३५)

नीलोत्पल–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४८)
दाहप्रशमनगणोक्तभेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)
कल्कोऽस्य दाहनाशनकवलग्रहणार्थमुपयुज्यते (सुचि. ४०.६७)

नीलोत्पलादिप्रलेप–पु., कल्प० नेत्ररोगेषु प्रलेपनार्थः (सुउ. १२.७)

नीलोत्पलादिशतपाकतैल–न., सिद्धतैल० इदं सर्ववातविकारनुत् शुक्रवर्धनं गर्भदं आक्षेपकहिक्का कासाधिमन्थगुल्मश्वासान्त्रवृद्धिघ्नं च (सुचि. १५.४५-४७)

नीलोत्पलिनी–स्त्री., वनस्पति० कुमुद्वती (रा. १०.२५०)

नीलोद्धतसिरा–स्त्री., लक्षण० कृष्णोद्धतसिरा (सुचि. ८.११)

नीवार–पु., धान्य० उडिका (चक्र. चचि. २९.५०)
उलिकाधान्यम् तद्विधम्-एकं धान्यसदृशविटपं धान्यक्षेत्रजं द्वितीयं महादलकाण्डंतु सलिलजम् अरण्यशालि-रक्तशूक-प्रसाधिका इति तन्नामानि (सुसू. ४६.२१; सुसू. २०.५)
नीवारगुणाः–कषायो मधुरः शीतः स्निग्धः (रा.) लघुः (पथ्यः) (रा.) वातलः शोषणश्च (चसू. २७.१७; रा. ६.८७)
हिं.—तीनी, नीवार, पुनेरा.
म.—देवभात.
गु.—नानवी. वंटी.
बं.—उडीधान.

नीहार–पु., अवश्यायः हिमम् (चशा. ५.१४)
–निलय–पु., पर्वत० हिमालयः (र. १.११)
वनस्पति० चोरकः (र. २०.२२२)

नुर–पु., नु अपमानं राति ददातीति नुरो रिपुः (र. २०.२२२)

नृ–पु., मनुष्यः (असंउ. २०).
–कपाल–न., शारीर० नरस्य कपालास्थि नेत्ररोगेषु सन्धावादौ उपयुज्यते (असंउ. २०)
–करोटिका–स्त्री., मनुष्यस्य कपालास्थि (र. २३.४७)
–ग–पु.. नृप० मनुपुत्रोऽसौ शर्यातिनामा (चचि. १९.४)
–शंसाभिप्रायता–स्त्री. लक्षण० हिंसाप्रियता, परापकाररुचित्वम् (चक्र. चनि. ७.११)

नृणान्तलिङ्गा–स्त्री., तृतीयप्रकृतिः षण्ढः (असंशा. २.५१)

नृत्तकौण्डक–पु., वनस्पति०मर्कटकः (ड.) श्वासघ्नोऽसौ (सुउ. ५१.३४)

नृप–पु., राजा (सुक. १.२८)
वनस्पति० राजादनी (ध. ५.९१)
न., वनस्पति० तगरम् (ध. ३.५३)
–कन्द–पु., वनस्पति० पलाण्डुभेदः राजपलाण्डुः (रा. ७.१०४) द्र० ' पलाण्डु '
–द्रुम–पु., वनस्पति० राजादनः, राजादनी (रा. ११.१४६)
–प्रिय–पु.,वनस्पति० अपर्वदण्डः (रापरि. ८.३६)
आम्रः (रा. ११.३)
पलाण्डुभेदः, राजपलाण्डुः (रा. ७.१०४) द्र० ' पलाण्डु '
(–प्रिया)–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. १०.१)
व्रीहिः (रा. १६.७८)
खर्जूरीभेदः, राजखर्जूरी (रा. ११.६८) द्र० ' खर्जूरी'
–प्रियफला–स्त्री., वनस्पति० वार्ताकी (रा. ७.१२८)
–बदर–पु., वनस्पति० बदरभेदः राजबदरः (रा. ११.१६०) द्र० ' बदर '
–मङ्गल्यक–न., वनस्पति० आहुल्यम् (रापरि.४.३४)
–माष–पु., वनस्पति० राजमाषः (ध. ६.८४)
–वर्त–पु., रत्न० राजावर्तः (र. १५.७०)
–वल्लभ–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.८)
(–वल्लभा)–स्त्री., वनस्पति० केविका (रापरि. १०.३३)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० आरग्वधः, किरमालकः (ड. सुउ. ५७.९)
गिरिमालकः (ड. सुउ. ४२.६१)

नृपात्मज–पु., वनस्पति० राजाम्रः (ध. ५.११)
राजाम्रभेदः (रा. ११.१०) द्र० ' राजाम्र '

नृपान्न–न., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८१)

नृपाह्वय–पु., वनस्पति० पलाण्डुभेदः राजपलाण्डुः द्र० 'पलाण्डु' (रा. ७.१०३)

नृपेष्ट–पु., वनस्पति० पलाण्डुभेदः राजपलाण्डुः द्र० 'पलाण्डु' (रा. ७.१०४)
बदरभेदः राजबदरः (रा. ११.१६०) द्र० 'बदर'
नृपोचित– पु., वनस्पति० राजमाषः (ध. ६.८४)
नृपोपल–पु., खनिज० राजावर्तः (ध. ६.६०)
नेकराज–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (काखिल. १३.१९)
नेतृ–पु., वनस्पति० निम्बः (ध. १.२९)
निर्गुण्डी (रा. ४.११७)
नेत्र–न., बस्तिनेत्रम्, उत्तरबस्तिधूमयन्त्रबस्त्यादीनां नेत्रम् (चसि. ११.२१; अहसू. १९.७१)
सङ्ख्यासङ्केतः द्विसङ्ख्यावाचकः (र. २६.५४)
यन्त्रम् (ड. सुचि. ३५.१)
व्रणप्रक्षालनयन्त्रम् (सुचि. २.७३)
नलिका, बस्तिनलिका (सुचि. ३५.१२)
शारीर० ज्ञानेन्द्रियेष्वेकम् चक्षुः, वामदक्षिणभेदेन ते द्वे, शीर्षस्य प्रत्यङ्गे (सुशा. ५.४) तत्रापि नेत्रे श्लेष्मणः प्रसादात् शुक्लमण्डलं तत् पितृजम्। असृजश्च कृष्णमण्डलं तन्मातृजम् मध्ये दृष्टिमण्डलं तदुभयात्मकम् (सुशा. ३.३३) मज्ञः प्रसादादपि नेत्रयोरुत्पत्तिरनुमीयते। नेत्रयोरुपरि मज्ञः सारासारत्वस्य वृद्धिक्षययोश्च इष्टानिष्टपरिणामदर्शनात्। महानेत्रं च मज्ञा (सुसू. ३५.१६) मज्जा नेत्रांगगौरवम् (अहसू. ११.११) मज्जनिभ्रमस्तिमिरदर्शनम् (अहसू. ११.१९) इत्यादि वचनेभ्यः। पक्ष्मवर्त्मशुक्लकृष्णदृष्ट्याख्यानि पञ्चमण्डलानि। तत्सन्धयश्चत्वारः। द्वौ चापाङ्गकनीनयोः। इति ते षट्। पक्ष्मवर्त्मनोरेकः, वर्त्मशुक्लयोर्द्वितीयः, शुक्लकृष्णयोस्तृतीयः, कृष्णदृष्ट्याख्ययोश्चतुर्थः, नेत्रापाङ्गयोः पञ्चमः, नेत्रकनीनकयोः षष्ठ इति षट्। अपाङ्गः कर्णदिशि, कनीनकं नासादिशि (इन्दु.) तन्मानम्–सार्धमङ्गुलद्वयं नेत्रदैर्घ्यम्। एतत्त्रिभागं तु कृष्णमण्डलम्। (सुउ. १.१३) षट् च पटलानि। द्वे वर्त्मनी। बाह्यं च आश्रितमन्यम्भसी द्वितीयं मांसं तृतीयं मेदश्चतुर्थमस्थि तेषां बहुलता दृष्टेः पञ्चमांशेन। (असंशा. ५.५१-५२) नेत्रबुद्बुदमानम्–स्वाङ्गुष्ठोदरमितं द्व्यंगुलबाहुल्यं सर्वतश्च सार्धद्व्यङ्गुलम् (सुउ.१.१०) तर्पणपुटपाकसेकाश्योतनाञ्जनादीनि नेत्ररक्षाकराणि (सुउ. १८.४) हीनतर्पितनेत्रलक्षणम् – रूक्षमाविलमस्राढ्यं – रूपदर्शनासहत्वं व्याधिवृद्धिश्च (सुउ. १८.१५) अत्यर्थतर्पितनेत्रलक्षणम्–गुर्वाविलमतिस्निग्धम् अश्रुकण्डूपदेहयुक्तं दोषसमुत्क्लिष्टं नेत्रं भवति (सुउ. १८.१४८) सम्यक्तर्पितनेत्रलक्षणम् – सुखस्वप्नः सुखावबोधत्वं नेत्रस्य मलाभावः श्वेतत्वादिवर्णस्य यथार्थग्रहणं तात्कालिकं सुखं व्याधिविध्वंसो निमेषोन्मेषादीनां क्रियाणां शीघ्रता च (सुउ. १८. १३) नेत्रपुटपाके हीनयोगः – अश्रु हर्षणं दोषोद्गमश्च (सुउ. १८.३२) नेत्रपुटपाकेऽतियोगः–रुजः शोफः पिडकास्तिमिरोद्गमश्च भवति (सुउ. १८.३२) नेत्रपुटपाके सम्यग्योगः – नेत्रं प्रसन्नवर्णं विशदं वातातपसहं लघु सुखस्वप्नावबोधि च भवति (सुउ. १८.३१) पुटपाककृते तर्पितनेत्रे च वर्ज्यानि – दीपज्वालादितेजांसि सम्मुखवायुराकाशमादर्शआदित्यादीनि भास्वराणि च (सुउ.१८.२९) तर्पणायोग्यः कालः – दुर्दिनात्युष्णशीतेषु कालेषु चिन्तायासभ्रमेष्वशान्तोपद्रवेऽक्षि च तर्पणमप्रशस्तम् (सुउ. १८.१८) मन्दविरिक्तनेत्रलक्षणम्–अक्ष्युदग्रतरदोषवद् भवति (सुउ. १८.७८) अतिविरिक्तनेत्रलक्षणम् – जिह्मं दारुणदुर्वर्णं स्रस्तमतीव रूक्षमतिमात्रशो नेत्रं स्यन्दते (सुउ. १८.७६–७७) सुविरिक्तनेत्रलक्षणम्–विशदं लघु क्रियापटुनास्रावि सुनिर्मलं संशान्तोपद्रवं भवत्यक्षि (सुउ. १८.७५–७६) अतितर्पणनेत्रलक्षणम्–प्रसादनाञ्जनातियोगे चक्षुः किञ्चिद् हीनविकारं स्यात् (सुउ. १८.८१) प्रसन्ननेत्रलक्षणम् प्रसादनाञ्जने सम्यग्युक्ते सति नेत्रं स्नेहवर्णबलोपेतं प्रसन्नं दोषवर्जितं सर्वक्रियाक्षमं भवति (सुउ. १८.७९) अतिविघट्टितनेत्रलक्षणम्–रागाश्रुवेदनास्तम्भहर्षा नेत्रे तादृशे भवन्ति (सुउ. १७.७७) नेत्ररक्षा– त्रिफला रुधिरस्रुतिर्विशुद्धिर्मनसो निवृतिरञ्जनं नस्यं शकुनाशनता पादपूजा घृतपानं चेति नेत्ररक्षणानि (असंउ. १६)
–कोश–पु., शारीर० नेत्रपुटकम् (असंसू. ३३.४)
–गौरव–न., लक्षण० मज्जावृद्धिजविकारेष्वेकः, अक्षिजाड्यम् (अहसू. ११.११)
–तर्पण–न., उपक्रम० नेत्रपूरणम् (असंसू. ८.३४)
–नाडी–स्त्री., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्–कनीनकसंधौ नेत्रात् दोषयुक्तोऽश्रुस्रावः (सुउ. २.५)
मण्डलसंधिस्थानम् (सुशा. ५.२७)
अक्षिविवरम् (चसि. २.२१)
–नैर्मल्यकरी–स्त्री., खनिज० तुत्थम् (ध. ३.१४६)

–पटल–न., नेत्रच्छदः (असंशा. ५.५९)

–पाक–पु., नेत्ररोग० स द्विविधः सशोफजोऽशोफजश्च, तत्र सशोफजनेत्रपाकलक्षणानि–कण्डूरुपदेहपक्वौदुम्बरसन्निभत्वं दाहः संहर्षस्ताम्रत्वं शोफो निस्तोदो गौरवं मुहुः रक्तस्रावः पिच्छिलत्वमुष्णशीताम्बुनः स्रावः क्षुब्धत्वं चाक्षिणि जायन्ते तथाऽक्षि पच्यते (सुउ. ६.२१-२२) अशोफजनेत्ररोगे शोफवर्जं एतान्येव लक्षणानि भवन्ति (सुउ. ६.२२-२३)

–पुष्करा–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२५)

–प्रक्षालन–न., उपक्रम० नेत्रधावनम् (सुचि.२४.१६)

–बल–न., दृक्शक्तिः दर्शन-सामर्थ्यम् (अहृसू.८.४४)

–बस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सित–न., अध्याय० (सुचि. ३५)

–बस्तिव्यापच्चिकित्सित–न., अध्याय० (सुचि. ३६)

–बस्तिव्यापत्सिद्धि–स्त्री., अध्याय० (सुचि. ५)

–बुद्बुद–न., अक्षिगोलकः (सुउ. १.१२) द्र० 'नेत्र'

–मीला–स्त्री., वनस्पति० यवतिक्ता (ध. १.२५६)

–मूल–न., बस्तिनेत्रस्य मूलस्थानम्, बस्तिमुखे बन्धेन योजनीयो नेत्रस्य भागः (सुचि. ३५.१६)

–रक्षा–स्त्री., दृग्रक्षणम्, त्रिफलारुधिरस्रुतिर्विशुद्धिर्मनोनिर्वृत्त्यादिभिर्नेत्ररक्षणं भवति (असंउ. १६)

–रोग–पु., रोग० अक्षिरोगः तन्निदानम्–उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशात् दूरेक्षणादिभिः। तथा चन्द्रसूर्योपरागदर्शनात् नेत्रामया भवन्ति (सुउ. १.२६.२७)

तत्सम्प्राप्तिः— अचक्षुष्यैः कुपिताः पित्तानुसारिणो मलाः सिराभिरूर्ध्वं प्रसृताः सन्तो नेत्राववयवं वर्त्म सितं कृष्णं सन्धिं दृष्टिं सर्वमक्षि वाऽऽश्रिता नेत्ररोगान् कुर्युः (सुउ. १. २०.२१; असंउ. ११)

तत्सङ्ख्या–चरकमते नेत्ररोगाः षण्णवतिः, वर्त्मस्थाः सप्तविंशतिः, सन्धौ नव, शुक्लस्थास्त्रयोदश, कृष्णभागजाः षट्, दृष्टिस्थाः पञ्चविंशतिः, सर्वगाः षोडश (चचि. २६.१३०) सुश्रुतमते स्थानतः सन्ध्याश्रया नव, वर्त्मजा एकविंशतिः, शुक्लभागे एकादश, कृष्णभागे चत्वारः, सर्वाश्रयाः सप्तदश, दृष्टिजा द्वादश, बाह्यजौ द्वौ, एवं षट्सप्ततिः (सुउ. १.४४.४५) दोषभेदतो वातजा दश, पित्तजा दश, कफजास्त्रयोदश, रक्तजाः षोडश, सर्वजाः पञ्चविंशतिः, बाह्यजौ द्वौ षट्सप्ततिः (सुउ. १.२८) तत्पूर्वरूपाणि—अक्षि शोफाश्रुकण्डूमलयुतं भवति कफपित्तवातरक्तजनितं गुरूषातोदरागादि, वर्त्मकोषे शूलः, रूपे क्रियासु चाक्ष्णोर्वर्णहानिनिमेषोन्मेषादि क्रियाहानिश्च (सुउ. १.२१.२३)

असाध्या नेत्ररोगाः पञ्चदश, पवनप्रभावात्–हतवर्त्मगम्भीरिकहताधिमन्थनिमिषाश्चत्वारः, पित्तजौ ह्रस्वजाड्यजलास्रावौ द्वौ, कफनिमित्तजः कफस्राव एकः, रुधिरजाः, सव्रणशुक्रशोणितार्शोऽजकाजातरक्तस्रावाश्चत्वारः, त्रिदोषजा अलज्यक्षिपाकात्ययनाकुलान्ध्यपूयास्रावाश्चत्वारश्च, सनिमित्तानिमित्ताख्यौ बाह्यजावसाध्यौ याप्यौ वा (सुउ. ८.११)

अशस्त्रकृत्या द्वादश, शुष्काक्षिपाककफविदग्धदृष्ट्याम्लाध्युषितक्षतशुक्रकार्जुनपिष्टकाक्लिन्नवर्त्मधूमदर्शीशुक्तिका प्रक्लिन्नवर्त्मबलासग्रथिताः आगन्त्वामययुग्मेन दूषितदृष्टावपि शस्त्रं नावचारणीयम् (सु. ८.९.१०) भेद्याः पञ्च–श्लेष्मोपनाहलगणबिसवर्त्मकृमिप्रन्थ्यञ्जननामिकाः (सुउ.८.८) लेख्या नव–उत्साङ्गिनीबहलवर्त्मकर्दमवर्त्मश्याववर्त्मबद्धवर्त्मक्लिष्टवर्त्मपोथकीकुम्भीकिनीशर्कराः (सुउ. ८.७) याप्याः–सप्त–अरुणो मारुतजः, पीतः पित्तजो, नीलः पित्तजः, सितः कफजो, रक्तो रक्तजः, विचित्ररूपस्त्रिदोषजः, पक्ष्मकोपश्च (सुउ. ८.११)

व्यध्याः पञ्चदश–शिरोत्पातशिराहर्षशोफाशोफयुक्तपाकान्यतोवातपूयालसानिलविपर्ययहताधिमन्थश्लेष्माधिमन्थरक्ताधिमन्थवाताभिष्यन्दपित्ताभिष्यन्दश्लेष्माभिष्यन्दरक्ताभिष्यन्दाः (सुउ. ८.८-९)

छेद्या एकादश–अर्शोवर्त्मशुष्कार्शोर्बुदानि वर्त्मगतानि, सिराजा पिडका शुक्लगता, सिराजं जालं शुक्लगतं, प्रस्तार्यर्मशुष्कार्मरक्तार्माधिमांसार्मस्नाय्वर्माणि शुक्लगतानि, पर्वणिका सन्धिगता च (सुउ. ८.६)

कफजलिङ्गनाशाद्व्यतिरिक्ताः सर्वे लिङ्गनाशा गम्भीरा ह्रस्वजाः चासाध्याः। नकुलान्ध्यं षट् काचाश्च याप्याः। शेषा दृग्व्याधयः साध्याः (असंउ. १५) हताधिमन्थाक्षिपाकात्ययौ त्याज्यौ (असंउ. १८) शुक्तिसिराहर्षसिरोत्पातपिष्टकबलासग्रथितार्जुनानि भेषजैः साधयेत्। शुक्लार्मशोणितार्मप्रस्तार्यर्मस्नावार्माधिमांसार्मसिराजालसिराजपिटिकाः

शस्त्रसाध्याः (असंउ.) उपनाहकृमिग्रन्थिपूयालसक-पर्वणीः शस्त्रेण साधयेत् । अलजीजलास्रावरक्तास्राव-पूयास्रावान् पञ्च शस्त्रकर्माणि त्यजेत् (असंउ. १३) नेत्ररोगे पथ्यतमानि कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं धात्रीरसो रसक्रिया च सर्वाक्षिरोगेषु शस्ता (असंउ. १९) पुराणयवगोधूमशालिषष्टिककोद्रवमुद्गादयो भूरि-सर्पिःपरिप्लुता जाङ्गलं मांसं दाडिमं सिता सैन्धवं त्रिफला द्राक्षा पाने नाभसं वारि पदत्राणमातपत्र-मभ्यञ्जननावनानि विधिवद्दोषशोधनं च (असंउ. २०) दृष्टेरास्थैर्यलाभात् रूपाणि सूक्ष्म-दीप्तानि सहसा नावलोकयेत् (असंउ. १७)

–रोगहन्–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.७)

–लेह–वि., कृमि० कफजोऽयं, नेत्रगतमांसादि च लेढीति नेत्रलेढा (सुउ. ५४.१४)

–वर्त्मन्–न., नेत्रपक्ष्म (ड. सुसू. ८.१८)

–विकारजित्–न., वनस्पति० कतकम् (ध. ३.१७)

–विनाश–पु., अरिष्ट–लक्षण० दृष्टिनाशः, यश्चन्द्र-सूर्ययोः पतनं स्वप्ने पश्यति तस्य नेत्रविनाशो भवति (असंशा. १२.१८)

–विष–स्त्री., अक्षिपुरीषम् तच्च मांसस्य मलः (सुसू. ४६.५२७)

–विभ्रम–पु., लक्षण० नेत्रस्योर्ध्वगमनादि स्वरूपं चलनम् (चसि. ७.४५)

–संवेजन–न., लक्षण० नेत्रकम्पनम् (सुचि. ३६.२६)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० अक्षिस्तब्धता (अहसू. २२.२६)

नेत्रान्त–पु., नेत्रस्य पर्यन्तः (असंशा. ८.३९)

नेत्राभिष्यन्द–पु., नेत्ररोग० संक्रामकोऽयम् (सुनि. ५.३४)

मज्जदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९)

नेत्रामय–पु., नेत्ररोगः (चचि.२६.१३०; अहसू.२.४)

नेत्रायाम–पु., नेत्रदैर्घ्यम् (सुउ. १.१३)

नेत्रारि–पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५६)

नेत्रास्र–न., नेत्रजलम्, अश्रु (सुशा. ४.५०)

नेत्रोपदेह–पु., नेत्रमलः (असंशा. ११.३)

नेत्रौषध–न., खनिज० पुष्पकासीसम् (ध. ३.१२५)

नेत्र्य–वि., नेत्राय चक्षुषे हितम् (र. ३.१११)

नेपाल–न., खनिज० ताम्रभेदः नेपालदेशीयखनिलब्धं ताम्रम् (र. ५.५०)

(नेपाली)–स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. ३०.६३; सुउ. ३९.२६३)

वनस्पति० वनमल्लिका (ध. ५.१४०)

–जा–स्त्री., खनिज० मनःशिला (सुउ. १९.१४)

–जाता–स्त्री., खनिज० मनःशिला (ड. सुउ. ११.१६)

–निम्ब–पु., वनस्पति० किराततिक्तभेदः (रा.९.५२) द्र० ' किराततिक्त '

नेपालक–न., वनस्पति० जयपालः (र. १२.४७) खनिज० ताम्रम् (रा. १३.११)

(नेपालिका)–स्त्री., खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६)

नेपालाद्यञ्जन–न., सिद्धयोग० एतत् काचार्मनेत्रस्राव-तिमिरशुक्लपिल्लनाशनम् (र. २३.५१)

नेपालेक्षु–पु., इक्षु० पौण्ड्रकः (रा. १४.१८३) द्र० 'इक्षु '

नेमि–पु., पक्षि० चक्रवाकः (चद. १.१४)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० खदिरभेदः, सोमवल्कः (ध. १.२७) द्र० ' खदिर '

–सन्धानक–पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः चक्रधारावत्सन्धानं अस्य (सुसू. १६.१०)

नैकान्त–पु., तन्त्रयुक्ति० अन्यतरपक्षानवधारणम्, यथा ये ह्यातुराः केवलाद् भेषजाद्दते म्रियन्ते न च ते सर्वे एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन् इत्यादि (चसि. १२.४३)

नगमेष–पु., बालग्रह० पितृग्रहेष्वेकः, एतज्जुष्टलक्षणम्-शिशुःफेनोद्वामीमध्यविनामीऊर्द्वेजितऊर्ध्वदृङ्रोदनः क्षीयमाणो वसागन्धिको निसंज्ञः सज्वरश्च भवति (सुउ. २७.१६) आध्मानं पाणिपादस्पन्दनं तृट् मुष्टिबन्धोऽतिसारस्स्वरदैन्यं विवर्णता कूजनं स्तनानं कासो हिध्मा प्रजागर ओष्ठदंशोऽससक्थोचस्तम्भो बस्ताभगन्धता ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मूर्च्छा एकनेत्र-शोफश्च इत्यधिकानि लक्षणानि (असंउ. ३)

(नैगमेषी)–स्त्री., बालग्रह० नैगमेषस्त्रीग्रहः (काइ.)

–प्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ३६)

नैचुल–वि., निचुलस्येदम् फलम् निचुलो वेतसः (ड. सुचि. २२.२०)

–फल–न., (परिव०) वेतसफलम् (ड. सुउ. ५१.२३)

नैपाल–पु., वनस्पति० किराततिक्तभेदः, नेपालनिम्बभेदः (रा. ९.५२) द्र० ' किराततिक्त '

इक्षु० अयं वातलः कफपित्तघ्नः सकषायो विदाही च (सुसू. ४५.१५४)

नैपालीज–स्त्री., खनिज० मनःशिला (सुउ. १४.४; सुउ. ६०.४९)

नैर्ऋत–न,. मूलनक्षत्रम् (इन्दु. असंउ. ४१)
पु., द्वादशो मुहूर्तः (इन्दु. असंउ. ४१)
(नैर्ऋती)–स्त्री., दिग्विशेषः, दक्षिणपश्चिमयोरन्तरे विद्यमाना उपदिक्, अस्यामेव रसशालानिहितानि शस्त्रकर्मणि निर्वर्त्यानि (र. ७.२)
–भाग–पु., राक्षसानां विभागः, गर्भस्य ओजोरूपोंऽशो नैर्ऋतभागः, तत एवाष्टमे मासि जातो न जीवति (सुशा. ३.३०) अष्टमे मासे नैर्ऋतभागत्वाद् भूतावसरत्वात् तस्य कालस्य गर्भस्य मरणमाहुः (इन्दु. असंशा. २)
–मारुत–पु., नैर्ऋतदिग्भवो वायुः, असौ ग्रीष्मेऽसुखो भवति। तदा जन्तवो ज्वरिता इव भवन्ति (सुसू. ६.२९; असंसू. ४.२८)
नैषध–पु., धान्य० शालिभेदः (चनि. ४.५; ड. सुसू. ४६.४) द्र० ' शालि '
नैषधक–पु., शूकधान्य० शालिः (चसू. २७.१२)
नैष्ठिक–वि., निष्ठा, निश्चयः, तद्भवं नैष्ठिकम् निश्चयेन कर्तव्यम् (चक्र. चवि. ८,८)
(नैष्ठिकी)–वि., मोक्षसाधिका (बुद्धिः) (चशा. ५.२६) निष्ठाऽत्यन्तदुःखमोक्षरूपा तदर्थभूता चिकित्सा (चक्र.) (चशा. १.९४)
नैसर्गिक–वि., निसर्गोत्सञ्जातं निसर्गदत्तम् (चसू. २६.७३)
नोदन–(परिव०) न., प्रेरणम् (सुउ. ४०.१३७)
नौ–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२)
न्यग्रोध–पु , वृक्ष० वटः (ध, ५.७६)
(न्यग्रोधा)–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (धनि. १.२२९)
(न्यग्रोधी)–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (चक्र. १२.३) (धनि. १.२२९)
वनस्पति० सुतश्रेणी (रा. परि. ४.१६)
–पल्लव–न., पु., शाक० शीतं कषायं स्तम्भनं पित्तातिसारिणां हितम् (चसू. २७.१०५)
–पाद–पु., वटप्ररोहः (चक्र. चचि. २१.७३)
–वर्ग–पु., द्रव्यगण० न्यग्रोधादिगणः पाण्डुरोगशमनः (सुउ. ४४.२७; सुसू.३७.२९)
–शुङ्ग–न., वटस्य कोमलाङ्कुरः गर्भस्थापनोपयोगि (चशा. ८.२४)
–न्यग्रोधादि–वि., वटप्रभृतिवर्गः ग्रन्थौ प्रदेहपरिषेकार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३५; सुउ. ४०.८५)
न्यग्रोधादिकषाय–पु., कल्प० अयं क्काथो दह्यमानप्रमेहेष्वास्थापनार्थमुपयोज्यः (सुचि. ११.७)
न्यग्रोधादिगण–पु., द्रव्यगण० न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधूककपीतनककुभाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसाबररोध्रभल्लातकपलाशनन्दीवृक्षाश्चेति। अयं व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधको रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहरोऽस्ति (सुसू. ३८.४८-४९; असंसू १६.३५–३६; अहसू. १५.४१) पित्तप्रशमनवर्गोक्तो गणः (सुसू. ३९.८)
न्यग्रोधादिपल्लव–पु., न., शाक० न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षपद्मादीनां पल्लवाः, इमे कषायाः शीतास्तम्भनाः पित्तातिसारिणां हिताश्च (चसू. २७.१०५)
न्यग्रोधादिसिद्धसर्पिस्–न., सिद्धघृत० पित्तश्वयथौ पानोपयोगि सुचि. (२३.११; असंचि. १९)
न्यग्रोधिका–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२१)
न्यङ्कु–पु., आनूपमृग० बहुश्रृङ्गः , न्यङ्कुशो हरिणः (चक्र.चसू.२७.३९) कूलंचरवर्गोक्तः,(सुसू.४६.९४) जङ्गाल० तद्गुणाः– पित्तश्लेष्महरः किञ्चिद्वातकरो लघुर्बलवर्धनश्च (धपरि. ६.३-४)
न्यच्छ–न., क्षुद्ररोग० अस्याधिष्ठानं द्वितीयालोहिता त्वक् (सुशा. ४.४.) पित्तरक्तान्वितो वायुरस्य कारणम् (गयी सुनि. १३.४४) रक्तदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९) तल्लक्षणम् – गात्रे महदल्पं वा श्यामं सितं वा सहजं नीरुजं यन्मण्डलं तन्न्यच्छम् (सुनि. १३.४४) लाञ्छनमिति लोके (ड. सुनि. १३.४४)
न्युब्ज–वि., अधोमुखम् (चशा. ८.२९; सुचि. ३५.१६)
–शयन–न., (परिव०) अधोमुखशयनम् (काखिल. ११.१८)
न्यून–न., वाक्यदोष० प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनं, रहितमेव न्यूनम्। अथवा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तन्न्यूनम् (चवि. ८.५४)

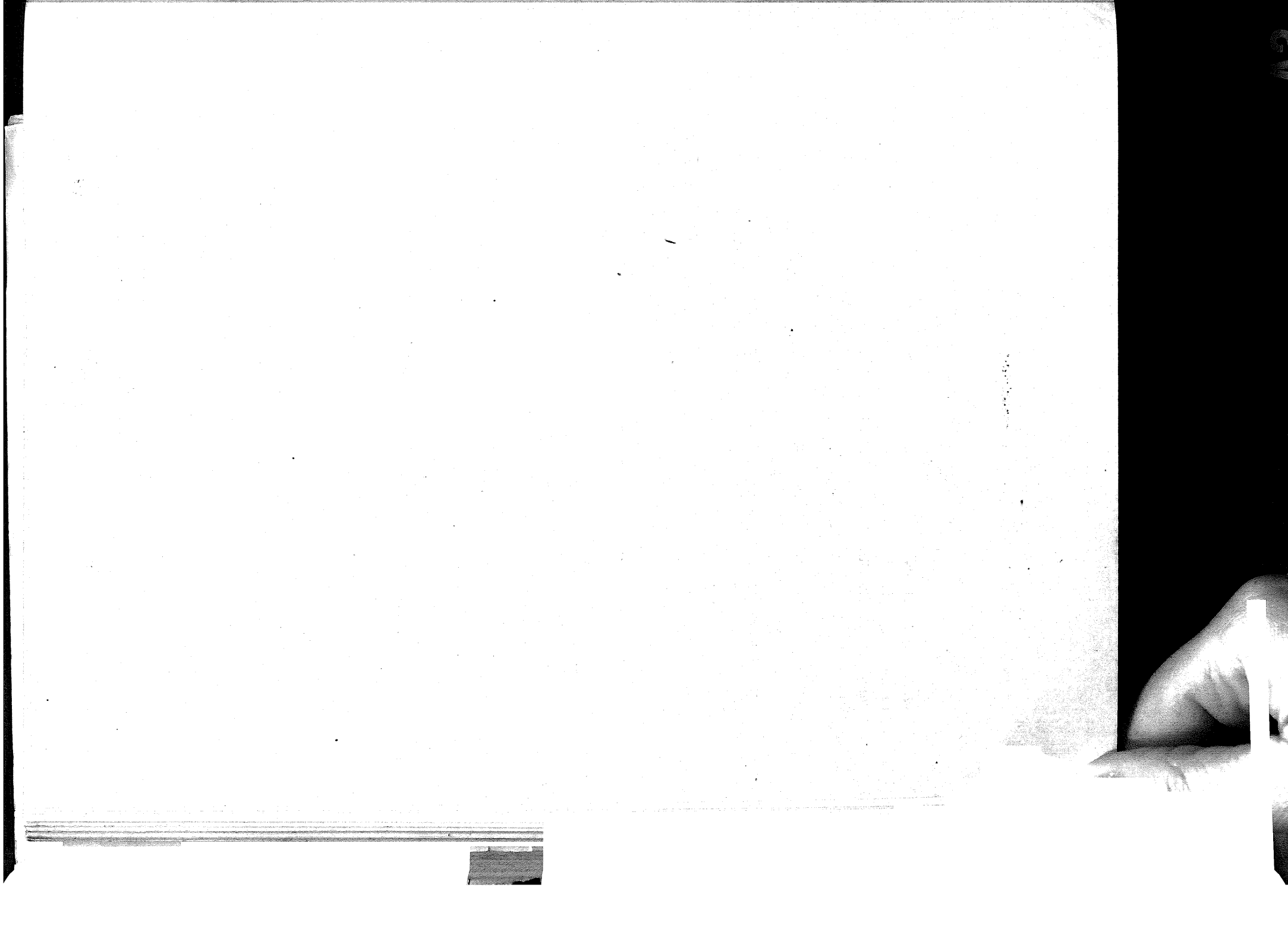

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

प

पक्ति–पु., जाठराग्निः, पच्यते विपाकं जरणं वा नीयते अनया इति पक्तिः यद्वा पच्यते इति पक्तिः, तद्वानपि पक्तिः (सुउ. ४०.१३; चचि. ३.१३०)
अग्निस्थानम् (ड. सुसू. ४६.४९७)
पाचनम् (सुसू. १५.४(२)
–**द्**–वि., पाकोत्पादकम्, पाचकम् (अहसू. ४.२९)
–**रस**–पु., आहाररसः तत्प्रमाणम्–नवाञ्जलयः शरीरे (का. शा.)
–**रुज्**–स्त्री., लक्षण० परिणामशूलो, यश्च भुक्तेऽन्ने पच्यमाने उपजायते (र. ४.१८)
–**शूल**–पु.,लक्षण० पक्तिरुक् भुक्ताऽन्ने जीर्यति जरणं वा गच्छति सति जायमानः शूलः (र. १८.१४३)
रोग० परिणामशूलः (र. ३०.३८)
–**स्थान**–न.. अग्निस्थानम् (सुउ. ३९.१८)

पक्तृ–वि., जाठराग्निः (चचि. १५.३९)
–**वेग**–पु., अग्निबलम् (असंसू. ३६.३५)

पक्त्रिम–वि., पाकाभिनिर्वृत्तम् (सुसू. ४२.११)
न., फुल्लालवणम् (ड. सुसू. ४२.११)

पक्व–वि., निरामम् (चसि. ८.२०; सुउ. ४०.१८)
पाकमुपगतम् (सुसू. ३१.१२)
कालपक्वम् ' कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ' इति पक्वपदमपि कालपक्वं नाम मृत्युग्रस्तमित्यर्थे प्रकरणवशाद् गृहीततात्पर्यम् (ड.चसू. ६.४६; ड. सुसू. ३१.१२; चइ. ४.२२)
न., वनस्पति० कुरी (रा. १६.१७९)
–**गुद**–वि., लक्षण० पाकमुपगतं गुदं यस्य सः (चचि. १९.९)
–**जाम्बवप्रतीकाश**–वि., लक्षण० पक्वजम्बूफलसदृशवर्णम् (सुचि. ६.४)
–**पीनस**–पु., रोगावस्थापाकप्राप्तः पीनसः (चचि. २६.१४५)
–**मूषा**–स्त्री., मूषा० कुलालभाण्डरूपा दृढा परिपाचिता मूषा पक्वा हण्डिका घटो वा सेयं पोट्टल्यादिविपाचनोपयोगिनी (र. १०.२८)
–**रस**–पु., आसुत० सीधुभेदः पक्वेनेक्षुरसेन कृतं मद्यसीध्वासवादि (चचि. ७.४४; अहसू.५.७४-७५)

–**लोष्ट**–पु., न., भृष्टमृत्तिका या च दाहप्रशमनबस्त्यर्थे उपयुक्ता (चसि. ७.१४)
न., भृष्टलोष्टम्, तृष्णाहरणार्थम् पुतन्निक्षेपणशीतलीकृतं जलं (चचि. २२.४२)
–**शोणिताभ**–वि., लक्षण० पक्वशोणितमिव रक्तकृष्णवर्णयुतं रूपं यस्य (चचि. १९.९)
–**शोथ**–पु., शोथस्य पक्वावस्था (चचि. २५.५६)
–**शोफ**–पु., (परिव०) पक्वावस्थां गतः शोफः (सुसू. १७.१०)

पक्वाण्ड–पु., वनस्पति० तद्वृणाः–कटुर्नस्याञ्जनविधौ शस्तो जीर्णज्वरापहश्च (रापरि. ८.१६)

पक्वातिसार–पु., निरामोऽतिसारः (असंसू. ३३.६)

पक्वातीसार–पु., रोग० निरामोऽतिसारः (सुसू.३८.४७)

पक्वाधान–न., शारीर० पक्वमन्नमाधीयते नाम स्थाप्यतेऽस्मिन्निति, पक्वाशयः, वातस्थानमिदम् (अहसू. १२.१ ; सुचि. ३६.१४)

पक्वाधानालय–वि., शारीर० पक्वाधानम् आलयः स्थानं यस्य सः, अपानो वायुः (सुनि. १.१९)

पक्वान्न–न., कृतान्नम् (असंसू. ७.२१०; अहसू. ६.४२)

पक्वामाशयमध्य–न., शारीर० पक्वाशयामाशययोर्मध्यस्थानम् पाचकपित्तस्थानमिदम् (अहसू. १२.१०)

पक्वाशय–पु., शारीर० आशयः (चसू. १४.९)
पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०) पुरीषवहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८) पुरीषधरा कलायाः स्थानम् (सुशा. ४.१६) परिपक्वानामाहार द्रव्याणामाशयः, बृहदन्त्रम् (हाराणचन्द्रः) (सुशा. ९.१२) वामपार्श्वानुगोऽयम् (सुचि. ३६.२८) पित्ताशयः (ड. सुचि. २.५२) स्थूलान्त्रम् (सुशा. ५.८) श्रोणिगुदयोरुपर्यधोनाभेः स्थितः (सुसू. २१.६) उत्पत्तिस्थानं वातस्य (चचि. १५.११)

पक्वाशयगुद–न., शारीर० पक्वाशयं गुदं च (चशा. ६.२१)

पक्वाशयशूल–न., लक्षण० पक्वाशये शूलवद् वेदना (चसू. ७.८)

पक्ष–पु., कालविभाग० मासार्धम्, एक्ष्यते परिगृह्यते ज्ञाप्यते चन्द्रस्य पञ्चदशकलानामापूरणक्षयो वाऽनेन इति पक्षः। पञ्चदशाहोरात्राणि, शुक्लकृष्ण-भेदेनासौ द्विविधः (सुसू. ६.५ ; सुचि. २५.२९) वादाङ्गम् (चसू. २५.२६)
शरीरार्धम्, वामदक्षिणभेदाद्विविधम् (सुनि. १.६१)
–ग्रह–पु., रोग० एकग्रहः, मध्यमार्गानुसार्यसौ (चसू. ११.४९)
–वध–पु., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) मध्यममार्गजोऽयम् (चसू. ११.४९)
एकाङ्गरोगः (चचि. १८.५३) अर्धाङ्गः (चचि. २८.३८-४९)
तत्सम्प्राप्तिलक्षणानि—मारुतस्तनोर्दक्षिणं वामं वा पक्षमेकं हत्वा सिराः स्नायूश्च विशोष्य सन्धिबन्धान् विमोक्ष्य चेष्टानिवृत्तिं रुजं वाक्स्तम्भं च कुर्यात्। तथैकं पादं हस्तं वा सङ्कोचयति। तोदशूलकृच्च भवति। तेनार्धशरीरमकर्मण्यं विचेतनं भवति (चचि. २८.५३ ; असंनि. १५)
साध्यासाध्यता–शुद्धवातहतः कृच्छ्रसाध्यतमः, पित्तकफयोरन्यतरेण संसृष्टः कृच्छ्रः क्षयहेतुको विवर्ज्यः (असंनि. १५.४३)
–संश्रय–पु., रागतः पक्षसङ्ग्रहोऽन्यतरपक्षाश्रयणम् (चसू. २५.२६)
–हत–वि., लक्षणम्० नष्टार्धभागः (चसि. २.२१)

पक्षाघात–पु., रोग० पक्षवधः (चसू. १४.२१)

पक्षान्त–पु., सम्यगर्थावधारणम्, निर्णयः (चसू. २५.२७)

पक्षिक–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१२०)

पक्षिन्–पु., प्राणि० पक्षतिद्वययुक्तो विहगः (चसू. १३.११)

(पक्षि)नाबल्य–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१२०)
–राज–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१२०)

पक्ष्मन्–न., शारीर० वर्त्मभवं रोम, पक्ष्मबालः (ड. सुउ. ३.२९)
वर्त्मगतरोममालिका (सुउ. १६.१)

(पक्ष्म)कोप–पु., नेत्ररोग० उपपक्ष्ममाला, पक्ष्मबालः (ड. सुउ. ३.३०) सर्वजोऽयम्, तत्सम्प्राप्तिलक्षणम्–पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्रखराणि पक्ष्माणि निष्पादयन्ति। तैर्घृष्टं लोचनमुपतप्यते। तेषूत्पाटितेषु वेदनाप्रशमो भवति। वातातपानलांश्च नाभिनन्दति व्याधितः (सुउ. ३.३०) याप्योऽयम् (सुउ. १.३९)
–कोपप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. १६)
–बाल–पु., पक्ष्मस्थं रोम (चचि. १३.३९)
–मण्डल–न., शारीर० नयनस्य बाह्यमावरणं पटल-स्वरूपम् तस्य पटलस्य ऊर्ध्वाधःस्थितस्य मण्डलम् (सुउ. १.१५)
–ल–वि., घनरोमान्वितम्, पक्ष्मभ्यो हितम् (सुचि. २४.६६)
–शात–पु., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्–पित्तं पक्ष्मान्तमाश्रितं सत् कण्डूं दाहं पक्ष्मणां शातनं च करोति (असंउ. ११)

पक्ष्माशय–पु., शारीर० अक्षिरोम्णोऽन्तर्भागो मध्यं वा (सुउ. ३.२९)

पक्ष्मोपरोध–पु., वर्त्मरोगः पक्ष्मप्रकोपः (ड.) तल्लक्षणानि–वर्त्मनां सङ्कोचखरत्वान्तर्मुखत्वादीनि (सुउ. १६.९; असंउ. ११)

पङ्क–पु., मलः (चइ. १२.५५) लेपः (असंचि. ९)
–ज–न., वनस्पति० कुमुदम् (ध. ४.१५४)
–मलोपदेह–पु., पङ्कमलाभ्यां लेपः (असंसू. ८.१७)

पङ्किल–वि., पङ्कयुतम् (असंशा. ९.१४)

पङ्केज–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३)

पङ्केरुह–न., वनस्पति० कमलम् (१०.२४४)

पङ्क्ति–स्त्री., पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.९६)
–कण्टक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (रा. ४.३८)
–कन्द–पु., वनस्पति० मालाकन्दः (रापरि. ७.४४)
–बीज–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रापरि. ८.१२)
–बीजक–पु., वनस्पति०कर्णिकारः (रा. ९.३३६)

पङ्गु–पु., रोग० पङ्गुलवातः (ड. सुनि. १.७७) तल्लक्षणम्–द्वयोः सक्थ्नोर्वधात् पङ्गुत्वं भवति (सुनि. १.७७) यदा कटिस्थितो वातो द्वयोरपि सक्थ्नोः कण्डरा आक्षिपेत्, तदा पङ्गुत्वं जायते (असंनि. १५)
–त्व–न., खञ्जत्वम् (असंसू. २०.१३)

पङ्गुल–पु., वातरोग० पङ्गुत्वम् (सुचि.५.२३)

पचन–न., वि., अग्निसम्पाद्य आहारादिपाकः पाचनम् (सुसू. ११.५) पच्यते विपाकं नीयते अनेनेति पचनम् (सुसू. ४१.४ (३)

पचम्पचा–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५९)

पञ्च–(परिव०) वि., विस्तृतम् (र. १९.५८-६८)

पञ्चन्–वि., सङ्ख्या० दशार्धम् (चसू. २७.२८)

(पञ्च)–कर्मन्–न., चिकित्सोपायः, वमन-विरेक-नस्य-निरूहानुवासनानि (चसू. २८.२७; अहसू. २७.८) निरूहवमनकायविरेकशिरोविरेकास्रविस्रुतय इति पञ्च कर्माणि (अहसू. १४.५) केचन स्नेहनस्वेदन-वमनविरेचनबस्तीन् पञ्चकर्माण्याहुः, स्नेहनस्वेदने वमनादीनां पूर्वकर्मणी (र. १८.१९५)

–कर्मगुणातीत–वि., लक्षण० संशोधनसंशमना-भ्यङ्गगुग्गुलुशिलाजतुप्रभृतीनि, तेषां फलेभ्योऽ-तीतम्, नात्र वमनादिपञ्चकर्म कथमपि सम्बध्यते (सुसू. ३३.९)

–कर्मीयसिद्धि–स्त्री., (परिव०) अध्याय० (चसि. २)

–कापित्थघृत–न., घृत० कपित्थफलमूलपुष्पत्वक्पत्र-कल्ककषायसिद्धं घृतम्, सर्वमूषिकविषहरमिदम् (सुक. ७.४०; असंउ. ४६)

–कृत्–पु., वनस्पति० पक्वाण्डः (रापरि. ८.१६)

–कृत्वः–अव्य० पञ्चवारम् (सुशा. ९.११)

–कृष्ण–पु., कीट० सविषोऽयम्, तथा सौम्यः श्लेष्मप्रकोपणश्च, एतेन दष्टे सति कफविकारा भवन्ति (सुक. ८.१२-१५; असंउ. ४३)

–कोलक–न., शुण्ठी–पिप्पली–पिप्पलीमूल–चव्य–चित्रकाणि च पञ्चकोलमुच्यते ।
तद्गुणाः –कटु दीपनमुष्णवीर्यं कोष्ठगतवातनाशनं पाचनं रुच्यं त्रिदोषघ्नं स्वरभेदशूलगुल्मघ्नं च । (र. १३.९१) (ध. ७.१३; अहसू. ६.१६६)
'पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरम् ।
एकत्र मिश्रितैरेभिः पञ्चकोलकमुच्यते ॥'

–कोलघृत–न., घृत० पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्या-दिसिद्धम् घृतम् इदं श्वयथुवातविष्टम्भगुल्मार्शो-जठरामयनाशनम्, रूक्षाणां बहुवातानां संशोध-नार्थिनामुपयोज्यम् (चचि. १३.११२-११४)

–खर्पर–न., तुत्थखर्परम्, तुत्थकम्, किट्टतुल्यतुत्थ-खण्डः (र. २.१३४)

–गङ्ग–पु., देश० पञ्चनदो देशः, अयमतीव सुमनो-हरः (चचि. ४.३)

–गण–पु., पञ्चमूलानि (सुउ. ४८.१९)

–गव्य–न., गोजाताः क्षीरादिकाः पञ्चपदार्थाः गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिश्च। एतद् देहशुद्धिकरं कफघ्नं च ।
'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च ।
समं योजितमेकत्र पञ्चगव्यमिति स्मृतम् ॥'
(ध. ७.५२)

–गव्यघृत–न., घृत० कामलापाण्डुरोगघ्नम् (चचि. १६.४३)
अपस्मारकामलाज्वरनाशनम् (चचि. १०.१७)
जीर्णज्वरशोफपाण्डुरोगेषु प्रशस्तम् (सुउ. ३९.२४२)
श्वयथावुपयुज्यते (असंचि. १९)

–गव्यसर्पिस्–न., घृत० अपस्मारभूतचातुर्थकक्षय-श्वासोन्मादनाशनम् (सुउ. ६१.३४-३७)
पाण्डुामयघ्नमिदम् (असंचि. १८)
विषमज्वरे बलार्थमुपयुक्तम् (काखिल. १.७८)

–गुप्ति–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११४)

–जन–पु.,मनुष्यः, पञ्चभिर्भूतैर्जन्यत इति पञ्चजनः पुरुषः (का. उदावर्त. चि.)

–ता–स्त्री., पञ्चानां क्षित्यादिभूतानां भावः पञ्चता पञ्चत्वमिति यावत्, मृत्युः, पञ्चत्वगमनम् (सुसू. २८.३)

–तिक्त–वि., तिक्तपञ्चकयुतं निरूहादि, पटोलनिम्ब-भूनिम्बरास्नासप्तच्छदानि पञ्चतिक्तानि (चसि. ८.९)

–त्व–न., मृत्युः (चशा. १.७४)

–त्वग्रहण–न., मरणज्ञानम् (चशा. १.७१)

–त्वप्रत्यय–पु., मृत्युहेतुः, क्षयादिव्याधिः (चचि. ३.१३)

–नखराज–पु., प्राणि० गोधा (धपरि. ६.३९)

–निम्ब–न., निम्बस्य पञ्चाङ्गम्, निम्बस्य पत्रत्वक्-पुष्पफलमूलानि। पञ्चनिम्बगुणाः–कुष्ठपञ्चकघ्नं व्रण-नाशनं च (ध. ७.५४)

–पटु–न., पञ्चलवणानि, सैन्धवसौवर्चलबिड-सामुद्रौद्भिदानि (र. १२.६९)

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० गोरक्षी (रापरि. ५.३०)

–पित्तक–न., पित्तपञ्चकम्, नागाश्वशिखिगोमत्स्य-पित्तैः स्यात् पञ्चपित्तकम्। पित्तं पञ्चविधं मात्स्यगवाश्वरुरुबर्हिजम्। वाराहच्छागमाहिष-मात्स्यमायूरपित्तजम् (र. १२.१२२)

–भूत–न., भूतपञ्चकम्, पृथ्व्यप्तेजोवायवाकाशानि (अहसू. ९.१)

–भूतप्रसादजा–वि., पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानां प्रसन्नांशैर्निर्मिता दृष्ट्यादिः (सुउ. ७.३)

–भृङ्ग–न., देवदाली-शमी-भृङ्गा-निर्गुण्डी-सनकाः, रोगोपशमे जाते रुग्णस्य स्नानार्थं पानार्थं चोपयुज्यन्ते (ध. ७.१७)

-महाभूतशरीरिसमवाय-पु., आकाशादिपञ्चभूतानामात्मनश्च संयोगः (सुशा. १.१६)

-माहिष-न., माहिषपञ्चकम् महिष्या दुग्धं दधि घृतं मूत्रं मलश्च (र. २.३३)

-मुखच्छिद्रा-वि., मुखे छिद्रपञ्चकयुता (नाड्यादिः) (अहसू. २५.१३)

-मुखी-स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (रा. ४.२९)

-मुष्टि-स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

-मूल-न., मूलानां पञ्चकम् (चचि. १.४१)
महल्लघुभेदेन तद् द्विविधम्, तत्र महत्-बिल्वाग्निमन्थश्योनाककाश्मर्यपाटलाः। एतद् सतिक्तं मधुरानुरसं पाके लघ्वग्निदीपनं कफवातघ्नं च (चसि. ३.१३; सुसू. ३८.६८-६९; ध. ७.२१) लघुपञ्चमूलम्-शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरश्च। तद्गुणाः-कषायतिक्तमधुरं बृंहणं बलवर्धनं वातपित्तशमनं त्रिदोषघ्नम् (सुसू. ३८.६६-६७) ज्वरकासश्वासशूलाग्निमान्द्यारुचिघ्नं च (ध. ७.१९)
सङ्ख्यया पञ्चमूलानि पञ्च, विदारिगन्धादि, बिल्वादि, पुनर्नवादि, जीवकादि, शरादि च (चचि. १.४२-४५) सुश्रुतगतानि पञ्च पञ्चमूलानि त्रिकण्टकादि बिल्वादि विदार्यादि करमर्दादि कुशादि च। तत्र त्रिकण्टकादि-त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा च कनीयः। बिल्वादि-बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मर्यश्रेति महत्। विदार्यादि-विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञम्। करमर्दादि- करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्यश्रेति कण्टकसंज्ञम्। कुशादि-कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुकाश्रेति तृणसंज्ञम् तत्र-आद्यौ त्रिकण्टकादिबिल्वादी वातहरौ, मध्यौ वल्लीकण्टकसंज्ञौ श्लेष्मशमनौ, अन्त्यश्च तृणसंज्ञः पित्तनाशनः (सुसू. ३८.६६-७८)

-मूलक-न., पञ्चमूलम् (सुसू. ३८.६७)

-मूलकपञ्चक-न., पञ्चमूलानां पञ्चकम्, बिल्वादि पुनर्नवादि जीवकादि शरादि गन्धादि च। तत्र बिल्वादिचतुष्टयं सर्वत्र चरकसुश्रुतादिषु समानम्। भिन्नं तु पञ्चमम्, गन्धादि-गन्धहर्षदंष्ट्रा सौरभ्यकरमर्दिकानां मूलानि (ध. ७.७४)

-मूली-स्त्री., कनीयः पञ्चमूलम् (चचि. ३.२३४)

-रक्षक-पु., वनस्पति० पक्वाण्डः (रापरि. ८.१६)

-राजीफल-पु., वनस्पति० पटोलम् (रा. ३.७४)

-रात्र-न., रात्रिपञ्चकम् (चसू. ५.१५)

-लवण-न., लवणपञ्चकम्-काच-सैन्धव-सामुद्र-बिड-सौवर्चलात्मकम् (र. ५.२१९)
सैन्धव-सौवर्चल-बिड-रोमक-सामुद्रात्मकम् (र. ४.६७)

-लोह-न., खनिज० वर्तलोहम् (ध. ६.३३; र. ५.२२०)

-वक्त्र-पु., योग० पारदगन्धक-वत्सनाभ-मरिच-टंकणयुक्तः
सन्निपातज्वरघ्नः कफघ्नोऽग्निदीपनश्च (र. १२.११२-१३)

-वर्ग-पु., अक्षराणां कचटतपानां कचटतपवर्गीयाणामन्येषां च समुदायः (चवि. ८.५४)
आनूपपञ्चवर्गे कूलचराः प्लवाः कोषस्थाः पादिनो मत्स्याश्चेति पञ्चवर्गः (सुचि. ५.१८)

-वर्धन-पु., वनस्पति० पक्वाण्डः (रापरि. ८.१६)

-वल्क-न., पञ्चवल्कलम् (चचि. १४.२१४)

-वल्कल-न., पञ्चक्षीरिवृक्षाणां न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षाणां त्वक्, स्राविण्यर्शसि परिषेचने उपयुज्यते (चचि. १४.२१४) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः सर्वैरेकत्र संयुक्तैः पञ्चवल्कलमुच्यते। तद्गुणाः-कषायं शीतं वर्ण्यं कफघ्नं दाहतृष्णायोनिदोषशोफघ्नं च (चचि. २१.९४; ध. ७.१५) सल्लकीझिर्झिणीजम्बूधवशाल्मलिकात्वचः। (इन्दु.) शिरीषपिप्पलवटप्लक्षवेतसत्वक् (अरु.)मण्डलिसर्पविषे लेपार्थमुपयुज्यते (असंउ.४२)

-शिरीष-पु., योग० शिरीषवृक्षस्य फलमूलत्वक्पुष्पपत्रः कृतः सर्वविषप्रशमनः (चचि. २३.२१८) विशेषतः कीटविषघ्नः (सुक. ५.८१)

-शुक्र-पु., कीट० सविषोऽयम्, असौ सौम्यः कफविकारांश्च करोति (सुक. ८.१२; असंउ. ४३)

-शौरीष-न., शिरीषस्येदमिति शौरीषं, शिरीषवृक्ष पञ्चाङ्गम्, विषघ्नमिदम् (ध. ५.५७) कीटविषघ्नमिदम् (रा. २२.२७)

-सार-पु., मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा कृतः रक्तपित्तप्रशमनः (असंचि. ३)
न., आहारद्रव्य० द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्यः सपरूषकैः तुल्यांशैः कल्पितं पूतं शीतं कर्पूरवासितं पञ्चसाराख्यं दाहतृष्णानिवर्तकं पेयम्। वसन्ततौ पानोपयोगि (अहसू. ३.३१)

क्वथितं दुग्धं शर्करा पिप्पल्यो मधु सर्पिश्च इत्येषां समभागोपयोगेन कृतम् । विषमज्वर-क्षतक्षीणक्षय-श्वास-हृद्रोगादिषु शस्यते (सुउ.३९.२५४-२५५)

–सिद्धौषधिक–न., सिद्धौषधिपञ्चकम्, कन्दपञ्चकम्-तैलकन्दः सुधाकन्दः क्रोडकन्दो रुदन्तिका सर्पनेत्रञ्चेति पञ्चसिद्धौषधिकम् (ध. ७.६१)

–सूरण–न., योग० अत्यम्लपर्णी काण्डीर-मालाकन्द-द्विसूरणैर्युक्तम् (ध. ७.६०)

पञ्चम–पु., स्वर० सप्तस्वरेष्वेकः, कोकिलस्वरः (र. २७.५८)

(पञ्चमी)–स्त्री., तिथि० बालोत्पत्तेः पञ्चमे दिने दुःसहनामानं गजेन्द्रं पूजयेत् । येन व्रणगण्डादिरूपा पीडा बालानां न भवति (का. द्वितीय चि.)

पञ्चल–पु., वनस्पति० कोलकन्द (रापरि. ७.३८)

पञ्चाङ्ग–न., अङ्गपञ्चकम् मूलत्वक्पत्रपुष्पफलमिति वृक्षाणां पञ्चाङ्गम् (चचि. २३.७८; ध. ७.५८)
मूलकाण्डफलपुष्पपत्राणि (र. १९.९३; र.३०.४३)
मूलकाण्डशाखापत्रपुष्पाणि (र. २०.८१) पत्रपुष्पफलनालकन्दः (र. २०.८१)

(पञ्चाङ्गी)–स्त्री., व्रणबन्ध० चतुर्दशबन्धेष्वेकः अयं जत्रुण ऊर्ध्वं विधीयते। तत्स्वरूपम्–अस्मिन् व्रणबन्धविशेषे पट्टे चत्वारो बाहव एका चोर्ध्वे पट्टिका (सुसू. १८.१७)
अयं हनुसन्धिभङ्गादौ प्रयुज्यते (असंउ. ३२; असंसू. ३८.४२)
वर्तिः पञ्चभिरङ्गभूतैर्द्रव्यैः कृता वर्तिः, मुखरोगे धूमपानार्थमुपयुक्ता (सुचि. २२.५५)

पञ्चाङ्गिक–वि., पञ्चसङ्ख्याकः (द्रव्यगण) (सुउ. ४८.१९)

पञ्चाङ्गुल–पु., वनस्पति० चित्रैरण्डः (चसू. २७.१०९)
पत्रशाकः एरण्डः, शाकमस्य वातलं कटुतिक्ताम्लमधोमार्गप्रवर्तनं च (चसू. २७.१०९)
वनस्पति० एरण्डः (ध. १.२९५; र. १२.७४)

(पञ्चाङ्गुली)–स्त्री.. वनस्पति० तक्राह्वा (रापरि. ४.२९)

पञ्चाङ्गुलतैल–न., स्नेह० एरण्डतैलम्, वातजतिमिरे विरेचनोपयोगि (सुउ. १७.२९)

पञ्चाङ्गुष्क–पु., वनस्पति० एरण्डः (र. ११.९४)

पञ्चाज–न., अजाया इदमिति आजम्, अजानां, दुग्ध-दधि-घृत-मूत्र-पुरीषाणां मेलनम् (र. २.३३)

पञ्चात्मक–वि., पञ्चमहाभूतमयं पाञ्चभौतिकम् (चसू. २६.१०९)

पञ्चानन–पु., योग० पाण्डुरोगराजयक्ष्मोदरहलीमक-वातरोगमलावरोधकुष्ठग्रहणीज्वरातिसारश्वासकास-कफरोगगलरोगार्शोऽग्निमान्द्यगुल्मनाशनः (र. १९.६५)

पञ्चामृत–पु., योग० व्याधिवार्धक्यनाशनः (र. ३०.८९)
राजयक्ष्मादिरोगनाशनः (र. १४.३१)
न., योग० इदं दीपनं पाचनं बालरोगनाशनं च (र. २२.१५६)
गव्यमाज्यं दधि दुग्धं मधु शर्करा चैकत्रीकृतं पञ्चामृतमिति प्रकीर्त्यते । इदमजीर्णभूतबाधानाशनम् (ध. ७.५१)

पञ्चामृतपर्पटी–स्त्री., योग० सुवर्णरौप्यताम्राभ्रककान्त-लोहाद्युक्ता क्षयश्वासादिनाशिनी (र. १४.९७)

पञ्चाम्ल–न., अम्लपञ्चकम्, कोलाम्लं चुक्रिकाम्लं मातुलुङ्गमम्लवेतसं दाडिमं च (चचि. २२.३५)

पञ्चाम्लक–न., बदर–दाडिम–चिञ्चा–चुल्लिकाचुक्राणां च अम्लरसानां पञ्चकम् (र. १०.८३)
कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रिकाऽम्लवेतसाः इति पञ्चाम्लकम् (ध. ७.५७)

–पञ्चाल–पु., कीट० पञ्चालकः (असंउ. ४३)

पञ्चाम्लक–पु., कीट० सविषोऽसौ अनेनाग्निप्रकृतिकेन दष्टे सति पित्तजा रोगा भवन्ति (सुक. ८.१०)

पञ्चाम्लक्षेत्र–न., देश० कान्यकुब्जः (चवि. ३.३)

पञ्चेन्द्रिय–वि., पञ्चेन्द्रियाणि यस्य सः (सुशा. ९.११)

पञ्चेन्द्रियग्रहण–न., पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियैर्ज्ञानम् (सुसू. ४०.३)

पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति–स्त्री., अध्याय० पञ्चेन्द्रियार्थानां शब्दादीनां विपरीतावबोधमधिकृत्य कृतः सुश्रुतस्थानगतत्रिंशत्तमः (सुसू. ३०)

पटचूर्ण–न., वस्त्रगालितचूर्णम् (र. १५.२२)

पटल–न., शारीर० त्वक्सदृशस्तनुभागः (सुउ. १.१४)
नेत्ररोग० लिङ्गनाशः (चचि. २३.७३; असंउ. १७)

–हर–न., अञ्जन० इदं पटलरोगनाशनम् (र. २३.५५)

पटह–पु., वाद्योऽयं दुन्दुभिः, महागन्धहस्तिनामकागदलिप्तपटहवादनेन विषार्तस्य विषं नश्यति (चचि. २३.८७)

पटालिका–स्त्री., पटानां वस्त्राणां आलिः पंक्तिः पटालिः पङ्क्तिमती नवा तृणादिरचिता भित्तिः । वस्त्रनिर्मितं गृहम् (अरु. अहसं. ३.३४)

पटु–वि., प्रवीणः, वक्ता (ड. सुक. १.१०)
पु., वनस्पति० काण्डीरः (ध. ४. ६२)

चोरकः (रा. १२.१२७)
निर्यास० कर्पूरभेदः (ध. ४.६२)
न., लवण० सैन्धवम् (अहसू. १९.४१)

-क्षीरा-वि., लवणं क्षीरं यस्याः सा (धात्री) (का. फक्कचि.)

-तृणक-न., वनस्पति० लवणतृणम् (रापरि. ८.५७)

-पञ्चक-न., लवणपञ्चकम्, सैन्धवसौवर्चलबिडसामुद्रौद्भिदानि पञ्च पटूनि लवणानि (र. १६.१५५)

-प्रजा-वि., कुशलाधिकप्रबलप्रजा (काफक्कचि.)

पटोल-न., वनस्पति० तृप्तिघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११ (११)) तृष्णानिग्रहणगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४) उद्वर्तनेन कण्ड्वादिहरम् (चसू. ३.८) अस्य फलपत्रे शाकत्वेनोपयुज्येते (सुसू. ४६.२६८) नेत्ररोगे एतन्मुकुलान्याश्योतनोपयोगीनि (असंउ. १४) मधुरतिक्तभेदेनेदं द्विधा। आद्यं स्वादु कृमिनुद् रुचिकरं हृद्यं च द्वितीयं कटु तिक्तमुष्णं कटुपाकि (ध.) वृष्यं व्रण्यमवातलं (सु.) ग्राहि वातलं रुचिप्रदं (असं.) पित्तकफघ्नं रक्तकण्डूकुष्ठज्वरदाहनाशनं च (चसू. २७.९६ ; ध. १. ४९)
हिं.—परवल.
म.—पडवळ.
गु.—परवल.
बं.—चिचिण्डा.
त. —पुटोलु.

(पटोली)-स्त्री., स्वादुपत्रफलं पटोलम् (रा. ७.७६) तिक्तद्रव्यस्कन्धे पटोली श्रेष्ठा (असंसू. १८.२८)

-घृत-न., घृत० रक्तपित्तप्रबलेषु कुष्ठेषूपयुक्तम् (चचि. ७.१३५)

-यूष-पु., यूष० अयं हृद्यो दीपनः पित्तघ्नः कफमेदोविशोषणः कृमिकुष्ठज्वरापहश्च (सुसू. ४६.३७०-३७१)

पटोलादिकषाय-पु., कल्प० अयं विसर्पघ्नः (चचि. २१.५९)

पटोलादिगण-पु., द्रव्यगण० पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी च। अयं पित्तकफारोचकघ्नो ज्वरोपशमनो व्रण्यश्छर्दिकण्डूविषापहः (सुसू. ३८.३३-३४) कफपित्तकुष्ठज्वरविषवम्यरोचककामलानाशनः (असंसू. १६.९; अहसू. १५.१५)

पटोलादिघृत-न., घृत० रक्तपित्तकफस्वेदक्लेदपूयाङ्गशोषणकामलाज्वरविसर्पगण्डमालानाशनम् (सुउ. ३९.२४६)

पटोलाद्यचूर्ण-न., चूर्ण० सर्वोदरघ्नमेतत् (चचि. १३.११९-१२३)

पटोली-स्त्री., वनस्पति० पटोलम् (रा. ७.७६)

पटोल्यादिघृत-न., घृत० अपचीकुष्ठज्वरनेत्रवदनकर्णघ्राणजगदशुक्रव्रणार्जुनव्रणनाशनमिदम् (सुउ. ३९.२२६-२२९)

पट्ट-पु., न., व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम्, वस्त्रपट्टकम् (सुसू., ५.६; चचि. २५-९६)

-बन्ध-पु., स्वेद० क्षौमकार्पासादिपट्टकैर्बन्धनम्, अयमनग्निस्वेदप्रकारः (ड. सुचि. ४.१७)

-रञ्जन-न., वनस्पति० कुचन्दनम् (ध. ३.६)

-राग-न., वनस्पति० कुचन्दनम् (ध. ३.६)

पट्टक-पु., न., पट्टिका (सुसू. १८.३७) काष्ठपट्टिका, चिक्कणशिला (र. ५.२३०)

पट्टिकालोध्र-पु., वनस्पति० लोध्रभेदः पट्टिकालोध्रः (ध. ३.१७७)

पट्टिन्-पु., वनस्पति० लोध्रभेदः, पट्टिकालोध्रः (ध. ३.११७) द्र० ' लोध्र '

पठन-पु., अध्ययनं पाठः, पठनविधिः-अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं व्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत् (सुसू. ३.५४)

पणधा-स्त्री., वनस्पति० पण्यन्धः (रापरि. ८.५८)

पणव-पु., दुन्दुभिप्रकारः (असंशा. १०.७)

पणाङ्गना-स्त्री., वेश्या (चसि. ११.२९)

पणिक-पु.. वणिक् (सुचि. २४.९८; अहसू. २.४३)

पण्यजीविन्-पु., वणिक् (चसि. ११.२७)

पण्यन्ध-पु., वनस्पति० अयं दीर्घमध्यह्रस्वभेदेन त्रिविधः, पण्यन्धगुणाः-तिक्तः क्षारः व्रणसंरोपणः सारकश्च (रापरि. ८.५८)

(पण्यन्धा)-स्त्री., वनस्पति० पण्यन्धः (रापरि. ८.५८)

पण्यविलासिनी-स्त्री., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०८)

पतङ्ग-पु., धान्य० शालिभेदः (चसू. २७.९) द्र० ' शालि ' (अहसू. ६.३)
वनस्पति० जलमधूकः (रा. ११.५९)

(पतङ्गी)-स्त्री., संस्कार० पारदघटितकल्केन लोहे जातं गौरवतेजस्वित्वादिसहितं हेमत्वं (र. ८.५१)
न., वनस्पति० कुचन्दनम् (ध. ३.६)
कालीयकम् (ध. ३.८)

पतङ्गी-स्त्री., संस्कार० (र. ८.५१) '(पतङ्गी)'

-राग-पुं., औषधिकल्केन स्वर्णादिरञ्जितस्य लोहस्य

कालातिपातेन, चिरं वाऽग्नौ ध्मानेन, निर्गतः सार-भागः (र. ८.५३)

पतन-न., अनूर्ध्वस्थितिः (सुसू. ३४.३५)
श्वभ्रादौ वृक्षपर्वतादेर्वा पातः (सुनि. १५.३)
गलनम् (चसू. ५.३०)
-धर्मिन्-वि., पतनस्वभावः (सुसू. ३२.३)

पताक-पु., सर्प० निर्विषोऽसौ (असंउ. ४१)

(पताका)-स्त्री., देवगृहादिध्वजपटः (असंसू. ८.८३)
वैजयन्ती (इन्दु. असंउ. ५)

पतित-वि., भ्रष्टम्, च्युतम् (सुचि. २४.९८; सुचि. २.७७)
स्वकीयधर्मात् स्वकीयाचाराद्वा भ्रष्टः (सुचि. २४.९०,९८)
-गुदवलि-वि., लक्षण० पतिता गुदवलिर्यस्य (चचि. १९.९)
-स्व-न., लक्षण० शिरोग्रीवादीनामधार्यमाणता (सुसू. ३२.४)
-शल्य-वि., लक्षण० पाकात् स्वयं पतितं शल्यं यस्य स उत्क्षेपमर्मविद्धोऽपि पतितशल्यः सन् जीवति (सुशा. ६.२७)

पत्तङ्ग-न., चन्दनभेदः, रक्तचन्दनम् (चचि. २६.२१०; सुसू. १४.३६; असंउ. २६) द्र० 'चंदन'
पत्तूरम्, रक्तचन्दनसमं काष्ठम् (र. ३०.६४)

पत्तूर-पु., वनस्पति० शालिञ्छिका (चक्र.चचि. २६.४६)
शाक० शालिञ्छः (चसू. २७.१००)
वातसंशमनवर्गोक्तमेकं द्रव्यम्, कुचन्दनम् (सुसू. ३९.७)
शिरवालिका, कृमिनाशिनी (ड. सुउ. ५४.२६)
स्वेदोपयोगिनी (ड. सुउ. ११.५) प्रलेपनद्रव्येष्वेकम् (सुचि. १९.३५)
सितिवारः (सुउ. ९.१९)
सारिवा (जेज्जटः) (चचि. ३.२६७)
लोहमारः (हे.)
पत्तूरगुणाः- दीपनस्तिक्तः कफवातजित् ग्लीहार्शोघ्नः (अहसू. ६.१००; असंसू. ७.१४९) स्वादुपाकरसः शीतलो नातिपित्तलो लवणानुरसः सक्षारो रूक्षो वातलः सरः कफघ्नश्च (सुसू. ४६.२७५)

पत्र-न., वनस्पति० पत्रकम् (ड. सुउ. १२.१३)
तमालपत्रम् (ड. सुउ. ३९.२९७; असंसू.२६.४; ध. २.५२)
पर्णम्, व्रणाद्युपरि बन्धनोपयोगि, तत्स्वरूपम्- अकर्कशमखरधारमत्रुटितं नवं सुकुमारकमजन्तुजग्धं मृदु च (सुचि. १.११६)
तालीसपत्रम् (ध. २. ५३)

(पत्री)-स्त्री., वनस्पति० गङ्गापत्री (रापरि. १०.४५)
पाची (रापरि. १०.४६)
-कन्दका-स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (ध. १.६५)
-तण्डुली-स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (रा. ३.३८०)
-तरु-पु., वनस्पति० खदिरभेदः, विट्खदिरः (रा. ८.३८) द्र० 'खदिर'
-दान-न., व्रणस्य षष्ठ्युपक्रमेष्वेकः पत्रेण व्रणाच्छादनम्, तेन च शैत्यौष्ण्यजननस्नेहसङ्ग्रहणे भवतः, अकर्कशाविच्छिन्नादिगुणं पत्रमुपादेयं व्रणाद्याच्छादनार्थम् (सुचि. १.८)
-भङ्ग-पु., पत्रखण्डः, पल्लवः (ड. सुउ. १४.१०; सुचि. ३२.५; अहसू. १४.६)
छदसमूहः (असंसू. २६.६)
-यूष-पु., यूष० अयमनिलापहः (काखिल. ४.४९)
-रङ्ग-न., वनस्पति० कुचन्दनम् (रा. १२.१२)
-लवण-न., योग० वातादिहरपत्रैः सह लवणमवक्षुद्य यत् क्रियते तत् पत्रलवणम् (सुचि. ४.३०)
-वर्ण-पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३८)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२५)
पलाशी (रापरि. ३.४९)
-विष-न., स्थावरविष० विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरंभाणि पञ्च पत्रविषाणि, पत्रविषेण जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा भवन्ति (सुक. २.५-७; असंउ. ४०)
-वृश्चिक-पु., कीट० सविषोऽसावग्निप्रकृतिकः पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)
-शाक-न., शाकवर्गः, कर्कश-परिजीर्ण-कृमिजुष्टादेशजाकालविरोहि पत्रशाकं वर्ज्यम्। एतद्विपरीतं ग्राह्यम् (सुसू. ४६.२९७)
-श्रेणी-स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४६)
-श्रेष्ठ-पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३४)
-सेवनी-स्त्री., पत्रगतो मध्यदण्डः, पत्रगता मध्यसिरा (असंशा. ६.४)

पत्रक-न., वनस्पति० तमालपत्रम् (र. १९.३९)
तालीसपत्रम् (र. ११.९४)
तेजपत्रम् (र. ११.९४)

(पत्रिका)-स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री (र. ३०.८१)

पत्रक-न., वनस्पति० तमालपत्रम् (र. १९.३९)

तालीसपत्रम् (र. ११.९४)
तेजपत्रम् (र. ११.९४)

(पत्रिका)–स्त्री., वनस्पति० जातीपत्री (र. ३०.८१)

पत्राङ्ग–न., वनस्पति० कुचन्दनम् (ध. ३.६)

पत्राढ्य–पु., पक्षि० मयूरः (अहसू. ७.४३)
न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११३)
तालीसपत्रम् (ध. २.५३)
कुचन्दनम् (रा. १२.१२)
तृणाढ्यम्–(रापरि. ८.५३)

पत्राद्य–न., खनिज० हरितालभेदः पत्रतालकम् (र. ३.७४)

पत्राभ्रक–न., अभ्रकभेदः, श्वेतपत्रमयः पिनाकः, अस्य पावकसंसर्गाद्दलमोचनं भवति (र. २.१५)

पत्रालु–पु., वनस्पति० इक्षुदर्भा (रापरि. ८.४७)
कासालुः (रापरि. ७.२८)

पत्रिन्–पु., वनस्पति० दमनम् (रा. १०.१२०)
खदिरः (रा. ८.३१)
तालः (रा. ९.९२)

पत्रोर्ण–पु., व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम्। रल्लूकाख्यः कम्बलः। यैर्हरितादीनि देवाङ्गान्युच्यन्ते ते पत्रोर्णाः। धौतकौशेयम्। मागधादिदेशेषु नागवृक्षादयश्चत्वारो वृक्षास्तत्पत्रेभ्यो जातैर्हरिततन्तुभिरूर्णारूपैरूयते तत् (सुसू. १८.१६)

पथिन्–पु., मार्गः (सुसू. ३४.५)
शारीर० स्रोतः धात्ववकाशः शरीरच्छिद्रम् (चवि. ५.९; असंशा. ६.५०)

(पथि) –च्छेद–पु., बिडालादिभिर्मार्गलङ्घनम् प्रयाणावसरे चैतदप्रशस्तम् (चइ. १२.२९)
–द्रुम–पु., वनस्पति० खदिरः (ध. १.२७)

पथ्य–वि., पथोऽनपेतम्, स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरव्याधिपरिमोक्षश्चेति पन्थास्तस्मादनपेतम्। मनःप्रियम् (चसू. २५.४५)
हितकरमाहारविहारौषधादि (चसू. १.१००; र. २०.११५; असंसू. २३.२६)
न., भेषजम् (चचि. १.३)
लवण० सैन्धवम् (रा. ६.३३)

(पथ्या)–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (सुचि. २.७४; र. १२.१२१; ध. १.२०५)
वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३)
चिर्भटम् (रा. ७.२६२)
त्रपुस० मृगाक्षी (रा. ७.२५८)
–करा–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११२)
–कारिन्–पु., व्रीहिः (रा. १६.१०१)
–गण–पु., पथ्यवर्गः. (सुचि. १७.३) वातादिदोषहरवर्गाः, भद्रदार्वादिचन्दनादिकालेयकादयः (सु.सू. ३९.७-९)
–वर्ग–पु., हितकरद्रव्यसमूहः, घृतं सैन्धवं धान्याकं जीरकमार्द्रकं तण्डुलीयकं पटोलमलाब्वादिकं गोधूमो जीर्णशालिर्गव्यं क्षीरं दधि घृतं हंसोदकं मुद्गाश्चेति पथ्यवर्गः। विशेषतः पारदसेविनाम् (र. ११.१२६)
–शाक–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७५)

पथ्या–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)
–घृत–न., घृत० पाण्ड्वामयगुल्महरम् (चचि. १६.५०)
–फल–न., हरीतकीफलम् (सुउ. १६.८)
–वृन्त–हरीतकीफलबन्धनम्, अस्थिरहितं फलम् (चचि. १६.५०)

पथ्यादिचूर्ण–न., हरीतक्यादिचूर्णम् विसूच्यजीर्णशूलारुचिनाशनम्. (सुउ. ५६. १४)

पथ्योपचारज्ञ–वि., हितकरचिकित्सादिविद् (वैद्यः) (असंसू. २३.२८)

पद–न., शक्तिमदक्षरम्, तत्तत्पदानां तत्तदर्थेषु रूढत्वं शक्तिः, तस्याश्च ग्रहो व्याकरणोपमानादिष्वायत्तः अक्षरसमूहः (चवि. ८.२७)
शस्त्रपदम्, शस्त्रस्थानम् (सुचि. १.२९;सुसू.५.७)
क्षतम् (ड. सुक. ४.१५)
–शतमात्र–(अव्य.) केवलं शतानि पदानि (असंसू. १०.५९)

पदाघातन–न., पद्भ्यामुद्वर्तनम् (चनि. ६.४)

पदाङ्गी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५. १६७)

पदातिचर्या–स्त्री., पद्भ्यां गमनम् (सुचि. ११.११)

पदार्थ–पु., तन्त्रयुक्ति० पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः. (चसि. १२.४१) सूत्रे पदे वा योऽर्थोऽभिहितः स पदार्थः। यथा वेदोत्पत्त्यध्याये वेदपदस्याऽऽयुर्वेद इत्यर्थः, स एव पदार्थः, पद्यते गम्यते येनार्थ इति सूत्रस्यापि पदत्वात् सूत्रे योऽर्थः प्रतिपादितः सः पदार्थः (सुउ. ६५.१०)
वस्तु, द्रव्यम् (र. ७.५-९)

पदिका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७)

पद्म–पु , सर्प० दर्वीकरभेदः, पद्मः (सुक. ४.३४-(१) द्र० 'सर्प'
न., सङ्ख्या० दशार्बुदप्रमाणम्, अर्बुदेत्यनेन दशकोटिसङ्ख्या, तादृग् दशार्बुदं शतकोटिप्रमाणम् (सुउ. ६०.२२)

खनिज० सीसकम् (रा. १३.२१)
वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३; र. १६.१२३; असंसू. १२.८६) मूत्रविरजनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) निर्वापणप्रदेहोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ३.२६) आसवोपयोगि द्रव्यम् (चसू. २५.४९)
सरक्तमष्टदलपद्मम् (चक्र. चसू. २५.४९)
रक्तकमलम् (चसू. २४.२२; सुउ. ३९.२३६)
ईषच्छुक्लं कमलम् (ड. सुउ. ४७.५८)
सूर्योदयविकासि कमलम्, शाकत्वेनोपयुज्यते । तद्गुणाः— सतिक्तं मधुरं शीतं पित्तकफापहं च (सुसू. ४६.२८५)

(पद्मा)–स्त्री., कीट० आग्नेयी लूता, स्वेदजेयं पित्तविकारान् करोति (असंउ.४४) तद्दंशलक्षणानि– अस्या दंशे पद्माभस्फोटो भवति। स तु भिन्नः सन् पुनरभिन्नो भवति । स्फोट आशु क्लिद्यत्युष्णं च क्लेदं स्रवति । स्पर्शेऽतिवेदना भवति (असंउ. ४५)
वनस्पति० भार्गी (ध. १.६८; ड. सुउ. ४०.७३ हे. अहसू. १५.३७)
ब्राह्मणयष्टिका पुरीषसङ्ग्रहणीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५)
पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धौषधिः द्रोणीप्रावेशिकरसायने प्रयुक्ता (चचि. १ (४) ७)
मञ्जिष्ठा (रा. ६.१५)
शाक० फल्ज्यादिशाकवर्गोक्तमेकं शाकम् (रापरि. ७.९४)
पद्मप्राचारिणी (जज्जट) (चचि. ३.२५८)
पद्मचारिणी (सु.शा. १०.६०; अरु. अहसू. १५.२७; ध.४. ९०)
तस्या गुणाः–सुगन्धा गौल्या तिक्ता शीता मोहापस्मारवान्तिमेहभूतातिसाररक्तपित्तहरा च (ध. ४.९०; रा. ५.१३३)

–कण्टक–पु., न., क्षुद्ररोगः पद्मिनीकण्टकः क्षुद्रकुष्ठानामेकतममवभासिनीत्वगधिष्ठानम् (सुशा. ४.४)
–कन्द–पु., वनस्पति० तद्गुणाः –कषायः कटुस्तिक्तविपाकी रूक्षो विष्टम्भी शीतबीजो रुच्यः पित्तकफापहोऽस्रपित्तविनाशनः कासतृष्णादाहनिवारणश्च (ध. ४.१६४) द्र० 'शालूक'
शाक० कमलस्य कन्दः, तद्गुणाः –कषायो हिमो मधुरविपाकी मारुतकोपनः पित्तशमनश्च (सुसू. ४६.३०८)

–कर्कटी–स्त्री., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)
–काष्ठ–न., वनस्पति० पद्मकः (रा. १२.१५०)
–किञ्जल्क–पु., न., वनस्पति० पद्मकेसरम्, पद्मपुष्पतन्तुः, रक्तपित्ते उपयुक्तम् (चचि. ४.६७) गर्भस्थापनविधौ लेह्यद्रव्यम् (चशा. ८.२४) साङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठम्(चसू. २५.४०)
–कीट–पु., कीट० सविषोऽयं, अग्निप्रकृतिकोऽसौ पित्तजविकारान् करोति (सुक. ८.१०; असंउ. ४३)
–केशर–न., वनस्पति० कमलकिञ्जल्कः (चसू. ५.६५; सुसू. ३८.४६)
–केसर–न., वनस्पति० कमलकिञ्जल्कः पुरीषसङ्ग्रहणीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५)
तद्गुणाः– मधुरं कटु शीतं रूक्षं रुच्यं पित्तघ्नं तृष्णारक्तक्षयास्यव्रणदाहघ्नं च (ध. ४.१६५)
हिं.—कमलकेसर.
म.—कमलकेसर.
गु.—कमलकेसर.
बं.—पद्मरेनू.
–चारिणी–स्त्री., वनस्पति० पद्मा (ध. ४.९०)
–तन्तु–पु., वनस्पति० बिसम् (रा. १०.२५८)
–तीर्थ–न., वनस्पति० पाठा (ध. १.७१–७२)
–नाल–न., वनस्पति० बिसम् (ध. ४.१६१)
–पत्रक–पु., न., वनस्पति० कमलम् (र. १८.१०७) पुष्करमूलम् (र. १८.१०६–१०८; रा. ६.९२)
–पल्लव–पु., न., शाक० तद्गुणाः–कषायः शीतः स्तम्भनः पित्तातिसारिणां हितः (चसू. २७.१०५)
–पुष्कर–न., पद्मकर्णिका (ड. सुनि. १३.११)
–बीज–न., वनस्पति० कमलबीजम् (चचि. २९.६४) श्वेतश्लक्ष्णबहुपुटकन्दः, पित्तसंशमनवर्गोक्तमेकं द्रव्यम् । सर्पच्छत्रकमिति लोके (सुसू. ३९.८) तद्गुणाः मधुरं तिक्तं गर्भस्थापनं पित्तघ्नं रक्तपित्तहरं च (ध. ४.१५९)
–मध्य–न., पद्मवराटकम् (सुचि. २५.३८) पद्मकेसरम्:– (सुचि. २५.३९)
–मूल–न., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.१६३)
–रजस्–न., पद्मकेशरम् (अहसू. १५.३७)
–राग–पु., रत्न० (र. ४.३; असंसू. १२.१९)
–रूपिणी–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (ध. ४.९७)
–वती–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४.१५७) पद्मा (ध. ४.९०)
–वृक्ष–न., वनस्पति० पद्मिकः (रा. १२.१५०)

-हस्त-वि., पद्माकाररेखा हस्ततले यस्य, तथाविधो वैद्यः (र. ७.२८)

पद्मक-पु., न., वनस्पति० कुष्ठम् (रा. १२.९८)
हेमपद्मम् (अहसू. १५.१२
मरुद्भवः (अरु. १५.१६)
पद्मकाष्ठम् (चसू. ५.२१; सुसू. ३८.३९)
शिरोरुजि प्रदेहोपयोगि (चसू. ३.२४)
वेदनास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)
महाकषायवर्गे वर्ण्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०)
निर्वापणप्रदेहोपयुक्तम् (चसू. ३.२७)
धूमपानोपयोगिद्रव्यम् (चसू. ५.२१)
पद्मकगुणाः- कषायस्तिक्तः शीतः स्निग्धो गर्भस्थैर्यकरः पित्तघ्नो रक्तपित्तज्वरच्छर्दिविषमोहदाहभ्रान्तिकुष्ठविस्फोटनाशनश्च (ध. ३.८८)
हिं.—पद्माख.
म.—पद्मकाष्ठ.
गु.—पद्मकथि.
बं.—पद्मकाष्ठ.

पद्मकादिगण-पु., द्रव्यगण० पद्मक-पुण्ड्र-वृद्धि-तुगर्द्धि--शृङ्गयमृता-जीवन्ती-काकोली-क्षीरकाकोली-मेदा-महामेदा-मुद्गपर्णी-माषपर्णी-मधुकर्षभक-जीवकाः । अयं स्तन्यकरः प्रीणनो बृंहणो जीवनो वृष्यो मारुतपित्तघ्नश्च (असंसू. १६.६; अहसू. १५.१२)

पद्मकादिहिम-पु., पद्मकादीनां शीतकषायः, सिराव्यधे रक्तेऽतिप्रवृत्ते स्तम्भकोऽयम् (अहसू. २७.४९)

पद्माकार-वि., पद्मकर्णिकासदृशम् (सुनि. १६.४३)

पद्माक्ष-न., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)

पद्माह्वा-स्त्री., वनस्पति० पद्मा (रा. ५.१३१)

पद्मिनी-स्त्री., वनस्पति० पद्मा (रा. ५.१३१)
तद्गुणाः- मधुरा तिक्ता कषाया शीता रूक्षा कफपित्तघ्नी कृमिशोषवान्तिभ्रान्तिसन्तापनाशनी च (ध. ४.१५७)
-कण्टक-पु., क्षुद्ररोग० कफवातजोयम्, अस्थाधिष्ठानमवभासिनी त्वक्। तल्लक्षणम्-पद्मिनीकण्टकसदृशैः कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलं शरीरे भवति (सुनि. १३.४०; असंउ. ३६)
-कर्दम-पु., योग० विसर्पे प्रदेहोपयोगी (चचि. २१.८१)
-पुट-पु., नलिनीपत्रम् (अहसू. ३.३९)

पद्मोत्तर-न., वनस्पति० कुसुम्भम् (ध. ६.११८)

पद्मोत्तरिका-स्त्री., वनस्पति० कुसुम्भः (चसू. २६.८४)

पद्मोत्तरिकानाशक-न., वनस्पति० कुसुम्भः (असंसू. ९.१५.)

पद्मोत्पलकन्दासव-पु., आसुत० अम्लफलानामनुपानमिदम् (सुसू. ४६.४३३)

पद्य-न., वनस्पति० पाठाभेदः, श्वासारिः (ध. १.७२)
पुष्करमूलम् (रा. ६.९२)

पनस-पु., सर्प० मण्डली (सुक.४.३४(२)

(पनसी)-स्त्री., क्षुद्ररोगः पनसिका (सुचि. २०.५)
(न.,) फल० बहिःकण्टकि, महाफलम् (सुसू. ४६.१८१) पनसगुणाः- मधुरं पिच्छिलं गुरु हृद्यं बलवीर्यवृद्धिदं ग्राहि दुर्जरं रुचिकृत् श्रमदाहशोफघ्नम् । तद्बीजमीषत्कषायं गुरु वातलं तत्फलस्य च विकारघ्नं रुच्यं त्वग्दोषनाशनम् । बालं पनसं हृद्यं नीरसं मध्यपक्वं तु दीपनम् (रापरि. ११.९) संपक्वं कषायं स्वादु स्निग्धं गुरु च (चसू. २७.१४३-१४४; सुसू. ४६.१८१; अहसू. ६.११९)

पनसास्थि-न., पनसफलबीजम् (सुनि.२.१२)

पनसिका-स्त्री.,क्षुद्ररोगः,श्लेष्मवातजेयम्, कर्णस्याभ्यन्तरे परिसमन्तात् पृष्ठे वा कमलशालूकनिभा कठिनोग्रवेदना पिडका जायते (सुनि. १३.१२; असंउ.३६)

पन्नग-पु., सर्पः (सुक. ४.११; असंउ. ४१)

(पन्नगी)-स्त्री., सर्पिणी (इन्दु.असंउ.४१)
वनस्पति० सर्पिणी (रापरि.५.३९)

पन्नरूपा-वि., नष्टरूपा (चइ. ७.३.)

पन्नरूपीय-वि., पन्नरूपामधिकृत्य कृतम् (चइ.७.१)

पन्नरूपेन्द्रिय-न., अध्याय० (चइ. ७.१)

पयस्-न., दुग्धम् (चचि. ३.२३९) द्र० 'दुग्धम्'
न., जलम् (ध. ६.३०२; सुउ. ५८.६०)
क्षीररूपो वृक्षस्रावः (र. २.२८)
-विनी-स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (ध. १.१३४)
क्षीरतुम्बी (रा. १.२३९)
क्षीरविदारी (ध. १.१४९)
दुग्धफेनी (रापरि. ५.३४)

(पयः)-कन्दा-स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारी (रा. ७.१९७)
-क्षीर-न., वनस्पति० तवक्षीरम् (रा. ६.८८)

(पयो)-धर-पु., स्तनः, स्तन्याशयः (सुशा. ४.२४; असंशा. २.११)
-धिज-न., भैषज्य० समुद्रफेनम् (ध. ३.१५४)

–पाक–पु., कल्प० क्षीरक्काथः, तद्विधिः–द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं, क्षीराच्चतुर्गुणं च तोयं गृहीत्वा क्षीरावशेषः कर्तव्यः (सुचि.२.४७)
–फेनी–स्त्री., वनस्पति० दुग्धफेनी (रापरि. ५.३४)
–भव–न., घृतम्, नवनीतम् (र. १२.५३)
–युत–वि., क्षीरयुक्तम् (सुशा. १०.६२)
–लता–स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारी (रा. ७.१९७)
–वहस्रोतस्–न., (परिव०) स्तन्यवहसूक्ष्ममार्गः (काखिल. ११.६३)
–विदारिका–स्त्री., वनस्पति० क्षीरविदारी (रा. ७.१९७)
–वृत्ति–स्त्री., वि., क्षीरवृत्तिः वृत्तिर्जीविका, क्षीरेण जीविका नाम पयसा भोजनम् (सुचि. १४.१७) क्षीरभोजी (चचि. १ (३)९)
–हेतु–न., आहारद्रव्य० पय एव हेतुः कारणं यस्य तद् दधि (ध. ६.१८८)
पयस्या–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रा. परि. ५.२१) शतावरी (र. २२.७६) श्वेतदूर्वा (सुक. ८.१३२) दुग्धिका (सुउ. ५८.५९; र. २०.७१) काकोली (चसू. ४.१०) क्षीरकाकोली (र. २९. ७१; रा. ३.१६९; सुउ. १७.८९) इन्द्रोक्ता रसायनी वनस्पतिः (चचि.१(४).६) वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०) विदारीकन्दः, बृंहणीयवर्गोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९) क्षीरिणी, पुरीषविरजनीयगणेष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) अर्कपुष्पी (ड.) रक्तातिसारनाशिनी (सुउ. ४०.१२०) जेज्जट (सुचि. १७.८; चक्र. चचि. २९.९२; असंसू. ८.५३) अर्कसदृशपत्रपुष्पा लता, लूताविषे पानार्थम् उपयुज्यते (सुक.८.१३२) गर्भपतनेऽदृष्टशोणितवेदनावस्थायां प्रतिकारद्रव्येषु एकम् (सुशा. १०.५७) गर्भस्रावपरिहारोपयोगि द्रव्यम् (सुशा. १०.५९) बल्या मूत्रदोषहरा (सुउ.५८.५९) पित्ताधिकवातरक्ते पानप्रदेहोपयोगि द्रव्यम् (सुचि. ५.८) क्षीरविदारी (चसू. ४.१०; ड. सुचि. १७.८) महाकषायवर्गे बल्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) महाकषायवर्गे वर्ण्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) पित्ताधिकवातरक्ते पानप्रदेहोपयोगि द्रव्यम् (सुचि. ५.८)
पयस्यादिक्वाथ–पु., योग० पक्वपित्तरक्तातिसारनाशनः (सुउ. ४०.७४-७५)
पयस्यादिलेप–पु., योग० अक्षिरागरुजाहरः (सुउ. १७.८९)
पर–वि., अन्यत् अतिरिक्तम् (चचि. ४.४) (अ.,) अनन्तरम् परस्तात् (चचि. ४.४) प्रतिवादी (चवि. ८.१८) अन्यो भूतादिः (ड. सुउ. ३९.५६)
–तन्त्र–न., अन्यच्छास्त्रम्, शालाक्यादितन्त्रम् साङ्ख्यदर्शनम्, अन्यस्य शास्त्रम्, सुश्रुतसंहिता स्वतन्त्रमित्युच्यते, तद्भिन्नमन्यत् परतन्त्रम् (सुशा. १.२२) न्यायवैशेषिकहस्तिशिक्षाव्याकरणादि (सुचि. २८.२७)
–तन्त्रवृत्ति–वै., परतन्त्रा वृत्तिर्जीवनं यस्य स गर्भः, मातुराहाररसाज्जीवनमस्येत्यसौ परतन्त्रवृत्तिः (चशा. ६.२३; असंशा. २.३२)
–दारगमन–न., परस्त्रीसङ्गः, इदमनायुष्याणां श्रेष्ठम् (असंसू. १३.३)
–दाराभिगमन–न., परस्त्रीसङ्गः, इदमनायुष्याणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) द्र० 'परदारगमन.'
–पुष्ट–पु. वनस्पति० आम्रः (ध. ५.१) पक्षि० कोकिलः (अहसू. ३.२४)
–भृत्–पु. पक्षि० कोकिलः (अहसू. ७.१६)
–भृत–पु. पक्षि० प्रतुदजातीयः कोकिलः (सुसू. ४६.६७; असंसू. ७.७२)
–मद–पु., रोग० मद्यपानजन्योऽयम्, असौ त्रिदोषजः, तल्लक्षणम्–ऊष्माऽङ्गगुरुता विरसाननत्वं श्लेष्माधिकत्वमरुचिमलमूत्रसङ्गस्तृष्णाशिरोरुजा सन्धिभेदश्च (सुसू. ४७.१७)
–रात्र–न., रात्रेः पश्चिमो यामः (असंनि.१.१५)
–वारि–न., अन्यकृतं तडागादि (असंसू.३.७१)
–विद्या–स्त्री., श्रेष्ठा विद्या, यथा–श्रीरसाङ्कुशाख्या (र.७.२३)
–शस्य–न., परक्षेत्रम्, परधान्यं वा (सुचि.२४.९२)
–संस्तम्भ्या–वि., परेण अन्येन प्रकृतौ स्थापनीया; न स्वयमात्मानं सत्त्वबलात् स्तम्भयति (चक्र. चवि. ८.९४)
–हित–पु., योग० सर्वकुष्ठविनाशनः (र.२०.९१)

परमसूक्ष्म–वि., अमूर्तः, प्रत्यक्षप्रमाणेनावगन्तुं न शक्यः, अनुमानग्राह्यश्चेतनावान् पुरुषः, अणुरूपेण वर्तमानोऽपि प्रत्यक्षेणानुपलब्धः (ड. सुशा. १.१६)

परमाणु–पु., सूक्ष्मतमः अतिसूक्ष्मोऽणुः (चशा. ७.१७; असंशा.५.१०१)

–विभाग–पु., परमाणूनां विभजनम्, तत्कारणं न केवलो वायुः किन्तु कर्मस्वभावपरिगृहीतो वायुः (चशा. ७.१७)

–संयोग–पु., परमाणूनां संयोगः, तत्कारणं न केवलो वायुः किन्तु कर्मस्वभावपरिगृहीतो वायुः (चशा. ७.१७)

परमात्मलिङ्ग–न., प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिरिन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं देशान्तरगतिः स्वप्ने, पञ्चत्वग्रहणं दक्षिणेनाक्ष्णा दृष्टस्य सव्येनावगमश्च । तथेच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारश्च । परमात्मनः सद्भावज्ञापकानि लिङ्गानि नाम लक्षणानि (चशा. १.७२)

परमान्न–न., उत्तममन्नम्, पक्वान्नम् (चचि. ३०.२३४) न., आहारद्रव्य० पायसः (चक्र. चचि. १४.९ चवि. ७.१२)

परमेष्ठिनी–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४९)

परमौषध–न., श्रेष्ठं भेषजम् (असंसू. ९.४८)

परम्परा–स्त्री., पङ्क्तिः (सुसू. २९.६)

परस्परानुग्रह–पु., अन्योन्यसाहाय्यम् (सुशा. ३.३)

परस्परानुप्रवेश–पु., परस्परसंसर्गः, यथा भूजलानलवाय्वाकाशानां भूतानामन्योन्यमनुप्रवेशः (सुशा. ३.३)

परस्परोपकार–पु., परस्परं साहाय्यम् । यथा–भूतानामाकाशादीनामवकाशदानादिभिः (सुशा. ३.३)

पराक्पुष्पी–स्त्री, वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६१)

पराक्रम–पु., सञ्चारः (चसू. ५.१००)
शौर्यार्थ्यं मानसं बलम् (चक्र. चसू. ११.३)

पराग–न., वनस्पति० पद्मकेसरम् (रा. १०.२६२)

–पुष्प–पु., वनस्पति० कदम्बभेदः, धूलीकदम्बः, (रा. ९.१७३) द्र० 'कदम्ब'

पराघातन–न., वधस्थानम्, इदमन्नाश्रद्धाजननानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

पराचीन–वि., दूरप्रविष्टम् (सुसू. २७.७; सुचि. ८.४; अहसू. २८.१९)

पराधिकार–पु., परस्य परेषां वा विषयः (चचि.२६.१३१)

पराभव–पु., अपयशः, मृत्युः (चइ. १२.१८)

पराभिसन्धान–न., परपक्षप्रतिबन्धः (असंशा.५.२१)

परामर्श–पु., ग्रहणम् (असंसू. ९.१३७)

परायण–न., परमश्रेष्ठं स्थानम्, परमाधारः, परं अयनं श्रेष्ठं भेषजम् (चचि.२६.२१४)

परार्ध–न., तुल्यप्रमाणचन्दनकुङ्कुममेलनम् । चन्दनं कुङ्कुमं तुल्यं परार्धमभिधीयते (ध.७.४४)

परार्ध्य–न., श्रेष्ठम् (सुचि. ६.१३)
उत्कृष्टम् (ड. सुउ. ६४.४२)

परावर–न., वनस्पति० परूषकम् (ध. ५.६२)

परावरदृश्–वि., परं आत्मानं अवराणि आत्मव्यतिरिक्तानि प्रवृत्त्यादीनि, यः पश्यति तस्य परावरदृशः (चशा. ५.२०)

परावरान्तर–न., प्रतिभादौ आत्मनः प्रतिवादिनश्च श्रेष्ठकनिष्ठभावः (चवि. ८.१८)

पराशर–पु., पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यः तन्त्रकर्ताऽसौ (चसू. १.३१)

पराश्रय–पु., वनस्पति० अतिमुक्तकः (ध. ५.१५३)

परासु–वि., मृतः (चइ. ३.५; सुसू. ३१.३)

परिकर्तन–न., लक्षण० कृन्तनवद् वेदना (सुउ. ५५.८; सुनि. २.८)

परिकर्तिका–स्त्री., लक्षण० परि सर्वतोभावेन कृन्ततीव छिनत्तीव वेदना (ड. सुचि. ३४.१६) विशिष्टदेशव्यवस्थितवातवेदना परिकृन्ततीव गुदम्, जेजट (चचि. ३.१८६)
रोग० शूलयुक्तं कर्तनं यस्मिन् सः (का: गर्भिणीचि.) (असंशा. ११.३)

परिकर्मिन्–वि., परिचारकः सूपकारादिः (सुचि. ६.४; सुक. १.१४-१६)

परिकीर्ण–वि., लिप्तम् (चइ. ३.६)

परिकोथन–न., परितः शातनम्, पूतीभावः (अहसू. ७.९)

परिकोपक–वि., परिकोपं कुर्वाणः (चवि. ८.१४७)

परिक्रमण–न., चङ्क्रमणम्, गतागतम्, सर्वतो भ्रमणम् (सुचि. ११.११)

परिक्लिन्नवर्त्मन्–न., नेत्ररोग० द्र० 'क्लिन्नवर्त्मन्,' प्रक्लिन्नवर्त्म, श्लेष्मजोऽयं साध्यश्च (सुउ. १.३५)

परिक्लिष्ट–वि., लक्षण० अत्यर्थमवसन्नः, क्रियारहितः, समन्ततो भावेन क्लेशमुपगतः (ड.सुउ. ५५.१८)

परिक्षिप्त–वि., वेष्टितम् (सुचि. ६.४)

परिक्षीण–वि., सर्वतः क्षीणम् (सुचि. ५.३९)
परिक्षेप–पु., परिणाहः (चवि. ८.११७)
परिक्षेपिक–वि., प्रतिक्षेपिकशब्दः, प्रतिक्षेपिको नाम प्रतिवादी शब्दः संज्ञा यस्य सः, प्रतिवादी इति यावत् । यस्य वादे निग्रहादिः सञ्जातः, सः (चक्र.) (चवि. ८.२०)
प्रतिवादी (चवि. ८.२०)
परिक्षेपिन्–पु., रोग० भगन्दरभेदः, वातपित्तजोऽयम्, प्राकारस्य परितः परिखेव गुदं परिक्षिप्य गुदस्य परितो मण्डलाकृतिर्नाडी जायते (असंउ. ३७)
परिगीत–न., गीतम्, गायनम् (सुउ. ६०.१०)
परिग्रह–पु., ममता (चवि. ३.२४)
आहारद्रव्याणामेकैकश्येन प्रमाणग्रहणम् (चवि. १.२२(४)
शारीर० शिश्ने स्फीतदेश इति गङ्गाधरः, लिङ्गस्याग्रिमवर्तुलाकृतिभागः (चचि. ३०.१७०)
परिघ–पु., अर्गलादण्डः (सुचि. १५.९)
रोग० मूढगर्भेष्वेकः, परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठत्येतादृशो गर्भः (सुनि. ८.४)
परिघट्टन–न., परिचालनम् (असंसू. ३८.३१)
परिघट्टित–वि., समन्ततश्चालितम् (सुउ. १५.४)
परिचर–पु., परिचारकः (सुसू. ३४.२४)
परिचारक–पु., चिकित्सापादः, शुश्रूषकः पुरुषः (सुसू. ३४.१५) प्रेष्यः कर्मकरः (ड.) (सुउ. ६०.२२) तल्लक्षणम्– स्निग्धोऽनुगुप्सुर्बलवान् व्याधितरक्षणे युक्तो वैद्यवाक्यकृदश्रान्तश्च (सुसू. ३४.२४) अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमांश्च (अहसू. १.२९) सोद्यमः शुचिः शूरो बलिष्ठश्च (र. ७. २७)
परिच्छद्–पु., आसनोपरिस्थितं वस्त्रम् (चसू. १४.५७) साधनसामग्री (सुशा. १०.५)
वेषः, परिच्छाद्यते शरीरमनेनेति परिच्छदो वेषः (चशा. ८.१४)
परिच्छेद–पु., विश्लेषः, पृथक्त्वम् (सुसू. २४.११)
परिजाड्य-वि., स्तिमितम्, परिपूर्णं जाड्यं स्तैमित्यं यस्मिंस्तत् (सुउ. ७.२२)
परिजारण–न., पारदसंस्कार० जारणा, गालनपातनव्यतिरेकेणाभ्रकस्वर्णादीनां ग्रासं दत्वा पूर्वावस्थापादनम् (र. १.२८)
परिजिहीर्षा–(परिव०) स्त्री., परिहर्तुमिच्छा (सुचि. ३७.५१)
परिजीर्ण–वि., पुरातनम् (सुसू. ४६.२९७)
परिणतवीर्य–वि., कालपरिणामेन सञ्जातशक्तिकम् (सुसू. ६.११)
परिणाम–पु., कालः (चनि. १.३; असंसू. २२.१३)
परिपाकः (चवि.५.३)
पचनम्, परिणतिः (अहसू. ९.२०; चशा.६.१४)
भिन्नजातीयैरनेकैरेकीभावेन कार्यस्यारम्भः (ड. सुक. ८.४)
साङ्ख्यानां मूलप्रकृतिः प्रधानसंज्ञका (सुशा.१.११)
–काल–पु., कालपरिणामः (चशा.२.४०)
–वती–स्त्री., हिध्माविशेषः यमला (असंनि.४.)
–शूल–(परिव०)–पु., रोग० शूलभेदः, भुक्तान्नपचनसमये जायमानः शूलः (र. ३.१४७)
परिणामोन्मुख–वि., पच्यमानम् (असंनि. ४.२२)
परिणाह–पु., विस्तारः (चवि.७.१२; सुचि.३५.७)
परिघः (सुचि. ४०.४; असंशा. ८.३०)
परितमन–(परिव०)–न., लक्षण० मोहः (सुउ.४१.२५)
परितोष–पु., परितुष्टिः (सुसू.४२.९)
परिदग्ध–वि., समन्ततो दग्धम् (असंनि. २.२६)
परिदर–पु., रोग० दन्तमूलगतः, पित्तासृक्कफजोऽयम्, तल्लक्षणम्–अस्मिन् दन्तमांसानि शीर्यन्ते रक्तनिष्ठीवनं च भवति (सुनि. १६.२१)
परिदाह–पु., लक्षण० समन्ततो ज्वलनवत् पीडा (चनि. ४.४७; सुसू. २१.३२)
परिदृष्टकर्मन्–वि., दृष्टं चिकित्साकर्म येन तादृशः (चवि. ८.४)
परिदेवन–(परिव०) न., शोकः (असंउ. ९)
परिदेविन्–वि., शोकाकुलः, वेदनायुक्तः (असंनि. ४.१६)
परिधि–पु., हस्तप्रमाणः होमकुण्डचतुःपार्श्वे स्थाप्यः पालाशादिदण्डः (चवि. ८.९) स्थण्डिलपरितः समिध् (चशा. ८.११)
परिधूपन–न., लक्षण० सर्वाङ्गसन्तापः (ड. सुक. ४.३७)
परिध्वस्त–वि. नष्टम् (चड. ९.३)
परिपक्व–वि., समन्ततः पक्वम् (चशा. ६.१७)
पाकात् पूयतां गतम् (चशा. ६.१७)
–गर्भशल्या–स्त्री., परिपक्वं गर्भरूपं शल्यं यस्याःसा (चशा. ८.३१)
–शरीरत्व–न., वृद्धत्वम् (सुसू. १४.१९)
परिपचन–न., पात्र० तैलपाचनिका (चसू. १५.७)
परिपाक–पु., पचनम्, (चचि. ३.२८)
जरणम् (सुसू. ४६.५१०;)

परिपाटन–(परिव०) न., किञ्चिदवदारणम् त्वग्गात्रविदारणम्, (सुनि. १६.५)

परिपालन–(परिव०) न., रक्षणम् (सुचि. ३३.३)

परिपिष्टक–न., खनिज० सीसकम् (रा. १३.२०)

परिपीडन–न., (परिव०) उपक्रम० समन्तादौषधैः पचनम् (सुचि. १.४६)

परिपीत–वि., भावितम् (चचि. १.५८; सुचि. १०.४)

परिपुटन–न., त्वच उच्चटनम् (सुसू. १६.१७)

परिपूत–वि., शुद्धम् (सुचि. २५.२६)

परिपूर्णशरीर–वि., सर्वाङ्गोपचितदेहः (चशा. ३३)

परिपेलव–न., वनस्पति० कैवर्तमुस्तकम् (चक्र. चक. १.२३; ड. सुक. २.५१)
परिपेलवगुणाः– कटूष्णं मेध्यं कान्तिप्रदं वातकफघ्नं प्रस्वेदमलकण्डूव्रणदाहामशूलरक्तदोषघ्नं च (ध. ३.५६; अहसू. १५.२६)
हिं.—केवडीमोथा.
म.—केवटीमोथा.
गु.—केवडीमोंथ.
बं.—केउटमुथा.
त.—नीर्मुत्तक्काचु.
वन्यकः (सुउ. ४७.३१)
जलमुस्तम् (असंक. १; ध. १.४३)

परिपेलु–न., वनस्पति० परिपेलवम् (अहसू. १५.२६; ध. ३.५५)

परिपोट–पु., चर्मदरणम् (इन्दु. असंउ. २१)
रोग० कर्णपाल्यां जायमानः, तल्लक्षणम्–वातात् सुकुमारे कर्णे बहुकालोपेक्षया सहसैव प्रवर्धिते सति पाल्यां सरुक् परिपोटवानरुणः स्तब्धः शोफो भवति (सुचि. २५ ५; असंउ. २१)
न., पुटकम् (असंउ. ३४)

परिपोटन–न., लक्षण० सर्वतस्त्वच उच्चटनम् उच्चटनवद्वा वेदनाविशेषः (सुनि. १.२५)

परिप्रश्न–पु., प्रश्नः, आशङ्का (चसू. ३०.८७)

परिप्लव–पु., नक्षत्रादीनां गतिः (सुउ. ७.९)

परिप्लवन–(परिव०) न., इतस्ततो गमनम् (चक्र. चक १.५)

परिप्लुत–वि., रोग० रक्तगुल्मस्य प्रच्युते शोणिते सति जायमानाऽवस्था (काखिल. ९.३७)

(परिप्लुता)–स्त्री., योनिरोग० नीलपीतासृक्स्रावान्नाम तादृशशोणितपरिप्लुताद् परिप्लुतेति सुष्ठूक्तम्। पित्तलायाः पुंसङ्गतौ क्षवथूद्गारयोर्धारणात् पित्तयुक्तेन मरुता दूषिता योनिः शूना स्पर्शासहा सार्तिर्नीलपीतास्रवाहिनी श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत् (चचि. ३०.२३-२४) बस्तिकुक्षिगुरुत्वातिसारारोचककारिणी च भवति (असंउ. ३८)

परिबर्ह–पु., सामग्री, शयनासनपुष्पादिपरिच्छदः (चशा. ८.१२)

परिबृंहण–न., समन्ततो वर्धनम्, अतिशयेन बृहत्त्वं परिपुष्टिर्वा (चसि. ३.२७)

परिभव–पु., रोग० बालरोगः पारिगर्भिकः (असंउ. २)

परिभूत–वि., परिभवाख्यरोगयुक्तः (इन्दु. असंउ. २) असाध्यः (काखिल. १३.२९)

परिमण्डल–पु., कीट० मशकभेदः सामुद्रकृष्णपार्वतीयादिपञ्चानामेकतमोऽयं, तद्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च भवति। नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति (सुक.८.३६)
न., वनस्पति० परूषकम् (ध.५.६२)
वि., वर्तुलम् परिपूर्णं मण्डलं (सुनि.१३.६)
–मध्यास्थि–न., वनस्पति० परूषकम् (ध.५.६२)

परिमर्दन–न., मर्दनं, घर्षणम् (र.२.७६)

परिमर्शनीय–वि., अध्याय० परिमर्शमरिष्टज्ञापकस्पर्शमधिकृत्य कृत इति परिमर्शनीयः (चइ.३.१)

परिमाण–न., मानम् (चसू.२६.२९)
परिमीयतेऽनेनेति (सुचि.३१.८)
सङ्ख्या परिमीयते संख्यायते इति परिमाणं संख्या परिच्छेदो वा (चशा. ७.१४)
–विशारद–वि., परिमाणं यथावज्ज्ञानिनः (चक. १२.९७)

परिमार्गण–(परिव०) न., मार्गणम् गवेषणम् (सुचि. ३०.४०)

परिमार्जन–न., उद्वर्तनम् (चसू. ५.९३)

परिमिताहार–वि., अनिषिद्धाशनं भुञ्जानः, निषिद्धाशनवर्जनपूर्वकं युक्ताहारसेवी (ड. सुउ. ५६.५)

परिमृष्ट–वि., निर्मलम्, शुद्धम् (असंसू. ३.८)

परिम्लान–वि., क्षीणकायः (चचि. ५.३८)

परिम्लायिन्–पु., न., नेत्ररोग० पैत्तिकोऽयम् (सुउ. १.३२) अरागप्राप्तस्य तिमिरस्य परिम्लायीति संज्ञा (सुउ. ७.२५) रक्ततेजसा मूर्च्छितं पित्तं परिम्लायि तिमिरं करोति। तस्मिन् रुग्णो दिशः पीताः पश्यति। तथोद्यन्तमादित्यमिव च खद्योतैस्तेजोभिर्विकीर्यमाणान् वृक्षांश्च पश्यति (सुउ. ७.२५-२६)

(परिम्लायि)-त्व-न., शुष्कता (सुसू. ३२.४)

परिरक्षण-न., सर्वतो रक्षणम्, (सुसू. १५.६)

परिरक्षा-स्त्री., सर्वतो रक्षणम्, समन्ततः संरक्षणम् (अहसू. २५.२)

परिलेहिन्-पु., रोग० कर्णपाल्यां जायमानः, तल्लक्षणं-कफासृक्कृमयः पाल्यां सर्षपाभा विकारिणीः स्राविणीः कण्डूदाहरुगन्विताः पिडकाः कुर्युः । कफासृक्कृमिसम्भूतोऽसौ व्याधिरितस्ततो विसर्पन् सशष्कुलीका पालीं लिह्यात् (सुचि. २५.१०-११)

परिवर्तन-न., स्वरूपान्तरम्, अन्यथाभवनम् (चचि. १५.२१)
विलोटनम्, पार्श्वपरिवर्तनमिति हाराणचन्द्रः (सुसू. १९.११)

परिवर्तिका-स्त्री., क्षुद्ररोग० मेढ्रचर्मणः प्रतिनिवर्तन-स्वरूपोऽयम् । तल्लक्षणम्-मणेरधस्तात् कोशो ग्रन्थिरूपेण लम्बते। सवेदनदाहोऽसौ क्वचित्पाकं व्रजति। मारुतागन्तुसम्भूता सा परिवर्तिका सरुजा, श्लेष्मसमुत्थिता तु कण्डूमती कठिना स्निग्धा च (सुनि. १३.४७-५०) सङ्ग्रहे त्वस्या नाम 'निवृत्तचर्म' इति (असंउ. ३८)

परिवाद-पु., दोषकथनम् तज्जन्या निन्दा वा (सुचि., २४.९०)

परिवापन-न., संस्कार० अग्नौ तापयित्वा द्रावे पातयित्वा निर्वापणम् (र. २.३८)

परिवार-पु., सेवकजनः (असंसू. २८.२९)

परिविस्तर-पु., विस्तारः (सुशा. ६.२९)

परिवीजन-(परिव०,) न., परितः वीजनम् (सुशा. १०.२३)

परिवृत्तगर्भा-स्त्री., परिवृत्तोऽवाक् परिवृत्तो गर्भो यस्याः सा । तल्लक्षणम्-गर्भो हृदयं विमुच्योदरमाविशति बस्तिशिरोऽवगृह्णाति । आध्यश्चैनां त्वरयन्ति (असंशा. ३.२१) अस्यामवस्थायां प्रवाहणनियमानुरूपमुपक्रमेत (असंशा. ३.२४)

परिवृत्ति-स्त्री., क्षुद्ररोग० परिवर्तिका (सुचि. २०.४०)

परिवेशक-वि., अन्नादेः परिवेषणे नियुक्तः सेवकः (चनि. ६.१३)

परिव्याध-पु., वनस्पति० वानीरः, (रा. परि. ९.१७)
कर्णिकारः (ध. १.२२१; रा. ९.३३६)
जलवेतसः (इन्दु. असंशा. ४.२५; चशा. ८.२९)

परिव्राजी-स्त्री, वनस्पति० मुण्डी (ध. १.१५९)

परिशुद्ध-वि., समन्तान्निर्मलम् (सुचि. ३१.५६)
-काय-वि., स्नेहस्वेदपूर्वकवमनादिभिर्विशुद्धशरीरः (सुचि. २५.३५)
-कोष्ठ-वि., निर्दोषोदरः (ड. सुचि. ३१.५६)

परिशुष्क-वि., आर्द्रतारहितम् (सुशा. ८.१९; सुसू. ४६.३५३)

परिशोधन-न., वमनविरेचनबस्त्यादिना कोष्ठशोधनम् (र. ५.५२)

परिषद-स्त्री., सभा, विद्वत्समूहः, सा द्विविधा ज्ञानवती मूढपरिषच्च, द्विविधाऽपि कारणविभागेन पुनस्त्रिविधा, सुहृदुदासीनप्रतिनिविष्टभेदात् (चवि. ८.२०)

परिषेक-पु., स्नानम् (सुचि. २९.१२) धाराप्रसेकः (सुउ. ३९.१५६)
व्रणोपक्रमः परिसेचनम् (सुचि. १.८; काखिल. १३.२४)
स्वेद० तद्विधिः- वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेत् (चसू. १४.४४)

परिष्कृत-न., परिकल्पितम् संस्कृतम् (अहसू. १३.२९)

परिसंवत्सर-वि., अध्ययनं स्वयमुपसंस्कृत्य पुनरध्येता, (चक्र.) संवत्सरं परिप्राप्तः सांवत्सरिकाध्ययनं कर्तव्यतया प्राप्तः (चवि. ८. २०)
वर्षोषितम् (सुसू. ४६.३३८) वर्षातीतम् (चचि. ११.१४)

परिसर-पु., उपान्त्या भूः (सुचि. २९.१२)

परिसरण-न., भ्रमणम् (चनि. ७.७ (१)
लक्षण० कुण्डलरूपभ्रमणम् (चवि. ६.१८)

परिसर्प-पु., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक. ४.३४ (१)
रोग० विसर्पः, सर्वतः सर्पणात् परिसर्पः (चचि. २१.११) तल्लक्षणम्-यस्मिन् रोगे शरीरे पिडकाः स्रवन्त्यः सत्यः शनैः सर्पन्ति स परिसर्पः (सुनि. ५.१२)

परिसर्पण-न., अङ्गादिषु प्रचालनम् (चसू. १८.४)

परिसर्पित-वि., परिसर्परोगयुक्तः, कारण्डादिभिः स्पर्शविशेषैः परिसर्पितः (चक. चसू. २६.४३ (२))

परिसिक्थिका-स्त्री., तनु-पेया (असंउ. ४९)

परिसित्थिक-न., सिक्थोदकम् (असंउ. ४९)

परिसिद्धिका-स्त्री., मण्डः (काभोजनक. ५२)

परिसृता-स्त्री., आसुत० सुरा (रा. १४.३०२)

परिस्पन्दन-न., संचलनम् (असंशा. ५.१०)

परिस्रव–पु., नासारोग० तल्लक्षणम् अस्मिन् मस्तुलुङ्गाद् घनपीतपक्वः कफः स्रवति (चचि. २६.११२;)

परिस्राव–पु., गालनम् (अहसू. २८.१०)
मलानामल्पाल्पशः सरणम् (सुचि. ३४.१७) दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि पित्तश्लेष्मणोः सवेदनं स्रवणं च (सुचि. ३४.१७)

परिस्राविन्–वि., सर्वतः स्रोतुं शीलं यस्य तत् (सुचि. ८.२३; असंसू. ३३)

(परिस्रावि)–भगन्दर–पु., रोग० भगन्दरभेदः कफजोऽयं स्रावयोगात् परिस्रावी। तत्सम्प्राप्तिलक्षणे–वातेनाधः प्रेरितः श्लेष्मा भगे कण्डुमतीं पीटिकां जनयति। अप्रतिक्रियमाणा सा पाकमुपैति। व्रणश्च कण्डूप्रायः पिच्छिलमजस्रास्रावं स्रवति। उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति (सुनि. ४.७; असंउ. ३३)

परिस्राव्युदर–न., रोग० उदरभेदः, छिद्रोदरम् (चसू. १९. ४ (१); असंनि. १२; अहसू. १२. ३२-३६) क्षतान्त्रमुदरमिति गयी क्षतोदरमिति (मा. नि.) तल्लक्षणम्–नाभेरध उदरं वृद्धिमेति। अतीव निस्तुद्यते विदह्यते च छिद्रात् परितो यस्मिन्नुदरे स्रावो भवति। तस्मिन् जलोदरादप्याशुत्वेन जलसञ्चयो भवति (सुनि. ७.२०) असाध्यमिदम् (सुचि. १४.३)

परिस्रुत–वि., गालितम् (सुउ. ५८.४६)

(परिस्रुता)–स्त्री., रेवतीग्रहः, तल्लक्षणम्–यस्याः कृशात्मनो नार्या योनिरभीक्ष्णं स्रवति सा परिस्रुता ज्ञेया (कारेवतीक.)

परिस्रुति–स्त्री., स्रावः, पतनम् (चशा. २.१५) पिच्छिलजलस्रवणम् (इन्दु. असंउ. ३४)

परिहर्ष–पु., झिनझिनिका (चक. चनि. ५.७)

परिहार–पु., त्यागः, वर्जनम्, (सुचि. २७.८) तन्त्रयुक्तिः दोषवचनस्य परिहरणम् (चवि. ८.६०)

–काल–पु., पथ्यकालः (चसि. १.४)

–विरुद्ध–वि., यथा वराहादिसेवनोत्तरमुष्णसेवनं घृतादिपानोर्ध्वं च शीतसेवनं दोषप्रकोपात्परिहारविरुद्धं भवति। (चसू. २६.९८)

परिहार्य–वि., त्याज्यः; सेवनानर्हः परिहरणयोग्यः (असंशा. ४.)

परिहृष्टरोमता–स्त्री., लक्षण० उद्धर्षितरोमता, उच्छ्रूनरोमता (ड. सुउ. २४.५)

परीकर्त–पु., लक्षण० कृन्तनवत् वेदना (अहसू. ४.३)

परीक्षक–पु., समीक्ष्य कर्मकर्ता श्रुतबुद्धिस्मृत्यादिगुणैरुपेतः (चसू. २८.३६-३७)

परीक्षा–स्त्री., लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणम् (चवि. ८.१८) वस्तुस्वरूपनिर्णयः (चवि. ४.७)
आतुरभेषजादीनां लक्षणैः परीक्षणम् (चवि. ८.७९) परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा प्रमाणम् (चक्र.) द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं चेति (चवि. ४.७) आप्तोपदेशप्रत्यक्षानुमानयुक्तिभेदेन सा चतुर्विधा (चसू. ११.१७)

परीक्षित–वि., यस्य परीक्षा कृता, तत् (असंसु. ८.८)

परीक्ष्य–वि., परीक्षणीयं परीक्षितुं योग्यम् (चह. १.३-४)

–विषय–पु., (परिव०) परीक्षितुं योग्या दोषौषधादिभावाः ते एते–दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकोवयोबलानीति दश परीक्ष्या विषयाः (चचि. ३०.३२६; अहसू. १२.६७–६८)

परीणाम–पु., परिणमनम्, रूपान्तरप्राप्तिः, जारणाया अवस्थाकृतं नामान्तरम् (र ८.७२–७३)

परीणाह–पु., वर्तुलता, (सुचि. २४.४) विशालता, (र. ९.६; असंशा. ११.२०)

परीपाक–पु., परिणामः, (सुनि. ७.२५)

परीवाप–पु., दीर्घिका, जेन्ताकस्वेदार्थमस्याः संनिधानमुपदिष्टम् (चसू. १४.४६)

परीवाह–पु., प्रवाहः, उच्छ्वासः, (असंसू. २६.१५)

परीशोष–पु., लक्षण० परितः संशोषणम्, (चसू. १७.५८)

परीषेक–पु., उपक्रम० नेत्रादौ द्रवौषधेन सिञ्चनम् सेकः (सुउ. ९.५)

परीसर्प–पु., रोग० विसर्पः (चसू. १.११७; अहसू. ५.३८)
कृमि० शोणितजोऽसौ (सुउ. ५४.१५)

परु–पु., ग्रन्थिः (रा. ७.२१९)
न., वनस्पति० परूषकम् (ध. ५.६२)

परुष–पु., कीट० कुम्भीनसतुण्डिकेरीप्रभृतीनामेकतमः वायव्योऽसौ, वातरोगान् करोति (सुक. ८.५–८; असंउ. ४३)
वि., कर्कशम् (सुनि. २.१५) अपिच्छिलम् रूक्षम् (सुसू. १४.२१)

–रोमन्–वि., रूक्षरोमयुक्तः (चशा. ८.२१)

–वर्णत्व–न., लक्षण० रूक्षवर्णता (चनि. १.२१)

–वाच्–वि., लक्षण० कर्कशवचनः (सुउ. ६२.८)

परुष–न., वनस्पति० परूषकम् (ध. ५.६२)

परूषक– पु., न., वनस्पति० विरेचनोपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
श्रमहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)
ज्वरहरगणोक्तं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)
वातपित्ते शस्तम् (चसू. २७.१२८)
पित्तशूले उपयुक्तम् (सुउ. ४२.१०८)
कवलग्रहोपयोगि (सुचि. २२.६२)
कषायरसफलेषु श्रेष्ठम्, (सुसू. ४६.३३४)
धन्वपत्रकः, वृक्षविटपभेदात् स द्विविधः, मृद्वल्पास्थिफलः (ड. सुसू. ३८.४३; सुसू. ४६.१७२)
परूषकगुणाः–आमं परूषकमत्यम्लं कटु ईषन्मधुरं कषायानुरसं लघु पित्तजननं वातघ्नं च । पक्वपरूषकं मधुरं शीतं मधुरविपाकि रक्तपित्तप्रसादनं वातपित्तघ्नं शोफघ्नं च (सुसू. ४६.१७२; ध. ५.६२)
हिं.—फालसा, फलहे.
म.—फालसा.
गु.—फालसा.
बं.—परुषफलेर गाछ, फलसा.
–पानक–न., आहारद्रव्य० तद् हृद्यं विष्टम्भि च (सुसू. ४६.३९०)

परूषकादिगण–पु., वर्ग० परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफलानि त्रिफला च। अयं हृद्यो रुचिप्रदः पिपासाघ्नोऽनिलविनाशनो मूत्रदोषहरश्च (सुसू. ३८.४३-४४; असंसू. १६.७; अहसू. १५.१३)

परूषकादिगणसिद्धघृत–न., घृत० पूयप्रख्ये शुक्रदोषे प्रशस्तम् । (सुशा. २.९)

परोक्षवृत्ति–वि., अज्ञाता वृत्तिर्यस्य (असंसू. ८.७)

पर्जन्य–पु., वर्षुको मेघः (सुसू. ५.२४)

(पर्जन्या)–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (धनि. १.५९)

पर्ण–पु., वनस्पति० पलाशः (१०.२७४)

(पर्णी)–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. १.९०)
शालपर्णी पृश्निपर्णी च (असंसू. ८.२९)
सप्तपर्णः (र. २५.६)
न., दलम्, पत्रम् (र. ११.१२४)
–चोरक–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)
–भेदिनी–स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)
–मृग–पु., वृक्षनिवासी प्राणी मद्गुमूषिकादिः मद्गुमूषिकावृक्षशायिकाऽवकुशपूतिघासवानरप्रभृतयः।

तत्सामान्यगुणा :–मधुरा गुरवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे प्रशस्ताः सृष्टमूत्रपुरीषाः कासार्शःश्वासनाशनाश्च (सुसू. ४६.७६; धपरि. ६.८)
–लता–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूलः (रापरि. ११.६)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० पलाशी (रापरि. ३.४९)
–शबरी–स्त्री.,देवता० इयमौषधीनिर्माणविधौ पूजनीया (असंसू. ३८.२२)

पर्णाश–पु., तुलसीभेदः (असंसू. ७.१५६)

पर्णास–पु. कृष्णार्जकः (चनि. २.४)
उत्पलपत्र इति जज्जटः (चचि. ३.२६७)
वनस्पति० कुठेरकः (ध. ४.५४)

पर्णासक–पु., तुलसीभेदः कृष्णार्जकवृक्षः, (चक.१.२५)

पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णीभेदः, सर्वानुकारिणी, (ध. १.९१)

पर्णिनी–स्त्री., वनस्पति० शालपर्णी पृश्निपर्णी माषपर्णी मुद्गपर्णी वा (असंचि. ९ अहसू. १०.२३)

पर्णी–स्त्री., (परिव०) वनस्पति० एरका (असंसू. ६.२७)
–मूल–न., एरकामूलम् (असंसू. ६.२७)

पर्पट–पु., कृताऩ्न० भक्ष्य० 'पापड' इति लोके।
तद्गुणाः—रुच्यो लघुश्च (असंसू. ७.३४)
(अहसू. ६.७६; चसू. २७.२७२)
वनस्पति० शीतप्रियः (अहसू. ६.७६)
पर्पटगुणाः–तिक्तः शीतः पित्तकफघ्नो तृष्णा ज्वररक्तदाहारुचिग्लानिमदभ्रमघ्नश्च (असंसू. १२.७२; ध. १.४५) कटुपाकी ग्राही वातलश्च (अहसू. ६.७६; चसू. ४.१४)
हिं.—पित्तपापडा, दवनपापडा.
म.—पित्तपापडा.
गु.—पीतपापडो, खडसलियो.
बं.—खेतपापडा.
त.—पर्पाटकम्.

(पर्पटी)–स्त्री., पारददोषविशेषः, रसगन्धपर्पटीवद् दृश्यमानः पारदस्यौपाधिको दोषः (र. ११.२२)
पोटबन्धः, बालोद्यखिलरोगनुदसौ (र. ११.७३)
–द्रुम–पु., वनस्पति० कुम्भीरः (रापरि. ९.१९)

पर्पटक–पु., वनस्पति० पर्पटः (चसू. ४.१४;) (ध. १.४५; सुसू. ४६.२६२)

(पर्पटकी)–स्त्री., वनस्पति० पर्पटः (चसू. २७.१६२)

पर्पटिकारस–पु., योग० नवज्वरारिः (र. १२.१४४)

पर्यङ्क–पु., खट्वा, परितः अङ्क्यते लक्ष्यतेऽनेनेति पर्यङ्कः, बिल्वमयी खट्वाऽपेक्ष्यते (चशा. ८.३४; असंशा. ३.२४)
–**पादिका**–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३)
पर्यङ्किका–स्त्री., पर्यस्तिका (सुचि. २४.९४)
पर्यवदात–वि., विशुद्धज्ञानवान् (चसू. १५.७)
–**त्व**–न., वैद्यगुणविशेषः विशुद्धज्ञानवत्त्वम् (चसू. ९.६)
–**श्रुत**–वि., आचार्यगुणविशेषः विशुद्धं ज्ञानं यस्य सः (चवि. ८.४)
–**श्रुतता**–स्त्री., भिषग्गुणविशेषः विशुद्धज्ञानवत्त्वम् (चवि. ८.८६)
पर्यसन–न., परिक्षेपः इतस्ततः स्वच्छन्दं प्रेरणम् (चवि. ३.३८)
पर्यस्तिका–स्त्री., अल्पीयसी खट्वा, पर्यस्यते निक्षिप्यते शरीरमस्यामिति पर्यस्तिका अल्पाकारा खट्वा (असंसू. ३.१२६)
पर्याकाशभूयिष्ठ–वि., परितः सर्वत आकाशं भूयिष्ठमधिकतमं यस्मिन् सः (देशः) (चक. १.८)
पर्यागत–वि., परिपक्वम् (सुसू. ४३.४)
पर्यादान–(परिव०) न. ग्रहणम् (सुचि. ४.२९)
पर्याधानोद्धृत–वि., शुष्कोद्धृतम् (चक्र. चचि. २१.१००)
पर्याध्मात–वि., अत्याध्मातम् (चचि. १७.३३)
पर्याप्त–वि., समाप्तम् (चशा. ८.६)
पर्याप्ति–स्त्री., निष्पत्तिः, पूर्तिः (चशा. ६.१५)
तृप्तिः (चसू. २७.३२५)
पर्याय–पु., उचितक्रमः (चशा. ६.७)
परिपाटी (सुचि. ४०.१८)
संज्ञान्तरम् (असंनि. १.९)
–**वचन**–न., संज्ञान्तरवचनम् पर्यायवाचिपदैः प्रतिपादनम् इदमर्थविज्ञानायोपपद्यते (चइ.१२.४१)
पर्युषित–वि., व्युष्टम् स्वकालं परित्यज्य अवस्थितम् (सुउ. ५८.३१; असंसू. ६.४९; सुसू. ४५.४१)
रात्र्युषितम् (सुसू. ४५.४१; असंसू. १०)
पर्युषिताशन–न., ह्यस्तनीयस्य ओदनाद्यन्नस्य सेवनम् (असंनि. ३.२१)
पर्योग–पु., पात्रविशेषः कटाहः (चक्र. चनि. ७.२६; चसू. १५.७)
पर्वन्–न., शारीर० अवयवसन्धिः (चशा. ७.४.; सुसू. २५.३८)
(परिव०) सन्धिकालः, पर्वकालः (चइ. ४.१४)
परुः (रा. ७.२१९)
(पर्व)-पुष्पी–स्त्री., शाक० कुक्कुटी, इयं वातपित्तनाशनी (चसू. २७.१०८)
–**भेद**–पु., लक्षण० ग्रन्थिस्फुटनम्, सन्धेः स्फोटः (ड. सुचि.३४.६; सुक. ७.८–९)
अङ्गुलिसन्धिभेदः (चसि. २.१६)
सन्धिपीडा (ड. सुउ. ४४.११)
–**भेदन**–न., लक्षण० पर्वभेदः (अहसू. १४.३०)
–**मरण**–(परिव०) पु., कालमृत्युः (अहसू. ७.७४)
–**मूला**–स्त्री., वनस्पति० श्वेता (रापरि. ५.४६)
–**रुक्**–स्त्री., लक्षण० पर्वसु पीडनम्, सन्धिपीडा (ड. सुउ.४०.१७४)
–**वल्ली**–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, मालादूर्वा (रा. ८.२३२)
–**शूल**–पु., लक्षण० पर्वणः शूलः (चसि. २.१६)
–**शोष**–पु., लक्षण० पर्वणः शोषः (चसि. २.१६)
–**स्तम्भ**–पु., लक्षण० पर्वणः स्तब्धता (चसि. २.१६)
पर्वणी–स्त्री., शाक० पर्वशाकम्, इयं वातपित्तनाशनी (चसू. २७.१०८)
नेत्ररोग० नेत्रे कृष्णशुक्लसन्धौ पिडका भवति। सा च ताम्रा तनुर्दाहशूलशोफयुक्ता भवति (सुउ. २.८) इयं रक्तजा, साध्या च, (सुउ. १.३८; १५.२३–२५) इयं शस्त्रसाध्या (असंउ. १३)
पर्वत–पु., देवर्षिविशेषः (सुसू. ५.३१.)
गिरिः (रा. १२.९५)
–**तृण**–न., वनस्पति० तृणाढ्यम् (रापरि. ८.५३)
पर्वतीयहरिद्रा–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा, इयं आश्रोतने श्रेष्ठा (काखिल. १३४२–४३)
पर्वतोद्भूत–न., खनिज० अभ्रकम् (धपरि. ६.३–४)
पर्वतोपत्यका–स्त्री., पर्वतसमीपा भूमिः (का. विशेषकल्प)
पर्वतोपश्लेष–पु., गिरिसमीपे वसतिः (असंनि. १.१९)
पर्वानुप्लव–पु., बालरोग० तल्लक्षणम्–अस्मिन बालस्य हस्ताभ्यामुत्थितो वायुः शिरः पृष्ठं ततो मुष्कौ ततः पादौ च रुजेत् (असंउ. २)
पर्वाभिताप–पु., लक्षण० पर्वसु सन्तापः (असंसू. २८.१०)
–**मोचा**–स्त्री., वनस्पति० गिरिकदली (रा. ११.११२)
–**वासिनी**–स्त्री., वनस्पति० आकाशमांसी (रा. १२.९५)
पर्शुका–स्त्री., अस्थि० पार्श्वस्थितमस्थि (चशा. ७.६)

पृष्ठभागनिबन्धनास्थि (सुचि. ३.२९) तत्सङ्ख्या उरस उभयपार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः (चशा. ७.६)

-भग्न–न. (परिव०) लक्षण० पर्शुकाया विनमनम् (सुचि.३.२९)

पर्शुकाग्र–न., पर्शुकाया अग्रम् (चइ. १०. ९)

पल–न., मान० कर्षचतुष्टयम् (चक. १२.९२; सुचि. ३१.७; असंक. ८) "शुक्तिद्वयं पलं केचिदन्ये शुक्तित्रयं विदुः । " (र. ११.६)

शारीर० मांसम् (सुउ. १.११; असंसू. ७.१०९; अहसू. २८.४५)

राशिः (चक. १.१३)

पलक्या–स्त्री., वनस्पति० पालक्यम् (रापरि. ७.७२)

पलङ्कष–पु., निर्यास० कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६)

वस्त्रधूपनोपयुक्तं इदं द्रव्यम् (चशा. ८.६१)

वनस्पति० जटामांसी (चशा. ८.६१)

(पलङ्कषा)–स्त्री., निर्यास० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७; (सुउ. ३१.४.) संज्ञास्थापनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)

वनस्पति० जटामांसी (चसू. ४.१८)

गोक्षुरभेदः, क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.१३१)

निष्पावः (रा. १६.१७५)

महामुण्डी (रा. ५.२१९)

जाङ्गम० लाक्षा (ध. ३.८२; असंउ. ९)

पलल–पु., तिलकल्कः (सुउ. ५४.५; चक. ३.१२; असंशा. १२.४)

न., तिलपिष्टम् (सुउ. ३२.८; सुचि. २०.५१)

भृष्टतिलचूर्णम्, कृमिरोगे उत्क्लेशोपयोगि (सुउ. ४३.२०)

अलर्कविषहरमेकं द्रव्यम् (सुक. ७.५२)

सस्नेहस्तिलकल्कः (ड.) अलर्कविषे अलकाधिपतियक्षोद्देश्यकं बलिद्रव्यम् (सुक. ७.६०)

मांसम् (चनि. ४.५; र. २७.९४; असंशा. १२.४)

पलाण्डु–पु., शाक० स्थूलनालाग्रपत्रो गुन्द्रालिकाभेदः

गुणाः— कटुर्नातियुष्णवीर्यस्तीक्ष्णो गुरुर्वातघ्नो नातिकफावहः,किञ्चिदपित्तकरो बलावहोऽग्निविवर्धनः (सुसू. ४६.२४६) पलाण्डुर्गुणै रसोनसदृशोऽपि तद्गुणन्यूनोऽस्ति (अहसू. ६.११२) विपाके मधुरः केवलोऽनिलनाशनः (ध. ४.७२; रा. ७.१०; असंसू. ७.)

क्षीरपलाण्डु राजपलाण्डु श्वेति पलाण्डुभेदः (ध. ४.७२; रा. ७.१०२)

हिं.—पियाज, प्याज.

म.—कांदा.

गु.—डुंगळी.

बं.—पेयाँज.

त.—इखेङ्कनयम्, ईरुळळी.

फा.—प्याज.

पलार्ध–न., मान० द्वे सुवर्णे, शुक्तिः (चक. १२.९१)

पलाल–पु., सस्यशून्यधान्यनालः (सुचि. ३२.११)

न., तृणम् (चइ. १२.१९)

–जात–न., शाक० तद्गुणाः –मधुरं मधुरविपाकं रूक्षं दोषप्रशमनं च (सुसू. ४६.२९३)

पलाश–पु., वृक्ष० त्रिपर्णः शुकतुण्डाभपुष्पो; किंशुकनामाऽयं वसन्ते पुष्पितो भवति (सुसू. ६.२६) रक्तपीतसितनीलवर्णैः कुसुमैरयं चतुर्विधः । तत्र सितो विज्ञानदः (रा. १०.२७६-७७) आस्थापनोपयोगि द्रव्यम् (चसू. २.१३) अस्य निर्दाहरसलेपात् कुष्ठं नश्यति । तन्निर्दाहविधिः पलाशस्य प्रधानमूले छिन्नेऽधः कुम्भं दत्वोपरि वृक्षदाहाद्यो गलति स्वरसः स निर्दाहरसत्वेन गृह्यते (चसू. ३.१६) एतद्रसविपक्वं घृतं रक्तपित्तप्रशमनम् (सुउ. ४५.२९) एतस्मात् क्षारो विधूतो भवति (सुसू. ११.११) अस्य फलनिर्यूहः पित्तातिसारघ्नः (चचि. १९.५९) वृन्तमस्य रक्तपित्ते उपयुक्तम् (चचि. ४.८९) पलाशगुणाः– कषाय उष्णः सङ्ग्रहणो दीपनः सरो वातश्लेष्मघ्नः कृमिप्लीहवृद्धिगुल्मग्रहण्यर्शोघ्नश्च । बीजमस्य पामादित्वग्रोगहरम् । पुष्पमस्य उष्णं कण्डूकुष्ठार्ति नाशनं मारुतघ्नं च (अहसू. १५.४१; रा. १०. २७५-७६; असंसू. १६.२०)

हिं.—ढाक.

म.—पळस.

गु.—खाकरो.

बं.—पलाशगाछ.

त.—पलाचु, पुरचमरं.

फा.—दाराखटेपलाशा.

वनस्पति० शटी (सुचि. ४.३२) द्र० ' सठी ' (' शठी ')

न., पर्णम् (चक. १.१०)

वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२)

(पलाशा)–स्त्री., निर्यास० नाडीहिङ्गु (ध. २.४०)
वनस्पति० शटी (चक्र. चसि. ३.३८) द्र० 'सठी' ('शठी')

(पलाशी)स्त्री., जाङ्गम० लाक्षा (रा ६.१४२)
वनस्पति० इयम् वल्ली अम्लपत्रा दीर्घवल्ली सुपर्णयुक्ता वर्णयुक्ता दीर्घपत्रा रसाम्ला विद्यते तथैव नागरदेशे प्रसिद्धा। तद्गुणाः– मधुराऽम्ला मुखदोषविनाशिनी पथ्या पित्तकोपकरी अरोचकहरा च (रापरि. ३.५१)

–क्षार–पु.. कल्प० पलाशस्य क्षारपरिस्रावणविधिनाऽधःस्रुतं द्रव्यम् (चचि. २३.१०१)
पलाशभस्म, रक्तविभेदनमिदम् (सुउ. ४२.२०)

–गन्धा–स्त्री., निर्यास० तवक्षीरम् (ध. २.५८)

–तरुज–पु., पलाशपल्लवः, एतत्कल्कलेपो दाहविनाशी (सुउ. ३९.२८५)

–तैल–न., पलाशबीजतैलम्, इदं मधुरं कषायं कफपित्तप्रशमनं च (सुसू. ४५.१२१)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१)

–लोहिता–स्त्री., वनस्पति० चिल्ली. (रा. परि. ७.६६)

–सिद्धसर्पिस्–नः, सिद्धघृत० ग्रन्थिभूतशुक्रशोधनमिदम् (सुशा. २.८)

पलाशान्ता–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.९०)

पलाशास्थि–न., पलाशबीजम् (र. २०.२०)

पलाशिका–स्त्री., वनस्पति० पलाशी (रापरि. ३.४९)

पलाशिनी–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४.१५७)

पलिक–वि., पलसम्मितं पलमात्रम् (चसि. १२.१६ (२)

पलित–न., वनस्पति० मरिचम् (ध. २.८८)
शैलेयम् (ध. ३.७३)
केशशुक्लत्वम् (चवि. ८.९७)
क्षुद्ररोग० शिरःकपालगतोऽयम् । रसप्रदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८.१०; सुसू. २४.९)
तत्सम्प्राप्तिः– क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः सन् पित्तं केशांश्च पचति । तेन शीर्षकेशानां पाण्डुवर्णत्वं जायते (सुनि. १३.३७)
प्राकृतवैकृतभेदाद् द्विविधमेतत् । प्राकृतं कालजं वैकृतमकालजं च । तत्र वातात् स्फुटितं श्यावं खरं रूक्षं, पित्तात् सदाहं पीताभं ज्वलत्प्रभं च। कफात् स्निग्धं विवृद्धिमत् स्थूलं सुशुक्लं च। त्रिदोषाद् व्यामिश्रलक्षणम्। तथा शिरोरुजोद्भवं पलितं विवर्णं स्पर्शनासहं च भवति। तत्र सन्निपातजमसाध्यम् (असंउ. २७; चचि. २६.१३२)

पलितोन्दुरु–पु., मूषक० एतद्दष्टेऽस्रसम्भवा रोगा ग्रन्थिकर्णिकाश्च भवन्ति (असंउ. ४६)

पल्ल–पु., धान्यस्थापनार्थं वेण्वादिकृतं बृहत् कोष्ठम् (चचि. १(२). १३)
धान्यादिराशिः(चक्र. चक. ७.७२; इन्दु. असंउ. ४९)

पल्लव–पु., जाति० शूद्रभेदः, अयं मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचितः (चचि. ३०.३१६)
पर्णम्, पत्रम् (चसू. १.७३)
हस्ताभिनयः (चसू. ११.५१)

–द्रु–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७२)

–यूष–पु., यूष० न्यग्रोधाश्वत्थादिजैः पल्लवैर्निर्मितं पेयम् (काखिल. ४.५१)

पल्लिवाह–पु., वनस्पति० तद्गुणाः– पशूनां बलप्रदः (रापरि. ८.५६)

पल्वल–न., आनूपदेशजं तृणादिच्छन्नं सरः (ड. सुसू. ४५.४)
खातगर्तः खननाज्जलसञ्चयार्थं निर्मितो गर्तः (ड. सुचि. २४.९१)

पवन–पु., महाभूत० वायुः (सुसू. ४२.३; सुचि. ३५.३०; असंसू. ५.२७; अहसू. ३.३)
दोषविशेषः, वायुः (चचि. २९.२३७)
वनस्पति० मञ्जरः (रापरि. ८.५.२)

(पवनी)–स्त्री., वनस्पति० बीजपूरकभेदः वनबीजपूरकः (रा. ११.३४)

–कृत्–वि., वातकृत् (अहसू. ६.१२)

–निग्रहण–वि. वातशमनः (सुसू. ४२.१०(२))

–शोणित–न., रोग० वातरक्तम् (र. ३०.५०)

पवनाधिक–वि., वातभूयिष्ठम् (असंसू. ६.११) एतद्गुणके देशे कषायमुदकं भवति (असंसू. ६.११)

पवनानुलोमन–वि., वातानुलोमनम् (सुसू. ४२.१०(२))

पवनाशिन्–पु., सर्पः, वायुभक्षकः (असंउ. ४१)

पवनेन्द्रिय–पु., लक्षण० दुष्टो वायुर्गर्भस्थस्य शुक्रस्थानं समूलं हत्वा नष्टशुक्रं करोति । स पवनेन्द्रियो नरः (चशा. २.१७)

पवनेन्द्रियत्व–न., पवनशुक्रत्वम् पवनस्य व्यवायकाले शुक्रसदृशरूपतया प्रवर्तनम्, वातहतशुक्रत्वम् (चशा. २.१८)

पवनेष्ट–पु., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४४)

पवि–पु., खनिज० हीरकः (ध. ६.५५; र. २६.५१)

पवित्र–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (रापरि. ९.३१)

(पवित्रा)–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९)
पिप्पलभेदः अश्वत्थिका (रा. ११.१२२)
न., जाङ्गम० घृतम् (ध. ६.१४४)
मधु (रा. १४.२७०)
–धान्य–न., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४)
–पूत–वि., पवित्रमेव सत् मन्त्रेण पूतम् अधिकतरं पवित्रीकृतम् (चशा. ८.१०)
पवित्रक–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७८)
उदुम्बरः (रा. ११.१३७)
दमनम् (रा. १०.१२०)
शरः, (रा. ८.२०९)
पशु–पु., मृगः गवाश्वादिः (अहसू. १५.३४)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (अहसू. १५.३४)
–पति–पु., देवता० महेश्वरः (सुसू. १९.२३)
–मोहनिका–स्त्री., वनस्पति० कट्टी, (रापरि. ३.४३)
पश्चात्–(अव्य.,) पृष्ठम् (चक्र. चसि. ९.८४)
–कर्मन्–न., पश्चाच्चिकित्सा० आनंतर्येण सम्पाद्यमानं कर्म (सुसू. ५.३)
पश्चिम–वि. पश्चाद्भवम् अनन्तरोत्पन्नम् (असंसू. १२.९६)
–याम–पु., चतुर्थः प्रहरः (सुक.४ ३१)
पश्चिमानिल–पु., पश्चिमदिग्जातो वायुः । असौ मूर्च्छा-दाहतृड्विषाणि निहन्ति (सुसू.६.३१;असंसू.१२.९६)
पश्चिमोदधिगा–वि., पश्चिमसमुद्रं प्रति गच्छन्ती नदी (अहसू. ५.८)
पांशु–पु. धूलिः (सुचि. २.५७; अहसू. ७.४५)
वनस्पति० पर्पटः (ध. १.४५)
–ज–न., पूर्वसमुद्रजं लवणम्, तद्गुणाः–सतिक्तं कटु रोचनं पाकि स्रंस्यनिलापहं च (चसू. २७.३०४)
–वाप्य–पु., शालि० कोरकः (हे. अहसू. ६.६)
–रागिणी–स्त्री., वनस्पति० महामेदा (रा. ५.१६३)
–लवण–न., लवण० रोमकम् (ध.२.३२)
–वाप्य–पु., शालि० तद्गुणाः–स्वादुरुष्णो गुरुः स्निग्धः पाकेऽम्लः श्लेष्मपित्तकृत् सृष्टमूत्रपुरीषश्च (अहसू. ६.६)
पांशुक–न., खनिज० कासीसम् (रा. १३.१७९)
पांसव–न., लवण० रोमकम् (रा. ६.४०)
–क्षार–न., लवण० रोमकम् (ध. २.३२)
पांसु–पु., धूलिः (सुनि. २.१५) ऊष्मस्वेदोपयोगि द्रव्यम् (अहसू. १७.६)
वि., धूसरम् (ङ. सुनि. २.१५)
–ज–न., लवण० पांसुलवणम् रोमकम् (अहसू. १०.२७)
–वाप्य–पु., शालि० पांशुवाप्यः (चसू. २७.१२)
पांसुला–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रापरि. १०.२)
पांसूत्थ–न., लवण० शिलालवणम् रोमकम् (अहसू. ६.१४९)
पाक–पु., वनस्पति० व्रीहिः (ध. ६.७२)
पित्तकर्म० पचनम् (चसू. २०.१५)
फलम्, परिणामः (सुसू. २८.६)
पक्वता (सुसू. ५.७; अहसू. ७.९; र. २४.११०)
जाठराग्नेः संयोगाज्जातं भुक्तद्रव्यस्य रसान्तरम् (सुसू. ४०.१०)
लोहादीनां गजपुटादिभिः भस्मादिकरणार्थं पचनम् (र. १०.४८)
मारणं, भस्म (र. १.२९)
तालुगतरोग० तल्लक्षणम्–दुष्टेन पित्तेन यस्तालुनः पाकः, स पूयास्रावी महारुजश्च (असंउ. २५)
नेत्ररोग० स सशोफाशोफभेदेन द्विविधः । तत्र सशोफलक्षणम्–सरक्तैर्वातादिभिस्त्रिभिर्दोषैरतिरुग्-दाहष्ठीवनादिमान् शोफो भवति । शुक्लमण्डलं पक्वोदुम्बरसङ्काशं तथाऽश्रूण्यशीतविशद-पिच्छिलाच्छघनं जायते । अशोफे एतान्येव लक्षणानि परमल्पशोफत्वम् । सर्वगताक्षिरोगोऽयं साध्यश्च (असंउ. १८; सुउ. १.४२)
–भय–न., परिपक्वताया भयम्, पचनाद्भीतिः । (असंसू. ३८.३)
–मत्स्य–पु., कीट० सामुद्रमत्स्योऽयम् । दंष्ट्रानख-विषोऽसावग्निप्रकृतिकः । तद्दष्टे पित्तजा रोगा भवन्ति (सुसू. ४६.११८, सुक. ८.८·१२; असंउ. ४३)
–हंस–पु., पक्षि० जलचरविहंगेष्वेकः (चसू. २५.३८)
–हंसजवसा– (परिव०) स्त्री., श्वेतहंसजा वसा, इयं जलचरविहंगवसानां श्रेष्ठा (चसू. २५.३८; असंसू. ६.११३)
पाकल–पु., ज्वर० वातपित्तकफैर्वृद्धाभिहीनमध्यैर्जाय-मानोऽयं सन्निपातज्वरः (काविशेषकल्प.) गजा-नामयं भवति (असंनि. १.५)
न., वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९) दर्वीकरदंशे नस्योपयोगि (चचि. २३.१९६; असंउ. ४२)
कुष्ठशमनोपयोगि (चचि. ७.१६१)
पाकातीत–वि., पाककालमतीतं, व्यपगतपाककालम् (सुसू. ४६.२१०)

पाकात्यय–पु.,नेत्ररोग० अक्षिपाकात्ययः (सुउ. ५.३)

पाकिन्–वि., पाककारि, (अरु.) पाचनम् (हे.) (अहसू. ६.१४४)

(पाकि)-ता–स्त्री., पित्तकर्म० पाचनत्वम् पाककर्तृत्वम् (अहसू. १२.५१)

पाकिम–वि., पाकेन निर्वृत्तो यः, स पाकिमः, क्षारपाकविधानोक्तः प्रतिसारणीयः पानीयश्च । ऊषरपांशुकाभिनिर्वृत्तम् । ऊषरक्षारः (सुसू. ४६.३२४)

–लवण–न., बिडलवणम् (सुचि. १९.६२)

पाक्कार–पु., पक्षि० प्रतुदजातीयः (चसू. २७.५१)

पाक्य–वि., क्वाथ्यम्, जेज्जटः (चचि. ३.१९७)

पु., शृतम्, क्वाथः (सुउ. ४९.२१; चचि. ३.१९७; सुचि. १६.११)

क्षार० यवक्षारः (ध. २.१७; र. ७.२२)

लवण० पाकजम् (चक्र. चचि. १५.८५ सुसू. ४२.११)

–क्षार–पु., पाकेन सुश्रुताद्युक्तविधानेन कृतः क्षारः (चक्र. चचि. २१.१२२)

–ज–न., खनिज० काचलवणम् (रा. ६.४४)

पाखण्ड–पु., कापालिकादिः (सुसू. २९.५; असंशा. १२.४)

पाङ्क–पु., सोम (सुचि. २९.७)

पाङ्गुल्य–न., अशीतिवातविकारेष्वेकः, चलनकर्मस्वसामर्थ्यम् (चसू. २०.११)

पाचक–न., पित्तभेदः, पक्वामाशययोर्मध्यस्थं पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि तैजसगुणोदयात् त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ च पृथग् विभजते। शेषाणामपि पित्तानां इदं बलदानेनानुग्रहं करोति (अहसू. १२.१२)

पाचकांश–पु., पाचको भागः (असंसू. १९.१६)

पाचन–वि., यदुपयुक्तमन्नपानौषधमपक्वानां सामानां धातूनां पाचने समर्थं तत्, पाचयति इति पाचनम् (अरु. अहसू. ८.२१; र. २.४४)

न., पचतोऽग्नेः पक्तुमधिकां शक्तिं यदुत्पादयति तद्द्रव्यम् (अरु. अहसू. १४.७)

न., उपक्रम० अपक्वशल्यस्य पाचनद्रव्यैः पाकविधानम् (सुसू. २७.४)

लङ्घनस्वेदनादि–चिकित्सा यस्याञ्च दोषाः पच्यन्ते (चसू. १६.२०; चचि. ३.१४३)

रक्तस्तम्भनोपायेष्वेकम् (सुसू. १४.३९)

व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेष्वेकः उपनाहनिष्पाद्यं कर्म पाचनम् (गयी) आमपाचकम् (सुचि. १.८)

(पाचनी)–स्त्री., मूषा० (र. १०.१)

पाची–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटु-तिक्तं कषायोष्णा वातघ्नी व्रणहिता ग्रहभूतविकारत्वग्दोषशमनी च (रापरि. १०.४६)

पाञ्चकर्मिक–वि., पञ्चकर्माणि शिरोविरेचनवमनविरेकास्थापनानुवासनानि तदर्थस्तत्सम्बन्धी वा (चसू. २.१४)

पाञ्चप्रसृतिकी–स्त्री., पेया० पञ्चभिः सर्पिस्तैलवसामज्जातण्डुलैः प्रत्येकं प्रसृतप्रमाणैः शृता; एषा स्नेहनी। (चसू. १३.८९)

पाञ्चभौतिक–वि., पञ्चभूतात्मकम् पञ्चमहाभूतेभ्य उत्पन्नम् तत् पञ्चविधम्–पार्थिवमाप्यमाग्नेयं वायव्यमाकाशात्मकं चेति । यद् यद्गुणभूयिष्ठं तत्तदात्मकं यथा पार्थिवादि । (चसू. २६.१०; अहसू. ९.२; सुसू. ४६.५-२६)

–तैल–न., सिद्धतैल० इदं सर्वाक्षिनासाकर्णशिरोरोगस्रोतोदुष्ट्यादिनाशकं स्मृतिमेधावपुषां बलकरं मङ्गलकरं च। (काषट्कल्पाध्याय ३२-४०)

पाञ्चमूलिकी–स्त्री., लघुपञ्चमूलसिद्धा यवागूः, सवातेऽतिसारे उपयुक्ता (चसू. २.१९)

पाटन–न., शस्त्रकर्म० शस्त्रावचारणम् (चचि. २५.५५) छेदनम् (सुचि. २.६१; अहसू. २९.१०–११) लक्षण० द्विधा क्रियत इव वेदना (सुउ. ४३.६)

पाटबन्ध–पु., पारदबन्ध० पोटबन्धः (र. ११.७६)

पाटल–पु., धान्य० वर्षापाकि-व्रीहिभेदः, त्रिदोषकरोऽयम् (चसू. २७.१५; सुसू. ४६.१२; अहसू. ६.११) वनस्पति० पुन्नागः, (रापरि. १०.११)

(पाटला)–स्त्री., जलचर० नादेयो मत्स्यः, (सुसू. ४६.११३)

वनस्पति० महापञ्चमूलेष्वेकम्, ताम्रपुष्पा, (अहसू. ६.१६७)

धान्य० व्रीहिः, (रा. १६.१०)

वनस्पति० सुगन्धिपुष्पवृक्षः (सुउ. ४७.५१)

वनस्पति० दशमूलेष्वेकम्, अस्या मूलमास्थापनोपयोगि (चसू. २.११–१३)

त्वगस्या विरेचनोपयुक्ता (सुसू. ३९.४)

श्वयथुहरगणे उपयुक्तं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)

पाटलागुणाः–तिक्ता कटुरुष्णा वातपित्तकफघ्नी वातास्रहिक्कावमिशोफारोचकाध्मानश्वासघ्नी च (ध. १.१२०)

हिं.—पाडल, पाडरि.
म.—पाढळ, पाडली.
गु.—पाडल, काकच.
बं.—पारुलगाछ.
त.—पातिरिमरं.

(पाटली)-स्त्री., वनस्पति० पाटला (असंसू. १४.४)
द्र० ' पाटला '
सितपाटलिः (रापरि. १०.१७)
पाटलाभेदः, काष्ठपाटला (रा. ९.१५२)
कटभी (रापरि. ९.३७)
पाटलीगुणाः- गौल्या शिशिरा बल्या वृष्या पित्तहरा मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातहरा च (रापरि. ५.४४)
न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८०)
पुष्प० तद्गुणाः-कषायमधुरं शीतं पित्तकफास्रजिच्च (असंसू. १२.८६; सुसू. ४६.२८७)

पाटला-स्त्री., वनस्पति० (सुचि. ४.३२)
-क्षार-पु., क्षार० पाटलाक्षारो मूत्रविकारघ्नः (सुउ.५८.४६)
-पुष्प-न., जलस्य दुर्गन्धनाशनार्थमुपयुज्यते (असंसू. ६.२८; सुसू. ४५.१२)
तद्गुणाः- सुगन्धि विशदं हृद्यं श्लेष्मपित्तविषघ्नं च (सुसू. ४६.२८७)
-पुष्पवर्णक-पु., वनस्पति० पद्मकः (ध .३.८८)
-भस्मन्-न., ताम्रपुष्पाभस्म, प्रक्षेपात् सविषजलशोधकमिदम् (असंसू. ८.८०)
-मूल-न., पञ्चमूलेष्वेकम्, ताम्रपुष्पामूलम् (अहसू. ६.१६७-१६८)

पाटलि-स्त्री., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२०)
पाटला (सुउ. ५८.४८; असंसू. १५.११; अहसू. १५.१७)
-क्षार--पु., पाटलाक्षारः, कुष्ठहरप्रलेपे उपयुक्तः (चचि. ७.८९)
-पुष्प-न., पाटलापुष्पम्, रक्ताभिष्यन्देऽञ्जनोपयोगि (सुउ. १२.११)

पाटव-न., वनस्पति० कुष्ठम् (रा. १२.९८)
सामर्थ्यम्, पटुः, समर्थः, पटोर्भावः सामर्थ्यम् (अहसू. ११.२; असंसू. १९.३)

पाटित-वि., शस्त्रादिभिश्छिन्नम् (अहसू. २९.६८)
न., रोग० भग्नभेदः, तल्लक्षणम्-अस्थ्यणु-बहुविदारितं वेदनावच्च भवति (असंसू. ३८.४६. सुनि. १५.१०)

पाटिनी-स्त्री., पारददोष० इयं त्वग्विदारिणी (का. र. ११.२२)

पाट्य-वि., पाटनकर्मयोग्यो यो व्याधिः नाडीव्रणाः पक्वशोथाः क्षतगुदोदरमन्तःशल्याः शोफाः पाट्याः (चचि. २५.५६)

पाठा-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा, सिराव्यधनोत्तरम् प्रवृत्तरक्तप्रवर्तनी (सुसू. १४.३५)
शाक० ग्राहिणी, त्रिदोषघ्नी च (चसू.२७.८८)
वनस्पति० ज्वरहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) स्तन्यशोधनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२; सुचि. १७.४४;) ग्रन्थ्यार्तवे उपयुक्ता, (सुशा. २.१४;) श्लेष्मशूलशमनी (सुउ. ४२.१११;) संशोधनवर्त्युपयुक्ता (सुसू. ३७.१३;) सर्वातिसारेषु शस्ता (सुउ. ४०.११४)
पाठास्वरूपम्—ईषद्रोमशा श्वेतपुष्पगुच्छा विद्धकर्णी लता (चसू. २७.८८; सुसू. ३८.६-७)
पाठागुणाः—तिक्ता गुरूष्णा भग्नसन्धानकृत् वृष्या त्रिदोषघ्नी विष-कुष्ठ-कण्डूच्छर्दि-हृद्रोग-ज्वरातिसार-शूलकफपित्तज्वर-वातपित्तज्वर-दाहघ्नी च। (ध. १.७०)
हिं.—पाठ, निमुका, हरजोरि.
म.—पहाडमूळ.
गु.—पाड, काळीपाट.
बं.—आकनादि.
त.—वट्टतिरुप्पि.
-पत्र-न., पाठायाः पर्णम्, कफजव्रणे आच्छादनोपयोगि (सुचि. १.११५)
मधुमेहपिडकासूपयुज्यते (सुचि. १२.९)

पाठिका-स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)

पाठिन्-पु., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०;) (रा. ६.१२५)

पाठिन-पु., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०)

पाठीन-पु., जलचर० नादेयो मत्स्यः अयमशकलो दीर्घो निर्मलश्च । तद्गुणाः- श्लेष्मलो वृष्यो रक्तपित्तदूषकः कुष्ठकृच्च (सुसू. ४६.११६)
रूप्योदरः कृष्णवर्णकः कण्टकमज्जरिर्मत्स्यः (हे. अहसू. ६.५२)

पाणविक-पु., पक्षि० प्रतुदजातीयः (असंसू.७.७२-७५)

पाणि-पु., शारीर० हस्तः (सुचि. २.४३; चइ. ३.४)
तापस्वेदोपकरणेष्वेकम् (सुचि. ३२.४)

-ज-पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०८)
-जानुगम-वि., पाणिभ्यां जानुभ्यां च गमागमनमस्येति तादृशो बालः (काफक्चि. १४)
-तल-न., मान० कर्षः द्वौ द्रंक्षणौ (चक. १२.९०; सुउ. ५८.५५; असंक. ८; र. ११.४)
अङ्गुलिरहितं हस्ततलम् (ड. सुचि. १०.९)
-तलसंमित-वि., हस्ततलप्रमाणम् (सुशा. १०.१५; असंशा. ७.३३)
-ताप-पु., स्वेदभेदः तप्तहस्तेन कृतं स्वेदनम् (सुचि. ५.२६; अहसू. १८.३६)
-दाह-पु., लक्षण० हस्तदाहः (सुक. १.३७)
-पादशलाका-स्त्री., पाणिपादे स्थिताऽस्थिशलाका प्रतिशाखं पञ्चेति मानतो विंशतिः पाणिपादशलाकाः (चशा. ७.६.)
-पादहृदय-न., षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् । पाणेः पादस्य च तलमध्यम् । संख्यातः चत्वारि पाणिपादहृदयानि (चशा. ७.११)
-पादाङ्गुल्यस्थि-न., हस्तपादाङ्गुलौ स्थितमस्थि तत्सङ्ख्या षष्टिः (चशा. ७.६)
-मन्थ-न., आराशस्त्रम् (सुचि. ४.९)
-मर्द-पु.,वनस्पति० करमर्दः (रा.११.१६८)
-मर्दक-न., वनस्पति० करमर्दः (ध. ५.१०२)
-रुह-पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०८)
-शुक्ति-स्त्री., मान० पलम् (सुचि. १०.१५)
शिरोविरेचने मात्राप्रमाणम्, चतुःषष्टिबिन्दवः (ड. सुचि. ४०.२८)
-शोथ-पु., रोगलक्षण० करस्य शोथः (चचि. २३.११२)
पाण्डव-पु., वनस्पति० अर्जुनः (ध. ५.११४)
पाण्डविक-पु., पक्षि० प्रतुदजातीयः (चसू. २७.५३)
पाण्डु-वि., वर्ण० श्वेतः (सुसू. ३३.२३; सुशा.६.२६)
पीतवर्णः (ड. सुउ. ५२.९)
धान्य. शालिः (अहसू. ६.२)
पक्षि० प्रतुदजातीयः (ध. १.१२)
रोग० पाण्डुरोगः (र. १२.१-८)
-कर्मन्-न., व्रणस्य षष्टयुपक्रमेष्वेकः, रूढानां कृष्णव्रणानां त्वक्समानवर्णतापादनम् (सुचि. १.८)
-तरु-पु., वनस्पति० धवः (ध. ६.८)
-ता-स्त्री., रोगलक्षण० पाण्डुत्वम्, श्वेतत्वम् (चसू. १६.१३)
-त्व-न., रसप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१०)
लक्षण० श्वेतता (अहसू. ७.२४)
-पङ्कशोषण-पु., सिद्धयोग० ताम्रपारदगन्धकादिनिर्मितः शोफपाण्डुनाशनोऽयम् (र. १९.७८)
-पत्नी-स्त्री., वनस्पति० रेणुका (ध. ३.५१)
-पुत्री-स्त्री., वनस्पति० रेणुका (रा. ६.९९)
-फल-न., वनस्पति० पटोलः (ध. १.५०)
(-फला)-स्त्री., वनस्पति० चिर्भटम् (रा. ७.२६२)
(-फली)-स्त्री., वनस्पति० पाटली (रापरि. ५.४४)
-राग-पु., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६४)
-रुज्-स्त्री., पाण्डुरोगः (र. २.५३)
-रोग-पु., रोग०
तत्सम्प्राप्तिः - विरुद्धासात्म्यभोजनादिना व्यवायादीनामतिसेवया च प्रकुपितं हृदयस्थितं पित्तं बलिना वायुना प्रक्षिप्तं सत् दश धमनीः संप्राप्य त्वङ्मांसयोरन्तरं समाश्रित्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि च दूषयित्वा पाण्डुहारिद्रहरितरूपान् बहुविधान वर्णांस्त्वचि करोति । तेषु च पाण्डुत्वमधिकम् (चचि. १६.७-११; असंनि. १३.३; सुउ. ४४.३)
तत्सङ्ख्या - वातपित्तकफैस्त्रयः संनिपातेन चतुर्थो मृद्भक्षणात् पञ्चमः (चचि. १६.३; असंनि. १३.९) सुश्रुते चतुर्विधोऽसौ । मृद्भक्षणजस्य त्रिदोषजान्तर्भूतत्वात् (सुउ. ४४.४) तन्त्रान्तरेऽयमष्टविधः, पूर्वोक्ताः पञ्च द्वे कामले हलीमकश्चेति (ड. सुउ. ४४.४)
तत्पूर्वरूपम्-हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमश्च (चचि. १६.१२) त्वक्स्फोटनं ष्ठीवनं गात्रसादो मृद्भक्षणं प्रेक्षणकूटशोथौ विण्मूत्रपीतत्वमविपाकोऽल्पवह्निता च (सुउ. ४४.५; असंनि. १३.१०)
तत्सामान्यलक्षणानि-कर्णक्ष्वेडो हृतानलत्वं दुर्बलत्वं सदनमन्नद्वेषः श्रमो भ्रमो गात्रशूलो ज्वरः श्वासो गौरवमरुचिर्गात्रमर्दनपीडनोन्मथनानि शूनाक्षिकूटहरितत्वशीर्णलोमत्वहतप्रभत्वानि कोपः शिशिरद्वेषो निद्रालुत्वं ष्ठीवनाल्पवाक्त्वपिण्डिकोद्वेष्टनानि कव्यूरुपादानां रुजा सदनमङ्गमार्दवजो गुणक्षयश्च (चचि. १६.१३; असंनि. १३.६-९) वातजलक्षणानि-वातलैराहारोपचारैश्च कुपितो वायुः कृष्णपाण्डुत्वं जनयति । तदा रूक्षारुणाङ्गताऽङ्गमर्दो रुक्तोदकम्पाः पार्श्वशिरोरुग्वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षया भवन्ति (चचि. १६.१७-१८)
सिरानखविण्मूत्रनेत्राणां मुखस्य च कृष्णरूक्ष-

मरुणत्वं च (सुउ. ४४.७; असंनि.१३.११) पित्तज-लक्षणानि–तृष्णा मूर्च्छा पीतमूत्रशकृत्त्वं स्वेदः शीतेच्छाऽन्नारुचिः कटुकास्यत्वं वर्चोभेदो विदाहो दौर्गन्ध्यं दौर्बल्यं तमो ज्वर उष्णाम्लयोरनुपशयश्च (चचि. १६.१९-२०) वदनसिरानखविण्मूत्र-नेत्राणां पीतहरितत्वं च (सुउ. ४४.८; असंनि. १३.१२) कफजलक्षणानि–गौरवं तन्द्रा छर्दिः श्वेतावभासता प्रसेको लोमहर्षः सादो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः श्वासः कासोऽरुचिरालस्यं वाक्स्वरग्रहः शुक्लशिरानखाननमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्ण-कामता श्वयथुर्मधुरास्यत्वं च (चचि. १६.२३-२५; सुउ. ४४.९) लवणवक्त्रत्वं च (असंनि. १३.१३) त्रिदोषजे सर्वदोषलक्षणानि भवन्ति (चचि.१६.२६; सुउ. ४४.१०)

मृद्भक्षणजसम्प्राप्तिलक्षणानि–प्रायोऽसौ बालानां भवति । मृत्तिकादनशीलस्यान्यतमो मलः कुप्यति । कषाया मृन्मारुतमूषरा पित्तं, मधुरा कफं कोपयेद् रौक्ष्याद् रसादींश्च विरूक्षयेत्, स्रोतांसि पूरयति निरुणद्धि च । इन्द्रियाणां बलं तेजो वीर्यौजसी च हत्वा बलवर्णाग्निनाशनं पाण्डुरोगं च करोति (चचि. १६.२७-२९; असंनि. १३.१५) तत्र गण्डाक्षिकूटभ्रूपादनाभिमेहनाननशूनत्वं कृमिकोष्ठत्वं सरक्तकफस्य मलस्यातिसरणं च (चचि. १६.३०; असंनि. १३.१५) उत्साहाभावोऽग्निसादो रुधिर-स्पृहा चेति (कासु. २५.३४) पित्तदुष्टस्तन्य-पानाद् बालानां पाण्डुरोगो भवति । स क्षीरजः (चचि. ३०.२४५) अलसाख्यो लाघरकः पाण्डु-रोगभेदस्तस्य लक्षणम्–ज्वराङ्गमर्द–भ्रमसादतन्द्रा-क्षयान्वितो लाघरकः (सुउ. ४४.१२) अस्यैव कुम्भसाह्वो नाम, कुम्भकामलेति तन्त्रान्तरे नाम (ड. सुउ. ४४.११-१२) हलीमकलक्षणम्–पाण्डुरोगे वातपित्तात् हरितश्यावपीतत्वं भ्रमस्तृष्णा क्षीष्वहर्षो मृदुज्वरस्तन्द्रा बलानलभ्रंशाश्च भवन्ति (असंनि. १३.२०) पानकी इति पाण्डुरोगस्य भेदोऽस्ति । तस्य लक्षणं द्र० ' पानकी ' (ड. सुउ. ४४.१२) पाण्डुरोगोपद्रवाः– श्वासा-तिसारारुचिकासमूर्च्छातृट्छर्दिशूलज्वरशोफदाहा-विपाकस्वरभेदसादाश्च । मूर्धरुजा हृद्यवपीडनं क्रमश्च (सुउ. ४४.१३-३८) तदसाध्यलक्षणानि–चिरोत्पन्नः खरीभूतपाण्डुरोगः कालप्रकर्षान्न सिध्यति। यः शूनः पीतदर्शी नरः पीतदर्शी यश्च बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं चातिसरति दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः तिष्ठति यश्च पाण्डुरसृक्क्षयात् श्वेतत्वमाप्नुयात् सोऽप्यसाध्यः (चचि. १६.३१-३३) हस्तपादमुखेषु शूनः कृशमध्यकायोऽथवैतद्विपरीतो-ऽन्ते ग्लानो मध्यशूनो गुदशेफमुष्कशूनः प्रताम्य-मानो विसंज्ञकल्पोऽतिसारज्वरपीडितः पाण्डुरोग्यनु-पक्रम्यः । (सुउ. ४४.३९-४०) पाण्डुदन्तनखनेत्रः पाण्डुसङ्घातदर्शी चासाध्यः । (सुसू. ३३.२३) चिकित्सासूत्रम्–साध्यं पाण्डुरोगिणमादौ घृतेन स्निग्धमूर्ध्वमधश्च शुद्धं चिकित्सन् हरीतकीचूर्णं क्षौद्रघृतेन दद्यात् । विरेचनघृतानि च योजयेत् । अनन्तरमयोरजादिचूर्णं प्रयुञ्जीत । (सुउ. ४४.१४-१७)

–रोगचिकित्सित–न., अध्याय० (चचि. १६.१)

–रोगप्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ४४)

–संघातदर्शिन्–वि., लक्षण० श्वेतद्रव्याणां समूहं सर्वासु दिक्षु द्रष्टुं शीलमस्येति (सुसू. ३३.२३)

पाण्डुक–पु., धान्य० शालिभेदः (चसू. २७.८) अयं पाण्डुतुषः पाण्डुशूकश्च (सुसू. ४६.४) सर्व-प्राणिनामयं सामान्यतः पथ्यः (सुसू. २०.५) वनस्पति० पटोलः (ध. १.४९)

पाण्डुर–पु., वनस्पति० धवः (रा. ९.८) यावनालभेदः, धवलयावनालः, (रा. १६.१६८) वि., श्वेतवर्णम् (र. २.११४) देश० अत्रस्थमुदकं तिक्तरसतां याति (असंसू.६.९)

(पाण्डुरा)–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१) कीट० सौम्या लूता, इयं श्लेष्मविकारदा, (असंउ. ४४) तद्दंशलक्षणानि – दंशः शूनो भवति । वक्त्रशोफो गौरवं ज्वरो जृम्भा शिरोरुग् विघूर्णनं च अनुभूयते (असंउ. ४५)

–द्रुम–पु., वनस्पति० कुटजः (रा. ९.१९)

–फली–स्त्री., वनस्पति० पाटली (रापरि. ५.४४)

पाण्डूरफलमूल–न., पाटलामूलम् (र. १७.६)

पाण्डुरेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१)

पाण्डामय–पु., पाण्डुरोगः (चचि. ३०.२४५)

पाण्डामयिन्–वि., पाण्डुरोगी (सुउ. ४४.१४)

पात–पु., पतनम् (असंसू. ८.१४७) संस्कार० पातनम् " मर्दनैर्मूर्च्छनैः पातैर्मन्दः शान्तो भवेद्रसः " (र. ११.४६).

-यन्त्र-न., यन्त्र० ऊर्ध्वपातनयन्त्रम् हिङ्गुलस्थितः पारदोऽनेन यन्त्रेण आकर्षणीयः (र. १६.५९)

पातन-न., स्थापनं, निपातनम् (अहसू. २६.४१) पारदसंस्कार० तच्चोर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदात् त्रिविधम्, अनेन संस्कारेण घटसम्पुटस्थपारदस्याग्निसंस्कारात् स्थानान्तरे आहरणं भवति। तेन च नागवङ्गादि-सम्पर्कजा दोषा नश्यन्ति (र. ८.६७) सत्त्वपातनम् (र. २.१५१)

-पिष्टी-स्त्री., चतुर्थांशसुवर्णेन सह घर्षणात् जाता पारदपिष्टी (र. ८.८)

पातनाभस्मन्-न., पारदस्योर्ध्वपातनविधिना निष्कासितं भस्म (र. ३०.७८)

पातनायन्त्र-न., यन्त्र० ऊर्ध्वपातनयन्त्रम्, उपरि तोयाधारयुक्तेन न्युब्जेन भाण्डेनाच्छादितमूर्ध्वपातन-संस्कारार्थं भाण्डम् (र. ९.६-८)

पाताल-न., लोक० अधस्तनसप्ततलेष्वेकम् (र. १७.७)

(पातानी)-स्त्री., वनस्पति० मृदुलोमशपत्रा वल्ली, पातालगारुडी, सर्वविषघ्नीयम्, (र. ११.५५)

-कर्कटी-स्त्री., वनस्पति० कर्कटीभेदः, भूमावेव प्रसरणशीला लघुकर्कटी। इन्द्रवारुणी पाताल-गारुडी वा (र. १७.७)

-कोष्ठी-स्त्री., मृण्मयकोश० मृदूनां सत्त्वपातनीयम् तत्स्वरूपम्-गर्भे पञ्चच्छिद्रयुतमृच्चक्राच्छन्नं चतुरङ्गुलनिम्नत्वविस्तरतः गर्तयुक्तं बहिर्भागाद् गर्ताभिमुखनिम्नगामिनीसमुन्नतवङ्कनाल्या संलग्नं कोकिलैः पूरितकृत्स्नांशमेकभस्त्रया धमनयोग्यं कठिणभूमौ निर्मितं वितस्तिमात्रं खातम् (र. १०.४०)

-गरुडी-स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रापरि.३.३२)

-गारुडी-स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (र. २०.१५४)

-मूली-स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (र. ३०.४५)

-वासिनी-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ३.१)

पातित-वि., प्रयुक्तम् (सुनि.१४.१६)

पातुकाम-वि., स्नेहादिपानकामः (चक्र. चसि. २.२१)

पात्र-न., मान० आढकम् इदं चतुःप्रस्थपरिमितम् (चक. १२.९४; सुउ. ४१.४७; असंक. ८)

(पात्री)-स्त्री., पात्र० वाटी (चसू. १५.७)

पात्रका-स्त्री., मान० चतुःप्रस्थप्रमाणम् आढकम् (र. ११.८)

पाथस्-न., जलम् (असंचि.११; रा. १४.३१७)

(पाथो)-ज-न., कमलम् (र. ७.२९; रा. १०.२४३)

-रुह-न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३)

पाद्-पु., शारीर० पादः (चचि. २८.२७)

पाद-पु., चिकित्साधारभूत एको भागः भिषक् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी चेति चत्वारः पादाः (चइ.११.२७) (अहसू. १.२७) चतुर्थांशः (अहसू. १९.२०) अनुयन्त्र० चरणः (अहसू. २५.४०) एकादशेन्द्रियेष्वेकं गमनादिकर्मकरं कर्मेन्द्रियम् (चशा. ७.७; सुशा.१.·) सङ्ख्या द्वौ, प्रमाणम्-उत्सेधविस्तारायामैः क्रमशश्चत्वारि षट्-चतुर्दशाङ्गुलानि (चवि. ८.११७; सुसू. ३५.१२) प्रतिपादं कण्डराद्वयम् सा आपादतलात् कटिफलकं यावत् स्थिता (सुशा. ५.११) न., जाङ्गम० व्याघ्रनखम् (ध. ३.६०)

-कूर्चास्थि-न., अस्थि० पादकूर्चगते इमे द्वे अस्थिनी (सुशा.५.१९)

-चतुष्टय-न., चिकित्सायाश्चत्वारो भागाः; भिषग्औषधं परिचारको रोगी चेति पादचतुष्टयम् (अहसू.१.२७; असंसू.२.२२)

-चरण-न., पद्भ्यां सञ्चारः (असंसू. ४.४९)

-चारिन्-वि., पद्भ्यां सञ्चरणशीलः (अहसू.३.४७)

-तल-न., पादमध्यम्, मानतश्चतुरङ्गुलायतम् पञ्चाङ्गुलविस्तृतं च (सुसू. ३५.१२)

-त्र-न., उपानत् (असंसू. १२.९३)

-त्रधारण-न., उपानद्धारणम्, तद्गुणाः-चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादव्यसनापहं बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं प्रीतिवर्धनं रक्षोघ्नमोजस्यं च (चसू. ५.१००; सुचि. २४.७१) तदधारणमनायुष्यमनारोग्यं चक्षुषोरुपघातकृत् (सुचि. २४.७२)

-त्राण-न. उपानत् (अहसू. २.३२)

-दारी-स्त्री., क्षुद्ररोग० वायुना अत्यर्थरूक्षितौ पादौ दार्येतेऽस्याम् इति पाददारी विपादिका, तल्लक्षणम्-परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः पादयोस्तलदारणं विधत्ते तेन रुजा च भवति (सुनि. १३.२९)

-दाह-पु., क्षुद्ररोग० पित्तासृक्सहितोऽनिलः पादयोर्विशेषतश्चङ्क्रमणाद्दाहं कुरुते (सुनि. १.८०; अहसू. २७.१६; असंनि. १५.५९)

-प-पु., वृक्षः, पादैर्मूलैः पिबति जलमिति पादपः (असंसू. ८.८४)

-परुहा-स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४१)
-पाद-पु., पादस्य चतुर्थांशस्य पादश्चतुर्थांशः, अतः षोडशांशः. (अहसू. ७.४८)
-पीठ-न., पादाधारः (सुक. १.२६; असंसू, ८.४३)
-प्रक्षालन-न., पादधावनम्, तद्गुणाः-चक्षुःप्रसादनं वृष्यं पादमलरोगश्रमापहं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनं च (सुचि. २४.६९)
-भ्रंश-पु., अशीतिवातविकारेष्वेकः, यत्र पादः स्थापयितुं क्षेंसुं वा इष्टः, ततोऽन्यत्र तत्पतनम् (चसू. २०.११)
-रूप्य-न., धातु० रूप्यकम्, कृत्रिमरजतम् (र. ५.२७)
-रोहिण-पु., वृक्ष० वटः (रा. ११.११४)
-लेप-पु., चरणलेपः (असंउ. ५०)
-शत-न., शतपदानामन्तरम्, शतं पदानि (सुसू. ४६.४८७)
-शलाका-स्त्री., अस्थि० शलाकावत् पादतलस्थमस्थि, तत् पञ्चसङ्ख्याकम् (सुशा. ५'१९; ड.)
-शलाकाप्रबन्धनास्थि-न., अस्थि० (चशा. ७.६)
-शूल-न., अशीतिवातविकारेष्वेकः पादयोः शूलम् (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)
-श्रम-पु., पादयोः श्रमः (असंसू. ३.६१)
-संकोच-पु., पादयोराकुञ्चनम् (असंसू. ३.६१)
-संग्रह-पु., रोगलक्षण० पादयोर्वातपीडा, जडतादि सङ्ग्रहणं च (चसू. १४.२३)
-सिरा-स्त्री., पादस्थिता सिरा (असंसू. ३६.१२)
-सुप्तता-स्त्री., अशीतिवातविकारेष्वेकः; पादयोर्निष्क्रियत्वं स्पर्शाज्ञता वा (चसू. २०.११)
-सुप्ति-स्त्री., रोग० पादसुप्तता पादयोः संज्ञाराहित्यम् (असंसू. ३.६१)
-स्तम्भ-पु., रोग० पादयोः स्तब्धता (असंसू. ३.६१)
-स्फुटन-न., रोग० पादयोर्विदारणम् पाददारी (असंसू. ३.६१)
-हर्ष-पु., वातरोग० तल्लक्षणम्-कफमारुतकोपतश्रवणौ हृष्येते प्रसुप्तवच्च भवतः (चसि. १२.१८-(१५); सुचि. ५.२३; असंनि. १५.५८)
-हीन-वि.. चतुर्थभागहीनम् (अहसू. १९.२२)
पादांश-पु., पादश्चतुर्थो भागः अंशोऽपि तुरीयांशः तेन पादांशः षोडशांशः (असंसू. ९.३४)
पादाघात-पु., पद्भ्यामङ्गविमर्दनम् (अहसू. ३.१०)
पादाङ्गुली-स्त्री., शारीर० चरणाङ्गुलि (सुशा. ५.१९)
पादाङ्गुल्यस्थि-न., चरणाङ्गुलौ स्थितमस्थि, प्रतिपादाङ्गुलि त्रीण्यस्थीनि (चशा. ७.६;सुशा.५.१९)
पादाङ्गुष्ठ-पु., शारीर० चरणाङ्गुष्ठः मानतोऽसौ नखं विहाय स्वाङ्गुलद्वयदीर्घः (सुसू. ३५.१२)
पादापकृष्ट- वि., आस्थापनबस्तिसम्बद्धैः यथा वयःप्रभृतिवाक्यसूचितैः त्रिभिः पादैर्हीनम् (ड. सुचि. ३५.१८)
पादाभ्यङ्ग-पु., उपक्रम० पादयोस्तैलविमर्दनम् तद्गुणाः-पादयोः सिरास्नायुसङ्कोचाभावकृत् निद्राकरो देहसुखकरश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत् पादत्वङ्मृदुकारी च (चसू. ५.९२; सुचि. २४.७१; असंसू. ३.६०)
पादार्ति-स्त्री., रोगलक्षण० पादशूलम् (चसू. १४.२३)
पादावकृष्ट-वि., चतुर्थभागावशिष्टम् (ड. सुचि. ३७.४) द्र० 'पादापकृष्ट'.
पादिन्-वि., पादयुक्तो कूर्मकुम्भीरकर्कटककृष्णकर्कटकशिशुमारनक्रगोधाघण्टिकाप्रभृतयः पादिनः। तद्गुणाः-स्वादुरसपाकाः शीताः स्निग्धा वर्चस्या बृंहणा बहुमलकरा वृष्या बल्या श्लेष्मवर्धनाः पित्ते हिता वातनाशकाश्च (सुसू. ४६.१०९-११०; रा. १७.२३)
पादुका-स्त्री., काष्ठनिर्मितं पादत्राणम् (असंसू. ८४३)
पान-न., द्रवद्रव्यस्य गलादधःकरणव्यापारः, पीतिः (चसू. १.८७)
मद्यपानम् (सुउ. ४७.२२)
पेयम् (सुउ. ५७.१२)
-कषाय-पु., अनुपानार्थमुपयुज्यमानः कषायः, तप्तलोहानां निर्वापणोपयोगी त्रिफलादिकषायः (र. २८.३)
-काल-पु..तृष्णा (का. भोजनक)
-तृषा-स्त्री., मद्यातिपानजा तृट् (चचि. २२.५१)
-त्रिक-न., त्रिविधं पानम्, वातपित्तकफकरम् (चचि. २४.६८)
-प-वि., मद्यपः (अहसू. २९.१५)
-विभ्रम-पु.. रोग० मद्यजोऽयं त्रिदोषजश्च तल्लक्षणानि -हृद्वात्रतोदो वमथुर्ज्वरः कण्ठधूमो मूर्च्छा कफस्रवणं मूर्धरुजा विदाहः सुरान्नविकृतेषु द्वेषश्च (सुउ. ४७.२२; का पानात्ययचि. ५)

पानक–न., पेय० पीयते इति पानकम्, तत् साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं सकर्पूरं श्रेष्ठमस्ति। द्राक्षाखर्जूरकोलादिभिः पानकानि क्रियन्ते (चसू. २७.२७९; सुसू. ४६.३८९; असंसू. ७.७७; अहसू. ६.३५)

पानक–पु., पानकम् (सुसू. ३८.७६)

पानकि–पु., रोग० पानकी (सुउ. ४४.६)

पानकी–पु., पाण्डुरोगभेदः, तल्लक्षणम्–सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तःपीतता पाण्डुता नेत्ररोगश्च नेत्रयोः पाण्डुता वा (ड. सुउ. ४४.१२)

पानविक–पु., प्रतुदजातीयः पक्षी (चसू. २७.५३)

पानाजीर्ण–न., मद्यपानजो रोगः, त्रिदोषजः, तल्लक्षणम्–आध्मानमुद्गिरणाम्लरसो विदाहश्च (सुउ. ४७.२०)

पानात्यय–पु., रोग० मदात्ययः, अयमतिमद्यपानाज्जायते। वातपित्तकफसन्निपातजभेदादयं चतुर्विधः। वातजलक्षणम्–स्तम्भोऽङ्गमर्दो हृदयग्रहस्तोदः कम्पः शिरोरुक् च। पित्तजलक्षणम्-स्वेदःप्रलापो मुखशोषणं दाहो मूर्च्छा मुखनेत्रपीतता च। कफजलक्षणम्–वमथुः शीतकफप्रसेकश्च। सन्निपातजलक्षणम्–अस्मिन् दोषत्रयलक्षणानि स्तम्भस्वेदवमथ्वादीनि

–चिकित्सित–न., अध्या० (काचि. १)

पानात्ययप्रतिषेधः–पु., अध्याय (सुउ.४७)

पानात्ययोद्दिष्टविकार– (परिव०) पु., मदात्ययजन्यो व्याधिः, विच्छिन्नमद्यस्य सहसाऽतिमद्यसेवनाद् ध्वंसकविक्षयौ नाम विकारौ भवतः (सुउ.४७.४९)

पानापक्रम–पु.. रोग० मद्यपानस्य सहसा विच्छेदेनासौ भवति (का पानात्यय चि.)

पानीय–न., जलम् (सुसू. ४५.३; असंसू. ६.३०; ध. ६.३०२)

–क्षार–पु., पानयोग्यः क्षारः, तिलेक्षुरकपालाशादिभिराहृतः क्षारो गुल्महरो वातरोगहरश्च काकादनी द्रवन्त्यादिभिश्च पानीयक्षारा निर्मीयन्ते। (सुउ. ४२.४०; सुचि. १९.६३)

पानीयालु–पु., वनस्पति०तद्गुणाः–सन्तर्पणकरत्रिदोषघ्नश्च (रापरि. ७.३१)

पानीयाश्वा–स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रापरि., ८.४०)

पानोष्मन्–पु., मद्यपानजनितमौष्ण्यम् (सुउ.४७.५४)

पाप–न., शास्त्राविहितं कर्म, पातकम्, हिंसा, स्तेयम् अन्यथाकामः पैशुन्यं परुषानृतवचनं संभिन्नालापः व्यापादः, अभिध्या दृग्विपर्ययः इति दशविधं पापं कर्म (अहसू. २.२२)

–कर्मालय–पु., पापकर्मणां गृहम्, यत्र हिंसादीनि पापकर्माणि क्रियन्ते तत् (असंशा. १२.१९)

–घ्न–पु., वनस्पति० तिलः (ध. ६.१२२)

–चेलिक–न., शाक० पाठाशाकम् (चक. चचि. ३.१८९; ड. सुउ. ३९.१५१)

(–चेलिका)–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०; चचि. ३.१८९)

–नाशिनी–स्त्री. वनस्पति० शमी (ध. ५.९५)

–रोग–पु., पापकर्मजः पापमूलको वा रोगः, कुष्ठम् (सुनि. ५.३०; र. ११.८३; सुचि. ९.४५)

पाप्मन्–वि., दुःखहेतुत्वात् पापरूपः (श्लेष्मा) (चसू. १७.११७)

अशुभम् (सुसू. ४.३३)

मालिन्यम् (सुचि. २८.३)

पापम् (हे. अहसू. २.१६)

पु., ज्वरः पापनिर्वर्त्यत्वात् पाप्मा (चचि. ३.१३; असंनि. १.७)

रोगः (सुचि. २८.३; र. २९.१५६)

(पाप्म)–हर–वि., दौर्भाग्यनाशनम् (असंसू. ६.१४८)

पामा–स्त्री., रक्तदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८.१३) पित्तश्लेष्माधिकं कुष्ठम् (चचि. ७.३०) क्षुद्रकुष्ठेष्वेकम्। तल्लक्षणम्–पित्तश्लेष्माधिक्यात् श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भवन्ति (चचि. ७.२५) अणुकाः सास्रावाः परिदाहकाश्चेति (सुनि. ५.१४ का. कुष्ठचि. असंनि. १४.३०)

–हर–वि., खर्जूविनाशकम् (असंसू. ६.१४८)

पायन–न., औषधदानम् (कासू. १९)

(पायना)–स्त्री., संस्कार० कुण्ठितशस्त्रस्य तेजनं नाम तीक्ष्णत्वापादनम्, पायना त्रिविधा, क्षारोदकतैलेषु सा लौहकाराणां प्रसिद्धा। तत्र क्षारपायितं शस्त्रं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु (सुसू. ८.१२)

पायस–पु., न., कृतान्न० पयसि पयसा वा संस्कृतमन्नम् (चसू. १३.६६; र. १५.६७; अहसू. ७.३८) अयं मन्थानुपानः सन् विरुद्धत्वात् श्लेष्मप्रकोपणः, (चसू. २६.८४; असंसू. ९.१७; सुसू. ४६.३४६) क्षीरसिद्धास्तण्डुलाः (ड. सुउ. ६०.१२) वातशूले स्वेदनायोपयुक्ताः (सुउ. ४२.८९) पिण्डस्वेदोपयोगि द्रव्यम् (चसू. १४.२५) पायसकृतिः–अतप्ततण्डुलो धौतः परिभृष्टो घृतेन खण्डयुक्तदुग्धेन पाचितः पायसो भवति (वै. श. सि.)

पायसगुणाः– विष्टम्भी गुरुर्बल्यो मेदःकफकरश्च (सुसू. ४६.३४५) व्रणिनामहितः पूयवर्धनो व्रणदुष्टिकरश्च (सुसू. १९.१६) पायसजुष्टे शीतोदकमनुपानम् (सुसू. ४६.४२४) सुखोदकमनुपानमिति (सुसू. ४६.४२५)

पायसाह्व–पु., सुगन्धिद्रव्य० श्वेतकः (ध. ३.१३३)

पायु–पु., शारीर० कर्मेन्द्रिय० (चशा. ७.७) एकादशेन्द्रियेष्वेकं गुदम् (सुशा. १.४; असंशा. ५.४४)

–पाक–पु., रोगलक्षण० गुदपरिकर्तनम् (असंशा. ११.१२)

–प्रमार्जनी–स्त्री., शलाका० पायुशलाका, सङ्ख्यया द्वे आसन्नार्थे दशाङ्गुला, दूरार्थे द्वादशाङ्गुला (अङ्गसू. २५.३४)

–शोफ–पु., रोगलक्षण० गुदशोफः (चसि. ७.४१)

–सन्ताप–पु., रोगलक्षण० गुददाहः (असंनि. ८.१०)

पायवन्तदेश–पु., शारीर० गुदस्य पर्यन्तदेशः गुदस्यान्तः (ड. सुनि.४.१०)

पारद–पु., खनिज० शम्भुरेतः (सुचि. २५.३९)

क्षेत्रभेदेन पारदः पञ्चविधः, रससेन्द्रसूतपारदमिश्रकश्चेति (र.१.६६) तत्र सर्वधातूनां रसनाद्नाम भक्षणाद् रसः, रसोपरसराजत्वाद् रसेन्द्रः, एतौ रसायनोपयोगिनावष्यतिदुर्लभौ (र.१.६८–६९) देहलोहसिद्धिं सूते इति सूतः (र.१.७७) रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानात् पारदः (र.१.७८) सर्वधातुगततेजोभिर्मिश्रितत्वात् मिश्रकः (र.१.७९) तेषां वर्णकर्माणि–रसो रक्तवर्णो रोगनाशकोऽमरत्वहेतुश्च, रसेन्द्रः श्यावः सर्वश्रेष्ठोऽमरत्वकरश्च, सूतः पीतो देहसिद्धिकरो जरामरणहरश्च, पारदः श्वेतो रोगनाशको जरामरणहरश्च, मिश्रकश्चित्रवर्णः सर्वव्याधिजरामरणहरश्च (र.१.६७–७९) तदाहरणप्रकारः—दरददेशेष्वयं लभ्यते। अग्निवक्त्रतः पतितः पारदः पृथिव्यां लीनो भवति। तत्रस्थां मृत्तिकां पातनायन्त्रे क्षिप्त्वा ततः पारदं प्राप्नुवन्ति (र.१.८९) हिङ्गुलादपि पारद आहियते। पारदस्याष्टादशसंस्काराः—स्वेदनं मर्दनं मूर्च्छनमुत्थापनं पतनं रोधो नियामनं सन्दीपनं गगनभक्षणं सञ्जारणं गर्भद्रुतिर्बाह्यद्रुतिः सूतजारणा ग्रासः सारणकर्म सङ्क्रामणं वेधकरणं शरीरयोगश्चेति, तत्र स्वेदनमारभ्य सन्दीपनपर्यन्तं उल्लेखिता अष्टौ संस्कारा रसायनोपयोगिनः, गगनभक्षणादयोऽवशिष्टा दश संस्कारा रसायने नोपयुज्यन्ते। संस्कारसंस्कृतः पारदो दोषरहितः कर्मोपयोगी च भवति। पारदे विषवह्निमलाश्चेति नैसर्गिकास्त्रयो दोषाः, ते क्रमशो मरणसंतापमूर्च्छाप्रदाः (र. ११.१७) नागवङ्गाविति यौगिकौ दोषौ, तौ जाड्याध्मानकुष्ठादौ (र. ११.१८) पर्पटीपाटिनी भेदी द्वावी मलकर्यन्धकारी ध्वांक्षी चेति सप्तकञ्चुका यथानामक्रियाकारिणः (र. ११.२२)

स्वेदनाद्यष्टसंस्कारविधिर्गुणाश्च–

श्यूषणादिभिर्दिनत्रयस्वेदनेन पारदगतमलशैथिल्यं भवति। लवणासुर्यादिभिर्मर्दनेन स्वेदनोद्रिक्तदोषो नश्यति। गृहकन्यात्रिफलादिभिर्मूर्च्छनेन पारदो विषादिदोषरहितो भवति। काञ्जिककाथादिभिरुत्थापनसंस्कारेण पारदस्य पूतिदोषो नश्यति। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्पातनेन रसायनयोग्यः शान्तश्च भवति। सृष्टयम्बुजादिभिः रोधनेन पारदोऽनुत्तमवीर्यो भवति। कर्कोट्यादिभिर्नियामनेन तच्चापल्यं नश्यति मरिचादिभिर्दीपनेन पारदो ग्रासार्थी भवति। एवमष्टसंस्कारसंस्कृतः पारदः सर्वरोगहरो देहलोहकरश्च भवति (र. ११.२६-५९)

पञ्चविंशतिसङ्ख्याकाः पारदबन्धाः। तैश्च पारदगतं चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं च नश्यति। ते चैते–हठारोटौ क्रियाहीन आभासः पिष्टिकाक्षारः खोटः पोटः कल्कबन्धः कज्जली सजीवो निर्जीवो निर्बीजः सबीजः शृङ्खला द्रुतिबन्धो बालकः कुमारकस्तरुणो वृद्धो मूर्तिबन्धो जलबन्धोऽग्निबन्धः सुसंस्कृतबन्धो महाबन्धश्चेति (र.११.६२-६४) पारदसेवने पथ्यवर्गाः– घृतं सैन्धवं धान्याकं जीरकमार्द्रकं तण्डुलीयकं पटोलमलाब्वादिकं गोधूमो जीर्णशालिर्गव्यं क्षीरं दधि हंसोदकं मुद्गाश्चेति (र. ११.१२५-२६) तत्सेवनेऽपथ्यानि–कण्टकारीफलं काञ्जिकं कमठस्तैलं राजिका निम्बूककतककलिङ्गकफलादीनि तथा कट्वम्लकन्दुककोलकुक्कुटकलकोडकुलत्थादीनि च (र. ११.१२९,१३१)

पारदव्यापत्सामान्यचिकित्सा—पारदसेवने उद्गारे सति सजीरकं दध्यन्नम्, वातक्षोभे नारायणादितैलैरभ्यङ्गः, अरतौ मस्तके शीतजलसेकः, तृष्णायां नारिकेलजलादिपानं च (र. ११.१३३-१३७)

धन्वन्तरिनिघण्टूक्ताः पारदगुणाः– मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायरसो योगवाहक आयुष्यो बल्यः कृमिकुष्ठादिसर्वरोगघ्नश्च (ध. ६.३७)

हिं.—पारा.
म.—पारा.
गु.—पारो.
बं.—पारा.
त.—पातरचं.
फा.—सिमाब, जसीवक.

पारदादिवर्ति–स्त्री., सिद्धयोग० इयं तिमिराधिमन्थार्म-पिल्लशुक्लादिनेत्ररोगविनाशिनी (र. २३.४१)

पारदीय–न., खनिज० पारदः (ध. ६.३७) पारा.

पारम्पर्यानुबन्ध–पु., पारम्पर्येण सन्तानन्यायेनानुबन्धः (चक्र. चशा. १.९२)

पारशिव–न., खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

पारावत–न., फल० मधुराम्लरसं गुर्वरुच्यग्निनाशनम् (चसू. २७.१३४; सुसू. ४२.११) पित्तश्लेष्महरं ग्राहि विष्टम्भि शीतलं वातनुच्च (सुसू. ४६.१५८)
पु., धान्य० व्रीहिभेदः (सुसू. ४६.१२)
पक्षि० प्रतुदजातीयः, पारावतगुणाः – मधुरपाकी कषायो गुरुर्विशदो रक्तपित्तप्रशमनश्च (सुसू. ४६.७०) स्वादुः शीतः स्निग्धो बल्यो वीर्यवर्धनः पित्तघ्नो दाहघ्नश्च (धपरि. ६.५६; असंसू. ७.९०) गरविषहरः (असंउ. ४०)
द्र० 'कपोत'
हिं.—परेवा.
म.—पारवा.
बं.—पायरा, पारवा.

–पदी–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (चक्र. चक. १.२३)
ईषल्लोहितो हंसपदीभेदः (ड. सुचि. ९.३२)
तेजोवती (रा. ३.३९४)
काकजङ्घा (ध. ४.२३)

–शकृत्–न., पारावतस्य वर्चः कंठमार्गगे रक्तपित्ते ग्रथितरक्ते चोपयुक्तम् (चचि. ४.७२) कर्णिका-पातने लेपोपयोगि (सुक. ८.१३६)

पारावतक–पु., धान्य० व्रीहिः (अहसू. ६.९)

पारावतामिष–न., पारावतपक्षिणो मांसम्, इदं गर-विषे उपयुज्यते (असंउ. ४०)

पाराशरघृत–न., सिद्धघृत० राजयक्ष्महरमिदम् (असंचि. ७.)

पाराशर्य–पु., ऋषि० (सुशा. ३.३२; कासि. ३)

पारिक्षि–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतानां अगस्त्यवामदेवादीनामेकतमः (चसू.१.९)

पारिगर्भिक–पु., बालरोग० तल्लक्षणम्– गर्भिण्या मातुः स्तन्यं पिबतः कुमारस्य कासाग्निसादवमथुतन्द्रा-काश्यारुचिभ्रमाः कोष्ठवृद्धिश्च भवति (मा.)

पारिजात–पु., वनस्पति० देवदारुः (इन्दु. असंउ. ६)
वनस्पति० इदम् उदकमेहे शस्यते (सुचि.११.९)
पारिभद्रकः, उदकमेहेऽस्य कषाय उपयुक्तः (सुचि. ११.९)

(पारिजाता)–स्त्री., तेजोवती (ध. १.२६६)

पारिजातक–पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०)

पारिभद्र–पु., वनस्पति० निम्बः (र. २८.१२)
पर्वतनिम्बः (ड.) अयं मूत्रघातहरः, कण्टकिवृक्षो रक्तकुसुमः फलभद्रसंज्ञको रोहिणीसदृशपत्रः पूर्व-देशे प्रसिद्धः (ड. सुउ. ५८.४८) सविषजल-शोधकोऽयम् (सु. क. ३.९)
अस्य क्षारः क्षारकर्मण्युपयुज्यते (असंसू. ३९.१०)
पारिभद्रगुणाः–कटुरुष्णः पथ्यो दीपनः कफवातनु-दरोचकघ्नश्च (रापरि. ८.१०)
हिं.—फरहद, पांगरा.
म.—पांगारा, पानारा,पारिंगा.
गु.—पारिंगा, फरहद.
बं.—पालदे मान्दारगाछ पालिधार.
त.—कलियाणमुरुक्कु.

पारिभद्रक–पु., वनस्पति० कण्टकिंशुकः (इन्दु. असंउ. ४.)
मन्दारः (इन्दु. असंउ. ६)
निम्बः पारिजातः (इन्दु. असंउ. १०)
निम्बः (सुचि. ४.३२; ध. १.२९)
देवदारुः (सुसू. ११.११)
पर्वतनिम्बः (सुउ. ५४.२६)
रक्तकुसुमः कण्टकी फलभद्राख्यः (ड. सुक. ६.३)
क्षारोपयुक्तो वृक्षः (अहसू. ३०.८)
न., वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)

पारियात्र–पु., पर्वत० अत्र सोमनाक्षी वनस्पतिरुप-लभ्यते (सुचि. २९.२८; चसू. २७.२१२) अयं पर्वतो विन्ध्याद्रेः पश्चिमो भागः । अत्रैव प्रसिद्धः 'अरवली' पर्वतोऽन्तर्भूतः, केचन सिन्धोः पश्चिम-दिक्स्थः पर्वत इति वदन्ति

–जा–वि. पारियात्रप्रभवा (नदी) अस्या उदकमारोग्य-बलकरं पथ्यं च (सुसू. ४५.२१) दोषघ्नं पौरुषकरं च (अहसू. ५.१२)
शिरोहृद्रोगश्लीपदकुष्ठकरं चेति (चसू. २७.२१२)

पारिषद्य–वि., परिषदं समवैति परिषदि साधुर्वा पारिषद्यः, सभ्यः (चसू. १५.७)

पारीक्षि–पु., ऋषि० मौद्गल्यः, यज्ञः पुरुषविषये विवदमानेष्वेकः (चसू. २५.८)

पारुष्य–न., रोगलक्षण० काठिन्यम् (चनि. ५.७; चनि. ७.७(१))
वाग्रूक्षता (सुसू. २.६)
रूक्षत्वम् (हे. अहसू.१२.५०)
अशीतिवातविकारेष्वेकः, त्वक्काठिन्यम् (चसू. २०.११; असंसू.२०.१३)

पारूषकघृत–न., सिद्धघृत० वातरक्त–क्षतक्षीण-विसर्प–पैत्तिकज्वरनाशनम् (चचि.२९.५८–६०)

पारेवत–न., वनस्पति० फल० स्वाद्वम्लभेदेनैतद् द्विधा पालेवतं रैवताख्यं क्रमेण स्वादु शीतमम्लमुष्णं चेति (अहसू. ६.१३५) महदल्पभेदेन द्विधा। तद्गुणाः– मधुरं स्निग्धं हृद्यं वृष्यं रुच्यं शुक्रलं वातघ्नं कृमितृषाज्वरविदाहमूर्च्छाभ्रमश्रमविशोषघ्नं च (रा. ११.८९) महापारेवतं गौल्यं बलकृद् वृष्यं मूर्च्छाज्वरादिघ्नमिति पूर्वादधिकगुणम् (रा. ११.९१; असंसू. १७.४२; अहसू. १०.२६)
हिं.—पारेवत.
म.—पालेवत.
गु.—पालेवत.
बं.—पेयारा.

पारेवतक–न., वनस्पति० पारेवतम् (रा. ११.८८) द्र० 'पारेवत'.

पार्कार–पु., पक्षि० प्रतुदजातीयः (असंसू. ७.७३)

पार्थ–पु., वनस्पति० अर्जुनः (ध. ५.११४; असंसू. १६.१८)

(पार्थी)–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला (अरु. हे. अहसू. १५.२४) द्र० 'आदित्यभक्ता'

पार्थिव–न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०३)
वि., पृथिवीविकारः, सुवर्णरजतमणिमुक्तादिः (चसू. १.६८; सुसू. १.३२)
पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याख्यभूतोत्कर्षयुतं द्रव्यम्। (चसू. २६.११) तल्लक्षणं गुणाश्च–गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलम्।
तथोपचयसङ्घातगौरवस्थैर्यकरं च (चसू. २६.१६; अहसू. ९.६)
तद्भावाः– नखास्थिदन्तमांसचर्मवर्चःकेशश्मश्रुलोमकण्डरादयः (चशा. ७.१६) गन्धगन्धेन्द्रियसर्वमूर्तसमूहादयः (सुशा. १.१९; असंशा. ५.१३)

(पार्थिवी)–स्त्री., छाया० तल्लक्षणम्–स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता चेति (चइ. ७.१२)
–प्रकृति–वि., पृथ्वीभूतप्रकृतिः, तल्लक्षणम्–स्थिरविपुलशरीरः क्षमावांश्च (सुशा. ४.८०)

पार्पटक–वि., शाक० पर्पटस्य सम्बन्धात् पार्पटकं पर्पटशाकम्, मण्डूकपर्ण्यादिगणोक्तम्, तल्लक्षणम्–तिक्तं शीतं कटुविपाकि कफपित्तहरं च। (चसू. २७.९७)

पार्वत–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३४)

(पार्वती)–स्त्री., वनस्पति० सैंहलीपिप्पली (रा. ६.११९)
क्षुद्रपाषाणभेदा (रा. ५.२१५)
धातकी (रा. ६.१५१)
अतसी (ध. ६.११५)

पार्वतीय–पु., वनस्पति० अक्षोडः (ध. ५.६०)
कीट० मशकभेदः, तल्लक्षणम्–प्राणहरकीटतुल्योऽयम्, येन सर्पवद् वेगास्तीव्रा वेदनाः सान्निपातिका रोगाः, दंशः क्षाराग्निदग्धवद् रक्तपीतसितारुणो भवति (सुक. ८.३६; सुक. ८.१७–१८)

(पार्वतीया)–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०)

पार्वतेया–स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिणी (धपरि. ३.२२)

पार्श्व–पु., न., शारीर० पर्शुकाप्रदेशः (चसू. १८.२८; सुशा. ५.१९) पर्शुकास्थिभिरावृतः कक्षाया अधोभागः वामदक्षिणभेदेन ते द्वे (चशा. ७.६; सुशा. ५.४; असंशा. ८.३०) तत्प्रमाणम्– दशाङ्गुलविस्तीर्णं द्वादशाङ्गुलायामं च (चवि. ८.११७)
तत्र पर्शुकाः स्थालकानि स्थालकार्बुदानि च प्रत्येकं द्वादशास्थीनि। एवं प्रतिपार्श्वं षट्त्रिंशदस्थीनि। मिलित्वा पार्श्वयोर्द्विसप्ततिरस्थीनि (चशा. ७.६; सुशा. ५.१९)
–ग–वि., विद्यमानम् पार्श्वे (असंनि.२.८)
–ग्रह–पु., लक्षण० पार्श्वस्य ग्रहणवद् वेदना (चचि. ११.१३; असंसू. २८.१०; अहसू. १७.२६)
–भङ्ग–पु., लक्षण० पार्श्वस्य भज्यमानत्ववद् वेदना (सुसू. ३३.१४)
पार्श्वशूलम् (सुचि. ३४.१५)
–रुज्–स्त्री., लक्षण० पार्श्वे वेदना (असंसू. ७.१६०; अहसू. ६.१०८)
–रुजा–स्त्री., लक्षण० पार्श्वे वेदना (अहसू. १४.३०)
–वेदना–स्त्री., लक्षण० पार्श्वे स्तम्भतोदादिका पीडा (सुनि. १.२३)

-शूल-न., लक्षण० पार्श्वे शूलवेधवद् वेदना (चसू. २३.२७)
पु., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (कासू. २७.१९) कफवातसमुद्भवोऽयम्-तत्सम्प्राप्तिलक्षणम्-कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः श्लेष्मा मारुतं रुणद्धि। संरुद्धमारुत आध्मानं गुडगुडायनं सूचीभिरिव निस्तोदं कृच्छ्रोच्छ्वासमनन्नाभिलाषं निद्रानाशं च करोति (सुउ. ४२.११७-११९)

-संकोच-पु., रोगलक्षण० पार्श्वोत्पाटनमिव वेदना (ड. सुनि.९.२१)

-संग्रह-पु., रोगलक्षण० पार्श्वग्रहः (चसू. १४.२२)

-संधि-पु., मर्मस्थानम्, एतम् पृष्ठमर्म, जातितः सिरामर्म (सुशा. ६.६-७) अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम सिरामर्मणी। प्रमाणं प्रत्येकमर्धाङ्गुलम्। तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया मरणम् कालान्तरप्राणहरं चैतत् (सुशा. ६.२६; असंशा. ७.१९)

-संरोजन-न., रोगलक्षण० पार्श्वयोः पीडनम् (चनि. ६.१४)
स्त्री., सिरा० सङ्ख्यया द्वे (असंशा. ६.११)

पार्श्वापवृत्तशिरस्-वि., मूढगर्भप्रकारेष्वेकः पार्श्वमध्यनिक्षिप्तशिराः (ड. सुनि. ८.५)

पार्श्वाभिघात-पु., पार्श्वसमीपेऽभिघातः (सुशा. ६.३०)

पार्श्वार्ति-स्त्री., रोग० पार्श्वशूलः (चचि. ३.२१२)

पार्श्वावनत-वि., पार्श्वे नीचैः कृतम् (असंसू. ३७.२५)

पार्श्वावमर्द-पु., अशीतिवातविकारेष्वेकः, पार्श्वयोस्तोदनम् (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)

पार्षत-वि., पृषतस्य मृगविशेषस्य मांसादि (असंसू. ८.१३०)

पार्षद-वि., सभ्यः सज्जनः (ड. सुशा. ३.२४)
रुद्रानुचरः (सुशा. ३.२४)

पार्ष्णि-पु., स्त्री., शारीर० पादस्य पश्चिमदेशेऽवस्थितो गुल्फाधो मांसलो भागः (चवि. ८.१०७) एकमेव पार्ष्णौ अस्थि (सुशा. ५.१९)
पञ्चचतुरङ्गुलायतविस्तृतेऽग्रम् (सुसू. ३५.१२)
द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी (चशा. ७.६)

-दहन-न., उपक्रम० पार्ष्णौ नाम गुल्फाधोभागेऽग्निकर्म (सुउ. ५६.१२)

-शूल-न., रोगलक्षण० पार्ष्णेः शूलवद्वेदना (चसि. २.१६)

-शोष-पु., रोगलक्षण० पार्ष्णेः शोषः शुष्कता (चसि. २.१६)

-स्तम्भ-पु., रोगलक्षण० पार्ष्णेः स्तब्धता (चसि.२.१६)

पार्ष्णिक-न., शारीर० पार्ष्णिः (अहसू. १९.२८; असंसू. २८.३२)

पार्ष्ण्यस्थि-न., अस्थि० पार्ष्णेरस्थि (चशा. ७.६; सुशा. ५.१९)

पालक-पु., वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२४)
न., शालिपर्णीभेदः (ध. १.८८)
कन्दविष० त्रयोदशानां कालकूटवत्सनाभप्रभृतीनामेकतमं, तेन ग्रीवादौर्बल्यवाक्सङ्गौ भवतः (सुक. २.५-१३)

पालकाख्य-पु., वनस्पति० निष्पावः (ध. ६.११०)

पालक्य-न., वनस्पति० तद्गुणाः- मधुरमीषत्कटुकं शीतलं पथ्यं ग्राहि सन्तर्पणं रक्तपित्तहरं च (रापरि. ७.७२)
हिं.—पालक, पालंकी.
म.—पालख.
गु.—टांको, पालखनी भाजी.
बं.—पालङ्कशाक.

पालङ्क्या-स्त्री., पत्रशाक० फञ्जीचिल्लयादिगणोक्तेयम् (चसू. २७.१००) तद्गुणाः- रूक्षा बद्धविण्मूत्रा वातकृत् पित्तकफे हिता च (सुसू. ४६.२६१; अहसू. ६.८४)

पालल-पु., कृतान्न० पललम्-गुडाद्युपेतं तिलपिष्टम्, तेन निर्मितः पाललः, श्लेष्मजननोऽयम् (सुसू.४६.४००)

पालाश-वि., पलाशसंबन्धि (मूलम्) पलाशस्य इदम् (चशा. ८.१०)

पालाश-पु., सुगन्धि० शटी, (ड.) विदारिकारोगे लेपार्थमुपयुज्यते (सुचि. २०.१४)

-यूष-पु., (परिव०) यूष० पलमश्नातीति पलाशो मांसादः मांसादमांसं तत्सम्बन्धी पालाशः, रसः पित्तशूले हितः (सुउ. ४२.१०७)

-शोणित-न., किंशुकरसः (ड.) पलाशखयुरम् (सुउ.१०.७)

-सर्पिस्-न., सिद्धघृत० इदं रक्तपित्तहरम् (सुउ. ४५.२९)

पालि-स्त्री., शारीर० कर्णपालिः (सुसू. १६.२२)
कर्णलतिका, कर्णशष्कुलिः (सुसू. १६.१०)

-वर्धनतैल-न., सिद्धयोग० शतावर्यश्वगन्धादिविपक्वमेतत् कर्णपालिविवृद्धिकरम् (सुसू. १६.२१-२२)

–शोथ–पु., कर्णपालिरोग० उन्मन्थः, बलात् कर्णं वर्धयतः कफपित्ते प्रकुपिते स्तब्धमवेदनं कण्डूलं शोथं पाल्यां जनयतः (र. २४.१)
–शोफ–पु., कर्णपालिरोग० उन्मन्थः (अहउ. १७.२३)
–शोष–पु., रोग० पाल्यामसौ भवति । तल्लक्षणम्– कर्णसिरास्थो वायुः पालिं शुष्कां करोति (र. २४.१)

पालिक–वि., तोलकचतुष्कात्मकपलप्रमितम्, पलमात्रम् (सुचि. ३८.४४; र. १०.२३)

(पालिका)–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११५)
आलवालम् (र. ५.३६)
पात्र० लोहकटाहः (र. १४.८३)
दर्वी (र. ७.५)
–यन्त्र–न., यन्त्र० विशेषतो नताग्रभागमूर्ध्वदण्डं दर्वीव वर्तुलाकारं लोहमयं पात्रम्। इदं बलिजारण-विधौ उपयुज्यते (र. ९.५०)

पालित्य–न., रोग० पलितम् केशशौक्ल्यम् (चवि. १.१७)

पालिन्–पु., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०)

(पालिनी)–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा. ५.३७९)

पालिन्द–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१)

पालिन्दर–पु., सर्प० मण्डली (सुक. ४.३४-(२))

(पालिन्दी)–स्त्री., वनस्पति० श्यामलता विषघ्नगणोक्त-मेकं द्रव्यम् (चसू. ४(१६) ११)
कालवल्ली (ड. सुउ. २६.४०)
त्रिवृत् कालवल्ली (ड. सुक. ५.७०)
श्यामा त्रिवृत्, सारिवा (ड. सुउ. १०.७)
श्वेतत्रिवृत् (असंसू. ८.४९)
त्रिवृत् (इन्दु. असंउ. ४२; असंसू. १५.२०)

पालिन्दि–स्त्री., वनस्पति० कालवल्ली, कफविसर्पे हिता (सुचि. १७.१५)

पाली–स्त्री. शारीर० कर्णपाली (कासू. २१; सुचि. २५.२७)
खल्वस्य कोणभागः (र. ९.८४)
–शोष–पु., कर्णपालिगतरोग० पालिशोषः (असंउ २१.)

पालेवत–न., वनस्पति० पारेवतम् (ध. ५.६६)

पाल्लविक–वि., पल्लवो विषयैकदेशः, तत्र भवः पाल्ल-विकः, प्रादेशिकः (चसू. ३०.७२)

पाल्यामय–पु., कर्णपालिगतो रोगः कर्णपाल्यामयाः पञ्च–परिपोट उत्पात उन्मथो दुःखवर्धनः परिलेही चेति (सुचि. २५.३)

पाल्वल–वि., पल्वलोद्भवम् (जलम्) तद्गुणाः– विपाके मधुरं गुरु विशेषाद्दोषलं च (सुसू. ४५.३६)

पावक–पु., वनस्पति० चित्रकः (र. २०.५६; ध. २.८०)
चित्रकभेदः रक्तचित्रकः (रा. ६.१२७)
जठरानलः (सुसू. ४६.४९३; अहसू. ८.२४)
न., वनस्पति० कुसुम्भम् (ध. ६.११८)
–संनिभ–वि., वर्णौष्ण्यादिभिरग्निसदृशः (स्फोटः) (सुनि. १३.१९)
–स्थान–न., शारीर० ग्रहणी, पित्तस्थानम् (चचि. १५.२१८)

पावकोच्छिष्ट–पु., कोकिलः (र. ७.१६)

पावन–पु., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५)
भृङ्गराजभेदः पीतभृङ्गराजः (रा. ४.२१)

(पावनी)–स्त्री., वनस्पति० तुलसी (रा. १०.७७)
जाङ्गम० गोरोचना (ध. ३.२०)
मूषा० (र. १०.१)
ग्रह० पूतना (का. बालग्रहचि.)
–ध्वनि–पु.,जाङ्गम० शङ्खः (रा. १३.२४३)

पाश–पु., बन्धनहेतुको निगडादिः (सुउ. ६२.१८)
बन्धनम् (सुसू. २७.२२)
रज्जुवलयः (सुसू. २९.७)
जालम् (असंशा. १२.४)
सूच्यादिछिद्रस्थानम् (अहसू. २६.२०; असंसू. ३४.३०)

पाशव–वि., तामससत्त्व० तद्गुणाः– दुर्मेधस्त्वं मन्दता स्वप्ने मैथुननित्यता जुगुप्सिताऽऽचाराहारत्वं निराकरिष्णुता च (चशा. ४.३९(१); सुशा. ४.९५)
–रस–पु., तृणरसः, नेत्ररोगेषूपयुक्तं द्रव्यम् (काखिल. १३.५७)

पाशिका–स्त्री., वृक्ष० दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धाः (असंउ. ६)

पाशुपत–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३ रा. परि. ५.३७)

पाषण्ड–(परिव०) पु., कापालिकादिः (चचि. २३.१६०)

पाषाण–पु.,शिला (चचि. २१.१३१; असंसू. ६.४६)
–कदली–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (ध. ४.७८)

-गर्दभ-पु.,क्षुद्ररोग० तल्लक्षणम्-कफवाताभ्यां हनुसन्धौ स्थिरोऽल्परुजः शोथो भवति (सुनि. १३.१३; असंउ. ३६)

-गैरिक-न., खनिज० गैरिकम् (ध. ३.१६७; र. ३.४७)

-बहल-वि., प्रस्तरबहुलम् (र. २.८२)

-भेद-पु., वनस्पति० मूत्रविरेचनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५(३५) वातकृच्छ्रहरं द्रव्यम् (सुउ. ५९.१७) तद्गुणाः- मधुरस्तिक्तः शीतस्त्रिदोषघ्नो शूलहृद्रोगप्लीहरोगगुल्मार्शोबस्तिशुद्धिकरो मूत्रकृच्छ्रमूत्रशर्कराश्मशूलतृषादाहमेहाश्मरीविनाशनश्च (ध. १.१५७; र. २९.६४; असंसू. १५.३५)

हिं.—पाखानभेद.

म.—पाषाणभेद.

गु.—पाषाणभेद.

बं.—पाथरचूरी.

त.—चेरुपूळै.

-भेदक-पु., वनस्पति० पाषाणभेदः (ध. १.१५७)

-भेदादिघृत-न., सिद्धघृत० वाताश्मरीनाशनमिदम् (सुचि. ७.५-८)

-भेदिन्-पु., सिद्धयोग० अश्मरीनाशकोऽयम् (र. १७.४)

पाषाणान्तक-पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (रा. ९.२९०)

पिक-पु., प्रतुदजातीयपक्षि० कोकिलः (रा. परि. २३.६८; पृ. ४२६)

-बान्धव-पु., वनस्पति० आम्रः (ध. ५.२)

-भक्षा-स्त्री., वनस्पति० जम्बूभेदः, भूमिजम्बूः (रा. ११.१३४) द्र० 'जम्बू'

-राग-पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.३)

पिकेक्षण-पु., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रा. परि. ४.४९)

पिङ्ग-पु., मिश्रधातु० पित्तलम् (ध. ६.१८)

न., वनस्पति० वालकम् (ध. १.४७)

खनिज० हरितालम् (रा. १३.६५९)

(पिङ्गा)-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५४)

वनस्पति० वंशरोचना (रा. ६.८६)

भैषज्य० गोरोचना (ध. ३.२०)

सौम्यलता० हयमण्डजा (असंउ. ४४) तद्दष्टलक्षणाति-वंशोऽग्नि-दग्धांभो भवति । स्फोटो बहुस्रुतिस्तीव्रशोफज्वररुजाहृत्पीडादाहतृड्युक्तश्च भवति (असंउ. ४५)

-मूल-न., वनस्पति० गर्जरम् (रा. ७.९८)

-सार-न., खनिज० हरितालम् (रा. १३.५९)

पिङ्गाक्ष-वि., लक्षण० पिङ्गो रक्तवर्णे चक्षुषी यस्य सः (असंशा. २.५७)

पिङ्गभास-पु., सविषकीट० गोधेरकेण्वेकस्तेन दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः (सुक. ८.२८)

पिङ्गल-पु., सर्प० मण्डली (सुक. ४; ३४. (२)

न., वनस्पति० गर्जरम् (ध. ४.६९)

मिश्रधातु० पित्तलम् (रा. १३.१७)

(पिङ्गला)-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८०)

भैषज्य० गोरोचना (ध. ३.२०)

मिश्रधातु० पित्तलम् (ध. ६.२०)

जलूका०, निर्विषाणां जलूकानामन्यतमा, किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च (सुसू. १३.१२)

द्र० ' जलौका '

पक्षि० (असंशा. १२.९)

कीट० मक्षिकाभेदः द्र० ' मक्षिका ' (सुक. ८.३५)

-नामक-न., निर्यास० तुरुष्कः (ध. ३.२३)

-लोह-न., मिश्रधातु० पित्तलम् (रा. १३.१७)

पिचु-पु., स्त्री., स्थूलकर्पटिका (चक्र. चचि. १९.४६)

कार्पासस्य वस्त्रम् (चशा. ८.३२)

कार्पासतूला (सुचि. १.४०)

बीजहीनः कार्पासः (सुसू. १३.१९)

मान० कर्षः (चक. १२.९०)

वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४५)

फल० वातामादिफलवर्गोक्तः (सुसू. ४६.१८७)

-मन्द-पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३४)

निम्बः (ध., १.२९; सुचि. २२.५४)

-मर्द-पु., वनस्पति० निम्बः (चक.१,२२; सुचि.९.७)

-वर्ति-स्त्री., कार्पासवर्तिः (अहसू. २३.३)

पिचुक-पु., रत्नविशेषः, अयं मणिरुत्तरापथें प्रसिद्धः (चचि. २३.२५२)

वनस्पति० करीरफलम् (सुचि. ७.१७) पिचुकः करीरः तस्य फलम्

कार्पासफलम् (ड. सुचि. ७.१७)

(पिचुका)-स्त्री., रत्नपुष्पेति काचिदौषधिः (इन्दु. असंउ.४२)

पिच्चट-न., खनिज० वज्रम् (ध. ६.१३)

पिच्चिट-पु., आग्नेयकीट० (असंउ. ४३) सविषकीटः, अग्निप्रकृतिकोऽयं पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)

पिच्चिटक–पु., कीट० (ड. सुक. ३.५) शकृन्मूत्रविषोऽयम् (सुक. ३.५)

पिच्चित–न., सद्योव्रणविशेषः पाषाणलगुडादिभिरुत्पन्नः सद्योव्रणस्य प्रकारः (सुचि. २.९–१०) चिप्पटीभूतम्, चिर्पितम् (ड. सुसू. ४५.११२) विदलितम् (इन्दुः असंउ. ३१) यत् प्रहारेण पीडनेन वा गात्रमस्थियुक्तमसृङ्मज्जप्लुतं पृथुतामापद्यते तत् (असंउ. ३१)

अस्थिकाण्डभङ्गस्य प्रकारः, तल्लक्षणम्–यदस्थि पीडितसदृशं विस्तीर्णतां गतं भवति तत् (सुनि. १५.१०) द्र० ' भग्न '

पिच्छ–न., पक्षः (असंचि. ११)

(पिच्छा)–स्त्री. वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२६)

शाल्मली-निर्यासः (चक. ६.८)

शारीर० पिच्छिलभागः (चसू. २८.४)

–नलिका–स्त्री., मयूरपिच्छजा पिच्छनाडी (अहसू. २५.२४)

–नाडी–स्त्री., पिच्छनलिका (असंसू. ३४.१३)

पिच्छन–न., अत्यर्थपीडनम् (चसू. १८.४)

पिच्छलक–पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि. ९ २०)

पिच्छला–स्त्री., वनस्पति० शूली (रापरि. ८.६८)

अतसी (रा १६.१८७)

पिच्छा–स्त्री., (ध. ५.१२६)

–बस्ति–पु., बस्ति० पिच्छिलद्रव्यैः कृत आस्थापनवस्तिः (सुउ. ४०.१११) द्र० ' बस्ति '

पिच्छिल–पु., गुण० परिपक्वश्लेष्मातकमांसबब्बूलनिर्यासप्रभृतिस्थितो दृढतरश्लेषणकरो गुणविशेषः वीर्यसंज्ञकोऽयं,अम्बुगुणभूयिष्ठश्चक्षुःस्पर्शाभ्यां ग्राह्यः (सु.सू. ४१.११) विशदविपरीतो द्रव्यस्य लेपने शक्तिः (सु.सू. ४१.४१) दृढतरसंयोगजनको गुणः (च.शा. ६.१०) : तस्य कर्माणि–जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः (सु.सू.४६.५१७)

वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५. ९४);

शाल्मली (ध. ५.१२७)

(पिच्छिला)–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२७)

वृश्चिका (रा.परि. ५.४०)

उपोदिका (रा.परि. ७.७४)

कोकिलाक्षः (रा.परि. ४.४९)

–च्छदा–स्त्री., वनस्पति० उपोदिका (रापरि. ७.७४)

–द्रव्य–(परिव०) न., विशदविपरीतं द्रव्यम् (सुसू. ३७.११)

–बीज–न., वनस्पति० भव्यम् (ध. ५.३९)

–सार–पु., निर्यास० मोचरसः शाल्मली (रा. ८.२१५)

पिच्छोत्पत्ति–स्त्री., पिच्छाया उत्पत्तिः, जलजन्मपूर्वरूपं पिच्छोत्पद्यते (चक. चचि. १३.४८) पिच्छासदृशो भागः पिच्छा; अन्ये तु भक्तमण्डसदृशीं पिच्छामाहुः (चक. चचि. १३.४९)

पिञ्जर–न., वनस्पति० नागकेसरम् (रा.६.७४)

खनिज० हरितालम् (ध. ७.११९)

(पिञ्जरी)–स्त्री., खनिज० अग्नौ ध्मातं ततो द्रवेऽौषधस्वरसे निर्वापितं च सत् पाण्डुपीतप्रभं जातं लोहान्तरयुतं लोहम् (र. ८.२२)

–त्व–न., रक्तवर्णः (चसू. ५.३०)

पिञ्जरक–न., खनिज० हरितालम् (ध. ७.११९)

पिञ्जान–न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२)

पिटका–स्त्री., लक्षण०पिडका (असंनि. १०.३६)

पिटिका–स्त्री., लक्षण० पिडका, मधुमेहे उपद्रवस्वरूपा इयम् (असंउ. २७.)

कपालगतरोग० कपाले जाता पिटिका (असंउ. २७.)

बालरोग० बालानामष्टौ पिडकाः स्वशरीरदोषात् स्वदोषाच्चोत्पद्यन्ते (का द्विव्रणीयचि.)

पिठर–पु., पात्र० स्थाली (चसू. १५.७)

पिडक–पु., रोग० पिटिका (चसू. १७.४)

(पिडका)–स्त्री., रोग० पीटिका (चसू. १६.१३; सुनि. ६.१४) रक्तप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.११) बहिर्मार्गजो व्याधिः, ग्रन्थिरूपः शोफः (चचि. १२.८८) तल्लक्षणानि–यस्य त्वचि रक्ते प्रकुपितं पित्तमवतिष्ठते तस्य पिडका सरागं शोथं जनयेत् (चसू. १८.२४)

गुदरोग० तदवस्था द्विविधाऽभिन्ना भिन्ना च तत्राऽभिन्ना भगन्दरपूर्वरूपा, भिन्ना भगन्दरा (सुनि. ४.३) द्र० 'भगन्दर'

नेत्ररोग० (सुउ. १.४०)

पिडकिन्–वि., पिडका व्रणौष्ठेऽणुमांसाङ्कुराः तद्युक्तः (सुसू. २३.१८)

पिडकोलिका–स्त्री., नेत्रमलः (चक. चनि. २.६)

पिण्ड–पु., वर्तुलाकृतिः (सुशा. ३.१८)

अञ्जन० गुटिकाञ्जनम् (असंसू. ३२) द्र० ' अञ्जन '

–सारोद्धारः, तात्पर्यम् (चवि. ८.१५)

पिण्डकरणं मेलनमिति यावत्, जारणाया इदम् अवस्थात्मकं द्वितीयं रूपम् (र. ८.७२-७३)

कवलो ग्रासः (ड. सुउ. ६४.८०)

ग्रन्थ्याकारः (चक्र. चशा. ४.१०)

न., भैषज्य० बोलम् (ध. ३.६२.अ.)

खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

–कन्द–पु., वनस्पति० कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)

–खर्जूरिका–स्त्री., वनस्पति०

तद्गुणाः–मधुरा, शीता, गुरुः, स्निग्धा, पुष्टिदा, संतर्पणी श्रमहारिणी, वीर्यवर्धिनी, हृद्या, पित्त-कफघ्नी, दाहास्रपित्ततृष्णाश्वासनाशिनी (रा. ११,६८–७०)

हिं.—खर्जूर.

म.—शिंदी; खजूरी.

गु.—खजूरी.

बं.—पिण्डखेजूर.

ता.—खजुरपुपण्डु.

फा.—तमरुतब.

–खर्जूरी–स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरिका, (रा. ११.६८–७०; ध. ५.५५)

–गुडूचिका–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.३)

–तालक–न., खनिज० हरितालभेदः द्र० 'हरिताल' (र. ३.७४)

–तैल–न., सिद्धतैल० मधूच्छिष्टमंजिष्ठा सर्जरससारिवाभिः सिद्धमिदं वातशोणितेऽभ्यङ्गार्थमुपयुज्यते (चक्रि. २९.१२३) अपरिस्रुतं किट्टयुक्तं तैलम् (ड. सुचि. ५.१२)

–तैलक–पु., निर्यास० तुरुष्कः (रा. १२.३७)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कटुतुम्बी (ध. १.१७०; चक. ३.३; सुचि. १८.१३)

–मुस्त–पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४१)

–मुस्ता–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.६१)

–मूल–न., वनस्पति०. तद्गुणाः– कटूष्णं गुल्मवातादिदोषनुत् (रा. ७.५७)

हिं.—मुला, मूलबीज.

म.—मुळा.

गु.—मुरी.

बं.—मुला.

ता.—मूलाङ्गी.

–मूलक–न., वनस्पति० मूलकभेदः। द्र० 'मूलक' (रा. ७.५७)

–रोहिणक–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा. ९.५५)

–स्वेद–पु., उपक्रम० उष्मस्वेदविशेषः पिण्डरूपः स्वेदः (चसू. १४.२५) तत्र कपालपाषाणलोष्ट-लोहपिण्डानग्निवर्णान्संदंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जेत्। तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत्। पांसुसिकतागवादिपुरीषे धान्याम्लसपुलाकपललैर्वाऽम्लोत्क्थितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादिशकृताऽऽर्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरापायसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः (असंसू. २६.८)

–हिङ्गु–न., वनस्पति० नाडीहिङ्गु (ध. २.४०)

पिण्डक–पु., वनस्पति० कन्दग्रन्थिः (रा. परि.७.२४)

तुरुष्कः (ध. ३.२३)

न., वनस्पति० पिण्डमूलम् (रा ७.५७; पृ. १४१)

भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११६)

(पिण्डका)–स्त्री., अङ्कुराः, प्ररोहा (सुशा. ३.१८)

पिण्डलिका–स्त्री., रोग० नाड्या असम्यक्कल्पनजातरोगाणामेकतमोऽयम् परिमण्डलयुता (चशा. ८.४५)

पिण्डाञ्जन–न., अञ्जन० बालानां वर्त्मरोगे उपयुक्तम् (असंउ. १२)

पिण्डातक–पु., वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)

पिण्डामृता–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध. १.४)

पिण्डायस–न., खनिज० तीक्ष्णलोहम् (रा. १३.३०)

पिण्डालु–पु., वनस्पति० कन्दशाकम् कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४; चचि. १४.९)

गुडूची, (रा.३.४)

पिण्डालुक–न., शाक० (चसू. २७.१२३) आलुककन्दः गुरु वातकफकरम् (सुसू. ४६.३०४)

पिण्डासव–पु., आसुत० पिप्पलीगुडबिभीतकसाधितोऽयं ग्रहण्यां शस्तः (चचि. १५.१६०–१६२)

पिण्डाह्वा–स्त्री., वनस्पति० नाडीहिङ्गु (रा. ६.६४)

पिण्डि–स्त्री., वनस्पति० अशोकः (चचि. १४.१०)

तालः (चचि., १४.१०).

खर्जूरः (चचि. १४.१०)

पिण्डिका–स्त्री., वनस्पति० श्वेताम्ली (रा. परि. ४.३७)

शारीर० जङ्घापिण्डिका (चइ. १०.५)

आसनम् (चसू. १४.४६)

पिण्डिकोद्वेष्टन–न., लक्षण० पुरीषनिग्रहजलक्षणभूतं पिण्डिकाया उद्वेष्टनम्, पिण्डिका जङ्घायाः पश्चिमे

भागे पिण्डिकाकृतिमांसम्, तस्या उद्वेष्टनम् उद्वेष्टमानायामिव दुःखम् (अहसू. ४.३. हे.) अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११ चसू. ७.८)

पिण्डित–वि., कुण्डलीभूतः (चनि. ३.७)
घनीभूतम्, संहतम् (सुशा. ८.२६)
गोलाकारम् (र. २.७१–७३)
पु., वनस्पति० तुरुष्कः (ध. ३.२२)

पिण्डितोष्मन्–वि., पिण्डीभूतो नाम एकत्रीभूत ऊष्मा यस्य तत् (असंसू. ४.१२)

पिण्डी–स्त्री., यवसक्तुपिष्टमयो गोलाकारः कृतान्नविशेषः (सुसू. ४६.४१२)
स्त्री., शारीर० मांसपिण्डी, जङ्घापिण्डिका (चचि. १२.९८)
वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)

पिण्डीत–पु., वनस्पति० मदनः (चचि. २६.२७२)

पिण्डीतक–पु., वनस्पति० मदनः (चक. १.२७)
स त्रिविधः, पीत–श्वेत–कृष्णपुष्पवर्णभेदात् (सुचि. २५.२८)

पिण्डीतगरक–न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०३)

पिण्डीपुष्प–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७२)

पिण्याक–पु. न., तिलकल्कः (चक्र. चचि. १४.९)
–तिलखलिः (चसू. २२.२९) तैलनिष्पीडितानां तिलादीनां पिण्डिः, शुष्कतिलकल्कः (चनि. २.४)
तद्गुणाः—लेखनो रूक्षो विष्टम्भी, दृष्टिदूषणश्च (सुसू. ४६.३८१)
सर्वदोषप्रकोपकः (सुसू. ४६.२९४)
संयोगतः पयसा सह विषतुल्यं भवति (सुसू. २०.८)
निर्यास० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
–विकृति–स्त्री., पिण्याकस्य विकृतिः, पिण्डवटकादिदेशीया (हे. अहसू. ६.३४)

पितामह–पु., देवता० ब्रह्मा (चसू. १.२४)

पितृ–पु., अर्यमादिः, परलोकं गतः पूर्वजः (चनि. ७.१०)
अग्निष्वात्तादयः (सुसू. ५.२८)
भूताधिपति० (असंउ. ७)
–ग्रह–पु., पुरुषविग्रहग्रह० (का. बालग्रहचि.)
नैगमेषो बालस्यान्यग्रहेभ्यो रक्षकत्वात् पितृग्रहसंज्ञामलभत (सुउ. २७.५) पितृग्रहाविष्टस्य लक्षणानि–रोमहर्षो मुहुश्वासः सहसा रोदनम् ज्वरः, कासोऽतिसारो वमथुर्जृम्भा, तृट्, शवगन्धिताऽङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपौ शोफः, स्तम्भो विवर्णता, मुष्टिबन्धोऽक्ष्णोः स्रुतिः (असंउ. ३)
–ज–वि., पितुर्जायते जातो वा इति (चशा. ३.७; असंशा. ५)
–जभाव–पु., पितुः शरीरादागतो भावः गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतः–प्रभृतीनि स्थिराणि (सुशा. ३.३३)
–जोत्तम–पु., धान्य० माषः (ध. ६.९९)
–तर्पणपवित्र–पु., धान्य० तिलः (ध. ६.१२२)
–प्रिय–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२०)

पित्त–न., शारीरदोष० 'तप्' संतापे तेन सञ्जापहे–तुर्पित्तमिति (सुसू. २१.५) धारणाध्दातवः इत्यनेन पित्तं धातुः तस्योत्पत्तिः—आग्नेयं पित्तम् रक्तस्य मलः; (चचि. १५.१८) तस्य स्वरूपम्–अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति (चसू. १२.११) तद्गुणाः– सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं, सरं, लघ्वम्लं, कटु, विस्रं, नीलम् (सुसू. २१.११; अहसू. १.११) तस्य स्थानानि–नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रक्तं रसो दृष्टिः स्पर्शनं–त्वग् (अहसू. १२.२) तद्वृद्धिकालाः–यौवने दिवसस्य निशायाश्च मध्यकाले, भुक्तस्य मध्यकाले (अहसू. १.८) तथा शरदि च, पित्तवृद्धिर्भवति (अहसू. १२.२४.२५) तत्कर्माणि–साधारणं कर्माऽऽदानम् (सुसू. २१.८) पक्त्यूष्मा, दर्शनं, क्षुधा, तृषा, रुचिः,प्रभा, मेधा,प्रज्ञा, शौर्यं, तनुमार्दवं च; (अहसू. ११.२–३) तद्भेदाः– पाचकं रञ्जकं भ्राजकं साधकम् आलोचकमिति पञ्चविधं पित्तम् (अहसू. १२।१०–१४) शरीरे पित्तप्रमाणं पञ्च अञ्जलयः (चशा. ७. १५) पित्तदुष्टेर्लक्षणानि दोषप्रकरणात् ज्ञेयानि । द्र० 'दोष'
प्राणिजपित्त० गोपित्तं गोरोचनेति प्रसिद्धम्, (असंउ. ४०) श्वपित्तमपस्मारेऽञ्जनार्थं प्रयुक्तम् (चचि. १०.५०) सिंहव्याघ्रवृकतरक्षुर्वक्षर्क्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगगोधानां पित्तं त्रिफलादिद्रव्यैः सह जीवनेऽगदे उपयुज्यते । (असंसू. ८.२९)
–कर्मन्–न., पित्तस्य कर्माणि (अहसू. ११.२–३)
–तेजस्–न., पित्तगत ऊष्मा, पित्तरूपोऽग्निर्वा (चचि. ३०.२२१-२३)
–द्राविन्–पु., वनस्पति० मधुजम्बीरः (ध. ५.१८)
–द्रुम–पु., वनस्पति० सरलः (ध. ३,७८)
–धरा–स्त्री., शारीर० कलाभेदः, षष्ठी पित्तधरा नाम, पक्वाऽऽमाशयमध्यस्था इयं ह्यन्तरध्यधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन

विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति पक्वं च विमुञ्चति (असंशा. ५.४०) किंच या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति (सुशा. ४.१८)

–प्रकृति–वि., दोषप्रकृतिविशेषविशिष्टः उष्णगौरगात्रस्ताम्रनखनेत्रजिह्वौष्ठपाणिपादतलः, शिथिलसन्धिबन्धमांसउष्ट्रसमकपिलविरलमृदुकेशरोमा मध्यबलायुरल्पशुक्रव्यवायापत्यः, शूरोऽभिमानी शीघ्रवलीखलतिपलितपिप्लुव्यङ्गतीक्ष्णक्षुत्पिपासो मेधावी दुर्भगः, स्वादुतिक्तकषायशीताऽभिलाषोपशयश्च भवति (असंशा. ८.१२) दयितमाल्यविलेपनमण्डनः, सुचरितः, शुचिराश्रितवत्सलो विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो नारीणामनभिमतो धर्मद्वेषी, स्वेदनः, पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः, यस्य च तनूनि, पिङ्गानि, चलानि, तन्वल्पपक्ष्माणि, हिमप्रियाणि लोचनानि, क्रोधेन मद्येन सूर्यातपेनाशु रागं व्रजन्ति । सुप्तः कर्णिकारान् पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च पश्येत । मध्यायुर्मध्यबलः पण्डितःक्लेशभीरुर्व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षसदृशवृत्तिः (अहृशा. ३.९०-९५) क्षिप्रकोपप्रसादो विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यो भयजिनतन्नतारहितः, अनतेषु कठोरवृत्तिः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः (सुशा. ४.६८-७१)

–प्रसेक–पु., धान्य० मुद्गः (ध. ६.८१)

–भेषज–न., वनस्पति० मसूरिका (ध. ६.९५)

–रक्त–न., रोग० रक्तपित्तम् (असंशा. ६.२४)

–वर्ण–पु., लक्षण० पीतनीलादयः (सुशा. २.४)

–वल्लभा–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (ध. १.११)

–वाहिनी–स्त्री.,शारीर० बाहुल्येन पित्तं वहन्ती (सिरा) (सुशा. ७.६)

–विकार–पु., पित्तदोषजन्या रोगाः, ते चत्वारिंशत्–प्लोषो दवो दवथुर्विदाहः, असंदाहस्त्वग्दाहोऽन्तर्दाहो धूमकोऽम्लक ऊष्माधिक्यमतिस्वेदोऽङ्गगन्धोऽङ्गावयवसदनम्, शोणितक्लेदो मांसक्लेदस्त्वङ्मांसदरणम्, चर्मदरणम्, रक्तकोठो रक्तविस्फोटो रक्तमण्डलानि, रक्तपित्तम्, हरितत्वम्, हारिद्रत्वम्, नीलिका, कक्ष्या, कामला, तिक्तास्यता, लोहितगन्धास्यता, पूतिमुखत्वम्, तृषाधिक्यमतृप्तिरास्यपाको मेढ्रपाको जीवादानम्, तमःप्रवेशो हरितहारिद्रनेत्रमूत्रशकृत्त्वं च (हे. अहृसू. १२.५३)

–विरुद्ध–वि., यत् पित्तकारि तत् (इन्दु.) (असंचि. १.१७–१८)

–विष–वि., यस्य पित्तं विषमयं, तत् कीटादि–यथा शकुलीमत्स्यरक्तराजि वरकी (वरटी) मत्स्याश्च पित्तविषाः (सुक. ३.५)

–वेदना–स्त्री.,ऊषचोषादिका (ड. सुक. ४.३७)

–संशमनवर्ग–पु., पित्तदोषशमनद्रव्यसंग्रहश्चन्दनोशीरमंजिष्ठापयस्याविदारीशतावरी–हीबेरगुंद्राशैवलकल्हारकुमुदोत्पलकंदकदलीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरंजनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपंचमूलमिति (सुसू. ३९.८)

पित्तल–वि., पित्तप्रकृतिपुरुषः (चसू. ७.३९)

न., खनिजद्रव्य० रीतिः पित्तलं वा । तद्गुणाः—तिक्तम्, लवणम्, रूक्षम्, शोधनम्, सरम्, वृष्यम्, रसायनम्, वातपित्तघ्नम्, पाण्डुविषकृमिप्लीहावृद्धिवलीपलितनाशनम् (ध. ६.१८)

हिं.—पीत्तल.

म.—पितळ, सोनपितळ.

गु.—पीतल.

बं.—पितल.

फा.—विरञ्ज.

(पित्तला)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११४)

पित्तलक–न., मिश्रधातु० पित्तलम् (रा.१३.१७)

पित्तान्तक–पु., पारदयोग० पारदाभ्रकमुण्डलोहतीक्ष्णलोहमाक्षिकादिसाधितोऽयं पित्तज्वरक्षयदाहतृष्णाभ्रमशोषनाशकः (र. १८.२३६–३८)

पित्तारि–पु., वनस्पति० पर्पटः, (रा. ५.६६)

बर्बरः, (रा. १२.१७)

लाक्षा, (रा. ६.१४२)

पित्ताशय–पु., पित्तस्थानम्, पित्ताशय आमाशयस्य अधस्तनोऽवयवविशेषः 'पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य (स्थानम्) (सुसू. २१.६) तत्र आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् (सुसू. २१.१२) (चक्र. चचि. ३.१७१-७२) अग्निस्थानम् (सुशा. ५.८)

पित्तोष्मन्–पु., पित्तस्थ ऊष्मा, पित्तजनक ऊष्मा वा (चचि. १५.२८)

पित्र्य–वि., मातापितृतः अपत्यम् आगतः पैतृकः (चसू. २५.१७)

पु., धान्य० माषः (ध. ६.९९)

न., पितुर्हितं कर्म श्राद्धदानादि (सुशा. १०.५३)

मघा नाम नक्षत्रम् (ड. सुक. ३.३८)

भैषज्य० मधु (रा. १४.२७०)

पिधान–(परिव०) न., आच्छादनम् (सुचि. ६.४)

(पिधानी)–स्त्री., आच्छादनम् (र., २०.८६-८७)
–पात्र–न., आच्छादनपात्रम् (र. १८.१५४-५५)
पिनद्ध–वि., पिहितम् (असंशा. ५.९३)
पिनाक–न., नागमण्डूकादिषु चतुर्विधेष्वभ्रकेष्वेको भेदः द्र० 'अभ्रक' (र. २.५)
पिपासा–स्त्री., लक्षण० तृष्णा (चनि. १.२१)
पातुमिच्छा (सुसू. १.२५)
रोग० तृष्णा (चसू. २.२४)
–निग्रहज–(परिव.) वि., पिपासाया निग्रहाज्जातः (चसू. ७.२१)
पिपासालु–वि., पिपासातिशयवान् (चशा. ८.२१)
पिपासित–वि., तृषितः (काक. भोजनकल्प. ११.१२)
पिपीलिक–पु., कीट० पिपीलिका (अहसू. २.२३)
(पिपीलिका)–स्त्री.,कृमि०बहिर्मलजोऽयं (चसू.१९.४(९)
कफजक्रिमिः दर्भपुष्पमहागुदादिषु षट्प्रकारेष्वेकः (सुउ. ५४.१२; सुचि. २७.८)
बहुपादा,कृष्णशुक्लवर्णाऽणुस्तिलाकृतिः(चवि.७.१०)
ताः षड्विधाः-स्थूलशीर्षा, संवाहिका ब्राह्मणिका, कपिलिकाऽङ्गुलिका, चित्रवर्णा च; तस्या दष्टलक्षणानि – श्वयथुरग्निस्पर्शवहाहशोफौ भवतः (सुक.८.३४) दष्टचिकित्सा–भृङ्गराजस्वरस–पिष्टकृष्णवल्मीकमृत्तिकालेपनम् (सुक. ८.५४-५५)
पिपीलिका–स्त्री., (चसू. १९.४.९ अहसू. १०.३)
–भारहरण–न., स्वल्पायाः पिपीलिकायाः सारशरीरत्वेन महतो भारस्यापि नयनम् (चक्र. चवि. ८.११५)
–संचार–पु., लक्षण० पिपीलिका शरीरे संचरन्तीव वेदना (असंसू. २७.३७)
–संप्रचार–पु., लक्षण० पिपीलिकासंचारः (चनि.३.७)
–स्रुति–स्त्री., लक्षण० पिपीलिकाभिः सर्पणेनेव क्रियमाणा वेदना (चचि. ३०.१०)
पिप्पल–पु., वनस्पति० क्षीरिवृक्षः मूत्रसंग्रहणीयगणे धूमपानप्रयोगे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५,५-२२) **तद्गुणाः**-स्वादुः, कषायः, शीतः, कफघ्नो रक्तदोषदाहयोनिदोषरक्तपित्तघ्नः (ध. ५.७८) तस्य काष्ठं दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२१) तत्पत्रम्–सूप्यशाकम् (चसू. २७.१०५) **तद्गुणाः**– मेधायुर्बलजननम् (असंउ. १) तत्फलगुणाः– कषायमधुराम्लानिल वातलानि गुरूणि (चसू. २७.१६४)
हिं.—पीपलवृक्ष.
म.—पिंपळ.
गु.—पीपळो.
बं.—अश्वत्थ.
फा.—दरखतलरजा.
(पिप्पली)–स्त्री., वनस्पति० महाकषायवर्गे, दीपनीयगणे, शीतप्रशमनगणे, आस्थापनोपगगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७; चसू. ४.९; चवि. १.११६) **तद्गुणाः**– कटुर्मधुरा, तिक्ता, शीता, स्निग्धा, रसायनी, वृष्या, दीपनी, त्रिदोषघ्नी, तृड्ज्वरोदरजन्तुश्वासकासक्षयामनाशिनी (ध. २.७३) श्लेष्मशूलप्रशमनी (सुउ. ४२.११०) साऽऽर्द्रा शुष्का भेदेन द्विधा–आर्द्रा पिप्पली मधुरा गुर्वी स्निग्धा श्लेष्मला; शुष्का पिप्पली कटूष्णा कफवातघ्नी वृष्या च (चसू. २७.२९७; सुसू. ४६.२२३) अस्याः फलं शिरोविरेचनार्थं वमनार्थं चोपयुज्यते (सुसू. ३९.६) कण्ठ्या हिक्काघ्नी (चसू. ४.१०-१४)
हिं.—पीपल.
म.—पिंपळी, लेंडी पिंपळी.
गु.—लिंडी पिपर.
बं.—पिपुल.
ता.—पिंपिलि.
फा.—पिलपिल दराज.
कर्णरोग० तल्लक्षणम्, कर्णाभ्यन्तरे एकोऽनेको वा नीरुक् स्थिरो मांसांकुरः पिप्पलीप्रमाणः (असंउ. २१; अहउ. १७.१६)
पिप्पलक–न., शारीर० चूचुकम्, स्तनाग्रम् (चशा. ८.५३)
(पिप्पलिका)–स्त्री., वनस्पति० अश्वत्थी, पिप्पलः (रा. ११.१२२)
पिप्पली–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (चसू. ४.१७)
–द्वय–न., पिप्पली गजपिप्पली च (र. २९.६५-६६)
–मूल–न., वनस्पति० महाकषायवर्गे दीपनीयगणे, शूलप्रशमनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९; चसू. ४.१७) दीपनीयपाचनीयाऽऽनाहप्रशमनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) तद्गुणाः– कटूष्णं दीपनं रोचनं पित्तकरं वातकफघ्नं कृमिघ्नम् (ध. २.७५)
हिं.—पीपरामूल.
म.—पिंपळमूळ.
गु.—पीपरीमूलना गंठोडा.
बं.—पिपुलमूल.
ता.—पिप्पली, वेरुपिप्पलीदुम्य.
फा.—फल्फिल्, मोया.

-रसायन-न., रसायनार्थं पिप्पल्युपयुज्यते, द्र० 'रसायन' (चचि. १(३).३२-३५)

-वर्धमान-न., रसायनयोग० योगोऽयं वात-व्याध्यादिनाशनो बलकरश्च (सुउ. ३९.२१६) पिप्पल्यः क्रमशोऽस्मिन्रसायनयोगे वर्धिता भवन्ति, तत् पिप्पलीवर्धमानम् (चचि. १. (३) ३६-४०; सुचि. ५.१२)

-वर्धमानक-न., रसायनयोग० पिप्पलीवर्धमानम् द्र० 'रसायन' (सुचि. ५.१२)

पिप्पल्यादि-वि., पिप्पलीति प्रथमशब्दारब्धः द्रव्यगण० पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्ति-पिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहा-निम्बफलहिङ्गुभार्ङ्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति, अयं कफहरः प्रतिश्यायानिला-रुचीर्हन्ति तथा दीपनो गुल्मशूलघ्न आमपाचनश्च (सुसू. ३८.२२-२३)

-घृत-न., सिद्धघृत० उत्तरबस्तिद्वारा रक्तविभेदनार्थं रक्तगुल्मे समुपदिष्टम् (सुउ. ४२.२१) श्वासकास-हृत्पार्श्वग्रहण्यादिरोगेषु प्रशस्तम् (चचि. १८.३६-३८)

पिप्पल्यादिपञ्चवर्ग-पु.,द्रव्यगण० पञ्चकोलम्, पिप्पली-पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम्; वर्गोऽयं कृमीणां प्रकृतिविघातकः (चवि. ७.२१)

पिप्पल्यासव-पु., आसुत० अयं जङ्गालानां धन्वजानां चानुपानार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४६.४३३)

पिप्रक्षु-वि., प्रष्टुमिच्छुः (चचि. २१.१४६)

पिप्लु-पु., त्वग्रोग० जटुला, (चक्र) यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति । तस्य पिप्लवो जायन्ते (चसू. १८.२५) लक्षण० पिडका (चद. १.११)

पिप्लुत-वि., अल्पाल्पग्रन्थियुक्तम् (कासखिल अ.१५.७)

पिम्परि-पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२६)

पियाल-पु., वनस्पति० सारद्रुमः (ड. सुसू.३८.४८-४९) द्राक्षारसप्रियः खरस्कन्धाख्यः (अरु.) चारः (हे. अहंसू. १५.४१) प्रियालफलं गुरु शीतलं बृंहणं स्निग्धं कफशुक्रकरं दाहक्षतक्षयहरं च (असंसू.७.)

-ज-न., तैल० प्रियालतैलम्, इदं गुरुं शीतलं श्लेष्मलं केश्यं वातपित्तहरं च (असंसू. ६.)

पिलिपिच्छिका-स्त्री., रेवतीग्रह० सा पक्षात्परे कालेऽपत्यं विनाशयति (का. रेवतीक. अ. ४७)

पिल्लु-न., नेत्ररोग० (चचि. २६.२४९) दीर्घकालानु-बन्धी नेत्ररोगः, ते चाष्टादश, पित्तोत्क्लिष्टवर्त्म, कफोत्क्लिष्टवर्त्म, रक्तोत्क्लिष्टवर्त्म, निचयोत्क्लिष्ट-वर्त्म, पोथकी, बिसवर्त्म, कुकूणकः, पक्ष्मोपरोधः, पूयालसः शुष्काक्षिपाकः, सशोफोऽम्लोषितः, पित्तकफरक्ताभिष्यन्दास्रयः, पित्तकफरक्ताधिमन्था-स्रयः (असंउ. २०) बहुशो वर्त्माभिलेखनं रक्तस्रुतिः, आभीक्ष्ण्येन विरेचनञ्च पिल्लरोगे प्रयोज्यम् (असंउ. २०)

पिल्लिका-स्त्री. नेत्ररोग० (काखिल अ. १३.२४)

पिल्लिमा-स्त्री., नेत्ररोग० (का. षट्कल्प.१८)

पिशङ्ग-वि., ताम्रवर्णः (इन्दु. असंउ.४३)

पिशाच-पु., ग्रह० पिशिताशनः (सुसू. ५.२१) भूताधिपतिः (असंउ. ७) देवयोनिः (चनि.७.१०) पिशाचग्रहजुष्टलक्षणानि-यो विकृतदर्शनो दुर्बलः, कर्कशो बहुजल्पको दुर्गन्धोऽत्यशुचिरतिलोलो बहु-भक्षको विजनसेवी, शीताम्बुसेवी, रात्रिसेव्युद्विग्नो रुदनाटनशीलः स पिशाचाविष्ट इति ज्ञेयम् (सुउ. ६०.१५)

(पिशाची)-स्त्री., रेवतीग्रह० इयं सद्योजातमृतापत्या घोरा मांसादी च (का. रेवतीकल्प. ४३.४४) वनस्पति० गन्धमांसी (ध. ३.४७)

-पञ्चवर्ण-पु., वनस्पति० करवीरः (र. ३०.७०)

पिशाचोन्माद-(परिव०) पु., रोग० तल्लक्षणानि-यः अस्वस्थचित्तः स्थानमलभमानो नृत्यगीतहासी बद्धा-बद्धप्रलापी संकरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधि-रोहणरतिः भिन्नरूक्षस्वरो नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठ-न्दुःखान्यावेदयन्नष्टस्मृतिः स पिशाचोन्मत्तो ज्ञेयः (चचि. ९.२०)

-पिशित-न., मांसम् (सुचि. ५.७)

(पिशिता)-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)

पिशिताशिन्-वि., मांसादः (खगः) (सुसू. ४६.१३४)

पिशुन-न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (ध. ३.१२)

(पिशुना)-स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

पिष्ट-पु., पिण्डः (र. ८.७२-७३) वि., चूर्णीकृतम् (सुचि. २७.८) खल्वे पेषितम् (र. २.८७) खनिज० सीसकम् (र. २३.२५)

(पिष्टि)-स्त्री., समगन्धपारदस्य दुग्धेन सह पेषणाज्जाता इत्येकप्रकारका (र. १७) द्वादशगुणितेन द्वादश-भागेन च पारदेन सह मिश्रितो तीव्रातपे संमर्द-नात् नवनीतरूपः संजातो गन्धकः (र. ८.७)

-पचन-न., पात्र० पिष्टं पिण्डादिरूपापन्नं पच्यते अनेन इति पिष्टपचनम्, कटाहः (सुचि.२७.८)

-मय-वि., पिष्टविकारः (चसू. ५.९)

-मांस-(परिव०) न., कुट्टितं मांसम् (सुसू. ४६.३५७-३५८)

-मेह-पु., रोग० कफजप्रमेह० (सुनि. ६.१०) हृष्टरोमा पिष्टमिव सान्द्रं सितं च मेहति (असंनि. १०.१४) तस्य चिकित्सा, हरिद्रादारु-हरिद्राकषाय उपयुक्तः (सुचि. ११.९)

-विकृति-स्त्री., पिष्टजा नाम पिष्टसाधिता विकृति-र्विकारो यथा पैष्टी (सुरा) पिष्टमयमाहारद्रव्यम् (चसू. ५.५)

-स्वेदन-न., पात्र० पिष्टं शाल्यादिचूर्णं स्विद्यते-ऽस्मिन्निति पिष्टस्वेदनं भाण्डम् (अरु० असंउ. ४८)

-स्वेदनविधि-पु., यथा पिष्टकं तोयपरिपूरितपात्रो-परिदत्ततृणादिसंस्थितं स्वेद्यते, तथा तत् स्वेदनी-यमित्यर्थः (चक्र. चचि. १(१)५८)

पिष्टक-पु., नेत्ररोग० नेत्रशुक्लभागगतोऽयम् अस्मिन् रोगे शुक्लभागे पिष्टशुक्लो बिन्दुर्भवति (सुउ. ४.८ सुउ. १.३५)

न., छगणम्, ग्राम्योपलमरण्योपलम् (र. ७.८)

पिष्टान्न-न., तण्डुलादिपिष्टजमन्नम् (ड. सुउ.५४.४,१७)

पिष्टि-स्त्री., पिष्टी (र.८.८)

-बन्ध-(परिव०) पु., पारदबन्ध० तीव्रातपे प्रगाढ-मर्दनान्नवनीतसमो जातः। प्रक्रियाऽत्र द्वादशांशं पारदमेकांशं गन्धकं च त्रुटिशो मुहुर्मुहुः खल्वे दत्वा तीव्रातपे मर्दयेत् (र. ११.७०)

पिष्टिक-न., अरण्योपलम् (र. १०.६६)

(पिष्टिका)-(परिव०) स्त्री., पारदबन्ध० पिष्टिबन्धः (र. ११.७०)

पिण्डिका (र. १०.५२-५३)

पिष्टिकोद्भव-न., वनस्पति० तवक्षीरम् (रा. ६.८८)

पिष्टौण्ड-स्त्री., वनस्पति० श्वेताम्ली, (रापरि. ४.३७)

पिहित-वि., पिधानेन रुद्धम् (सुउ. २४.६) आच्छादितम् (अहसू. १९.१५)

पीटक-न., खनिज० अभ्रकम् (ध.परि. ६.३-४)

पीठ-न., आसनम् (अहसू. २२.२७)

-सर्पिन्-वि., पङ्गुः (चक्र. चसि. २.२१)

पीठोपमपाली-वि., यस्य तु पालिद्वयं मूलत एव छिन्नं भवति स पीठोपमपालिः, निर्वेधिमः पञ्चदशकर्ण-बन्धाकृतीनामेकतमः (सुसू. १६.१०)

पीडन-वि., लेप० सूक्ष्मास्ये व्रणे रूक्षैः पिच्छिलैश्च पीडनो लेपो विधीयते पीड्यते निष्पीड्यते सूक्ष्मास्यव्रण-वस्तु अनेनेति पीडनो (लेपः) (असंउ. ३०)

न., मर्दनम् (चसू. १८.४) अङ्गुल्यादिना पीडनं नाम निष्पीडनम् (सुसू. ७.१७) व्रणस्य षष्टयु-पक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८) नमनोन्नमनपरिवर्तनादि (सुचि. ३.१८)

पीडनद्रव्यम्, (सुचि. १.३६)

अभिघातः (सुनि. १५.३)

पीडा, दुःखम् (का. बालग्रहचि.)

पीत-वि., पीतवर्णः हारिद्राभः (सुसू. १४.२१) आसवादिना भावितं, शोषितं च (र. ३०.१-२)

पु., खनिज० गैरिकम् (ध.परि.६.१४)

गौरीपाषाणभेदः द्र० 'गौरीपाषाण' (र. ३.१३८)

वनस्पति० शाखोटः (रापरि. ९.३०)

अङ्कोटः (रा. ९.३८४)

न., पद्मकम् (रा. १२.१४९)

न., विष० हारिद्रं विषम् (र. १०.८५)

न., वनस्पति० कुसुम्भम् (ध. ६.११८)

पद्मकेसरम् (रा. १०.१६२)

(पीता) स्त्री., वनस्पति० कुरण्टकः (रा. १०.४१९)

तेजोवती (रा. ३.३९४)

दारुहरिद्रा (ध. १.५९)

प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)

मातुलुङ्गभेदः, वनबीजपूरकः (रा. ११.३४)

शिंशिपा, कुशिंशपा (रा.९.२०१)

सुवर्णकदली (रा. ११.११४)

हरिद्रा (ध. १५४)

भैषज्य० गोरोचना (रा. १२.३४)

आग्नेयी=लूता० इयं स्वेदजा वर्तते। सा पित्त-विकारदा भवति (असंउ. ४४) दंशलक्षणानि-विण्मूत्रदंशक्लेदाक्षिदर्शनानां पीतत्वम्, मूर्च्छाच्छर्दि-शिरोदुःखज्वरारोचकशूला भवन्ति (असंउ. ४५)

-कर्मन्-न., पीतवर्णसुवर्णोत्पादकं कर्म (र. २.१०)

-काष्ठ-पु., वनस्पति० हरिद्रुः (रापरि. ९.२६) कालीयकम् (ध. ३.८)

-कीलका-स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (ध. १.१९८)

-कीला-स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (रा. ३.२९६)

-कुरव-पु., वनस्पति० किङ्किरातः (रा. १०.४१५)

-कुसुम-पु., वनस्पति० किङ्किरातः (रा.१०.४१५)

-गन्ध-न., वनस्पति० कालीयकम् (रा. १२.१५)

–**चन्दन**–न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५७)
कालीयकम् (रा. १२.१५)
–**तण्डुल**–पु., वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ६.९०)
(–**तण्डुला**)–स्त्री., वनस्पति० बृहती, बृहती–भेदः सर्पतनुः (रा. ४.१२३)
–**तैला**–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९४)
–**दारु**–पु., वनस्पति० हरिद्रुः (रा. परि. ९.२६)
देवदारु (चसि. ९.८; सुचि. ३१.५)
दारुहरिद्रा (सुचि. १९.१३; ध. १.५९)
–**दुग्धा**–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा.५.३६३)
–**द्रु**–पु., वनस्पति० सरलः (रा.१२.१३६)
देवदारु (चक्र. चचि. १०.४३-४४ असंउ. १०)
दारुहरिद्रा (ध. १.५७)
–**नेत्रत्व**–न., लक्षण० हारिद्रनेत्रत्वम् (सुउ.३९.३२)
–**पादक**–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४२)
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३९)
कोविदारः (रा. १०.२९४)
न., वनस्पति० आहुल्यम् (रापरि. ४.३४)
–(**पुष्पा**)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१८९; रा. ७.२८८)
कारवल्ली (रा. ७.२७८)
झिंझिरीटा (रापरि. ४.५३)
आवर्तकी (ध. १.१९८)
आढकी (ध. ६.९३)
–(**पुष्पी**)–स्त्री., वनस्पति० महाबला (ध. १.२८२)
शणपुष्पी (रा. ४.२९८)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७२)
त्रपुसम् (रा. ७.२४६)
–**पुष्पीका**–स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५०)
–**फल**–पु., वनस्पति० कर्मारः (रापरि. ११.१३)
–**बीजा**–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८५)
–**भद्रक**–पु., वनस्पति० किङ्किरातः (ध. ५.१५६)
–**भृङ्गराज**–पु., वनस्पति० भृङ्गराजभेदः (रा. ४.२१) द्र० ' भृंगराज '
–**माक्षिक**–न., खनिज० माक्षिकम् (रा. १३.२०९)
–**मुद्ग**–पु., धान्य० कुलित्थः (ध.६.१०५)
मुद्गप्रकारः (सुसू. ४६.२७ ड.)
–**मूत्रत्व**–न., लक्षण० हारिद्रमूत्रत्वम् (सु. उ. ३९.३२)
–**मूलक**–न., वनस्पति० गर्जरम् (ध. ४.६९)
–**यूथिका**–स्त्री., वनस्पति० यूथिकाभेदः (ध. ५.१४९) द्र० ' यूथिका '
–**यूथी**–स्त्री., वनस्पति० यूथिकाभेदः (रा. १०.२५२) द्र० ' यूथिका '
–**रक्त**–पु., वनस्पति० पद्मकः (ध. ३.८८)
–**रम्भा**–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५)
–**राग**–न., भैषज्य० सिक्थकम् (रा. १३.१७४)
–**रूपदर्शन**–न., लक्षण० सर्वेषां वस्तूनां पीताभत्वेन दर्शनम् (ड. सुक. ४.३७)
–**वर्ग**–पु., रसकर्मोपयोगी वर्गः तत्र च पलाशः, परिव्याधो हरिद्रा, दारुहरिद्रा (र. १०.९२)
–**वर्ण**–न., वनस्पति० कालीयकम् (ध. ३.२७)
–**वर्णक**–न., वनस्पति० शीर्णवृत्तम् (ध. १.१७९)
–**विट्त्व**–न., लक्षण० हारिद्रवर्चस्त्वम् (सुउ. ३९.३२)
–**वृक्ष**–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४१)
–**सार**–पु., निर्यास० तुरुष्कः (रा. १२.३६)
वनस्पति० अङ्कोटः (ध. १.२५८)
–**सारक**–पु., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४४)

पीतक–पु., वनस्पति० नन्दीवृक्षः (रा. १२.३१)
हरिद्रुः (रापरि. ९.२६)
टिण्टुकः (रा. ९.१४३)
किङ्किरातः (ध. ५.१५६)
धान्य० हरिद्राभः शालिः द्र० 'शालि' (सुसू. २०.५)
षष्टिकभेदः द्र० 'षष्टिक' (सुसू. ४६.८)
न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)
पद्मकम् (रा. १२.१४९)
गृञ्जनम् (ध. ४.३७)
गर्जरम् (ध. ४.६९)
कालीयकम् (रा. १२.१५)
लोध्रभेदः, पीतलोध्रम् (र.२३.४०) द्र० 'लोध्र'
काष्ठागरु (रा. १२.४२)
कुङ्कुम् (ध. ३.१२)
खनिज० सुवर्णम् (ध.६.२)
अभ्रकम् (ध. परि. ६.३-४)
माक्षीकम् (रा. १३.२०९)
हरितालम् (ध. ७.११९)
कृत्रिमधातु० पित्तलम् (रा. १३.१७)

पीतिका–स्त्री., लूता० तद्दष्टलक्षणानि–स्थिरा पिडका, छर्दिर्ज्वरः शिरःशूलमक्षिरक्तत्वं च (सुक. ८.१०७)
वनस्पति० यूथिकाभेदः (ध. ५.१४९)
द्र० ' यूथिका '
कूष्माण्डिका (१.१८३)
हरिद्रा (ध. १.५४)
दारुहरिद्रा (रा. ६.८३)
शतपुष्पा (ध. २.१)
खनिज० स्फटिकाभेदः पीतवर्णा स्फटिका (र. ३.६७-६८) द्र० ' सौराष्ट्री '
–चूर्ण–न., योग० मनःशीलायवक्षारहरितालसैंधवादि-साधितम् कण्ठमुखरोगेषूपयुक्तम् (चचि. २६.१९६-१९७)
–द्रुम–पु., वनस्पति० हरिद्रुः (रा. परि. ९.२६)

पीतनक–पु., वनस्पति० आम्रातकः (ध. ५.१२)

पीतसा–स्त्री., वनस्पति० कर्कटी (रा. ७.२१२)

पीताङ्ग–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४२)

पीताभ–न., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६)

पीताम्लान–पु., वनस्पति० किङ्किरातः (रा. १०.४१५)

पीताह्व–न., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५८)

पीनगन्धर्व–पु., –वनस्पति० एरण्डः (र ३०.१६)

पीनवदना–वि., पुष्टं वदनं यस्याः सा (सुशा. ३.७)

पीनस–पु., रोग० (चसू. ५.२७) प्रतिश्याय-समलक्षणो नासारोगः; अनेन नासाऽऽनह्यते' विशुष्यते, क्लिद्यते, धूप्यति, नरो न गन्धरसान्वेत्ति (चचि. २६.११३-१४) पक्वप्रतिश्यायः (चक्र. चसि. २.२२) बालके पीनसपीडिते एतानि लक्षणानि भवन्ति–मुखेनोच्छ्वासो ललाटाभितापो नासास्रावः कासश्च (कासू. २५.३७-३८)

पीयूष–पु., गोदुग्ध० (चसू. २७.२३४) सद्यःप्रसूताया गोःक्षीरं सप्ताहं यावत् तच्च पीयूषनाम्नाऽभिधेयं भवति । तद्गुणाः–मधुरो बृंहणो वृष्यो गुरुर्वातघ्नः पुंस्त्वनिद्राप्रदः (सुसू. ४५.९१)

पीलु–पु., न., वनस्पति० (चसू. ३.४) औत्तरापथिकं फलम् (चक्र. चसू. २७.१४५) उष्ट्रप्रियो गुडफलः (सुउ. ५५.४३) तद्गुणाः –कटुः, कषायो मधुरोऽम्लः, सरः दीपनः, पित्तघ्नो रक्त-पित्तगुल्मार्शोघ्नः (ध. ५.५१) ज्वरहरो विरेचनो-पगश्च (चसू. ४.१६,१३) श्लेष्माभिष्यन्दे स्वेदार्थ-मुपदिष्टः (सुउ. ११.५-६) श्वित्रघ्नः (सुचि. ९.२८) तत्फलगुणाः–कटुकं तिक्तम् कटुविपाकि पित्तकरं सरं तीक्ष्णोष्णं सस्नेहं कफवातनाशनं च (सुसू. ४६.१९५) इदं शिरोविरोचने उपयुज्यते (चसू. २.४–५) अस्य काष्ठं दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२१)
हिं.—पीलु.
म.—पीलु, किकलेचा वृक्ष.
गु.—जाल्य.
बं.—पीलुगाछ.
ता.—कोकु.
फा.—दर्खतेमिस्वाक्.
–घृत–न., सिद्धघृत० राजयक्ष्मादिसर्वरोगहरमिदं घृतम् (का.राजयक्ष्म.)
–पत्र–पु., वनस्पति० मोरटः (रा. ३.१३)
–पर्णिका–स्त्री., शाक० मोरटः (चसू. २७.१०२; असंसू. ७.१३९-१४६)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (ध. १.२०२)
मधुरबिम्बी (रा. ७.३०४)
मूर्वा (चचि. ३०.५०–५१; रा. ३.११)
रास्नाभेदः, द्र० 'रास्ना' (चचि. २७.४१)
–पुष्प–पु., वनस्पति० मोरटः (ध.१.१५)
वनस्पति० मोरटः (चचि. १३.६७)

पीलुनी–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)

पीवर–वि., पुष्टम्, पीनम् (अहसू. ३.१५)

(पीवरा)–स्त्री.,वनस्पति० अश्वगन्धा(रा. ४.४०१)

(पीवरी)–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (ध. १.२९१)

पुङ्गव–पु., वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५७)

पुट–न., रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनम् (र. १०.४८) तत्प्रयोजनम्–लोहादीनामपुनर्भवो गुणाधिक्यमग्रता जलतरत्वम्, रेखापूर्णता (र. १०.४९) तद्भेदाः–महापुटगजपुटवराहपुटकुक्कुटपुटकपोतपुटगोवरपुट-भाण्डपुटाश्च (र. १०.४७–६३)
वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५)
भैषज्य० व्याघ्रनखम् (ध. ३.६०)

(पुटा)–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः भद्रैला (ध. २.४६)
द्र० ' एला '
–कन्द–पु., वनस्पति० कोलकन्दः (रापरि. ७.३८)
–पाक–पु., भैषज्यविधि० औषधिद्रव्यस्य कल्कं कृत्वा काश्मरीवटजम्ब्वादिपत्रैस्तं गोधूमपिष्टेन वा वेष्टयित्वा द्व्यङ्गुलमङ्गुष्ठमात्रं वा स्थूलं मृदा लेपयेत् ततश्चाङ्गारवर्णो यावद् भवेत् तावदग्नौ

पाचयित्वोद्धाव्य पीडयित्वा च रसं निष्कासयेत्। मात्रा-पलम्, अनुपानम् – कर्षमात्रं मधु (र. १६.६; शार्ङ्गधर उ. १३.५४) तद्भेदाः-स्नेहनो लेखनो रोपणश्च त्रिधा; पुटपाकविषयाः-अतिरूक्षनेत्रपुरुषस्य स्नेहनोऽतिस्निग्धस्य लेखनो दृष्टिबलवर्धनार्थं वातपित्तासृग्व्रणनाशनार्थं च रोपणो हितकरः (शार्ङ्ग. उ. १३.५६-५७) नेत्ररोगेषु पुटपाकोऽयं तर्पणविधिना योज्यः (अहसू. २४.१९)

-पाककल्पना-स्त्री., कल्प० पुटपाकः (अहसू.२४.१७.१९)

-पाकविधि-पु., भैषज्यविधि० पुटपाकविधानम् (असंसू. ३३.८)

-यन्त्र-न., यन्त्र० भूमौ करीषराशिं कृत्वा तत्र चुल्ल्यां वा करीषाग्निक्षिप्य तदग्निना प्रहरद्वयपर्यन्त-मन्तर्निगूढरसमयघटसंपुटस्य पचनम् (र. ९.४५)

पुटक-न., रोग० पित्तश्लेष्मभ्यामन्तर्नासायामवरुद्धो वायुः कफं शोषयेत्। शुष्कः कफः पुटतां शुष्कत्वाच्च चर्माकृतित्वं प्राप्नोति (असंउ. २३)

पुटालु-पु., वनस्पति० कोलकन्दः (रापरि. ७.३८)

पुटाह्वय-पु., भैषज्यविधि० पुटपाकः (सुउ. १७.३५)

पुडिका-स्त्री. पत्रे सुबद्धौषधस्य पुटम् (र. २५.३०)

पुण्डरीक-पु., न., वनस्पति० श्वेतकमलम्, मूत्रविरजनीय-गणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५; सुसू. १३.१४)
दिनविकासिकमलम् (सुशा. ४.३२)
तद्गुणाः-मधुरं तिक्तं शीतं पित्तघ्नं दाहरक्तविकारशोषपिपासाभ्रमघ्नञ्च (ध. ४.१४८)
हिं.—कमल.
म.—कमळ.
गु.—कमळ.
बं.—पद्म, कमल.
ता.—शिवापु तमारिया.
पु., दमनम् (ध. ३.६४)
शालिभेदः (सुसू. (४६.४) द्र० 'शालि'
न., कन्दविष० (असंउ. ४०) द्र० 'विष' तेन अक्ष्णोः रक्तत्वं उदरे वृद्धिश्च भवति (सुक. २.१६)
पु., हिंस्रपशु० व्याघ्रः (र. २७.१८)
सर्प० राजिमान् (सुक. ४.३४(३))
दर्वीकरः (सुक. ४.३४(१))
पक्षि० आनूपदेशे वर्तमानः (चक. १.८) नलिन-नयनः नलिनं कमलं, तदाकारनेत्रः सङ्घातचारी पक्षी (ड. सुसू. ४६.१०५)
न., रोग० महाकुष्ठेष्वेकं कुष्ठम् (चसू. १९. (४) २)
पुण्डरीकपत्रप्रकाशं कुष्ठम् (सुनि. ५.८) रक्तान्त-मन्तरापाण्डु, कण्डूदाहरुजान्वितम्, रक्तैरंशुभिरा-चितं पद्मपत्रमिवाचितम्, घनभूरिलसीकारुधिरबहु-लम् अविलम्बेन विभेदि च (असंनि. १४.२८-२९)

-मुखी-स्त्री., निर्विषजलूका० (सुसू. १३.१२)

पुण्डरीकाक्ष-पु., जलचारिपक्षि० पुण्डरः, (चसू. २७.४३) नलिननयनः पाण्डुरः (असंसू. ७.८१-८३; असंसू. ७.८१-८३)

पुण्डरीयक-न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२)

पुण्डर्य-पु., न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२)

पुण्ड्र-पु., वनस्पति० तिलकः (ध ५.१५८)
प्लक्षः (रा. ११.१२६)
प्रपौण्डरीकम् (असंसू. १६.६)
शालिभेदः द्र० 'शाली' (अहसू. ६.२)

पुण्ड्रक-पु., वनस्पति० तिलकः (रा. १०.२६६)

नाम्नी-स्त्री., वनस्पति० अतिमुक्तकः (रा. १०.२६०)

पुण्ड्राह्व-न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (अहसू. २०.३७)

पुण्ड्रेक्षु-पु., वनस्पति० इक्षुभेदः द्र० 'इक्षु' (र. २०.९४-९६)

पुण्य-न., पापाभावः सुकृतम् धर्माचरणम् (का. रेवतीकल्प)

(पुण्या)-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१)

-कीर्ति-स्त्री., ग्रह० रेवतीग्रहस्य विंशतिसंज्ञानामन्य-तमा (का बालग्रहचि.)

-जनी-स्त्री., रेवतीग्रह० असाध्या जातहारिणी (का. क. रेवतीक. ५१)

-तृण-पु., वनस्पति० दर्भः (रा. ८.२०८)

-धूप-पु., धूपकल्प० (का. धूपकल्पाध्याय.)

-शब्द-वि., पुण्यः पावनः शब्दो नाम संज्ञा यस्य सः (चसू. ७.३०)

पुण्याहघोष-पु., पुण्याहशब्दोच्चारः (असंसू. ८.९८)

पुण्याहशब्द-पु., मङ्गलशब्दः (चशा. ८.३५)

पुत्तिका-(परिव.) स्त्री., कीट० मशकोपममक्षिकाः कृष्णवर्णाः (सुसू. ४५. १३३)

पुत्तिरसा-स्त्री., वनस्पति० रास्ना (ध. १.२७०)

पुत्र-पु., अपत्यं पुमान्, तनयः (सुशा. २.२६)
मूषिक० एतद्विषतः पाण्डुता, सादोऽङ्गे सर्वत आखुसदृशग्रन्थिसंभवः (असंउ. ४६.३६६)

तच्चिकित्सा–शिरीषेङ्गुदकल्कः समाक्षिको लेह्यः (सुक. ७.११-१२)

–कन्दा–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रा. परि. ७.५५)

–कामा–वि., पुत्रं कामयते इच्छति इति पुत्रकामा यद्वा पुत्रार्थं काम इच्छा यस्याः सा (सुशा. २.३२)

–कामीय–वि., पुत्रकामसम्बन्धि (असंशा. १)

–काम्येष्टि–(परिव०) पु., पुत्रप्राप्त्यर्थं यज्ञ० (का. रेवतीकल्प ८)

–घ्नी–स्त्री., योनिरोग० जातघ्नी यस्या रूक्षो वायुर्जातं जातं दुष्टशोणितजं गर्भं विनाशयति (चसू. १९.४ (९); चचि. ३०–.२८-२९)

–जीव–पु., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुर्लवणः शीतो रूक्षो वृष्यो गर्भजीवदश्वक्षुष्यः पित्तशमनः कफवातकारको दाहतृष्णानिवारणः (रापरि. ९.३१)

श्लीपदघ्नः (सुचि. १९.६१)

हिं.—जियापति, जियापोता.

म.—पुत्रजीवक.

गु.—पुत्रजीवक.

बं.—पुतजिया.

ता.—कारुपालि.

–दा–स्त्री., वनस्पति०

तद्गुणाः–मधुरा, शीता, गर्भसंभूतिदायका, पित्तहरा, नारीपुष्पादिदोषहा, दाहभ्रमहरा (रापरि. ४.२७-२८)

हिं.—लक्ष्मणी.

म.—लक्ष्मणा.

ता.—कटावजटे.

फा.—मर्दामी.

लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)

–दातृ–पु., वनस्पति० पुत्रदात्री (रापरि. ३.४७-४८)

–दात्री–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुरुष्णा, सुरभिः, पथ्या, वातघ्नी, कफापहा, वन्ध्यादोषविनाशिनी (रापरि. ३.४७-४८)

वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३)

–प्रदा–स्त्री., वनस्पति० सर्पतनुर्बृहतीभेदः द्र० 'बृहती' (रा. ४.१२३)

–प्रिया–स्त्री., प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७.७२-७५)

–भद्रा–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७९)

–श्रेणी–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)

द्रवन्ती (ड. सुसू. ३८.२९; ध. १.२२९)

मेषशृङ्गी (९.११३; पान. २३)

पुत्रक–पु., मूषिक० पुत्रः तद्दृष्टलक्षणानि–अङ्गसादः पाण्डुवर्णः आखुशावकनिभा ग्रन्थयश्च (सुक. ७.११-१२)

(पुत्रिका)–स्त्री., यन्त्रं० घर्षणी (र. ९.८३)

पुत्रञ्जीवक–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (सुचि. १९.६१)

पुत्रिणी–स्त्री., रोग० द्र० 'प्रमेहपिटका' (सुनि. ६.१७) पुत्रकामा (र. २२.११)

पुत्रीय–विधान (परिव०) न., गर्भाधानार्थं होमहवनादिविधानम्, पुत्रप्राप्त्यर्थमौपासनाग्नौ आज्यहोमविधिः (चशा. ८.१०-११; सुशा. २.२७)

वि., पुत्रप्राप्तये हितम् (र. २६.३८)

पुत्रीयेष्टि–(परिव०) पु., पुत्रप्रदो याग० पुत्रकामेष्टियज्ञः (का. जातिसूत्रीय ८)

पुद्गल–पु., पूरणात्पुद्गलनाद् गलः 'पूरणाद् गलनाद्देहे पुद्गलाः इति न्यायकोषे। आत्मा (चशा. ४.८)

न., आकारः शरीरम् (र. २७.४७-४९)

पुनर्–(अव्य.) मुहुः (अहसू.४.२६)

–नव–पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः रक्ता पुनर्नवा (रा. ५.४०८) द्र० 'पुनर्नवा'

–(नवा)–स्त्री., वनस्पति० अनुवासनोपगगणे, स्वेदोपगगणे वयःस्थापनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३-१८) तद्गुणाः– तिक्तोष्णा, रूक्षा, वातकफघ्नी, शोफपाण्डुहृद्रोगकासोरःक्षतशूलविषरक्तविकारघ्नी (ध. १.२७४) सा त्रिविधा, श्वेता, रक्ता, नीला च (सुसू. ३८.४-५) तत्र श्वेता– शाकमिदं, तिक्ता, सोष्णा, शीता (चसू. २७.९४) वातकफघ्नी, कासहृद्रोगशूलास्रपाण्डुशोफविषापहा (सुसू. ४६.२५४-२५५; रा. ५.४०५) रक्ता-तिक्ता, पित्तघ्नी, सारिणी, रक्तप्रदरपाण्डुशोफनाशिनी; नीला–तिक्ता, कटुरुष्णा, रसायनी, वातकफघ्नी, हृद्रोगपाण्डुशोथश्वासघ्नी (रा. ५.४०६-११) अस्या मूलमास्थापने प्रयुज्यते (चसू. २.१२-१३)

हिं.—लाल साबुनी.

म.—विषखाप्रा, रक्तवसु.

गु.—साटोडी.

बं.—लाल साबुनी.

ता.—भुकरत्तेकिरे.

–नवायूष–(परिव०) पु., यूष. दधिसर्पिःसमेतोऽयं वातघ्नः (का.खिल. ४.५३-५४)

-भव-पु.; पुनर्जन्म (चशा. ७.२०; सुशा. २.५८)

-भू-स्त्री.,वनस्पति० पुनर्नवा (र.२.३०-३१)

-वसु-पु., ऋषि० आत्रेयो भरद्वाजशिष्योऽग्निवेशादिभ्यः षड्भ्य आयुर्वेदं दत्तवान् (चसू. १.३०) अग्निवेशस्य गुरुः, स हिमवतः पार्श्वे वसति स्म सोऽग्निवेशाय योनिव्यापच्चिकित्सामुवाच (चचि. ३०.४-७) जनपदमण्डले पञ्चालक्षेत्रे द्विजातिवराध्युषिते काम्पिल्यराजधान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयो ऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे धर्ममासे गङ्गातीरे वनविचारमनुचरन्नग्निवेशादिशिष्यैः सहवर्तमान आसीदित्यपि उपवर्णितमस्ति (च. वि. ३.३)

-विद्धा-स्त्री.; दुष्टसिराव्यधप्रकारः, या सिरा सूक्ष्मशस्त्रेण व्यधनादेकस्थाने एव बहुशो भिन्ना सा (सुशा. ८.१९) द्र० ' सिराव्यध '

पुनरावर्तक-वि., पुनरावर्तमानः पुनरागतः (चचि. ३.३४३)

पुनरुक्त-न., वाक्यदोष० प्रतिसंबद्धार्थमपि यद् द्विरभिधीयते तत् । तद् द्विविधमर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तं च (चवि. ८.५४)

पुनरुद्भव-पु., पुनःसम्भवः पुनःप्रसङ्गः (अहसू. ४.२६)

पुन्नाग-पु., वनस्पति० तद्गुणाः-मधुरः, सुगन्धिः शीतः, पित्तनाशनो भूतविद्रावणः (रापरि. १०.११-१२; सुसू. ३८.२४-२५)

हिं.—पुन्नाग.

म.—गोडी उण्डीण, कडवी उण्डीण.

गु.—पुन्नाग.

बं.—पुन्नागाच्छ.

ता.—पिन्नप.

-केशर-न., वनस्पति० पद्मकेशरम् (सुसू. ३८.२४-२५)

पुन्नाट-पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)

पुन्नाड-पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)

पुन्नामन्-पु., वनस्पति० पुन्नागः (रा. परि. १०.११) पक्षि० (असंशा. १२.९)

(पुन्नाम-)खग (परिव०) पु., पुंनामधेयो पक्षी-हंसकारण्डवचक्रवाकादिः (सुसू. २९.३६)

पुप्पुट-पु., तालुगतरोग० भेद्यरोगः (सुसू. २५.७; सुनि. १६.४४) श्लेष्ममेदोभ्यां दुष्टाभ्यां कोलसदृशो नीरुजः स्थिरश्च शोफः (असंउ. २५) दन्तमूलगतरोग० भेद्यरोगोऽयम् (सुसू. २५.७) द्र० 'दन्तपुप्पुटक'

पुर-पु., न., निर्यास० गुग्गुलुः (सुसू. ५.६९; ध. ३.१२७) पुष्पमस्य स्थावरजङ्गमविषे धूपार्थमुपयुज्यते (असंसू. ८)

वनस्पति० अगरुभेदः, दाहागरुः (रा. १२.४३) द्र० 'अगरु' अगरू.

शुण्ठी (र. २२.१६७)

मुस्ता (र. २२.१६७)

-मथनवल्लभ-न., वनस्पति० अगरुभेदः दाहागरुः (रा. १२.४३) द्र० 'अगरु'

पुरान्तिक-वि., नगरसमीपवर्ति (असंसू. ३.६)

पुरारिवीर्य-(परिव०) न., खनिज० पुरारिरिव पुरारिः, शिवः तद्वीर्यभूतः पारदः (र. २०.९२-१०२)

पुराह्वया-स्त्री., वनस्पति० शल्लकी (सुउ. ५२.२४) गुग्गुलुः (सुउ. ५२.२४)

पुरस्-अव्य., पुरस्तात् अग्रे (सुउ. ४१.३)

(पुरः-)सर-वि., अग्रगामि तेन पूर्वरूपम् इति तात्पर्यं ग्रहीतव्यम् (ड. सुउ. २४.५)

(पुरो-)गम-वि., पूर्वरूपत्वेन अग्रेसरोऽग्रगामी वा (सुउ. ४१.३)

-डाश-पु., यज्ञान्न० कपालाकारः पिष्टमयः कपालपरिपक्वः (सुउ. ३५.८)

-वात-पु., पूर्वदिगागतो वातः (अहसू. २.४०)

-हित-पु., मन्त्रविशारदः पुरोधाः (सुसू. ३४.७-८)

पुराकृत-वि., पूर्वजन्मकृतम् (सुशा. २.५२)

पुराण-वि., प्राचीनम्, जीर्णम् (अहसू. ३.२०)

-कांस्य-न., चिरन्तनकांस्यचूर्णम् (र. २३.४०)

-घृत-न., (परिव०) घृत० शतवर्षपर्यन्तं स्थापितम् (चचि. ९.६०-६२) दशवर्षस्थितम् (सुउ. ५१.१६; सुक. ७.५१; सूउ.९.३)

तद्गुणाः- कटुविपाकि (सुसू. ४५.१०७) शीतमुष्णगन्धि, भेदनं, व्रणशोधनं, रोपणम् दीपनं, सरम्, (सु.); त्रिदोषघ्नं, श्वासपीनसकासमूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहाऽपस्मारयोनिशूलकर्णशूलाक्षिशूलशिरःशूलशोफतिमिरमदनाशकम्, (ध. ६.१५६)

वाताभिष्यन्दनाशकम् (सुउ. ९.३)

ज्वरगरशोषनाशनम् किञ्चैतत् बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते (सुसू. ४५.१०७)

अपस्मारग्रहोन्मादवतां विशेषतः शस्तम् (चचि. ९.६३)

अलर्कविषे उपयुक्तम् (सुक. ७.५१)

-ज्वर-पु., रोग० जीर्णज्वरः (असंसू. १२.४१) द्र० ' ज्वर '

-पुरीष-न., चिरकालसंचितमलः (सुशा. १०.४)
-विष्-स्त्री., पुराणपुरीषम् (असंशा. ३.११)
-सर्पिस्-न., घृत० पुराणघृतम् (सुसू. ४५.१०७)
पुंवराट-पु., भैषज्य० अयं वराटीतोऽल्पगुणः पित्तलोऽस्थिरगुणकरश्च (र.१६.१२०-२९)
पुंस्- पु., पुरुषः (चसू. १.४७)
वनस्पति० पुन्नागः (रापरि.१०.११)
-कोकिल-पु., पक्षि० पिकः (र. २७.१२५)
-त्व-न., शुक्रम् (सुउ. ५२.४१)
-त्वविग्रह-पु., वनस्पति० भूतृणम् (रापरि. ८.४३; रा. ८.७३)
-त्वोपघात-पु., शुक्रक्षयः (सुसू. ४२.१०-१३) पुरुषत्वनाशः, तद्धेतवः-मर्मच्छेदश्छुक्रवहनाडीच्छेदो मेढ्रोगो लवणरसातियोगो वा (सुचि. २६.१३) तथा कटुतिक्तकषायरसानामतियोगश्च (अहसू. १०.१६-१९-२१)
पुंसवन-न., संस्कार० पुंस्त्वकारकं कर्म, वैदिकं पुत्रजनकं विधानम्, तद्विधिः-आपन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्। गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गे अनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां संपदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्, तथैवापराजीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य पयसा, कुड्यकीटकं मत्स्यकं वोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्, तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण, पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं देहल्यामुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना। यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्ता वा स्त्रियः पुंसवनमिष्टं तच्चानुष्ठेयम् (चशा. ८.१९)
पुंसंज्ञपक्षिन्-पु., पुल्लिङ्गविशिष्टः पक्षी वर्तकादिः (अहशा. ६.२३)
पुरासिनी-स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४२४)
पुरीष-न., अन्नमलः (चसू. १४.४) शरीरे पुरीषस्य सप्ताञ्जलयः प्रमाणम् (चशा. ७.१५)
-कोष्ठ-पु., पुरीषाद्यासक्तकोष्ठः (चक्र. चसि. २.१२)
-क्षय-पु., पुरीषवैषम्यावस्थाविशेषः मलस्य स्वप्रमाणहानिः, तस्य लक्षणानि-हृदयपार्श्वपीडा, सशब्दस्य वायोरूर्ध्वगमनम्, कुक्षौ संचरणं च.(सुसू.१५.११)
-ज-वि., पुरीषात् जातः (क्रिमिः) (चवि. ७.९)
-धरा-स्त्री., शारीर० कलाभेदः, अन्नस्य घनकिट्टं पुरीषं, तस्याऽऽधारा पञ्चमी पुरीषधरा नाम कला (सुशा. ४.१६)
-प्रवृत्ति-स्त्री., लक्षण० विट्प्रवृत्तिः (सुशा. १०.७)
-भेद-पु., लक्षण० भिन्नवर्चस्त्वम् विट्भेदः (चवि. ७.१३)
-मार्ग-पु., शारीर० शकृतो वहनार्थं बहिर्निर्गमनार्थं स्रोतः (चनि. २.८)
-वर्तवर्तन-न., लक्षण० पुरीषवेगानामप्रादुर्भावः प्रकुपितवायुकर्मविशेषः, पुरीषवर्तः नाम वृत्तपुरीषता (का. गुल्मचि)
-वहस्रोतस्-न., शारीर० पुरीषवहनार्थं स्रोतः तन्मूलम्-पक्वाशयः स्थूलगुदं च, तदुष्टिलक्षणानि-कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दं सशूलमतिद्रवमतिग्रथितमत्युपवेशनम् (चवि. ५.८) विद्धस्य लक्षणानि-आनाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता (सुशा. ९.१२)
-विरजनीय-पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे एको गणः, पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धनिरासं करोति (चसू. ४.८) जम्बूशल्लकीत्वक्कच्छुरामधुकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत् पयस्योत्पलतिलकणाः इति दश इमानि पुरीषविरजनीयानि (चसू. ४.१५)
-विवेचन-न., अन्नात् मलभावेन पृथक्करणम् इत्यत्र पित्तेन (सुसू. २१.१०) इत्यत्र समानेन वातेन (सुनि. १.१६) इत्यत्र पित्तधराकलया (सुशा. ४.१९) इत्यत्र अधोगताभिर्धमनीभिः अन्नरसात् मलभावेन विवेचनं नाम पृथक्करणं भवति (सुशा. ९.७) इत्यत्र मलधराकलया मलस्य पुरीषादिमलाभिनिर्वृत्तिपूर्वकं विभजनमुक्तम् (सुशा. ४.१७)
-संग्रहणीयगण-पु., द्रव्यगण० मलग्राह्यौषधिगणः, महाकषायवर्गे एको गणः- प्रियंग्वनन्ताऽऽम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मपद्मकेसराणीति (चसू. ४.१५)
पुरीषाधान-न., शारीर० पक्वाशयः (चक्र. चशा. ३.६) "वातः श्रोणिगुदसंश्रयः तदुपरि अधोनाभेः पक्वाशयः" (सुसू. २१.६) "मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः" (सुनि. १.९) "पुरीषाधानं आमाशयश्च पक्वाशयश्च..." (चशा. ३.६) अनेन वचोव्रातेन पुरीषाधानपुरीषाधारपुरीषाशयावयवानां पक्वाशयात् भेदो निर्विवादः, पक्वाशयस्य

पक्वान्नसापेक्षसंज्ञत्वात् पुरीषाधारपुरीषाधानादीनां च अन्नमलसापेक्षतया व्यपदिष्टत्वाच्च

पुरीषाधार–पु., शारीर० पुरीषस्याधारो मलाशयः (चशा. ७.१०) द्र० "पुरीषाधान", "पुरीषाशय"

पुरीषाशय–पु., शारीर० पुरीषं आशेते अस्मिन् इति पुरीषाशयः पुरीषस्य स्थानम् (चचि. १९.६) द्र० 'पुरीषाधान'

पुरुष–पु., पुरि भौतिके शरीरे शेते वसतीति पुरुषः जीवः (सुशा. ३.४) सांख्ये पुरुषोऽनाद्यनन्तालिङ्ग-नित्यानपरसर्वगत इति सिद्धान्तितम्, तत्समा प्रकृतिः (सुशा. १.९) अयं सांख्यादिमतश्चतुर्विंशतिकः पुरुषश्चतुर्थ्या नैष्ठिकीचिकित्साया अधिष्ठानम्

आयुर्वेदे खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः अयं षड्धातुकपुरुषस्तु रोगनाशनीप्रकृतिस्थापनी-रसायनीति त्रिविधचिकित्साया अधिष्ठानम् (चशा. १.१६)

शरीरम्, अयमर्थो लक्षणया प्रकरणवशाद्वा ज्ञेयः 'अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। शब्दार्थस्याव्यवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः इत्यपि स्मर्तव्यम् (अरु. अहसू. २७.५३)

मनुष्यजातिः (सुसू. १.२२)

वनस्पति० पुंनागः (रा. परि. १०.११)

मोरटः (ध. १.१५)

–कर–वि., पुरुषत्वाभिव्यक्तिकरम् (चशा. ४.१४)

–कार–पु., प्रयत्नः (चवि. ३.२९)

–दन्तिका–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६२)

–विचय–वि., अध्याय० पुरुषविचयमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चशा. ५.१)

–व्यापद्–स्त्री., पुरुषनिमित्तशुक्रदोषव्यापत् (चशा. ४.३१)

–श्रेष्ठ–पु., देवता० नारायणः वस्तुतः पुरुषश्रेष्ठ इति विशेषणत्वेऽपि विशेषणाद्विशेष्यावगतिरिति विशेष्य-नारायणबोधः (सुसू. ५.२९)

पुरुषक–पु., पुरुषाकृतिः (चशा. ८.१९)

पुरुषायाम–पु., पादाग्रावस्थितस्योर्ध्वबाहोः पुरुषस्य दैर्ध्यम्, सविंशमङ्गुलशतम् (सुसू. ३५.१२)

पुलक–न., खनिज० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)

पाकाद्वर्णान्तरमापन्नं स्फटिकम्, वैदूर्योपलकम् (सुउ. १५.२६)

(पुलका)–स्त्री., प्राणि० गोधा (रा. १९.१७)

(पुलकी)–स्त्री., वनस्पति० कदम्बः (रा. ९.१७२)

पुलस्ति–पु., ऋषि० (चसि. ११.४).

पुलस्त्य–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८)

पुलाक–पु., धान्य० क्षुद्रधान्यम् (चक्र. चसू. १४.४२)

अस्य पोट्टलेनार्शःस्थानं स्वेद्यम् (चचि. १४.४०)

गवेधुकं, अप्राप्तपाकं धान्यम् (सुसू. २२.९)

पलालम् (इन्दु. असंउ. ४३)

पुलाकोदक–न., तण्डुलोदकम् (चचि. ३०.१७०)

सिद्धजल० गवेधुकोदकम्, गवेधुकस्तु तृणधान्यम् (सुसू. २२.९)

पुलिन–न., स्थान० जलमध्योत्थितभूप्रदेशः (सुउ. ६०.१०)

पुलिन्द–पुं., न., कुरुक्षेत्राद् दक्षिणदेशः (काखिल. २५.१३)

पुष्कर–न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (रा.६.९२;सुचि.३७.८)

कमलम् (रा. १०.२४३)

रक्तपद्मम् (ध. ४.१५२)

जलम् (रा. १४.३१७)

–ज–न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (रा. ६.९२)

–जटा–स्त्री., वनस्पति० पुष्करमूलम् (असंचि. १६.९१; ध. १.६६)

–नाडी–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (रा. ५.१३३)

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (रा. ५.१३२)

–बीज–न., बीज० नीलकमलबीजम् (चचि. ३.२५८)

–मूल–न., वनस्पति० हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; सुउ. ४२.१२०)

तद्गुणाः–तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं ज्वरारोचक-कासशोफाऽऽध्मानश्वासहिक्कापाण्डुनाशनम् (ध. १.६६)

हिं.—केउ.

म.—पोखरमूळ.

बं.—केउ.

ता.—कोएस्तम्भ.

–शायिका–स्त्री., पक्षि० पद्मपत्रशायिकाप्लवेष्वेका, पुष्करे नाम पद्मपत्रे शेते इति पुष्करशायिका (सुसू. ४६.१०५)

–शिफा–स्त्री., वनस्पति० पुष्करमूलम् (रा. ६.९३)

पुष्कराक्ष–पु., पक्षि० हंसः (चक्र. चसि. १२.१९(१))

पुष्कराह्व–पु., जलचरपक्षि० सारसपक्षी (चसू. २७.४२)
न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (ध. १.६६)
पुष्करिका–स्त्री., शूकरोग० (सुसू. २५.७) पुष्करस्य कर्णिकेव पिटिकाचिता पिटिका (असंउ. ३८) पित्तशोणितसंभूता पिडका (सुनि. १४.९-१०)
पुष्करिन्–पु., जलाशय० पुष्करिणी (असंसू. २६.१५)
(पुष्करिणी)–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (रा. ५.१३२)
पुष्करिणी–स्त्री., (रा. ५.१३२)
–मृद्–स्त्री., पुष्करिण्यां स्थिता मृद् रक्तपित्ते प्रलेपनार्थमुपयुक्ता (चचि. ४.१०४)
पुष्कल–पु., मोक्षः (चसि. १२.३५-३६)
पुष्ट–वि., पीनः (अहसू. ३.१२)
पुष्टि–स्त्री., पोषणम्, तृप्तिः (चसू. २५.४०) उपचयः (चशा. ३.१)
–दा–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१) ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
पुष्प–न., कुसुमम् (सुसू. ४६.२८९; चसू. १.७३) खनिज० पुष्पकासीसम् (सुक. ६.२०) रत्न० पुष्परागः (र. २२.१५-१६) नेत्ररोग० कृष्णे श्वेताः, श्वेते वा कृष्णश्यावा बिन्दवः, आद्याः शुक्लसंज्ञा अपरे च शुक्लाख्याः (र. २३.५३) स्त्रीणाम् ऋतुः (सुचि. ३७.१२५) आर्तवदर्शनम् (चशा. ८.५) युवत्या आर्तवम् (र. १०.७७)
(पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३) सुवर्णकेतकी (रापरि. १०.३)
–काल–पु.. स्त्रीणाम् ऋतुकालः (सुशा. ३.१२)
–कासीस–न., खनिज० कासीसभेदः, नीलकासीसम् (चसि. ६.६४) तद्गुणाः–कषायमम्लं, तिक्तं, सोष्णं, नेत्र्यं, कचरञ्जनं, पित्तकफघ्नं, विषव्रणश्वित्रनेत्रामयकुष्ठत्वग्दोषनाशनम् (ध. ३.१२५) उपदंशव्रणचिकित्सायामवचूर्णनकल्पद्रव्येष्वेकम् (सुचि. १९.४०-४१) प्रतिसारणार्थमुपयुज्यते (सुउ. १४.३-४) सुरसारसैः भावितमेतत्पक्ष्मशातेऽञ्जनम् (असंउ. १२)
हिं.—पुष्पकसीस.
म.—श्वेतनीळी.
गु.—धोळी हीराकशी.
बं.—पुष्पकासीस.
–केतु–पु., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)

–गन्ध–पु., वनस्पति० जूर्णा (रा. १६.१६९)
(–गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४८)
–घ्नी–स्त्री., जातहारिणी-रेवतीग्रह० (का. रेवतीक. ३३-३४)
–ज–पु., वनस्पति० पुष्पद्रवः (रापरि. १०.५४)
–दर्शन–न., आर्तवदर्शनम् (चशा. ८.२४)
–द्रव–पु., वनस्पति० तद्गुणाः– कषायो मधुरः सुरभिः, सरः, शीतः, सन्तर्पणः, कफपित्तहरो दाहश्रमार्तिवमिमोहमुखामयतृष्णाऽऽर्त्यरोचकघ्नः (रापरि. १०.५४)
हिं.—फूल.
म.—फूल.
गु.—फुल.
बं.—फुल.
फा.—गुल.
–धन्वन्–पु., योग० वृष्ययोगोऽयं, सुवर्णरौप्यताम्रगन्धकादियुक्तो योगः, वल्लप्रमाणोपसेवितः पुष्टिं वीर्यञ्च प्रदत्ते दीपनश्च संजायते (र. २७.११४-१६)
–निर्यासक–पु., वनस्पति० पुष्पद्रवः (रापरि. १०.५४)
–नेत्र–न., उत्तरबस्तिनेत्रसंज्ञा (चक्र. चसि. ९.५०) द्र० ' उत्तरबस्ति ' (ड. सुचि. ७.३३)
–पूर्वकासीस–न., खनिज० पुष्पकासीसम् (र. ३.५५)
–फल–न., वनस्पति० कूष्माण्डः (ड. सुसू. ९.४)
–मञ्जरिका–स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रा. परि. ३.२७)
–यूष–पु., यूष० अयं जीर्णातीसारनाशनः (काखिल. ४.४७-४९)
–रजःप्रकाश–वि., पुष्पधूलिसदृशः (चक्र. चक. १.१९)
–रस–पु., न., भैषज्य० मधु (सुउ. १२.१४; ध. ६.२३३)
–रसागर–न., वनस्पति० श्वासारिः, पाठाभेदः (ध. १.७१-७२) द्र० ' पाठा '
–राग–पु., न., रत्न० (असंसू. १२.१९-२१) श्रेष्ठस्य पुष्परागस्य लक्षणम्–गुरुः, स्निग्धः, स्वच्छः, स्थूलः, समः, सर्वत्र तुल्यो मृदुः, कर्णिकारप्रसूनाभः, श्लक्ष्णः (र. ४.२५) त्याज्यस्य लक्षणानि– निष्प्रभः कर्कशो रूक्षो वर्णतः पीतकृष्णः नतोन्नतः श्यावः पिङ्गलः पांडुश्च (र.४.२६) तस्य गुणाः–

दीपनः पाचनो लघुश्च वर्तते विषच्छर्दिकफवाताग्नि-मान्द्यदाहकुष्ठास्रनुत् (र. ४.२७)

-विष–न., स्थावरविष० वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भ-महाकरम्भाणि पञ्चपुष्पविषाणि; तल्लक्षणानि–छर्दि-राध्मानं मोहश्च भवेत् (सुक. २.५-८) द्र० ' विष '

-शकलिन्–पु., निर्विषः सर्पः गलगोलीशूकपत्रा-दीनामन्यतमः (सुक. ४.३४ (४))

-शून्य–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.१३७)

-सार–पु., वनस्पति० पुष्पद्रवः (रापरि. १०.५४)

-सौरभा–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१८)

-स्वेद–पु., वनस्पति० पुष्पद्रवः (रापरि. १०.५४)

पुष्पक–पु., निर्विषसर्प० (असंउ. ४१)

न., नेत्ररोगः (चचि. १७.१२८)

खनिज० नेत्ररोगे उपयुक्तम् (काषट्कल्पाध्याय. २९

पुष्पाञ्जन–न., खनिज० अञ्जनभेदः (असंसू. १६.३१)

रीतिपुष्पम् (अहसू. १५.३७) तद्गुणाः–शीतम्, पित्तघ्नं, हिक्काक्षिरोगविषप्रदाहकासघ्नम् (ध. ३.१६२; र. ३.१०८)

पुष्पाण्डक–पु., शालि० पुष्पाणीव सुगन्धानि सुकुमारा-ण्यण्डानि तण्डुलानि यस्य सः पुष्पाण्डकः (सुसू. ४६.४) द्र० ' शालि '

पुष्पाभिकीर्ण–पु., सर्प० दर्वीकरः, वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः सर्प०, अयं मण्डलिसर्पविशेषवत् ज्ञेयः (सुक. ४.३४(१))

पुष्पाम्बुज–पु., वनस्पति० पुष्पद्रवः (रा.परि. १०.५४)

पुष्पावतंस–वि., पुष्पसुगन्धीकृतम् (सुसू. ४५.१३)

पुष्पासव–न., भैषज्य० मधु (ध. ६.२३३)

पुष्पाह्वा–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा.४.२)

पुष्पित–वि., इष्टानिष्टपुष्पगन्धसादृश्यनिरूपितरिष्टलक्षण-लक्षितः (चइ. २.८-१०)

(पुष्पिता)–वि., ऋतुमती (अहसू. १७.२४)

पुष्पितक–वि., अध्याय०(चइ. २.१)

पुष्पोद्रेक–पु., पुष्पमृतुस्तस्योद्रेकोऽकालप्रवृत्तिः (ड. सुचि. ३७.१२५)

पुष्पोपहार–न., पुष्परूपम् उपायनमुत्कोचः (असंसू. ८.९८)

पुष्य–न., नभोनक्षत्र० पुंसवनकर्मणि पुष्ये नक्षत्रे भेषजं कर्तव्यमित्यायुर्वेदे उक्तम् (चशा. ८.१९)

-योग–पु., पुष्यनक्षत्रसंबन्धो, महागन्धहस्तिनाम्नो-ऽगदस्य गुलिकाः पुष्ययोगे कार्या इति विधिः (चचि. २३.८१-८२)

पुष्यानुगचूर्ण–(परिव०) न., योग० इदं पुष्यनक्षत्रे निर्मितम् इति पुष्यानुगम् (चचि. ३०.९०–९६) पाठाशाल्मलीलोध्रजम्बूगैरिकादियुक्तम् अर्शो-ऽतिसारजरक्तस्रावयोनिदोषरक्तप्रदरघ्नम् (र. २५.९९-१०३)

पुस्त–न., पुत्तलम्, पुत्रिका (अहसू. ३.३७)

-मयपुरुष–पु., वस्त्रादिरचितो मनुष्यः (सुसू. ९.४)

पूग–पु., वनस्पति० पूगफलम् (रा. ११.७१ चसू. ५.७७)

समूहः (असंक. ५)

न., पूगीफलम् (सुचि. २४.२१)

-फल–न., वनस्पति० गुणाः– कषायं, स्वादु, रूक्षं, सरं, संमोहकृत्, रोचनं, कफपित्तघ्नं वक्त्रक्लेद-वक्त्रमलहरं च (ध. ३.३९; सुसू. ४६.२०१; असंसू. ३.३७)

हिं.—सुपारी.

म.—सुपारी.

गु.—सोपारी.

बं.—शुपारी.

ता.—पाक्काया.

फा.—पोपिल.

-वृक्ष–पु., वनस्पति० पूगः (रा. ११.७१)

पूजन–न., अर्चनम् (सुउ. ३९.२६५)

पूज्य–वि., पूजार्हो, वन्द्यः, श्रेष्ठः (चनि. ७.१०; अहसू. २.३३)

-मानक–न., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६)

पूत–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा. ९.५५)

दर्भः (रा. ८.२०७)

(पूता)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा (रा. ८.२२६) द्र० ' दूर्वा '

-गन्ध–पु., वनस्पति० बर्बरः (रा.परि. १०.४८)

-द्रु–पु., वनस्पति० पलाशः (ध. ५.१६१)

-धान्य–पु., वनस्पति० तिलः (ध.६.१२२)

-फल–पु., वनस्पति० पनसः (रा.परि. ११.१०)

-पत्री–स्त्री., वनस्पति० तुलसी (रा. १०.७९)

पूतना–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (चचि. ९.४५)

गन्धमांसी (ध. २.४७)

बालग्रह० (काइ. २०.२१) रेवतीग्रहस्य नाम (का बालग्रहचि.) लक्षणानि–वमनं, कम्पस्तन्द्रा, रात्रौ प्रजागरः, हिध्माऽऽध्मानं शकृद्भेदः पिपासा, मूत्रनिग्रहः, स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं, काकवत् पूति-गन्धिता (सुउ. २७.१२; असंउ. ३)

-केशी-स्त्री. वनस्पति० गोलोमी (चक्र.चचि.१०.३४)
-प्रतिषेध-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ३२.१)
पूति-स्त्री., लक्षण० पूयभवनम् पूतीभावः (चसू. ५.२९)
दुर्गन्धः (चवि. ८.९७; सुसू.२१.११ ड.सुउ.२२.८)
वनस्पति० पूतिकरञ्जः (र. १६.१६५)
कत्तृणम् (रा. ८.१०६; अहसू. १२.३८)
वि., विस्रगन्धि (सुसू. २१.११)
-करञ्ज-पु., वनस्पति० करञ्जभेदः द्र० 'करञ्ज' (रा. ९.१८०)
-करञ्जक्षार-पु., नक्तमालस्य क्षारः, अयं प्लीहोदरे पानोपयोगी (असंचि. १७ सुचि. १४.१३)
-करञ्जशाक-पु.,न., पत्रशाक० कटुकं पाके, उष्णवीर्यं स्रंसनं लघु, वातकफापहं शोफघ्नं च (सुसू. ४६.२७८)
-कर्ण-पु., कर्णरोग० (सुउ. २०.१५-१६) कर्णस्रोतः-स्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने सति सवेदनोऽवेदनो वा घनः पूतिश्च स्रावः भवति कर्णात्पूयस्राव इत्यर्थः (सुउ. २०.१५ असंउ. २१)
(कर्णी)-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६६)
-कर्णिक-पु., वनस्पति० करञ्जभेदः (रा. ९.१८०) द्र० 'करञ्ज'
-काष्ठ-न., वनस्पति० सरलः (ध. ३.७८) देवदारु (ध. १.७७)
-कीट-(परिव०) पु., कीट० वर्षाकालजः शस्यादः कीटः कर्बुरकः, "तेलिनी" इति प्रसिद्धः लेपोऽस्य श्वित्रघ्नः (सुचि. ९.१६; सुउ ५०.२३)
-गन्ध-पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रा. परि. ८.१८) खनिज० गन्धकः (ध. ३.१०९) न., खनिज० वङ्गम् (रा. १३.१४)
-(गन्धा)-स्त्री., सौम्यलूता (असंउ. ४५) द्र० 'लूता'
-(घास)-पु., पशु० वृक्षबिडालः, सुगन्धिवृषणः पर्णमृगेष्वेकः (सुसू. ४६.७६) द्र० 'पर्णमृग'
-घ्राणगन्धिता-स्त्री., नासारोग० शोणितजो व्याधिः, अस्मिन् घ्राणस्य गन्धः पूतिर्भवति (चसू. २४.११)
-दोष-पु., पारदस्य उत्थापनसंस्कारनाश्यः पूति-लोहजो दोषः (र. ११.३३)
-नस्य-न., नासारोग० पूतिनासः (र. २४.२०) लक्षण० (चचि. ४.२६-२७)
-नास-पु., नासारोग० तालुमूलमाश्रित्य वातादिभि-र्दुष्टैर्वासितो वायुर्मुखान्नासिकायाश्च पूतिभावापन्नः सन् बहिर्गच्छति । सोऽयं पूतिनाससंज्ञितो रोगविशेषः (सुउ. २२.७-८; असंउ. २३)
-पत्र-पु., वनस्पति० टिण्टुकभेदः (रा. ९.१४२) द्र० 'टिण्टुक'
-पर्ण-पु., वनस्पति० करञ्जः (रा. ९.१७६)
-पूयनिभ-वि., लक्षण० शटितपूयसदृशम् (शुक्रम्) (सुशा. २.४; असंशा. १)
-पूरक-पु., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११५)
-प्रजा-वि., क्लिन्नाङ्गप्रत्यङ्गा म्रियमाणापत्या (चशा. ४.३०)
-फला-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६५)
-भोजन-न., दुर्गन्धि भोजनम् (चवि. ७.१२)
-मत्स्य-पु., क्लिन्नमत्स्यः (इन्दु. असंउ. २८)
-मयूरिका-स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (ध. २.१००).
-मांस-न., रोग० मांसप्रदोषजोऽयम्, मांसदौर्गंध्यम् (चसू. २८.१४)
वि., अत्यर्थदुर्गन्धि मांसं यस्य स व्रणः (सुक. ५.५६)
-मांसपिडका-स्त्री., रोग० पूतिमांसवती पिडका (चनि. ४.८)
-मारुत-पु., वनस्पति० बिल्वः (ध.१.१०६)
-मुखता-स्त्री.,लक्षण० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः मुखदौर्गन्ध्यम् (चसू. २०.१४)
-मुखत्व-न., लक्षण० चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः मुखदौर्गन्ध्यम् (असंसू. २०)
-मेदस्-न., वनस्पति० इरिमेदः (ध. ५.१३३)
-योनि-स्त्री., लक्षण० दुर्गंधियोनिः (असंशा. २.४२)
-लूता-स्त्री., सौम्यलूता० (असंउ. ४४) द्र० 'लुता'
-लोह-न., खनिज० नागं वङ्गं च (र.१७.४१-४२)
-विशीर्णमांस-न., लक्षण० दुर्गन्धिशटितमांसम् (सुनि. १६.६३)
पूतिक-पु., वनस्पति० चिरबिल्वः (सुसू. ३७.१३) करञ्जः (सुचि. ९.४०; ध. ५.१०७) अस्य त्वक्फलपत्राणि विरेचनार्थमुपयुज्यन्ते (असंसू. १४.४)
पूतीक-पु., वृक्ष० कण्टकीकरञ्जः (चसू. १.११६) वनस्पति० चिरबिल्वः (सुसू. ३८.८-९) करञ्जभेदः पूतीकरञ्जः (सुसू. ३८.१०-११ अहसू. ३०.९)
-पत्र-न., करञ्जवृक्षस्य पत्रम्,वातजे व्रणे आच्छादनार्थ-मुपयुज्यते (सुचि. १.११२-११३)

-प्रवाल-पु., कण्टकिकरञ्जपल्लवः तीक्ष्णक्षारनिर्माणे प्रतीवापार्थमुपयुज्यमानेषु द्रव्येष्वेकम् (सुसू. ११.१३ असंसू. ३९.१०)

पूतीकरञ्ज-पु., वनस्पति० करञ्जविशेषः (चचि.२६.२३) कण्टकिकरञ्जवृक्षः श्रीपदे पूतीकरञ्जपत्राणां स्वरसः शस्तः (सुचि. १९.६०)
वनस्पति० चिरबिल्वः (र. १४.८३-९५)

पूत्यरीमेदस्-न., वनस्पति० करञ्जभेदः पूतिकरञ्जः (असंसू. १५.४७)

पूत्यास्यगंधिता-स्त्री., लक्षण० मुखदौर्गन्ध्यम् (चसू. २४.११)

पूत्यास्यता-स्त्री., मुखरोग० दन्तकाष्ठादिविद्विषो दन्तकाष्ठादिकार्यमकृतवतः पुरुषस्य सास्रैर्मलैः पूत्यास्यनामा रोगो भवति (असंउ. २५)

पूप-पु., आहारद्रव्य० पिष्टिका (चसू. २७. २६७)
पूपलिका (ड. सुउ. ६०.३२-३३)
सगुडः स्नेहसिद्धोऽपूपः (इन्दुः असंउ. ४)

-कल्प-पु., सूदशास्त्रोक्तपूपकल्पः (चक. १. २४)

-पूपलिका-स्त्री., आहारद्रव्य० पिष्टकः (चवि. ७.२१)
चापडिका (चसू. २७.२६७)
पूपालिका (सुउ. ५४.२७-२८)

-योग-पु., आहारद्रव्य० गोधूमचूर्णमत्स्यहिङ्गुसैन्धवादिसिद्धा, अयं बृंहणो बलवर्धनो हर्षसौभाग्यदः शुक्राभिवर्धनश्च (चचि. २ (४)१९-२२)

-वर्ति-स्त्री., आहारद्रव्य० वर्त्याकारा पूपलिका (चचि. २४.१२६)

पूय-पु., व्रणे संजायमानः आप्यो भावः (चसू २६.४३(५) स द्रवः पीतवर्णः सश्वेतो दुर्गन्धयुक्तो व्रणजन्यः शारीरभावः (सुउ. ४१.२४; अहसू. २९.१२-१३; असंसू. ४०.३; र. १४.१)
'पूयस्तु रक्तजन्यो भाव इति गम्यते रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्' इति आगमवचनात् (सुशा. ६.२५) कफाद्दते पूयो न संभवति इत्यागमवाक्यात् (सुसू. १७.८) शोफे दोषत्रयेण पच्यमाने कफदोषो विशेषतः पूयहेतुरस्ति इति अवगम्यतेः

-गर्भ-वि., पूयो गर्भे यस्य स (व्रणः) अन्तर्गतपूयः (सुचि. १.४६)

-दर्शन-न., लक्षण० पूयप्राप्तिः (सुसू. ५.७)

-प्रख्य-वि., पूयसंज्ञकम् प्रख्यायतेऽनया व्यपदिश्यतेऽनया इति प्रख्या संज्ञा (सुशा. २.९)

-रक्त-न., नासागतरोग० (चचि. २६.११६) पूयरक्तं दोषाऽऽगन्तुभेदेन द्विप्रकारम्-(१) जन्तोर्नासा पित्तरक्ताधिक्याद् दुष्टैर्दोषैः रक्तमिश्रं पूयं स्रवेद्यदा तदा दोषजं पूयरक्तं स्यात्; (२) ललाटदेशेऽभिहतस्य नरस्य नासाऽसृङ्मिश्रं पूयं स्रवति तदाऽऽगन्तुजं पूयरक्तं जानीयात् (सुउ. २२.१०) (असंउ. २३)

-स्राविणी-वि., पूयं मुहुर्मुहुः स्रवन्ती (योनिः) (सुउ. ३८.२६)

पूयालस-पु., नेत्ररोग० कनीनसंधौ पूयस्राव्याध्मायी सवेदनः शोफसंरम्भपूर्वकः सूक्ष्मो व्रणः (असंउ.१२) संनिपातजोऽयं साध्यश्च (सुउ. २.४)
स्नेहस्वेदपूर्वकमुपनाहनं तथा च रक्तमोक्षणं हितम्, नेत्रपाकघात्यान्तर्बाह्यशुद्धिकरः कृत्स्नो विधिर्विधेयः (सुउ. १२. ४५)

पूयास्राव-पु., नासारोग० पूयरक्ताभ्यां युक्तः स्रावः (चचि. २६.१४६; र. २४.२०)
नेत्ररोग० सास्रा वातादिमला वर्त्मसंधिकनीनकात्सास्रत्वञ्चांसपाकतो मुहुः पूयं स्रावयन्ति (सुउ. २.६; असंउ. १३) त्रिदोषजोऽसाध्यो नेत्रनाडीभेदः (सुउ. २.६)

पूरक-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२७)

पूरण-न.; उपक्रम० संतर्पणम् (चवि. ३.४२)
भरणम् (सुसू. २२.११)
तैलेन पूरणम् (चवि. २६.२२१)

पूराम्ल-न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४३)

पूर्ण-वि., पूरितम्, अरिक्तम् (असंचि.२१)

-कोश-पु., आहारद्रव्य० द्रव्यपूरितान्तर्भागो भक्ष्यविशेषो यथा यवपिष्टमयं भक्ष्यम् (असंचि. २१; सुचि. १०.५)

-कोष्ठता-स्त्री., लक्षण० संचितकफादिदोषेण कोष्ठस्य पूर्णत्वं व्याप्तत्वं वा (सुसू. २१.१८)

-कोष्ठा-स्त्री., वनस्पति० मुस्तभेदः नागरमुस्ता द्र० 'मुस्त' (रा. ६.६२)

-चन्द्र-पु., पारदयोग० सूताभ्रलोहशिलाजत्वादिसिद्धः बृंहणोऽयम् (र. १८.१९०)
पारदयोग० सूतगन्धकशंखमौक्तिकादिसिद्धः, ग्रहण्यर्शःक्षीरोगादिहरोऽनुपानभेदेन (र. २७.१३०-३३)

-बीज-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२६)

पूर्णक-पु., वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८)

पूर्णाक्ष–पु., महर्षि० रसाहारसम्यग्विनिश्चयार्थमुपविष्टानां आत्रेयभद्रकाप्यादीनां महर्षीणामन्यतमः (चसू. २६.३)

पूर्णामृत–पु., कश्चित प्राचीनो रसाचार्यो योगीन्द्रश्च (र.२२.१३)

पूर्व–वि., आदिमम्, अव्यवहिताग्रवर्ति (सुसू. ५.३)

(पूर्वा)–स्त्री., दिग्० (चसू. १४.४६)

–काय–पु., पूर्वं कायस्य नाम नाभेरूर्ध्वभागः (सुचि. ६.४)

–जातिस्मर–वि., पूर्वजातीनां पूर्वजन्मनां स्मर्ता (सुशा. २.५७)

–देश–पु., भारतवर्षस्य पूर्वदिशि वर्तमानो देशः पूर्वदेशस्तु मधुरः शीतलो गुरुर्विज्ञेयः (काखिल. २५.७–१२)

–देहानुभूत–वि., पूर्वजन्मन्यनुभूतः (सुशा. ४.३६)

–पक्ष–पु., तन्त्रयुक्ति० आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः (सुउ. ६५.२५ चसि. १२.४३)

–भक्त–वि., भक्तस्य पूर्वम् उपयुज्यमानम् (सुउ.९.१८) भैषज्यकाल० (सुउ. ९.१८)

–रूप–न., व्याधेः प्रागुत्पत्तिलक्षणम्, व्याध्युपलब्धि-कारणेषु एकम् (चनि. १.८) पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो ज्ञायते, न तु दोषविशेषः तदुत्पत्स्यमानस्य व्याधेरलाभत्वाद् अव्यक्तं रूपम् (असंनि. १.१०; सुसू. २१.३३ अहसू. १२.६०)

–रूपीयाध्याय–(परिव०) पु., अध्याय० (चइ. ५.१)

–वात–पु., पूर्वदिग्भवो वातः (चचि. ९.७४)

–वेदना–स्त्री., पूर्वरूपम् (कासू. २५.१३)

पूर्वापराधज–वि., पूर्वकर्मजः (अहसू. १२.५७)

पूर्वाभिभाषिन्–वि., पूर्वमभिभाषितुं शीलमस्येति प्रथम-संभाषणशीलः (चसू. ८.१८) यदृच्छया सङ्गते सुहृदि तद्वचनात्पूर्वं कुशलप्रश्नादिकारी (हेअहसू. २.२६)

पूर्वाह्ण–पु., अह्नो दिवसस्य पूर्वभागः (सुसू. ६.१४)

पूषन्–पु., देवता० सूर्यः द्वादशादित्यानामन्यतमः (र. ३०.१२५)

पृथक्–अव्य०, भिन्नम् (ध. १.१३)

–त्व–न., असंयोगः (चसू. २६.२९)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (ध. १.१३) पृश्निपर्णी (ध. १.९०; सुसू. ३७.२५)

–बीज–पु., वनस्पति० भल्लातकः (रा. ११.२०२)

पृथशिम्ब–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११५)

पृथाज–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९३)

पृथिवी–स्त्री., महाभूत० तमोबहुला इयम् (सुशा. १.२०)

भूमिः (सुशा. १.२०; चवि. ३.२४)

देवता० घ्राणस्याधिदैवतं पृथिवी (सुशा. १.७)

–रुह–पु., वृक्षः (सुसू. १६.२७)

पृथिव्यात्मक–वि., पृथिवीगुणात्मकम् (चशा. ४.१२)

पृथु–वि., विस्तीर्णः (सुसू. ३२.३)

द्विकोणम् (हेअहसू. २८.१८)

स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध.२.३८)

मसूरिका (ध. ६.९५)

उपकुञ्ची (रा. ६.९१)

(पृथ्वी)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतमन्दारकः (रा. १०.३१)

पुनर्नवा (रा. ५.४०४)

–कन्दक–पु., वनस्पति० गुण्ठः (ध. १.८३)

–च्छद–पु., वनस्पति० दर्भभेदशरपत्रः (रा. ८.२०९) द्र० 'दर्भ'

आक्षोडः (ध. ५.६०)

–ता–स्त्री., विस्तीर्णता (सुनि. १५.१०)

–दर्शिन्–वि., विशालदर्शी पण्डितः, आयुर्वेदीयः आचार्यः (सुश्रुतादिः) (सुशा. १.११)

–पत्र–पु., वनस्पति० लशुनभेदः महाकन्दः (रा. ७.९६) द्र० 'लशुन'

–पलाश–पु., वनस्पति० सठी (ध. १.६१)

–पलाशिका–स्त्री., वनस्पति० सठी (ध. १.६१)

–फल–पु., वनस्पति० बदरभेदः राजबदरः (रा. ११.१६०) द्र० 'बदर'

–बीजक–पु., वनस्पति० मसूरिका (रा. १६.१४९)

–मुख–वि., विस्तृतमुखम् (अहसू. २८.२१)

–शिम्ब–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा.९.१४१)

पृथुक–पु., आहारद्रव्य० आर्द्रशालिधान्यं मृदुभृष्टं मुसलाघातचिप्पटीभूतावयवं 'पृथुक' इत्युच्यते सोऽयं गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफवर्धनश्च (सुसू. ४६.४१५)

वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ह. र. ३०.५७)

पृथुल–पु., वनस्पति० दर्भभेदः खरः (ध. ४.१३३) द्र० 'दर्भ' दर्भ.

(पृथुला)–स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रा.परि.८.६६)

वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध. २.३८)

–फल–न., वनस्पति० राजबदरः (रा. ११.१६०) द्र० 'बदर'

पृथ्वर्पित–वि., अवगाढदंष्ट्रापदः दंशः (चचि. २३.१२८)

पृथ्वीका–स्त्री., वनस्पति० श्यामवर्णः स्थूलजीरकः (ड. सुक. ६.१८) द्र० 'जीरक'
वनस्पति० हिङ्गुपत्री (सुक. ५.७३)
एला (सुक. ५.७३)
–भट–पु., रत्न० राजावर्तः (र. १५.५३–५४)
वनस्पति० ऋषभकः (र.१५.५३–५४)
मान० कोलम् (ह.र. १५.५३–५४)
धातुविष० मल्लः (ह.र. १५.५३–५४)
पृथ्वीका–स्त्री., वनस्पति० स्थूलजीरकः, धूमोपयोगि द्रव्यम् (चसू. ५.२०)
गुणाः–कटुस्तिक्ता कटुपाका उष्णा तीक्ष्णा गन्धाढ्या रुच्या अग्निदीपनी पित्तवर्धनी कफवातघ्नी आध्मानगुल्मामदोषघ्नी च (ध. २.५९)
हिं.—कलौंजी.
म.—कलौंजी जिरें.
गु.—कलौंजी जीरुं.
बं.—मोटाकेले जीरे.
ता.—चीमैच्चीरकं.
एला (चचि. ७.१२२)
हिङ्गु–पत्री (सुउ. ४२.९५; ध. २.३८)
भद्रैला (असंसू. १४.३; अहसू. १५.४)
–तैल–न., कटुतैल० कृष्णजीरकतैलम् (सुसू. ४५.११५) द्र० 'कटुतैल'
पृथ्वीज–न., लवण० सांभरलवणम् (रा. ६.४७)
पृश्निपर्णी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– कटुस्तिक्ताम्ला, (स्वादुः–ध.) उष्णा, त्रिदोषघ्नी, अतीसारकास-वातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहरक्तश्वासतृषाहरा (रा. ४.११७) अणुतैलद्रव्येष्वेकम् (चसू. ५.६५) लघुपञ्चमूलेष्वेकम् (चसू. २.११) पित्तश्लेष्मातिसारघ्नपेयायामुपयुज्यते (चसू. २.२०) सांग्राहिक-वातहरदीपनीयवृष्याणां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०; असंसू. १३)
श्वयथुहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)
हिं.—पिथिवन.
म.—पिठवण.
गु.—पिठवन.
बं.—चाकुलिया.
ता.—पेरू, मल्लिकै.
पृषत–पु., प्राणि० मृगभेदः, बिन्दुचित्रितहरिणः (चक. ४.१२) तस्य मांसरसो जीर्णज्वरे हितः (चचि. ३.१९१)
चित्तलः (ड. सुक. ५.७१) अयं सविषान्नदर्शने-नाश्रुक्लिन्ननेत्रः संजायते (सुक. १.३३)
सर्प० मण्डली (सुक. ४.३४ (२))
प्राणि० जङ्घालजातीयः (ध. परि. ३)
–पित्त–(परिव०) न., चित्रलमृगपित्तम् (ड. सुउ. ६१.२४-२५)
पृषध्र–पु., राज० दीर्घसत्रयाजिनानेन पश्वभावाद् गवामप्यालम्भः प्रवर्तितः (चचि.१९.४)
पृष्ठ–न., शारीर० अन्तराधेः पश्चाद्भागः इदं प्रमाणतो-ऽष्टादशाङ्गुलोत्सेधम् (सुशा. ६.२६; चवि. ८.११७; अहसू. ५.५८)
–गतास्थि–न., पृष्ठभागे स्थितमस्थि (चशा. ७.६)
–ग्रह–पु., लक्षण० पृष्ठं गृह्यते इव वेदना पृष्ठ-ग्रहणवद् वेदनाविशेषः पृष्ठस्य ग्रहः (चचि. ११.१३; अहसू., १७.२६)
–दौर्बल्य–न., लक्षण० पृष्ठभागस्य दौर्बल्यम् (चचि. १४.१३३)
–पूरक–पु., कुरुक्षेत्रात् पूर्वदेशः (काखिल. २५.९)
–भङ्ग–पु., लक्षण० पृष्ठभङ्गवत्पीडा (काखिल. १२.१०)
–मर्मन्–न., पृष्ठभागस्थं मर्म, चतुर्दशपृष्ठमर्माणि, पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धि-बृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति (सुशा. ६.६) द्र० 'मर्म'
–यान–न., अश्वोष्ट्रादिपृष्ठारोहणपूर्वकं गमनम् (सुचि. ६.२२)
–वंश–पु., शारीर० पृष्ठाधारः (सुशा. ६.२६; असंशा. ५.७५; अहसू. १९.२५)
–संग्रह–पु., लक्षण० पृष्ठग्रहः (चसू. १४.२२)
पृष्ठायाम–पु., लक्षण० पृष्ठबहिर्निर्गतिः (चक्र. चचि. २८.४४)
पृष्ठारुस्–न., बालरोग० (असंउ. २) द्र० 'अहिपूतन'
पृष्ठास्थि–न., अस्थि० पृष्ठे स्थितानि अस्थीनि (सुशा. ५.१९)
पृष्ठेषिका–स्त्री., शारीर० पृष्ठवंशः (चक्र. चइ. ३.५)
पेऊ–स्त्री., वनस्पति० गुणाः –कटुकाम्ला, रुचिकृद्बल्य-दीपनी च (रा.परि.७.२१)
पेटकारी–स्त्री., वनस्पति० पिटारी (र. २५.९७)
ज्योतिष्मती (र. ५.२४१–४२)
क्षुप० कुलिङ्गाक्षी (ह. र. १७.६)
पेटारी–स्त्री., बलाभेदा पिटारी (ह. र. २४.१३३) द्र० 'बला'

पेया–स्त्री., कृतान्नपेया सिक्थसमन्विता (सुसू. ४६.३३४) क्षुत्तृष्णा–ग्लानिदौर्बल्य–कुक्षिरोग–ज्वरनाशिनी, स्वेदाग्निजननी, वातवर्चोऽनुलोमनी च (चसू. २७.२५०; चसू. २.१९; चसि. १.११) लघुर्दीपनी बस्तिशोधनी च (सुसू. ४६.३४१–३४२)

–मण्ड–पु. न., पेयाया उपरिस्थितो द्रवभागः (चचि. ८.१२७)

पेयादिक्रम–पु., पेयादिसेवनविधिः, तस्य क्रमः वमनविरेचनादिशोधनैः शुद्धो नरः सुखाम्बुना स्नातो रक्तशाल्यन्नं भुञ्जानः पेयादिक्रमं भजेत्। तद्यथा–पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषमन्नकालान् क्रमेण सेवेत। उत्तमशुद्धया शुद्धः पेयादिकं त्रीन् त्रीनन्नकालान् भुञ्जीत। मध्यमशुध्या शुद्धः द्वौ द्वावन्नकालौ, अवरशुध्या शुद्ध एकैकमन्नकालं भुञ्जीत। प्रतिदिनं द्वावन्नकालौ भवत इत्युत्तमशुद्धिशुद्धः सप्तमेऽहनि प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। पेयादिक्रमेणाल्पोऽपि जाठराग्निः क्रमेण संधुक्ष्यमाणो महान् स्थिरः सर्वपचश्च भवति (चसि. १.१०-११; अहसू. १८.२९-३०)

पेलव–वि., अच्छम् (सुसू. ४५-२०२) अल्पम् (सुशा. ५.४०) सुकुमारम् (सुउ. ३९.२९१)

पेशल–वि., कोमलमकठिनम् (सुचि.३३.६;अहसू.२.२६)

–वाच्–वि., प्रियंवदः (इन्दु. असंउ. ४९)

पेशिक–न., खण्डः (असंचि. ९)

पेशी–स्त्री., शारीर० पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्, एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोर्गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयाऽऽमाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डु(न्दु)केषु, ग्रीवायां चतस्रः अष्टौ हन्वोरेकैका काकलकगलयोः द्वे तालुन्येका जिह्वायां, द्वे ओष्ठयोर्द्वे नासायां, द्वे नेत्रयोर्गण्डयोश्चतस्रः कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीत्येवमेतानि पञ्च पेशीशतानि। भवति चात्र–" सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्। पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः"। स्त्रीणां तु विंशतिरधिका, दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च–पञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः अपत्यपथे चतस्रः, तासां प्रसृते अभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव, पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति। तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः संध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति (सुशा.५.३७–४०) चत्वारि पेशीशतानि (चशा .७.१४) वनस्पति० मांसी (ध. ३.४५)

पेषण–न., घर्षणम् (र. २.५०)

(पेषणी) स्त्री., यंत्र० चूर्णनार्थं खल्वे द्रव्यविशेषं न्यस्य यया तस्य कुट्टनं क्रियते (र. ७.५-८)

पैङ्गल्य–न., लक्षण० पिङ्गाक्षता नेत्रयोः पिङ्गलवर्णः (सुशा. ४.८३)

पैङ्गल्याबाध–पु., रोग० पैङ्गल्यम् पिङ्गलनेत्रता (चशा. ८.३२)

पैङ्गि–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वसमेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२)

पैच्छिल्य–न., लक्षण० अतिचिक्कणता पिच्छिलभावः (सुसू. ११.१७)

पैत्त–वि., पित्तप्रकृतिकः (ड. सुक. ५.३८)
वि., पित्तलः पित्तजनकः (सुक. ५.३८)

पैत्तिक–वि., पित्तप्रकृतिः (सुशा. ४.७१)

पैत्र्य–वि., पितृसम्बंधि(कार्यम्) (सुसू. २९.१७–१८)

पैशाच–न., राजससत्त्वस्यैकः प्रकारः। तल्लक्षणम्–महाशनः स्त्रैणः स्त्रीरहस्कामोऽशुचिः शुचिद्वेषी भीरुर्भीषयिता विकृतविहाराहारशीलश्च (चशा. ४.३८(३))

–काय–(परिव०) पु., राजसकाय० (सुशा. ४.९३)
पैशाच पैशाचस्वभावः (सुशा. ४.९२–९३)

पैशुन्य–न., दोषमात्रसूचकता दौर्जन्यमिति (सुचि. २४.९०) परस्याप्रत्यक्षं तद्दोषकीर्तनम् (अहसू. २.२१)

पैष्टिक–वि., तण्डुलपिष्टकृतः (भक्ष्यः) ड. गुणाः–उष्णः कफपित्तप्रकोपणः, विदाही (सुसू. ४६.४०१)

वि., यवगोधूमादिपिष्टकृतं (मद्यम्) (अहसू. १३.२)
वि., पिष्टसंस्कृतं पिष्टमयं वा (अन्नम्) (चसू.२३.४)

पोगर–न., अलकवत्कुटिलरेखाः, तरङ्गसदृशरेखाः (र. ५.८१)

पोटगल–पु., वनस्पति० होग्गलः (चक्र.चसि. १०.३३)
नलः (का. बालग्रह चि.) (ध. ४. ४१)
वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः सर्पविशेषः, अयं राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो मातृसमोल्बणविषः मण्डलिसर्पविशेषसदृशो वर्तते (सुक. ४.३४(५))

पोटबन्ध–पु., पारदबन्ध० द्रुतकज्जलीमोचापत्रके चिपिटीकृतः स पोटः (र. ११.७३)

पोटलिका–स्त्री., प्रसेविका (इन्दु. असं.२. १)

पोटली–स्त्री., पोटलिका (र. १४.२८)

पोटा–स्त्री., वनस्पति० इक्षुगन्धा (चक्र. चक. १.२५)

पोट्टल–पु., पोटली (चचि. ७.५१)

(पोट्टली)–स्त्री., कल्पः पोट्टलीरसादिः (र. १६.१३७)

पोट्टलिका–स्त्री., पोटली (चशा. ८.४७)

पोट्टली–स्त्री., (र. १६.१३७)

पोत–पु., वस्त्रम् (र. १३.१३-१२)

–शालि–पु., वनस्पति० सूक्ष्मशालिः (रा. १६.९२)
द्र० 'शालि'

पोतका–स्त्री., वनस्पति० पोतकी (ध. परि. ४.५)

पोतकी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–शीतला, स्निग्धा, श्लेष्मला, वातपित्तघ्नी च (ध. परि. ४.५)

पोताश्रय–पु., कर्पूर० (र. १२.७६-८८)

पोतिका–स्त्री., वनस्पति० मूलपोती (रा. परि. ७.७८)
शतपुष्पा (रा. ४.१)

पोथकी–स्त्री., नेत्ररोग० कफात् नेत्रवर्त्मनि सर्षपाभा घनाः श्वेताः शोफोपदेहरुक्कण्डूपिच्छिलाश्रुसमन्विताः पिटिका भवन्ति (असंउ. ११; सुउ. ३.११)
पोथकीं शस्त्रेणावलिखेत् (सुउ. १३.१४-१५)

पोत्थकी–स्त्री., नेत्रवर्त्मरोग० पोथकी (असंउ. २)

पौंश्चल्य–न., पुंश्चल्याः स्वैरिण्या भावः पौंश्चल्यम् व्यभिचारः (कासू. २८)

पौण्डरीक–पु., बालग्रह० (काइ. १६.१७)

पौण्डर्य–न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (रा. १२.१५४)

पौण्ड्रक–पु., इक्षुभेदः (चसू. २७.२३८)
गुणाः–मधुरः शीतः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरोऽविदाही गुरुर्वृष्यः (सुसू. ४५.१५१; ध. ४.१२०; सुचि. २६.१७)

पौण्ड्रवर्धनक–न., देश० कुरुक्षेत्रात् पूर्वदेशः (काखिल. २५.८)

पातन–पु., बालरोग० पूतनाग्रहजनितो बालरोगः मातृकादोषो वा (असंउ. २)
देश० मथुराप्रदेशः अयं महाशननिर्विषादि-गुणवज्जलौकानां प्रभवभूमिः (सुसू. १३.१३)

पौतीक–न., वनस्पति० पूतिकरञ्जः (काखिल. १६.३९-४०)

पौत्तिक–न., पुत्तिकाः पिङ्गला महत्यो मक्षिकाः, तज्जं पौत्तिकं मधु, मधुभेदः एतद् घृतवर्णम्, (चसू. २७.२४३; सुसू. ४५.१३३-३४; असंसू. ६.९८)

पौत्रजीविक–न., अलङ्कार० ग्रीवायां कण्ठे वा धारणार्थं पुत्रजीवकाष्ठकृतरुचकादि आभरणम् (सुउ. ३१.८)

पौपिक–पु., पूपादिभक्ष्याणां साधकः कन्दूक इत्यर्थः, महानसे नियुक्तेषु परिचारकेष्वेकः (सुक. १.१७-१८)

पौर–न., भैषज्य० बोलम् (ध. ३.६२)
वनस्पति० कतृणम् (ध. १.८०)

–जनपद–पु.,पुरी जनपदे वा कृतावस्थितिकः नागरिको जानपदश्चेत्यर्थः (चवि. ३.२०)

पौरुष–न., शारीर धातु० शुक्रम् (चवि. ३०.१३३)
पुरुषकृतं कर्म, प्रयत्नः (चशा. २.४४)
शारीरं बलम् (चसू. ११.३)
मेढ्रम् (ड. सुनि. ३.१९)

पौरुषादिनी–स्त्री., रेवतीग्रह० यस्या अपत्यं षोडशाब्दतः प्राक् म्रियते, सा जातहारिणि साऽसाध्या (का. रेवति. क. ५२)

पौरुषार्थिन्–वि., शुक्रार्थी (चचि. २ (२).३२)

पौरुषेया–वि., पुरुषोपलक्षिशुक्रवृद्धये हिता वृष्या (सुसू. ४५.२३)

पौरुषोपचय–पु., शुक्रोपचयः (चसू. १३.१६)

पौरोगवर्ग–पु., सूदशास्त्राभिज्ञः (चचि. २४.१९)

पौर्वभक्तिक–वि., भोजनात्प्राक् प्रयोजितम् (चचि. १४.६५)

(पौर्वभक्तिकी)–वि. भोजनात्प्राक् योजिता (चचि.१४.६५)

पौर्वाह्णिक–वि., पूर्वाह्णे भव उपयुज्यमानो वा इति (चचि. १.(२).७)

पौष्कर–न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (ध. १.६६; सुउ. ४२.६९)

शाक० इदं तु कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं च बीजमस्य रसपाकयोर्मधुरम् (चसू. २७.११९) कमलबीजम् (सुसू. ४६.१७३)

पौष्कलावत–पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३) वि., पौष्कलावतकृतं (तन्त्रम्) (सुसू. ४.९)

पौष्टिक–वि., संरक्षकं, पुष्टिदायकम्, पुष्टिः रक्षा वृद्धिर्वा प्रयोजनमस्येति (चवि. ८.१४)

पौष्पाञ्जन–(परिव०) न., पुष्पाञ्जनम् (चचि. २६.२५०)

पौष्पिक–न., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)

प्रकटकोष्ठी–स्त्री., यन्त्र० अपावृताऽऽननं कोष्ठीयन्त्रम् (र.८.७८)

प्रकटमूषा–स्त्री. शरावाऽऽकारसंयुता मूषा, वृन्ताकमूषा (र. २,८९)

प्रकम्पमान–वि., प्रसारणे कम्पमानम् काण्डभग्नम् (सुनि. १५.१०)

प्रकरण–न., विषयः (चवि. ८.६८)

–सम–पु., तंत्रयुक्ति० यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः, पक्ष एव हेतुर्भवति यत्र सः (चवि. ८.५७) निर्णयार्थं प्रयुक्तो हेतुर्यत्र निर्णेयं जनयितुमशक्तस्तुल्यबलेन परेण प्रतिबन्धात् किन्तु धर्मिणः साध्यवत्त्वं तदभाववत्त्वं वेति चिज्ञां जिज्ञासां प्रवर्तयति स प्रकरणसमः (गौ. वृ. १।२।७) तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुर्यथा–अन्यः शरीरादात्मा, तस्मान्नित्यः; शरीरं स नित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः; नहि य एव पक्षः स एव हेतुरिति । द्र० 'तन्त्रयुक्ति'

प्रकामतस्–अव्य., स्वेच्छया (ड. सुउ. ५५.३३)

प्रकाश–वि., सदृशम् (सुनि. २.१२)
प्रकटः अनावृतः (सुशा. ५.४९)
पु., आलोकः (अहसू. ९.८)
न., कृत्रिमधातु० कांस्यम् (ध. ६.२३)

–क्षमता–स्त्री., प्रभा भास्वरादिरूपसहत्वम् (अहसू. २४.११)

प्रकाशन–न., अभिव्यक्तिः, आग्नेयद्रव्यस्य कार्यम् (सुसू. ४१.४(३))
ज्ञापनम् (चवि. ८.४२)

प्रकीर्य–पु., वनस्पति० उदकीर्यः (रा. ९.१८०)
रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८७)
करञ्जः (ध. ५.१०७)
कण्टकीकरञ्जः (सुउ. ११.९; अहसू. १५.१९)
द्र० 'करञ्ज'

(प्रकीर्या)–स्त्री., वनस्पति० करञ्जः (चक्र.चसि.१०.२६) कण्टकी विटपकरञ्जः (सुसू. ३९.९; असंसू. १६.१३)

प्रकीर्यक–पु., वनस्पति० करञ्जः (रा. ९.१७६)

प्रकुञ्च–पु., मान० पलम् (चक्र. चचि. २८.१२४; सुचि. ३७.१०२; असंक. ८; अहसू. १९.१८; र. १२.१२१-२२)

प्रकुथित–न., प्रकोथः, पूतिभावः (सुचि.२३.५)

प्रकुपित–वि., विकृतम् (चशा. ६.१७)

प्रकृति–स्त्री., स्वभावः (चवि. ८.९५) दोषकृतः शरीरस्वभावः, तद्यथा–शुक्रार्तवस्थैर्दोषैर्गर्भस्याऽऽदौ जन्म भवति, तथा च तैस्तिस्रः प्रकृतयो भवन्ति । वातप्रकृतिः, पित्तप्रकृतिः, कफप्रकृतिरिति, तासु वातप्रकृतिर्हीना, पित्तप्रकृतिर्मध्या, कफप्रकृतिश्रोत्तमा भवति । द्विदोषजाः प्रकृतयो निन्द्या समधातुप्रकृतिः सर्वासु श्रेष्ठा भवति (अहसू. १.९-१०) शुक्रशोणितप्रकृतीं, कालगर्भाशयप्रकृतिमातुराहारविहारप्रकृतिं, महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते । एतानि हि येन येन दोषेणाऽधिकेनैकेनाऽनेकेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते, ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता, तस्मात् श्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित् पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः केचिद्भवन्ति (चवि. ८.९५) शुक्रशोणितसंयोगे यो दोष उत्कटो भवेत्, तेन प्रकृतिर्जायते (सुशा. ४.६३) विषजातः कीटो यथा विषेण न विपद्यते तथा प्रकृतयो मर्त्यं बाधितुं न शक्नुवन्ति (सुशा. ४.७९) प्रकोपोऽन्यथाभावः क्षयो वा प्रकृतीनां स्वभावेन नोपजायते, गतायुषस्त्वन्यभावो जायते (सुशा. ४.७८) प्रकृतिरोगयोश्चायं विशेषः–प्रकृतिरपथ्योपसेवया नात्यन्तं बाधते (मा. पञ्चनिदान मधुकोशः) तथा पुनः सप्तप्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः (असंशा. ८.२२) दोषवच्च गुणैरपि सत्वादिभिः सप्त प्रकृतयो भवन्ति । तास्तदभिनिवृत्तैरेव यथोक्तैः शौचादिभिर्जानीयात् (असंशा. ८.२१) केषांचिन्मते भौतिक्यपि प्रकृतिर्भवति । एवं पञ्चमहाभूतैः पञ्चमहाभूतप्रकृतयो भवन्ति । तत्र पवनभूतप्रकृतेर्वातप्रकृतावन्तर्भावः, दहनभूतप्रकृतेः पित्तप्रकृतौ, तोयप्रकृतेः कफप्रकृतावरोधो नाम अन्तर्भावः कृतः, पार्थिवप्रकृतिः

स्थिरविपुलशरीरः क्षमावांश्च भवति । नाभसप्रकृतिश्च महद्भिः खैर्युक्तः शुचिश्चिरजीवी च भवति (सुशा. ४.८०) आरोग्यम्–यतः प्रकृतिश्चारोग्यम् (चवि. ६.१३)

चतुर्विंशतितत्त्वेज्येकम्–सर्वभूतानां कारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेव प्रकृतिरित्युच्यते सांख्यदर्शने । एका प्रकृतिर्बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् (सुशा. १.३) प्रकृतिः अनादिरनन्ता नित्या सर्वगता च, तथैवैकाऽचेतना त्रिगुणात्मका बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी च (सुशा. १.९) यदा सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था तदा न सर्गः, यदा तु सत्त्वादिगुणानां वैषम्यं भवति तदा सर्गः । तद्यथा–प्रकृतेर्बुद्धिस्ततोऽहङ्कारात्सात्त्विकादेकादशेन्द्रियाणि तामसाच्च पञ्चतन्मात्राणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतान्याकाशादीन्युत्पद्यन्ते (चशा. १.६६) सांख्ये मूलप्रकृतिर्बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टतत्त्वानां समुदायोऽष्टधातुकी प्रकृतिरित्युच्यते (चशा. १.१७) वैद्यके तु " स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा । परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः " । इति षट् प्रकृतयः उक्ताः (सुशा. १.११)

वातादिदोषाणां, रसादिधातूनां च साम्यावस्था (चसू. ५.४)

आत्मा (चशा. ३.२५)

धातुसाम्यम् (चसू. ९.४)

स्वभावः (चचि. ३.१२)

सांख्यतत्त्व० अव्यक्तम् (चशा. १.१७)

प्राकृतस्थितिः (चशा. ४.१४)

स्वाभाविकः प्राणिनो निजो धर्मः (सुसू. ३०.३)

स्वरूपम् (इन्दुः. असंनि. ४.१७)

–कल्पवित्–वि. द्रव्यस्य स्वभावं संस्कारञ्च जानानः (चचि. ४.३२)

–गत–वि., प्राकृतावस्थां प्राप्तः (चसि. १२.९)

–गन्ध–पु., स्वाभाविकगन्धः (सुसू. २८.९-१०)

–गुरु–वि., स्वभावतः गुरुगुणोपेतं द्रव्यम् (चसू.५.५)

–ज्ञ–वि., प्रकृतिं जानानः (चसू. २९.७)

–दर्शक–वि., स्वभावदर्शकम् (चचि. २४.७३)

–भाव–पु., साम्यम् (चशा. ६.१८)

–भूत–वि.. साम्ये स्थितः (चशा. ६.१८)

–लघु–वि., स्वभावतः लघु द्रव्यम् (चसू. ५.५)

–वर्ण–पु., देहसमानवर्णः (चसू. १८.७)

स्वाभाविकवर्णः (चशा. ८.५१)

–विकारज्ञान–न. प्रकृतेर्विकारः तस्य ज्ञानम् (चसू. २९.७)

–विघात–पु., प्रकृतेः कारणस्य श्लेष्मादिरूपस्य विघातः (चवि. ७.१४)

–विरुद्ध–न., स्वभावेन विरुद्धम् (सुसू. ३५.३९)

–वैशेष्य–न., स्वभावस्याऽऽधिक्यम् (चसू. १८.५३)

–संपद्–स्त्री., समवातादिप्रकृतिता (चशा. ६.३०)

–सात्म्य–न., प्रकृतेर्यत् सात्म्यं तत् (चचि. १.२८)

–सामान्य–न., समानकारणता, प्रक्रियते जन्यते अनया इति प्रकृतिः हेतुः कारणं वा, अतः प्रकृतिसामान्यं समानकारणत्वम् (चसू. १८.४३)

–स्थ–वि., मरणसमीपगतम् (भूतं प्राणी वा) (चसू. ९.२६)

वि., आरोग्यवान् (सुसू. ४६.५०७)

मनोवाक्कायेषु स्वेन भावेनावस्थितः (ड. सुक. ४.१८)

–स्थत्व–न., दोषाणामविकृतकार्यकारित्वम् (ड. सुउ. ३९.१६०-६२)

–स्थापन–न., भेषजम्, प्रकृतौ दोषसाम्ये स्थाप्यते प्राणी अनेन इति (चक. चवि. ६.२२)

–स्वप्न–पु., स्वस्याः प्रकृतेरनतिक्रमेण यथास्वं स्वप्नः, यथा वातप्रकृतौ ससंभ्रमम् आकाशगमनं, पित्तप्रकृतौ विद्युदुल्काहुताशप्रेक्षणं, श्लेष्मप्रकृतौ च कमलहंसचक्रवाकानां मनोज्ञजलाशयानाञ्च दर्शनम् (सुसू. २९.६७)

–स्वर–पु., स्वाभाविकस्वरः (चइ. १.१४)

शुभदायकस्वरः (चइ. १.१४)

प्रकृष्टकर्णिक–वि., यस्य बस्तियन्त्रविशेषस्य कर्णिका त्र्यङ्गुलाधिका चतुरङ्गुला सन्निविष्टा च (ड. सुचि. ३६.८)

प्रकृष्टासन्नकारण–न., व्यवहितम् अव्यवहितञ्च कारणम्, ज्वरस्य रूक्षादि प्रकृष्टम् आसन्नं वातादि, तथा प्रकृष्टं रुद्रकोपः आसन्नं तु रूक्षादि, ज्वरादे रोगस्य समीपवर्ति दूरवर्ति च कारणम् (चनि. १.४३)

प्रकोथ–पु., पूतिभावः (सुचि. २३.५)

प्रकोप–पु., प्रकृष्टः कोपः (चसू. १७.११४)

प्रकोपयतीति प्रकोपः हेतुः, प्रकुप्यति दोषोऽनेनेति प्रकोपः प्रकोपहेतुरिति (चचि. १२.३)

दोषगति० स्थानादुन्मार्गगमनम् (सुसू. १.३४) द्वितीयक्रियाकालस्तत्र दोषाणां प्रकोपात् कोष्ठतोद-संचरणाग्लीकापिपासापरिदाहाऽन्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते (सुसू. २१.२७)

प्रकोपण–न., दोषान् प्रकोपयति इति प्रकोपणम्, वाय्वादीनां रूक्षत्वादिप्रकर्षेण दोषाणां कुपितत्वं कुर्वाणम् (चवि. ४.६; सुउ. २४.४)

प्रकोष्ठ–पु., शारीर० मणिबन्धोपरिष्टात् कूर्परपर्यन्तो हस्तभागः अयमायामतः षोडशाङ्गुलः परिणाहतश्च द्वादशाङ्गुलः (सुसू. ३५.१२)

प्रक्लिन्न–वि., आर्द्रम् (सुउ. ६४.६)

–काय–वि., कुथितशरीरः (कुष्ठिप्रभृतिः) (ड., सुउ. ६४.६१)

–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० क्लिन्नवर्त्म (सुउ. १२.५२)

प्रक्लिन्नात्मन्–वि., अतितराम् आर्द्रदेहः (सुशा. ३.७-८)

प्रक्लेदन–वि., आर्द्रभावकरः (द्रवगुणः) (सुसू. ४६.५२०)

प्रक्षारयत्–वि., स्थानाद् भ्रंशयत् क्षपयंश्च (चसू.१३.७१)

प्रक्षालन–न., उपक्रम० तोयादिभिः व्रणोत्संगादीनां क्षालनम् (सुसू. ७.१७)

प्रगण्टक–पु., कूर्परांसमध्यम् (रा.परि. १८.३१)

प्रगल्भ–वि., धृष्टः (ड. सुक. १.१०)

(प्रगल्भा)–स्त्री., प्रौढस्त्री, त्रिंशद्वर्षतः पञ्चाशद्वर्षपर्यन्तं वयोवती (र. ११.९६)

प्रगुण–वि., अनुगुणः, अनुकूलः (सुनि. ३.२७)

प्रगुणीकरण–न., (परिव०) अस्पष्टस्य स्पष्टतापादनम्, व्यक्तीकरणम् (चचि. २६.१७)

प्रगे–अव्य., प्रातः (असंसू. ३.४९)

प्रग्रह–पु., वनस्पति० आरग्वधः (चक्र. चसि. १०.३९) कर्णिकारः (ध. १.२२१) किरमालकः (सुक. ६.३)

प्रघर्ष–पु., उपक्रम० घर्षणम् (चसू. ३.२९)

प्रघर्षण–न., उपक्रम० चूर्णेन घर्षणम् (चसि. १२.१५ (५))

प्रचण्ड–पु., वनस्पति० श्वेतकरवीरः (र. २२.१६७)

(प्रचण्डा)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (रा. ८.२२९) द्र० ' दूर्वा '

प्रचरण–न., प्रचर्यते भक्ष्यते इति प्रचरणं, भिक्षामूलं तण्डुलादि (चक्र. चवि. ८.१४९)

प्रचल–वि., स्वस्थानात्मच्युतः (अहसू. १९.५१)

प्रचलक–पु., कीट० गुणाः–सौम्यः, श्लेष्मप्रकोपणत्वात् कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२-१५; असंउ.४३)

प्रचलाक–पु., पक्षि० मयूरः प्रचलति इतस्ततः पादन्यासं करोति नृत्यार्थमिति प्रचलाकः (सुचि. १८.२८)

प्रचलायन–न., घूर्णनम् (चचि. २४.४४)

प्रचीवल–पु., वनस्पति० मत्स्याक्षकः (ड. सुउ. ३४.३)

(प्रचीवला)–स्त्री., वनस्पति० काकजङ्घा (ध. ४.२३)

प्रच्छन–न., उपक्रम० (चसू. ११.५५) शस्त्रधारया अल्पच्छेदनम् (चचि. ७.४०)

प्रच्छर्दन–न., उपक्रम० वमनम् (अहसू. ५.५४)

प्रच्छादका–वि., सिरास्नाय्वाद्याच्छादनकरी (पेशी) (सुशा. ५.४०)

प्रच्छान–न., उपक्रम० क्षुरेण त्वगवच्छेदनम् (र. १२.७६-८१) शस्त्रपदकरणम् (सुचि. ९.१०)

प्रच्छाय–वि., प्रवृद्धच्छायः (देशः) (चचि. ९.१२)

प्रच्छित–वि., कृतशस्त्रपदम् (सुक. १.४९)

प्रच्छिन्न–वि., प्रकर्षेण च्छिन्नम्, छेदनाकारवेदनायुक्तत्वात् छेदनप्रकर्षोऽत्र (चइ. १०.१२)

प्रच्यवन -न., प्रस्रवणम् (र. १.६२-६३)

प्रच्युत–वि., स्थानात् च्युतम् (चसू. २६.४३) चलितः (सुचि. ३३.३७) स्वस्थानाद् भ्रष्टम् (सुसू. ४२.१०(२))

प्रजङ्घा–स्त्री., शारीर० जङ्घायाः अधोभागः (कासू. २८)

प्रजनन–न., शारीर० गुह्यप्रदेशः (सुसू. २३.५)

न., पुरुषस्य जननेन्द्रियम्, शेफः (कासू. २८)

–काल–पु., प्रसूतिकालः (चशा. ८.३६)

–कुशला–वि., लब्धगर्भायाः गर्भनिष्कासने कुशला (स्त्री) (सुशा. १०.८)

प्रजा–स्त्री., पुत्रपौत्रादयः (सुशा. १०.५३) अपत्यम् (चशा. २.२८)

–दा–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदा (रा. परि. ४.२७)

–पति–पु., दक्षः नृप० येन ब्रह्मण आयुर्वेदः अधीतः (सुसू. १.१०)

देवता० उपस्थस्याधिदैवतं प्रजापतिः (सुशा. १.७)

–सम्पद्–स्त्री., सम्भवदपत्यगुणप्रकर्षः (चशा. ८.२१)

–स्थापनगण–पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे एको गणः ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा-शिवाऽरिष्टावाट्यपुष्पीविष्वक्सेनकांता च (चसू. ४.१८)

प्रजागर–पु., अतिजागरणम् (चनि. १.२१) निद्रानाशरोगः चतुःषष्टिसूतिकारोगाणामेकतमः (काखिल. ११,७-१४)

प्रजागरूक–वि., अतिशयेन जागरणशीलः (सुशा.४.६४)
प्रजाता–स्त्री., प्रसूता, सम्यक्काले प्रसूता (स्त्री) (सुनि. ९.२६; चनि. १.२८; सुशा. १०.२२)
प्रजातमात्रा–वि., सद्यःप्रसूता (काखिल. ११.१८)
प्रजायिनी–स्त्री., अचिरेण प्रसवमाना (सुशा. १०.६)
प्रजावरण–न., प्रजारक्षकः बन्धविशेषः (का.रेवतीक. ८०)
प्रजिघांसु–वि., हन्तुमिच्छुः (चइ. १२.१२)
प्रजीर्ण–वि., लक्षण० विदग्धम् अन्नम् (चशा. १.१११)
प्रज्ञा–स्त्री., बुद्धिः (चसू. ७.५१) कालत्रयार्थप्रतिभासिनी कालत्रयात्मिका बुद्धिः (ड. सुसू. ३५.१६; र. २.३)
प्रज्ञापराध–पु., प्रज्ञाप्रमादजन्यं कर्म कायवाङ्मनोभेदेन त्रिविधमप्यहितं कर्म प्रज्ञापराधः (चनि. १.३)
"धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञाऽपराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम्" (चशा. १.१०२)
प्रणति–स्त्री., जनप्रह्वत्वलक्षणा लोकवन्द्यता (चचि. १.८)
प्रणयन–न., प्रीतिः (चशा. ४.१६)
प्रणव–पु., ॐकारः ब्रह्म ईश्वरो वा; प्रणूयतेऽनेनेति प्रणवः, 'सत्यवाचकः प्रणवः' इति योगसूत्रम् (सुसू. २.४)
प्रणाडी–स्त्री., नाडीयंत्र० नलिका (चक्र. चसि. ९.१०३)
प्रणाद–पु., कर्णरोग० कर्णक्ष्वेडः कर्णनादः (सुउ. २०.७)
प्रणिधान–न., सम्यक्स्थापनम् (सुचि. ६.४; सुचि. ३५.३२) औषधस्य स्थापनप्रवेशनादिना उपयोजनम् (सुसू. ७.१४)
–**मात्रा**–स्त्री., औषधप्रमाणम् यच्च निरूहबस्तौ प्रयोज्यम् (चसि. ३.५)
प्रणिपात–पु., नमस्कारः (चनि. ७.१६)
प्रणिहितस्नेह–वि., कृतस्नेहः प्रयुक्तानुवासनबस्तिः (सुचि. ३७.६०)
प्रतत–वि., प्रसृतः (चवि. ८.९८) विस्तीर्णम् (सुचि. ३८.३) विस्फारितम् (सुचि. २४.९६; अहसू. २.३९)
प्रतनुक–वि., प्रकर्षेण तनु अल्पतरम् (सुसू. १६.३)
प्रतप्तमांस–(परिव०) न., अजाजिमरिचप्रक्षेपपूर्वकमङ्गारादौ पक्वं पिशितम् (सुसू. ४६.३५६-५८)
प्रतमक–पु., रोग० तमकश्वासभेदः (मा. श्वासनि.)
–**श्वास**–पु., रोग० श्वासभेदः (चचि. १७.६३) ज्वरमूर्च्छायुक्तानि तथा तमकश्वासलक्षणानि तत्र भवन्ति द्र० 'श्वास'
प्रतमन–(परिव०) न., लक्षण० तमसि प्रविष्टवद् भानम् (सुउ. ५६.७)
प्रतर–पु., सन्धिप्रकार० ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतरः (सुशा. ५.२७; असंशा. ५.७७)
प्रतरण–न., नद्यादीनां बाहुभ्यां तरणम् (ड. सुचि. २४.९६) इदं वातप्रकोपणम् (सुसू. २१.१९)
प्रतान–पु., विस्तारः (सुशा. ४.८)
(**प्रताना**)–स्त्री., वनस्पति० गोजिह्वा (रा. ४.१८०)
प्रतानवत्–पु., वनस्पति० सोमभेदः (सुचि. २९.६) वि., विस्तारयुक्तः (सुनि. १६.६२)
(**प्रतानवती**)–स्त्री., स्नायुप्रकार० (सुशा. ५.३१) द्र० 'स्नायु'
प्रतानिका–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (ध. १.२८०) सारिवा (ध. १.१६१)
प्रतान्त–वि., लक्षण० अतिक्षीणः (चसू. १३.५५)
–**भोक्तृ**–वि., पौनःपुन्येन अतिशयेन वा भुंजानः (का. भोजनकल्प २८)
प्रताप–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२४)
श्वेतार्कः (रा. १०.३०)
स्वेदनम् (चसू. १८.५)
–**लङ्केश्वर**–पु., पारदयोग० सन्निपातादिघ्नः प्रत्येकं द्विपलयोः रसगन्धकयोः कज्जलीं कृत्वा तस्यां ताम्रभस्म गुग्गुलुमनःशिलाः प्रत्येकं त्रिपलमानं हरीतकीं कोलत्रयसंमितां षट्शाणं त्रिकटु, मधूकसारं वचारेणुकविडङ्गं मुस्तातालीसपत्रं नागकेशरमश्वगन्धां प्रत्येकं कर्षमात्रं, करञ्जबीजं वत्सनाभं चार्धकर्षं, भूधात्रीभङ्गाचूर्णमर्धकर्षं, समुद्रफलचूर्णं चार्धकर्षम् एकत्र अगस्त्यपत्रस्वरसेन त्रिकटुक्काथेन ज्वालामुखीरसेन भृङ्गराजरसेन च प्रत्येकं ससवारं मर्दयित्वा ततश्च पित्तपञ्चकेन पञ्चवारं मर्दयेत् करञ्जपत्रैर्वत्सनाभेन च धूपयेत्। अन्ततश्च पुनरार्द्रकस्वरसेनालोड्य तण्डुलाऽऽकारां गुटीं कुर्यात्। तामेतां मोहनेत्रप्रसुप्त्यादिलक्षणे सन्निपाते आर्द्रकस्वरसेन गुल्मे अजमोदासाहचर्येण वाते च्यूषणेन ग्रहण्यां च जीरकेण प्रयुञ्जीत (र. १२.१२१)
पु., पारदयोग० पारदगन्धकटङ्कणादिसिद्धोऽयं योगः विषादिकाख्यकुष्ठं हन्ति (र. २०.२७)
प्रतापन–पु., वनस्पति० राजार्कः (ध. ४.१६)
प्रताम्यत्–वि., प्रकर्षेण मूर्च्छन् (सुसू. ३३.१८)
प्रताम्यमान–वि., मूर्च्छन् (सुउ. ४४.३९)

प्रतिकर्मन्–न., चिकित्सा,यथा वमनादिकर्म (चशा. १.९०; चचि. १२.६)

(प्रतिकर्म)-प्रवृत्ति–स्त्री., चिकित्साप्रवृत्तिः (चइ. १२.५८)

प्रतिकष्ट–वि., कष्टप्रदः (कर्मजो व्याधिः) (सुउ. ४०.१६५)

प्रतिकार–पु., भेषजम्, प्रतिक्रियते चिकित्स्यते अवजीयते वा अनेनेति प्रतिकारो भेषजम् (चसू. २६.१०४; सुउ. २०.८)

प्रतिकूल–वि., निषिद्धम् (ड. सुउ. ६०.५५)

प्रतिक्षिपत्–वि., निष्कासयत् (सुउ. ६.२४)

प्रतिखुर–पु., मूढगर्भप्रकारेष्वेकः, निःसृतहस्तपादशिराः-कायसङ्गी प्रतिखुरः (सुनि. ८.४)

प्रतिगन्धा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)

प्रतिग्रह–पु., प्रतिगृह्णाति निष्ठीवनादिकमिति प्रतिग्रहः पात्र० (चसू. १५.७)

प्रतिग्रहण–न., (परिव०) आलेपनम् (सुचि. ७.३५)

प्रतिच्छाया–स्त्री., पुरुषाकृतिस्वरूपाऽऽतपे जले आदर्शे वा दृश्यमाना छायैव प्रतिच्छाया (चइ. ७.९)

–मयी–स्त्री., प्रतिच्छायारूपा (चइ. ७.३)

प्रतिज्ञा–स्त्री., तंत्रयुक्ति० प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं यथा "नित्यः पुरुषः" इति (चवि. ८.३०) साधनीयस्य अर्थस्य धर्मस्य वा यो निर्देशः स प्रतिज्ञा; साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा। (गौ. १।१।३३) अत्र वात्स्यायनः–प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य निश्चयात्मकं विधानम् (चसू. ३०.१८)

निश्चयात्मकं विधानम् (चसू. ३०.१८)

–हानि–स्त्री., तंत्रयुक्ति० प्रतिज्ञातार्थच्युतिः यथा प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः, स्वपक्षे परपक्षधर्माभ्यनुज्ञा, स्वयं विशिष्य अभिहित-परित्यागः 'कथायां यच्च पक्षादि येन निर्दिष्टमादितः। तस्य तेन पुनस्त्यागः प्रतिज्ञाहानिरुच्यते' इति (तार्किकरक्षायां ३.१३४)

प्रतिजागृवि–वि., दत्तावधानः (अहसू. ७.१)

प्रतिज्वर–अ., प्रतिविकारम् (अहसू. १२.६२)

प्रतितन्त्रसिद्धान्त–पु., तंत्रयुक्ति० एकस्मिन् तन्त्रे नामशास्त्रेण प्रसिद्धः सिद्धान्तः (चवि. ८.३७)

प्रतितर–पु., प्रविष्टजलोत्क्षेपकः, नाविकः, नौकावाहकः (सुसू. ३४.१९)

प्रतितूनी–स्त्री., रोग० स्वरूपम्–गुदोपस्थोत्थिता प्रति-लोमविसर्पिणी वेदना वेगैः पक्वाशयं याति (सुनि. १.८७)

प्रतिधूप–पु., आघ्रातधूपो येन धूपेन पुनर्धूप्यते तादृशो धूपः (काधूमकल्प.)

प्रतिनिविष्टपरिषद्–स्त्री., परिषद्० स्वसौहार्दाभावेन निविष्टाः सभ्या यत्र सा (चवि. ८.२०)

प्रतिपक्षशीलन–न., विपरीतगुणाभ्यासः यथा सप्त-विधानां सद्यगर्भजातपीडाद्युद्भवानां रोगाणामुप-शमार्थं यथास्वं विपरीतगुणाभ्यासः (असंसू. २२)

प्रतिपत्ति–स्त्री., तंत्रयुक्ति० प्रतिपत्तिर्नाम यो यथा विकारः प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम् (चवि. ८.१३२)

ज्ञानम् (चसू. ७.५५)

उत्पन्नायाम् आपदि झटिति कर्तव्यकरणम् ((चक्र.) चवि. ८.८६)

शास्त्रम् (चवि. ८.४)

–ज्ञ–वि., तदात्वे तत्कालं कर्तव्यज्ञः (चसू. १९.७)

प्रतिपत्रफला–स्त्री., वनस्पति० कुडुहुच्ची (रा. ७.२८०)

प्रतिपद्–स्त्री., प्रतिपत्तिः, बुद्धिः, धारणा (अहसू. २.३०)

प्रतिपन्न–वि., प्राप्तम् (सुचि. ७.३५)

–परिग्रह–वि., पाल्यत्वेन स्वीकृतम् (अहसू. ८.३७)

प्रतिपर्णी–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४७)

प्रतिपीत–वि., मात्रया पीतवान् (सुसू. १४.३१)

प्रतिपूरण–न., शून्यभूतस्य पुनः पूरणम् (सुचि. २४.२६)

प्रतिप्रसव–पु., सामान्यतो निषेधेऽपि विशेषार्थं निषि-द्धस्य पुनर्विधानम् (ड. सुचि. ५.३९) यथा ऊरु-स्तम्भे स्नेहादेर्निषेधेऽपि कफमेदसोः क्षये स्नेहादेस्तत्र विधानं क्रियते।

प्रतिबाधक–वि., प्रतिकारकः (चचि. ८.१२४)

प्रतिबुद्धतर–वि., अधिकतरं प्रबुद्धम् (सुशा. ३.३०)

प्रतिबोधन–न., जागृतिः (सुशा. १०.४६)

उन्मेष (ड. सुउ. ६.२६)

प्रतिभा–स्त्री., प्रज्ञा (चसू. २७.३४९; अहसू. ५.६३)

प्रतिभान–न., नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः।

प्रतिभान (चवि. ८.१८)

प्रतिभू–पु., लग्नकः, प्रतिनिधिः प्रतिरूपः (सुचि. २४.१०१)

प्रतिभोग–पु., उपभोगः (चसू. १५.३)

प्रतिभोजन–न., अनन्तरभोजनम् (चसि. ३.७०)

प्रतिमर्श–पु., नस्य० तत्प्रमाणम् द्विबिन्दुकः (सुचि. ४०.५३) नित्यसेवने हितः (चचि. २६.२७७; अहसू. २०.३२)

तत्सेवनकालः- तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन गृहान्निर्गच्छता, व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते, भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन, सायं चेति चतुर्दशकालेषु प्रतिमर्श उपादेयः (सुचि. ४०.५१)

गुणाः—तल्पोत्थितेनाऽऽसेवितः प्रतिमर्शः रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति। प्रक्षालितदन्तेनाऽऽसेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चाऽऽपादयति। गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजसा धूमेन वा न बाध्यते। व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनाऽऽसेवितः श्रममुपहन्ति। मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति। कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति। भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चाऽऽपादयति वान्तेनाऽऽसेवितः स्रोतो-विलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताऽऽकाङ्क्षामापादयति, दिवास्वप्नोत्थितेनाऽऽसेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चाऽपोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति, सायं चाऽऽसेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति (सुचि. ४०.५२) द्र० 'नस्य'। सोऽयं प्रतिमर्शः क्षामक्षततृष्णामुखशोषवृद्धबालभीरुसुकुमारेषु अपि अकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्यः (असंसू. २९)

उपक्रम० अङ्गुल्यादिघर्षणम्, अनवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदशोपायेष्वेकः (सुसू. २७.४)

प्रतिमार्ग–अ., मार्गविरुद्धम् (चनि. २.१९)

प्रतिमेष–पु., योग० ब्राह्मीपलाशपित्तलादिसाधितोऽयं वल्मीकनाशी (र. २५.६१-६५)

प्रतिरूपक–पु., अन्यथारूपकारी, प्रतिरूपेण ब्रह्मचार्यादिवेशेन चरतीति प्रतिरूपकः (चसू. २९.८)

प्रतिलोम–वि., विपरीतम् यथा सर्वशल्याहरणं शल्यप्रवेशमार्गेणैव क्रियते (सुसू. २७.६)

विमार्गगम् (चसू. ५.४८)

लोमाभिमुखम् (सुसू. १८.४)

-ग–वि., विपरीतमार्गगतः (चइ. ७.२०)

प्रतिवचनविधि–पु., उत्तरप्रदानप्रकारः (चवि. ८.८२)

प्रतिवत्सत्–वि., प्रवस्तुमुद्यतः, प्रविवत्सन्नाम प्रवस्तुम् इतो निर्गन्तुमिच्छन् (चइ. १२.४३)

प्रतिवाक्य–न., प्रतिवादिनो वचनम् (चवि. ८.६७)

प्रतिवात–पु., अभिमुखो वातः (सुचि. २४.९६)

प्रतिवाद–पु., प्रतिपक्षः (चसू. २५.२७)

प्रतिवाप–पु., प्रक्षेपद्रव्यम् (सुचि. ४.२९)

प्रक्षेपः (र. २.१७२-७३)

प्रतिवापक-पु., प्रक्षेपः (र. २.१७२-७३)

प्रतिविशेष–पु., प्रतिनियतो विशेषः, वैशिष्ट्यम् (चचि. ४.४)

प्रतिविष–न., विजातीयं विषम्, यथा स्थावरस्य जङ्गमं, जङ्गमस्य स्थावरं विषम् (इन्दु, असंउ. ४८.३७५)

(प्रतिविषा)–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (चचि. १९.२२) अतिविषाभेदः, श्यामकन्दा (सुउ. ४०.३७; असंसू. ८.७८; ध. १.१०; र. १६.४५)

प्रतिश्या–स्त्री., रोग० प्रतिश्यायः (चसू. १७.१३)

प्रतिश्याय–पु., रोग० नासिकातः श्लेष्मस्रवणम् (चनि. ६.१३) वातं प्रत्यभिमुखं श्यायो गमनम्, कफादीनां यस्मिन्, स प्रतिश्यायः (ड., सुउ. २४.१) अतिस्त्रीसङ्गात् शिरःप्रतपनात् नासाप्रविष्टधूमरजोनिचयात् मूत्रादिसंधारणात् प्रतिश्यायः सद्यः समुत्पद्यते (सुउ. २४.३) तस्य पूर्वरूपाणि–शिरोगुरुत्वं छिक्काप्रवृत्तिरङ्गमर्दउद्धर्षितरोमाञ्चत्वं ज्वरारोचकादय उपद्रवा भवन्ति (सुउ. २४.५) स पञ्चविधः —वातिकप्रतिश्यायलक्षणम्–नासाऽऽध्माता पूरिता च भवति। अल्प सिङ्घाणस्रावः। गलताल्वादीनां शोषः। शङ्खनामकास्थिविशेषयोस्तोदः स्वरस्यालपप्रतिरोधः स्वरविकृतिर्वा। चिह्नान्येतानि वातप्रतिश्याये भवन्ति (सुउ.२४.६-७) पैत्तिकप्रतिश्यायलक्षणम्–घ्राणादीषत्पीतोष्णश्च स्रावो भवति।

पैत्तिकप्रतिश्यायार्दितो नरः कृशः पाण्डुस्तृट्पीडितसंतप्तश्च भवति। अकस्माद्धूमयुतवह्निवमनं नासातो मन्यते पित्तप्रतिश्यायी (सुउ. २४.७) कफकृतप्रतिश्यायलक्षणम्–व्याधावस्मिन् घ्राणाच्छुक्लः शीतः कफो वारं वारं स्रवति। नरः शुक्लवदवभासते। अक्ष्णोः शोफः शिरोमुखयोर्गुरुत्वं च भवति। शिरोगलादिष्वतीव कण्डूः अनुभूयते (सुउ. २४.९) रक्तजप्रतिश्यायलक्षणम्–अस्मिन् व्याधौ रक्तसुतिस्ताम्राक्षत्वमुरोघातपीडोच्छ्वासवदनयोर्दुर्गन्धित्वं गन्धज्ञानाऽभावः कृष्णश्वेतादिकृमिवत्त्वमित्यादीनि चिह्नानि भवन्ति। कृमिजन्यशिरोरोगसमानचिह्नोऽयं व्याधिः (सुउ. २४.१२) सान्निपातिकप्रतिश्यायलक्षणम्–त्रिदोषजे प्रतिश्याये वातादिजानां प्रतिश्यायानां पीनसानां च चिह्नानि भवन्ति। व्याधिरेषः कारणाद्विना भवति; विना कारणं विनिवर्तते

च। सांनिपातिकप्रतिश्यायोऽसाध्यो, विदेहोक्तत्वात् (सुउ. २४.११) प्रतिश्यायचिकित्सा–नवे प्रतिश्याये केवलसर्पिषः पानमपच्यमाने स्वेदः, पक्के घने नस्यं विरेचनधूमपानादि कवलग्रहाश्च, किं च 'निवात-शय्यासनचेष्टनानि मूर्ध्नो गुरूष्णं च तथैव वासः। तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या॥' (सुउ. २४.२१)

प्रतिषेध–पु., प्रतिषिध्यते प्रतिक्रियते इति प्रतिषेधः प्रतिकारः, चिकित्सितम् (ड. सुउ. ९.१)
निवृत्तिः (सुचि. २७.११)

प्रतिषेधन–न., तंत्रयुक्ति० अपदेशादिभिस्तन्त्रयुक्तिभिः परपक्षदूषणम् (ड. सुउ. ६५.५)

प्रतिष्ठा–स्त्री., कार्यकरणाऽविरोधेनाऽवस्थानम् (चसू. ३०.५)

प्रतिष्ठापना–स्त्री., तंत्रयुक्ति० परप्रतिज्ञाया विपरीतार्थ-स्थापना, यथा–नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञायाम-नित्यः पुरुष इति प्रतिष्ठापना (चवि. ८.३२)

प्रतिष्ठित–वि., अवस्थितम् (सुचि. २.५०)

प्रतिसंसर्ग–(परिव०) पु., आवापः कल्पादिषु द्रव्यप्रक्षेपः (सुचि. ६.९)

प्रतिसंसृष्टभोजन–(परिव०) न., यवाग्वादिक्रमेण भोजनम् (सुचि. ६.१८)

प्रतिसंस्कृत–वि., पुनः संस्कारितम् (चसू. १) समाप्तिसूत्रम्.

प्रतिसर–पु., माला (का. रेवती क. ८)

(प्रतिसरा)–स्त्री., कार्पाससूत्रवेणिका (इन्दुः असंउ. ४)

प्रतिसारण–न., उपक्रम० घर्षणम्, तच्च चतुर्विधम्–कल्को, रसक्रिया, क्षौद्रं, चूर्णं च, वाग्भटमते प्रति-सारणं त्रिविधम्, प्रतिसारणमङ्गुल्यग्रप्रणीतं कुर्वीत (सुचि. ४०.६९-७०; अहसू. २२.१३)
(परिव०) अवचूर्णनम् (चचि. १९.५०)
(परिव०) लेपः (सुचि. ३.१५)
व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)

प्रतिसारणीयक्षार–पु., कल्प० क्षारभेदः स त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च (ड. सुसू. ११.११) द्र० 'क्षार'

प्रतिसूर्यक–पु., सविषकीट० सरटः, पञ्चगोधैरकेष्वेकः, तेन दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः, एतद्दष्टे सर्पदष्टवच्चिकित्सितं कार्यम् (सुक. ८.२८)

प्रतिसोमा–स्त्री., वनस्पति० सौम्या (रा. परि. ३.३१)

प्रतिस्रोतस्–न., विरुद्धदिक्को जलप्रवाहः (चचि. २७.५९)
अ., प्रवाहविरुद्धम् (चचि. २७.५९)

प्रतिहास–पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.१)

प्रतीकार–पु., चिकित्साप्रयोज्यं रोगस्य शमनम् (चसू. १५.३; सुउ. १७.३; अहसू. १३.३६)
–गौरव–न., चिकित्साकाठिन्यम् (चवि. ३.४)

प्रतीकारतस्–अव्य., चिकित्सानुसारम् (सुचि. २३.३)

प्रतीघातभेद–पु., प्रत्याघातः (असंनि. ३)

प्रतीनाह–पु., कर्णरोग० पित्तौष्ण्येन शोषितः कर्णगतः श्लेष्मा गूथकं जनयति, स च गूथको द्रवतां गत्वा यदा घ्राणमुखमायाति शिरसश्चाभितपनं करोति, तदा प्रतीनाह इत्युच्यते (सुउ. २०.१२; र.२४.१)
नासारोग० तल्लक्षणम्–सवातः कफ उच्छ्वासमार्गं निरुणद्धि (चचि. २६.११२)

प्रतीप–वि., प्रतीपं सात्म्यविपरीतमिति गङ्गाधरः (चचि. २०.१८; असंशा. १२)
–ता–स्त्री., प्रतिकूलता, वैपरीत्यम् (चइ. १२.५९; असंशा. १०)
–दन्त–(परिव०) पु., वक्त्रो दन्तः (कासू. २०.८)

प्रतीवाप–पु., क्वाथादौ द्रव्याणां निक्षेपणम् (सुचि. ३७.२१)
कल्कः (सुचि. २३.११; र. ८.५४)

प्रतुद–पु., पक्षिगण० (चचि. १८.१८५) प्रतुद्याभिहत्य भक्षयतीति प्रतुदः, ते च कपोतपारावतभृङ्गराजपर-भृतकोयष्टिककुलिङ्गगृहकुलिङ्गगोक्ष्वेडकडिण्डिमाण-वकशतपत्रकमातृनिन्दकभेदाशिशुकसारिकावल्गुली-गिरिशालट्टाल षकसुगृहाखञ्जरीटहारीतदात्यूहप्रभृ-तयः (सुसू. ४६.६७) गुणाः– मधुराः कषायाः शीता मरुत्कराः पित्तश्लेष्महरा बद्धमूत्राल्पवर्चसः (सुसू. ४६.६८)

प्रतूणी–स्त्री., रोग० प्रतितूनी (सुसू. ४६.३७३)

प्रतूनी–स्त्री., वातव्याधि० प्रतितूनी 'गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी। वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा मता' (सुचि. ५.२५; असंनि. ११.५०; अहसू. ६.३३; र. १८.११६-१७)

प्रतोली–स्त्री., व्रणबन्ध० चतुर्दशबन्धविशेषाणामन्यतमः अयं ग्रीवामेढ्योर्विधेयः (सुसू. १८.१७-१८)
द्र० 'मुतोली'

प्रत्यक्पर्णी–स्त्री., वनस्पति० मूषिकपर्णी (चक्र. चक .११.१४)

प्रत्यक्पुष्पा–स्त्री., वनस्पती० अपामार्गः (सुसू. ४३.३; चसू. १.८२-८५)

इयं शिरोविरेचनानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०)

प्रत्यक्पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६०; चक. १.१४; र. २९.११२; असंसू. १३.३; अहसू. १५.२८)

प्रत्यक्श्रेणी–स्त्री., वनस्पति० मूषिकपर्णी (रा. परि. ३.२२)

सुतश्रेणी (रा. परि. ४.१६)
दन्तीपर्यायः (चक. १२.३)
द्रवन्ती (ध. १.२२९)

प्रत्यक्ष–न., प्रमाण० मनसेन्द्रियैश्च चक्षुरादिभिर्यज्ज्ञानमुपलभ्यते तत् (चवि. ८.३९; सुसू. १.१६) आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्तदात्वे या व्यक्ता बुद्धिः प्रवर्तते, सा प्रत्यक्षं निरुच्यते (चसू. ११.२०) इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, (तर्क०सं) अक्षम् अक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् इति प्रशस्तपादः । तद्विषयाः–प्रत्यक्षप्रमाणेन ज्ञाता घटपटादयः (चसू. ११.७)

–लक्षणफल–वि., प्रत्यक्षार्हलक्षणफलवती (औषधिः) (सुसू. ४०.२०)

प्रत्यग्र–वि., नवम् (सुचि. २४.५; चचि. २८.१२९)

–धातु–वि., विशुद्धधातुः प्रत्यग्रत्वेन आप्यायितधातुः (सुचि. १५.३८; अहसू. १६.४६; असंसू. २५.५)

प्रत्यङ्ग–न., अङ्गाऽवयवः (चशा. ७.११; सुचि. ३.२२; असंशा. ५.३) अवयवं अवयवं प्रति योऽवयवः तत्प्रत्यङ्गमुच्यते (अरु. अहशा. ३.१) षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गानि (चशा. ७.११)

प्रत्यञ्जन–न., उपक्रम० पश्चात् प्रशान्तदोषे यदञ्जनं क्रियते तत्प्रत्यञ्जनम्, तीक्ष्णाञ्जनदुर्बलस्य नयनस्य प्रत्याश्वासनार्थम्, यथा–कांस्यमलादिप्रत्यञ्जनम्, (सुउ. १२.५०-५१; अहसू. २३.३०½; असंसू. ३२.८)

प्रत्यनीक–वि., विरुद्धम् (सुसू. ४२.८)

प्रत्यनुयोग–पु., तंत्रयुक्ति० उपप्रश्नः, ' नित्यः पुरुषः ' इति प्रतिज्ञाते यत् परः ' को हेतुः ' इत्याह, सोऽनुयोगः, अनुयोगस्यानुयोगः प्रत्यनुयोगः, यथा अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति (चवि. ८.५३)

प्रत्यय–पु., कारणम् (चशा. १.१०५) निदानम् (चनि. १.३)

पारदयोग० स्वर्णरजततात्रस्रोतोऽञ्जनपारदगन्धकाभ्रकमेलनाजातोऽयम् उन्मादाऽपस्मारौ नाशयेत् (र. २३.२५-२६)

–भूत–वि., कारणभूतम् (चसू. ८.४)

प्रत्यर–न., जन्मतः पञ्चमं नक्षत्रम् (असंनि. १.२१)

प्रत्यर्थन–(परिव०) न., अभ्यर्थना, याचना (सुउ. ६०.२४)

प्रत्यवायकर–वि., ह्रासकरम् (चशा. ६.५)

प्रत्यष्ठीला–स्त्री., रोग० नाभेरधस्ताज्जायमानः संचारी चलहीनो वा ग्रन्थिर्वाताष्ठीला सैव जठरे तिर्यगुत्थिता वेदनायुक्ता वातविण्मूत्राण्यवरुणद्धि इति प्रत्यष्ठीला (सुनि. १.९१; असंनि. ११.४९; र. १८.२०७-२०९)

प्रत्याख्यान–(परिव०) न. परित्यागः, वर्जनम् (सुसू. २४.११)

प्रत्याख्येय–वि., असाध्यो रोगो रोगी वा (चचि. १३.७४; चवि. ८.३४)

प्रत्याख्येयता–स्त्री., असाध्यता (सुसू. ४.५)

प्रत्यागत–वि., बहिरागतम् (चसि. १.२३)

व्याघुटितम्, पतितम् (ड. सुउ. ५४.२३)
पुनः प्राप्तम्, पुनराविर्भूतम् (असंउ. १)

प्रत्यातप–अ., आतपाभिमुखम् (अत्र आतपाभिमुख्यमेव स्वारसिकोऽर्थः प्रत्येयः (सुचि. २४.९६)

प्रत्यादित्यम्–अव्य., आदित्याभिमुखम् (असंसू. ३६.११)

–गुद–वि., प्रत्यादित्यम् आदित्याभि-(प्रत्यादित्य) मुख गुदं यस्य, तादृशः (आतुरः) (सुचि. ६.४)

–मुख–वि., आदित्याभिमुखवंदनः (सुशा. ८.८)

प्रत्याध्मान–रोग० तस्य लक्षणम्, आमाशयोत्थितमाध्मानमेव विमुक्तपार्श्वहृदयं कफव्याकुलितानिलं सत् प्रत्याध्मानं ज्ञेयम् (सुनि. १.८९) तच्चिकित्साछर्दनमपतर्पणं दीपनानि च कर्तव्यानि (सुचि. ५.२६)

प्रत्यास्थापन–न., उपक्रम० आस्थापनं लक्ष्यीकृत्य दीयमानं बस्त्यौषधम् (चक. चसि. ८.१५)

प्रत्युत्पन्न–वि., तत्कालभवम् (असंसू. २२.११४)

–मति–वि., तदात्वे जायमाना अवस्थास्वपि अमुह्यमाना मतिर्बुद्धिर्यस्य, सः (वैद्यः) (सुसू. ३४.१९-२०)

प्रत्युत्सार–पु., तन्त्रयुक्ति० उत्सारो निवारणम्, प्रत्युत्सारः उपपत्त्या परमतनिवारणम् (चसि. १२.४५)

प्रत्युपस्थितमूत्र–पु., लक्षण० संजातमूत्रवेगः (ड.) एतादृशमूत्रविधारणान्मूत्राघातः । मूत्रविधारणपूर्वकं मिथुनप्रसङ्गान्मूत्रशुक्राख्यो व्याधिविशेषो जायते (सुउ. ५८.२०)

प्रत्युषस्–न., प्रभातम् (सुसू. ६.१४)

प्रत्येकमर्मनिर्देश–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुशा. ६.१)

प्रथम–वि., आदिमः (सुसू. ४४.३५)

–गर्भिणी–वि., या स्त्री प्रथमतो गर्भिणी, सा (का. रेवतीकल्प. ८)

–यवपत्रमुखी–स्त्री., एषणीशस्त्र० (सुसू. ८.११) द्र० ' शस्त्र '

प्रदक्षिणाचारा–वि., अनुकूलाचारा प्रदक्षिणा दाक्षिण्येन नाम परच्छन्दानुवर्तनेन युक्ता आचारा यस्याः सा (चचि. ३.२६५)

प्रदक्षिणावर्ता–वि., दक्षिणदिक्का आवर्ता यस्याम् अथवा दक्षिणदिगभिमुखावर्तयुक्ता (नाभिः) (चशा. ८.५१)

प्रदक्षिणोदक–वि., प्रदक्षिणमिति परितः जलं यस्य सः (देशः) (चक. १.९)

प्रदर–पु., स्त्रीरोग० (चसू. १.१११) रक्तप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.११) योनिगतस्रावस्वरूपः (चसू. १८.६) ' रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन वै स्मृतः ' (चचि. ३०.२०९) शुद्धार्तवस्य दुष्टार्तवस्य वाऽतिप्रमाणा प्रवृत्तिः (सुशा. २.१८) तस्य संप्राप्तिः–प्रकुपितो वायू रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा गर्भाशयगता रजोवहाः सिराः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजो यस्मादाशु विवर्धयति, रसभावात् तस्य प्रमाणाधिक्यं करोति, तं रोगं प्रदरमिति प्राहुः (चचि. ३०.२०६-८) स चतुर्विधः वातपित्तकफसंनिपातभेदात् (मा.) तद्रूपाणि–सामान्यरूपाणि–सशूलः, साङ्गमर्दो रक्तातिस्रावः; तत्र वातजप्रदरे स्रुतमसृक् रूक्षारुणम्, फेनिलमल्पं, सशूलं, पिशितोदकाभम् (मा.) कटिवंक्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिपीडा (चचि. ३.२१२) पित्तजे च सपीतनीलासितरक्तमुष्णं, भृशवेगि, पित्तार्तियुक्तम्; कफजलक्षणानि –आमं सपिच्छाप्रतिमं, सपाण्डु, पुलाकतोयप्रतिमम्; सांनिपातिकप्रदरलक्षणानि–सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्ण, मज्जप्रकाशं, कुणपम् (मा.) तदुपद्रवाः–दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा, मदस्तृषा, दाहः, प्रलापः, पाण्डुत्वं, तन्द्रा, वातरोगाश्च (सुशा. २.१९-२०) असाध्यलक्षणानि–अतिक्लिष्टायाः प्रक्षीणशोणिताया नार्याः सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धो वायुः प्रत्यनीकबलं, दुर्गन्धं, पिच्छिलं, पीतं, पित्ततेजोविदग्धं कफं रक्तमार्गेण सृजति । तथा च वसां मेदश्चाप्यपत्यमार्गेण सृजति । एवं सर्पिर्मज्जवसोपमं स्रावं स्रवन्त्याः तृष्णादाहज्वरान्वितायाः, क्षीणरक्ताया दुर्बलायाश्वासाध्यः प्रदरः (चचि. ३०.२२१-२४) तच्चिकित्सासूत्रम्–रक्तपित्तवद् अस्मिन् चिकित्सा कार्या (सुउ. ४५.४४)

प्रदाक्षिण्य––न., आनुकूल्यम् (चसू. १५.७)

प्रदिग्ध–वि., शूलिकाप्रोतमङ्गारपाचितम् (सुसू. ४६.३५६)

अनुलिप्तः (अहसू. ३.११)

प्रदूषक–वि., विकृतिकारकः (असंशा. ६)

प्रदूषण–वि., प्रदूषयति विकृतिं जनयति इति प्रदूषणः विकृतिकारकः (अहसू. ६.११०)

प्रदेश–पु., स्थानम् (सुचि. २७.५) (चक. १२.४९)

तन्त्रयुक्ति० प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशो यथा ' देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यति ' इति (सुउ. ६५.१६) यद् बहुत्वादर्थस्य कात्स्न्र्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते (चसि. १२.४२)

प्रदेशिनी–स्त्री., शारीर० प्रदेशनी (सुचि. ३०.५; चचि. ३०.७३)

प्रदेह–पु., लेपः (चसू. ११.५५) प्रलेपः (सुक. ५.३८) प्रदेहः सामान्येन बहलोऽबहलश्च लेप इति गृह्यते (चक्र. चचि. ३.१७४) तस्य गुणाः– वातश्लेष्मप्रशमनः, संधानः, शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च भवति (सुसू. १८.६) शीत उष्णो बहलोऽबहुरविशोषी च, व्रणशोफे पीडनार्थमुपयुज्यमानः (सुसू. १८.६) प्रदेहं रात्रौ न प्रयुञ्जीत । शैत्यपिहितस्योष्मणो बहिः निस्सरणाभावाद् विकारपरिवृद्धिः स्यात् (असंउ. ३०) द्र० ' लेप '

पाकेन घनीभूतो रसः (ड. सुउ. ४०.१४९)

–स्वेद–पु., प्रलेपस्वेदः (कासू. २३.३४)

प्रदोष–पु., रात्रिप्रथमप्रहरार्धम् (ड. सुउ. ६४.१६; सुसू. ६.१४) अस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयं त्रयं वेति धर्मशास्त्रे; ' प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते ' इति तिथ्यादितत्त्वम् ।

प्रद्रव–वि.,प्रकृष्टद्रवम्,(ड.)यथा प्रद्रवं द्रव्यं यवागूयूषादि (सुउ. ४०.२७)

प्रद्वेष–पु., अप्रीतिः (चनि. १.३३)

प्रधमन–न., धमनम् । उपक्रम० (चनि. ७.८) नस्यभेदः, चूर्णस्य मुखेन नाड्या वा प्रध्मापनात् प्रधमनम् (सुचि. ४०.२१) द्र० 'नस्य'

–नस्य–न., उपक्रम० नस्यभेदः (असंसू. २९)

प्रधर्षण–न., तिरस्कारः (चसू. ११.३७)

प्रधान–न., आत्मा (चशा. ४.८; चशा. ७.१८) शरीरादि–प्रेरकं चेतनमित्यात्मा (चशा. ७.१६) प्रकृतिः, मूलप्रकृतिः (ड. सुशा. १.८)

–कर्मन्–न., व्रणसम्बन्धिनी प्रधानचिकित्सा (सुसू. ५.३)

–मर्मन्–न., मर्म० हृदयम् (ड. सुचि. ३४.१९)

–संश्रय–वि., प्रधानमात्मैव संश्रयः यस्य तादृशः नाम आत्मसंश्रितः (भावः) (चशा. ४.१४)

प्रध्यान–न., प्रसंख्यानम्, प्रकृष्टं सञ्जातं वा ध्यानम् (चसू. २४.३२)

–शील–वि., लक्षण० चिन्तापरः (ड. सुउ. ४१.१८)

प्रनष्टमेहन–वि., अन्तराकृष्टलिङ्गः (सुसू. ३२.४)

प्रनष्टशल्यविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० प्रनष्टशल्यविज्ञानमधिकृत्य कृतः (सुसू. २६.१)

प्रनाडी–स्त्री., नाडी, नलिका (अहसू. २०.१९)

प्रपचन–न., पाकः (चवि. ८.३६)

प्रपथ्या–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)

प्रपद–न., शारीर० पादाग्रम् (चसि. २.१६) तन्मानतः चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलविस्तृतं च (सुसू. ३५.१२)

–शूल–पु., लक्षण० प्रपदस्य शूलः (चसि. २.१६)

–शोष–पु., लक्षण० प्रपदस्य शुष्कता (चसि. २.१६)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० प्रपदस्य स्तम्भः (चसि. २.१६)

प्रपल्लव–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७१)

प्रपाक–पु., प्रथमपाकः 'चशब्द आदिकर्मणि' इति चक्रपाणिटीकानुसारेण पाकस्य प्राथम्यं ज्ञेयम् (चचि. १५.९)

प्रपाणि–पु., शारीर० कफोण्यधस्तनः पञ्चदशाङ्गुलो हस्तभागः (चवि. ८.११७)

प्रपाणिक–पु., शारीर० प्रपाणिः (असंशा. १०.१५)

प्रपात–पु., प्रकर्षेण पातः पतनम् अस्माज्जायते तादृशं गिरिकन्दरादिसम्बन्धि भ्रंशस्थानम् (चवि. ३.३६) निर्झरपतनम् (सुचि. २४.९१) नदीतटादिः (ड. सुक. ५.५५)

प्रपान–न., पानमेव पानक्रिया (चचि. २४.७५)

प्रपीडन–न., उपक्रम० पीडनम् (सुसू. ३७.११)

प्रपीत–वि., भावितम् (सुउ. ५४.२९)

प्रपुण्डरीक–न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् अनेन त्रयोदशविषाणामन्यतमेन अक्ष्णो रक्तत्वमुदरे च वृद्धिर्जायते (सुक. २.१६)

प्रपुनाट–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (असंसू. ७.१३९-१४३)

प्रपुनाड–न., वनस्पति० शाकभेदः चक्रमर्दः (चसू. ३.१३; सुसू. ३९.३)

प्रपुन्नाट–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.४)

प्रपुन्नाड–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.५)

प्रपूरण–न., संभरणद्रव्यम् (सुउ. २१.१३-१४)

प्रपौण्डरीक–न.. वनस्पति० पुण्डरीकम् (चसू. ३.२६) कमलभेदः (चसू. ५.६४) तद्गुणाः–मधुरं, तिक्तं, कषायं, शीतं चक्षुष्यं, पित्तघ्नं, रक्तपित्तव्रणज्वरदाहतृषानाशकम् (ध. ३.९२) कन्दविष० (सुक. २.५-१६) द्र० 'कन्दविष' स्वनामख्यातं यष्टिमधुद्रव्यादीषत्स्थूलं मधुररसं नेत्राऽऽश्रोतनार्हं द्रव्यम् (सुसू. ३८.३५) श्वेतपुष्पम् (सुसू. ३८.३५)

प्रबन्ध–पु., बन्धनम्, प्रकर्षेण गतिरोधः (हाराणचन्द्रः) (सुशा. १०.९)

प्रबला–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (रा. ५.४३५)

प्रबाहु–पु., शारीर० अंसादर्वाक्फोणिपर्यन्तो भागः, अयं प्रमाणतः षोडशाङ्गुलः (चवि. ८.११७)

प्रबोध–पु., अर्थः प्रबुध्यते ज्ञायते इति प्रबोधः ज्ञेयार्थः (सुउ. ६५.७)

प्रबाधनी–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२०)

प्रभद्र–पु., वनस्पति० निम्बः (ध. १.२९)

(प्रभद्रा)–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (रा. ५.४३५)

प्रभव–पु., आत्मा (चशा. ४.८) कारणम्, प्रभवति जायते अस्मात् इति प्रभवः कारणं हेतुर्वा (चशा. १.३)

प्रभा–स्त्री., वर्णदीप्तिः, शरीरकान्तिस्तेजः, तस्याः संख्या–सा सप्तविधा–रक्ता, पीता, सिता, श्यावा, हरिता, पाण्डुराऽसितेति (चइ. ७.१४-१५) प्रभा तु वर्णं प्रकाशयति परं विप्रकर्षाद् दूरत्वात् तेजः प्रभा एव इति लक्ष्यते (असंशा. ९.८)

–युक्ता–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२८)

–वती–स्त्री., पारदयोग० पारदसुवर्णाभ्रकहरितालतीक्ष्णलोहमाक्षिकादिसाधितेयम् अपस्मारगुल्मशूलादिनाशिनी (र. २१.१३९-४१)

–हानि–स्त्री., लक्षण० तेजोहानिः (अहसू. ११.१६)

प्रभाव–पु., स्वभावः, सामर्थ्यम् (चक. १.६) प्रकृष्टो भावः प्रभावः, शक्तिः (चवि. १.४) ययोर्द्रव्ययोः रसवीर्यविपाकानां समानत्वमस्ति, कर्मणां च विशेषो लक्ष्यते तत्र विशेषकर्मकारी द्रव्यनिष्ठो धर्मः (चसू. २६.६७) सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः (असंसू. १७)

–तत्त्व–न., प्रभावनिर्णयः (चवि. १.९)

प्रभाषण–(परिव०) न., व्याख्यानम् (सुसू. ४.३)

प्रभाषणीय–वि., अध्यायसंज्ञा० अधीतशास्त्रस्य पुनः अर्थतो व्याख्यानं प्रभाषणम्, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः (सुसू. ४.१)

प्रभु–पु., स्वामी, क्षेत्रज्ञः (सुशा. ४.३६) खनिज० पारदः (रा. १३.४१)

प्रभूत–वि., बहुलम्, भूरि (सुचि ३४.५)

प्रभेद–पु., भेदनवत्पीडा (सुनि. १.२८)

प्रभ्रंशन–(परिव०) न., अतीवप्रभ्रंशः, अत्यर्थमधःपतनम् (सुउ. २२.१३)

प्रमत्त–वि., प्रकर्षेणोन्मत्तः अनवहितः, अदत्तचित्तः (चवि. ३.३६)

प्रमथ्या–स्त्री., पाचनदीपनीयः कषायः (चचि. १९.१९) 'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते यस्याः पानमाहुः पलद्वयम्' (शार्ङ्गधर, अरु. अहनि. ९.५.६-७)

प्रमदा–स्त्री., विलासिनी स्त्री, प्रमदयति हर्षयति पुरुषमिति यद्वा प्रमदो हर्षोऽस्ति अस्या यौवनोत्साहजनित इति प्रमदा (सुचि. २४.११६; अहसू, ३.१५)

प्रमाण–न., मानम् (चशा. ७.१५) अंगुल्यादिभिरुत्सेधविस्तारायामदृष्टया यन्मीयते, तन्मानम् (चवि. ८.११७) परिमाणम् (सुचि. ३५.१) ज्ञानम्, प्रमीयते ज्ञायते इति प्रमाणं (ज्ञानम्) (चवि. ८.७)

प्रमाथिन्–वि., अनुलोमनम् (चक्र. चसू. ७.९) क्षोभकारि, शीघ्रकार्यकारि (चचि. १३.१८०) 'स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत्। प्रविश्य सौक्ष्म्यात्तैक्ष्ण्याच्च तत्प्रमाथीति संज्ञितम्॥' (भाप्र.) स्रोतोभ्यो दोषसंचयं निजवीर्येण निरस्यति, तत् । (शार्ङ्ग०)

प्रमादायतन–वि., प्रमादोऽनवधानता आयतनमाश्रयस्थानं यस्य, तादृशः (मदः) (असंनि. ६.५)

प्रमादिन्–वि., प्रमादशीलः (सुचि. ३०.४)

प्रमार्जन–न., बालवस्त्रादिभिः प्रोञ्छनमनवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदशोपायेष्वेकः (सुसू. २७.४) पिचुकूर्चिकया कर्णप्रोञ्छनम् (सुउ. २१.४१)

प्रमिताशन–न., अतीतकालभोजनं स्तोकभोजनं वा यच्च कर्शनीयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

प्रमीढ–वि., प्रमेहरोगयुक्तः (चसू. १३.३५)

प्रमीलक–पु., सततं प्रध्यानम् (चसू. २३.७) लक्षण० स्तैमित्यम् (असंउ. २७)

प्रमूढता–स्त्री., प्रकर्षेणाचैतन्यम् (ड. सुक. २.१६) अतिशयेन विचेतनत्वम् (ड. सुउ. ६१.७)

प्रमृताशन–न., क्षुत्तृष्णोपरमे जाते, शान्तेऽग्नौ यदशनं क्रियते तत् (का.खिल. ५.६०)

प्रमेय–न., प्रमाविषयः, यथार्थज्ञानविषयः (चशा. १.४५)

प्रमेह–पु., रोग० (चनि. ४; चचि. ६; सुनि. ६; अहनि. १०) तस्योत्पत्तिः– पुरा दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां हविष्प्राशात्प्रमेह उद्भूतः (चनि. ८.११) स धातुक्षयजवातवृद्धिजो दोषावृतवातजश्चेति द्विविधः (अहनि. १०.१८-१९) तस्य स्वरूपम्–प्रभूताविलमूत्रता (अहनि. १०.७) तस्य संप्राप्तिः– नवान्नपानगुडवैकृताद्यपथ्यसेविनः अपरिपक्का एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधो गत्वा बस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते, तदा प्रमेहान् जनयन्ति (सुनि. ६.४) तस्य दूष्याः— रसासृङ्मांसमेदमज्जाशुक्राम्बुवसालसीकौजांसि त्रिदोषसहितानि त्रयोदश। तस्य मेहसंख्या विंशतिः– तत्र कफादुदकेक्षुवालिकासुरासिकताशनैर्लवणपिष्टसान्द्रशुक्रफेनमेहा दश; पित्तान्नीलहरिद्राम्लक्षारमञ्जिष्ठाशोणितमेहाः षट्; वातात्सर्पिर्वसाक्षौद्रहस्तिमेहाश्चत्वारः (सुनि. ६.८) तस्य पूर्वरूपाणि– हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां, मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च; श्वासतालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् (सुनि. ६.५) तस्य लक्षणानि–तत्र कफजप्रमेहलक्षणानि– श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति; इक्षुरसतुल्यमिक्षुवालिकामेही; सुरामेही सुरातुल्यम्; सरूक्षं सिकतानुविद्धं सिकतामेही; शनैः सकफं मृत्स्नं शनैर्मेही; विशदं लवणतुल्यं लवणमेही; हृष्टरोमा पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही; आविलं सान्द्रं सान्द्रमेही; शुक्रतुल्यं शुक्रमेही; स्तोकं सफेनं फेनमेही मेहति । पित्तजमेहलक्षणानि–सफेनमच्छं नीलं नीलमेही मेहति; सदाहं हरिद्राभं हरिद्रामेही; अम्लरसगन्धमम्लमेही; स्रुतक्षारप्रतिमं क्षारमेही; मञ्जिष्ठोदकप्रकाशं मञ्जिष्ठामेही; शोणितप्रकाशं शोणितमेही मेहति । वातजप्रमेहलक्षणानि–सर्पिःप्रकाशं सर्पिर्मेही मेहति; वसाप्रकाशं वसामेही;

क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही; मत्तमातङ्गवदनुप्रबन्धं हस्तिमेही मेहति (सुनि. ६.१०-१२) अष्टाङ्गहृदये चतुर्विधा भिन्नाः प्रमेहभेदा वर्णिताः; तत्र द्वौ कफजप्रमेहभेदौ–शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम्; लालामेही लालातन्तुयुतं पिच्छिलं प्रमेहति । पित्तमेहभेदः–कालमेही मसीनिभं प्रमेहति । वातमेहभेदः–मज्जामेही मुहुर्मुहुर्मज्जाभं मज्जामिश्रं वा प्रमेहति (अहनि. १०.१२-१४,१७) कफदोषजाऽऽलालमेहः–तन्तुबद्धमिवाऽऽलालं पिच्छिलं प्रमेहति (चनि. ४.१०) कालेनाऽप्रतिकारिणः सर्वे एव प्रमेहा मधुमेहत्वमायान्ति (सुनि. ६.२७) सतु कारणभेदेन द्विविधः–धातुक्षयजवातवृद्धिजो दोषाऽऽवृतवातजश्च (अहनि. १०.१८,१९) तस्योपद्रवाः–मक्षिकोपसर्पणमालस्यं मांसोपचयः प्रतिश्यायः शैथिल्याऽरोचकाविपाकाः कफप्रसेकच्छर्दिनिद्राकासश्वासाश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः; वृषणयोरवदरणं बस्तिभेदो मेढ्तोदो हृदि शूलमम्लीकाज्वरातीसारारोचका वमथुः परिधूमायनं दाहो मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं चेति पैत्तिकानां, हृद्ग्रहो लौल्यमनिद्रा स्तम्भः कम्पः शूलं बद्धपुरीषत्वं चेति वातजानाम् (सुनि. ६.१३)

तस्य साध्याऽसाध्यत्वम्–दोषदूष्याणां समक्रियत्वात् कफजा दशमेहाः साध्याः; विषमक्रियत्वात्पित्तजाः षण्मेहा याप्याः; महात्ययिकत्वाद्वा वातजचतुर्मेहा असाध्यतमाः (सुनि. ६.८) प्रमेहे तुल्यदूष्यता सुखसाध्यस्य हेतुः (असंसू. ७.२४९) सर्वे मधुमेहा असाध्याः (सुनि. ६.२७) उपद्रवाविष्टमतिप्रसुतं पिडकापीडितं मानवं गाढः प्रमेहो हन्ति (सुसू. ३३.८) बीजदोषजकुलजविकारोऽसाध्यः (चचि. ६.५७) चिकित्सासूत्रम्–रूक्षं गाढमुद्वर्तनं व्यायामो रात्रिजागरादयः इत्येवमादिकां कफमेदोहरां चिकित्सां कुर्यात् (अहचि. १२.३३) न चैतान्कथंचिदपि स्वेदयेन्मेदोबहुत्वादेतेषां विश्रीर्यते देहः स्वेदेन (सुचि. १२.७) प्रमेहनिवृत्तिलक्षणम्–यदा प्रमेहिणो मूत्रं पिच्छारहितं प्रसन्नं रूक्षं भवति यदा च मूत्रस्य रसौ कटुतिक्तौ भवतः, तदा तस्य प्रमेहरोगो निवृत्त इति जानीयात् (सुचि. १२.२०) प्रमेहेऽरिष्टलक्षणानि–स्वप्ने चण्डालैः सह स्नेहपानं कुर्वाणः स्नातानुलिप्तः सन् मक्षिकाभिः गृध्यमानो नरः प्रमेहेण स्पृष्टो मरणाय कल्पते (चइ. ५.१७; असंशा. १२)

–गजसिंह–पु., पारदयोग० पारदे हेमपूतिलोहादिसाधितोऽयं प्रमेहनाशकः (र. १७.४१-४२)

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (चचि. ६.१; सुचि. ११.१)

–निदान–न., अध्यायसंज्ञा० (चनि. ४.१; सुनि. ६.१)

–पिटिका–स्त्री., रोग० (चसू. १७; सुचि. १२; सुनि. ६; असंनि. १०; अहनि. १०)

रसायनीनां दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषास्ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडकाः प्रादुर्भवन्ति (सुचि. १२.८) प्रमेहेण विनाऽप्येता दुष्टमेदसो जायन्ते। यावद्वस्तुपरिग्रहस्तावन्नोपलक्ष्यन्ते एताः (अंसंनि. १०.५०) तत्र वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडका जायन्ते। तद्यथा–शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिकाऽलजी,विदारिका,विद्रधिका; ताश्च शरावमात्रा तद्रूपा निम्नमध्या शराविका, गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा सार्षपी, सदाहा कूर्मसंस्थाना कच्छपिका, तीव्रदाहा मांसजालसमावृता जालिनी, महती नीला विनता, महत्यल्पाचिता, पुत्रिणी, मसूरसमसंस्थाना मसूरिका, रक्तासिता स्फोटवती दारुणाऽलजी, विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना विदारिका, विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता विद्रधिका; तस्याः साध्यासाध्यत्वम्–गुदे, हृदि, शिरस्यंसे, पृष्ठे, मर्मणि चोत्थिताः सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत्।(सुनि. ६.१४-२०) शराविकाद्या नव पिडकाः प्रागुक्ताः, ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ता मृद्व्योऽल्परुजः क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः (सुचि. १२.३) चिकित्सासूत्रम्–अपक्वानां पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः पक्वानां तु व्रणवत्प्रतीकारो विधातव्यः, प्रमेहचिकित्सितेनैव एतासां पिडकानां शमः सिध्यति। तत्र पूर्वरूपेषु अपतर्पणं बस्तमूत्रं वनस्पतिकषायश्चोपदिष्टः (सुचि. १२.४)

पिडकाचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. १२.१)

प्रमोद–पु., धान्य० शालिभेदः द्र० 'शालि' (अहसू. ६.२)

प्रमोदक–पु., धान्य० शालिभेदः द्र० 'शालि' (चनि. ४.५) सर्वप्राणिनां पथ्यः (सुसू. २०.५) षष्टिकभेदः (सुसू. ४६.८)

प्रमोदिनी–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४)

प्रमोह–पु., लक्षण० चित्तनाशः विचेतस्त्वम् (चसू. १७.३१)

प्रमोहक–पु., मूर्च्छा, मोहः, इन्द्रियापटुत्वम् (चक्र. चसू. २.६)

प्रयत–वि., पवित्रम् (चइ. १२.१०)
प्रयोगज्ञो (वैद्यः) (सुउ. २०.१६)

प्रयतन–(परिव०) न., प्रयत्नः (सुचि. ७.३२)

प्रयत्न–पु., कार्यारम्भेषूत्साहः (ड.) प्रेरणा (सुशा. १.१७) प्रयतनम् (चसू. १.४९)
आत्मन आद्यं कर्म, आत्मनिष्ठो विशेषगुणः (चसू. १.४९)

प्रयाण–न., गमनम् (असंशा. १२.३)

प्रयोक्तृ–पु., शरीरादिप्रेरकं चेतनम्, प्रधानम्, आत्मा (चशा. ७.१६)

प्रयोग–पु., भेषजस्य योजना (चनि. ८.२३) द्रव्याणां कालप्रकृत्याद्यपेक्षा योजना (चसू. ४.२९)
चिकित्सादि कर्म (सुउ. ६०.५४)
अभ्यासः (चक्र. चचि. २९.८३)
शब्दयोजना, शब्दप्रयोगः (चवि. ६.४)

–धूम–पु., उपक्रम० धूमपानभेदः, प्रायोगिकधूमः, (चसू. ५.३७) द्र० 'धूमपान'

–पान–न., प्रायोगिकं धूमपानम् (चसू. ५.३३) द्र० 'धूमपान'

–समसाद्गुण्य–न., समस्य समीचीनस्य प्रयोगस्य सद्गुणत्वम्, समेऽल्पकाले अल्पमात्रे च पिप्पल्यादि-प्रयोगे सद्गुणा भवन्ति (चवि. १.१६)

–सौष्ठव–न., योजनासुष्ठुत्वम् भेषजोपयोगस्य समीचीनत्वम् (चसू. १५.५)

प्रयोजन–न., यदर्थमारभ्यते तत् (चवि. ८.४४) यमर्थमभीप्सन् जिहासन्वा कर्म आरभते, तेन अनेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वा विद्याश्च व्याप्ताः (१।१।१ न्यायभाष्यम्)
तन्त्रयुक्ति० यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते (चसि. १२.४२)

प्ररोह–पु., वृक्षाङ्गभेदः अङ्कुरः (चसू. १.७४) अंकुर. शाखाऽधोभागनिःसृतजटा (ड. सुउ. ४०.८८)

–वती–वि., बीजाङ्कुरजननी (सुसू. ३६.३)

प्रलपन–न., लक्षण० संगतिशून्यवचः, वातप्रकोपेण जायमानो विकारः (र. १२.९९-१००)

प्रलम्ब–पु., वनस्पति० भूस्तृणः (ध. ४.४७)

प्रलय–पु., नाशः (चनि. ३.७) मरणम् (चशा. १.३८)
महाप्रलयः (चशा. ४.८)

–काल–पु., मृत्युकालः (सुशा. ४.३३)

–हेतु–पु., प्रलयस्य कारणम्, मरणहेतुः (चसू. २४.५३)

प्रलाप–पु., लक्षण० संगतिहीनं निरर्थकं वा भाषणम् (चनि. १.३३; सुसू. ४६.५०४)

प्रलापक–पु., रोग० संनिपातज्वरभेदः (मा. ज्वर.२१)
लक्षणम्–कम्पप्रलापपरितापनशीर्षपीडाप्रौढप्रभाव-पवमानपरः प्रज्ञाप्रणाशविकलः प्रचुरप्रवादः प्रलापी क्षिप्रं प्रयाति (अश्विनीसंहिता, मा. ज्वर. २१)
द्र० ' ज्वर '

प्रलापिन्–वि., लक्षण० वाचालः प्रलपनशीलः, असंबद्ध-भाषी (सुशा. २.२५)

प्रलीयमान–वि., क्षीयमाणः (सुशा. १०.५७)

प्रलुठित–वि., वेष्टितः, उपावृत्तः, लुठितः (असंशा. ६.६९)

प्रलून–पु., कफजकृमि० दर्भपुष्पमहापुष्पादीनां कफकोप-समुद्भवानां षण्णां कृमीणामेकतमोऽयम् (सुउ. ५४.१२) द्र० ' कृमि '
वि., उद्धूतः, छिन्नः (असंउ. २५)

प्रलेप–पु., उपक्रम० लेपः द्र० ' लेप ' (चसू. १८.५; चचि. २१.९८-१०७)

–विधि– पु., लेपविधिः, द्र० ' लेप ' (चचि. २१.९८-१०७)

प्रलेपक–पु., रोग० ज्वरभेदः द्र० ' ज्वर ' (सुउ. ३९.५४) तल्लक्षणम्–घर्मेण गौरवेण च गात्राणि प्रलिम्पन्निव तथा मन्दज्वरविलेपीशीत-युक्तश्च (मानि.)

प्रवण–वि., उन्मुखम् (चक. १.५)

प्रवर–पु., प्रतिवादिनां मध्ये श्रेष्ठः, प्रतिवादी (चवि. ८.१९)
न., वनस्पति० अगरु (कासिद्धि. ४.; ध. ३.२५)

–सत्व–वि., श्रेष्ठबलः सत्त्वसारः (पुरुषः) (चवि. ८.१२१) द्र० ' सत्वसार '

प्रवर्तन–न., प्रवृत्तिः, प्रादुर्भावः (चसू. १.१३६)

प्रवात–पु., न., प्रकृष्टवातः, प्रबलवायुः (सुचि. २४.८४)

–स्थापन–न., वातबहुलदेशे संस्थापनम् (सुसू. ४५.१९)

प्रवाद–पु., छद्मवचनम् (सुउ. ४१.३६)

प्रवाल–पु., न., वृक्षाङ्ग० अङ्कुरः, पल्लवः (असंक.)
भैषज्य० विद्रुमः, सामुद्रः, तद्गुणः—मधुरोऽम्लः,

शीतः, सरो वीर्यकरः, कान्तिकरश्चिदोषघ्नो विषदृष्टिदोषनाशकः (ध. ६.६४) श्रेष्ठप्रवालगुणाः– पक्वबिम्बफलवद्रक्तवर्णो गोलाकारो लम्बायमानो वक्रतारहितः, स्निग्धोऽव्रणकः स्थूलः (र. ४.१९) निकृष्टप्रवालगुणाः–श्वेत ईषत्पाण्डुरल्पाकारः सव्रणो महाच्छिद्रयुक्तो निर्भारः, शुभ्रवर्णः (र. ४.२०) कफमूत्रकृच्छ्रघ्नः (चचि. २६.५६) गव्यमूत्रेण सह आसेवितोऽयं पाण्डुरोगघ्नः (सुउ. ४४.२१) विसर्पे प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चचि. २१.८२) इन्द्रोक्तरसायने , ब्राह्मरसायने चोपयुक्तः (चचि. १(४).२२; चचि. १.५८)

–गुटिकाभासा–वि., लक्षण० प्रवालकृतगुटिकावद् आभासमाना (मसूरिका) (चइ. ११.१४)

–गुलिकाभासा–वि., लक्षण० प्रवालकृतगुटिकावद् आभासमाना (मसूरिका) (असंशा. ११.४४)

प्रवालक–न., भैषज्य० प्रवालम् (र. ४.३)

प्रवासिनी–स्त्री.,धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०९)

प्रवाह–पु., प्रवाहणम्, निकुहनम् (ड. सुउ. ५८.१२) रोग० प्रवाहिका (सुचि. ३७.६६)

प्रवाहण–न., कृच्छ्रात् पुरीषादिवेगजननम् (चचि.१५.४६) प्रकर्षेण निर्वाहणम् (सुनि. १३.६१) निकुन्थनम्, कुन्थनम् (सुसू. २२.८) लक्षण० अतिसरणम् (सुउ. ४०.१०८) प्रवर्तनम् (ड. सुचि. ३७.९३)

(प्रवाहणी)–स्त्री., शारीर० गुदवलीत्रयेष्वेका प्रवाहणी, प्रवाहयतीति प्रवाहणी (ड. सुनि. २.५)

प्रवाहिका–स्त्री., रोग० (चचि. १९.३०; सुउ. ४०; असंसू. ६; अहृनि. ८) तस्याः संप्राप्तिः– अहिताशनस्य नरस्य प्रवृद्धवायुर्निचितं बलासं बहुशः प्रवाह्य अल्पं मलाक्तं च तम् अधस्तान्नुदन् गुदेन पातयति। स रोगः प्रवाहिकेति ख्यातः (सुउ. ४०.१३८) प्रवाहिकाया भेदाः–रूक्षप्रभवजा–वातकृता, सशूला; तीक्ष्णप्रभवजा–सदाहा, पित्तजा; स्नेहप्रभवजा–कफजा, सकफा; तीक्ष्णोष्णप्रभवजा, रक्तजा, सशोणिता (सुउ. ४०.१३९) अतिसारवदामपक्वलिङ्गानि विद्यात् (सुउ. ४०.१४०) चिकित्सासूत्रम्–लघुदीपनस्निग्धा आहारौषधयश्चोपयुक्ताः (सुउ. ४०.१५६-५७) तैलेन वातशान्तिर्भवति, वातशमनेन प्रवाहिका नश्यति, तस्मात् तैलप्रयोगः कार्यः, 'वाय्वाशये सतैले हि बिम्बिसी नावतिष्ठते (अहृचि. ९.४७) वमनविरेचनयोः समानतया संख्यातासु त्रयोदशव्यापत्सु एका व्यापत् (सुचि. ३४.३)

प्रवाहिन्–पु., रोग० प्रवाहिका (र. १२.१-८)

(प्रवाहणी)–स्त्री., शारीर० गुदस्यान्तरे स्थिता तिर्यग्वलीसंज्ञिता गुदपेशी; प्रवाहणी, मलप्रवाहणात् प्रवाहणी, सा गुदद्वारात्तृतीया वली गुदपेशी (असंनि. ७.५; सुनि. २.५)

प्रविकीर्णमात्र–वि., विक्षिप्तमात्रम्, अल्पविस्तृतम् (ड. सुक. ८.७९)

प्रविचार–पु., पृथग्भावः, प्रविभागः (सुउ. ६४.५६)

प्रविचारणा–स्त्री., उपयोगभेदः (चसू. १३.२५)

प्रविभाग–पु., भेदः (सुचि. ३५.१)

प्रविलयन–न., द्रवीकरणम् (असंसू.३८.३)

प्रविलायन–वि., क्षपणम्, द्रवीकरणम् (अहृसू. २.५)

प्रविषम–पु., रोग० ज्वरभेदः, विषमः (र. १२.४०-४१)

प्रवृत्त–वि., संभूतः (सुशा. ४.४) स्रुतम् (सुशा. २.१८)

प्रवृत्ति–स्त्री.,प्रवर्तनं नाम शरीरेणाभिसंबन्धः(चसू.१.४४) आरम्भः (चवि. ८.१३१) प्रतिकर्मसमारम्भः (चवि. ८.१२९) प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म, यत्नः, कार्यसमारम्भश्च (चवि. ८.७७) प्रथमाविर्भावः (चचि. ३.१४) दुःखम् (चवि. ५.८) संसारः (चनि. ५.९)

–हेतु–पु., उत्पत्तिहेतुः (चसू. १६.२८)

प्रवेणी–स्त्री., गोणीति प्रसिद्धा (चक्र. चसू. ६.१५) ऊर्णावस्त्रम् (चसू. ६.१५) सूचीबाणाख्यं वस्त्रम् (अरु. अहृसू. ३.१३)

प्रवेपन–न., लक्षण० प्रकर्षेण वेपनम् कम्पनम् (चसू. १७. ५६)

प्रवेश–पु., अन्तर्विगाहनम् (असंशा. १२.३)

प्रव्यक्त–वि., प्रकर्षेण व्यक्तः, स्फुटः (सुशा. ३.१८)

–रूप–वि., सुव्यक्तस्वरूपः (सुउ. ३९.१००)

–लक्षणता–स्त्री., लक्षणानां स्फुटत्वम् (सुसू. २१.३४)

प्रव्यक्ति–स्त्री., स्पष्टता, निरावरणता (ड. सुचि. ३८.२१)

प्रव्रजित–पु., प्रव्रज्यालक्षणतपोयुक्तः तपस्वी (सुसू. २.८)

(प्रव्रजिता)–स्त्री., गृहीतव्रता (ड. सुचि. २४.११६) वनस्पति० मुण्डी (ध. १,१५९)

प्रव्रज्या–स्त्री., संन्यासः (कासू. २८)

प्रशम–पु., प्रकर्षेण शमनम् (चसू. १७.११४)
रोगोपघातमात्रस्योपलक्षणम्, तेन साध्यानां सिद्धिर्याप्यानां यापनं, स्वस्थवृत्तं च गृह्यते (सुसू. १.३५) अन्तरिन्द्रियशान्तिः, प्रशमोऽयं सर्वपथ्यानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) स्वयमुपशमः (सुसू. १.३४)
चिकित्सा, प्रशाम्यति अनेन रोग इति प्रशमः चिकित्सायां गृहीततात्पर्योऽत्र द्रष्टव्यः (चचि. १२.३)

प्रशमन–न., भेषजम् (चचि. १.३)
चिकित्सा (सुसू. ३.२६)

प्रशस्त–वि., प्रशंसितम्, स्तुतम् (सुक. १.१२-१३)

–देश–पु., धन्वदेशः, साधारणदेशः सन्मृत्तिकायुक्तदेशश्च (सुसू. ३४.२२)

प्रशस्तार्तव–न., अदुष्टार्तवम्, शुद्धार्तवम् (सुशा. २.१७)

प्रशाखा–स्त्री., प्रकृष्टा शाखा हस्तपादस्वरूपा (सुचि. ३.५४)

प्रशात–पु., शटनम्, उच्चाटनम्, प्रणाशः (सुनि. १०.६)

प्रशातिका–स्त्री., धान्य 'उडिका' इति प्रसिद्धा (चसू. २१.२५) जलमध्ये प्रायो भवति (चक्र. चचि. ४.३६) श्यामाकसदृशैर्गुणैः युक्ता, इयं कषायमधुरशीतलघुवातलकफपित्तघ्नसंग्राहिशोषणादिगुणा (चसू. २७.१७)

प्रशान्ति–स्त्री., अपगमः (चसू. १८.५)

प्रशान्तिका–स्त्री., धान्य० प्रशान्तिका (चसू. २७.१७)

प्रशिथिलाशय–पु., अस्तब्धपक्वाशयः (ड.सुउ. ३९.१२७)

प्रश्न–पु., अभिधानप्रयोजनादिजिज्ञासा (चवि. ८.५२)
पूर्वापरविरोधादिदोषशून्येन वाक्येन पृच्छा (चसू. ३०.६९)

प्रश्रय–पु., सभ्यता (असंशा. ८.२४)

प्रश्वास–पु., लक्षण० प्रकृष्टं श्वसनम् (चवि. २.६)
अन्तःप्रविशद्वायुः (सुशा. ९.५)
षड्विधरोगविज्ञानोपायेष्वेकः (सुसू. १०.५)

प्रसक्त–वि., निरन्तरम् (चक्र. चचि. २०.१५; सुउ. ५२.७)
भूयो भूयोऽनुषङ्गि (सुउ. ४६.१८)
अत्यासक्तम् (सुउ. ३९.६२)

–छर्दि–वि., लक्षण० यस्य सतता छर्दिः सः

–वमथु–वि., लक्षण० प्रसक्तच्छर्दिः (अहसू. १८.४)

–श्वसन–(परिव०) न., लक्षण० निरन्तरं श्वसनम् (सुनि. १६.६१)

प्रसङ्ग–पु., तन्त्रयुक्ति० प्रसङ्गो नाम पूर्वोऽभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानम् (चसि. १२.४३)
प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसङ्गो यद्वा प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः (सुउ. ६५.२२)
अभ्यासः (चसि. १२.३२)
उपभोगः (चनि. ४.५)
मैथुनम् (सुनि. ५.३३; मधुकोष. मा. कुष्ठ. ४२)
सातत्यम् (मधुकोष. सुनि. ५.३३; मा. कुष्ठ. ४२)

प्रसङ्गित्व–न., आसक्तिः (सु.शा. ४.५२)

प्रसङ्गिन्–वि., संसक्तः (ड. सुउ. ३९.११८)

प्रसन्न–वि., प्रकृतिस्थम्, निर्मलम् (सुसू. १४.५)

(प्रसन्ना)–स्त्री., मद्य० सुरा (चक. ७.१३; ध. ६.२५५)
सुराया मण्डः, उपर्यच्छो भागः, तस्या गुणाः–छर्द्यरोचकहृत्कुक्षितोदशूलप्रमर्दनी कफवाताशोंविबन्धाऽऽनाहनाशनी च (सुसू. ४५.१७७-७८)

–दोष–वि., स्वभावाऽवस्थितवातादिकः इदमविषमनुष्यलक्षणम् (ड. सुक. ६.३२)

–वदना–वि., निर्मलमुखी (सुशा. ३.७)

प्रसन्नात्मन्–वि., संतुष्टान्तःकरणः (सुउ. ३९.१०४-५)

प्रसभम्–(अव्य.) बलात्, हठात् (चवि. ३.२०)

प्रसर–पु., दोषगति० प्रसरणम्, वातपित्तश्लेष्मणां बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति । तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये, स हि रजोभूयिष्ठः; रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्, यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति । तद्यथा–वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानीति; एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति । एष दोषगतौ तृतीयः क्रियाकालः (सुसू. २१.२८)
न., वनस्पति० एलावालुकम् (ध. ३.७६)

प्रसरण–(परिव०) न., भ्रमणम् (सुउ. ६०.१३)
–सामर्थ्य–न., स्थानात्स्थानान्तरगमनसामर्थ्यम् (सुचि. १.५)

प्रसव–पु., जन्म (सुशा. ५.४५)
कुसुमम् (सुक. ६.२०)
फलम् (सुक. ६.२०)
वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१३)
–काल–पु.,प्रसूतिकालः, गर्भजन्मकालः (चशा.४.२५)
–धर्मिणी–स्त्री., प्रकृतिः, महदहङ्कारादिक्रमेण चराचरस्य जगतः प्रसवित्री (सुशा. १.९)

प्रसवन–वि., प्रसूतिकारकम्, प्रसूयते अनेन सहायभूतेन इति प्रसवनं प्रसवजनकम् (चचि. २९.१०९)

प्रसवमाना–वि., प्रजायमाना (सुशा. १०.६६)

प्रसह–पु., मृगपक्षिजाति० (चसू. ६.१२; सुसू. ४६.७४)
प्रसह्य भक्षयतीति प्रसहः, स द्विविधः— मांसादोऽमांसादश्च (चसू. २७.५४) तन्नामानि— गोखराश्वतरोष्ट्राऽश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानरमार्जारमूषकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षुलोपाकजम्बुकश्येनचाषोलूकश्ववायसशशघ्नीभासकुररगृध्रवेश्यकुलिङ्गकधूमिकामधुहाश्चेति (असंसू. ७.७७-७९) तन्मांसगुणाः— प्रसहमांसं मधुरगुरुस्निग्धोष्णं, बलोपचयवर्धनं, वृष्यं, वातहरं, कफपित्तवर्धनं, व्यायामनित्यदीप्ताग्नीनां च हितम्, मांसाशिप्रसहमांसम् जीर्णाशौंग्रहणीदोषशोषार्तानां हितावहम् (चसू. २७.५६) भस्मकरोगोन्मादशुक्रक्षयनाशकः (धपरि. २.१४)

प्रसाद–पु., प्रसन्नता (चशा. ५.५) आरोग्यस्थापनः अनाबाधकरः शारीरभावः सः (चशा. ६.७४)
स्वच्छो मलरहितो भागः आहारप्रसादः, आहाररसः (चचि. १५.१६)
उपरिस्थितोऽघनो भागः (चसि. ७.१४)
सारभागः (सुशा. ४.२६)
–भूत–वि., प्रसादस्वरूपः (चशा. ६.१७)

प्रसादन–वि., वैशद्यकरम् (चसू. ५.१६) स्वच्छतापादकम् (चसू. १३.१४)

प्रसाधन–(परिव०) न., साधनम् (सुचि. २०.४)
स्पष्टीकरणम्, विशदीकरणम् (सुउ. ६५.६)

प्रसाधिका–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.९८)

प्रसाधित–वि., संस्कृतम् (सुसू. ४५.१५-१६)

प्रसारण–न., विस्तारणक्रिया (सुशा. ७.३)

(प्रसारणी)–स्त्री., स्वनामख्यातो लता० (चचि. २८.१६६; सुचि. १५,४४-४५) तस्या गुणाः– तिक्तोष्णा, गुर्वी, सरा, संधानकरी, वृष्या, तेजःप्रदा, कान्तिप्रदा, त्रिदोषघ्नी, बलप्रदा, अर्शःशोथविष्टम्भनाशिनी (ध. १.२८९)
हिं.—गन्धप्रसारणी.
म.—प्रसारणी, चान्दवेल.
गु.—प्रसारणवेल्य.
बं.—गन्ध्रभादला.
ता.—पेनारीसंगाइ.

प्रसारिणी–स्त्री., लता० प्रसारणी (रा. ५.१५९)
लज्जालुः (रा. ५.१५९)

प्रसिद्धकेश–वि., प्रसाधितकेशः कंकतेन रचितकेशः (चसू. ८.१८)

प्रसुप्तता–स्त्री., लक्षण० स्पर्शज्ञाननाशः (सुनि. १.३३; सुनि. १.८१)

प्रसुप्ति–स्त्री., क्षुद्ररोग० वायुनोदीरितः श्लेष्मा त्वचं प्राप्य विशुष्यति। ततस्त्वक्पाण्डुः, क्रमेण विचेतनाऽल्पकण्डूरविक्लेदा च भवति। प्रसुप्तिश्चासौ व्याधिः प्रसुप्त्याख्यः (असंउ. ३६)
लक्षण० स्पर्शाज्ञानम् (अहसू. २२.२६)

प्रसूति–स्त्री., अपत्योत्पत्तिः (चचि. १२.६)
–ग्रह–न., प्रसूतिनिग्रहम्, गर्भसंगम् (र. ५.२३९)
–मारुत–पु., प्रसूतिकारको वातः (चशा. ६.२४)

प्रसून–न., पुष्पम् (र. १७.४३-४६)

प्रसृत–वि., विस्तृतः (सुचि. १.४)
निर्गतम् (सुशा. ९.१३)
संयुक्तपञ्चाङ्गुलिः, ईषद्विस्तृतपाणिरेव (सुचि. ३१.६)
मान० पलद्वयम् (चक. १२.९२)
षोडशतोलकाः(र. २६.५-७)

प्रसृति–स्त्री., मान० पलद्वयम् (सुचि. ६.१८)

प्रसेक–पु., लक्षण० लालास्रावः (चनि. १.२१; सुचि. २४.२३)
प्रक्षरणम् (परिव०) (सुचि. १.४७; सुक. ४.३७)

प्रसेचन–न., उपक्रम० सिञ्चनम् (चचि. ७.१५९)

प्रसेवक–पु., चर्मखल्लपुटः (ड. सुसू. ९.४) ' हतिश्चर्मप्रसेविका ' इत्यमरः

प्रस्कन्दन–न., विरेचनम् (चसू. १३.८०)

प्रस्खलन–न., आखुडनादि (ड.) अकस्मात् प्रभ्रंशः पादाऽपसरणं वा (सुनि. ८.३)

प्रस्तम्भ–पु., लक्षण० प्रकर्षेण स्तब्धता (सुसू. ३२.३)

प्रस्तर–पु., स्वेद० प्रस्तरस्वेदः (सुचि. ४.१०; चसू. १४.२७)

–स्वेद–पु., स्वेद० त्रयोदशस्वेदेष्वेकः (चसू. १४.२७,४२) सुश्रुतमतानुसारेणास्याप्यन्तर्भावो बाष्पस्वेदे भवति । स्वेदविधिः–कोशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्यं किलिञ्जे तत्प्रतिरूपकेऽन्यस्मिन् वा शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्। एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् (सुचि., ३२.११)

प्रस्तरिणी–स्त्री., वनस्पति० गोलोमिका (रापरि. ५.३२)

प्रस्तार्यर्मन्–न., नेत्ररोग० नेत्रशुक्लगतोऽयम् सिते मृदु आशुवृद्धि अरुक् श्यावलोहितं प्रस्तारि मांसं जायते (असंउ. १३) नेत्रस्य शुक्लभागे विस्तीर्णं विरलं रक्तनिभमीषन्नीललोहितं जायते स प्रस्तार्यर्माख्यो नेत्ररोगः (सुउ. ४.४) एष साध्यो रोगः (सुउ. १.४०) स च लेखनीयः (सुउ. १५.१७)

प्रस्थ–पु., मान० शरावद्वयपरिमाणम् (सुचि. २७.१२) चतुष्षष्टितोलकमानम् (र. ९.५१) सार्धत्रयोदशपलानि (सुशा. ८.१६) कुडवचतुष्टयं वा (र. ११.७; चक. १२.९४)

–कुसुम–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा.१०.८१)

प्रस्थान–न., प्रयाणम् (सुसू. २९.२७)

प्रस्पन्द–पु., लक्षण० स्पन्दनम् (असंसू. १९.३)

प्रस्पन्दन–न., लक्षण० शरीरस्य चलनम् (सुसू. १५.४ (१)

प्रस्रंसन–न., स्रावः (चचि. २६.११९)

प्रस्रंसिनी–स्त्री., योनिरोग० या रतिप्रसङ्गात् क्षोभितास्तीवार्तवं स्रवति दाहपाकादियुता दुःखेन च प्रसूयते, इयं पित्तजा (सुउ. ३८.१३)

प्रस्रवण–न., निर्झरः (चसू. २७.२१४)
(परिव०) जलप्रपातः (असंउ. ४९)
स्रावः (चनि. ५.११)
दुग्धम् (ध. ६.१६१)

प्रस्रवणोद्भव–वि., प्रस्रवणोद्भूतं (जलम्) निर्झरजलम् (सुसू. ४५.३४)

प्रस्राव–पु., मूत्रम् (हे. अहसू. २०.२८)

प्रस्रुत–वि., गलितमदः (भद्रहस्ती) (सुचि. २९.१६)
वि., स्रोतेण गालितम् (चक. २.८)

प्रस्वपन–न., गाढनिद्रा (चचि. १५.२३३)

प्रस्वेद–पु., लक्षण० स्वेदाधिक्यम् (र. १२.११)

प्रहरजाया–स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रापरि. ५.२२)

–प्रहर्ष–पु., तुष्टिः (सुसू. १५.७)

–जनन–न., स्वस्थस्य शुक्रवृद्धिस्तुतिकरत्वं च (सुसू. १.८(८))

प्रहर्षित–वि., स्तब्धम् (ड. सुचि. ३७.११०)

प्रहर्षिन्–वि., शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शासहः (दन्तः) (कासू. २०.८)

प्रहसन्ती–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९)

प्रहार–पु., आघातः (सुनि. १५.३) ताडनम् (चसू. १८.४)

प्रहृष्ट–वि., प्रसन्नमनाः (सुशा. १०.३)

प्रह्लाद–पु., तृप्तिः (अहसू. ९.७)

(प्रह्लादी)–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७)

प्रह्लादन–न., सुखकरणम् (सुचि. १.१६)

–तैल–न., तैल० यवमञ्जिष्ठाम्लादिसिद्धमिदं तैलं दाहज्वरविनाशकम् (सुउ. ३९.२८७)

प्रह्व–वि., जानुभ्यामवनतः (इन्दु. असंउ. ३)

प्रांशु–पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)
वि., दीर्घाकृतिः (असंउ. ४१)

प्राक्–अव्य., पूर्वम्, आदौ, प्रथमम् (सुसू. ३५.१८)

–केवल–पु., प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च (सुसू. ३५.१८)

–चरणा–स्त्री., योनिरोग० (चचि. ३०.२०) अतिबालाया मैथुनाद्वायुः पृष्ठजङ्घोरुबङ्क्षणं रुजन् योनिं संदूषयेत् (असंउ. ३८) उचितव्यवायकालात् प्राक् व्यवायाचरणात् 'प्राक्चरणा' उच्यते (चक्र. चचि. ३०.२०)

–प्रवण–वि., प्राच्यां दिशि निम्नम्, प्रागभिमुखम् (चशा. ८.१०)

–शिरस्–वि., प्राक्शीर्षः (असंसू. २८.२९)

(प्राग्)–जन्माभ्यास–पु., पुर्वजन्माभ्यासः (असंशा. १.७१)

–दैहिक–वि., पूर्वदेहभवम्, जन्मान्तरकृतम् (चनि. १.३५)

–भक्त–वि., औषधकाल० भोजनात्पूर्वमुपयुज्यमानम् (औषधम्) तद्गुणाः–औषधं शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यात्, आहारावृतत्वान्मुहुर्वदनान्न निरेति, वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनाभ्यः प्राग्भक्तमौषधं देयम् (सुउ. ६४.६८-६९) अपाने विगुणे सति प्राग्भुक्तमौषधं देयम् (अहसू. १३.३८)

–भुक्त–न., प्रातर्भोजनम् (सुसू. ४६.४९२)

–रूप–न., पूर्वरूपम् (असंनि. ८.१०)

–वात–पु., पूर्वदिगागतो वातः (चसू. ६.४५)

-वातसेवा-स्त्री., पूर्वदिगागतस्य वातस्य सेवनम् (चचि. १४.१९)

-वायु-पु., प्राग्वातः (असंसू. १२.९५-१६)

-विकृत-वि., पूर्ववर्णादन्यथाभूतो (चइ. १.९)

प्राक् (ग्)-अपीत-वि., प्राक्-पूर्वं न पीतं येन, सः (ड. सुचि. ३३.४४)

प्राक् (ग्)-उत्पत्ति-स्त्री., प्राक्कालोत्पत्तिः (चचि. १९.३)

(प्राङ्)-मुख-वि., संमुखः प्राचीमभिमुखीकृत्य स्थितः (अहसू. १८.१७)

प्राकार-पु., परिसरः (असंसू. ९.१२१)

प्राकाश्य-न., प्रसिद्धिः (सुसू. २.६)

प्राकृत-वि., स्वाभाविकम् (चसू. १८.५२) सहज-गुणसंपन्नम् (चचि.३०.१२६)

(प्राकृति)-वि., गति० स्वाभाविकी (चसू. १७.११५)

-मस्तु-न., केवलस्य दध्नो यन्मस्तु, तत् प्राकृतमस्तु (चचि. १२.३०)

प्राची-स्त्री., पूर्वदिक् (अहसू. ५.११)

-बल-पु., वनस्पति० काकजङ्घा (ड. सुसू. ३८.१८-१९)

मत्स्याक्षकः (सुसू. ३८.१८-१९)

नदीपिप्पली (सुसू. ३८.१८-१९)

गण्डदूर्वा (सुसू. ३८.१८-१९)

जलपिप्पली (सुसू. ३८.१८-१९)

प्राचीना-स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)

प्राचीनागर-न., वनस्पति० आमलकीभेदः (असंसू. ७.१९७)

प्राचीनामलक-न., वनस्पति० आमलकीभेदः, पानीया-मलकम् इति लोके (ड. चसू. २७.१४६; सुसू. ४६.१५८; ध. १.२१८)

प्राचीनारङ्ग-न., वनस्पति० प्राचीनामलकम् (ध. १.२१८)

प्राचेतस्-पु., प्रजापति० दक्षः (असंनि. १.५)

प्राच्य-पु., पौरस्त्यदेश० (चवि. १.१७) तत्रत्यो जनो वा, मत्स्यसात्म्या इमे जनाः (चचि. ३०. ३१७) प्राच्यदेशोद्भवा नद्यः अर्शांसि कुर्वते (अहसू. ५.११)

प्राजन-न., शस्त्र० सूचिः प्रवीयते क्षिप्यते सन्धानार्थमिति प्राजनं सूचिरित्यर्थः, सूचिः (असंनि. २.९)

प्राजापत्य-न., नक्षत्र० रोहिणी (इन्दु.) (असंउ. ५) ब्राह्मो वैदिकविधि० (असंउ. १)

-सत्त्व-न., शुध्दसत्त्वस्य भेदः,शुद्धसत्त्वस्याष्टमो भेदः, प्रजावन्तं, क्रियावन्तं, धर्मशीलं जगत्प्रियमनीर्ष्यम-शठं शुचिं प्राजापत्यसत्त्वं विद्यात् (कासू. २८)

प्राज्य-वि., विपुलं, प्रभूतम् (असंशा. ८.१६)

प्राञ्जल-वि., सरलम् (सुशा. १०.१०)

प्राण-पु., वात० (चसू. १२.८; चचि. २८.२३४; सुनि. १.१३; असंसू. २०.४) पञ्चवातभेदेष्वेकः, जीविताऽऽधारः (चसू. २९.३) प्राणिति श्वसिति जीवति सत्त्वं बहुकालम् अनेनेति प्राणः । प्राणयति जीवयतीति प्राणः, तेन अग्निसोमवाय्वादीनां प्राणन-स्वभावात् प्राणत्वं युक्तम् (सुशा. ४.३) वक्त्र-संचारी वायुः (सुशा. १.१७) तस्य स्थानानि-उरः कण्ठः शिरश्च; तत्कर्माणि-बुध्दीन्द्रियहृदय-मनोधमनीधारणम् (असंसू. २०.४) ष्ठीवन-क्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशनानि (अहसू.१२.४)दुष्ट-प्राणवायुकर्माणि हिक्काश्वासादिरोगाः (सुनि. १.१३-१४)

बलम् (सुसू. ४६.५०७) भारहरणादिशक्तिः (सुसू. ४६.३७३-७४)

प्राणाधिष्ठानं हृदयादि (सुसू. ५.१८)

अग्निसोमादयः प्राणाः (सुसू. ५.२४) अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः (ड. सुसू. ५.२४)

-काम-वि., प्राणान्कामयतेऽसौ (चचि. १.(२)-३) आयुष्कामः (सुचि. २७.१२)

-कामीय-वि., प्राणकामशब्दमधिकृत्य कृतो (रसायनपादः चचि. १.१)

-क्षय-पु., बलक्षयः, प्राण एव बलं, तस्य क्षयः (सुचि. ५.६) उत्साहापचयलक्षणो बलक्षयः (ड. सुसू. ३३.५-६)

-घ्न-वि., जीवितविनाशकम् (सुसू. ४०.५)

-जनन-वि., प्राणवर्धनः (सुसू. ४६.३५९)

-द-पु., वनस्पति० जीवकः (ध. १.१२३)

वि., प्राणान् ददातीति, प्राणदम् (क्षीरम्) (सुसू. ४५.४८)

(-दा)-स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)

महाराष्ट्री (रापरि. ४.१३)

जलपिप्पली (असंउ. ४९)

ऋद्धिः (रा. ५.१८७)

-धरा-स्त्री., त्वक्० षट्सु त्वक्षु एकेयम् क्रमतः षष्ठी त्वक् (असंशा. ५.२६)

-नाथ-पु., पारदयोग० पारदधत्तूरभार्गीत्रिफला-भृङ्गराजादिसाधितो ऽयं चतुर्गुञ्जाप्रमाणासेवितो राजयक्ष्मनाशकः (र. १४.५६-५९)

-पति-पु., प्राणान्पाति रक्षतीति, राज्ञः प्राणाचार्यो वैद्यः (चक्र. चवि. ६.१९)

-प्रकोप-पु., प्राणस्य अतिवृद्धिः, क्षोभः, प्राणो रौक्ष्य-व्यायामलङ्घनैरत्याहाराभिघाताध्ववेगोदीरणधारणैः प्रकुपितश्चक्षुरादीनामुपघातं,पीनसार्दितनृङ्कासश्वासादिबहून्व्याधीन् प्रवर्तयेत् (असंनि. १६.२१-२२)

-प्रणुत्-वि., प्राणनाशकः (सुनि. १६.६२)

-प्रत्यानयन-न., प्राणस्थापना (असंउ. १)

-भृत्-वि., प्राणान् बिभर्ति धारयति इति प्राणभृत् प्राणी, चैतन्ययुक्तः (चनि. १.३५)

-यात्रा-स्त्री., जीवितयात्रा प्राणोपलक्षितशरीर-निर्वाहः (सुसू. १.४)

-वत्-वि., बलवान्, शक्तियुक्तः (सुचि. ६.७)

-वर्धन-न., प्राणानां वर्धनम्, जीवितवर्धनम् (चसू. ३०.१५)

-वह-स्रोतस्-न., शारीर० प्राणसंज्ञकवातवहस्रोतः, (चवि. ५.८) तत्संख्या द्वे; तन्मूलस्थानम्-हृदयम्; तद्वहनस्थानानि-रसवाहिन्यश्च प्राणवाहिन्यश्च, धमन्यः; तद्विद्धलक्षणानि-क्रोशनविनमन-मोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा (सुशा. ९.१२) अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमभीक्ष्णमल्पाल्पं सशब्द-शूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहस्रोतोदुष्टिर्ज्ञेया (चवि. ५.८)

-वहा-स्त्री., शारीर० हृदयाश्रिता धमनी प्राणवातस्य वाहिनी (सुशा. ४.३१)

-वायु-पु., वातभेद० प्राणः (चचि. २८.६)

-वाहिन्-वि., शारीर० प्राणवहम् (स्रोतः) (चवि. ५.१०)

-वाहिस्रोतस्-न., शारीर० प्राणवहस्रोतः (चचि. १७.१७)

-विलोमता-स्त्री., लक्षण० प्राणवायोर्विपरीतगमनम् (इन्दु. असंनि. ४.५)

-संशय-पु., जीवितसंशयः जीवितस्य हानिः क्षयो वा संकटमूलकः (सुचि. २८.२०)

-हारक-न., वनस्पति० वत्सनाभः (ध. ७.१२८)

प्राणाचार्य-पु., आयुर्वेदशास्त्रपारगः शीलवान्, मतिमान्, गुरुवत्पूज्यो वैद्यः (चचि. १(४).५१)

प्राणातिपात-पु., प्राणोत्क्रमणम् (अहसू. १२.४२)

प्राणानुबन्ध-पु., बलानुबन्धः बलाविच्छेदः (चशा. ३.१२)

प्राणापान-पु., उच्छ्वासनिःश्वासौ (चसि. ९.४)

प्राणाबाध-पु., लक्षण० प्राणपीडा (असंशा. ७.२८)

प्राणाभिसर-पु., सुवैद्यः यः प्राणान् गच्छतो व्यावर्तयतीति (चसू. ९.१८) योऽसौ कुलीनः पर्यवदात-श्रुतो दृष्टकर्मा शुचिर्दक्षो जितहस्तः सर्वोपकरण-वान् युक्तसर्वेन्द्रियः प्रकृतिज्ञः प्रतिपत्तिज्ञश्च, तथा च यः शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञानादौ निःसंशयः सुख-साध्यादिव्याध्यवस्थानां व्याधीनां च निदानादि-विज्ञाने विगतशङ्कस्त्रिविधायुर्वेदसूत्रादेः प्रवक्ता, मूल-फल-स्नेह-लवण-क्षीरिवृक्ष-मूत्र-पञ्चकर्माश्रयौषधानां प्रयोक्ता, विज्ञातस्वस्थवृत्तविहितभोजनपाना-दिनियमो बहुविधविधानयुक्तेषु स्नेहाद्युपचारेषु च कुशलः, शिरोरोग-विद्रधिशोफादिनानास्थानगत-क्षुद्ररोगाणां लङ्घनाद्युपक्रमाणां संतर्पणापतर्पणशोणि-तादिजानां व्याधीनां ज्ञाता चिकित्सकश्च, तथा चावगतहिताहितस्वप्नाऽऽहारदूतादिज्ञानः, आसव-क्वाथादिसिद्धौ दक्षो धात्वाश्रयाणां रोगाणां सौषधसंग्रहाणां दशप्राणायतनानां च ज्ञाता कृत्स्न-तन्त्रस्य ग्रहणधारणविज्ञानप्रयोगकर्मकार्यकालकर्तृ-करणकुशलः सर्वप्राणिषु संपादितमित्रभावश्च; एता-दृशो वैद्यः प्राणाभिसर उच्यते । एतद्विप-रीतस्तु रोगाभिसरः (चसू. २९.७)

प्राणायतन-न., प्राणस्याऽऽयतनं स्थानम्, यस्मिन्नायतने प्राणाः प्रतिष्ठिताः (चशा. ७.९) तानि संख्यया दश वर्तन्ते । शङ्खौ हृदयं बस्तिः शिरः कण्ठो रक्तं शुक्रमोजो गुदं च, येषामुपघाते प्राणोपघातो भवति (चसू. २९.१-३) प्राणानामग्नीषोमादीनां स्थानम् (सुसू. १५.२१)

प्राणायतनसमुत्थ-वि., प्राणायतनेभ्यः समुत्पन्नः (चसू.,२८.७)

प्राणायाम-पु., प्राणवायोरवरोधनम् ' यमनियमासन-प्राणायाम... ' इति योगसूत्रोक्तानामष्टयोगाङ्गा-नामेकम् यच्च ' प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ' इत्यनेन योगसूत्रेण विवृतमुपलभ्यते (सुसू. २६.१३) वायोर्निरोधः त्रिविधोऽयं रेचक-पूरक-कुंभक-भेदात् (ड. सुउ. ५०.१६)

प्राणावलम्बन-(परिव०) न., प्राणधारणम् (सुनि. १.१३)

प्राणाश्रय–पुं., प्राणाधारः (चचि. २६.४)

प्राणिन्–पु., प्राणसहितः पुरुषः (चशा. १.७७)
आत्मा (चशा. १.७७)
जीवो जन्तुर्वा (चसू. १.४८)

(प्राणि)–मातृ–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदा (रापरि. ४.२७)

प्राणेश्वर–पु., पारदयोग० गंधकाभ्रसूत्रत्रिफलाव्योषादि-साधितोऽयं सर्वाङ्गसुन्दरः (र. १८.८४-९०)
अभिन्यासाग्निमान्द्यग्रहणीपाण्डुरोगनाशकः (र. १२.१२५-२६)

प्राणोपरोध–पु., प्राणस्याऽवरोधः (चचि. १७.१८)
मरणम्, बलक्षय इत्यन्ये (चक्र. चसि. २.९)
प्राणायामः (सुउ. १९.७)

–सपत्न–पु., प्राणिशत्रुः (व्याधिः) (चचि.३.५)
ज्वरः (चचि. ३.५-९)

प्रातराश–पु. प्रातर्भोजनम्, दिवा भोजनम् (चचि. १५.२३७)

प्रातिका–स्त्री., वनस्पति० जपा (रापरि. १०.३९)

प्रातिलोम्य–वि., विपर्ययः, वैपरीत्यम् विपरीतम् इति डल्हणोक्ते भावप्रधाननिर्देशो बोध्यः तेन विपरीतं वैपरीत्यमिति प्राप्नोति (ड. सुउ. ६५.२१)

प्रातुद–वि., प्रतुदस्य (पक्षिणः) इदमिति प्रातुदम् (मांसम्) (अहसू. ६.५४)

प्राथमकल्पिक–वि., प्रथमे श्रेष्ठे कल्पे पक्षे भवतीति प्राथमकल्पिकः, श्रेष्ठः (चक्र. चसू. १३.२६)

प्रादक्षिण्य–न., आनुकूल्यम् (चसू. १५.७)

प्रादुर्भाव–पु., उद्भवः (असंसू. ८.११)

प्रादेश–पु., मान० विस्तृतयोरङ्गुष्ठतर्जन्योरवकाशमानम् (र. १०.३४-३९)

प्राधान्य–न., आधिक्यम् (चनि. १.१२(१))

–संग्रह–पु., श्रेष्ठद्रव्यसंग्रहः, मूलविरेचनेऽरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठम्, फलेषु हरीतकी, त्वक्षु तिल्वकः, तैलेष्वैरण्डजं तैलम्, स्वरसे कारवेल्लिका, पयःसु सुधापयः (सुसू. ४४.३-४)
द्र० ' अभ्यसंग्रह '

प्राप्त–वि., युक्तम् (सुचि. १.३३-३४; सुचि. २.३७)

–कारिन्–वि., युक्तकारी (सुशा. ४.८६)

प्राप्ति–स्त्री., भेषजस्य व्याधि शरीराद्यपेक्षया सम्यग्योजना (चसू. १.१२१)

प्रायश्चित्त–न., पापपरिमार्जनी क्रिया (चनि. ७.१६; चसू. ३०.२१) प्राक्तनकर्मोपशमार्थं स्मृत्युक्त-चान्द्रायणादिव्रतानुष्ठानम् (सुसू. ६.२०) .
भेषजम् (चचि. १.३)
चिकित्सा (सुसू. ३.२६)

प्रायोगिकी–वि., नित्यप्रयोज्या (धूमवर्तिः) (चसू. ५.२५)

प्रार्थना–स्त्री., ईप्सितार्थयाञ्चा (चशा. ४.१९)
अभिलाषा (सुसू. १५.९)

प्रालेय–न., हिमम् (असंचि. ९)

प्रावरण–न., आच्छादनम् (सुचि. ३२.६)

प्रावार–पु., गुरुप्रावरणं कम्बलादि (चसू. ६.१५)

प्रावृष–स्त्री., ऋतु० प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टेः कालः, वर्षा (चवि. ८.१२५) आषाढश्रावणौ मासौ प्रावृड्-घटकौ (चक्र. चशि. ६.५; सुसू. ६.१०)

प्रावृषेण्य–पु., वनस्पति० कुटजः (रा.९.१९)
कदम्बः (रा. ९.१७२)

(प्रावृषेण्या)–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (रा. ५.४०७)
कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)

प्रावृष्य–पु., वनस्पति० कदम्बः (ध. ४.१०५)
कुटजः (रा. ९.१८)
विकण्टकः (रापरि. ११.२०)

प्राश–पु., प्राश्यते इति प्राशः, आहारः (सुचि. ४.५)

प्रासह–वि. प्रसहस्येदमिति प्रासहम् (मांसम्) (अहसू. ६.५४)

प्रासाद–पु., गृह० हर्म्यम्, देवतानरेन्द्राणामधिष्ठानम् (सुसू. २८.१८-१९)
प्रसादभागः, स्वच्छो भागः (र. २३.७२-७४)

प्रासृतयोगीया–वि., अध्यायसंज्ञा० प्रसृतोपलक्षितान् योगान्अधिकृत्य कृता सिद्धिः, तेन (चसि. ८.१)

प्रास्रवण–वि., पर्वताश्रितम् उच्चप्रदेशप्रस्रवज्जलस्थानम् तत्सम्बन्धि (जलम्) (सुसू. ४५.८) द्र० ' जल '

प्रियंवदा–स्त्री., वनस्पति० जाती (ध. ५.१३७)

प्रिय–पु., वनस्पति० जीवकः (रा. ५.१५४)
उदकीर्यः करञ्ज० (ध. ५.१०९)

(प्रिया)–वि., मनोनुकूला (सुउ. ५५.३३)
स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६)
प्रियङ्गुः (ध. ३.१६)
मल्लिका (रा. १०.२२५)
आसुत० सुरा (रा. १४.३०१)

–जीव–पु. वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११४)

–दर्शन–वि., प्रियं दर्शनं यस्य सः, सुन्दरः (सुशा. ४.७२.)

वनस्पति० राजादनः (ध. ५.९१.)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ३०.१६)
-वादिन्-पु. पक्षि० चातकः (चइ. १२.७५)
-शत-न. प्रियाणां चाटूक्तीनां बालक्रीडनकदानादीनां च शतम् (सुशा. १०.४६)
-शाल-पु. वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३४)
-शालक-पु. वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२५)
प्रियक-पु. वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२५; सुउ.४७.६१)
प्राणि० ललितकः, अजगरप्रायः श्लक्ष्णो दीर्घः (ड. सुचि. ८.३७)
प्रियङ्करी-स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रा. ४.१२५)
जीवन्तीभेदः बृहज्जीवन्ती (रा. ३.१७९)
द्र० 'जीवन्ती'
बृहती (ध. १.९९)
प्रियङ्गु-पु., स्वनामख्यातः सुगन्धिलता० (चसू. ३.२६) कुधान्य० (सुसू. ४६.२१) तैलयुक्तफल० (सुसू. १४.३६) तृणधान्य० (अहसू. ६.१२) संधानीय-मूत्रविरजनीयपुरीषसंग्रहणीयशोणितस्थापनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९,१५,१८) धूमप्रयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.२०) तद्गुणाः- तिक्तो; मधुरकषायः (चसू. २७.१७) शीतो; लघुः (च) रक्तप्रसादनः; संग्राही, शोषणः (च) पित्तघ्नो मोहदाहज्वरवान्तिरक्तपित्तवक्त्रजाड्यघ्नः (ध. ३.१६) श्यामाकसदृशगुणः (चसू. २७.१७) हेमन्ते प्रियङ्गुलता पुष्पयुता भवति (सुसू. ६) (सुसू. ६.२२-२३) तस्य पुष्पमञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुसू. १७.८-१०)
हिं.—फूलप्रियङ्गु.
म.—गव्हला.
गु.—घडला.
बं.—गन्धप्रियङ्गु.
कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेश० (काखिल. २५.९)
प्रियङ्गुका-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (सुउ. ४५.१९)
प्रियाङ्गादिगण-पु. द्रव्य० (सुसू. ३८.४५)
गणान्तर्गतौषधयः, प्रियङ्गुः पुष्पाञ्जनं, स्रोतोञ्जनं, रसाञ्जनं, भार्ङ्गी, पद्मकेसरं, मञ्जिष्ठाऽनन्ता, शाल्मली, मोचरसः समङ्गा, पुन्नागश्चन्दनं, धातकी; तद्गुणाः—पक्वातीसारनाशनः संधानीयः, पित्ते हितकरो व्रणरोपणश्च (अहसू. १५.३७-३९; सुसू. ३८.४५)
प्रियात्मज-पु., प्रतुदपक्षि० शतपत्रभृङ्गराजकोयष्टिजीवंजीवकप्रभृतीनामन्यतमोऽयं पक्षी प्रतुदः, द्र० 'प्रतुद' (चसू. २७.५०)
प्रियाम्बु-पु. वनस्पति० आम्रः (रा. ११.३)
प्रियाल-पु., फल० श्रमहरगणे उदर्दप्रशमनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६-१७) चारः (सुसू. ४६.१५६) मधुरोऽम्लः शीतो गुरुः; स्निग्धः (चसू. १३.१०); वृष्यो; बल्यो, बृंहणः (चसू. २७.१५८); वातपित्तघ्नः; पित्तकफवर्धनः (च) पित्तदाहघ्नः (ध. ५.७२); क्षतक्षीणायास्य चूर्णं क्षीरेण सह दद्यात् (चचि. ११.३१); सरक्ते पवने प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चसू.३.२१); फलस्नेहः पित्तसंसृष्टे वायौ उपयोज्यः (सुचि.३१.५) तन्मज्जा-मधुरा, वृष्या, पित्तानिलापहा (सुसू. ४६.२०५)
हिं.— पियाल.
म.—चारोळी, चार.
गु.—चारोळी.
बं.—पिहाल.
ता.—चारप्परुप्पु.
फा.—नुकले, खाजा.
(प्रियाला)-स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५.५६)
-तैल-न., प्रियालस्य तैलम् श्लेष्माभिवर्धनम् (चसू. २७.२९१) शीतं, वातपित्तशमनं, सृष्टमूत्रमभिष्यन्द्यग्निसादनम् (सुसू. ४५.१२०) गुरु केश्यम् (ध. ६.१४२)
प्रीणन-वि., तृप्तिकरः, तर्पकः (चसू. १.१०७) न., तृप्तिः (अहसू. ११.४; सुसू. १५.५)
प्रीति-स्त्री., मनःसुखम् (चवि. ४.८; सुचि. २६.३९)
प्रेक्षण-न., शारीर० अक्षि, प्रेक्ष्यते दृश्यतेऽनेनेति प्रेक्षणं चक्षुः (सुउ. ४४.५)
-कूट-पु., शारीर० अक्षिकूटः (सुउ. ४४.५)
प्रेङ्खा-स्त्री., दोला (सुचि. २४.९२)
प्रेङ्खोलन-न., दोलनम्, हिन्दोलनम् (सुनि. ८.३)
प्रेत-वि., मृतम् (सुउ. ६०.१२) पु., पिशाच० (सुसू. ३१.३१) भूताधिपति० (असंउ. ७)
-गन्धिन्-वि., लक्षण० शटितमृतकगन्धतुल्यगन्धम् (ड. सुउ. ४०.१९)
-रूप-वि., लक्षण० प्रेतसदृशो मृत इत्यर्थः (सुसू. ६१.१६)

-लक्षण-न., मृतलक्षणम् (चइ. १.१९)
-लिङ्गानुरूपा-वि., प्रेतलक्षणसदृशी (चइ. १.७)
-सत्त्वनर-(परिव०) पु., राजससत्त्वभेदः, प्रेतस्वभावो नरः (सुशा. ४.९३-९४)
प्रेत्यभाव-पु., मरणोत्तरं पुरुषस्याऽस्तित्वम्, पुनर्जन्म (चवि. ८.३७)
प्रेय-पु., सूच्यग्रः (चक्र. चचि १३.१८८)
प्रेरण-न., चालना (चशा. ४.१२)
आदिकारणम् (चसू. २०.५)
स्वकार्ये योजनम् (चशा. १.७०)
प्रेष्य-पु., शुश्रूषको दासः, उपस्थाता (चनि. २.२२)
प्रैतसत्व-पु., प्रेतसत्त्वाधिष्ठितनरः, राजससत्त्वस्यैकः प्रकारः, तल्लक्षणं-आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् (चशा. ४.३८ (५))
प्रोक्षण-न., उपक्रम० सिञ्चनम् (चचि. २९.१२८). विधिपूर्वकं मारणम् (चक्र. चचि. १९.४)
प्रोक्षित-वि., व्यञ्जनोदकप्रोक्षणपूर्वकम् अथर्वमन्त्रैरभिमन्त्रितम् (सुसू. ४६.४४८)
प्रोत-वि., आसक्तम्, दृढस्थापितम् (अहसू. ७.४४)
पु., कर्पटः (सुसू. ५.६)
प्रोद्वृत्तफलयोनि-वि., प्रकर्षेणोद्वृत्तं फलं रजोरूपं यस्या योनेः सा (स्त्री) (अरु. अहसू. ३०.६)
प्रोन्नमन-न , प्रकर्षेणोन्नमनम् संपीडनानन्तरमेवोन्नमनम् (चचि. १२.१२)
प्रोष्ठपद-पु., भाद्रपदो मासः (काखिल. २३)
प्रौढा-वि., कामक्षमा (स्त्री) (सुउ. ४७.४४)
प्लक्ष-पु., क्षीरिवृक्ष० (सुउ. ४०.११९) मूत्रसंग्रहणीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) धूमपानप्रयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.२२) तद्गुणाः- कटुः, कषायः, शीतः, पित्तघ्नो रक्तपित्तमूर्च्छाश्रमप्रलापभ्रमनाशकः (ध. ५.८१) क्षारागदे आवापार्थमुपयुज्यते (सुक. ६.३) तस्य स्वग्योनिरोगेष्वास्रावे चूर्णपिण्डं धारणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३९) तत्प्लुवाः शाकत्वेनोपयुज्यन्ते (चसू. २७.१०५) तत्फलगुणाः- मधुरकषायाम्लः अम्लपाकी, पित्तश्लेष्महरोवातलो गुरुः (चसू. २७.१६४)
हिं.—पाखर.
म.—पिम्परी, पाकरी, वस्सरी, पारोसा पिंपळ.
गु.—पीपर्य.
बं.—पाकुडगाछ.
ता.—इचि.
प्लव-पु., जलचरपक्षि० (चसू. २७.४१; चचि. २६.२४६)
प्लवन्ते पानीये तरन्ति ये ते प्लवाः (सुसू. ४६.१०५-१०६) तत्प्रकाराः- हंससारसकारण्डबककौञ्चशरारिकाबलाकाद्याः सकादम्बा नन्दीमुखाः । तद्गुणाः-रसपाकयोः मधुरः शीतः उष्णः (रा.) स्निग्धो गुरुर्वातलः श्लेष्मलो बल्यः, सरः, शुक्रलः, पित्तघ्नः (रा. १७.२०) रक्तपित्तहरो वातघ्नः सृष्टमूत्रपुरीषश्च (सुसू. ४६.१०६)
नौः (सुसू ३४.१८-१९)
न., वनस्पति० कैवर्तमुस्तकम् परिपेल्लम्, कुष्ठे प्रलेपनार्थमुपयुक्तम् (चचि. ७.१३०; ध. ३.५५; सुचि. ११.९)
-ज-पु., पक्षि० प्रसेवकगलः चक्रः द्र० 'प्लव' (चसि. ३.१२)
-दला-स्त्री., वनस्पति० मण्डूकपर्णी (र. १२.७४)
प्लवक-पु., वनस्पति० प्लक्षः (ध. ५.८१)
प्लवङ्ग-पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२५)
प्लवन-न. गमनम् (चसू. २६.४१) नद्यादितरणम्, स्नानम्, जलप्रतरणम् (चवि. ६.१८; असंसू. १०)
प्लवोद्राहिन्-पु., निर्विषसर्प० (असंउ. ४१)
प्लीहन्-पु., शारीर० पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०)
तत्स्थानम्-हृदयस्याधो वामतश्च (सुशा. ४.३१)
रञ्जकपित्तस्य स्थानम् (सुसू. २१.१०)
रक्तधरायाः कलायाः स्थानम् (सुशा. ४.१०)
रक्तवहस्रोतोमूलम् (चवि. ५.८)
प्लीहाशोणितजः (सुशा. ४.२५)
रोग० प्लीहावृद्धिः (चसू. १८.२८; अहसू. ११.८)
(प्लीह)-घ्न-पु., वनस्पति० रोहिषः (इन्दु. असंउ. ४८)
-(घ्नी)-स्त्री., वनस्पति० रोहीतकः (र. २९.७१)
शरपुङ्खा (र. २९.७१)
-ज-वि., प्लीह्नि जातः (चसू. १७.१०१)
-जठर-पु., रोग० प्लीहोदरम् (चचि. १३. ३८)
-दोष-पु., प्लीहाया दोषः रोगः (चसू. १९.३)
-वृद्धि-स्त्री., रोग० कोष्ठानुसार्यन्तर्मार्गज एकः (चसू. ११.४९)
रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१२)

तत्संप्राप्तिः–यस्य कुपितो वातः प्लीहानमुध्दूय तिष्ठति तस्य पार्श्वं परितुदञ्श्छनैः प्लीहाऽभिवर्धते (चसू.८.२८; अहसू.५.३४) प्लीहवृद्धिर्द्विविधा-संक्षोभादिच्युतस्य प्लीह्नो वृद्धिरच्युतस्य वा शोणितवृद्ध्या वृद्धिः इति प्लीहवृद्धिर्द्वैविध्यम् (चचि. १३.३ ६)

–शत्रु–पु., वनस्पति० अश्वत्थफला (रा. ४.१३)

प्लीहाभिवृद्धि–स्त्री., रोग० प्लीहवृद्धिः (चनि. ८.१८; सुनि. ७.१४-१६)

प्लीहोदर–न., रोग० उदरभेदः, विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य रुग्णस्यात्यर्थं प्रदुष्टम् असृक् कफश्च प्लीहाभिवृद्धि नाम प्लीहोदरं करोति । तल्लक्षणानि–मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुश्च भवति (सुनि. ७.१४-१५) तच्चिकित्सा–मणिबन्धं सकूर्परामथित्वा वामाङ्गुष्ठसमीरितां सिरामभितक्षेन शस्त्रेण दहेत् (सुचि. ११.१६)

प्लुत–वि., मिश्रितम् (सुचि. ३७.४१)

प्लुष्ट–न., चतुर्विधाग्निदग्धेष्वेकम् इदं वैवर्ण्यातिदाहकरम् (सुसू. १२.१६)

प्लुत–पु., कर्पटः वस्त्रपट्टिका, वस्त्रखण्डम् (असंउ. १४; अहसू. २७. ११)

न., वस्त्रम्, (सुशा. ८.८)
शुक्लवस्त्रम् (ड. सुचि. ३३.१४)

प्लोष–पु., रोग० चत्वारिंशत्–पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४) प्रादेशिकः स्वेदरहितः अग्न्यर्चिषेव दाहः प्लोषः (असंसू २०.)

फ

फक्क–पु., बालरोग० पाङ्गुल्यम्, तत्सामान्यलक्षणम्–संवत्सरवयो बालः पादाभ्यां न गच्छति स फक्कः, बहुभोजिनः प्रायः प्रदुष्टग्रहणीका बालाः फक्कत्वमाप्नुवन्ति । तेषां भुक्तमपार्थकं भवति । मन्दाग्नित्वाद् द्रवोत्सर्गाच्च बाला बहुमूत्रपुरीषिणो भवन्ति । क्षीरजगर्भजव्याधिजभेदादेष त्रिविधः, तत्र क्षीरजलक्षणम्–श्लैष्मिकदुग्धाया धात्र्या दुष्टक्षीरपानाद् बालो बहुव्याधिपीडितः कृशश्च भवति । ततः पाङ्गुल्यमवाप्नोति । गर्भजलक्षणम्–गर्भिणीमातृको बालः स्तन्यस्य विनिवर्तनात् क्षीयते म्रियते वा, स गर्भपीडितः फक्कः, गर्भिण्याः स्तन्यपानाज्जातं फक्कत्वम्, पारिगर्भिकरोगाज्जातं च, व्याधिजलक्षणम्–निजागन्तुभिर्ज्वरादिभिर्बालः क्लिश्यते तथा क्षीणमांसबलद्युतिः सुशुष्कस्फिग्बाहूरुर्महोदरशिरोमुखः पीताक्षो हृषिताङ्गो दृश्यमानास्थिपञ्जरः प्रम्लानाधरकायो नित्यमूत्रपुरीषकृन्निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमो वा भवति । दौर्बल्यान्मन्दचेष्टो मन्दत्वान्मक्षिकाकृमिकीटानां गम्य आसन्नमृत्युरुक् च भवति । विशीर्णहृष्टरोमा स्तब्धरोमा महानखो दुर्गन्धी मलिनः क्रोध्यतिविण्मूत्रदूषिकासिङ्घाणकमलोद्भवः सन् श्वसिति ताम्यति च (काफक्कचि) तत्र चिकित्सा–षट्पलामृतकल्याणकघृतानामन्यतमपानादनन्तरं सप्ताहापगमेन त्रिवृत्क्षीरेण शोधितकोष्ठः फक्करोगी शूद्रवर्जं ब्राह्मीघृतं पिबेत् (काफक्कचि.).

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (काफक्कचि.)
–त्व–न., रोग० बालपाङ्गुल्यम् (काफक्कचि.)
–दुग्धा–स्त्री., श्लैष्मिकदुग्धा (काफक्कचि.)
–रथक–न., बालक्रीडनक० बालशकटः (काफक्कचि.)

फञ्जादिशाक–न., शाकवर्ग० फञ्जादिपञ्चकं, फञ्जिका जीवनी पद्मा तर्कारी चुचुकश्चेति पञ्चकं भेडा कुणजस्त्रिपुटश्चेत्येषां पत्राणां शाकम्, तद्गुणाः–दीपनं पाचनं रुच्यं बलवर्णविधायकं ग्राहि वृष्यं सुखावहं त्रिदोषशमनं च (रा. परि. ७.९५)

फञ्जिका–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–ग्राहिणी दीपनी रुचिदायका वातामयहरा च (रापरि. ७.९४)

फञ्जी–स्त्री., शाक० ब्राह्मणयष्टिका (चसू. २७.९८)
वनस्पति० भार्गी (सुसू. ३८.१८; सुउ. ४०.११३; ध. १.६८)
वनजपत्रशाक० चुञ्चवादिवर्गोक्ता, इयमल्पबला, भार्गी (सुसू. ४६.२५२)
बद्धमूत्रा सरा च (असंसू. ७.१२७)
पाठाभेदः, इयमतिसारशूलप्रणाशिनी पिच्छाबस्त्युपयुक्ता च (सुउ. ४०.११३)
वृद्धदारुभेदः जीर्णदारुः (रा. ३.१५७)

–चिल्यादिगण–पु., द्रव्यगण० फञ्जी–चिल्ली–कुतुम्बक-कुटिञ्जर–शण–शाल्मली–कर्बुदारादिः तद्गुणाः–मधुरो गुरुः रूक्षो विष्टम्भपूर्वकं जरणशीलः शीतवीर्यः पुरीषभेदनश्च (चसू. २७.९८-१०३)

फटकी–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री, ईषत्पीतेयं गुरुस्निग्धा विषनाशिनी व्रणकुष्ठहरा च (र. ३.६७)

फटिका–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०६)

फण–पु., मर्म० फणा (असंशा. ७.२३)

(फणा)–स्त्री., मर्म० स्थानतः शिरोमर्म (सुशा. ६.६) जातितः सिरामर्म (सुशा. ६.७) सङ्ख्यया द्वे, मानम्–प्रत्येकमर्धाङ्गुलम्, घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरद्वारविवरसम्बद्धे फणे वैकल्यकरे च ते; तद्विद्धे गन्धाज्ञानम् (सुशा. ६.२७)

(फणी)–स्त्री., वनस्पति० सर्पिणी (रापरि. ५.३९)

फणिज्ज–पु., वनस्पति० मरीचकः (अहसू. १५.३०; असंसू. १६.२४)
मरुबकः, तुलसी (र. २२.१५९)

फणिज्जक–पु., वनस्पति० मरुबकः (असंउ. २८)
गुणाः–तिक्तः कटुः शीतो रूक्षः (उष्णः रा.)
रुच्यो मुखसौगन्ध्यकृत कफघ्नः कृमिकुष्ठविङ्बन्धा-
ध्मानशूलाग्निमान्द्यत्वग्दोषरक्तदोषघ्नो विषघ्नश्च
(ध. ४.५२)
हिं.—मरुआ गोलातुलसी.
म.—मरवा.
गु.—मरवो.
बं.—गन्धतुलसी.
त.—मरुक्कोळुन्तु.

फणिज्झ–पु., वनस्पति० फणिज्झकः (सुउ.११.५)
निर्गुण्डी (सुउ. १.२५)

फणिज्झक–पु. वनस्पति० फणिज्जकः मरुबकः
(चक. १.२५; सुसू. ३८.१८)
फाणिज इति लोके (सुसू. ४६.२२१)
पर्णासभेदः (चक्र.) कुष्ठादिहरप्रदेहोपयोगी
(चसू. ३.४) शिरोविरेचनोपयोगी (चसू. २.४)
कुकूणके आश्चोतनोपयोगी (काखिल. १३.१७)

फणिन्–पु., वनस्पति०फणिज्जक (ध. ४.५२)
सर्प० दर्वीकरः अयं सर्वेषामनिलकोपनः
(सुक. ४.२९)

(फणि)–केसर–न., वनस्पति०नागकेसरम् (रा. ६.७४)

–चम्पक–पु., वनस्पति० नागचम्पकः (रा. १०.२४०)

–जिह्वा–स्त्री., वनस्पति० शतावरीभेदः, सहस्रवीर्या (रा. ४.४४२) द्र० ' शतावरी '

–नेत्रा–स्त्री., वनस्पति० सर्पाक्षी, गन्धनाकुली (र. ११.४८)

–लता–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली धपरि. ११.६)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ११.६; र. १२.६४-७३)

–हन्त्री–स्त्री., वनस्पति० नाकुलीभेदः, महासुगन्धा (रा. ७.१५३) द्र० ' नाकुली '

–हृत्–पु., वनस्पति० धन्वयासभेदः, क्षुद्रदुरालम्भा (रा. ३.२३) द्र० ' धन्वयास '

फणिर्जक–पु., मरुवकः (इन्दु. असंउ. ४३)

फम्फणा–स्त्री., वनस्पति० इयं गर्भिणीस्नानजले निक्षेपार्थमुपयुक्ता (असंशा. ३.१४)

फल–पु., वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)

(फला)–स्त्री., वनस्पति० वार्ताकी (रा. ७.१२८)
न., यत् साध्यते तत्, परिणामः (चसू. २६.१३)
उद्भिज्जस्यैकमङ्गम्, यथा पुष्पकाण्डादि
(चसू. १.७३)
त्रिफला (ड. सुचि. ३८.२४; र. २०.२४५)
वनस्पति० मदनफलम् (चवि. ८.१३५)
असंसू. १६.११; अहसू. ८.१५)
जातीफलम् (ध. ३.३५) कङ्कोलकम् (ध. ३.३७)
शारीर० मुष्कम् (सुनि. १२.४)
गर्भाशयः (ड. सुशा. ५.४१; र. २०.२४५)

–कल्प–पु., मदनफलस्य कषायादिकल्पना (चक.१.३०)

–कोश–पु., शारीर० वृषणः (असंउ. २९)

–कोशवाहिधमनी–स्त्री., धमनी० यामाश्रित्य दोषः फलकोषं गच्छति (सुनि. १२.४) अण्डकोषा-नुसारिणी धमनीति, हाराणचन्द्रः

–कोष–पु., शारीर० अण्डकोषः (सुसू. २३.५)

–चोरक–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)

–तैल–न., तैल० बस्तिव्यापच्चिकित्सायामुपयुक्तम् (काखिल. ८.९६) अनुवासनोपयोगि (काखिल. १८.६६) फलबिल्वादिसिद्धं तैलम्, कफाधिकपुरुषानुवासनोपयोगि (सुचि. ३७.४६)

–त्रय–न., त्रिफला (रा. २२.१; र. १५.५८)

–त्रिक–न., त्रिफला (रा. २२.१)

–दर्शन–न., आरोग्यलाभः (सुचि. १.७५)

–पाक–पु., वृक्षस्य फले जाते पाकत्वम्, पूर्णवीर्य-वत्त्वम् (र. २९.४१)

–पाकान्त-वि., फलपाकपर्यवसितं औद्भिदं द्रव्यम्, ' ओषधिःफलपाकान्ता ' (असंसू. १२.३)

–पिप्पली–स्त्री., मदनफलमध्यगतं पिप्पलीसदृशं बीजम् (चक्र. चक. १.१३; ड. सुसू. ४३.३)

–पिप्पलीक्षीर–न., फलपिप्पल्याः क्षीरपाकविधिना साधितं क्षीरम्, अधोगरक्तपित्ते हृद्दाहे चोपयुक्तम् (चक. १.१७)

–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरभेदः, पिण्डखर्जूरिका (ध. ५.५५) द्र० 'खर्जूर'

–पूरक–पु., वनस्पति० बीजपूरकः, मातुलुङ्गम् (चचि. २०.२६; ध. ५.२२)

-पूरमूल-न., बीजपूरकमूलम्, वातजहृद्रोगे उपयुज्यते (चचि. २६.८४) किंचेदं मूलं रक्तपित्तशमनार्थं शतावर्यादिघृते समुपयुज्यते (चचि.४.९५)
-प्राशन-न., फलभक्षणम् (काखिल. १२.१५)
-प्रिया-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १२.२८)
-मात्रासिद्धि-पु., अध्यायसंज्ञा० (चसि. ११.१)
-मुख्या-स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५२)
-यूष-पु.. योग० कपित्थबिल्वादिफलैः साधितः अयं जीर्णातिसारनाशनः (काखिल. ४.४७)
-योनि-स्त्री., शारीर० गर्भाशयः (हे. अहसू. ३०.६)
-रोचक-पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८)
-लुम्बि-पु., फलस्तबकः (हे. अहसू. ३.३५)
-वर्ग-पु., फलसंग्रहः, मधुरफलानि तालनारिकेलपनसादीनि, द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरादीनि तथा वातामाक्षोडाभिषुकप्रभृतीनि, क्षीरवृक्षफलजाम्बवराजादनफल्गुबिल्वप्रभृतीनि (चसू. २७.१२६-१२४; सुसू. ४६.१६३-१८८; असंसू. ७.२१०) तत्र दाडिमामलकद्राक्षाखर्जूरपरूषकराजादनमातुलुङ्गानि फलोत्तमानि (सुसू. ४६.३३४)
-वर्ति-स्त्री., कल्प० घृताभ्यक्ते गुदे क्षिप्ता श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा। मलप्रवर्तिनी च या सा फलवर्तिः (भा. प्र.) इयं मलवायुनिःसारणेन शूलनाशनी श्यामामदनजीमूतफलादिभिः कृता वर्तिः (सुचि. ५.२६) वर्तिक्रियया विण्मूत्राधोवातानां प्रवर्तनं भवति (अहसू. ८.१६; सुउ. ४२.१४५)
-विष-न., स्थावरविष० कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्षपघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि, तैर्मुष्कशोफदाहान्नद्वेषाश्च भवन्ति (सुक. २.५-८; असंउ. ४०)
-वृक्षक-पु., वनस्पति० पनसः (रापरि. ११.९)
-शाडव-पु., वनस्पति० दाडिमः (ध. २.६१)
-शैशिर-पु., वनस्पति० बदरम् (ध. ५.९६)
-संभारी-स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८)
-सर्पिस्-न., घृत० स्त्रीभिः पुष्पे सेवितं सत् फलाय प्रजोत्पादस्वरूपाय भवतीति फलसर्पिः, इदं योनिशुक्रप्रदोषादिहरं म्रियमाणप्रजानां गर्भिणीनां च प्रशस्तम् (असंउ. ३९)
-साधिततैल-न., तैल० मदनफलसिद्धं तैलम्, कफेऽनुवासनार्थमुपयुज्यते (चसि. ३.७०)
-सार-पु., वनस्पति० कपित्थः (असंउ. ४९)
-सारासव-पु., आसुत० बिल्वशयमांसभक्षणोत्तरमयमनुपानविशेषत्वेन कीर्तितः (सुसू. ४६.४३३)
-स्नेह-पु., फलोद्भवत्वात् स्नेहः फलयोजनया साधितः स्नेहः, यथा भल्लातकस्नेहः (सुचि. १.९४)
वनस्पति० अक्षोटः (ध. ५.६०)
-स्वादु-पु., वनस्पति० जलमधूकः (ध. ५.४८)
फलक-पु., न., काष्ठपट्टिका (सुचि. ६.४; अहसू. २९.५९)
पार्श्वम्, पट्टः (र. २.५७)
काष्ठपेटिका (असंसू. ८.५९)
शाल्मलीकाष्ठादिविरचितं पञ्चनिक्षेपणानामेकतमम् (सुसू. ४५.१८)
(फलिका)-स्त्री., वनस्पति० निष्पावी (रापरि. ७.९९)
फलत्-वि., स्फुटत् (ड. सुउ. ५९.४)
(फलिनी)-स्त्री., प्रशस्तफलवती (ओषधिः) सङ्ख्ययैकोनविंशतिः फलिन्यः (चसू. १.७४)
वनस्पति० इक्ष्वाकुः, कटुतुम्बी (चक. ३.३)
प्रियङ्गुः (सुचि. ३८.२७; ध. ३.१६; असंसू. १५. ४५; अहसू. १५.१४)
योनिरोग० त्रिदोषजोऽयम्, तल्लक्षणम्-अतिकायगृहीतायास्तरुण्या योनिः फलिनी कथ्यते (सुउ. ३८.१८)
फलाम्बु-न., फलोदकम्, फलसिद्धमुदकम् (असंचि. ३)
फलाढ्या-स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा. ११.११०)
फलादि-वि., फलं मदनफलमादिर्यस्य तथाविधः, गणोऽयं कफजहृद्रोगे उपयुज्यते (सुउ. ४३.१८)
फलाम्ल-पु., बीजपूररसः अयं क्षारप्रक्षालनोपयुक्तः (सुचि. ६.४)
वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
न., बीजपूरादि (ड. सुचि. ३३.२०)
तिन्तिडिका, अम्लवेतसः (चचि. १४.९८)
दाडिमबीजपूरकादिभिरम्लीकृतं मद्यम्, इदं पानाजीर्णे प्रयुज्यते (सुउ. ४७.३८) दाडिमादीनामम्लम्, वातविकारिणां हितम् (सुचि.४.१३-१४)
अमद्यपानामनुपानम् इदं सर्वविधमांसभक्षणे (सुसू. ४६.४२८) मांसेष्वनुपानम् (असंसू.१०.४७)
फलाम्लक-न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)
फलारिष्ट-पु., कल्प० कृष्णात्रेयप्रोक्तो हरीतक्यामलकविशालादिसिद्धः, अयं ग्रहण्यर्शोहृत्पाण्डुरोगप्लीह-

कामलाविषमज्वरवर्चोमूत्रानिलविबन्धाग्निमार्दव-कासगुल्मोदावर्तनाशनोऽग्निसन्दीपनश्च (चचि. १४.१४८-१५२)

फलाशिन्–वि., फलभक्षकः (सुसू. ४६.१३४)

फलिन–पु., वनस्पति० पनसः (रापरि. ११.९)

फलेरुहा–स्त्री., वनस्पति० पाटलाभेदः, काष्ठपाटला (ध. १.१२२) द्र० 'पाटला'

सितपाटलिः (रापरि. १०.१६)

फलोत्तमा–स्त्री., द्राक्षाभेदः, काकलीद्राक्षा (रा. ११.७९; ध. ५.५८) द्र० 'द्राक्षा'

फलोदक–न., फलरसः, फलसिद्धमुदकम्, रक्तपित्ते तृष्णाहरमेतत् (चचि. ४.५१)

फल्गु–पु., ज्वर० लक्षणानि–"अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्ष-गलग्रहाः। निष्ठीवेत् कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते। विड्भेद-श्वास-हिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः॥ विधु-फल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ।" (मानि.) पित्तश्लेष्माधिक-सन्निपात-ज्वरः, (काविशेषक.)

स्त्री., वनस्पति० मलयुः (इन्दु. असंउ. १०)

काकोदुम्बरिका काष्ठोदुम्बरिका (चक्र.चचि.१०.१९; असंसू. १५.३९; अहसू. ६.१२०)

तद्गुणाः–मधुरा गुरुः स्निग्धा विष्टम्भिनी तर्पणी च (सुसू. ४६.१७१)

काष्ठोदुम्बरिका (चचि. २(१).२७; सुउ. ६१.३४)

श्रमहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)

न., फल० औदुम्बरम्, तद्गुणाः–गुरु शीतलं विष्टम्भि बृंहणं तर्पणं च (चसू. २७.१२८)

–**वाटिका**–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)

–**वृन्ताक**–पु., वनस्पति० टिण्टुकभेदः, पृथुशिम्बः (रा. ९.१४२; ध. १.११५) द्र० 'टिण्टुक'

फल्गुनी–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८)

फल्गू–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८)

फाणित–पु., क्षौद्रगुडकृतः, मृदुस्नेहनः, बालवृद्धादीनां सद्यःस्नेहनकृत् (अहसू. १६.४१)

न., इक्षुविकारः अर्धशृत इक्षुरसः (चक्र. चक.३.१६) स्त्यानमध्वाकृति (सुउ. ४०.९०) तत्स्वरूपम्–किञ्चिद्गाढो बहुद्रवो यः पक्व इक्षुरसः, स फाणितमित्युच्यते (भा. प्र.) तद्गुणाः– गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृत् (सुसू.४५.१९५) स्निग्धोष्णं चलकृच्च (असंसू. १७.४१)

इक्षुविकाराणामहिततममेतत् (चसू. २७.३९; अहसू. ५.५१)

फाणितीभूत–वि., फाणितीकृतम्, फेनिलम् (चक. १.२०)

फाण्ट–पु., न., कल्प० कषायभेदः, भेषजमुष्णतोये क्षिप्त्वा मृदितं तत् (चसू. ४.७; असंक. ८)

आन्तरिक्षेण वारिणा क्वथितोऽर्धावशेषितः सकृद्वा फाणितः कषायः अल्पदोषबले बाले लघुव्याधौ च प्रशस्तोऽयम् (काखिल. ३.४०)

फाल–पु., लोहफलकः, तापस्वेदे उपकरणेष्वेकम् (अहसू. १७.१)

–**कृष्ट**–वि., फालेन कृष्टः (चक. १.९)

फाल्गुन–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९३)

मास० "फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः" (सुसू. ६.१०)

फिरङ्ग–पु., रोग० अयमागन्तुजः, अस्मिन् दोषसङ्क्रमोऽनन्तरं भवति। स त्रिविधः– बाह्य आभ्यन्तरो बहिरन्तर्भवश्च, बाह्यलक्षणम्–विस्फोटसदृशोऽल्परुक् स्फुटितो व्रणवद् भवति। आभ्यन्तरलक्षणम्–असौ सन्धिषु भवति, आमवात इव व्यथां शोफं च जनयति। बहिरन्तर्भवलक्षणम्–क्षीणोपद्रवैर्युतः कार्श्यबलक्षयनासाभङ्गादियुतो बहिरन्तश्च व्याप्तः तत्र बाह्यो नवीनो निरुपद्रवश्च साध्यः, आभ्यन्तरः कष्टसाध्यः, बहिरन्तर्भवश्च क्षीणोपद्रवयुक्तोऽसाध्यः, तदुपद्रवाः–कार्श्यबल क्षयो नासाभङ्गो वह्निमन्दताऽस्थिशोषोऽस्थिवक्रता च (माफिरङ्गनि.)

फुप्फुस–पु., न., शारीर० हृदयनाडिकालग्न उरःस्थोऽवयवः, असौ शोणितफेनप्रभवः (सुशा. ४.२५; असंशा. ५.४८) "उदानवायोराधारः फुप्फुसः प्रोच्यते बुधैः" (शार्ङ्गधर. पूर्वखंडे ५.४५)

फुल्लकी–स्त्री., सौराष्ट्री-भेदः (र. ३.६६)

फुल्लतुवरी–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री-भेदः (र. ३.६९)

फेन–पु., समुद्रफेनः, अञ्जनोपयोगी (सुउ. १०.८)

लेखनद्रव्यम् (सुचि. १.४०; र. १९.३९)

मुखस्रावः (र. २३.७)

(फेना)–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)

न., समुद्रफेनः (ध. ३.१५४)

जलहासः (सुक. १.४४)

–**जन्मन्**–न., फेनोत्पत्तिः (सुक. १.४४)

–**दुग्धा**–स्त्री., वनस्पति० दुग्धफेनी (रापरि. ५.३४)

-पटल-न., फेनसमूहः (असंसू. ८.११)
-भूत-वि., फेनसदृशम् (चचि. १५.९)
-माला-स्त्री., फेनसंहतिः (चचि. २३.१११; असंसू. ८.११)
-मेह-पु., कफजमेहः तल्लक्षणम्-फेनमेही स्तोकं स्तोकं सफेनमच्छं मेहति (सुनि. ६.१०) फेनमेहिने त्रिफलारग्वधमृद्विकाकषायो मधुमधुरो देयः (सुचि. ११.९)
-संघात-पु. अष्टौ क्षीरदोषेष्वेकः फेनसमूहः (चसू. १९.४(१); चचि. ३०.२४०)
फेनक-पु., जलविकारः समुद्रफेनः (सुचि. २४.५५) भक्ष्य० गोधूमचूर्णकृतः, तत्कृतिः- " विमर्द्य विमलां शुक्लां समितां नातिशर्करां संवेष्टनाय गर्भार्थं खरपाकं घृते पचेत् " (ड) तद्गुणाः-बृंहणो वातपित्तघ्नो हृद्यो बल्यः पथ्यतमो लघुश्च (सुसू. ४६.३९९)
फेनागमन-न., लक्षण० फेनस्रावः (चनि. ७.७ (१)
फेनानुविद्ध-वि., फेनमिश्रम् (सुनि. १०.११)
फेनाश्मन्-न., धातुविष० मलः (सुक. २.५;असंसू.४०) अनेन हृत्पीडनमूर्च्छातालुदाहा भवन्ति (सुक.२.१०)
फेनिल-वि., फेनसहितम् (सुसू. १४.२१)
पु., वनस्पति० रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८७; र. ३०.६९)
न., वनस्पति० बदरम् (ध. ५.९६)
(फेनिला)-स्त्री., वनस्पति० उपोदिका (चक्र. चचि. २९.११०; ड. सुउ. ३९.२८४)
-फल-न., अरिष्टकफलम्, रीठाकरञ्जः (र. ३०.४६)
फेनोद्गमन-न., लक्षण० कुमारस्य ग्रहोपसृष्टस्य मुखात् फेनस्य प्रवृत्तिः (सुशा. १०.५१)
फोण्डालु-पु., वनस्पति० तद्गुणाः- कटुरुष्णो दीपनः श्लेष्मवातघ्नश्च (रापरि. ७.३०)

ब

बक-पु., पक्षि० प्लवजातीयः अयं संघातचारी पाण्डुरपक्षो जलचरश्च (चसू. २७.४१; सुसू. ४६.१०५)
हिं.—बगुला.
बं.—बकोट.
म.—बगळा.
वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३)
बकर-पु., पक्षि० प्लवजातीयः, अयं बकसदृशः (अहसू. ६.४५)
बकुल-पु., वनस्पति० अयं वसन्ते पुष्पितो भवति (सुसू. ६.२७) तद्गुणाः- मधुरः कषायः शीतो हृद्यो हर्षकरो विषघ्नश्च (ध. ५.१५४)
न., बकुलपुष्पम्, तद्गुणाः- मधुरं कषायं शीतलं स्निग्धं संग्राहि (ध. ५.१५४) पित्तकफास्रजित् (असंसू. १२.८६) रूक्षं गुरु विबन्धाध्मानजननं स्तम्भनं वातकोपनं च (असंसू. ७.१८२)
हिं.—बकुल.
म.—बकुळ.
बं.—बकुलगाछ.
ता.—मोगदम्.
बकुलफलम्, तद्गुणाः-कषायं मधुरं गुरु दन्त्यं च (ध. ५.१५४)
(बकुला)-स्त्री., वनस्पति० कटुका (रा. ६.५४)
बक्कस-पु., आसुत० जगलोऽद्रवः, किण्वौषधमात्रम्, तद्गुणाः-गुरुर्दीपनो विशदः सृष्टविण्मूत्रोऽल्पमदो विष्टम्भी वातकोपनश्च (सुसू. ४५.१८११-८२; असंसू. ६.१२२)
बक्वस-पु., आसुत० बक्कसः, अद्रवो जगलः (सुसू. ४५.१८१)
बडिश-पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.११) गर्भस्य हस्तपादौ पूर्वमभिनिर्वर्तेते इति मतविशेषमास्थितः (चशा. ६.२१)
शस्त्र० बडिशम् (असंसू. ३४.३१)
न., यन्त्र० मत्स्यवेधनम् (हे. अहसू. २५.३१)
मत्स्यबन्धनयन्त्रम् (ड. सुक. ३.२९)
शस्त्र० शल्याहरणोपयोगि, अङ्कुशवदानतं तीक्ष्णकण्टकमुखं मानतः षडङ्गुलम् (सुसू. ८.३-११)
गलशुण्डिकार्मादेर्ग्रहणे उपयुक्तम् (असंसू. ३४.३१; अहसू. २६.१६)
-मुखा-स्त्री., शलाका० बडिशाकृतिरेषा शल्याऽऽहरणार्था (सुसू. ७.१४; असंसू. ३४.१५)
बदर-पु., वनस्पति० देवसर्षपकः (रापरि. ९.४२)
न., मान० शाणद्वयम् (चक. १२.८९)
वनस्पति० स्वेद्योपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३; असंसू. १५.२७) उदर्दप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७; असंसू. १५.४२) हृद्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०; असंसू. १५.१५) श्रमहरगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६; असंसू. १५.३९) विरेचनोपग-

गणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३; असंसू. १४.४) वातसंशमनवर्गोक्तमेकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.७) पित्तश्लेष्मप्रकोपि च (चसू.२७.१३२) हिध्मानाशनम् (असंसू. १५.३०) वमिनिग्रहणगणोक्तमेकं द्रव्यम् (असंसू. १५.२८) बदराणि श्वाविधवराहमांसानि चैकध्यं नाश्नीयात् (असंसू. ९.९) कर्कन्धुकोलबदरसौवीरसिञ्चितिकेतिभेदेन पञ्चविधम् तत्सामान्यगुणाः– मधुरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित् (चसू. २७.१४१) तत्र कर्कन्धुरल्पबदरम्, कोलं मध्यप्रमाणम्, बदरं महत्, सौवीरं महत्तमम्, सिञ्चितिकाफलं मुष्टिप्रमाणं च, आमं कर्कन्धु-कोल-बदरं पित्तकफावहम्, पक्वं समधुरं स्निग्धं सरं पित्तानिलहरं च, पक्वमामं च सौवीरं मधुरं स्निग्धं वातपित्तजिच्च, सिञ्चितिकाफलमतिमधुरम्, पुरातनं बदरं तृट्शमनं लघु दीपनं श्रमघ्नं च (सुसू. ४६.१३९; ध. ५.९८) बृंहणं गुरु विष्टम्भि कफशुक्रकृच्च (अहसू. ६.१२१) राजनिघण्टौ–बदरं राजबदर-भूबदरी-लघुबदरभेदेन त्रिविधम्, तत्सामान्यगुणाः–मधुरं कषायमम्लमुष्णं कफकृत् श्रमशोषातिसाररक्तदोषघ्नं रुच्यं च, तत्र राजबदरं सुमधुरं शिशिरं वृष्यं पित्तवातघ्नं दाहार्तिशोषश्रमघ्नं च, भूबदरी–मधुराम्ला रुच्या पथ्या दीपनपाचनी किञ्चित् पित्तास्रकारिणी कफवातघ्नी च, लघुबदरं मधुराम्लं, पक्वं कफवातनाशनं रुच्यं स्निग्धं तु जन्तुकृदीषत् पित्तार्तिदाहशोषघ्नं च (रा. ११.१६०-६५) बदरबीजं हिक्कानिग्रहणम् (चसू. ४.१४) बदरफलं नेत्ररोगघ्नं च (रा. ११.१५९) नाडीव्रणेषु त्वग्, वर्तिद्वारा उपयुज्यते (सुचि.१७.३४) बदरमज्जा कषायमधुरः पित्तनाशनश्च (सुसू. ४६.२०६) बदरपत्रं लेपेन ज्वरदाहघ्नम् (रा. ११.१५९) बदरत्वचा विस्फोटशमनी (रा. ११.१५९) बदरकाष्ठाग्निर्मृदुः (र. १७.६९)

हिं.—बेर.
म.—बोर.
गु.—बोरडी.
बं.—कुल.
त.—इलन्तै.
फा.—कुनार.

(बदरी)–स्त्री., वनस्पति० वृक्षः बदरवृक्षः (चक. १.८; सुसू.३८.४८) वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४५) कपिकच्छूः (रापरि. ३.२०१)

–तर्पण–न., कल्प० बदरकृतस्तर्पणः, योगः वमनकृदसौ (चक. १.२६)

–पानक–न., आहारद्रव्य० बदरसिद्धं पानकम्, वमनकरमिदम् (चक. १.२६)

–फली–स्त्री., वनस्पति० बदरभेदः, भूबदरी (रा. ११.१६२) द्र० 'बदर'

–मद्य–न., आसुत० बदरसिद्धं मद्यम्, वमनकृदिदम् (चक. १.२६)

–मांसरस–पु., पेय० बदरयुक्तो मांसरसः वामकोऽसौ (चक. १.२६)

–मोदक–पु., आहारद्रव्य० बदरकृतो मोदकः (चक. १.२६)

–यूष–पु., आहारद्रव्य० बदरकृतो यूषः, सम्यग्वामकः (चक. १.२६) वातशूलघ्नः (सुउ. ४२.९८)

–राग–पु., कल्प० बदरकृतो रागः, अरोचकघ्नः। सम्यग्वामकश्च (चक. १.२६)

–लेह–पु., कल्प० बदरनिर्मितो लेहः, सम्यग्वामकः (चक. १.२६)

–षाडव–पु.,कल्प० बदरकृतः षाडवः,षाडवो मधुराम्लसंयोगविशेषरूपः (चक. १.२६)

–संमित–वि., अर्धकर्षप्रमाणम् (ड. सुउ. ५८.३७)

बदराम्ल–न., शूकधान्यकुधान्यशमीप्रभृतिनिर्दिष्टपूर्वान्नसमूहभक्षणोत्तरमिदमनुपानत्वेन प्रकीर्तितम् (सुसू. ४६.४३३)

बदरिका–स्त्री., वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)

बदरिवल्ली–स्त्री., वनस्पति० बदरभेदः, भूबदरी (रा. ११.१६२) द्र० 'बदर'

बदरी–स्त्री., वनस्पति० बदरवृक्षः (चक. १.८)

–पत्र–पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०८)

–पल्लवोत्थ–वि., बदरीपत्राणां मथनाज्जातं फेनादि दाहे लेपनार्थं शस्तम् (चचि. २४.१६०)

बदरोत्कारिका–स्त्री., आहारद्रव्य० बदरनिर्मितोत्कारिका सम्यग्वामनीयम् (चक. १.२६)

बदुला–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, सूक्ष्मैला (ध. २.४४) द्र० 'एला'

बद्ध–वि., ग्रथितम् (सुचि. १४.१७)

–गुद–न., उदररोगः, बद्धगुदोदरम् (सुचि. १४.३)

–गुदोदर–न., उदररोगः, तत्सम्प्राप्तिः–सहान्नभुक्तैः पक्ष्मबालैरुदावर्तैश्च तथाऽश्रोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा

मार्गसंरोधात् कुपितोऽपानोऽनिलोऽग्निं हत्वा वर्चः-पित्तकफान् रुध्वा बद्धगुदोदरं जनयति (चचि. १३.४०) तद्रूपाणि- तृष्णादाहज्वरमुख-तालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाक-वर्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूला-न्यपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणं नीलराजि सिरावनद्धराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभि-निर्वर्तते (चचि. १३.४१; असंनि. १२.३१-३४) हृन्नाभिमध्ये वृद्धिमेत्युदरम्, अत्र विट्समगन्धिकं प्रच्छर्दनं भवति (सुनि. ७.१८) शस्त्रचिकित्स्योऽयं व्याधिः (सुचि. १४.१७)

-निष्यन्द-वि., लक्षण० बद्धमूत्रं रुद्धपूयगतिकं वा (सुसू. ३३.२२)

-निस्यन्द-वि., लक्षण० बद्धमूत्रम् (सुसू.४५.१८७)

-प्रच्युतदोष-वि., लक्षण० बद्धः प्रच्युतः वा पुरीषादिरूपो दोषो यस्मिन् सः (ज्वरः) (चचि. ३.१६८)

-रसाल-पु., (परिव०) वनस्पति० आम्रभेदः, राजाम्रः (रा. ११.११) द्र० 'आम्र'

-वर्चस्-वि., ग्रथिताल्पपुरीषकृत् (अहसू. ६.४)

-विट्क-वि., बद्धपुरीषम्,ग्रथितपुरीषम् (अहसू.५.५६)

-विट्कता-स्त्री., लक्षण० शकृतः कृच्छ्रात्प्रवृत्तिः (सुउ. ३९.३०)

बद्धाक्ष-वि., वस्त्रादिभिर्बद्धनेत्रः (असंसू. ३३.९; अहसू. २४.२१-२२)

बद्धाबद्धप्रलापिन्-वि., लक्षण० सम्बद्धाऽसम्बद्धजल्पकः (चचि. ९.२०)

बद्धायन-वि., बद्धमार्गम् (चचि. १३.३९)

बद्धास्य-वि.,लक्षण० आस्ये स्थितिकरत्वेन चिरकालानुबद्धः (ड. सुउ. ५२.१४)

बद्धोदर-न., उदरभेदः, बद्धगुदोदरम् (चसू. १९.४ (१); अहसू. १९.५) द्र० 'उदर०'

बद्धोदरिन्-वि., बद्धगुदोदरः (चचि. १३.१०५)

बधिर-पु., वनस्पति० भूतृणम् (रा. परि. ८.४२; रा. ८.७३)

कर्णरोग० जन्मबलप्रवृत्तो मातुरपचारजातो दौहृदापचारभवश्च (सुसू. २४.५) बाधिर्यम्, तत्सम्प्राप्तिः-यदा कर्णस्रोतसि शुद्धो वायुः सकफो वा कर्णशष्कुलीपरिच्छिन्नमाकाशमाश्रित्य विविधमार्गं चावृत्य तिष्ठति, तस्य चिकित्सामकुर्वतो बाधिर्यं जायते (सुउ, २०.८; र. २४.१)

-त्व-न., लक्षण० स्पर्शज्ञानराहित्यम् (र. १२.९९)

रोग० बाधिर्यम् (र. १२.९९)

बन्दाक-पु., वनस्पति० वृक्षादनी (सुचि. ६.१३)

बन्ध-पु., व्रणबन्धनार्थमुपयुक्तं वस्त्रम्, बध्यते व्रणादि अनेन इति बन्धः (चचि. २५.९६)

प्रकृतिबन्धः, संसारः (चशा. १.४१)

विबन्धः, अवरोधः (सुसू. ४२.९)

लक्षण० स्रोतोरोधः (अहसू. १०.१२)

सन्धिबन्धः (चसू. १८.५१)

संस्कार० पारदबन्धः चाञ्चल्यदुर्ग्रहत्वविनाशसह-चरितं पारदस्य स्थिरीभवनम् हठारोटादयः पञ्च-विंशतिः पारदबन्धाः (र. ११.६०)

उपक्रम० बन्धनम्, समन्ताद्रिष्टाबन्धोऽव्रणबन्धश्च (चसू. १८.५)

भूतादिचिकित्सायां रज्ज्वादिभिः समन्त्रैर्बन्धनम् (सुउ. ३९.२६५)

व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेष्वेकः, व्रणबन्धनम्, सः त्रिविधः, सम-गाढ-शिथिलभेदात् (सुसू. १८.२३; सुचि. १.८; असंसू. ३८.४३) तत्र समो नैव गाढो नैव शिथिलः, स च शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्-मुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरःसु विधीयते (सुसू. १८.२३-२४; अहसू. २९.६३)

गाढः पीडयन्नरुजः, स च स्फिक्कुक्षिकक्षावङ्क्षणोरु-शिरःसु विधीयते (सुसू. १८.२३-२४; अहसू. २९.६२)

शिथिलः सोच्छ्वासः स चाक्ष्णोः सन्धिषु विधीयते (सुसू. १८.२३-२४; अहसू. २९.६८)

बन्धगुणाः-व्रणस्य शुद्धिकरो मृदुत्वकरो निःशङ्क-रोहणरोपणकृत् (सुचि. १.१११) अस्थिसन्धिस्थैर्य-करश्च (सुसू. १८.३) वेदनोपशान्तिकरोऽसृक्-प्रसादनश्च (सुसू. १८.२८) बन्धाः सङ्ख्यया पञ्चदश, तत्र कोशोऽङ्गुलिपर्वसु चर्मादिकृतः, स्वस्तिकः सन्धिकूर्चभ्रूस्तनान्तरकक्षाक्षिकपोल-कर्णेषु, मुक्तोली ग्रीवामेढ्योः, चीनमपाङ्ग्योः, दामः सम्बाधेऽङ्गे वङ्क्षणादौ, अनुवेल्लितं शाखासु, खट्वा हनुसन्धिगण्डेषु, विबन्ध उदरोरूपृष्ठेषु, स्थगिका-ऽङ्गुष्ठाङ्गुलीमेढ्रान्त्रमूत्रवृद्धिषु, वितानं मूर्धादौ पृथुलेऽङ्गे,उत्सङ्गोऽङ्गविशेषे लम्बिनि बाह्वादौ गोफणा नासौष्ठचिबुकसक्थिषु, यमको यमलव्रणेषु, मण्डलं वृत्तेऽङ्गे, पञ्चाङ्गी जत्रूर्ध्वं च एषां सर्वेषां बन्धानां स्वनामानुगताकारत्वमवबोध्यम् (असंसू. ३८.४२; अहसू. २९.५९)

-विधमन-वि., सन्ध्यादिबन्धान् विनाशयतीति (चसू. २६.४३)

बन्धन-न., संस्कार० पारदस्य पर्पटी खोटादिरूपः संस्कारः (र. १.३४)
मूषातदाच्छादनयोर्बन्धः (र. १०.५)
संहत्यापादनम् (सुसू. ४१.४ (२))
यन्त्रकर्म० रज्ज्वादिना बन्धनम् (सुसू. ७.१७; असंसू. ३४.२०)
ग्रहणम् (अहसं. २६.१७)
व्रणबन्धनादौ उपयुक्तं वस्त्रादि द्रव्यम् (अहसू. २९.५७) तत्राविकाजिनकौशेयमुष्णम्, क्षौमं शीतलम्, तूलसन्तानकार्पासस्नायुवल्कजं शीतोष्णम्, मेदःकफाधिके व्रणे ताम्रायस्त्रपुसीसानि, भङ्गे च चर्मवल्ककुशादि प्रयोज्यम् (अहसू. २९.५७)
स्रोतसां बन्धः (असंसू. २०.२०)
-गुण-वि., बन्धनमेव बन्धनरज्जुः, तत्सदृशगुणवान् शरीरे सिरा, कण्डरा मेदात्मकः कफात्मकश्चेति चत्वारो गुणाः (असंशा. ५.५३)
-योग्या-स्त्री., व्रणपट्टबन्धनाभ्यासः, सा पुस्तमय-पुरुषाङ्गप्रत्यङ्गेषु कर्तव्या (सुसू. ९.४)

बन्धुक-पु., वनस्पति० बन्धूकः (र. ५.१७४)

बन्धुजीव-पु., वनस्पति० बन्धूकः (रापरि. १०.३५)
पुत्रजीवकः (चक्र. चचि. २३.२४३) मूलमस्य शिरोगतविषे नस्यार्थम् (चचि. २३.१८१) मध्याह्न-पुष्पकः (ड.) पुष्पमस्य वमनोपयोगि (सुसू. ३९.३; असंसू. ८.५३) मध्याह्नविकाशि-कुसुमम् (र.२२.६)
-फल-न., बन्धूकफलम्, वमनेन मूषकविषहरम् (असंउ. ४६)

बन्धुजीवक-पु., वनस्पति० बन्धूकः (असंसू. १४.३)

बन्धुर-पु., वनस्पति० ऋषभः (ध. १. १२५)

बन्धूक-पु., वनस्पति० सितासितपीतलोहितपुष्पविशेषा-च्चतुर्विधः, तद्गुणाः-ज्वरविविधग्रहपिशाचशमनः-सवितृप्रसादनश्च (रापरि. १०.३५) पुष्पमस्य श्लेष्मलं ग्राहि (असंसू. १२.९०) विषसंसृष्टाञ्जने ऽञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुक. १.७२)
हिं.—दुपहरिया, गेजुलिया.
म.—दुपारी.
गु.—बपोरिया.
बं.—बान्धुलि फुलेरगाछ.
त.—उचित्तिलकम्.
-पुष्पक-पु., वनस्पति० असनः (ध. ५.१२५)

बब्बुल-पु., वनस्पति० बब्बूलः (र. ५.१७४)

बब्बूल-पु., वनस्पति० बब्बूलः, तद्गुणाः-कषाय उष्णः कफपित्तहृदामरक्तातिसारदाहार्तिनाशनः कासघ्नश्च (रापरि. ८.१२; र. १७.५६)

बभ्रुल-पु.. वनस्पति० बब्बूलः (असंसू. ३.२०)

बभ्रु-पु., पक्षि० प्रतुदजातीयः (चसू. २७.५१)
प्राणि० अतिलोमशः कुक्कुरः, पर्वतोपकण्ठे भवति (चसू. २७.३५)
बृहन्नकुलः (चसू. २७.३५) जाहकः, नकुलः (अरु.) अच्छभल्लः (हे. अहसू. ६.४८)
गुहाशयप्राणी (ड. सुसू. ६.७२)
वि., कपिलपिङ्गलः (सुसू. ६.३५)
-धातु-पु., खनिज० सुवर्णगैरिकम् (रा. १३.२३३)
-पित्त-न., नकुलपित्तम् (असंसू. ८.१०७)
-वर्ण-पु., पिङ्गलवर्ण (असंसू. ४.५१)

बभ्रू-पु., वनस्पति० सुनिषण्णकः (रा. ४.२०६)
प्राणि० गुहाशयः (धपरि. ३.६)

बरिहिष्ठ-न., वनस्पति० बालकम् (सुचि. १८.२१)

बरुक-पु., कुधान्य० कोरदूषकादिगणोक्तमेकं धान्यम् (सुसू. ४६.२१)

बर्बर-पु., वनस्पति० भार्गी (रा. ६.९५)
बर्बरगुणाः- कटुक उष्णः सुगन्धिर्विसर्पविष-त्वग्दोषवान्तिनाशनश्च (रापरि. १०.४८)

(बर्बरा)-स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (ध. २.१००)
न., वनस्पति० कालीयकम् (रा. १२.१५)
बोलम् (ध. ३.६२)
खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४७)
चन्दनभेदः, बर्बरगुणाः- शीतलं तिक्तं त्रिदोषघ्नं कुष्ठकण्डूव्रणघ्नं विशेषाद् रक्तदोषघ्नम् (रा. १२.१७)
वि., कृष्णवर्णम् (र. ५.१९६)

बर्बरक-न., चन्दन० बर्बरम् (रा. १२.१७)

बर्बरिक-न., चन्दन० बर्बरम् (ध. ३.९)

बर्बरोत्थ-न., चन्दनभेदः बर्बरम् (रा. १२.१७)

बर्बरोद्भव-न., चन्दनभेदः बर्बरम् (ध. ३.९)

बर्बुर-पु.. वनस्पति० बब्बूलः (रापरि. ८.१२)

(बर्बुरा)-स्त्री., वनस्पति० तरटी (रापरि. ८.३२)

बर्बूर-पु., वनस्पति० बब्बूलः (र. १७.६९-७५)

(बर्बूरी)-स्त्री., वनस्पति० बब्बूलः (र. ३.१३१)

बर्ह-न., पिच्छम् (ड. सुक. ८.७२)

बर्हण-न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०२; असंसू. ८.२९)

बर्हि–पु., वनस्पति० कुशः (ध. ४.१३३)
बर्हिन्–पु., पक्षि० मयूरः (चसू. २७.४८)
(बर्हि)–चूड–न., सुगन्धिद्रव्य० स्थौणेयम् (ध. ३.६९)
–(चूडा)–स्त्री., वनस्पति०तद्गुणाः–स्वादुर्वश्यकर्मणि शस्ता मूत्रकृच्छ्रविनाशिनी बालग्रहादिदोषघ्नी च (रापरि. ५.१३)
–जङ्घ–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४३)
–पत्रभस्मन्–न., मयूरपिच्छभस्म, इदं हिक्काशमनार्थं लेह्यम् (सुउ. ५०.२०)
–पित्त–न., भैषज्य० मयूरपित्तम्, सर्वविषशमनार्थमुपयुज्यते (चचि. २३.२१७) श्वित्रे लेपार्थमुपयुज्यते (चचि. ७.१७०) नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. १६) द्र० 'मयूर'
–पुष्प–न., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८८)
–शब्द–पु., बर्हिसंज्ञा नाम मयूराभिधानम् (चचि. ८.१५०)
–शिख–न., सुगन्धि० स्थौणेयम् (रा. १२.१२५)
बर्हिण–पु., पक्षि० मयूरः (सुचि. ३५.७)
बर्हिणाण्ड–पु., मयूर्या अण्डम्, वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०)
बर्हिष–पु , पक्षि० मयूरः (असंशा. ३.३६)
वनस्पति० अपामार्गः (असंशा. ३.३६)
बर्हिष्ट–न., वनस्पति० नेत्रवालकम्, कफज्वरहरतैलोक्तं द्रव्यम् (काखिल. ११.१३६)
बर्हिष्ठ–न., वनस्पति० वालकम् (ड.) श्लेष्माभिष्यन्देऽनुलेपार्थमुपयुज्यते (सुउ. ११.६)
बल–पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०७)
(बला)–स्त्री., वनस्पति० बल्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) साङ्ग्राहिकबल्यवातहराणां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३) सरक्तपवने प्रदेहोपयुक्ता (चसू. ३.२१) मूलमस्या आस्थापने उपयुज्यते (चसू.२.१२) तद्गुणाः–मधुरा अतितिक्ता (रा.) शीता, स्निग्धा वृष्या बल्या, ओजोवर्धिनी त्रिदोषघ्नी (पित्तघ्नी रा.) रक्तपित्तक्षयातिसारकफरोगघ्नी च (ध. १.२८०)
हिं.—खिरैटी.
म. – लघुचिकणा.
गु.—बलादाणा.
बं.—वेडेला.
त.—चिनामुद्दि.
शाक० वातघ्न्यतिसारजिच्च (असंसू. ७.१४८)
मध्यमपञ्चमूलेष्वेकम्, वाट्यालकः (हे अहसू. ६.१६९)
वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ३.१)
आर्तगला (रा. १०७ .४१)
राजबला (रा. ४.४३३)
जटामांसी (र. २९.७१)
खनिज० कांस्यम् (ध. ६.२३)
न., हृदि स्थितमोजः, सप्तधातुधामभूतम् (ड. सुउ. ४१.१९)
उत्साहः (ड. सुचि. ३३.२७)
देहोपचयः (सुचि. २६.३९)
प्राणः (अरु. अहसू. २.१६)
सामर्थ्यम् क्रियानिर्वर्तनक्षमता (चसू. १३.१७; सुसू. ५.२५) बलं व्यायामशक्त्या परीक्षेत (चवि. ४.८) बलं त्रिविधं सहजं कालकृतं युक्तिकृतं च, सहजं देहसत्त्वयोः प्राकृतम्, कालकृतं ऋतुविभागजं वयःकृतं च, युक्तिकृतमाहारविहारोत्थमूर्जस्करं योगजं च (असंशा. ८.२८)
विसर्गादानोपलक्षितकालकृतं च बलं हेमन्तशिशिरयोश्चाढ्यम्, शरद्वसन्तयोर्मध्यम्, वर्षानिदाघयोर्हीनं च (असंसू ४.४)
–करण–न., बलस्य वर्धनम्, शक्त्युपचयः (सुसू. ११.१५)
–क्षय–पु., लक्षण० ओजोहानिः (सुसू. १५.२३,२८) त्रिविधबलहानिः (सुउ. ३९.१०५)
–त्रिक–न., त्रिविधं शारीरं बलम् प्रवरावरमध्यभेदात् (चचि. २४.६८)
–त्रैविध्य–न., हीनमध्योत्तमभेदात् त्रिप्रकारकं बलम् (चक. १२.६०)
–द–पु., वनस्पति० जीवकः (रा. ५.११५)
–दा–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१)
–दान–न., सामर्थ्याधानम् (अहसू. १२.१२)
–देवा–स्त्री. वनस्पति० त्रायमाणा (ध. १.२५४)
–नख–न., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रा. १२.११०)
–पति–पु., देव० इन्द्रः (सुसू. ५.२५)
–प्रणाश–पु., लक्षण० शक्तिहानिः (चसू. १६.१५)
–भद्र–पु., वनस्पति० कदम्बभेदः, धूलीकदम्बः (रा. ९.१७३) द्र० 'कदम्ब'
–भद्रा–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (ध. १.२५४)
–भ्रंश–पु. लक्षण० शक्तिनाशः (अहसू. १३.२३)
–वत्–वि., उपचयशक्तिलक्षणोभययुक्तः (सुचि. ५.६)

सर्वक्लेशसहः (सुसू. ३४.२४) मनोबलयुक्तः, सत्त्वभूयिष्ठः (सुचि. ६.४)

(-वती) स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, सूक्ष्मैला (रा. ६.६८) द्र० ' एला '

-वद्विग्रह-पु., बलिना सह युद्धम् (सुसू. २६.६)

-वर्णहानि-स्त्री., बलवर्णयोर्नाशः (चशा. ४.२२)

-वर्धन-वि., सामर्थ्यवृद्धिकृत् (चसू. १.८७; चसू. ३०.१५)

-विभ्रंश-पु., लक्षण० बलनाशः (सुचि. ३४.७)

-विस्रंस-पु., लक्षण० बलहानिः (सुसू. १५.२५)

-व्यापद्-स्त्री., बलस्यापचयः (ड. सुउ. ३९.१२५) तल्लक्षणम्- गुरुत्वमङ्गेषु स्तब्धता ग्लानिर्वर्णभेदनं तन्द्रा निद्रा वातशोफश्च (सुसू. १५.२७)

-संक्षय-पु., लक्षण० शक्तिह्रासः (अहसू. ७.२४)

-संधान-वि., शक्तिकरम्, शरीरस्य बलेन सह सन्धानं संहतिं योगं वा करोतीति (चसू. ५.९४)

-संभव-पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०१)

-समाधान-वि., बलेन सम्यगाधीयते धार्यते इति (चनि. ६.५)

-साम्य-न., बलस्य तुल्यता (चसू. २६.७३)

-ह्रास-पु., लक्षण० शक्तिक्षयः (चचि. ३०.२४२)

बला-स्त्री., (ध.१.२८०)

-जल-न., बलासिद्धं शीतजलम् पित्तरक्तशमनमिदम् (चचि. ४.७८)

-तैल-न., तैल० बलागुडूचीरास्नाशटीसरलादिनिर्मितं तैलम्, तच्छ्वासकासज्वरहिक्काच्छर्दिगुल्मक्षतक्षय-प्लीहशोषापस्मारालक्ष्मीघ्नं वातव्याधिविनाशनं च (चचि. २८.१४८-१५६) धन्वन्तरिसम्मतमिदं तैलं सूतिकाकृशशिश्वतिवयःसुकुमारशूलिमहाग्रहगृहीत-दीर्घरोगक्षपितवपुर्मर्मविद्धपतिताभिहतभग्नविश्लिष्ट-देहिनां पाननावनाभ्यङ्गबस्तिषु प्रयोज्यम्, एतत् पौरुषस्मृत्यग्निमेधावीर्यौजोवर्धनम्, आक्षेपकार्धकादिविविधवातविकारनुदन्त्रवृद्धिनुद् वन्ध्यानां पुत्रदं च (असंशा. ४.५१; असंशा.३.३८; सुचि. १५.२९-३९) मृदिते गुह्यरोगे सेचनार्थम् (असंउ. ३९) अशीतिवातविकारविंशतियोनिदोष-रजोदोषग्रहशमनम् (काधात्रीचि.) शतपाकं बलातैलं वन्ध्यानां बस्त्यर्थमुपयुज्यते(सुचि.३८.८९) शतपाकं सहस्रपाकं वा बलातैलं जीवनं बृंहणं स्वर्य-मिन्द्रियप्रसादनं वातासृग्वातरोगनुच्छुक्रासृग्दोष-नाशनं श्रेष्ठं रसायनं च (चचि. २९.११९१-२०)

-त्रय-न., वनस्पति० बलाऽतिबला, नागबला च (अहसू. १०.२३) तद्गुणाः-स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदं च (असंसू. १२.८२)

-द्वय-न., बलाऽतिबला च, एतद् वायुं नाशयति (अहसू. १५.५)

-पञ्चक-न., बलाऽतिबला नागबला महाबला राज-बला च, पञ्चकमेतन्मधुरं स्निग्धं ग्राहि बल्यं वृष्यमायुष्यं पित्तवातघ्नं मूत्रकृच्छ्ररक्तप्रदरघ्नं च (ध. १.२८७)

-मूल-न., बलाया मूलम् अक्षप्रमाणोपसेवितमिदं पाण्डुरोगशमनमेतत् (सुउ. ४४.२६)

-यूष-पु., कल्प० बलातिबलाकृतः, वातघ्नोऽयम् (काखिल. ४.५३)

-रसायन-न., योग० कुटीप्रावेशिके बलामूलम् अर्धपलं पलं वा पयसाऽऽलोडितं सेव्यम्, बलकामानां शोषिणां रक्तपित्तिनां शोणितोद्वमिनां विरिच्यमाणानां च सेव्यत्वेन प्रशस्तम् (सुचि२७.१०)

बलाका-स्त्री., पक्षि० प्लवजातीया, सङ्घातचारिणी पवनकफप्राया (चक. १.८; सुसू. ४६.१०५) इयं वारुण्या कुलमाषैश्च सह संयोगेन सेवने विरुद्धा (चसू. २६.८४;सुसू.२०.१३;अहसू.७.४२)

-भव-वि., बलाकायां भवं जायमानं बलाकासम्बन्धि (पक्षादि) (सुचि २५.३०)

-भवपत्र-न., बलाकापक्षं इदं सम्यक्सिद्धतैल-परीक्षणोपयोगि, तैले न्यस्तं नीलवर्णं भवेत् तदा तत् तैलं सम्यक्सिध्दमिति ज्ञेयम् (सुचि. २५.३०)

बलाकास्थि- न., बलाकाया अस्थि, एतदीयो धूपो विषघ्नः (असंसू. ८.११९)

बलाढ्य-पु., वनस्पति० माषः (ध. ६.९९)

(बलाढ्या)-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४२२)

बलादिघृत-न., घृत० बलास्थिरादिसिद्धं सर्पिः, ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत् (चचि. ८.११४-११६)

बलादिसर्पिस्-न., घृत० बलाकोलादिनिर्मितं घृतम्, मूत्रदोषहरमेतत् (सुउ. ५८.५८-६२)

बलाधान-न., शक्तिसम्प्राप्तिः, बलप्राप्तिः, शक्त्याधानम् (चक. १२.४७)

बलाधिष्ठान-वि., बलमधिष्ठानं यस्य तद् (आरोग्यादि) (चचि. ३.१४२)

बलामोटा-स्त्री., वनस्पति० जयन्ती, तद्गुणाः-तिक्ता कटुरुष्णा कण्ठविशोधनी त्रिदोषघ्नी विषगलगण्ड-भूतघ्नी च (धपरि. ४.१) कृष्णा बलामोटा रसायनी (रा. ४.२)

हिं.—जैत.
म.—शेवरी.
बं.—जन्ती.
त.—पीनारिच्चंकु.

बलार्धलक्षण–न., अर्धशक्तेर्व्यायामस्य लक्षणम्; यदा हृदि स्थानस्थितो वायुर्वक्त्रं प्रपद्यते तद् बलार्धलक्षणम् (सुचि. २४.४७-७८) कक्षाललाटनासासु हस्तपादादिसन्धिषु प्रस्वेदो मुखशोषश्च तद् बलार्धलक्षणम् (ड. सुचि. २४.४७)

बलाश–पु., रोग० गलरोगः बलासः (मा. मुखरोगनि.)

बलास–पु., दोषः, कफः (सुउ. ६१.३३; असंसू. २८.१५)
गलरोगः, तत्सम्प्राप्तिलक्षणम्–प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ गले श्वासरुजोपपन्नं मर्मच्छिदं दुस्तरं शोफं कुरुतः, तेन कण्ठोपघातो भवति (सुनि. १६.५४; र. ३.९०)
–क्षतजप्रसूत–वि., श्लेष्मरक्तसम्भवं (श्वयथ्वादि) (सुनि. १६.५५)
–ग्रथित–न., नेत्ररोग० कफजोऽयम्, तल्लक्षणम्–नेत्रस्य सिते भागे कांस्याभोऽम्बुबिन्दुतुल्यो मृदुः अरुजः शोफो भवति (सुउ. ४.९) स सवर्णो बहलो गुरुः स्निग्धश्चेति (असंउ. १३) साध्योऽयम् (सुउ. ४.४-९)
–जित्–वि., कफघ्नो गणः, आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककादिरसनादिर्मुस्तादिर्वत्सकादिः सुरसादिश्च (अहसू. १५.७)
–प्रकृति–वि., कफप्रकृतिकः (सुशा. ४.७४)

बलासक–पु., विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः, श्लेष्मोद्रेकान्मन्दज्वरितत्वम् (चसू. २०.१७)
बलक्षयः (चसू. २०.१७)
नेत्ररोग० बलासग्रथितम्, अस्य विदेहोक्तं लक्षणम्–मारुतात् पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितो जलबिन्दुरिवोच्छूनो मृदुश्च भवति (सुउ. ४.९)

बलासावतत–वि., श्लेष्मच्छन्नम् (सुउ. ४३.८)

बलाहक–पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१))

बलाहलक–न., कन्दविषम् (असंउ. ४०)

बलाह्वया–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२)

बलोत्तरा–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२)

बलि–पु., व्यालाचार्यचन्द्रसेनादीनां प्राचीनरसाचार्याणामेकतमः (र. ६.४९)
नृप० वामनेन पाताले निहितो राजा (र. ३.१८)
खनिज० गन्धकः (र. २.९४)
अथर्ववेदे प्रोक्तानां चिकित्साविशेषाणामेकतमः, आहुतिः (चसू. ३०.२१)
पूजोपहारः, बल्यते दीयते देवतायै इति बलिः (सुसू. ५.७)
सपशुनैवेद्यः (ड. सुक. ५.१२)
–भुज्–वि., बलिं भुङ्क्ते इति बलिभुक् (वायसादिः) (चइ. ११.४)
–भू–स्त्री., पशुहननस्थानम् (असंसू. ३.४४)
–भृत्–वि., बलिं विधिवद्दत्तमन्नं बिभर्ति पोषणार्थे धारयति इति बलिभृत् नाम बलिभुक् (वायसादिः) (चइ. ११.४)
–वत्सा–स्त्री., खनिज० गन्धकः (ध.३.१०९)
–वसा–स्त्री., खनिज० गन्धकः (र. ३.१९)

बलिका–स्त्री., वनस्पति० अतिबला (ध. १.२८६)

बलिन्–वि., शक्त्युपचययुक्तः (सुसू. ४६.४४५; अहसू. २७.१८)
खनिज० गन्धकः (र. ३.९०; ध. ३.१०९)
वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१)

बलीवर्द–पु., पशु० वृषभः (ध.६.४०५)

बल्य–वि., बलाय नाम बलवृद्धये हितं तद् बलकरम्, बलवर्धनम् (चसू. १.१०७; र. २.३) ऐन्द्रवृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्ता पयस्याऽश्वगन्धा स्थिरा रोहिणी बलाऽतिबला चेति दशेमानि बल्यानि (चसू.४.१०)
(बल्या)–स्त्री., वनस्पति० अतिबला (रा. ४.४३०)
बला (रा. ४.४३२)
अश्वगन्धा (ध. १.२७२)
प्रसारणी (रा. ५.४३५)
–दशक–पु., बलकरो दशौषधगणः, ऐन्द्रातिरसापयस्यादिः (असंसू. १५.१२)

बल्वज–पु., तृणविशेषः (चशा. ८.३४; सुशा. ५.४९)

(बल्वजा)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–मधुरा शीता वातकोपनी रुच्या कण्ठशुद्धिकरी पित्तघ्नी पित्तदाहतृषापहा च (रापरि. ८.४०)

बस्त–पु., पशु० ग्राम्यवर्गीय अजः, मेषः (सुसू. ४६.८५; र. २१.६०)
–कर्ण–पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (सुचि. ३७.१६) ध. २.१००; असंसू. ७.१५८)
बोथयिका (ड. सुउ. ३४.६)
बोबयिका (ड. सुउ. २१.६)
–गन्धित्व–न., लक्षण० बृहत्तमबस्तसमानगन्धित्वम्, इदमश्मर्यामेकं पूर्वरूपम् (सुनि. ३.५)

-मार-पु., छगलवन्मरणम्, ग्रीवावमोटनेनाशुतममक्लिष्टमरणम् (सुनि. ८.१४)
-मूत्र-न., छागमूत्रम् (सुचि. १२.४)
-मोदा-स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (ध. २.९८)
-शिरस्-न., छागमस्तकम् (चसू. १४.२९) बस्तशिरसः क्काथो नाडीस्वेदार्थमुपयुक्तः (चचि. ८.७३)
बस्ताण्ड-पु., न., छागाण्डम्, बस्तस्य वृषणः (सुचि. २६.१८) वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०)
बस्तान्त्रि-स्त्री., वनस्पति० (ध. परि. १.१) (अरु. अहसू. १५.४५)
वृद्धदारुकः (हे. अहसू. १५.४५)
बस्तान्त्रीगुणाः-तिक्ता कषाया मधुरा कटुः शीता लघुर्वातकोपनी बीजदा गर्भजननी कासघ्नी च हिं.—बोकडी.
म.—बोकडी.
गु.—पुंगळ.
(रा. ३.३)
वृषगन्धा (अरु. अहसू. १५.४५)
बस्ति-पु., शारीर० पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चशा ७.९) विश्रामस्थानम् मूत्रवहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८) आशयः, मूत्राधारः, सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानम्, स चाधोमुखोऽपि मूत्रवहनाडीषु सूक्ष्ममुखसहस्रनिष्यन्देन मूत्राख्येनाविरतं नवो घट इवाप्सु निमग्नमुखोऽपि पार्श्वेभ्योऽम्भसा पूर्यते तैरेव च स्रोतोभिर्वातादयोऽपि दुष्टाः प्रविश्य बस्तिं यथास्वमाघातान् प्रमेहांश्च जनयन्ति (असंनि. ९.५) शुक्रवाहिस्रोतोभिः स्वन्नं शुक्रं विलीनं स्वस्थानाद् विच्युतं बस्तौ सम्भृत्य बहिर्निर्याति (चचि. १५.३५) बस्तिदेशः, अयं नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसां मध्येऽलाब्वाकृतिः शिरास्नायुपरिग्रहस्तनुत्वक्कोऽधोमुख एकद्वारश्च (सुनि. ३.१८-२०) रक्तश्लेष्मप्रसादाद् बस्तिः (सुशा. ४.२६-२७) तस्मिन्नभिहते सति वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनबस्तिशूलकुण्डलोदावर्तादयो भवन्ति (चसि. ९.६)
मर्म० अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिर्नाम, स्थानत उदरमर्म जातितः स्नायुमर्म, सङ्ख्ययैकं, मानतश्चतुरङ्गुलम्, सद्यःप्राणहरं च, तस्मिन्नश्मरीव्रणादृते विद्धे सद्योमरणम्, अश्मरीनिमित्तेऽप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति यत्नेनोपक्रान्तो रोहति च (सुशा. ६.६.,२५; असंशा. ७.९)
यन्त्र० मूत्राशयपुटकम् (चक्र. चसि. ३.१०)
मूत्रपुटकम् (ड. सुसू. ९.४)
उपक्रम० व्रणस्य षष्टयुपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)
गुदेन भेषजयुक्तजलस्य पक्वाशये उत्क्षेपणं तथा च पक्वाशयस्यान्तःपरिमार्जनम् (चवि. ६.१६)
वातहराणां श्रेष्ठः, तन्त्राणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)
यन्त्राणां श्रेष्ठः (असंसू. १३.३)
वातविकाराणां प्रधानोपक्रमः, अशीतिवातविकाराणां हन्तेत्ययं चिकित्सार्धो मतः, मारुतं पित्तश्लेष्मविड्सहितं समूलमसौ हन्तीति संपूर्णोऽपि चिकित्स्येति कायचिकित्सिते (अहसू. १९.८५-८६; असंसू. ३६.४)
तन्निरुक्तिः- एणजरद्रवशूकराऽजाऽविगोमहिषादीनां मूत्राधारः तदाधारं कषायाद्यौषधिद्रव्यं च (सुचि. ३५.१) बस्तिगुणा :- स्नेहादिसर्वकर्मसु बस्तिकर्म प्रधानतमम्, नानाविधद्रव्यसंयोगाद् दोषाणां संशमनसङ्ग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहन्ति वयः स्थापयति च । अग्निबलवर्णमेधास्वरायुःसुखप्रदः पङ्गुरुग्णभग्नस्तम्भशूलारोचकपरिकर्तिकादिषु हितः (सुचि. ३५.३-४; असंसू. २८.४) दोषधातूनां एकलोलीभावेऽप्यसौ दोषान् निर्हरति न धातून् (अरु. अहसू. १९.८४) विधिनास्य सेवनाद् रसायनफलं लभते (सुचि. ३७.७५)
बस्तिप्रकाराः- नैरूहिकस्नैहिकभेदाद् द्विविधः (सुचि. ३५.१८) आस्थापनानुवासनोत्तरभेदात् त्रिविधः (असंसू. २८.५) कर्मकालयोगभेदाच्च त्रिप्रकारकः (अहसू. १९.६३) दोषाणामुत्क्लेशनशोधनशमनभेदात् कल्पनया त्रिविधो बस्तिः (अहसू. १९.६१; असंसू. २८.५३) शोधनलेखनवाजीकरणबृंहणग्राहियापनादिभेदात् तत्तत्कर्मकरा बस्तयः (चसि. १२.१६; सुचि. ३८.८१-८७)
पयस्कराश्च (कासू. १९)
बस्तियोजना- सत्त्वभेदेनोत्तममध्यमहीनेषु क्रमात्तीक्ष्णमध्यमृदुभेदतस्त्रिधा (सुचि. ३८.९०)
कालतः- शीते तीक्ष्णः, उष्णे मृदुः, वसन्तशरदोर्मध्यमः, दोषतः- कफवाते तीक्ष्णः, पित्तरक्ते मृदुः, कफपित्ते मध्यमश्च (सुचि. ३८.९१)

बस्तियोग्याः– ज्वरातिसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाऽधिमन्थाऽर्दिताऽऽक्षेपकपक्षाघातैकाङ्गरोगसर्वाङ्गरोगाऽऽध्मानोदरशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृदामयमन्याहनुग्रहमूढगर्भप्रभृतिष्वत्यर्थमुपयुज्यते। तथा वातपित्तकफरक्तेषु संसर्गे सन्निपातेऽपि च हितकरो भवति (सुचि. ३५.५-६) बस्तिनेत्रं तत्साधारणरूपं च–जारद्गवहरिणशूकराजाविगोमहिषादिष्वन्यतमजं स्नेहमुद्गविमृदितं विगतच्छिद्रशिराग्रन्थिस्कन्धं नातिवर्तुलं मृदु दृढं कषायरक्तं सुखसंस्थाप्यौषधप्रमाणं न्युब्जं विवृताननं बस्तिं विवेश्य कर्णिकयोर्दृढेन सूत्रेण घनं समं च बध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुखबन्धनार्थं सूत्रमुपधायानुगुप्तं निधापयेत् (चसि. ३.१०-११; सुचि. ३५.१३-१७; असंसू. २८.२०) बाल्यादिमानतस्तन्नेत्रप्रमाणम्–षड्द्वादशविंशतिवर्षजातानां षडष्टद्वादशाङ्गुलसम्मितानि मुद्गसतीनकर्कन्धुवाहिच्छिद्राणि बस्तिनेत्राणि स्युः (चसि. ३.८; सुचि. ३५.७-९) बस्तिप्रदानकालः– अह्नि बस्तिप्रदानं गुणकरम्, तदा दोषाः स्थानस्था भवन्ति। शरीरं च विवृतस्रोतोमुखं भवति। वह्निश्चान्नरसान्वितो भवति, ततो बस्तिद्रव्यं शरीरमनुक्रामति। बस्तिर्निषिद्धो रात्रौ, तदा प्रयुक्ते ज्वराध्मानगौरवादयो भवन्ति (सुचि. ३७.४७-४८) बस्तिप्रदानविधिः– तैलाक्तगात्रस्य कृतमूत्र विट्कस्य नातिक्षुधार्तस्य मनुष्यस्य समे ईषन्नतमस्तके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने शयने सव्येन पार्श्वेन स्वभुजोपधानं कृत्वा सुखं शयानस्य वामं सक्थि प्रसार्य दक्षिणं सङ्कोच्य स्निग्धे गुदे स्निग्धं नेत्रचतुर्थभागं प्रणयेत्। दत्तं नेत्रं प्रपीड्य च शनैरेव ततोऽपकर्षेत् (चसि. ३.१३-१९) बस्तिशीलनविधिः– अनुवासनेऽत्यभ्यस्तेऽग्निवधोत्क्लेशौ स्याताम्, निरूहेऽत्यभ्यस्ते वातजा गदा भवेयुः तस्मान्नैकमतिशीलयेत् (ड.सुचि३७.७७-७८) बस्तौ परिहार्याणि–क्रोधो मैथुनं दिवास्वाप उच्चैः सम्भाषणं यानयानं चिरासनमतिचङ्क्रमणं शीतसेवाविरुद्धाध्यशनमसात्म्यभोजनादीनि (सुचि. ३९.२५-३७) बस्तिकल्पः– तत्संयोजनविधिः– अक्षप्रमाणं सैन्धवं प्रसृतद्वयमानं मधु स्नेहं च पात्रे तलेन शनैः शनैर्मथ्नीयात्। सुमथिते मदनफलेन वातादिपूचितानां सर्वद्रव्याणां पलत्रयमानं कल्कं दद्यात्। अनन्तरमन्यस्मिन् गम्भीरे भाजने तत् सर्वमपि खजेन मथ्नीयात्। तत्र पञ्चप्रसृतमानं कषायं दापयेत्। दोषावस्थामवेक्ष्य रसक्षीराम्लमूत्राणामुपयोगः कार्यः, कल्पोऽसौ न तनुर्न सान्द्रश्च विधेयः। सम्यक् सिद्धोऽयं कल्पो मूत्रं पटुत्वं कुरुते, वीर्यं चोद्भावयति स्रोतोभ्यः कफमारुतौ विष्यन्दयति पित्तं हरति च। असम्यङ्मथितो बस्तिर्नार्थाय कल्पते (सुचि.३८.३३-३६ काखिल.८.४०-४६) वातादिदोषतो बस्तिसङ्ख्या–कफजे विकारे एकं त्रीन् वा, पित्तात्मके पञ्च सप्त वा, वाते नवैकादश वा अयुग्मान् बस्तीन् दद्यात् (चसि. १.२५) बस्तिप्रशस्तिः–ये स्तब्धाः सङ्कुचिताः पङ्गवो भग्नरुग्णा येषां शाखासु वाताश्चरन्ति तत्र तथाऽऽध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले भक्तानभिनन्दने च बस्तिः प्रशस्तः, या वातकृतोपसर्गाः स्त्रियो गर्भं न गृह्णन्ति तासु, क्षीणेन्द्रियेषु कृशेषु नरेषु च बस्तिरेव परमं प्रशस्तः, किंचासौ कायचिकित्सिते संपूर्णा चिकित्सेत्युच्यते (चसि. १.३२-३४)

–कर्मन्–न., मूत्राधारपुटकेन क्रियमाणा चिकित्सा (सुचि. ३५.३)

–कर्मविभ्रम–पु., बस्तिकर्मणि प्रमादः, अनेनार्शः समुत्पद्यते (चचि. १४.९)

–कुण्डल–न., रोग० त्रयोदशबस्तिविकारेष्वेकः, द्रुताध्वलङ्घनादिभिः स्वस्थानादुद्वृत्तो बस्तिः स्थूलो गर्भवच्च तिष्ठति, तत्र शूलस्पन्दनदाहाश्च भवन्ति, बस्तिर्बिन्दुं बिन्दुं स्रवति, पीडितस्तु संस्तम्भोद्वेष्टनार्तियुक्तः सन् धारां सृजेत्, अयं शस्त्रविषोपमो घोरो व्याधिः, तत्र पित्तान्विते बस्तिकुण्डले दाहः शूलं मूत्रविवर्णता च भवति। तथा श्लेष्मान्विते गौरवं शोफो मूत्रं घनं सितं स्निग्धं च भवति (चसि. ९.४४-४७)

–जत्रिद्रधि–स्त्री., बस्तिप्रदेशे जातायां विद्रधौ कृच्छ्रपूतिमूत्रवर्चस्त्वं भवति (चसू. १७. १०१)

–दान–न., बस्तिप्रदानम् (चसि. ३.२४)

–दारण–न., मूत्राशयस्फुटनम्, बस्तिदारणवद्वेदना (सुनि. ३.८)

–दूषण–वि., बस्तिं दूषयति इति बस्तिदूषणं नाम मूत्राशये वातादिप्रकोपकारि (सुसू. ४५.१६९)

–दोष–पु., बस्तियन्त्रस्य आशयदोषः स पञ्चधा–बहलताऽल्पता सच्छिद्रता प्रस्तीर्णता दुर्बद्धतेति (सुचि. ३५.३२) मांसलस्निग्धविषमजालवत्स्थूल-

वातलच्छिन्नक्लिन्नाश्चेत्यष्टौ दोषाः, तेभ्योगतिवैषम्य-दौर्गन्ध्यजिह्मत्वस्रुतिदुर्ग्रहफेनिलव्युत्सर्धार्यत्वानि भवन्ति (चसि. ५.६-७; असंक. ७)

-द्रव्यदोष-पु., बस्तिद्रव्यगतदोषः, स चैकादशधा-आमता हीनताऽतिमात्रताऽतिशीतताऽत्युष्णताऽति-तीक्ष्णताऽतिमृदुताऽतिस्निग्धताऽतिरूक्षताऽति-सान्द्रताऽतिद्रवता चेति (सुचि. ३५.३२)

-द्वार-न., बस्तिसमीपम् (अहशा. २.५३)
मूत्राशयद्वारम् (सुशा. ४.२२)

-निबन्धन-वि., बस्तिनिबन्धनप्रयोजनकम् (चक्र. चसि-३.१०)

-निस्तोद-पु., रोगलक्षण० बस्तिप्रदेशे व्यथा (अहसू. ११.१३)

-नेत्र-न., बस्तिनलिका (सुचि. ३५.१२)

-नेत्रदोष-पु., बस्तिनलिकागतदोषः, सोऽष्टधा-ह्रस्व-दीर्घ-तनु-स्थूल-जीर्ण-शिथिलबन्धन-पार्श्व-च्छिद्रवक्रभेदात्, तेभ्यःक्रमात् स्नेहस्याप्राप्तिरतिप्राप्तिः क्षोभश्च कर्षणं क्षणनं स्रवो गुदपीडा स्नेहस्य जिह्मा गतिश्चेत्यष्टौ व्यापदो भवन्ति (चसि. ५.४;असंक. ७)
सुश्रुते एकादश नेत्रदोषाः- अतिस्थूलं कर्कशम-वनतमणुभिन्नं सन्निकृष्टकर्णिकं विप्रकृष्टकर्णिकं सूक्ष्मच्छिद्रमतिच्छिद्रमतिदीर्घमतिह्रस्वमस्निग्धं चेति (सुचि. ३५.३२)

-पाक-पु., रोग० बस्तेः कोथनम् पूतिभावापन्नत्वम् (चसि १२.१८-१४)

-पीडनदोष-पु., बस्तिप्रपीडने दोषः, स चतुर्धा-अतिपीडनं शिथिलपीडनं भूयो भूयोऽवपीडनं कालातिक्रमश्चेति (सुचि. ३५.३२)

-पीडनयोग्या-स्त्री., बस्तिबन्धनस्य योग्या, अभ्यासः बस्तिबन्धनाभ्यासः (असंसू. ३४.३८)

-पूरण-न., मूत्राशयपूरणम् (सुसू. १ .५ (२)

-प्रणिधानदोष-पु., बस्तिप्रदानकर्मणि दोषः, स षड्विधः-विचलितं विवर्तितं पार्श्वावपीडितमत्युत्क्षिप्त-मवसन्नं तिर्यक्क्षिप्तमिति (सुचि. ३५.३२)

-प्रवर्तित-वि., बस्तिना प्रवृत्त्युन्मुखीकृतो दोषः (चक्र. चक्र. १२.८०)

-भेद-पु., लक्षण० बस्तेर्भिन्नत्वम्, बस्तौ एकपार्श्वतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, उभयतो भिन्ने नरो न जीवति (सुशा. ६.२५)

-मुख-न., मूत्राशयद्वारम् (सुनि. ३.८)

-रोधन-पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३१)

-विधि-पु., अध्यायसंज्ञा० (असंसू. २८.१)

-वीर्य-न., बस्तिप्रभावः (सुचि. ३५.२५)

-व्यापद्-स्त्री., बस्तिप्रदानादिभिर्मिथ्याप्रयुक्तैर्जनितो व्याधिः, व्यापदः सङ्ख्या षट्सप्ततिः, तत्र प्रणिधान-दोषाः षट्, नेत्रदोषा एकादश, बस्तिदोषाः पञ्च, पीडनदोषाश्चत्वारः, द्रव्यदोषा एकादश, शय्यादोषाः सप्त, आतुरनिमित्ताः पञ्चदश, वैद्यनिमित्ता नव, ते चायोगाध्मानपरिकर्तिकापरिस्रावप्रवाहिकाहृदयोप-सरणाङ्गग्रहातियोगजीवादानभेदात्; स्नेहदोषा-श्चाष्टौ (सुचि. ३५.३३)

-व्यापत्सिद्धि-स्त्री., अध्याय० (चसि. ७)

-शय्या-स्त्री., बस्त्यर्थं शय्या (असंक. ७)

-शय्यादोष-पु., बस्तिशय्यास्थितपुरुषदोषाः, स सप्तधा, अवाक्शीर्षशयनं, उच्छीर्षशयनं, न्युब्जशयनं, उत्तानशयनं, संकुचितदेहशयनं, स्थितं, दक्षिणपार्श्वशयनं चेति, तेभ्यः क्रमान्मूत्राघातो-ऽन्त्रसम्प्राप्तिरप्राप्तिः साधुतागतिराध्मागतिर्मरुत्कोपः पक्वाशयतृप्तिश्चेति व्यापदो भवन्ति (सुचि. ३५.३२; असंक. ७)

-शिरस्-न., षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम्, नाभेरधो बस्तेः शिरः, मूत्राशयोपरितनो भागः(ड.सुनि.३.५) मानतस्तद्दशाङ्गुलम् (चवि. ८.११७; असंशा.८.३०) सङ्ख्ययैकम् (चशा. ७.११)

-शीर्ष-न., बस्तिशिरः (चशा. ७.११)

-शुद्धिकर-वि., मूत्राशयशोधनद्रव्यम् (हे) कूष्माण्डादि (अरु. अहसू. ४.२१)

-शूल-पु., रोग० तल्लक्षणम्-मूत्रपुरीषादिसंरोधात् कुपितो वायुर्बस्तिमावृत्य तिष्ठति, ततो बस्तिवङ्क्षण-नाभीषु शूलो विण्मूत्रवातानां संरोधश्च भवति (सुउ. ४२.१३३-१३४)
न., लक्षण० बस्तौ शूलवद्वेदना (चसू. ७.६; अहसू. ५.७९)

-शोथ-पु., लक्षण० मूत्रधारशोथः (चचि. २६.७)

-शोधन-वि., मूत्रविरेककारि (सुसू. ४६.५४; अहसू. ५.१६)

-सिद्धि-स्त्री., अध्यायसंज्ञा० (चसि. १०.१)

-सूत्रीयासिद्धि-स्त्री., अध्यायसंज्ञा० (चसि. ३.१)

-स्नेहदोष-पु., बस्तिस्नेहगतदोषः, सोऽष्टधा-अतिमृदुरतिहिमोऽतितप्ताम्लतीक्ष्णोऽतिस्निग्धो-ऽतिरूक्षोऽल्पमात्रालवणोऽतिमात्रालवणः सान्द्रश्च (अहसू. १९.४१-४२)

बहल–पु., वनस्पति० शिग्रुः (अहसू. १५.४५; (असंसू. १६.१५)
वि., स्थूलम्, घनम् (सुउ. १५.१८; सुसू. १४.२१)
–गन्धकृत्–पु, धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१२०)
–ता–स्त्री., विस्तीर्णता (असंशा. ५.५२)
–त्वच–पु., वनस्पति० लोध्रभेदः, शाबररोध्रः (रा. ६.२४१)
–पल्लव–पु., वनस्पति० शिग्रुः (असंसू. १६.१५)
–वर्त्मन्–न., नेत्रवर्त्मगतो व्याधिः, सर्वजोऽयम् (सुउ. १.४२) तल्लक्षणम्–यस्य वर्त्म सवर्णाभिः समाभिः पिडकाभिः समन्तत उपचीयते, स बहलवर्त्माख्यः (सुउ. ३.१६) अयं लेख्यः साध्यश्च (सुउ. १३.१४; असंउ. ११)

बहिस्–(अव्य.) बाह्यम्, बहिर्भागे (चचि. ३.७६)
–ताप–पु., लक्षण० बाह्यतो दाहः (चवि. ३.७६)
–तुङ्ग–वि., बाह्यत उन्नतम् (चचि. ५.४२)

(बहिः)–परिमार्जन–न., उपक्रम० बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गादिभिर्व्याधीनां दूरीकरणम् (चसू. ११.५५)
वि., बाह्यतः शुद्धिकरं (भेषजम्) (असंसू. ३९.४)
–शीत–वि., बाह्यस्पर्शे शीतम् (सुसू. ४२.१०(२))
–श्रित–वि., बहिर्मार्गे शाखायामाश्रितम् (चचि. २१.२३)

(बहिर्)–जानु–अव्य., जान्वोः बहिः (असंसू. ३.११)
–निष्क्रमण–न., अटनम् (सुशा.१०-३)
–मुख–वि., बहिर्निःसरणाभिमुखम् (चशा. ६.१७)
–वेगज्वर–पु., ज्वरभेदः, यस्मिन् ज्वरकृद्दोषो विशेषतो बाह्यतो लक्षणानि दर्शयति, तल्लक्षणम्–बाह्योऽभ्यधिकः सन्तापस्तृष्णादीनां च मार्दवं सुखसाध्यत्वं च (चचि. ३.४१)

बहिरन्त्रग–वि., अन्त्राद्बाह्यगम् (चक्र. चचि. १३.३०)

बहिरायाम–पु., रोग० वातरोगः आयामभेदः तल्लक्षणम्–बली वायुः पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः सस्नायुकण्डराः सिराः संशोष्य बहिरायामसंज्ञकं हनुस्तम्भं कुर्यात्। चापवन्नाम्यमानस्य शिरः पृष्ठतो नीयते, उर उत्क्षिप्यते, मन्या स्तब्धा भवति, ग्रीवाऽवमृद्यते, दन्तानां दशनं जृम्भा लालास्रावो वाग्ग्रहश्च भवति, जातवेगोऽसौ आतुरं निहन्ति वैकल्यं वा प्रयच्छति (चचि. २८.४५; असंनि. १५.२७-२८) असाध्यलक्षणम्–यस्य प्रतिबुद्धस्य हनूमन्ये तथाऽक्षिणी स्तभ्येते, अरिष्टलक्षणलक्षितत्वेन सोऽसाध्यः (चइ. ५.२४)

बहिरायामिन्–वि., बहिरायामार्तः पश्चान्मुखगामी (ड. सुचि. ५.१८) द्र० 'बहिरायाम'

(बहिश्)–चर–वि., बहिः सञ्चरणशीलः बहिर्नाम शरीरगतरोमकूपेषु सञ्चरन्नग्निरान्तरः (ड. सुउ. ३९.२३)

बहु–वि., अधिकम्, बाहुल्यविशिष्टम् (चवि. ८.९८)

(बह्वी)–स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा (ध. ४.१४५)
–कण्ट–पु., वनस्पति० बदरभेदः, सूक्ष्मफलः (रा. ११.१६४)
(–कण्टा)–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (रा. ४.७१)
–कण्टक–पु., वनस्पति० गोक्षुरभेदः, क्षुद्रगोक्षुरः (रा.३.१३१) द्र० 'गोक्षुर'
वनस्पति० हिंतालः (रा. ९.९७)
धन्वयासः (रा. ३.२५)
(–कण्टका)–स्त्री., वनस्पति० अग्निदमनी(रापरि.४.३)
–कन्द–पु., वनस्पति० सूरणः (रापरि.७.६)
–कर्णिका–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि.३.२१)
–कूर्च–पु., वनस्पति० नारिकेलभेदः, मधुनारिकेरकः (रा. ११.११०) द्र० 'नारिकेल'
–क्षार–पु., लवण० सर्वक्षारः (रा. ६.५७)
–गन्ध–पु., वनस्पति० कुन्दरुः (रा. १२.१९०)
(–गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० यूथिका (रा.१०.२५०)
जीरकभेदः, कृष्णजीरकः (रा. ६.१०४)द्र०'जीरक'
चम्पककलिका (रा. १०.२४०)
न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७७)
–गन्धदा–स्त्री., भैषज्य० कस्तूरिका (रा. १२.४६)
–घातिनी–स्त्री., प्राचीना रसाचार्या योगिनी, अनया वृकोदरी गुटिका निर्दिष्टा (र. २१.१३८)
–च्छिन्ना–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध.१.४)
–तिक्ता–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.३६)
–दलकणिश–पु., धान्य० रागी (रा. १६.१७८)
–दुग्ध–पु., धान्य० गोधूमः (रा. १६.१५१)
–धार–न., खनिज० हीरकम् (ध. ६.५६)
–नाद–पु., भैषज० शङ्खः (रा. १३.२४४)
–पत्र–पु., वनस्पति० मुचकुन्दः (रापरि. १०.२५)
पलाण्डुः (रा. ७.१०१)
(–पत्रा)–स्त्री., वनस्पति० गोरक्षदुग्धी (रापरि. ५.५३)
जन्तुका (रा. ३.१२७)

तरणी (रा. १०.२४४)
बृहती (असंसू. ८.५१)
कुमारी (रापरि. ५.१०)
मयूरशिखा (ड. सुक. १.६७)

(-पत्री)-स्त्री., वनस्पति० ईश्वरी (रापरि. ३.१६)
तुलसी (रा. १०.७८)
बृहती (रा. ४.१२१)
न., खनिज० अभ्रकम् (रा. १३.२)

-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० महाशतावरी (ध. १.२९३)
मेथिका (ध. ६.१११)
वनमेथिका (रा. ५.१८४)
भूधात्री (रा. ५.१४५)

-पर्ण-पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३९)

(-पर्णी)-स्त्री., वनस्पति० अन्या दोडी (रापरि. ४.४१)

-पाद-पु., वृक्ष० वटः (ध. ५.७६)

-पादिका-स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)

-पान-न., बहुमद्यपानम् निरग्निस्वेदकरमेतत् (चसू. १४.६४)

-पुत्रा-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (सुक. १.६७)

-पुत्रिका-स्त्री., ग्रह० (रेवती, का. बालग्रहचि.)

-पुष्प-पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०)

-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५१)

-प्रज-वि., बह्वपत्यः (चचि. २ (१)१९-२०).
तृण० मुञ्जः (रा. ८.२०५)

-फल-पु., वनस्पती० विकङ्कतः (रा. ९.५४)
तेजःफलः (रापरि. ११.१७)

-(फला)-स्त्री., वनस्पति० शशाण्डुली (रापरि.७.१३१)
काकमाची (रा. ४.३५)
माषपर्णी (रा. ३.१७२)
बृहतीभेदः, क्षविका (रा. ४.१२३)
वालुकम् (रा. ७.२५०)
मृगाक्षी (रा. ७.२५७)
कुडुहुच्ची (रा. ७.२८०)
त्रपुसम् (रा. ७.२४६)

-फलिका-स्त्री., बदरभेदः, भूबदरी (रा. ११.१६२)
द्र० 'बदर'

-फेनरसा-स्त्री., वनस्पति० सप्तला (चक. ११.३)

-फेना-स्त्री., वनस्पति० सप्तला (ध. १.२३८)

-बीजा-स्त्री., वनस्पति० गिरिकदली (रा. ११.११२)

-मञ्जरी-स्त्री., वनस्पति० तुलसी (ध. ४.५०)

-मूल-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०)
शरभेदः, स्थूलशरः (रा. ८.२१२)

(-मूला)-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३८)
माकन्दी (रापरि. ७.१५)

-रन्धिका-स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१)

-रस-पु, वनस्पति० इक्षुः (असंसू. १६.३९; अहसू. १५.४५)

-(रसा)-स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२)

-रुहा स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.३)

-रूप-पु., निर्यास० रालः (रा. १२.१७७)

-लवण-न., लवण० औषरकम् (रा. ६.५१)

-वल्क-पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२)

-वर्ण-पु., कीट० पञ्चगोधेरकेष्वेकः, सविषोऽसौ, तेन दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः (सुक.८.२८)

-वल्लरी-स्त्री., वनस्पति० डोडी (शानि.) जीवन्तीभेदः, शिग्रुः, तुलसी (र. १८.४७)

-वादिनी-स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (भा.प्र.मिश्रप्रकरण)

-वाहा-स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः (ध. १.९९)

-वीर्य-पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. १०.८०)
तण्डुलीयकः (रा. ५.१७४)
शाल्मली (रा. ८.२१२)

(-वीर्या)-स्त्री., वनस्पति० भूधात्री (रा. ५.१४५)

-शल्य-पु., वनस्पति० खदिरभेदः, रक्तखदिरः (रा. ८.३६) द्र० 'खदिर'

-शाख-पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५६)

-शिखा-स्त्री., वनस्पति० महाराष्ट्री (रापरि. ४.१३)

-शूका-स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११८)

-संपुट-पु., वनस्पति० विष्णुकन्दः (रापरि. ७.४०)

-सार-पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३२)

-सुता-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (र. १७.३९-४०)

बह्वाशिन्-वि., लक्षण० प्रचुरभोक्ता (सुउ. ६०.१५)

बहुल-न., वनस्पति० मरिचभेदः, श्वेतमरिचम् (रा. ६.१३८) द्र० 'मरिच'

(बहुला)-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.२)
ताम्बूली (धपरि. ३.१)

-गन्धा-स्त्री., एलाभेदः, सूक्ष्मैला (रा. ६.६८)
द्र० 'एला'

-च्छद-पु., शिग्रुभेदः, रक्तशिग्रुः (रा. ७.६६)
द्र० 'शिग्रु'

-वर्त्मन्-न., नेत्ररोग० बहलवर्त्म (मा. नि.)
-वल्कल-पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२)
बहेडक-पु., वनस्पति० विभीतकः (ध. १.२१२)
बाकुचिका-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (र. ३०.४७)
-फल-न., बाकुचीबीजम् सोमराजीफलम् (असंउ. ४९)
बाकुची-स्त्री., वनस्पति० सोमराजी अवल्गुजा क्षुपः, अस्याः बीजं सुगन्धितैलयुतं गन्धवत्त्वेन प्रसिद्धं त्वग्रोगहरं कुष्ठहरं च (र. १३.९२) गुणाः- कटुतिक्ता, पाके कटुका उष्णा कृमिकुष्ठकफापहा, त्वग्दोषविषकण्डूतिखर्जूप्रशमनी, रसायनोपयुक्ता, रुचिमेधाविनाशिनी, पाके कटुका, ग्राहिकुष्ठव्रणापहा (ध. १.१६७; रा. ४.२२९) श्वेतावल्गुजा-अस्याः फलानि मेधायुःकामार्थमुपयुज्यन्ते (सुचि. २८.३) अस्याः कोमलशिम्ब्यः शाकत्वेनोपयुज्यन्ते । फञ्जी-चिल्ल्यादिगणोक्तः शाकविशेषः (चसू. २७.१०२; चसू. २७.९६) शाकगुणाः- कफपित्तहरं, तिक्तं, कटुविपाकं शीतं च (सुचि. २५.१५; सुसू. ४६.२६५; चचि. १९.३२)
हिं.—गोवार, वायची, बावची, बकुची.
म.—बावची.
गु.—बावची, बावचिनावी.
बं.—हाकुच, सोमराल (ज).
त.—वोगी विट्टलु.
बाकुल-न., बकुलवृक्षसम्बन्धि (फलम्), तस्य गुणाः- मधुरं, कषायं, स्निग्धं, संग्राहि, दन्तानां स्थिरीकरं, विशदं च (सुसू. ४६.१६९) बाकुलपुष्पं तु शाकत्वेन उपयुज्यते । पुष्पशाकगुणाः-सुगन्धि, विशदं, हृद्यं, श्लेष्मपित्तविषघ्नं च (सुसू. ४६.२८७)
बाढम्-(अव्य.) अत्यर्थम्, भूरि, सातिशयम् (अहसू. ५.२७)
बाण-पु., वनस्पति० कुरण्टकं, नीलसहचरः (अहसू. १५.१७; सुसू. ६.३६; रा. १०.४२०-असंसू. १६.११)
शरः (ध. ४.१३५)
(बाणा)-स्त्री., वनस्पति० कुरण्टकः (रा. १०.४२०)
-पुङ्खा-स्त्री., वनस्पति० शरपुङ्खा (रापरि.४.६)
-वार-न., वर्म, बाणं शरीरप्रक्षिप्तं वारयति इति बाणवारः कवचम् (सुचि. २४.७४)
बाणासुर-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.५०)
बाणाह्व-पु., वनस्पति० मुञ्जः (ध. ४.१३२)
बादर-पु., वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४५)
बादरायण-पु., ऋषि०, रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु सांकृत्यकाप्यबडिशबैजवापिप्रभृतिषु महर्षिषु एकः (चसू. १.११)
बाधन-न., अभेषजप्रकार एकः, तदात्वमात्रबाधकं, यथा स्वल्पमपथ्यम् द्विप्रकारके बाधनसानुबाधनाख्ये अभेषजे इदं प्रथमम् (चचि. १.५; असंसू. १२.१०)
बाधिर्य-न., कर्णरोग० श्रवणेऽसामर्थ्यम् (चसू. ५.३८)
अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
संप्राप्तिः—शुद्धः कफान्वितश्च वायुः शब्दवहासु तदा नाडीषु नानाविधान्मार्गान् आवृत्य वर्तते, चिकित्साद्वेषिणो नरस्य असंशय बाधिर्य-नामा व्याधिर्भवति (सुउ. २०.८; सुनि. १.८३; सुचि. ५.२३) सामान्यचिकित्सा-बाधिर्ये कर्ण-पूरणम् (सुउ. २१.३५)
विधुरसंज्ञितयोर्मर्मणोर्विद्धयोरिदं जायते (सु. शा. ६.२७)
बार्हतबीज-न., (परिव०) बृहत्या बीजम् (अहसू. १५.४)
बार्हस्पत्य-वि., बृहस्पतिना कृतं नाम प्रणीतमिति बार्हस्पत्यम् ('नीतिशास्त्रम्') (चवि. ८.५४)
बाल-पु., ऊनषोडशवर्षीयः कुमारः, त्रिविधा बालाः — क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादाः इति । तेषु संवत्सर-पराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतो-ऽन्नादाः(सुसू. ३५.२९; चवि. ८.१२२) बालः मृदु-भेषजीयानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; सुचि. ३५.२१)
गन्धद्रव्य० वालकः (र. १०.२२)
केशः (सुचि. १.४१; सुसू. १.८ (१); ७.१५; सुसू. चवि. ३.१४)
(बाला)-स्त्री., अप्राप्तयौवना स्त्री (सु. शा. १०.५५; यो. रत्नाकरः; अहसू. १९.८०)
-आमरोगपूर्वरूप-न., भविष्यदामरोगस्य बाले पूर्वरूपाणिस्तैमित्यमरुचिर्निद्रागात्रपाण्डुताऽरतिः, रमणाशनशय्यादीन् धात्रीं च द्वेष्टि नित्यशः, अस्नातः स्नातरूपश्च स्नातश्चास्नातदर्शनः दृश्यते । भविष्यतः आमस्य एतानि रूपाणि वैद्यो विद्यात् (कासू. २५.३२,३३)
-क्रीडन-न., कृत्रिमहस्त्यश्वबलिवर्दशुकादि (सुसू. १६.३)
-क्रीडनक-न., बालक्रीडनम् (काखिल. १२.६)
पु., भैषज० कपर्दिका (ध. ३; परि. २४)
-गृह--न., कुमारागारम् (का. रेवतीकल्प ६९)

-ग्रह-पु., बालरोग० आविष्टानां ग्रहाणां सामान्यलक्षणम्-उत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः फेनस्रावोर्ध्वदृष्टयोष्ठदन्तदंशप्रजागराः रोदनं कूजनं स्तन्यद्वेषः स्वरवैकृतं नखैरकस्मात् स्वधान्यङ्गविलेखनम् (असंउ. ३; सुशा.१०.५१) तत्र बालग्रहचिकित्सासामान्येन स्नानवस्त्रवसामांसमद्यक्षीरगुडादि यद्येभ्यो यदा रोचते, तत्तेभ्यः प्रयच्छेत्। गन्धमाल्यानि बीजानि, रत्नानि मधुसर्पिषी, भक्ष्याश्च सर्वे सर्वविधग्रहशान्तये भवन्ति (असंउ.८)

-पत्र-पु., वनस्पति० खदिरः (ध. १.२५)
यासः (ध. १.२२)

-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४८)

-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० यूथिका (रा. १०.२५०)

-बन्ध-पु., पारदबन्ध०, समभागाभ्रकेण जारितः पारदः (र. ११.८२)

-बिल्व-न., अपक्वं बिल्वफलम् (र. २२.८८)

-भेषजमात्रा-स्त्री., बालव्याधिषु भेषजमात्राऽल्पा भवितुमर्हति। तत्र हेतुः- निवृत्तिर्वमनादीनां, मृदुत्वं, परतन्त्रताम्, वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं च, वीक्ष्य, बालेषु भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् (चचि. ३०.२८४)

-भैषज्य-न., भैषज्य० रसाञ्जनम् (रा. १३.२२१)

-भोज्य-पु., वनस्पति० चणकः (र. १६.१५६)

-रोग-पु., बालानां व्याधयः (शार्ङ्गधर. पू. ७.१८६) तल्लक्षणानि— अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते, तं मुहुर्मुहुः स्पृशति, स्पृश्यमाने च रोदिति रोगे मूर्धस्थे सति निमीलिताक्षः सन् शिरोधारणेऽसमर्थो भवति। बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति च। विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्यांध्मानान्त्रकूजनैः कोष्ठे दोषान् विजानीयात्। रोदनैः दोषान् सर्वतो व्याप्तान् जानीयात् (सुशा. १०.३४-३६)

-वर्ति-स्त्री., केशरचितवर्तिः (सुचि. २.६९) इयं शिरसो व्रणे उपयुज्यते (सुचि. २.७०)

-वेणी-स्त्री., केशकृता वेणी (चशा. ८.४१)

-व्यजन-न., केशमयं वीजनसाधनं; चामरम् (सुचि. ४.२९; सुचि. २४.८२)

बालक-न., वनस्पति० मरीचम् (रा. ६.१३८)

-प्रिया-स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०७)
इन्द्रवारुणी (रा., ३.३७२)

बालाङ्गुलि-स्त्री., कनिष्ठाङ्गुलिः, अनुशस्त्रेष्वेका आवश्यके एषणकर्मणि एषण्या अनुपलम्भे बालाङ्गुलिरङ्कुराश्च उपयोज्याः (सुसू. ८.१५ तः १९)

बालामलक-न., आमलकं बालम् (असंउ. ३७)

बालाम्र-न., आम्राम्रं जाताजातबीजमपक्वाम्रम् (र. १०.९४)

बालेन्दुकुटिला-वि. बालचन्द्रलेखावद् वक्रा (राजी) (चइ. ११.१३)

बालेष्ट-पु., न., वनस्पति० बदरम् (ध. ५. ९६)

बालोपचरणीय-वि., बालोपचरणमधिकृत्य कृतोऽध्यायविशेषः (असंउ. १)

बाल्य-न., षोडशवर्षपर्यन्तं वयोऽवस्था (र. ११.९६; सुसू. ३५.२९)

बाह्लीक-न., भैषज्य० कुङ्कुमम् (असंसू. ८.१०३)

बाह्लिक-पु., ऋषि० काङ्कायनबाह्लीकः (चसू. १२.६)
देश० (चवि. १.१८; चचि. ३०.३१६)
न., भैषज्य० कुङ्कुमम् (चचि. २३.१०२; चचि. ३०.९१; सुक. ६.३)
निर्यास० हिङ्गु (ध. २.२६; र. ५.१२८)

-भिषज्-पु., महर्षि० (चसू. २६.५)

बावन-न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.३)

बाष्कयणपयस्-न., बहुवारं प्रसूता प्रौढवत्सा वा गौः बष्कयणी, बष्कयिणी वा, तस्याः दुग्धम् (असंक. ८)
तत्क्षीरं पुष्यं रतिप्रदं च (असंउ. ५०)

बाष्प-न., अश्रु (चसू. ७.४) रोदनजलम् (सुसू.२१.१९)

(बाष्पी)-स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (रा. ६.६२)

-द्वय-न., वनस्पति० बाष्पिकाद्वयं, तच्च लोहितं कृष्णं च सिन्धुदेशे प्ररोहति (सुचि. ४.३२)

-निग्रह-पु., अश्रुनिग्रहः (चसू. १७.१०) द्र० 'उदावर्त'

-निग्रहण-न., अश्रुनिग्रहः (चसू. ७.२२)

-रोधज-वि., अश्रुनिग्रहजनितः (व्याधिः) (अहसू. ४.१६)

-समुच्छ्रय-पु., लक्षण० समुच्छ्रयो बाहुल्यमाधिक्यं वा, तेन बाष्पसमुच्छ्रयोऽश्रुबाहुल्यम् (सुउ. ६.७)

बाष्पावेग-पु., शोकोत्थतेजस उद्रेकः (सुउ. ४०.१३)

बाष्पिका-स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध. २.३८; असंसू. १२.६४)
जीरकभेदः (असंचि. ६; असंचि. १६)

बास्त-वि., बस्तोद्भवम्, बस्तसम्बन्धि, यथा-बास्तं मूत्रं नाम छागमूत्रम् (चशा. ८.१०; चचि. १०.२६)

बाहु-पु., ऊर्ध्वशाखा, कक्षातः अंगुल्यग्रपर्यन्तोऽवयवः, षडंगेष्वेकमंगम् (चशा. ७.५)

अंसकूर्परयोरन्तरम् प्रत्यङ्गमेकम् (सुशा. ५.४; सुचि. ३.३७)

-द्वयप्रतिपन्न-वि., द्वाभ्यां बाहुभ्यामुपेतः अष्टसु मूढगर्भेषु एक एवंगुणोपेतः (सुचि. १५.९)

-नलक-पु., बाह्वोः स्थितोऽस्थि० द्वौ बाहुनलकौ (चशा. ७.६) द्र० 'अस्थि'

-पिण्डिका-स्त्री., प्रत्यङ्ग० षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेषु एका, द्वे बाहुपिण्डिके (चशा. ७.११)

-भग्न-न., लक्षण० बाहुसंधिस्खलनम् द्र० 'भग्न' (सुचि. ३.३७)

-मर्मन्-न., शारीर० ऊर्ध्वशाखाश्रितं मर्म, बाहुमर्माणि एकादश-क्षिप्र-तलहृदय-कूर्च-कूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रबस्ति-कूर्पर-आणी-ऊर्वी-लोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति (सुशा. ६.६) द्र० 'मर्म.'

-मित-वि., बाह्वोर्द्विसंख्यात्वेन बाहुमितं नाम भागद्वययुतम् (र. १७.१३७)

-मूर्धन्-पु., शारीर० बाहुशिरः (सुशा. ६.२६)

-वीर-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५.९४)

-शूल-पु., लक्षण० बाहोः शूलः (चसि. २.१६)

-शोष-पु., लक्षण० बाहोः शुष्कत्वं कार्श्यं वा अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; चसि. २.१६) अंसफलकमर्मणि विद्धस्य लक्षणम् (सुशा. ६.२६)

-श्रुत्य-न., बहुश्रुतस्य भावः, भूयोविद्यत्वम् (असंसू. २.१३)

-स्तम्भ-पु., लक्षण० बाहोः स्तम्भः (चसि. २.१६)

-स्वाप-पु., लक्षण० ऊर्ध्वशाखायाः सुप्तता, विद्धांसफलकमर्मणो लक्षणम् (चशा. ६.२६)

बाहुल्य-न., स्थूलता (सुउ. १.१९)

बाहुल्यानुशय-पु., अनुशेते अनुबध्नाति इति अनुशयः, अनुबन्धः सम्बन्ध इति यावत्, तेन भूरिसंबंधः (चसू. ८.६)

बाह्य-वि., उपरितनम् (सुउ. २३.५)

आगन्तुः बाह्यनिमित्तजः (सुउ. १.२९)

-ज-वि., आगन्तुकारणोद्भूतो नेत्ररोग०, स द्विविधः-सनिमित्तोऽनिमित्तश्च, निमित्तमभिघातादि, सनिमित्तो बाह्यजो नाम अभिघाताद्युत्पन्नः, अनिमित्तो बाह्यजो नाम सुरर्षिगन्धर्वादिदर्शनाभिहतशक्तिः (सुउ. १.४३)

-द्रुति-स्त्री., बहिरेवाभ्रकसत्त्वादिकं द्रुतं कृत्वा विहिता पारदद्रुतिः, जार्यमाणानामभ्रकादि लोहानां बहिरेव द्रुतिं कृत्वा रसरूपाणां तेषां रसे द्वन्द्वमेलापनम् (र. ८.८१)

-मल-पु., बाह्यमलायने स्थितो मलः (चवि. ७.१०)

-मार्ग-पु., बाह्यरोगमार्गः, रोगमार्गाणां त्रयाणामेकतमः, तत्र रक्तादयो धातवस्त्वक्च बाह्यरोगमार्गः; तदाश्रया व्याधयो मण्डलकुष्ठव्यङ्गगण्डालज्यर्बुदादयः (अहसू.१२.४४ तः ४८; सुनि.५.३)

-रोगायन-न., बाह्यरोगमार्गः (अहसू. १२.४४)

बाह्यकी-स्त्री., सविषकीट० अग्निप्रकृतिकोऽयं पित्तजरोगकृत् (सुक. ८.९.१२; असंउ. ४३)

बाह्यायाम-पु., रोग० बहिरायामः वातरोगोऽयं पृष्ठे देहनमनात्मकः बाह्यस्नायुप्रतानस्थो वायुः बाह्यायामं करोति (सुनि. १.५७; चचि. २८.३५) द्र० 'आयाम'

बिज्जुल-न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७७)

बिड-न., लवणभेदः। बिडलोण इति लोके। बिलति भिनत्ति मलं बिडम्। तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद् व्यवायित्वादीपनं शूलनाशनम्, कफवातानामूर्ध्वाधोऽनुलोमनम (चसू. २७.३०२) उष्णं तीक्ष्णं सक्षारं दीपनं सूक्ष्मं शूलहृद्रोगनाशनं रोचनं वातानुलोमनं च (सुसू. ४६.३१६) कफवातघ्नं गुल्ममेहघ्नं च (ध. २.२८) पारदे अभ्रकसुवर्णादीनां जारणकर्मणि सहाय्यकः कल्पः क्षारैर्यवक्षारादिभिरम्लैर्जंबीरादिभिर्गन्धाद्यैर्गन्धकादिभिर्मूत्रैर्गोमूत्रादिभिः सैन्धवादिभिर्लवणैः पारदकवलस्य जीर्णकरणार्थं यन्निर्मितं तद्बिडमिति परिकीर्तितम् (र. ८.८५)

-मूषा- स्त्री., मूषा० विविधमृद्भिर्निर्मिता विविधैर्बिडैश्च विलेपिता मूषा इयं देहलोहार्थयोगोपयोगिनी (र. १०.१९)

बिडाल-पु., उपक्रम० नेत्रलेपः (असंउ. १९) द्र० 'बिडालक'

प्राणि० मार्जारः (सुचि. ४.१७) षट्प्रकारको मार्जारः-ग्राम्यो वन्यस्तोयजातः पक्षिमार्जारो विज्जकसुगन्धवृषणश्च (सुउ. ४१.३६) अस्य सद्यस्कं रक्तं पिच्छिलबस्त्युपयोगि (सुचि. ३८.८६)

प्रमाण०, कर्षः (का. उदावर्त चि.)

न., खनिज० हरितालम् (ध. ७.११९)

-पदक-न., मान० कर्षः (असंक. ८; चचि.१३.१६०) द्वौ द्रङ्क्षणौ बिडालपदकम् (चक. १२.९०) निष्कचतुष्टयं बिडालपदकम् (र. ११.४,५; का. शतपुष्पाक; सुसू. ३९. १४)

पु., उपक्रम० बिडाललेपः (असंउ. १४) द्र० ' बिडालक '

बिडालक–पु., नेत्रवर्त्मोपरि लेपः नेत्रबहिर्लेपः, नेत्ररोगलक्षणेष्वव्यक्तेषु पक्ष्मपरिहारेणाक्षिकोशालेपनम् (चचि. २६.२३१; असंसू. ३२.३)

(बिडालिका)–स्त्री., लक्षण० शोफभेदः, तल्लक्षणं–भृशार्तिः, सदाहरागो, गलस्य सन्धौ, चिबुके, गले, श्वासवहनाडीषु च शोफः, स कृत्स्नगलवेष्टकत्वेन वलयाकारश्चेद् असाध्यो भवति (चचि. १२.७६)

बिन्दु–पु., प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् यावत्पतति तावन्मात्रोऽसौ बिन्दुः (सुचि. ४०.२८; अहसू. २०.१०-११)

वर्तुलच्छेदः (असंउ. ४१)

लक्षण० बिन्द्वाकारा त्वग्विकृतिः (चचि.२३.११४)

रत्नदोष० बिन्दुवदाकारः आवर्तवर्तकभालबिन्दुयवाकृतिरूपः (र. ४.३६)

उपक्रम० अग्निकर्मभेदः, तत्र वलयबिन्दुविलेखाप्रतिसारणानीति दहनविशेषाः (सुसू. १२.११) द्र० ' अग्निकर्म '

–**पत्र**–पु., वनस्पति० भूजैः (रा.परि.९२२)

–**पात**–पु., आश्रोतनविधौ कनीनकदेशे औषधस्यावसेचनम् (असंसू. ३२.४)

–**फल**–न., मौक्तिकम् (रा. १३.६७)

–**राजि**–पु., सर्प० राजिमान् सर्पः (सुक. ४.३४ (३))

बिन्दुल–पु., सविषकीट० अग्निप्रकृतिकोऽयं पित्तजरोगकृत् (सुक. ८.९; असंउ. ४३)

बिभीत–पु., वनस्पति० बिभीतकः (असंउ.३.२०)

बिभीतक–पु., प्रसिद्धवृक्ष० बिभीतकः मुस्तादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.५४) ज्वरहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) गुणाः– बिभीतकफलं कषायं स्वादुपाकं, उष्णवीर्यं, कफपित्तनुत्, हिमस्पर्शं भेदनं, कासनाशनं, रूक्षं, नेत्रहितं, केश्यं, कृमिवैस्वर्यनाशनं च। बिभीतकमज्जा तृट्छर्दिकफवातहरो, लघुः कषायो, मदकृच्च (भा. प्र.) स्नेहयुक्तद्रव्य० (चसू. १३.१०) सरं, कटु, चक्षुष्यं कफास्रहरं च (ध. १.२१४) पलितघ्नः (रा. ११.३२४)

हिं.—भैरा, बहेरा, भेरा, सागोना, भरला, बुहुरा.

म.—बेहडा, बेहरा, बेडा, येहेला बेहेडा.

गु.—बेरंग.

बं.—बोहेरा, बाहेरी, भैरा, बुहुरु, बोथरा.

त.—तानी, थानी, कट्टट्ट, एलूपाय, तान् रिक्काय्, तान्डी तोन्डा, चट्टु एलुपा, तामकै, वल्लैमुर्डु, तानिकोइ, तान्क्कै.

–**तैल**–न., स्नेह० बिभीतकमज्जातैलम्; तद्गुणाः–स्वादु, हिमं, केश्यं, पित्तानिलापहं च, मधुरतैलगणोक्तमेकम् (सुसू. ४५.१२०; ध. ६.१३६)

–**फल**–न., आक्षफलम् (सुसू. ४६.२००)

–**सीधु**–पु., न., आसुत० बिभीतकक्काथगुडकृतो धातकीकुसुमादिकृतसंस्कारः सीधुः, तद्गुणाः–पाण्डुरोगघ्नो, व्रण्यः, संग्राहको, लघुः, कषायो, मधुरः, पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनश्च (सुसू. ४५.१८६)

–**सुरा**–स्त्री., आसुत० बिभीतकस्य वल्कलैः सह कृता सुरा, वल्कलीति केचित्, तद्गुणाः–रूक्षा, नातिकफा, वृष्या, पाचनी च (सुसू. ४५.१७९)

बिभीषण–पु., वनस्पति० नलः (ध. ४.१४१)

बिम्ब–न., मण्डलं नितम्बस्य, हाराणचन्द्रोऽत्र बिम्ब इति पठित्वा बिम्बः सच्छिद्रं त्रिकास्थि इति व्याख्याति (सुशा. ५.११)

वनस्पति० बिम्बी (असंसू. ७)

बिम्बी–स्त्री., वनस्पति० फलशाकभेदः, अस्याः फलमोष्ठोपमं रक्तवर्णमस्ति। बिम्बीफलं द्विविधं स्वादुरसं तिक्तरसं चेति। तत्र स्वादुरसं बिम्बीफलं शाकत्वेनोपयुज्यते (चसू. २७.१४२) स्वादुरसबिम्बीफलगुणाः–मधुरं कषायं शीतं रूक्षं संग्राहकं कफपित्तहरं स्तन्यकृत् तृड्दाहज्वरपित्तासृक्कासश्वासक्षयापहम् (सुसू.४६.१६४) कफापहा वान्तिविषारोचकास्रपित्तघ्नी (ध. १.२०३) मूलमस्या वमनकरं शिरोविरेचनं च (चसू. १.७८)

हिं.—कंदूरी.

म.—रानतोंडले, तोंडली.

गु.—घोली.

बं.—तालाकुचा.

त.—कोवाई.

फा.—कबरे हिंदि.

–**फल**–न., फलशाक० (सुसू. ४६.१७६) बिम्बी

–**लोट**–पु., भिल्लोटो हिमाद्रिजो वृक्षः (सुउ. १२.११)

धान्य० व्रीहिः (रा. १६.९७)

–**शालिक**–पु., धान्य० व्रीहिः, (१६.९७)

बिम्बिशी–स्त्री., रोग० प्रवाहिका (र. १६.४१)

बिम्बिसी–स्त्री., रोग०, प्रवाहिका (र. ३०.३३; असंचि. ११)

बिम्बीतिका–शाक० कुन्दुरिका, तस्याः पत्राणि गृह्यन्ते (सुसू. ४६.२४९)

बिलशायिन्–वि., बिलेशयः श्वाविच्छल्लकादि प्राणि० एतेषां मांसं शूलरोगे प्रशस्तम् (सुउ. ४२.९१)

बिलेशय–पु., प्राणिवर्ग०, बिले बाहुल्येन शेरते इति बिलेशयः, श्वाविच्छल्यकगोधाशशवृषदंशलोपाकलोमशकर्णकदलीमृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहाबभ्रुप्रभृतयो बिलेशयाः (सुसू. ४६.७८) तेषां सामान्यगुणाः–एते वर्चोमूत्रं संहतं कुर्युः, स्वादुपाका उष्णा स्निग्धाः; वातं हन्युः, श्लेष्मपित्ते च कुर्युः, किञ्चैते कासश्वासकार्श्यापहाश्च (सुसू.४६;७९; चसू. ६.१२; सुउ. ४१.३६; सुशा. ४.४५; ध. परि. २.५)

–वर्ग–पु., बिलेशयप्राणिसमूहः (अहसू.६.४७)

बिल्व–न., मान०, 'पलम्' द्वे पलार्धे बिल्वम् (चक. १२.९२; असंक. ८; र. ११.६)

पु., वनस्पति०, बृहत्पञ्चमूले एकं द्रव्यम्, आस्थापनोपगगणे, अर्शोघ्नगणे, श्वयथुहरगणे, अनुवासनोपगगणे च एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११-१६) अणुतैलयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.६४) पित्तश्लेष्मातिसारघ्नपेयायामुपयुज्यते (चसू. २.२०) अस्य काष्ठं दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२०) अस्य पुष्पाणि अञ्जने उपयुज्यन्ते (सुउ. १२.११) बिल्वमूलगुणाः–मधुरं, त्रिदोषच्छर्दिशूलनुत्, लघु मूत्रकृच्छ्रहरं, त्रिदोषघ्नं च (निघण्टुरत्नाकरे) (ध. १.१०४; रा. ११.१३७) बिल्वं सांग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानां श्रेष्ठम् (चसू.२५.४०) पक्वं बिल्वफलं–दुर्जरं दोषलं पूतिमारुतम्, आमं तु स्निग्धोष्णतीक्ष्णं, कफवातजित्, दीपनं च (चसू. २७.१३८) अम्लं संग्राहि (ध. १.१०८) गुरु (रा. ११.१३७) गुणाः–बिल्वो, मधुरो, हृद्यः, कषायः, पित्तजित्, गुरुः, कफज्वरातिसारघ्नो, रुचिकृत्, दीपनः, परः (रा. ११.१३६) पक्वं बिल्वफलं–मधुरानुरसं, गुरु, विदाहि, विष्टम्भकरं, दोषकृत्, पूतिमारुतम् (ध. १.१०९) कटुतिक्तकषायोष्णं संग्राहि त्रिदोषजित् (रा. ११.१३६)

हिं.—बेल, बील श्रीपल.

म.—**बेल.**

गु.—बिल्वफल, बिलिनुं फळ.

बं.—बेल; बील.

त.—बिल्वम्, बिल्वपझम्.

फा.—शुल्.

(बिल्वी)–स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (रा. ६.६२)

–क्षार–पु., योग० बिल्वफलदहनेन कृतः क्षारः उदरे उपयुक्तः (चचि. १३.१७०)

–गन्धक–पु., वनस्पति० अर्जकः (ध. ४.५४)

–ज–न., बिल्वफलम् (सुचि. ३८.४८)

–तैल–न., तैल० बिल्वादिसिद्धं तैलम् (चसि. ७.५३) वाते बिल्वतैलानुवासनमुपयुक्तम् (चसि. ३.७०) बिल्वमूलमधुयष्टीमदनफलक्काथसिद्धं तैलम् (सुचि. ३७.४६)

–पर्णी–स्त्री., शाक० बिल्वार्जकम् इदं कफं नाशयति (चसू. २७.१०७)

–पत्र–न., शाक० इदं वातं नाशयति (चसू.२७.१०७)

–पेशिका–स्त्री., बिल्वमज्जा (अहसू. १५.३८) बालबिल्वगिरः (ड. सुचि. ५.७; सुसू. ३८.४६)

–फल–न., बिल्ववृक्षस्य फलम् द्र० 'बिल्व' (सुसू. ४६.१७४)

–मात्र–वि., पलमात्रम् (अहसू. २४.१७)

–मूल–न., बिल्ववृक्षस्य मूलम् (असंउ. ४७; अहसू. ६.१६७) द्र० 'बिल्व'

–शलाटु–न., कोमलबिल्वफलम् (सुउ. ४०.४४; असंशा. ४.२३) द्र० 'बिल्व'

–शाक–न., शाक० बिल्वशाकम्, सामान्यगुणाः–मधुरं तिक्तं उष्णं वातप्रशमनं च (सुसू. ४६.२५४)

बिल्वादिगण–पु., बृहत्पञ्चमूलम्, गणेऽस्मिन् बिल्व; अग्निमन्थः, श्योनाकः, काश्मरी, पाटला चेति द्रव्याणि (सुचि. ८.१३)

बिल्वान्तर–पु., वनस्पति० चीरवृक्षो, दीर्घमूलो, वीरवृक्षः, कृच्छ्रारिः, क्षुधाकुशलसंज्ञकः इति अस्य स्वरूपगुणबोधकानि नामानि, गुणाः– कटूष्णः, कृच्छ्रघ्नः, संधिशूलनुत् वह्निदीपिकरः, पथ्यो, वातामयविनाशनः (रापरि. ८.३०-३१)

बिल्विका–स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (ध. २.३८)

बिस–न., वनस्पति० कमलनालम्, गुरुप्रकृतित्वान्नाभ्यसेत् (चसू. ५.१०) कमलतन्तुः (चचि. १४.९; सुचि. २८.१३) मृणालसूत्रम् (चचि. ३.२५८) पद्ममूलम्, प्रमेहे शृङ्गाटकादिगणे (सुचि. ११.१०; सुसू. ४६.३०३) भिषण्डकं, बिसाण्डकं वा (सुसू. ४६.४६४; सुसू. ५४.४) स्थूलपद्मनालं बिसमाहुः। कन्दशाकस्य गुणाः–अविदाहि, रक्तपित्तप्रसादनं, विष्टम्भि, दुर्जरं, रूक्षं, विरसं, मारुतापहं च (सुसू. ४६.३०३) मधुरं, वातकोपनं च (ध. ४.१६२)

पित्तदाहजित्, मूत्रकृच्छ्रविकारघ्नं, रक्तवान्तिहरं (रा. १०.२५८)

हिं.—कमलकी नाल, कमलकी डंडी.

म.—कमळाचा देठ.

बं.—पद्मेरंडाटा.

-कुसुम-न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (रा. १०.२४४)

-ग्रन्थि-स्त्री., पद्ममूलं, कलुषजलस्य प्रसादनं (सुसू. ४५.१७)

-वर्त्मन्-न., नेत्ररोग० यद् वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मच्छिद्रैर्युक्तं शूनं अन्तरुदकं बिसतुल्यं च तद् बिसवर्त्म (सुसू, ३.२८) साध्यो नेत्ररोग० (सुउ. १.४२; असंउ. ११) तत्र चिकित्सा-पक्वं बिसग्रन्थिं स्वेदयित्वाऽनन्तरमस्य पक्वस्य बिसग्रन्थे च्छिद्राणि निराश्रयं भित्त्वा सैन्धवेन कासीसादियुक्तेनावचूर्णयेत् प्रतिसारयेद्वा, अनन्तरं संधानार्थं मधुघृतं दत्त्वा सम्यग्बंधमाचरेत् (सुउ. १४.३-४)

बिसिनी-स्त्री., वनस्पति० बिसम् (ध. ४.१६१)

बीज-न., प्रभवकारणम्, मूलकारणम्, मूलसूत्रम्, संभवहेतुः (चशा. २.३३; सुउ. १८.८३; सुउ. ९.२५; सुसू. १.३९)

शुक्रशोणितम् (चशा. ३.१७; चचि. ३०.१२६; चशा. २.१८; र. १२.१; सुशा. २.३८; असंशा. २.५१; कासि. २; काशा.)

ग्रासजारणार्थं दीयमानं शुद्धं सुवर्णं रूप्यं च (र. ८.७४) विशिष्टेन निर्वापणेन तत्तद्वर्णं मृदुलं चित्रसंस्कारकरणसमर्थं च जातं लोहम् (र. ८.३१) चतुष्षष्टिमहाबीजानां साधारणानां सर्वबीजानामेकतमम् (र. २८.१२-१४)

वनस्पति० जेपालः (ध. १.२२८)

पुष्करमूलम् (रा. ६.९२)

-कण्ठ-पु., यत्र बीजानि बद्धानि सन्ति स बीजकण्ठः फलसम्बद्धः (चक. ४.८)

-कर्कटिका-स्त्री., वनस्पति० चीनाकर्कटी (रा. ७.२६०)

-गर्भ-पु., वनस्पति० पटोलम् (रा. ३.७४)

-ग्रहण-न., योनौ निषिक्तस्य शुक्रस्यानिःसरणम् (चशा. २.२३; असंशा. २.८)

-दोष-पु., शुक्रशोणितदुष्टिः (चचि. ३०.८; चचि. ६.५७)

-धर्मन्-वि., बीजं नाम सदृशमङ्कुरं धारयति स जीव इत्यर्थः स आत्मलीनो भूतसंतानः सदृशं देहरूपं भूतान्तरसंगं कुर्वन्बीजधर्मा भवति (चशा. २.३५)

-धर्मिणी-वि., सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्थायां स्थिता सर्वेषां महदादिविकाराणां बीजभावेनावस्थिता प्रकृतिः (सुशा. १.९)

-धातु-पु., शुक्रधातुर्गर्भबीजस्थः (काशा.)

-धान्य-न., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९८)

-पादप-पु., वनस्पति० भल्लातकः (रा. ११.२०२)

-पुष्पक-पु., धान्य० यावनालः (रा. १६.१६९)

-पूर-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गम् (ध. ५.२२; र. २.१५८)

-पूरक-न., वनस्पति० मातुलुङ्गम् (सुउ. ३९.३०३)

-पूरकमज्जन्-पु., बीजपूरकफलस्य बीजस्थितमृदुद्रव्यम्, तद्गुणाः-स्वादुपाकोऽग्निबलकृत् स्निग्धः, पित्तानिलापहश्च (सुसू. ४६.२०७)

-पूर्ण-पु., मातुलुङ्गम् (ध. ५.२२)

-पोषण-वि., बीजं नाम शुक्रं पुष्यति अनेन बीजं वा पुष्णाति इति बीजपोषणः शुक्रवृद्धिहेतुः (अहसू. १.४८)

-फलक-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गम् (रा. ११.२७)

-भाग-पु., बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्तको भागः (चशा. ३.१७, चशा. ४.३०)

-भूत-वि. बीजस्वरूपम् बीजान्तर्गतम् (असंशा. ८.७)

-रेचक-पु., वनस्पति० जेपालः (ध. १.२२७)

-रेचनी-स्त्री., वनस्पति० जेपालः (रा. ६.३४३)

-वर-पु., वनस्पति० राजमाषः (६.८४)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० असनः (रा. ९.२०७)

-सार-पु., असनसारः (सुचि. २५.३२; असंचि. १८)

-सारारिष्ट-पु., आसुत० बीजकसारत्रिफलाद्राक्षालाक्षादिभिः सिद्धोऽयं पाण्डुकामलामेहहृद्रोगवातशोणितविषमज्वरारोचककासश्वासहरः (असंचि.१८)

-स्नेह-पु., वनस्पति० पलाशः (ध. ५.१६२)

बीजकारिष्ट-पु., आसुत० बीजसारारिष्टः पाण्डुरोगादिघ्नपयुक्तो योगः (चचि. १६.१०६-११०)

बीजांश-पु., बीजभागः (असंशा. २.५०)

बीजान्त-न., वनस्पति० जेपालः (रा. ६.३४४)

(बीजान्ता)-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रयवः (रा. ९.२२)

बीजाम्ल-न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)

बीजावर्त–पु., यस्मिन्काले द्रावणकारणयोग्यं यद्द्रव्यं तन्निभा ज्वाला धमनकरणेऽग्नौ वाऽवलोक्यते स कालो बीजावर्त इत्युच्यते। अस्मिन्नेव काले द्रावस्योन्मुखता ज्ञेया। संप्रति सद्यो वा द्रुतिर्भावि-नीति भावः (र. ८.५९)

बीजाह्व–पु., वनस्पति० असनः (र. १७.५२)

बीजिन्–वि., बीजमस्यास्तीति सः, वृक्षादिरूपः (सुसू. ३६.१२)

बीजोग्र–पु., वनस्पति० वंशः (असंउ. ८)

बीजोपघात–पु., बीजस्य विकृतिः (चसू. १९.४ (५)

बीजकम् पु., वनस्पति० (ध. ५.२२) मातुलुङ्गम्

सर्जकः (सुचि. ६.१९)

मूढगर्भ, द्र० ' मूढगर्भ ' (सुनि. ८.४)

वनस्पति० असनः (ध, ५.१२५; र. १७.३६; चचि. १६.१०६; सुचि. २७.१२; सुउ. ५८.४७)

बीभत्स–वि., विकृताकृतिः (सुचि. ३३.७) जुगुप्सितम् (चचि. २०.१८) पूयामेध्यादि घृणाकरम् (सुउ. ४९.५)

–**चेष्ट**–वि., लक्षण० फेनवमनाङ्गविक्षेपणादिका बीभत्सचेष्टाः यस्मिन् तथाविधः (अपस्मारः) (चचि. १०.३; चनि. ८.५)

–**त्व**–न., लक्षण० दर्शनायोग्यत्वम् (चनि. ७.७ (३)

बुक–पु., वनस्पति० वसुकः (ध. ४.१९)

बुक्क–पु., हृत्प्रदेशो वक्षःप्रदेशो वा मेदोवहस्रोतसो मूलम् (चवि., ५.८ सुनि. ९.२१)

बुद्धमुनि–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. २०.१०७)

बुद्धि–स्त्री., निश्चयात्मिका धीः कर्मपुरुषस्य गुणेष्वेकः (सुशा. १.१७) तत्कालविषया; एकः सात्विकगुणः (सुशा. १.१८) निश्चयात्मकं ज्ञानम् (चसू. १३.४३) ज्ञानम् (चसू. १.४९) प्रज्ञा (चसू. १.५४)

–**कर**–वि., बुद्धिवर्धकम् (अहसू. १४.२८)

–**निरोध**–पु., (परिव०) विषयग्रहणे बुद्धेरसामर्थ्यं प्रतिहतिरूपम्, तामसगुणो हि सः (सुशा. १.१८)

–**प्रणाश**–पु.. लक्षण० बुद्धेर्विनाशः (असंसू. ५.३३)

–**प्रबोधन**–वि., बुद्धेः प्रबोधनं करोति इति। याव-न्मात्रा यस्य शेमुषी नाम बुद्धिः सा तस्य स्फुट-प्रतिभासा तद्योगाद्भवतीत्यर्थः (अहसू. ५.१)

–**प्रसाद**–पु., लक्षण० बुद्धेर्निर्मलत्वम्, बुद्धेः स्फुटं यथावद्विषयग्रहणे अकालुष्यम्। मनःशुद्धौ बुद्धि-प्रसादः (सुचि. ३३.२७)

–**मत्**–वि., उहापोहोपलक्षितधीमान् (सुउ. २४.४२)

–**मेधाकरगण**–पु., बुद्धिमेधावर्धकपदार्थानां समूहः, सततोध्ययनं, वादः, परतन्त्रावलोकनं, तद्विद्याचार्य-सेवा चेति बुद्धिमेधाकरो गणः (सुचि. २८.२७)

–**विपर्यय**–पु., लक्षण० सम्मोहः (सुशा. ६.३६)

–**विभ्रंश**–पु., लक्षण० बुद्धिभ्रष्टत्वम्, नित्यानित्ये हिताहिते यो विषमाभिनिवेशः सः बुद्धिविभ्रंश इति ज्ञेयः, समं बुद्धिर्हि पश्यति। उचिता बुद्धिः समं यथाभूतं पश्यति (चक. चशा. १.९९)

–**शुद्धि**–स्त्री., लक्षण० बुद्धेः निश्चयात्मकज्ञानकरत्वे पाटवम् (चसू. १६.६)

–**साम्य**–न., प्रस्तावविशेषे समानज्ञानम् (चवि. ८.३४)

बुद्धीन्द्रिय–न., ज्ञानेन्द्रियम् (सुशा. १.४) पञ्च बुद्धी-न्द्रियाणि, तद्यथा–स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, दर्शनं, श्रोत्रं चेति (चशा. ७.७)

बुद्धीन्द्रियोपरोध–पु., लक्षण० बुद्धेरिन्द्रियाणां रोधः (चचि. ४.२७.)

बुद्ध्युपघात–पु., लक्षण० बुद्धेर्विनाशः (चसू. ८.१५)

बुद्बुद–पु., वायुना अन्तःपूरितो जलादिद्रवबिन्दुः (अहसू. ७.६)

शारीर० अक्षिगोलकम् (सुउ. १.१०) द्र० ' नेत्र '

न., नेत्ररोग० अहिताचारहेतुको व्यधदोषभवो वा रोगः (सुउ. १७.८५-८६)

बुधरत्न–न., रत्न० मरकतम् (ध. ६.४९)

बुभुक्षा–स्त्री., भोक्तुमिच्छा (सुचि. ३४.४)

बुभुक्षित–वि., क्षुधायुक्तः (का. भोजनकल्प. ११)

बुस–न., कणकं, तुषम्, धान्यपलालम् (चइ. १२.१९; सुचि. ३२.११)

बुसोषित–वि., बुसमध्ये स्थितम् (अरिष्टादि) (सुउ. ४२.४८)

बूक–पु., वनस्पति० वसुकः ईश्वरमल्लिका (अरुणदत्त) बकपुष्पः (हेमाद्रि) (अहसू. १५.२४)

बृंहण–वि., न., उपक्रम० (चसू. २२.४२) धातुपुष्टिकरं शरीरवृद्धिकरं देहोपचयकरं वा (सुसू. ४५.११२; सुसू. ३८.३६; सुचि. १.८; चसू. २६.४३. (१)) बृंहणं यद्देहस्य बृहत्त्वाय भवति। प्रायः बृंहणं द्रव्यं भूम्युदकात्मकम् (असंसू. २४.४; असंसू. १७.८)

प्रायो बृंहणं द्रव्यं गुरु, शीतं, मृदु, स्निग्धं, बहलं, स्थूलपिच्छिलं, मन्दं, स्थिरं, श्लक्ष्णं च (चसू.२२.१०) सन्तर्पणापरपर्यायः बृंहणयोग्या नराः व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान्, भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान्, गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि बृंहयेत् (अहसू. १४.८) बृंहणद्रव्याणि—मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तयः, तथैव स्वप्नशय्यासुखाऽभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणानि (अहसू. १४.९-३४) सामान्येन मधुरो रसः बृंहणः (चसू. २६.४३ (१))

–बस्ति–पु., उपक्रम० बृंहणद्रव्यनिःक्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैन्धवैः युक्ताः खजप्रमथिता बस्तयो बृंहणा मताः (सुसू. १५.३३) द्र० 'बस्ति'

–रोगिन्–पु., यस्य बृंहणं शस्तं, स रुग्णः (असंसू. २४.४२) द्र० 'बृंहण'

बृंहणीय–वि., (चसू. ४.८) द्रव्यगण०–महाषड्के महाकषायवर्गे एको गणः क्षीरिणीराजक्षवकाऽश्वगन्धाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रोदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति (चसू. ४.९; असंसू. १५.७; सुउ. ५८.५९)

बृंहित–वि., बृंहणोपक्रमेण चिकित्सितः (अहसू. १४.१६)

–लक्षण–न., बृंहितस्य लक्षणम् । बृंहिते सति बलं, पुष्टिस्तत्साध्यामयसङ्क्षयश्च (असंसू. २४.१६)

बृंह्य–वि., बृंहणार्हः, कर्तव्यबृंहणविधिकः, बृंहणयोग्यः इति (असंसू. २४.१०-१२)

बृहत्–वि., महत् (रापरि. ७.४०) उपचितम् (अहसू. १४.२)

–कन्द–पु., वनस्पति० विष्णुकन्दः (रापरि. ७.४०)

–कोशातकी–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (रा. ७.२८४)

–ताल–पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९८)

–तिक्ता–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)

–त्व–न., बृहतो भावः, महत्त्वम् (असंसू. ७.९९)

–त्वच्–स्त्री., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३९)

–पत्र–पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३५) लोध्रः (चक. ९.३)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० तिलकन्दः (रापरि. ७.५३)

–पर्ण–पु., लोध्रः (ध. ३.१७७)

–पारेवत–न., वनस्पति० पारेवतम् (रा. ११.९०)

–पाली–स्त्री., वनस्पति० जीरक० (ध.२.७२)

–पीलु–पु., वनस्पति० पीलुभेदः (रा.११.६३)

–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० कुब्जकः (ध. ५.१४६)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (ध. १.२००)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डम् (ध. १.१८३) इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७६) जम्बूभेदः (रा. ११.१३०) द्र० 'जम्बू' महाबला (ध. १. २८२) कटुतुम्बी (रा. ३ व २३४)

–सरोरुह–न., बृहत्कमलम् (चक. १.१९)

(बृहच्)–चञ्चु–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुः, कषाया, उष्णा, मलरोधनी, रसायनी, गुल्मशूलोदरार्शोर्तिविषघ्नी (रा. परि. ४.२२)

–छद–पु., वनस्पति० अक्षोटः (रा. ११.८२)

–छिम्बी–स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी (रापरि. ७.९७)

–छुक–पु., प्रतुदपक्षि० (धपरि. ६.१२) द्र० 'प्रतुद.'

(बृहज्)–जीवन्ती–स्त्री., वनस्पति० जीवन्तीभेदः (रा. ३.१७९) द्र० 'जीवन्ती'

–जीवा–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७९)

(बृहद्)–दल–पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९७) लोध्रभेदः (रा. ६.२४०) द्र० 'लोध्र'

–बल्क–पु., वनस्पति० लोध्रभेदः (रा. ६.२४०)

–वारुणी–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७६)

बृहती–स्त्री., वनस्पति० बृहत्पञ्चमूले, श्वयथुहरगणे, हिक्कानिग्रहगणे, महाकषायवर्गे, कण्ठ्यगणे, अङ्गमर्दप्रशमनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू ४.१७) अणुतैलद्रव्येष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ५.६५) आमलकीफलाकारफला क्षुद्रवार्ताकः व्रणशोधनतैले उपयुज्यते (सुसू. ३७.१८) अस्याः पुष्पाणि अञ्जने उपयुज्यन्ते (सुउ. १२.११) बृहत्यौ वा बृहतीद्वयमित्यनेन कण्टकारी बृहती चेति वनस्पतिद्वयं गृह्यते । विदारीगन्धादिगणे (सुसू. ३८.४) गर्भिण्यवस्थायां गर्भस्रावपरिहारार्थमुपयुज्यते (सुशा. १०.६१) शूलहरक्वाथे उपयुज्यते (सुउ. ४२.१२८) बृहती द्विधा–सिंही व्याघ्री च (अहसू. ६.७६) बृहत्यादिगणे उल्लिखितं बृहतीद्वयम् बृहती कण्टकारिका च (सुसू. ३८.३१) गुणाः– कफवातघ्नी, श्वासशूलज्वरापहा, छर्दिहृद्रोगमन्दाग्न्यामदोषनाशनी च, सोष्णा पाचनी च (ध. १.९४) कटुतिक्ता, कासघ्नी, अरोचकश्वासहृद्रोगहारिणी च (रा. ४.१२२)

हिं.—बान्हंटा, बिर्हाटा.
म.—डोरली, मोतीरिंगणी.
गु.—उभी रिंगणी.
बं.—ब्याकुरा.
त.—करीमुल्लि, पप्परामुल्लि.

–द्वय–न., वनस्पति० बृहती कण्टकारी च (सुसू. ३८.६६; असंसू. ७.)

–फल–न., बृहतीद्वयस्य फलम् फलशाकविशेषः, तच्च कटु, तिक्तं, लघु, वातकफहरं, कण्डू-कुष्ठ-कृमिघ्नं च (सुसू. ४६.२६७)

–मर्मन्–न., शारीर० पृष्ठमर्म, स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ नाम मर्मणी, तत्र विद्धे सति शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते, सिरामर्मणी अर्धांगुले, कालान्तरप्राणहरे च (सुशा. ६.२६)

बृहत्यादिगण–पु., सन्निपातज्वरापहो गणः, बृहत्यौ-पौष्करं, भार्ङ्गी, शटी, शृङ्गी, दुरालभा, वत्सकस्य बीजानि, पटोलं, कटुरोहिणी च, अयं बृहत्यादिगणः सन्निपातज्वरापहः तथैव सोपद्रवेषु सर्वेषु कासादिषु दातव्यः (चचि. ३.२१३-२१४) बृहती, कण्टकारिका, कुटजफलं, पाठां मधुकं चेति, अयं बृहत्यादिगणः पाचनीयः, पित्तानिलापह-कफारोचकहृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः (सुसू. ३८.३१-३२)

बृहदेला–स्त्री., एलाभेदः (ध. २.४६) द्र० 'एला'

बृहस्पति–पु., ऋषि० विषहरयोगप्रणेता कश्चिद् ऋषिः (असंसू. ८.१०२)

बैजवापि–पु., ऋषि० बीजवापस्य अपत्यं पुमानिति बैजवापिः रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.११)

बैडाल–वि., (सुउ. ३९.२६३)

बैभीतक–वि., बिभीतकसम्बन्धि (तैलादि) (सुचि. ९.१७)

–तैल–न., बिभीतकमज्जायास्तैलं बिभीतकफलोत्थ-तैलं वा (सुचि. ९.१७)

–मज्जा–स्त्री., बिभीतकस्य मज्जा, तद्गुणाः–मदकरः कफमारुतनाशनः (सुसू. ४६.२०५)

–रस–पु., बिभीतकस्य रसः (चक. १२.१५)

बैभीतकीसुरा–स्त्री., आसुत० बिभीतकवल्कलयुक्त-शालिपिष्टकृता सुरा, नातितीव्रमदा, लघ्वी, पथ्या च। व्रणे पाण्डुरोगे कुष्ठे चोपयोक्तव्या (अहसू. ५.६९)

बैल–पु., बिलेशयप्राणिविशेषः, बिले निवसति इति बैलः बिलेशयः (चसू. २४.७; चचि. १८.१८५; असंचि. ४)

बैल्व–वि., बिल्वस्येदमिति बैल्वं नाम बिल्वसम्बन्धि, यथा बैल्वकाष्ठं नाम विल्वस्य काष्ठम् (चशा. ८.३३)

बोकडी–स्त्री., वनस्पति० बस्तान्त्रिः (रा. ३.२)

बोट–न., वनस्पति० शालिपर्णीभेदः (ध. १.८९; असंचि. ५) द्र० 'शालिपर्णी'

बोदारशृङ्गक–न., खनिज० मृद्दारशृङ्गकम्. सदलं पीत-वर्णं च गुर्जरमण्डले भवेत्। अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे बोदारशृङ्गकं जातम्, गुणाः–शीतं, वातश्लेष्मशमनं पुंस्त्वदायकमुत्कृष्टं रसबन्धनम् उत्तमं केशरंजनं च (धपरि. ६.२३)

हिं.—मुरदासिंग.
म.—मुरदाडशिंग.
गु.—बोदार कॉंकरो.
बं.—मुरदोसिंग.
त.—मुदारसिंगु.
फा.—मुरदार्सिंग.

बोद्धृ–पु., आत्मा, जगद्बोधयिता बोद्धा इत्युच्यते (चशा. ४.८)

बोधक–पु., रसनस्थः सम्यग् रसबोधनात् बोधकश्लेष्मा पञ्चप्रकारेषु श्लेष्मस्वेकः (असंसू. २०.६; अहसू. १२.१७)

बोधन–न., जागृतिः (सुशा. ४.३५)

बोधना–स्त्री., वनस्पति० कर्कोटकी (रा. ७.२७६)

बोधलब्धि–स्त्री., लक्षण० मूर्च्छाक्षेपान्मुक्तिः, संज्ञा-लाभश्च (र. १२.९०)

बोधि–पु., वनस्पति० पिप्पलः (असंउ. ४४; र. ५.१६७,

–कुवल–न., विकसितकमलम्, बोधो ज्ञानं विकासो वा, बोधिविकसितम्

–वृक्ष–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७८; चचि. २९.१५८)

बोल–पु., न., भैषज्य० उग्रगन्धघनरसः, रसगन्धो, गन्धरसश्च, गुणाः–बोलं, तिक्तं, हिमं, उद्रिक्तरक्तं हन्ति, कफपित्तामयान् हन्ति, तथैव प्रदरादिरुजा-पहम् (ध. ३.६३) कटु कषायं तिक्तोष्णं, रक्तदोषनुत् (रा. ६.११८)

हिं.—बोल, हीराबोल, बीजाबोल.
म.—बोळ.

गु.—हिराबोळ.
बं.—गंधरस, बोल, हिराबोल, खुनखारापी.
त.—वेळइप्पोलम्.
फा.—मुर.

-बद्धरस–पु., पारदयोग० रसभस्म वत्सनाभौ समौ गन्धको द्विगुणः, बोलो हरितालभस्म हिङ्गु कर्कोटीमूलं माक्षिकभस्म हरिद्रा कण्टकारी यवक्षारो लाङ्गली स्वर्जिका सैन्धवं मधूकसार-श्चेत्येतानार्द्रकस्वरसेन सप्ताहं संमर्द्य बदराकारां गुटिकां कुर्यात्। श्लेष्मकासश्वासपाण्डुनाशनोऽयं योगः (र. १३.४१-४३)

बोष्काणदेश–पु., देश० काबेलः, बोष्काणदेशजं हिङ्गु श्रेष्ठम् (असंसू. १२.६७)

ब्रध्न–पु., चर्मलता, मांसपेशीति केचित् (चवि.७.१२)
शारीर० गुदम् (चचि. १९.६)
रोग० वङ्क्षणसंधिषु यदा कुपितो दोषो ग्रन्थिवत् शोथं करोति तदा ज्वरशूलाङ्गसादैर्युक्तं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत् (चइ. ११.१५; चनि. ३.७)
रोग० वातादिलिङ्गैर्वृषणे अन्त्रं निरेति । तम् अन्त्रवृद्धिलक्षणं ब्रध्नमिति निर्दिशेत् । तथैव मूत्रेण पूर्णं स्यात् तत् पूर्णं मृदु च; मेदसा चेत् शोथं, स्निग्धं, कठिनं च विद्यात् (चचि. १२.९४)

ब्रह्मन्–न., वेदः (सुसू. २९.३०)
तत्त्वज्ञानम् (चचि. २०.३)
मोक्षः (चशा. ५.१९)
आत्मा (चशा. ४.८)
परमात्मा (चशा. ५.४)
ओङ्कारः (चचि. १ (३).११; चचि. १.८०)
पु., आदिदेवो ब्रह्मा; आयुर्वेदस्याऽऽद्यस्मरणकर्ता (सुसू. १.२०; सुसू. ३४.८; चसू. १.४)
श्लेष्मप्रकृतिदेव० (सुशा. ४.६७) बुद्धेरधिदैवतं ब्रह्मा (सुशा. १.७) ब्रह्मा आत्मानं पातु (सुसू. ५.२९)
रससिद्धिप्रदायकः सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमः (र. १.२-५)

(ब्रह्माणी)–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.२०)
-कन्यका–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. १५.१४८)
-काय–वि., चित्तप्रकृति० सात्विककायः, यस्मिन् मनुष्ये शौचमास्तिक्यं वेदाभ्यासो गुरुपूजनम्, अतिथिप्रियत्वं याग इत्यादयो दृश्यन्ते, स ब्रह्मकायो ज्ञेयः (सुशा. ४.८१)
-काष्ठ–न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)
-कोशी–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१)
-गर्भा–स्त्री., वनस्पति० अजगन्धा (रा. ४.१५३)
-घोष–पु., वेदध्वनिः (चसि. १२.१९(१))
-घ्नी–स्त्री., वनस्पति० कुमारी (रापरि. ५.११)
-चर्य–न., वेदाध्ययनमिन्द्रियसंयमो वा (सुचि. २८.२८) कामकर्मवर्जनम्, अमैथुनम् अयमेकान्ततः पथ्यतमविहारः (सुसू. २०.६) ब्रह्मचर्यमायुष्यकराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) व्युपस्तम्भेष्वेकः (चसू. ११.३४)
-चारिण–न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)
स्त्री., करुणी (रापरि. १०.२७)
-चारिन्–वि., अष्टविधमैथुनोपलक्षितस्त्रीसंगरहितः (सुशा. २.२८)
(-चारिणी)–स्त्री., ब्रह्मचर्यव्रतमाचरन्ती स्त्री (सुशा. २.२८; सुनि. १२.७)
-जटा–स्त्री., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६४)
-ज्योतिष्–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ९.६४)
-दत्ता–स्त्री., वनस्पति० श्वग्रहजुष्टे प्रदेहार्थमुपयुज्यते (असंउ. ६)
-दारु–न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)
-द्वार–न., शिरसि ब्रह्मरन्ध्रस्थानम् (र. १२.९९)
-पत्री–स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (रा. ७.१३४)
-पवित्र–पु., वनस्पति० कुशः दर्भः (रा. ८.२०७)
-पादप–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा. ९.५५)
-बीज–न., पलाशबीजम् (र. ७.२०२)
-मूल–न., पलाशमूलम् (र. ३.८२)
-मेखल–पु., वनस्पति० मुञ्जः (ध. ४.१३२)
-राक्षस–पु., भूताधिपति० (असंउ. ७)
-रीति–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.२०)
-वर्चसिन्–वि., ब्रह्मतेजोयुतः (सुचि. २८.४)
-विद्–वि., ब्रह्मवेत्ता, मुक्तः (चशा. १.१५५)
-वृक्ष–पु., वनस्पति० पलाशः (र. २०.६८)
-वृक्षक–पु., वनस्पति० पलाशः(ध. ५.१६१)
-सुवर्चला–स्त्री., वनस्पति० हिरण्यक्षीरा, पुष्कर-सदृशपत्रा, द्रोणी प्रावेशिकरसायनेष्वेकौषधिः (चचि. १ (४) ७; चचि. १.५८) तस्या उत्पत्ति-स्थानं देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे जला-न्तेषु च मेध्या ब्रह्मसुवर्चला दृश्यते (सुचि. ३०.३१) महौषधि० सोमसमवीर्या,

सक्षीरा, पद्मिनीप्रख्या अरत्निमात्रक्षुपका, द्व्यङ्गुलसम्मितैः पत्त्रैर्नीलोत्पलाकारपुष्पैरंजनसन्निभैः फलैश्च, देवी ब्रह्मसुवर्चलेति जानीयात् (सुचि. ३०.२१-२२)

ब्राह्मी (ध. ४.१००)

–सुवर्चसा–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)

–स्वन–पु., वेदघोषः, अयं प्रस्थाने प्रशस्तः (सुसू. २९.३०)

ब्रह्मण्य–पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०४)

न., तूलम् (ध. ५.६४)

ब्रह्मर्षिपुत्र–पु., सुश्रुतः विश्वामित्रस्य पुत्रः, 'विश्वामित्रो हि राजर्षिरेव ब्रह्मर्षित्वं तपसा गतः' (सुनि. ७.३)

ब्रह्मादनी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७)

ब्रह्मोपनेतृ–पु., वनस्पति० पलाशः (रा. १०.१७४)

ब्राह्म–न., ब्रह्मणा प्रोक्तम् (असंउ. ४९)

पु., योग० कटुकालाबुमूलानि गवां पित्तेन कल्कीकुर्यात् योगोऽयं मणिवत् सन्निधधारणेनाऽपि विषहन्ता तथा च सर्वकर्मसु पूजितः (असंउ. ४०)

न., चित्तप्रकृति० शुद्धसात्विकप्रकृतिः, शुचिं सत्याभिसंधं, जितात्मानं, संविभागिनं, ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनसंपन्नं, स्मृतिमन्तं, कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्यामर्षापेतं, समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात् (चशा. ४.३७ (१))

–कन्द–पु., वाराहीकन्दः (रा. ७.१३६)

–धूप–पु., धूपकल्प० सर्वरोगेषूपयुक्तः

–मुहूर्त–पु., रात्रेरुपान्त्यो मुहूर्तो ब्राह्मः, मुहूर्तौ नाडिकाद्वयम्, स्वस्थ आयुषो रक्षार्थं ब्राह्मे मुहुर्ते उत्तिष्ठेत्। अत्र रात्रेश्चतुर्घटिकावशेषे समुत्थानं कार्यमिति स्थितम्। ब्राह्मश्च पश्चिमयामस्य नाडिकाद्वयम्, रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तो ब्राह्मो मुहूर्तः (अहसू. २.१) 'रात्रेश्च पश्चिमे यामे मुहूर्तौ ब्राह्म उच्यते' इति हलायुधकोशे

–रसायन–न., जराव्याधिशमनार्थं रसायन० आमलकायसं ब्राह्मरसायनम्–करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःससकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्। अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रवर्धनानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगुणानां चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपाऽसनसाराणां च खंडशः कृत्तानामभयाबिभीतकपिप्पली-

वचाचव्यचित्रकविडंगानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्। तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिः वंशविदलशरतेजाग्निभिर्वा साधयेत् यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्। सुशुष्कं तत् कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां सम्यक् निधापयेत्। तच्चूर्णम् अयश्चूर्णाष्टभागसंप्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति। इदं रसायनं जराव्याधिप्रशमनं बुध्दीन्द्रियबलप्रदमस्ति (चचि. १(३).३-६)

प्रथमं ब्राह्मरसायनम्–पञ्चानां. पञ्चमूलानां प्रतिद्रव्यं दशपलोन्मितान्भागान्, हरीतकीसहस्रं नवं त्रिगुणामलकं च गृहीत्वा, दशगुणेऽम्भसि पाचयेत्। दशभागावशेषं ग्राहयेत्। हरीतकीनामामलकानां निरस्थिकल्कं ग्राहयेत्। तस्मिन् निर्यूहे मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः ध्रुवस्य मुस्तस्य, विडङ्गस्य, चन्दनाऽगुरुणोस्तथा मधुकस्य, हरिद्राया, वचायाः कनकस्य, सूक्ष्मैलायास्त्वचः, प्रत्येकं चतुष्पलं भागं चूर्णं दापयेत्। तुलयाऽधिकं सितोपलाचूर्णं दापयेत्। तैलस्य द्व्याढकं,सर्पिषस्त्रीणि गृहीत्वा, तत्सर्वमौदुम्बरे पात्रे मृदुनाऽग्निना पाचयेत्। शीतं लेह्यं च ज्ञात्वा स्नेहार्धप्रमाणं क्षौद्रं संसृजेत्। तस्य मात्रां प्रयोजयेत्। इदं ब्राह्मरसायनं भुंजानो दीर्घमायुर्वयश्चाप्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते (चचि. १.४१-५७)

द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्–यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्। तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरीशंखपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयंगुप्तामृताचन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवतीयूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेत् अन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्तमर्धकर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य, जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान्गुणान् समश्नुत इति। इदं महर्षिगणसेवितं ब्राह्मं रसायनं प्रयुञ्जानो महाबलो दीर्घायुररोगः प्रजानां प्रियः

सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः, स्मृतिमान्, विक्रमशालि धरणीधरसारो वायुसमविक्रमो गात्रे विषमपि अविषवत् प्राप्नुवन् जीवति (चचि. १.५८-६१)

ब्राह्मण–पु., ब्राह्मणसदृशः ये च पन्नगा मुक्ता रूप्यप्रभाः कपिलाः, सुगन्धयः, सुवर्णाभाश्च भवन्ति, ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः (सुक.४.२५)

द्विजः, विप्रः (सुसू. २.३)

(ब्राह्मणी)–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)

कृत्रिमधातु० पित्तलम् (रा. १३.१८)

–यष्टि–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)

–यष्टिका–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)

ब्राह्मणिका–स्त्री., आग्नेयकीट० (सुक. ८.९; असंउ.४३)

पिपीलिकाभेदो, वरटी, तया दष्टे संति दंशस्थाने श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ च भवतः (सुक. ८.३४)

वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)

ब्राह्मणेष्ट–न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)

ब्राह्मिका–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (र. २७.१००)

(ब्राह्मी)–वि., ब्राह्मी विभूतिः, आत्मविशेषस्य जगत्स्रष्टुर्विभूतिः, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः (चशा. ५.५)

स्त्री., तेजोवती (रा. ३.३९३)

अजगन्धा (रा. ४.१५३)

रेवतीग्रह० (का.चि. बालग्रह)

वनस्पति० ब्रह्मसुवर्चला (असंउ. १)

वनस्पति० मण्डूकपर्णी (सुचि.७.२४; सुउ.६२.३०)

प्रजास्थापनगणे एका (चसू.४.१८) अतत्त्वाभिनिवेशाख्ये मानसविकारे अस्याः स्वरसः उपयुक्तः (चचि. १० ६२)

एतद्रससाधितं घृतं कुष्ठेषूपयुज्यते (असंचि. २१)

गुणाः–रसे तिक्ता कषाया हिमा शोफपाण्डुज्वरापहा, दीपनी, कुष्ठकंडूघ्नी, वातकफजित्, प्लीहरोगघ्नी, आयुष्या, मेध्या, लघुः, स्वर्या, स्मृतिप्रदा, कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित् (ध. ४.१०१-१०२)

बुद्धिप्रज्ञावर्धिनी च

हिं.—ब्रह्मी, ब्रह्ममाण्डूकी, वरंभी, चेरली, खलकुदी.

म.—ब्राह्मी.

गु.—ब्राह्मी, विद्याब्राह्मी, खड भरामी.

बं.—ब्रह्मीशाक, अधविर्णी, थुलकुडि, थालकुनि, ब्रह्ममण्डूकी.

त.—वीमी, वल्लरीकेरी, बबस्सा.

फा.—जरनव.

द्वितीया ब्राह्मी–वयःस्था, मत्स्याक्षी, मीनाक्षी, सोमवल्लरी इति अपरनामभिः प्रसिद्धा, ग्रन्थे चोल्लिखिता गुणाः– शिशिरा, रुच्या, व्रणदोष-क्षयापहा (रापरि. ५.४१)

ब्राह्मी–स्त्री., वनस्पति० ब्रह्मसुवर्चला (असंउ. १)

–घृतरसायन–न., योग० ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडङ्गतण्डुलानां कुडवं द्वे द्वे वचामृतयोः द्वादश हरीतक्यामलकबीभितकानि श्लक्ष्णपिष्टान्याक्ष्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्। ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एतेनोर्ध्वमधस्तिर्यक् कृमयो निष्क्रामन्ति। अलक्ष्मीरपक्रामति। पुष्करवर्णः, स्थिरवयाः श्रुतनिगादी, त्रिवर्षशतायुर्भवति। एतदेव कुष्ठविषमज्वराऽपस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु संशोधनमादिशन्ति (सुचि. २८.६)

–रसायन–न., योग०, मलरहिते पलाशोलूखले ब्राह्मी संकुट्य तद्रसमाढकमात्रं गृह्णीयात्। तत्र च प्रस्थमात्रं गोघृतं संमिश्र्य पाठाऽऽमलकीहरिद्रात्रिवृतां कल्केन घृतपाकं कुर्यात्। अनुपानं–विडङ्गपिप्पलीसैन्धवजटामांसीनां चूर्णम्, मर्यादा सप्तरात्रं पक्षो मासो वा (र. २६.४८)

–स्वरसरसायन–न., योग०, हृतदोष एवाऽगारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुञ्जीत। जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्। क्षीरसात्म्यो वा पयसा भुञ्जीत। एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चसी मेधावी भवति। द्वितीयं सप्तरात्रम् उपयुज्य ग्रन्थमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति। तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारित शतप्यमवधारयति। एवमेकविंशतिरात्रमुपयुज्याऽलक्ष्मीरप्रकामति। मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति। सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठन्ति। श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति (सुचि. २८.५)

भ

भक्त–पु., ओदनः ' सुधौतांस्तण्डुलान्स्फीतांस्तोये पञ्चगुणे पचेत्' इति वैद्यकशब्दसिन्धुः (सुसू. २.४)

भोजनम् (सुचि. ३७.६९)

–द्वेष–पु., अन्नद्वेषः (र. २०.२३२; सुसू. ३२.४)

–रुचि–स्त्री., आहाररुचिः (सुसू. ४२.९)

–श्रद्धा–स्त्री., भक्तेच्छा (असंसू. २६)

भक्तानभिनन्दन–न., रोग० भोजनारोचनम् अरोचकः (चसि. १.३३)

भक्तायन–न., अन्नवहस्रोतः (सुउ. ५७.३) (चसू. १७.५६)

भक्तारुचि–स्त्री.; लक्षण० अरोचकः अनन्नाभिलाषः (सुचि. ३४.१५)

भक्ताश्रद्धा–स्त्री., लक्षण० भोजनेऽरुचिः

भक्ति–स्त्री., श्रद्धा इच्छा (चइ. १.३)

–**निश्चय**–पु., इच्छा निश्चयः (चसू. २७.३०८) इयत्तानिश्चयः (चसू. २७.३०८)

भक्तोपघात–पु., उपघात इच्छाप्रतिरोधोऽनभिलाषो वा तेन भक्तोपघातः अनन्नाभिलाषः अरोचकः (सुउ. ५७.३)

भक्तोपरि–अ., (परिव०) भोजनान्ते, दशौषधकालेष्वेकः कालः, अधोभक्तम् इति सुश्रुतेन निर्दिष्टः (सुउ. ९.८)

भक्तोपरोधतृषा–स्त्री., अन्नाऽनभिलाषादन्नमार्गस्य रुद्धत्वाद्वा तृषा भक्तच्छेदजन्या तृषा (चचि. २२.५२)

भक्षक–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (ध. १.१०२)

भक्षटक–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (ध.१.१०२) गोक्षुर० क्षुद्रक्षुरः (रा. ३.१२१)

भक्ष्य–वि., भक्षणार्हः, भक्षणीयः कृतान्न० मोदकशष्कुल्यादिः (चसू. २७.२६८) फलमांसादिसंयोगसाधितभक्ष्यविशेषगुणाः– बल्यो गुरुर्बृंहणो हृदयप्रियश्च (सुसू. ४६.४०७-४०८) गोधूमपिष्टविकृतिरूपो यः क्षीरेणाऽऽलोड्य क्रियते, स बल्यो वृष्यो हृद्यः सुगन्धिकोऽदाही पुष्टिकरो दीपनः पित्तनाशनश्च (सुसू. ४६.३९२-३९३) घृतपक्व भक्ष्यगुणाः– हृद्यः सुगन्धिर्लघुर्वीतहरो बल्यो वर्णदृष्टिप्रसादनः (सुसू. ४६.४०५) तैलपक्वभक्ष्यगुणाः– विदाही गुरुः पाके कटुरुष्णो मारुतघ्नो दृष्टिघ्नः पित्तलस्त्वक्प्रदूषणश्च (सुसू. ४६.४०५-६) माषपिष्टकृतभक्ष्यगुणाः– विष्टम्भी पित्तसमः श्लेष्मघ्नो भिन्नवर्चा बल्यो वृष्यो गुरुश्च (सुसू. ४६.४०२-४०३) विरूढधान्यभक्ष्यगुणाः– गुरुर्विदाहद्युत्क्लेशकरो रूक्षो दृष्टिप्रदूषणो वातपित्तलश्च (सुसू. ४६.४०४)

–**कल्प**–पु., अपूपादिविधानम्, अत्र कल्पशब्दो विधानार्थो न तु प्रत्ययरूप इति बोध्यम्

–**पत्री**–स्त्री., वनस्पति० नागवल्ली (रापरि. २१.६)

–**बीज**–पु., वनस्पति० प्रियालः (रा. ११.१०२)

–**संविधि**–पु., भक्ष्यभक्षणम्, संविधिः संविधानम् आयोजनं विधानं वा (चसू.२७.३३२)

भग–पु., शारीर० योनिः (चवि. ८.११७) वृषणगुदयोर्मध्यभागः (र. २४.१०९) देवता० द्वादशादित्यानामेकतमोऽयम् (र.३०.१२५)

–**विस्तार**–पु., भगरन्ध्रम् तस्य परिणाहो द्वादशाङ्गुलः इदं तु भगप्रमाणं चतुर्विधस्त्रीपरिगणित–हस्तिनीजातिस्त्रियाः ज्ञेयम् (सुसू. ३५.१२)

भगन्दर–पु., रोग० भगस्थानस्य रोगः, भगगुदबस्तिदेशदारणाच्च भगन्दरः, अयं भगस्थानसंश्रितः पिडकारम्भो गुदभगबस्तिदारणो व्रणात्मको महाव्याधिः (सुनि. ४.३) तस्याऽधिष्ठानं मांसधरा नाम त्वक् (सुशा. ४.४) स्वहेतुभिः प्रकुपितो दोषः संनिवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुलेद्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्य पिडकां जनयति (सुनि. ४.५) पञ्च भगन्दरा भवन्ति (सुनि. ४.३) पूर्वरूपाणि–कटिकपालवेदना–कण्डूर्दाहः शोफश्च गुदस्य; लक्षणानि–वातजभगन्दरेऽरुणवर्णाः पिडका तोदादिवेदनायुक्ता भवन्ति। अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति मूत्राशयाऽभ्यासगतत्वाच्च व्रणः प्रक्लिन्नः शतपोनकवद् अणुमुखैश्छिद्रैराऽऽपूर्यते। तानि च्छिद्राणि चाजस्रमच्छं फेनानुविद्धमधिकमास्रावं स्रवन्ति। व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचिभिरिव निस्तुद्यते गुदं चावदीर्यते। उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतसामप्यागमस्तैरेव च्छिद्रैर्भवति। तं भगन्दरं शतपोनकमित्याचक्षते। पित्तजः–पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववदवस्थितं रक्तां तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रग्रीवाकारां पिडकां जनयति। साऽऽस्यशोषादीन् वेदनाविशेषान् जनयति। अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति। व्रणश्चाग्निक्षाराभ्यामिव दह्यते दुर्गन्धमुष्णमास्रावं स्रवति। उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि जनयति। तं भगन्दरमुष्ट्रग्रीवमित्याचक्षते। कफजः–श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरेणाधः प्रेरितः पूर्ववदवस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां जनयति। सा कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषान् जनयति। अप्रतीकारे सति पाकमुपैति। व्रणश्च कठिनः संरम्भीकण्डूप्रायः पिच्छिलमजस्रमास्रावं स्रवति। उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरं परिस्राविणमाचक्षते। वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याऽधो गतः पूर्ववदवस्थितः

पादाङ्गुष्ठप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति। सा तोददाहकण्ड्वादिवेदनाविशेषान् जनयति। अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति। व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति। पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते। मूढेन मांसलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृतं यदाऽवगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाऽधः प्रेरितमसम्यगागतं गुदमपक्षिणोति, तदा तत्क्षतनिमित्तः कोथ उपजायते। तस्मिँश्च क्षते पूयरुधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलक्लिन्नप्रक्लिन्नायां क्रिमयः संजायन्ते। ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति। तस्य तैर्भागैः कृमिकृतैर्वातमूत्रपुरीषरेतांस्यभिनिस्सरन्ति। तमुन्मार्गिणं भगन्दरमित्याचक्षते (सुनि. ४) वातपित्तजो भगन्दरः परिक्षेपिसंज्ञः। तत्र परिक्षेपिणि प्राकारस्य परितः परिखेव गुदं परिक्षिप्य गुदस्य परितो मण्डलाकृत्या नाडी समुपजायते। वातकफादृजुर्नामा भगन्दर उपजायते। तत्र ऋज्व्या गत्या गुदः अवदीर्यते। स्वकारणैः प्रथममुत्पन्नमर्श आश्रिताभ्यां कफपित्ताभ्यामर्शोमूले जनितः कण्डूदाहादिमान् शोफस्तन्मूलक्लेदनेन गतिभिर्नाडीभिरजस्रमविच्छेदेन पूयं स्रवति। अयमर्शोभगन्दरः (असंउ. ३३) रिष्टलक्षणानि – वातमूत्रपुपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव यस्य भगन्दरात् प्रस्रवन्ति तं परिवर्जयेत्। चिकित्सासूत्रम्–छेद्यरोगः (सुसू. २५.३) तत्राऽग्निकर्मचिकित्सा कार्या, (सुसू. १२.१०) भगन्दरपिडका यद्यपक्वाः स्युस्तर्हि विरेचनान्तेनापतर्पणाद्येकादशप्रकारेणोपक्रमेत (सुचि. १.११) शस्त्रकर्म-तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडकं पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां संनिवेश्याऽर्शसमिव यन्त्रयित्वा भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा, ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण। अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यंत्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेद् आसाद्य वाऽग्निं क्षारं चेति; एतत्सामान्यं सर्वेषु (सुचि. ८.४)

-चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. ८.१)

-निदान–न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. ४.१)

-पिडका–स्त्री., लक्षण० पिटिकाविशेषः, सा गूढमूला, ससंरम्भा, रुगाढ्या रूढकोपिनी भवति (सुचि. ८.४; असंउ. ३३)

-यन्त्र–न., नाडीयन्त्र० भगयन्त्रे द्वे, एकमेकच्छिद्रमपरं द्विच्छिद्रं, तदर्शोयन्त्रमेवापनीतौष्ठम् 'मुखाच्छिद्रस्य पार्श्वभाग ओष्ठः' (अहसू. २५.१६-१९)

भगास्थि–न., भगस्य समंतात् स्थितमस्थि० भगास्थ्येकमेव (चशा. ७.६)

भग्न–न., रोग० (सुनि. १५) पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधम् अस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति, तद् द्विविधम् संधिमुक्तं काण्डभग्नं च, तत्र षड्विधं संधिमुक्तं द्वादशविधं काण्डभग्नं च। तत्रापि संधिमुक्तमुत्पिष्टं विश्लिष्टं विवर्तितमवक्षिप्तमतिक्षिप्तं तिर्यक्क्षिप्तं च। तत्र प्रसारणाऽऽकुञ्चनविवर्तनाक्षेपणाशक्त्युग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं च सामान्यं संधिमुक्तलक्षणम्। तत्रोत्पिष्टे संधावुभयतः शोफो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति। विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं संधिविक्रिया च। विवर्तिते संधिपार्श्वाङ्गमनाद्विषमाङ्गता वेदना च। अवक्षिप्ते संधिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च। अतिक्षिप्ते द्वयोः संध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च। तिर्यक्क्षिप्ते एकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना च। काण्डभग्नस्य भेदाः–कर्कटकमश्वकर्णचूर्णितं पिच्चितमस्थिच्छल्लितं काण्डभग्नं मज्जानुगतमतिपातितं वक्रं छिन्नं पाटितं स्फुटितं च; तत्र श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्तन–स्पर्शासहत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणम्। विशेषतस्तु संमूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटकम्। अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णम्। स्पृश्यमानं शब्दवच्चूर्णितम्। पिच्चितं पृथुतां गतमनल्पशोफम्। पार्श्वयोरस्थिहीनोद्गतमस्थिच्छल्लितम्। वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्। अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्। अस्थिनिःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्। आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्। अन्यतरपार्श्वाऽवशिष्टं छिन्नम्। पाटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च शुष्कपूर्णमिवाध्मानं विपुलं स्फुटितमिति। तेषु स्फुटितं चूर्णितच्छिन्नाऽनुपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि कृशवृद्धबालानां क्षतक्षीणकुष्ठिश्वासिनां सन्ध्युपगतं चेति। रिष्टलक्षणम्–भिन्नं कपालं कव्यां संधिमुक्तं च्युतं जघनं पिष्टमसंश्लिष्टं

कपालं ललाटे घृणितं स्तनान्तरे भग्नं शङ्खे पृष्ठे मूर्धनि विवर्जयेत् (सुनि. १५) अल्पाशिनोऽनात्मवतः सोपद्रवस्य वातप्रकृतेर्भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति (सुचि. ३.३) चिकित्सा- शरीरे चलानचलानपि संधीन् आञ्छनैः पीडनैः संक्षेपैर्बन्धनैर्वा स्थापयेत् (सुचि. ३.१८-१९) उत्पिष्टं विश्लिष्टं संधिं न चालयेत्। शीतान् परिषेकान् प्रदेहाँश्चावचारयेत्। अभिघाते हते सति संधिं प्रकृतिमापन्नं घृतदिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा बन्धमाचरेत् (सुचि. ३.२०-२२) अङ्गुलिभग्नचिकित्सा–भग्नां संधिमुक्तां वाऽङ्गुलिं समां स्थापयित्वाऽणुपट्टेनाऽऽवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत् (सुचि. ३.२४) तलभग्नचिकित्सा–कुशोत्तरं पादतलभग्नं सर्पिषाऽभ्यज्य वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्। व्यायामं च नाऽऽचरेत् (सुचि. ३.२५) जङ्घोरूभग्नचिकित्सा–जङ्घामूरूमायम्याऽभ्यज्य शीतवृक्षत्वचो दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्, जङ्घोरूभग्नानां कपाटशयनं हितम् (सुचि. ३.२६) ऊर्वस्थिनिर्गमनचिकित्सा– चक्रयोगेन निर्गतमूर्वस्थि आञ्छेत्। पूर्ववद्बध्नीयात् (सुचि. ३.२७) कटिभग्नचिकित्सा– ऊर्ध्वगतमस्थि बध्नीयादधः कृत्वाऽधो गतमूर्ध्वं कृत्वा बध्नीयात्। अनन्तरं स्नेहबस्तिभिरुपाचरेत् (सुचि. ३.२८) पर्शुकाभग्नचिकित्सा– घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः कवलिकां दत्त्वा दक्षिणासु अथवा वामासु निबन्धनीर्वेष्टयेत्। अनन्तरं तैलपूर्णे कटाहे द्रोण्यां वा शाययेत् (सुचि. ३.२९-३०) स्कन्धभग्नचिकित्सा– विसंहतस्कन्धं मुसलेनोत्क्षिप्य प्रकृतौ स्थापयित्वा स्वस्तिकबन्धविशेषेण बध्नीयात्। कूर्परसंधिभग्नचिकित्सा– कौर्परसंधिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत् पीडयेच्च, प्रसार्याकुञ्चयेत् स्नेहसेकं च दापयेत्। जानुनि गुल्फ मणिबन्धे भग्ने सति च विधिरयं कार्यः (सुचि. ३.३२-३३) हस्ततलभग्नचिकित्सा– तलभग्नस्योभयतले समे कृत्वा बध्नीयात् आमतैलेन परिषेकं कारयेत्। अनन्तरं हस्ततले पूर्वं मृत्पिण्डमनन्तरं लवणं च धारयेत् जातबले हस्ते तु पाषाणधारणं कुर्यात्। (सुचि. ३.३४-३५) अक्षकभग्नचिकित्सा–अधः प्रविष्टं मुसलेनोन्नमयेत्। स्विन्नमुन्नतं मुसलेनाधः पीडयेत्। अनन्तरं गाढमेव बध्नीयात्। बाहुभग्ने–ऊरुभग्नवच्चिकित्सा– कर्तव्या (सुचि. ३.३६-३७) वक्राया ग्रीवाया हन्वोश्च गृहीत्वोन्नमयेत् कुशां समां दत्त्वा नातिगाढं नातिशिथिलं वेष्टयेत् (सुचि. ३.३७-३८) हनुभग्नचिकित्सा–विसंहते हनुसंधौ हन्वस्थीनि समानीय स्वेदयित्वा सम्यक् स्थितेषु तेषु पञ्चाङ्गी वितरेत्। अनन्तरं वातघ्नमधुरैः सिद्धं सर्पिर्नस्यार्थे उपयोजयेत्। दन्तभग्नचिकित्सा–तरुणस्य सरक्तानभग्नाँश्चलितान् दन्तानवपीडयेत्। बहिः शीतैरालेपयेत्। अम्बुभिः सिक्त्वा शीतैः संधानीयैरुपाचरेत्। उत्पलनालेन क्षीरपानं कुर्यात्, वृद्धस्य चलितान् दन्तान् वर्जयेत्। नासाभग्नचिकित्सा–अभिघातेनान्तःप्रविष्टां नासां शलाकयोन्नम्य वक्राम् ऋजूकृत्य पृथङ्नासिकयोर्नाडयौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत्। ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं कुर्वीत (सुचि. ३.४३-४४) कर्णभग्नचिकित्सा–भग्नं कर्णं घृतप्लुतं समं कृत्वा बध्नीयात् पश्चात् सद्यःक्षतविधानं कुर्यात् (सुचि. ३.४५) कपालभग्नचिकित्सा–मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी दत्त्वा निबध्नीयात्। ततः सप्ताहं घृतं पिबेत् (सुचि. ३.४६) ऊर्ध्वकाये भग्नानां शिरोबस्तिः कर्णपूरणं च हितम्, घृतपानं नस्यं च हितम्; प्रशाखास्वनुवासनम् (सुचि. ३.५४) गयी; सम्यग्ग्रूढलक्षणानि–अनाकुलमनुन्नतं सुखेनाऽऽकुञ्चनप्रसारणादिकम् (सुचि. ३.७०) भग्ने पाकः कृच्छ्रसाध्यस्य लक्षणम् (सुचि. ३.६९)

–ग्रीव–वि., नतग्रीवः (सुसू.३२.४)

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. ३)

–निदान–न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १५)

–परिषेक–पु., स्वेदनोपक्रमः (सुचि. ३.११)

–पाक–पु., लक्षण० भग्नस्थाने मांसशिरास्नाय्वादीनां पाकः (सुचि. ३.६९)

–बन्ध–पु., भग्ने उपयुक्ते बन्धप्रकारः (सुचि. ३.९,१०)

–रुग्ण–वि., भग्नकायसंधिमुक्तः (चसि. १.३२ चक्र.)

–लेपन–न., भग्ने आलेपनार्थं द्रव्याणि (सुचि. ३.७)

–विधि–पु., भग्नाऽभिहितो बन्धसेकरूक्षभोजनादिः (सुचि. २.७६)

–व्रणबन्धनकाल–पु., सौम्येषु ऋतुषु सप्ताहैर्बन्धनं परिवर्तयेत्, साधारणेषु ऋतुषु पञ्च-पञ्चदिनान्तरेण व्रणबन्धनं कार्यमुष्णकाले त्रिभिस्त्रिभिर्दिनैर्व्रणबन्धनं परिवर्तनीयम् (सुचि. ३.८)

–संधानकृत्–वि., भग्नसंधानकरः (अहसू. ६.१२)

-संधिस्थैर्य-न., बाल्ये मासेनैव संधिः स्थिरो भवति प्रथमे वयस्यपि, मध्यमे वयसि पूर्वद्विगुणो द्विमासात्मकः काल आवश्यकः, वार्धके तु प्रथमात् त्रिरावृत्तस्त्रिमासात्मकः कालः (सुचि. ३.१६-१७)
-साधन-वि., भग्नसंधानकरः (अहसू. १५.४२)
भङ्ग-पु., लक्षण० भग्नम् (सुनि. १५.३)
पल्लवः (सुउ. १७.६१-६३)
पत्रभङ्गः (ड. सुउ. ११.५)
वक्रता (अहसू. १२.१० हे.)
(भङ्गा)-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुस्तीक्ष्णोष्णा कफहरा पित्तला मोहमदवाग्वर्धिनी वह्निवर्धिनी च (भाप्रमिश्रप्रकरण)
हिं.—भांग, भंग, बूटी.
म.—भांग.
गु.—भांग्य.
बं.—सिद्धी.
त.—पांगा, कांजा, गांजा.
फा.—फनव, वंग.
(भङ्गी)-स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (ध. १.१३०)
-जात-न., अस्थिभङ्गसमूहः (सुनि. १५.४)
भङ्गुरा-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)
अतिविषा (ध. १.१०)
भञ्जन-न. जर्जरीकरणम् (चसू. १८.४)
भङ्गः (सुसू.७.१७)
अर्कः (रा. १०.२५)
(भञ्जनी)-स्त्री., औषधपचनावसरे द्रवेण द्रव्येण वा वह्नेर्न्यूनताऽऽपादनम् (र. ८.४९-५०)
भञ्जनक-पु., दन्तरोग० यस्मिन् वक्त्रं वक्रं भवति दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक्; कफवातजोऽयं व्याधिः (सुनि. १६.३१)
भण्टाकी-स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. १.१२०)
भण्टिका-स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध.१.१०१)
भण्डिक-पु., वनस्पति० शिरीषः (ध. ५.११२)
भण्डी-स्त्री., शाक० वातपित्तनुत् (चसू. २७.१०७)
मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)
भण्डीर-पु., तण्डुलीयकः (ध. ४.११६)
नद्याम्रः (रापरि. ४.१)
(भण्डीरी)-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१७)
भद्र-न., वनस्पति० नीलपद्मम् (ध. ४.१५०)
पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८. ३५६)
(भद्रा)-स्त्री., वनस्पति० दूर्वा० श्वेतदूर्वा (रा. ८.२२९)
द्र० 'दूर्वा'
जीवन्ती (रा. ३.१७७)
मुस्ता (रा. ६.५८)
शमी (रा. ८.१५३)
बला (रा. ४.४२२)
कट्फलम् (ध. १.७३)
नीलिनी (रा. ४.३४९)
काश्मरी (रा. ९.१४६)
दन्ती (रा. ६. ३३८)
वचा (रा. ६.८)
हरिद्रा (रा. ६.८१)
सारिवा कृष्णमूली (ध.१.१६२)
ताम्बूली (धपरि. ३.१)
वनस्पति० गम्भारी, प्रसारणी (र. २२.११४)
(भद्राणी)-स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)
-कण्टक-पु., वनस्पति० गोक्षुरः (रा. ३.१३०)
-काप्य-पु., महर्षि० यज्ञःपुरुषीये विवदमानानां एकतमः (चसू. २५.१८; चसू. २६.३)
-काली-स्त्री., रेवतीग्रह० सा दशमे दिवसेऽपत्यं विनाशयति (कारेवती. ४६)
-काष्ठ-न., वनस्पति० हरितालविषबाधायां लेहार्थं उपयुज्यते (असंउ. ४०)
देवदारुः (ध. १.७७)
-कासी-स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८)
-जा-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रयवः (रा. ९.२१)
-तरणी-स्त्री., वनस्पति० कुब्जकः (ध. ५.१४६)
-दन्तिका-स्त्री., वनस्पति० दन्ती अरणी (रा. ६.३४१)
-दारु-पु., न., वनस्पति० देवदारुः (सुसू. ३८.२६)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (ध. १.२८९)
काश्मरी (रा. ९.१४६)
-पीठ-न., देवासन० (असंशा. १२.८)
-बला-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४२२)
प्रसारणी (रा. ५.४३५)
-मुस्त-पु., वनस्पति० मुस्ता (चचि. १४.१६०)
-मुस्ता-स्त्री., वनस्पति० मुस्ताविशेषः (चसू. २१.२२)
-यव-पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५)
(-यवा)-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५.)
-लता-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५५)

माधवी (रापरि. १.२९)
-वती-स्त्री., वनस्पति० कट्फलम् (ध. १.७३)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२५)
-शौनक-पु., ऋषि० (चसि. ११.९; चशा. ६.२१)
-श्री-पु., वनस्पति० श्वेतचन्दनम् (३.२५८; चचि. ४.१०२)
भद्रैला-स्त्री., वनस्पति० एला० स्थूलैला (ध. २.४६) द्र० 'एला'.
भद्रोदय-न., अञ्जनविशेषः (सुउ. १८.९४-९७)
भद्रोदुम्बरी-स्त्री., वनस्पति० काष्ठोदुम्बरिका (सुचि. ९.१५)
भद्रौदनी-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४२७) पीतबला (चसू. ४.९) द्र० 'बला'
भमूलक-पु., वनस्पति० कत्तृणविशेषः गुण्ठः (ध.१.८३)
भय-न., भीतिः मनो विकारविशेषः (चनि ७.४; सुसू. ४६.५००)
-जज्वर-पु., आगन्तुभेदःभीतिसमुद्भूतो ज्वरः (सुउ. ३९.७९)
-दा-स्त्री., वनस्पति० भूधात्री (रा. ५.१४५)
-नाशिनी-स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा.५.३७९)
भयातिसार-पु., भयेन समुत्पन्नोऽतिसारः, वातातिसारवदस्य लक्षणानि (चचि. १९.११)
भरणी-स्त्री., वनस्पति० घोषा (वैशसिं) नक्षत्र० (असंनि. १)
भरत-पु., राज० यत्पुत्रा राजतैलोपयोगेन आयुर्बलगतिसुखभाजो बभूवुः (का. फक्करोगचि.)
भरद्वाज-पु., ऋषि० रोगापहारचिन्तनार्थं हिमवत्पार्श्वसमेतर्षीनामेकतमः (चसू. १.९, चसू. १.५) इन्द्रादायुर्वेदं गृहीत्वाऽयमृषिभ्यः सामस्त्येन प्रोक्तवान् (चसू. १.२६) कुमारशिरा भरद्वाजो वातगुणदोषविवेचकानामन्यतमः (चसू. १२.५)
भरभरायण-न., कीटे कर्णं प्रविष्टे सति वेदनाविशेषः (असंसू. ३७.२५)
भर्मन्-न., सुवर्णम् (रा. १३.२)
भर्त्सन-न., निन्दा (असंसू. १२)
भल्लक-पु., वनस्पति० टिण्टुकः पृथुशिंबः (रा. ९.१४१)
भल्लात-पु., वनस्पति० भल्लातकः (असंसू. १५)
भल्लातक-पु., वनस्पति० गुणाः- कटुस्तिक्तो मधुरः कषाय उष्णः (ध. ३.१४३) कटुविपाकी (सुसू. ४६.१९६) वृष्यः (असंउ. ४९) कफवातघ्नः कृमिगुल्माऽर्शोग्रहणीकुष्ठोदराऽऽनाहप्रमेहनाशनः (ध. ३.१४३) ज्वरोदावर्तघ्नः (सुसू. ४६. १९६) वृन्तोऽस्य विष्टम्भी दुर्जरो रूक्षः शीतलो वातकरो मधुरविपाकी रक्तपित्तसादनश्च (सुसू. ४६.१९०)
हिं.—भेला, भिलवा.
ब्रं.—भेला, भेलातुकी.
म.—बिब्बा.
गु.—भियासु.
त.—शेनकोट्टाइ, शायरंग.
फा.—बिलादुर, बेहदूर.
(भल्लातकी)-स्त्री., भल्लातकः (र. १५.३४-३६)
-क्षौद्र-न., भल्लातकैः सिद्धं क्षौद्रम् (चचि. १ (२) १६)
-घृत-न., घृत० द्विपलं भल्लातकानां पञ्चमूलं पलोन्मितं तथा विदारीगन्धादिगणं सलिलाऽऽढके आपोथ्य पादशेषे रसे पिप्पलीं नागरं वचां विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गुं यावशूकं बिडं शटीं चित्रकं मधुकं रास्नां च कर्षसमं पिष्ट्वा प्रस्थं च पयसो लब्ध्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् । एतद् घृतं कफगुल्महरं प्लीहपाण्ड्वाऽमयश्वासग्रहणीकासनाशनं च (चचि. ५.१४३-४६)
-तर्पण-न., भल्लातकैः कृतं तर्पणम् (चचि.१(२)१६)
-तैल-न., स्नेह० भल्लातकोत्थं तैलम्, गुणाः—कटु तीक्ष्णं तिक्तं वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिहरम् (ध. ६.१३८) तिक्तानुरसं मधुरं च (सुसू. ४५.१२२)
-त्वच्-स्त्री., गुणाः-स्वादुः शीता बृंहणी (अहसू. ६.१३४)
-पलल-न., भल्लातकैः सिद्धं पललम् (चचि.१(२)१६)
-पुष्प-न., भल्लातकस्य पुष्पमञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुक. १.६९-७१) आगन्तुशोथकरमिदम् (चसू. १८.४)
-मांस-न., भल्लातकस्य मांसम्, गुणाः-बृंहणं स्वादु शीतलम् (अहसू. ६.१३४).
-यूष-पु., भल्लातकैः सिद्धो यूषः (चचि. १(२).१६)
-रसायन-न., योग० भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्ले वा मासे संगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्; तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याऽष्टगुणेनाऽम्भसा

साधु साधयेत्। तेषां रसमष्टभागाऽवशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैक-भल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दश भल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः। प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः। अस्य प्रयोगाद्वर्षशतं अज्वरं वयस्तिष्ठतीति (चचि. १ (२). १३)

–लवण–न., भल्लातकैर्युक्तं लवणम् (चचि. १.(२)१६)

–विधान–न., भल्लातकविधिः। अयं दशप्रकारो भल्लातकसर्पिर्भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं गुडभल्लातकं भल्लातकतैलं भल्लातकयूषो भल्लातकपललं भल्लातकसक्तवो भल्लातकलवणं भल्लातकतर्पणं चेति (चचि. १(२).१६) अयं च प्रकारस्त्रिविधः शतान्तः प्रवरः, सप्तत्यन्तो मध्यमस्त्रिंशदन्तोऽधम-श्चेति (ड. सुचि. ६.१७) कषायविधिना सिद्धस्य भल्लातकस्य सेवनसमये मुखस्यान्तर्भागो जिह्वा-तालोष्ठरूपो घृताभ्यक्तः स्यात्। अन्यथाऽतितीक्ष्ण-त्वात्कषायस्य मुखदाहः स्यात् (सुचि.६.१७)

–सक्तु–पु., भल्लातकैः सिद्धा यवाः (चचि. १(२).१६)

–सर्पिस्–न., भल्लातकघृतम् (चचि. १(२).१६)

–स्नेह–पु., भल्लातकतैलम् (सुचि. ६.१८)

भल्लातकादितैल–न., तैल० इदं कफजनाडीव्रणेषु समुपयोज्यम् (सुचि. १७.४१-४२)

भल्लातकारिष्ट–पु., योग० भल्लातकचित्रकविडङ्ग-बृहतीफलानि पृथग्द्विप्रस्थांशान्यच्छधान्याऽम्लद्रोणे गोमयाग्निना त्रिभागशेषमवतारयेत्। तत्पूतशीतं मस्तुकलशेन सितोपलातुलया च युक्तमग्निक-मागधिकाकल्कलिप्ते दृढे भाण्डे समावाप्य वैहायसे सुगुप्तं स्थापयेत्। ततो दशाहस्थितोऽयमुपयुक्तो भल्लातकारिष्टः शोफोदरार्शोभगन्दरग्रहणीकृमिकुष्ठ-मेहकार्श्यकिक्कसघ्नः (असंचि. १९.१०८)

भल्लातकास्थि–न., भल्लातकफलम् महाकषायवर्गे दीपनीयगणे द्रव्यम् (चसू. ४.९) इदमग्निसमं दाहपाककरं मेध्यं कफवातहरं च (हे. अहसू. ६.१३४)

भल्लुक–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (सुचि. ७.६)

भल्लूक–पु., कपर्दकः, अन्ये शम्बूकभेदमाहुः (ड) कोशस्थमत्स्यः (सुसू. ४६.१०८)

भव–पु., उत्पत्तिः, संभवः (सुउ. ५७.१६) वनस्पति० भव्यम् (ध. ५.३९)

–दारु–पु., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३)

–बीज–न., वनस्पति० धत्तूरः (र. १७.३९-४०)

भवाभीष्ट–पु., वनस्पति० गुग्गुलुः (रा. १२.१८३)

भविष्य–न., वनस्पति० भव्य (ध. ५.३९)

भव्य–पु., वनस्पति० कर्मरः, कर्मरङ्गफलम् (असंचि. ९)

निम्बः (असंचि. ९)

तालोपमं केवलवल्कलसंहतिमात्रं फलम् (ड. सुसू. ४६.१३९) इदमुत्तरापथजम् (सुउ. ४७.४१)

आरुकमिति कार्तिकेयपुरे प्रसिद्धम् (सुसू.४६.१३९)

फल० गुणाः–अम्लमधुरमुष्णं पिच्छिलं वक्त्रशोधनं रुच्यम् (ध. ५.३९) ग्राहि (चसू. २७.१३१) वातघ्नं च (ध. ५.३९)

हिं.—चलता.

म.—करंबेळ; मोठा कर्मल.

बं.—चल्ता.

त.—उवा.

भसलानन्द–पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१३)

भसित–न., भस्म (र. ४.५०)

भस्मन्–न., दग्धकाष्ठादिक्षारः (सुसू. २९.९-१५) रक्षा (चसू. १.७३) अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां मर्दितं सत् यद्धातुभस्म तद्रेखान्तरे प्रविशति तद्रेखापूर्णं उच्यते (र. ८.२७)

–गर्भ–पु., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)

–(गर्भा)–स्त्री., वनस्पति० शिंशपा० (ध. ५.१२१)

–ता–स्त्री., भस्मीभूतत्वम् विनाशः (चवि. ३.२३)

–प्रहरण–वि., भस्मैव प्रहरणं यस्य स यद्वा भस्मनो विक्षेपणं करोतीति (चचि. ३.२३)

–रोहा–स्त्री., वनस्पति० दग्धा (रापरि. ९.२८)

–शर्करा–स्त्री., दह्यमानार्द्रकाष्ठरसाच्छर्करैवान्योन्य-संहता क्षारद्रव्यसमवायिनी (सुसू. ११.११ ड.)

भस्मक–पु., रोग० अस्मिन् रोगे सर्वाण्यपि भक्षितानि झटिति भस्मीभवन्ति (र. २५.५५)

भस्माख्य–पु., रोग० मूत्रशुक्रम् (सुनि. ३.१३)

भस्त्र–न., यन्त्र० अग्निसंधुक्षणार्थं चर्मनिर्मितं यन्त्रम् (असंसू. ४०.५)

भस्त्रिका–स्त्री., भस्त्रम् (र. ७.५-७)

भा–स्त्री., प्रभा (असंसू. ४) कान्तिः (असंसू. ९.८)

भागन्दरी–वि., भगन्दरकरी (पिडका) इयं पायोर्व्यङ्गुले देशे भवति (सुनि. ४.११)

भाजन–न., मान० आढकम् (असंक. ८)
भेषजस्थापनस्थानम् (चक. १.७)
भाण्डम् (र. ९.९)

भाण्टाकी–स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.१०१)

भाण्ड–न., उपकरणद्रव्यम् (सुसू. २९.४९)

(भाण्डी)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
वनस्पति० 'भाण्डनी' इति लोके प्रसिद्धो विटपोऽयं भाण्डधावनार्थमासुतीवलाः–आसुतीवला नाम आसुतीं मद्यसंधानं कुर्वन्ति इति आसुतीवलाः मद्यसंधानकारिणः समाहरन्ति (ड. सुचि. ३१.५)

–पुट न., मध्यस्थितमूषे तुषापूर्णे स्थूलभाण्डे दीयमानं पुटम् (र. १०.६१)

भाण्डारलतिका–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१८)

भानु–पु., सूर्यः, सूर्यकिरणः (र. २०.८६)
ताम्रम् (र. ५.४५)
अर्कः (र. २२.१५९)
द्वादशसंख्या, भानूनामादित्यानां द्वादशकत्वेन भानुशब्दोऽपि द्वादशसंख्यार्थको ज्ञायते (र.११.१०३)

–दुग्ध–न., अर्कक्षीरम् (र. २४.६६)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०७)

–लोह–न., खनिज० ताम्रम् (र. ५.१)

भार–पु., गुरुत्वम् (सुशा. ५.३४)
मान० विंशतिस्तुलाः (सुचि. ३१.७) गोणी (चक. १२.९६) द्विसहस्रपलानि (असंक. ८.)
मान० चत्वारिंशत्तुलाः (र. ११.९)

–कर्शित–वि., भारेण कर्शितः क्षामः (चसू. १३.४७)

–वाही–स्त्री., नीलिनी (ध. १.२३२)

–हत–वि., भारेण श्रान्तः (चसि. २.८)

भारङ्गी–स्त्री., वनस्पति० भार्गी (रा. ६.९६)

भारती–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४९)

भारद्वाज–पु., वनस्पति० कार्पासी (र. ५.१६८)
अगस्त्यः (र. ५.१६८)
वनकार्पासी (र. ५.१६८)

(भारद्वाजी)–स्त्री., वनकार्पासी (चसू. ४.९)

भारार्त–वि., भारेणार्तः (चचि. २९,१०८)

भार्गव–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवत्पार्श्वसमेतेषु ऋषिष्वेकः चसू. १.१०)
न., खनिज० हीरकम् (ध. ६.५५)

(भार्गवा)–स्त्री., वनस्पति० भार्गी (ध. १.६८)

(भार्गवी)–स्त्री., वनस्पति० दूर्वा० श्वेतदूर्वा (ध. ४.१४४)
द्र० 'दूर्वा'

भार्गवक–न., हीरकम् (ध. ६.५६)

भार्गी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–तिक्ता कटुरुष्णा कटुविपाका कफवातघ्नी श्वासगुल्मज्वराऽसृग्वातयक्ष्मपीनसकासशोफव्रणक्रिमिदाहघ्नी च (ध. १.६८) स्तन्यदोषघ्नी (सुचि. १७.४४) अपस्मारे वराहकल्पत्वेन उपयुज्यते (सुउ. ६१.३८) अस्याः क्षारः कफजेऽनिलजे वा कासे उपयुक्तः (असंचि. ४)
हिं.–भारंगी.
म.–भारंगी.
गु.–भारंगी.
बं.–भुईजाम, बामनपटी.

भार्यावृक्ष–पु., वनस्पति० चन्दन० कुचन्दनम् (रा. १२.१२) द्र० 'चंदन'

भालविभूषणसंज्ञ–पु., वनस्पति० तिलकः (रा. १०.२६७)

भालुकिन्–पु., ऋषि० (र. २.१४३)

भल्लातक–वि., भल्लातकसम्बन्धि (काष्ठम्) (चशा. ८.३३)

भाव–पु., अभिप्रायः (सुउ. ४७.१०)
पदार्थः (सुउ. ५७.१६) भवन्ति सत्तामनुभवन्ति इति भावाः द्रव्यगुणकर्माणि (चसू. १.४४)
प्राणः, भवति शरीरमनेन स्थितेन इति भावः पञ्चमहाभूतानि शरीररूपाणि (चइ. ४.१६)
स्वभावः (सुसू. २१.३८)

–विशेष–पु., भवतीति भावः विशिष्टो भावः भावविशेषः पदार्थः (चशा. ४.१३)
उत्पत्तिमान् विशेषः, भावोऽत्र उत्पत्तिवाचकः (चवि. ५.३)

–स्वभाव–पु., पदार्थगुणः (चसू. ३०.२७)

भावन–न., वनस्पति० भव्यम् (ध. ५.३९)

(भावना)–स्त्री., स्वरसादिसंयोगः (चवि. १.२१ (२)
(परिव०) संयोजना (सुशा. ९.११)

भावित–वि., व्याप्तम् द्रवेणाभिमिश्रितविमर्दितम् (सुचि. १३.१७-१९; र. २.४५)

भाष्य–न., भाषणम् (अहसू. ७.५७)

भास्–स्त्री., शरीरवर्णः प्रभा (चशा. ७.१६)
प्रतिभा भान्ति प्रकारान्ते अर्था अस्यामिति भाः प्रतिभा (चशा. १.३९)

भास–पु., प्रसहजातीयपक्षि० गोकुलचारी गृध्रः, अयं भस्मवर्णः (चसू. २७.३६) श्वेतशिखावान् (सुसू. ४६.७४) स्वल्पतुण्डः (सुसू. २०.१४)
–मुखयन्त्र–न., यन्त्र० स्वस्तिकयन्त्रम् (सुसू.७.१०)
भासुर–वि., अतिदीप्तम्, तेजस्वी (अहसू. १२.३६)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.९)
भास्कर–न., ताम्रभस्म (र. १४.६१)
अर्कः (ध. ४.१३)
द्वादशसंख्या (ध. ४.१३)
सुवर्णम् (रा. १३.१)
पु., द्वादशरसप्रदायकेष्वेकः (र. १.२-५)
भास्करेष्टा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला (रा. ४.१४५)
भास्वत्–न., खनिज० ताम्रम् (र. २१.१४-१८)
–दर्शन–न., तैजसद्रव्यदर्शनम् (असंसू. ३३)
भिक्षु–पु., वनस्पति० मुण्डी (ध. १.१५९)
ऋषि० यज्ञःपुरुषविषये विवदमानानामेकतमः आत्रेयः (चसू. २५.२४)
–संघाटी–स्त्री., वनस्पति० श्रमणककन्था (असंउ. ६; इन्दु.)
भिण्ड–पु., वनस्पति० भेण्डा (रापरि. ४.२५)
भिण्डातिका–स्त्री., वनस्पति० भेण्डा (रापरि. ४.२५)
भिदुर–पु., वनस्पति० प्लक्षः भिनत्ति भित्त्यादिकं प्ररोहार्थं इति भिदुरः (रा. ११.१२६)
न., खनिज० हीरकम् (ध. ६.५५)
भिद्यमान–वि., अनेकप्रकारैर्विभज्यमानम् (चवि. ६.३)
भिन्न–न., सद्यो व्रण० भेदः (सुसू. ४२.१०.(२))
वि., मर्दितम् (सुचि. ३०.१४)
–कोष्ठ–वि., यस्याऽन्त्रादौ भेदः संजातः सः, कोष्ठभेदयुक्तः (सुसू. १२.१४)
–दला–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (३.१०)
–पात्र–न., भग्नपात्रम्, विदीर्णपात्रम् (२४.९८)
–पुरीष–वि., द्रवमलः (काखिल. १२.२१)
–मूर्ति–वि., विद्धशरीरः, भिन्नकायः (सुउ. ५५.१०)
–रोमन्–वि., च्युतरोमा (असंउ. ४४)
–वर्चस्–वि., भिन्नपुरीषः (सुउ. ४६.४०९)
–वर्चस्क–वि., भिन्नपुरीषः (सुउ. ५५.४२)
–वर्ण–वि., वर्णदुष्टियुक्तः (सुउ. ४१.२६)
–स्वर–वि., पु., भिन्नपात्रध्वनिसदृशो ध्वनिर्यस्य (मा. नि.)
अनवस्थित स्वरः (सुउ. ५३.४)
भिन्नाञ्जन–न., स्फुटितं अञ्जनम् (सुचि. ३०.१४)
भिराटिका–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (ध. ४.३१)
भिल्लतरु–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३८)
भिल्लभूषणी–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ३.४७)
भिल्लिन्–पु., वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५)
भिल्लोट–पु., हिमवदासन्नभूमिजः ककुभानुकारिफलो वृक्षः (सुउ. १७.४०)
भिल्लोटक–पु., वनस्पति० लोध्रः (सुचि. २४.१५)
भिषज्–पु., वैद्यः (चसू. २५.४०) यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः यस्य चायुः सर्वथा विदितं, स भिषक् (चवि. ८.८६) भिषज्यति चिकित्सति (चक्र. चवि. ८.८६)
(भिषक्) छद्मचर–वि., भिषग्वेषचरः, वैद्यद्रुवोऽज्ञः धूर्तः (चसू. ११.५०)
–पाश–वि., वैद्याधमः, निन्दितवैद्यः (र. ३०.११७)
–प्रिया–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.२)
(भिषग्)–जित–न., चिकित्सितम् (चसू. १०.२४)
(–जिता)–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ध.१.४)
–द्रुव–वि., आत्मानं केवलं भिषगिति ब्रूते इति भिषद्रुग्वः अवैद्यः, कुवैद्यः (अहसू. १२.७०)
–वरा–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (रा. ११.३०६)
–विद्–वि., निष्णातवैद्यः भिषक्च असौ विद्वांश्च वेत्ता च इति कर्मधारयत्वाद् भिषग्विद्समासः (चवि. ३.४१)
भिषङ्–) मातृ–स्त्री., वनस्पति० वासकः (ध. १.२३)
भी–स्त्री., भीतिः (असंशा. ८)
भीम–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (ध. २.९६)
भयङ्करम् वि., (सुउ. ६०.२२)
–पराक्रम–पु., सिद्धौषधिविशेषः अयं वल्लद्वयप्रमाणोपसेवितः सन् सर्वमेहघ्नः (र. १७.६९-७७)
भीमाकार–वि., रौद्ररूपः (सुउ. ६२.१७)
भीरु–वि., कातरः भयशीलः (चसि. २.४)
स्त्री., वनस्पति० शतावरी (ध. १.२९३)
लज्जालुः (सुउ. ३९.२२८)
–त्व–न., कातरत्वं, सभयत्वम् (चवि. ८.१८)
–शिफा–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (र. २५.१०५)
भीरुक–पु., इक्षुभेदः पैण्ड्रकवद्गुणाः अस्य (सुसू. ४५.१५१) द्र० 'इक्षु'
(भीरुका)–स्त्री., रेवतीग्रह० सा सप्तमेऽहन्यपत्यं विनाशयति (काकरेवतीकल्प ४५.)
भीषण–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१)
हिन्तालः (रा. ९.९७)

भुक्त–वि., कृत आहारः, निगीर्णमन्नम् (हे. अहसू. १.८)
(भुक्ता)–स्त्री., वनस्पति० दीप्या (पिण्डखर्जुरिका) (रा. ११.७३)
–भक्त–वि., भुक्तवान्, भुक्तभोजनः कृताहार इति (अहसू. २०.१२)
–मात्र–वि., सद्योभुक्तम्, अचिराद्भुक्तभोजनः (सुसू. ४६.५११)
भुक्तेरित–वि., भोजनेन प्रेरितम् (सुसू. ४६.४८४)
भुग्नदृग्–पु., संनिपातज्वरः भुग्ननेत्रः (मा ज्वर. १९)
भुग्ननेत्र–पु., संनिपातज्वरः लक्षणम्–ज्वरबलापचयः स्मृतिशून्यता श्वसनभुग्नविलोचनमोहितः प्रलपन-भ्रमकम्पनशोफवान् भुग्नदृक् जीवितमाशु त्यजति (मा ज्वर. ३.१९)
भुज–पु., शारीर० बाहुः (सुशा. ३.८)
–ग–पु., प्राणि० सर्पः (सुउ. ३९.२५९)
खनिज० सीसकम् (र. २३.३७)
(–गी–)स्त्री., वनस्पति० सर्पिणी (रापरि. ५.३९)
–गदृष्टि–स्त्री., गन्धनाकुली (र. २७.११७)
–गपतिशिरस्–न., द्विमुखसर्पशिरः अस्य धूमो विषघ्नः (चचि. २३.९९)
–गलता–स्त्री., वनस्पति० नागवल्ली (रापरि. ११.६)
–गाख्यवल्ली–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (र.१२.५०)
–स्तम्भ–पु., भुजस्य स्तम्भः बाहुस्तैमित्यम् (चचि. १(४). ४२)
भुजङ्ग–पु., बिलेशय० सर्पः, नागः (सुशा. ४.७१)
–जिह्वा–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.५३२)
–पुष्प–न., वनस्पति० नागकेशरम् (सुउ. ४६.१७)
–पुष्पादियोग–पु., योग० नागकेशरं मरिचमुरं कोलमज्जा समप्रमाणाः शीततोयेन पिबेच्चेत् मूर्च्छाशमनं भवति (सुउ. ४६.१७)
भुजङ्गम–पु., ग्रह० यः कदाचिन्भूमौ सर्पवद्भ्रमति, जिह्वया सृक्किण्यौ विलेढि निद्रालुर्गुडमधुदुग्धपायसेष्वसुश्च यो भवति; स भुजङ्गमग्रहाविष्टो ज्ञेयः (सुउ. ६०.१३)
बिलेशय० भूनागः (र. ५.२३३-३४)
न., खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१)
भुवन–न., जलम् (रा. १४.३१८)
भू–स्त्री., पृथ्वी (चसू. ८.९)
स्फटिका तुवरी वा (र. ११.४९)
वनस्पति० रक्तपुनर्नवा (र. २४.१४४)
अभ्रकम् (र. २६.५४-५६)
–कदम्ब–पु., वनस्पति० भूमिकदम्बः, मुण्डी (र. १६.७०-७९) महाश्रावणिका (रा. ५.२२१)
–कदम्बक–पु., वनस्पति० यवानी (रा. ६.१४०)
–कन्द–पु., वनस्पति० भूस्फोटः, प्रावृड्भवः प्रसिद्ध एव (अरु. अहसू. ६. ११४)
–कम्प–पु., भुवः कम्पः, इदम् अरिष्टलक्षणम् (चइं.१२.६९)
–कर्बुदार–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११.१५०)
–कूष्माण्ड–पु., महाकन्द० विदारी (र. २७.५२)
–कूष्माण्डी–स्त्री., वनस्पति० विदारिका (रा.७.१९४)
–क्षार–न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५०)
–खर्जूरी–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (रा. ११.७३)
–गृह–न., भूस्वेदार्थं गृहम् (चसू. १४.२८)
–घ्नी–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (रा. १३.१६४)
–जम्बू–स्त्री., वनस्पति० भूमिजम्बूः (रा. ११.१३४)
–तला–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (र. २४.१२०)
–तलिका–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)
–ताली–स्त्री., वनस्पति० मुसलीकन्दः (रापरि. ७.५८) भूपाटली (रापरि. ५.४३)
–तुम्बी–स्त्री., अलाम्बुनी (रा. ७.२४१)
–तृण–पु., वनस्पति० गुणाः– कटुस्तिक्त उष्णो लघू रूक्षः कफवातघ्नो जन्तुभूतग्रहविषनाशनश्च (ध. ४.४७)
हिं.—रूआघस, गन्धबेन, अग्यघस, रोशेल.
म.—रोहिस गवत.
बं.—रूआघस, गन्धबेन, अग्यघस, रोशेल.
ता.—शकनरूपिल्लु.
–दार–पु., वराहकन्दः, मुस्तकः, सूकरः (र.१८.१८३)
–दारु–पु., वनस्पति० देवदारुभेदः (र. १८.१८३)
–धरपुट–न., भूमौ द्व्यङ्गुलादधो निखन्य तत्र मूषां स्थापयित्वा दीयमानं पुटम् (र. १०.६३)
–धरयन्त्र–न., यन्त्र० राजहस्तमात्रगम्भीरे हस्त-मात्रायामविस्तारे चतुरस्रे गर्ते रसान्वितां पारदगर्भितां मल्लमूषां वालुकागूढसर्वाङ्गां निधाय गर्तकण्ठपर्यन्तं वालुकया प्रपूर्योपरि किञ्चित् पार्श्वे च दीप्तवन्योपलैराच्छादयेत्। एवं वह्निदानपूर्वकं पुनः पुनः पचनं कार्यम्। उपरि सन्ततमृद्वह्नेरावश्यकता। अस्य यन्त्रस्य गन्धकजारणायां

पारदस्य पाकमूर्च्छनमारणाद्यनेककर्मसु सुखेनोपयोगो भवति (र. ९.४४)

-धात्री-स्त्री., वनस्पति० भूम्यामलकी (ध. ३.८४)
गुणाः- मधुरा तिक्ता (कषायाम्ला) (रा.) शीता पित्तकफघ्नी रक्तदोषदृष्टिदाहप्रमेहमूत्ररोगघ्नी च (ध. ३.८४)
हिं.—जराम्ला, निरूरी.
म.—भुईआवळी.
बं.—भुईअम्ल.
ता.—किझकेनेक्की.

-नाग-पु., क्षुद्रप्राणिविशेषः गण्डूपदः (र. २.१३९-४०) तस्य सत्त्वपातनविधिः- क्षालितभूनागमृत्तिकां भृङ्गराजस्वरसैर्दिनत्रयपर्यन्तं मर्दयेत् एवं दिनत्रयपर्यन्तं निम्बुद्रवैस्तथा निर्गुण्डीस्वरसैः मृत्तिकां मर्दयेत्। ततस्तां भूनागमृत्तिकां द्रावणगणेन सह संमर्द्य पिण्डाकारं कुर्यात्, तदनन्तरं तत्पिण्डं मूषायां निरुध्य घटिकाद्वयपर्यन्तं दृढं प्रधमेत्। ततः स्वाङ्गशीतं कृत्वा तत्समाहृत्य काष्ठपट्टके चिक्कणशिलायां वा स्थापयित्वाऽतिभारवतो राजिकाकारान् रेणून् गृह्णीयात्। अनन्तरं द्वादशांशताम्रसंयुक्तान् रवकान् राजिकातुल्यान् धमित्वा काञ्जिकेन पचेत्। ततः रवकान् अतिभरान्वितान् काञ्जिकेन क्षालयित्वा गृह्णीयात्। तेन भूनागसत्त्वेन यथेप्सितं वज्रादिद्रावणं कुर्यात्। इदं खरसत्त्वश्रेष्ठं रसायनम् (र. ५.२२८-३२)

-निम्ब-पु., वनस्पति० भूमिकदम्बः (रा. ९.१७४) किराततिक्तः (ध. १.३३)

-पति-पु., खनिज० ऋषभकः (रा. ५.१५७)

-पदी-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४)

-पाटली-स्त्री., वनस्पति० अस्या गुणाः-कटुरुष्णा पारदसंस्कारोपयुक्ता च (रा. परि. ५.४३)

-पालावर्त-पु., खनिज० राजावर्तः (र. १७.७८-७९)

-बदरी-स्त्री., बदरभेदः (रा. ११.१६२) द्र० 'बदर'

-बाष्प-न., भुवो बाष्पम् ऊष्मा (अरु. अहसू. ३.४३)

-भुज्-पु., नृपः (असंसू. ८.३)

-भुजङ्ग-पु., भूनागः (र. ५.२३३)
द्र०-'भूनाग.'

-रुह-पु., उद्भिज्जम् भुवो रोहति इति भूरुहः (काखिल. २२.५)

-लग्ना-स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (रा. ३.१७१)

-वेश्मन्-न., भूम्यन्तर्वर्ति गृहम् (अहसू. ३.१६)

-शय-वि., बिलेशयः (चसू. २७.५४)

-शर्करा-स्त्री., शर्करा, वाराहीकन्दः (र.१८.४७-५२)

-शिरीष-पु., कृष्णशिरीषः (र. ३०.४३)

-शेलु-पु., भूकर्बुदारः (र. ११.१५०)

-स्वेद-पु., स्वेद० पुरुषाययाममात्रां भूमिं खनित्वा तां भूमिं च खादिरकाष्ठैर्दग्ध्वा क्षीरधान्याऽम्लवारिभिर्दग्धां भुवं सिक्त्वा च वातघ्नैरेरण्डपल्लवैराच्छाद्य तत्र पुरुषं शाययित्वा स्वेदयेत् (सुचि. ३२.८-९)

भूत-न., प्राणी (अहसू. २.२०)
पिशाचादिः (असंसू. ३२.७)
ग्रहः (अहसू. ४.३१)
देवादिः, तानि च अष्टौ देवासुरप्रभृतीनि (सुउ. १८.९३)
स्थावरजङ्गमादिः स्वर्गः, पृथिव्यादि (सुशा. १.३)
बिभीतकः (र. १३.६७)
हरितालः (र. १३.६७)
अफूकम् (ध. ६. १२१)
पारदः (ध. ३.३७)

-कृत-वि., पिशाचकृतम् (चवि. ८.३७)

-केशी-स्त्री., वनस्पति० शुक्लशेफालिका (ध. ४.८३)
शुक्लाङ्गी (रा. ४.१२१)
मांसी (सुउ. ६०.४७)
गन्धमांसी (ध. ३.४७)
शुक्ला निर्गुण्डी (असंउ. ८)

-ग-पु., भूतविज्ञानीयभूतप्रतिषेधाख्याध्यायद्वयम् (अहसू. १.४५)

-गुण-पु., आकाशादिमहाभूतस्य शब्दादिगुणः (चसू. १.५६) द्विविधोऽयं पृथिव्यपां गुरुत्वं तेजोवाय्वाकाशानां लघुता (सुसू. ४०.१०)

-ग्रह-(परिव०)-पु., भूतानां पिशाचादीनां ग्रहो नाम आवेशः (अहसू. १.४५)

-ग्राम-पु., प्राणिसमूहः स चतुर्विधः स्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जभेदात् (सुसू.१.२२) पञ्चमहाभूतसमूहः (सुशा. १.१२)

-घ्न-पु., वनस्पति० लशुनः (रा. ७.९४). भूर्जः (रापरि. ९.२३)

(-घ्नी)-स्त्री., वनस्पति० तुलसी (ध.४.५०)

-जटा-स्त्री., वनस्पति० गन्धमांसी (रा. १२.९१)
-त्रासनविद्या-स्त्री., भयोत्पादनपूर्वकं पिशाचादीनां विद्रावणम् तन्मन्त्रविद्या वा (र. ७.३२)
-द्राविन्-पु., वनस्पति० क्षुवकः (रापरि. ९.४०)
-द्रुम-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११.१४९)
-नाशन-पु., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५)
सर्षपः (ध. ४.४२)
हिङ्गुः (ध. २.२६)
-निग्रह-पु., भूतप्रेतादीनां दण्डादिना रोधनम् (र. ७.३१)
-प्रकृति-स्त्री., खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टम इति भूतप्रकृतिः (चशा. १.६३)
-भविष्यदीश-वि., भूतस्य भविष्यतश्च अव्याहत-ज्ञानवत्त्वेन ईशः प्रभुः, त्रैकालिकदृष्टिः (चचि.५.३)
-मातृ-स्त्री., रेवतीग्रह० (काबालग्रहचि.)
-राव-न., घृत० इदं ग्रहघ्नम् (असंउ. ८)
-लोक-पु., अमानुषसृष्टिः, अष्टादश भूताधिपतयः सुरासुरगन्धर्वोरगयक्षब्रह्मराक्षसराक्षसपिशाचप्रेत-कूष्माण्डककालादौकिरवेतालपितरः ऋषिगुरुवृद्ध-सिद्धाश्च ते पुनः पृथक्कोटिपरिवाराः । तेषामपि चाऽपरिसंख्येयः परिवार इत्यनन्तो भूतलोकः (असंउ. ७)
-वन्ध्या-स्त्री., भूतबाधया वंध्यत्वमापादिता स्त्री (र. २२.२)
-वास-पु., वनस्पति० विभीतकः (ध. १.२१२)
-विद्या-स्त्री., भूतानां राक्षसानां वा ज्ञानार्थं प्रशमार्थं च विद्या (चसू. ३०.२८) तस्या अमानुषोपसर्गप्रतिषेधोऽपस्मारप्रतिषेध उन्मादप्रतिषेध इत्यङ्गानि (सुसू. ३.४१)
-विनाशनी-स्त्री., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८२)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० शाखोटः (रापरि. ९.३०)
-संघ-पु., देवता० (अहसू. १८.१६)
-संघात-पु., भूतसमूहः (अहसू. ९.३)
-सत्त्व-न., राजससत्त्वस्य भेदः (कासू. २८)
-समवायसंभव-पु., भूतसमुदायारब्धत्वम् (असंसू. १७)
-सार-पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४१)
-हन्त्री-स्त्री., वनस्पति० दूर्वा (रा. ८.२२७)
-हर-पु., वनस्पति० गुग्गुलः (रा.१२.१८३)
-हारिन्-न., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३)

भूताग्नि-पु., भौतिकाग्निः (असंशा. ६) भौमाप्याग्नेय-वायव्याख्यपञ्चविधो भौतिकाग्निः पञ्चाऽऽहार-गुणान् पार्थिवादीन् पचति जठराग्नेः समीपस्थः (चचि. १५.१३) उक्तं च जाठरेणा-ग्निना संधुक्षितबलः पार्थिवादिद्रव्यव्यवस्थिताः भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति (चक्र. चचि. १५.१३)
भूताङ्कुश-पु., वनस्पति० क्षुवकः (रापरि. ९.४०) शङ्खो, धत्तूरः, हरितालभस्म (र. १३.३७-४०)
भूताङ्कुशरस-पु., भैषज्य० पारदगन्धकताम्रहरिताल-वत्सनाभशंखभस्मयुक्तः, श्वासकासक्षयनाशनः (र. १३.३७-४०)
भूतात्मन्-पु., आत्मा (चशा. १.५७) चेतनाहेतुः, क्षेत्रज्ञः (सुशा. ४.३६) जीवः, प्राणेष्वेकः (सुशा. ४.३)
भूतादि-पु., अहंकारभेदः तामसाऽहंकारः(सुशा.१.४) भूतं पृथिव्यादिकम् आदिर्मूलकारणं यस्य तादृशः, आदत्ते जनिमत्स्यादिति आदिर्मूलकारणम् (सुशा. १.१४)
भूताधिपति-पु., अष्टादशभूताधिपतयः सुरासुरगन्धर्व-प्रभृतयः (असंउ. ७)
भूताभिषङ्ग-पु., ग्रहावेशः (सुउ. ३९.६८)
भूताभिषङ्गजज्वर-पु., आगन्तुज्वरः, लक्षणम्— हास्यं कम्पनं रोदनं उद्वेगश्च (सुउ. ३९.८०)
भूतारि-पु., वनस्पति० हिङ्गुः (रा. ६.५९)
भूतावेश-वि., भूतानामावेशो यस्मिन्सः (ज्वरः) (चचि. ३.१२३)
भूति-स्त्री., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८०)
भूतृणम् (रापरि. ८.४२)
ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
भस्म (र. २१.१९-२१)
कल्याणम् (काइ.३५)
-द-न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध.१.८०)
भूतिक-पु., वनस्पति० अजमोदा (असंशा. ४)
भूतृणम् (रापरि. ८.४२)
कत्तृणम् (रा. ८.१०६)
भूतीक-पु., वनस्पति० यवानी शीतप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)
कत्तृणम् (चचि. १९.२०; चसि. ४.४)
भूतौदन-पु., मांसमिश्र ओदनः (असंउ. ४)
भूमि-स्त्री., देशः, तत्प्रकारास्तु-अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षसस्यप्राया, स्वगुण-

भूयिष्ठा, स्निग्धाशीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धसस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽम्बुगुणभूयिष्ठा;नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाऽल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा, रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुरूक्षाल्परसकोटरवृक्षप्राया वायुगुणभूयिष्ठा मृद्वी समाश्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाऽऽकाशगुणभूयिष्ठा (सुसू. ३६.३-४)

पृथ्वी महाभूतम् (सुसू. ४२.३)

कृष्णमृत्तिका (सुक. ५.८४-८६ ड.)

-कदम्ब-पु., वनस्पति० कदम्बः (र. ९.१७४)

-कम्प-पु., भूमेः कम्पः, उत्पातः (चवि. ३.७.(३))

-कोष्ठी-स्त्री., भूम्यन्तर्गतगर्तारूपा कोष्ठी (र. ६.७)

-खर्जूरी-स्त्री., वनस्पति० दीप्या (रा. ११.७३)

-गन्धिक-न., वनस्पति० शालिपर्णी (ध. १.८८)

-गृह-न., भूम्यन्तर्वर्ति गृहम् (चचि. ४.१०६)

-चरी-स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)

-ज-पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८८)

भूमिकदम्बः (रा. ९.१७४)

लोहम् (र. ५.८२)

-जम्बू-स्त्री., जम्बूभेदः (रा. ११.१३४) द्र० 'जम्बू'

-जोद्भिद-न., शाक० तद्गुणाः- गुरु नातिवातलं च (सुसू. ४६.२९३)

-परीक्षा-स्त्री., श्वभ्रशर्कराऽश्मविषमवल्मीकश्मशानाऽऽघातनदेवताऽऽयतनसिकताभिरनुपहतां अनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधग्रहणाय परीक्षेत। तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्राऽऽतपपवनदहनतोयसम्बाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्येष भूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः (सुसू. ३६.३)

-प्रविभागीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ३६.१)

-मण्डपभूषणी-स्त्री., वनस्पति० माधवी (रापरि. १०.२९)

-रजस्-न., रत्न० वैक्रान्तम् (ध. ६.४४)

-लज्जा-स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)

-सह-पु., वनस्पति० शाकः (ध. ५.३ परि.)

-सार-पु., भूमेः सारः उत्कृष्टांशः (काखिल. २२.७)

न., खनिज० पारदः (र. १७.६७-६८)

तीक्ष्णलोहम् (र. १७.६७-६८)

शुद्धशिलाजतु (र. १७.६७-६८)

भूम्यामलक-पु., वनस्पति० तामलकी (र. १७.४-५)

भूम्यामली-स्त्री., तामलकी (रा. ५.१४४)

भूम्याहुल्य-न., वनस्पति० (रापरि. ४.३६) गुणाः-तिक्तं ज्वरकुष्ठाऽऽमसिध्मनुत् (रापरि. ४.३६)

भूयस्-(अव्य०) पुनः, भूरि अतिशयेन (सुउ.५५.२७)

भूरि-वि., खनिज० सुवर्णम् (र. १६.६७-७५)

-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० मुरा (ध. ३.६७)

-तेजस्-न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.२)

-दुग्धा-स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.८)

-पत्र-पु., वनस्पति० उखलः (रापरि. ८.४६)

-पान-न., बहुमद्यपानम् (अहसू. १७.२८½)

-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.३)

-फली-स्त्री., वनस्पति० पाटली (रापरि. ५.४४)

-बला-स्त्री., वनस्पति० अतिबला (ध. १.२८६)

-मल्ली-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा (रा. ४.१७१)

-श्लेष्मन्-वि., श्लेष्माधिक्ययुक्तम् श्लेष्मबहुलम् (अहसू. १६.३७)

भूर्ज-पु., वनस्पति० तद्गुणाः-कटुः कषाय उष्णः पथ्यो दुष्टकौटिल्यनाशनस्त्रिदोषघ्नो भूतरक्षाकरश्च (रापरि. ९.२२)

हिं.—भुजपत्र.

म.—भोजपत्र.

बं.—भूर्जपत्र.

-ग्रन्थि-पु., भूर्जपत्रस्य ग्रन्थ्याकारमङ्गम् (चचि. २६.२२७)

-पत्र-पु., वनस्पति० शाखोटः (रापरि. ९.३०)

-पत्रक-पु., वनस्पति० भूर्जः (रापरि. ९.२२)

-पत्रधूम-पु., भूर्जपत्रस्य धूमः (चशा. ८.३८)

भूषण-न., अलङ्कारः (सुक. १.७४-७५)

फटकी, उपरसवि० (र. ६.४२)

-क्षमा-वि., भूषणधारणार्थं समर्था (सुचि. २५.२८)

भूषणार्ह-न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२)

प्रवालम् (ध. ६.६४)

भूषणार्हतम-न., भैषज्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२)

भूस्तृण-पु., वनस्पति० गन्धतृणः, कटुरूक्षोष्णः वक्त्रशोधनः पुंस्त्वघ्नश्च (चसू. २७.१७२)

कृमिहरतृणः (चवि. ७.१७)

गुदाकनामधेयो द्रोणपुष्पसदृशो, रोहिषमिति केचित् (ड. सुसू. ३८.१८-१९) तस्य गुणाः-कफघ्नो लघुः रूक्षस्तीक्ष्ण उष्णः पित्तवर्धनः पाकेन रसेन च कटुः (सुसू. ४६.२३५)

भृकुटी–प्राणि० मण्डूकभेदः तेन दष्टस्य दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा-कण्डूश्च भवति, मुखात्पीतफेनागमश्च असाध्योऽयम् (सुक. ८.३१) द्र० 'मण्डूक'

भृगु–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवत्पार्श्वसमेतानामृषीणामेकतमः (चसू. १.८)

भृङ्ग–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)
भृङ्गराजः (ध. ४.११)
गुडत्वक् (चक. ७.३४)
अभ्रकम् (रा. १३.२)

(भृङ्गा)–स्त्री., श्लेष्मविकारकारिणी लूता (असंउ. ४४)
दंशलक्षणानि–भ्रमरवर्णः, दंशस्थाने पिडका दाहः कोठानि च (असंउ. ४५)

–जा–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)

–प्रिय–पु., वनस्पति० धूलि कदम्बः (रा. ९.१७३)
कदंबः (ध. ५.१०४)

(–प्रिया)–स्त्री., वनस्पति० माधवी (रापरि. १०.२९)

–मारी–स्त्री., वनस्पति० भ्रमरारिः (रापरि.१०.४१)
केविका (रापरि. १०.३३)

–मूलिका–स्त्री., वनस्पति० भृङ्गाह्वा (रापरि. ७.२०)

–मोहिन्–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३८)

–रज–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (ध ४.११)

–रस–पु., मार्कवस्वरसः–(सुक.८.५६)

–राज–पु., वनस्पति० गुणाः-तिक्तोष्णः रूक्षश्चक्षुष्यः केशरञ्जनः कफघ्नः शोफामपाण्डुहृद्रोगविषघ्नश्च (ध. ४.११)
हिं.—भुंग्रा मोत्रन्द.
म.— माका.
गु.—भांग्रा; मार्कव.
बं.—केसूरिया; केसुती.
ता.—कैकेशी.
प्रतुदपक्षि० भ्रमरवर्णः (चसू. २७.५०)
आनूपदेशे वर्तमानः पक्षिविशेषः भ्रमरः(चक.१.८)
सविषान्नं दृष्ट्वाऽयं कूजति (असंसू. ८)

–राजतैल–न., श्वासकासविनाशि तैलम्, तदिदं भृंगराजस्य दशगुणे शुभे रसे सिद्धं भवति समूचितविचारणात्स्नेहमच्छपानं वा योजयेत् (सुउ.५१.३०)

–राजमुखयन्त्र–न., स्वस्तिकयन्त्र० अस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिष्टम् (सुसू. ७.१०)

–रेणु–पु., वनस्पति० भृंगराजः (ध. ४.११)

–वल्लभ–पु., वनस्पति० धाराकदम्बः (रा. ९.१७२)
भूमिकदम्बः (रा. ९.१७४)

–(वल्लभा)–स्त्री., वनस्पति० भूमिजम्बूः (रा. ११.१३४)
तरणी (रा. १०.२४४)

–वृक्ष–पु., वातहरबिल्वादिवृक्षः (सुउ. ३५.४ ड.)

भृङ्गाङ्गी–स्त्री., वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८५)

भृङ्गानन्दा–स्त्री., वनस्पति० यूथिका (रा. १०.२५०)

भृङ्गाभीष्ट–पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.२)

भृङ्गार–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (ध. ४.११)
लवङ्गम् (ध. ३.४१)
न., सुवर्णपात्रम्, भद्रपात्रम् (चसू. १५.७)

भृङ्गारक–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (ध. ४.११)

भृङ्गारि–स्त्री., वनस्पति० भ्रमरारिः (रापरि. १०.४१)
केविका (रापरि. १०.३३)

भृङ्गाह्व–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२०)

(भृङ्गाह्वा)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– कटुस्तिक्तोष्णा दीपनरोचनी च (रापरि. ७.२०)

भृङ्गिन्–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (र. २४.८५)
रसमण्डपे पूजनीयो देवता० (र. ६.२५)

भृङ्गेष्टा–स्त्री., वनस्पति० काकजम्बूः (रा. ११.१३२)
कुमारी (रापरि. ५.११)
तरणी (रा. १०.२४४)

भृत–वि., भर्त्रीकृतम् मांसम् (चसू. १३.८६)

भृतिक–पु., वनस्पति० भूतृणः (ध. ४.४७)

भृशम्–(अव्य) अत्यन्तम् (सुचि. ८.८)

(भृश)–दुर्ग–न., प्रतिवादिनोऽविदितत्वेन दुर्गमिव दुर्गम् (प्रकरणम्) (चवि. ८.९५)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० महानीली (रा. ४.३५३)

–वातल–वि., अतिवातकृत् (अहसू. ६.१२७)

–स्निग्ध–वि., अतिशयेन स्निग्धः (सुचि. ३१.५४)

भृष्ट–वि., भर्जितम् (सुसू. ४६.३४८)

–तण्डुल–पु., भर्जिततण्डुलः, गुणाः–लघुः सुगन्धिः कफहा च (४६.३४८)

–मृद्–स्त्री., दग्धमृत्तिका (चसू. ४.१५)

–यन्त्र–न., तिर्यगाकारचुल्ल्यां तिर्यङ्मुखं घटं स्थापयित्वा मुखं विहाय सर्वो घटो विलिप्यते, तस्मिँश्च नागभस्म विधीयते, एतदेव भृष्टयन्त्रम् (र. ५.१८१)

भेक–पु., भूमिशयप्राणि० मण्डूकः (चसू. २७.३८)
बिलेशयानामहिततमः (चसू. २५.३९)

–वर्ण–वि., भेकस्य वर्ण इव वर्णो यस्य सः (चवि. १६.३५)

भेड–पु., ऋषि० पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यः भेड-संहिताकारः (चसू. १.३१)
पशु० मांसगुणाः– मधुरं शीतं गुरु विष्टम्भि बृंहणं सर्वदोषकरम् (रा. ६.३८८)
(भेडा)–स्त्री., वनस्पति० पद्मबीजम् (ध. ४.१५९)
फञ्जादिशाकवर्गे शाकः (रापरि. ७.९५)
भेण्डा–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– अम्लोष्णा ग्राहिका रुचिकारिका च (रापरि. ४.३३७)
हिं.—लोटलोटी, कुंजिया.
म.—वनभेण्डा, रानतुपकाडा, वागडु भेण्डी.
बं.—बेन ओचरा.
भेत्तृ–वि., विभागकर्ता (पुरुषः) (चवि. ६.४)
भेद–पु., वेदना० भिद्यमानत्व इव पीडा (चवि. २८.२०)
भेदनम्, वायोरेकं वैकृतं कर्म (चसू. २०.१२)
स्फोटनम् (सुउ. ३९.८७)
विरेचनम् (र. १९.४-६)
क्षणनम् (सुउ. ४५.९)
कुठारेण विदारणवद् वेदनाविशेषः (सुनि. ११.४)
विशेष, प्रकारः (चक. १.३)
सर्गः, श्लथप्रवृत्तिः (चसू. २८.२२)
विकृतिः (चचि. ११.६१)
–प्रकृति–स्त्री., भेदकारणम् (चवि. ६.४)
–प्रकृत्यन्तरीय–वि., भेदकारणान्तरभवम् (चवि. ६.४)
भेदक–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (ध.२.९६)
भेदन–न., वनस्पति० हिङ्गुः (रा. ६.६०)
सूक्तम् (ध. ६. २४६)
अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
उपक्रम० आशयविदारणम् (चसू. ११.१५)
भेदनवद् वेदना (अहसू. १२.४९)
त्वग्विदारणमिव वेदना (सुसू. २२.११)
वृश्चिदपत्रादिभिः शस्त्रैः स्फोटनम् (सुसू. २७.४)
भेदनीय–वि., भेदनाय हितम् (चसू. ४.८) महाकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.९) सुवहाऽर्को-रुबकाऽग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनी-शकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति (चसू. ४.९)
भेदाग्र–न., भेदानां परिमाणं संख्या इति यावत् (चवि. ६.४)
भेदाशिन्–पु., प्रतुदपक्षि०
गुणाः–सर्वदोषकरो मलदूषकश्च (सुसू. ४६.६९)
भेदिन्–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
जयपालः (र. २०.२६)
रन्ध्रकरः पारदस्य कञ्चुकाख्यो दोषः (र. ११.२२)
(भेदिनी)–स्त्री., वनस्पति० कृष्णजीरकः (रा. ६.१०४)
भेद्य–वि., विभाज्यो (विषयः) (चवि. ६.४)
अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम् (सुसू. ५.५)
–योग्या–स्त्री., भेदनकर्माभ्यासः (सुसू. ९.४)
–रोगप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. १४.१)
भेरी–स्त्री., वाद्य० दुन्दुभिः (चइ. १२.७९)
भेल–पु., ऋषि० (कासिद्धि. १)
पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यः, तन्त्रकर्ता (चसू. १.३३)
भेषज–न., औषधम्, रोगनिवारकं द्रव्यम् (चसू. १.६२)
' भिषग्विज्ञाननेयत्वाद्भेषजं भिषजो विदुः '
(काखिल. ३.२८)
–चिकित्सा– (चसू. १०.३)
–क्षपित–वि., शोधनकर्शितः (अहसू. ४.२८)
–योग–पु., औषधस्य तदर्थसंपादनसामर्थ्यम् (अहसू. १.२४)
–विकारयुक्ति–स्त्री., भेषजस्य विकारेण समं युक्तिः (चइ. १.३)
–संवृत्ति–स्त्री., भेषजस्य संपादनम् (चइ. १.३)
भेषजचतुष्क–न., चरकसूत्रस्थानस्य प्रथमे चत्वारो ऽध्यायाः (चचि. ३.२१५)
भेषजागार–न., भेषजसंग्रहस्थानम् (सुसू. ३६.१७)
भेषजापमानिन्–वि., भेषजद्वेषी (सुचि. ३०.४)
भैक्षचर्यार्थ–न., भिक्षावृत्त्यर्थम् (चशा. ५.१२)
भैरव–वि., भयानकम् (चवि. ८.११९)
पु., रसरत्नसमुच्चयकर्ता सिंहगुप्तसूनुना यस्य तंत्रं आलोचितं तस्य कर्ता (र. १.५-९)
श्रीशङ्करकिङ्करभेदः (र. ७.२३-२४)
भैरवानन्दयोगिन्–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १६.१३०-३५)
भैषज्य–न., भेषजमेव भैषज्यम्, औषधम् (चसू. १.१३४)
–कर्शित–वि., औषधैः कृशत्वं प्राप्तः (अहसू. १४.८)
–काल–पु., भैषज्यावचारणोचितः (चचि. ३०.२९८)
–मात्रा–स्त्री., औषधमात्रा (अहसू. १८.१५)
द्र० 'औषध'
भैषज्यागार–न., भैषज्यसंग्रहस्थानम् (असंसू. ८.)
भोग–पु., सर्पस्य फणा (चचि. २३.१३०)
–वती–स्त्री., वनस्पति० समङ्गा (असंउ. ४० इन्दु)
(भोगी)–स्त्री., वनस्पति० सर्पिणी (रापरि. ५.३९)
भोगिन्–पु., सर्पः (सुक. ३.३९)

भोगिगन्धिका–स्त्री., वनस्पति० नाकुली (ध. ४.१०३)
भोगिवल्लभ–न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.३)
भोजन–न., आहारः (सुसू. ४६.४७१) द्र० 'आहार'
–**विधि**–पु., आहारविधिः (अहसू. ८.३५-३८)
–**वारिवर्जिन्**–वि., भोजनं जलं च येन त्यक्तं त्यक्तव्यं वा सः (चचि. १२.२६)
भोज्योपरोध–पु., लक्षण० भोजनस्य गले संगः (सुउ. ५२.७)
भौतिक–वि., भूतसंबन्धि (चशा. ८.४९) भूतहरम् (चशा. ८.४९)
मौक्तिकम् (रा. १३.६६)
–**पक्तृ**–पु., पार्थिवाद्यंशपाचको भूताग्निः, स पञ्चविधः (चचि. १५. ३८)
–**प्रकृति**–स्त्री., महाभूतकृतस्वभावः नराणां भौतिकीं प्रकृतिं पूर्वाचार्या आहुः तत्र पवनप्रकृतेर्वातप्रकृतौ, दहनप्रकृतेः पित्तप्रकृतौ, तोयप्रकृतेः कफप्रकृतौ, अन्तर्भावो सुश्रुतेन कृतोऽस्ति। पार्थिवप्रकृतिस्तु नरः स्थिरविपुलशरीरः क्षमावांश्च । नाभसप्रकृतिस्तु नरः शुचिश्चिरजीवी महद्भिः खैर्युक्तो भवति (सुशा. ४.८०)
भौतिकेन्द्रिय–न., आकाशादिमहाभूतजन्यश्रोत्रादि-ज्ञानेन्द्रियमित्यायुर्वेदीयाः (सुशा. १.१४)
भौम–पु., वनस्पति० पुनर्नवा (रा. ५.४०८)
सर्पभेद० त्रिविधा एते दर्वीकरमण्डलिराजिमन्भेदात् (असंउ. ४)
भूमेर्विकारोऽथवाभूमेरिदमिति भूमिविकारः, पार्थिवम् (चसू. १.६८)
–**जल**–न., भूमिप्राप्तं जलम्, तच्चाकाशगुणबहुलं ग्राह्यं, तत्तु सप्तविधं–कौपं नादेयं सारसं ताडागं प्रास्रवणमौद्भिदं चौण्ट्यं चेति (सुसू. ४५.७) द्र० 'जल'
–**रत्न**–न., भैषज्य० प्रवालम् (रा.१३.७३)
भौर्ज–वि., भूर्जपत्रसम्बन्धि (चसू. ३.४)
भ्रंश–पु., दूरगतिः (चसू. २०.१२)
भ्रंशथु–पु., नासागतरोग० लक्षणम्–मूर्ध्नि पूर्वसंचितः श्लेष्मा पित्तेन तप्तत्वमापन्नः सन् सदा नासाद्वारेणैव सान्द्रविदग्धो लवणगन्धवान् भूत्वाऽतिशयेनाधः स्रवति तदाऽयं रोगो ज्ञेयः (सुउ. २२.१३-१४)
भ्रम–पु., रोग० अल्पसंज्ञत्वम्, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११) लक्षण० (चक. ७.४४)
मनोविकारः (चनि. १.२१) मज्जप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१७) चक्रस्थितस्येव संवेदनम् (चचि. ३.३९-४०) रजःपित्तानिलाद्भ्रमः (सुशा. ४.५६)
भ्रमण–न., चलनम् (सुशा. ६.२४)
भ्रमर–पु., कीट० शूकतुण्डविषः (सुक. ३.५) अग्नि-प्रकृतिकः, अयं पित्तजरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)
खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)
(**भ्रमरा**)–स्त्री., वनस्पति० भृङ्गाह्वा (रापरि. ७.२०)
(**भ्रमरी**)–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदात्री (रापरि. ३.४७)
भ्रमरारिः (रापरि. १०.४१)
वनस्पति० जन्तुकारी (रा. ३.१२८)
–**च्छल्ली**–स्त्री., वनस्पति० भृङ्गाह्वा (रापरि. ७.२०)
–**बान्धवा**–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९)
भ्रमरातिथि–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३८)
भ्रमरानन्द–पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६२)
(**भ्रमरानन्दा**)–स्त्री., अतिमुक्ता (रा. १०.२६०)
भ्रमराभ–वि., भ्रमरवन्नीलवर्णः (सुचि. २५.३६)
भ्रमरारि–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–तिक्ता, वातश्लेष्मज्वर-शोफकण्डूतिकुष्ठव्रणदोषास्थिदोषनुत् (रापरि. १०.४१)
भ्रमरेष्ट–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४३)
(**भ्रमरेष्टा**)–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (रा. ६.९६)
जम्बू, वेतसी (ध. ५.८४)
भूमिजम्बूः (रा. ११.१३४)
भ्रमरोत्सव–पु., वनस्पति० अतिमुक्ता (ध. ५.१५३)
(**भ्रमरोत्सवा**)–स्त्री., वनस्पति० माधवी (रापरि. १०.२९)
भ्रष्ट–वि., स्थानच्युतम् (अहसू. १७.२३)
–**गुद**–न., स्वस्थानाद्बहिरागतं च तद् गुदम् (सुचि.६.८)
–**ब्रध्न**–वि., भ्रष्टगुदः (चसू. १४.१७)
–**योनि**–स्त्री., रोग० स्वस्थानाच्च्युता योनिः (चसू. १३.१६)
भ्राजकाग्नि–पु., भ्राजकपित्तम् 'यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा सोऽभ्यङ्गपरिषेका-वगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता च्छायानां च प्रकाशकः' (सुसू. २१.१०)
भ्राजन–न., प्रकाशनं, दीपनम् (अहसू. १२.१४)
भ्राजिष्णुता–स्त्री., दीप्तिमत्त्वम् (सुशा. ७.१०)
भ्रान्तत्व–न., भ्रमणम्, रिष्टलक्षणम् (सुसू. ३२.४)

भ्रान्तप्रेक्षिन्–वि.,सर्वपदार्थानामयथार्थं दर्शनं कुर्वाणः, सर्वपदार्थायथार्थदर्शी (सुउ. ३९.३९)

भ्रामक–न., कान्तलोहप्रकारेष्वन्यतमम् (र. ५.८९)

भ्रामर–न., भ्रमरोद्गवं श्वेतं मधु (चसू. २७.२४३) तद्गुरु पिच्छिलं स्वादु च (सुसू. ४५.१३३-१३५) कान्तलोहप्रकारः (ध. ६.२९)

भ्रू–स्त्री., प्रत्यङ्ग० भ्रूदेशः, द्वे भ्रुवौ (चशा. ७.११) अक्षिकूटोपरि रोमराजी (सुसू. १२.९)

–**कुटीमुख**–पु., सर्प० दर्वीकरसर्पः (सुक.४.३४(१);

–**व्युदास**–पु., रोग० भ्रुवो भङ्गः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

भ्रूणहन्तृ–वि., गर्भघातकः, भ्रूणहा (चसू. ८.१९)

भ्राष्ट्र–न., खर्पर (अहसू. ६.४२)

भ्वामलकी–स्त्री., वनस्पति० तामलकी (ध. ३.८४)

म

मकर–पु., जलचरप्राणि०, मत्स्यः, मनुष्यं कृणाति हिनस्ति, मं विषं किरति वा इति मकरः वारिशयप्राणी(चसू. २७.४०)हिंस्रदंष्ट्रकः(सुसू.४६.११८-९; अहसू. ६.५३; असंउ. ४३.१)

मकरन्द–पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६) न., पद्मकेसरम् (ध. ४.१६५)

–**वास**–पु., वनस्पति० धूलीकदम्बः (रा. ९.१७३)

मकुष्टक–पु., धान्य० कलायभेदः (अहसू. ७.३२)

मकुष्ठ–पु., धान्य०वैदलभैदःकृमिकरोऽयम्(सुसू.४६.२७; असंसू. ७.२६)

मकुष्ठक–पु., धान्य० गुणाः–मधुरो ग्राही रूक्षः शीतलो रक्तपित्तज्वरादिषु शस्तः कृमिकरः कफपित्तहरः लघुः (चसू. २७.२७; सुसू. ४६.३०)

हिं.—मठ.

म.—मटकी.

गु.—मठ.

बं.—मुगानि.

(मकुष्ठका)–स्त्री., धान्य० गुणाः–कषाया मधुरा, लघुर्वातला, ग्राहिणी, रुच्या, कफपित्तघ्नी, रक्तपित्तज्वरदाहहरा (ध. ६.९२)

हिं.—माठ.

म.—रानमूग.

गु.—माठ.

बं.—भनमूग.

ता.—तुल्कापायरे.

मकूलक–पु., वनस्पति० दन्ती(ध.१.२२३)

मकेरुक–पु., पुरीषजः क्रिमिः (चसू. १९.४ (९); असंनि. १४.५७)

मक्कल्ल–पु., लक्षण० शूलोऽयं, प्रसूताया वायुरसृगारोध्य बस्तिशिरः प्रभृतिषु शूलं करोति (ड. सुनि. ८.६) चतुःषष्टिसूतिकारोगेष्वेकः (काखिल. ११.७-१४; असंशा. ३.३५) चिकित्सा–मक्कलरोगस्योपचरणम्, तच्च वीरतर्वादिसिद्धं जलम् (क्वाथः) ऊषकादिकल्कमिश्रितं सर्पिषा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा यथादोषं पाययेत् (सुशा.१०.२२)

–**संज्ञितविद्रधि**–पु., मक्कलशूलविशेषरोगात्पश्चात् कुक्षौ विद्रधिर्जायते (सुवि. ९.२७)

मक्षिका–स्त्री., कीट० (चइ. २.२१) सविषमक्षिका (चचि. २३.१५८) सा षड्विधा–कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिकेत्येवं षट्, ताभिर्दष्टस्य कण्डूशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थालिकाकषायीभ्यां कण्डूशोफादिसहिताः श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थालिका च प्राणहरे (सुक.८.३५; सुचि.२४.८२) नीलमक्षिका (ड. सुउ. २०.१३) गृहमक्षिका (सुउ. ४९.३१; असंसू. ७.२६०; अहसू. ७.१४) वनस्पति० लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५)

–**कान्त**–न., मक्षिकाप्रियम् (चचि.१९.९)

–**क्रान्त**–न., मक्षिकापरीतम् (चचि. १९.९)

–**दंश**–पु., प्रायेण मक्षिका नेत्रे दशन्ति, मक्षिकादंशः श्वयथुबहुलो दाहकण्डूमांश्च भवति (असंउ. ४३) (सुक. ८.५४-५५)

–**मल**–न., वनस्पति० सिक्थकम् (रा, १३.१७३)

–**विष्**–स्त्री., मक्षिकाविशेषस्य पुरीषम् छर्दिनिग्रहणार्थमुपयुक्तम् (चचि. २०.२९)

–**शकृत्**–न., मक्षिकापुरीषम् इदं; सिताचन्दनमधुयुतं छर्दिषु शमनार्थं लेहयेत् (सुउ. ४९.३१)

मक्षिकाश्रय–न., प्राणिज० सिक्थम् (ध. ३.११९)

मक्षिकोपसर्पण–न., मक्षिकाणामनुसरणम्, श्लेष्मजप्रमेहाणामुपद्रवः (सुनि. ६.१३)

मख–पु., यज्ञः (असंशा. १२.८)

मगध–पु., देश० प्राचीनः प्रसिद्धो देशविशेषः स कुरुक्षेत्रात् पूर्वदेशः (काखिल. २५.८)

(मगधा)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (सुउ. ५२.३४) कटुकद्रव्यस्कन्धे मगधा श्रेष्ठा (असंसू. १८.२८)

मगधा–स्त्री., (सुउ, ५२.३४)

–फल–न., वनस्पति० पिप्पली (सुउ. ४७.३८)
मगधोद्भवा–स्त्री., (सुउ. ११.१४)
(रा. ६.११०; र. २३.६४)
मङ्गल–न., देवतानमस्कारादिनिर्विघ्नकार्यसमाप्त्यर्थं यत् क्रियते तत् (चनि. ७.१६)
प्रशस्तौषधमणिधारणादि (सुसू. ६.२०)
अथर्ववेदे चिकित्सा (चसू. ३०.२१)
गीतादि (सुसू. १६.३; अहसू. १८.१३)
स्वस्तिकपूर्णकुम्भादि (ड. सुसू. १०.४)
मङ्गला)–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८०)
नीलदूर्वा (रा. ८.२२६)
–च्छाय–पु., प्लक्षः (रा. ११.१२६)
–प्रद–पु., भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४४)
मङ्गलाष्टशत–न., प्रस्थानगमनप्रवेशेषु दधिमधुघृतलाजपुष्पाऽक्षतोदुम्बराश्वत्थमुक्तामणिच्छत्रदूर्वाकुशाऽऽदर्शकन्याध्वजस्यन्दनाऽष्टापदाऽक्षनृपश्रीतरुभद्रपीठानि सस्यानि मत्स्या, हया हंसश्राघो वृषः केसरी दक्षिणावर्तशङ्खाऽब्जसिद्धार्थका रोचना स्वस्तिकस्तोरणं कीचका वेणवो वरुणमधुमदसिक्तगण्डगजस्तोयलम्बोऽम्बुदः पूर्णकुम्भो हरिद्राऽद्रिरिन्द्रः फलान्यार्द्रमांसं सितं चामरं गौः सवत्साऽङ्गना पुत्रिणी मानुषं वर्धमानं सहस्रं नराणां प्रयुक्तानि यानानि धन्वन्तरिर्वामनो ब्राह्मणो भूमिरभ्युद्गता सिद्धमन्नं वराहश्च तोयोत्थितस्त्रिनयनमधुसूदनस्कन्दपद्मासना लोकपालाः सुराः खं दिशोऽग्निः सरांसि स्रवन्त्यः समुद्रा मखा मारुतो ज्योतिषं धर्मशास्त्राणि तीर्थानि काव्यं धर्मार्थकामाऽश्रितं बालखिल्यादयो वेदवाक्यं निधिः कौस्तुभः काञ्चनं मणिभद्रः सुमेरुः प्रियङ्गुः प्रदीपो वचामोदकौ दितिरदितिरुन्धती बुद्धिः सावित्र्युमाऽऽकाशगङ्गा शची देवसेना सुधा शान्तिर्लक्ष्मीःसरस्वत्यपत्यक्षमा स्वस्तिशब्दो वषट्कार ॐकारपुण्याहधर्मक्रियाश्चैतदष्टोत्तरं मङ्गलानां शतं दर्शनात्स्पर्शनात्कीर्तनाच्चाऽशुभानि व्यपोह्याऽर्थसिद्धिं दिशन्त्युत्तमाम् (असंशा. १२.८; असंसू. ३.२३)
मङ्गल्य–पु., वि., मंगलाय हितम् (सुसू. ४५.६५)
पाण्डुवर्णः मसुरः (सुसू. २०.५)
वनस्पति० रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८३)
पिप्पलः (ध. ५.७८)
जलमधूकः (रा. ११.५९)
नारिकेलः (रा. ११.१०४)
कपित्थः (रा. ११.१५५)
जीवकः (रा. ५.१५४)
मसूरिका (रा. १६.१४९)
चन्दनम् (रा. १२.१)
वैदलभेदः (ड. सुसू. ४६.२७)
खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३)
भेषजद्रव्य० सिन्दूरम् (रा. १२.१६१)
(**मङ्गल्या**)–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७०)
जीवन्ती (रा. ३.१७७)
प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)
हरिद्रा (रा. ६.८०)
शमी (ध. ५.९५)
वचा (रा. ६.८)
गोरोचना (रा. १२.३३)
श्वेतवचा (रा. ६.१०)
अगरुभेदः (रा. १२.४५)
मङ्गल्यकघृत-न., घृत० विषमज्वरनाशनं सिद्धघृतम् (काखिल. ११.१६७-६८)
मज्जन्–पु., अस्थिविवरगतोऽतिस्निग्धधातुः (अहसू. १.१३; चचि. १५.१६; सुसू. १४.१०)
मज्जवहस्रोतांसि मज्ज्ञः स्थानं, मज्जवहस्रोतसामस्थीनि मूलं संधयश्च (चवि. ५.८) अस्थ्नो मज्जा जायते (चचि. १५.१६) मेदसोऽस्थिषु पूरणात् मज्जा जायते इत्यप्युक्तम् (चचि. १५.३२) पञ्चविंशतितमे दिने मज्जा प्रजायते (सुसू. १४.१०) अस्थ्नो मज्जोद्भवे पञ्चदिनान्यावश्यकानि (सुसू. १४.१०) अतिस्निग्धो गुरुश्चेति मज्ज्ञः स्वरूपम्। मज्जसारलक्षणम् – अकृशोत्तमबलः स्निग्धगम्भीरस्वरः सौभाग्योपपन्नो महानेत्रश्च (सुसू. ३५.१६) मज्ज्ञमानमेकोऽञ्जलिः (अहशा. ३०.८०) अस्थिपूरणं मज्ज्ञः श्रेष्ठ कर्म (अहसू. ११.४) मज्जास्नेहं बलं शुक्रपुष्टिमस्थ्नां पूरणं च करोति (सुसू. १५–५–१) केशाः मज्ज्ञः उपधातुः (शार्ङ्गधरः) अक्षित्वग्विशां स्नेहो मज्जमलः (अहशा. ३.६४) मज्जा वृद्धो नेत्रयोरङ्गानां च गौरवं कुर्यात् (अहसू. ११.११) मज्जनि क्षीणेऽस्थ्नां सौषिर्यं भ्रमादिश्च (अहसू. ११.१९) तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः विकाराः (सुसू. २४.९) मांसमज्जाऽस्थिस्नेहसंयुतं स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जक्षीणोऽभिकाङ्क्षति (ड. सुसू. १५.२९-३१)

स्थूलास्थिषु विशेषेण अभ्यन्तराश्रितो मज्जा (सुशा. ४.१३) यस्य फलस्य मज्जाऽस्ति तस्य फलस्य वीर्यमिव मज्ज्ञो वीर्यम् (सुसू. ४६.२०८) अस्थिगतधातुविशेषः, गुणाः–मधुरो बृंहणो वृष्यो बल्यश्च। तस्य शैत्योष्णे यथासत्वं बोद्धव्ये (चसू. २७.२९५)

(मज्ज)-परिपाक–पु., लक्षण० अस्थिमध्यस्थः मज्जापाकः (सुनि. ९.३४)

-मेह–पु., रोग० वातजोऽयम्, मज्जमिश्रं मज्जानं वा मेहति (असंनि. १०.२७; चनि. ४.३९)

-वाहिस्रोतस्–न., स्रोतो० उत्पेषात्यभिष्यन्दाभिघातप्रपीडनैर्विरुद्धानां सेवनेन दुष्यति (चवि. ५.१८; असंशा. ६.४३)

-सार–पु., मृद्वङ्गाः बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसंधयश्च मज्जसाराः ते दीर्घायुषो बलवन्तःश्रुतवित्तविज्ञानाऽपत्यसंमानभाजश्च भवन्ति (चवि. ८.१०८; सुसू. ३५.१६) द्र० 'मज्जन्'

मज्जार–पु., वनस्पति० तद्गुणाः– मधुरो धेनुदुग्धकरः (रापरि. ८.५२)

मज्जा–स्त्री., अस्थ्नः शुद्धस्नेहभागः (चशा. ७.१५) चतुर्षु स्नेहेष्वेकः (चसू. १.८६) फलमज्जा (चक. ८.७)

-ज–पु., वनस्पति० भूमिजः (रा. १२.१८९)

-सार–न., वनस्पति० जातीफलम् (रा. १२.६७)

मञ्जिपत्र–न., वनस्पति० सुरपर्णकम् (रापरि. १०.५०)

मञ्जरि–स्त्री., पुष्पशाखा (असंसू. १६.१८)

मञ्जरी–स्त्री., वनस्पति० सुरसा (रा. १०.७८)

-नम्र–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११६)

मञ्जारी–स्त्री., सार्धपादद्वयम् (र. २२.१२३)

मञ्जिष्ठ–न., रक्तवर्ण मूलम् (र. १०.९१)

(मञ्जिष्ठा)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा मधुरा तिक्ता कषाया स्वरवर्णकृत्। गुरुरुष्णा विषश्लेष्मशोथयोन्यक्षिकर्णरुक्। रक्तातीसारकुष्ठास्रवीसर्पव्रणमेहनुत् (भा. प्र.)

हिं.—मञ्जीठ.

म.—मंजिष्ठ.

गु.—मजीठ.

बं.—मंजिष्ठा.

ता.—मञ्जिहि.

रक्तवर्णा वनस्पतिः (र. ३.६६)

महाकषायवर्गे वर्ण्यादिगणेषु एकं द्रव्यम् (चसू. ४,१०)

लता, पित्तसंशमनवर्गे प्रोक्ता (सुसू. ३९.८) मूषिकविषहरा तज्जनितकर्णिकापातनी च (असंउ. ४६; असंसू. १५.३८)

-मेह–पु., पित्तनिमित्तः प्रमेहभेदः (चसू.१९.४; (९) (सुचि. ११.९)

लक्षणानि–अस्मिन् मञ्जिष्ठोदकसंकाशं भृशं विस्रं च पित्तस्य परिकोपात् प्रमेहति (चनि. ४.३३)

मञ्जिष्ठादिकषाय–पु., मञ्जिष्ठामुस्तकदेवदारुखदिरश्रेष्ठावचाबाकुचीपाठापर्पटाऽऽरग्वधकटुकीमधुयष्टीमूर्वाहरिद्रात्रायमाणाकिटिमारविडङ्गवासाऽमृतागुडूचीवत्सककाकोलीधन्वयासा इति मञ्जिष्ठाऽऽदिकषायगणः अयं कुष्ठघ्नः (र. २०.३१-३२)

मञ्जिष्ठादिसर्पिस्–न., घृतं० इदं योनिशूलं शुक्रदोषं च नाशयेत् (र. २५.८२-८४)

मञ्जिष्ठोदक–पु., लोहितवर्णसदृशः मञ्जिष्ठक्काथः (सुनि. ६.११)

मञ्जुका–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)

मञ्जूलीयक–पु., प्रतुदपक्षिः (असंसू. ७.७२-७५)

मञ्जूषमूषा–स्त्री., एषा मण्डूकमूषायाः अपरा सञ्ज्ञा (र. १०.३१)

मञ्जूषा–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६)

मणि–पु., रत्न० यस्य धारणेन भूतादीनामुपशमो भवति (चनि. ७.१७; सुसू. ४५.१७) मरकतचन्द्रकान्तपद्मरागादि (अ. चवि. ६.१८) सर्पफणोद्भतो मणिः (इन्दुः;असंउ.४२;अहसू.१३.५)

अवयव० लिङ्गस्याऽग्रभागः (चचि. ३०.१७५; सुउ. ५८.१५)

-कुहिम–न., मणियुक्ता भूः (अहसू. ३.२४)

-चूर्ण–न., स्फाटिकादिचूर्णम्, व्रणस्य सवर्णप्रयोगे उपयुक्तम् (सुचि. १.१००)

-च्छिद्रा–स्त्री., वनस्पति० मेदा (ध. १.१२७)

-तुण्डिक–पु., जलचरप्राणिविशेषः (असंसू. ७.८१-८३)

-पर्पटी–स्त्री., भैषज्य० नासिकारोगविनाशकरी (र. २४.२६-३०)

-बन्ध–पु., शारीर० संधिः (सुचि.३.३३) मर्मविशेषः (असंशा. ७.६) अस्मिन् विद्धे कुण्ठता (सुशा. ६.२४) पाणिमूलम् (सुचि. ५.४)

-बन्धकूर्परान्तर–न., प्रमाणम्, षोडशाङ्गुलम्, दीर्घायुःपुरुषलक्षणम् (सुसू. ३५.१२)

-बीज-पु., फल० दाडिमः (रा. ११.९४)
-भद्र-पु., देवयोनि० यज्ञः (असंशा. १२.८)
-भाजन-न., रत्नखचितं पात्रम्, शिशिरवारिपूर्णं गुल्मदेशोपरि धारणार्थम् (असंचि. १६; सुउ. ४२.१०५)
-मन्थ-न., भैषज्य० सैन्धवम् (ध. २.२५;असंउ.८)
-मयपात्र-न., (परिव०) रत्नखचितं पात्रम् (सुसू. ४५.१३)
-रत्न-न., पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरकमुक्ता-विद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादि (असंसू. १२.२१)
-राग-न., खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४८)
-रागकर-न., खनिज० हिङ्गुलम् (ध. ६.४०)
-शिला-स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. १२.९९)
मणिक-पु., गोलकः भाण्डविशेषो वर्तुलाकारः (चसू. १५.७)
भुजास्थि (चशा. ७.६)
करबाहुसन्धिः (चइ. ३.५)
मण्ड-पु., आहारद्रव्य० सिक्थैर्विरहितो मण्डः (सुसू. ४६.३४४) मस्तुकः (सुसू. ४५.९०) अग्निदीपनो वातानुलोमनः स्वेदजननः स्रोतोमृदुत्व-कारी लङ्घितविरिक्तकृषितानां प्राणधारणश्च (चसू. २७.२५३) स चतुर्विधः, तद्यथा-मण्डः पेया विलेपी यवागूश्च (सुसू. ४६.३४४; अहसू. ६.२६-२७; असंसू. ७.४०-४१)
दधिमण्डः (चसू. २७.२२८)
(मण्डा)-स्त्री., सुरा (ध. ६.२५५)
मण्डक-पु., व्रीहि० (रा. १६.९७)
आहारद्रव्य० गोधूमपिष्टकृतं पक्वान्नम् (र. २७.९४-९६)
मण्डन-पु., अतिमुक्तः (ध. ५.१५३)
मण्डपारोह-पु., वनस्पति० मुखालुः (रा. परि. ७.२२)
मण्डपी-स्त्री., वनस्पति० निष्पावी (रा परि. ७.९९)
क्षुद्रोपोदकी (रापरि. ७.७६)
मण्डल-पु., वेष्टनाकारव्रणबन्धः बाहुपार्श्वोदरोरुपृष्ठादिके वृत्तेऽङ्गे मण्डलबन्धो विधेयः (सुसू. १८.१७-१८; असंसू. ३८.४२; अहसू. २९.६०)
न., वर्तुलं, चक्राकृतिः (चसू. १९.४)
रोग० सप्तकुष्ठेष्वेकम् (चसू.१९.४ (२) कफा-धिक्यात् मण्डलाकारं कुष्ठं भवति । तत्र श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलमन्योन्यसंसक्तं चेति मण्डलस्वरूपं तच्च कृच्छ्रसाध्यम् (चचि. ७.१६; चसू. १९.४ (२) लेख्यरोगोऽयम् (सुसू. २५.९-१०)
शारीर० वर्तुलाकारो नेत्रभागः, पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्ण-दृष्टीनां पञ्च मण्डलानि नेत्रे बाह्यतो मध्यपर्यन्तं क्रमेण भवन्ति (सुउ. १.१५)
संधि० मण्डलाकृतिसंधिः (सुशा. ५.२७) कण्ठ-नेत्रहृदयवृक्कक्लोमनाडीषु मण्डलसंज्ञाः (असंशा. ५.७७)
काल० द्वाचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशद्वा दिनानि (र. १४.५२)
(मण्डला)-स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगः विपुलोत्सन्ना सरागा पिटिकाऽऽचिता पिटिका (असंउ. ३६)
(मण्डली)-स्त्री., वनस्पति० स्वादुपत्रफला (रा. ७.७६)
वनस्पति० गुडूची (ध. १.३) वटः (रा. ११.११३)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० क्रूरः (रा. ५.४०६)
-पर्णिका-स्त्री., वनस्पति० शिंशपा (इन्दु.असंउ. ४४)
-पुच्छक-पु., कीट० प्राणनाशनः (असंउ. ४३) तेन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पवद्भवति तास्ताश्च तीव्रा वेदना भवन्ति । तथा सांनिपातिका रोगा भवन्ति, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीताऽसितारुणः क्षाराग्निदग्धवच्च (सुक. ८.१६-१८)
मण्डलाग्र-न., शस्त्र. अतन्मुखसंज्ञितमग्रेऽर्धचन्द्राकारं शस्त्रम् (सुचि. १५.१२) वर्त्मरोगे छेदनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १२; अहसू. २६.५; असंसू. ३४. २४)
मण्डलिन्-वि., सर्प० अस्य विषं पित्तप्रकोपणमित्याहुः (चचि. २३. १२४) मण्डलयुक्तः सर्पः (चचि.२३. १२५) मण्डलिनः द्वाविंशतिर्ज्ञेयाः -आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डल-श्चित्रमण्डलः, पृषतो, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको, गोनसो, वृद्धगोनसः, पनसो, महापनसो, वेणु-पत्रकः, शिग्रुकोमदनः, पलिन्दरः, पिङ्गलः, पुष्प० पाण्डुः, षडङ्गोऽग्निको बभ्रुः, कषायः, कलुषः पारावतो, हस्तभरणश्चित्रक एणीपदः (सुक. ४. ३४)
(मण्डलि)-दंश-पु; मण्डलिसर्पस्य दंशः (सुक. ५.७)
-विष-न., तल्लक्षणम्-त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषा परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणिता-गमनमूर्ध्वमधश्च मासानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति (सुक. ४:३७)

मण्डितुण्डिका–स्त्री., पक्षि० सुश्रुते प्लववर्गे डल्हणेन निर्दिष्टः पक्षि० (सुसू. ४६.१०५)

मण्डूक–पु., जलचरप्राणि० अस्य दंशाद्विषबाधा भवति। मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम् छर्दिर्निद्रा च (चचि. २३.१५४; ध. ६.४८३) भेकः, स चाष्टविधः—कृष्णः, सारः, कुहको, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्च (सुक. ८.३१; माविषरोग. ५१; र. ५.२१)

न., चतुर्विधाभ्रकाणामन्यतमम् (र. २.५)

(मण्डूकी)–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (र. २२.४४-४८; सुउ. २१.४५; रा. ५.१४८)

आदित्यभक्ता (ध. ४.९८)

मण्डूकपर्णी (र. २७.९७-१०१)

भैषज्य० मुक्तानां शुक्तिः नेत्ररोगे लेखनार्थमुपयुक्ता (सुउ. १५.२५-२८)

–पर्ण–पु., वनस्पति० पृथुशिम्बः (रा. ९.१४२)

(–पर्णी)–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी,गुणाः–कषाया पित्ते हिता स्वादुपाकरसा हिमा, लघ्वी च (सुसू. ४६.२६२) क्षतक्षीणे उपयोज्या (चचि. ११.९२)

हिं.—ब्रह्ममाण्डूकी.

म.—ब्राह्मी.

गु.—कडब्राह्मि.

बं—थुलकुडि.

त.—वल्लारै.

शाक० (चसू. २७.९५; र. ११.५२-५७)

आदित्यभक्ता (ध. ४.९८)

मञ्जिष्ठा (रा. ६.१६ अहसू. ६.७६; असंसू. १५.४९)

वयःस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)

–पर्ण्यादिगण–पु., शाकगण० (चसू. २७.९५-९७) द्र० 'वर्ग'

–पर्ण्यादिवर्ग–पु., द्रव्यगण० तिक्तरसप्रायाणि शाकानि, मण्डूकपर्णीसप्तलासुनिषण्णकसुवर्चलापिप्पलीगुडूचीगोजिह्वाकाकमाचीप्रपुन्नाडाऽवल्गुजसतीनबृहतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताककारवेल्लककट्वीकाकेवुकोरुबूकपर्पटककिराततिक्तकर्कोटकारिष्टकोशातकीवेत्रकरीराऽऽटरूषकाऽर्कपुष्पीप्रभृतीनि। रक्तपित्तहरण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च, कुष्ठमेहज्वरश्वासकासाऽरुचिहराणि च (सुसू. ४६.२६२-६३)

–मातृ–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४८)

–मूषा–स्त्री., मूषाविशेषः (र. १०.३१)

मण्डूकोत्पत्ति–स्त्री., मण्डूकानामुत्पत्तिः, तद्यथा–प्रावृट्काले वर्षमाणे महोरगः शुक्रं सृजेत्, ततः शरत्प्रतप्तायां भूमौ जलस्य मण्डो भवति, तस्मिन् मण्डोदके जाता मण्डूकाः, तेन संज्ञिता मण्डूका इति (ड. सुक. ८.३१)

मण्डूर–न., लोहकिट्टम् (चचि. १६.७२) गुणाः– मधुरकटूष्णं, कृमिवातनुत्, पक्तिशूलमरुच्छूलमेहगुल्मार्तिशोफनुत् (ध. ६.३५) तस्य निर्माणविधिः–प्रथमतो गोमूत्रेण त्रिफला क्वथनीया। ततस्तत्क्वाथे सम्यक्परितप्तं लोहकिट्टं शनैस्तावत्सेचयेत्, यावत् स्वयं जीर्णतामाप्नोति। पश्चात्तच्चूर्णं पेषणयोग्यं जायते। एतत् त्रिफलाक्वाथसिञ्चितं लोहकिट्टं मण्डूरनाम्ना समाख्यातम् (र. ५.१५९) इदं पाण्डुरोगशमनम् (सुउ. ४४.२३)

–वटक–पु., योग० पाण्डुरोगे उपयुक्तः, गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् गृहीत्वा पिप्पलीं द्विगुणां गृहीत्वा च गुटिकाः च कृत्वा पाण्डुरोगिणे दद्यात्। त्रिफलात्रिकटुमुस्तविडङ्गचवकचित्रकदार्वीत्वङ्माक्षिकग्रन्थिकदेवदारूणां पृथक्पृथग्भागानां द्विपलिकानां चूर्णं कुर्यात्। तदनन्तरं मण्डूरं गृहीत्वा शुद्धमञ्जनसन्निभं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणे गोमूत्रे पक्त्वा तस्मिन् तच्चूर्णं प्रक्षिपेत्। अनन्तरमुदुम्बरसमान् वटकान् भोजने उपयुञ्जीत। एते वटकाः पाण्डुरोगिणां प्राणदास्तथा कुष्ठाऽजीर्णशोथोरुस्तम्भाऽर्शःकामलामेहप्लीहादिरोगेषु चोपयुज्यन्ते (चचि. १६.७२-७७)

मतङ्ग–पु., ऋषि० (काकरेवतीक. ८०) अनेन कनीयसा कश्यपपुत्रेण मातङ्गी नाम विद्या पितामहादेवात् प्राप्ता।

मति-स्त्री., बुद्धिः (सूसू. २.३)

–दा–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५) सिगृडी (रापरि. ४.३१)

–मत्–वि., ऊहापोहवित् (ड. सुउ. ६३.५)

मत्कुण–पु., कीट० अस्य रुधिरं वज्रद्रावणाख्यमूषालेपनार्थमुपयुज्यते (र. १०.२१-२२; असंउ. १)

मत्त–वि., मदयुक्तः (चसि. २१.४)

पु., वनस्पति० धत्तूरः (र. २६.८-१०; असंसू. ३८.१३; अहसू. २९.१५)

(मत्ता)–स्त्री., सुरा (रा. १४.३०१)

मत्ताक्ष–पु., पक्षि० कोकिलः मत्तस्येव रक्ते अक्षिणी यस्य सः च (चसि. १२.१९ (१))

मत्सरिन्–वि., परगुणासहनशीलः (सुशा. ४.६४)

मत्स्य -पु., जलचरप्राणि० मीनः, अस्य दंशेन विषबाधा भवति (चचि. २३.१५५) गुणाः–स्निग्धो वृष्यो बहुदोषो गुरूष्णो मधुरो बल्यो बृंहणः पवननाशनश्च (चसू. २७.८२; सुसू. ४६.११८-१२५)

हिं.—मछली.

म.—मासा.

बं.—माछ.

ता.—मीन्.

(मत्स्या)-स्त्री., वनस्पति० पोतकी (धपरि. ४.५)

–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० जलपिप्पली (ध. ४.६४) महाराष्ट्री (रापरि. ४.१२)

–ताल–पु., मत्स्यशकलः (सुसू. ७.१२; अहसू. २५.१०)

–निस्तलनस्नेह–पु., मत्स्या भृज्यन्ते येन स्नेहेन सः, तत्र साधिताः पिप्पलीस्त्यजेत् (अहसू. ७.३७)

–निस्तालन–न., पात्र० मत्स्या निस्ताल्यन्ते पच्यन्ते यस्मिन् तत् पात्रमथवा निस्तालनं नाम मत्स्यस्य वसा (चसू. २६.८४)

–पचन–न., पात्र० मत्स्याः पच्यन्ते यस्मिन् भाण्डे तत् (अहसू. ७.३६; असंसू. ९.१०)

–परिपचन–न., मत्स्याः पच्यन्ते यस्मिन् भाण्डे तत् मत्स्यपरिपचनं तत्र, सिद्धां काकमाचीं नाद्यात्, संस्कारविरुद्धत्वात् (सुसू. २०.१४)

–पित्ता–स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३७)

–मेदिनी–स्त्री., वनस्पति० कटुका (रा. ६.५५)

–मांस–न., मत्स्यानां मांसम् मांसमेतद्भिष्मा निषिद्धम्, भक्षणाच्च सा चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा सुतं सूते (असंशा. २.६१ (५८))

–मांसनित्या–स्त्री., मत्स्यमांसस्य नित्यसेवनं कुर्वाणा सा स्तब्धाक्षमपत्यं जनयति (चशा. ८.२१)

–शकला–स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३७)

–शकलोपम–वि., मत्स्यत्वक्सदृशम् (चचि. ७.२१)

–सत्त्व–पु., अनवस्थित्यादिभिर्मत्स्यसत्त्वोपलक्षितैरुपेतः पुरुषः (सुशा. ४.९६)

–सात्म्य–वि., अभ्यासान्मत्स्यसात्म्यतां गतः (चचि. ३०.३१७)

मत्स्यक–स्त्री., ह्रस्वमत्स्यः (चशा. ८.१९)

मत्स्यण्डिका-स्त्री., गुडस्य संस्कारः, द्रवखण्डः गुणाः–शीताः स्निग्धा गुरुतरा मधुरतरा वृष्याः रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च (सुसू. ४५.१६२; चसू. २७.२४०) शर्कराभेदः, मन्दं स्यन्दमानः पक्व इक्षुरसः (भा. प्र.) भेदिनी, बल्या, लघ्वी च (र. १७.४८-५०; ध. २.१०४; असंचि. ४; अहसू. ५.४९)

मत्स्याक्षक–पु., वनस्पति० ब्राह्मी (सुशा. १०.६८-७०)

(मत्स्याक्षिका)–स्त्री., मीननेत्रसमाकारा तिक्तसूक्ष्मपत्रा भूमौ किञ्चित्प्रसरणशीलाऽतिक्षुद्रक्षुपा पल्वलसंनिहितदेश उत्पद्यते (र. २.१९)
वनस्पति० गण्डदूर्वा (ध. ४.१४५)

मत्स्याक्षी–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रापरि. ५.४१)
मीनाक्षी (र. ११.५२-५७)
गडण्दूर्वा-(रा. ८.३४) गुणाः–तिक्ता कषाया स्वाद्वी कटुविपाकिनी लघुः शीता ग्राहिणी कुष्ठपित्तकफरक्तहारिणी च (र. १९.१०३-१०६)
काकमाची (रा. ४.३६)

मत्स्याख्यक–पु., वनस्पति० ऐन्द्रीभेदः (चचि. १.(३).२४)

मत्स्याण्ड–न., मत्स्यस्याण्डम् (सुचि. १८.२५)

मत्स्याण्डजाल–न., मत्स्याण्डजालनिभमिति उपमार्थे गृहीतम् (असंउ. ३५) शारीरविकृतघटक० मत्स्याण्डजालनिभं भेदः

मत्स्यादनी–स्त्री., वनस्पति० जलपिप्पली (ध. ४.६४)
महाराष्ट्री (रा. परि. ४.१२)

मत्स्यान्त्रशब्द–पु., मत्स्यान्त्रमिति नाम कृत्वा अर्थात् तच्छब्दापदेशेन गण्डूपदानि देयानि (चचि. ८.१५१)

मत्स्याशिविहङ्ग–पु., अस्य मांसं पित्तकरम् (सुसू. ४६.१३५)

मत्स्येन्द्रमातृ–स्त्री., वनस्पति० अग्निदमनी (रा. ४.४१)

मथन–न., मन्थनवद् वेदना (असंनि. २०.९)

मथित–न., आहारद्रव्य० तक्रम् (ध. ६.२१२)
दधि (ध. ६.१८९) निर्जलतक्रम् (र. १७.१२१)
मन्थनवद्वेदना (चनि. १.२१)

मथितान्न–न., तक्रौदनः (र. १६.११८)
वि., बलीयसा केनचिद् विलोडितः (सुचि. २.७७)

मथ्य–न., मन्थनकाष्ठयन्त्रकम् (चक्र. चसू. ११.२४)

मद–पु,, मत्तता (चसू. १७.८) पूगफलेनेव मत्तता (सुउ. ४५.९)
विषमद्यशोणितोत्थो विकारः (सुसू. ११.९)
उन्मत्तावस्था विषरुधिरमद्यजाख्यो मदाः (सुसू. ४५.१०७)

शोणितजव्याधिः, तत्संग्राप्तिः–यदा कुपिता मला रक्तरससंज्ञावहानि च, स्रोतांसि प्रतिहत्याऽवतिष्ठन्ते तदा मलिनाऽऽहारस्य रजोमोहाऽऽवृतस्य नरस्य मदाऽऽख्यो व्याधिर्जायते (चसू. २४.२५-२७) संख्या–पृथक्दोषैः सर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि मदः सप्तधा जायते (अहनि. ६.२६)

वातजे पुरुषः– सक्तानल्पद्रुताभाषश्चलः स्खलितचेष्टितः रूक्षश्यावारुणतनुर्वातोद्भवे मदे भवति। पित्तजे पुरुषः पित्तेन क्रोधनः रक्तपीताभः कलहप्रियो भवति। कफात् स्वल्पसंबद्धवाक् पाण्डुः ध्यानपरोऽलसो भवति। संनिपातजः सर्वदोषलक्षणो भवति। रक्तात् स्तब्धाङ्गदृष्टिता पित्तलिङ्गानि भवन्ति मद्येन विकृतेहास्वराङ्गता भवति। विषेण कम्पोऽतिनिद्रा च भवति। विषजो मदः सर्वमदेभ्योऽधिको भवति (अहनि. ६.२६-२९) मदेषु वातपित्तघ्नी चिकित्सा कार्या (अहचि. ७.१००)

वनस्पति० महानिम्बः (रा. ९.४६)

हस्तिमदः (रापरि. ६.२०)

कस्तूरिका (रा. १२.४७)

–करी–स्त्री., वनस्पति० सुरा (ध. ६.२५५)

–कारिणी–स्त्री., वनस्पति० यवानी (ध. २.९४)

–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० अतसी (रा. १६.१८७)

सुरा (रा.१४.३०२)

–घ्नी–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रापरि. ५.२४)

–द्रु–पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)

–पातन–न., कामशान्तिः (र. २७.१३)

–मत्त–पु., वनस्पति० अङ्गारवल्ली (रा. ९.१८३)

–मादिनी–स्त्री., वनस्पति० गणिकारी (रापरि. १०.३१)

–शाक–पु., वनस्पति० उपोदकी (रापरि. ७.७४)

–शौण्ड–न., वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५)

–हस्तिनिका–स्त्री., वनस्पति० उदकीर्यः (ध. ५.१०९)

–हस्तिनी–स्त्री., वनस्पति० अङ्गारवल्ली (रा. ९.१८१)

मदन–न., वनस्पती० वमने उपयुक्तं भेषजम् (चसू. २.७-८) गुणाः–कटुः, तिक्तमुष्णं कफवातघ्नं व्रणज्वरप्रतिश्यायगुल्मविद्रधिशोफहरं च (ध.१.१६८) अस्य फलं गलगण्डरोगे सुराम्लपिष्टैः असकृल्लेपार्थमुपयुज्यते (सुचि. १८.४५)

हिं.—मेन्दफल.

म.—गेळा, गेळफळ.

गु.—मींढोल.

बं.—मयनाफल.

ता.—म्रङ्ग.

वनस्पति० आस्थापनोपगगणे एकं द्रव्यम्, अस्य फलमुपयुज्यते (चसू. ४.१३; असंसू. १४.३)

पु., पिण्डीतकः (सुसू. ३८.२०-२१) शुक्लकृष्णपीतपुष्पभेदात्स त्रिविधः तत्र फलं ग्राह्यम् (सुसू. ३९.३; अहसू. १५.१-३)

सिक्थम् (असंसू. ७.२१९; र. ३.१०६-१०७)

वनस्पति० बकुल (रा १०.२६३)

अङ्कोट (रा. ९.३८३)

न., वनस्पति० दमनकः धत्तूरः (र. २७.१२६-२७)

(मदनी)–स्त्री., वनस्पति० कस्तूरिका (ध. ३.२८)

सुरा (रा. १४.३०२)

अतिमुक्तः (रा. १०.२६०)

–कल्प–पु., अध्यायसंज्ञा० मदनकल्पविषयकोऽध्यायः (चक. १.१)

–कामदेव–पु., पारदगन्धकौ समभागिकौ त्रिकटुक्काथेन संमर्द्य गोलं कृत्वा भूकूष्माण्डान्तरवस्थितं तेनैव पिधाय द्वयङ्गुलमितं माषपिष्टया लेपयेत् घृते च पाचयेत् । ततस्तस्मादाहृत्य पलसंमिते गोलके तुलस्याश्चूर्णं पलद्वयं, विजया–शतावरी-पिप्पलीकपिकच्छूफलतिलानां चूर्णं प्रत्येकं पलं, यवचूर्णं पञ्चपलं कदलीफलानि पञ्चपलानि, मधुयष्टी पलद्वयं, वंशलोचनं च द्विपलिकं संमिश्र्य महाबलानागबलाद्राक्षापिप्पलीक्ष्वामलकीद्रावैः सप्तसप्तधा भावयेद्दन्तपात्रे च निवेशयेत्, अयं मदनकामदेवरस आर्तवदोषं नाशयेत्, वीर्यं वर्धयेत्, ध्वजभङ्गभयमपनयेदिति उत्तमं वाजीकरणं ज्ञेयम् (र. २७.५२-५८)

–कोद्रव–पु., धान्य० मदोत्पादकाः कोद्रवाः (सुचि. १७.३७)

–तण्डुल–पु., मदनफलशस्यम् (चक्र. चचि. १४.५४)

–पुष्प–न., मदनफलम् (सुसू. ४३.३)

–फल–न., फल० मदनवृक्षस्य फलम् (चसू. २५.४०; र. १२.११९-२०; सुसू. ४३.३)

–फलमज्जन्–पु., मदनफलमध्यस्थ स्निग्धो भागः (ड. सुसू.४३.३)

–बीज–न., मदनस्य बीजभक्षणहेतुको मोहः स्यात्, तत्र (१) शीतपयः पिबेत् (२) शिशिरं गुडोदकं पिबेत् (काक. भोजनकल्प)

–मञ्जरी–स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिनी (ध. परि. ३.२२)

–मोदक–पु., भैषज्य० अयं वातश्लेष्मकासशूलवली-पलिताऽऽमवातसंग्रहग्रहणीनाशनः अत्यन्तं वृष्यो-ऽयम् (र. २७.१०६-११२)

–वलय–न., कामवर्धनं भूषणं रत्यर्थमुपयोगि कटकं, यद्रतिसमये हस्त उपस्थे वा धार्यते कामवर्धनार्थम् (र. ११.११०-११)

–संजीवन–पु., पारदादियोगः सर्वव्याधिहरः (र. २७.९७-१०५)

–सुन्दररस–पु., पारदयोग० अयं वृष्यत्वमापादयति (र. २७.३१)

मदनक–पु., मदनफलम् (असंउ. ४०)
पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७)
न., सिक्थकम् (ध. ३.११९)

मदनाग्रज–पु., वनस्पति० कोद्रवः (ध. ६.१३७)

मदनायुध–पु., वनस्पति० कामवृद्धिः (रापरि. ४.५१)

मदनाह्व–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३२)

मदनीयहेतु–पु., धातुकी (अ.,) धातकी (हे.) (अहसू. १५.३७)

मदनीया–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४)

मदनेच्छाफल–पु., चक्रलताम्रः (रा. ११.१२)

मदनोद्भवा–स्त्री., मधुशर्करा (ध. २.१०६)

मदनोन्मदरस–पु., पारदयोग० अयं मदनोज्वलनः नाम कामोद्दीपनः (र. २७.३४; ३४-३६)

मदयन–(परिव०) न., मनोभ्रमणम् (सुउ. ६२.३)

मदयन्तिका–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (सुक. १.६५) मेहंदीति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति (सुचि. २५.४३) गुणाः– वान्ति-कृमिकुष्ठकफनाशिनी कटूष्णा नेत्रमुखरोगान्विष-व्रणाँश्चापहरति (र. २४.९५; असंसू. ८.४०; -चचि. ८.१२९)

हिं.—मेहंदी.
म.—मेंदी.
गु.—मेदी.
बं.—मेदी.
ता.—ऐवनं.

मदात्यय–पु., रोग०मद्यपानजो मदः, मद्यं लघूष्णतीक्ष्ण-सूक्ष्माम्लव्यवाय्वाशुगं रूक्षं विकाशि विशदं दशगुणं स्मृतम् (चचि. २४.३०) मद्यं हृदयमाविश्य दशभिः स्वगुणैरोजसो दश गुणान् संक्षोभ्य चेतो-विक्रियां नयति (चचि. २४.२९) हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखमिति चित्रा राजसतामसा विकारा यथासत्त्वं भवन्ति मद्यस्याऽतिसेवनान्मोहनिद्रावसाना जायन्ते स मद्यविभ्रमो "मद" इत्यभिधीयते, मद्यस्य प्रथममदः प्रहर्षणः पानान्नगुणदर्शकः प्रीतिकरः कथावाद्यगीतप्रहासानां प्रवर्तकः सुखनिद्राप्रबोधश्च स न बुद्धिस्मृतिहरो न चाऽक्षमताकरः एष सुखदो भवति (चचि. २४.४२-४३) मध्यमे मदे तु स्मृतिर्मोहो वाग-व्यक्ता च मुहुर्मुहुः सज्जति । तथैव संबद्धा-ऽसंबद्धवचनत्वं घूर्णनं स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना सविपर्यया; एतान्यपि मध्यममदलक्षणानि (चचि. २४.४४-४५) तृतीयं मदं प्राप्तः पुरुषः मदमोहाऽऽवृतमना भग्नवृक्ष इव निष्क्रियो भवति । जीवन्नपि मृतैः समः सः । स रमणीयान् विषयान् सुहृज्जनं यदर्थं मद्यं पीयते तां रतिं च न विन्दति। सुखं दुःखं कार्याऽकार्यं लोके यच्च हिताऽहितं तदपि स न जानाति। स सर्वभूतानां दूष्यो निन्द्योऽग्राह्यश्च । स व्यसनित्वादुत्तरकाले व्याधि-मश्नुते (चचि. २४.४६-५१) अतिकर्शितो रूक्षा ऽल्पप्रमिताशी स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिः रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च पिबति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययं करोति (चचि. २४.८९-९०) बहुप्रलापस्य हिक्काश्वास-शिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैर्वातप्रायं मदात्ययं विद्यात् (चचि. २४.९१) अभ्यातपप्रियोऽम्लोष्णतीक्ष्णभोजी क्रोधनो यस्तीक्ष्णोष्णमम्लं मद्यं चातिमात्रं निषेवते तस्य वातोल्बणस्य पित्ताद्विशेषेण मदात्यय उप-जायते स आशु प्रशमं याति हन्ति वा । हरित-वर्णस्य तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः पित्तप्रायं मदात्ययं विद्यात् (चचि. २४.९२.९४) मधुरस्निग्धगुर्वाशी अव्यायामदिवास्वप्नशय्या-सनसुखे रतश्च यस्तरुणं मधुरप्रायं गौडपैष्टिकं वा मद्यं पिबति, स शीघ्रं कफप्रायं मदात्ययमधिगच्छति शीतपरीतस्य छर्दिरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः कफप्रायं मदात्ययं विद्यात् (चचि. २४-९५-९७) सान्निपातमदलक्षणानि–बलवच्छरीरदुःखं, संमोहो, हृदयव्यथाऽरुचिः, प्रतता तृष्णा, ज्वरः शीतोष्णे

शिरःपार्श्वास्थिसंधीनां विद्युत्तुल्या वेदनाऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रम उरोविबन्धः कासो हिक्का श्वासः प्रजागरः शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहश्छर्द्यतीसारहृल्लासा भ्रमः प्रलापोऽसतां रूपाणां दर्शनं तृणभस्मलतापर्ण पांशुभिश्चाऽवपूरणं विहङ्गैः प्रधर्षणं व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां च दर्शनानि। एतानि सर्वाणि मदात्ययस्य रूपाणि लक्षयेत् (चचि. २४.१०१-१०६) चिकित्सा–मद्यमेवाल्पप्रमाणेन दीयते (चचि. २४.११३) यद्यच्छीतस्पर्शं शीतवीर्यं तत्तत् पित्तशान्त्यर्थं दद्यात् (चचि. २४.१५६) वातशान्त्यर्थं पैष्टिकमद्यलवणं दद्यात् उल्लेखनोपवासाभ्यां मदात्ययं जयेत् (चचि. २४.१५७)

मदाढ्य–पु., फल० आम्रः (रा. ११.२)

मदातुर–पु., मदरोगी (चसू. १३.५५)

मदापह–वि., मदो विषमद्यशोणितोत्थो विकारः
तन्नाशकः (सुसू. ४६.२५९)
वृक्ष० तालः (रा. रा. ९.९२)
वनस्पति० कदम्बः (रा. ९.१७०)

मदार्त–वि., मदयुक्तः (अहसू. २.७)

मदोदय–पु., मदोत्पत्तिः (अहसू. ७.१६)

मदोद्भव–पु., फल० आम्रः (ध. ५.१)

मदोत्कटा–स्त्री., वनस्पति० अतसी (रा. १६.१८७)
सुरा (रा. १४. ३०४)

मदिरा–स्त्री., आसुत० सुरामण्डः, हिक्काश्वासप्रतिश्यायकासवर्चोग्रहारुचिवम्यानाहविबन्धेषु हिता, वातघ्नी च (चसू. २७.१८०; सुचि. २६.८-९)
पिष्टसुरा (सुउ. १७.१९-२१)
सुरा (ध. ६.२५५)

–सख–पु., फल० आम्रः (ध. ५.१)

मदिराग्र–न., मदिराया उपर्यच्छो भागः (सुउ. १७.४१)

मद्गु–पु., जलचरपक्षि० जलकाकः (चक. १.८; सुसू. ४६.१०५-१०६; अहसू. ६.५२)
मालुयासर्पः (सुसू. ४६.७६)

–मूषिक–पु., मालुयासर्पः (सुसू. ४६.७६)
पर्णमृगः, काकुलीमृगः (सुसू. ४६.७६)

मद्गुर–पु, पक्षि. मद्गुः (र. २८.७७)

मद्गुलि–पु. कीट० प्राणनाशनः (असंउ.४३)

मद्य–न., आसुत० द्राक्षादिसन्धानं मद्यमुच्यते। पैष्टिकं माद्वीकं गौडं चेति त्रिविधम् (सुसू. ४५.१७०-७१)
मद्यस्वरूपम्–लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च रूक्षं विकाशि विशदमिति मद्यस्य दशगुणाः (चचि. २४.३०; सुउ. ४७.३) मद्यगुणाः–हृद्यं दीपनं रोचनं स्वरवर्णप्रसादनं प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहं स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनमतिनिद्राणां बोधनं विबद्धानां विबन्धनुत् वधबन्धपरिक्लेशदुःखानामबोधनं मद्योत्थानां रोगाणां प्रबाधकं च (चचि. २४.६४) बलिनः कृताहारा महाशनाः स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्या मेदःकफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयो मद्यपकुलोत्पन्ना इत्येतेषां मद्यमबाधकं भवति (असंनि. ६.१३) सर्वं मद्यं पित्तकरमम्लं रोचनं दीपनं भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनं पाके लघूष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनं विकासि सृष्टविण्मूत्रं च (सुसू. ४५.१७०-७१) नवं मद्यं गुरु दोषकोपनं च, जीर्णं मद्यं स्रोतसां शोधनं दीपनं लघु रोचनं हर्षणं प्रीणनं भयशोकश्रमापहं प्रागल्भ्यवीर्यप्रतिभातुष्टिपुष्टिबलप्रदं च (चसू. २७.१९३-९५) चिरस्थितं मद्यं जातरसं दीपनं कफवातजित् रुच्यं प्रसन्नं सुरभिमदावहं च (सुसू. ४५.२०३-२०४) सूतासु दुष्प्रजातासु योनिभ्रंशेऽतिमैथुने, बालानां दन्तजन्मनि, पिपासया पीडितेषु, तालुकण्ठौष्ठशोषे रोदितेऽतिप्रजागरे वातश्लेष्माऽऽत्मके व्याधौ मद्यं हितम् (काचि पानात्यय.) सौमनस्यजननानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) मांसोचितानां मद्यमनुपानार्थं शस्तम् (चसू. २७.३२४)
मद्यनिषेधः–सर्पविषे मद्यमहितकरम् (सुक. ५.१८) व्रणिनामहितम् (सुसू. १९.१९)
मद्यस्य विकारकर्तृत्वं क्रुद्धभीतपिपासितशोकाऽभितप्तबुभुक्षितव्यायामभाराऽध्वपरिक्षतवेगरोधाऽभिहताऽत्यम्लभक्ष्याऽवततोदराऽजीर्णभुक्ताऽबलोष्णाभितप्तेत्यादिभिः सेव्यमानं मद्यं विविधान् विकारान् करोति (सुउ. ४७.१५-१६; अहसू. ५.६२-६४; र. १८.१२६; सुउ. ४७.३)

–कर्मन्–पु., मद्यमौष्ण्याच्छीतोपचारं हन्ति, तैक्ष्ण्यान्मनोगतिं हन्ति, सौक्ष्म्यादवयवान् विशति, वैशद्यात्कफशुक्रनुत्, रौक्ष्यात् मारुतं कोपयेत्, आशुत्वादाशु कर्मकृत्, व्यवायित्वाद्विसर्पतीति कर्म (सुउ. ४७.४-५)

–गन्ध–पु., वनस्पति० बकुलः (ध. ५.१५४)

–दोष–पु., मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युरुन्मादो

मदो मूर्च्छायोऽपस्मारोऽपतानकश्चेत्याद्या मद्य दोषाः (असंनि. ६.१०)

-द्रुम–पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)

-नित्य–वि., मद्यसेवनं नित्यं कर्म यस्य सः स्नेहयोग्यः (चसू. १३.५२) मद्यसात्म्यः (चसू. १४.१६)

-प–पु., मद्यपानशीलः, मद्यशीलः (सुसू. १९.१८)

-पान–न., अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपाऽनुलेपनैः स्निग्धोष्णैश्चान्नैर्भावितो वातिको मद्यं पिबेत् (चचि. २४.२१) शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैश्चान्नैर्भावितः पैत्तिकः पिबन्मद्यं न सीदति (चचि. २४.२२) उपचारैरशिशिरैर्धन्वजैर्मांसैर्मारिचकैः सह यवगोधूमभुक् श्लैष्मिकः मद्यं पिबेत् (चचि. २४.२३) श्लेष्मिकानल्पपित्तांश्च स्निग्धान् मात्रोपसेवितांश्च मद्यमबाधाकरं, विपरीतं बाधाकरम् (सुउ. ४७.१३)

-पानजदाह–पु., तत्र मद्यपानजदाहे मनोऽनुकूलानां पीनाङ्गीनामार्द्रवसनानामबलानां श्लेषो दाहशमनकरः (सुउ. ४७.६३-६४)

-पानजविकार–पु., पानात्ययः परमदः पानाजीर्णं पानविभ्रम इति मद्यपानजाः चत्वारो विकाराः (सुउ. ४७.१७)

-पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५३)

-प्रसंग–पु., मदात्ययः (चचि. २४.५४)

-रुजा–स्त्री., रोग० मदात्ययः (सुसू. ४६.४२६) द्र० 'मद्यप्रसंग'

-रोग–पु., मद्यप्रवृत्तो रोगस्त्रिविधः, तद्यथा–पानात्ययः, पानविभ्रमः, पानाऽपक्रमश्च (कासंचिपानात्यय चि.)

-वासिनी–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०)

-विकारिन्–वि., मद्यजव्याधिविशेषवान्स्नेह्योऽयम् (चसू. १४.१७)

-सात्म्य–वि., यस्य मद्यं सुखावहं भवति, सः (चचि. ३.१९४-९५)

-सेवन–न., सहसाविच्छिन्नमद्यस्यातिमद्यसेवया पानात्ययरोगा जायन्ते (सुउ.४७.४९) तस्य विधिः–स्निग्धैरन्नैर्मांसैर्भक्ष्यैश्च सह सेवितं मद्यमायुःप्रकर्षकरं बलकरं पुष्टिकरं च भवति (सुउ. ४७.७)

-हत–वि., मदात्ययार्तः, यथा कस्यचिन्नरेन्द्रोपहतस्य तत एव प्रसादो भवति, नान्यत एवं मद्यहतस्य नरस्य मद्यत एव प्रसादो भवति, नान्यत इति कृत्वा मदात्यये मद्यमेव विधिवद्देयम् (सुउ. ४७.४८)

मद्याक्षेप–पु., मद्यजो विकारः (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)

मद्यानुरस–पु., मद्यस्य चत्वारोऽनुरसाः ते मधुरः कषायस्तिक्तः कटुकश्चेति (चचि. २४.११५)

मद्यामोद–पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६३)

मद्यार्ति–स्त्री., मद्यविदाहः (सुसू. ४६.४२५)

मद्योत्थज्वर–पु., रोग० मद्यपानजो ज्वरः (चचि. ३.१४४)

मद्योद्भव–पु., मदात्ययः (र. १२.१-८)

मधु–न., भैषज्य० मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं संधानं शोधनं रोपणं (संग्राहि) चक्षुष्यं प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारिपित्तश्लेष्ममेदोमेहहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशमनं च, तत्तु लघुत्वात्कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात्कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् (सुसू. ४५.१३२) मधुजातयः–पौत्तिकं, भ्रामरं क्षौद्रं, माक्षिकं, छात्रमार्घ्यमौद्दालकदालमित्यष्टौ (सुसू. ४५.१३३; चसू. २७.२४३) नवं मधु छर्दिमेहप्रशमनं, मधु रूक्षं दलोद्भवं नातिश्लेष्महरं बृंहणीयं च (सुसू. ४५.१४०) पुराणं मधु मेदःस्थौल्यापहं ग्राह्यतिलेखनं च, पक्वं मधु दोषत्रयहरमाममम्लं त्रिदोषकृत् (सुसू. ४५.१४१) मधुनो योगवाहित्वम्–नानाद्रव्याऽऽत्मकत्वाद्विविधैर्योगैर्बहूनामयान् निहन्यात् (सुसू.४५.१४२; चसू. २७.२४९) मधुनः विरुद्धाऽविरुद्धत्वम्–नानाद्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्परसानां मक्षिकासंभवत्वाच्चाऽनुष्णोपचारम् । उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु । उष्णार्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् । तत्सौकुमार्याच्च तथैव शैत्यात् नानौषधीनां रससंभवाच्च । उष्णैर्विरुध्यते विशेषश्च तथाऽऽन्तरीक्षेण जलेन चापि (सुसू. ४५.१४३-४५; चसू. २७.२४७-४८) उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम् । अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत् (सुसू. ४५.१४६) मध्वामात्परस्त्वन्यदामं कष्टं न विद्यते । विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम् (सुसू. ४५.१४७; चसू. २७.२४७) वमनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)

शोणितस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)
श्लेष्मपित्तप्रशमनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)
भैषज्य० छर्दि हिक्काश्वासकासशोषादिषु समुपयोज्यम् (ध. ६.२३३)
मास० चैत्रः (च. चसि. ६.५; सुसू. ६.६)
फल० आम्रः (ध. ५.३)
सुरा (रा. १४.३०२) मधुप्रधान आसवः, तदिदं मधु विबन्धघ्नं कफघ्नं लघु अल्पमारुतं च (चसू. २७.१८९; सुउ. ४४.३६)
माद्वीकं, माद्वीकं पानकं श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३८)
वनस्पति० पुष्परसः (सुसू. २९.५९)
हिं.—मधु.
म.—मध.
गु.—मध.
बं.—मधु.
ता.—तेन्.

-कर्कटिका–स्त्री., वनस्पति० मधुखर्जूरिका (रा. ११.७१)
-कर्कटी–स्त्री., मातुलुङ्ग० गुणाः–स्वादु शीता, वृष्या, रुच्या, दुर्जरा, त्रिदोषघ्नी, रक्तपित्तदाहहरा (ध. ५.३१)
-क्रोड–पु., पाकघनीभूतमधुगर्भो भक्ष्य० (चसू. २७.२६७) मातुलुङ्गत्वचा चैव वेष्टितो मधुशीर्षकः मधुशीर्षक एव मधुक्रोडः (ड. चसू. २७-२६७)
-खर्जूरी–स्त्री., पिण्डखर्जूरी (रा. ११.७१)
-गण्डूषधारण–न., मधुना गण्डूषधारणम् (असंसू. ७१.७४; अहसू. २२.८)
-गन्ध–पु., वनस्पति० बकुलः (ध. ५.१५४)
-गन्धिन्–वि., माक्षिकगन्धि (सुशा. २.११-१२)
-ज–न., वनस्पति० सिक्थम् (ध. ३.११९)
(-जा)–स्त्री., माध्वी सिता (रा. १४.१६८)
-जम्बीर–पु., वनस्पति० जम्बीर० (ध. ५.१८)
-जम्बीरफल–पु., मधुजम्बीरः (ध. ५.१८)
-जम्भ–पु., वनस्पति० मधुजम्बीरः (रा.. ११.२०)
-जाति–स्त्री., मधुप्रकाराः–अष्टौ मधुजातयः, तद्यथा पौत्तिकं, भ्रामरं, क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमार्घ्यमौद्दालकं दालं चेति (सुसू. ४५.१३३)
-ताल–पु., वृक्ष० श्रीतालः (रा. ९.९५)
-तृण–पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८०)
-त्व–न., मधुरत्वम् (र. १२.९)
-दला–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)
-द्रव–पु., वनस्पति० मधुशिग्रुः (असं का चि. ४)
-धातु–पु., हेममाक्षिकम् (ध. ३.१४८)
-धूलिका–स्त्री., वनस्पति०मूर्वा (रा. ३.१०)
-नारिकेरक–पु., नारिकेलम् (रा. ११.११०)
-नालिकेर–न., वनस्पति० गुणाः–मधुरं शिशिरं स्निग्धं रुच्यं कान्तिकरं बलपुष्टिकरं वीर्यविवर्धनं दाहतृषार्तिपित्तहारि दुर्जरं जन्तुकारि वाताऽतिसारश्रमशमनमग्निमांद्यकरमामश्लेष्मप्रकोपकरं स्थैर्यकरं घनमदनकलावर्धनं च (रा. ११.१११-१२) द्र० नारीकेल '
-पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० मधुपर्णी (सुशा. १०.६१) जीवन्ती (इन्दु. असंशा. ४.५५)
-पर्णी–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (चसू. ४.९; ध. १.३)
काश्मरी (ध. १.११७; चसू. ४.१३)
यष्टिका (र. २२.९२-९६)
विकङ्कतः (च. चचि. २९.७२)
मधुकर्कटी (रा. ११.३१)
क्लीतनकं जलजम् (ध. १.१४४)
-पर्ण्यादितैल–न., योग० वातशोणिते उपयुक्तम् (चचि. २९.८८-९५)
-पाक–पु., मधुवज्जायमानोऽवलेहः (र. २०.१६३.६५)
(-पाका)–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५)
-पीलु–पु., वनस्पति० बृहत्पीलुः (रा. ११.६३)
-पुष्प–पु., वनस्पति० बकुलः (रा.१०.२६२)
शिरीषः (रा. ९.१८९)
जलमधूकः (ध. ५.४९)
अशोकः (रा. १०.२७०)
(-पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)
नागदन्ती (रा. परि. ५.२६)
(-पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (र. २०.१५३-५४)
-पुष्पिक–पु., वनस्पति० जलमधूकः (ध. ५.४९)
-फल–न., मधूकवृक्षफलम् (र. १२.९९)
वनस्पति० पालेवतम् (रा. ११.८८)
फल० मधुनारिकेरः (ध. ११.११०)
वनस्पति० आम्रः (ध. ५.३)
-(फला)–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५)
उत्तरापथिका (रा. ११.७६)
-फलिका–स्त्री., वनस्पति० मधुखर्जूरी (रा. ११.७१)

–बहला–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (रा. १०.२३४)
–बिम्बी–स्त्री., वनस्पति० मधुरबिम्बी (रा. ७.३०४)
–बीज–पु., फल० दाडिमः (रा. ११.९४)
–भवा–स्त्री.,'वनस्पति० मधुशर्करा (ध. २.१०६)
–मज्जन्–पु., वनस्पति० आक्षोडः (रा. ११.८२)
–मती–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४८)
मूर्वा (रा. ३.१०)
–मस्तक–पु., आहारद्रव्य० समितावेष्टिक पाक-घनीभूता मधुरा घृतोदरा मधुमस्तकाः, ते एव मधु-शीर्षका उच्यन्ते, केचिन्मधुमस्तकशब्देन खजकमाहुः (ड. सुसू. ४६.३९५-३९६)
–मेह–पु., रोग० प्रमेहः (चसू. १९.४(९) द्र० 'प्रमेह'
–मेहता–स्त्री., पारिभाषिकी संज्ञा, मधुमेहत्वम् (सुचि. १२-६)
–यष्टिका–स्त्री., वनस्पति० यष्टीमधु (ध. १.१४२)
–यष्टी–स्त्री., वनस्पति० यष्टीमधु (ध., १.१४२)
–रस–पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९२)
(–रसा)–स्त्री., उत्तरापथिका ध. ५५८. चचि ३.२५८)
वनस्पति० मूर्वा (सुउ. १९.१४) स्तन्यदोष-हरणार्थमुपयुज्यते (सुचि. १७.४४; ध. १.१३)
क्लीतनकम् (रा. ६.१८४)
–रेणु–स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३७)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० यष्टीमधु (रा. ६.१८२)
उत्तरापथिका (रा. ११.७६)
वनस्पति० मधुकर्कटी (ध. ५.३१)
क्लीतनकम् (रा. ६.१८४)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० मधुकः (ध. ५.४५)
–व्रत–पु., कीट० भ्रमरः (र. २७.५८)
–शर्करा–स्त्री., शर्करा भेदः पाकात्कालान्तरशोषणाद्वा घनीभूताऽवयवं मधु शर्करातुल्यत्वात् 'मधुशर्करा' इत्युच्यते (सुसू. ४५.१६६) गुणाः–रूक्षा वम्यतिसारनाशनी छेदनी च (चसू. २७.२४२; ध. २.१०६; अहसू. ५.५३)
वनस्पति० निष्पावः (रा. १६.१७५)
माध्वी सिता (रा. १४.१६८)
–शिग्रु–पु., वनस्पति० शोभाञ्जनः च (चवि. ७.१७)
लोहितकुसुमाल्पविटपः शोभाञ्जनकभेदः (सुसू. ४६.२२१)
गुणाः– सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुश्च (सुसू. ४६.२३७)
पत्रशाकः, रक्तशोभाञ्जनकः (सुसू. ३८.१०-११)
–शिग्रुक–पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.४०; रा. ७.६४)
–शिग्रुकरीर–न., मधुशिग्रुः रक्तशोभाञ्जनकः, तस्य करीरं कोमलं नालम् (सुसू. ४६.२८९)
–शिग्रुकुसुम–न., रक्तशोभाञ्जनस्य पुष्पम्; गुणाः– पाके कटु वातहरं सृष्टमूत्रपुरीषं च (सुसू. ४६.२८३)
–शुक्त–न., जम्बीररसकृतः सन्धानविशेषः (सुउ. ३९.२९८; चचि. २६.२२७)
–शोष–न., वनस्पति० सिक्थकम् (ध. ३.११९)
–श्रेणी–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०)
–संज्ञ–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.१३७)
–संभव–न., वनस्पति० सिक्थकम् (रा. १३.१७३)
–सत्ता–स्त्री., वनस्पति० अङ्गारवल्ली (रा. ९.१८२)
–सिता–स्त्री., वनस्पति० निष्पावः (रा. १६.१७५)
–स्रव–पु., वनस्पति० मोरटः (ध. १.१५)
मुरङ्गी (अ., अहसू. १५.१५)
मधुकः (ध. ५.४५)
(–स्रवा)–स्त्री., वनस्पति० दीप्या (ध. ५.५५)
मूर्वा (रा. ३.११)
यष्टीमधु (ध. १.१४२)
हंसपादी (रा. ५.१६६)
–हन्–पु., मधु हन्तीति, प्रसहजातीयभेदः (चसू. २७.३६; अहसू. ६.५०)

मधुक–पु., वनस्पति० मधूकः मधुवृक्षः (ध. ५.४५)
गुणाः– मधुरः शीतः पित्तघ्नो दाहश्रमहरश्च (ध. ५.४५)
यष्टिमधु (चसू. ५.२१) महाकषायवर्गे कण्डूघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११)
हिं—जंगली मोह.
म.—मोहडा.
गु.—महूडा.
बं.—महू.
ता.—कट्टिलिपी.
वमनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३)
आस्थापनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३.)
शोणितस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)
चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीयरोपणीयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)
वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०; अहसू. १५.३; सुचि. १५.४४-४५)

वनस्पति० क्लीतनकम् (रा. ६.१८४; र. १३.८२-९१)
सिक्थकम् (ध. ३.११९)
(मधुका)–स्त्री., वनस्पति० यष्टीमधु (रा. ६.१८२)
–**तैल**–न., तैल० गुणाः–मधुरं कषायं कफपित्तप्रशमनं च (सुसू. ४५.१२१; चचि. २९.११५-११८)
मधुर–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.८)
मधुकर्कटी (ध. ५.३१)
सूक्ष्मफलः (रा. ११.१६४)
रस० सन्तानिकागोदुग्धादिकः (ड., सुउ. ६३.१६)
गुणाः––स्वादुः सौम्यो वातघ्नः पित्तघ्नः शीतः स्निग्धो गुरुश्च (सुसू. ४२.४-७)
वनस्पति० गुडः (ध. ४.१२८)
जीवन्तः (रापरि. ७.८९)
जीवकः (र. २०.५४-५५; ध. १.१२३)
राजमाषः (रा. १६.१३५)
निष्पावः (रा. १६.१७५)
रक्तशिग्रुः (रा. ७.६६; असंउ. १९)
रक्तेक्षुः (१४.१८९)
न., खनिज० वङ्गम् (रा. १३.१४)
वनस्पति० गृञ्जनम् (ध. ४.३७)
कुरी (रा. १६.१७९)
(मधुरा)–स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२)
मेदा (रा. ५.१६१)
बृहज्जीवन्ती (रा. ३.१७९)
मधुखर्जूरी (रा. ११.७१)
पालक्यम् (रा. परि. ७.१२)
व्रीहिः (रा. १६.९८)
शतावरी (रा. ४.४३९) मसूरिका (ध. ६.९५)
–**कर्कटी**–स्त्री., वनस्पति० मधुकर्कटी (रा. ११.३१)
–**खर्जूरी**–स्त्री., वनस्पति० मधुखर्जूरी (रा. ११.७१)
–**गण**–पु., "घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूषकम्। अभीरुवीरापनसराजादनबलात्रयम् । मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ । मधूकं मधुकं बिम्बी विदारी श्रावणीयुगम्। क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे । क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्र-द्राक्षादिर्मधुरो गणः " (अहसू. १०.२२-२५)
–**जम्भल**–पु,. वनस्पति० मधुजम्बीरम् (रा. ११.२०)
–**त्रय**–न., घृतं गुडो मधु चेति (र. १०.७३)
–**त्रिफला**–स्त्री., वनस्पति० स्वादुत्रिफला, मधुराणि द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरीफलानि त्रीणि (रा. २२.२)
–**त्वच**–पु., वनस्पति० धवः (रापरि. ९.८)
–**पटोली**–स्त्री., वनस्पति० स्वादुपत्रफला (रा. ७.७६)
–**प्रभाव**–न., मधुररसस्य यत्कर्म तथैव यस्य मधुर-रसकर्मसदृशकर्मवत् इति भावः, तत् (चवि. ८.१३८)
–**फल**–पु., मांसलफलः (रा. ७.२७१)
वनस्पति० राजबदरः (रा. ११.१६०)
(–**फला**)–स्त्री., वनस्पति० मधुकर्कटी (रा. ११.३१)
वालुकम् (रा. ७.२५०)
–**बिम्बी**–स्त्री., वनस्पति० बिम्बी (रा. ७.३०४)
–**बीजपूर**–पु., वनस्पति०मधुकर्कटी (रा. ११.३१)
–**मृत्तिका**–स्त्री., मृत्तिका (चक. १.९)
–**रस**–पु., रस० मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिर-मांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्न-स्तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यो बल्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षत-सन्धानकरः स्निग्धः शीतो गुरुश्च (चसू. २६.४२ (१)) मधुरो रस एवाऽत्यर्थमुप-युज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरव-मनन्नाऽभिलाषमग्नेर्दौर्बल्यमास्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं श्वासकासप्रतिश्यायाऽलसकशीतज्वराऽऽनाहाऽऽस्य-माधुर्यवमथुसंज्ञाप्रणाशस्वरप्रणाशगलगण्डमाला-श्लीपदगलशोफबस्तिधमनीगलोपलेपाऽक्ष्यामयाऽभि-ष्यन्दान् इत्येवमादीन् कफजान् विकारानुपजनयति (चसू. २६.४२ (१); सुसू. ४२.१० (१) द्र० ' रस '
–**लता**–स्त्री., वनस्पति० क्लीतनकम् (रा. ६.१८४)
–**वर्ग**–पु., मधुररसद्रव्यसंग्रहः, तद्यथा–काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्टिकयवगोधूममाषश्रृङ्गाटक-कसेरुकत्रपुसैर्वारुककर्कारुकालाबुकालिन्दकतक-गिलोड्यपियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूर-राजादनतालनालिकेरेक्षुविकारबलाऽऽतिबला-ऽऽत्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरकक्षीरमोरटमधूलिका-कूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः (सुसू. ४२.११)
–**स्कन्ध**–पु., द्रव्यगण० जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा तामलकी काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माष-पर्णी शालपर्णी पृश्निपर्न्यसनपर्णी मधुपर्णी मेदा

महामेदा कर्कटशृङ्गी शृङ्गाटिका छिन्नरुहा च्छत्रा-ऽतिच्छत्रा श्रावणी महाश्रावणी सहदेवा विश्वदेवा शुक्ला क्षीरशुक्ला बलाऽतिबला विदारी क्षीरविदारी क्षुद्रसहा महासहा ऋष्यगन्धाऽश्वगन्धा वृश्चीरः पुनर्नवा बृहती कण्टकारिकोरुबूको मोरटः श्वदंष्ट्रा संहर्षा शतावरी शतपुष्पा मधूकपुष्पी यष्टीमधु मधूलिका मृद्वीका खर्जूरं परुषकमात्मगुप्ता पुष्करबीजं कशेरुकं राजकशेरुकं राजादनं कतकं काश्मर्यं शीतपाक्योदनपाकी तालखर्जूरमस्तक-मिक्षुरिक्षुवालिका दर्भः कुशः काशः शालिर्गुन्द्रेत्कटकः शरमूलं राजक्षवक ऋष्यप्रोक्ता द्वारदा भारद्वाजी वनन्नपुष्यभीरुपत्री हंसपादी काकनासिका कुलिङ्गाक्षी क्षीरवल्ली कपोलवल्ली सोमवल्ली गोपवल्ली मधुवल्ली चेति (चवि. ८.१३९)

मधुरक–न., धूमपानप्रयोगे एकं द्रव्यम्, जीवनीयानि जीवकर्षभकादीनि द्रव्याणि (चसू. ५.२६)

(मधुरिका)–स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (रा. ४.६) राजिका (रा. १६.९०)

मधुराग्रजा–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (ध. ५.५३)

मधुरान्वयता–स्त्री., (परिवे०) मधुद्रव्यप्रभवता (सुसू. ४५.१७२)

मधुरीभूत–वि., प्रकरणाद् वराहस्य लालास्रावमूर्च्छादिभिः विषीभूतम् (सुउ. ६१.३९)

मधुरौषध–न., जीवनीयगणोक्तद्रव्यजातम् (चशा. ८.४)

मधुलिका–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (ड. सुउ. २४.२८) मर्कटकः (सुसू. ४२.११)

मधुष्ठील–पु., वनस्पति० मधुकः (ध. ५.४५)

मधूक–पु., वनस्पति० यष्टिमधु (चसू. १३.१०) वनस्पति० दाहप्रशमनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)

पु., क्षुद्रगुडविशेषः मधूकपुष्पोत्थफाणितगुणाः– रूक्षं, वातपित्तकृत् कफघ्नं पाके मधुरं कषायं बस्ति-दूषणं च (सुसू. ४५.१६९) शिरोविरेचनार्थमुप-युज्यते (सुसू. ३९.६; असंसू. १६.५; अहसू. १५.४१)

न., वनस्पति० मोहः (चसू. ३.२१) फल० इदं वातपित्ते शस्तम् (चसू. २७.१२८)

–ज–पु., वनस्पति० गुडपुष्पः (सुउ. ३९.१७५; (अहसू. ६.११९)

–जतैल–न., स्नेह० (ध. ६.१४१)

–तैल–न., गुणाः– वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलं च (असंसू. ६.१०९-११०)

–पुष्प–न., मधूकस्य पुष्पम् (सुसू. ३८.३९-४०)

–युगल–न., वनस्पति० यष्टिमधु मधूकश्च (र. १७.३९-४०)

–सार–पु., मधूकवृक्षस्यान्तरभागः, तस्य मधूकस्य सार० (सुचि. १८.२३; र. १३.४१-४३)

मधूकादिलेह–पु., लेह० वमिकफप्रसेकाद्युपद्रवनाशकः (सुउ. ३९.३००-३०१)

मधूकासव–पु., आसुत० मधुकपुष्पविडंगयुक्तः अयं ग्रहण्यां शस्तः (चचि. १५.१४६-४९)

मधूक्षित–वि., ईषन्मात्रमधुयुक्तम् (ड.सुउ.४०.७६-७७)

मधूच्छिष्ट–न., वनस्पति० सिक्थकम् (चसू. ५.२५; सुसू. ९.४; ध. ३.११९)

मधूच्छिष्टविग्रह–पु., सिक्थकेन मृत्तिकायां निर्मित-सज्जकरूपविग्रहः (चशा. ३.१६)

मधूत्थ–न., वनस्पति० सिक्थकम् (रा. १३.१७४)

मधूत्थित–न., वनस्पति० सिक्थकम् (ध. ३.११९)

मधूत्पन्ना–स्त्री., माध्वी सिता (रा. १४.१६८)

मधूत्सव–पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१३)

मधूदक–न., मधुसहितमुदकम् (चसू. २७.३२३) (सुसू. ४६.४२९; असंसू. १०.५१; अहसू. १४.२१)

मधूल–पु., वनस्पति० क्षीतनकम् (रा. ६.१८४)

(मधूली)–स्त्री., वनस्पति० उत्तरापथिका (रा. ११.७६) फल० आम्रः (रा. ११.२) गोधूमभेदः, मधुरा स्निग्धशीतला च (चसू. २७.२२)

मधूलक–पु., गोधूमविशेषः (चनि. २.४) वनस्पति० पाणमोहा इति लोके प्रसिद्धा (चवि. ८.१३६)

(मधूलिका)–स्त्री., जलदः (ध. ५.४८) मर्कटहस्ततृणम् (चवि. ८.१३९) आसुत० मधूलिका श्लेष्मला, अन्ये गुणास्तु यवतण्डुलकृतसुरावत् ज्ञेयाः (चसू. २७.१९०; रा. १४.३०३) वनस्पति० जलयष्टी (ड. सुउ. ३९.३००) मर्कटकः (ड. सुउ. ५२.३४) तृणजातिः (ड. सुउ. ५१.२१) गुडतृणः (इ. असंउ. २) गुणाः–शीतवीर्या, विशेषेण स्निग्धा, वृष्या च (असंसू. ७.१९)

क्लीतनकम् (ध. १.१४४)
मूर्वा (र. २१.१९०-९७)
कीट० मक्षिकाभेदः (सुक. ८.३५)
कुधान्य० (सुसू. ४६.२१)

मधूषित–न., वनस्पति० सिक्थकम् (रा. १३.१७४)

मध्य–न., प्रकरणादिदं जम्ब्वाम्रयोरष्ठीलामध्यमिति जज्जटः (चचि. ३०.९०)

(मध्या)–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा.५.१४९)

–काल–पु., भैषज्यकाल० मध्यभोजनः (चचि. ३०.२९९)

–भक्त–न., भैषज्यकाल० मध्येभक्तम् (असंसू. २३.१५)

मध्यन्दिन–पु., वनस्पति० बन्धूकः (रापरि. १०.३५)

मध्यमपञ्चमूल–न., बला-पुनर्नवा-एरण्डशूर्पपर्णीद्वयं च (ध. ७.१८; अहसू. ६.१६९)

मध्यमा–(पादस्य)–स्त्री., शारीर० प्रदेशिन्याः सकाशान्मध्यमाऽङ्गुलीपञ्चमभागहीना (सुसू. ३५.१२)

मध्यमाङ्गुलि–स्त्री., पञ्चसु मध्यमा, अङ्गुष्ठात् तृतीयाङ्गुलिः (सुचि. ३५.७)
तस्याः प्रमाणं पञ्चाङ्गुला, इदं दीर्घायुःपुरुषलक्षणम् (सुसू. ३५.१२)

मध्याह्न–पु., दिनमध्यभागः (सुसू. ६.१४)

मध्येभक्त–न., यद् भक्तस्य नाम भोजनस्य मध्ये पीयते इदं अविप्रसरणस्वभावात्कोष्ठगतान् रोगान् हन्ति (सुउ. ६४.७१-७२)

मध्वरिष्ट–पु., योग० विडङ्गपिप्पलीत्वक्क्षीरीकेशरमरिचादियुक्तः ग्रहण्यां शस्तः (चचि. १५.१६३-१६७)

मध्वाम–न., मधुनः आमम्, मध्वाममुपक्रमविरोधित्वान्मानवं सद्यो हन्ति । आमे उष्णा क्रिया क्रियते तत् मध्वामे विरुद्धा; यत्तु शीतं तदामे विरुद्धं, तस्माद्दारुणं मध्वामम्। महात्ययं दुश्चिकित्स्यं च (चसू. २७.२४७)
मध्वजीर्णम् (सुसू. ४५.१४७)

मध्वाम्र–पु., वनस्पति० चक्रलताम्रः (रा. २१.११)

मध्वालुक–न., कन्दशाकः, तच्च रोमशं मधुराऽऽस्वादं, गुणाः– रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं गुरु बहुशुक्रं स्तन्यवृद्धिकरं च (सुसू. ४६.२९८-९९)

मध्वावास–पु., आम्रः (र. ११.३)

मध्वासव–पु., आसुत० (चसू. २७.१८७) गुणाः– लघुश्छेदी मेहकुष्ठविषाऽपहस्तिक्तः कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुः अवातकृच्च (सुसू.४५.१८८-८९;अहसू.५.७५; असंसू.१०.४८)

मनस्–न., अतीन्द्रियम् (चसू. ८.४) तत्तु सत्त्वसंज्ञकम् तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् (चसू. ८.४) मन आत्मना इन्द्रियैश्च सह संयुक्तं ज्ञानकारणमस्ति । तद्यथा–आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति (चक्र. चसू. ८.१२) एवं मनसो वैवृत्याज्ज्ञानस्याभावस्तत्सांनिध्याच्च ज्ञानमिति वैवृत्यान्नाम वृत्यभावादसन्निधेरिति यावत्. ज्ञानं ज्ञानाभावश्च मनसो लक्षणम् (चशा. १.१८-१९) मनसो द्वौ गुणावणुत्वमेकत्वं चेति युगपज्ज्ञानानुदयान्मनसोऽणुत्वमेकत्वं च सिद्धे भवतः (चक्र. चशा. १.१८-१९) चिन्त्यं विचार्यमूह्यं ध्येयं संकल्प्यं चेति मनोविषयाः । यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वमेव मनोविषय इति संज्ञितम् (चशा. १.२०) तत्र कर्तव्यतयाऽकर्तव्यतया वा यन्मनसा चिन्त्यते तच्चिन्त्यम्। उपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद्विमृश्यते तद्विचार्यम्, एवमेतद्भविष्यतीति संभावनया यदूह्यते तदूह्यम्, भावनाज्ञानविषयं ध्येयम्, गुणवत्तया दोषवत्तयाऽवधारणविषयं संकल्प्यमिति मनोविचाराणां स्वरूपम् (चक्र. चशा. १.२०) मनसः कर्माणीन्द्रियाभिग्रहः स्वस्य च निग्रह ऊहो विचारश्चेति (चशा. १.२१) मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति (चसू. ८.७) मनस्तु नवद्रव्येष्वेकम् (चसू १.४८) मनोऽर्थाव्यभिचरणेन परीक्षेत (चवि. ४.८)
खनिज० मनःशिला (र. १२.१२१-२२)

–कर–वि., मनोगुणकरणम् (चक्र. चसू. १.१०७)

–कान्त–वि., मनःप्रियम् (सुसू. ३४.२२-२३)

–(मनः)–पुरःसर–वि., मनोऽधिष्ठितम् (चसू. ८.७)

–प्रसाद–पु., चित्तप्रसन्नता (असंसू. २७.१९)

–शय–पु., मनसि शेते इति मनःशयः मनसिजः कामः (चचि. २.(१). १०)

–शिला–स्त्री., खनिज० तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा स्निग्धा, लेखनी, सर्वरसायनाग्र्या, कफवातहन्त्री, विषभूताऽऽवेशभयोन्मादनाशिनी (ध. ३.९६) कुष्ठादिहरप्रदेहे दद्रुप्रभृतित्वग्रोगहरणेऽवचूर्णनार्थं चोपयुज्यते (चसू. ३.५,१०) उपदंशविसर्पाणां शान्तिकारिणी (सुचि. १९.४६-४७) व्रणेपूत्सन्न मांसेषु मांसस्फोटनार्थं, व्रणसंशोधनवर्तिकल्कघृततैलेषूपयुज्यते (सुसू. ३७.१४,३१-३३) नेत्ररोगे बर्त्यञ्जनाद्युपदिष्टानामेकतमं द्रव्यम् (सुउ.११.८)

मनःशिलादोषाः–बलमांद्यं, पाण्डुतां, मूत्ररोधं, शर्करां च करोति(ध. ३.१००) अशुद्धमनःशिलासेवनेनाऽश्मरीमूत्रकृच्छ्राऽग्निमांद्यमलावरोधाभवन्ति (र. ३.१०२) तद्भेदाः–श्यामिकाकणवीरकाखण्डपूर्विकाश्चेति (र. ३.९६) तस्याः शोधनम्–अगस्त्यपत्ररसेन, शृङ्गवेररसेन वा सप्तवारं भाविता मनःशिला शुध्यति (र. ३.१०३-४) तत्सत्त्वपातनविधिः–साऽष्टमांशेन लोहकिट्टेन गुडगुग्गुलसर्पिषा च युक्ता कोष्ठ्यां रुध्वा दृढं ध्माता सत्त्वं मुञ्चेत् (र. ३.१०५-७)

–शुद्धि–स्त्री., लक्षण० मनसः इन्द्रियार्थग्रहणे पाटवम् (चसू' १६.६)

–संकल्प–पु., चिन्तनम्, मनसः कर्म (ड. सुशा. १.१७)

–संताप– पु., मानसदुःखम्, त्रासः (चचिं. ३०. २३३;३६)

(मनो)–गुप्ता–स्त्री., खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६)

–जव–पु., मनसा जवते गच्छतीति मानसवेगः (चशा. २.३१)

–जवृद्धि–स्त्री., वनस्पति० कामवृद्धिः (रापरि. ४.५१)

–ज्ञ–वि., मनःप्रियम् (चचि. ८.१६२) मनोऽनुकूलम् (सुशा. ४.४६)
पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६)
न., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६)

(–ज्ञा)–स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (रा. ३.२९६)
उपकुञ्ची (रा. ६.९१)
कर्कोटकी (ध. १.१८७)
जाती (ध. ५.१३७)
वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)
आसुत० सुरा (रा. १४.३०३)
खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६)

–ज्वर–पु., रोग० मानसो ज्वरः (असंशा. ४.५१)

–दैन्य–न., लक्षण० क्लिष्टचित्तत्वम्, विषण्णमनस्त्वम् (सुउ. ५७.१७)

–दोष–पु., मानसावगुणाः (अहसू. १.२६)

–धात्री–स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. १२.१२१,२२)

–रम–वि., रुचिजनकम् (सुसू. ४६.४५४)

(–रमा)–स्त्री., भैषज्य० गोरोचना (रा. १२.३४)

–वह–वि., मनोवाहि (स्रोतः) (चनि. ७.४)

–वहस्रोतस्–न., मनोवहनमार्गः, मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथाऽपि मनसः 'केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतं' इत्यभिधानात्सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहाः अभिधीयन्ते (चक्र. चइ. ५.४१) हृदयदेशसंबन्धिधमनी विशेषेण मनोवहा (चचि. ९.५)

–विकार–पु., रोग० उन्मादोऽपस्मारश्च (चक्र. चचि. ३.३०९)

–विपर्यय–पु., लक्षण० मनोवैपरीत्यम् (सुशा. ६.३६-३७)

–व्याकुलन–वि., मनःशान्त्यपहारकम्, मनोव्याकुल्यतेऽनेनेति मनोव्याकुलनम् (सुशा. ४.४७)

–समाधि–पु., मनसः समाधिः चित्तैकाग्र्यलक्षणा वृत्तिः, निषेधरूपा वा शान्तिः (चचि. २४.५२)

–हर–पु., वनस्पति० कुन्दः (ध. ५.१५०)
न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.१)

–(हरा)–स्त्री., वनस्पति० जाती (रा. १०.२३१)
यूथिका (रा. १०.२५२)

–ह्वा–स्त्री., खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६; सुचि. २५.३८)

मनस्विन्–वि., प्रशस्तं मनो यस्य सः (चवि. ८.१०४)

(मनस्विनी)–स्त्री., वनस्पति० कर्कोटकी (रा. ७.२७६)

मनीषिन्–पु., विवेकशाली मुनिः (चइ. ९.१८)

मनु–पु., प्रजापतिः (सुसू. ५.२५)
वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)

मनुष्य–पु., मानवः (चशा. ३.१५)

–बिम्ब–पु. न., मनुष्याकारः (चशा. ३.१६)

–विग्रह–पु., पुरुषदेहो, मानवदेहः (चशा. ३.१६)

मनोऽभिताप–पु., मनःसंतापः (चशा. २.७)

मन्तृ–पु., आत्मा (चशा. ४.८)

मन्त्र–पु., उपक्रम० मन्त्रोपचारः (चसू. १८.५)
अथर्ववेदे चिकित्सा (चसू. ३०.२१)
अक्षरसमूह० यस्योच्चारेण व्याधिरुपशाम्यति देवादयश्च प्रसन्ना भवन्ति (चनि. ७.१६) सर्पविषे मन्त्रप्रयोगः क्रियते (सुक. ५.१०)

–कोविद–पु., मन्त्रज्ञः पुरुषः (ड. सुक. ५.८)

–देवता–स्त्री., मन्त्रस्य देवता (असंसू. ९.१२१)

–पूताम्बु–न., मन्त्रेण पवित्रीकृतं जलं, तस्य प्रोक्षणाद्विषशमनं भवति (चचि. २३.२२३)

–**विशारद**–वि., मन्त्राणामृग्यजुःसामोक्तानामथर्ववेदोक्तानां च पण्डितः (ड. सुसू. ३४.७)

मन्त्राभिमन्त्रित–वि., मन्त्रैरभिमन्त्रितम् (अहसू.१८.१५)

मन्थ–पु., कल्प० (चचि. ४.५९) जलघृताक्तसक्तुः (ड. सुउ. ६४.४४) सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुता नातिद्रवा नातिसान्द्रा सक्तवो मन्थ इत्युपदिश्यते । स च सद्योबलकरः पिपासाश्रमनाशनः (सुसू. ४६.३८५-३८६) तद्गुणाः–शीतः, पित्तघ्नो दाहारुचिमूर्च्छाश्रमनाशनः (ध. ७.४७) तृष्णाजोदावर्तशमनः (सुउ. ५५.३४)
वनस्पति० अग्निमन्थः (र. १२.७४)
नेत्ररोग० अधिमन्थः (सुउ. १.३७)
–**हृत**–वि., खजविलोडितम् (सुउ. ४१.५२)

मन्थन–पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१११)
न., लक्षण० शरीरमन्थनवद् वेदना (चचि.६.७७; सुउ. ६.१२)

मन्थनोद्भव–न., आहारद्रव्य० नवनीतम् (ध. ६.२२९)

मन्थान–पु., मन्थनदण्डः (चसू. ११.२४)
वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३३)
–**भैरव**–पु., पारदयोग० पारदताम्रतालहिंग्वादिसाधितोऽयं कफरोगादिघ्नः (र. १३.७६-७८)
प्राचीनरसाचार्यः (र.१८.१७२)
रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुनाऽऽलोचितस्तन्त्रकर्ता (र. १.५-९)

मन्थानक–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–मधुरः, स्निग्धो दोग्धा, बहुवीर्यकः तृणविशेषः (रापरि. ८.५५)

मन्द–पु., गुण० तीक्ष्णविपरीतः शनैः कार्यकारी गुणः (चशा. ६.१०) अस्य शमने शक्तिः (अहसू. १.१८)
–**कफ**–वि., लक्षण० न्यूनकफः (चसि. १.९)
–**कर्मन्**–वि., अलसः (सुसू. ४६.४४)
–**गन्ध**–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३९)
–**चेष्टता** स्त्री., लक्षण० मन्दकायव्यापारता (सुसू. १५.७)
–**जरस्**–वि., लक्षण० यस्य वार्धक्यं मन्दं चिरेण जायते सः पुरुषः (चवि. ८.१११)
–**ता**–स्त्री., लक्षण० जिह्मता,कौटिल्यम् (सुशा.४.९५)
–**तेजस्**–वि., लक्षण० मन्दतेजस्कम्, अल्पप्रभावम् (अहसू. ७.१७)
–**रुज्**–वि., लक्षण० मन्दवेदनम् (चचि. २८.३६)
–**लवण**–वि., ईषल्लवणम् (चचि. १७.१०७)
–**वार**–पु.,शनिवासरः (र. २०.१९६)
–**विकार**–वि., अल्पविकारयुक्तः (चवि. ८.१११)
–**विभ्रंशा**–वि., मन्दं स्वल्पो विभ्रंशो कर्षणम् यस्यां, सा मन्दविभ्रंशा मात्रा,मध्यमा मात्रा(चसू.१३.२७)
–**सरण**–न., (परिव०) शनैर्विसर्पणम् (सुनि.१०.६)
–**स्तनित**–वि., मधुरशब्दो मेघादिः 'स्तनितं मेघगर्जितम्' इति कोशात् (असंसू. ४.४१)
–**हुतभुज्**–वि., मन्दाग्निः (र. १६.१६२)

मन्दक–पु., न., आहारद्रव्य० दधिभेदः (चचि. २१.१८) क्षीरविकृतिः, यदा क्षीरं विक्रियामापन्नं घनत्वं न याति, तदा तन्मन्दकम्, त्रिदोषकरमिदम् (चसू. २७.२२८)

मन्दाग्निता–स्त्री., लक्षण० अग्निमान्द्यम् (सुसू. १५.९) द्र० 'अग्निमांद्य'

मन्दानल–वि., लक्षण० मन्दाग्निः (सुसू. ४६.४४४)

मन्दार–पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०; असंउ. ४२)
राजार्कः (ध. ४.१६)

मन्दारोग्य–वि., रोगी (सुसू. ४६.४४४)

मन्दाशित–वि., अल्पाशितः (का भोजनकल्प.)

मन्दोष्मता–स्त्री., मन्दौष्ण्यम् (सुसू. १५.७)

मन्मथानन्द–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.११)

मन्मथालय–पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.२)

मन्मथावास–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.९)

मन्मथोद्भवन–पु., वनस्पति० राजाम्रः (ध. ५.११)

मन्या–स्त्री., शारीर० धमनीमर्म० (सुशा. ६.२७) ग्रीवासिराद्वयम् (चक्र. चचि. ९.८४) ग्रीवापश्चिमभागस्था धमनी (ड. सुनि. ११.१०)
–**ग्रह**–पु., लक्षण० मन्यास्तम्भः (चसू. १७.१४; सुनि. १.७२) द्र० 'मन्यास्तम्भ'
–**शूल**–पु., लक्षण० ग्रीवायाः पश्चाद्भागो मन्या, तत्र भवः शूलः (चनि. ३.७)
–**स्तम्भ**–पु., रोग० मन्यायाः क्रियाहानिः अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; सुनि. १.६७) तत्संप्राप्तिः– मन्ये संश्रितो वातो यदा अन्तर्नाडीः प्रपद्यते, तदा मन्यास्तम्भं कुर्यात् (चचि. २८.४३) अयं श्लेष्मणाऽऽवृतेन वातेन जन्यते (मा. चसू.५.५९) अयं शिरोविरेचनार्हः (चसि. २.२२)

मयष्ट–पु., वनस्पति० मकुष्ठकः (रा. १६. १४५)

मयूर–पु., पक्षि० बर्ही (चसू. २७.६५)

तन्मांसगुणाः–मधुरं, कषायं, लवणं, सुस्निग्धं, शुक्रलं, बल्यं, मेधाकरं, स्वर्यम् (ध. ६.४४५) त्वच्यं, केश्यमरुचौ हितमग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् (सुसू. ४६.६४-६५)

वनस्पति० अपामार्गः (र. ५.१७१-७२)

–कण्ठप्रतिम–वि., मयूरकण्ठतुल्यः (सुक. १.२९,३०)

–कण्ठाभ–वि., मयूरकण्ठतुल्यः (असंसू. ८.२४)

–ग्रीवक–न., खनिज० तुत्थकम् (ध. ३.१४५)

–चन्द्रिका–स्त्री. मयूरपिच्छस्थितः चित्रविचित्रवर्णः (र. १.७२)

–चूड–न., वनस्पति० स्थौणेयम् (रा. १२.१२५)

–जङ्घ–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११४)

–तुत्थ–न., खनिज० तुत्थकम् (रा., १३.२०५)

–पादनाल–न., मयूरपिच्छस्यैव नालम् (चचि. १७.११७)

–पिच्छ–न., चन्द्रको नाम मयूरस्य पिच्छम् (र. २३.६) भस्मीकृतं श्वासकासयोः केवलं वा धूपनार्थे प्रयुज्यते (र. २१.६०-६२)

–वसा–स्त्री., मयूरस्य वसा सेयं नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १६)

मयूरक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (चचि. १२.२३; सुचि. ५.७; ध. १.२६०)

अजमोदा (असंचि. २४)

वायव्यः कीट० (असंउ. ४३)

(मयूरिका)–स्त्री., कीट० तद्गुणाः–वायव्या, वातकोपना सती वातरोगान् करोति (सुक. ८.५-८)

वनस्पति० अम्बष्ठा (रा. ४.१७०)

–सुतुत्थक–न., खनिज० मयूरतुत्थकम् (र. १४.१-१०)

मरक–पु., जनपदोध्वंसकरः रोगः (सुसू. ६.१७)

मरकत–पु. न., रत्न० (चचि. २३.२५२-५३)

गारुत्मतम् (ध. ६.४९) हरिन्मणिः (र. २.६२)

अयं श्वेतारुणपीतनीलभेदाच्चतुर्विधः (ध. ६.५२)

तद्गुणाः–मधुरं, शीतं, रुच्यं, पुष्टिदं, विषघ्नं, आमपित्तहरं भूतनाशनं च (ध. ६.५०)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० पाची (रापरि. १०.४६)

मरण–न., मृत्युः (चसू. ३०.२५)

(परिव०) भस्मीभवनम् (र.२.६८-६९)

वनस्पति० वत्सनाभः (ध. ७.१२८)

मरणाख्यलिङ्ग–न., (परिव०) रिष्टलिङ्गम् (चइ.१२.६५)

मरणोदय–वि., मरणकारणम् (चइ. १.२५)

मरालिका–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)

मरिच–न., वनस्पति० महाकषायवर्गे दीपनीयगणे, कृमिघ्नगणे, शिरोविरेचनोपगगणे, शूलप्रशमनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९,११,१३,१७) तद्गुणाः–कटु तिक्तमुष्णम्; नात्यर्थमुष्णम् (च.), लघु, दीपनं, रुचिकरं, पित्तकृत्, अवृष्यम् (चसू. २७.२९८) कफवातघ्नं, जन्तुहृद्रोगनाशनम् (ध. २.८८) कुष्ठहरप्रदेहे उपयुज्यते (चसू. ३.१२) तत्र आर्द्रमरिचगुणाः–कटु स्वादुपाकि उष्णं, गुरुश्लेष्मप्रसेकि शुष्कगुणाः–लघु अवृष्यं कफवातजिच्च (सुसू. ४६.२२४) तत्र शुष्कमरिचगुणाः–रसे पाके च कटुकं, नात्युष्णं, नातिरूक्षं, तीक्ष्णं, दीपनं, रोचनं, पित्तकोपकरं, अवृष्यं, रसायनं, विषघ्नं, दृष्टिरोगघ्नं, भूतनाशनम् (रा. ६.१३९; चचि. २३.१९३-१९४; सुसू. ४६.२२५) पिष्टकाख्यनेत्ररोगेऽञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुक. ड. ११.१३) तत्फलं-शिरोरेचनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.६)

हिं.—मिरच.

म.—मिरी, मिरे पांढरे.

गु.—मरी.

बं.—मरिच.

ता.—मिलगु.

फा.—पिलपिले.

–षोडशावर्ति–स्त्री., नेत्रवर्ति० पथ्यातुत्थकयष्टीमरिचादिनिर्मितेयं सर्वनेत्ररोगघ्नी (सुउ. १८.१०५)

मरिचोपदंश–वि., मरिचावचूर्णितं व्यञ्जनम् (सुउ. ४०.१४९)

मरीच–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. १०.८१)

(मरीची)–स्त्री., वनस्पति० मरुबकभेदः श्वेतमरुबकः द्र० 'मरुबक' (र. ३०.४७-४९)

अर्कमूलम् (र. ३०.४७-४९)

मरीचि–पु., महर्षि० (चसू. १२.११)

मान० षड्ध्वंश्यो मरीचिः (चक. १२.८७)

मेघज्योतिः (चइ. ४.१२)

मृगतृष्णा (ड. सुउ. ७.८)

मरु–पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ४.५२)

–ज–पु., वनस्पति० भृष्टयवः (चक्र. चक. ९.७; इन्दु. असंउ. २)

खदिरभेदः विट्खदिरः द्र० 'खदिर' (रा. ८.३८)

(–जा)–स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८)

–देश–पु., देशसंज्ञा० (ड. सुसू. ४५.२३)
–देश्य–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)
–बक–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुतिक्तोष्णो रुच्यो मुखसुगन्धकृत्कफघ्नः कृमिकुष्ठविड्बन्धाध्मानशूलमान्द्यत्वग्दोषनाशनः (ध. ४.५२-५३; रा.१०.८३)
हिं.—गोला तुलसी.
म.—मरुबक.
बं.—गन्धतुलसी.
फणिज्जकः (ध. ४.५२)
–भू–स्त्री., मरुदेशः, आरोग्यदेशानां श्रेष्ठोऽयम् (चसू. २५.४०)
–भूमि–स्त्री., देशसंज्ञा० मरुदेशः (असंसू. १३.३)
–वक–पु., वनस्पति० मरुबकः (चक. १.२३)
द्र० ' मरुबक '
–संभव–न., वनस्पति० चाणाख्यमूलम् (ध. ४.३५)
(–संभवा)–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा.३.२२)
–स्था–स्त्री., वनस्पति० धन्वयास (रा.३.२२)
मरुत्–पु., वातः (सुनि. १.१२)
(मरुच्)–छम–पु., वातोपशमः (अहसू. २०.३०)
(मरुद्)–भव पु., वनस्पति० धन्वयासः (ध. १.२२)
पद्मकः (ध., ३.८८)
–(भवा)–स्त्री., वनस्पति० कार्पासी (रापरि. ४.४६)
मरुत्तक–पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ४.५२)
मरुव–पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. १०.८०)
मर्कट–पु., वृक्षचरप्राणि०तन्मांसगुणाः–कषायं सन्तर्पणं, वृष्यं, बल्यं, बद्धविण्मूत्रकरं, कफकरं, कफवातघ्नं-श्वासामवातमेदःपाण्डुकृमिनाशनम् (ध. ४४३-४४)
(मर्कटी)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (ड. सुक. २९.७; ध. १.१५१)
अपामार्गः (ध. १.२६१)
अजमोदा (रा. ६.१५०)
शूकशिम्बी (चचि. ९.४५)
–तिन्दुक–पु., तिन्दुकः (ध. ५.४१)
मर्कटक–पु., कन्दविष० (असंउ. ४०) द्र० 'कन्दविष'
मर्जिका–मज्जिका–स्त्री., कृतान्न० शिखरिणी रसाला (ध. ६.३०१; ध. ६.३०१ (२५५))
मर्दक–वि., पीडाकरः (सुचि. ४२.१३५)
पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (चचि. १४.९)
घर्षकः (र. ९.८६-८७)
द्रुतद्रव्यपेषणोपयोगी लोहदण्डः (र. ७.५९)
मर्दन–न., खल्वे पेषणम् (र. ८.६३)
पारदसंस्कार० द्रवद्रुतस्य द्रव्यस्य खल्वे शोषणं यावद्घर्षणम् (र. २.२०-२१) द्र० ' पारद '
उपक्रम० अङ्गमर्दनम् (अहसू. १३.१)
मर्दनक–न., तैलम् (ध. ६.१२५)
मर्मन्–न., शारीरस्थान० (चसू. ११.४८) मारयतीति मर्म (ड. सुशा. ६.१) मरणकारित्वान्मर्म, मरणसदृशदुःखदायित्वाद्वा (अरु. अहशा. ४.६८) मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसंनिपाताः; तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति। तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान्भावानापद्यन्ते (सुशा. ६.१५) तत्संख्या – सप्तोत्तरशतम्, तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। उदरोरसोद्वादश चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् (सुशा. ६.५) आश्रयानुसारेण मर्मणां प्रकाराः संख्या च,मांसमर्माण्येकादश, सिरामर्माण्येकचत्वारिंशत्, स्नायुमर्माणि सप्तविंशतिः, अस्थिमर्माण्यष्टौ, सन्धिमर्माणि विंशतिः, तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्युर्विलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरसक्थि व्याख्यातम्। उदरोरसोस्तु गुदबस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति। पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति। बाहुमर्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रबस्तिकूर्पराण्यूर्विलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति; एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः। जत्रुण ऊर्ध्वं चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे द्वे फणे द्वावपाङ्गौ द्वावावर्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खावेका स्थपनी पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति; तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि, नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापास्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि, आणीविटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि, कटीकतरुणे नितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि, जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि; परिणामानुसारेण मर्मणां प्रकाराः–सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, विशल्यघ्नानि त्रीणि, वैकल्यकराणि चतुश्चत्वारिंशत्, रुजाकराण्यष्टौ; तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्त-

रान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति। तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति, विशल्यप्राणहरं च; वैकल्यकरं कालान्तरेण क्लेशयति, रुजां च करोति, रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति (सुशा. ६.३-८, २३,२२) तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति। कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति; विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्कामति, तस्मात्सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते, पाकात्पतितशल्यो वा जीवति; वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति; रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च तौ रुजाकरौ; पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके (सुशा. ६.१६). तेषां प्रधानमर्माणि–हृद्बस्तिशिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य (चसि. ९.३) मर्मविद्धलक्षणानि–देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासः (असंशा. ७.२७) शस्त्रक्रियाकाले मर्मस्थानं परिवर्जनीयम् (सुशा. ६.३०) ये रोगा मर्मस्थाने भवन्ति, ते प्रायेण कृच्छ्रतमा भवन्ति (सुशा. ६.४३)

हृदयम् (चक्र. चचि २१.२६)

(मर्म)–ग–वि., मर्मणि गतः (अहसू. १.३०)

–घट्टन–न., लक्षण० हृदयमंथनम् (असंनि. ४.२५)

–च्छिद्–वि., प्राणायतनहृदयमर्मच्छिद् (मधुकोशः सुनि. १६.५४)

–च्छेद–पु., लक्षण० मर्मविद्धवत्पीडा (चचि. ३.८१; सुउ. ३९.८८; सुचि. २६.१२)

–च्छेदन–न., मर्मच्छेदः (असंनि. २.८६)

–जात–वि., मर्मण्युत्पन्नः (सुचि. १८.१४)

–त्रय–वि., त्रीणि प्रधानमर्माणि, शिरो हृदयं बस्तिश्च (चसू. २९.३)

–संरोध–पु., मर्मणां रोधः (चसू. १७.१११)

–सदन–न., मर्मस्थानम् (सुशा. ६.३०)

–हत–पु., मर्मसु हृदयादिषु हतः (सुचि. २.७८)

मर्मरिका–स्त्री., कर्णस्थसिरा० तद्वधोपद्रवाः—वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च (सुसू. १६.५)

मर्मरी–स्त्री., कर्णगतसिरा० (असंउ. १)

मर्माभिघात–पु., मर्माघातः (असंशा. ७.३६)

मर्माश्रय–मर्मस्थानम् (असंशा. ७.३६)

मर्मोपघात–पु., मर्माघातः (चचि. १२.६) द्र० 'मर्म'

मर्मोपहासिन्–वि., मर्म-व्यङ्गं, न्यूनं, तदुपहासकः (चसू. ७.५६)

मर्यल–पु., ऋषि० प्राचीनो रसाचार्यः (र. १९.७-९)

मर्यादा–स्त्री., सीमा (सुशा. ४.५)

–विभक्त–वि., समसीमाव्यवस्थापितः (चइ. १.९)

मर्श–पु., नस्यभेदः (अहसू. २०.९-२१) द्र० 'नस्य'

मल–पु., त्याज्यांशः, किट्टस्वरूपः, शरीरस्याऽबाधकरः, तद्यथा–शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्वांस्तान्मले सञ्जक्ष्महे (चशा. ६.१७) द्र० 'किट्ट'

पुरीषम् (सुनि. ७.१७)

वातादिदोषः (चसू. २८.३१)

खनिज० लोहमलः शिलाजत्वादिः (चसू. १.७०)

न., भैषज्य० समुद्रफेनम् (सुउ. ११.८; ध. ३.१५४)

–करी–स्त्री., कफपित्तादिदोषवर्धकः कञ्चुकाख्यः पारददोषः (र. ११.२२)

–क्षय–पु., (परिव०) लक्षण० मलस्य क्षीणत्वम्, स देहपीडनो भवति (अहसू. ११.२५)

–ग्रह–पु., लक्षण० मलावरोधः (अहसू. १०.२२)

–घ्न–पु., वनस्पति० शाल्मलीकन्दः (रापरि. ७.४६)

–ज–वि., मलाज्जात इति (चवि. ७.९)

–(जा)–स्त्री., ग्रह० पूतनाग्रहः (का. चि.)

–जित्–वि., मलहरः (अहसू. ३.५२)

–द्राविन्–पु., वनस्पति० जयपालः, दन्तीबीजं (ध. १.२२७)

–धरा–स्त्री., शारीर० पुरीषधरा कला (सुशा. ४.१७)

–नाशिनी–स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री (ध. ३.३३)

–निग्रह–पु., लक्षण० मलावरोधः (र. २१.१३०-३३)

–पाचन–वि., दोषपाचनम् (असंचि. १.२२-२३)

–पू–स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (चचि. १.६२; सुचि. ८.५०)

काष्ठोदुम्बरिका (ड. सुचि. ९.१५)

–बन्ध–पु., लक्षण० मलावरोधः (३.१०२)

-बन्धन-न., (परिव०) मलावरोधः (र. २.५-६)
-भूत-वि., मलस्वरूपः (चशा. ६.१७)
-शुद्धि-स्त्री., पुरीषोत्सर्जनम् (र. २०.११५-१७)
-संकर-पु., मलमिश्रणम् (अहसू. ५.४४)
-संक्षय-पु. मलस्य क्षयः (चसू.७.४३)
मलस्य स्वमानादपि क्षयः (चसू. ७.४३)
-सङ्ग-पु., लक्षण० मलावरोधः (अहसू. १३.२४)
-हन्तृ-पु., वनस्पति० शाल्मलीकन्दः (रापरि. ७.४६)

मलय-पु., देश० नन्दनवनम् (सुसू. ६.२५-२९)
पर्वत० अत्र 'चन्द्रमा' इति सोमविशेष उपलभ्यते हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलयेऽपि तथैव (सुचि. २९.२७)
वनस्पति० पद्मकः (ध. ३.८८)

(मलया)-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (र. २०.२०५)
-ज-न., वनस्पति० चन्दनम् (ध.३.१; सुउ.४७.५५)
श्वेतचन्दनम् (र. १८.२११)
-वासिन्-वि., मलयदेशस्थितः जनः (चचि. ३०.३१)

मलयज-न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.३)
मलयू-स्त्री., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८; असंचि. २२)
मलयोत्थ-न., वनस्पति० कालीयकम् (ध. ३.८)
मलयोद्भव-न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.१)
मलयोद्भूता-वि., मलयपर्वतोद्भवा (अहसू. ५.१०)
मलाक्तता-स्त्री., लक्षण० पङ्कमलोपदिग्धता (अरु. अहसू. ७.११)
मलाधार-पु., शारीर० मलस्याधारः, आशयः, स्थानम् (सुनि. ३.२०)
मलाधिक्य-न., लक्षण० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेको विकारः, मलवृद्धिः (चसू. २०.१७)
मलानुलोमनी-वि., वातादीन् स्वमार्गस्थान् कुर्वाणा (अहसू. ६.२९)
मलापहा-स्त्री., वनस्पति० कुलत्था (ध. ३.१५६)
मलायतन-न., मलस्थानम् (सुसू. २४.९)
मलायन-न., शारीर० मलस्थानं मलमार्गो वा (चसू. ७.४२; अहसू. २.३१)
मलारि-पु., लवण० सर्वक्षारः (रा. ६.५७)
मलिन- वि., समलम् (सुउ. ५४.३)
कलुषम् (अरु.) नीलम् (हे अहसू. २७.४१)
खनिज० टङ्कणः (रा. ६.२९)

(मलिना)-स्त्री., वनस्पति० कण्टकारीभेदः द्र० 'कण्टकारी' (ध. १.९९)
मलिनाङ्गी-स्त्री.,वनस्पति०कण्टकारीभेदः,द्र० 'कण्टकारी' (ध. १.९९)
मलिनाहार-पु., पूतिद्वेष्टामेध्यपर्युषित आहारः (सुउ. ६१.४)
मलीमस-न., खनिज० पुष्पकासीसम् (ध. ३.१२५)
वि., मलिनम्
मलोचितत्व-न., मलस्य सहजसात्म्यता अभ्यस्तमलत्वम् (अहसू. ११.२५)
मलोत्पत्ति-स्त्री., मलप्रादुर्भावः (सुनि. ६.५)
मलोत्सर्ग-पु., पुरीषमलस्य विसर्जनम् (र. २८.८०)
मलोद्भव-न., खनिज० लोहकिट्टं मण्डूरम् (ध. ६.३५)
मलोपघात-पु., मलस्योपघातो नाम नाशः(चवि.७.१०)
मल्य-न., नेत्ररोग० मलदिग्धाक्षिता (चचि. १७.१२८)
मल्ल-पु., शरावः (र. ९.६८)
पर्णम् (र. २५.९८)

(मल्ली)-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२५)
-मूषा-स्त्री., मूषा० शरावमूषा (र. १७.९४,९८)

मल्लक-पु., जलचरपक्षि० मलिनचञ्चुचरणहंसभेदः (असंसू. ७.८१-८३)
मत्स्य० (का. धात्रीचि.)
-संपुट-पु., संपुट० शरावमुखयोः संपुटीकृतपात्रम् (चचि. २६.१३६) पातव्यधूमनिर्गमार्थमूर्ध्वच्छिद्रसंपुटः (चचि. १७.७९)

मल्लारिष्टा-स्त्री., वनस्पति० पाची (रापरि. १०.४६)
मल्लिक-पु., जलचारिपक्षि० मलिनचञ्चुचरणहंसभेदः (असंसू. ७.८१-८३)

(मल्लिका)-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-कटुस्तिक्तोष्णा, चक्षुष्या, पित्तवातघ्नी, मुखरोगनेत्ररुजामुखपाककुष्ठविस्फोटकण्डूतिविषव्रणनाशिनी, च (ध. ५.१३४)
वृत्तमल्लिका (रा. परि. १०.२३)
मङ्गल्या (रा. १२.४५)
मेथिका (ध. ६.१११)
-पुष्प पु., वनस्पति० कुटज० (ध. २.१३)
न., शाक० तद्गुणाः-तिक्तं, पित्तनाशनं सौरभ्यात् (सुसू. ४६.२८६)

मल्लिकाक्ष-पु., शुक्लशबलो हंसभेदो मलिनचञ्चुचरणहंसभेदः (ड. सुसू. ४६.१०५)

मशक–पु., क्षुद्रकीट० (चचि. २३.१५७) मक्षिका० (सुसू. १८.२९) तद्दष्टलक्षणम्–कण्डूमान् मन्दवेदनः, शोथः (मा विषरोग० ५४) सविषकीट० स च पञ्चविधः–सामुद्रः परिमण्डलो हस्तिमशकः, कृष्णः, पार्वतीयः, तैर्दष्टस्य तीव्रां कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः, तेन नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडका दाहपाका भवन्ति (सुक. ८.३६) असाध्यमशकक्षतमिति पञ्चसु मशकेषु पार्वतीयकृतमसाध्यमाहुः (चक्र. चचि. २३.१५७) तच्चिकित्सा–गोमूत्रयुक्ता कृष्णवल्मीकमृत्तिकालेपनम् (सुक. ८.५५) क्षुद्ररोगभेदः रक्तदोषजविकारेष्वेकः तस्याऽधिष्ठानं तृतीया श्वेता नाम त्वक् (सुशा. ४.४) तच्चिकित्सा–प्रतिसारणीयः क्षार उपयुज्यते (सुसू. ११.७) द्र० 'मषक'

मष–पु., क्षुद्ररोग० त्वक्स्थास्तिलाभाः कृष्णा अवेदना उन्नताश्च पिटिकाः (असंउ. ३६)

(मषी)–स्त्री., दग्धत्वात्कृष्णतां यातं द्रव्यम्, भस्म, कज्जलम् (र. ५.२३३-३६)

मषक–पु., बहिर्मार्गजः क्षुद्ररोग० (चसू. ११.४९) माषवदुत्सन्नः पिटकाविशिष्टो रोगः (सुनि. १३.४२) मषकं समुत्कृत्य क्षारेणाऽथवा वह्निना युक्त्या प्रदहेत् (सुचि. २०.३२-३३) द्र० 'मशक'

–**लेख्यदल**–पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा. ९.९५)

मसार–पु., रत्न० मरकतरत्नम् (इन्दु. असंचि. ६)

मसी–स्त्री., मस्म, रक्षा, दग्धाऽवशिष्टं कज्जलम् (सुउ. ५१.३८) कज्जली (र. १२.१२१-२२) कृष्णभस्म (र. २३.२९)

मसूर–पु., शिम्बीधान्य० (चसू. २७.२८; अहसू. ६.१७) तद्गुणाः–मधुरः, शीतो, लघुः, संग्राही, वातरोगकरः, कफपित्तघ्नो, मूत्रकृच्छ्रघ्नः (ध. ६.९५; रा. १६.१४९) स च द्विविधः–कृष्णः पाण्डुरश्च; तत्र कृष्णवर्णा मसूराभिधानाः, पाण्डुवर्णा मङ्गल्यकाऽभिधानाः (ड. सुसू. ४६.३०) हिं.—मसूर.
म.—मसूरा, चणई.
गु.—मसुर.
बं.—मसुरी, मसूरिकलाय.

(मसूरा)–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृच्छ्यामा (ध. १.२४३)

(मसूरी)–स्त्री., वनस्पति० श्यामाभेदः त्रिवृच्छ्यामा (रा. ६.३६९)

–**दलमात्रा**–वि., मसूरदलप्रमाणा (सुउ. ७.३)

–**दलमुखा**–वि., मसूरदलवन्मुखं यस्याः सा (शलाका) (असंसू. ३४.१५)

–**विदलप्रख्य**–वि., मसूरपर्णसंनिभः (असंशा. ११.४५)

–**विदला**–स्त्री., वनस्पति० श्यामलता (चक्र. चक. ११.१४) निस्तुषमसूरा (चचि. ७.१३७)

मसूरक–पु., शिम्बीधान्य० मसूरः (रा. १६.१४९)

मसूरिका–स्त्री., रोग० (चइ. ११.१४; सुनि. १३.३८) तत्संप्राप्तिः–शोणितसंसृष्टं पित्तं यदा त्वचं दूषयति तदा सर्वगात्रेषु मसूरमुद्गमाषतुल्याः पिडकाः करोति (मधुकोश, मा. मसूरिका) तत्पूर्वरूपाणि–ज्वरः, कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमो वैवर्ण्यं, नेत्ररोगः शोथः; तत्पञ्चभेदाः–वातजमसूरिकालक्षणानि–श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः कठिनाश्चिरपाकाश्च स्फोटा भवन्ति। सन्ध्यस्थिपर्वभेदः, कासः, कम्पोऽरतिः क्लमस्तालुोष्ठजिह्वाशोषस्तृष्णाऽरुचिः; पित्तजलक्षणानि–रक्ताः पीतसिताः सदाहास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः, शीघ्रपाकाश्च स्फोटा भवन्ति। अङ्गमर्दो विड्भेदो दाहस्तृष्णाऽरुचिर्मुखपाकोऽक्षिरागस्तीव्रज्वरः, रक्तजमसूरिकालक्षणानि–पित्तजवल्लक्षणानि; कफजमसूरिकालक्षणानि–श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाश्चिरपाकाः स्फोटा भवन्ति। अरुचिर्निद्राऽऽलस्यं स्तैमित्यं, शिरोरुग्गात्रगौरवं, हृल्लासः; सान्निपातिकमसूरिकालक्षणानि– चर्मदलमसूरिकालक्षणानि–नीलाश्चिपिटविस्तीर्णाः, मध्ये निम्नाः, महारुजश्चिरपाकाः पूतिस्रावाः, प्रभूताः स्फोटाः, कण्ठरोधाऽरुचिस्तम्भाऽरतिप्रलापाश्च (मा. मसूरिका.)

मसृण–वि., गुण० चिक्कणः, श्लक्ष्णः (र. २.५७) मृदुः (र. ३.४९)
न., खनिज० सुवर्णगैरिकम् (ध. ३.१७०)

मस्कर–पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१६; ध.४.१३७)

मस्त–न,, शारीर० मस्तकम् (रा. २४.३१)

मस्तक–न., शारीर० प्रत्यङ्गेष्वेकम्, शिरः (सुसू.३५.१२) शीर्षोर्ध्वभागः (सुशा. ५.४)

–**मज्जन्**–पु., तालादीनामग्रभागे या मज्जा भवति सा (सुसू. ४६.३१०) द्र० 'ताल, नालिकेर, खर्जूर'

-शालिनी-स्त्री., यशोदायिनी (र. १२.१०४) गोलाकारा (१२.१०४)

मस्तिष्क-पु., न., शारीर० शिरोगतस्नेहः (चक्र.) शिरसि मस्तिष्कस्याऽर्धाञ्जलिः प्रमाणम् (चशा. ७.१५) शिरःस्थो मज्जा (चक्र.चसि. ९.७९) मस्तुलुङ्गसुतावन्यजीवजान्मस्तिष्कान्खादेत् (असंउ. ३१)

-स्नेह-पु., (परिव०) उपक्रम० शिरोभ्यङ्गः (सुचि. ३१.३)

मस्तिष्क्य-न., शिरोबस्तिप्रकारः सच स्नेहाऽक्तपिचु-प्लोतादिभिः क्रियते (सुचि. ३.५४)

मस्तु-न., दधिजलम् (रा. १५.२४५) दध्न उपर्यच्छो भागः, 'उक्तं दधि द्विगुणवारियुतन्तु मस्तु' (अहकोश० चसू. १३.६६; सुचि. ५.८) तद्गुणाः-अम्लं, कषायं, मधुरं, लघु, स्रोतोविशोधनं, बल्यं, प्रह्लादनं, प्रीणनं तृष्णाक्लमहरं कफवातापहं द्राक्षाल-भेदनं भक्तच्छंदकृच्च (सुसू. ४५.८१-८२)

-लुङ्ग-पु., न., शारीर० शिरसो बलाधानं स्थान-घृताकारमस्तुलुङ्गमुच्यते (ड. सुचि. २.७०) मज्जा० (इन्दु. असंउ. २) कपालमज्जा (इन्दु. असंउ. ३१) अर्धविलीन-घृताकारो मस्तकमज्जा (सुसू. २३.१२) कपालपूरणम् (इन्दु. असंउ. २९)

-लुङ्गक्षय-पु., रोग० मस्तुलुङ्गक्षयात्तालवस्थिवायु-र्नामयेत्तेन च रुग्णः तृड्दैन्ययुक्तो भवति, तत्र मधुरकैः शृतं घृतं पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यम्, शीताम्बु-चुलकैरासेचनात्त्रासनं कार्यम् (सुशा. १०.४२-४३)

-लुङ्गदर्शन-न., मस्तकमज्जादर्शनम्, भिन्ने वा शिरः-कपाले यत्र मस्तुलुङ्गदर्शनं तत्र व्रणस्यासाध्यत्वम् (सुसू. २३.१२)

-लुङ्गस्राव-पु., मस्तुलुङ्गस्य बहिरागमनम् (सुसू. २३.१२)

-लुङ्गस्रुति-स्त्री., मस्तुलुङ्गस्रावः, मस्तुलुङ्गसुता-वन्यजीवजान्मस्तिष्कान्खादेत । शल्ये हृते-ऽन्यस्मादङ्गात्स्नेहवर्ति निधापयेत् (असंउ. ३१)

-लुङ्गोपम-वि., मस्तुलुङ्गप्रतिमम् (सुउ. ४०.१९)

मस्तुक-न., दधिजलम् मस्तु (असंसू. २५.७४)

मस्त्वारनालवसन-न., मस्त्वारनालस्निमितं वसनम् (चक्र. चचि. २२.३७)

महत्-पु., पञ्चविंशतितत्त्वेष्वेकम् (सुशा. १.४) न., शारीर० हृदयम् (चसू. ३०.३)

(महती)-स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.९३) वार्ताकी (रा. ७.१२८)

(महत्)-तमस्-न., मरणरूपं तमः (चइ. ११.५)

-पञ्चमूल-न., बृहत्पञ्चमूलम् (चसू. २६.४८; (सुसू. ३८.६८-६९) द्र० 'पञ्चमूल'

-स्रोतस्-न., शारीर० स्रोतो० महास्रोतः (सुनि. १३.५५)

(महा)-जाली-स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (रा.३.२९६)

(महा)-कटभी-स्त्री., वनस्पति० कटभी, श्वेता (रापरि. ९.३८)

-कनकसुन्दर-पु., पारदयोग० कान्तं काञ्चनं च पारदसमभागं जारयित्वा गन्धकं च जारयेत् । ततः भस्मीकृतं तं पारदं चतुर्निष्कमितं सुवर्णं च निष्कमितं कान्तपात्रे प्रक्षिप्य पञ्चाशन्निष्कमितं गन्धकं तत्राऽन्धमूषायां बदराग्निना जारयेत् । श्लक्ष्णीकृत्य मधुपूर्णे घृतभाण्डे निक्षिपेत् । अमुनैव प्रकारेण पथ्यानां षष्टिसंयुक्तं त्रिशतं साधयेत् यत्नात् । तद्गुणाः-पाण्डुग्रहणीप्रमेहकुष्ठशूला-ऽऽमयादिनाशनः (र. २७.७७-८८)

-कन्द-पु., वनस्पति० राजपलाण्डुः द्र० 'पलाण्डु' (रा. ७.१०४)

लशुनभेदः (ध. ४.६६)

मुखालुः (रापरि. ७.२२)

न., चाणाख्यमूलम् (रा. ७.५३)

मूलकम् (ध. ४.३३)

-कपिल-पु., मूषिक० दष्टलक्षणम्-रक्तजान् विकारान्कुरुते । ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः पिडकादारुण-शोफाश्च (सुक. ७.२५-३०)

-कपोत-पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१))

-करम्भ-पु., स्थावरविषभेदः, यस्य पत्रपुष्पफलानि च विषमयानि भवंति (सुक. २.५; असंउ. ४०)

-कल्क-पु., पारदाभ्रककम्पिल्लकादिसाधितोऽयं दिव्यामृतरस इत्यपरपर्यायः, दृढदीपनपाचनः, श्वासकासक्षयपाण्डुरोगविनाशकः(र.२७.१३७-५४)

-कल्याणकघृत-न., घृत० स्थिरानतरजनीसारिवा-प्रियङ्गुकानीलोत्पलादिभिः साधितमिदं बृंहणीयं, सन्निपातहरमुन्मादचिकित्सायामुपयुक्तम् (चचि. ९.४२-४४; सुउ. ३९.२३८)

-कषाय-पु., दशसंख्यावच्छिन्नस्यैककार्यकरणार्थोपात्त-स्यौषधगणस्य संज्ञा (चक्र.) चरकमहर्षिनिर्दिष्टाः पञ्चाशन्महाकषायाः (चसू. ४.८)

-कषायसंग्रह-पु., महाकषायाणां संग्रहः (असंसू. १५.५१)

-काल-पु., रसमण्डपे पूजनीयो नन्दीभृङ्गीप्रभृती-नामेकतमः, देवता० (र. ६.२५)

(-काली)-स्त्री., वनस्पती० कृष्णकठिनसारमयो वृक्षः गृहधारणः कृष्णकार्पासी, कृष्णराजिका, बकायनः (र. १०.७३-७६)

-कुमुदा-स्त्री., वनस्पती० काश्मरी (रा. ९.१४८)

-कुम्भा-स्त्री., वनस्पती० कट्फलम् (ध. १.७३)

-कुष्ठ-न., रोग० कुष्ठभेदः (सुनि. ५.९)
सप्तभेदाः- कापालमौदुम्बरं, मण्डलमृष्यजिह्वं, पुण्डरीकं, सिध्मं, काकणञ्च (चचि. ७.१४-२०)
द्र० 'कुष्ठ'

-कुष्ठचिकित्सित-न., अध्याय० (सुचि. १०.१)

-कुह-पु., कफजकृमि० (असंनि. १४.५१)
द्र० 'कृमि'

-कृष्ण-पु., सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४(१))
मूषिक० तद्दष्टलक्षणम्-क्रुद्धपित्तजविकारान्कुरुते। दंशे ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः पिडकादारुणशोफाश्च (सुक. ७.२५-३०)

-कोशातकी-स्त्री., वनस्पति० धामार्गवभेदः (ध. १.१९०)

-क्षार-पु., लवण० सर्वक्षारः (रा. ६.५७)

-खदिरघृत-न., घृत० खदिरशिंशपाकरंजारिष्ट-वेतसादिसिद्धमिदं कुष्ठविकारे उपयुक्तम् (चचि. ७.१५२-५६)

-गद-पु., अतत्त्वाऽभिनिवेशाख्यो व्याधिः
द्र० 'अतत्त्वाभिनिवेश' (चचि. १०.६०)
मारणात्मकत्वादसाध्यत्वाच्च महत्त्वं येषां ते गदाः-वातव्याधिः, प्रमेहः, कुष्ठमर्शो भगन्दरमश्मरी, मूढगर्भ इत्यष्टौ (सुसू. ३३.४)
राजयक्ष्मा (चचि. ८.२७)

-गन्ध-पु., वनस्पति० कुटजः (रा. ९.१९)
न., हरिचन्दनम् (रा. १२.१९)
भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११७)

-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० केविका (रापरि. १०.३३)

-गन्धहस्तिन्-पु., योग० पत्रागरुमुस्तैलाचन्दन-स्पृक्कादिसाधितोऽयं विषादिहतेषु शमनार्थमुपदिष्टः (चचि. २३.७७-८९)

-गुण-वि., कायवाक्चित्तगुणवान् (सुशा. ३.३५)
सत्वं रजस्तमश्च (असंसू. १)

-गुद-पु., क्रिमि० कफजोऽयम् (चसू. १९.४(९)
द्र० 'कृमि'

-गुल्मा-स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.३; रापरि. ३.२९)

-गुहा-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११७)

-ग्रह-पु., राहुः (असंड. ७)

-ग्रहोपगमन-न., चन्द्रसूर्यग्रहणम् (चसू. ८.२४)

-घृत-न., पुराणघृतम्, एकादशोत्तरशताधिकं वार्षिकघृतम्, तद्गुणाः-कफघ्नं, बल्यं, पवित्रं, मेध्यं, विशेषेण तिमिरापहं, सर्वभूतहरम् (सुसू. ४५.१०९-१११) द्र० 'घृत'

-घोषा-स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५)

-चञ्चु-स्त्री., वनस्पति० बृहच्चञ्चुः (रापरि. ४.२०)

-चतुष्पाद-पु., अध्याय० (चसू. १०.१)

-चूत-पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.१०)

-च्छिद्रा-स्त्री., वनस्पति० महामेदा (रा. ५.१६४)

-छाय-पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११३)

-जटा-स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२५)

-जम्बू-पु., वनस्पति० जम्बूः (ध. ५.८३; रा. ११.१३०)

-जव-वि., शीघ्रगति० (अहसू. १२.६)

-जाति-स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (रा. १०.२३४)

-जालिनि-स्त्री., वनस्पति० धामार्गवः (चक. ४.३)
पीतकोशातकी (चक्र. चक. ३.१७)

-जाली-स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (ध. १.१९८)
कोषातकी (ध. १.१८९)

-ज्वराङ्कुश-पु.,पारदयोग०पारदगंधकधत्तूरव्योषादि-साधितोऽयं सर्वदोषजज्वरघ्नः (र. १२.४३-४६)

-तालेश्वर-पु., पारदयोग० पारदतालताप्यशिला-दिभिः कृतोऽयं सर्वकुष्ठानां विनाशकः (र. २०.१४४-४९)

-तिक्त-पु., वनस्पति० महानिम्बः (रा. ९.४६)
किराततिक्तः (ध. १.३५)

-(तिक्ता)-स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (रा. ३.३८०)

-तिक्तघृत-न., घृत० सप्तच्छदातिविषाशम्याक-तिक्तरोहिण्यादिसाधितमिदं पाण्डुरोगे उपयुक्तम् (चचि. १६.४३) पैत्तिकेऽसृग्दरे प्रशस्तम् (चचि. ३०.९९)

-तिक्तकघृत-न., घृत० अपस्मारभगंदरोदरप्रदर-ज्वरघ्नम् (असंचि. २१) द्र० 'महातिक्तघृत'

-तिक्तकसर्पिस्-न., घृत० महातिक्तघृतम् (सुचि. ९.८)

-तेजस्-न., खनिज० पारदः (रा. १३.४०)
-त्रैफल-न., घृत० मधुयष्टीकाकोलीद्वयद्राक्षाकृष्णात्रिफलादिसिद्धमिदं दृष्टिविकारघ्नम् (असंउ. १६)
-दण्डा-स्त्री., वनस्पति० नागबला (रा. ४.४२८)
-दशन-वि., महादन्तः (सुसू. ३५.४)
-दारु-पु., वनस्पति० देवदारुः (ध. १.७६)
-दूषक-पु., धान्य० शालिः (सुसू. ४६.४)
-देव-पु., रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुनाऽऽलोचितस्तन्त्रकर्ता (र. १.५-९)
-द्रोण-न., रत्न० श्वेतवैकुण्ठम् (इन्दु. असंउ. ४२)
-(द्रोणा)-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-कटुस्तिक्ता, मेध्या, पारदशोधनी, कफघ्नी, वातार्तिभूतनुद्, अग्निमान्द्यापहा (रा. ५.५०)
हिं.—गोमा मधुपति.
म.—बहुफूल.
गु.—कुलानुफूल.
बं.—दरुनाफूला.
ता.—तुम्बे कीरे.
-(द्रोणी)-स्त्री., वनस्पति० महाद्रोणा (रापरि.५.५०)
-धन-वि., विपुलधनशाली (सुचि. ११.११)
-नल-पु., वनस्पति० नलभेदः तद्गुणाः-अतिमधुर ईषत्कषायः शीतो रुच्यो दीपनो वृष्यः(ध.४.१४२; रा. ८.२२५)
-निद्रा-स्त्री., लक्षण० अतिनिद्रा (असंनि. २.२३) (चसू. ११.४८; असंसू. २२.१५)
-निम्न-न., शारीर० कोष्ठः, महास्रोतः
-निम्ब-पु., वनस्पति० निम्बभेदः, तद्गुणाः-तिक्तः शीतः पित्तकफघ्नः कुष्ठरक्तविकारविषूचिकानाशकः (ध. १.३१)
हिं—महानिम्ब.
म.—बकाणा लिम्ब; विलायती निम्ब.
बं.—गोरानिम.
ता.—मलाय०हेम्बु.
फा.—ताक.
-नील-पु. न., रत्न० इन्द्रनीलम् (असंसू. १२.१९-२१)
वनस्पति० नीलभृङ्गराजः 'द्र० भृङ्गराज' (रा.४.२२)
तैल० वटप्ररोहपिण्डीतमूलत्वक्कृष्णसैर्यककेतकीस्तननिर्यासादिसिद्धमिदं तैलं केशरञ्जकम् (र. ३०.५८-६१)
(-नीला)-स्त्री., वनस्पति० महाजम्बूः द्र० 'जम्बू' (रा. ११.१३०)
गिरिकर्णी (रा. ३.१२५)
(-नीली)-स्त्री., वनस्पति० द्र० 'नीली' (रा. ४.३५३)
-नीलघृत-न., घृत० त्रिफलात्रिकटुसुरसामदयंतिकाऽऽरग्वधादिसिद्धमिदं, भगन्दरकृम्यर्शोनाशकम् (सुचि. ९.३४-३८)
-नीलतैल-न., तैल० बैभीतकतैले आदित्यवल्लीकृष्णसैरेयकसुरसमार्कबकाकमाच्यादिसाधितमिदं शिरोरोगेषु पाननस्यक्रियादिभिरुपयुज्यते (चचि. १६.२६८-७५)
-पञ्चगव्यघृत-न., घृत० पञ्चमूलद्वयत्रिफलारजनीकुटजसप्तपर्णादिसिद्धमिदं अपस्मारविनाशनम् (चचि. १०.१८-२४)
-पञ्चमूलासव-पु., आसुत० अयं मण्डूकपर्ण्यादीनां शाकानामनुपानत्वेन विहितः (सुसू. ४६.४३३)
-पञ्चाङ्गुल-पु., वनस्पति० स्थूलैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (रा. ८.४४९)
-पत्र-पु., वनस्पति० टिण्टुकः (चक्र. चचि. १४.१२४)
-(पत्रा)-स्त्री., वनस्पति० नागबला (रा. ४.४२७)
-पद्म-पु., रोग० विसर्पभेदः द्र० ' विसर्प ' (असंउ. २)
सर्प० दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)
-पद्मतैल-न., तैल० पद्मवेतसयष्टीमधुफेनिलापद्मकादिसिद्धमिदं वातशोणिते ज्वरे च उपयुज्यते (चचि. २९.११०,१३)
-पनस-पु., सर्प० मण्डली (सुक. ४.३४ (२)
-पाणि-वि., आजानुबाहुः (सुसू. ३५.४)
-पाद-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणात्किञ्चिदायततरपादयुक्तः (सुसू. ३५.४)
-पारेवत-न., वनस्पति० पारेवतभेदः द्र० 'पारेवत' (रा. ११.९०)
-पार्श्व-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणाधिकपार्श्वयुक्तः (सुसू. ३५.४)
-पालेवत-न., वनस्पति० पारेवतभेदः द्र० 'पारेवत' (ध. ५.६६)
-पाशुपत-पु., वनस्पति० वसुकः (ध. ४.१९)
-पिण्डिन्-पु., वनस्पति० कषाय उष्णस्निग्धदोषशमनश्रमरोगरक्तदोषजित् (रा. ९.३३)
-पिण्डीतक-पु., वनस्पति० महापिण्डी (रापरि. ९.३३) द्र० ' महापिण्डिन् '
वाराहमदनः (रापरि. ८.२८)

-पीलु-पु., वनस्पति० बृहत्पीलुः द्र० 'पीलु' (रा. ११.६३)

-पुट-न., पुट० द्विहस्तनिम्ने द्विहस्तचतुरस्रे खाते-कुण्डे-वनोपलसहस्रेण पूरणं कुर्यात्, तत्र क्रौञ्चयां प्रयत्नेन रुद्धं पुटनौषधं पिष्टिकोपरि निक्षिपेत्। अनन्तरं वनोपलसहस्रार्धं क्रौञ्चिकोपरि विन्यसेत् वह्निं च प्रज्वालयेत् (र. १०.५२-५३)

-पुरुषदन्ता-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (चचि. ९.४६)
महामेदा (इन्दुः, असंउ. ९)
सहस्रवीर्या, शतावरीभेदः (ध. १.२९३)

-पुरुषदन्तिका-स्त्री., वनस्पति० शतावरीभेदः, सहस्रवीर्या द्र० 'शतावरी' (रा. ४.४४१)

-पुष्प-न. वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९४)
कफजकृमि० दर्भपुष्पमहापुष्पप्रभृतीनां षण्णामेकतमः (सुउ. ५४.१२)

-पृष्ठ-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणात्किञ्चिदधिकपृष्ठयुक्तः (सुसू. ३५.४)

-पैशाचिकघृत-न., घृत० जटिलाकेशीपूतनामर्कटीवचात्रायमाणादिसाधितमिदं उन्मादग्रहापस्मारनाशनंबुद्धिस्मृतिकरं च (चचि. ९.४५-४८)

-प्रकृति-स्त्री., सत्वरजस्तमःकृतः स्वभावः, चित्तप्रकृतिः (ड. सुशा. ४.९९)

-प्रसवशक्तित्व-न., अतिप्रजोत्पादनसामर्थ्यम् इदं कौबेर-कायलक्षणम् (सुशा. ४.८४)

-फल-पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०६)
पीलुभेदः बृहत्पीलुः, द्र० 'पीलु' (रा. ११.६३)

(-फला)-वि., शारीर० हृदयमूला धमनी (चसू. ३०.३)
स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९०)
नीलिनी (रा. ४.३५०)
इन्द्रवारुणी (ध. १.२५०)
नागबला (रा. ४.४२७)
क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३८)
कटुतुम्बी (ध. १.१७०)
जम्बूभेदः महाजम्बूः, द्र० 'जम्बू' (रा. ११.१३०; ध. ५.८३)
मधुकर्कटी (ध. ५.३१)
मातुलुङ्गभेदः, वनबीजपूरकं, द्र० 'मातुलुङ्ग' (रा. ११.३४)

-बन्ध-पु., पारदबन्ध० (र. ११.९३) 'द्र० पारद'

-बभ्रु-पु.,प्राणि०नकुलभेदः बिलेशयवर्गीयाणामेकतमः (सुसू. ४६.७८)

-बल-पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१५)
धन्वनः (रा. परि. ९.२०)
तमालः (रा. परि. ९.१५)
प्लक्षः (रा. ११.१२५)

(-बला)-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५१)
वत्सादनी (रापरि. ३.३३)
बला० तद्गुणाः-शुक्रवृद्धिकरी, बल्या, वातघ्नी, हृद्रोगाऽर्शःशोफविषमज्वरनाशिनी (ध. १.२८२)
हिं.—खिरिटी.
म.—सादेव; चिकणाभेद.
गु.—बाणमेथी.
ता.—अथिबल्लाचेडी.
फा.—शाम्बीडेबारी.

-बलबला-स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः (ध. १.२८७)

-भद्रा-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४७)

-भल्लाततैल-न., तैल० इदं सर्वकुष्ठानि नाशयति (र. २०.१६३-१६५)

-भूत-न., प्रकृतेर्विकार० विशेषगुणयुक्तमाकाशादिद्रव्यम्, खं वायुरग्निरापः पृथिवी-इत्येतानि पञ्चमहाभूतानि तद्गुणाः-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च (चशा. १.२७) तत्र अप्रतिघातचलत्वौष्ण्यद्रवत्वकाठिन्यानि यथाक्रमं लिङ्गानि ज्ञेयानि (असंशा. ५)

-भूतराव-न., घृत० नतमधुककरञ्जलाक्षापटोलीसमङ्गादिसिद्धमिदं ग्रहोन्मादकुष्ठज्वरनाशनम् (असंउ.८)

-भूतविकारप्रकृति-स्त्री., महाभूतविकाराणां स्वभावो दोषप्रकृतिहेतुः (चवि. ८.९५)

-भूताग्नि-पु., भूताग्निः (असंशा. ६.५९)

-भृङ्ग-पु., वनस्पति० नीलभृङ्गराजः, द्र० 'भृङ्गराज' (रा. ४.२२)

-भेरी-स्त्री., वनस्पति० वचा (र. ३०.५७)
इन्द्रवारुणी (र. ३०.५७)

-मन्दार-पु., वनस्पति० अर्कः (र. १२.४८)

-मर्मन्-न., मर्म० शिरोहृदयबस्तय इति त्रीणि महामर्माणि (चसि. ९.७) मूर्धजिह्वबन्धनकण्ठहृदयनाभिबस्तिगुदा इति सप्त महामर्माणि (असंशा. ५)

-मांसी-स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रापरि. ५.१५)

-मायूरघृत-न., सिद्धघृत० जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्विकापरूषकादिसिद्धं पक्षपित्तान्त्रादिवर्जितमयूरा-

वयवेषु साधितमिदम् अखिलशिरोरोगकासश्वास-मन्याग्रहपृष्ठग्रहशोषशुक्रदोषाऽऽदिविकारेषु नस्य-पानाऽभ्यङ्गबस्त्यादिभिरुपयुक्तम् (चचि.२६.१६७-१७४)

-मायूरी-स्त्री., विद्या० (असंउ. १) चतुःसहस्री (इन्दुः असंउ. १)

-मार्तण्डतैल-न., तैल० निम्बाङ्कोलवन्हिराजवृक्षा-क्षस्नुगादिसाधितमिदं कुष्ठकण्डूकृमिनाशनम् (र. २०.१६९-७२)

-मीन-पु., सामुद्रमत्स्य० (सुसू. ४६.११८)

-मुण्डनिका-स्त्री., वनस्पति० महामुण्डी (रा. ५.२२०)

-मुण्डी-स्त्री., वनस्पति० स्वनामख्याता, तद्गुणाः-तिक्तोष्णा, स्वरकृद्रोचनी, मेहकृद्रसायनी च (रा. ५.२२२)

हिं.—मुण्डी.

म.—बरसवोडी, बोंडथरा.

गु.—मुण्डी.

बं.—मुण्डी.

ता.—कोट्टक.

-मुनि-पु., ऋषि० राजर्षिप्रमुखो धन्वन्तरिः (सुसू. ४६.५३२)

वनस्पति० तुम्बरुः (ध. २.४२)

-मूल-वि., गम्भीरमूलम् (सुनि. ९.५)

(-मूला)-वि., महद् नाम हृदयं मूलं यस्याः, सा धमनी (चसू. ३०.३)

स्त्री., हिध्मा० द्र० 'हिक्का' (असंनि. ४.२६)

-मूषा- स्त्री., मृषा० तले कूर्परसन्ध्याकारा क्रमेणो-परिभागे विस्तृता स्थूलवृन्ताकवच्च स्थूला मूषा, अयोऽभ्रकसत्त्वादेर्द्रावणे पुटे चोपयुक्ता (र. १०.३०)

-मृग-पु., मृगसमूह० वराहमहिषन्यङ्कुरुरुरोहित-वारणसृमरश्वमरखड्गगवयाश्चेति दश महामृगाः (अहसू. ६.५१) मांसगुणः-शीतवीर्यः (असंसू. ७.९६) न्यङ्कुः महामृगेषु श्रेष्ठः (असंसू. ७)

-मेदा-स्त्री., वनस्पति० मेदाभेदः, स्वादुः, शीता, कफपित्तवर्धनी, वातघ्नी, दाहरक्तपित्तज्वरक्षय-नाशिनी (ध., १.१२७; चसू. ४.९) द्र० 'मेदा'

-मोह-पु., लक्षण० जन्ममरणकालिकः अतिशयेन संज्ञानाशः (चनि. १.३५)

-यमलपत्रक-पु., वनस्पति० कोविदारः (ध. १.१९६)

-योगेश्वरी-स्त्री., वनस्पति० बलामोटा (धपरि. ४.३)

-योनि-स्त्री., योनिरोग० तत्संप्राप्तिः-दुःखशय्यायां मैथुनात्कुपितो वायुर्योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च विष्टभ्य योनिं विवृतां स्थानस्रस्तां वातिक्याख्यव्यापदमिव दुःखितामुत्सन्नमांसां महारुजां च कुरुते (चचि.३०.३५-३७; सुउ. ३८.१९; असंउ. ३८)

-रक्त-न., भैषज्य० प्रवालम् (ध. ६.६४)

-रजत-न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.१)

-रत्न-न., रत्नवर्ग० पञ्चमहारत्नानि-पद्मरागमरकत-वज्रेन्द्रनीलपुष्परागाश्चेति (र. ४.५)

-रस-पु., रसशास्त्रे श्रेष्ठत्वेन स्वीकृतान्यष्टखनि-जानि द्रव्याणि, अधस्तनोक्तानि द्रव्याणि महा-रसत्वेनाद्यतने काले संमतानि-अभ्रं, वैक्रान्तं, माक्षीकं, विमलं, सस्यकमद्रिजं, चपलो रसकश्चेति, महारसत्वेन राजनिघण्टौ वर्णितानि-दरदः, पारदः, सस्यो वैक्रान्तमभ्रकं, माक्षिकं विमलं चेति (रा. २२,१; र. ६.४३)

पु.. न., खनिज० पारदः (ध. ६.३७)

न., असुत० काञ्जिकम् (ध. ६.२४९)

-राजगिरि-पु., वनस्पति० आरग्वधः (र. ५.१७७)

-राजचूत-पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.९)

-राजद्रुम-पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३४)

-राजफल-पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.१०)

-राजाम्रक-पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.९)

-राष्ट्र-न., महद्राष्ट्रम्, कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेश० अत्र मगधासु महाराष्ट्रमिति मगधस्य महाराष्ट्रत्वेन निर्देशः कौशल्यदेशस्योल्लेखश्चास्ति (का उपोद्घात काखिल)

-(राष्ट्री)-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-कटुः कषाया, तीक्ष्णा, मुखशोधनी, व्रणकीटादिदोषघ्नी रसदोष-निबर्हणी (रापरि. ४)

जलपिप्पलिका (र., ११.५२-५७)

कण्टकारी (र., ११.५२-५७)

-राष्ट्रिक-न., वनस्पति० जलपिप्पलिका (र.,२४.३६) महाबृहती (र. २४.३६)

(-राष्ट्रिका)-स्त्री., वनस्पति० जलपिप्पलिका (र.२४.३६) महाबृहती (र., २४.३६)

-रोग-पु., रोगसमूह० वातव्याधिरश्मरीकुष्ठं प्रमेह उदरं, भगन्दरोऽर्शांसि ग्रहणी चेत्यष्टौ रोगा महारोगाः प्रकीर्त्यन्ते (असंनि. ८.३२)

-रोगाध्याय-पु., अध्यायसंज्ञा० (चसू. २०.१)

-ललाट-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणात्किञ्चिदधिकललाट-युक्तः (सुसू. ३५.४)

-लोह-न., खनिज० कान्तलोहम् (रा. १३.२७)

-वज्रकतैल-न., तैल० सिद्धार्थककरञ्जद्वयहरिद्राद्वय-रसाञ्जनादिसिद्धमिदं, कुष्ठे उपयुज्यते (सुचि. ९.५७-६४)

-वज्रकसर्पिस्-न., घृत० वासामृतानिम्बवरापटो-लादिसाधितमिदं, कुष्ठश्वित्रप्लीहवर्ध्माऽश्मगुल्मघ्नम् (असंचि. २१)

-वदन-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणात्किञ्चिदधिकवदनयुक्तः (सुसू. ३५.४)

-वर्षाभू-पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः, द्र० 'पुनर्नवा' (ध.१.२७६)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० कटुी (रापरि. ३.४३)
क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३९)
माधवीलता, श्वेतालाबुः (असंचि. २३)
कटुवल्लिका (असंचि. २३)

-वसु-न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.६)

-वात-पु., रोग० वातव्याधिरयं, धावनप्रलापाऽऽक्षे-पकादिवातविकाराः (र. १२.६४-७३)

-वातव्याधिचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. ५.१)

-विकार-पु., रोगसमूह० (असंसू. २०.१८)
द्र० ' महारोग '

-विद्या-स्त्री., पारदयोग० पारदाभ्रनागकान्तादि-साधिता इयं प्रमेहनाशिनी (र. १७.४३-४७)

-विष-पु.. प्राणि० गोधा (ध. परि. ६.३९)
न., विष० कालकूटशृङ्ग्यादिमारकं विषम् (र. २९.१)
कन्दविष० तल्लक्षणम्, महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलो-द्गमौ भृशं भवतः (सुक.२.५-१७, असंउ. ४०)
द्र० ' कन्दविष '

-विषवृश्चिकदंश-पु., तीक्ष्णवृश्चिकदंशः द्र० ' वृश्चिक ' (असंउ. ४३)

-वीर-पु., वनस्पति० एकवीरः (रापरि. ८.८)
करवीरः (रा. १०.१)
पारदयोग० पारदतुत्थविषतीक्ष्णगंधमौक्तिकादि-साधितोऽयं ग्रहणीक्षयादिहरः (र. १४.७१-७४)

-वीर्य-पु., वनस्पति० गृष्टिः, वाराहीकन्दः (रा., ७. १३१)

(-वीर्या)-स्त्री., वनस्पति० सहस्रवीर्या, शतावरीभेदः द्र० ' शतावरी ' (रा., ४.४४२)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० स्नुही (चवि. ८.१३६; ध. १.२३५)
पीलुभेदः बृहत्पीलुः, द्र० ' पीलु ' (रा., ११.६३)

-वृक्षक्षीर-न., स्नुह्याः क्षीरम् (सुशा. १०.२१)

-वृक्षपयस्-न., स्नुहीक्षीरम् (सुउ. ४१.४८)

-वेगवती-स्त्री., वनस्पति० सोमसमवीर्या महौषधिः अस्या उत्पत्तिस्थानम्, नलसेतुर्मलयश्च (सुचि. ३०.५-३६)

-व्याहृति-स्त्री., शब्दसमुदाय० ' भूः, भुवः, स्वः ' इति (सुसू. २.४)

-व्रीहि-पु., धान्य० द्र० ' व्रीहि ' (चनि. ४.५; (ध. ६७२)

-शङ्ख-पु., भैषज्य० बृहच्छङ्खनाभिः (र. २५.१९)
शारीर० मनुष्यकपालम् (र. २५.१९)

-शण-पु., वनस्पति० शणपुष्पी (ध. १.२००)

-शतावरी-स्त्री., वनस्पति० स्वनामख्याता सहस्रवीर्या, तद्गुणाः-मधुरा, तिक्ता, शीता, वृष्या, त्रिदोषघ्नी, महाश्रेष्ठरसायनी (रा. ४.४४१)
हिं.—शतावर.
म.—शतमूळी, आसवली.
गु.—शतावरी.
बं.—शतमूली.
ता.—तण्णीर, चतावरि.
फा.—गुर्जदस्ति.

-शब्दा-वि., लक्षण० महान्तं शब्दं कुर्वाणा (हिध्मा) (असंनि. ४.२६)

-शर-पु., वनस्पति० द्र० ' शर ' (रा. ८.२१२)

-शाखा-स्त्री., वनस्पति० नागबला (रा. ४.४२७)

-शालि-स्त्री., धान्य० शालिवर्गे एकः शालिः द्र० 'शालि' (चसू. २७.८; सुसू. ४६.४; ध. ६.६९-७१) स्थूलशालिः (रा. १६.९०)
व्रीहिः (रा. १६.१०५)

-शिम्बी-स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी (रापरि. ७.९७)

-शिरा-स्त्री., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक. ४.३४(१))

-शुण्डी-स्त्री., वनस्पति० हस्तिशुण्डी (रापरि. ५.२०)

-शुभ्र-न., खनिज० रौप्यम् (रा. १३.७)

-शूक-पु., धान्य० शालिभेदः द्र० 'शालि' (सुसू. ४६.४)

-शृङ्ग-पु., पशु० अष्टपादः, शरभः (ध.परि.६.३६; २९३)
-शौण्डी-स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३८)
-शौषिर-पु., दन्तमूलगतरोगः, दन्तमांसस्य सर्वदोषजश्चायं सप्तरात्रान्मारयति। अस्मिन् वेष्टेभ्यो दन्ताश्चलन्ति, ताल्वोष्ठदन्ता अप्यवदीर्यन्ते, दन्तमांसानि पच्यन्ते, मुखं च परिपीड्यते (सुनि. १६.१९-२०)
-श्यामा-स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुकः (सुसू. ३८.२९-३०)
शिंशपा (ध. ५.१२१)
-श्रावणिका-स्त्री., वनस्पति० महामुण्डी (ध. १.१६०; रा. ५.२१९)
-श्रावणी-स्त्री., वनस्पति० अलम्बुषा (चक्र.) शीतपुष्पा (चचि. १(४).६) सोमसमवीर्या महौषधिः (सुचि. ३०.५)
बृहन्मुण्डितिका (चक्र. चचि. २८.१६०)
-श्वास-पु., (परिव०) रोग० श्वासभेदः (चचि. १७.४६-४८; सुउ. ५१.१२) द्र० 'श्वास'
-श्वेता-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (सुसू. ३८.१६-१७; ध. ४.८५; असंउ. ४)
कटभी (चसू. ४.१३; रापरि.९.३८)
वन्ध्याकर्कोटिका (सुसू. ३८.१६-१७)
-षष्टिक-पु., षष्टिकभेदः, द्र० 'षष्टिक' (सुसू.४६.८)
-समङ्गा-स्त्री., वनस्पति० महाबला (रा. ४.४३२; ध. १.२८०)
-सरस्वतीचूर्ण-न., योग० अश्वगंधाजमोदावचाकुष्ठादिसाधितमिदं चूर्णं मूकत्वं, बुद्धिजाड्यं च हरति (र. २४.७१-७३)
-सर्ज-पु., वनस्पति० असनः (ध. ५.१२५)
पनस (रा परि. ११.९)
-सर्प-पु., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक. ४.३४ (१)
-सह- वनस्पति० कुब्जकः (ध., ५.१४६)
-(सहा)-स्त्री., वनस्पति कुब्जकः (ध., ५.१४६)
मुद्गपर्णी (चक. ४.१६)
माषपर्णी (सुसू,३३.४-५; ध. १.१८६)
राजतरणी (सा. १०.२४६)
-सार-पु., वनस्पति० खदिरभेदः विट्खदिरः, द्र० 'खदिर' (रा., ८.३८)
-सुगन्ध-पु., योग० प्रपौण्डरीकसरलदेवदारुकुटन्नटादिपञ्चाशीत्यौषधिसिद्धोऽयं सर्वविषहरः (असंउ, ४७)
-(सुगन्धा)-स्त्री., वनस्पति० रास्ना (इन्दु) (असंउ. ४५)
उत्पलसारिवा (ड.) सर्पसुगन्धा (ड.सुउ.२६.४०)
नाकुली (ध. ४.१०५)
-सुगन्धि-पु., योग० चंदनागरुकुष्ठतगरतिलपर्णिकादिसिद्धोऽयं, सर्वविषे उपयुक्तः (सुक. १.७५-७७; सुक. ६.१४-२७)
-सुषिर-पु., दन्तरोग० सुषिरे वर्तमानः शोफः संनिपातज्वरयुक्तः सपूयरुधिरस्रावी विश्लिष्टदन्तबन्धनो नाम्ना महासुषिर इत्युक्तः(असंउ.२५)
-सेना-स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४)
-सोम-सोम० (सुचि. २९.६) द्र० 'सोम'
-स्कन्ध-वि., उक्ताङ्गुलिप्रमाणात्किञ्चिदधिकस्कन्धयुक्तः महास्कन्धत्वमिदं दीर्घायुर्लक्षणानामेकतमं ज्ञेयम् (सुसू. ३.५४)
(-स्कन्धा)-स्त्री., वनस्पती० जम्बूः (ध. ५.८३)
-स्तनाग्र-वि., विशालस्तनाग्रः (सुसू. ३५.४)
-स्नेह-पु., स्नेहचतुष्टयम्, भूरिस्नेहवद्द्रव्यम्, घृततैलवसामज्जाख्याश्चत्वारो महास्नेहाः (चसू. १.७५; अहसू. १६.४)
-स्फिच्-वि., महती स्फिक् कटिपश्चाद्भागो यस्य सः (शुक्रसारपुरुषः) (चवि. ८.१०९)
-स्रोतस्-न., शारीर० कोष्ठः (चवि. ५.८)
-स्वेद-पु., लक्षण० अतिस्वेदः (असंनि. २.२४)
-हिक्का-स्त्री., रोग० हिक्काभेदः, तत्संप्राप्तिः-अनिलः सकफः प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि मर्माणि संरुध्य हिक्कां करोति। तल्लक्षणानि-उच्चैर्घोषवतीं भृशं हिक्कां करोति। ऊष्माणं संरुध्य संज्ञां मुष्णाति, स्तम्भं जनयति, अन्नपानानां मार्गं रुणद्धि, उपहतस्मृतिः, साश्रुविप्लुतनेत्रः, स्तब्धशङ्खच्युतभ्रूसक्तजल्पप्रलापः, अशान्तचित्तः (चचि. १७.२२-२६) वेगेन देहमायम्य घोषयति सर्वगात्रप्रकम्पिनी अतितृषाकरी च (सुउ. ५०.१४) सा महामूला, महावेगा, महाशब्दा, महाबला, सद्यःप्राणहरा च विद्यते (चचि. १७.२६)
द्र० 'हिक्का'
महागद-पु., योग० त्रिवृत्विशल्यामधुकहरिद्रादिसिद्धोऽयं विषघ्नः (सुक.५.६१-६३)
महाङ्ग-पु., वनस्पति० गोक्षुरः (रा. ३.१३०)
चित्रकः (रा. ६.१२७)
महात्मन्-वि., राजसदृशः महापुरुषः (सुसू. ४६.५३२)

महात्यय–वि., गम्भीरः (ड. सुउ. ३९.१२४)
महात्ययिकत्व–न., शीघ्रविनाशकारित्वम् (सुनि. ६.८)
महाद्रि–पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा.९.३३४)
महानन्दा–स्त्री., आसुत० सुरा (रा.१४.३०३-२५४)
वनस्पति० आरामशीतला (रापरि. १०.५२)
महानस–न., पाकशाला रसवती इति लोके, (सुसू. ४६.४५३) तच्च आप्तैराश्रितमसंकटं शुचि स्यात् । तत्राऽऽप्तैर्गुणसंपन्नं, भक्ष्यं, मुसंस्कृतमन्नं सुसंगुप्तं शुचौ देशे स्थापयेत् । तच्च प्रशस्तदिग्देशकृतं, शुचिभाण्डं, महच्छुचि, सजालकं, गवाक्षाढ्यमासवर्गनिषेवितं, सवितानं, विकक्षसृष्टसंसृष्टं, कृतार्चनं, परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेत्
(सुक. १.१२-१३) तत्र कुलीनधार्मिकत्वादिभिर्युक्तं, वैद्यगुणान्वितमध्यक्षं नियुञ्जीत
(सुक. १.१४)
महाभिष्यन्दिन्–वि., अतीवाभिष्यन्दकारी, तद्यथा–ये मृगाश्च विहङ्गाश्चाऽतीवाऽऽसन्ननिलया ग्रामासन्नगृहाः समीपोदकगोचराश्च ते (सुसू. ४६.९२)
महाभ्रसत्व–न., पारदयोग० कृष्णाभ्रकधान्याभ्रभृङ्गाम्बुतुत्थकपारदादिसिद्धमिदं अखिलातिनुत्
(र. २७.६७-७०)
महामय–पु., महारोगाः ते च वातव्याध्यश्मरीकुष्ठप्रमेहादयोऽष्टौ (र. १९.९-१३)
महामोद–पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६)
महारम्भ–वि., महद्भिर्बलवद्भिः पूर्वरूपरूपैर्युक्तः (अरु)
तीव्रसंरम्भः (हे. अहसू. १२.५८).
न., लवण० साम्भरलवणम् (रा.६.४७)
महारिष्ट–पु., वनस्पति० महानिम्बः (रा. ९.४८)
महार्ह–न., वनस्पति० चन्दनम् (ध. ३.१)
महावरोह–पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२६)
महाशना–स्त्री., वनस्पति० महाशतावरी (रा. ४.४४२)
महाहव–पु., महासंग्रामः (इन्दु. असंउ. ७)
महाहिगन्धा–स्त्री., वनस्पति० नाकुली (रा. ७.१५४)
महिला–स्त्री., वनस्पति० रेणुका (रा. ६.९९)
महिष–पु., पशु० महामृगजातीयाऽऽनूपपशुः
(चसू. २७.३९) तन्मांसगुणाः–तिक्तं, मधुरमुष्णं, स्निग्धं, गुरु, निद्राकरं, शुक्रलं, बल्यं, तर्पणं, वृष्यं-मांसदार्ढ्यकरं, पित्तघ्नम् (ध. ६.४०१) स्तन्य वर्धनम् (सुसू. ४६.९८)
शालिवर्गे एकः, द्र० 'शालि' (सुसू. ४६.४)
–**प्लीहन्**–पु., भैषज्य० भक्षणादिकर्मद्वारा नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. १६)
–**यकृत्**–न., भैषज्य० भक्षणादिकर्मद्वारा नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. १३)
–**वल्ली**–स्त्री., वनस्पति० सौम्या (रापरि. ३.३०)
–**वसा**–स्त्री., भैषज्य० आनूपमृगवसानामहिततमा
(चसू. २५.३९)
–**शालि**–स्त्री., शालि० द्र० 'शालि' (अहसू. ६.२)
महिषाक्ष–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७)
महिषाक्षक–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)
महिषाक्रान्ता–स्त्री., वनस्पति० आस्फोतोऽर्कः
(इन्दु. असंउ. ४४)
महिषामिष–न., महिषमांसम् द्र० ' महिष '
(अहसू. ८.४०)
महिषासुरसंभव–पु., भूमिजः गुग्गुलुभेदः, द्र० ' गुग्गुलु ' (रा. १२.१८८)
महिषी–स्त्री., (चसू. १.९३)
–**कन्द**–पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३)
–**क्षीर**–न., दुग्ध० महिषीदुग्धं, स्वप्नजननानां श्रेष्ठम्
(चसू. २५.४०)
–**घृत**–न., घृत० तद्गुणाः–मधुरं, सुशीतं, गुरु, कफकरं, बल्यं, वर्ण्यं, दीपनं, चक्षुष्यं, वातपित्तघ्नं, रक्तपित्तार्शोग्रहणीनाशकम् (ध. ६. १४७)
–**दधि**–न., दधि० तद्गुणाः–मधुरं, स्निग्धं श्लेष्मकृद्बल्यं, वृष्यं, शोधनं, रक्तपित्तश्रमनाशनम्
(ध. ६.१९३)
–**दुग्ध**–न., दुग्ध० तद्गुणाः–मधुरं, शीतं, स्निग्धतरं, गुरु, वह्निनाशनं, निद्राकरं, बलकरं, पुष्टिदं, वृष्यं, पित्तघ्नं, दाहरक्तविकारघ्नम् (चसू. २७.२१९)
–**पयस्**–न., दुग्ध० महिषीदुग्धम् (चसू. २७.२१९; ध. ६.१७०)
–**प्रिया**–स्त्री., वनस्पति० शूली (रापरि. ८.६८)
–**मूत्र**–न., मूत्र० तद्गुणाः–कटूष्णम्, अर्शोदरशूलकुष्ठमेहाऽऽनाहशोफगुल्मपाण्डुक्षिदोषकण्डूतिनाशनम् (ध., ६.४९२)
मही–स्त्री., वनस्पति० कटुकी (र. २९.८९-९२)
–**कदम्ब**–पु., वनस्पति० मुण्डी (सुउ. ४१.४७)
अलम्बुषा (ड. सुचि. १७.१५)
भूकदम्ब (ड. सुचि. १७.१५)
–**ज**–न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध. २.८४)
–**सह**–पु., वनस्पति० सागः (रापरि. ९.६)
महेन्द्र–पु., पर्वत० अत्र ' चन्द्रमा ' सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२७; अहसू. ५.११)

महेन्द्रकन्या–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (र. २४.१३९)

महेन्द्रवारुणी–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७५)

महेरणा–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५)

महेश्वरकोपप्रभव-वि., रुद्रकोपसंजातः (ज्वरः) (चनि. १.३५)

महेश्वरबीज–न., खनिज० पारदः (र. १६.६९)

महेश्वरी–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.१९)

महैरण्ड–पु., वनस्पति० स्थूलैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (रा. ८.४४९)

महैला–स्त्री., वनस्पति० भद्रैला द्र० 'एला' (रा. ६.७०)

महोटिका–स्त्री., वनस्पति० वृन्ताकी (रा. ७.१२७)
बृहती (ध. १.९३)

महोत्पल–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४४)

महोत्सव–पु., शक्रोत्सवादिः (सुसू. २.१०)

महोदयप्रत्ययसार–पु., पारदयोग० रसगंधकाभ्रताभ्रादिसाधितोऽयं सर्वरोगहरः (र. १५.४४-५२)

महोदया–स्त्री., वनस्पति० बलामोटा (रा. ४.४२७)

महोदर–न., रोग० जलोदरम् द्र० 'उदर' (र. २.१२२)

महोदरत्व–न., लक्षण० दुष्प्रजातायाः सूतिकारोगः चतुःषष्टिसूतिकारोगेष्वेकः (काखिल. ११.७-१४)

महर्षभी–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (ध. १.१५१)

महर्षिसंघ–पु., महर्षीणां समुदायः (चसि. ३.३)

महौजसी–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (ध. १.२६६)

महौदनी–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३९)

महौषध–न., वनस्पति० भूम्याहुल्यम् (रापरि. ४.३६)
वत्सनाभः (ध.७. १२८)
लशुनः (ध. ४.६६)
शुण्ठी (चसू. ४.१२; सुसू. ४४.७–८; ध. २.८२)
अञ्जनम् (सुउ. ९.२३)

(महौषधी)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (रा. ८.२२७)
कटुका (रा. ६.५५)
अतिविषा (रा. ६.७)
लक्ष्मणा (ध. १.९७)
ब्राह्मी (ध. ४.१००)

महौषधि–स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (रा. ७.१३६)
सोमसमवीर्या महौषधिः, ता एता महौषधयः– श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, अजगरी, कन्या, छत्राऽतिछत्रा, करेणुरजा, चक्रकाऽऽदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती; तासां सोमवत्क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहिताः (सुचि. ३०.५) 'महेन्द्रराम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि । तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥' इत्यनेन मन्त्रेण महौषधीनामुद्धरणं करणीयम् (सुचि. ३०.२७)

मांस–न., धातु० सप्तधातुष्वेकम् (असंसू. १.३१) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चशा. ७.९) मांसवहानां स्रोतसां मूलं स्नायुस्त्वक् च (चवि. ५.८) मांसधराकलायामधिष्ठिते मांसे सिरादीनां प्रताना भवन्ति (सुशा. ४.८) रक्तस्य सारांशात् मांसस्य उत्पत्तिः, (असंशा. ६.६६) मांसवहस्रोतस्सु मांसधात्वग्निना मांसोत्पत्तिर्भवति (चवि. १५.१६) रसोत्पत्त्यनन्तरं तृतीयेऽहनि मांसोत्पत्तिः इति केचित्, दशमेऽहनि इति च अपरे (सुसू. १४.१४; चवि. १५.२९) पिच्छिलं घनं श्लक्ष्णमीषद् रक्तमिति मांसस्य स्वरूपम् । मांससारः पुरुषः अच्छिद्रगात्रो गूढास्थिसन्धिमांसोपचितः, शङ्खललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसंधयः स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम् (चवि. ८.१०५; सुसू. ३५.१६) मांस-कर्म-मांसं शरीरपुष्टिं करोति (सुसू. १५.५(१)) लेपनं मांसस्य श्रेष्ठं कर्म (अहसू. ११.४) मांसाद् वसा तथा पट् त्वच इत्युपधातवः संभवन्ति । शरीरच्छिद्रेषु मलः– खमल इति संज्ञितो मांसधातोर्मलः (चवि. १५.१७; सुसू. ४६.५२९) मांसावयवः संघातः परस्परं विभक्तः पेशी इत्युच्यते (ड. सुशा. ५.३९) मांसक्षयलक्षणम्–इन्द्रियदौर्बल्यं गण्डस्फिक्शुष्कता सन्धिषु वेदनाश्च मांसक्षये भवन्ति (अहसू.११.१८) दधिसिद्धान्यम्लानि-षाडवकानि स्थूलकन्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकांक्षति (ड. सुसू. १५.२९) मांसवृद्धिलक्षणम्–गण्डार्बुदग्रन्थिगण्डोरूदरवृद्धिता कण्ठेष्वधिमांसं च मांसवृद्धौ भवन्ति (अहसू. ११.१०) अधिमांसार्बुदं कीलं, गलशालूकशुण्डिके पूतिमांसालजी–गण्डगण्डमालोपजिह्विकाः इति मांसाश्रयान् मांसप्रदोषजान् विकारान् विद्यात् (चसू. २८.१३-१५) मांसजविकारेषु संशोधनं शस्त्रक्षाराग्निकर्म च कर्तव्यम् (अहसू. ११.३०)

प्राणिजद्रव्य० अन्नद्रव्य० प्राणिनां मांसमन्नद्रव्यत्वेनोपयुज्यते; अष्टधा मांसं–मृगविष्किरप्रतुदबिलेशय-प्रसह-महामृग-जलचर-मत्स्यभेदेन (हे. अहसू. ६.४३) मांसं बृंहणीयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) मध्यमे वयसि स्थितस्य पश्वादेः मांसं श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३६-३९) मांसपरीक्षायां प्राणिनः चरो नाम भक्ष्यं विहारश्च, शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः लिङ्गं प्रमाणं संस्कारः मात्रा च परीक्ष्यते (सुसू. ४६.१३८) फलाशिनां विहङ्गानां मांसम् अतीव रूक्षं, पिशिताशिनां तु अत्यर्थं बृंहणं, मत्स्याशिनां पित्तकरं, धन्वचारिणां वातघ्नम् अभक्ष्यमांसं-मृतं कृशमतिमेदुरं वृद्धं बालं विषहतमगोचरभृतं सर्पव्याघ्रादिभिः सूदितं मांसं न भक्षणीयम्, अस्माद् विपरीतं दोषरहितं मांसं बृंहणं बलवर्धनं च (चसू. २७.३११-१२)

–कच्छप–पु., रोग० कच्छपरोगः (सुनि. १६.४०-४३)

–कन्दी–स्त्री., मांसाङ्कुरः (सुसू. ५.१५)

–कृद्वर्ग–पु., भैषज्य० मञ्जिष्ठा-सैन्धव-क्षौद्रनागदन्ती–त्रिवृत्–तिलाः, रसाञ्जनं द्विरजनी तेजोह्वा निम्बपल्लवाः। अयं वर्गः भगन्दरे उपयुक्तः (असंउ. ३३)

–कोथ–पु., लक्षण० मांसस्य पूतीभावः (सुसू. २५.३-५)

–क्लेदः–पु., रोग० मांसस्य क्लेदनं, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

–क्षय–पु., लक्षण० मांसस्याऽपचयः (सुसू.२३.५)

–गुटिका–स्त्री., कल्प० एषा शुक्रवर्धनी (चचि. २.(४) ११-१४)

–चक्षुस्–न.,चर्मचक्षुः (का. भोजनकल्प)

–च्छेद–पु., लक्षण० मांसस्य च्छेदनम् (अहसू. २९.४६)

–जाल–न., मांसस्य, मांसकृतं वा जालम् मांसजालानि चत्वारि–तान्येकैकस्मिन् मणिबन्धे गुल्फे च संश्रितानि (सुशा. ५.१२)

–तान–पु., रोग० गलरोग० प्रतानवान् लम्बनशीलः श्वयथुः क्रमेण गलोपरोधं कुरुते; अयं सुकष्टः प्राणप्रणुत् सर्वदोषजो विकारः (सुनि. १६.६ २)

–तोय–न., मांसधावनोदकम् (सुउ. ४०.१०)

–दग्ध–पु., रोग० अग्निदग्धे अवस्था० लक्षणम् कपोतवर्णत्वमल्पशोफरुजता शुष्कसंकुचितव्रणता च (असंसू. ४.६)

–दरण–पु., रोग० मांसस्याऽवदरणं शीर्णतेति यावत्। चत्वारिंशत्–पित्तविकारेष्वेकः (असंसू. २०.१४)

–दाह–पु., उपक्रम० मांसस्य दहनम् (अहसू. ३०.४३)

–द्राविन्–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४८)

–धरा–स्त्री., शारीर० सप्तसु कलास्वेका, सप्तानां कलानां प्रथमा मांसधरा नाम, यस्यां मांसे सिरास्नायु धमनी स्रोतसां प्रताना भवन्ति (सुशा. ४.८) सप्तसु त्वक्स्वेका सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना (सुशा. ४.४)

–धावन–न., मांसप्रक्षालनोदकम् (चचि. १९.९)

–पाक–पु., रोग० चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (कासू. २७.१९-३५)

शूकदोषजरोगेष्वेकं लक्षणम्–मांसानि-शीर्यन्ते त्रिदोषजाश्च वेदना भवन्ति (सुनि. १४.१४-१५)

–पुष्पिका–स्त्री., वनस्पति० भ्रमरारिः (रा. १०.४१)

–पेशिका–स्त्री., मांसपेशी (असंसू. ३४.३९)

–पेशी–स्त्री., मांसवर्तिः (सुसू. ९.४) मांसखण्डः (सुचि. १.१२२) पेशी 'चत्वारि मांसपेशीशतानि' (काशा)

–प्ररोह–मांसाङ्कुरः (सुनि. २.४)

–भेषजकल्क–पु., कल्प० (अहसू. २४.१७)

–मर्मन्–न., शारीर० मर्म० तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि। तत्र एकादश मांसमर्माणि, चत्वारि तलहृदयानि, चत्वारि इन्द्रबस्तीनि एकं गुदं, द्वे बस्तरोहिते एवमेकादश (सुशा. ६.७) मांसमर्मविद्धलक्षणम्–स्पर्शं न जानाति, विपाण्डुवर्णश्च स्यात् (सुसू. २५.४०)

–मासा–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (ध. १.१३६)

–रज्जु–स्त्री., शारीर० मांसनिबन्धनस्नायुः, पेशीनिबन्धनार्थं प्रयुक्तः। महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः पृष्ठवंशमुभयतः, द्वे बाह्ये द्वे चाभ्यन्तरे (सुशा. ५.१४)

–रस–पु., मांसस्य रसः, मांसयूषः, तस्य पाकविधिः –प्रस्थेऽम्भसि पलं मांसं साध्यं, पादस्थितो रसः (अहको) मांसरसगुणाः—सर्वभूतानां प्रीणनो हृद्यो बहुरोगप्रशमनः स्वर्यो वयोबुद्धीन्द्रियायुर्बलकरो व्यायामस्त्रीमद्यनित्यानां च हितकरः। कृशव्याधिमुक्त–शुष्क–बलार्थि–वर्णार्थिक्षीणरेतसां च हितावहः (चसू. २७.३१२-३१५) प्राणजननो वात-

पित्तश्रमहरः श्वासकासक्षयापहः स्मृत्योजःस्वरहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसां भग्नविश्लिष्टसंधीनां च हितः (सुसू. ४६.३५९-६१)

-रुहा-स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (रा. १२.१३८)

-रोहा-स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (ध.. ४.९४)

-रोहिका-स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (रा. १२.१३९)

-रोहिणी-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुस्तिक्ता, कषायोष्णा, ग्राहिणी, वर्ण्या, पित्तघ्नी, स्वरसादरक्तपित्तघ्नी च (ध. ४.९४)

-रोही-स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (रा. १२.१३८)

-वहस्रोतस्-न., शारीर० स्रोतो०मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च (चवि.५.८) मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुः, त्वक्, रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्रविद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च (सुशा. ९.१२) स्थूलगुर्वभिष्यन्दिभोज्यानि जग्ध्वा निरतिशयं दिवास्वापसुखमनुभवतां मांसवहं स्रोतो दुष्यति (चवि.५.१५)

-वाहिस्रोतस्-न., शारीर० मांसवहं स्रोतः (चवि. ५.१५)

-शात-पु., मांसक्षरणम् (सुचि. ९.५१)

-संघात-पु., रोग० तालुगतरोग० तालवन्तःस्थं मांसं श्लेष्मणा दुष्टं नीरुजं मांससंघात इति व्यपदिष्टः सन् (सुनि. १६.४४) मुखरोगेषु मांसोपचयः मांसदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९) छेद्यरोगोऽयं (सुसू. २५.३-५)

-संरब्ध-वि., मांसोपचितम् (सुउ. ६.१२)

-सात्म्य-वि., यस्य मांसं सुखावहं भवति सः। अनुभूयमानमांससात्म्यसुकरम् (चचि. ३.१९१)

-सार-पु., धातुसार० शंख-ललाट-कृकाटिका ऽक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसंधयः स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिम् अलौल्यम् वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे (चवि., ८.१०५)

-सिराप्रणाश-पु., लक्षण० मांसस्य सिराणां च नाशः (सुनि., १०.६)

मांसल-पु., वनस्पति० मांसलफलः (रा. ७.२७१)

धान्य० माषः (ध. ६.९९)

बस्तिदोष० अस्मिन् विस्रत्वं भवति (चसि. ५.६)

-फल-पु., वनस्पति० कलिङ्गः (रा. ७.२७१)

-(फला)-स्त्री., वनस्पति० वृन्ताकी (रा. ७.१२७)

मांसाङ्कुर-पु., लक्षण० मांसस्य प्ररोहः (सुसू. ५.१५; डल्हण)

मांसादमांस-न., मांसाशिनः व्याघ्रादेः मांसम्। इदं विशेषतः मांसवर्धनं बृंहणं च (असंसू. २४.५९)

मांसावगाढ-वि., मांसान्तर्गतम् (सुसू. २७.५)

मांसार्मन्-न., नेत्ररोग० शुक्रवदस्य लेखनाञ्जनाभ्यामुपचारः (ड. सुउ. १५.१७)

मांसावृतवात-पु , रोग० तस्य लक्षणम्-विवर्णः, कठिनः शोफः तथैव पिटिकाः, हर्षः, पिपीलिका सञ्चारवद्वेदनाविशेषः (चचि. २८.६४-६५)

मांसिनी-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (रा. १२.९०)

मांसी-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (चसू. ५.२१; सुसू. ३८.२४; ध. ३.४५)

मांसोचित-वि., मांससात्म्यः, अभ्यासात् मांसं सात्म्यं संजातं यस्य, सः (चचि. ३०.३१६)

मांसोदक-न., मांसरसस्य अच्छो भागः सौरावाख्यः (ड. सुउ. ४८.२८)

मांसोद्गम-पु., मांसाङ्कुरः (सुनि. १६.३७)

मांसोन्नति-स्त्री., रोग० उन्नतमांसम्। अयं रोगविशेषो लेख्यः (सुउ. २५.९-१०)

मांसोपचय-पु., लक्षण० मांससङ्घातः (सुनि. ११.१३-१४)

मांसोपदंश-पु., मांसभक्षणे व्यञ्जन० (सुउ. ४१.३८)

मांस्पाक-पु., गुह्यरोग० सन्निपातजोऽयम्। सर्ववेदनो मेढ्मांसशातनश्च (असंउ. ३८.३२०)

मा-स्त्री., वनस्पति० लवङ्गम् (र. १८.४७-५२)

माकन्दः-पु., वनस्पति० आम्रः (र. २२.१२६; ध. ५.२)

(माकन्दी)-स्त्री., वनस्पति० तस्याः गुणाः- कटुका, तिक्ता, मधुरा, दीपनी, रुच्याऽल्पवातला पथ्या च (रा. ७.१५)

माकुलि-पु., सर्प० वैकरञ्जः, कृष्णसर्पेण गोनस्यां जातः । अथवा गोनसेन कृष्णसर्पिण्यां जातः (सुक. ४.३४ (५))

माक्षिक-पु., न., खनिज० उत्पत्तिः तापीकिरातचीनेषु यवनेषु च सुवर्णशैलप्रभवः काञ्चनो रसः विष्णुना विनिर्मितः । सूर्यांशुसन्तप्तस्ताप्यो माधवे मासि दृश्यते । मधुरः अम्लः काञ्चनाभासः रजतसंनिभः । द्विविधो माक्षिकः स्वर्णमाक्षिकस्तारमाक्षिकश्च । तत्र कान्यकुब्जोत्थं स्वर्णमाक्षिकं तापीतीरसम्भूतं

पञ्चवर्णं सुवर्णवत् । शोधनम्– तप्तं वराक्वाथे क्षिप्तं माक्षिकं शुद्धिमायाति । मारणम्–मातुलुंगाम्ल-गन्धाभ्यां पिष्टं मूषोदरे स्थितं पञ्चकोलपुटे ध्मातं माक्षिकं म्रियते । गुणाः– कटु, तिक्तं, मधुरम् (रा. १३.२११) उष्णं, रसायनं, वृष्यं, चक्षुष्यं; त्रिदोषशमनं बस्तिरोगार्शःशोफोदरक्षयविषापहम् (ध. ३.१४८; रा. १३) भ्रमहृल्लासमूर्च्छाश्वास-कासघ्नम् कफापहं च(रा. १३.२११) माक्षिकधातु-तापीजममृतोपमम् काञ्चनाभासं मधुरं अम्लं वा रजतप्रभं पिबतः जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयाः नश्यन्ति (सुचि. १३.१७-१८) स्वर्णमाक्षिकं नेत्ररोगे प्रतिसारणार्थमुपयुज्यते (सुउ. १३.६-८) पाण्डुरोगे उपयुक्तम् (चचि. १६.७३)

हिं.—सोनामाखी.

म.—**माक्षिक.**

गु.—सोनामखी.

ता.—पौन्निमिळै.

मधु (चसू. २.२५) पिङ्गलवर्णा महत्यो मक्षिकाः तद्भवम् (सुसू. ४५.१३३) गुणाः–लघुतरं रूक्षं श्रेष्ठं श्वासादिरोगेषु विशेषतः प्रशस्तम् (सुसू. ४५.१३६)

(माक्षिकी)–वि., मक्षिकायाः इयम् (चचि. १७.१३२)

–ज–न., सिक्थकम् (रा. १३.१७४)

–धातु–पु., खनिज धातु० स्वर्णमाक्षिकम्, माक्षिकम् (चचि. ७.७०)

–फल–पु., वनस्पति० मधुनारिकेरः (रा. ११.२१०)

माक्षीक–न., खनिज० माक्षिकम् (र. १.१; रा. १३.२०९)

–शर्करा–स्त्री., मधुशर्करा (ध. २.१०६; रा. १४.१६८)

मागध–पु., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६; रा. ६.१००)

(मागधी)–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (सुचि. ८.४२; ध. २.७३; रा. १०.२५०)

मागधिका–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (सुउ. ११.१३)

–विधान–न., पिप्पलीरसायनम् (सुउ. ४१.५७)

मागधिकादिसिद्धतैल–न., तैल० पिप्पल्यादिक्वाथ-कल्काभ्यां सिद्धं तैलम्, इदं कफजगलगण्डनाशकम् (सुचि. १८.४८-४९)

माङ्गल्य–स्त्री., धान्य० मुद्गः (ध. ६.८१)

(माङ्गल्या)–स्त्री., वनस्पति० गोरोचना (ध. ३.२०) जीवन्ती (ध. १.१४०)

माङ्गल्याह्वा–स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा. ५.३७९)

माचिका–स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा, तद्गुणाः–कषाया, वातकफघ्नी, पित्तप्रकोपशमनी, व्रणशोधनरोपणी (ध., ३.११६)

माचीक–पु., वनस्पति० देवदारुः (चवि. ८.१४४)

माञ्जारिक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (रा. ४.३८८)

माञ्जिष्ट–वि., माञ्जिष्ठायाः इदम्, मञ्जिष्ठासम्बन्धि (चनि. ४.२५)

–कल्क–पु., (परिव०) भैषज्य० मञ्जिष्ठायाः कल्कः (सुउ. ४०.१२१)

–चूर्ण–न., भैषज्य० मञ्जिष्ठाचूर्णम्, रक्तातिसारे उपयुक्तम् (सुउ., ४०.१२१)

–मेह–पु., रोग० प्रमेह० नरः पित्तस्य परिकोपात् मञ्जिष्ठोदकसंकाशं भृशं विस्रं प्रमेहति (चनि. ४.२५)

माठर–पु., ऋषि० (कासंसि. १.११)

–माड–पु., वनस्पति० कषायः, शिशिरो, रुच्यो, दाह-करो, वातपित्तश्लेष्मकृत्, तृष्णापहः, श्रमहृत् (ध. ५.७०)

–द्रुम–पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)

माणिका–स्त्री., मान० अष्टौ पलानि, द्विकुडवम् (चचि. १८.४३)

माणिक्य–न., रत्न० पद्मरागम् (र. ४.६) गुणाः–दीपनं, वृष्यं, कफवातक्षयार्तिनुत्, भूतवेतालपापघ्नं, कर्मजव्याधिनाशनम् (र. ४.१३) माणिक्यं द्विविधं,–पद्मरागाख्यं नीलगन्धि च तत् तु वृत्तायतं समं गात्रं श्रेष्ठमुच्यते (र. ४.९-१०)

–तिलक–पु., पारदयोग० पारदगन्धकमाक्षिकाभ्रका-दीनि समभागिकानि शतावरीरसेन मञ्जिष्ठादि-कषायेण च संमर्द्य विशोष्य च पक्वमूषायां पचेत् । अयं कुष्ठनाशनः (र. २०.८२-८५)

माणिभद्रक–पु., गुडयोग० अर्शसश्चिकित्सायामुपयुक्तः (असंचि. १०)

माणिमन्थ–न., सैन्धवम् (र. १८.१३९-४१)

माण्डव्य–पु., ऋषि० सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रस-सिद्धिप्रदायकः (र. १.२-५)

मातङ्ग–पु., देश० कुरुक्षेत्रस्य पूर्वप्रदेशे विद्यमानः (काखिल. २५.९)

(मातङ्गी)–स्त्री., रेवतीग्रह० सा नवमेऽहनि अपत्यं विनाशयति (का. रेवतीक.)

मन्त्रविद्या० मतङ्गेन महर्षिणा कश्यपपुत्रेण कनीयसाऽऽसादिता, सा दुःस्वप्नकलिरक्षोघ्न्यभिशापनाशनी च (काकरेवती.)

मातंगजचर्मन्–(परिव०) न., हस्तिनश्चर्म, इदं श्वित्रे लेपार्थमुपयुज्यते (सुचि. ९.१६)

मातरिश्वन्–पु., वातः (सुशा. ६.१९)

मातुलक–पु., धत्तूरः (रा. १०.११)

मातुलिङ्ग–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२२)

मातुलिङ्गिका–स्त्री., वनस्पति० वनबीजपूरकः (रा. ११.३४) अम्ला, कटुरुष्णा, रुचिप्रदा, वातविनाशनी, कफापहा, अम्लदोषा, कृमिनाशकारी, श्वासनिघूदनी (रा. ११.३४)

मातुलुङ्ग–पु., फल०, गुणाः–अम्लः, कटुः, उष्णः, लघुः, कण्ठशोधनः, दीपनः, हृद्यः, पाचनः, श्वासकासाऽरुचितृष्णाहरः (ध. ५.२२) छर्दिनिग्रहणः (चसू. ४.१४) प्रलेपाद्वातशोफजित् (सुसू. ३७.३) मातुलुङ्गत्वक् तिक्ता, दुर्जरा, वातकफापहा, क्रिमिघ्नी च, मातुलुङ्गमांसं स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मेध्यं मारुतपित्तजित शूलवातजच्छर्द्यरोचकनाशनम् । मातुलुङ्गकेसरं लघु दीपनं संग्राहि गुल्मार्शोघ्नं च (सुसू. ४६.१४९-१५१) विबन्धमंदाग्नि मद्यविप्लव-हिक्का-श्वास-कास-वर्चोगदघ्नं च (चसू. २७.१५४) मातुलुङ्गरसः शूलाऽजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ, अरुचौ कफमारुतयोश्च विशेषेण उपदिश्यते (सुसू. ४६.१५२) मातुलुङ्गमम्लफलेषु श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३४) मातुलुङ्गबीजं तिक्तं पथ्यं कफशमनं अर्शःश्वयथुनाशनम् (रा. ११.३०) मातुलुङ्गमूलं कृमीन् हन्ति (ध. ५.३०) (ध. ५.३०) मातुलुङ्गपुष्पं गुल्मजित्

हिं.—बिजोरा, माफल.

म.—महाळुंग.

गु.—बालंक, बिजौरा, बिजोरु लिंबू.

बं.—छोलोंगो नेबू.

फा.—तुरंज.

मातुलुङ्गाम्ल–न., मातुलुङ्गरसः (सुचि. ५.२८)

मातुलुङ्गासव–पु., आसुत० अयं सामुद्रमत्स्यानामनुपान० (सुसू. ४६.४३३)

मातुलुङ्गी–स्त्री., वनस्पति० सुरभिफलोऽरण्यबीजपूरकः, तत्पुष्पम् शिरोविरेचनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.६) मधुकर्कटी (सुउ. ४५.३६)

मातृ–स्त्री., जननी (सुशा. ३.३१)

ग्रहमातृ० सेना सुसेना माता च महासेना यशस्विनी (असंउ. ४)

रेवतीग्रहस्य नाम (कासं. बालग्रहचि.)

कफजकृमि० (असंनि. १४.५४-५५)

वनस्पति० हरीतकी (काकल्प.)

मांसी वनस्पति० (रा. १२.९१)

वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१)

वनस्पति० महामुण्डी (रा. ५.२२०)

वनस्पति० मूषककर्णी (रापरि. ३.२२)

–ज–वि., मातुः शरीरादागतः (अवयवविशेषः) गर्भस्य मातृजानि अंगानि–त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्राऽन्त्रं च स्थूलाऽन्त्रं च वपा च वपावहनं चेति (चशा. ३.६) मज्जा मातृजः (सुशा.३. ३३) आमाशयगर्भाशयक्लोमानि मातृजानि (असंशा. ५.१४)

–नन्दिन्–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४)

–निन्दक–पु., प्रतुदपक्षि० प्रियात्मकः, पुत्ररञ्जक इति (ड. सुसू. ४६.६७)

–हृदय–न., शारीर० मातुः हृदयम् (चशा. ४.१५)

मातृक–पु., वनस्पति० ऋषभः (ध. १.१२५)

-केश–पु., गोकेशः, अयं धूपनार्थमुपयुज्यते (का. धूपकल्प.)

(मातृका)–स्त्री., सिरा० (असंशा. ७.२३)

--दोष-पु., बालरोग० मलोपलेपात् स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवस्तान्त्रो व्रणो जायते स कण्डूमान् अन्तर्भागे भवति भूर्युपद्रवश्च (असंउ. २)

–मर्मन्–न., मर्म० ऊर्ध्वजत्रुगतं ग्रीवायां चतुरङ्गुलप्रमाणम् (सुशा. ६.२७) इदं सिरामर्म (सुशा. ६.७) सद्यःप्राणहरम् (सुशा. ६.९) अष्टौ मातृकामर्माणि (सुशा. ६.६) ग्रीवायामुभयतश्चतस्रश्चतस्रः सिरा मातृकाः (सुशा. ६.२७)

मात्रा–स्त्री., अनपायिपरिमाणम् (चसू. १३.५) प्रमाणम् (सुचि. ३१.२५) कालमान० (अहसू. २२.३३) निमेषोन्मेषकालेन समं यावत्कालं हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलं पर्येति, सा तु मात्रा स्मृता (अहसू. २२.३३) आक्षिनिमेषः (असंसू. ४.५) पुंसां यावत्काले

निमेषोन्मेषणं भवति अङ्गुलेर्वा स्फोटनं लघोर्वाप्यक्षरस्य उच्चारणं भवेत्, सा मात्रा इत्युच्यते (ड. सुचि. ४.२०)
आहारस्याऽनपायि परिमाणम् तत्र कुक्षेरपीडनं, पार्श्वयोरविपाटनमन्नेन हृदयाऽऽबाधो जठरस्य तु गौरवं, चक्षुरादीनां प्रीणनं क्षुत्पिपासयोः शमनमुच्छ्वासश्वासहास्यादिकथासु सुखवर्तनमन्ने भुक्ते दिवा निशि च सुखेन परिणाम इति लक्षणान्याहारमात्रया भवन्ति (सुसू. ४६.४६५-४६६) मात्रां द्रव्याण्यपेक्षंते, गुरुद्रव्याणामल्पा मात्रा लघुद्रव्याणां यावत्तृप्तिर्मात्रोक्ता, तथा मात्रा अग्निमपेक्षते (चसू. २७.३४१) अल्पत्वम् (असंसू. २५. ४०-४१)

-गुरु-वि., यद् मात्रया गुरु तत्, अतिमात्रमित्यर्थः (चसू. ६.९)

-प्रमाण-न., मात्रायाः प्रमाणम् (चसू. ५.४)

-बस्ति-पु., उपक्रम० अनुवासनबस्तेर्भेदः (सुचि. ३५.१८) स्नेहपानस्य स्वया मात्रया समो योजितः स्नेहः मात्राबस्तिरिति स्मृतः, स बाल वृद्धाऽध्वभारस्त्रीव्यायामाऽऽसक्तचिन्तकैर्वातभग्नाऽबलाऽल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः सदा शीलनीयः, यश्च निष्परीहारो दोषघ्नो बल्यः सृष्टमलः सुखश्च (अहसू. १९.६७-६९)

-विकल्पज्ञ-वि., अन्नादिद्रव्याणां गुरुलघुगुणाऽपेक्षया प्रमाणज्ञः (चचि. ३.१९३-१९४)

मात्राशितीय-वि., मात्राशितमधिकृत्य कृतोऽध्यायसंज्ञाविशेषः (चसू. ५.११)

मात्राशिन्-वि., मात्रया अशितुं शीलं यस्य, सः (चसू. ५.३)

मात्सर्य-न., परगुणेष्वमाध्यस्थ्यं क्रौर्यं वा (सुसू.१.२५(३))परगुणासहिष्णुत्वम् (अहसू.४.२४)

मात्स्य-वि., मत्स्यस्य इदं, मात्स्यम् (चसू. १३.८३)
न., चित्तप्रकृति० तामससत्त्वस्यैकः प्रकारः भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुपक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं सत्त्वं विद्यात् (चशा. ४.३९(२)

मादन-पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३१)
न., मत्तताकरणम् (सुसू. ४०.५)

(मादनी)-स्त्री., वनस्पति० माकन्दी (रा. ७.१५)

मादिका-स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (ध. १.१३०)

मादु-स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (ध. १.१३०)

माद्री-स्त्री., वनस्पति० अतिविषाभेदः कृष्णाऽतिविषा (वैशसिं.)

माधव-पु., वैशाखमासः (चसू. १३.१८; सुसू. ६.६)
पु., वनस्पति० मुद्गः (ध. ६.८१) कृष्णमुद्गः (असंचि. ७)
पु., वनस्पति० मधुकः (ध. ५.४५)
पु., मद्य० मधुकृतं मद्यम् (सुउ. ५७.१४-१५)
अरोचकघ्नम्, मध्वरिष्टम् (असंचि. ७)
वि., मधुना संस्कृत० (अहसू. ३.२२)

(माधवी)-स्त्री., वनस्पति० अतिमुक्ताख्यो लता० (अहसू. ३.३४; ध. ५.१५३)
स्त्री. वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९; रा. १०.२३४)
स्त्री., मधुशर्करा (ध. २.१०६)
स्त्री., वनस्पति० वाराही (ध. ४.९२)
स्त्री., वनस्पति० लता० गुणाः-कटुतिक्तकषाया मदगन्धिका, पित्तघ्नी कासव्रणदाहशोकनाशिनी (रापरि. १०.२९)
स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (ध. २.१)
स्त्री., सुरा (ध. ६.२५५)

-द्रुम-पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.१)

-प्रथम-वि., माधवो वैशाखः, तस्य प्रथमः नाम तदादौ भवः (चैत्रः) (चसू. ७.४६)

-प्रिय-न., वनस्पति० कालीयकम् (रा. १२.१५)

माधवेष्टा-स्त्री., वनस्पति० बाराही (रा. ७.१३४)

माधवोचित-न., वनस्पति० कङ्कोलकम् (ध. ३.३७)

माधवोद्भव-पु., वनस्पति० क्षीरी (रा. ११.१४६)

माधुतैलिक-पु., बस्ति० अस्मिन् बस्तौ मधु तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते इत्यसौ माधुतैलिक इत्युच्यते (सुचि. ३८.१०१) माधुतैलिकस्य पर्यायः, यापनो युक्तरथो दोषहरः सिद्धबस्तिरिति (सुसू. २८.५) माधुतैलिकबस्तियोग्या मृदुकोष्ठाः सुखिनोऽल्पदोषा नित्यस्निग्धाश्च (सुचि. ३८.११७)

माधुमेहिक-वि., मधुमेहजम् (चसू. १७.७)

माधुर्य-न., मधुरता (चनि. ४.४७)

माधूक-वि., मधुकस्येदम् (अहसू. १५.४)

माध्वी-स्त्री., शर्करा विशेषः (रा. १४.१६८) गुणाः-बल्या, वृष्या, तर्पणी च (रा. १४.१६८)
स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरिका (रा. ११.७१)

माध्वीक-वि., मधूद्भवम् (चसू. ६.२६)
न., सुरा (१४.३०२)

न., मधुयोनिमद्यम् चिरसंस्थितं च (ड.,) द्राक्षासवः (जेज्जट,) प्रमेहेषु पानार्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.११)

(माध्वीका)–स्त्री., धान्य० श्वेतनिष्पावः (रा. १६.१७५)

–फल–पु., वनस्पति० मधुनारिकेरः (रा. ११.११०)

मान–न., प्रमाण० त्रिविधं मानम्–तुलामानं, प्रस्थमानं, अङ्गुलीमानं चेति । ' मानं तुलाङ्गुलीप्रस्थैः ' इत्यमरः (अमर. २; वैश्यवर्ग. ८५) पुनश्च द्विविधं कालिङ्गं मागधं चेति। तत्र कालिङ्गात् मागधं श्रेष्ठम् (चक. १२.१०५) चरकोक्ता मानपरिभाषा–षड्ध्वंश्यो मरीचिः स्यात्, षण्मरीच्यः सर्षपः, अष्टौ रक्ताः सर्षपास्तण्डुलः, तण्डुलद्वयं धान्यमाषः, धान्यमाषद्वयं यवः, चत्वारो यवाः अण्डिका, चतस्रः अण्डिका माषकः, माषकत्रयं शाणः (षाणः) (चत्वारो माषकाः शाणः) (असंक. ८) द्वौ शाणौ द्रंक्षणः, द्वौ द्रंक्षणौ कर्षः, द्वौ कर्षौ शुक्तिः, द्वे शुक्ती पलं, द्वे पले प्रसृतं, प्रसृतद्वयं कुडवः, द्वौ कुडवौ मानिका, मानिकाद्वयं अर्थात् चत्वारः कुडवाः प्रस्थः, चतुःप्रस्थमाढकम्, प्रस्थाऽष्टकं कंसः (चक. १२.८७-९४) चत्वारि आढकानि द्रोणः, चत्वारो द्रोणा वहः (असंक. ८) शतं पलानि तुला (चक. १२.९७) तुलाविंशतिः, द्विसहस्रपलानि वा भारः (असंक. ८) सुश्रुतोक्ता मानपरिभाषा– पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः– तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकाः ते षोडश सुवर्णम्, अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाऽऽढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः, शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्राणांद्रवाणां च द्विगुणमिति (सुचि. ३१.७) रसरत्नसमुच्चयोक्ता मानपरिभाषा–षट् त्रुटयः एका लिक्षा, षट् लिक्षा यूका, षट् यूका रजः, षट् रजांसि सर्षपः, षट् सर्षपा यवः, षट् यवा गुञ्जा, तिस्रो गुञ्जाः वल्लः, षट् गुञ्जा माषः, द्वादशमाषास्तोलः अष्टौ तोलाः पलम्। रसरत्नसमुच्चये रसोपयोगिनी मानपरिभाषा–षडणवस्त्रुटिः, षट् त्रुट्यो लिक्षा, षड् लिक्षा यूका, षड् यूका रजः, षड् रजांसि सर्षपः, षट् सर्षपा यवः, षड् यवा गुञ्जा, गुञ्जाद्वयं निष्पावः, गुञ्जात्रितयं वल्लः, द्वौ वल्लौ माषः, द्वौ माषौ धरणम्, द्वे धरणे शाणः स एव निष्कः, निष्कद्वयं वटकः, स एव कोलः, कोलत्रितयं तोलः। निष्कचतुष्टयं कर्षः, द्वौ कर्षौ शुक्तिः द्वे शुक्ती पलम्, केचित् शुक्तित्रयं पलं विदुः। पलद्वयं प्रसृतम्, द्वे प्रसृते, कुडवः, सा एव अञ्जलीः, द्वौ कुडवौ मानिका, द्वे मानिके प्रस्थः, प्रस्थद्वयं शुभं शुभद्वयं पात्रकं, पात्रकद्वयमाढकं, चत्वारि आढकानि द्रोणः। पलानां शतं तुला, चत्वारिंशत्तुला भारः (र. १.११-१३) वाग्भटस्तु शाणं पाणितलं मुष्टिं कुढवप्रस्थमाढकम्। द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम् (अहक. ६.२२) भावमिश्रस्तु ' मागधपरिभाषायां षड्रक्तिको माषश्चतुर्विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, षण्णवतिरक्तिकः कर्षः। अयं चरकसम्मतः। सुश्रुतमते तु पञ्चरक्तिको माषः, विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, अशीतिरक्तिकः कर्षः। अयमेव कालिङ्गपरिभाषायामपि। यतस्तत्राष्टरक्तिको माषो द्वात्रिंशद्रक्तिकष्टङ्कः, सार्धटङ्कद्वयमितः कर्षः ॥ ' कलौ नराणां मन्दाग्नित्वात् ह्रस्वत्वात् हीनसत्त्वत्वात् च तद्योग्या सुज्ञसम्मता मानपरिभाषा, भावमिश्रमतेन प्रोच्यते, द्वादश गौरसर्षपाः यवः, यवद्वयं गुञ्जा, त्रिगुञ्जो वल्लः, अष्टगुञ्जाः माषः, क्वचित् सप्तगुञ्जाः माषः, माषचतुष्टयं शाणः, षण्माषको गद्याणः, दशमाषकः कर्षः, कर्षचतुष्टयं पलं, दशशाणमितं पलं, चतुष्पलं कुडवः, शेषं पूर्ववत् वाग्भटमतानुसारेण ज्ञेयम् (भा. प्र.) सर्वत्रोत्कर्षेणाऽऽत्मनो ज्ञानम् (सुसू. २.६) आत्मनि उत्कर्षबुद्धिः (ड. सुशा. १.१८) प्रभावादिः विशेषः (चवि. १.३)

–तुण्डक–पु., जलचरप्राणि० (चसू. २७.४१)

–द्रुम–पु., वनस्पति० शाल्मली (अहसू. १५.३७)

–विकल्पज–वि., वातादेः क्षयसमतावृद्धिस्वरूपस्य मानस्य परस्परसम्बन्धाऽसम्बन्धकृतः भेदः (चसू. १७.३)

–विरुद्ध–वि., प्रमाणतो विरुद्धम् (सुसू. २०.१५)

–मानक–न.,कन्दशाक० महापत्रम् यथापूर्वमधःपत्रपरित्यागि (ड.), मानकन्दः, माणक इति नाम्ना प्रसिद्धः, तद्गुणाः–स्वादु, कटु, ईषत् कषायं शीतं, रुक्षं, गुरु, (लघु-भाप्र) विष्टम्भि, कफवातलं, पित्तहरं, (रक्तपित्तघ्नं, शोथहृत्) (रानि. सुसू. ४६.३०६-३०७)

हिं.—सालिब मिस्री, गोरूमा.

म.—भुईकाकली, अम्बरकन्द.

गु.—साळुम, मानकन्द.

बं.—संग मिस्रि.

फा.—संग मिस्रि.

(मानिका)–स्त्री., मान० कुडवद्वयम् (चक. १२.९३)
मानस–वि., मनसः इदम्, मनःसम्बन्धि (चसू. ११.४५)
न., मनः अमर—
मनःसंबंधि, मनोविषयकम् (सुचि. २४.९८)
(मानसी)–स्त्री. ब्राह्मी (असंउ. ४२)
–रोग–पु., मनोरोगः (चसू. ११.४५)
–व्याधि–पु., मनोरोगः (सुसू. १.४)
मानुष–वि., मनुष्यस्य इदमिति मानुषम् (चसू. २७.२२४)
–पयस्–न., स्त्रीदुग्धम्, स्तन्यम् (चसू. २७.२२४)
–मूत्र–न., मानवमूत्रम् तद्गुणाः–तिक्तं, लवणमुष्णं, रूक्षं, रोचनं, पित्तकफवातघ्नं रक्तपित्तकृमिमोहविषाऽऽमव्रणभूतत्वग्दोषघ्नम् (ध. ६.४९७)
मानुषीपयस्–न., दुग्ध० नारीस्तन्यम्, तद्गुणाः–मधुरं, कषायं, शीतं, स्निग्धं, लघु, स्थैर्यकरं, चक्षुष्यं, बल्यं, जीवनं, बृंहणं, तर्पणं, दीपनं, पाचनं, रुच्यम् (ध. ६.१७५) सात्म्यं, स्नेहनं, रक्तपित्ते नावनं, अक्षिशूलिनां तर्पणम् (चसू. २७.२२४)
मान्द्य–न., मन्दता, क्षयः (चसू. ७.४९)
न., जठराग्निमन्दता (र. १५.४३)
माया–स्त्री., परबन्धनबुद्धिः ((ड) सुक. १.९)
–फल–न., वनस्पति० तद्गुणाः–कटु, उष्णं, शैथिल्यसंकोचकं केशकार्ष्ण्यकरम्, वातहरम् (रा. ६.२२)
हिं.—माजुफल.
म.—मायफळ.
गु.—मैफळ.
बं.—माजुफल.
मायि–वनस्पति० मायाफलम् (रा. ६.२२)
–फल–न., वनस्पति० मायाफलम् (रा. ६.२२)
मायिका–स्त्री., वनस्पति० मायाफलम् (रा. ६.२२)
मायूर–वि., मयूरस्येदम्, मयूरसम्बन्धि (चसू. १३.८३)
(मायूरी)–स्त्री., विद्या० लघुमायूरी ससप्तती (इन्दु. असंउ. १)
स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (र. ६.१५१)
–घृत–न., घृतयोग० मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत् तुण्डाऽङ्घ्रिवर्जितं दशमूलादिभिर्जले पक्त्वा तस्मिन् क्षीरसमं घृतप्रस्थं पचेत्; तदूर्ध्वजत्रुगदेषूपयुक्तम् (चचि. २६.१६३-६४)
मारक–न., खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४८)
मारण–न., संस्कार० भस्मकरणम्, सर्वलोहानां पारदभस्मना मारणं श्रेष्ठम्, मूलीभिर्मारणं मध्यमम्, गन्धकादिभिश्च मारणं कनिष्ठं भवति । अरिलोहेन तु मारणं दुर्गुणप्रदं भवति (र. ५.१६)
मारिचक–वि., मारिचसंस्कृतम्, संस्कृतमिति सूत्रेण मरिचकैः संस्कृतमित्यर्थे मारिचकम् (चचि. २४.२३)
मारिष–शाक० फञ्जीचिल्लयादिगणोक्तः, श्वेतरक्तभेदेन स द्विधा । तद्गुणाः–मधुरः शीतवीर्यो गुरुर्विष्टम्भजरणशीलो रूक्षः पुरीषभेदनश्च (चसू. २७.१००; असंसू. ७.१३९) रक्तमारिषो नातिक्षारमयः सरः श्लेष्मलः स्वल्पदोषः कटुपाकी च (र. २८.९१) तण्डुलीयभेदः (हर. २८.९१)
मारीच–पु., ऋषि० कश्यपः रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२; (का भोजनकल्प.)
न., वनस्पति० कङ्कोलम् (ध. ३.३७; रा. १२.६९)
–पत्रक–पु., वनस्पति० सरलः (ध. ३.७८)
मारीचि–पु., ऋषि० मरीचेरपत्यं पुमानिति मारीचिः कश्यपः (चशा. ६.२१)
मारीष–पु., पत्रशाक० मारिषः (र. १२.१२९)
मारुत–पु., दोष० वातः (चसू. १.५९; अहसू. १.१५) शमनचिकित्सा० वायुसेवनम् (असंसू. २४.९; अहसू. १४.७)
–ज–वि., वातजम् (सुउ. ५५.२०)
–पर्यय–पु., नेत्ररोग० वातपर्यायः (सुउ.१.३०-३१)
–प्रकृति–वि., वातप्रकृतिः (सुशा. ४.६४-६६)
–मूढता–स्त्री., वातस्य प्रतिलोमता (अरु.) वायोर्विमार्गगतिः (हे. अहसू. ८.३०)
–रोगिन्–वि., वातव्याध्यातुरः (अहसू. १६.९)
–सङ्ग–वि., लक्षण० वातावरोधः (चसि. ३.६०)
मारुतापह–पु., वनस्पति० वरुणः (ध. ५.११९)
मारुतार्त–वि., वातव्याधिपीडितः (चसू. १६.१०)
मारुताशय–पु., वाताशयः (चचि. २१.४६) पक्वाशयाधःशरीरम् (चक. चचि. २१.४६)
मार्कण्डी–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (र. १७.२९) मूम्याहुल्यम् (र. १७.२९)
मार्कण्डीय–न., वनस्पति० भूम्याहुल्यम् (रापरि. ४.३६)
मार्कण्डेय–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः गर्भांगसम्भवविधये विवदमानानामेकः (चसू. १.९; सुशा. ३.३२)

मार्कव–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (चवि. ७.२१; सुचि. ७.२४; ध. ४.११; र. ११.४८)

मार्ग–पु., शरीरच्छिद्र० स्रोतः (चवि.५.९; असंशा. ६.५०)
रोगमार्गः, बाह्यमध्याभ्यन्तरभेदेन त्रयो रोगमार्गाः (असंसू. २२.१५)
मकरादिराशिपरिच्छन्न आकाशभागः रवेः मार्गः (असंसू. ४.७)
वनस्पति० अपामार्गः (र. २०.२२२)
वि., मृगस्येदं मार्गम् मृगसम्बन्धि (चचि. १९.७४; सुशा. ३.२७)

–ग–वि., मार्गेण गच्छन् (चवि.५.९)

–परिगृहीत–वि., मार्गसम्बद्धः सूर्यो वायुः सोमो वा (चसू. ६.५)

–विशोधन–न., यन्त्रकर्म० मूत्रपुरीषसङ्गे स्रोतः शोधनम् (सुसू. ७.१७)
वि., मूत्रनाडीव्रणादिमार्गाणां शुद्धिकरम् (सुसू. ४२.१०(३))

–विहित–(परिव०) वि., विधिविहितम् (चसू.१६.२६)

–शुद्धि–स्त्री., यन्त्रकर्म० स्रोत्रःशुद्धिः (अहसू. २५.४१)

–शोधन–न., यन्त्रकर्म० मार्गविशोधनम् (असंसू. ३४.२०)

–स्थ–स्रोतोगतम् (असंशा. ६.५१)

मार्गावरण–(परिव०) न., मार्गावरोधनम्, मार्गरोधः (सुचि. ५.७)

मार्गोपरोध–पु., मार्गस्यावरोधः (चसू. २६.८२)
स्रोतसां रोधः। अयं रसदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २.४९)

मार्जन–पु., लोध्रभेदः, पट्टिकारोध्रः (रा. ६.२४१)

(मार्जनी)–स्त्री., गृहमार्जनी (असंशा. १२.४)

मार्जार–पृ., प्राणि० प्रसहमृग० (अहसू. ६.४८)
बिडालः, मार्ष्टिमुखम् (चसू. २७.३५) दंष्ट्रानखविषोऽयम् (सुक. ३.५) अस्य मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्माण्युन्मादादिषु सेकाञ्जननस्यधूमार्थमुपयुज्यन्ते (चचि. ९.७४-७५) अस्य सर्पविषं नातिबाधते (सुक. ४.४५) पित्तमस्य सर्वविषहरम् (सुक. ५.६८-७३; असंसू. ८.२९) इदं ग्रहचिकित्सायामुपयुज्यते (सुउ. ६०-४०)
गुहाशय० अरण्यबिडालः (सुसू. ४६.७२; धपरि.६)
वनस्पति० चित्रकभेदः, रक्तचित्रकः (रा. ६.१२७)

(मार्जारी)–स्त्री., सुगन्धि० कस्तूरिका (ध. ३.२८)

–गन्धिका–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (ध. १.१३८)

–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र० मार्जारमुखसदृशं यन्त्रम्, इदमस्थिनिमग्नशल्योद्धरणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ७.१०)

मार्जाली–स्त्री., सुगन्धि० कस्तूरिका (रा. १२.४६)

मार्जित–वि., सुघृष्टम् (चचि. २(२)२५)

मार्तण्डवल्लभा–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (रा. ४.१४५) सूर्यभक्ता, सूर्यपुष्पी.

मार्तण्डेश्वर–पु., योग० गन्धकताम्रमाक्षिकादिसिद्धः अयं वाताद्यष्टमहारोगश्वासकासक्षयहृल्लीमकपाण्डुसन्निपातज्वरनाशनस्तीव्रदीपनो वन्ध्यत्वनाशनश्च (र., २१.९६-१०२)

मार्तिक–वि., मृत्तिकाया इदम्, मृत्तिकानिर्मितं वा मृत्तिकाभवम् (चचि., १(२).४)

मार्दव–न., मृदुत्वम् (चसू. २६.४३(१); चशा. ४.१४) सौकुमार्यम् (अहसू. ११.३)

–कर– वि., शरीरकोमलतोत्पादकम्, सौकुमार्यकरम् (सुसू. ४६.४३५-४३७)

मार्द्वीक–न., आसुत० द्राक्षोद्भवं मद्यम् (सुचि. ८.१७)
तद्गुणाः–मधुरं कषायानुरसं लघु लघुपाकि सरं शोषविषमज्वरनाशनं च (सुसू. ४५.११७-१७३)
लेखनं हृद्यं नात्युष्णमल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शः-कृमिनाशनं च (अहसू. ५.७०)
पानक० द्राक्षारसोद्भवम्, तद्गुणाः– श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहं च (सुसू. ४६.३९०)

–शुक्त–न., आसुत० मार्द्वीकम् (असंसू. ६.१३६)

मार्ष–पु., शाक० मारिषः (असंसू. ७.१३९-१४३)

माल–न., उपरिभागः (इन्दु. असंउ. ४४)

(माला)–स्त्री., सुगन्धि० वृक्ष० स्पृक्का (र. १७.३४)

मालती–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)
जाती (चचि. ३०.५९; सुसू. ३८.६४; असंसू. ३०.१४; ध. ५.१३८)
मालतीनाम्ना प्रसिद्धा काचित् नदी, यत्तीरसम्भवं श्वेतटंकणम् (रा. ६.३१)

–कुसुम–न., जातीपुष्पम्, इदं नेत्रयोः स्पर्शनाक्षेत्र-शैत्यकरम् (असंसू. ३३.९)

–कोरक–पु., जातीपल्लवः, अस्य क्षारः श्वित्रे लेपार्थमुपयुज्यते (असंचि. २२)
जातीपुष्पम्, इदं तिमिरेऽञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.३७)

–तीरसम्भव–न., टङ्कणभेदः श्वेतटङ्कणम्, (रा.६.३१)

-पत्र-न., जातीलतायाः पत्रम्, स्वेदोपयोगिद्रव्येष्वेकम् (असंसू. २६.६)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री (ध. ३.३३)
-पुष्प-न., शाक० जातीपुष्पम् (ड. सुचि. ३७.१०१) सुमनाः (अरु. अहसू. २४.२१½) इदं शाकत्वेनोपयुज्यते। तद्गुणाः-तिक्तं मारुतजित् सौरभ्यात् पित्तनाशनं च (सुसू. ४६.२८६; असंसू. १२.८७-८८)
-फल-न., वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५)
-रससम्भव-पु., क्षार० टङ्कणक्षार (ध. २.२२)
मालय-न., वनस्पति० पद्मकः (रा.१२.१४९)
मालविका-स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत्श्यामा (ध. १.२४३)
मालवी-स्त्री., वनस्पति० पाठा (रा.६.१००)
माला-स्त्री.,
-कण्ट-पु., वनस्पति० अपामार्गः (रा. ४.३८८)
-कन्द-पु., वनस्पति० तद्गुणाः-सुतीक्ष्णो दीपनो वातश्लेष्माऽपकर्षणो गण्डमालागुल्मघ्नश्च (रापरि. ७.४४)
-गुणा-स्त्री., लता० उपपादिका (असंउ. ४४) तल्लक्षणम्-दंशो रक्तो धूमगन्धो विशीर्यमाणश्च भवति। दाहो मूर्च्छा ज्वरश्च जायते (सुक.८.१२७) तथाऽन्तर्दाहो बहिः शैत्यमाध्मानं मूत्रकृच्छ्रता मूर्च्छाप्रलापाऽतीसारज्वराश्च भवन्ति (असंउ. ४५)
-ग्रन्थि-स्त्री., दूर्वाभेदः, मालादूर्वा (रा. ८.२३२)
-तृण-पु., वनस्पति० भूतृणः (ध. ४.४७)
न., वनस्पति० भूतृणम् (रापरि. ८.४२)
-दूर्वा-स्त्री., दूर्वाभेदः (रा. ८.२३२)
मालालिका-स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)
मालाली-स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३६२)
मालुविटपिन्-पु., वनस्पति० कुम्भीरः (रापरि. ९.१९)
मालूक-पु., वनस्पति० अर्जकभेदः (रा. १९.८६)
मालूर-पु., बिल्वफलम् (र. २२.१५७)
वनस्पति० कपित्थः (रा. ११.१५५)
माल्य-न., पुष्पमाला, पुष्पम् (चक. ३.१२; सुक.५.१२)
-परिक्लेशन-न., लक्षण० पुष्पादिष्वप्रीतिः (चनि. १.३३)
-पुष्प-पु., वनस्पति० शणः (रापरि. ४.१०)
-(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (ध. १.२००)
-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (रा. ४.२९८)
माष-पु., शिम्बीधान्य० स्वेदोपगगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३; असंसू. १५.२७) अयं शमीधान्यानां हीनतमः (चसू. २५.३९; अहसू.६.२५) श्लेष्मपित्तजननानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३) विप्रेभ्यो माषदानमशुभस्वप्नापत्तिहरम् (सुसू. २९.७१-७२) तद्गुणाः-वृष्यो वातहरः स्निग्धोष्णो मधुरो गुरुर्बहुमलो बल्यः पुंस्त्वदायी च (चसू. २७.२४) तथा भिन्नपुरीषमूत्रः सन्तर्पणः स्तन्यकरश्च (सुसू. ४६.३४) श्लेष्मपित्तकरः स्वादुपाकः (असंसू. १७.४०) शुक्रवृद्धिविरेककृच्च (अहसू. ६.२१-२२) तथा रक्तपित्तप्रकोपणो रोचनश्च (रा. १६.१५४)
हिं.—उडद, उरीद.
म.—उडीद.
गु.—अडद.
बं.—माषकलाय.
त.—उळुन्तु.
फा.—माष.
मान० वल्लद्वयम् (र. ११.३) षड्ज्ञामानम् (रा. १३.११-१२)
शिम्बीधान्य० राजमाषः (ध. ६.८४)
-कल्क-पु., चूर्णितमाषाणामार्द्रा पिष्टिः। अयं शिरोबस्तौ वस्त्रोपरि बद्धे चर्मपट्टे लेपार्थमुपयुज्यते (अहसू. २२.२९)
-चूर्ण-न., माषपिष्टम्, इदं सूक्ष्ममुखव्रणप्रपीडनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.११) व्रणमुखे विकिरणार्थमुपयुज्यते (अहसू. २७.४८)
सिराव्यधविधौ असृक्स्थापनाय चोपयुज्यते (असंसू. ३६.१०)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१)
-पर्णभृत्-वि., हरितमाषपर्णानि पोषणार्थं बिभर्ति धारयति खादति वा इति हरितमाषपर्णभृद् (गवादिः) (सुचि. २६.३७)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० जीवनीयवर्गोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९; असंसू. १५.६; अहसू. १५.८) शुक्रजननगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२) तद्गुणाः-तिक्ता शीता वृष्या शुक्रवृद्धिकरी बल्या पुष्टिकरी वातपित्तघ्नी रक्तपित्तदाहज्वरनाशनी च (ध. १.१३६) तथा जीवनी स्तन्यश्लेष्मकरी च (सुसू. ३८.३५-३६)
हिं.—माषोणी, वनउडद.
म.—रानउडीद.
गु.—जंगली अडद.
बं.—माखानी, माषानी.
त.—पेरुवीटुकोक्कु.

-पिष्ट-न., माषपिष्टिः, इदं शिरोबस्तौ वस्त्रोपरि लेपनार्थमुपयुज्यते (असंसू. ३१.१९)

-पूपलिका-स्त्री., भक्ष्य० माषस्य कृता माषमयी पूपलिका (चचि. २४.१२६)

-मिश्रक-पु., माषतण्डुलकृतमन्नम् (चसू. १३.८९)

-यूष-पु., कृतान्न० माषाणां मण्डः, वृष्योऽयम् (चचि. २ (१). ४७) आभ्यन्तरमलवर्धनश्च (असंसू.७.४९)

-वर्णा-वि., माषयूषप्रभा, कृष्णकपिला (सुसू. ८.१३)

-विकृति-स्त्री., माषनिर्मितं भक्ष्यादि (अहसू. ३.१२)

-विदल-न., माषस्य विदलीभूतं धान्यम्, माषदाली (चसू. २.३२)

-षष्टिकपायस-पु., कृतान्न० क्षीरचतुर्गुणे विदार्याः रसे माषैः षष्टिकैश्च साधितो घृताढ्यः पायसः । अयमतिवृष्यः (चचि., २(३).१४)

-सूप-पु., कृतान्न० माषाणां यूषः, मूलकेन सह माषसूपाभ्यवहारो विरुद्धः (असंसू. ९.९; अहसू. ७.३३)

माषक-पु., मान० अण्डिकाचतुष्टयम् (चक. १२.८८; असंक. ८)
शाक० वास्तुलः (अरु.) तद्गुणाः-रूक्षो ग्राही हिमो गुरुश्च (अहसू. ६.९२)

मास-पु., न., काल० शुक्लकृष्णेतिपक्षद्वयात्मको मासः । चैत्रादयो द्वादशमासाः (सुसू. ६.५; असंसू. ४.५)

-स्वरूप-न., मासानां लक्षणम् (असंसू. ४.६३)

मासानुमासिक-वि., मासानुक्रमेण प्रतिमासं दीयमानम् (सुशा. १०.५८)

मासान्त-वि., मासं यावत् मासावसानम्, मासावधिकम् (असंशा. ९.२१)

मासार्धमासस्थ-वि., अतीतसार्धमासम् (अरिष्टादि) (चक. ८.१५)

मासूरी-स्त्री., मसूरदलधारा तन्वी, भेदनानां शस्त्राणां धाराप्रमाणमिदम् (ड. सुसू. ८.१०; असंसू. ३४.३५)

माहिष-वि., महिषस्य महिष्या वा सम्बन्धि (चसू. १.१०२; सुसू. ४५.९९)

-पञ्चक-न., महिष्याः क्षीर-दधि-घृत-मूत्र-शकृद्रसाः (र. १०.७८)

-बस्ति-पु., महिषस्य बस्तिः, अयं बस्तियन्त्रार्थमुपयुज्यते (चसि. ३.१०)

-रस-पु., माहिषमांसरसः, दधिदाडिमसहितो घृताढ्योऽयं परं वृष्यः (चचि. २(४).१५-१६)

माहिषाम्बु-न., महिषीमूत्रम्, इदं रसकर्मण्युपयुक्तम् (र. १०.७८-७९)

माहिषाम्ल-न., माहिषदधि, माहिषतक्रं वा (कागर्भिणीचि.)

माहेन्द्र-वि., आन्तरिक्षं जलम् (चसू. ५.६६) इदं राजयक्ष्मणि परिषेकार्थमुपयुज्यते (चचि. ८.८६) इदं सर्वेषामनुपानानां श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.४३४)

(माहेन्द्री)-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७५

-काय-वि., सात्त्विकप्रकृतिभेदः, यस्मिन् पुरुषे महाशयत्वं शौर्यमाज्ञा शास्त्रबुद्धिसातत्यं भृत्यभरणमित्येवमादयो दृश्यन्ते स माहेन्द्रकायः (सुशा. ४.८२)

-सलिल-न., आन्तरिक्षोदकम् (असंसू. ४.७)

माहेश्वर-पु., सिद्धधूप० श्रीवेष्टकदेवदारुहिङ्गुमुस्ताकटुकावचादीनि द्रव्याणि छागमूत्रे मर्दितव्यानि। योगोऽयं धूपनाद् ग्रहपीडाहरः (र. २१.६०-६२)
घृतगुग्गुलुबिल्वदेवदारुनमेरुयवयुक्तो धूपः । ग्रहापहोऽयम् (काधूपकल्प.)
अगद० सगोमूत्राऽजगन्धा सगुग्गुलुर्गृहधूमश्च । योगोऽयं सर्वविषहरः (असंउ. ४०)

(माहेश्वरी)-स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (रा. ३.३८१)

मित-वि., परिमितम् (असंसू. ३.८८)

मित्र-पु., देवता० सूर्यः, पायोरधिदैवतम् (सुशा. १.७)
न., वयस्यः, सुहृद् (असंसू. ८.३)

-विन्दा-स्त्री., इष्टि० आयुष्कामस्येयमिष्टिर्विहिता (असंसू. ९.११५)

मिथुन-न., मधुसर्पिषी, द्वयम् यथा मधुसर्पिषोः (सुउ. ६५.३४)

मिथुनीकृत-वि.,मिथुनभावापन्नम्, मैथुने सम्यक्संयुक्तम् (चशा. २.३)

मिथ्या-अव्य., असम्यक् अविध्यर्हम् (चसू. १.५४)

-प्रणिहित-वि., असम्यग्रीत्या प्रणिहितम् (चसि. ४.३)

-प्रतिकर्मन्-न., मिथ्याकृतं वमनादिकं पञ्चकर्म (चचि. ५.५)

-युक्त-वि., असम्यक्प्रयुक्तम् स्नेहवमनादि (सुउ. ४०.४)

-योग-पु., असात्म्ययोगः (चसू. ८.१५) अनुचितो योगः (चसू. ११.३९) सम्यग्योगादन्यस्त्रिविधो योगः । मिथ्यातियोगो हीनयोगश्च (चसू. ८.३७; अहसू. १२.३६) यथा विकृतबीभत्सरूपादिदर्शनं चक्षुषो मिथ्यायोगः (चसू. ८.१५) सेव्यत्वेन निषिद्धविषयस्य सेवनम् । यथा परुषेष्टविनाशादि-श्रवणं शब्दस्य मिथ्यायोगः (सुउ. ६१.४) अयं व्याधिकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; असंसू.१३.३)

-विहार-पु., अयथाबलमारम्भः (सुचि. ५.५)

-संसर्जन-न., पेयविलेप्यादीनां मिथ्यायोगः, अविधिप्रयोगः (चचि. १३.१२; चनि. १.२८)

मिथ्यारम्भ-पु., मिथ्यायोगः (चक्र.) अयथाबलं प्रयत्नः (चशा. १.१०४)

मिथ्याहार-पु., देशकालप्रकृत्यादिविरुद्धः संयोगविरुद्ध-श्चाहारः (सुचि. ५.५)

मिथ्योपचरित-वि. असम्यक्चिकित्सितः (चवि. ३.३८)

मिन्मिण-पु., रोग० मिम्मिनः (सुनि. १.८५) गेंगाणा.

मिन्मिन-वि., मिम्मिनः, अस्पष्टनासागतशब्दोच्चारवान् (चवि. ८.८, सुसू. २४.५)

मिम्मिण-वि., सानुनासिकाऽव्यक्तस्वरः (असंशा. २.५४)

मिम्मिन-पु., रोग० सानुनासिकशब्दत्वम्, तल्लक्षणम्-सकफो वायुः शब्दवाहिनीर्धमनीरावृत्य नरान् मिम्मिनांस्तथा मूकगद्गदांश्च करोति (चशा. ३.१५; सुनि. १.८५)

मिलिन्दक-पु., सर्प० मण्डलिजातीयः (सुक. ४.३४ (२)

मिशि-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (अहसू. १५.३; र. २२.११०; ध. २.१)
मिश्रेया (ध. २.४)

मिशी-स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (ध. ३.४५)
शतपुष्पा (र. १६.६७)

मिश्र-पु., वनस्पति० चाणक्यमूलकम् (असंक. ३)
चाणक्याख्यमूलम् (ध. ४.३५)

-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८५)

-लोह-न., पित्तलं कांस्यं वर्तं चेति धातुत्रयम् (र. ५.१-४)

-वर्ण-पु., इक्षुभेदः, पुण्ड्रकः (रा. १४.१८३)

-वर्णफला-स्त्री., वनस्पति० वार्ताकम् (रा. ७.१२८)

मिश्रक-पु., कृतान्न० तण्डुलावरान्नोदनः (इंदु. असंड. ४)
पारदभेदः, सर्वधातुगतं तेजो यत्र मिश्रितं तिष्ठतीति मिश्रकः (र. १.८९)
न., लवण० औषरकम् (रा. ६.५.१)
वज्रप्रकारयोरन्यतरत् (र. ५.१६१-१६२)
वि., अध्यायसंज्ञा० सुश्रुतस्य सूत्रस्थानगतः सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः, अस्मिन् शोफस्य व्रणस्य च मिश्रयोगाः कथिताः । तथा व्रणषष्ट्युपक्रमेषु विम्लापनाद्यष्टौ उपक्रमा मिश्रीकृत्य कथिताः (सुसू. ३७)

-चिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० सुश्रुत-संहितायां चिकित्सास्थानगतः पञ्चविंशतितमो-ऽध्यायः (सुचि. २५)

-स्नेह-पु., सिद्धस्नेह० त्रिवृत्त्रिफलादन्तीदशमूलानि पञ्चदशपलानि चतुर्गुणे जले पक्त्वा चतुर्भागस्थितं तद्रसं सर्पिरेरण्डतैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत् । स्नेहोऽयं कफगुल्मनुत् तथा कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु योनिशूलेषु च हितः (चचि. ५.१४९-१५१; असंचि.१६)
पैत्तिकोन्मादहरश्च (चचि. ९.७६)
पिप्पल्यामलकद्राक्षाश्यामाभिः पलोन्मिताभिरेरण्ड-तैलसर्पिषोः प्रस्थौ षड्गुणे क्षीरे पचेत् । स्नेहोऽयं गुल्मिनां स्रंसनस्तथा वातव्याधिविद्रधिवृद्धिहरश्च (असंचि. १६; अहचि. १४.८९-९०)
कृष्णतिलभल्लातकानां तैले सर्पिश्च प्रत्येकं द्रोण-प्रमाणेन द्रोणत्रयम्, आमलकरसशालसारादिकषायौ च द्रोणद्वयम्, एतेषु कल्कीकृतैस्त्रिफलात्रिकटु-विडङ्गादिभिः स्नेहपाकविधानेन स्नेहं विपचेत् । अयं सर्वकुष्ठनाशकः दीर्घायुर्दः सर्वव्याधिहरश्च (ड. सुचि. १०.१५)

मिश्रेया-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-तिक्ता स्वादुः (कटुः) (रा.) हिमा स्निग्धा वृष्या बल्या वातपित्तघ्नी (कफघ्नी) (रा.) अर्शःक्षयक्षतक्षीणाऽस्रदोषप्लीहघ्नी तथा जन्तुघ्नी च (ध. २.४)
हिं.—सोवा.
म.—शेपू.
गु.—सुर्वानुं बी.
बं.—सूल्फा.
त.—शटकु पिवराई.

मिसि-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (सुचि. ३८.४४)

मिहिका-स्त्री., सुगन्धि० कर्पूरः (रा. १२.५६)

मीन-पु., जलचर० मत्स्यः (र. २८.७७)

-तैल-न., सिद्धतैल० मीनानां कषायेण रसेन च पक्वं तैलम्, इदं वातव्याधिहरम् (काधात्रीचि.)

-दृश्-स्त्री., वनस्पति०, मीनाक्षी, मस्त्याक्षी, "मीनाख्यायां महाराष्ट्र्यां काकमाच्यां ततः परम्। ब्रह्ममण्डूकिकायां तु मत्स्याक्षी च प्रवर्तते" (र. १५.७०-७६)

-नेत्रा-स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा (रा. ८.२३४)

मीनाक्षी-स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (द्वितीयब्राह्मी) (रापरि. ५.४१)

जलब्राह्मी, मत्स्याक्षी (र. २.२७-२८)

मीनाण्डी-स्त्री., इक्षुविकार० शर्करा (ध. २.१०४)

मीमांस्य-वि., विचार्यम् (सुचि. १.७५-७६)

मुकुन्द-पु., वनस्पति० शालि० षष्टिकभेदः, वाकस-तृणम् (चक्र. चसू. २७.१८) तद्गुणाः-कषायो मधुरो लघुः शीतः सङ्ग्राही शोषणो वातलः कफ-पित्तघ्नश्च (चसू. २७.१८) तथा रूक्षो लेखना-त्मकश्च (असंसू. ७.१६-१७; सुसू. ४६.२१)

मुकुन्दक-पु., शालि० मुकुन्दः (चनि. ४.५)

मुकूलक-पु., वनस्पति० दन्ती (चसू. २७.१५७)

न., फल० औत्तरापथिकमिदम्, दन्तीफलम्, तद्गुणाः-मधुरं स्निग्धं गुरूष्णं बलप्रदं बृंहणं वृष्यं वातघ्नं कफपित्तवर्धनं च (चसू. २७.१५७) स्वाद्वम्लपाकरसं विष्टम्भि दाहक्षतक्षयहरं, रक्तपित्त-प्रसादनं च (अहसू. ६.१२०)

मुक्त-वि., प्रत्यासन्नमोक्षः, न तु सर्वथा मुक्तः (चक्र. चवि. ८.३७; चशा. ५,२२)

बन्धनरहितम्, निसृष्टम् (चचि. १९.९)

(मुक्ता)-स्त्री., रत्न० मौक्तिकम् (चचि. १(४).२२; सुसू. ४७.३२९; रा. १३.६६)

वनस्पति० रास्ना (चसू. ४.१८)

-नाल-वि., रोगलक्षण० असंवृतगुदः (चक्र. चसि. २.१२) मुक्तगुदः (चचि. १९.९; असंशा. ११०.१६)

-बन्धन-वि., विसृष्टबन्धनः, बन्धनात् पृथग्भूतः (असंशा. ४.२७)

-(बन्धना)-स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६)

-बन्धा-स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (रा. १०.२२९)

द्र० 'मुक्तबंधना'.

-वेग-वि., विसर्जिता वातविण्मूत्रादिवेगा येन सः (असंसू. ३.४१)

-सन्धानबन्धन-वि., लक्षण० मुक्तसन्धिबन्धनम् (चक्र. चसि. १२.३)

-सार-न., आसुतम्, सूक्तम् (ध. ६.२४६)

मुक्ता-स्त्री., (चसू. ६.३१) मौक्तिकम्

-पुष्प-पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६)

-फल-न., रत्न० मौक्तिकम् (रा, १३.६७; र. ४.६)

-लेप-पु., उपक्रम० कल्प० मौक्तिकानामालेपः, विषजन्यशोथदाहतोदज्वरापहः (चचि. २३.१९९)

मुक्ताभा-स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२७) (रापरि. १०.२३)

मुक्तिका-स्त्री., रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६७)

मुख-न., कारणम्, "मिथ्यायोगो व्याधिमुखानाम्" (असंसू. १३.३)

वि., प्रधानम् (सुचि. २४.१३३)

संस्कार०स्वर्णरौप्योत्पादनार्थं पारदे चतुःषष्टयंशेन बीजस्य नाम शुद्धयोः स्वर्णरूप्ययोरन्यतरस्य प्रक्षेपणम् (र. ८.७६-७७)

अनुयन्त्र० आननम् (अहसू. २५.४०)

शारीर० आननम्, हनुतः कपालान्तो भागः तत्प्रमाणम्-द्वादशाङ्गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यङ्गुल-परिणाहं च (चवि. ८.११७)

शिरःप्रत्यङ्ग० आस्यम्, वदनम्, मुखकुहरम्, तत्प्रमाणम्-चतुरङ्गुलिविस्तारम् (ड. सुसू. ३५.१२) ओष्ठौ दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा तालु गलः सर्वाणि चेति सप्त मुखरोगाणामायतनानि (सुनि. १६.३)

-कर-वि., ग्रासग्रहणशीलस्तीव्रबुभुक्षः-पूर्वसंस्कार-जनितदोषरहितः (र. ११.४७)

-गन्धक-पु., वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१००)

-दूषण-पु., वनस्पति० पलाण्डुः (ध. ४.७१)

-दूषिका-स्त्री., क्षुद्ररोग० तरुणानां मुखे कफमारुत-शोणितैः शाल्मलीकण्टकाकाराः सरुजो घना मेदो-गर्भाश्च पिडका जायन्ते, ता मुखदूषिकाः (सुनि. १३.३९; असंउ. ३६)

-धावन-न., उपक्रम० कषायकवलग्रहगण्डूषादिभि-राननप्रक्षालनम्। अनेन मुखबोधनमरोचकहानिश्च भवति (ड. सुउ. ५३.८; सुउ. ५७.१३-१४)

वि., मुखं धावति शुध्यति अनेन इति मुखधावनं नाम मुखशुद्धिकरम्, मुखधावनार्थमुपयुक्तम्, दार्वी-त्वग् यवानी तेजोह्वा पिप्पली तिन्तिडीकं चेति पञ्च मुखधावनाः (चचि. ८.१३८)

-पाक-पु., लक्षण० आननस्य पाकः (चनि. १.२४) रक्तदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २४.११; सुसू. २४.९) स पञ्चविधः- वातपित्तकफरक्तसन्निपातजभेदात्।

तत्र वातजे–सर्वसरोऽनिलो वदनस्यान्तःसञ्चारिणोऽरुणान् रूक्षांश्च व्रणान् करोति। ओष्ठौ ताम्रवर्णौ चलत्वचौ भवतः। जिह्वा च शीतस्पर्शाऽक्षमा गुर्वी स्फुटिता कण्टकैराचिता स्यात्। पित्तजे–दाह ओषस्तिक्तवक्त्रता क्षारसिक्तव्रणसदृशा वेदना च भवति। कफजे–मधुरास्यता कण्डूमत्पिच्छिला व्रणाश्च भवन्ति। रक्तजे–दाह ओषस्तिक्तवक्त्रता क्षारसिक्तव्रणतुल्या वेदना च भवति। सान्निपातिके–सरक्तैर्वातादिभिर्दोषैः सर्वलक्षणानि भवन्ति (असंउ. २५)

–प्रक्षालन–न., आननक्षालनम्, तद्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्। तत्रान्तर्मुखप्रक्षालनद्रव्याणि–क्षीरिवृक्षाणां न्यग्रोधादीनां कषायाः क्षीरयुक्ताः। एतेषां गण्डूषकवलधारणादिभिर्मुखगता रोगा नश्यन्ति। बाह्यमुखप्रक्षालनद्रव्याणि-भिल्लोदककषाय आमलककषायः शीतोदकं चेति। अनेन नीलिकामुखशोषपिडकाव्यङ्गानि रक्तपित्तजा रोगाश्च नश्यन्ति (सुचि. २४.१५-१७)

–प्रिय–पु., वनस्पति० निष्पावः (ध. ६.११०) नारङ्गः (ध. ५.२०)

–बाष्प–पु., आननगत उष्णो वायुः, अयं वस्त्रोपयोगेन नेत्रस्वेदने उपयुक्तः (असंउ. ३१)

–बोधन–न., रसनाबोधनम् रुच्युत्पादनम् (चसू. २६.७५)

–भङ्ग–पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.४०) शिग्रुभेदः, श्वेतशिग्रुः (रा. ७.६४)

–मण्डनक–पु., वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८)

–मण्डल–न., मुखम् (कावालग्रहचि.) मुखमण्डनकारकं द्रव्यम् (कावालग्रहचि.)

–मण्डिका–स्त्री., बालग्रह० रेवती, इयं स्कन्दपरिचारिका (कावालग्रहचि.) तज्जुष्टलक्षणम्–पाणिपादाऽऽस्यरमणीयता कृष्णवर्णाभिः सिराभिरुदरस्याऽऽचितत्वं म्लानाङ्गत्वमुद्विग्नत्वं बह्वाशित्वम् (सुउ. २७.१५) अरोचकं ज्वरश्च (असंउ. ३) तच्चिकित्सासूत्रम्–कपित्थादिक्वाथेन परिषेकः भृङ्गवृक्षस्वरसबस्तगन्धादिकल्कसिद्धाभ्यां वसातैलाभ्यामभ्यङ्गः, मधूलिकामधुरादि गणसिद्धघृतपानम्, वचाकुष्ठसर्पिरादीनां धूपः, चाषसर्पादिजिह्वानां धारणम्, सपुरोडाशपायसेन च गोष्ठमध्ये बलिदानम् गायत्र्यभिमन्त्रितजलेन गोष्ठे शिशुस्नपनम् रक्षामन्त्रेण च बालरक्षार्थं तद्गृहस्तवनम् (सुउ. ३५.२-९)

–मण्डिकाप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ३५)

–मण्डिता–स्त्री., बालग्रह० मुखमण्डिका (असंउ. ३)

–मण्डितिका–स्त्री., बालग्रह० मुखमण्डिका (असंउ.३)

–मात्रम्–(अव्य.) प्रधानमात्रम् (सुचि. २४.१३३)

–माधुर्य–न., लक्षण० मुखस्य मधुरत्वम् (चनि. ६.१३; चनि. १.२७) रोग० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः, मुखे मधुररसप्रतिपत्तिः (चसू. २०.१७; असंसू. २०.१५)

–रागकरी–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ३.१)

–रोग–पु., मुखे समुद्भूतो व्याधिः, चत्वारो मुखरोगाः, वातपित्तकफसन्निपातभेदात् (चसू. १९.३) तल्लक्षणानि–तत्र वातजे–शोषः कार्कश्यं रौक्ष्यं चलाश्च रुजो भवन्ति। तथा मुखतः शीतं कृष्णाऽरुणं निष्पतनं, प्रस्रंसन–स्पन्दन–तोद–भेदाश्च भवन्ति। पित्तजे–तुण्डाज्वरस्फोटकतालुदाहा धूमायनमवदीर्णता तथा मूर्च्छा विविधा रुजः शुक्लारुणवर्ज्या वर्णाश्च भवन्ति। कफजे–कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्नेहोऽरुचिर्जाड्यं कफप्रसेक उत्क्लेशोऽग्निमान्द्यं तन्द्रा मन्दा रुजश्च भवन्ति। सन्निपातजे–वातपित्तकफजोक्तानि सर्वाणि लक्षणानि भवन्ति (चचि. २६.११-९२२) चरके–संस्थानदूष्याऽऽकृतिनामभेदाच्चतुःषष्टिर्मुखरोगाः। संस्थानमोष्ठादि, दूष्यं रक्तादि, आकृतिर्लिङ्गम्, नाम च शीतादादि (चचि. २६.१२२) सुश्रुते–पञ्चषष्टिर्मुखरोगाः, सप्त मुखाङ्गानि, तत्र जायमाना व्याधयः पञ्चषष्टिः। तत्रौष्ठयोरष्टौ, दन्तमूलेषु पञ्चदश, दन्तेष्वष्टौ, जिह्वायां पञ्च, तालुनि नव, कण्ठे सप्तदश, सर्वायतनेषु च त्रयः इति पञ्चषष्टिः (सुनि. १६.१-३) अष्टाङ्गसङ्ग्रहे–पञ्चसप्ततिर्मुखरोगाः, अष्टौ मुखाङ्गानि, तत्र जायमानव्याधयः पञ्चसप्ततिः। तत्रौष्ठयोरेकादश, गण्डे एकः, दन्तेषु दश, दन्तमूलेषु त्रयोदश, जिह्वायां षट्, तालुन्यष्टौ, गलेऽष्टादश, सर्वाऽऽस्ये चाऽष्टौ, इति पञ्चसप्ततिः (असंउ. २५) बालमुखरोगलक्षणानि–अत्यर्थं लालास्रावः स्तन्यद्वेषाऽरतिर्व्यथा स्तथा पीतक्षीरोद्वमनम् नासयैव श्वासोच्छ्वासश्च भवति (कासू. २५.८) असाध्यमुखरोगा एकोनविंशतिः–मांसजरक्तजत्रिदोषजाश्चेति त्रय ओष्ठप्रकोपाः, त्रिदोषजदन्तनाडी सौषिरश्चेति द्वौ दन्तमूलगतौ, श्यावदन्तदालनभञ्जनाश्चेति त्रयो दन्त-

गताः, अलासो जिह्वागतः, अर्बुदं तालुगतम्, स्वरघ्न-वलयवृन्दबलासविदारिकागलौघमांसतानशतघ्नी-रोहिण्यश्चेति नव गलगता इत्येकोनविंशतिः (सुचि. २२.७७-८१)

-रोगचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. २२)

-रोगनिदान-न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १६)

-रोगारि-पु., सिद्धौषधि० स्वर्णमाक्षिकतुत्थादि-निर्मितोऽयं योगो मुखरोगनाशनः (र. २४.७०)

-वाचिका-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा (ध. ३.११६)

-वादन-न., (परिव०) मुखेन चुक्चुकादि शब्दकरणम् (असंसू. ३.९६)

-वास-पु., वनस्पति० भूतृणम् (रापरि. ८.४४)

-विकूणन-न., मुखनिमीलनम् (असंउ. २)

-विशोधन-न., (परिव०) उपक्रम० कण्ठग-श्लेष्माऽपकर्षणेन मुखस्य निर्मलीकरणम् (सुशा. १०.१२)

-वैरस्य-न., लक्षण० मुखविरसता (चनि. १.३३)

-वैशद्य-न., मुखेऽरुच्यादिनाशः (चचि. ३.१५८)

-शोधन-न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७६)
वि., मुखगतदोषशोधनः (चचि. ८.१३८)

-शोधिन्-पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. ११.१८)

-शोध्य-न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)

-शोष-पु., लक्षण० शुष्कमुखत्वम् (चचि., २२.८; चनि., १.२१; असंसू. ३.२९)
अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)

-शोषहर-वि., आस्यशोषहरम् (अहसू. २२.९)

-सन्दंशविष-वि., मुखसंदंशे विषं यस्य सः (सुक.३.५)

-स्राव-पु., लक्षण० मुखप्रसेकः, लालास्रावः (चसि.२.२१)
विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७)

मुखाग्र-न., मुखस्याग्रम् मुखमेवाग्रं वा (चशा. ७.१४)

मुखार्चिका-स्त्री., बालग्रह० स्कन्दस्य परिचारिका, मुखमण्डिका (काबालग्रह चि.)

मुखामय-पु., मुखरोगः (चचि. २६.११९)

मुखामोद-पु., शिग्रुभेदः, नीलशिग्रुः (रा. ७.६२)

(मुखामोदा)-स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९६)

मुखायाम-पु., मुखदैर्घ्यम्, तत्प्रमाणम्-चिबुकादारभ्य ललाटान्तं यावद् द्वादशाङ्गुलम् (सुसू. ३५.१२)

मुखार्जक-पु., वनस्पति० कुठेरकः (रा. १०.८४)

मुखालु-पु., स्वनामख्यातः वनस्पति० तद्गुणाः- मधुरः शिशिरो रुचिकृद्वातकृत् पित्तघ्नो दाहशोषतृषापहश्च (रापरि. ७.२२)

मुखालेप-पु., उपक्रम० मुखस्याऽऽलेपः स त्रिविधो दोषघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्चेति (असंसू. ३१.१४; अहसू. २२.१४) उष्णशीतभेदात् स द्विविधः। उष्णो वातकफघ्नः तथा शीतः पित्तघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्च। तत्प्रमाणम्- स च त्रिप्रमाणश्चतुर्भाग-त्रिभागार्धाङ्गुलोत्सेध इति (असंसू. ३१.१४; अहसू. २२.१५) मुखालेपे कृतेऽतिभाष्यहास्यक्रोध-दिवास्वप्नादीन्न सेवेत। अन्यथा कण्डूत्वक्शोषपीनस-दृष्ट्युपघाता भवन्ति। शुष्कं मुखालेपमार्द्रीकृत-मेवापनयेत् अन्यथा च्छविभङ्गो भवति। तदनन्तर-मभ्यङ्गः कार्यः। मुखालेपायोग्याः-रात्रिजागरिता-ऽजीर्णदत्तनस्याऽरुचिहृनुग्रहप्रतिश्यायिनश्च (असंसू. ३१.१५) हेमन्तादिऋतुभेदात् तद्द्रव्याणि -कोलमज्जा वृषमूलं शाबरं गौरसर्षपा हेमन्ते। सिंहीमूलं कृष्णतिला निस्तुषा यवा दार्वीत्वक् च शिशिरे। दर्भमूलहिमोशिरमिशिशिरीषतण्डुलाश्च वसन्ते। उत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनकुमुदानि च ग्रीष्मे। मांसीतगरकालीयकतिलोशीरपद्मकानि च वर्षासु। यष्टीकाशनताऽगरुतालीसपुण्ड्राह्वगुन्द्राश्च शरदि (अहसू. २२.१८-२१) तद्गुणाः-सम्यक्-प्रयुक्तोऽयमकालवलीपलिततिमिरव्यङ्गतिलकादि-नाशनस्तथा चक्षुर्बलदो मुखसौन्दर्यवर्धनश्च (सुचि. २४.६५; असंसू. ३१.१५; अहसू. २२.२३)

मुखालेपनशील-वि., मुखलेपाभ्यासी (अहसू. २२.२२-२३)

मुखास्राव-पु., मुखे उदकस्रावः कफस्रावो वा (सुसू. ४२.९)

मुखोच्छ्वास-पु., (परिव०) लक्षण० मुखेनोच्छ्वासः (कासू. २५.३७-३८)

मुखोद्धर्षणपिण्डी-स्त्री., मुखशुद्धिकरा व्यंजनरूपा (असंसू. १०.३८)

मुख्य-वि., औषधीयोग० सर्वसमम् (ड. सुउ. ४४.२४) प्रधानम्, यथा तिलतैलं तैलानाम् (अहसू. ५.५५)

मुग्धवाच्-वि., अस्पष्टवाक्, अव्यक्तवचनप्रवृत्तिः (अहसू. १३.७)

मुचकुन्द-पु., वनस्पति० तद्गुणाः—कटुस्तिक्तः कण्ठकरः कफकासत्वग्दोषशोफव्रणपामाविनाशनः (रापरि. १०.२५)

मुचुण्डी–स्त्री., यन्त्र० सा ऋजुः श्लक्ष्णा सूक्ष्मदन्ता सक्तद्विभुजा मूले मुद्रिकायुक्ता च। इयं वलयपीडनाद् गम्भीरव्रणमांसानां तथा शेषितस्याऽर्मणश्चाऽऽहरणे उपयुक्ता (असंसू. ३४.७.; अहसू. २५.९)

मुचुलुन्द–पु., वनस्पति० कण्टकीमदनः (ड. सुचि. १८.१०)
मुचकुन्दः (सुचि.१८.१०)

मुचूटि–स्त्री., प्रमाण० मुष्टिप्रमाणम्, प्रकुञ्चः, पलम् (काखिल.३.८८-८९)

मुञ्चक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (ध. ५.१३२)

मुञ्चुटि–स्त्री., तर्जन्यङ्गुष्ठाग्रमात्रग्राह्यप्रमाणम् (ड. सुचि. ४०.४६)

मुञ्ज–पु., वनस्पति० तृण० (चसि. २.२२; सुसू. ४५.१८)
तद्गुणाः–मधुरः शीतः कफपित्तजदोषजिद् विसर्पास्रमूत्रबस्त्यक्षिरोगनुत् पित्तदाहतृषापहः पावनो भूतनाशनश्च (ध. ४.१३२)
–वत्–पु., सोम० (सुचि. २९.५-८)
–वलय–पु., पञ्चनिक्षेपणान्यतमभूता मुञ्जतृणैर्विरचिता वलयाकारा बृहन्मुद्रिका जलपात्राधारा (सुसू. ४५.१८)

मुञ्जनक–पु., तृण० मुञ्जः (रा. ८.२०४)

मुञ्जात–पु., वनस्पति० कन्द० मुञ्जातकः (चचि. २९.६६; सुचि. १७.१५; असंचि २४; अहसू. ६.८३)

मुञ्जातक–पु., वनस्पति० शाक० औत्तरापथिककन्दः, तद्गुणाः– स्वादुः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणो वातपित्तहरो बल्यो वृष्यश्च (चसू. २७.१२०; सुसू. ३९.९)

मुण्ड–पु., शालिभेदः, मुण्डशालिः (रा. १६.७९)

(मुण्डी)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुस्तिक्ता कषायोष्णा कफपित्तघ्न्यामरुच्यपस्मारगण्डश्लीपदाऽतिसारकासविषच्छर्दिविनाशिनी तथाऽनिलास्रविनाशिनी च (ध. १.१६०; र. १३.८२)
हिं.—छोटी मुण्डी, गोरखमुण्डी.
म.—मुंडी, बोंडथरा, बरसबोंडी.
गु.—नदानीमुंडी, बोडियोकलार.
बं.—मुंडीरी, थुलकुडी.
त.—विष्णुकरन्तै.
फा.—सखिमि-इ-ह्यात्.
न., भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११६)
लोहभेदः, तन्मृदु-कुण्ठ-कडारभेदेन त्रिविधम्। तद्गुणाः– मृदु कफवातशूलार्शोमेहाऽऽमकामलापाण्डुगुल्मामवातजठरार्तिहरं दीपनं रक्तवर्धनं कुष्ठशोधि शोफापहं च (र. ५.७८; ध. ६.२७)
–चणक–पु., शिम्बीधान्य० कलायः (ध. ६.१०३)
–ज–न., लोहभेदः, तीक्ष्णलोहम् (रा. १३.३०)
–शालि–पु., वनस्पति० शालि० तद्गुणाः– त्रिदोषघ्नो मधुराम्लो बलप्रदश्च (रा. १६.८९)

मुण्डनक–पु., शालिभेदः, मुण्डशालिः (रा. १६.८९)

मुण्डाख्या–स्त्री., वनस्पति० महामुण्डी (रा. ५.२२०)

मुण्डायस–न., लोहभेदः, मुण्डम् (रा. १३.२९)

मुण्डिका–स्त्री., वनस्पति० मुण्डी (र. २.४३)

मुण्डिन्–पु., पशु० जङ्गालजातीयः (ध. परि. ३.२८६)

मुण्डिनिका–स्त्री., वनस्पति० मुण्डी (ध. १.१५९)

मुतोली–स्त्री., व्रणबन्ध० बन्धोऽयं मुटिकाकारो बह्वङ्गिर्जालवद्बहुरन्ध्रकश्च। बन्धस्यास्य प्रतोली, गोतुण्डिका, चालनीति च नामान्तराणि (सुसू. १८.१७-१८)

मुत्तोली–स्त्री., व्रणबन्ध० मुतोली (असंसू. ३८.४२; अहसू. २९.६०)
पात्र० तृणनिर्मितं पात्रम् (अहक. १.३)

मुत्सुख–न., वनस्पति० ऋद्धिः (र. ५.१८८)

मुदिरफल–पु., वनस्पति० त्रिकण्टकः (रापरि. ११.२०)

मुद्ग–पु., शिम्बीधान्य० वैदल० अयं हरितपीतकृष्णरक्तभेदैर्नानाविधः। तत्र हरितः प्रधानः (सुसू. ४६.२९; असंसू. ७.२६) शमीधान्यानां श्रेष्ठः (चसू. २५.३८) सूप्यौत्तमश्च (चसू. २७.२३; असंसू. ७.२६) सर्वप्राणिनां पथ्यः (सुसू. २०.५) तद्गुणाः–कषायमधुरो रूक्षः शीतो लघुः कटुपाकी विशदः कफपित्तघ्नश्च (चसू. २७.२३) नात्यर्थं वातलो दृष्टिप्रसादनश्च (सुसू. ४६.२९; असंसू. ७.२६) संग्राही विबन्धकृन्मेदश्लेष्मास्रपित्तेषु लेपसेकयोर्हितश्च (अहसू. ६.१७) दीपनो रक्तामयमूत्रामयजिच्च (ध. ६.८१) हरिन्मुद्गस्तु कषायो मधुरः कफपित्तजित् रक्तमूत्रामयघ्नः शीतलो लघुदीपनः (रा. १६.१३१) कृष्णमुद्गस्तु त्रिदोषघ्नो मधुरो वातनाशनः लघुः दीपनः पथ्यो बलवीर्याङ्गपुष्टिदः (रा. १६.१३०) मुद्गयूषगुणाः–पित्तस्वरार्तिशमनः लघुः संतापहारी, रक्तप्रसादनोऽरोचकनाशनः यदि सैन्धवेन युक्तस्तदा सर्वरुजापहारी (रा. १६.१३३) द्र० 'मुद्गयूष.'

हिं.—हारिमुं, मूज्ञ.
म.—मूग.
गु.—मग.
बं.—मुग.
त.—पच्चैप्पयरु, मुंगु.
फा.—बुनुमास.

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० जीवनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९; असंसू. १५.६; अहसू. १५.८)
शुक्रजननगणोक्ता (चसू. ४.१२)
तद्गुणाः—स्वादुः शीता जीवनी बृंहणी वृष्या कफशुक्रवृद्धिकृत् स्तन्यश्लेष्मकरी पित्तघ्नी वातरक्त-दाहज्वरकृमिघ्नी च (सुसू. ३८.३५; ध. १.१३८)
हिं.—मुगवन, माठ मुगानी.
म.—मुगवेल, रानमूग.
गु.—जङ्गली मग.
बं.—मुगानी, वनमाषा.
त.—नरिप्पयरु.

–मण्डोदक–न., कल्प० मुद्गमण्डः, इदं कषायतिक्तं कटुपाकिसैन्धवादियुतं सत् कफघ्नम्(का भोजनकल्प.)
–यूष–पु., कल्प० मुद्गसिद्धो यूषः, कण्टकारीरस-साधितोऽयं सर्वकासघ्नः (चचि. १८.१८४) बहु-द्रवो मुद्गकषायो ज्वरे उपयुक्तः
(चचि. ३.१५६-१५७) चतुर्भागाम्बुसाधितो मुद्गरसो दीपनो हृद्यः कफघ्नः शुष्कानां व्रणिनां च हितः (सुसू. ४६.३६७)
दाडिमाऽऽमलकसाधितोऽयं संशमनो हृद्यो लघुः प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नः पित्तवातजिच्च (सुसू. ४६.३७३) पित्तश्लेष्महरश्च (अरु. अहसू. ६.३३)

–रस–पु., मुद्गयूषः (सुचि. १७.४३)
–वर्णा–वि., हरितमुद्गवर्णा (सुसू. १३.१२)

मुद्गर– पु., उपयन्त्र० (सुसू. ७.१५) अनुयन्त्र० काष्ठादिनिर्मितोऽयमस्थिविनष्टशल्यस्य चालनार्थ-मुपयुक्तः (सुसू. ७१५; असंसू. ३४.१८)
वनस्पति० तद्गुणाः–मधुरः शीतः सुरभिः पित्तप्रकोपहृच्च (रापरि. १०.२१)

–फल–पु., वनस्पति० कर्मारः (रापरि. ११.१३)
मुद्गरक–पु., वनस्पति० कर्मारः (रापरि. ११.१३)
मुद्गल–न., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०६)
मुद्गादिजवेसवार–पु., मुद्गादिसिद्धं नागरधान्यकादि-संस्कृतं कुट्टितं मांसम् (अहसू. ६.४१)
मुद्गामलकयूष–पु., कल्प० मुद्गामलकाभ्यां साधितो यूषः । अयं ग्राही कफपित्ते हितश्च ।
(सुसू. ४६.३७४)
मुद्गोलुम्ब–पु., खित्राः किञ्चिद् भृष्टा मुद्गाः
(सुचि. २३.१२)
मुद्गपर्णी–स्त्री., भैषज्य० लाक्षा (रा. ६.१४२)
मुद्रिका–स्त्री., शस्त्राङ्ग० भिषक्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेश-प्रमाणो वलयः, ऊर्मिका (सुसू. ८.४; अहसू. २६.१४)
अलङ्कार० अङ्गुलीयकम् (र. २.१३९-१४०)
मुनि–पु., पुनर्वसुः, (इन्दु असंक. ५; अहसू. १.३)
कश्यपादयः सप्त (असंसू. २८.३५)
वनस्पति० अगस्त्यः (र. ११.११०)
त्रपुसम् (रा. ७.२४६)
उर्वारुकम् (ध. १.१७६)
दमनः (ध. ३.६४)

–खर्जूरिका–स्त्री., खर्जूरीभेदः, राजखर्जूरी
(रा. ११.६८)
–च्छद–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (रा. १२.१३८)
–द्रुम–पु., वनस्पति० अगस्त्यः (रापरि. १०.१३)
–धान्य–न., धान्य० नीवारः (रा. १६.१३९)
–प्रिय–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१२०)
(–प्रिया)–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०९)
–भक्तप्रसादक–पु., वनस्पति० नीवारः (ध. ६.८७)
–भक्तप्रसादित–पु., वनस्पति० नीवारः (ध. ६.८७)
–भक्ष्य–पु., धान्य० श्यामाकः (ध. ६.८८)
–मित–वि., मुनयः सप्तर्षयः, अतः सप्तसङ्ख्याकम् (र. ९.८४)
–श्रेष्ठ–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९-५३)
–सङ्ख्य–वि., सप्त (र. ५.१६६)
–मुनीश्वर–मुनिश्रेष्ठः (प्राचीनो रसाचार्यः)
(र.९. ६४-६६)

मुपविप्रज्ञविप्रिय–पु., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.१०१)
मुमुक्षु–वि., संसारान्मोक्तुमिच्छुः, सः (चशा. ५.१२)
मुमूर्षु–वि., आसन्नमरणः गतायुः (चसि. २.५; चइ. १.२३)

–लिङ्ग–न., रिष्टलक्षणम्, मृत्युसूचकचिह्नम्
(चवि. ३.४५)

मुर–न., वनस्पति० मुरा (असंउ. ९)

(मुरा)–स्त्री., सुगन्धि० तद्गुणाः–तिक्ता कटुः कषाया शीता पित्तकफघ्नी क्षतश्वासरक्तदोषविषदाहभ्रममूर्च्छातृषापहा च (ध. ३.६७)

मुरङ्गी–स्त्री., शिग्रुभेदः, शोभाञ्जनकः (ड. सुक. ५.६८; असंचि. १७)

मुरल–मत्स्य० नादेयोऽसौ, तद्गुणाः–बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरश्च (सुसू. ४६.११६)

मुरुङ्गी–स्त्री., शिग्रुभेदः, सौभञ्जनकः (इन्दु. असंउ.४२) मधुस्रवा (इन्दु) मूर्वा (असंउ. १०) शिग्रुभेदः, मधुशिग्रु (सुचि. ६.९)

मुशल–न., मुसलम् (असंशा. ३.२३)

(मुशली)–स्त्री., वनस्पति० तालमूलिका, मुसलीकन्दः (र.१२.१०९)

मुष्क–पु., शारीर० वृषणः (चचि. ३०.१७५; सुनि. ३.१८; असंशा. ६.४३) वनस्पति० मुष्कक (रा. ११.२२०; र. १७.५२)

–कच्छू–स्त्री., क्षुद्ररोग० वृषणकच्छूः अत्र अहिपूतनपामावद् उपाचरेत् (सुचि. २०.६०)

–स्रोतस्–न., स्रोतो० मुष्कस्थितं स्रोतः, शुक्रवहनाडी (सुचि. ७.३६)

मुष्कक–पु., वनस्पति० घण्टापाटलकम् (चक्र. चचि. १५.१८९) कृष्णपुष्पमोक्षकः (ड. सुसू. ११.११) पुष्पमस्य कफपित्तहरं कुष्ठघ्नं शाकोपयोगि च (सुसू. ४६.२८४) श्रेष्ठः क्षारवृक्षः, शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधोऽसौ, तद्गुणाः–कटुरम्लो ग्राही रोचनः पाचनो वातकफहरो गुल्मप्लीहोदरघ्नश्च (ध. ५.१३२)

हिं.—मोखा, फरवाह.

म.—मोखा, मोखाडा.

गु.—मरखो.

बं.—घण्डापारूल.

त.—मोक्कलिङ्क.

न., कन्दविष० इदमतितीक्ष्णमाशुप्राणहरं च (असंउ. ४०)

–क्षार–पु., क्षार० मुष्ककाणां क्षारः (चचि. २६.१९२)

–निचय–पु., मुष्ककाण्डसमूहः (असंसू. ३९.१०)

–भस्मन्–न., मुष्ककरक्षा (चचि. २६.१९३)

–मुष्ककादिगण–पु., वर्ग० मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकर्शिशपावज्रवृक्षास्त्रिफला च, तद्गुणाः–मेदमेहार्शःपाण्डुरोगघ्नः शर्करानाशनः शुक्रदोषजिच्च (सुसू. ३८.२०-२१)

मुष्ककपलाशधवस्नुग्वराद्वीपिशिंशपाः । तद्गुणाः–गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोऽर्शोघ्नः कफशुक्रजिच्च (अहसू. १५.३२; असंसू. १६.२६)

मुष्टि–पु., परिमाण० स द्विविधः, सनखमुष्टिरन्तर्नखमुष्टिश्चेति (चक. ९.१४)

परिमाण० प्रदेशिन्याः मूलपर्यन्तं कृतं मुष्टिपरिमाणम् (चक. ३.५)

वनस्पति० मुष्ककः (ध. ५.१३२)

वनस्पति० विषमुष्टिः (र. २४.१३४)

स्त्री., घण्टापाटला (र. २४.१३४)

पु., स्त्री., मान० द्वे पलार्धे पलम् इति यावत् (चक. १२.९२; सुचि. २९.१२; र. ११.६)

मुष्टिक–पु., वनस्पति० धान्य० शालिः (ध. ६.६९)

न., मान० मुष्टिः, चतुस्तोलकमानम् (र. २८.४८-५२)

मुसलमूषा–स्त्री., मूषा० मूले चिपिटा वर्तुला चाष्टाङ्गुलोन्नता च । इयं स्त्रीरोगोपयुक्तस्य चक्रिबद्धरसस्य निर्माणे उपयुक्ता (र. १०.३२)

मुसली–स्त्री., वनस्पति० कन्द० श्वेतकृष्णभेदेनेयं द्विविधा । तत्र श्वेता स्वल्पगुणोपेता कृष्णा च रसायनी । तद्गुणाः– मधुरा शीता पिच्छिला वृष्या पुष्टिबलप्रदा कफदा पित्तघ्नी पित्तदाहश्रमहरा च (रापरि. ७.५८; र. २४.७)

हिं.—कालीमुषली, नियामुसि, सिया.

म.—मुसळी.

गु.—मुसळी.

बं.—तालमूली, तालुर.

ता.—निलप्पनै, तिरक्कत्तारु.

मुस्त–न., वनस्पति० लेखनीयगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.९(३); असंसू. १५.८) तृप्तिघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११; असंसू.१५.१६) स्तन्यशोधनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२; असंसू १६.३४) कण्डूघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) तृष्णानिग्रहणगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४) साङ्ग्राहिकदीपनीयपाचनीयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३) नागरमुस्तभद्रमुस्तभेदेन मुस्तं द्विविधम् । तद्गुणाः–तिक्तकटुककषायं शीतं पाचनं सङ्ग्राहि श्लेष्मपित्तघ्नं रक्तविकृतिज्वराऽतिसारतृष्णाकृमिघ्नं च (असंसू. १२.१७; ध १.४०)

हिं.—मोथा.
म.—मोथा.
गु.—मोथ, मोथ्य.
बं.—मुथा, मुता.
त.—कोरैक्किळंकु.
फा. मुश्कजमीन्.

(मुस्ता)-स्त्री., वनस्पति० मुस्तम् (र. २.२४) असंसू. १६.४०)

-शुण्ठ्यम्बु-न., मुस्ताशुण्ठीभ्यां क्वथितं जलम् (असंसू. ४.२७)

मुस्तक-न., वनस्पति० मुस्तम् (असंसू. १६.१८) स्थावर० कन्दविष० एतत् स्निग्धं घनं गुरु कर्मण्यं च (असंउ. ४८; र. २९.१८) अनेन गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते (सुक. २.५,१५)

मुस्तादिकगण-पु., वर्ग०मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकबिभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्च। गणोऽयं कफनाशनो योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनश्च (सुसू. ३८.५४-५५; असंसू. १६.३४; अहसू. १५.४०)

मुस्ताद्यगण-पु., वर्ग० मुस्तपर्पटाद्यष्टादशद्रव्यसङ्ग्रहः। अयं पित्तोत्तरसन्निपाते हितः (काविशेषकल्प)

मुहुर्- (अव्य) पुनः (असंसू. २३.२०)

-मुहुर्-(अव्य.) पुनः पुनः भैषज्यकाल० यदौषधं सभक्तमभक्तं वा सभुक्तमभुक्तं वा वारंवारमुपयुज्यते तत् श्वासकासहिक्कातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु विकारेषु च मुहुर्मुहुर्भेषजं देयम् (चचि. ३०.३००; सुउ. ६४.७८; काखिल. ३.४८)

मुहूर्त-पु., न., कालभाग० इयं ज्योतिःशास्त्रीया संज्ञा (चसू. १५.९) विंशतिकलो मुहूर्तः (सुचि. २९.१०) दिनस्य रात्रेश्च पञ्चदशो भागः (सुसू. ४५.७) घटिकाद्वयम् (सुचि. ३३.७) नाडिकाद्वयम् (असंसू. ४.५)

मूक-वि., शब्दोच्चारणाक्षमः। वातप्रकोपेण गर्भात् प्रभृति मूको भवति (सुशा. २.५१) सकफो वायुः शब्दवाहिनीः धमनीरावृत्य नरान् मूकमिन्मिणगद्गदान् करोति (सुनि. १.८५)

-ता-स्त्री., अवाक्त्वम्, उच्चैः संभाषणाद्वायुः शिरसि रुजमान्ध्यं, जाड्यम्, अजिघ्रत्वं, बाधिर्यं तथा मूकतामापादयेत् (सुचि. ३९.३०) ग्रीवायां मर्माणि चतस्रो धमन्यः (द्वे नीले द्वे मन्ये च) तत्र विद्धस्य मूकताऽरसग्राहिता स्वरवैकृतं चेति लक्षणानि भवन्ति (सुशा. ६.२७)

-त्व-न., रोग० मूकता शब्दोच्चारणेऽसामर्थ्यम् (चसू. ५.३८) अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

-मूषा-स्त्री., अन्धमूषा। सपिधाना वज्रादिमूषा (र. २.७१)

मूच-पु., मत्स्यजातीयः प्राणि० (काखिल० २४.४९-५१)

मूढ-वि., अज्ञः (सुनि. ४.९) व्यामोहयुक्तमनाः (सुसू. ३३.१७)

-गर्भ-पु., गर्भरोग०, अष्टमहागदेष्वेकः (सुसू. ३३.१३) मूढश्चासौ गर्भश्चेति मूढगर्भः। निरुद्धगतिः व्यासक्तगतिः गर्भः (ड) सुनि. ८.१) गर्भस्य पतनावस्थायां अकालप्रसवावस्थायां कालप्रसवावस्थायां वा अयं व्याधिर्भवति। तस्मात् चतुर्थमासादनंतरं घनावयवत्वात् मूढगर्भो भवति ((ड.) सुनि. ८.१०) व्याख्या–सर्वावयवसंपूर्ण–मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते। तमेव कदाचिद्विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं मूढगर्भ इति आचक्षते (सुनि. ८.१-३) हेतुसंप्राप्तिः–वायुः यदा मूढो विमार्गगामी निरुद्धगतिः भवति तदा निरुद्धगतित्वेन स्वकार्यानर्हो भवति (सुनि. ८.३) गति० विगुणानिलप्रपीडनवैचित्र्यादसंख्यगतयो भवन्ति (असंशा. ४.२९) समासतस्त्रिविधा गतिः–ऊर्ध्वा, तिर्यक्, न्युब्जाच (असंशा ४.३०) संस्थानानि, नामानि लक्षणानि च। संस्थानानि पुनरष्टौ (असंशा. ४; सुनि. ८.५) पूर्वरूपम्–योनितो रक्तस्रवणं शूलं च भवति (मानि.) सामान्यलक्षणम्–अधोवातस्य रोधनेन मलमूत्रवातगर्भाणां संगो भवति (अहसू. ४.२) योनिजठरकट्यूरुप्रदेशेषु शूलो मूत्रसङ्गश्च (मा.) प्रधानलक्षणम्–अपत्यपथमनुप्राप्तस्य गर्भस्य अनिरस्यमानत्वं प्रधानं लक्षणम् (सुनि.८.३) विशेषलक्षणम्–अनुमता सुश्रुतस्याष्टविधा मूढगर्भगतिः–द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखमागतः प्रथमो मूढगर्भः। कश्चिदाभुग्नैक सक्थिरेकेन द्वितीयो मूढगर्भः स्फिग्देशेन योनिमुखं प्रतिपद्यते आभुग्नसक्थिशरीरश्च तृतीयो मूढगर्भः। परिघस्येव तिर्यगागतः–कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते, स चतुर्थो मूढगर्भः। एकेन बाहुना योनिमुखं प्रतिपद्यते पार्श्वमध्यनिक्षिप्तशिराः स पार्श्वप-

वृत्तशिराः, षष्ठमो मूढगर्भः । आभुग्नशिराः बाहुद्वयेन योनिमुखं प्रतिपद्यते, स षष्ठः । यदा आभुग्नसंकुचितमध्यो हस्तपादशिरोभिः योनिमुखं प्रतिपद्यते । स सप्तमो मूढगर्भोऽशक्याहरणश्च । अष्टाङ्गहृदये एको विष्कम्भप्रकारः । एकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यते अपरेण सक्थ्ना गुदं प्रतिपद्यते सोऽष्टमः । स आहरणाऽशक्योऽष्टाङ्गहृदये द्वितीयो विष्कंभप्रकारः (सुनि. ८) अन्ये मूढगर्भप्रकाराः तल्लक्षणानि च । कीलमूढगर्भलक्षणम्–सम्यक् कीलवत् संकीलकः । तेनोर्ध्वबाहुचरणशिरोभिः कीलकवल्लग्नो योन्यां संकीलकः (मा.,) प्रतिखुरः–प्रतिखुरः 'कायसङ्गी' इत्यपरपर्यायः । खुरैः हस्तपादैः योनिमुखं प्रतिपद्यते (मा.,) बीजकः–भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य, स तथाभूतः सन् यो योनिं गच्छेत् स बीजकः (मानि.,) अन्यः प्रकारः–यस्य एको भुजः शिरसासह निर्गच्छति, स बीजकः (ड. सुनि. ८.४) परिघः–यः परिघेण तुल्यः योनौ स्थितः, स परिघः (मानि.,) विपुलशिरोमूढगर्भः–शिरसा विपुलेन योनिमुखं पिधाय लग्नो भवति (मा) जठरेणागतमूढगर्भः यः उदरेण योनिद्वारं पिधाय सक्तो भवति (मा.) कुब्जमूढगर्भः–स द्विविधः अन्तःकुब्जो बहिःकुब्जश्च (मा.) एकभुजागतमूढगर्भः, भुजद्वयागतः, तिर्यगागतः, अवाङ्मुखः, ग्रीवाभङ्गादधःसंलग्नः, पार्श्वनतमूढगर्भश्चेति (मा.) मूढगर्भोपद्रवाः–योनिसंवरणं, संगः, कुक्षौ मक्कल्लश्च (मा.) गर्भकोषपरासंगः मक्कल्लो योनिसंवृतिः इति (सुसू. ३३.१३) असाध्यलक्षणानि–विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमादीनि (सुनि. ८.६) या मूढगर्भा अपविद्धशिरा शीताङ्गी, निरपत्रपा, नीलोत्संगसिरा च भवति तस्याः मूढगर्भोऽप्यसाध्यः (मा.) तत्र शीतगात्रां प्रत्युद्गारां च वर्जयेत् (असंशा. ४.३१) मूढगर्भचिकित्सा–सा चतुर्विधा, औषधचिकित्सा-जरायुपातनसामान्यकर्म, अथर्ववेदविहितमन्त्रादिकर्म, शल्याहरणकर्म, शस्त्रकर्म च । जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत (सुचि. १५.५) तत्रापरापातनोदितानि औषधानि विदध्यात् । च्यावनान्मंत्रानुपश्रुणुयात् (सुचि. १५.५-९) तत्र निष्फले मन्त्रे तन्त्रे च दृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा भिषजा शल्याहरणोपायाः कर्तव्याः । मूढगर्भशल्योद्धरणं कष्टतममस्ति (सुचि. १५.३) अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन, उत्कर्षण–(अधोगतस्योर्ध्वीकरणम्) अपकर्षण–(ऊर्ध्वगतस्याधःकर्षणम्), स्थानापवर्तन (व्यावर्तन–गर्भशय्यायां तिर्यगादिस्थितस्योत्तानस्याधोव्यावृत्त्यास्थापनम्) प्रतिलोममनुलोमयेत् (सुशा. १०.१०) पीडन (चम्पनम्), ऋजूकरणं (वक्रस्य प्राञ्जलीकरणम्), चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत (सुचि. १५.३) संगे सूत्यः प्रयतेरन् पूर्वोक्तानि च मन्त्रौषधानि प्रयुञ्जीत (असंशा. ४.३३) सुश्रुतस्याद्यं मूढगर्भत्रितयं पादाभ्यामाहरणीयम् । तदितरत्तु त्रितयं शिरसा, द्वौ अन्त्यौ मूढगर्भौ आहरणाऽशक्यौ तस्मात्तयोः शस्त्रमवचारयेत् (सुचि. १५.९; असंचि. ४.३९-४२) गर्भिणीरक्षार्थं यन्त्रशस्त्राद्युपायेन गर्भपातनं कार्यम् । अभुक्तवत्यां शस्त्रकर्म कुर्वीत (सुसू. ५.१६; अहसू. २९.१६) शस्त्रकर्म–उत्कर्तनभेदनच्छेदनदारणानि । ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्कुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य, शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत्; अभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गण्डे वा । अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य, निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत् । जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति । यद्यत् गर्भस्याङ्गं तत्र सज्जति, तस्य तदङ्गं छित्त्वा सम्यङ्निर्हरेत्, नारीं च यत्नतो रक्षेत् । अनिलकोपतो गर्भस्य चित्राः गतयो जायन्ते । तत्रानल्पबुद्धिः वैद्यो विधिपूर्वकं वर्तेत । मुहूर्तमपि मृतं गर्भं नोपेक्षेत । अपतन्तीमपरां पातयेत् । पार्श्वाभ्यां परिपीड्य अथवा हस्तेनापहरेत् । एवं निर्हृतशल्यामुष्णेन वारिणा सिञ्चेत् योनौ स्नेहं च निधापयेत् (सुचि. १५.१२-१९) मातुः मृतायाः अपि जीवतो गर्भस्यापकर्षणमुदरपाटनपूर्वकमवश्यं कर्तव्यम् । बस्तमारविपन्नायाः गर्भिण्याः कुक्षिः यदि प्रस्पन्देत (जीवतो भर्भस्य लक्षणम्) तर्हि भिषक्तत्क्षणात् तं शिशुं गर्भिण्या। उदरं पाटयित्वोद्धरेत् । (सुनि. ८.१४) रिष्टलक्षणयुक्तायाः मूढगर्भायाः अपि गर्भं शस्त्रेण निर्हरेत (काखिल. १०.१७२)

–(गर्भा)–स्त्री., मूढो गर्भो यस्याः सा । मूढगर्भायाः रिष्टलक्षणानि–यस्याः मुखं पूतिगन्धि शूलं

चैवोपजायते निद्रा वा अभिद्रवति सा मूढगर्भा न जीवति (काखिल. १०.१६८) पार्श्वशूलं, तृष्णा, संज्ञानाशः, श्वासो वर्त्मरोधः शूनपादमुखता, कटिग्रहः, प्रलापः, इत्येतानि यस्याः लक्षणानि, सा मूढगर्भा नो जीवति (काखिल. १०.१७०)

–गर्भचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि.१५.१)

–गर्भनिदान–न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. ८. १)

–गर्भशल्य–न., मूढगर्भ एव गर्भिण्याः शल्यं भवति । तस्योध्दरणं कष्टतमं विद्यते (सुचि. १५.३)

–परिषद्–स्त्री., ज्ञानहीनानां समूहः परिषद् वा । परिषत्तु खलु द्विविधा–ज्ञानवती मूढपरिषच्च (चवि. ८.२०)

–मारुत–पु., मूढवातः (असंसू. २४.६१)

–वात–पु., रोग० मार्गावरुद्धः, गतिरहितः, रुद्धगतिर्वा वातः । अपानवायौ अवरुद्धे सति विशेषतः आध्मानं शूलो मलावरोधश्च जायते, तत्र चिकित्सा-वातस्यानुलोमनम् (चचि.१६, चचि. ८.१४७; चचि. ११.२७; चसू. २३.२२; र. २१.१२२; काखिल. १८.५७)

–वातानुलोमन–वि., अननुलोमगो वातोऽनुलोमताम् आपाद्यतेऽनेनेति मूढवातानुलोमनम्; अम्लो रसो मूढवातानुलोमनः (अहसू. १०.११)

–संज्ञ–वि., नष्टबुद्धिः । मानसोन्मादलक्षणानामेकम् (सुउ. ६२.१३)

–संज्ञता–स्त्री., लक्षण० नष्टसम्यग्ज्ञानता वातक्षय-लक्षणानामेकम् (सुसू. १५.७)

मूढात्मन्–पु., विस्मृतशीलः (सुसू. ३१.११)

मूत्र–न., मल० (चसू. १.६९) अन्नमल०, (चसू.१४.४; चशा. ७.१५) मूत्रशकृती अन्नमलौ (अहसू.१.१३;) मूत्रशकृत्स्वेदाः इति त्रयो मलाः (असंसू. १.३१) अन्नक्लेदनिर्वाहणेन मूत्रम् (असंसू. १९.५) शरीरे मूत्रस्य प्राकृतं प्रमाणं चत्वारोऽञ्जलयः (चशा.७.१५) मानुषं मूत्रं विषापहम् (असंसू. ६.१४८). कार्यम्–बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रम् (सुसू.१५.५(२) मूत्रक्षये लक्षणं–बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च (सुसू. १५.११) मूत्रस्य वृद्धिलक्षणं–प्रचुरमूत्रगमनं मुहुः मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोद आध्मानं च (सुसू. १५.१५) मूत्रवेगविधारणादङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्वङ्क्षणवेदनाः तथाऽधोवातरोधजविकाराः शकृद्रोधजा विकारा अपि जायन्ते (अहसू. ४.४-५) मूत्रस्य निर्माणं–पक्वाशयगता या मूत्रवहा नाड्यः ताः सरितः सागरमिव सदा मूत्रं तर्पयन्ति । आसां सहस्रशो मुखानि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते । मूत्रस्याशयोऽस्य निःस्यन्देन जाग्रतः स्वपतश्चैव वा पूर्यते यथाऽऽमुखात्सलिले न्यस्तो नवो घटः पार्श्वेभ्यः पूर्यते तद्वत् (सुनि. ३.२०-२३) प्राणिनां मूत्राणि चिकित्सायामुपयुज्यन्ते । अष्टौ मुख्यानि मूत्राणि, तद्यथा–गोमूत्रंमाहिषमूत्रमविमूत्रमजामूत्रमश्वमूत्रं, गजमूत्रं, खरमूत्रमुष्ट्रमूत्रं च (सुसू. ४५.२१७-२१९) मूत्रस्य सामान्यगुणाः–कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलगुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि च मूत्रं जयेत् (अहसू. ५.८२-८३)

तत्र विशेषगुणाः–अश्वमूत्रं योनिरोगेषु पिच्चादिधारणे उपयुज्यते । अपस्माररोगे कपिलानां गवां तथा श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च मूत्रं नावनार्थं उपयुक्तं भवति (चचि. १०.४१) नष्टार्तवोपचारेषु गोमूत्रमुपयुज्यते (सुशा. २.२२) अथ मूत्राणि–गोमहिषाजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि, कटूनि, तिक्तानि, लवणानुरसानि, लघूनि, शोधनानि, कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्शउदर–कुष्ठशोफारोचक पाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ।

तत्र गोमूत्रं कटु, तीक्ष्णोष्णं, सक्षारत्वादवातलं लघ्वग्निदीपनं, मेध्यं, पित्तलं, कफवातजित्, शूलगुल्मादरानाहविरेचकास्थापनादिषु मूत्रप्रयोगसाध्येषु प्रयोजयेत् । माहिषं मूत्रं दुर्नामोदरशूलेषु पाण्डुरोगे चोपयोजयेत् ।

छागमूत्रं– कासश्वासापहं, शोफकामलापाण्डुरोगनुत्, कटुतिक्तान्वितमीषन्मारुतकोपनं च । मेषमूत्रं–सक्षारं, तिक्तकटुकमुष्णं, वातघ्नं, कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहेषु च हितम् । अश्वमूत्रं–दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं, कफहरं, वातचेतोविकारनुत्, कृमिदद्रुषु च शस्यते । गजमूत्रं–सतिक्तं, लवणं, भेदि, वातघ्नं, पित्तकोपनं, तीक्ष्णं, क्षारार्थे, किलासरोगे च प्रयोजयेत् । गर्दभमूत्रं–गरचेतोविकारघ्नं, तीक्ष्णं, ग्रहणीरोगनुत्, दीपनं, कृमिवातकफापहं च। औष्ट्रं मूत्रम्–अर्शोघ्नं, शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतकृमिनाशनं च (सुसू. ४५.२१७-२२७) सामान्येन गोमूत्रं तु गोरेव न तु वृषभस्य। आचार्याणां मते गोमहिष्यजावीनां स्त्रीणां,

गजहयखरोष्ट्राणां पुनः पुंसां, अनुक्तव्यक्तिके तु मूत्रपाठे उभयोरपि मूत्राणि ग्राह्याणि
(ड. सुसू. ४५.२२१)

(मूत्रा)–स्त्री., आग्नेयलूता० स्वेदजेयम् । पित्तविकारदा च (असंउ. ४४) अस्याः दंशो विसर्पी, कृष्णशोणितः पूतिश्च भवति । लक्षणानि तु–श्वासकासज्वरच्छर्दिमूर्च्छादाहभ्रमः (असंउ. ४५)

–कृच्छ्र–न., रोग०, कृच्छ्रेण नाम कष्टेन दुःखेन वा मूत्रप्रवृत्तिर्यस्मिन्नसौ रोगविशेषः (सुनि. ३.६; सुउ. ५९.१) मूत्रकृच्छ्रमश्मर्यादिविकारे प्रधानलक्षणभूतमपि भवति (सुनि. ३.६) संप्राप्तिः–पित्तं कुद्धं कफानिलौ अनुसृत्य यदा बस्तिं दूषयति तदा मूत्रकृच्छ्रं जायते (काचि मूत्रकृच्छ्र०) अतिव्यायामात्तीक्ष्णौषधसेवनान्मद्यप्रसंगान्नित्यद्रुतपृष्ठयानादानूपमत्स्याध्यशनादजीर्णान्मूत्रकृच्छ्राणि स्युः (चचि. २६.३२) एतैर्हेतुभिः कुपिता दोषाः बस्तौ कोपं प्राप्य मूत्रमार्गं यदा परिपीडयन्ति, तदा मूत्रकृच्छ्रं जायते (चचि. २६.३३) संख्यासंप्राप्तिः–अष्टौ मूत्रकृच्छ्राणि–वातजपित्तजकफज–सन्निपातजअश्मरीजशुक्रजक्षतजशर्कराजानि (चचि. २६.३२-४४) वातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे तीव्राः रुजः, अल्पशो मुहुर्मुहुःकृच्छ्रान्मूत्रयति (चचि. २६.३४; सुउ. ५९.४; असंनि. ९.६) पित्तजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–अत्यन्तदाहपरीतैर्मुष्कमेहनबस्तिभिः पीतं कृष्णं रक्तं वा सरुजं सदाहं, सरक्तमुष्णं कृच्छ्रात् मुहुर्मूत्रयति (चचि. २६.३४; सुउ. ५९.५; असंनि. ९.७) कफजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–बस्तिमेढ्रयोर्गौरवं, शोफः स सपिच्छं स्निग्धं शुक्लमनुष्णं च मूत्रं मेहति (चचि. २६.३५; सुउ. ५९.६; असंनि. ९.८) सन्निपातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–सर्वाणि रूपाणि भवन्ति, आतुरो रुजाभिर्युक्तस्ताम्यमानो नानावर्णं कृच्छ्रेण मेहति । विशेषास्तत्र मूर्च्छाभ्रमविलापकाः (चचि. २६.३५; सुउ. ५९.७; असंनि. ९.९; काचि. मूत्रकृच्छ्र०)

अश्मरीजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–स सेवनीमेहनबस्तिशूलं विशीर्णधारं मूत्रं करोति, वेदनार्तो मेढ्रं मृद्नाति, मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च । अश्मरीक्षोभात्कचित्सासृगपि मेहति (चचि. २६.३८) शुक्रजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–बस्तिमेहनशूलवान् सशुक्रं कृच्छ्रान् मूत्रयेत् । शूनः स्तब्धो भृशवेदनस्तब्धबस्तिवृषणौ च तुद्येयाताम् (चचि. २६.४२)

क्षतजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–मूत्रवाहीनि स्रोतांसि शल्येन क्षतानि अभिहतानि च यदा भवन्ति तदाऽतिवेदनं मूत्रकृच्छ्रं जायते । तेन च बस्तिकुक्षेर्वेदना मूत्रस्याप्रवृत्तिश्च भवतः । वातबस्तिलक्षणतुल्यानि च लक्षणानि भवन्ति (सुउ. ५९.८-९) शर्कराजमूत्रकृच्छ्रलक्षणानि–हृत्पीडा, कम्पः, कुक्षिशूलं, मन्दवाहित्वं, मूर्च्छा, दारुणो मूत्रावरोधः इत्येवमादीनि च लक्षणानि भवन्ति । शर्करासु मूत्रवेगेन निरस्तासु सतीषु यावदन्या गुडिका स्रोतोमुखं नायाति तावद्वेदना प्रशाम्यति। शर्करायाः स्रोतोमुखप्राप्तायां गुडिकायां सत्यां हृत्पीडादिमूत्राघातान्ताः वेदना भवन्ति (सुउ. ५९.११-१४) बाले मूत्रकृच्छ्रविशेषलक्षणानि–रोमहर्षोऽङ्गहर्षौ मूत्रकाले वेदना ओष्ठदशनं पाणिना बस्तिस्पर्शश्च (कासू. २५.२१) उपद्रवाः–मूर्च्छाभ्रमविलापाः कार्श्यमरतिः अरुचिः अनवस्थितिस्तृष्णाशूलविषादार्तिश्च (कासं मूत्रकृच्छ्रं) हृत्पीडा, वेपथुः कुक्षौ शूलं, दुर्बलोऽग्निः, मूर्च्छा, दारुणं मूत्रकृच्छ्रं च (सुउ. ५९.१३) चिकित्सा–स्वेद्योऽयं रोगः (चसू. १४.२२) तत्र पथ्यतमः आहारो गोदुग्धम् (अहसू. ५.२३) वातादिभेदेन यत्र यो विधिरुक्तस्तं तथा स्नेहादिक्रममपि कुर्यात् । मूत्राघातचिकित्सितमपि कुर्वीत (सुउ. ५९.१६) श्रेष्ठो मूत्रकृच्छ्ररोगहरो वीरतरादिगणः (अहसू. १५.२५)

–कृच्छ्रप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ५९.१)

–कृत्–वि., मूत्रलः (अहसू. ५.४२)

–क्षय–पु., लक्षण० मूत्रस्य स्वप्रमाणापेक्षया न्यूनत्वम् लक्षणानि–बस्तितोदाऽल्पमूत्रता च (सुसू. १५.११; असंनि. ९.३१)

–क्षरण–न., लक्षण० मूत्रस्रवणम् (सुचि. ७.३३)

–क्षार–पु., मूत्राज्जातः क्षारः (चवि. ७.१९)

–क्षीण–वि., मूत्रं क्षीणं संजातं यस्य सः । सामान्येन दोषधातुमलक्षीणः स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति । मूत्रक्षीणः पेयामिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकं त्रपुसैर्वारुकाणि चाभिलषति
(सुसू. १५: ड. २९.३१)

–ग्रन्थि–पु., रोग०, बस्तिद्वारस्याभ्यन्तरे, वर्तुलः अचलो मूत्रवाहिस्रोतोनिरोधकारी वेदनावान्ग्रन्थिः सहसा जायते स मूत्रग्रन्थ्याख्यो मूत्राघातः
(सुउ. ५८.१८-१९; असंनि. ९.२७)

-ग्रह-पु., मूत्रस्याप्रवृत्तिः (चचि. १३.३८) मूत्रकृच्छ्रम् (काचिमूत्रकृच्छ्र०)

-ग्रहण-वि., मूत्रातिप्रवृत्तिरोधकम् (असंसू. १५.३३)

-ज-वि., मूत्ररोधजः (अहसू. ४.६)

-जठर-न., रोग०, मूत्रवेगेऽवरुद्धे सति तदुदावर्तहेतुनाऽपानवायुः कुपितः सन्नुदरं पूरयेत् स ततो नाभेरधोभागे सतीव्रपीडमाध्मानं जनयेत्। मूत्रपुरीषमार्गावरोधकोऽयं मूत्रजठराभिधो व्याधिर्ज्ञेयः। द्वादशमूत्राघातेष्वेकः। हेतुः-मूत्रवेगावरोधजः उदावर्तः। संप्राप्तिः-कुपितापानेनोदरपूरणम्। लक्षणम्-अधःस्रोतोनिरोधाध्मानादि। चिकित्सा-मूत्रविरेचनीं तत्र चिकित्सां प्रयुञ्जीत (सुउ. ५८.१३-१४; चसि. ९.३०; असंनि. ९.२५)

-दर्शन-न., व्रणमुखे मूत्रागमनम् (अहसू. २८.९)

-दोष-पु., लक्षण०, मूत्रदुष्टिः (चनि. ४.४७) रोग०, मूत्रकृच्छ्रम् (सुनि. ३.२८; सुचि. ३७.१२५; सुउ. ५८.३६)

-दोषाङ्कुश-पु., पारदयोग० अभ्रकपारदस्वर्णलोहवङ्गशिलाजतूनां समांशान् वसुकाथेन मुसलीरसेन गोक्षुरकाथेन च दिनत्रयं संमर्दयेत्। बल्लद्वयमात्रोपसेवितोऽयं वातकुण्डलिकाऽऽनाहमूत्रावरोधाश्मरीरोगान्हन्यात् (र. १७.८, - १०)

-धारासङ्ग-पु., लक्षण० मूत्रस्य धारायाः संगः (सुनि. ३.७)

-निग्रह-पु., मूत्रवेगस्य निरोधः (चसू. ७.६)

-पुरीषगन्धि-वि., मूत्रपुरीषयोः गंधो यस्मिन् तत् शुक्रम् (सुशा. २.४)

-प्रतीघात-पु., लक्षण० मूत्रनिरोधः (सुनि. ३.९)

-प्रसेक-पु., शारीर० मूत्रमार्गः, बस्तिमुखाश्रयं स्रोतो, येन मूत्रं बहिः स्रवति (सुचि. ७.३३) अभीक्ष्णम् अल्पाल्पं मूत्रप्रवृत्तिः (सुशा. १०.७)

-फला-स्त्री., कर्कटी (रा. ७.२५२; पृ.४१)

-मार्ग-पु., शारीर० मूत्रवाहि स्रोतः, मूत्रवहनस्य मूत्रविसर्जनस्य च स्रोतः। मूत्रपथः (सुसू. ७.१४)

-राग-पु., लक्षण० मूत्रस्य रक्तवर्णता (काखिल० २.४४)

-रुजा-स्त्री., लक्षण० मूत्रप्रवृत्तौ वेदना (सुउ. ५८.३५)

-रोग-पु., प्रमेहादयो रोगाः (र. १७.६८)

-रोध-पु., मूत्रवेगनिग्रहः (अहसू. ४.५)

-ल-वि., मूत्रवर्धकम् (अहसू. ६.४)

(-ला)-स्त्री., कर्कटी (रा. ७.२५२; पृ. ४१)

-वर्ति-स्त्री., योग०, उदरमहारोगकासश्वासपीनसप्रसेकश्वयथुगुल्मपाण्डुरोगकृमिणकोष्ठारोचकाविपाकोदावर्तघ्नी (असंचि. १७; सुचि. १४.११)

-वर्तिक्रिया-स्त्री., मूत्रवर्तिचिकित्सा (सुचि. २३.१२; सुउ. ४२.५८; सुचि. १४.११)

-वह (स्रोतस्)-न., शारीर० मूत्रवहनार्थं स्रोतोविशेषः। मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च (सुशा. ९.१२) मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च। अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। क्षीणस्याभिक्षतस्य च मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनात् मूत्रनिग्रहान्मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति (चवि. ५.२०)

-वहा (नाडी)-शारीर० मूत्रवाहकनालिका (सुनि. ३.२१)

-वाहि (स्रोतस्)-न., मूत्रवहस्रोतः (चवि. ५.२०; असंशा. ६)

-विनिग्रह-पु., लक्षण०, मूत्रस्याप्रवृत्तिः (सुउ. ५५.१५)

-विरजनीय-वि., मूत्रं नयति विरागमथवा मूत्रस्य दोषसंबन्धिनिरासं करोति नाम प्राकृतं वर्णं स्थापयति मूत्रविरजनीयम् (चसू. ४.८) मूत्रविरजनीयगणो महाकषायवर्गोक्तानामेकः (चसू. ४.१५; असंसू. १५.३४)

-विरेककर-वि., मूत्रविरेचनीयम् (असंसू. १६.१८)

-विरेचनीय-वि., मूत्रस्य विरेचनं करोतीति। पु., महाकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.१५; असंसू. १५.३५)

-विशोधनद्रव्य-न., मूत्रस्य शोधनकरं द्रव्यम्। यथा तृणपञ्चमूलानि, गोक्षुरकं, कूष्माण्डकः पाषाणभेदप्रभृतिं (सुचि. ७.३५)

-विष-वि., सविषमूत्रयुक्तः (प्राणिविशेषः) मूत्रे विषं येषां, ते मूत्रविषाः। चिपिटपिच्चिटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषाः (सुक. ३.५)

-विषा-स्त्री., लूता० (सुक. ८.१११)

-वृद्धि-स्त्री., बहुमूत्रता (सुसू. १५.१५)

वृद्धिरोग०, वेध्योऽयम् (सुसू. २५.१०) मूत्रवृद्धिरोगहेतुः मूत्रसंधारणशीलस्य कुपितो वायुः मूत्रवृद्धेः कारणम् । लक्षणं–सा वृद्धिः अम्बुपूर्णा द्रुतिरिव क्षुभ्यति, मूत्रकृच्छ्रं, वृषणयोर्वेदनां, कोशयोश्च श्वयथुमापादयति (सुनि. १२.६) मूत्रवृद्धिस्रावणार्थं नाडीयन्त्रमुपयोक्तव्यम् (सुसू. ७.१३)

–वृद्धिजविकार–पु., मूत्रवृद्धिजन्यविकारः (असंसू. १९.१५)

–वृद्धिनाडीयन्त्र–न., नाडीयन्त्र० विंशतिनाडीयन्त्रेषु एकम् । मूत्रवृद्धिस्रावणार्थम् इदमुपयोज्यम् (सुसू. ७.१३)

–वैरेचनी चिकित्सा–स्त्री., (परिव०) मूत्रस्य विरेचनं यया क्रियते, सा चिकित्सा (चसि. ९.३०)

–वैवर्ण्य–न., लक्षण० मूत्रस्य प्राकृतवर्णहानिः (चसू. १७.७१)

–शर्करा–स्त्री., रोग०, अणुशो भिन्ना मूत्राश्मर्येव । वायौ प्रतिलोमे निरुद्धाते, अनुलोमे च मूत्रेण सह निर्गच्छति । मूत्रमार्गे चेत्सक्ता, दौर्बल्याङ्गसदनकार्श्यं कुक्षिशूलारुचिपाण्डुत्वमुष्णवाततृष्णाहृत्पीडनवम्यादिकं च करोति । तारुण्येऽप्यपचारेण जायते मूत्रशर्करा (र. १७.४; सुनि. ३.१४-१७)

–शुक्र–न., रोग०, मूत्राघात० यः पुरुषः संजातमूत्रवेगः सन् मैथुनं करोति, तस्य भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रयुतं रेतो मूत्रस्यादौ कदाचित् पश्चाद्वा वायोर्विचित्रक्रियाकरत्वात् प्रवर्तते तन्मूत्रशुक्रमुच्यते (सुउ. ५८.२०-२१; असंनि. ९.२८)

–शूल–पु., लक्षण० यदा मेढ्रान्त्रमर्दको वायुः अवरुध्य मूत्रं गृह्णाति, तदा नाभ्यां वङ्क्षणपार्श्वेषु कुक्षौ च शूलो जायते, स मारुतान्मूत्रशूलो ज्ञेयः (सुउ. ४२.१३५)

–शोधन–वि., मूत्रमतिवाहयतीति मूत्रातिवाहकं नाम मूत्रशोधकम् (अहसू. ५.४७)

–संक्षय–पु., रोग० रूक्षस्य ग्लानदेहस्य बस्तिगतपित्तमारुतौ कुपितौ सदाहवेदनं कष्टजननं मूत्रक्षयमुत्पादयतः । मूत्रस्य शोषणादत एव चात्यल्पत्वात्तस्याप्रवृत्तिः (सुउ. ५८.१७)

–सङ्ग–पु., लक्षण०, मूत्रस्याप्रवृत्तिः, मूत्रावरोधः, अयं मारुतवैगुण्याद्भवति (चसि. ३.६०; चचि. १३.४१) मूत्राघातभेदः (सुनि. ८.३) गर्भप्रस्रंसनकाले गर्भिण्याः लक्षणमेकम् (सुशा. १०.५७) शकृतः प्रतीघाताद् विगुणतां प्राप्तो वायुः सशूलमाध्मानं मूत्रसंगं च करोति (सुउ. ५९.९-१०)

–संगिनी–स्त्री., सूतिकारोग०, दुष्प्रजातायाश्चतुःषष्टिरोगाणामेकतमो योनिगतो रोगः । प्रसवानन्तरं मारुतवैगुण्याज्जाता मूत्राप्रवृत्तिः (काखिल. ११.७-१४)

–संग्रहणीय–वि., मूत्रातिप्रवृत्तिरोधनम् पु., द्रव्यगण० जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति (चसू. ४.१५)

–संपृक्त–वि., मूत्रेण सहितः मूत्रेण सह प्रवृत्तः (सुनि. ३.४)

–साद–पु., रोग० मूत्रावसादः, मूत्राघातप्रकार० (असंनि. ९.३२)

–स्रावि (व्रण)–पु., यस्मान्मूत्रस्रावो भवति, सः । अश्मरीशस्त्रकर्मणि अविधिना भिन्ने मूत्राशये मूत्रस्रावी व्रणो भवति । स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति (सुचि. ७.३३)

–स्रोतस्–न., मूत्रमार्गः (सुनि. १३.५३)

–स्रोतःपथ–पु., मूत्रमार्गः (सुशा. ४.२२)

मूत्रण–न., मेहनम् (चसू. १८.४)

मूत्राघात–पु., रोग०, मूत्रावरोधः, मूत्रदुष्टिः, संख्या– सुश्रुतसंहितायां द्वादश मूत्राघाताः वर्णिताः । वातकुण्डलिका, अष्ठीला (वाताष्ठीला), वातबस्तिः, मूत्रातीतो, मूत्रजठरो, मूत्रोत्संगो, मूत्रक्षयो, मूत्रग्रन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातो मूत्रौकसादः (कफजः) मूत्रौकसादः (पित्तजः) (सुउ. ५८.३-४) अष्टाङ्गसंग्रहे तु अधिकानि वातजपित्तजकफजसन्निपातजानि चत्वारि मूत्रकृच्छ्राणि, वात–पित्त–श्लेष्म–शुक्राश्मर्यश्चतस्रः । एवं मिलित्वा विंशतिर्मूत्राघाताः वर्णिताः सन्ति (असंनि. ९.२) माधवनिदाने तु सुश्रुतस्य द्वादश, बस्तिकुण्डलाख्यमेकमिति त्रयोदश मूत्राघाताः वर्णिताः (मा.) रौक्ष्याद्वेगविघातात्कुपितो विगुणश्च वायुः बस्तौ मूत्रं संगृह्य कुण्डलीकृतश्चरति । ततोऽल्पाल्पमथवा सरुजस्कं शनैः शनैर्मूत्रं सृजेत् । तं सुदारुणं व्याधिं वातकुण्डलिकां विद्यात् । गुदबस्तिस्थोऽपानो वायुरष्ठीलावत् अचलमुन्नतं घनं ग्रन्थिं करोति । तेन च विण्मूत्रानिलसंगः आध्मानं वेदना च

बस्तौ जायते। तां वाताष्ठीलेति विदुः। यो मूत्रस्य वेगं विधारयेत्तस्य बस्तिगतोऽनिलः बस्तेर्मुखं निरुणद्धि। तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितो मूत्रसंगो भवेत्। स कष्टसाध्यो व्याधिर्वातबस्तिरिति विज्ञेयः। यो मूत्रस्य वेगं संधार्य भूयोभूयः स्रष्टुमिच्छति, तस्य मूत्रं नाभ्येति। यदि वा कथंचित् संप्रवर्तते पुनः पुनः प्रवाहतो मन्दरुजमल्पमल्पं चागच्छति मूत्रवेगविघातजं तं मूत्रातीतमिति विद्यात्। उदावर्तहेतुना मूत्रस्य विहते वेगे कुपितो ऽपानो वायुर्भृशमुदरं पूरयेत्। नाभेरधश्च तीव्रवेदनम् आध्मानं जनयेत् तमधःस्रोतोनिरोधनं मूत्रजठरं विद्यात्। बस्तौ अथवा नाले मणौ वा यस्य प्रवृत्तं मूत्रं सज्जेत प्रवाहतो वा सरक्तमल्पमल्पं सरुजं नीरुजं वा शनैर्वा स्रवेत् स विगुणानिलजो मूत्रसंगसंज्ञितो व्याधिः। रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्याताम् तदासौ मूत्रक्षय इति ज्ञेयः। अभ्यन्तरे बस्तिमुखे मूत्रमार्गनिरोधनः अश्मरिलक्षणो वृत्तोऽल्पः स्थिरो वेदनावांश्च ग्रंथिः सहसा जायते स मूत्रग्रन्थिरित्युच्यते। संजातमूत्रवेगो यः पुरुषः मैथुनं करोति तस्य भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रयुतं रेतः मूत्रस्यादौ कदाचित् पश्चाद्वा वायोर्विचित्रकरत्वात्प्रवर्तते तं मूत्रशुक्रमित्याहुः। व्यायामाध्वातपैर्वातावृतं पित्तं बस्तिं प्राप्य बस्तिं मेढ्रं गुदं च प्रदहन् मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वाऽधः कृच्छ्रात्स्रावयेत्। रोगं तमुष्णवातं वदन्ति। यदा मूत्रं विशदं पीतकं सदाहं बहलं शुष्कं रोचनाचूर्णसन्निभं च भवति तदा तं रोगं पित्तकृतं मूत्रौकसादमिति वदन्ति। यदा तदेव मूत्रं पिच्छिलं संहतं श्वेतं तथा कृच्छ्रात्प्रवर्तनं शङ्खचूर्णप्रपाण्डुरं शुष्कं च भवति तदा तमामयं कफकृतं मूत्रौकसादं विद्यात् (सुउ. ५८.५-२६) मूत्राघाते सामान्यचिकित्सा–स्वेद्योऽयं व्याधिः (चसू. १४.२१) वीरतर्वादिगणोक्तानि द्रव्याणि कषायद्वारोपयोज्यानि (सुसू. ३८.१३) कषायकल्पसर्पींषि, भक्ष्यान् लेहान्, क्षीराणि क्षारमद्यासवस्वेदान् उत्तरबस्तीन्स्नेहविरेचनं अश्मरिनाशनं च विधिं मतिमान्वैद्यो मूत्राघाते समाचरेत्। मूत्रोदावर्तयोगांश्च कात्स्न्र्येनात्र प्रयोजयेत् (सुउ. ५८.२७-२८)

मूत्राघातप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ५८.१)

मूत्रातीत–पु., न., रोग०, त्रयोदशबस्तिविकारेष्वेकः (चसि. ९.३५) मूत्राघातप्रकार०, प्रवृत्तोन्मुखं मूत्रस्य वेगं संधार्य पुनः मूत्रप्रवृत्त्याकाङ्क्षायां तन्न प्रवर्ततेऽथवा कथंचिदल्पाल्पं मन्दरुजं संप्रवर्तते। मूत्रातीताख्योऽसौ मूत्रवेगविघातजो ज्ञेयः। अत्र मन्दरुगल्पप्रवर्तनं लक्षणम् (सुउ. ५८.११-१२; असंनि. ९.२४)

मूत्रातुर–वि., मूत्ररोगपीडितः (सुचि. ३३.१४)

मूत्राधार–पु., मूत्रस्याधारः, मूत्राशय इत्यर्थः (असंशा. ५.४६)

मूत्रार्ति–स्त्री., मूत्रपीडा (सुचि. ३८.८-९)

मूत्रावसाद–पु., रोग० मूत्राघातप्रकार० मूत्रौकसादः (असंनि. ९.३२)

मूत्रावृतवात–पु., मूत्रेणावृतो वातः, तत्र मूत्रविरेचनानि औषधानि स्वेदाः उत्तरबस्तयश्चोपयुञ्जीत (चचि. २८. १९७)

मूत्राशय–पु., मूत्रस्याशयः अवस्थानप्रदेशः बस्तिः (सुशा. ५.८) सप्ताशयेषु एकः। सद्यःप्राणहरमर्म। बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा (चसि. ९.४) नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसां मध्ये एकद्वारस्तनुत्वक्कोऽधोमुखो बस्तिः। मलाधारो मूत्राशयः, श्रेष्ठं प्राणायतनम् (सुनि. ३.१८-२३)

मूत्राष्टक–न., अष्टमूत्रसमूहः। गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवानि मूत्राणि समाहृतानि मूत्राष्टकमिति आहुः (धनि. ७.६५ पृ. ३०९; धनि. ७.७३ पृ. ३०८)

मूत्रासव–पु., आसुत० कुष्ठे समुपयोज्यः (सुउ. ५७.१४; सुउ. ४४.३६) पाण्डुरोगे पानार्थं प्रशस्तः, अरोचकव्याधिनाशार्थं विरेचनार्थं चाप्युपयुक्तः (सुसू. ४४.३०)

मूत्रासुत–पु., अवलेह० मूत्रे उषितः पाण्डुामयघ्नः (सुउ.४४.२३)

मूत्रोत्सङ्ग–पु., रोग० मूत्राघात० (सुउ. ५८.१५-१६; चसि. ९.३४)

मूत्रोपघात–पु., मूत्रकृच्छ्रम् (सुउ. ५९.३)

मूत्रौकसाद–पु., मूत्राघात० स द्विविधः पित्तजः कफजश्च (सुउ. ५८.२५; चसि. ९.२८)

मूत्रिका–योग०, रसक्रिया० लेपात् श्वित्रनाशिनी (असंचि. २२)

मूर्च्छन–न., भ्रमः; मोहः (अहसू., १२.५२)

परस्परमेलनम् (असंसू. २१.३७)
(परिव०) मार्गावरोधात्कोपनम् (चसि. ७.१५)
रोग०, मूर्च्छा (र. १२.१०)
पारदसंस्कार० पारदोपरि उक्तौषधैर्नष्टपिष्टत्व-कारकमर्थान्मर्दनपूर्वकपाचनरूपं कर्म, येन तस्य वङ्गनागादिकञ्चुकानां नाशो भवति (र ८.६४, र. ११.३२)

मूर्च्छा–स्त्री., लक्षण० चेतनाच्युतिः (सुनि. १.२३) रोग० (चसू. २४.२७; सुउ. ४६.५०३) क्षीणस्य हीनसत्त्वस्य तथाऽभिघातादिभिर्वोग्रा दोषाः बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च करणायतनेषु निविशन्ते, तदा मानवा मूर्च्छन्ति। अनिलादिभिः संज्ञावहासु नाडीषु पिहितासु तमः सहसाऽभ्युपैति तेन च सुखदुःखव्यपोहो भवति, सुखदुःखव्यपोहात् नरः काष्ठवत्पतति, स मोह एव मूर्च्छेत्युच्यते। सा षड्विधा–वातादिभिर्दोषैः शोणितेन मद्येन विषेण चेति। षट्स्वप्येतासु मूर्च्छासु पित्तं प्रभुत्वेन वर्तते। मूर्च्छायाः पूर्वरूपाणि–हृत्पीडा, जृम्भणं, ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यं चेति। वातजमूर्च्छालक्षणानि–नीलं कृष्णमरुणं वा आकाशं पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुद्ध्यते, वेपथुः अङ्गमर्दो हृदयस्य प्रपीडा, काश्यं श्यावाऽरुणाच्छाया चेति वातजानि। पित्तजमूर्च्छालक्षणानि–रक्तं हरितवर्णं वा पीतमथाऽपि वा वियत्पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रतिबुध्यते, पिपासा संतापो रक्तपीताकुलेक्षणत्वं संभिन्नवर्चस्त्वं पीताभा च इति पित्तजानि-कफजमूर्च्छालक्षणानि–मेघसंकाशं तमोघनैर्वाऽऽवृतमाकाशं पश्यंस्तमः प्रविशति, चिराच्च प्रतिबुद्ध्यते, आर्द्रेण चर्मणा प्रावृतैरिव गुरुभिरङ्गैरुपलक्षितः सन् सप्रसेकः सहृल्लासश्च भवतीति कफजानि लक्षणानि ज्ञेयानि। सर्वाकृतिः संनिपातात्। अपस्मार इवागता सा मूर्च्छा बीभत्सचेष्टितैर्विना जन्तुमाशु पातयति। रक्तजमूर्च्छा–पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयस्तस्मात् मानवा भुवि रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति रक्तं दृष्ट्वा यदभिमुह्यति स द्रव्यस्वभाव अर्थात् रक्तस्य स्वभाव इत्येके वदन्ति। रक्तजमूर्च्छायां स्तब्धाङ्गदृष्टिर्गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः अस्ति। मद्यजमूर्च्छायां मद्येन विलपन् शेते, नष्टमानसः विभ्रान्तमानसश्च भवति; गात्राणि विक्षिपन् भूमौ पतति यावत् तन्मद्यं जरां नाम जरणं परिणामं वा न गच्छति । विषजमूर्च्छालक्षणानि–वेपथुः स्वप्नस्तृष्णा स्तम्भस्तीव्रज्वरश्चेति। मूर्च्छा पित्ततमः प्रायाऽस्ति। देहिनां मूर्च्छा कृतवेगेषु दोषैः स्वयमेवोपशाम्यति (मा.) संक्षेपतश्चिकित्सा–सेकावगाहौ शीतप्रदेहाः व्यजनानिला गन्धवन्ति शीतानि पानानि हारा मणयश्चेति (सुउ. ४६.१४) प्रसक्तमूर्च्छामभीक्ष्णं शिरोविरेकैस्तीक्ष्णवमनैश्च जयेत्। पथ्यं मधुरवर्गसिद्धं पयः, रक्तशालिः यवाः दाडिमं चेति (सुउ. ४६.१६;१८)

–**प्रतिषेध**–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ४६.१)

मूर्च्छाय–पु., रोग० मूर्च्छा (अहसू. ५.४०)

मूर्च्छित–वि., अतिशयप्रकुपितम् (सुउ. ३.३) आलोडितम् (चसि. ७.१८) परस्परमिलितं मिश्रितं वा (सुशा. ७.१७) अन्योन्यप्रसरेण एकत्वं प्राप्तम् (असंनि. ३.३) वृद्धम् (सुनि. १६.४७) मूर्च्छारोगयुक्तः (अमर. २.६,६१) स्वीयचापलपरित्यागपूर्वकं कज्जलाभस्वरूपापन्नः (पारदः) (र. १.३४)

(**मूर्च्छिता**)–वि., संयुक्ता (सुसू. ४४.७१)

मूर्त–वि., कठिनं, परिच्छिन्नपरिमाणयुक्तम् (सुशा. १.१९) घनमद्रवम् (चवि. २.७)

मूर्ति–स्त्री., आकृतिः (सुसू. ३४.१०) व्यक्तिः (चसू. २६.३९) काठिन्यम् (चशा. ४.१२)

–**बन्ध**–पु., पारदबन्ध०, अभ्रकजारणाद्विना सोमवल्ल्यादिदिव्यौषधीभिरेव कृतोऽग्निसहः पारदः (र. ११.८६)

–**मत्**–वि., मूर्तत्वयुक्तम् सुव्यक्तम् (चशा. ५.३)

मूर्धन्–पु., शिरसः उपरितनो भागः । शिरः (असंशा. १०.१२) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चशा. ७.९)

(**मूर्ध**)–**गुण्डन**–न., वस्त्रादिना शिरसः प्रच्छादनम् (असंनि. ५)

–**गौरव**–न., मूर्ध्नि जडता, शिरोगौरवम्, शिरोजाड्यम् (अहसू. ४.१२)

–**तर्पण**–न., मूर्धतैलम् (अहसू. ७.६६)

–**तैल**–न., मूर्ध्नि तैलस्य विमर्दनम् (अहसू. ३.१०) चतुर्विधं मूर्धतैलम्-अभ्यङ्ग-सेक-पिचवो बस्तिश्चेति। यथोत्तरं ते बलिनः (असंसू. ३१.१६) मूर्धतैलगुणाः—कचानां सदनं, सितत्वं, पिङ्गरत्वं, परिस्फुटनं च नाशयति। शिरसः वातरोगाञ्जयति, इन्द्रियप्रसादं, स्वरबलं, हनुबलं, मूर्धाबलं च जनयति (असंसू. ३१.२०; अहसू. २२.३४)

-तैलनिषेवण-न., मूर्धतैलसेवनं, तच्च निद्रानाशे हितम् (सुशा. ४.४३)
-तैलिक-वि., मूर्धतैलसंबन्धि (सुउ. १८.४९)
-रुज्-स्त्री., शिरोवेदना (असंसू. ५.३३)
-रोग-पु., शिरोरोगः (अहसू. १२.४९; चसि.२.२२)
-विरेचन-न., चिकित्सा० शिरोविरेचनम्; नस्यम् (चचि. ३.१७३)
-विरेचनगण-पु., शिरोविरेचनगणः, वेल्लन्तरादिगणः (अहसू. १५.४; अहसू. २१.१८)
मूर्धाभिघातिन्-वि., मूर्धगतरोगी, विकृतमस्तिष्कः (सुशा. १०.९)
मूर्धरेचन-पु., नस्यभेदः, शिरोविरेचनम् (अहसू. २०.७)
मूर्धावरण-न., लिङ्गमणेरावरणं यथा दाक्षिणात्याः कृत्रिममणिं कारयन्तीति जेज्जटः पाठः (सुचि. २४.१२०)
मूर्धास्थिरुज्-स्त्री., शिरोऽस्थिवेदना, सान्निपातिकज्वरलक्षण० (सुउ. ३९.३६)
मूर्वा-स्त्री., वनस्पति०, चोरस्नायुः, धनुर्गुणोपयोग्या, 'दूधउड' इति लोके (सुसू. ३८.६) आरग्वधादिगणे उल्लिखिता; यया पूर्वदेशे गुणान्कुर्वन्ति धनुषाम्। मूर्वातानैर्व्रणं सीव्येत् (सुसू. २५.२१) मूर्वादिसिद्धं सर्पिः अग्निदग्धव्रणानां रोपणम् (सुसू. १२.२७-२८) महाकषायवर्गे तृप्तिघ्नगणे स्तन्यशोधनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.११-१२) हस्तिमेहे उपयुज्यमानतिन्दुकादिकषाये द्रव्यमेकम् (सुचि. ११.९) मूत्रदोषनिवारकं द्रव्यम् (सुउ. ५८.३६) अनुवासनकर्मणि उपयुक्तं द्रव्यम् (सुचि. ५.१२) पटोलादिगणे द्रव्यमेकम् (सुसू. ३८.३३) तीक्ष्णचाकचक्यविशिष्टत्रिदलपत्रा वल्ली. 'चुरनहार,' 'मोरवेल' इति लोके प्रसिद्धा। कुष्ठामयघ्नगणे द्रव्यमेकम्(र. २०.३३) गुणाः-स्वादुरसोष्णा, हृद्रोगकफवातजिरकुष्ठकण्डूवमीमेहविषमज्वरनाशिनी (ध. १.१३; पृ. ९) तिक्ता कषायोष्णा (रा. ३.१२; पृ. ९)
हिं.—मूर्वा मुर्हरी चुरनहार चूर्णहार.
म.—मोरवेल.
गु.—मुरवेल.
बं.—मुर्वा मुर्गा मुरहा शोचमुखी वोडाचक.
त.—मरुलकलङ्ग.
-पत्र-न., मूर्वालतायाः पत्रं, कफजव्रणे उपयुक्तम् (सुचि. १.११५)

मूल-न., प्रधानकारणम् "दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्" (सुसू. १५.३) कारणम् (अहसू. ११.१ चचि. ३०.५; चसि. ९.३)
संभवहेतुः (सुसू. १.२८)
प्रभवस्थानं, प्रारम्भस्थानं वा, यथा प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च (सुशा. ९.१२; चवि. ५.८; सुसू. १.१०)
वनस्पत्यंग० शिफा "मूलत्वक्सारनिर्यासनाल स्वरसपल्लवाः क्षारः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाश्च (चसू. १.७३)
वनस्पति० मूलकम् (र. ११.२६)
गर्जरम् (ध. ४.६९)
पिप्पलीमूलम् (ध. २.७५ पृ. ८४.)
पुष्करमूलम् (ध. १.६६)
ग्रहणस्थानं, यथा शलाकामूलम् (अहसू. २५.३७)
धूमनेत्रस्य वर्तिसंवरणस्थानं धूमनेत्रमूलमिति (सुचि. ४०.५)
रोग० गुदार्शः (र. २२.२७; २.१३२; २०.११८)
(मूली)-स्त्री., मूलकम् (र. २४.५१)
-कुठारक-पु., योग०, वरनागोऽभ्रकसत्त्वं ताम्रं तीक्ष्णलोहं सर्वं समभागं त्रिगुणेन हरितालेन मेलयित्वा पारदेन सह संमर्द्य पिष्टिं कुर्यात्। तां पिष्टीं भल्लातकवृक्षमूले खातं कृत्वा स्थापयेन्मासपर्यन्तम्। ततस्तां गोदुग्धे ततश्च भल्लातकतैले लौहभाण्डे च स्थापयेत्। तैलमेतत्प्रस्थमात्रं भवेत्। तस्मिंस्तां पिष्टिं पचेत्। तत्तैलेन च गन्धकं मर्दयित्वा तेन सह भस्मक्रियां कुर्यात्। ततश्च कार्तिकमासोत्थकुरण्टकपत्रजेन रसेन सह पारदं मर्दयित्वा भस्मतां नयेत्तच्च भस्म समभागिकेन पूर्वरसेन सह मेलयेत्। ततश्च वन्यसूरणनिर्गुण्डीमहाराष्ट्रीगजकर्णिकावज्रवल्लीचित्रकाणां रसेन मर्दयित्वा शोषयेत्। पुनश्च त्रिवारं भृङ्गराजरसेन मर्दयेत् अयं वल्लमात्रोपसेवितोऽनुपानत्वेन ससर्पिष्कयवानीचित्रकविडङ्गत्रिफला-पूर्णसहितः अर्शांसि मुखनासिकाऽऽमयान् प्लीहग्रहणीगुल्मयकृदग्निमान्द्यकुष्ठानि च नाशयेत् (र. १५.३४-४२)
-ग्रन्थि-स्त्री., दूर्वा०, मालादूर्वा (रा. ८.२३२; पृ. १६३)
-ज-न., आर्द्रकम् (ध. २.८४; पृ. ८७)
-पुष्कर-न., पुष्करभूलम् (रा. ६.९३; पृ. १९)

-पोती-स्त्री., वनस्पति०, गुणाः—त्रिदोषघ्नी, वास्तुकभेदः वृष्या, बल्या, लघ्वी, बलपुष्टिकरी, रुच्या, जठरानलदीपनी च (रापरि. ७.७८,७९-३५३)

-फलद-पु.; पनसः (रापरि. ११.९-३७३)

-विरेचन-न., विरेचनकरं मूलं, यथा त्रिवृन्मूलम् (सुसू. ४४.३)

-विष-न., स्थावरवृक्षलतादिमूलानां विषम् (चचि. २३.१२३; १३.१३२) अष्टौ मूलविषाणि-वत्सनाभशृङ्गीसुगन्धगर्गरककरघाट विद्युच्छिखाविजयाधीत्यष्टौ मूलविषाणि तस्य लक्षणं-मूलविषेरुद्वेष्टनं प्रलापो मोहश्च भवेत् (सुक. २.७) विषचिकित्सायामस्य प्रमाणं-चतुर्भिर्यवैर्हीना मात्रा। षड्भिर्यवैर्मध्यमा मात्रा। अष्टाभिर्यवैरुत्तमा मात्रा। मूलविषस्य यथायथं यथाविधि मात्रा प्रयोज्या। तत्र कीटदष्टस्य द्वौ यवौ। वृश्चिकदष्टस्य तिलमात्रम्। असृक्स्थे विषे नैव प्रयुञ्जीत। लूतादष्टस्य पाने विषं नेष्यते। किंतु लेपादिकर्मणि प्रशस्तम्। दष्टानां पानलेपयोर्मूलविषं प्रशस्तम् (असंउ. ४८.३७५)

-शाक-न., शाकभेदः यथा नवनीतेन मूलशाकं विरुध्यते (असंसू. ९.९)

-सन्नियम-पु.. मूलसंख्याविनिश्चयः; मूलस्थानविनिश्चयः (सुशा. ९.३)

-सिरा-स्त्री., शारीर० प्रधानसिरा, मूलस्थानाश्रिता सिरा, एताः संख्यातः चत्वारिंशत् (सुशा. ७.६)

-हेतु-पु., प्रकृतिहेतुः. यथा शोफस्य मारुतः दाहस्य पित्तं, शैत्यस्य कफः (काखिल. १७.२४)

मूलक-न., पिप्पलीमूलम् (सुउ. ४२.७२)
गर्जरम् (ध. ४.६९; पृ. १४७)
वनस्पति०, स्वनामख्यातमूलशाक०, ग्रन्थिविसर्पे शुष्कमूलककल्को लेपार्थमुपयुज्यते (असंचि. २०) नाडीस्वेदार्थमुपयुक्तं द्रव्यम् (चसू. १४.३१) गुणाः—बालमूलकमव्यक्तरसं, किंचित्क्षारं, सतिक्तकं, दोषहरं, लघूष्णं, गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान् स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च नियच्छति। यत् महत् तद्रसे पाके च कटुकमुष्णवीर्यं त्रिदोषकृत् गुर्वभिष्यन्दि च। तदेव स्निग्धस्विन्नं वातजिद्भवति। शुष्कमूलकं तु वातश्लेष्महरम्। महच्छुष्कमार्द्रं चानग्निपक्वं चेद्दोषलं भवति (अहसू. ६.१०२-१०५; सुसू. ४६.२४१; चसू. २७.१६८; सुसू. ४०.५) कृमिहरशाक० (चवि. ७.१७) गुरु, विष्टम्भि, तीक्ष्णमामत्रिदोषनुत्, स्निग्धस्विन्नं तदेव कटूष्णं कफवातनुत्; शुष्कं तु त्रिदोषशमनं, विषदोषहरं, लघु च (ध.४.३४; पृ. १४०) दीपनं, हृद्रोगनाशनं, रुचिदं च (रा.७.५२) मूलकन्दजाः शिंबाः रसे विपाके च मधुराः बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च (सुसू. ४६.४६-४७)
हिं.—मूली, छोटी मूली, मुरई.
म.—मुळा.
गु.—मूला, नाहानी मुळी.
बं.—मूला, चणकमूली.
त.—मुलंगि.
फा.—तुख, तुर्ब.
कन्दविषभेदः, विषलक्षणानि—वैवर्ण्यं, छर्दिः, हिक्का, शोफः, प्रमूढता च (सुक. २.५; असंउ. ४०; र. २९.१७)

(मूलिका)-स्त्री., सर्पाक्ष्यादीनां मूलम् (र. ११.५१)

-तैल-न., मूलकबीजानां तैलम्। गुणाः-तीक्ष्णं, कटु अस्रपित्तकृत् अर्शःकुष्ठकृमिश्लेष्मशुक्रमेदोऽनिलापहम् (असंसू. ६.१०६) कटुतैले उल्लिखितं शिरोरोगापहरं च (सुसू. ४५.११५) सिद्धतैलं०, रास्नाशिरीषयष्टिमधुशुण्ठीसहचरामृतास्योनाकदेवदारुशाम्पाकाश्वगन्धात्रिकण्टकानां दश पलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत्। ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः दध्यारनालमाषाम्बुमूलकेक्षुरसैः पृथक्प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत् एतन्मूलकतैलाख्यं वर्णायुर्बलवर्धनं तथा प्लीहमूत्रग्रहश्वासकासवातरोगनुत् (चचि. २८.१७२-१७५)

-पर्णी-स्त्री., गुग्गुलुः (चचि. ३.२६७) शिग्रुः (४.३९, पृ. १४२)

-पोतिका-स्त्री., शाक०, बालमूलकम्। गुणाः-शाकवर्गे श्रेष्ठा, चक्षुष्या, कटुतिक्तरसा, हृद्या, रोचनी, वह्निदीपनी, सर्वदोषहरा, लघ्वी, कण्ठ्या च (सुसू. ४६.२४०; सुउ. १७.५०)

-फल-न., मूलकशिंबिः, मूलकफलानि उष्णानि, शोथपाचनानि च (सुसू. ३७.९)

-यूष-पु., बालशुष्कमूलयूषः। अयमपि मुद्गादिसहितो ज्ञेयः। जेज्जटस्तु यद्यपि बालमूलकं त्रिदोषघ्नं तथापि तस्य न यूषकरणे श्रुतिरस्तीत्याह। गुणाः- श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरांस्तथा कफमेदोगलामयान्हन्ति (सुसू. ४६.३७२; काखिल. ४.४०)

मूलाकरोद्भव–वि., मूलभूतं खनिसंभूतम् लवणभेदः, मूलभूतः आकरो मूलाकरः, प्रशस्यतरतुरङ्गमोत्पत्तिभूमिस्तत्रोद्भवं लवणम्। तल्लवणं कटुकं छेदि च (सुसू. ४६.३२१)

मूलामय–पु., गुदार्शः (र. ५.७२)

मूलारिष्ट–वि., अरिष्ट० (असंचि. १४)

मूलार्ति–स्त्री., गुदपीडा, गुदार्शः (र. २.११०)

मूलासव–पु., आसुत० ग्रहण्यां शस्तस्तथैव दीपनो रक्तपित्तजित् आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुच्च (चचि. १५.१५६-५९)

मूलाह्व–न., मूलकम् (रा. ७.५०; पृ० १४०)

मूलिनी–वि., मूलं प्रशस्ततमं यस्याः सा। षौडशैकोना मूलिन्यः (चसू. १.७४)

मूषक–पु., प्राणि० द्र० 'मूषिक' (चवि. ३.७(३) ध. ५.१३२; पृ. १९६; ध. ६.४३३; पृ. २७४) वनस्पति० मुष्कक (ध. ५.१३२; पृ. १९६) सोमलः, गौरीपाषाणः (र. ३.१३९)

–कर्णी–स्त्री., वनस्पति० (चसू. ४.११) मूषककर्णी गुणाः–कटुः उष्णा पाचनी कफपित्तहरा आनाहज्वरशूलार्तिनाशिनी (रापरि. ३.२३) एतत्कोमलपल्लवाः रोगे उपयुज्यन्ते (असंचि. २२)

हिं.—मूषाकानी.

म.—उंदीरकानी.

गु.—उंदरकनी.

बं.—इंदूरकानी.

त.—चवरियारकुन्तल.

फा.—गोरोमुष, सतर.

–मारी–स्त्री., सुतश्रेणी (रापरि. ४.१६; पृ. ३३६)

मूषा–स्त्री., मृत्तिकालोहनिर्मितः पात्रविशेषो योऽग्नितापनयोगाद्धातूनां दोषमोक्षणेन नाम निरसनेन सत्वनिपाताय साहायो भवति (र. १०.१; (सुउ. १८.८६)

मूषाप्यायन–न., मूषाक्षिप्तस्य द्रावणयोग्यद्रव्यस्य द्रुतिसमये मूषायाः अग्नितः क्षणमात्रमुद्धरणम् (र. १०.३२)

मूषिक–पु., प्राणी०, मूषकः, आखुः, प्रसहवर्गे, प्रोक्तः (चसू. २७.३५) भूमिमूषिकः बिलेशयवर्गे कीर्तितः (सुसू. ४६.७८) अयं जङ्गम–सविषप्राणिविशेषः, सुश्रुते अष्टादशप्रकारकाः–लालनः, पुत्रकः, कृष्णः, हंसिरः, चिक्कि(क्की)रः, छुछुन्दरः, अलसः कषायदशनः, कुलिङ्गः, आजितः चपलः, कपिलः, कोकिलः, अरुणसंज्ञः, महाकृष्णः, महाश्वेतः, कपिलाखुः, कपोनाभश्च इत्यष्टादश (सुक. ७.३-६) अष्टाङ्गसङ्ग्रहे–लालनः, चपलः, पुत्रः, हसिरः, चिक्किरः, अजिरः कषायदन्तः, कुलकः, कोकिलः, कपिलः, असितः, अरुणः, शबलः, श्वेतः, कपोतः, पलितोन्दुरः (रुः), छुछुन्दरः रसालः (रसालाख्यः), इत्यष्टादशभेदाः (असंउ. ४६) मूषिकाः पञ्चधा विषं क्षिपन्ति, शुक्रेण, पुरीषेण, मूत्रेण, नखैर्दंष्ट्राभिश्च। तथा च गर्भिण्या मूषिकया दष्टेऽम्लादिदोहदः, ऋतुमत्या दष्टे रक्तमेहनमाध्मानं रतिशीलता च (सुक. ७.७ ड.) मूषिकाण्डं वृष्यघृतसिध्यर्थमुपयुज्यते (सुचि. २६.३१)

मूषिकविषेऽगदः—कुष्ठं, त्रिकटुकं, दार्वी, मधुकं, लवणद्वयं, मालती, नागपुष्पं च एतानि कपित्थरसपिष्टानि शर्कराक्षौद्रसंयुतानि अद्यात्। अयं सार्वकामिकनामाऽगदः (सुक. ५.८२-८३) वृक्षमूषिकोऽपि मूषिकसंज्ञयोल्लिखितः, स च पर्णमृगेष्वेकः (सुसू. ४६.७६)

(मूषिका)–स्त्री., मूषा (र. १०.९) निर्विषाणां जलौकानामन्यतमा जलौका, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च (सुसू. १३.१२)

(मूषिक)–कल्प–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुक. ७.१)

–दंश–पु., आगंतुरोग० मूषकस्य दंशः (सुक. ७.३३) द्र० 'मूषकविष'

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० पुत्रश्रेणीति ख्याता, शोथे उन्मर्दनार्थमुपयुक्ता (चचि. १२.७२)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति०, दन्तीपर्यायः (चक. १२.३; सुउ ५४.२७) मूषिककर्णाख्यं द्रव्यान्तरमिति केचित् (सुउ. ५४.२७)

–विष–न., मूषकविषम्। मूषिकाणां विषमभ्रदर्शने प्रकुप्यति। किंवा मूषिकविषं यद्दोषाधिकं तत्तस्य वृद्धिहेतुषु कालेषु प्रकुप्यति। तत्र वमनविरेचनशिरोविरेचननयनाञ्जनादिः दूषीविषापहश्च विधिः कार्यः (असंउ. ४६; सुक. ७.४१) मूषिकाणां शुक्रं यस्मिन्नङ्गे पतति वा ते शुक्रदिग्धैरङ्गैर्यदङ्गं स्पृशंति तेन रक्तं दूषितं भूत्वा पाण्डुतामापद्यते। ततो ग्रन्थयः श्वयथुः कोठो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः शीतज्वरोऽतिरुक्तोदो वेपथुः पर्वभेदनं च रोमहर्षः स्तुतिर्मूर्च्छा तथा श्लेष्मानुबद्धबह्वाखुपोतकच्छर्दनं च सकृद्भवति। मूषिकविषप्रभावान्मूषिकबालाकारमांसखण्डानां छर्दनं सकृद्भवतीति। मूषिकविषं

व्यवायि कृच्छ्रं भूयोभूयः कुप्यमानं कालान्तरप्रकोपि दीर्घकालानुबन्धि चास्ति। एतज्जुष्टस्य यदा मूर्च्छाऽङ्गशोफो वैवर्ण्यं क्लेदः शब्दाश्रुतिः ज्वरः शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्च भवति तदाऽसाध्यमाखुविषम्। तथा च शूनबस्तिर्विवर्णौष्ठो मूषिकाभैः ग्रन्थिभिः व्याप्तः छुछुन्दरसगन्धो भवत्याखुदूषितः सोऽप्यसाध्यः (असंउ. ४६)

न., मूषकदंशलक्षणानि- ग्रन्थयः, शोफाः, मण्डलानि, पीडकोपचयश्चोग्रः विसर्पाः, किटिभानि च जायन्ते। तथैव पर्वभेदः तीव्रा रुजः, मूर्च्छाऽङ्गसादनं, ज्वरः, दौर्बल्यमरुचिः, श्वासो वमथुर्लोमहर्षणं च (सुक. ७.८-९) चिकित्सा च-अग्नितप्तेन घृतेन दहेत्। तथा च विस्रावयेत्, प्रलेपयेच्च शिरीषरजनीकुष्ठकुङ्कुमैरमृतायुतैः (सुक. ७.३३) शुकाख्यकोषवत्यांश्च मूलं मदनं देवदालीफलं च दध्ना पाययेत्। पीत्वा स रुग्णो विषं वमेत्। अनन्तरं फलं, वचा, देवदाली, कुष्ठं, गोमूत्रषेषितं दध्ना सह लेह्यम्। सर्वमूषिकदष्टानां एष सुखावहो योगः (सुक. ७.३४-३६)

मूषिका-स्त्री., प्राणि०अस्याः शरीरेण सिद्धं तैलं गुदभ्रंशे पानाभ्यङ्गार्थमुपयुज्यते मूषिका निर्गतान्त्रां कृत्वा महत्पञ्चमूलस्य प्रस्थं क्षीरप्रस्थे त्रिगुणितजले विपचेत्। क्षीरप्रस्थेऽवशिष्टे तैलकुडवं दत्त्वा भद्रदार्वादिकल्कपाकं कृत्वा तैलं साधयेत् (सुचि. २०.६२)

मूषिकाह्वया-स्त्री., द्रवन्तीभेदः (चक. १२.३; ध. १.२२९; पृ. ५४)

सुतश्रेणी (रापरि. ४.१६; पृ. ३३६)

मूषोदर-न., शरावसंपुटम्

मृक्षण-न., तैलम् (ध. ६.१२५; पृ. २३३)

मृग-पु., प्राणि० हरिणः (चसू. १३.११) मृगमांसम् गुणाः-एतन्मांसं हिमं रुच्यं ग्राहि दोषत्रयापहं षड्रसं, बलदं पथ्यं, लघु, हृद्यं, कफास्रजित् (ध. ६.४००; पृ. २७०)

(**मृगा**)-स्त्री., महाबला (रा. ४.४२५; पृ. ६५)

(**मृग**)-**गामिनी**-विडङ्गम् (ध. २.११; पृ. ७१)

-**चर्मज**-वनस्पति० जवादि (रापरि.१२.६; पृ.३७५)

-**चारिन्**-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ८.७७)

-**चारिमुनीन्द्र**-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १७.१००)

-**चिर्भिटी**-स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८; पृ. ४२)

-**तृष्णिका**-स्त्री., मृगजलम् (चक. १.८)

-**दूर्वा**-स्त्री., दूर्वा० गण्डदूर्वा, श्वेतदूर्वा, नीलदूर्वा (र. ११.५२)

-**द्विज**-पु., मृगपक्षी (चचि.१७.९३) पशु आणि पक्षी.

-**नाभि**-स्त्री., भेषजद्रव्य० कस्तूरिका (ध. ३.२८; पृ. १००; र. २१.१९०)

-**पित्त**-न., हरिणस्य द्रवपित्तम्, इदं विषहरम्, जीवनामागदेष्वेकं द्रव्यम् (असंसू. ८.२९)

-**प्रिय**-न., वनस्पति० तृणाढ्यम् (रापरि. ८.५३; पृ. ३६१)

-**प्रियक**-पु., सर्प० गोनसः, बिलेशयेष्वेकः; वातरोगेऽयं पथ्यः (सुसू. ४६.७८-८२)

-**भक्षा**-स्त्री., वनस्पति० गन्धमांसी (रा. १२.९१; पृ. १०५)

-**भोजिनी**-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (सुचि. १७.३७)

-**मद**-पु., भेषजद्रव्य० कस्तूरिका (ध. ३.२८; र. १७.१२८; पृ. १००)

-**मातृका**-स्त्री., स्वल्पा पृथूदरा हरिणजातिः जाङ्गलमृग० (चसू. २७.४५; चसू. १५.७) अल्पा पृथूदरा चतुरङ्गस्त्री 'भेदली' इति लोके; जङ्गालवर्गे, अस्याः मांसं सर्वप्राणिनामाहारार्थं हितम्, गुणाः- शीता असृक् पित्तशमनी सन्निपातक्षय, श्वासकासहिक्काऽरुचिप्रणुत् (सुसू. ४६.५८; सुसू. २०.५)

-**रसा**-स्त्री., महाबला (रा. ४.४२५ पृ.६५)

-**लिण्डिक**-न., भेषजद्रव्य० मृगविट्सदृशं कर्कटाख्यम् (अहसू. ६.१३८)

-(**लिण्डिका**)-स्त्री., वनस्पति० बिभीतकः आसवोपयुक्तेषु फलेष्वेका (चसू. २५.४९)

गाङ्गेरुकीफलम् (शिवकोष १२७)

-**वर्ग**-पु., मांसवर्गे प्राणिनः, एणकुरङ्गहरिणशशशम्बरचारुष्कशरभाद्याः मृगाः स्मृताः (अहसू. ६.४३)

-**विषाण**-न., मृगशृङ्गं हरिणशृङ्गं वा (र. २३.१७)

-**व्यालविदष्ट**-वि., दुष्टमृगभक्षितम् (सुसू. ४५.११२)

-**शिरस्**-न., नक्षत्र० मृगशीर्षम् (असंसू. ८.९२)

मृगाक्षी-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणीभेदः (ध.१.२५२; पृ.५९.)

त्रपुस० (रा. ७.२५७; पृ. ४३)

मृगाङ्कपोटलीरस–पु., पारदयोग० षोडशनिष्कपरिमितान् शङ्खनाभीन् गोदुग्धेन पेषयित्वा मूषां कुर्यात्। तन्मार्धनिष्कं सूतभस्म निष्कत्रयं च गन्धकं निक्षिप्य रोधयेन्मृदा च लिप्त्वा गजपुटेन पचेत्। मूषया सह चूर्णयेत् एवमेतद्रसायनं सिद्धं भवति। मात्रा–गुञ्जा परिमिता। फलं–क्षयनाशः (र. १४.२३-२५)

मृगाण्डजा–स्त्री., भेषजद्रव्य० कस्तूरिका (ध. ३.२८; पृ. १००)

मृगादनी–स्त्री., वनस्पति० चिर्भट० (सुचि. ९.५८)
इन्द्रवारुणी (सुउ. २८.७; असंउ. ४२; रा. ७.२५७; पृ. ४२)
ध. १.२४८; पृ. ५८; १.२५२; पृ. ५९) कर्कटिका (सुक. ५.६९)
महाबला (रा. ४.४२४; पृ. ६५)

मृगादिनी–स्त्री., वनस्पति० गवाक्षी (असंउ.६; इन्दु.)

मृगारि–पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः (रा.७.६६; पृ. १४२)

मृगेक्षणा–स्त्री., वनस्पति० कर्कटी (रा. ७.२५७; पृ.४२)

मृगेन्द्रवारुणी–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (असंसू. १४.३)

मृगेन्द्राणी–स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (रा. ४.२९; पृ. ११)

मृगेर्वारु–पु., वनस्पति० इन्द्रवारुणीभेदः (ध. १.२५२; पृ. ५९)
कर्कटीभेदः (रा. ७.२५७; पृ. ४२)

मृगेर्वारुक–पु., प्राणि० मृगभक्ष्यः, शृगालाकृतिः, गुहाशयेष्वेकः (सुसू. ४६.७२)

मृगेष्ट–पु., वनस्पति० मुद्गर (रापरि. १०.२२; पृ. ३६९)

मृगैर्वारु–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (सुउ. ३०.६; (असंसू. ८.४२)

मृगैर्वारुकमुख–न., स्वस्तिकयन्त्र० मृगैर्वारुकमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)

मृगोर्वारु–स्त्री., वनस्पति० गवाक्षी (असंउ, ४)

मृग्य–वि., मृगस्येदं, मृगसम्बन्धिमांस०, अष्टविधमांसेषु एकं मृग्यमांसम् (अहसू. ६.५४)

मृङ्क्षण–न., म्रक्षणम्। तैलघृतनवनीतादिनाऽभ्यङ्गः (र.२५.३८)

मृजा–स्त्री., परिमार्जनम् (चसि. ११.२९) उद्वर्तनम् (चनि. ४.५) शुद्धप्रभा (सुचि. २४.३०) शुद्धिः (चवि. ७.१०; सुचि. २४.३९)
–वर्जन–न., शुद्धिकरस्नानादिवर्जनम् (चवि. ७.१०)

मृडः–पु., श्रीशङ्करः मृडयति सुखयति शं करोति इति मृडः (र. १३.१२)

मृणाल–न., बिसम् (ध. ४.१६१; पृ. १६७, सुउ. ३९.३११-१६७; सुचि. ५.८) भोजनस्य पूर्वं योज्यं, न तु भुक्ते कदाचन (सुसू. ४६.४६४) पद्ममूलात्स्थूलप्ररोहः (सुशा. ९.१०) पद्मनालम् (सुसू. ४६.२९८) तनुकमलतन्तुः (चचि.१४.९) वनस्पति० उशीरम् (सुचि. २.४०; ध.३.१४; पृ. ९६)

(मृणाली)–स्त्री., (बिसम् ध.४. १६१; पृ. १६७) कमलभेदः (चचि. ८.१२९)

(मृणाल)–कण्ठ–पु., जलचारिपक्षि० (चसू. २७.४२; असंसू. ७.८२) प्लववर्गीयः पक्षि० (सुसू. ४६.१०५ ड.)
–वलया–वि., मृणालनिर्मितवलयवती, कमलनालस्य कङ्कणानि धार्यते यया सा (कान्ता) (असंसू. ४.३६)

मृणालक–न., बिसम् (ध. ४.१६१; पृ. १६७)

(मृणालिका)–स्त्री., बिसम् (ध. ४.१६१; पृ. १६७)

मृणालासव–पु., आसुत० नादेयमत्स्यभक्षणोत्तरमनुपानत्वेन विहितोऽयम् आसवः (सुसू. ४६.४३३)

मृणालिनी–स्त्री., बिसम् (रा. १०.२५८; पृ. १६७)

मृत–वि., त्यक्तप्राणः 'शोधयित्वामृतंसम्यग्द्रष्टव्योंऽगविनिश्चयः।' (सुशा. ५.४७) अत्र मृतपदम् आसन्नमरणवाचकम् इत्यवधेयम्, मृतस्य चिकित्साविषयाभावात्; वृक्षप्रपातविषमपतितं मृतमम्भसि। उद्बद्धं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत् (सुक. ५.५५)
भस्मरूपं प्राप्तः (पारदः) लोहं वा (र. १.३४; (र. ८.२७)
न., वाराहीकन्दः (र. २७.११७)
वत्सनाभः (र. २७.११७)

(–गर्भा)–स्त्री., मृतो गर्भो यस्याः सा स्त्री, मृतगर्भायाः स्त्रियः लक्षणानि– यस्याः अन्तःकुक्षौ गर्भो म्रियते तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्यस्पन्दनश्च गर्भः अस्याः शूलमधिकमुपजायते, न चान्यः प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवति, अक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः, किं च असौ ताम्यति, व्यथते, भ्रमते, श्वसिति, अरतिबहुला च भवति, न चास्या वेगप्रादुर्भावो

यथावदुपलभ्यते, इत्येवंलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भां विद्यात् (चशा. ८.३०; असंशा. ४.२८)

-जीविन्-पु., तिलकः (रा. १०.२६६)

-वत्सका-स्त्री., जातमात्रं मासात्पक्षाद्वर्षाद्द्वित्रिवर्षैर्वा यस्या अपत्यं म्रियते, सा स्त्री (र. २२.५६)

-संजीवन-पु., योग० सूचिकाऽऽभरणापरपर्यायो रसः (र. १२.७६-७९)

योग० पारदलोहत्रिकटुककङ्कुष्ठमनःशिलाहरितालकुम्भीचित्रकभृङ्गराजमारीषतण्डुलीयकमाक्षिकहस्तिशुण्डीस्तुल्यभागास्तदर्धभागौ च पारदगन्धौ दिनत्रयमार्द्रकरसेन भावयित्वा वालुकाग्निना पचेत् । ततश्च वालुकायन्त्रावस्थायामेव भङ्गाजम्बीरनिर्गुण्डीचाङ्गेरीणां पृथग्रसं चतुर्दशदिनं यावन्निक्षिपेत् स्वाङ्गशीतं पुनरार्द्रकरसेन मर्दयित्वोपयोजयेत्। वल्लप्रमाणोपसेवितोऽयं सन्निपातादिरोगान् अपहन्ति (र. १२.१२९-३२)

योग०, पारदगन्धौ एकद्विभागौ वत्सनाभहरितालकङ्कुष्ठमनःशिलाहिङ्गुलोहचित्रकत्रिकटुभृङ्गराजस्वर्णमाक्षिकाभ्रकहस्तिशुण्ड्यतिविषाकुम्भीतण्डुलीयकताम्रभस्मानि प्रत्येकं भागैकमित्येतत्सर्वमार्द्रकरसेन त्रिदिनं मर्दयेत् । ततश्च काचकूप्यां पाचयेत्पाचनावसरे च जम्बीरत्रिफलानिर्गुण्डीनां रसं प्रत्येकं पलत्रयमात्रं चाङ्गेर्याश्च पलमात्रं कूप्यां प्रक्षिपेत् । सप्तदिनपर्यन्तं च पाचयेत् । ततःस्वाङ्गशीतलमुद्धृत्याऽऽर्द्रकरसेन मर्दयित्वा शोषयेत् । गुञ्जाद्वयमात्राप्रयुक्तोऽयं सन्निपातज्वरजिद्वरः (र.१२.१३३-१३९)

अगद०, स्फटिकाष्ठवस्थौणेयकादिः सुगन्धबहुलैर्द्रव्यैः कृतः विषशमनो योगः (चचि. २३.५४-६०; असंउ. ४०)

न., भेषज० मृतस्य मृतकल्पस्य वा अमृतवत् संजीवकं भेषजम् (चचि. २३.३७)

-(संजीवनी)-स्त्री., वनस्पति० गोरक्षदुग्धी (रापरि. ५.५३; पृ. ३४४)

योग० कान्तलोहाभ्रकमाक्षिकाणां सत्वानि हीरकस्वर्णपारदानां भस्मानि च सप्ताहं निम्बुकाद्यम्लरसेन पिष्ट्वा गोलकीकृत्य च गोजिह्वा काकतुण्डीहरीतकीनिर्गुण्डीमधुसैन्धवैर्लेपयित्वा भूधरयन्त्रे पचेत् । एवं पक्षपर्यन्तं कुर्यात्ततो यवच्चिञ्चापलाशबिभीतकसर्षपकार्पासतण्डुलैर्लिप्तायां मूषायां स्वल्पं स्वल्पं टङ्कणं श्वेतकाचं च दत्वा शोषयेत्तदनन्तरं बिड्योगेन समभागं स्वर्णं जारयेत् । इयं वटी संवत्सरपर्यन्तं मुखे धारिता सती शुक्रस्तम्भं कुरुते जरां च हरति (र. ३०.१०१-१०५)

मृताजीवी-स्त्री., गोरक्षदुग्धी (रापरि. ५.५३; पृ. ३४४)

मृतालक-न., तुवरी (सौराष्ट्री) (ध. ३.१०५; पृ. ११६)

मृतोत्थापन-पु., योग० अभ्रताम्रलोहानां प्रत्येकं पलं घृते दुग्धे च पचेत् तस्मिन् विडङ्गत्रिफलाचित्रकत्रिकटूनां प्रत्येकं पलमात्राणां चूर्णं क्षिपेन्मर्दयेच्च । मात्रा-एकमाषतः आरभ्य क्रमादष्टमाषपर्यन्तम् । अनुपानं-घृतं मधु मद्यं दुग्धं नारिकेलोदकं वा । पथ्यं-शर्कराशाल्यन्नमांसरसादि । फलं-हृच्छूलपार्श्वशूलगुल्मशिरःशूलामवातकटिग्रहाग्निमान्द्यक्षयकुष्ठकासश्वासविचर्चिकाश्मरीकृच्छ्राणां नाशः (र. १८.१२२.३०)

मृत्तिका-स्त्री., तुवरी (ध. ३.१०६; पृ. ११६)

गुडूची (ध. १.४; पृ. ८)

मृद्-कृष्णमृत्तिका गुणाः- पावनी रससिद्धिविधायिका, लेपेन योजिता चेत् दंशादिसर्वशोफानां हन्त्री (ध. ३; परि. ३१; पृ. १३३)

-क्षार-न., मूलकम् (ध. ४.३३; पृ. १४०)

-पञ्चक-न., रसप्रयोगकुशलैः कीर्तिताः पञ्च मृत्तिकाः । ताश्च इष्टिका गैरिकं लवणं भस्म वल्मीकमृत्तिका चेति (र. १०.८४)

-वर्धमानक-पु., कुरुक्षेत्रात्पूर्वदेश० (काखिल. २५.८) देवीपुराणे षट्चत्वारिंशेऽध्याये वङ्गसमीपवर्तिवर्धमानदेशोल्लेखः समुपलभ्यते(काउ.)

मृत्यु-पु., शरीरेन्द्रियात्ममनसां वियोगः (सुसू. १.२५ (४)) मरणम्, द्विप्रकारको मृत्युर्दोषागंतुजभेदेन (सुसू. ३४.७)

अथर्ववेदविदः एकोत्तरं मृत्युशतं प्रचक्षते । तत्रैकः कालमृत्युः, शेषाः सर्वे आगन्तवः (अपमृत्यवोऽकालमृत्यवो वा) स्मृताः । अपरं च जलमग्निर्विषं शस्त्रं स्त्रियो राजकुलानि चैतेऽकालमृत्यवः (सुसू. ३४.६; चशा. ६.२८; असंसू. ९.११३)

ज्वरः, मृत्युकारणान्मृत्युः (चचि. ३.१३; सुउ. ३९.९५)

-काल-पु., प्रतिपुरुषनियतो मृत्युकालः (चशा. ६.२८)

-नाशन-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४२; पृ. २१४)

-वारि-न., मृत्युरेव वारि (चइ. ११.११)

-सामान्य-न., मृत्युजनकदैवसाम्यम् (चवि. ३.१३)

-हर-वि., मृत्युञ्जयः मृत्युनिवारकः (सुसू. १.२१)

-हारिन्-पु., योग० चतुरङ्गुलानि तिलोत्सेधमयः पत्राणि धात्र्या रसे एकविंशतिवारं प्रतप्य निर्वापयेत्ततश्च शतपलं स्थाल्यां क्षिप्त्वा तदुपरि धात्र्यरसं प्रक्षिप्य भस्मराशौ निधापयेत्। प्रतिमासं लोहदण्डेन तदवघट्टयेत्। रसेऽशुष्यमाणेऽन्यरसं प्रक्षिपेत्। वत्सरादनन्तरमायसपत्राणि द्रवीभवन्ति। ततश्च तं द्रावमायसेन चालनीसदृशपत्रेण लोहभाण्डेऽवगाल्यावलेहत्वोदयं यावत्पाचयेत्। अनुपानम्-समांशे मधुसर्पिषी। जीर्णे औषधे मांसरसक्षीरसाज्यषष्टिकौदनादीनां भोजनम्। एवमेकवर्षपर्यन्तम् आचरेत्। वर्षमन्यत्कुटीं प्रविशेत्। फलम्-एवमनेन रोगजरामृत्युशस्त्राग्निविषजलैरनभिगम्यो भवेद्वर्षशतं च सर्वभावेष्वतीन्द्रियो जीवेत् (र. २८.९४-१०१)

मृत्युञ्जय-पु., पारदयोग० हरितालताम्रभस्मपारदगन्धकाभ्रकजेपालान् प्रत्येकं शाणमात्रान् टङ्कणमनःशिलामाक्षिकाणि शाणद्वयमितानि वत्सनाभं च द्विशाणपरिमितं मिलित्वा चित्रकरसेन च भावयित्वा जायते। अयं सर्वज्वरविनाशनः (र. १२.४७)

सिद्धौषधि० क्षारद्वयं त्रिकटु लवणपञ्चकं मिशिश्रैतेषां समभागं पटचूर्णं कृत्वा तत्समां पारदगन्धकयोः कज्जलिकां प्रक्षिप्य सर्वमेकत्र दिनत्रयं मर्दयेत्। मात्रा-पञ्चगुञ्जा। फलं-सन्निपातनाशनम्। अनुपानं-चित्रकार्द्रकसैन्धवानां चूर्णम्। पथ्यं-दध्योदनः (र. १९.७-१५)

योग० माक्षिकहरितालताम्रवत्सनाभमनःशिलाजयपालपारदगन्धका मुशलीरसेन मर्दिताः-कुक्कुटपुटेन च पाचिता मृत्युञ्जय इति ख्यातिं भजन्ति। अयं योगो नवज्वरं सान्निपातिकज्वरं च नाशयति। तत्र बल्लद्वयं प्रमाणं दधिभोजनं च पथ्यम् (र. १२.१०९-११)

मृत्सा-स्त्री., मृत्तिका (ध. परि. ३.३०; पृ. १३३)

भेषजद्रव्य० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५; पृ. ११६)

मृत्स्न-वि., पिच्छिलम् (सुनि. ६.१०; सुचि. १५.९)

(मृत्स्ना)-स्त्री., खनिज० तुवरी (ध. ३.१०५; पृ. ११६)

मृत्तिका (धपरि. ३.३०-१३३)

मृत्स्नांशुक-न., मृत्कर्पटम् चिक्कणमृदा लिप्तं कर्पटम्, रसपूरितघटमुखस्य कुपिकायाश्च पार्श्वस्यावलेपनार्थमुपयुज्यते (र. १७.१३७)

मृद्-स्त्री., भेषजद्रव्य० मृत्तिका छर्दिनिग्रहगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४) अतिमात्रेण मृद्भक्षणं श्वयथुमापादयति (सुचि. २३.४) पाण्डुरोगे-मृद्द्वेषणाय तल्लौल्यतृप्त्यर्थं विडङ्गेनातिविषया पाठ्या निम्बपल्लवैर्वार्ताकैः कटुरोहिण्या मूर्वया कौटजैर्भावितां मृत्तिकोपयोज्या (असंचि. २१) कृष्णमृत्तिका (सुचि. २.४६) केदारमृत्तिका इयं रक्तपित्तशमनी (सुउ. ४५.३३)

खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०६; पृ. ११६)

-भक्षण-न., मृत्तिकाभक्षणम् पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपेषु मृद्भक्षणेच्छा दृश्यते (सुउ. ४४.५) मृद्भक्षणेन जाताः रोगाः पाण्डुच्छर्दिश्वयथुश्वासकासातिसारजन्तवः मूर्च्छाग्निसदनस्तन्यद्वेषाङ्गरुग्भ्रमाः च (असंउ. १)

-भाजन-न., मृत्तिकापात्रम् (चक. ७.२४)

-भृष्टलोष्टनिर्वापित-वि., अग्निना भृष्टो मृत्खण्डो यस्मिन्निर्वापितः, तादृक् जलं, तृष्णाच्छर्द्यतियोगप्रशमनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)

-भृष्टलोष्टप्रसाद-पु., मृद्भृष्टलोष्टनिक्षेपणेन प्राप्तो जलप्रसादो नाम जलनैर्मल्यम् (असंसू. १३)

(मृत्)-कपाल-न., खर्परम्, शोणितस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८)

-कर्मसंपन्न-वि., मृदा भित्तिलेपनं यत्र सम्यक्कृतं तत् (चसू. १४.४६)

-कुल्ला-स्त्री., तिलवातामादीनां दृषदि पिष्टानामुष्णोदकमृदिता पिण्डा, ' उत्कारिका ' इत्यन्ये (चचि. १५.२२७)

-पिण्डी-स्त्री., लोष्टम् (असंसू. ३.८)

(मृन्)-मयपात्र-न., मृद्विकारभूतं पात्रम्

(मृल्)-लेपन-न., मृदा लेपनम् (असंसू. ३३.८)

मृदङ्ग-पु., वाद्य० (सुशा. ४.७३)

मृदङ्गफल-न., कोशातकी (चक. ६.३)

मृदङ्गफलिका-स्त्री., कोशातकी (ध. १.१९२; पृ. ४६)

मृदित-न., गुह्यरोग० शूकजन्यरोगेष्वेकः शूकपाकानन्तरं पीडितं मेढ्रं वातकोपतः सशोफं भवति (सुनि. १४.७; असंउ. ३८)

लक्षण० पार्श्वावमोटितम् (चनि.१.२१)

-चिकित्सा-स्त्री., मृदितनाम्नः शूकरोगविशेषस्य चिकित्सा। ईषदुष्णेन बलातैलेन परिषेचनं कार्यम्। मधुरैः घृतस्निग्धैरुपनाहैर्मृदितमुपनाहयेत्। मधुराणि काकोल्यादीन्यश्नीयात् (सुचि. २१.८)

वि., मर्दिताङ्गः (अहसू. १७.१५)

मृदु–स्त्री., वनस्पति० कुमारी (रापरि. ५. १०; पृ.३४०)
न., मुण्डाख्यलोहप्रकारस्योपप्रकारः, एतत् द्रुतद्रावि चिक्कणमविस्फोटं मृदु च; मुण्डं त्रिविध-मुच्यते, मृदु कुण्ठं कडारं च (र. ५.७४)
सीसकम् (रा. १३.२१)
वि., सुसह्यम्, अल्पबलम्, कोमलम्, सुकुमारम्, अतीक्ष्णम् (चक. १२.६८; चनि. १.१२ (४); चक. १२.१०४; सुचि. २४.१३; सुसू. १५.२१; सुशा. ५.४०; चक. १२.५६; सुसू. ३२.३; सुसू. ३९. ११; सुउ. ३९.९८)
पु., गुण० कठिनविपरीतः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठ-स्त्वगिन्द्रियग्राह्यगुणः (चशा.६.१०; सुसू. ४१.११)
श्लथने शक्तिः (अहसू. १.१८; सुसू. ४६.५१८)

(मृद्वी)–स्त्री., द्राक्षा, मृद्वीका (रा. ११.७७; पृ. १८०)

–कर्मन्–न., मृद्वीकरणम्, तच्च मधुरस्निग्धकोष्ण-लवणैरन्तर्बहिश्च क्रियमाणैर्लेपादिभिः । व्रणस्य षष्ट्युपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)

–कील–वि., शिथिलबन्धनम् (सुसू. ७.१९)

–कोष्ठ–वि., स्वल्पौषधविरेचनयोग्यो मृदुवीर्यौषध-विरेचनयोग्यो वा (सुसू. ३९.१३) प्रायेण बहुपित्तः (चसू. १३.७)

–क्षार–पु., त्रिविधक्षारेष्वेकः (सुसू. ११.११)

–ग्रन्थि–पु.,वनस्पति०मज्जरः (रापरि.८.५२; पृ.३६१)

–च्छद–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८.२२२;पृ.१६२)
कोण्डालुः (रापरि. ७.३०; पृ. ३४९)
श्रीतालः (रा. ९.९५; पृ. १८२)

–(च्छदा)–स्त्री., वनस्पति० शिलिपका (रापरि. ८.४९; पृ. ३६१)

–ज्वर–पु., रोग० सौम्यज्वरः (चचि. १३.३८)

–दर्भ–पु., वनस्पति० दर्भः (कुशः) (ध. ४.१३३; पृ. १६१)

–पत्र–पु., वनस्पति०नलः (रा.८.२२२;पृ.१६२)
भूर्जः (रापरि. ९.२३; पृ. ३६५)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० शाक० चिल्ली (रापरि. ७.६६; पृ. ३५३)

–पर्वक–पु., वेत्रः (रापरि. ७.१४; पृ. ३४८)

–पाक–पु., स्तोकाग्निसंयोगसाध्यः पाकः (चसू. २७.२७५; सुचि. ३१.११)

–पाश–वि., तनुपाशम् (यन्त्रम्) (सुसू. ७.१९)

–पुष्प–पु.,शिरीषः (ध.११२;पृ.१९२)

–पुष्पक–पु., शिरीषः (रा. ९.१८८; पृ. १९२)

–फल–पु., करीरः (ध. ५.९९; पृ. १८९)
नारिकेल० मधुनारिकेलकः (रा. ११.११०; पृ.१८४)
विकण्टकः (रापरि. ११.१९; पृ. ३७४)
विकङ्कतः (ध. ५.४३; पृ. १७७)

–भृष्ट–वि,, अल्पभर्जितम् (सुसू. ४४.३८)

–मांस–वि., कोमलमांसम् (अहसू. २८.२)

–मुख–वि., यन्त्रदोष० शल्यपीडनासहमुखम् (सुसू. ७.१९)

–लता–स्त्री., वनस्पति०शूली (रापरि.८.६८;पृ.३६३)

–वहा–वि., मन्दवहा (चसू. २७.२११)

–विवृत–वि., अगम्भीरम् (मनः) चवि. ८.९४)

–वीर्य–वि., अतीक्ष्णवीर्यम् (सुशा. १०.६७)

–संमत–वि., मृदुरिति संमतः (चसू. १८.३८)

–संशोधन–न., अतीक्ष्णं विरेचनम् (अहसू. १३.१)

–सार–न., वनस्पति० तूलम् (रा. ९.८७; पृ. १८१)

मृद्वारशृङ्ग–न., बोदारशृङ्गम् (र.,३.१३४)

मृद्वारशृङ्गक–न., उपरस० बोदारशृङ्गकम् (धपरि. ६.२३; पृ. २९२)

मृद्वग्नि–पु., तैलसाधनार्थं प्रयुक्तो नातितीव्रो वह्निः (चचि.३.२५८)

मृद्वग्निता–स्त्री., अग्नेरल्पबलत्वम् (चनि. १.२७)

मृद्वीका–स्त्री., शुष्का कपिला द्राक्षा (ध., ५.५८; पृ. १७९) काकोल्यादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.३५). स्नेहोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) अस्या उदकं सशर्करं पित्तशूल-शमनं भवति (सुउ. ४२.१०८) वातहरा ऽपि कोष्ठे वातकृत्त्वं स्वभावसिद्धम् अस्याः (असंसू. ७.२४०) रसाद्यैस्तुल्याऽपि मधुकस्य च मृद्वीकाऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगाद्विरेचनी भवति (असंसू. १७.४६) फलानामम्ल्या (चसू. २५.३८) गुणाः–मधुरा शीतला स्निग्धा बृंहणी वृष्या तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षत-क्षयवातपित्तोदावर्तस्वरभेदमदात्ययतिक्तास्यता-ऽऽस्यशोषकासनाशिनी च (चसू. २७.१२६) मृद्वीका श्वेता च द्राक्षा काश्मीरभवा ज्ञेया। सा बीजविवर्जिता मृद्वीका प्रोच्यते (चचि. २४.१८०)

मृद्वीकेक्षुरसासव–पु., आसुत० मृद्वीकेक्षुरसाभ्यां मिलित्वा कृत आसवः माध्वीकसमो गुणैः, कफघ्नः मृद्वीकेक्षुरसासवोऽप्येवम्, परं नात्युष्णः (चसू. २७.१८८; असंसू. ६.१३२)

मृष्ट–वि., निर्मलम् (चचि. ८.१३६) वदनप्रियम् (चसू. २७.१९८)

मृष्टक–न., वनस्पति० राजिका (चसू. २७.१७०)

मेखला–स्त्री., क्षुद्रसुवर्णघण्टिकायुक्तः कटिदोरकः (सुउ. ४७.६४)

वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११७ पृ.२४)

मेघ–पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०पृ.१५)

(मेघा)–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८ पृ. १५)

–नाद–पु., शाक० तण्डुलीयकः (र. १८.२१२; र. १२.२१; ध. ४.११६ पृ. १५७)

–(नादी)–स्त्री., तण्डुलीयकः (र. २५.१२१)

–नादरस–पु., वातादिज्वरघ्नो योग०, समगन्धपारदपादांशं कांस्यपित्तलताम्रभस्मभिः साकं तण्डुलीयरसेन मर्दयित्वा एकमेवपुटं दत्वा अयं क्रियते। अयं रसोऽनिलादिज्वरेषु माषप्रमाणेन दातव्यः (र. १२.२१)

–पुष्प–पु., वनस्पति० वेतसः (ध.५.११७;पृ. १९३)

–प्रसव–न., जलम् (रा. १४.३१८; पृ. २५८)

–मोदिनी–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११,१२८; पृ. १८६)

–राव–पु., मेघनादः। अम्बुचारिपक्षि० (चसू.२७.४३) चातकः। मेघरावः संघातचारिप्लवेष्वेकः (सुसू. ४६.१०५-१०६)

–सार–पु., भेषजद्रव्य० चीनकर्पूरः (रा. १२.६३; पृ.१०१)

–स्तनितोद्भव–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.२०; पृ. ३४७)

मेघागमप्रिय–पु., वनस्पति० कदम्ब० धाराकदम्बः (रा. ९.१७२; पृ. १९०)

मेचक–पु., वर्ण० कृष्णस्य वस्त्रादेः ससारगन्धकादिभिर्मसृणीकृतस्य यो वर्णः, सः (चचि. ४.१२) श्यामलवर्णः (सुनि. ६.२६)

न., अञ्जनम् (ध. ३.१५१; पृ. १२५)

(मेचका)–स्त्री., वायुरोगदा वायवी लूता। इयमुद्भिदा वर्तते (असंउ. ४४) दंशलक्षणानि-दंशमध्ये जतुकणोपमा पिटका ज्वरः शोफश्च जायते (असंउ. ४५)

मेचकाभ–वि., स्निग्धकृष्णम् (चचि. १९.९)

मेचकाभिधा–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रापरि.३.३२; पृ. ३३२)

मेढ्र–पु., पशु० उरभ्रः, ' मेंढा ' इति लोके (र. १०,९७)

न., शारीर० उपस्थम्, शेफः तच्च षडङ्गुलदीर्घं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं च (चवि. ८.११७) बहिर्मुखस्रोतोविशेषः (सुशा. ५.१०) ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां कण्डराणां मेढ्रमग्रप्ररोहः (सुशा. ५.११) मूत्रवेगरोधान्मेढ्रवेदना जायते (अहसू. ४.४)

–पाक–पु., रोग० रक्तप्रदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २८.१२, सुसू. २४.९) चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

–प्रमर्द–पु., लक्षण० मेहनस्य प्रकर्षेण मर्दनम् (सुनि. ३.१०)

–रोग–पु., शिश्नरोगः (सुचि. २६.१२)

–शुद्धि–स्त्री., मेढ्रशोधनम् (अहसू. २५.३९)

मेण्ढ्र–न., मेढ्रम् (असंशा. ५.८१; ९.१६; ८.३०)

–पाक–पु., लक्षण० शेफसः पाकः (असंसू. २०.१४)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० शेफसः स्तब्धता (असंसू. २०.१३)

मेथा–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका, द्र० ' मेथिका ' (रा. ५.१८५)

मेथिका–स्त्री., वनस्पति० शाकभेदः, 'वातपित्तहरा तिक्ता लघ्वी श्लेष्माविरोधिनी' मेथिका तत्समं किञ्चिद् हिस्फित्थं पुष्टिदं गुरु (ड. सुसू. ४६.२५६) मेथिका कटुरुष्णा दीपिकरी रक्तपित्तप्रकोपनी वातप्रणाशिन्यरोचकहरा च (ध. ६.११२) अहित्थस्तु वनमेथिका, मेथिकासदृशः परन्तु तदल्पगुणः (ध. ६.११३) अश्वबला तुरुष्कदेशे बृहत्पत्रा मेथिकाभेद एव। ' हिस्फित्थ ' इति लोके। मेथिकाहिस्फित्थयोर्गुणसादृश्यमस्ति। वनमेथिका वाजिनां बल्या, तेषामर्थे एव विशेषेण पूजिता (भा. प्र.)

हिं.—मेथी.

म.—मेथी.

गु.—मेथी.

बं.— मेथी.

त.—वेन्दायाम.

फा.—शामलिता.

मेथिनी–स्त्री., वनस्पति० मेथिकाभेदः वनमेथिका, द्र० ' मेथिका ' (रा. ५.१८४)

मेथी–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका, इयं शाकत्वेन उपयुज्यते (रा. ५.१८४; पृ. २३१)

मेदक–पु., जगलः, सुरादीनामधःस्थितो घनो भाग (चनि. २.४; चचि. ७,९०; चक. १.१२,

श्वेतसुरा जगलाख्या (चसू. २५.४९)
मद्यम् (ध. ६.२५६; पृ. २५१)

मेदज–पु., गुग्गुल० (रा. १२.१८८)

मेदस्–न., शारीर० रसादिसप्तधातुष्वेकः (चसू. २६.४३ (५)) मांसात् परिणतो धातुः। स्नेहनं कार्यं करोति (सुसू. १५.५(१); सुसू. १४.१०) प्रकृतिस्थस्य मेदसः प्राकृतं कर्म–स्नेह–स्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्त्रां च । शरीरे मेदसः प्रमाणं द्वावञ्जली (चशा. ७.१५) अण्वस्थिषु मेदः स्थूलास्थिषु तु विशेषेणाभ्यन्तरस्थितः पीतो रक्तश्च मज्जा वर्तते, इतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते (सुशा. ४.१३) मेदःक्षयलक्षणम्–कव्याः स्वपनं श्रीह्नोर्वृद्धिः कृशाङ्गता, संधिशून्यता, रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च (सुसू. १५.९; अहसू. ११.१८; असंसू. १९.१०) मेदोवृद्धिलक्षणम्–अल्पे चेष्टिते श्रमः श्वासश्च तथैव स्फिक्स्तनोदरलम्बनं च, मांसवृद्धिलक्षणानि च भवन्ति (असंसू. ११.१०; असंसू. २४.२३) आमरसवदतिस्निग्धमसम्यक्परिणतं मेदः प्रमेहाञ्जनयति (सुनि. ६.४) मेदःक्षीणो नरः मेदःसिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च सक्षाराणि च विशेषेणाभिकाङ्क्षति (सुसू. १५.२९-३१) जांगमद्रव्य० सामान्यगुणाः—वातघ्नं बलपित्तकफप्रदं वसामज्ज्ञोः सदृशस्वरूपं च (अहसू. ५.६१) ग्राम्यानूपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः जाङ्गलैकशफकव्यादादीनां लघुशीतकषायाः रक्तपित्तघ्नाः प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः । तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च (सुसू. ४५.१३१)

–**क्षीण**–वि., क्षीणमेदोधातुमान् (नरः) (सुसू. १५.२९-३१) द्र० 'मेदस्'

–**पुच्छ**–पु., ग्राम्यपशु० एडकः, मांसगुणाः– वृष्यं मेषसदृशम् (सुसू. ४६.८८) दुम्बक इति प्रसिद्धः (ड. सुसू. ४६.८८)

–**संश्रय**–वि., अतिस्थूलः (चक्र. चसू. २८.१५)

–**सार**–वि., यस्मिन् मेदोधातुः सारत्वेन वर्तते, तादृशः पुरुष० वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहवान्। सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे (चवि. ८.१०६) बृहच्छरीरः स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरआयासासहिष्णुश्च (सुसू. ३५.१६)

–**सारा**–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१; पृ. ३१)

–**स्थ**–वि., मेदोधातुगतः (चचि.३.७९)

(**मेदो**)–**ग्रन्थि**–पु., रोग० मेदोजग्रन्थिः, प्रवृद्धमेदो वायुना मांसेऽथवा त्वचि नीतं ग्रन्थिं कुरुते। लक्षणानि–शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महान् कण्डूयुतोऽरुजो ग्रन्थिर्भवति । भिन्नं पिण्याकसर्पिःप्रतिमं मेदः स्रवति (सुनि. ११.७; र. २४.१२६)

–**दोष**–पु., मेदोधातुदुष्टिः (अहसू. १५.२०)

–**दोषज**–वि., मेदोधातुदुष्टिजन्यः (विकारः), ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः (विकाराः) (सुसू. २४.९)

–**द्रवा**–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१; पृ. ३१)

–**धरा**–स्त्री., कला० तृतीया मेदोधरा नाम, मेदो हि तस्यामुदरेऽण्वस्थिषु च सरक्तं भवति तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यं च, स्थूलास्थिषु च मज्जा (असंशा. ५.३७; (सुशा. ४.१२)

–**युतानिल**–पु., मेदावृतो वातः (डल्हणः; सुचि. ५.३०)

–**रोग**–पु , रोग० मेदोधातुदुष्टिजन्यरोगः (मा.)

–**वर्ति**–स्त्री., शारीर० अतीव तरलं स्तरचतुष्टयात्मकमान्त्राच्छादनं वपानाम्ना प्रसिद्धम् (सुचि. २.४५)

–**वहस्रोतस्**–न., शारीर० मेदोवहे द्वे स्रोतसी तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च (सुशा. ९.१२) मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ (वृक्कौ) मूलं वपावहनं च (चवि. ५.१६) अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानामतिभक्षणाद् वारुण्याश्चातिसेवनान् मेदोवाहीनि स्रोतांसि दुष्यन्ति (चवि. ५.१६)

–**वहा**–(**सिरा**)स्त्री., शारीर० मेदोधातुवहनार्थं सिरा यत्रस्थो दोषः अन्येद्युष्कं ज्वरं करोति (चचि.३.६३-६४)

–**वाहिस्रोतस्**–न., मेदोवहस्रोतः (चवि. ५.१६)

–**वृद्धि**–स्त्री., रोग० मेदोजमुष्कवृद्धिरोगभेदः, लक्षणम्–इयं मृदुः स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना तालफलवर्णा च भवति (सुनि. १२.६)

मेदा–स्त्री., वनस्पति० शुक्रजननगणे, स्नेहोपगगणे जीवनीयगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९-१३) जीवनीयपञ्चमूलेष्वेकं द्रव्यम् (चचि. १.४४) मेदा महामेदा चेति मेदाद्वयं जीवनीयगणे वर्तते (असंसू. १५.६) गुणाः– स्वादुः शीता क्षयदाहज्वरापहा पित्तघ्नी कफवर्धिनी च । महामेदा शीता स्वादुः कफपित्तविवर्धिनी दाहास्रपित्तक्षयवातज्वरान् हन्ति (ध. १२८-१२९; पृ. ३०) वातदोषकरी, महामेदा तु लताजातः कन्दः, तद्गुणाः–शीतारुच्या कफशुक्रप्रबुद्धिकृत् दाहास्रपित्तक्षयवातज्वरघ्नी च (रा. ५. १६२,१६४; पृ. ३१)

–द्वय–न., मेदा, महामेदा चैतद्वयं जीवनीयगणे प्रोक्तम् (अहसू. १५.८)

मेदिनी–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा.५.१६१;पृ.३१)
काश्मरी (रा. ९.१४४; पृ. २९)

–सार–पु.. योग० लोहताम्रभस्मनां प्रत्येकं पलत्रयं भृङ्गराजरसगोमूत्रत्रिफलाक्वाथैः पृथक् त्रिवारं संमर्द्याम्लकाञ्जिकं तस्मिन् निक्षिप्य प्रहरचतुष्टयं यावत्पचेत् । ततश्च समभागगन्धकं संमिश्र्य विंशतिवारं पुटेत् ततश्च पलमात्रं पारदं तद्वादशांशं वत्सनाभं सर्वैः समं च कटुत्रयं प्रक्षिप्य पेषयेत्स्थापयेच्च । मात्रा–वल्लः, अनुपानम्–घृतयुक्तं त्रिकटुचूर्णम्, फलम्–अयं सर्वेषां कुष्ठानां श्वित्रस्य हन्ता सन् गुल्मप्लीहकुक्ष्युरोगोदावर्तमहावातमन्दाग्नितागलग्रहमहोन्मादकर्णदन्तरोगसर्पलूतादिविषभगन्दरविद्रध्यन्त्रवृद्धिशिरःशूलान्नाशयति (र. २०.१२२-२९)

मेदुर–वि., मेदस्वी (चसि. १.३६; सुचि. १०.३; असंसू. २५.६५)

(मेदुरा)–स्त्री., वनस्पति० काकोली (रा.३.१६६;पृ.३१)

मेदोर्बुद–पु., न., रोग० मेदसोऽर्बुदम् (सुचि. १८.४१)

मेद्य–वि., मेदुरम्, मेदोजनकम् (चचि. १५.२३३; सुनि. ६.३) मेद्यो नाम स्थूलः सान्द्रः पुष्टो मेदोभवो मेद एव वा (चचि. ३०.८८)

–मांसोपदंश–पु., मेदुरप्राणिनां मांसस्योपदंशः, उपदंशो नाम भोजनमध्ये सेव्यमानो रुचिजनको भक्ष्यविशेषः (असंशा. ४.२४)

मेधा–स्त्री., धारणावती धीः (चसू. २७.३५०; सुशा. ३.३३) पित्तस्य कार्यम् (सुसू. १५.४. (२)) सात्त्विकगुणोऽयम् (सुशा. १.१८) मेधां ग्रन्थादिधारणेन परीक्षेत (चवि. ४.८)

–कर–वि., धारणाशक्तिवर्धकम् (अहसू. १४.२८)

–कृत्–पु., वनस्पति० शितिवारः (रा.४.२०७;पृ.३६)

–विन्–वि., बुद्धिमान् (सुचि. २८.४)

–(विनी)–स्त्री., वनस्पति० तेजस्विनी (रा. ३.३९४; पृ. ६१)

मेधायुष्कामीय–वि., मेधायुष्काममधिकृत्य कृतः, (अध्यायसंज्ञाविशेषः) अध्याय० (सुचि. २८.१)

मेधावी–स्त्री., मद्यम् (रा. १४.३०२, पृ. २५४)

मेध्य–पु., धान्य० यवः (रा. १६.१२४; पृ.२२३)
वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३२; पृ.१२)
वि., यज्ञियम् पु., मेधो यज्ञः विशेषणाद् विशेष्यावगतिरिति तदर्हो मेदुरो बस्तः । तस्य स्त्यानं रक्तं घृततैलभृष्टं प्रवाहिकायां पिबेत् (सुउ. ४०.१४८)
वि., मेधाकरं, मेधाजनकम् (चसू. ५.९८)

(मेध्या)–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. १०.१; पृ. २०४)
गोरोचना (ध. ३.२०; पृ. ९८)
ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५; पृ. ६१)
तेजोवती (रा. ३.३९४; पृ. ६१)
श्वेतवचा, वचा० (ध. २.६; पृ. ७०)
शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३ पृ. १५६)
शमी (रा. ८.१५२; पृ. १८८)

(मेध्य)–रसायन–न., मेधाजनकं रसायनम्, मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः यष्टीमधुकस्य चूर्णं क्षीरेण सह, गुडूच्या रसः शङ्खपुष्प्याः समूलपुष्प्याः कल्कः एतानि मेध्यरसायनानि रोगनाशकानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि सन्ति । शंखपुष्पी विशेषेण मेध्या (चचि. १.(३)३०,३१)

मेरु–पु., पर्वत० सौवर्णः पर्वतः (र. ५.७)

मेलक–वि., धात्वादिमेलनकरः (पुरुषः) (र. ६.५५).
–लवण–न., औषरकम् (रा. ६.५१ पृ. ७६)

मेलन–वि., कठिनलोहमृदुस्वर्णयोरिव परस्परविरुद्धयोः धात्वोः संमेलनकारकः (माक्षिकधातुः) (र. २.८५)

मेला–स्त्री., वनस्पति० महानीली (रा. ४.३५३ पृ.५५)

मेष–पु., ग्राम्यवर्गे पशु० 'मेंढा' इति लोके (चसू.१५.७; सुसू. ४६.८५) मेषस्य मूत्राशयः बस्तियन्त्रार्थे प्रशस्तः (सुचि. ३७.१०७) शरद्यस्य मांसमिष्टम् (चसू. ६.४३) मेषमांसगुणाः–वातहरं दीपनं कफपित्तलं, सर्वग्राम्यमांससदृशगुणमेव (ध. वर्गेतराणि १६) मेषरोम्णामन्तर्धूमदग्धं भस्म क्षौद्रोपेतं हिक्काशमनार्थे लेह्यम् (सुउ. ५०.२०) मेषस्य

शृङ्गमञ्जनद्रव्येषूपयुज्यते (असंसू. ८.९६) मेषी-मूत्रगुणाः–कटु तिक्तमीषत्क्षारमुष्णं वातघ्नं कास-प्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहेषु हितम् (रा. १५.५०३; ध. ६.४९१; पृ. २८७)

(मेषी)–स्त्री., मेषस्य स्त्री, छागी (र. ३.१६०)

वनस्पति० अजशृङ्गी (र. २७.३८)

वनस्पति० जटामांसी (रा. १२.९१; पृ. ११५)

–विषाण–न., मेषविषाणसदृशं मेषशृङ्गीफलम् मेष-शृङ्गीक्काथकल्कपक्कं घृतं तिमिरेषूपयुज्यते (सुउ. १७.३१)

–शृङ्ग–न., वनस्पति० अजशृङ्गी, स च पुत्रजीवक सदृशतरुविशेषः (ड. सुसू. ३८.८-९)

–(शृङ्गी)–स्त्री., वनस्पति० अजशृङ्गी (सुसू. ३९.६-७)

–शृङ्गीपुष्प–न., पुष्प० विषसंसृष्टेऽञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुक. १.६९-७१)

मेषक–पु., वनस्पति० जीवन्तः (रापरि. ७.८९; पृ. ३५५)

मेषाक्ष–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध. ४.५; पृ. १३४)

मेषाक्षिकुसुम–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (ध., ४.४; पृ. १३४)

मेषान्त्रि–पु., वृषमेधा; बस्तान्त्रिः (ध. १ वर्गेतर १; रा. ३.२; पृ. ६८)

मेषास्य–पु., ग्रह० अयं पुरुषशरीरग्रहः (असंउ. ३)

मेषाह्वय–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८; पृ. १३५)

मेषिन्–पु., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४; पृ. ३६५)

मेषीमूत्र–न. आविकमूत्रम् (ध. ६.४९१; पृ. २८३)

मेह–पु., रोग० प्रमेहः (चचि. ६.५; सुनि. ६.८)

द्र० 'प्रमेह'

–कर्तनरस–पु., पारद० पारदस्तुल्यं नागं पञ्च-भागं च कार्पासनिर्यासं दत्त्वाऽगस्त्यस्य बीजशतं क्षिप्त्वा सर्वं चैतत्कार्पासबीजमज्जायुते तक्रे पिष्ट्वा माषमिता गुटिकाः कार्याः; मात्राप्रत्यहमेका गुटिका; अनुपानं कपित्थनिर्यासो माषैकं मधु च; फलं–प्रमेहगणनाशः (र. १७.१२१)

–गद–पु., प्रमेहरोगः (चचि.६.१३-१४)

–तिष्यारि–पु., वनस्पति० तिक्तखदिरः (र.१७.६७) करञ्जः (र. १७.६७)

–ध्वान्तविवस्वत्–पु., पारद योग० समभागेन पारदगन्धकाभ्रकभस्मानि जम्बीररसेन संमर्द्य तस्मिं-स्ताम्रभस्मार्धभागं प्रक्षिप्य गोदुग्धखर्जूरशर्कराहंस-पादीद्रावेण गुडूचीसत्त्वयुक्तेन तथा च मांसीहरीतकी-कर्कटशृंगीनिर्मलीदन्तीनां क्काथेन संमर्दयेत् । मात्रा–वल्लः, अनुपानं– शुक्रमेहे शाल्मलीक्वाथः अर्शांसि मधु, अश्मर्यां मधु, सर्वमेहेषु गोदुग्धम् (र. १७.४८)

–बद्ध–पु., पारदयोग० पारदभस्मकान्तभस्ममुण्ड-भस्मशिलाजतुमाक्षिकमनःशिलात्रिकटुत्रिफलाऽङ्कोल-बीजकपित्थमज्जाहरिद्राः सर्वाणि एतानि त्रिंशद्वारं भृङ्गरसेन मर्दयित्वा संशोष्य च मधुयुक्तं माषमात्रम् लिह्यात् । फलं सर्वमेहनाशः । अनुपानं षण्महानिम्बबीजानि तण्डुलोदकेन पिष्ट्वा माषद्वयं घृतं संमिश्र्य पिबेत् (र. १७.१४०-४३)

–मर्दनरस–पु., योग० सीसभस्माभ्रकभस्मना सह सप्तवारं मर्दयित्वा सप्तवारं पुटेत् । ततस्तत्र कान्त-भस्म समभागं क्षिप्त्वा गोमूत्रकशिलाधातुद्रवेण परिमर्दयेत् । शोषयित्वा नागकरण्डके स्थापयेत् । मात्रा–गुञ्जाद्वयम् । अनुपानं निम्बामलकरसः, फलं–सोपद्रवमेहनाशः (र. १७.८३-८७)

–व्रण–पु., मेहहेतुको व्रणः (सुचि. २.९४)

–शत्रु–पु., योग० कान्तलोहाभ्रकमण्डूरभस्मानि हरीतकीचूर्णं च क्रमेण पंचषट्पञ्चदशतोलकानि त्रिफला चत्वारिंशत्तोलका एतत् सर्वमेकत्र मर्दयित्वा गुटिकाः कार्याः । फलं–मेहनाशनम् (र. १७.६५)

–हर–योग० गन्धकसाहाय्येन सिद्धं राजावर्तभस्म तद्गस्मना मारितमभ्रकं कान्तलोहं चैताभ्यामभ्रक-कान्ताभ्यां च मारितः सूतः पारदसमो गन्धकश्च एतत् सर्वमेकत्र संमील्य त्रिदिनं–संमर्द्य पुटयेत् । स्वाङ्गशीतमाकुलीबर्बूरगुञ्जामूलानां क्वाथेनाष्टवारं मर्दयित्वा शुष्कं पटचूर्णं कुर्यात् । अयं सकलमेह-नाशं करोति (र. १७.१०२-८)

मेहन–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२०; पृ. १९६)

मेहारि–पु., पारदयोग० अर्धभागयुक्तगन्धकेन पारदस्य कज्जलीं कृत्वा कृष्णधत्तूररसेनैकाहं मर्दयेत् । मृत्कर्पटविलिप्तायां परिपूर्यं यामचतुष्टयं लवण-यन्त्रे पाचयेत् । स्वाङ्गशीते पारदेऽर्धभागमभ्रकभस्म लोहभस्म च मर्दयेत् । मात्रा–वल्लः । सितामधुयुतं गुडूचीसत्त्वमनुपानम् । समधुपिप्पलीकं चूर्णं वा । फलं–राजयक्ष्मपाण्डुमेहादिनाशः (र. १७.१३७-३९)

न., योनिः (अहसू. ७.६९)

मेढ्रम् (सुसू. ३५.१२)

मैण्मिण्य–न., सानुनासिकशब्दविशिष्टः शब्दवहधमनीविकारः (चसू. २६.८४)
मैत्र–पु., काल० अनुकूलो मुहूर्तः (चवि. ८.९)
मैत्रेय–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१३)
मैथिल–पु., तन्त्रकार० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुनाऽऽलोचितस्तन्त्रकर्ता (र. १.५-९)
मैथुन–न., स्त्रीपुरुषयोः संयोगः, व्यवायः (सुशा. २.४८)
मैथुनासहिष्णुत्व–न., लक्षण० मैथुनेऽसहत्वम् (सुशा. ९.१२)
मैमतायनि–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु ऋषिष्वेकः (चसू. १.१३)
मैरेय–पु., न., आसुत० सुरासवयोः प्रत्येकं निष्पादितयोरेकीकृत्य पुनःसंधानात् मैरेयः (सुसू. ४५.१८९-१९०; चक. १.१२) गुणाः–मधुरो वृष्यः सन्तर्पणो गुरुः (असंसू. ६.१३१) तीक्ष्णः (चसू. २७.१८७) प्रमेहेषु वर्ज्यम् (सुचि. ११.५) व्रणिनामहितम् (सुसू. १९.१८) षड्धान्यासवेष्वेकम् (चसू. २५.४९)
मोक्ष–पु., मुक्तिः, पुरुषस्य संसारजन्ममरणादिभिरसंयोगः (चवि. ८.३७; चशा. ३.९)
विसर्गः (अहसू. २१.१२)
वनस्पति० मुष्ककः (र. २.७१)
(कृष्ण) पाटला (र. २.७१)
–काल–पु., मुक्तिकालः (असंनि. २.९४)
–शास्त्रिकसमय–पु., मोक्षशास्त्रं सांख्यादिकं तस्मिन्नस्य शब्दस्यायमर्थ इति संकेतः सिद्धान्तविशेषो वा (चवि. ८.५४)
मोक्षक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (ध. ५ १३२; पृ. १९६)
मोक्षण–न., मोचनम् (अहसू. २९.६४)
मोघ–वि., निष्फलम् (सुसू. ३१.३२)
(मोघा)–स्त्री., वनस्पति० सितपाटलिः (रापरि. १०.१६; पृ. ३६९; रा. ९.१५२; पृ. २९)
मोच–न., फल० कदलीफलम् (अहसू. ६.११९; असंसू. ७.१७६-७७; चसू. २७.१४३; सुचि. ३१.५) द्र० ' कदलीफल '
पु., मोचरसः (रा. ८.२१५; पृ. १९६)
(मोचा)–स्त्री., वनस्पति० शल्लकी (अहसू. १५.२६)
कदली (र.१७.१२८; ध. ४.७५; पृ. १४८)
नीलिनी (ध. १.२३२; पृ. ५५)
शाल्मली (ध. ४.१२७; पृ. १९५)
–चूर्ण–न., मोचरसचूर्णम् (असंशा. १.३६)
–निर्यास–पु., मोचरसः (र. १६.११०; रा. ८.२१५; पृ. १९६; घ. ५.१२६; पृ. १९५)
–निर्यासक–वनस्पति० (ध. ५.१२६; पृ. १९५)
–फल–न., कदलीफलम् (र. २७.५२-५४)
–रस–पु., शाल्मलीवृक्षस्य निर्यासः महाकषायवर्गे संधानीयगणे एकं द्रव्यं तथैव शोणितस्थापनगणे पुरीषसंग्रहणीयगणे वेदनास्थापनगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.९-१८) प्रियङ्ग्वादिगणे एकं द्रव्यं (सुसू. ३८.४५) गुणाः–कषायः कफवातहरो रसायनो ग्राही बलपुष्टिवर्णवीर्यप्रज्ञायुर्देहसिद्धिदः शाल्मलीतुल्यगुणश्च (रा. ८.२१६; पृ. १९६) शाल्मली (ध. ५.१९५; पृ. १९५)
–सार–पु., मोचरसः(रा.८.११५;र.१६.१५;पृ.१९६)
–स्राव–पु., मोचरसः (ध. ५.१२६; पृ. १९६)
मोचक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२०; पृ.१९६)
(मोचकी)–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली, व्रणरोपणतैले उपयुज्यते (सुचि. २.५४; असंसू. ३.२१)
मोटा–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४२२; पृ. ६४)
मोदक–पु., बृहद्वटिका (चक. ७.३६; र. १७.६७)
भक्ष्य० लड्डुकः, गुणाः–बृंहणाः, सुदुर्जराश्च (सुसू. ४६.३९५-३९६)
(मोदकी)–स्त्री., जिङ्गिणी (ध. ३.२२; पृ. १३२)
–कल्प–पु., सूदशास्त्रोक्तमोदकपाकविधिः (चक. १.२३)
–मोदक–पु., तवराजशर्करा (रा. १४.१६५ पृ. ९२)
मोदनी–स्त्री., वनस्पति० यूथिका(रा.१०.२५०;पृ.२००)
मोदयन्ती–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (सुचि. २५.३३)
मोदा–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (ध. २.९८; पृ.८९)
दामोद्या–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१; पृ. ९९)
मोदिनी–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२५; पृ. १९७; रापरि. १०.२३; पृ. ३६९)
मल्लिका० वृत्तमल्लिका (रा. १०.२२७; पृ. १९७)
अजमोदा (रा. ६.१५१ पृ. ९०)
मद्यम् (रा. १४.३०३; पृ. २५४)
मोरट–पु., न., सद्यःप्रसूतायाः गोः क्षीरं, सप्ताहं यावत् पीयूषः, तदेव सप्ताहात्परतो यावत्प्रसन्नतां न गच्छति तावन्मोरट इत्युच्यते, गुणाः–मधुरो बृंहणो वृष्यश्च (सुसू. ४५.९१) दीप्ताग्नीनामनिद्राणां

सुखप्रदम्, तथा गुरु, तर्पणं, बृष्यं, पवननाशनं च (चसू. २७.२३४)

वनस्पति० मूर्वा० (ध. १.१५; पृ. ९)

इक्षुमूलम् (र. २.७१; सुचि. ७.९)

अङ्कोलपुष्पः 'मोइहर' इति लोके (डल्हणः) हस्तिकर्णपलाशः वरुणादिगणे वीरतर्वादिगणे चैकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.१०-११)

(मोरटा)–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (ध. १.१३; पृ. ९)

मोरण–पु., क्षीरसदृशः किलाटिकः; दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतं घनद्रवभागं क्षीरं–कूर्चिका। सैव पाकाद्विना क्षीरशाकः। तयोर्घनभागः पृथगुद्धृतः–किलाटः, द्रवभागो मोरणः; गुणाः–शुक्रनिद्राकफकरः विष्टम्भिगुरुदोषलः (अहसू. ५.४१)

मोह–पु., अज्ञानं, तमः, मनोविकार०; मोहमविज्ञानेन परीक्षेत (चवि. ४.८; चनि. ७.४)

लक्षण० मनसो वैचित्यम् (सुउ. ६२.६)

उच्छ्वासजोदावर्तलक्षणम् (सुउ. ५५.१७)

कार्याकार्यानभिज्ञत्वम्, विचाराशक्तिः (अहसू. १.१)

रोग० मूर्च्छा, सुखदुःखसंज्ञानाशः (सुउ. ४६.७; सुनि. १.२३)

–धूप–पु', मोहकरधूपकल्पविशेषः

मोहन–पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.१२; पृ. १३५)

–वल्लिका–स्त्री., वनस्पति० वटपत्रा, वटपत्रिका (सुउ. ६०.४८)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (असंउ. ८)

शिरीषः (असंउ. ८)

मोहनिका–स्त्री., वनस्पति० पुत्रजीवः (सुचि. २८.२२)

वनस्पति० ' अवाक्पुष्पी ' (सुचि. २८.२२)

मोहांश–पु., मोहो विपरीतज्ञानं तस्यांशः, मूढतांशः (चशा. ४.३९)

मोहिनी–स्त्री., वनस्पति० उपोदकी (रापरि. ७.७४; पृ. ३५३)

रेवतीग्रह० इयं जानहारिणी (कारेवतीकल्प ३९)

मौकिरण–पु., भूताधिपति० अष्टादशानामेकतमोऽयम् (असंउ. ७)

मौक्त–वि., मुक्ताया इदम् (सुउ. १०.१५)

मौक्तिक–न., प्राणिजद्रव्य० मौक्तिकयोनयः शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यो दर्दुरो वेणुश्चेत्यष्टौ (र. ४.१४) तत्र मौक्तिकं शुक्तिजं श्रेष्ठम्; उत्तमं तथा शुभं मौक्तिकमाकारेण महद्गोलाकारं ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं तोयप्रभं च (र. ४.१४) यत्तु रूक्षाङ्गं निर्जलं श्यावं ताम्राभं लवणोपममर्धशुभ्रं विकटाकारं ग्रन्थिलं च तत्स्याज्यम् (र. ४.१५) नवरत्नेष्वेकम्(र. ४.५) गुणाः– मधुरं शीतं सरं वीर्यकृत् बल्यं पुष्टिकरं पित्तघ्नं दृष्टिरोगविषदाहराजयक्ष्ममुखरोगघ्नं च (ध. ६.६२; पृ. २१८) मधुरं लघु हिमं कान्तिदृष्ट्यग्निपुष्टिकरं भेदि विषनाशनं वीर्यप्रदं कफपित्तनाशनं कासश्वासक्षयाग्निमान्द्यनाशनं दाहघ्नमायुष्यं च (र. ४.१५) विसर्पे सर्पिषा सह प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चचि. २१.८१)

–तण्डुल–पु., वनस्पति० धवलश्यावनालः धान्यविशेषः (रा. १६.१६८; पृ. २२९)

मौक्तिकेय–न., प्राणिजद्रव्य० मौक्तिकम् (रा. १३.६६; पृ. २१८)

मौच–वि., मोचस्येदमिति मौचं (कदलीफलम्) मोचफलमित्यर्थः, कदलीफलम्, गुणाः–स्वादुरसं कषायं नातिशीतलं रक्तपित्तहरं बृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु च (सुसू. ४६.१८१)

मौञ्जीतृण–न., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०४;पृ. १६०)

मौञ्जीपत्रा–स्त्री., वनस्पति० बल्वजा (रापरि. ८.४०; पृ.३६०)

मौढ्य–न., मूढता, अज्ञानम् (असंशा. १२.१९).

मौत्रकृच्छ्रिकी–वि., मूत्रकृच्छ्रे प्रोक्ता तदुपयोगिनी वा, (चिकित्सा) (चवि. ५.२८)

मौद्गरस–पु., मुद्गयूषः (असंसू. ६.४८, अहसू. ६.३३)

मौद्गल्य–पु., ऋषि० यज्ञःपुरुषविषये विवदमानानामेकतमः पारिक्षिः (चसू. २५.८)

मौलिन्–वि., मुकुटधारी, मौलिर्मुकुटम् तद्वान् (सुचि. ३०.७)

मौस्तकषाय–पु., मुस्ताया अयमिति मौस्तः, मुस्तक्वाथः पक्वानीसारे उपयुक्तः (सुउ. ४०.७२)

मौहूर्तिक–पु., मुहूर्तः ज्योतिःशास्त्रोपलक्षणम्, तज्जानाति इति मौहूर्तिकः ज्योतिर्विद् (असंशा. १.५४)

म्रक्षण–न., आलेपनम् (सुचि. ९.१८)
म्रक्षण–न., लेपनम् (असंउ. २४)
म्रदिमन्–पु., मृदुत्वम् (असंसू. ८.१२)
मृदुशब्दादत्र इमानिच्प्रत्ययो ज्ञेयो भावार्थे।
म्लान–पु., वनस्पति० राजतरणी (रा. १०.२४६)
–**ता**–स्त्री., ग्लानिः (असंसू. ३२)
म्लानाङ्ग–न., शुष्कं शुष्यद् वा अङ्गम् (सुचि. ५.७)
म्लानि–स्त्री., ग्लानता किंचिच्छुष्कत्वम् (अहसू. ७.९)
म्लायिन्–वि., क्षययुक्तम् (सुउ. ७.२८)
म्लेच्छ–न., खनिज० हिङ्गूल (ध.६.४०; पृ. २१४)
खनिज० ताम्रम् (र. १२.१२१-२२)
–**कन्द**–पु., वनस्पति० लशुन (ध. ४.६६; पृ. १४७)
–**भोजन**–पु., वनस्पति० गोधूमः (ध. ६.९७, पृ. २२७)
–**मुख**–न., खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९; पृ. २०७)
म्लेच्छक–न., खनिज० ताम्रप्रकार० (र. ५.४९)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

य

यकृत्–न., शारीर० पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम्, दक्षिणकुक्षेरधःस्थशरीरावयवः (चशा. ७.१०) रक्तकपित्ताधारः शोणितवहानां स्रोतसां मूलम् (च. वि. ५.८) दक्षिणपार्श्वस्थं कालखण्डम्, रक्तधराकलायाः पुरीषधराकलायाश्च स्थानम् (सुशा. ४.१०;ड.१७) उत्पत्तिः–तच्छोणितजम् (सुशा. ४.२५) तस्य स्थानम्–हृदयस्य दक्षिणतो यकृत् क्लोम च (सुशा. ४.३१) रसधातुः यकृत् प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। यकृतः रक्तधराकलायां शोणितं भवति। तत्रस्थं शोणितं शेषाणां शोणित स्थानानां बलदाननानुग्रहं करोति (सुसू. १४.४; सुशा. ४.१०)

–पिण्ड–पु., शारीर० यकृत् (सुउ. ६.१४)

–प्रकाश–वि., यकृत्खण्डसंनिभं कृष्णलोहितम् (सुनि. २.११)

(यकृज्ज)–वि., यकृति जातः (चसू. ७.१०१)

(यकृद्) दालिन्–यकृन्नाशकम्, दोषैर्यकृन्नेदयति, दालयतीति (मानि. सुनि. ७.१६)

–दाल्युदर–न., रोग० उदरभेदः तस्योत्पत्तिं प्लीहोदरवद्विजानीयात्। तल्लक्षणानि–आतुरो विशेषतः सीदति। मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुश्च भवति। दक्षिणे पार्श्वे यकृद् वृद्धिमेति (सुनि. ७.१६)

–रस–पु., छागल्यादिकालखण्डरसः (ड. सुउ. १७.१७-१८)

यक्ष–पु., देवयोनि० (ड. सुक. ७.६१-६२; चनि. ७.१०) कुबेरादयः (सुसू. ५.२१) भूताधिपतिः (असंउ. ७) वनस्पति० वटः (र.११.३९) निर्यास० रालः (र. ११.३९)

(यक्षी)–स्त्री., रेवतीग्रह० सा द्वितीये दिवसेऽपत्यं विनाशयति (कारेवतीक. ४४)

–कर्दम–पु., सुगन्धिद्रव्यगण० कुङ्कुमागरुः महासुगन्ध इत्यपरपर्यायः, कर्पूरः, कस्तूरी, चन्दनम्, तद्गुणाः–शीतः, सुगन्धिः, कान्तिप्रदो त्वग्दोषशिरोरोगविषनाशनः (ध. ७.४५)

–गुहा–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (काखिल. अ. ११.९७)

शालिपर्णी (काखिल. अ. ११.९७)

–ग्रह–पु., ग्रह० यक्षाऽऽविष्टलक्षणानि–रक्तनेत्रः कमनीयसूक्ष्मरक्तवस्त्रधारी, प्रचुरसत्वो द्रुतमतिरल्पवक्ता, क्षमाशीलस्तेजस्वी केनापि अभिलषितं वस्तु ददामि इति भाषिता (सुउ. ६०.११)

–तरु–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११४)

–दिश्–स्त्री., यक्षराट्कुबेरस्य दिशा 'उदीची' (र. ७.१-२)

–धूप–पु., निर्यास० रालः (ध. ३; ध. ३.१२१) वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०५)

–लोचन–पु., वनस्पति० पूतिकरञ्जः (र. ११.३७-३९)

यक्षाक्ष–पु., वनस्पति० पूतिकरञ्जः (र. ३०.६९)

यक्षावास–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.१४४)

यक्षोन्माद–पु., रोग० (चवि. ९.२०)

यक्ष्मन्–पु., रोग० राजयक्ष्मा (चइ. ५.८)
रोगः (चनि. १.५)
ज्वरः
दोषः (चवि. ६.४)

यक्ष्मिन्–वि., यक्ष्मरोगी (सुउ. ४१.३१)

यजुस्–न., यजुर्वेदः, चतुर्णां वेदानामेकः (चसू.३०.२०)

यज्ञःपुरुषीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. २५.१)

यज्ञ–पु., यज्ञदेवता (चक. चवि. ३.२४)

–नेत्री–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (धपरि. ४.४)

–भूषण–पु.,(परिव०) वनस्पति० दर्भः (रा. ८.२०७)

–योग्य–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.३६)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.३)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११६)

–श्रेष्ठा–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.३)

यज्ञाङ्ग–पु, वनस्पति० उदुम्बरः (ध. ५.८६)
खदिरः (रा. ८.३१)

(यज्ञाङ्गा)–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.३)

यज्ञिय–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा.९.५५)
उदुम्बरः (११.१३६)

(यज्ञिय)-पत्रक-पु., वनस्पति० दर्भः (रा. ८.२०७)
यज्ञीया-स्त्री., सुरा (चचि. २४.५)
यज्ञौही-स्त्री., यज्ञं वहतीति; अनेन लौकिकयज्ञान्तराण्यपि सुरया क्रियन्ते इत्युच्यते (चक्र. चचि. २४.४)
यतवाच्-वि., वाक्संयमी वाग्यतः (असंसू. ३)
यत्त-वि., यत्नपरः (सुसू. ३४.७-८)
यथा-अ., यादृक् (चसू. २५.४०)
-काल-अव्य., कालमनतिक्रम्य (सुशा. ४.१९)
-चित्र-अव्य., यथाविन्यासम् (चवि. ६.५)
-न्याय-अव्य., यथागमम् (चसू. १४.५)
-प्रधान-अव्य., प्रधानं नाम प्राधान्यम्, प्राधान्यमनतिक्रम्य इति यथाप्रधानम् (सुचि. ३१.५)
-प्रयोजन-अव्य., प्रयोजनस्यानतिक्रमेण (सुचि. ३१.५)
-सात्म्य-अव्य., हस्तपादादीनां सात्म्यविरोधि यथा स्यात्तथा (चसू. २५.४०)
यथाग्नि-अव्य., अग्निमनतिक्रम्य (चसू. २५.४०)
यथार्थ-अव्य., यथाप्रयोजनम्, अर्थः प्रयोजनम्, तेन यथार्थं यथाप्रयोजनम् (सुशा. ४.२८)
यथोद्देश-अव्य., उद्देशमनतिक्रम्य (चशा. ४.४१)
यदृच्छा-स्त्री., अलक्षिता, अतर्कितोपनतत्वम् (सुशा. १.११)
-सिद्धि-स्त्री., अकस्मात्सिद्धिः (चसि. २.२८)
यन्त्र-न., पारदादेरेकत्र स्थिरीकरणार्थं साधनम्, बार्तिकैः स्वेदनादिकर्मार्थं निर्मितं दोलायन्त्रादिकम् (र. १.९-१०)
शल्यानामाहरणोपायः; एतादृशानि यन्त्राण्येकोत्तरशतम्। अन्ये तु शतशब्दस्य संख्यामात्रत्वादसंख्यानि यन्त्राणीत्याहुः (सुसू. ७.३) लोहवेणुवृक्षसूत्रशृङ्गवल्कलतृणानि स्नायुप्रताना अश्मानश्चेतेभ्यो यन्त्राणि निष्पाद्यन्ते तानि च स्वस्तिकयन्त्राणि संदंशयन्त्राणितालयन्त्राणि नाडीयन्त्राणि शलाकायन्त्राण्युपयन्त्राणि चेति पुनरपि षोढा (सुसू. ७.५) यन्त्रकर्माणि चतुर्विंशतिः-निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवर्तनविवरणपीडनमार्गविशोधनविकर्षणाहरणाच्छनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जूकरणप्रक्षालनप्रधमनप्रमार्जनानि (सुसू. ७.१०) अतिस्थूलाऽसाराऽतिदीर्घाऽतिह्रस्वाऽग्राहिविषमग्राहिवक्रशिथिलात्युन्नतमृदुकीलमृदुमुखमृदुपाशभेदेन यन्त्रदोषा द्वादश (सुसू. ७.१९) तत्र यन्त्रमूलं नाम यन्त्रमुष्टिः (अहसू. २५.६)
शरीरसंधिः (चसु. १२.८)
-निपीडन-पु., रज्ज्वादिबन्धनम् (अहसू. २७.५१)
-विधि-पु., यन्त्रकल्पनं यन्त्रभेदो वा (सुसू. ७.१)
-विध्यध्याय-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ७.१)
यन्त्रण-न., पट्टग्रन्थेर्बन्धनं तच्चोर्ध्वादिभेदेन त्रिधा (सुसू. १८.१९)
(यन्त्रणा)-स्त्री., व्रणबन्धः यन्त्रणवदियमपि त्रिधा (सुसू. १८.३६)
-शाटक-न., रुग्णस्य नियन्त्रणार्थमुपयुज्यमानो वस्त्रविशेषः (सुचि. ६.४)
यन्त्रोपाय-न., यन्त्रणप्रकारः (सुशा. ८.८)
यम-पु., देहेन्द्रिययोर्निरोधः (सुचि. २९.१०)
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमपरिग्रहश्चेति पञ्च योगसूत्रोक्ताः यमाः (ड. सुचि. १.१३३)
ज्वरः यम्यते नियम्यते अन्तं नीयते जीवितमनेनेति यमो ज्वरः (सुउ. ३९.९५-९६)
युग्मम् (चशा. २.११)
-कुल-न., यमगृहम्, मृत्युगृहम् (काजातिसूत्रीय.)
-क्षय-पु., यमगृहम् (चइ. ४.१८)
-ज-वि., यमयोर्गर्भयोरेकः यमलः (कारेवती).
-द्रुम-पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२)
-राष्ट्र-न., यमालयः (सुसू. ३१.२३)
-सत्त्व-वि., चित्तप्रकृतिः प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः शुचिः स्मृतिमान् रागमोहमदद्वेषरहितश्च पुरुषो यमसत्त्ववान् (सुशा. ४.८६)
सात्त्विककायलक्षणेष्वेकम् (सुशा. ४.८६)
यमक-पु., घृततैले स्नेहद्वयम् (चसू. २.२७)
व्रणबन्धः, द्वयोर्व्रणयोः संयमनो बन्धः (सुसू. १८.१७-१८)
(यमिका)-स्त्री., रोग० हिक्काप्रकारः, अयं यमलवेगेन जायते (चचि.१७.४३)
रेवतीग्रहस्य नाम (कबालग्रहचि.)
यमल-वि., युग्मजम्, सद्वितीयम् (सुउ. ५०.१०-११)
(यमला)-स्त्री., हिक्कारोगः; यमिका (सुउ.५०.१०-११)
-च्छद-पु., वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९३)
-पत्रक-पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. ४.९४)
-वेग-पु., हिक्काया वारद्वयं बहिःप्रवर्तनम् (सुउ. ५०.१०-११)
यमानी-स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (चचि. ८.१२६)

–षाडव–न., चूर्णकल्प० यवानीषाडवम् (चचि. ८.१४१-१४४)

यव–पु., मान० षट्सर्षपमितः (र. ११.२) धान्यमाषद्वयम् (चक. १२.८८) गुञ्जायाः षष्ठांशः (र.३. १२७-१२९)
धान्य०, गुणाः–मधुरः कषायस्तिक्तः (कटुविपाकी) (सुसू. ४६.४१-४२) मधुरविपाकी (रा. १६) शीतो रूक्षो गुरुः सरः ग्राही (रा. १६) वृष्यो वातघ्नः (सुसू. ४६.४१-४२) वातकरः कफपित्तघ्नो मेदप्रमेहपीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठामयत्वप्रोगघ्नश्च (ध. ६.७८) स्वरवर्णकृल्लेखनस्तृषाहरः प्रसादनः (सुसू. ४६.४१-४२) स्वेदोपगच्छर्दिनिग्रहणगणे श्रमहरगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३,१४,१६) वातसंशमनवर्गे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.७) धुरीषजननानां श्रेष्ठः (असंसू. १३.३) यवकल्को व्रणे प्रशस्तः (सुचि. १.६९)
हिं.—जौ, जवे.
म.—जव.
बं.—यव.
त.—यवैक्कोतुमै, पार्लियरिचि.

–कोलकुलत्थयूष–पु., आहारद्रव्य० अयं कण्ठ्योऽनिलापहश्च (सुसू. ४६.३७५)

–क्षार–पु., भैषज्य० (ध. २.१७) गुणाः–कटुरुष्णो रूक्षस्तीक्ष्णः सरो दीपनो रक्तदूषणः पित्तदूषणः कफवातघ्न उदरामजशूलाश्मरिमूत्रकृछ्रविषदोषघ्नश्च (ध. २.१७) वह्निसमः शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शोगुल्मप्लीहविनाशनः (सुसू. ४६.३२३)

–क्षारघृत–न., यवक्षारसहितं घृतम्; कासे उपयुज्यते (चचि. १८.१६६)

–चिञ्चा–स्त्री., वनस्पति० 'यवेची' 'काटेधोतरा' इति प्रसिद्धा (र. २५.२२)

–चित्रा–स्त्री., वनस्पति० क्षीरिणी, काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६३)

–ज–पु., यवक्षारः (ध. २.१७)
यवानी (रा. ६.१४१)
न., निर्यास० पलाशगन्धा (रा. ६.८८; पान ८१)

–जा– निर्यास० वंशरोचना (ध. २.५६)

–तिक्ता–स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (ध. १.२५६) यवक्षेत्रेषु जायते तिक्तसप्ताष्टपत्रा चेति यवतिक्तेति नाम्ना प्रथिता (सुसू. ४५.१२५)

–तिक्तातैल–न., यवतिक्ताजन्यं तैलम्, गुणाः– सर्वदोषप्रशमनमीषत्तिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं रसायनं च (सुसू. ४५.१२५) रेचनं सुरभि च (ध. ६.१४३)

–पङ्क्ति–स्त्री., हस्तरेखा कुमारहस्ते अच्छिन्नेयं प्रशस्या (कासू. २८)

–पल्ल–पु., यवस्थापनकोष्ठी (सुचि. १२.१६)

–प्रख्या–स्त्री, क्षुद्ररोग० कफवातोत्था मांससंश्रिता यवाकारा कठिना ग्रथिता च पिडका (सुनि. १३.५) चिकित्सा–एताम् आदौ स्वेदयेत् परिपाकगतां भित्त्वा व्रणवत्समुपाचरेत् (सुचि. २०.५-६)

–फल–पु., वनस्पति० वंशः (ध. ४.१३७)
कुटजः (रा. ९.१९)
वंशफलः (असंउ. ६ इन्दु)

–(फला)–स्त्री., वनस्पति० दुग्धिका (डल्हण) (सुक. ६.१५)

–फलाङ्कुर–पु., वनस्पति० वंशाग्रम् (रा. ७.२१९)

–भस्मन्–न., भैषज्य० यवक्षारः (सुउ. ४३.१२)

–शाक–पु., शाक० क्षेत्रवास्तुकम्, फञ्जीचिल्लयादिगणे (चसू. २७.१०२)

–शूक–पु., भैषज्य० यवक्षारः (रा. ६.२४)

–शूकज–पु., वनस्पति० मुण्डशालिः (रा. १६.८९)
द्र० 'शालि'
यवक्षारः (अहसू. ६.१५०)

–संभवा–स्त्री., वनस्पतिनिर्यास० वंशरोचना (ध.२ .५६)

–सुरा–स्त्री., आसुत० गुणाः–विष्टम्भिनी गुर्वी रूक्षा त्रिदोषकृत् (अहसू. ५.७०)

–सूचक–पु., भैषज्य० यवक्षारः (रा. ६.२४)

–स्वेद–पु., स्वेद० अनग्निस्वेदः (असंचि. ५)

यवक–पु., वनस्पति० शालिभेदः (ड. सुसू. ४६.४)
द्र० 'शालि.'
गोधूमः (ध. ६.९७)
व्रीहिः (ध. ६.७२)
धान्य० (चसू. २७.१२) अल्पयवः (चसू. २१.२५) गुर्वाहारद्रव्यम् (चसू. ५.११) शूकधान्यानामपथ्यत्वेनाऽयतमः (चसू. २५.३९) गुणाः–मधुरः, पाकेऽम्ल उष्णो गुरुः, स्निग्धः, श्लेष्मपित्तलः, सृष्टमूत्रपुरीषश्च (अहसू. ६.६-७)

यवन–पु., यवनदेशीयः यश्च मांसादिसात्म्यः (चचि. ३०.३१६)

गोधूमः वनस्पति० (रा. १६.१५१)
-द्विष्ट-पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८३)
यवनाल-पु., वनस्पति० जूर्णा (व. १६.१०८)
धान्य० यावनालनिभः खरपत्रो नदीजो दृढत्वक्, गुणाः-ईषन्मधुरो रूक्ष्यः शीतः पित्ततृषाघ्नः पशूनामहितश्च (ध. ८.३८)
यवनेष्ट-न., खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१)
मरिचम्, वनस्पति० (ध. २.८८)
गृञ्जनम् (रा. ७.५५)
लशुनः (रा. ७.९६)
पलाण्डु० राजपलाण्डुः (रा. ७.१०३)
पलाण्डुः (ध. ४.७१)
(यवनेष्टा)-स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (रा. ११.६५; पान. १७८)
यवस-पु.. वनस्पति० बुसम् (सुसू. ३४.५)
यवसाह्व-पु., वनस्वति० यवानी (ध. २.९१)
यवागू-स्त्री., आहारद्रव्य० (सुउ. ४०.९२) तण्डुलादिकृता पेया (चचि. ३.१४२) ' यवागूर्विरलद्रवा ' (सुसू. ४६.३४५) यवागूं षड्गुणे जले पचेत् (ड. सुसू. ४६.३४५)
यवाग्रज-पु., भैषज्य० यवक्षारः (चचि. २६.६४)
यवानीक्षुपः (चचि. २६.६४)
न., भैषज्य० तुषोदकम् (ध. ६.२५१)
वनस्पति० यवानी (ध. २.९१)
यवाङ्कुर-पु., यवस्याङ्कुरो मन्त्रकर्मण्युपयुज्यते (असंसू. ८)
यवाढक-न., मान० चतुष्षष्टिपलानि (सुउ. ५२.४३)
यवानक-पु., न., वनस्पति० यवानी (असंचि. ८)
(यवानिका)-स्त्री., वनस्पति० यवानी (ध. २.९१)
यवानी-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुस्तिक्तोष्णा दीपनी वातकफघ्नी शूलाध्मानार्शःकृमिच्छर्दिघ्नी गुल्मोदरनाशिनी च (ध. २.९३) पाचनी लघुस्तीक्ष्णा पित्तला शुक्रक्षीहानाहनाशिनी च (र. १६.५६) हृद्याऽऽस्वादनीयपित्तोत्क्लेशकरी च (चसू.२७.१७०) दौर्गन्ध्यनाशिनी (चसू. २७.३०७)
हिं.—अजवाइन, अजमान.
म.—ओवा.
गु.—अजमो.
बं.—यमानी योयान.
त.—अमन.
फा.—नानुखा.
यवानीभेदः तुरुष्काऽऽख्या (ध. २.९४) गुणाः—रूक्षा ग्राहिणी मदकारिणी कटुः (ध. २.९४)
-षाडव-न., योग० यवानीतिन्तिडीकनागराम्लवेतसदाडिमबदरवृक्षाम्लानि कर्षप्रमाणानि धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गान्यर्धकर्षप्रमाणानि पिप्पलीनां शतं मरीचानां द्वे शते शर्करायाः चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत्। गुणाः-जिह्वाविशोधनं हृद्यं हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं रोचनं विबन्धानाहनाशनं कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् (चचि. ८.१४१-१४४)
यवान्नविकृति-स्त्री., यवकृतान्नविशेषः (सुउ. ३९०.२७०)
यवापत्य-न., भैषज्य० यवक्षारः (रा. ६.२४)
यवापूप-पु., आहारद्रव्य० यवकृतोऽपूपः (चसू. २७.२६५)
यवाम्लज-न., भैषज्य० तुषोदकम् (रा. १५.२९७)
यवालक-पु., पक्षि० यवगुडुरुकः विष्किरवर्गीयाणामेकतमोऽयम् (सुसू. ४६.५९)
यवास-पु., वनस्पति० यासः (चचि. ४.६८)
-शर्करा-स्त्री., वनस्पति० यासशर्करा (सुसू. ४५.१६७)
यवासक-पु., वनस्पति० यासः (ध. १.२२)
यवाह्व-पु., भैषज्य० यवक्षारः (सुचि. २०.१९,२०)
यवोत्थ-न., भैषज्य० तुषोदकम् (ध. ६.२५१)
यवौदन-पु., यवकृताहारः (सुउ. १७.४९)
यव्य-पु., भैषज्य० यवक्षारः (ध. २.१७)
यशस्-न.,निर्मलगुणकीर्तनम् (सुसू. ३४.१३)
-करी-स्त्री., वनस्पति० जीवन्तीभेदः बृहज्जीवन्ती (रा. ३.१७९) द्र० ' जीवन्ती '
जीवन्ती (ध. १.१४०)
यवतिक्ता (रा. १.२५६)
-विनी-स्त्री., वनस्पति० यवतिक्ता (रा. ३.३८१)
वनस्पति० तेजस्विनी (रा. ३.३९४)
(यशो)-द्-पु., खनिज० पारदः (र. १.२-५)
ग्रहमातृ० (असंउ. ४)
-धन-पु., सप्तविंशतिरससिद्धिप्रदायकेष्वेकः (र. १.२-५)
यशस्या-स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७)
जीवन्ती (रा. ३.१७७)
यष्टि-स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (रा. ६.९६)
-कर्ण-पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः (सुसू. १६.१०)

सच ग्रथितमांसस्तब्धसिरासन्ततसूक्ष्मपालियुक्तः (सुसू. १६.१०)

-मधुकान्वितघृत-न., यष्टिमधुमिश्रं घृतम्, व्रणे वेदनाशमनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ५.४२)

-मार्कव-पु., नलिका-भृङ्गराजः (असंउ. २८)

-लता-स्त्री., वनस्पति० भ्रमरारिः (रापरि. १०.४१)

यष्टिक-पु., वनस्पति० यष्टीमधु (चसू. ४.१४)

(यष्टिका)-स्त्री., प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५२)

यष्टिकाभ्रामण-न., यन्त्रयष्ट्यादिना भ्रामणम्, जलशीती" करणानामेकतममिदम् (सुसू. ४५.१९)

यष्टी-स्त्री., वनस्पति० यष्टीमधु (ध. १.१४२)

-मधु-न., वनस्पति० गुणाः- मधुरमीषत्तिक्तं शीतं वृष्यं चक्षुष्यं रुच्यं पित्तघ्नं शोषक्षयविषच्छर्दितृष्णा व्रणघ्नं च (ध. १.१४२) मेध्यरसायनप्रयोगेऽस्य चूर्णं क्षीरेण सहोपयुज्यते (चचि. १(३).३४)

हिं.—मुलहटी, मीठी लकरी, मुलैठिका.

म.—ज्येष्ठमध, जेष्ठमध.

गु.—जेठीमधनो मूळ.

फा.—वेखमेहेकूमछु.

-मधुक-न., वनस्पति० यष्टीमधु (सुउ. ४५.२४)

-मधुकपायस-न., आहारद्रव्य० यष्टीमधुक-साधितक्षीरसिद्धास्तण्डुलाः यष्टीमधुकान्वितं पायसं वा (सुउ. ५३.१३)

यष्टीक-न., वनस्पति० यष्टीमधु (ध. १.१४२)

यष्टृ-वि., यज्ञकर्ता (चसू. ८.१८)

यष्ट्याह्व-न., वनस्पति० यष्टीमधु (ध. १.१४२)

यस्येयावनिमित्तीय-वि., यस्य इयावरूपमधिकृत्य कृतोऽध्यायसंज्ञाविशेषः (चइ. ९.१)

याक्षसत्त्व-न., चित्तप्रकृतिः, राजससत्त्वभेदः, दान-शय्याऽत्यलङ्कारपानभोजनमैथुनैर्नित्योपेतं प्रमुदितम् (कासू. २८)

याचनक-पु., वनस्पति० एरण्डभेदः रक्तैरण्डः (रा. ८.४४७) द्र० 'एरण्ड'

याज्ञिक-पु., वनस्पति० पलाशः (ध. ५.१६१)

पिप्पलः (रा. ११.११८)

खदिरभेदः, ताम्रकण्टकः (रा. ८.३६) द्र० 'खदिर'

-समय-पु., याज्ञिकसिद्धान्तः, पूर्वमीमांसाशास्त्रीय-सिद्धान्तः (चवि. ८.५४)

यातुक-पु., शाक० शुक्ला शाकपर्णी, फञ्जीचिल्ल्यादिगणे प्रोक्तेयम् (चसू. २७.१०२)

यातुघ्न-पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)

यात्राकर-वि., यापनाकरम् (चसू. १८.३९)

यादृच्छिक-वि., यदृच्छया नाम स्वैरतया स्वच्छंदं वा कर्म कुर्वन् (चसि. २.५)

यान-न., गमनम् (सुसू. ४६.४९०)

वाहनम् (सुसू. २.१०)

-क्लान्त-वि., यानेन रथादिना क्लान्तः (चसि. २.१४)

-यान-न., यानेन गमनम् (अहसू. १६.२७)

यान्त्रिक-वि., यन्त्रपीडितः (चसू. २७.२३७)

यान्त्रिकेक्षुरस-पु., यन्त्रपीडित इक्षुरसः, गुणाः-गुरु-र्विदाही विष्टम्भी (सुसू. ४५.१५८)

यापन-वि., धारणम् (सुनि. १.१२)

पोषणम् (सुसू. १४.३)

रोगशमनम् (सुचि. ६.१३)

-बस्ति-पु., निरूहबस्ति० (सुचि. ३५.१८) क्लैब्ये उपक्रमविशेषः (चचि. ३०.२०३-२०४) अति-योगे लक्षणम्- शोफाग्निनाशपाण्डुतोदशूलार्शःपरि-कर्तिकाज्वरातिसाराः (चसि. १२.३०-३१) तत्र वर्जनीयम्-व्यायामो मैथुनं मद्यं शिशिराम्बु संभो-जनं रथक्षोभो मधु च (चसि. १२.२३)

यापनीय-वि., याप्यः (सुसू. २३.१०)

याप्य-वि., असाध्यम्, 'याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः' (चचि. ८.३४) आयुषः शेषत्वा-दसाध्योऽपि पथ्यसेवया लब्धाल्पसुखो व्याधिः (चसू. १०.१७)

-ता-स्त्री., कृच्छ्रसाध्यता (सुसू. ४.५)

याम-पु., प्रहरः (र. ३.२९)

यामिनी-स्त्री., रात्रिः (सुचि. २६.८)

यामुन-न., खनिज० अञ्जनम् (रा., १३.२१४)

यामुनेय-न., खनिज० अञ्जनम् (रा. ३.१५१)

याम्य-वि., दाक्षिणदिग्देशीयम् (र. ७.३)

न., नक्षत्र० भरणी (सुक. ३.३८)

शुद्धसत्त्वप्रकारः (चशा. ४.३७(४)) लेखास्थवृत्तः प्राप्तकारी स्मृतिमानसंप्रहार्यउत्थानवानैश्वर्यवान् व्यपगतरागेर्ष्याद्वेषमोहश्च याम्यः (चशा.४.३७(४) सन्निपातज्वरभेदः वातहीनकफमध्यपित्ताभिवृद्धिजः द्र० 'ज्वर' (काकविशेषकल्क)

(याम्या)-स्त्री., भरणीनक्षत्रम् (असंउ. ४१)

रेवतीग्रह० साऽष्टमे दिनेऽपत्यं विनाशयति (कारेवती, ४६)

याम्योद्भूत–पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा. ९.९५)
यायावर–वि., गमनशीलः, नैकत्र कृतावस्थितिकत्वात् आभीक्ष्ण्येन विचरणशीलः (चचि. १(४).३)
याव–पु., यवपृथुकः (चसू. २७.२७३)
(यावी)–स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (रा. ३.३८१)
–**शर्करा**–स्त्री., भैषज्य०यवासशर्करा (ध. २.१०७)
–**शाक**–न., शाक० केचिच्छङ्खिनीमाहुः (असंसू. ७)
–**शूक**–पु., भैषज्य० यवक्षारः (सुचि. १.४०)
–**शूकज**–पु., भैषज्य० यवक्षारः (ध. २.१७)
यावक–वि., यवकृतः (चइ. १२.७२) घृतमिश्रं यवकृतं तर्पणम् अन्न० (चचि. ८.६५)
यावन–पु., वनस्पति० तुरुष्कः (ध. ३.२२)
(यावनी)–स्त्री., वनस्पति० यवानी (ध. २.९४)
इक्षुभेदः करङ्कशालिः (रा. १४.१८५) द्र० 'इक्षु'
–**प्रिया**–स्त्री., वनस्पति० नागवल्ली (धपरि. ३.२)
यावनाल–पु., वनस्पति० गुणाः– ईषन्मधुरः शीतो रुच्यः पित्तघ्नः पित्ततृषाघ्नश्च (रापरि. ८.३८)
जूर्णः (रा. १६.१६७)
यवक्षारः (सुउ. १५.११,१२)
(यावनाला)–स्त्री., वनस्पति० जूर्णा (ध. ६.१०८)
(यावनाली)–स्त्री., शर्कराभेदः ' हिमजा ' ' गुडजा ' इति प्रसिद्धा, गुणाः–स्वादुस्तिक्ताल्पोष्णा पिच्छिला सारिका रुच्या दाहकरी रक्तविकारकरी वातघ्नी च (रा. १४.१६३) द्र० ' शर्करा '
–**जभस्मन्**–न., भैषज्य० यवक्षारः (सुउ. ४२.४०-४४)
यास–पु., वनस्पति० धन्वयासः (ध. १.२२)
–**शर्करा**–स्त्री., दुरालभाक्काथकृता शर्करा, सतिक्ता कषायमधुरा शीता च (चसू. २७.२४१)
युक्त–वि., निपुणः (सुसू. ३४.२४)
(युक्ता)–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (असंसू. १५.४९)
–**मात्र**–वि., योग्यप्रमाणम् (सुसू. ३४.२२-२३)
–**रथ**–पु., निरूहबस्ति०, रथेषु युक्तेषु हस्त्यश्वे कल्पिते वा यो बस्तिर्दातुं शक्यते स युक्तस्थो बस्तिः (सुचि. ३८.११५) तत्रैरण्डमूलक्काथमधुतैलसैन्धववचापिप्पलीफलानि द्रव्याणि (सुचि. ३८.११५)
–**रसा**–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (ध.१.२७०)
–**सेन**–वि., युक्ता सज्जा सेना यस्य सः (सुसू. ३४.३)
–**सेनीय**–वि., युक्तसेनमधिकृत्य कृतोऽध्यायसंज्ञाविशेषः (सुसू. ३४.१)
–**स्नेह**–वि., अल्पस्नेहः (ड. सुचि. ३७.५६)
युक्तार्थ–पु., युक्तः प्रमाणोपपन्नः अर्थः (सुउ.१.७)
युक्ति–स्त्री., तन्त्रयुक्तिः (सुउ. १.७)
प्रमाण० (चसू. ११.२५) बहुकारणयोगजभावस्य त्रिकालसाधकं ज्ञानम् (चसू. ११.७)
योजना (चचि. २४.६९)
अविनाभावरूपः सम्बन्धः (चवि. ४.४)
योगः (चसू. ५.७)
उपायः (चसू. २६.१२)
–**ज्ञ**–वि., युक्तिं योगं जानाति इति योगज्ञः (चचि. ३.२५४)
–**दर्शन**–न., उपपत्तिदर्शनम् (चवि. ८.३)
–**भृष्ट**–वि., ईषद्भृष्टम् (चसू. २७.२१०)
–**युक्त**–पु., वनस्पति० तुरुष्कः (ध.३.२३)
–**विशेष**–पु., योजनाविशेषः (सुसू. ४१.५)
–**व्यपाश्रय**–वि., युक्तिर्योजना योगो वा एव व्यपाश्रयः यस्य तद् (चचि. ८.८७)
युग–न., पञ्चसंवत्सरात्मकः कालः (सुसू. ६.९) कृतत्रेताद्वापरकलिनामानः क्रमेण सत्त्वरजस्तमस्स्वभावाश्चत्वारः कालाः (काशा.)
ऋद्धिः वनस्पति० (ध. १.१४५)
–**(युग)–षट्क**–न., आदियुगं देवयुगं कृतयुगं त्रेतायुगं द्वापरयुगं कलियुगं चेति षड्युगानि, तत्र युगभेदेन शरीरस्वरूपभेदः–कृतयुगे नारायणं नाम देहिनां संहननं शरीरमुत्पद्यते । तस्य घनं निष्कपालं शिरोऽस्थीनि च सत्वास्पदान्याकृतयो वज्रगरीयस्यः, हृदि चास्य महाशिरा दक्षैव, त्वगस्य शिरश्चाभेद्यमच्छिद्यं सर्वतोऽस्य शुक्रं, योजनं चोत्सेधः सप्तरात्रं चास्य गर्भवासः, सद्योजातस्य चास्य सर्वकर्माणि शक्यानि, न चास्य क्षुत्पिपासाश्रमग्लानिशोकभयेर्ष्याऽधर्मचिन्ताव्याधिजरा बाधन्ते, नच स्तन्यवृत्तिर्भवति, धर्मज्ञानविज्ञानतपस्स्थितियुक्तयश्च भवन्ति । तस्य पलितोपमार्धमायुरुत्कृष्टमाहुः । अथ त्रेतायामर्धनारायणं नाम देहिनां शरीरमुत्पद्यते । तस्यैकास्थिप्रायं शरीरमाकुञ्चनप्रसारणवर्ज्यं गर्भवासोऽष्टमासिकः स्तन्यजीविका च द्वे शिरःकपाले पार्श्वयोरेकैकः संधिरुरसि च, व्यस्थि पृष्ठं, कोष्ठस्य सिरा विंशतिः, शुक्रं च पलितोपम (?) चतुर्भागमायुरुत्कृष्टं पूर्वाच्चार्धगुणावसर्पणमिति । अथ द्वापरे कौशिकसंहननं शरीरमुत्पद्यते केशमात्राणुसुषिरास्थि अतिक्षिप्तसंधिर्महाहस्तिबलः सिरानुवेष्टितगात्रं गात्रसन्धिष्वस्य शुक्रं पलितोपमा (?)

ष्टभागमायुरुत्कृष्टं पूर्वाचार्धगुणावसर्पणमिति । अथ कलियुगे प्रज्ञाशिपिशितं संहननं शरीरमुत्पद्यते । पृथग्दन्तजन्म दशमासं गर्भवासः संवत्सरादूर्ध्वं प्रतितिष्ठति वाचं च विसृजति व्याध्याबाधानां बाहुल्यं च (काशा.)

युगन्धरा–स्त्री., वनस्पति० जूर्णा (ध. ६.१०८)

युगपत्–अव्य० एककालम् (सुनि.१.२१)

युगलाक्ष–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रापरि. ८.१२)

युग्म–वि., समसंख्याकम् (चशा. ८.५)
पर्वसंधिः (चसि. ३.२९)
युगलम् (सुशा. ३.३४)
–**पत्र**–पु., वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९४)
–**फला**–स्त्री., वनस्पति० इन्दीवरी (रापरि. ३२७)
वृश्चिकाली (रापरि. ९.९)
–**शुक्र**–न., नेत्रकृष्णभागगतं सव्रणं शुक्रयुगलम् (सुउ. ५.५)

युवति–स्त्री., वनस्पति० नवमालिका (चचि. १.५८)

युवतीष्टा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णयूथा (रा. १०.१५१)

युवानपिडका–स्त्री., क्षुद्ररोगः यूनां मुखे भवाः कफमारुतरक्तजाः पिडका मुखदूषिकाः शाल्मली-कण्टका युवानपिडका वेति ख्याताः (मानि.)

यूक–पु., कीट० (चइ. २.२१) केशकीटः स्वेदजः (सुचि. २७.८) बाह्यकृमि० (असंनि. १४)
बहिर्मलजः (चसू. १९.४-९) अणुस्तिलाकृतिर्बहु-पादयुक्तः–कृष्णः शुक्लो वा, तस्य स्थानं केशश्मश्रु-लोमपक्ष्मवासांसि (चचि. ७.१०)
मान० षड् लिक्षाः एका यूका (र. ११.१)

यूथिका–स्त्री., वनस्पति० पुष्पलता० (ध. ५.१४८)
गुणाः–मधुरा (कषाया) (असंसू. ७) शीता सुगन्धिः पित्तघ्नी शर्करापित्तदाहतृषात्वग्दोषघ्नी च (ध. ५.१४८)
हिं.—जाति.
म.—चमेली.
गु.— चमेली.
बं.—चमेली.
त.—मल्लिगइ.

यूष–न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)
–**द्रुम**–पु., वनस्पति० खदिरभेदः ताम्रकण्टकः (रा. ८.३६) द्र० 'खदिर'

यूषक–पु., न., वनस्पति० तूलम् (ध. ५.६४)

यूष–पु., धान्यादिक्काथः (चसू. १३.२२) आहारद्रव्य० मुद्गमसूरचणकादिकृतः (सुउ, ४०.२७)
गुणाः–रोचनो दीपनो वृष्यः स्वरवर्णबलाग्निकृत् प्रस्वेदजननस्तुष्टिपुष्टिसुखप्रदः (काखिल.४.१५-१७)
भेदाः–मुद्गयूषो विरसिकायूषो दाडिमयूषश्चि-त्रकयूष आमलकयूषः पञ्चकोलयूषो धान्ययूषः कुलत्थयूषः फलयूषः पुष्पपत्रयूषो वल्कयूषः पल्लवयूषो महायूषो रास्नायूषश्चाङ्गेरीयूषो मूलक-यूषः पुनर्नवायूषोऽतिबलायूषो गुडकाम्बलिकायूष-स्त्रिकटुयूषो लशुनयूषो वास्तुकयूषश्च (काखिल. ४.१९-२३)

योग–पु., सम्यक्प्रवृत्तिः (चसि. ६.३१)
संबन्धः (चसू. १.५४)
योजना युक्तिः (चसू. २५.४०)
तन्त्रयुक्ति० योगो नाम योजना, व्यस्तानां पदाना-मेकीकरणम् (चसि. १२.४१) येन वाक्यं युज्यते स योगः (सुउ. ६५.९)
प्रयोगः (चसू. १.८७)
विषयव्यावृत्तस्य मनस आत्मन्येव समाधानमव-स्थितिर्वा (चशा. ५.१७)
औषधसमूहः (सुचि. ६.१३)
संयोगः (अहसू. ६.३२)
–**क्षेम**–पु., अलब्धलाभलब्धपरिपालनपूर्वकं जीवित-निर्वाहः (चवि. ३.३६)
–**ज**–पु., वनस्पति० अगरु (ध. ३.२५)
–**धर**–वि., बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धारयति, यद्वा बुद्ध्यादियोगस्य धारक इति (चशा. १.३५)
–**बस्ति**–पु., बस्ति० त्रयो निरूहास्त्रीणि चानुवासनानि तथा चाद्यन्तयोर्द्वौ स्नेहबस्ती इत्येवम् अष्टौ बस्तयो योग इत्युच्यते (चसि. १.४९)
–**मूषा**–स्त्री., भस्मीकृतकोकिलतुषसंयुक्ता कृष्णामृत्ति-का वल्मीकमृत्तिका विविधं बिडं चेत्येतेषां संयो-गाज्जाता विविधबिडेन च लिप्ता मूषा (र. १०.११-१२)
–**रङ्ग**–पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)
–**राज**–पु., कल्प० पाण्डुरोगे उपयुक्तः, त्रिफलाया-स्त्रयो भागास्त्रिकटुकस्य च त्रयो भागा विडङ्गचित्रक-मूलस्य भागैकः शिलाजतुरूप्यमलानां पञ्चभागाः माक्षिकलौहस्य च पञ्चभागाः, अष्टौ भागाः सिता-याश्चेत्येतत् सर्वं माक्षिकेणाऽऽलुलयाऽऽयसे भाजने स्थापयित्वोदुम्बरसमां मात्रां सेवेत, तत्र काक-माचीकुलत्थकपोतकानि वर्ज्यानि, इदं सर्वरोगहरं श्रेष्ठं रसायनम् । तथाऽयं कल्पविशेषः पाण्डुरोगविष-

कासयक्ष्मविषमज्वरकुष्ठाजीर्णमेहशोषश्वासारोचकापस्मारकामलार्शोनाशनश्च (चचि. १६.८०-८६)

-राजगुग्गुलु-पु., भैषज्य० पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशुण्ठीपाठाविडङ्गेन्द्रयवहिङ्गुभारङ्गीवचासर्षपातिविषाजीरकरेणुककृष्णजीरकगजपिप्पलीकटुकाजमोदामूर्वाभ्यः समभागिकाभ्यः चूर्णिताभ्यो द्विगुणां त्रिफलामादाय तत्र च शुद्धगुग्गुलुं प्रक्षिप्य यथावन्मर्दयित्वा तद्वटिकाः कुर्यात्। अनुपानं-मधु; समयः-प्रातः; फलम्-अर्शोवातगुल्मपाण्डुरोचकनाभिशूलोदावर्तप्रमेहवातरक्तकुष्ठक्षयाऽपस्मारहृद्रोगग्रहणीश्वासकासभगन्दराग्निमान्द्यवीर्ययोनिदोषाणां शमनम्, निष्परीहारं पानभोजनयोः तत्कृतान् सततास्यासाद्वलीपलितं नश्यति वर्षशतत्रयं आयुर्जायते क्षीरघृतपरिप्लुताहारश्चास्य विशेषेण भक्षणीयः (र. २१.७४-८३)

-वाह- वि., एतादृशः वायुः, येन स योगाद्योगिनो गुणं वहतीति; तेजसा युक्तो दाहकृत्, सोमयुक्तः चेत् शीतकर इति (चचि. ३.३८-३९)

-वाहिन्-वि., यत् संयुक्तस्य द्रव्यस्य रसं वहति, तत् (चसू. २७.२४९) यादृग्द्रव्येण संयुज्यते तादृग्द्रव्यस्य कर्म करोतीति, योगवाहिषु श्रेष्ठं मधु (सुसू. ४५.१४२)

योगर-पु., खनिज० सूक्ष्मताराणि (र. ५.८२)

योगाञ्जन-न., अञ्जन० कासीससामुद्ररसाञ्जनजातिकोरकादिभिः कृतम् (सुउ. ११.१५-१६)

योगावह-वि., योग्यम् (चनि. २.१४)

योगिन्-पु., वनस्पति० नारङ्गः (ध.५.२०)

रसरत्नमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुना प्रमाणत्वेन स्वीकृतः तन्त्रकर्ता (र. १.५-९)

योगः समाधिः स यस्य विद्यते सः (सुसू. ३.१७)

-दण्ड-पु., वनस्पति० वेत्रः (रा.परि. ७.१४)

योगीश्वरी-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८६)

योगीष्ट-न., खनिज० सीसकम् (ध. ६.२१)

योग्या-स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १,१४५)

सम्यक्कर्माभ्यासः (सुसू. ९.१)

-सूत्रीय-वि., योग्यासूत्रमधिकृत्य कृतोऽध्यायसंज्ञाविशेषः (सुसू. ९.१)

योग्यार्ह-वि., यस्य कर्मणो यस्मिन् द्रव्ये साम्यं भवति तत्कर्माभ्यासयोग्यम् (सुसू. ९.५)

योजन-न., चत्वारः क्रोशाः (सुचि. ३०.३५)

(योजना)-स्त्री., प्रयोगः योजनम् (अहसं. ४.७)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० मंजिष्ठा (ध. १.१७)

-सिद्धि-स्त्री., योजनायां सत्यां सिद्धिः (चइ. १२.८२)

योज्य-न., खनिज० पुष्पकासीसम् (ध. ३.१२५)

योनला-स्त्री., वनस्पति० जूर्णा (ध.६. १०८)

योनि-स्त्री., कारणम् (चचि. २४.६) हेतुः (सुसू. १५.८) उत्पत्तिस्थानम् (सुनि. १०.२१-२२) आधारकारणम् (चसू. २६.९) अभिव्यक्तिकारणम् (चसू. १२.८) तत्तज्जन्मग्रहणोचिता जातिः (चशा. १.६) जन्म, चेतनशरीराणां जातिभेदः (चसू. ११.११)

शारीर० शंखनाभ्याकृतिरावर्तत्रययुक्ता (सुशा.५.४३) अपत्यपथः(चचि. ३०.१५) गर्भाशयः(सुसू.११.२८) योनिमुखम् (सुशा. ५.४५) अपत्यपथे चतस्रः पेश्यस्तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्रः एव पित्तकफाशययोर्मध्ये गर्भशय्या यत्र गर्भस्तिष्ठति (सुशा. ५.३९) 'पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः । स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥' (सुशा. ५.४१)

-कन्द-पु., रोग० यो यौनौ पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृति. संनिभं कन्दं जनयति. स एव योनिकन्दः (मा.)

-गद-पु., स्त्रीष्वपत्यमार्गे जातो रोगः (चचि. ३०.३७)

-गुल्म-पु., रोग० योनिस्थो गुल्मः (काखिल. १०.१४६)

-च्छेद-पु., लक्षण० योनिविदारणम् तस्य च्छेदाद्रुजा प्रादुर्भवति (सुचि. ७.३६)

-दोष-पु., रोग० योनिरोगः (चचि. ३०.९५)

-पुट-न., अपत्यपथः (असंउ. १)

-प्रदोष-पु., रोग० योनिरोगः (चसू. १३.९५)

-प्रस्रवण-न., लक्षण० योनिस्रावः (काजातिसूत्रीय)

-भ्रंश-पु., योनिरोगः योनिबहिर्गमनम् (सुनि. ८.६)

-रोग-पु., रोग० योनिसहितगर्भाशयस्य विंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रोगः (र. २.१७५)

-वात-पु.,योनिरोगःयोनिस्थवातदोषः(चचि.३०.५४)

-विरेचन-न., उत्तरबस्तिः (चचि. ५.१७४)

-विशोधन-वि., योनेर्विशेषेण शोधनं नामशुद्धिकरणम् (चसू. १३.१५)

-व्यापद्-स्त्री., योनिरोगः (चचि. ३०.७) तत्र चरके विंशतिर्योनिव्यापदः ताश्च-वातजा पित्तजा कफजा त्रिदोषजाऽसृग्जाऽरजस्काऽचरणाऽतिचरणा प्राक्चरणोपप्लुतोदावर्तिनी कर्णिनी पुत्रघ्न्यन्तर्मुखी सूचीमुखी शुष्का वामिनी षण्डी महायोनिश्च (चचि. ३०) सुश्रुतेऽपि विंशतिः, उदावर्ता वन्ध्या विप्लुता परिप्लुता वातला रुधिरक्षरा वामिनी स्रंसिनी पुत्रघ्नी पित्तलाऽत्यानन्दा कर्णिन्यचरणाऽतिचरणा श्लैष्मिका षण्डी फलिनी महती सूचिवक्त्रा सर्वजा च (सुउ. ३८.६-९) संग्रहे लोहितक्षयाऽधिका (असंउ. ३८) तत्र वातजायां योनौ तोदशूलस्तम्भकार्कश्यानि पिपीलिकाविसर्पणमिव वेदना, सशब्दरुक् फेनतनुरूक्षार्तवम् (चचि. ३०.९-११) पित्तजायां योनौ दाहपाकज्वरोष्णनीलपीतार्तवाभृशोष्णकुणपस्रावाः (चचि. ३०.१२) कफजा योनिः पिच्छिला शीता कण्डूग्रस्ताऽल्पवेदना पाण्डुवर्णा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनी च (चचि. ३०.१३,१४)

-व्यापच्चिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (चचि. ३०.१)

-व्यापत्प्रतिषेध-पु., अध्याय० (सुउ. ३८.१)

-व्रण-पु., लक्षण० योनौ त्वग्विदरणम् (असंसू. ३४)

-व्रणेक्षणयन्त्र-न., यन्त्र० इदं मध्यभागे सुषिरं दैर्घ्येण षोडशाङ्गुलं तथा मुद्रिकया ऊर्मिकयाऽसंचारिण्या युक्तं, तत्र चत्वारि पत्राणि, चतस्रः शलाका वर्तन्ते, तस्य मुखं मुकुलसदृशम्; इदम् मूले आक्रान्तं मूलशलाकाक्रमणान्मुखे प्रसरेत् (अहसू. २५.२२)

-शूल-पु., लक्षण० योनिवेदना (सुनि.८.३)

-शोष-पु., योनेः शुष्कता (चसि. २.१६)

-संवरण-न., योनिरोगः, योनिसंकोचः (सुनि. ८.६)

-संवृति-स्त्री., लक्षण० योनिसंकोचः (सुसू. ३३.१३)

-स्तम्भ-पु., लक्षण० योनेः स्तम्भः (चसि. २.१६)

-स्रवण-न., लक्षण० योनिस्रावः (असंशा. ४.११)

योषा-स्त्री., नारी (र. ११.१०५)

योषित्-स्त्री., वनिता (सुउ. १०.५)

-क्षीर-न., स्त्रीस्तन्यम् (सुउ. १०.५)

-प्रसङ्ग-पु., योषिता सह प्रसंगः, व्यवायः (सुचि. २६.४)

(योषिद्) विविक्तरति-वि., योषित्सु विविक्ते एकान्ते च रतिर्यस्य सः (सुउ. ६२.१०)

यौगिक-वि., युक्तिं प्रमाणीकृत्य कृतम्, औषधकल्पनादिषूपयुक्तम् (चवि. ८.१४९)

युक्तम् (अवि. ८.४५)

पारदे नागस्य वङ्गस्य वा संयोगाज्जायमानो (दोषः) (र. ११.१७-१८)

यौवन-न., आत्रिंशद्वर्षं वयोवस्थाविशेषः (सुसू.३५.२९)

-पिडका-स्त्री., क्षुद्ररोग० मुखदूषिका पिडका (सुनि. १३.३)

र

रकसा-स्त्री., रोग० क्षुद्ररोगः, शरीरे कण्डुन्विता संस्रावहीना या पिडका, सैव रकसा (सुनि. ५.१५)

रक्त-वि., रक्तवर्णयुक्तम् (सुसू. ३८.५२)

पु., वर्ण० ताम्रवर्णः (सुसू. ३२.३)

न., रजः (चचि. १५.१७) आर्तवम् (सुसू. १४.६)

न., सप्तधातुष्वेकः (अहसू. १.१३) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चसू. २९.३) आगमे रक्तनामानि शोणितलोहितासृग्रुधिरक्षतजादीनि; स्थानमस्य यकृत्प्लीहानौ, तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति (सुसू. २१.१६) रक्तोत्पत्तिः-द्वितीया रक्तधरा कलामांसस्याभ्यन्तरतस्तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति (सुशा. ४.१०) तत्राग्निरेव रसं रक्ततां नयति (चचि. १५.२८) 'स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥' (अहसू. ११.१४; चचि.१५.३८-३९) उत्पत्तिकालः रसः किलैकाहेनैव संपद्यते तदनन्तरं ये-षड् धातवस्ते प्रत्येकं पञ्चभिरहोभिः संपद्यन्ते (सुसू. १४.१५; ड) स्वभावः-तत्राम्बुशारीरमहासारभूतं रसाख्यमविकृतमविकृतेन तेजसा रञ्जितमिन्द्रगोपाकारं च शशशोणितगुञ्जाफलालक्तकपद्मसुवर्णवर्णं धौतं च विरज्यमानं मधुरमीषल्लवणं च स्निग्धमशीतोष्णं गुरु पित्तैकचयकोपोपशमनं सौम्याग्नेयं प्रकृत्या रक्तमाहुस्तदा दूष्यम्। दोषमिति केचित्। उभयात्मकमित्यन्ये (असंसू. ३६.६) द्रवरूपो धातुः (चचि. १५.३६) पाञ्चभौतिकगुणाः-विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता च (सुसू. १४.९) अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं वर्णतो रक्तं गुरु विस्रं च (सुसू. २१.१७) रक्तसारतायां स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलम् (सुसू. ३५.१६)

कर्ण...ललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद्भाजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुद्वहतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यं अनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वमाचष्टे (चवि. ८.१०४) प्रमाणम्–अष्टावञ्जलयः (चशा. ७.१५) कर्म–वर्णप्रसादो मांसपुष्टिर्जीवनं धातूनां पूरणं, असंशयं स्पर्शज्ञानं च (सुशा. ७.१४; सुसू. १५.५(१)) यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुफ्फुसः शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः (सुशा. ४.२५) अवयवजनकत्वं–यकृत्प्लीहानौशोणितजौरक्तफेन-प्रभवः फुफ्फुसः रक्तकिट्टप्रभावात् उण्डुकः तथैव च आंत्रं, गुदं, बस्ति, जिन्हा, वृक्कौ, वृषणौ हृदयं चापि रक्तात् तथैवान्येषां धातुघटकानां सारान् भवति (सुसू. ४२६.३१)

उपधातवः–असृजः कण्डराः सिराः (चचि.१५.१७) मलः–पित्तम् (चचि. १५.१८; सुसू. ४६.५२९) प्रशस्तिः–रुधिरं देहस्य मूलं तेनैव स धार्यते, तस्माद्यत्नेन तत्संरक्ष्यम् (सुसू. १४.४४) केचिद्रक्तं चतुर्थं दोषं मन्यन्ते (अरु. अहसू. १.६,) रक्तवृद्धिलक्षणानि– विसर्पप्लीहावृद्धिविद्रधिकुष्ठवातरक्तगुल्मोपकुशकामलाव्यङ्गाग्निनाशसंमोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः (अहसू. ११.८-९) रक्तक्षयलक्षणानि– अम्लशिशिरप्रीतिः सिराशैथिल्यं रूक्षता च (अहसू. ११.१७) रक्तप्रकोपहेतुः–पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिश्च (सुसू. २१.२५) रक्तरोगाः–कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः (सुसू. २४.९) दुष्टरक्तलक्षणम्–वातादरुणाभं विशदं फेनिलं तनु च, पित्तात् पीतासितं रक्तं औष्ण्यवशात् चिरेण स्त्यानं, कफादीषत्पाण्डुपिच्छिलं तन्तुमद् घनम्, संसर्गात् त्रिलिङ्गं सांनिपातिकम् (चसू. २४.२०-२१) मृगादिप्राणिनां रक्तं भेषजत्वेनोपयुज्यते (अहसू. २७.४३; असंउ. ३९)

न., खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४७)
सिन्दूरम् (रा. १२.१६०)
वनस्पति० मञ्जिष्ठा (र.२९.१३२)
रक्तशिग्रुः (र. २९.१३२)
रक्तचन्दन (र. २९.१३२)
पद्मकः (रा.२२.१४९)
कुङ्कुमम् (ध.३.१२)
अपामार्गः (ध.१.२६३)
व्रीहिः (रा. १६.७९)
हिङ्गुलः (रापरि. ८.७०)
भैषज्य० प्रवालम् (ध. ६.६४)

(रक्ता)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (सुचि.३७.३१)
मांसरोहिणी (ध. ४.९४)
गुञ्जा (रा. ३.४७)
उष्ट्रकाण्डी (रापरि. १०.४३)
भैषज्य० लाक्षा (ध. ३.८२)
लूताभेदः, वायव्यलूता; देशलक्षणानि–पाण्डुपिडकाज्वरश्वेतातिसारश्वासदाहसरक्तक्लेदाः (असंउ. ४५)
शारीर० कर्णगतसिरा (असंउ. १)

–कन्द– वनस्पति० पलाण्डुभेदः राजपलाण्डुः (रा. ७.१०४) द्र० 'पलाण्डु'
रक्तपिण्डालुः (रापरि. ७.२६)
–कर्मन्–न., सुवर्णोत्पादकं पारदादिरञ्जकं कर्म (र. २.१०)
–काण्डा–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (रा. ५.४०६)
–काष्ठ–न., वनस्पति० चन्दनभेदः, कुचन्दनम् (ध. ३.६) द्र० 'चंदन'
–कुसुम–पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०) धन्वनः (रापरि. ९.१९)
–केसर–पु., वनस्पति० पारिभद्रः (रापरि. ८.१०)
–कोठ–पु. चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः, त्वचि दद्रुवद्रक्तमण्डलोत्पत्तिः (चसू. २०.१४)
–क्षय–पु., रक्तस्य प्रमाणहानिः (सुनि. ११.१७)
–क्षीण–वि., क्षीणरक्तः (ड. सुसू. १५.२९-३१)
–ख्यातक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध.१.२६३)
–गन्ध–पु., रक्तधातुनिष्ठो विस्रो गन्धः, तेन मूर्च्छा संजायते (सुउ. ४६.९-१०)
–गन्धक–पु., निर्यास० बोलम् (रा. ६.११६)
–गुल्म–पु., रोग० असौ स्त्रिया एव भवति। या ऋतुमती नवप्रसूता योनिरोगिणी वा वातलानि यदाऽऽसेवते तदाऽस्या वायुः प्रकुपितः सन् योन्या मुखमनुप्रविश्यार्तवमुपरुणद्धि। तदुपरुध्यमानं मासे मासे कुक्षिमभिनिवर्तयति गर्भलिङ्गानि च तन्दाऽङ्गसाददौहृदस्तन्यदर्शनादीनि चाभिनिर्वर्तयति। वायुसंसर्गात्पुनः पित्तैकप्रकोपकतया वातपित्तगुल्म-

रूपाणि क्रमाच्छूलस्तम्भदाहार्तीसारादीनि गर्भाशये च सुतरां शूलं योन्यां दौर्गन्ध्यमास्रावं च करोति। गुल्मसर्वाङ्गैर्गर्भ इव न स्फुरति पिण्डीभूत एव चिरेण सशूलं स्पन्दते। गुल्म एव वर्धते न कुक्षिः (असंनि. ११) रक्तगुल्मगर्भयोः समानलक्षणेऽपि भेदाः– (१) गर्भोऽङ्गप्रत्यङ्गवान् विचेष्टते रक्त-गुल्मस्तु लोष्टवद्विचेष्टते (२) गर्भो व्याविद्ध परिवर्तते, गुल्मोऽव्याविद्धं विवर्तते (३) गर्भोऽहन्यहनि मासि मासि च तां तामवस्थां प्रतिपद्यते। गुल्मस्तु मन्दं मन्दं विवर्धते। (४) गर्भिणी अनिमित्तं दह्यते ज्वर्यते वा। गुल्मिनी दह्यते ज्वर्यते च (काखिल. ९.५६-६१) उपद्रवाः– ज्वरारुचिश्वासकासशोषकार्श्यारतिशोफाः (काखिल. ९.७४) चिकित्सा– 'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः' (चचि. ५.१९) कालपरिणामतो रक्तगुल्मस्याऽऽदशमान्मासात् परं परिपाको भवति। परिपाकतो नातिदुरुपक्रमोऽयं व्याधिः (काखिल. ९.५३-५४) शस्त्रसाध्योऽयं व्याधिः (सुउ. ४२.२१)

–ग्रन्थि–पु., रोग० बस्तिगतविकारस्य प्रकारः, अश्मरीसमशूलत्वं लक्षणं भवति (चसि. ९.१२)

–चन्दन–न., वनस्पति० चन्दनस्य प्रकारः, गुणाः– तिक्तं शीतं रक्षोघ्नं पित्तकफघ्नं रक्तोद्रेकचक्षुर्दोष-रक्तदोषकासज्वरभ्रान्तिजन्तुकृमितृष्णाघ्नं च (ध. ३.४) नारीपयःपिष्टं रक्तचन्दनं हिक्कां शमयेत् नस्यतो दत्तम् (सुउ. ५०.१७-१८)

हिं.—रक्तचन्दन,

म.—रक्तचन्दन.

बं.—रक्तचन्दन,

गु.—रतनीली.

ता.—शेनचन्दनम्,

फा.—सन्दलेसुर्ख.

–चित्र–पु., वनस्पति० चित्रकः, कालः (रा. ६.१२७)

–चूर्णक–पु., वनस्पति० कम्पिल्लकः (ध. ३.१३८)

–च्छेद–पु., उपक्रम० रक्तमोक्षः (चसि. २.९)

–जम्बीर–न., वनस्पति० पक्वजम्बीरम् (र. ११.११४)

–तृणा–स्त्री., वनस्पति० गोमूत्रिका (रापरि. ८.४८)

–दला–स्त्री., वनस्पति० नलिका (रा. १२.८८)

–धरा–स्त्री., शारीर० द्वितीया कला, रक्तधारिणी; तस्याः स्थानं मांसस्याभ्यन्तरतलस्थां शोणितं विशेषतश्च शिरासु यकृत्प्लीहोश्च भवति (सुशा. ४.१०)

–धातु–पु., भैषज्य० गैरिकम् (ध. ३.१६७)
खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९)

–धातुक–न., खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९)

–नाल–पु., वनस्पति० जीवन्तः (रापरि. ७.८९)

–पत्र–पु., वनस्पति० फोण्डालुः (रापरि. ७.३०)

–पत्रिका–पु., वनस्पति० नाकुली (रा. ७.१५२)
पुनर्नवाभेदः क्रूरः (रा. ५.४०६,२४)

–पद्म–न., वनस्पति० कमलभेदः, गुणाः–तिक्तं मधुरं कटु (रा.) शीतं वृष्यं सन्तर्पणं कफपित्तघ्नं (वातघ्नं) (रा.) सन्तापरक्तविकारघ्नं च (ध. ४.१५२)

हिं.—निलोफर, छोटा कन्वल, कृष्ण कमल.

बं.—सुलुक, रक्तोत्पल.

म.—लाल कमल.

गु.—निलोपल.

ता.—वेळम्बल, इन्दिरावचम्, अल्लितमरै.

–पल्लवक–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७१)

–पाक–पु., लक्षण० पक्वं रक्तम् (अहसू. २९.८-१०)

–पादा–स्त्री., सौम्यलताभेदः तस्या दंशलक्षणानि– दंशः आपाण्डुपिटकः शोफयुक्तश्च भवति रक्त-स्रावश्च (असंउ. ४१) इयं श्लेष्मविकारदाऽण्डजा च भवति (असंउ. ४४) द्र० 'लूता'

–पादी–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१०९)

–पान–न., रुधिरप्राशनम् (अहसू. २७.४३)

–पालेवत–न., वनस्पति० पारेवतम् (ध. ५.६६)

–पिण्डक–पु., वनस्पति० रक्तपिण्डालुः (रापरि. ७.२६)

–पिण्डालु–पु., वनस्पति० गुणाः– मधुराम्लो गुरु-र्वृष्यः शीतो बल्यः पित्तघ्नः श्रमदाहघ्नः (रापरि. ७.२६)

हिं.—रताल, पिण्डालु काँदु, शकरकन्दी.

म.—लाल रताळे, पांढरे रताळे.

गु.—रताल, शकरकन्द, श्वेताल.

बं.—लालपिण्डालु, गोलआलु, चुवडिआलु.

त.—यामस्कोलं.

फा.—जरदाक लाहोरी.

–पित्त–न., रोग० निरुक्तिः–संसर्गाल्लोहितप्रदूषणा-ल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्त-मित्याचक्षते (चनि. २.५) उत्पत्तिकथा–रक्तपित्त-प्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानामभवज्ज्वरमनु (चनि. २.१०) संप्राप्तिः–स्वहेतुभिः प्रकुपितं

पित्तं शरीरमनुसर्पद्यदैव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदैव लोहितं दूषयति (चनि. २.४) तच्त्रिविधमूर्ध्वगमधोगमुभयमार्गजं च (चनि. २.८) पूर्वरूपाणि–अनन्नाभिलाषो, भुक्तस्य विदाहः, शुक्ताम्लगन्धरसोद्गारश्छर्देरभीक्ष्णमागमनं छर्दितस्य बीभत्सता स्वरभेदो गात्रसदनं परिदाहो मुखाद्धूमागम इव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव चास्यस्य रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिङ्घाणकास्यकर्णमलपिडकोलिकापिडकानामङ्गवेदना लोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णम् (चनि. २.६) लक्षणम्–ऊर्ध्वगरक्तपित्तस्य–बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवतेऽधोगे तु बहुवाते शरीरे वातसंसर्गादधः प्रतिपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते। उभयगे तु बहुश्लेष्मवाते शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते। तौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य (चनि. २.८).

उपद्रवाः–दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च (चनि. २.७) रिष्टलक्षणानि–यत्कृष्णमथवा नीलं शक्रधनुष्प्रभं वा तथा यद्वाससो रञ्जनमतिमात्रं पूतिभूशं सर्वोपद्रवयुक्तबलमांसक्षयसहितं तदसाध्यम् (चनि. २.२३-२६) चिकित्सासूत्रम्–सन्तर्पणोत्थं बलिनो बहुदोषस्य नरस्य रक्तपित्तमूर्ध्वगं विरेकेण साधयेदधोगतं तु वमनेन, अपतर्पणोत्थं रक्तपित्तं दुर्बलस्याल्पदोषस्योर्ध्वगं शमनैरधोगं बृंहणैरुपाचरेदूर्ध्वगे तिक्तकषायकौ रसौ शमनार्थे प्रयुञ्जीत। अधोगे मधुरो रसो बृंहणार्थे देयः (अहृचि. २.५-७)

–पित्तचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (चचि. ४.१; अहृचि. २)

–पित्तनिदान–न., अध्यायसंज्ञा० (चनि. २; अहृनि. ३)

–पित्ताङ्कुश–पु., योग० पारदो हिङ्गुलः कुक्कुटाण्डरसो टङ्कणं गन्धकश्चेति सर्वं समभागं घृतेन परिमर्दयेत्। अनुपानं जीरककाथः। मर्यादादिनत्रयम्। मात्रा–माषः, अयं ग्रहणीरक्तपित्तघ्नः (र. १३.९-१३)

–पुष्प–पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.२)
अपामार्गः (ध. १.२६३)
अगस्त्यः (र. २७.३३)
बन्धूकः (रापरि. १०.३५)
पुंनागः (रापरि. १०.११)
पलाशः (ध. ५.१६१)

–(पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२७)

–(पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० आवर्तकः (रा. ३.२९३)
जपा (र. १५.२५-२८)
करुणी (रापरि. १०.२७)
उष्ट्रकाण्डी (रापरि. १०.४३]

–पुष्पक–पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६६)
शाल्मली (ध. ५.१२७)

–(पुष्पिका)–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)
पुनर्नवाभेदः क्रूरः (रा. ५.४०७) द्र० 'पुनर्नवा'
भूपाटली (रापरि. ५.४३)
पाटला (रा. ९.१५०)

–पूरक–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)

–प्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ४५)

–प्रसव–पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१२)
मुचुकुन्दः (रापरि. १०.२५)

–फल–पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२)
वटः (ध. ५.७६)

–(फला)–स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः बृन्ताकी (रा. ७.१२८) द्र० 'बृहती'
बिम्बी (ध. १.२०२)

–बिन्दु–पु., वनस्पति० अपामार्गः (रा.४.३९०)

–बिन्दुचिताङ्ग–वि., रक्तबिन्दुव्याप्तशरीरः (बालः) जन्तुकार्दितबालस्य लक्षणम् (कासू. २५.३९)

–बीज–पु., वनस्पति० दाडिमः (ध.२.६१)

–बीजका–स्त्री., वनस्पति० तरटी (रापरि. ८.३२)

–भेदन–न., रक्तस्रावणम् (सुउ. ४२.२०)

–मण्डल–न., लक्षण० रक्तवर्णं मण्डलम् (सुचि. ५.४) चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)
पु., मण्डलिसर्पः (सुक. ४.३४ (२)

–(मण्डला)–स्त्री., कीट० गलगोलिका (सुक. ८.२९)

–मत्ता–वि., रक्तपानेन मत्ता (जलौका) (अहृसू. २६.३९)

–मद–पु., रोग० रक्तजन्यो मदः (अहृसू.२६.४४)

-मारिष-पु., शाक० रक्तश्वेतभेदाद्विविधः, गुणाः-मधुरः शीतो विष्टम्भी गुरुः पित्तनुद्विषमाग्निजित् (र. १८.१३९-४१)
-मार्ग-पु., शारीर० रक्तस्य मार्गः, सिरास्रोतो-धमन्यादिः (चचि. २९.३५)
-मूलक-पु., वनस्पति० देवसर्षपकः (रापरि. ९.४२)
-मूला-स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६१)
-मूली-स्त्री., वनस्पति० समङ्गा (चसि. १०.३१)
-मेह-पु., रोग० प्रमेहः, शोणितजो व्याधिः (चसू. २४.१२)
-मोक्षण-न., रक्तस्रावविधिः (चसू. ७.१५) उपक्रम० (चसू. २३.८) दुष्टरक्तनिर्हरणार्थमुपयुज्यते, तस्य साधनानि सिराव्यधो विषाणमलाबुजलौका शस्त्रपदं च; उत्तानं दुष्टरक्तं पदैरवगाढं जलौकोभिरवगाढतरं तुम्बैरवगाढतमं विषाणेन, सार्वाङ्गिकमवगाढतमं सिराव्यधेन च निर्हरेत् (सुशा. ८.२५) तस्य महती मात्रा प्रस्थप्रमाणा प्रस्थश्चात्र सार्धत्रयोदशपलप्रमाणः (सुक. ५.३१-३२ ड.)
-यष्टिका-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
-यष्टी-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
-यावनाल-पु., वनस्पति० यावनालभेदः, तुवर-यावनालः (रा. १६.१७१)
-योनि-स्त्री., योनिरोग० असृग्दरः (चचि. ३०.८६,८७)
-रजस्-न., भैषज्य० सुवर्णगैरिकम् (ध. ३.१७०)
-राजि-पु., कीट० तस्य गुणाः-वायव्यो वातकोपनो वातविकारकारी (सुक. ८.५-८)
-राजिमत्स्य-पु., लोहितराजियुक्तो मत्स्यः (सुक. ३.५)
-राजी-स्त्री., कीट० गलगोलिका (सुक. ८.२९)
-रेणु-पु., खनिज० सिन्दूरम् (ध. ३.१०१)
वनस्पति० पुंनागः (रापरि. १०.११)
-रैवतक-न., वनस्पति० पारेवतभेदः, महापारेवतम् (रा. ११.९०) द्र० 'पारेवत'
-लक्षण-न., लक्षण० शुद्धार्तवलक्षणम् (सुशा. २.१८)
-ला-स्त्री., वनस्पति० काकादनी (रा. ३.४३)
मूर्वा (रा. ३.१०)
-वर्ग-पु., द्रव्यगण० कुसुम्भं खादिरो लाक्षा मञ्जिष्ठारक्तचन्दनं रक्तशिग्रुर्बन्धुजीवः कर्पूरगन्धिनी स्वर्णमाक्षिकं चेति (र.१०.९१)
-वर्त्मक-पु., पक्षि० कुक्कुभभेदः स्थूलकुक्कुभः (चसू. २७.४७)
-वर्षाभू-स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः, वसुकः (रा. ५.४०७) द्र० 'पुनर्नवा'
-वहस्रोतस्-न., शारीर० रक्तधातुवहस्रोतः रक्तवहे द्वे स्रोतसी, तन्मूलस्थानं यकृत्प्लीहानौ, वहनस्थानं रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, विद्धस्य लक्षणं-श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च (सुशा.९.१२) दुष्टिहेतुः-विदाह्यन्नपानस्निग्धोष्ण-द्रवान्नपानातपानलाः (चवि. ५.१४)
-वात-पु., रोग० तल्लक्षणानि पादयोरभितापः शोथश्च शरीरे च रक्तच्छाया (र. २१.४४)
-वारिज-न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (रा.१०.२४१)
-वाहिनी-स्त्री., शारीर० सिराभेदः रक्तस्य वाहिनी स्थानं यकृत्प्लीहानौ, संख्या पंचसप्ततिशतम् (सुशा. ७.६; सुशा. ९.१२)
-विद्रधि-पु., स्त्रीरोगः आर्तवजन्यविद्रधिः, स्त्रीणा-मपप्रजातानां प्रजातानां वा अहितसेवनात्कुक्षौ दाहज्वरयुक्तो विद्रधिः (सुनि. ९.२६)
-विस्फोट-पु., रोग० चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः, रक्तजा पिडका (चसू. २०.१४)
-विस्रावण-न., उपक्रम० रक्तमोक्षः, सर्पविषे श्रेष्ठ उपक्रमः (सुक. ५.१४-१५)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० रक्तचन्दनवृक्षः, तत्पुष्पशाक-गुणाः-कफपित्तहरं कुष्ठघ्नं च (सुसू. ४६.२८४)
-वृद्धि-स्त्री., रोग० मुष्कवृद्धिरोगभेदः, लक्षणम्-कृष्णस्फोटावृतां पक्वोदुम्बरसंकाशां ज्वरदाहोष्म-वतीमाशुसमुत्थानपाकां रक्तवृद्धिं वदन्ति (सुनि. १२.६)
-शाकिनी-स्त्री., वनस्पति० रक्तसहचरी, रक्तपुनर्नवा, रक्तदण्डपत्रं मारीषशाकं वा (र. १८.१०७)
-शालि-पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.६९)
शूकधान्यश्रेष्ठः (सुसू. २०.५) व्रीहिविशेषः (रा. १६.८७)
-शाल्य-पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०४)
-शिग्रु-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६६)
-शीर्षक-पु., जलचरपक्षिविशेषः, सारसभेदः (चसू. २७.४४)
-ष्ठीवन-न., (परिव०) लक्षण० लोहितस्य थूत्करणम् (सुनि. १६.२०-२१)

-ष्ठीविज्वर-पु., रोग० संनिपातज्वरभेदः, तल्लक्षणम्- ज्वरवमितृषामोहशूलातिसारहिक्काऽऽध्मानश्रमण-दवथुश्वाससंज्ञाप्रणाशाः रसना च विकृता श्यामा रक्ता मण्डलोत्थानरूपा; मर्यादा-दश दिनानि; व्याधिरयमसाध्यः (मानिज्वर. २०).
-सर्षपक-पु., वनस्पति० राजिका (ध. ४.६०)
-सहाख्य-पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा.१०.४१२)
-सार-पु., धातुसारविशेषः, अयं स्निग्धताम्रनख-नयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलः(सुसू. ३५.१६; चवि, ८.१०६)
वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
खदिरः (ध. १'२५)
रक्तचन्दनम् (ध. ३.४)
-सारमुख-पु., वनस्पति० व्रीहिः (ध. ६.७२)
-स्थापन-वि., रक्तं प्रच्युते रक्षति इति रक्तस्तम्भकम् (चचि. ३०.८७)
-स्राव-पु., नेत्ररोग० रक्तास्राः बहूष्णं चाश्रु संस्रवेत् (असंउ. १३)
-स्राव-पु., नेत्ररोग० रक्तस्रावः (सुउ. १.३६)
-स्राविन्-पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (ध. २.९६)
-स्रुति-स्त्री., लक्षण० रक्तस्रावः (अहसू. ११.३०)
रक्तक-पु., वनस्पति० चन्दनभेदः, रक्तचन्दनम् (रा. १२.१२) द्र० 'चन्दन'
शिग्रुः (ध. ४.४०)
रक्तशिग्रुः (रा. ७.६६)
अशोकः (ध. ५.१५९)
न., प्राचीनामलकम् (ध. १.२१८)
न., खनिज० ताम्रम् (ध. ६.९)
रक्ताक्ष-वि., लक्षण० रक्तनेत्रः (असंशा. २)
रक्तागम-पु., रक्तनिर्गमनम् (सुउ. ४१.१२)
रक्तागस्त्य-पु., वनस्पति० अगस्त्यः (र. १८.४७-५२)
रक्ताङ्कुर-पु., भैषज्य० प्रवालम् (रा. १३.७३)
रक्ताङ्ग-पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१११)
कम्पिल्लकः (ध. ३.१३८)
भैषज्य० प्रवालम् (रा. १३.७३)
(रक्ताङ्गी)-स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)
रक्ताङ्कुल-न., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०७)
रक्तातिसार-पु., रोग० सरक्तपुरीषातिविसर्गलक्षणः (चसू. २.२१) पित्तातिसारिणोऽतिमात्रपित्तलान्न-पानादिसेवनाद्रक्तातिसारः प्रभवति, ततश्च ज्वर-शूलतृड्दाहा गुदपाकश्च जायते (चचि. १९.७०)
रक्तात्मक-पु , रोग० रक्तजशिरोरोगः (सुउ. २५.८)
रक्तानिलार्ति-स्त्री., रोग० रक्तवातप्रधानो रोगः (चसू. ३.२२)
रक्तानुगत-वि., दुष्टरक्तसंबद्धः (सुचि. ३.२३)
रक्तान्तनेत्र-वि., नेत्रस्य प्रान्तभागे रक्तवर्णो यस्य, सः (सुशा. ४.७४)
रक्तापामार्ग-पु., वनस्पति० अपामार्गः (र. ५.२५०)
रक्तापह-न.,वनस्पतिनिर्यास० बोलम् (रा. ६.११६)
रक्ताभिपन्न-पु., नेत्ररोग० रक्ताभिष्यन्दः। लक्षणानि- ताम्रा श्रुता लोहितनेत्रता समन्तादतिलोहितराज्यश्च दाहप्रपाकः शिशिराभिनन्दा धूमायनमुष्णाश्रुता पीतनेत्रता च (सुउ. ६.९)
रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेध-पु., अध्याय० (सुउ. १२)
रक्तामलान्तक-पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१२)
रक्तामृत-न., विषभेदः; शुभं वर्णे यथोक्तवर्णं गन्धरस-स्पर्शसंपत्तिविशिष्टं नूतनं महाविषं रक्तशृङ्गीकमिति केचिद्वदन्ति (र. २१.११७-२०) द्र० ' विष '
रक्ताम्भोज-न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (रा. १०.२४१)
रक्ताम्र-पु., वनस्पति० क्षुद्राम्रः (रा. ११.६)
रक्ताऽम्लान-पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. ४१२)
रक्तालु-पु., वनस्पति० रक्तपिण्डालुः (रापरि. ७.२६)
रक्तालुक-न., वनस्पति० रक्तपिण्डालुः (सुसू.४६.२९८)
रक्तावसेक-पु., उपक्रम० रक्तनिर्हरणम् (चचि. ५.३२)
रक्ताशय-पु., आशयविशेषः शोणितस्थानभूतौ यकृत्प्लीहानौ (सुसू. २२.९; सुशा. ५.८)
रक्तास्राव-पु., नेत्ररोग० सरक्तोष्णप्रभूतनाति-सान्द्रस्रावयुक्तः; असाध्योऽयम् (सुउ. २.७)
(रक्तिका)-स्त्री., वनस्पति० काकमाचीभेदः चूडामणिः (रा. ३.४७) द्र० 'काकमाची'
राजिका (रा. १६.९०)
रक्तिन्-वि., रक्तदोषी (चसू. ५.४२)
रक्तेक्षु-पु., वनस्पति० इक्षु० (रा.१४.१८९)
रक्तेर्वारु-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७३)
रक्तैरण्ड-पु., वनस्पति० एरण्डविशेषः (ध. १.२९६)
रक्तैरण्डतैल-न., अस्मिंस्तैक्ष्ण्यौष्ण्यादिगुणा एरण्डतैला-पेक्षया तीव्रतराः (अहसू. ५.५८)
रक्तोत्पल-न., रोग० रक्तपद्मम् (रा. १०.२४१)
रक्तोदर-न., रोग० रक्तगुल्मः (र. १८.७१)
रक्तोदरकुठार-पु., योग० पारदजेपालादियुक्तः (र. १८.७१)

रक्तोपसृष्ट-वि., रक्तदूषितः (सुनि. १६.९)
रक्षणी-स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा. ५.३७९)
रक्षस्-न., योनि० रक्षांसि रावणानुचरादीनि (सुस. ३१.३१ ड.)
पु., प्राणि० गवयः (ध. ६.३५)
(रक्षो-)ग्रह-पु., ग्रह० जुष्टलक्षणम्-मांसरक्तमाध्वीकादिनानासुराविकारास्वादनेच्छा निर्लज्जत्वमतिनैष्ठुर्यं शौर्यं निद्रा बलं निशाविहारोऽशुचित्वं च (सुउ. ६०.१४)
-घ्न-वि., रक्षसां विध्वंसकरम् (सुचि. ३०.१४-१५)
पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८)
श्वेतसर्षपः (सुउ. ६०.४९)
-धूप-पु., वचादिद्रव्याणां धूपः, व्रणे बालरोगे चोपयुज्यते, शयनादावपि दौर्गन्ध्यनाशनार्थमुपयुज्यते (सुस. ५.१७)
-(ध्री)-स्त्री., वनस्पति० वचा (रा. ६.८)
सर्षपभेदः (चचि. २३.७९)
-भय-न., राक्षसभयम् (सुस. ५.२०)
-हन्-पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.८४)
रक्षा-स्त्री., रक्षणविधिः (चशा. ८.४७)
स्वस्त्ययनम् (सुउ. २८.१०)
-कल्प-पु., रक्षया सहितः कल्पः (सुक. १.१)
-विधान-न., निशाचरेभ्यो रक्षणम् (सुचि. १.८. चशा. ८.४७)
-शक्ति-स्त्री., मन्त्रितद्रव्य० (असंसू. ८)
रङ्ग-पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.४१)
नारङ्गः (रा. ११.२४)
न., खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३)
(रङ्गा)-स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१)
-काष्ठ-न., वनस्पति० कुचन्दनम् (रा. १२.१२)
-कुष्ठक-पु., वनस्पति० हिमावली (रापरि. ६.१८)
-क्षार-पु., खनिज० टङ्कणः (रा. ६.२८)
-द-पु., खनिज० टङ्कणः (रा. ६.२८)
निर्यास० खदिरसारः (रा. ८.४१)
-दायक-न., खनिज० कङ्कुष्ठम् (रा. १३.२००)
-नायक-न., खनिज० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)
-पत्री-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५१)
-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५१)
-मातृ-स्त्री., वनस्पति० लाक्षा (ध. ३.८२)
-योग-पु., रङ्गयोजना (सुचि. २७.४)
रङ्गक-पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२०)
रङ्गिणी-स्त्री., वनस्पति० शतावरीभेदः (रा. १.२९३)
हरिद्रा (ध. १.५५)
रङ्गुलता-स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (रा. ३.२९६)
रजत-न., खनिज० रौप्यम्, तत् त्रिविधं-सहजं खनिजातं कृत्रिममिति तत्र पूर्वपूर्वमुत्तमम् (र. ५.२४; चचि. १.५८; ध. ६.५)
-प्रभ-पु., वनस्पति० सोमभेदः (सुचि. २९.५)
रजतोपल-पु., खनिज० रौप्यमाक्षिकम् (र. ३०.३५)
रजनक-पु., वनस्पति० कम्पिल्लकः (अहसू. १५.४५)
रजनी-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (सुचि. २८.३; ध.१.५४)
-चर-पु., योनि० निशाचरः (चशा. २.१०)
-द्वय-न., वनस्पति० पिण्डहरिद्रा दारुहरिद्रा च (ड. सुउ. ३९०.२३०)
-पुष्प-पु., वनस्पति० करञ्जः, उदकीर्यः, (रा. ९.१८०)
रजन्यादियोग-पु., योग० वृश्चिकदंशे प्रच्छिते रजनीसैन्धवब्योषशिरीषफलपुष्पैश्चूर्णैर्दुष्टरक्तप्रवर्तनार्थं प्रतिसारणम् (सुक. ८.६७-६८)
रजस्-न., स्त्रिया आर्तवम् (चशा. ४.७)
प्रकृतेस्त्रिगुणेष्वेको गुणः, अयमप्रीत्यात्मको दुःखरूपः प्रवृत्तिकर उपष्टम्भकश्चलो गुणः (सुशा. १.३)
मानसदोषयोरेकः (चसू. १.५७)
अयोरजः (चचि. १६.८२)
मान० षड्यूकाः=१ रजः (र.११.१)
चूर्णम् (र. २.४९)
धूलिः (सुउ. ५०.३)
क्षारयोः रजः (र. १५.६९)
अष्टरूपायाः प्रकृतेर्गुणः, प्राणेष्वेकः (सुशा. ४.३)
वनस्पति० पर्पट (ध. १.४५)
-(रजस्)-वला-स्त्री., मासिकरजःस्रावयुता स्त्री (चचि. ३०.१६५) दृष्टार्तवा (सुउ.६१.५)
-(रजः) क्षय-पु., लक्षण० आर्तवक्षयः (चशा. २.३)
-पथ-पु., शारीर० योनिमार्गो योनिर्वा (असंउ. ३८.३१९)
-शूल-पु., लक्षण० आर्तवशूलः (र. २.१७५)
(रजो) दोष-पु., आर्तवदोषः (चचि. ३०.९५)
(रजो) नाश-पु., लक्षण० स्त्रीणां पुष्पनाशः, आर्तवनाशः (अहसू. १९.३)
(रजो) बहुल-वि., रजोगुणप्रबलः रजोगुणभूयिष्ठः (सुनि. १.८)

(रजो)वहसिरा–स्त्री., शारीर० सिरा० गर्भाशयगता रजोवाहिनी नाडी (चचि. ३०.२०७)

रजोद्भव–पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४.)

रज्जु–स्त्री., मुञ्जबल्वजादिनिर्मिता व्रणबन्धनद्रव्येष्वेका, सूत्रम् (सुसू. १८.१६)

रञ्जक–न., रञ्जनकारकम् पञ्चपित्तेष्वेकम् (असंसू. २०.५)

यकृत्प्लीन्होःपित्तं रञ्जकोऽग्निः स रसस्य रागकृत् (सुसू. २१.१०)

आमाशयाश्रितं पित्तं रञ्जकम् (अहसू. १२.१३)

खनिज० हिङ्गुलम् (१३.४८) 'पित्त'

खनिज० कान्तलोहभेदः (ध. ६.२९)

(रञ्जिका)–स्त्री., वनस्पति० भङ्गा (ध.१.१३०)

–पित्त–न., पञ्चपित्तेष्वेकम् (अहसू. १२.१३) द्र० 'दोष', 'पित्त'

रञ्जन–पु., वनस्पति० कम्पिल्लकः (ध. ३.१८)

मुञ्जः (रा. ८.२०५)

न., रागद्रव्यम् (चशा. ८.१७)

खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३,४७)

यथाविधिसाधितेन सुवर्णादिबीजधातूनां जारणेन जायमानस्य पारदस्य पीतादिवर्णः (र. ८.८६)

(रञ्जनी)–स्त्री., वनस्पति० जंतुकारी (ध. ४.८८)

ताम्बूली (ध. परि. ३.३)

नीली (ध. १.२३२)

हरिद्रा (रा. ६.७९)

रञ्जनक–पु., वनस्पति० कट्फलम् (रा. ८.१०१)

रञ्जिनी–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५४)

रणप्रिय–न., वनस्पति० उशीरम् (ध. ३.१४)

रण्डा–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (चक. १२.४)

रत–वि., तत्परः, मग्नः, आहितचित्तः (सुचि. ३७.६२)

(रती)–स्त्री., मान० एका गुञ्जा (र. १८.२०८)

रतिकाम–वि., रतिरूपस्य काम्यार्थस्य प्रार्थिता (चचि. ९.२३)

रत्न–न., मणिः (सुचि. २४.६५) नवरत्नानि–मुक्ताफलं, हीरकं, वैडूर्यं, पद्मरागकं, पुष्परागं, गोमेदं, नीलं, गारुत्मतं, प्रवालम् (ध. ७.८९)

उत्पत्तिस्थानानि–खनिः सागरादयश्च (र.. ४.३६-३७) तेषां शोधनम्–माणिक्यं जम्बीरादिनाऽम्लेन, मौक्तिकं जयन्त्यारसेन, विद्रुमं यवक्षारादि–क्षारवर्गेण, तार्क्ष्यं गोदुग्धैः, पुष्परागं कुलत्थक्काथयुक्तैः काञ्जिकविशेषैः, वज्रं–हीरकं तण्डुलीयजलैः, नीलमणिर्नीलिनीरसेन, गोमेदं गोरोचनाभिः, वैदूर्यं त्रिफलाक्काथैः शुध्यति (र. ४.६१-६५) तेषां मारणम्, वज्रं विनाऽष्टौ शेषरत्नानि समभागशिलागन्धकतालकैः सह लकुचद्रावेण संमर्दितैरष्टपुटैर्म्रियन्ते । (र. ४.६६) वज्रं मत्कुणरक्तेन सप्तवारं विलिप्तं विशोषितं कासमर्दरसपूर्णलोहपात्रे निवेशितं सप्तवारं परिध्मातं सत् म्रियते । (र. ४.४४-४५) तेषां प्रतिविधानम्– रामठादिसर्वं यत्नतः संमर्द्य गोलकं कृत्वा तन्मध्ये जातान्युत्तमानि नवरत्नानि क्षिपेत् । ततस्तं गोलकं भूर्जपत्रे स्थापयित्वा सूत्रेणावेष्टय पुनश्च वस्त्रेण सम्यग्वेष्टनं कृत्वा समस्ताम्लपदार्थसहितेन काञ्जिकेन पूर्णे घटे गोलकं दोलायन्त्रे स्थापयित्वा दिनत्रयपर्यन्तं तीक्ष्णाग्निना स्वेदयेत्, ततो दोलायन्त्राद् गोलकं गृहीत्वा, काञ्जिकेन क्षालयेत् । अनन्तरं तस्माद् रत्नाद् द्युतिमाहरेत् । सा द्युतिः रत्नतुल्यप्रभा । यस्य रत्नस्य या द्युतिः, सा तद्रत्नवर्णा भवति (र. ४.६७-७२) प्रतिरत्ननियतनवग्रहनामानि–माणिक्यं रविः, मुक्ता सोमः, विद्रुमं भौमः, तार्क्ष्यं बुधः, पुष्पं गुरुः, भिदुरं शुक्रः, नीलं शनिः, गोमेदकं राहुः, वैडूर्यं केतुः (र. ४.६)

रत्नधारणगुणाः–रक्षोघ्नमौजस्यमुत्तमं सौभाग्यकरं प्रीतिवर्धनं च (सुचि. २४.६४-६५) तथा धन्यं मङ्गल्यं श्रीमद् आयुष्यं व्यसनसूदनं हर्षणमोजस्यं काम्यं च (चसू. ५.९७)

खनिज० हीरकम् (ध. ६.५६)

प्रवालम् (र. २३.४०)

मौक्तिकम् (र. २३.४०)

–करण्डक–पु., पारदयोग० भूनागाभ्रकसत्वकान्तादिसिद्धः, अयं शूलज्वरग्रहणीकासनाशकः (र. १३.३६)

–केतुधारिणी–स्त्री., मंत्रविद्या० रत्नकेतुनाम्ना धारिणीति सौगतादीनां नाम बौद्धादीनां या प्रसिद्धा सा (इन्दुः असंउ. १)

–कोश–पु., सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः आचार्यः (र. १.२-५)

–घोष–पु., प्राचीनो रसाचार्यः अयं सप्तविंशति रसाचार्याणामेकतमः (र. ६.४९-५२)

रत्नाकर–पु., भैषज्य० समुद्रफेनः (र. २३.३९)

रत्नाभरणधारण–न., रत्नालङ्कारधारणम् इदं धन्यत्वादिकरम् (चसू. ५.९७) 'द्र० रत्न'
रथ–पु., यानम्, प्रवहणम् (असंसू. ८.४३)
वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)
–कार–पु., लोहकारः (सुचि. ५.१८)
–क्षोभ–पु., यानयात्राजन्यक्षोभः (चसि. १२.१४(४))
–चर्या–स्त्री., रथेन गमनं नाम पर्यटनम् (सुचि. ११.११)
रथाक्ष–पु., रथस्य चक्राधारः (असंसू. ३.५७)
रथाङ्ग पु., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)
न., चक्रम् (सुक. ४.२२)
वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५)
(रथाङ्गी)–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५)
रथक–न., त्रिचक्रयुक्तो बालरथः स च बालानां गमनाभ्यासोपयोगी (काचि. फक्कचि.)
(रथिका)–स्त्री., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)
रथ्या–स्त्री., मार्गः (चचि. ९.२०)
रदन–पु., शारीर० दन्तः (असंशा. ११.३)
रदित–न., दंश० अयं विलिखितोऽनवगाढश्च सर्पदंशः (ड. सुक. ४.१७)
रन्ध्रकण्ट–पु., वनस्पति० जालबर्बुरः (रापरि. ८.१४)
रन्ध्रण–न., बन्धनम् (र. १०.५) पारदादिबन्धनम् (र. ९.६७)
रन्ध्रपत्र–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८.२२२)
रन्ध्रवंश–पु., वनस्पति० वंशः (रा. ७.२१६)
रन्ध्राण–न., बन्धनम् (र. १०.५)
रन्ध्री–स्त्री., वनस्पति० नलः (ध. ४.१४१)
रपक्ष–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. २०.२२२)
रमण–पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः (रा. ९.४८)
रम्भा–स्त्री., वनस्पति० कदली (ध. ४.७५; र, २०.१७६)
रम्यक–पु., वनस्पति० महानिम्बः (सुसू. ३८.२९-३०, ध. १.३१)
न., पटोलमूलम् (सुसू. ३९.४)
रम्यपुष्प–पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२)
रम्यफल–पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)
रम्या–स्त्री., वनस्पति० विशाला (रा. ३.३७५)
पद्मिनी (रा. ५.१३२)
रल्लक–पु., प्राणि० अस्य जिह्वामुखमण्डितिकाजुष्टस्य धारयितुमुपयुज्यते (इन्दु. असंउ. ६०.५७)
रव–पु., वनस्पति० तिन्दुकः (रा. ११.४०)
रवक–पु., रेणुः सत्त्वकणः (र. २.३४; र. ५.२३०)
रवि–पु., खनिज० ताम्रम् (र. ५.१६६)
वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३)
–जधर–पु., भैषज्य० रविजो यमः तं धरति धारयति इति रविजधरो महिषः तत्पर्यायत्वात् महिषो गुग्गुलुर्ज्ञेयः महिषः गुग्गुलुः (र. ३०.५७)
–तप्ततोय–न., रविणा तप्तं जलम् (चचि. १२.६७)
–ताण्डव–पु., पारदयोग० पारदगंधकताम्रादिसिद्धोऽयं भगन्दरनाशकः (र. २४.१२४)
–प्रिय–न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (रा. १०.२४१)
–लौह–न., खनिज० ताम्रम् (रा. १३.११)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० आदित्यवल्ली (असंउ. १.१४)
रवीष्ट–पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)
(रवीष्टा)–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला आदित्यभक्ता (रा. १४.४)
रश्मि–पु., किरणः (र. २.३२)
–जाल–न., खनिज० रौप्यम् (ध.६.६)
रस–पु., जलम् (रा. १४.३१८)
क्वाथः (चचि. ७.१३१)
स्वरसः (र. २.१९)
मांसरसः (चसि. १.११)
अभिरुचिः (१.५७)
वनस्पति० इक्षुरसः, इक्षुः (चसू. २७.२३७)
जातिपत्ररसः, जातिपत्रं (ड. सुउ. १७.१२-१३)
आमलकीपत्ररसः, आमलकी (सुउ. १७.१२-१३)
भैषज्य० बोलम् (ध. ३.६२; चचि. २८.१५२)
खनिज० पारदः (र. १.६६)
रसकम् (र. १२.१६०)
सिल्हकम् (र. २२.१६७)
शिलारसः (र. २२.१६७)
आहाररसः (चसू. २८.४)
शारीरधातु० सप्तधातुष्वेकः, रसधातुः (चसू. १३.१४) अन्नजन्यः प्रथमो देहधातुः (चचि. १५.१७)
रसनाग्राह्यो गुणस्तस्य जलं योनिः (सुसू. ४२.३)
मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायाः षड्रसाः;
तदुत्पत्तिः–पृथिव्युदकाभ्यामुल्बणाभ्यां मधुररसस्य, तेजःपृथिवीभ्यामम्लस्य, उदकतेजोभ्यां लवणस्य, वाय्वाकाशाभ्यां तिक्तस्य, तेजोवायुभ्यां कटुकस्य, वायुपृथिवीभ्यां कषायस्योत्पत्तिर्भवति (अहसू. १०.१) तेषां रूपाणि–तत्र मधुररसरूपम्–वक्त्र-

मनुलिम्पत्यास्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः पिपीलिकादीनां प्रियः च; अम्लरूपम्– मुखक्षालनः रोमहर्षणो दन्तहर्षणोऽक्षिभ्रुवनिकोचनः; लवणरूपम्–आस्यं स्यन्दयति कपोलगलदाहं च करोति; तिक्तरूपम्–आस्यं विशदयति, रसनां प्रतिहन्ति; कटुरूपम्–जिह्वाग्रमुद्वेजयति, चिमिचिमां कुर्वन्नक्षिनासास्यं स्रावयति, कपोलौ दहति; कषायरूपं–जिह्वां जडयेत्, कण्ठस्रोतोविबन्धं च कुर्यात् (अहसू.१०.२-६) तद्विपाकाः–मधुरलवणयोर्मधुरो विपाकः; अम्लस्य अम्ल एव, कटुतिक्तकषायाणां कटुः (अहसू. ९.२१) तेषां वीर्याणि–शीतवीर्यरसाः–मधुरस्तिक्तः कषायश्च; उष्णवीर्याः अम्लो लवणः कटुः; तेषां गुणाः–स्निग्धरसाः–मधुराम्ललवणाः, रूक्षरसाः–तिक्तकटुकषायाः; गुरुरसाः–मधुरलवणकषायाः, लघुरसाः– अम्लकटुतिक्ताः (अहसू. १०.३७-३९) तेषां कर्माणि–मधुररसस्य कर्माणि–सप्तधातुवर्धनः ओजः स्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत् संधानो रसरक्तप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितस्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकरश्च; अम्लकर्माणि–जरणो दीपनः पाचनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही, बहिःशीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्च; लवणकर्माणि–संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्च; कटुकर्माणि–दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनः सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता च; तिक्तकर्माणि–छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्च; कषायकर्माणि–संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्च (चसू. २६.४३; सुसू. ४२.१०) तेषामतियोगलक्षणानि–मधुरातियोगः–कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्बुदश्लीपदबस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति । अम्लातियोगः– दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नशूनप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति। लवणातियोगः– गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणितास्लीकाप्रभृतीनापादयति रोगान् । कटुरसातियोगः– भ्रममदगलतालुओष्ठशोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति । तिक्तातियोगः– गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति। कषायातियोगः– हृत्पीडास्यशोषोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमुचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीन् जनयति रोगान् (चसू. २६.४३; सुसू. ४२.१०) मधुरादिरसगणाः– द्राक्षामधूवेक्षुक्षौद्रगुडदुग्धादिर्मधुरो गणः; आमलकीमातुलुङ्गाम्लीकाम्लवेतसदाडिमदधितक्रादिरम्लो गणः, सौवर्चलसामुद्रसैन्धवादिर्लवणो गणः, भूनिम्बनिम्बकटुकीचन्दनहरिद्रादिः तिक्तो गणः, हिङ्गुमरिचपंचकोलादिः कटुर्गणोः, हरीतकीखदिरोदुम्बरमुक्ताप्रवालादिः कषायो गणः
(चवि. ८.१३९-१४४; अहसू. १०.२२-३२)
षण्णां रसानां संयोगात् त्रिषष्टिः रसभेदाः भवन्ति
(सुसू. ४२.१२)

(**रसा**)–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (ध. १.२७०)
सुरा, मद्यम् (ध. ६.२५५)

–**क्रिया**–स्त्री., कल्प० घनीभूतरसस्य संज्ञा
(चचि. २६.२०२) माक्षिकादिना यद् द्रवीक्रियते द्रव्यं, सा रसक्रिया (अरु.) अवलेहः (हे अहसू. २२.१३) फाणिताकृतिः, 'गृहीत्वा क्राथकल्केन क्राथं पूतं पुनः पुनः। क्राथयेत्फाणिताकारमेषा प्रोक्ता रसक्रिया (ड. सुउ. १०.७) सम्यक्सिद्धलक्षणम् नातितनुर्नातिघनां शलाकोपलेपक्षमा अङ्गल्युपलेपक्षमा वा (सुउ. १८.१०६) सा च उपक्रमत्वेन शोधनरोपणभेदेन द्विधा
(सुचि. १.८)

–**क्रियाकल्पन**–न., कल्प० रस क्रिया (सुचि.१.७३)

–**क्षय**–पु., लक्षण० रसधातुयुक्तप्रमाणहीनत्वं द्र० 'रसधातु' (सुसू. १५.९)

–**गन्ध**–न., भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११७)

–**गन्धक**–पु., खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६७)

–**गर्भ**–न., खनिज० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)
भैषज्य० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)
खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४८)

–**घ्न**–पु., खनिज० टङ्कणः (रा. ६.२८)

-चिन्तक-वि., रसवेत्ता (भिषक्) (चसू. २६.२४)
-ज-वि., रसात् जायते इति (चशा. ३.३)
रसदोषेण जातः (चसू. २८.२५)
आहारद्रव्य० गुडः (रा. १४.१९८)
-जभाव-पु., रसेभ्यः परिणतेभ्यः संजातः भावः तेन गर्भस्य शरीरोपचयो बलं वर्णःस्थितिर्हानिश्च (सुशा. ३.३३)
-जात-न., खनिज० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)
-तन्मात्र-न., पञ्चतन्मात्रेष्वेकम् तच्च रसतन्मात्रम् अनुद्भूतो रसः सूक्ष्मं जलम् (सुशा. १.४)
-दालिका-स्त्री., वनस्पति० इक्षुभेदः करङ्कशालिः (रा. १४.१८५)
-देश-पु., रसतो देशभेदः, स च जाङ्गलानूपसाधारणभेदात् त्रिधा (असंसू. १८.२८)
-दोष-पु., पारददोषः (र. ११.१७-२०)
जलदोष, द्र० ' जल ' (सुसू. ४५.११)
-दोषज-वि., दोषदूषितरसजाता विकाराः तेच अन्नाश्रद्धाऽरोचकोऽविपाकोऽङ्गमर्दो ज्वरो ह्लासस्तृप्तिर्गौरवं हृद्रोगः, कार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालवलीपलितदर्शनानि (सुसू. २४.९) तन्द्रा तमः पाण्डुत्वं स्रोतोरोधः क्लैब्यम् अग्निनाशश्च (चसू. २८.९-१०)
-दोषसन्निपात-पु., रसानां दोषाणां चान्तःशरीरमेलकः (चवि. १.७)
-धातु-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४२)
शारीरधातु० सप्तधातुष्वेकः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः (सुसू. १४.१३) पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याऽऽहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः, स रस इत्युच्यते। तस्य हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्गतिः उपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः । स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते (सुसू. १४.३) स सर्वरसानां प्रीणयिता, तस्मात् पुरुषं रसजं विद्यात् । ततोऽन्नाऽन्नपानादाचार रसं प्रयत्नतो रक्षेत् (सुसू. १४.१२) त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कलाः स एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते । एवं मासेन रसः शुक्रं, स्त्रीणां चार्तवं भवति (सुसू. १४.१४) रसकर्माणि-तुष्टिः, प्रीणनं, रक्तपुष्टिश्च (सुसू. १५.५) रसक्षयलक्षणानि-हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा(सुसू.१५.९) रौक्ष्यं, श्रमो, ग्लानिः, शब्दासहिष्णुता च (अहसू. ११.१७) रसवृद्धिलक्षणानि-हृदयोत्क्लेदः प्रसेकश्च (सुसू. १५.१४) गौरवालस्यश्वासकासातिनिद्रताः श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वमग्निसदनम् (अहसू. ११.७) रसनिमित्तमेव स्थौल्यं काश्यं च (सुसू. १५.३२)
-नाथ-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४०)
-नाभ-न., खनिज० रसाञ्जनम् (रा. १३.२२२)
-निगम-पु., रसग्रन्थ० (र. ८.९९)
-पङ्क-पु., पारदयोग० गन्धकादिधातुभिः सह मेलनेन द्रवेण मर्दिता पारदस्य कज्जली (र. ८.६)
-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० पालक्या (र. १०.८१)
चुक्रम् (र. १०.८१)
कपित्थम् (र. १०.८१)
-पाकज-पु., आहारद्रव्य० गुडः (ध. ४.१२८)
-पुष्प-पु., वनस्पति० जलदः (ध. ५.४९)
-प्रदोषज-वि., रसप्रदोषेण जनितः रसदोषजः (चसू. २८.११)
-प्रभाव-पु., रसस्य कर्मविशेषकारित्वम् (चवि. १.१२)
-प्रलेपिन्-वि., रसप्रलेपनरूपतया निर्वृत्तं रसप्रलेह इति यावत् (चक्र. चचि. २४.१२८)
-प्रवाहिन्-वि., रसवहम् स्रोतः (सुउ. ३९.१७)
-प्रसाद-पु., रसस्य सारः, ' रसस्य प्रसन्नो भागः ' (सुनि. १०.१८)
-फल-पु., वनस्पति० नारिकेलः (ध. ५.७४)
-बोधन-न., रसस्य रसनया ज्ञानम् (अहसू. १२.१७)
-भस्म-पु., पारदयोग० पारदभस्म (र. ३०.११-१३)
-भावित-वि., मांसरसभावितम् (सुउ. १७.१३-१४)
-भेद-पु., रसस्य भेदो नाम प्रकारः (सुउ. ६३.३)
-भेदविकल्प-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ६३.१)
-भैरव-पु., पारदस्य शिवलिङ्गम् (र. ७.३)
-मण्डप-न., रसशालासमीपस्थं ध्वजच्छत्रवितानाढ्यं पारदनिर्मितशिवलिङ्गस्य स्थानम् (र. ६.१३)

-मूर्च्छित-वि., रससंयुतः (सुउ. ४२.१३१-१३२)
-यवागू-स्त्री., मांसरसयवागुः दन्तहर्षविकारे उपयुक्ता (सुचि. २२.३५)
-योनित्व-न., द्रवसंबन्धादेवाम्लादीनामुपपन्नम् (चसि.१०.१४)
-रञ्जन-न., रसस्य रञ्जनम् (अहसू. १२.१३)
-रत्नसमुच्चय-पु., रसग्रंथ० सिंहगुप्तसूनुना वाग्भटेन विरचितो रसोपरसधातूपधातुविषयको ग्रन्थः, अयमेव सिंहगुप्तसूनुर्वाग्भटअष्टाङ्गहृदयकाराद् वाग्भटात् अर्वाक्कालभवः इति ज्ञेयम् (र.१.८)
-राज-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४०)
-लिङ्ग-न., पारदशिवलिङ्गम् (र. १.२४)
-लोह-पु., न., खनिज० पारदः (ध. ६.३७)
-वर्त्मन्-न., आहाररसस्य संचारमार्गः, मार्गेणैतेन धातुपोषणं भवति (सुउ. ४१.९)
-वह-वि., रसवहं (स्रोतः) (चनि. १.२०)
(-वहा)-स्त्री., रसवहस्रोतः (असंशा. ४)
-वहस्रोतस्-न., शारीर० स्रोतो० रसधातोः प्रभवस्य वहनस्य च स्थानम् (चवि. ५.७) रसवहानि बहूनि स्रोतांसि चरकमते, सुश्रुतमते तु रसवहे द्वे स्रोतसी (सुशा. ९.१२) रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः (चवि. ५.८) रसवहस्रोतोद्वयस्य मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः (सुशा. ९.१२)
गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नतां रसवहानि स्रोतांसि दुष्यन्ति, तथैव चिन्त्यानामतिचिन्तनादपि तद्दुष्टिः संभवति (चवि. ५.१३) रसधातुप्रदोषजा रोगा एव रसवहस्रोतसां रोगा विज्ञेयाः (चसू. २८.९-११) रसवहस्रोतोविद्धस्य लक्षणानि प्राणवहस्रोतोविद्धवद्भवन्ति, तानि तु क्रोशनविनमन-मोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वेति (सुशा. ९.१२)
-वाहिन्-वि., शारीर० रसवहम् (स्रोतः) (असंशा. ६.४३)
-वाहिनी-स्त्री., शारीर० गर्भपोषणार्थं मातृहृदयगर्भ-नाभिप्रतिबद्धा नाडी (चशा.४.१५)
-वाहिस्रोतस्-न., शारीर० रसवहस्रोतः (चवि. ५.१३)
-वाहि-धमनी-स्त्री., रसवहस्रोतःसंबन्धिनी धमनी (सुशा. ९.१२) अत्र वृत्तौ पुंवद्भाव इति रस-वाहिनीशब्दस्थाने रसवाहिपदनिवेशो युक्त एव ।
-विकल्पज्ञ-वि., रसविकल्पं जानानः (चसू. २६.२७)
-विमान-न., अध्यायसंज्ञा० (चवि. १.१)
-विरुद्ध-वि., रसतो विरुद्धम् (सुसू. २०.१६) द्र० 'विरुद्ध'
-विशारद-वि., रसवीर्यविपाकविशारदः, विषविशारदः (सुसू. ३४.७)
-विशेष-पु., रसनेन्द्रियविज्ञेयःप्रमेहादिषु माक्षिका-पिपीलिकाद्युपसर्पणेनानुमेयो मधुरादिरसविशेषः (सुसू. १०.५)
-विशेषविज्ञानीय-वि., रसविशेषविज्ञानमधिकृत्य कृतः (अध्यायसंज्ञा०) (सुसू. ४२.१)
-वेदिनी-स्त्री., शा० सिराविशेषः, जिह्वायां वर्तमाना सिरा (असंशा. ६.१७)
-वैद्यक-न., रसशास्त्रम् (र. ७.२८)
-व्यापद्-स्त्री., मधुरादिरसजन्यविकारः (सुसू. ६.३)
-शुक्त-न., आसुत० इक्षुरसादिकृतं शुक्तम् (सुसू. ४५.२१२)
-शेषाजीर्ण-न., रोग० अजीर्णभेदः (अहसू. ८.२९) तल्लक्षणम्-आहारस्यैव पक्वस्योर्वीरितो रसो रसशेषस्तद्भवमजीर्णम्, तत्रोद्गारशुद्धावपि भक्त-काङ्क्षा न जायते, हृद्रुग्ता लालास्रावश्च भवति (सुसू. ४६.४९९-५०३)
-संपद्-स्त्री., रससंपत्तिः (सुसू. ६.३)
-संयोग-वि., रसे स्नेहार्थोक्तरसे उचितः संयोगो येषां, ते रससंयोगाः (चक. चसू. १३.८४)
-संयोगसंग्रह-पु., रससंयोगानां संग्रहणम् (चसू. १३.८४)
-संवहन-न., रसप्रेरणम् (सुनि. १.१७-१८) द्र० 'रसधातु'
-संसर्ग-पु, षण्णां मधुरादिरसानां परस्परेण मेलनम् (सुउ. १.७)
-सात्म्य-न., सेवितः सन् यो रसः सुखकारणं आरोग्यकारणं भवति, तत् रससात्म्यम् (सुसू. ३५.३९-४०)
-स्थान-न., रसस्याऽश्रयो हृदयम् (सुशा. ९.७)
-स्थानाभिपूरण-न., हृदयाभिपूरणम्, आमपक्वा-शयेऽधोनाभेरेवैवमन्नरसो वर्तुलीकृतो रसस्थान-स्य पूरणं ततश्चोर्ध्वगाभिस्तिर्यग्गाभिश्च धमनीभिः तत्र तत्रोपनीयते इति सकलशरीरतर्पणमधोगतानामेव कर्म, रसस्थानं च हृदयं तत्पूरणं च (ड.सुशा.९.७)
-हारिणी-वि., रसवाहिनी (धमनी) (असंशा. २.१७)

रसक–पु., खनिज० खर्परः (र.२.१५४) तद्भेदाः–सदलो दर्दुरः निर्दलः कारवेल्लश्च। तद्गुणाः–लोहपारदरञ्जनः पित्तकफघ्नः सर्वमेहनेत्ररोगक्षयघ्नः (धपरि.६.२५) अमृतम् (र. १२.१२४)

रसन–न., ज्ञानेन्द्रिय० (चशा. ७.७) रसनेन्द्रियम्, रसना (चशा. ४.१२; चशा. ७.७) आस्वादनं भक्षणं वा; रसीभवनं द्रवीभवनं वा (र. १.७५)

(रसना)–स्त्री., रसनेन्द्रियम् (चसू. १.६४) वनस्पति० रास्ना (ध. १.२७०)

रसनेन्द्रिय–न., इंद्रिय० रसना, जिह्वा (सुशा. १.१९)

रसयितृ–वि., रसज्ञापकः, आस्वादयिता (सुशा. ३.४)

रसाग्रज–न., खनिज० रसाञ्जनम् (रा. १३.२२१)

रसाग्र्य–न., खनिज० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८)

रसाङ्कुश–पु., रसरत्नसमुच्चयकर्तुः प्राक्तनस्तन्त्रकर्ता, यस्य तन्त्रमालोच्य सिंहगुप्तसूनुना वाग्भटेन स्वीयः संग्रहः कृतः (र. १.५) वनस्पति०नन्दिका, पत्राकारा, शम्बरी महौषधी–इयं पारदस्य भावनस्वेदादौ उपयुक्ता (र. ११.५४-५८) खनिज० टङ्कणक्षारः (र. ११.५४)

(रसाङ्कुशी)–स्त्री., मंत्रविद्या० ॐ कामराजशक्तिबीज-रसाङ्कुशायै आज्ञेया विद्यां रसाङ्कुशीमिति (र.६.२३)

रसाङ्गक–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२)

रसाज्ञत्व–न., लक्षण० जिह्वा रसं न चेतयत इत्यर्थः (अरु.अहसू. ७.२१)

रसाञ्जन–न., दारुहरिद्रा क्वाथकृतमञ्जनम् (चचि. ७.६१) दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादावशेषघनद्रव्यम् (सुसू. १४.३६) तस्य शोधनम्, सूर्यावर्तादिगण-भावनया रसाञ्जनं दोषरहितं भवति (र. ३.११८) तद्गुणाः–तिक्तं, कटु, शीतमुष्णं, वर्ण्यं, चक्षुष्यं, हृत्प्रसादनं पित्तकफघ्नं, रक्तपित्तहिध्माश्वास-मुखरोगविषच्छर्दिनाशनम् (ध. ३.१५८) नेत्ररोगे वर्त्यञ्जनार्थमुपदिष्टम् (सुउ. ११.९) सिरा-व्यधनानन्तरमतिप्रवृत्ते रक्ते तत्स्तम्भनार्थमुपयुज्यते माषायवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्या-ङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत् (सुसू. १४.३६) तद्द्वि-विधम् स्रोतोऽञ्जनं कृष्णपाषाणाकृति धातुद्रव्यम्, अन्ये दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं पीतलोहितम्, अत्र सौवीराञ्जनसाहचर्याध्दातुद्रव्यमेव (ड.सुसू. ३८.४१-४२)

रसाढ्य–पु., वनस्पति० आम्रातकः (ध. ५.१३)

(रसाढ्या)–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (रा. ३.३९७)

रसात्यय–पु. अत्ययो नाशः, तेन रसनाशः (असंसू. १२.३९)

रसाधिक–पु., खनिज० टङ्कणक्षारः (रा. ६.२८)

रसान्तर–न., अन्यो रसः (अहसू. ९.२०)

रसाभितर्पण–न., रसधातोः पोषणम् (सुशा. ९.९)

रसाभिधा–स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरिका (ध. ५.५५)

रसाम्ल–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (ध. २.९६) न., आसुत० शुक्तम् (अहसू. ५.७६) वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)

(रसाम्ला)–स्त्री., वनस्पति० पलाशी (रापरि. ३.५०)

रसायन–न., आयुर्वेदाङ्ग० (चसू. ३०.२८) जराव्याधि-नाशकमौषधम्, "स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्" (चवि. ३.१४) शस्तानां रसादीनां सप्तधातूनां लाभोपायः (चचि. १.(१)-८) तद्गुणाः–दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधाऽऽरोग्यं, तरुणं वयः प्रभावर्णस्वरौदार्यं, परं देहेन्द्रियबलं वाक्सिद्धिः प्रणतिः कान्तिश्च (चचि. १.८) कानिचिदु-दाहरणानि–वर्धमानपिप्पलीरसायनम्–प्रथमदिने दशपिप्पलीः सदुग्धं सेवेत। अनन्तरं प्रतिदिनं दशदशपिप्पलीनां क्रमेण वर्धनाद् दशदिनं दुग्धेन सह सेवेत। तथैव क्रमशः प्रतिदिनं दशदशपिप्पलीरपनयेत्। एवमेकोनविंशतितमे दिने सहस्रपिप्पल्यो भवन्ति। एतद्रसायनं परमायुष्यं वयसः स्थापनं बृंहणं स्वर्यं, मेध्यं, श्लीहोदर-विनाशनं च भवति (चचि.१.(३)३६-४०) लशुनो-ऽपि रसायनविधिनोपयुज्यते। शीतवातहिम-दग्धतनूनां स्तब्धभग्नकुटिलव्यथितास्थनां पवनो-पहतानां च लशुनः परमं भेषजम्। लशुनं शीते शीलयेत्। कफोल्बणो वसन्तेऽपि तथा वातार्तो वर्षास्वपि स्निग्धशुद्धतनुः शीतमधुरोपस्कृताशयो लशुनं सेवेत (अहउ. ३९.११३-१४) भल्लातक-मामलकादिभिरुपयुक्तं प्रशस्तशरीरकरणं तथा मेध्यमायुष्करं च सर्वकफरोगेषु तथा विबन्धेषु च प्रयुञ्जीत। तद् भल्लातकरसायनं शीघ्रमग्निबलप्रदम् (अहउ. ३९.८० ८२) गोक्षुरामलकगुडूचीनां चूर्णं सघृतं मधुभागमिश्रं लिह्यात्। तेन दीर्घायुः केशानां कृष्णत्वं च भवति (अहउ. ३९.१५९) तथा

शिलाजतुरसायनम्, तद्विधिश्च–शिलाजतु कोष्णे वातहरादिक्काथे प्रक्षिप्य रौद्रे शोषयेत् ततः क्काथाद् उदधृतं पुनरपि तद्रसे क्काथे प्रक्षिपेत् अनेन विधानेन लोहेः सह चूर्णीकृतं शिलाजतु पयसा पिबेत्। पलमर्धपलं कर्षो वेति अस्य त्रिधा मात्रा। अस्य प्रयोगः सप्तसप्ताहाभिव्यापकः परो भवति, त्रिसप्ताहात्मको मध्यः, एकसप्तकोऽवरो भवति। अस्य सेवनेन दीर्घमायुर्लभते। जराव्याधिप्रशमनं भवति, परं देहदार्ढ्यं जायते। नरः मेधास्मृतियुक्तो भवति। शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहिगुरुपदार्थान् सर्वकालं वर्जयेत्, विशेषतः कुलत्थान् परिवर्जयेत्। ते परमग्निमनो भेदनाः सन्ति। अतस्तेषामत्यन्तविरुद्धत्वात् तान् परिवर्जयेत्। पयांसि, तक्राणि रसः यूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः गिरिजस्यालोडनार्थं शस्ताः। भुवि साध्यरूप एकोऽपि रोगो नास्ति, यः शिलाह्वयेन न सिद्ध्येत् तस्य विधिभिः कालयोगैः च कृतः प्रयोगो विपुलामूर्जां ददाति (चचि. १ (३) ५१-५४; ६२-६५)

(रसायनी)–स्त्री., रसवाहिनी, रसस्रोतः (चचि.२०.१०)
धमनी० (सुचि. १२.८)
वनस्पति० गोरक्षदुग्धी (रापरि. ५.५३)
काकमाची (ध. ४.२१)
जटामांसी (रा. १२.१३९)
गुडूची (ध. १.४)

रसायनतन्त्र–न., आयुर्वेदस्याष्टाङ्गेष्वेकम् (सुसू. १.७) वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं तन्त्रम् (सुसू. १.९(७))

रसायनपर–वि.,स्वभावव्याधिनिवारणविशिष्टौषधचिन्तकः रसवीर्यौषधप्रभावेण मरणनिवारकः (सुसू. २८.५)

रसायनपाद–पु., अध्यायपाद० (चचि. १.१)

रसायनवरा–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (ध. ४.२१)

रसायनविधान–न., रसायनविधिः, रसायनप्रयोगः (चचि. १.(२)३)

रसायनविधिभ्रंश–पु., रसायनविधौ प्रमादः, एतस्माद् व्याधयो भवन्ति। तत्र रसायनं मुक्त्वा यथास्वमौषधं देयम् (असंउ. ४९; चचि. १(४)-२९)

रसायनश्रेष्ठ–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४३)

रसायनसमाश्रय–न., आहारद्रव्य० दुग्धम् (ध. ६.१६१)

रसायनाधिकार–पु., रसायनस्य प्रकरणम्, अधिक्रियतेऽस्मिन्निति अधिकारः, प्रकरणम् (चवि. ३.३६)

रसायनायोग्य–वि., रसायनोपयोगानर्हः, अनात्मवानलसो दरिद्रः, प्रमादी, व्यसनी, पापकृद्, भेषजापमानी रसायनायोग्यो मतः (सुचि. ३०.४)

रसार्णव–पु., रसग्रन्थ० आयुर्वेदे रसशास्त्रस्य कश्चित् प्रधानो ग्रन्थः (र. ११.१०)

रसाल–पु., वनस्पति० इक्षुः (पौण्ड्रकः) (ध. ४.१२०)
धान्य० गोधूमः (रा. १६.१५१)
वनस्पति० आम्रः (ध. ५.१)

(रसाला)–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षा (ध. ५.५६)
आहारद्रव्य० शिखरिणी (ङ. सुसू. ४६.३८४) करमथितेन मरीचशर्करादियुक्तेन दध्ना कृता (अरु.) तद्गुणाः–बृंहणी, बल्या, स्निग्धा, वृष्या, रुचिप्रदा (चसू. २७.२७८) प्रतिश्यायघ्नी (अहउ. ४०.५१)

(रसाली)–स्त्री., वनस्पति० इक्षुः (करङ्कशालिः) (रा. १४.१८५)

रसालाख्य–पु., मूषिक० एतद्विषतो ग्रीवास्तम्भो दंशमण्डले वेदना च जायते (असंउ. ४६)

रसावेष्ट–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (१२. १९३)

रसिक–वि., मधुररसम् (चइ.२.२२)
धान्य० गोधूमः (ध. ६.९७)
नीवारः (ध., ६.८७)

(रसिका)–स्त्री., रोग० क्षुद्रकुष्ठभेदः, कण्डूवर्तियुक्ता स्रावहीना पिडका (र. २९.७५)

रसेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुः (पौण्ड्रकः) (रा. १४.१८३)

रसेन्द्र–पु., खनिज० पारदः (ध. ६.३७)

रसेन्द्रचूडामणि–पु., पारदयोग० पारदयुक्तवृष्ययोगः (र. २७.१२५)

रसेन्द्रतिलक–पु., ग्रन्थकार० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुना निर्दिष्टः कश्चित् रसतन्त्रकारः (र. १.७)

रसेन्द्रनाग–पु., पारदयोग० पारदसीसादिसाधितोऽयं प्रमेहकुष्ठवातनाशनः (र. १७.६४)

रसेन्द्रवेध–पु., पारदस्य द्रुतलोहादौ लेपक्षेपादिरूपेणान्तःप्रवेशः (र. ५.५)

रसोत्तम–पु.,न., खनिज० पारदः (ध. ६.३७; चचि. २५.११६)
वनस्पति० मुद्गः (ध. ६.८०)
न,, घृतम् (चक्र, चचि, २५.११६)

रसोद्भव–न., खनिज० रसाञ्जनम् (ध. ३.१५८; रा. १३.२२१)
हिङ्गुलम् (रा. १३.४८)
रसोद्भूत–न., खनिज० रसाञ्जनम् (रा. १३.२२१)
रसोन–पु., वनस्पति० लशुनः (चचि. ३.३०४; ध.४.६६)
रसोनयोग–पु., योग० लशुनरसायनम् (सुउ.४१.५७)
द्र० 'रसायन'
रसोपचय–पु., (परिव०) रसपोषणम् (सुशा. ९.१०)
रसौदन–पु., मांसरसेन सिद्ध ओदनः (चचि. १९.२५)
रसौषधि–पु., रसायनौषधिः (र. ३०.८२)
रस्या–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (ध. १.२७०)
–**रसांश**–वि., षड्भागम् रसानां षट्संख्याकत्वेन रसपदं षडर्थकम्, अतः रसांशं नाम षड्भागम् (र. १७.६५)
रहस्–न., एकान्तः (चशा. २.३)
(**रहः**)–**कामता**–स्त्री., लक्षण० एकान्तप्रियत्वम् (चनि. ७.७)
राक्षस–पु., राजससत्त्वस्यैकः प्रकारः (चशा. ४.३८)
योनि० रावणादिः (सुसू. ५.२१; चनि. ७.१०)
भूताधिपति० (असंउ. ७)
पारदयोग० ताम्रपारदगंधकादिसाधितोऽयं मन्दाग्निनाशनः (र. १६.१६२)
(**राक्षसी**)–स्त्री., वनस्पति० कार्पासी (र. १७.४१)
–**काय**–चित्तप्रकृति० राजसकायः (सुशा. ४.९१.९२)
राक्षसस्वभावः, तल्लक्षणम्–एकान्त–ग्राहिता रौद्रासूया धर्मबाह्यता तमोयुक्तत्वं च (सुशा.४.९१.९२)
–**वक्त्रवत्**–वि., दिव्यौषधिसमायोगेन प्रकटकोष्ठयां ध्मानादखिललोहादिभक्षणे सामर्थ्यं प्राप्तः (पारदः) महामुखवानित्यर्थः (र. ८.७८)
राक्षसोन्माद–पु., रोग० उन्मादभेदः तल्लक्षणम्–शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषित्वं सन्तर्जकत्वं च (चचि. ९.२०) द्र० 'उन्माद'
राग–पु., केशरञ्जकद्रव्यम् (चचि. २६.२८२)
व्यञ्जन० अन्नरोचनार्थमुपयुज्यमानः, कपित्थादिद्रव्यकृतः (चक्र. चचि. २०.३६)
सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैर्जम्बूफलरसैर्युक्तो राजिकया कृतः, तद्गुणाः–लघुर्बृंहणो वृष्यो हृद्यो रुच्यो दीपनः, श्रमघ्नस्तृष्णामूर्च्छाभ्रमच्छर्दिघ्नः (सुसू. ४६.३८३)
पानकभेदः, मधुराम्ललवणं पानकम् (चसू. २७.२८१)
रक्तिमा (असंसू. २०.२०) रक्तता तेजोगुणः (सुसू. १४.९)
रूपम् (सुउ. ७.२६)
रञ्जनम् (सुसू.१४.४) आप्यस्य रसस्य यकृत्प्लीहानौ प्राप्तस्य रक्तीभवनम्, शुद्धस्य चेतसो रजस्तमोभ्यां रञ्जनम् (हे. अहसू. १.१)
रक्तवर्ण ताम्रपत्रम् (र. १२.१०४)
मनोभाव० कामः (र. १.१)
वनस्पति० अलक्तकः (रापरि. ६.१२)
–**खाडव**–पु., आहारद्रव्य० मुद्गयूषस्य संयोगान्तरेण नामान्तरम्, मुद्गयूषो दाडिममृद्वीकायुक्तः, तद्गुणाः–रुच्यो लघुपाको दोषाणामविरोधकृत (सुसू. ४६.३६७)
–**दालि**–स्त्री., वनस्पति० मसूरिका (रा. १६.१४९)
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० बन्धूकः (रापरि. १०.३५)
–**प्रसव**–पु., वनस्पति० कुरण्टकः (रा. १०.४१३)
–**षाडव**–पु., व्यंजन० रागप्रधानः षाडवः
(चक्र. चक. ७.३३) तत्तु क्वथितं, गुडोपेतं, नवं सहकारफलं तैलनागरसंयुक्तम्; तद्गुणाः-कटुम्लस्वादुलवणो लघुः मुखप्रियो हृद्यो रोचनो दीपनश्च (चसू. २७.२८१)
–**सर्षपतैल**–न., तैल० बालानां प्लीहोदरनिवर्तनार्थम् उपयुज्यते
(काककटुतैलक. २५.२६) द्र० 'पीतसर्षपतैल'
रागाङ्गी–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१८)
रागाढ्या–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा. ६.१७)
रागिन्–वि., रञ्जनशक्तिमान् रागिद्रव्यम्, तच्च लेपौषधं वर्णान्तरं नयतीत्यर्थः (हे अहसू. २९.३)
पु., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९)
धान्य० तद्गुणाः–तिक्तो मधुरः, कषायः, शीतो बल्यो रक्तपित्तघ्नः (रा. १६.१७८)
हिं.—मका.
म.—नाचणी.
गु.—बवटो.
बं.—मुरोआ.
ता.—इरागी.
राजन्–पु., नृपः (ध. ६.६०)
खनिज० हीरकभेदः राजावर्तः (ध. ६.६०)
(**राज्ञी**)–स्त्री., वनस्पति० राजक्षवकः (सर्षपः) (रा. १६.७०)
कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध., ६.१९)

वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३४९)

(राज)-कन्या-स्त्री., वनस्पति० केविका (रापरि. १०.३३)

-कशेरुक-पु., वनस्पति० मुस्ता (चसि. १०.३७; ध. १.४०)

-कसेरु-पु., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०)

-कसेरुक-पु., वनस्पति० मुस्ता (असं. कल्प. ४)

-कृष्णा-स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२८)

-कोल-पु., वनस्पति० राजबदरः (रा. ११.१६०) द्र० ' बदर '

-कोशातकी-स्त्री., वनस्पति० कोशातकीभेदः, धामार्गवः(चक. ४'३; ध. १.१८९)द्र० 'कोशातकी'

-क्षव-पु., शाक० दुग्धिका, लघुर्ग्राही त्रिदोषघ्नो ग्रहण्यर्शोविकारघ्नः (हे. असंसू. ७.११३.११४)
राजशाकम् (अरु. अहसू. ६.७२)
वनस्पति० राजसर्षपकः (र.२८.७६-७७)

-क्षवक-पु., शाक० दुग्धिका, राजक्षकः (चसू.४.९)
वनस्पति० राजसर्षपकः (ध. ४.४३)

-क्षवकशाक-न., शाक० राजसर्षपकः (सुसू. ४६.२७६)

-खर्जूरी-स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (रा. ११.६८)

-गिरि-पु., धान्य० राजाद्रिः, शीतो रुच्यः पित्तघ्नः (रा. ७.१८२ पृ. २३०)

-गेह-न., राजगृहम् (सुसू. ३४.१२)

-जम्बू-पु., वनस्पति० महाजम्बूः द्र० ' जम्बू ' (रा. ११.१३०)

-तरणी-स्त्री., वनस्पति० कषाया, सुरभिः, चक्षुष्या, हृद्या, कफकारिणी (रा. १०.२४६)

-तरु-पु., वनस्पति० आरग्वधः (सुउ. ५७.१४; रा. ९.३३३)

-तैल-न., तैलयोग० एरंडांशुमतीयवकोलादिसिद्धम् । तत्फक्करोगे उपयुक्तम् (का. चि. फक्करोगचि.)

-दन्त-पु., शारीर० मध्यदन्तस्य संज्ञा (कासू. २०.४)

-द्रुम-पु., वनस्पति० आरग्वधः (सुक. ३.९-१०)

-द्विष्ट-वि., राज्ञो द्विष्टः राज्ञोऽप्रियः (चवि. ८.१३)

-धान्य-न., धान्य० श्यामाकः (ध. ६.८८)
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८१)

-नामा-स्त्री., वनस्पति० पटोलम् (ध. १.५०)

-नीलिका-स्त्री., वनस्पति० महानीली (रा. ४.३५३)

-पत्री-स्त्री., वनस्पति० रेणुका (ध. ३.५१)

-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (रा. ५.४३५)

-पलाण्डु-पु, वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१०३)

-पिण्डा-स्त्री., वनस्पति० राजखर्जूरी (रा. ११.६८)

-पीलु-पु., वनस्पति० बृहत्पीलुः (रा. ११.६३) द्र० 'पीलु'

-पुत्र-पु., वनस्पति० राजाम्रः (ध. ५.११)

-(पुत्री)-स्त्री., वनस्पति० जाती (ध. ५.१३७)
वनस्पति० रेणुका (रा. ६.९९)
कटुतुम्बी (रा. ३.२३४)
कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.१९)

-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० करुणी (रापरि. १०.२७)

-प्रस्तर-पु., रत्न० राजावर्तः (ध. ६.६०)

-प्रिय-पु., वनस्पति० राजपलाण्डुः (रा. ७.१०३) द्र० ' पलाण्डु '

(-प्रिया)-स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११२)
वनस्पति० करुणी (रापरि. १०.२७)
द्र० ' राजपुष्पी. '

-फल-पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.८)
राजादनः (रा. ११.१४६)

(-फला)-स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१२८)

-बदर-पु., वनस्पति० बदरः (रा. ११.१६०)

-बला-स्त्री., वनस्पति० बलापञ्चकेऽन्येका (ध.१.२८९) प्रसारणी (ध. १.२८९)

-भावा-स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०९)

-मात्र-पु., राजसदृशः, ऐश्वर्ययुक्तः (चसू.२७.२०८)

-माष-पु., शिम्बीधान्य० कषायो मधुरः, शीतो रुच्यो वातकृद्बलदायकः, कफपित्तघ्नः (चसू.२७.२५; ध. ६.८४)
हिं.—लोविया.
म.—चवळी.
गु.—चोळा.
बं.—बरबटीकलाय.
फा.—लोविया.

-मुद्ग-पु., धान्य० मुद्गः, (कृष्णमुद्गः) (ध. ६.८३)

-मृगाङ्क-पु., पारदयोग० सुवर्णरजतकान्ततास्रादि-साधितोऽयं क्षयग्रहणीपाण्डुज्वरनाशकः (र.१७.१००)

-यक्ष्मन्-पु., रोग० राज्ञो नाम चन्द्रमसो यक्ष्मा रोग इति राजयक्ष्मा, राजा चासौ यक्ष्मा, राजयक्ष्मा, रोगराडित्यर्थः (अहनि. ५.२-३) पूर्वं दक्षनामा प्रजापतिरभूत् । तस्य बह्व्यो दुहितरो बभूवुः । तेन च सप्ताधिका विंशतिः कन्यकाश्चन्द्राय विवोढे नाम वराय दत्ताः । स चन्द्रमास्तासु मध्ये

रोहिण्यामेवानुरक्तो बभूव । ततश्च सशोकाभिरश्विन्यादिभिर्दुहितृभिरात्मपिता दक्षो रोहिणीविषयकं चन्द्रासङ्गवृत्तं श्रावितः । ततो दक्षेण दुहितृणां वार्तामाकर्ण्य, चन्द्रमाहूय, सर्वास्वपि निजपुत्रीषु समतया वर्तनाय चन्द्रोऽभिहितः । स च तथेति स्वीकृत्यापि स्वगुरोर्वचनमनादृत्य न तासु समवर्तत । ततो दक्षप्रजापतेः क्रोधो निश्वासरूपेण मूर्तिमान् भूत्वा निःसृत्य यक्ष्मरूपेण रोहिण्यामति प्रसङ्गेनाविलं चन्द्रमाविशत् । ततोऽसौ तेन रोगेणाभिभूतः सन् गतप्रभो गतोत्साहश्च संजातः न गुरुवचनातिक्रमेण आत्मानं कृतागसं मत्वा तमेव दक्षनामानं गुरुं शरणं गतवान् । ततो देववैद्याभ्यामश्विभ्यां स उपचारितः । ततः प्राप्तबलश्चन्द्रो लब्धगुरुप्रसादोऽश्विभ्यां चिकित्सितोऽभूत् (ड. सुउ. ४१.४.५) तस्य राजयक्ष्मणः स्वरूपं-शोषरूपो व्याधिः, तस्य हेतवः–सप्तधातुक्षयो वातमूत्रपुरीषादिवेगप्रतीघातो विषमाशनम् साहसं इति प्रधानहेतुचतुष्टयम् (सुउ.४१.८-९, चनि.६.३) संप्राप्तिः–कफप्रधानैर्दोषैः रसवर्त्मसु रुद्धेषु अतिव्यवायिनो वा क्षीणे रेतस्यनन्तराः सर्वे धातवः क्षीयन्ते । ततो मानवः शुष्यति (सुउ. ४१.९-१०) पूर्वरूपाणि– श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोषवर्त्मग्निसादमदपीनसकासनिद्राः शुक्लेक्षणत्वं च (सुउ. ४१.२९) स्त्रीमद्यमांसप्रियता, नखकेशातिवृद्धिर्बलक्षयः (अहनि, ५९-११) स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठगृध्रकपिकुकलासकैरारुह्यमानमात्मानमीक्षते जलरहिता नदीः शुष्कान् पवनधूमदवार्दितांस्तरूंश्च पश्येत् (चनि. ६.१३; सुउ. ४१.३०) तल्लक्षणानि–राजयक्ष्मणो भेदाः–त्रिरूपः षड्रूप एकादशरूपश्चेति; त्रिधा, तत्र त्रिरूपः–अंसपार्श्वाभितापः, करपादसंतापः, सर्वाङ्गज्वरः, स्वरवर्चोगदः कासोऽरुचिर्ज्वरो पार्श्वशूलं च (चचि. ८.४६; चचि. ८.५२) षड्रूपः-भक्तद्वेषो ज्वरश्वासकासरक्तष्ठीवनं स्वरभेदः, एकादशरूपः शिरसः परिपूर्णत्वं, कासः, श्वासः, स्वरभेदः, श्लेष्मणश्छर्दनं शोणितष्ठीवनं, पार्श्वसंरोजनमंसावमर्दो ज्वरोऽतीसारोऽरोचकश्चेति (चनि. ६.१४) वातजन्यलक्षणानि– शूलः स्वरभेदोंऽसपार्श्वसंकोचः, पित्तजानि–ज्वरो दाहोऽतिसारो रक्तागमः, कफजानि–शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्दः कासः कण्ठोद्ध्वंसः (सुउ. ४१.११-१३) उपद्रवाः–पीनसाद्येकादशरूपिणो राजयक्ष्मणः कण्ठोद्ध्वंस उरोरुजा जृम्भाऽङ्गमर्दो निष्ठीवो वह्निसाद आस्यपूतिता इत्येवमादय उपद्रवा भवन्ति (असंनि. ५.१६) असाध्यलक्षणानि–मांसबलक्षयोऽतिसारः शूनमुष्कोदरत्वमन्नद्वेष ऊर्ध्वश्वासः कृच्छ्रेण बहुमूत्रता (मा राजयक्ष्मा८-१२) ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहमात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरमुपक्रमेत् (मा. १३)

–यक्ष्मचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० अध्याय० (चचि. ८.१)

–राजिका–स्त्री., वनस्पति० राजक्षवकः (रा. १६.७०)

–रीति–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.१९)

–रोग–पु., रोग० राजयक्ष्मा (र. १४.१)

–वल्लभ–पु., वनस्पति० राजादनः (रा. ११.१४७) बदर० राजबदरः (रा. ११.१६०)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० आरग्वधः (चक.८.३) कर्णिकारः (ध. १.२२१)

–शाक–पु., वनस्पति० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२)

–शाकिनी–स्त्री., वनस्पति० राजगिरिः (रा. ७.१८२)

–शेखरवटी–स्त्री., पारदयोग० पारदवत्सनाभगंधकादिसिद्धा, इयं अर्शःशूलपाण्डुनाशिका (र. १६.१५४)

–सर्षप–पु., वनस्पति० राजसर्षपकः (ध. ४.४३)

–सर्षपक–पु., वनस्पति० कटुस्तिक्तः, कटुपाक्युष्णो रुच्यो दीपनो दृष्टिबस्तिप्रदूषणः, पित्तलः, कफवातघ्नः, कण्ठरुक्कृमिनाशनो गुल्मकण्डूकुष्ठव्रणापहो वातशूलनुत्, पित्तदाहप्रदः (रा. १६.७१)
हिं.—राई.
म.— **मोहरी.**
गु.—राई.
बं.—राजसर्षा.
ता.—वर्णाळु.
फा.—खरदल.

–हंस–पु., पक्षि० प्लवजातीयोऽयम् (चसि. १२.(१) १८; चसू. २७.४१; सुसू. ४६.१०५)

–हर्षण–न., वनस्पति० तगरम् (र.१०.१०२)

–हस्त–पु., मान० सपादहस्ताङ्गुलपरिमाणो वा (र. २.४)

राजत–वि., रजतमयम् (पात्रम्) (सुचि. २९.१०)
–**चूर्ण**–न., रजतस्य यत् चूर्णं तत्, सूक्ष्मं शुक्तिकाख्य-नेत्ररोगेऽञ्जनार्थमुपयुज्यते (सुउ. १०.१५)
–**पात्र**–न., रौप्यपात्रम् (असंसू. १०.३५)
–**भाजन**–न., रौप्यपात्रम् (सुउ. ४२.१०५)
राजन्य–पु., वनस्पति० राजादनः (ध. ५.९१)
राजस–वि., रजोगुणयुक्तः, रजोगुणेनाधिष्ठितः (सुशा. १.१८)
–**काय**–पु., चित्तप्रकृति० रजोगुणयुक्तः पुरुषः, तद्भेदाः षट् आसुरसार्पशाकुनराक्षसपैशाचप्रैतसत्त्वाः (सुशा. ४.९४) तल्लक्षणानि– दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च (सुशा. १.१८) अनार्यत्वं शौर्यं मात्सर्यममितभाषित्वं लोलुपत्वम् (असंशा. ५) मध्यममनोबलयुक्तोऽन्यैः पुरुषैरवष्टभ्यमानो दुःखं सहते, रजसि मध्यमं मनोबलम् (सुसू. ३५.३८)
राजादन–पु., न., वनस्पति० स्वादुफलवृक्षः (चसू. २७.१४३; सुसू. ४२.११) स्वादुः कषायः (च) शीतलोऽम्लो रुच्यस्तर्पणो वृष्यो हृद्यो वातः-पित्तघ्नो मेहघ्नः (ध. ५.९१) तत्फलगुणाः– स्वादु, कषायं, स्निग्धं, गुरु (सुसू. ४६.१६६)
हिं.—खिरनी.
म.—खिरणी.
गु.—रायण.
बं.—क्षीरिणी.
ता.—पल्ला.
वनस्पति० चारः (हे. अहसू. १०.२३; सुउ. ४८.२६)
(**राजादनी**)–स्त्री., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०९)
राजाद्रि–पु., धान्य० राजगिरिः (रा. ७.१८२)
राजाद्रि–पु., रत्न० राजावर्तः (ध. ६.६०)
राजानुज्ञात–वि., राज्ञोऽभिमतः (वैद्यः) (सुसू. १०.३)
राजान्न–न., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.७९)
राजाम्र–पु., वनस्पति० आम्रभेदः, राजाम्रयुगलम्:– राजाम्रो महाराजाम्रश्च; कोमलफलस्य गुणाः– कटुर्मलं, पित्तकफास्रपवनश्वासार्तिदाहप्रदम्; सुपक्वफलस्य गुणाः–मधुरं शीतं गुरु वृष्यं पुष्टिवीर्यबलप्रदं त्रिदोषशमनं तृष्णाविदाहश्रमश्वासारोचकनाशकं च (ध. ५.११)
राजाम्ल–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४७)
राजार्क–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णः, कफवातघ्नो मेदोविषकुष्ठव्रणशोफकण्डूविसर्पनाशकः (ध. ४.१६)
राजार्ह–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८१)
(**राजार्हा**)–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१२८)
राजावर्त–पु., रत्न० द्र० 'हीरक' (ध. ६.६०)
आवर्तमणिः (र. ३.११९) तस्य शोधनम्–शिरीषपुष्परसैस्तथा च शृङ्गवेररसै राजावर्तः शुद्धो भवति (र. ३.१६९) तस्य मारणम्–जम्बीररसगन्धकसहितो राजावर्तः सप्तवारेण पुटनात् म्रियते (र. ३.१७०) तस्य सत्त्वपातनविधिः– राजावर्तस्य चूर्णं तु खदिराङ्गारैर्ध्मापितं सत्त्वं मुञ्चति (र. ३.१७१) तद्गुणाः– कटुः शीतः स्निग्धः पित्तघ्नः (ध. ६.६०)
राजावर्तरस–पु., पारदयोग० पारदशुल्बमधुकराजावर्तादि साधितोऽयंसर्वमदात्ययहरः (र. १४.१०४)
राजाह्व–न., वनस्पति० कर्णिका (अरु. अहसू. १५.१३)
राजादनः (हे. अहसू. १५.१३)
आरग्वधः (अरु. असंसू. १६.७)
राजि–स्त्री., पङ्क्तिः (असंसू. ८.११)
–**चित्र**–पु., सर्प० राजिमान् (सुक. ८.३४-(४))
–**चित्रक**–पु., सर्प० वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः सर्पः (सुक. ४.३४) द्र० 'राजिमत'
–**फल्गु**–पु., वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८)
राजिका–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा, निद्रादाहपित्तकरी, कफवातघ्नी, कुष्ठगुल्मशोफग्रहविकार-प्लीहाशूलकृमिव्रणनाशनी च (ध. ४.६०)
हिं.—राई.
म.—मोहरी.
गु.—राई.
बं.—राजसर्षा.
ता.—वर्णालु.
काकोदुम्बरिका (रा. ११.१४२)
राजसर्षपकः (ध. ४.४३)
क्षुद्ररोग० धर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे जायमानाः सरुजो घना राजिकाकारवर्णाः पिटिकाः (र. २५.१)
–**पत्र**–न., वनस्पति० तद्गुणाः–कटु, स्वादूष्णं वह्निदीपनं वातकफापहं, कृमिकण्ठामयहरम् (रा परि. ७.८४)
–**फल**–पु., वनस्पति० सर्षपः (ध. ४.४२)
राजिकाह्वया–स्त्री., क्षुद्ररोग० राजिका (असंउ. ३६)

राजिमत्–पु., सर्प० बिन्दुलेखाभिरस्याङ्गं चित्रितमस्तीति राजिमान् (चचि. २३.१२५) रेखायुक्तः फणावर्जित ईषद्विषः (ड. सुक. ४.१०) तस्य च राजिमतो दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकरः स्निग्धः पाण्डुः सान्द्रासृक्श्लेष्मव्याधिकरः (चचि. २३.१२९) द्वादशभेदाः–पुण्डरीको राजिचित्रो बिन्दुराजिः कर्दमकोऽङ्कुलराजिस्तृणशोषकः सर्षपकः श्वेतहनुर्दर्भपुष्पश्चक्रको गोधूमकः किक्किसादः (सुक. ४.३४३) तद्विषलक्षणानि–त्वगादीनां शुक्लत्वं, शीतज्वरो रोमहर्षो गात्राणां स्तब्धत्वं, सान्द्रकफप्रसेकआदंशशोफोऽभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूश्छर्दिः कण्ठे श्वयथुर्धुर्धुरक उच्छ्वासनिरोधः तमःप्रवेशः तास्ताश्च कफवेदनाः (सुक. ४.३७)

राजिलफला–स्त्री., वनस्पति० चीणाकर्कटी (रा. ७.२६०)

राजी–स्त्री., सूत्रवद्रेखा (चइ. ११.१३)
वनस्पति० राजिका (ध. ४.६०)
वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)
–**जन्मन्**–न., लक्षण० व्यक्तसिरात्वम्, राजीनां जन्म नाम अभिव्यक्तिः (चचि. १३.१९)
–**फल**–पु., वनस्पति० पटोलम् (ध. १.५०)

राजीमत्–वि., लक्षण० नीलपीतादिरेखायुक्तम् (ड सुउ. ४०.२०)
पु., भौमसर्प० राजिमान् (असंउ. ४१)

(राजीमती)–स्त्री., शालिशूकाभराज्यावृतेव तारा दृष्टिर्वा (असंउ. १७)

राजीव–पु., मत्स्य० नादेयोऽयम् (सुसू. ४६.११३)
सामुद्रोऽयं, वज्राभो बह्वायतोऽसौ (सुसू. ४६.११८-११९)
प्राणि० जङ्गाल (जातीयः) (ध. २.३; पृ. २८६)
न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (ध. ४.१५२)
कमलम् (रा. १०.२४४)
–**मत्स्य**–पु., मत्स्य० नादेयोऽयम्, आलाल (र) विषः(सुक. ३.६; सुसू. ४६.११३; सुसू. ४६.११८-११९)

राजेष्ट–पु., वनस्पति० राजपलाण्डुः (रा. ७.१०४) द्र० ' पलाण्डु '
न., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८१)

(राजेष्टा)–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०७)
राजखर्जूरी (रा. ११.६८) द्र० ' खर्जूरी '

राजोद्वेजन–पु., वनस्पति० क्षुवकः (रापरि. ९.४०)

राट–पु., वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)

राठ–पु., वनस्पति० मदनः (चक. १.२७)

राड्वर्त–पु., रत्न० राजावर्तः (र. १७.८९)

राढ–पु., वनस्पति० मदनः (चचि. २६.१४)

रात–पु., वनस्पति० मदनः (असंक. १)

रात्रि–स्त्री., रजनी (सुशा. ४.३८)
वनस्पति० हरिद्रा (सुचि. ९.१२; र. ५.११७)
–**जागरण**–न., रात्रौ जागरणम्, तेन वातपित्तनिमित्ताः कासश्वासप्रतिश्यायादयोरोगा भवन्ति (सुशा. ४.३८)
–**बलिन्**–वि., रात्रौ बलवान् (चचि. १२.१४)

रात्रिक–पु., वृश्चिक० साध्यसंज्ञोऽयं वृश्चिकः रात्रिविचरणाद् रात्रिकः (असंउ. ४३)

रात्र्यन्ध–न., नेत्ररोग० नक्तान्ध्यम् द्र० ' नक्तान्ध्य ' (र. २३.६३)

रात्र्यन्धहराञ्जन–न., अञ्जन० इदं रात्र्यन्धत्वनाशनम् (र. २३.६१)

रात्र्यान्ध्य–न., लक्षण० कफविदग्धदृष्टिः, रात्रावन्धत्वम् (सुउ. १७.१६-२६)

रानकदली–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (ध. ४.७८)

राम–पु., प्राणि० महामृगः, हिमालयवासी जाङ्गलमृगः (चसू. २७.४५) जङ्गालमृगः (ड. सुसू. ४६.५४)
न., वनस्पति० तमालपत्रम् (ध.२.५२)
कुष्ठम् (ध. ३.४९)

(रामा)–स्त्री., स्त्री (र. ११.१०१)
वनस्पति० आरामशीतला (रा. परि. १०.५२)
वनस्पति० कुमारी (रा. परि. ५.११)
लक्ष्मणा (रा. ४.१२४)
भैषज्य० गोरोचना (रा. १२.३४)
–**काण्ड**–पु., वनस्पति० अपर्वदण्डः (रापरि. ८.३६)
–**तरणी**–स्त्री.,वनस्पति० तरणी (ध. ५.१४५)
सैर्यकः (इन्दु. असंउ. २८)
–**बाण**–पु., वनस्पति० अपर्वदण्डः (रापरि. ८.३६)
पारदयोग० पारदतारनागस्वर्णादिसाधितोऽयं सर्वप्रमेहनाशकः (र. १७.८८९-९३)
–**वल्लभ**–न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७६)
–**शर**–पु., वनस्पति० अपर्वदण्डः (रापरि. ८.३६)
–**शीतलिका**–स्त्री., वनस्पति० आरामशीतला (र.१३.१३-१९)

-सेनक-पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३३)
रामठ-न., निर्यास० हिङ्गु (ध. २.३६)
(रामठी)-स्त्री., वनस्पति० नाडीहिङ्गु, हिङ्गुपत्री (ध. २.४०)
रामण-पु., वनस्पति० कैडर्यनिम्बः(रा.९.४८)
वनस्पति० तिन्दुकः (ध. ५.४०)
रामा-स्त्री., (र. ११.१०१)
-वामाङ्घ्रिघातक-पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७२)
रामालिङ्गनकाम-पु., वनस्पति० कुरुबकः (रा. १०.४१३)
रामेषु-पु., वनस्पति० अपर्वदण्डः (रापरि. ८.३६)
राल-पु., निर्यास० शालवृक्षस्य निर्यासः, तद्गुणाः-मधुरः कषायः तिक्त उष्णः (शीतः-(रा)) स्तम्भनो व्रणरोपणो वातपित्तघ्नः स्फोटकण्डूतिव्रणनाशनो विषादि-भूतहन्ता भग्नसंधानकृत् (ध. ३.१२१; रा. ९.२०४) अयं सुरभिर्धूपः (ध. ३.१२१)
हिं.—साल.
म.—साल. राळेचा वृक्ष.
बं.—साल.
(राला)-स्त्री., वनस्पति० शालनिर्यासः, रालः (ध. ३.१२१)
रालक-पु., निर्यास० रालः (असंसू. ७)
राशि-पु., समुदायः (चशा १.३५)
प्रमाणम्, परिमाणं वा (चक्र. चवि. १.२२)
राष्ट्रिका-स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.९३)
रासभ-पु., पशु० गर्दभः (सुचि. ७.१८-१९)
-वर्चस्-न., गर्दभपुरीषम्, तदिदं मूत्ररुजापहम् (सुउ.५८.३५)
रासायन-वि., रसायनस्यायं रासायनः, रसायनसम्बन्धी (सुचि. २७.४)
रास्ना-स्त्री., वनस्पति० तृणविशेषः, अनुवासनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) शीतापनयनप्रलेपनानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०) तद्गुणाः-तिक्तोष्णा गुरुः पाचनी, कफघ्नी; वातहराणां श्रेष्ठा (च), विषवातरक्तकासशोफकम्पोदरनाशिनी (ध. १.२७०) पार्श्वरुजाघ्नी (चसू. ३.२५) श्वासशूलज्वराशीतिवातविकारहृत् (भाप्र) आमवातनाशिनी (र. १३.७४-७५)
वनस्पति० सुरभी (ड. सुसू. ३८.१६-१७)
सुरसा (सुचि. ५.७)
लक्ष्मणा (रा. ४.१२५)
शाक० (असंसू. ७.१४८)
-यूष-पु., यूष० वातघ्नोऽयम् (का खिल. ४.५३-५४)
राहु-पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३०)
-च्छत्र-न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध. २.८५)
-दर्शन-न., राहोर्दर्शनम् (चइ. १२.६९)
रिक्त-वि., तुच्छम्, स्नेहादिगुणशून्यम् (चक्र. चचि. २८.१८) निष्फलम् (चइ.१२.६९)
रिङ्गिणी-स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (ध. १.१३८)
कण्टकारी (र. १६.७३)
कैवर्तिका (रा. परि. ३.३५)
रिपु-पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)
रिष्ट-न., लक्षणम् (चसू. ३०.२५) भविष्यतो मृत्योर्लक्षणम् । रिष्टेन विना मरणं नास्ति, रिष्टदर्शने जीवितं नास्ति। स्थाय्यस्थायि भेदेन द्विविधं रिष्टमिति कृष्णात्रेयः (अरु.) दोषाणां बाहुल्याद्रिष्टाभासो भवति । दोषशमे तच्छमनमिति तदस्थायि, स्थायित्वमवश्यं मृत्यवे कल्पते (अहृशा. ५.३) रूपमिन्द्रियस्वरच्छायाप्रतिच्छायाक्रियादिष्वन्येष्वपि प्राकृतेषु भावेष्वनिमित्ततो विकृती रिष्टमिति सामान्यतो बोध्यम्। कानिचिद्रिष्टलक्षणानि-यस्य केशरोमाणि निरभ्यंगानि अपि अभ्यक्तानि इव ईक्ष्यन्ते । नेत्रलक्षणानि-अत्यर्थं चले स्तब्धान्तर्गतनिर्गते जिह्मे विस्तृतसंक्षिप्ते संक्षिप्तविनतभ्रूलते उद्भ्रान्तदर्शने हीनदर्शने नेत्रे। अत्यर्थविवृता संवृता वा पिटिकाचिता शोथाक्रान्ता स्फुटिता म्लाना नासिका। पक्वजम्बूफलनीलौ ओष्ठौ। सशर्कराः श्यावास्ताम्राः पुष्पितपङ्क्तिता दन्ताः सहसैव पतेयुर्वा। जिह्वा विसर्पिणी शूना शुष्का गुरुः श्यावा लिप्ता सुप्ता सकण्टका जिह्वा (अहृशा. ५.६-११) यस्य सततोष्मसु गात्रेषु भृशमौष्ण्यमहेतुकः स्वेदः स्तम्भो वोपलक्ष्यते। निर्निमित्तं बलवर्णहानिः स्वरभेदो वा (अहृशा. ५.३९-४०) रिष्टज्ञानो वैद्य आदरणीयः आयुर्वेदविदि वैद्ये आयुर्वेदफलं सकलं प्रतिष्ठितं। तस्माद्रिष्टज्ञानाद्तो भिषग्भवेत् (अहृशा. ५.१३१)
-लक्षण-न., लक्षण० भविष्यतो मृत्योर्लक्षणम् (चइ. ८)
-विज्ञान-न., रिष्टज्ञानम् (असंशा. १०.३२)
रिष्टाभास-पु., आभासरूपं रिष्टलक्षणम् (असंशा. १०.३४)

रीठा–वनस्पति० रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८६)
–**करञ्ज**–पु., वनस्पति० करञ्जभेदः तद्गुणाः– तिक्तः कटुरुष्णः स्निग्धो वातकफघ्नः कुष्ठकण्डूति-विषविस्फोटनाशनः (रा. ९.१८६)
हिं.—रिठा.
म.—रिठा, रीठा.
बं.—बारारिठा.
ता.—पूनन कोट्टई.
फा.—राथोह.

रीति–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् जसदम् (चसू. ५.७४)
–**कुसुम**–न., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)
–**ज**–न., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)
–**पुष्प**–न., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (ध. ३.१६२)

रीतिक–न., खनिज० पुष्पाञ्जनम् (रा. १३.२२४)

(रीतिका)–स्त्री., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.१८)

रुक्–स्त्री., लक्षण० वेदना (चसू. २८.१७)

रुक्म–न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.१)
वनस्पति० नागकेसरम् (रा. ६.७४)
–**लोह**–न., खनिज० तीक्ष्णलोहम्, सुवर्णसदृशसार-लोहम् (र. २८.४८-५१)
–**सार**–खनिज० सुवर्णस्य प्रसादभागः (सुशा. ४.२६-२७)

रुक्मिणी–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६५)

रुग्ण-वि., आतुरः रोगी (सुसू. ४२.१०(२); चसि. १.३२)

रुचक–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (ध. ५.२३)
न., लवण० सौवर्चलम् (ध. २.३०)
अस्थि० दशना रुचकानि (सुशा. ५.२०)
कण्ठभूषणम् (चइ. १२.७७; सुउ. ३१.७)
–**भूषणा**–वि., मूले धृताङ्गुलीयका (हे. अहसू. २५.९)

रुचि–स्त्री., भैषज्य० गोरोचना (ध. ३.२०)
अन्नास्वादः (चसू. १६.५)
प्रीतिः (अहसू. ११.३)
–**कारिणी**–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः, काकलीद्राक्षा (रा. ११.७९)
–**द**–वि., रुचिकारकम् (अहसू. ४.२९)
–**रञ्जन**–पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६२)

रुचिर–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५; रा. १३.७)
वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८४)
मूलकम् (रा. ७.५१)

(रुचिरा)–स्त्री., भैषज्य० गोरोचना (ध. ३.२०)
–**फला**–स्त्री., वनस्पति० मधुर-बिम्बी (रा. ७.३०४) द्र० 'बिम्बी',

रुचिष्य–न., वनस्पति० मूलकम् (ध. ४.३३)

रुच्य–पु., वनस्पति० कतकम् (रा. ११.२३५)
जीरकम् (ध. २.६६)
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.७८)
न., बीज० निर्मलीबीजम् (र. १७.४८-५०)

(रुच्या)–स्त्री., वनस्पति० कृष्णजीरकः (रा. ६.१०४) द्र० 'जीरक'
–**कन्द**-पु., वनस्पति० सूरणः (रापरि. ७.६)

रुच्यक–न., लवण० सौवर्चलम् (रा. ६.३८)

रुज्–स्त्री., रोगः (अहसू. १२.४९).
रुजा, पीडा (र. २.३)
लक्षण० वेदना (चसू. २८.१७)
वनस्पति० कुष्ठम् (सुउ. ४२.२९)

रुजा-स्त्री., वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)
लक्षण० वेदना (सुनि. ९.१०-११)
–**कर**–वि., वेदनाकरः (सुशा. ६.१४; असंसू. १६.१५)
वनस्पति० हिन्तालः (अहसू. १५.२१)
–**सह**–पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि. ९.२०)

रुजापह–वि., रुजानाशकः (सुचि. २४.३१)
पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि. ९.२०)

रुज्जा–स्त्री., क्षुद्ररोग० कपालगतोऽयम्, इन्द्रलुप्तम् (असंउ. २७)

रुज्या–स्त्री., क्षुद्ररोग० इन्द्रलुप्तम् (सुनि. १३.३३-३४)

रुणशालि–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०४)

रुणाली–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०४)

रुदन्तिका–स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (र. २०.६८-७४)

रुदन्ती–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुस्तिक्तोष्णा, रसायनी, कफघ्नी, क्षयकृमिरक्तपित्तश्वासमेहहारिणी (रापरि. ५.१५; र. ४.६८)

रुदित–न., रोदनम् (सुशा. ९.५)

रुद्ध–वि., प्रतिहतम् (असंशा. १२.११)
–**गुद**–पु., न., क्षुद्ररोग० सन्निरुद्धगुदम् (असंउ. ३६)
–**मणिक**–पु., रोग० निरुद्धमणिः (असंसू. ३४.१३)
–**शब्द**–पु., लक्षण० रुद्धशब्दोच्चारणम् (सुसू. २९.४३)

रुद्र–पु., देवताविशेषः (सुशा. ४.७६)
एकादशो भागः (र. ४.५०)

(**रुद्रा**)–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२४)
(**रुद्राणी**)–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२५)
द्र० 'रुद्रा'.
–कोप–पु., रुद्रस्य क्रोधः (चचि. ३.१४)
–गण–पु., देवता० शिवगणाः येषामपचितिरपस्मार-शमनी (सुउ. ६१.२६)
–ज–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४२)
–जटा–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुः श्वासकास-हृद्रोगनाशिनी, भूतरक्षोनिबर्हिणी नाम भूतराक्षस-नशिनी (रापरि. ३.२४)
हिं.—इशरमूल.
म.—सापसन्धि.
गु.—रुहिमूला.
बं.—इशरमूल.
ता.—पेरुमरिन्दु.
फा.—झखन्दहिन्दी.
–पत्नी–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११४)
–पूजा–स्त्री., शिवपूजनम् (सुउ. ६१.२६)
–भाग–पु., रोगिक्रीतस्य द्रव्यस्य मूल्याद्य एका-दशांशो वणिजा वैद्याय दीयते, स रुद्रभागः इति कथ्यते (र. ८.३)
–रेतस्–न., खनिज० पारदः (ध. ६.३७)
–लता–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि ३.२४)
द्र० 'रुद्रा'.
रुद्रवत्–पु., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३)
रुद्रांश–पु., एकादशभागः (र. १२२.२४)
द्र० 'रुद्रभाग'.
रुद्राक्ष–पु., वनस्पति० स्वनामख्यातः (रापरि .११.१५)
अम्ल उष्णो वातघ्नः कफघ्नः रुच्यः शिरोर्तिशमनः भूतग्रहनाशनश्च (रापरि. ११.१६)
रुद्रोपमा–वि., रुद्रसदृशम् (र. १२.१०४)
रुधिर–न., रक्तम् (सुसू. १४.४४)
वनस्पति० कुङ्कुमम् (ध. ३.१२; चसू. ४.१८)
–स्राव–पु., रक्तस्य स्रवणम् (सुनि. ११.१५-१६)
रुधिरावसेचन–न., उपक्रम० रक्तावसेचनम् (असंसू. ३६.१८)
रुधिरोक्षित–वि., रक्तप्रोक्षितः (असंशा. १२.२३)
रुबु–पु., वनस्पति० रक्तैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (ध. १.२९६)
रुबुक–पु., वनरपति० रक्तैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (ध. १.२९६)
रुरु–पु., आनूपपशु० बहुशृङ्गो हरिणः (चसू. २७.३९)
अयं शरदि शृङ्गत्यागी, तन्मांसगुणाः– मधुरं, कषायानुरसं, गुरु, वातपित्तोपशमनं, शुक्रविवर्धनम् (सुसू. ४६.९९)
पशु० रोहिणः (ध. परि. ६.३४)
–पित्त–न., भैषज्य० रुरुहरिणस्य पित्तम्, नेत्ररोगेषूप-युज्यते (असंउ. १६)
रुषित–न., क्रोधः (सुचि. ४०.१३)
रुहा–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (ध. ४.१४४)
द्र० ' दूर्वा '
वनस्पति० मांसरोहिणी (ध. ४.९४)
समङ्गा, (जज्जटः चचि. ३.२६७)
वृक्षरुहा (चक्र. चचि. ३.२६७)
–पत्र–न., शाक० उदग्रशाकम् (चक्र.चचि.१४.१२४)
रूक्ष–वि., गुण० रौक्ष्यम् वीर्यसंज्ञको गुणः, स्निग्धविपरीत-गुणो विशेषात् स्तम्भनः खरश्च (सुसू. ४६.५१६)
तैजसद्रव्यगुणो वायुगुणभूयिष्ठः श्लेष्मघ्नः, चक्षुषा ग्राह्यः (सुसू. ४१.११) शोषणे शक्तिः (हे. अहसू. १.१८) निर्द्रवं निःस्नेहं शोषणं च द्रव्यम् (र.१३.१)
लक्षण० यद्युक्तः अस्वेद्यो भवति (चसू. १४.१६)
न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३५-३७)
पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि. ९.२०)
मकुष्ठकः (रा. १६.१४४)
(**रूक्षा**)–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)
–गन्धक–पु., निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)
–च्छवि–वि., लक्षण० अस्निग्धकान्तिः (सुउ. ६२.८)
–ज्वर–पु., रौक्ष्यप्रधानो ज्वरो, वातज्वर इत्यर्थः (र. १६.६१-६४)
–दर्भ–पु., वनस्पति० शरपत्रः (रा. ८.२०९)
–सात्म्य–वि., रूक्षं यस्योपशेते सः (चवि.८.११८)
–स्वेद–पु., उपक्रम० स्वेदभेदः, अस्नेहः स्वेदः (चचि. १७.८५) द्र० 'स्वेद'
रूक्षण–वि., रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात्तद्धि रूक्षणम् (चसू. २२.१०)
न., स्नेहविपरीतं कर्म (चसू. १३.५३)
रूक्षणात्मक–पु., वनस्पति० करालः (ध. ६.१०९)
रूक्षाग्नि–वि., रूक्षगुणभूयिष्ठो वातदुष्टाग्निः (पुरुषः) (चसि. २.१९)

रूढि–स्त्री., रोपणम् (अहसू. २९.६७)
रूप–न., तैजसगुण० चक्षुरिन्द्रियग्राह्यः शुक्लादिकः (चशा. ७.१६)
सौन्दर्यम् (सुसू. ५.२७)
लक्षणम् (अहसू. १०.६)
शरीरम्, आकृतिः (चशा.२.४२)
–ग्रहण–न., आकारग्रहणम् (चशा. १.१४८-४९)
–तन्मात्र–न., पञ्चतन्मात्रेष्वेकमनुद्भूतं रूपम्, सूक्ष्मं तेजः (सुशा. १.४)
–द्रव्य–न., रूपप्राक्तनकारणम् (चचि. २(४)४९)
–प्रतिच्छाया–स्त्री., रूपस्य प्रतिबिम्बम् (चइ. ८.३)
रूपिका–स्त्री., वनस्पति० श्वेतार्कः (सुचि. १७.२५)
रूपेन्द्रिय–न., ज्ञानेन्द्रिय० चक्षुः, तैजसमिन्द्रियम् (सुशा. १.१९)
रूप्य–न., खनिज०रौप्यम् (चसि. ३.७)
–कृत्–पु., रौप्यस्य जारणं मारणं वा कुर्वाणः (रजतकारकः) तारविमलः (र. २.१००)
–कृष्टि– स्त्री., तारकृष्टिः पारदेन गन्धकादिभिश्च मारयित्वा बहुवारमुत्थापितं रौप्यम् (र. ८.९) तारकृष्टी (र. ८.९) द्र० 'रूप्यकृष्टि.'
–मल–पु., रौप्यमलम् (चचि.१६.८१) चांदीचा मळ.
–मूषा–स्त्री., मूषा० श्वेतवर्णेण भावितया पाषाण-रहितया प्रस्तरवालुकादिवर्जितया मृत्तिकया निर्मिता मूषा (र. १०.१८)
रूषित–वि., चर्चितं लिप्तम् (चचि. ४.१०८)
(रूषिता)–वि.,अवकीर्णा (अहसू. २६.४३)
रेक–पु., उपक्रम० विरेकः विरेचनम् (र. २०.९२-९६)
रेखा–स्त्री., रत्नदोष० रेषा, राजिः (र. ४.३६)
–पूर्ण–न., रेखाभिः पूर्णम् (र. ८.२७) अंगुष्ठ-तर्जनीभ्यां मृष्टे सति तयोः रेखान्तरे यद्विशति तद्
रेचक–पु., वनस्पति० दन्ती (ध. १.२२७; पृष्ठ ५३)
तिलकः (रा. १०.२६६; पा. २०२)
न., खनिज० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)
रेचन–पु., वनस्पति० आरग्वधः (ध. १.२१९)
उपक्रम० विरेचनम् (र. ३.१२४)
(रेचनी)–स्त्री., वनस्पति० कालाञ्जनी (रापरि. ४.४३; पृष्ठ ३३८)
रेचनक–पु., वनस्पति० कम्पिल्लकः (ध. ३.१३८)
रेची–स्त्री., वनस्पति० अङ्कोटः(ध. १.२५८; पृ. ६०)
कम्पिल्लकः (ध. ३.१३८)
तिलकः (ध. ५.१५८; पृ. २०२)
रेणु–पु., स्त्री., वनस्पति० रेणुका (रा. ६.९९)
रेणुकबीजम् (सुचि. ३७.१७)
पर्पटः (सुचि. ३७.४०)
–कदम्बक–पु., वनस्पति० कदम्बः (रा. ९.१७३)
रेणुक–न., पुष्पविष० (असंउ. ४०)
वनस्पति० कङ्कुष्ठम्'(र. ३.१२०-१२३)
(रेणुका)–स्त्री., वनस्पति० हरेणुः (असंउ. २)
तद्गुणाः–कटुः शीता, मुखवैमल्यकारिका, तृष्णा-विषदाहदौर्बल्यकण्डूखर्जूनाशिनी (ध. ३.५१)
हिं.—संभालुक बीज, रेणुका.
म.—रेणुकबीज.
गु.—हरेणु.
बं.—रेणुक.
ता.—येट्टी.
फलविष० (असंउ. ४०) **द्र० 'विष'**
रेतस्–न., शारीरधातु० शुक्रम् (चसू. १.६९)
–(रेतो)दोष–पु., शुक्रदोषः (चसू. १९.३)
–मार्ग–पु., शुक्रमार्गः शुक्रस्थानम् (चसू. २.३२)
–वहा–वि. शुक्रवाहिनी (नाडी) (चचि. ३०.१८९)
रेतित–वि., सूक्ष्मचूर्णितम् (र. ५.११५)
रेवत–पु., वनस्पति० जम्बीरः (असंचि. २४)
आरग्वधः (असंचि. २४)
(रेवती)–स्त्री., बालग्रह० (सुउ. २७.११)
स्त्रीविग्रहग्रहः स्त्रीजातीयदेवता (असंउ. ३) तन्नामानि –वारुणी, रेवती, ब्राह्मी, कुमारी, बहुपुत्रिका, शुष्का, षष्ठी, यमिका, धरणी, मुखमण्डिका, माता, शीतवती, कण्डूः, पूतना, निरुञ्जिका, रोदनी, भूतमाता, लोकमातामही, शरण्या, पुण्यकीर्तिरेतानि रेवत्या नामानि विंशतिः (काचि बालग्रहचि) रेवतीग्रहाविष्टबालकस्य लक्षणानि–ज्यावनीलता, कर्णनासाक्षिमर्दनम्, कासो, हिध्माऽक्षिविक्षेपो, मुखवक्रता, वक्त्ररक्तत्वम्, वस्तगन्धित्वम्, शोषो, ज्वरश्च (असंउ. ३)
–कल्प–पु., अध्यायसंज्ञा० (का संकल्प रेवतीकल्प.१
–प्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ३१.१)
रैतिक–वि., रीतिः पित्तलभेदः, तद्विकारं, तन्मयम् (सुसू. २६.२०)
रैवत–पु., सोम० (सुचि. २९.७) द्र० 'सोम'
न., वनस्पति० पारेवतम् (रा. ११.८८)
रैवतक–न., वनस्पति० पारेवतम् (ध. ५.६६)

रोग–पु., रुजति इति रोगः (असंनि. १) व्याधिः (चसू. १.६) दुःखम्. 'एकाकारा एव रोगास्तथा रुक् सामान्यादसंख्यभेदाः।' (असंसू. २२) पर्यायाः–विकार आतङ्को गदो व्याधिराबाधा दुःखमामयो रोगः इत्यादयः (असंनि. १) 'व्याधयश्च रोगशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते।' (चवि. ६.४) रोगप्रवृत्तिः 'दक्षयज्ञे वधत्रासाद्देवर्षीणां पलायताम्' 'रोगाः सर्वे समुत्पन्नाः सन्तापाद्देहचेतसोः।' (कासंहिताकल्प० १४-१७)

'त्रिविधं तु निमित्तमेषामसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्च। ते पुनः प्रत्येकमतियोगाऽयोगमिथ्यायोगभेदास्त्रिविधा भिद्यन्ते।– असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः–तत्र यथास्वं चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिभिरर्थैरतिसंसर्गोऽतियोगः। अल्पशो नैव वा संसर्गस्त्वयोगः। सूक्ष्मातिदूरान्तिकस्थातिभास्वद्भैरवाप्रियविकृतादिदर्शनं द्विष्टात्युच्चपरुषभीषणादिश्रवणं पूत्यमेध्यातितीक्ष्णोग्रप्रतिकूलाद्याघ्राणं स्वभावादिभिराहारकल्पनाविशेषायतनैरपथ्यानां रसानामभ्यवहारस्तथा स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामयथावदुपसेवनमशुचिभूताभिघातविषवातादिसंस्पर्शश्च मिथ्यायोगः

प्रज्ञापराधः–कायवाङ्मनोभेदेन तु त्रिविधमप्यहितं कर्म प्रज्ञापराधः। तत्र कायादिकर्मणोऽतिप्रवृत्तिरतियोगः। अल्पशो नैव वा प्रवृत्तिरयोगः। वेगोदीरणधारणविषमाङ्गचेष्टमस्खलनकण्डूयनप्रभुप्रहारप्राणायामादि तथा क्षुत्पिपासाऽधर्भुक्तभाषणादि भयशोकेर्ष्यामात्सर्यादि दशविधं चाऽकुशलं कर्म यथास्वं मिथ्यायोगः।

परिणामः–परिणामः पुनः काल उच्यते। सोऽपि शीतोष्णवर्षभेदात्त्रिधा तत्राऽतिमात्रस्वलक्षणः कालोऽतियोगः। हीनस्वलक्षणस्त्वयोगः। विपरीतो मिथ्यायोगः। ते एतेऽतियोगादयः सामान्यतोऽनुपशयलक्षणाः। सर्वो वा प्रज्ञापराध एवायं यदेषामविवर्जनम्। अर्थकर्मकालाः पुनः सम्यग्योगेनोपशयान्नूयिष्ठं स्वास्थ्यहेतवः। तत्रापि रसवर्ज्या विषया यथायथमिन्द्रियं बाधन्तेऽनुगृह्णन्ति च शेषा रसकर्मकालास्तु सर्वं देहम् (असंसू. २२) रोगाः पुनर्हेतुभेदेन द्विविधा भवन्ति–प्रत्युत्पन्नकर्मजाः पूर्वकर्मजाश्च (असंसू. २२) प्रत्युत्पन्नं कर्म परकृतमपि वर्णयन्ति तच्च पराभिसंस्कारमाचक्षते

(असंसू. २२) **रोगो रोगस्य हेतुः**—प्रधानमेव रोगोऽन्यस्य हेतुर्भवति, यथा ज्वरो रक्तपित्तस्य रक्तपित्तं वा ज्वरस्य तौ श्वासस्य, प्लीहा जठरस्य, तच्छ्वयथोः, अर्शांसि गुल्मोदरातिसारग्रहणीनाम्। प्रतिश्यायः कासज्वरयोः। तौ क्षयस्य। क्षयः शोषस्य (असंसू. २२) **रोगभेदाः**—स रोगो द्विविधश्चोक्तः शारीरो मानसस्तथा (काखि. ३.१९) सप्तविधत्वम्–सहगर्भ–जातपीडाकालप्रभावस्वभावजाः सप्तविधाः रोगाः। तत्र सहजाः–शुक्रार्तवदोषान्वयाः कुष्ठार्शोमेहादयः पितृजाः–मातृजाश्च। गर्भजाः–जनन्यपचारात्कौब्ज्य– पाङ्गुल्य-पैङ्गल्य-किलासादयोऽन्नरसजा दौहृदविमानजाश्च। जातजाः–स्वापचारात्सन्तर्पणजाः अपतर्पणजाश्च। पीडाकृताः–क्षत–भङ्ग–प्रहार–क्रोध–शोक–भयादयः शारीरा मानसाश्च। कालजाः–शीतादिकृता ज्वरादयो व्यापन्नजा असंरक्षणजाश्च। प्रभावजाः–देव–गुरु–शाप–अथर्वणादिकृता ज्वरादयः पिशाचादयश्च। स्वभावजाः– क्षुत्पिपासा जरादयः अरक्षणजा अकालजाः (असंसू. २२) 'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः' (असंसू. १.२०) स्वतन्त्रा रोगाः–स्पष्टाकृतयो यथास्वं समुत्थानोपशयाश्च इतरे, परतन्त्रास्तु तद्विपरीताः, परिवाररहितोऽननुबन्धाख्यः, परिवारसहितोऽनुबन्धाख्यः, तत्राऽन्यपरिवारा व्याधयो द्विविधाः पुरोगामिनः पूर्वरूपसंज्ञाः, अनुगामिनश्चोपद्रवसंज्ञाः–।

(असंसू. २२) समुत्थानविशेषाद्भेदाः–'द्वे रोगानीके आशयभेदेन, आमाशयसमुत्थं च पक्वाशयसमुत्थं च' (चवि. ६.३) सर्वाङ्गजा ज्वरादयः, अवयवजाः श्वित्रादयः, ऊर्ध्वाङ्गजा मुखरोगादयः (अहसू. १९.८५) त्रिविधाश्च पुनर्व्याधयः मृदुमध्याऽधिकमात्रामेदेन। तत्राऽल्पलक्षणा मृदवो मध्यलक्षणा मध्याः सम्पूर्णलक्षणास्त्वधिकमात्राः' (असंसू. २२; चक. १२.५८) साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा; तौ तु पुनर्द्विधा। सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रमः (असंसू. २) साध्यरोगलक्षणम्–'सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः। अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः। अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि।

ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः । सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाऽल्पेन साध्यते ॥ ' कृच्छ्रसाध्य-लक्षणम्-' कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च । असाध्यलिङ्गैः सङ्कीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधनः ॥ ' याप्यलक्षणम्—' शेषत्वादायुषः पथ्यैर्याप्यः प्रायो-विपर्यये । दत्त्वाऽल्पसुखमल्पेन हेतुना स प्रतन्यते ॥ याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियताऽयुषः । प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽन्याऽऽतुरो हि तैः ॥ ' असाध्यलक्षणम्-' परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते । तस्मादुपेक्ष्य एवासौ स्थितोऽत्यन्तविपर्यये ॥ भ्रममोहाऽरतिकरो दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः ' (असंसू. २) अवस्थाभेदेन साध्याऽसाध्यता-' यन्नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति । संशयप्राप्तमात्रे यो जीवितं तस्य मन्यते ' (असंशा. ११) ' वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी तथोदरी । गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः । अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति । अन्येष्वपि विकारेषु तान्भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ' (चइ. ९.८-९) रोगपरीक्षा-' रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चाद् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ ' (असंसू. २३) रोग-ज्ञानोपायः-' तत्रागमतो-रोगमेवमेवं प्रकोपनमेवं योनिमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवं वेदनमेवं रूप-शब्दगन्धरसस्पर्शमेवं पूर्वरूपमेवमुपद्रवमेवं वृद्धि-स्थानक्षयान्वितमेवमुदर्कमेवंनामानं परीक्षेत । तस्मिन्नियं प्रतिकारस्य प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिः । प्रत्यक्षतस्तु-आतुरस्य यथास्वमिन्द्रियैर्वर्णसंस्थान-प्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दिताऽऽधिक्यमन्त्र-कूजनमङ्गुल्यादिसन्धिस्फुटनं देहशकृद्गणादिगन्धं सुसशीतोष्णस्तम्भसंस्पन्दनखरस्पर्शं च विद्यात् प्रकृतिविकृतिभुक्तमास्यरसं तु प्रश्नेन तथा सुच्छर्द-दुश्छर्दित्वं मृदुक्रूरकोष्ठतां स्वप्नदर्शनमभिप्रायं जन्माऽऽमयप्रवृत्तिनक्षत्रद्विष्टेष्टसुखदुःखानि च । तथा वयः प्रत्यक्षेण च । अनुमानतस्तु -यूकापसर्पणेन शरीरस्य वैरस्यम् । मक्षिकोप-सर्पणेन माधुर्यम् । तथाऽग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, गूढलिङ्गव्याधिमुपशयाऽनुपशयतो, दोषप्रमाणमुपचारविशेषेणायुषः क्षयं रिष्टैः प्रकृति-सत्त्वसारसात्म्यबलान्यनुशीलनेनेति '(असंसू. २२) रोगोपशमः- पूर्वकर्मजाः कर्मक्षयादुपशाम्यन्ति, प्रत्युत्पन्नकर्मजा हेतुव्याधिविपरीतशीलनाच्छाम्यन्ति।

' सकलोऽपि चायं रोगसमूहः प्रतीकारवानायुर्वेद-विहितमुपदेशमपेक्षते । यस्मिन्नियतहेतुकोऽप्यामयः सम्यग्भिषगादेशानुष्ठानादुपात्तायुःसंस्कारापरिक्षये सह्यवेदनतां प्रतिपद्यते । अनुपक्रम्यमाणस्तु सर्व एव प्रायशो भनक्त्यकाण्डे । स्वयमपि च दैवान्नि-दानाऽल्पतया वा निवर्तमानः षोडशगुणसमुदित-क्रियोपलम्भादाशु अपरिक्लिष्टस्य चाऽपगच्छति । अनियतफलदायिनि तु दैवे हिताभ्यासरतस्याव-काशमेव न लभते व्याधिः । तस्मान्न कस्याञ्चिदव-स्थायामात्मवान् हिताहितयोस्तुल्यदर्शी स्यात् (असंसू. २२) अपुनर्भवोपायः- ' निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिरल्पेनायाति हेतुना । देहे मार्गीकृते दोष-शेषः सूक्ष्म इवानलः ॥ तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगे-णानपायिना । सिद्धानामपि योगानां पूर्वेषां दार्ढ्य-मावहन् ॥ ' (असंसू. २३)

दोषः, ' रोगशब्दो दोषेषु वर्तते ' (ड. सुचि.१३.१६; चवि. ६.४)

यक्ष्मा (चचि. ८.११)

ज्वरः (चक. चचि. ३.११)

वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)

-ग्राम-पु., ग्रामः समूहः, तेन रोगग्रामो रोगसमूहः (असंनि. १)

-तत्त्व-न., रोगस्य निश्चितं स्वरूपम् (चवि. ४.७)

-दर्शन-न., रोगस्य प्रत्यक्षपरीक्षा, यथा रोगा अर्शः-प्रभृतयः, तेषां दर्शनं नाडीयन्त्रेण कर्तव्यम् (सुसू. ७.१३)

-नुद्भेषज-न., रोगनुन्नाम रोगहरं, तादृशं भेषजम् (चचि. १.४)

-परीक्षा-स्त्री., रोगस्य परीक्षणम्, रोगस्य प्रमाणै-र्ज्ञानं विनिश्चयो वा । सा परीक्षा प्रत्येकरोगविशेष-ज्ञानार्थम् इष्यते रोगविज्ञानोपायाः पञ्च-तेच निदानं पूर्वरूपं रूपमुपशयः सम्प्राप्तिश्च । तत्र निदानं रोगोत्पादको हेतुः, सोऽपि द्विविधः-आसन्न विप्रकृष्ट भेदात् । तत्रासन्नो हेतुः कुपिता वाता-दयः, विप्रकृष्टहेतुर्दोषप्रकोपकरमाऽऽहारविहारादि । उत्पित्सुरामयो येन रूपेण लक्ष्यते, तत्पूर्वरूपम्, यथाऽऽलस्यादि ज्वरस्य पूर्वरूपम्, व्याधीनामव्यक्तं लक्षणमपि पूर्वरूपम् । पूर्वरूपमेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते रूप्यते निरूप्यते सम्यक् ज्ञाप्यते अनेनेति रूपम् लक्षणमिति यावत्, रूपावस्थायां वातादिदोषाणां रोगाणां च लक्षणानि सुव्यक्तानि

भवन्ति। औषधान्नविहाराणां सुखावह उपयोग उपशयः, स हि व्याधेः, सात्म्यमिति स्मृतः। विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यऽऽभिसंज्ञितः। सम्प्राप्तिस्तु रोगस्योत्पत्तिरागतिर्वा यथा दुष्टेन दोषेण देहे चानुविसर्पता येन प्रकारेणाऽऽमयस्य निर्वृत्तिः स प्रकारः। निदानादीनां पञ्चानां रोगविनिश्चये हेतुत्वम्। निदानादयः पञ्च व्यस्ताः समस्ता वा व्याधिबोधका भवन्ति (अहनि. १.२-८)

-प्रकृति-स्त्री., रोगकारणम् (चसू. २८.७) रोगस्वभावः (कासू. २७.४)

-प्रकोपण-न., रोगाणां प्रकोपकत्वेन कारणम् (असंसू. १०) दोषप्रकोपहेतुः, यथा अभिष्यन्दिविष्टम्भिविदाहिहिमगुरूरूक्षणं किलाटदधिकूर्चीकामत्स्यशुष्काऽऽममूलकं क्षारपिष्टं विरूढाद्यं न शीलयेत् समस्तम् (असंसू. १०)

-प्रभाव-पु., रोगशक्तिः (असंसू. २२)

-भिषग्जितीय-वि., रोगभिषग्जितमधिकृत्य कृतं (विमानम्) अध्यायः संज्ञाविशेषः (चवि. ८.१)

-मार्ग-पु., रोगस्थानम् (चसू. ११.४८) 'त्रयश्च रोगाणां मार्गा बाह्यमध्याभ्यन्तराः। तत्र बाह्यो रक्तादिधातवस्त्वक्, स पुनः शाखाख्यः। तदाश्रया गण्डपिटकालज्यपचीचर्मकीलार्बुदाऽदिमांसमषव्यङ्गादयो,बहिर्भागाश्च शोथाऽर्शोगुल्मविसर्पविद्रध्यादयः। मध्यो मूर्धहृदयबस्त्यादीनि मर्माण्यस्थिसन्धयः। तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुसिराकण्डरादयः। तदाश्रयाः पक्षवधग्रहाऽपतानकार्दितराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयो मूर्धादिरोगाश्च। आभ्यन्तरो महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयाश्रयः कोष्ठोऽन्तरिति पर्यायाः। तदाश्रया ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाकासश्वासहिक्काऽऽध्मानोदरप्लीहादयोऽन्तर्भागाश्च शोफार्शोविद्रधिगुल्मादयः।' (असंसू. २२)

-राज्-पु., रोग० राजयक्ष्मा रोगेषु प्रधानत्वेन राजते शोभते इति रोगराट् (असंनि. ५)

-राज-पु., रोग० राजयक्ष्मा (चचि. ८.३२; असंचि. ७)

-विनिश्चय-पु., रोगाणां निश्चितं ज्ञानम् (मानि.) माधवकृतरोगविज्ञानग्रन्थस्य नाम (मानि. पञ्चनिदान. २)

-विशेषविज्ञान-न., रोगज्ञानार्थमाप्तोपदेशादिप्रमाणम् (चवि. ४.३)

-वृत्ति-वि., रोगी (सुसू. २०.९)

-व्रज-पु., व्रजः समूहः, रोगसमूहः (र. ५.२३)

-शिला-स्त्री., खनिज० मनःशिला (रा. १३.१५८)

-सङ्घ-पु., रोगसमूहः (चचि. १३.९)

-समुत्थान-न., रोगाणां हेतुः, समुत्तिष्ठति प्रादुर्भवति अस्मात् इति समुत्थानं हेतुः कारणं वा (चसू. २८.४४; असंसू. ९)

-सात्म्य-न., रोगस्योपशयः, यथा गुल्मिनां क्षीरमुदावर्तिनां घृतं प्रमेहिणां क्षौद्रमिति (ड. सुसू. ३५.३९)

-साधन-न., व्याधिभेषजम् साध्यते अवजीयते अनेनेति साधनमत्र भेषजम् (सुउ. १.८)

रोगाधिकरण-न., रोगस्याधिकरणम् संश्रयत्वेन स्थानम् (चसू. १९.३)

रोगाधिकार-पु., रोगं समुद्दिश्यकृतोऽध्यायः, चरकसूत्रस्थानस्याष्टोदरीयाख्य एकोनविंशोऽध्यायः (चसू. १९)

रोगाधीश्वर-पु., रोग० राजयक्ष्मा (र. १७.१३९)

रोगानीक-न., अनीकं समूहः, रोगसमूहः, प्रभाव-बलाधिष्ठान-निमित्ताऽऽशयभेदाच्च, प्रत्येकं द्वे इति च दश रोगानीकानि। प्रभावभेदात्साध्यमसाध्यम् बलभेदान्मृदु दारुणं च, अधिष्ठानभेदान्मनोऽधिष्ठानं शरीराऽधिष्ठानं च, निमित्तभेदाच्च स्वधातुवैषम्यमागन्तु च, आशयभेदादामाशयपक्वाशयसमुत्थम् (चवि. ६.३)

रोगानीकराज्-वि., रोग० रोगसमूहस्य राजा, ज्वरः (सुउ. ३९.८)

रोगानुत्पादनीय-वि.,अध्यायसंज्ञा० रोगानुत्पादनमधिकृत्य कृतः (अध्यायविशेषः) (अहसू. ४.१; असंसू. ५)

रोगानुबन्ध-पु., रोगस्य अनुगामित्वेन संबन्धः (असंसू. २२)

रोगाभिसर-पु., रोगाणाम् अभिसरः आनेता कुलक्षणयुक्तो वैद्यः (चसू. २९.५; चसू. २९.९)

रोगाश्रय-वि., रोगसंश्रितः, रोगानुबन्धी (उपद्रवः) (चचि. २१.४०)

रोगिन्-पु., ज्वरादिरोगोऽस्यास्ति इति यद्वा रुजति ज्वरादिना पीडामनुभवति इति रोगी (अहसू. १.२२) रोगोपहतशरीरः (अहसू. १.२२) आतुरः, पादचतुष्टये एकः (अहसू. १.२७) आतुरस्य चतुर्गुणाः-'आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः

सत्ववानपि।' (अहसू. १.२९) धनवान्वैद्यवश्यो रोगाऽऽहारविहारादीनामन्वयव्यतिरेकं बोधयितुं समर्थोऽभीरुश्च (असंसू. २) अचिकित्स्य आतुरः–अनपवादप्रतीकारोऽधनोऽपरिचारको वैद्यमानी चण्डोऽसूयकस्तीव्राधर्मरुचिरतिक्षीणबलमांसशोणितोऽसाध्यरोगोपहतो मुमूर्षुलिङ्गान्वितः (चवि. ३.४५)

(रोगि)–त्व–न., रुग्णभावः (असंसू. ९)

–परीक्षा–स्त्री., रोगस्य ज्ञानार्थमातुरस्य परीक्षा। परीक्ष्यभावाः–इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च श्रोत्रं च घ्राणं च रसनं च स्पर्शनं च सत्वं च भक्तिश्च शौचं च शीलं चाचारश्च स्मृतिश्चऽऽकृतिश्च प्रकृतिश्च विकृतिश्च बलं च ग्लानिश्च मेधा च हर्षश्च रौक्ष्यं च स्नेहश्च तन्द्रा चारम्भश्च गौरवं च लाघवं च गुणाश्चाहारश्च विहारश्चाहारपरिणामश्चोपायश्चापायश्च व्याधिश्च व्याधिपूर्वरूपं च वेदनाश्चोपद्रवाश्च च्छाया च प्रतिच्छाया च स्वप्नदर्शनं दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकमातुरकुले भावावस्थान्तराणि च भेषजसंवृत्तिश्च भेषजविकारयुक्तिश्चेति परीक्ष्याणि प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः प्रमाणावशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा। तत्र तु खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित् पुरुषमनाश्रितानि कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि, तानि उपदेशतो युक्तितश्च परीक्षेत। पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितो विकृतितश्च (चइ. १.३-४) आतुरदेहस्थितानां भावानां परीक्षणं संक्षेपतः दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः कुर्यात् (अहसू. १.२२) विस्तरतो रोगाणां विज्ञानोपायाः षड्विधाः पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च। पञ्चभिः श्रोत्रादिभिरातुरशरीरगतान्सर्वानिन्द्रियार्थान्परीक्षेत। तद्यथा–शब्दविशेषाः–अन्त्रकूजनम् अङ्गुलिपर्वणां च सन्धिस्फुटनं स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युः, तान् श्रोत्रेण परीक्षेत। रूपविशेषाः–वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यानि, तान् चक्षुषा परीक्षेत। शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविशेषाः चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः (सुसू. १०.४-५) गन्धविशेषाः आतुरस्य सर्वशरीरगतान्गन्धान्प्रकृतिवैकारिकान्घ्राणेन परीक्षेत। स्पर्शविशेषाः– स्पर्शं प्रकृतिविकृतियुक्तं हस्ताभ्यां परीक्षेत। शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषाः ज्वरशोफादिषु (सुसू. १०.५) रसविशेषाः– रसं तु खलु आतुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न हि अस्य प्रत्यक्षग्रहणमुपपद्यते; तस्मादातुरमुखरसमातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यात्। यूकासर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् (चवि. ४.७; सुसू. १०.५) प्रश्नविषयः– ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखान्यातुरपरिप्रश्नेनैव विजानीयात् (चचि. ४.८) प्रश्नेन च विजानीयादेशं कालं जातिं सात्म्यम् आतङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्तीकालप्रकर्षादींश्च विशेषान् (सुसू. १०.५) अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थान्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपनुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्वमविकारेण (चवि. ४.८) अपरा अष्टविधा परीक्षा– 'नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृतिम्।' परीक्षेत (योगरत्नाकरे प्रथमभागे)

रोगेश–पु., रोगाणामीशः, राजयक्ष्मा (चचि. ८.११३)

रोगोच्छेद–पु., रोगस्योच्छेदः रोगनाशः (अहसू. ८.४४)

रोगोपक्रम–पु., रोगस्योपक्रमः, उपचारचिकित्सितम् (असंसू. २२)

रोचन–पु., वनस्पति० रोहितकः (ध. ५.१३०)

जम्बीरः (ध. ५.१४)

करञ्जः (रा. ९.१७६)

निम्बूकः (रा. ११.२२)

शिग्रुभेदः, मधुशिग्रुः द्र० 'शिग्रु' (रा. ७.६४)

दाडिमः (रा. ११.९४)

अङ्कोलः (रा. ९.३८४)

आरग्वधः (रा. ९.३३३)
कन्द० पलाण्डुः (रा. ७.१०१)
न., भैषज्य० गोरोचना, गोरोचनम् (सुउ.११.१२; असंसू. ६; अहसू. ५.६२)

(रोचना)-स्त्री., भैषज्य० गोरोचना (चसू. १.६९; काकषट्ककल्पाध्याय २८; सुचि. ९.१०; ध. ३.२०; र. ४.६४-६५)

(रोचनी)-स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)
आमलकम् (रा. ११.३२६)
भैषज्य० गोरोचना (रा. १२.३३)

-फल-पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (रा. ११.२७)

(-फला)-स्त्री., चिर्भटम् (रा. ७.२६२)

रोचनक-पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)

(रोचनिका)-स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (रा. ६.८६)

रोचिष्णु-वि., रोचनशीलं रुचिकरं वा (सुसू. ४५.१९३-१९४; अहसू. ५.३०)

रोदन-न., लक्षण० आक्रन्दनम् (मानि. बालरोग ४)

(रोदनी)-स्त्री., रेवतीग्रहस्य नाम (कावालग्रह)

रोदनिका-स्त्री.,वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२५)

रोध-पु., अवरोधः, यथा मूत्रस्य मलस्य वाऽवरोधः (र. १७.१) यथा वाताऽवरोधः (विहसू. ४.२)

रोधन-न., पारदसंस्कार० जलसैन्धवयुक्तस्य पारदस्य दिनत्रयपर्यन्तं घटयन्त्रे स्थापनम् (र. ८.६८) द्र० ' पारद '

रोधस्-न., तीरम् (असंसू. ४)

रोध्र-पु., न., वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५) न्यग्रोधादिगणे (सुसू. ३८.४८) तिल्वकः (सुसू. १२.२७-२८; अहसू. १५.२६)
शाबरकलोध्रः, शाबरम्, शावरम् (अहसू.१५.२६; सुउ.४०.६४)

-पुष्प-पु., सर्प० मण्डलिसर्पभेदः (सुक. ४. ३४(२)

-पुष्पक-पु., सर्प० वैकरञ्जेभ्यश्चिभ्यो जातः (सुक. ४.३४) द्र० 'सर्प'
धान्य० लोध्रपुष्पाकारः शूको यस्य, लोध्रशूकः (सुसू. ४६.४)

-युग्म-न., वनस्पति० लोध्रद्वयम्, लोध्रः शाबरक. लोध्रश्च (अहसू.१५.४१;अहसू.१५.२६;असंसू.१६)
एकः शाबरलोध्रोऽन्यः पट्टिकालोध्रः श्वेतलोध्रो लाक्षाप्रसादनः वा इति (शालिग्रामनि. पृ. २२०)

-शूक-पु., धान्य० शूकधान्यवर्गीयो लोध्रपुष्पाकारः शालिः (अहसू. ६.१) द्र० 'शालि'

रोध्रादिगण-पु., द्रव्यगण० लोध्रादिगणः (सुसू. ३८.१४-१५; असंसू. १६;अहसू. १५.२६)
रोध्रशाबररोध्रपलाशजिङ्गिणीसरलकट्फलकदम्ब-कदल्यशोकैलवालुपरिपेलवमोचाश्च, अयं मेदः-कफहरो योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषनाशनश्च (असंसू. १६)

रोध्रासव-पु., आसुत० रोध्रदूर्वाशठीविडङ्गत्रिफला-पुष्करमूलचतुर्जातादिसाधितोऽयं प्रमेहकुष्ठस्थौल्य-कृमिपाण्ड्वादिषु उपयुक्तः (असंचि. १४)

रोपण-वि., रोपयति व्रणमिति रोपणः, यथा कषायो रसः (चसू. २६.४३-(६)) यथा समधुकास्तिला रोपणाः (असंसू. ३९) यथा रोपणं मधु (अहसू. ५.५२)
न., व्रणरोपणम्, तत्सप्तविधम्-कषाय-वर्ति-कल्क-घृत-तैल-रसक्रिया-चूर्णभेदेन (सुसू. ३७.२२-२८)
क्षीणमांसादिवर्धनम्, इदं पञ्चधा प्रविभक्तस्योदक-कर्मणानुगृह्णतः, श्लेष्मणः कर्म (सुसू. १५.४)

-कल्क-पु., व्रणरोपणार्थमुपयुज्यमानः कल्कः (सुसू. ३७.२४) कल्कद्रव्याणि-समङ्गा, सोमः, सरला, सोमवल्कः, चन्दनः, काकोल्यादिगणश्च (सुसू. ३७.२४)

-वर्ति-स्त्री., व्रणरोपणार्थमुपयुज्यमाना वर्तिः (सुचि. १.६४)

-वर्त्यङ्ग-न., रोपणवर्ती द्रव्यम् सोमाश्वगन्धामृता-काकोल्यादिः (सुचि. १.६४)

-रोप्य-वि., रोपणीयः, यथा व्रणाः- 'बहिःशुद्धा' इवाभान्ति रोप्यास्ते संप्रकीर्तिताः (चचि. २५.२५) शालि० ये शालय एकवारमुत्पाद्यान्यत्र रोप्यन्ते, ते रोप्याः (डल्हणः) गुणाः- लघुः शीघ्रपाक्यदाही दोषहरो बल्यो मूत्रविवर्धनश्च (सुसू. ४६.१८) द्र० ' शालि '.

रोमक-न., लवण० रुमानदीभवं लवणम्, लवण-स्कन्धेषु (चवि. ८.१४१; अहसू. १०.२७) ह्रदभवम् (चक्र. चचि. १५.८५) शाकम्भरी-देशोत्थं लवणम् (सुसू. ४२.११) गुणाः- लवण-कटुतिक्तं, कटुपाकि, सूक्ष्मं तीक्ष्णमत्युष्णं, क्षारं, लघु, ग्राहि, दीपनं विष्यन्दि वातघ्नं पित्तकोपकरं वातानुलोमकं विड्भेदि मूत्रलं दाहशोषकरं च (सुसू. ४६.३१८; रा. ६.४०; ध. २.३२)
खनिज० कान्तलोहम् (रा. १३.२८)

रोमन्-न., लोम, केशः, अस्रो मलः (सुसू. ४६.५२९) द्र० ' धातुः '

(रोम)–कन्द–पु., वनस्पति० कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)
–कान्त–न., खनिज० कान्तलोहप्रकाराणामन्यतमम् (र. ५.८९; ध. ६.२९)
–कूप–पु., रोमरन्ध्रम् (सुसू. ३१.१७) रोमविवरम्, रोमकूपो धमनीमुखप्रतिबद्धः (सुशा. ९.९) रोमकूपा न कदाचन वर्धन्ते, ते च ध्रुवा मर्त्यानाम् (सुशा. ४.६०)
–च्छेदिन्–वि., शस्त्रगुण० शरीरजरोम्णां संयोगमात्रेणैव च्छेदं करोति इति, सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि भवति (ड. सुसू. ८.१४) द्र० 'शस्त्र'
–च्युति–स्त्री., लक्षण० रोमशातः, रोमपतनम् (अहसू. ११.२२)
–फल–न., वनस्पति० भक्ष्यम् (ध. ५.३९)
–भोजिन्–पु., रक्तजकृमि० रोमादः, रोमाणि भुङ्क्तेऽसौ इति रोमभोजी, स कुष्ठविसर्पपिडकादीन् रोगान् करोति, रोमभोजिषु इन्द्रलुप्तविधानवत् चिकित्सा कर्तव्या (सुउ. ५४.३७)
–राजि–स्त्री., रोम्णां समूहः पङ्क्तिर्वा (असंशा.२)
–राजी–स्त्री., रोमराजिः (चनि. ३.१४)
–राज्युद्गम–पु., लक्षण० रोमराजिप्रादुर्भावः (सुशा. ३.१४-१५)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०२)
–शतन–न., लक्षण० लोमपतनम् (र. २०.१९७)
–शातन–न., क्रिया० लोमापहरणम् (सुचि. १.१०६)
औषधयोग० द्वौ भागौ शङ्खचूर्णस्य हरितालं चैकभागम्, शुक्तेन सह पिष्टं लोमशातनम् (सुचि. १.१०५)
–संजनन–न., लोमोत्पत्तिकरं कर्म, व्रणस्य षष्ठशुक्रमेष्वेकः तदर्थं लेपः; हस्तिदन्तमसीरसाञ्जनेन अजाक्षीरसहितेन लेपाद्रोमाणि जायन्ते (ड. सुचि. १.८)
–संवेजन–लक्षण० रोमहर्षः (सुसू. ४२.१०(२)
–हर्ष–पु., लक्षण० रोमाञ्चः, रोम्णामुद्गमः (चनि. १.३३)

रोमश–पु., कृमि० कफजकृमिः, यतोऽयं सर्वतो रोमान्वितः तेन रोमश इति अन्वर्थकनामा शुक्लवर्णः (सुउ. ५४.१३) द्र० 'कृमि'

रोमाञ्च–पु., लक्षण० रोम्णां नाम केशानामग्रोत्थापनं रोमहर्षः (र. १२.९) लोम्नां संहर्षणम् (र. २१.२-३)

रोमाञ्चिका–स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रापरि. ५.१५)

रोमान्तिका–स्त्री., रोग० पिडकाज्वरादियुक्तो रोगः, पित्तकफजन्योऽयम्, लक्षणम्–क्षुद्रप्रमाणाः शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः कण्डूयुता अरुचिप्रसेकसहिताः पिडका भवन्ति (चचि. १२.९२) रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कासंयुक्ता रोमान्त्यः (मा.)

रोमाद–पु., कृमि० रोमाण्यत्तीति, शोणितजः कृमिः, अदृश्योऽयम्, असाध्यः (सुउ. ५४.१५) द्र० 'कृमि'
वनस्पति० कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)
कुम्भीरः (रापरि. ९.१९)
वि., अवस्था० कठिनावस्थायां प्राप्तः (सुसू. ४३.४)
खनिज० कासीसम् (चचि. २९.१५२)

(रोमशा)–स्त्री., वनस्पति० दग्धा (रापरि. ९.२८) जलूकाभेदः, सा वलियुक्तत्वाद्रोमाऽवततेव प्रतिभाति (सुसू. १३.११) द्र० ' जलूका '
वि., लोमशा (सुचि. ३०.१२-१३)

रोमालु–पु., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०२)
कन्दग्रन्थिः (रापरि. ७.२४)

रोमावर्त–पु., शरीरे केशानामावर्तः (असंशा. ७) आवर्तवद्वर्तुलाकारा केशरचना, स्थानमेतदधिपतिनाम्नः कपालान्तर्गतमर्मणः, मस्तकस्याभ्यन्तरोर्ध्वं मर्म, बहिरस्य लक्षणमुपरिष्टाद्रोमावर्तः (सुशा. ६.२७)

रोष–पु., कोपः, क्रोधः (चशा.५.५)

रोषांश–पु., क्रोधांशः (चशा. ४.३६)

रोहण–न., (परिव०) रोपणम् (सुचि. १.१११) व्रणसन्धानम् (सुशा. ६.२५)

रोहत्पर्वा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः मालादूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (रा.८.२३२)

रोहा–स्त्री., वनस्पति० अञ्जलिकारिका (जज्जटः) लज्जालुः (चचि. ३.२६७)

रोहिण–पु., पशु० गवयः, तस्य गुणाः–मधुर उष्णः स्निग्धो वृष्यः कफपित्तकरः (धपरि. ६.३४)
वनस्पति० भूतृणम् (रापरि. ८.४२)
वटः (रा. ११.११३)

रोहिणी–स्त्री., शारीर० त्वग्विशेषः, असौ व्रीहिप्रमाणा (असंशा. ५.३२) षष्ठी त्वग्, वेदिन्यास्त्वचोऽधःस्थितः। सा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना (सुशा. ४.४) द्र० ' त्वच् '

सिरा० लोहिताऽपरपर्याया, सा नाऽत्युष्णशीतला, रक्तवहा (सुशा. ७.१८) सा समा गूढा स्निग्धा शुद्धरक्तं वहति (असंशा. ६.२७) द्र० 'सिरा'
जलचारिपक्षिविशेषः (चसू. २७.४४)
वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)
मञ्जिष्ठा (रा. ६.१५)
मांसी (रा. १२.१३९)
काश्मरी (रा. ९.१४७)
कटुका (सुउ. ३९.२१४; र. २२.१३१; ध. १.३७; चचि. ७.१००; चसू. ४.१०; असंसू. १५; चचि. ३०.२६१; असंचि. १८)
कटुतुम्बी (सुचि. १.८६)
कट्फल (सुसू.३८.४८-४९)
मुखरोग० जिह्वामूलगतो गलरोगः (सुसू. ११.७) विरुद्धाऽशनजो रोगोऽयं (चसू. २६.८४) त्रिदोषात्मक आशुकारी भृशशोथवान् (चसू. १८.३५) दुष्टरक्तजो मांसाङ्कुरयुक्तो गलरोधी (सुनि. ४६,४७) सम्प्राप्तिः– प्रकुपिता वातपित्तकफा गलमाश्रित्य जिह्वामूले समन्ताच्छोणितं प्रदूष्य मांसाङ्कुरान्सृजन्तो गलस्याऽवरोधं कुर्वन्ति (सुनि. १६.४७; असंउ. २५) लक्षणम्– वातजरोहिणी–भृशवेदनायुक्ता मांसाङ्कुराः कण्ठरोधिनः स्युः, तालु कण्ठश्च शुष्यति, कण्ठेऽन्नं प्रसज्यते, तत्र कम्पविनामस्तम्भादय उपद्रवा भवन्ति । सप्ताहाच्च रुग्णो जहत्यसून् (सुनि. १६.४८) हन्वोः श्रोत्रयोश्च रुजं करोति (असंउ. २५) पित्तजरोहिणी–अस्या तीव्र ज्वर-ऊषा-तृष्मोह-कण्ठधूमायनानि भवन्ति । सा शीघ्रोत्थाना शीघ्रपाकाऽतिलोहिता स्पर्शनाऽसहा च (सुनि. १६.४९; असंउ. २५) तीव्रज्वर चतुर्दिनात् प्राणनाशिनी– (गयीच सुनि. १६.४९) कफजरोहिणी–कफादन्तर्बहिःशोथः श्वासः कण्ठरोधः इत्येतानि लक्षणानि व्याधितस्त्र्यहादसून्त्यजेत् (गयिः सुनि. १६.४९) पिच्छिला पाण्डुरा च वर्तते (असंउ. २५) रक्तजरोहिणी स्फोटयुक्ता पित्तसमानलिङ्गा सा रुधिरात्मिकाऽसाध्या (सुनि. १६.५०) वर्णतः स्पर्शतो वा तप्ताङ्गारनिभा कर्णरुजाकरी च (असंउ. २५) संनिपातजरोहिणी–त्रिदोषलक्षणयुक्ता गम्भीरपाकाऽसाध्या (सुनि. १६.५०) चिकित्सासाध्यायामवस्थायां शोणितमोक्षणं छर्दनं धूमपानं गण्डूषो नस्यकर्म च कार्यम् (सुचि. २२.५९-६०) रोहिणीरोगी धूमपाने गर्हितः (चसू. ५.४५; असंसू. ३०) रोहिण्यां शोणितमोक्षणविधिः, अङ्गुलिशस्त्रकेण मधुलवणगर्भेण वा नखेन सम्यग्लिखित्वा विस्रावयेत्, गण्डूषं नावनं च कुर्यात् (सुसू. २५.९-१०; असंसू. २६)

रोहिणिका–स्त्री., रोग० रोहिणी (असंसू. ३०)

रोहिणी–स्त्री., (ध. १.२०५)
–फल–न., फल० हरीतकीफलम् (सुचि. १.९५) कटुतुम्बीफलम् (सुचि. १.९५)
–शाक–न., शाक० कटुकाशाकम् तत्पयोमधुभ्यां नाभ्यवहरेत् (सुसू. २०.१३)

रोहित–पु., मृग० पशुवर्गीयः, तस्य लोहितचर्मत्वात नाम रक्ताजिनत्वात् रोहितः (सुचि. २९.१३) कूलचरवर्गीयः (सुसू. ४६.९४) महामृगेष्वेकः (अहसू. ६.५०; ध. परि. ६.३४) मत्स्य० (चसू. २५.३८) नादेयः– (ड.सुसू. ४६.११५) मत्स्येषु श्रेष्ठः (असंसू. ७) जलचरोऽयम्, यस्य उदरं मुखं नेत्रौ पक्षौ च रक्तवर्णकौ, किं वा पक्षौ कृष्णवर्णौ कुक्षिः श्वेतः अङ्गचर्म कृष्णं मुखं च वर्तुलं मतम् (रा. ७.४४१; र. २८.७७) रक्ताङ्गः कृष्णपृष्ठः (हे. अहसू.६.५२) स्वभावः–प्रतिस्रोतोविचारी, आकाशप्लवनो नित्यं शैवालभक्षी दिवास्वप्नविवर्जी च (असंसू.७) महाबलः (चसू. २७.८३) घनशकलः (ड. सुसू. ४६.११५) गुणाः–कषायाऽनुरसो लघुपाको वातहरो नात्यर्थं पित्तकोपनो दीपनीयो वर्ण्यो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्धनः (चसू. २७.८३; सुसू. ४६.११५) मधुरोऽर्धाङ्गवातापहश्च (ध. ६.४११) अस्य मांसं चूर्णाञ्जने उपयुज्यते (असंउ. १२)
वनस्पति० रोहितकः (रा. ८.२१७)
–पित्त–न., भैषज्य० रोहितमत्स्यस्य पित्तम्, इदं विषनाशनायाऽञ्जनरूपेण प्रयुज्यते (चचि. २३.१८३)
–मत्स्य–पु., मत्स्य०रोहितः (सुशा. ५.४४)

रोहितक–पु., वनस्पति० तस्य भेदः रक्तपुष्पः दाडिमपुष्पतुल्यपुष्पः (ध. ५.१३०) अन्यः श्वेतपुष्पः सिताङ्गः (रा. ८.२१८) तस्य गुणाः– कटुः कषाय उष्णः (ध.) शीतः (रा.) स्निग्धः सरो वातकफहरः (शालि. नि.) यकृत्प्लीहरोग–गुल्मोदर–कृमि–व्रण–नेत्ररोग–रक्तरोग–कर्णरोग–भूतबाधाहरः,विषवेगविनाशनश्च (ध. ५.१.३०)

हिं.—रोहेडा.
म. रक्तरोहिडा.
गु.—रगतरोहिडो, श्वेतरोहिडो.
बं.—रोढा, रयना, नयना, कडार, (शालि. नि.)

-लता–स्त्री., रोहितकः, अयं कामलागुल्मप्लीहोदरक्रिमीन् हन्ति (चचि. १३.८१)

-षट्पल–न., घृत० रोहितकपंचकोलसाधितमिदं प्लीहोदरे उपयुक्तम् (असंचि. १७)

रोहिताकार–वि., रक्तवर्णः रोहितमत्स्यवदाकारः यस्य सः यथा शकलिमत्स्यः (चसू. २६.८३)

रोहिन्–पु., वनस्पति० रक्तपुष्पः रोहितकभेदः द्र० 'रोहितक' (ध. ५.१३०)
पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०९)
पशु० रोहिणः (धपरि. ६.३४) द्र० 'रोहित'.

रोहिष–पु., न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८०; चक. १.९) ' रामकर्पूर इति ख्यातः (चक्र. चचि. ३.२६७)
भूतृणम् (ध., ४.४७; असंउ. ४३)
कन्दविष० (असंउ. ४०) द्र० ' कन्दविष '

रोहीत–पु., वनस्पति० रक्तपुष्पः (रोहितकभेदः) (सुउ. १७.४१)
न., रोहितकः, ' दाडिमपुष्पकाख्यम् । ' (इन्दु; असंउ. ४३) दाडिमपुष्पतुल्यपुष्पः (सुउ. १७.४१)

रोहीतक–पु., वनस्पति० शाल्मलीभेदः, द्र० 'शाल्मली' (ध. ५.१३०)

रौक्म–वि., रुक्मनिर्मितः, सौवर्णः (छेदनशस्त्रविशेषः) (चशा. ८.४४)

रौक्ष्य–न., लक्षण० रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः रूक्षता, त्वचो रूक्षत्वम् (चसू. २०.११; असंसू. २०)

रौद्र–वि., रुद्राधिष्ठितम्, भयंकरम् (चवि. ८.११९; सुशा. ४.८८)

(रौद्री)–स्त्री., ग्रह० जातहारिण्या रेवत्या नाम, (कारेवतीकल्प० ७) सा एकादशेऽहनि अपत्यं विनाशयति (का रेवतीकल्प० ४६)
वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२४)

-भाव–पु., क्रोधात्मकः स्वभावः, रुद्रः क्रुद्धश्चासौभावः स्वभाव इति (चचि. ३.१९)

-रूपिन्–वि., लक्षण० भयावहरूपी (दूतादिः) (सुसू. २९.७-८)

रौप्य–न., खनिज० गुणाः– कषायमम्लं स्निग्धं मधुरपाकि सरं रुच्यं वृष्यं वातपित्तहरं वलीपलितनाशनं विषघ्नं च (ध.६.५) तस्य मारणम्–रूप्यं स्नुक्क्षीरहरितालाभ्यां म्रियते (र. २८.११)

रौरव–वि., रुरुः हरिणविशेषः, तत्सम्बन्धि, यथा तस्य चर्म, रौरवं चर्म (चशा.८.१०)

रौहिणेय–रत्न० मरकतमणिः (ध. ६.४९)

रौहित–वि., रोहितसम्बन्धि (पित्तम्) (सुउ. १७.१३-१४)

रौहितक–वि., रोहितकसम्बन्धि (पुष्पम्) (चचि. ६.३५)

ल

लकुच–पु., न., वनस्पति० क्षुद्रपनसः (सुसू.४६.१५५) गुणाः– तिक्तः कषाय उष्णो लघुर्दाही मलसंग्रहकृत् कफहरः (रा. ९.४४) लकुचफलं त्रिदोषकरं शुक्रनाशनम् (सुसू. ४६.१५५; र. २.१०३) आमं लकुचमुष्णं गुरु विष्टम्भकृत् सुपक्वं मधुरमम्लं चानिलपित्तहृत् कफवह्निकरं रुच्यं वृष्यं च (भाप्र. ७.३०-३२)
हिं.—बडहर.
म.—क्षुद्रफणस, ओटीचे फळ.
गु.—लकुक.
बं.—डेयो, मादार.

-फल–न., लकुचवृक्षस्य फलम्, निकुचफलम्, पयसा दध्ना माषसूपेन गुडेन मधुना घृतेन वा प्रागन्ते वा संयोगादहितम् (सुसू. २०.१३; असंसू. ९)

लक्तक–न., जीर्णवस्त्रं लक्तकम् (चसू. १४. ११; सुचि. ३२.५) धूमद्रव्येषूपयुक्तम् (चचि.१८.७३)

लक्षण–न., आयुर्वेदः (चसू. ३०.३१)
असाधारणो धर्मः (सुशा. १.३)
ज्ञापको हेतुः (सुसू. ३.१४)
चिह्नम् (चसू. ५.३८) रूपम् (चनि. १.९)
लक्ष्यतेऽनेनेति इति रोगज्ञापकहेतुः (सुनि. ९.६)
व्याधिर्लक्ष्यते येनेति (अहसू. १.२२) व्याधिरूपम्
द्र० ' रोग ' (असंनि. १)
शारीरावयव० लिङ्गं (सुशा. ५.४१)

लक्ष्मण–न., वनस्पति० यष्टिमधु (अहसू. ६.९४)

(लक्ष्मणा)–स्त्री., वनस्पति० तस्याः स्वरूपम्
' पुत्रकाऽऽकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा ।
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाऽऽकृतिर्भवेत् ॥ '

(ड. सुशा. २.३२) अस्याः पुष्पं गोक्षीरसदृशं रोमवल्लिसमन्वितं च (अहकोषः) गुणाः–मधुरा शीता रसायनी बल्या त्रिदोषशमनी स्त्रीवन्ध्यत्व-विनाशिनी (रापरि. ७.५५) पुत्रजननी (इन्दु. असंशा. १. पृ. २००) पुंसवनार्थमस्याः कन्दं क्षीरेणाभिषुत्य दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै स्त्रिये नस्यं दद्यात् (सुशा. २.३२) अस्या मूलं पुंसवनविधौ नस्यदानार्थम् (असंशा. १.६१) श्वेतकण्टकारी (सुशा. १०.१५) कण्टकारी (ध. १.९७) शाकफञ्जीचिल्लयादिगणे प्रोक्ता (चसू. २७.१०१)

लक्ष्मणक–पु., वनस्पति० मुचकुन्दः (रापरि. १०.२५)

लक्ष्मन्–न., चिह्नम् (सुक. ४.२६) रोगलक्षणम् (र. १२.९)

लक्ष्मी–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५) शमी (ध. ५.९५; सुसू. १९.२९; हे. अहसू. २९.३१) लक्ष्मणा (ड. सुसू. १९.२९) विष्णुक्रान्ता (ड. सुसू. १९.२९) हरिद्रा (रा. ६.८१) पद्मिनी, पद्मचारिणी (धनि. ४.९०; असंउ. ६; असंसू. ३८)

–**ताल**–पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा.९.९५)

–**फल**–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १०७)

–**वत्**–पु., वनस्पति० रोहितकभेदः, श्वेतरोहितः (रा. ८.२१८; पृ. १९६)

–**वेष्ट**–पु., धूपद्रव्य० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२)

लक्ष्य–न., दृश्यम्, ज्ञेयम् यस्य लक्षणमस्ति तत् (चइ. ७.६)

–**निमित्त**–वि., लक्ष्यं ज्ञेयं, तस्य निमित्तं हेतुः (चइ. ७.६)

लगण–पु., नेत्ररोग० वर्त्माश्रयः, तस्य लक्षणम्–वर्त्मनि कठिनः स्थूलोऽपाकोऽरुजः कण्डूयुक्तः पिच्छिलः कोलप्रमाणो ग्रन्थिर्भवति (सुउ. ३.२७) साध्योऽयम् (सुउ. १.३४) स कफाद्भवति (असंउ. ११) चिकित्साभेद्यरोगः अयम्, भिन्ने क्षारमग्निं च युञ्जीत (सुउ. १४.५-६) द्र० 'नेत्ररोग'

लगुड–पु., वनस्पति० रक्त करवीरः (ध. ४.२)

लघु–वि., गुण० विंशतिगुणेष्वेकः (अहसू. १.१८) गुरुत्वरहितः (चसू. १.५९) आकाशगुणभूयिष्ठो वाय्वग्निगुणबहुलो गुरुविरुद्धो गुणः (चशा. ६.१०) कर्म–अनुसादकरोनुपलेपकृत्, कफहरो, लेखनो रोपणश्च (सुसू. ४६.५१९) शीघ्रपाकी (चशा. ६.१०) लघून्यग्निसंधुक्षणस्वभावानि (असंसू. ११) अस्य लङ्घने शक्तिः (अहसू. १.१८)

न., वनस्पति० लामज्जकम् (ध. ३.८६)

(लघ्वी)–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (रा. १२.११३)

–**काय** वि., लक्षण० संजातदेहलाघवः (सुसू. ४६.५०७)

–**काश्मर्य**–पु., वनस्पति० कट्फलम् (रा. ८.१०१)

–**कोष्ठ**–वि., लक्षण० उदरगौरवरहितः (सुउ. ४०-१६२)

–**चिर्भिटा**–स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८)

–**ता**–स्त्री., अगुरुत्वम् (सुसू.१४.९)

–**द्राक्षा**–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः काकलीद्राक्षा, निर्बीजा, द्र० ' द्राक्षा ' (रा. ११.७९)

–**पत्रक**–पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.३९)

–**पत्रफला**–स्त्री., वनस्पति० उदुम्बरभेदः, नद्युदुम्बरिका, द्र० ' उदुम्बर ' (रा. ११.१४०)

–**पत्री**–स्त्री., वनस्पति० अश्वत्थभेदः, ह्रस्वपत्रिका, अश्वत्थिका, अश्वत्थि, द्र० ' अश्वत्थ ' (रा. ११.१२२)

–**पर्णिका**–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.१०) शतावरी (रा. ४.४३८)

–**पाक**–वि., यदनायासेन पच्यते तद् (चसि. ६.१५)

–**पुट**–न., पुट० अर्धगजपुटम् (रा. ५.१६७)

–**पुष्प**–पु., वनस्पति० कदम्बभेदः भूमिकदम्बः द्र० ' कदम्ब ' (रा. ९.१७४)

–(**पुष्पा**)–स्त्री., वनस्पति० केतकीभेदः, सुवर्णकेतकी द्र० ' केतकी,' (धपरि.५.१)

–**पूर्वक**–पु., वनस्पति० भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०; पृ. १८८)

–**ब्राह्मी**–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मीभेदः क्षुद्रपुत्रा द्र० ' ब्राह्मी' (रा. ५.१५१)

–**भूतद्रुम**–पु., वनस्पति० भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०)

–**मन्थ**–पु., वनस्पति० अग्निमन्थभेदः, क्षुद्राऽग्निमन्थः द्र० ' अग्निमन्थ ' (रा. ९.१३८)

–**मांसी**–स्त्री., वनस्पति० गन्धमांसी (रा. १२.९३)

–**लोकेश्वर**–पु., पारदयोग० पारदगन्धकवराटिकाटङ्कणादिसाधितोऽयं मूत्रकृच्छ्रे उपयुक्तः (र. १७.२२-२५)

-वर्धनक-न., उपक्रम० कर्णव्यधस्य लघुछिद्रम्, तस्य वर्धनार्थं यत्कर्म तत् (सुसू. १६.८)

-शीत-पु., वनस्पति० भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०)

-शेलु-पु., वनस्पति० भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०)

-सदाफला-स्त्री., वनस्पति० उदुम्बरभेदः, द्र० 'उदुम्बर' (रा. ११.१४०)

-सिद्धाभ्रक-पु., पारदयोग० पारदगन्धकाभ्रक-तीक्ष्णादिसाधितोऽयं दीपनः पाचनो ग्रहण्यादिरोग-हरः (र. १६.६२-६६)

-हस्त-वि., छेद्यादिक्रियासु वेपनादिदोषरहितः (सुसू. ३४.१९-२०)

-हेमदुग्धा-स्त्री., वनस्पति० नद्युदुम्बरिका (रा. ११.१४०) द्र० 'उदुम्बर'

लघूदुम्बराव्हा-स्त्री., वनस्पति० उदुम्बरभेदः, नद्युदुम्ब-रिका, द्र० 'उदुम्बर' (रा. ११.१४१)

लघूष्णीष-न., शिरोवेष्टन० अल्पतन्तुकृतं शिरोवेष्टनम् (सुचि. २४.८९)

लघ्वक्षर-न., अकारादिअक्षरम् (सुसू. ६.५)

लघ्वन्न-न., अन्नं रक्तशाल्यादिकं मात्रातः प्रकृतितो वा लघु चचि. ३.१६३)

लङ्क-पु., प्राचीनो रसाचार्यः रसरत्नसमुच्चयकारेण निर्दिष्टानामेकतमः (र. ६.४९-५३)

(लङ्का)-स्त्री., धान्य० कराला (रा. १६.१७४)

लङ्केश-पु.,रावणः रसरत्नसमुच्चयकर्तृनिर्दिष्टेषु सप्तविंशति-संख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः (र १.२-५)

लङ्घन-न., उपक्रम० (चसू २२.४; असंसू. २४) शरीर-लाघवकरं द्रव्यं कर्म वा, लघुभोजनं उपवासो वा, (चवि. ३.४३) उपवासः (अहसू. ८.२१) यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनम्, तदेवास्य तर्पणम्, 'लङ्घनं लाघवाय यत्' (असंसू. २४; अहसू. १४.२) लङ्घनभेदाः-शोधनं शमनं चेति द्विधा लङ्घनम् (असंसू. २४. अहसू. १४.४) दशविधं लङ्घनम्, संशुद्धिश्चतुष्प्रकारा-वमनविरेचन-नस्यरक्तमोक्षाख्या, संशमनं च षड्विधं-पिपासा-मारुतसेवनाऽऽतपसेवनपाचनोपवासव्यायामभेदा-दिति (चसू. २२.१८) द्वादशविधम् निरूहवमन-विरेचननस्यरक्तमोक्षा इति पञ्चविधं शोधनं, पाचनं, दीपनं, क्षुत्तृड् व्यायामाऽऽतपमारुताश्चेति सप्तधा संशमनम् (१४.५-७) लङ्घनद्रव्यस्वरूपम्-लघु-उष्ण-तीक्ष्ण विशद-रूक्ष-सूक्ष्म-खर-सर-कठिण गुणयुक्तम् (चसू. २२.९,१२-१३) लङ्घनोपयोगाः-अनशन-स्वरूपः उपक्रमः आमज्वरे विशेषत उपयुक्तः तेन दोषक्षयादिकर्म भवति (चचि. ३.१४०; १४१) आमाख्येऽजीर्णे लङ्घनमेव कार्यम् (सुसू. ४६.५०५) दोषाणामल्पे बले उपवास-रूपं लङ्घनमग्निवृद्धिकरं भवति (असंसू. ११) लङ्घन-योग्याः-मेहाऽऽमदोषज्वरोरुस्तम्भकुष्ठविसर्प-विद्रधिप्लीहशिरोरोगकण्ठरोगाऽक्षिरोगपीडितान् स्थूलांश्च अतिस्निग्धांश्च लङ्घयेत् (असंसू. २४; अहसू. १४. ११) अधिकस्थौल्यबलपित्तकफान् संशोधनेन लङ्घयेत्। आमदोषज्वरच्छर्द्यतीसार-हृद्रोगादिपीडितानादौ पाचनदीपनैर्लङ्घयेत्पश्चाच्छो-धनैः। एतेषामुक्तानां हीनस्थौल्यबलत्वे सति क्षुत्तृष्णानिग्रहरूपं लङ्घनं हितम्। मध्यबलै-र्दोषैरार्तान् समीरणातपाऽऽयासैर्लङ्घयेत्। बृंह-णीयेष्वार्तेषु लङ्घनसाध्यरोगोत्पत्तौ स्वल्पं लङ्घनं हितम् (अहसू. १४.१२-१५) सुलङ्घितलक्षणम्-विमलेन्द्रियता, मलानां प्रवृत्तिर्गात्रलघुता, रुचिः, क्षुत्तृषोरेककालमुदयः, हृदयोद्गारकण्ठानां शुद्धिः, रोगमार्दवमुत्साहः, तन्द्रानाशश्च (अहसू. १४.१६-१७; असंसू. २४; का. विशेषक) अतिलङ्घनलक्षणम्अतिकार्श्य-भ्रम-कास-तृष्णा-ऽरोचकाऽऽदीनामाधिक्यम्। स्नेहाऽग्नि-निद्रा-दृक्-श्रोत्र-शुक्रोजः-क्षुत्-स्वरादीनां क्षयः। बस्ति-हृन्मूर्ध-जङ्घोरु-त्रिक-पार्श्व-देशे रुजा, पर्वाऽस्थि-भेदनं मलमूत्राऽवरोधश्च। ज्वर-प्रलापो-र्ध्ववात-ग्लानि-च्छर्द्यादयो जायन्ते (असंसू. २४; का विशेषक) लङ्घनकर्म-अनवस्थितदोषाणां पाचन-मग्नेः दीपनं ज्वरस्य नाशनमाहारेच्छाकरं रुचिकरं लाघवकरं च (सुउ.३९.१०३) स्वास्थ्यमोजश्च जायते (असंचि. १) लङ्घनस्येष्टाऽनिष्टत्वम्-क्षयरोग-वातरोगवातज्वरक्रोधकामादिजज्वरेषु नेष्टं लङ्घनम् (सुचि. १.१३ चचि. ३.१३९-१४०;) अस्थिवृद्धौ वातक्षये लङ्घनमिष्टम् (अहसू. ११.२९)

-बृंहणीय-वि., अध्यायसंज्ञा० लङ्घनबृंहणे अधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चसू. २२.१)

लङ्घ्य-वि., लङ्घनयोग्यः (असंचि. ३)

लज्जा-स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६०) संकोचवृत्तिः (चवि. ३.७(३))

लज्जालु-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुः शीता पित्त-कफघ्नी अतिसार-शोफ-दाह-श्रम-श्वास-व्रणकुष्ठ-रक्तविकारहरा च (रा. ५.१६०)

हिं.—लज्जावन्ती, लाजवती, शर्मानी. छुईमुई.
म. लाजाळु, लाजरी, संकोचनी.
गु.—रिशामणी.
बं.—लज्जावती, लाजुक.

लज्जालुका–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुभेदः गुणाः–कटुः कषाया मधुरोष्णाऽत्यर्थदीपनी मेध्या वातश्लेष्महरा रसायनयोग्या (असंउ. ४९)

लज्जिका–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः(रा.५.१६०)

लट्टा–स्त्री., पक्षि० प्रतुदवर्गीयः रक्तपुच्छाऽधोभागः फेञ्चाकः (चसू. २७.५१)

लट्टूषक–पु., पक्षि० प्रतुदवर्गीयः लट्टाभेदः (चसू.२७.५१) फेञ्चातकः (सुसू. ४६.६७)

लट्वा–स्त्री., वनस्पति० लम्बा (इन्दु.) कटुका लाम्बुनी (असंउ. २६) कुसुम्भम् (ध. ६.११८; पृ. २३२) पक्षि० लट्टा (सुसू. ४६.६७; अहसू. ६.४७) वनस्पती० कुसुम्भम् (ध. ६.११८)

लट्वाक–पु., गुग्गुलुशाकम् (अहसू. ६.९३)

लड्डूष–पु.,पक्षि० प्रतुदवर्गीयः (असंसू. ७) द्र० 'प्रतुद'

लता–स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (सुउ. ६०.४८; असंसू. ८)
गुडूची (सुशा. १०.६०)
दूर्वाभेदः, श्यामदूर्वा, द्र० 'दूर्वा (चसू. ४.१०; असंसू. १५)
श्वेतदूर्वा द्र० 'दूर्वा' (ध. ४.१४४)
शतपुष्पा (इन्दु. असंउ. ८)
मञ्जिष्ठा (चक. चसि. ४.२१; चसू. ३.२७)
सारिवा (ध. १.१६१)
त्रपुसम् (ध. १.१७५)

–करञ्ज–पु., वनस्पति० गुणाः– कटुः उष्णः (ग्राही) (शा. नि.) 'कफवातनुन्मेहकुष्ठ-अर्शो-व्रणहरः परं कृमिनाशनः ' (शा. नि.) पत्रमस्य कटूष्णं कफवातनुच्च । तद्बीजं दीपनं पथ्यं शूलगुल्महरम् (रापरि. ८.२४)
तस्य फलं कष्टफलम् सागरगोटा इति म. भाषयाम् (रापरि. ८.२४)
हिं.—करञ्जा करञ्जुवा.
म.—सागरगोटा.
गु.—कांकच, तेना फल–कांकचिया.
बं.—कोँटा करञ्ज.

–कस्तूरिका–स्त्री., वनस्पति० तल्लताफलगुणाः– स्वादुशीतं लघु कफहरं वृष्यं बस्तिशोधनं हृद्यं दौर्गन्ध्यहरं बस्तिरोगमुखरोगतृष्णाच्छर्दिहरम् (शानि) तिक्ता छेदिनी च (असंसू. १२) गुणतः कर्पूरसमा (सुसू. ४६.२०४)
हिं.—लताकस्तूरी, मुष्कदाना.
म.—लताकस्तूरी.
गु.—लताकस्तूरी.
बं.—लताकस्तूरी.
त.—कठेकस्तूरी.
(शानि) (नाड. पृ. ६२६)

–ताल–पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९७; पृ. १८२)

–बीज–न., वनस्पति० लताकस्तूरीबीजम् (र. १९.३९-४१)
ज्योतिष्मतीबीजम् (र. १९.३९-४१)

–मणि–पु., भैषज्य० प्रवालम् (रा.१३.७३)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० कैवर्तिका (रापरि. ३. ३५)

–विदल–न., श्यामलतादिपाटितार्धम्, व्रणबन्धनार्थ-मुपयुक्तम् (सुसू. १८.१६)

लताङ्गी–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (रा. ६.१११)

लतार्क–पु., वनस्पति० पलाण्डुभेदः, हरितपलाण्डुः, द्र० 'पलाण्डु' (ध. ४.७१)

लद्दि–स्त्री., अश्वशकृत् (र. १०.९)

लप्सिका–स्त्री., कृताऽन्न० तस्याः कृतिप्रकारः–" समितां सर्पिषा भृष्टां शर्करां पयसि क्षिपेत् । तस्मिन्घनी-कृतेन्यस्येलवङ्गमरिचादिकं सिद्धैषा लप्सिका ख्याता । (भाप्र. कृतान्न वर्ग)

लब्ध–वि., प्राप्तम् (सुशा. २.३२)

–गर्भा–वि., लब्धः गर्भः यया सा; प्राप्तगर्भा, स्थित-गर्भा, गर्भिणी (सुशा. २.३२)

–दौहृदा–वि., प्राप्तदौहृदा प्राप्ताऽभिलषितपदार्था उपनताभिप्रेतविषया वा (सुशा. ३.१८)

–पाक–वि., प्राप्तपाकम् (अहसू. ५.५४)

लब्धावमान–वि., लक्षण० अभ्यवहार्यप्राप्तपदार्थ-तिरस्कारः (चनि. ७.७(१))

लम्पक–पु., रसरत्नसमुच्चयकर्तृनिर्दिष्टेषु सप्तविंशति-संख्याकेष्वन्यतमः रससिद्धिप्रदायकः (र. १.२-५)

लम्पट–पु., रसरत्नकर्तृनिर्दिष्टानामेकतमः प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९-५३)

लम्ब–वि., लम्बमानः (सुचि. ७.३१)

(लम्बा)–स्त्री., वनस्पति० कटुकाऽलाम्बुनी (ध. १.१७०)

इक्ष्वाकुपर्यायः (चक. ३.३) तिक्तालाबूः (सुउ. ३४.७) तुम्बी (अहसू.१५.१)
पत्रविष० (सुक. २.५; असंउ. ४०) द्र० 'पत्रविष'
-कर्ण-पु., वनस्पति० अङ्कोटः (रा.९.३८४)
-दन्ता-स्त्री., वनस्पति० सैंहली पिप्पली (रा. ६.१२०)
-बीजा-स्त्री., वनस्पति० सैंहली पिप्पली (रा. ६.११९)
-शीर्ष-वि., लक्षण० लम्बमानमस्तकः (सुचि. ७.३१)
लम्बन- लक्षण० स्वस्थानादधोऽवनमनम् (अहसू. ११.११)
लम्बितार्पित-वि., लक्षण० अर्पितसकलदंष्ट्राग्रास-लक्षणम् (दष्टम्) (चक्र. चचि. २३.१३५)
लम्बुजा-स्त्री., वनस्पति० महामुण्डिः (रा. ५.२२१)
लय-पु., (परिव०) विलयनम् (र. १.४१) नाशः (सुशा. १.९)
ललन-पु., निर्यास० रालः (ध. ३.१२१)
वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०५)
प्रियालः (ध. ५.७२)
ललनाप्रिय-पु., वनस्पति० कदम्बः (ध. ५.१०४)
न., वालकम् (रा. १०.६८)
ललाट-न., शारीर० सङ्ख्यया ललाटमेकम् (सुशा. ५.४)
भालदेशः प्रमाणतश्चतुरङ्गुलम् (चवि. ८.११७; सुसू. ३५.१२) कपालम् (चवि. ८.१०५)
शीर्षस्यैकं प्रत्यङ्गम् (सुशा. ५.४)
तत्र प्राशस्त्यम् वलिनं (भं) सुश्लिष्टसंध्यर्धचन्द्राकृति ललाटमिष्टम् (असंशा. ८)
-भेद-पु., लक्षण० ललाटस्य भेदः, ललाटे भेदनवत्पीडा, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०,११; असंसू. २०)
-लेप-पु., उपक्रम० औषधं पिष्ट्वा कपालप्रदेशे कृत आलेपः, प्रतिश्यायादिहरोऽयम् (चचि. २३.७५)
ललाट्य-वि., ललाटे भवा ललाटसम्बन्धी (सिरादिः) (अहसू. २७.९)
ललित-वि., सुन्दरम् (सुशा. ३.२३)
(ललिता)-स्त्री., भैषज्य० कस्तूरिका(रा.१२.४७)
लव-पु., अंशः (र. १६.१३८) भागः (र. १७.१३७-३८)
न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध.३.४१)
लामज्जकम् (ध. ३.८६)

लवङ्ग-न., वनस्पति० (चसू. ५.७७) पुष्पवृन्तं द्रव्यम्, ताम्बूलद्रव्येषूपयुक्तं द्रव्यम् (चसू. ५.७७) भुक्तेरितकफनाशार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४६.४८५-४८६)
गुणाः- तिक्तं (कटु-सु) शीतं सोष्णकं तीक्ष्णं लघु स्निग्धं मधुरविपाकं हृद्यं चक्षुष्यं वृष्यं रेचनं मुखदौर्गन्ध्यनाशनम् (दीपनं पाचनं रुच्यम्-(भाप्र) त्रिदोषघ्नं विष-मूर्धरोग-कासहरम् (आध्मानशूलक्षयहरम्-(भाप्र) तृष्णापहम् (सुसू. ४६.२०२) हिक्काश्वासहरम् (ध. ३.४१; रा. १२.८७)
हिं.—लोङ्ग, लवंग.
म.—लवंग.
गु.—लवींग.
बं.—लवङ्ग.
त.—किरं वेर
फा.—मेहक.
-कलिका-स्त्री., वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८४)
लवङ्गक-न., वनस्पति० लवङ्गम् (असंसू. १२)
लवण-न., भैषज्य० सैन्धवादि (चसू. १.७०,८९)
पञ्चविधम्-सैन्धव-सौवर्चल-बिड-औद्भिद-सामुद्राणि अन्ये बिडस्थाने काललवणमाहुः (सुसू. ३७.१३-१५) षड्विधम्-सामुद्रं सैन्धवं बिडं सौवर्चलं रोमकं चूलिकालवणं च (र. १०.६९)
अष्टविधम्-सैन्धव-सौवर्चल-बिड-सामुद्र-औद्भिद-कृष्ण-रोमक-पांसुजं चेति (हे. अहसू. ६.१४३-४४) धूपनद्रव्येष्वेकम् (असंसू. ३८) निरूहगणेष्वेकम् (अहसू. १५.३) शिरोविरेचनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.६) गुणाः- लवणरसं, मधुरपाक्युष्ण-तीक्ष्ण-मृदु-सूक्ष्माग्निकरं रुच्यं वातघ्नं कफपित्तकृत्, सृष्टमलम्(अहसू. ६१४३; असंसू. १२; रापरि. २०.६१) गुल्मे हितकरं (सुउ. ४२.५९) प्रायो लवणमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात् (असंसू. १८) क्षीरेण सह लवणं विरुद्धम् (असंसू. ९) अतियोगः- 'अत्यर्थमुपयुज्यमानं शरीरस्य ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं भवति, ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति; तद्यथा-बाह्लीक-सौराष्ट्रिकसैन्धव-सौवीरकास्ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति, येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्ते अल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्।

तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीतातिलवणसात्म्यानां पुरुषाणामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाऽकाले भवन्ति (चवि. १.१८)
सैन्धवम् (असंसू. ११; र. ११.२६)
भैषज्य० लोणारक्षारः (रा. ६.५३)
रस० (सुउ. ६३.१६) षड्सेष्वेकः लवणरसः (असंसू. १३)

(लवणा)–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२)
–किंशुका–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९३)
–क्षार–न., क्षार० लोणारक्षारः (रा. ६.५३)
–गण–पु., लवणस्कन्धः–सैन्धवं सौवर्चलं कृष्णलवणं बिडं सामुद्रमौद्भिदं रोमकं पांसुलवणं शीसं स्वर्जिकाक्षारश्च (अहसू. १०.२७) लवणस्कन्धः (चवि. ८.१४१)
–तृण–न., तृण० गुणाः–क्षाराम्लकषायं अश्ववृद्धिकरम्। स्तन्यवृद्धिकरम् (रापरि० ८.५७)
–तैल–न., लवणवत्तैलम्, लवणयुक्तम् (चचि.१७.७१)
–द्वय–न., सौवर्चलं सैन्धवं च (सुसू. २०५; सुक. ५.८२)
–द्रव्यस्कन्ध–पु., लवणगणः (असंसू. १८)
–नित्य–वि., नित्यं लवणरससेवी (चशा. ८.२१)
–पञ्चक–न., पञ्चलवणानि– 'सैन्धवं रोमकं चैव सामुद्रलवणं तथा । बिडं सौवर्चलाख्यं च युक्तं लवणपञ्चकम्' (ध. ७.५५)
–प्रियता–स्त्री., लक्षण० लवणरसभूयिष्ठपदार्थाभिलाषः (चनि. १.३३)
–भेद–पु., क्षार० लवणारम् (रा. ६.५३)
–मेह–पु., रोग० मेहभेदः कफजमेहः, लक्षणम्–लवणमेहे लवणाम्बुतुल्यं विशदं मूत्रं भवति (सुनि. ६.१०) चिकित्सा–पाठागुरुहरिद्राकषाय उपयुक्तः (सुचि. ११.९)
–यन्त्र–न., यन्त्र० वालुकायन्त्रवद्यन्त्रम् अत्र वालुकास्थाने लवणनिक्षेपः रसादिपचनार्थमुपयुक्तम् (र. २.९२-९.३९)
–रस–पु., रस० षड्सेष्वेकः (सुसू. ४२.३) तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणरसस्य संभवः (सुसू. ४२.३; असंसू. १८; चसू. २५.४०; असंसू. १३) गुणाः–लवणः क्षार उष्णो गुरुः स्निग्ध आग्नेयश्च (सुसू. ४२.४-७) लवणरसो वातघ्नः प्रक्लेदिभावाद्वातस्य विबन्धं जयत्युष्णत्वाच्छैत्यं निहन्ति, गुरुत्वाल्लाघवं निहन्ति (काखि. ६.३०-३१) मुखे क्षिप्ते स मुखं स्यन्दयति कपोलयोर्गले च दाहं करोति (अहसू. १०.४) लवणरसे निर्यासादिकल्पनानामसंभवः (असंसू. १५; द्र० 'रस')
–वर्ग–पु., लवणरसयुक्तद्रव्याणां संग्रहः (सुसू. ४६.३१३; चवि. ८.१४१)
–षट्क–न., सामुद्र–सिन्धु–रुचक–बिड-रोमक-पांशु-लवणानि समेत्य एतल्लवणषट्कम् (ध. ७.६७)
–सात्म्यता–स्त्री., भोजने लवणरसाभ्यधिकाभ्यासो रक्तप्रकोपकस्तैमित्यादिविकारजनकः (काखि. ५.४४)
–स्कन्ध–पु., लवणवर्गः (चसि. ७.३१) स्कन्धद्रव्याणि–सैन्धवसौवर्चलकालविडपाक्यानूपकूप्य-वालुकैलमौलकसामुद्ररोमकौद्भिददौषरपाटेयकपांशुजान्येवंप्रकाराणि चाऽन्यानि लवणवर्गपरिसंख्यातानि (चवि. ८.१४१)

लवणाब्धिज–न., लवण० सामुद्रलवणम् (रा. ६.४२)
लवणाम्बु–न., लवणजलम् कर्णस्रोतोगते कीटे कर्णं सुखोष्णेन लवणजलेन पूरयेत् (अहसू. २८.४२)
लवणाम्बुधर–पु., क्षारसमुद्रः (असंशा. ३.)
लवणार–न., लवण० लोणारक्षारः, गुणाः–लवणं क्षारयुक्तमत्युष्णं तीक्ष्णं वातघ्नं पित्तकरं गुल्महरञ्च (रा. ६.५३)
लवणासुरज–न., लवण० लवणारम् (लोणारक्षारः) (रा. ६.५४)
लवणास्यता–स्त्री., लक्षण० मुखे लवणरसता (अहसू. २७.३; चसू. २४.१४)
लवणोक्ता–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (ध. १.२६७)
लवणोत्तम–न., सैन्धवम् (सुउ. ५७.७; असंउ. ४३)
लवणोत्थ–न., लवण० लोणारक्षारः (रा. ६.५३)
लवणोदधिसंभव–न., लवण० सामुद्रम् (ध २.३४)
लवलिका–स्त्री., वृक्ष० लवली (र. २.६४)
लवली–स्त्री., फलवृक्ष० घनस्निग्धा हरितांशुः प्रपुन्नाटसदृक्च्छदा सुगन्धिमूला पाण्डुकोमलवल्कला (ड. सुसू. ४६.१८९) लवलीफलगुणाः–मधुरं अम्लं कषायं किंचित्तिक्तं गुरु रूक्षं रोचनं हृद्यं विशदम्। कफपित्तहरं वातलं। मूत्राश्मरी–अर्शोरोगहरम् अवदंशक्षमं हृद्यम् लवलीफलं प्राह्य द्रव्यान्तरे रुचिर्भवति (चक्र. चसू २७.१४५; सुसू. ४६.१८९ असंसू. ७)

हिं.—हरपररेवडी.
म.—काथआवळे, रायआवळे.
गु.— खाटी आवळी.

-फल-न., फल० लवल्याः फलम् (असंसू. ७)

लशुन-पु., न., कन्द० पञ्चभिः रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः, तस्माद्रसोनः (भाप्र.) हरितवर्गोक्तं द्रव्यम् (चसू. २७.१७६) गिरिजं क्षेत्रजं चेति द्विविधं लशुनम्, तत्र गिरिजं श्रेष्ठम् (काक. ११४) शिरोविरेचनद्रव्येष्वेकम् (चसू. २.५; सुसू. ३९.६) " लशुनो गुल्माऽनिलहराणां श्रेष्ठः " (असंसू. १३) स्नेहौष्ण्यगौरवैः वातं क्षपयति (असंसू. १७) तस्य नित्योपयोगः- कृतान्नेषु संस्कारार्थमुपयोज्यः (सुसू. ४६.२२१) रसायनार्थं पौषे माघे लशुनान्युपयोज्यानि (काक. लशुनाध्याय. ३५) लशुनसेविनां मद्यं मांसम् आम्लं च हितम्। व्यायामाऽऽतपक्रोधअतिजलपानदुग्धगुडसेवनमहितम् (भा. प्र.) सूतिकागर्भिणीशिशुषु आमज्वरे अतिसारे च कामलायां तृष्णाच्छर्दिहिक्काश्वासाऽतिवृद्धिषु लशुनं न प्रयोजयेत् (का. लशुनकल्प अ.) लशुने रसविशेषः कन्देषु कटुकः, पत्रेषु तिक्तः, नाले कषायः बीजे तु मधुरः (भा. प्र.) तक्रे स्थापनेनास्य शुद्धिभवति (र. २४.५) गुणाः-कटुः स्वादुरम्लः पाके कटुः उष्णो गुरुः पिच्छिलः, सुतीक्ष्ण उग्रगन्धः दीपनः पाचनः सरो रसायनः रक्तपित्तप्रदूषणः (असंसू. ७.१६२-१६५) बल्यो वृष्यो मेधा-स्वर-वर्णकरः नेत्र्यः भग्नास्थिसन्धानकरः कफवातहरः अरोचक-कृमि-हृद्रोग-शोफ-जीर्ण-ज्वर-शूल-विबंध-गुल्म-कास-श्वास-मूत्रकृच्छ्र- श्वेतकुष्ठाऽर्शो-मेह-हिध्मा-पीनसहरः (चसू. २७.१७६; का. लशुनकल्प; अहसू. ६.१०९-१११; ध. ४.६६; रा. ७.९५; भा. प्र.) आस्थापने कृमिहरः (चवि. ७.१७) कुष्ठादिहरः प्रदेहे (चसू. ३.४) अजाऽविमूत्रेण भावितोऽयम् आघ्रातः हिक्कां निहन्ति (सुउ. ५०.२३)

हिं.—लशुन, लसुन, लहशून, लहसन, कांदा.

म.—लसूण, पांढरी, तांबडी लसूण.

गु.—लसण.

बं.—लसुन-लशुन-रसून.

ता.—बल्लइपाण्डु, वल्लइपाण्डु.

फा.—सीर. (शा. नि.)

-यूष-पु., यूष० लशुनस्य यूषः, स वातनाशकः (काखि. ४.६४)

लसत्फल-पु., धान्य० खस्तिलः (ध. ६.१२०)

लसिका-स्त्री., व्रणगतमुदकम्, लसीका (अहसू. ३०.४५)

लसीका-स्त्री., शरीरान्तर्गतपिच्छिलद्रव०

(चसू. २६.४३(५) शरीरस्य जलस्य पिच्छिलो भागः (चसू. २०.८) यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतमुदकं तत् लसीकाशब्दं लभते (चशा. ७.१५) त्वगाश्रयो जलप्रायो रसमलः (अहसू. १२.२) ' रसस्य...मलः कफः लसीका च ' (असंशा. ६) अवगाढपूयलसीकासु...मांसदाहः (असंसू. ४०)

लाक्षा-स्त्री., भैषज्य० रञ्जकद्रव्यम् (सुसू. ३९.६) इथं कृमिजा (ध. ३.८२) सालपलाशादिनिर्यासः (सुसू. १४.३६) सद्यःक्षते रक्तस्रावपरिहारार्थमवचूर्णनद्रव्यम् (असंसू. ३६) ' लाक्षा सद्यःक्षतघ्नानां श्रेष्ठा ' (असंसू. १३) लाक्षादिगणेष्वेकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.६४-६५) कुष्ठेष्वालेपनार्थमुपयुज्यते (सुचि. ९.१०) गुणाः- तिक्ता कषाया (मधुरा) उष्णा (शीता) (भा. प्र.) स्निग्धा (दुष्टव्रणविशोधनी) (सु.) कफपित्तघ्नी, रक्तपित्तकृमिव्रणरक्तदोषविषमज्वरभूतज्वरहरा (ध. ३.८२)

हिं.—लाख, लाही.

म.—लाख.

गु.—लाख.

बं.—लाहा.

ता.—अरक्कु.

फा.—लाक.

-कृत्य-न., पादतलयो रञ्जनात्मकं लाक्षाकर्मानुष्ठानम् (र. १.११.१५)

-प्रसाद-पु., वनस्पति० शाबरलोध्रः (ध. ३.१७७)

-प्रसादन-पु., वनस्पति० क्रमुकः शाबरलोध्रः (ध. ३.१७७)

-रस-पु., योग० लाक्षानिःसृतो द्रवो रसः, लाक्षाजलम्, लाक्षाक्काथः (सुशा. २.१७) लाक्षारससाधनविधिः-दोलायन्त्रे षड्गुणे जले लाक्षाद्रव्यम् उत्क्काथ्य त्रिसप्तधा परिस्राव्य लाक्षारसं साधयेत् (वैश. सिं.)

(सुचि. २५.२६) क्षतक्षीणे लाक्षारससिद्धं क्षीरं लाक्षादिसिद्धं घृतं वा प्रशस्तम् (चचि. ११.३४)

-वृक्ष-पु., वृक्ष० क्षुद्राम्रः (कोशाम्रः) (ध. ५.९)

लाक्षोदक-न., औषधकल्प० लाक्षादिगणक्काथः नाडीव्रणेषु दोषापनयनार्थमुपयुज्यते (सुचि. १७.३७)

लाघरक–पु., रोग० पाण्डुरोगभेदः (सुउ. ४४.६)
कुंभकामलायाः अवस्थान्तरेण संज्ञान्तरम्; अस्य अलसक इत्यपि संज्ञा। लक्षणानि–ज्वराङ्गमर्दभ्रम–सादतंद्राक्षयाः इति (सुउ. ४४.१२)
चिकित्सा–द्राक्षागुडूच्यामलकीरसैः सिद्धं घृतं लाघरकाख्यपाण्डोः शमनम् (सुउ. ४४.३६)

लाघव–न., लक्षण० लघुता गुरुत्ववैपरीत्यम् (चसू. १६.५)
शीघ्रक्रियता (चसि. ३.१९)

लाघवक–पु., रोग० लाघरकः (सुउ. ४४.६)

लाङ्गल–पु., धान्य० शालिभेदः द्र० 'शालि' (चचि. १४.९५; अहसू. ६.३)
न., कृषि यन्त्र० कृष्युपयोगि हलम् (सुक. ४.२२)
वनस्पति० कलिकारी (सुचि. ९.५५)

(लाङ्गली)–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (सुचि. २५.१९; असंशा. ३.२०; र. १२.१०१)
इन्द्रपुष्पिका (इन्दु) (असंसू. ७.१४६)
महाराष्ट्री (रापरि. ४.१२)
नारिकेलः (ध. ५.७४)
ऋषभकः (रा.५.१५८)
जलपिप्पलिका (धा. ४.६४)

लाङ्गलक–पु., कृषियन्त्र० लाङ्गलम् (सुचि. ८.१०)
पु., छेद० पार्श्वद्वये छेदः (असंउ. ३३)
वनस्पति० कन्दविषपरिगणितानामेकतमः द्र० 'कंदविष' असंउ. ४०)
कलिकारी (चचि. ७.१०९)

(लाङ्गलकी)–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (सुचि. २०.४)
शाक० गुणाः– तिक्तं अम्लं, कटु शकृद्भेदि च (चसू. २७.१०८)

(लाङ्गलिका)–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (असंसू. ३९)
–च्छेद–पु., हलसदृशः छेदः, 'द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलको मतः' (सुचि. ८.१०)

लाङ्गलाह्वया–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (सुसू. ३७.१३)

लाङ्गलिनी–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१७)

लाङ्गली–स्त्री., (सुचि. २५.१९)
–मूल–न., कलिकारिमूलम् (असंशा. ३)

लाङ्गल्या–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९)

लाङ्गुल–पु., धान्य० शालिभेदः द्र० 'शालि' (चसू. २७.८)

लाङ्गूलिका–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११७)

लाङ्गूली–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (सुसू. १९.२९; ध. १.१५१)

लाज–पु., लाजाः (असंसू. १५)

लाजाः–पु., आहारद्रव्य० व्रीहिविकारः (चसू. २.२४)
पुष्पितं धान्यम्, भर्जिततण्डुलादिधान्यम् (सुउ. ५०.२६) ये के च व्रीहयो भृष्टास्ते लाजा इति (रापरि. १६.८)
शोणितस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८; असंसू. १५) छर्दिनिग्रहगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४; असंसू. १५) 'लाजाश्छर्दिघ्नानां श्रेष्ठाः' (असंसू. १३) दाहप्रशमनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७; असंसू. १५) व्रीहि–विकाराणां लाजानां पिपासाघ्नपेयायामुपयोगः (चसू. २.२४)
गुणाः–मधुराः कषायमधुरा (सुसू. ४६.४१३) शीता लघुरूक्षा दीपनाः स्वल्पमूत्रमला बल्याः पित्तकफघ्नाश्छर्दतीसारदाहरक्तरोगप्रमेहमेदस्तृष्णा-हराः कासघ्नाश्च (अहसू. ६.३६; भाप्र. १२.१७५)
गुरुपित्तलात् व्रीहेः संस्कारात् जाताः लाजाः लघुपित्तहरा भवन्ति (असंसू. ७)

(लाजा)–स्त्री., लूता० सप्तसु उपपादिकाख्यासु लूतासु एका (असंउ. ४४) द्र० 'लूता'
–गन्धि–वि., लाजा इव गन्धः यस्य तत् (ओजः) (चसू. १७.७५)
–चूर्ण–न., लाजानां चूर्णम् (चचि. ४.३४)
–तर्पण–न, योग० लाजसक्तुकृततर्पणविशेषः ज्वरे रक्तपित्तरोगे च बलरक्षणार्थं साधित–पेय–द्रव्यम् (असंचि. १) विषज–तृष्णायां पाने सशर्करं लाजतर्पणमुपयुक्तम् (असंउ. ४७) तत्र निर्माण-विधिः–लाजान् सक्तून् वा स्वच्छजले किंचित् कालं स्थापयित्वा मृदुभूतान् तान् विमृद्य वस्त्रात् गालितं यद द्रवं द्रव्यं तदेव लाजतर्पणं भवति
तद्गुणाः–तृष्णातीसारशमनः धातुसाम्यकः दाह-मूर्च्छानिवारणः (चसू. २७. २५४)
–मण्ड–पु., मण्ड० कृतान्न० पेयाया उपरितनो भागो मण्डः (ड. सुसू. ४६.३४२) तद्गुणाः-ईषद् पिप्पलीनागरयुतः सुसंस्कृतो लाजमण्डः पाचनो दीपनो वातानुलोमनो हृद्यश्च भवति (सुसू. ४६. ३४०-३४१)
–वर्णा–स्त्री., लूता० उपपादिकाख्या तु लूतास्वेका (असंउ. ४४) दंशलक्षणम्–दंशे ध्यामं पूतिरक्तं

स्रवेत्, दाहो मूर्च्छाऽतिसारः शिरोदुःखं च जायते' असाध्यश्च (सुक. ८.१२३) अतिरुक् शीतज्वरश्च भवति (असंउ. ४५) द्र० 'लूता'

–सक्तु–पु., कृतान्न० गुणाः–कषायो–मधुरः शीतो लघुश्च (चसू. २७.२५७)

लाजादितोय–न., औषधयोग० लाजोत्पलोशीर-कुचंदनानि दत्त्वा तोयं प्रवाते निशि वासयेत्तत् सुगंधि पुष्पाधिवासितं शर्कराक्षौद्रयुक्तं जलं द्राक्षा–प्रगाढं क्षतजतृष्णाशमनार्थं पाययेत्

(सुउ. ४८.२४-२५)

लाञ्छन–पु., तृणधान्य० रागी (रा. १६.१७८)

न., रोग० क्षुद्ररोगः, लक्षणम्–शरीरे कृष्णं सितं वा सहजं मण्डलम् (असंउ. ३६)

लाटपर्ण–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)

लामज्जक–न., वनस्पति० उशीरभेदः (सुसू. ३९.९) दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३) गुणाः–तिक्तं–शीतलं, लघु (भा. प्र.) सगन्धम् त्रिदोषहरम् (भा. प्र.) विषत्वगामयमूत्रकृच्छ्रदाहहरम् (भा. प्र.) (चसू. ३.२९; ध. ३.८६)

हिं.—लामज्जक.

म.—पिवळा वाळा, लावज.

गु.—पिळो वाळो सुगन्धिपिलू, खडजल जलवाळो.

बं.—करन्कुस गन्धवर्णा.

पर्वतोद्भवमूलम् (सुउ. ४७.५८)

लालन–पु., मूषिक० तद्दष्टलक्षणानि–लालास्रावो हिक्काच्छर्दिश्च (सुक. ७.१०) मूर्च्छा (असंउ. ४६) चिकित्सा—सामान्यचिकित्सितं दोषप्रत्यनीकं सामान्यमूषकप्रतिकारवत् कर्तव्यम् व्याधिप्रत्यनीकं चिकित्सितं–तण्डुलीयककल्कः समाक्षिको लेह्यः तप्तघृतदग्धस्य देशस्य विस्रावणं विधेयम्

(सुक. ७.१०-११)

लालस–वि., लालसायुक्तः, अभिलाषुकः

(सुसू. ४५.२०७)

लाला–स्त्री., शारीरभाव० मुखे स्रावस्वरूपोऽयम्, अस्य प्रस्रवणं मुखे भवद् बोधककफव्यपदेश्यम्

(चनि. ८.६)

–मेह–पु., रोग० प्रमेहभेदः (चसू. १९.४(९)) कफजोऽयम्, तल्लक्षणम्–पिच्छिलं तन्तुबद्धमिव मेहति (असंनि. १०) द्र० 'प्रमेह'

–विष–वि., लालायाम् विषं यस्य, सः (लूतादिः) (सुक. ३.५) द्र० 'विष'

–स्रवण–न., लक्षण० लालास्रावः (कासू. २५.८)

–स्राव–पु., लक्षण० लालायाः स्रावः (चसि. ९.६)

लालालुः–वि., लक्षण० बहुलालायुक्तः

(चचि. ३०.२४७)

लाव–पु., पक्षि० (चसू. ६.२५) स्थलचरः विष्किर-वर्गीयः (सुचि. ८.१३;अहसू. ६.४४)

जाङ्गलः (सुसू.२०.५)

चित्रयोधी (हेमाद्रि. अहसू. ६.४४)

हिं.—लवा.

म.—लावा पक्षी.

बं.—लाअुया. बाँटा, लाओया पारवी.

(चसू. २७.४७) लावः चतुर्विधः गौरकः, पांशुलः पौण्ड्रको दर्भश्च (ड. सुसू. ४६.६०; ध. ६.४६०) अस्य मांसं शशसमानगुणकं वर्तते (असंसू. ७) पक्षिमांसेषु श्रेष्ठतमम्

(चसू. २५.३८) मांसगुणाः–मधुरं कषायं शीतं स्निग्धं लघु हृद्यं पथ्यं दीपनं त्रिदोषघ्नं ग्राहि संनिपातज्वरे प्रशस्तम् (ध. ४.४६०; चसू. २७.६९; सुसू. ४६.६०) प्रकारभेदेन गुणाः–गौरकः–कफवातघ्नः, रूक्षोऽग्निदीपनः; पांशुलः–श्लेष्मलः, वीर्योष्णो वातहरः; पौण्ड्रकः–पित्तकृत्कफ-वातहरो लघुः; दर्भरः–रक्तपित्तघ्नः, हिमः, हृद्रोगहरः (ध. ६.४६१-६३)

(लावा)–स्त्री., पक्षि० लावः (रा. २०.४७९-८०)

लावक–पु., पक्षि० लावः (र. २७.४९-५१)

–पुट–न., पुट० संपुटितशरावाकारमूषां भूमौ निधाय षोडशिकामात्रैः पलमानैः वन्योपलैस्तन्मानैस्तुषैर्वा दीयमानं पुटम्। मृदुद्रव्यसाधनार्थमुपयोज्यमिदम्

(र. १०.६४)

लावकीयूष–पु., कृतान्न० लावमांसरसेन कृतो यूषः

(सुउ. ४२.९३)

लावण–पु., लवणसमूहः (सुक.५.८१)

–क्षार–पु., योग० ज्योतिष्पमत्याः क्षारः, स च लौह-रसायने उपयुक्तः (चचि. १(३).१५)

लावण्य–न., रूपातिशयः (ड. सुसू. ४५.९६)

लावाक्षक–पु., धान्य० व्रीहिभेदः लावाऽक्षिसदृशतण्डुलः (सुसू. ४६.१२) द्र० 'व्रीहि'

लावाख्य–वि., धान्य० व्रीहिभेदः लावाक्षका : (अहसू. ६.९) द्र० 'व्रीहि'

लासिनी–स्त्री., सर्प० निर्विषः (असंउ. ४१) द्र० 'सर्प'

लिकुच–पु., वनस्पति० लकुचः (चसू. ४.१०; रापरि. ९.४४) हृद्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०; असंसू. १५) फलानामवरत्वेन लिकुचं सर्वदोषकृत् (असंसू. ७)

लिक्षा–स्त्री., केशकृमि० केशकृमेर्यूकाया अण्डम् (रापरि. १९.३२) लिक्षा (असंनि. १४; र. २४.८१) मान० षट्त्रुटिमानम् (र. ११.१)

लिङ्ग–न., शारीर० मेढ्रम् (सुनि. १४.३) उपस्थम् (र. २५.१६) लक्षणम्, चिह्नम्, 'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्' (चसू. १.२४) तत्पर्यायाः–आकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमिति (चनि. १.९) असंनि १; चनि. १.६;

–**ग्राह्य**–वि., अनुमानग्राह्यम् (चशा. १.६२)

–**जा**–स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१७)

–**नाश**–पु., नेत्ररोग० दृष्टिनाशः (सुउ. १७.५५) लिङ्गं चक्षुरिन्द्रियशक्तिस्तस्य नाशो यस्मिन्, स लिङ्गनाशदोषः (ड. सुउ. ७.१५-१६) लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गशब्देन दृष्टिरुच्यते, तस्य नाशो लिङ्गनाशः।–आढमल्लः, चतुर्थपटलगतदोषलक्षणम्–तिमिरस्य हेतुभूतो दोषो चतुर्थं पटलं गतः सन् सर्वतो दृष्टिं रुणद्धि, स लिङ्गनाश उच्यते। तत्राऽल्पेषु दोषेषु केषाञ्चिद्वस्तुविशेषाणामुपलम्भो भवति यथाऽन्तरिक्षे चन्द्रादित्यौ नक्षत्राणि विद्युतो निर्मलानि तेजांस्यग्न्यादीनि दीप्तिमन्ति यानि अन्यान्यपि वस्तूनि तानि पश्यति (सुउ. ७.१५-१७) लिङ्गनाशो नीलिकाकाचसंज्ञितः (सुउ. ७.१८) नेत्ररोग० दृष्टिमण्डलगतः, नीलिकापटलमान्ध्यमिति पर्यायाः– (असंउ. १७) दृष्टिमण्डलं मसूरदलमात्रं पञ्चभूतप्रसादजम् (सुउ. ७.३) दृष्टिमण्डल० 'सङ्कुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतं भवेत्। मृद्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति,' (सुउ. ७.३१-३२) लिङ्गनाशः कफोत्थं पटलम् (अरु. अहसू. २६.१३) सम्प्राप्तिः– दोषो दृष्टिमण्डलं छादयेत् (असंउ. १५) संख्या–लिङ्गनाशः सप्तधा स्यात्–वातादिपित्तात्कफेन त्रिदोषैरुपसर्गेण संसर्गेणाऽसृजा च (शार्ङ्ग. प्र. ७.१६५-१६६) तस्य षड्विधत्वं मण्डलरागभेदेन–वाताद्दृष्टिमण्डलमरुणं चञ्चलं परुषं च भवति। पित्तान्नीलं कांस्याभं पीतञ्च। श्लेष्मणा बहुलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम्। त्रिदोषजे तु चित्रवर्णम्। रक्तजं शोणितात्मकं स्थूलकाचारुणप्रभं प्रवालपद्मपत्राभं च भवति। (शार्ङ्ग. प्र. ७.१६५) संसर्गजे सङ्कीर्णलक्षणम् (असंउ. १५) आगन्तुलिङ्गनाशस्य लक्षणम्–अल्पसत्त्वस्य सहसैव भास्करादेस्तेजस्विरूपं पश्यतो नयनाश्रिता वाताद्या दर्शकं तेजः संशोष्य दृष्टिं मुषितदर्शनां वैदूर्यवर्णां स्तिमितामव्यथां प्रकृतिस्थामिव कुर्वन्ति। अयमौपसर्गिक आगन्तुको लिङ्गनाशः (असंउ. १५) तदुपद्रवाः षट्-आवर्तकी शर्करा, राजीमती, छिन्नांशुका, चन्द्रकी, छत्रकी चेति। क्रमेण लक्षणानि-श्वेतारुणाऽऽवर्तवदनवस्थिता चला च। अर्कक्षीरलेशेनेव कूर्चिकापिण्डेनेव चाऽऽचिता नाम व्यासा। शालिशूकाऽऽभराजिभिरावृता। अन्तराऽन्तरा विच्छेदयुक्ता विषमसंस्थानदग्धप्रतीतियुक्ता रुजासहिता दृष्टिः। कांस्यलोहसमच्छाया मयूरबर्हाग्राऽऽकारा। अनेकवर्णा किञ्चिदुन्नतत्वाच्छत्रसदृशी (असंउ.१७) साध्यासाध्यत्वम्–वातपित्तरक्तसंसर्गसन्निपातोपसर्गजाः षडसाध्याः, कफज एव साध्यः (इन्दु. असंउ. १५; सुउ. ७.३३) असौ कफजोऽपि उपद्रवरहितश्चेत्साध्यः (असंउ. १७)

चिकित्सितम्–यद्यर्धेन्द्राकृतिर्तुर्मुक्तासदृशाकृतिः प्रस्वेदबिन्दुसदृशाकृतिः कठिनो निम्नोन्नतो राजिमान् बहुप्रभः सरुजः सलोहितस्तत्र शस्त्रकर्म न कुर्वीत (सुउ. १७.५५-५६) सिराव्यधकर्मनिषिद्धानां तृट्पीनस-कासिनामजीर्णभीरुवमितशिरःकर्णाक्षिशूलिनामत्युष्णशीतवाताश्रेऽसम्पूर्णं लिङ्गनाशं न विध्येत् (असंसू. १७) शस्त्रकर्मविधानम्–यतः श्लैष्मिकलिङ्गनाशो दृष्टिमण्डलाऽऽश्रितश्लेष्मसंहत्या भवति तस्माच्छ्लेष्मसंहतिविश्लेषार्थं शलाकाऽग्रेण दृष्टिमण्डलं निर्लिखेत् (सुउ. १७.६३) सा ताम्रमयी सुवर्णमयी वा कर्कशादिदोषरहिताऽष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिताऽङ्गुष्ठपर्वसंमिता स्यात् (सुउ. १७.८३-८५) सा द्विमुखी मुखे कुरण्टकमुकुलाकृतिश्च स्यात् (अहसू. २६.१३) शस्त्रकर्मस्थानमासनं रुग्णस्य च–निराबाधे धूलिधूमवातातपादिरहिते गृहे उत्तान एव शयीत। तत्र शस्त्रकर्मकाले यावच्छलाका नेत्रे तिष्ठति,

तावत्कालं उद्वारकासक्षवथुष्ठीवनोत्कम्पनानि नाचरेत् (सुउ. १७.६७-६८) शस्त्रकर्मविधिः—स्निग्धस्य यथा विरिक्तस्य घृतैः सम्भोजितस्य निशि रसेन प्रीणितोत्तमाङ्गस्याऽभुक्तवतः सज्जोपकरणस्य विमले ऽहनि साधके च कृतस्वस्त्ययनस्य विहिताऽऽदित्यविदेहाऽधिपतिप्रणामस्य पूर्वाह्णे निवातप्रकाशदेशस्थस्यप्रत्यादित्यमास्तरणेन लब्धमार्दवायां धूमौ प्रसारितचरणयुग्ममुपविष्टस्य क्षितितलगतसमतलोभयपाणेः पृष्ठतः सुखोपविष्टेन परिचारकेण हस्ताभ्यां निश्चलमवलम्बितशिरसः किञ्चिदुत्तानाऽऽस्यस्य स्वां नासामितरच्चेक्षणमीक्षमाणस्यातुरस्य नात्युच्छ्रितासननिविष्टो भिषक् दक्षिणहस्तानुलोममक्षिमुखबाष्पस्विन्नं निमीलितमीषदङ्गुष्ठोदरविमृदिततारकतया परिप्लुतदोषं सव्याङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यामुन्मील्य दक्षिणमध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैर्निष्कम्पं गृहीतया शलाकया कृष्णभागाद्भागद्वयस्यापाङ्गादेकभागस्य च सङ्गमे दृष्टेरार्जवं नात्यूर्ध्वमधो वा नेत्रसहजन्मनि सन्धौ स्वाभाविके छिद्रे विध्येत् (इन्दु) दैवकृतच्छिद्रादन्यत्र व्यधात्सिरावेधाच्छोणितेनाक्षि पूर्यते (ड.सुउ.१७.७२) 'एवमेव हस्तकर्मवैपरीत्येनाऽऽतुरस्य दक्षिणं नेत्रं विध्येत्' (इन्दु.) सम्यक्व्यधलक्षणम्—अथ शब्दवदवेदनं साम्बुबिन्दुस्रुति च सम्यग्विद्धं विद्यात् । प्रविष्टमात्रां च शलाकां धारयेत् । रागाऽश्रुवेदनाऽनुत्पादनार्थं च स्तन्येन सेचयेत् । ततः पुनरातुरमाश्वास्य भ्रमयन् शलाकां दृष्टिमध्यं यावत्प्रवेशयेत् । अधश्चास्याऽवलोकयतो लिङ्गनाशमद्रुतमविलम्बितमनुसुखमधोमुखमपनयेदुच्छिंघयेच्चैनम् । तथा दृक् स्वस्तकफस्य विशुध्यति । विशुद्धदृष्टेश्चाङ्गुलिं तन्तून् ज्ञातीन्सन्ततीश्च दर्शयेत् । प्रेक्षमाणस्याऽमीलितान्नेत्राच्छनैः शनैः भ्रमयन्निव शलाकामपकर्षेत् । अथ व्यपगतदोषस्य यथावत्पश्यतः सुखोष्णघृताऽऽप्लुतं पिचुमीक्षणस्योपरि दत्त्वा बध्नीयात् । ततो निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य च सोपधाने मृदुशयने शयानं दक्षिणेऽक्षिणि विद्धे वामेन पार्श्वेन, वामे दक्षिणेनोभयस्मिन्नुत्तानमनुकूलाभिः कथाभिरुपाचरेत् । यथाशक्ति चैनमुपवासयेत् । उद्वारक्षवथुकासनिष्ठीवनोत्क्षेपणानि त्र्यहं परिहरेत् । स्नानाम्बुपानदन्तधावनाऽधोमुखाऽवस्थानानि सप्ताहम् नाचरेत् । स्नेहविधिं चेक्षेत । मूर्ध्नि पादयोश्च घृताभ्यङ्गमाचरेत् तृतीये चाह्नि मुक्त्वाक्षि परिषेचयेदेरण्डपल्लवस्रुतेन दुग्धेन कवोष्णेन दुग्धेन वा । जीवनीयैर्वा सिद्धेन पयसा हविषा वा । तद्वल्लघुना पञ्चमूलेन । ततः पूर्ववद्वध्नीयात् । ततःप्रभृत्येवमेव प्रत्यहमासप्ताहम् । सप्तमे तु दिवसे सर्वथा मोक्षयेत् दशमे वा । भोजयेच्चैनं व्योषामलकयुक्तं द्रवमीषत्स्नेहलवणं वाव्यमुष्णोदकद्वितीयं, विलेपीं वा । एवमाचरतो रुजारागादयो नानुवर्तन्ते (असंउ. १७) लिङ्गनाशस्य स्वभावदोषाः— स्फुटनमवगलनं विस्तरणं लीनतोत्प्लवनं चेति । तत्रोपचाराः— स्फुटने एरण्डपत्रादिभिः स्वेदः शोधनं च कृष्णादिभिरवपीडनं । अवगलने स्तन्यसेकोऽवपीडनं जलौकसश्च । विस्तरणे सुखोष्णाम्बुवासः स्वेदो घृतमण्डश्च । उत्प्लवने वित्रासनं, शीताऽम्भसा प्रततं चोच्छिन्दनम् । लीनतायां क्षीरेण नाडीस्वेदः शताह्वादिघृतं प्रतिमर्शश्चेति (असंउ. १७) अस्थानव्यधोपद्रवास्तत्र चिकित्सितं च— (सु. १७.७३-९९) अपाङ्गाऽऽसन्नविद्धे शोफशूलाश्रुरक्तता भवन्ति । तत्र भ्रूमध्ये उपनाहमुष्णाज्यसेचनं च कुर्यात् (सुउ. १७.७३) आसन्नकृष्णेन व्यधाद्रागः कृष्णं च पीड्यते तत्राधःशोधनं विरेको जलौकोभिः रक्तमोक्षणमाज्यसेकश्च कार्यः । उपरिविद्धे कष्टा रुक् सम्प्रवर्तते तत्रोष्णाज्यपरिषेकः प्रशस्तः । अधोवेधेन शूलाश्रुरागास्त्वल्पार्थं शलाकामनु च आस्रावः, तत्र पूर्ववच्चिकित्सितम् शलाकयाऽतिविघट्टिते रागाश्रुवेदना स्तम्भो हर्षश्च जायते तत्राऽनुवासनं स्नेहस्वेदौ च हितौ । तरुणदोषे अप्राप्तलिङ्गनाशे व्यधान्नेत्रं शुक्लाऽरुणं भवति; तीव्रा रुक् नष्टदर्शनं च । तत्र मधुरसिद्धेन घृतेन नेत्रप्रसेकः कार्यः । शिरोबस्तिं दद्यात् च तेनैव घृतेन । मांसभोजनमपि दद्यात्

दुष्टशलाकाजनिता व्यापद्—कर्कशा शलाका शूलं कुरुते । खरा समन्तादोषस्यागमनं कुरुते । स्थूलाग्रा विशालं व्रणं कुरुते । विषमा जलाऽऽस्रावं कुरुते । अस्थिरा क्रियासङ्गं करोति । दुष्टव्यधाऽऽहाराचारजा उपद्रवाः रागः शोफोऽर्बुदं चोषो बुद्बुदं शूकराक्षिताऽधिमन्थादयश्चान्ये रोगाः स्युः । यथास्वं तानुपाचरेत् (सुउ. १७.७३-८३; सुउ. १७.८५.८६) यदासामान्योपायेनोपद्रवा न शाम्यन्ति तदा औपनासिकाऽपाङ्ग्या ललाट्याः सिराः व्यधेत् भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्

(असंउ. ४०; सुउ. १७.९५)

-पतन-न., लक्षण० गुह्यरोगभेदः उपदंशः (असंउ. ३८; र. २५.२१)

-पाक-पु., लक्षण० लिङ्गस्य पचनं कोथो वा (चचि. ३०.१६९)

-वर्ति-स्त्री., रोग० लिङ्गार्शोरोगः (मानि.)

-विकार-पु., रोग० मेढ्रोगः (र. २९.१३८)

-वृद्धि-स्त्री., मेढ्रस्य लिङ्गवर्धनोपायैः स्थूलीकरणम् (सुनि. १४.३)

-व्याधि-पु., रोग० मेढ्रोगः (र. २५.१६)

-सम्भूता-स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६)

लिङ्गार्शस्-न., रोग० मेढ्रोगः लक्षणम्-अङ्कुरैरिव सङ्घातैरुपर्युपरिसंस्थितैः क्रमेण ताम्रचूडशिखोपमा वर्तिः जायते। कोशस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगता लिङ्गवर्तिः लिङ्गार्श इत्यभिख्याता (मानि.)

लिङ्गिका-स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (र. २०.३०-३५)

लिङ्गिन्-वि., ब्रह्मचारी, तपस्वी दूत० (चइ. १२.१७)

लिङ्गिनी)-स्त्री., ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी (सुचि. २४.१२२)

वनस्पति० गुणाः-कटुः उष्णा दुर्गन्धा रसायनी वृष्या सर्वसिद्धिकरी दिव्या रसनियामिनी सिध्महरा च (रापरि. ३.१८)

हिं.—शिवलिङ्गी, ईश्वरलिङ्गी.

म.—शिवलिङ्गी.

गु.—शिवलिङ्गी.

लिद्दी-स्त्री., अश्वशकृत् (र. १०.९)

लिप्तास्यता-स्त्री., कक्षण० लिप्तमुखत्वम्, लेपयुक्तमिवास्यं यस्य सः तस्य भावः (सुउ. ३९.५०)

लिप्सु-वि., आस्वादयितुमिच्छुः (सुउ. ६०.१४)

लिह्याख्या-स्त्री., रोग० कर्णपालिकाया पिटिकायुक्तो रोगः कफासृक्कृमिजाः सूक्ष्माः सकण्डूक्लेदवेदनाः पिटकाः तासामेव लिह्याख्येतिसंज्ञा। ता उपेक्षिताः पालिं लिहयुः शोषयेयुश्च (असंउ. २१)

लीढ-वि., लेहनपद्धत्या गृहीतम्, यथाऽन्नमवलेहादि च (सुशा.४.१९)

लीन-वि., असम्यग्दर्शितम् (ड. सुउ. ६५.६)

श्लिष्टम्, यथा स्रोतःसु लीन आमः (अहसं. ८.२८) लयं गतम्, सर्वावयवशः एकीभूतम् यथा रसः कवलितगगने (र. १.४२) गूढः, यथा रसः पारदो भूतले खाते गूढः (र. १.८८)

-गर्भ-पु., गर्भरोग० (असंशा. ४)यस्या गर्भिण्या वातोपसृष्टस्रोतसि संलीनो भवति गर्भः तं लीनमित्याहुः (असंशा. ४.३२) सम्प्राप्तिः-स्रोतसामार्तववहादीनां वातोपद्रवगृहीतत्वाच्छोषादिभिरुपद्रुतत्वाल्लीयते श्लिष्यति नितरामनाप्यायितस्तेन लीनो भवति (सुशा. १०.५७) लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते (असंशा. ४) चिकित्सा-तैलेनचाभीक्ष्णमुदरवंक्षणोरुकटिपार्श्वपृष्ठान्यभ्यञ्यात्। मुहुर्मुहुश्चैनां हर्षयेत्। एवमवृद्धोऽस्पन्दनो वा तीक्ष्णैर्विरेच्यः अपरापातनीयैश्च पातयितव्यः (असंशा. ४)

-त्व-न., एकदेशस्थितत्वम् (सुउ. ३९.६५)

लीलाविलास-पु., पारदयोग० पारदगंधकताम्ररौप्यादिसाधितोऽयं अम्लपित्त नाशकः (र. १८.२२०-२२३)

लुङ्ग-पु., न., वनस्पति० मातुलुङ्गम् (र. २.८६; ध. ५.२३)

लुञ्चन-न., उत्पाटनम्, यथा केशादीनां लुञ्चनमुत्पाटनम् (असंचि. ९)

लुलाय-पु., पशु० महिषः (र. १२.७४)

-कन्द-पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३)

-लोचन-पु., निर्यास० धूपद्रव्यम्, गुग्गुलुभेदः महिषाक्षगुग्गुलुः (र. १२.१२१) द्र० 'गुग्गुलु'

लुलित-वि., आन्दोलितम् (असंचि. ६)

लूता-स्त्री., सविषकीट० स वृत्तः, अष्टांघ्रिश्च (सुक. ८.९०-९३) तस्य पादषट्कमिति केचित (अहृ.कोष.) कीटलक्षणं धारयन्त्यः लूताः कीटाश्च संज्ञिताः (असंउ. ४४) नानारूपमहाविषास्ताश्च षोडश (सुक. ८.९०-९३) तेषां सम्भवः-विश्वामित्राय क्रुद्धस्य वसिष्ठस्य ये ललाटजाः स्वेदलेशाः, ते निकटवर्तिनि लूने च्छिन्ने तृणे पतिताः, ते एव लूताः स्मृताः। खाण्डवदहने दह्यमानानाम् आसुराणां शरीराच्चेऽग्निस्फुलिङ्गा विनिश्चेरुः, ते सम्प्रति लूतां वर्तन्ते। भुक्तस्य दुष्टस्यान्नस्य मूर्च्छनान्मिश्रीभावात्कोद्रवविषवच्चे विषस्फोटा उत्पद्यन्ते, ते लूताः। विषस्फोट० (असंउ. ४४, सुक. ८.९०-९३) भेदाः-विषप्रभावात्तीक्ष्णमध्यावरत्वेन त्रैविध्यं लूतायाः। तीक्ष्णाया लक्षणानि—लूतायास्तीक्ष्णविषं दाहपाकस्रावकरम्। ताः सप्तरात्रेण नरं निहन्युः (सुक. ८.८३) मध्यमलक्षणम्-यासां बिषं मध्यमवीर्ययुक्तं ताः सप्तरात्रेणाधि-

केनाऽपि नरं घ्नन्ति। मध्यमवीर्येण दशाहेन घ्नन्ति (सुक. ८.८३; असंउ. ४४) अवरविषवीर्येण पक्षमात्रेण नरं विनाशयन्ति (सुक. ८.८४; सर्वा लूताः श्वास–दंष्ट्रा–शकृत्–मूत्र–शुक्र–नख–लालाऽऽर्तवैर्विषमुद्वमन्ति (सुक. ३.५; असंउ. ४४) तेषां विषप्रसारः-लूतादूषितं वस्त्र-शयनाऽऽसनादिकं देहे संपृक्तं विकारकृत् (असंउ. ४४) सामान्य-दंशलक्षणम्–दंशसमन्तात् पिडका विविधाकारा महान्ति मण्डलानि च महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलाः शोफा भवन्ति (सुक. ८.९९-१००) दंशव्रणो दद्रुमण्डलसंनिभः। वर्णेन सितोऽसितोऽरुणः पीतः श्यावो वा स्पर्शेन मृदुरुन्नतश्च। दंशव्रण-मध्ये कृष्णश्यावववर्णो वा दंशव्रणस्य परितो जालकाऽऽकाराभिः सूक्ष्माभिः सिराभिरावृतः बिसर्प–शोफ–बहुवेदना–ज्वराऽऽशुपाक–विक्लेद–कोथावदरणान्वितश्च भवति। दंशव्रणोद्भूतेन पूयेन यदङ्गं स्पृशति, तत्र तस्मिन्नङ्गेऽपि व्रणं कुरुते, (असंउ. ४४) तत्रान्तरोक्तम्–ज्वररोमहर्षरक्त-मण्डलादिकम् (ड. सुक. ८.८०-८२) दूषीविषा-भिर्लूताभिर्दष्टस्य लक्षणम्–'दंशस्य मध्ये यत्कृष्णं श्वाबं वा जालकाकृतम्। दग्धाकृति भृशं पाकि क्लेदशोथज्वरान्वितम्' (चचि. २३.१४४-१४५) कालदष्टया विषपरिणामो लक्षणानि च–लूतानां श्वासाद्यष्टविधविषोद्वमनसाधनसंपर्कादुद्भूतो दंशो व्रणो दिनार्धं पञ्चदशनाडिकामात्रं न दृश्यते। ततः प्रथमेऽहन्यसौ दंशोऽव्यक्तवर्णः प्रचलः किञ्चित्कण्डू-रुजान्वितः सूचीव्यधवत्पीडामावहति द्वितीयेऽहनि दंशः पर्यन्तभागेष्वत्युन्नतः पिटकाऽऽचितप्रतीति-युक्तश्च व्यक्तवर्णः स्पष्टपीतरक्ताद्यन्यतमवर्णो मध्ये निम्नः कण्डूयुक्तो ग्रन्थिसदृशश्च भवति। तृतीयेऽहनि रूपं दर्शयति। दंशो ज्वरान्वितो रोमहर्षकारी रक्त-वर्णमण्डलः शरावाकारोऽधिकव्यथो रोमकूपेषु रक्त-स्रावयाँश्च भवति। चतुर्थेऽहनि विषं कोपमेति। दंशे प्रादेशिकदाहः श्वासभ्रमप्रदः शोफो भवति। पञ्चमे-ऽहनि दंशस्थितं विषं विषकोपजान् दाहकण्डूपर्वभेद-हृन्मोहादिकान्वक्ष्यमाणांस्ताँस्ताँन् विकारान् कुरुते। षष्ठेऽहनि दंशस्थितं विषं सर्वमर्माणि व्याप्नोति। सप्तमेऽहनि अखिलमर्मस्थितं विषं जीवितं नाशयति (असंउ.४४) सर्वासां लूतानां विषमेकविंशतिदिनैः शाम्यति। दंशभेदाल्लक्षणानि–श्वासकृतदंशः सहसा शूयते ज्वरदाहवांश्च भवति। लालाकृतो दंशः अल्पमूलः अल्परुक्कोठः कण्डूरः मृदुश्च भवति। नखदंशः चोषपिडकाकण्डूधूमायनाऽन्वितो भवति। मूत्रकृतः दंशः, परितः रक्तवर्णः, मध्ये कृष्णवर्णः विशीर्यते। स तु आवर्तसदृशः शूनः पूतिः सर्पति दह्यते च दंष्ट्राकृतो दंशः उग्रतरः विवर्णः कठिनः स्थिरश्च भवति गम्भीरशोफवांश्च। आर्तवेन कृतो दोषः किंशुकोदरवर्णः विपक्वपीलुफलवत्पांण्डुवर्णो-भवति। पुरीषजे दंशः दुर्गन्धिदाहकण्डूचिमचिमा-न्वितश्च भवत्याशु च पच्यते। शुक्रकृतो दंशो ग्रन्थि-संस्थानः कठिनस्तीव्रवेदनश्च भवति (सुक.८.८८) असंउ. ४४) लूताविशेषनामानि लक्षणानि च– वायव्यलूता–कुमुदा–अलविषा रक्ता–चित्रा–सन्तानि;–मेचका–कसना; एताः सप्त वायव्याः। ते च उन्मिदाः वायुरोगदाश्च भवन्ति। तेषां सामान्यतो लक्षणानि–परुषता श्यावता पर्वभेदादि–रुक्। तत्र आलविषाख्यया लूतया आदंशे रक्तमण्डनिभे सर्षपा इव पिडका जायन्ते। तथा तालुशोषश्च दाहश्च भवतः (सुक ८.१०९-११०) आग्नेयलूता नामानि–कपिला–अग्निमुखी–पीता–पद्मा–मूत्रा–सिता–असिता च। ताः पित्तविकारदाः स्वेदजाश्च भवन्ति। तासां लक्षणानि–दाहस्तृट् स्फोटो ज्वरश्च। सौम्यलूता नामानि–पाण्डुरा-रक्त-पादिका-भृङ्गा-पिङ्गा-त्रिमण्डला-पूतिः-वीरा चेति। श्लेष्मविकारदास्ता अण्डजा भवन्ति तासां लक्षणानि–कठिनो पाण्डुवर्णः शोफः कण्डूरल्परुजा च। सङ्कीर्णलूता नामानि–ताश्च उपपादिका उच्यन्ते तन्नामानि– काकाण्डी– एणपदी– लाजा–वैदेही –जालिनी–माला–गुणा–सवर्णा चेति। ज्वलद-ग्निवदाशु गात्राणि व्याप्नुवन्त्यसाध्याश्च भवन्ति। तेषां लक्षणानि–हृन्मोहो हिध्मा श्वासः शिरोग्रहः पिटिका श्वेताऽसिता पीतरक्ता वा शोफोद्भवो वेपथुर्वमथुर्दाहस्तृडान्ध्यं वक्रनासता च। श्यावोष्ठत्वं वक्रदंतत्वं पृष्ठग्रीवावभञ्जनं पक्वजम्बूसवर्णं दंशा-च्छोणितस्रावो भवति (असंउ ९.४४) साध्या-ऽसाध्यता–कृच्छ्रसाध्या लूता अष्टौ–ताः त्रिमण्डला श्वेता कपिला पीतिका आलविषा मूत्रविषा रक्ता कसना चेति। विशेषेण ताभिर्दष्टे श्लेष्मवातिका गदा भवन्ति (सुक. ८.९४-९६) अष्टौ असाध्याः–सौवर्णिका लाजवर्णा जालिनी एणीपदि कृष्णा अग्निवर्णा काकाण्डा माला, गुणाः– एताभिर्दष्टे त्रिदोषजा गदा भवन्ति

(सुक.८.९७-९८)चिकित्सा-तात्कालिकंचिकित्सितम् लूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः सम्यगादंशं वृद्धिपत्रेण उद्धरेत् (सुक. ८.१२९) सामान्यतो दशविध उपक्रमः— यथा नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमावपीडकवलग्रहा उभयतः प्रगाढं संशोधनं सिरामोक्षश्च (सुक. ८.१३४) मेदिनी सारो रसो लूतां नाशयेत् (र. २०.१२५-१२८)

-तन्तु-पु., लूतायाः सूत्राकारा लाला (अहसू. ५.८)

-दंश-पु., लूतायाः दंशः (असंउ. ४४)

-विष-न., लूताया विषम् (सुक. ८.७५)

लूतारि-पु., वनस्पति० दुग्धफेनी (रापरि. ५.३४)

लेखन-वि., लेखनकर्मकारी, पत्तलीकरणः

(सुसू. ४६.५११९) देहधातुमलान्वा विशोष्य यल्लेखयेत्तत् (भाप्र. पू. ६.२२४) यथा क्षौद्रम्। अनिलानलगुणभूयिष्ठम् (सुसू. ४१.६; असंसू. १७) यथा रूप्यम् (असंसू. १२) यथा मार्द्वीकम् (अहसू. ५.७२) यथा मधु (सुसू. ४५.१३२)

न., औषधकर्म० पत्तलीकरणम्, वीर्यवशेन औषधकर्मनिष्पत्तिः (सुसू. ४०.५)

शस्त्रस्य कर्म० यथा दन्तलेखनशस्त्रेण दन्तानां लेखनम् (असंसू. ३४) उपक्रम० शल्यतन्त्रे शस्त्रेण विलेखनम् (चसू. ११.५५) शस्त्रादिघर्षणेन व्रणस्य तनूकरणम् (सुचि. १.८)

रिक्तीकरणम्, यथा लेखनाञ्जनेन नयनस्य दोषस्रावणम् (सुउ. १८.५३-५४)

(लेखनी)-वि., लेखनकर्मकरी (यथा धाना) (असंसू. ७)

स्त्री., वनस्पति० काशः (रा. ८.२०१)

-बस्ति-स्त्री., बस्ति० स च त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुतः ऊषकादिप्रतीवापयुक्तः स्थौल्ये उपयुज्यते (सुसू. १५.३२) द्र० 'बस्ति'

लेखनाञ्जन-न., नेत्ररोगोपयोगि लेखनद्रव्यसाधितं अञ्जनम्। तेन नेत्रस्य दोषस्रवणात् रिक्तीकरणं भवति (सुउ. १८.५३-५४) अस्य गुणाः-नेत्रवर्त्मसिराकोशस्रोतःशृङ्गाटकाश्रितं दोषं मुखनासाक्षिभिः लेखनाञ्जनं स्रावयेत् (सुउ. १८.५४) लेखनाञ्जनं पञ्चविधम्-तद्यथा वातपित्तकफरक्तसंनिपातभेदेन। अञ्जने दोषभेदेन विशिष्टरसानामुपयोगः-तद्यथा वातेऽम्ललवणौ, पित्ते तिक्तकषायौ, श्लेष्मणि कटुतिक्तकषायाः रक्ते पित्तवत्, सन्निपाते रसद्वयं त्रयं वा (सुनि. १८.५३) रोगभेदेन योजनाकालभेदः-स यथा पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगे सायाह्णे वातरोगे रात्रौ पित्तजे योजना इति (सुउ. १८.५४)

लेखनात्मक-वि., लेखनकरम्, यथा विविधधान्यानि लेखनात्मकानि (असंसू. ७)

-वर्ति-स्त्री., लेखनाञ्जनार्थमुपयुक्ता वर्तिः (असंउ.१४)

लेखनीय-वि., लेखने हितः (चसू. ४.८) लेखनीयानि द्रव्याणि मुस्त-कुष्ठ-हरिद्रा-दारुहरिद्रा-वचा-अतिविषा-कटुरोहिणी-चित्रक-हैमवती इति दश। इमानि लेखनीयानि (चसू. ४.९; असंसू. १५)

लेखसाटक-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५.९४)

लेखा-स्त्री., रेखा (चइ. ११.९; असंशा. ११)

-स्थवृत्त-वि., रेखा, मर्यादा, कर्तव्याऽकर्तव्यमर्यादा तत्र स्थितं वृत्तं यस्य सः (चशा. ४.३७ (४)

लेखार्ह-पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा. ९.९५)

लेखिन्-वि., लेखनद्रव्यसंयुक्तः अथवा, लेखनकर्मकारी. पु., निरूहप्रकार०लेखी शोधनद्रव्ययुक्तत्वात् (सुचि. ३५.१९)

लेख्य-न., शस्त्रकर्मभेदः अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम् लेखनीयम् (सुसू. ५.५)

वि., लेखनकर्मयोग्यम्, यथा किलासम् (चचि. २५.५९)

लेख्यविषयाः-चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका मेदजो दन्तवैदर्भौ ग्रन्थिवर्त्म अधिजिह्विकाऽर्शो मण्डलकुष्ठं मांसकन्दी मांसोन्नतिरिति लेख्या रोगाः (सुसू. २५.९-१०)

-पत्र-पु., वनस्पति० तालः (ध. ५.६८)

-रोगप्रतिषेध-पु., अध्याय० (सुउ. १३.१)

लेख्याञ्जन-न., नेत्राञ्जन० कुक्कुटाण्डकपाललशुनकटुकत्रयकरञ्जबीजैलासिद्धमिदं नेत्ररोगे उपयुज्यते (सुउ. १२.२५-२६)

लेप-वि., लिहन् (असंउ. ४९)

पु., उपक्रम० आलेपनम् (अहसू. ६.१८; सुसू. १८.७.८) स त्रिविधः, प्रलेपः प्रदेह आलेपश्च। प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी च। प्रदेहस्तु उष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च। मध्यमोऽत्र आलेपः। तत्र रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः, प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशमनः सन्धानः शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च। अविदग्धेषु शोफेष्वालेपनं हितं भवेत्। रसरक्तमांसप्रसादनानामग्र्यं दाहकण्डूरुजापहम् (सुसू. १८.७-८) आलेपो दशविधः

स्नैहिकः निर्वापणः, प्रसादनः, स्तम्भनो, विलायनः पाचनः, पीडनः, शोधनो, रोपणः, सवर्णकरश्च, (असंउ. ३०) लेपविधिः– नातिशीतो नात्युष्णो नातितनुर्नातिबहलः स्यात् । शोफानां सामान्यः प्रधानतमश्चोपक्रमः तनुलेपान्नोष्माणमन्तःप्रवेशयति सुखाय च भवति (सुचि. १७.७) लेपस्य प्रमाणम्–महिषार्द्रचर्मोत्सेधः (सुसू. १८.११) घनतनुलेपत्वात्कर्म० शीतस्पर्शोऽपि चन्दनः घनलेपेन दाहकृद्भवति । उष्णस्पर्शवतोऽगुरोस्तनुलेपः शीतकृत् भवति (असंसू. ७) लेपार्थं सामान्यतः शिम्बीधान्यानामुपयोगो भवति (अहसू. ६.१८) द्र० ' प्रदेह '

धातुकर्म० उपलेपनम् । मांसधातोः श्रेष्ठं कर्म (असंसू. १; अहसू. ११.४)

प्रलेपनम्, इन्द्रियस्रोतसां प्रलेपः (चसू. २३.७)

–ज्वर–पु., रोग० स्वल्पशीतयुक्तः कफज्वरः (चक्र. चइ. ८.२४; असंशा. ११)

–वेध–पु., लोहस्य लेपेन स्वर्णतां रौप्यतां वा प्रापणम् । वर्णोत्कर्षार्थं वाराहपुटं देयम्, ' लेपेन कुरुते लोहं स्वर्णं वा रजतं तथा । लेपवेधः स विज्ञेयः ' (र. ८.९०)

लेपन–पु., निर्यास० तुरुष्कः, धूपार्थमुपयुक्तः (रा. १२.३७)

न., उपनाहनम्, वातादिहरक्रिया (सुउ. २६.६)

लेलिह–पु., कृमि० पुरीषजः (चसू. १९.४ (९); चवि. ७.१३; असंनि. १४) द्र० ' कृमि '

लेलीत–पु., खनिज० गन्धकभेदः, वटसौगन्धिकः गन्धपाषाणो वा, द्र० ' गन्धक ' (ध. ३.११४)

लेलीतक–पु., खनिज० पाषाणभेदः औत्तरापथिकः (चक्र. चचि. ७.७०)

–वसा–स्त्री., सौवर्चललवणतैलम्, गन्धक इत्येके (अरु० अहचि. १९.२४) उत्तरापथे रसरूपा प्रसिद्धा, कुष्ठघ्नी (असंचि. २१)

लेलीन–पु., खनिजद्रव्य० गन्धपाषाणः (ध. ३.११४)

खनिज० गन्धकः (ध. ३.१०९)

लेह–पु., अवलेहः, प्राशः, मधुसर्पिरनन्तचूर्णं च (सुशा. १०.१३)

कल्प० घनक्रिया (र. ८.२) शर्करादीनां पाकात् कृतः, लिह्यते इति लेहः (चक्र. चसू. १३.२४)

यथा कुटजाऽवलेहः वासाऽवलेहः (ड. सुचि. ६.२१)

यथा भार्गवप्रोक्तश्च्यवनप्राशः (चचि. २८.२४२)

लेहस्य सम्यक्सिद्धिं तन्तुमत्त्वेन तथा अप्सु मज्जनेन च जानीयात् (असंक. ८)

लेहन–न., कल्प० अवलेहः (कासू. लेहनाध्याय)

लेहिन्–पु., रोग० कर्णपालिरोग० परिलेही (र. २४.१)

लैङ्गी–स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६)

लोक–पु., जगत् (चशा. ४.१३) सृष्टिः, ' लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च ' (सुसू. १.२२)

जङ्गमो भूतग्रामः (चसू. १.४६)

मानवः, जनः (चवि. ८.१४)

समुदायः (चशा. ५.३)

–कान्ता–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७)

–दोषदर्शिन्–वि., लोकस्य दुःखाक्रान्तत्वरूपं दोषं पश्यति ततश्च विरक्तो भवति यः, सः (चशा. ५.१२)

–नाथ–पु., राजा (र. ८.४६)

पारदयोग० रसतुत्थनागगंधकटंकणादिसाधितोऽयं राजयक्ष्महरः (र. १४.५३-५५)

पारदयोग० पारदगंधकवराटकटंकणादिसाधितोऽयं वातातिसारनाशनः (र. १६.३२-३५)

–नाथगुटिका–स्त्री., पारदयोग० पारदलवणपंचकसहिंग्वादिसाधिता इयं सन्निपातहरा (र. १२.७४-७५)

–पाल–पु., देवता० जनपालकः एते हि ' दर्शनात् स्पर्शनात्कीर्तनाच्चाऽशुभानि व्यपोह्याऽर्थसिद्धिं दिशन्त्युत्तमाम् ' (असंशा. १२)

–मातामही–स्त्री., रेवतीग्रहस्य नाम (का बालग्रहचि.)

–संज्ञिका–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा.३.४)

–सम्मित–वि., लोकतुल्यः (चशा. ४.१३)

लोकप्रमाणः (चशा. ५.३)

लोकाक्ष–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२)

लोकावयव–पु., लोकस्यावयवः, यथा तरुतृणपश्वादिः (चशा. ५.४)

लोकेश–पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४१)

लोकेश्वर–पु., पारदयोग० पारदसुवर्णगंधकचित्रकादिभिः साधितोऽयम् अग्निमान्द्यकार्श्यकासहिक्काहरः (र. १४.३३-४८)

पारदयोग० गंधकशंखपारदचित्रकादिसाधितोऽयं ग्रहण्यादिहरः (र. १६.२७-३१)

लोचन–न., शारीर० नेत्रम् (सुउ. १.१४; असंसू. ३)

वनस्पति० नेत्रवाला इति प्रसिद्धम्, वालकम् (र. ११.३७-३९)

(लोचनी)–स्त्री., वनस्पति० महाश्रावणिका (मुण्डी) (रा. ५.२१९)
–**हिता**–स्त्री., वनस्पति० कुलत्थिका (ध. ३.१५६) कुलत्था (रापरि. ५.१८)
लोचमर्कट–पु., वनस्पति० अजमोदा (ध. २.९८)
लोट्टाक–पु., शाकभेदः, फञ्जीचिल्लयादिगणे, लोट्टामारिषः (चसू. २७.१००)
लोठन–न., इतस्ततो नयनम् यथा शिरोलोठनम् (चचि. ३.१०६)
लोडा–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४३)
लोढर–पु., रोग० हलीमकः (असंनि. १३) द्र० 'पाण्डु'
लोण–न., लवणरसमृत्तिका, लवणम्, सैन्धवम् (र. १०.८४)
(लोणा)–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)
–**तृण**–न., वनस्पति० लवणतृणम् (रापरि. ८.५७)
–**त्रय**–न., लवणत्रयम्, सैन्धवं विड्लवणं सौवर्चलं चेति (र. १५.२६-२८)
लोणाम्लिका–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४३)
लोणारक्षार–न., लवण० तद्गुणाः–लवणं क्षारयुक्तमत्युष्णं तीक्ष्णं वातघ्नं पित्तकरं गुल्महरं च (रा. ६. १३)
लोणिका–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)
शाक० फञ्जीचिल्लयादिगणे (चसू. २७.१०२)
शाक० घोली (चचि. ९.३३) लोणिया गुणाः–स्वादुपारुरसा लवणाऽनुरसा सक्षारा शीता रूक्षा कफघ्नी नाऽतिपित्तला वातला सरा (सुसू. ४६.२७४-२७५)
हिं.—खुर्सा.
म.—भुईघोळी, घोळ.
बं.—छोटा लुनीया.
गु.—लोनी.
ता.—पारुकिरे.
फा.—कुरफा.
लोणीका–शाक० घोली (चचि. १४.१२३) लोणारः (अहसू. ६.९३-९६; असंसू. ७)
क्षुद्राम्लिका, (चाङ्गेरी) (भा. प्र.; असंचि. १०)
लोध्र–पु., न., वनस्पति० वृक्षोऽयं हेमन्ते पुष्पितो भवति (सुसू. ६.२३-२४) कुष्ठहरप्रदेहे उपयुक्तः (चसू. ३.५; चसू. ३.१२) त्वग्दोषस्वेदहरप्रघर्षणद्रव्ये (चसू. ३.२९) दौर्गन्ध्यहरप्रदेहे (चसू. ३.२९) निर्वापणप्रदेहे (चसू. ३.२६) वर्त्मरोगे लेपार्थमुपयुक्तः (असंउ. १२) पुरीषसंग्रहणीयगणे (चसू. ४.१५; असंसू. १५) सन्धानीयगणे (चसू. ४.९; अहसू. १५.३८; असंसू. १५) शोणितस्थापनगणे (चसू. ४.१८; असंसू. ३६) अवचूर्णनार्थं दद्रुरोगे (चसू. ३.१०) सिराव्रणमुखे (अहसू. २७.४८) धूमपानप्रयोगे (चसू.५.२२) श्यामादिशाकवर्गे (असंसू.७) गुणाः–कषायः शीतो रूक्षो ग्राही–रोपणः (असंसू. १६) –वयःस्थापनः (असंसू. १५) कफहरस्तृष्णाऽरोचकविषहरः, पक्वातिसारहरः (असंसू. १६)–रक्तपित्तप्रशमनः (सुउ. ४५.२५) लघुः कफपित्तनुत्, चक्षुष्यः, रक्तातिसार–शोथप्रदरघ्नः (भाप्र.; ध. ३.१७५; शानि.)
हिं.—लोध, पठानी लोध.
म.—लोध, लोध्र.
गु.—लोधर, पठानी लोधर.
बं—लोधकाष्ठ, पाटियालोध, लोध्र.
ता.—वेल्लीलोथी.
तिल्वकपर्यायः, लोध्रभेदः (चक. ९.३)
क्रमुकः, लोध्रभेदः, श्वेतलोध्रः (रा. ६.२४१)
वल्कलोध्रः, गुणाः–कषायः शीतश्चक्षुष्यो विषहृत् वातकफहरो रक्तविकारघ्नः (ध. ३.१७७)
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० मधुवृक्षः (मधुक) (ध. ५.४५).
–**पुष्पिणी**–स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५२)
लोध्रक–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३८)
लोध्रादि (गण)–पु., द्रव्यगण० लोध्र–सावरलोध्र–पलाश–कुटन्नट–अशोक–फञ्जी–कट्फल–एलवालुक–शलकी–कदम्ब–साल–कदली इति 'मेदःकफहरो गणः। योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः' (सुसू. ३८.१४-१५; असंसू. १६)
लोध्रासव–पु., आसुत० लोध्रशटीपुष्करमूलमूर्वादिसाधितोऽयं कफपित्तप्रमेहादिहरः (चचि. ६.४४)
चुञ्चुप्रभृतिशाकभोजनोत्तरम् अनुपानार्थम् (सुसू. ४६.४३३)
लोपाक–पु., प्राणि० मृगवर्गीयः, शृगालभेदः लाङ्गटकः, लाङ्गलकः, लोमशः इति पर्यायाः (चसू. २७.३६; सुचि. ८.३७; सुचि. २५.२५; अहसू. ६.४९; सुसू. ४६.७८; असंचि. १०)
हिं.—लोमडी.
म.—कोल्हा.

अस्य मांसं यक्ष्मिणे उपयुक्तम् (चचि. ८.१५२)
अस्य मांसरसः प्रवाहिकायामुपयुक्तः
(चचि. १९.३८)

लोभ–पु., मनोविकार० लौल्यम् (चनि. १.१५; चनि. ७.४) लोलुपत्वम् (अहसू. ४.२४)
परस्त्रग्रहणाऽभिलाषा (सुसू. १.२५ (३)
लक्षण० अलब्धेष्वभ्यवहार्येषु लोलता, वासना
(चनि. ७.७ (१)

लोभनी–स्त्री., वनस्पति० महाश्रावणिका (मुण्डी, मुण्डिका) (रा. ५.२२०)

लोभनीया–स्त्री., वनस्पति० श्रावणी, मुण्डी, मुण्डिका (ध. १.१६०)

लोमन्–न., शारीर० (चसू. १.६९) अस्थ्नो मलः (चचि. १५.१९) बाह्यत्वग्वर्तिकेशः 'तनूरुहं रोम लोम।' (अमर; सुशा. ३.३३) तत्संख्या–एकोनत्रिंशत्सहस्राणि नव च शतानि षट्पञ्चाशत्कानि केशश्मश्रुलोमानि (२९ (९५६) चशा. ७.१४)

(लोम)-करणी–स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी
(रा. १२.१३९)

-कूप–पु., त्वग्रन्ध्रम्, स्वेदवाहनं मूलम् (चवि.५.८)

-कूपायन–न., लोमकूपस्त्वग्रन्ध्रम्, स एव मार्गः
(चशा. ६.२३)

-दोष–पु., लोमविकारः, अस्थिप्रदोषजरोगेष्वेकः
(चसू. २८.१६)

-द्वीप–पु., कृमि० शोणितजस्ताम्रवर्णः, तत्संस्थानम्–अणुर्वृत्तोऽपादः, सूक्ष्मत्वाच्च भवत्यदृश्य इत्येके (चवि. ७.११; चसू. १९.४ (९); असंनि. १४)
द्र० 'कृमि'

पिञ्जर–वि., रोमभिः पिञ्जरं कपिलवर्णम्, रोमराजिभिराचितमित्यर्थः (चचि. ७.१५)

-राजि–स्त्री., रोमराजिः (कासू. २८)

-राजी–स्त्री.,रोमराजी, सेयम् उभयतो मध्यभागमागता नातिघना प्रशस्यते वैधव्यायातिस्थूला। अतिस्थूलघनलोमा पौंश्चल्याय। अधोजाता दौर्भाग्याय। नाभिमतिवृत्ता मध्यत्वाय (कासू. २८)

-राज्युद्गम–पु., लक्षण० अधउदरे रोम्णां राजिवद् उद्गमः (चशा. ४.१६)

-रोहण–न., व्रणोपक्रम० लोम्नां रोहणम्, रोमसंजननोपक्रमः (चचि. २५.४३)

-विध्वंस–पु., रक्तजकृमि० (असंनि. १४)
द्र० 'कृमि'

-शातन–न., रोमशातनम् लोमापहरणम्
(सुचि. १.१०५)

-हर्ष–पु., लक्षण० पुलकाञ्चितत्वम्, रोमहर्षः, रोमाञ्चः (चचि. २८.२१)

लोमश–पु., खनिज० धातुकासीसम् (चसू. ३.४)
न., वनस्पति० उपगतरोमफलम्, लोमशफला, शशाण्डुली (चक. २.६)

(लोमशा)–स्त्री., वनस्पति० काकजङ्घा (ध. ४.२३)
वचा (ध. २.६)
शणपुष्पी (रा. ४.२९८)
गन्धमांसी (ध.३.४७)
उर्वारुकम् (ध. १.१७६)

-कण्टा–स्त्री., वनस्पति० कर्कटी (रा. ७.२५२)

-कर्ण–पु., प्राणि० बिलेशयः, नलत्करः
(सुसू. ४६.७८)

-पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (रा. ३.२४४)

-पुष्पक–पु., वनस्पति० शिरीषम् (रा. ९.१८९)

-फला–स्त्री., वनस्पति० शशाण्डुली
(रापरि. ७.१०३)
द्र० 'लोमश'.

लोमाद्–पु., कृमि० लोमानि अत्ति इति (चसू. १९.४-९) शोणितजः ताम्रवर्णः अणुः वृत्तः अपादः सूक्ष्मत्वाददृश्यः (चवि. ७.११) द्र० 'कृमि'

लोमापनयन–न., व्रणोपक्रम० लोम्नां केशानां लेखनम् लोमापहरणम् (सुचि. १.८)

लोमापहरण–न., उपक्रम० लोमशातनम् (सुचि. १.८)
'रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्तरिसंदंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत्।'
(सुचि. १.१०४)

लोलन–न., लक्षण० लोठनम् (असंनि. २)

लोला–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (ध. ५.३६)

लोष्ट–न., मृत्पिण्डः (असंसू. ३; अहसू. १७.६)

-भेदिन्–वि., मृत्पिण्डस्फोटनशीलः (गर्हितदूतः)
(सुसू. २९.११)

लोह–पु., खनिज० (चसू. १.७०) अत्र लुहधातुः कर्षार्थवाची। रोगाकर्षकत्वाद् धातूनां लोह इति संज्ञोचिता (र. ५.४) लोहः स्वर्णादिः (असंसू. ८) लोहः पञ्चविधो भवति रजततास्रत्रपुसीसलोहात्मकः (चसू.१.७०) लौहानि षट्त्रपुसीसताम्ररूप्यसुवर्णकृष्णलौहानि (सुचि. १३.५-६)
सुवर्णं रौप्यं ताम्रमायसं वङ्गं सीसकं चेत्येतानि

षट् (र. १०.६७-६८) तेषां भेदाः–शुद्धलोहम्–कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम् । पूतिलोहम्–नागवङ्गाभिधानम्। मिश्रलोहम्–पित्तलं कांस्यवर्तम् (र. ५.१-३; १.९-१०) कृत्रिमं लोहम्–कांस्यं पित्तलं च (र. १०.६७-६८)

न., खनिज० (ध. ६.२६) आयसम् (र. ५.७३) कृष्णवर्णधातुः, हीनधातुः (सुसू. २९.७१-७२; सुसू. ४६.३२८) प्रकारः–मुण्डं तीक्ष्णं कान्तम् च (र. ५.७३; सुसू. ४६.३२८) लोहदोषाः–' गुरुता दृढता क्लेदो कश्मली दाहकारकः, अश्मदोषः सुदुर्गुन्धः ।' इति अयःस्थिताः सप्त दोषाः (टीका ५.१०९)

अशुद्धलोहसेवने परिणामाः–अशुद्धलोहसेवनादायुर्वलं कान्तिश्च विनश्यति हृदि पीडाकरमालस्यकरं शरीरे रुजाकरं च भवति तस्माद्विशोध्य मारयेत् (र. ५.७९) लोहपत्रम्–प्रथमं शोधनात्पूर्वं पत्राणि कारयेत् । चतुरङ्गुलविस्तारमायामैश्च चतुरङ्गुलं तिलोत्सेधं तनु च लोहपत्रं प्रचक्षते (टीका. र. ५.१०९) लोहग्रहणस्यान्या रीतिः–शस्त्रकृल्लोहकाराणां गृहे शोणोद्वान्तं लोहचूर्णं चम्बुकाश्मना सङ्ग्राहयेत् (टीका. र. ५.१०९) लोहशोधनम्–शशकरक्तप्रलिप्तं सत्रिवारं तापितं लोहं शुध्यति (र. ५.१०९) त्रिफलाक्काथेन सामुद्रलवणं संपिष्य ततस्तेन लौहपत्रं प्रलेपयेत् । अनन्तरं तल्लोहपत्रं निर्वापणीयमेवं सप्तवारं कार्यम् । अनेन लोहं शुद्धं भवति (र. ५.११२) चूडामणिमते विशुद्धलक्षणम्–न विस्फुलिङ्गा न च बुद्बुदश्च यदा न लेखा पटलं न शब्दः । मूषागतं रत्न समं स्थितं च तदा विशुद्धं प्रवदन्ति (टीका. र. ५.१०९) लोहमारणं-भस्मीकरणम् समभागगन्धमिश्रं लोहचूर्णं कुमारीरसेन संमर्द्य संपुटीकृत्य पचेत् । एवं कियत्कालपर्यन्तं पुनः पुनः पुटीकृतं लोहमवश्यं म्रियते (र. ५.१३२) लोहस्य पत्राणां मारणार्थं चूर्णीकरणम्–लोहस्य पत्राणि तीव्रवह्नौ ध्मात्वा सद्यो जले क्षिपेत्। केषांचिन्मते तस्य क्षेपणं गोमूत्रे क्रियते। अनन्तरं तेषां पाषाणोलूखलोदरे लोहपारया गाढनिर्घातैः चूर्णं कार्यम् । एवं यदि चूर्णं न स्यात्तर्हि तल्लौहं शरावसंपुटे रुध्वा तीव्राग्निना ध्मात्वा जले क्षिप्त्वा पूर्ववच्चूर्णयेत् (र. ५.१८-२१) निरुत्थपरीक्षा–'सर्वमेतन्मृतं लौहं पक्तव्यं मित्रपञ्चकैः। यद्येव स्यान्निरुत्थं तत्. (टीका र. ५.१५-१६) मृतं लोहं वारितरं भवेत् (र. ५.११६) भस्ममात्राऽनुपानं च–त्रिकटुवेल्लाज्यमधुसहितं शाणपरिमाणं सेवेत (र. ५.१४८)

भस्मगुणाः–कषायं तिक्तमुष्णरूक्षं तीक्ष्णम् (ध.६.२६) कृमि–पाण्डु–वात–क्षीणत्व–पित्तरोग–स्थौल्याऽर्शो– ग्रहणी– ज्वर– शोफ–प्रमेह–गुल्म–प्लीह–विष-कुष्ठाऽग्निमान्द्यहरम् । कफहरं बलकरं रसायनं च। मृतानि लोहानि रसीभवन्ति, युक्तानि महामयान् निघ्नन्ति अभ्यासयोगाद्दृढदेहसिद्धिं कुर्वन्ति जरारुग्विनाशनं च(र.५.१४६-१४७)लोहस्य द्रवीकरणम् वनस्पतिभस्मावापेनैकविंशतिवारगोमूत्रभावितस्य देवदालीभस्मनो वापेन मूषास्थं तीक्ष्णं लौहं सलिलसदृशं द्रुतं भवति । अस्मिन् प्रथमं मूषागतं लौहं वह्नियोगाद्धमनीयं, ततो वापो देयः, (र. ५.१५१) गन्धकेन द्रवीकरणम्–प्रथमतो गन्धकः सप्तदिनपर्यन्तं देवदाल्या रसेन भाव्यः, ततोऽस्य भावितगन्धकस्य प्रवापमात्रेण लोहा द्रवीभावमापद्यन्ते (र. ५.१५४)

खनिज० मुण्डलोहम्, (रा. १३-२९)

वर्तलोहम् (ध. ६.३३)

कृत्रिमधातु० कांस्यम् (ध. ६.२३)

न., निर्यास० अगरु (ध. ३.२५)

अगरुभेदः, काष्ठागरु, द्र० 'अगरु' (रा. १२.४२)

–कर–पु., सुवर्णकरः लोहात्संस्कारैः सुवर्णीकरणं लोहकरत्वम् (र. १.७०)

–काठिन्यनाशनवर्ग–पु., लोहस्य काठिन्यनाशकद्रव्याणां वर्गः समूहः, 'माहिषमेढ्राण्डगर्भः कालिङ्गो धवबीजयुक्। शशास्थीनि चेति (र. १०.९७)

–कान्तिक–न., खनिज० कान्तलोहम् (रा. १३.२७)

–कारिन्–वि., लोहं नाम वपुर्दृढत्वं करोति इति लोहकारी शरीरदार्ढ्यावहः (र. २.५९)

–किट्ट–न., खनिज० लोहमलम् (सुउ. ४४.३२) लोहोच्छिष्टम् (मण्डूरः) (रा. १३.३६)

–खड्ग–न., खनिज० तीक्ष्णलोहम् शस्त्रायसम् द्र० 'लोह' (रा. १३.३०)

–खण्ड–न., लोहमयं दर्व्यादिकम् (र. २२.११३)

–गन्ध–पु., लक्षण० रक्तगन्धः (सुउ. ४७.६८)

–गन्धि–वि., लोहम् अयः तद्वन्धवद् गन्धोऽस्येति (चचि. १५.५४)

ध्मायमानलोहस्येव गन्धः अस्य (सुसू. २८.९-१०)

-गन्धित्व-न., लक्षण० रक्तगन्धित्वम्, लोहगन्धिभावः, रक्तगन्धिभावः, भिन्नकोष्ठे (सुचि. २.१५) रक्तपित्तपूर्वरूपे (चनि. २.६) ग्रहणीरोगे लोहगन्धोद्गारित्वम् (सुउ. ४०.१७४)

-चाटु-पु., पात्र० लोहमयी दर्वी (र. ५.१८१)

-चूर्ण-न., खनिज० मण्डूरम् (रा. १३.२६) खनिजधातुचूर्णम्, अवसादनगणे उपयुक्तम् (सुउ. १२.२४-२५)

-ज-न., खनिज० वर्तलोहम् (रा. १३.३४) मण्डूरम् (रा. १३.३६)

-द्राविन्-पु., खनिज० टङ्कणक्षारः (रा. ६.२८)

-नाडी-स्त्री., लोहनलिका, लोहपात्रम् (सुउ. ११.१२)

-निर्यास-न., खनिज० मण्डूरम् (ध. ६.३५)

-पारा-स्त्री., लोहमयसम्मर्दनोपकरणविशेषः लोहघर्षकः (र. २.४७-४८)

-पुरीष-न., खनिज० लोहमलम्, मण्डूरम् (ड. सुचि. १८.५२) वनस्पति० अगरुः (ड. सुचि. १८.५२) पारावतविट् (ड. सुचि. १८.५२)

-पृष्ठ-पु., पक्षि० प्रतुदवर्गीयः (चसू. २७.५१) हिमालये जातः पक्षि० गुणाः-अस्य मांसं पाके गुरु रसतः कषायं शीतं बृंहणं वृष्यं च (काखि. ३४.३५; असंसू. ७)

-मल-पु., खनिज० मण्डूरम् (सुसू. ३८.६२; र. २६.५०; रा. १३.३६)

-मारण-न., कर्म० आयसमारणम् (र. २८.१४) द्र० 'लोह'

-रसायन-न., योग० कान्ताभ्रकरसायनपर्यायभूतम्, इदं रसायनं दीर्घायुष्करं नानाविधानुपानेन नानारोगेषूपयुक्तम् (र. २८.५४-८६)

-वाल-पु., धान्य० शालिः (चसू. २७.९)

-वालाख्य-पु., धान्य० शालिः (अहसू. ६.३)

-शुद्धिकर-न., खनिज० श्वेतटङ्कणम् (टङ्कणक्षार) (रा. ६.३१)

-सङ्कर-न., खनिज० वर्तलोहम् (रा. १३.३४)

लोहक-पु., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (ध. ६.१८)

लोहलत्व-न., अव्यक्तवाक्त्वम् (र. १५.८१-८४)

लोहारिष्ट-पु., आसुत० लोहपत्रशालसारमधुमाक्षिकपिप्पलादिगणादिसिद्धोऽयं अग्नेः प्रसादकः, कार्श्यकरः शोफनुत्, गुल्महृत्, कुष्ठमेहपाण्डुरोगहरः प्लीहोदरहरो विषमज्वरनाशनोऽभिष्यन्दाऽपहरणश्च (सुचि. १२.१२-१९)

लोहित-पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, रक्तेक्षुः (रक्तेक्षु)द्र०'इक्षु' (रा. १४.१८९)
कन्द० रक्तपिण्डालुः (रापरि. ७.२६)
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.८७)
न., वनस्पति० तृणकुङ्कुमम् (रा.१२.२३)
वृक्ष० हरिचन्दनम् (रा. १२.१२)
वृक्ष० रक्तचन्दनम् द्र० 'चन्दन' (ध. ३.४)
शारीर० रक्तधातुः (चनि. २.४; अहसू. २७.१-२
रूप० रक्तवर्णम् लक्षण० (चनि. २.६, अहसू. २७.२)
न., स्त्रीशोणित० आर्तवम्, ऋतुकालोद्भवम् (सुशा. १.१६)

(लोहिता)-स्त्री., शारीर० त्वग्भेदः, द्वितीया त्वक्, सा व्रीहेः षोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना (सुशा. ४.४)
वनस्पति० पुनर्नवाभेदः, क्रूरः, द्र० 'पुनर्नवा' (रा. ५.४०६)

-क्षया-स्त्री., रोग० योनिव्यापद्० तल्लक्षणम्—वातपित्ताभ्यां रजः क्षीयते, सदाहकार्श्यं वैवर्ण्यं च (असंउ. ३८)

-क्षरा-स्त्री., रोग० पित्तजयोनिरोगेष्वेकः, तल्लक्षणम्—यदा दाहयुक्तमार्तवं स्रवति तदा दाहपाकादियुता, इयं योनिः लोहितक्षरेति ज्ञेयम् (सुउ. ३८.१२)

-गन्धास्यता-स्त्री.,रोग०मुखस्य लोहसमानगन्धत्वम्, रक्तसमानगन्धत्वम्, गन्धोऽत्र आमगन्धः, चत्वारिंशत्पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४; असंसू.२०)

-चन्दन-न., वृक्ष० चन्दनभेदः, रक्तचन्दनम्, द्र० 'चन्दन' (चचि. ४.१०२)

-पित्त-न., रोग० रक्तपित्तम् (सुउ. ४५.१३)

-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० उष्ट्रकाण्डी (रापरि. १०.४३)

-पूर्णकोष्ठता-स्त्री., लक्षण० रक्तपूर्णोरस्कता (सुशा. ६.२५) रक्तपूर्णोदरत्वम् (सुशा. ६.२६)

-मत्स्य-पु., रोहितमत्स्यः (चनि. २.६) द्र० 'मत्स्य'

-मत्स्यगन्ध-वि., लक्षण० लोहितमत्स्य गन्ध इव गन्धो यस्य तत् (असंनि. ३)

-मत्स्यगन्धित्व-न., लक्षण० लोहितमत्स्यसमानगन्धवत्त्वम् (चनि. २.६)

–मृत्–स्त्री., खनिज० गैरिकम् (चचि. २३.१०१)

–मेह–पु., रोग० प्रमेहभेदः, पित्तजः, रक्तमेहपर्यायः, लक्षणम्–पित्तस्य प्रकोपेण नरः विस्रं लवणमुष्णं च रक्तं मेहति (चनि. ४.२५; चसू. १९.४(९) द्र० ' प्रमेह ')

–राजी–वि., रक्तवर्णा रेखा शरीरे यस्य सः (शकली मत्स्यः) (चसू. २६.८३)

–वह–वि., शारीर० शोणितवहम् (स्रोतः) (चनि. २.४)

–शालि–पु., धान्य० लोहितकपर्यायः. रक्तशालिः (चसू. २५.३८; सुसू. ४६.४)

लोहितक–पु., धान्य० रक्तशालिः, गुणाः–शूकधान्यानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमः (चसू. २५.३७) दोषघ्नश्चक्षुष्यो बलवर्णकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृषापहः शुक्रलो मूत्रलो व्रण्यो ज्वरहरः सर्वदोषविषापहश्च (सुसू. ४६.६-७)

(लोहितिका)–स्त्री., शारीर० सिराभेदः कर्णस्था लोहितवर्णा सिरा । तस्या व्यधादुपद्रवाः–मन्यास्तम्भाऽपतानकशिरोग्रहकर्णशूलाः (सुसू.१६.५) वनस्पति० मञ्जिष्ठा (सुचि. ११.१०)

लोहिताक्ष–पु., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक. ४.३४ (१) द्र० 'सर्प'

–सिरा–स्त्री., शारीर० अन्यध्यसिरा, प्रत्येकशाखायामेका, तस्याः स्थानम्–ऊरुमूले ऊरुमर्मोर्ध्वमधो वंक्षणसन्धेः । बाहुमध्येऽपि तथैव । लोहिताक्षसिरा सक्थिमध्ये बाहुमध्ये (सुशा. ७.२२)

लोहिताक्षमर्मन्–न., शारीर० तस्य स्थानम्–ऊर्व्या ऊर्ध्वमधोवङ्क्षणसन्धेः ऊरुमूले लोहिताक्षं नाम मर्म । सक्थिमर्मेदं, सिरामर्मभेदः मानम्–अर्धाङ्गुलम्, वामदक्षिणभेदेन द्वे मर्मणी। विद्धे लक्षणम्–लोहितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिशोथः वैकल्यं च (सुशा. ६,६,७,१२,१३,२४,२९; असंशा.७)

लोहितागस्त्य–पु., वृक्ष० रक्तागस्त्यः द्र० ' अगस्त्य ' (र. ३०.१०७)

लोहिताङ्ग–पु., वनस्पति० कम्पिल्लकः (ध. ३.१३८)

लोहितार्मन्–न., नेत्ररोग० नेत्रशुक्लभागगतोऽयम्, क्षतजार्मपर्यायः । लक्षणम्–नेत्रस्य शुक्लभागे यन्मांसं पद्मपत्रप्रभं वृद्धिमुपैति, तल्लोहितार्म (सुउ. ४.५) नेत्रशुक्रवल्लेखनाञ्जनेनोपकरणीयम् (सुउ. १५.१७)

लोहितालु–पु., वनस्पति० कन्दोऽयं रक्तपिण्डालुः (रापरि. ७.२६) फोण्डालुः (रापरि. ७.३०)

लोहितेक्षु–पु., वनस्पति० रक्तेक्षुः, द्र० ' इक्षु ' (रा. १४.१८९)

लोहिनी–स्त्री., शारीर० त्वग्भेदः, लोहिता त्वक् (असंशा. ५) द्र० ' त्वच् '

लोहोच्छिष्ट–न.,खनिज० मण्डूरम् (ध. ६.३५)

लोहोत्थ–न., खनिज० मण्डूरम् (ध. ६.३५)

लोहोदक–न., सिद्धोदक० अगरोः सिद्धमुदकम् (चसू. २३.१८)

लौकिक–वि., अपरीक्षकाणां लोके संजातम्, अपरीक्षका एवहि वर्तमानमात्रे प्रवर्तन्ते-परीक्षकास्तु जन्मान्तरकारिण्येव (चक्र. चसू. २७.३५०) अपरीक्षकश्च रजोमोहावृतात्मा (चक्र. चसू. २८.३६)

लौकिकार्थ–पु., लोकाचारः (अहसू. २.४५)

लौक्य–वि., लोकानुगतम् (चवि. ८.१४)

लौल्य–न., लोलुपत्वम् (चसू. २५.४०) ' लौल्यं क्लेशकराणां श्रेष्ठम् ' (असंसू. १३) लक्षण० सर्वरसेषु लोलुपत्वम्, तिक्ताऽम्लादिरसाऽभिलाषः (सुउ. ४०.१७४) सर्वरसाऽभिकाङ्क्षा, रसेषु गृद्धिः (सुनि. ६.१३)

लौह–वि., लोहस्येदं लोहमयं वा लौहम् (चचि. १.(३)-२०; सुसू. ७.७; र.५.११७.१२०)

(लौही)–स्त्री., लोहपात्रम् (अहसू. ३०.१५)

–दर्वी–स्त्री., पात्र० लोहमयी पाकक्रियोपयोगिनी खल्वाऽग्रमुखपात्रयुक्ता पञ्चादीर्घदण्डा भवति (र. १३.८०-८१)

–पर्पटिका–स्त्री., पारदयोग० लोहपारदगंधकभृङ्गकादिसाधिता इयं स्वरभेदे उपयुक्ता (र. १३.८०-८१)

–मल–पु., खनिज० मण्डूरम् (र. १५.६८)

–रसायन–न., योग० लोहपत्त्रिफलागोमूत्रक्षारादिसाधितमिदं लौहादिरसायनम् बलादिवर्धनम् (चचि. १(३)१५-२३)

–शलाका–स्त्री., लोहस्य लोहमयी वा शलाका (चचि. २५.८२)

लौहितक–न., कृत्रिमधातु० पित्तलम् (रा. १३.१७)

लौहित्य–पु., धान्य० लौहितशालिः लौहितकः, गुणाः–कषायो लघुः मधुरः वातलश्च (चसू.२७.१७)

व

वंश–पु., वनस्पति० वेणुः, नाडीस्वेदार्थमुपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. १४.३१) गुणाः–अम्लः, कषायः, कटुस्तिक्तः, शीतो, भेदनो, विष्टम्भी, पित्तघ्नो मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शोदाहरक्तविकारव्रणशूलहरश्च (ध. ४.१३७)

हिं.—बांस.
म.—वेळू.
गु.—वांस.
बं.—वांश.
ता.—मूंकिल.

स द्विविधः घनवंशो रन्ध्रवंशश्च (असंसू. २६.६; अहसू. १७.८)

वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०५; र. ८.३६)
इक्षुः (ध. ४.१२०)
वेणुजः (रा. १६.१२६)

–करीर–पु., वनस्पति० वंशाङ्कुरः, सामान्यगुणाः–कफहरः सृष्टमूत्रपुरीषश्च। विशेषगुणाः–कफलो रसपाकतो मधुरो विदाही, वातलः कषायो विरूक्षणश्च (सुसू. ४६.२९०; अहसू. ६.९९)

–कर्पूररोचना–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (रा. ६.८६)

–क्षीरी–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (ध. २.५५)

–गा–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (रा. ६.८५)

–ज–पु., वनस्पति० वेणुजः (रा. १६.१२६)

(–जा)–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचना (ध. २.५५)

–तण्डुल–पु., वनस्पति० वेणुजः (रा. १६.१२६)

–दल–न., वंशस्य खण्डम् (असंसू. २६.१०)

(–दला)–स्त्री., वनस्पति० वंशपत्री (रापरि. ८.५४)

–धान्य–न., वनस्पति० वेणुजः (रा. १६.१२६)

–पत्रक–पु., वनस्पति० श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१)

–पत्री–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– सुमधुरा, शिशिरा, रुच्या, पशुदुग्धदायिनी, पित्तनाशिनी, रक्तदोषहरा (रापरि. ८.५४)

वनस्पतिनिर्यास० नाडीहिङ्गु (ध. २.४०)

–पीत–पु., वनस्पति० कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६)

–रोचना–स्त्री., निर्यास० (ध. २.५५) गुणाः– कषाया मधुरा तिक्ता शीता रूक्षा बल्या बृंहणी रक्तशुद्धिकरी तापहरा कासमूत्रकृच्छ्रक्षयश्वासहरा च (ध. २.५५; असंसू. १२.२९)

–लेख–पु., वंशतनुवल्कः (इन्दु) (असंउ. ४४)

–लेखन–न., वनस्पति० वंशनीलिका (चचि. १८.७३)

–लोचन–न., भैषज्य० वंशरोचना (चचि. २३.७१)

–विदल–न., वंशकम्बिका (सुचि. २७.८)

–शर्करा–स्त्री., निर्यास० वंशरोचना (रा. ६.८६)

–सम्पन्ना–वि., वंशवत् उत्कृष्टा सरलतीक्ष्णत्वेन (नासा) (चशा. ८.५१)

वंशक–पु., इक्षुभेदः, स च सुशीतो मधुरः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरोऽविदाही गुरुर्वृष्यः किञ्चित्सक्षारो वंशको मतः (सुसू. ४५.१५१-५२; चसू. २७.२३८) द्र० 'इक्षु'

वंशाग्र–न., वनस्पति० करीरः (ध. ४.१४०)

वंशाङ्कुर–पु., वनस्पति० वंशाग्रम् (रा. ७.२१९)

वंशाङ्कुरपरु–पु., वनस्पति० वंशाग्रम् (ध. ४.१४०)

वंशान्तर–पु., वनस्पति० नलः (रा. ८.२२१)

वंशावलेख–पु., हस्तादिना अवलिख्य निष्कृष्यते अवलेखः, वंशत्वक् (सुचि. १८.२०)

वंशावलेखन–न., वंशाच्छोलनम् वंशत्वक् (ड. सुउ. २१.१५)

वंशाह्व–पु., वनस्पति० वेणुजः (रा. १६.१२६)

वंशिर–न., भैषज्य० सामुद्रलवणम् (रा. ६.४२)

वंश्या–स्त्री., निर्यास० वंशरोचना (ध. २.५६)
वनस्पति० दधिपुष्पी (रा. ७.२०४; पा. ३६)

वक्तक–पु., वनस्पति० धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११२)

वक्तृ–वि., वचनकर्महेतुः (क्षेत्रज्ञः) (सुशा. ३.४)

वक्त्र–न., मुखम् (र. ३.११०; सुनि. १.६९)

–कटक–न., अश्वादेः वक्त्रस्थं लोहमयं मण्डलम्, खलिनम् (अहसू. २८.२९; असंसू. ३७.१६)

–मण्डिका–स्त्री., बालग्रह० मुखमण्डिका (सुउ. २७.१५)

–रस–पु., मुखे उत्पद्यमानो रसो, ज्वरादि व्याधिजन्यस्तिक्तादिः (चचि. ३.१५८)

–वादित्र–न., वक्त्रमेव वादित्रम् (सुचि. २४.९५)

–वास–पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४)

–शल्या–स्त्री., वनस्पति० काकादनी (ध. ४.२७; पृ. १३९)
श्वेतकाम्भोजी (ध. ४.३१; पृ. १४०)

–शोधन–न., वनस्पति० भव्यम् (ध. ५.३९)

–शोधिन्–पु., वनस्पति० जम्बीरः (ध. ५.१४)

–शोष–पु., आननशुष्कत्वम्, मुखशोषः (सुउ. ५२.९)

वक्त्राधिवासन–पु., वनस्पति० नारङ्गः (ध. ५.२०)

वक्त्रार्धवक्रता–स्त्री., अर्धमुखवक्रता, अर्दितरोगस्य लक्षणम् (सुनि. १.७०)

वक्र–न., बस्तिनेत्रदोषः (चसि. ५.४)
वनस्पति० तगरम् (ध. ३.५३; सुक. ६.३)
अस्थिभङ्गस्य प्रकारः, आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम् (सुनि. १५.१०; असंउ. ४४)

–कण्ट–पु., निर्यास० खदिरः (रा. ८.३१)

–कण्टक–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१५७)

–ग–वि., समाक्रान्तं राशिं मुक्त्वा पुनः पूर्वमेव मुक्तराशिं नक्षत्रं वा याति सः (ग्रहः) (सुसू. ३२.४)

–दन्ता–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)

–ध्वज–पु., वक्रमेढ्रः (असंशा. २.४३)

–पुष्प–पु., वनस्पति० पलाशः (रा. १०.२७४)
अगस्त्यः (रापरि. १०.१३)

वक्रिन् वि., वक्रध्वजः वक्रध्वजवान् गर्भः (चशा. २.२०)

वक्षस्–पु., शारीर० स्तनान्तरम् (सुउ. ५२.११)
उरः (सुचि. ३.५०)
हृदयम् (सुसू. २७.९; असंशा. ७.११)

–तोद–पु., लक्षण० अशीतिवातविकारेष्वेकः, वक्षसि तोदः (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)

(वक्षो)–मर्मन्–न., उरःस्थमर्माणि (सुशा. ६.१०-११)

वक्षउद्धर्ष–पु., लक्षण० वक्षसः उद्धर्षः, नाम अल्पीयान्-शोफः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

वक्षउपरोध–पु., लक्षण० अशीतिवातविकारेष्वेकः वक्षस उपरोधः (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)

वङ्कनाल–न., नलिका० मूषानिर्माणोपयोगि मृत्तिकया निर्मितं, पञ्चाङ्गुलमधोनामितमरत्निप्रमितं नालम् (र. १०.४६)
स्त्री., रससाधनोपयोगिनी वक्रा नलिका (र. ६.४५)

वङ्क्षण–पु., शरीरे स्थानविशेषः (चसू. १४.१०)
ऊरुसंधिः (चचि. ३०.१७२-७३; सुसू. ५.१३)
सक्थिसंधिः (चशा. ७.११)
गण्डकः (ड. सुउ. ४२.१३४; अहसू. ४.४)

–ज–पु., वङ्क्षणे जातः (चसू. १७.१०१)

–संधि–पु., मेढ्रसक्थिसन्धिदेशः (सुनि. १२.६ (असंशा. ७.४)

वङ्क्षणानाह–पु., लक्षण० अशीतिवातविकारेष्वेकः जङ्घाया आनाहो नाम शोफः (चसू. २०.११) (असंसू. २०.१३)

वङ्ग–न., खनिज० रङ्गम् (र. १.४१; रा. १३.२१)
तस्य शोधनम्–वह्नियोगान् वङ्गं द्रावयित्वा त्रिवारं षोडशांशहरिद्राचूर्णसहिते निर्गुण्डिकास्वरसे क्षिपेत्। एवं तत् शुद्धं भवति (र. ५.१६४-६५)
तस्य मारणम्–खर्परे वङ्गं द्रावयित्वा तत्र षोडशभागं रसं (पारदं) क्षिपेत्। ततस्तत्राल्पमल्पं शुद्धं हरितालं दत्वाऽगस्त्यवृक्षस्य काष्ठेन मर्दयित्वा तस्य भस्म कुर्यात्। तत् रसादिषु शस्तं वर्तते। (र. ५.१६८) खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वङ्गमुच्यते। खुरकं गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं अवरम् (भा. प्र.) गुणाः–कटु तिक्तंकषायं लवणं शीतं च, (रा,) उष्णं रूक्षं सरं कान्तिकरं रसायनं कफपित्तघ्नं प्रमेहकृमिदाहपाण्डुहरं च (ध. ६.१३)
हिं.—रांगा.
म.—कथील.
गु.—कथीर.
बं.—रांग.

वङ्गेश्वर–पु., भैषज्ययोग० पारदवंगयुक्तः प्लीहगुल्मोदरनाशनोऽयम् (र. १८.५६)

वच–पु., वनस्पति० वचा (र. १८.४७)

वचन–न., वागिन्द्रियस्य विषयः, भाषणम् (सुशा. १.५)

–परीक्षा–स्त्री., (परिव०) प्रश्नपरीक्षा (चचि. २५.२३)

–शक्ति–स्त्री., अर्थकीर्तनसामर्थ्यम् (चवि. ८.५)

वचा–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा, वमनी, कण्ठ्या, मेध्या, वातकफघ्नी, कृमिविबन्धाध्मानशूलामग्रन्थिशोफज्वरातीसारभूतहरा (ध.२.६;चसू.३.५) ग्रन्थिलाऽप्युग्रगन्धा प्रज्ञावर्धिन्योषधिः (र.१३.७१)
हिं.—बच.
म.—वेखंड.
गु.—बज.
बं.—बच.
ता.—वचंपु.
बस्तिषूपयुज्यते (चसि. ३.१४)
विरेचनार्थमुपयुज्यते (चसू. २.९)
स्तन्यदोषहरणार्थमुपयुज्यते (सुचि. १७.४४)
व्रणशोधनचूर्णे उपयुज्यते (सुसू. ३७.१९)
धूपनद्रव्यम् (सुसू. ५.१८)

श्लेष्मशूलप्रशमनी (सुउ.४२.१११; असंसू.१६.४०) उग्रगन्धा (र. १२.१२१-२२)

-युज्-स्त्री., वनस्पति० वचाद्वयम्, वचा पारसीकवचा चेति (र. २३.६५-६८)

वचादिगण-पु., द्रव्यगण० वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति । तद्गुणाः-स्तन्यशोधन आमातीसारनाशन आमसंसृष्टदोषाणां पाचनश्च (सुसू. ३८.२६-२८)

वचाम्बु-न., वचाक्वाथः, वातजारोचके वमनार्थमसौ योज्यः (सुउ. ५७.६)

वज्जर-न., खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकारः (ध. ६.२८)

वज्र-न., खनिज० नरजातिकं वज्रमष्टास्रमष्टकोणमष्टफलकमष्टपार्श्वं षट्कोणमतिदेदीप्यमानं मेघयुक्तेन्द्रधनुर्वत् प्रकाशमानं तथा वारितरं नामातिलघु वर्तते (र. ४.२९) स्त्रीजातिकं वज्रमाकारेण चिपिटाकारं गोलाकारमायतं लम्बायमानं वा वर्तते । (र. ४.३०) नपुंसकजातिकं वज्रमाकारेण वर्तुलाकारं तथा कुण्ठितकोणाग्रभागं गुरु च वर्तते (र. ४.३१) नरादिकं तद् वज्रमेकैकं प्रत्येकं चतुर्विधं वर्तते । श्वेतरक्तपीतकृष्णभेदेन तद् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राभिधं वर्तते । (१) श्वेतो-विप्रः (२) रक्तः-क्षत्रियः (३) पीतो-वैश्यः (४) कृष्णः-शूद्रः । वज्रं निजनिजवर्णफलप्रदम् ब्राह्मणो ब्राह्मणस्य, क्षत्रियः क्षत्रियस्य फलप्रदं भवति । अयं साधारणो नियमः । परं श्रेष्ठश्रेष्ठजातिकं वज्रं नीचनीचवर्णफलप्रदं भवति । विप्रहीरकं सर्वत्र फलदमिति भावः (र. ३३.३४) तस्य भेदाः-नर-नारी-नपुंसकभेदेन त्रिविधं वर्तते । रसेन विपाकेन वीर्येण च पूर्वं पूर्वं वज्रं श्रेष्ठं वर्तते (र. ४.२९) तस्य गुणाः- आयुष्प्रदं शीघ्रमुत्तमगुणप्रदायि वृष्यं पौष्टिकं सर्वदोषप्रशमनं समस्तरोगहरं, पारदस्य बन्धनं मारणं दीपनं मृत्युहरं च (र. ४.३५) तस्य प्रयोगः- त्रिगुणेन पारदेन सह वज्रं संमर्द्य ततो गुटिकीकृतं तद् योजनीयम्, मुखे धृता गुटिका चलद्दन्तविबन्धनं करोति । (र. ४.४८-४९) तस्य शोधनम्-कुलत्थक्वाथे कोद्रवक्वाथे वा एकप्रहरपर्यन्तं दोलायन्त्रेण स्वेदितं वज्रं शुद्धं भवति (र. ४.३८) तस्य मारणविधिः-मस्कुणरक्तेन वज्रं चतुर्वारं प्रथमतो भाव्यम् । मदनफलरसेन भूनागान् पिष्ट्वा तेन कल्केन वज्रं लिप्त्वा विंशतिवारं पुटं (गजं वाराहं वा) दद्यात् अनेन वज्रं भस्मीभवति- (र. ३९.४७) तस्योपयोगः- पुंजातिकं पुंसि स्त्रीजातिकं स्त्रियां नपुंसकजातिकं च नपुंसके योज्यम् । एतन्नियमभङ्गात् वज्रं फलप्रदं न भवत्यन्यत्र पुंवज्रात्, पुंवज्रं सर्वत्रैव योजनीयम् (र. ४.३२)

हि.—हिरा.

म.—हिरा.

गु.—हिरो.

बं.—हिरे.

धातु० (चचि. ७.७२)

वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४९)

कुशः (रा. ८.२०७)

वालकम् (ध. १.४७)

स्नुही (र. २०.१५९)

खनिज० वैकान्त (ध. ६.४४)

रत्न० विषापहः (चचि. २३.२५२; सुसू. ४६.३२९-३०)

हीरकम् (र. २.५५-५६; ध. ६.५५)

चतुर्विधादभ्रकादन्यतमम् (र. २.५)

(वज्री)-स्त्री., वनस्पति० स्नुही (र. २१.९२)

अस्थिसंहारिका (र. २४.१०७)

-कण्टक-पु., वनस्पति० स्नुक्; सेहुण्डः (ध. १.२३५)

कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४८)

-कन्द-पु., वन्यः सूरणः (र. २.१०५)

-कन्दक-पु., सूरणः, शूकरकन्दाख्यो वा (र. २९.८९)

-कपाट-पु., पारदयोग० ग्रहणीगदहरः (र. १६.४८)

-कारक-न., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (ध. ३.६०)

-क्षार-पु., भैषज्य० सामुद्रसैन्धवकाचयवक्षारसौवर्चलटंकणयुक्तः, अयं सर्वोदरगुल्मशोफशूलानां नाशकः (र. १९.२६-३१)

-तैल-न., सर्वान्कुष्ठान्मर्दनान्नाशयेत् (र, २०.१५५-५९)

-द्रावणका-स्त्री., मूषाविशेषः (र. १०.१३-१४)

-धर-पु., पारदयोग० पारदगन्धकताम्राभ्रकभस्मादियुक्तः पक्तिशूलादिनाशनः (र. १६.१०५)

-धार-पु., पारदयोग० पारदवज्राभ्रकसुवर्णादियुक्तोऽयं सर्वं कुष्ठ नाशकः (र. २०.१४०)

-पञ्जर-पु., पारदयोग० व्याधिवार्धक्यमृत्युप्रभृतिहरः (र. ३०.८४-८७)
-पात्र-वज्रमयं पात्रं, रागखाण्डवसदृक्षान् वज्रवैडूर्य-विचित्रेषु पात्रेषु निदध्यात् (असंसू. १०.३६)
-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.२)
-प्रोक्ता-स्त्री., वनस्पति० सुधा (इ. असं. ३.८)
वज्रकन्दः (सुउ. ६०.४८)
-बीजक-पु., वनस्पति० लताकरञ्जः (रा. परि. ८.२४)
-मूली-स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१)
-मूषा-स्त्री., मूषाविशेषः (र. १०.१०)
-रस-पु., पारदयोग० क्षयनाशनः (र. १४.६०-६९)
-लता-स्त्री., अस्थिसन्धाना (र. २८.१३)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० अस्थिसन्धाना, त्रिचतुष्कोण-काण्डा सूक्ष्मबहुपर्वका वृक्षोपर्युत्पद्यमाना ओषधिः (र. ४.७४)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० स्नुक् (रा. ८.३५६)
-शल्य-स्त्री., वनस्पति० कुटुम्बिनी (रापरि. ५.२१)
-शेखर-पु., पारदयोग० क्षयकुष्ठहरोऽयं मासं यावत् मात्रासेवितः (र. २.७४)

वज्रक-न., खनिज० वैक्रान्तम् (ध. ६.४४)
भैषज्य० लवणम् (रा. ६.५५) गुणाः-उष्णं तीक्ष्णं रोचनं सरं गुल्मोदरविष्टम्भशूलहरं च (रा. ६.५५)
सिद्धसर्पि० इदं सर्पिः विसर्पज्वरकामलास्रकुष्ठा-पहम् (असंचि. २१)
-क्षार-खनिज० वज्रकम् (रा. ६.५५)
-तैल-न., सिद्धतैल० कुष्ठचिकित्सार्थम् (सुचि. ९.५४-५७)

वज्राभिधाना गुटिका-स्त्री., योग० पाण्डुरोग-हृद्रोगगलरोगगरोदरासृग्दरभगंदरगुल्मवर्ध्मशुक्र-मूत्रदोषहरा (असंचि. १८)

वज्रास्थिशृङ्खली-स्त्री., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४८)

वज्रिणी-स्त्री., वनस्पति० वज्री (रा. २८.५८-५९)

वञ्चना-स्त्री., धूर्तता (र. ७.३५)

वज्जुल-पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११६, सुचि. ५.८; असंसू. १६.३५; अहसू. १५.४१)
-द्रुम-पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७०)

वट-पु., वनस्पति० (ध. ५.७६) गुणाः-कषायो मधुरः शीतो रूक्षः स्तम्भनः कफपित्तघ्नस्तृष्णा-च्छर्दिमूर्च्छारक्तपित्तज्वरदाहमोहव्रणशोफहरः (ध. ५.७६)
हिं.—बड.
म.—वड.
गु.—वड.
बं.—बट.
निष्प्ररोहो वटः (चचि. ३.२५८; असंसू. १५.३३)
न्यग्रोधः (र. २.२७-२८)
अस्य काष्ठं दन्तपवनार्थमुपदिष्टम् (अहसू. २.२)

(वटी)-स्त्री., वनस्पति० नदीवटः (रा. ११.११६)
गोलाकारा गुटिका (र. २.७४)
-त्वच्-स्त्री., वटत्वचा, कषायोऽस्य योनिरोगेषु सेचनार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३९)
-पत्र-पु., वनस्पति० सितार्जकः (रा. १०.८५)
कुठेरकः (ध. ४.५४; अहसू. २४.१८)
-पत्रा-स्त्री., वनस्पति० वृत्तमल्लिका (रा. १०.२२७)
मल्लिका (रापरि. १०. २३)
-पत्री-स्त्री., पाषाणभेदकः (रा.५.२११)
-प्रवाल-पु., वटस्य कोमलपत्रम् (सुचि. १७.३५-३६)
-प्लव-पु., वनस्पति० प्लक्षः (ध. ५.८१)
-बीज-न., वटस्य बीजम् (असंचि. ४)
-शुङ्ग-पु., अविकसितनववटपल्लवः (चचि. ४.८६-८७)
पुंसवनद्रव्येष्वेकं द्रव्यम् (सुशा. २.३२ असंशा. १.६१)
वटाङ्कुरः (इन्दुः असंउ. ४२)
-सौगन्धिक-पु., खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६६; ध. ३.११४) कटु उष्णो लोहसंहारः सूतहननो रसायनस्त्वग्दोषकुष्ठविसर्पहरः (ध. ३,११४)
-हन्- पक्षि० प्रतुदवर्गीयोऽयम् (चसू. २७.५१; असंसू. ७.७२-७५)

वटक-पु., वनस्पति० नदीवटः (रा.११.११६)
पिष्टकासमर्दककूष्माण्डकमूलकादिकृतः मुग्दादिकृतः वटकः (सुसू. ४६.२९५)
मान० कोलः स च निष्कद्वयमितः (असंक. ८; र. ११.४)
गुटिका, गुटी, मोदकः (र. ८.२)

वटभ-पु., कीट० सौम्यकीटः श्लेष्मप्रकोपणः (असंउ. ४३)

वट्टलोह-न., खनिज० वर्तलोहम् (ध. ६.३३)

वट्टलोहक-न., खनिज० वर्तलोहम् (रा. १३.३४)

वडवा–स्त्री., अश्वा (चइ.१२.७५)
–**मुख**–पु., वडवानलः (असंशा. ५.५६)
–**(मुखी)**–स्त्री., रेवतीग्रह० (काकरेवतीक. ५६)
योग० श्लेष्मजव्याधिनाशिनी सर्वरोगहरा च (र. १६.१३८)

वडवाग्नि–पु., पारदयोग० पारदादिभस्मयुतोऽयं स्थौल्यं तुन्दं च नाशयति (र. १८.१९३-९४)
वडवानलः, समुद्रोदरमधिष्ठितोऽग्निः (र. १६.१२५)
तीव्राग्निः (र. २७.७८)

वडवाग्निमल–पु., भैषज्य० अग्निजारः (रा. ६.१४)

वडवानल–पु., बिड० पारदयोग० पारदादिभस्मयुतोऽयं धनुर्वातदण्डवातशृङ्खलाकम्पवातानां नाशकः (र. २१.१४५-४८)

वडवानलगुटिका–स्त्री., योग० हरितालमाक्षिकस्वर्णादियुक्तोऽयं शूलकुम्यग्निवैषम्यग्रहणीशोथपाण्डुगुल्मार्शोवातकफरोगहरः श्वासकासज्वराणां नाशकः (र. १८.१६२-६५)

वत्सक–न., वनस्पति० कुटजः ' बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत् । श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तैस्तथाऽणुभिः (चक. ५.४; ध. २.१३)
वनस्पति० वत्सकबीजभूतः इन्द्रयवः (रा. ९.२१)
खनिज० पुष्पकासीसम् (ध. ३. १२५; अहसू. १०.२८)
–**कल्प**–पु., अध्यायसंज्ञा० (चक. ५.१)
–**फल**–न., वनस्पति० इन्द्रयवः कुष्ठे आलेपनार्थमुपयुक्तम् (चचि. ७.१३२; असंउ. ४०)
–**बीज**–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५)

वत्सकादिगण–पु., द्रव्यगण० वत्सकमूर्वाभार्ङ्गीकटुकामरिचं घुणप्रिया च गण्डीरम्। एला पाठाऽजाजीकट्वङ्गफलाजमोदसिद्धार्थवचाः इत्येष वत्सकादिगणो हि वातार्शःप्रभृतिगदान् निहन्ति (अहसू. १५.३३-३४)

वत्सनाभ–पु., विषविशेषः, तद्गुणाः–अतिमधुर ईषदुष्णः पित्तसंशोधनो, वातकफघ्नः, कण्ठरुजाकर्णरुजासंनिपातहरः (ध. ७.१२८) कन्दविषम्, स्निग्धघनगुरुकर्मण्यगुणम् (असंउ. ४८; सुक. २.५; र. १०.८५)
हिं.—बचनाग.
म.—बचनाग.
गु.—वछनाग.
बं.—अमृतविष.

वत्सर–पु., संवत्सरम् (अहसू. १९.१८)

वत्सादनी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, वृष्या, संतर्पणी, रुच्या, पित्तनुत्, दाहास्रदोषविषदोषविनाशिनी (रापरि. ३.३४; चसू. २७.१०६)
गुडूची (सुसू. ३९.७) गुणाः–उष्णा, तिक्ता, वातप्रशमनी (सुसू. ४६.२५४-५५; ध. १.१, र. १७.१३८-३९; असंसू. ७.१४९)

वददग्धक–न., वनस्पति० कत्तृणम् (रा. ८.१०६)

वदन–न., मुखम् (सुशा. ५.१०)
–**जिह्मत्व**–न., मुखवक्रता (चसि. ९.६)

वदनोपचय–पु., मुखपुष्टिः (चसू. ५.७८)

वदान्य–वि., उदारः, दानशीलः, (र. ७.३४)

वद्रपञ्चमूल–न., महत् पञ्चमूलम्, बृहत्पञ्चमूलम् (असंउ. ४)

वध–पु., अद्रव्यभेषजेष्वेकोपायः । वधोऽत्र न साक्षान्मृत्युरपितु वधस्याभिनयो वधभयं वा (चवि. ८.८७)
उन्मादोपक्रमविशेषः (चनि. ७.८; अहसू. ११.४५)

वधू–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का (ध. ३.६२)
सठी (ध. १.६१)
प्रियङ्गुः सारिवा वा (र. २१.१२९)

वध्र–न., अनुयन्त्र० (अहसू. २५.४०)

वन–न., भैषज्य० जलम् (रा. १४.३१७)
–**कदली**–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा.११.११०)
–**कन्द**–पु., वनस्पति० सितसूरणः (रापरि. ७.८)
धरणीकंदः (रापरि.७.४२)
–**कोद्रव**–पु., वनस्पति० कोद्रवः (ध. ६.८६)
–**खण्डा**–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४. १५७)
–**गोक्षीरज**–पु., निर्यास० वंशलोचनाभेदः, वनस्पति० पलाशगन्धा (रा. ६.८९)
–**चन्द्रिका**–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२५)
–**च्छाण**–न., वन्योपलम् (र. ४.२४.२५-२६)
–**ज**–पु., वनस्पति० नागचम्पकः (रा. १०.२४२)
तुम्बुरुः (ध. २.४२)
सितसूरणः (रा. ७. परि. ८)
वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)
(–**जा**)–स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (रा. ४.५)
मुद्गपर्णी (ध. १.१३८)
गन्धपलाशः (रा. ६.८९)
कासघ्नी (ध. १.९८)
अश्वगन्धा (रा. ४.४००)
अरण्यकार्पासी (रापरि. ४.४७)
शेफालिका (ध. ४.८३)

–जमूर्धजा–स्त्री., भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८६)
–तिक्तक–न., शाक० पथ्यसुन्दरम्; कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटुविपाकि च (चसू. २७.९५)
वनस्पति० वत्सकः (अहसू. ६.७७)
–दमन–पु., वनस्पति० दमः (रा. १०.१२२)
–दीप–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२४०)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.३)
–पुष्पोत्सव–पु., वनस्पति० आम्रः (ध. ५.२)
–पूरक–पु., वनस्पति० वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)
–प्रिय–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)
–बर्बर–पु., वनस्पति० शालुकः (रा. १०.८६-१४५)
–बर्बरिका–स्त्री.. वनस्पति० सुमुखः (रा. १०.८८-१४६)
–बीज–पु., वनस्पति० वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)
–बीजपूरक–पु., वनस्पति० मातुलुङ्ग० (रा. ११.३३)
–मल्लिका–स्त्री., वनस्पति० ग्रैष्मी (रा. १०.२३६)
–मालिका–स्त्री., वनस्पति० ग्रैष्मी (ध. ५.१४०)
–मालिनी–स्त्री., वनस्पति० वाराही (ध. ४.९२)
ग्रैष्मी (ध. ५.१४०)
–मुद्ग–पु., वनस्पति० मकुष्ठका (ध. ६.९२)
वैदलभेदः मुद्गिका (सुसू. ४६.२७)
–(मुद्गा)–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)
–मेथिका–स्त्री., वनस्पति० मेथिकाविशेषः (ध. ६.११३)
–मोचा–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा. ११.११०)
–रम्भा–स्त्री., वनस्पति० गिरिकदली (रा. ११.११२)
–लक्ष्मी–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०७)
–वल्लरी–स्त्री., वनस्पति० निश्रेणिका (रापरि. ८.५०)
–वासक–पु., वनस्पति० शाल्मलीकन्दः (रापरि. ७.४६)
–वासिन्–पु., वनस्पति० शाल्मलीकन्दः (रापरि. ७.४६)
शुभ्रालुः (रा परि. ७.३३)
–वासी–स्त्री., वनस्पति० ऋषभः [रा. ५.१५८)
वाराही (रा. ७.१३५)
मुष्ककः (रा. ११.२२१)
–विलासिनी–स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३)
–वृन्ताकी–स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२१)
–शालि–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६|९९)
–शृङ्गारक–पु., वनस्पति० क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.१३२)
–सूरिका–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०२)
–स्था–स्त्री., वनस्पति० अश्वत्थी (रा. ११.१२२)
अत्यम्लपर्णी (रा परि. ३.३९)
–हरिद्रा–स्त्री., वनस्पति० शोलरी (रा. ७.१७)
–हास–पु., वनस्पति० कुन्दः (रा. १०.२५६)
वनक–पु., धान्य० वनकोद्रवः (चसू. २६.८४)
वनस्पती–स्त्री., पुष्परहितो फलद्रुमः (चक्र. १.८)
वनस्पति० वटः (ध. ५.७६)
वटप्लक्षपिप्पलोदुम्बरादयो वनस्पतयस्तेषां कषायः पित्तजग्रन्थौ धावनार्थमुपयुज्यते (सुचि. १८.११; असंसू. ८.६८)
–कषाय–पु., न्यग्रोधादिकषायः (सुचि. १२.४)
–देवता–स्त्री., ये वनस्पतीन् हिंसन्ति परिगृहीतानपरिगृहीतान् वा, तेषां वनस्पतिदेवता अभिक्रुध्यन्ति अग्निर्वैश्वानरो नाम, सोमः पितृमन्नाम, स्वधितिः शिवो नाम, आपो वरुणो नाम, भूमिर्निऋतिर्नाम, गौर्वियन्नाम, गौः श्लोको नाम, देव पवमानो नाम, आदित्यः पूषा नाम, दिशः काष्ठा नाम, इन्द्रो वरुणो नाम, वायुः प्राणो नाम, ता वै द्वादश वनस्पनीनां देवताः। एता एव वनस्पतीन् घ्नन्तं कमपि घ्नन्ति। (काक रेवतीकल्प. ६९)
–प्रसव–पु., उदुम्बरादिक्षीरवृक्षादीनां नूतनपल्लवः। गुणाः– कषायः शीतः संग्राही रक्तपित्तातिसारिणां शस्तः (सुसू. ४६.२४९)
–सिद्धघृत–न., स्नेह० क्षीरिवृक्षसिद्धघृतम्, कफजतिमिरे तर्पणार्थमुपयुज्यते (सुउ. १७.४२)
वनान्तपवन–पु., आम्रादिवाटिकासमीपवातः अस्य सुखस्पर्शेन मद्यपानजदाहस्योपशमो भवति (सुउ. ४७.५७)
वनाम्र–पु., वनस्पति० क्षुद्राम्रः (रा. ११.६)
वनार्द्रका–स्त्री., वनस्पति० वनजार्द्रका. (रा परि. ७.२१)
वनितास्तन्य–न., स्त्रीदुग्धम् मानुषदुग्धमामं सद् हितम् (असंसू. ६.६२)

वनेज्य–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.११; पृ. १७०)
वनोद्भव–पु., वनस्पति० तिलाः (ध. ६.१२२)
(वनोद्भवा)–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)
अरण्यकार्पासी (रापरि. ४.४७)
वनबीजपूरकः (रा. ११.३३)
वनौकस्–पु., मर्कटः (ध. परि. ८)
वन्दका–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (ध. ४.९७)
वन्दनीय–पु., वनस्पति० पीतो भृङ्गराजः (रा. ४.२१)
(वन्दनीया)–स्त्री., भैषज्य० गोरोचना (ध. ३.२०)
वन्दाक–पु.. वनस्पति० वृक्षादनी
(इंदुः, असंउ. रा. ६.१४१)
वन्ध्य–वि., अनपत्यकः (पुमान्) (र. २२.३)
(वन्ध्या)–स्त्री., निरपत्या स्त्री (सुक. ६.११) आदिवन्ध्या रक्तवन्ध्या वातवन्ध्या पित्तवन्ध्या श्लेष्मवन्ध्या संनिपातवन्ध्या भूतवन्ध्या देववन्ध्याऽभिचारवन्ध्या चेति नव वन्ध्याः (र. २२.३)
वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३, र. २०.५४-५५)
–कर्कोटकी–स्त्री., लता० तिक्ता, कट्वी कफापहोष्णा, स्थावरादिविषनाशिनी रसायनी चेति (र.१७.१६)
त्रपुविशेषः (ध. १.१८५)
–कर्कोटी–स्त्री., वनस्पति० कर्कोटकी (रा. ७.२७६)
वन्ध्यात्व–न., स्त्री., रोग० अशीतिवातरोगेष्वेकः अनपत्यता (कासू. २७.१९-२९)
वन्य–पु., वनस्पति० सितसूरणः (रा. ७; परि. ८)
महानलः (ध. ४.१४२)
त्वक् (रा. ६.७६)
परिपेल्लम् (ध. ३.५५)
गृष्टिः (रा. ७.१३५)
कैवर्तमुस्तकम् (चक्र. चसू. ३.८)
वनाकम् (चचि. ३.२५८; अहसू. १५.६)
(वन्या)–स्त्री., वनस्पति० राजखर्जूरी (रा. ११.६८)
मुस्ता (रा. ६.५९)
मिश्रेया (रा. ४.६)
गन्धपलाश (रा. ६.८९)
चूडामणिः (रा. ३.४७)
मुद्गपर्णी (रा. ३.१७५)
कुरण्टः (रा. १०.४१९)
गोपालकर्कटी (रा. ३.२६४)
–कुक्कुट–पु., ताम्रचूडः वनजातः कुक्कुटः, गुणाः– स्निग्धः उष्णो वृष्यः स्वेदस्वरबलवहो बृंहणो गुरुर्मयूरतुल्यगुणश्च (सुसू. ४६.६५-६६)
–कुलत्थ–पु., धान्य० गुणाः–आनाहमेदो–गुदकील–हिक्काश्वासापहः शोणितपित्तकृच्च, कफस्य हन्ता, नयनामयघ्नश्च (सुसू. ४६.३८)
–जीर–पु., वनस्पति० बृहत्पाली (ध. २.७२)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.८०)
वन्यादिपिप्पली–स्त्री., वनस्पति० चविका (रा. ६.१२२)
गुणाः–उष्णा, तीक्ष्णा, रुच्या, दीपनी
(रा. ६.१२२)
वन्यारिष्टा–स्त्री.; वनस्पति० शोली (रापरि. ७.१७)
वपाटिका–स्त्री., रोग० क्षुद्ररोग० अवपाटिका
(सुचि. २०.४२)
वपावहन–न., मेदःस्थानम् (चशा. ७.१०)
वपोदरस्था स्निग्धवर्तिका, यां जनास्तैलवर्तिकेत्याहुः
(चवि. ५.८)
वपुस्–न., शरीरम् (सुचि. २४.५३)
वमथु–पु., लक्षण० छर्दिः (सुउ. ५१.८; सुसू. ४६.५०४; अहसू. २.४)
वमन–न., उपक्रम० यदूर्ध्वभागेन मुखेन दोषहरणं करोति (चक. १.४) वमनं श्लेष्महराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) प्रशस्तिः–श्लेष्मणि वमनं कुर्यात् संयोगे च कफाधिके । आमाशयगताऽन्नशल्यनिर्हरणार्थमुपयुज्यमाना चिकित्सा (सुसू. २७.४) वमनार्हाः–" नवज्वरातिसाराधःपित्तासृग्राजयक्ष्मिणः । कुष्ठमेहापचीग्रन्थिश्लीपदोन्मादकासिनः । श्वासहल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः । अवाम्यागर्भिणी, रूक्षः क्षुधितो नित्यदुःखितः । बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्षतदुर्बलाः । प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरक्रिमिकोष्ठिनः । ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्रदत्तबस्तिहतस्वराः । मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शसः ॥ उदावर्तश्रमाष्ठीलापार्श्वरुग्वातरोगिणः । ऋते विषगराजीर्णविरुद्धाभ्यवहारतः । प्रसक्तवमथोः पूर्वे प्रायेणामज्वरोऽपि च । धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः सर्वैरेव त्वजीर्णिनः (अहसू. १८.१-७) विधिः–अथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यन्दिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्निं बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च । अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य, असात्म्यबीभत्सदुर्गन्धिदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि, तत्र

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत, तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेन शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात्, ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमासैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्तं वामयेत्तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति। क्षीरादयो वमनद्रव्यसंस्कृता ज्ञेया अथवा क्षीरादीन् पूर्वं पाययेत्, अनन्तरं मात्रयावमनद्रव्यमिति (सुचि. ३३.५-७) कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैर्द्रव्यैर्वमेत्। पित्ते स्वादुशीतैर्द्रव्यैर्वमेत् स्निग्धाम्ललवणैर्वायुना युक्ते कफे वमेत् (अहसू. १८.२१) मर्यादा–यावत् पित्तस्य दर्शनं स्यात्, कफस्य वा छेदोऽन्तः स्यात् तावद्वमेत्। हीनयोगे–नरः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैरसकृद्वमेत्। सम्यग्योगे कफपित्तानिलाः क्रमेण निर्विबन्धं निःसङ्गं प्रवर्तन्ते। अतियोगे–पुनः फेनचन्द्रकरक्तवद्वमितं भवति। सम्यग्योगेन वमिते सति मुहूर्तमाश्वास्य धूमत्रयात् अन्यतममेकं पाययेद्वैद्यः, अनन्तरं स्नेहाचारमादिशेत्। ततः सायं प्रभाते बुभुक्षित उष्णोदकेन स्नातो रक्तशाल्यन्नं भुञ्जानः पेयादिकं क्रमं भजेत्, यथा प्रधानशुध्या शुद्धो नरो द्वावन्नकालावेकस्मिन् दिने पेयां भजेत्। द्वितीयेऽहन्येकमन्नकालं विलेपीम् आद्रियेत। तृतीये वासरे द्वावन्नकालौ विलेपीमेव। चतुर्थे दिवसे अकृतं शुण्ठीलवणाद्यसंस्कृतं यूषं, कृतं शुण्ठीलवणादिसंस्कृतं यूषं च द्वावन्नकालौ भजेत्, पञ्चमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले च अमुमेव सेवेत। त्रिष्वपि कालेष्वकृतं कृतं च यूषं भजेत् विभज्य तावद् गम्यते। एवं कालत्रयं कृताकृतं रसं विभज्य भोजयेत्। सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनं क्रमेण सेवेत। तथैव मध्यशुद्धिशुद्धस्यावरशुद्धिशुद्धस्य च यथास्वं योजना कार्या (अहसू. १८.२९) वमने आन्तिकी वैगिकी मानिकी लैङ्गिकी चेति चतुर्विधा शुद्धिरुच्यते। आन्तिकी शुद्धिः पित्तान्तत्वं वमनमिति मर्यादा। वैगिकी शुद्धिश्चतुर्भिर्वेगैर्जघन्यं वमनम्। यत्तु षड्भिस्तन्मध्यमम् यत्त्वष्टाभिस्तत् प्रवरम्। (चसि. १.१३-१४) मानिकी शुद्धिः विरेकादनन्तरं वमितदोषस्य प्रस्थमानमुक्तम्। लैङ्गिकी शुद्धिः सम्यग्वमनलक्षणं पित्तान्तत्वाद् बोध्यम् (चसि.१.१३) वमने मदनफलं श्रेष्ठम्, वमनावसरे तत्कषायं मृदितगालितं सूत्रोदितेन विधिना पिबेत्। तेन साधु वमेत् (अहक. १.१-८) 'मदनमधुकलम्बानिम्बबिबिशालात्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकृमिघ्नम्। विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि।' इति मदनादिगणः प्रयुज्यते (अहसू. १५.१) मृदुकोष्ठेन क्षुद्वताऽल्पकफेन वा पीतमतितीक्ष्णं हिमं स्तोकं तथाऽजीर्णे दुर्बलेन वा पीतं वमनमधः प्रयाति। तेन इष्टहानिर्दोषप्रकोपाश्च भवन्ति। अस्यां व्यापादितं नरं स्निग्धं कृत्वा पूर्वमतिक्रमं स्मरन् वामयेत् (अहक. ३.१-२) अतिवमतो वायुना यस्य हृदयं पीड्यते तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात्। पित्ताधिक्ये मधुरशीतादिकं कफाधिक्ये रूक्षकटुतिक्तादिकं दद्यात्। तथाऽतिवमने रेचनं दद्यात्, शीताम्बुपरिषेचनं च कुर्यात्। फलरसैः सघृतक्षौद्रशर्करं मन्थं पिबेत् (अहक. ३.१-३०) वमनप्रक्रिया वमतोऽन्तःप्रविष्टजिह्वायां हृद्या यूषमांसरसाः स्निग्धाम्ललवणाः कवलग्रहा हिताः, किंच तस्य पुरतः अन्ये नरा अम्लानि फलानि भक्षयेयुः उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसङ्घातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधमूर्ध्वमुत्क्षिप्यते (चक. १.५) वमनप्रशस्तिः सम्यग्वमनेन के दोषाः न प्रादुर्भवन्ति ते यथा कास उपलेपःस्रोतःसु मलवृद्धिः स्वरभेदो निद्रा तन्द्राऽऽलस्यदौर्गन्ध्यं विषोपसर्गाः शीतलिकादयः कफप्रसेकः ग्रहणीरोगश्च न भवन्ति (सुचि. ३३.१२)

वनस्पति० शणः (रापरि. ४.१०)

(वमनी)–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (ध. १.२००; असं. रक्तपित्त चि. ३)

–द्रव्य–न., वामकं द्रव्यम् फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनफलानि। फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवपत्रपुष्पाणि (चवि. ८.१३५) गुणाः–वमनद्रव्यं सरं सूक्ष्मं तीक्ष्णमुष्णं विकाशि च भवति। वमनद्रव्यं विरेचनगुणैः समं वर्तते। परं

प्रभावात् वमनद्रव्यस्योर्ध्वगामित्वं वर्तते
(सुचि. ३३.३३)

-द्रव्यविकल्पविज्ञानीय-वि., अध्यायसंज्ञा० वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानमधिकृत्य कृतोऽध्यायः
(सुसू. ४३.१)

-मात्रा-स्त्री., वमनद्रव्यकषायमात्राः- प्रधानमध्यमाऽधमभेदात्तन्त्रान्तरोक्ताः कथ्यन्ते। यदाह चक्षुष्यः- क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता । मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी
(सुचि. ३३.७)

-विरेचनव्यापत्सिद्धि-स्त्री., अध्यायसंज्ञा०
(चसि. ६.१)

वमनीपुष्प-न., वनस्पति० शणपुष्पी (असंचि. ३)

वमनीयधूम-पु., स्नायुचर्मखुरप्रभृतिभिः कृतो धूमः
(ड. सुउ. ६४.८२)

वमनोपग-वि., वमनोपयोगि (चसू. ४.८)

वमनोपगगण-पु., द्रव्यगण० मधुमधुककोविदारकबृंदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पाप्रत्यक्पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति (चसू.४.४-१३) महाकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.४-१३)

वमायिनी-स्त्री., वनस्पति० अङ्गारवल्ली (रा. ९.१८२)

वमि-स्त्री., वमनम् (र. १२.१०)

-निग्रहणवर्ग-पु., द्रव्यगण० लाजाम्रबदरदाडिमयवषष्टिकमातुलुङ्गसेव्यानि जाम्बवाम्रपल्लवानि वमिनिग्रहणानि मृत्स्ना च (असंसू. १५.२८)

वयस्-न., शरीरावस्थाविशेषः, तारुण्यम्,वयस्तश्चेति कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविधम्-बालंमध्यं, जीर्णमिति । तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमाविंशद्वर्षमुपदिष्टम् मध्यंपुनःसमत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्, अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्। वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः, तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्
(चवि. ८.१२२)

तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः। ते त्रिविधाः- क्षीरपाः क्षीरान्नादा अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति । षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो-वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता परिहाणिरिति । तत्र आविंशतेर्वृद्धिः आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति । सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते (सुसू. ३५.२९)
पक्षी (असंसू.८.२३)

(वयः)-परिणाम-पु., वयसः परिणतिः पक्वता वा
(सुसू. १४.१८)

-परीक्षा-स्त्री., वयः कालेन कालविशेषेण परीक्षेत
(चवि. ४.८)

-सात्म्य-न., वयसः सात्म्यम् (चवि. १.२८)

-स्तम्भन-वि., अवस्थाविशेषस्थापकम् (र. ५.१४५)

-स्थ-वि., तरुणः (ड., सुउ. २४.२४; अहसू. ६.६८)

(-स्था)-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (सुउ.३६.६)
ब्राह्मी (चवि. ८.१५१; असंसू. १५.४७ रा परि. ५.४१)
काकोली (ध. १.१३२)
क्षीरकाकोली (ध. १.१३४)
आमलकम् (ध. १.२१५)
हरीतकी (ध. १.२०५; र. २२.९६; सुउ. ३२.४)

-स्थापन-वि., वयः तारुण्यं स्थापयति इति यौवनकरम् (चसू. ४.८) (सु. सू. १. (७)८)

-स्थापनगण-वि., द्रव्यगण० पञ्चके महाकषायवर्गे एको गणः, वयस्तरुणं स्थापयतीति (चसू. ४.८)
अमृताऽभया धात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति (चसू. ४.१८)
वर्षशतमायुःस्थापनम् (सुसू. १.८(७))
घृतगुणेष्वेकः, यावदेवायुः प्रमितं तावदेवायुः स्थापयत्यनाबाधम् (सुसू. ४५.९६)
कुङ्कुमम् (ध. ३.१२)

वर–न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७७)
खनिज० सैन्धवम् (अहसू. १०.२७)
आर्द्रकम् (ध. २.८४)
(वरा)–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.३६)
त्रिफला (र.१२.५१-५२;र.२.८६ अहसू.१५.३२)
गुडूची (रा. ३.१)
मेदा (रा. ५.१६१)
ब्राह्मी (रा. ५.१४९)
पाठा (ध. १.७०)
हरिद्रा (रा. ६.७९)
विडङ्गम् (रा. ६.१६)
वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७४)
शतावरी (चचि. १९.६२)
आसुत० सुरा (ध. ६.२५५)
(वरी)–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (सुउ.१७.३४; अहसू. २०.३७; र. २०.७१)
–करण्डक–पु., करण्डकः (र. १७.८१)
–तरु–पु., वनस्पति० भल्लातकः (रा. ११.२०२)
–तिक्त–पु., वनस्पति० कुटजः (रा. ९.१९)
निम्बः (रा. ९.४४)
पर्पटः (ध. १.४५)
–(तिक्ता)–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०)
–तिल–पु., तिलभेदः, कृष्णतिलः (र. ३०.४८-४९) द्र० 'तिल'
–त्वच–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३४)
–दा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला (ध. ४.९८)
–दारु–स्त्री., न., स्थावरविष०पत्रविषम् (असंउ. ४०; सुक. २.५)
–नाग–न., अग्नौ ध्मानेन बहुशो दृढं मृदु कृष्णं द्रुतद्रावं च जातं नीलाञ्जनोपेतं तीक्ष्णलोहम् (र. ८.३९)
–पोत–पु., पशु० जाङ्गलमृगः (चसू. २७.४६)
–मूषा–स्त्री., मूषा० इयं प्रहरावधिमग्निं सहते (र. १०.१६)
–लोहक–न., सगन्धलकुचद्रवे बहुवारं निक्षिप्य पुनः पुनर्निष्कासितं तीक्ष्णलोहयुक्तं द्रुतं ताम्रम् (र. ८.१२)
–वर्णिनी–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५४)
–वर्णी–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (र. ११.१०४)
–वार्तिक–पु., रसशास्त्रतत्त्वज्ञः, वृत्तिष्टीका, तां जानाति इति वार्तिकः, वरः श्रेष्ठश्चासौ वार्तिकः, वरवार्तिकः (र. ८.७२)

वरक–पु., धान्य० षष्टिकभेदः, ततोऽल्पान्तरगुणो वा (चसू. २७.१४)
वनस्पति० कृष्णमुद्गः (ध. ६.८३)
प्रियङ्गुः (रा. १६.१४४)
विष्किरपक्षिविशेषः (असंसू. ७.७१)
श्यामबीजम् (चसू. २७.१८; सुसू. ४६.२१)
वरट–पु.; पक्षि० हंससदृशः (अहसू. ६.४६)
(वरटी)–स्त्री., कीट० शूकतुण्डविषः अग्निप्रकृतिकः पित्तरोगकृच्च (सुक. ३.५; सुक. ८.८-१२)
वरटी–स्त्री., (सुक. ३.५)
–पत्र–पु., कीट० आग्नेयः (असंउ. ४३)
–मत्स्य–पु., मत्स्यः अयमस्थिविषः (सुक. ३.५)
वरण–न., आवरणम् (चचि. २३. ४७; असंसू. २६.६)
वरुणवृक्षः (असं. राजयक्ष्मचि. ७; र. २९.१२३)
–बन्ध–पु., प्रजारक्षणबन्धः (कारेवती क. ८०)
वरणादिगण–पु., द्रव्यगण० ' वरणसैर्यकयुग्मशतावरी–दहनमोरटबिल्वविषाणिकाः । ' द्विबृहतीद्विकरञ्जयाद्वयं बहलपल्लवदर्भरुजाकराः (असंसू. १६.१५-१६)
वराङ्ग–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (का सिद्धि ४)
न., वनस्पति० गुडत्वक्
(चक्र. चचि. १२.१९ (३)
त्वक् (ध. २.५०; अहसू. २१.१४)
वनवासिका त्वक् (ड. सुक.६.३)
(वराङ्गी)–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९)
दन्तीभेदः, अरणी (ध. १.२२५) द्र० ' दन्ती '
वराङ्घ्रि–स्त्री., त्रिकालमूलम् (र. ३०.६९)
वराट–पु., भैषज्य० कपर्दिका (ध. ३ परि. २४)
वराटिका–स्त्री., भैषज्य० कपर्दिका (ध. ३ परि. २४)
कपर्दी (र. ३.१४५-४६)
वराम्ल–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः (ध. ५.२३)
वरारुह–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०७)
वरासव–पु., आसुत० त्रिवृत् तिल्वको हरीतकी एरण्डः कारवेल्लिका, सुधापयः इत्येवमादिप्रधानविरेचनद्रव्यकृतोऽयम् आसवो वरासवः सेहुण्डवर्जितः (सुसू. ४४.३०)
वराह–पु., पशु० सूकरः, तन्मांसं स्नेहनं बृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलनाशनं बल्यं रोचनं गुरु स्वेदनं च (चसू. २७.७८-७९; अहसू. १४.३४)
कुरुक्षेत्राद् दक्षिणदिग्वर्ती देशविशेषः (कासंखिल. २५.१४)

न., खनिज० हीरकम् (ध. ६.५५)

(वराह)-स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (ध. १.४०)

(वाराही)-स्त्री., (रा. ७.१३४)

-कन्द-पु., कन्दशाकविशेषः, बकालुकः, गुणाः-श्लेष्मघ्नो रसपाकतः कटुको मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनश्च (सुसू. ४६.३०९)
वनस्पति० गृष्टिः (रा. ७.१३६)

-कर्णी-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४००)

-दन्त-पु., वराहस्य दन्तः (चचि. ७.१६०)

-दशन-पु., सूकरदन्तः, क्षतशुक्रकाख्यनेत्ररोगहरवर्त्युपयोगिद्रव्यम् (असंउ. १४)

-पत्री-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०२)

-मांसप्राया-वि., वराहमांसस्य नित्यसेवनं कुर्वाणा (गर्भिणी) (चशा. ८.२१)

-मेदस्-न., शूकरमेदः इदं नेत्ररोगेषु नस्य-शिरोबस्त्यादिभेषजेषूपयुज्यते (असंउ.१९;सुचि.२६.१७)

-वसा-स्त्री., इयं आनूपमृगवसानां श्रेष्ठतमा (चसू. २५.३८; अहसू. ७४२.)

-विष्ठा-स्त्री., सूकरशकृत् सुदग्धा च मषीरूपा सर्वनाडीविनाशिनी (असंउ. ३५)

वराहिका-स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०२)
अश्वगन्धा (रा. ४.४००)

वरी-स्त्री., (ध. १.२९१)

-मूल-न., शतावरीमूलम् (सुचि. १५.४५)

वरीयसी-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४४०)

वरु-स्त्री., धान्य० (असंसू. ६०.१५)

वरुक-पु., वनस्पति० शणबीजम् श्यामाकदृशः कषायमधुरलघुवातलशोषणादिगुणः (चसू. २७.१८)

वरुण-पु., वनस्पति० गुणाः-तिक्तः कटुः शीतः स्निग्धो वातघ्नो विद्रधिजन्तुरक्तदोषशीतवातहरश्च (ध. ५.११९)

हिं.—वरना.

म.—वायवरणा.

गु.—बायवरणो.

बं.—वरुणगाछ.

वनस्पति० तमालः (अरु. अहसू. १५.२१; र. १६.१०५)

न., वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६)

देवता० (सुसू. ५.२६-२७)

तिक्तशाकद्रुमः (सुशा. ३९.७)

(वरुणा)-स्त्री., वनस्पति० वरुणः (र. १८.२)

-शाक-न., शाक० वरुणपत्राणां शाकत्वेनोपयोगः (सुसू. ४६.२७१)
वनस्पति० वरुणः, तस्य पत्राणि शाकत्वेनोपयुज्यन्ते (सुसू. ४६.२७१)

वरुणात्मजा-स्त्री., आसुत० सुरा (ध. ६.२५५)

वरुणादिगण-पु., द्रव्यगण० वरुणादिभेषजद्रव्यसमूहः, वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहती चेति (सुसू. ३८.१०-११)

वरुणाम्ल-न., वनस्पति० वरुणः (र. २०.१६७)

वरुणालय-वि., सामुद्रम् (जलम्) समुद्रो वरुणालयः, वरुणालयोद्भवमेव वरुणालयम् (चसू. २७.२१६)

वरेण्य-न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा.१२.२१)

वरोहशाखिन्-पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२४)

वर्चस्-न., पुरीषम् (चशा. ७.१६; सुशा. ६.२५; अहसू. ६.४; र. ३.१२४)

(वर्चः)-कीट-पु., सविषकीटः अयमग्निप्रकृतिकः पित्तजरोगकृच्च (सुक. ८.८-१२)

-क्षय-पु., वर्चसः पुरीषस्य क्षयः (चचि. १९.४१)

-संग-पु., वर्चसो ग्रहः (चचि. १३.४१)

-सांग्राहिक-वि., वर्चसः संग्रहकारकः (चसि. ६.५०)

-स्थान-न., पुरीषोत्सर्नार्थं कृतः स्थानविशेषः (चसू. १५.६)

(वर्चो)-ग्रह-पु., शकृद्विबन्धः (चचि. १३.३८)

-ग्राहिन्-वि., मलग्राही (सुचि, ३४.१२)

-निरसनी-स्त्री., धमनीभेदः (असंशा. ६.३२)

-निरोध-पु., लक्षण० पुरीषस्याप्रवर्तनम् (सुउ. ५६.८)

-भेद-पु., द्रवमलत्वम् (असंनि. १३.१३)

-वाहिस्रोतस्-न., स्रोतोभेदः (चवि. ५.२१) द्र० ' स्रोतस् '

वर्चीवा-स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः (कासं खिल. १४) द्र० ' पुनर्नवा '

वर्चोऽप्रवर्तन-न., लक्षण० पुरीषवेगधारणहेतुकरपुरीषाप्रवृत्तिः (चसू. ७.८)

वर्ज्य-वि., अनुपक्रम्यः अचिकित्सनीयः (सुचि. ८.३३)

वर्ण-पु., अक्षरम् (चवि.८.३८)
शरीरकान्तिः (सुशा. ४.४)
जातिः ब्राह्मणक्षत्रियादिः (सुसू. २९.५)
कला (र. ५.९)

-दात्री-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९)
-नाश-पु., लक्षण० वर्णहानिः (चचि. ४.२७)
-पञ्चक-न., शुक्लादि पञ्चवर्णाः-शुक्ल-हरित-कृष्ण-पीत-रक्ताः पञ्च (सुनि. ६.२६)
-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० उष्ट्रकाण्डी (रा परि. १०.४३)
-पूरक-पु., वनस्पति०शालि (ध.६.७१)
-प्रणाश-पु., वर्णनाशः (चसू. १६.१५)
-प्रसाद-पु., शरीरकान्तिः (सुसू. १५.५)
-प्रसादन-न., वनस्पति० काष्ठागरु (रा. १२.४२)
वि., वर्णवैशद्यकरः (सुसू. ३८.२५; अहसू. १५.४४)
-भेद-पु., गौरादिवर्णान्यत्वम् (सुसू. १५.२६)
-भेदिनी-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (ध. ३.१६)
-मूषा-स्त्री., मूषा० एषा वर्णोत्कर्षकरी (र. १०.१७)
-वती-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५४)
-विलासिनी-स्त्री., वनस्पति० (हरिद्रा ध. १.५५)
-वृद्धा-स्त्री., वर्णश्रेष्ठा, यथा शूद्रो न वैश्यम् परिणयेत उपेयाद्वा वैश्यो न क्षत्रियां, क्षत्रियो न ब्राह्मणीमिति (ड. सुचि. २४.११५)
-शुद्धि-स्त्री., लक्षण० सम्यक् विरिक्तस्यैकं लक्षणम् (चसू. १६.५)
-स्वरीय-वि., अध्यायसंज्ञा० वर्णस्वरावधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चइ. १.१)
वर्णक-पु., वर्णकरं द्रव्यम् (चचि. ७.९२)
त्वचो वर्णकरं चूर्णम्, दुष्टवर्णकेन त्वग् दूष्यते, (चचि. २३.११८)
वनस्पति० कम्पिल्लकः (सुचि. २५.३९)
वनस्पति० चन्दनम् (सुचि. २५.३८)
रोचनिका, अस्यास्त्वक् नारीक्षीरेण पिष्ट्वा पित्ताभिष्यन्देऽञ्जनम् (सुउ. १०.१०)
(वर्णिका)-स्त्री., धातुवादोद्दिष्टो विशिष्टो वर्णः (र. ८.४९-५०)
वर्णाधिकार-पु., वर्णानधिकृत्य यदुच्यते तत्प्रकरणम् (चइ. १.८)
वर्णिनी-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८०)
ब्रह्मचारिणी (अहसू. ७.७)
वर्ण्य-वि., वर्णकरम्, वर्णाय हितम् इति वर्ण्यम् (चसू. १.८७)
साध्यम् (चवि. ८.३४)
साध्यधर्मो यत्र वर्ण्यते स; पक्षः दृष्टान्तश्च वर्ण्य. इति (चवि. ८,५७; अहसू. १५.२७; र. ३.११०)
-पुष्पक-पु., वनस्पति० राजतरणी (रा. १०.२४६)
-वर्ग-पु., द्रव्यगण० चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमंजिष्ठासारिवापयस्यासितालता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति (चसू. ४.१०)
-सम-पु., तन्त्रयुक्ति० हेत्वाभासभेदः वर्ण्येन साध्येन दृष्टान्तोऽसिद्धत्वेन सम इति वर्ण्यसमः (चवि. ८.५७)
वर्त-न., वर्तुलीकरणम्, वायोरेकं कर्म (चसू. २०.१२)
वर्तलोहम् (र. ५.३-४)
-तीक्ष्ण-न., खनिज० वर्तलोहम् (रा. १३.३४; र. ५.२२३)
-मान-वि., क्रियाविशेषवान् (सुसू. २.६)
वि., प्रवर्तमानम् (सुशा. ३.११)
-लोह-न., खनिज० वर्तलौहम् (ध. ६.३३)
-लौह-न., खनिज० वर्तलोहम्, गुणाः-अम्लकटुकं शीतं रूक्षं कफपित्तकृमिघ्नं रुच्यं त्वच्यं मलशुद्धिकरं च (र. ५.२२१) तस्य निर्माणविधिः-वर्तलौहं 'भर्त' इति ख्यातं वर्तते । कांस्यार्करीतिलोहादिजातं वर्तलोहं वर्तते। वर्तलोहं पञ्चलोहाख्यं पञ्चलोहपर्यायं भवति। (र. ५.२२०) तस्य शोधनम्-भर्ताख्यो धातुरग्निना द्रावितः सन् अश्वमूत्रे प्रक्षिप्तश्च विशुध्यति। सप्तधेति संप्रदायः (र. ५.२२३) तस्य मारणम्-गन्धकहरितालाभ्यां पुटितं वर्तलौहकं म्रियते (र. ५.२२४)
वर्तक-पु., विष्किरपक्षी० गुणाः-कषायः कटुर्लघुः मेध्याग्निवर्धनवृष्यग्राह्यवर्णप्रसादकरो वातघ्नश्च (ध. ६.७५; असंसू. ७.७०)
हिं.—बटेर.
म.—गांजीणपक्षी.
बं.—बाटेर.
वर्तीरभेदः (ड. सुसू. ४६. ५९; अहसू. ६. ५०; ध. वर्गेतराणि. १०)
खनिज० वर्तलौहम् (ध. ६.३३)
(वर्तिका)-स्त्री., पक्षि० वर्तकसदृशः कश्चित्पक्षी (चसू. २७.४८)
वर्तीरभेदः (ड. सुसू. ४६.५९; अहसू. ६.४५)
भैषज्य० अजशृङ्गी (ध. १.८७)
वर्तन(परिव०)-न., यापनम्, रक्षणम् (अहसू. १.७)
वर्तुलीकरणम् (सुसू. १.१७; असंसू. २०.२०)
-स्तम्भिता-वि., वर्तनेन कठिनीकृता (गुलिका) (चचि. २(४)-१२)

वर्तमान–वि., अङ्गुलिपीडनात् वर्तिताम् आपद्यमानः (चक्र. चक. १२.१०३)

वर्ति–स्त्री., फलवर्तिः पुरीषनिस्सरणार्था (चवि. २.१३)
यष्टिः (चसू. ५.२३)
वातनिग्रहजे विकारे उपयुज्यते (चसू. ७.१३)
नेत्ररोगशमनार्थं कृतौषधिद्रव्याणां गुटिका (सुउ. ११.१०)
विकेशिका (सुसू. ५.१७; र. २४.९९; अहसू. १९.१५)
कफवर्तिः लालारूपकफवर्तिः (ड. सुक. ३.४२-४३)
–क्रिया–स्त्री., चतुर्गुणेन क्वाथेन पाकाद्वर्त्याकारता कर्तव्या (चक. १.२१)
–प्रयोग–पु., उपक्रम० धूमवर्तिप्रयोगः (सुउ. ५५.२९)

वर्तित–वि., वर्तीकृतम् (चचि. १८.१४५)

वर्ती–स्त्री., वर्तिः (सुउ. ११.१०)

वर्तीर–पु., विष्किरपक्षिविशेषः (ध. परि. १०)
कपिञ्जलानूकः नाम कपिञ्जलसदृशः पक्षी (सुसू. ४६.५९; अहसू. ६.४४)

वर्तीरक–पु., पक्षि० (चसू. २७.४७)

वर्तुल–वि., वृत्तः (र. १८.२६)
पु. वनस्पति० गुण्ठः (ध. १.८३)
कलायः (ध. ६.१०३)
न., गृञ्जनम् (रा. ७.५५)
खनिज० टङ्कणः (रा. ६.२९)

(वर्तुली)–स्त्री., वनस्पति० श्रेयसी, पिप्पलीभेदः (रा. ६.११८) द्र० 'पिप्पली'
–खल्व–पु., यन्त्र० मर्दनेऽतिसुखप्रदोऽयम् (र. ९.८६)

वर्तुलोह–न., खनिज० वर्तलोहम् (ध. ६.३३)

वर्त्मन्–न., नेत्रपुटम् (र. २३.३१)
मार्गः (असंसू. ३.५०)
नेत्राच्छादनम् (सुसू. १२.९; सुउ. १.२२)

(वर्त्म)–कर्दम–पु., रोग० नेत्ररोगविशेषः (सुउ. ३.१९)
–कोष–पु., नेत्रपुटकोषः (सुउ. १.२२)
–गतरोगविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० वर्त्मगतरोग-विज्ञानमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (सुउ. ३.१)
–पटल–न., नेत्ररोग० नेत्रे वर्त्माख्यस्य विभागस्य त्वक्सदृशो भागः (सुउ. १.१७)
–मण्डल–न., नेत्ररोग० पक्ष्मणोऽन्तर्भागः (सुउ. १.१५; असंशा. ५.५२)
–रोग–पु., रोग० नेत्रावरणान्तर्भागीयो रक्तवर्णो व्याधिः (सुउ. ३.८) वर्त्मसंश्रया एकविंशति-विकाराः– उत्सङ्गिनी कुम्भीका पोथकी वर्त्म-शर्कराऽर्शोवर्त्म शुष्काशोंऽञ्जननामिका बहलवर्त्म वर्त्मावबन्धकः क्लिष्टवर्त्म कर्दमवर्त्म श्यायवर्त्म प्रक्लिन्नवर्त्मापरिक्लिन्नवर्त्म वातहतवर्त्म अर्बुदं निमिषं शोणिताशों लगणो बिशं पक्ष्मकोपः (सुउ. ३.८)
–वातहत–न., नेत्ररोग० असाध्यो वातजो नेत्ररोग० (सुउ. १.२९-३०)
–शर्करा–स्त्री., नेत्ररोग० नेत्रवर्त्मनि सूक्ष्मपिडकावृता स्थूला पिडका (सुउ. ३.१२)
–संकोच–पु., नेत्ररोग० वर्त्मनः संकोचः, उभय-निमेषयोः संकुचितत्वम् अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)
–स्तम्भ–पु., नेत्ररोग० वर्त्मनः स्तम्भः अशीतिवात-विकाराणामेकतमः उभयोर्निमेषयोर्मध्ये विद्यमानो जलादेर्बहिर्निर्गमनमार्गस्यावरोधः (चसू. २०.११)

वर्त्मावबन्ध–पु., नेत्ररोग० अयं साध्यो नेत्ररोगः (सुउ. १.४०)
लेख्यवर्त्मरोगः (सुउ. १३.१४-१५)

वर्त्मोपलेपिन्–वि., वर्त्मोपलेपनयोग्यम् (अञ्जनम्) तच्च अङ्गुल्यैव प्रयोज्यम् (सुउ. १८.६५)

वर्धन–पु., दन्तरोग० (सुनि. १६.२४-२५)
न., छेदनम् (इन्दु. असंउ. १)
वृद्धिकरणम् (सुसू. १४.३)

वर्धमान–पु., वनस्पति० एरण्डः (चचि. १७.८०; सुक. ६.३)
शरावः (चइ. १२.७३; सुसू. २९.२८-३१)
अलङ्कारः (इन्दु. असंशा. १२.८)
भैषज्य० अयं पारदादिभस्मयुतः सूतिकारोग-नाशनः (र. २२.४०)

(वर्धमाना)–स्त्री., वनस्पति० मधुकर्कटी (ध. ५.३१)

वर्धमानक–पु., वनस्पति० एरण्डः (चसि. १०.१९; असंशा. ३.१४)

वर्धिका–स्त्री., रेवतीग्रह० सा द्वादशे दिवसेऽपत्यं विनाशयति (कारेवतीक ४६)

वर्ध्म–न., रोग० वृद्धिः (अहसू. १९.३;) (र. १८.११-१३)

वर्मन्–न., लोहादिकृतं शरीररक्षकमाच्छादनम् (चचि. २३.११९)

(**वर्म**)–**कण्टक**–पु., वनस्पति० पर्पटः (ध. १.४५)
वर्मिन्–पु., मत्स्य० मत्स्येषु श्रेष्ठः (सुसू. ४६.३३३)
सर्पाकारो मत्स्यः (सुसू. ४६.११३; अहसू. ६.५३)
(**वर्मि**)–**मत्स्य**–पु., उरगाकृतिर्दीर्घो मत्स्यः (सुसू. १३.११)
वर्य–पु., भैषज्य० कपर्दिका (ध. ३.२४)
वर्याञ्जन–न., खनिज० रसाञ्जनम् (रा. १३.२२३)
वर्ष–पु., न., पर्जन्यवृष्टिः (चचि. १५.३७)
स्रावः (चसू. ५.५६)
काल० संवत्सरः (असंसू. ४)
(**वर्षा**)–स्त्री., ऋतुर्वर्षालक्षणः (चवि. ८.१२७)
षड्ऋतुष्वेकः (चसू. ६.४)
वनस्पति० जीरकभेदः, कृष्णः (ध. २.७०)
द्र० 'जीरक'
भार्ङ्गी (रा. ६.९५)
श्रावणभाद्रपदमासद्वयात्मकः कालविभागः (सुसू. ६.६; अहसू ३.१)
–**केतु**–पु., वनस्पति० क्रूरः (ध. १.२७६)
–**गणानुबन्धिन्**–वि., चिरकारी (सुनि. ११.१२)
–**पुष्पा**–स्त्री., वनस्पति० महाबला (ध. १.२८२)
–**शत**–न., वर्षाणां शतम्, तथाहि आयुः शतवर्षमर्यादमस्ति इति (चवि. ८.१२२)
वर्षा–स्त्री., षड्ऋतुष्वेकः (चसू. ६.४)
–**चर्या**–स्त्री., आदानकालेन म्लानशरीरा नरा भवन्ति, एवंविधानां नराणां पूर्वमेव सन्नोऽग्निर्वर्षासु दोषैरधिकतरं सीदति। सतुषारेण सहसा शीतलेन मारुतेन, भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च जलेन मन्देन च वह्निना सर्वदोषाणां प्रकोपो भवति, विशेषतस्तु वातस्य। अस्मिन् काले यच्च वातादीनां सर्वेषां दोषाणां प्रशमनं यच्च जाठराग्नेस्तेजनं तत्सर्वं सेव्यम्। आस्थापनं कार्यम्। जीर्णधान्यं तथा स्नेहशुण्ठ्यादियुतान् रसान् मुद्गदाडिमादिकृतान् भजेत्। जाङ्गलं पिशितं चिरन्तनं मध्वरिष्टं च सेवेत। सौवर्चललवणाढ्यं च मस्तु पिबेत्। पञ्चकोलावचूर्णितं दिव्यं कौपं शृतं जलं पिबेत्। व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कमन्नं सेवेत। सततमपादचारी धूपिताम्बरः सुरभिः स्यात्। बाष्पशीतशीकरवर्जिते हर्म्यपृष्ठे वसेत्। नदीजलादीन् त्यजेत्। (अहसू. ३.४२-४४)
–**जलवहा**–वि., वर्षासु जलं वहन्ती (नदी) (चसू. २७,२१३)
–**नादेय**–वि., वर्षासु नदीस्थं जलम् (चसू. २५.३९)
–**निल**–पु., वृष्टिसंयुक्तो वातः (सुसू. १२.३८)
–**भव**–पु., वनस्पति० क्रूरः (रा. ५.४०८)
वि., वर्षाभागान्तोपलक्षिताः (चवि. ८.१२७)
–**भू**–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा, गुणाः– रूक्षा, कफानिलापहा, गुल्मप्लीहशूलघ्नी मान्द्यघ्नी च (रापरि. ७.९३) द्र० ' पुनर्नवा '
श्वेतपुनर्नवा (सुचि. २२.३९; र. ५.१६५)
रक्तपुनर्नवा (सुउ. ४२.४६; अहसू. ६.९७)
–**भ्वादिक्षीर**–न., वर्षाभू-यष्टिमधुमधूक-लाक्षा-त्वक्-कर्बुदाराङ्कुर-जीरकाणि द्राक्षा-कृष्णाकेशराणि च क्षीरे समालोड्य पानात्ययविकारे इदं क्षीरं प्रयुञ्जेत (सुउ. ४७.४६)
वर्षान्त–पु., हेमन्तग्रीष्मवर्षाऋतुत्रयम् (संशोधनाय अयोग्यम्) (चवि. ८.१२७)
वर्षाहिक–पु., निर्विषसर्पः (सुक. ४.३४(४); असंउ. ४१)
वर्षोषित–वि., संवत्सरजीर्णम् (असंसू. ७.३८)
वलक्ष–न., भैषज्य० मौक्तिकम् (रा. १६.६६)
वलभ–पु., कीट० सविषकीटः तस्य गुणाः–सौम्यः, श्लेष्मप्रकोपणः तेन कफविकारकृच्च (सुक.८.१२-१५)
वलभिका–स्त्री., कीट० शूकतुण्डविषा (सुक. ३.५)
वलभीयन्त्र–न., यन्त्र० खलचरीयन्त्रम् (र. ९.४९)
वलय–न., ध्वजभङ्गे लक्षणम् (चचि. ३०.१७०)
गोलाकृतिः दहनः (सुसू. १२.११)
कटकम् अलङ्कारविशेषः (र. ११.१०८)
कण्ठगतव्याधिः (असंउ. २५; असंसू. ४०.५)
वलयास्थि–न., अस्थिप्रकारः, पाणिपादपार्श्वपृष्ठेषु वलयानि (असंशा. ५.७२)
वलयीकृत–वि., वलयाकारा (बिडालिका) (चचि. १२.७६)
वलाहक–पु., निर्विषसर्पः (असंउ. ४१)
वलि–स्त्री., त्वक्–संकोचः (इन्दुः असंउ. २८; सुशा. ४.६८)
गुदवलिः (चसि. ३.२४-२५)
वर्त्मनः पक्ष्मसमीपस्थो भागः (सुउ. १६.७)
वार्धक्यलक्षणानामेकम् (र. ३.६२-६५; अहसू. १०.१३)
–**भक**–पु., कीट० प्राणनाशनः (असंउ. ४३)
वलिभ–वि., वलियुक्तम् (ललाटम्) (चशा. ८.५१)
वली–स्त्री., रोग० त्वग्रोगः (चवि. ८,९९)

लवणरसस्यातियोगोद्भव एको विकारः (चसू. २६.४३(३)
गुदस्था पेशी (असंनि. ७.४)
त्वक्संकोचः (सुनि. ७.७; असंसू. ३.२९)
–नाश–पु., उदरस्थितानां वलीनां नाशः (चचि. १३.१९)
–पलितघ्न–पु., भैषज्य० (र. २६.८-१०)
–पाक–पु., गुदवलीपाकः (चचि. १९.१०१-१०२)
–विनाश–पु., त्वक्संकोचनाशः (सुनि. ७.७)

वल्क–न., वृक्षादित्वक् (ड. सुक. ५.३-४)
वल्कलं त्वगपि (र. १६.१४)
–तरु–पु., वनस्पति० पूगफलम् (रा.११.७१)
–द्रुम–पु., वनस्पति० भूर्जः (रापरि. ९.२२)
–पत्र–पु., तालभेदः वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९७)
–यूष–पु., दाडिमादिवल्कानां यूषः अयमतिसारघ्नः (कासंखिल. ४.५०-५१)

वल्कल–पु., वनस्पति० क्रमुकः (ध.३. १७७)
न., त्वक् (रा. ६.७६)
पलाशोदुम्बरादीनां भग्नादिबन्धनयन्त्रार्थम् (सुसू. ७.१५)
व्रणसीवनार्थमुपयुज्यते (अहसू. २९.५३)

(वल्कला)–स्त्री.,वनस्पति० श्वेतशिला (रा. ५.२१३)
तेजस्विनी (ध. १.२६६)
अतसी (ध. ६.११४)

वल्गुजा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२७)

वल्गुली–पु., कीट० गुणाः–प्राणनाशनस्तेन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पवत् भवति, तास्ताश्च वेदना भवन्ति, तथा च सान्निपातिका रोगाः जायन्ते, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतसितारुणः क्षाराग्निदग्धवच्च (सुक. ८.१५-१८)

वल्गुली–स्त्री., पक्षि० प्रतुदभेदः गादुलिका इति डल्हणः (सुसू. ४६.६७)

वल्मीक–पु., कृमिशैलकम् (सुचि. २४.९१)
क्षुद्ररोगः (र. २५.१; सुचि. २०.४८-५५; असंउ. ३७)
छेद्यरोगः (सुसू. २५.३-५)
न., पिपीलिकागृहम् (र. १०.८४; चक. १.९; र. २५.६५; असंसू. ३.६)
–मृत्तिका–स्त्री., वल्मीकस्य मृत्तिका, अस्या ऊरुस्तम्भव्याधौ प्रलेपनं कुर्यात् (चचि. २७.४९)
हृदयावरणार्थं कृष्णा वल्मीकमृत्तिका सर्पविषे हिता (सुक. ५.१७-१८)
–शीर्ष–न., खनिज० स्रोतोञ्जनम् (रा. १३.२२६)
–संभवा–स्त्री., वनस्पति० भूतुम्बी (रा. ७.२४१)

वल्ल–पु., मान० गुञ्जात्रितयं वल्ल इति (र. ११.३; अहसू. ७.३२)
न., खनिज०तीक्ष्णलोहप्रकारः (ध. ६.२८)

(वल्ली)–स्त्री., वनस्पति० चविका (रा. ६.११५)
नीलपुष्पा (ध. ४.८५)
–ज–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५)

वल्लकि–स्त्री., वीणा (असंचि. २.८२)

वल्लकी–स्त्री., वीणा (असंचि. २.८२)
वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५)

वल्लर–न., वनस्पति० कालेयकम् (रा. १२.४१)

(वल्लरी)–स्त्री., वनस्पति० चित्रकः (ध. २.८०)
मेथिका (ध. ६.१११)
वनमेथिका (रा. ५.१८५)
मालादूर्वा (रा. ८.२३२)

वल्लि–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (ध. २.९८)
–कण्ठारिका–स्त्री., वनस्पति० अग्निदमनी (रापरि. ४.३)
–दूर्वा–स्त्री., वनस्पति० मालादूर्वा (रा. ८.२३२)
द्र० 'दूर्वा'
–सूरणा–स्त्री., वनस्पति० अत्यम्लपर्णी (रापरि. ३.३९)

वल्ली–स्त्री., चविका (रा. ६.११५)
–कर्ण–पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः (सुसू. १६.१०)
–ज–न., विषभेदः, पुष्पविषम् (असंउ. ४०)
वनस्पति० मरिचम् (ध. २.८८)
–पाषाणसंभव–न., भैषज्य० प्रवालम् (ध. ६.६४)
–पुष्प–विषभेदः (सुक. २.५)
–फल–न., वनस्पति० जीमूत–इक्ष्वाकुप्रभृतीनि फलमात्रासिद्धिपठितानीति (चचि. २०.२२)
कर्कटीप्रभृतीनि (सुचि. १४.८, असंसू. ७.१३४)
–बदरी–स्त्री., वनस्पति० भूबदरी (रा. ११.१६२)
–मुद्ग–पु., वनस्पति० मकुष्ठका (रा. १६.१४५)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४)
–शिम्बी–स्त्री., शुकशिम्बी (सुसू. ४६.४६-४७)
–संज्ञ–पु., गण० पञ्चानां मूलानां समाहारः, गुणाः–रक्तपित्तहरः, शोफत्रयविनाशनः, सर्वमेहहरः, शुक्रदोषविनाशन इति (सुसू. ३८.७२)

वल्लूर–न., शुष्कमांसम् (चसू. ५.१०; सुउ. ४२.७५-७६)

वल्लूरक–पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः (सुसू. १६.१०)

वशाङ्कर–वि., वशीकरणम् (र. ११.१०७)

वशिक वि., शून्यम् (चनि. ६.८)

वशित्व–न., योगिनामष्टविधसिद्धीनामेकेयं सिद्धिः ' वशित्वं चाष्टसिद्धयः ' इति (चशा. १.३९)

वशिन्–पु., स्वाधीनप्रवृत्तिः आत्मा (चशा. १.७८)

वशिर–पु., वनस्पति० चविका (रा. ६. ११५)
रक्तपुष्पः (ध. १.२६३)
न., सामुद्रलवणम् (असंचि. १३)
सूर्यावर्तः (चसू. ४.१५; असंसू. १५.३५)
मर्कटसंज्ञस्तृणजातिः (सुचि. ७.५)
अपामार्गः (ध.१.२६१)

वशिष्ठ–पु., ऋषि० आयुर्वेदज्ञः, अयं हिमालये इन्द्रादेशात् रसायनप्रयोगं कृतवान् (चचि. १.(४)-३)

वश्यकर–वि., वश्यताकरम्, वशीकरणम् (र. २७.१३)

वश्यता–स्त्री., आधीनत्वम् (चवि. ४.८)

वश्या–स्त्री., रेवतीग्रहः, साऽसाध्या जातहारिणी (का रेवती क. ४९)

वश्यात्मन्–वि., वश्येन्द्रियः (वैद्यः) (चसू. ८.१८)

वषट्कार–पु., वषट्कृतिः (असंशा. १२.८)

वस–पु., वनस्पति० वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३)

वसन–न., वस्त्रम् (अहसू.१७.१)
वनस्पति० तमालपत्रम् (रा. ६.८०; पृ. ८०)

वसन्त–पु., ऋतु० षड्ऋतुष्वेकः (चसू. ६.६; सुसू. ६.६; असंसू. ४.५; अहसू. ३.१) मासद्वयात्मकः कालविभागः । चैत्रवैशाखो (सुसू. ६.६) मधुमाधवौ वसन्तः । मधुश्चैत्रो माधवो वैशाखः । गङ्गायाा दक्षिणदेशे भाद्रपदाश्वयुजौ मासौ वर्षाघटकौ आमनन्ति सुश्रुताचार्याः (सुसू. ६.१०) अस्मिन् ऋतौ कषायरसो बलवान्भवति । कफस्य च प्रकोपो भवति (सुसू. ६.११)
वसन्तचर्या— शिशिरे सञ्चितः कफः वसन्तऋतौ सूर्यसन्तापेन प्रविलीनः सन् कुपितो भवति । स जाठराग्निं हत्वा विकारान् कुरुते, अतः तं त्वरया जयेत् । तीक्ष्णैः वमनैः नस्याद्यैः उपक्रमैः तथा लघुरूक्षैर्भोजनैः व्यायामोद्वर्तनैः आघातैश्च उल्बणं कफं जयेत् । स्नातः सन् कर्पूरचन्दनागुरुकुंकुमैः अनुलेपनं कुर्वीत । पुराणयवगोधूमान्, क्षौद्रं, जाङ्गलं शूल्यं च मांसं भुञ्जीत। सहकाररसमिश्रितान् मनःप्रसादादिकरान् हृद्यान् निर्दोषान् आसवादीन् वयस्यैः परिवेष्टितः सन् पिबेत् । सीधुमार्द्वीकमाधवान् सेवेत । अपिच शृङ्गबेराम्बु, साराम्बु, मध्वम्बु, च पिबेत् । दक्षिणानिलशीतेषु, परितः जलवाहिषु अदृष्टसूर्येषु काननेषु मध्याह्नं गमयेत् । वसन्ते गुर्वन्नं शीतं दिवास्वप्नं स्निग्धाम्लमधुरांश्च भोज्यपदार्थान् त्यजेत् (अहसू. ३.१८-२६)

–कुसुमाकर–पु., पारदयोग० पारदहेमाभ्रकलौहादिसाधितोऽयं प्रमेहक्षयकासतृष्णाश्वासरक्तपित्तविषहरः (र. १७.१२८-३४)

–जा–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९ पृ.१९८)

–दूत–पु., वृक्ष० आम्रः (रा. ११.२; पृ. १७०)

–दूती–स्त्री.,वनस्पति०वासन्ती (रा.१०.२३४पृ.१९८)
गणिकारी (रापरि. १०.३१; पृ. ३७०)
पाटला (ध.१.१२०; पृ. २९)

–पादप–पु., वृक्ष०, आम्रः (ध. ५.३, पृ. १६९)

–पुष्प–पु., वनस्पति०, धूलिकदम्बः, द्र० ' कदम्ब ' (रा. ९.१७३; पृ. १९१)

वसन्तक–पु., वनस्पति० स्योनाकभेदः, पृथुशिम्बः, टिण्टुकः (रा. ९.१४२; पृ. २८)

वसन्तोत्सवमण्डन–न., खनिज० सिन्दूरम् (ध. ३.१०१; पृ. ११५)

वसन्तोद्भव–वि. वसन्ते उद्भूतः वासंतिकः, यथा-ज्वरः कफजः वसन्ते उद्भूतः प्राकृतज्वरः, स सुखसाध्यः (चचि. ३.४२तः४७)

वसा–स्त्री., शारीर० उपधातुः, मांसस्योपधातुः (चचि. १५.१७) ' सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः ' (चसू. १.८६, चसू. १.६८; चसू. १३.११) स्नेहेषु इयं प्रवरा (असंसू. २५; अहसू. १६.२) शुद्धमांसस्य स्नेहः, ' शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता । ' (सुशा. ४.१३) मांसनिर्यासः (ड.) सुसू. २३.१२) शरीरे प्रमाणम्–वसायास्त्रयोऽञ्जलयः (चशा. ७.१५) सामान्यगुणाः–मधुरा बृंहणी, वृष्या, बल्या च। तस्याः शैत्योष्णे यथासत्त्वं ज्ञातव्ये (चसू. २७.२९५) उष्णाप्यग्निसादिनी (असंसू. १७) मांसानुगुणस्वरूपा (अहसू. ५.६१-६२) विशेषगुणाः–प्रतुदानाम् आनूपसत्त्वानां महिषादीनां औदकानां मत्स्यादीनां च वसा मधुरा, गुर्वी, उष्णा, वातघ्नी च। क्रव्यादव्याघ्रादीनाम् एणादीनां अश्वादीनां च कषाया, लघ्वी, शीता, रक्तपित्तघ्नी च । ग्राम्याणां तु गवोष्ट्र-

बस्तादीनां मधुरा, गुर्वी, उष्णा, वातघ्नी विष्किराणां लावादीनां वसा श्लेष्मघ्नी (सुसू. ४५.१३१) चुलूकस्य तथा मत्स्यस्य वसा वातरोगे उपयुक्ता नक्रकूर्म–वसा वातरोगे विशेषेण उपयुक्ता (चचि. २८ १२८) विविधोपयोगाः–सेयं शीतस्वभावकाले हेमन्तशिशिराख्ये भोजने उपयुक्ता (अहसू. ३.१३) लवणान्विता सद्यःस्नेहनार्थम् (असंसू. २५.७३-७७) सिंहस्य वसा ससैन्धवा नस्येन विषमज्वरशमनार्थमुपयुज्यते (चचि. ३.३०६) गृध्रोरगताम्रचूडजा वसा मधुकान्विता एकशो द्विशः समस्ता वा वातजतिमिरेऽञ्जनार्थं हिताः (सुउ. १७.३५) ऋक्षवसा नेत्ररोगेषु तर्पणादिकर्मसूपयुक्ता (असंउ.१६) चूर्णाञ्जनयोगे उपयुक्ता(सुउ.१८.८८) विविधरोगेषु बाह्याभ्यन्तरोपयोगाः–सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि तथा पौरुषोपचये व्यायामे च (चसू. १३.१६; असंसू. २५) जम्बूकमण्डूककच्छपगोसूकरनरकर्कोटशिंशुमाराजोष्ट्रखरमेषमहिषाणां वसा रसकर्मणि उपयुज्यन्ते (र. १०.७६)

खनिज० गन्धकः (र. २०.१०३ तः ५)

वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६०; पृ. ३१)

–गन्धिन्–वि., वसावद्यस्य गन्धः तद् यथा कफदूषितं रक्तम् (असंसू. ३६)

–मेह–पु., रोग० मांसस्नेहः वसा तत्सदृशमूत्रत्वात् (सुनि. ६.१२) वातनिमित्तप्रमेहभेदः (चसू. १९.४(९)) लक्षणम्—नरो वसामिश्रं वसाभं वा मुहुर्मेहति (चनि. ४.३९) वसामिश्रं वसां वा मेहति (असंनि. १०) चिकित्सा–अग्निमन्थकषायं शिंशपाकषायं वा पाययेत् (सुचि. ११.९)

–योग्य–वि., स्नेहनार्थं वसापानयोग्यः ते च–व्यायामकर्शिता महारुजःशुष्करेतोरक्ताः महाग्निमारुतप्राणाश्च वसायोग्याः (सुचि. ३१.१७)

–सगन्धि–वि., लक्षण० वसातुल्यगन्धिकः, बसासमगन्धित्वं नैगमेषजुष्टलक्षणम् (सुउ.२७.१६)

–सात्म्य–वि., वसापानमनुकूलं यस्य, सः (चसू. १३.४९)

वसादनी–स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (रा. ४.२८; पृ. ११)

वसिर–पु., क्षुप० अपामार्गः (सुसू. ३८.१०) वशीरः, तृणजातिः, मर्कटपिप्पलीपर्यायः (रा. ४,३८७) सूर्यावर्तफलम् (सुसू. ४६.१९०) तद्गुणाः–विपाके मधुरं शीतलं विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं वातकोपनम् रक्तपित्तप्रसादनम् (सुसू. ४६.१९०-१९१; सुसू. ३८.१०)

वसिष्ठ–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु भृगुकश्यपजमदग्निप्रभृतिमहर्षीषु एकः (चसू. १.८)

वसु–पु., संख्यासङ्केत० वसूनामष्टत्वात् वसुपदम् अष्टसंख्याभिधायकत्वेन प्रयुज्यते अष्टौ (र. २०.२२२) यथा वसुमितं नाम अष्टौ इति संख्या (र.१८.१६०) देवता० 'पुरासन्वसवः आसन् तेषामष्टमो ध्रुवो नामाऽभवत् ।' सोमः धरः (धवः) अग्निः वायुः प्रभासः प्रत्यूषः आपः ध्रुवश्च इति अष्टौ (का क रेवती. ६) 'आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ ' महाभारते

रत्नम् (सुचि. ३०.४०)

लवण० औद्भिदलवणम् (ध. २.३२; पृ. ७४)

वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५; पृ. ३४)

वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३)

चित्रकः (र. २०.२२२)

बकुलः (र. १७.२-३)

पाषाणभेदः (र. १७.२-३)

–गुण–वि., अष्टभागिकम् अष्टगुणम् (र. ४.५०)

–च्छिद्रा–स्त्री., वनस्पति० महाभेदा (ध. १.१२७; पृ. ३०)

–तर्का–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध.६.११४;पृ.२३१)

–धाखर्जूरिका–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरीभेदः भूखर्जूरी द्र० 'खर्जूर' (रा. ११.७३; पृ. १७९)

–भल्लक–पु., वनस्पति० श्वेतपुनर्नवा, द्र० 'पुनर्नवा (र. ५.१२५)

–श्रेष्ठ–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५ पृ. २०६)

वसुक–पु., धान्य० मुद्गः (ध. ६.८१पृ.२२४)

वनस्पति० राजार्कः (ध.४.१६ पृ.१३७)

क्षुप० (चसू. ४.१२) बुकः, केदारगिरौ 'बगहूल' इति प्रसिद्धः (ड. सुसू. ४६.४३३) बकः (सुसू. ३८.१०) 'बकपुष्प' इति लोके (ड. सुसू. ३८.१०) शिवमल्लिकापर्यायः (सुसू. ३९.७) ईश्वरमल्लिका (असंचि. १३; ध. ४.१९; पृ. १३८) स च सितरक्तभेदेन द्विधा (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३) शुक्लशोधनगणे

(चसू. ४.१२; असंसू. १५) मूत्रविरेचनीयगणे (चसू. ४.१५; असंसू. १५) गुणाः– कटुः तिक्तः उष्णः दीपनः कफपित्तघ्नः व्रण-दाह-श्वास-श्रम-अजीर्ण-वातरोग-गुल्मघ्नः (ध. ४.१९; पृ. १३८)
म.—भुइगुली.
ता.—अडम्बेडी.
श्वेतवसुकः रसायनगुणाधिकः (नाड. ८७६; रापरि. ५.३७; पृ.३४३;)
वृक्ष० बृहद्वकुलवृक्षः (सुचि. ७.५)
न., निर्यास० अगरुभेदः, कालेयककृष्णागरुपर्यायः द्र० 'अगरु' (रा. १२.४० पृ. ९९)
लवण० औद्भिदम् (ध. २.३२; पृ. ७४)

वसुन्धरा–स्त्री., पृथ्वी (सुसू. ५.२८)

वसूपम–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः (रा. ६.२६ पृ. ७२)

वस्त–पु., दन्तसंज्ञा० राजदन्तस्य पार्श्वतः दन्तः बस्त-संज्ञितः, अयं राजदन्ततो द्वितीयः (कासु. २०.४)

वस्तान्त्री–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुः, वृद्धदारुकः (इन्दु. असंसू. १६)

वस्तु–न., वास्तु, अधिष्ठानम् (सुनि. १४.१३; सुनि. १४.१२)

वस्तुक–न., वनस्पति० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२; पृ. ३५२)

वस्त्र–न., वासः (असंसू. ६) अनुयन्त्र० (अहसू. २५.३९) विषप्रयोगसाधनेष्वेकम्, वस्त्रविषप्रयोगे (असंसू. ८)
वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२; पृ. ८०)
–कम्बल–न., वसनोन्दुकम् (सुचि. ६.४) वस्त्रचुम्भलकम्
–क्रिमि–पु., यूका (चक्र. चचि. २३.१००)
–गालित–वि., वस्त्रपूतम् (चचि. १८.४९)
–चुम्बल–न., पट्टमयः कोमलपिण्डः (इन्दु. असंशा. ४)
–चुम्भलक–न., वस्त्रचुम्बलम् (सुचि. ६.४)
–पञ्चल–पु., कन्द० कोलकन्दः (रापरि. ७.३८ पृ. ३५०)
–पट्ट–न., व्रणबन्धनवस्त्र० वस्त्रस्य प्रदीर्घा पट्टिका (सुसू. ५.१७)
–पात–पु., वस्त्रस्य पतनम्, बालकस्य मुखादिषु वस्त्रपतनम्, बालकपालनविषयः (असंउ. १)
–पुटिका–स्त्री., पोटलिका, यथा शुष्कचूर्णानि वस्त्रे बद्धानि अवघ्राणार्थं दीयन्ते (कासि. ४)
–पूत–वि., वस्त्रान्तरालपतितः, यथा सक्तवः आदि (चचि. ११.८१)
–भूषण–पु., वनस्पति० साकुरुण्डः (रापरि. ६.१६; पृ. ३४६)
–(भूषणा)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८ पृ.१०)
–रङ्गा–स्त्री., वनस्पति० कैवर्तिका (रापरि. ३.३५) पृ., ३३२)
–रञ्जन–न., वनस्पति० कुसुम्भम् (ध. ६.११८; पृ. २३२)

वस्त्रान्त–पु., दशाहीनस्य वस्त्रस्यान्तः (सुसू.२९.९-१५)

वस्त्रान्तर–वि., वस्त्रेण अन्तरीकृतः (लेपः) सहि सुखेनापनेतुं शक्यते (सुचि. १७.६)

वस्त्रोध्दरण–न., कर्म० सप्तशीतीकरणानामेकतमम्, वस्त्रेण गालनम्, जलस्य शीतीकरणार्थमुपयुक्तम् (सुसू. ४५.१९)

वह्नि–पु., अग्निः (असंसू. २८)
पारददोष० (र. ११.३२) द्र० 'पारद'
वनस्पति० अजमोदा (सुउ. ५२.३५)
चित्रकः (र. १२.१३३-१३७; ध. २.८० पृ. ८६)
भल्लातकः (र. १३.८२-८५; रा. ११.२०२; पृ. १२३)
निम्बूकः (रा. ११.२२; पृ. १७२)
–कर्मन्–न., चुल्लीभ्राष्ट्र्यादिभिः पचनादिकम्, रसशालायाः आग्नेये कोणे प्रकोष्ठे वा वह्निकर्माणि करणीयानि (र. ७.३)
–काष्ठ–न., वनस्पति० अगरुभेदः, दाहागरुः द्र० 'अगरु' (रा. १२.४३; पृ. ९९)
–जार–पु., भैषज्य० साधारणरसेष्वन्यतमः अग्निजार-पर्यायः, अम्बरः, अग्निजारः (र. ३.१३४-१३५)
–ज्वाला–स्त्री., पारदयोग० पारदगंधकाभ्रकादि-साधितेयं गुटिका ग्रहव्याधिहरा (र. १६.९९-१०४)
–दमनी–स्त्री., अग्निदमनी (रापरि. ४.३; पृ. ३३५)
–दीपिका–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१; पृ. ९०)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०; पृ. ११३)
–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०; पृ. ११३)
–पूत–पु., तृण० कुशः (दर्भः) (रा. ८.२०; पृ. १६१)

-बीज-पु., वनस्पति० निम्बूकः (रा. ११.२२; पृ. १७२)
-मथन-पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१११; पृ. २७)
-मन्थ-पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.१०१; पृ. २७)
-मित्रा-स्त्री., मूषा (र. १०.१)
-मुखी-स्त्री., वनस्पति० लाङ्गलिका, (कलिका) (असंसू. १५)
-मृत्स्ना-स्त्री., मृत्तिका० खटिकासैन्धवलोहकिट्टै-र्महिषीदुग्धमर्दितैर्घोराग्नितापसहा जाता मृत्तिका (र. ९.६४)
-लोहक-न., कृत्रिमधातु० कांस्यम् (रा. १३.२४; पृ. २१०)
-वेश-पु., ऋषि० अग्निवेशापरनामा (चसू. १३.३)
-व्यापद्-स्त्री., रोग० अग्निमान्द्यम् (सुसू. ४६.४९८)
-शङ्ख-पु., वनस्पति० जीरकम् (रा. ६.१००; पृ. ८३)
-शिख-पु., वनस्पति० कुसुम्भम् (ध. ६.११९; पृ. २३२)
कुङ्कुमम् (रा. १२.२१; पृ. ९६)
-शिखा-स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५२; पृ. ११४)
कलिकारी (रा. ४.१८; पृ. १३६)
-साद-पु., रोग० विंशतिकफरोगेष्वेकः, चरके शीताग्निता नाम्ना उक्तः (कासू. २७.१९-४३)
वह्निका-स्त्री., अग्नितापः (र. ८.५०)
वा-अव्य० 'भ्रमश्चक्रगतस्य वा इत्यत्र वा शब्दःइवार्थे' (ड. सुउ. ६२.७) भिन्नक्रमे । यथा 'पिप्पल्यो वा शर्कराचूर्णयुक्ताः' (सुउ. ५०.१६)
वांशिक-पु., वनस्पति० इक्षुभेदः (अहसू. ५.४५) द्र० 'इक्षु'
वांशी-स्त्री., भैषज्य० वंशरोचना (सुउ. ३५.३; ध. २. ५५; असंचि. ४)
वाक्य-न., अर्थबोधकपदसमूहः (तर्कसंग्रह)
-दण्डक-न., पु., सुदीर्घतमं वाक्यम् (चवि. ८.२०)
-दोष-पु., वाक्ये न्यूनत्वादिः दोषः, न्यूनमधिक-मनर्थकमपार्थकं विरुद्धमिति पञ्च वाक्यदोषाः (चवि. ८.५४)
-निग्रह-पु., लक्षण० वाक्स्तम्भः, वाङ्निग्रहः (चसू. १३.७६)
-प्रशंसा-स्त्री., न्यूनत्वादि-दोषरहितं वाक्यम्, वाक्य-गुणः, पञ्चदोषरहितं वाक्यम् (चवि. ८.५५)
-योजन-न., असम्बद्धस्य वाक्यस्य योजनं सम्बन्धनं नाम परस्परमन्वयदर्शनम् (ड. सुउ. ६५.४)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० करञ्जभेदः, अङ्गारवल्लिका, द्र० 'करञ्ज' (ध. ५.११०; पृ. १९१)
-शेष-पु., तन्त्रयुक्ति० वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थ-माचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते । यथा 'जाङ्गलजैः रसैः ।' इत्यत्र मांस-शब्दः पूर्यते । (चसि. १२.४२) येन पदेन अनुक्तेन वाक्यं समाप्येत, स वाक्यशेषः (सुउ. ६५.१९)
वाक्यल-न., खनिज० रौप्यम् (ध.६.६; पृ.२०६)
वागुज्जार-पु., मत्स्य० अयं नादेयः, 'वादूंस' इति लोके (सुसू. ४६.११३-११४) द्र० 'नादेय'
(वाग्)-ग्रह-पु., लक्षण० वचनावग्रहः (चचि. १६.२४; चसि. २.२२; चसू. १६.११; असंसू. २५; अहसू. १७.२०)
लक्षण० अतिवमितलक्षणेष्वेकम् (चसू. १६.११) स्नेहस्यामात्रया मिथ्याहारविहारतः भवल्लक्षणम् (असंसू. २५) अतिस्तम्भितलक्षणेष्वेकम् (अहसू. १७.२०)
वाच्-स्त्री., देवता० वागधिष्ठात्री देवता (चचि. १.३-(१४)
कर्मेन्द्रिय० वागिन्द्रियम्, एकादशेन्द्रियेषु एकम्, शब्दोच्चारणहेतुभूतमिन्द्रियम् (सुशा. १.४)
वाचा, वाणी, उच्चारणम् (असंसू. ९)
कालमान० लघ्वक्षरोच्चारणम्, तत्कालमानार्थमुप-युक्तम् (सुसू. ११.१८)
(वाक्)-छल-न., अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्राया-दर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् (गौ. सू. १.२-१२; चवि. ८.५६)
-प्रवर्तिनी-स्त्री., सिरा० जिह्वायां वर्तमाना सिरा, पार्श्ववामदक्षिणभेदेन चतस्रः सिराः (असंशा. ५)
-प्रवृत्ति-स्त्री., कर्म० वाचः प्रवर्तनम् उदानवायोः कर्मणामेकतममिदम् (अहसू. १२.६)
-भट-पु., भिषक्श्रेष्ठः अष्टाङ्गहृदयकर्ता, अयं रसरत्न-समुच्चयकर्तृणो वाग्भटाद् सर्वथा अपर इति निश्चितम् (अहसू. १.१)
-यत-वि., वाचि यतो नियन्त्रित इति मितभाषी (सुचि. २९.१०) मौनी (सुचि. ३८.३)

-**वस्तुमात्र**-अव्य० केवलं शब्दप्रयोगरूपम् यथा नाऽकाले मृत्युरस्ति । ' इति (चशा. ६.२८) अर्थ-रहितशब्दमात्रम् (चशा. ३.१५)

-**वहसिरा**-स्त्री., सिरा० जिह्वायां बाग्वहे सिरे अशस्त्रकृत्ये (सुशा. ७.२२)

-**विशारद**-वि., वाक्पटुः, सच अर्थवतीं सलक्षणां हृदयग्राहिणीमपुनरुक्तां वाचं वदति इति, यथा धन्वन्तरिः (सुचि. २.३)

-**व्यायाम**-पु., उच्चैर्भाषणादि (सुशा. ८.२४)

-**शत**-न., कालपरिमाण० शतसंख्यागणनपरिमितः कालः (सुउ. १८.८)
शतलघ्वक्षरोच्चारणकालः (सुचि. ३७.६०)
मात्राशतम् (अरु०) शतगुर्वक्षरोच्चारण पर्याप्तकालः (हे. अहसू. २०.२२)

-**सङ्ग**-पु., लक्षण० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; असंसू. २०) वाचोऽनिर्गमः (सुनि. १.७०)
वाक्स्खलनम् (असंसू. २७) तच्च कफाधिक्यकृतं लक्षणम् (अहसू. ८.९)

-**सिद्धि**-स्त्री., यदुच्यते तदवश्यं भवति इत्यर्थः मुखेनोच्चारितवाक्यविशेषस्य तथात्वेनैव परिणतिः सा रसायनाद्लभ्यते (चचि. १.८)

वागिन्द्रिय-न., कर्मेन्द्रिय० जिह्वा (चशा. १.२५) शब्देन्द्रियम्, तदेकमपि द्विधा भवति...' अर्धेन-शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुनः । तस्याधिष्ठानद्वयं जिह्वा श्रोत्रभेदेन (काचि फक्क अ. ७)

वाचोगत-वि., वाचिकम् (बाक्सिद्धिवाक्योच्चारणादि) (चचि. १०. (४).२५)

वाजिन्-पु., प्राणि० अश्वः (सुचि. २६.६) घोडा.

(वाजिनी)-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४००, पृ. ६२)

(वाजि)-करी-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (ध. १.२७२; पृ. ६२)

-**कर्ण**-पु., वनस्पति० अश्वकर्णः, उददेशमनगणे प्रोक्तानामेकतमः (असंसू. १५)

-**गन्धा**-स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (सुउ. ४१.४२; असंसू. १५; र. २५.८२; ध. १.२७२; पृ. ६२)

-**दन्ता**-स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (रा. ४.२९, पृ. ११)

-**नाश**-पु., वनस्पति० वनमेथिका (ध. ६.११३; पृ. २३१)

-**भक्ष**-पु., शिम्बीधान्य० चणकः हरिमन्थः (रा. १६.१५६; पृ. २२)

-**मूत्र**-न., अश्वमूत्रम् (चसू. १.१०४; असंसू. ६) द्र० 'मूत्र'

-**वर्चस्**-न., अश्वपुरीषम्, तद्रसो मूत्ररुजापहः (सुउ. ५८.३५)

-**विष्ठा**-स्त्री., अश्वपुरीषम् (सुचि. २०.२७-२८)

-**स्थान**-न., अश्वशाला (असंउ. २९)

वाजिर-खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकाराणामन्यतमम् (र. ५.८०) लक्षणम्-वज्रसंकाशैः पोगरैः, सान्द्रकैः सूक्ष्मरेखैः निचितं श्यामलाङ्गं च (र. ५.८५) द्र० 'तीक्ष्णलोह'

वाजीकर-वि., शुक्रवर्धकम् (सुचि. २६.५)

-**भाव**-पु., अवाजी वाजीव अत्यर्थं मैथुने शक्तः येन भावेन (चक्र. चचि. २.(१)३) येन नरः वृषायते, उपचितप्रवृत्तिरुन्मुखशुक्रो भवति स भावः (चचि. २.(३).२०-३०)

वाजीकरण-न., चिकित्साङ्ग० आयुर्वेदस्याष्टचिकित्साङ्गेषु एकम्, तच्च वृषचिकित्सात्मकम् (अहसू.१.५) तत्तुष्टिपुष्टिकरमपत्यकरं सद्यःसंप्रहर्षणं देहस्योर्जस्करं च (चचि. १.९-१२; असंउ. ५०) वाजीकरणयोग्यः-स्थविराः रिरंसवः क्लीबाः अल्परेतसः अर्थवन्तः विलासिनः रूपयौवनशालिनः बहुभार्याकाः स्त्रीसङ्गक्षीणाः स्त्रीणां वाल्लभ्यं चेच्छन्तः नराः वाजीकरार्हाः (सुचि. २६.४-५) ऊर्जस्करौषध० (असंसू. १२)
शुक्रोत्पादकम् (औषधम्) वाजीशब्देन शुक्रमुच्यते (ड. सुसू. ४०.५) शुक्रवृद्धिकारकमौषधम् (चसू. ३०.२८) वाजीकरणं त्रिविधम्-शुक्रजनकं शुक्रप्रवर्तकं, शुक्रजनकप्रवर्तकं च । शुक्रजनकम्-मांसघृतादिकं यतो मांसरसादि रसादिधातु-क्रमेण परिणतं सप्तधातुपुष्टिं करोति । शुक्रप्रवर्तकम्-उच्चटा-चूर्णादिकं शुक्रविरेचनम् । तस्य च वैरेचनिकत्वे सति आशुक्षयकारित्वं स्यात् अतो विरेचनं शुक्रस्य पतनायाभिमुखीभावमात्रकारणम् । शुक्रजनकप्रवर्तकम्-गव्यघृतगोधूममाषाण्डफलादिकम् । केवलं देहबलकरं गोधूमादिकम् केवलमनोबलकरं संकल्पादि तु प्रवर्तकम् । घृतक्षीरादि देहमनोबलकरं सदुभयकरम् (ड. सुचि. २६.६) वाजीकरण-द्रव्याणि-विचित्राणि भोजनानि, विविधानि पानानि, श्रोत्रानुगामिन्यः वाचः, त्वचः स्पर्शसुखाः,

सेन्दुतिलका यामिनी, नवयौवना कामिनी, श्रोत्रमनोहारि गीतं, ताम्बूलं, मदिराः, स्रजः, मनोऽप्रतीघातः इत्येतानि वाजीकरणानि (सुचि. २६.७-९)

(वाजीकरणी)–वि., वाजीकरा (औषधिः) (सु १४.१७)

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा (सुचि. २६.१)

–तन्त्र–न., आयुर्वेदस्याष्टसु अङ्गेषु एकम् (सुसू. १.७) अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोषचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च त्रन्तम् (सुसू. १.९ (८)

–वर्ग–पु., वाजीकरणद्रव्यसमूह, आत्मगुप्ताफल–माष गोधूम–शालिषष्टिक–क्षौद्र–द्राक्षा–सितोपला–इक्षुइक्षुरक–क्षीर–उच्चटा–शरमूल–विदारी–शतावरीखर्जूर–मोचफल–चोचफल–जीवनीयानि द्रव्याणि वाजीकरणानि (असंउ. ५०)

–शशाङ्करस–पु., पारदयोग० हेमसूताभ्रमुशली-कदलीकंदाश्वगंधादिसाधितमिदं स्त्रीसेवने अत्यर्थं सामर्थ्यकरः (र. २७.२४-२७)

वाजीकरणाध्याय–पु., अध्यायसंज्ञा० (चचि. २.१).

वाजीकृत–वि., वाजीकरम् वाजीकरणम् (अहसू. ७.७३)

वाजीक्रियारत–वि., वाजीकरणचिकित्सामग्नः (सुचि. २६.११)

वाटिका–स्त्री., चषकः (र. ७.२१)

वाटिन्–पु., पक्षि० जलचरोऽयम् (चसू. २७.४३)

वाटी–स्त्री., वनस्पति० बला (ध. १.२८०; पृ. ६४)

वाट्य–पु., कृतान्न० भृष्टयवकृतभक्ष्यम् (सुसू. ४६.४१०) भृष्टयवौदनः (चसू. २७.२६५; असंचि. १४) यवमण्डः (असंसू. १७) निस्तुषेषद्दलितानां यवानां मण्डः (चचि. ६.१९)

(वाट्या)–स्त्री., वनस्पति० अतिबला (असंसू. १५)

–कृत्–वि., भृष्टविदलीकृतः, यथा यवः (असंचि. १)

–पुष्पक–न., चन्दनं त्रिभागमितं कुङ्कुमं च (ध. ७.४४; पृ. ३०४)

(पुष्पिका)–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः, बलिका द्र० ' बला ' (रा. ४. ४३०; पृ. ६५)

(पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः, बलिका, द्र० ' बला ' (ध. १.२८६; चसू. ४.१८; पृ. ६५)

वाट्यावनी–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः, महाबला (ध. १.२८२; पृ. ६५) श्वेतबला (चसू. ४.९)

वाट्याशिन्–वि., वाट्यान्नमशितुं शीलमस्य इति (चचि. १६.१०५)

वाडवदधि–न., अश्वदधि (सुसू. ४५.७२-७३)

वात–पु., महाभूत० (चशा. १.२७) पञ्चमहाभूतेष्वेकं द्रव्यम् (चसू. ८.९)

वायुःअनिलःसमीरणःइत्यादयस्तस्य पर्यायाःवा गति-गन्धनयोरिति धातुस्तस्मात्कृद्विहितेन प्रत्ययेन वात इति रूपम् (सुसू. २१.५) वातीति वातस्सदागतिः (सुनि. १.१) शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्रा-ज्जायते शब्दस्पर्शगुणो वायुः (सुशा. १.४) एष स्वयम्भूर्भगवान्वायुरित्यभिशब्दितस्स्वातन्त्र्यान्नित्य-भावात्सर्वगत्वात्सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक-नमस्कृतः स्थित्युत्पत्तिविनाशेष्वशेषभूतानां कारणम् (सुनि. १.५-७) बाह्यवातः–अन्तरिक्षवातः–वायुः–यथा शिवो वायुर्वयौ (चसू. १.३८; अहसू. ४.३१) प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; असंसू. १३) तथा च वायुर्धाता शरीरिणाम् (चचि. २८.३) जगद्धारकदेवता० (सुसू. २१.८; चचि. ३.८२) द्वे देवते मारुताकाशे वातः श्रितः (कावि.) त्वचोऽधिदैवतं वायुः (सुशा. १.७) यथा रक्षामन्त्रः ' अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान्वायुस्तथैव च ' (सुसू. ५.२४) अस्य विश्वास्य सर्वार्थानर्थकरणे एकं कारणमदुष्टदुष्टो वायुः । विशेषतः शरीरस्य । असौ विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरन्तकस्तस्यादुष्टौ सदा यतितव्यम् (असंनि. १५) शारीरभाव० तस्योत्पत्तिः– ' वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः' (असंसू २०) धातु० देहधारणाद्धातुः शरीरैक-जन्मत्वाच्छरीरधारणेन धातुसंज्ञां लभते (इन्दु असंशा. ८) अव्यापन्नः सन् देहसम्भव-हेतुर्भवति । तेन च धार्यते इदं शरीरमागारमिव स्थूणेन (सूसू. २१.३) यथाऽनिलो जगद्धारयति तथा शारीरो वातो देहं धारयति (सुसू. २१.८) तस्योत्पत्तिः–वायुः पुनरग्नेराहारस्य च बह्वल्पतया तस्मात्तस्मान्मूर्च्छनाविशेषादमूर्तः शब्दवानीषच्छब्द-प्रचुरोऽल्पो वा पञ्चात्मा कोष्ठे सम्भवति (असंशा. ६. ६७) चलत्वाद्रजोबहुलः (सुशा. १.२०; असंशा. ५) प्राणेष्वेकः–वायुश्च दोषधातुमलादीनां सञ्चार-णेनोच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां च प्राणयति,–जीवयति– (सुशा.४.३) दोष० दूषणस्वभावाद्दोषः (असंसू.२०)

त्रिदोषेष्वेकः, 'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः' (चसू. १.५७) 'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः' (अहसू. १.६) स प्रकृतिभूतः शरीरोपकारकः (चवि.१.५) प्रकृतिभूतस्य तस्य कर्म–तं देहमुच्छ्वासनिःश्वासोत्साहप्रस्पन्देंद्रियपाटवचेष्टाप्रवर्तनाभिर्वायुरनुगृह्णाति (असंसू.१९) मल० मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलः (असंसू. २०) पक्वाशयगतोऽन्नकिट्टजो वायुः (चसू. ७.३) तस्य गुणाः स्वरूपं च–रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः (चवि. ८.९८) अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च खरः शब्दस्पर्शगुणो रजोबहुलोऽचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेताऽऽशुकारी मुहुश्चारी च (सुनि. १.७-९) स्वतन्त्रः सर्वशरीरचेष्टैककारणं हेतुर्मार्गत्रयजानामपि रोगाणाम् (असंसू. २८) अनिलः सूक्ष्मः (असंसू. १)

कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः (असंसू. २०) तस्य समानयोनिः कषायरसः (सुसू. ४२.८(१)) कर्म–वायुः प्राणयति जीवयतीति प्राणः (ड. सुशा. ४.३) यदा वायुः स्वमानस्थोऽव्याहतगतिः स्यात्तदा नरो वीतरोगो वर्षशतं जीवेत् (चचि. २८.४) वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनसस्सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिस्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनामायुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः (चसू. १२.८) सोऽयमकुपितो देहे चरतां दोषधात्वग्नीनां समतां विषयेषु सम्प्राप्तिं क्रियाणामानुलोम्यं च करोति (सुनि. १.१०; अहसू. ११.१-२; असंसू. १९) कर्म सामान्यं विशिष्टं चेति द्विविधम्–सामान्यमिन्द्रियार्थोपसम्प्राप्तिः, विशिष्टं प्राणादिवातस्य देहधृगित्यादि (सुनि. १.४) पवनः स्वाः सिराश्चरन् पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये प्राकृतायां प्रवृत्तौ मोहस्याभावं करोति (सुशा. ७.८) वायुपरमाणवः संयोगविभागचेष्टाधिकारा आकुञ्चनप्रसारणकोष्ठाङ्गधातुचेतनाः स्रोतांसि विभजन्ति (काशा. जातिसूत्रीय. ३) 'संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च।' यदा संयोजकस्वभावेन कर्मणा परिगृहीतो वायुर्भवति तदा परमाणूनां संयोगं कुर्वच्छरीरमारभते यदा तु वियोजनस्वभावेन कर्मणा वायुः परिगृहीतो भवति तदा विभागं परमाणूनां विनाशरूपं जनयति (चक्र. चशा. ७.१७) प्रकुपितवातकर्म–कुपितवातस्तु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय मनोव्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यप्रलापाञ्जनयति, प्राणाँश्चोपरुणद्धि (चसू. १२.८) पर्वणां सङ्कोचस्तम्भो भेदश्चास्थिभेदो रोमहर्षः प्रलापः पाणिपृष्ठशिरोग्रहः खाञ्ज्यं पाङ्गुल्यं कुब्जत्वमङ्गशोषो निद्रानाशो गर्भशुक्ररजोनाशो गात्रस्पन्दनं ग्रीवाशिरोनासाक्षिजत्रूणां हुण्डनं भेदतोदार्त्यक्षेपमोहाऽऽयासान्करोति, हेतुस्थानविशेषाच्च रोगविशेषकृद्भवति (चचि. २८.२०-२३) स्रंसव्यासङ्गसादभेदतोदहर्षतर्षवर्तमर्दकण्ठव्यधवेष्टभङ्गशूलशोषस्वापपारुष्यसौषिर्यसङ्कोचस्पन्दनानि कषायरसत्वं श्यावारुणवर्णतां च करोति (असंसू. २०; अहसू. १२.४९-५१) वातभेदाः–(सुनि. १) वायुः प्राणादिभेदेन पञ्चधा भिद्यते, तद्यथा–प्राण उदान-समान-व्यान-अपानाः (चचि. २८.५; असंसू. २०) तत्र प्राणेन प्राणयति विशेषत आयुषश्चानुवर्तनं करोति। उदानो बलस्यानुवर्तनं करोति। समानोऽग्न्युत्तेजनं करोति (चक्र. चशा. ६.१५) व्यानेन रसधातोर्विक्षेपणं भवति (अहशा. ३.६८) व्याने सर्वाः क्रियाः शरीरिणां प्रतिबद्धाः सन्ति (अहसू. १२.७) अपानः शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः (अहसू. १२.९) वातस्थानम् पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियं च (अहसू. १२.१) नाभेरधो वायोः स्थानम् (अरु. अहसू. १.७) विशेषतः श्रोणिगुदादि (ड. सुनि. १.४) 'पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्' (चसू. २०.८) वातकोपः— 'वयोऽहोरात्रिभुक्तानामन्ते वातस्य कोपो भवति (अहसू. १.८) चयप्रकोपप्रशमाः क्रमेण ग्रीष्मवर्षाशरत्सु जायन्ते (अहसू. १२.२४) 'भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वार्धक्ये (सुसू. ३५.३१) जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुः (सुसू. ४६.४८४)

वातेनाग्निर्विषमो भवति (अहसू. १.८)
वातेन कोष्टः क्रूरो भवति (अहसू. १.९)
वातप्रकृतिः–यदा वातदोषः शुक्रशोणिते अधिको भवति तदा स वातप्रकृतेर्हेतुर्भवति (असंशा. ८)
वातेन हीना दोषप्रकृतिर्भवति (अहसू. १.९-१०)
वातगतिः–क्षयः स्थानं वृद्धिश्चेति दोषाणां त्रिविधा गतिः। अपरा च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदेन त्रिविधा। कोष्टशाखामर्मास्थिसंधिषु च त्रिविधा। कालप्रकृतिश्चयप्रकोपप्रशमरूपा प्राकृततो वैकृततश्च वाताद् भवति
(चसू. १७.११२-११५) वातचयकोपहेतुः–चीयते लघुरूक्षाभिरौषधीभिः समीरणः। तथैव आहारादिना (अहसू. १२.२४-२८) ' उष्णेन युक्ता रुक्षाद्याः वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्। शीतेन युक्तारूक्षाद्याः गुणाः–वायोः प्रकोपं कुर्वन्ति (अहसू. १२.१९-२०) धातुक्षयात्तथा मार्गावरणेन वेगप्रतिबन्धाच्च वायुः कुपितो भवति (चचि. २८.५९) रूक्षलघुशीतवमनविरेचनाऽऽस्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसन्धारणाऽनशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते (चनि. १.१९) अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः। तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातलङ्घनप्लवनतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्विशेषैः
वायुः प्रकोपमापद्यते (सुसू. २१.१९)
तिक्तोषणकषायरससेवनैस्तथा वर्षासु अहोरात्रिभुक्तान्ते च समीरणः कुप्यति (अहनि. १.१४-१५; असंनि. १.२६) अन्यदोषपूर्णेभ्यःस्रोतोभ्य आवरणं प्राप्य बली वातः कुप्यति (असंनि. १५)
वातक्षयहेतुः—वातगुणस्य विपरीतगुणानां स्निग्धगुरूष्णादीनां देहे वर्धनेन वातदोषस्य क्षयो भवति (अरु. अहसू. ११.२४) गुरुस्निग्धादिभिरोषधीभिर्वातस्य शमो भवति (अहसू. १२.२५)
वातवृद्धिलक्षणानि—तत्र वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामितानिद्रानाशो गाढवर्चस्त्वं च भवति (सुसू. १५.१३) संज्ञानाश-

बलेन्द्रियोपघातास्थिशूलमज्जाशोषमलसङ्गाध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभिर्वृद्धो वायुः पीडयति (असंसू. १९.६; असंसू. ११.५-६)
गर्भिण्याः प्रकुपितो वातो गर्भाशयेऽवतिष्ठमानो गर्भस्य जडबधिरमूकक्रमिन्मिणगद्गदखञ्जकुब्जवामनहीनाङ्गाधिकाङ्गत्वान्यान्यं वा वातविकारं करोति (असंशा.२) वातक्षयलक्षणानि-प्रसेक-अरुचि-हृल्लास-संज्ञा–मोह–अल्पवाक्चेष्टता–प्रहर्ष अङ्गसाद-अग्निवैषम्यादिभिः क्षीणो वायुः देहं पीडयति (असंसू. १९) श्लेष्मवृद्धियुक्तानां रोगाणामुत्पत्तिर्भवति (अहसू. ११.१५) वातक्षये स्वयोनिवर्धनं यदन्नपानं तत्प्रकाङ्क्षति। यथा यवमुद्गहरेणून् रूक्षलघुभोजनं कषायकटुतिक्तं च भोजनम् (ड. सुसू. १५.२९-३१) सामनिरामवायुलक्षणम्–आमयुक्तो वायुः कुक्षिपीडादीन् करोति (असंसू. २१) तन्द्रास्तैमित्यगौरवस्निग्धत्वारोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः कटुरूक्षाभिलाषेण तद्विधोपशयेन च सामो वातो ज्ञेयः (असंनि. १६) यदा तन्द्रास्तैमित्यादीनां विपर्ययस्तदा निरामो वातो ज्ञेयः (असंनि. १६) आमविपर्यये तु पक्वत्वम् (असंसू. २१) अवयवगतवातलक्षणम्–त्वग्गतसमीरणलक्षणम्–वैवर्ण्यस्फुरणरौक्ष्यसुप्तिचुमचुमायननिस्तोदनत्वग्भेदपुटनानि
(चचि. २८.३; सुनि. १.२५; असंनि. १५) रक्तगतसमीरणलक्षणानि–तीव्रसन्तापरुजा वैवर्ण्यकृशताऽरुचयः गात्रे अरूंषि, भुक्तस्य स्तम्भः (चचि. २८.३१) व्रणान्करोति (सुनि. १.२६) सूचीभिरिव निस्तोदनं स्पर्शद्वेषः प्रसुसता पित्तविकाराश्च (सुनि. १.३०-३४) भ्रमं करोति (असंनि. १५) मांसाश्रितः–सशूलान्ग्रन्थीन् करोति (सुनि. १.२६) मेदोगतः–मन्दरुजोऽव्रणान्ग्रन्थीन् करोति (सुनि. १.२६) मांसमेदोगतः–अङ्गगुरुता दण्डमुष्टिहततोदः, सरुक्श्रमः (चचि. २८.३२) कर्कशान्ग्रन्थीन्भ्रमं च करोति (असंनि. १५) अस्थिगतः–अस्थिशोषम् अस्थिभेदम् अस्थिशूलं च करोति (सुनि. १.२८) सक्थिसन्ध्यस्थिशूलं तीव्रं बलक्षयं करोति (असंनि. १५) मज्जगतः–मज्जा-शोषं रुजं च करोति (सुनि.१.२९) अस्थिषु सौषिर्यमस्वप्नं स्तब्धतां च (असंनि. १५) मज्जास्थिगतः–अस्थिभेदपर्वभेदसंधिशूलो मांसबलक्षयोऽनिद्रता संतता रुक् च (चचि. २८.३३)

शुक्रगतः–ग्रथितवर्णादियुक्तं शुक्रं करोति, तथा शुक्रस्याऽतिशीघ्रप्रवृत्तिमतिमन्दप्रवृत्तिं वा करोति (सुनि. १.२९) गर्भस्य शीघ्रमुत्सर्गं गर्भसंगं गर्भविकृतिं च करोति (असंनि. १५) आमाऽऽशयस्थितः–हृन्नाभिपार्श्वोदरपीडां तृष्णामुद्गारं विसूचिकां कासश्वासौ कण्ठाऽऽस्यशोषं च करोति (चचि. २८.२७-२८) नाभिस्थः ऊर्ध्वस्थान्गदान्करोति (असंनि. १५) छर्ध्यूर्ध्वगतरक्तपित्तमोहमूर्च्छाहृद्ग्रहपार्श्ववेदनादीन्करोति (सुनि.१.२२-२३) पक्वाशयस्थो वातोन्त्रकूजनं शूलाऽऽटोपौ कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वं त्रिकवेदनां, श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं च कुर्यात् (चचि. २८.२८-२९; सुनि. १.२३, सुशा. २.५३) अश्मरीवर्ध्माऽर्शोरोगांस्तथाऽधरकायस्थान्कृच्छ्रानुपद्रवान्करोति (असंनि. १५) शिरागतो वातः शूलं सिराऽऽकुञ्चनपूरणं च करोति (सुनि. १.२७) सिरास्वाध्मानरिक्तते करोति (असंनि. १५) स्नायुप्राप्तो वातः स्तम्भकम्पौ शूलमाऽऽक्षेपणं च कुर्यात् (सुनि. १.२७)गृध्रसीमाऽऽयामं कुब्जतां च करोति (असंनि. १५) संधिगतो वातः जृम्भां ज्वरं च करोति (चचि.८१७) आकुंचनप्रसारणादिक्रियां हन्ति, संधिशूलशोफौ करोति (सुनि. १.२८) शोफस्य वातपूर्णदतिस्पर्शं प्रसारणाऽऽकुंचनयोस्सवेदनां प्रवृत्तिं च करोति (असंनि. १५)

पार्श्वस्थः पार्श्वशूलं, गुदस्थितो वर्चोभेदम्, उरःस्थश्चोरःशूलं करोति (चचि. ८.१७) कोष्ठेऽर्शोभिः विण्मूत्रवातानां ग्रहशूलाध्माना ऽश्मशर्कराः करोति (चचि. २८.२६) रुद्धो वातोऽग्निमान्द्यं करोति, मेदसा रुद्धो वातोऽग्निवृद्धिकृच्छ्रवति (असंसू. ७) प्राणवहस्रोतःसंरुद्धो वातउच्छ्वासनिःश्वासरोधं करोति मरणं वाऽऽपादयति (चचि. २३.६५) शरीरावयवगतो वातोऽमितान्गदान्करोति (सुनि. १.३२)

आवृतमार्गो वातो बाह्याः शिराः प्राप्योच्छेदलिङ्गं श्वयथुं करोति (चचि. १२.८) एकधातुगतो वातः उपेक्षितः सर्वधातुगतो भवति, सर्वदेहाश्रितस्तम्भनाऽक्षेपस्वापशोथशूलान्करोति (सुनि. १.३१) संध्याऽऽकुंचनकम्पनं च करोति (असंनि. १५) श्रोत्रादीन्द्रियगतो वातः इन्द्रियवधं करोति, श्रवणादिशक्तिं नाशयति (असंनि. १५) यदा तून्मार्गगो वातो गर्भस्य रसवहानि स्रोतांसि शोषयति तदा बातरोगी हीनाङ्गो वा भवति (असंशा. २) प्रकुपितो वातोऽशीतिवातविकारान्करोति (चसू. २०.९-११) सर्वेषामपि रोगाणामुत्पत्तौ वायोः परं हेतुर्नास्ति (अहसू. १९.८५-८६) पाणिपादच्छेदे मर्मव्यधे च अतिस्रुतितो विकृतेन वातेन मरणं भवति (असंशा. ७.३२) वातस्य शुभाऽशुभलक्षणम्–मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिः वातः शुभः खरोऽनिष्टगन्धिरुग्णः तु अनिष्टः (सुसू. २९.४१)

वातशमनः उपक्रमः—वातविपरीतगुणैर्द्रव्यैः मारुतः संप्रशाम्यति (चसू. १.५९) स्नेहस्वेदाऽभ्यङ्गबस्तिस्नेहविरेचनशिरःस्नेहशिरोबस्तिमृदुशय्याऽग्निसन्तापब्रह्मचर्यादीनि वातरोगेषु योज्यानि (सुचि. ४.२१-२६) शाखागतवातेषु विशेषेण बस्तिः प्रशस्तः (चसि. १.३२) आमाशयगते वाते प्रथमं वमनं देयम् (सुचि. ४.३) पक्वाशयगते वाते स्नेहयुक्तं विरेचनं दद्यात्, शोधनद्रव्ययुक्तो बस्तिरपि तत्रोपयुक्तः (सुचि. ४.५) आमाशयगते वायौ रूक्षपूर्वं स्वेदमाचरेत् (असंसू. २६) त्वङ्मांसरक्तसिरागते वाते स्नेहाभ्यङ्गोपनाहमर्दनालेपनरक्तमोक्षैरुपचरेत् (सुचि. ४.७) स्नायुसन्ध्यस्थिगते वाते स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनरूपाचिकित्सा (सुचि. ४.८) स्त्रीणां वातोपद्रवेषु बस्तिचिकित्सा प्रशस्ता (चसि. १.३४) अतिबले वाते रसायनचिकित्सोपयुक्ता भवंति (चचि. १ (३) २९)

–कण्टक–पु., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः, चरके तु अनुक्तः, अत्रोक्तो गणनायाम् (कासू. २५.१९-२१) गुल्फसन्धिसंश्रितो वातरोगः, खुडकावातपर्यायः, खडुलकाश्रितत्वात्, (मधुकोश, मानि.) सम्प्राप्तिःलक्षणं च–विषमस्थाने निक्षिप्ते पादे गुल्फसन्धिश्रितः–खडुलकाश्रितः–वातः प्रकोपमापद्यते। अथवा श्रमकुपितः वातः गुल्फसन्धिमाश्रित्य गुल्फवेदनां जनयति पादेऽपि रुजाम् (सुनि. १.७९; असंनि. १५) चिकित्सा–तत्र वातव्याधिचिकित्सितं कुर्यात् (सुचि.५.२३) स्वेद्योऽयं रोगः (चसू.१४.२३) (अहसू. १७.२६) सिराव्यधं कुर्यात् (सुचि. ५.२३) क्षिप्रमर्मणो द्व्यङ्गुले उपरि सिरां: विध्येत् (अहसू. २७.१६)

–कलाकलीय–वि., अध्यायसंज्ञा० वातकलाकलशब्दमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (चसू. १२.१)

-कुण्डलिका-स्त्री., रोग० त्रयोदशमूत्राघातेषु एकः मूत्ररोगः (सुसू. २३.८; चसि. ९.४०) सम्प्राप्तिः-रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा मूत्राशयस्थितः कुण्डलीकृतो विगुणो वायुः शनैः शनैः अल्पाल्पं मूत्रं सृजति (सुउ. ५८.६) लक्षणम्-मूत्रावरोधः बस्तिस्थाने तीव्रशूलं गौरवं भग्नाकारवेदना मूत्रविट्सङ्गादिश्च भवति (चसि. ९.४०; असंनि. ९) याप्यरोगोऽयम्, चिकित्सा-कषायकल्कसर्पींषि भक्ष्यान्लेहान् पयांसि च क्षारमद्यासवस्नेदान् उत्तरवस्तिं च कारयेत्। सर्वेऽपि मूत्राघाताः प्रायशो वातजन्याः; तस्मात् वातघ्नो विधिरत्र हितः (ड. सुउ. ५८.२७-२८)

-खुडता-स्त्री., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (असंसू. २०)

-खुड्डता-स्त्री., वातरोग० वातखुड्डता, अशीतिवातविकारेष्वेकः, 'चालुक' इति प्रसिद्धः (चसू. २०.११)

-गजाङ्कुश-पु., पारदयोग० पारदलोहगंधकताल-माक्षिकादिसाधितोऽयं वातविकारघ्नः (र. २१.१५६-१५७

-गुल्फ-पु., वातरोग० अशीतिवातरोगेष्वेकः, गुल्फसन्धिस्थः वातप्रकोपः (कासू. २७.१९-२०)

-ग्रह-पु., लक्षण० बातावरोधः, गुदस्थितकुपित-वातलक्षणम् (चचि. २८.२६)

-(घ्न)-वि., वातनाशकम्, यथाऽन्नम् (असंसू. ५)

-घ्नगण-पु., गण० वातोद्भवपीडानिवारकः द्रव्य-समूहः (सुउ. २१.२८) वातघ्नानि द्रव्याणि-शालिपर्णी-पृश्निपर्णी-बृहती--कण्टकारिका-बला-श्वदंष्ट्रा-बिल्व-पाठा-नागरधान्यकानि (ड. सुउ. ४०,१४७)

-घ्नतैल-न., वातघ्नद्रव्यैः सिद्धं तैलम् (अहसू. ३.१०)

-घ्नी-स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११४; पृ. २३)
अश्वगन्धा (रा. ४.४०१; पृ. ६२)
सिगृडी (रापरि. ४३१; पृ. ३३७)

-जित्पत्र-न., वातशमनपत्रम्, यथा एरण्डपत्रादि (अहसू. १७.५)

-तर्ष-पु., रोग० वातजतृष्णा (चक. १२.१२)

-धामन्-न., वातस्थानम्, यथा पक्वाशयादि (असंसू. २८)

-निग्रह-पु., वातवेगस्य नियमनम् (चसू. ७.१२)

-निरसन-न., वातनिःसरणम् (सुशा. ६.२५)

-निरोध-पु., लक्षण० वाताऽप्रवर्तनम्, अधोवाता-ऽप्रवर्तनम्, अपानवायोरप्रवृत्तिः (सुउ. ५६.८)

-पर्याय-पु., नेत्ररोग० अस्मिन् प्रदुष्टः वातः कदाचित् पक्ष्मद्वये कदाचित् अक्षिणि कदाचिद्भ्रुवि पर्यायेण रुजः करोति (सुउ. ६.२५) वातपर्याये तर्पणं योज्यम् (अहसू. २४.२)

-पित्ताधिक-वि., वातपित्तेऽधिके यस्मिन् सः (नरः; (चसू. १३.१९)

-पूर्णकोष्ठता-स्त्री., लक्षण० वातपूर्णोरस्कता इदमपस्तम्भ-मर्मविद्धलक्षणम् (सुशा. ६.२५)

-पूर्णदृतिस्पर्श-पु.,लक्षण० दृतिश्चर्मकोशः वातपूरित-चर्मकोशवत् स्पर्शः (चचि. २८.३७;असंनि. १५)

-पोथ-पु., वनस्पति० पलाशः (चचि. ३.२५८) ध. ५.१६१; पृ. २०३)

(वात)-प्रकृति-स्त्री., दोषप्रकृति० (चवि. ६.१३) तनुरूक्षस्तब्धाल्पाङ्गदन्तनखरोमनेत्रस्वरउद्वद्ध-पिण्डिकः शीतद्वेषी, सशब्दसन्धिगामी, शीघ्रा-रम्भक्षोभग्रहणविस्मरणश्चलधृतिमतिगतिदृष्टि-स्वभावसौहार्दः, स्तेनोऽनार्यो मत्सर्यजितेन्द्रियः, प्रियगान्धर्वेतिहासविलासकलहमृगयोद्यानयात्रः, स्निग्धोष्णमधुराम्ललवणान्नपानकाङ्क्षोपशयश्च भवति (असंशा. ८.९) स्फुटितधूसरकेशगात्रो बहु-प्रलाप्यल्पवित्तजीवितनिद्रः सन्नसक्तचलजर्जरशब्दो नास्तिको बह्वशनः कृशदीर्घाकृतिर्न च कान्ता-दयिताबहुप्रजो न दृढः, नेत्राणि-खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि, सुप्ते सति तानि उन्मीलितानीव भवन्ति। श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखु-सदृशवृत्तिः, सुप्तः शैलद्रुमगगनानि पश्येत्। गगने च याति (अहशा. ३.८५-८९) प्रजागरूको दुर्भगः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशो हिंसाशीलो दन्तखादी कृतघ्नो द्रुतगतिः (सुशा. ४.६४-६७) उष्ट्रो वातप्रकृतिः पशुः (सुशा. ४.६७) ते एते वातप्रकृतयो लघुत्वात्-लघुचपलगतिचेष्टाऽऽहारव्याहाराः, चलत्वात्-अनवस्थितसंध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणि-पादाः, बहुत्वात्-बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः, शीघ्रत्वात्-शीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः, शीघ्र-त्रासरागविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्यात्- शीताऽसहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपक-

स्तम्भाः, पारुष्यात्–परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः, वैशद्यात्–स्फुटिताङ्गावयवाः सततसंधिशब्दगामिनश्च (चवि. ८.९८)

–बलास–पु., रोग० वातस्यावरणेन बलमस्त्यस्मिन् शोणिते इति (चक्र.) वातरक्तम्, (चचि. २९.११)

–बलासक–पु., रोग० ज्वरभेदः, तल्लक्षणं–नित्यं मंदज्वरः रुक्षः शूनकः स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठः व्याधितो भवति (मानि.) द्र० ' ज्वर '
(चचि. १, (३) ३५; सुउ. ३९.५८)

एक ज्वर. लक्षणे— नेहमी मंद ज्वर, रूक्षता,

–बस्ति–पु., मूत्ररोग० (चसि. ९.३७) मूत्राघातेष्वेकः, सम्प्राप्तिः लक्षणं च–मूत्रवेगविधारणाद्बस्तिगतः प्रकुपितः वायुः बस्तिद्वारं निरुणद्धि । तेन मूत्रसङ्गः बस्तिकुक्षिनिपीडनं कण्डूश्च भवति (सुउ. ५८.९-१०) अधिकवायुकोपात् कदाद्बस्तिं स्वस्थानात्प्रच्याव्य गर्भमिवोद्वृत्तं स्थूलं परीष्ठुतं च कुरुते । तत्र शूलं स्पन्दनं दाहः उद्वेष्टनं बिन्दुशः मूत्रस्रवणं च । बस्तौ पीडिते सति धारया मूत्रप्रवृत्तिः (इन्दु असंनि. ९.१९-२०)
साध्यासाध्यता–उभयविधोऽपि वातबस्तिः कृच्छ्रसाध्यः, तत्र द्वितीयो वातप्रबलः कृच्छ्रसाध्यतरः (असंनि. ९.२१)

–बुद्बुद–पु., वारिबिम्बुकी (वै. श. सि.) वातकृतो बुद्बुदः, बस्तिप्रदानात्पूर्वं बस्तियन्त्राद्वातस्य बुद्बुदं निःसारयेत् (असंसू. २८)

–मूल–न., वातस्य मूलमादिकारणम् (चसू. २०.१३)

–यन्त्र–न., वातसञ्चालकं यन्त्रम्, व्यजनम्
(चचि. २४.१५८)

–रक्त–न., वातमिश्रितं रक्तम्, यथा वातरक्तवहसिरालक्षणम्, श्यावारुणाः प्रस्पन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्णरिक्ता वातरक्तं वहन्ति (असंशा. ६)
रोग० वातशोणितम् (चचि. २९.१; सुसू. २४.९)
वातबलासः, वातबलाशः (चचि. २९.११)
वातास्रम् (अहसू. ११.९) खुडः, आढ्यरोगः, आढ्यवातश्च इत्यपि पर्यायाः (सुचि. ५.५)
वातरक्ताभ्यां जनितः व्याधिः (चचि. २९.१)
रक्तदोषजविकारेष्वेकः (चसू. २४.१२; सुसू. २४.९) विवृद्धो वायुः वृद्धेन रक्तेन पथि आवृतो रक्तं सन्दूषयेत् (चचि. २९.१०-११) तदा तोदस्फुरणभेदगुरुत्वसुप्तिक्षतादि–लक्षणान्वितं पीडनं हस्तपादाद्यङ्गुलिसन्धिषु भवति (असंनि. १६) दोषप्राधान्याद्वातरक्त इति व्यपदेशो न तु रक्तवात इति (मधुकोष. मानि.)
विशेषस्थानम्–करौ पादौ अङ्गुल्यः सर्वसन्धयश्च (चचि. २९.१२) हेतुः सम्प्राप्तिश्च–लवणरसस्यातियोगेन जायमानेषु विकारेष्वेकः
(चसू. २६.४३(३)) प्रायशः स्थूलः सुखी सुकुमारो मिथ्याहारविहारी च पुरुषो वातरक्तस्य विषयः (सुचि. ५.५) लवणाम्लकटुक्षारादि–दिवास्वप्नप्रजागरान्तैः कारणैः मिष्टान्नसुखिभोजिनां सुकुमाराणां चङ्क्रमणरहितानां वातशोणितं कुप्यति (चचि. २९.५-१०) रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चाऽतिपीडनात् (सुनि. १.४०-४१) उक्तेन निमित्तेन तथा हस्त्यश्वोष्ट्रपादातिगमनेन च वातप्रकोपनिमित्तेन विदाह्यन्नभक्षणेन रक्तदुष्टिनिमित्तेन चाखिलं दुष्टं रक्तं पादयोश्चीयते । पश्चादाखुविषमिव देहमनुसर्पति (सुचि. ५.४) पूर्वं विशेषायानयानाद्यैः प्रलम्बौ हस्तौ पादौ दुष्टं रक्तं धावति (असंनि. १६) संख्यासम्प्राप्तिः–वातपित्तरक्तकफत्रिदोषाधिक्यैः वातरक्तं पञ्चविधम् (मानि) विधिसम्प्राप्तिः–द्विविधं वातरक्तं गम्भीरमुत्तानं च (चसू. १९.३) त्वङ्मांसाश्रयं वातशोणितमुत्तानं ज्ञेयम् (चचि. २९.१९) गम्भीरधात्वाश्रयं वातशोणितं गंभीरं ज्ञेयम् (चचि. २९.१९) उत्तानमेव कालान्तरेण सर्वान्धातूनभिद्रवद्गम्भीरं जायते (असंनि. १६) गम्भीरं वातरक्तमवगाढमित्येके भाषन्ते (सुचि. ५.३) लक्षणम्–तत्र उत्तानस्य लक्षणम्–त्वक्कण्ड्वादिसंयुताऽऽताम्रा श्यावलोहिता दाहतोदस्फुरणाकुञ्चनयुक्ता भवति (चचि. २९.२०; असंनि. १६) उत्तानं कुष्ठवद्भूत्वा कालान्तरेणावगाढीभवति (सुचि. ५.३) अवगाढस्य गम्भीरस्य वा लक्षणम्–गम्भीरे वातशोणितेऽन्तर्भृशार्तिमाँस्तब्धः कठिनः श्यावस्ताम्रो दाहतोदस्फुरणपाकवान् श्वयथुर्भवति । रुग्दाहान्वितो वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु छिन्दन्निव चरति वेगाँश्च सन्नन्तो वक्रीकुर्वञ्छरीरे सर्वतश्चरन्खञ्जं पङ्गुंच करोति (चचि. २९.२०–२३; असंनि. ६) पूर्वरूपम्–प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ, वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौपसमन्वितौ, पादौ भवेताम् (सुनि. १.४७) तोदो दाहः कण्डूः शोफः स्तम्भः स्तब्धता त्वक्परुषता शिरास्नायुधमनीनां स्पन्दनमूरुदुर्बलता पाणिपादतलाङ्गुलिगुल्फमणिबन्ध-

प्रभृतिषु चावयवेषु अकस्माच्छ्यावरक्तमण्डलानामुत्पत्तिः (सुचि. ५.४) काष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षते रुक् च भवति, इति वातासृक्पूर्वं लक्षणम् (चचि. २९.१६-१८) वाताधिकवातरक्तलक्षणम्–स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोषस्वापोपेतौ पादौ भवतः (सुनि.१.४५) सिरायां शूलस्फुरणतोदनं शोफस्य रूक्षत्वकृष्णत्वश्यावतावृद्धिहानयो धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचः, अङ्गग्रहोऽतिरुक्शीतद्वेषः शीताऽनुपशयः स्तम्भो वेपथुश्च (चचि. २९.२५-२६; असंनि. १६) पित्ताधिकवातरक्तलक्षणम्–पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ अत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदू च पादौ भवेताम् (सुनि. १.४५) विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छामदस्तृष्णा स्पर्शाक्षमत्वं रुग्रागः शोफे भृशोष्मता पाकश्च भवति (असंनि. १६; चचि. २९.२७-२८) रक्ताधिकवातरक्तलक्षणम्–अतिरुक्तोदवाँस्ताम्रः कण्डूक्लेदसमन्वितः शोफः। तत्र चिमचिमायनं स्निग्धरूक्षाभ्यामनुपशयत्वं च (असंनि.१६;चचि. २९.२७-२८) कफाधिकवातरक्तलक्षणम्–पादौ कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ पीनस्तब्धौ भवेताम् (सुनि. १.४६) स्तैमित्यं गुरुता सुप्तिः स्निग्धत्वं शीतता मन्दा कण्डूर्मन्दा च रुग्भवति (असंनि. १६;चचि.२९.२९) त्रिदोषजवातरक्तलक्षणम्–सर्वैर्दुष्टे शोणिते दोषाः स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति। हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्वन्द्वत्रिदोषजम् (चचि. २९.२९) उपद्रवाः-अस्वप्न – अरोचक – श्वास – मांसकोथ – शिरोग्रह–मूर्च्छा–मद–रुक्–तृष्णा–ज्वर–मोह–प्रवेपक-हिक्कापाङ्गुल्य–विसर्प–पाक–तोद–भ्रम–क्लम–अङ्गुलिवक्रता–स्फोट–मर्मग्रह–अर्बुदरूपा उपद्रवा भवन्ति (चचि. २९.३२) साध्यत्वादि–एकदोषानुगं नवं निरुपद्रवं वातशोणितं साध्यम् द्विदोषजमकृत्स्नोपद्रवं याप्यम् (चचि. २९.३०-३४) द्विदोषजं नवं याप्यम् (असंनि. १६) संवत्सरोत्थितं याप्यम्। (सुनि. १.४९-५०) त्रिदोषजं कृत्स्नोपद्रवमेकेनाऽपि मोहाख्योपद्रवेण युक्तं संप्रस्रावि विवर्णं स्तब्धमर्बुदकृत् सङ्कोचकरमिन्द्रियतापनमसाध्यम् (चचि. २९.३०-३४; असंनि. १६) आजानुस्फुटितं प्रभिन्नं प्रसृतम् उपद्रवैर्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिरसाध्यम् (सुनि. १.४९-५०) रिष्टलक्षणम्-मोहमूर्च्छामदानिद्राज्वरान्वितं शिरोग्रहाऽरुचिश्वाससङ्कोचकोथवत् रिष्टं विद्यात् (असंशा. ११.३३) शाखासन्धिषु निविश्य वातो रक्तमार्गं निहत्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिरसून्हरति (असंनि. १६) चिकित्सा–बलक्षयमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तम्भारोचकाविपाकप्रसरणसङ्कोचनैरनुपद्रुतं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत (सुचि. ५.६) जलौकोभिः वातशोणितिनः स्निग्धस्य बहुशोऽल्पाल्पं रक्तं हरेत् । पालयन्वायुं यथादोषं यथाबलं रक्तमोक्षणं कार्यम् (अहृचि. २२.१-२) स्नेहयित्वा स्नेहयुक्तैर्विरेचनैर्विरेचयेत् (अहृचि. २२.५) बस्तिं च दद्यात्, 'नहि बस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम् ।' (अहृचि. २२.१३) उपनाह–परीषेक–प्रदेह–अभ्यञ्जन–अप्रवातगृह–हर्षण–मृदुगण्डोपधानानि सुखशयनानि मृदुसंवाहनानि च वातरक्ते प्रशस्यन्ते (सुचि. ५.१५-१६) 'गुग्गुलुकल्पः उपयुक्तः ' (सुचि. ५.४५) तत्र अपथ्यम्–व्यायाम–मैथुन–कोप–उष्णाम्ल–लवणाशन–दिवास्वप्न–अभिष्यंद्यन्न–गुर्वन्नानि विवर्जयेत् (सुचि. ५.१७)

–रेतस्–न., लक्षण० अष्टरेतोदोषेष्वेकः, वातदुष्टं रेतः शुक्रम् वातेन तनु रूक्षं फेनिलमरुणं विच्छिन्नं सरुजं चिरान्निष्च्यते (असंशा. १)

वि., वातदुष्टं रेतः यस्य सः अयं प्रजोत्पादनासमर्थः (सुशा. ३.३)

–रोग–पु., रोग० वातकृतदुःखम् अष्टदुश्चिकित्स्यमहागदेष्वेकः (सुसू. ३३.४-५) वातजन्यो रोगः (सुनि. १.१)

वातदोषदूष्यसम्मूर्च्छनविशेषरूपः सर्वाङ्गैकाङ्गरूपो व्याधिः वात व्याधिरुच्यते (चचि. २८) हेतुः सम्प्राप्तिश्च रुक्षशीताल्पलघ्वन्नसेवनं व्यवायोऽतिप्रजागरो विषमोपचारो दोषरक्तातिस्रावो लङ्घनप्लवनातिगमनव्यायामाः धातुसंक्षयचिन्ताशोकरोगातिकर्षणदुःखशय्यासनक्रोधदिवास्वप्नवेगसन्धारणमभिघाताभोजनमर्माघाताः गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनानि इत्येतैः कारणैः क्रुद्धो वातः सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्विविधान्वातरोगान्करोति (चचि. २८.१५-१९) वर्षासु वर्षान्ते निशान्ते दिवसान्ते वयोऽन्ते जीर्णान्ते वातजो रोगो भवति (चचि. ३०.३०९-३१२) यदा प्रकुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते तदा वातजा रोगा जायन्ते (सुशा. ७.९) देहे रिक्तानि स्रोतांसि पूरयित्वा बल्यनिलो विविधान् व्याधीन् करोति

(चचि. २८.१८-१९) हीनमात्रभोजनाद्वातरोगा भवन्ति (अहसू. ८.३) पूर्वरूपम्–वातव्याधीनाम् अव्यक्तं लक्षणं पूर्वरूपम् (चचि. २८.१९-२०) लक्षणानि–पर्वणां सङ्कोचः स्तम्भो भेदश्च। अस्थिभेदो रोमहर्षः प्रलापः पाणिपृष्ठशिरोग्रहः खाञ्जपाङ्गुल्यकुब्जत्वमङ्गानां शोषोऽनिद्रता गर्भशुक्रजोनाशो गात्रस्य स्पन्दनं सुप्तता च शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्च हुण्डनंभेदस्तोदार्तयः आक्षेपोमोह आयासः इत्येवंविधानि रूपाणि कुपितोऽनिलः करोति। हेतुस्थानविशेषाच्च कुपितोऽनिलो रोगविशेषकृच्चवेत् (चचि. २८.२०-२४) अशीतिर्वातविकाराः–नखभेदो विपादिका पादशूलं पादभ्रंशः पादसुप्तता वातखुड्डुता गुल्फग्रहः पिण्डिकोद्वेष्टनं गृध्रसी जानुभेदो जानुविश्लेष ऊरुस्तम्भ ऊरुसादः पाङ्गुल्यं गुदभ्रंशो गुदार्तिर्वृषणाक्षेपः शेफःस्तम्भो वङ्क्षणानाहः श्रोणिभेदो विड्भेद उदावर्तः खञ्जत्वं कुब्जत्वं वामनत्वं त्रिकग्रहः पृष्ठग्रहः पार्श्वमर्द उदरावेष्टो हृन्मोहो हृद्रवो वक्षउद्धर्षो वक्षउपरोधो वक्षस्तोदो बाहुशोषो ग्रीवास्तभो मन्यास्तम्भःकण्ठोद्ध्वंसो हनुभेद ओष्ठभेदोऽक्षिभेदो दन्तभेदो दन्तशैथिल्यं मूकत्वं वाक्सङ्गः कषायास्यता मुखशोषोऽरसज्ञता घ्राणनाशः कर्णशूलमशब्दश्रवणमुच्चैःश्रुतिर्बाधिर्यं वर्त्मस्तम्भो वर्त्मसङ्कोचस्तिमिरमक्षिशूलमक्षिव्युदासो भ्रूव्युदासः शङ्खभेदो ललाटभेदः शिरोरुक्केशभूमिस्फुटनमर्दितमेकाङ्गसर्वाङ्गरोगः पक्षवध आक्षेपको दण्डकस्तमो भ्रमो वेपथुर्जृम्भाहिक्का विषादोऽतिप्रलापो रौक्ष्यं पारुष्यं श्यावारुणावभासताऽस्वप्नोऽनवस्थितचित्तत्वं चेत्यशीतिर्वातविकाराः (चसू. २०.११) उपद्रवाः–प्राणक्षय मांसक्षय श्वासतृष्णाशोषच्छर्दिज्वरमूर्च्छाऽतिसारहिक्कारूपाः (सुसू. ३३.५-६) साध्याऽसाध्यत्वम्– निरुपद्रवा बलवतः नवा वातरोगाः साध्याः। सन्धिच्युत्यादयः वातरोगाः स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात्कदाचित्सिध्यन्ति न वा सिध्यन्ति (चचि. २८.७२-७४) रिष्टलक्षणानि–शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितं नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् (सुसू. ३३.७; असंशा. ११.३२) चिकित्सा–स्नेहः स्वेदोऽभ्यङ्गो बस्तिः स्नेहविरेचनं शिरोवस्तिः शिरःस्नेहः स्नैहिको धूमः सुखोष्णः स्नेहगण्डूषः, स्नैहिकं नस्यम्। रसाः मांसानि क्षीराणि स्नेहाः स्नेहयुक्तं च यत्स्यात्तत्सर्वम् उपयोज्यम् भोजनानि फलाद्यम्लयुक्तानि, स्निग्धानि, लवणानि; सुखोष्णाः परीषेकाः, संवाहनानि कुङ्कुमागरुपत्राणि, कुष्ठैलातगराणि, कोशेयौर्णिकरोमाणि, गुरूणि कार्पासानि, निवातातपयुक्तानि गर्भगृहाणि, मृद्वी शय्या, अग्निसन्तापः ब्रह्मचर्यमित्यादीनि योजनीयानि वातरोगेषु (सुचि. ४.२१-२६; चचि.२८.७५-८३) स्निग्धस्विन्नस्य हि तोदभेदनाऽऽयामशूलादयो वातविकाराः शीघ्रमुपशाम्यन्ति। स्नेहश्च धातून्पुष्णाति बलं च देहे जनयति। तस्मात्पुनः पुनः स्नेहस्वेदौ शीलयेत्। तन्मृदूकृते च कोष्ठे नावतिष्ठन्त्यनिलाऽऽमयाः। सर्वशरीरगते वायौ विशेषतः पक्वाशयाऽऽश्रिते मृदुस्नेहविरेचनमेरण्डतैलं वा क्षीरेण दद्यात्। एवं हि विशुद्धस्रोतसोऽनावृतः पवनो विचरन् आशु शान्तिमेति। दुर्बलेऽविरेच्ये निरूहं पाचनीयदीपनीयद्रव्ययुक्तं भोजनं देयम्। एवमपिच अनिवृत्तौ अवपीडकस्नेहान् बस्तिकर्म च प्रयोजयेत् (असंचि. २३) यदा स्नेहस्वेदैर्दुर्हृतः श्लेष्मा पक्वाशये स्थितो, यदा वा पित्तं पक्वाशयगतं रूपं दर्शयेत्तदा तत्र बस्तिर्विनियोज्यः (अहचि. २१.८३) बलातैलादि विविधः सिद्धः स्नेहः पाने नस्येऽन्वासनेऽभ्यञ्जने च योग्यकाले सम्यक्प्रयुक्तो दुष्टान् वातान् आशु शान्तिं नयेत् (अहचि. २१.८२)

–रोगिक–वि., वातरोगविषयकः, यथाऽध्यायः (चसू. २८.२९)

–रोगिन्–वि., वातव्याध्यातुरः (चचि. २८.१०५.१०६; असंशा. २.२)

–वर्ण–पु., वातस्य वर्णः, यथाऽरुणकृष्णादिः। यद्यप्यव्यक्तस्य वायोर्वर्णोऽसम्भवस्तथाऽपि वातदुष्टे दूष्ये वातेनारुणकृष्णौ वर्णौ भवतः तौ च पञ्चमहाभूतविकारात्मनः भवतः (ड. सुशा. २.४)

–वहस्रोतस्–न., स्रोतो० वातं यत्स्रोतः वहति, तद् (सुउ. ५५.३८) द्र० 'स्रोतस्'

–वाहिनी–स्त्री., सिरा० बाहुल्याद् वातं बहन्ती वातवाहिनीनां संख्या पञ्चसप्ततिशतं भवति, (सुशा. ७.६) विशेषस्थानं तानि श्रोणिगुदपक्वाशयाः (सुसू. २१.६)

–विकार–पु., वातरोगः, तेच अशीतिसंख्याकाः (असंसू. २०) द्र० 'वातरोग'

-विध्वंसन-पु., पारदयोग० पारदाभ्रककांस्यशुल्बादिसाधितोऽयम्, अशीतिवातरोगहरः (र. २१.१२४-१३४)

-विनाशनी-स्त्री., वनस्पति० कर्तृणभेदः, कपटम् (ध. १.८२; पृ. २२) द्र० 'कर्तृण'

-विपर्यय-पु., नेत्ररोग० लक्षणम्-नेत्रं जिह्मं शूनं च भवति तीव्रा व्यथा पैच्छिल्यादिराहित्यं च (असंउ. १८)

-वृद्धि-स्त्री., वातदोषस्य वृद्धिः (अहसं. ११.२४) पु., रोग० वातकृतो वृद्धिरोगः कुरण्डः (मानि.)

-वृष्टि-स्त्री., वातेन मिश्रिता वृष्टिः (ड. सुसू. ६.२४)

-वेदना-स्त्री., वातकृतं दुःखम् पीडा वा यथा-तोदभेदादिः (सुक. ४.३७; सुशा. २.४)

-व्याधि-पु., रोग० वातदोषकृतः रोगः (चसू. १३.४४) द्र० 'वातरोग'
वि., वात एव व्याधिर्यस्य रोगिणः स (नरः) (चइ. ९.८-९)

-व्याधिचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि.४.१; चचि. २८.१; असंचि. २३; अहचि. २१.१)

-व्याधिनिदान-न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १.१; असंनि. १५; अहनि. १५.१)

-शमन-वि., बातस्य शमनं करोति इति, यथा द्रव्याणि भद्रदार्वादीनि वातघ्नानि विदार्यादिगणो वीरतरादिगणश्च, बृहत्पञ्चमूलं लघुपञ्चमूलं वल्लीपञ्चमूलं कण्टकपञ्चमूलं जीवनपञ्चमूलं मध्यमपञ्चमूलं चेति वातशमनानि (असंसू. १४)

-शूल-पु., लक्षण० वातेन कृतः शूलः (चइ. १०.१३) रोग० शूलरोगभेदः, वातजशूलः (मानि.) द्र० 'शूल'

-शूलास्त्र-न., सिद्धयोग० वातशूलनाशकः (र. १८.१३१-१३३)

-शोणित-न. रोग० वातरक्तम् (चसू. २४.१२; सुसू. २४.९; र. २१.८०)

-शोणितचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० चचि. २९.१)

-शोणितिक-वि., वातरक्तरोगयुक्तः (चसू. १३.३५)

-शोथ-पु., रोग० शोथभेदः वातजः शोथः, वातिकः शोथः (काखि. १७; चसू. १८.७.(१)
द्र० 'शोथ'

-शोफ-पु. रोग० शोथरोगभेदः, वातशोथः (अहनि. १३.३०; चचि. १२.७५) द्र० 'शोथ'

-श्लेष्मसमुत्क्लेश-पु., लक्षण० वातस्य श्लेष्मणश्च उद्रिरणम् (चसू. ५.३४)

-श्लेष्महरगण-पु., द्रव्यगण० वातकफहरद्रव्यसङ्ग्रहः शालिपर्णी - पृश्निपर्णी-बृहती-कण्टकारिका-बला-श्वदंष्ट्रा-बिल्व-अग्निमन्थ-पाठा-नागर - धान्यक-शठी-पलाश- हपुषा- वचा - जीरक - पिप्पली-यवानी-पिप्पलीमूल-चित्रक-गजपिप्पली-वृक्षाम्ल दाडिमाम्ल-हिङ्गु-बिड-सैन्धवानि इत्येतैः सम्पन्नो वातश्लेष्महरः गणः (चचि. १९.२६-२८) तद्गुणाः-दीपनः पाचनो ग्राही बल्यो रोचनोऽतिसारिणां शस्तश्च (चचि. १९.२९)

-श्वयथु-पु., लक्षण० वातसम्भवः शोथः (काखि. १७.१४) द्र० 'शोथ'

-सङ्ग-पु., लक्षण० वातस्याप्रवृत्तिः, सक्तिः (चचि. ५.१०)

-सङ्घात-पु., वातरोगसमूहः (र. ११.२१)

-सम्भव-वि., वातादुत्पन्नः यथा-वातसंभवः श्वयथुः (काखि. १७.१४)

-संरोधजरुजा-स्त्री., लक्षण० वातमार्गसंरोधादुत्पन्नः शूलः (सुसू. ४४.४९)

-संशमनवर्ग-पु., द्रव्यगण० वातघ्नगणः (सुसू. ३९.७)

-सह-वि., वातं सहमानः (चसू. १३.४७)

-सहत्व-न., लक्षण० वातं सोढुं शीलमस्य सत्त्वम् वातसहिष्णुत्वम् (चनि. १.३३)

-साधारण-वि., न च वातं कोपयति न च वातं शमयति इति, यथा शशः (सुसू. ४६.८०)

-सार-पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०७; पृ. २७)

-स्थान-न., वातदोषस्य स्थानम् (चसू. २०.८; असंसू. २०)

-हत-वि., वातेन हतम्, यथा-शाकम् (चसू. २७.३१६)

-हतवर्त्मन्-न., नेत्ररोग० नेत्रवर्त्मगतो रोगः लक्षणम्-यदा वर्त्म विमुक्तसन्धि निष्क्रियम् अशक्यनिमीलनं सरुजमरुजं वा तदा तद्वातहतवर्त्म विद्यात् (सुउ. ३.२३; असंउ. ११)
पु., वातशमनवर्गः (गणः) द्रव्याणि-भद्रदारु-कुष्ठ-हरिद्रा-वरुण - मेषशृङ्गी- बला - अतिबला-आर्तगल-कच्छुरा - सल्लकी- कुबेराक्षी - वीरतरु-

सहचर–अग्निमन्थ–वत्सादनी–एरण्ड–अश्मभेदक–अलर्क–अर्क–शतावरी–पुनर्नवा – वसुक – वशिर–काञ्चनक–भार्ङ्गी – कार्पासी – वृश्चिकाली – पत्तूर–बदर–यव–कोल–कुलत्थप्रभृतीनि, विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ इति (सुसू. ३९.७)

–हरमूल–न., वातघ्नवनपतिमूलम्, यथा दशमूलम् (सुचि. ५.७)

वातल–वि., वातदोषाधिकः (चवि.६.१६;अहसू.१४.८) वातप्रकृतिकपुरुषः (चसू. ७.३९) गर्भात्प्रभृति वातदोषाधिक्यं यस्य, सः (चवि. ८.९८) द्रव्यकर्म० वातवृद्धिकरम् । यथा 'कलायस्त्वतिवातलः' (अहसू. ६.१८) वातदुष्टिः, अयं बस्तियन्त्रदोषविशेषः (चसि. ५.६) पु., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १६.१४२; पृ. २२५)

(वातला)–वि., वातप्रकृतिः (नारी) (चचि. ३०.९)

वाताण्ड–पु., रोग० वातवृद्धिः, वातजाण्डवृद्धिः (असंउ. ४८) द्र० 'वृद्धि'

वातानुलोमन–न., वातस्यानुलोमनम्–स्वमार्गप्रवर्तनम् (अहसू. ५.७६) वि., वातानुलोम्यकरम्, मार्गावृतस्य वातस्य स्रोतःशुद्धिकरत्वेन स्वमार्गप्रवर्तकम्। यथा बिडं वातानुलोमनम् (सुसू. ४६.३१६)

वातानुलोम्य–न., उपक्रम० वातस्यानुलोमनम् (चसू. १३.५८)

वाताप्रवर्तन–न.,लक्षण० वातस्याप्रवर्तनम्, वातावरोधः (चसू. ७.८)

वाताघात–पु., रोग० अष्टमूत्रोपघातेष्वेको भेदः मूत्रोपघातः मूत्रकृच्छ्रः (ड. सुउ. ५९.३) लक्षणम्–वाताघातपीडितो मुष्कं मेहनं बस्तिं च पीडयित्वाऽल्पाऽल्पं मेहति वाताघातेन (सुउ. ५९.४) द्र० 'मूत्राघात'

वातातपस्थिति–स्त्री., रसायनभेदः, यच्च वातातपाद्यपरिहारस्थित्या रसायनं क्रियते (हे अहसू. २०-३६; असंसू. २९) वातातपिकम्

वातातपिक–न., रसायनभेदः, वातातपसेवयाऽपि यत्क्रियते तद् द्विविधरसायनप्रयोगयोः एकम्, (चचि. १.१६) 'रसायनानां द्विविधं, कुटी, प्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा (अहउ. ३९.५; असंसू. ४९)

वातात्मक–वि., वातप्रकृतिकः (सुचि. ३.३) वात आत्मा हेतुर्यस्य सः (वातिकः) यथा वातजविसर्पः (सुनि १०.४)

वातादि–वि., वात आदिर्येषां ते, वातपित्तकफाः (असंशा. ८)

वातादिधामन्–वि., वातादिस्थानस्थितम्; यथा रक्तम् (अहसू. २६.५५)

वातादिमार्ग–पु., वातादिवहानां मार्गः, वातादिवहानां दशधमनीनां हृदयं स्थानम्, रसवहा एव या दश धमन्यः हृदयाश्रया उक्तास्ता एव वातादिवहाः (चक्र. चचि. २४.३५)

वातादिविघात–पु., वातादिदोषबाधनम्(सुशा.१०.४६)

वाताध्मात–वि., वातदोषपूरितम्, यथा शरीरम् (चवि. ८.१२७)

वाताम–पु., न., फल० नेत्रोपमफलमुत्तरापथे प्रसिद्धम्। स्निग्धमधुरमज्जम् (सुसू. ४६.१८७-१८८; असंचि. २४; अहसू. ६.१२०) अमृतप्राशे उपयोज्जितमेकं द्रव्यम् (चचि. ११.३७) गुणाः–मधुरः उष्णः गुरुः स्निग्धो बृंहणो वृष्यो बलप्रदो वातघ्नः कफपित्तवर्धनश्च (चसू. २७.१५७) पित्तश्लेष्महरः (सुसू. ४६.१८७-१८८)

हिं.—बदाम मीठे, बदाम कडवे.

म.—गोडे बदाम, कडू बदाम.

गु.—बादाम मीठी, बादाम कडवी.

बं.—बादाम.

ता.—नटवडुम, बदाम कोट्टाई (नाड.)

फा.—बदामशीरी, बदाम तल्ख.

वातामादिगण–पु., गण० वातामादिद्रव्याणां समूहः। वातामाऽक्षोडाऽभिषुक निचुल-पिचु-निकोचक-उरुमाणप्रभृतीनि । गुणाः–पित्तश्लेष्महरः स्निग्धोष्णः गुरुः वातामवत् अस्य गुणाः (सुसू. ४६.१८७-१८८)

वातायन–न., भित्तिगवाक्षः (असंसू. २१.४)

वातारि–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४३) सूरणः (धपरि. ४.६; पृ. १६८) यवानी (रा. ६.१४०; पृ.८८) एरण्ड (रा. ८.४४५; पृ.६८) विडङ्गम् (रा. ६.१५; पृ. ७१) नीलः (रापरि. ९११.२०१; पृ. ३६४) भल्लातक (रा. ११.२०१; पृ. १२३) पारदयोग० पारदगन्धकत्रिफलाचित्रकादिसाधितोऽयं वृद्धिरोगनाशकः (र. १८.३१-३६; र. २१.४-९) वनस्पति० स्नुही (रा, ८.३५६; पृ. ५६)

निर्गुण्डीभेदः शेफाली, निर्गुण्डी (रा.४.१२१;पृ.५६)
पुत्रदात्री (रा. परि. ३.४७; पृ. ३३३)
भार्ङ्गी (रा. ६.९६ पृ. २०)

वातार्त–वि., वातपीडितः। स्नेहार्हेष्वेकः (अहसू. १६.६)

वातार्दित–वि., वातपीडितः (अहसू. १९.५२)

वातावृत–वि., वातेनाऽऽवृतः। यथा स्नेहः (चसि.४.२८)

वातावृतपथ–वि., वातेनावरुद्धं स्रोतः यस्य, सः (अहसू. १६.१०)

वाताशय–पु, वातस्याशयः पक्वाशयः। वातस्थानम्। पक्वाधानम् (सुशा. ५.८)
उदानवायोराधारः फुप्फुसः (शार्ङ्गधर)

वाताष्ठीला–स्त्री., रोग० (चचि. १३.१६२) वातेन प्रकुपितेन अष्ठीलावत् कृतो ग्रन्थिः। संप्राप्तिः–नाभेरधस्तात् पक्वाशये संजातः संचारी अचलो वाऽष्ठीलावद्वनोर्ध्वमायतोन्नतो ग्रन्थिः वातष्ठीलेति ज्ञायेत (सुनि. १.९०) लक्षणम्–स ग्रन्थिः संचारी वाऽचलो वा भवति। वातविण्मूत्रमार्गाणामवरोधं करोति (मानि) रिष्टलक्षणम्–अतिसंवृद्धा वाताष्ठीला हृत्संनिधौ तिष्ठन्ती हृदि दारुणा रुजाकरी अन्नद्वेषकरी च भवति। सा सद्यो जीवितं मुष्णाति (चइ. १०.४; सुसू. ३१.१८; असंशा. ११)
रोग० मूत्राघातरोगेष्वेकः, संप्राप्तिः–गुदबस्त्योरन्तरमाश्रितः अपानवायुः अष्ठीलावद्वनमचलमुन्नतं ग्रन्थिं करोति। लक्षणम्–तेन बस्तावाध्मानं विट्सङ्गो मूत्रसङ्गोऽनिलसङ्गः बस्तावातिवेदनादिलक्षणानि च भवन्ति (सुउ. ५८.७-८; असंनि. ९)

वातासहत्व–न., लक्षण० वातसोढुत्वाभावः (चनि. १.३३)

वातास्र–न., रोग० वातरक्तम् (र. १२.१-८)

वातिक–वि. वातप्रकृतिकः (मनुष्यः) (चसू. १३.८७) वातविकारवान् (चसू. १४.२७) वातभूयिष्ठः (सुशा. ४.६७)
वातहरं वाते हितम् (चक्र. चसू. १४.४४)
–षण्डक–पु., षण्डभेदः वाय्वग्निदोषाद्यस्य वृषणौ नाशं गतौ सः (चशा. २.२१)

वातेन्द्रिय–पु., न., नपुंसकभेदः सम्प्राप्तिः–यदा तु स्त्रीरतौ पुंसः पूर्वं कृतार्था सम्प्राप्तरत्यवसाना भवति ततोऽस्याः स्त्रियः पश्चात्पुंसः शुक्रमुत्सृष्टं भवति; रतिकालभूतेन हर्षेणानवस्थितचेतसः सत्या अत एव कारणाद्धातो दुष्टस्तच्छुक्रं पश्चादुत्सृष्टं विगुणीकरोति, गर्भशुक्रबीजभागे विकृतिमापादयत्यस्य गर्भस्य च स वातः पुंस्त्ववहानि स्रोतांसि चोपहन्ति; तदा जातो नपुंसको नाम्ना वातेन्द्रियो भवति। लक्षणम्– स स्त्रिया सङ्गतः शुक्रवन्मेढ्रेन वातमेवोत्सृजति (इन्दु असंशा. २)

वातोद्धत–वि., वातविक्षिप्तम्। यथा रेतः (चसू. ९.३२)

वातोपक्रम–पु., वातस्योपक्रमः उपचारः (अहसू. १३.१-३; असंसू. २१)

वातोपद्रव–पु., वातव्याधिः (चवि. ८.१२७)

वात्सकफल–न., वनस्पति० कुटजफलम् इन्द्रयवः (सुउ. ४०.४४)

वात्स्य–पु., काश्यपसंहितायाः प्रतिसंस्कर्ता (काइं.) वृद्धजीवकवंश्यः। अनेन काश्यपसंहितातन्त्रमनायासात् यक्षाल्लब्धं तत्पुनः संस्कृतम् (का संहिताकल्प. २५.२७)
–प्रतिसंस्कृत–वि., वात्स्यकृतप्रतिसंस्करणयुक्तम्। यथा वृद्ध-जीवकीयं तन्त्रम् (काइ.)

वाद–पु., परेण सह विगृह्य शास्त्रोपस्कृतं कथनम् बुभुत्सोः कथा वादः (चवि. ८.२८)
–मर्यादा–स्त्री., वादव्यवस्था, वादे इदं वाच्यमिदमवाच्यमेवं सति पराजितो भवतीत्येवंरूपा व्यवस्था (चवि. ८.२६)
–मार्ग–पु., वादपद्धतिः (चवि. ८.२७)
–मार्गपद–न., वादे मार्गदर्शकं पदम्। वादस्य मार्गः वादपद्धतिः, तत्रोपयुक्तं पदम् (चवि. ८.६६)
–विग्रह–वि., वादो विग्रहः शरीरमिव यस्य सः जल्पो वितण्डा वा (चवि. ८.६७)
–संघट्ट–पु., वादेऽन्योन्य पीडको मेलकः वादसंघर्षः (चसू. २५.२८)

वादनीय–पु., वनस्पति० वंशभेदः, रन्ध्रवंशः द्र० 'वंश' (रा. ७.२१६, पृ. १६२)

वादित्र–न., वाद्यम्। यथा मृदङ्गादि (सुचि. २४.१०१)
एतच्छब्देन विषभुक्तो नाम विषजुष्टो निर्विषतां याति (असंसू. ८)
–क्रिया–स्त्री., वाद्यवादनम् (असंसू. ३)

वादूल–पु., प्राणि० चर्मचटी। तस्य मांसरसपानं वातशामकम् (काखि. १०.११३)

वाद्य–न., वादित्रम्। भेरीपटहादीनि वाद्यानि (सुक. ३.१४-१५)

वाध्रीणस–पु., प्राणि० बिडालभेदः, जाहकम् (इन्दु. असंउ. १)

वानप्रस्थ–पु., वनस्पति० मधुकः (ध. ५.४५; पृ. १७७)

वानर–पु., प्रसहप्राणी० (अहसू. ६.४८) पर्णमृगवर्गीयः (सुसू. ४६.७६) वानं वनसम्बन्धि फलादिकं राति गृह्णाति इति, कपिः (चसू. २७.३५) सविषमन्नं दृष्ट्वा वानरः शकृन्मुञ्चति (अहसू. ७.१७) स दंष्ट्रानखविषः (सुक. ३.५)

(वानरी)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (र. ३०-४७)

वानसी–स्त्री. देश० कुरुक्षेत्रस्य दक्षिणदिग्भागे अयं देशविशेषः स्यादिति उन्नीतम् (खिल. २५.१३)

वानस्पत्य–पु., औद्भिद० चतुर्विधौद्भिदेष्वेकम्, पुष्पैः फलैर्युक्तः वानस्पत्यः (चसू. १.७१-७२) पुष्पफलवान्वृक्षः (चक. १.८)

न., सत्वभेद० तामससत्वस्य एको भेदः (चशा. ४.३९-(३))

वि., तामससत्वयुक्तः। यथा नरः (सुशा. ४.९७)

–काय–पु.,तामसकाय० लक्षणम्–यस्मिन्नरे एकस्थानरतित्वम्, नित्यम् आहारे एव रतिः, सत्वधर्मकामार्थवर्जितत्वम् इत्येवमादिगुणाः दृश्यन्ते स वानस्पत्यकायो ज्ञेयः (सुशा. ४.९७)

वानीर–पु., वनस्पति० वेतसभेदः, सुगन्धिमूलः (चक्र. चचि. ३.२५८) असुगन्धमूलम् (जेज्जट) (चचि. ३.२५८) आनूपदेशोद्भवः जलवेतसः (चक. १.८) वृन्तपुष्पः जलवेतसः (रापरि. ९.१७) गुणाः–तिक्तः कषायः शीतः सङ्ग्राही कफघ्नः पित्तास्रकफदोषव्रणरक्षोघ्नः (रापरि. ९.१७; पृ. ३६५; शालि. नि. पृ. ३४७)

हिं.—बेंत, जलबेंत.

म.—थोरवेत, वेत.

गु.—नेतर.

बं.—वेत, वयसा, जलवेत.

ता.—वेट्टम्.

फा.—वेत.

न., वनस्पति० उशीरभेदः, सुगन्धिमूलम् रक्तपित्ते प्रलेपार्थमुपयुक्तम्, द्र० 'उशीर' (चचि. ४.१०२)

–ज–पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०४; पृ. १६०)

न., कुष्ठम् (ध. ३.४९; पृ. १०५)

बानेय–न., वनस्पति० जलमुस्तम् (ध. १.४३ पृ. १६)

वान्त–वि., वमितः (चचि. ८.११९; सुचि. ३३.७) कृतवमनः (सुचि. ३९.३)

वान्ताद–पु., प्राणि० वान्तमत्तीति। प्रसहजातीयः प्राणिविशेषः, कुक्कुरः (चसू. २७.३६)

गुहाशयवर्गीयः (ड. सुसू. ४६.७२) श्वा (अरु. अहसू. ६.४९)

वाप–पु., आवापहः, प्रतीवापः, द्रव्ये द्रव्यान्तरप्रक्षेपणम् (र. ८.४६)

(वापी)–स्त्री., जलाशय० कूपभेदः (चसू. २७.२१४) इष्टकाभिर्बद्धा ससोपानतीर्था 'पुष्करिणी' ति लोके (ड. सुसू. ४५.४) पाषाणादिबद्धा ससोपाना स्वल्पा जलाधारिका (सुउ.६४.४१-४३) नववारिपूर्णा निःसारितपूर्वपानीया हृतमला निर्मलजलभृता। मद्यदाहशमनार्थं अवगाहनाय प्रशस्ता (सुउ. ४७.५८-५९) वापीजलगुणाः–मधुरं लघु च (असंसू. ६) कटु सक्षारं वातश्लेष्महरं पित्तलं च (सुसू. ४५.३३)

वापन–न., (परिव०) कर्म० मुण्डनम् (सुचि. २९.१२)

वाप्य–न., वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९; चचि. ७.१३०; र. २७.१०-११ पृ. १०५)

वि., वापीभवम् (जलम्) (सुसू. ४५.३३)

वामक–पु., नृप० काशिपतिः (चसि. ११.५; चसू. २५.५)

वामदेव–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवत पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.९)

ऋषि० अयं हिमालये इन्द्रादेशाद्रसायनप्रयोगं कृतवान् (चचि. १.(४).३)

वामदेव्य–वि., वामदेवेन इष्टम् यथा–साम (का जातिसूत्रीय शा. ८)

वामन–वि., ह्रस्वाकृतिः (चशा. ३.१५; असंशा. २) अत्यन्तह्रस्वशरीरः (सुसू. २४.५)

वामनापत्यत्वं दौहृदविमानजन्यम् (सुशा. ३.१८)

–त्व–न., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः अतिह्रस्वदेहत्वम् (चसू. २०.११; असंसू. २०)

वामनीय–वि., वमनकरम्। यथा मदनादि (सुचि. ८.२५)

वामपार्श्व–पु., शारीर० उदरोरसोः वामभागः (सुसू. ४६.४८७)

आसन० बस्त्यर्थमुपयुक्तः (अहसू. १९.२३)

वामपार्श्वाश्रय–वि., वामपार्श्वाश्रितम्। वह्निग्रहणीगुदबलीमुखानिवामपार्श्वाश्रितानि तत्पार्श्वशायिनस्तानि निम्नानि भवन्ति (असंसू. २८)

वामाचार–वि. विपरीतव्यवहारवान् । यथा–गर्हितदूतः (सुसू. २९.९-१५)

वामावर्ता–स्त्री.,वनस्पति० आवर्तकी (रा.३.२९७,पृ.४७)

वामिन्–वि., वामकम्, यथा–मदनवचादि (र. ५.४९)

(वामिनी)–स्त्री., रोग० विंशतियोनिव्यापत्सु एका (चसू. १९.४ (९)) सम्प्राप्तिः लक्षणं च–निषिक्तं शुक्रं गर्भाशयात्सरुजं नीरुजं वा मरुत् षडहात्सप्तरात्राद्वा बहिर्निरस्येत् (चचि. ३०.३३-३४; असंउ ३८) याऽऽर्तवमिश्रं सवातं शुक्रमुद्वमति दाहपाकादियुता च सा वामिनी योनिः (सुउ. ३८.१२)

वाम्य–वि., वमनार्हम् । अवाम्यं बमनाऽनर्हम् । वाम्याः– विष–शोष–स्तन्य दोष– मन्दाग्नि– उन्माद–अपस्मार–श्लीपद–अर्बुद–विदारिका–मेदो– मेह–गर–ज्वर–अरुचि–अपची–आमातीसार– हृद्रोग– चित्तविभ्रम–विसर्प–विद्रधि–अजीर्ण– मुखप्रसेक-हल्लास –श्वास–कास–पीनस–पूतीनास– कण्ठौष्ठवक्त्रपाक–कर्णस्राव–अधिजिह्वा–उपजिह्विका–गलशुण्डिका अधोगरक्तपित्त–कफस्थानजाः विकाराः (सुचि. ३३.१८ चसि. २.१०)

अवाम्याः–वमनानर्हाः-पुष्पिणी-ऋतुमती-कुटीगता-गर्भिणी-अल्पक्षीरा-लघुक्षीरा क्षीरच्छर्दनपुत्रा–प्रच्छर्दिनी–सुभगा पण्डितमानिनी–जाठरी–वातज्वरी–स्थूलः अक्षिरोगी–तृष्णालुः–मूर्च्छावान् निरूढानुवासितौ–क्षतक्षीणः–अतिबालः अतिवृद्धः–गुल्म-प्लीहोर्ध्वरक्तपित्तलोमव्यापत्कर्णरोगशिरःकम्पार्दिताः –अर्धावभेदक– सूर्यावर्त– रेवतीपौण्डरीक– शकुनि पूतनामुखमण्डिकार्ताश्च इत्येते न वाम्याः (कासि. ७; चसि. २.८)

वायवाल–न., रत्न० गारुत्मतम् (ध. ६.४९; पृ. २१६)

वायवी–स्त्री., छाया० रूक्षा इयावारुणा हतप्रभा छाया वायवी ज्ञेया। सा अकस्मादुत्पन्ना विनाशाय, सहजा तु क्लेशाय कल्पते (चइ. ७.११-१३)

वायवीय–बी., वायुगुणभूयिष्ठं (द्रव्यं कर्म वा) (चशा. ७.१६; सुसू.४१.४(४)) द्र०'वायव्यद्रव्यम्

वायव्य–वि., वायवीयम्; वातजः (रोगादिः) (चनि. १.४) यथा गुणाः–वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च (सुशा. १,१९)

(वायव्या)–स्त्री., वनस्पति० करञ्जभेदः अङ्गारवल्लिका (ध, ५.११०; पृ. १९१)

–द्रव्य–न., पाञ्चभौतिकमपि वायुगुणभूयिष्ठं द्रव्यम्। वायव्यद्रव्यस्य गुणाः– लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलम्; तत्कर्म–रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकरम् (चसू. २६.११; अहसू. ९.८)

–मर्मन–न., यत्र मर्मसु वातः भूयस्त्वेन अवतिष्ठते। तद्विशेषः– शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति । उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुः निष्क्रामति तस्मात्सशल्यो जीवति , उद्धृतशल्यो म्रियते । पाकात्पतितशल्यो वा जीवति (सुशा. ६.१६)

वायस–पु., पक्षि० प्रसहवर्गीयः (सुसू. ४६.७५ अहसू. ६.४९) वय एव वायसः। वयते वा (चसू. २७.३६)

(वायसी)–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (चक्र. चचि. १२.६३; सुचि. ९.२९; र. ३०.४७ ध. ४.२१; पृ. १३८)

काकादनी (रा. ३.४४; पृ. १३९)

काकनासा (रा. ३.४०; पृ. १३९)

काकजङ्घा (रा. ४.३८. पृ. १३९)

काकोदुम्बरिका (इन्दु. असंउ. ४४)

काकतिक्ता (सुचि. ९.२९)

तेजोवती (रा. ३.३९३; पृ. ६१)

शाक० काकमाचीशाकम् (असंचि. ४)

–तुण्ड–पु., अस्थिसन्धिभेद० वायसतुण्डाकृतिः सन्धिः। यथा हनुसन्धिः (सुशा. ५.२७; असंशा. ५)

–पीलुक–पु., वनस्पति० काकाण्डः, काकनन्दी। सैव वायसपीलुक इति जज्जटः (चचि. २३.२१७) गुञ्जा (इन्दु. असंउ. ४३)

वायसादनी–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९३; पृ. ६१)

काकादनी (रा. ३.४३; पृ. १३९)

वायसाह्वा–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.२५; पृ. १३८)

काकनासा (रा. ३.४१; पृ. १३९)

(वायसी)–शाक–न., शाक० काकमाचीशाकम् (असंचि. ४)

वायुसेक्षुक–पु., वनस्पति० काशः (ध. ४.१३०; पृ. १६०)

वायसोलिका–स्त्री., वनस्पति० काकोली (रा. ३.१६६; पृ. ३१)

वायसोली–स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२; पृ. ३१)

वायु–पु., वातः (चचि. २८.१४; चचि. ३०.२३; सुशा. ३.४) केवलवायुः अनावृतवातः। केवलं वायुमुद्दिश्य केचिद्वृद्दाः वेपथ्वादय उक्ताः। तथा चावृतं वातमुद्दिश्य केचिद्वृद्दाः (चक्र. चचि. २८.१४) पित्तसम्मूर्च्छितो वायुः पित्तेन सह एकतां प्राप्तः दाहादीन् करोति (चचि. ३०.२३)

–**कोण**–पु., वायव्यदिक्कोणः, रसशालायाः वायव्ये कोणे शोषणकर्म करणीयम् (र. ७.३-४)

–**कोप**–पु., वातप्रकोपः (असंसू. ३५)

–**चय**–पु., वातस्य सञ्चयः ग्रीष्मजातः (अहसू. १२.२४)

–**धातु**–पु., दोष० वात एव। शरीरधारकः वायवीयः शारीरभावः (चवि. ८.१२२)

–**निर्वाहिन्**–वि., व्रण० यस्माद्वायुर्बहिर्निर्गच्छति, सः (असंसू. ३८) वायुनिर्गमद्वारभूतः (अहसू. २९.५२)

–**परमाणु**–पु., वायोरत्यन्तः सूक्ष्मो विभागः (काजातिसूत्रीयशा. ३)

–**पिण्डक**–पु., नपुंसक० वातपिण्डकः। यदा पुंगर्भस्य वाय्वग्निदोषाद्दूषणनाशस्तदा वायुपिण्डकाख्यो नपुंसको भवति (असंशा. २)

–**प्रकोप**–पु., वातप्रकोपः वर्षासु वातः प्रकुप्यति (अहसू. १२.२४)

–**प्रशम**–पु., वातस्य शमनम्, शरदि वातस्य शमनं भवति (अहसू. १२.२४)

वाय्वात्मक–वि.. वायुरूपम्, वायवीयम्। यथा–स्पर्शनम् (चशा. ४.१२)

वाय्वामय–पु., वातरोगः (अहसू. १८.२६)

वार्–न., जलम् (रा. १४.३१८; पृ. २५८)

वारङ्ग–न., शङ्खनालम् (सुसू. २७.१२) ग्रहणस्थलम् यथा स्वस्तिकयन्त्रस्य (सुसू. ७.१०) शङ्खमस्तके शिखाकारोऽवयवः (अहसू. २८.२९)

वारड–पु., पक्षि० विष्किरजातीयोऽयम् (चसू. २७.४९) द्र० 'विष्किर'

वारण–पु., प्राणि० गजः (असंचि. ९; अहसू. ६.५०) न., निवारणोपायः (सुचि. २७.५)

–**काष्ठ**–न., पुन्नागकाष्ठम्, वरुणकाष्ठम्, सूतिकागारार्थमुपयुज्यते। (चशा. ८.३३)

–**केशर**–न., वनस्पति० नागकेशरम् (सुउ. ५०.२३)

–**मौक्तिक**–न., वारणस्य मस्तकोद्भूतं मौक्तिकम् (असंउ. ४२)

वारणक–पु., वनस्पति० करञ्जभेदः कण्टकीकरञ्जकः द्र० 'करञ्ज' (अहसू. १७.७)

वारपत्नी–स्त्री., वनस्पति० धरणीकन्दः (रापरि. ७.४२; पृ. ३५०)

वाराह–वि., वराहसम्बन्धी यथा वाराहरसः, वराहस्य मांसरसः (चसू. १३.८३)

–**कर्णी**–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (ध. १.२७२; पृ. ६२)

–**पित्त**–न., भैषज्य० वराहस्येदमिति वाराहम्, वराहस्य पित्तम् (चचि. ३०.७१)

–**पुट**–न., पुट० वराहसंज्ञितं पुटम्; तच्च अरत्निमात्रनिम्नविस्तारे चतुरस्रे खाते दीयमानं पुटम् (र. १०.५४-५५; र. २.४१-४२)

–**मदन**–पु., वनस्पति० महापिण्डीतक–स्निग्धपिण्डीतकभेदाद्विविधः। गुणाः–कटुः तिक्तः छर्दनः पक्वामाशयशोधनः कफरोगहृद्रोगहरः (रा. ८.२८; पृ. ३५९)

वाराहिकंद–पु., वाराही (सु. चि. १७.३६)

वाराही–स्त्री., कन्द० महाकन्दशाकम् (सुचि. ७.१०; र. १२.१२५)

वाराहीकन्दः

महौषधि० सोमसमवीर्या। तस्याः प्राप्तिस्थानम्–काश्मीरस्थं क्षुद्रकमानसं सरः। तत्र वसन्तर्तौ दृश्यते 'वसन्ते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते' (सुचि. ३०.५; सुचि. ३०.३२-३४)

वाराही–स्त्री., कन्द० गृष्टिकाकन्दः। गुणाः–तिक्तः कटुः शीतः हृद्यो बल्यः रसायनो वृष्यः कफपित्तघ्नः कुष्ठकृमिगरविषमेहघ्नः (ध. ४.९२; पृ. १५२)

हिं.—गेंठी, भिवोंलीकन्द.

म.—डुकरकन्द.

गु.—वाराहीकन्द, सुअरिआ, सालीवणावेल्य.

बं.—चामालु, चुवडिआलु.

–**मूल**–न., वाराहीकन्दः (वाराही) (सुचि. २७.११) वाराहीमूलरसायनम्–वाराहीकन्दकल्कं क्षीरचतुर्गुणं घृतद्रोणं पचेत्। अनेन क्रमेण शतपाकं घृतं द्रोणसंमितमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति। अन्ये पुनः अनुक्तं जलमेव चतुर्गुणमाहुः। यद्यपि स्नेहपानानन्तरं स्नेहभोजनं निषिद्धं तथाप्यत्र वाराह्या

शतपाकसंस्कृतस्य स्वभावतः शमनीयरूपस्य सर्पिषः पानाऽनन्तरं रसायनविधिना सर्पिषा भोजनं युज्यते इति न दोषः (ड. सुचि. २७.११)

वारि–न., द्रव्य० जलम् (ध. ६.३०२ पृ. २५५)
वनस्पति० वालकम् (ध. १.४७; र. २१.१९० पृ. १६)
कल्प० क्काथः । यथा त्रिफलावारि त्रिफलाक्काथः (सुचि. ५.४२)

–कोष्ठ–न., पाषाणादिविरचितं कुशूलाकारं जलपात्रम्; तदिदम् अवगाहार्थमुपयुक्तम् (सुउ. ६४.२५)

–ज–न., वनस्पति० कमलम्, रक्तपद्मम् (चचि. ४.१०४)
लवण० द्रौणेयम् (द्रोणीलवणम्) (रा. ६.४९ पृ. ७६)
वि., जलोद्भवम् । यथा जलोद्भवानां मांसम् (अहसू. १७.८)

–तर–वि., वारिणि जले तर्तुं शीलमस्येति वारितरम्, यथा मृतं लोहम् (र. ८.२६)
वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२६ पृ. ९७)

–दा–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.५८ पृ. १५)

–भव–पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९ पृ. १३०)
न., खनिज० स्रोतोञ्जनम् (रा. १३.२२६ पृ. १२७)

–रुह–न., वनस्पति०रक्तपद्मम् (रा. १०.२४४ पृ. १६५)

–वल्लभा–स्त्री., वनस्पति० विदारिका (रा. ७.१९४ पृ. ३५)

–वाह–पु., वनस्पति० मुस्ता (र. २७.११७)

–सम्भव–पु., धान्य० यावनालः (रापरि. ८.३८; पृ. ३६०)
न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध. ३.४१, पृ. १०४)
खनिज० अञ्जनम् (रा. १३.२१५; पृ. १२५)

–सात्म्य–न., आहारद्रव्य० दुग्धम् (घ. ६.१६१; पृ. २३९) दूध.

वारुण–पु., वनस्पति० वरुणः (चसू.१४.३१)
वि., पश्चिमदिग्देशीयः प्रतीच्यः, यथा कोणः, रसशालायाः पश्चिमे कोणे प्रक्षालनादिकं कर्म करणीयम् (र. ७.३-४)
न., जलम् (ध. ६.३०२; पृ. २५५)
न., वि., सत्व० शुद्धसत्वस्य प्रकारः लक्षणम् (सुशा. ४.८३)

(वारुणी)–स्त्री., बालग्रह० रेवत्या विंशतिनामसु एकम् (का बालग्रहचि) जातहारिण्या रेवत्या अपरंनाम (काक रेवती० ७) सा पञ्चमेऽहनि अपत्यं विनाशयति (काक रेवती० ४५)
वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७२; पृ. ५८)
करुणी (रा परि. १०.२७; पृ. ३७०)
श्वेतपुष्पी, नागदन्ती (ध. १.२५२; पृ. ५९)
गण्डदूर्वा, ' हरियाळी ' इति ख्याता, द्र० ' दूर्वा ' (ध. ४.१४५; पृ. १६३)
आसुत० (ध. ६.२५५; पृ. २५१) सुरा (सुउ. ४२.१०२) प्रसन्नापर्यायः (अहसू. ७.४२) श्वेतसुरा सा च श्वेतपुनर्नवादिमूलयुक्तेन शालिपिष्टेन क्रियते । गुणाः–लघुस्तीक्ष्णा हृद्या शूल–कास–वमि–श्वास–विबन्ध–आध्मान–पीनसघ्नी (अहसू. ५.६८) वातशूलशमनी (सुउ. ४२.१०२)

–काय–पु., चित्तप्रकृति०सात्विकोऽयम् (सुशा.४.८३) लक्षणम्–शीतसेवा, सहिष्णुत्वं पिङ्गलाक्षता पिङ्गलकेशत्वं प्रियवादित्वमित्येतानि वारुणकायलक्षणानि (सुशा. ४.८३)

–काष्ठ–न., पुन्नागकाष्ठम्, वरुणकाष्ठं वा (चशा. ८.३३)

–धूप–पु., धूपकल्प० शकुनी–पौण्डरीक–रेवती ग्रहरोगेषु प्रशस्तः (काक धूपकल्पा० १)

–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० विशाला (इन्द्रवारुणी) (असंउ. ४५)

–वायु–पु., पश्चिमदिग्वायुः । 'वर्षासु (वर्षाऋतौ) वारुणो वायुः वाति । ' (असंसू.४)

–सत्वं–वि., (परिव०) शुद्धसत्व० ' लक्षणम्–शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमभ्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात् ' (चशा. ४३७(५))

(वारुणी)-प्रसाद–पु., वारुणी श्वेतसुरा (हे. अहसू. ५.६८) तस्या उपरितनः स्वच्छभागः अयं यक्ष्मिणः पीनसादिलक्षणेषु उपयुक्तः (चचि. ८.६९)

–मण्ड–पु., वारुण्या उपरिस्थितो भागः (चचि. ८.१६४)

वार्क्ष–वि., वृक्षस्येदम् वृक्षमयं वा यथा वल्कलादि (सुचि. २४.१३) यथा वृक्षभवं वल्कलम्

व्रणबन्धनद्रव्येषूपयुक्तम् (चचि.२५.९६) वृक्षकाष्ठमयम् (अहसू. २५.२१)

-पट्ट-पु., (परिव०) वल्कलम् । व्रणबन्धनद्रव्येषूपयुक्तम् (चचि. २५.९६)

-शल्य-न., वृक्षकाष्ठमयं शल्यम् अनिर्हृतं तच्छल्यं रक्तं मांसं पचति क्षिप्रम् (सुसू. २७.१९)

वार्क्षि-पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिषु एकः (चसू. १.१०)

वार्ज-न., वनस्पति० कमलम्, रक्तपद्मम् (रा. १०.२४३; पृ. १६५)

वार्तलक्षण-न., आरोग्यलक्षणम् । अनिर्वेदो वार्तलक्षणानां श्रेष्ठं लक्षणम् (चसू. २५.४०)

वार्ता-स्त्री., रोग० या स्व्याकृतिबाहुल्यात्स्त्री, स्त्री-कार्याकरणाच्च स्त्री (इन्दु. असंशा. २) स्त्रीकराणांच शरीरबीजभागानाम् एकदेशः प्रदुष्टो भवति तदा वार्ता समुत्पद्यते (चशा. ४.३०)

अवस्था (अहसू. २९.८०)

वार्ताक-पु., पक्षि० वर्तीकः वनचटकः (र. १८.४३)

फलशाक० (चसू. २७.९७) वर्तुलफलः (सुसू. ४६.२६९) वृन्ताकपर्यायः (हे. अहसू. ६.७७) तक्कारी, श्वेतवार्ताकिनी (इन्दु. असंउ. ४३) गुणाः- स्वादु (कटुतिक्तम्) (चसू. २७.१६२; असंसू. ७.१) तीक्ष्णोष्णं लघु (वृद्धं गुरु) कटुविपाकं दीपनं शुक्रलं (हृद्यं रुच्यं) (असंसू. ७) वातकफघ्नम् (वातघ्नं) (चसू. २७.१६२) बालं कफपित्तघ्नं जीर्णं-वृद्धं सक्षारपित्तलम् (सुसू. ४६.२६९) ज्वरहिक्काकासघ्नम् (भाप्र. शाकवर्ग)

हिं.—बैंगन, भंटा, भटा.

म.—वांगे.

गु.—रिंगणा, रिंगणी.

बं.—वेगुनगाछ.

त.—कुठिरेकइ.

फा.—बादंगान्.

(वार्ताकी)-स्त्री., फलशाक० वार्ताकम् (रा.७.१२७;पृ.२६)

वनस्पति० बृहती (ध. १.९३ पृ. २४)

-फल-न., फल० वार्ताकम् (असंसू. १४)

वार्ताकिनी-स्त्री., वनस्पति० कासघ्नी कण्टकारी (ध. १.९८; पृ. २५)

वार्ताकु-पु., फलशाक० वार्ताकम् (चसि ९५८; सुचि. ४.३१)

वनस्पति० बृहती (सुउ. २१.५२)

वार्तिक-पु., वार्तासु लोकश्रुतवृत्तान्तेषु विषये स्मरणकुशलः, समस्तशास्त्रतत्त्वज्ञः (र. ७.२५)

वार्तिका-पु., पक्षि० वार्तिकः, विष्किरवर्गीयः (अहसू. ६. ४४) वनचटकः, स्वल्पः संघातचारी (सुसू. ४६.५९; चसू. २७.४७)

वार्तिका-स्त्री., फलशाक० वार्ताकम् (ध.१.१०१ पृ.२६)

वार्धक-पु., ग्रहरोग० वार्धकग्रहजुष्टः, लक्षणम्-यश्च पर्वत-गज-वृक्षादिभ्यः पतनाद् वार्धकेन संसृष्टो भवति, स विस्फारितनेत्रः त्वरितगतिः स्वफेनलेही निद्रालुः अति पतति अति कम्पते च। एतादृशलक्षणो न जीवति, तस्मादसाध्यः (सुउ. ६०.१६)

न., वयोवस्था० जरा (र. २६.४)

वनस्पति० कुरी (रा. १६.१७९; पृ. २३०)

वार्धिफेन-न., भैषज्य० समुद्रफेनः (ध. ६.२१७; पृ. १२६)

वार्धिभव-न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६.४९ पृ. ७६)

वार्धेय-न., लवण० द्रोणीलवणम् (रा. ६.४९ पृ. ७६)

वार्यमाण-वि., प्रतिषिध्यमानः निवार्यमाणः यथा वार्यमाणः परगृहे न प्रविशेत् (इन्दु. असंसू. ३)

वार्यवसेचन-न., शीतोदकपरिषेकः, नेत्रे विलम्बिनि शिरसि वार्यसेवचनं कार्यम् (सुउ. १९.८)

वार्योकस्-स्त्री., जलकीट० जलौकाः (सुक. ५.५९-६०)

वार्योविद-पु., राजर्षिविशेषः (चसू. २६.४)

वातगुणदोषविवेचने विवदमानानामेकतमः (चसू. १२.८)

यज्ञःपुरुषविषये विवदमानानामन्यतमः (चसू. २५.१२)

रोगभेदे तस्य मतम् 'द्वौ रोगौ निजागन्तुश्च इति' (कासू. २७.३) आयुर्वेदज्ञः (कासि. ३)

वार्ष-वि., वृषो नाम वृषभः, वृषस्येदं वार्षम्, यथा वृषभवं मूत्रम्, अपस्मारचिकित्सायां घृते सिध्यर्थमुपयुक्तम् (चचि. १०.२६)

वार्षिक-वि., वर्षासु भवम्, यद्वा वर्षतौ वृष्टं तत् यथा जलम् । गुरु अभिष्यन्दि मधुरं च (चसू. २७.२०३)

न., वनस्पति० त्रायमाणा (ध. १.२५४; पृ. ५९)

(वार्षिकी)-स्त्री., वनस्पति० वर्षोद्भवा (वनमल्लिका) गुणाः-शीता सुगन्धा हृद्या त्रिदोषघ्नी विषस्फोटकृमि-आमहरा (ध. ५.१३६) मुखपाकहरा (शालिग्राम)

हिं.—बेला, मोतिया, घुघुरुमोतिया, वन मोगरा; मोगरा.
म.—मोगरी, रानमोगरी, बटमोगरा, सोटई मोगरी.
गु.—बेल्य, डोलर, जंगली चिखलयो, रान मोगरो.
बं.—बेलफुलगाछ, मल्लिकाफुलरेगाछ, मल्लिकाभेद.
ता.—मल्लिगाइ.
फा.—झाम्बक, गुले सुपाद.

–रसायन–न., सिद्धयोग० वर्षपर्यन्तं सेव्यं रसायनम्। तस्य सेवनेन शुभ्रकेशानां कालिमा जायते। दीर्घायुष्यं पुष्टिर्वीर्यं दिव्यदृष्टिश्च जायते (र. २६.३२)

वाल–पु., चामरः (असंसू. ३८; अहसू. २९.४१)

–खिल्य–पु., ऋषि० (चचि. १.५४) रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिषु सम्मिलिताः स्वल्पप्रमाणाः महर्षयः (चक्र. चसू. १.१३; असंशा. १२)

–वर्ति–स्त्री., केशानां सन्धिग्रन्थिविरहिता वर्तिः सुते च मस्तुलुङ्गे वर्तिरेषा प्रवेश्यते (असंउ. ३१)

वालक–न., तृण० (चसू. ३.२९; ड. सुचि. १७.१०-१३; सुउ. ५२.२४) गुणाः–तिक्तं शीतं केश्यं पित्तकफघ्नं ज्वर-विसर्प-रक्तरोग-कण्डू-कुष्ठ-दाहच्छर्दि-तृषा-अतिसार-श्वित्र-व्रणघ्नम् (ध. १.४७; पृ. १६)
हिं.—खस, खसबेना.
म.—वाळा.
गु.—वाळु.
बं.—खसखस.
ता.—वट्टिवेर.
वनस्पति० उशीरम् (ध. ३.१४; पृ. १६)
सुगन्धवालकम्, नेत्रवालकम् (असंसू. १२. असंसू. १५)
विष० कन्दविषम्। गुणाः–स्निग्धघनगुरुकर्मण्यम् (असंउ. ४८)

वालु–न., वनस्पति० वालुकम् (ध. १.१७८ पृ. ४१)

वालुक–न., वनस्पति० एलावालुकम् (ध. ३.७६; पृ. १११)
त्रपुसभेदः, गुणाः–मधुरं शीतं, गुरु, (अपक्कम), लघु (पक्कम्), भेदि, अग्निकृत् (पक्कम्), रुच्यं कासपीनसकरम् (रा. ७.२५१)
रक्तपित्तघ्नम् (ध. १.१७८; पृ. ४१)
हिं.—तुती फुट.
म.—वाळुक.
बं.—फुती.
त.—कक्रि.
विष० तद्वालुकानिभम् (र. २९.१६)

(वालुका)–स्त्री., सिकतगुणाः–मधुरा शीता वातघ्नी सन्ताप-श्रम-शाखाशैत्यहरा (धपरि. ६.१८ पृ. २९१)

(वालुकी)–स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५० पृ. ४१)

–पर्ण–पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. १.१९४ पृ. ४६)

–पुट–न., पुट० उपर्यधस्तप्तया वालुकया दीयमानं पुटम् (र. १०.६२)

–प्रक्षेपण–न., जलशीतीकरणार्थमुदकपात्रस्य वालुकामध्ये प्रक्षेपणम् (सुसू. ४५.१९)

–यन्त्र–न., यन्त्र० वालुकापूरितं खर्परं यत्र वालुकामज्जिताया रसयुक्तकूपिकायाः पचनं विधीयते चुल्लिस्थेनाऽग्निना (र. ५.३९-४०) अन्तर्द्विभागरसपूरिताङ्गुलपरिमाणमृद्वस्त्रावगुण्ठितकाचकूपीपचनार्थं निर्मितं वालुकायुक्तं वितस्तिगम्भीरं कलशेनाऽऽच्छादितं भाण्डम् (र. ९.३६-३९)

वालुकादिकासीस–न., भैषज्य० कासीसभेदः, वालुकासमानवर्णः। गुणाः– लवणाम्लमुष्णं धूमसदृशं केशरञ्जकं विषश्वित्रघ्नम् (र. ३.५५)

वालुकैललवण–न., लवण० 'वालुका सिकता ताभिर्युक्ता इला पृथिवी वालुकैला, तत्र संभवं लवणं वालुकैलम्।' गुणाः– कटुकं छेदि (ड. सुसू. ४६.३२१)

वालकपट्ट–पु., वल्कलमयः पट्टः। अनग्निस्वेदार्थमुपयुक्तः (सुचि. ४.१७)

वाल्मीकी–वि., वल्मीकं पिपीलिकागृहं तस्माज्जाता वाल्मीकी मृत्तिका। सा मूषायोग्या (र. १०.६-७)

वाल्लभ्य–न., वल्लभस्य भावः। प्रियत्वं, प्रियकरत्वम् (सुचि. २६.४)

वास–पु., निवासस्थानम्, गृहम्। यथा शरीरिणः निवासस्थानं शरीरम् (चइ. ११.२३)

वासक–पु., वनस्पति० आटरूषः (ध. १.२३; पृ. ११)

वासन–न., संस्कार० गन्धनम् (चवि. १.२२(२))
सौगन्ध्यादिकरम् (असंसू. ७)

परिव० न., स्थापनम् (सुचि. २.७८)

(वासनी)–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रापरि. ३.३३; पृ. ३३२)

वासन्त–पु., वनस्पति० बिभीतकः (ध. १.२१२; पृ. ५०)
तिलकः (रा. १०.२६७; पृ. २०२)

वासन्ती–स्त्री., वनस्पति० जाती० तद्गुणाः–शीतला सुगन्धा हृद्या स्वेदनाशनी श्रमहारिणी (ध. ५.१३९; पृ. १९८)
गणिकारी (रापरि. १०.३१)

वासन्तकवसा–स्त्री., भैषज्य० वासन्तः उष्ट्रकः तस्य वसा (चचि. १४.५६)

वासव–पु., इन्द्रः (असंशा. ३)

वासस्–न., वस्त्रम् (सुचि. २७.४)
वनस्पति० तमालपत्रम् (ध. २.५२; पृ. ८०)

(वासा)–स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (चसू. १४.३१; सुउ.४५.३३; असंसू.२६; अहसू.६.७७; ध.१.२३; पृ. ११)

वासुकि–पु., सर्प० दिव्यः सर्पः (असंउ. ४१) अस्य विषमतिघोरम् (चचि. २३.१९८-१९९) निःश्वास-दृष्टिविषः ये तक्षकादयस्तेऽसङ्ख्याः तेषु वासुकिः श्रेष्ठः ते ऽजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति तपन्ति च (सुक. ४.५-७) देवदानवैः समुद्रमन्थनार्थ-मुपयुक्तः सर्पराजः (र. ३.१७-१९)

वासुदेव–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १६.६१)
रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहगुप्तसूनुनाऽऽलोचितस्तन्त्र-कर्ता (र. १.५-९)

(वासुदेवी)–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (ध. ४.४०; पृ. ६७)

वास्तिका–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (ध. ६.११३ पृ. २३१)

वास्तु–पु., न., अधिष्ठानम् (सुनि. १४.१३) प्रदेशः। तस्य प्रशस्तत्वम्–प्राङ्निम्नत्वमुदङ्निम्नत्वं कृष्ण-मृत्तिकत्वं सुवर्णमृत्तिकत्वमित्यादिकम्। 'प्रशस्त वास्तुनि गृहे शुचौ आतपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः ॥' (सुसू. १९.३-४)
न., शाक० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२; पृ. ३५२)

–निवास–वि., गृहभूमिनिवासी (सुसू. ५.२२)

–परिग्रह–पु., स्थानसंश्रयः (चसू. १७.१०४)

–विद्या–स्त्री., शास्त्र० वास्तु गृहं तस्य रचनाशास्त्रम्, वास्तुशास्त्रम् (असंशा. ३)

–विद्याकुशल–पु., वास्तुविद्यावेत्ता (सुसू. १५.६)

–विद्याहृदय–न., वास्तुविद्यातत्त्वम् (चशा. ८.३३)

वास्तुक–पु., न., पत्रशाक (असंचि. १०; सुसू. २०.५; सुचि. ६.८; चचि. १९.३१) तस्य भेदः कङ्क-वास्तुकः (हे. अहसू. ६.७२; ड. सुचि. ६.८; च. २७.८८) शाकवर्गे श्रेष्ठः (सुसू. ४६.३३५) गुणाः–मधुरः क्षारः (कटुविपाकः सुसू. ४६.२६० भाप्र.) सुशीतलः (लघुः) (भाप्र) (दीपनं-पाचनम्) (भाप्र.) वर्चोभेदी (असंसू. ७) रोचनः मेधावर्धनः (सु. ४६.२६०) मलमूत्र-शुद्धिकृत् (शुक्रबलप्रदः भाप्र) त्रिदोषजित् ज्वरा-र्शोनाशनः (श्लिहकृमिहरः) (भाप्र.) (रापरि. ७.६२; पृ. ३५२)
हिं.—बथुआ, बडा, बथुआ, चन्दन, बेटु.
म.—चाकवत, चकवत, चिम्बिल, चिखिल)
गु.—बथुओ, टांको, चीलो.
बं.—बेतुया, बेत्तोशाक.
ता.—परुप्पु.
फा.—मुसेलेसा, सरमक, सलमह.

(वास्तुका)–स्त्री., वनस्पति० चिल्ली (रापरि. ७.६६; पृ. ३५३.)

(वास्तुकी)–स्त्री., वनस्पति० चिल्ली (रापरि. ७.६६; पृ. ३५३)

–बीज–न., टङ्कवास्तुकबीजम्। चूर्णमस्य रक्तपित्त-शमनम् (सुउ. ४५.३१)

वास्तूक–पु., वनस्पति० वास्तुकम् (सुसू. ४६.२६०; रापरि. ७.६२; पृ. ३५२)

वाह–पु., वाहनयोग्यः पशुः। यथाश्वादिः (असंसू. ३) मान० द्वात्रिंशत् शूर्पाणि (चक. १२.९७)

वाहक–पु., कीट० सविषः कीटोऽयम्। गुणाः–प्राण-नाशनः, येन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पदंशवद्भवति, तास्ताश्च तीव्रा वेदना भवन्ति, सन्निपातिकरोगकरः किंचायं दंशः वर्णेन रक्तपीतसितारुणः क्षाराग्नि-दग्धवच्च (सुक. ८.१५-१८; असंउ ४३)

वाहन–न., उह्यते अनेन इति वाहनम्। यथाऽश्वादि (सुनि. ८.३) यथा रथाश्वादि (सुसू. ४६.४९०; अहसू. ८.५५)
न., कर्म० प्रवाहणम् (असंउ. ३८)

–श्रम–पु., प्रवाहणजन्यः श्रमः (काखि. ११.४४)

वाहमाना–वि., प्रवाहणं कुर्वन्ती (चचि. ३०.२७)
(वाहिका)–स्त्री., रोग० प्रवाहिका (काखि. १०.९५)
विंशतिगुण–वि., गुरुलघ्वादिविंशतिगुणयुक्तः आहारः (चसू. २५.३६)
विकक्षसृष्टसंसृष्ट–वि., विगततृणस्थानसंपर्कम् (महानसम्) (सुक. १.१२-१३)
विकङ्कत–पु., वनस्पति० फल० तद्गुणाः–तिक्ताम्लमधुरः शीतो लघुः पाके मधुरो दीपनः पाचनः कफपित्तघ्नः शोफकामलारक्तपित्तघ्नः (रा. ९.५४)
हिं.—कंटाई बिलांग्रा बिलांगुरा.
म.—भेकळ, वेहकळ, वेहळी.
गु.—विकलो.
बं.—वैईच.
ता.—हलुमाणिका मालेगु.
(विकङ्कता)–स्त्री., वनस्पति० बलिका (रा. ४.४३)
विकच्छा–स्त्री., वनस्पति० महाश्रावणिका (रा. ५.२१९)
विकट–वि., विस्तीर्णः (सुउ. ४७.४३)
पु., वनस्पति० साकुरुण्डः (रा. ६.१६)
पु., गौरीपाषाणभेदः (र. ३.१३८)
वि., विषमम्, ग्रन्थिलम् (र. ४.१५)
विकटोरु–वि., विस्तीर्णौ ऊरू यस्याः, सा (सुउ. ४७.४३)
विकण्टक–पु., वनस्पति० तद्गुणाः– कषायकटुको रूक्षो रुचिप्रदो दीपनो वस्त्ररङ्गविधायकः कफघ्नः (रा. ११.१९)
विकत्थन–वि., आत्मश्लाघित्वात् निन्दितः (चइ. ७.१९)
(विकत्थना)–स्त्री., पीडा श्लाघा, स्वगुणप्रशंसा (असंचि. ९)
विकर्ण–पु., वनस्पति० स्थौणेयकम् (ध. ३.६९)
विकर्तिका–स्त्री., लक्षण० गुदे कर्तनवत्पीडा (चचि. २६.७)
विकर्षण–न., यन्त्रकर्म० निर्हरणम् (सुसू. ७.१७)
विकलत्व–न., वैगुण्यम् (सुशा. ६.३४)
विकलस्वरता–स्त्री., गद्गदादिस्वरत्वम् (सुसू. ३२.४)
विकल्प–पु., प्रयोगः (सुसू. ४३.१)
व्याधिगणनारूपः सम्प्राप्तिभेदः (चनि. १.१२)
अंशांशकल्पना (चसू. २०.३)
तन्त्रयुक्ति० (सुउ. ६५.३९)
प्रकारः, भेदः (सुसू. ४५.९५)
न्यूनाधिकता (चवि. ७.५)

विकल्पन–न., तन्त्रयुक्ति० विकल्पः पाक्षिकाभिधानम् यथा सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा इत्यादि (चक्र) (चसि. १२.४४)
(परिव०) अवधारणम् (सुउ. ३९.९९)
(विकल्पना)–स्त्री., विशेषकल्पना (चसि. ११.२३)
विकसा–स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणी (ध. ४.९४)
वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१७)
विकस्वरा–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः रक्तपुनर्नवा (रा. ५.४०७)
विकाणा–स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (इन्दु.असंउ.८)
विकाणिका–स्त्री., क्षीरकाकोली (ड. सुउ. ६०.४७)
विकार–पु., रोगः (चसू. १२.६२)
दुःखम्। धातुवैषम्यम् (चसू. ९.४)
दोषवैषम्यम् (अहसू. १.२०)
दोषः (चवि. ६.४)
ज्वरः (चचि. ३.११)
अव्यक्तप्रकृतेः कार्यं तत् षोडशसंख्याकं पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि समनस्काश्च पंचार्थाः (चशा. १.६४)
परिणाम० (चसू. ८.१४)
–चिह्न–न., रोगलक्षणम् (असंसू. ८.१५४)
–जात–न., विकारसमुदायः (अहसू. १२.३३)
–नामाकुशल–वि., विकारनामानभिज्ञः (वैद्यः) (अहसू. १२.६४)
–परिमाण–न., विकाराणां संख्या (सुसू. २४.१२)
–प्रकृति–स्त्री.,रोगहेतुः(अहसू.१२.६६)
–प्रभाव–पु., विकारस्य कर्मविशेषकार्यत्वम् (चवि.१.१२)
–विद्–वि., विकारं जानाति इति विकारविद् (वैद्यः) (सुचि. ३८.११२)
–सामान्यगुण–पु., विकारस्य सदृशो गुणो यस्य सः (देशकालादिः) (चइ. १२.१५)
विकाशिन्–वि., गुण० शैथिल्यकारकम् (सुचि. ३३.३३)
यो धातुभ्यः ओजश्च विशोष्य सन्धिबन्धान् शिथिलान् करोति । यथा क्रमुककोद्रवद्रव्याणि (चक. १.५)
विकासिन्–वि., विकसनशीलम् (चसू. २६.७९)
क्लेदच्छेदनः (चसू. २६.४३ (३)
–त्व–न.. हिंसनशीलत्वम् यथा विषस्य प्राणघ्नत्वात् (चचि. २३.२६)
–भाव–पु., विकसनशीलत्वम् (चचि. २४.३३-३४)

विकिर–न., जलाशय० निर्झरः वालुकादि विकीर्यं गृह्यमाणोदकस्थानम् (सुसू. ४५.४)
विकिरण–न., इतस्ततः प्रसरणम् (सुनि. ३.७)
विकीरण–पु., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३)
विकीर्णरोमन्–न., वनस्पति० सुगन्धि० स्थौणेयकम् (रा. १२.१२५)
विकुटा–स्त्री., रेवतीग्रह० (कारेतीक. ३४.३५)
विकुर्वाण–वि., विकृतिं गच्छन् (अहसू. १२.६२)
विकूजन–न., अन्त्रभागे जायमानो ' गुरगुर् ' इति शब्दः (र. १८.४४)
अव्यक्तशब्दकरणम् (सुउ. ५६.७)
विकूणन–न., लक्षण० संकोचनम् (असंउ. १८)
विकृत–वि., विकृतिमापन्नम् (अहसू. १.७).
–**व्याधि**–पु., गलत्कुष्ठादिरोग० (सुसू. २९.९-१५) द्र० ' कुष्ठ '
–**स्वरता**–स्त्री., स्वाभाविकस्य स्वरस्य वैपरीत्यम् (सुसू. ३२.४)
विकृतक–पु., मणि० वैक्रान्तः (र. २.७४)
विकृताकृति–वि., अमानुषाकृतिगर्भः (सुशा. २.५०)
विकृति–स्त्री., व्याधिः (चचि. १५.३७)
विकृतस्थितिः (चशा. ४.१४)
–**बल**–न., रोगस्य बलम् (चवि. ८.१२३)
–**विषमसमवेत**–वि., विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवायः यस्य, सः (रसः दोषो वा (चवि. १.१०)
विकृतेक्षण–वि., पुष्पितनेत्रादिः (सुसू. २९.९-१५)
विकृन्तन–वि., विशेषेण कृन्तनम् । सर्वधातूनां स्वगुण-प्रकर्षेणाधःपातनम् (र. २.६१)
विकृष्टकाल–पु., चिरकालः विप्रकृष्टकालः (सुउ.५०.११-१२)
विकेशिका–स्त्री., तिलकल्कमधुघृताक्तवस्त्रस्य सूत्रस्य वा वर्तिः (सुसू. १८.२१)
विकेशिकौषध–न., विकेशिकायां उपलिप्तं औषधम् यत् व्रणेषु उपयुज्यमानम् (सुसू. १८.२१)
विकोथ–पु., पूतिभवनम्, दुर्गन्धीभवनम् (सुउ. २०.१५)
विक्रान्त–न., खनिजद्रव्य० वैक्रान्तम् (रा. १३.५०)
वि., विक्रमी (सुचि. ३०.६)
(विक्रान्ता)–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४७)
वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६६)
वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (रा. ५.१७३)
वनस्पति० सुवर्चला (रा. ४.१४५)
वनस्पति० वत्सादनी (रा. ३.३२)
वनस्पति० अपराजिता (रा. ४.१)
विक्रियमाणा–वि., रूपान्तरमापद्यमाना (चवि. ८.७१)
विक्रोशन–(परिव०) न., रोदनम् (सुउ. ६२.८)
विक्लव–वि., भीतः, कातरः, स्तोकक्लेशाभिभवनीयम् (मनः) (चवि. ८.९४; सुचि. ७.३०)
विक्लित्ति–स्त्री., विक्लेदनम्, शुष्कत्वनिवृत्तिः (अहसू. ८.५२)
विक्लिप्ति–स्त्री., द्रव्यान्तरसंयोगः (चवि. ८.१३६)
विक्लेद–पु., क्लेदः (सुसू. १५.५(२)
विक्षय–पु., रोग० मद्यजव्याधि० त्यक्तमद्यस्य पुनः सहसा अनुचितमद्यसेवनेन वातात् कष्टतमोऽसौ व्याधिर्भवति, विशेषतः दुर्बलस्य । तल्लक्षणानि– हृत्कण्ठरोगः, संमोहः, छर्दिः, अंगरुजा, ज्वरः तृष्णा कासः शिरःशूलश्चेति (चचि. २४.२०२)
हृत्कण्ठरोधः (असंनि. ६.२३)
विक्षिप्यमाण–वि., प्रसार्यमाणः प्रेर्यमाणः (ड. सुउ. ३९.२३)
विक्षीर–पु., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३)
विक्षेप–पु., प्रेरणम् (सुसू. २१.८)
व्यानस्य कर्म, रसधातोः शरीरे वहनं प्रक्षेपणं च (चचि. १५.३६)
अङ्गविक्षेपः । अवयवानाम् इतस्ततः क्षेपणम् (सुउ.३९.८५)
–**संघातकर**–वि., वियोगमेलककरः (चक्र. चसि. १.३९)
विक्षेपण–न., प्रेरणवद् वेदनाविशेषः (सुसू. २२.११)
विगत–वि., गतम् (चनि. १.४४)
–**ज्वर**–वि., मुक्तज्वरः सन्तापरहितः (चनि. १.४४)
–**लक्ष्मी**–वि., निःशोभः अश्रीकः (चचि. २३.१०७)
विगतोन्मादलक्षण–न., नष्टोन्मादस्यलक्षणम् (चचि. ९.९७)
विगन्ध–वि., विगतः पूतिगन्धः यस्य सः (चक्र. चसि. ३.११) विशिष्टगन्धवत् (**विस्रगन्धम्**) विकृतगन्धम् (सुशा. ३.१०)
विगन्धक–पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रा. ८.१८)
(विगन्धिका)–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (रा. ४.१२)
वनस्पति० अजगन्धा (ध. २.१००)
विगीत–वि., विपरीतत्वेन ज्ञातम् निन्दितम् (चइ. ४.७)

विगीति–स्त्री., विरुद्धकोटिकार्थसमावेशात्मक–विरुद्धकथनम् (चवि. ६.४)
विगुण–वि., संकुचितम् (सुनि. १२.६)
कुपितम् (सुउ. १.२०-२१)
दुष्टम् (सुउ. ७.६)
विपरीतम् (सुचि. ३८.१८-१९)
विगुणानिल–पु., उन्मार्गगामी वायुः (सुउ. ५६.२०)
विगृह्यवक्तृ–वि., परवाक्यमुच्छिद्य वक्तुं शीलः (सुशा. ४.६८-७०)
विगृह्यसंभाषा–स्त्री., जल्पवितण्डास्वरूपं संभाषणम् (चवि. ८.१६)
विग्रथित–वि., सम्यक् अनङ्कुरितः, ग्रन्थिभूतः (व्रणः) (सुसू. ५.३६) **विषमसंस्थानः** (अहसू. २९.४४)
विग्रह–पु., शरीरम् (चशा. ४.९)
वादः, वाग्युद्धम् (चवि. ८.२०) कलहः (अहसू. २.४२)
विघट्टन–वि., विविधप्रकारेण चालनम् (सुउ.४६.२३)
विघण्टिकाभिध–पु., वनस्पति० गुच्छाह्वकन्दः (रा. ७.६१)
विघात–पु., वर्जनम् (चशा. ४.४१)
विघुष्ट–वि., शब्दितम् (अहसू. ३.२४)
विघूर्णन–वि., भ्रमणम् (असंउ. ४५)
विघृष्ट–वि., घर्षितम् व्रणप्रकारेष्वेकः (असंशा. ११.४७)
विघ्नेशानकान्ता–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (रा. ८.२२९)
विचक्षण–वि., चतुरः (सुचि. ८.३७)
(विचक्षणा)–स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रा. ५.२६)
विचर्चिका–स्त्री., रोग० कुष्ठभेदः, अयं कफप्रायः, तल्लक्षणानि–गात्रेषु अतिकण्डुर्तिरुजः रूक्षा राजयश्च भवंति (सुनि. ५.१३; चचि. ७.३०)
विचर्ची–स्त्री., क्षुद्ररोग० विचर्चिका (सुनि. १३.२८)
विचार–पु., संकल्पनम्, तच्च मनसः एकं कर्म (चशा. १.२१)
गतिः, विचरणम् (चक्र. चसू. २६.११)
विविधाश्चेष्टाः (अहसू. ९.९)
विचारण–न., गतिविशेषकरम्, विधारणम्, मनसोऽनेकविकल्पकारणम् (सुसू. ४१.४(४)
विचारणा–स्त्री., द्रव्यान्तरासंयुक्तस्नेहपानं वर्जयित्वा कृतः स्नेहोपयोगः (चसू. १३.४)
ऊहापोहाभ्यां वस्तुविमर्शः (सुशा. १.१७)
विचार्य–वि., विचारयितुं योग्यम्; मनोविषयाणां एकः। उपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद्विमृश्यते तत् (चशा.१.२०)
विचिकित्सा–स्त्री., सन्देहः (चसू. ११.७)
विचित्त–वि., नष्टमनस्कः (सुउ. ४८.१५)
विचित्र–न., वनस्पति० शीर्णवृन्तम् (ध. १.१७९)
पु., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९)
(विचित्रा)–स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८)
–प्रत्ययारब्ध–वि., परस्परविलक्षणैः कारणैरारब्धम् (अहसू. ९.२८)
–प्रत्ययारब्धद्रव्य–वि., परस्परविलक्षणमहाभूतसंघाताऽऽरब्धं द्रव्यम्, क्वचिद्द्रव्ये यादृगेव भूतसंघातो द्रव्यस्याऽऽरम्भकस्तादृगेव रसादीनाम् तत्समान-प्रत्ययाऽऽरब्धम्, तत्सामान्यगुणान्नाऽतिक्रामति । क्वचिदन्यादृग्भूतसंघातो द्रव्यस्याऽऽरम्भकोऽन्यादृग्रसस्याऽन्यादृग्गुणस्येत्यादि, तद्विचित्रप्रत्ययाऽऽरब्धम् तत्सामान्यगुणानतिक्रामति । यथा ' स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृतयवः । उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः (अहसू. ९.२८)
विचित्रक–पु., वनस्पति० भूर्जः (रापरि. ९.२२)
विचिन्तित–वि., कल्पितम् (चइ. १२.५८)
विचिलक–पु.,सविषकीट० तद्दंशपरिणामाः प्राणनाशनाः, वेगज्ञानं सर्पवद्भवति, तास्ताश्च तीव्राः वेदनाः भवन्ति, तथा सान्निपातिकाः रोगा भवन्ति, दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतसितारुणः क्षाराऽग्निदग्धतुल्यः (सुक. ८.१५-१८)
विचूर्णन–(परिव०) न., चूर्णीकरणम् (र. २.३४)
विचेय–वि., चयनार्हः, गवेषणीयः (सुचि. ३०.३७)
विचेष्टन–न., विगतकायपरिस्पन्दनम् विरुद्धचेष्टनं करचरणादिक्षेपाऽऽदिकम् (सुसू. २५.३४-३५)
विच्छिन्न–वि., अन्तराऽन्तरा वेगितम् (चचि. २०.९) सविरामम् (असंनि. ४) अल्पाऽल्पप्रवर्तकम् (ड. सुउ. ४०.१७)
–मद्य–वि., त्यक्तमद्यः (पुरुषः) (ड. सुउ. ४७.४९)
विच्छेद–पु., खण्डः (असंसू. ६)
विजन–पु., एकान्तः विविक्तदेशः जनरहितस्थानम् (सुसू. ४६.४५८)
विजयधूप–पु., सिद्धौषधि० शिलाजतुकणगुग्गुलुमहिषाक्षगुग्गुलु श्वेतकरवीरचोरकसरलकुन्दुरुकुष्ठरोहिषतृणरालाबोलानां धूपः, अयं सुभगत्वबुद्धिविजयप्रदः पिशाचादिग्रहनाशनो जीर्णज्वरे च विहितः (र. २२.१६७-६८)
विजयन्तिका–स्त्री., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.११०)

विजयभैरवतैल–न., सिद्धतैल० हरितालमनःशिला-गन्धकपारदान्समभागिकान् धान्याम्लेन पेषयित्वा वस्त्रे विलेप्य तद्वर्तिकामुद्दीपयेद्येन तैलं पतति। अस्य पानविलेपनाभ्यां कम्पवातप्रमुखानां वात-रोगाणां विनाशो भवति (र. २१.१६१) बाहुकम्पशिरःकम्पजानुकम्पैकांगवातादिवातविका-राणां विनाशनम् (र. २१.१६२-६३)

विजया–स्त्री., वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५)
वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३३)
वनस्पति० वचा (रा. ६.८)
वनस्पति० श्वेतवचा (रा. ६.१०)
वनस्पति० मञ्जिष्ठा (ध. १.१८)
वनस्पति० अग्निमन्थः (रा. ९.१३६)
वनस्पति० क्षुद्राग्निमन्थः (रा. ९१.३८)
वनस्पति० मेदा (ध. १.१३०)
वनस्पति० भङ्गा (र. १२.१२१-२२)
वनस्पति० शुक्लाङ्गी (रा. ४.१२१)
वनस्पति० शान्ता (रा. ८.१५५)
वनस्पति० अपराजिता (ध. ४. परि. १)
वनस्पति० नीलदूर्वा (रा. ८.२२७)
वनस्पति० बला (चचि. २५.४७)

–गुटिका–स्त्री., सिद्धौषधि० हरीतकीचित्रकौ प्रत्येकं पलत्रयं एलात्वक्पत्रमुस्तानामर्धपलं रेणुकाऽर्धपलं नागकेसरमर्धपलं, त्रिकटुपिप्पलीमूलवत्सनाभाः प्रत्येकं पलं, पारदः पलमात्रकः तत्समश्च गन्धकः इत्येतानि सूक्ष्माणि चूर्णयित्वा तुलार्धे पुराणे गुडे विनिक्षिपेद्धृतहस्तश्च बदरास्थिप्रमाणेन गुटिकाश्चरेत मात्रा–एका गुटिका। समयः रात्रौ। फलं शोथ-पाण्डुनाशनम् (र. १९.९४-९८)

–वटिका–स्त्री., पारदादियोग० पारदभस्म गन्धकं विशाला कुष्ठं वत्सनाभो रेणुका पिप्पलीमूलं बाकुची विषमुष्टिरश्वगन्धा पलाशबीजं त्रिकटु त्रिफला त्रिजातकं वचा इत्येषां गृहीत्वा चूर्णं समभागिकेन गुडेन गुटिकाः कुर्यात्। अनुपानं मधु। पथ्यं सिताघृतक्षीरशाल्यन्नं यवौदनो वा। विहारः ब्रह्मचर्यम्। फलम्–सप्तकुष्ठानां विनाशः (र. २०.१९-२०)

विजला–स्त्री., वनस्पति० चञ्चुः (रापरि. ४.१८)

विजुल–पु., वनस्पति० शाल्मलीकन्दः (रापरि. ७.४६)

विजृम्भक–पु., व्याधिलक्षण० बहिरायामः (चसू. १४.२१)

(विजृम्भिका)–स्त्री., रोग० अशीतिवातरोगेष्वेकः, जृम्भा (कासू. २७.१९-२८) नाड्या असम्यक्कल्पनजेय-मस्ति मुहुर्मुहुर्वृद्धिमती (चशा. ८.४५)

विजृम्भण–न., जृम्भणम् (अहसू. २.३५)

विज्जल–वि., पिच्छिलम् (चचि. १९.५)

विज्जुल्लिका–स्त्री., वनस्पति० जन्तुकारी (रा. ३.१२९)

विज्ञान–न., शास्त्रस्य विस्तृतं सविशेषं वा ज्ञानम् (चवि. ८.१८)
प्रवृत्तिविशेषानुमेयं ज्ञानम् (चक्र. चवि. ४.८)
शिल्पशास्त्रादिबोधः (सुशा. १.१७)
लक्षणम् विज्ञायते सम्यक्परिचीयते अनेनेति विज्ञानं लक्षणम् (ड.सुचि.३५.३३; चइ. ९.२३)

–तैलगर्भ–पु., वनस्पति० अङ्कोटः (रा. ९.३८५)

विज्ञानोपाय–पु., ज्ञापकसाधनम् (सुसू. १०.४)

विज्वर–वि., सन्तापरहितः नीरोगः (चचि. ३.३)

विज्वरत्व–न., लक्षण० ज्वरशान्तिः (चचि. ३.१७०)

विटक–पु., खनिजद्रव्य० गौरीपाषाणः (ध. ६ परि. १४)

विटप–न., मर्म० (असंशा.७.४) वंक्षणवृषणयोर्मध्यस्थं

–मर्मन्–न., वंक्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम मर्म, तत्र विद्धस्य षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति (सुशा. ६.२४) सक्थिमर्म (सुशा. ६.६) स्नायुमर्म (सुशा. ६.७) वैकल्यकरं मर्म (सुशा. ६.१२-१३) विटपमर्मणी द्वे वामदक्षिणभेदेन (सुशा. ६.१२) मानम्-एकाङ्गुलम् (सुशा. ६.२८)

(विटपिन्)–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११३)

विटप्रिय–पु., वनस्पति० मुद्गरः (रा. १०.५१)

विटवल्लभा–स्त्री., वनस्पति० पाटला (रा. ९.१५०)

विड–न., लवणम् (ध. २.२८) पञ्चलवणेष्वेकम् (चसू. १.८८)

विडङ्ग–न., वनस्पति० तद्गुणाः–कटु–ईषत्तिक्तम्–उष्णं–रूक्षं–लघु–(शिरोविरेचनम् (चसू. ४.११) वमनम् (सुसू. ३९.३) विरेचनम् (चसू. १.८१) वातकफघ्नम्; विषकृम्यग्निमान्द्यारुचिभ्रान्तिहरम् (कुष्ठघ्न) (चसू. ४.११)
हिं.—वायविडङ्ग.
म.—वावडिंग.
गु.—वावडिंग, करकनाओ.
बं.—विडङ्ग.
ता.—वायुविलङ्गम्.
फा.—वारंगफावली.

–तण्डुलरसायन–न., रसायनकल्प० तस्य विधिः–द्रोणमात्रान् विडङ्गतण्डुलान् पात्रे पिष्टवत् उपस्वेद्य, विगतकषायं स्विन्नम् अवतार्य शिलायां पिष्ट्वा अनंतरं लोहकुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि अन्तर्गृहे भस्मराशौ चतुर्मासपर्यन्तं स्थापयेत् । अनंतरं तम् उद्धृत्य विशुद्धशरीरः सहस्रसंपातामिहुतं कृत्वा प्रातः प्रातः बलानुसारेण उपयुंजीत । जीर्णे सति घृतवन्तम् ओदनं मुद्गामलकयूषेणालवणेन सह अश्नीयात् । शयनार्थं पांशुशय्या एव उपयोक्तव्या । एवं कृते सति मासादूर्ध्वं सर्वांगेभ्यः कृमयः निष्क्रामन्ति, तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशकंबिकया अपहरेत् । द्वितीये मासि पिपीलिकाः, तृतीये यूकाः ता अपि तथैवापहरेत् । चतुर्थे दन्तनखरोमाणि अवशीर्यन्ते । पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते, अमानुषम् आदित्यप्रकाशं वपुः प्राप्नोति, दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि च तमुपनमन्ति, । स च रसायनोपयोक्ता रजस्तमसी चापोह्य सत्वमधितिष्ठति, श्रुतनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजबलाऽश्वजवः पुनर्युवाऽष्टौ वर्षशतानि आयुः अवाप्नोति । तस्य पुरुषस्य अभ्यङ्गार्थम् अणुतैलम् उत्सादनार्थं अजकर्णकषायः स्नानार्थं सोशीरं कूपोदकं चंदनम् उपलेपनार्थं च उपयोक्तव्यम् । आहारपरिहारौ भल्लातकविधानवत् ज्ञेयौ (सुचि. २७.८)

–तैल–न., कृमिहरसिद्धतैल० अन्यगुणाः–अनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहरम् (सुसू.४५.११५)

–सार–पु., विडङ्गबीजम् (सुसू. ४४.९)
विडङ्गतण्डुलः (र. २६.१६)

–सिद्धतैल–न., विडङ्गैरण्डादिद्रव्यसिद्ध तैलम् तत् कुष्ठकृमिमेहार्शोग्रहणीक्लैब्यविषमाग्निनाशनम् इदं पानाभ्यङ्गानुवासनैः उपयुज्यते (चसि ४.१८-२४)

विडाल–पु., प्रमाण० कर्षः (काचि.) (उदावर्तचि.)

(विडाली)–स्त्री., वनस्पति० विदारिका (ध. १.१४७)

विडालिका–वनस्पति० विदारिका (ध. १.१४७)

वितण्डा–स्त्री., वादप्रकारः वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव; स्वपक्षस्थापनाशून्यः परपक्षदोषवचनपरो वादो वितण्डा (चवि. ८.२८)

वितत–वि., विस्तृतम् (सुचि. २९.१३)

वितथ–न., अयथार्थम्, असत्यम् (सुउ. ६०.८)
निष्फलम् व्यर्थम् (सुसू. २०.२२)

वितर्क–पु., सम्भावनात्मकं ज्ञानम् (चवि. ४.४)
विशिष्टस्तर्को बितर्को नाम अव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदोषरहितम् अनुमानम् (चवि. ८.८)

वितस्ता–स्त्री., नदी०, सिन्धुदेशे विद्यमानायाः कस्याश्चित् नद्याः नाम । अधुना झेलम बितस्ता बिहट-इत्यादिभिर्नामभिः प्रसिद्धेयं नदी । यवनैस्तु अस्या एव हैडास्पेस बिडास्पेस (टोमेनी) इति नाम कृतम् । अस्याः नद्याः काश्मीरदेशे उत्पत्तिरस्ति (सुचि. २९.२८)

वितस्ति–स्त्री., मान० विस्फारितकरस्याङ्गुष्ठाग्रात्कनिष्ठिकाग्रं यावन्मानम् (र. १०.३४-३९)

वितान–पु., बन्ध० शिरस्त्राणाकारेण विस्तारो व्रणबन्धविशेषः, स च मूर्धनि विधेयः (सुसू. १८.१७)

वितानक–पु., वनस्पति० माडः (ध. ५.७०)
दण्डधृतविस्तीर्णं परिपट्टम्, उल्लोचः(असंसृ.६.६१)

वितुन्नक–पु., वनस्पति० धान्यकम् (ध. २.६३)

(वितुन्निका)–स्त्री., वनस्पति० तामलकी (रा. ५.१४४)

वितुन्नभूता–स्त्री., वनस्पति० तामलकी (ध. ३.८४)

वितुन्ना–स्त्री., वनस्पति० तामलकी (रा. ५.१४४)

वितुष–वि., विगतः तुषः यस्य, निस्तुषम् (असंसू. ६.१४०)

वितूर्णक–न., मुस्ता०कैवर्तमुस्तकम् (काखिल. १५)

वितोद–पु., लक्षण० सूच्यादिभिस्तुद्यमानमिव विविध–वेदना (सुउ. ४८.७)

वित्रासन–न., उपक्रम० विशेषेण त्रासो भीतिजननम् (चनि. ७.८) भयोत्पादनम् (चवि. ६१८)

विदग्ध–वि., पक्वापक्वम् (चचि. १५.१०) अपक्वम् (चचि. १९.१४)
अपक्वम् (चचि. १९.१४)
विरुद्धपरिणतिं प्राप्तः (ड.) सुउ. २२.१०)

–ब्रध्न–वि., विदग्धगुदः (चसू. १४.१७)

विदग्धाजीर्ण–न., रोग० विदग्धेऽजीर्णे भ्रमतृण्मूर्च्छाः, पित्ताच्च विविधा रुजः, धूमाम्लः उद्गारः, दाहः स्वेदश्च जायते (असंसृ. ११.५७)

विदग्धाहार–पु., अम्लीभूताहारः (सुसू. ४६.५२७)

विदर्भ–पु., दन्तरोग० अभिघातजोऽयं रोगः । दन्तमांसेषु दन्तकाष्ठादिना घृष्टेषु महान् संरंभो जायते । यस्मिन् सति दन्ताश्च चलन्ति; अयं विदर्भसंज्ञः रोगः (असंउ. २५)

विदल–न., धान्यप्रकार० शमीधान्यावयवः (सुसू. ४६.३४८)

काष्ठचूर्णम् (चचि. १(३).३)

(विदला)–स्त्री., वनस्पति० श्यामा (रा. ६.३६५)

विदष्ट–वि., अत्यासक्तम् (सुसू. २७.१४)

–**जिह्वाग्र**–पु., संलग्नजिह्वाग्रः (सुशा. ८.८)

विदारक–न., औषधिद्रव्य० लवणभेदः वज्रकम् (रा. ६.५५)

(विदारिका)–स्त्री., रोग० कफमारुतेभ्यः कक्षावंक्षणेषु कठिनो मंदवेदनायुक्तो ज्वरान्वितो यो ग्रन्थिः उत्पद्यते, सा विदारिका (चचि. १२.८९) सैव ' विदारी ' (असंउ. ३६)

प्रमेहपिटका० (असंनि. १०.४१)

कर्णरोग० संनिपातात् यः श्वयथुः सवर्णादिस्वरूप उपेक्षितश्च पक्वः सन् कटुतैलनिभं तत्सदृशं वा स्रावं स्रवेत् कृच्छ्रेण च रोहति; बहुकालप्रयुक्त-भैषज्यसंस्कारात् रूढो भवति, सः श्वयथुः विदारिकेति व्यपदिश्यते सा विदारिका रूढा लब्धास्पदा सती अवश्यं कर्णशष्कुलीं संकोचयेत् (असंउ. २१;)

वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७)

विदारण–न., नखादिभिरवदारणवद् वेदनाविशेषः (सुसू. २२.११)

वि., शोफादिपाटनः (क्षारः) (हे.अहसू.६.१५१)

विदारि–स्त्री., वनस्पति० विदारी (असंसू. १६.३)

–**कन्द**–पु., शाक० अयं जीवनः, बृंहणः, वृष्यः, कण्ठ्यः, रसायने शस्तः, बल्यः, मूत्रलः स्वादु-शीतलः च (चसू. २७.१२१)

–**गन्धा**–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (ध. १.८८)

–**गन्धादिगण**–पु., द्रव्यगण० अयं व्याधिप्रत्यनीकः, तत्र द्रव्याणि विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति । विदारीगन्धादिरयंगणः पित्तानिलापहः शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः (सुसू. ३८.४-५)

–**गन्धादिघृत**–न., सिद्धघृत० विदारिगन्धादिगण-सिद्धं काकोल्यादिगणकल्कप्रतिवापं पयोमधुसिता-युक्तं घृतं पैत्तिके अपस्मारे शमनार्थं पाययेत् (ड. सुउ. ६१.२९)

–**गन्धाद्यगण**–पु., अस्मिन् गणे विदारिगन्धा बृहती पृश्निपर्णी निदिग्धिका श्वदंष्ट्रा चेत्येतानि द्रव्याणि भवन्ति (चचि. १.४२)

विदारिणी–स्त्री., वनस्पति० काश्मर्यः (रा. ९.१४७)

विदारी–स्त्री., वनस्पति० सच गुणतः मधुरा शीता गुरुः स्निग्धा बल्या वृष्या वातपित्तघ्नी रक्तपित्तघ्नी च (ध. १.४८; रा. ७.१९५)

हिं.—बिलैयाकन्द, बिलाइकन्द, विदारीकन्द, बिलारी.

म.—भुईकोहळा, बेन्द्रीचा वेल.

गु.—फगबेलानो कन्द, भोकोळुं.

बं.—भुइकुमडा, श्वेतभूंइकुमड, कालभूइकुमड.

ता.—फालमोडिका.

रोग० पित्तेन अन्तर्गले रागदाहतोदपूतिविशीर्ण-मांसयुतः यः श्वयथुः उत्पद्यते सः विदारीति नाम्ना प्रसिद्धः (सुनि. १६.६३)

क्षुद्ररोग० कक्षवङ्क्षणयोः विदारीकन्दवत् कठिना या पिटिका जायते सा (असंउ. ३६) द्र० 'विदारिका'

–**कन्द**–पु., कन्दशाक० शाकगुणाः–मधुरः बृंहणः, वृष्यः, शीतः स्वर्यः अतिमूत्रलः, बल्यः पित्तवात-हरश्च (सुसू. ४६.३००)

–**गणसिद्धतैल**–न., विदारीगणेन सिद्धं तैलम् । इदं वृश्चिकदंशे सेचनोपयोगि (सुक. ८.७०)

–**गन्धा**–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी अंगमर्दप्रशमन-द्रव्यगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)

विदार्य–पु., वनस्पति० विदारी (असंसू. १५.१४)

विदार्यादिगण–पु., द्रव्यगण० अस्मिन् गणे विदारी एरण्डः मेषशृङ्गी क्षुद्रवर्षाभूः सुरदारु मुद्गपर्णी माषपर्णी कपिकच्छूः अभीरू वीरा जीवन्ती जीवक ऋषभकः सारिवा हंसपादी चेत्येतानि द्रव्याणि वर्तंते (अहसू. १५.९-१०)

विदाह–पु., लक्षण० विशेषेण सर्वाङ्गदहनमिव चत्वारिंशत्-पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)

रक्तादिविदाहः, उपनाहस्वेदजन्यः (चसू. १४.३८)

अन्नस्य विदग्धत्वम्, उदरे, उरसि वा तस्य संज्ञा जायते (चचि. १५.५५)

अम्लपाकः (ड.सुउ.६४.१०)

पाकावस्था (इन्दु. असंउ. २८)

विदाहिन्–पु., गुण० यत् अम्लोद्गारदाहतृष्णाप्रभृती-नुदीर्यं कृच्छ्रात् पाकमुपगच्छति, पित्तं च प्रकोपयति तद् (द्रव्यम्) (सुसू. २१.२१) ' द्रव्यस्वभा-वादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् । पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि (डल्हण. सुसू. ४५.१५८)

विदाहकराणि द्रव्याणि यथा मरीच-सर्षपमद्य-प्रभृतीनि (सुउ.५०.३)

विदितवेदितव्य-वि., विदितानि वेदितव्यानि ज्ञेयतत्त्वानि यस्य येन वा सः (चवि. ७.४)

विदितागम-वि., ज्ञातभोजनादिशास्त्रः हेयोपादेयार्थावधारणार्थं परिशीलितशास्त्रः (सुसू. ४६.४६५; सुउ. ५६.५)

विदुर-वि., स्थायी (चइ. २.१६)

(विदुल)-पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११७)

(विदुला)-स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)

विदूरक-न., मणि० वैडूर्यरत्नम् (र. ४.५)

विदेहाधिप-पु., निमिः इति नाम्ना प्रसिद्धः विदेहदेशस्य राजा यः शालाक्यतन्त्रं चकार (सुउ. १.५)

विद्ध-न., सद्योव्रण० आशयेन विना यत्स्थानं निर्गतशल्यं वा स्यात् उन्नमितमुखं वा स्यात् तं विद्धं व्रणं विद्यात् (सुचि. २.१९-२०) इदमष्टविधम्-अनुविद्धम्, उत्तुण्डितम्, अतिविद्धम् निर्विद्धम्, अनुभिन्नम् भिन्नोत्तुण्डितम्, अतिभिन्नम्, निर्भिन्नम् (असंउ. ३१) सुश्रुते पञ्चप्रकाराः— सिराविद्धः स्नायुविद्धः सन्धिविद्धः अस्थिविद्धो मर्मविद्धश्च (सुसू. २५.३६-४०)

(विद्धा)-स्त्री., क्षुद्ररोग० वातपित्ताभ्यां पद्मकर्णिकाकारा पिटिकाभिः आचिता पिटिका (असंउ. ३६)

विद्या-स्त्री., ज्ञानम् आयुर्वेदः (चसू. ३०.३१)

-धर-पु., पारदादियोग० गन्धक-तालक-माक्षिक-ताम्रमनःशिला-पारदभस्मानि समभागानि दिनत्रयं पिप्पल्याः कषायेण स्नुहीक्षीरेण भावयित्वा निष्कार्ध-प्रमाणेन मधुना प्रातर्भक्षयेत् । तदनु च गोमूत्रं पिबेत् । असौ गुल्मं प्लीहानं च नाशयेत् (र. १८.६६-६८)

देवयोनिविशेषः (सुसू. ६.२५ तः २८)

(-धरी)-स्त्री., देवयोनिविशेषजन्या स्त्री (र. ३.३)

-धरयन्त्र-न., यन्त्र० चतुर्मुख्यां चुल्ल्यां स्थापितं रसपचनार्थं निर्मितं स्थाली-द्वितय-संपुटम् 'कोष्ठीयन्त्रम्' इत्यपराभिधम् (र. ९.२७-२८)

विद्युत्-स्त्री., तडित् (सुसू. ५.२५)

-तुल्यवेदना-स्त्री., लक्षण० विद्युद्वत्क्षणमात्र-स्थायिनी वेदना (चचि. २४.१०२)

-पुञ्जवती-स्त्री., आटरूषः (र. १३.६८)

ब्राह्मी (र. १३.६८)

-प्रभा-स्त्री., विद्युत्प्रकाशः (सुशा. १०.४६)

-सम्पात-पु., विद्युतः पतनम्, तडित्पातः (असंसू. ३२.७)

(विद्युच्)-छिका-स्त्री., स्थावरविषान्तर्गतमूलविष० (सुक. २.५)

(विद्युज्)-ज्वाला-स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१८)

विद्रधि-पु., स्त्री., रोग० शीघ्रविदाहित्वात् विद्रधिरित्यभिधीयते (चसू. १७.९०) रक्तदोषज-विकारेष्वेकः (सुसू. २४.९) एकदेशोत्थितः उत्सेधप्रधानः आशुकारी शस्त्रकर्मसाध्यो रोगः (सुनि. ९.१) तस्याधिष्ठानं मांसधरा नाम त्वक् (सुशा. ४.४) सम्प्राप्तिः-प्रकुपिताः दोषाः त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्य अस्थि समाश्रित्य महामूलं रुजावन्तं वृत्तं घोरं शोफं जनयन्ति तं विद्रधिमाहुः (सुनि. ९.४-५) बाह्याभ्यन्तर भेदेन द्विधा, दोषादिभेदेन अयं षड्विधः, वातजः पित्तजः श्लेष्मजः सान्निपातिकः क्षतजः (अभिघातजः) रक्तजश्चेति (सुनि. ९.६) सामान्यलक्षणः-महामूलं रुजावन्तं वृत्तम् अथवा आयतं शोफं विद्रधिं वदन्ति (सुनि. ९.४-५) तत्र वातजः, कृष्णारुणपरुषात्यर्थवेदनः चिन्नोत्थान-प्रपाकश्च (सुनि. ९.७) पित्तजः, पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावः ज्वरदाहवान् क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च (सुनि. ९.८) कफजः-शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धः अल्पवेदनः चिरोत्थानप्रपाकः सकण्डुश्च (सुनि. ९.९) सान्निपातिकः-नानावर्णरुजास्रावः घटालः विषमः महान् विषमपाकी च (सुनि. ९.१०-११) अभिघातजः-तैस्तैर्भावैरभिहते क्षतेः अपथ्यसेविनः वा वायुविसृतः क्षतोष्मा सरक्तं पित्तमीरयेत् । तदा ज्वरतृष्णादाहादीनि लक्षणानि भवन्ति, अयं अभिघातजः क्षतजः वा पित्तविद्रधिलक्षणयुक्तः आगन्तु-विद्रधिः इत्युच्यते (सुनि. ९.११ तः १३) रक्तजः-कृष्ण-स्फोटावृतः श्यावः तीव्रदाहरुक्ज्वरयुक्तः पित्तविद्रधि-लक्षणयुतश्च (सुनि. ९.१३-१४) आभ्यन्तर-विद्रधिः-गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कसंसृष्टभोजनातिः व्यायामव्यवायवेगाघातविदाहिभिः पृथक् सम्भूय वा कुपिताः दोषाः गुल्मरूपिणं वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वंक्षणयोः वृक्कयोर्यकृति प्लीन्हि हृदये क्लोम्नि वा विद्रधिं

कुर्वन्ति । तेषां लक्षणानि आमपक्वावस्था च बाह्यविद्रधिवत् जानीयात् । अधिष्ठानविशेषेण तस्य लिङ्गानि; यथा–गुदे वातनिरोधः, बस्तौ अल्पकृच्छ्रमूत्रता, नाभ्यां हिक्काऽऽटोपः, कुक्षौ मारुतकोपनम् वंक्षणोत्थे विद्रधौ तीव्रकटीपृष्ठग्रहः, वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीन्हि उच्छ्वासावरोधनम्, हृदि तीव्रसर्वाङ्गग्रहः दारुणशूलः, यकृति श्वासः तृष्णा च क्लोमजे-अधिका पिपासा (सुनि. ९.१९ तः २२) साध्यासाध्यता-यः विद्रधिः मर्मोत्थः यदि आमः पक्वः वा महान् अल्पो वा सः कष्टसाध्यः (सुनि. ९.२३) नाभेरुपरिजाः प्लीहयकृत्क्लोमकुक्षिहृदयजाः पक्वाः ऊर्ध्वं स्रवन्ति, इतरे गुदबस्तिवृक्कवंक्षणजाः अधो यान्ति । एषु चाधोनिःस्रुतेषु जीवति नोर्ध्वनिःसृतेषु । हृन्नाभिबस्तिजान् वर्जयित्वा येऽन्ये गुदकुक्षिवंक्षणवृक्कप्लीहयकृत्क्लोमजास्तेष्वन्तर्विद्रधिषु बाह्यतो भिन्नेषु कदाचिद्दैववशाज्जीवेत् न पुनरितरेष्वभ्यन्तरतो भिन्नेष्वित्यर्थः (सुनि. ९.२४-२५) त्रिदोषजः विद्रधिः हृन्नाभिबस्तिजः पक्वः असाध्यः (सुनि. ९.३४) सर्वविद्रधयो वातादिना यदाऽस्थ्याश्रित्य जायन्ते उपेक्षणादनन्तरं तद्गतमज्जा च परिपच्यते । सः यदि भिन्नः तदा मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं पूयं स्रवेत् (सुनि. ९.३८) उपद्रवाः–आध्मानं बद्धमूत्रता छर्दिः हिक्का तृष्णा रुक् श्वासश्च (सुनि. ३३.२२) चिकित्सासूत्रम्–अयं भेद्यो रोगः (सुसु. २५.५) बाह्ये तु विद्रधौ अमर्मजाते पाचनपाटनशोधनादिरुपचारः करणीयः । आभ्यन्तरविद्रधौ वरुणादिक्वाथ ऊषकादिकल्कं च पिबेत् रक्तनिमित्तजे तथा आगन्तुजे पित्तविद्रधिवत् चिकित्सां कुर्यात् (सुसू. १६.२७-३४) अपक्वे मधुशिग्रुः ।

विद्रावणी–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.३६)

विद्रुम–पु., प्रवालम् (सुनि. २.१३)

–**लता**–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)

–**लतिका**–स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)

विद्वेष्य–न., वनस्पति० कङ्कोलकम् (रा.१२.६९)

विधान–न., तन्त्रयुक्ति० प्रकरणानुपूर्व्या अभिहितं विधानम्, यथाक्रममुक्तमित्यर्थः (सुउ. ६५.२९; चसि. १२.४३)

विधिः, क्रिया (सुउ. १०.३)

यज्ञकर्म (चवि. ३.२४)

विधारण–न., संधारणम्, निग्रहः (चसू. ७.१६)

विधार्यवेग–पु., संधारणीयवेगः (चवि. ३.३८) यथा साहसम् अशस्तमनोवाक्कायकर्माणि, लोभशोकभयक्रोधमाननैर्लज्ज्येर्षातिरागाभिध्यायाश्च (चसू. ७.२६-२७)

विधि–पु., चिकित्सा (सुचि. २२.७२)

सम्प्राप्तिभेदः, विधिश्च प्रकारो भेदः इत्यर्थः, यथा द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन (चनि. १.१२.(४)

विधानम्, कल्पना (चसू. २८.४२)

यज्ञविधायको वेदः (चक्र. चवि. ३.२४)

प्रयोगः (सुसू. ३७.५)

–**कोविद**–वि., विधिज्ञो (वैद्यः) (सुउ. ६२.३२)

–**ज्ञ**–वि., विधिं जानाति इति (चसि. ३.१२)

–**नियमित**–वि., विधिः शास्त्रोक्तो नियमः तेन नियमितम् (अहसू. ८.५५)

–**भेद**–पु., विधि० (चवि. ८.८१)

–**वत्**–अ., विधिः नाम शास्त्रम् । विधिवन्नाम शास्त्रपूर्वकं शास्त्रार्हं वा (चशा. ६.३४)

–**विभ्रंश**–पु., विधिव्यापत् (असंसू. ३३.१०)

–**विरुद्ध**–वि., नियमविरुद्धम् शास्त्रविरुद्धम् (चसू. २६.१०१)

–**विशेष**–पु., विधानभेदः, उपक्रमभेदः (सुचि.१.४)

–**विहित**–वि., विधिना विहितम् शास्त्रविहितम् (चसू. २७.३)

–**शोणितीय**–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. २४.१)

विधुर–न., मर्म० (असंशा. ७.२३)

(विधुरा)–स्त्री., ग्रीवागतसिरा० (असंशा. ६.१५)

–**मर्मन्**–न., मर्म० ऊर्ध्वजत्रुगतमर्म (सुशा. ६.६) शिरोमर्म, 'कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते' (सुशा. ६.२७) स्नायुमर्म, 'विधुरोत्क्षेपाः' स्नायुमर्माणि (सुशा. ६.२७) वैकल्यकरमर्म (सुशा. ६.१२-१३) विधुरे द्वे (सुशा. ६.६) मानम्–अर्धांगुलमितम् (सुशा. ६.२९)

विधूपन–न., (परिव०) धूमायमानत्वम् (सुउ. २२.६)

विधूमाग्नि–पु., निर्धूमाग्निः (कासू. २३.२७)

विधृत–वि., धृतम् (अहसू. १३.३२)

विधृति–स्त्री., धारणम् (अहसू. ५.४४)

विध्मापन–वि., नाशनः नाम नाशकरः (हे.अहसू.१०.१२)

विध्वंसरस–पु., सिद्धौषधि० टङ्कणेन सह गन्धकं जातीफलस्य क्वाथेन सप्तवारान्मर्दयेत् विसूचि-

नाशकोऽयम्, मात्रा नवगुञ्जा । अनुपानं–सिता । पथ्यं–तक्रौदनः वास्तुकशाकं च (र. १६.११६)

विनता–स्त्री., रोग० प्रमेहपिटका० महती नीला अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठोदरान्यतराधिष्ठाना च भवति (चसू. १७.८३)

विनमन–न., आनतपृष्ठत्वम्, विशेषेण नमनम् (सुशा. ९.१२)

यन्त्रकर्म० ऊर्ध्वं प्रविष्टशल्यस्य अधोनयनम् (सुसू. ७.१७)

विनम्र–न., वनस्पति० तगरम् (रा. १०.१०२)

विनय–पु., इन्द्रियवशित्वम् (सुसू. २.३)

विनयोपपन्न–वि., जितेन्द्रियः (सुनि. ७.३)

विनाम–पु., विनमनम्, वक्रता (चनि. १.२१) व्यथया शरीरनमनम् (चनि. १.३३)

विनामक–वि., रोगलक्षण० शरीरविनमनकारी (चसू. १४.२१)

(विनामिका)–स्त्री., रोगलक्षण० अन्तोच्छूना मध्यनिम्ना नाभिः (चशा. ८.४५)

विनाशन–वि., मूलच्छेदनः (ड. सुसू. ३८.९)

विनासिका–स्त्री., तन्नामकसविषकीट० तद्गुणाः–अग्निप्रकृतिकः, अयं पित्तरोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)

विनिदाघ–पु., निदाघः । उष्णोपगमः दाह इति यावत् (र. १७.५८-५९)

विनिर्दहती–स्त्री., चित्रकः (सुउ. ४४.२८)

विनिर्मथन–न., (परिव०) मथनम् (सुचि. ३८.३७)

विनिविष्ट–वि., प्रविष्टः (असंसू. ३४.३)

विनिःश्वसन–न., शब्दकरणम् (चचि. १९.५)

विनीत–वि., विनययुक्तः । शक्तिमान् इत्यर्थः (ड. सुक. १.१४)

वनस्पति० दमनम् (रा. १०.१२०)

विनोदविद्याधर–पु., पारदादियोग० पारदगन्धकटङ्कणानि तत्समभागानि जयपाल-बीजानि गृहीत्वा मर्दयित्वा च सम्पादितोऽयं योगः। तत्र अनुपानं–दुग्धं गुडश्च । सम्यग्विरेचनाभावे मुद्गक्वाथं तदाधिक्ये वा तक्रं बब्बूलीक्वाथं वा पिबेत् । फलं–ज्वरोदरार्शःशूलानां नाशः (र. १९.४,६)

विन्ध्य–पु., पर्वत० अत्र 'चन्द्रमा' इति सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२८)

विपक्वता–स्त्री., पक्वता (चसू. १३.५९)

विपक्ष–वि., हेतुविपरीतः (भेषजादिः) (हे. अहसू. १२.५९)

विपद्–स्त्री., वैगुण्यम् (चसू. २५.२९)

विपत्कर–न., जन्मतः तृतीयं नक्षत्रम् (असंनि. १.२१)

विपरिणमत्–वि., परिणमनमानम् (असंसू. ४.३)

विपरिधावन–न., लक्षण० विशेषेण समन्तात्–गमनम् (ड. सुउ. ५६.७)

विपरीत–वि., विरुद्धम् (अहसू. १.१४)

–गुण–वि., विपरीतः गुणः यस्य सः (आहारादिः) (चवि. १.७)

–गुणभूयिष्ठ–वि., विपरीताः गुणाः भूयिष्ठाः यस्मिन् सः (आहारादिः) (चवि. १.७)

–व्यवाय–न., विपरीतमैथुनम् (पुरुषायितम्) (असंसू. ९.७०)

–स्वलक्षण–वि., यत्र स्वस्य लक्षणं विपरीतमस्ति, विद्यमानं नास्ति इति यावत्, तत् (अहसू. १२.३९)

विपरीताभिनिवेश–पु., विपर्ययेण ज्ञानम् (चशा. ५.१०)

विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २८.१)

विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २९.१)

विपरीतेन्द्रियार्थ–वि., रूपाद्यर्थाग्रहणभ्रान्तः (सुनि. ८.६)

विपर्णाङ्कित–वि., विगलितपत्रैः चिह्नितः (सुसू. ६.३०)

विपर्यय–पु., क्षयः (अहसू. १.१४)

तन्त्रयुक्ति० यद् यत्र अभिहितं, तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः । विपर्ययेण विपरीतमेव गम्यते, अर्थापत्त्या अविपरीत एव अर्थः प्रतीयते इति विपर्यय–अर्थापत्त्योः भेदः (सुउ. ६५.२१; चसि. १२.४३)

विपश्चित्–वि., विद्वान्, ज्ञाता (सुचि. ३८.९-१०)

विपाक–पु., जाठराग्निना संयोगाद्रसपरिणामान्ते यद् रसान्तरमुत्पद्यते स विपाकः (अहसू. ९.२०) चरके त्रिधा विपाकः वर्तते कटुवम्लः मधुरश्च । तत्र कटुतिक्तकषायरसानां विपाकः, प्रायशः कटुर्भवति, अम्लस्य अम्लो, मधुरः स्वादुलवणयोः (चसू. २६.५७-५८) सुश्रुते 'आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च । तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति । तत्र पृथिव्यग्नेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद्गुरुता लघुता च भवति, पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि तस्माद् द्विविध एव पाक इति (सुसू. ४०.१०)

वीर्यात् विना पाको नास्ति (सुसू. ४०.१५) विपाककर्माणि–मधुराम्ललवणरसाः स्निग्धस्वभावात् वातमूत्रपूरीषानुलोमनकराः कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षस्वभावात् वातविण्मूत्रेरतसां विबंधकराः । विपाकस्य रसतुल्यफलत्वात् (अहसू. ९.२२) मधुरविपाकः सृष्टविण्मूत्रकरः कफशुक्रलश्च; अम्लविपाकः पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः शुक्रनाशनः कटुविपाकः वातलः बद्धविण्मूत्रः शुक्रघ्नश्च (चसू. २६.६१-६२) विपाकः कर्मनिष्ठया उपलभ्यते (चसू. २६.६६) नैसर्गिकं बलम्–विपाकः रसं हन्ति तौ वीर्यं, तान् प्रभावो व्यपोहति (अहसू. ९.२५)

विपाचन–न., पाचनम् (सुचि. ४.३३)

विपाण्डु–पु., वनस्पति० त्रपुसम् (ध. १.१७५)

विपादि–स्त्री., रोग० क्षुद्रकुष्ठ० विपादिका (अहसू. २७.१६)

(विपादिका)–स्त्री., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः, तत्र लक्षणम्–पाणिपादस्फुटनम् (चसू. २०.११) रोग० क्षुद्रकुष्ठेष्वेकः वातकफात्मकः (चचि.७.२९) लक्षणम्– कण्डूदाहरुजायुक्तः पादस्फुटनम् (सुनि. ५.१३) तीव्रार्ति–मन्दकण्डूसरागपिटिकान्विताः पाणिपाददार्याः (असंनि. १४.२५) चिकित्सा–जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकः तुत्थं पयश्च इत्येतैः कृतः घृततैलपाकः सर्जरसमधूच्छिष्टावापयुक्तः विपादिका–कुष्ठे अभ्यञ्जनेन शामको भवति । (चचि. ७.१२१)

विपादी–स्त्री., रोग० विपादिका (र.२०.९२-९७)

विपाना–स्त्री., आसुत० सुरा (रा. १४.३०३)

विपुलशिरस्–वि., महाशिराः (मूढगर्भः (मा. ४)

विपुलस्रवा–स्त्री., वनस्पति० कुमारी (रा. ५.११)

विपुलैकदारिन्–वि., ' अनेक प्रकारेण दीर्यते ' (सुनि. १५.१०)

विपुषा–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (ध. २.९)

विपूयक–पु., ' दुर्गन्धता ' (ङ.) ' विपूयक इति विशेषेण पूययोगित्वम् ' (मधुकोशे; सुनि.५.२३)

विप्र–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)

–काष्ठ–पु., वनस्पति० तूलम् (रा. ९.८७)

विप्रकीर्ण–वि., विकीर्णम्, प्रक्षिप्तम् (अहसू.१.४)

विप्रकृति–स्त्री., विपरीतस्वभावः (सुशा. २.४५)

विप्रकृष्टवृत्ति–वि., दूरस्थग्रहणशीलानि मनश्चक्षुरादीनि (काशा)

विप्रतिपत्ति–स्त्री., विरुद्धज्ञानम्, विपरीतज्ञानम् (चवि. ७.८)

विप्रतिपन्न–वि., संशयमापन्नः (चवि. ७.४)

विप्रतिपादन–न., (परिव०) विरुद्धकथनम् (अहसू. १२.७०)

विप्रतिवाद–पु., एकस्मिन् विषये मतान्तरम् (चशा. ६.२१)

विप्रत्यय–पु., विपरिताभिनिवेशः (चशा. ५.१०)

विप्रलम्भिन्–पु., वनस्पति० किङ्किरातः (ध.५.१५६)

विप्रलाप–पु., विविधप्रकारेण विलपनं नाम जल्पनम् (सुउ. ४८.७)

विप्रसारणशील–वि., संकोचनशीलः (सुसू. ३१.१३)

विप्राङ्गी–स्त्री., वनस्पति० कटुका (ध. १.३८)

विप्रिय–वि., द्विष्टम् (अहसू. १२.३७)

विप्लुत–वि., व्याकुलः संकटमग्नः (चसि. ८.३) विकृतम् (ङ. सुउ. ५७.६) प्रसरणशीलम् (चचि. १९.५) सर्वतः अवकीर्णम् (सुउ. ७.२३)

(विप्लुता)–स्त्री., योनिरोग० लक्षणानि–पिच्छिला स्राविणी योनिः (चचि. ३०.८१-८२) नित्यं वेदनायुक्ता शूलादियुता च (सुउ. ३८.१०) अधावनात्संजातजन्तुः कण्डूला च भवति योनिः कण्डूवा च अतिरतिप्रिया भवति (असंउ. ३८)

विफला–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रा. १०.१)

विबद्ध–वि., अवरुद्धम् (सुउ. ५६. २०)

–दोष–पु., स्तम्भितवातादिदोषः। संगृहीतवातादिदोषः (सुउ. ४०.२९-३०) अप्रवृत्तदोषः (सुउ. ३९.१४४)

–मार्ग–पु., अवरुद्धमार्गः (चचि. ८.५८)

विबन्ध–पु., लक्षण० अप्रवृत्तिः (सुउ. ४०.१०७ चसू. २.१३) अनुबन्धः (सुउ. ५१. ४९-५०) बन्ध० अयमुदरोरूपृष्ठे योजनीयः (सुसू.१८.१७)

विभक्त–वि., विभागं प्रापितः, पृथक्कृतः (असंसू. ८.६३)

–गात्रत्व–न., विभागेन स्थितगात्रत्वम् (अरु.) सुसन्निविष्टावयवत्वम् (हे. अहसू. २.१०)

विभक्ति–स्त्री., विभागः (सुशा. ७.१; चसू. २६.११०)

विभजन–न., विभागीकरणम् (सुशा. ५.३)

विभाग–पु., विभक्तिः (चसू. २६.२९) एकदेशः (चवि. ४.४)

विभाण्डी–स्त्री., वनस्पति० आवर्तकी (ध. १.१९८)

विभावन–न., चिन्तनम् (सुशा. १०.३३) ज्ञानम्, बोधः (असंसू. १०.२५) व्याख्यानैः कथनम्

(विभावना)–स्त्री., भावना, शुष्कद्रव्यं द्रवेऽभिमिश्र्य तस्य शोषणावधि खल्वे मर्दनम् (र. २.१५०)

विभाषा–स्त्री., विविधं भाष्यते इति, पर्यायशब्दैः कथ्यते इति (सुउ. ४४.६)

विभीतक–पु., वनस्पति० बिभीतकः (ध. १.२१२)

विभु–पु., आत्मा अविनाशिस्वरूपः (चशा. ४.८; सुशा. ५.५०)

रोग० सन्निपातज्वरभेदः, कफपित्ताधिकः, तल्लक्षणानि–अन्तर्दाहः बहिःशीतं तन्द्रा दक्षिण-पार्श्वतोदः उरःशीर्षगलग्रहः कफपित्तनिष्ठीवनं तृष्णा कण्डूविड्भेदश्वासहिक्काः सप्रमीलकाः (मा.ज्वरनि.) (मधुकोष.)

–त्व–न., शक्तत्वम्, विषयग्रहणसामर्थ्यम् (चसू. ८.१४)

विभूति–स्त्री., व्यक्तिः, मूर्तिः (चशा. ५.५)

विभ्रंश–पु., अवनतिः, नाशः (सुचि. ३४.७)

विस्रंसः, स्वस्थानच्युतिः (चसि. २,१५; चसू. १५.१३)

विपरीतप्रवृत्तिसामर्थ्यम् (चसि. ६.३९)

विभ्रम–पु., विविधः भ्रमः, संमोहमदापस्मारोन्मादादिकः मानसविकारः (सुचि. ३९.२५)

व्यापद्० (सुउ. ५५.४०)

क्षोभः (अहसू. २९.३८)

विभ्रान्त–वि., भ्रान्तः (चसू. २७.२०७)

–काल–पु., अकालः मिथ्याकालो वा (चसू. २७.२०)

–दर्शन–वि., भ्रांतियुक्तं दर्शनम् (असंशा. ९.११)

–बिल–वि., रुद्धद्वारः (चसि. ९.४८)

–मानस–वि., विक्षिप्तचेताः (सुउ. ४६.१२)

–लोचन–वि., अत्यन्तघूर्णिताक्षः (नरः) (सुसू. ३३.१७)

विमर्दक–न., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.८)

विमर्दन–पु., उपक्रम० मर्दनम् (अहसू. १३.११)

विमल–पु., न., खनिजद्रव्य० महारसेष्वेकम् (ध. ६.१)

तपतीतीरे अयं लभ्यते । विमले अष्टास्रफलक-वृत्तत्वानि भवन्ति; हस्ते घर्षणेन करे कालिमा-विकरत्वं च न भवति । तस्य भेदाः–हेमविमलः रूप्यविमलः कांस्यविमलश्च । तस्य गुणाः–कटुः तिक्तः उष्णोऽतिरसायनो वातपित्तघ्नस्त्वग्दोष-व्रणनाशनश्च (ध. ६.६) माक्षीकभेदः (र. २.१) अभ्रकम् (ध. ६.३४)

(विमला)–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)

विमलेन्द्रियता–स्त्री., करण-पाटवम् (असंसू. २४.१९)

विमान–न., विशेषेण मीयते ज्ञायते दोषभेषजाद्यनेन इति (चवि. १.१)

चरकसंहितायां स्थान० अस्मिँस्थानेऽष्टाऽध्याया वर्तन्ते, अत्र सूत्रादिस्थानोक्तविषयाणां विशेष-विचारः कृतः (चवि. १.१)

–ता–स्त्री., विवृद्धमानता, प्रमाणवृद्धिः इति यावत् (चचि. ३०.२०८)

विमानना–स्त्री., खण्डितत्वम्, अवधारणा (सुशा. ३,२१)

विमार्ग–पु., विरुद्धो मार्गः (सुउ. ३९.२३)

–ग–वि., तिर्यग् गतः (ड. सुउ. ३९.२३)

–गमन–न., विपरीतमार्गे गमनम् (चवि. ५.२४)

–दृष्टि–वि., दैत्यजुष्टलक्षण० विमार्गदर्शनः नास्तिकः (ड. सुउ. ६०.९)

–स्थ–वि,. विरुद्धे मार्गे स्थितः (चचि. २८.१२)

विमुक्तकण्ठ–वि., गिलनकर्मणि अस्वाधीनः कण्ठो यस्य सः (सुनि. १६.६१)

विमुक्तगर्भशल्या–वि., विमुक्तं गर्भरूपं शल्यं यस्याः, सा सद्यःप्रसूता (चशा. ८.३१)

विमुक्तत्व–न., मोक्षः (सुसू. ३२.४)

विमुख–वि., पराङ्मुखम् (चवि. ८.२५)

विमूर्च्छित–वि., बहुशो भृष्टम् (अहसू. ७.४३)

विमृदितकर्ण–वि., संकुचितकर्णम् (सुसू. २७.१६)

विमोचन–न., (परिव०) मोक्षणम् (सुशा. २.३१)

विम्लापन–न., व्रणस्योपक्रम० अङ्गुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः कोष्णैः मर्दनम् (सुचि. १८.१२-१३)

वियव–पु., पुरीषजकृमि० (सुउ. ५४.८)

वियोग–पु., विभागः (चशा. ५.८)

वियोनि–वि., योनिः कारणं, तद्रहितः, निर्हेतुकः (चइ. २.१६)

स्त्री., हस्तजङ्घान्तरम् (सुनि. १२.७; गयी.)

विरङ्ग–न., खनिजद्रव्य० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)

विरल–न., दधि (रा. १५.२४५)

(विरला)–स्त्री., वनस्पति० तिन्दुकः (असंसू. १६.३५)

विरस–वि., विगतरसम् (सुसू. ४५.१४)

विरुद्धरसं, अनिष्टरसं वा (सुसू. ४५.१९८-२००)

–काय–पु., (परिव०) अनिष्टरसयुक्तं शरीरम् (चइ. २.२१)

–क्षीरा–वि., विरसस्तन्या, यस्याः स्तन्ये वैरस्यं सञ्जातं सा (स्त्री) (चचि. ३०.२६३-२६४)

विरसाननत्व–न., मुखवैरस्यम् (सुउ. ५७.४)

विरसिका–स्त्री., यूष० मुद्गतक्राम्लसिद्धः यूषः (काखिल. ४.३५)

विराम–पु., विश्रांतिः (चसू. २१.२९)

विरिक्त–वि., कृतविरेचनः (सुचि. ३९.३)

(विरिक्ता)–स्त्री., विरेचनेन सम्यग्जातविरेका (चचि. ३०.२५६

–क्रम–पु., पेयादिक्रमः (सुउ. ५६.२७)

–शिरस्–वि., कृतशिरोविरेचनः (सुउ. २१.५७))

विरिजपत्रिका–स्त्री., वनस्पति० नाकुली (ध. ४.१०३)

विरुद्ध–वि., यत्किञ्चित्द्रव्यं दोषमुत्क्लेशयति न तु निर्हरति, तत्सर्वं विरुद्धम् (हे.अहसू. ७.४५) यथा–सर्वानेव मत्स्यान्न पयसा सहाभ्यवहरेद्विशेषतस्तु चिलिचिमं, स हि महाभिष्यन्दित्वात् स्थूललक्षणतरानेतान् व्याधीनुपजनयत्यामविषमुदीरयति च। ग्राम्यानूपौदकपिशितानि च मधुतिलगुडपयोमाषमूलकबिसैर्विरूढधान्यैर्वा नैकध्यमद्यात् तन्मूलं हि बाधिर्यान्ध्यवेपथुजाड्यकलमूकतामैण्मिण्यमथवा मरणमाप्नोति। न पौष्करं रोहिणीकं शाकं कपोतान् वा सर्षपतैलभृष्टान्मधुपयोभ्यां सहाभ्यवहरेत्, तन्मूलं हि शोणिताभिष्यन्दधमनीप्रतिचयापस्मारशंखकगलगण्डरोहिणीनामन्यतमं प्राप्नोत्यथवा मरणमिति। न मूलकलशुनकृष्णगन्धार्जकसुमुखसुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं, कुष्ठाबाधभयात्। न जातुकशाकं न निकुचं पक्वं मधुपयोभ्यां सहोपयोज्यम्, एतद्धि मरणायाथवा बलवर्णतेजोवीर्योपरोधायालघुव्याधयेषाण्ड्याय च भवेत्। तदेव निकुचं पक्वं न माषसूपगुडसर्पिर्भिः सहोपयोज्यं वैरोधिकत्वात्। तथाऽऽम्राम्रातकमातुलुङ्गनिकुचकरमर्दमोचदन्तशठबदरकोशाम्रभव्यजाम्बवकपित्थतिन्तिडीकपारावताक्षोडपनसनालिकेरदाडिमामलकान्येवंप्रकाराणि चान्यानि द्रव्याणि सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं च पयसा सह विरुद्धम्। तथा कङ्गुवनकमकुष्ठककुलत्थमाषनिष्पावाः पयसा सह विरुद्धाः। पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धं वातं चातिकोपयति। हारिद्रकः सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकोपयति। उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य। बलाका वारुण्या सह कुल्माषैरपि विरुद्धा, सैव शूकरवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति। मयूरमांसमेरण्डसीसकावसक्तमेरण्डाग्निप्लुष्टमेरण्डतैलयुक्तं सद्यो व्यापादयति। हारिद्रकमांसं हारिद्रसीसकावसक्तं हारिद्राग्निप्लुष्टं सद्यो व्यापादयति; तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं सद्योमरणाय कल्पते। मत्स्यनिस्तालनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय स्यात्। मधु चोष्णमुष्णार्तस्य च मधु मरणाय। मधुसर्पिषी समधृते, मधु वारि चान्तरिक्षं समधृतं, मधु पुष्करबीजं, मधु पीत्वोष्णोदकं, भल्लातकोष्णोदकं, तक्रसिद्धः कम्पिल्लकः पर्युषिता काकमाची, अङ्गारशूल्यो भासश्चेति विरुद्धानि (चसू. २६.८४) यत् देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः तथा संस्कारतः वीर्यतः कोष्ठतः अवस्थातः क्रमतः परिहारतः पाकतः संयोगतः विरुद्धम् हृद्विरुद्धं संपद्विरुद्धं विधिविरुद्धं तत् सर्वमहितमिति जानीयात्। यथा–जाङ्गले देशे रूक्षतीक्ष्णादिभेषजं तथानूपे स्निग्धशीतादि एतद् देशविरुद्धम्। शीतकाले शीतरूक्षादिसेवनं तथा उष्णे कटुकोष्णादिसेवनमेतत् कालविरुद्धम्। चतुर्विधेऽनले यद् विरुद्धमाहारादिकं तदग्निविरुद्धम्। समधृतमधुसर्पिः मात्राविरुद्धम्। कटुकोष्णादिसात्म्यस्य यत् स्वादुशीतसेवनं तत् सात्म्यविरुद्धम्। या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषधक्रिया साऽनिलादिभिः विरुद्धा। संस्कारतः विरुद्धं तद्, यद् भोज्यं विषवद् भवेत्। यत् शीतवीर्यं द्रव्यस्य उष्णवीर्यद्रव्येण सह सेवनं, तद् वीर्यविरुद्धम्। यत् क्रूरकोष्ठस्य अत्यल्पं मंदवीर्यमभेदनं भेषजसेवनं तथा मृदुकोष्ठस्य गुरुभेदनीयं तत् कोष्ठविरुद्धम्। अवस्थाविरुद्धं तद् यत् श्रमव्यवायव्यायामसक्तस्यानिलकोपनमाहारं तथा निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्म कोपनम्। विण्मूत्रमनुत्सृज्य तथा अबुभुक्षितः सन् भुंक्ते अतिक्षुद्वशानुगः भुंक्ते वा तत् सर्वं क्रमविरुद्धम्। परिहारविरुद्धं यथा वाराहादीन्निषेव्य उष्णसेवनं तथा घृतादीन् पीत्वा शीतसेवनम्। दुर्दारुसाधितमपक्वं तण्डुलं, अत्यर्थपक्वं दग्धं वा भुञ्जानस्य तत् सर्वं पाकविरुद्धम्। संयोगविरुद्धं यथा पयसा सह अम्लसेवनम्, यद् हृद्विरुद्धं यत् सञ्जातरसमतिक्रान्तरसं विपन्नरसं वा तत् सर्वं संपद्विरुद्धम्। निभृते, यत् न भुज्यते तद् विधिविरुद्धम् (चसू. २६.८६-१०१)

कर्मविरुद्धं यथा–कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्नाद्यात्; कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डादार्घ्यग्निसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात् कांस्यभाजने

दशरात्रपर्युषितं सर्पिः; मधु चौष्णैरुष्णे वा; मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं; तिलकल्पसिद्धमुपोदिकाशाकं नारिकेलेन वरावहसापरिभृष्टां बलाकां; भासमङ्गार-शूल्यं नाश्नीयादिति। मानविरुद्धम्, यथा मध्वम्बुनी मधुसर्पिषी मानतस्तुल्ये नाश्नीयात्; स्नेहौ मधुस्नैहौ जलस्नेहौ वा विशेषादान्तरीक्षोद-कानुपानौ।

रसतः वीर्यतः विपाकतश्च विरुद्धानि–तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च मधुरकटुकौ च सर्वतः मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्याम् मधुरकषायौ च अम्ललवणौ रसतः अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम् अम्लतिक्तावम्लकषायौ च सर्वतः लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः, कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च, तिक्तकषायौ रसतः (सुसू. २०.८-१६)

–गुणसंनिपात–पु., विरुद्धगुणयोः मेलकः (चवि. १.१४)

–योनि–वि., परस्परविरुद्धो धर्मो यस्य यद्वा परस्पर-विरुद्धं कर्म यस्य वा (चइ. ६.२२)

विरुद्धान्न–न., विरुद्धाहारः, द्र० 'विरुद्धम्' (असंसू. २७.६)

विरुद्धाभ्यवहार–पु., विरुद्धाहारः (अहसू. १८.६)

विरुद्धाशन–न., विरुद्धाहारः (अहसू. ८.१३)

विरुद्धाशनजरोग–पु., विरुद्धाख्येन अन्नेन यः व्याधिः उत्पद्यते सः। यथा–पाण्ड्यान्ध्यवीसर्पदकोदर–विस्फोटकोन्मादभगन्दरमूर्च्छामदाध्मानगलग्रह–पाण्ड्रामयामविषकिलासकुष्ठग्रहणीगदशोथाम्ल-पित्तज्वरपीनससन्तानदोषा मृत्युश्च (चसू. २६.१०२-१०३) एतेषां व्याधीनां प्रति-कारार्थं वमनं, विरेचनं व्याधिविरोधिद्रव्यैः संशमनं तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्य (चसू. २६.१०२-१०६)

विरुद्धाहार–पु., विरुद्धः आहारः द्र० 'विरुद्ध' (सुचि. २३.४)

विरुद्धोपक्रम–वि., विरुद्धः उपक्रमः यस्य यस्मिन्वा सः (चसू. २८.७; सुसू. ४५.१४७)

विरूक्षण–वि., विशेषेण रूक्षणम्, विशेषरूक्षत्वकरम् (द्रव्यम्) (चसू. ५.४०)

विरूढ–वि., अंकुरितम् (चसू. १८.६)

–धाना–स्त्री., अंकुरितस्य यवस्य धाना (चसू. २७.२६७)

–धान्य–न., अंकुराः उत्पन्नाः यस्मिन् धान्ये, तत् उत्पन्नाङ्कुरं धान्यम् (चसू. २६.८४)

विरूढक–न., अंकुरितधान्यम् (चसू. ४६.३८१-३८२)

विरूप–वि., विकृताकारं विकृतरूपं वा (चसू. २८.१८)
वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११३)

(विरूपा)–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२०)
वनस्पति० अतिविषा (ध. १.११)

विरेक–पु., गुदमार्गेणान्तःस्थितस्य दोषस्य निःसारणम् (अहसू. १.२६)
अत्र दोषमलरेचनात् विरेचनं वमनं च (ड. सुचि. ३४.२२)
मूर्च्छनाख्यः पारदसंस्कार० (र. ११.३३)

विरेचन–न., उपक्रम० पित्तहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०)
स च अधोभागेन गुदेन दोषनिर्हरणं करोति (चक. १.४) वमनं विरेचनं च शरीरमलविरेचना-द्विरेचनसंज्ञां लभते (चक. १.४) एतत् पच्यमान-दोषनिर्हरणार्थमुपयुज्यते (चक. १२.६५)
तस्यौपाधिकभेदाः चतुर्विधाः, तद् यथा–अनु-लोमनम्–यन्मलानां पाकं कृत्वा बन्धं च भित्त्वाऽधो नयति तदनुलोमनं ज्ञेयम्; यथा हरी-तकी। स्रंसनम्–यत् कोष्ठे श्लिष्टं पक्तव्यं मलादिक-मपक्त्वैवाधो नयति, तत् स्रंसनं ज्ञेयं; यथा कृत-मालकः
भेदनम्–यदबद्धं मलादिकं बद्धं वा, मलैः पिण्डितं वा भित्त्वाऽधः पातयति, तद् भेदनं ज्ञेयं; यथा कटुकी
रेचनम्–यद् विपक्वमपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् रेचयत्यपि, तद् रेचनं; यथा त्रिवृता (शार्ङ्ग. पूर्वखण्ड)
विरेचनप्रक्रिया–तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविका-शीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाम्रे-यत्वाद्विष्यन्दयति, तैक्ष्ण्यात् विच्छिन्दति, स विच्छिन्नो दोषः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादा-माशयमागम्य सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभाग-प्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते (चक. १.५)
विरेचनयोग्याः–कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोद-राशोंव्रह्मप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालस-कमूत्राघातक्रिमिकोष्ठविसर्पपाण्डुरोगशिरःपार्श्वशूलो-दावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रनासिकास्य-स्रवणहृल्लीमकश्वासकासकामलाऽपच्यपस्मारोन्माद-वातरक्तयोनिरेतोदोषैर्मिर्यारोचकाविपाकच्छर्दि-श्वयथूदरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयो विशेषेण महा-

रोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तम् (चसि. २.१३) सुश्रुते–गरविद्रधिवृद्धिव्रणाक्षिपाककाचतिमिराऽभिष्यन्दाश्च(सुचि.३३.३२) विरेचनायोग्याः– सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तिविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णिनवज्वरिमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयो गर्भिण्यश्च (चसि. २.११) विरेचनविधिः–आतुरं पूर्वोक्तं लघु भोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्। अथापरेऽहनि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत्। तत्र मृदुः, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति, तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति। पीतौषधश्च तन्मनाः शय्याभ्याशे विरेच्यते (सुचि. ३३.२०-२१) विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफाः क्रमेण गच्छन्ति (सुचि. ३३.२३) विरेचनं पीतवाँस्तु बुधः वेगान् न धारयेत्। निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेत् न प्रवाहयेत् च (सुचि. ३३.२२) विरेचने दश वेगाः जघन्यमानम् विंशति वेगाः मध्यमानम्, त्रिंशद्वेगाः प्रवरमानमिति बोद्धव्यम्। तथैव वमनाद्विगुणप्रस्थो जघन्ये विरेचने, त्रिगुणः मध्यमे, चतुर्गुणश्च प्रवरे इष्टः अन्यच्च कफान्तत्वं विरेकस्येष्टम्। विरेके सविद्वान् द्विज्ञान् वेगानपनीय शेषं मेयम् (चसि. १.१३. चक्र.) सम्यग्योगलक्षणानि–दौर्बल्यं, लाघवं, ग्लानिर्व्याधीनामणुता, रुचिप्रादुर्भावः, हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा, काले वेगप्रवर्तनं बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिः मारुतानुलोमता कायाग्नेश्चानुवर्तनम् (चसू. १६.५-६; चसि.१.१७) हीनयोगलक्षणानि–ष्ठीवनं, हृदयाशुद्धिः, श्लेष्मपित्तयोः, उत्क्लेशः, आध्मानम् अरुचिः, च्छर्दिः अदौर्बल्यम्, अलाघवम्, जङ्घोरुसादः तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः मारुतनिग्रहश्च। (चसू. १६.७-८; चसि. १.१८) विरेचनात् प्रवृत्तौ प्रवर्तनोपायः–अप्रवृत्तौ तु उष्णाम्बु पाययेत् पाणितापेन च उदरं स्वेदयेत् प्रवर्तने अल्पे सति तस्मिन् दिने भुक्त्वा द्वितीयदिने पुनर्विरेचनं पिबेत् यस्तु निवृत्तस्नेहवान्न विरेच्यते, स पुनः स्निग्धस्विन्नो दशदिनेभ्यः ऊर्ध्वं विरेचनं पिबेत् (अहसू. १८.३५-३७) अतियोगलक्षणानि–विट्पित्तकफवातानां यथाक्रममागमनात् परं (चसू. १६.९) सचन्द्रकं सलिलमधःस्रवति ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च ततो गुदःनिस्सरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति (सुचि. ३४.१३) ऊर्ध्वगाः वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चास्य भवति (चसू. १६.११) अतियोगचिकित्सा–तं निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्, निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत्। वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतिकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत् न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं बस्तिभिरुपाचरेत् शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्। न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु (सुचि. ३४.१३) विरेचनान्तरं पेयादिक-क्रमः–प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धो नरः क्रमेण यथासंख्यं पेयां त्रीनन्नकालान् द्वावन्नकालावेकमन्नकालं भजेत्। यथा प्रधानशुद्धया शुद्धो नरो द्वावन्नकालावेकस्मिन् दिने पेयां भजेत्। द्वितीयेऽहन्येकमन्नकालं पेयां द्वितीयमन्नकालं विलेपीम्। तृतीये वासरे द्वावन्नकालौ विलेपीमेव चतुर्थे अकृतं यूषं, कृतं यूषं च द्वावन्नकालौ भजेत्। पञ्चमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले च। त्रिष्वपि कालेष्वकृतं कृतं च यूषं भजेत्। एवं कालत्रयं कृताकृतं रसं विभज्य भोजयेत्। ससरात्रेण प्रकृतिभोजनं क्रमेण सेवेत (अहसू. १८.२९) विरेचनप्रशस्तिः–सम्यगुपास्यमानं विरेचनं बुद्धेः प्रसादम् इंद्रियाणां बलं धातुस्थिरत्वम् अग्निदीप्तिं चिराच्च वयसः पाकं करोति (सुचि. ३३.२७)

वनस्पति० पृथुशिम्बः (रा. ९.१४३)

–द्रव्यविकल्पविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ४४.१)

–फल–न., वनस्पति० पीलुः (ध. ५.५१)

–व्यापद्–स्त्री., विरेचनप्रमादजन्या व्याधयः यथा–सावशेषौषधवत्त्वम् जीर्णौषधत्वम् हीनदोषापहृतत्वम्, वातशूलं, अयोगोऽतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, विबन्धः, अंगपरिग्रहश्च (सुचि. ३४.३) सावशेषौषधस्य लक्षणानि– तृष्णा, पार्श्वशूलं

च्छर्दिर्मूर्छा, पर्वभेदो, हल्लासोऽरतिरुद्गारविशुद्धिश्च (सुचि. ३४.६) तेषां चिकित्सा- तत्र अधोभागिके विरेचनद्रव्यविषये यः सावशेषौषधोऽतिप्रधावितदोषस्तमसम्यग्विरिक्तमप्यतिप्रधावितदोषत्वहेतुना वामयेत् परमतिबलं पुरुषम् (सुचि. ३४.६) जीर्णौषधत्वे लक्षणानि-व्याधिविभ्रमो बल-विभ्रंशश्च। चिकित्सा- तम् अनल्पममन्दमौषधं च पाययेत्। हीनदोषापहृतत्वे लक्षणानि- गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोः, व्याधिवृद्धिश्च चिकित्सा- तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद्दृढतरं, दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति।

वातशूले लक्षणानि-प्रकुपितवायुः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति। चिकित्सा-तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्।

अयोगातियोगलक्षणानि-विरेचने द्रष्टव्यम् आध्माने अनिलमूत्रपुरीषसंगः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभङ्गो गुदबस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति। चिकित्सा-तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत्।

परिकर्तिकायां लक्षणानि-गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरस्सु सदाहं परिकर्तनमनिलसङ्गो वायुर्विष्टम्भोभक्तारुचिश्च भवति। चिकित्सा तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैन पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत्। परिस्रावे लक्षणानि-दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः। चिकित्सा-तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेत् उपशान्तदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत्

प्रवाहिकायां लक्षणानि— तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमाणकफमुपविशति।

चिकित्सा— तां परिस्रावविधानेनोपचरेत्।

हृदयोपसरणे लक्षणानि— प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते उद्वृताक्षो जिह्वां खादति प्रताम्यत्यचेताश्च भवति। चिकित्सा-तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना च्छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रयं चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्।

विबन्धे लक्षणानि-वातमूत्रशकृद्ग्रहः आटोपः दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति। चिकित्सा-तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत। अधोभागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवाम्लमूत्रसंसृष्टं विरेचनार्थे पाययेत्। आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्। यथादोषमाहारक्रमं च प्रयुञ्जीत (सुचि. ३४.६-२०)

-साध्य-वि., विरेचनेन साध्यः (असंसू. २७.९)

-हृतानाह-वि., विरेचनेन हृत आनाहो यस्य सः (चइ. ९.१०)

विरेचनाश्रय-पु., विरेचनाधिकरणम्, क्षीरमूलत्वक् पत्रपुष्पफलादि (चसू. ४.५)

विरेचनीय-(परिव०) वि., विरेचनार्थं योग्यः (सुचि. ३३.२९-३०)

विरेचनोपग-वि., विरेचन-क्रियाया सहायत्वेनोपगच्छति इति तद् यथा-द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाऽभयामलकबिभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति (चसू. ४.१३)

विरेचनोपयोगिन्-वि., विरेचने उपयुज्यमानानि (द्रव्याणि) तानि यथा त्रिवृत्-श्यामादन्ती-द्रवन्ती-शङ्खिनी-सप्तलाऽजगन्धाऽजशृङ्गीवचागवाक्षीछगलान्त्रीसुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीह्रस्वपञ्चमूलवृश्चीरपुनर्नवावास्तुकशाकसालमूलानि तिल्वकम्यकाम्पिल्लकपाटलीत्वचः त्रिफलापीलुपियालकुवलबदरकर्कन्धुकाश्मर्यपरूषकद्राक्षानीलिनीक्षीतनिकोदकीर्याविडङ्गपूगपञ्चाङ्गुलफलानि चतुरङ्गुलफलपत्राणिपूतिकत्वक्फलपत्राणि महावृक्षसप्तपर्णज्योतिष्मतीक्षीराणि क्षीरमस्तुमद्यधान्याम्लमूत्राणि चेति विरेचनोपयोगीनि (असंसू. १४.४)

विरेच्य-वि., विरेचनार्हः, विरेचनयोग्यः (चसि. २.१३; सुचि. ३३.३२)

विरोचन-पु., वनस्पति० घृतपर्णः (रा. ९.१७८) वनस्पति० रोहितकः (रा. ८.२१७)

विरोध-पु., विरुद्धत्वम् (असंसू. ९.२४)

विरोहिन्-वि., प्ररोहम्, अङ्कुरितम् (सुसू. २०.८)

विलक्ष-वि., चलदृष्टिः (अहसू. ७.१२)

विलङ्घन-न., उपक्रम० विविधलङ्घनम् (सुउ. ५६.१२)

विलम्बन-न., कालातिपातः (असंसू. ३.९३)

विलम्बिका-स्त्री., रोग० (सुउ. ५१.५६)

भोजनं कफवातदुष्टं सत् यस्य ऊर्ध्वम् अधश्च न प्रवर्तते तत्र एवंलक्षणको व्याधिः विलम्बिकाभिधां भजते । आयुर्वेदज्ञाः ताम् अतिदुश्चिकित्स्याम् अतएव असाध्यामाहुः (सुउ ५६.३-९)

विलम्बिमुष्क–वि., रोगलक्षण० विलम्बितौ मुष्कौ यस्य सः (असंउ. ३१)

विलय–पु., लयो नाम लीनत्वम् (अहसू. २५.२८)

विलयन–न., द्रवभावः (ड. सुउ. ५१.४९)

विलापन–वि., द्रवत्वकरम् (सुचि. २४.५१)

विलायन–वि., विलायको नाम विलयनकरः (असंउ.३०)

विलिङ्ग–वि., विगतसहजलक्षणः (चइ. ४.१६)

विलुलित–वि., आलोडितम् (चवि. ७.२१)

विलेखा–स्त्री., तिर्यगृजुबक्रा विविधा लेखा, अयं दहनविशेषः (सुसू. ११.१२)

विलेपिका–स्त्री., कृतान्न० (चसू. २७.२५१)

विलेपी–स्त्री., कृतान्न० यवागू० बहुसिक्था लेह्या, सा च चतुर्गुणैर्जलैः सिध्यति । तद्गुणाः–तर्पणी हृद्या ग्राहिणी बलवर्धनी पथ्या लघ्वी दीपनी क्षुत्तृषापहा च (सुसू. ४६.३४३-३४४) सा च व्रणाक्षिरोगसंशुद्धस्नेहपायिनां हिता (चसू. २७. २५१; अहसू. ६.२९; सुचि. ३९.८-९)

विलोचन–वि., रोगलक्षण० वक्रनेत्रः (ड. सुउ. ६१.९)

विलोडित–न., जाङ्गमद्रव्य० तक्रभेदः मथितम् (ध. ६.१८९)

विलोभन–न., लोभः लुब्धत्वम् (सुउ. ४८.१६)

विलोमत्व–न., लक्षण० पर्याकुलत्वम् (चवि. १७.२०)

विवर–न., अवकाशः (सुचि. १५.३)

विवरण–न., यंत्रकर्म० प्रसारणम्, अंगुल्यादिभिः संपीड्य शल्याद्याहरणम् (सुसू. ७.१७)

विवर्जन–न., (परिव०) परिहरणम् (सुचि. २.५१)

विवर्ण–वि., मलिनवर्णम् (सुक. १.१८-२३) विविधवर्णम् (सुक. ५.४१) वर्णान्तरमापन्नम् (सुसू. ४५.६४)

–ता–स्त्री., लक्षण० वर्णविपर्ययः (चसू. २८.१६)

–दन्तता–स्त्री., मलिनदन्तता (कासू. २०.६)

–पुष्प–न., अनुज्ज्वलवर्णबिन्दुः, दन्तादिष्वरिष्टलक्षणम् (सुसू. ३२.४)

विवर्तन–न., विपरीतवर्तनम्, सन्धिमुक्तस्य सामान्यलक्षणम् (सुनि. १५.६) यन्त्रकर्म० (सुसू. ७.१७) अन्यथात्वेन प्रवर्तनम् (गंगाधर, चशा. ८.१९)

विवर्तित–वि., विपरीतं वर्तितम् (सुनि. १५.७)

विवर्धन–न., (परिव.) वृद्धिः (सुशा. ५.३)

विवस्वत्–पु., आदित्यः (सुसू. ६.८)

विविक्त–वि., विभक्तम् (चशा. ७.१६)

–ता–स्त्री., सम्यक्पृथगवधारणम् मनस एवेन्द्रियार्थेषु सम्यगवधारणसामर्थ्यम् । रसादिधातुवहस्रोतसामनावृतत्वम् (सुचि. ३८.१४-१५)

–प्रियता–स्त्री., लक्षण० विजनप्रियता, विविक्तप्रियता नाम एकान्तप्रियता (चचि.९.१४)

–स्थ–वि., विजने स्थितः (अहसू. ८.३६)

विविध–वि., अनेकविधम् (असंउ. १६.१)

विविधाकार–वि., विविधलक्षणः (सुउ. ६०.६)

विविधाभिमत–न., आसुत० (ध. ६.२४६)

विविधाशितपीतीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. २८.१)

विवृत–वि., अनाच्छादितम् (सुचि.२४.११७) विस्तीर्णम् (अहसू. २९.४९) व्यात्तम् (सुचि. ८.९)

(विवृता)–स्त्री., क्षुद्ररोग० तल्लक्षणानि–पित्तेन पक्कोदुम्बरसन्निभा महादाहज्वरकरी विवृताऽऽनना वृत्ता पिटिका (असंउ. ३६)

वि., विवृतमुखी योनि (चचि. ३०.४४)

प्रसृतद्वरा (। धमनी) (सुनि. १०.१७)

–शायिनी–वि., अनावृते देशे शयनशीला (गर्भिणी) (चशा. ८.२१)

विवृताक्ष–वि., लक्षण० उच्चलिताक्षः (सुउ. ६१.९) स्तब्धाक्षः (सुचि. ७.३१)

विवृत्त–वि., वक्रम् (सुचि. ३.३७)

विवृत्ताक्ष–वि., व्यावर्तितनेत्रः (ड. सुक. ५.४२-४३)

विवेक–पु., विच्छेदः (चशा. ४.१२) पृथक्करणम्, वायुकर्मणामन्यतममिदम् (सुसू. १५.४(१)

विवेचन–वि., विवर्धनम् (सुचि. २४.५६) न., विभजनम् (अहसू. १२.८)

विशद–वि., गुण० क्षालने शक्तिः (हे.अहसू. १.१८) अपिच्छिलम् (ड. सुचि.३१.११) रूक्षम् (सुचि. १२.२०) तस्य कर्माणि–क्लेदाचूषणरोपणः असन्धानः, अजीवनः, अश्लेषी च (सुसू. ४६.५१७)

–करण–वि., विशदेंद्रियः देहः यद्वा विशदेंद्रियत्वम् (ड. सुउ. ६४.८४)

विशर्धित–न., पायुकृतः कुत्सितशब्दः (सुक. ३.४)
विशल्यघ्न–वि., मर्म० विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते (सुशा. ६.१६) त्रीणि विशल्यघ्नानि उत्क्षेपौ द्वौ एका स्थपनी चेति (सुशा. ६.११)
विशल्या–स्त्री., वनस्पति० गर्भपातनी (असंउ. ४२)
वनस्पति० लांगली (असंउ. २६)
वनस्पति० पाटला (ड.) 'गुडूची'–(हाराण) (सुशा. १०.११)
वनस्पति० अग्निशिखवृक्षः (सुचि. १८.४८-४९)
वनस्पति० काष्ठपाटला (ड. सुक. ५.६१)
वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ड. सुउ. ५५.४९)
वनस्पति० दन्ती (ध. १.१.२२३)
वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९)
विशस्त–वि., छिन्नम् (सुनि. १०.१९)
विशाख–पु., पुरुषशरीरग्रह० (असंउ. ३)
पुरुषवाचक ग्रह (स्कंदापस्मार).
वनस्पति० पुनर्नवा (ध. १.२७४)
–संज्ञ–वि., ग्रह० विशाख इति संज्ञा यस्य सः, स्कन्दापस्मारस्य द्वितीयं नाम (सुउ. २९.९)
विशारद–वि., यः शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः, स विशारदः चिकित्साकुशलः स्यात् (सुशा. ५.५१)
पु., वनस्पति० बकुलः (ध. ५.१५४)
वि., पण्डितः (सुसू. ३४.७)
पु., सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः (र. १.२,५)
तन्त्रकारविशेषः, विदेहः, निमिः (सुउ. १.१२)
(विशारदा)–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासभेदः, क्षुद्रदुरालम्भा (रा. ३.२२)
विशाल–वि., विस्तीर्णम् (सुसू. ५.८)
(विशाला)–स्त्री., वनस्पति० इद्रवारुणी (सुचि. ९.८)
(विशाली)–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१)
–पत्र–पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा. ५.९५)
वनस्पति० कासालुः (रा. ७.२८)
–फलिका–स्त्री., वनस्पति० निष्पावी (रा. ७.१००)
विशालाक्षी–स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रा. ५.२६)
विशालोपोदकी–स्त्री., वनस्पति० उपोदकी (रा. ७.७४)
विशिख–पु., वनस्पति० शरः (रा. ८.२११)
वि., खण्डितम् (पात्रादि) (चक्र. चइ. १२.३४)
(विशिखा)–स्त्री., कर्ममार्गः, रुग्णस्य निवासः, रथ्या (सुसू. १०.१; चसू. २९.९)
विशिखानुप्रवेशनीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. १०.१)
विशिखान्तर–न., अपत्यमार्गः, अपत्यपथाभ्यन्तरम् (सुशा. १०.९)
विशिष्ट–न., खनिजधातु० सीसकम् (ध. ६.२१)
विशीर्ण–वि., पतितम् (असंसू. ४.३१)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० निम्बः (रा. ९.४४)
–वाच्–वि., लक्षण० अस्फुटवचनः (चचि. १७.४७)
विशुद्ध–वि., शुद्धम् (अहसू. १३.१६)
मलरहितम् (सुचि. २४.१८)
न., वनस्पति० आलकम् (ध. १.८९)
–देह–वि., वमनविरेचनाभ्यां विशेषेण शुद्धः देहो यस्य, सः । शुद्धतनुः (सुउ. ५६.१३)
–रक्त–वि., शुद्धरक्तः (असंसू. ३६.२५)
–वर्ण–वि., प्रकृतिसिद्धवर्णम् (सुउ. १५.१९)
विशुद्धोपचित–वि., पूर्वं विशुद्धः कृतसंसर्जनत्वात् पश्चात् उपचितः (सुचि. २६.३९)
विशुष्करेतस्–वि., स्वमानादत्यर्थं क्षीणरेताः (पुरुषः) (सुसू. १.८(८)
विशुष्कान्न–न., शुष्कमन्नम् (सुसू. ४६.४९६)
विशेष–पु., भेदः (चसू. १.६४)
वैशेषिकसंमतषट्पदार्थेषु द्रव्यगुणकर्मादीनामन्यतमः (चवि. ८.२९)
अतुल्यार्थता, असमानो धर्मः (चसू १.४४-४५)
उपशमः (प्रकरणवशादयमर्थोऽत्र) (ड. सुउ. २५.५)
शब्दादिः, सुखदुःखादिभिरनुभाव्यैर्धर्मैर्विशिष्यमाणत्वाद्विशेषः
विशेषक–पु.. वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८)
विशेषण–न., विशेषः (सुउ. ४२.१४)
विशोक–पु., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९)
विशोधन–पु., आरग्वधो दन्ती वा (र. २१.१३९)
(विशोधनी)स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३२)
वनस्पति० नागदन्ती (रा. ५.२६)
वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३९)
–वधू–स्त्री., शुनी, शुनकचिल्लीशाकं वास्तुभेदः (र. २१.१३९)

विशोध्य–वि., शोधनार्हः (सुचि. ३३.४२)
विशोष–पु., लक्षण० विशेषेण शोषः (सुउ. ४८.७)
विशोषण–न., लंघनम् (इन्दु. असंचि. ११) उपक्रम० लघुरूक्षाल्पभोजनम् (सुउ. ५२.२८-२९)
वि., द्रवस्निग्धयोः शोषणः (सुसू. ३८.१३)
विश्रगन्धा–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (ध. २.९)
विश्रब्ध–वि., जातविश्रम्भः विश्वस्तः (अहसू. २.२७)
विश्रमण–न., विश्रान्तिः (अहसू. ४.१५)
विश्रा–स्त्री., वनस्पति० हपुषा (ध. २.९)
विश्लिष्ट–वि., विघटितः (सन्धिः) (सुचि. ३.२०) स्वस्थानात् च्युतः (सुचि. २.७७)
–**देह**–वि., भग्नशरीरः (असंउ. ३१) तस्य चिकित्सा–स्वस्थानच्युतावयवो देहः तैलपूर्णायां द्रोण्यां स्थापनीयः अशनार्थं च मांसरसादिकं दातव्यम् (सुचि. २.७७-७८)
–**वक्षस्**–वि., लक्षण० अवसन्नवक्षाः पीडितवक्षाः (ड. सुउ. ५२.११)
–**सन्धि**–वि., च्युतसन्धिः (असंसू. ७.४७)
विश्लेष–पु., विभागः विभक्तीकरणम् (चक.१२.४८-४९) सन्धीनां प्रसारणादौ अप्रवृत्तिः (ड. सुक. २.२९-३०)
विश्लेषण–वि., लवणरसस्य गुणः। प्रत्यवयवानां पृथक्करणः, छेदित्वात् (सुसू. ४२.१०(३))
विश्व–न., वनस्पति० शुण्ठी (चचि. ३.२५०) वनस्पति० बोलम् (रा. ६.११७)
(विश्वा)–स्त्री., शुण्ठी (ड. सुचि. ३७.२०) वनस्पति० अतिविषा (ध. १.१०)
–**कर्मन्**–वि., विश्वकर्मकरणक्षमः (विश्वकर्मा) (चशा. २.३२)
पु., आत्मा (चशा. ४.८)
–**गन्ध**–न., भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११७) वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१०१)
–**ग्रन्थि**–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (ध. ४.१११)
–**देवा**–स्त्री., वनस्पति० गांगेरुकी (ध. १.२८४) सितकुसुमानाम्नीबला० (ड, सुशा. २.३२; असंशा. १.६१)
–**धूपक**–न., वनस्पति० अगरु (ध. ३.२५)
–**पर्णी**–स्त्री., वनस्पति० तामलकी (रा. ५.१४५)
–**भेषज**–न., वनस्पति० शुण्ठी (ध. २.८२)
–**रूप**–पु., आत्मा (चशा. ४.८)
वि., नानारूपः (विकारः) (सुउ. ६१.२१)
–**(रूपा)**–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (रा. ६.७)
–**रूपक**–न., वनस्पति० कालेयकम् (रा. १२.४०)
–**हित**–पु., योग० पारदसंलिप्ततान्त्रगन्धकेन मारयित्वा तत्समं चित्रकं हरितालं सम्पिण्डितं त्रिदिनं मर्दयेत् । मात्रा–वल्लद्वयम्। अनुपानं–मरिचचूर्णं घृतयुक्तम्, निर्गुण्ड्यादिर्लेपोऽनेन साकं प्रयोज्यः । अयं कुष्ठघ्नः (र. २०.५७)
विश्वम्भर–पु., सविषकीट० सौम्यः, अयं श्लेष्मप्रकोपणः कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२) तैश्च दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति (सुक. ८.३२)
विश्वाख्या–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४४०)
विश्वाची–स्त्री., वातरोग० बाहुपृष्ठतः अङ्गुलीनां तलं प्रति या कण्डरा वातदुष्टा सती बाहुचेष्टापहारिणीं विश्वाचीं करोति (सुनि. १.७५)
विश्वामित्र–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिषु एकः (चसू. १.१०)
विश्वौषध–न., वनस्पति० शुण्ठी (ध. २.८२)
विष्–स्त्री., पुरीषम् (चसू. १.६९; सुउ. ५५.४)
(विट्)–**क्षय**–पु., पुरीषक्षयः (अहसू. ११.३२)
–**खदिर**–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३८)
–**प्रभ**–वि., मूत्रपुरीषगन्धी विट्ग्रहणेन अत्र पुरीषं मूत्रं च गृह्यते मलमूत्रवाचकत्वात् विट्शब्दस्य (ड. सुशा. २.१०)
–**प्रभशुक्र**–न.,मूत्रपुरीषगन्धिशुक्रम्, तस्य चिकित्सा–विट्प्रभे शुक्रे चित्रकोशीरहिङ्गुभिः सिद्धं घृतं पाययेत् (सुशा. २.१०)
–**प्रवृत्ति**–स्त्री., पुरीषप्रवृत्तिः (अहसू. ४.४)
–**शूल**–न., रोग० शूलभेदः, अयं वातप्रकोपात् रुद्धमलेन भवति । रूक्षाहारस्य कोष्ठमलरुद्धता अग्निमांद्यम्, स्रोतोरोधात् दक्षिणं वामं वा कुक्षिमादाय तीव्रशूलः, वायुवर्धनं सघोषं, पिपासा, भ्रमः मूर्च्छा मूत्रपुरीषोत्सर्गेणापि शान्त्यप्रतीतिः (सुउ. ४२.१३६-१३९) तस्य चिकित्सा–स्वेदनं, शमनं निरूहस्नेहबस्तयः, कोष्ठशोधनं, उदावर्तचिकित्सा च कर्तव्या (सुउ. ४२.१४०-१४१)
(विड्)–**गण**–पु., पुरीषगणः । पारावतः, चाषः, कपोतः, मयूरः, गृध्रः कुक्कुटश्चेत्येषां विष्ठा; गणोऽयं पुटलेपनाभ्यां सर्वलोहशोधनः (र. १०.९०)
–**ग्रह**–पु., पुरीषसङ्गः (अहसू. १८.३९)

-ग्रहणवर्ग-पु., पुरीषसंग्रहणीयः वर्गः, यथा-श्यामाऽनन्ता पद्मा कट्वङ्गः पद्मकेसरं लोध्रं धातकिकुसुमसमङ्गामोचरसाम्रास्थि (असंसू. १५.३१)

-बन्ध-पु., पुरीषबन्धः पुरीषसङ्गः (सुउ. ४०.१०६)

-बल-न., पुरीषेण प्राप्तं बलम् (चचि. ८.४२)

-भेद-पु., लक्षण० द्रवपुरीषता, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; सुउ. ५४.१०)

-भेदिन्-वि., पुरीषस्य भेदकम्। विड्भेदी (अहसू. ४.६)

-भ्रंश-पु., शिथिलपुरीषस्य पतनम् (असंनि. २.१५)

-मूत्रसंग्रह-पु., रोगलक्षण० विण्मूत्रसङ्गः (असंसू. ११.३४)

-मूत्रार्ति-स्त्री., मलमूत्रावरोधविकारः (र. २२.१०१)

-राग-पु., पुरीषस्य रक्तवर्णत्वम् (काखिल. २.४४)

-रोध-पु., पुरीषसङ्गः (अहसू. ४.६)

-वम-वि., पुरीषोद्वामी, पुरीषं वमन् (अहसू. ४.२१)

-वहस्रोतस्-न., पुरीषवहस्रोतः (चचि. २०.१६)

-विघात-पु., रोग० मूत्रकृच्छ्र० त्रयोदशबस्तिविकारेष्वेकः, तल्लक्षणम्-वायुना पीडितं शकृन्मूत्रस्रोतः प्रपद्यते, ततो विड्गन्धि विट्संसृष्टं च पुरुषः कृच्छ्रान्मूत्रयति (चसि. ९.४३)

-विरजनवर्ग-पु., पुरीषविरजनवर्गः जम्बुसल्लकीप्रभृतिद्रव्ययुतः (असंसू. १५.३२)

-वृद्धि-स्त्री., पुरीषवृद्धिः (अहसू. ११.३२)

-सङ्ग-पु., रोगलक्षण० पुरीषसङ्गः (चचि. ५.१०)

विष-न., गरम्, प्राणनाशकद्रव्यम् (चचि. २३; सुक.१.६) तदुत्पत्तिर्व्युत्पत्तिश्च-ब्रह्मा प्रजामसृजत्। कैटभो नाम दर्पितोऽसुरः सर्जने विघ्नमकरोत्। क्रुद्धस्य ब्रह्मणो मुखान्मूर्तिमान् क्रोधः समुत्पन्नः। स कैटभं ददाह, क्रोधस्य तेजस्तु वृद्धिं प्राप्तम्। तद् दृष्ट्वा देवाः खिन्ना अभवन्। खिन्नत्वं नाम विषादत्वम्, विषादजननत्वाद्विषम्। ब्रह्मा तं क्रोधं स्थावरजङ्गमेषु न्यस्तवान् (सुक. ३.१८-२२) सुरासुरैरमृतार्थं मथ्यमाने समुद्रेऽमृतोत्पत्तेःप्राग्दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणो घोरदर्शनः पुरुषो जज्ञे। तं दृष्ट्वा जगद्विषण्णं जातम्। तेनासौ विषसंज्ञितः (चचि. २३.४-५) तत्प्रकाराः-द्विविधं स्थावरं जङ्गमम्। त्रिविधं, स्थावरं जङ्गमं कृत्रिमं च (ड. सुसू. ३४.४) दोषभेदेन त्रिविधम्-वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकमिति (चचि. २३.१६९) तदाश्रयाः-स्थावरस्य दशाधिष्ठानानि-मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सारो निर्यासो धातवः कन्दश्च; क्लीतकाऽश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानील्यष्टौ मूलविषाणि, विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि इति पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्षपघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि; वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि इति पञ्च पुष्पविषाणि; अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दननाराचकानि इति सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि; कुमुदग्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि; फेनाश्महरितालं च द्वे धातुविषे; कालकूटवत्सनाभसर्षपपालककर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि; इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति (सुक. २.४-५) जङ्गमस्य षोडशाधिष्ठानानि-दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रनखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशविशार्धिततुण्डास्थिपित्त, शूकशवानीति (सुक. ३.४) तत्सामान्यगुणा उपपत्तिश्च-लघुरूक्षमाशु, विशदं, व्यवायि, तीक्ष्णं विकासि, सूक्ष्ममुष्णमनिर्देश्यरसम् (चचि. २३.२४) तद्दौक्ष्याद्वायुं कोपयेत्; औष्ण्यात् सशोणितं पित्तं कोपयेत्; तैक्ष्ण्यान्मतिं मोहयेन्मर्मबन्धांश्च छिनत्ति; सौक्ष्म्यात् शरीराऽवयवान्प्रविशेद्विकरोति च आशुत्वादाशु हन्ति; व्यवायित्वात् प्रकृतिं भजेत्; विकाशित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि क्षपयेत्, वैशद्यादतिरिच्येत; लाघवादुश्चिकित्स्यम्; अविपाकित्वादुर्हरं चिरक्लेशकारि च (सुक.२.१९-२३) विषदलक्षणानि-अपार्थं बहु संकीर्णं मूढवद्भाषते; अङ्गुलीः स्फोटयति, अकस्माद् भूमिं विलिखन् हसेदपि, वेपथुमान् भवति, त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते; क्षामो विवर्णवक्त्रो नखैः किञ्चिच्छिनत्ति असकृद्दीनः करेण शिरोरुहानालभेत्। अपद्वारैर्निर्यियासुः पुनः पुनर्वीक्षते (सुक. १.१९-२१) विषदानप्रकाराः-अन्ने, पाने दन्तकाष्ठेऽभ्यङ्गेऽवलेखने, उत्सादने, कषाये, परिषेकेऽनुलेपने स्रक्षु, वस्त्रेषु, शय्यासु, कवचाभरणेषु पादुकापादपीठेषु, गजवाजिनां पृष्ठेषु, विषजुष्टेष्वन्येषु नस्यधूमाञ्जनादिषु च विषप्रदानं संभवति (सुक. १.२५-२७) विषान्नपरीक्षा-विषान्नेन हुतभुग्भृशं चटचटायते, तीक्ष्णधूमो भवति,

चिरान्नोपशाम्यति; जीवंजीवका विषं दृष्ट्वा म्रियन्ते; शुकसारिके क्रोशतः, हंसः क्ष्वेडति; भृङ्गराजः कूजति; मर्कटो विष्ठां मुञ्चति; (सुक. १.२८-३३) विषान्नपरिणामाः–आमाशयगतं विषं मूर्च्छार्च्छर्दिमतीसाराऽध्मानदाहवेपथ्विन्द्रियवैकृत्यानि कुर्यात्; तत्राशु तण्डुलाम्बुदध्यादिसहितं मदनादिचूर्णैर्वामयेत्। पक्वाशयगतं विषं दाहमूर्च्छाऽतीसारतृष्णेन्द्रियवैकृताऽऽटोपकाश्यपाण्डुताः कुर्यात्। तत्र ससर्पिष्कं नीलिनीफलचूर्णं विरेचनार्थमथवा दक्षा मधुसंयुतः दुषीविषारिः पेयो (सुक. १.४०-४३) उपक्षिप्तस्यान्नस्योर्ध्वं प्रसर्पता बाष्पेण हृत्पीडा, भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते (सुक. १.३४-३५) प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवमानस्य जिह्वाऽष्ठीलावदरसवेदिनी भवति। सा तुद्यते दह्यते चाऽऽस्यात् श्लेष्मा प्रसिच्यते (सुक. १.३८-३९) तत्परिहारः–महासुगन्धिमगदमजेयघृतं, शतवर्षस्थितपुराणघृतं नकुलमयूरहरिणगोधादिमांसं वा हृदयाऽऽवरणार्थं दद्यात्। तीक्ष्णवमनविरेचनं सिराव्यधं क्षिप्रं कुर्यात्। मित्रमध्यगो नित्यं हृदयावरणं कुर्यात्। सर्पिर्दधिपयः क्षौद्रं शीतलं जलं वा पिबेत् (सुक. १.७५-८०) तत्संप्राप्तिः–विषं देहं संप्राप्य प्राक शोणितं दूषयति। ततः कफपित्ताऽनिलैः सहाशयान्दूषयति। ततो हृदयं संप्राप्य देहोच्छेदाय प्रभवति (असंउ. ४०) तदुपद्रवाः–षोडशोपद्रवाः–ज्वरकासवमिश्वासहिक्कातृष्णाऽतिमूर्च्छाव्रणदाहातिसारबस्तिरुजाशोथपूतिगन्धत्वरक्तस्रावाग्निमन्दताः (असंउ. ४७) स्थावरविषलक्षणानि–सप्त वेगाः–प्रथमे वेगे–जिह्वाश्यावता, स्तम्भो, मूर्च्छा, त्रासः, क्लमो वमिश्च; द्वितीये–वेपथुः, स्वेदो, दाहः, कण्ठवेदना, आमाशयप्राप्तं सद् विषं हृदि वेदनां जनयति; तृतीये–तालुशोष आमाशये शूलं, लोचनानां दुर्बलहरितशून्यत्वं च; चतुर्थे–पक्वाशयगते विषे हिध्मा, कासोऽन्त्रकूजनं शिरसोऽतिगौरवम्; पञ्चमे–कफप्रसेको वैवर्ण्यं, पर्वभेदः, पक्वाधाने वेदना सर्वदोषप्रकोपश्च; षष्ठे–संज्ञाप्रणाशोऽशमतीसारश्च; सप्तमे–स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गो मृत्युश्च (असंउ. ४०) विषदिग्धशस्त्रविद्धलक्षणानि–मुहुर्मुहुः प्रताम्यति, विवर्णभावं भजते, आशु विषादं गच्छति; अस्य गात्रं कीटैरावृतमिव विमिचिमायते। श्रोणिपृष्ठशिरःस्कन्धसन्धिषु संवेदनाः स्युः। कृष्णदुष्टाऽस्रस्रावस्तृष्मूर्च्छाज्वरदाहा दृष्टिकालुष्यवमथुश्वासकासाश्च भवन्ति। व्रण आरक्तपीतपर्यन्तः श्यावमध्योऽतिरुक् च व्रणगतं मांसं कृष्णतां गत्वा शूयते, सद्यः पच्यते च। प्रक्लिन्नमभीक्ष्णं जीर्यते सपिच्छिलपरिस्रुतश्च व्रणो भवति। (असंउ. ४०) जङ्गमविषाऽऽश्रयाः–दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः; भौमास्तु दंष्ट्राविषाः; मार्जारश्वबानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः चिपिटपिच्चिटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषा मूषिकाः, शुक्रविषाः, लूता लालामूत्रपुरीषमुखसंदंशनखशुक्राऽऽर्तवविषा वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिकाश्चालविषाः; चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसंदंशविशर्धितमूत्रपुरीषविषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसंदंशविषाः विषहतास्थि सर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि,शकुलीमत्स्यरक्तराजिवरकीमत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवलभिकाश्रृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः; कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः शेषास्त्वनुक्ता मुखसंदंशविषेष्वेव गणयितव्याः (सुक. ३.५) सामान्यचिकित्सा–प्रथमे विषवेगे वान्तं शीताम्बुना अभिषिञ्चेत् मधुसर्पिर्भ्यां समायुतमगदं पाययेत्; द्वितीये वान्तं विरेचनं पाययेत्; तृतीयेऽगदपानं नस्यमञ्जनं च हितम्; चतुर्थे स्नेहसंमिश्रमगदं पाययेत्; पञ्चमे क्षौद्रमधुककाथयुक्तं तं प्रदापयेत्; षष्ठेऽतीसारवत्; सप्तमेऽवपीडः; मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृक् पिशितं क्षिपेत् (सुक. २.४०-४३) तदपथ्यानि–तिलमद्यकुलत्थक्षुत्तृड्भयाऽऽयासमैथुनदिवास्वप्नाश्च (असंउ. ४७) विषरहितपुरुषलक्षणानि–प्रसन्नदोषः स्वभावाऽवस्थितवातादिकः, प्रकृतिस्थधातुरत्नाभिकाङ्क्षः सममूत्रजिह्वः, प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टो नरोऽविष इति जानीयात् (सुक. ६.३२)

वनस्पति० वत्सनाभः (चचि. १(३).२४; सुचि. ९.५५; ध. ७.१२८)

अतिविषा (र. १२.१३३-३९)

निर्यास० बोलम् (रा. ६.११६)

जलम् (रा. १४. ३१७)

(विषा)–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (चद्. १२.८५; ध. १.१०)

द्रवन्ती (ध. १.२२९)
-कण्ट-पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रापरि. ८.१७)
-कण्टक-पु., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२५)
-कण्टकिनी-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)
-कन्द-पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३)
-कन्या-स्त्री., स्त्री० आजन्मविषसंयोगाद् विषमयी कृता कन्या, सा स्पर्शोच्छ्वासादिभिःसंगन्तारं हन्ति। तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् पुष्पपल्लवौ म्लायतः । शय्यायां मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा जन्तुभिर्म्रियते । एवं ज्ञात्वा तां दूरतस्त्यजेत् (असंसू. ८.८७-८९) स्पृशन्ती सती स्वेदेन हन्ति । मैथुने गम्यमाना वृन्तात्पक्वं फलमिव मेहनं प्रशातयति (ड. सुक. १.४-६)
-क्रिमि-पु., कीट० विषात्मकः क्रिमिरस्य जन्म विषेण भवतीति प्रसिद्धिः (अहसू. १.९)
-गण-पु., द्रव्यगण० सात्तुकमुस्तकशृङ्गिवालकसर्षपाह्वयवत्सनाभाख्यानि, एतानि स्निग्धघनगुरूणि (असंउ. ४८)
-घ्न-वि., विषनाशकम् (चसू. १.९७)
पु., वनस्पति० कदम्बः (रा. ९.१७४)
धन्वयासः (रा. ३.२६)
वनबर्बरिका (रा. १०.८८)
गण० विषहरो महाकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.८)
(-घ्नी)-स्त्री., वनस्पति० सोमराजी (असंउ. ९)
कटभी (इन्दुः, असंउ. ९)
-(घ्नी)-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१)
वृश्चिकाली (रापरि. ९.७)
पुनर्नवा (रा.५.४०७)
हपुषा (रा. ४.१३)
काष्ठकदली (ध. ४.७८)
हरिद्रा (ध. १.५५; सुउ. ६२.०)
भूधात्री (रा. ५.१४५)
पृश्निपर्णी (ध.१.९१)
जीमूतकः (रा. ३.२४४)
गुडूची (असंसू. ८.७७)
पद्मचारिणी (असंसू. ८.७७)
करञ्जभेदः, अज्ञारवल्ली (रा. ९. १८१) द्र० 'करञ्ज'
-घ्नगण-पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे षट्स्वेकः, हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकतकशिरीषसिन्धुवारश्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति (चसू. ४.११)
-घ्नविधि-पु., कल्पोक्तो विषघ्नो विधिः (सुसू. ३७.५)
-घ्निका-स्त्री., वनस्पति० कटभी, श्वेताकटभी (रापरि. ९.३८)
-चिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (चचि.२३.१)
-जग्ध-वि., विषयुक्तः, विषस्पृष्टम्, विषाक्तम् (असंसू. ८.१२६)
-जुष्ट-वि., विषयुक्तः (असंसू. ८.२३; सुसू.२३.७)
-तिन्दु-पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)
-तिन्दुक-पु., वनस्पति० कारस्करः (र. १२.२०)
-द-न., खनिज० पुष्पकासीसम् (ध. ३.१२५)
-(दा)-स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.९३) अतिविषा (ध. १.११)
-दातृ-वि., विषप्रयोक्ता (सुक. १.१८-२३)
-द्रुम-पु., वनस्पति० कारस्करः (रापरि. ९.३५)
-द्वन्द्व-न., वनस्पति० श्वेतं, कृष्णं च वत्सनाभम् (र. १९.३९-४१)
-धूम-पु., विषयुक्तो धूमः, तल्लक्षणानि-श्रमार्ताः खगा भूमौ प्रपतन्ति । तत्र कासः प्रतिश्यायः शिरोरुजस्तीव्रा नयनाऽऽमयाश्च भवन्ति । लाक्षादिद्रव्यं वह्नौ निधाय धूमं विशोधयेत् (सुक. ३.१६-१७)
-निश्चय-पु., विषस्य सम्यग् ज्ञानम् (सुचि. १.१२४)
-पत्रिका-स्त्री., स्थावरविषाऽन्तर्गतपत्रविषभेदः जैपालादिबीजमध्यस्थपत्रम् (सुक. २.५)
-पर्ण-पु., वनस्पति० विषवृक्षः (र. ३०.७०)
-पादुका-स्त्री., सविषपादुका, तल्लक्षणानि-शोफः, स्रावः, पादयोः स्वापः, स्फोटाविर्भावश्च भवति (सुक. १.७२-७३) चिकित्सा-अभ्यङ्गवच्चन्दनादिलेपः (सुक. १.५३-५४)
-पिडका-स्त्री., रोग० पिडकाभेदः इयं विषसंज्ञिता (का भोजनकल्प) द्र० 'पिडका'
-पीत-वि., पीतविषः (असंसू. ८)
-पुष्प-न., सविषपुष्पम् (असंसू.६.९३) तत्र लक्षणानि-पुष्पाणां गन्धहानिः, विवर्णत्वं, म्लानता च भवेत् । जिघृतः शिरोदुःखं लोचने वारिपूर्णे च भवतः । चिकित्सा-तत्र बाष्पेरितं मुखाऽऽलेपे च कर्म (सुक. १.६५-६६)

-पुष्पक-पु., वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)
-प्रदातृ-वि., जीवहरणार्थं विषं प्रददानः, विषप्रयोक्ता (चचि. २३.१०७)
-प्रशमन-न., आयुर्वेदाङ्गविशेषः अगदतन्त्रम्, तच्च विषनाशनम् (चसू. ३०.२८)
विषापहम् (सुसू. ४०.५)
-(प्रशमनी)-स्त्री., वनस्पति० कर्कोटकी (ध. १.१८७)
-भद्रा-स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध.१.२२५(५३)
-भद्रिका-स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः (ध. १.२२५)
-भुक्त-वि., भक्षितविषः (अहसू. ७.२७-२९)
-भोजन-न., विषयुक्तभोजनम् (का. विशेषकल्प)
-मर्दनिका-स्त्री., वनस्पति० नाकुलिभेदः द्र० 'नाकुलि' (रा. ७.१५४)
-मर्दिनी-स्त्री., वनस्पति० नाकुलिभेदः द्र० 'नाकुलि' (ध. ४.१०५)
-मुक्त-वि.,निर्विषत्वं प्राप्तः,तल्लक्षणानि-असौ प्रशान्तदोषप्रकृतिः सुधातुराहारकामः सममूत्रविट्कः प्रसन्नचित्तेन्द्रियचेष्टितश्च भवति (असंउ. ४७)
-मुष्टि-वि., वनस्पति० कारस्करः (अहसू. १५.३०; र. १०.८७; रापरि. ४.३९)
-मुष्टिक-पु., वनस्पति० महानिम्बः (ध. १.३१)
राजनिम्बः (सुसू. ३८.१८-१९)
कर्कोटी (सुसू. ३८.१८-१९)
-मूषिका-स्त्री., विषमणिः (चचि.२३.२५२)
तन्नामधेया परमौषधिः (इन्दुः असंउ. ४२)
-मृत-वि., विषेण मृतः, तल्लक्षणानि-नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः शिशिरैर्लोमहर्षाभावः, अभिघातादपि दण्डराज्यनुद्गमः, क्षतजं क्षताच्च नायाति (चचि. २३.३३-३४)
-मोहप्रशमनी-स्त्री., वनस्पति० बलामोटा (ध.परि. ४.३)
-लता-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७३)
-वर्ग-पु., द्र० 'विषगण' (र. १०.८५)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७३)
-वात-पु.,सविषवातस्य शरीरसंस्पर्शः, अयमप्यागन्तुशोथोत्पादको भवति (चसू. १८.४)
-विद्रावण-न., घृत० इदम् अर्शोमेहकृमिपाण्डुविषनाशकम् (र. २९.६५-६७)
-वेग-पु., विषस्य धात्वन्तरगमनम् द्र० 'विष' (चचि. २३.१८-२१; सुक. ४.४२-४५)
-संकट-न., विषदोषः विषप्रकृतिकालान्नदोषदूष्यादिसङ्गमः, एतदसाध्यम्, शतस्यैकोऽत्र जीवति (असंउ.४०)
-संधारण-न., विषलताधारणम्, विषवल्लीभिः करबन्धनम् (असंसू. ८.५८)
-सेवन-न., विषभक्षणम्, मूलजकन्दजान्यतरविषस्य सेवनं दूष्योदरे प्रोक्तम् (सुचि. १४.८)
-स्पृष्टस्थल-न.,विषजुष्टस्थलम्, तल्लक्षणानि-गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा येन येन गात्रेण स्पृशन्ति, गात्रं च तच्छूनतां याति, दह्यते च, तथा रोमनखं विशीर्यते। तच्चिकित्सा-सर्वगन्धद्रव्ययुक्तैरनन्तां पिष्ट्वा तज्जलं विषदूषितप्रदेशे सिञ्चेत् (सुक. ३.१०-१२)
-हत-वि., विषदिग्धशस्त्रविद्धम् (चसू. २७.३११; सुसू. ४६.१२७)
-हन्-पु., वनस्पति० जीमूतकः (रा. ३.२४३)
-हन्तृ-स्त्री., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८८)
-(हन्त्री)-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा.३.२७४)

विषम-वि., दुश्चिकित्स्यम् (चचि. ७.१४)
पु., ज्वरः, द्र० 'ज्वर' (सुउ. ३९.६३; चचि. ३.२९५-९६)
-क्रियत्व-न., विरुद्धोपक्रमः (सुनि. ६.८)
-ग्राहिन्-वि., एकदेशग्राही (यन्त्रविशेषः) (सुसू. ७.१९)
-ज्वर-पु., ज्वर० द्र० 'ज्वर' (चचि. ३.१६१; सुउ. ३९.६६)
कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनामल्पोऽपि दोषो दूष्यादेरन्यतमतो बलं लब्ध्वा सप्रत्यनीकः क्षयवृद्धिभाक् सन् विषमं ज्वरं करोति। तेषां कृशादीनां वातान्यतमो दोषो बलवान् भूत्वा स्वे स्वे काले संतापमुत्पादयन् प्रवर्तते, प्रत्यनीकबलेनाबलो भूत्वा पुनश्चैष निवर्तते। क्षीणे दोषेऽयं विषमज्वरः सूक्ष्मो भूत्वा रसादिषु धातुष्वेव लीयते। स लीनो ज्वरो लीनत्वात् कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीन् आदधाति। एतादृशज्वरेषु आरम्भक्रियाकालानां वैषम्यं विद्यतेऽतस्तेषां विषमज्वर इति संज्ञा दत्ता (अहनि. २.६४) विषमज्वरः अनुषङ्गवानस्ति। केषांचिन्मते संततसततान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थका इति पञ्च विषमज्वराः (मधुकोश टीका.) संततज्वरं हित्वा सततोऽन्येद्युष्कतृतीय-

चतुर्थकाः चत्वार एव विषमज्वरा इति खरनादः (मधुकोश मा.) भूमिस्थं बीजं यथा काले प्ररोहति तद्वत् दोषो धातूनधिशेते, काले एव प्रकुप्यतीति विषमज्वराणां स्वकालप्रवर्तने हेतुमाह चरकः (चचि. ३.५३-५९)

-पतित-वि., निम्नोन्नतप्रदेशात्पतितः (सुक. ५.५५)

-प्रजनन-न., विषमप्रसूतिः (चनि. १.२८)

-विकृतिसमवाय-पु., (परिव०) द्र० 'विकृति-विषमसमवायः' (असंसू. २३.३)

-विज्ञान-न., अनुचितं ज्ञानम् (चशा. १.१०९)

-शयन-न., अव्यवस्थितं शयनम् (चशा. ८.३०) रात्रिजागरणं दिवास्वप्नश्च (सुसू. १९.२०)

-शरीरन्यास-पु., शरीरस्य विषमस्थितौ न्यासो नाम स्थापनम् (चनि. १.१९)

-स्थित-वि., विषमस्थानस्थितः (चचि. २५.२०)

विषमाग्नि-पु., विषमं पचतीति विषमोऽग्निः (चचि. १५.५०) क्वचिन्मन्दः, क्वचित्तीक्ष्णः, कदाचिदपचारादपि न विक्रियते इत्येवंरूपः (चवि. ६.१२) अनियतपाकः (अहसू. १.८)

विषमाङ्ग-न., दुःस्थितमङ्गम् (अहसू. १२.४१)

विषमाभिनिवेश-पु., अयथाभूतत्वेनाऽध्यवसानं नित्येऽनित्यमिति धारणा (चशा. १.९९)

विषमारम्भविसर्गित्व-न., आरम्भ उत्पादो, विसर्गो मोक्षस्तौ विषमौ यस्य स विषमारम्भविसर्गी, तस्य भावो विसर्गित्वम्, इदं वातज्वरलिङ्गानामेकतमम् (चनि. १.२१)

विषमाशन-न., विषमद्रव्याणामशनम्, बहुस्तोकमकाले वाऽन्नाद्यशनम् (चनि. १.२८) आहारमिथ्यायोगः (सुउ. ५०.५)

विषमाहार-पु., विषमाशनम् (चनि. १.२२)

विषमोपचार-पु., प्रकृतेर्बलादीन्भावानवेक्ष्य कृत उपचारः समोपचारः, तद्विपरीतो विषमोपचारः (सुसू. ३१.३०)

विषय-पु., इन्द्रियार्थः, इन्द्रियविषयः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति पञ्च विषयाः (सुनि. १.१०) हस्तादिकर्मेन्द्रियाणां विषयाः— वचनादानाऽऽनन्दविसर्गविहरणानि (सुशा. १.५)

विषयाभिज-वि., स्वोचितपुण्यदेशे जातः (भेषजादिः, (चचि. १(४).१०)

विषयोपलब्धि-पु., शब्दादीनां विषयाणामवगतिः, अनुभूतिः (सुशा, १.१७)

विषा-स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (शुक्लकन्दा) (असंसू. १६.३४)

-द्वय-न., वनस्पतिद्वयम्, अतिविषा प्रतिविषा च, एका शुक्लकन्दाऽन्या पीतवर्णा (असंसू. १२.७०)

विषाख्या-स्त्री., वनस्पति० शुक्लकन्दा (अरु. अहसू. १५.४०)

विषाञ्जन-न., सविषनेत्राञ्जनम्, सविषाऽञ्जनेऽश्रूपदेहो दाहो वेदना दृष्टिविभ्रमोऽथवाऽऽन्ध्यम् भवेत्। तच्चिकित्सा-सद्यो घृतं पेयं समागधं तर्पणं च कर्तव्यम् (सुक. १.६९-७२)

विषाण-पु., न., शृङ्गः, वातान्वितरक्तविनिर्हरणार्थमुपयुज्यते (चचि. २१.६९; चशा. ८.६२)

न., शृङ्गाकारा मूषा (र. २२.२४-२९)

(विषाणी)-स्त्री., वनस्पति० वृश्चिकाली (रापरि. ९.७)

वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८६)

विषाणिक-पु., प्राणि० रोहिणः (धपरि.६.३४)

(विषाणिका)-स्त्री., वनस्पति० मेषशृङ्गी (चसू. १.७८; चचि. १३.१६४; सुसू. ३९.४; ध. १.८७)

ऋषभकः (इन्दु. असंउ. २६)

सातला (रा. ३५९)

आवर्तनिका (सुचि. १८.४८-४९)

आवर्तकी (रा. ३.२९६)

भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८६)

विषाणिन्-पु., वनस्पति० शृङ्गाटकः (रापरि. ७.१८)

ऋषभः (ध. १.१२५)

शृङ्गयुक्तः प्राणी, हरिणादिः (सुचि. २४.७६)

विषातुर-वि., विषपीडितः (सुक. ६.२९-३१)

विषाद-पु., मनोविकारः (चसू. २५.४०)

दुःखम् (चवि. ८.११९)

वाक्कायचित्तावसादः (ड. सुक. ३.२१)

रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

लक्षण० चेतसोऽनवस्थितिः खेदो वा (चनि. १.२१)

(विषादी)-स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६६)

विषादनी-स्त्री., वनस्पति० पलाशी (रापरि. ३.४९)

विषाधान-वि., विषस्य प्रसारकम् (चक्र. चचि. २३.४२)

विषानिल-पु., विषयुक्तो वायुः, तल्लक्षणानि-श्रमार्ताः खगा भूमौ पतन्ति। तेन विषेण कासप्रतिश्यायशिरोरुजश्च नयनामयाश्च भवन्ति। तत्र लाक्षाहरिद्रादिचूर्णमनिले विकीर्यं पुनरनिलं विशोधयेत् (सुक. ३.१६-१७)

विषान्वय–वि., विषयुक्तः, विषेण अन्वयः सम्बन्धो यस्मिन् सः (असंसू. ६.९३)

विषान्वयता–स्त्री., विषाहारमक्षिकाणां प्रसोतृत्वेन सम्बन्धो नाम तादृशमक्षिकाजनकत्वम् (सुसू. ४५.१४४)

विषान्वित–वि., सविषः (अहसू. २९.७३; सुक. १.५१)

विषापह–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२१)

(विषापहा)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७३)
तिलकन्दः (रापरि. ७.५३)

विषाभ्यङ्ग–पु., अभ्यञ्जनद्रव्यं तैलादि, तैः कृतोऽभ्यंगो विषान्वितः सन् पिच्छिलो घनो विवर्णो वा भवति (सुक. १.५१) अभ्यङ्गप्रयुक्ते नाम अभ्यंगमाचरितवति नरे त्वग्दाहस्वेदपाकस्फोटाऽवदरणान्युपपद्यन्ति (असंसू. ८.४१)

विषाभ्यास–पु., विषपरिशीलनम् (असंसू. ८.५७)

विषारि–स्त्री., वनस्पति० करञ्जः (रा.९.१७८)
बृहच्चञ्चुः (रापरि. ४.२०)

विषार्त–वि., विषपीडितः, तस्य चिकित्सा–विषवेगप्राप्तौ सत्यां मुखेन वमनार्थं मांसरसादिपानं कार्यम्। उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यस्तत्र स्वेदो न क्रियते, परं कीटविषं शीतेनाऽभिप्रवर्धते (सुक. ६.२८)

विषाशिन्–वि., विषमशितुं शीलमस्येति अभ्यस्तविषो नरः, विषगरभूतभुजङ्गाऽऽखुगणजराऽकालमृत्युग्रहपाप्मानो न बाधन्ते विषसात्म्यं नरम् (असंउ. ४८)

विषूचिका–स्त्री., रोग० विसूचिका (र. १२.१-८)

विषूची–स्त्री., रोग० द्र० 'विसूचिका' (र. १२.१-८)
द्र० ' विसूचिका '

विषोपसर्ग–पु., सर्पादिदंशेन विषसंबन्धः (सुशा. ८.५)

विषोपक्रम–पु., उपक्रम० विषचिकित्सा, मन्त्राऽरिष्टोक्तैर्ननिष्पीडन–चूषणाऽग्निपरिषेकाऽवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानहृदयाऽऽवरणाऽञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनप्रतिसारणप्रतिविषसंज्ञासंस्थापनलेपमृतसंजीवनानि, इति चतुर्विंशतिविषोपक्रमभेदाः (चचि. २३.३५-३७)

विषोपहत–वि., विषमिश्रितम् (चनि. १.२८)
विषेण मृतः (सुशा. ५.४९)

विषौषध -न., खनिजम्, विशेषतो हरितालसोमलमनःशिलातास्राऽऽदिकमुद्भिज्जं वत्सनाभाहिफेनविषमुष्ट्यादिकं प्राणिजं वा सर्पवृश्चिकादिकानां साक्षाद्विषम् (र. १२.५५)

विष्कम्भ–पु., स्तम्भः, स्थूणा (सुसू. २३.११)
मूढगर्भ० (अहशा. २.३०)

विष्किर–पु., पक्षिवर्ग० विकीर्य यो धान्यादिकं भक्षयति (चसू. २७.५५; सुसू. १६.१९) लाववर्तीकवार्तीररक्तवर्त्मककक्कुभाः कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवो वर्तको वर्तिका, तित्तिरः क्रकरः शिखी, ताम्रचूडाख्यवरकगोनर्दगिरिवर्तिकाः सारपदेन्द्राभवरटाश्चेति विष्किराः (असंसू. ७.६९-७१) तन्मांसगुणाः–मधुरं, कषायं, शीतं, कटु, लघु, बल्यं वृष्यं, पथ्यं, रुच्यं, त्रिदोषघ्नम् (धपरि. २.१०) सर्पविशेषः, दर्वीकरः (सुक. ४.३४ (१)

–वर्ग–पु., पक्षिवर्ग० द्र० 'विष्किर' (अहसू. ६.४६)

विष्टब्ध–वि., प्रतिरुद्धः स्थिरः (अहसू. ८.२६)

विष्टब्धाजीर्ण–न., रोग० अजीर्णभेदः द्र० 'अजीर्ण' (असंसू. ११.५६)

विष्टम्भ–पु., अप्रचलनरूपतयाऽवस्थानम् (चक्र. चचि. १५.४५)
विबन्धः (सुचि. ३४.१६)
गुडगुडाशब्दः (ड. सुउ. ५४.१०)
मलाऽवरोधः (र. १३.२४)
सवाततोदशूला मलस्याऽप्रवृत्तिः (सुसू. ४५.१५८; सुसू. ४६.२९५)

विष्टम्भिन्–वि., विष्टम्भकम् विष्टम्भकारकम् (र. ११.१२७-२८)

(विष्टम्भिनी)–स्त्री., विष्टम्भकारिका (असंसू. ६.१२४)
द्र० 'विष्टम्भिन'

विष्टरुहा–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकेतकी द्र० 'केतकी' (रापरि. १०.३)

विष्टिका–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (रा. ४.३००)

विष्ठन–न., (परिव०) मलोत्सर्जनम् (र. ५.१९९)

विष्ठा–स्त्री., (परिव०) पुरीषमलः (र. ५.१९९)

विष्णु–पु., देवता० (सुशा. १.७)

–कन्द–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–मधुरः, शीतो रुच्यः सन्तर्पणः पित्तघ्नो दाहशोफहरः (रापरि. ७.४०)

–क्रान्ता–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुस्तिक्ता कफवातघ्नी च (ध. ४.११५)
हिं.—शङ्खपुष्पी.
म.—शंकावली, विष्णुक्रांता.
ता.—विष्णुक्रान्ती.
बलामोटा (र. २०.६८-७६)

-गुप्त-पु., वनस्पति० विष्णुकन्दः (रापरि. ७.४०)
द्र० 'विष्णुकंद'
न., चाणक्यमूलम् (ध. ४.३५)
-गुप्तक-न., वनस्पति० चाणक्यमूलम् (ध.४.३५)
द्र० 'विष्णुगुप्त'
-वल्लभा-स्त्री., वनस्पति० तुलसी (रा. १०.७७)
विष्यन्द-पु., स्रवणम्, स्रावः (अहसू. ९.७)
पु., सर्पिःक्षीरगुडाऽन्वितमामगोधूमचूर्णं । हृद्यं सुगन्धिवल्यादिगुणकरम् (सुसू. ४६.३९८)
घृतभृष्टतण्डुलः (सुसू. ४६.३९८)
न., विलयनम् (चसू. २८.३३)
स्रवणम् (सुचि. ४.३३)
विष्यन्दनाख्यतैल-न., तैल० सुधासेलुत्रिवृत्प्रभृति-द्रव्यसिद्धमिदं शोधनं रोपणं च (असंउ. ३३)
विष्यन्दिन्-वि., स्रावी, स्रुतिमान् (अहसू. ३०.२४)
विष्वच्-वि., सर्वगतः, सर्वत्र स्थितः (चचि. २६.१११)
(विष्वक्)-पथस्थ-वि., सर्वत्र संचारी (चचि. २६.१११)
-सेनकान्ता-स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (ध. ४.९२)
प्रियङ्गुः (चसू. ४.१८)
-सेना-स्त्री., वनस्पति० प्रियङ्गुः (सुसू. १५.४८)
-स्थित-वि., सर्वत्र स्थितः (चसि. १.२८)
विसंख्योपगत-वि., विपरीतसंख्यायुक्तम् (चइ. ४.१७)
विसंज्ञ-वि., विपरीतसंज्ञः (सुउ. ६२.१३)
विगतसम्यग्ज्ञानः (ड. सुक. ३.२५-२७)
-ता-स्त्री., लक्षण० संज्ञानाशः (चसू. १३.७५)
विसंवादिन्-वि., असंगतार्थी (अहसू. २.२६)
विसंहत-वि., विघट्टितः (सुनि. १६.३५)
विश्लिष्टम्, स्वस्थानाच्च्युतम् (सुचि. ३.३९)
विसरण-न., प्रसरणम् (सुचि. ५.६)
विसर्ग-पु., सर्जनम्, बलादिजननम् (सुसू. २१.८)
मलादिविसर्जनम् (चशा. १.२६)
ज्वरमुक्तिः (चचि. ३.५९-६०)
-काल-पु., विसृजति जनयति सोमांशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः (चसू. ६.४) शरद्हेमन्त-शिशिराख्य ऋतवो विसर्गकालः (चचि. ३.४५)
विसर्जनी-स्त्री., शारीर० विसृजतीति विसर्जनी, गुदस्य बाह्याभ्यन्तरवलिमध्यस्था विसर्जनीसंज्ञितगुदपेशी (सुनि. २.५)

विसर्प-पु., रोग० बहिर्मार्गजान्तर्मार्गजश्च कोष्ठानुसारी रोगः (चसू. ११.४९) विशेषेण सर्पतीति विसर्पः (चसू. १८.२३) तत्संप्राप्तिः-त्वङ्मांसशोणित-गताः कुपिता दोषाः सर्वाङ्गसारिणमास्थितं विस्तृतम-नुन्नतमाशु शोफं कुर्वन्ति, तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः (सुनि. १०.३) तत्स्थानं-वेदिनी नाम त्वक् (सुशा. ४.४) त्रयः, दूष्याणि दोषाः, त्वङ्मांसं रक्तं लसीकाश्च (चचि. २१.१५) तत्संख्या-संप्राप्तिः-वातजः, पित्तजः, कफजो, वातपित्तजोऽग्नि-विसर्पः, कफवातजो ग्रन्थिविसर्पः, कफपित्तजःकर्दम-विसर्पः, संनिपातजोऽभिघातजश्च (असंनि. १३.४५) तत्पूर्वरूपाणि- रक्तमण्डलकोत्पत्तिस्तृष्णाज्वरारति-दाहाः, स्वादुशीतोपशायित्वम् (कासू.२५.२५) तल्लक्षणानि-तत्र वातजानि- भ्रमदवथु-पिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासा-स्थिसंधिभेदविश्लेषणवेपनारोचकाविपाकाश्चक्षुषो-राकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशः श्यावा-रुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायामसंकोच-हर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते;पित्तजानि-ज्वरस्तृष्णा-मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रम-न्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नो-ऽरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं, हरितहारिद्र-नेत्रमूत्रवर्चस्त्वं हरितहारिद्ररूपदर्शनं च यस्मिंश्चा-वकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारि-द्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमवर्णं पुष्यति। कफ-जानि-शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रातन्द्राऽरोचकाः, मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च, यस्मिंश्चाऽवकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान्पाण्डुनाति-रक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्र-पाकैश्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैश्च श्वेतपाण्डु-भिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घन-मनुबद्धं स्निग्धमाऽऽस्रावं स्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालाऽवततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुपलेपै-र्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, किंचात्र श्वेतन-खनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वम्
(चचि. २१.३०, ३२, ३४)
अभिघातजविसर्पः-बाह्यहेतोः क्षतात् कुद्धो मारुतः सरक्तं पित्तमीरयन्कुलत्थसदृशैश्चितं स्फोटैः, शोफ-ज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितं विसर्पं कुर्यात्

(असंनि. १३.६७-६८) तत्साध्याऽसाध्यत्वम्– बहिर्मार्गाऽऽश्रितं साध्यमुभयाऽऽश्रितमसाध्यमन्तराऽऽश्रितं दारुणं विसर्पं कृच्छ्रसाध्यम् विद्यात् (चचि. २१.२४)

तद्दिष्टलक्षणानि–कासवैवर्ण्यज्वरमूर्च्छाऽङ्गभङ्गभ्रमाऽस्यशोफहृल्लासदेहसादाऽतिसाराः (असंशा. ११.३०) तत्सामान्यचिकित्सा– लङ्घनोल्लेखनं तिक्तसेवनं रुधिरस्याऽवसेकश्च (चचि. २१.४३-४९) संशोधनमेव श्रेयसी चिकित्सा (सुचि. १७.१६-१७)

–कुष्ठ–न., रोग० कुष्ठभेदः द्र० 'कुष्ठ' (सुनि. ५.११)

–चिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (चचि. २१.१)

–जित्–पु., पारदादियोग० योगोऽयं विसर्पनाशकः (र. २०.१)

–नाडीस्तनरोगचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. १७.१)

–नाडीस्तनरोगनिदान–न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १०.१)

विसर्पिणी–वि., बहिर्निर्गता (प्रेतजिह्वा) (चइ. ८.१४) स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (ध. १.२५६)

विसर्पित–न., स्पर्शविषाणां जन्तूनां विसर्पितसङ्ज्ञः (सुसू. ४२.१०(२))

विसारिणी–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७१)

विसारिभाव–पु., विप्रसरणस्वभावः (ड. सुउ. ६४.७२)

विसूचि–स्त्री., रोग० विसूचिका (अहसू. ८.१७)

विसूचिका–स्त्री., रोग० (चसू. १८.६) कोष्ठाऽनुसार्यन्तर्मार्गज आमदुष्टिजन्यच्छर्यतिसाराऽऽदिभिरूर्ध्वमधश्च दोषं प्रच्यावयन् रोगः (चसू. ११.४९; चवि. २.१३) तन्निरुक्तिः– यस्यामनिलोऽजीर्णेन गात्राणि सूचीभिस्तुदन्निव संतिष्ठते, सा विसूचिकेति निगद्यते । (सुउ. ५६.३-४) तल्लक्षणानि–मूर्च्छाऽतिसारश्छर्दिः पिपासा शूलो भ्रम उद्वेष्टनं, जृम्भा, दाहो वैवर्ण्यं कम्पो हृद्रुजा शिरोविदारणमिव वेदनाश्च (सुउ.५६.६) तद्भेदाः–तत्र वातजा शूलाऽऽनाहाऽङ्गमर्दमुखशोषप्रलापकम्पमूर्च्छाभ्रमजृम्भोद्वेष्टनाऽक्षिप्रवेशशिरोहृदयाऽतिरुक्शिराऽऽकुञ्चनस्तम्भनानि करोति । पित्तजा पुनर्ज्वराऽतिसाराऽन्तर्दाहवैवर्ण्यतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि, कफजा छर्यरोचकप्रसेकाङ्गसादाविपाकशीतज्वरगात्रगौरवाणि जनयति (अहसू. ११.१६) असाध्यलक्षणानि–श्यावा दन्ताः, श्यावा नखाः, मन्दा चेतना, श्यावौ अधरौ, छर्यदितत्वं क्षीणदृष्टित्वं क्षीणसरत्वं शिथिलाऽखिलसंधित्वम् (सुउ. ५६.११) बालेषु विसूचिकाया विशेषलक्षणानि–दाहो हृत्शूलः (कासू. २५.२६)

–प्रतिषेध–न., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ५६.१)

विसृप्ति–स्त्री., विसरणम् (चनि. ४.८)

विस्तर–पु., परिणाहो विशालता (र. १०.३४-३९)

विस्तार–पु., परिमाण० वर्तुलाऽगारस्य व्यासः (चसू. १४.४६) देहविस्तारः (चवि. ८.११७) परिणाहो विशालता (र. १०.३४-३९)

विस्तीर्ण–वि., विस्तृतत्वेन प्रशस्तम् (सुसू. ३५.४)

–दृष्टि–स्त्री., नेत्ररोग० विस्तीर्णं मण्डलं यस्य तन्नयनम् (सुउ. १९.६-७)

–भ्रू–वि., उक्तप्रमाणात्किञ्चिद्विस्तृततरभ्रूयुक्तः (सुसू. ३५.४)

–स्तनान्तर–वि., उक्ताऽङ्गुलिप्रमाणाद्विस्तीर्णस्तनाऽन्तरयुक्तः इदं दीर्घायुष्ट्वलक्षणम् (सुसू. ३५.४)

विस्तीर्णोरस्क–वि., विस्तृतवक्षोयुक्तः इदं दीर्घायुलक्षणम् (सुसू. ३५.४)

विस्तृत–वि., विस्तीर्णः (सुनि. १०.३)

विस्फ–पु., क्षुद्ररोगः (र. २५.१)

विस्फुटित–वि., विपुलस्फुटितम् (सुनि. १५.१०)

विस्फुलिङ्ग–पु., अग्निकणः (सुउ. ७.३)

विस्फुलिङ्गाभा–वि., विस्फुलिंगसदृशी, विस्फुलिङ्गः सूक्ष्मोऽग्निकणः स यथा तैजसोऽपि न दहति तद्वत्तैजसी दृष्टिरपि न दहति (सुउ. ७.३)

विस्फूर्जितदेह–वि., आयामितमध्यशरीरः (सुशा. ८.८)

विस्फूर्जितपृष्ठ–वि., आयामितं पृष्ठं येन सः (सुशा. ८.८)

विस्फोट– पु., पित्तश्लेष्माऽधिकं कुष्ठम् (चचि. ७.३०) पु., क्षुद्ररोग० मसूरिकाभ्योऽपि कष्टतरा महारुजा घनाः स्फोटाः (असंउ. ३६) तल्लक्षणानि– विद्रुमसंनिभा अन्तर्वक्त्रा किणाभाश्च पिटिका (असंशा. ११.४५-४६) ज्वरदाहः (र. २५.१) तं विसर्पवदुपक्रमेत (काखिल. १४)

–कुष्ठ–न., रोग० क्षुद्रकुष्ठभेदः द्र० 'विस्फोट' (चचि. ७.२५)

विस्फोटक–पु., क्षुद्ररोग० सस्फोटो रोगः (चचि. १२.९०; चसू. २६.१०२) पित्तरक्तता क्वचित्सर्वत्र वा देहेऽग्निदग्धनिभाः सज्वराः स्फोटाः जायन्ते (सुनि. १३.१८) तत्र चिकित्सा–पित्तजस्य

विसर्पस्य क्रियया एनं साधयेत् । मधुरौषधसिद्धेन च घृतेन रोपयेत् (सुचि. २०.७-८)

विस्रापन–न., विस्रयजननम् (चसू. २४.५१)
आश्चर्योत्पादनमुन्मादोपक्रमः (चनि. ७.८)
अद्रव्यभेषजेष्वेक उपायः (चवि. ८.८७)

विस्मारण–न., विस्मृतिकरणम् (चनि. ७.८)

विस्मृति–स्त्री., रोग० अपस्मारः (र. २९.१३८-१५१)

विस्यन्दिन्–वि., श्लेष्मस्रावी, एतेन श्लेष्मणो जनकप्रवर्तकत्वमुक्तम् (ड. सुसू. ४६.२९१)

विस्रंस–पु., स्थानाच्च्युतिः (सुसू. १५.२६.२७)
क्षीणता (सुचि. ३४.११)

विस्रंसन–न., रेचनम् (चवि. १.१८)

विस्र–वि., गुण० आमगन्धः (चसू. २०.१५)
पूतिगन्धम् (चनि. ४.४७)
–ता–स्त्री., आमगन्धिता रक्तगतभूमिगुणानामन्यतमोऽयम् (सुसू. १४.९)

विस्रस्त–वि., शिथिलः (सुसू. ४६.५३१)

विस्रावण–न., स्रावः (सुचि. १.८) रक्तमोक्षणम् (सुक. ५.३६)

विस्रावित–वि., निःसारितपूर्वपानीया (वापी) (ड. सुउ. ४७.५८-५९)

विस्राव्य–न., अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकं तच्च विस्रावणीयम् (सुसू. ५.५)

विहङ्ग–पु., मांसादो जलचरश्च पक्षी (ड. सुउ. २७.१०)

विहत–वि., उद्वेजितः (सुसू. ४६.४१९)
निरुद्धगतिः, (वायुः) (सुनि. १३.५५)
–मनस्–वि., प्रतिहतचित्तः (सुशा. १०.४६)
–मुख–वि., विहतं नाम विगतरसं मुखं यस्य, सः (चचि. १९.९)

विहतार्चिस्–वि., ज्वालाशून्यः (चचि. २३.१०९)

विहरण–न., गमनम् (सुशा. १.५)

विह्वल–वि., विकलः (सुउ. ६१.१३)

विहायस्–पु., न., आकाशः (सुउ. ६४.६-१३)

विहार–पु., (परिव०) कायविहारश्चतुर्विधः– गमनचङ्क्रमणस्थानासनभेदेन (ड. सुचि. २९.१०)
–चपल–वि., चपलगतिः (सुशा. ४.८९-९०)

विहारिन्–पु., वनस्पति० भूकूष्माण्डः (र. १७.२०)

वीचीतरङ्ग–पु., ऊर्मिपरम्परा (सुचि. १३.२०-२१)

वीटिका–स्त्री., विशिष्टाकारं खर्परम् (र. २५.३०-३१)

वीतंस–पु., पक्षिबन्धनोपायजालादिः (चसू. २९.१०)

वीततुष–वि., अपनीतत्वक् निस्तुषः (असंचि. १.१०१)

वीतरोग–वि., नीरोगः (चक्र. चचि. २८.४)

वीतीभाव–पु., अतिक्षीणत्वम् (चइ. ३.४)

वीर–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७५)
वाराहीकन्दः (रा. ७.१३६)
न., वनस्पति० आरुकम् (ध. ५.३८)
उशीरम् (ध., ३.१४)
मरिचम् (रा. ६.१३६)
आसुत० काञ्जिकम् (रा. १५.२९४)
खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

(वीरा)–स्त्री., वनस्पति० क्षीरकाकोली (चचि.९.४३; धनि., १.१३४)
वृद्धिः (चचि. २९.६५)
विदारी (चचि. ११.६२)
शालपर्णी (चक्र. चचि. ९.४५)
कटुकी (चक. ४.१३)
कृष्णातिविषा, द्र० 'अतिविषा' (चक. ४.१३; रानि. ६.८).
बृहद्बला (चक. ४.१३)
कुमारी (रापरि. ५.११)
शतावरी (चचि. २८.१६१)
महाशतावरी (रानि. ४.४४१)
भूधात्री (असंचि. १०; रानि. ५.१४५)
ब्राह्मी (रानि. ५.१४९)
काकोली (असंउ. ९; रानि. ३.१६६)
गम्भारी (र. ३०.६६-६७)
पृश्निपर्णी (असंचि. ५; वैशसिं.)
तालमूली (असंचि. ५; वैशसिं.)
आमलकी (असंचि. ५; वैशसिं.)
एलवालुकः (असंचि. ५; वैशसिं)
रम्भा (असंचि. ५; वैशसिं.)
सुरामांसी (असंचि. ५; वैशसिं.)
शिंशपावृक्षः (असंचि. ५; वैशसिं.)
भूम्यामलकी (असंचि. ५; वैशसिं.)
जटामांसी (असंचि. ५; वैशसिं.)
आसुत० सुरा (रानि. १४.३०२)
लूता० सौम्यलूता० तद्दंशलक्षणानि–अस्या दंशः पिटकाजालकाऽऽवृतो चित्रमण्डलवान्शिरोरुगन्नद्वेषशीतज्वरकरश्च (असंउ. ४५)
–तर–पु., न., वनस्पति० उशीरम् (धनि. ३.१४)
शरः (ड. सुउ. ९.२०)
–तरादिगण–पु., द्रव्यगण० तद्द्रव्याणि–वेल्लन्तरा-

ऽरणिकबूकवृषाऽइमभेदगोकण्टकेत्कटसहाचरबाण-काशवृक्षादनीनलकुशद्वयगुण्ठगुन्द्राभल्लूकमोरट-कुरण्टकरम्भपार्थाः, तद्गुणाः–अश्मरीशर्करामूत्र-कृच्छ्राऽऽघातरुजाहरो वातव्याधिनाशनश्च (अहसू. १५.२४) मूत्रविरेचनः (असंसू. १६.१८-१९)

–तरु–पु., वनस्पति० अर्जुनः (ड. सुचि. १५.४४-४५)
भल्लातकः (धनि. ३.१४३)
कोकिलाक्ष (ड. सुचि. १५.४४-४५)
शबरा (सुसू. ३८.१२-१३)
बिल्वनासिका (ड. सुसू. ३९.७)
शरः (ड. सुसू. ३९.७)
बिल्वः गीलको (सुउ. ४०.४१)

–तर्वादिगण–पु., द्रव्यगण० (सुसू. ३८.१२-१३)

–तर्वादिसिध्दजल–न., क्वाथविशेषः (सुशा. १०.२२)

–द्रु–वनस्पति० अर्जुनः (रानि. ९.१९२)
भल्लातकः (र. २८.१३)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० चञ्चुः (रापरि. ४.१८)

–पर्ण–न., वनस्पति० सुरपर्णः (रापरि. १०.५०)

–पुष्प–पु., वनस्पति० सिन्दूरी (रापरि. १०.१९)

–रजस्–न., खनिज० सिन्दूरम् (रानि. १२.१६०)

–वृक्ष–पु., वनस्पति० बिल्वान्तरः (रापरि. ८.३०)

–वेतस–पुं., वनस्पति० अम्लवेतसः (धनि. २.९६)

–सेन–न., वनस्पति० आरुकम् (धनि. ५.३८)

वीरक–पु., वनस्पति० करवीरः (रानि. १०.२)

वीरण–पु., न., वनस्पति० उशीरम् (रानि. १२.२५; चसू. ४.१२; असंसू. १५.२२)
तृण० (इन्दु. असंशा. ४.२५)

–मूलक–न., वनस्पति० उशीरम् (धनि. ३.१४)

वीरल्लु–पु., जलचरप्राणि० 'सुश्रुते' 'चिरल्लिः' 'चिल्लः' प्राणि० (काचि बालग्रहचि.)

वीरानक–न., वनस्पति० आरुकम् (धनि. ५.३८)

वीरान्तक–पु., वनस्पति० अर्जुनः (धनि. ५.११४)

वीरास्य–पु., वनस्पति० लताकरञ्जः (रापरि. ८.२४)

वीरिणीमूल–न., वनस्पति० उशीरम् (धनि. ३.१४)

वीरुध्–स्त्री., प्रतानयुक्तौद्भिदविशेष० लतागुल्मादिः (चसू.१.७ १-७२)
विस्तृतलता (चक. १.८)
विस्तारवत्यो गुल्मिन्यश्च वीरुधः (सुसू. १.२९)

वीर्य–न., गुण० शरीरे येन द्रव्यगुणेन या क्रिया क्रियते तद्वीर्यम् (चसू. २६.७०) नाऽवीर्यं किञ्चित्कुरुते यस्मात्सर्वा क्रिया वीर्यकृता एव। वैद्यके रसविपाक-प्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणि गुणे वीर्यमिति संज्ञा (चक्र. चसू. २६.७०) मृदुतीक्ष्णगुरु-लघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलमित्यष्टविधं वीर्यमिति केचित्; अन्येषां मते शीतोष्णमिति द्विविधमेव वीर्यमग्निषोमीयत्वाज्जगतः, उक्तं च नाना-ऽऽत्मकमपि द्रव्यमग्निषोमौ महाबलौ, व्यक्ता-ऽव्यक्तं जगदिव नाऽतिक्रामति जातुचित् (अहसू. ९.१७) शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदुतीक्ष्णं चेत्यष्टविधं वीर्यम्; एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयाऽऽत्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायतिक्ता-नुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च, मधुरश्चे-क्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्, अम्ल-माऽऽमलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात् अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् (सुसू. ४०.५) द्रव्याणि येन गुणेन कर्माणि कुर्वन्ति तद्वीर्यम् (चसू. २६.१३) 'समग्रगुण-सारेषु, शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु व्यवहाराय मुख्यत्वाद्-ह्रग्रग्रहणादपि गुर्वादिष्वेवाऽष्टासु वीर्याख्याऽन्वर्थेति' एतद्धेतुचतुष्टयविपरीतत्वाद्रसाद्येषु वीर्यसंज्ञा नास्ति (अहसू. ९.१४-१६) वीर्योपलब्धिः–द्रव्यस्य निपाताच्छरीरे यावदधिवासाच्च वीर्यमुपलभ्यते (चसू. २६.७१) उष्णवीर्यलक्षणम्– वातकफयोः शमनं करोति, भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाऽऽशुपाकितां च करोति। शीतवीर्यलक्षणम्– ह्लादनं जीवनं स्तम्भं–स्वेदाऽपनयनम्, रक्तपित्तयोः प्रसादं च करोति (अहसू. ९.१८-१९)
शक्तिः (सुउ. ४१.१९)
प्रभावः (ड. सुचि. ३५.२५)
अचिन्त्यक्रियाहेतुः (सुसू. ४५.११)
उपचयशक्तिलक्षणम् (सुसू. ३५.१३)
आरब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः (चवि. ४.८)

–गर्भप्रतान–पु., वनस्पति० पटोलम् (धनि. १.५०)

-वत्-वि., शक्तिमान् सबलः (सुशा. ३.१८)
-सम-अन्योन्यानुपहतसामर्थ्यः (द्रव्यभागः) (चक्र. चसि. १०.१८)
वीर्याविरुद्ध-वि., वीर्येणाविरुद्धम्, अनुकूलम् (चवि. १.२४)
वीसर्प-पु., रोग० विसर्पः (चसू. २८.११)
वीसर्पागमन-न., विसर्पोत्पत्तिः (चनि. ५.७)
वृक-पु., क्षुद्रव्याघ्र० कुक्कुराऽनुकारी पशुशत्रुः (चक्र. चसू. २७.३५)
कुक्कुरसदृशः पशुः, गुहाशयेष्वेकः (ड. सुसू. ४६. ७२; धपरि. ६)
वातश्लेष्मात्मके उन्मादे वृकस्य मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिश्च सेकाऽञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् (चचि. ९.७४-७५)
(वृकी)-स्त्री., वनस्पति० पाठा (धनि. १.७०)
-धूमक-पु., शाक० भूमिशिरीषः (चसू. २७.१०१)
-पित्त-न., वृकस्य पित्तम्, विषहरमिदम् (असंसू. ८. २९)
-मुख-न., यन्त्रविशेषः, कुक्कुरसदृशः पशुः. क्षुद्रो वृकः, तन्मुखं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)
-विष-न., वृकस्य विषम्, व्यालविषवत्कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्त्यादीनि लक्षणानि वृकविषाऽन्वन्ति (असंउ. ४६.३६६)
वृकोदरी-स्त्री., पारदादियोग० इयं गुटिका अशेषवातरोगमन्दाऽग्नित्राग्रहण्यादिनाशनी (र. २१.१३५-३८)
वृक्क-पु., शारीर० कुक्षिगोलकपिण्डः, मेदोवहानां स्रोतसां मूलं च (चवि. ५.८) पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०; अहसू. ६.७१) शरीरे द्वौ वृक्कौ-एको वामपार्श्वस्थितो, द्वितीयो दक्षिणपार्श्वस्थितः (ड. सुनि. ९.१८) तदुत्पत्तिः-रक्तमेदःप्रसादद्वृक्कौ जायेते (सुशा. ४.३१)
-ज-वि., वृक्के जातः (विद्रधिः) (चसू. १७.१०१)
वृक्ष-पु., वनस्पति० लोध्रः (रानि. ६.२३८)
कुटजः (सुउ. ४०.६९)
पुष्पफलवदुद्भिद० द्रुमः (सुसू. १.२९)
-ज-वनस्पति० इन्द्रयवः (सुउ. ४२.७१)
-त्वच्-स्त्री., न्यग्रोधादिशीतवृक्षाणां त्वक (सुचि. ३.२६)
-धूप-पु., निर्यास० सुगन्धिधूपः द्र० 'श्रीवेष्टक' (रानि. १२.१९२)
-पतित-वि., वृक्षात्पतितः (सुक. ५.५५)
-बीज-न., वनस्पति० इन्द्रयवः (सुउ. ४२.५०)
-मर्कटिका-स्त्री., पर्णमृगविशेषः (रापरि. ८; पृ. २८६)
-मार्जार-पु., पर्णमृगविशेषः (धपरि. ८)
-रुहा-स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (चसू. ४.१२) जन्तुका (रा.३.१२९)
-शायिक-पु., निर्विषसर्पविशेषः (असंउ. ४१)
(-शायिका) स्त्री., वृक्षमर्कटिका पर्णमृगविशेषः गिली इति लोके (सुसू. ४६.७६)
वृक्षक-पु., वनस्पति० कुटजः (चचि. ७.९७)
-तैल-न., कुटजबीजतैलम् अनिलकफकृमिकुष्ठदिरोगहरमिदम् (सुसू. ४५.११५)
-त्वच्-स्त्री., कुटजत्वक् (र. २२.७८)
-बीज-न., वनस्पति० इन्द्रयवः (सुउ. ३९.१९१)
वृक्षादनी-स्त्री., वनस्पति० मूत्रविरेचनीयगणे हिक्कानिग्रहणगणे, शुक्रजननगणे च प्रोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२, १४, १५,; सुशा. १०.६०)
तद्गुणाः-तिक्ता, कषाया, शीता, ग्राहिणी, व्रणरोपणी, वृष्या, रसायनी, कफपित्तघ्नी, श्रमनाशिनी च (ध. ४.९७)
हिं.—वन्दा, बन्दाल, बदाक, वादा.
म.—वांडगुळ, कामरुख.
गु.—वांदो.
बं.—वाँदु, परगाछा, मान्दडा.
अशोकः (सुउ. ४०.४१)
वृक्षकलम्बुका (सुउ. ९.१८ ड.)
कामवृक्षकः (३८.१२-१३ अरु.)
वृक्षादन्यादिघृत-न., घृत० वाताभिष्यन्दे उपयुज्यते (सुउ. ९.१८.१९)
वृक्षाम्ल-न., वनस्पति० महाकषायवर्गे हृद्यगणे प्रोक्तम् एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०) तद्गुणाः-अम्लं, कटु, कषायमुष्णं, लघु, रूक्षम् (चसू. २७.१५१) ग्राहि, रुचिकृत्, कफघ्नम् (चसू. २७.१५१) वातघ्नमर्शस्तृष्णोदरहृद्रोगगुल्माऽतीसारव्रणदोषघ्नं च (ध. २.९५)
हिं.—विषाम्बिल, तत्तडीक.
म.—अमसूल, कोकम्बसोल.
गु.—कोकम.
बं.—महादा.
अम्लकुटा, चुका, तेन्तुल.

वृक्षाम्लफल–न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)
वृक्षारुहा–स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२)
वृक्षारुहाख्या–स्त्री., वनस्पति० अमृतस्रवा (रापरि. ३.४५)
वृक्षेशय–पु., निर्विषसर्पविशेषः (सुक. ४.३४.(४)
वृत्त–वि., वर्तुलम् (अरु. अहसू. १९.७१) कोणरहितम् (हे. अहसू. २८.१८)
न., आचारः (सुउ. ६४.१ ड.)
पु., वनस्पति० यावनालः, धवलयावनालः (रा. १६.१६८) द्र० 'यवनाल'
कूर्मः (र. २३.४३-४५)
(वृत्ता)–स्त्री., वर्तुला (सुशा. ५.४०)
स्त्री., वर्तुलाकृतिः स्नायुः (सुशा. ५.३१)
वनस्पति० रेणुका (रा. ६.१००)
निष्पावः (रा. १६.१७५)
प्रियङ्गुः (ध. ३.१६)
धामार्गवः (रा. ७.२८४)
मांसरोहिणी (ध. ४.९४)
जम्बूः (रापरि. ५.९४)
झिञ्झिरीटा (रापरि. ४.५३)
–कर्कटी–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५)
–कोश–पु., वनस्पति० देवदाली (ध. १.१७३)
(–कोशा)–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (ध. १.१७३)
–गर्भा–वि., वृत्तो गर्भो यस्याः सा (चशा. २.२४)
–गुण–पु., वनस्पति० गुण्डः (ध. १.३)
–गुण्ड–पु., वनस्पति० गुण्डः (रापरि. ८.६१)
–तण्डुल–पु., धान्य० जूर्णा (रा. १६.१०८)
–पत्रा–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदात्री (रापरि. ३.४७)
–पत्रिका–वनस्पति० बस्तान्त्री वृषगंधा (रा. ३.२ पृ. ६८)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० पाठा (रा. ६.९९)
–पुष्प–पु., वनस्पति० कदम्बः (ध. ५.१०४)
भूमिकदम्बः (रा. ९.१७४)
वानीरः (रापरि. ९.१७)
कुब्जकः (रा. १०.२४८)
–(पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० मल्लिका (रा. १०.२२७)
जम्बूः (रापरि. ५.२४)
–पुष्पक–पु., वनस्पति० धूलिकदम्बः द्र० 'कदम्ब' (ध. ५.१०५)
–फल–पु., वनस्पति० मांसलफलः त्रपुसभेदः, द्र० 'त्रपुस' (रा. ७.२ ७१)
बदरम् (रा. ११.१५७)
दाडिमः (रा. ११.९४)
न., मरिचम् (रा. ६.१३५)
(–फला)–स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः, वृन्ताकी द्र० 'बृहती' (रा. ७.१२८)
आमलकम् (रा. ११.३२६)
–बीज–पु., वनस्पति० राजमाषः (रा. १६.१३५)
भेण्डा (रापरि. ४.२६)
–(जावी)–स्त्री., वनस्पति० आढकी (ध. ६.९३)
–बीजका–स्त्री., वनस्पति० पाटली (रापरि. ५.४४)
–मल्लिका–स्त्री., वनस्पति० अर्कः (शुक्लार्कः) (रा. १०.२९)
मल्लिका (रापरि. १०.२३; रा. १०.२२७)
–सौष्ठव–न., साधुवृत्तम् आचारप्राशस्त्यम् (चवि. ८.१४)
वृत्ति–स्त्री., चिकित्सा (चचि. १८.१३८)
उपचारविधानम् (चसू. १३.७)
स्वभावः (सुक. ३.२५-२७)
शरीरधारणम्, उपजीविका (सुउ. ६४.६४)
वर्तनम् (असंसू. ६.३१)
–कर–वि., निर्वाहकरम् उपजीविकावहम् (सुसू. १.१९)
वृत्तेर्वारु–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५)
वृत्र–पु., असुर० (असंसू. ८.१०१)
वृध्द–वि., स्थविरः, जरठः (चसू. २५.४०) सप्ततेरूर्ध्वम् (सुसू. ३५.२९) नवत्यूर्ध्वं वृद्धः (सुचि.३५.२१)
पु., वनस्पति० वृद्धदारुः (ध. ४.१०७)
भूताधिपति० (असंउ. ७)
न., वनस्पति० शैलेयम् (ध. ३.७३)
–काश्यप–पु., ऋषि० अयं बालौषधविषये मतविशेषमास्थितः (कासिद्धि. ३)
–गोनस–पु,, मण्डलिसर्पः (सुक. ४.३४(२)
–जीवक–पु., आयुर्वेदज्ञो महर्षि० काश्यपस्य शिष्यवरः रोगाणामपरिसंख्येयत्वं मन्यमानः (कासूलेहाध्याय)
–जीवकीयतन्त्र–न., काश्यपसंहिता (काकल्पाध्याय)
–ज्वरांशुक–पु., पारदयोग० रसहिंगुलजेपालयुक्तः ज्वरघ्नः (र. १२.४२)
–दारक–पु., वनस्पति० वृद्धदारुः (र. २८.४३–४७)
वनस्पति० महिषवल्लिः, वेलरिका (असंउ. ४९)

-दारु-पु., वनस्पति० गुणाः- कटुस्तिक्तो, मधुरः (राज) उष्णः पिच्छिलो बल्यः कफवातघ्नः शोथकृमिरक्तमेहरक्तविकारमेहवातोदरनाशनश्च (ध. ४.१०८)

-दारुक-पु., वनस्पति० वृद्धदारुः (ध. ४.१०७)

-फल-पु., वनस्पति० करञ्जः (रा. ९.१७६)

-बन्ध-पु., पारदबन्ध० षड्गुणाभ्रकेण जारितः पारदः (र. ११.८५)

-रुहा-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (चसू. ४.१२)

-वत्स-पु., एकवर्षाऽऽत्मको वत्सः (सुचि. २६.३७)

वृद्धि-स्त्री., पु., रोग० वर्ध्म, मेदोजविकारेष्वेकः (सुनि. १२; असंनि. ११; अहृनि. ११) संप्राप्तिः- कुद्धो रुद्धगतिर्वायुः शोफशूलकरः सन् चरन् वंक्षणतो मुष्कौ प्राप्य फलकोशाऽभिवाहिनीर्धमनीः प्रपीड्य फलकोशयोः, फलकोशस्य वा वृद्धिं करोति (असंनि. ११.२२-२३) संख्या सप्तविधा-वातजा, पित्तजा, कफजा, रक्तजा, मेदोजा, मूत्रजा, अन्यजा, (असंनि. ११.२४) पूर्वरूपाणि-बस्तिकटिमुष्कमेढ्रवेदना, मारुतनिग्रहः, फलकोशशोफः (सुनि. १२.५) लक्षणानि- वातजवृद्धिः- वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षोऽहेतुरुक् च; पित्तजः- वृद्धिरोगः पक्वोदुम्बरसङ्काशो दाहोष्मपाकवान्; कफजः-शीतो गुरुः, स्निग्धः, कण्डूमान्, कठिनोऽल्परुक्; रक्तजः कृष्णस्फोटाऽऽवृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च; मूत्रजः- मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजवृद्धिर्भवति । गच्छतोऽम्भःपूर्णदृतिवत्क्षोभं याति । मूत्रकृच्छ्रम् मृदु सरुक् फलकोशयोर्वलयं च स्यात् । मेदोजः मृदुस्तालफलोपमः कफजवृद्धिलक्षणश्च (असंनि. ११.२५.२८) आन्त्रजवृद्धेर्लक्षणानि संप्राप्तिश्च-वातकोपिभिराहारैः शीततोयाऽवगाहनैर्धारणेरणविषमाऽङ्गप्रवर्तनाऽऽदिभिः क्षोभणैःचेष्टितैः कुपितो वायुर्यदा क्षुद्रान्त्रावयवं स्वस्थानाद्विगुणीकृत्य, संकुचीकृत्याऽधो नयेत्तदा वंक्षणसंधिस्थो वायुर्ग्रन्थ्याऽऽभं शोथं कुर्यात् । तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा कालान्तरेण फलकोषं गच्छति । तां मुष्कवृद्धिमाऽऽध्मानरुक्स्तम्भवतीमुपेक्षमाणस्य पुरुषस्य प्रपीडितः। सशब्दमूर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च वायुः पुनराऽऽध्मायते (अहृ नि. ११.२८-३१; मधुकोष. मा. वृद्धिः)

वर्धनम् (चसू. २८.३३)

वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५; सुचि. ३७.१२) कन्द० महाश्रावणी (सुसू. ३८.३५-३६; अरु. अहृसू. १५.१२)

-कर्णिका-स्त्री., वनस्पति० पाठा (रानि. ६.९८)

-कृत्-वि., वर्धनकारकम् (असंशा. ८.३६)

-द-पु., वनस्पति० गृष्टिः (रानि. ७.१३६) जीवकः (रानि. ५.१५५)

-दात्री-स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रानि. ५.१८८)

-पत्र-न., छेदनशस्त्र० (सुचि. १५.१६) क्षुराऽऽकारम्, तच्च द्विविधम्-एकमञ्चिताऽग्रं द्वितीयं प्रयताग्रं, द्वेऽपि सप्ताङ्गुलप्रमाणे (ड. सुसू. ८.३-४)

-बला-स्त्री., वनस्पति० बला (रानि. ४.४३२)

-रोग-पु., रोग० वृद्धिः (सुनि. १२.३) 'द्र० वृद्धि'

वृध्द्युपदंशश्लीपदचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. १९.५)

वृध्द्युपदंशश्लीपदनिदान-न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १२.१)

वृन्त-न., पुष्पदण्डः (र. ११.९९-१०१) प्रसवबन्धनम् (सुनि. ८.३)

(वृन्ता)-स्त्री., वनस्पति० वृन्ताकी, बृहतीभेदः द्र० 'बृहती' (धनि. १.१०१)

वृन्तक-पु., धान्य० शालिः (धनि. ६.७०)

वृन्ताक-पु., न., शाक० वार्ताकी (र. १२.१५०.५१)

(वृन्ताकी)-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः (धनि. १.१०१)

-मूषा-स्त्री.,मूषा० धत्तूरपुष्पवद्दूर्ध्वनालवती वृन्ताकाऽऽकारा मूषा, खर्परादिमृदुद्रव्यसत्त्वहरणार्थमेषोपयुज्यते (र. २.१६१-६२)

वृन्द-पु., कण्ठरोग० भेद्यरोगः (सुसू. २५.५-७; सुनि. १६.५६) तल्लक्षणानि-वृत्तोन्नतो गलपार्श्वगो दाहज्वरकरः शोफः (असंउ. २५)

वृन्दारक-पु., धान्य० शालिः (धनि. ६.६९)

वृश्चा-स्त्री., वनस्पति० अलिपत्रिका (र. २९.१२७)

वृश्चिक-पु., विषयुक्तकीट० (चचि. २३.१५०; सुक. ३.५) वृश्चिकस्य विषं तीक्ष्णमाशुकारि, तद्दंशसमये एवाऽग्निरिव दहति, आश्वेव तद्दंशव्रणादूर्ध्वदेहमारोहति पश्चात्तद्दंशव्रणमाश्रित्य तिष्ठति, ततो दंश आश्वेवाऽधिकवेदनायुक्तः श्यावर्णस्तोदयुक्तः स्फुटनप्रतीतियुक्तश्च भवति (असंउ. ४३) वृश्चिकास्तु त्रिविधाः, मन्दमध्यमहाविषभेदेन

(सुक. ८.५६) गवादिशकृत्कोथजा मन्दविषा वृश्चिकास्ते रोमबहुला बहुसंध्युपेतपुच्छाः रक्ता उदरे पाण्डुरवर्णाश्च भवन्ति (असंउ. ४३) मन्दविषा द्वादश वृश्चिकाः – कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो गोमूत्राऽऽभः कर्कशो मेचकः पीतो धूम्रो रोमशः शाद्वलाभो रक्तश्च (सुक. ८.५७-६०) मध्यविषास्त्रयः वर्णतः – रक्त- पीत- कपिलाः उदरेण धूम्राः, पुच्छदेशे पर्वत्रययुताः सर्पमूत्रोच्चारपूत्यण्डेभ्य उद्भवन्ति (सुक. ८,५७,५८,६१-६३) सर्पकोथजा वृश्चिका महाविषास्ते वर्णेन ताम्रा नानावर्णा यिचित्रवर्णा रक्तवर्णाश्च भवन्ति (असंउ. ४३) सर्पादीनां मृतशरीरक्लेदाद्वृश्चिकोत्पत्तिः, सर्पादयो वृश्चिकैर्दष्टाः सद्य एव जीवितं त्यजन्ति (असंसू. ७.२५७-५८) तत्र सर्पदष्टवच्चिकित्सा कार्या–वृश्चिकदंशमादौ स्वेदितं पश्चात्प्रच्छितं रजन्यादि चूर्णैर्दुष्टरक्तप्रवर्तनार्थं प्रतिसारयेत्, सुरसाग्रजं मातुलुङ्गाऽम्लगोमूत्रपिष्टं लेपनार्थम्, सुखोष्णं गोमयं स्वेदनार्थम्, पानार्थं क्षौद्रयुतं गोघृतं, तथा च बहुशर्करं क्षीरम् उपयुंजीत (सुक. ८.६७-६९)

वृश्चिकर्णी–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२१)

वृश्चिका–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–अम्ला, पिच्छिला, अन्त्रवृध्यादिदोषनुत् (रापरि. ५.४०)

–विष–न., वृश्चिकदंशविषम् (सुक. ८. ७२-७३)

वृश्चिकाली–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा, हृद्वक्त्रशुद्धिकृत्, बल्या, रक्तपित्तविबन्धारोचकाऽपहा च (रापरि. ९.७)

हिं.—बर्हन्त.

म.—खाजकोलती.

बं.—बिचुती.

ता.—काञ्जुरी.

मेषशृङ्गी (ध. १.८७; असंचि. १७)

चक्रा (इन्दु. असंउ. ९)

उष्ट्रधूमकः (इन्दुः असंउ. ९)

वृश्चिकपत्री (चचि. ९.४७)

वृश्चीर–पु., वनस्पति० श्वेतपुनर्नवा (चक. चक. ४.१६; ध. १.२७४)

वृश्चीव–पु., वनस्पति० श्वेतपुनर्नवा (सुउ. ३९.२०२)

वृश्चीवाद्यरिष्ट–पु., अरिष्ट० अयं गुल्मघ्नः (सुउ. ४२.४६-४८)

वृष–वि., शुक्रोपचयवान् (चक. चसि. १२.२८)

पु., वनस्पति० आटरूषः (सुउ. ३९.१९५)

ऋषभः (ध. १,१२५)

कफप्रकृतिप्राणिविशेषः (सुशा. ४.७६)

ग्राम्यपशुविशेषः वृषभः (धपरि. १६)

बिलेशयप्राणि० ग्राममार्जारः वनमार्जारो वा (असंसू. ७.७६-७७)

बलीवर्दः (चचि. ३.३०२-३)

(वृषा)–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४६)

आटरूषः (र. १३.३)

आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)

–कर्णी–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (अहसू. १५.३०)

–गन्धाख्या–स्त्री., वनस्पति० बस्तान्त्री (रा. ३.२)

–घृत–न., घृत० इदं कासश्वासयक्ष्मापाण्डुनाशनम् (सुउ. ४१.४३-४४)

–ता–स्त्री., वृष्यता (अहसू. ७.५४)

–त्वकृत्–वि., शुक्रवृद्धिकृत् (चसि. ८.११)

–दंश–पु., प्राणि० बिडालः (चचि. ३.३०२) मार्जारो वनमार्जारो वा (सुसू. ४६.७८)

–ध्वाङ्क्षी–स्त्री., वनस्पति० मुस्ता (रा. ६.६२; ध. १.४१)

–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० फञ्जिपत्रिका (चसू. ४.११ (१५)

–पुष्प–न., शाक० गुणाः–कफपित्तहरं तिक्तं कटु शीतं च (चसू. २७.९६)

–मुष्टिका–स्त्री., वनस्पति० (असंसू. ७)

–मूलादितैल–न., तैल० (चचि. २८.१७०-७१)

–वर्चस्–न., वृषभपुरीषम्, इदं रक्तपित्तघ्नम् (सुउ. ४५.३१)

वृषक–पु., वनस्पति० आटरूषः (चसू. २३.१५; सुचि. ३७.१९)

पाषाणभेदः (असंक. ५)

–बीज–न., शाकबीजम् (असंचि. ३१.७८)

वृषण–पु., न., शारीर० अण्डकोशः, मुष्कः, पुंदेहे षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम्, संख्यातः, द्वौ वृषणौ (चशा. ७.११)

शुक्रवहानां स्रोतसां मूलं च (चवि. ५.८) मांसरुधिरकफमेदसां सारादुत्पद्यते (चसू. १८.३०)

–कच्छू–स्त्री., क्षुद्ररोग० कण्डूलस्त्वग्विकारः कफरक्तजन्यः (सुनि. १३.५९-६०)

–नाश–पु., मुष्कनाशः (असंशा. २.४६)
वृषणाक्षेप–पु., रोग० वृषणस्याक्षेपः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)
वृषभ–पु., पशु० बलीवर्दः, तन्मांसगुणाः–स्निग्धं गुरु बृंहणं. बल्यं कफपित्तकरं पीनसकरं वातघ्नं काश्यं-मन्दाऽग्निनाशनं च (ध. ६.४०५)
वनस्पति० ऋषभः (ध. १.१२५)
(वृषभी)–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३)
वृषभाक्षी–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (ध. १.२४८)
वृषस्यन्ती–वि., रतार्थिनी (स्त्री) (सुशा. २.४७)
वृषा–स्त्री., वनस्पति० आखुकर्णी (रापरि. ३.२२)
आटरूषः (र. १३.३)
–कपि–पु., शङ्करः, अग्निः (चचि. २३.९२)
वृषाकर–पु., धान्य० माषः (ध. ६.९९)
वृषाणिन्–पु., वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५७)
वृष्टि–स्त्री., वर्षा, पर्जन्यः (अहसू. ३.६)
वृष्य–वि., शुक्रवृद्धिकरम् (चसू. १.१०७) पुंस्त्वकरम् (असंउ. ५०) वाजीकरम् (चचि. १.५) यत्किञ्चित् स्निग्धं मधुरं बृंहणं गुरु मनसो हर्षणं च तत्सर्वं वृष्यम् (चचि. २(४).३६)
पु., वनस्पति० इक्षुः (रा. १४.१८०)
न., आमलकम् (ध. १.२१५)
(वृष्या)–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदः, बलिका, द्र० 'बला' (ध. १.२८६)
भूधात्री (रा. ५.१४५)
–कन्दा–स्त्री., वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७)
–गन्धा–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदो बलिका, द्र० 'बला' (ध. १.२८६)
–गन्धिका–स्त्री., वनस्पति० बलाभेदो बलिका, द्र० 'बला' (ध. १.२८६)
–योग–पु., वाजीकरयोगः (अहसू. ४.२७)
–वल्लिका–स्त्री., वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७)
वेक–पु., ग्राम्यवर्गे डल्हणेन निर्दिष्टः प्राणिविशेषः (ड. सुसू. ४६.८५)
वेग–पु., प्रवृत्त्युन्मुखत्वम् (चसू. ७.३) गतिदायको गुणः (सुनि. १.८७)
ज्वरादीनामाऽऽविर्भावः, संचारः (चचि. ३.७०)
शरीरगतस्य वातादेर्गतिः (असंनि. १५.३१)
शरीरे रसायनौषधिपाकसमये जायमानं दाहमूर्च्छाऽऽक्षेपादिकम् (र. १२.७९-८९)
–धारण–न., गतिविरोधः तच्चानारोग्यकराणां श्रेष्ठम् (असंसू. ५.२६)
–नामन्–न., शाक० काकादनी (सुसू.४६.२३८)
–निग्रहशील–वि., वेगनिग्रहरतः (ड.) नित्यं वेगधारणं कुर्वाणः (सुउ. ६१.५)
–प्रवर्तन–न., शारीरवेगानां प्रवृत्तिः (चसू.१६.५)
–रोधिन्–वि., वेगधारणशीलः (असंसू. ९.७९)
द्र० 'वेगनिग्रहशील.'
–वत्–वि., प्रसरणशीलः (ड. सुउ. ३९.२३)
–विघात–पु., वेगावरोधः (सुचि. ९.३)
द्र० 'वेगधारण.'
–विधारण–न., वेगधारणम् (असंसू. ९)
–विधारिन्–वि., वेगावरोधकः (अहसू. ८.१०)
द्र० 'वेगनिग्रहशील.'
–संधारण–न., वातविण्मूत्रादिवेगानामवरोधः (चसू. २५.४०)
द्र० 'वेगधारण.'
–हानि–पु., वेगनाशो वेगनिर्गमनम् (सुउ. ३९.७४)
वेगागम–पु., वेगप्राप्तिर्वेगस्याऽऽगतिः (सुउ. ३९.७३)
वेगाघात–पु., वेगधारणम् (सुउ. ५०.४)
द्र० 'वेगधारण.'
वेगान्तर–न., अन्यो वेगः (सुक. २.४४)
वेगापाय–पु., वेगहानिः (सुउ. ३९.१४५-१४६)
द्र० 'वेगहानि'.
वेगाभिघातशील–वि., वेगनिग्रहणकरः (असंसू. २७.३३)
द्र० 'वेगनिग्रहशील'.
वेगित–वि., वेगयुक्तः (अहसू. २.१९)
वेगिन्–पु., रोग० बाह्यायामः (असंनि. १५.२९)
(वेगिनी)–स्त्री., रोग० हिध्मा, यमलापरपर्याया (असंनि. ४.२४)
वेगोदीरण–न., वेगोत्पत्तिः (अहसू. १२.४१)
वेड–न., सार्द्रविच्छिन्नचन्दनः (काखिल. १५.१६)
वेणागमूलक–न., वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२६)
वेणिका–स्त्री.. गुणत्रयग्रथितउपयन्त्र० (सुसू. ७.१५) विषवारणिका रज्जुः, विषदष्टस्य दंशोपरि बन्धनार्थं प्रयुक्ता (चचि. २३.३८)
वेणी–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (चक. चक. २.३, ध. १.१७३)
वेणु–पु., वनस्पति० वंशः (ध. ४. १३७; चसि. ३.७)
वाद्य० वंशी (सुचि. ३४.१२)

–करीर–पु., वंशमूलाऽङ्कुरः शाकः, तद्गुणाः–गुरुः कफमारुतकोपनश्च (सुसू. ४६.३०५)
–गह्वर–न., वंशनलिकाऽभ्यन्तरम् (सुउ. १७. १९-२१)
–ज–पु., वनस्पति० वेणुयवः (रा. १६.१२६)
–जात–न., शाक० कषायं वातकोपनं च (सुसू. ४६.२९३)
–नाडी–स्त्री., नाडीभाजनविशेषः (सुउ. १७.८-१०)
–निर्लेखन–न., वंशतक्षणं, वंशत्वक् (सुचि. १९.८)
–निस्वन–पु., वनस्पति० इक्षुः (ध. ४.१२०)
–पत्रक–पु., सर्प० मण्डली (सुक. ४.३४(२))
(–पत्रिका)–स्त्री., वंशपत्रम् (सुक. १.५२-५४)
–पत्री–स्त्री., निर्यास० नाडीहिङ्गु (ध. २.४०)
–पर्णी–स्त्री., तृणधान्य० (असंसू. ७.१५)
–पर्वन् न., वेणुग्रन्थि, ग्रन्थ्यादिषु विमर्दनोपयोगि (असंउ. ३५)
–बीज–पु., वनस्पति० वेणुयवः (रा. १६.१२६)
–यव–पु., वनस्पति० वंशफलम् (चसू. २७.२०) वंशतण्डुलः (सुसू. २०.५) तद्गुणाः–कषायोऽनुरसो मधुरः, कटुपाकी, रूक्ष उष्णः; शीतः (रा) बद्धमूत्रो वातकोपनः, कफहरः (सुसू. ४६.२६) पित्तघ्नो वीर्यवृद्धिकरो बल्यः, प्रमेहक्रिमिविषनाशकः (रा. १६.१२६) द्र० ' वंश '

वेणुका–स्त्री., तन्नामकफलविषभेदः (सुक. २.५)

वेत–पु., वनस्पति० वेत्रः (रापरि. ७.१४)

वेतस–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–तिक्तः ईषत्कषायः, कटुः, स्वादुः, शीतो रक्षोघ्नो भूतनाशनो रुच्यो दीपनः कफपित्तघ्नो व्रणशुद्धिकरो रक्तपित्तनाशनश्च (ध. ५.११६)

हिं.—बेंत.
म.—वेत, थोरवेत.
गु.—नेतर.
बं.—वेत.
फा.—वेत.
सुगन्धिमूलम् (चक्र. चचि. ३.२५८)
वेत्रः (चसू. ३.२७)
अम्लवेतसः (र. १५.६६)
शस्त्र० वेतसपत्राकारं शस्त्रम्, तदूव्यधनार्थमुपयुज्यते (अहसू. २६.९)

(वेतसी)–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (ध. ५.८४)
–पत्रक–न., व्यधनोपयोगिशस्त्रमङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलमायतं, चतुरङ्गुलं वृत्तं; कैशिकी धारा (सुसू. ८.४)
–शाक–न., शाक० इदं कटुतिक्ताम्लं वातलमधोमार्गप्रवर्तनं च (चसू. २७.१०९)

वेतसाम्ल–न., वनस्पति० अम्लवेतसः (चचि. १२.५५; ध. २.९६)

वेताल–पु., भूतयोनिविशेषः (चचि. २३.८८) भूताधिपतिविशेषः (असंउ. ७)

वेत्र–पु., न., वनस्पति० कषायः, शीतः, पित्तघ्नो भूतघ्नश्च (रापरि. ७.१४) निर्वापणप्रदेहे उपयुज्यते (चसू. ३.२६) तस्य पुष्पं विषाऽन्वितमस्ति (सुक. २.५)
–करीर–पु., वेत्राङ्कुरः (सुसू. ४२.११)
–फल–न., पद्मबीजसमं फलम् (ड. सुसू. ४६.१३९)

वेत्राग्र–न., शाक० वेत्रकरीरम्, तद्गुणाः–कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटुविपाकि च (चसू. २७.४; सुसू. ४६.२७०)

वेत्राम्ल–न., वनस्पति० अम्लवेतसः (सुउ. १२.१७-१८)

वेद–पु., ऋग्वेदादिः (चसू. ३०.२१) ज्ञानम्, वेत्ति इति वेदः ज्ञानम् (अमरकोश) आयुर्वेदः (सुसू. ३.४) संख्यासंकेतविशेषः, चत्वारो वेदाः, तेन वेदपदस्य चतुःसंख्याभिधायकत्वम् (र. २९.२३-२४)

(वेदी)–स्त्री., आसनम्, पिण्डिका (चशा. ८.१०)
–भूव्हा–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.९०)
–यितृ–पु., मनसो ज्ञापयिता (सुशा. ३.४)
–वादिन्–पु., वेदप्रतिपाद्यैकानुवादकः, वेदसिद्धान्तानुगामी, आयुर्वेदवादी (ड. सुशा. ५.१८)
–विद्–वि., आयुर्वेदज्ञः (चसू. १.७६)

वेदना–स्त्री., लक्षण० दुःखम् (चशा. १.८६) सुखदुःखोपलब्धिः (चशा. ४.१५) रोगः (चशा. १.८६) लक्षण० शूलः (सुशा. १०.७) आविः, प्रसववेदना (असंशा. ३.३०)
–घ्न–न., शूलघ्नः (धूपः) (सुसू. ५.१७)

वेदनाश्रयसंज्ञक–वि., वेदनाकारणत्वेन व्यपदिष्टम्, कारणत्वेनोक्तं कालाद्ययोगादि (चशा. १.३५)

वेदनास्थापन–वि., वेदनोच्छेदपूर्वकं शरीरस्य प्रकृतौ स्थापनम् (चसू. ४.१८)

वेदनास्थापनगण–पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे एको गणः, वेदनायां संभूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयति। शालकट्फलकदम्बपद्मकतुम्बमोचरस-शिरीषवञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदना-स्थापनानि (चसू. ४.१८)

वेदयितृ–पु., मनसो ज्ञापयिता (सुशा. ३.४)

वेदाङ्ग–न., शिक्षा कल्पो व्याकरणं छंदो ज्योतिषं निरुक्तं चेति षड्वेदाङ्गानि (काखिल. २.३)

वेदिका–स्त्री., विवाहादिनिमित्तमामेष्टकादि रचित-श्रुतरकः (सुसू. २९.३२)

वेदितृ–पु., आत्मा, जगद्वेदयतीति वेदिता (चशा. ४.८)

वेदिनी–स्त्री., त्वग्विशेषः, पञ्चमी त्वक्, व्रीहेः पञ्चभाग-प्रमाणा (सुशा. ४.४)

वेदोत्पत्ति–स्त्री., आयुर्वेदोत्पत्तिः (सुसू. ३.४)
अध्यायसंज्ञा० (सुसू. १.१)

वेध–पु., व्यवायिगुणैरौषधैः सहितः मूषाद्युतताम्ररजता-दिद्रव्ये क्षिप्तः पारदः (र. ८.८८) किमियानाम्ना प्रसिद्धः संस्कारः वेधविद्या रसार्णवाऽऽदौ दल-विधाननाम्ना प्रसिद्धा (र. ५.११)

–कर्मन्–न., वेधादिकं कर्म किमिया (र. ७.३-४)

–मुख्य–पु., वनस्पति० कर्चूरः (ध. ३.९४)

(–मुख्या)–स्त्री., भैषज्य० कस्तूरिका (ध. ३.२८)

वेधक–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४६)
न., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९८)

वेधनी–स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (रा. ५.१८४)

वेधिन्–पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा. ६.१४६)

वेध्य–न., अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम्, अल्पमुखैः शस्त्रै-र्व्यधनीयं सिरादि (ड. सुसू. ५.५) वेध्यविषयाः– बहुविधाः सिरा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् (सुसू. २५.१०)

वेपक–पु., वेपनम्, कम्पनम्, तेन वेपको रोगत्वेन कम्प-नम् (सुचि. ३६.४५)

वेपथु–पु., लक्षण० कम्पः, वेपनम् (चनि. १.२१; सुचि. २४.८७)
रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

वेपन–न., वातरोग० कम्पः (चचि. २८.१३४; सुशा. ६.२४)

वेपमान–वि., कम्पमानः (सुउ. ६१.११)

वेला–स्त्री., कालः (सुउ. ३९.७२)
कूलमर्यादा, तीरम् (सुचि. ३५.३०)

वेल्ल–पु., न., वनस्पति० विडङ्गः (असंउ. ४७; अहसू. १५.४)
मरिचम् (र. २.७५)

वेल्लन्तर–पु., वनस्पति० वालकम् (अहसू. १५.२४)

वेल्लुरिका–स्त्री., वनस्पति० वृद्धदारुः (असंउ. ४९)

वेल्लितक–पु., वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः सर्पविशेषः अयं मण्डलिसर्पविशेषवद्वर्तते (सुक. ४.३४)
न., सीवनप्रकारेष्वेकः, तच्च कुटिलं तिर्यक् प्रणि-हितया सूच्या सूत्रेणैकेनावेष्ट्य संपादितम् (सुसू. २५.२१)

वेल्लितबन्ध–पु., बन्ध० तिर्यक्स्थे शाखाघाते घनवास-साऽसौ प्रसंपाद्यः (असंउ. ३१)

वेशवार–पु., संस्कृतमांसविशेषः निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं घृतगुडाऽन्वितं कृष्णामरिचसंयुक्तम्, तद्गुणाः–गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः (चसू. २७.२६९; सुचि. २.२५)
शाकादिषु व्यञ्जनार्थमुपयुक्तं धान्यजीरकादियुक्तं चूर्णम्, उपस्करः (चसू. १४.४२) व्यञ्जनम् (सुचि. ३२.१२)

वेशवारोपनाह–पु., उपक्रम० स्वेदविशेषः (सुचि. ३२.१२)

वेश्मन्–न., गर्भिणी यत्र वसति तत्स्थानम् (का. जातिसूत्रीय)

(वेश्म)–कुलिङ्ग–पु., गृहकुलिङ्गस्तद्गुणाः– रक्तपित्त-हरोऽतिशुक्रलश्च (सुसू. ४६.७१)

–धूम–पु., अगारधूमः, गृहधूमः (चचि. २६.१४)

वेश्य–पु., वेश्म (असंसू. ७.७९)
द्र० 'वेश्मन्'.

वेष–पु., नेपथ्यम् (अहसू. २.३१)

वेष्ट–पु., निर्यास० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२)
न., वेष्टनम्, दन्तवेष्टनम् (सुनि. १६.२१-२३)

–सार–पु., निर्यास० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३)

वेष्टक–पु., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२६)
श्रीवेष्टकः (रा. १२.९२)

वेष्टन–न., अग्रन्थिबन्धनं सर्पादिभिः (चसू. १८.४)
लक्षण० उद्वेष्टनम् (चसू. १७.३१) वलनम् (हे.)
ग्रथनमिवाऽङ्गस्य (अरु. अहसू. १२.५०)

वेसवार–पु., संस्कृतमांसविशेषः वेशवारः (चसू. ३.१९)
द्र० 'वेशवार'.
स्विन्नपिष्टमुद्गादिकल्कः (सुसू. ४६.४००)

वेसवाराम्बुरूप–वि., वेसवारसंमिश्रजलसदृशम् (सुउ. ४०.१९)
द्र० 'वेशवार'.

वैकरञ्ज–पु., सर्प० संकीर्णजातः पृथग्जातीयसर्पिणीपृथग्जातीयसर्पाभ्यां जातो वैकरञ्जः (सुक. ४.९-१०) वैकरञ्जास्त्रयः–तद्यथा–माकुलिः पोटगलः स्निग्धराजिरिति, तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः, कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति, तेषामाद्यस्य माकुले, पितृवद्विषोत्कर्षः, द्वयोर्मातृवदित्येके (सुक. ४.३४)(५)

वैकरञ्जोद्भव–वि., वैकरञ्जाज्जातः, वैकरञ्जेभ्यस्त्रिभ्यो जातः तद्यथा–दिव्येलकः, रोध्रपुष्पकः, राजिचित्रकः, पोटगलः, पुष्पाभिकीर्णः, दर्भपुष्पः, वैल्लितकश्चेति, तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत् शेषाः मण्डलिवत् (सुक. ४.३४)

वैकल्यकर–वि., वैकल्यं कर्मासमर्थत्वम्, तत्करम् (सुशा. ६.२२)

–मर्मन्–पु., मर्म० चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि मर्माणि (सुशा. ६.८) तानि लोहिताक्षादीनि (सुशा. ६.१२-१३) वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणाऽवलम्बनं करोति (सुशा. ६.१६)

वैकारिक–वि., विकृतिभवम् (चशा. ४.२५)

(वैकारिकी)–स्त्री., विकारभवा निद्रा (सुशा. ४.३३)

–वर्ण–पु., विकृतवर्णः, नीलश्यावताम्रहरितशुक्लाश्च वर्णाः, शरीरस्य वैकारिका भवन्ति (चइ. १.९)

–स्वर–पु., विकृतस्वरः विकारजनितः स्वरो वा एडककलग्रस्ताऽभ्यक्तगद्गदक्षामदीनाऽनुकीर्णास्त्वातुराणां स्वरा वैकारिका भवन्ति (चइ. १.१४)

वैकारिकाहंकार–पु., अहंकारभेदः, सात्त्विकः अहंकारः (सुशा. १.४)

वैकिर–न., जल० सिकतां विकीर्य यज्जलमाऽऽपद्यते तत्, तस्य गुणाः–कटु, सक्षारं, श्लेष्मघ्नं, लघु दीपनं च (सुसू. ४५.३५)

वैकुण्ठ–पु., वनस्पति० अर्जकः (रा. १०.८५)

वैकृत–न., विकारः विकृतिरेव वैकृतम् (सुसू. १४.३) स्वभावतः प्रकृतितो यद्वैकृतमन्यथात्वं तत् (सुसू. २८.८)

वि., विकारभवः (असंशा. ८)

(वैकृती)–वि., विकृतिमूला (चसू. १७.११५)

वैकृत्य–न., अन्यथात्वम् (सुउ. ३९.११६)

वैक्रान्त–पु., न., रत्न० महारसेष्वेकं, खनिजोपल० गुणाः– आयुष्यं बल्यं वर्ण्यमतिवृष्यं दीपनं रसायनम् । प्रमेह–वार्धक्य–क्षय–ग्रहणी–कासघ्नश्च (ध. ६.४४) तस्य द्रुतिविधानम्–अम्लवेतसरसेन भावितं शुक्लवर्णं वैक्रान्तं तीव्रातपे सप्ताहात् द्रवतां गच्छति । केतकीस्वरसः सैन्धवं स्वर्णपुष्पिकेन्द्रगोपश्चैतत् सर्वं भाण्डे विनिक्षिपेत् । तस्मिन्भाण्डे सप्तदिनपर्यन्तं वैक्रान्तं स्वेदयेत् । एवं सप्तदिनस्वेदनाऽनन्तरं तद् द्रवतां गच्छति (र. ४.७५)

वैखानस–पु., ऋषि० रोगाऽपहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिषु एकः (चसू. १.१३)

वैगन्धिक–पु., शुद्धगन्धकः (चक्र.) त्रिजातकश्चतुर्जातकः । जज्जटः (चचि. २३.२२३)

वैगुण्य–न., विगुणस्य भावः, विषमो गुणः (चवि. ३.१९)

वक्रता (सुचि. १५.४)

वैचित्त्य–न., विकृतचित्तत्वं, क्षुब्धमनस्त्वम् (चचि. ३.३६)

उन्मादादिमानसविकारः (सुचि. ३९.१४)

वैजयन्तिका–स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः (रा. ९.१३६)

वैजयन्ती–स्त्री., वनस्पति० अग्निमन्थः (सुचि. ४.३२)

मुक्तकः (इन्दु. असंउ. २२)

टाहकळा इति भाषायामिति (इन्दुः असंचि. १४)

वैडुर्यप्रभराज–पु., देवता० (अहसू.१८.१७½)

विदूरगिरिसंभवम् (सुउ. १५.२६)

वैडूर्य–पु.; न., रत्न० (असंसू. ८.९६) शुभवैडूर्यलक्षणम्–श्यामवर्णं शुभ्रवर्णं श्वेतवर्णं वा । सर्वतः समानाऽऽकारं समं प्रकाशमानम् । निकृष्टवैडूर्यलक्षणम्–श्याम-तोयसमच्छायं चिपिटं लघ्वल्पभारं कठिनं रक्तवर्णगर्भितं रेखासहितम् । वैडूर्य–गुणाः–रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञाऽऽयुर्बलवर्धनं दीपनं मलमोचनं पित्तप्रधानरोगघ्नं च (र. ४.६१-६२-६३) अक्षिरोगनुत् (चचि. २६.२४६) विषघ्नम् (चचि. २३.२५२-२५३) लेखनम् (सुसू. ४६.३२९)

वैणव–वि., वेणुमयम् वेणुभवं वेणुकृतं वा (सुसू. २६.१९)

वैतरण–पु., धन्वन्तरिशिष्येष्वेकः (सुसू. १.३)

वैदर्भ–पु., दन्तमूलरोगः दन्तमूलेषु जायमानो रोगः, तत्र दन्ताश्चला भवन्ति, अयमभिघातजवैदर्भ इत्युच्यते (सुनि. १६.२३-२४)

वैदल–वि., मुद्गादि० माषकुलत्थादयो हि न वैदलत्वेन निर्दिष्टाः, शिम्बिदलयोर्विभजनात् वैदलत्वं मुद्गादीनाम्। मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसतीनत्रिपुटकहरेण्वाढकीप्रभृतयो वैदला- (सुसू. ४६.२७) तत्कृतभक्ष्यम्, गुणाः–कषायं सृष्टमारुतं लघु च (सुसू. ४६.४०२) वैदलानां सामान्यगुणमाह कषायमधुराः शीताः कटुपाकाः वातकरा बद्धमूत्रपुरीषकराः पित्तश्लेष्महराश्च (सुसू. ४६.२८)

कीट० तद्गुणाः–वायव्योऽसौ वातरोगान् करोति (सुक. ८.५-८)

वैदूर्य–पु., न., रत्न० वैडूर्यम् (चचि. २३.२५२-५३; र. ४.६१)

–पात्र–न., (परिव०) वैदूर्यरत्नरचितं भाजनम् (असंसू. १०.३६)

वैदेहनिमि–पु., ऋषि० (कासू. २७.३)

वैदेहिका–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (असंउ. ४७)

वैदेही–स्त्री., लूता० संकीर्णा लूता० तस्याः दंशलक्षणानि– अग्निदग्धनिभो भृशवेदनायुक्तो गम्भीरो हृत्पीडातीक्ष्णज्वरमोहयुक्तश्च (असंउ. ४५)

वनस्पति० पिप्पली (रा. ६.१०९)

वैद्य–पु., भिषक्, विद्यायोगाद्वैद्यत्वम् (चचि.१.(४).५२-५३) वैद्यगुणाः–पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता,दाक्ष्यं,शौचं,जितहस्तता,उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता च (चवि. ८.८६) वैद्यश्च तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थः स्वयंकृती लघुहस्तः शुचिः, शूरः, सज्जोपस्करभेषजः प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः, सत्यधर्मपरः (सुसू. ३४.१९-२०) कुलीनो धार्मिकः स्निग्धः सुभृतः सततोत्थितः अलुब्धोऽशठो भक्तः कृतज्ञः प्रियदर्शनः क्रोधपारुष्यमात्सर्यमायाऽऽलस्यविवर्जितो जितेन्द्रियः क्षमावान् शीलदयान्वितः असंश्रान्तोऽनुरक्तः हितैषी प्रगल्भो निपुण आलस्यवर्जितः (सुक. १.८-११) रसविशारदः स्यात् (सुसू. ३४.७)

वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि गुणाः–शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथुरसम्मोहश्च (सुसू.५.१०) द्विविधो वैद्यः–प्राणाऽभिसरः रोगाऽभिसरः (चसू. २९.५)

–नाथ–पु., योग० शङ्खभस्म निष्कमात्रं कपर्दिका भस्म चतुर्निष्कं मयूरतुत्थं कर्षांशं हरितालगन्धकटङ्कणानि कर्षमात्राणि रौप्यनागपारदभस्मान्यर्धकार्षिकाणि चित्रकक्काथेन संमर्द्य वराटमण्डूरचूर्णेन तद्गोलकं विलिप्य गजपुटे पचेत्। मात्रा–अर्धमाषा। अनुपानं–ताम्बूलरसमर्दितं मरिचचूर्णं ताम्बूलपत्राऽवलिप्तं मधुना हैयंगवीनेन घृतेन वा युक्तम्। मर्यादा–द्वाचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशद्वा दिनानि। अयं योगः क्षयनाशकः (र. १४.५२)

–मानिन्–वि., अवैद्यमप्यात्मानं वैद्यं मन्यमानः (चवि. ३.४५)

–वाक्यकृत्–वि., वैद्यवाक्यमविकल्पम् आचार्यत्वेन अनुरुध्यमानः परिचरगुणेष्वेकः (सुसू. ३४.२४)

–वाक्यस्थ–वि., वैद्यवचनकरः, व्याधितगुणेष्वेकः गुणः (सुसू. ३४.२१-२२)

–विदग्ध–वि., वैद्यमानी, वैद्यंमन्यः (चसि. २.५)

–समूह–पु., वैद्यसमुदायः, स च निःसंशयकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

वैद्युत–वि., वैद्युतो नाम दिव्याग्निभेदः (सुचि.३.२६-२७) वि., विद्युत्सम्बन्धी (असंशा. ५.५६)

वैद्रुम–वि., विद्रुमसम्बन्धि (चूर्णम्) (सुउ. १०.१५)

वैधर्म्य–न., विरुद्धो धर्मः (चवि. ८.३६) विसदृशो धर्मः (सुशा. १.९) विधर्मा नाम विरुद्धधर्मा विपरीतधर्मा वा, तद्वत्त्वं वैधर्म्यम्

वैधात्री–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४७) आमलकी (र. २३.६४)

वैनतेय–पु.. देवता० विनतात्मजो गरुडः (असंसू. ८.९४)

वैपादिक–न., रोग० क्षुद्रकुष्ठेष्वेकम्, तत्र लक्षणम्– पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् (चचि. ७.२२)

वैपादिका–स्त्री., रोग० वैपादिकम् (सुचि. २५.४२) द्र० 'वैपादिक'.

वैमल्य–वि., विमलता, शुद्धिः (अहसू. ४.३०)

वैयाघ्र–वि., व्याघ्रस्येदं नाम व्याघ्रसम्बन्धि यथा तच्चर्मादि (चशा. ८.१०)

वैरस्य–वि., लक्षण० विरसता (चसू. ५.७२) अनिष्टरसता (चइ. २.१९) उचिताद् आहाररसादन्यथात्वम् (चक्र. चसू. २८.९-१०) रसदोषजविकारेष्वेकः (सुसू. २४.९)

वैराटक–पु., कन्दविषभेदः, लक्षणम्–अङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते (सुक. २.५)

वैरान्तक–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९१)

वैरूप्य–वि., विरूपस्य भावो नाम विरूपता (चशा. ८.३२)

वैरेकीयद्रव्य–न., विरेको विरेचनम्, विरेकस्येदमिति वैरेकीयं, तच्च द्रव्यम् विरेचनद्रव्यम् (सुसू. ४४.१२)

वैरेचन–वि., विरेचनोपयोगि विरेचनसम्बन्धि (सुसू. ४४.५)

–धूम–पु., धूमविशेषः असौ दन्तमूलगताधिमांसे वातश्लेष्मजकासे च प्रयोज्यः (सुचि. २२.२५)

वैरेचनिक–वि., विरेचनसम्बन्धी (योगः) (सुउ. ४४.१५)

वैरेच्य–वि., वैरेचनिकः, यथा धूमविशेषः (चसू. ५.३७)

द्र० 'वैरेचन धूम'.

वैरोधिकत्व–न., विरोधकत्वं नाम द्रव्याणां परस्पर-गुणविरुद्धत्वम् (चसू. २६.८०)

वैरोधिकनिमित्त–वि., विरुद्धाऽशननिमित्तः (विकारः) (चसू. २६.११३)

वैवर्ण्य–वि., वर्णहीनता (चनि. ५.७) विवर्णता (सुनि. १.२५)

वैवस्वत–पु., देवता० यमः (सुसू. ३१.२४)

वि., यमाधिष्ठितः, याम्यः यथा पाशः (चचि. १(४).६०)

–क्षय–पु., यमगृहम् (चचि. १.(४).६०)

वैवादिक–वि., विवादं कुर्वाणः विवादे नियुक्तो वा (चसू. २९.९)

वैशद्य–वि., अच्छत्वं, पिच्छिलगुणस्य विनाशको गुण-विशेषः (चवि. ८.९८) निर्मलता. (सुचि. २४.९-१०)

वैशल्य–न., विगतशल्यत्वं नाम शल्यराहित्यम् (चशा. ८.३१)

वैशाखी–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः क्रूरः (रा. ५.४०७) द्र० 'पुनर्नवा'

वैशारद्य–न., पाण्डित्यम्। परवचनाभिभवपाण्डित्यम् (चवि. ८.१५)

वैशीजाता–स्त्री., वनस्पति० पुत्रदात्री (रा. ३.४७)

वैशेषिक–वि., विशिष्टः, परस्परव्यावृत्तः इति यावत् (चशा. ४.१४; सुचि. ९.११)

वैश्मिक–वि., वेश्म गृहम्, तत्र भवो नाम गृहप्रतिष्ठितः (चइ. १२.३५)

वैश्य–पु., सर्पजातिः तल्लक्षणम्–अमी सर्पाः कृष्ण-लोहितवर्णाः, वज्रनिभा धूम्राः पारावताऽऽभाश्च (सुक. ४.२७)

वैश्रवण–पु., कुबेरः (चचि. २३.८१)

वैश्रवणावास–पु., वनस्पति० वटः (ध. ५.७६)

वैश्वदेवी–स्त्री., पूतनाग्रहस्याऽपरं नाम (का–बालग्रहचि.)

वैश्वरूप–न., विश्वरूपस्येदम् विश्वरूपसंबन्धि (असंसू. २२.१०)

वैश्वरूप्य–न., नाना प्रकारं रूपं यस्य स विश्वरूपः, तस्य भावः। विश्वरूप्यम् यथा दोषाणाम् (सुउ. ६१.१८-१९)

वैश्वानर–पु., देवता० अग्निः (सुसू. ५.२९)

पारदयोग० विष्णुक्रान्ता जेपालं लाङ्गली देवदाली इत्येभ्यो द्विगुणं गन्धकं पारदं चादाय सर्वानेतान् यवक्षारयुक्तचिञ्चाफलक्वाथेन पक्षमात्रं मर्दयेत्, पुटयेच्च। मात्रा–गुञ्जात्रयम्। अनुपानम्–उष्णाम्बु घृतसैन्धवानि च। फलं–गुल्मनाशः (र. १८.७४)

पारदादियोग० पारदगन्धकताम्रशिलाजतुकान्त-लोहचित्रकत्रिकटुकुष्ठनिर्गुण्डीमुसलीवत्सनाभा-ऽजमोदानां चूर्णं निम्बक्वाथेनैकविंशतिवारं भृङ्गराज-रसेन च सप्तवारं मर्दयित्वा ततो गुटिकाः कुर्यात्। अनुपानं मधु। समयो रात्रिः। फलं–जलोदरविनाशः (र. १९.३२-३५)

–पोटली–पु., पारदादियोग० पारदगन्धककपर्द-भस्मानि गोदुग्धेन संमर्द्य गजपुटे पचेत्। अनुपानं –एकोनविंशतिमरिचानां चूर्णं मधु घृतं च। मात्रा –वल्लम्। पथ्यं–दधिभक्तः घृततक्रौदनो मध्याह्ने; रात्रौ च दुग्धौदनः। परिहारः– विदाहि विदलं भूरिलवणं तैलपाचितं बिल्वं कारवेल्लं वृन्ताकं काञ्जिकं च वर्जयेत्। अयं योगस्तीव्रतरमग्निदीपनः (र. १६.१३०-१३७)

वैश्वानरोचित–वि., वैश्वानरोचितो नाम अग्निसेवा-सात्म्यः यथा बाल्हीकादिजनः (चचि. ३०.३१६)

वैश्वामित्र–पु., विश्वामित्रस्याऽपत्यं वैश्वामित्रः सुश्रुतः (सुउ. १८.३)

वैषम्य–वि., विषमस्य भावः, विषमता (चसू. १७.५४)

–गमन–वि., विषमावस्थाप्राप्तिः, वृद्धिह्रासगमनमिह वैषम्यं ज्ञेयम् (ड. चशा. ६.४)

वैष्किरिक–वि., विष्किरस्येदम् वैष्किरिकम् (मांसादि) (अहसू. ६.५४)

वैष्टम्भ्य–वि.. विष्टम्भित्वम्, स्तम्भनम् (सुसू. ४२.८(१))

वैष्णवी–स्त्री., निद्रा विष्णुमायारूपत्वेन विष्णोरियं वैष्णवी इति (सुशा. ४.३३)

वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४४०)

निर्यास० वंशरोचना (ध. २.५५)
-सेना-स्त्री., हरितालम् (र. १२.१०४)
वैसर्प-वि., विसर्पचिकित्सितोक्तम् (सुउ. २६.१४)
वैस्वर्य-न., रोग० विकृतस्वरत्वम्, विकृतस्वरः (चसू. ५.३०)
वि., विस्वरत्वोत्पादकम् (सुसू. ४५.२१०-२११)
वैहायस-न., अन्तरिक्षम् (चचि. १२.३१)
वोडिक-पु., कोशस्थवर्गे डल्हणेन निर्दिष्टः प्राणिविशेषः (ड. सुसू. ४६.१०८)
वोद्द-पु., वेष्टिकर्मकरः, परिवेष्टा (सुक. १.१७-१८)
वनस्पति० ऋषभः (रा. ५.१५७)
व्यक्त-वि., इन्द्रियग्राह्यम्, 'व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः' (चशा. १.६२) महदादि तत्त्वम् (चशा. १.६०)
-कर्मन्-वि., वायुः, प्रकटक्रियोऽव्यक्तो वायुः स्वकर्मोत्पादनेन व्यक्तो भवति तस्माद् व्यक्तकर्मा (सुनि. १.७)
-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णी (रा. ३.१२५) यूथिका (रा. १०.२५१)
-त्रिवर्ण-वि., व्यक्ताः स्फुटाः अक्ष्णोः रक्तशुक्लकृष्णवर्णाः यस्मिन् तद् (असंसू. ३.२६)
-रसता-स्त्री., रसनेन्द्रियग्राह्यमधुरादिरसता (सुसू. ४५.११)
-लक्षण-न., (परिव०) सुस्पष्टं चिह्नम् (सुशा.१.२१)
व्यक्ति-स्त्री., व्याधिव्यक्तिः (सुसू. २१.३६)
-दर्शक-वि., आकारदर्शकः (चक्र. चचि. २४.७३)
-व्यवसायार्थ-वि., पूर्वोक्तार्थवैशद्यहेतुकम् (चनि. १.४१)
व्यक्तीभाव-पु., अभिव्यक्तिः (चशा. ८.१९)
व्यग्र-वि., व्याकुलः (चसि. २.४)
व्यङ्ग-न., रोग० क्षुद्ररोगः, रक्तदोषजविकारेष्वेकः; क्रोधाऽऽयासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतो मुखमागत्य नीरुजं तनुकं श्यावं मण्डलं विसृजति अतस्तं व्यङ्गमाऽऽदिशेत् । (सुनि. १३.४५-४६) तस्याऽधिष्ठानं द्वितीया लोहिता नाम त्वक् (सुशा. ४.४) बहिर्मार्गजो व्याधिः (चसू. ११.४९)
व्यजन-न., तालवृन्तकम् (सुसू. ४५.१९)
व्यजनानिल-पु., तालवृन्तवायुः, तद्गुणाः-अयं शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नः (सुचि. २४.८२)
व्यञ्जन-न., भुज्यमानाऽन्नस्य रोचनार्थमार्द्रकलशुनादिना निर्मितं द्रव्यम् (र. ५.२२०-२२)
चिह्नम् (चसू. १८.५)
शरीरे व्यज्यमानं श्मश्रुस्तनादि (चशा. ४.१४)
-केशी-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५०)
व्यञ्जित-वि., प्रकटितम् (सुनि. ७.५-६)
व्यतिकर-पु., संयोगः मिश्रणम् (सुनि. १०.१२)
व्यतिक्रान्तपाक-वि., अतिशृतः, अतिपाचितः (चसु. २७.२७५)
व्यत्यास-पु., विरुद्धक्रमं, परिवर्तनम् क्रियापरिवर्तनम् (चचि. १५.१९६)
अमेलकः, समाहाराभावः (चचि. १९.९)
वैपरीत्यम् (सुशा. ६.२७)
व्यथन-न., वेदनाविशेषः (चनि. ८.६)
व्यथान्तक-पु., वनस्पति० कर्णिकारः (ध. १.२२१)
व्यथापूर्व-वि., व्यथात्पुरःसरः, यस्मिन् व्यथा भवति सः (चनि. १.३०)
व्यथितास्य-वि., व्यथितमुखः (सुशा. ४.६८-७९)
व्यध-पु., लक्षण० विद्धत्वम् (चसू. १७.२९) ताडनमिव मुद्गरादिना (अरु.) सूचीविद्धस्येव व्यथा (हे. अहसू. १२.४९)
व्यधन-न., वेधः तीक्ष्णाग्रशस्त्रेण छिद्रीकरणम् (सुचि. १.८) शल्यतन्त्रे उपक्रमविशेषः (चसू. ११.५५)
व्यधनीयप्रदेश-पु., व्यधनकर्मयोग्यः प्रदेशः (असंसू. ३६.१२)
व्यध्य-वि., व्यधनीयः, व्यधनकर्मार्हः (व्याधिः) (चचि. २५.५७)
व्यन्तर-पु., सर्प० दर्वीकरादीनां संकरात् स्त्रीपुंसमिश्रीभावात्समुत्पन्नः सर्पः (असंउ. ४१)
व्यपगतसंदेह-वि., निःसंदेहः संदेहरहितः (चसू. २९.७)
व्यपदेश-पु., निर्देशः मुख्यव्यवहारः (अहसू. ९.२)
व्यपरोपित-वि., रोपितमात्रः (चशा. ६.२६)
व्यभिचरण-न., एकं परित्यज्य अन्यस्य ग्रहणम् (चसू. ८.५)
व्यभिचारः, अनैकान्तिकः हेत्वाऽऽभासः (चवि., ८.४५)
व्यभ्र-वि., अनभ्रम्, मेघरहितम् (दिनम्) (सुचि. ६.४)
व्यम्ल-वि., विदग्धं पक्वापक्वम् (अहसू. २९.४८)
-ता-स्त्री., विदाहः (चचि.५.३७)
व्यवसाय-पु., निश्चयः (चवि. ८.४७)

प्रवृत्तिः (चवि. ४.८)
ज्ञानेन निर्धारणम् (सुचि. ३३.९)

व्यवसायिन्–वि., अयं विषमाऽवस्थास्वपि चिकित्सां कुर्वन्न मुह्यति । अन्ये उत्साहीति मन्यते (सुशा. ३४.१९-२०)

व्यवस्थित–वि., स्थिरम् (सुसू. ४०.३)

व्यवहार–पु., शब्दप्रयोगः (अहसू. ९.१५)

व्यवहारोपजीविन्–वि., व्यवहारं व्यवहारोपलभ्यं धनादि आलंब्य जीवन्, वृत्तिजीवी (चवि. ३.२०)

व्यवाय–पु., स्त्रीसेवा । विषयोपभोगः, मैथुनम् (सुचि. २६.३)

–शील–(परिव०) वि., व्यवायी, मैथुनोपसेवी (सुचि. २६.११)

–शोष–पु., रोग० शोषभेदः, तत्र लक्षणानि शुक्रक्षय-लिङ्गानि पाण्डुदेहत्वं प्रतिलोमं धातुक्षयश्च (सुउ. ४१.१७)

व्यवायिन्–वि., गुण० यत्सर्वं देहं व्याप्य पश्चात्पाकं याति तद् (सुउ. ४७.३)

व्यसन–न., व्याधिः । पीडा (चसू. ५.१००)
मरणम् (चचि. १५.२३४)
वस्त्रादीनां स्फुटनादिरूपो भ्रंशः (चइ. १२.२७-३०)
सर्पपिशाचाद्यभिघातः (चसू. ५.९७)
दुःखम् (सुसू. ३५.३७)

–सूचक–वि., संकटसूचकः (शब्दः) (चशा. १.११९)

व्यसनिन्–वि., द्यूतमद्यवेश्यादीनि व्यसनानि सन्ति यस्य सः (सुचि. ३०.४)
संकटप्राप्तः (चइ. १२.२१-२२)
अतिदुःखी (असंशा. १२.१३)

व्यस्त–वि., अन्यत्र गतम् (चइ. ३.५)
असमस्तम् (सुउ. १०.६)

–हनु–वि., विघटितमुखसंधिः (सुशा. १०.९)

व्याकरण–न., विवरणम् (सुशा. ४.१)

व्याकुल–परिव० वि., लक्षण० अस्वस्थचित्तः (सुसू. ३.५४)

व्याकुलित–वि., आवृतः (सुनि. १.८९)

व्याकृति–वि., विकृताकारम् (असंशा. १०.५)

व्याख्या–स्त्री., विवरणम् (सुसू.१.३९)

व्याख्यान–न., तन्त्रयुक्तिः व्याख्यानं नाम यत्सर्व-बुद्धयविषयं व्याक्रियते (चसि. १२.४३)

व्याघातक–पु., आरग्वधः (काखिल. १४)

व्याघ्र–पु., प्रसहजातीयमृगः (चसू. २७.३५) गुहा-शयेष्वेकः (सुसू. ४६.७२) तन्मांसगुणाः–मधुरं–उष्णं–स्निग्धं–लघु–दीपनं–बल्यं–वृष्यं रुच्यं वातपित्तघ्नं च (ध. ६.३९१)
वनस्पति० एरण्ड० रक्तैरण्डः (ध. १.२९६)
द्र० 'एरण्ड'

(व्याघ्री)–स्त्री., वनस्पति० कण्टकारी (अहसू. १०.३०; ध. १.९५)

–करज–पु., प्राणिजद्रव्य० नखी (चक्र. चचि. २६.१८४)

–चर्मन्–न., व्याघ्रचर्म (असंउ. ४)

–तल–न., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (ध. ३.६०)

–दंश–पु., हिंस्रपशुविशेषस्य व्याघ्रादेः दंशः (सुक. ७. ४३-४५)

–दल–पु., वनस्पति० एरण्डभेदः, रक्तैरण्डः (ध. १.२९६) द्र० 'एरण्ड'

–नख–पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५६)
वनस्पति० नखी (चचि. १२.७२)
भैषज्य० तद्गुणाः–तिक्तः कषाय उष्णः वर्ण्यः सौगन्ध्यदः कफ–वात–ग्रह–भूत–कच्छु कुष्ठ–व्रण-घ्नश्च (ध. ३.६०)

–पदी–स्त्री., वनस्पति० शार्दूलपदिका (इन्दुः असंउ. ४४)

–पाद–पु., वनस्पति० विकङ्कतः (ध. ५.४३)
वनस्पति० विकण्टकः (रा. ११.१९)

(–पादी)–स्त्री., वनस्पति० विकङ्कतः कण्टकारी (र. ११.९०)

–पादप्रजा–स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८६)

–पित्त–न., भैषज्य० विषहरद्रव्येष्वेकम् (असंसू. ८.२९)

–मुखयन्त्र–न., व्याघ्रमुखेन सदृशं यस्य मुखं तत् स्वस्तिकयन्त्र० (सुसू. ७.१०)

–वसा–स्त्री., भैषज्य० नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १६)

–विष–न., लक्षणानि व्यालविषवत् कण्डूनिस्तोदवै-वर्ण्यविदाहरागरुक्पाकादीनि भवन्ति (असंउ. ४६)

व्याघ्रायुध–न., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (ध. ३.६०)

व्याडि–पु., सप्तविंशख्यातिसांकेष्वन्यतमो रससिद्धि-प्रदायकः (र. १.३)

व्यात्तानन–वि., विवृताऽऽस्यम् (चचि. २८.१०२)

व्याधि–पु., रोग० विविधं दुःखम् आदधातीति दुःखः; कायवाङ्मानसी पीडा, पुरुषस्य दुःखाय संयोगो येषां ते दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते (सुसू. १.२३-२४;चनि. १.४)
दोषः (चक्र. चसि. १०.१८)
ज्वरः (चचि. ३.११)
वनस्पति० कुष्ठम् (ध. ३.४९)
–कर्शित–वि., व्याधिक्षीणः (अहसू. १४.८)
–काल–पु., भैषज्यकाल० (चचि. ३०.२९६-३१२)
–क्षमत्व–न., व्याधिसहत्वम् (चसू. २८.७)
–घात–पु., वनस्पति० आरग्वधः (अहसू. १५.४५)
कर्णिकारः (ध. १.२२१)
वानीरः (रा. ९.१७)
–घातक पु., वनस्पति० आरग्वधः (असंचि. १०)
–जन्मन्–न., रोगसंभवः (सुशा. १०. २८)
–ज्ञान–न., रोगज्ञानम् (कासंखि. ३.१६)
–त्रिक–न., व्याधित्रयम्, त्रिविधो व्याधिः, मृदुमध्यतीव्रभेदेन सौम्याऽऽग्नेयवायव्यभेदेन वा (चचि. २४.६८)
–निग्रह–पु., रोगनाशः, रोगप्रतिकारः (सुचि. ३८.१४)
–निर्घातकर–वि., व्याधिनाशकरम् (चचि. १(१)१३)
–प्रतिद्वन्द्व–वि. व्याधिप्रत्यनीकम् (चसू. ७.४४)
–बल–न., व्याधेर्बलम् (चसू. १३. ७७)
दोषबलं रोगबलं वा (सुसू. ३९.१०)
–भेद–पु., रोगप्रकारः (सुउ. ४०.१६२)
–मार्दव–न., व्याधेर्मृदुत्वम्, मृदुर्व्याधिः (अहसू. १४.१८)
–मुख–न., रोगकारणम् (असंसू. १३.३)
–मोक्ष–पु., व्याधिमुक्तिः (अहसू. २९.४३)
–रिपु–पु., वनस्पति० कर्णिकारः (रा. ९.३३६)
–रूप–न., रूप्यते लक्ष्यतेऽनेनेति रूपं लक्षणम्, तेन, रोगलक्षणम् (चवि. ७.५)
–लिङ्ग–न., व्याधिलक्षणम् (चनि. ८.४३)
–वश–पु., व्याधिबलम् व्याध्यनुरूपम् (सुशा. ८.८)
–विपरीत–वि., व्याधिविरुद्धः (असंसू. १२.७)
–विपर्यय–पु., व्याधिनाशः (अहसू. ८.२३)
–विभ्रम–पु., कोष्ठादिक्षोभः (सुचि. ३४.७)
–वेगसमुद्भ्रमित–वि., व्याधिबलेन अप्रकृतिस्थितः (चनि. ७.४)
–संकर–पु., व्याधिमेलकः (चनि. ८.२६-२९)
–संस्थान–न., व्याधेः लक्षणम्, आकृतिः वा (अहसू. १२.६९)
–समुत्थान–न., व्याधेः उद्भवः (चवि. ४.८)
–समुद्देशीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २४.१)
–समुद्भव–पु., व्याध्युत्पत्तिः (सुउ. ६१.१९,२१)
–समूह–पु., लक्षणसमूहः (चचि. ८.३२)
–सात्म्य–वि., उपशयात्मकम् (सुशा. १०.२०)
–हतमांस–न., व्याधिना मृतशरीरस्य मांसम् (सुसू. ४६.१२७)
–हन्–पु., वनस्पति० आरग्वधः (ध. १.२१९)
–हन्तृ–पु., वनस्पति० वाराही (रा. ७.१३६)
–हर–न., भेषजम् (चचि. १.३)
–हेतु–पु., रोगहेतुः (चनि. ८.२४)

व्याधित–पु., रोगी (सुसू. ३४.२१-२२)
–रूप–वि., व्याधितसदृशः (चवि. ७.३)
–रूपीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चवि. ७.१)

व्याध्यवस्था–स्त्री., व्याधेः सामान्यवस्था (अहसू. १.२४)

व्याध्युपलब्धि–स्त्री., रोगस्य ज्ञानम् (असंनि. १.७)

व्याध्युपसृष्ट–पु., व्याधियुक्तः, रोगी (सुसू. ३४.१५)

व्यान–पु., वायुः, व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः शीघ्रतरगतिप्रसारणाऽऽकुञ्चनोत्क्षेपाऽवक्षेपनिमिषोन्मेषणजृम्भणाऽन्नस्वादनस्रोतोविशोधनस्वेदाऽसृक्स्रावणाऽऽदिक्रियो योनौ च शुक्रप्रतिपादनो विभज्य चान्नस्य किट्टात्सारं तेन क्रमशो धातूंस्तर्पयति (असंसू. २०.४; चचि. १५.३६; चचि. २८.९; सुनि. १.१७)
–प्रकोप–पु., अतिगमनध्यानक्रीडाविषमचेष्टितविरोधिरूक्षभीहर्षविषादाद्यैः प्रकुपितो व्यानः पुंस्त्वोत्साहबलानां भ्रंशं शोफचित्तोत्प्लवज्वरसर्वाऽङ्गरोगनिस्तोदरोमहर्षाङ्गसुप्तत्वकुष्ठविसर्पादीन् सर्वाङ्गव्याधींश्च करोति (असंनि.१६.२५-२६)

व्यापद्–स्त्री., अन्यथाऽऽपत्तिः (सुसू. १५.२७)
संकटम् (सुचि. ३४.१)
व्याधिः (चसू. १५.३)
विकृतिः, विकारः (चसू. १३.७)

व्यापन्न–वि., दोषाऽऽक्रान्तम् (सुसू. ४५.११)
विकृतम् (सुनि. १.४; चसू. १५.३)

व्यापाद–पु., प्राण्युपघातचिन्ता परानिष्टचिन्तनम् (अहसू, २.२२)

व्यापादन–(परिव०) न., हिंसनम् (सुनि. ७.४४; सुसू. १२.१६)

व्यापार–पु., कर्म (असंनि. १५.६)

व्यापिन्–न., व्यापकः (अहसू. १.७)

व्याप्ति–स्त्री., व्यापकता (अहसू. ६.५२.८-७)
सर्वस्रोतोऽनुसरणम् (हे. ८. ५२)

व्याप्य–न., वनस्पति० कुष्ठम् (असंसू. ३.१६)

व्याभुग्न–वि., वक्रम् (असंशा. ४.३८)

व्याम–पु., तिर्यग्विस्तृतबाहुद्वयप्रमाणम् (चसू. १४.४३)

व्यामार्धमात्रा–स्त्री., अर्धव्यामप्रमाणम् (सुचि. ३२.७)

व्यामिश्र–वि.. संमिश्रम् (अहसू. ६.५४)

व्यायच्छमान–वि., व्यवायं आचरतः (चनि. ६.८)

व्यायाम–पु., कर्म० शरीराऽऽयासजननं कर्म, शरीरचेष्टा (अहसू. २.१०) स्थैर्यकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) अनभिस्वेदः (सुचि. ३२.१५) व्यायामाच्छरीरस्य सम्यक्पुष्टिः, सुघटितत्वं, कान्तिः, अग्निदीप्तता, अनाऽऽलस्यं, स्थिरत्वं लाघवं, मृजा–(शुद्धिः), श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता, आरोग्यञ्चोपजायते । व्यायामसदृशं स्थौल्याऽपकर्षणं किंचिन्नास्ति । व्यायामिनोऽरिभयं नास्ति । व्यायामी सहसा जरां न प्राप्नोति । तस्य मांसं स्थिरीभवति । व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य व्याधयो न भवन्ति । वयोरूपगुणैर्हीनाऽपि पुरुषाः व्यायामेन सुदर्शना भवन्ति । व्यायामिनो विरुद्धं भोजनं विदग्धमविदग्धं वाऽन्नं निर्दोषं पच्यते । बलिनां स्निग्धभोजिनां च व्यायामः सदा पथ्यो भवति । व्यायामादग्निदीप्तौ सत्यां सर्वरोगोपशमः (सुचि. २४.३८-४५) अतिव्यायामजा रोगाः–क्षयस्तृष्णाऽरुचिश्छर्दिः रक्तपित्तं भ्रमः क्लमः कासः शोषः ज्वरः श्वासश्च (सुचि. २४.४९-५०) वर्षाकाले मृदुव्यायाममाचरेदित्युक्तम् । स च शरीरक्लेशदोषशोषाऽर्थं वह्निसंधुक्षणार्थं च (सुउ. ६४.६-१०)

–**कर्मन्**–न., कर्म० धनुराकर्षणनियुद्धप्रभृतिः (सुउ. ५०.४)

–**नित्य**–वि., व्यायामकर्म नित्यं यस्य सः नित्यव्यायामी (चसू. १३.५२)

–**नियम**–पु., नित्यव्यायामः । स्निग्धभोजिनां बलिनां पुरुषाणां कृते व्यायामस्तु सदैव हितकरः. आत्महितैषिभिर्जनैः सर्वेष्वृतुष्वहरहः स्वबलार्धेन व्यायामः कर्तव्योऽन्यथा स एव व्यायामो मनुजं हन्यात्, यावत्कालपर्यन्तं हृदि स्थितो वायुर्वक्त्रतां न प्रपद्यते तावत्कालपर्यन्तमेव व्यायामः करणीयः, 'हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते । व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम् ॥' वयोबलशरीरकालाशनदेशाऽनुसारेणैव व्यायामः कर्तव्योऽन्यथा स एव व्यायामः व्याधिजनकः स्यात् (सुचि. २४.४५-४९)

–**शक्ति**–स्त्री., शरीराऽऽयासजननं कर्म व्यायामस्तत्करणे सामर्थ्यम् (चवि. ८.१२१)

–**शोष**–पु., शोषभेदः, तल्लक्षणानि–व्यायामशोषी स्रस्ताङ्गः, संभृष्टपरुषच्छविः, प्रसुप्तगात्राऽवयवः, शुष्कक्लोमगलाऽननः, पीतरक्ताऽसिताऽरुणच्छर्दिः, संतप्तवक्षा अत्यर्थदूयनात्परिताम्यन्दुर्गन्धवदनोच्छ्वासः भिन्नवर्णस्वरश्च स्यात् (सुउ. ४१.२२)

–**सात्म्य**–वि., व्यायामेन सात्म्यम् (सुसू. ३५.३९)

व्यायामायोग्य–वि., व्यायामं कर्तुमयोग्यः, यथा–रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षयाऽऽतुरो भुक्तवान्व्यवायक्षीणो भ्रमाऽऽर्तश्च (सुचि. २४.५०-५१)

व्यायोजिम–पु., बन्ध० पञ्चदशकर्णबन्धाकृतिष्वेकः स च स्थूलाणुसमविषमपालिः (सुसू. १६.१०)

व्याल–पु., हिंस्रपशुः (चचि. २३.१७६) यथा शृगालाऽश्वतराऽश्वऋक्षद्वीपिव्याघ्रवृकादिर्दंष्ट्राप्रहारिणः (असंउ. ४६)
सर्पः (ड. सुउ. ६२.१७)
वनस्पति० चित्रकः (धनि. २.८०)
क्षीरविष० (असंउ. ४०)

–**खड्ग**–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रानि. १२.१११)

–**गन्धा**–स्त्री., वनस्पति० नाकुली (रानि. ७.१५३)

–**जिह्वा**–स्त्री., वनस्पति० बला (रानि. ४.४३२)

–**दंश**–पु., व्यालादीनां दंशनम्, तल्लक्षणानि–हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाः (चचि. २३.१७६)

–**दंष्ट्र**–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (धनि. १.१०३)

–**दंष्ट्रक**–पु., व्यालदंष्ट्रः (धनि. १.१०३)

–**नख**–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रानि. १२.१११)

–**पत्रा**–स्त्री., वनस्पति० उर्वारुः (धनि. १.१७६)

–**पाणिज**–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रानि. १२.१११)

–**बल**–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रानि. १२.१११)

–**विष**–न., हिंस्रपशूनां विषम्, एतेन कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमाः विदाहरागरुक्पाकाः शोफग्रन्थिविकुञ्चनं दंशाऽवदरणं स्फोटाः

कर्णिका मण्डलानि च भवन्ति। निर्विषे दंशे एतद्विपरीतं लिङ्गं नाम कण्डूनिस्तोदाद्यभावः (असंउ. ४६)

व्यालाचार्य–पु., रसरत्नसमुच्चयकृदुद्दिष्टानामन्यतमः प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९-५३)

व्यालायुध–पु., भैषज्य० व्याघ्रनखम् (रानि. १२.१११)

व्यालीढ–न., सर्पदंशभेदः, अयं निर्विषो भवति (असंउ. ४१)

व्यालुप्त–न., सर्पदंशभेदः, अयं सविषः (असंउ. ४१)

व्यावर्तक–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (धनि. ४.५)

व्यावर्तन–न., यन्त्रकर्म० (अहसू. २५.४१)

व्याविग्न–वि., उद्विग्नः (सुउ. ६०.१५)

व्याविद्ध–वि., वक्रम् (सुउ. ७.१८-१९)

व्यावृत्ति–स्त्री., उद्वृत्तिः यथा चक्षुषोः (सुचि. ३४.१२)

व्यास–पु., विस्तारः (चसू. ३०.१८)

–**योगिन्**–वि., अमेलकयोगिन् (चसू. १३.२७)

व्याहन्यमान–वि., अवरुध्यमानः (सुउ. ५५.४)

व्याहार–पु., उक्तिः (असंशा. ८.१६)

व्याहृति–स्त्री., उच्चारणम्; यथा भूर्भुवःस्वरादिः (काजातिसूत्रीय. ८)

व्युपद्रव–वि., विगताः उपद्रवा यस्य सः, उपद्रवरहितः (सुचि. २.५५)

व्युषित–वि,, विशेषेणोषितम् (सुसू. ४६.४७५-७७; अहसू. ५.१८)

रात्रिमतिक्रान्तम् (चक. १.१४)

व्युष्टा–वि., परिसमाप्ता (रात्रिः) (चवि. ७.१६)

व्युष्टाजीर्ण–न., रोग० प्रभातकालिकमजीर्णम् (काखिल. ५.६१)

व्यूढ–वि., विशालम् (सुचि. ३८.३)

(**व्यूढा**)–वि., शोभनोन्नता (शय्या) (सुचि. ३८.३)

व्यूह–पु., समूहः (चवि. ६.११)

व्यूहन–न.. (मांसादीनां) यथास्थानं स्थापनम् (अहसू. २५.३१)

छित्त्वोत्तुण्डितस्योद्धरणार्थमूर्ध्वीकरणम् (ड. सुसू. ७.१४)

व्योमन्–न., महाभूत० आकाशम् (सुशा. १.४)

खनिज० अभ्रकम् (रानि. १३. २)

(**ᵒव्योम**)–**वल्लिका**–स्त्री., वनस्पति० खवल्लीः (रापरि. ३.१९)

व्योमोदक–न., भैषज्य० दिव्योदकम् (रानि. १४.३२०)

व्योष–पु., न., त्रिकटु यद्वा शुण्ठीमरीचपिप्पल्यः नागरमरीचपिप्पल्यः (चसू. १३.८४; ध. ७.६)

–**गर्भ**–वि, व्योषः गर्भे यस्य तत् (असंसू. २५.७४)

व्रण–पु., वृणोतीति व्रणः अथवा रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यतीति व्रणः (सुसू. २१.४०) द्वौ व्रणौ भवतः–शारीर आगन्तुश्च। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः; आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराऽग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषुपरशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः। सर्वस्मिन्नेवाऽऽगन्तुव्रणे तत्कालमेव प्रसृतस्य क्षतोष्मणः उपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारणविधिविशेषः सन्धानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद्विकारणोत्थानप्रयोजनम्, उत्तरकालं तु दोषोपक्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः। दोषोपक्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः, प्रसरणसामर्थ्यात् यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे; शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके। तस्य लक्षणं द्विविधं–सामान्यं, वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं लक्षणं रुक्स्वरूपम् 'व्रण' गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषरूपम्। तत्र वातात् श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति। पित्तात् क्षिप्रजः पीतनीलाभः किंशुकोदकाऽऽमोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति। कफात् प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालाऽवततः कठिनः पाण्डुवभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति। रक्तात् प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति। वातपित्ताभ्यां तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति। वातश्लेष्मभ्यां कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाल्पस्रावी चेति। वातशोणिताभ्यां रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्ताऽरुणाभस्तद्वर्णाऽऽस्रावी चेति। पित्तशोणिताभ्यां घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिर्मृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति। श्लेष्मशोणिताभ्यां रक्तो गुरुः, स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरो सरक्तपाण्डुस्रावी चेति। वातपित्तशोणितेभ्यः स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः

पीतस्तनुरक्तस्रावी चेति। वातश्लेष्मशोणितेभ्यः कण्डूस्फुरणचुमचुमायमानप्रायः पाण्डुघनरक्तास्रावी चेति। पित्तश्लेष्मशोणितेभ्यः दाहपाकरागकण्डूप्रायः पाण्डुघनरक्तास्रावी चेति। पवनपित्तकफेभ्यः त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः। पवनपित्तकफशोणितेभ्यः निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूस्रावबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतश्च। जिह्वातलाभः सुप्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति। व्रणवर्णाः- भस्मकपोताऽस्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य; नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः पिङ्गलः कपिल इति रक्तपित्तसमुत्थयोः; श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य; सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति (सुसू. २२.१२) दुष्टव्रणलक्षणानि-अतिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूर्णः पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणिताऽऽस्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति (सुसू. २२.७) व्रणारिष्टानि-मुमूर्षूणां व्रणाः मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकगन्धाः श्वाजिमूषिकध्वाङ्क्षपूतिवल्लूरमत्कुणगन्धाः पङ्कगन्धाश्च स्मृताः। पित्तवर्णे सति पित्तवेदनाभूतानां दाहादीनाम् अभावश्चेत्तद् वैकृतं वर्णस्य ज्ञेयम्; यः कफनिमित्तः कण्डूमान् स्थिरः श्वेतः स्निग्धस्तस्य दाहरुजे वर्णवैकृतम्। यः वातजः कृष्णः तनुस्रावी मर्मतापी किन्तु स्वल्पमपि रुजं न करोति, तं परिवर्जयेत्। ये व्रणाः क्ष्वेडन्ति ज्वलन्ति, घुर्घुरायन्ते, त्वङ्मांसस्थाश्च सशब्दं पवनं विसृजन्ति; ये च मर्मस्वसंभूता अत्यर्थं वेदनाः जनयन्ति, ते ते गर्हिताः। ये व्रणाः अन्तः अत्यर्थं दह्यन्ते, बहिःशीताश्च भवन्ति तथा ये बहिरत्यर्थं दह्यन्ते अन्तश्च शीतलाः भवन्ति, तान् परिवर्जयेत्। येषु व्रणेषु ध्वजपताकादण्डाः शोभन्ते प्रासादाकृतिश्च प्रतिभाति तथा ये चूर्णावकीर्णा इव भान्ति, तान् परिवर्जयेत्। येषां मर्मसु व्रणाः प्रवृद्धपूयरुधिरास्तथा ये प्राणमांसक्षयश्वासकासाऽरोचकपीडिताः सन्ति तान् परिवर्जयेत्। ये व्रणाः सम्यगारब्धाः क्रियाभिर्न सिध्यन्ति, तानपि वर्जयेत् (सुसू. २८.१०-२१) शुद्धव्रणलक्षणानि- त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः, समः, पिडकी, अवेदनः निरास्रावश्च (सुसू. २३.१८) रोहद्व्रणलक्षणानि- यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः कपोतवर्णप्रतिभाः स्थिराश्च पिटिकावन्तः स रोहतीति आदिशेत् (सुसू. २३.१९) सम्यग्रूढव्रणलक्षणानि- यं समतलं त्वक्वर्णं रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं, तं व्रणं सम्यग्रूढमिति विद्यात् (सुसू. २३.२०)

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा- अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधु सर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति। तेषु कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनमिति शोधनरोपणानि, तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः; शोणिताऽऽस्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं चोक्तानि, स्नेहस्वेदनवमनविरेचनबस्त्युत्तरबस्तिशिरोविरेचननस्यधूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः; यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यते (सुचि. १.१-९) कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनां च व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति (असंउ. २९) चरके विंशतिर्व्रणाः- कृत्योऽकृत्यो-दुष्टोऽदुष्टो-मर्मस्थितोऽमर्मस्थितः- संवृतोऽसंवृतो-दारुणोऽदारुणः- स्राव्यस्रावी-सविषो-निर्विषो-विषमस्थित समस्थित उत्सङ्ग्यनुत्सङ्ग्युत्सन्नोऽवसन्नः इति (चचि. २५.२०-२१) शुध्दव्रणलक्षणम्- नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावोऽल्पवेदनायुक्तो नोत्सन्नो न चोत्संगी रोप्यश्चेति (चचि. २५.८६) अशुद्धव्रणलक्षणम्-स पूतिगन्धो विवर्णो बहुस्रावो महारुक्चेति (चचि. २५.८३) तत्र श्यावः स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मंदस्रावस्तीव्रवेदनायुक्तः व्रणो मारुतसंभवः (चचि. २५.११) तृष्णा-मोहज्वरस्वेददाहदुष्टयवदारणयुक्तः पूतिस्रावगन्धश्च व्रणः पित्तसम्भवः (चचि. २५.१३) बहुपिच्छो

गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः पाण्डुवर्णोऽल्पक्लेदश्चिरकारी व्रणः कफसम्भवः (चचि. २५.१५) द्वादशप्रदुष्टा व्रणाः–श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरो नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिको रोप्यः कुम्भीमुखेश्चेति (चचि. २५.२४-२५) व्रणोपद्रवाः –विसर्पः पक्षघातः सिरास्तम्भोऽपतानको मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः कासश्छर्दिरतीसारे। हिक्का श्वासो वेपथुश्चेति (चचि. २५.२९-३१) षट्त्रिंशद् व्रणोपक्रमाः– 'शोफघ्नं षड्विधं शस्त्रकर्म अवपीडनं निर्वापणं सन्धानं स्वेदनं शमनमेषणमिति, शोधनौ रोपणौ कषायौ सप्रलेपनौ, तद्गुणे द्वे तैले, छादने पत्रं, बन्धने पत्रं, भोज्यमुत्सादनं सावसादनो दाहो द्विविधः, काठिन्यमार्दवकरे शुभे धूपनालेपने व्रणावचूर्णनं वर्ण्यरोपणं लोमरोहणं चेति (चचि. २५. ४०-४३) सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः व्रणगन्धाः प्रकीर्तिताः (चचि., २५.२७)

–केतु–स्त्री., वनस्पति० दुग्धफेनी (रा. ५.३४)

–कोविद–वि., व्रणविद्वान्, व्रणज्ञः (सुसू. १८.३५)

–गन्धज्ञ–पु., यो व्रणस्य गन्धं जानाति सः (चचि. २५.२७)

–ग्रन्थि–स्त्री., व्रणयुक्तो ग्रन्थिः (सुसू. २३.८)

–घ्री–स्त्री., कन्दगुडूची, कुमारी (र. ११.३७,३९)

–चिन्तक–पु., व्रणचिकित्सकः, शस्त्रकर्मज्ञः (चचि. २५.३१)

–दोष–पु., पूयः (सुसू. २७.५)

–धूपन–पु., व्रणस्य धूपेनाऽनुयोजनम् षष्ठ्युपक्रमाणामेकतमः (सुचि. १.८)

–धूम–पु., व्रणार्थं धूपः; शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणधूपं व्रणमानयेत्। तस्य गुणाः–धूपनात् वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्चेति (सुचि. ४०.१९)

–नेत्र–न., व्रणयन्त्रम्, तदष्टाङ्गुलं प्रकीर्तितम् (सुचि. ३५.११)

–प्रच्छादन–न., व्रणच्छादनम् (चचि. २५.९५)

–प्रश्नाध्याय–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २१.१)

–यन्त्र–न., नाडीयन्त्र० तच्च व्रणच्छिद्रायामपरिणाहम् (सुसू. ७.१३)

–रोपणकषाय–पु., व्रणस्य रोपणं यः करोति सः कषायः; यथा न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसकरवीरार्ककुटजसिद्धाः कषाया व्रणरोपणाः (चचि. २५.८७)

–रोपणतैल–न., व्रणरोपणार्थं तैलम्, चन्दनं पद्मकं रोध्रमुत्पलं प्रियङ्गुर्हरिद्रा मधुकं पयः इत्येतदष्टद्रव्यसिद्धं तैलं व्रणरोपणं ज्ञेयम् (सुचि. २८.३८-३९)

–वर्ण–पु., व्रणस्य वर्णः; तद्यथा भस्मकपोतास्थिवर्णः पुरुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य; नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः कपिलः पिङ्गल इति रक्तपित्तसमुत्थयोः; श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य; सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति वर्णज्ञानं विधातव्यम् (सुसू. २२.१२)

–वर्त्मन्–न., व्रणमुखम् (सुसू. १८.२१) व्रणगताश्चत्वारः पार्श्वाः वाच्याः (ड. सुचि. १.३९)

–वस्तु–न., व्रणाधिष्ठानम्; अष्टौ व्रणवस्तूनि त्वङ्मांसं सिरा स्नायु अस्थि सन्धिः कोष्ठो मर्म चेति (सुसू. २२.३) व्रणचिह्नम् (ड. सुसू. २१.४०)

–शुद्धि–स्त्री., व्रणस्य दोषदुष्टिनिवृत्तिः (सुसू. १८.६)

–शोधन–वि., व्रणशुद्धिकरः (चचि. २५.८५)

–शोफ–पु., व्रणस्य पूर्वरूपम् (चचि. २५.४४)

–शोष–पु., रोग० शोषभेदः रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथाऽहारयन्त्रणात् व्रणशोषः भवति। अयमसाध्यतमः (सुउ. ४१.२३)

–शोषिन्–वि., व्रणनिमित्तं क्षीणः (सुचि. १.३०)

–संनिवेश–पु., व्रणाऽवस्थानम् (सुसू. २२.३)

–संरोह–पु., लक्षण० व्रणरोपणम् (असंउ. २९)

–संस्थान–न., व्रणाऽऽकृतिः (असंसू. ३७.१३)

–स्थान–न., व्रणवस्तु (चचि. २५.२६)

–स्राव–पु., व्रणस्य स्रावः; चतुर्दश व्रणस्रावाः, लसीकाजलपूयाऽसृग्धारिदारुणपिञ्जराः, कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसिताऽसिता इति रूपैः समुद्दिष्टाः (चचि. २५.२८-२९)

–हारक–पु., वनस्पति० भूमिकदम्बः (रा. ९.१७४)

–हृत्–पु., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१८)

व्रणाकृतिसमास–पु., दोषजव्रणाऽऽकृतीनां संक्षेपः, ताश्चत्वार आयताश्चतुरस्रा वृत्तास्त्रिपुटकाः इति (सुसू. २२.५)

व्रणान्त–पु., व्रणैकदेशः (सुचि. ३.५३)

वनस्पति० बोलम् (रा. ६.११७)

व्रणायतन–न., आयतनं नाम स्थानम्, अङ्गप्रत्यङ्गादिकं व्रणस्थानम् (सुसू. १८.२२) द्र० ' व्रणवस्तु '.

व्रणायाम–पु., रोग० वातव्याधिविशेषः (असंनि. १५.२९)

व्रणारि–पु., वनस्पति० अगस्त्यः (रा. १०.१३)

व्रणितोपासनीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. १९.१)

व्रण्य–वि., व्रणेभ्यः हितः, यथा पटोलादिगणः (सुसू. ३८.३४)

व्रत–न., शास्त्रोदितविधिना भोजनादि नियमादि (ड. सुउ. ६०.२१)

व्रीहि–पु., धान्य० तद्गुणाः–मधुरोऽम्लपाकः पित्तकरो गुरुर्बहुमूत्रपुरीषोष्मा च (चसू. २७.१५) तद्भेदाः–यथा कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावाक्षकत्वरितकुक्कुटाण्डकपारावतकपाटलाप्रभृतयो व्रीहयः (सुसू. ४६.१२) सुश्रुते तद्गुणाः–वीर्यतो अहिमः कषायः अल्पाभिष्यन्दी बद्धवर्चाः षष्टिकगुणतुल्यश्च (सुसू. ४६.१३) मान० यवः (ड. सुशा. ४.४)

–**धान्यक**–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१००)

–**पर्णिका**–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११४)

–**प्रमाण**–न., मान० यवः (असंशा. ७.३४)

–**मात्र**–वि., यवमात्रम् (सुशा. ८.९)

–**मुख**–न., शस्त्र० व्यधनोपयोगि शस्त्रम् षडङ्गुलायतं द्व्यङ्गुलं वृन्तं चतुरङ्गुलं फलं व्रीहिविस्तारं तनुसंगू–(मू) ढकण्टकं च मुखम् (सुसू. ८.४; ड.) अमांसलेषु स्थानेषु सिराव्यधनार्थमुपयुज्यते (सुशा. ८.९)

–**वक्त्र**–न., व्रीहिमुखम् (अहसू. २६.११)

–**श्रेष्ठा**–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.७८)

व्रीहिक–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१००)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

श

शक–पु., तन्नामकः लोकः (चचि. ३०.३१६)

शकट–पु., वनस्पति० तिनिशः (रापरि. ९.२४)

शकटाक्ष–पु., वनस्पति० धवः (ध. परि ५.४)

शकल–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०)

(शकली)–स्त्री., लघ्वामलकफलम् (र. ३०.५८-५९)

शकलिन्–पु., मत्स्य० (चसू. २६.८३) नयनाऽऽमये तस्य स्पर्श उपयुक्तः (काखिल. १३.७५) निर्विषसर्प० (असंउ. ४१)

शकुन–पु., पक्षि० वामो दक्षिणो वा शुभसूचकोऽयम् (सुसू. २९.३३)
पु., न., शुभाशुभविज्ञानसाधनम् (सुसू. २९.३) पक्षिविशेषप्रशस्तवाक्यादि (ड. सुसू. १०.४)

(शकुनी)–स्त्री., बालग्रह० नवग्रहेष्वेकः (सुउ. २७.१०) क्षीरदुष्टिहेतुकारको ग्रहः (कासू. १९)

शकुनाहृत–पु., धान्य० शालिभेदः द्र० ' शालि ' (चसू. २७.८; सुसू. २०.५)

शकुनि–स्त्री., स्त्रीशरीरग्रह० (असंउ. ३) रेवतीग्रह-गृहीतरूपम् (का रेवतीकल्प. ७) तल्लक्षणानि-स्वस्ताङ्गत्वमतिसारो जिह्वातालुगले व्रणाश्च भवन्ति। दाहादियुक्ताः स्फोटाः सन्धिषु पुनः पुनर्निशि स्युस्ते चाह्नि प्रविलीयन्ते। मुखपाको गुदपाको भयं, शकुनिगन्धत्वं, ज्वरः (असंउ. ३)

शकुनी–स्त्री., (सुउ. २७.१०)
–प्रतिषेध–पु., अध्याय० (सुउ. ३०.१)

शकुन्द–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०. १)

शकुलाक्षिका–स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (ध.४.१४५)

शकुलाक्षी–स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (रा. ८.२३५)

शकुलादनी–स्त्री.,वनस्पति० कटुका(चसू.४.९;ध.१.३८)
महाराष्ट्री (रापरि. ४.१२)
जलपिप्पली (ध. ४.६४)
शाक० तद्गुणाः–तिक्ता, कटुविपाका, शीता, कफपित्तहरा च (चसू. २७.९६)

शकुलीमत्स्य–पु., मत्स्य० (सुक.३.५)

शकृत्–न., मलः, पुरीषम् (सुचि. ७.२१) अधोनिर्दिष्टप्राणिजपुरीषाणि औषधार्थमुपयुज्यन्ते–गोमहिषीगजाश्वाजाविखरोष्ट्राः, विष्किरमृग-महामृगजलचारिप्रसहाः (असंसू. ६.१४५-४७) दक्षादिपक्षिणः (अहसू. ३०.१७) छागः (सुउ. ४४.२२)

(शकृद्)–ग्रह–पु., लक्षण० विड्ग्रहः, पुरीषग्रहः (अहसू. १८.१०)
–दर्शन–न., पुरीषदर्शनम् (अहसू. २८.९)
–भेद–पु., लक्षण० विड्भेदो द्रवपुरीषत्वम् (चइ. १० .२०; सुउ. ५४.११)
–रस–पु., पुरीषोत्थरसः (चचि. १७.११६; सुउ. ३९.२४०) गोगजाऽश्वाऽव्यजानां शकृद्रसा यक्ष्मनिवारकाः (सुउ. ४१.४४)
–रसघृत–न., सिद्धघृत० यक्ष्मनिवारणम् (सुउ. ४१.४४-४६)
–वमन–न., लक्षण० पुरीषच्छर्दिः (सुउ. ५६.२४)
–वाहिन्–वि., पुरीषवहम् (स्रोतः) (असंशा. ६.४३) द्र० ' स्रोतस् '
–विष–न., पुरीषविषम्, चिपिटपिच्चिटककषाय-वासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृद्विषा भवन्ति (सुक. ३.५) द्र० ' विष '

(शकृन्)–मार्ग–पु., शारीर० गुदम् (ड. सुउ. ५८.७)

शक्ति–स्त्री., उत्साहशक्तिः, सामर्थ्यम् (सुसू. २.३)
आयुध० (सुसू. २८.१८-१९)
–विनिश्चय–पु., आतुरशक्तेर्विनिश्चयः (सुसू. ४३.१०)

शक्तु–पु., भृष्टानां निस्तुषयवानां चूर्णम्, सक्तवः, (हे.) तद्गुणाः–बृंहणा वृष्यास्तृष्णापित्तकफापहाः सद्यो-बलकरा भेदिनः पवनापहाश्च (सुसू. ४६.४११) शोफपाचकं द्रव्यम् (सुसू. ३७.९) सक्तूनां लेह आशु जीर्यते (सुसू. ४६.४११-१२)

शक्त्युत्कर्ष–पु., सामर्थ्योत्कर्षः (अहसू. ९.१५)

शक्य–वि., साध्यः (चचि. १७.१४९)

शक्र–पु., इन्द्रः (चसू. १.५)
वनस्पति० कुटजः (चक. ५.४; रा. ९.१८)
–गोप–पु., कीट० इन्द्रवधूः, इन्द्रगोपकः (सुसू. ६.३२)

–नील–न., रत्न० इन्द्रनीलम् (र. ४.५१-५३)
–पादप–पु., वनस्पति० कुटजः (रा. ९.१८)
–बीज–न., वनस्पति० इन्द्रयवः (रा. ९.२१)
–मातृ–स्त्री., वनस्पति० भार्ङ्गी (ध. १.६८)
–यव–पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (ड.सुउ. ३९.२२७)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७३)
–सदन–न.. इन्द्रगृहम् (सुचि. २९.१७)
–सलोकता–स्त्री., मरणोत्तरम् इन्द्रसालोक्यम्, इन्द्रसमानलोकता (सुसू. १.४१)

शक्राह्व–पु., वनस्पति० इन्द्रयवः (ध. २.१५)

शक्कु–वि., प्रियवाक् (असंसू. २.४)

शङ्कर–वि., सुखकरम्, कल्याणकरम् (चचि. २६.९६; सुचि. २४.७६)

(शङ्करी)–वि.. सुखकरी (इन्दु. असंउ. ४३)
स्त्री., वनस्पति० शमी (ध. ५.९५)

शङ्करादि–पु., वनस्पति० श्वेतार्कः द्र० 'अर्क' (रा. १०.२९)

शङ्काविष–न., शङ्कया यस्य बाधा भवति तत्, अत्र निर्विषदंशेनाऽपि शङ्कया विषलक्षणानि भवन्ति। ज्वरच्छर्दिमूर्छादाहग्लानिमोहाऽतिसारा अपि वा भवेयुः (चचि. २३.२२१-२२)

शङ्कित–पु., वनस्पति० चोरकः (ध. ३.७१)

शङ्कु–पु., तीक्ष्णाऽग्रो लोहादिमयःशस्त्रविशेषः (चनि.३.७) यन्त्र० आकुञ्चिताऽऽकारो बडिशविशेषः (सुचि. १५.१२)
–फला–स्त्री., वनस्पति० शमी (ध. ५.९५)
–फलिका–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा.८.१५२)
–मुखी–स्त्री., निर्विषजलूका० सा च यकृद्वर्णा, शीघ्रपायिनी, दीर्घतीक्ष्णमुखी च (सुसू. १३.१२) द्र० 'जलौका'
–स्फोटन–न., लक्षण० कीलकाहननवत्तीव्रवेदना (सुउ. ४२.८१)

शङ्ख–पु., भैषज्य० जलस्थकीटशरीरघटकं द्रव्यम् (चचि.३.२६१) तद्गुणाः–स्वादुः, (कटुः) (रा) कटुविपाकी, उष्णः, (शीतः)(रा)चक्षुष्यः, पुष्टिवीर्यबलप्रदः, पित्तघ्नः, परिणामशूलरक्तपित्तगुल्मशूलश्वासविषनाशकः (ध. ३.१७९; रा. १३.२४५) रक्तसंग्राहकः (चचि. १९.८२) रक्तपित्ते दाहपिपासानाशकः (चचि. ४.७३) विसर्पे प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चचि. २१.८२) पाण्डुरोगनाशकः (सुउ.४४.२१) नखम् (ध. ३.५८)
जलचरकीटक० (चसू. २७.४०) वारिशयपदार्थः (सुउ. १२.२९-३०)
शारीर० कर्णसमीपस्थाऽस्थिविशेषः (चशा. ७.६; भ्रूकर्णमध्यम् (इन्दु. असंउ. २७)
दशप्राणायतनेष्वेकम् (चसू. २९.३) मर्म० (असंशा. ७.२३) द्र० 'मर्मन्'
–कपाल–पु., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक.४.३४-(१))
–केशान्तसन्धि–पु., शङ्खेन केशान्तेन च समं सन्धिः (चक्र. चचि. ९.७७)
–चूर्ण–न., सुदग्धशङ्खचूर्णम् (ड. सुउ. ३१.६)
–द्राविन्–पु., वनस्पति० मधुजम्बीरः (ध. ५.१८) अम्लवेतसः (रा. ६.१४८)
–नक–पु., भैषज्य० क्षुद्रशङ्खः, शङ्खनकः (ड. सुसू. ४६.१०८)
–नाभि–पु., भैषज्य० शङ्खस्य नाभिः (अहसू.३०.१६) वनस्पति० अस्य लेपो वेदनाशान्त्यर्थं श्वित्रे उपयुक्तः (असंचि. २२)
सुगन्धिद्रव्य० अर्जुनाह्वनेत्ररोगे माक्षिकेण युक्तेयमञ्जनोपयोगिनी (असंउ. १४)
क्षारः (ड. सुसू. ११.११)
–नाभ्याकृति–वि., अल्पमुखाऽन्तर्मद्दासुषिरा (योनिः) (सुशा. ५.४३)
–पुष्पिका–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)
शङ्खपुष्पी (र. ११.५४-५७)
श्वेतपुष्पा (रा ११.५२-५७)
–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० (चचि. १०.६२)
तद्गुणाः–कटुस्तिक्ता; (कषाया) (सु.); (उष्णा) (ध.सु.); (शीता) (रा.); मेध्या, रसायनी, स्वर्या; सरा, वृष्या, स्मृतिकान्तिबलाग्निदा (सु.); पित्तकफघ्नी, कासविषाऽपस्मारभूतग्रहनाशिनी, मानसरोगहृच्च (ध. ४.११३; रा. ३.१७२; सुउ. ५२.४२)
हिं.—शङ्खिनी.
म.—शङ्खपुष्पी.
बं.—डङ्खनी.
हपुषा (सुउ.५२.४२)
चिरिण्टी (इन्दुः; असंउ. ४८)
वीरटिः (इन्दुः, असंउ. १)
–भेद–पु., लक्षण० शङ्खस्य ललाटास्थिविशेषस्य भेदवत्स्फुटनम्; अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; असंनि. ४)

-मर्मन्-न., भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम मर्मणी, तत्र विद्धे सद्योमरणम् (सुशा. ६.२७) द्र० 'मर्मन्'

-मालिनी-स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (रा. ३.१७१)

-मूल-न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५१)

-यूथिका-स्त्री., वनस्पति० श्वेतयूथिका द्र० 'यूथिका' (ध. ५.१४९)

-शूल-पु., लक्षण० ललाटाऽऽस्थिशूलम् (चनि. ३.७)

शङ्खक-पु., शिरोरोग० पित्तप्रधानैः सरक्तैर्वातायैदोषैः शङ्खे दारुणः शोफो भवति। अत्र शोफे तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वरतृड्भ्रममूर्च्छा भवन्ति। आस्यं तिक्तं वदनं पीतं च भवति। अयं रोगः त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति (चसि. ९.७२; सुउ. २५.१६-१७; असंउ. २७) दुश्चिकित्स्योऽयं व्याधिः, नस्यार्थं, पानार्थं च क्षीरयुक्तं घृतं देयम्। शीतपरिषेकश्च कार्यः (सुउ. २६.३८-३९)

शङ्खालुक-न., कन्दशाक० (सुसू. ४६.२९८)

शङ्खावर्तसंधि-पु., अस्थिसन्धिप्रकार० श्रोत्रशङ्खाटकेषु शङ्खावर्ताः (सुशा. ५.२७; असंशा. ५.७७)

शङ्खाह्वा-स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (ध. ४.११३)

(शङ्खिका)-स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी (र. २१.७१-७३)

भैषज्य० क्षुद्रशङ्खः (र. ७.२२)

शङ्खिनी-स्त्री., लता० महाकषायवर्गे भेदनीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.९) कटुतिक्ताऽम्ला, गुरुः, स्निग्धा, विशोधनी, दीपनी, रुच्या, त्रिदोषशमनी, कृमिविषकुष्ठशोथोदरनाशिनी, रक्तदोषघ्नी च (ध. १.२५६; रा. ३.३८०) स्नेहविरेचने उपयुक्ता (सुचि. ३१.५) व्रणशोधनी (सुसू. ३७.१२) तत्सिद्धतैलं दुष्टव्रणशोधनम् (सुसू. ४५.१२४)

हिं.—शङ्खिनी.

म.—यवोची, टिटवी.

गु.—शङ्खहेल्य आख्युफुटामाणा.

बं.—यवेची.

श्वेतबुध्ना (चक्र. चसू. १.८१-८५; ड. सुसू. ३८.२९-३०)

-फल-पु., वनस्पति० शिरीषः (ध. ५.११२)

शङ्खेश्वर-पु., पारदयोग० शंखवराटकनीलतुत्थपारदादिसाधितोऽयं राजयक्ष्महरः (र. १४.२०-२२)

शची-स्त्री., इन्द्रजाया (असंशा. १२.८)

-पति-पु., इन्द्रः (चसू. १.१८)

शटिका-स्त्री., वनस्पति० सटी (रा. ६.८६)

शटी-स्त्री., वनस्पति० सटी (चसू. २७.८८)

आम्रहरिद्रा (चचि.१९.२७)

-शाक-न., पत्रशाक० तद्गुणाः-शीतं, लघु, संग्राहि, दोषापहं च (सुसू. ४६.२७६)

-सिद्धसर्पिस्-न., सिद्धघृत० (सुशा. २.८)

शट्यादिचूर्ण-न., सिद्धौषधि० (चचि. १७.१२३-१२४)

शट्यादितैल-न., सिद्धतैल० (सुचि. ३७.८-१०)

शट्यादिकवर्ग-पु., द्रव्यगण० शटी, पुष्करमूलं, दुरालभा, व्याघ्री, शृङ्गी, गुडूची, नागरं, पाठा, कटुरोहिणी, किरातम्, एष गणः संनिपातज्वरापहः (चचि. ३.२११-२१२)

शठ-वि., क्रूरः (चक्र. चसू. ७.५६)

पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७)

तगरम् (ध. ३.५३)

न., वनस्पति० कुङ्कुमम् (रा. १२.२१)

खनिज० तीक्ष्णलोहम्, द्र० 'लोह' (रा. १३.३०)

(शठी)-स्त्री., वनस्पति०सठी (ध.१.६१;अहसू.६.७२)

शठाम्बा-स्त्री., वनस्पति० अम्बष्ठा (रा. ४.१७०)

शण-पु., वनस्पति० क्षुपोऽयम् (सुसू. ३७.९) तद्गुणाः-अम्लः, कषायो मलगर्भौत्रपातनो वान्तिकृद्वातकफनुत्तीव्राङ्गमर्दजित् (रापरि. ४.१०-११) अस्य काष्ठं दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२१)

हिं.—अम्बाडी.

म.—अम्बाडी.

गु.—अम्बाडी.

बं.—मेस्टापत.

ता.—ओलीभांजी.

-घण्टिका-स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (ध.१.२००)

-जसूत्र-न., शणनिर्मिता रज्जुः व्रणौष्ठसीवनार्थमुपयुज्यते (सुसू. २५.२०-२१)

-तूल-पु., तूल० (सुसू. २३.१२) शणाख्यस्य द्रव्यस्य सूक्ष्मरोम (इन्दु. असंउ. २९)

-पुष्प-न., शाक० (चसू.२७.९९) इदं बन्धनार्हत्वचः शणस्य पुष्पम् तद्गुणाः-मधुरं, मधुरविपाकं, रक्तपित्तहरम् (सुसू. ४६.२८१)

(–पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० वमनोपगगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.२३; सुसू. ३९.३) तद्गुणाः–तिक्ता, कषाया, वमनकरी, त्रिदोषघ्नी, कण्ठमुखहृद्रोग-ज्वराऽजीर्णरक्तदोषघ्नी च (ध. १.२००; रा. ४.२९८-९९)
हिं.—जन्जानिया.
म.—तागी.
बं.—जन्जानिया.
ता.—वेट्टाकिलु.
सं.—घंटालक.

शणक–पु., चुच्चुवादिवर्गे शाक० (सुसू. ४६.२४९)
(शणिका)–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (रा. ४.२९८)
शणल–न., वनस्पति० शणम् (र. १०.१०)
शण्डक–पु., बिलेशयप्राणि० (असंसू. ७.७६-७७)
शत–न., संख्या० (ध. ४.१३७)
–कुन्द–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.१)
–कुलीरक–पु., बायव्यः कीट० तद्गुणाः–असौ वात-कोपनो वातजरोगान् करोति (सुक. ८.५-८; असंउ. ४३)
–कुसुमा–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (चक. चसि. १२.१६ (१)
–कोटि–पु., रत्न० हीरकम् (ध. ६.५६)
–क्रतु–पु., देव० शतमखः इन्द्रः (चसू. १.२३)
–ग्रन्थि–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (रा. ८.२२६)
–घ्नी–स्त्री., आयुध० कण्टकान्विता यष्टिः (इन्दु) अयःकण्टकाच्छन्ना महती शिला (सुनि. १६.५७, असंउ. २५)
कण्ठरोग० प्रभूतैर्मांसाङ्कुरैः परिवृता तीव्रतृड्ज्वरमूर्द्धरुग्युक्ता कण्ठस्रोतसि समन्ताद्व्याप्ता या वर्तिरतिरुक्करी भवति सा रुजयाऽऽकृत्या च शतघ्नी–सादृश्यात् शतघ्नीत्युच्यते (असंउ. २५)
–दारुक–पु., कीट० अयं मुखसन्दंशविशर्धितमूत्र-पुरीषविषः (सुक. ३.५)
–धौत–वि., शतवारं धौतम्, धावितं प्रक्षालितं वा (चशा. ८.२४)
–धौतघृत–न., शतवारं धौतं घृतम् (चशा. ८.२४) शतवारान् शीतजलेन धौतं फेनिलं घृतं एतज्ज्वरेषु दाहविनाशने नितरामुपयुक्तम् (सुउ. ३९.२८३)
–धौताज्य–न., शतधौतघृतम् (अहसू. २६.४७)
–नेत्रिका–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३९)
–पत्र–पु., प्रतुदपक्षि० काष्ठकुक्कुटकः (चसू. २७.५०) द्र० ' प्रतुद '
आनूपदेशे वर्तमानः पक्षि० मयूरः, शुकः, सारसः, (चक. १.८) विष्किरपक्षि० दार्वीघाटः (ड. सुसू. ४६.५९) द्र० ' विष्किर '
न., वनस्पति० कमलम् (चसू. ४.१५; रा. १०.२४४)
रक्तपद्मम् (ध. ४.१५२)
–(पत्रा)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– तिक्ता, कषाया, सुरभिः, रुच्या, पित्तघ्नी, कुष्ठमुखस्फोटपित्तजदाह-नाशिनी च (ध. ५.१५१-१५२)
हिं.—कानवाल.
म.—कमल.
बं.—पद्म.
ता.—तमाराइ.
–(पत्री)–स्त्री., वगस्पति० शतपत्रा (ध. ४.१५२)
–पत्रक–पु., प्रतुदपक्षि० राजशुकः (ड. सुसू. ४६.६७) द्र० 'प्रतुद'
–(पत्रिका)–स्त्री., वनस्पति० शतपत्रा (ध. ५.१५१)
शतपुष्पा (रा. ४.२)
–पदी–स्त्री., बहुपदयुक्तकीट० कारुण्डा (चक. चचि. २३.१५६,२१५) कर्णजलूकिका (इन्दु.असंउ.४३) सा चाष्टधा परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेताऽग्निप्रभा तद्दंशलक्षणानि–शोफो वेदना हृदयदाहः, श्वेताग्नि-प्रभाभ्यामेतदेव, लक्षणम्–दाहो मूर्च्छा श्वेतपिडको-त्पत्तिश्च (सुक.८.३०) अस्या विषे स्वर्जिकाक्षारा-दीनामागदो योज्यः (चचि. २३.२१५)
वनस्पति० शतावरी (ध. १.२९१)
–पद्विष–न., शतपद्याः विषम् (सुक. ८.४९) द्र० ' शतपदी '
–पर्वक–पु., वनस्पति० जलगण्डीरः (सुउ. ५८.४४) इक्षु० द्र० ' इक्षु ' (अहसू. ५.४६)
–पर्वा–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा द्र० ' दूर्वा ' (चचि. ३.२५८; चक.)
–(पर्विका)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा (रा. ८.२२६; अहसू. ७.२५) द्र० ' दूर्वा)
कटुका (ध. १.३८)
वंशः (ध. ४.१३७)
नीलदूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (ध. ४.१४३)

-पाक-वि., शतशः कृतः पाकसंस्कारो यस्य, सः (चवि. ६.१७)

-पाकतैल-न., सिद्धतैल० ओषधीभिः शतवारं सिद्धं तैलम्, इदं योनिरोगे प्रशस्तम् (चचि. ३०.१०५; सुचि. ४.२९)

-पाकबलातैल-न., सिद्धतैल० तिलतुल्यबलामूलाष्टगुणसलिलाष्टांशशेषितकषाय-भावितानां तिलानां तैलमादाय सामान्यक्काथ-परिभाषाक्काथेन चतुर्गुणेन शतशः पचेत्। एतस्य सेवनेन पुरुषः सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः शतायुर्भवेत् (सुचि. १५.४०-४३)

-पादक-पु., आग्नेयकीट० सविषोऽसौ कीटः पित्तज-रोगान् करोति (सुक. ८.८-१२)

-पादी-स्त्री., वनस्पति० कटभी (रापरि. ९.३८)

-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० अनुवासनोपगगणे आस्था-पनोपगगणे चैकं द्रव्यम् (चसू. ४.१३) तद्गुणाः-कटुस्तिक्तोष्णा स्निग्धा; तीक्ष्णा, दीपनी (भाप्र मिश्रप्रकरण) कफवातघ्नी, ज्वरनेत्रदोष-व्रणातिसारजुत् सेयं बस्तिकर्मणि शस्यते (ध. २.१; रा. ४.१-४) उपनाहस्वेदे उपयुक्ता (चसू. १४.३६) ऋतुप्रवर्तनी, योनिशुक्रविशोधनी, पुत्रप्रदा, वीर्यकरी (का शतपुष्पावरी क)

हिं.—सोया.

म.—बाळंतशोप.

गु.—सुवानी भाजी-सुवादाना.

बं.—शुल्धा.

फा.—शुत-तुख्मेशूत.

मिश्रेया (चचि. ३.२५०; सुचि. ३.५८)

मृगाक्षी (रा. ७.२५७)

-पुष्पादल-न., वनस्पति० (रापरि. ७.८२) तद्गुणाः-मधुरं, सोष्णं, दीपनं, पथ्यं, रुचिप्रदं, पित्तकृद्वातघ्नं, गुल्मशूलजिच्च (रापरि. ७.८२)

-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (र. १९.७-९)

-पोनक-न., चालनिका, तितउः (असंउ. ३३)

रोग० वातजभगन्दरः, शतपोनकवद्भगस्थाने बहुच्छिद्रयुतो व्रणः (सुनि. ४.५; असंउ. ३३) द्र० 'भगन्दर'

गुह्यरोग० शूकदोषजविकारेष्वेकः, वातशोणित-कोपेन मेहनं सर्वतोऽणुमुखैश्छिद्रैश्चितं भवति (सुनि. १४.१२) तच्चिकित्सा-शतपोनकस्य लेखनं कृत्वा शोधनार्थं शोधनद्रव्यकृताया रसक्रियाया उपयोगः करणीयः, तथा रोपणकाले रोपणकषाय-द्रव्यकृताया रसक्रियाया उपयोगः करणीयः। किं च रोपणार्थं पृथक्पर्ण्यादिसिद्धतैलमप्युपयोक्तव्यम् (सुचि. २१.१४) अग्निना स्रावमार्गदहनाऽनन्तरं रुजास्रावापहं स्वेदमाशु कुर्वीत। स्वेदार्थं च यथोक्तानि स्वेदद्रव्याणि, कृशरां, पायसं वोपयुंजीत। एवमेव ग्राम्यमानूपमौदकं वा मांसं स्वेदार्थमुपयोजयेत् (सुचि. २१.१२-१९)

-प्रसूना-स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.२)

-बाहु-पु., वायव्यः कीटविशेषः वातरोगान् करोति (सुक. ८.५-८)

-भावित-वि., शतधा भावितम् (चचि. १.(४)१९)

-भिषज्-स्त्री., नक्षत्र० शततारका (असंसू. ८.९२)

-मूला-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा.४. ४३९) नीलदूर्वा द्र० 'दूर्वा' (रा. ८.२२७)

-मूलिका-स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५.३४६)

-मूली-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (र. २०.८२-८५)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (ध. ४.१४३)

-विषाणिका-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (चक्र. चचि. १०.४२)

-वीर्या-स्त्री., वनस्पति० शतावरी (सुसू. १९.२९; रा. ४.४३९)

महाशतावरी (रा. ४.४४२)

दूर्वा (चसू. ४.१८)

नीलदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (सुसू. १९.२९)

उत्तरापथिका, द्राक्षाभेदः, द्र० 'द्राक्षा' (रा. ११.७७)

शतमूली (असंचि. ७)

-वेधिन्-पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (ध. २.९६)

शतारु-न., क्षुद्रकुष्ठ० इदं पित्तश्लेष्माधिकं, तल्लक्षणम्-रक्ताः श्यावा दाहयुक्ताः पीडाकरा बहवो व्रणाः (चचि. ७.२६-३०)

शतारुष्क-न., कुष्ठरोग० (का. कुष्ठ. चि.)

शतावरी-स्त्री., वनस्पति० (चसू. ५.६५)

शाक० वातपित्तसंशमनवर्गे चैकं द्रव्यम् (सुसू. ३९.७-८; अहसू. १५.२१) तद्गुणाः-तिक्ता, मधुरा; शीता, स्निग्धा, वर्णौजोबल-बर्धनी, स्मृतिमेधामतिकरी (का शतावरी कल्प) वृष्या, रसायनवरा, वातपित्तघ्नी, क्षयाऽस्र-विकारघ्नी च (ध. १.२९१-९२; रा. ४.४३७-४०)

महदल्पभेदेन सा द्विविधा, तत्र महती, सहस्रवीर्या (सुसू. ४६.३०१)
हिं.—सतावर.
म.—शतावरी, आसवली.
गु.—शतावरी.
बं.—शतमूली.
फा.—गुर्जदस्ति.
सहस्रवीर्या, महाशतावरी (ध. १.२९३)

-करीर–न., शतावर्यङ्कुरम्, तद्गुणाः–सतिक्तं लघु, चक्षुष्यं, वृष्यं, दोषत्रयप्रणुत् (असंसू. ७.१२७)

-घृत–न., सिद्धघृत० वृष्ययोगोऽयम् (चचि. २.(३)-१८) योनिरोगे उपयुक्तम् (चचि. ८.१०५) रक्ताऽतिसारचिकित्सायामुपयुक्तम् (चचि. १९.९८)

-पायस–पु., पायस० शतावरीमूलश्रृतेन पयसा कृत आहारः, असौ तिमिरनाशनः (सुउ. १७.४९)

शतावर्यङ्कुर–पु., कन्दशाक० शतावर्या अङ्कुरः, तद्गुणाः–तिक्तः, कफपित्तहरश्च (सुसू. ४६.३०२)

शताह्वक–न., वनस्पति० फल० सेह इति 'शरका' इति च ख्यातम्, इदं दोषघ्नं–गरहारि च (चसू. २७.१४५)

शताह्वया–स्त्री., वनस्पति० शतावरी (रा. ४.४३८)

शताह्वा–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (सुचि.३७.८;ध.२.१) शतावरी (रा. ४.४३८) मिश्रेया (चसू. ३.२०)

शत्रुकण्टक–पु., वनस्पति० घोण्टा (रापरि. ८.२२)

शत्रुपत्र–न., वनस्पति०, अम्लवेतसपत्रम्, इदमक्षिरोगे परिषेकोपयोगि (काखिल. १३.५९)

शत्रुभङ्ग–पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ८.२०५)

शदन–न., शातः, पातः (अरु. अहसू. ७.११)

शनैर्मेह–पु., रोग० कफजप्रमेहभेदः (चसू. १९.४-(९)) शनैः शनैर्मन्दं मन्दं कृच्छ्रं मूत्रयति (सुनि. ६.१०) द्र० 'प्रमेह'

शफ–पु., भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८)

शफर–पु., जलचरप्राणि० नादेयमत्स्यवर्गे डल्हणेन निर्दिष्टः (ड. सुसू. ४६.११३) तद्गुणाः– तिक्तः, कटुः, स्वादुः, शुक्रलः, कफवातजिच्च (र. २८.७७) द्र० 'नादेयमत्स्य'

(शफरी)–स्त्री., मत्स्य० (चचि. २ (४) १७)

शबरकन्द–पु., वनस्पति० गृष्टि; वाराहीकन्दः (रा. ७.१३५)

शबरोद्भव–पु., वनस्पति० रोध्रम् (र. ३०.६४-६५)

शबल–वि., नानावर्णः, चित्रविचित्रः (इन्दु, असंउ. ४३) पु., मूषिक० एतद्विषतः पित्तजा रोगा ग्रन्थयः कर्णिकाश्च जायन्ते (असंउ. ४६) द्र० 'मूषिक' वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२५)

-वर्ण—पु., कर्बुरवर्णो मिश्रवर्णो वा (सुनि. ६.२६)

शब्द–पु., सार्थो वर्णसमूहः, संकेतबलादर्थप्रकाशिका वर्णमाला (चक्र.) स चतुर्विधः दृष्टार्थोऽदृष्टार्थः सत्योऽनृतश्च (चवि. ८.३८) आकाशस्य गुणः, स च श्रोत्रग्राह्यो ध्वनिवर्णात्मकः, (चशा. ४.१२; सुशा. १.४) (परिव०) नादः (सुनि. ७.२१-२३)

-तन्मात्र–न., पञ्चतन्मात्रेष्वेकम् अनुद्भूतस्वरूपः सूक्ष्मशब्दः (सुशा. १.४)

-पुनरुक्त–न., वाक्यदोष० तस्यैव शब्दस्य पुनरभिधानम्। यथा घटो घट इति (चवि. ८.५४)

-प्रादुर्भाव–पु., सशब्दता शब्दायितम् (सुसू. १२.८)

-वहस्रोतस्–न., शारीर० स्रोतोभेदः, कर्णशष्कुलीपरिच्छिन्नमाकाशम् (मा मधुकोष.; सुनि. १.८३)

-वाहिनी–वि., शारीर० वाग्वाहिनी (धमनी) (सुनि. १.८५) स्त्री., कर्णगता सिरा० (असंशा. ६.२८)

-वेध–पु., संस्कार० मुखस्थितपारदेन नलिकया लघुधमनेन लोहादेर्धातोः सुवर्णरौप्यत्वसंजननम् (र. ८.९४)

-श्रव–पु., शारीर० कर्णः (चइ. ८.१२)

शब्दादिजरोग–पु., रोग० अहितशब्दरूपादिजन्यो विकारः (चसू. २५.१४)

शब्दासहत्व–न., लक्षण० शब्दो न सह्यते इति (चनि. १.३३)

शब्दासहिष्णुता–स्त्री., लक्षण० शब्दासहत्वम् (अहसू. ११.१७)

शब्दिता–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध.३.९०)

शब्देन्द्रिय–न., शारीर० श्रवणेन्द्रियम् श्रोत्रम् (सुशा. १.१९)

शम–पु., विकारासम्भवः, विकाराणामुपशमः (असंसू. २०.१०)

(शमी)–स्त्री., वनस्पति० (चक. १.८) तद्गुणाः–कषाया, स्वादुस्तिक्तोष्णा (शीता) (र. १८.१०६) गुरुः; (लघुः) रेचनी (र. १८.१०६) केशनाशिनी, रक्तपित्ताऽतीसारनाशिनी (ध. ५.९५) कासश्वासभ्रमकुष्ठाऽर्शःकृमिनाशिनी (र. १८.१०६-८) अस्य कल्को विषजरक्ताऽऽस्रावे पाने उपयुज्यते (असंउ. ४७) अस्य काष्ठं दन्तधावने निषिद्धम् (असंसू. ३.२१)

हिं.—समी.

म.—शमी.

गु.—खिजडी.

बं.—शौंडू.

शिम्बीधान्य० एतस्याः कृष्णपीतरक्तश्वेतकुशिम्बीभेदेन विविधा जातयस्ताश्च मधुराः शीतला गुर्व्यो बलघ्न्यो रूक्षणात्मिका बलिभिः सस्नेहभोज्याश्च (चसू. २७.३४)

शमन–न., उपक्रम० (चसू. १.१०९; सुसू. २०.२१) यदौषधं वातादिदोषान्न शोधयति तथा स्वप्रमाणस्थान्नोदीरयति विषमांश्च समीकरोति, तत् शमनम्, तत्सप्तविधम्–पाचनं, दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः (अहसू. १४.६-७)

–गण्डूष–पु., उपक्रम० गण्डूषभेदः, चतुर्विधप्रकारेष्वेकः, तिक्तकषायमधुरशीतैः पटोलाऽरिष्टजम्बवाम्रमालतीपल्लवोत्पलमधुकाथसितोदकक्षौद्रक्षीरेक्षुरसघृतादिभिः शमनः (असंसू. ३१.४)

–धूम–पु., उपक्रम० धूमभेदः, त्रिविधधूमप्रकारेष्वेकः, प्रायोगिको मध्यमश्चेत्यपरनाम्नी, स्वस्थकर्मणि वातकफसंसर्गे च उपयुज्यते (असंसू. ३०.४,१८)

–नस्य–न., उपक्रम० नस्यभेदः, नस्य, नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाऽक्षिराजिषु शमनं नस्यं हितम् (अहसू. २०.४)

–स्नेह–पु., स्नेहप्रकारेष्वेकः स्नेहः (अहसू. १६.१९)

शमनीय–वि., शमने हितम्, व्याधिशामकम् (चचि. ३.१६०-१६१)

–द्रव्यगण–पु., औषधिसमूह० (काखिल. २.५७-५८) दशमूलशटीरास्नावयस्थापंचकोलशार्ङ्गेष्टारोहिणीपाठासरलदेवदारुमुस्ताऽमृतावृश्चिकालीकर्कटादुरालभात्रायन्ती इत्येवमादीनि शमनीयानि

शमल–न., पापम् (इन्दु. असंउ. ९.३) शकृत्, शमलशिथिलभावः, द्रुतपुरीषत्वम् (इन्दु. असंउ. ४९)

शमी–स्त्री., (चक. १.८)

–पत्रा–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१०९)

–फल–न., फल० तद्गुणाः–मधुरमुष्णं, गुरु, रूक्षं, केशघ्नम् (चसू. २७.१६०; सुसू. ४६.१९३)

–यन्त्र–न., यन्त्र० अर्शोयन्त्रसमं किन्तु च्छिद्ररहितं यन्त्रम्, तच्च अर्शःप्रपीडनार्थमुपयुज्यते (अहसू. २५.१९) द्र० 'यन्त्र'

शम्पाक–पु., वनस्पति० आरग्वधः (चचि. १०.१९-२२; सुउ. ३९.२४५) चतुरङ्गुलः (चक. चसि. ३.६१) किरमालकः (ड. सुचि. ३१.५)

शम्बर–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९१) लोध्रः (रा. ६.२३८) जङ्गालप्राणि० (धपरि. ३) जाङ्गलमृग० असौ लघुप्रकृतिः (चसू. ५.५) अस्य मांसरसो गर्भस्थापनार्थमुपयुज्यते (चशा. ८.२४)

हिं.—साम्बर, बारहसिंगा.

म.—साम्बर.

बं.—शम्बर.

न., जलम् (रा. १४.३१७)

(शम्बरी)–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (चक. १२.३) द्रवन्ती (ध. १.२२९) मूषककर्णी (रापरि. ३.२२) सुतश्रेणी (रा. ४.१६)

–पादप–पु. वनस्पति० लोध्रः (ध. ३.१७५)

शम्बुक–पु., कीट० कोषस्थजन्तुः, तद्गुणाः–प्राणनाशनः, तेन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पवद्भवति; तथा च सान्निपातिका रोगा भवन्ति, दंशस्तु क्षाराग्निदग्धवत्, वर्णेन रक्तपीतसितारुणः (सुक. ८.१५-१८; असंउ.४३)

शम्बूक–आवर्तकोशः, 'साङ्कुला' इति लोके (ड. सुसू. ४६.१०८.११०) दंष्ट्रानखविषः (सुक. ३.५) आवर्तयुक्तो मत्स्य० (सुसू. ४६.१०८-११०) भैषज्य० क्षुद्रशङ्खः, लघुशङ्खः (सुनि. ४.८; रा. १३.२४६)

शम्बूकादिवर्ति–स्त्री., पारदयोग० सिध्दाञ्जन० शुक्लार्मतिमिरपिल्लान्हन्ति (र, २३.५९-६०)

शम्बूकावर्त–पु., रोग० भगन्दरभेदः, वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याऽधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठाग्रप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति, साऽस्य तोददाहकण्डूादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः, तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते (सुनि. ४.८) द्र० 'भगंदर'

शम्भु–पु., ऋषि० आदिमचन्द्रसेनादिषु सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायको रसाचार्यः (र. १.२-५)

–ज–पु., खनिज० पारदः (र. १.६६)

–वल्लभ–न., वनस्पति० पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८)

शम्या–स्त्री., दक्षिणहस्तेन वादनम् (चनि. ७.७(१)

शम्याक–पु., वनस्पति० कर्णिकारः (ध. १.२२१; अहसू. १५.२)

आरग्वधः (असंचि. १.६३-६४)

–मज्जा–स्त्री., आरग्वधमज्जा (सुसू. ४६.२०७)

शयन–न., (परिव०) स्वापः (सुसू. ४६.५०५)

शय्या, तच्च सपादपीठं, नात्युच्छ्रितं नातिनीचपादं, प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं, प्राक्शीर्षकं, शुक्लपटोत्तरीयं प्रशस्तम् (चसि. ३.३३-३४)

शयनेप्सु–वि. स्वप्तुमिच्छुः, सुषुप्सुः (सुउ. ३९.४३)

शय्या–स्त्री., शयनम् (अहसू. १४.१०)

–दोष–पु., शयनस्य दोषः (सुचि. ३६.२९-३०)

शय्यासन–न., शय्या एवाऽऽसनम् (सुचि. २४.८१)

शर–पु., वनस्पति० (चचि. १(३).३; सुसू. १२.४)

तद्गुणाः–मधुरस्तिक्तोऽल्पोष्णो बल्यो वीर्यकरोऽल्पवातकरः, कफघ्नो भ्रान्तिमदनाशकः (ध. ४.१३५) मूत्रकृच्छ्राऽश्मरीदाहाऽस्रक्षयपित्तजरोगजित् (भाप्रमिश्र. ४.१६१-१६२)

हिं.—रामशर.

म.–शर.

बं.—शर.

शल्य० लोहादिनिर्मितो बाणः, स च द्विविधः कर्णी, श्लक्ष्णश्च (सुसू. २६.५-७)

–काण्ड–पु., शरैषिका (सुशा. ४.७२; असंशा. ८.१५)

–पत्र–पु., वनस्पति० कुशः (रा. ८.२०९)

–पुङ्ख–पु., शरगुणसन्धानस्थानम् (सुसू. ७.१४)

यन्त्र० शरपुङ्खाऽऽकारा शल्यचालनार्था शलाका (सुसू. ७.१४)

न., यन्त्र० शरकर्तरी (अहसू. २५.३१)

–(पुङ्खा)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– कटुस्तिक्ता, कषाया (भाप्र.) उष्णा (लघुः) (भाप्र.) वातरुजापहा, कृमिघ्नी; यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहा, विशेषतस्तु प्लीहनाशिनी (भाप्र. मिश्र. ४.२१०; रापरि. ४.६) तद्बीजं सतक्रपीतं मूषिकविषनाशनम् (असंउ. ४६)

हिं.—सरफोंका.

म.—उन्हाळी.

बं.—बननील.

ता.—कोल्लुक्कवकेळ्ळपि.

–पुङ्खमुख–न., शलाकायन्त्र० (असंसू. ३४.१५)

–(पुङ्खमुखा)–स्त्री., शलाकायन्त्र० (असंसू. ३४.१५)

द्र० 'शरपुंखमुख'.

–पुङ्खमुखयन्त्र–न., शलाकायन्त्र० (अहसू. २५.३३)

द्र० 'शरपुंखमुख'.

–लोमन्–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.११) यज्ञःपुरुषीयाध्याये विवदमानानामेकतमऋषिः (चसू. २५ ८)

शरण–न., गृहम् (चशा. ८.९; सुचि. ५.१५)

शरण्या–स्त्री., रेवत्या विंशतिनाम्नामेकतमं नाम (का बालग्रहचि.)

शरद्–स्त्री., ऋतु० (चसू.६.७) आश्विनकार्तिकौ, कार्तिकमार्गशीर्षौ वा शरद्घटकौ मासौ (सुसू. ६.६-१०) कन्यातुले शरद् (हे.अहसू. ३.१-२) अत्र लवणरसो बलवान् भवति (सुसू. ६,६-१०) शरदि आचरणविधिः (सुउ. ६४.१३-१८) वर्षाशीतोचिताङ्गानां शरदारम्भे सूर्यसंतापेन सहसा तप्तानां नराणां वर्षासंचितं पित्तं शरदि कुप्यति। तत्र पित्तजयार्थं तिक्तघृतं विरेचनं रक्तमोक्षं च कुर्वीत। क्षुधितः सन् लघु तिक्तं स्वादु कषायं चान्नं भजेत्। शालयो मुद्गः सितो आमलकं, पटोलं, मधु, जाङ्गलं च मांसं सेवनीयम्। पानादिष्वमृतोपमं हंसोदकं नाम निर्मलं, दोषघ्नं जलमुपयोक्तव्यम्। एतद् हंसोदकं सूर्यकिरणैर्दिवातप्तं चन्द्रकिरणैर्निशि शीतीकृतं तथैवाऽगस्त्योदयनिर्विषमस्ति; तन्नाऽभिष्यन्दि न वा रूक्षम्।

प्रदोषे चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्रग्वसनैश्चोऽज्वलः सन् सौधेषु ज्योत्स्नाम् उपसेवेत । शरदि तुषारं क्षारान्, दधि, तैलं, वसामातपं तीक्ष्णमद्यं, दिवास्वप्नं, सौहित्यं, पुरोवातं च परित्यजेत् (अहसू. ३.४९-५४)

(शरत्-काल)-पु., शरद् (र.१३.१३-१९)

(शरत्)-पद्म-न., वनस्पति० पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८)

-पुष्प-न., वनस्पति० आहुल्यम् (रापरि. ४.३४)

शरभ-पु., प्राणि० हिंस्रपशुः (सुउ. ३९.१५१) महाश्रृङ्गी हरिणः, अष्टापद उष्ट्रप्रमाणो महाश्रृङ्गो जाङ्गलमृगः (चसू. २७.४५) अयं आहारद्रव्यत्वेनोपयोज्यः प्रकृतिलघुः (चसू. ५.५; सुउ. ३९.१५१) काश्मीरे प्रसिद्धः (सुसू. ४६.५४)

शरारि-पु., जलचरपक्षि० शराली (चसू. २७.४२) धवलस्कन्धो दीर्घचञ्चुः पक्षिविशेषः (सुसू. ८.४)

शरारिमुख-न., शस्त्र० षडङ्गुलप्रमाणदीर्घं केशप्रमाणधारं विस्रावणोपयोगि शस्त्रम् (सुसू.८.३-४)

शरारीमुख-पु., जलचरपक्षि० खदिरवर्णः 'गिर्गराटी' इति लोके (ड. सुसू. ४६.१०५-१०६)

शरार्यास्य-न., शस्त्र० शरारिमुखं नाम शस्त्रम् (अहसू. २६.९)द्र० 'शरारिमुख'

शराव-पु., मृन्मयपात्र० पलाष्टकमापनपरिमाणपात्रम् (सुनि. ६.१५)

वायव्यः कीटविशेषः (असंउ. ४३)

-कुर्द-पु., वायव्यकीट० वातकोपनोऽसौ वातरोगान् करोति (सुक. ८.५-८)

-मात्र-वि., शरावप्रमाणा (सुनि. ६.१५)

-संपुट-पु., शरावयोः सम्पुटो-युग्मम्, पुटम्-पात्रद्वयोभयमुखसंयोजनम् (सुचि. ४०.१९)

शरावि़का-स्त्री., मेहपिडका० इयं श्यावा क्लेदवेदनायुक्ता निम्नमध्योन्नतौष्ठा शरावसंस्थानप्रमाणा वर्तते (चसू. १७.८३; सुनि. ६.१५) द्र० 'प्रमेहपिडका'

शरांश-वि., पञ्चमभागम् (र. १७.६५-६६)

शरीर-न., शीर्यते इति शरीरम्, देहः, आपादमस्तकमाकृतिः (चवि. ८.११९; सुसू., १५.३) आत्मनो भोगायतनम्, तच्च पञ्चमहाभूतविकारात्मकम् (चसू. १.४२)

-कम्प-पु., लक्षण० देहकम्पः (चइ. ११.१०)

-क्लेद-पु., लक्षण० देहस्य क्लेदः, स्वेदः (चसू. २६.४३ (६)

-गुण-पु., शरीरे निष्पद्यमानो गुणः, शरीरधातुः (चशा. ६.१७)

-चिन्ता-स्त्री., जीर्णाऽजीर्णनिरूपणादिका, (चिन्ता) कीदृशं मे शरीरं किञ्च मयाऽस्य हितमनुष्ठितमित्यादिरूपो विमर्शः (हे. अहसू. २.१)

-छिद्र-न., स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानोऽयनानि मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृताऽसंवृतानि स्थानान्याशयाः क्षया निकेताश्चेति शरीरे धात्ववकाशानां लक्ष्याऽलक्ष्याणां नामानीति (असंशा. ६.५०)

-जक्लेद-पु., शरीरे जायमानं क्लिन्नत्वम् (चनि. ४.७)

-ज्ञान-न., शरीरस्य ज्ञानम् (चसू. २९.७)

-तत्त्व-न., शरीरस्य तत्त्वम्, शरीरस्य रक्तादिरूपस्य स्वभावरूपं तत्त्वम् (चशा. ६.३)

-दौर्गन्ध्य-न., लक्षण० देहस्य दुर्गन्धत्वम् (चसू. ३.२९)

-पुष्टि-स्त्री., शरीरस्य पोषणम्, इदं मांसस्य प्राकृतं कर्म (सुसू. १५.५(१)

-प्रमाण-न., शरीरस्योत्सेधविस्ताराऽऽयामादिमानम्, तत्र पादौ चत्वारि षट् चतुर्दशाङ्गुलानि, जङ्घे त्वष्टादशाङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे च, जानुनी चतुरङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, त्रिंशदङ्गुलपरिक्षेपावष्टादशाङ्गुलावूरू, षडङ्गुलदीर्घौ वृषणावष्टाङ्गुलपरिणाहौ, शेफः षडङ्गुलदीर्घं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं, द्वादशाङ्गुलपरिणाहो भगः, षोडशाङ्गुलविस्तारा कटी, दशाङ्गुलं बस्तिशिरः, दशाङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलमुदरं, दशाङ्गुलविस्तीर्णे द्वादशाङ्गुलायामे पार्श्वे, द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरं, द्व्यङ्गुलं स्तनपर्यन्तं, चतुर्विंशत्यङ्गुलविशालं, द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुरः, द्व्यङ्गुलं हृदयम्, अष्टाङ्गुलौ स्कन्धौ, षडङ्गुलावंसौ, षोडशाङ्गुलौ प्रबाहू, पञ्चदशाङ्गुलौ प्रपाणी, हस्तौ द्वादशाङ्गुलौ, कक्षावष्टाङ्गुलौ, त्रिकं द्वादशाङ्गुलोत्सेधम् अष्टादशोङ्गुलोत्सेधं पृष्ठं, चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुलपरिणाहा शिरोधरा, द्वादशाङ्गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यङ्गुलपरिणाहमाननं, पञ्चाङ्गुलमास्यं, चिबुकौष्ठकर्णाक्षिमध्यनासिकाललाटं चतुरङ्गुलं, षोडशाङ्गुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्गुलपरिणाहं शिरः; इति पृथक्त्वेनाऽङ्गावयवानां मानमुक्तम् । केवलं पुनः शरीरमङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीतिः । तदायामविस्तारसमं समुच्यते । तत्रायुर्बलमोजः सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चाऽपरे भावा

भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे; विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा (चवि. ८.११७; सुसू. ३५.१२)

-प्रलय-पु., (परिव०) देहनाशः, देहचेतनाधातुनाशः, मृत्युः (सुशा. ६.२०)

-भेद-पु., शरीरनाशः (सुउ. ४७.१४)

-मध्य-न., स्रोतो० महास्रोतः (असंसू. २२.१५)

-यन्त्र-न., यन्त्रस्थानीयो देहः (असंशा. ६.६८)

-यात्रा-स्त्री., देहवर्तनम् आयुष्क्रमणम् (का. सिद्धि)

-वश-पु., शरीरसामर्थ्यम्, शरीरप्रभावः (सुशा. ८.८)

-विचय-पु., शरीरस्य विचयनम्, शरीरस्य प्रविभागशः परिज्ञानम् (चशा. ६.३)
अध्यायसंज्ञा० (चशा. ६.१)

-विबन्धन-न., शरीरस्यधमनीजालविबन्धनम् (सुशा. ९.९)

-वृत्ति-स्त्री., शरीरस्य सम्यक्कार्यम् (कासू. २२.३४)

-वृद्धि-स्त्री., लक्षण० शरीरस्याऽभिवृद्धिः (का शा. ४)

-संख्या-स्त्री., (चशा. ७.३) शरीरशब्दोऽयं समुदायवृत्तिरवयवेष्वपि वर्तते, तेन अवयवानामपि संख्या शरीरसंख्येत्यभिहितम् (ड. सुशा. ५.१)

-संख्याव्याकरण-न., अध्यायसंज्ञा० (सुशा. ५.१)

-संख्याशारीर-न., अध्यायसंज्ञा० (चशा. ७.१)

-संपद्-स्त्री., शरीरसौष्ठवम् शरीरस्वाभाविकबलोत्कर्षः (चशा. ६.१३)

-सदन-न., लक्षण० अङ्गसादः (चसू. १४.१४)

शरीराधिकार-पु., शरीरविचयविषयकम् अधिकरणं नाम प्रकरणम् (चशा.६.२०)

शरीरान्त-पु., शरीराग्रभूतो हस्तपादादिः (चक्र. चइ. ९.६)

शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञान-न., शरीरस्याऽभिनिर्वृत्तिः तस्याः ज्ञानम्, तद्यथा शरीरं शुक्रशोणितसंयोगादिभ्य उपजायते इति ज्ञानम् (चक्र. चसू. २९.७)

शरीरावयव-पु., शरीराङ्गोपाङ्गप्रविभागः (चसू. २७.३३४; सुसू. १४.३) तत्संख्यानत्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः संघाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि शिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि इति (सुशा. ५.५)

शरीरायास-पु., शारीरः श्रमः (असंसू. ३.६२)

शरीरिन्-पु., शरीरमस्यास्तीति शरीरी (चक्र. चसू. १.६) आत्मा, जीवात्मा, चेतनाधातुः, शरीरधारणसमर्थः पुरुषः (सुशा. १.१६)

शरीरोपचय-पु., शरीरस्य सम्यक् पुष्टिः देहसंवर्धनम् (सुशा. १०.३१)

शरेन्दुक-पु., वनस्पति० भूतृणम् (रापरि. ८.४२)

शरेषीका-स्त्री., शरपुष्पस्य नाली शरिकेति प्रसिद्धा (चसू. ५.२३)

शर्करक-पु., वनस्पति० मधुजम्बीरः (ध. ५.१८)

शर्करा-पु., सिकता (असंशा. ३)

(शर्करा)-स्त्री., आहारद्रव्य० इक्षुविकारः सिता (चसू. ४.१८) खण्डसिता, खण्डशर्करा (चसू. ४.१६-१७) सितोपला, ' तवराज ' इति लोके (ड. सुसू. ४५.१६२) मधुशर्करा (ध. २.१०६ रा. १४.१६१) तद्गुणाः-मधुरा, शीता; गुरुतरा, स्निग्धा, वृष्या (सुसू.४५-१६२) पित्तघ्नी, सर्वदाहरक्तपित्तच्छर्दिमूर्च्छातृषाश्रमरक्तदोषभ्रान्तिकृमिकोपप्रणाशिनी (ध. २.१०४; रा. ४२.१०४) इक्षुविकाराणां श्रेष्ठतमा (चसू. २५.३८) ज्वरहरगणे, दाहप्रशमनगणे, शोणितस्थापनगणे च प्रोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६-१८) धूमपानप्रयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.२१) विमलजाता मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धा गुरुतरा, मधुरतरा, वृष्या, रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च भवन्ति । यथा यथैषां वैमल्यं वर्धते तथा तथा स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च वर्धन्ते (सुसू. ४५.१६२-६३) उत्कृष्टा-गुणवती शर्करा, सारस्थिता, सुविमला, निःक्षारा च ज्ञेया (सुसू. ४५.१६४) शर्करा मुखे क्षारादिदाहे कवलग्रहणार्थमुपयुज्यते (सुचि. ४०.६७-६८)
हिं.—मिश्री, चीनी.
म.—साखर.
पक्वभाण्डसूक्ष्मखण्डम्, घटखर्परखण्डादिः (सुसू. ३६.३)
वालुकाभेदः (चक. १.८)
रोग० मूत्राघातप्रकारः, अश्मरीभेदः मूत्रशर्करा (चसू. १९.४ (१) वायुनाऽणुशो भिन्नाऽश्मरी एवानुलोमे च मारुते सिकतेव मूत्रेण सह च्यवते (असंनि. ९.१८) मूत्रपथात् क्षरमाणः सूक्ष्मः सिकतासदृशोऽश्मा (सुचि. ७.१७) बस्तिगताश्मरी

वातभिन्ना शर्करेत्युच्यते (ड. सुसू. ३८.१२-१३) वायुना भिद्यमानस्य पित्तेन पच्यमानस्य श्लेष्मणो भिन्ना अवयवाः शर्करेति संज्ञिताः (सुउ. ५९.१२) शर्करालक्षणम्–सुवर्णसदृशास्तथा सर्षपसन्निभाः, (का. मूत्रकृच्छ्रचि.) शिलाजतु चिरसंभूतामश्मरीं शर्करां च भिनत्ति (सुचि. १३.१६) शर्करादि-प्रतीकारे वीरतर्वादिगणः उपयुज्यते।

(सुसू. ३८.१२-१३)

आहरणयोग्यः रोग० मूत्रशर्करा, पादशर्करा, दन्तशर्करा चाऽऽकर्षणीयाः (सुसू. २५.११-१२) दन्तरोग० दन्तशर्करा (सुचि. २२.३६) दन्तानामप्रक्षालनाद्योऽन्नादिमलः श्लेष्मा वा वातेन शोषितः सन् पूतिगन्धिः स्थिरीभूतश्च भवति। स एव दन्तशर्कराख्यः (असंउ. २५) द्र० ' दन्तरोग ', ' दन्तशर्करा '

नेत्ररोग० वर्त्मशर्करा, वर्त्माश्रयोऽयं रोगः (सुउ. १३.१६) अर्कक्षीरलेशेनेव कूर्चीकपिण्डेनेव चाचिता तारा दृष्टिर्वा (असंउ. १७) अस्मिन् रोगे छेदपूर्विका लेखनचिकित्सा कार्या (सुउ. १३.१६)

आसुत० शर्करासवः, पाण्डुरोगे पानार्थं प्रशस्तः

(सुउ. ४४.३६)

शर्करा–स्त्री., (चसू. ४.१८)

–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० वर्त्मशर्करा द्र० ' शर्करा ' (सुउ. १.४१)

शर्कराक्ष–पु., ऋषि० रोगाऽपहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१२)

शर्करापहरण–न., मूत्रादिमार्गे सक्तायाः शर्करायाः अपहरणम् (सुचि. ७.३५)

शर्कराम्बु–न., शर्करायुक्तं जलम् (सुसू. १२.३३)

शर्करार्बुद–न., क्षुद्ररोग० तल्लक्षणम्–श्लेष्मा, मेदस्तथाऽनिलो मांससिरास्नायूः प्राप्य ग्रन्थिं कुर्वन्ति। असौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभमत्यर्थमास्रावं स्रावयति। तत्राऽनिलो वृद्धिं गतो मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्। ततः सिरा दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं च रक्तं सहसा स्रवन्ति (सुनि. १३.२५-२८) मेदोऽर्बुदवदुपक्रम्योऽयं रोगः (सुचि. २०.१७; सुचि. १८.४१-४३)

शर्करोदक–न., शर्करायुक्तं जलम् (असंसू. १०.४६)

शर्मन्–न., सुखम् (असंशा. ९.२८; अहसू. ४.३०)

(शर्म)–कर–वि., सुखकरम् (सुउ. ५५.५३)

शर्व–पु., देवता० शिवः, रुद्रः (चचि. ३.१५)

शर्वरी–स्त्री., रात्रिः (असंउ. ४१)

वनस्पति० हरिद्रा (असंचि. ७)

शर्वाक्ष–पु., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५)

शलभ–पु., कीट० (चवि. ३.७(३)) अस्य दंशे वातपित्तहरी क्रिया कर्तव्या (चचि. २३.२११)

शलाका–स्त्री., यन्त्र० मार्गान्वेषिणी लोहादिमयी यष्टिः (चसि. ९.५४) शलाकायन्त्राणि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च; तेषां गण्डूपदसर्पफणशरपुङ्खबडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते; मसूरदलमात्रमुखे द्वे किंचिदानताग्रे स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थम्; षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि, प्रमार्जनक्रियासु; त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि, क्षारौषधप्रणिधानार्थं; त्रीण्यन्यानि जाम्बववदनानि, त्रीण्यङ्कुशवदनानि षडेवाग्निकर्मस्वभिप्रेतानि; नासार्बुदहरणार्थमेकं कोलाऽस्थिदलमात्रमुखं खल्लतीक्ष्णौष्ठम्; अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रं; मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलम् (सुसू७.१४) शलाकाः पञ्च कनकरजताताम्रलोहोद्भवा अङ्गुली च। तत्राद्ये प्रसादनेऽञ्जने स्नेहने च, मध्या लेखने, अन्त्ये रोपणे, मृदुत्वादङ्गुल्येव प्रधानम्, अन्तःसरुजेऽक्ष्णि सैव प्रयोज्या, शेषा दशाङ्गुला राजमाषस्थूलाः सुश्लक्ष्णास्तनुमध्या मुखयोर्मुकुलाकाराः कलायपरिमण्डलाश्च

(असंसू. ३२.११)

–यन्त्र–न., यन्त्र० शलाका (सुसू. ७.१४; अहसू. २५.२८)

शलाकाग्र–न., शलाकाया मुखम् (असंसू. ३७.१६)

शलाकाधिष्ठान–न., शलाकानां स्थानम्, यथा पाणिपादशलाकाया अधिष्ठानम् चत्वारि पाणिपादशलाकाऽधिष्ठानानि (चशा. ७.६)

शलाकिन्–वि., शलाका शूकः, शूकयुक्तः (यवः) (सुउ. ११.११)

शलाटु–पु., आमफलम् (सुसू. ४३.३)

कोमलं फलम् (ड. सुउ. ४०.७३)

वनस्पति० कोमलं बिल्वफलम् (सुउ. ४०.७३; ध. १.१०६)

कोमलं जम्बूफलम् (सुउ. ४०.७३)

–वर्ग–पु., द्रव्यगण० कुम्भीकखर्जूरकपित्थबिल्ववनस्पतीनां वर्गः, असौ नाडीव्रणरोपणार्थमुपयुज्यते (सुचि. १७.२७-२८)

शल्लूल–पु., प्राणि० शल्लकः (धपरि. ६.३७)

शल्य–न., सर्वशरीराबाधकरं शल्यम्, तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टाऽस्थिबालनखपूयाऽऽस्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भाश्च (सुसू. १.७) 'शल' 'श्वल' इति आशुगमने धातू, तयोराद्यस्य शल्यमिति रूपम्; 'शल' हिंसायां, रुजायां वा (ड); (सुसू. २६.३,५) तद्विविधम्, शारीरमागन्तुकं च; तत्र शारीरं दन्तरोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः; आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति तावन्तोऽभिप्रेति । अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद्दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः । स च द्विविधः, कर्णी श्लक्ष्णश्च, प्रायेण विविधवृक्षपत्रफलपुष्पतुल्याकृतयो व्याख्याताः,

काश्चिदपराश्च व्यालमृगपक्षिवक्त्रसदृशाः ।

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गतिविशेषः ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यग्गृजुरिति । तानि शल्यानि वेगक्षयात्प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तुष्ववतिष्ठन्ते, धमनीस्रोतोऽस्थिविवरपेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु; तद्द्विविधं सामान्यं वैशेषिकं च, श्यावं पिडकाऽऽचितं शोफवेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणिताऽऽस्राविणंह्रदवदुन्नतं मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति सामान्यम्; वैशेषिकं तु त्वग्गते शल्ये विवर्णः शोफो भवत्यायतः कठिनश्च; मांसगते शोफाऽभिवृद्धिः शल्यमार्गोऽनुपसंरोहः पीडनाऽसहिष्णुता चोषपाकौ च; पेश्यन्तरस्थेऽप्येतदेव चोषशोफवर्जम्; सिरागते सिराध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च; स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरम्भश्चोग्रा रुक् च; स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः; धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गमर्दः पिपासा हृल्लासश्च जायन्ते; अस्थिगते विविधवेदनाप्रादुर्भावःशोफश्च; अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्णताऽस्थिनिस्तोदः प्रबलसंहर्षश्चसन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च; कोष्ठगते आटोपाऽऽनाहौ व्रणमुखात् मूत्रपुरीषाऽऽहारदर्शनं च मर्मगते मर्मविद्धवत् चेष्टा। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति । महान्त्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति, विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्यस्थिविवरेषु; दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताऽजीर्णेभ्यः प्रचलितानि शल्यानि पुनर्बाधन्ते । तत्र, त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयमर्दितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां त्वचि शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति चाऽऽलेपो यत्र, तत्र शल्यं विजानीयात्; मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमाणं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति, तत्र शल्यं विजानीयात्; कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्ववस्थितमेवमेव परीक्षेत; सिराधमनीस्रोतःस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुक्ते याने व्याधितमारोप्याशु विषमेऽध्वनि वाहयेत् यत्र संरम्भो वेदना वा भवति, तत्र शल्यं विजानीयात्; अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति, तत्र शल्यं विजानीयात्, सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसारणाकुञ्चनबन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत् यत्र संरम्भो वेदना वा भवति, तत्र शल्यं विजानीयात्, मर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्ममैणामुक्तं परीक्षणं भवति । सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमाऽऽरोहणधनुर्व्यायामद्रुतयाननियुद्धाऽध्वगमनलङ्घनप्लवनप्रतरणव्यायामैर्भृम्भोद्वारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्वातमूत्रपुरीषशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति, तत्र शल्यं विजानीयात् । यस्मिन् देशे तोदादयः सुप्तता गुरुता भवन्ति, यत्र बहुशो घट्टते, शूयते, रुज्यते, आतुरो यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति, तत्र बहुशः संवाह्यमानः शल्यं विनिर्दिशेत् । निःशल्यस्य लक्षणम्–अल्पाऽऽबाधं नीरुजं निरुपद्रवं, प्रसन्नं, मृदुपर्यन्तं निराघट्टमनुन्नतमातुरव्रणमेषण्या यथामार्गं सर्वतः प्रसाराकुञ्चनाद् दृष्ट्वा चिकित्सकस्तन्निःशल्यमिति निर्दिशेत् । हेतुभेदेनान्तःस्थशल्याऽवस्था–अस्थ्यात्मकं शल्यं भज्यते, अन्तश्च शीर्यते । शार्ङ्गमायसं प्रायो निर्भुज्यते । यदि वार्क्षवैणवतार्णानि न निर्हियन्ते, तर्हि वार्क्षादीनि शल्यानि देहिनां रक्तं मांसं च क्षिप्रं पचन्ति । कानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकमयं शल्यं पित्ततेजःप्रतापनाच्चिरस्थानाद्विलीयन्ते । अन्ये ये स्वभावशीता मृदवो मतास्ते द्रवीभूताः सन्तः शरीरे

धातुभिरेकत्वं यान्ति । विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि मृण्मयानि शल्यानि च शरीरे न विशीर्यन्ते (सुसू. २६.१-२२)
वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३४)
बिलेशयप्राणि० शल्लकः (रा. १७.१)

–कैडर्य–पु., वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३०)
–गर्भ–वि., आभ्यन्तरशल्यः (व्रणः) (सुचि. १.४१)
–ज्ञान–न., शल्याङ्गम्, शल्यतन्त्रम् (सुशा. ५.४६)
–दा–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१)
–निर्घातनी–वि., शल्यहारिणी (अहसू. २५.१५-१६)
–निर्घातनी नाडी–स्त्री., यन्त्र० शल्यहारिणी नांडी (असंसू. ३४)
–पर्णिका–स्त्री., वनस्पति० मेदा (ध. १.१२७)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० मेदा (ध. १.१२७)
–फल–न., वनस्पति० मदनः (र. १९.३९-४१)
–वारङ्ग–न., शक्त्यादिशल्यमुष्टिः (सुसू. २७.१४)
–हर्तृ–पु., शल्यमाहरतीति शल्यनिर्हर्ता, शल्याहरणकर्ता (चशा. ८.३१)

शल्यक–पु., बिलेशयप्राणि० वज्रशकलो बृहद्गोधानुकारी 'साला' इति लोके (डल्हणः), तस्य गुणाः–स्वादुः शीतः पित्तघ्नो लघुः विषापहश्च (सुसू.४६.७८,८२)
वनस्पति० मदनः (ध. १.१६८)

–रोमन्–न., शल्लकीति ख्यातस्य प्राणिनो रोमाणि, अस्यान्तर्धूमदग्धं भस्म हिक्काशमनार्थं क्षौद्रोपेतं लेहयेत् (सुउ. ५०.२०)
–वसा–स्त्री., भैषज्य० इयं नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थं प्रयुज्यते (असंउ. १६)

शल्लक–पु., बिलेशयप्राणि० शल्लूः महाशल्लकः, शल्ली (चक.) तन्मांसगुणाः–मधुराम्लं विपाके कटुकं, त्रिदोषघ्नं, शोथकासश्वासहरं च (चसू. २७.७१)
वातश्लेष्मात्मके उन्मादे शल्लकस्य मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिः सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् (चचि. ९.७४-७५; धपरि. ६.३८)
ग्रहचिकित्सायां शल्लकस्य चर्मरोमाणि धूमार्थमुपयुज्यंते (सुउ. ६०.३८)

(शल्लका)–स्त्री., बिलेशयप्राणि० शल्लकः (धपरि. ६.५)
(शल्लकी)–स्त्री., वनस्पति० बृहद्वृक्षः शालभेदः (चक. १.८; सुसू. ३८.१४-१५)

–रोमन्–न., रोम० शल्यकरोम (सुउ. ५०.२०)
द्र० 'शल्लक'

शल्लकि–स्त्री., वनस्पति० सर्जभेदः (चचि. २८.१६१)

शल्यापनयन–न., शल्यनिर्हरणम्, शल्यं द्विविधमबद्धमनवबद्धं च, तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं षञ्चदश हेतवः–स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणमाचूषणमयस्कान्तो हर्षश्चेति, तत्राऽश्रुक्षवथूद्गारकासमूत्रपुरीषाऽनिलैः स्वभावबलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः शल्यं पतति । मांसाऽवगाढं शल्यमविदह्यमानं पाचितं सत् प्रकोथात् पूयशोणितवेगाद्वौरवाद्वा पतति । पक्वमभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद्वा, भिन्नमनिरस्यमानं पीडनीयैः पीडयेत् पाणिभिर्वा; अणून्यक्षशल्यानि परिषेचनाभ्यापनैर्बालवस्त्रपाणिभिःप्रमार्जयेत् आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमनैर्निधमेत् ।अन्नशल्यानि वमनांगुलिप्रतिमर्शप्रभृतिभिः विरेचनैः पक्वाशयगतानि,व्रणदोषाशयगतानि प्रक्षालनैः,वातमूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणमुक्तम्, मारुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वाचूषणमास्येन विषाणैर्वा; अनुलोममनवबद्धमकर्ममनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन; हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेणेति । सर्वशल्यानां द्वावेवाऽऽहरणहेतू–प्रतिलोमोऽनुलोमश्च, प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोमं पराचीनम्।उत्तुण्डितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम्; छेदनीयमुखान्यपि कुक्षिवक्षःकक्षावंक्षणपर्शुकान्तरपतितानि च हस्तशक्यं यथामार्गेण हस्तेनैवापहर्तुं प्रयतेत । हस्तेनैवापहर्तुमशक्यं विशस्य शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत् । मूर्च्छन्तमेनं शीतलेन जलेनाऽवसेचयेत् । मर्माणि संरक्ष्य मुहुराश्वासयेत् । ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्यावदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत् । हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्याऽपहरेद्यथामार्गम्; दुरुपहरमन्यतोऽपबाध्यमानं पाटयित्वोद्धरेत् । अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्, अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभुज्य धनुर्गुणैर्बद्ध्वैकतश्चास्य पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकविके बध्नीयात्, अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरति; दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद् बद्ध्वा उद्धरेत् । अदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाऽश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण यथामार्गमेव यन्त्रेण विचाल्यापहरेत् ।

विमृदितकर्णानि कर्णवन्त्यनाबाधकरदेशोत्तुण्डितानि पुरस्तादेवाकर्षयेत् । जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां, तयाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतं शल्यमुद्धरेत् । अजातुषं तु जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेनेत्येके । अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकदीर्घसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकण्ठात् पूर्णकोष्ठं च वामयेत्, वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्; मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनाऽपहरेत् प्रणुदेद्वाऽन्तः । क्षतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत्त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्करायुतम् । उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद्धुनीयाद्वामयेद्वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् । ग्रासशल्ये तु कण्ठाऽऽसक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात् स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत् । बाहुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद्वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि, लालास्रावं फेनाऽऽगमनं संज्ञानाशं चाऽऽपादयति; तमभ्यज्य संस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं विदध्याद्रसं च वातघ्नं दद्यात् । अनाहृतं शल्यं शोथपाकौ उग्रा रुजो वैकल्यं मरणं चापि कुर्यात् । बुद्धिमान् वैद्यो निपुणया मत्या शल्यं यत्नाद्विनिर्हरेत्

(सुसू. २७.१-२६)

शल्यापनयनीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २७.१)

शल्यापहर्तृक–न., आयुर्वेदाङ्ग० शल्यतन्त्रम् (चसू. ३०.२८)

शल्याहरण–न., शल्यनिर्हरणम् (असंसू. ३७.१)

शल्याहरणविधि–पु., शल्यनिर्हरणविधिः (अहसू. २८.१)

शव–पु. न., मृतप्राणिशरीरम् (सुसू. ४५.९-१०)

–कोथ–पु.,प्रेतस्य कुथितम्, कुथितत्वम् (असंउ. ७.२५७-८)

–विष–वि., शवे विषं यस्य सः शवविषः (कीटादिदेहः) (सुक. ३.५)

शश–पु., बिलेशयजाङ्गलमृग० वातप्रकृतिप्राणिविशेषः (सुशा. ४.६७) तन्मांसगुणाः–स्वादु, कषायं कटुपाकि, शीतं, लघु, रूक्षं, विशदमल्पमारुतसन्निपाते शस्तं, पित्तकफापहम् (चसू. २७.७६; सुसू. ४६.८०) तन्मांसरसो वास्तुकयुक्तो विबन्धेन युक्ते रक्तपित्ते उपयुक्तः (चचि. ४.४९) तस्य पित्तं शिरःकपालं च नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. १६.२०; धपरि. ६.५)

हिं.—खरगोश, खरहा.

म.—ससा.

बं.—खरगोश.

–घातक–पु., प्रसहप्राणि० (ध. परि. ६.१४) द्र० 'प्रसह'

–घातिन्–पु., प्रसहपक्षि०चिल्ल्याकारो महाचरणनखः ग्रहारेण शशकाऽऽहरणशीलः, शशाशिरिति लोके प्रसिद्धः, अन्ये पाजीत्याहुः (ड. सुसू. ४६.७४)

–घातिमुख–न., स्वस्तिकयन्त्रशरारीमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०) द्र० 'स्वस्तिकयंत्र'

–घृत–न., शशमांसघृत० इदमूर्ध्वजत्रुगदापहम् (चचि. २६.१७५)

–घ्नी–स्त्री., प्रसहपक्षि० पाञ्जिरिति ख्यातः, शशं हन्तीति (चसू. २७.३६)

हिं.—शिकरा.

म.—बहिरी ससाणा.

बं.—पाञ्जी.

–शिम्बिका–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७८)

–शोणित–न., शशरक्तम् (असंसू. ३६.६)

शशाङ्क–पु., निर्यास० चन्द्रपर्यायत्वेन कर्पूरः (रा. १२.५६)

शशाङ्ककिरण–पु., कृतान्न० कर्पूरनाडिका (अहसू. ३.३२)

शशाण्डुली–स्त्री., वनस्पति० कोमलेयं तिक्तकटुः, जरठा सती कट्वम्लयुक्ता कफा वहा च पाके तु अम्ला मधुरा विदाहकृच्च; सेयं शुष्का रोचनी दीपनी च (रापरि. ७.१०३)

शशासृज्–न., शशरुधिरम् (सुशा. २.१७)

शशिन्–पु., वनस्पति० उशीरम् (रा. १०.६९) निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१)

(शशि)–कान्त–न., वनस्पति० कुमुदम् (रा.१०.२४६)

–प्रिय–न., रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६७)

–मित–वि., एकभागम्, शशिनः चन्द्रपर्यायत्वेन एकत्वसंख्याकत्वमापद्यते (र. १७.१३८)

–राजी–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (र. २५.१०६)

–लता–स्त्री., सोमवल्ली (र. ११.९०-९२)

–लेखा–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६६)

–वाटिका–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (ध. १.२७४)

शश्वत्–(अव्य०) प्रतिदिनम् नित्यम्, निरन्तरम् (सुनि. १४.६)

शष्कुलिका–स्त्री., कृतान्न० शष्कुली (सुचि. १०.५)

शष्कुली–स्त्री., आहारद्रव्य० शालिपिष्टैः सगुडतिलैस्तैल-पक्वाः शष्कुल्यः क्रियन्ते । 'शाङ्कुलि' इति लोके (ड.) श्लेष्मपित्तजननानां श्रेष्ठाऽसौ (चसू. २५.४०; सुसू. ४६.४००)
शारीर० शष्कुल्याऽऽकारो बाह्यकर्णस्य विभागः (सुचि. २५.११)

–**कल्प**–पु., सूदशास्त्रोक्तशष्कुलीनिर्माणविधिः (चक. १.२४)

शष्प–न., वनस्पति० नीलदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (ध.४.१४३) बालतृणम् (सुसू. ६.३२)

शस्तभूमिज–वि., प्रशस्तभूम्यां जातम् (सुचि. २४.५)

शस्त्र–न., छेदनादिषूपयुक्तं लोहादिकृतं वस्तु (सुसू. ८.१४) तत्संख्या– विंशतिः शस्त्राणि–मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्र-कार्धधारसूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रि-कूर्चककुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकबडिशदन्त-शंकेषण्यः; शस्त्राणां कर्माणि–मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रि-कोत्पलपत्रकार्धधाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुश-पत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे, कुठारिकाव्रीहिमुखाऽऽरावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे, एषण्येषणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीवने; इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः । शस्त्रधारणविधिः–तत्र वृद्धि-पत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृह्णीयाच्छेदनान्येवं सर्वाणि, वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रं च किञ्चि-दुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्यम् वृन्ताग्रे विस्रावणानि, विशेषेण तु बालवृद्धसुकु-मारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणां च त्रिकूर्च-केन विस्रावयेत्, तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदे-शिनीभ्यां व्रीहिमुखं, कुठारिकां वामहस्त-न्यस्तामितरहस्तमध्यमाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठविष्टब्धयाऽभि-हन्यात् आराकरपत्रैषण्यो मूले, शेषाणि तु यथायोगं गृह्णीयात् । तेषां नामभिरेवाऽऽकृतयः प्रायेण व्याख्याताः; तत्र नखशस्त्रैषण्यावष्टाङ्गुले, सूच्यो द्व्यङ्गुलस्त्र्यङ्गुला वा (ड.) प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेश-प्रमाणा मुद्रिका; दशाङ्गुला शरारिमुखी, सा च कर्तरीति कथ्यते । शेषाणि तु षडङ्गुलानि, शस्त्र-गुणाः–तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि; अकरालानि, चेति शस्त्रसंपत् । शस्त्रदोषाः–तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं, खरधारमतिस्थूलमतितुच्छमतिदीर्घमतिह्र-स्वमित्यष्टौ शस्त्रदोषाः अतो विपरीतगुणमाददीत अन्यत्र करपत्रात् । तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् तत्र धारा भेदनानां मासूरी लेखनानामर्धमासूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी छेदनानामर्ध-कैशिकीति । बडिशं दन्तशङ्कुश्चाऽऽनताग्रे, तीक्ष्ण-कण्टकप्रथमयवपत्रमुख्येषणी गण्डूपदाकारमुखी च तेषां पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु तत्र क्षारपायितं शरशल्याऽस्थिच्छेदनेषु उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु तैलपायितं सिराव्यधन-स्नायुच्छेदनेषु । तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकम् (सुसू. ८.३-१३) अनुशस्त्राणि–त्वक्सारस्फटिक-काचकुरुविन्दजलौकोऽग्निक्षारनखगोजीशेफालिका-शाकपत्रकरीरबालाङ्कुलयः शिशूनां शस्त्रभीरूणां च शस्त्राऽऽभावे बुद्धिमान्वैद्यः छेद्ये भेद्ये च त्वक्सारादिचतुर्वर्गं योजयेत् । शक्येष्वाहार्यच्छेद्यभेद्येषु नखं योजयेत् । ये नेत्रवर्त्मगता मुखगताश्च रोगास्तान् गोजीशेफालिका-शाकपत्रैर्विस्रावयेत् । एषण्यलाभे एष्येषु तु बालाङ्कुल्यङ्कुराहिताः (सुसू. ८.१५-१९)
खनिज० लोहम् (ध. ६.२६)

–**कर्मन्**–न., उपक्रम० शस्त्रैर्यत् शल्याऽऽहरणादि क्रियते तद् शल्यचिकित्सा (चसू. १.९१) तच्च शस्त्रकर्म–पाटनं, व्यधनं, छेदनं, लेखनं प्रच्छनं, सीवनं चेति षड्विधम् (चचि. २५.५५) छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं वेध्यमेष्यमाहार्यं, विस्राव्यं सीव्यमित्यष्ट-विधम् (सुसू. ५.५)

–**कृत्य**–वि., शस्त्रेण कर्तुं चिकित्सितुमर्हः (सुचि. १.९)

–**कोश**–पु., शस्त्रपेटी (अहसू. २६.३३-३४)

–**कोशतरु**–पु., वनस्पति० महापिण्डी (रापरि. ९.३३)

–**तैक्ष्ण्य**–न., शस्त्रस्य तीक्ष्णत्वम् (सुसू. ५.१०)

–**दोष**–पु., शस्त्राऽवगुणः कुण्ठखण्डत्वादिः द्र० 'शस्त्र' (सुसू. ८.९)

–**पद्**–न., शस्त्रेण छेदं कृत्वा यत्स्थानं भवति तत्, शस्त्रस्थानम् (सुसू. ५.७)

–**पदाङ्कन**–न., अङ्कनं चिह्नम्, शस्त्रच्छेदकृतं चिह्नम् (असंसू. ३७)

–**परिहर्तव्य**–वि., (परिव०) शस्त्रेण निःसारणीयः (सुशा. ५.१५)

-प्रणिधान-न., शस्त्रधारणं शस्त्रकरणं छेदनादि कर्म (चसू. ११.५५)
-भीरु-वि., यः शस्त्राद् बिभेति सः (सुसू. ८.१६)
-मार्ग-पु., व्रणे यत्र शस्त्रं प्रयुक्तं, तत्स्थानम् (सुउ. १६.६)
-योजना-न., शस्त्रस्योपयोगः (अहसू. २५.२)
-विधि-पु., उपक्रम० शस्त्रकर्म (अहसू. २६.१)
-संनिपात-पु., युद्धम् (सुचि. २४.९१)
-संपद्-स्त्री., शस्त्रगुणाः, द्र० 'शस्त्र' (सुसू. ८.८)
शस्त्राङ्गा-स्त्री., वनस्पति० क्षुद्राम्लिका (रा. ५.४४)
शस्त्रायस-न., खनिज० तीक्ष्णलोहम् द्र० 'लोह' (रा. १३.३०)
शस्त्रावचारणीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ८.१)
शस्त्रोचित-वि., शस्त्रसात्म्यम्, अभ्यस्तशस्त्रपातादिः (चचि. ३०.३१६)
शस्य-न., अस्थिरहितं फलम् (चचि. १.३७) धान्यम् (चवि. ३.७(३)
-जाति-स्त्री., अन्नसमूहः, तत्र धान्यानि शूकधान्य-कुधान्यशमीधान्यानि (सुसू. ४६.४३२)
शाक-पु., वनस्पति० सागः (सुसू. ३८.८-९; रापरि. ९.६) आहारद्रव्य० (चसू. १३.२३) व्यञ्जनभेदः, शाकवर्गः (सुसू. ४६.३५०)
-चुक्रिका-स्त्री., वनस्पति० अम्लिका (रा. ११.३६)
-च्छदनप्रकाशा-वि., शाकतरुपत्रसमा (जिह्वा) खरः (सुनि. १६.३७)
-जफल-(परिव०) न., सागफलम् (सुचि. ७.६)
-पत्र-पु., वनस्पति० शिग्रुः (रा. ७.६०) न., सागपत्रम्, अयमनुशस्त्रत्वेनोपयुज्यते (सुसू. ८.१५)
-पुष्प-पु., वनस्पति० करीरः (ध. ५.९९)
-फल-न., सागफलम् (सुसू. ३८.४३-४४)
-बीज-न., सागबीजम् (सुशा. १०.५९-६२)
-योग्य-पु., वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९८)
-राज-पु., वनस्पति० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२)
-वर्ग-पु., व्यञ्जनार्थमुपयुक्तमौद्भिदं द्रव्यम् (चसू. २७; सुसू. ४६.३३५; रा. मूलकादिवर्ग) मूलं, पत्रं, करीरमग्रं, फलं, काण्डमधिरूढकं त्वक्पुष्पं छत्रकञ्चेति दशविधं शाकम्; तत्र मूलशाकं मूलकगृञ्जनादिकं, पत्रशाकं वास्तुकादि, करीरं नालशाकम् मधुशिग्रुकरीरादिकम्, अग्रं कोमलाङ्कुरः वंशकरीरादिः (चसू. २७; सुसू. ४६.२८९-२९०) फलशाकं कूष्माण्डम् अलाब्वादि (सुसू. ४६.२१३-१६) पुष्पमगस्तिपुष्पादिकम्, छत्रकशाकं पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजादिकम् (सुसू. ४६.२११-२८०) षड्विधं शाकम्-पत्रं, पुष्पं, फलं, नालं, कन्दं, संस्वेदजं च तच्च यथोत्तरं गुरु विद्यात्। प्रायः सर्वाणि शाकानि गुरूणि, रूक्षाणि, विष्टम्भीनि बहुवर्चांसि सृष्टविण्मारुतानि च सन्ति। शाकं वपुर्भिनत्ति, अस्थिरक्तशुक्रवर्णनेत्रप्रज्ञास्मृतीर्नाशयति, पलितं करोति, तथैव गतिमपि हन्ति। शाकेषु सर्वे रोगा वसन्ति। तस्माद्बुधः शाकविवर्जनं कुर्यात् (भाप्र पूर्वखण्ड, वर्गप्रकरण ६; शाकवर्ग) रसभेदेन शाकवर्गः-तिक्तप्रायो मण्डूकपर्ण्यादिशाकवर्गः (सुसू. ४६.२६२) कषायमधुरशाकं चुञ्चूयूथिकादि (सुसू. ४६.२४९) पिण्याकतिलकल्कादि शुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि शाकेषु पुष्पे, पत्रे फले, नाले, कन्दे च गुरुता क्रमादधिकतरा वर्तते। सर्वं सकषायं स्वादुशाकं विड्भेदि, गुरु, रूक्षं प्रायो दुर्जरमस्ति। कर्कशं जीर्णं, कृमिजुष्टमदेशजमकालविरोहि पत्रशाकं वर्जयेत् (सुसू. ४६.२९६-२९७) स्विन्नं निष्पीडितं स्नेहसंस्कृतं शाकं हितम्, अस्विन्नं स्नेहरहितमपीडितं शाकमहितम् (सुसू. ४६.३५०) पत्रफलपुष्पादि अशुष्कं तरुणं नवं शाकं श्रेष्ठम् (सुसू. ४६.३३९) पुष्पपत्रादि यथोत्तरं गुरु, पत्रशाकमपेक्ष्य पुष्पशाकं गुरु, ततः फलशाकम्, ततो नालशाकं, ततोऽपि कन्दशाकमिति ज्ञेयम् (सुसू. ४६.२९६) तत्र किञ्चित्संस्कारकं किंचिच्छाकं किंचिद्भेषजं किञ्चिदाहारयोगीति (सुसू. ४६.२४३) तद्गुणाः-विष्टम्भि, वातलं च (सुसू. ४६.२४२)
-वीर-पु., वनस्पति० जीवन्तः (रापरि. ७.८९)
-श्रेष्ठा-स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (ध. १.१४०) अन्या दोडी (रापरि. ४.४१) वृन्ताकी (रा. ७.१२८)
-सात्म्य-वि., शाकस्य सात्म्यं यस्य सः, शाकान्युपशेरते यस्य सः (चचि. २९.५३)
शाकट-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११.१४८)
-पोतिका-स्त्री., वनस्पति० मूलपोती (रापरि.७.७८)
शाकन्ध-पु., वनस्पति-कोविदारः (र. १८.१३९-४१) सूरण (र. १८.१३९-४१)

शाकाङ्ग–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३५)
शाकान्न–न., शाकयुक्तभोजनम् (सुसू. ४६; सुसू. ४६.४९१)
शाकाम्ल–न., वनस्पति० चिञ्चासारः (रा. ११.४१)
वनस्पति० वृक्षाम्लम् (ध. २.९५)
शाकुन–न., चित्तप्रकृति० राजससत्वस्यैकः प्रकारः, शाकुनकायः (चशा. ४.३८(३))
–काय–वि., राजससत्वभेदः, शाकुन–स्वभावः, तल्लक्षणम्–प्रवृद्धकामसेवी, अजस्राहारः सेविन् अमर्षणः अनवस्थायी च (सुशा. ४.९१)
शाकुनिक–पु., शकुनान् पक्षिणो हन्ति इति पक्षिणां हन्ता, व्याधः, मृगयुः (सुसू. २.८)
शाकुनेय–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१३)
शाकुन्तिक–पु., पक्षि० (चसू. २९.१०)
शाकुन्तेय–पु., महर्षि० (चसू. २६.३)
शाकर–पु., सोम० (सुचि. २९.७.) द्र० ' सोम '
शाखा–स्त्री., हस्तौ पादौ च (ड) चतस्रः शरीरस्य शाखाः (सुशा.५.३)
रसादयो धातवः (चसू. २८.३१)
रक्तादयो धातवः, त्वक् च बाह्यो रोगमार्गः (चसू. ११.४८)
आयुर्वेदाऽपरपर्यायः (चसू. ३०.३१)
वृक्षशाखा (सुसू. ७.१५)
–कण्ट–पु., वनस्पति० स्नुही (रा. ८.३५५)
–दष्ट–वि., हस्तपादादौ दष्टः (सुक. ५.३-४)
–वात–पु., रोग० शाखागतवातः (अहसू. ५.२८)
–वातहर–वि., शाखागतवातः, तं नाशयतीति (चसू.२७.२२१)
–संस्थ–वि., शाखासु स्थितः (अहसू. १७.२९)
शाखाद–पु., प्राणि० छागः (असंसू. ६.११४)
हस्ती (असंसू. ६.११४)
शाखादमेदस्–न., अजमेदः (असंसू. ६.११४)
हस्तिमेदः (असंसू. ६.११४)
शाखानिल–पु., करादिषु रक्तादिषु वा गतो वायुः (चचि. १२.३८)
शाखानुसारिन्–वि., शाखागतः (चचि. ३.२८९-२९०)
द्र० ' शाखानिल'.
शाखाम्लमेदन–न., वनस्पति० चुक्रम् (रा. १५.२९२)
शाखाल–पु., वनस्पति० वानीरः (रापरि. ९.१७)
शाखाश्रितमर्मन्–(परिव०) न., शाखाश्रितं मर्म (चसि. ९.३) द्र० ' मर्मन् '
शाखिन्–पु., वनस्पति० पीलुः (ध. ५.५१)
शाखोट–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–तिक्त उष्णः पित्तकृद्वातहारी (रापरि. ९.३०) तत्सिद्धं तैलं अपचीरोगहरम् (सुचि. १८.२३)
शाखोटक–पु., वनस्पति० शाखोटः (सुचि. १८.२३)
शाङ्ग–न., शङ्खस्य इदमिति शाङ्गम् (चूर्णम्) (सुउ. १०.१५)
शाटक–पु., न., वस्त्रपट्टम् (सुशा. ८.८) वस्त्रखण्डम् (अहसू. १७.५)
शाण–पु., मान० त्रयो माषकाः शाणः (चक. १२.८९) कर्षचतुर्थांशः (अहसू. ७.२८) द्र० ' मान '
शाण्डाकी–स्त्री., व्यञ्जन० शिण्डाकी (चचि. २१.१८)
" शिण्डाकी राजिकायुक्तः स्यान्मूलकदलद्रवैः, सर्षपस्वरसैर्वापि शालिपिष्टकसंयुतैः " (भाप्र.)
–वटक–न., कृतान्न० शाण्डाक्यां स्थापितं मुद्गादि-वटकम् (अहसू. ६.३४) द्र०' शांडाकी '
शाण्डिल्य–पु., ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१०)
वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०६)
शातकुम्भ–न., खनिज० सुवर्णम् (सुउ.१०.९;ध.६.१)
शातन–(परिव०) न., नाशः (सुचि. ६.१२) विदारणम् (अहसू. ३०.३६)
शाद्वल–न., वनस्पति० नवतृणम् (चचि. १०.४८-४९)
नीलदूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (ध. ४.१४३; असंउ.२४)
वि., वर्णतो हरितम् (असंनि. ८.९)
शान्त–वि., उत्सन्नम् (चचि. १५.४)
पु., वनस्पति० दमनम् (ध. ३.६६)
(शान्ता)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा, द्र० ' दूर्वा ' (रा. ८.२२६)
शमी (रा. ८.१५२)
रेणुका (रा. ६.१००)
आमलकम् (रा. ११.३२५)
–ज्वर–पु., लीनो ज्वरः (सुउ. ३९.१६४)
शान्ताङ्गार–वि., निर्वाणाङ्गारसदृशः कृष्णः (चक. चचि. २१.३६)
शान्तनु–पु., कुधान्य० कोरदूषकादीनामेकतमः (सुसू. ४६.२१)
शान्तात्मन्–वि., शान्तस्वभावः (सुउ. ६०.१२)
शान्ति–स्त्री., शमनम् (चनि. ८.३०)

चिकित्सा (चनि. ८.३०-३१)
भेषजम् (चनि. ८.३०-३१)
विरजः, ब्रह्म (चशा.५.२३)
परमक्षरमव्ययममृतं, विपापं, शान्तं, निर्वाणम् (चशा. ५.२३)

–कर्मन्–न., चिकित्सा (सुसू. ३.२६)
अथर्ववेदोक्तं देवाद्युपसृष्टचेतसां देवादिग्रहशमनार्थं या क्रिया क्रियते, सा (सुसू. १.८. (४)
वेदोक्तमन्त्रैर्यजनादिकम् (सुसू. ६.२०)

शापापशमनी–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२)

शापित–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५.९४)

शाबर–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३९)
क्रमुकः, लोध्रभेदः द्र० ' लोध्र ' (रा.६.२४१)
धान्य० शालिभेदः द्र० ' शालि ' (ध. ६.७०)

–लोध्र–पु., वनस्पति० द्र० 'लोध्र' (असंसू. १६.२०)

शाबरक–पु., वनस्पति लोध्रः (ध. ३.१७५)

–लोध्र–पु., वनस्पति० लोध्रभेदः, द्र० ' लोध्र ' (अहसू. १५.२६)

शामाम्ली–स्त्री., वनस्पति० नीलाम्ली (रापरि. ४.३८)

शाम्भव–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३४)
निर्यास० गुग्गुलुः (रा. १२.१८४)
कर्पूरः (१२.५६)
वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३)

(शाम्भवी)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा द्र० ' दूर्वा ' (रा. ८.२२६)

शारङ्ग–पु.,प्रतुदपक्षि० (चसू. २७.५३) द्र० ' प्रतुद '

शारद–पु., ऋषि० प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९-५३)
धान्य० शरत्कालीनशालिः द्र० ' शालि ' (चसू. २७.१४)
षष्टिकभेदः, द्र० ' षष्टिक ' (ढ. सुसू. ४६.८)
व्रीहि० द्र० ' व्रीहि ' (अहसू. ६.९)
मुद्गभेदः द्र० ' मुद्ग ' (रा. १६.१३०)
वनस्पति० काशः (रा. ८.२००)
न., पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८)

(शारदा)–स्त्री., वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६१)

(शारदी)–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४९)
महाराष्ट्री (रापरि. ४.१२)
जलपिप्पली (ध. ४.६४)

–मुद्ग–पु., धान्य०हरितमुद्गः स हि प्रायः शरदि भवति (चक्र. चचि. १०.४६) द्र० ' मुद्ग '

शारदिक–पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६२)

(शारदिका)–स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा. ७.२५०)

शारपद–पु., विष्किरपक्षि० मल्लकङ्कः (चसू. २७.४९)
द्र० ' विष्किर '

शारिका–स्त्री., पक्षि० सारिका (चचि. २३.२५३)

–मुख–पु., वायव्यः कीट० (असंउ. ४३)

शारिन्–पु., वनस्पति० शरपत्रः (रा. ८.२०९)
मुञ्जः (रा. ८.२०४)

शारीर–वि., शरीरे संजातः (चचि. ३.३६)
शरीरस्येदम् शरीरसम्बन्धि (असंशा. १२.३३)

–व्याधि–पु., वातादिवैषम्यनिमित्तो व्याधिः (सुसू. १४.)

–व्रण–पु., रोग० व्रणः (मा.)

–शल्य–न., शरीराबाधकरम् दुष्टं दोषधातुमलादि द्र० 'शल्य' (सुसू. २६.६)

–स्थान–न., शरीरस्येदं शारीरम्, चरकसंहितायां चतुर्थं स्थानम् (चशा. ८.६९) सुश्रुतसंहितायां तृतीयं स्थानम्, चिकित्साऽधिष्ठानभूतशरीरमधिकृत्येदं स्थानमुपदिष्टम् अतः शारीरस्थानमिति साधु (सुशा. १)

शारीरी-शलाका–(परिव०) स्त्री., शलाका० शृङ्गादिजा शलाका (सुउ. १८.६३)

शार्कर–पु., आसुत० मद्यभेदः (चसू. २६.८४) शर्कराप्रकृतिक आसवः, गुडशर्करया खण्डशर्करया वा क्रियते । तद्गुणाः–मधुरो रुच्यः; मुखप्रियः (च) दीपनः; सुगन्धिः, सुखमदो हृद्यो वर्ण्यो जरणीयः; इन्द्रियबोधनो वातघ्नः; बस्तिरोगनुच्च (चसू. २७.१८३; सुसू.४५.१८३)

शार्ङ्ग–वि., महिषादिशृङ्गमयं (यन्त्रम्) (सुनि. ६.११) भाजनादि शृंगनिर्मितम् तत्र लवणरसप्रधानमञ्जनं स्थापयेत् (सुउ. १८.६१-६२)
न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध. २.८५)

शार्ङ्गेष्टा-स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (असंसू. १४.३)
काकजङ्घा (र. १२.९७-९८)
काकमाची (र. १२.९७-९८)

शार्ङ्गेष्टादिकवर्ग–पु., द्रव्यगण० शार्ङ्गेष्टा, कण्टकारी, करीरस्तिलपर्णिकेन्द्रवारुणी मुस्ता, हरिद्रा, पिप्पली, धत्तूरः, कटुतुम्बी, तिन्तिण्यपामार्गोऽङ्कोलमूलमित्येतेषां वर्गः, अयं सन्निपातहरः (र. १२.९७-९८)

शार्ङ्गाख्य–पु., प्रतुदपक्षि० (असंसू. ७.७२-७५) द्र० 'प्रतुद'

शार्ङ्गेष्टा–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (चचि. २७.३३)

काकजङ्घा (सुचि. २३.१२)
काकमाची (सुसू. ३८.६-७)
यवतिक्ता (सुसू. ३८.५४-५६)
अङ्गारवल्ली, करञ्जभेदः, द्र० ' करञ्ज '
(रा. ९.१८२)
शीता, कफपित्तहरा च (चसू. २७.९६)
भम्भुरुट्टाको वेष्टितफलः काकमाच्यनुकारः
(ड. सुचि. ३७.३६)

शार्दूल–पु., वनस्पति० चित्रकः (रा. ६.१२४)

शाल–पु., वनस्पति० सर्जकः (चसू. ४.१८; ध. ५.१२३; सुसू. ३९.६)
शङ्कुः, वृक्षविशेषः (ड. सुचि. १९.३३-३४)
लकुचः (रापरि. ९.४४)
निर्यास० रालः ध. ३.१२१)

–कल्याणी–स्त्री., वनस्पति० शालिञ्चः
(चसू. २७.१०२)

–निर्यास–पु., निर्यास० धूमद्रव्यमिदम्
(रा. ९.२०५; सुउ. ५१.५१)
रालः (ध. ३.१२१)

–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (चसू. २.२०; (सुचि. ११.१०)

–रस–पु., निर्यास० रालः (रा. १२.१७७)

–सारादिगण–पु., वनस्पतिसमूह० (सुसू. ३८.८–९)

–सारादिलेह–पु., सिद्धौषधि० लेह० तद्गुणः–सर्वमेहनाशकः (सुचि. १२.१०)

शालन–न., व्यञ्जन० अवदंशः, येन सहान्नं भोक्तुं युज्यते (अरु. अहसू. ६.१०६)
हरितकम्, यदुपदंशेषु युज्यते येन च व्यञ्जनं वास्यते (हे. अहसू. ६.१०६)

शालाक्य–न., आयुर्वेदाङ्ग० शलाका शालाक्यतन्त्रम्
(चसू. ३०.२८)

–तन्त्र–न., शलाकया क्रियते इति शालाक्यं, तदेव तन्त्रम्, विशेषेण ऊर्ध्वजत्रुविभागरोगेषूपयुक्तम् (चचि. २६.१२३) नेत्रकर्णशिरोघ्राणेत्याद्यूर्ध्वाङ्गगतविकाराणां निरूपकं तन्त्रम् (सुउ. १.५)

शालाग्नि–पु., अग्निशालास्थो गार्हपत्याग्निः (काशा. ८)

शालामर्कटक–न., वनस्पति० चाणक्यमूलम्
(ध. ४.३५)

शालामुख–पु., धान्य० कृष्णकृष्णशुक्लाकारतण्डुलाः व्रीहिभेदाः द्र० ' व्रीहि ' (सुसू. ४६.१२)

शालावृकी–स्त्री., रेवतीग्रहगृहीतरूपम्
(का रेवतीकल्प ७)

शालि–पु., स्त्री., धान्य० (चसू. २७.९-१५; सुसू. ४६.४-७; रा. १६.७८; पृ. २२०) लोहितशालिकलमकर्दमकपाण्डुकसुगन्धकशकुनाहृतपुष्पापाण्डकपुण्डरीकमहाशालिशीतभीरुकरोध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहायनकदूषकमहादूषकप्रभृतयः शालयः (सुसू. ४६.४) सामान्यगुणाः–रसे विपाके च मधुरा, शीता, स्निग्धा, लघ्वी, बलावहा, पित्तघ्नी, अल्पवातकफकरी बद्धाल्पवर्चो सर्वासु शालिषु लोहितकशालिः श्रेष्ठा, तद्गुणाः–स्वर्या, चक्षुष्या, हृद्या, शुक्रमूत्रला, वर्णबलकरी, त्रिदोषघ्नी, तृष्णापहा, व्रण्या, ज्वरघ्नी विषापहा च (सुसू. ४६.५-७) अकण्डितशुक्ला हैमन्ताः शालयः, अन्ये तु कण्डितशुक्ला अकण्डितशुक्लाश्च हैमन्ताः, ग्रैष्माः, षष्टिकाः, वार्षिकास्तु व्रीहयः, ' कण्डितशुक्लास्तु व्रीहयः ' इत्यन्ये
(ड. सुसू. ४६.४; असंसू. १५.२२; अहसू. ६.३)
षष्टिशालिः कृष्णाली रक्तशालिः मुण्डशालिः महाशालिः सूक्ष्मशालिः गन्धशालिरित्येवं शालिर्बहुविधः गौरनीलभेदेन षष्टिशालिः द्विधा । गौरशालिगुणाः–रुच्यः शीतलो दोषहारी बल्यः पथ्यो दीपनो वीर्यवृद्धिं च करोति । नीलशालिस्त्वेतस्मात्किञ्चिदूनगुणः । कृष्णशालिगुणाः–त्रिदोषघ्नो मधुरः पुष्टिवर्धनः वर्णकान्तिकरो बल्यो दाहजिद्वीर्यवृद्धिकृच्च । रक्तशालिगुणाः–सुमधुरो लघुः स्निग्धो बलावहः रुचिकृद्दीपनः पथ्यो मुखजाड्यरुजापहः सर्वामयहरो रुच्यो पित्तदाहानिलास्रजिच्च ।
मुण्डशालिगुणाः–त्रिदोषघ्नो मधुराम्लो बलप्रदः । महाशालिगुणाः–स्वादुर्मधुरशिशिरःपित्तशमनो ज्वरं जीर्ण–दाहं जठररुजमाशु शमयेत् । बालतरुणवृद्धानां हितत्वेन सदा सेव्यः सर्वैरनलबलवीर्याणि चासौ कुरुते ।
सूक्ष्मशालिगुणाः–समधुरो लघुः पित्तास्रदाहनुत् दीपनः पाचनः किञ्चिद्वातविकारजिच्च; गन्धशालिगुणाः–मधुरोऽतिवृष्यः पित्तश्रमास्रारुचिदाहशान्तिदः स्तन्यो गर्भस्थिरतालपबातदः पुष्टिप्रदः अल्पकफो वल्यश्च (ध. ६.८४-९४)
हिं.—चावल.
म.—भात.
गु.—शाल्य.
बं.—शालिधान्य.
फा.—विरंज.

-दला-स्त्री., शालिपर्णी (रा. ४.११५)

-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-स्वादुः तिक्तोष्णा गुरुर्वृष्या, रसायनी, पुष्टिदा क्रिमिप्रणुत्, विषमज्वरवातघ्नी, मेहार्शःशोथसन्तापज्वरश्वासविषापहा, त्रिदोषशोषच्छर्दिघ्नी क्षतकासातिसारजिच्च (ध. १.८७ पृ. २३) श्वयथुहरगणे प्रोक्तम् एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)

हिं.—शालवन.

म.—सालवण.

गु.—शालिपर्णी.

बं.—शालपानि.

ता.—मेर्मल्लि.

वनस्पति० माषपर्णी (रा.३.१७१; असंसू. १३.३)

-पर्णीका-स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (असंसू. १५.२६)

-पिष्ट-न., शालीनां पिष्टम् (सुचि. ३.७)

-प्रवर-पु., शालिभेदः द्र० ' शालि ' (ध. ६.६९)

-षष्टिकमूल-न., शालिषष्टिकस्य मूलम्, गर्भस्थापनार्थमुपयुक्तम् (चशा. ८.२४; पृ. २१९)

शालिन-न., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.१६३; पृ. १६७)

शालीन-वि., आश्रमवासी (चचि. १(४).३)

पु., वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४; पृ. ६९)

न., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.१६३; पृ. १६७)

शालीना-स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४; पृ. ६९)

शालुक-पु., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.५६; पृ. १४५)

शालू-पु., वनस्पति० पद्मकन्दः (सुउ. ५४.४)

शालूक-पु., कण्ठरोग० कण्ठशालूकः (सुनि. १६.५१)

तल्लक्षणम्-गले कफसंभवः कोलास्थिमात्रः कंटकशूकभूतः खरः स्थिरः ग्रंथिर्भवति । शस्त्रसाध्योऽयम् (सुनि. १६.५१)

शाक० शाकमस्य गुरु विष्टम्भि शीतलं च, (चसू. २७.११६)

वनस्पति० पद्मकन्दः, तद्गुणाः-कटुरुष्णो रुच्यः सुखप्रसवकर्मा कफवातघ्नो नेत्रामयरक्तदोषहरश्च (ध. ४.५६; चचि. ३०.८९-९०)

वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.२५; पृ. १०२ (अहसू. ६.९१)

-कन्द-पु.,वनस्पति० पद्मकन्दः (सुसू. ४६.४६४)

शालेय-पु., वनस्पति० चाणक्यमूलम् (चसू. २७.१७०)

वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४; पृ. ६९)

शाल्मल-पु., वनस्पति० शाल्मली (ध. ५.१२६)

शाल्मलक-पु., वनस्पति० मोचरसः शाल्मलीवृक्षः (असंक. ४)

शाल्मलि-स्त्री., वृक्ष० शाल्मली (सुउ. ४५.३४)

-पत्रक-पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (ध. ३.८०; पृ. ११२)

-पुष्प-न., शाक० (चसू. २७.९९)

-वेष्ट-पु., निर्यास० मोचरसः (रा. ८.२१५) पृ. १९६)

शाल्मलिक-पु., वनस्पति० रोहितकः (ध. ५.१३०; पृ. १९६)

शाल्मली-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-मधुरा, कषाया, शीता, स्निग्धा, शुक्रश्लेष्मलबल्यकारिणी, च (ध. ५.१२६; पृ. १९५) अतिसारशूलघ्नी पिच्छाबस्त्युपयुक्ता च (सुउ. ४०.११३)

हिं.—शेमुर.

म.—सावरी.

गु.—शेमलो.

बं.—सिमुलगाध.

ता.—पूरणि.

वृक्ष० दग्धा संस्कृताऽतीसारशूलविनाशिनी पिच्छाबस्त्युपयुक्ता च (सुसू. ४०.११३; असंसू. १५.३२)

स्त्री., (असंसू. ३६.१०; चसू. ४.१५)

-कन्द-पु., वनस्पति० गुणाः- मधुरः, शिशिरः, पित्तदाहार्तिशोषसन्तापनाशनः, मलसंग्रहरोधजिच्च (रापरि. ७.४६; पृ. ३५१)

-पुष्प-न., तूलवृक्ष० गुणाः-तच्च मधुरं, मधुरविपाकं, रक्तपित्तहरं च (सुसू. ४६.२८१)

-फल-पु., वनस्पति० तेजःफलः (रापरि. ११.१७; पृ. ३७४)

-फलक-न., मण्डलाग्रादिशस्त्राणां धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीकाष्ठफलम् उपयुज्यते (सुसू. ८.१३. असंसू. ३४.३७)

-मृद्-स्त्री., शाल्मलीपिच्छा, मोचरसः (सुचि. १५.९)

-वेष्टक-पु., न., निर्यास० शाल्मलीनिर्यासकः (सुउ. ४०.६९)

-श्लेष-पु., शाल्मलीनिर्यासः, मोचरसः (चचि. ३०.९१)

शाल्मलुका–स्त्री., वनस्पति० शेलूकः (असंसू. १४.३)

शाल्यन्न–न., व्रीहीनामन्नम् (र. २०.१९-२२; अहसू. ५.३)

शाल्योदनोपम–पु., वनस्पति० कुन्दः (ध. ५.१५०; पृ. २०१)

शाल्वण–पु., उपनाह० अयं सुखोष्णः स्पष्टलवणः वातरोगिभ्यश्च सर्वदा हितः (सुचि. २२.४; सुउ. ९.६)

शाव–वि., शवस्येदमिति शावो नाम शवसम्बन्धी (गन्धादिः) (चचि. २५.२७)

शास्त्र–न., शास्यतेऽनेन शास्त्रम् । आयुर्वेदः, वैद्यकशास्त्रम् (चवि. ८.३) विशिष्टविषयस्य प्रकरणम्, यथा–'स्वरभेदादिशास्त्रम्' (ड. सुउ. ४१.५५; अहसू. १२.५६)

–**चक्षुस्**–वि., शास्त्राधारेण सर्वपदार्थानां परीक्षकः (चचि ३०.२३१)

–**दृष्ट**–वि., शास्त्रेण दृष्टं प्राप्तं सिद्धं वा (सुशा. ५.४८)

–**निश्चय**–पु., चिकित्सादिशास्त्रनिर्णयः (सुसू. ४.७)

–**प्रामाण्य**–न., आगमप्रामाण्यम् (सुसू. ४०.३)

–**बहिष्कृत**–वि., शास्त्रे बहिर्भूतः शास्त्रपरम्परीणज्ञानहीनः (सुसू. ३.४९)

–**वाद**–पु., शास्त्रवचनम्, तच्च लोकानुग्रहप्रवृत्तिमूलकमिष्यते (चसू. ११.२७)

शिंशप–पु., वृक्ष० शिंशपा (अहसू. १५.३२; असंसू. १६.१४)

शिंशपा–स्त्री., (चक. १.८)

(शिंशपा)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– कटुस्तिक्तोष्णा, वर्ण्या, बल्या, रुच्या, कफवातघ्नी, कण्डुबस्तिरोगहिक्काशोफपित्तदाहाऽतीसाराऽजीर्णहरा च (चक. १.८; ध. ५.१२१; पृ. १९४)

हिं.—शीसव.

म.—काळा शिसव.

गु.—शिशम.

बं.—शिशुगाछ.

ता.—इट्टि.

–**तैल**–न., सारतैल० गुणाः– तिक्तं, कटु, कषायं, दुष्टव्रणशोधनं कृमिकफकुष्ठाऽनिलहरं च (सुसू. ४५.१२३)

–**सारतैल**–न., तैल० तीक्ष्णं कटुरुपित्तकृदर्शःकुष्ठकृमिश्लेष्मशुक्रमेदाऽनिलाऽपहम् (असंसू. ६.१०६)

–**सारधूम**–पु., धूम० शिंशपासारस्य धूमः (चशा. ८.३८)

–**स्नेह**–पु., तैल० तिक्तकटुकषायः दुष्टव्रणशोधनः कृमिकुष्ठकफानिलहरश्च (सुसू. ४५.१२३)

शिशुमार–पु., जलचरप्राणि० (असंउ. २२)

शिक्य–न., द्रव्यरक्षणार्थं रज्जुकृत आधारः (चक. १.१३) मुञ्जादिविरचितो द्रव्यरक्षणप्रयोजनः पात्राधारविशेषः (सुसू. ४५.१८)

शिक्यावलम्बन–न., शिक्यं तत्र जलाऽवलम्बनं शीतीकरणार्थम्, इदं सप्तशीतीकरणानामेकतमम् (सुसू. ४५.१९)

शिखण्डी–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (ध. ४.२९; पृ. ११०) सुवर्णयूथा, यूथिकाभेदः द्र० 'यूथिका' (रा. १०.२५१, पृ. २००)

शिखर–न., वनस्पति० लवङ्गम् (ध. ३.४१; पृ. १०४) भैषज्य० कर्कटशृङ्गी (रा. ६.१११; पृ. २२)

(शिखरी)–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (रा. ५.१४१; पृ. १५३)

–**दशन**–पु., लक्षण० शिखरवत् तीक्ष्णाग्रत्वेन शोभना दन्ता यस्य सः (चवि. ८.१०९)

शिखरिन्–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध.१.२६०;पृ.६०) भैषज्य० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१; पृ. १२१) वनस्पति० जूर्णा (रा. १६.१६७; पृ. २२९. अहसू. ३०.२४)

(शिखरिणी)–स्त्री., वनस्पति० वनमल्लिका (ध. ५.१४०; पृ. १९८) आहारद्रव्य० 'शिकरण' इति लोके र. २७.९४-९६)

शिखा–स्त्री., वनस्पति० बर्हिचूडा (रापरि. ५.१३; पृ. ३४१)

–**कन्द**–न., वनस्पति० गृञ्जनम् (रा. ७.५५; पृ. १४१)

–**वला**–स्त्री., वनस्पति० बर्हिचूडा (रापरि. ५.१३; पृ. ३४१)

शिखालु–स्त्री., वनस्पति० बर्हिचूडा (रापरि. ५.१३;पृ. ३४१)

शिखिन्–पु., पक्षि० मयूरः (चसू. २७.५८) अस्य पित्तस्य लेपात् श्वित्रं नश्यति (सुचि. ९.२६) कुक्कुटः (ड. सुक. ५.६८-७३) शिखायुक्तः यः स ब्राह्मणः (चशा. ८.५०) शिखा ज्वाला, तद्वान् अग्निः (र. ३.८५)

खनिज० तुत्थकम् (र. ११.५०)
वनस्पति० चित्रकः (र. १३.७४-७५)
शितिवारः (ध. १.१५५; पृ. ३६)
वि., शिखायुक्तः, सशिखः (ब्राह्मणादिः)
(चशा. ८.५०)

(शिखिनी)–स्त्री., वनस्पति० बर्हिचूडा
(रापरि. ५.१३; पृ. ३४१)

(शिखि)–कण्ठ–न., खनिज० तुत्थकम्
(रा.१३.२०५; पृ. १२४. अहसू. ७.१४)
–कर्णी–स्त्री., वनस्पति० त्रिपर्णी, अग्निकर्णी
(र. २९.५७)
–चन्द्रक–पु., वनस्पति० असौ कर्णरोगे तैलनिर्माण-विधावुपयुज्यते (असंउ. २२)
–तुत्थ–न., मयूरतुत्थम् (र.१८.६९) द्र० 'तुत्थक'
–त्र–पु., दग्धकाष्ठकठिनखण्डः (र. ७.५-१५) कोकिलः शिखिनमग्निं त्रायते निर्वापणादिति शिखिनः कोकिलः (र. २.१७०)
–निभ–अग्निवद् रक्तवर्णम् (र. २३.७५-७६)
–नेत्र–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा.११.१३५; पृ. २७)
–पित्त–न., मयूरपित्तम्, श्वित्रे लेपार्थमुपयुज्यते (असंचि. २२) द्र० 'पित्त'
–प्रिय–पु., वनस्पति० बदरभेदः (रा. ११.१६४) द्र० ' बदर '
–बर्हविचित्रार्चिस्–वि., मयूरपिच्छानीव विचित्र-वर्णान्यर्चींषि यस्य सः, अग्निः । यदा विषदुष्टमन्न-मग्नौ प्रक्षिप्तं भवति तदा चाग्नेर्ज्वालाः शिखिबर्ह इव विचित्रवर्णा भवन्ति । धूमश्च कुणपगन्धि-र्भवति (चचि. २३.१०८-१०९; सुक. १.२९)
–मूल–न., वनस्पति० गृञ्जनम् (रा. ७.५५)
–मोदा–स्त्री , वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१)
–वाडव–पु., पारदादियोग० पारदताम्राभ्रगन्धकादि-साधितोऽयं वातगुल्महरः (र. १८.५८-६१)
–शिखा–स्त्री., वनस्पति० मेथिका (ध. ६.१११)

शिग्रु–पु., वनस्पति० शिग्रुवृक्षः (र. १८.३; अहसू. ६.१०६) शोभाञ्जनम्; विटपशाकम्, (सुउ. ४२.९४) हरितविशेषः, स च हृद्य आस्वाद-नीयः पित्तोत्क्लेशकरश्च (चसू. २७.१७०) नाडी-स्वेदार्थमुपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. १४.३१) अस्य बीजं शीर्षविरेचने उपयुज्यते (चसू. २.३-५) स्नेहयुक्तद्रव्यविशेषः (चसू. १३.१०) गुणाः–तिक्तः कटुरुष्णस्तीक्ष्णो रुच्यो दीपनः कफवातघ्नः शोफ-कृम्यामदोषविषमेदविद्रधिप्लीहागुल्ममुखजाड्य-व्रणदोषहरः (ध. ४.३९; सुउ. ३९.२७२)
हिं.—सुहाञ्जना.
म.—शेवगा.
गु.—सरगवो.
बं.—सजिने.
ता.—उल्कटन्.
–ज–न., वनस्पति० मरीचम् (ध. २.९०)
–पत्रज–न., शाकवि० गुणाः–कटूष्णं रुच्यं दीपनं पाचनं पथ्यं वातकफापहं कृमिघ्नं च
(रापरि. ७.७१)
–फल–न., शिग्रोः फलम् (सुचि. १८.२३) पाण्डु-रोगशमनार्थं सुखाम्बुना एतद् योजयेत्
(सुउ. ४४.२६)
–बीज–न., वनस्पति० सितमरीचम् (ध. २.९०) द्र० ' मरीच '

शिग्रुक–पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.३९; पृ. १४२)
शिञ्शितिकाफल–न., बदरभेदः, गुणाः–कषायं स्वादु संग्राहि शीतं च (सुसू. ४६.१३९-१४०) द्र० 'बदर'
शिण्डाकी–स्त्री., आसुत० गुणाः–कालाम्ला चिरकालाव-स्थानादम्ला रोचनी लघुश्च (चसू. २७.२८५)
शित–वि., तीक्ष्णम् (रा. ६.३१; पृ. ७३)
–क्षार–न., खनिज० श्वेतटङ्कणम् (रा.६.३१; पृ.७३) द्र० 'टङ्कण'
–जाम्रक–पु., वनस्पति० आम्रभेदः द्र० ' राजाम्र '
(रा. ११.११; पृ. १७१)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (रा.४.२९;पृ. ११)
–वर–पु., वनस्पति० शितिवारः
(रा. ४.२०६;पृ. ३६)

शितावरी–स्त्री., वनस्पति० शितिवारः
(रा. ४.२०६; पृ. ३६)

शिति–पु., भूर्जपत्रम् (र. २१.२९-३०)
–कण्ठ–न., खनिज० तुत्थम् (ध. ३.१४५; पृ. १२४)
–मूलक–न., वनस्पति० उशीरम्
(रा. १२.२६; पृ. ९७)
–वर–पु., वनस्पति० शितिवारः (ध. १.१५५; पृ. ३६)
–वार–पु., वनस्पति० गुणाः– कषाय उष्णो, वृष्यो, ग्राही, त्रिदोषघ्नो, ज्वरदाहहरश्च
(ध. १.१५५; पृ. ३६)
–वारक–पु., वनस्पति० शालिञ्चः
(चक्र. चचि. २६.५६)

शिथिल–वि., पीडनाक्षमम् (सुसू. ७.१९)
–बन्धन–न., बस्तिनेत्रदोष० अस्मिन् ' स्रवः ' दोषो भवति (चसि. ५.४-५)
शिथिलेन्द्रिय–पु., लक्षण० दुर्बलेन्द्रियः (चचि. १६.६)
शिप्रा–स्त्री., महिषी (र. १०.९६)
मुक्ताशुक्तिः (र. १०.९६)
शिफा–स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा.५. ३४७; पृ. ५५)
हरिद्रा (रा. ६.८१; पृ. १८)
शतपुष्पा (ध. २.१; पृ. ६९)
मूलम् (र. २.७१-७३)
शताह्वा (र. २३.४३-४४)
–रुह–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११४; पृ. १८४)
शिबिर–पु., तृणधान्य० स च कषायमधुरवातलशीतलघ्वादिगुणः (चसू. २७.१८)
शिम्ब–पु., शमीधान्य० गुणाः–कषायो मधुरः विपाके कटुः रूक्षः विषशोषशुक्रबलासदृष्टिक्षयकृत्, विदाही, प्रभिन्नविण्मारुतपित्तलश्च (सुसू. ४६.४४-४५)
शिम्बिका–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (र. ११.५३-५७)
(शिम्बी)–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०१;पृ. ३५)
मुद्गपर्णी (ध. १.१३८; पृ. ३२०)
विविधशिम्बिजातिः, गुणाः–अवृष्याऽचक्षुष्या विष्टम्भ पच्यमाना, रूक्षा, कषाया, कोष्ठे वातप्रकोपिनी च (चसू. २७.३२)
शिम्बि–स्त्री., एरकातृणम्, मुद्गादिशिम्बीमूलम् (र. २३.४१-४२)
शिम्बी–स्त्री., (अहसू. ६.१७)
–धान्य–न., धान्य० गुणाः– वैदलं मधुरं कषायकटुपाकि हिमं रूक्षं वातलं कफपित्तबद्धमूत्रमलं मुद्गमसूराभ्याम् ऋतेऽध्मानकारि च (अहसू. ६.१७)
–फल–न., वनस्पति० आहुल्यम् (रापरि. ४.३३; पृ. ३३७)
शिरसःपरिपूर्णत्व–न., शिरोगौरवम् (सुउ. ४१.१३)
शिरस्–न., शारीर० मस्तकम् (चवि. ८.११७; सुउ. १८.४८-४९) चक्षुरादिप्रधानेन्द्रियाणामाऽऽश्रयः (सुशा. ३.३२) षडङ्गेष्वेकम् (सुशा. ५.३) द्र० ' शरीरप्रमाण '
–ताप–पु., शिरोरोग० षड्विधोऽयम्–तत्र वातजलक्षणानि–शङ्खनिस्तोदः, घाटायाः संभेदनं, भ्रुवोर्मध्यस्य ललाटस्य च पतनवद् वेदना, स्वनतः श्रोत्रबाधाऽक्ष्णोराकर्षणम्, शिरसो घूर्णनं सन्धिमोक्षवच्च, सिराजालस्य स्फुरणं, कन्धराया हन्वोश्च स्तब्धत्वं प्रकाशाऽसहत्वं घ्राणस्रावोऽकारणेनैव व्यथा च शमश्च, शङ्खनिस्तोदाऽऽर्दिकस्य मर्दनस्नेहस्वेदबन्धैश्च मार्दवं जायते, पित्तजलक्षणानि–ज्वरः, शिरोधूमायनं स्वेदनमक्षिदहनं मूर्च्छा रात्रौ तथा शीतोपचारैश्च मार्दवं भवति, कफजलक्षणानि–अरुचिः, शिरसो गुरुता, स्तिमितता शीतता चालस्यं सिराणां निःस्पन्दता दिवा पीडा मन्दा भवति निशि गाढतरा जायते, रक्तजलक्षणानि–रक्तजशिरस्तापः पित्तजशिरस्तापाधिकरुजो भवति, संनिपातजलक्षणानि–संनिपातजशिरस्तापो वातादिसर्वलक्षणयुक्तो भवति, कृमिजलक्षणानि–संकीर्णैराहारैः शिरसि क्लेदिते रुधिरे मांसे च संनिपाते च कोपिते कृमयो मूर्ध्नि जायन्ते। ते च मूर्धनों रक्तं पिबन्तः घोरा वेदनाःकुर्वन्ति। ताश्च वेदना मनोविभ्रंशकारिण्यो भवन्ति (असंउ. २७) द्र० 'शिरोरोग'
–तालु–न., शिरसः तालु (चशा. ८.४३)
–त्राण–न., शिरोभूषणम्, शिरोरक्षणार्थमाभरणम् (सुक. १.५९)
(शिरः)–कपाल–न., अस्थि० शिरः कपालास्थि (चशा. ७.६)
–कम्प–पु., लक्षण० शिरसः कम्पः वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् (चसि. ९.८६; असंउ. २७; र. २४.७४)
–शूल–न., पु., लक्षण० (चसू. ५.५९; चसू. ७.८)
–शूलघ्न–वि., शिरसः शूलं पीडाविशेषं हन्तीति शिरःशूलघ्नम्, मूर्धविरेचनम् (सुउ. ३९.१२९)
–स्तम्भ–पु., लक्षण० शिरसः स्तम्भः (चसि. २.२२)
–स्नेह–पु., शिरसि स्नेहावचारणं सामान्यवातोपक्रमेषु एक उपक्रमः (सुचि. ४.२२)
(शिरश्) छेदन–न., शीर्षच्छेदः, यस्य शिरसि स्वप्ने कण्टकिनी लता जायते स शिरोरोगेण वा शिरश्छेदनेन हन्यते (असंशा. १२.१४)
(शिरो) गौरव–न., लक्षण० शिरसो गुरुत्वम्, शिरोजाड्यम् (चसू. २.६)
–गौरवघ्न–वि., शिरसो जाड्यं नाशयतीति (मूर्ध विरेचनम्) (सुउ. ३९.१२९)
–ग्रह–., पु., लक्षण० शिरसो गृह्यमाणत्ववद् वेदना (सुउ. ३९.४९)

–ग्राहिन्–वि., लक्षण० शिरोग्रहणवद् वेदनया युक्तः (चचि. ३.७१)

–ग्रीव–न., शिरश्च ग्रीवा च शिरोग्रीवम् (चशा.७.५)

–धरा–स्त्री., शारीर० मन्या (चवि.८.११७) ग्रीवा (सुशा. ७.२२; असंशा. ८.३२)

–न्यास–पु., शिरसः पार्श्वतो गमनम् (चचि. २३.२२९)

–बस्ति–पु., उपक्रम० शिरसि प्रभूततैलधारणस्वरूपः तस्य विधिस्तु–शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य जानुसमे मृदुनि पीठे उपविष्टस्य पुरुषस्य सायाह्ने द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं गव्यं माहिषं वा चर्मपट्टं शिरःसममाकर्णबन्धनस्थानं बध्नीयात्। तस्योपरि वस्त्रमाऽऽवेष्ट्य चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन तत्स्थानं लेपयेत्। ततश्च यथाव्याधि श्रृतं स्नेहं कोष्णं कृत्वा शिरसः उपरि निषेचयेत्। तच्च निषेचनं स्नेहस्य केशभुव ऊर्ध्वमङ्गुलिप्रमाणं यावत् कर्तव्यम्। स च स्नेहः यावत् वक्त्रनासिकास्रुतिः स्यात् तावत् विधार्यः (अहसू. २२.२७-३०) शिरोरोगे नेत्ररोगेषु च अयमुपयुज्यते (सुउ. ९.५) दन्तहर्षविकारे च हितकरः (सुचि. २२.३६; अहसू. २२.२६)

–बस्तिकोश–पु., बस्त्यर्थं शिरस उपरितनो भागो यः पट्टचेलिकामाषचूर्णादिभिः सम्यग्बध्यते (सुउ. १८.४९-५०)

–बस्तिविधि–पु., शिरसश्चर्मपट्टेन परितो बद्ध्वा बहुतैलेन शिरसि तैलादिपूरणम् (अहसू. २२.२७-३०; असंसू. ३१.१९) द्र० 'शिरोबस्ति'

–भेद–पु., रोगलक्षण० शिरोविदारणमिव वेदना, विसूचिकालक्षणेष्वेकं लक्षणम् (सुउ. ५६.६)

–भ्रम–पु., लक्षण० चक्रस्थितिवत् शिरसि भ्रमः (चचि. २२.१२)

–भ्रमण–न., लक्षण० शिरोभ्रमः, शिरसि भ्रमः (र. २१.१८६-८७)

–रुज्–स्त्री., लक्षण० (चसू. १३.१६) शिरसो रुक्, तोदनम्, पीडा (चसू. २०.११; सुउ. ३९.३०; असंसू. २०.१३)

–रुजा–स्त्री., शिरोरोगः, शिरोरुक् (चसू. ३.२३; चसू. ७.६)

–रुह–पु., केशः (चचि. २६.१३२; सुक. १.२२; असंसू. ३.७३)

–रेक–पु., उपक्रम० शिरोविरेचनत्वेनोपयोज्यं नस्यम् (अहसू. १४.५; असंसू. २४.७)

–रोग० पु., रोग० शिरसि जायमानो व्याधिः। प्राणभृतां प्राणाः, सर्वेन्द्रियाणि च यत्र श्रिताः तदङ्गानामुत्तमाऽङ्गं शिर इत्यभिधीयते। संग्रहः–अर्धावभेदको वा स्यात् सर्वं वा रुज्यते शिरः। प्रतिश्यायमुखनासाक्षिकर्णरोगशिरोभ्रमाः अर्दितं, शिरसः कम्पो गलमन्याहनूनां ग्रहः विविधाश्चापरे वातादिक्रिमिसंभवा रोगाः भवन्ति (चसू. १७.१३) स च वातपित्तकफसन्निपातकृमिभेदात् पञ्चविधः, तत्र वातजे शिरोरोगे वृद्धो वायुः शिरोगताः सिरा आविश्य कुप्यति। ततस्तस्य महच्छूलं जायते। शङ्खौ निस्तुद्येते, घाटा संभिद्यते, सभ्रूमध्यं ललाटं चाऽतिवेदनमिव तपति, स्वनतः श्रोत्रे वध्येते, अक्षिणी निष्क्रिष्येते, शिरो घूर्णति, सिराजालमतिस्फुरति शिरोधरा स्तभ्यते, स्निग्धोष्णं चोपशेते, (चसू. १७.१८-२१) पित्तजलक्षणम्–कटूम्ललवणक्षारमद्यक्रोधाऽऽतपाऽनलैः शिरसि संदुष्टं पित्तं शिरोरोगाय कल्पते। तेन शिरो दह्यते, सज्यते, शीतं सुषूयते, नाम शीतमिच्छति चक्षुषी दह्येते, तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते (चसू. १७.२२-२३) कफजलक्षणम्–स्वप्नसुखैर्गुरुस्निग्धातिभोजनैरास्यासुखैः शिरसि संदुष्टः श्लेष्मा शिरोरोगाय कल्पते। तेन शिरो मन्दरुजं सुप्तं स्तिमितभारिकं च भवति। तथाऽऽलस्यमरोचकस्तन्द्रा उत्पद्यते। त्रिदोषजे शिरोरोगे वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः, पित्ताद्दाहो मदस्तृषा, कफाद्गुरुत्वं तन्द्रा च जायते (चसू. १७.२४) कृमिजलक्षणम्–तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसंकीर्णभोजनाद्दोषलस्याऽसृक्कफमांसानां क्लेद उपजायते ततः शिरसि संक्लेदात् पापकर्मणः पुरुषस्य जाताः क्रिमयो जनयन्ति शिरोरोगम्; किं च रुजाकण्डूशोफदौर्गन्ध्यदुःखितं क्रिमिरोगाऽऽतुरं विद्यात्, क्रिमीणां दर्शनेन च क्रिमिरोगाऽऽतुरं विद्यात् (चसू. १७.२७-२९) सान्निपातिकलक्षणम्–शिरोऽभितापे दोषत्रयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति। रक्तजलक्षणम्–रक्ताऽऽत्मकः पित्तसमानलिङ्गः तत्र शिरसः स्पर्शासहत्वं भवेत्। क्षयजः शिरोरोगः–शिरोगतानामसृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां संक्षयेण अस्य प्रादुर्भावः भवति सस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैः कफक्षयः, नागरादितीव्रधूमेन वसामस्तिष्कादिक्षयः, सिरामोक्षाऽऽदिभिरसृक्क्षयः अत एवैतैः संस्वेदनादिभिः क्षयजस्य रोगवृद्धिः (मा. शिरोरोगनि. ४.६) नवशिरोरोगसामान्य-

चिकित्सा–मध्वादियुक्तैः शिरोविरेचनद्रव्यैः शिरोविरेकः। ततः सर्षपतैलेन नस्यम्। अशान्तेषु शिरोरोगेषु स्नेहस्वेदान् कृत्वाऽनन्तरं सिराणां मोक्षणं कर्तव्यम् (सुउ. २६.४२-४४)
द्र० 'शिरस्ताप'

–रोगप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. २६.१)

–रोगविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० शिरोरोगविज्ञानमधिकृत्य कृतः (सुउ. २५.१)

–रोगारि–पु., (परिव०) पारदादियोग० पारदाऽभ्रकतीक्ष्णलोहकान्ततास्राणां भस्मानि स्नुहीक्षीरैः संमर्द्य तेषां पिण्डानि कुर्यात्। मात्रा–माषमात्रम्। फलम्–सूर्याऽऽवर्तादिशिरोरोगविनाशः (र.२४.९२)

–विरेक–पु., नस्यम् (ड. सुउ. ६४.३८-३९)

–विरेचनद्रव्य–न., नस्यद्रव्याणि, एतानि तानि अपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्गशिग्रुशिरीषतुम्बुरुपिल्वजाज्यजमोदावार्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुकाफलानि च, सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकहरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनतर्कारीसर्षपपत्राणि च, अर्काऽलर्ककुष्ठनागदन्तीवचाऽपामार्गश्वेताज्योतिष्मतीगवाक्षीगण्डीरपुष्प्यवाकूपुष्पीवृश्चिकाली वयस्थातिविषामूलानि च, हरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनकन्दाश्च, लोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बार्कपुष्पाणि च, देवदार्वगुरुसरलशल्लकीजिङ्गिन्यसनहिङ्गुनिर्यासाश्च, तेजोवतीवराङ्गेङ्गुदीशोभाञ्जनबृहतीकण्टकारिकात्वक्श्वेति (चवि. ८.१५१)

–विरेचनविकल्प–पु., उपक्रम० शिरोविरेचनभेद (सुचि. ४०.२१)

–विरेचनोपग–वि., शिरोविरेचनोपयोगी; महाकषायवर्गे एको वर्गः, तत्र शिरोविरेचनोपगानि द्रव्याणि-ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपाऽपामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति (चसू. ४.१३)

–वृत्त–न., वनस्पति० मरिचम् (ध. २.८८; पृ.८७)

–हुण्डन–न., लक्षण० केशभूमिस्फुटनं, शङ्खललाटभेदश्च, (चवि. २८.२२)

शिरोभिघात–पु., रोग० शिरसि अभिघातः शिरस्याभिहते गण्डस्पन्दनजृम्भणादिलक्षणानि भवन्ति (चसि. ९.६)

शिरोऽभिताप–पु., रोग० शिरोरोगः (चनि. ३.११)
शिरः प्रतप्यते, शिरोऽभितप्यते येन सः (सुसू. १४.२०; असंउ. २)

शिरोभ्यङ्ग–पु., शिरसोऽभ्यङ्गः, स च सर्वशिरोरोगशमनः, केशानां मृदुत्वदीर्घत्वबहुत्वस्निग्धत्वकृष्णत्वादिकरः, मुखप्रसादनः, इन्द्रियतर्पणश्च (सुचि. २४.२५-२६)

शिरापत्र–पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९८; पृ.१८२)

शिरालपत्रक–पु., वनस्पति० श्रीतालः (रा. ९.९५; पृ. १८२)

शिरिवारिका–स्त्री., वनस्पति० चाङ्गेरीशाकम्, तच्च गुल्मोदावर्तशूलेषु प्रयोज्यम् (काखिल. १८.२३)

शिरीष–पु., वनस्पति० गुणाः– तिक्तः, कटुरुष्णो (शीतः) (रा.) लघुर्वर्ण्यस्निग्धोष्णो वातविषकुष्ठकण्डूत्वग्दोषश्वासकासपामाऽसृग्विनाशनः (ध.५.११९;पृ.१९२) शिरीषपुष्पं विषघ्नानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; सुक. ५.१७-१८) विशेषतो शिरोविरेचनार्थमस्य फलं ग्राह्यम् (सुसू. ३९.६; र. २५.११०) अस्य पञ्चाङ्गानि विषहराणि (असंउ.४०; अहसू.१०.३१)
हिं.—शिरीष.
म.—शिरसी.
गु.—सरसिडियो.
बं.—शिरीषगाछ.
ता.—चिरीटं.

–तैल–न., योग० योनिरोगेषूत्तरबस्त्यादिषूपयुज्यते (असंउ. ३९)

–पत्रा–स्त्री., वनस्पति० श्वेता (रापरि. ९.३८; पृ. ३६७)

–बीज–न., भैषज्य० शीर्षविरेचने उपयुज्यते (चसू. २.५)

शिलगर्भजा–स्त्री., वनस्पति० पाषाणभेदः (रा. ५.२०९; पृ. ३७)

शिलज–न., खनिज० शैलेयम् (रा. १२.१३०; पृ. ११)

(शिलजा)–स्त्री., खनिज० शिलावल्का (रा. ५.२१३; पृ. ३७)

शिला–स्त्री., खनिज० अश्मादिकृतपिण्डिका (चसू. १४.४७)
खनिज० मनःशिला (ध. ३.९६; पृ. ११५)
निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१. र. ३.१; सुचि. २५.३८; असंसू. २१.४)

–ज–न., खनिज० शिलाजतु (सुचि. ७.११; र. २.११४-१५)

–जतु–न., शिलानिःस्रुतगिरिजधातु० (सुचि. १३.४-५)

तस्योत्पत्तिः- रजतात् हेम्नस्ताम्रात् कृष्णायसादपि चतुर्भ्यो धातुभ्यस्तस्य संभवः (चचि. १(३).४८) शिलाजतुजातिः-हेमाद्याः सूर्यसंतप्ता जत्वाभं मृदु मृत्स्नाऽच्छं यन्मलं स्रवन्ति तच्छिलाजतु । स सुवर्णस्य निस्रवो मधुरः सतिक्तो जपापुष्पनिभश्च विपाके कटुः शीतश्च । रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादुर्विपच्यते । ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः कटुः पच्यते । यस्तु गुग्गुलुकाभासो लवणान्वितस्तिक्तकः विपाके कटुः शीतः सर्वश्रेष्ठश्च स चाऽयसः । सर्वे गोमूत्रगन्धयो यौगिकाः सर्वकर्मसु रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते । (चचि. १(३).५५-६१) तस्य प्राधान्यम्- त्रपुसीसताम्ररूप्यसुवर्णलोहजानि षट् (सुचि. १३.७-८) षट्प्रकारेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं गोमूत्रगन्धि च तत् प्रधानम् (सुचि.१३.९-१०) रसः-शिलाजतुरसे कषायमनम्लं पाके कटु नात्युष्णशीतं च (चचि. १(३).४९) गुणाः-तद्विधिभिः रसायनं वृष्यं रोगनुत् वातपित्तकफघ्नैर्निर्यूहैः सुभावितं सर्वैरेकैकशोऽपि परं वीर्योत्कर्षं करोति (चचि. १(३).५०) तस्य शुद्धिः-वह्नौ क्षिप्तं यत् लिङ्गाऽऽकारमधूमकं सलिले विलीनं शुद्धं च तत् शिलाजतु (र. २.११६) ऊषकादिगणे एकं द्रव्यम् (सुसू. ३८.३७)

हिं.—शिलाजीत.

म.—शिलाजित.

बं.—शिलाजित.

ता.—कलमतं.

-जतुप्रयोग-पु., त्रिफलारसेन शिलाजतुसेवनम् त्रिदोषजश्वयथुहरम् (चचि. १२.४९) स्थौल्यविनाशकोऽयम् (अहसू. १४.२३)

-जतुवटक-पु., पाण्डुरोगे कल्प० (चचि. १६.८७-९२)

-जित्-न., खनिज० शिलाजतु (र. १९.३२)

-तल-न., शिलापृष्ठम् (अहसू. ३०.११)

-तोय-न., शिलोदकम् (र. ११.८८)

-त्वच्-स्त्री., खनिज० शिलावल्का (रा. ५.२१३; पृ. ३७)

-द्रु-पु., खनिज० शैलेयम् (ध. ३.७३; पृ. ११०)

-धातु-पु., खनिज० सुवर्णगैरिकम् (रा. १३.२३३; पृ. १२९)

-निर्घात-पु., व्यायाम० पाषाणाऽऽस्फालनम् (ङ. सुउ. ६४.३८)

-पट्ट-न., संघर्षकः पाषाणः (र. २.५०)

-पुष्प-न., खनिज० शैलेयम् (ध. ३.७३; पृ. ११०)

-पूत-पु.,पारदयोग० पारदमनःशिलापाठेंद्रवारुण्यादिसाधितोऽयं हिक्काहरः (र. १३.७२-७५)

-प्रसून-न., खनिज० शैलेयम् (रा. १२.१३१; पृ. १११)

-भेद-पु., वनस्पति० पाषाणभेदः (ध. १.१५७; पृ. ३६)

-रम्भा-स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (रा. ११.११०; पृ. १४९)

-वल्का-स्त्री., पाषाणभेदविशेषः, तद्गुणाः-स्वादुर्हिमः मेहकृच्छ्रविनाशनी, मूत्रारोधाश्मरीशूलक्षयपित्तापहारिका च (रा. ५.२१४)

शिलात्मक-न., खनिज० सैन्धवम् (ध. २.२५; पृ. ७३)

शिलात्मज-न., खनिज० मुण्डलोहम् (रा. १३.२९; पृ. २११)

शिलान्त-पु., वनस्पति० अश्मन्तकः (रा. ९.२९०; पृ. ४६)

शिलिका-स्त्री., निशानार्थं नाम शस्त्रादितैक्ष्ण्यार्थं शिलाविशेषः (असंसू. ३४.३७)

शिलीन्ध्र-न., वृक्ष० वर्षासु भूमिः शिलीन्ध्रोज्ज्वला भवति, छत्रकम् (असंसू. ४.४२)

शिलोञ्छवृत्ति-वि., भूमिपतितस्योत्सृष्टस्य कणशः शस्यग्रहणं शिलः भूमिष्ठमात्रस्य शस्यस्य ग्रहणमुञ्छः, तद्वृत्तिः तज्जीवनोपायाश्रयः इत्यर्थः (सुचि.११.१२)

शिलोत्थ-न., खनिज० शैलेयम् (रा. १२.१३१; पृ. १११)

शिलोद्भव-न., खनिज० शिलाजतु (र. २.१२२) शैलेयम् (ध. ३.७३; पृ. ११०)

शिलोद्भेद-पु., वनस्पति० पाषाणभेदः (चचि. ३०.९०)

शिल्पिका-स्त्री., वनस्पति० गुणाः- मधुरा, शीता वृष्यं बलदं चास्या बीजम् (रापरि. ८.४९; पृ. ३६१)

शिल्पिन्-पु., भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८; पृ. १०७)

(शिल्पिनी)-स्त्री., वनस्पति० शिल्पिका (रापरि.८.४९; पृ. ३६१)

शिल्लक-पु., वनस्पति० स्योनाकः (ध. १.११५; पृ. २८)

शिव-वि., क्षारस्य गुणेष्वेकः, सौम्यः (सुसू. ११.१६) पु., खनिज० पारदः (र. १२.१२९-३२; रा. १३.४१; पृ.२१४; अहसू. ६.२७) निर्यास० गुग्गुलुः (ध. ३.१२७; पृ. १२०)

न., कल्याणम् (सुचि. ३०.२७)
खनिज० सैन्धवम् (ध. २.२५; पृ. ७३)
श्वेतटङ्कणम् (रा. ६.३१; पृ. ७३)
लोहम् (ध. ६.२६; पृ. २१०)
सामुद्रलवणम् (रा. ६.४२; पृ. ७५)
वनस्पति० आमलकम् (ध. १.२१५; पृ. ५१)

(शिवा)–स्त्री., वनस्पति० आमलकम् (ध. १.१२५; पृ. ५१. असंसू. १५.४८)
भैषज्य० गोरोचना (रा. १२.३३; पृ. ९८)
वनस्पति० हरीतकी (ध. १.२०५; पृ. ४९. र. १२.३८-३९)
नीलदूर्वा (रा. ८.२२६; पृ. १६३) द्र० 'दूर्वा'
हरिद्रा (रा. ६.७९; पृ. १८)
पक्षि० (असंशा. १२.५)

–कृतागद–पु., योग० विषहरौषधगणः, गजपिप्पलिकासीसक्षारयष्टिमधूरकरक्तानतवचादन्त्यश्च (असंउ. ४०)

–ज–पु., खनिज० पारदः (रा. ११.८२)

(–जा)–स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१७; पृ. ३३०)

–दारु–पु., वनस्पति० देवदारुः (रा.१२.१०३;पृ.२१)

–द्रुम–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५; पृ. २७)

–द्विष्टा–स्त्री., वनस्पति० केतकी (रापरि. १०.१; पृ. २०४)

–पिण्ड–पु., वनस्पति० बुकः (रा. १०.३३; पृ. १३८)

–पुष्पक–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२४; पृ. १३७)

–प्रिय–न., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५; पृ. ३७४)

–बीज–न., खनिज० पारदः (रा. १३.४१; पृ. २१४)

–मत–पु., वनस्पति० वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३)

–मल्लक–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९१; पृ. १९३)

–(मल्लिका)–स्त्री., वनस्पति० वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३)
बुकः (ध. ४.१९; पृ. १३८)

–मल्ली–स्त्री., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३४; पृ. १३८)

–वल्लभा–स्त्री., वनस्पति० शतपत्री (ध. ५.१५१; पृ. २०१)

–वल्लिका–स्त्री., वनस्पति० लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६; पृ. ३३०)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० श्रीवल्ली (रापरि. ८.३३; पृ. ३५९)
लिङ्गिनी (रापरि. ३.१७; पृ. ३३०)

–शेखर–पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०.११; पृ. १३५)
वनस्पति० वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ. ३४३)
बुकः (ध. ४.१९; पृ. १३८)

–संभव–पु., खनिज० पारदः (र. १.८७)

शिवाक्ष–पु.,वनस्पति०रुद्राक्षः (रापरि.११.१५;पृ.३७४)

शिवाङ्क–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३; पृ. १३४)

शिवाटिका–स्त्री., निर्यास० नाडीहिङ्गु (ध.२.४०; पृ.७७)
वनस्पति० काकोदुम्बरिका (ध. ५.८८; पृ- १८७)
श्वेतपुनर्नवा (असंउ. १२)

शिवाटी–स्त्री., वनस्पति० श्वेतपुनर्नवा (ड. सुउ. २३.४)

शिवात्मज–न., खनिज० सैन्धवम् (रा. ६.३३; पृ. ७३)

शिवाह्लाद–पु., वनस्पति० वसुकः (रा.१०.३४; पृ.३१८)

शिवाह्व–पु., वनस्पति० वसुकः (ध. ४१९; पृ. १३८)

(शिवाह्वा)–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२४; पृ. ३३१)

शिवेशा–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२; पृ.१८८)

शिवेष्ट–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३; पृ. १३८)
बिल्वः (रा. ११.१३४; पृ. २७)

(शिवेष्टा)–स्त्री., वनस्पति० नीलदूर्वा (रा. ८.२२६; पृ. १६३) द्र० 'दूर्वा.'

शिवा–स्त्री., (ध. ५.९५)

–फला–स्त्री., वनस्पति० शमी (ध. ५.९५; पृ. १८८)

शिशिर–पु., ऋतु० उत्तरायणे आदानकाले माघफाल्गुनद्वयात्मकऋतुः (चसू. ६.४) अस्मिन् तिक्तरसो बलवान् भवति। सर्वप्राणिनां बलाऽपहरणं च भवति। तत्र हेमन्ताऽपेक्षया शैत्यमधिकमादानकालजं रौक्ष्यं च भवति। (सुसू. ६.६-१०) तत्र हेमन्तर्तुवद् विधिः कार्यः, द्र० 'हेमन्त'
वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२६; पृ. ९७)
न. भैषज्य० सामुद्रलवणम् (ध. २.३४; पृ. ७५)
पु., कुधान्य० (असंसू. ७.१५)

(**शिशिरा**)–स्त्री., वनस्पति० नागरमुस्ता (रा. ६.६२; पृ. १५)
रेणुका (रा. ६.१००; पृ. १०५)
–**चर्या**–स्त्री., शिशिरे आचरणविधिः हेमन्तवत् विधिः (सुउ. ६४.३१) शिशिरतौ वर्तन० हेमन्ते या चर्या निर्दिष्टा सैव कार्या । शिशिरे हेमन्तापेक्षया शैत्यमधिकमस्ति तथादानकालजं रौक्ष्यमपि विद्यते अतः स्निग्धादिसेवनं विशेषतः कार्यम् (अहसू. ३.९७)
–**ज्वर**–पु., शीतज्वरः (चचि. ५.१०)
–**द्रय**–न., वनस्पति० एकं सितचन्दनमन्यद्रक्तचंदनञ्च (अहसू. १५.११)
–**प्रीति**–स्त्री., लक्षण० शैत्यप्रीतिः (अहसू. ११.१७)
शिशिराभिनन्दा–स्त्री., लक्षण० शीताभिलाषः (ड. सुउ. ६.७)
शिशिराश्रुता–स्त्री., लक्षण० नेत्राच्छीताश्रुस्रावः (सुउ. ६.६)
शिशु–पु., बालः (कासंखिल. १२.३)
–**प्रिय**–पु., आहारद्रव्य० गुडः (रा. १४.१९८; पृ. १६०)
आहारद्रव्य० नवनीत (ध. ६.२२९;पृ. २४८)
–**मार**–पु., जलचरप्राणि० (चचि. २(२).१०) सपाद-जलजन्तुः, अम्बुकूर्मः (सुचि. २६.१९; र. १०.७६)
–**मारमज्जा**–स्त्री., शारीर० अम्बुकूर्मस्य मज्जाख्यो धातुः निरुद्धमण्याख्ये गुह्यरोगे परिषेकार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३९)
–**मारवसा**–स्त्री., शारीर० अम्बुकूर्मस्य मांसस्नेहः गुह्यरोगे परिषेकार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३९)
शिशुकमदन–पु., सर्प० मण्डलिजातीय (सुक. ४.३४)
शिष्य–पु., छात्रः (सुसू. २.३)
शिष्योपनयन–न., शिष्यस्योपनयनम् अध्ययनार्थं शिष्यस्याचार्यसमीपे नयनम् (असंसू. १.१)
शिष्योपनयनीयाध्याय–पु., (परिव०) अध्यायसंज्ञा० (सुसू. २.१)
शीकर–न., सतुषारो वायुः (असंचि. ९)
शीघ्र–वि., गुण० अतिगतिः, झटितकर्मकारी (वातगुणः) (चवि. ८.१००)
न., वनस्पति० लामज्जकम् (ध. ३.८६; पृ.११३)
(**शीघ्रा**)–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (ध. १.२२३; पृ.५३)
–**पुष्प**–पु., वनस्पति० अगस्त्यः (रापरि. १०.१३; पृ. ३६९)
–**प्रभाव**–पु., पारदयोग० पारदगंधकव्योमतीक्ष्णताला-दिसाधितोऽयं ग्रहण्यतीसारादिघ्नः (र. १६.९६)
–**वलीपलित**–वि., अकाले वलीपलितम् (चशा.८.२१)
शीत–वि., अनुष्णः शीतलः (गुण०) (चसू. १.५९; सुसू. ४६.५१५; चशा. ६.१०)
कल्प० आपोथितात् द्रव्यात् प्रतप्ते तोये निशि संस्थितात् यः कषायः निर्याति सः (चसू. ४.७)
विंशतिगुणेष्वेकः (चशा. ६.१०)
श्लेष्मा (ड. सुशा. ३.१८)
न., लक्षण० शैत्यम् (चसू.१४.२३)
रसाञ्जनम् (ड. सुउ. १७.१३-१४)
कर्पूरम् (ड. सुउ. १७.१३-१४)
वनस्पति० चन्दनम् (अहसू. १५.३७)
पु., पर्पटः (रा. ५.६५; पृ. पित्तपापडा. १६)
निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१)
वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७७; पृ. ७९)
बर्बरिकम् (रा. १२.१७०; पृ. ९५)
पु., निम्बः (रा. ९.४४; पृ. १३)
श्लेष्मातकः (रा. ११.१४८; पृ. १८८)
पीलुः (ध. ५.५१; पृ. १७८)
(**शीता**)–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (ध. १.२६६; पृ. २६१)
कुटुम्बिनी (रापरि. ५.२२; पृ. ३४१)
शिल्पिका (रापरि. ८.४९; पृ. ३६१)
अतसी (ध. ६.११५; पृ. २३१)
बला (रा. ४.४३२; पृ. ६६)
अतिबला (रा. ४.४३०, पृ. ६५)
आमलकम् (रा. ११.३२५; पृ. ५१)
आसुत० सुरा (रा. १४.३०१; पृ. २५४)
–**कषाय**–पु., कल्प० द्रव्यं संक्षुण्णमुष्णोदके प्रक्षिप्य निशास्थितम् । द्रव्यादापोथितात् तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात् । यः कषायोऽभिनिर्याति, स शीतः समुदाहृतः (चचि. ३.१९७) तस्य लक्षणम्–' द्रव्यमापोथितं सम्यगत्युष्णोदकसंस्थितम् ' रात्रिपर्युषितं शीतकषायं फाणितं विदुः। (सुचि. १६.११)
–**काम**–वि., लक्षण० शीतं कामयमानः शीताभिलाषी (चचि. १६.२१)
–**कुम्भिका**–स्त्री., वनस्पति० काष्ठपाटला (चचि. ३.२५८)
–**क्षय**–पु., लक्षण० शैत्यहानिः (अहसू. १७.१५)

-गन्ध-पु., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.३; पृ. ९३)

-गात्र-वि., लक्षण० (मानिज्वर. १३; असंशा. ४.३१)

-ज्वर-पु., लक्षण० शीतयुक्तो ज्वरः (चवि. २.७)

-तोय-न., शीतोदकम् (सुसू. ४६.४२०)

-दन्त-पु., वाताद्दन्ता उष्णसहाः शीतस्पर्शेऽधिकव्यथाः भवन्ति । शूलेन दाल्यन्ते इव च वेदना (असंउ. २५)

-दन्तिका-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७; पृ. ३४२)

-द्रव्याञ्जन-न., शुक्तिकायां वैदूर्यादिसूक्ष्मचूर्णेन शर्कराक्षौद्रमिश्रितेनाञ्जनमाशुकर्मकारि (सुउ. १०.१४)

-पाकिन्-पु., वनस्पति० गुञ्जाभेदः (काखिल. ११.१५१-५२)

पु., वनस्पति० गण्डदूर्वा (चचि. ३.२५८)

गुञ्जा (ध. ४२९; पृ. १४०; अहसू. १.५६)

शीतला मधुरस्कन्धगतद्रव्येष्वेकम् (चवि. ८.१३९)

-(पाकिनी)-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२; पृ. ६६.)

-पाक्य-न., वनस्पति० बलाफलम्, गुणाः-रसपाकयोर्मधुरं शीतं रूक्षं विष्टम्भि दुर्जरं वातकोपनं रक्तपित्तप्रसादनं च (सुसू.४६.१९०)

-पादकरानन-वि., लक्षण० शीतचरणहस्तमुखः (सुचि. २.५१)

-पादकरोच्छ्वास-वि., लक्षण० पादौ करौ उच्छ्वासः यस्यारिष्टभूतं त्रयमेतद्यदैकदैव शीतं भवति सः (सुसू. ३१.१४)

-पिटिका स्त्री., शीता पिडका (असंशा. ९.२९)

-पिडका-स्त्री., कफकृता पिडका (चनि. १.२७ ;

-पित्त-न., रोग० शीतमारुतसंस्पर्शात् दुष्टौ कफवातौ पित्तेन मिलित्वा अन्तर्बहिर्विसर्पतः । तदा पिपासाऽरोचकहृल्लासाङ्गसादाङ्गगौरवाणि रक्तनेत्रत्वं च जायते (मानि.)

-पुष्प-पु., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८८; पृ. १९२)

(-पुष्पा)-स्त्री., वनस्पति० अतिबला (रा. ४.४३०) पृ. ६५)

-पूतना-स्त्री., बालग्रह० तत्र लक्षणानि-कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणं तृष्णाऽन्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धिता, एकस्य पार्श्वस्य शीतत्वमपरस्य चोष्णत्वम् (असंउ. ३)

-पूतनाप्रतिषेध-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ३४.१)

-प्रतीकार-पु., शीतविपर्ययः (उष्णोपचारादिः) उष्णः (सुसू. ३५.२१)

-प्रभ-पु., निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१)

-प्रशमनगण-पु., द्रव्यगण० महाकषायवर्गे एको गणः, तगराऽगुरुधान्यकशृङ्गवेरभूतीकवचाकण्टकार्यग्निमन्थस्योनाकपिप्पल्य इति शीतप्रशमनानि द्रव्याणि भवन्ति (चसू. ४.१७)

-प्रिय-पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६५; पृ. १६)

-फल-पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (रा. ११.१४८; पृ. १८८)

उदुम्बरः (रा. ११.१३७; पृ. १८६)

न., रावणाम्लिका (सुसू. ४६.१६३)

-भङ्गिरस-पु., पारदयोग० पारदरसकतालुतुत्थगंधकादिसाधितोऽयं विषमज्वरघ्नः (र. १२.३०-३३)

-भीरु-पु., वनस्पति० मल्लिका (ध. ५.१३४; पृ. १९७)

-भीरुक-पु., शालिवर्गेषु एकः, द्र० ' शालि ' (सुसू. ४६.४; अहसू. ६.३)

-मञ्जरी-स्त्री., वनस्पति० शेफालिकाभेदः (रा. ४. १२१; पृ. १५०) द्र० ' शेफालि '

-मर्दक-पु., वनस्पति० रसोनः (रा. ७.९४; पृ.१४७)

-मेह-पु., कफदोषप्रधानः प्रमेहभेदः, तल्लक्षणम्-अतिमधुरं शीतं मूत्रम् अतिमेहति (चनि. ४.१०; असंनि. १०) द्र० ' प्रमेह '

-रस-पु., शीतकषायः (चचि. ७.४४)

-रसिक-पु., आसुत० शीतेक्षुरसकृतं मद्यम् । स च शीतरसिको (सीधुः) जरणीयो विबन्धघ्नः स्वरवर्णविशोधनः शोफोदराऽर्शसां हितो लेखनश्च (सुसू. ४५.१८५; चसू. २७.१८५)

-वती-स्त्री., रेवतीग्रहस्य नाम (का. बालग्रहचि.)

-वरा-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२; पृ. ६६)

-वल्कल-पु., वनस्पति० उदुम्बरः (ध. ५.८६; पृ. १८६)

-वल्लभा-स्त्री., वनस्पति० जम्बुभेदः (ध. ५.८४; पृ. १८६) द्र० 'जम्बू'

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० शीतपर्णी (चचि. ३.२६७)

-वात-पु., रोग० अस्मिन्व्याधौ गात्राणि हिमवच्छीतानि रोमाञ्चो ज्वरोऽक्षिवेदनाऽऽलस्यं चेति लक्षणानि जायन्ते (र. २१.३; अहसू. २९.६६)

-वीर्य-पु., वनस्पति० पद्मकः (ध. ३.८८ पृ. ११३) न., वीर्याख्यो गुणः शीतवीर्यं द्रव्यं ल्हादनं जीवनं स्तम्भनं रक्तपित्तयोः प्रसादं च करोति (अहसू. ९.१९)

-(वीर्या)-स्त्री., वनस्पति० मेथिका (ध. ६. १११; पृ. २३१) नीलदूर्वा (ध., ४. १४३; पृ. १६३) द्र० 'दूर्वा'

-वीर्यक-पु., वनस्पति०० प्लक्षभेदः द्र० ' प्लक्ष ' (रा. ११.१२५; पृ. १८५)

-शिव-पु., शतपुष्पाभेदः (सुचि. ११.१०) निर्यास० कर्पूरः (सुसू. १४.३५) न., लवण० सैन्धवम् (ध. २.२५; पृ. ७३. असंसू. ३६.१०)

(-शिवा)-स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (ध. २.४; पृ. ६९)

-शोफता-स्त्री., लक्षण० शोफस्य शैत्यम् (अहसू. २९.९)

-संरोध-पु., लक्षण० शीतस्य निरोधः (अहसू. ३.७)

-संवासा-स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९; पृ. १९८)

-सह-पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (ध. ४.८१; पृ. १५०)

(-सहा)-स्त्री., वनस्पति० शेफालिका (रा. ४.११९; पृ. १५०) वासन्ती (रा. १०.२३४; पृ. १९८)

-सहत्व-न., लक्षण० शीतं सहते इति शीतसहः, तस्य भावः (चनि. १.३३)

-साध्य-वि., शीतोपक्रमसाध्यः (चवि. ३.३९)

शीतक-पु., लक्षण० शीतम् (चक्र. चचि. २१.३४) वनस्पति० अम्ललोटः, अम्लस्कंधद्रव्येष्वेकम् (चवि. ८.१४०) शीतज्वरः (र. २९.१३८-१४०; हे. अहसू. ५.३०) शीतपूर्वो विषमज्वरः (अरु. अहसू. ५.३०)

शीतल-पु., वनस्पति० चम्पकः (ध. ५.१४२; पृ. १९९)

(शीतला)-स्त्री., रोग० भूताऽधिष्ठितविषमज्वरवद्देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः ज्वरयेयुः। ताः सप्तविधाः ज्वरपूर्वा शीतला बृहत्स्फोटैः बृहती भवेत्। सा सप्ताहान्निःसरति सप्ताहाच्च पूर्णतां गच्छति। तृतीये सप्ताहे स्वयं शुष्यति स्खलति च। सा वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतित्वात्। सा पाकं न गच्छति। कश्चित्तां पक्वेति प्राह। सा विशेषतो जलशूकवदङ्गानि विध्यति सप्ताहाद्दशाहाद्वा विनौषधमेव शान्तिं याति। पाणिसहेति ख्याता शीतला ऊष्मणा ऊष्मजारूपा सकण्डूः स्पर्शप्रियान। सा सप्ताहात् स्वयमेव शुष्यति। चतुर्थी शीतला सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी सर्षपिकेति नाम्ना प्रकीर्तिता। अत्राभ्यङ्गं विवर्जयेत्। एषा किञ्चिदूष्मनिमित्तेन राजिकाकृतिर्जायते। सा बालानां सुखं स्वयं शुष्यति। षष्ठी शीतला लोहितोत्तममण्डला कोष्ठवज्जायते। ज्वरपूर्वा सा व्यथायुक्ता। अस्यां ज्वरो दिनत्रयं तिष्ठति। स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटा दृश्यते। एकस्फोटे च सा कृष्णा चर्मजाऽभिधा च बोद्धव्या (मा. परि. भाव. मध्यमत्वं) वनस्पति० नीलदूर्वा (ध. ४.१४३; पृ. १६३) द्र० ' दूर्वा ' कुटुम्बिनी (रापरि. ५.२२; पृ. ३४१) आरामशीतला (रापरि. १०.५२; पृ. ३७२) श्रीवल्ली (रापरि. ८.३३; पृ. ३५९)

-च्छद-पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३८; पृ. १९९)

-रजस्-न., निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१, पृ. १०१)

शीतलक-पु., वनस्पति० जम्बीरः (रा. १०.८०,पृ. १४४) न., वनस्पति० कुमुदम् (रा. १०.२४६; पृ. १६५)

शीतांशु-पु., चन्द्रः (सुसू. ६.८) चंद्र. निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१. अहसू. ३.५१)

शीताग्निता-स्त्री., अग्नेः शीतत्वम्, विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः, अग्निमान्द्यं पाचनाक्षमत्वम् (चसू. २०.१७)

शीताङ्ग-पु., रोग० सन्निपातज्वरभेदः (मा ज्वर. २) सान्निपातिक-त्रिदोषात्मक ज्वराचा प्रकार. लक्षणम्- हिमसदृशशरीरो वेपथु श्वास हिक्का शिथिलितसकलाङ्गः कुमथुदवथुकासच्छर्द्यतीसारयुक्तःखिन्ननादोग्रतापः शीतगात्रः, प्रभावात् त्वरितमरणहेतुः (अश्विनीसंहिता, मा. २१,१३)

(शीताङ्गी)–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७; पृ. २५६)

शीताञ्जन–न., स्रोतोञ्जनम् (चक्र. चसि. ९.११५)

शीताद–पु., रोग० दन्तमूलगतरोगः, लक्षणम्–यस्याकस्माद्दन्तवेष्टेभ्यः रक्तं प्रवर्तते, दुर्गन्धीनि कृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च दन्तमांसानि शीर्यन्ते, परस्परं च पचन्ति। स कफशोणितसंभवः शीतादो नाम व्याधिः (सुनि. १६.१४-१५)

भैषज्य० रालः (रा. १२.१७६; पृ. ११९)

न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.२; पृ. ९३)

रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६६; पृ. २१८)

वनस्पति० पद्मकः (रा. १२.१४९; पृ. ११३)

शीताभिप्रायता–स्त्री., लक्षण० शीतप्रियत्वम् (चनि. १.२४)

शीताभिभूत–वि,, शीतजन्यव्याधिग्रस्तः (चचि. १.३५)

शीताभ्र–पु., निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१; पृ. १०१)

शीताम्बु–न., शीतजलम् शीताम्बुना विदग्धमन्नं शीघ्रं परिपाकमेति। अस्य शैत्येन पित्तं निहन्ति (अहसू. १३.८)

शीतारि–पु., पारदयोग० पारदस्यैकं भागं गन्धकस्य च द्वौ भागौ पुनर्नवाचित्रकयोः क्वाथेनादौ विमर्द्य पश्चादष्टगुणे पक्वार्कपत्ररसेन पाचयेत्। ततस्तत्र पारदार्धभागं वत्सनाभं प्रक्षिप्य चित्रकस्य क्वाथेन विपाचयेत्। मात्रा–वल्लं तदर्धं वा। अनुपानम्–आर्द्रक-स्वरसः मरीचचूर्णं च सघृतम्। समयमर्यादा–मासः, अयं योगो वातव्याधिविनाशनः (र. २०.११-१२)

शीतार्तवा–वि., शीतमार्तवं यस्याः सा (स्त्री) (का. गुल्म. १५)

शीतासहत्व–न., लक्षण० शीतं न सहते, इति शीतासहिष्णुत्वम् (चनि. १.३३)

शीतिकाज्वर–पु., शीतपूर्वो ज्वरः, विषमज्वरो वा (र. ५.१८५-१९०)

शीतीकरण–न., विशेषतः द्रवद्रव्यस्य अधिकत्वेन शीतलकरणोपायः, स च सप्तविधः–प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणं, यष्टिकाभ्रामणं, व्यजनं, वस्त्रोद्धरणं, वालुकाप्रक्षेपणं, शिक्यावलम्बनं च (सुसू. ४५.१९)

शीतोच्छ्वास–वि., लक्षण० अरिष्टलक्षणभूतः शीतोच्छ्वासो यस्य सः (चइ. ११.२०)

शीतोदक–न., शीतजलम् (सुसू. ४६.४२४)

द्र० 'जल'

शीतोदकमात्रा–स्त्री., अल्पं शीतोदकम् (सुचि. २९.१२)

शीतोपचार–पु., शीतेन चिकित्सा, शीतस्पर्शद्रव्येनोपक्रमः, रक्तपित्ते दाहादिषु च बाह्यतः शीतस्पर्शद्रव्योपयोगः कार्यः (सुउ. ४५.३८; अहसू. २७.४७)

शीतोष्णव्यत्यास–पु., शीतोष्णपरिवर्तनम् (चनि. ५.६)

शीधु–पु., आसुत० पक्वेक्षुरसकृतः मद्यविशेषः (चसू. ६.१२)

शीरिन्–पु., वनस्पति० मृदुदर्भः (ध. ४.१३३;पृ.१६१)

शीर्ण–वि.. जर्जरीभूतम् (अहसू. २४.१)

–पक्ष्मन्–वि., शीर्णानि पक्ष्माणि यस्य सः (अहसू. २४.१)

–रोमक–न., सुगन्धिद्रव्य० स्थौणेयम् (ध. ३.६९; पृ. ११०)

–लोमन्–वि., लक्षण० विगलितानि लोमानि यस्य सः (चवि. १६.१५)

–वृत्त–न., वनस्पति० त्रपुसम् (ध. १.१७९; पृ.४२)

–वृन्त–न.,वनस्पति० त्रपुसभेदः,बालशीर्णवृन्तगुणाः–सक्षारं मधुरं कफावहं च। मध्यशीर्णवृन्तगुणाः–भेदनं दीपनं हृद्यं च। जीर्णशीर्णवृन्तगुणाः–आनाहाऽष्ठीलनुत् लघु च (सुसू. ४६.२२०; अहसू. ६.१०)

शीर्ष–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३; पृ.१२१)

न., वनस्पति० कालेयकम् (रा. १२.४०; पृ. ९९)

–केसरक–पु.,वनस्पति०बकुलः (ध.५.१५४;पृ.२०२)

–रोग–पु., शिरोरोग० (चचि. ३०.२४१)

–विरेचन–न., शिरोविरेचनम् (नस्यम्) (चसू. १.७९)

शीर्षाद–पु., कृमि० शिरःसर्पणशीलः (चवि. ७.२०)

शील–न., सहजं वृत्तम् (चइं. १.३) सहजो वस्तुषु रागः, शीलमनुशीलनेन परीक्षेत (चक्र. चवि. ४.८; सुसू. ३०.३)

शीलन–न., सततक्रिया, अभ्यासः (अहसू. १६.३, सुचि. ३७.७७)

शीस–न., खनिज० कासीसम् (अहसू. १०.२७; रा. १३.१८९; पृ. ११९)

शुक–पु.,पक्षि० तन्मांसं रसे कषायं विपाके अम्लं, रूक्षशीतलं शोषकासक्षयहितं संग्राहि लघु दीपनं च (चसू. २७.७४; अहसू. ३.४०; असंसू. ७.७२; ध. ६.४५०; पृ. २७७)

हिं.—तोता.
म.—पोपट.
बं.—टिया, पाखी.
ता.—किळि.
वनस्पति० चर्मकारवटः (सुउ. ५१.२३)
–च्छद–न., वनस्पति० स्थौणेयकम् (ध. ३.६९; पृ. ११०)
–जिह्वासंस्थान–वि., आकृत्या शुकजिह्वाग्रसदृशम् (अर्शः) (सुनि. २.११)
–तरु–पु., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८९; असंउ. ८; पृ. १९२)
–तुण्ड–पु., खनिज० किञ्चित्पीतश्चर्मारोऽपरपर्यायो हिङ्गुलप्रकारः (र. ३.१५५)
रक्तवर्णो गन्धकप्रकारः (र. ३.१६)
–नस–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (काखिल. ११.९४)
(–नसा)–स्त्री., वनस्पति० चर्मकारवटः; इयं एका नाडीव्रणोपयोगिनाम् (सुचि. १७.३७)
–नाशन–पु., वनस्पति० चक्रमर्दः (रा. ४.९; पृ. १३५)
–नास–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (ध. १.११४; पृ. २८)
–(नासा)–स्त्री., वनस्पति० शुकनासा, चर्मकारवटः (असंउ. ३९; सुचि. १.११५)
–पिच्छ–पु., खनिज० अमलसारो गन्धकः (र. ३.१५)
–पिच्छक–न., खनिज० अमलसारगन्धकः (र. २२.३०-३६)
–पुच्छ–न., वनस्पति० स्थौणेयकम् (ध. ३.६९; पृ. ११०)
–पुच्छक–न., वनस्पति० स्थौणेयकम् (रा. १२.१२५; पृ. ११०)
–प्रिय–पु., वनस्पति० शिरीषः (ध. ५.११२; पृ. १९२)
(–प्रिया)–स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१२८; पृ. १८६)
महाजम्बूः (रा. ११.१३०; पृ. १८६)
द्र० ' जम्बू '
–फल–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२६;पृ. १३७)
–बर्ह–न., वनस्पति० स्थौणेयकम् (ध. ३.६९;पृ. ११०)
ग्रन्थिपर्णकम् (चसू. ५.२३)
–वक्त्र–पु., निर्विषसर्प० (असंउ. ४१)
–पूर्णकण्ठत्वम्–स्त्री., लक्षण० (र. २८.१५)
–वल्लभ–पु., वनस्पति० दाडिमः (ध. २.६१;पृ. ८१)
शुकाख्य–पु., वनस्पति० चर्मकारवटः (ड. सुक. ७.३४)
(शुकाख्या)–स्त्री., वनस्पति० चर्मकारवटः, अन्ये शुकशिम्बामाहुः (ड. सुउ. ४४.१९)
शुकाह्वय-पु., वनस्पति० चर्मकारवटः (सुचि. १८.४८-४९)
शुकेष्ट–पु., वनस्पति० राजादनः (रा. ११.१४७;पृ.१८७) शिरीषः (रा. ९.१८८; पृ. १९२)
शुकोदर–न., वनस्पति० तालिसकम् (ध. २.५३; पृ. ८०.)
शुक्त–न., आसुत० यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुड-क्षौद्रकाञ्जिकम् तत् (चसू. २७.२८४ ; असंसू. ७.२४३) तद्गुणाः–मधुरं, तिक्तमम्लमुष्णं, तीक्ष्णं, लघु, कटु, रक्तपित्तकरं, पाचनं, भेदनं, मूत्रलं, हृद्यं, रोचनं, कफपित्तघ्नं, पाण्डुकृमिशिरो-रोगनासिकादुर्गन्धनाशनम् (अहसू. ५.७६; ध. ६.२४६)
चुक्रम्, तण्डुलाम्बुसौवीरादिभिः कृतसंधानम् (ड. सुउ. ३९.२७२)
वि., अम्लीभूतम् (काखिल. १६.९)
(शुक्ता)–स्त्री., वनस्पति० अम्लिका (ध. ५.३३; पृ. १७४)
–त्व–न., अम्लता (च. चचि. १५.४४)
–पाक–पु., लक्षण० शुक्तमिवान्नस्य पाकः (चचि. १५.६०)
शुक्तक–पु., रोग० अम्लपित्तरोगः (काखिल. १६.४३)
शुक्ति–स्त्री., मान० अर्धपलम् (चक. १२.९१; सुचि. ६.१८)
वनस्पति० बदरी (चसू. २५.४९)
वारिशयप्राणि० मुक्ताप्रभवो जन्तुः (चसू. २७.४०)
नेत्ररोग० नेत्रस्य शुक्लभागे जलशुक्तिरिव किञ्चि-दीर्घाः श्यावाः पिशितनिभा ये बिन्दवः, स शुक्तिसञ्ज्ञो नेत्ररोगः (सुउ. ४.७)
व्याघ्रनखभेदः (सुसू. ३८,२४-२५)
जलशुक्तिः (सुचि. २०.३)
भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८; पृ. १०७)
प्राणिविशेषास्थि (अहसू. ३०.१६)

-चूर्ण-न., बदरिका, तस्याश्चूर्णम् (चचि. २५.६७)
-ज-न., रत्न० मौक्तिकम् (ध. ६.६२; पृ. २१८)
-पर्ण-पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (ध. ३.८०; पृ. ११२)
-प्रमाण-न., अर्धपलप्रमाणम् (सुउ. ५०.२५; पृ., १०७)
-शङ्ख-पु., भैषज्य० नखम् (रा. १२.१०७; पृ. १०७)
-संभव-न., रत्न० मौक्तिकम् (ध. ६.६२; पृ. २१८)
(शुक्तिका)-स्त्री., नेत्ररोग० शुक्तिः (सुउ. ४.३) पित्तं सिताऽसितश्यावपीतकान् बिन्दून् कुर्यात् । सर्वं शुक्लं मलाक्तादर्शतुल्यं सदाहरुक् च भवति । रोगेऽस्मिन् शक्नुन्नेदतृष्णाज्वराश्च भवन्ति (असंउ. १३) तत्र चिकित्सा-त्रैफलादिघृतेन तैल्वकेन वा दोषसंशोधनाऽनन्तरं शीतैर्द्रव्यैरञ्जनं कार्यम् (सुउ. १०.१४)
वनस्पति० अम्लिका (ध. ५.३३; पृ. १७४)
शुक्र-न., सप्तधातुषु सप्तमो धातुः (चसू. २८.४; अहसू. १.१३) दशप्राणायतनेष्वेकम् (चसू.२९.३) शुक्रवहस्रोतांसि (चवि. ५.८) शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च (सुशा. ९.१२) नृणां कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रम् (सुशा. ४.२३) शुक्रवहे द्वे धमन्यौ (सुशा. ९.७) इति शुक्रस्थानानि । मज्ज्ञः शुक्रं प्रजायते (चचि. १५.१६; सुसू. १४.१०) यथा पयसि सर्पिः इक्षौ च रसो गूढस्तथा नृणां शरीरेषु शुक्रं विद्यते। प्रसन्नमनसो हर्षात्तत्संप्रवर्तते । बस्तिद्वारस्याऽधो द्वयङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे मूत्रस्रोतःपथात् पुरुषशुक्रं प्रवर्तते (सुशा.४.२१-२३) बालेऽपि शुक्रमस्ति । किन्तु यथा पुष्पमुकुलस्थो गन्ध इहास्तीति नैवास्तीति वा वक्तुं न शक्यते तथैव सौक्ष्म्याच्छुक्रस्थाऽभिव्यक्तिर्नास्ति। बालानामपि वयः परिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति। (चसू.१४.१८) रसो मासेन शुक्रीभवति (सुसू.१४.१४)
केचिदाचार्या अहोरात्राच्छुक्रोत्पत्तिमाहुः ।
अपरे षडहादन्नं शुक्रत्वं याति इत्याहुः । सुश्रुतादीनां मते मासेनाऽन्नं शुक्रं भवति (अहशा.३.६५-६६)
वृष्याणि क्षीररसमधुकमाषकूष्माण्डहंसादिपक्ष्यण्डप्रायाणि द्रव्याणि प्रभावेण सद्यः शुक्रं कुर्वते (अहशा. ३.६७)
बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् (चचि. २.४(५०)) अविदाहि, स्फटिकसंनिभम् (चचि. ३०.१४५) द्रवं, मधुगन्धि, तैलक्षौद्रनिभं च (सुशा. २.११-१२) सौम्यम् (सुशा. ३.३) इति शुक्रस्वरूपम् । शुक्रसारलक्षणानि- सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः । ते स्त्रीप्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्योऽऽरोग्यवित्तसंमानाऽपत्यभाजश्च भवन्ति (चवि. ८.१०९) स्निग्धसंहतश्वेताऽस्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण (सुसू. ३५.१६) शरीरे शुक्रस्याऽर्धाञ्जलिः प्रमाणम् (चशा. ७.१५) शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं च करोति (सुसू. १५.४(१)) शुक्रस्य श्रेष्ठं कर्म गर्भोत्पादनम् (अहसू. ११.४) ओजः शुक्रमलः (अहशा. ३.६४) ओजः शुक्रस्योपधातुः (शार्ङ्ग. पूर्व. ५.१७) शुक्रवृद्धिलक्षणानि- वृद्धं शुक्रं अतिस्त्रीकामतां शुक्राश्मरीमपि करोति (अहसू. ११.१२) शुक्रक्षयलक्षणानि- क्षीणे शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा । तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च (अहसू. ११.२०) शुक्रदोषजविकाराः- शुक्रस्य दोषात् क्लीबमल्पायुः विरूपं वा अपत्यं प्रजायते । तथा गर्भो न जायते पतति प्रस्रवत्यपि । दुष्टं हि शुक्रं नरं सापत्यं सदा च बाधते (चसू. २८.१८-१९) क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषाश्च तद्दोषजाः (सुसू. २४.९) वाताऽदिभिरष्टधा शुक्रदुष्टिर्वीतादिकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमलाऽऽह्वयं बीजासमर्थं शुक्रमिति (अहशा. १.१०)
नेत्ररोग० शुक्रं द्विविधं सव्रणमव्रणं च, यत् कृष्णे दृश्यरूपं भवेद्यद्वै सूच्येव विद्धं प्रतिभाति, उष्णमश्रु स्रवति, अत्यर्थं च पीडां करोति, तत् सव्रणशुक्रम् । इदं रक्तजमसाध्यं च । तत्रापि यत् दृष्टेः समीपे न भवेदवगाढं च न संस्रवेत्, अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं, तत् सव्रणशुक्रं कदाचित् साध्यं भवेत् । असितप्रदेशे सितं स्यन्दात्मकं नातिरुक् नात्यश्रुयुक्तमाकाशे इवाच्छघनाऽनुकारि भाति । तदव्रणं शुक्रं साध्यतममिष्यते । गम्भीरजातं बहलं चिरोत्थितं शुक्रं कृच्छ्रम् अस्ति । (सुउ. ५.४-९) सव्रणशुक्रचिकित्सा-सव्रणं शुक्रमुत्तानमवगाढं कर्कशं वाऽपि शिरीषबीजादिभिर्घर्षयेत् । ताम्ररजःशङ्खादिभिरञ्जनं शुक्रनाशनं भवति । बिभीतकाऽस्थिमज्जा सक्षौद्रः

शुक्रनाशनो भवति। अव्रणशुक्रचिकित्सा–रक्तविस्रावणं प्रदेहपरिषेचननस्यधूमाश्चोतनाऽभ्यञ्जनतर्पणस्निग्धपुटपाकालेख्याऽञ्जनानि। रक्तविस्रावणादिनोपक्रान्तस्य लेख्याञ्जनेनाऽव्रणं शुक्रमपहर्तव्यम् (सुउ. १२.२७; असंउ. १३) साध्य व्रणशुक्रलक्षणम्–नेत्रस्य कृष्णभागे सितं स्यन्दाऽऽत्मकमल्परुगश्रुयुक्तमभ्रदलानुकार्यव्रणशुक्रम् (सुउ.५.८)

पु., मास० आषाढमासः (चचि. १.(२). १३; सुसू. ६.६)

ज्येष्ठमासः (असंउ. ४९)

(शुक्रा)–स्त्री., भैषज्य० वंशरोचना (रा. ६.८५; पृ. ८१)

–कर–वि., शुक्रोत्पत्तिकरम् (अहसू. ५.४१)

–क्षय–पु., शुक्रस्य क्षयः, शुक्रोदुष्टिः (चचि. ११.६५) शुक्रक्षये मेढ्वृषणवेदनाऽशक्तिमैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् व्यवायशोषे शुक्रक्षयलिङ्गं च (सुउ. ४१.१७) शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतानामपरेषां च द्रव्याणाम् (असंसू. १९.१४) तथा च शुक्रक्षीणो नरः मयूरकुक्कुटहंससारसानां ग्राम्यानूपौदकानाम् च अण्डानि अभिकांक्षति (सुसू. १५.२९-३१)

–क्षीण–वि., लक्षण० शुक्रं क्षीणं यस्य सः (सुसू. १५.२९-३१)

–ग्रह–पु., लक्षण० शुक्रस्य ग्रहः रेतोविबन्धः (अहसू. १९.३)

–घ्न–वि., शुक्रक्षयकरम् (असंसू. १२.४७)

–जननगण–पु., द्रव्यगण० चतुष्के महाकषायवर्गे एको गणः, जीवकर्षभकाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि द्रव्याणि भवन्ति (चसू. ४.१२; असंसू. १५.२४)

–द–वि., शुक्रवृद्धिकरः (सुसू. ४६.३५९-३६१)

–दोष–पु., शुक्रधातोः विकृतिः क्लैब्याप्रहर्षादयः शुक्रदोषाः (सुसू. २४.९)

–धरा–स्त्री., शारीर० रेतोधरा कला (सुशा. ४.२०)

–नाशन–वि., शुक्रघ्नः, शुक्रं नाशयतीति (चसू. २६.६२)

–प्रदोष–पु., शुक्रविकारः (चसू. १.१११)

–भाण्डी–स्त्री., वनस्पति० श्यामा त्रिवृत् (ध. १.२४५; पृ. ५७)

–मांसल–वि., शुक्रं मांसं च यो जनयति सः (चसि. १०.२९) काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी शतावरी विदारी मधुयष्ट्याऽऽह्वा शृङ्गाटककशेरुके आत्मगुप्ताफलं माषाः गोधूमा यवा जलजानूपजं मांसमित्येते शुक्रमांसलाः (चसि. १०.२८-२९)

–मेह–पु., रोग० कफदोषप्रधानः प्रमेहभेदः (चनि. ४.१०; सुनि. ६.१०) तत्र नरः शुक्राऽऽभं शुक्रमिश्रं वा मेहति (असंनि. १०.१५) दूर्वादिकषायः ककुभचन्दनकषायोऽत्रोपयोज्यः (सुचि. ११.९) द्र० 'प्रमेह'

–ल–वि., शुक्रकरम् (चसू. २६.६१)

–वहा सिरा–स्त्री., शुक्रवाहिनी सिरा (सुशा. २.४५)

–वहस्रोतस्–न., शुक्रवहनार्थं स्रोतो० (चवि. ५.८) तस्य स्थानम्—वृषणौ। शुक्रवहस्रोतश्छेदात् मरणं क्लैब्यं वा भवति (सुचि. ७.३६) तुदुष्टिः अकालयोनिगमनाभिग्रहादतिमैथुनाच्छस्त्रक्षाराऽग्निभिश्च भवति (चवि. ५.१९)

–वाहिन्–वि., शुक्रं वहतीति (असंशा. ६.४३)

–वाहिस्रोतस्–न., स्रोतो० शुक्रवहस्रोतः (चवि. ५.१९)

–विधारण–न., शुक्रवेगनिग्रहः चलितशुक्रस्य बलाद् धारणम्। शुक्रवेगविधारणं वा (सुचि. २४.११९)

–विष–वि. शुक्रे विषं यस्य सः, यथा मूषिकाः शुक्रविषाः (सुक. ३.५)

–वृद्धिकृत्–वि., शुक्रवृद्धिकरम् (असंसू. ७.३२)

–वेगधारण–न., शुक्रवेगावरोधः शुक्रवेगविधारणात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्चयथुर्ज्वरा हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृच्यश्मषण्ढताश्च भवन्ति। शुक्रोधजविकारेषु ताम्रचूडसुराशालीनां सेवनं बस्तिरभ्यङ्गाऽवगाहनं तथा बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं क्षीरं प्रियाः स्त्रियश्च भजेत् (अहसू. ४.१९)

–वेगनिग्रह–पु., शुक्रवेगधारणम्, षांढ्यकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)

–शुद्धिकरवर्ग–पु., कुष्ठैलवालुककट्फलकाण्डेक्ष्वेक्ष्वब्धिफेनकोशीरैः वसुकेक्षुरकैः शुक्रं सकदम्बनिर्यासैः शोधयेत् (असंसू. १५.२५)

–शोणितप्रकृति–स्त्री., शुक्रशोणितमेलनकाले ऋतुरूपे यो दोष उत्कटो भवति, स प्रकृतिमारभते (च. चवि. ८.९५)

–शोणितसंसर्ग–पु., शुक्रशोणितमेलकः (चशा. ३.३)

-शोधन-वि., शुक्रदोषहरः (चसू. ४.८)
-शोधनगण-पु., द्रव्यगण० चतुष्के महाकषायवर्गे एको गणः। कुष्ठैलवालुककट्फलसमुद्रफेनकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्षिवक्षुरकवसुकोशीराणीति दशेमानि शोधनानि द्रव्याणि भवन्ति (चसू. ४.१२; असंसू. १५.२५)
-संपद्-स्त्री., शुक्रस्याऽदुष्टत्वरूपोत्कर्षः (चशा. २.६)
-सार-वि., शुक्रं सारं परोत्कृष्टबलं यस्य सः, तल्लक्षणानि-सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः, स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्याऽऽरोग्यवित्तसंमानाऽपत्यभाजश्च भवन्ति (चवि. ८.१०९; सुसू. ३५.१६)
-स्रवण-न., शुक्रस्य स्रवणम् (अहसू. ४.१९)
शुक्रक-पु., नेत्ररोग० (अहसू. २४.२) द्र० 'नेत्ररोग'
शुक्रल-वि., शुक्रकरः (चसू. २६.६९)
शुक्राघात-पु., शुक्रस्याऽवरोधः (अहसू. १७.२७)
शुक्राशय-पु., शारीर० शुक्रस्याऽऽशयः वृषणौ (चचि. २६.७२)
शुक्राश्मन्-पु., रोग० शुक्राश्मरी (अहसू. ६.१९)
शुक्राश्मरी-स्त्री., रोग० शुक्रदोषजविकारेष्वेकः, शुक्रनिमित्ताऽश्मरी (सुनि. ३.१२; सुसू. २४.९; अहसू. ११.१२; असंनि. ९.१७)
शुक्रोत्सेक-पु., शुक्रस्रावः, शुक्राऽऽधिक्यम् (सुचि. ३७.१२६)
शुक्ल-वि., वर्ण० धवलः (सुसू. ३२.३)
कार्पासवर्णम् (सुसू. ४६.२१२-२१३)
नेत्रस्थं शुक्लमण्डलम् (र. २३.३१; असंसू. ७.३६)
वनस्पति० जीरकः (ध. २.६८; पृ. ८३)
कुन्दः (ध. ५.१५०; पृ. २०१)
एरण्डः (ध. १.२९५; पृ. ६७)
(शुक्ला)-स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२; पृ. ३१)
मधुरस्कन्धे द्रव्य० शर्करा (चक्र. चवि. ८.१३९)
बिदारी (ध. १.१४७; पृ. ३४)
-कन्द-पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३; पृ. ३५०)
(-कन्दा)-स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (ध. १.१०; पृ.८)
-कर्कटक-पु., पादिप्वेकः, श्वेतवर्णकुलीरः (सुसू. ४६.१११)
-गतरोगविज्ञानीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ४.१)
-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५; पृ. १५७)
-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७; पृ. ३४२)
-भागगतरोग-पु., रोग० नेत्रस्य शुक्लभागे संभूतो रोगः। शुक्लभागस्यैकादशरोगाः प्रदिष्टाः सुश्रुतेन (सुउ. ४.३-४) रोगाः-(१) प्रस्तार्यर्म (२) शुक्लार्म (३) क्षतजार्म (४) अधिमांसार्म (५) स्नाय्वर्म (६) शुक्तिका (७) अर्जुनः (८) पिष्टकः (९) सिराजालम् (१०) सिरापिडकाः (११) बलासकः (सुउ. ४.३-४) द्र० 'नेत्ररोग.'
-मणि-पु., रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६७; पृ. २१८)
-मण्डल-न., शारीर० नेत्रमण्डलेष्वेकं, तेष्वपि च नेत्रे श्लेष्मणः प्रसादाच्छुक्लमण्डलं तत्पितृजम् (असंशा. ५.५१)
-मेह-पु., श्लेष्मनिमित्तः प्रमेहभेदः, तल्लक्षणम्-नरः कफप्रकोपात् शुक्लपिष्टनिभं मूत्रं प्रमेहत्यभीक्ष्णम् (चसू. १९.४ (९) द्र० 'प्रमेह.'
-रोहित-पु., वनस्पति० श्वेतरोहितः (रा. ८.१८; पृ. १९६) द्र० 'रोहितक.'
-वर्ग-पु., शुक्लद्रव्याणां वर्गः, खटिनीश्वेतसंयुक्ताः शङ्खशुक्तिवराटिकाः भृष्टाऽश्मशर्करा चेति शुक्लवर्गः (ध. ७.६३; पृ. ३०७)
-वर्ण-वि., शुक्लवर्णीयः (पदार्थः) यथा कार्पासास्थितक्रभस्मक्षारादिः (सुसू. २९.२७)
-वृक्ष-पु., वनस्पति० धवः (रापरि. ९.५; पृ. २०५)
-शाल-पु., वनस्पति० कैडर्यः (रा. ९.४८; पृ.१४)
-शेफालिका-स्त्री., शेफाली, निर्गुण्डी (ध. ४.८३; पृ. १५०)
शुक्लाक्ष-पु., जलचरपक्षि० मल्लिकाक्षभेदः, हंसभेदः, अन्ये मलिनचञ्चुचरणहंसभेदः (ड. सुसू. ४६.१०५-१०६; असंशा. २.५७)
शुक्लांगी-स्त्री., वनस्पति० शेफाली, निर्गुण्डी (रा. ४.१२१; पृ. १५०)
शुक्लार्क-पु., वनस्पति० श्वेतार्कः (रा. १०.२९; पृ.१३७)
शुक्लार्मन्-न., नेत्ररोग० नेत्रशुक्लभागगतो रोगः (सुउ. ४.३-४) नेत्रस्य शुक्लभागे कोमलं किञ्चिच्छ्वेतमर्म चिरेण वर्धते स शुक्लार्माख्यो नेत्र-

रोगः (सुउ. ४.५) तच्चिकित्सा–विस्तीर्णं तनु वा शुक्लार्मं शुक्रवदेव लेखनाञ्जनैरेवोपचरणीयम् (सुउ. १५.१७; असंउ. १३) द्र० 'नेत्ररोग.'

शुङ्ग–पु., नवपल्लवः (चसू. १.७४)

शुङ्गा–स्त्री., नवपल्लवम्, प्रत्यग्रपल्लवः (सुचि. ३४.१२)

शुचि–वि., शुचिताकरम् (चसू. ५.९९) बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः (सुसू. ३४.१९-२१) अनुपहतम् (ड.सुसू. ४५.२०) वैद्यगुणेष्वेको गुणः पु., मास० ज्येष्ठमासः (चचि. १(२). १३; सुसू. ६.६) आषाढमासः (चसि. ६.५)

–**द्रुम**–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)

–**वीर**–पु., वनस्पति० दर्भः (ध. ४.१३३)

शुण्ठ–पु., न-, वनस्पति० गुण्ठः (ध.१.८३)

(शुण्ठी)–स्त्री., वनस्पति० सुगन्धिकन्दविशेषः, शुष्कार्द्रकम्, महाकषायवर्गे तृसिघ्नगणे तृष्णानिग्रहणगणेऽर्शोघ्नगणे चैकं द्रव्यम् (चसू.४.११-१४) गुणाः–कटुरुष्णा स्निग्धा वृष्या कफवातघ्नी शोथकृम्यरुचिश्वासपाण्डुश्लीपदोदरशूलबन्धाध्माननाशिनी (ध. २.८२) रसशेषाजीर्णनाशिनी (सुसू. ४६.५११) कामलाघ्नी (सुउ. ४४.३०) हिक्कानाशिनी (सुउ. ५०.२२) शीर्षविरेचने उपयुज्यते (चसू. २.५)

हिं.—अदरक, सोंठ.

म.—सुंठ.

गु.—अदु.

बं.—अदा, सोंठ.

ता.—चक्कु, शुखु.

फा.—झंजाबिल.

शुण्ठक–न., वनस्पति० शुण्ठी (चचि. १२.४४)

शुण्ठिक–न., वनस्पति० शुण्ठी (चचि. १२.४४)

शुण्डिक–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा.१६.११७)

शुण्डिन्–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११७)

शुण्डी–स्त्री., वनस्पति० वस्तिशुण्डी (रापरि. ५.२०)

शुद्ध–वि., योग्य औषधप्रयोगः, या भेषजयोजना दोषमेकं शमयेन्नान्यं दोषमुदीरयेत्, सा शुद्धः प्रयोग इत्युच्यते (चनि. ८.२३) शोधितः, कृतवमनविरेचनादिः (अहसू. २०.१३; ४.२०) केवलः, इतरासंबद्धः (सुनि. १.६३) वि., कषायरञ्जितम् (सुचि. ३५.१५) न., लवण० सैन्धवम् (ध. २.२५)

(शुद्धा)–स्त्री., शर्करा (ध. २.१०४) कुसुम्भम् (ध. ६.११८)

–**कण्ठता**–स्त्री., लक्षण० शुद्धकण्ठस्य भावः (अहसू. १४.१७)

–**कोष्ठ**–वि., शुद्धं कोष्ठं यस्य सः; शोधितकोष्ठः (चचि. १.२८)

–**देह**–वि., वमनविरेचनादिभिर्यस्य शोधितो देहो यस्य सः (र. १६.१२-२५)

–**लोह**–न., खनिज० त्रयो लोहप्रकाराः, शुद्धं लोहं पूतिलोहं मिश्रलोहं चेति। तत्र स्वर्णरजतताम्रलोहानि शुद्धलोहानि (र.५.१)

–**वातहत**–वि., शुद्धेन कफाद्यसंसृष्टेन वातेन हतः (सुनि.१.६३)

–**व्रण**– पु., स्रावरहितो व्रणः, लक्षणानि–त्रिदोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकाऽन्वितः समोऽवेदनो निरास्रावश्च (असंउ. २९)

–**शुक्र**– वि., शुद्धं शुक्रं यस्य सः, अदुष्टशुक्र इत्यर्थः (असंशा. २.२२)

–**शुक्रक**– न., नेत्ररोग० कफाच्छङ्ख इव नातिरुक् शुक्रं च। तत्साध्यम् (असंउ. १३.२२६)

–**सत्त्व**– वि., सात्त्विकप्रकृतिः, लक्षणम्– आरोग्यं प्रशमो रूपं ज्ञानं विज्ञानं आर्यता दीर्घमायुः सुखाऽत्यक्तं च (कासू. २८) शौचमास्तिक्यं– कृतज्ञता दाक्षिण्यं व्यवसायः शौर्यं गाम्भीर्यं बुद्धिर्मेधा स्मृतिः शुक्लधर्मरुचिर्भक्तिरनभिष्वङ्गस्तमोगुणविपर्ययश्चेति शुद्धसत्त्वलक्षणानि (असंशा. ५.१९)

–**सत्त्वज**–वि., शुद्धसत्त्वयुक्तः (असंशा. ५.१९)

–**स्तन्यलक्षण**–न., शीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमस्रोतस्वतेऽवसीदति वा, तच्छुद्धमिति विद्यात् (सुशा. १०. ३१)

–**स्नाता**–वि., रजसाऽऽदौ शुद्धा पश्चात्स्नाता अन्तर्बहिःशुद्धेत्यर्थः (सुशा. २.२५; का. जातिसूत्रीय. शा. ७)

–**हृदयता**–स्त्री., हृदयस्य निर्मलत्वम्, निर्मलहृदयता (अहसू. १४.१७)

शुद्धातीसार–पु., रोग० निरामातीसारः (अहसू. १९.२) द्र० 'अतिसार'

शुद्धानिलार्त–वि., असंसृष्टेन अनिलेन पीडितः, केवल-वातपीडितः (चचि. २८.११८)

शुद्धार्तवा–वि., शुद्धमदुष्टमार्तवं यस्याः सा (सुशा. २.२४)

शुद्धावर्त–पु., यदा धातूनां सत्वपातनविधौ वह्निः प्रदीप्त-ज्वालः श्वेतोच्छ्रायसंयुक्तश्च भवेत्तदा स शुद्धावर्तो ज्ञेयः । अयमेव कालः सत्त्वनिर्गमनार्थं योग्यः । रसार्णवेऽस्यैव नाम 'लोहावर्त' इति प्रसिद्धम् (र. ८.५८)

शुद्धास्र–न., शुद्धरक्तम् (अहसू. २६.४२)

शुद्धि–स्त्री., शोधनं नाम दोषापाकरणम् (चचि. १२.५; चसि. १.१२; सुशा. २.१; असंसू. २९.२२; अहसू. २७.४७)

–कर–वि., शुद्धिं शोधनं करोति इति शुद्धिकरः (अहसू. १९.६१)

–काङ्क्षिन्–वि., शोधनाभिलाषी, यः शुद्धिं काङ्क्षते सः (असंसू. ७)

–वर्ग–पु., भैषज्यगण० अयं शोधनगुणयुक्तः काच-टङ्कणशिप्राणां समूहः (र. ३.१६५)

–शुद्ध–वि., शोधनादिना शुद्धः (असंसू. २७.२१)

शुद्धोद्गारता–स्त्री., लक्षण० शुद्धोद्गारस्य भावः (अहसू. १४.१७)

शुध्युपाय–पु., शुद्धीकरणार्थं कृत उपायः (चशा.५.१३)

शुनकचञ्चुका–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रचञ्चुः (रापरि. ४.२२)

शुनकचिल्ली–स्त्री., वनस्पति० चिल्लीभेदः, गुणाः–कटुस्तीक्ष्णा कण्डूतिव्रणहारिणी च (रापरि. ७०)

शुभ–वि., न., मान० प्रस्थद्वयम्, अष्टाविंशत्यधिकशत-तोलकं मानम् (र. ११.८)

दर्शनस्पर्शनरसनघ्राणनश्रवणादिभिर्यत्सुखदं तच्छुभम् (सुउ. ४७.२५)

(शुभा)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (रा. ८.२३०)

द्र० ' दूर्वा '

शमीभेदः (रा. ८.१५५) द्र० ' शमी '

पाठा (ध. १.७०)

वंशरोचना (चचि. ८.१४५; र. २७.५२; ध. २.५५)

गोरोचना (र. २७.५२; रा. १२.३३)

प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)

–करी–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२)

–कर्मन्–न., दोषशमनं कर्म (अहसू. ९.२२)

–गन्धक–न., भैषज्य० बोलम् (रा. ६.११७)

–द्–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (रा. ४.११५)

शुभ्र–न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५)

कासीसम् (र. १३.१७९)

लवण० साम्भरलवणम् (रा. ६.४७)

वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२७)

पद्मकम् (रा. १२.१४९)

अभ्रकम् (धपरि. ६.३)

(शुभ्रा)–स्त्री., आहारद्रव्य० शर्करा (ध. २.१०४)

वंशरोचना (ध. २.५५)

–कुष्ठ–न., रोग० श्वेतकुष्ठम् (र. २६.३३)

–गौर–पु., वनस्पति० सर्षपः (ध. ४.४२)

–पुष्प–पु., वनस्पति० खसखसः खस्तिलः (ध. ६.१२०)

–मरिच–न., वनस्पति० मरिचम् (ध.२.९०)

शुभ्रवी–स्त्री., वनस्पति० कुडुहुड्ची (रा. ७.२८०)

शुभ्रांशु–पु., वनस्पति० कर्पूरः (रा. १२.५६)

शुभ्रालु–पु., वनस्पति० महिषीकन्दः, गुणाः–कटुरुष्णो रुच्यो महासिद्धिकरः सितः कफवातामयघ्नो मुख-जाड्यहरश्च (रापरि. ७.३३)

शुल्ब–न., खनिज० ताम्रम् (र.५.५९; र. १.४१;ध.६.९)

–नाग–न., ताम्रनागयोः संस्कारविशेषेण मेलनम्, समभागमाक्षिकेण मारितं ताम्रं पञ्चमित्रसंस्कारेण समुत्थितं कुर्यात् । एवं दशवारं कृत्वा तद्वन्मारितं विशुद्धं नागमित्येतदुभयं मिथः समं चतुष्पलमितं गृहीत्वा पुनः समभागेन नीलाञ्जनेन मारितं पञ्चमित्रसंस्कारेण पुनरुत्थापितं कुर्यात् । एवं सप्तवारं मारणपूर्वकोत्थापनेन संशुद्धमेतद्रव्यद्वन्द्वं शुल्बनागमित्यर्थः (र. ८.१८-१९)

शुषा–स्त्री., वनस्पति० कासमर्दः (चसू. २७.८८)

शुषिरस्नायु–स्त्री., शारीर० सच्छिद्रस्नायुः, सुषिरा स्नायव आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च विद्यन्ते (सुशा. ५.३२)

शुष्क–वि., अनार्द्रम् (असंशा ११.५)

(शुष्का)–स्त्री., रेवतीग्रह० रेवतीविंशतिनाम्नामेकतमं नाम (काबालग्रहचिकित्सा०)

योनिव्यापद्० (चसू. १९.४ (९)) व्यवायकाले वेगान् रुन्धन्त्याः प्रकुपितोऽनिलो विण्मूत्रसंगार्तिं योनिमुखस्य च शोषं कुर्यात्सा शुष्का योनिः (चचि. ३०.३२; असंउ. ३८)

-कण्डू-स्त्री., लक्षण० शुष्ककण्डूा पीडितो रुग्णः शयनेऽङ्गानि घर्षति रोदिति मर्दनमिच्छति च (कासू. २५.३०)

-कास-पु., रोग० कफादिनिष्ठीवनरहितः कासः (अहसू. ६.६५;चनि. १.२१) द्र० 'कास' लक्षण० (चनि. १.२१)

-चूर्णित- वि., आदौ शुष्कः पश्चाच्चूर्णितः (चचि. १(३).३)

-च्छर्दि- स्त्री., लक्षण० शुष्का च असौ छर्दिः, वातज्वरस्यैकं लक्षणम् (चनि.१.२१) द्र० 'छर्दि'

-द्रव्यमान-न., पलादिमानम् (सुचि. ३१.७; चक. १२.९८)

-पाण्डु-पु., रोग० वातजपाण्डुः (र. १९.७९-८४) द्र० 'पाण्डु'

-मांस-न., आर्द्रतारहितं मांसम्, गुणाः-तच्च अरोचकं गुरु प्रतिश्यायकृच्च (सुसू. ४६.१२७)

-मूलकयूष-पु., शुष्कमूलकानां यूषः, स च हिक्का-श्वासनिवारणः कफग्रहण्यां च शस्तः (चचि. १७.९९; चचि. १५.१४४)

-रेवती-स्त्री., रेवतीग्रह० सा जातहारिणी; (का. क. रेवती) तया आविष्टस्य लक्षणानि-पुरीष-द्रवता, पुरीषहरीतत्वं, क्रमेण सर्वाङ्गक्षयः, केशशातो-ऽन्नद्वेषः स्वरदैन्यं वैवर्ण्यं रोदनमुदरे ग्रन्थयः सिराश्च दीर्घकालानुवर्तनं गृध्रगन्धित्वम् (असंउ. ३)

-शाक-न., आहारद्रव्यम्, शुष्कं शाकम्; तच्च प्रकृत्या गुरु (चसू. ५.१०) रूक्षदेशजं शाकमित्येके (चचि. १९.३३)
वनस्पति० कासमर्दः (चचि. १९.३३)
शुष्कवार्ताककच्चरिकादि (हे. अहसू. ६.३४)

-स्तनी-वि., शुष्कौ स्तनौ यस्याः सा (कासू. १९)

शुष्काक्षिपाक-पु., नेत्ररोग० तल्लक्षणानि-नेत्रं निमीलितं कठिनरूक्षवर्त्म, विलोकने आकुलदर्शन-मुन्मेषेऽतिकठिनं भवति, स साध्यः (सुउ. ६.१२६; असंउ. १८)

शुष्कान्न-न., पिष्टान्नादि तदग्निमान्द्यकरम् (सुसू. ४६.४९७)

शुष्कार्शस्-न., रोग० अर्शोभेदः (चचि. १४.१६९) द्र० 'अर्शस्'
नेत्ररोग० नेत्रवर्त्मनि संभूतोऽन्तरेषु खरः स्तब्धो दीर्घोऽर्शोवदङ्कुरश्च भवति, स साध्यः (सुउ. ३.१४)

शुष्काशुष्क-न., भैषज्य० समुद्रफेनम् (धनि. ३.१५४)

शुष्कास्र-न., शुष्कं च तद् अस्रं नाम रुधिरम् (अहसू. २९.५२)

शूक-पु., शालि० (अहसू. ६.२)
धान्य० धान्यशूकम्, 'कूस' 'कुसळ' इति मराठी-भाषायाम् (असंउ. २५; अहसू. ३०.११)
जन्तु० सजन्तुजलमलः (सुनि. १४.१) विषजन्तुः (मा.) ऊषरजलेषु बाहुल्येन दृश्यमानः कश्चि-दौषधिविशेषः। स सविषनिर्विषभेदाद्द्विधा। तत्र विषवान् रोगकारकः (असंउ. ३८)
रोग० द्र० 'शूकदोष' (सुनि. १४.३)
योग० मेढ्वृद्धिकरः कामसूत्रादौ वात्स्यायनाद्युक्तो योगः (चचि. ३०.१६७)

-क्रिमिशूक-पु., शूकवतां क्रिमीणां शूकः, आगन्तु-शोथकारणम् (चसू. १८.४)

-ज-पु., भैषज्य० यवक्षारः (ध. २.१७)
न., धान्य० शूकधान्यम् (अहसू. ६.५)

-तुण्डविष-पु.,* प्राणि० जङ्गमविषविशेषः सूक्ष्म-तुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवलभिकाश्रृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः (सुक. ३.५)

-दूषित-वि., शूकेन दुष्टिं नीतम् (सुनि. १४.१०)

-दोष-पु., शेफसो वृद्धिकराणां योगानामतियोगाद्यो-र्योगाद्वा जायमानो रोगः, शूकनिमित्ता व्याधय एव शूकदोषाः कथ्यन्ते (सुनि. १४.१)
रोग० शूकलिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूक-दोषनिमित्ताः दश चाष्टौ च व्याधयो जायन्ते। तद्यथा-सर्षपिकाऽष्ठीलिका ग्रथितं कुम्भीकाऽलजी-मृदितं संमूढपिडकाऽवमन्थः पुष्करिकास्पर्शहानिरु-त्तमा शतपोनकस्त्वक्पाकः शोणितार्बुदं मांसार्बुदं मांसपाको विद्रधिस्तिलकालकश्चेति (सुनि. १४.३)

-दोषनिदान-न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १४.१)

-धान्य-न., शूकयुक्तं धान्यम् (चसू. २७.६; अहसू. ६.१)

-निपातन-न., शूको नाम लिङ्गवृद्धिकरं सविष-कीटशूककृतं लेपादि, तस्य निपातनं प्रयोगः। शूकनिपातनात्प्रकुपिता दोषा मेढ्रे श्वयथुं कुर्वन्ति (सुनि. १२.७)

-पत्र-पु., निर्विषसर्प० (सुक. ४.३४(४)

-पूर्णगलास्यता-स्त्री., लक्षण० शूकपूर्णो गल आस्यं च यस्य तस्य भावः; गले आस्ये च शूकैर्वेधनवद् वेदना (चचि. १८.५)

-वृन्त-पु., सवियकीट० विश्वम्भरभेदः (सुक. ८.३३) द्र० 'विश्वम्भर'
-वृन्तविष-न., शूकवृन्तकीटस्य विषम्, तच्चिकित्सा-तगरं कुष्ठमपामार्गस्तथैव भृङ्गस्वरसपिष्टा कृष्ण-वल्मीकमृत्तिका (सुक. ८.५४)
-शिम्बी-स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छूः (रा. ३.२०१)
शूकर-पु., पशु० वराहः, वन्यशूकरः (अहसू. ९.२८) शूकरवस्तिर्बस्तियन्त्रार्थं प्रशस्तः (सुचि. ३७.१०७)
(शूकरी)-स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (चचि. ९.४६)
-दंष्ट्रक-पु., क्षुद्ररोग० सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः कण्डूमान् ज्वरकारकश्च अयं 'वराहदाढ' इति लोके प्रसिद्धः (मा.)
-दंष्ट्रा-स्त्री., वराहस्य दंष्ट्रा; मधुघृतयुक्ता व्यङ्गन्यच्छ-नीलिकासु लेपार्थमुपयुज्यते (सुचि. २०.३६; असंउ. ३७)
-वसा-स्त्री, वराहमांसस्नेहः (चसू. २६.८४)
-व्रीहि-पु., धान्य० व्रीहिभेदः (अहसू. ६.९) द्र० 'व्रीहि'
शूकराक्षिता-स्त्री., अधोदृष्टित्वम्, व्यधदोषभवो रोगः, असौ अहिताचारादपि भवति (सुउ. १७.८५-८६)
शूकरास्थिक्षार-पु., क्षार० हस्तिमेहे पानार्थमुप-युज्यते (सुचि. ११.९)
शूकाजीर्ण-न., न पुनः पुनर्दुरवचारितशूकविकृतिरूपमे-वाजीर्णम् (सुनि. १४.११)
शूद्र-पु., सर्प० लक्षणम्-महिषीद्विपिवर्णः परुषत्वग्भिन्न-वर्णश्च, अत्र सर्पेषु परिकल्पितं शूद्रत्वं केवलं सर्पभेदाभिप्रायकमिति ज्ञेयम् (सुक. ४.२८)
-प्रिय-पु., वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७. १००)
शून-वि., शोथयुक्तम् (चसू. २६.४३(२); सुचि. २३.९)
(शूना)-स्त्री., योनिरोग० शोथयुक्ता (गर्भिणी) (काचि. गर्भिणीचि.) अन्तर्मुखी, सूचीमुखी योनिः (चचि. ३०.८२)
-गुह्योदर-वि., शोफयुक्तं गुह्यमुदरं च यस्य (चइ. ६.१४)
-ता-स्त्री., लक्षण० उच्छूनता, उत्थितत्वम्, अन्तर्मृते शिशौ लक्षणमेकम् (सुनि. ८.१२)
-पाद-वि., शोफयुक्तः पादो यस्य, सः (चइ. ६.१४)
-पादकर-वि., शोफयुक्तौ पादौ करौ च यस्य सः (सुउ. ४०.१७४)
-पायु-वि., शोफवान्पायुर्यस्य सः (अहसू. १९.५)
-रसन-वि., उच्छूनजिह्वः (असंउ. ४३)
-वृषण-वि., शूनौ वृषणौ यस्य सः (असंशा. ११.१७)
-संकाश-वि., शूनवत् प्रतीयमानः, शूनतुल्यः (चइ. ८.१०)
-हस्त-वि., शूनौ हस्तौ यस्य सः (चइ. ६.१४)
शूनाक्ष-वि., शूने अक्षिणी यस्य सः (चचि. १३.५२)
शूनाक्षिकूट-वि., शोफयुक्तोऽक्षिकूटो यस्य (चचि. १६.१५)
शून्य-वि., अधिवस्तृभिर्मनुष्यै रहितम् (गृहादि) (असंउ. ३.४६)
(शून्या)-स्त्री., वनस्पति० नलिका (ध. ३.४३)
-गृह-न., जनरहितं गृहम् (असंसू. ३.४६)
-ता-स्त्री., लक्षण० मस्तकादौ संविदभावः (चसू. १७.३१) रिक्तत्वम् (अहसू. ११.१६)
-त्व-न., रिक्तत्वम् (अहसू. ११.१६)
-देह-वि., रिक्तो देहः शक्तिहीनो देहः यस्य सः (चसि. १२.४)
-मध्य-पु., वनस्पति० नलः (ध. ४.१४१)
-शरीर-वि., बलहीनदेहः (असंशा. ३)
-शरीरा-वि., प्रजाता स्त्री, गर्भव्यपगम एव शरीर-शून्यत्वे हेतुः। तथा प्रवाहणवेदनाक्लेदरक्त-निःस्रुतिश्च विशेषेण हेतुः (चक.चशा. ८.४९)
-हृदय-न., लक्षण० विचाररहितं मनः हर्षामर्षादि-विकाररहितमन्तःकरणम् (चचि. ९.६)
शून्यागार-न., निर्जनगृहम् (सुशा. १०.४६; सुचि. २४.९१)
शून्याटवी-स्त्री., शून्यारण्यम् (असंशा. १२.१९)
शूर-वि., विषादरहितः (सुसू. ३४.२०)
पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३)
लकुचः (रापरि. ९.४४)
मसूरिका (रा. १६.१४९)
चित्रकः (रा.६.१२५)
-सेनक-पु., ऋषि० रससिद्धिप्रदायकः रसरत्नसमु-च्चयकारेण प्रकीर्तितेषु सप्तविंशतिरसप्रदायकेष्वेकः (र.१.१-२)
शूर्प-पु., मान० द्रोणद्वयम् (चक. १२.९६; असंक, ८,१६९)

पात्र० वंशनिर्मितं धान्यात्तुषमृत्तिकादिनिरसनोपयोगि दीर्घायतं पात्रम्, 'सूप' 'झलिया' इति लोके (असंउ. १; र. ७.२२)

–पर्णी– स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (ध. १.१३८; असंउ. १५)

–पर्णीद्वय– न., वनस्पति० मुद्गपर्णी माषपर्णी च (चचि. १.४३)

शूल–पु., लक्षण० रुजा (चसू. १४.१३) मज्जास्थिगतस्य कुपितानिलस्यैकं लक्षणम् (चचि. २८.३३) सर्वशूललक्षणेषु वायुरेव प्रधानं कारणम् (मा.) रोग० शङ्कुस्फोटनवद्यस्माच्छूलासक्तस्य तीव्रा वेदना भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते (सुउ. ४२.८१) शूलरोगोत्पत्तिकथा–पुरा मदननाशाय कुपितो हरः शूलं मुमोच। तं प्राणहरं शूलमागच्छन्तं दृष्ट्वा भयाक्रान्तोऽनङ्गस्त्राणार्थं विष्णुशरीरं प्रविवेश। ततः स शूलो विष्णुमेव प्रहर्तुं यावद्गच्छति तावद्विष्णुहुङ्कारमहिम्ना तत्रैव भूमौ पपात। ततोऽनन्तरं पञ्चभूतात्मकं शरीरं प्रविश्य तदेव दूषयन् शूलरोगः सञ्जातः। (मा.) हेतुसंप्राप्तिः– वातमूत्रपुरीषनिग्रहातिभोजनाजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नसेवनानि क्षुत्काले पानीयपानं विरूढसेवनं पिष्टान्नशुष्कमांसानां तथैवंविधानां द्रव्याणां सेवनात् शूलो जायते (सुउ. ४२.७७-८०) संख्या–वातजपित्तजकफजसंनिपातजामजपरिणामशूलान्नद्रवाख्यशूलाश्चेत्यादयः शूलप्रकारा भवन्ति। तत्रापि परिणामशूलः कफजवातजपित्तजकफजद्वन्द्वजसंनिपातजभेदात्सप्तधा। तत्र वातशूलः–अतिव्यायामयानमैथुनेभ्यः प्रजागराच्छीतजलातिपानात् कलायमुद्गकोरदूषादिभक्षणादतिरूक्षाशनात् कषायतिक्तातिविरूढजान्नाद्विष्मूत्रशुक्रानिलवेगरोधात् शोकोपवासादतिहास्याज्जागरणाद्वा प्रवृद्धो वायुः पार्श्वपृष्ठहृत्रिकबस्तिप्रदेशेषु शूलं जनयति। जीर्णे प्रदोषे घनागमे शीते च स सुतरां गाढं कुप्यति। अयं मुहुर्मुहुरुपशमं प्राप्नोति प्रकुप्यति च। संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं याति। पित्तजशूलः–अतिक्षारोष्णविदाहि तैलनिष्पावकुलत्थसौवीरयूषसुराविकारसेवनैरतिकटूम्लपदार्थभोजनेन क्रोधेनायासेन सूर्यातपेन मैथुनातियोगाद्वा प्रकुपितं पित्तं नाभ्यां तृष्मोहदाहार्तिकरं स्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तं शूलं करोति। विशेषतश्च मध्याह्नेऽर्धरात्रे शरदृतौ भक्षितवतो विदाहकाले च पीडां करोति। किं तु शीतस्वादुभोजनैश्च प्रशाम्यति। कफजशूलः–आनूपमांसजलचरमांसकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीसेवनेनान्यैश्च बलासजनकैर्हेतुभिश्च प्रकुपितः श्लेष्माऽऽमाशये शूलं करोति। तेन च हृल्लासः कासः सदनमरुचिर्लालास्रावो बद्धकोष्ठता शिरोगुरुत्वमित्यादीनि लक्षणानि भवंति। सूर्योदये शिशिरे वसन्ते भुक्ते सति चायं पीडां करोति। सांनिपातिकशूलः–एतत्सर्वलक्षणसमन्वितो भवन्ति। परिणामशूलः–यदा स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः कफपित्ते व्याप्य संनिहितस्तिष्ठेत्तदा स परिणामशूलं जनयति। सामान्यलक्षणानि–आहारे पच्यमाने यच्छूलं तदेव परिणामजं जानीयात्। वातिकपरिणामशूलम्–आध्मानाटोपविण्मूत्रबन्धनारतिवेपनयुक्तं स्निग्धोष्णोपशमप्रायं विजानीयात्। पैत्तिकं तु परिणामशूलं तृष्णादाहारतिस्वेदोपेतं कटूम्ललवणैर्वृद्धं शीतशमप्रायं च विद्यात् कफजस्तु छर्दिहृल्लाससंमोहोपेतः स्वल्परुग्दीर्घसन्ततिः कटुतिक्तोपशान्तश्च भवति। संसृष्टलक्षणैर्द्वन्द्वजं परिणामशूलं लक्षयेत्। त्रिदोषजं तु क्षीणमांसबलानलमसाध्यं विद्यात्। अन्नद्रवाख्यशूलः–पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन चान्ने जीर्यमाणे जीर्णेऽजीर्णे च शूलः सञ्जायते। न च कदाचिच्छमं याति। नच स्वास्थ्यमश्नुते 'वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति'। (मा.) चिकित्सा–यस्मादत्राशुकारी पवनस्तस्मात्त्वरया तं जयेत्। तथैव शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावहो भवति (सुउ. ४२.८८) वमनं लङ्घनं स्वेदः पाचनं फलवर्तयः क्षाराश्चूर्णानि गुटिकाः शूलनाशनाः शस्यन्ते (सुउ. ४२.१४५)

(शूली)–स्त्री., वनस्पति० अस्याः पत्रं शूलवत्, मूलं तु धूसरमस्याः शाखा न विद्यन्ते, सा च जलाश्रया पिच्छिला महिषीप्रिया मृदुलता; गुणाः– पिच्छिलोष्णा गुरुर्गौल्या पित्तदाहहरा बल्या रुच्या दुग्धवृद्धिकरी च (रापरि. ८.६८)

–केसरिन्–पु., पारदयोग० द्विगुणेन गन्धकेन पारदं संमर्द्य त्रिगुणे ताम्रसंपुटे संरोधयेत्। ऊर्ध्वाधो लवणं दत्त्वा मृद्भाण्डे प्रक्षिप्य गजपुटे पाचयेत्। मात्रा–गुञ्जाद्वयम्; अनुपानं–पर्णखण्डं तदनु च हिङ्गुशुण्ठीवचाजीरकमरीचानामुष्णोदकेन तोलकमात्रं चूर्णं पिबेत्। फलम्– असाध्यशूलनाशः (र. १८.११८)

-क्षय-पु., शूलापनोदः, शूलनिवृत्तिः (अहसू. १७.१५)
-गजकेसरिन्-पु., पारदयोग० पारदगन्धकहरितालान्येकद्वित्रिभागानि गृहीत्वा तेषां कज्जलीं च कृत्वा पलताम्रसम्पुटे स्थापयित्वा पिधाय च गजपुटे पचेत्। सम्पुटं तावदाकण्ठं सैन्धवेन पूरयेत्। वस्त्रगालितमसुं रसं कूप्यां स्थापयेत्। कूपीं सैन्धवपूरिते भाण्डे स्थापयेत्। मात्रा-वल्लम्, फलं-शूलनाशः (र. १८.१५४-५६)
-गुल्मादिरक्षोघ्न-पु., वनस्पति० हिङ्गुः(रा. ६.५९)
-घातिदशक-न., द्रव्यगण० शूलघ्नगणः (असंसू.१६.२७) शूलप्रशमनवर्गः (चसू. ४.१७)
-घ्न-वि., शूलनाशनम् (अहसू. ८.१८)
-घ्नवर्ग-पु., शूलप्रशमनवर्गः (असंसू. १५.४४)
-चिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (काखि १८. १)
-पत्री-स्त्री., वनस्पति० शूली (रापरि. ८.६८)
-पाणि-पु., वनस्पति० शम्भुः (असंउ. ३)
-प्रशमन-वि., शूलघ्नः (चसू. ४.८)
-प्रशमनवर्ग-पु., महाकषायवर्गे प्रोक्त एको गणः, तत्र पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-मरिचाजमोदाजगन्धाजाजीगण्डीराणीति द्रव्याणि दश (चसू. ४.१७)
-विश्लेषण-न., नानाप्रकारार्तिशूलाहतगात्रस्येव वेदना (सुसू. २२.११)
-हन्त्री-स्त्री., वनस्पति० यवानी (रा. ६.१४१)
शूलान्तक-पु., पारदयोग० पारदभस्माभ्रकभस्मनी प्रत्येकं पलं ताम्रभस्म द्वे पले गन्धकं पलत्रयं हरितालं विमलं स्वर्णमाक्षिकं च कर्षं, पलार्धसम्मिता लाङ्गली-कन्दनागवङ्गौ पलार्धकौ चतुष्पलं त्रिवृच्चूर्णं सर्वाण्येतानि भूम्यामलकीरसेन दन्तीक्वाथेन च सप्तधा भावयेत्। मात्रा-वल्लम्, अनुपानम्-आर्द्रकस्वरसः, पथ्यं-दधिभक्तम्, फलं-सर्व-रोगसर्वशूलहरत्वम् (र. १८.१३४-३८)
शूलारि- पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रापरि.८.१७)
शूलाविष्ट-वि., शूलार्दितः (सुउ. ४०.९)
शूलिकाप्रोत-वि., लोहादिशलाकारोपितम्, इदमेव शूले पक्वत्वात् शूल्यम् अभिधीयते (सुसू. ४६.३५५-३५६)
शूलिनी-स्त्री., वनस्पति० शूली (र. २३.२२-२३) चित्रकः (र. २३.२२)
शूलीक-पु., देश० तत्रस्था जनाश्च; अयं मांसादिसात्म्यः (चचि. ३०.३१६)
शूलोद्वेष्टन-न., शूलेन कृत्वाऽङ्गमोटनम् नाम शूलहेतुकं (सुक. ४.३७)
शूल्य-न., शूलपक्वमांसम् (अहसू. ३.२०; असंचि.७)
-मांस-न., लोहादिशलाकारोपितमग्निना पक्वं मांसम् हिङ्गूदके परिक्षिप्य शूले निष्पीडितं ततः पुनः पुनः सिक्त्वा जलेन विधूमेऽग्नौ प्रतापयेत्। फलाम्लेनापि पक्वं सौरभयुक्तं भवति (सुसू. ४६.३५७)
शृगाल-पु., पशु० जम्बूकः गुहाशयवर्गीयः (सुसू. ४६.७२)
-मांसगुणाः-उष्णमतिस्निग्धं गुरु बल्यं वातघ्नं च (ध. ६.४३८)
(शृगाली)-स्त्री., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४८)
-घण्टी-स्त्री., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४८)
-दंश-पु., जम्बूकदंशः, यदा श्वशृगालतरक्षुव्याघ्रर्क्षादीनां संज्ञावहाश्रितः श्लेष्मप्रदुष्टो वायुः संज्ञां मुष्णाति तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धा अतिलालावन्तोऽतिबधिरा अन्धाश्चेतस्ततो धावन्ति। तेनोन्मत्तेन सविषेण दंष्ट्रिणा दष्टस्य पुरुषस्य दंशोत्तरं सुप्तता भवति, भूयान् कृष्णरुधिरास्रावो जायते, दिग्धविद्धस्य लक्षणानि च जायन्ते (सुक. ७.४३-४६)
-पित्त-न., जम्बूकपित्तम्; एतद्विषहरम् (असंसू. ८) अनेन कृता वर्तिर्नीवनाञ्जनार्थमुपयुज्यते (चचि. ९.६७)
-मुख-न., स्वस्तिकयन्त्र० अष्टादशांगुलप्रमाणमिदं शृगालमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू., ७.१०)
-विन्ना-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णीभेदः (ध. १.९०; सुउ. ४२.११३)
-विष-न., जम्बूकविषम्; तल्लक्षणानि-व्यालविषवत् कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यादीनि भवन्ति (असंउ. ४६)
-शाव-पु., शृगालस्य बालः; अस्य मांसं यक्ष्मिणे हितं भवति (चचि. ८.१५२)
शृगालिका-स्त्री., वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७) पृश्निपर्णी (रा, ४.११७)
शृङ्खलाबन्ध-पु., पारदबन्ध० हीरकेण मारितेऽन्यस्य पारदस्य निक्षेपः, वज्रादिमारितोऽवज्रादिमारितश्चेति पारदद्वयमपि एकत्रीकर्तव्यम् (र. ११.८०)
शृङ्खलारणक-पु., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४८)

शृङ्खलावात–पु., रोग० तत्र लक्षणानि–देहः शुष्कपाण्डुः निद्रानाशः, शिरोव्यथा वान्तिर्हिक्का विस्फोटश्चेति (र. २१.१४७-४८)

शृङ्खलिका–स्त्री., वनस्पति० कोकिलाक्षः (रापरि. ४.४९)

शृङ्ग–पु., तन्त्रकार० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा सिंहसूनुगुसेनाऽऽलोचितस्तन्त्रकर्ता (र. १.५-९)

न., विषाणम् प्राणिजद्रव्येष्वेकम् (चसू. १.६९)

न., यन्त्र० (चचि. ८.८२; सुसू. १३.५) शृङ्गं तु ह्रस्वमध्यदीर्घमष्टदशद्वादशाङ्गुलायतं त्र्यङ्गुलप्रवेशमुखमग्रे सर्षपोपमच्छिद्रं तनुचर्मनद्धं चूचुकाकारं च। तद्वाततिषरक्ताम्बुदुष्टस्तन्यचूषणार्थम् उपयुज्यते (असंसू. ३४.१४; अहसू. २५.२६)

(शृङ्गी-)स्त्री., कीट० वायव्योऽयम् (असंउ. ४; सुक. ८.५-८)

शृङ्गनिर्मितवाद्यविशेषः (र., ६.१४)

वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (ध. १.८५; चसू. ४.१६; अहसू. १५.१२)

अतिविषा (ध.१.१०)

-कन्द–पु., वनस्पति० शृङ्गाटकः (रापरि. ७.१८)

-बेर– न., वनस्पति० आर्द्रकम् (ध., २.८४; असंसू. ७.१५६)

शुण्ठी (ध. २.८२)

-बेरक–न., वनस्पति० आर्द्रकम् (असंसू.७.१५६)

-भेदिन्–पु., वनस्पति० गुण्ठः (ध., १.८३)

-मूल–पु., वनस्पति० शृङ्गाटकः (रापरि. ७.१८)

-यंत्र–न., नाडीयन्त्र० शृङ्गम् (सुसू. ७.१३)

-रुह–पु., वनस्पति० शृङ्गाटकः (रापरि. ७.१८)

-रोह–पु., वनस्पति० भूतृणः (रा. ८.७३; रापरि. ८.४२)

-वेर–न., वनस्पति० आर्द्रकम् (चसू. ४.९; सुचि. १४.१०; चसू. २५.३८)

-वेरपचन–न., शुण्ठीपाकभाण्डम्, शृङ्गवेरं पच्यतेऽस्मिन्निति अधिकरणार्थे ल्युट्प्रत्ययतोऽत्र द्रष्टव्यः सिद्धां तत्र काकमाचीं नाद्यात्संस्कारविरुद्धत्वात् (असंसू. ९.१०; सुसू. २०.१४)

-वेराम्बु–न., शुण्ठ्या सहकथितं जलम् (अहसू. ३.२३)

-वेरार्द्रकरस–पु., वनस्पति० आर्द्रकरसः (चचि. १३. १५३) द्र० 'आर्द्रक'

-वेरिका–स्त्री., शाक० गोजिह्विका, हरितवर्गे (चसू. २७.१७१)

शृङ्गक–पु., वनस्पति० जीवकः (ध. १.१२३)

(शृङ्गी)–विष–न., 'महोरा' इति हस्तिनापुरनिकटे प्रसिद्धं विषम्, 'सिंगिया' इति वा (र. १२.७६)

शृङ्गाट–न., वनस्पति० शृङ्गाटकः (र. १३.१३-१९)

मर्म० शृङ्गाटकमर्म (चचि. २६.१३९)

(शृङ्गाटी)–स्त्री., वनस्पति० जीवन्ती (रा. ३.१७८; असंचि. ७)

त्रिकण्टकफलम्, शृङ्गाटकः (सुउ. ४२.७०)

शृङ्गाटक–पु., न., वनस्पति० त्रिकोणाकृतिः जलजकन्दशाकः; गुणाः–गुरु विष्टम्भि शीतं च (चसू., २७.११७; सुसू., ४६.३०४) जलमध्ये त्रिकण्टकफलम् (सुचि. ३.६१) रक्तपित्ते उपयुक्तः (चचि.४.७१) फलासवार्थमुपयुक्तः (चसू.२५.४९) गर्भस्थापनार्थमुपयुक्तः (चशा.८.२४) वृष्यघृते उपयुक्तः (चचि. २(२).२२) पित्तजविसर्पे सघृतलेपनार्थमुपयुज्यते (सुचि. १७.६) मेहे उपयुक्तं द्रव्यम् (सुचि. ११.१०) शीतो, गुरुः, लघुः, सरः (रापरि. ७.१८) विष्टम्भी वृष्यतमः रुच्यः, तापश्रमान्त्रिदोषघ्नः, मेहनदार्ढ्यकृत् (रापरि. ७.१८)

हिं.—सिंघाडा.

म.—शिंगाडे.

गु.—शिंगोडा.

बं.—पाणिफल, शिंगाडा.

ता.—पौरी मत्ताईसाल, शिंगारकोट्टाइ.

फा.—सुरंजान्.

मर्म० शृङ्गाटकमर्म (चचि. २६.१११)

न., त्रिपथम् (असंउ. ५)

-कशेरुकासव–पु., आसुत० कूलचराणां प्राणिनां मांसभक्षणोत्तरमनुपानत्वेन प्रोक्तः (सुसू. ४६.४३३)

-मर्मन्–न., घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासंनिपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, इमानि सिरामर्माणि चतुरङ्गुलप्रमाणानि सद्यःप्राणहराणि च (सुशा. ६.६)

शृङ्गार–न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३)

अगरुभेदः, कृष्णागरु (रा. १२.४०) द्र० 'अगरु'

-भूषण–न., खनिज० सिन्दूरम् (ध. ३.१०१)

शृङ्गारक–न., खनिज० सिन्दूरम् (रा. १२. १६१)

शृङ्गाह्व–पु., वनस्पति० जीवकः (रा., ५.१५४)

शृङ्गिक–न., विष० वर्णेन कृष्णपिङ्गलम् (र. २९.१७)

(शृङ्गिका)–स्त्री., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (रा. ६.११०)

शृङ्गिन्–पु., कीट० अयं शूकतुण्डविषः (सुक. ३.५)
कन्दविष० गुणाः–स्निग्धो घनो गुरुः कर्मण्यश्च (असंउ. ४०.४८)
वनस्पति० ऋषभकः (रा. ५.१५७)
प्लक्षः (ध. ५.८१)
वटः (ध. ५.७६)
आम्रातकः (ध. ५.१२)

(शृङ्गि)–विष–न., कन्दविष० अनेनाङ्गसाददाहोदर-विवृद्धयो जायन्ते (सुक. २.५)

शृङ्गीक–न., वनस्पति० कर्कटशृङ्गी (असंचि. ४)
विष० कपिलदेशेषु नदीवृक्षेषु जायमानं गोशृङ्गवद्द्विधा शृङ्गयुक्तमन्तर्बहिःश्वेतं हस्तिनापुरनिकटे 'महोरा' इति नाम्ना प्रसिद्धं विषम् (र. १०.८५)

(शृङ्गीका)–स्त्री., वनस्पति० आमलकी (असंउ. ४८)

शृङ्ग्यादिचूर्ण–न., योग० द्रव्याणि–कर्कटशृङ्गीवचाकट्फलरोहितृणमुस्तादेवदारुशुण्ठी धान्यहरीतकीभार्ङ्गीत्यादीनि । एतद्भृङ्गयुतमुष्णजलेन पीतं घोरमपि कासं निहन्ति (सुउ. ५२.१४)

शृत–वि., क्वथितम्, उत्क्वथितम् (चसू. ४.७; सुचि. ९.१८)
–**क्षीरदधि**–न., क्वथितक्षीरोद्भवं दधि, गुणाः–वातपित्तहरं धात्वग्निबलवर्धनं रुच्यं च (सुसू. ४५.७७)
–**शीत**–वि., आदौ शृतं पश्चाच्छीतम् (सुचि. २४.१०५)
–**शीतजल**–न., आदौ क्वथितं पश्चाच्छीतलं जलम्, इदं मद्यपानसमुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते रोगे संनिपातजे च रोगे प्रशस्तम् (सुसू. ४५.४२-४३)

शेखर–न., वनस्पति० लवङ्गम् (रा. १२.८४)

(शेखरी)–स्त्री., वनस्पति० वृक्षादनी (ध. ४.९७)

शेफस्–न., शारीर० मेहनम्, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् शुक्रवहस्रोतोमूलम् (चशा. ७.११; चवि. ५.८; सुनि. ३.५)
–**स्तम्भ**–पु., रोग० मेढ्रस्तम्भः, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

शेफालिका–स्त्री., वनस्पति० निर्गुण्डीः (ध. ४.८३; रा. ४.१२१)
–**पत्र**–न., रक्तवृन्ता शारदकुसुमा शेफालिका, अस्याः पत्रमनुशस्त्वेनोपयुज्यते (सुसू. ८.१५)

शेलु–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (चचि. २३.१८७; ध. ५.९४; सुक. २.४५-४६)

शेवल–पु., न., वनस्पति० शैवालम् (असंचि. ८)
पद्मकम् (असंचि. ८)

शेष–वि., अवशिष्टम् (सुउ. २३.१२)
–**दोष**–पु., अवशिष्टो दोषः (अहसू. १३.१५)

शैक्य–वि., तीक्ष्णम् (डल्हणः सुसू. ८.१९)

शैक्यायस–न., कृत्रिमधातु० सारमयलोहम्, 'पोलाद' इति म. भाषायाम् (सुसू. ८.१९)

शैखरिक–पु., वनस्पति० अपामार्गः (ध. १.२६१; चवि.७.१९)
विडङ्गम् (चवि. ७.१९)

शैग्रव–वि. शिग्रोः इदमिति शैग्रवम् (अहसू. १५.४)

शैत्य–न., शीतत्वम् (चनि. १.२७) लक्षण० (चनि. १.२७) रिष्टलक्षण० हस्तपादोच्छ्वासादिषु स्वभावोष्णतायुक्तेषु यत्र शैत्यं तद्रिष्टलक्षणं मरणाय कल्पते (सुसू. ३२.३)
अग्नेरतिमन्दता (असंसू. २०.१६)

शैथिल्य–न., अनिबिडसंयोगता (चशा. ४.१४)

शैरीय–न. वनस्पति० सैरेयम्, झिण्टिका (चसू.१४.३२)

शैरीष–वि., शिरीषस्य इदं, इति शैरीषम् (शिरीषपुष्पादि) (सुउ. ६१.३२; असंसू. १२-८९)
शिरीषबीजम्, अपस्मारशमने सिद्धार्थकघृते एकं द्रव्यम् (सुउ. ६१.३२) व्रणेषूत्सन्नमांसेषु मांसस्फोटनार्थमुपयुक्तम् (सुसू. ३७.,३२-३३)

शैरीषत्वच्–स्त्री., शिरीषवृक्षस्य त्वक् सेयं कुष्ठलेपे उपयुज्यते (चचि. ७.९६.)

शैर्यक–पु., न., वनस्पति० कुरण्टकः (र.११.५३-५७)

शैल–पु., पर्वतः (सुचि. ३०.४०)
न., भैषज्य० शिलाजतु (रा. १३.२३९, पृ. १२८)
सोरकम् (र. २.१५१)
–**गर्भाह्वा**–स्त्री., वनस्पति० शिलावल्का (रा.५.२१३)
–**ज**–न., वनस्पति० शैलेयम् (रा. १२.१३१;पृ. ११०)
–**जजतु**–न., भैषज्य० शिलाजतु (सुउ. ४४.३१)
–**जतु**–न., भैषज्य० शिलाजतु (चचि. २८.२४२)
–**जामूल**–न., वनस्पति० सैंहलीपिप्पली (रा.६.११९)
–**भेद**–पु., वनस्पति० पाषाणभेदः (सुउ. १०.४)
–**वर**–पु., पर्वतश्रेष्ठः (हिमालयः) (चसि. ३.३)
–**वल्कला**–स्त्री., वनस्पति० शिलावल्का (रा. ५.२१३)
–**सुता**–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२)

शैलक–न., खनिज० शैलेयम् (रा. १२.१३१)

शैलान्तर–न., शैलयोर्मध्यभागः, शैलस्था गुहा (चवि. ६.१७)

शैलु–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (ध. ५.९४)

शैलूष–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०६)

शैलेन्द्रस्थ–पु., वनस्पति० भूर्जः (रापरि. ९.२३)

शैलेय–न., भैषज्य० शिलाजतु (ध. ३.१६५; चचि. २८.१५२; र. २२.१६७)

वनस्पति० भद्रमुस्तम् (चसू. ३.२८; चक.१.२३)

भैषज्य० शिलापुष्पम्, 'दगडफूल' इति लोके (र. २२.१४८)

वनस्पति० सुगन्धिद्रव्य० धूमपानप्रयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.२२; चचि. ३.२६७; असंसू. ७.१५६) गुणाः–तिक्तं (ध) शीतलं लघु, हृद्यं कफपित्तहरं कण्डूकुष्ठाश्मरीदाह-विषहृद्रुदरक्तहरं च (सुक. ६.१४-२७) तिक्तं सुगन्धि रक्तदोषतृष्णावमिश्वासव्रणदोषहरं च (ध. ३.७३)

हिं.—पत्थरफूल, भूरिछरिला.

म.—दगडफूल.

गु.—पत्थरफूल.

बं.—शैलज.

फा.—दहाल.

शैलेयक–पु., वनस्पति० शैलेयम् (चक. १.२३; असंशा. ४.५१)

शैलोद्भव–न.. लवण० शैलोद्भवलवणम् (सुसू. ४६.३२१)

(शैलोद्भवा)–स्त्री., वनस्पति० शिलावल्का (रा. ५.२१६)

शैव–पु., वनस्पति० वसुकः (रा. १०.३३; रापरि.५.३७) धत्तूरः (१०.१२)

(शैवी)–वि., शिवदेवतायाः नाम शिवार्था यज्ञे दत्ता (आहुतिः) (चचि. ३.१८)

–**पत्र**–पु., वनस्पति० बिल्वः (रा. ११. १३४)

शैवल–न., वनस्पति० दूर्वा (सुउ. १०.४)

पद्मकम् (चचि. ४.१०३)

शैवालम् (सुसू. १३.१४; सुचि. ५.८)

–**इयावा**–स्त्री., शैवलमिव इयावा नाम कृष्णा, शुद्धजलोद्भवा जलल्का निर्विषा शैवलइयावा वर्तते (अहसू. २६.३८)

शैवाल–न., वनस्पति० निर्वापणप्रदेहे उपयुज्यते (चसू. ३.२६; असंसू. ६.२७) गुणाः–तिक्तकटुकं कषायं शीतं कान्तिदं मध्यं वातान्ध्यविसर्पकण्डू-कुष्ठविषापहं च (ध. १.४३) स्निग्धं तापहरं व्रणनाशनं च (रा. ८.६४)

हिं.—सिवार.

म.—शेवाळे.

गु.—शेवाल, लील.

बं.—शेयोआला.

फा.—पशमेंदरा, जामेंगुक, जबाल.

–**मूल**–न., शैवालस्य मूलम् जलप्रसादनकरमिदं द्रव्यम् (सुसू. ४५.१७)

शैशुकसर्पिस्–न., (परिव०) ससिद्धघृत० वातगुल्म-निवारणार्थमुपयुज्यते (काचि. २७)

शैशुकस्नेह–पु., (परिव०) बालानां बस्तिकर्मोपयोगी सिद्धस्नेह० (कासि. ८)

शोक–पु., मनोभाव० दुःखम् (चनि. ७.४;सुचि.३९.१४) शोकं दैन्येन (रोदनादिना) परीक्षेत (चवि. ४.८) असौ शोषणानां श्रेष्ठः (चसू.२५.४०; असंसू. १३.३)

–**कर्शित**–वि., शोकेन कर्शितः नाम क्षीणः शोककर्शितं बृंहयेत् (अहसू. १४.८)

–**नाश**–पु., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९)

–**शल्य**–न., शोक एव शल्यम्; हृद्यवस्थितमनेक-कारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण जयेत् (सुसू. २७.५) शोकजनितमानसोन्मादे सान्त्वनादिभिः शोकशल्य-मपनयेत् (सुउ. ६२.३५)

–**शोष**–पु., (परिव०) रोग० शोकजः शोषः (सुउ. ४१.१८)

शोकातीसार–पु., रोग० शोकेनोत्पन्नोऽतीसारः द्र० 'अतिसार' (चचि. १९.११)

शोण–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४३)

वि., रक्तवर्णम् (र. ५.५०)

इक्षुभेदः, रक्तेक्षुः (रा. १४.१८९) द्र० 'इक्षु'

सिन्दूरम् (रा. १२.१६०)

(शोणी)–स्त्री., वनस्पति० सैरेयकः (रा. १०.४१९; पृ. ६३)

–**झिण्टिका**–स्त्री., वनस्पति० सैरेयकः (रा. १०.४१९; पृ. ६३)

–**पत्र**–पु., वनस्पति० पुनर्नवा (रा. ५.४०८)

–**पद्म**–न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (रा. १०.२४१)

–**पाण्डुरा**–वि., रक्तश्वेतवर्णा, इयं मृत्तिका मूषार्थं शस्यते (र. १०.६)

-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० सिन्दूरी (रापरि. १०.१९)
-शालि-स्त्री., वनस्पति० रक्तशालिः (रा. ६.८७) द्र० ' शालि '
-संभव-न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (रा.६.११३)

शोणित-न., शारीरधातु० रक्तम्; दशप्राणायतनेष्वेकम् (चशा. ७.९; सुसू. २१.१७; सुसू. १४.२१)
शरीरे शोणितप्रमाणं अष्टावञ्जलयः (चशा. ७.१५)
आर्तवम्, रजः (सुशा. २.१)
स्त्रीबीजम् (चशा. ३.३; सुशा. ५.३; काजातिसूत्रीय. ४)
वनस्पति० चन्दनभेदः, रक्तचन्दनम् (रा. १२.१०) द्र० ' चन्दन'
कुङ्कुमभेदः,तृणकुङ्कुमम्(रा. १२.२३) द्र० 'कुङ्कुम'
कुङ्कुमम्(रा. १२.२१)

-किट्ट-न., रक्तधातोर्मलः पित्तम् ' शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ' (सुशा. ४.२५)
-क्लेद-पु., रोग० शोणितस्य प्रमाणतोऽप्यधिकमार्द्रत्वम्, चत्वारिंशत् पित्तविकारेष्वेकः (चसू. २०.१४)
-क्षय-पु., लक्षण० रक्तनाशः (सुशा. ६.२४)
रक्तधातुप्रमाणहीनत्वम्; शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं चेति लक्षणानि भवन्ति (सुसू. १५.९)
-गन्ध-पु., रक्तस्य गन्धः (सुसू. १३.२१)
-गर्ध-वि., शोणितलौल्यः (सुसू. १३.२१)
-गुल्म-पु., रोग० रक्तगुल्मः, पञ्चगुल्मप्रकारेष्वेकः (चनि. ३.३) द्र० ' गुल्म ' ' रक्तगुल्म '
-च्छर्दि-स्त्री., लक्षण० रक्तस्य च्छर्दिः; क्षतक्षीणस्य पूर्वरूपमेकम् (चचि. ११.१३)
-ज-वि., शोणितात् शोणिते वा जातम् शोणितसंश्रयं वा (चवि. ७.९)
-ज-कृमि-पु., रोग० कुष्ठैः समानं समुत्थानं, स्थानं—रक्तवाहिन्यो धमन्यः, संस्थानम्—अणवो वृत्ताश्चापादाश्च, सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः, वर्णः—ताम्राः, नामानि-केशादा, लोमादा, लोमद्वीपाः, सौरसा, औडुम्बरा, जन्तुमातरश्चेति; प्रभावः—केशश्मश्रुनखलोमपक्ष्मापध्वंसः, व्रणागतानां च हर्षकण्डूतोदसंसर्पणानि, अतिवृद्धानां च त्वक्सिरास्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति, चिकित्सा-कुष्ठसमा ज्ञेया (चवि. ७.११)
-ज-रोग-पु. रोग० रक्तजरोगः (चसू. २४.११-१७) रक्तजा रोगाः-मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणस्य गन्धिता। गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः। विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्। वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता। संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्। विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्रमः। क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता। स्वेदः शरीरदौर्गंध्यं मदः कंपः स्वरक्षयः। तंद्रा निद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्। कंडु रुक् कोठपिडिका कुष्ठचर्मदलादयश्च, शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः उपक्रान्ताश्च ये गदाः सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान्विभावयेत्। (चसू. २४.११-१७)
-दर्शन-न., लक्षण० मुखादिमार्गेण शोणितनिर्गमः (सुउ. ४१.११)
-पित्त-न., रोग० रक्तपित्तम् (चसू. १.१०८)
-पूर्णकोष्ठता—स्त्री., रक्तेन पूर्णः कोष्ठः यस्य यस्मिन्वा, तस्य भावः; पार्श्वसंधिमर्मविद्धलक्षणम् (असंशा. ७.१३)
-प्रभ-वि., रक्तच्छायः, रक्तकान्तिः (सुनि. १६.९)
-फेन-पु., रक्तस्य फेनः, ' फुप्फुसः शोणितफेनप्रभवः' (सुशा. ४.२५)
-भाव-पु., लक्षण० रक्तस्रावः (असंशा. ४.२७)
-मेह-पु., रोग० रक्तवर्णमूत्रत्वाद्रक्तमेहः, पित्तजमेहेष्वेकः (सुनि. ६.९; सुचि. ११.९; असंनि. १०.२५) द्र० ' मेह '
-रोग-पु., शोणितजा रोगाः (चसू. २४.१८)
-वर्णनीय-वि., अध्यायसंज्ञा० शोणितवर्णनमधिकृत्य कृतोऽध्यायः (सुसू. १४.१)
-वहस्रोतस्-न., स्रोतो० शोणितवहनशीलं स्रोतः (चवि. ५.८)
-वाहिनी-स्त्री., सिरा० शोणितं वहति यस्याम् (चनि. ६.८)
-ष्ठीवन-न., रक्तस्य थूत्कारः (चनि. ६.१४; सुचि. ३४.१३)
-संमोह-पु., रक्ताप्रवृत्तिः (सुशा. ८.१९)
-स्थापन-वि., दुष्टशोणितस्य दुष्टिमपहृत्य शोणितं प्रकृतौ स्थापयतीति रक्तप्रसादनं वा (चसू. ४.८)
-स्थापनगण-पु., द्रव्यगण० शोणितस्थापनानि द्रव्याणि-मधुमधुकरुधिरमृत्कपाललोध्रगैरिकमोचरसप्रियङ्गुशर्करालाजा इति दशेमानि द्रव्याणि (चसू. ४.४६; असंसू. १५.४५)

-स्राव-पु., रक्तस्रावः (सुनि. ८.३)

शोणितात्त-वि., रक्तयुक्तम् (सुचि. २९.१२)

शोणितागमन-न., लक्षण० रक्तस्रुतिः (सुशा. ९.१२)

शोणितातिप्रवृत्ति-स्त्री., अतिरक्तस्रावस्य प्रवृत्तिः (सुशा. ६.२६)

शोणितातियोग-पु., लक्षण० शोणितस्यातिस्रावः अर्शोविकारे शोणितातियोगोपद्रवा आक्षेपादयो भवन्ति (सुनि. २.१३)

शोणितातिषेक-पु., लक्षण० शोणितस्यातिस्रावः (चनि. १.१९)

शोणितादिधातु-पु., शारीरधातु० शोणितादयो धातवः ते च यथोत्तरं गुरवो ज्ञेयाः (चसू. २७.३३७)

शोणिताभिष्यन्द-पु., नेत्ररोग० द्र० 'अभिष्यन्द' (चसू. २६.८४)

शोणितार्बुद-न., रोग० रक्तार्बुदम्. शूकदोषजरोगेष्वेकम् (सुनि. १४.१३; असंउ. ३४) द्र० 'अर्बुद'

शोणितार्मन्-न., नेत्ररोग० शुक्लमण्डले सर्मं श्लक्ष्णं पद्माभमधिमांसकं भवति (असंउ. १३.२२६; सुउ. १.३८)

शोणितार्श्स्-न., नेत्ररोग० (सुउ. १.३६) नेत्रवर्त्मगतोऽङ्कुरान्वितः, यस्मिन्वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुरा असकृच्छिन्ना अपि विवर्धन्ते, दाहकण्डूरुजावन्तश्च भवन्ति (सुउ. ३.२६)असाध्योऽयम् (सुउ.१३६)

शोणितावसेक-पु., उपक्रम० रक्तमोक्षणम् (सुशा.८.४) शोणितावसेकसाध्यरोगाः- त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा शोणितजा रोगाश्च, तेषु सिरां विध्येत् (सुसू. १४.३४) द्र० 'रक्तमोक्ष'

शोणितावृत-वि., रक्तेनावृतम् (सुउ. २१.३४; चचि. २८.१९४)

शोणितास्थापन-न., शोणितातिप्रवृत्तिस्तम्भनम् (सुचि. १.४८) एतद्धि चतुर्विधम्—संधानं स्कन्दनं पाचनं दहनं च। कषायो व्रणं संधत्ते, हिमं रक्तं स्कन्दयते, क्षौमादिजं भस्म संपाचयति, दाहः सिराः संकोचयति (सुसू. १४.४०) व्रणस्य षष्टयुपक्रमेष्वेकः (सुचि. १.८)

शोथ-पु., रोग० संप्राप्तिः-दुष्टो वायुर्दुष्टान् रक्तपित्तकफान् बहिः सिरा नीत्वा तैः रुद्धगतिः सन् त्वङ्मांससंश्रयमुत्सेधं कुर्यात्। अतो निचयात्संहतं तं शोथमाहुः। हेतुविशेषैः रूपभेदाच्च शोथं नवात्मकमाहुः। वातजपित्तजकफजसंनिपातजद्वन्द्वजभेदात्सप्त, विषजाभिघातजश्च द्विधा, इति नवप्रकाराः शोथाः। शोथहेतुः शुद्ध्यामयाभुक्तादिभिः कृशानां च क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवनं निजस्य शोथस्य कारणम्। तथा च आमं दधि मृच्छाकविरोधिदुष्टान्नपानादिगरोपसृष्टान्नसेवनमशौंसि निष्क्रियत्वं देहाशुद्धिर्मर्मोपघातः आमगर्भपतनादिका विषमा प्रसूतिः वमनादीनामसम्यगुपचारश्चेति निजस्य शोथस्य हेतवः। पूर्वरूपम्-उपतापः सिराप्रसरणवत्पीडाऽङ्गगौरवं च। सामान्यलक्षणानि-गौरवमनवस्थितत्वमुत्सेध ऊष्मा सिरातनुत्वं लोमहर्षो वैवर्ण्यं च। तत्र वातजशोफलक्षणानि-वातजशोथः स्थानात्स्थानान्तरगतिस्तनुत्वक् स्पर्शाज्ञत्वकारी परुषोऽरुणोऽसितो हर्षार्तियुतः। अनिमित्ततः प्रशाम्यति। प्रपीडितः प्रोन्नमति। दिवा च बलवान् भवति। स्नेहोष्णमर्दनाद्यैश्च प्रशाम्यति। पित्तजः शोथः मृदुस्पर्शो गन्धयुक्तः कृष्णपीतरक्तो भ्रमज्वरस्वेदतृष्णामदान्वितोऽतिशयदाहपाकवान्क्षिरागकृत्स्पष्टरुक् च। कफजः शोथः-गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकारी चिरोत्पत्तिविनाशो निपीडितो नोन्नमति। रात्रौ च बलवान्भवति। द्विदोषजः शोथो निदानाकृतिसंसर्गाज्ज्ञेयः। संनिपातजः शोफो व्यामिश्रलक्षणः सर्वाकृतिश्च भवति। अभिघातजशोथः-शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिरभिघातेन भवति। तथा च शीतवातैः समुद्रवातैर्भल्लातककपिकच्छुजै रसैः शूकैश्च संस्पर्शाद्भवति। स विसर्पवान्भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणश्च। विषजशोथः-सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रव्रणादंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्रक्तसंसर्गात् विषवृक्षानिलस्पर्शाद्वरयोगावचूर्णनाद्वा असौ भवति। स च मृदुश्लोऽवलम्बी शीघ्रो दाहरुजाकरश्च भवति। आशयभेदेन शोथस्थानानि आमाशयस्थिता दोषा ऊर्ध्वं शोथं कुर्वन्ति। उरःपक्वाशयमध्ये तु पक्वाशयस्था दोषाः शोथं कुर्वन्ति। पक्वाशयादधः वर्चःस्थानगता दोषाः शोथं कुर्वन्ति। सर्वसरं शोथं कृत्स्नदेहमनुप्राप्ता दोषाः कुर्वन्ति। साध्यासाध्यत्वम्-मध्यदेशस्थितः सर्वगश्च कष्टः। अर्धाङ्गो रिष्टभूतः ऊर्ध्वपरिसर्पणः श्वासपिपासाच्छर्दिदौर्बल्यज्वरारोचकादियुक्तश्चासाध्यः। अकारणसमुत्थितः पादजः शोथः पुरुषं हन्ति। मुखजो गुह्यगश्च नारीं पुरुषं च हन्ति। कुक्ष्युदराश्रितः गले मर्मणि वा स्थितः स्थूलः खरो वाऽसाध्यः। तथैव बालवृद्धकृशानाम-

साध्यः । अनुपद्रवो नवश्च शोथः साध्यः (मा.)
उपद्रवाः–श्वासः पिपासा दुर्बलत्वं ज्वरश्छर्दिररोचको हिक्काऽतीसारः कासश्च (सुचि. २३.८) शोथः शोफशब्देनापि केषुचिद्ग्रन्थेषु निर्दिश्यते (सुसू. १७.१८-१९; सुचि. २३.; काखिल. १७; चसू. १८; चचि. १२; अहृनि. १३; अहृचि. १७)

–हर–वि., शोथघ्नम्, पञ्चकषायवर्गे एको गणः (चसू. ४.१६)

शोथिन्–वि., शोथयुक्तः (चसू. १३.९१)

शोधक–पु., वनस्पति० कङ्कुष्ठम् (रा. १३.२००)

शोधन–न., वनस्पति० कङ्कुष्ठम् (ध. ३.१४१)
कासीसम् (१३.१७९)
उपक्रम० दोषाणां शरीराद्बहिर्निर्हरणम्, चिकित्साप्रकारः (चसू. १.७६; सुचि. १.५४) शोधनं शमनं चेति समासाद्द्विधौषधं भवति (अहृसू. १.२५) तत्रापि शोधनं पञ्चधा–निरूहो वमनं कायरेकः शिरोरेकोऽस्रविस्रुतिश्च (असंसू. २४.७)
व्रणोपक्रमेषु शोधनं नाम पूयादिदुष्टद्रव्यविस्रावणम् (सुसू. १७.१८) व्रणशोधनं तावदष्टविधम्–कषायवर्तिकल्कघृततैलरसक्रियाचूर्णधूपनभेदेन (सुसू. ३७.१२] शोधनार्हाः– स्थौल्यबलपित्तकफादिकाः, आमदोषज्वरच्छर्द्यतीसारहृदामयार्ताः, विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासपीडिताश्च (अहृसू. १४.१२-१३)
दोषनिर्हरणं भेषजम् (चसू. १.१०९)
पु., वनस्पति० निम्बूकः (रा. ११.२२)

(शोधनी)–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३४९)
ताली (रापरि. ३.३७)
जेपालः (रा. ६.३४४)

–गण्डूष–पु., शोधनार्थं गण्डूषः (असंसू. ३१.४) द्र० ' गण्डूष '

–द्रव्य–न., शोधनं द्रव्यम् यथा वचाकोशातकी निम्बपिप्पल्यादीनि द्रव्याणि (काखिल. २)

–द्रव्यसंभृता–वि., विरेचनद्रव्यनिर्मिता (वर्तिः) (सुचि. ३७.११८)

–बस्ति–पु., निरूहबस्तिः (सुचि. ३५.१९)

–मार्ग–पु., दोषनिर्हरणार्थमासन्नो मार्गः (अहृसू. १३.३०)

शोधनादिगणसंग्रह–पु., अध्यायसंज्ञा० (अहृसू. १५)

शोधनालेप–पु., कल्प० व्रणशोधनार्थमालेपविशेषः (असंउ. ३०)

शोधनीयगण–पु., लोहादीनां शोधनकरं द्रव्यत्रयम्, काचः टङ्कणं शुक्तिश्चेति (र. १०.९६; र. ३६.३७)

शोफ–पु., रोग० शोथः (सुनि. १०.३)
शरीरैकदेशोत्थितः शोथः, द्र० ' व्रणशोथः व्रणशोफः ' (सुसू.१७.३) अवस्थाभेदेन स त्रिधा–आमः पच्यमानः पक्वश्च (सुसू. १७.५)

(शोफा)–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८१)

–क्रिया–स्त्री., व्रणशोफचिकित्सा (सुचि. १८.३)

–घ्नी–वनस्पति० पुनर्नवाभेदः, रक्तपुनर्नवा (रा. ५.४०७) द्र० ' पुनर्नवा '
शालिपर्णी (रा. ४.११४)

–चिकित्सित–वि., अध्याय० (काचि. शोफचि.)

–नाशन–पु., वनस्पति० नीलः (रापरि. ९.११)

–हारिन्–पु., वनस्पति० वनबर्बरिका (रा. १०.८८)

शोफाभिवृद्धि–स्त्री., शोफस्य समन्ततः प्रसारः (सुशा. ६.२४)

शोफित–वि., शोफयुक्तम् (चइ. १०.१५)

शोभना–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९)
हरिद्रा (रा. ६.८१)

शोभा–स्त्री., वनस्पति० गोरोचना (रा. १२.३३)

शोभाञ्जन–पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः, नीलशिग्रुः (रा. ७.६२; सुउ. ४५.१९) द्र० ' शिग्रु '

शोभाञ्जनक—पु., वनस्पति० शिग्रुः (सुचि. ७.२४; चसू. ४.१३)

शोलिका–स्त्री., वनस्पति० शोली (रापरि. ७.१७)

शोली–स्त्री., वनस्पति० वनहरिद्रा, वन्यारिष्टा, शोलिका इत्यस्या अपरनामानि, गुणाः–कटुगौल्या तिक्ता रुच्या दीपनी च (रापरि. ७.१७)
हिं.—वनहलदी.
म.—रानहळद, शोली.
गु.—वनहलदर.
बं.—बनहलुद.
ता.—करुतुरिमंजल.

शोष–पु., शुष्कता, वायोः कर्मस्वेकम् (चसू. २०.१२; अहृसू. १२.५०)
लक्षण० मुखगलयोः शुष्कता, अतिलङ्घनदोष० (सुउ. ३९.१०५) पित्तज्वरलक्षणेष्वेकम् (र. १२.१०)
रोग० गर्भशोषरूपो रोगः (चशा. २.१५) वातशोषणेन विहतौजस्त्वाद्गर्भस्य शुष्कता, उपशुष्ककगर्भ इति वा (सुशा. १०.५७; चशा. २.१५)

रोग० शोषभेदाः–व्यवायशोषः, शोकशोषः, जराशोषः, व्यायामशोषः, अध्वशोषः, उपवासशोषः, व्रणशोषः, उरःक्षतशोषः च (सुउ. ४१.१६) एते सर्वे शोषाः धातुक्षया एव; तेषां चिकित्सा धातुक्षयोक्तेव कर्तव्या (सुउ. ४१.२७)

–द्वार–न., शोषस्य नाम राजयक्ष्मणः कारणम् (असंसू. १३.३)

–निदान–न., अध्यायसंज्ञा० (चनि. ६.१)

–प्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ४१.१)

शोषण–वि., व्रणस्यार्द्रभावनाशकः (क्षारगुणः) (सुसू. ११.५)

न., उपक्रम० द्रवभागविशोषणम् शुष्कत्वापादनम् (चचि. २७.२५)

वनस्पति० शुण्ठी (रा. ६.१३०)

शोषापहा–स्त्री., वनस्पति० क्लीतनकम् (रा. ६.१८५)

शोषित–वि., श्रपितम् शुष्कीकृतम् (सुशा. ४.१९)

शोषिन्–वि., शुष्कः (चशा. ८.२१)

शौकर–वि., शूकरस्य अयम् शूकरसम्बन्धि (मांसादि) (चसू. ४.११)

–बस्ति–पु., शूकरस्य बस्तिः, बस्तियन्त्रार्थमुपयुज्यते (चसि. ३.१०)

–मांस–न., शूकरमांसम्, तच्च गुर्वाहारद्रव्यम् (चसू. ५.११)

–रस–पु., शूकरमांसस्य रसः (चसू. १३.९०(१))

शौकरीवसा–स्त्री., वराहमांसस्य स्नेहः (चचि. ३०.८७) महामृगवसानां श्रेष्ठा (असंसू. ६)

शौक्तिक–न., वनस्पति० बदरीफलम् (चनि. २.४)

शौक्तिज–न., भैषज्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२)

शौक्तेयक–न., भैषज्य० शुक्तिप्रभवम् मौक्तिकम् (रा. १३.६७)

शौच–न., शुचिकर्म (असंसू. ३.९) शुचिता; तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यं स्नानादिकमाभ्यन्तरं मनःशुद्धिः श्रुतिस्मृतिविहितानुष्ठानं चेति (सुसू. २.३)

–द्विष्–वि., शौचं द्वेष्टा, अशुचिः, शौचानभिलाषुकः (सुउ. ६०.१४)

–द्वेष–पु., स्वच्छताया अप्रियत्वम् स्वच्छतानभिरुचिः (चनि. ७.७(३))

–विधि–पु., स्मृत्युक्तविधिना मलोत्सर्गाद्याचमनपर्यन्तो विधिः (अहसू. २.१)

शौचाचार–पु.. शौचमयो नाम शुद्धो धर्मनिष्ठापूत आचारः धर्मविहितमाचरणम् (सुशा. ३.३५)

शौचाधान–न., शुद्धीकरणम्, पानीयेन मृदा च पादाद्यवयवानां मलमार्गाणां च शुद्धिः (चसू. ५.९८)

शौण्डि–स्त्री., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (असंचि. १०)

जूर्णा (असंचि. १०)

शौण्डी–स्त्री., वनस्पति० पिप्पली (ध. २.७३; (र. २३.४०)

कटभी (रापरि. ९.३७)

शौनक–पु., ऋषि० (चसि. ११.४) यज्ञःपुरुषविषये विवदमानानामेकतमः (चसू. २५.१५) रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.१३) गर्भस्य शिरः पूर्वं संभवतीति मतप्रतिपादकः (सुशा. ३.३२)

शौर्य–न., शूरत्वम् (सुसू. २.३) निर्भयत्वम्, भीतो हि साध्यमपि व्रणमवगाढमूलं नारभते आरब्धं वाऽत्यवशेषयति । वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि एकः प्रशस्तगुणः (सुसू. ५.१०) सर्वकर्मस्वविषादिता, असौ सत्त्वसारस्य गुण एकः (सुसू. ३५.१६)

शौषिर–पु., रोग० दन्तमूलगतरोगः, लक्षणम्–कफरक्तजो दन्तमूलेषु रुजावान् शोफो भवति, स लालास्रावी कण्डूमांश्च भवति (सुनि. १६.१८) तस्य चिकित्सा–रक्तमोक्षणं, कषायौषधैर्लेपः, क्षीरिणश्च वृक्षा गण्डूषार्थम्, सिद्धसर्पिर्नस्यार्थम् (सुचि. २२.१६-१८)

शौषिर्य–न., छिद्रभावः, यदाकाशीयं द्रव्यं तन्मार्दवसौषिर्यलाघवकरम् (सुसू. ४१.४(५))

श्रोतन–न., आश्रोतनम् (काखिल. १३.४०)

श्मशान–न., मृतस्य दाहनिखननाद्यन्त्यसंस्कारस्थानम् (सुशा. १०.३; अहसू. २.३८)

श्मश्रु–स्त्री., पुंमुखे प्रवृद्धा रोमराजिः (असंशा. २) ' दाढी ' इति मराठीभाषायाम्

–कर्मन्–न., श्मश्रुकल्पनविधिः (असंशा. १२.१९)

–दोष–पु., श्मश्रुविकारः, अस्थिप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१६)

श्माशानिकशकुनि–पु., पक्षि० गृध्रः ((चवि. ३.७(३)

श्याम–वि., ईषत्कृष्णम् (सुचि. १.३२)

पु., वनस्पति० धत्तूरः (रा. १०. ११)

असनः (ध. ५.१२५)

(श्याम) श्यामाकः (रा, १६.१४०)

पीलुः (ध. ५.११)

न., मरिचम् (ध. २.८८)

वि. वर्ण० ईषत्कृष्णम् (सुचि. १.३२)

(**श्यामा**)–स्त्री., वनस्पति० कस्तूरिका (रा. १२.४७)
प्रियङ्गुः (ध. ३.१६; सुचि. ३७.२७)
हरिद्रा (रा. ६.८१; र. ५.१९७)
वटपत्री (रा. ५.२११)
वृक्षादनी (रा. ५.१४२)
दूर्वाभेदः नीलदूर्वा (रा. ८.२२६) द्र० ' दूर्वा '
गुडूची (रा. ३.१)
पद्मबीजम् (रा. १०.२५६)
पुनर्नवाभेदः नीलपुनर्नवा (रा. ५.४१०) द्र० ' पुनर्नवा '
पिप्पली (ध. २.७३)
गोरोचना (रा. १२.३४)
नीलिनी (रा. ४.३४९)
तुलसी (रा. १०.७८)
वृद्धदारुः (सुसू. ४५.१२४; सुचि. ३७.४०)
त्रिवृद्भेदः, श्वेतत्रिवृत् (सुसू. ३८.२९) द्र० ' त्रिवृत '.
त्रिवृद्भेदः, श्याममूला त्रिवृत् (चसू. १.७७; अहसू. १५.४५; सुचि. २०.५०-५१) द्र० ' त्रिवृत् '
त्रिवृद्भेदः, अरुणमूला त्रिवृत् (सुउ. ४२.९४) द्र० ' त्रिवृत् '
त्रिवृत् (ध. १.२४३; असंसू. ७; चक. ७.४)
पक्षि० पिङ्गला (असंशा. १२.९)
–**कन्दा**–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (ध. १.१०)
–**काकुलीमृग**–पु., सर्प० ' माल्यासर्प ' इति ख्यातस्य भेदः (चसू. २७.३७)
–**काण्डा**–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, गण्डदूर्वा (रा. ८.२३४) द्र० ' दूर्वा '
–**ग्रन्थि**–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, गण्डदूर्वा (रा. ८.२३४) द्र० ' दूर्वा '
–**त्व**–न., श्यामवर्णत्वम् (असंशा. १)
–**वंश**–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, कृष्णेक्षुः (रा. १४.१८७) द्र० ' इक्षु '
–**धर्ण**–पु., वनस्पति० शिरीषः (ध. ५.११२)
–**शालि**–पु., स्त्री., वनस्पति० शालिभेदः, कृष्णशालिः (रा. १६.८६,) द्र० ' शालि '.
–**सार**–पु., वनस्पति० खदिरसारः, कृष्णवर्णनिर्यासः (ध. १.२७) द्र० ' खदिर '

श्यामक–न., वनस्पति० कत्तृणम् (ध. १.८०)
श्यामाकः (रा. १६.१४०; अहसू. ६.११)

(**श्यामिका**)–स्त्री., खनिज० मनःशिला (र. ३.९६-९७)

श्यामल–पु., वनस्पति० शिरीषः (रा. ९.१८९)
पिप्पलः (ध. ५.७८)
भृङ्गराजः (रा. ४.२२)

(**श्यामला**)–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०१)
कटभी (रापरि. ९.३७)
जम्बूः (रा. ११.१२८)

(**श्यामली**)–स्त्री., भैषज्य० कस्तूरिका (रा. १२.४८)
–**च्छद**–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९)
–**तृणा**–वि., श्यामलानि तृणानि यस्याः (असंसू. ४.४२)

श्यामलालुक–पु., वनस्पति० नीलालुः (रापरि. ७.३२)

श्यामलिका–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३५१)

श्यामलेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, कृष्णेक्षुः (रा. १४.१८७) द्र० 'इक्षु'

श्यामा–स्त्री., (रा. १२.४७)
–**त्रिवृत्कल्प**–पु., त्रिवृद्भेदः एव श्यामा। तेन श्यामायास्त्रिवृतश्च कल्पः श्यामात्रिवृत्कल्पः (चक. ७.१)
–**द्वय**–न., वनस्पति० पिप्पली, प्रियङ्गुश्च (असंउ.४४)

श्यामाक–पु., तृणधान्य० सामान्यतः सर्वप्राणिनां पथ्यः (सुसू. २०.५; चसू. २.२६) इदं कुधान्यम् कषायमधुरो लघुर्वातलः कफपित्तघ्नः शीतः संग्राही शोषणश्च (चसू. २७.१६) श्यामाकस्त्रिविधः– तोयश्यामाक उष्ट्रश्यामाको हस्तिश्यामाकश्चेति (सुसू. ४६.२१; अहसू. ६.११) गुणाः– मधुरः कषायः शीतः स्निग्धो लघुर्वातकरः संग्राही कफपित्तघ्नो विषघ्नश्च (ध. ६.८८)
हिं.—शामा.
म.—सावे. सावा.
गु.—सामो.
बं.—श्यामाघास.
ता.—श्यामाख.

श्यामाङ्गी–स्त्री., खनिज० मनःशिलाप्रकारः (र. ४.९६) द्र० ' मनःशिला '

श्यामादिगण–पु., श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लकरम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति, गुणाः–असौ गणो गुल्मविषापहः आनाहोदरविड्भेदी उदावर्तनाशनश्च (सुसू. ३८.२९; चवि. ८.१३६; अहसू. १५.४५; असंसू. १६)

श्यामादिलेप–पु., योग० सविषआलेप० श्यामेन्द्रगोपासोमोत्पलानां लेपः सविषान्नस्य हस्तस्पर्शे हस्तदाहे नखशाते च शस्यते (सुक. १.३७)

श्यामादिसिद्धघृत–न., सिद्धघृत० श्यामा गिरिह्वाञ्जनकीरसेषु द्राक्षारसे सप्तलिकारसे क्षीतककल्केन सामान्यस्नेहपरिभाषया सिद्धं घृतम्। पित्तार्बुदे पित्तोदरे चोपयुज्यते (सुचि. १८.३४)

श्यामेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, कृष्णेक्षुः (रा. १४.१८७) द्र० 'इक्षु'.

श्याव–वि., वर्ण० ईषत्कृष्ण अरुणभस्मकपोतास्थिवर्णोपलक्षकः (सुउ. ४०.९-१०; सुशा. २.२५; सुसू. १४.२१)

पु., रोग० कर्णवेधापयोगेन जायमान उपद्रवविशेषः (सुसू. १६.२६(११))

दन्तरोग० दन्तो रक्तादिभिः श्यावववर्णो भवति यस्मिन्स रोगः (असंउ. २५)

–कर्दम–पु., नेत्ररोग० अयं साध्यः (सुउ. १.४१)

–गन्ध–पु., दध्यादेस्ताम्रघृष्टसमानं गन्धमाहुः; केचित्तु 'शाव' मिति पठन्ति, शवस्य गन्धः शावः गन्धः (चचि. चक. २५.२७)

–जिह्व–वि., श्यावजिह्वः, ऋतुमत्या अतिहसनाद्गर्भः श्यावजिह्वो भवति (सुशा. २.२५)

–तालु–वि., श्यावतालुः, ऋतुमत्या अतिहसनाद्गर्भः श्यावतालुर्भवति (सुशा. २.२५)

–दन्त–वि., श्यावदन्तवान् ऋतुमत्या अतिहसनाद्गर्भः श्यावदन्तो भवति (सुशा. २.२५)

वि., कृष्णरदनः विसूच्यादीनामसाध्यलक्षणम् (सुउ. ५६.११)

–दन्तक–पु., दन्तरोग० लक्षणम्–यो दन्तोऽसृजा मिश्रेण पित्तेनाशेषतो दग्धः श्यावतामपि गतः स श्यावदन्तको रोगः (सुनि. १६.३४)

–मण्डल–न., ईषत्कृष्णं मण्डलम् वातरक्तगतमेकं लक्षणम् (सुचि. ५.४)

–मार्जारवसा–स्त्री., कृष्णमार्जारस्य मांसस्नेहः नेत्ररोगेष्वञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १६)

–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० यत्र नेत्रवर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शोफयुक्तं वेदनायुक्तं दाहकण्डूपरिक्लेदयुक्तं भवति। अयं साध्यो रोगः (सुउ. ३.२०; असंउ. ११; सुउ. १.४१)

श्यावाङ्गता–स्त्री., लक्षण० शरीरस्य कृष्णारुणवर्णत्वम् यकृद्विद्रधस्य विवर्णता० (सुशा. ९.१२)

श्यावारुणवर्णता–स्त्री., लक्षण० श्यावारुणस्य वर्णस्य सत्त्वम् दर्शनं वा वायोः कर्म (असंसू. २०)

श्यावारुणावभासता–स्त्री., रोग० त्वचि कृष्णारुणत्वयोरवभासनम्, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११)

श्यावौष्ठ–वि., श्याव ओष्ठो यस्य सः श्यावदन्तौष्ठनखत्वं विसूच्यादीनामसाध्यलक्षण० (सुउ. ५६.११)

श्येन–पु., प्रसहपक्षि० (चशा. ८.२८; चसू. २७.३६) स प्रतुदः (रा. १७.३) शशनकः सिञ्चानो गरुडान्वयः (सुसू. ४६.७४; सुचि. ३५.७)

हिं.—बाज.

म.—ससाणा.

बं.—बाज.

द्र० 'प्रसह'

–घण्टा–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (रा. ६.३३८)

–मुख–न., स्वस्तिकयन्त्र० श्येनमुखसदृशं यन्त्रम् (सुसू. ७.१०)

श्येनादियाग–पु., याग० शत्रोर्वधार्थं क्रियमाणा अभिचारप्रयोजनका यागाः (असंसू. ९.११४)

श्योनाक–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (चसू. २.११; चसू. ४.१३,१७)

–तैल–न., तैल० तस्य विधिरुपयोगश्च बलातैलवत् कर्तव्यः (का.धात्रीचिकित्सा.)

श्रद्धा–स्त्री., मनोभाव० इच्छा (चशा. ४.१६) श्रद्धामभिप्रायेण परीक्षेत (चवि. ४.८,१०)

अन्नग्रहणेच्छा, 'अम्लो रसः श्रद्धामुत्पादयति' (सुसू. ४२.९)

–भोज्य–न., इच्छाभोजनम्, श्रद्धोत्पादकं भोज्यम् (का.विशेषकल्पाध्याय.)

श्रपण–न., क्वथनम् (चचि. १९.८५)

श्रम–पु., श्रान्तिः, कर्मण्यन्यस्मिन्नक्षमत्वम् (चनि. १.२१) बह्वायासकृतः कष्टः (सुसू.४५.३) रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (कासू. २७.१९) लक्षण० अयं स्वल्पायासेन परिलक्ष्यः (चसू. १६.१४)

–घ्नी–स्त्री., वनस्पति० क्षीरतुम्बी (रा. ७.२३९)

–नाशनवर्ग–पु., द्रव्यगण० श्रमनाशकराणां द्रव्याणां वर्गः दाडिमफल्गुपरुषकप्रियालयवषष्टिकेक्षुबदरद्राक्षाखर्जूराश्चेति (असंसू. १५)

–निःश्वासधारण–न., श्रमेण यः श्वासो भवति तस्य निग्रहः तेन गुल्माद्या रोगा भवन्ति (चसू. ७.२४)

-भञ्जनी-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (धपरि. ३.३)
-श्वास-पु., लक्षण० द्रुतगमन-बलवद्विग्रह-भारोद्वहनादिभिः श्रमैः समुत्पन्नः श्वासः (सुउ. ५५.३५)
-श्वासरोधजरोग-पु., अध्वव्यायामादिना साहसेन सद्यो जातः श्वासः श्रमश्वासः। तद्वेगविधारणाद्बुल्महृद्रोगसंमोहा जायन्ते। तत्र विश्रमणं वातघ्ना चिकित्सा च हिता (अहसू. ४.१४)
-श्वासातुर-वि., श्रमजन्यवेगोद्भूतश्वासविधारणजोदावर्तपीडितः (सुउ. ५५.३५)
-हरवर्ग-पु., पञ्चके महाकषायवर्गे एको वर्गः, श्रमनाशनवर्गः (चसू. ४.८,१६)
श्रमित-वि., श्रान्तः (चचि. २८.३२)
श्रवण-पु., वनस्पति० इङ्गुदी (सुचि. ३१.५)
न., कर्णः (अहसू. २.९)
(श्रवणा)-स्त्री., वनस्पति० मुण्डी (रा. ५.२१७)
-शीर्षिका-स्त्री., वनस्पति० मुण्डीका (ध.१.१५९)
-स्रोतस्-न., कर्णरन्ध्रम् कर्णयोर्द्वे रन्ध्रे बहिर्मुखे स्रोतसी (सुशा. ५.१०)
श्रवणापाङ्गान्तर-न., कर्णापाङ्गयोरन्तरम् तत्पञ्चाङ्गुलम् (सुसू. ३५.१२)
श्रवणावरोध-पु., लक्षण० बाधिर्यम् (सुउ. ५५.१६)
श्रवणाह्वया-स्त्री., वनस्पति० मुण्डिकाचूर्णं व्रणरोपणार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३७.२७)
श्राद्ध-वि., श्रद्धाहेतुत्वेन विद्यते अस्येति श्राद्धः कफप्रकृतिपुरुषलक्षणेष्वेकं लक्षणम् (असंशा. ८.१६)
श्रान्त-वि., द्रुतगमनादिना खिन्नः (सुउ. ५५.१७)
पु., रोगलक्षण० तद्वान्, अस्त्वेद्योऽयम् (चसू. १४.१७)
श्रावणाह्वा-स्त्री., वनस्पति० मुण्डी (ध. १.१५९)
श्रावणी-स्त्री., वनस्पति० मुण्डी (चचि. २८.१५९; सुचि. ३०.५; ध. १.१५९)
-युग-न., वनस्पति० श्रावणी महाश्रावणी च (अहसू. १०.२४)
श्री-स्त्री., वनस्पति० बिल्वः (र. ११.५२,५७)
ऋद्धिः (रा. ५.१८८)
श्रीवेष्टको नवनीतधूपः (सुउ. २४.२७)
लवङ्गम् (सुचि. २२.६९)
-कण्ठ-पु., पक्षि० श्येनः (असंशा. १२)
-कन्दा-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३)
-कृष्णदेव-पु., ऋषि० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा निर्दिष्टः कश्चित् प्राचीनो रसाचार्यः (र. ११.१३१)
-केतन-न., खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.२)
-खण्ड-न., वनस्पति० चन्दनम्—(रा.१२.१)
सितचन्दनम् (र. २२.७२) द्र० 'चन्दन'
-ताल-पु., वनस्पति० ताल० (रा. ९.९५)
-देवी-स्त्री., वनस्पति० कर्कटीपत्राकारा 'देवी'-नाम्नी लता (र. ११.५२-५७)
-धूप-पु., धूप० (का.धूपकल्पाध्याय.)
-निकेत-न., धूप० नवनीतधूपः सरलनिर्यासः (सुचि. ९.१२)
-निर्यास-पु., निर्यास० (गन्धाविरोजा इति लोके) (चचि. २८.१५३)
-निवासक-पु., वनस्पति० कुरण्टकः (असंचि.२३)
-पद्म-न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० कट्फलम् (ध. १.७३; चचि. ३.२५८)
काश्मरी (सुउ. १२.११,१२; चचि. ८.१२९; ध. १.११७)
अग्निमन्थः (ध. १.११०)
-पर्णीतैल-न., तैल० काश्मरीतैलम्, एतत् पित्तश्लेष्मप्रशमनम् (असंसू. ६)
-पर्वत-पु., पर्वत० अत्र 'चन्द्रमा' इति सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२७)
-पुष्प-न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२)
लवङ्गम् (ध. ३.४१)
-फल-पु., वनस्पति० राजादनः (रा. ११.१४७)
न., बिल्वः (र. १०.७३)
आमलकम् (ध. १.२१५)
-(फला)-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा. ४.३४९)
(-फली)-स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९३)
-फलाह्व-पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०६)
-फलिका-स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३२)
महानीली (रा. ४.३५३)
कुडुहुच्ची (रा. ७.२८२)
-रस-पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९२)
-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (रा. १०.२२९; पृ. १९७)
गुणाः-कटुकाऽम्ला वातकफापहा शोफघ्नी च। तत्फलं तैललेपघ्नमत्यम्लं परं रुचिकृत् (रापरि. ८.३३.३४)
-वाटा-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (रा. ११.७)
-वाटी-स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (रा. ११.७)

-वारक-पु., वनस्पति० शितिवारः (ध. १.१५५)
-वास-पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (ध. ३.१३३)
-वासक-पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (असंसू. १६; अहसू. १५.४३)
-वासुदेव-पु., ऋषि० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा निर्दिष्टः प्राचीनो रसाचार्यः (र. १६.६७)
-विभूषण-पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९)
-वेष्ट-पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (र. २१.६०)
-वेष्टक-पु., वनस्पति० सरलवृक्षनिर्यासः, नवनीतधूपः प्रियङ्ग्वादिगणेष्वेकः (सुचि. ११.१०) पुरीषविरजनीयगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१५) सरलरसः नवनीतपिण्डप्रायः गुग्गुलीति लोके प्रसिद्धः, व्रणधूपनद्रव्येष्वेकं द्रव्यम् (सुसू.३७.२१) धूमपाने उपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ५.२३) एलादिगणे सुगन्धिद्रव्यमेकम् (सुसू. ३८.२४) गुणाः- स्वादुतिक्तः कषायः व्रणरोपणः कफपित्तघ्नः रक्तजरोगघ्नः ग्रहघ्नः शीर्षरोगनुत् (ध. ३.१३३) कटुतिक्तः योनिदोषजित् रुजानाशनोऽजीर्णघ्न आध्मानजिच्च (रा. १२.१९४)
हिं.—सरलका गोंद, सरलका रस, चन्द्रस, गन्धविरोजा.
म.—सरळडिंक, चन्द्रुस.
गु.—चन्द्रस, जनार्जन, गन्धवेरीजो.
बं.—टार्पिनतेल, नवनीतखोटी गन्धविरजा.
ता.—पिनैमारू.
फा.—सन्द्रुस. काइरवा.
बिल्वः (चक. १.२३; चचि. १२.६६)
-वेष्टकादिचूर्ण-न., वातजौष्ठप्रकोपे प्रतिसारणार्थमुपयोजनीयं श्रीवेष्टकसर्जरससुरदारुगुग्गुलुयष्टिमधुकानां चूर्णम् (सुचि. २२.५)
-सोमदेव-पु., ऋषि० रसरत्नसमुच्चयकर्त्रा निर्दिष्टः प्राचीनो रसाचार्यः (र. ९.६६)
श्रीमत्-वि., शोभायुक्तम् (चवि. ८.१०४)
ऐश्वर्ययुक्तः (सुशा. ४.४०)
पु., वनस्पति० तिलकः (ध. ५.१५८)
पिप्पलः (ध. ५.७९)
सिन्दूरम् (ध. ३.१०१)
(श्रीमती)-स्त्री., वार्षिकी (ध. ५. १३६)
(श्रीमत्)-दर्शनलोचन-वि., कान्तियुक्तलोचनः शोभनाकारनेत्रः (चचि. १८.२७)
श्रुग्नी-स्त्री., क्षार० स्वर्जिका, अजगल्लिकारोगे आलेपनार्थमुपयुज्यते (सुचि. २०.३)
श्रुत-न., ज्ञानम्, श्रेयस्करो विवादकगुणो जल्पकगुणो वा (चवि. ८.१८) शास्त्रज्ञानम् (चसू. २८.३७)
-ग्राहिन्-वि., श्रुतं यथातथं तत्कालं गृह्णाति, तत्र नाधिका बुद्धिः प्रभवति इति तादृशः (चवि. ८.१००)
-निगादिन्-वि., श्रुतं निगदति तथाश्रुतशब्दपूगं वदति इति श्रुतग्रहणशक्तिमान् (सुचि. २८.३)
-शान्ति-वि., आकर्णितशान्तिमयमङ्गलपाठः (सुचि. २९.१२)
-स्फोटा-स्त्री., वनस्पति० कर्णस्फोटा (रापरि.३.४१)
श्रेणिका-स्त्री., वनस्पति० निश्रेणिका (रापरि. ८.५०)
श्रेयसी-स्त्री., वनस्पति० गुणवती (चशा. ८.३)
वनस्पति० रास्ना (चसि. ९.८; चचि. २६.९३; ध. १.२७०)
पिप्पलीभेदः, हस्तिपिप्पली (चचि. १०.२०; ध. २.७८; असंउ. २२) द्र० 'पिप्पली'
अम्बष्ठा (रा. ४.१७१)
प्रियङ्गुः (रा. १२.२९)
पाठा (रा. ६.९८)
हरीतकी (रा. ११.३०७)
कफघ्नशाक० (चसू. २७.१०७)
वि., गुणश्रेष्ठः (चशा. ८.३)
श्रेष्ठ-न., भैषज्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२)
खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३)
रौप्यम् (ध. ६.६)
(श्रेष्ठा)-स्त्री., वनस्पति० पद्मा (ध. ४.९०; असंक.२)
त्रिफला (असंक. २; र. १५.५९)
श्रेष्ठाम्ल-न., वनस्पति० वृक्षाम्लम् (रा. ६.१४४)
श्रोणि-स्त्री., शारीर० कटिः, वातस्य स्थानम् (सुसू. २१.६; सुचि. ३.५०; सुशा. ३.८) ऊरुसंधेरधस्तात् स्मरमन्दिरोपरितनभागः; द्वादशाङ्गुलप्रमाणा स्त्रीश्रोणिः, तत्प्रमाणं पुरुषोरःसमानम् (सुसू. ३५.१२) श्रोण्यां पञ्चास्थीनि सन्ति (सुशा. ५.१९) द्र० 'कटि'
-काण्ड-पु., न., शारीर० श्रोणिभागः, कटितरुणमर्मस्थानमस्य समीपे वर्तते (सुशा. ६.२६)
-ग्रह-पु., लक्षण० कटिग्रहः (चसि. ९.६)
-प्रदेशप्रतिव्यूढा-वि., कटिप्रदेशविशाला (शय्या) (ड) शोभनोन्नता (सुचि. ३८.३)

-फलक-न., अस्थि० द्वे श्रोणिफलके (चशा. ७.६)
-भेद-पु., रोग० श्रोण्योस्तुदनम्, श्रोण्योर्भेदवत् पीडा, अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू. २०.११; असंसू. २०.१३)
-शूल-पु., लक्षण० कटिशूलः, वातजशूलस्य लक्षणम् (सुचि. ३४.९)
श्रोण्याकुट्टन-(परिव०) न., पाष्ण्यां पादेन वा श्रोण्या आहननम् आघातो वा (असंशा. ३)
श्रोतृ-वि., शब्दं शृणोति इति श्रोता, क्षेत्रज्ञस्यात्मनो नाम (सुशा. ३.४)
श्रोत्र-न., ज्ञानेन्द्रिय० शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम् (चसू. ८.८) पञ्चबुद्धीन्द्रियेष्वेकम् (चशा. ७.७) श्रवणेन्द्रियम् (सुशा. १.४) इदमान्तरिक्षमिन्द्रियम् (चशा. ७.१६; अहसू. १२.१; असंसू. ७.२४१)
अतीन्द्रियश्रवणमैश्वर्यकृतं योगिनाम् तच्च तेषाम् अष्टविधेष्वैश्वरबलेष्वेकम् (चशा. १.१४०)
-दौर्बल्य-न., लक्षण० श्रोत्रेन्द्रियस्य दौर्बल्यम् (चसू. २३.२८)
-शङ्खाटक-न., शारीर० श्रोत्रविवरान्तर्गतो भागः, तत्र शङ्खावर्तप्रकारकाः संधयः (सुशा. ५.२७) कर्णपथः (असंउ. १)
श्रोत्रादिपरीक्षा-स्त्री., श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन परीक्षेत। श्रवणादिज्ञानेन्द्रियपरीक्षणं शब्दस्पर्शादिविषयग्रहणेन कार्यम् (चवि. ४.८)
श्रोत्रिय-पु., वेदविद्ब्राह्मणः (सुचि. ३४.१०)
श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेय-वि., श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञातुं शक्यम् (लक्षणं रोगो वा)। यथा रोगपरीक्षायामाध्मानादिरोगेषूपलभ्यमानो गुडगुडादिशब्दः (सुसू. १०.५)
श्रयाह्व-पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (चसू.३.३;असंसू.१५) बिल्वः (असंउ. १०)
श्लक्ष्ण-वि., खरविपरीतः (अहसू. १९.७२)
पु., गुण० विंशतिगुणेष्वेकः (अहसू. १.१८) मसृणम् (सुचि. २४.१३) अपरुषम् (र. ३०.१-२) अकर्कशः (सुसू. ११.१६) तत्कर्म-रोपणे शक्तिः (अहसू. १.१८) पिच्छिलगुणवत् श्लक्ष्णो जीवनः श्लेष्मलः संधानकृद्बल्यो गुरुश्च (सुसू. ४६.५२१)
चिक्कणः, स्नेहं विनाऽपि स्यात्कठिनोऽपि हि चिक्कणम् यथा शरीरधातुगुणेष्वेकः (चशा. ६.१०)
न., वि., अतिकोमलम् यथोत्तरबस्तियन्त्रस्य प्रवेशाऽग्रम् (अहसू. १९.७२)
वनस्पति० अश्मन्तकः (ध. १.१९४)
न., वनस्पति० कतकम् (ध. ३.१७२)
(श्लक्ष्णा)-स्त्री., वि., स्पर्शसुखा तद्विपरीता कर्कशा यथा पेशी (सुशा. ५.४०)
-गण्डत्व-न., लक्षण० मसृणकपोलत्वम् (चचि. १३.२१)
-ता-(परिव०) स्त्री., मृदुत्वम् (चनि. ५.७)
-पेषित-वि., सूक्ष्ममर्दितम् (सुचि. ३८.३४)
-मुख-वि., यन्त्रलक्षण० श्लक्ष्णगुणयुक्तमुखोपेतम् (सुसू. ७.९)
-शिला-स्त्री., श्लक्ष्णशिलिका, नापितशिलिका, माषयूषोपमेयं, शस्त्रनिशानार्थम् उपयुज्यते (सुसू.८.१३)
श्लक्ष्णाङ्ग-वि., लक्षण० श्लक्ष्णमङ्गं यस्य सः (श्लेष्मलनरः) (चवि. ८.९६)
श्लथ-वि., शिथिलम् (असंशा. ८.२४)
-संधिता-स्त्री., लक्षण० संधिशैथिल्यम्, स्रस्तसन्धित्वम् (अहसू. ११.१६)
श्लथाङ्गत्व-न., लक्षण० अवयवशैथिल्यम् (अहसू. ११.८)
श्लाघनीय-वि., प्रशंसाऽर्हः, प्रियः (असंसू. ८.५)
श्लिष्टवर्त्मन्-न., नेत्ररोग० लक्षणम् अस्मिन् वर्त्मनी कण्डूश्वयथुरागिणी श्लिष्टे च भवतः (असंउ. ११)
श्लीपद-न., रोग० (चसू. २७.२१२) पादाद्युपरि शोथात्मकोऽयं रोगः (चचि. १२.९८) 'हस्तिपाद' इति लोके। केचिच्छिलावत्पदं श्लीपदमिति वदन्ति (मधुकोष मानि.) अयं हस्तिपादसदृशो विशेषतः पादस्य भवति। अस्मिन्रोगे शोथेन पादः स्थूलः, कफसम्बन्धेन कठिनश्च जायते। तस्य स्थानं रोहिणी नाम षष्ठी त्वक् (सुशा. ४.४) हेतुः-पुराणोदकभूयिष्ठे देशे सर्वर्तुषु शीतले च देशे अयं रोगः प्रादुर्भवति (सुनि. १२.१४) यत्र स्थिरप्रवाहा नद्यस्तत्र देशे कृमिश्लीपदकण्ठरोगाः भवन्ति (अहसू. ५.१०; असंसू. ६) महेन्द्रप्रभवनदीजन्यः (सुसू.४५.२१)
संप्राप्तिः-अनूपदेशे कफोल्बणा दोषा वङ्क्षणोर्वादिमधःकायं प्रस्थिता मांसासृग्गाः सन्तः कालेन पादौ चाश्रित्य शनैर्घनं शोफं कुर्वते (सुनि. १२.१०; असंउ. ३४) कफोत्तरा रक्तचलाश्रिता मला घनं शोफं कुर्वन्ति (र. २५.५६) पादवद्धस्तकर्णोक्षि-

नासिकौष्ठेष्वपि श्लीपदं जायते इति केषांचिदाचार्याणां मतम् (सुनि. १२.१५; असंउ. ३४) संख्यासम्प्राप्तिः–तत्त्रिविधं वातजं पित्तजं श्लेष्मजं च (सुनि. १२.१०; असंउ.३४) सामान्यलक्षणम्–अस्मिन्रोगे कफस्य प्राधान्यादवयवस्य गुरुत्वं महत्त्वं चास्ति (सुनि. १२.१३) लक्षणम्–वातजे–खरं कृष्णं परुषमनिमित्तानिलरुजं बहुशः परिस्फुटति च (सुनि. १२.११; असंउ. ३४) पित्तजे–पीतावभासमीषन्मृदु ज्वरदाहप्रायं च भवति (सुनि. १२.११; असंउ. ३४) कफजे–श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितं च भवति (सुनि. १२.११) गुरु बृहन्मांसाङ्कुरैश्चितमरुक्च भवति (असंउ. ३४) साध्यासाध्यत्वम्-यत्संवत्सरातीतं महद्वल्मीकवज्जातं प्रसृतं तद्वर्जनीयम् (सुनि. १२.१२) सपरिस्रुतं चासाध्यम् (असंउ. ३४) सर्वलिङ्गं कण्डुरं कफप्रकृतिकस्य श्लेष्मयुतं वर्जनीयम् (मानि.) चिकित्सा–वाम्योऽयं रोगः (अहसू. १८.२; असंसू.२७) अनुवासनानर्हः (अहसू. १९.९) श्लीपदानां निवृत्तये सर्षपतैलं पिबेत् (सुचि. १९.६०) अत्र आर्द्रकमुपयुक्तम् (अहसू. ६.१६५) द्रवन्त्यादिक्षारा उपयुक्ताः (सुचि. १९.६८-६९) क्षिप्रमर्मण उपरि चतुरङ्गुलेऽङ्गुष्ठे सिरां विध्येत् (सुचि. १९.५६-६२) कठिणसुप्तमांसेऽग्निकर्म चिकित्सा कार्या (सुसू. १२.१०) वातिके गोमूत्रयुक्तमेरण्डतैलपानमग्निदाहं सिराव्यधं च कुर्यात् (सुचि.१९.५२-५४) पैत्तिके पित्तार्बुदविसर्पवत्क्रियां कुर्यात् (सुचि. १९.५५)

–घ्न–पु., सिद्धयोग० श्लीपदनाशकः (र. २५.५७-५९)

–निदान–न., श्लीपदरोगस्य निदानम् (सुनि. १२.१)

श्लेषक–पु., शारीर० कफभेदः । पर्वास्थिसन्धिषु श्लेषणात् श्लेषाच्छ्लेषकः (असंसू. २०; अहसू. १२.१८)

श्लेष्मन्–पु., दोष० कफः अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा उत्पद्यते (चवि. १.५; असंसू. २०; चवि. ८.१२२) 'श्लिषू आलिङ्गने ।' इत्यस्मात्कृद्विहितेन प्रत्ययेन श्लेष्मा इति । एतेन श्लेष्मणः सन्ध्यादियोजनं दर्शितम् (सुसू. २१.५) अव्यापन्नः सञ्छरीरधारको व्यापन्नः सन्विनाशकारणः (सुसू. २१.३) द्र० 'कफ' दोष० दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः (चवि. १.५) तस्य साम्यादरोगता स्वास्थ्यमिति (अहसू. १.२०) दूषणस्वभावाद्दोषा इति (असंसू. २०) कफदोषः (र. ३.७७; चवि. १.५) मल० कफमलस्वरूपः मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलः (असंसू. २०)

(श्लेष्म)–जक्रिमि–पु., रोग० कफजक्रिमिः (चवि. ७.९) द्र० 'कृमि'

–धरा–स्त्री., कला० श्लेष्मधारिणी (भाप्र.) धातुक्रमसम्भवविशेषाच्चतुर्थी कला, तत्स्थेन हि श्लेष्मणाऽऽश्लेषिताः सर्वसंधयो दृढा भवन्ति, सोपाङ्गा इवाक्षाः (असंशा. ५.३८; सुशा. ४.१४) तस्याः कर्मसंधयः साधु वर्तन्ते श्लेष्मणा संश्लिष्टाः सन्तः (सुशा. ४.१५)

–धातु–पु., शारीर० शरीरधारकः कफः (चवि. ८.१२२)

–पिच्छा–स्त्री., श्लेष्मरूपा पिच्छा । श्लेष्मसंयुक्ता पिच्छा । पिच्छा नाम अंत्रस्थं पिच्छिलं द्रव्यम् (चचि. १४.१३६) द्र० 'पिच्छा'

–पित्त–न., श्लेष्मसंसृष्टं पित्तम् कफपित्तम् (चसू. ५.४०)

–प्रकृति–वि., दोषप्रकृति० कफप्रकृतिः (नरः) (सुशा. ४.७२)

–प्रसेक–पु., लक्षण० कफप्रसेकः, मुखे लालास्रावादिः (चसू. ५.३०)

–भू–पु., षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् । कण्ठस्य पार्श्वयोर्व्यवस्थितो भागः । द्वौ श्लेष्मभुवौ (चशा.७.११)

–मूल–न., कफमूलम् (चसू. २०.१९)

–रुद्धबिल–वि., कफरुद्धद्वारः (बस्तिः)(चसि.९.४).

–विकार–पु., कफरोगः । कफविकारास्तु तृप्तितन्द्रादिकाः विंशतिः, द्र० 'कफ' (असंसू. २०)

–विदग्धदृष्टि–पु., नेत्ररोग० अयं दृष्ट्याश्रयः । तत्र लक्षणम्– यदाल्पकफदोषस्त्रिषु पटलेषु स्थितस्तदा रूपाणि शुक्लानि पश्यति । दिवा सूर्यानुगृहीतचक्षुरीक्षेत । रात्रौ नक्तान्ध्यमापद्यते (सुउ. ७.३७-३८)

–शमन–वि., कफशामकम् (असंसू. १४)

–संभवरोग–पु., कफजरोगः (सुशा. ७.१३)

–संशमनवर्ग–पु., कफशमनद्रव्यसंग्रहः कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलरास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनाकाकादनीलाङ्गलीहस्तिकर्ण-

मुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीककण्टपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिः बृहत्यादिः मुष्ककादिर्वेचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति श्लेष्मसंशमनवर्गाः (सुसू. ३९.९)

-स्थान–न., कफस्थानम् (असंसू. २०)

श्लेष्मल–वि., कफप्रकृतिकः (चसू. ७.३९) श्लेष्मदोषाधिकः जन्मत एव। "श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति" (चवि. ६.१८) श्लेष्मभूयिष्ठः (चवि. ८.९६) कफकरम् यथा पयःप्रभृति माषतिलादि वा (अहसू. ५.२१; अहसू. २७.२)

श्लेष्माघात–पु., रोग० श्लेष्मजं मूत्रकृच्छ्रम्, तल्लक्षणम्–स्निग्धं शुक्लमनुष्णं च मेहति मुष्कमेहनबस्तीनां गुरुत्वं संहृष्टरोमत्वं च भवति (सुउ. ५९.६)

श्लेष्मात–पु., वनस्पति० श्लेष्मातकः (र. ११.९४)

श्लेष्मातक–पु., वनस्पति० महाकषायवर्गे विषघ्नगणे प्रोक्तम् एकं द्रव्यम् (सुचि. ३१.५)
शेलुः (अहसू. ६.१२०; असंउ. ४४)
बहुवारः (चसू. ४.११ (१६)
फलमस्य लेपतः स्तन्यशुद्ध्यर्थमुपयुज्यते (चचि. ३०.२७५; सुचि. ५.१० असंसू. १५)
गुणाः–स्वादुः कटुः कषायः शीतः (गुरुः, फलं गुरु) (चसू. २७.१५९) क्रिमिशूलामरक्तदोषव्रणविस्फोटहरः (ध. ५.९४) फलगुणाः–गुरुकफकृत् (सुसू. ४६.१९३)
हिं.—बरालसोडा.
म.—भोंकर, भोकरी, शेळवंट, शेळवण, गोंधणी.
गु.—गुदन, गुन्दो मोटो, गुन्दी नानी.
बं.—बहुयार, बहुवार, चालता गाछ, बोहरी.
ता.—विडी, नरुविल्ली.
फा.—सिपिस्तान.

(श्लेष्मातकी)–स्त्री., वनस्पति० श्लेष्मातकः (सुक. ५.७५-७६)
श्लेष्मातक्याद्यगदः अगद० दर्वीकरविषहरः राजिलविषहरश्च (सुक. ५.७५-७६)

-तैल–न., गुणाः– गुरु शीतलं श्लेष्मलं वातपित्तहरम् (असंसू. ६) केश्यम् (ध. ६.१४२)

-त्वच्–स्त्री., पानाभ्यञ्जनादिभिर्लूताविषे उपयुज्यते (सुक. ८.१२०)

-प्रसव–न., बहुवारपुष्पम्, श्लेष्मातकपुष्पम् (सुउ. ४७.३२)

श्लेष्माधिक–वि., कफदोषाधिकः (नरः) (चसू.१३.१९)

श्लेष्माधिष्ठान–वि., यत् श्लेष्माणमुपादाय भवति श्लेष्माश्रयम् (सुनि. ३.३)

श्लेष्माभिष्यन्द–पु., नेत्ररोग० कफजोऽभिष्यन्दः (सुउ. ११.१)

श्लेष्माभिष्यन्दप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ११.१)

श्लेष्माशय–पु., कफाशयः। उरःस्थानम् (सुशा. ५.८)

श्लेष्मास्राव–पु., नेत्ररोग० नेत्रसंधिगतः रोग०, अश्रुस्रावाख्यः, तत्र लक्षणम्, श्वेतसान्द्रपिच्छिलनीरुक्श्लेष्मस्रावयुक्तः रोगोऽयमसाध्यः (सुउ. २.६)

श्लेष्मोत्क्लेश–पु., लक्षण० कफोत्क्लेशः (अहसू. १८.३८)

श्लेष्मोत्तर–वि., श्लेष्माधिकः (नरः) (चसि. १.९)

श्लेष्मोत्सेक–पु., लक्षण० कफोत्सेकः। कफवृद्धिः (सुउ. ३९.१९४)

श्लेष्मोद्गिरण–न., लक्षण० कफस्य स्रावः। विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७; असंसू. २०)

श्लेष्मोपनाह–पु., नेत्ररोग० नेत्रसंधिगतः कफजो रोगः साध्योऽयम् (सुउ. १.३५) अयं भेद्यो लेख्यश्च (सुउ. १४.९-१०)

श्लैष्मिक–वि., कफविकारयुक्तः (नरः) (चसू. १४.२७): कफप्रकृतिकः (पुरुषः) (सुक. ५.३९)

श्लैष्मिकौजस्–न.. ओजो० ओजो यदष्टबिन्दुकं तद्यतिरिक्तमोजः श्लेष्मिकौजस्तद्विशुद्धश्लेष्मसमगुणम्। तस्य प्रमाणमर्धाञ्जलिः (चशा. ७.१५)

श्लोकस्थान–न., सूत्रस्थानम् (चवि. ८.२९; चसू. ३०.३३) 'श्लोकार्थः संग्रहार्थश्च श्लोकस्थानम्।' (चसू. ३०.४५-४६)

श्वन्–पु., प्राणि० कुक्कुरः (सुचि. २४.७६) वातप्रकृतिः प्राणी (सुशा. ४.६७) दन्तनखविषः (सुक. ३.५) उन्मत्तः सन्दंशेन विषबाधां करोति। उन्मत्तश्वलक्षणम्–शिरोऽभितापी लालास्रावी अधोवक्त्रश्च (चचि. २३.१७५) प्रस्रस्तलाङ्गूलोऽत्यर्थबधिरान्धः सोऽन्योन्यं अभिधावति (सुक. ७.४३-४६) द्र० 'अलर्कविष'

(श्व)-ग्रह–पु., बालग्रहरोग० लक्षणम्–स पुरुषदेहधारिग्रहः। तेन प्रवेशितेन कम्पहृषितरोमत्व–स्वेद–चक्षुर्निमीलन–बहिरायामनं–जिह्वादंशान्तःकण्ठकूजन–धावन–विज्ञन्धत्व–क्रोशनादीनि लक्षणानि भवन्ति (असंउ. ३)

-दंश–पु., रोग० अलर्क विषरोग० (सुक. ७.४३-४६)

-दंष्ट्र-पु., मृग० जाङ्गलो मृगः (चसू. २७.४५) चतुर्दंष्ट्रो जङ्गालवर्गीयोऽतिदुष्टः कर्कटक इति कार्तिकपुरे प्रसिद्धः (ड. सुसू. ४६.५४) अस्य मांसरसो हिक्कायां प्रशस्तः (सुउ. ५०.२९)

-(दंष्ट्रा)-स्त्री., वनस्पति० गोक्षुरः (चसू. २३.१२; ध. १.१०३; चसू. ४.१३; सुचि. २.४८) वनस्पति० कण्डूकरी (असंउ. ४६) मृग० श्वदंष्ट्रः (सुसू. २०.५)

-दंष्ट्रादिघृत-न., सिद्धघृत० क्षतक्षीणे उपयुक्तम् (चचि. ११.४४-४७)

-दंष्ट्रावसुकासव-पु., आसुत० पिप्पल्यादीनामनुपानार्थमुपयुक्तः (सुसू. ४६.४३३)

-दन्त-पु., कुक्कुरदन्तः, कुष्ठप्रशमनयोगे उपयुक्तः (चचि. ७.१६०)

-पच-पु., चाण्डालः (असंसू. ३८)

-पाक-पु., चाण्डालः, लुब्धकः (असंशा. १२)

-पित्त-न., जाङ्गमद्रव्य० शुनः पित्तम्। तदिदं अपस्मारेऽञ्जनार्थं प्रयुक्तम् (चचि. १०.५०; असंसू. ८)

-पुच्छा-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११८)

श्वभ्र-न., गर्तम् (चशा. ८.२१)
गर्तः (सुचि. २४.८९; असंशा. २.६०)
गुहा (चक. १.९)
बिलम् (सुसू. ३६.३)

-प्रपात-पु., गर्ते पतनम् (असंशा. २)

श्वयथु-पु., रोग० उत्सेधलक्षणः शोफः (चसू. १.११०; काखिल. १७.१४-१६; सुचि. २३.४) द्र० 'शोथः'

-कर-वि., शोथकरः शोफजनकः (सुसू. ४०.५)

-पूर्वक-वि., शोथपूर्वकः शोफपुरस्सरः (अहसू. २९.१; असंसू. ३८)

-हरगण-पु., गण० शोथहरः। दशमूलानि श्वयथु-शोथ-हराणि (चसू. ४.१६)

श्वयथुक-पु., शोथः (र. २.११०)

श्वस्-अव्यय० परस्मिन्नहनि (चक. १.१४) अपरेद्युः (सुचि. ३३.५)

(श्वो-)-वम्य-वि., अपरेद्युर्वमनार्हः (अहसू. १८.१२)

श्वसन-पु., वायुः (सुउ. ६.२४)
वनस्पति० मदनम् (चक. १.२७)
न., निःश्वसनम् (सुनि. १६.६१)
श्वासाधिक्यम् (चचि. ३.४१)

(श्वसना)-स्त्री., शारीर० श्वासवहा नाडी (चक. चचि. १२.७६)

-कृच्छ्र-न., लक्षण० दुःखेन श्वासविमोक्षणम् (सुनि. ११.२८)

(श्वा) विद्रोमन्-न., शल्यकस्य केशाः, शल्यकस्य रोम्णामन्तर्धूमदग्धं भस्म हिक्काशमाय क्षौद्रोपेतं लेहयेत् (सुउ. ५०.२०)

श्वाविध्-पु., प्राणि० बिलेशयः शल्यकपर्यायः (चचि. १७.११२; सुसू. ४६.७७; चसू. २७.३८) सूचिसदृशरोमयुक्तः। 'साळई' 'साळू' इति लोके (सुसू. ४६.७७; चचि. १८.१७०; सुउ. ५१.३३; अहसू. ६.४७; असंसू. ७) अस्य मांसं वातानुबन्धजे श्वासे उपयुक्तम् (चचि. १७.११२)

श्वास-पु., कर्म० श्वसनम्। प्राणवायोर्गतागतम् (सुउ. ५५.५)
लक्षण० स्तनमूल-स्तनरोहित-अपस्तम्भमर्मसु विद्धस्यैकं लक्षणम् (सुशा. ६.२५) श्लेष्मज्वर-लक्षणम् (चनि. १.२७)
रोग० अशीतिवातरोगेष्वेकः (कासू. २७.१९-२९) श्वसनरोग० (चसू. १.१०८) अन्तर्मार्गजो रोग० (चसू. ११.४९) महाव्याधि० (सुउ. ५१.५) शीघ्रकारी रोगः (असंनि. ४.२९) हेतुः संप्राप्तिश्च-विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रुक्षाभिष्यन्दिभोजनानि, व्यायामकर्म-भाराध्व-वेगाघातापतर्पणानि आम-दोषाभिघात-स्त्री-क्षयरोगप्रपीडनानि, विषमाशनाध्यशन-समशनानि, शीतपान-शीतासन-शीत-स्थानानि, धूमानलानिल-रजांसि इत्येतानि श्वासस्य कारणानि (सुउ. ५१.३) आमातिसार-वमथुविषपाण्डुज्वरैर्मर्माघातेन च श्वासो भवति (असंनि. ४) उरःस्थो मारुत उदानः प्राणवाहीनि स्रोतांसि प्रविश्य कुपितः सँस्तत्रस्थं कफमुद्धूय श्वासं करोति (चचि. १७.१७) प्रकुपितः प्राणो वायुः श्वासरोगं कुरुते (सुनि. १.१३-१४) प्राणवायुर्विगुणो भूत्वोर्ध्वगश्च भूत्वा कफसंयुतः सञ्छ्वासं जनयति (सुउ. ५१.४) कफपूर्वको मारुतः स्रोतांसि संरुध्य श्वासान्करोति (चचि. १७.४५) कफोपरुद्धगमनो विष्वगास्थितः पवनः स्वहेतुदुष्टः सन्प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि दूषयन्नुरःस्थ आमाशयसमुद्भवं श्वासं कुरुते (असंनि. ४) संख्यासंप्राप्तिः- क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो

महानूर्ध्वश्च (सुउ. ५१.५) पूर्वरूपम्–आनाहः पार्श्वशूलो हृदयपीडा प्राणस्य च पर्याकुलत्वम् (चचि. १७.२०) हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिर्वेदनवैरस्यं च (सुउ. ५१.६) शङ्खभेदः (असंनि. ४) पूर्वरूपे बाल उरसानिष्टनति अस्य च श्वासोऽत्युष्णो भवति (कासू. २५.१७) एतानि श्वासपूर्वरूपाणि। सामान्यलक्षणम्–श्वसनवृद्धिः। क्षुद्रश्वासलक्षणम्–तत्र आयासातिभोजनैः प्रेरितो वायुः क्षुद्रनामानं स्वयं संशमनं श्वासं जनयति (असंनि. ४) यस्य किञ्चित्कर्मारभमाणस्य पुरुषस्य यः श्वासः प्रवर्तते निषण्णस्य शान्तिमेति स क्षुद्रः श्वासः (ड.सुउ.५१.७) तमकलक्षणम्-पवनः प्रतिलोमं सिरा गच्छन् कफमुदीर्य शिरो ग्रीवां च परिगृह्य पार्श्वमुरश्च पीडयन्कासं घुर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं तृषं तीव्रवेगं प्राणोपतापिनं च श्वासं च करोति। तद्वेगेनातुरस्ताम्यति। निष्ठ्यूत्यनन्तरं सुखमाप्नोति क्षणम्। शयानः कृच्छ्राच्छ्वसिति। निषण्णः स्वास्थ्यमृच्छति। उच्छ्रिताक्षत्वं ललाटे स्वेदोद्गमः शुष्कास्यतोष्णकामित्वं कम्पश्च भवति (असंनि. ४) स शाम्यति कफे हीने (सुउ. ५१.९-१०) प्रतमकलक्षणम्–तमकस्यैव भेदः प्रतमकः (चक्र. चचि. १७.६३-६४) यदा तमको ज्वरमूर्च्छायुतः शीतोपशयश्च तदा स प्रतमकसंज्ञः (सुउ. ५१.१०; असंनि. ४) छिन्नश्वासलक्षणम्–छिन्नश्वासेन सविरामं श्वसिति मर्मच्छेदरुजार्दितः स्वेदमूर्च्छायुतः सानाहो बस्तिदाहनिरोधवानधोदृष्टिर्विप्लुताक्षो रक्तैकलोचनो मुह्यत्प्रच्छुष्कास्यः प्रलापवान्दीनो नष्टच्छायो विचेतनश्च भवति (असंनि. ४; असंउ. ५१.११) महाश्वासलक्षणम्–ऊर्ध्वं नीयमानो वातः सशब्दो मत्तर्षभ इवोच्चैः श्वसिति। महाश्वासी प्रनष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तलोचनो विवृताननो बद्धमूत्रवर्चस्कः क्लान्तमना भवति। तदा प्रश्वसितं च दूराद्विज्ञायते (चचि. १७.४६-४८) शुष्ककण्ठो मोहितः कर्णशङ्खशिरोरुजावान्भवति वक्षश्च समाक्षिपति (असंनि. ४) ऊर्ध्वश्वासलक्षणम्–ऊर्ध्वश्वासपीडितो दीर्घकालमूर्ध्वं श्वसिति, श्वासं न अधः करोति। श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो वायुस्तेन पीडित ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यन्विभ्रान्ताक्ष हृतस्ततः प्रमुह्यत्प्रच्छुष्कास्यो वेदनार्तश्चारतिपीडितो भवति (चचि. १७.४९-५१) हृद्वस्त्यादिमर्मसु आकृष्टत्वमिव हृतस्वरत्वं च भवति (सुउ. ५१.१३) छिद्यमाने मर्मणीव वेदनावान्निरुद्धवाक्च भवति (असंनि. ४) साध्याऽसाध्यता–क्षुद्रश्वासः साध्यस्तमकः कृच्छ्रसाध्यः। महोर्ध्वच्छिन्नस्रयः श्वासाः सर्वसम्पूर्णलक्षणा असाध्याः (सुउ. ५१.१४) बलिनां नवश्चेत्तमकश्वासः साध्यः (असंनि. ४) ऊर्ध्वश्वासारिष्टलक्षणम्–गतोष्मत्वं शूलोपहतवङ्क्षणत्वम् अप्राप्तसुखत्वं चेति रिष्टलक्षणम् (चइ. ९.१३) ज्वरमूर्च्छाद्युपद्रवयुक्तौ प्रतमकसन्तमकावसाध्यौ (सुउ. ५१.१४) चिकित्सासामे त्वामविधिं चरेत् (अहृचि. ४.१६) बलवतां श्वासरोगिणामादौ स्नेहस्वेदैरुपाचरेत्। पश्चाद्वमनं विरेचनं च हितम्। श्वासे स्नेहबस्तिः कदापि न देयः (सुउ. ५१.१५-३६) कफप्रस्ते वमनमुपयुक्तम्। वातकफानुबन्धे धूमं प्रयोजयेत्। धूमाः सर्वे ससर्पिष्का योज्याः (सुउ. ५१.४७-५२) तृषितः श्वासी दशमूलक्काथं पिबेत् (चचि. १७.१०५) कफरुद्धमार्गशुद्ध्यर्थं मुहुर्मुहुर्लेहा देयाः (चचि. १७.१२०) पथ्यम्–श्वासार्दिती दन्तपवनं न भक्षयेत् (अहृसू. २.४)

–कासकरिकेसरिन्–पु., पारदादियोग० तारताम्रपारदादिसाधितोऽयं श्वासकासघ्नः (र. १३.६४-६५)

–कासहरी वटी–स्त्री., गुटिकाकल्प० श्वासकासघ्नी (र. १३.६८)

–घ्नवटक–पु., सिद्धयोग० श्वासकासज्वरादिहरः (र. १३.५५-५८)

–प्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ५१.१)

–भक्ष–पु., वनस्पति० बर्बुरः (रापरि. ८.१३)

–रोध–पु., लक्षण० श्वासावरोधः (असंनि. ५)

–शमनवर्ग–पु., श्वासहरगणः। चण्डाऽम्ल-वेतस-शठी-तामलकी- सुरसा-हिङ्गु-जीवन्ती- पुष्करमूलैलागरूणि इत्ययं वर्गः श्वासशमनाय भवति (असंसू. १५)

–हरद्रव्य–न., द्रव्य० (चसू. ४.८) श्वासशमनवर्गः शटीपुष्करमूलाम्लवेतसैलाहिंग्वगरुसुरसातामलकी-जीवन्तीचण्डाश्चेति श्वासहरद्रव्याणि (चसू. ४.१६)

श्वासान्तक–पु., सिद्धयोग० श्वासकासादिहरः (र. १३.५४)

श्वासारि–पु., वनस्पति० पुष्करमूलम् (रा. ६.९३) पाठा (ध. १.७१-७२)

श्वासिकी–वि., श्वासशमनविषयिणी, श्वासविकारशमनी चिकित्सा (चवि. ५.२६)

श्वासिन्–वि., श्वासयुक्तः (सुसू. २९.१४)

(श्वासि–)–शस्त–वि., श्वासरोगिणां हितकरं द्रव्यम् (सुउ. ५१.४६)

श्वित्र–न., रोग० (चचि. ७.१६२) कुष्ठभेदः (सुचि. ९.११; असंनि. १४) श्वेतकुष्ठम् (र. १.३५) श्वेतभावाच्छ्वित्रम् (का.कुष्ठचि.) रक्तदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१३) श्वित्रे दोषतो वर्णभेदः लक्षणं च–वाताद्रूक्षमरुणम् पित्तात्कमलपत्रवत्ताम्रं सदाहं रोमध्वंसि च । कफाच्छ्वेतं घनं गुरु सकण्डु च (असंनि. १४) दूष्यविशेषेण वर्णभेदः–रक्ताश्रिते दोषे रक्तम् । मांससमाश्रिते ताम्रम् । मेद आश्रिते श्वेतम् (चचि. ७.१७४) साध्याऽसाध्यता–यद्रक्तलोम तनु पाण्डु नातिचिरोत्थितं मध्यावकाशे उच्छूनं तत् साध्यम् (चचि. ७.१७६) यद्रक्तलोमवत् परस्परतोऽभिन्नं सर्वतः प्रसृतं यद्वर्षगणोत्पन्नं तन्नैव सिध्यति (चचि. ७.१७५) एतत्कुष्ठादपि बीभत्सं यतः शीघ्रमसाध्यतां याति तस्मादेतच्छान्त्यै क्षिप्रं प्रयतितव्यम् (असंचि. २२) चिकित्सा–श्वित्रे स्फोटजननं प्रथमं कर्म कर्तव्यम् । स्फोटभेदादनन्तरं तैलप्रयोगेण रोपणादिकर्म कर्तव्यम् (सुचि. ९.१५-१६) श्वित्रकुष्ठे तुत्थादिलेपयोगः उपयुक्तः (सुचि. ९.२७) मयूरतुत्थं श्वित्रापहम् (र. २.१३२) असनादिर्गणः श्वित्रकुष्ठादिहरः (अहसू. १५.२०) कुक्कुटपुरीषयोगः श्वित्रजित् (सुचि. ९.१९-२०) आवल्गुजं बीजमभ्यम् श्वित्रकुष्ठहरालेपे (सुचि. ९.२५-२६) गोऽजादिमूत्रं श्वित्रनाशकम् (अहसू. ५.८३)

–कुष्ठारि–पु., योग० श्वित्रनाशकः (र. २०.२०३)

–घ्नतैल–न., तैल० श्वित्रनाशनम् (र. २०.२२३)

–घ्नरसायन–न., सिद्धयोग० श्वेतकुष्ठादिनाशनः (र. २६.३३-३४)

श्वित्रारि–पु., पारदादियोग० पारदगंधकासीससससुरसाचांगेर्यादिसाधितोऽयं श्वित्रकुष्ठघ्नः (र. २०.१९८-२०२)

श्वित्रिन्–वि., श्वित्ररोगग्रस्तः (सुचि. ९.२६)

श्वेत–पु., मूषिक० अयं कफजान् विकारान् करोति (सुक. ७.२५-३०) द्र० 'मूषिक'
वनस्पति० अर्कभेदः शुक्लार्कः (रा. १०.२९)
न., खनिजद्रव्य० श्वेतटङ्कणम् (रा. ६.३१)
वनस्पति० चन्दनभेदः (ध. ३.९)
आहार द्रव्य० तक्रभेदः मथितम् (ध. ६.१८९) द्र० 'तक्र.'
रोग० श्वित्रम् (चचि. ७.१७४)
वि., वर्ण० शुक्लः (अहसू. १२.५४)

–कन्द–पु., कन्द० श्वेतपलाण्डुः (रा. ७.१०१)

–(कन्दा)–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (रा. ६.७)

–काकुलीमृग–पु., सर्प० अयं भूमिशयः (चसू .२७.३७)

–काच–न., लवण० लवणम् (र. ३०.१०४)

–काण्डा–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (रा. ८.२२९)

–कापोति–स्त्री., वनस्पति० सोमसमवीर्या महौषधिः । सा निष्पत्रा कनकाभासा मूले द्यङ्गुलसम्मिता लोहितान्ता सर्पाकारा 'श्वेतकापोती' इत्युच्यते, सा समूलफलवृन्ता भक्षयितव्या । तस्याः प्राप्तिस्थानम्–कौशिकीं नदीं पूर्वतः योजनत्रयात्मकः वल्मीकयुक्तः क्षितिप्रदेशः, तत्र वल्मीकमूर्धसु इयं लभ्यते (सुचि. ३०.११,३५)

–काम्बोजि–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जा (सुचि. १९.४२-४५; असंउ. ३९)

–काम्भोजी–स्त्री., वनस्पति० काकमाचीभेदः, काकमाची (ध. ४-३१)

–कुन्द–पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.१)

–कुम्भीका–स्त्री., वनस्पति० पाटलाभेदः काष्ठपाटला (ध. १.१२२)

–कुष्ठ–न., रोग० श्वित्रम् (र. २०.२१०-२१४)

–क्रिया–स्त्री., कर्म० भित्त्यादौ सुधालेपादिना श्वेतत्वोपपादकं कर्म (र. २.१०)

–गुञ्जा–स्त्री., वनस्पति० गुञ्जाभेदः 'द्र० गुञ्जा' (ध. ४.३१)

–घण्टा–स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२४)

–चन्दन–न., वनस्पति० चन्दनभेदः, हरिचन्दनम् (ध. ३.१)

–चामरपुष्प–पु., वनस्पति० काशः (ध. ४.१३०)

–चिल्ली–स्त्री., वनस्पति० चिल्लीभेदः (धपरि. ७.६८)

–जलज–न., पद्म० कुमुदम् (ध. ४.१५४)

–जीर–न., खनिजद्रव्य० शङ्खजीरकम् (र. २४.२२)

–जीरक–पु., वनस्पति० जीरकभेदः (रा. ६.१०२)

–टङ्कण–न., खनिज० टङ्कणभेदः (रा. ६.३१)

–दण्डा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, श्वेतदूर्वा, द्र० 'दूर्वा' (ध. ४.१४४)

-दूर्वा-स्त्री., वनस्पति० दूर्वा (ध. ४.१४४)
-द्रुम-पु., वनस्पति० वरुणः (ध. ५.११९)
-द्वीप-न., देश० चन्द्रद्वीपम् । गंधकप्राप्तिस्थानेष्वेकम् (र. ३.२-३)
-नामा-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिका (ध. ४.८४; चसू. १.७७) विष्णुक्रान्ता (चसू. १.७७)
-निष्पाव-पु., शिम्बीधान्य० निष्पावभेदः (रा. १६.१७५)
-नेत्र-न., रोग० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः, नेत्रयोः श्वेतत्वं पाण्डुरत्वं वा (चसू. २०.१७; असंशा. ४
-पत्र-न., पद्म० श्वेतपद्मम् पुण्डरीकम् (रा. १०.२३७)
(-पत्रा)-स्त्री., वनस्पति० श्वेतशिंशपा (रा. ९.२००) द्र० 'शिंशपा.'
-पद्म-न., पद्म० पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८)
-पयस्-न., तक्र० दध्नो द्विगुणं जलं मिश्रयित्वा कृतं तक्रं श्वेतपयः (ध. ६.२११)
-पाक-पु., वनस्पति० श्वेतगुञ्जा, द्र० 'गुञ्जा' (असंउ. २४)
-पादता-स्त्री., लक्षण० श्वेतपादत्वम् (असंशा. ४)
-पिण्डीतक-पु., वनस्पति० महापिण्डीतरुः (रापरि. ९.३३)
-पुष्प-पु., वनस्पति० श्वेतपुष्पनिर्गुण्डी, निर्गुण्डी (र. २२.१६०; ध. ४.८१)
करवीरः (ध. ४.१)
वरुणः (ध. ५.११९)
(-पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिका (ध. ४.८४) इन्द्रवारुणी (ध. १.२५२)
-पुष्पक-पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.२)
(-पुष्पिका)-स्त्री., वनस्पति० पुत्रदात्री (रापरि. ३.४७)
-पोर-पु., वनस्पति० इक्षुभेदः । अयं वंशेक्षुवद्गुणः किञ्चिदुष्णो वातहरः (सुसू. ४५.१५२) द्र० 'इक्षु'
-फला-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः, श्वेतबृहती द्र० 'बृहती' (रा. ४.१२५)
-बर्बर-न., वनस्पति० बर्बरभेदः, बर्बरिकम्, द्र० 'बर्बर' (रा. १२.१७)
-बीज-पु., शिम्बिधान्य० कुलत्थः (रा. १६.१६६)
-बृहती-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः (रा. ४.१२५; असंशा. १) द्र० 'बृहती'
-भण्डी-स्त्री., वनस्पति० अपराजिता (चचि. २३.२१०)
-मण्डल-पु., सर्प० मण्डलिसर्पभेदः (सुक. ४.३४(२)) द्र० 'मण्डलिन्'
न., शारीर० नेत्रप्रत्यङ्गम् नेत्रे श्वेतवर्णः मण्डलाकारी विभागः (सुउ. १.१५)
-मन्दार-पु., वनस्पति० अर्कभेदः (रा. १०.३१)
-मरिच-पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.४०)
न.,शोभाञ्जनबीजम् (चचि.२६.२४५)
-महोटिका-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः, द्र० 'बृहती' (रा. ४.१२५)
-मुष्कक-पु., वनस्पति० मुष्ककभेदः (ध. ५.१३२) द्र० 'मुष्कक'
-मूत्र-न., लक्षण० श्लेष्मविकार० मूत्रस्य श्वेतत्वम् (चसू. २०.१७; असंसू. २०)
-मूल-पु., वनस्पति० पुनर्नवाभेदः श्वेतपुनर्नवा द्र० 'पुनर्नवा' (ध. १.२७६)
-मोक्षक-पु., वनस्पति० मुष्ककभेदः (सुचि. ४.३२) द्र० 'मुष्कक'
-रोध्र-पु., वनस्पति० लोध्रभेदः, द्र० 'लोध्र' (रा. ६. २४१)
-रोहित-पु., वनस्पति० रोहितकभेदः, द्र० 'रोहितक' (रा. ८.२१८)
-वचा-स्त्री., वनस्पति० वचाभेदः (ध. २.६) द्र० 'वचा'
अतिविषा (रा. ६.८)
-वर्ग-पु., द्रव्यगण० तगर-कुटज-कुन्द-गुञ्जा-जीवन्तिका-श्वेतकमलकन्दाश्चेति द्रव्याण्यत्र । स रसकर्मोपयोगी (र. १०.९३)
-वर्चस्त्व-न., रोग० श्लेष्मविकारेष्वेकः श्वेतपुरीषत्वम्, शकृतः श्वेतत्वम् (चसू. २०.१७)
-वर्णता-स्त्री., लक्षण० श्वेतता, धवलत्वम् (असंसू. २०)
-वारल-पु., पक्षि० प्लववर्गीयः । शुक्लपक्षः प्रसेवकगलः 'ज्येष्ठबलाका' इति लोके (ह. सुसू. ४६.१०५-१०६)
-वारिज-न., कमलभेदः पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८)
-वार्ताकिनी-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः, श्वेतबृहती द्र० 'बृहती' (रा. ४.१२५)
-वाह-पु., वनस्पति० वृक्ष० अर्जुनः (असंसू. १६; अहसू. १५.१९)

-शकृत्त्व-न., लक्षण० श्वेतवर्चस्त्वम् (असंसू. २०)
-शालि-पु., धान्य० अकण्डितशुक्लधान्यम् । शालिभेदः (चचि. २१.८०) मागधे पुण्डरीकशालिरिति ख्यातः (चचि. २१.११३; ध. ६.७१)
-शिंशपा-स्त्री., वनस्पति० शिंशपाभेदः, द्र० ' शिंशपा ' (रा. ९.२००)
-शिग्रु-पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः, द्र० 'शिग्रु' (रा. ७.६४)
-शिम्ब-पु., शिम्बीधान्य० निष्पावः (ध. ६.११०)
-शिला-स्त्री., वनस्पति० पाषाणभेदः (रा. ५.२१३)
-सार-पु., वनस्पति० वृक्ष० खदिरभेदः, सोमवल्कः द्र० 'खदिर' (ध. १.२७)
-सिंही-स्त्री., वनस्पति० बृहतीभेदः द्र० 'बृहती' (रा. ४.१२५)
-सुरसा-स्त्री., वनस्पति० निर्गुण्डीभेदः शुक्लशेफालिका, द्र० निर्गुण्डी' (ध. ४.८३)
-सूरण-पु., कन्द० सूरणभेदः, सितसूरणः, द्र० ' सूरण ' (रापरि. ७.८)
-स्पन्दा-स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिकाभेदः, श्वेतगिरिकर्णिका, अपराजिता, द्र० ' गिरिकर्णिका ' (ध. ४.८४)
-हस्तता-स्त्री., लक्षण० धवलपाणित्वम्, हस्तस्य श्वेतवर्णता (असंशा. ४)

(श्वेता)-स्त्री., शारीर० त्वग्भेदः । तृतीया त्वक्, लोहितायास्त्वचोऽधो व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा यवस्य विंशतिभागेषु द्वादशयवभागाः (=$\frac{१२}{२०}$ यव) चर्मदल-अजगल्ली-मशकाधिष्ठाना च सा (सुशा. ४४; असंशा. ५)
लूता० दंशलक्षणम्-दंशदेशे श्वेता कण्डूमती पिडका भवति । सा दाहमूर्च्छाज्वरकरी विसर्पक्लेदरुक्करी च (सुक. ८.१०३-१०४) द्र० 'लूता'
वनस्पति० सारिवा (ध. १.१६१)
अतिविषा (ध. १.११)
वचा (चसू. २.४; सुक. १.६३-६५; असंउ. ४२)
काश्मरीभेद० काश्मरी (रा. ९.१४७)
कटभीभेदः श्वेतकटभी श्वेते इति कटभीद्वयम् (ड. सुक. ६.१४-२७; असंउ. ६)
बृहतीभेदः, श्वेतबृहती, द्र० 'बृहती' (रा. ४.२२५)
लक्ष्मणा (रा. ४.१२३)
रास्ना (चसू. ४.१८)
कदलीभेदः, काष्ठकदली (ध. ४.७८)
वंशरोचना (रा. ६.८६)
पाटलाभेदः, काष्ठपाटला, द्र० ' पाटला ' (ध. १.१२२)
दूर्वाभेदः, श्वेतदूर्वा द्र० ' दूर्वा ' (रा. ८.२२९)
पाषाणभेदः (रा. ५.२०९)
गिरिकर्णिका (असंसू. ८; ध. ४.८४) श्वेतस्पन्दा, अपराजिता इति पर्यायौ (चक्र. चचि. १०.४२; असंसू.१४) श्वेतस्यन्दा इत्यपि पर्यायः (सुचि. २२.६३; सुक. ५.७५-७६)
विषाणिका (चचि. १०.४२)
वृक्ष० श्वेतस्यन्दः (ड. सुक. १.५१-५४; सुउ. २४.३२) जज्जट (चचि. ३.२६७)
श्वेतागुणाः-अतिमधुरा, शीता, स्तन्यदा, रुचिकृच्च (रा. ५.४६; पृ. ३४४)
इक्षुविकृति० शर्करा (ध. २.१०४)

श्वेतक-पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः (ध. ४.४०)
न., खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५)
श्वेतटङ्कणम् (रा. ६.३१)

श्वेता-स्त्री., वन० श्वेताकटभी (अहसू. १५.२८)
-युग्म-न., वनस्पति० एका किणिहीसंज्ञा अन्या महाश्वेता पालिन्दीसंज्ञा कटभी (असंसू. १६; अहसू. १५.२८)

श्वेताक्ष-पु., वनस्पति० सोमविशेषः (सुचि. २९.५)

श्वेतातिदिग्धाङ्ग-वि., लक्षण० श्वेतवर्णयुक्ताङ्गः (चचि. १६.३२)

श्वेतापराजिता-स्त्री., वनस्पति० श्वेतगिरिकर्णिका (र. १६.९९-१०१) द्र० ' गिरिकर्णिका '
श्वेतपुष्पा विष्णुक्रान्ता (र. १६.९९-१०१)

श्वेताम्बर-पु., वनस्पति० शितिवारः (रा. ४.२०७)

श्वेताम्ली-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-मधुरा वृष्या बलदायिनी पित्तघ्नी च (रापरि. ४.३७)

श्वेतारियोग-पु., योग० श्वेतकुष्ठघ्नः पलमात्रे पारदे समानं गन्धकं जारयित्वा तत्पारदे पलत्रयं निम्बूकरसेन संमृदितं गन्धकं प्रक्षिप्य काकोदुम्बरिका-बाकुची-चित्रक-भृङ्गराज-कोरण्टानां क्वाथैः परिमर्दयेत् । ततश्चैकदिनं कटुतुम्बीक्वाथेन संमर्द्य काचकूप्यां सिकतायन्त्रे यामद्वयं पचेत् । तस्य मात्रा वल्लद्वयम् । अनुपानं कृष्णनागवल्लीपर्णम् (र. २०.२१४-२१८)

श्वेतार्क-पु., वनस्पति० अर्कभेदः श्वेतपुष्पोऽर्कः, द्र० ' अर्क ' (र. ११.५२-५७)

श्वेतार्षभ–वि., ऋषभसम्बद्धं (चशा. ८.१०)

श्वेतावभासता–स्त्री., रोग० श्लेष्मविकारेष्वेकः श्वेतावभासनम् (चसू. २०.१७; असंसू. २०)

श्वेतेक्षु–पु., इक्षु० सितेक्षुः, द्र० ' इक्षु ' (रा. १४.१८१)

श्वेतैरण्ड–पु., वनस्पति० एरण्डभेदः (रा. ८.४४५) द्र० 'एरण्ड'

श्वेतोदर–पु., सर्प० दर्वीकरभेदः (सुक. ४.३४ (१)) द्र० ' दर्वीकर '

श्वैत्य–न., लक्षण० शुक्लत्वम् (अहसू. १.२७; चनि. ११.७;)

श्वैत्र्य–न., लक्षण० श्वित्रित्वम्, श्वेतकुष्ठयुक्तत्वम् (चसू. २३.२४)

ष

षड–पु., पेय० दाडिमगोरसादिना घनपल्लवफलादिभिः कृतः तृष्णायामुपयुक्तः (सुउ. ४०.९७) दाडिमतक्रशाकादिसंस्कृतो द्रवः (ड. सुउ. ४०.२७)

(षडी)–स्त्री., वनस्पति० सटी (शठी) (असंउ.२४; असंउ. ४९)

षडङ्ग–पु., वनस्पति० गोक्षुरभेदः, क्षुद्रगोक्षुरः (रा. ३.१३१; ध. १.१०२)

सर्प० मण्डली सर्पः (सुक. ४.३४(२))

न., षण्णामङ्गानां समाहारः (चसू. ३०.४) तत् शिरोऽन्तराधिद्वौ बाहू सक्थिनी च (असंशा. ५; चशा. ७.४)

घृत० षट्पलकघृतम् (ड. सुउ. ४२.२४)

द्र० ' षट्पलघृत '

वि., षडङ्गयुक्तम् शरीरम् (सुशा. ५.३) प्रियंगु पिप्पली भद्रमुस्तं हरेणुः, क्षौद्रं, बदरचूर्णं च (का. गर्भिणीचिकित्सा)

षडङ्गगुग्गुलु–पु., योग० गुग्गुलुकल्पः । रास्ना–गुडूची–देवदारु–शुण्ठी–एरण्डमूलानि समभागानि गुग्गुलुं च सर्वेषां समभागं मिश्रयेत् । अयं वातरोगे उपयुक्तः (र. २१.१६०)

षडङ्गघृत–न., सिद्धघृत० षट्पलघृतम् (सुउ. ४२.२४)

षडङ्गुलसंमितनेत्र–वि., षडङ्गुलसम्मितं नेत्रं यस्य सः (बस्तिः) (चसि. ३.८)

षडङ्गोदक–न., जल० घनचन्दनशुण्ठ्यम्बुपर्पटोशीरैः साधितं जलं षडङ्गोदकम् (असंचि. ३) तच्च पाचनं तृड्ज्वरापहम् (अहचि. १.१५; चचि. ३.१४५)

षडिन्द्रिय–न., षण्णामिन्द्रियाणां समाहारः, मनसा सह पञ्चेन्द्रियं षडिन्द्रियम् (चसू. २६.४३(१)

षण्–वि., संख्याब्द० षट्,

–**निष्कतैल**–न., तैलयोग० तैलमिदम् आमवातादिहरम् (र. १६.४२-४३)

–**मास**–न., षण्णां मासानां समाहारः (असंशा. ९)

–**मासोषित**–(परिव०) वि., षण्मासं यावत्स्थितः (असंसू. २)

–**मुख**–पु., कार्तिकेयः, उमाशङ्करापत्यं षण्मुखयुक्तम् (काचि.)

–(**मुखा**)–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा.७.२५५)

–(**मुखी**)–स्त्री., ग्रहरोग० बालग्रहः । रेवतीग्रहः । देवताऽपि सा सूतिकाषष्ठ्यां पूज्या । तस्याः तिथिः षष्ठी (का.बालग्रहचि०)

–**मूल**–वि., षण्मूलानि नाम कारणानि यस्य सः (सुचि. १.१३४)

षण्ड–पु., नपुंसक० अशुक्रषण्डप्रकारः । स्त्रीचेष्टिताकारः नरषण्डः । तस्योत्पत्तिहेतुः– यो नरो भार्यायामृतौ उत्तानीभूय विपरीतबन्धेन प्रवर्तते ततस्स्त्रीचेष्टिताकारपुत्रः षण्डसंज्ञको जायते (सुशा. २.४१-४२) योषितामपि एतादृशं षण्डत्वं दृश्यते । स नारीषण्डः (सुशा. २.४३-४४)

(**षण्डी**)–स्त्री., योनिरोग० लक्षणम्– सा बीजदोषात्स्त्रीगर्भस्य वातहतगर्भाशया तेन स्त्री नृद्वेषिणी अस्तनी च भवति । सोऽसाध्ययोनिरोगः (चचि. ३०.३४-३५) षण्डी योनिरनार्तवाऽस्तना मैथुने खरस्पर्शा च भवति (सुउ. ३८.१८) गर्भे बीजदोषतो जायमाना स्त्री नृद्वेषिणी यौवनेऽप्यस्तनी स्यात् (असंउ. ३८)

षण्ढ–पु., नपुंसकः (सुशा. २.४१-४२)

द्र० ' षण्ड '

–**ता**–स्त्री., स्त्रीगमनाशक्तित्वम् (अरु. अहसू. ४.२०)

–**योनि**–स्त्री., योनिरोग० विंशतियोनिव्यापत्स्वेकः द्र० ' षण्डीयोनिः ' (चसू. १९.४ (९)

–**संज्ञा**–वि., योनिरोग० द्र० ' षण्डीयोनिः ' (असंउ. ३८)

षष्–संख्याश० (सुसू. १४.३)

(षट्)–कल्प–पु., अध्याय० तत्र बालानामक्षिरोगशमनार्थं षट् द्रव्याणां कल्पा उक्ताः । तानि द्रव्याणि– चक्षुष्या पुष्पकं माता रोचना रसाञ्जनं कतकफलं च (का. षट्कल्प०)

(षट्)–कोण–न., रत्न० हीरकः (ध. ६.५६)
–कोल–न., द्रव्य० षड्रूषणम् (र. २१.१३५)
–कोश–वि., षड्कोशात्मकम् (काशा. १०)
–पद–पु., कीट० भ्रमरादिः (चसू. २६.४३; सुसू. ६.२५-२८)
–पदाभिसरण–न., लक्षण० यथा प्रमेहे षट्पदानां देहे तथा मूत्रे च सञ्चारो भवति (चनि. ४.४७)
–पदमञ्जरी–स्त्री., वनस्पति० अशोकः (ध. ५.१५९)
–पदातिथि–पु., वनस्पति० चम्पकः (ध. ५.१४२)
–पदानन्दवर्धन–पु., वनस्पति० किङ्किरातः (ध. ५.१५६)
–पदानन्दा–स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६)
–पल–न., घृत० (चसू. २४.५५)
–पलघृत–न., घृत० तत्साधनप्रकारः–पिप्पली-पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पलिकाभागाः घृतप्रस्थं तत्तुल्यं क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत् (सुचि. १४.१४; चचि.५.१४७-१४८) क्षीरषट्पलकं घृतम्, इदं कफात्मकं गुल्मं ग्रहणीं पाण्डुरोगं प्लीहकासविषमज्वराग्निमान्द्यश्वयथूँश्च हरति (सुचि. १४.१४; चचि. ५.१४७-१४८; चचि. १५.१७०)
–पलसर्पिस्–न., घृत० षट्पलघृतम् तदिदं प्लीहाग्निसंगादिनाशकम् (सुचि. १४.१४)
–पलसर्पिस्–न., घृत० षट्पलघृतम् (चक्र.) (चचि. ३.२९८)
(षड्)–ग्रन्थ–पु., वृक्ष० करञ्जः (चचि. ७.११३) करञ्जभेदः, पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०९)
–(ग्रन्था)–स्त्री., वनस्पति० वचा (सुचि. ९.८; असंचि. १; श्वेतवचा (ध. २.६) सटी (शठी) (ध. १.६१)
–ग्रन्थादिचूर्ण–न., चूर्णकल्प० श्लैष्मिकगुल्मे शूले चोपयुक्तम् (सुउ. ४२.७१-७२)
–धरण–पु., योग० षण्णां चित्रकादीनां धरणा मान-विशेषा यत्र योगे, स षड्धरणो योगः । तत्र द्रव्याणि–चित्रक–इन्द्रयव–पाठा–कटुका–अति-विषा–अभया चेति । वातव्याधिप्रशमनोऽयं योगः, आमाशयगतवातस्यैव प्रशामको न त्वाक्षेपकादीनाम् (सुचि. ४.४)
दार्वीकलिङ्गकटुकातिविषाग्निपाठाः इत्येतेषां सूक्ष्म-चूर्णं मूत्रेण सह पीतं अर्शं उदरं कुष्ठमेहकोष्ठगतवात-ग्रहण्यादीन् रोगान् हन्ति (असंचि. २३)
–धातुज–वि., षड्धातुसमुदायात्मकम् पञ्चमहा-भूतानि आत्मा च षष्ठ इति षड्धातवः, तेभ्यो जातम् (चसू. २५.१५)
–भुजा–स्त्री., वल्लीफल० गुणाः– तिक्ता मधुरा किंचित् अम्लविपाका तर्पणी पुष्टिकरी वृष्या मूत्रला कफकरी पित्तघ्नी दाहश्रमोन्मादघ्नी च (रा. ७.२५५)
हिं.—खर्बुज.
म.—खर्बुज.
गु.—टर्बुज.
बं.—खेर्मुज.
–रस–वि., षड्रसात्मकः (आहारादिः) (सुसू. १४.३)
–रात्र–न., षण्णां रात्रीणां समाहारः (असंशा. ९)
–रेखा–स्त्री., वनस्पति० षड्भुजा (रा. ७.२५५) खरबुज. पहा ' षड्भुजा. '
–विरेचनशताश्रितीय–वि., अध्यायसंज्ञाविशेषः (चसू. ४.१)
–विरेचनशतीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. ४.१)
षष्टि–पु., धान्य० व्रीहिः (रा. १६.१०१)
–ज–पु., धान्य० षष्टिकः (रा. १६.८४)
–तण्डुलजोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० वंशरोचनामेदः (ध. २.५६)
–वासरज–पु., धान्य० षष्टिकः (रा. १६.८४)
–शालि–पु., षष्टिकः (रा. १६.८४)
षष्टिक–पु., शूकधान्य० व्रीहिभेदः (चसू. ४.१२; सुसू. ४६.१०; अहसू. ६.७-८) ग्रैष्मिकं धान्यम् (सुउ. ३९.३१८-३१९) प्रकृतितो लघुधान्यम् (चसू. ५.५) श्रमनाशनगणे प्रोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६; असंसू. १५) यो व्रीहिः षष्टि-रात्रेण पच्यते, स षष्टिकः । षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठः (सुउ. ३९.३१८-३१९; चसू. २७.१३) हित-त्वेनाभ्यसनीयमेकं द्रव्यम् (चसू. ५.१२) सर्वप्राणिनामाहारार्थं हितम् (सुसू. २०.५) वमिनिग्रहणगणे प्रोक्तं द्रव्यम् (असंसू. १५) षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठः । षष्टिकः द्विविधो गौरः कृष्णगौरश्च । तत्र गौरः कृष्णगौरतः श्रेष्ठः (असंसू. ६.७-८) गुणाः– स्वादुः शीतो लघुः स्थिरो ग्राही त्रिदोषघ्नः (चसू. २७.१३; अहसू. ६.७) बलवर्धनो विपाके मधुरो लोहित-

शालिभिस्तुल्यगुणः (सुसू. ४६.१०-११) बृंहण-कर्मकारी (अहसू. ४.२८; ध. ६.७२)

-मूल–न., शूकधान्यविशेषस्य मूलम्। तत्स्तन्य-जनकम् (चसू. ४.१२; असंसू. १५)

-वर्ग–पु., गण० षष्टिक-काङ्कुक-मुकुन्दक-पीतक-प्रमोदक-काकलकासनपुष्पक-महाषष्टिक-चूर्णक-कुरबक-केदारप्रभृतयः षष्टिकाः (सुसू. ४६.८)

षष्टिकादिगुटिका–स्त्री., योग० गुटिका कल्पः। अयं योगो बृष्योऽपत्यकरश्च (चचि. २(२). ३-९)

षष्टिकौदन–पु., योग० शुभ्रं षष्टिकौदनं घृतेन सह पयसि पक्त्वा शर्करामधुसंयुक्तं कुर्यात्, अयं बृष्यः (चचि. २.(२)२७)

षष्ठी–स्त्री., बालग्रह० रेवतीग्रहस्य नाम। नन्दिकेश्वर-पञ्चमानां भ्रातॄणां षष्ठी भगिनी (काबालग्रहचि.) सा षष्ठेऽहन्यपत्यं विनाशयति (कारेवतीक० ४५)

-ग्रह पु., बालग्रह० स क्षीरदुष्टिहेतुः (कासू. १९)

-निशा–स्त्री., सूतिकायाः षष्ठी निशा। सूतिकाषष्ठी (का.बालग्रहचि.) अस्यां बालहिताय रक्षाबलिक्रिया कर्तव्या (असंउ. १)

षाडव–पु., कृतान्न० व्यञ्जन० मधुराम्लद्रव्यकृतो द्रवपदार्थः पानक०
(चसू. २७.२८१; सुसू. ४६.३७८)
यूष० (सुउ. ४७.२५-२६; चचि. ११.८८-९०)
व्यञ्जन० राजिकया संस्कृतः जम्बूफलरसैः सिता-रुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैर्युक्तो रागषाडवः। षाडवाः पुनर्मधुराम्ललवणसंयोगजाः नानाविधाः (सुसू. ४६.३८३) मधुराम्लकटूनां तु संस्काराः षाडवा मताः (ड. सुउ. ५७.१२)

षाण–पु., मान० शाणः धरणद्वयम्, माषचतुष्टयम्, तोलकपादः। इति मानम् (र. ११.३)

षाण्ढ्य–न., रोग० षण्ढस्य भावः (सुचि. ९.८)
अशीतिवातरोगेष्वेकः (कासू. २७.१९-२९)
नपुंसकत्वम् (चसू. २६.१०२) विरुद्धाशनजो रोग० क्लीबत्वम् (चसू. २६.८४) लक्षण०
(सुशा. ६.२४)

षाण्मासिकरसायन–न., योग० षण्मासाद्यस्य योगस्य प्रयोगाजरा काश्यं च विनश्यति (र. २६.१२-१३)

षोडश–वि., संख्या० (चसू. १०.३)

-कल-वि., षोडशगुणम्। कलाशब्दो गुणवचनः (चक्र. चसू. १०.३)
वि., षोडशविकारात्मकः (चिकित्साधिकृतकर्म-पुरुषः) (सुउ. ६६.७)

-गुण–वि., षोडशभागम् (अहसू. १४.२७)

षोडशिका–स्त्री., मान० पलम् (चक्र. १२.९२)
कर्षः (असंक्र. ८)

-तैल–न., कर्षपरिमाणं तिलतैलं तालस्य सत्वपातनार्थ-मुपयोज्यम् (र. ३.८८)

ष्ठीवन–न., कर्म० मुखस्रावोद्गारः (अरु. अहसू. १२.५)
लक्षण० मुखात्कफादीनां बहिर्निक्षेपणम्
(सुसू. १६.७; अहसू. ८.९)
वि., ष्ठीवनार्थं कफोत्क्लेशार्थमुपयुक्तं (द्रव्यम्)
(चचि. १५.१९८)

स

संयत–वि., संयमनशीलः, संयमी (सुचि. २४.११३)
बद्धम् पाशादिना (सुउ. ६२.१८)

संयतात्मन्–वि., जितेन्द्रियः (सुशा. ३.२४)

संयाव–पु., भक्ष्य० उत्कारिका (चक्र. चचि. ३०.१०७)
यवौदनः (इन्दु. असंउ. ४)
मधु (घृत) दुग्धेन सुशोभनां समितां मर्दयित्वा घृतोत्तरे खण्डे पचेत्। खण्डैलामरिचार्द्रकचूर्णानि चास्मिन् क्षिपेत्। स च संयावः संपद्यते। स गुरु-बृंहणश्च (सुसू. ४६.३९५-३९६)
नातिमृदुकठिनः समिताशर्कराकृतभक्ष्यविशेषः
(सुनि. ८.१०)

संयोग–पु., संबन्धः, (धर्माधर्मादिभिः) (चशा. ५.२१)
द्रव्याणामुचितं मेलनम्, संहतीभावः (चसू. ४.९२; सुसू. २०.३)

-पुरुष–पु., चतुर्विंशतिको राशिपुरुषः (चशा. १.८५)

-विरुद्ध–वि., मेलनाद्विरुद्धत्वमापन्नम् (चसू. २६.९९)

-शरमूलीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चचि. २ (१)

संयोजन–न., संहननं सङ्घातो वा (चवि. ८.११६)
संयोगः, विधियुक्तं मिश्रणम् (असंसू. २८.४१-४२)

संरब्ध–वि., क्षुब्धम् (सुउ. ६.१६)
सम्यक्कलितः (ड. सुउ. २७.९)
विशालमूलः (सुचि. १.२९)

-नेत्र–वि., लक्षण० सशोथलोचनः
(ड. सुउ. ५१.१२)

संरम्भ–पु., आरभटी (चक्र.) शौर्यम् (चचि. ९.१२)
कोपः (इन्दुः असंउ. १)
लक्षण० चित्तक्षोभः (चनि. ७.७ (२)
श्वयथुरागवेदनाप्रादुर्भावः (सुसू. १६.६; सुउ. १३.१८)

संरम्भिन्–वि., शोथवत् (व्रणादिः) (सुनि. ४.७)
संराग–पु., कामः (ड. सुउ. ५७.६)
संरोष–पु., संक्षोभः (सुउ. १५.३)
संरोहण–न., सम्यग्विरोपणम् (चनि. ५.७)
संलीन–वि., एकस्थानस्थितः निश्चलः (असंशा. ४.२३)
संलुलन–न., स्फुरणं हर्षः (असंशा. २.९)
संलोच–पु., लुञ्चनवद् वेदना (सुउ. ४१.१२)
संवत्सर–पु., द्वादशमासात्मकः कालः, वर्षम् (सुसू. ६.४; चसू. ६.४)
–प्रयोग–पु., वर्षपर्यन्तं भैषज्यस्य सेवनम् (चचि. १(२).११)
संवत्सरात्मन्–वि., संवत्सरस्वरूपः (कालः) (सुसू. ६.४)
संवत्सरोषित–वि., वर्षस्थितम्, पुराणम् (सुसू. ४६.५१)
संवनन–न., वशीकरणम् (इन्दु. असंउ. ५०)
संवरण–(परिव०) न., आच्छादनम् (असंशा. ४.३१; सुउ. ३९.२८६)
संकोचः (सुशा.३.९)
(संवरणी)–स्त्री., पेशी० गुदस्य बाह्ये भागे स्थितानां तिसृणां मध्ये मलस्य संवरणात् संवरणीत्याख्या प्रथमा वली (सुनि. २.५; असंनि. ७.५)
संवर्तक–पु., वनस्पति० बिभीतकः (चक्र. चचि. ३.२५८; ध. १.२१२; पृ. ५०)
संवर्धनघृत–न., घृत० खदिरपृश्निपर्णीस्यन्दन-सैन्धवबलाद्वयादिद्रव्याणां कषायैस्तुल्यक्षीरयुतैः सिद्धं मधुयुतं घृतं बालानां शीघ्रसंवर्धनम् (का.सू.लेहाध्याय.)
संवासित–वि., मिश्रीकृतः (ड. सुउ. २२.७)
संवाहक–वि., संवाहयति नाम शरीरमर्दनादि करोति, सः, (परिचारकः) (चसू. १५.७)
(संवाहिका)–स्त्री., कीट० पिपीलिकाभेदः, एतस्या दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहौ भवतः (सुक. ८.३४)
संवाहन–न., उपक्रम० मृदुमर्दनम् (सुशा. ४.४३; असंसू. ९.६४)
सुखकरः स्पर्शः (ड. सुक. ५.३८)
संवाहिनी–स्त्री., शारीर० नाडी, वाहिनी (चशा. ४.१५)
संविधान–न. चिकित्सा (सुचि. ३४.५)
कर्म (ड. सुक. २३.८)
परिच्छदः, सामग्री (सुचि. ९.६)
–वत्–वि., चिकित्सोपयोगिसामग्रीयुक्तः, परिच्छदवान् (सुचि. ९.६)
संविभक्त–वि., विभज्य कर्मणि नियोजितः (ड. सुक. १.१४-१६)
संविभागरुचिता–स्त्री., सात्विकगुण० संविभज्य परस्परं भोज्यादिवितरणेन भोक्तुमभिलाषुकता (ड. सुशा. १.१८)
संविभागिन्–वि., सम्यक् फलविभजनशीलः (चशा. ४.३७(१) समीभूतदृष्टिकः (असंसू. ३.८४)
संवीत–वि., आच्छादितम् (सुउ. ३९.२९१)
संवीताङ्ग–वि., आच्छादिताङ्गः (असंसू. ३.४)
संवृत–वि., आच्छादितः (सुचि. २४.१२४)
पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११७)
–कोष्ठ–वि., वायुनाऽल्पीकृतकोष्ठः, वायुव्याप्तकोष्ठः (चसि. २.८; असंसू. २७.७)
–मुख–वि., आच्छादिताननः (असंसू. ३.९४)
–योनि–स्त्री., लक्षण० संकुचिता योनिः (चचि. ३०.४४; असंसू. ९.७०)
–व्रण–पु-, आच्छादितः संकुचितो वा व्रणः (चचि. २५.२०)
संवृतायन–वि., संवृतानि इन्द्रियरूपाणि छिद्राणि यस्य सः (आत्मा) (चशा. ५.१५)
संवृतासंवृत–वि., अग्रे संवृतं मूलेऽसंवृतम् (सिरादि) (चवि. ५.९; असंशा. ६.५०)
संवृत्ति–स्त्री., निष्पत्तिः (चइ. १२.५६)
संवेजन–न., उद्वेजनम् भयहेत्वादिना त्रासनम् (चचि. ९.२९)
कम्पनम् (सुचि. ३६.२६)
संवेशक–वि., शयने सहायकः, निद्रापकः (परिचारकः) (चसू. १५.७)
संवेशन–न., विस्रवणम् (ड. सुसू. १९.११)
(परिव०) एकत्र संस्थितिः (सुउ. ६०.६१)
(परिव०) शयनम् (सुचि. २९.११)
संव्यूढ–वि., बन्धान्मुक्तम् (असंउ. ३२)
–पिटिका–स्त्री., गुह्यरोग० संमूढपिटिका (असंउ. ३८)
संव्यूहन–न., यन्त्रकर्म० एकत्रीकरणम् (अहसू. २५.४१½)
संव्यूहिम–वि., संहतत्वेन पक्वतीक्ष्णः (क्षारः) (सुसू. ११.१२)
संशमन–वि., व्याधिनिग्रहहेतुष्वेकः, दोषशमनम् (सुसू. १.२७) शमनकरं स्नेहादि (चसू. १३.६१)

यद्द्रव्यं न वामयति, न विरेचयति, व्याधिना सहैकीभूय तत्स्थमेव व्याधिमुपशमयति तत् (सुसू. ३६.६) सम्यक् शमयतीति संशमनम्, सम्यक्त्वं नाम दुष्टदोषस्यानिर्हरणपूर्वकं शमनम-दुष्टस्यानुदीरणं च (सुसू. ३९.७; असंसू. २३.६) (परिव०) न., मन्दीकरणम् (ड. सुउ. ४०.६)

संशमनीय–वि., संशमयितुं योग्यम् संशमनार्हम् (सुशा. १०.६७)

संशय–पु., तन्त्रयुक्ति० विशेषाकाङ्क्षानिर्धारितोभय-विषयज्ञानम् (चसि. १२.४३) उभयहेतुदर्शनम् (सुउ. ६५.३२)

–**प्राप्त**–वि., मरणं भवति न वाऽनेनारिष्टेनेति संशयो यस्मिंस्तत् मरणरूपसंकटग्रस्तम् (चइ. ९.१५)

–**सम**–वि., अहेतुभेदः, यः संशयहेतुः स एव संशय-च्छेदहेतुः। यथा–अयमायुर्वेदैकदेशमाह किं त्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्–यस्मा-दयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति (चवि. ८.५७)

संशुद्ध–वि., शुद्धः, सुविरिक्तः (अहसू. १९.४)

संशुद्धि–स्त्री., संशोधनम् (अहसू. २.९)

–**विशेषणीय**–वि., अध्याय० (काखिल. ७)

संशुष्करुधिर–वि., संशुष्कं नाम क्षीणं रुधिरं यस्य सः (चसू. १३.४७)

संशुष्करेतस्–वि., संशुष्कं नाम क्षीणं रेतो यस्य सः (चसू. १३.४७)

संशोधन–न., उपक्रम० व्याधिनिग्रहहेतुष्वेकः, दोष-शोधनम् (चसू. १३.७; सुसू. १.२७) वमनविरेचनबस्त्यादिपंचप्रकारकम् (सुसू. १५.१२) द्र० 'शोधन'

–**काल**–पु., वमनविरेचनादिप्रदानसमयः (चवि. ७.४)

–**घृत**–न., सिद्धस्नेह० अर्कोत्तमस्नुही जातिमूल-हरिद्राद्वयकासीसादिभिः साधितं घृतम्, व्रणस्य पूयादिदोषनिर्हरणार्थमुपयुज्यमानमेतत् (सु. सू. १७.१८)

–**वर्ति**–स्त्री., कल्प० अजगन्धाऽजशृङ्गीगवाक्षी-लाङ्गल्यादिभिर्निर्मिता व्रणसंशोधनी भैषज्यवर्तिः (सुसू. ३७. १३-१४)

–**शील**–वि., नित्यं संशोधनाभ्यासी (सुनि. ३.४)

–**संशमनीय**–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुसू. ३९.१)

संशोधनार्ह–वि., संशोधनयोग्यः (अहसू. १४.१२)

संशोध्य–वि., शोधनार्हः, कर्तव्यशोधनः (अहसू. १६.५)

संशोष–पु., शुष्कत्वम् (अहसू. ११.२३)

संशोषण–न., शुष्कीकरणम्, रूक्षणम् (सुउ. ४१.४)

संश्लिष्ट–वि., घट्टितम्, समासक्तम् (सुनि. १५.१३) वि., दृढयोजितम् (बन्धनम्) (र. १०.५)

संश्लेष–पु., अपृथक्त्वमेकत्वम् (सुसू. २४.११)

संसर्ग–पु., संयोगः–दोषाणां रसानां वा (चवि. १.८) विषयसेवनम् (चशा. ३.३) उपक्रम० अन्नसंसर्गः पेयादिः, तर्पणादिकम् (सुउ. ४९.१७) पेयादिक्रमः (सुउ. ३९.१०२) द्वयोर्दोषयोर्युगपत् प्रकोपः (चसू. १७.४२; सुचि. ३५.६) द्वयोः प्रमाणाधिकयोः क्षीणयोर्वा दोषयोः संयोगो नामैकस्मिन्नधिष्ठाने मेलनम् (सुचि. ५.११; अहसू. १.१२) दोषाणां षोढा संसर्गः (असंसू. १.३०)

(संसर्गी)–स्त्री., उपक्रम० पेयादिक्रमः (असंचि.२.३४)

–**ज**–वि., द्वन्द्वजः (ज्वरादिव्याधिः) (सुउ. ३९.६१) देवादिद्रोहजनसंपर्काजायमानः (रोगः) (सुसू. २४.७)

–**पाचन**–न., पेयादिक्रमपाचनम् (सुउ. ४२.१२६)

–**बलयोजन**–न., संसर्गे दोषबलमवेक्ष्य भेषजद्रव्य-प्रयोगः यथा वातकफज्वरे वातस्य बलवत्त्वे गुरूष्ण-स्निग्धादिद्रव्यस्य, कफस्य बलवत्त्वे च लघूष्णरूक्षादि-द्रव्याणां योजनम् (चचि. ३.२७१)

–**भक्तक्रम**–पु., पेयादिक्रमः (ड. सुउ. ५६.२३)

संसर्जन–न., पेयादिक्रमः (चसू. १६.२६) संमिश्रणम् (चसू. १८.६)

संसर्पण–(परिव०) न., बालस्य भूमौ परिसर्पणम् (का. संबाल.)

संसार–पु., वनस्पति० खदिरभेदः, विट्खदिरः (रा. ८.३८; पृ.१२) द्र० 'खदिर'

संसृज्यमान–वि., संयुज्यमानः (सुशा. ३.४)

संसृष्ट–वि., एकीकृतः (सुउ. ३९.२०१) कृतसंसर्जनक्रमः, कृततर्पणादिक्रमः (सुउ. ४७.६८)

–**भक्त**–वि., आदौ कृतसंसर्जनः पश्चाच्च कृतभोजनः (चसि. १.२०)

–**भोजन**–न., कदशनभोजनम् (ड. सुनि. ९.१५)

संसृष्टाहार–पु., तर्पणादिक्रमः (सुउ. ४७.६८)

संस्कार–पु., गुणान्तराधानम् (चवि. १.२२(२) दोषाप-नयनम् (चक. १२.४८-४९) संस्कारेण द्रव्याणां

गुरुलघ्वादिगुणविपर्यासो भवति, यथा गुरूणां व्रीहीणां संस्काराल्लाजानां लघुत्वं तथा लघूनां सक्तूनां संस्कारात् सिद्धपिण्डिकानां गुरुत्वम् (चसू. २७.३३९)

द्रव्यान्तरसंयोगजनितं गुणान्तरम् (चसू. १३.१३; हे. अहसू. ५.५६)

कारणम् (चक्र. चसू.११.३५)

रससंस्कारः, स च स्वेदनमर्दनमूर्च्छनोत्थापनादि-भेदादष्टादशविधः (र. ११.११)

–वाह–वि., क्लीब० बस्तिवाजीकरणादिना यस्य शुक्रमदुष्टद्वारं सत् प्रवर्तते सः, अस्मिन्नासेक्यसौगन्धिक-कुम्भीकादयः क्लीबा अन्तर्भूताः (चक्र. चशा. २.१९)

–वाह्य–वि., क्लीब० संस्कारवाहः (असंशा. २.४०)

–विरुद्ध–वि., संस्कारतो विरुद्धं यद्भोज्यादि तद्विषवत् यथा–एरण्डसीसकासक्तं शिखिमांसम् (चसू. २६.९२-९३)

संस्कृत–वि., संस्कारयुक्तः संस्कारितः (सुसू. ४६.३६१)

संस्कृति–स्त्री., संस्कारः (र. १.७०)

संस्तम्भन–न., उपक्रम० संग्रहणम् (ड.) विबद्धत्वापादनम् (दोषाणाम्) (सुउ. ४०.६८)

संस्तर–पु., दर्भाणां स्थण्डिलम् पिण्डस्थापनार्थं दर्भैः कृतो रचनाविशेषः (सुउ. ६०.१२)

–स्वेद–पु., उपक्रम० स्वेदभेदः अष्टविधोष्मस्वेदेष्वेकः यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायां कुम्भ्यां सम्यगुपस्वेद्य निवातशरणशयनकिलिञ्जे प्रस्तार्याविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे कुथकाविकाजिनप्रावारादिष्ववच्छन्नं स्वेदयेदिति (असंसू. २६.९) द्र० 'स्वेद'

संस्तृत–वि., संव्याप्तम्, आच्छादितम् (असंसू. ६.२१)

संस्त्यान–वि., घनीभूतम् (चचि. २६.१०५)

संस्थान–न., आकृतिराकारो वा (चक्र. चसू. १८.४२; सुसू. १२.१२; अहसू. २५.१४)

लक्षणम् (चवि. ४.६; अहसू. १२.६९; असंसू. २२.९)

रूपम् (चनि. १.९; असंनि. १.११)

स्थानम् (चचि. २६.१२२)

संस्थित–वि., सुस्थितम् (सुचि. ३०.१५)

आकृतिमान् (सुचि. ३०.१५)

(संस्थिता)–स्त्री., आकृतिः (सुचि.३०.१५)

संस्थिति–स्त्री., निर्गमरोधः (ड. सुचि. ३७.१२५)

एकस्मिन्नेव स्थाने आसनं स्थितिर्वा (अहसू.१६.२७)

संस्पर्श–पु., स्पर्शसंबन्धः (चशा. ६.१८)

संस्पर्शन–वि., संस्पृश्यते इति संस्पर्शनं यथा मुक्तादि (चनि. २.११)

संस्पर्शनेन्द्रिय–न., वि., संस्पर्शनयुक्तं शरीरम् (चक्र. चशा. १.७९)

संस्वेद–पु., लक्षण० स्वेदाधिक्यम् (चसू. ३.२९; र. १२.१०१-१०३)

–ज–पु., प्राणि० भुवः शरीरस्य च संस्वेदाज्जातः (सुसू. १.२२)

संस्वेदन–न., पारदसंस्कार० स्वेदनम् मलशैथिल्यकारकम् (र. २. ६७)

संस्वेदिन्–वि., स्विन्नः प्रस्वेदयुक्तः (ड. सुउ. ६०.९)

संहत–वि., घनम् (सुसू. ३५.१६)

पु., रोग० शोथः (असंनि. १३.२४)

संहताङ्ग–वि., गूढाङ्गः, सच दीर्घायुः (सुसू. ३५.५)

संहनन–वि., संधानकरो भग्नविश्लिष्टादीनाम् (सुसू. ४६.३५९-३६१)

न., संघातो दृढता (चवि. ८.सं.११६;सुनि.११.६)

संयोजनम्, मेलकः (चसू. २१.१८)

संहर्ष–पु., स्पर्धा (चवि. ८.१५१)

रोमोद्गमः (सुसू. २६.१०)

मनसः प्रसन्नत्वम् (सुनि. १०.२०-२१)

(संहर्षा)–स्त्री., मधुरस्कन्धोक्तवनस्पति० वन्दाकः (चक्र) वत्सादनी (चवि.८.१३९)

वनस्पति० जन्तुकारी (ध. ४.८८; पृ. १५१)

संहर्षित–वि., स्पर्धावान् (ड. सुउ. ६२.११)

संहित–वि., साधितम्, कृतसम्यक्संधानम् (सुचि. ३.७०)

–पुष्पिका–स्त्री., वनस्पति० मिश्रेया (रा. ४.६; पृ.६९)

संहिताकल्प–पु., अध्यायसंज्ञा० (काकसंहिताक.)

संहिताविधि–पु., संहितास्वरूपम् (का.संहिता क.)

संहृष्टरोमन्–वि., लक्षण० उद्धर्षितरोमा, पुलकितः (ड. सुउ. ५९.६)

स–अव्य., ईषत् (हे. अहसू. १.११)

सकण्डूक–पु., रोग० कर्णपालीरोगः, कफवातजोऽयम्, तल्लक्षणम्–कर्णपाल्यां कण्डूर्भवति (सुचि. २५.८; सुसू. १६.२६ (७-८)

सकल–न., वनस्पति० पद्मकन्दः (ध. ४.१६३; पृ. १६७)

कत्तृणम्, रोहिषतृणम् (ध. १.८०; पृ. २१. र. ३०.४५)

सकुरुण्ड–पु., वनस्पति० साकुरुण्डः (रापरि. ६.१६; पृ. ३४६)

सकृत्–अव्य. किञ्चित् (ड. सुनि. १६.८)
एकवारम् (ड. सुचि. ३७.६४)
–**फला**–स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.१०६; पृ. १४८)

(सकृद्)–वीर–पु., वनस्पति० एकवीरः (रापरि. ८.८; पृ. ३५७)

सक्त–वि., बद्धम् (चवि. ८.९८)
लग्नम् (सुनि. १६.५८)
–**गति**–वि., अविसारी अप्रसरणशीलम् (चसू. १८.१३)
–**मूत्र**–वि., लक्षण० विबद्धमूत्रः (ड. सुउ. ४०.९)
–**विष्**–वि., लक्षण० विबद्धपुरीषः (सुउ. ४०.१३०)

सक्ति–स्त्री., अप्रवर्तनम् (सुउ. ५५.२९)

सक्तु–पु., वनस्पति० यवः (चसू. २३.२४; रा. १६.१२४; पृ. २२३)
आहारद्रव्य० यवतण्डुललाजादिचूर्णम् (चसू. २७.२६३)
भृष्टानां निस्तुषयवानां चूर्णं सक्तवः, तद्गुणाः–वातलो रूक्षो बहुवर्चोऽनुलोमी सद्यस्तर्पणः सद्योबलकरश्च (चसू. २७.२६३; असंसू. ७.२२०)
लघुः कण्ठनेत्रामयक्षुत्तृट्श्रमच्छर्दिव्रणापहः (असंसू. ७.६०)
सतक्रघृतोऽयं पानेन विषनाशनः (असंउ. ४७)
–**पिण्डि**–स्त्री., स्वेदादिसमये चक्षुषोराच्छादनोपयोगिनी (असंसू. २६.२१)
–**पिण्डिका**–स्त्री., सक्तुभिः कृता पिण्डिका व्रणशोफपाकार्थमुपयुक्ता (चचि. २५.५०)
–**मन्थकल्प**–पु., योग० क्षुण्णान्यवान्निस्तुषान् रात्रौ गोमूत्रपर्युषितानह्नि किलिञ्जे शोषयेदेवं सप्ताहं भावयेच्छोषयेच्च । ततस्तान्सक्तून्कृत्वा भल्लातकादिचूर्णे चतुर्भागयुक्तानसनादिकषायेण अयं पीतश्वेतकुष्ठहरः (असंचि. २१)

सक्तुक–न., कन्दविष० साक्तुकम् (र. १०.८५)

सक्थि–न., शारीर० कटिसंधिमारभ्य पादाङ्गुलिं यावत् (ड. सुसू. ३५.१२) गुल्फादिविटपान्तम् (सुनि. १.७४) वङ्क्षणाद्यङ्गुष्ठान्तम् (हे. अहसू. १२.१) जङ्घा (ड. सुचि. १५.९) वातस्थानमिदम् (चसू. २०.८; अहसू. १२.१) सङ्ख्यातः द्वे (चशा. ७.५)
–**शोष**–पु., ऊरुशुष्कत्वम् (सुशा. ६.२४)
–**सदन**–न., ऊरुग्लानिः (सुशा. ३.१३)

सख्य–न., मैत्री (सुसू. २९.६८-७१)

सगर–पु., नृप० (का. फक्कचि.)
बिलेशय० दिव्यः सर्पः (असंउ. ४१)
न., खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४७; पृ. २१५)

सगोत्रा–वि., समानं गोत्रं यस्याः सा, इयं व्यवाये प्रतिषिद्धा (सुचि. २४.११६)

संकर–पु., तृणादिचयः (चक्र. चचि. ९.२०) अवकरः (सुनि. ७.१७)
सर्ववर्णानां मिश्रीभावः (सुसू. ३४.९)
संमिश्रणम् (असंशा. ८.१८)
एकत्रावस्थानम् (हे. अहसू. १.३२)
–**कूट**–पु., अवकरनिकरः (इन्दु. असंउ. ६)
–**स्वेद**–पु., स्वेद० त्रयोदशस्वेदेष्वेकः (चसू. १४.३९) अष्टविधोष्मस्वेदेष्वेकः पिण्डस्वेदः (असंसू. २६.७) वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा यथोक्तैः पिण्डैरुपस्वेदनम् (चसू. १४.४१) तद्विधिः–कपालपाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् संदंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत् । तैरार्द्रविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत् । पांशुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकपललैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादिशकृताऽऽर्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरापायसपिण्डैर्वा स्वेदः । अयं वातरोगेषु शस्यते (असंसू. २६.८)

संकल्प–पु., प्रतिपन्नानां भावानामुपकारकं ममेदमपकारकं ममेदमिति गुणतो दोषतो वा कल्पनम् (चक्र. चसू. ८.५)
कामः (चचि. १५.३४; असंसू. ९.६९) अयं वृष्याणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)
–**प्रवण**–वि., कामप्रवणः, विषयचिन्तनपरः (चचि. ३०.१५५-१५६)

संकल्प्य–वि., मनोविषयाणामेकः गुणवत्तया दोषवत्तया वाऽवधारणविषयभूतम् (चशा. १.२०)

संकीर्ण–वि., विरुद्धवीर्यम् (चसू. १३.६०)
संकुचितम् (अहसू. ७.६९)
संमिश्रितम् (सुसू. ४६.४४६)
–**भोजन**–न., घृणास्पदमलादिमिश्रितव्यञ्जनादिभोजनम् (चक्र. चवि. ७.१२)

विरुद्धाहारः (चक. चसू. १७.२७)
-रोमन्-वि., घनरोमा (ड. सुनि. १२.७)
संकीर्णाशन-न., संमिश्रभोजनम् (असंनि. १.१९)
संकील-पु., मूढगर्भ० कीलः (मानि. मूढगर्भ.)
संकुचित-वि., संकुचितगात्रः (चसि. १.३२)
संकुल-वि., मिश्रीभूतम् (सुउ. ७.१४)
संकोच-पु., आकुञ्चनम् (चसू. २८.२१) अप्रसार्यत्वम् (हे. अहसू. १२.५०)
लक्षण० अवयवाकुञ्चनम् (चसू. १४.२४; चचि. २८.२०)
गोलकः पिण्डः (र. २०.११-१३)
न., भैषज्य० कुङ्कुमम् (चचि. २.(३).२८; ध. ३.१२; पृ. ९५)
संकोचन-न., संकोचः (सुचि. ५.६)
(संकोचनी)-स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१५९;पृ. १५५)
संकोथ-पु., पूतिभावः (चसू. १७.१११; असंशा. ११.१९)
संक्रामकरोग-पु., संक्रमको व्याधिः संसर्गसंभवो व्याधिः, कुष्ठज्वरशोषनेत्राभिष्यन्दास्तथा औपसर्गिकाः शीतलिकामसूर्योदयश्च रोगाः (सुनि. ५.३४)
संक्लिन्न-वि., सम्यगार्द्रीभावमापन्नम् (सुसू. ४६.४९६-४९७)
संक्लिष्ट-वि., दुष्टम् (सुचि. १.३१-३२)
-कर्मन्-वि., पतितः, निन्द्यकर्मकृत् (चशा. १.१०६)
संक्षय-पु., नाशः (चसि. ९.३४)
संक्षिप्त-वि., सूक्ष्मम् (क्षतम्) (ड. सुक. ४.१६)
अल्पम् (सुसू. ३२.३)
पु., रोग० शुष्कशष्कुलिरुत्सन्नपालिरितरात्पपालिः (सुसू. १६.१०)
बन्ध० पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः (सुसू. १६.१०)
संक्षेप-पु., सम्यक्प्रेरणम् (सुचि. ३.१८)
आकुञ्चनम् (सुचि. ३.१८)
संक्षोभ-पु., संचलनम् (सुनि. १५.१५) अत्यर्थचलनम् (सुउ. ४८.४)
संक्षोभण-न., चलनम् (सुचि. २३.४)
संक्षोभियानयान-न., विक्षोभकयानेन वाहनेन मार्गाक्रमणम् (असंशा. २.६०)
संख्या-स्त्री., गणितम् यथा एकद्वित्र्यादि (चसू. २६.२९)
संप्राप्तिभेदः, यथा-अष्टौ ज्वराः पञ्च गुल्माः इत्यादि (चनि. १.१२(१); असंनि. १.१४)
क्रमः (सुउ. ६१.१६)
ज्ञानम् (चक्र. (चशा. ६.१०)
-सामर्थ्यकर-वि., अभ्यासेन, बहुवारं सेवनेन कार्यकरः संख्या ज्ञानं गणना वा, तत्र सामर्थ्यं करोतीति संख्यासामर्थ्यकरः (चक्र. चशा. ६.१०)
संख्याप्रसंभव-वि., संख्यापरिमाणसंभवम् (चवि.७.८)
संख्यातधर्म-वि., सम्यग्ज्ञातो मोक्षरूपो धर्मो येन, स (तत्त्वज्ञः) (चशा. १.१५१)
संख्यातसंख्येय-वि., संख्यातं ज्ञातं ज्ञेयं येन सः (सांख्यः) (चसू. १३.३)
संख्यान-न., परिगणनम् संख्यायते येन शरीरं तत् संख्या (चशा. ५.५)
संख्यानप्रमाण-न., संख्यानस्येयत्ता, यथा-षट् त्वचः (चशा. ७.३)
संख्या च परिमाणं च (चशा. ७.३)
संख्येय-वि., गणनीयम् (सुशा. ५.५)
संग-पु., सक्तिः, प्रसज्जनम् (चसू. २०.१२; सुउ. ५८.८) अप्रवृत्तिः (चसू. २८.२२) अवरोधः (चसि. ६.५९; सुउ. ४२.९) बहिरनिःसरणम् (अहसू. ११.२५)
विस्तृतानामेकत्रानयनम् (असंसू. २०.२०)
अपवर्गेतरफलदमनोवाक्कायकर्म (चशा. ५.१०)
(संगा)-स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५; पृ. ११६)
संगिनी-स्त्री., वनस्पति० वटभेदः, वटी (रा. ११.११६; पृ. १८४) द्र० 'वट'
संग्रह-पु., बह्वर्थैकवाक्यानामेकत्र संकलनम् (चवि. ८.३) " विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः । निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः " (न्या. को.)
ग्रन्थ० अष्टाङ्गसंग्रहाख्यः संहिताग्रन्थः (चचि. २५.२६)
रोग० ग्रहणी (र. १६.६१)
-ग्रहणी-स्त्री., रोग० आमवातजेयम् । तल्लक्षणानि-अन्त्रकूजनमालस्यं शीतो घनः स्निग्ध आमयुक्तो बहुलः पिच्छिलो द्रवरूपश्च मलः सशब्दो मन्दवेदनो भवति । तथा दौर्बल्यं सदनं च भवति । पक्षान्मासाद्दशाहाच्चित्यं वाऽप्येवं मलं मुञ्चति रुग्णः । किन्तु रात्रौ स एव शान्तिं गच्छति । दुर्वि-

ज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी
(मा. ग्रहणी; र. २७.११०-११२) द्र० 'ग्रहणी'

संग्रहण–वि., संगृह्यते वर्चोऽनेनेति संग्रहणम् नाम स्तम्भनम् स्तम्भनकृत् (चचि. १९.२५)
न., विबद्धत्वम् (सुउ. ४०.२९-३०)

संग्राहिन्–वि., स्तम्भनकृत् (अहसू. ५.३६)
पु., वनस्पति० कुटजः (रा. ९.१९; पृ. ७१)

संघट्टन–न., संघर्षणम् (चशा. ८.४२) परस्पराभिघातः (इन्दुः, असंउ. १,)

संघपुष्पा–स्त्री., वनस्पति० धातकी
(रा. ६.१५९; पृ. ११४)

संघर्ष–पु., लक्षण० करकरिमा (ड. सुउ. ६.६)

(संघर्षा)–स्त्री., वनस्पति० अलक्तकः
(रापरि. ६.१२; पृ. ३४६)

संघाटी–स्त्री., जीर्णवस्त्रम् भिक्षुप्रभृतेः (सुउ. ३३.६)
वस्त्रमिदं ग्रहचिकित्सायां धूपनोपयोगि (का. बालग्रहचि).

संघात–पु., संहननम्, निबिडसंधानम्
(चक्र. चवि. ८.११६)
समुदायः (सुसू. ४६.१०५)
उच्छ्रायः (सुसू. १७.३)
काठिन्यम् (सुसू. ४१.४ (१); हे. अहसू. १०.१२)
कलहः, घातनम् (असंसू. ८.६४)
रोग० तालुगतोऽयम्, मांससंघातः
(सुचि. २२.५७; सुनि. १६.४०)
अस्थिसंधि० दृढसंयोगः, संख्यया ते चतुर्दश; गुल्फजानुवङ्क्षणेषु त्रयश्चैकस्मिन् सक्थ्नि, एवं शाखासु मिलित्वा द्वादश, त्रिके एकः शिरसि चैकः (सुशा. ५.१६) परमते ते चाष्टादश, श्रोणिकाण्डमुपर्येकः, वक्षउपर्येकः, उदरोरःसंधाने चैकः, अंसकूटमुपर्येकश्च पूर्वोक्ताश्चतुर्दश च
(ड. सुशा. ५.१७)

–चारिन्–वि., मिलित्वा संचरणशीलो हंसादिः, तत्र सङ्घातचारिणः प्लववर्गोक्ता हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुररकादम्बकारण्डवजीवञ्जीवकबकबलाकाश्वेतवारलप्रभृतयः (सुसू. ४६.१०५)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा
(रा. ४.२; पृ. ६९)

–बलप्रवृत्त–वि., प्रहारशक्तिजात आधिभौतिको रोगः शस्त्रकृतव्यालकृतभेदेन स द्विविधः (सुसू. २४.६)

–विधमन–वि., यः शोणितसंघातं विधमति विनाशयति सः (चसू. २६.४३(३))

–शूलवत्–वि., लक्षण० अष्ठीलावत्संहतवस्तुशूलयुक्तः, महाशूलयुक्तः (सुसू. ३३.१६)

(सच्)–छाक–न., वनस्पति० आर्द्रकम्
(ध. २.८५; पृ. ८७)

सच्छिद्र–वि., छिद्रयुक्तम्, सान्तरम् (चशा. ६.२८)

सजीवबन्ध–पु., पारदबन्ध०आदौ ताम्बूलीदलरसमर्दितः पश्चाद्बन्ध्याकर्कोटकीकन्दमध्ये प्रक्षिप्य संपुटितो बहिर्मृद्वस्त्राभ्यां संपुटितो भूमौ गजपुटेन पुटितोऽयं भस्मीभवति (र. ११.७६)

सजीवभस्मन्–न., पारदस्य जारणासंस्कारं विना विना केवलं मर्दनादिसंस्कारैः शुद्धमात्रस्य च्छिन्नपक्षस्याग्निसहस्य यद्भस्म क्रियते तत् । किञ्चिद्व्याधिनाशनमेतन्न तु रसायनयोग्यम् (र. ११.११४)

सज्जोपस्करभेषज–वि., सज्जानि प्रगुणान्युपस्कराणि यन्त्रशस्त्रादीनि भेषजानि च यस्य सः (वैद्यः)
(सुसू. ३४.१९)

संचय–पु.,स्वस्थानवृद्धिः चयः (सुसू. ६.११)

संचरण–न., संचारः, शरीरे वातादीनामितस्ततो गमनम्
(सुसू. २१.२७)

संचारिन्–वि., औपसर्गिकः, सांसर्गिकः, संसर्गजः
(असंनि. १४.४४)
नेत्रत्वग्विकारादिः स्पर्शैकाहारादिनिमित्तः
(असंनि. १४.४४)
अनियतस्थानः (इन्दु. असंउ. २५)

(संचारिणी)–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी
(रा. ५.१६७; पृ. १५६)

–फलद–पु., वनस्पति० बिल्वः
(रा. ११.१३५; पृ. २७)

संचितदोष–पु., अतिशयेन स्वस्थाने वृद्धिं गतो वातपित्तादिः (अरु.) वैषम्यं प्राप्तो वातादिः
(अहसू. ४.२५)

संचूषण–न., रोगलक्षण० आकृष्यते इव वेदना
(ड. सुउ. ४७.६७)

संजयन्ती–स्त्री., नगर० अस्याः पूर्वतः क्षितिप्रदेशे वल्मीकमूर्धसु श्वेतकापोती नाम वनस्पतिर्लभ्यते
(सुचि. ३०.३४-३५)

संजात–वि., समुत्पन्नम् (असंसू. ७.२०९)

–रस–वि., संपक्वमाम्रादि (असंसू. ७.२०९)

-रुधिर-वि., समुत्पन्नरक्तो व्रणादिः (अहसू. २९.५६)

-वेग-वि., समुद्भूता मलमूत्रादिवेगा यस्य सः (अहसू. १९.४७)

-सार-वि., संजातबलः (चशा. ८.२६)

-सारत्व-न., समुत्पन्नस्थिरांशत्वम् (असंशा. ४.७)

संजीवन-पु., योग० लाक्षाहरेणुनलदप्रियङ्गुशिग्रुद्वय-यष्टिकपृथ्विकादिभिः साधितोऽयं योगोऽञ्जननस्य-पानैः सर्वविषहरः (सुक. ५.७३-७५)

योग० स्वयम्भूविहितोऽयम्, चन्दनकुङ्कुमकुष्टकाङ्क्षी-लाक्षाप्रियङ्गुमुस्तस्थौणेयशैलेयरोचनामदनप्लव-श्रीवेष्टकविडङ्गैलादिभिः साधितोऽयमगदः पाननस्या-ञ्जनधूमालेपनधारणैर्विषसुप्तानां जीवनः कृत्याकार्मण-कष्टादिग्रहपीडाहरो यशःप्रदो राजद्वारे जयावहः सर्वविषहरश्च (असंउ. ४०)

योग० पलमात्रं पारदं वरनागेन युक्तं त्रिंशद्वारं पातनायन्त्रे पातयेत्। पारदं मृतं दृष्ट्वा समभागेन राजावर्तभस्मना अष्टमांशेन त्रपुभस्मना च सह त्रिंशद्वारं निम्बदलरसेन मर्दयेत्। संशोष्य च वरकरण्डके स्थापयेत्। अयं सर्वमेहनाशनः क्षुद्बोधकरश्च (र. १७.७८-८२)

(संजीवनी)-स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रा. ५.१५; पृ. ३४१)

संज्ञा-स्त्री., शुद्धिः, भ्रान्तिराहित्यम्, संज्ञां नामग्रहणेन परीक्षेत (चवि. ४.८)

स्मृतिः (चसू. १३.७४)

संवेदना, सुखदुःखादिज्ञानम् (चनि. ८.८(३); सुउ. ६१.८)

जागृतिः, मूर्च्छापगमनम् (चनि. ८.८(२)

अभिधानम् (चनि. २.३)

-द्वर्ग-वि., द्रव्यगण० संज्ञास्थापनो गणः, स च कैडर्यहिङ्गुचोरकादिः (असंसू. १५.४७)

-नाश-पु., लक्षण० संज्ञा षष्ठश्चेतनाधातुः, चैतन्य-नाशः (सुशा. ६.२०)

-प्रकृत-वि., संज्ञाभिः कृतः, संज्ञितः, अभिहितः (चवि. ६.११)

-वहस्रोतस्-न., स्रोतो० संज्ञाहेतुमनोवहस्रोतः (चसू. २४.२५) मनोवहा धमनी (सुशा. ४.३३) ते स्रोतसी द्वे "द्वाभ्यां प्रबुध्यते" (सुउ. ६१.८)

-वहानाडी-स्त्री., मनोवहा धमनी, सा च इन्द्रिय-गृहीतां संज्ञां जानाति (सुउ. ४६.६)

-स्थापन-वि., संज्ञां ज्ञानं स्थापयति तत् (चसू. ४.८) हिङ्गुकैटर्यारिमेदावचाचोरकवयस्था-गोलोमीजटिलापलंकषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि द्रव्याणि (चसू. ४.१८(४८)

सटिका-स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.८९; पृ. १९)

सटी-स्त्री., वनस्पति० सठी (ध. १.६१; पृ. १८)

सट्टक-न., दधि० लवङ्गव्योषखण्डैर्निर्मथ्य गालितं दधि, दाडिमजीरकादियुक्तं सस्नेहं दधि, तद्गुणाः-रोचनं दीपनं स्वर्यं वातपित्तघ्नं गुरु मृष्टतरं प्राण-वर्धनं च (सुसू. ४६.३९६-३९७; असंउ. ४९)

सठी-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः-तिक्ताऽम्लोष्णा तीक्ष्णा लघुर्वक्त्रशोधनी कफहृत् सन्निपातज्वरव्रणकासघ्नी च (ध. १.६१; पृ. १८)

हिं.—कचूर.

म.—कचोरा.

गु.—कचूरा.

बं.—कर्चूर.

ता.—कचूर.

फा.—जरंवाद.

सढी-स्त्री., वनस्पति० कर्चूरम् (ध. ३.९४; पृ. ११४)

सण्डि-स्त्री., शूकधान्य० तद्गुणाः-कफपित्तहरा रूक्षा कषायमधुरा हिमा, वातला बद्धविण्मूत्रा लघु-लेखनात्मिका च (असंसू. ७.१५)

सत्-वि., अस्तीति लब्धात्मकम्, सत्ताविशिष्टम् (चशा. १.५९)

न., सत्तायुक्तं द्रव्यं गुणः कर्म वा (चवि. ८.५६)

-कार-पु., पूजा (ड. सुउ. ६०.५)

-तम-वि., अत्युत्तमः (सुचि. २९.२९)

सतत-अ., निरन्तरम्

-ज्वर-पु., रोग० विषमज्वरभेदः (चचि. ३.३४) तल्लक्षणम्- रक्तधात्वाश्रयो दोषः सप्रत्यनीको-ऽहोरात्रे द्वौ कालौ व्याधितं ज्वरयति। कालवृद्धि-क्षयाभ्यामसौ अहोरात्रे द्विकालमनुवर्तते (चचि. ३.३४; सुउ. ३९.५२) आमाशयोऽस्य स्थानम् (का. खिल. १.३२)

सततकज्वर-पु., रोग० ज्वरभेदः सततज्वरः (चचि. ३.६१-६२; का. खिल. १.३२)

सतिनामन्-पु., वनस्पति० गोधूमः (ध. ६.९७; पृ. ९९७)

सतीन–पु., शिम्बीधान्य० वर्तुलकलायः (चसि. ३.८; सुसू. ४६.३३; रा. १६.१६४; पृ. २२६) सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्योऽयम् (सुसू. २०.५) मूर्च्छायां च हितः (सुउ. ४६.१६)

(सतीना)–स्त्री., वनस्पति० मसूरिका (ध. ६.९५; पृ. १५७)
विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५; पृ. १५७)

–**ज**–न., शाक० वर्तुलकलायपत्रशाकम्, तद्गुणाः–ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं कटु नात्युष्णशीतं लघु, ग्राहि, कुष्ठघ्नं च (अहसू. ६.७२; सुसू. ४६.२६६)

–**यूष**–पु., मण्ड० वर्तुलकलाययूषः, अयं कफानुगे रक्तपित्ते भोजनार्थं हितः (सुउ. ४५.१६)

सतीनक–पु., वनस्पति० कलायः (ध. ६.१०३; पृ. २२८)

सतुष–वि., तुषसहितम् (असंसू. ६.१४०)

सत्तानिवृत्ति–स्त्री., आस्थानिवृत्तिः (चशा. ७.१८)

सत्य–वि., यथार्थः (चवि. ८.३८)
रागद्वेषशून्यः (चशा. ६.२८)
पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९; पृ. १८५)
न., मिथ्याभाषणनिवृत्तिः (सुसू. ३४.१९-२०)

–**कर्मन्**–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०७; पृ. २७)

–**नाम्नी**–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (रा. ४.१४५; पृ. १५३)

–**पर**–वि., सत्यभाषणपरः (सुसू. ३४.१९-२०) अवितथवाक् (असंसू. ५.४६)

सत्याभिसन्ध–वि., सत्यप्रियः (चशा. ४.३७ (१))

सत्र–न., यज्ञः (सुचि. २४.९८; अहसू. २.४३)

सत्त्व–न., मनः (चसू. ८.४; अहसू. १२.६७) आत्मसंयोगाच्छरीरस्य प्रेरकं धारकं च, बलभेदेनैतत्प्रवरमध्यावरं चेति त्रिविधम् । ततः प्रवरमध्यावरसत्त्वाः पुरुषा भवन्ति । तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसाराः, मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्ति हीनसत्त्वास्तु सत्त्वबलं प्रति नोपस्तम्भयितुं शक्यन्ते (चवि. ८.११९)
प्रकृतेस्त्रिगुणेष्वेकः सत्त्वगुणः । अयं प्रीत्यात्मकः प्रकाशको लघुश्च (चसू. ८.५; सुशा. १.३)
अयं निद्राप्रबोधनः (सुशा. ४.३५)
मनोभेदविशेषः शुद्धराजसतामसभेदात्सत्त्वं त्रिविधम् (चचि. २४.६८; चशा. ४.३६)
प्राणेष्वेकः " अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः " (सुशा. ४.३)
मानसं बलम् (हे. अहसू. २९.१०) तच्चाविकारेण परीक्षेत (चवि. ४.८)
गवादिः पशुः प्राणी वा (सुउ. ५०.१९)
सारः, क्षाराम्लद्रावकैः सहितं कोष्ठीमध्ये ध्मातस्य द्रव्यस्य बहिरागतः सारभागः सत्त्वम् (र. ८.३४)
कल्प० गुडूच्यादिसत्त्वम्, तद्विधिः–गुडूच्यास्त्वचं निर्हृत्य लघूनि शकलानि कृत्वा दृषदि पेषयेज्जले च मज्जयेत् । ततश्च तानि मन्थदण्डेन संमथ्य वस्त्रेणावगालयेत् । तत उपरितनं जलं त्यक्त्वा ऽऽतपे शोषयेत् । शुष्के सति पुनर्जलप्रक्षेप आविलजलत्यागः शोषणं च कार्यम् । एवं चतुःपञ्चवारं कृते सति श्वेतं सत्त्वं निर्याति । एवमन्यत्रापि सत्त्वस्य निर्हरणम् आचर्यम् (र. १८.१८६)

–**करण**–वि., सत्त्वं नाम मनःकरणं यस्य सः, (जीवः) (चशा. ४.८)

–**ज**–वि., मानसः (भावादिः) ते च मानसा भावाः शौचास्तिक्यवेदाभ्यासगुरुपूजनप्रियातिथित्वादयः (सुशा. ३.३३)

–**परिप्लव**–पु., सत्त्वस्य चञ्चलत्वम्, मनोविभ्रमः (चचि. ९.६)

–**पातनकोष्ठी**–स्त्री., रसादिखनिजानां सारनिष्कासनार्थं निर्मिता (र. ७.६)

–**भेद**–पु., मनोभेदः (चशा. ४.३६)

–**वत्**–वि., उत्तममनोबलः (पुरुषः) सत्त्वसारः, तल्लक्षणम्–असौ बुध्या मनोदृढीकृत्य पीडादिकं सहते (सुसू. ३५.३८) व्यसनेऽप्यनाकुलः क्लेशसहिष्णुश्च भवति
(सुसू. ३४.२१; असंशा. ८.३२; अहसू. १.२९)

–**वर्जित**–वि., सत्त्वगुणरहितः (सुशा. ४.९७)

–**विज्ञान**–न., मनोविज्ञानम् (कासू. २८)

–**विशेषकर**–वि., सत्त्ववर्धनम् (असंशा. १.६६)

–**संज्ञ**–वि., मनः (चसू. १.५५)

–**संज्ञक**–वि., प्राणिसंज्ञकः (समुदयः) (चशा. १.४७)

–**संपद्**–स्त्री., बलवृद्धिकरभावेष्वेकः, उत्कृष्टसत्त्वम् (चशा. ६.१३)

–**संप्रयोग**–पु., मनोगमनम्, मनःप्रचारः (चशा. ३.३)

–**सार**–वि., सत्त्वमेव सारो बलं स्थिरांशो वा यस्य स पुरुषः, प्रवरमध्यहीनभेदात्त्रिविधाः सत्त्वसाराः, तत्र सत्त्वसारः प्रवरसत्त्वः, तल्लक्षणम्– स्मृतिमान्भक्तिमान्कृतज्ञः प्राज्ञः शुचिर्महोत्साहो दक्षो

धीरः समरविक्रान्तयोधी त्यक्तविषादः सुव्यवस्थितगतिर्गम्भीरबुद्धिचेष्टः कल्याणाभिनिवेशी च (चवि. ८.११०: सुसू. ३५.१६) स्वल्पशरीरोऽप्यसौ निजागन्तु-निमित्तासु महतीषु पीडास्वपि निर्व्यथो दृश्यते। मध्यसत्त्वलक्षणम्-अपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयत्यात्मनाऽऽत्मानं परैश्चापि संस्तभ्यते। हीनसत्त्वलक्षणम्-असौ नात्मना, नापि परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरोऽप्ययं स्वल्पानामपि वेदनानामसहो दृश्यते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमानो रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नोति मरणमिति (चवि. ८.११९)

सत्त्वावजय-पु., अहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः (चसू. ११.५४; असंसू. १२.५)

सत्त्वोत्पत्ति-स्त्री., सत्त्वं कृम्यादिः प्राणी, तस्य जन्म (सुनि. ५.१८)

सत्त्वोपादान-वि., मनःकरणः पुरुषः आत्मा जीवात्मा (चशा. ४.८)

सदन-न., लक्षण० सादः, अङ्गसादः (चनि. १.३३; सुनि. १.३५) अङ्गानामनुत्साहः (ड. सुउ. ६२.१०; अहसू. १२.५२)

सदा-अव्य., नित्यम्, सततम् (असंचि. २.३)

-गति-पु., दोष० वातः, वायुः (सुउ. ५०.३०; असंचि. २.३)

-पुष्प-पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२५; पृ. १३७) कुन्दः (ध. ५.१५०; पृ. २०१)

(-पुष्पा)-स्त्री., वनस्पति० अर्कः (चसू. ४.१३)

(-पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० अर्कपुष्पिका (चक्र. चक. १.१४; सुसू. ४३.३; असंसू. १४.३) राजार्कः (ध. ४.१६; पृ. १३७)

-प्रसून-पु., वनस्पति० रोहितकः (रा. ८.२१७; पृ. १९६)

-फल-पृ., वनस्पति० उदुम्बरः (ध. ५.८६; पृ. १८६ अहसू. १५.४१;) बिल्वः (रा. ११.१३५; पृ. २७)

-(फला)-स्त्री., वनस्पति० त्रिसंधिः (रापरि. १०.३७; पृ. ३२१)

-भद्रा-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ड. सुउ.२४.३२)

-मांसी-स्त्री., वनस्पति० मांसरोहिणीभेदः (रा. १२.१३९; पृ. १५३) द्र० 'मांसरोहिणी'

सदातुर-वि., नित्यव्याधितः (चसू. ७.४०) कालभोजनं न समाचरन्ते, अकालनिर्हारविहारांश्च सेवन्ते ते सदातुराः। यथा वेदाध्ययनव्रताह्निकपरो द्विजः, नृपाद्युपसेवी परिचारकः, नृचित्तपरिवर्तिनी पणाङ्गना सदासक्तपरा अनुबन्धविक्रयादिलोभिनो वणिजः इत्यादयः (चसि. ११.२८-३०)

सदृशकर्मत्व-न., तुल्यक्रियात्वम्, यथा सह गायतां गायनानां भिन्नगीतक्रियाणामप्यभिन्नगीतक्रियात्वप्रतीतिः (ड. सुशा. ९.३)

सदृशांशक-वि., तुल्यभागिकम् (अहसू. १४.२६)

सदृशागमत्व-न., आप्तानां वचनमागमस्तस्य सदृशत्वम्, समानतन्त्रत्वम् यथा "आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः॥" इत्याप्तोपदिष्टेन सिरादिसादृश्येन न निर्धार्यं ज्ञायते सिरादिषु कस्येदं तोयादिवहनं कर्म (ड. सुशा. ९.३)

सद्मन्-न., गृहम् (सुचि. २५.२९)

सद्यस्-अव्य., तत्कालम् झटिति (असंशा. ११.३७)

(सद्यः)-क्षतप्ररोह-वि., तत्कालमेव क्षतस्य प्ररोहणं यत्र (कासू. २८)

-क्षतव्रण-वि., लक्षण० तत्कालं क्षतयुक्तो व्रणो यस्य (सुचि. २.८१)

-क्षीण-वि., तत्कालं शीघ्रं वा बलादिविहीनः (असंसू. २४.५७)

-प्रसूता-वि., प्रजातमात्रा स्त्री. (का भोजनकल्प)

-प्राणहर-वि., आशु मृत्युकारकम् (चवि. ८.९४)

-प्राणहरमर्मन्-न., तत्क्षणप्राणहरं मर्म, सद्यःशब्दः सप्तरात्राभ्यन्तरवाची (ड. सुशा. ६.२३) तानि संख्ययैकोनविंशतिः-चत्वारि शृङ्गाटकानि, एकोऽधिपतिः, द्वौ शङ्खौ, अष्टौ मातृकाः, गुदं हृदयं बस्तिर्नाभिश्चेति (सुशा. ६.९; असंशा. ७.३०(१)

-शुद्धि-स्त्री., तदहःकृतवमनविरेचनादिः (असंसू. ६.४५; हे. अहसू. ५.१७)

-स्नेह-वि., तदहरेव स्निग्धत्वापादकः, यथा प्राज्यमांसरसाः, स्नेहभर्जितपेयाः, सस्नेहफाणितस्तिलचूर्णः, कृशरा, घृताढ्योष्णा क्षीरपेया, सगुडो दध्नः सरः, लवणोल्बणाः स्नेहाश्च (अहसू. १६.४०-४३) बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुष्वेते युक्ताः (असंसू. २५.६८)

-स्नेहन-वि., झटिति स्नेहनकरं द्रव्यम्, यवकोलकुल-

त्थकाथः पिप्पलीयुक्तः, पयो दधि सुरा घृतं चेति (सुचि., ३१.४३) पिप्पल्यो लवणं घृततैलवसामज्जानो दधिमस्तुकादयश्च राजभ्यो राजसमेभ्यश्राढ्येभ्य एते प्रयुक्ताः (सुचि. ३१.३८-४४; असंसू. २५.७५)

(सद्यो)गृहीतगर्भा–स्त्री., सद्योलब्धगर्भा, तल्लक्षणानि–श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धो योनिस्फुरणं च (सुशा. ३.१३) तथा प्रहर्षे हृल्लासस्तन्द्रा प्रसेको हृदयव्यथा गरिमा तृसिश्च (असंशा. २)

–बलकर–वि., झटिति बलप्रदम् (सुसू. ४६.४११)

–भुक्त–वि., अप्राप्तविदाहावस्थः (उद्गारादिः) (अहसू. ८.२५)

–मण्डलपत्रक–पु., पुनर्नवाभेदः रक्तपुनर्नवा (ध. १.२७६) द्र० ' पुनर्नवा '

–मरणीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चइ. १०.१)

–व्रण–पु., आगन्तुव्रणः (सुचि. २.१) प्रहर्तृयन्त्रायुधाघातगात्रेर्जायमानो व्रणः (असंउ. ३१; अहसू. २९.४९)

–व्रणचिकित्सित–न., अध्यायसंज्ञा० (सुचि. २.१)

–व्रणविनिश्चय–पु., सद्योव्रणानां निदानम् (सुचि. २.९५)

सद्यस्क–वि., आशुसमुद्भूतम् (चसि. ६.८२)

सद्योऽनुगत–वि., सद्योगृहीतम् (गर्भादि) (चशा. २.२२)

(सद्)–रत्न–न., खनिज० हीरकम् (ध. ६.५५; पृ. २१६)

–वचन–न., सतां वचनम्, आगमवचनं वा, इदमनुष्ठेयानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)

–वृत्त–न., शान्तिशौचाचारादियुक्ताः सन्तः, तेषां वर्तनम् (चसू. ७.५३) सतां देहकाङ्क्षानःप्रवृत्तिरूपमनुष्ठानम् (चसू. ८.१७; अहसू. ४.३२) आत्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्, तद्यथा देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, औषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः, सुमनाः सुगन्धिः स्यात्, साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः, मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री, दण्डी, मौली, सोपानत्को, युगमात्रदृग्विचरेत्, मङ्गलाचारशीलः, कुचैलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक् श्रमाद्व्यायामवर्जी स्यात्, सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसंधः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च, नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं वा, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं, न पापेऽपि पापी स्यात्, नान्यदोषान्ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत्, न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहतमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत, न कूलच्छायामुपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्, नानावृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्, न नासिकां कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृणं, न लोष्टं मृद्नीयात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यनिष्टमेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत, न हुंकुर्याच्छवं, न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनान्यासेवेत, नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत्, नोत्तमैर्विरुध्येत, नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः, पुरोवातातपावश्यायातिप्रवाताञ्जह्यात्, कलिं नारभेत, नासुनिर्भृतोऽग्निमुपासीत नोच्छिष्टः, नाधः कृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न

नग्न उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गं, न केशाग्राण्यभिहन्यात्, नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम्, नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो, नानिरूप्य पितृभ्यो, नादत्त्वा गुरुभ्यो, नातिथिभ्यो, नोपाश्रितेभ्यो; नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः, नाशेषभुक् स्यादन्यत्राद्दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः, न नक्तं दधिभुञ्जीत, न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून्न द्विर्नोदकान्तरितात्, न छित्त्वा द्विर्जैर्भक्षयेत्, नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत, न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्, न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविका (वात) वर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेन्न जनवति नान्नकाले, न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्, न स्त्रियमवजानीत, नातिविश्रम्भयेत्, न गुह्यमनुश्रावयेत्, नाधिकुर्यात्। न रजस्वलां नातुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षां नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यस्त्रियं नान्ययोनिं नायोनौ न चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरालयेषु न संध्ययोर्नातिथिषु नाशुचिर्नाजघ्रभेषजो नाप्रणीतसंकल्पो नानुपस्थितहर्षो नाभुक्तवान्नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रमव्यायामोपवासक्रमाभिहतो नारहसि व्यवायं गच्छेत्, न सतो न गुरून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचारकर्मचैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत्, न विद्युत्स्वनार्तवीषु, नाभ्युदितासु दिक्षु, नाग्निसंप्लवे, न भूमिकम्पे, न महोत्सवे, नोल्कापाते, न महाग्रहोपगमने, न नष्टचन्द्रायां तिथौ, न संध्ययोर्नामुखाद्रुरोर्नावपतितं नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यस्येत्, नातिसमयं जह्यात्, न नियमं भिन्द्यात्, न नक्तं नादेशे चरेत्, न संध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्, न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्, न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात्, न गुह्यं विवृणुयात्, न कञ्चिदवजानीयात्, नाहंमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः, न ब्राह्मणान् परिवदेत्, न गवां दण्डमुद्यच्छेत्, न वृद्धान्न गुरून्न गणान्न नृपान् वाऽधिक्षिपेत्, न चातिब्रूयात्, न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान् बहिष्कुर्यात्, नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्, नाभृतभृत्यः, नाविश्रब्धस्वजनः, नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारः, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी, न कार्यकालमतिपातयेत्, नापरीक्षितमभिनिविशेत्, नेन्द्रियवशगः स्यात्, न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्, न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्, न चातिदीर्घसूत्री स्यात्, न क्रोधहर्षावनुविदध्यात्, न शोकमनुवसेत्, न सिद्धावुत्सेकं यच्छेन्नासिद्धौ दैन्यं, प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्, हेतुप्रभावनिश्चितः स्याद्धेत्वारम्भनित्यश्च, न कृतमित्याश्वसेत्, न वीर्यं जह्यात्, नापवादमनुस्मरेत्, नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयादात्मानमाशीर्भिराशासानः, अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद्वायुर्मे प्राणानादधातु, विष्णुर्मे बलमादधातु, इन्द्रो मे वीर्यं, शिवा मां प्रविशन्त्वाप आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेत्; द्विः परिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च, ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति (चसू. ८.१७-२९)

–व्रत–न., सतां व्रतम्, अवश्यकर्तव्योऽर्थः, त्यागः, आर्द्रसन्तानता, कायवाक्चेतसां दमः, परार्थेषु स्वार्थबुद्धिरित्यादीनि सद्व्रतानि (अहसू. २.४६)

–वैद्यद्वेष–पु., सद्वैद्यविषयेऽप्रीतिः (असंसू. १३.३)

सनालक–पु., वनस्पति० जीवन्तः (रापरि. ७.८९; पृ. ३५५)

सनिग्रह–वि., सवारङ्गं संदंशयन्त्रादि (सुसू. ७.११)

संतत–वि., निरन्तरम् (चचि. ३.५३)

–ज्वर–पु., रोग० ज्वरभेदः, संततज्वरः रसवाहिभिः स्रोतोभिर्विसृताः सर्वदेहानुगा वातादयो गुरवः दोषाविच्छिन्नं ज्वरं कुर्वन्ति। संततत्वा सप्ताहादीन् व्याप्याऽविसर्गी अतः संतत इत्युक्तः। वातिकः संततः सप्तरात्रेण, पैत्तिको दशरात्रेण, श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकं प्रगच्छति। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्, प्रशमं याति हन्ति वा। कालदूष्य-

प्रकृतिभिस्तुल्यो दोषो निष्प्रत्यनीकः सन् संततज्वरं कुरुते। अतः स दुस्सहः। संततो द्वादशाश्रयी उक्तः, वातादित्रिदोषाः रसादिसप्तधातवो मूत्रं पुरीषं चेति संततस्य द्वादश आश्रयाः। यदा सर्वे रसादिका आश्रया विशुद्धा भवन्ति, तदा संततः ज्वरः प्रशाम्यति। यदा वा एते रसादयः सर्वे सर्वथा वा अविशुद्धा भवन्ति, तदा स मानवं हन्ति। यदा तु संततस्य एते आश्रयाः नातिशुद्ध्यन्ति सर्वशो वा न शुध्यन्ति, तदा द्वादशेऽहन्यव्यक्तलक्षणं विसर्गं कृत्वा दीर्घमपि कालमनुवर्तते। अस्योपशमोऽपि तदा दुर्लभो भवति (चचि. ३.५३-५९)

संतति–स्त्री., सातत्यम् (चशा. २.४२) नैरन्तर्यम् (ड. सुउ. ३९.६९)

संतमक–पु., तमकश्वासभेदः, तल्लक्षणम्–उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधसमुद्भवोऽयम्, अन्धकारेण तमोगुणेन वाऽस्य वृद्धिः शीतैश्चास्य शान्तिः, तमसि मज्जन्तमिव स्वात्मानं मन्यते (चचि. १७.६३-६४; मा. श्वासनि.) द्र० 'श्वास'

संतर्जक–वि. भयदर्शकः (चचि. ९.२०)

संतर्पण–वि., तृप्तिकरम्, प्रीणनम् (सुसू. ४६.३४)

न., उपक्रम० बृंहणम् (चसू. २३.३०; सुचि. २४.२६; अहसू. १४.१)

पेय० द्राक्षादाडिमखर्जूरलाजाचूर्णादिसाधितं समधुघृतं पानकम्, तद्गुणाः–शीतं बल्यं रसायनं हृद्यं वीर्यवृद्धिकरं नेत्ररोगघ्नं च (ध. ७.४९; पृ. ३०५)

-निमित्त–वि., बृंहणहेतुकः (स्थौल्यादिव्याधिः) (असंसू. ११.४७)

संतर्पणीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (चसू. २३,१)

संतान–पु., तन्तुः (हे.) संततिः, सूत्ररूपता (अरु. अहसू. २९.५८)

-दोष–पु., मृतवत्सत्वादिविकारः (चसू. २६.१०३)

संतानिका–स्त्री., क्षीरोपरिस्थः स्त्यानो भागः (चक. १.१७) क्षीरजालिका (सुशा. ४.४) क्षीरसरः (सुसू. ४५.९४) द्र० 'दुग्धसंतानिका' घृतोपरितनः स्त्यानो भागः (सुउ. ४५.१८) व्रणबन्धनद्रव्येष्वेकम्, कुशलसंतानिका कोकिलवृत्तिर्द्वित्रितन्तुरचिता, मर्कटीवाससमिति केचित् (ड. सुसू. १८.१६)

लूता० इयं वायवी, तद्दंशलक्षणानि–दंशे शूलः, अश्रुभिर्नेत्रपर्याकुलत्वम्, प्रदर आक्षेपको वातजा विकाराश्च (असंउ. ४५)

संतानी–स्त्री., लूता० संतानिका (असंउ. ४४)

संताप–पु., लक्षण० तापः दैहिकमानसभेदात् द्विविधः शरीरस्यौष्ण्याधिक्यम् मनसो वैचित्त्यादिरूपा पीडा च (चचि. ३.३१; सुनि. १.३२)

अग्न्यादिभिर्दाहः यत्र पयोमांसरसो वा अनुपानत्वेन उपयोज्यः (सुसू. ४६.४२६)

तैजसभावः, औष्ण्यम् (सुशा. १.१९)

-लक्षण–वि., संतापो लक्षणं यस्य सः (ज्वरः) (चनि. १.३२)

संतेजन–न., उत्तेजनम् संदीपनम् (सुचि. ३४.१०)

संत्रस्तगोचर–वि., संत्रस्तविषयप्रचारम् (सार्पसत्वम्) (चक्र. चशा. ४.३८)(४)

संदंश–पु., यन्त्र० सनिग्रहानिग्रहभेदात् स द्विविधः सनिग्रहः सवारङ्गो नापितस्येव लोहकारसंदंश इव कीलबद्धः, अनिग्रहस्तु सुवर्णकारस्येव, उभावपि षोडशाङ्गुलौ, त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपयुज्येते (सुसू. ७.११; असंसू. ३४.६; अहसू. २५.७)

अपरः संदंशः षडङ्गुलोऽर्धाङ्गुलविस्तृतो वक्रद्विबाहुरङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रान्तसमागमाकृतिः सूक्ष्मशल्याक्षिपक्ष्म, व्रणाधिमांसाहरणार्थमुपयुक्तः (सुचि. १.१०४) असंसू. ३४.६; अहसू. २५.८)

(संदंशी)–स्त्री., रेवतीग्रह० इयमसाध्या जातहारिणी (का. रेवतीक.)

संदानिका–स्त्री., वनस्पति० खदिरभेद० अरिः (रा. ८.४०; पृ. १२) द्र० 'खदिर'

संदिग्धनौ–स्त्री., शङ्क्यमानमज्जाना संशयिता नाम संकटस्पृष्टा नौका (हे. अहसू. २.३५)

संदिग्धवाच्–वि., अव्यक्ता वाग् यस्य सः (पुत्रः) (अरु. अहसू. १३.७)

संदेहलक्षण–वि., संदेहोत्पादकः संदेहात्मकः (चवि. ८.४३)

संधर्षा–स्त्री., वनस्पति० अलक्तकः (रापरि. ६.१२; पृ. ३४६)

संधातृ–वि., सम्–एकत्र धारयतीति संधातृ (चसू. २७.२४५)

संधान–वि., संघट्टकम् (चसू. १.१०८) भग्नसन्धानकरम् (सुसू. ४६.५१७; सुसू. १४.३९)

न., व्रणस्य षष्ठ्युपक्रमेष्वेकः, व्रणौष्ठादिसंयोजनम् (ड. सुचि. १.८) रक्तस्तम्भनोपायेष्वेकः (सुसू. १४.३९)

मद्यादेः उत्पादनम् (हे. अहसू. २.४०)
संधिस्थानम् (सुशा. ६.२७)
आसुत० मद्य (रा. १४.३०२ पृ. २५४)
कालिकम् (र. ४.६४-६५)
पु., सन्धानीयो गणः, मधुमधुकपृश्निपर्णीकट्फल-लोध्रप्रियङ्गुधातक्यः । अंबष्टकीसमङ्गा मोचरसश्चेति संधानः (असंसू. १५.१०)

-कर–वि., सन्धानं कुर्वाणः (कषायरसः) (चसू. २६.४३(६))

-कारिन्–वि., भग्नानां साधनः नाम सन्धायकः (अहसू. ६.१६)

-कृत्–वि., सन्धानं कुर्वाणम् (चसू. २७.२१)
श्लेषकरम् (अहसू. १०.८)

-विधि–पु., कर्णरोगे उपक्रम० आतुरे ग्रथितकेशान्ते बन्धनमुपधारितवति सति छेद्यभेद्यलेख्यैरुपपन्नैरुपाद्य कर्णं, शोणितं दुष्टमदुष्टं वेति अवेक्षेत । ततो वातदुष्टे धान्याम्लोष्णोदकाभ्यां, श्लेष्मदुष्टे वारुणीसलिलाभ्यां प्रक्षाल्य पुनश्चावलिख्यानुन्नत-महीनविषमं सन्धिं निवेश्य ततो मधुघृताभ्या-मभ्यज्य पिचुस्रोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य सूत्रेण नातिगाढमशिथिलं च बध्वा सिराव्यधोक्तेन कपा-लस्य वा चूर्णेनावकीर्याचारिकमुपदिशेत्, संधिम-श्छिद्यमानं क्षौमसूत्रेण सीव्येत् । अतिक्षीणपालिकं वा शोणितार्क्तेन पिचुना वेष्टयेत्, । व्रणवच्चैन-मुपाचरेत्, । त्र्यहाच्चतुरहाद्वा सलिलेन परिषिच्य पिचुं सूत्रं चापनयेत्, न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा कर्णं संदध्यात्, तस्य हि स्वयमपि संधिर्विश्छिद्यते, आध्मायते, श्यावतामुपैति, पच्यते, शुष्यति चिराद्रोहति रूढोप्याभरणं न क्षमते । किंच स सशोफकण्डूसन्तापो ग्रन्थिमांश्च भवति । तत्र च यथास्वं प्रतिकुर्वीत । दुष्टरक्ते च रक्त-मवसेचयेत् । क्षीणरक्तं स्नेहपाननस्यमांसरसा-शनाभ्यां बृंहयेत् । शोफरागादियुक्ते कर्णे सन्धानं नाचरेत् । तथाऽकृतवमनादिकस्य घस्मरस्य च सन्धानं नाचरेत् । अत्युष्णे देशे काले च सन्धानं नाचरेत् (असंउ. २२)

संधानीय–वि., संधानार्थं हितः, षड्के महाकषाय–वर्गे एको गणः (चसू. ४.८) तद्द्रव्याणि–मधुकमधु-पर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकीसमङ्गामोचरसधातकीलोध्रप्रि-यङ्गुकट्फलानीति दश । द्रव्याणीमानि भग्नसन्धान-कारकाणि (चसू. ४.९; असंसू. १५.१०)

संधायसंभाषा–स्त्री., तद्विद्यसंभाषाभेदः तद्विधिः–ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसंपन्नेन अकोपनेना-नुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह संधायसंभाषा विधीयते । तथाविधेन सह कथयन्विस्रब्धः कथयेत् पृच्छेदपि च विस्रब्धः पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत निगृह्य, चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत, न च मोहा-देकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत्, सम्यक्चानुनयेनानुनयेत् तत्रचावहितः स्यात् । इत्यनुलोमसंभाषाविधिः (चवि. ८.१७)

संधारण–न.; शक्रदादिवेगानां निरोधः (चनि. ६.३)

संधाव–पु., उपक्रम० अञ्जनवदेवास्य क्रिया । स च संधावो नाम लोहपात्रे गोमूत्रघृष्टं घृतधूपितं ताम्रम् संधावाञ्जितं चक्षुर्दोषरहितं भवति (असंउ. २०)

संधि–पु., ऋतुसंधिः (अहसू. १३.३५)
शारीर० अस्थिसंयोगस्थानम् (चशा. ७.१४)
मज्जावहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८)
द्विविधाः संधयः–चेष्टावन्तः स्थिराश्च, शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तः, शेषाः संधयः स्थिराः, द्विविधा अपि कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनी-वायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्तभेदादष्टविधाः, तेषा-मङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः, कक्षा-वङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटी-कपालेषु तुन्नसेवन्यः, हन्वोरुभयतो वायसतुण्डाः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताश्च (चशा. ५.२७) संधिसंख्या–द्वे संधिशते (चसशा. ७.१४) काश्यपसंहिताया मेकाशीत्यधिकत्रिशतसंधयः उक्ताः (का. शा.) सुश्रुते दशोत्तरे द्वे संधिशते (सुशा. ५.२६; अहशा. ३.१६) तद्विभागः–शाखास्वष्टषष्टिः, कोष्ठे एकोनषष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं च त्र्यशीतिः, एवं मिलित्वा दशोत्तरद्विशतम् । तत्रैकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, जानुगुल्फ-वङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं प्रतिशाखं सप्तदश, मिलित्वा शाखास्वष्टषष्टिः सन्धयः, त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, चतुर्विंशतिः पार्श्वयोः, उरसि चाष्टौ मिलित्वा कोष्ठे एकोनषष्टिः, अष्टौ ग्रीवायाम्, त्रयः कण्ठे, हृदयक्लोमनिबद्धासु नाडीष्वष्टादश, दन्तमूलेषु द्वात्रिंशत्, एकः काकलके, एको

नासायाम्, द्वौ वर्त्ममण्डलयोर्नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेषु षट्, द्वौ हनुसंधी, द्वौ भ्रुवोरुपरिष्टात्, द्वौ शङ्खयोरुपरिष्टात्, पञ्च शिरःकपालेषु, एकश्च मूर्ध्नि, एवं मिलित्वा ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः (सुशा. ५.२४-२७)

-च्युति-स्त्री., वातरोग० संधीनां च्युतिर्विश्लेषः (चचि. २८.७२)

-जा-स्त्री., वनस्पति० त्रिसंधिः (रापरि. १०.३७; पृ. ३७१)

-दग्ध-न., उपक्रम० अग्निकर्म, संधेर्दाहः । तल्लक्षणम्-रूक्षारुणता, कर्कशस्थिरत्वणता च (सुसू. १२.८)

-नाल-पु., भैषज्य० नखम् (रा.१२.१०८. पृ. १०७)

-पीडा-स्त्री., संधेः संधौ वा पीडा (अहसू. १७.१६)

-बन्ध-पु., सुश्लिष्टसंधित्वम् (हे. अहसू. ११.३)

-भग्न-न., अत्र भग्नपदं 'नपुंसके भावे क्तः' इतिसूत्रेण भावार्थकं ज्ञेयम् । भग्नप्रकारः, संधिभङ्गः, उत्पिष्टविश्लिष्टावक्षिप्तातिक्षिप्ततिर्यक्क्षिप्तविवर्तितभेदात् षड्विधं तत् (असंउ. ३२)

-मर्मन्-न., मर्म० संधिबाहुल्यात्संधिमर्म, संधिमर्माणि विंशतिसंख्याकानि । द्वे जानुनी, द्वौ कूर्परौ, पञ्च सीमन्ताः, एकोऽधिपतिः, द्वौ गुल्फौ, द्वौ मणिबन्धौ, द्वौ कुकुन्दरौ, द्वावावर्तौ, द्वे कृकाटिके च (सुशा. ६.७; असंशा. ७.२९; अहशा. ४.४४-४५)

-महारुज्-वि., लक्षण० संधिषु महती पीडा यस्य सः प्रभूतसन्धिरेकः (चसू. १३.४८)

-मुक्त-न., रोग० संधिभङ्गः- (इंदु.) द्वयोरस्थ्नोः संधानस्य विश्लेषः (सुनि. १५.४)

-मोक्ष-पु., संधेश्चलनप्रसारणादिक्रिया (काखिल. १०.१६४)

-रुज्-स्त्री., रोगलक्षण० संधीनां वेदना (सुउ. ३९.३६)

-लेपन-न., सूषातदाच्छादनयोर्लेपनेन बन्धः (र.९.८)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० त्रिसंधिः (रापरि. १०.३७; पृ. ३७१)

-विक्रिया-स्त्री., लक्षण० संध्यस्थ्नोर्मध्यनिम्नत्वम् (सुनि. १५.७)

संधिस्थाने विषमाङ्गता (इन्दु.)

-विद्ध-वि., संधौ विद्ध आतुरः, तल्लक्षणानि-शोफातिवृद्धिः, तुमुला रुजो बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ संधिकर्मोपरतिश्च (सुसू. २५.३८)

-विमोक्ष-पु., लक्षण० संधिभग्नम्, संधिमुक्तम् (सुचि. ३.५०)

-विश्लेष-पु., संधिविस्रंसनम् (सुनि. १५.७)

-विश्लेषण-न., लक्षण० संधिच्युतिः (चचि. २१.३०)

-वेदना-स्त्री., संधीनां संधिषु वा व्यथा (अहसू. ११. १८)

-शब्दगामिन्-वि., संधिस्फुटनशब्दवान् (पुरुषः) (चवि. ८.९८)

-शूल-पु., रोग० संधिषु शूलवद्वेदना (चचि. २८.३३) मध्यममार्गजोऽयम् (धसू. ११.४९)

-संश्लेष-पु., संधीनां बन्धः (अहसू. १२.१८)

-संश्लेषण-न., संधिबन्धनम् (सुसू. १५.४)

-स्थैर्य-न., संधीनां स्थिरता (सुचि. ३.९)

-स्फुटन-न., संधिगतः स्फुटनात्मकः शब्दः (चवि. ४.७)

संधिक-पु., रोग० संनिपातज्वरः तल्लक्षणानि- शूलं शोषो वातवेदना श्लेष्महानिर्बलहानिर्जागरणं च। अस्य मर्यादा सप्तवासराः, साध्योऽयम् (माज्वर. ९) द्र० 'ज्वर'

संधीयमान-वि., एकीक्रियमाणम् (चवि. ६.३)

संधुक्षण-न., दीपनम् (अहसू. ८.२०)

संधुक्ष्यमाण-वि., उद्दीप्यमानः प्रज्वाल्यमानः (अहसू. १८.३०)

संध्यन्त पु., संधिसमीपगः प्रदेशः (सुचि. ३.५३)

संध्यस्थिशूल-न., लक्षण० संध्यस्थिषु शूलवत्पीडा (चचि. ३.३९-४०)

संध्यापुष्पा-स्त्री., वनस्पति० जाती (रा. १०.२३१; पृ. २९८)

संध्याभ्र-न., खनिज० सुवर्णगैरिकम् (रा. १३.२३३; पृ. १२९)

संध्याराग-न., खनिज० सिन्दूरम् (रा. ११.१६१; पृ. ११६)

सन्न-वि., अभिघातादिभिरन्तःप्रविष्टम् (सुचि. ३.४३) अधःस्रुतम्, अधःप्रविष्टम् (सुचि. ३.३६)

-कटि-वि., लक्षण० शिथिलकटिः कटिस्रंसवान् (सुउ. ४०.९)

संनिकर्ष–पु., सान्निध्यम्, नैकट्यम् (सुशा. ९.३)
–जा–वि., आत्ममनइन्द्रियार्थेतिचतुष्टयसंबन्धेन सञ्जाता (बुद्धिः) (चसू. ८.१२)

संनिकृष्टवृत्ति–वि., समीपवर्तिविषयग्रहणशीलम्, घ्राणं रसनं त्वगिति च संनिकृष्टवृत्तीनि (का. शा.)

संनिधान–न., निकटत्वम् (अरु. अहसू. ७.५१)

संनिपतित–वि., एकत्र संगतम् संनिपातं प्राप्तम् (चचि. ३.२८५-२८६)

संनिपात–पु., त्रयाणां कुपितानां वातादिदोषाणामेकस्मिन्नधिष्ठाने मेलनम् (चवि. ६.११) त्रिदोषाणां युगपत् प्रकोपः (चसू.१७.४१) प्रकृतिसमसमवेतज्वराद्यारम्भकदोषत्रयप्रकोपः (ङ सुचि. ३५.६) दशधाऽसौ (असंसू. १.३०) संनिपातो दुश्चिकित्स्यानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) त्रयाणां वृद्धानां क्षीणानां वा दोषाणां संयोगः (अहसू. २१.१) संयोगः (सुशा. १.१६) अत्यन्तमिश्रीभावः परस्परमिश्रणम् (सुशा. ६.१५; असंसू. १.३०)
–कुठार–पु., पारदयोग० नागं वङ्गं पारदं जेपालं गन्धकं ताम्रं वत्सनाभं चेति समभागमेकत्रार्द्रकनिर्गुण्डीचाङ्गेरीरसैः क्रमेण मर्दयित्वा साधितोऽयं रसः, रसोऽयं संनिपातनाशनः (र.१२.१४०-१४१)
–कुष्ठघ्न–पु., पारदयोग० तीक्ष्णलोहाभ्रकयोर्गोलकं गन्धके परिपाच्य तेन सार्कं हरितालमाक्षिकविशालाचित्रकबोलपाठाजटामांसीवत्सनाभशृङ्गीटङ्कणमधुयष्टीसिन्दुराणां चूर्णं मिश्रयित्वाऽऽर्द्रकरसेन च संमर्द्य बदरप्रमाणा गुटिकाः कुर्यात्। रसोऽसौ संनिपातकुष्ठनाशनः (र. २०.१६-१८)
–गजाङ्कुश–पु., पारदादियोग०पारदगन्धकताम्राभ्रकभस्मानि तथा लाङ्गलीचित्रकहिङ्गुवन्ध्याकर्कोटीपटोलनिर्गुण्डीसुगन्धारास्ना निम्बपल्लवाः, पाठा, क्षारत्रयं, क्ष्वेडं, बोलो, धत्तूरस्तण्डुलीयकं शृङ्गी मधूकसारं चेति जम्बीराम्लेन मर्दयित्वा सिद्धो रसः। अयं संस्वेददाहाभिन्यासघ्नः (र. १२.१०१-१०३)
–ज–वि., त्रिदोषकोपजन्यः (ज्वरादिव्याधिः) (चचि. ३.८९९०)
–ज्वराकृति–स्त्री., लक्षण०संनिपातज्वरलक्षणम् (चचि., ३.१०३-१०९)
–विसर्प–पु., रोग० त्रिदोषजविसर्पः तल्लक्षणम्–सर्वायतनसमुत्थः सर्वलिङ्गव्यापी सर्वधात्वनुसार्याशुकारी महात्ययिकश्चाचिकित्स्योऽयम् (चचि. २१.४२)
–हन्–पु., वनस्पति० किराततिक्तः नेपालनिम्बः, निद्वारिः (रा. ९.५२) गुणाः–तिक्तः, शीतोष्णः, लघुः, योगवाही, अतिकफपित्तास्रशोथतृष्णाज्वरापहः (रा. ९. ५३)
वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३५; पृ. १४)

संनिपाताञ्जनरस–पु., पारदयोग० निस्त्वग्जेपालजं बीजं दशनिष्कं मरिचं पिप्पलीसूतश्चैते प्रत्येकं निष्कं सर्वमेकत्र जम्बीररसेन सप्ताहपर्यन्तं मर्दनेन सिध्यत्ययम्। रसोऽयमञ्जनेन संनिपातज्वरहरः (र. १२.११७-११८)

संनियोग–पु., तन्त्रयुक्ति० सं-नियोगो नामावश्यानुष्ठेयतया विधानम्। यथा–'न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या' इत्यादि आज्ञापनं रोगिणे (चसि. ९२.४४)

संनिरुद्ध–वि., प्रतिरुद्धम्, अवरुद्धम् (सुनि. १३.५६)
–गुद–पु., क्षुद्ररोग० तत्संप्राप्तिलक्षणे–वेगसंधारणाद्विहतो वायुर्गुदमाश्रितः सन् निरुणद्धि, ततो महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति, तस्य (नरस्य) मार्गस्य सौक्ष्म्यात्कृच्छ्रेण पुरीषोत्सर्गो भवति। कालभेदात्सहजजातोत्तरेति द्विविधः, स्थानभेदाच्च गुदविवरे गुदमार्गचर्मसंकोचाद्गुदद्वारे चर्मसंकोचाच्च भवति द्विविधः (सुनि. १३.५५.५६)
–गुदजठर–न., उदररोग० बद्धगुदोदरम् (सुसू. २३.८) द्र० 'उदररोग'
–गुदयन्त्र–न., यन्त्र० संनिरुद्धगुदाख्यव्याधिहरं नाडीयन्त्रम् (सुसू. ७.१३)

संनिरोध -पु., सम्यगवरोधः (सुक. २.३९)

संनिवार्य–वि., निवारणीयम्, चिकित्स्यम् (सुउ. ४८.१७)

संनिवेश–पु., तत्तत्स्थाने यथावदवस्थितिः (सुशा. २.५६) संस्थानम् (सुसू. २२.४) संस्थापनम् (सुचि. ७.३०)

संनिहित–वि., सम्यगवस्थितः (सुउ. ४७.८)

संन्यस्त–वि., संन्यासरोगातुरः (सुउ. ४६.२०-२१)
–संज्ञ–वि., रोग० संन्यासः (सुउ. ४६.२०-२१)

संन्यास–पु., रोग० तत्संप्राप्तिः–मलिनाहारस्य रजोमोहावृतस्य नरस्य कुपिता अतिबला मलाः प्राणायतनसंश्रिताः सन्तो रक्तरस–संज्ञावहानि स्रोतांसि प्रतिहत्य वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्य दुर्बलं जन्तुं संन्यस्यन्ति (चसू.२४.२५-२७,४२;असंनि.६.१५) तल्लक्षणम्–तमसोऽतिरेकात्प्रभूतदोषाच्च संमूर्च्छितः

संन्यासातुरो नैव संज्ञां लभते (सुउ. ४६.२०) तदसाध्यलक्षणम्–तीक्ष्णाञ्जनादिभिरलब्धसंज्ञ आनाहलालाश्वसनयुक्तश्चाऽऽतुरो वर्ज्यः (सुउ. ४६.२२-२३) अयं मदमूर्च्छायादिवद्वेतेषु वेगेषु नोपशाम्यति किन्तु चिकित्सापेक्षा वर्तते (असंनि. ६.३६) तच्चिकित्सासूत्रम्–तीक्ष्णाञ्जनान्यवपीडा धूमाः प्रधमनानि सूचीभिस्तोदनं दाहो नखान्तरे पीडा लोमकेशानां लुञ्चनमात्मगुप्तावघर्षादिश्च एतैः प्रबुद्धसंज्ञे लघ्वन्नैर्विस्रापनैः श्रुतिप्रियगीतवादित्रादिशब्दैः संस्रनोल्लेखनैः शोणितावसेकाद्युपायैरस्य मनः प्रलयहेतुतो रक्षितव्यम् (चसू. २४.४२-५३)

कर्मत्यागः (चशा. १.१५४)

संस्कार० औषधयुक्तस्य मृद्भाण्डरुद्धस्य पारदस्य मन्दाग्नि युताया चुल्यामध्ये स्थापनम् (र. ८.९७) शोधनसंस्कारेऽस्यान्तर्भावः (र. ८.९७)

सपिण्डक–पु., भक्ष्य० मधुक्रोडः सपिष्टकपिण्डकः (चक. चसू. २७.२६७)

सपीतक–वि., ईषत्पीतवर्णम् (सुउ. २४.७)

सप्त–वि., सङ्ख्या० (सुचि. ९.१८)

–**कृत्वस्**–अव्य., सप्तवारम् (सुचि. ९.१८)

–**च्छद**–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (चचि. ७.६५ सुसू. ३९.४; ध. ३.८०; पृ. ११२)

–**च्छदत्वच्**–स्त्री., सप्तपर्णस्य वल्कलम् (सुक. १.४८)

–**पत्र**–पु., वनस्पति० मुद्गरः (रापरि. १०.२१; पृ. ११२)

–**पर्ण**–पु., वनस्पति० कुष्ठघ्नगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.११; असंसू. १५.१८) उदर्दप्रशमनगणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७) मूलमस्य वमनोपयोगि (असंसू. १४.३) त्वगस्य व्रणे लेपार्थमुपयुज्यते (असंसू. ३८.५४; अहसू. २९.७६) क्षीरमस्य विरेचनोपयोगि (असंसू. १४.४) वृक्षोऽयं क्षारोपयोगी (सुसू. ११.११) अयं शाल्मलिसदृशपर्णो गजमदगन्धपुष्पः शरदि विकसनशील उच्चवृक्षः (सुसू. ३८. ६-७) तद्गुणाः–तिक्त उष्णो हृद्यो दीपनः सरस्त्रिदोषघ्नः शूलगुल्मकृमिकुष्ठकण्डूव्रणरक्तामयघ्नश्च (ध. ३.८०; पृ.११२) विषहरो मेहज्वरनाशनश्च (सुसू. ३८.६-७) सातवन इति लोके

–**पर्णी**–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६०; पृ. १५६)

–**रात्र**–न., सप्तानां रात्रीणां समुदायः (अहसू. २.६)

–**शिरा**–स्त्री., वनस्पति० ताम्बूली (रा. ११.६; पृ. १३१)

–**सप्त**–संख्या–वि०

सप्तर्षि–पु., वामदेवादयः सप्त ऋषयः, कश्यपात्रिभरद्वाजविश्वामित्रगौतमजमदग्निवसिष्ठा वा (चचि. ३.२२; असंशा. १०.६)

सप्तला–स्त्री., वनस्पति० सातला (चचि. १५.१७२; सुसू. ४४.८४; ध. १.२३८; अहसू. ६.७५; पृ. ५६)

सेहुण्डभेदः (ड.) श्रीफलिका च (सुसू. ३९.५)

यवतिक्ताभेदः (ड.) शङ्खिनीभेदः (सुक. ५.८४). द्र० 'शङ्खिनी'

बृह्मा (ड.) सुसू. ३९.४)

वनमल्लिका (रा. १०.२३६; पृ. १९९)

–**शङ्खिनीकल्प**–पु., अध्यायसंज्ञा० (चक. १)

–**स्नेह**–पु., सातलास्नेहः. तद्गुणाः–कटुस्तिक्तः कषायोऽधोभागदोषहरः कृमिकफकुष्ठानिलहरो दुष्टव्रणशोधनश्च (सुसू. ४५.१२४)

सप्तलिका–स्त्री., वनस्पति० यवतिक्ता शङ्खिनी (सुचि. १८.३४)

सप्तामृतवटी–स्त्री., पारदयोग० पारदगन्धकपिप्पलीहरीतकीबिभीतकाटरुषभार्ङ्गीणामेकोत्तराधिकभागानां बब्बुलक्काथसंमर्दितानां बिभीतकप्रमाणा वटिकाः कार्याः, इयं श्वासकासादिनाशिनी (र. १३.५९)

सप्ताह–पु., सप्तानां दिनानां समाहारः, दिनसप्तकम् (अहसू. २०.१६)

सप्ताह्व–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (सुचि. ९.५०; असंसू. ४.५०)

सप्रजा–स्त्री., अवन्ध्या (चशा. २.५)

सप्रसादक–पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.७१; पृ. २१९)

सप्राक्पेष्य–पु., बस्तिप्रकारः, बस्तिसूत्रीयोक्तबलादिबस्त्युक्तकल्कयुतो बस्तिः (चक. चसि. ७.११)

सबल–न., शालिपर्णीभेदः (ध. १.८८; पृ. २३) द्र० 'शालिपर्णी'

सबीजबन्ध–पु., पारदबन्ध० पिष्टीकृतैरभ्रकसत्त्वसुवर्णरूप्यताम्रकान्तैः परिजारितस्ततः षड्गुणगन्धकेन मारितः पारदः महाप्रभावोऽसौ (र. ११.७९)

सभक्त-न., भैषज्यकाल० सह भक्तेन-अन्नेन यदुपयुज्यते, तत्, तद्गुणाः-इदं स्त्रीणां दुर्बलानां शिशूनां तथा वृद्धानां च हितम्, औषधद्वेषिणां क्षतक्षीणानां पथ्यं बलाग्निरक्षकं च
(सुउ. ६४.७४; काखिल. ३.४९)

सभा-स्त्री., जनमेलकस्थानम् (चक्र. १.९)

सभूतिक-पु., वनस्पति० बिल्वः
(रा. ११.१३५; पृ.२७)

सम-वि., त्वक्समं त्वक्समतलं अविषमपरिघवत्
(सुनि. १३.४१)
ऋजुः (ड. सुचि.३७.११०)
समदृष्टिः (असंसू. ५.४६)

-क्रिय-वि., समा क्रिया यस्य सः (चशा. ६.२८)

-क्रियत्व-न., समा क्रिया नाम चिकित्सा यस्य, स समक्रियः, तद्भावः (सुनि. ६.८)

-गन्धिक-न., वनस्पति० उशीरम्
(ध. ३.१४; पृ. ९६)

-घृतसक्तुप्राशाभ्यास-पु., उपक्रम० सहसमघृत-सक्तुप्राशस्य सततं सेवनम्। स वृष्योदावर्त-हराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

-ज्वर-पु., ज्वरभेदः, अल्पहेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रव एकाश्रयः सुखोपायः लघुपाकश्च ज्वरः समज्वर इत्युच्यते (काखिल. १.८) द्र० ' ज्वर '

-तल-न., करतलेन सदृशम्, करतलसादृश्ययुक्तम्, जिह्वातलेन वा (सुसू. २३.२०)

-त्वागतवीर्य-वि., समत्वं परिपूर्णत्वम् आगतं वीर्यं यस्य सः, परिपूर्णसर्वधातुकः (सुसू. ३५.१३)

-देह-वि., ऋजु उपविष्टः (सुसू. ४६.४६४-६५)

-देहाग्नि-वि., समकायाग्निः (सुसू. ३५.४६-४७)

-दोष-वि., समप्रमाणावस्थिता वातपित्तकफसंज्ञक-दोषाःयस्य यस्मिन्वा सः (सुसू. १५.१४)

-धातु-वि., प्रकृति० वातपित्तश्लेष्माणो गर्भात्प्रभृति समाः यस्य सः। अत्र धातुशब्दो दोषपर्यायपरः (चवि. ८.९५; अरु. अहसू. १०.१)
द्र० ' प्रकृति ' समप्रमाणावस्थिता रसादि धातवः
(सुसू. १६.४०)

-धृत-वि., समप्रमाणगृहीतम्, समप्रमाणम्
(असंसू. १९'४)

-भक्त-वि., सभक्तम्, अत्र समशब्दः सहार्थे द्रष्टव्यः, तेन समभक्तं सभक्तम् इति
(असंसू. २३.१७)

-योग-पु., सम्यग्योगः (चशा. १.१२९)

-योगवाहिन्-वि., समानां तुल्यानां वातादीनां योगो मेलकः, तं समयोगं वोढुं शीलमस्येति समयोगवाहि (शरीरम्) (चशा. ६.४)

-वर्ज-(अ;) समो नाम समाग्निः, तं वर्जयित्वा
(चचि. १५.७१)

-वर्णजा-स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.१०७;पृ. २९२)

-वर्तिन्-पु., निष्पक्षं सर्वप्राणिद्वरत्वात् यमः, काल-मृत्युः (चइ. ११.२५)

-सर्वधातु-वि., समधातुप्रकृतिः (पुरुषः)
(चवि. ६.१४)

समङ्गा-स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः
(चचि. ४.७६; अहसू. १५.३७; ध. ४.१०९, पृ. १५५)
मञ्जिष्ठा
(चचि. ४.८९; सुचि. २.७३; ध. १.१७; पृ. १०)
वराहक्रान्ता (चसू. ४.९)
अञ्जलिकारिका (सुसू. ३७.२४)
बला (ध. १.२८०; पृ. ६४)

समनस्क-वि., मनसा सहितम् (चसू.८.१५)

समन्तदुग्ध-पु., वनस्पति० स्नुही
(ध. १.२३५. पृ. ५५)

(समन्तदुग्धा)-स्त्री., वनस्पति० स्नुही
(ध. १.२३५. पृ. ५५)

सममम्-अव्य., एककालम् (सुउ. १३.१५)

समय-पु., अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमिति अभि-धानाभिधेयनियमनियोगः । समयः सिद्धान्तः 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः ' इत्यमरः । समयस्त्रिधा भवति -आयुर्वैदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिक समय इति (चवि. ८.५४)
कालः, नियतायुर्मर्यादा (असंसू. ८)

समवाय-पु., वैशेषिकसंमतषट्पदार्थेष्वेकः, सोऽयम् अयुतसिद्धवृत्तिर्नित्यसंबन्धः (चवि. ८.२९)
संयोगः, समूहः (सुशा. १.१६)

समवायिन्-वि., समवायाधेयः (चसू. १.५१)
संसर्गी (सुउ. ३९.२९४)

-(समवायि कारण)-न., यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् कारणम्- यथा तन्तवः पटस्य
(चसू. १.५१; सुसू. ४०.३)

समशन-न., भोजनप्रकारः पथ्यापथ्यान्नस्य एकत्र सेवनम्,

पथ्यापथ्यं किञ्चिदेकत्र मिलितं, यथा रक्तशाल्यन्नं यवकान्नं च मिलितम् (चक. चचि. १५.२३६; सुउ. ५०.५; अहसू. ८.३३)

समष्टिल–पु., वनस्पति० आम्रभेदः, कटुरुष्णः रुच्यो मुखविशोधनो दीपनो दाहकृत् कफवातप्रशमनकरः (रापरि. ४.१; पृ. ३३४)

समस्तगात्र–वि., सकलप्रशस्तगात्रयुक्तः (सुशा. ५.४९)

समस्तज–वि., सन्निपातजः, दोषत्रयसमवायदुष्ट्या सम्भवन् (ज्वरादिरोगः) (र. ३०.२३)

समांश–वि., तुल्यप्रमाणम् (अरु. अहसू. ७.३९)

समाग्नि–पु., वह्निर्यथाविधि भुक्तं सम्यगेव पचेत् सः (असंशा. ६)

वि., समा अग्नयो यस्य सः (सुसू. १५.४१)

समातृगण–पु., मातृसमूहयुक्तः (ईश्वरः) (चचि. ३,३१०)

समाधान–न., समाधिः समाधीयतेऽस्मिन् चित्तमिति समाधानं समाधिः (चशा. १.८०)

समाधि–पु., विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि मनसो नियमनम् (चसू. १.५८)

समान–पु., वातभेदः (चसू. १२.८) स्थानानि आमपक्वाशयमध्यः (सुनि. १.१६) अग्निसमीपस्थानं, सर्वं च कोष्ठम् (अहसू. १२.८) स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि, अन्तरग्नेः पार्श्वभागः (चचि. २८.८) समानो वायुः सर्वं कोष्ठं चरत्यन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति च (अहसू. १२.८) अग्निसंधुक्षणं करोति (असंसू. २०.४) प्रकुपितः समानः गुल्माग्निसादातिसारप्रभृतीन् गदान् कुरुते (सुनि. १.१७) द्र० 'दोष' '–वात'

वि., तुल्यधर्मकम् (हे. अहसू. १.१४)

–गुण–वि., समानो गुणो येषां ते (आहारविकाराः) (चशा. ६.९)

–गुणभूयिष्ठ–वि., समानो गुणो भूयिष्ठोऽधिकतमो यस्मिन्, सः (चशा. ६.९)

–प्रकोप–पु.,विषमाजीर्णशीतसंकीर्णभोजनाकालशयनजागराद्यैः प्रकुपितः समानः शूलगुल्मग्रहण्यादीन् पक्वामाशयजान् गदान् करोति (असंनि. १६.२७-२८)

–वायु–पु., वातभेदः, समानः (चचि. १५.२०३)

समानाभिहार–पु., समानेन द्रव्यादिना सह मिश्रणम् (चसू. ११.८)

समावर्तन–न., पारदसंस्कार० द्रावणम् (र. २१.१०४-१०६)

समाश्वासन–न., विश्रमणम् (चचि. २८.७६)

(अव्य०) समान्तरम्, समामध्ये, संवत्सरमध्ये, समा नाम वर्षमन्तरवधिर्यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात्तथा (चइ. ११.३)

समास–पु., संक्षेपः (चसू. ३०.१८; सुशा. ५.६) संग्रहः, अन्योन्यमेलकः (चक्र. चसू. १३.२७)

समासन्नवर्तिन्–वि., समीपस्थितः (परिचारकः) (असंसू. ८.३)

समासीन–वि., सम्यगासीनः, उपविष्टः (सुसू, ४६.४६५-४६६)

समाहित–वि., न्यूनातिरिक्तमानवर्जितम् (यन्त्रादि) (सुसू. ७.९)

समाह्वान–न., निष्कारणमाहूय स्वेच्छालापकथनम् (सुचि. २४.१०१)

समिति–स्त्री., संग्रामः (सुशा. ४. ६८-७०)

समिध्–स्त्री., खदिराणां क्षीरवृक्षाणां वा होमार्थं वितस्तिमात्रं काष्ठम् (सुसू. २.४)

(समिद्)–वर–पु., वनस्पति० पलाशः (ध. ५.१६२; पृ. २०३)

समीक्ष्यकारिन्–वि., विमृश्यविधायी, विमृश्य विचार्य कार्यसम्पादकः (अहसू. ४.३६)

समीरण–पु., दोष० वायुः (सुनि. १.१९) वनस्पति० जम्बीरः (रा. १०.८०; पृ. १४४)

समीरसार–पु.,वनस्पति० बिल्वः (रा. ११.१३५. पृ. ९७)

समुच्चय–पु., तन्त्रयुक्ति० यदिदं चेदं चेति कृत्वा विधीयते। यथा 'वर्णश्च स्वरश्च' इत्यादि (चसि. १२.४४; सुउ. ६५.३८)

समुच्छ्राय–पु., उद्गतिः (ड. सुसू. १०.५)

समुत्क्षिप्ता–वि., अतित्वरिता (चक. चचि. २८.४१)

समुत्था–स्त्री., उत्पत्तिः (सुनि. ६.७)

समुत्थान–न., कारणम् (चशा. ६.२७) निदानम् (चनि. १.३)

संप्राप्तिः (सुनि. १३.४५)

(परिव०) मृतस्य लोहस्य पुनः स्वभावगमनम् (र. ८.१८)

समुत्सन्न–वि., विवृद्धमांसः (व्रणः) (अहसू. २९.६९)

समुदय–पु., समुदायः (चवि.१.११)

समुदाय–पु., समवायः, समूहः (सुसू. ४१.३)
–**प्रभावतत्त्व**–न., मेलकप्रभावनिर्णयः (चवि. १.१०)
समुदीरण–न., उत्पत्तिकरणम् (सुउ. ५७.५)
समुदीर्ण–वि., प्रकुपितः (सुचि. ३४.७)
समुद्ग–न., संपुटम् (सुउ. ४४.२९)
समुद्गीर्ण–वि., पारदेन समुद्गीर्णः गंधकादि धातुः, ग्रस्त-धातुः (र. १५.४४-४६)
समुद्गम–पु., विध्मः (चवि. ९.८)
समुद्भ्रान्त–वि., विक्षिप्तः (डल्हण: सुउ. ३९.२३)
समुद्र–पु., सागरः, रत्नाकरः (सुसू. ५.२६-२७)
–**कफ**–पु.,भैषज्य० समुद्रफेनः (असंउ. १४)
–**कान्ता**–स्त्री., वनस्पति० स्पृक्का
(रा. १२.११३; पृ. १०८)
–**ज**–न., लवण० सामुद्रम्
(ध. २.३४; पृ. ७५; र. १८.१३१)
–**जल**–न., सागरोदकम्, तद्गुणाः–लवणं विस्रमुष्णं रक्तविकारकरं पित्तकरं वैवर्ण्यदाहकरं च
(रा. १४.३२३; पृ. २५८)
–**फल**–न., वनस्पति० तद्गुणाः–कटूष्णं त्रिदोषघ्नं विशेषतो वातघ्नं भूत–कफामय–भ्रान्तिनाशकं त्रिदोषव्याधिहरं च
(रापरि. ६.१४; र. २०.१३०-१३६; पृ. ३४६)
–**फेन**–न., पु., भैषज्य० जाङ्गमविशेषः, शुक्रशोधन-गणोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२) अयं कुष्ठेषु लेखनोपयोगी (चचि. ७.५७; सुचि. ९.१०) अनुशस्त्रं च (असंसू. ३४.३२) तद्गुणाः–कषायः शीतो लेखनो रुच्यः कफघ्नो गुल्मप्लीहहरः कर्णपाक-नेत्रकण्ठरोगविषहरश्च (ध. ३.१५४; पृ. १२६)
–**मण्डूकी**–स्त्री., जलशुक्तिः (ड.) मुक्ताशुक्तिः
(सुचि. १.१००)
–**लवण**–न., लवण० सामुद्रलवणम्
(रा. ६.४२; पृ. ७५)
–**वृश्चिक**–पु., कीट० आलविषः. सामुद्रो वृश्चिकः द्र० 'वृश्चिक' (सुक. ३.५)
समुद्रान्ता–स्त्री., वनस्पति० कार्पासी
(रापरि. ४.४६; पृ. ३३८)
समुन्नद्ध–वि., समन्तादुन्नतम् (सुनि. ९.१७)
समुन्नद्धोदरता–स्त्री., लक्षण० समन्तादुदरस्योन्नतत्वम्, उदराध्मातत्वम् (सुचि. ३४.१५)
समूहक्षारक–पु., लवणभेदः, सर्वक्षारः
(रा. ६.५७, पृ. ७६)
समूहगन्ध–न., गंधद्रव्य० जवादि
(रापरि. १२.६; पृ. ३७५)
समृद्ध–वि., उपचितः (चइ. ९.४)
संपत्ति–स्त्री., समृद्धिः (सुचि. ३१.१२)
संपद्–स्त्री., प्रशस्तगुणता (चक. चसू. ९.७) उत्कृष्ट-गुणः (चचि. ३०.२२९)
संपदा–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ४.१८८; पृ. ३४)
संपन्न–वि., रसादिसंपत्त्या यद्युक्तं तत्संपन्नम्
(अहसू. १.२८)
पाकसंस्कारादिना युक्तम् (असंसू. २.२३)
संपर्क–पु., संबन्धः (असंसू. ८.८४)
संपाक–पु., क्वाथः (चशा. ८.४१; असंशा. ३(४).३४)
संपाचन–न., उपक्रम० पाचनम् (सुउ. ५६.१२)
संपूरक–वि., अतिमात्राशनशीलः (चचि. १९.७)
संपूरण–न., अत्यशनम् (चचि. ५.१४)
संपूर्णता–स्त्री., (धात्वादिविषयकः) पूर्णत्वम्
(सुसू. ३५.३९)
संपृक्त–वि., संयुक्तः (अहसू. १३.२७)
संपोथन– (परिव०)–न., कुट्टनम् (असंक. १)
संप्रच्छन–(परिव०)–न., उपक्रम० लेपनम्
(सुचि, ९.२४)
संप्रच्छित–वि., लेपितम् ।
संप्रतिपत्ति–स्त्री., सम्यग् ज्ञानम् (चवि. ७.८)
यथाकर्तव्यतानुष्ठानम्, इयं कालज्ञानप्रयोजनानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०)
संप्रबोधन–न., उपक्रम० संज्ञाजननम् (चवि. १०.१४)
संप्रयोग–पु., संयोगः, संबन्धः (चशा. ३.१३)
प्रयोगः (चनि. ७.७(१))
सङ्गः, विषयसेवा, व्यवायः (सुचि. २६.१०)
संप्रवर्तन–(परिव०) न., प्रवर्तमानस्योपेक्षया प्रवर्तनम्
(चक्र. चचि. १९.१४)
संप्रसक्त–वि., निरन्तरम् (सुनि. ७.११-१३)
संप्रसादन–वि., सवर्णत्वकरम् (चक्र. चचि. २१.९८)
संप्रसाधन–न., मण्डनम् (चसू. ५.९९)
संप्रहार्य–वि., शक्यवारणम्, शक्यं निवारणं यस्य (याम्यसत्त्वः) (चशा. ४.३७(४)
संप्राप्ति–स्त्री., व्याध्युपलब्धिकारणेष्वेकम्
(चनि. १.६) तत्स्वरूपम्–यथा दुष्टेन दोषेण यथा च संनिवेशविशेषेण देहमनुधावता सता प्रत्यामयं या निर्वृत्तिः, सा संप्राप्तिः (अहनि. १.८) " व्याधिजन्ममात्रमन्यत्कारण-व्यापारजन्यं संप्राप्तिमाहुः " (चक्र. चनि. १.११)

संख्याप्राधान्यविकल्पबलकालविशेषभेदात्सा बहुविधा संभिद्यते (चनि. १.१२(१) तत्र संख्यासंप्राप्तिर्यथा–अष्टौ ज्वराः, पञ्च कासाः। प्राधान्यसंप्राप्तिर्यथा–स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामनुबन्ध्यानुबन्धभेदात्तरतमयोगाद्वा । व्याधीनां प्राधान्याप्राधान्ये, ताभ्यां भिद्यमाना तद्विशेषा वा संप्राप्तिः। विकल्पसंप्राप्तिर्यथा–विकल्पो नाम वातादिदोषाणामेकस्मिन्व्याधौ समवेतानामंशांशकल्पना तद्विशिष्टा विकल्पसंप्राप्तिः। बलविशेषा संप्राप्तिर्यथा हेतुपूर्वरूपादीनां तुलनया व्याधेर्बलाबलत्वविनिश्चयो बलसंप्राप्तिः। कालविशेषा संप्राप्तिर्यथा–दोषाणामृत्वहोरात्राहारसमयनियतः प्रकोपः कालविशेषा संप्राप्तिः (चनि. १.१२; असंसू. १.१३-१४; अहनि. १.८-११)

योगः प्राप्तिः (चशा. १.९८)

उपलब्धिः (सुनि. १.१०) ग्रहणम् (सुशा. ६.३६)

संप्रीणन–वि., बृंहणम् (चशा. ८.३१)

संप्लव–पु., निमज्जनम् (चनि. ८.५)

विभ्रमः, स्वरूपान्यथात्वम् (चक्र. चचि. १०.३)

वि., संकीर्णम् (सुसू. ११.१८; सुसू. १९.५)

संबद्धम्, संधियुक्तं (वङ्क्षणादि) (असंसू. ३८.४२)

संबाध–पु., मत्कुणादिभिः पीडा (सुशा. १०.३; असंशा. १२.१९)

–निःसृति–स्त्री., संकटनिस्तरणम् (चइ. १२.८४)

संबाधाञ्जन–न., अञ्जनप्रकार० संधावः (असंउ. १४)

संभरण–न., संचयः, प्राप्तिः (चसू. १५.३)

संभव–पु., तन्त्रयुक्ति० संभवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते, स तस्य संभवः, यथा मुखे पिप्पुड्व्यङ्गनीलिकादयः संभवन्तीत्यादि (चसि. १२.४५)

प्रमाण० सम्भवति अस्मात् इति सम्भवः कारणम्, संभवो नाम यो यतः संभवति, स तस्य संभवः। यथा षड्धातवो गर्भस्य संभवः (चवि. ८.४९)

–हेतु–पु., संभव उत्पत्तिस्तत्र कारणम्, अभिव्यक्तिकारणम् (ड.) यथा–अव्यक्तं जगतः संभवहेतुः (सुशा. १.३)

संभार–पु., उपकरणादिसामग्री (चसू. १५.३) यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाप्रभृतिः (सुसू. ११.१८; अहसू. ५.६६)

संभाषाविधि–पु., संभाषणकर्म, तद्विधिः–भिषग्भिषजा सह संभाषेत। तद्विद्यसंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति। वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति। वचनशक्तिमपि चाधत्ते। यशश्चाभिदीपयति। पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणाच्छ्रुतसंशयमपकर्षति। श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति। अश्रुतमपि च कंचिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति। यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत्परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्। तस्मात्तद्विद्यसंभाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः (चवि., ८.१५)

संभिन्न–वि., मर्दितम्, एकीकृतम् (र. २.१२६-१२७) असंबद्धम् (अहसू. २.२२)

संभिन्नालाप–पु., असंबद्धप्रलपनमसत्प्रलापः (अहसू. २.२२)

संभुक्त–न., भैषज्यकाल० चित्रभोज्यैः सह भैषज्यप्रदानम्, अरुचौ कालोऽयमुक्तः (चक्र. चचि. ३०.३०१)

संभृत–वि., सम्यक्कृतः (सुचि. ४०.६४)

–त्व–न., पुष्टत्वम् (अहसू. १४.३५)

संभृष्टपरुषच्छवि–वि., लक्षण० संभृष्टस्य दग्धस्येव परुषा छविर्यस्य सः (अध्वप्रशोषी) (सुउ. ४१.२१)

संभोग–पु., (स्रक्चन्दनादीनाम्) उपभोगः (सुचि. ३९.३५)

संभोजन–न., यथेष्टभोजनम् (सुचि. १७.४५-४६)

" पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं संभोजनं मतम् " (सुचि. १.२७)

संभोज्य–न., भैषज्यकाल० संभुक्तम् (चचि. ३०.३०१)

संमर्दन–न., उपक्रम० सम्यक् समन्ततो वाऽङ्गानां मर्दनम्, व्यायामादिभिः श्रान्तानां श्रमहरमेतत् (र. ३०.९४.९५)

संमित–वि., तुल्यम् (चशा. ५.३)

संमीलितद्रुम–पु., पुनर्नवाभेदः, रक्ता पुनर्नवा (रा. ५.४०८; पृ. ६३) द्र० ' पुनर्नवा '

संमूढ–वि., संयुक्तम् (चचि. १३.१८७) पिच्छितावनतम् (ड. सुनि. १४.८)

–पिडका–स्त्री., क्षुद्ररोग० शूकदोषजविकारेष्वेकः, तल्लक्षणम्–पाणिभ्यां भृशसंमूढे लिङ्गे पिडकेयं भवति। सा च वातरक्तसंभवा (सुनि. १४.८)

संमूर्च्छित–वि., संमिश्रितम्, एकीभूतम् (चचि. १.५२) मिलितम् (ड. सुचि. ३८.३८) वृद्धिं गतम्, प्रवृद्धम् (ड. सुनि. ११.१३-१४)

संमोह–पु., संमूढता भ्रमः (सुसू., ५.१०)
लक्षण० असंमोहविषये मोहः (चनि. ७.६)
रोग० मूर्च्छा (ड. सुउ. ३९.२९९; असंसू. ५.१८)
संमोहित–वि., लक्षण० मूर्च्छितः, अवष्टब्धः (सुनि. ८.३)
सम्यक्–अव्य., सुष्ठु, यथायोगम् (सुशा. २.१०-११)
–पीत–वि., युक्तमात्रया पीतः (धूमादिः)
(चसू. ५.३७-३८)
–योग–पु., समुचितः प्रयोगः, यथास्वरूपस्थितिः, आरोग्यकारणम्, (अरु.) असम्यग्योगाद्विपरीतः
(अहसू. १.१९)
–वमित–वि., सम्यग्रीत्या वमितः कृतोचितोद्वमनः
(चसि. १.१५-१६) द्र० 'वमन'
–विपक्व–वि., समीचीनं पक्वम् (अन्नम्)
(सुसू. ४६.५२७)
–विरिक्त–वि., सुविरिक्तः (चसि. १.१७-१८)
द्र० 'विरेचन'
–संबुद्ध–वि., सम्यक्तत्त्वज्ञः (बुद्धादिः)
(अहसू. १८.१७½)
–स्निग्ध–वि., सुष्ठु स्निग्धः
(सुचि. ३१.५३; अहसू. २०.२३)
(सम्यग्)–दग्ध–न., चतुर्विधाग्निदग्धेष्वेकम्
(सुसू. १२.१६; अहसू. ३०.३४. असंसू. ४०.७)
द्र० 'अग्निदग्ध'
सम्यगनुपान–न., सुयोग्यमनुपानम्, तद्गुणाः–बृंहणं वृष्यं रोचनं तर्पणं दोषसंघातभेदनं मार्दवकरं श्रमक्लमहरं दीपनं पिपासाच्छेदनं वर्णकरं बल्यं दोषशमनं च (सुसू. ४६.४३५-४३८)
(सम्यङ्)–निवेशन–न., यथास्थानं स्थापना
(सुचि. २.३२)
सर–पु., गुण० रेचनकरो गुणः (चशा. ६.१०) अनुलोमनम् (सुचि. ३३.३३; अहसू. १.१८)
दध्युपरितनस्नेहः (चसू. २७.२२८)
मलपित्तहरो गुणः (सुचि. ५.४०-२)
वनस्पति० महापिण्डीतरुः
(सुचि. ७.९-१२; रापरि. ९.३३)
कुधान्य० सरकर्णिका (सुसू. ४६.२१)
(सरा)–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (रा. ५.४३४)
–प्रकर्ष–पु., गुण० व्यवायी (असंसू. १.४१)
सरक–पु., आसुत० सुरा (रा. १४.३०३)
न., जलपूर्णपात्रम् (सुसू. १३.१९) मृण्मयपात्रम् 'शरावः' (सुचि. ४.२८)
सरक्त–पु., वनस्पति० ताम्रकण्टकः रक्तखदिरः
द्र० 'खदिर' (रा. ८.३६)
–पर्यन्त–वि., पर्यन्तो मर्यादा, रक्तवर्णा मर्यादा यस्य सः (चचि. ५.४२)
–मूत्रत्व–न., लक्षण० रक्तेन सह मूत्रं यस्य सः, तस्य भावः (चचि. ११.१३)
सरज–न., भैषज्य० सौवीराख्यमञ्जनम्, रालम्
(र. २३.४१)
सरट–पु., प्राणि० कृकलासः (र. २४.१३७)
सरणशील–वि., गमनशीलम् (मात्स्यसत्वम्)
(चशा. ४.३९ (२)
सरणी–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (ध. १.२८९)
सरप्रकर्ष–पु., गुण० व्यवायी (असंसू. १.४१)
सरल–पु., वनस्पति० देवदारुः, तद्गुणाः–तिक्तः कटुरुष्णः स्निग्धः, कोष्ठशुद्धिकरः कफवातघ्नः वक्त्रस्रावस्वरभ्रंशनेत्ररोगव्रणत्वग्दोषशोफकण्डूतिहरश्च
(ध. ३.७८; चक. १.२३; सुचि. ३८.२५; अहसू. १५.२६)
हिं.—धूपसरल.
म.—सुरूचे झाड.
गु.—सरलदेवदार.
बं.—सरलगाछ.
(सरला)–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् (चचि. १३.१५९; सुचि. २२.५५) अरुणमूला त्रिवृत् (सुसू. ३७.६)
धूपकाष्ठम् (सुचि. २५.१९)
शुक्रभाण्डी (ध. १.२४५)
–स्नेह–न., सरलवृक्षसारतैलम् (सुसू. ४५.१२३)
गुणाः–कषायं, तिक्तं, कटुकं, व्रणशोधनं च
(असंसू. ६.३०६)
सरलाङ्ग–पु., वनस्पति० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३)
सरस्–न., जलाशय० दिव्यखातं पुरुषव्यापारं विना जातं तत्पुनः पम्पादि
(चक्र. चसू. २७.२१४; सुसू. ४५.४)
(सरो)–रुह–न., वनस्पति० रक्तपद्मम् (ध. ४.१५२)
(–रुहा)–स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (ध. ४.१५७)
सरस–वि., अभृष्टः (चसू. २७.२७३)
वनस्पति० काष्ठागरु (र.२२.१६७)
(सरसा)–स्त्री., वनस्पति० सहस्रवीर्या महाशतावरी
(रा. ४.४४१)
(सरसी)–स्त्री., तुम्बरपत्रिका (अरु.) कपित्थपर्णी
(हे. अहसू. १५.३०; असंसू. १६.२४)

सरसा–स्त्री., प्रिया स्त्री ।
–**संमतदेश**–वि., सरसाः प्रियाः तासां संमतः (देशः) (चचि. २४.१३)
सरसिज–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४४)
सरसीरुह–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३)
सरस्वती–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५)
ब्राह्मी (रा. ५.१४७)
वाक् (चसि. ११.११)
सरावकुर्दि–पु., कीट० शरावकुर्दः (सुक. ३.५)
सरित्–स्त्री., नदी (सुचि. ३०.३४)
–**पतिफल**–न., समुद्रफलम् (र. १२.१२१-२२)
सरीसृप–पु., प्राणि० सर्पादिः (चचि. ३.७(३). सुचि. १.३)
सरीसृपोरग–पु., सर्प० अत्यर्थसर्पणशील उरगः (चक्र. चवि. ३.३६)
सरुग्गात्र–वि. वेदनायुतावयवः (सुचि. ५.१९)
सरूपता–स्त्री., सादृश्यम्, तच्च द्विविधम्—शरीरसादृश्यं मनःसादृश्यं च (चशा. २.२२)
सरेतस्–वि., सशुक्रम् (सुशा. २.४४)
सर्ज–पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३)
निर्यास० सर्जरसः (चसू. ३.५; सुसू. ३८.२४-२५; असंसू. ३६.१०)
रालः (र. २.१६६-६८)
नेत्ररोगेषूपयुक्तः, श्लेष्माऽक्षिरोगेषु वर्तिनिर्माणोपयोगि द्रव्यम् (असंउ. १९)
–**निर्यासक**–पु., वनस्पति० निर्यास० रालः (रा. १२.१७७)
–**रस**–पु., वनस्पति० सर्जकः (रा. ९.२०४; चसू. ३.१०; असंशा. ३.२०)
सर्जक–पु., वनस्पति० गुणाः–कषायः, कटुस्तिक्त उष्णः रूक्षो, वर्ण्यः, श्लेष्मवातपित्तघ्नः, कुष्ठकण्डूकृमिरुजाऽतीसारविस्फोटहरश्च (ध. ५.१२३; सुक. ६.३; र. २३.३७) नेत्ररोगेषूपयुक्तः (असंउ. १९)
हिं.—शालभेद.
म.—**राळेचा वृक्ष.**
(**सर्जिका**)–स्त्री., भैषज्य० सर्जिकाक्षारः (ध. २.२०; चचि. ७.११४)
सर्जिका–स्त्री.,
–**क्षार**–पु., क्षार० गुणाः–कटुः, क्षाररसः, उष्णस्तीक्ष्णः, वातकफघ्नः, गुल्माऽऽध्मानकृमिमान्द्यमेदोरोगजठरव्रणहरश्च (ध. २.२०)
सर्जिकादिचूर्ण–न., योग० सर्जिकातुत्थकासीसं शैलेयं रसाञ्जनं मनःशिलासमैश्चूर्णम् । तद्व्रणवीसर्पनाशं करोति (सुचि. १९.४५-४६)
सर्प–पु., प्राणि० बिलेशयोऽयम्, अशीतिसर्पाः–ते पुनः पञ्चविधाः; दर्वीकराः, मण्डलिनः, राजिमन्तः, निर्विषाः, वैकरञ्जाश्चेति । दर्वीकराः फणावन्तः, मण्डलिनः–फणावर्जिताः–विविधमण्डलैश्चित्रिताः, राजिमन्तो रेखायुक्ताः, फणावर्जिता ईषद्विषा पुण्डरिकादयः, निर्विषा गललोमशूकपत्रादयः, वैकरञ्जाः; संकीर्णजाताः–ते च पृथग्जातीयसर्पिणीपृथग्जातीयसर्पाभ्यामुत्पन्नाः। तत्र दर्वीकराः षड्विंशतिः, मण्डलिनो द्वाविंशतिः, राजिमन्तो दश, निर्विषा द्वादश, वैकरञ्जास्त्रयः । चित्रा मण्डलराजिला वैकरञ्जोर्ध्ववाः सप्त भवन्ति । एते सर्पाः पादाभिसृष्टाः स्वभावदुष्टा वा प्रसनार्थिनोऽपि वा महाक्रोधा भीमदर्शनास्त्रिविधं दशन्ति । तत्र रदितं सर्पितं निर्विषं चेति दंशत्रैविध्यम् । सर्पाङ्गाऽभिहतमपि केचित्तद्विदो दंशप्रकारमिच्छन्ति । यत्र दन्तानां क्षतानि एकं द्वे बहूनि वा निमग्नानि यान्यल्परक्तानि चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च, संक्षिप्तानि सशोफानि च क्षतानि यत्र सन्ति, तत् सर्पितं विद्यात् । तच्चाऽत्यवगाढम् । यस्मिन्दंशे सलोहिता राज्यो नीलाः पीतास्तथा सितास्तद्दितं विज्ञेयम् । तच्चाऽल्पविषम् । यत्र प्रकृतिस्थस्य देहिन अशोफमल्पदष्टाऽसृक् क्षतं क्षतानि वा सन्ति तद् अविषं विद्यात् । सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्भयेन कुपितो वातः शोफं कुरुते । तत् सर्पाङ्गाऽभिहतं विद्यात् । व्याधितोद्विग्नसर्पाणां दष्टान्यल्पविषाणि सन्ति । तथैवाऽतिवृद्धबालसर्पाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् । सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते देशे तथा विषघ्नौषधियुक्ते च देशे विषं न क्रमते । दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः चक्रलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः सन्ति । मण्डलिनस्तु पृथवः विविधैर्मण्डलैश्चित्रा मन्दगामिनो ज्वलनाऽर्कसमप्रभा राजिमन्तश्च विविधवर्णाभिः राजिभिस्तिर्यगूर्ध्वं चित्रिता इव भान्ति (सुक. ४.९-२४) ब्राह्मणादिलक्षणानि–ये कपिला ताम्रारूप्यप्रभाः सुगन्धयः सुवर्णाभास्ते सर्पा जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः । ये च

स्निग्धवर्णा भृशकोपना येषां सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म विद्यते तथाऽम्बुजं विद्यते, ते क्षत्रियाः सर्वे। कृष्णा वज्रनिभा वर्णतो लोहिता धूम्राः पारावताभाश्च सर्पा वैश्याः स्मृताः। ये महिषद्वीपिवर्णाभाः परुषत्वचो भिन्नवर्णाश्च ते शूद्राः परिकीर्तिताः। सर्वे सर्पा फणिनः जन्तोर्वातं कोपयन्ति। मण्डलिनश्च पित्तम्, अनेकराजयः कफं कोपयन्ति। असवर्णाभ्यामपत्यं द्विदोषकरलक्षणं करोति। रात्रेः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति। शेषेषु यामेषु मण्डलिनो, दिवा दर्वीकराश्चरन्ति। तरुणा दर्वीकरा वृद्धा मण्डलिनो वयोमध्या राजिमन्तो मृत्युहेतवो भवन्ति। नकुलाऽऽकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशा वृद्धा मुक्तत्वचो, भीताश्च सर्पा अल्पविषाः स्मृताः

(सुक. ४.२५-३३)

दर्वीकरभेदाः-कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासर्पः, शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, खण्डफणः, ककुदः, पद्मो, महापद्मो, दर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रुकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिराः, अलगर्दः, आशीविष इति। मण्डलिनस्तु-आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डलश्चित्रमण्डलः, पृषतो, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको, गोनसो, वृद्धगोनसः, पनसो, महापनसो, वेणुपत्रकः, शिशुको, मदनः, पालिन्दिरः, पिङ्गलस्तन्तुकः, पुष्पपाण्डुः, षडङ्गोऽग्निको, बभ्रुः, कषायः, कलुषः, पारावतो,हस्ताभरणश्चित्रक,एणीपद इति। राजिमन्तस्तु-पुण्डरीको राजिचित्रोऽङ्गुलिराजिर्बिन्दुराजिः, कर्दमकस्तृणशोषकः, सर्षपकः, श्वेतहनुर्दर्भपुष्पकश्चक्रको, गोधूमकः, किक्किसाद इति। निर्विषास्तु-गलगोली, शूकपत्रोऽजगरो, दिव्यको, वर्षाहिकः, पुष्पशकली, ज्योतीरथः, क्षीरिकापुष्पकोऽहिपताकोऽन्धाहिको, गौराहिको, वृक्षेशय इति। वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः, तद्यथा-माकुलिः पोटगलः स्निग्धराजिरिति। तत्र, कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः, कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन जातः स्निग्धजातिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षः, द्वयोर्मातृवदित्येके। त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकपोटगलपुष्पाभिकीर्णदर्भपुष्पवेल्लितकाः सप्त। तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवच्छेषा मण्डलिवत्, एवमेतेषां सर्पाणामशीतिर्व्याख्याता (सुक. ४.३४) तत्र महानेत्रजिह्वाऽऽस्यशिरसः पुमांसः, सूक्ष्मनेत्रजिह्वाऽऽस्यशिरसः स्त्रियः, उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति। तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणम्-विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति, न चावकाशोऽस्ति वाक्सलमूहमुपसर्तुं प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्वत्र त्रैविध्यं भवति। त्रैविध्यं च-एतध्दातुरहितमसंमोहकरं चापि च, अत्रैव सर्वसर्पव्यञ्जनाऽवरोधः (सुक. ४.३५-३६) तत्र दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्वराऽवसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनाऽऽगमनं स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति। मण्डलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताऽभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्ध्वमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति। राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामार्दशशोफः सान्द्रकफप्रसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः, कण्ठे श्वयथुर्घुर्घुरकं उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति। पुरुषाऽभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया; सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाऽभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति, गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलाऽऽर्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चाऽस्य भवति, ग्रासार्थिनाऽन्नं काङ्क्षति, वृद्धेन चिरान्मन्दाश्च वेगाः बालेनाऽऽशु मृदवश्च, निर्विषेणाऽविषलिङ्गं अन्धाहिकेनाऽन्धत्वमित्येके, प्रसनादजगरः शरीरप्राणहरो न विषात्। तत्र सद्यःप्राणहराऽहिदष्टः पतति शस्त्राऽशनिहत इव भूमौ स्रस्ताङ्गः स्वपिति। तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति तत्र, दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं कृष्णतामुपैति, तेन कार्ष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाऽङ्गे भवति। द्वितीये

मांसं दूषयति, तेनाऽत्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाऽङ्गे भवन्ति । तृतीये मेदो दूषयति तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च । चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति, तेन तन्द्राप्रसेकसंधिविश्लेषा भवन्ति । पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति, तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति । षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणी चाऽत्यर्थं दूषयति, तेन गात्राणां गौरवमतीसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति । सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चाऽत्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति, तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गः सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति । मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति तत् प्रदुष्टं पीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति । द्वितीये मांसं दूषयति, तेनाऽत्यर्थं पीतता परिदाहो दंशे श्वयथुश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति, तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णादंशक्लेदः स्वेदश्च । चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति । पञ्चमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति । षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत् । राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति । तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति । द्वितीये मांसं दूषयति, तेन पाण्डुताऽत्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दंशक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति । चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवं चाऽऽपादयति । पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरं च करोति । षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति (सुक. ४.३७-३९; चचि. २३.१६४; असंउ. ४८) सप्तकलासु एकैकामतिक्रम्य विषं वेगं प्रकुरुते । सर्पदंशेन प्रथमे वेगे पशुः शूनाङ्गो दुःखितः सन् ध्यायति । द्वितीये वेगे लालास्रावः कृष्णाङ्गः सन् हृदि पीड्यते । तृतीये शिरोदुःखं भवति कण्ठग्रीवं च भज्यते । चतुर्थे वेगे मूढो दन्तान् खादन् वेपते । असून् जहाति । पक्षी प्रथमे विषवेगे ध्यायति । अतः परं मुह्यति । द्वितीये विह्वलस्तृतीये मृत्युमृच्छति । मार्जारनकुलादीनां विषं नातिप्रवर्तते (सुक. ४.४२-४५) सर्पविषचिकित्सा–सर्वैरेव सर्पैः शाखादष्टस्य देहिन आदितो दंशस्योपरि चतुरङ्गुले अरिष्टा बध्नीयात् । अरिष्टा नाम वस्त्रादिभिः मन्त्रपुरस्कृतैर्बन्धः । अथवा मृदुना प्लोतचर्मान्तर्वल्कानामन्यतमेन दंशान् बध्नीयात् । अरिष्टाभिर्निर्वारितं विषं देहं न गच्छति (सुक. ५.३-४) यत्र बन्धो न संभवति, तत्र दंशमुत्कृत्य दहेत् । सर्वत्रैवाऽऽचूषणच्छेददाहाः पूजिताः (सुक. ५.५-६) अपि तु मण्डलिना दष्टं न कथंचन दाहयेत् । यतः पित्तबाहुल्यविषाद्दंशो दाहाद्विसर्पते (सुक. ५.७) देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सुदुस्तरं विषं हन्युः । मन्त्रस्याऽसिद्धावगदक्रमो योज्यः (सुक. ५.१३) रक्तविस्रावणमपि कार्यं रक्ते निर्हियमाणे कृत्स्नं विषं निर्हियते (सुक. ५.१४) दंशं प्रच्छयित्वाऽगदैः प्रलेपयेत् । चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् । (सुक. ५.१६) तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि न पिबेत् । अन्यत्तु द्रवं किञ्चित् पीत्वा पीत्वा तदुद्वमेत् । प्रायः वमनेनैव विषं सुखं निर्हियते (सुक. ५.१८-१९) फणिनां प्रथमे विषवेगे शोणितं हरेत् । द्वितीये वेगे मधुसर्पिर्भ्यामगदं पाययेत् । तृतीये विषनाशने नस्यकर्माञ्जनं युञ्ज्यात् । चतुर्थे वान्तं यवागूं दापयेत् । पञ्चमषष्ठयोरादौ शीतोपचारं कृत्वा तीक्ष्णं शोधनं यवागूं चापि पाययेत् । सप्तमे तीक्ष्णं नस्यमञ्जनं मूर्ध्नि च काकपदं कृत्वाऽसृग्वा पिशितं चर्म क्षिपेत् (सुक. ५.२०-२३) मण्डलिनां प्रथमे वेगे दर्वीकरवदाचरेत् । द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यामगदं पाययेत् । तृतीये तीक्ष्णशोधनं यवागूं दद्यात् । चतुर्थे पञ्चमे च दर्वीकरवदाचरेत् । षष्ठे मधुरमगदं पाययेत् सप्तमे विषनाशनोऽगदः पेयः (सुक. ५.२४-२७) राजिमतां प्रथमे वेगे अलाबुभिः शोणितं हरेत् । मधुसर्पिर्भ्यामगदं पाययेत् । द्वितीये वान्तं विषनाशनमगदं पाययेत् । तृतीयादिषु दर्वीकरवत् क्रिया कार्या । षष्ठे तीक्ष्णमञ्जनं सप्तमेऽपीडश्च (सुक. ५.२९) गर्भिणीबालवृद्धानां विषाऽऽर्तानां सिराव्यधनवर्जितं मृदु विधानं शस्यते (सुक. ५.३०) अजाविके नरतुल्यानि रक्तावसेकाञ्जनानि महिषे उष्ट्रे च त्रिगुणं गवाऽश्वे द्विगुणं नागानां चतुर्गुणं रक्ताऽवसेकादि कार्यम् । सर्वपक्षिणां नरविषहरद्रव्येण केवलं सुशीतान् परिषेकान् प्रदेहांश्चाऽवचारयेत् (सुक.५.३२)

(सर्पा)–स्त्री., भैषज्य० द्रोणीप्रावेशिकरसायनेष्वेका, सर्पाकारा ओषधि० (चचि. १(४).७)

–कण्टक–पु., सर्पदन्तः (सुक. ३.५)

-काय-वि,, राजसकाय० यस्तीक्ष्णः आयासी भीरुश्चण्डो मायान्वितो विहारचपल आहारचपल इत्येवमादिलक्षणः सर्पकायो नरः विज्ञेयः (सुशा. ४.८९-९०)

-गन्धा-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (ड. सुक. ५,८४-८६; ध. ४.१९३)
वर्षासु छत्राकारा (सुउ. ६०.४७) सर्पछत्रिका (ड. सुक. ७.२८-३१)

-ग्रन्थि-वि., वनस्पति०पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११३)

-घाति-न., फलविष० (सुक. २.५) द्र० 'विष'

-च्छत्रक-न., सर्पफणाकारं छत्रकम्, इदं शाकवर्गे नान्तर्भूतम्, अतः तद्गुणादिकं नोक्तम् (चसू. २७.१२३)

-तनु-स्त्री., वनस्पति० बृहती (रा. ४.१२३)

-दंश-पु., सर्पस्य दंशः, प्रकाराः- गूढसंपादितवृत्तपीडितलम्बितार्पितसर्पितभृशाबाधेत्यादयः सामान्यतो दंशप्रकाराः (चचि. २३.१३५, असंउ. ४१) द्र० 'सर्प'

-दंशन-न., सर्पदंशः (चचि. २३.५०) द्र० 'सर्प'

-दंष्ट्रा-स्त्री., विषयुक्तः सर्पदन्तस्तस्य चत्वारो भेदाः वामाऽधरा वामोत्तरा दक्षिणाऽधरा दक्षिणोत्तरा च (चचि. २३.१३७) द्र० 'सर्प'
वनस्पति० मेषशृङ्गी (ध. १.८७)

-दण्डा-स्त्री., वनस्पति० सैंहली पिप्पली (रा. ६.११९)

-दण्डी-स्त्री., वनस्पति० गोरक्षी (रा परि. ५.३०)

-दन्ती-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रा परि. ५.२७)

-दमनी-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८५)

-दष्ट-वि., सर्पेण दष्टः (चसू. १३.३२; सुक. ५.१)

-दष्टविषचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (सुक. ५.१)

-दष्टविषविज्ञानीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (सुक. ४.१)

-निर्मोक-पु., सर्पत्वक्, योनिधूपनद्रव्येष्वेकम् (चशा. ८.४१; सुशा. १०.११; र. २१.६०-६२)

-फण-न., शलाकायन्त्र० सर्पमुखम् (सुसू. ७.१४) अश्मर्याकर्षणे उपयुक्तम् (अहसू. २५.३२)

(-फणा)-स्त्री., सर्पफणम् (अहसू. २५.३३)

-मणि-पु., रत्न० सर्पविषशमनार्थं धारणीयो मणिः (चचि. २३,२५२-५३)

-मांस-न., सर्पस्य मांसम् (असंसू. ७.२५९)

-वसा-स्त्री., सर्पस्य वसा, सेयं नेत्ररोगेषु अञ्जनार्थमुपयुज्यते (असंउ. १९)

-वेताली-स्त्री., मञ्जर्याख्या महावेताली च (इन्दुः असंउ. ४२)

-सत्त्व-वि., राजससत्त्वभेदः, सर्पस्वभावः (कायः) (सुशा. ४.८९-९०) द्र० 'सर्पकाय'

-सुगन्धा-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (इन्दुः असंउ. ६; ध. ४.१०३)

-स्त्री-स्त्री., सर्पिणी (असंउ. ४१) द्र० 'सर्प'

सर्पाक्षी-स्त्री., वनस्पति० रक्तपुष्पा (सुक. ४.१४-२७)
वनस्पति० गन्धनाकुली (र. ११.३७-३९; ध. ४.१०६)
महासुगन्धा (ध. ४.१०५)
विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)
गण्डाली (र. ११.५२-५७; असंउ. ४४)

सर्पाख्य-पु., वनस्पति० शुभ्रालुः (रापरि. ७.३३)

सर्पाङ्गाभिहत-न., सर्पशरीरेण ताडितं स्पृष्टं वा (शङ्काविषम्) (सुक. ४.१९)

सर्पाङ्गी-स्त्री., वनस्पति० सैंहली पिप्पली (रा. ६.११९)

सर्पादनी-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (७.१५३)

सर्पावास-न., वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.२)

सर्पास्य-न., सर्पवक्त्रं नाम शस्त्रं नामाऽनुगताऽऽकारं घ्राणार्शश्छेदने कर्णार्शश्छेदने च योज्यम् (अहसू. २६.८)

सर्पिणी-स्त्री., वनस्पति० भुजगी (रापरि. ५.३९)

सर्पित-न., सर्पदंश० सर्पो यत्र दन्तानामेकं द्वे बहूनि वा पदानि निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युध्दृत्य करोति, तथा च तानि चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि संक्षिप्तानि सशोफानि क्षतानि भवन्ति तत् सर्पितमिति विद्यात् (सुक. ४.१४-१६) द्र०' सर्प'

सर्पिस्-न., घृतम् (र. २०.१९-२२)

(सर्पिर्)-गुड-पु., योग० धात्रीविदारीजीवनीयादियुक्तः, गुडः स्त्यानसर्पिर्युक्तः भेषजद्रव्ययुक्तश्च यक्ष्मापस्मारमेहघ्नोऽयम् (चचि. ११.५०-५५)
योग० पुनर्नवा बलाविदार्यादियुक्तः, शोषे कासे क्षतक्षीणे रक्तनिष्ठीवनादौ च हितम् (चचि. ११.५६-६१)

-द्रोणी-स्त्री., उपक्रम० बद्धगुदे परिस्राविणि च उदररोगे शल्यकर्मानन्तरं व्रणित्वेनाऽऽध्मानक्लेशनिवृत्यर्थमुपयुज्यते (सुचि, १४,१७)

-मण्ड-पु., विलीनघृतस्य घनीभूत उपरितनो भागो मण्डः (सुसू. ४५.१०६)

-मेह-पु., रोग० वातजप्रमेहभेदः द्र० ' प्रमेह ' (सुनि. ६.१२)

(सर्पिष्)-पान-न., उपक्रम० वातपित्तोत्तरे ज्वरे मन्द-कफे, परिपक्वेषु दोषेषु ज्वरशान्त्यर्थं घृतपानं प्रशस्यते (चचि. ३.१६४-६५; असंसू. १३.४)

-मती-वि., घृतयुक्ता (यवागूः) (चसू. २.२६)

सर्व-वि., अखिलम् (सुउ. ३९.७)

-कायचिकित्सा-स्त्री., सर्वस्मिन् देहे करणीया चिकित्सा अखिलदेहचिकित्सितम् (सुउ. ३९.७)

-कुष्ठान्तकृत्तैल-न., तैल० कृष्णाऽभ्रकं गन्धकं नीलज्योतीरसं पारदं कडुणीनिम्बकार्पासबीजानां च तैलमित्येतत्सर्वमयःखल्वे मर्दयेत् । बहिरन्तश्चोप-योजयेत् । फलं-सर्वकुष्ठविनाशः (र. २०.४७-४८)

-कोप-पु., सर्वदोषाणां वृद्धिः (अहसू. १३.१५)

-क्षम-वि., सर्वरसाभ्यासक्षमः, च (चसि. १२.९)

-क्षार-पु., लवण० (रा. ६.५७)

-क्षीरी-स्त्री., वनस्पति० क्षीरिणी (ध. १.२४२)

-गत-वि., सर्वव्यापी, विभुः साङ्ख्ये चरके चाऽऽत्मा विभुर्नित्यश्च । सुश्रुतमते पुरुष असर्वगतो नित्यश्च (सुशा. १.१६)

-गतत्व-न., सर्वशरीरावयवगतत्वम् (चवि. ५.४)

-गतरोगविज्ञानीय-वि., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ६)

-गन्ध-पु., गन्धयुक्तानि सर्वद्रव्याणि, एलाऽगरु-चन्दनकस्तूरीकर्पूरतुरुष्कादीनि (चचि. २८.१७४-१५०-५४)

-गन्धवर्ग-पु., एलादिपठितानां गन्धद्रव्याणां समूहः (असंसू. ८.७२)

-गन्धादि-पु., एलादयः, कटुकफलादय इत्यन्ये (सुचि. ३.५९; सुसू. ३८.२४) द्र० 'एलादि'

-गन्धाम्बु-न., सर्वसुगन्धिद्रव्ययुक्तमुदकम् (असंसू. ८.९४)

-गन्धोदक-न.,सर्वसुगन्धिद्रव्ययुक्तं जलम् (असंसू. १)

-गुणसमुदित-वि., सर्वप्रकृतिधृक्तप्रशस्तगुणयुक्तः (चवि. ८.१००)

-ग्रन्थिक-न., वनस्पति० पिप्पलीमूलम् (ध.२.७५)

-ग्रह-पु., सस्याऽऽहारस्य प्रमाणग्रहणम्, एकपिण्डेन सर्वग्रहः (चवि. १.२२(४)

-चक्षुस्-न., सर्वं च तत् चक्षुश्च सर्वप्रमाणम् (चवि. ३.३६)

-ज-पु., व्याधिभेदः, त्रिदोषजः सान्निपातिको वा (र. २९.१३८-४०)

-जनप्रिया-स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५)

-ज्वरान्तक-पु., योग० हरितालं ताम्रभस्म लोह-भस्म पिप्पलीतुत्थमभ्रकभस्म कान्तलोहभस्म नाग-भस्म पुनर्नवाचूर्णं चेत्येतेषां समभागिकानां भृङ्ग-राजकासमर्दपुनर्नवामहार्कपत्ररसैरवघर्षणाद्वालुका-यन्त्रे च परिपचनाज्जायमानो योगः सर्वज्वराणां च विनाशनः (र. १२.४८)

-तन्त्रसामान्य-न., सौश्रुते शल्यतन्त्रेऽपि सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः कृतः, यथा शालाक्या-दीनां सामान्यात् तुल्यत्वात् (सुसू. २४.४)

-तन्त्रसिद्धान्त-पु., सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिं-स्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं; यथा सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः, सन्ति सिध्युपायाः साध्यानामिति (चवि. ८.३७)

-तिक्ता-स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.३५)

-दोषसमीरण-वि., सर्वदोषकोपनः, सर्वदोषप्रको-पकः (चसू. २७.२१३)

-धान्यकृतयूष-पु., यूष० अयूषयोनित्वाच्छूकधान्य-कुधान्ये विहाय मुद्गादिशमीधान्यानामपथ्यवर्ज्यं यूषः । अयं तन्त्रान्तरे नवमुष्टिनाम्नाऽभिहतः (सुसू. ४६.३७५)

-पच-वि., सर्वं पचतीति (चसि. १.१२-१३; अहसू. १८.३०; असंसू. २७.२४)

-पावक-पु., सर्वे च ते पावकाश्च सर्वपावकाः । जाठराग्निभूताग्निधात्वग्नयः (अहसू. ४.३०)

-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७)

-बुद्ध्यङ्गहीन-वि., ऊहाऽपोहविचारस्मृत्यादिभिः हीनम् (चशा. ४.३९(३)

-भूतचिन्ताशारीर-न., अध्यायसंज्ञा० सुश्रुतशारीर-तन्त्रे प्रथमोऽध्यायः, सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि महाभूतानि पृथिव्यादीनि वा, तेषां चिन्ता । हेतुस्वलक्षणकार्यैश्चिन्तनमस्मिन् अध्यायेऽस्तीति (सुशा. १.१)

-भूतप्रमर्दिनी-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (ध. १.१८६)

-मार्गानुसारिणी-वि., सर्वमार्गाः कोष्ठसंधिमर्म-शाखास्ता (मात्रा) अनुसर्तुं शीलमस्येति (चसू. १३.३४)

-रसप्रत्यनीक-वि., मधुरादिषड्रसानां प्रत्यनीको

विपक्षउच्छेदक इत्यर्थः। यथा–सर्वरसविरुद्धो लवणो रसः (सुसू. ४२.९(३)

-रससात्म्य–वि., षण्णां रसानां सात्म्यं यस्य, सः (चवि. ८.११८)

-रसाभ्यास–पु., षड्रसानां सेवनम्, तत् बलकराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३.३)

-रोगाग्रज–वि., सर्वशारीररोगाणां श्रेष्ठः (ज्वरः) (चचि. ३.४)

-रोगाधिपति–पु., सर्वरोगाणामधिपतिः (ज्वरः) (चनि. १.३५)

-लवण–न., भैषज्य० लवणम् (रा. ६.५१)

-लोक–पु., सर्वप्राणिनः उद्भिज्जाश्च, षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः (चशा. ५.७)

-लोकाश्रय–पु., योग० पारदगन्धकौ पले पलार्धं माक्षिकहरितालै, वत्सनाभरसके, प्रत्येकं कर्षं सर्वं संमर्द्य कूष्यां पाचयेत्। कफवातजरोगानर्शांसि शोफं पाण्डुं राजयक्ष्माणं शूलं ज्वरं च नाशयति। जठराग्निं च दीपयति (र. १५.१७-२४)

-वातारि–पु., पारदयोग० हरितालमनःशिलामाक्षिकादियुक्तः, अशीतिवातव्याधिनाशनः, गुल्माग्निमांद्यकृमिहिक्कादिनाशनः (र. २१.११७-२२)

-विमुक्तसंधि–वि., यस्य सर्वेऽपि संधयः प्रशिथिलीभूताः, एतादृशो नरः प्रशिथिलाखिलसन्धिः (सुउ. ५६.११)

-वृत्ता–वि., पाशरहिता (सूची) (अहसू. २६.२२)

-श्वेता–स्त्री., कीट० गलगोलिकाभेदः (सुक.८.२९)

-संन्यास–पु., सर्वक्रियात्यागः (चक.) स हि परमसुखमोक्षहेतुः (चक.) सुखानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)

-सर–पु., मुखरोग० मुखदन्तौष्ठादि सप्तस्थानानां व्यापकतया सर्वसरत्वं ज्ञेयम् (मधुकोश.) वातपित्तकफशोणितभिन्नाश्चत्वारः सर्वसराः यस्य वदनं सतोदैः स्फोटैः समन्तादाचितं, स वातजः सर्वसरः। यस्य तु सदाहैस्तनुभिः सपीतै रक्तैः स्फोटैः वदनमाचितं, स पित्तजः सर्वसरः। यत्र यस्य च वदनमल्परुजैः कण्डूयुतैः सवर्णैः स्फोटैराचितं, स कफजः सर्वसरः। रक्तजः सर्वसरो मुखपाकसंज्ञः, स पित्तोदित एक एव (सुनि. १६.६५-६६) सर्वं सरतीति सर्वसरः (सुचि. २३.३)

-सरत्व–न., सर्वाङ्गव्यापित्वम् (चचि. २९.१३)

-सह–वि., सर्वरसाभ्यासक्षमः सर्वचेष्टाक्षमः च (चसि. १२.९; टिप्पणी–पाठान्तरम्)

-हित–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३६)

सर्वतोभद्र–पु., छेदविशेषः, सर्वतश्छेदः (असंसू. ३३) वनस्पति० निम्बः (ध. १.२९)

(सर्वतोभद्रा)–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७)

सर्वतोभद्रक–पु., छेदविशेषः, अयं भगन्दरशस्त्रकर्मणि क्रियते (सुचि. ८.१०)

(सर्वतोभद्रिका)–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७)

सर्वतोमुख–न., जलम् (रा. १४.३१८)

सर्वाक्षिगतरोग–पु., नेत्ररोग० एते सप्तदश–चत्वारः स्यन्दाः (अभिष्यन्दाः), चत्वारश्चाधिमन्थाः, द्वौ पाकौ, हताधिमन्थोऽनिलपर्ययः शुष्काक्षिपाकोऽन्यतो वातोऽम्लाध्युषिता दृष्टिः सिराणामुत्पातः, सिराणां हर्ष इति (सुउ. ६.३-४)

सर्वागार–न., सर्वसंपन्नं गृहम् (सुशा. १०.५)

सर्वाङ्गग्रहण–न., लक्षण० वेदनया सर्वेषामङ्गानां बद्धत्ववद् अनुभवः (सुउ. ३९.१३-१४)

सर्वाङ्गरोग–पु., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः, सर्वं देहं संकोचयति वातः, तोदशूले च करोति (चसू. २०.११) पक्षवधस्येव संप्राप्त्यादि ज्ञेयम्। सर्वकायाश्रितो वायुः सिराः स्नायूः विशोष्य संधिबन्धान् विमोक्षयन् संपूर्णमङ्गं विचेतनमकर्मण्यं च करोति (असंनि. १५.४३)

सर्वाङ्गशोफ–पु., लक्षण० सर्वाङ्गव्यापकः शोफः (असंसू. ३६.८)

सर्वाङ्गसारिन्–वि., सर्वाङ्गप्रसारी (शोफः) (सुनि. १०.३)

सर्वाङ्गसुन्दर–पु., पारदयोग० अभ्रकगन्धकत्र्यूषणहिङ्गुगुग्गुलादियुक्तः, अयं गुल्मशूलसन्निपातज्वरप्लीहाग्रहणीरोगनाशनः (र. १८.७८-८२)

(सर्वाङ्गसुन्दरा)–स्त्री., वाग्भटकृताऽष्टाङ्गहृदस्याऽरुणदत्तनाम्ना टीकारेण विरचिता टीका सर्वाङ्गसुन्दरा इति ख्याता (अरु. अहसू. १.१)

सर्वात्मन्–वि., सर्वहेतुः सर्वकारणस्वरूपः (वायुः) (सुनि. १.६)

सर्वानुकारिणी–स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (ध. ९.९१) शालिपर्णी (रा. ४,११४)

सर्वानुभूति–स्त्री., वनस्पति० शुक्रभाण्डी (ध. १.२४५) त्रिवृत् (चक. ७.४)

सर्वाभाव–पु., धर्मादिचतुर्वर्गाभावः (चनि. ६.७)

सर्वामयघ्न–पु., योग० तुत्थहरिद्राकन्दगन्धकादियुक्तः, अयं सर्वरोगहरः (र. १८.२१-३०)

सर्वारोग्यवटी–स्त्री., पारदयोग० नागवत्सनाभहरितालमनःशीलादियुक्तः, अयं योगः ग्रहणीपाण्ड्वाद्यनेकव्याधिहरः (र. १६.७६)

सर्वार्थसिद्धाख्य–न., अञ्जनम् (असंसू. ८.९१)

सर्वाशय–पु., शरीरं देहः, च (चवि. २.१८)

सर्वेश्वर–पु., पारदयोग० ताम्रगन्धकाऽभ्रकलोहवत्सनाभादियुक्तः भस्मानि प्रत्येकं चतुष्पलं, कर्षमात्रं च प्रत्येकं लोहपारदयोर्भस्म स्नुह्यर्ककक्षीरैरण्डजम्बीरोशीरद्रवेण मर्दयित्वा दिनत्रयं वालुकायन्त्रे स्वेदयेत्। तत्र च पिप्पलीं कर्षमात्रां वत्सनाभं च निष्कमात्रं प्रक्षेपयेत्। मात्रा–गुञ्जा। अयं प्रसुप्तिविनाशकः (र. २०.२३-२५)

पारदयोग० गन्धताम्राभ्रलोहहिङ्गुलवज्रभस्महरितालसत्वादियुक्तः अयं मण्डलाख्यकुष्ठनाशकरः (र. २०.१८१)

पारदयोग० समुद्रफेनमृगविषाणसमुदायादियुक्तः, अयं उन्मादापस्मारनाशकः (र. २३.१७-२१)

पारदयोग० लोहहिङ्गुलादियुक्तः अयं स्पर्शवातातपनुत् (र. २१.१४-१८)

सर्वेश्वरपर्पटी–स्त्री., पारदयोग० लोहगन्धकरत्नादियुक्तः पर्पटीकल्पः, सोऽयं विद्रधिपाण्डुग्रहणीप्लीहा यकृत्प्रमेहादिनाशनः (र. १८.४-२०)

सर्षप–पु., वनस्पति० स्नेहयुक्तद्रव्यविशेषः (चसू. १३.१०) धूपनद्रव्यम् (सुसू. १९.२८) गुणाः–कटुस्तिक्तः अत्युष्णो रक्षोघ्नो रुच्यः कफवातघ्नः कृम्यामकण्डूकुष्ठश्रवणरोगशीर्षरोगवातरक्तत्वग्दोषविषभूतव्रणहरश्च (ध. ४.४२) बीजतैलं कुष्ठादिरोगहरप्रदेहे (चसू. ३.६) बीजस्योपयोगः शिरोविरेचने (चसू. २.३-५) नाडीस्वेदार्थमुपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. १४.३१) अयं शोथस्य पाचनं करोति (सुसू. ३७.९) श्वेतसर्षपः (सुचि. ५.३७)

हिं.—सर्षो, सरसो.

म.—शिरस, मोहरी.

गु.—सरशव.

बं.—सरिषा.

ता.—आवाळ.

शाक० कृमिहरः (चवि. ७.१७)

मान० षण्मरीचिसम्मितः मानविशेषः (चक. १२.८७; र. ११.२)

विष० तदिदं विषं पीतवर्णम् (र. २९.१७; अहसू. १५.१; असंसू. १४)

(सर्षपी)–स्त्री., रोग० मेहपीडका सर्षपिका (चसू. १७.८३) द्र० ' प्रमेहपीटिका '

शूकरोग० (सुचि. २१.३)

–कन्द–पु., कन्दविषभेदः (सुक. २.५)

–तैल–न., तैल० सर्षपबीजोत्थतैलम्, तच्च प्रमेहे शाकसिध्यर्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.६; ध. ६.१३०) उन्मादे नस्यत्वेन समुपयोज्यम् (सुउ. ६२.१६)

–शाक–न., शाकानामहिततमम् (चसू. २५.३९)

–स्नेह–पु., सर्षपस्य तैलम्, उन्मादे सर्षपतैलेन नस्याभ्यङ्गादिकं कार्यम् (सुउ. ६२.१६) द्र० 'सर्षपतैल.'

सर्षपक–पु., कीट० प्राणनाशनः (असंउ. ४३) शकृन्मूत्रयोरेवास्य विषमस्ति (सुक. ३.५)

सर्षपाह्वय–पु., कन्दविष० सर्षपकन्दः, अयं स्निग्धघनगुरुकर्मण्यगुणः (असंउ. ४८)

सर्षपिक–पु., सविषकीट० गुणाः– प्राणनाशनस्तेन दष्टस्य वेगज्ञानं सर्पवद्भवति तास्ताश्च तीव्रा वेदना भवन्ति, तथा च सान्निपातिकाः रोगाः जायन्ते दंशस्तु वर्णेन रक्तपीतसिताऽरुणः क्षाराग्निदग्धवच्च ज्ञेयः (सुक. ८.१५-१८)

गुह्यरोग० अस्मिन्रोगे गुदस्य बहिरन्तर्वा जाताः कफरक्तजाः सर्षपप्रमाणसंस्थाना घनाः पिटिका भवन्ति (असंउ. ३८)

(सर्षपिका)–स्त्री., रोग० प्रमेहपिटका, शीघ्रपाका, महावेदना, सर्षपाकृतिप्रमाणा सर्षपिका तद्विधाभिश्च पिटकाभिर्व्याप्ता जायते (असंनि. १०.४२)

कीट० गलगोलिकाभेदः (सुक. ८.२९)

सलवण–न., खनिज० वज्रम् (ध. ६.१३)

सलिल–न., जलम् (चक. १२.१००; ध. ६.३०२, र. २०.५४-५५)

–ज–न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४४)

–प्रकाश–वि., पु., अच्छः (सुसू. २२.८)

–रिपु–पु., वनस्पति० अगस्त्यः भल्लातकः (र.३०,४८-४९)

समुद्रशोषः (र. १७.६७-६८)
काम्भिकशाकः (र. १७.६७-६८)

सलून–पु-, कृमि० पुरीषकृमिः (असंनि. १४.५८)

सल्लक–पु., वनस्पति० सल्लकी (रा. १२.१९५)

(सल्लकी)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कषाया तिक्ता मधुरा शीता ग्राहिणी कफपित्तवातघ्नी कुष्ठरक्तविकाराऽर्श-व्रणदोषहरा च
(ध. ३.१३५; सुचि. २१.१०; असंसू. १५.३२)
हिं.—साल्ई.
म.—साळयी.
गु.—सालेडुं.
बं.—शलई.
ता.—परङ्किसाम्प्राणि.

सल्ली–स्त्री., वनस्पति. सल्लकी (रा. ११.१९५)

सव–पु., प्रसवः (का रेवतीक. ४२)

सवन–न., यज्ञः (चचि. १(४).४७)
जननम् (सुसू. ३.१२)

सवर्ण–वि., त्वक्समानवर्णः (अहसू. २९.२)

(सवर्णा)–स्त्री., सङ्कीर्णा लूता, सा चोपपादिका उच्यते (असंउ. ४४)

–करण–वि.,न., सवर्णकरणम्, स्वाभाविकवर्णापादनम् (सुचि. १.९५)

सवर्णीकरण–वि., वर्णसमानं यः करोति, सः (लेपः) (चचि. २५,११६; असंउ. ३०,)

सवातिक–वि., वातिकोत्तरवातिकः (चक्र. चचि. ८.७३) द्र० 'वातिक' 'उत्तरवातिक'

सवितृ–पु., वनस्पति० अर्कः (रा. १०.२५)

सव्यपाणि–पु., वामकरः (ड. सुचि. ३८.३)

सव्यभिचार– तन्त्रयुक्ति० अनैकान्तिको हेत्वाभासः साध्याभाववति हेतोर्वृत्तित्वम् (चवि. ८.४५)

सव्यसाचिन्–पु., वनस्पति० अर्जुनः (रा. ९.१९२)

सव्यात्तगर्भा–वि., सव्येन पार्श्वेनाऽऽत्तो गृहीतो गर्भो यया, सा (चशा. २.२४)

सव्रणशुक्र–न., नेत्ररोग० नेत्रस्य कृष्णमण्डले सूच्या विद्धमिवान्तःप्रविष्टरूपं वर्तुलं प्रतिभाति। तत्र उष्णाश्रुताऽत्यर्थं पीडा च भवति (सुउ. ५.४)

सव्रणशुक्ल–न., नेत्ररोग० सव्रणशुक्रम् (सुउ. ५.४)

सशूलक–पु., कृमि० पुरीषजः क्रिमिः (चसू. १९.४(९)

सश्यामा–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.९८)

ससंभ्रम–वि., संभ्रमेण सहितः, भीतिजनकः (चवि. ३.७(३)

ससार–पु., भैषज्य० स्फटिकः (चचि. १७.१२५)
न., अगरुभेदः, कृष्णागरु (ध. ३.२७)
द्र० 'अगरु'

सस्नेह–वि., ईषत् स्निग्धम् (चसू. १.६०)

सस्य–न., खनिज० सस्यकं तुत्थम् (र. २.१३८)
निस्तुषमपक्वं धान्यम् (र. २.४७-४८; असंसू. ४.३९)

–संवरक–पु., वनस्पति० सर्जकः (ध. ५.१२३)

–संवरण–पु., वनस्पति० जरणद्रुमः (रा परि. ९.१३)

सस्यक–न., खनिज० महारसेष्वेकम् (ध परि. ६.१)
तुत्थखनिजसाररूपम् (र. ६.४३) तुत्थकम् (र. २.१)

सह–पु., कालविभाग० मासः मार्गशीर्षः (चक्र. चसि. ६.५)
भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८)

(सहा)–स्त्री., वनस्पति० तरणी (ध. ५.१४५)
माषपर्णी (सुचि. ५.१२)
मुद्गपर्णी (ड. सुक. ७.२०-२१; र. ११.९०-९२)
जीमूतकः (रा. ३.२४३)

–कार–पु., वनस्पति० आम्रः (ध. ५.१; असंउ. २०; अहसू. ३ १२)

–कारतैल–न., तैल० आम्रफलमज्जस्नेहः (सुउ. ४५.१२७; ध. ६.१४३)

–काररस–पु., आम्ररसः (असंसू. ७.१९०-९१)

–चर–पु., वनस्पति० झिण्टी (चचि. २६.२६४; सुसू. ३९.७)

(–चरी)–स्त्री., वनस्पति० कुरण्टः (रा. १०.४१९)

–चरद्वय–न., कण्टशेलुद्वयम् (सुसू. ३८.१२-१३)

–चारिन्–वि., सहयायी (चसू. २७.४३)

–ज–वि., जन्मबलप्रवृत्तम् (सुनि. १३.४४)
न्यच्छोल्बकाद्योरोगः

–जसात्म्य–न., स्वाभाविकसात्म्यीभावः (चचि. २६.२९३)

–देव–पु., वनस्पति० नीलिनी (ध. १.२३३)

(–देवा)–स्त्री., बलाभेदः (सुशा. २.३२)
वनस्पति० गाङ्गेरुकी (ड. सुचि. ५.१२) गुणाः–मधुराम्ला कषाया उष्णा गुरुः कटुस्तिक्ता वातघ्नी व्रणपित्तविकारजिच्च (ध. १.२८५; असंशा. १.६१)
महाबला (ध. १.२८२)

(-देवी)-स्त्री., वनस्पति० महाबला (ध. १.२८२; र. १३.१३-१५)

सहस्-पु., कालविभाग० मार्गशीर्षः मासः (चक्र. चचि. १.(२)९३; असंउ. ४९)

सहसा-(अव्य.) झटिति (अहसू. ७.४९) अविमृश्यैव (ड. सुउ. ४७.४९)

सहस्य-पु., कालविभाग० पौषमासः (चचि. १(२)१३; सुसू. ६.६; असंउ. ४९)

-**प्रथम**-वि., कालविभाग० सहस्यः पौषः, तस्य प्रथमः (मार्गशीर्षः) (चसू. ७.४६)

सहस्र-न., सङ्ख्या० दशशतम् (रा. ८.२३०)

-**काण्डा**-स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः, श्वेतदूर्वा (रा. ८.२३०) द्र० 'दूर्वा'

-**दंष्ट्र**-पु., मत्स्य० महापाठीनो नादेयः (सुसू. ४६.११३)

-**धौतघृत**-न., घृत० जलेन ताम्रादिपात्रे सहस्रवारं धौतं घृतम् तच्च दाहज्वरशमनार्थमुपयुक्तम् (चचि. ३.२५७)

-**पत्र**-न., वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४४; असंसू. २१.५)

-**पर्वन्**-स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः श्वेतदूर्वा (रा. ८.२३०) द्र० 'दूर्वा'

-**पाक**-वि., सहस्रवारं कृतः पाकसंस्कारः यस्य, सः (स्नेहः) (चवि. ६.१६)

वि., सहस्रधा कृतपाकम् (घृतम्) (चवि. १(२).४)

-**पाक**-न., संस्कार० सहस्रवारं पाचितं तैलम् (सुचि. ४.२९)

-**मूर्धन्**-वि., सहस्रमूर्धानमिति सहस्रशीर्षा इत्यादि वेदप्रतिपादितः । नामसहस्रेण इत्यादि महाभारतोक्ता नामसहस्रेण प्रतिपादितः (विष्णुः) (चक्र. चचि. ३.३११)

-**मूली**-स्त्री., वनस्पति० द्रवन्ती (रा. ५. ३४७)

-**वीर्य**-वि., बहुतरशक्तियुक्तम् (अहसू. ५.३९)

(-**वीर्या**)स्त्री., वनस्पति० दूर्वा च (चसि. १२.१९(३) श्वेतदूर्वा (सुसू. १९.२९) द्र० 'दूर्वा' शतावरी (ध. १.२९३)

-**वेध**-न., आसुत० सूक्तम् (ध. ६.२४६)

-**वेधिन्**-न., निर्यास० हिङ्गु (रा. ६.६०)

पु., वनस्पति० अम्लवेतसः (रा.६. १४८)

भैषज्य० कस्तूरिका (रा. १२.४७)

-**संपाताभिहुत**-पु., संस्कार० हवनम्, सहस्रसंपातामिहुतं कृत्वा सहस्रसंपाताध्याय ऋग्वेदे पठ्यते, तैः मन्त्रैः सहस्र हुत्वोपयुञ्जीत । जेज्जटस्तु-संपातशब्देन यज्ञिकानां स्रवणं तथा हि आहार्यं संस्कृत्य द्रव्याणि हूयन्ते, हुत्वा हुत्वा च पानीयादिपूर्णपात्रे संस्राव्यन्ते । एतदुक्तं भवति; सहस्रसंपतनं, यस्मिन्नभिहुते तत्तथा, तत्कृत्वोपयुञ्जीतेत्यर्थः । गयीतु अथर्ववद्भिः संपातक्रमेणौषधाऽधिकारिणा मन्त्रेण त्रिपदा गायत्र्या वा प्राक्तनकर्मक्षयार्थं विघ्नशान्त्यर्थमभिमताशीप्राप्त्यर्थं वा सहस्राभिहुतं कृत्वा द्रव्याणि प्रयुञ्जन्ते (ड सुचि. २७.८)

सहस्रांशी-स्त्री., वनस्पति०पीलुः (ध. ५.५१)

सहस्राक्ष-पु., देवता० इन्द्रः (चसू. १.१८; र. ७.१-२, अहसू. १.३)

सहस्राक्षदिश्-स्त्री., इन्द्रस्य नाम इंद्रेणाधिष्ठिता दिशा, प्राची (र. ७.१-२)

सहा-स्त्री., वनस्पति० तरणी (ध. प. १४५ पृ. १९९)

-**चर**-पु., वनस्पति० सहचरः (ध. १.२७८)

सैरेयः (चचि. २८.१६१; अहसू. १५.२४)

नीलपीतझिण्टी (असंचि. ५; सुचि. ३७.२०)

-**द्वय**-न., शिम्बीधान्य० मुद्गपर्णी माषपर्णी च (अहसू. १०.२४; सुसू. ४६.४६)

सहाय-पु., मित्रम् (असंसू. ३.४३)

सहिष्णु-वि., क्षमायुक्तः (सुउ. ६०.११; सुशा. ४.७२)

-**ता**-स्त्री., (परिव०) सहनशीलता अक्रोधनत्वम् (सुउ. ६०.४)

सह्य-पु., पर्वतः सह्याद्रिः (सुचि. २९.२७; अहसू. ५.११)

सांकथ्य-न., कथनम् (चचि. २४.४५)

सांकृत्य-पु., ऋषि० (चसू. १.११)

सांकृत्यायन-पु., महर्षि० कुशः (चसू. १२.४)

सांकोचकविष-न., कन्दविष० (असंउ. ४०)

सांख्य-पु., तत्त्वज्ञः सांख्यदर्शनज्ञः (चशा. १.१५१) ऋषि० रोगापहरणचिन्तनार्थं हिमवतः पार्श्वे समेतेषु महर्षिष्वेकः (चसू. १.८)

न., सांख्यदर्शनम् (चशा. १.१५१)

सांग्राहिक-वि., ग्राही (चचि. १९.५६; सुसू. ४१.६) अतिसारप्रवाहिकानिश्चारकादिविनाशकः (सुउ. ४०.१४७)

(**सांग्राहिकी**)-वि., पुरीषसंग्रहकारिणी (यवागूः) (चसू. २.२८)

सांध्यकुसुमा–स्त्री., वनस्पति० त्रिसंधिः (रा परि. १०.३७)

सांनिध्य–न., आश्रितत्वम् (ड सुशा. ३.३)
संयोगः (सुशा. २.३३)

सांनिपातिक–वि., त्रिदोषजः (ज्वरादिः) (चनि. १.२९)

सांनिपातिकोदर–पु., रोग० उदरभेदः, दूष्योदरम् (सुचि. १४.३)

सांपन्निक–वि., संपन्न एव सांपन्निकः (चचि. १(४).३)

सांसर्गीक्रिया–(परिव.) स्त्री., पेयादिक्रमः (चचि. १९.६१)

साकुरुण्ड–पु., वनस्पति० गुणाः–कषायः लघुः रुचिकृद्दीपनः, वस्त्ररञ्जनकः, श्लेष्मवातापहारी च (रा परि. ६.१६)

साक्तुक–पु., कन्दविष० (असंउ. ४०) तच्च स्निग्धं घनं गुरु कर्मण्यं च (असंउ. ४८.)

साक्षिन्–वि., द्रष्टा (चशा. १.५) ज्ञाता (सुशा. ३.४)

(साक्षि)-भूत–वि., साक्षिसदृशः (चशा. १.१०)

साग–पु., वनस्पति० गुणाः–मधुरः कषायः कफघ्नः पित्तदाहश्रमापहः रुच्यश्च (ध. परि. ५.३)
हिं.—सागवन.
म.—साग.
गु.—साग.
बं.—शेगुनगाछ.
ता.—टेक्कू.

सागर–पु., लवण० सामुद्रलवणम् (र. २०.२२२.)
भैषज्य० समुद्रफलम् (र. २०.२२२)
–ज–न., लवण० सामुद्रलवणम् (ध. २.३४)
भैषज्य० समुद्रफेनम् (ध. ३. १५४)
–संस्पर्शन–न., सागरजलस्य सागरवातस्य वा संस्पर्शः (चसू. १८.४)

सागराम्भस्–न., सामुद्रं जलम् (अहसू. ५.१२)

सागरालय–पु., सर्प० दिव्यसर्पः (असंउ. ४१)

सागरेन्दुमता–स्त्री.,वनस्पति० नागरमुस्ता (रा. ६.६२)

सातला–स्त्री., वनस्पति० चर्मकशा (चक्र. चक. ७.५७; र. २६.२९) गुणाः– तिक्ता कषाया लघुः शोधनकरी वातला रक्तविकारशोफोदराऽऽध्मानविसर्पकुष्ठविस्फोटव्रणशोफहरा च (ध. १.२३८)
हिं.—सातला.
म.—निवडुंगाचा भेद.
गु.—सातेर.
बं.—सिजविशेष.
फा.—एशन्.
एक वनस्पती.

सातिसार–वि., अतीसारव्याधियुक्तः (चसू. १४.१६)

सात्म्य–वि., उचितम् (र. ३०.११०)
न., सात्म्यं नाम तद् यत्सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते (चवि.८.११८) यदात्मन्युपशेते तत् सात्म्यम् (चवि. १.२०) यो रसो निषेवितः यस्य सुखायैव कल्पते, तत्सात्म्यमिति-निर्दिशेत् । एवं व्यायामजातमन्यद्वा सात्म्यमिति निर्दिशेत् । सात्म्यानि तु देशकालजातिऋतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति । तत्र देशसात्म्यं यथा–देशो हि द्विविधो, भूमिरातुरशरीरं च । तत्राऽऽतुरशरीरसात्म्यं द्विविधं समुदायस्यैकमन्यदवयवस्य । तत्र समुदायस्य यथा–मधुरो रसः सर्वधातुवर्धनः, अवयवसात्म्यं यथा-चक्षुष्यकेश्यकण्ठ्यादिद्रव्यम् । भूमिसात्म्यमपि समुदायैकदेशभेदेन द्विविधं; तत्र समुदायस्य सात्म्यं यथा–जाङ्गलदेशे यौ आहाराचारौ तौ अनूपे विपरीतौ । देशावयवानामपि यथा–बाह्लीकपल्लवचीनादीनां माषगोधूममाध्वीकादिभिः सात्म्यम् । जातिसात्म्यं यथा–मनुष्यजातेः सात्म्यं शाल्यादयः, मृगपक्षिजातीनां च तृणपतङ्गादीनि । ऋतुसात्म्यं यथा–ऋत्वभिहितमन्नपानादि । रोगसात्म्यं यथा–गुल्मिनां क्षीरम्, उदावर्तिनां घृतम् प्रमेहिणां क्षौद्रमित्यादि (ड. सुसू. ३५.४०) यदौचित्यान्नामाभ्यासाद्विषमिवाऽऽशीविषस्य नोपघातकं भवतीति भावः । देशानां गुणैः विपरीतगुणं देशसात्म्यं भवति । यथाऽनूपादिदेशानां स्नेहगौरवादिभिर्गुणैः सह विपरीतगुणम् । रौक्ष्यलाघवयुक्तं जाङ्गलमांसमध्वादिरोगाणां गुणैर्विपरीतगुणं रोगसात्म्यं तत् (चसू. ६.४९.५०) औचित्याद्यस्य पुरुषस्य देशस्य यदपथ्यं सात्म्यं तद् एकान्तात् त्यजन् न सुखं लभते। बाह्लीकाः पल्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः सन्ति । प्राच्याः मत्स्यसात्म्याः, सैन्धवाः क्षीरसात्म्याः, अश्मकाऽऽवन्तिकानां तु तैलाऽम्लं सात्म्यमित्युच्यते । मलयवासिनां कन्दमूलफलं, दक्षिणापथे सात्म्यं पेया, उत्तरे पश्चिमे च मन्थः सात्म्यम् । मध्यदेशे यवगोधूमगोरसाः सात्म्यम् । एतेषां तत्तत्सात्म्ययुक्तानि भेषजान्यव-

चारयेत् । सात्म्यमाशु बलं धत्ते । बह्वपि नातिदोषं भवति (चचि. ३०.३१७-२०) सात्म्यं नामोपशयः, औषधान्नविहाराणां सुखावह उपयोगो व्याधिसात्म्यम् (अहनि. १.६-७) सात्म्यमुपशयविशेषेण परीक्षेत (चवि.४.८) असात्म्यमिति तं विद्याद्यन्न याति सहात्मताम्
आहारद्रव्य० तक्रम् (ध. ६.२११)
उचितम् (र.३०.११०)

–ज–न., सात्म्यजन्यो भावः (असंशा. ५.१७)

–ज्ञ–वि., सात्म्यं यो जानाति सः सात्म्याभिज्ञः (चसू. २७. ३४७)

–विकार–पु., अपथ्यमपि सात्म्यं सहसा त्यक्तं विकारं करोति, एवं जातो विकारः सात्म्यविकार इत्युच्यते (अहसू. ७.४९)

–विरुद्ध–न., कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनं सात्म्यविरुद्धम् (चसू. २६.९२)

–संपद्–स्त्री., उत्कृष्ट सात्म्यम्, सात्म्योत्कर्षः (चशा. ६.१३)

सात्म्यीभाव–पु., सात्म्यस्य भावः (चशा. ८.४८)

सात्त्विक–वि., सत्त्वगुणयुक्ता प्रकृतिः सत्त्वगुणयुक्तपुरुषः (सुशा. १.१८)
ऋषि० सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः आचार्यः (र. १.२-५)

–काय–पु.. सात्विकस्वभावः (सुशा. ४.८८)

साद–पु., लक्षण० सदनम् अवसन्नत्वम् (चसू. २०.१२; सुउ. ४४.३८) ऊरुसदनम् (चनि. १.२१) दौर्बल्यम् (चचि. १६.२४, अहसू. १२.४९) ग्लानिः (ड. सुउ. ४०.११)

सादनी–स्त्री., वनस्पति० कटुका (रा. ६.५५)

सादिन्–पु., रोगलक्षण० अंगग्लानियुक्तः सादः सदनम् (ड. सुउ. ४०.११)

सादृश्य–न., समानधर्मत्वम्, तद्भिन्नत्वे सति तद्वतभूयोधर्मवत्त्वम् (चवि. ८.४२)

साद्गुण्य–न., प्रशस्तगुणयोगिता (चवि. १.२५. (१)

साधक–पु., चिकित्सकः (सुउ. ३९.२३७)
वि., सिद्धिकारकम् (अर्सू. १३.३) सिद्धिदायकः (अहसू. १९.३६)
पु., रससाधनकारकः (र. ७.२५)
न., यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा (सुसू. २१.१०)

–पित्त–न., पित्तभेदः यत् पित्तं हृदि स्थितं बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेताऽर्थसाधनं करोति, तत् (अहसू. १२.१४)

साधन–न., चिकित्सा चिकित्सितम्
(ड सुउ. २७.३; चचि. २१.४३; अहसू. १२.३१)

साधनोपाय–पु., सिद्धेरुपायः (सुचि. ६.३)

साधर्म्य–न., सादृश्यम् (च. वि. ८.३६; सुशा. १९.)

साधारण–पु., देश० तत्र साधारणो जाङ्गलानूपोभयदेशलक्षणयुक्तः प्रदेशः (चवि. ३.४८; अहसू. ३.४४)

–ऋतु–पु., शरत्कालः (सुचि. ३.८)

–कर्मन्–न., दैवव्यपाश्रया युक्तिव्यपाश्रया च चिकित्सा (चक्र.) तृतीयकचतुर्थकयोः सफला भवति (चचि. ३.२९२)

–काल–पु., नातिशीतोष्णकालः (अहसू. १८.१२)

–तोय–न., साधारणदेशस्थं जलम्, गुणाः– पाकेऽविदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्धनं दीपनं स्वादु लघु च (सुसू. ४५.३९)

–देश–पु., देश० अनूपजाङ्गलयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्यशकुनिमृगगणयुतः स्थिरसुकुमारबलवर्णसंहननोपपन्नसाधारणगुणयुक्तपुरुषः साधारणो ज्ञेयः (चक. १.८) यस्मिन् देशे शीतवर्षोष्ममारुताः समाः जन्तोर्दोषाणां च समताऽस्ति, स देशः साधारण इत्युच्यते (सुसू. ३५.४३; अहसू. १.२४)

–मास–पु., ऋतुसंधिस्वरूपो मासः साधारणमासः श्रावणः कार्तिकश्चैत्रश्चेत्येते त्रयः (अहसू. १३.३३)

–मृत्तिका–स्त्री., सर्वमूषाणां निर्माणाय साधारणतयोपयुज्यमाना मृत्तिका, या दग्धतुषैः शणेन कोकिलचूर्णैरश्वमलेन च सहैकत्र लोहदण्डेन कुट्टयित्वा जायते (र. १०.८)

–रस–पु., कम्पिल्लश्चपलो नवसागरो गौरीपाषाणः कपर्दो वह्निजारो गिरिसिन्दूरहिङ्गुलौ बोदारशृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसाः (ध. ७.९४-९५) मातुलुङ्गशृङ्गवेररसेन त्रिरात्रं भाविताः कम्पिल्लकादयः साधारणरसाः शुष्का दोषवर्जिताः शुद्धा भवन्ति (र. ३.१६४)

–लक्षण–वि., शीतादिलक्षणं साधारणं यस्मिन् सः (ऋतुः) (चवि. ८.१२५-१२६)

–विधि–पु., सर्वदोषशमनः (चसू. ६.३५)

साधित–वि., पाचितम् (अहसू. ७.३७)

साधु–पु., वनस्पति० दमनभेदः द्र० 'दमन' (ध. ३.६६)

(साध्वी)–स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१)
–गन्धिक–पु., वनस्पति० दमनभेदः द्र० ' दमनः ' (ध. ३.६६)
–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० धातकी (रा. ६.१५२)
–वृक्ष–पु., वनस्पति० वरुणः (रा. ९.१९६)
साधुक–पु., वनस्पति० दमनभेदः द्र० ' दमन ' (ध. ३.६६)
साध्य–वि., निवारयितुं प्रतिकर्तुं शक्यः (चसू. १.६२)
साध्यव्याधियुक्तः (सुसू. ३४.२१; अहसू. १.२९)
पाचनीयम् (चचि. १.४५)
पु., वृश्चिक० साध्यसंज्ञाद्वृश्चिकात् (तस्य दंशात्) शेफः स्तम्भो हृष्टरोमता च भवति । तस्य दंशः शीताऽम्बुनेवाङ्गानां सेकं करोति (असंउ. ४३)
साध्यासाध्यत्व–न., साध्योऽसाध्यश्चेति द्विधा व्याधिः तौ पुनर्द्विविधौ–सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्चेति द्विधा साध्यः । याप्योऽनुपक्रमश्चेति द्विधाऽसाध्यः । तत्र सुसाध्यस्य लक्षणम्–यो व्याधिः सर्वौषधक्षमे देहे, यूनः पुंसो जितात्मनः देहे जातोऽमर्मगोऽल्पहेत्वल्प पूर्वरूपोऽल्परूपोऽनुपद्रवोऽतुल्यदूष्योऽतुल्यदेशोऽतुल्यर्तुरतुल्यप्रकृतिश्च तथैव भिषगादिचतुष्पादसंपदि सत्यामनुगुणेषु ग्रहेषु सत्सु जात एकदोष एकमार्गो नवश्चार्यं सुखसाध्य इत्यप्युच्यते । सुसाध्यलक्षणाद्यो द्वित्रिविपर्यये स्थितः, स कृच्छ्रसाध्यः । साध्यलक्षणविपरीतत्वे सति आयुषः शेषत्वाद्यो मारयितुमसमर्थः पथ्यैश्चाहारविहारैः यश्च यापनीयः, स याप्यः । यो व्याधिः सुखसाध्यलक्षणाऽत्यन्तविपर्यये स्थितः यश्चौत्सुक्यमोहारतिकृच्यश्च दृष्टरिष्टः यश्च सर्वेन्द्रियविघाती स अनुपक्रम एव स्यात् । इति सर्वेषां व्याधीनां साध्याऽसाध्यत्वं विद्यते (अहसू. १.३०–३६)
सानन्द–पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा. ९.१८४)
सानुज–पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.२)
न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (रा. १२.१५४)
सानुजानुज–न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२)
सानुशय–वि., सहानुशयेन रागादिना वर्तते इति सानुशयः (आत्मा) (चशा. २.३२)
सान्तर्दोष–वि., अभ्यन्तरं पूयसहितम् (सुसू. १५.३८)
सान्त्वपरायण–वि., सान्त्वपरायणः (असंसू. ३.५)
सान्द्र–वि. घनः, निरन्तरः (चशा. ६.१०;) अहसू. १.१८)
वि., गुण० अस्य प्रसादने शक्तिः (हे. अहसू. १.१८)
न., आहारद्रव्य० मथितम् द्र० ' दधि ' (ध. ६.१८९)
–ता–स्त्री., घनता, (सुसू. ११.१७; अहसू. १९.४०)
–प्रसादमेह–पु., रोग० प्रमेहभेदः सोऽसौ कफदोषप्रधानः (चनि. ४.१०) द्र० ' प्रमेह '
–मूत्र–वि., सान्द्रं मूत्रं यस्य सः (चइ. ६.१६)
–मेह–पु., रोग० यस्मिन् पर्युषितं सान्द्रीभवत्सान्द्रमेही मेहति (असंनि. १०.१२)
सापिधान–वि., सावरणः (घटः) (सुचि. २५.२९)
सामक–न., धान्य० श्यामाकः (काखिल. ११.१३५)
सामग्र्य–न., सामग्री, संकलनमेकत्रीकरणमनुपघातः (ड. सुशा. २.३३)
सामज्वर–पु., ज्वरावस्था, आमदोषयुक्तो ज्वरः (चचि. ३.२८४) द्र० ' ज्वर '
सामन्–न., सामवेदः (चसू. ३०.२०)
प्रियवाक्यम् (सुशा. २.२८)
सान्त्वनम् (चक्र. चसि. ६.८५)
साममल–पु., आमेन सहितो मलो नाम दोषः, सामानां मलानां लक्षणानि स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवाऽनिलमूढताः आलस्याऽपक्तिनिष्ठीवमलसङ्गाऽरुचिक्लमाः इति (अहसू. १३.२३)
सामरस–पु., अपक्वः रसः (चचि. १५.७५)
सामर्थ्य–न., प्रयोजनम् (चशा. ४.४१)
–योग–पु., शक्तियोगः शक्तिमत्त्वम् (चसू. १.१०५) समयोगः (चसू. ८.१५)
सामान्य–न., वैशेषिकाभ्युपगतानां षण्णां पदार्थानामेकतमः, जातिः (चवि. ८.२९)
अनेकासु भिन्नदेशकालासु व्यक्तिष्वेकत्वज्ञापको धर्मः (चसू. १.४४)
तुल्यार्थता (चसू. १.४५; अहसू. १२.३१; वि.,) तुल्यम् (सुचि. २२.२६)
–च्छल–न., संभवतोऽर्थस्याऽतिसामान्ययोगादसंभूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् (चवि. ८.५६)
–योग–पु., समानैकरूपार्थयोगः (चशा. ६.१०)
–विशेषसिद्धान्त–पु., सर्वस्मिन् काले सर्वभावानां द्रव्यगुणकर्मात्मकानां सामान्यं वृद्धिकारणं भवति । तथैव तेषां विशेषो ह्रासहेतुः । सामान्यमेकत्वबुद्धिकरम् । यदनेकासु भिन्नदेशकालासु गवादिव्यक्तिषु "अयं गौः, अयं गौः" इत्यादिप्रकारा एकाकारा

बुद्धिस्तत् सामान्यम् । एवमेव विशेषो व्यावृत्तबुद्धिकृत् । इदं सामान्यविशेषज्ञानं शास्त्रव्यवहारोपयोगि । तेन शास्त्रे समानानामेकस्मिन् वर्गे विशेषाणां च भिन्नभिन्नवर्गेष्वन्तर्भावः क्रियते । तुल्यकर्मता सामान्यमतुल्यकर्मता च विशेष इति शास्त्रव्यवहारः (चसू. १४४–४५) शरीरभावाः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहार विहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति । ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽऽहारविहारैरभ्यस्यमानैः (चशा. ६.९) देहे धातवो ये गुरवस्ते गुरुभिरैक्यकारितयोपचीयन्ते । लघवस्तु लघुभिः । तद्विपरीतैस्तु पृथक्त्वकारिभिरपचीयन्ते । तस्मादन्येभ्यो द्रव्येभ्योऽपि सुतरां रक्तमाप्यायते रक्तेन मांसं मांसेन मेदो मेदसा मज्जा मज्ञा शुक्रं शुक्रेणाऽऽमगर्भेण गर्भः । यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवताऽऽहारविहाराणामसान्निध्यं स्यात् । सन्निहितानां चाऽभ्यवहरणमशक्यं विरुद्धत्वात् घृणित्वादरुचिरन्यस्माद्वा कारणान्तरात्तत्र सामान्यगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामाहारविहाराणामभ्यवहारःश्रेयान् । तद्यथा शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतानामपरेषां च द्रव्याणाम् (असंसू. १९.१४)

सामि–अव्य., अर्धम् (अहसू. १२.४२)

–**भुक्त**–वि., अर्धभुक्तः कृतार्धभोजनः (अहसू. १२.४२)

सामित–वि., कृतान्न० समिता गोधूमचूर्णं, तया कृता सामितः, सामितादयः मुद्गादिन्यस्तगर्भा भवन्ति (सुसू. ४६.३९८) गोधूमचूर्णं, धवला धौताः कुट्टिताः शोधिताः प्रोक्षिता विनिस्पृष्टाश्चालिता गोधूमाः समिता इति स्मृताः (सुसू. ४४.१२-१३)

सामुद्र– शरीर० संधिविशेषः, समुद्रः संपुटस्तदाकृतौ भवाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्राः (सुशा. ५.२७; असंशा. ५.७७)

औषधकाल० यत्रादौ भेषजं ततोऽनन्तरमेवाऽऽहारः, ततोऽनन्तरमेव पुनर्भेषजं तत् (हे. अहसू. १२.३७; चचि. ३०.३०१; सुउ. ६४.७६-७७) कम्पाऽऽक्षेपकहिध्मादिविकारेषु सामुद्रं योज्यम् (अहसू. १२.४१)

सामुद्र–न., लवण० दक्षिणसमुद्रभवम् (चक्र. चसू. १-८८-८९) गुणाः– पाके मधुरं नात्युष्णमविदाहि भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलघ्नं नाऽतिपित्तलं च (सुसू. ४६.३१५; चसू. २७.३०४; ध. २.३४)

कीट० मशकः तद्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफो नखावकृष्टे पिडकादाहपाकाश्च भवन्ति (सुक. ८.३६) अवन्यधिष्ठानं जलमिति (ड.सुसू.४५.७) द्र० 'जल'

भैषज्य० समुद्रफेनम् (ध. ६.२१७)

–**ज**–न., भैषज्य० प्रवालम् (ध. ६.६४)

–**मत्स्य**–पु., मत्स्य० तिमितिमिङ्गिलकुशपाकमत्स्यनिरुलनन्दिवारलकमकरगर्गकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः । सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तला उष्णा वाताहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेमवर्धनाः, बलावहाः, विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः (सुसू. ४६.११८–१२०)

–**यन्त्र**–न., यन्त्र० लवणयन्त्रम् । लवणयन्त्रे सामुद्रलवणस्य स्थापनोक्तेः सामुद्रयन्त्रं नाम लवणयन्त्रमिव (र. १८.११४-१५)

सामुद्रक–न., लवण० सामुद्रलवणम् (चसू. २७.३०४; रा. ६.४२;)

(सामुद्रिका)–स्त्री., जलौका० सविषजलूकानामन्यतमा, सेयं चित्रपुष्पाऽऽकृतिचित्रा (सुसू. १३.११) द्र० 'जलौका'

साम्प्रत–अव्य., वर्तमानकालम् (असंसू. ८.४४)

वि., उचितम् (असंसू. ८)

साम्भर–न., लवण० औषरकं गाढलवणम् (रा. ६.४७)

साम्भार–न., लवण० औषरकम् (रा. ६.५१)

साम्य–न., परस्परतुल्यगुणता (चवि. ८.१०१)

अविकृतत्वं; यथोचितप्रमाणत्वम् (अहसू. १.२०)

साम्राणिकर्दम–न., वनस्पति० जवादि (रापरि. १२.६)

साम्राणिज–न., वनस्पति० पारेवतम् (रा. ११.९०)

साम्ला–स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (ध. ५.३३)

साम्लिका–स्त्री., वनस्पति० चिञ्चा (रा. ११.३६)

सायंसमयान्ध्य–न., रोग० रात्र्यन्ध्यम् (र. २३.६४)

सायक–पु., वनस्पति० शरः (ध. ४.१३५)

–**पुङ्खा**–स्त्री., वनस्पति० शरपुङ्खा (रा परि. ४.६)

सायमास–पु., निशि भोजनम्, नैशभोजनम् (चचि. १५.२३७)

सायाह्न–पु., संध्याकालः (अहसू. १९.३०)

सायाह्निकज्वर–(परिव०) पु., सायंकाले प्रवृत्तो ज्वरः (का खिल. ११.१४७-४९)

सार–पु., औद्भिदद्रव्येष्वेकम्, औद्भिदद्रव्यस्य त्वगन्तर्गतः

कठिनो भागः (चसू. १.७३) अन्तर्भागः (सुक. ७.३७) अन्तर्गतः प्रधानभूतोऽवयवः (सुसू. ४५.१२३)
बलम् (चवि., ८.९६)
विडादिमलरहितोंऽशः (सुसू. १४.३)
स्थिरांशः कठिनो भागः (सुशा. ५.२१)
अन्तर्भागः (सुक. ७.३७) अन्तर्गतः प्रधानभूतो अवयवः (सुसू. ४५.१२०)
कल्कः (सुचि. १८.५३)
स्वरसः (र. २०.६१-६२)
वृक्ष० शालवृक्षः सर्जकः (सुचि. २७.१२; सुचि. २२.६९)
खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकाराणामन्यतमं तत् वर्णेन पाण्डु वेगवता घनाऽऽघातेन च भङ्गुरशीलं वर्तते (र. ५.८०)
रसः, सत्वम् (र. २.२७)
क्षार० वज्रकक्षारः (रा. ६.५५)
खनिज० पारदः (र. १२.१०४)
आहारद्रव्य० नवनीतम् (रा. १५.२५७)
प्राणि० मण्डूकः; तेन दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति, मुखात् पीतफेनाऽऽगमश्च (सुक. ८.३१)
मज्जा (इ. असंउ. २९)
उपरितनः स्निग्धो भागः (सुउ. ४०.१४५)
विशुद्धतरो धातुः (चवि. ८.१०२) उत्कृष्टधातुत्व-मुत्कृष्टधातुर्वा (सुसू. ३५.१६)

(सारी)–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)
–**तैल**–न., सरलसारस्नेहः, शिंशपागरुसरलदेवदार्वादि-तैलम्, कुष्ठरोगेऽभ्यङ्गार्थं शस्यते (सुचि. २०.१७-१९)
–**द्रुम**–पु., वनस्पति० खदिरः (रा. ८.३२)
–**पद**–पु., पक्षि० अयं प्रतुदवर्गीयः (ड. सुसू. ४६.६७; असंसू. ७.७१)
–**पाक**–पु., फलविषभेदः, यस्य फलं विषमयं भवति (सुक. २.५)
–**मूषिका**–स्त्री., वनस्पति० देवदाली (रा. ३.२४३)
–**वत्**–वि., स्निग्धमभिष्यन्दि (भोज्यम्) (ड. सुउ. ३९.१५८)
–**विधमन**–वि., बलनाशनं त्वक्सारादिक्षयकरं वा (चवि. २.७)
–**विष**–न., स्थावरविष० अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयक-करघाटकरम्भनन्दननाराचकानि सप्त सारविषाणि सारविषेणास्यदौर्गन्ध्यं पारुष्यं शिरोरुक् कफसंस्र-वश्च जायते (सुक. २.५)
–**शून्य**–वि., सारहीनः प्रसादरूपबलरहितेषु (काखिल. ११.४५)
–**स्नेह**–पु., वनस्पति० तेः कठिनभागात् साधितः स्नेहः (सुचि. १.९३)

सारक–पु., वनस्पति० जेपालः (ध. १.२२७)
(सारिका)–स्त्री., प्रतुदपक्षि० तन्मांसगुणाः स्निग्धं वातलं बृंहणवीर्यवृष्यमेध्यरसायनम् (ध. ६.४५२; सुसू. ४६.६७)
हिं.—मैना.
म.—साळुंकी.
बं.—मयना.
ता.—मैना.

सारघ–न., भैषज्य० सरघा मधुमक्षिका ताभिः कृतं मधु (ध. ६.२३३; र ५.४५)
सारङ्ग–पु., गौरहरिणः, अयं मांसगणे श्रेष्ठः (ड. सुसू. ४६.३३३)
सारणा–स्त्री., संस्कार० तैलेन संभृते डमरुकाख्ययन्त्रे वेधाऽऽधिक्यसिध्यर्थं स्वर्णादिबीजनागवङ्गानां प्रक्षेपणम् (र. ८.८७)
–**तैल**–न., पारदसंस्कारोपयोगि तैलम्। तद्यथा–मञ्जिष्ठा किंशुकं रक्तचन्दनं खदिरं करवीरं देवदारुं सरलं रजनीद्वयमन्यानि रक्तपुष्पाणि लाक्षारसेन पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत्तेन बीजादिरञ्जनं कुर्यात् (र. २२.३०–३६)
–**विधि**–पु., संस्कार० सारणातैलमूषायां तैलमपगत-कल्कविमलमापूर्यास्मिन्नधिकमूष्मात्मनि द्रुतबीज-प्रक्षेपसमकालमेव समावर्जनीयः सूतवरस्तदनु सद्यो मूषामुखमाच्छादनीयमेतत्तैलाक्तपटखण्डग्रन्थि-बन्धेनारुणसितबीजाभ्यामसुना सारणकर्मणा मिलि-तश्चेत् ससारितः सम्यक्संयमितश्च विज्ञेयः, प्रतिसारितस्तु द्विगुणबीजेन, तद्वदनुसारितस्तु त्रिगुणबीजेनाऽत्र त्रिविधायामेव सारणामरुणसित-कर्मणोः क्रामणार्थमीषत्पन्नगवङ्गौ विश्राणनीयौ इति आयुर्वेदप्रकाशः (र. २२.३०–३२)
सारणी–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (र. २१.७१-७३; ध. १.२८९)
सारमेयगणाधिप–पु., कुक्कुरसमूहपतिः, अलकाधि-पतिर्यक्ष एव सारमेयगणाधिपतिः (ड. सुक. ७.६१)
सारलतैल–न.- स्नेह० सरलस्येदमिति सारलं तैलम् (ध. ६.१४०)

सारस–पु., पक्षि० प्लवगीयः, अस्याऽस्थि कफजमूत्रकृच्छ्रे उपयुक्तम् (चचि. २६.५५) गुरूष्णस्वादिगुणकः पक्षी, रक्तचञ्चुकः (ड. सुउ. ३९.१५४-१५५) लक्ष्मणो रक्तशिराः प्रसिद्धः एव (सुसू. ४६.१०५) सरोवरजलम् (सुसू. ४५.३२)
वनस्पति० कमलम् (रा. १०.२४३)

सारसाहिक–पु., निर्विषसर्प० (असंउ. ४१)

सारस्वतघृत–न., घृत० त्रिफला लक्ष्मणानन्ता ब्राह्मी सारिवादियुक्तम्, तच्च मेधास्मृत्यायुःपुष्टिबुद्धिदं रक्षोघ्नं विषघ्नं च। विषघ्नं, पानाभ्यञ्जनतो योज्यम् (असंउ. १)

सारस्वतबल–न .,परिव. मन्त्रबलम् (चक्र चचि. २४.८)

सारामुख–पु., शालि० (अहसू. ६.१)

साराम्बु–न., श्वेतखदिरजलम् (र. २९.११५; अहसू. ३.२३)

साराम्भस्–न., सारोदकम् (सुचि. २५.३३)

सारिक–वि; सारेण संस्कृतं सारिकं सारयुक्तं, संस्कृतम् (चचि. २(४).१२)

सारिकामुख–न., कीट० गुणाः–वायव्यो वातकोपनोऽयं वातरोगान् करोति (सुक. ८.५-८)

सारिणी–स्त्री; वनस्पति० कुर्शिशपा (रा. ९.२०१)
कार्पासी (रा परि. ४.४५)
महाबला (रा. ४.४२४)
पुनर्नवा (रा. ५.४०७)

सारित–न., खनिज० अञ्जनम् (ध. ३.१५१)

सारिव–पु., धान्य० शालिभेदः (अहसू. ६.२)

(सारिवा)–स्त्री., महाकषायवर्गे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०)
वर्ण्यगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१०)
दाहप्रशमनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१७)
स्तन्यशोधनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१२)
ज्वरहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६)
वनस्पति० सा द्विधा; श्वेता कृष्णा चेति। श्वेता सारिवा शीता मधुरा शुक्रला गुरुः स्निग्धा तिक्तः सुगन्धिः कुष्ठकण्डूज्वरापहा देहदौर्गन्ध्याग्निमान्द्यश्वासकासाऽरुचिहरा आमत्रिदोषविषहृद्रक्तरक्तप्रदराऽपहा कफाऽतिसारतृड्दाहरक्तपित्तहरा वातनाशकरी च (ध. १.१६१)
हिं.—अनंतमूल.
म.—दुधसालि, अनंतमूळ.
गु.—कपूरी.
बं.—अनंतमूल.
ता.—तन्नारि.

सारिवाख्य–पु., शालिधान्य० (चसू. २७.९)

सारिवादिगण–पु., सारिवामधुककचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरं चेति। 'सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः। पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः' (सुसू. ३८.३९-४०)

सारी–स्त्री., वनस्पति० सातला (ध. १.२३८)

सारोदक–न., सारो बाह्यस्त्वग्रहितो भागः, सारैः खदिरादिसारैः षडङ्गविधिना श्रृतमुदकं सारोदकं ज्ञेयम् (चचि. ६.४६)
बाह्यत्वग्रहितस्य वृक्षप्रकाण्डस्य भागः सारस्तस्य क्वाथः (सुउ. ४४.२९)

सार्जक–पु., सर्जकस्यायमिति सार्जकः, सर्जरसः (असंचि. ८)

सार्प–वि.. चित्तप्रकृति० सर्पसदृशस्वभावम्, राजसस्त्वस्यैकः प्रकारः, लक्षणानि– क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात् (चशा. ४.३८(४))

सार्वगुण–न., पार्थिवद्रव्य० लवणभेदः, उद्भिदम् (ध. २.३२)
लवणभेदः, औषरकम् (रा. ६.५१)

सार्वयौगिक–वि; सर्वेष्वास्थापनसाध्येषु रोगेषु वातव्याधिज्वरगुल्मादिषु यथोक्तदोषसंबन्धे सति यौगिका इत्यर्थः (चवि. ८.१४५)

सार्वरस–न., लवण० औषरकम् (रा. ६.५१)

सार्वसह–न., पार्थिवद्रव्य० सर्वंसहा पृथ्वी, तस्या इदमिति सार्वंसहम्, लवणभेदः, औद्भिदं लवणम् (रा. ६.४०)

सार्षप–न., शाक० तत्रेदं त्रिदोषं बद्धविण्मूत्रं च (चसू. २७.१२२) विदाहि रूक्षं तीक्ष्णमुष्णञ्च शाकानामवरमिदम् (सुसू. ४६.२६८)
कन्दविष० (असंउ.४०)
सर्षपतैलम्, तच्च कुष्ठघ्नम् (चचि. ७.११५; सुउ. २३.५; चसू. २७.२९०) गुणाः–कृमिघ्नं कण्डूकुष्ठापहं लघु कफमेदोहरं लेखनं कटु दीपनं च (सुसू. ४५.११७; अहसू. ५.५९)
–पत्र–न., वनस्पति० गुणाः–कटुकं स्वादु अत्युष्णं विदाहि शुक्रहृद्रुचिदायकं रक्तपित्तप्रकोपनुत् (रा. परि. ७.८५)

-शाक-न., सर्षपशाकं, शाकानामवरम् (सुसू. ४६.२६८) द्र० 'सार्षप.'

साल-पु., वनस्पति० (चक्र. १.८)
सर्जकः (सुसू. ३८.१४-१५)

-कल्याणी-स्त्री., शालिच्चभेदः (असंसू. ७.१३९)

-सार-पु., सालः, शङ्कुस्तस्य सारः (सुसू. ३८.८-९)

-सारादिगण-पु., सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जभेषशृङ्गीतिनिशचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतिकाश्वकर्णागुरुणि कालीयकं चेति, गणोऽयं कुष्ठविनाशनः मेहपाण्डुाऽऽमयहरः कफमेदो विशोषणः (सुसू. ३८.८-९)

सालवण-पु., स्वेद० उपनाहस्वेदः (अहसू. १७.४)

सावरक-न., वनस्पति० रोध्रः (ड. सुउ. ४०.३९)

सावररोध्र-पु., श्वेतस्थूलत्वक् (सुसू. ३८.१४-१५)

सावरिका-स्त्री., निर्विषाणां जलूकानामन्यतमा, सा च स्निग्धपद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा च, कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति (सुसू. १३.१२)
लोध्रः (सुसू. ३८.४६-४७)

सावित्र-वि., सवितुरिदमिति सावित्रम् सौरम् (असंसू. ८.१७)

(सावित्री)-स्त्री., मंत्र० गायत्रीमंत्रः (चचि. १(३).९)

सास्र-वि., अश्रुपूर्णलोचनः (ड. सुउ. ३९.४०)

साहचर-न., सहचरपुष्पम्, श्यामापुष्पं वा (सुचि. २५.२८)

साहचरतैल-न., सहचरतैलम्, नवे सिराग्रन्थौ पानार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३५)

साहचर्य-न., एकाऽधिष्ठानवृत्तित्वम् (अहसू. ९.५)

साहस-न., सहसा अविचारजन्यबलेन कृतं साहसम्, अविचारेण यत्सहसा क्रियते तद् (चशा .६.८) अयथाबलमारम्भः (चनि. ६.३) आत्मशक्तिमनालोच्य सहसा क्रियते इति (चसू. ७.२६) तच्च मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराऽभिमर्षणं पारुष्यमनृतमिति पञ्चविधं साहसम् (सुसू. ४५.२०८)

साहसिक-वि., साहसयुक्तः (चसि. २.४)

सिंह-पु., प्राणि० हिनस्तीति सिंहः (चसू. २७.३५)
गुहाशयेष्वेकः (सुसू. ४६.७२) श्लेष्मप्रकृतिकोऽसौ (सुशा. ४.७६) अस्य मांसं यक्ष्मिणे प्रशस्तम् (च. चि. ८.१५३) अस्य चर्म धूपनोपयोगि (असंउ. ४) अस्य पित्तं विषहरम् (असंसू. ८.२९)
सिंहगुणाः- मधुरो गुरुरुष्णवीर्यः स्निग्धः कटुपाकी बल्यो मारुतनाशनो नेत्रगुह्यविकारिणां हितश्च (सुसू. ४६.७३; ध. ६.३९४; पृ. २६९; अहसू. ९.२८)
व्याघ्रः (चक्र. चचि. ३.३०६)
वनस्पति० शिग्रुभेदः, रक्तशोभाञ्जनः (चचि. ९.२७; रा. ७.६६, पृ. १४२) द्र० 'शिग्रु'

(सिंही)-स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (ध. १.९७; पृ. २५)
बृहत्कण्टकारिका (ड. सुउ. ३९.२१९)
आटरूषः (रा. ४.२८; पृ. ११)

-गुप्त-पु., रसरत्नसमुच्चयकर्तुर्वाग्भट्टस्य पिता (र. १.८)

-घोष-वि., सिंहसमानस्वरः, कफप्रकृतिलक्षणेष्वेकम (सुशा. ४.७३)

-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (ध. १.२३; पृ. ११)

-पुच्छिका-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (रा. ४.११७; पृ. २४)

-पुच्छी-स्त्री., वनस्पति० गुहा (इन्दु) पृश्निपर्णी (असंउ. ४)

-मुख-न., स्वस्तिकयन्त्र० सिंहमुखेन सदृशं मुखं यस्य तत् । अस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थम् (सुसू. ७.१०; अहसू. ४.२५)

(-मुखी)-स्त्री., वनस्पति० आटरूषः (ध. १.२३; पृ. १२)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० इयं शुष्यतां कुमाराणां परिषेचनोपयोगिनी (असंउ. २)

-विन्ना-स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (ध. १.१३६; पृ. ३२)

-स्कन्दी-स्त्री., वनस्पति० इयं शुष्यतां कुमाराणां परिषेचनार्था (असंउ. २)

सिंहण-पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १६.१३५)

सिंहलक-न., खनिज० पित्तलम् (रा. १३.१७; पृ. २०९)

सिंहलस्था-स्त्री., वनस्पति० (सैंहली) पिप्पली (रा. ६.१२०; पृ. ८५)

सिंहिका-स्त्री., वनस्पति० बृहती (ध. १.९३; पृ. २४)
आटरूषः (ध. १.२३; पृ. ११)

सिकता-स्त्री., भैषज्य० वालुका (चचि. १२.७०; सुनि. ६.१०)
इक्षुविकार० शर्करा (ध. २.१०४; पृ. ९१)

–कुम्भ–पु., यन्त्र० वालुकायन्त्रम् (र. १६.१६२)
–मेह–पु.; रोग० प्रमेहभेदः, कफजोऽयम्, । तल्लक्षणम्–अस्मिन् नरो मूत्रगतान् मूर्तानणून् दोषान् मेहति (चनि. ४.२०) सरुजं ससिकतं च मेहति (सुनि. ६.१०; असंनि. १०.१६) द्र० ' प्रमेह '
–यन्त्र–न., यन्त्र० वालुकायन्त्रम् (र. १२.३८)
–वर्त्मन्–न., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्–वर्त्मनोऽन्तर्भागे कर्कशा रूक्षाः सिकतोपमाः पिटका भवन्ति (असंउ. ११)
–शर्करान्विता–स्त्री., लक्षण० वालुकासदृशया शर्करया सहिताऽश्मरी (सुसू. ३३.१२)

सिक्थ–पु., तण्डुलकणः (काखिल. ४.७३)
न., भैषज्य० मधूच्छिष्टम्, सिक्थकम् (सुचि. २०.१८; ध. २.११; पृ. ११८)

सिक्थक–न., भैषज्य० मधूच्छिष्टम् (सुचि. २५.४०)
तद्गुणाः–मधुरं कटु पिच्छिलं मृदु भग्नसन्धानं व्रणरोपणं भेदनं लेपात् स्फुटिताङ्गविरोपणं च। तथा वातघ्नं भूतविसर्पकण्डूकुष्ठवातास्रनाशनं च। (ध. ३.११९; पृ. ११८)
हिं.—मोम.
म.—मेण, मुम.
गु.—मीण.
बं.—मोम, मम.
त.—मेळुकु.
फा.—मोम.

सिगृडी–स्त्री., वनस्पति० कटुरुष्णा देहदार्ढ्यकरी वातहृत् पृष्ठशूलघ्नी च (रापरि. ४.३२; पृ. ३३७)

सिङ्घण–पु., प्राचीनो रसाचार्यः, सिंहणः (र. १६.१३०-१३६)

सिङ्घाणक–न., नासिकायां श्लेष्मस्वरूपो मलः (चनि. २.६; असंशा. ८.२४)
–प्रतिम–वि., रक्तमिश्रसिङ्घाणकसदृशः, स च स्नायुगत आस्रावः (सुसू. २२.८)

सिञ्चतिकाफल–न., वनस्पति० बदरीभेदः (असंसू. ७.१८६) द्र० ' बदर '

सिञ्चती–स्त्री., वनस्पति० बदरभेदः, सिञ्चतिकाफलम् (असंसू. ७.१८१-१८४) द्र० ' बदर '

सिञ्चितिकाफल–न., फल० बदरभेदः (चसू. २७.१४२) द्र० ' बदर '

सिण्डाकी–स्त्री., आहारद्रव्य० मूलकादिशाकं किञ्चित् स्विन्नं क्षुण्णं सुगन्धिकटुद्रव्यान्वितं वटकीकृतं सिण्डाकी, सा च द्विधा शुष्काऽऽर्द्रा च। तत्र शुष्कसिण्डाकी विष्टम्भिनी वातकोपनी च (सुसू. ४६.२९५)
आर्द्रा वातला रुचिष्याऽनलदीपनी च (सुसू. ४६.२९५) गुरुः कफपित्तकरी च (सुसू. ४६.३८१-३८२)
शाकसिक्थमण्डासुतिः (सुसू. ४६.३८१-३८२)

सित–वि., वर्णविशेषः शुभ्रम्, श्वेतम् (असंउ. ४२)

(सिता)–स्त्री., वनस्पति० सितपाटलिः (रापरि. १०.१६; पृ. ३६९)
लक्ष्मणा (ध. १.९७; पृ. २५)
मल्लिका (रा. १०.२२५; पृ. १९७)
विदारी (रा. ७.१९३ पृ. ३५)
बाकुची (रा. ४.२२६; पृ. ३८)
निष्पावः (रा. १६.१७५)
गवेधुका (रा. ४.१८१)
कटभी (इन्दु. असंउ. ४२)
श्वेतवचा (इन्दु. असंउ. ४२)
दूर्वाभेदः श्वेतदूर्वा (सुसू. ३७.२५; ध. ४.१४४; पृ. १६३)
पाटलाभेदः, काष्ठपाटला (रा. ९.१५२)
इक्षुविकारः शर्करा (चसू. ३.२७; सुसू. ३७.२५; अहसू. ३.५१; ध. २.१०४; पृ. ९१)
लूताभेदः, इयमाग्नेयी स्वेदजा च। तद्दंशलक्षणानि–भृशकण्डूला श्वेता पिटका भवति। सा च पिटका दाहमूर्च्छौज्वररुग्विसर्पक्लेदकारिणी भवति (असंउ. ४४.४५)
न., नयनस्य श्वेतं मण्डलम्, तस्योत्पत्तिर्जलाद्भवति (सुउ. १.११-१२)
खनिज० रौप्यम् (ध. ६.५; र. १६.७४; पृ. २०६)
वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५०; पृ. ९१)
मरिचम्, शिग्रुबीजम्, मरिचावान्तरजातिः (इन्दु; असंउ. ४२.)
–कर–पु., निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१)
–कण्टा–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रा. ४.१२४; पृ. २५)
–कण्टारिका–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (पृ. २५; रा. ४.१२३)
–कर्णिक–पु., वनस्पति० श्वेतकर्णिकारः अस्य पल्लवा रक्तपित्तशमनाः (सुउ. ४५.२०)

–कुम्भी–स्त्री., वनस्पति० सितपाटलिः (रापरि. १०.१६; पृ. १६९; पाटलाभेदः काष्ठपाटला (रा. ९.१५२; पृ. २९)
–क्षुद्रा–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रा. ४.१२३; पृ. २५)
–गिरी–स्त्री., वनस्पति० श्वेताऽपराजिता, इयं श्वासज्वरहारिणी (चचि. २३.९५)
–च्छदा–स्त्री., वनस्पति० दूर्वाभेदः श्वेतदूर्वा (रा. ८.२३०; पृ. १६३) द्र० ' दूर्वा '
–जा–स्त्री., शर्कराभेदः, मधुशर्करा (रा. १४.१६१) पृ. ९१) द्र० ' शर्करा '
–दर्भ–पु., वनस्पति० कुशः (रा. २०७; पृ.१६.१८)
–पाटलि–स्त्री.,वनस्पति० तद्गुणाः–तिक्तोष्णा गुरुर्वातकफघ्नी वातदोषवमिहिक्काश्रमहरा च (रापरि. १०.१६; पृ. ३६९)
–पाटलिका–स्त्री., पाटलाभेदः, काष्ठपाटलिका, (रा. ९.१५२; पृ. २९) द्र० ' पाटला '
–पुष्प–पु., वनस्पति० रोहितकभेदः, श्वेतरोहितः (रा. ८.२१७; पृ. १९६) द्र० ' रोहितक '
–(पुष्पा)–स्त्री., वनस्पति० गिरिकर्णिका (रा. ३.१२३; पृ. १५१)
(–पुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७; पृ. ३४२)
शङ्खपुष्पी (रा. ३.१७०; पृ. १५८)
न., वनस्पति० परिपेलम् (ध. ३.५५; पृ. १०७)
प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२; पृ. ११४)
–पुष्पक–पु., वनस्पति० काशः (रा.८.२०० पृ. १६०)
–मरिच–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३८; पृ. ८८)
–लता–स्त्री., वनस्पति० अमृतस्रवा (रापरि. ३.४५;पृ. ३३३)
–वर्षाभू–स्त्री., वनस्पति० पुनर्नवा (रा. ५.४०४; पृ. ६३; र. १७.७-८)
–वल्लीज–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३८; पृ. ८८)
–वस्त्रपूत–वि., श्वेतवस्त्रेण गालितम् (चसि. ३.६६)
–शीत–न., चन्दनभेदः, श्वेतचन्दनम् (इन्दु. असंउ. २)
–शूकसंज्ञ–पु., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४; पृ२२३)
–सर्षप–पु., वनस्पति० सर्षपः (रा.१६.६८; पृ. १४३)
–सिंही–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (रा. ४.१२३; पृ. २५)
–सिन्धुवार–पु., निर्गुण्डीभेदः, श्वेतनिर्गुण्डी (ड. सुक. ५.६५-६८) द्र० 'निर्गुण्डी'
–सूरण–पु., वनस्पति० सूरणभेदः (रा. ७.८; पृ. १६९)

सिता–स्त्री.,
–खण्ड–पु., शर्कराभेदः, मधुशर्करा (रा. १४.१६१; पृ. ९१) द्र० ' शर्करा '
–जल–न., शर्करोदक (ड. सुउ.२६.१३)
–लता–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (चसू. ४.१०)

सिताख्य–न., वनस्पति० मरिचम् (रा. ६.१३८; पृ. ८८)

सिताख्या–स्त्री., वनस्पति० मालादूर्वा (रा. ८.२३२; पृ. १६३)

सिताङ्ग–पु., रोहितकभेदः श्वेतरोहितः (रा. ८.२१८; पृ. १९६) द्र० 'रोहितक'

सिताजाजी–स्त्री., जीरकभेदः, शुक्लजीरकः (रा. ६.१०२; पृ. ८३) द्र० ' जीरक '

सितादि–पु., इक्षुविकार० गुडः (रा. १४.१९८;पृ. १६०)

सितादिपान–न., योग० सिताप्रियालेक्षुरसद्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्येत्यादिसिद्धं पानम् । इदं सर्वासु मूर्च्छासु प्रशस्यते (सुउ. ४६.१५)

सिताब्ज–न., वनस्पति० पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८; पृ. १६४)

सिताभा–स्त्री., वनस्पति० तक्राह्वा (रापरि. ४.२९, पृ. ३३७)

सितामृतवर–न., श्वेतपुष्पो वत्सनाभः, श्वेतविषम्, श्वेतं पारदभस्म (र. ४.५०)

सिताम्भोरुह–न., कमलभेदः, श्वेतकमलम् (र. १०.९३) द्र० 'कमल'

सितार्कक–पु., अर्कभेदः, शुक्लार्कः (रा. १०.२९; पृ. १३७) द्र० 'अर्क'

सितार्जक–पु., अर्जकभेदः (रा. १०.८५; पृ. १४५)

सितालर्क–पु., अर्कभेदः श्वेतार्कः (रा. १०.३१; पृ. १३७) द्र० 'अर्क'

सितावरी–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२६; पृ. ३८)

सिताह्वय–पु., रोहितकभेदः, श्वेतरोहितकः (रा. ८.२१८; पृ. १९६) द्र० ' रोहितक '
शिग्रुभेदः, श्वेतशिग्रुः (रा. ७.६४; पृ. १४२) द्र० ' शिग्रु '

सिताह्वशिंशपा–स्त्री., शिंशपाभेदः, श्वेतशिंशपा (रा. ९.२००; पृ. १९४)

सिताह्वा–स्त्री., पाटलाभेदः, काष्ठपाटला (रा. ९.१५२; पृ. २९) ' द्र० पाटला '

सितिवारक–पु., वनस्पति० शितिवारः, सुनिषण्णकशाकम् (असंचि. १३)

सितेक्षु–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः, श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१; पृ. १५८) द्र० ' इक्षु '

सितेतर–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.३९; पृ. २२०) कुलित्थः (रा. १६.१६६; पृ. २२९)

सितैरण्ड–पु., वनस्पति० एरण्डः (रा. ८.४४५; पृ.६८)

सितोच्चटा–स्त्री., गुञ्जाभेदः, श्वेतगुञ्जा (ध. ४.३१; पृ. १४०) द्र० ' गुञ्जा '

सितोपला–स्त्री., सितशर्करा, इयं सरक्तपवने प्रदेहार्थमुपयुज्यते (चसू: ३.२१) पार्श्वरुजास्वालेपनार्थमुपयुज्यते (चसू. ३.२५)
खण्डशर्करा (सुउ. ४१.५१; अहसू. ५.४९)
स्थूलाःश्वेताः वालुकाकणाः (र. ७.१५)
इक्षुविकार० शर्करा (ध.२.१०४; पृ.९१)

सितोपलादिचूर्ण–न., योग० तद्द्रव्याणि मानं च अस्मिन् त्वच एको भागः, बहुलायाः सूक्ष्मैलाया भागद्वयं, पिप्पल्या भागचतुष्टयं, तुगाक्षीर्या अष्टौ भागाः, सितोपलायाश्च षोडश भागा भवन्ति । इदं श्वासकासकफातुराणां सुप्तजिह्वारोचकिनामत्यग्नीनां पार्श्वशूलिनां च हितम् (चचि. ८.१०३-१०४)

सिद्ध–पु., देवयोनि० योगज्ञानवान् (चनि. ७.१०)
भूताधिपति० (असंउ. ७)
धातुसिद्धिं प्राप्तो रसाचार्यः (र. ५.१४४)
वनस्पति० निर्गुण्डी (र. २२.८१)
धत्तूरभेदः, कृष्णधत्तूरः (काखिल. १३.५०) द्र० ' धत्तूर '

(सिद्धा) स्त्री., काचकुपिका (र. ७.२०)
वनस्पति० ऋद्धिः (रा. ५.१८७; पृ. ३४)
वि., चिकित्सायामनुभूतफलम् (भेषजादि) (र. १.८) निश्चितफलप्रदम् (सुचि. ९.११)
स्वेदितम्, साधितम्, पाचितम् (र. २.८६; अहसू. ४.२१)

–नाथ–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १७.१२०)

–पिण्डिका–स्त्री., अग्निपाचितः सक्त्वादीनां पिण्डः (चसू. २७.३३९; असंसू. ७.२२२)

–पुष्प–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १० ३; पृ. १३४)

–प्रयोजन–पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८; पृ. १४३)

–बस्ति–पु., बस्तिप्रकारः बलोपचयवर्णानां व्याधिशतस्य च बस्तिनाऽनेन सिद्धिर्भवतीति सिद्धबस्तिः (सुचि. ३८.११६) तथा चायं सर्वदेहिनां सर्वदा हितो बहुफलो बलपुष्टिकरो निर्व्यापच्च (असंक. ५) अस्य सामान्यद्रव्याणि–यवकोलकुलत्थानां क्काथो मधु पिप्पली सैन्धवं यष्टिमधु च (सुचि. ३८.१०५)

–मन्त्र–पु., निश्चितफलप्रदोऽपराजितादिर्मन्त्रः (अहसू. २.३२)

–रसामृत–न., देहस्याभ्रकादिलोहा सिद्धिकरास्तथा स्वेदनादिसंस्कारैः सिद्धः पारदः; स एवामृतमिति सिद्धरसायनम् जराव्याधिमरणादिहरमेतत् (र. १.१)

–सर्पिस्–न., सिद्धघृतम्, यथा द्विपञ्चमूल्यादिभिः, सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यादिभिः, मधुकवचापिप्पल्यादिभिः सिद्धं घृतम् (सुशा. १०.४५)

–साधन–पु., वनस्पति० सर्षपः (रा. १६.६८; पृ. १४३)

–साधित–वि., श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशतो लब्धायुर्वेदविद्यः, सिद्धेन प्रसिद्धेन साधितः नाम ग्राहितायुर्वेदविद्यः (चसू. ११.५०)

सिद्धक–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (रा.४.११७; पृ.१५०)

सिद्धा–स्त्री., वनस्पति० ऋद्धिः (रानि. १८७; पृ. ३४)

–संज्ञ–पु., वनस्पति० बकुलः (रा.१०.२६२;पृ.२०२)

सिद्धागम–वि., शास्त्रोक्तविधिना सिद्धम् (भेषजादि) (असंसू. ३३.३४-३५)

सिद्धान्त–पु., तन्त्रयुक्तिः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा यो निर्णयः स्थाप्यते, सः । स च सर्वतन्त्रसिद्धान्तप्रतितन्त्रसिद्धान्ताधिकरणसिद्धान्ताभ्युपगमसिद्धान्तभेदाच्चतुर्विधः (चवि. ८.३७)

सिद्धार्थ–वि., अर्थसिद्धियुक्तः, प्राप्तमनोरथः (असंसू. २.३९)

सिद्धार्थ–पु., वनस्पति० सर्षपभेदः, श्वेतसर्षपः (चइ. १२.७७; सुउ. ६१.३१; अहसू. १५.३३) द्र० 'सर्षप'

सर्षपः (ध. ४.४२; पृ. १४२)
वटः (रा. ११.११६; पृ. १८४)
मान० सर्षपः, षड्जमितः (र. १०.१०३)

सिद्धार्थक–पु., वनस्पति० सर्षपभेदः, श्वेतसर्षपः (सुचि. १६.३६; असंउ. ८) द्र० 'सर्षप'
न., घृत० सिद्धार्थकवचाहिङ्गुप्रियङ्गुद्विरजनीमञ्जिष्ठाश्वेरेतकटभ्यादिसाधितं घृतम् । पाननस्याभ्यामिदं सर्वासुरग्रहकृत्याऽलक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारनाशनम् । बस्तमूत्रकल्पितमिदं पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्वर्षणादिभिःसर्वासुरग्रहज्वरापस्मारोन्मादादिनाशनं राजद्वारे सिद्धिकृच्च (असंउ. ८)
सुरद्रुमवचाकुष्ठसिद्धार्थादिभिः साधितं घृतम् । कृमिकुष्ठगरश्वासबलासविषमज्वरसर्वभूतग्रहोन्मादापस्मारनाशनमिदम् (सुउ. ६१.३१-३३)
स्नान० मुस्तमदनत्रिफलाकरञ्जारग्वधकलिङ्गयवदार्वीसप्तपर्णानां कषायः, अयं वमनो विरेचनो वर्णकरस्तथोद्वर्षः, स्नानोपयोगी च । अनेन त्वग्दोषकुष्ठशोफपाण्डुवामयाश्च नश्यन्ति (चचि. ७.९१; असंचि. २१)

सिद्धार्थकतैल–न., तैल० सार्षपं तैलम्, इदं सर्वेषु कुष्ठेषु पानार्थमुपयुज्यते । उत्तरबस्तिविधानेनोपयुक्तं सद् अपराहरणम् (सुशा. १०.२१; असंचि.२१)

सिद्धि–स्त्री., सुष्ठुफलत्वम्, सम्यक्परिणामः (चसू.१५.४)
साफल्यम् (चसू. १.१३५) व्याधिविनाशे कृतहस्तता, सिद्धिर्वैद्यगुणानां श्रेष्ठा (असंसू. १३.३)
व्यापत्साधनं भेषजम् (चक्र. चसू. १३.७) चवि. ८.३८ ;
चिकित्सितम् (चसू. २८.३०; ड. सुचि. ३५.३३)
साधनम् (ड. सुउ. ४०.१६६)
तत्त्वज्ञानम् (चशा. ५.१९)
वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५; पृ. ३४)

–द–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (रापरि. ९.३१;पृ. ३६.६)

–स्थान–न.,स्थान० वमनादीनां वमनाद्यसम्यग्योगजन्यानां व्यापदां भेषजस्य साध्यतारूपा सिद्धिरस्मिन्नोक्ता, चरकेऽष्टमं स्थानम्, काश्यपसंहितायां सप्तमं स्थानम् (चसि. ८, कासि. ७)

सिध्म–न., रोग० सप्तमहाकुष्ठेष्वेकम्, श्लेष्ममारुतदुष्ट्याऽस्योत्पत्तिः,तल्लक्षणम्-परुषारुणं विशीर्णं बहिस्तन्वन्तःस्निग्धं शुक्ररक्तावभासमल्पवेदनमल्पकण्डूदाहपूयस्रसीकं लघुसमुत्थानमल्पभेदकृम्यलाबुपुष्पसङ्काशं च (चनि. ५.८ (६) कुष्ठमिदं साध्यम्, साध्यमपीदमपचारतोऽसाध्यतामुपयाति (चनि. ५.९) एकादशक्षुद्रकुष्ठेष्वेकम्, कुष्ठमेतत् प्राय ऊर्ध्वकाये भवति (सुनि. ५.१२) तद्विविधम्–पुष्पिकासिध्मं सिध्मं च । पुष्पिकासिध्मं सुखसाध्यम्, सिध्मं दुःखसाध्यम् (ड. सुनि. ५.१२)

–लेप–पु., योग० कुष्ठतमालपत्रमरिचमनःशिलाकासीसैः सिद्धं तैलं ताम्रभाजने सप्ताहमुषितं लेपात् सिध्महरम् किलासहरं च (चचि. ७.११७-११८)

सिध्मन्–न., सिध्मकुष्ठम् (सुनि. ५.१२)

सिन्दुक–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (ध. ४. ८१; पृ. १५०)

सिन्दुकच्छपिका–स्त्री., वनस्पति० शेफालिनिर्गुण्डी (रा. ४.११९; पृ. १५०)

सिन्दुवार–पु.. वनस्पति० निर्गुण्डी (सुउ. ४५.१६; ध. ४.८१; असंसू. १५.२१; पृ. १५०)

सिन्दुवारक–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (ध. ४.८१; पृ. १५०)

सिन्दुवारित–पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (अहसू. ७.२५)

सिन्दूर–पु., न., खनिज० रक्तवर्णं सीसकसत्त्वम् (र. २.२५) तद्गुणाः–कटु तिक्तमुष्णं व्रणविरोपणं विषदुष्टव्रणत्वग्दोषकुष्ठविसर्पजीर्णज्वररक्तदोषकण्डूघ्नं च (ध. ३.१०१; पृ. ११५)
हिं.—सिंदूर, इंगुर.
म.—शेन्दूर.
बं.—सिंदूर.
त.—चेन्तूरं.
फा.—सुरन्ज सन्ग.

(सिन्दूरी)स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुका तिक्ता कषाया श्लेष्मवातजिच्छिरोर्तिशमनी भूतघ्नी च (रापरि. १०.१९; पृ. ३६९)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० सिन्दूरी (रापरि. १०.१९; पृ. ३६९)

–भूषण–पु., योग० एकैकं पलं पारदं सिंदूरं च वासारसेन प्रहरमात्रं संमर्द्य चक्रिकां कुर्यात् । पक्वमूषायां पलचतुष्टयं शुद्धगन्धकं क्षिप्त्वा तां चक्रिकां लेपयेत्, लघुपुटेन च पुटेत् । जीर्णे गन्धके चक्रिकां विचूर्ण्य दशगुणेन लोहभस्मना दशांशेन च लशुनेन सह संमर्द्य च चणकमात्रा गुटिकाः कारयेत् । योगोऽसौ पाण्डुकामलानाशनः (र. १९.११२-११६)

-रस-पु., योग० समप्रमाणौ पारदगन्धकौ त्रिदिनं श्वेताङ्कोलजटारसैः संमर्द्य गुटिकीकुर्यात्। रक्तचित्रक-वाराहीपत्रनिर्यासेन च पेषयित्वा सद्योहताज-मांसस्य पिण्डे न्यस्य, तैले विपाचितं तैले एव यावत्सिन्दूरवर्णं जायेत, तावत् स्थापयेत्। रसोऽसौ विधिना सेवितश्चेदतिवृष्योऽन्यथा लोचनस्फोटकः (र. २७.२०-२३)

सिन्धु-पु., नदी० हिमालयप्रभवोऽसौ (चचि. १२.४) अत्र चन्द्रमानामकः सोमविशेष उपलभ्यते (सुचि. २९.२९)

वनस्पति० निर्गुण्डीभेदः, नीलसिन्धुवारः (र. २९.३४) द्र० 'निर्गुण्डी'

न., लवण० सैंधवम् (सुउ. ५२.३०; ध. २.२५; र. २.१६१; पृ. ७३)

खनिज० श्वेतटङ्कणम् (र. ११.५०)

-ज-न., लवण० सैन्धवम् (डल्हणः सुचि. ३७.११; ध. २.२५ पृ. ७३)

-तीरसम्भव-न., खनिज० टङ्कणभेदः, श्वेतटङ्कणम् (रा. ६.३१; पृ. ७३) द्र० 'टङ्कणम्'

-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४६; पृ. २९)

-पादप-पु.,वनस्पति० मातुलुङ्गः (ध.५ २३;पृ.१७३)

-पुष्प-पु., वनस्पति० कदम्बः (रा.९.१७०;पृ.१९०)

-प्रभव-न., लवण० सैन्धवम् (सुउ.१२.४६)

-प्रभूत-न., लवण० सैन्धवम् (सुउ.११.१७)

-प्रसूत-न.,लवण० सैन्धवम् (सुउ. १९.१७)

-वार-पु., वनस्पति० निर्गुण्डी (चसू. ३.२८; सुक. ६.१४-२७)

-वारक-पु , वनस्पति० निर्गुण्डी श्वेतपुष्पा (ड. सुक. ५.८४)

-स्रोतःसमुत्थ-वि., सिन्धुनद्याः प्रवाहात् प्रभूतं समुत्थं नाम उद्भूतम् (असंउ. ८.९२)

सिन्धूत्थ-न., लवण० सैन्धवम् (ध. २.२५; र. १६.२; पृ. ७३)

सिन्धूत्थादिवर्ति-स्त्री., वर्ति० सिन्धूत्थहिङ्गुत्रिफला-मधूकादिसिद्धा वर्तिः, इयमञ्जनेन श्लेष्माभिष्यन्दहरा (सुउ. ११.६-७)

सिन्धूद्भव-न., लवण० सैन्धवम् (सुसू. ४४.९; र. १२.१७-१८)

सिन्धूद्भूत-न., लवण० सैन्धवम् (सुचि. ९.१३)

सिप्रायमाण-वि., (परिव०) शिथिलीभवत् शैथिल्य-मापद्यमानम् "सिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः" (चइ. १०.१९)

सिम्बितिकाफल-न., फल० बदरभेदः, सिम्बितिका-फलम् (चसू. २७.१४२)

सिरा-स्त्री., शारीर० (चवि. ५.९) नाडी, प्रणाली (चशा. ७.१४) असृज उपधातुः (सुचि. ४.७) तन्निरुक्तिः-सरणात् सिराः (सुसू. ४.५) तदुत्पत्तिः असृजः सिराणामुत्पत्तिः (चचि. १५.१७) वायुर्मेदसः स्नेहमादाय सिरोत्पत्तिं कुर्यात्। तासां पाको मृदुः (सुशा. ४.३०) तासां प्रभवस्थानं नाभिः (सुशा. ७.४) केषाञ्चिन्मते हृदयमिति (काशा) मध्यमो रोगमार्गोऽयम् (अहसू. १२.४८) गतिभेदात् तास्त्रिविधाः-अधोगा ऊर्ध्वगास्तिर्यग्गा-श्चेति (सुशा. ९.९)

चतुर्विधाः सिराः-वातपित्तश्लेष्मरक्तवहभेदात्, सामान्यतः सर्वाः सिराः सर्ववहाः, भूयोव्यप-देशाद् वातवाहिन्यादिसंज्ञा (सुशा. ६.१८) तत्संख्या- मूलसिराश्चत्वारिंशत् वातपित्तकफ-रक्तवाहिभेदात् प्रत्येकं दश।

सप्त सिराशतानि, एताभिरिदं शरीरं जलहारिणीभि-राराम इव, कुल्याभिः केदार इव चाकुञ्चनप्रसारणा-दिभिर्विशेषैरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते च (चशा. ७.१४; सुशा. ७.३) तासु वातपित्तश्लेष्मरक्तवाहिन्यः प्रत्येकं पञ्चसप्तत्यधिकं शतम्, वातपित्तकफवाहि-नीनां स्वस्वस्थानगतानां प्रत्येकं पञ्चसप्ततिशतम्। रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः पञ्चसप्ततिशतम्। तासां शाखासु चतुःशतं, कोष्ठे षट्त्रिंशत् शतं, मूर्धनि च चतुःषष्ट्यधिकं शतम्। तत्र शाखा-विभागे प्रतिशाखं वातपित्तकफरक्तवाहिन्यः प्रत्येकं पञ्चविंशतिः, एवं प्रतिशाखं सिराशतम्। तथा कोष्ठ-विभागे श्रोण्यां वातादिवहाः प्रत्येकमष्टौ इति मिलित्वा द्वात्रिंशत्, पार्श्वयोः प्रत्येकं चतस्र इति मिलित्वा षोडश, पृष्ठे प्रत्येकं षडिति चतुर्विंशतिः, उदरे प्रत्येकं षडिति चतुर्विंशतिः, प्रत्येकं दश च वक्षसीति चत्वारिंशत् सिराः। शिरोविभागे ग्रीवायां प्रत्येकं चतुर्दशेति षट्पञ्चाशत्, जिह्वायां प्रत्येकं नवेति षट्त्रिंशत्, नासिकायां प्रत्येकं षडिति चतुर्वि-शतिः, कर्णयोर्वातवहाश्चतस्रः पित्तश्लेष्मरक्तवहाश्च प्रत्येकं द्वे इति दश, नेत्रयोर्वातवहा अष्टौ पित्त-श्लेष्मरक्तवहाश्च प्रत्येकं दशेत्यष्टत्रिंशत् सिरा भवन्ति। एवं सप्तशतं सिराणाम्।

वातादिवहानां सिरावर्णाः–वातवहा वातपूरिता अरुणाश्च, पित्तवहा उष्णा नीलाश्च, कफवहाः स्थिरा गौर्यश्च, रक्तवहाश्च रोहिण्यो नात्युष्णशीतलाश्च (सुशा. ७२०; असंशा. ६)

वातादिवहानां सिराणां कर्माणि–प्राकृतो वायुः स्ववहाः सिराश्चरन् क्रियाणामप्रतिघातं बुद्धिकर्मणाममोहं च करोति, स एव कुपितः स्वाः सिराः प्रतिपद्य वातजान् रोगान् करोति। प्राकृतं पित्तं स्वाः सिराः संसर्पद् भ्राजिष्णुताऽत्र रुच्यग्निदीप्तयरोगताश्च करोति। प्रकुपितं तु पित्तसंभवान् रोगान् करोति। प्राकृतः श्लेष्मा स्वाः सिराश्चरन्नङ्गेषु स्नेहं सन्धिस्थैर्यं बलमुदीर्णतां च करोति। स्वाः सिराः संचरद्रक्तं धातुपूरणं वर्णमसंशयस्पर्शज्ञानादि च करोति। कुपितं सच्च रक्तसंभवान् व्याधीन् करोति (सुशा. ७; असंशा. ६) तत्रावेध्याः सिराः–शाखासु षोडश, कोष्ठे द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि च पञ्चाशदिति मिलित्वाऽष्टानवतिरव्यध्याः सिराः (असंशा. ३.३४; सुशा. ७.२१)

–कर्मन्–न., उपक्रम० सिराव्यधनम् (चचि. २६.२०४)

–कोथ–पु., रोग० सिरापूतिभावः (सुसू. २५.३-५)

–क्लेद–पु., लक्षण० सिराणां क्लिन्नत्वम् (चचि. २५.३१)

–गत–वि., सिराश्रितम्, सिरास्थितम् (चचि. २८.३६)

–ग्रह–पु., रोग० अशीतिर्वातविकारेष्वेकः, वातो रक्तमाश्रित्य मूर्धधराः सिरा रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः कुर्यात् (असंनि. १५)

–ज–पु., रोग० ग्रन्थिः सिराजः, तल्लक्षणम्–अबलस्य व्यायामादिभिः कुद्धो वायुः सिराप्रतानं आक्षिप्य संपीड्य संकोच्य विशोष्य चोन्नतं वृत्तं ग्रन्थिं करोति। कृच्छ्रसाध्योऽसौ सरुजश्चलोऽरुक्च। अचलो महान् मर्मोत्थितश्च वर्जनीयः (सुनि. ११.८९)

(–जा)–स्त्री., नेत्ररोग० सिराजपिडका, नेत्रस्य शुक्लभागे सिरावृताः सिराजपिडका भवन्ति। सन्निपातजेयं साध्या च (सुउ. ४.९) वास्तुस्थितसिरावृतत्वात् सिराजाः नतु साक्षात् सिराजाः।

–जाताञ्जना–(परिव०)स्त्री., नेत्ररोग० अञ्जननामिका, दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा। मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका (सुउ. १.३७)

–जाल–न., सिराकृतं सिराणां जालम्, तानि चत्वारि, एकैकस्मिन् मणिबन्धे गुल्फे च (चसू. १७.२१; सुशा. ५.१२)

नेत्ररोग० तल्लक्षणम्–घनोन्नतं बृहद्रक्तं सिराणां जालं भवति। साध्योऽसौ (असंउ. १३; सुउ. १.३७)

–जालगवाक्षित–वि., सिराणां जालेन व्याप्तम् (उदरम्) (चचि. १३.५५)

–तनुत्व–न., लक्षण० सिराणामल्पत्वम्, सिराकार्श्यम्, उत्सेधादिभिः सिराणामदर्शनम् (चचि. १२.११)

–त्व–न., सिरास्वरूपम् (सुशा. ४.२९)

–दग्ध–न., उपक्रम० अग्निकर्मणा दग्धा सिरा कृष्णोन्नतव्रणा स्रावसंनिरोधवती च भवति (सुसू. १२.८) स्थिते च रक्ते लसीकास्रावः (असंसू. ४०.६)

–पूरण–न., लक्षण० सिराणां स्थूलत्वम्, सिराविस्तृतिः (सुनि. १. २७)

–पूर्णत्व–न., लक्षण० रक्तवहस्रोतसां रक्तेनातीव पूरणम्, अतिवृद्धरक्तस्य लक्षणेष्वेकम् (सुसू. १५.१४)

–प्रहर्ष–पु., नेत्ररोग० सिराहर्षः (सुउ. ६.३०) सिरोत्पात उपेक्षितश्चेत् ता अक्षिराज्यो विशेषरक्तवर्णा भूत्वा ताम्राभमश्रु स्रवन्तोऽमुं सिराहर्षाख्यं नेत्ररोगं कुर्युः। तेन चक्षुः वीक्षणाक्षमं भवति (सुउ. ६.३०)

–मर्मन्–न., मर्मप्रकारः सिराबहुलं मर्म, मर्मा०येतानि संख्ययैकचत्वारिंशत्, चतस्रो धमन्यो नीले द्वे मन्ये द्वे, अष्टौ मातृकाः, चत्वारि शृङ्गाटकानि, द्वेऽपाङ्गे, एका स्थपनी, द्वे फणे, द्वे स्तनमूले, द्वौ अपस्तम्भौ, द्वौ अपलापौ, एकं हृदयम्, एका नाभिः, द्वौ पार्श्वसन्धी, द्वे बृहत्यौ, चत्वारि लोहिताक्षाणि, चतस्र उर्व्यश्च (सुशा. ६.७; असंशा. ७.२९)

–महारुज्–वि., लक्षण० सिरासु महती पीडा यस्य सः (चसू. १३.४८)

–मुख–न., सिराद्वारम्, प्रतिरोमकूपमभ्यन्तरतः सूक्ष्मं सिरामुखमस्ति। अनेन सिरा स्वेदं विमुञ्चति (अहसू. २७.५०; काशा.)

–मोक्ष–पु., उपक्रम० सिराव्यधः (चचि. ९.७७; सुउ.४२.५२-५३; सुचि.४.११; असंसू.७.२५१

–लेखा–स्त्री., सिराराजी (असंशा. ९.१८)
–वर्णविभक्ति–स्त्री., अध्यायसंज्ञा० (सुशा. ७)
–विकार–पु., सिराणामाकारान्तरेण परिणामः, यथा धमन्यः स्रोतांसि च (सुशा. ९.३)
–विद्ध–वि., यस्य सिराव्यधः कृतः सः विद्धसिरः, कृतसिराव्यधः (सुशा. ८.२४)
–विमोक्षण–न., (परिव०) उपक्रम० सिराव्यधः (सुउ. ६२.३३)
–विरेक–पु., उपक्रम० सिराव्यधः (चचि. १२.८०)
–विलग्न–वि., सिरायां संलग्नम् (अहसू. २८.२६)
–वृत्त–न., खनिज० सीसकम् (रा. १३.२१; पृ. २१०)
–वेध–पु., (परिव०) उपक्रम० सिराव्यधः (असंसू. ३६.९; सुचि. १९.५५)
–व्यध–पु., उपक्रम० सिराभ्यः शस्त्रकर्मणा रक्तमोक्षणम्,

सिराव्यधयोग्यकालः–वर्षासु व्यभ्रे ग्रीष्मेषु शीतले काले हेमन्तेषु मध्याह्ने च सिराव्यधो विधेयः शरदादिसाधारणः कालः स्वस्थानां कृते विहितः ।

सिराव्यधानर्हकालः–अतिशीतेऽत्युष्णे प्रवातेऽभ्रिते सिराव्यधो न विधेयः ।

सिराव्यधविधिः–स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा वस्त्रपट्टादीन् यन्त्रयित्वा नातिशिथिलं नातिगाढं शरीरप्रदेशमासाद्य समुचितेन शस्त्रेण सिरां विध्येत् । व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते आसने चोपवेश्य सक्थ्नोराकुञ्चितयोः कूर्परे निवेश्य सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा ग्रीवामुष्ठ्योरुपरि यन्त्रणशाटकं परिक्षिप्य पश्चात्स्थितान्यपुरुषेणोत्तानेन वामहस्तेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्ट्यासृक्स्रावणार्थं यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति च तमादिशेत् । कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत् । एष उत्तमाङ्गगतानां बाह्यसिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं, व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले स्रोतादिना बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत् । उपरिष्टाद्वस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत् । गृध्रसीविश्वाच्योः संकुचितजानुकूर्परस्य श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य सिरां विध्येत् । उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य, पार्श्वयोर्बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य, मेढ्रेऽनामितमेढ्रस्य, अधोजिह्वायामुन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्य, तालुनि दन्तमूलेषु चातिव्यात्ताननस्य, एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् (सुशा. ८.८; असंसू. ३६.११) व्याधिवशात् सिराव्यधस्थानानि–कफोदरे वामे बाहौ सिराव्यधः (चचि. १३.७७) रक्तजदाहेऽप्रशाम्यति सति शाखाश्रितरोहिणीसिराणां व्यधः (सुउ. ४७.६९) यकृद्दाल्युदरे दक्षिणबाहौ सिराव्यधः (सुचि. १४.१५) पाददाहपादहर्षचिप्पविसर्पादिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् व्यङ्गुले, श्लीपदे–वातजे गुल्फोपरि चतुरङ्गुले, पित्तजे गुल्फाधः, कफजे चाङ्गुष्ठे (सुचि. १९.५२-५६) क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् व्यङ्गुले, गृध्रस्यां जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले, गलगण्डे ऊरुमूलसंश्रिताम्, एवमेवेतरसक्थिबाहुषु सिराव्यधः, प्लीहोदरे वामबाह्वभ्यन्तरतो बाहुमध्ये कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं यकृद्दाल्ये दक्षिणबाहौ, कासश्वासयोरप्येनाम्, शूलिन्यां प्रवाहिकायां श्रोण्योः समन्ताद् व्यङ्गुले, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये (सुशा. ८.१७) मूत्रवृद्ध्यां वृषणयोः पार्श्वे, दकोदरे नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे, अन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरे, बाहुशोषावबाहुकयोरंसयोरन्तरे, तृतीयके त्रिकसन्धिमध्यगताम्, चतुर्थके अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थिताम्, अपस्मारे हनुसन्धिमध्यगताम्, उन्मादे शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोपाङ्गललाटेषु (चनि. ७.८) दन्तव्याधिषु जिह्वारोगेषु चाधोजिह्वायाम्, तालव्येषु तालुनि कर्णशूले कर्णरोगेषु च कर्णयोरुपरि समन्तात्, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिषु नेत्ररोगेषूपनासिके लालाट्यामपाङ्ग्यां वा, मन्यप्रभृतिषु शिरोरोगेष्वेता एव सिरा वेध्याः ।

(सुशा. ८.१७; असंसू. ३६.९) सिरामोक्षणे रक्तप्रमाणम्–बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य प्रस्थमात्रं नाम सार्धत्रयोदशपलानि रक्तं हरेत् । सिराव्यधसम्यग्योगातियोगादयः–सम्यग्विद्धा सिरा धारां स्रवेत्, यन्त्रे मुक्ते सति तस्याः स्रावरोधश्च भवति (सुशा. ८.११) अतिविद्धा सशब्दं वहति, तत्स्रावश्च दुःखधारणो भवति । दुर्विद्धाऽल्पकालं वहति, तैलयुक्तैश्छूर्णनैश्च स्रवेत्

(असंसू. ३६.१४-१५; अहसू. २७.३५) सिराविद्धवर्ज्यानि–क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभाद्; मासं यावद्वा (सुशा. ८.२४) सिराविद्धसेव्यानि–नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयमन्नपानं हितम्। जठराग्निरक्षणं च हितम् (अहसू. २७.५२) सिराव्यधयोग्याः–त्वग्दोषग्रन्थिशोफादिशोणितावसेकसाध्या विकारास्तथा चान्येऽनुक्ता अपक्का विकारा यथाभ्यासं यथान्यायं च सिराव्यधयोग्याः जायन्ते (सुसू. १४.३४; सुशा. ८.४) विषोपसर्गे चात्ययिके च सिराव्यधोऽप्रतिषिद्धः (सुशा. ८.५) सिराव्यधायोग्याः– बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्यपाध्वस्त्रीकर्शितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिण्यः कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडिताश्च सिराव्यधायोग्याः । तथा चाव्यध्याः, व्यध्या अप्यदृष्टाः, दृष्टा अप्ययन्त्रिताः, यन्त्रिता अप्यनुत्थिताः सिरा व्यधायोग्याः द्रष्टव्याः (सुशा.८.३) अव्यध्याः सिराः– शाखासु षोडश, कोष्ठे द्वात्रिंशद् जत्रुणश्चोर्ध्वं पञ्चाशत् सिरा अव्यध्याः । तत्र प्रतिशाखं सविंश जालधरैका, उर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षा चैका, एवं शाखासु षोडश । कोष्ठे, श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे विटपयोः कटीकतरुणयोश्च, पार्श्वे द्वे ऊर्ध्वगे पार्श्वसन्धिगते; पृष्ठे चतस्र ऊर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे बृहतीसिरे; उदरे चतस्रो मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे; वक्षसि चतुर्दश हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ; एवं कोष्ठे द्वात्रिंशत् । जत्रुण ऊर्ध्वम्, ग्रीवायां षोडश, द्वादश मर्मसंज्ञा अष्टौ मातृका द्वे नीले द्वे मन्ये द्वे, कृकाटिकयोर्द्वे विधुरयोः; हन्वोरुभयतश्चतस्रः सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे; जिह्वायां चतस्रो रसवहे द्वे वाग्वहे च द्वे, नासिकायां चतस्र औपनासिक्यः, तालुन्येका नेत्रयोर्द्वेऽपाङ्गयोः कर्णयोर्द्वे शब्दवाहिन्यौ; ललाटे सप्त केशान्तानुगतांश्चतस्रः, आवर्तयोर्द्वे, स्थपन्यां चैका; शङ्खयोर्द्वे शङ्खसन्धिगते; मूर्ध्नि चाष्टौ, द्वे उत्क्षेपयोः, पञ्च सीमन्तेषु, एका चाधिपतौ; एवं जत्रुण ऊर्ध्वं पञ्चाशत् । सिराव्यधव्यापदः–दुर्व्यधातिव्यधकुट्टिततिर्यग्व्यधाश्चत्वारो व्यधदोषाः (असंसू. ३६.२२) दुष्टव्यधा विंशतिः–दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिता ऽप्रसृताऽत्युदीर्णाऽन्ते विद्धा परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽविद्धा ऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनःपुनर्विद्धा सिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु विद्धा चेति । तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं, शोणितातिप्रवृत्तिर्वा भवति, साऽतिविद्धा-कुञ्चितायामप्येवं, कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनःपुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रसृता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धा, ऽत्युदीर्णा अल्परक्तस्राविण्यन्ते विद्धा, क्षीणशोणितस्थानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागासादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाशोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थित विद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्यग्विद्धा बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनाविद्धा, अशस्त्रकृत्याऽव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, स्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति (सुशा. ८.१८-१९) सिराव्यधप्रशस्तिः– शल्यतन्त्रे सिराव्यधश्चिकित्सार्धं मतः । स्नेहादिक्रियायोगैर्लेपनादिभिश्चाशान्ता व्याधयोऽनेन शाम्यन्ति (सुशा. ८.२२-२३) रक्तमोक्षणशीलानां त्वग्दोषग्रन्थिशोफाः शोणितजव्याधयश्च न भवन्ति (सुसू. १४.३४)

–व्यधविधि–पु., अध्यायसंज्ञा० (असंसू. ३६.१, अहसू. २७)

–व्यधविधिशारीर–न., अध्यायसंज्ञा० (सुशा. ८)

–शुक्र–न., नेत्ररोग० तल्लक्षणम्–सास्रैर्मलैर्जुष्टं कृष्णमण्डलं सतोददाहताम्राभिः सिराभिरवतन्यते

(सुउ. ५.६) तच्चानिमित्तोष्णशीताच्छघनाश्रुस्रुदसाध्यम् (असंउ. १३) तथा मध्ये छिद्रयुक्तमिव वर्तमानम्, अच्छिन्नमध्यमेवोन्नतमांसेन वेष्टितं चासाध्यम् (सुउ. ५.६)

–संकोच–पु., लक्षण० सिराणामाकुञ्चनम् (चसू. ५.९२)

–संकोचन–न., लक्षण० नाडीनामाकुञ्चनम् (चवि. २.७)

–संज्ञपिटिका–स्त्री., नेत्ररोग० सिराजपिटिका (असंउ. १३)

–सन्ततगात्र–वि., लक्षण० धमनीजालसन्ततः (ड. सुनि. २.१५)

–स्तम्भ–पु., लक्षण० व्रणोपद्रवभूतं सिराणां स्तब्धत्वम् (चचि. २५.२९)

–स्फुटत्व–न., सिराणां विवृतत्वम् (सुशा. २.४५)

–हर्ष–पु., नेत्ररोग० सिराप्रहर्षः (असंउ. १३) सिरोत्पात उपेक्षितश्चेत् ता एव राजीर्वर्धयन् साश्रुं सिराहर्षाख्यं नेत्ररोगं कुर्यात्। तेन चक्षुरुद्वीक्षणाक्षमं भवति (सुउ. ६.३०; असंउ. १३)

सिराकुञ्चन–न., लक्षण० सिराकुटिलता, सिरायाः कौटिल्यम् (सुनि. १.२७)

सिरादिदाह–पु., मधुस्नेहादिभिः सिरादीनां दहनम् (असंसू. ४०.३; अहसू. ३०.४४)

सिरानद्ध–वि., लक्षण० सिराभिः समन्ततो व्याप्तम् (असंशा. ११.२१)

सिरामय–पु., सिरारोगः (चचि. २९.३९)

सिरायाम–पु., लक्षण० सिरास्वायाम इव पीडा (चचि. २३.१६७) सिराकर्षणम् (इन्दु. असंउ. ४३)

सिराप्रसरणम् (चचि. १२.१०)

सिराकर्षणम् (इन्दु. असंउ. ४३)

सिरास्र–न., सिरागतं रक्तम् (असंनि. ३.१७)

सिरोत्थापन–न., सिराणामुन्नामनम् (सुशा. ८.८)

सिरोत्पात–पु., नेत्ररोग० शोणितजोऽयम् (असंउ. १३) तल्लक्षणम्–अक्षिराज्यः सवेदना अवेदना वापि ताम्रा भवन्ति। मुहुर्विरज्यन्ति च (सुउ. ६.२९) नेत्रशुक्लभागेऽयं भवति; तत्र शोफाश्रूपदेहाश्च न सन्ति (असंउ. १३)

सिल्हक–पु., धूप० तुरुष्कः (ध. ३.२२; पृ. ९८)

सिल्हसार–पु., धूप० तुरुष्कः (रा. १२.३६; पृ. ९८)

सीदन्ती–वि., श्राम्यन्ती; श्रान्ता, अचेष्टमाना (अहसू. २६.३९)

सीधु–पु., आसुत० (चसू. १५.७) द्रवद्रव्योभयप्रधानं मद्यम् (सुसू. ४५.१९७) इक्षुरसेन क्वथितेन धातक्यादिबद्धपाशः कालान्तरेण निष्पन्नः किञ्चिद्गुडघृतावापः सस्यकः (ड.) सीधुगुणाः– कषायो मधुरः पाचनो दीपनश्च (सुसू. ४५.१८२) वातपित्तकरः स्नेहश्लेष्मविकारनुन्मेदःशोफोदरार्शोघ्नश्च (अहसू. ५.७४) पक्वरसःसीधुगुणाः–बलवर्णकरः सरः शोफघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितश्च (सुसू. ४५.१८४) अयं नेत्ररोगेषु सेकार्थमुपयुज्यते (असंउ. १९)

–गन्ध–पु., वनस्पति० बकुलः (ध. ५.१५४; पृ. २०२)

–रस–पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.२, पृ. १७०)

सीमन्त–पु., केशमार्गः (चइ. ८.६; सुसू. ३१.१०) चतुर्दश सीमन्ताः, गुल्फजानुवङ्क्षणेषु त्रयः, एवं सक्थिबाहुषु च मिलित्वा चतुर्भिस्त्रिकैर्द्वादश, त्रिके एकः, एकश्च शिरसीत्येवं चतुर्दश (सुशा. ५.१६-१७) अष्टादशेति केचित्, तत्र पूर्वोक्ताश्चतुर्दश, श्रोणिकाण्डोपर्येकः, वक्षउपर्येकः, उदरोरःसंधाने एकः, अंसकूटोपर्येकश्च (ड. सुशा. ५.१७) वृद्धवाग्भटे गुल्फजानुवङ्क्षणमणिबन्धकूर्परकक्षास्वेकैकः, त्रिके एकः, पञ्च शिरसीत्यष्टादश (इन्दुः असंशा. ५.६७) विच्छेदः (हे. अहसू. ७.६) मर्म० शीर्षसन्धिः (सुशा. ६.२७) इदं स्थानतः शिरोमर्म, जातितः सन्धिमर्म; मानतश्चतुरङ्गुलप्रमाणं, संख्यया पञ्च, कालान्तरप्राणहरं च (ड. सुशा. ६·२७; असंशा. ७.२४) तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणम् (सुशा. ६.२७)

सीमन्तक–पु., मर्यादारेखा (असंसू. ८.११)

सीमन्तावर्तक–पु., रिष्टलक्षण० चक्राकारा केशभूमिः (असंशा. ९.२२)

न., भेषज० सिन्दूरम् (रा. १२.१६०; पृ. ११६)

सीरी–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (ध. ४.९; पृ. १३५)

सीवन–न., शल्यतन्त्रोपक्रम० (चसू. ११.५५) व्रणस्य षट्त्युपक्रमेष्वेकः, सूच्या सूत्रेण सह व्यात्तमुखव्रणादीनां संधानम् (सुचि. १.८) व्रणसीवनविषयाः–अपाकोपद्रुता मांसस्था विवृताश्च व्रणाः (सुचि. १.४५) सद्योव्रणा अभिघातजा व्रणाः, शस्त्रलिखिता मेदोजा ग्रन्थयः, कर्णयोर्लिखिता हस्वाः पाल्यः, शिरोक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु

जाता व्रणा ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्पायूदरादिषु गम्भीरप्रदेशेषु मांसलप्रदेशेषु च जाता व्रणाः (अहसू. २९.४९-५१)

(**सीवनी**)-स्त्री., शारीर० प्रत्यङ्ग० सन्धिरेषा (चचि. ३०.१७२) सप्त सीवन्यः-शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वा शेफसोश्चैकैका, ताः शस्त्रेण परिहरणीयाः (सुशा. ५.१५; असंशा. ५.६५)

-विकल्प-पु., सीवनविधिः सीवनविकल्पाश्चत्वारो गोफणिका तुन्नसेवन्या वेल्लितकं ग्रन्थिबन्धनमिति भेदात् (असंसू. ३८.३८)

सीव्य-न., अष्टविधशस्त्रकर्मस्वेकम्, सीवनीयम् (सुसू. ५.५; असंसू. ३८.४१)

वि., सीवितुं योग्यः सीवनार्हः, कर्तव्यसीवनः, ते च मेदःसमुत्था भिन्नाः सुलिखिताश्चलसन्धिव्यपाश्रिताद्या व्रणाः (सुसू. २५.१६)

सीस-न., खनिज० सीसकम् (चचि. ७.८८; र. २.१०४; रा. १३.२०; पृ. २०९)

-सत्त्व-न., भैषज्य० बोद्दारशृङ्गकम् (र. ३.१६३)

सीसक-पु., भटित्रकरणकाष्ठम् (चसू. २६.८४)

न., भैषज्य० सौवीराञ्जनम् (चचि. १७.१२६)

खनिज० शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा, तत्र शुद्धं सीसकं शीघ्रद्रावणशीलमतिगुरु छेदे कृष्णवर्णमिश्रोज्ज्वलवर्णं पूतिगन्धयुक्तं बहिर्भागे वर्णेन कृष्णं च एतद्विपरीतमशुद्धम् (र. ५.१७८)

तस्य शोधनम्-चुल्लीस्थे खर्परेऽग्निना सीसके द्रुते सति क्रमेण सिन्दुवारजटाकौन्त्यादिचूर्णं मुहुर्मुहुरल्पाल्पं क्षिपेत्। दर्व्या च मुहुश्चालयेत्। भस्मीभूतं तच्चूर्णमन्तराऽन्तरा तालवृन्तादिवायुनाऽपसार्य बहिः क्षिपेत्। ततस्तप्तं तन्निर्गुण्डीरसपूरिते सच्छिद्रमहाभारपिधानेन पिहिते चोलूखलादौ तादृशपात्रान्तरे वा दर्व्याऽन्तःक्षिपेत् तेनोत्प्लवनजबाधाभयं न स्यात्। एवं शुद्धं सीसकं मूर्च्छादिदोषकरं न भवेत् (र.५.१८०)

सीसकगुणाः- तिक्तं स्निग्धं दीपनमत्युष्णं वातकफघ्नं किञ्चित्पित्तलम् (असंसू. १२.१६)

प्रमेहतोयदोषघ्नमामवातनुच्च (र. ५.१७९)

कटु कषायं लवणं लेखनं बल्यमर्शोघ्नं च (ध. ६.२१; पृ. २०९) गरकृमिहरं पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुहृच्च (सुसू. ३८.६२)

हिं.—सीसा, सीषक.

म.—शिसे.

गु.—शीसुं, काळुं सिसुं.

बं—सीसा, सीसे.

त.—करुनाकं.

फा.—अनुक्, सुर्व.

-कूपिक-न., नागधातुनिर्मिता कुपी (र. १२-९९)

सीहुण्ड-पु., वनस्पति० स्नुही (ध. १.२३५; पृ. ५५)

सुकण्टका-स्त्री., वनस्पति० कुमारी (रापरि. ५.१२; पृ. ३४०)

सुकन्द-पु., वनस्पति० गुण्डकन्दः (रापरि. ८.६३; पृ. ३६२)

पलाण्डुः (ध. ४.७१; पृ. १४८)

(**सुकन्दा**)-स्त्री., वनस्पति० वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७३; पृ.४४)

लक्ष्मणा (रापरि. ७.५५; पृ. ३५२)

सुकन्दक-पु. वनस्पति० मुखालुः (रापरि. ७.२२; पृ. ३४९)

धरणीकन्दः (रापरि. ७.४२; पृ. ३५०)

वाराहीकन्दः (रा. ७.१३६; पृ. १५२)

सुकन्दन-पु., वनस्पति० बर्बरः (रापरि. १०.४८; पृ. ३७२)

सुकन्दिन्-पु., वनस्पति० सूरणः (रा. ७.५; पृ. १६९)

सुकन्या-स्त्री., शर्यातिनृपतेः कन्या, अञ्जननिर्माणविधौ इयं देवतात्वेन पूजनीया (असंसू. ८.९४)

सुकर-वि., सुखसाध्यम् (सुचि. ३.१५)

सुकर्णक-पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३५; पृ. ३५०)

सुकर्णी-स्त्री., वनस्पति०आखुकर्णी (रापरि. ३.२१; पृ. ३३१)

सुका-स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध.६.११४; पृ., २३१)

सुकाण्डक-पु., वनस्पति० काण्डीरः (ध. ४.६२; पृ. १४६)

सुकान्त-न., खनिज० कान्तलौहम् (र. १७.६७)

सुकामा-स्त्री., वनस्पति० त्रायमाणा (रा.५.३७८;पृ.५९)

सुकार-न., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०७; पृ. २२२)

सुकाष्ठक-न., वनस्पति० देवदारु (रा. १२.१०४; पृ. २१)

सुकाष्ठा-स्त्री., वनस्पति० कट्वी (रापरि. ३.४३; पृ. ३३३)

काष्ठकदली (रा. ११.११०; पृ. १४९)

सुकुन्द्र-पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१; पृ. १२१)

सुकुमार–वि., मृदुदेहः (सुसू. ४६.४४४)
देहसौकुमार्यकरम् (नवनीतम्)
(ड. सुसू. ४५.९२)
अल्पबलम् (भेषजादि) (चवि. ८.९४)
वनस्पति० श्यामाकः (ध. ६.८८; पृ. २२५)
चम्पकः (ध. ५.१४२; रा. १०.२४०; पृ. १९९)
कङ्गुः (रा. १६.१४२; पृ. २२५)
राजमाषः (रा. १६.१३५; पृ. २२४)

सुकुमारक–पु., इक्षुभेदः, पौण्ड्रकः
(ध. ४.१२०; पृ. १५८) द्र० 'इक्षु'
वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.७८; पृ. २२०)
न., वनस्पति० तमालपत्रम् (रा. ६.७९; पृ. ८०)
–तैल–न., स्नेह० मधुकद्राक्षाखर्जूरपरूषकादिसिद्धं तथा जीवनीयादिगणसंसिद्धं तैलम्, एतन्नस्याञ्जनपानेषु बस्तौ च प्रयुज्यते। चरकमहर्षिप्रणीतमिदं सर्ववातव्याधिषु प्रशस्यते। किञ्चेदं मन्यास्तम्भहनुग्रहसर्वाङ्गैकाङ्गवातक्षतक्षीणक्षतज्वरवातास्रनाशनमारोग्यबलपुष्टिदं स्वरवर्णकरं च
(चवि. २९.९६-१०२)

(सुकुमारा)–स्त्री., वनस्पति० त्रिसन्धिः
(रापरि. १०.३७; पृ. ३७१)
वनमल्लिका (ध. ५.४०; पृ. १९८)
जाती (रा. १०.२३१; पृ. १९८)
कदली (ध. ४.७५; पृ. १४८)
स्पृक्का (रा. १२. ११४; पृ. १०८)

सुकुमारोपचारता–स्त्री., मृदुभेषजोचितत्वम्
(चवि. ८.१०६)

सुकूर्च–पु. न., सुष्ठुतमः कूर्चः, यस्मिन् यस्य वा तद् (दन्तधावनम्) असंसू. ३.१५)

सुकोशक–पु., वनस्पति० कोशाम्रः (ध. ५.९; पृ. १७०)

सुकोशा–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (रा. ७.२८८; पृ. ४६)

सुक्त–न., काञ्जीभेदः (चसू. २४.७; अहसू. २८.४२)

सुक्षेत्र–वि., शोभनशरीरः डल्हणोक्तदशक्षेत्रविषयकोत्तरोत्तरशोभनत्ववान् (सुसू. ३५.५; असंशा. ८.३३)

सुख–वि., व्यापद्रहितम् (अहसू. १९.६९)
स्वास्थ्योत्पादकम् (सुसू. ४६.४३७)
न., अनुकूलवेदनीयम् (चवि. ८.३९; सुशा. १.१७) यदाल्हादं जनयति तत्, आत्यन्तिक–तादात्विकभेदेन सुखं द्विविधम्। तत्रात्यन्तिकं सुखं मोक्षः, तादात्विकं कामादिश्च (अरु. अहसू. १.२)
आरोग्यम् (चसू. १.५५)
वनस्पति० ऋद्धिः (ध. १.१४५; पृ. ३४)
–दा–स्त्री., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५३; पृ. १८८)
–पक्ति–स्त्री., सुखेन पाकः (अहसू. १६.२३)
–भोजिन्–पु., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.११४; पृ. २२२)
–रोपणीय–वि., यस्य सुखेन रोपणं भवति तत् (स्फिक्पायुप्रजननादि) (सुसू. २३.५)
–वर्चस्–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः
(ध. २.२०; पृ. ७२)
–साध्य–वि., सुखेन साध्यः (चसू. २९.७) अगम्भीरः (चसू. १०.१३) सुखोपायः (सुसू. ३५.४६-४७) भेषजादिना यः शान्तो भवति, (स व्याधिः) अयमल्पकालेन साध्यते
(चनि. ८.३३)
–स्पर्श–पु., क्षार० टङ्कणम् (र. १९.६९-७२)

सुखवी–स्त्री., वनस्पति० कुडुहुञ्चिका, कारवेल्लम्
(असंसू. १४.३)

सुखानुबन्धिन्–वि., स्थिरत्वेन सातत्येन वा सुखोत्पादकः (सुसू. ४६.५२१; असंसू. ५.४८)

सुखाम्बु–न., सुखोदकम् (चवि. १६.६१) ईषदुष्णं जलम् (ड. सुउ. ४४.२५)

सुखाम्भस्–न., सुखोदकम्, सुखोष्णं जलम्
(र. ३०.९१)

सुखार्जिक–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः
(रा. ६.२६; पृ. ७२)

सुखालुका–स्त्री., वनस्पति० अन्यादोडी
(रापरि. ४.४१, पृ. ३३८)

सुखावती–स्त्री., योग० इयं वर्तिः कतकशङ्खसैन्धवादिनिर्मिता सती तिमिरपटलकाचादिनेत्ररोगनाशिनी
(चवि. २६.२५२-२५३)

सुखिन्–वि., अनातुरः, व्याधिरहितः (चशा. २.६)

सुखोचित–वि., सुखी, अभ्यस्तसुखः
(सुसू. ४६.४४४-४४५)

सुखोदक–न., ईषदुष्णोदकम् पिष्टमयस्यान्नस्येदमनुपानम् (सुसू. ४६. ४२५) वसन्ततौ शौचविधाविदं प्रशस्तम् (चसू. ६.२४; अहसू. ३.१३) अनेनाधःकायपरिषेको बलकरः (अहसू. २.१७)

सुखोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता
(ध. ४.९८; पृ. १५३)

सुखोपाय–वि., सुखो नाम सुकर उपायो यस्य तत्
(चक. १.३)

सुखोषित–वि., सुसुखम् उषितो नाम स्थितः, अर्थात् निशायां सुप्तः (असंसू. २७.११)

(सुखोषिता)–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (रा. ३.११; पृ. ९)

सुखोष्ण–वि., सुखकरमेव औष्ण्यं यस्य (सुचि. ८.२४)

सुखोष्णोदकगण्डूष–पु., कोष्णजलगण्डूषः, मुखगौरवे सति तल्लाघवापादनोऽयमुपक्रमः (अहसू. २२.१०)

सुगतिनिघ्न–वि., सुगत्या गमनशीलः, सदाचारपरः (असंसू. ३.१२८)

सुगन्ध–पु., वनस्पति० भूस्तृणम् (रापरि. ८.४२)
चणकः (ध. ६.१०१)
धवलयावनालः (रा. १६.१६९)
न., वनस्पति० नीलपद्मम् (रा. १०.२४८)
जवादि (रापरि. १२.७)
खनिज० गन्धकः (रा. १३.१६७)
भैषज्य० अयमगदः छत्रदुन्दुभ्यादिलेपाद्देहविलेपनाच्च दर्शनश्रवणस्पर्शैः सर्वविषहरः (असंउ. ४७)
कफजकृमिः (असंनि. १४.५२)
मनःप्रियो गन्धः (सुसू. ४६.५२१)
मूलविषम् (सुक. २.५)

(सुगन्धा)–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२४)
माधवी (रापरि. १०.२९)
गङ्गापत्री (रापरि. १०.४५)
नाकुली (ध. ४.१०३; पृ. १५४)
महाशालिः (रा. १६.१०८; पृ. २२२)
स्पृक्का (रा. १२.११३; पृ. १०८)
सल्लकी (रा. ११.१९५; पृ. १२२)
रास्ना (र.१२.१०१-१०३)
शतपुष्पा (रा. ४.३; पृ. ६९)
शेफालिः (रा. ४.११९; पृ. १५०)
वन्ध्यकर्कोटकी (रा. ३.२७४; पृ. ४४)
सुवर्णयूथा (रा. १०.२५१; पृ. २००)
जीरक० कृष्णः (रा. ६.१०५; पृ. ८३)
ग्रैष्मी (ध. ५.१४०; पृ. १९८)
गन्धनाकुली (इ. असंउ. ४२)
सर्पसुगन्धा (सुक. ५.७६-७८)

–केसर–पु., वनस्पति० रक्तशिग्रुः द्र० ' शिग्रु ' (रा. ७.६६; पृ. १४२)

–पञ्चक–न., वनस्पति० कङ्कोलकं पूगफलं लवङ्गकुसुमं जातीफलं कर्पूरश्चेति (ध. ७.२४; पृ. ३०४)

–पत्रा–स्त्री., वनस्पति० रुद्रजटा (रापरि. ३.२४; पृ. ३३१)

–पिष्ट–न., योग० चन्दनागुरुकर्पूरकुङ्कुमानां पिष्टेन पारदमूर्च्छनं विधीयते। तेन श्रीशिवो विलिप्यते। ' पूर्वजन्मकृतं पापं सद्यो नश्यति देहिनाम् । ' (र. १.२७)

–प्रसव–पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.६९; पृ. २१९)

–भूतृण–न., वनस्पति० गुणाः–तदिदं ईषत्तिक्तं मधुरं शीतं रसायनं कफपित्तघ्नं श्रमापहं सुगन्धि च (रापरि. ८.४४.; पृ. ३६०)

–मूला–स्त्री., वनस्पति० सठी (ध. १.६१; पृ. १८)
रास्ना (ध. १.२७०) पद्मचारिणी (रा. ५.१३१; पृ. १५२)

सुगन्धक–पु,, शालिभेदः द्र० ' शालि ' (चसू. २७.९)
गन्धशालिः देवशालिः (सुसू. २०.५)
तृण० द्रोणपुष्पः (सुसू. ३८.१८-१९)
मूलविष० (असंउ. ४०)
खनिज० गन्धकः (र. २५.२०)

सुगन्धाढ्या–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११८; पृ. २२३)
मल्लिका (रापरि. १०.२३) वृत्तमल्लिका (रा. १०.२२७; पृ. १९७)

सुगन्धामलक–न., वनस्पति० सर्वौषधिकयुक्ताः शुष्का आमलकत्वचः (ध. ७.४१; पृ. ३०४)

सुगन्धि–पु., वनस्पति० गुण्डकन्दः (रापरि. ८.६३; पृ. ३६२)
सुमुखः (रा. १०.८८; पृ. १४६)
तुम्बुरुः (रा. ११.६६; पृ. ७८)
मुस्ता (रा. ६.५९; पृ. १५)
चन्दनभेदः बर्बरकः (रा. १२.१७; पृ. ९५)
वनस्पति० धान्यकम् (रा. ६.९८; पृ. ८२)
भैषज्य० तुरुष्कः (ध. ३.२३; पृ. ९८)
शालि० गन्धशालिः (रा. १६.९३; पृ. २२१)

–त्रिफला–स्त्री., वनस्पति० जातीफलम्, एला लवंगफलं च (ध. ७.५; पृ. २९९)

–मूलक–न., वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२७; पृ. ९७)

सुगन्धिक–न., वनस्पति० एलवालुकम् (रा. ४.१३४; पृ. १११)
उशीरम् (रा. १२.२६; पृ. ९७)

(सुगन्धिका)–स्त्री., वनस्पति० सर्पगन्धिका (इ. असंउ. ४२; सुक. ५.६८-७३

उत्पलसारिवा (सुचि. १७.८)

सुगन्धिनी–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकेतकी (धपरि. ५.१; पृ. २०४)

सुगृहा–स्त्री., पक्षि० पीतमस्तका प्रतुदजातीयाऽसौ (ड. सुसू. ४६.६७)

सुगृहीत–वि., सुष्ठु हस्तेन धृतम् (सुसू. ८.१४

सुग्रन्थि–पु., वनस्पति० चोरकः (रा. १२.१२८; पृ. ११०)

पिप्पलीमूलम् (रा. ६.११३; पृ. ८४)

सुचक्षु–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रचक्षुः (रा परि. ४.२२; पृ. ३३६)

सुचक्षुका–स्त्री., वनस्पति० बृहच्चक्षुः (रापरि. ४.२०; पृ. ३३६)

सुचर्मन्–पु., वनस्पति० भूर्जः (रापरि. ९.२२; पृ. ३६५)

सुचित्रबीजा–स्त्री., वनस्पति० विडङ्गम् (रा. ६.१६; पृ. ७१)

सुचित्रा–स्त्री., वनस्पति० चिर्भटम् (रा. ७.२६२; पृ. ४२)

सुचौक्ष–न., सुविशुद्धम् (चचि. १(४).२१)

सुजाता–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (रा. १३.१६५; पृ. ११६)

सुजीवन्ती–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३; पृ. ३३०)

सुतजीवक–पु., वनस्पति० पुत्रजीवः (रापरि. ९.३१; पृ. ३६६)

सुतपादुका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादि (रा. ५.१६७; पृ.१५६)

सुतश्रेणी–स्त्री., वनस्पति० दन्ती (चक. १२.३)

गुणाः – कटुश्चक्षुष्याऽऽखुविषव्रणदोषनेत्रामय-निकृन्तनी (रापरि. ४.१६; पृ. ३३६)

सुतार–पु., खनिज० पारदः (सुक. ३.१४–१५)

सुतिक्त–पु., वनस्पति० पर्पटः (रा. ५.६६; पृ. १६)

(सुतिक्ता)–स्त्री., वनस्पति० कोशातकी (ध. १.१९२; पृ. ४६)

सुतिक्तक–पु., वनस्पति० निम्बः (ध. १.२९; पृ. १३)

सुतिन्तिडी–स्त्री., वनस्पति० अम्लिका (ध. ५.३३; पृ. १७४)

सुतीक्ष्ण–पु., वनस्पति० शिग्रुभेदः द्र० ' शिग्रु ' (रा. ७.६४; पृ. १४२)

न., वनस्पति० मरिचम् (र. २५.११९)

सुतीक्ष्णक–पु., वनस्पति० मुष्ककः (रा. ११.२२१; पृ. १९६)

सुतीर्थ–वि., शोभनं तीर्थं पवित्रजलं यस्य सः (जलाशयादिः) (अहसू. १३.८)

सुतुङ्ग–पु., वनस्पति० नारिकेलः (ध. ५.७४; पृ. १८३)

सुतृण–पु., वनस्पति० मञ्जरः (रापरि. ८.५२; पृ. ३६१)

उखलः (रापरि. ८.४६; पृ. ३६०)

सुतेजस्–पु., वनस्पति० सुवर्चला (रा. ४.१४४; पृ. १५३)

सुतैला–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२; पृ. ६१)

सुत्वक्त्व–न., शोभना त्वग्यस्य सः तत्त्वम् (अहसू. २.८)

सुदग्ध–वि., सम्यग् दग्धम् (अहसू. ३०.४५-४६)

सुदग्धिका–स्त्री., वनस्पति० दग्धा (रापरि. ९.२८ पृ. ३६६)

सुदण्ड–पु., वनस्पति० वेत्रः (रापरि. ७.१४; पृ. ३४८)

सुदर्भा–स्त्री., वनस्पति० इक्षुदर्भा (रापरि. ८.४७; पृ. ३६१)

सुदल–पु., वनस्पति० मुचकुन्दः (रापरि. १०.२५; पृ. ३७०)

(सुदला)–स्त्री., वनस्पति० तरणी (रा. १०.२४४; पृ. २००)

शालिपर्णी (रा. ४.११३; पृ. २३)

सुदारु–न., वनस्पति० देवदारुः (ध. १.७७; पृ. २१)

सुदीन–पु., सुष्ठु नाम सुतरां म्लानः (सुउ. ६२.१३)

सुदीर्घा–स्त्री., वनस्पति० चीणाकर्कटी. (रा. ७.२६०; पृ. ४२)

सुदृढत्वचा–स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४८; पृ. २९)

सुधा–स्त्री. वनस्पति० स्नुही (चक. १०.१३) **सेहुण्डः** (सुचि. १८. ५२. रा. ८.३५५, पृ. ५६)

शालिपर्णी (रा. ४.११४)

अमृतम् (चचि. १०७८; र. २.९४–९६)

क्षारचूर्णम्, गाङ्गेयिका (चसू. १.७० र. १२.३८–३९)

भैषज्य० तवराजशर्करा (रा. १४.१६५; पृ. ९२)

–कल्प (पु.) अध्यायसंज्ञा सुधायाः कल्पः (चक. १०.१)

–काण्ड–न; स्नुह्याः काष्ठम् तद्दग्ध्वा कृतः क्षारः असौ ग्रहण्यां क्षारगुटिकायां प्रयोज्यः (चचि. १५.१८३-१८४)
–क्षीर–न., स्नुहीक्षीरम्, उदरे उपयुक्तम् (चचि. १३.१३८)
–पयस्–न., स्नुहीक्षीरम् क्षीरविरेचनानां मध्ये सुधापयः श्रेष्ठम् (सुसू. ४४.३-४)
–शर्करा–स्त्री., सुधापाषाणः (सुसू. ११.११)
–सार–पु., योग० पारदगन्धकादियुक्तः कुटजटुण्टुकादि क्वाथभावितः सिद्धयोगः, अयं दीपनपाचनग्राहीहृद्यरुचिकरातिसारविसूचीज्वरांश्च नाशयेत् (र. १६.११-१९)
–स्रवा–स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रापरि. ५.१५ पृ. ३४१)

सुधांशुभ–न.,–भैषज्य० मौक्तिकम् (रा. १३.६७; पृ. ३१८)
सुधांशुरत्न–न., भैषज्य० मौक्तिकम् (रा. १३.६७; पृ. २१०)
सुधान्य–न., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.१०१; पृ. २२२)
सुधाश्मन्–पु.. सुधायाः खण्डः (अहसू. ३०.१३)
सुधूपक–पु., निर्यास० श्रीवेष्टकः (रा. १२.१९३; पृ. १२१)
सुधूम्य–पु., वनस्पति० अगरुः (रा. १२.३९; पृ. ९९)
सुनन्दा–स्त्री., वनस्पति० रास्ना (असंसू. ८.७३)
सुनन्दिनी–स्त्री., वनस्पति० आरामशीतला (रापरि. १०.५२ पृ. ३७२)
सुनादक–पु., भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४३; पृ. १३०)
सुनाल–न., वनस्पति० लामज्जकम् (ध. ३.८६; पृ.११३)
सुनासिका–स्त्री., वनस्पति० काकनासा (रा. ३.४०; पृ. १३९)
सुनिद्रुम–पु., वनस्पति० टिण्टुकः (रा. ९.१४१; पृ. २८)
सुनिरूढ–वि., सम्यग्दत्तबस्तिः (असंसू. २८.४४) तस्य लक्षणम्–यस्याऽऽस्थापनानन्तरं विट्पित्तकफवायवः क्रमेण गच्छन्ति तथा लाघवं चोपजायते, सः सुनिरूढो विज्ञेयः (सुचि. ३८.१०-११)
–लिङ्ग–न., सुनिरूढलक्षणम् प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वादि (चसि. १.४१-४२)

सुनिर्घोषा–स्त्री., वनस्पति० जिङ्गिणी (ध. परि. ३.२२; पृ. १३२)
सुनिर्धूत–न., सुष्ठु धूतम् (चशा. ८.४१)
सुनिशित–न., सुतीक्ष्णम् (सुसू. ८.१४; अहसू. २९.१७)
सुनिषण्ण–पु., वनस्पति० शिखालिका, चतुष्पर्णी, इत्यपरे (ड. सुउ.४५.१६., अहसू. ६.७२; असं कास चि. ४)
–चाङ्गेरीघृत–न., इदम् अर्शोघ्नघृतम् (चचि. १४.२३४-४२)
–देह–वि., सुविश्रान्तशरीरः (ड. सुचि. ३८.३)

सुनिषण्णक–पु., वनस्पति० जलशाकः अयं ग्राही, त्रिदोषघ्नश्च (चसू. २७.८८; सुसू. ४६.२६२-६५)
वनस्पति० शिखालिका (सुसू. २०.५)
चतुष्पत्री (सुउ. १७.५०)
शितिवारः (ध. १.१५५; पृ. ३६. अहसू. ८.४२; असं.अर्शचि. १०)

सुनिष्पूत–वि., सुगालितः (चवि. ७.२५)
सुनील–पु., वनस्पति० दाडिमः (रा. ११.९४; पृ. ८२)
असनः (ध. ५.१२५; पृ. १९५)
(सुनीला)–स्त्री., वनस्पति० चणिका (रापरि. ८.६५; पृ. ३६२)
गर्मोटिका (रा परि. ८.५१; पृ. ३६१)
अतसी (रा. १६.१८७; पृ. २३१)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० अतसी (ध. ६.११४; पृ. २३१)

सुनीलक–पु., वनस्पति० नीलबीजः (रा. ९.२०९; पृ. १९५)
सुन्दर–पु., वनस्पति० तिलकः (रा.१०.२६७पृ.२०२)
न., भैषज्य० कान्तलोहम् (र. १६.१२२-२५)
(सुन्दरी)–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (र. ४.३६; पृ. १३८)

सुपत्रक–पु., वनस्पति० शि ु: (रा. ७.६०; पृ. १४२)
(सुपत्रा)–स्त्री., वनस्पति० पालक्यम् (रापरि. ७.७२; पृ. ३५३)
रुद्रजटा (रा परि. ३.२४ पृ. ३३१)
शालिपर्णी (रा. ४.११५; पृ. २३)
शमी (रा. ८.१५३; पृ. १८८)
शतावरी (रा. ४.४३८; पृ. ६७)
(सुपत्रिका)–स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२७; पृ. १५१)
शालिपर्णी (ध. १.८८; पृ. २३)

सुपरिग्रहण–न., बलवतो नियन्त्रणम् (सुचि. ६.४)
सुपरिमार्जित–न., सुष्ठु निर्मार्जितम्
(ड. सुचि. ३५.१५)
सुपरिस्रुत–वि., वस्त्रादिभिः सुष्ठु गालितं (दधि) तद्गुणाः- वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् भक्ताभिलाषकृतं च (सुसू. ४५.७६-७७)
सुपर्ण––पु., पक्षि० गरुडः (सुक. ४.२१)
वनस्पति० लघुजातीयो राजवृक्षः (र. ३०.४२)
(सुपर्णी)–स्त्री., वनस्पति० पलाशी
(रापरि. ३.४९; पृ. ३३३)
रेणुका (रा. ६.१००; पृ. १०६)
सुपर्णक–पु., वनस्पति० सप्तपर्णः (ध. ३.८०; पृ. ११२)
(सुपर्णिका)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी
(रा. ४.११३; पृ. २३)
सुपर्णाक्षी–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (र. ३०.४३)
सुपाकिनी–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः
(रा. ६.९०; पृ. १९)
सुपाक्य–न., भैषज्य० लवणविशेषं बिडम्
(ध. २. २८ पृ. ७४)
सुपार्श्व–पु., वनस्पति० प्लक्षः (ध. ५.८१; पृ. १८५)
सुपिङ्गला–स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती
(रा. ३.३९५; पृ. ६१)
जीवन्ती (रा. ३.१७८; पृ. ३३)
सुपिष्ट–वि., सुचूर्णितम् (सुचि. १.३७)
सुपीत–पु., वनस्पति० किङ्किरातः
(रा. १०.४१५; पृ. ६४)
न. वनस्पति गर्जरम् (ध. ४६९ पृ. १४७)
सुपुट–पु., वनस्पति० कोलकन्दः
(रापरि. ७.३८ पृ. ३५०)
विष्णुकन्दः (रा परि. ७.४० पृ. ३५०)
सुपुष्करा–स्त्री., वनस्पति० पद्मा
(ध. ४. ९०; पृ. १५२.)
सुपुष्प–पु., वनस्पति० अर्कभेदः श्वेतार्कः
(रा. १०.२९ पृ. १३७)
वनस्पति० हरिद्रुः (रा. परि ९.२६ पृ. ३६६)
वनस्पति० मुचकुन्दः (रापरि. १०.२५. पृ. ३७०)
वनस्पति० राजतरणी (रा. १०.२४६, पृ. २००)
न., वनस्पति० प्रपौण्डरीकम् (ध. ३.९२; पृ. १४४)
आढुल्यम् (रा. परि. ४.३३; पृ. ३३६)
तुलम् (रा. ९८६; पृ. १.८१)
(सुपुष्पा)–वनस्पति स्त्री० द्रोणपुष्पी
(रा. परि. ५.४८; पृ. ३४४)
मिश्रेया (रा. ४.६; प. ६९)
कोशातकी (रा. ७.२८८; पृ. ४६)
(सुपुष्पी)–स्त्री., वनस्पति० शङ्खपुष्पी
(रा. ३.१७०; पृ. १५७)
सुपुष्पक–पु., वनस्पति० शिरीषः
(रा. ९.१८८; पृ. १९२)
(सुपुष्पिका)–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा
(रा. ४.२; पृ. ६९)
जीर्णदारुः (रा. ३.१५७; पृ. १५५)
सुपूजका–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.१०८; पृ. २२२)
सुपूरक–पु., वनस्पति० मातुलुङ्गः
(ध. ५.२२; पृ. १७२)
सुपूरणी–स्त्री., वनस्पति० शाल्मली
(ध. ५.१२७; पृ. १९५)
सुप्त–वि., लक्षण० मन्दक्रियम् (चसू. १७.३५)
अचेतनम् (सुसू. १२.१०)
मन्दवेदनम् (चचि. ५.४३)
-ता–स्त्री., अधःकायस्य सुप्तिः (का सिद्धि. ५.९)
चरणयोः स्पर्शाज्ञानम् (चनि. १.२१)
-त्व–न., नखमक्षिकामशकादिदंशवेदनानभिज्ञत्वम्
(सुसू. २२.११)
-त्वक्–वि., सुप्ता नाम बधिरा त्वग्यस्य सः, बधिरत्वक् (सुसू. ३३.७)
-रूक्षच्छवि–स्त्री., जराशोषे लक्षणविशेषः । यद्यपि सुप्तरूक्षत्वं त्वचि भवति तथापि उपचारात् प्रभायां बोद्धव्यम् " ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारुचिपीडितः, संप्रसुप्तास्यनासाक्षः सुप्तरूक्षमलच्छविः " (सुउ. ४१.२०)
-सिरा–स्त्री., निःस्पन्दा सिरा (चचि. २८.३६)
-सुप्त–न., सुप्तवत् सुप्तमचेतनम् (चचि. ७.५६)
सुप्ताङ्गता–स्त्री., लक्षण० गात्राणां स्पर्शाज्ञता, सुप्तानि च तान्यङ्गानि च, तेषां भावः (सुउ. ३९.३५)
सुप्ति–स्त्री., लक्षण० स्पर्शाज्ञता (सुसू. २८.२१; सुनि. १.२५; अहसू. ७.१९)
-वात–पु., रक्तावरणक्रिया सुप्ततया लक्षितो वातः (सुचि. ४.१२) तस्य चिकित्सा–सुप्तिवाते नाम स्पर्शाज्ञानलक्षणे भिषजा पुनःपुनरल्पाल्पं रक्तमोक्षः करणीयः । अल्पाल्पस्रावणेन वातप्रकोपो

न स्यादिति। रक्तमोक्षानन्तरं च स व्रणः आगार-धूमतैललवणैर्लेपनीयः (सुचि. ४.१३)

सुप्रतिभा–स्त्री., आसुत० सुरा (रा. १४.३०३; पृ. २५४)

सुप्रतिष्ठित–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.१३६; पृ. १८६)

सुप्रभ–पु., वनस्पति० पद्मकः (ध. ३.८८; पृ. ११३)

(सुप्रभा)–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (रा. ४.२२६; पृ. ३८)

सुप्रलूम–वि., निस्तुषीभूतः (चवि. ७.२५)

सुप्रशस्त–पु., वनस्पति० बनबर्बरिका (ध. ४.५८; पृ. १४५)

सुप्रसन्नक–पु., वनस्पति० वनबर्बरिका (रा. १०.८८; पृ. १४६)

सुप्रसरा–स्त्री., वनस्पति० प्रसारणी (ध. १.२८९; पृ. ६६.)

सुफल–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१५७; पृ. १८९)
कर्णिकारः (रा. ९.३३६; पृ. ५३)
दाडिमः (रा. ११.९३; पृ. ८२)
आम्रः (ध. ५.३; पृ. १६९)

(सुफला)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१; पृ. ५८)
कूष्माण्डः (रा. ७.२६९; पृ. ४२)
कदली (रा. ११.१०६; पृ. १४८)
काश्मरी (रा. ९.१४८; पृ. २९)
उत्तरापथिका (रा. ११.७७; पृ. १८०)

सुफा–पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रापरि. ८.१७; पृ. ३५८)
पल्लिवाहः (रापरि. ८.५६; पृ. ३६२)

सुफेन–न., भैषज्य० समुद्रफेनः (रा. ६.२१७; पृ. १२६)

सुबाधक–वि., कृच्छ्रसाध्यम् (कीटदष्टम्) (ड. सुक. ८.४१)

सुबाहु–पु., राज० यत्पुत्रा राजतैलोपयोगेन गत्यायुर्बल-सुखभाजो बभूवुः (का. फक्करोग चि.)

सुबीज–पु., वनस्पति० खस्तिलः (रा. ४.१९०; पृ. २३२)
बदरम् (रा. ११.१५७; पृ. १८९)

सुबुद्धि–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. ६.४९)

सुभग–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७१; पृ. २०३)
कुरुबकः (रा. १०.४१३; पृ. ६४)
चम्पकः (रा. १०.२३८; पृ. १९९)
न., शैलेयम् (रा. १२.१३१; पृ. १११)
पु., टङ्कणक्षारः (रा.६.२८; पृ. ७३)
वि., मनोरमाकारः (सुशा. ४.७२)

(सुभगा)–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११४; पृ. १४९)
कैवर्तिका (रापरि. ३.३५; पृ. ३३२)
भैषज्य० कस्तूरिका (रा. १२.४६; पृ. १००)
वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६; पृ. १९७)
प्रियङ्गुः (रा. १२.२९; पृ. ९७)
शालिपर्णी (रा. ४.११४; पृ. २३)
नीलदूर्वा (रा. ८.२२७; पृ. १६३)
सुरसा (रा. १०.७७; पृ. १४४)

सुभगाह्वा–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.८१; पृ. १८)

सुभगेच्छा–स्त्री., सौभाग्येच्छा वशीकरणवांछा (सुक. १.४-६)

सुभद्रा–स्त्री., वनस्पति० सठी (ध. ६.८७; पृ. १९)
शमी (रा. ८.१५२; पृ. १८८)
काश्मरी (रा. ९.१४६; पृ. २९)

सुभिक्ष–वि., धनधान्यसंपन्नम् (असंसू. ३.११५)

(सुभिक्षा)–स्त्री., वनस्पति० धातकी (ध. ३.९०; पृ. ११३)
सुबुभुक्षा (चशा. ८.२७)

सुभूतिगौतम–पु., ऋषि० (सुशा. ३.३२)

सुभृङ्ग–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (र. ११. १०८)

सुभृत–वि., अतिमेदुरम् (इ. असंचि. १२)

सुभोजक–पु., वनस्पति० व्रीहिः (रा. १६.११३; पृ. २२२)

सुमकरन्द–पु., वनस्पति० कुन्दः (ध. ५.१५०; पृ. २०१)

सुमङ्गल्य–न., वनस्पति० चिडा (ध. १.८२; पृ. २२)

सुमदन–पु., वनस्पति० आम्रः (रा ११.३; पृ. १७०)

सुमन–पु., वनस्पति० गोधूमः (रा.१६.१५१; पृ. २२७)

(सुमना)–स्त्री., वनस्पति० शतपत्री (ध. ५. १५१; पृ. २०१)

सुमनत्–स्त्री., वनस्पति० जातीपुष्पम् (ड. सुउ. ३९.२३२)
उदकीर्यः (रा. ९.१८०; पृ. १९१)

सुमनस्–न.. वनस्पति० जाती (चसू. ३.४; सुसू. ३७.१२)

(सुमनः)-कोरक–पु., जातीमुकुलकः (चचि. २६.२४१)

-पत्रिका-स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री
(ध. ३.३३; पृ. १०२)
-फल-न., जातीफलम् (सुसू. ४६.४८५; रा. १२.६७; पृ. १०२)
(सुमनो)-मुकुल-न., वनस्पति० जातिकलिका
(सुसू. ३७.३१)
सुमनादिकषाय-पु., कल्प० जातीसौमनस्यायनीहरिद्रादिभिः सिद्धः कषायोऽयं वमनोपयोगी
(चवि. ८.१३५)
सुमनादिशोधनतैल-न., व्रणशोधनतैलम्, सुमनारुष्कराङ्कोठसप्तपर्णकल्ककषायसिद्धं तैलम्। कफजवृद्धौ भिन्नायां व्रणशोधनार्थमुपयुज्यते
(सुचि. १९.१२-१४)
सुमनाह्वय-न., खनिज० कांस्यम् (रा.१३.२४;पृ. २१०)
सुमालिन्-पु., वनस्पति० भूस्तृणम्
(रापरि. ८.४२;पृ. ३६०; रा.८.७२; पृ. १४३)
सुमुख-पु., वनस्पति० पर्णासभेदः द्र० 'वनबर्बरिका' गुणाः- अयं सुगन्धो नातिकटुको दोषोत्क्लेशकरो रोचनश्च (चसू. २७.१७३) कटुरुष्णः सुगन्धिः कफवातघ्नः पार्श्वशूलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यवान्तिभूतहरश्च (ध. ४.५८; पृ. १४५)
हिं.—वनबबरी.
म.—**सुगन्ध आजवला.**
बं.—वनबाबुइ तुलसी.
ता.—एलुमिच्चं तुळचि.
पु., वनस्पति० तुलसीभेदः द्र० ' तुलसी '
(सुसू. ४६.२३३-३४; चक. १.२५; सुसू. ३८.१८-१९)
बर्बरः (रापरि. १०-४८; पृ. ३७२)
सितार्जकः (रा. १०.८५; पृ. १४५)
सुमुखागत-वि., मुखपरंपरागतः (र. ५.१४४)
सुमुष्टि-पु., वनस्पति० विषमुष्टिः
(रापरि. ४.३९; पृ. ३३८)
सुमूल-पु., वनस्पति० श्वेतशिग्रुः द्र० ' शिग्रु '
(रा. ७.६४; पृ. १४२)
(सुमूला)-स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी
(रा. ४.११५. पृ. २३)
सुमूलक-न., वनस्पति० गर्जरम्
(रा. ७.९८; पृ. १४७)
सुमेघनाद-वनस्पति० मेघनादस्तण्डुलीयो वा
(र. ११.१०८)

सुर-पु., भूताधिपतिविशेषः (असंउ. ७)
वनस्पति० देवदारुः (र. ११.९०-९२)
(सुरा-)स्त्री., आसुत० अनुद्धृतमण्डा, असौ कृशसक्तमूत्रग्रहण्यर्शोविकारिणां हिता, स्तन्यरक्तक्षयेषु प्रशस्ता, वातघ्नी च (चसु. २७.१७९) गुणाः-**सुस्वादुस्तिक्ता** कटुरम्ला सकषायोष्णा तीक्ष्णा रूक्षा सूक्ष्मा लघुः दीपनरोचनतुष्टिपुष्टिहृद्यसरस्वरवर्णकरी, रक्तपित्तदूषणमूत्रशोधनकरी, वातकफघ्नी, शूलाऽनिद्राऽतिनिद्राकासाऽर्शोग्रहणीश्वासप्रतिश्यायहरा च
(ध. ६.२५५ पृ. २५१ ; सुसू. ४५.१७८-१७९; अहसू. ५.६७)
श्रमहराणां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०) कृशानामनुपानार्थमुपयुज्यते (सुसू. ४६.४२९)
परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः
(चसू. २७.३२३)
पैष्टी पिष्टभवा सुरा (सुउ. ४२.६४-६५)
काललवणयुक्ता सुरा वातशूले प्रशस्ता
(सुउ. ४२.९२)
शालिपिष्टकृतो मद्यः (सुसू. ४५.१७५-१७६)
-काष्ठ-न., वनस्पति० देवदारुः (सुउ. ११.६)
-कृता-स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.१; पृ. ८)
सुरसा (र. २७.५२)
-तुङ्ग-पु., वनस्पति० सुरपुन्नागः
(रापरि. १०.१०; पृ. ३६८)
-दारु-पु., वनस्पति० देवदारुः (चसू. ३.८)
महाकषायवर्गे स्तन्यशोधनगणे एकं द्रव्यम्
(चसू. ४.१२)
अनुवासनोपगगणे एकं द्रव्यम्
(चसू. ४.१३; ध. १.७७; पृ. २१)
वृक्ष० सरलदेवदारः, देवाह्वः (सुचि. १७.४४)
-दालिका-स्त्री., वनस्पति० देवदाली
(र. १८.७२-७३)
-दाली-स्त्री., वनस्पति० देवदाली (र. ५.१५१)
-द्रुम-पु., वनस्पति० देवदारुः, अपस्मारशमने सिद्धार्थघृते उपयुक्तम् (सुउ. ६१.३१)
महानलः (ध. ४.१४२; पृ. १६२)
-धूप-पु., निर्यास० रालः (रा. १२.१७७; पृ. ११९)
-ध्वज-पु., शक्रध्वजः, इन्द्रधनुः (चइ. १२.७२)
-नाल-पु., वनस्पति० महानलः
(ध. ४.१४२; पृ.१६२)
-पर्ण-न., वनस्पति० पलाशः
(रापरि. १०.५०; पृ. ३७२)

(-पर्णी)-स्त्री., वनस्पति० पलाशी
(रा परि. ३.४९; पृ. ३३३)
-पर्णिका-स्त्री., वनस्पति० सुरपुन्नागः
(रा परि. १०.१०; पृ. ३६८)
-पुन्नाग-पु., वनस्पति० सुरपर्णिका, गुणाः-मधुरः, शीतः, सुगन्धिः, देवताप्रसादनकरः, पित्तनाशनः, भूतविद्रावणश्च (रा परि. १०.१०; पृ. ३६८)
-पुष्पी-स्त्री; वनस्पति० अजगन्धा
(रा. ४.१५३; पृ. ९०)
-प्रिय-पु., वनस्पति० अगस्त्यः
(रा. परि. १०.१३ पृ. ३६९)
-प्रिया-स्त्री., वनस्पति० जाती
(रा. १०.२३१; पृ. १९८)
सुवर्णकदली (रा. ११.११५; पृ. १४९.)
-मृत्तिका-स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री
(ध. ३.१०६; पृ. ११६)
-मेदा-स्त्री., वनस्पति० महामेदा
(रा. ५.१६३; पृ. ३१)
-राजबस्ति-पु., इन्द्रबस्तिः (सुचि. १८.२६)
-लता-स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (र. २७.११८)
तेजोवती (रा. ३.३९२; पृ. ६१)
-वल्लभा-स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा
(रा. ८.२३०; पृ. १६३.)
-वारुणी-स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी
(र. २४.१४०)
-श्रेष्ठा-स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी
(रा. ५.१४७; पृ. १५४)
-संभवा-स्त्री., वनस्पति० सुवर्चला
(रा. ४.१४४; पृ. १५३)
-सर्षपक-पु., वनस्पति० देवसर्षपकः
(रापरि. ९.४२; पृ. ३६७)
सुरक्तक-पु., वनस्पति०क्षुद्रान्नः (ध. ५.९; पृ. १७०)
न., सुवर्णगैरिकम् (रा. १३.२३३; पृ. १२९)
सुरङ्ग-पु., वनस्पति० नारङ्गः (रा. ११.२४; पृ. १७३)
न., खनिज० हिङ्गुलम् (रा. १३.४७; पृ. २१५)
(सुरङ्गा)-स्त्री., वनस्पति० कैवर्तिका
(रा परि. ३.३५; पृ. ३.३२)
(सुरङ्गी)-स्त्री., वनस्पति० काकनासा
(ध.४.२५;पृ. १३९)
-द-न., वनस्पति० कुचन्दनम्
(रा.१२.१२; पृ. ९४)
-धातु-पु., खनिज० गैरिकम्
(रा. १३.२३१; पृ. १२८)
सुरङ्गक-पु., वनस्पति० कुचन्दनम्
(ध. ३.६; पृ. ९४)
(सुरङ्गिका)-स्त्री., वनस्पति० पोतकी
(ध. परि. ४.५; पृ. १६८)
सुरटी-स्त्री., खनिज० वङ्गम् (ध. ६.१३; पृ. २०८)
सुरत-न., स्त्रीसंभोगः (र. १.६२)
सुरभि-पु., वनस्पति० तुलसी (सुसू. ४६.२३३)
गन्धतृणम् (रापरि. ८.४४; पृ. ३६०)
स्त्री., वनस्पति० सुरसा (रा. १०.७८; पृ. १४४)
रुद्रजटा (रापरि. ३.२४, पृ. ३३१)
पाची (रापरि. १०.४६; पृ. ३७१)
सल्लकी (अहसू. २०.३७; ध. ३.१३५; पृ. १२२)
बर्बरिकम् (रा. १२.१७; पृ. ९५)
मुरा (ध. ३.३७; पृ. १०९)
बकुलः (रा. १०.२६२; पृ. २०२)
शमी (रा. ८.१५२; पृ. १८८)
चम्पकः (ध. ५.१४२, पृ. १९९)
कदम्बः (रा. ९.१७०; पृ. १९०)
प्राणि० गौः (सुउ. ५७.९; र. ३०.६८)
निर्यास० रालः (र. १८.२१-२८; रा. १२.१७७)
गन्धशालिः (रा. १६.९३; पृ. २२१)
ग्रष्मी (ध. ५.१४०; पृ. १९८)
वि., सुगन्धिः (सुसू. ४६.३४६)
-गन्ध-न., वनस्पति० तमालपत्रम्
(रा. ६.८०; पृ. ८०)
पु., खनिज० गन्धकः (र. २२.१६७)
-(गन्धा)-स्त्री., वनस्पति० जाती
(रा. १०.२३१; पृ. १९८)
-त्रय-न., खनिज० हरितालमनःशिलागन्धकाश्चेति त्रयाणां समूहः (र. २१.१६१)
-त्वक्-स्त्री., वनस्पति० भद्रैला (रा. ६.७०; पृ. ७९)
-पत्रा-स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (ध. ५.८३; पृ.१८५)
-स्रवा-स्त्री., वनस्पति० सल्लकी
(रा. ११.१९५; पृ. १२२)
सुरभी-स्त्री., वनस्पति० पर्णासभेदः
(चक. चचि. २३.२४३)
वनस्पति० शूकशिम्बा (चसू. ५.६५) जम्बूः
(ध. ५.८३; पृ. १८५)
तुलसी (ध. ४.५०; पृ. १४४)

सुरम्भिका–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११४; पृ. १४९)

सुरस–पु., वनस्पति० तुलसीभेदः द्र० 'तुलसी' गुणाः– पित्तकृत् कफवातघ्नः पूतिगन्धहा हिक्का-कासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः (चसू. २७.१६९; सुसू. ४६.२३३; र. १२.४०-४१)
गन्धतृणम् (रापरि. ८.४४; पृ. ३६०)
निर्यास० मोचरसः (रा. ८.२१५; पृ. १९६)
कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६; पृ. १२०)
स्त्री., वनस्पति० तुलसी (असंउ. ४२)
न., वनस्पति० त्वक् (रा. ६.७६; पृ. ७९)
निर्यास० बोलम् (रा. ६.११६; पृ. १०८)

(सुरसा)–स्त्री., वनस्पति० तुलसी (ध. ४.५०; पृ.१४४; चवि. ७.१७; सुउ. ६२.३०)
अस्या रसो नेत्ररोगेषूपयुज्यते (असंउ. २०)
मिश्रेया (रा. ४.६; पृ. ६९)
मूर्वा (इन्दु. असंउ. २८)
ब्राह्मी (रा. ५.१४८; पृ. १५४)
राज्ञा (रा. ६.३९६; पृ. ६२)

(सुरसी)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतनिर्गुण्डी (सुसू. ३८.१८)
–पत्रक्षार–पु., सुरसापत्राणि दग्ध्वा कृतः क्षारः (चवि. १८.१७१)
–पुष्प–न., वनस्पति० तुलसीमञ्जरी (र. २७.११९)
–प्रसव–न., वनस्पति० सुरसमंजरी (इन्दु. असंउ. ४४)
–मञ्जरी–स्त्री., पर्णासभेदः (चक. चवि. २३.१०१)

सुरसाग्रज–न., वनस्पति० सुरसपुष्पम् (इन्दु. असंउ. ४३)
तुलसीपल्लवम् (सुक. ८.६८)

सुरसादिकषाय–पु., द्रव्यकषायः आस्थापनार्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.७)

सुरसादिगण–पु., द्रव्यगण० सुरसा श्वेतसुरसा फणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेरक-कासमर्दक्षवकखरपुष्पविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डी-कुलाहलेन्दुरुक्मिणीकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति (सुसू. ३८.१८-१९)

सुरा–स्त्री., शालिपिष्टकृतं मद्यं (अहसु. ५.६७)
–कल्प–पु., आसुत० माषशालिपिष्टकृतं वैरेचनिकमूल-भावितं मद्यम्, लोहितवर्णा पिष्टकिण्वकल्केन किञ्चित्कलुषा (ड. सुसू. ४४.३१-३४)
–कोष्ठी–स्त्री., मद्यनिर्माणाय कृता कोष्ठी (र. ७.६)
–मण्ड–पु., न., सुरायाः उपरितनोऽच्छो भागः (ड. सुउ. २८.४)
–मेह–पु., रोग० कफजोऽयम्, अस्मिन्नरः सुरातुल्य-मुपरि प्रसन्नमधः सान्द्रं मेहति (असंनि. १०.१३) अस्मिन् निम्बकषाय उपयुज्यते (सुचि. ११.९; सुनि. ६.१०)

सुराख्य–न., वनस्पति० देवदारुः (सुउ. ४१.४८)

सुरानन्द–पु., रसाचार्येषु सप्तविंशतिसंख्याकेष्वन्यतमो रससिद्धिप्रदायकः (र. १.२-५)

सुरायस–न., खनिज० कान्तलोहम् (र. १५.६८)

सुरार्ह–न., वनस्पति० हरिचन्दनम् (रा. १२.१९; पृ. ९५)

सुरार्हक–पु., वनस्पति० बर्बरः (रापरि. १०.४८; पृ. ३७२)

सुरालय–पु., देवगृहम् (अहसू. २.३८)

सुराला–स्त्री., वनस्पति० अतिविषा (इन्दु. असंउ. ४४; अहसू. १५.४)

सुराष्ट्रक–पु., धान्य० कुलित्थः (ध, ६.१०५; पृ. २२८)

सुराष्ट्रज–पु., धान्य० मुद्गः (रा. १६.१२९; पृ. २२४)

(सुराष्ट्रजा)–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री (ध. ३.१०५; पृ. ११६)
तुवरमृत्तिका (सुचि. १.६०)

सुराष्ट्रोद्भवा–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्रिका (सुचि. २५.३८)

सुरासव–पु., आसुत० तीव्रमदो वदनप्रियो वातघ्नश्च। यस्मिन्नासवे जलस्थाने सुरा एवोपयुज्यते, स सुरासवः (चसू. २७.१८७) सुरया सूयते तोय-कार्यं क्रियते यस्मिन् सः (सुसू. ४५.१८७)

सुराह्व–पु., वनस्पति० हरिद्रुः (रापरि. ९.२६; पृ.३६६) देवदारुः (चसू. ३.३; ध. १.७६; पृ. २१)

सुरूप–न., वनस्पति० तूलम् (रा. ९.८६; पृ. १८१)

(सुरूपा)–स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६; पृ. १९७)
शालिपर्णी (रा. ४.११५; पृ. २३)
भार्ङ्गी (रा. ६.९६; पृ. २०)

सुरेचन–पु., योग० अष्टौ भागा निस्तुषजयपालस्य, शुण्ठ्याश्चयो, मरिचगन्धकाभ्यां द्वौ द्वौ, टंकणादेकः पारदाच्चैक इत्येतेषां मर्दनाज्जायते। मात्रा–गुञ्जा। अनुपानम्–शीताम्बु। फलम्–गुल्मजलोदरप्लीह-नाशः (र. १९.६)

सुरेज्या–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४८; पृ. १५४)
सुरसा (रा. १०.७७; पृ. १४४)

सुरेन्द्र–न., सुवर्णम् कुटजमित्यन्ये, वाद्यप्रलेपार्थमुपयुज्यते (ड. सुक. ३.१४-१५)

सुरेन्द्रकन्द–पु., वनस्पति० वज्रकन्दः (सुसू.४६.३०५)

सुरेशलुप्त–न., रोग० क्षुद्रकोष्ठरोगः, इन्द्रलुप्तम् (चसू. ३.७)

सुरेश्वर–पु., इन्द्रः (चसू. १.२१)

सुरेष्ट–पु., वनस्पति० वसुकः (रापरि. ५.३७; पृ.३४३)
सुरपुन्नागः (रापरि. १०.१०; पृ. ३६८)

सुरेष्टक–पु., निर्यास० सर्जकः (रा. ९.२०५; पृ. १९४)

सुलघु–वि., नितरां लघु सुपचत्वेन अगुरु यथा पुराणरक्तशाल्यादि (ड. सुउ. ३९.१४५)

सुलङ्घित–वि., सम्यग्लङ्घनवान् (पुरुषः) (सुउ. ३९.१०४-१०५)
सुलङ्घितस्वरूपम्-अधःप्रवृत्तवातपुरीषमूत्रः, बुभुक्षातृडसहः, अङ्गगौरवादिरहितः प्रसन्नान्तःकरणः, प्रसन्नेन्द्रियः सर्वाक्षमः एवं लक्षणको नरः सर्वान् लङ्घनगुणान् सम्यगाप्तवानिति ज्ञेयम् (सुउ. ३९.१०४-१०५)

सुलभा–स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रा. परि. ५.८; पृ. ३४०)
माषपर्णी (रा. ३.१७२; पृ. ३२)
वार्षिकी (रा. १०.२२९; पृ. १९८)

सुललितचक्षुस्–वि., किञ्चिन्मिलितलोचनः (ड. सुउ. २७.८)

सुलोमन्–स्त्री., वनस्पति० ताली (रा. परि ३.३७; पृ. ३३२)

सुलोमा–स्त्री., वनस्पति० मांसी (रा. १२.१३९; पृ. १५३)

सुवंश–पु., वनस्पति० श्वेतेक्षुः (रा. १४.१८१; पृ. १५८)

सुवक्त्र–पु., वनस्पति० सुमुखः (ध. ४.५८, पृ. १४५)

सुवदन–पु., वनस्पति० सुमुखः (ध. ४.५८; पृ. १४५)

सुवर्च–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः (ध. २.२०; पृ. ७२)

सुवर्चल–न., क्षार० संचलम् (र. १८.१८५)

(सुवर्चला)–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (सुसू. ४६.२६२, चचि. १९.३२) सूर्यावर्ता (सुसू. ३७.३०)
ब्राह्मी (रा. ५.१४७; पृ. १५४)

सुवर्चिक–पु., खनिज० सर्जिकाक्षारः (ध. २.२०; पृ. ७२)

(सुवर्चिका)–स्त्री., खनिज० सर्जिकाक्षारः (चसू. २.२३; सुचि. ६.१२)

सुवर्ण–न., खनिज० पार्थिवद्रव्येष्वेकं, हिरण्यम् (चसू. १.७०) त्रप्वादिगणे एकम् (सुसू.३८.६२) गुणाः–स्वादु हृद्यं बृंहणीयं रसायनं दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनं च (सुसू. ४६.३२६) स्निग्धं कषायं च (असंसू. १२.१२) रुच्यचक्षुष्यायुष्यकरं प्रज्ञाकरं वीर्यकरं स्वर्यं कान्तिकरं च (ध. ६.१; पृ. २०५) तस्य शोधनम्–सैन्धवगैरिकेण सह सुवर्णपत्राणि कर्षप्रमाणानि शरावरुद्धं कृत्वा प्रहरार्धपर्यन्तं ध्मापयेत्। एवं सुवर्णं पूर्णवर्णं भवति (र. ५.१५) तस्य मारणम्– प्रथमतः कण्टकवेध्यानि सुवर्णपत्राणि कृत्वाऽनन्तरं तानि पत्राणि बीजपूररसमर्दितेन पारदभस्मना लेपयेत्। ततः दशसंख्याकानि कुक्कुटपुटानि दातव्यानि। एभिर्दशपुटैः सुवर्णं म्रियते (र. ५.१७) गुणाः–आयुष्करं स्मृतिकरमखिलव्याधिविध्वंसि भूतावेशप्रशान्तिकरं गरहरं मेहापहारि स्फुटमतिकरं वीर्यप्रवर्धनं स्निग्धं मेध्यं बृंहणं वृष्यमग्र्यं यक्ष्मोन्मादप्रशमनपरं मेधाबुद्धिकरं रुच्यं दीपनं स्वादुपाकं च (र. ५.१२-१३) सुवर्णभस्म द्विगुञ्जोन्मितं त्रिकटुसर्पिर्भ्यां लिह्यात् सुवर्णजमेतद्भस्म कटुघृतोपेतं द्विगुञ्जोन्मितं लीढं सन्नृणां क्षयाग्निसदनं श्वासं कासमरुचिं च हन्ति। एतच्चौजोधातुविवर्धनं बलकरं पांडुामयध्वंसनं पथ्यं सर्वविषापहं गरहरं दुष्टग्रहण्यादिनुच्च (र. ५.२०) अशुद्धसुवर्णं नराणां बलं वीर्यं च हरति, काये रोगव्रजं कोपयति। असौख्यकरमपथ्यमेतत्सदोषं मरणं करोति (र. ५.२३) तस्य द्रुतिविधानम्–सुवर्णं बहुकालपर्यन्तं मण्डूकास्थिवसाटङ्कहयलालेन्द्रगोपकानां प्रतीवापेन द्रवरूपं तिष्ठति। देवदालीफलद्रवैर्भावितं सुवर्णसमानमिन्द्रगोपचूर्णं सुवर्णं जलवत् द्रुतं द्रवरूपं वा करोति (र. ५.२१-२२) वेधजं सुवर्णम्–पारदवेधेन संजातं सुवर्णम् (र. ५.११) असम्यक् मारितं शोधितं च सुवर्णं सौख्यं वीर्यं बलं च हन्ति रोगसमूहं च करोति (र. ५.१४)
मान०द्रंक्षणद्वयमितो मानविशेषः, कर्ष इति यावत् (चक.१२.९०) कर्षः (ड. सुचि. ३१.७; असंक. ८)
खनिज० सुवर्णगैरिकम् (सु. उ. ४५.३९)
वनस्पति० नागकेसरम् (रा. ६.७४; पृ. ७९)
वनस्पति० कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६; पृ. १२०)

(सुवर्णा)-स्त्री., वनस्पति० सर्वक्षीरी (रा. ५.३६५; पृ. ५७)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१; पृ. ५८)
हरिद्रा (रा. ६.७९; पृ. १८)
-कदली-स्त्री., वनस्पति० कदली (रा. ११.११४; पृ. १४९)
-कृष्टी-स्त्री., खनिज० हेमकृष्टी (र. ८.९)
-केतकी-स्त्री., वनस्पति० केतकी (ध परि. ५.१; पृ. २०४)
-क्षीरा-स्त्री., वनस्पति० सूर्यमण्डलाकारपुष्पा (चचि. १.(४)-७)
-क्षीरिका-स्त्री., वनस्पति० सर्वक्षीरी (ध. १.२४२; पृ. ५७)
-क्षीरी-स्त्री., वनस्पति० अनन्तासदृशपत्रा सेयं विरेचने उपयुज्यते (सुसू. ३९.४)
-गैरिक-न., खनिज० गुणाः-स्वादु कषायं शीतं स्निग्धं नेत्र्यं रक्तपित्तहिध्मावमिविषरक्तविकारहरं च (ध. ३.१७०; पृ. १२८)
-चूर्ण-न., गरार्ते शर्कराक्षौद्रयुतं लेहार्थमुपयुज्यते (असंउ. ४०)
-त्वच्-पु., वनस्पति० आरग्वधः (अहसू. २१.१७;)
-धातु-पु., खनिज० राजावर्तः (ध. ६.६०; पृ. २१७)
-नकुली-स्त्री., वनस्पति० तेजोवती (रा. ३.३९२; पृ. ६१)
-पुष्प-पु., वनस्पति० राजतरणी (रा. १०.२४६; पृ. २००)
-प्राश-पु., योग० मधुसर्पिर्युतसुवर्णावलेहनम् (कासू. लेहाध्यायः)
-माक्षिक-पु., खनिज० माक्षिकम् (चचि. ७.७१)
-माषक-पु., मान० मध्यमाः द्वादशधान्यमाषाः (सुचि. ३१.७)
-मृत्तिक-वि., सुवर्णवर्णा मृत्तिका यस्मिन् भूमिभागे विद्यते, सः (देशः) (चसू. १४.४६)
-मोचा-स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११४; पृ. १४९)
-यूथा-स्त्री.; वनस्पति० यूथिका (ध. ५.१४९; पृ. २००)
-रम्भा-स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११४ पृ. १४९)
-लतिका-स्त्री., वनस्पति० ज्योतिष्मती (ध. १.२६७ पृ. ६१)
-शैल-पु., मेरुपर्वतः (र. २.७९)
-सूची-स्त्री., सुवर्णमयं सीवनशस्त्रम् (सुचि. २९.१)
सुवर्णक-न., खनिज० पित्तलम् (ध. ६.१८; पृ. २०९)
(सुवर्णिका)-स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३.; पृ. ३३०)
सुवर्णार-पु.; वनस्पति० कोविदारः (रा. १०.२९४; पृ. ४७)
सुवर्षा-स्त्री., वनस्पति० वार्षिकी (ध. ५.१३६; पृ. १९७)
सुवर्ष्मन्-वि., सुसारः (कर्णः) (इन्दु. असंउ. २२)
सुवल्गुरी-स्त्री., वनस्पति० पुत्रदात्री (रापरि. ३.४७; पृ. ३३३)
सुवल्लिका-स्त्री., वनस्पति० जन्तुका (रा. ३.१२९; पृ. १५१)
सुवल्लिज-न., भैषज्य० प्रवालम् (ध. ६.६४; पृ. २१८)
सुवल्ली-स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६५; पृ. ३८)
सुवसन्त-पु., वनस्पति० अतिमुक्तकः (ध. ५.१५३; पृ. २०१)
(सुवसन्ता)-स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९; पृ. १९८)
सुवहा-स्त्री,. वनस्पति० शेफालिः (चवि. ७.२१; रा. ४.१२१; पृ. १५०)
त्रिवृत् (चसू. ४.९)
राम्ना (चसू. ४.११)
गन्धनाकुली (सुचि. १७.४०-४१) गोधापदी (ड. सुउ. ५१.२३. ध. ४.१०५; पृ. १५५)
सल्लकी (रा. ११.१९५; पृ. १२२)
हंसपादी (रा. ५.१६६; पृ. १५६)
मुसलीकन्दः (रापरि. ७.५८; पृ. ३५२)
रुद्रजटा (रापरि. ३.२४; पृ. ३३१)
उत्तमकारिणी (इन्दु. असंउ. ४४)
सुवाचिका-स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५१; पृ. ९०)
सुवान्त-वि., सम्यक् वान्तः (पुरुषः) (असंसू. ३.८५)
सुवास-पु., वनस्पति० कदम्बः (ध. ५.१०४; पृ. १९०)
सुविभक्त-वि., सुव्यक्तः (सुसू. ५.८)
-गात्र-वि., सुष्ठु पृथग्भूत सकलावयवः (सुशा.४.७४)
सुविरेच्य-वि., सुखं विरेच्यो नाम विरेचनार्हः सुखविरेकः (चसू. १३.६९)
सुविष्टरा-स्त्री., वनस्पति० गुण्डासिनी (रा परि. ८.६६; पृ. ३६३)

सुवीरक–पु., वनस्पति० एकवीरः
(रापरि. ८.८; पृ. ३५७)
सुवीरज–न., खनिज० अञ्जनम्
(ध. ३.१५१; पृ. १२५)
सुवीराम्ल–न., आसुत० मद्यम्
(ध. ६.२५१; पृ. २५१)
सुवीर्या–स्त्री., वनस्पति० शतावरी
(रा. ४.४४२; पृ. ६७)
निर्यास० नाडीहिङ्गु (रा. ६.६४; पृ. ७८)
सुवृत्तक–पु., वनस्पति० दर्भः (ध. ४.१३३; पृ. १६१)
सुवृत्ता–स्त्री., वनस्पति० शतपत्री
(ध. ५.१५१; पृ. २०१)
सुवृत्ति–स्त्री., वनस्पति० सूरणः
(धपरि. ४.६; पृ. १६८)
सुवेगा–स्त्री., वनस्पति० तेजोवती
(रा. ३.३९३; पृ. ६१)
सुव्रत–पु., वनस्पति० वसुकः (ध. ४.१९; पृ. १३८)
सुशल्य–पु., निर्यास० खदिरः (रा. ८.३१; पृ. ११)
सुशाक–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः
(रा. ५.१७५; पृ. १५७)
चञ्चुः (रापरि. ४.१८; पृ. ३३६)
न., वनस्पति० आर्द्रकम् (रा. ६.१३३; पृ. ८७)
सुशाकक–न., वनस्पति० आर्द्रकम्
(ध. २.८५; पृ. ८७)
सुशालि–स्त्री., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.९९; पृ. २२१)
सुशाल्यक–पु., वनस्पति० व्रीहिः
(रा. १६.१०४; पृ. २२२)
सुशिखा–स्त्री., वनस्पति० बर्हिचूडा
(रापरि. ५.१३; पृ. ३४१)
सुशिम्बिका–स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी
(रा. परि. ७.९७, पृ. ३५५)
सुशीत–पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२५; पृ.१८५)
सुशीता–स्त्री., वनस्पति० शतपत्री
(ध. ५.१५१ पृ. २०१)
सुश्रीका–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी–
(रा. ११.१९६; पृ. १२२)
सुश्रुत–पु., विश्वामित्रमुनिपुत्रः, प्राचीनः शल्यतन्त्रकर्ता-धन्वन्तरिविश्वामित्रसुताय सुश्रुताय आयुर्वेदमुपदिष्टवानिति गारुडे इति शब्दकल्पद्रुमः, पितुराज्ञया सुश्रुतः काशीं गतस्तत्र दिवोदासो नाम काशिराजः साक्षाद् धन्वन्तरिरायुर्वेदविदांवर आसीत्, तस्माद् आयुर्वेदं गृहीतवान्। अनन्तरं सुश्रुताद्याः काशिराजशिष्याः स्वं स्वं तन्त्रं कृतवन्तस्तत्र सुश्रुततन्त्रं गुणवत् सत् "सुश्रुत" इति नाम्ना जगति विख्यातमभूत् (सुसू. १.३)
–**संहिता**–स्त्री., सुश्रुतमहर्षिणा कृता शल्यतन्त्रप्रधाना आयुर्वेदीयसंहिताऽस्यां षट्स्थानानि वर्तन्ते–सूत्रस्थानं निदानस्थानं शारीरस्थानं चिकित्सास्थानं कल्पस्थानमुत्तरतन्त्रं चेति । तत्र सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशदध्यायाः, निदाने षोडश, शारीरे दश, चिकित्सिते चत्वारिंशत्, कल्पे अष्टौ, उत्तरतन्त्रे षट्षष्टिरिति (सुसू. ३.३) समाहृत्य शतोत्तरषडशीतिः
सुश्वेता–स्त्री., वनस्पति० लक्ष्मणा (ध. १९७. पृ. २५)
सुषमा–वि., सुशोभना (चइ. ७.८)
सुषवन–न., (परिव०) सहनम् (चसू. १८.७)
सुषवी–स्त्री., वनस्पति० जीरकः (ध. २.५९; पृ. ८१)
शाक० कारवेल्लकम् (चक. १.२२; अहसू. १५.१७)
पानीयवल्ली (सुचि. ५.१२; र.१२.३८)
सुषिर–पु., दन्तरोग० दन्तमूलेषु जातो रक्तपित्तजो रुजायुक्तो लालास्रावी दन्तमांसप्रशातनश्च यः श्वयथुः, सुषिर इति नाम्ना व्यपदिष्टः (असंउ. २५)
सु(षिरा)–स्त्री., वनस्पति० नलिका
(ध. ३.४३. पृ. १०४)
–**त्व**–न., सौषिर्यम् (कासू. २.५)
सुषिराख्य–पु., वनस्पति० वंशभेदः रन्ध्रयुक्तवंशः
(रा. ७.२१६; पृ. १६२)
सुषूयन–(परिव०)–न., सहनम् (चसू. १८.७)
सुषेण–पु., वनस्पति० वेतसः (ध. ५.११६; पृ. १९३)
न., वनस्पति० करमर्दः (ध. ५.१०२; पृ. १९०)
सुषेणी–स्त्री., वनस्पति० त्रिवृत् श्यामा
(ध. १.२४२;पृ. ५७)
सुसंगुप्त–वि., अतिशयेनादृश्यम्, पटादिना आच्छादित त्वम् (सुसू. ४६.४४७)
सुसंयत–वि., सुष्ठु लौल्यादिदोषरहितः, आयत्तपरिधानादिकः (ड. सुक. १.१४-१६)
सुसंस्कृत–वि., अक्लिष्टवर्णश्रुतिकम् (सूत्राक्षरम्)
(सुसू. ३.५४)
–**बन्ध**–पु., पारदबन्धः, विष्णुक्रान्ताद्यौषधेरप्रसूतायाः गोर्मूत्रेण पिष्टो वालुकायन्त्रे पाचितो लोहादिभिर्मर्दितः पुनरपि वालुकायंत्रे पक्वः पारदः
(र. ११.९०-९२)

सुसंस्थित–वि., शोभनाकारम् (शस्त्रम्) (ड. सुसू. ८.१४)

सुसंहत–वि., सम्यक्संहननयुक्तम् 'तत्र समसुविभक्तास्थि सुबद्धसन्धि सुनिविष्टमांसशोणितं सुसंहतं शरीरमित्युच्यते (चवि. ८.११६)

सुसमाहित–वि., सावधानः, अवहितचित्तः (सुचि. ३.२६)

सुसाध्य–वि., सुखसाध्यः (अहसू. १.२९)

सुसार–पु., वनस्पति० खदिरभेदः रक्तखदिरः (रा. ८.३६; पू. १२) द्र० 'खदिर'

सुसिद्धक–पु., निर्यास० सर्जकः (रा. ९.२०५; पू. १९४)

सुसेना–स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४)

सुस्रवा–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५;पृ. १२२)

सुस्वर–पु., भैषज्य० शङ्खः (ध. ३.१७९; पृ. १३०)

सुहृत्परिषद्–स्त्री., परिषद्० त्रिविधपरिषदां मध्ये एका, सा च मित्रभावनया संमिलिता वैद्यानां सभा (चवि. ८.२०)

सूकर–पु., वनस्पति० कन्दभेदः वाराहीकन्दः (र.१९.८९) पशु० तन्मांसगुणाः–उष्णम्, स्निग्धम्, गुरु, बृंहणं, वृष्यं, बल्यं, रुच्यं, स्वेदघ्नमामघ्नं, वातघ्नं, श्रमघ्नं च; ग्रामसूकरजमांसगुणाः–गुरुतरं मेदोबलवीर्यनिद्रास्थूलत्वदार्ढ्यकृत् (ध. ६.३९५; पृ.२६९) तद्वसा महायोन्याख्यव्यापदि पूरणार्थं, वातासृग्दरे पानार्थं चोपयुज्यते। तद्वसा मज्जा च निरुद्धमण्याख्ये गुह्यरोगे परिषेकार्थमुपयुज्येते (असंउ.३९)

(सूकरी)–स्त्री., वनस्पति० कन्दभेदः, वाराहीकन्दः (रा. ७.१३४; असंशा. १२.९; पृ. १५२)

–कन्द–पु., वनस्पति० कन्दभेदः वाराहीकन्दः (रा. ७.१३५; पृ. १५२)

–पादिका–स्त्री., वनस्पति० दधिपुष्पी (ध. १.१५३; पृ. ३६)

–बालक–पु., धान्य० शालिः (ध. ६.७१; पृ. २१९)

सूकरेष्ट–पु., वनस्पति० गुडकन्दः (रापरि. ८.६३., पृ. ३६२)

सूक्त–न., आसुत० तद्गुणाः–मधुरं, तिक्तमम्लमुष्णं, तीक्ष्णं, लघु, कटु, रक्तपित्तकरं, पाचनं, भेदनं, मूत्रलं, हृद्यं, रोचनं, कफपित्तघ्नं पाण्डुकृमिशिरोरोगनासिकादुर्गन्धनाशनम् (ध. ६.२४६; पृ. २५; अहसू. ५.७६)

सूक्ष्म–पु., गुण० सौक्ष्म्ययुक्तः गुणविशेषः, स्थूलविपरीतो गुणः, सूक्ष्मस्रोतोगामी गुणः(चसू. १.५९) स्रोतोनुसरणशीलः आग्नेयद्रव्यस्य गुणेष्वेकः (सुसू. ४१.३.(३); सूक्ष्ममार्गानुप्रवेशी (ड. सुक. २.१९–२०) अवगाहकः (सुसू. ४६.५२१) विवरणे शक्तिः (हे अहसू. १.१८)

(सूक्ष्मा)–स्त्री., वनस्पति० करुणी (रापरि. १०.२७; पृ. ३७०)

आकाशमांसी (रा. १२.९५ पृ. १०५)

–घण्टिका–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पीभेदः द्र० 'शणपुष्पी' (रा. ४.३००; पृ. ४८)

–तण्डुल–पु., वनस्पति० खस्तिलः खसखसः (रा. ४.१९०; पृ. २३२)

–तुण्ड–पु., आग्नेयकीट० अयं शूकतुण्डविषः (सुक. ३.५ असंउ. ४३)

–दन्ता–वि., सूक्ष्मा दन्ता यस्याः सा (मुचुण्डी) संदंशयन्त्रवाच्या (अहसू. २५.९)

–दर्शन–न., सूक्ष्मनिरीक्षणम् (असंसू. ३.२५)

–दल–पु., वनस्पति० देवसर्षपकः (रापरि. ९.४२; पृ. ३६७)

–दला–स्त्री., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२०; पृ. १०)

–निरीक्षण–न., अतितनुविषयस्य प्रेक्षणम् नेत्ररोगहेत्वन्यतममिदम् (सुउ. १.२७)

–पत्र–पु., वनस्पति० धन्वयासः (रा. ३.२६; पृ. ११)

रक्तेक्षुः (रा. १४.१८९; पृ. १५९)

सुरपर्णः (रा परि. १०.५०; पृ. ३७२)

धान्यकम् (रा. ६.९८; पृ. ८२)

(–पत्रा)–स्त्री., वनस्पति० क्षुद्रोपोदकी (रा परि. ७.७६; पृ. ३७३)

अन्यादोडी (रा परि. ४.४१; पृ. ३३८)

वृद्धदारुः (रा. ३.१५७; पृ. ११५)

शतावरी (रा. ४.४३८; पृ. ६७)

वन्यजीरः (ध. २.७२; पृ. ८३)

(–पत्री)–स्त्री., वनस्पति० आकाशमांसी (रा. १२.९५;पृ. १०५)

–पत्रक–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१६४; पृ. १८९)

वनबर्बरिका (रा. १०.८८; पृ. १४६)

–पत्रान्तरा–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५; पृ. १५७)

–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० शतपुष्पा (रा. ४.३; पृ. ६९)
–पर्णी–स्त्री., वनस्पति० सूक्ष्मपुष्पा, शणपुष्पीभेदः, द्र० 'शणपुष्पी' (रा. ४.३०१; पृ. ४८)
–पिप्पली–स्त्री., वनस्पति० वनपिप्पली (रा. ६.१२२; पृ. ८६)
–पुष्पा–स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पीभेदः द्र० 'शणपुष्पी' (रा. ४३००; पृ.४८)
–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० शङ्खिनी (रा. ३.३८१; पृ. ५९)
–फल–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१४६; पृ. १८९)
भूकर्बुदारः (रा. ११.१५०; पृ. १८८)
–बदरी–स्त्री., वनस्पति० भूबदरीभेदः द्र० 'बदर' (रा. ११.१६२; पृ. १८९)
–बीज–पु., वनस्पति० खस्तिलः खसखसः (रा. ४.१९० पृ. २३२)
–मूला–स्त्री., वनस्पति० बलामोटा (धपरि. ४.१; पृ. १६८)
–लोचना–वि., अल्पद्वारजालका (कुटी) (चवि. १.१९)
–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० ताली (रापरि. ३.३७; पृ. ३३२)
जन्तुका (रा. ३.१२८; पृ. १५१)
कारवल्ली (रा. ७.२७८; पृ. ४५)
–शाख–पु., वनस्पति० जालबर्बुरः (रापरि. ८.१४; पृ. ३५७)
–शालि–स्त्री., धान्य० व्रीहिभेदः द्र० 'व्रीहि' (रा. १६.९२; पृ. २२१)
–सागरगामिनी–स्त्री., वनस्पति० सूक्ष्मैला द्र० 'एला' (रा. ६.६९; पृ. ७८)
–स्रोतस्–न., शारीर० अणुस्रोतः, नाभिश्च रोमकूपाश्च सूक्ष्मस्रोतांसि (काशाशारीरविचय)

सूक्ष्मैला–स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, द्र० 'एला' (ध. २.४४; पृ. ७८)

सूचक–वि., परानिष्टजनकाभिधायकः, कर्णेजपः, पिशुनः (चसू. ७.५६)
पु., धान्य० व्रीहिभेदः द्र० 'व्रीहि' (रा. १६.९२; पृ. २२१)

सूचन–न., अंशतो लेशतोऽर्थप्रकाशनम् (सुसू. ३.१२)

सूचि–स्त्री., सीवनशस्त्र० तीक्ष्णकण्टकाकारो लौहादिमयः (चनि. ३.७) तीक्ष्णाग्रा सरला, वक्रा, धनुराकारा इति त्रिप्रकाराः, तदिदं सीवनव्यधनविस्रावणोपयोगि शस्त्रम् (सुसू. ८.४)
–दल–पु., वनस्पति० शितिवारः (रा. ४.२०७; पृ. ३६)
–पत्र–पु., वनस्पति० शितिवारः (ध. १.१५५; पृ. ३६)
–पत्रक–पु., वनस्पति० शितिवारः (रा. ४.२०६; पृ. ३६)
–मल्लिका–स्त्री., वनस्पति० वनमल्लिका (रा. १०.२३६; पृ. १९९)
–वक्त्र–न., रत्न० हीरकम् (ध. ६.५५; पृ. २१६)
–शालि–स्त्री., धान्य० व्रीहिभेदः, सूक्ष्मशालि द्र० 'व्रीहि' (रा. १६.९२; पृ. २२१)

सूचिकापुष्प–पु., वनस्पति० केतकी (ध परि. ५.१; पृ. २०४)

सूचिकाभरण–पु., सिद्धयोग० हीरकवैक्रान्तशृङ्गीविषनवसागराग्निजारशार्ङ्गेष्टादियुक्तो योगविशेषः (र. १२.७६-८१)

सूची–स्त्री., शस्त्र० असौ सीवनोपयोगिनी (चचि. २९.३६, सुचि. २९.१०). द्र० 'सूचि'
वनस्पति० दर्भ (र. १८.४७-५२)
कुशः (र. १८.४७-५२)
–कूर्च–पु., न., शस्त्र० द्र० 'कूर्च' (अहसू. २६.२२; असंसू. ३४.३१)
–कूर्चक–न., शस्त्र० द्र० 'कूर्च' (असंउ. २८)
–पत्र–पु., वनस्पति० इक्षुभेदः द्र० 'इक्षु' (सुसू. ४५.१५४)
(–पत्रा)–स्त्री., वनस्पति० गण्डदूर्वा द्र० 'दूर्वा' (रा. ८.२३४ पृ. १६४.)
–पाश–पु., सूचिनेत्रम्, सूचिच्छिद्रम् (सुउ. ७.१०)
–पिप्पलक–पु. न., शस्त्र० सूच्याकारः शस्त्रविशेषः (चशा. ८.३४)
सूचिः सीवनार्थं सूत्रं च (चशा ५.१२)
सूचिस्थापनपात्रम् (चशा. ५.१२)
–मुख–वि., मूले स्थूलो मुखे अणुः (भगन्दरव्रणः) (सुचि. ८.२७)
पु., कीट० सविषोऽयं, सौम्यः श्लेष्मप्रकोपणः, कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२-१५; असं. उ. ४३)
वनस्पति० कुशः (रा. ८.२०८ पृ. १६१)
पारदादियोग० पारदगन्धकहरितालमनःशिला·

माक्षिकतुत्थजयपालवत्सनाभादियुक्तः, धनुर्वातकासश्वासप्रलापहिक्कामूकत्वबधिरत्वोन्मादापस्मारादिनाशकः (र. १२.९९)

-मुखाकृति-वि., सूचीमुखवत्-अग्रवत्-(अर्शः) सूक्ष्माकृति (सु नि. २. १०)

-मुखी-स्त्री., योनिरोग० वातलाहारसेविन्यां जनन्यां कुपितो वायुः स्त्रियाः-गर्भस्थयोषायाः योनिमणुद्वारां कुर्यात् (च सू. १९.४(९)) (चचि. ३०३१-३२) त्रिदोषजो रोगः, अतिसङ्कुचितमुखी योनिः (सुउ. ३८.१९)

सूचिवक्त्रा-स्त्री., योनिरोग० सूचीमुखी (सुउ. ३८.१९)

सूच्याह्व-पु., वनस्पति० शितिवारः (ध. १.११५; पृ. ३६)

सूत-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४३; र. १.२७ पृ. २१४)

(सूता)-वि., प्रसूता (अहसू. ७.७०)

-राज्-पु., खनिज० पारदः (रा. १३.४१; पृ. २१४)

सूतक-पु., खनिज० पारदः (र. १.२३)

सूताञ्जन-न., अञ्जन० अञ्जनमिदं पारदटङ्कणजम्बीरयुक्तं नेत्रपटलरोगनाशकम् (र. २३.५२)

सूति-स्त्री., प्रसूतिः (र. २.१४४.१४५)

सूतिका-स्त्री., प्रसूता स्त्री (चशा. ८.४७; सुशा. १०.१६) सूतिका चिकित्सा-सूतिकाया यत्कर्तव्यम्-वातहरैः सिद्धं पयः पानार्थम्, अनन्तरं दशाहं भोजने हितम्। दशाहादनन्तरं द्वितीयं च दशाहं रसो भोजने हितः, दिनविंशतेरनन्तरं सा स्त्री लघुपथ्याल्पभोजना सती तथा स्वेदाभ्यङ्गपरा स्नेहान्बलादिकान्भजेत् (अरु. सुचि. १५.२६-२७)

-ज्वर-पु., रोग० प्रसूतानां नारीणां ज्वरः, वेगसन्धारणव्यायामादिहेतुभिः सञ्जातो ज्वरः स षड्विधः-दोषभेदेन चतुर्विधः, स्तन्यागमोत्थो ग्रहोत्थश्च;तल्लक्षणानि-वातजज्वरलक्षणानि-विषमोष्माङ्गमर्दो जृम्भा, रोमहर्षणं, कषायविरसास्यता, शीतद्वेषोष्णकामिता, दन्तहर्षः, प्रलापः, प्रजागराध्मानाङ्गसङ्कोचः शुष्कोद्गारश्च; पित्तजज्वरलक्षणानि-तृष्णादाहप्रलापवमथुपीतास्यनखदन्ताक्षिविण्मूत्रताकण्ठशोषकटुकास्यताभ्रमशीताभिलाषाः; कफजज्वरलक्षणानि- प्रतिश्यायकासष्ठीवनशिरोरुग्गात्रगौरवोष्णाभिकामितामन्दोष्मतानिद्रातन्द्राहिमद्वेषमधुरास्यतागात्रसादान्नविद्वेषशुक्लमूत्रपुरीषताः; सन्निपातज्वरलक्षणानि-मुहुर्दाहः, कृच्छ्रविण्मूत्रवातत्वं वातेनाङ्गाभिसञ्जनं नामघर्षणं दाहस्तृष्णाप्रलापः, पित्ताद्विक्षिप्तचित्तता, कफाद्गुरुत्वं कण्ठसंरोधः; स्तन्यजज्वरलक्षणानि-तृतीयेह्नि चतुर्थे वा नार्याः स्तन्यं प्रवर्तते, संवृतानि पयोवहानि स्रोतांसि स्तन्यमभिघट्टयेत्। तेन स्तनयोः स्तम्भः; हृदयद्रवः, पिपासा, कुक्षिपार्श्वकटीशूलाङ्गमर्दशिरोरुजश्च भवन्ति । ग्रहजज्वरलक्षणानि-आक्षेपचक्षुर्विभ्रमश्रमहस्तनेत्रकम्पनहारिद्रमुखनेत्रतानिद्रानाशकेशलुञ्चनाक्रोशवातजज्वरलक्षणानि, क्षणेन श्यावता क्षणमात्रं सवर्णता च (काखिल. ११.३९.६९) तच्चिकित्सासूत्रम्-स्वेदोऽपतर्पणं युक्त्या पाचनौषधसेवनं कषायोऽभ्यञ्जनं सर्पिर्ज्वरघ्नः परमो विधिः (काखिल. ११.७५)

-रोग-पु., सूतिकाविकारः, काश्यपसंहितायां चतुःषष्टिर्विकारा उक्ताः (का. खिल. १०.१४)

-षष्ठी-स्त्री., प्रसूतायाः षष्ठं दिनम्, तदा षण्मुखीं षष्ठीं पूजयेत् (का. बालग्रहचि.)

सूतिकामृत-न., भैषज्य० सौभाग्यशुण्ठिः (र. २२.११७-२२)

सूतिकागार-न., सूतिकागृहम्, प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेदपहृताश्थिशर्करा-कपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा बैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदकानां भल्लातकानां बारणानां खादिराणां वा, यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदस्तेषां; वसनालेपनाच्छादनापिधानसंपदुपेतं वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नान-भूमिमहानसमृतुसुखं च। तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविड्लवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पली-पिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्यैलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिङ्गुसर्षपलशुनकतककणकणिकानीपातसीबल्वजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽऽमानौ द्वौ, द्वे कुण्डमुसले, द्वे उलूखले, खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचिपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठान्यग्निसन्धुक्षणानि (चशा. ८.३३ ३४) नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्तितिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातक-

निर्मितं सर्वागारं यथासंख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिसुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् (सुशा. १०.५)

सूतिकासन–न., सूतिकाया आसनम् (काशा. ५) सूतिकागारम् (काशा. ५)

सूती–स्त्री., प्रसूतिः (असंशा. ४.३३)

–**रोग**–पु., सूतिकारोगः (र. २२.४१)

सूतेन्द्र–पु., पारदयोग० मुक्ताप्रवालसुवर्णरौप्यगन्धकवैक्रान्तादियुक्तः, मात्रा–पञ्च गुञ्जाः, असौ शुक्रवर्धकः, ध्वजभङ्गनाशकश्च (र. २७.४३-५१) खनिज० पारदः (र. १.३२)

सूतेन्द्रबन्धिन्–पु., पारदस्य चाञ्चल्यनाशनेन बन्धकः (अभ्रकगुणः) (र. २.३)

सूत्र–न., सूचनात् सूत्रणाच्च अर्थसंततेः सूत्रम् (चसू. १.२४) स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् (चसू. ३०.३१) तन्तुः (सुसू. ५.६) व्रणसीवनार्थमुपयुज्यते (अहसू. २९.५३)

–**विद्**–वि., शास्त्रवित् (सुचि. २.४६)

–**स्थान**–न., चरकसंहितायाः, सुश्रुतसंहितायाः, अष्टाङ्गहृदयसंहितायाः च प्रथमस्थानम्

सूत्रण–न., सूत्ररूपेण शास्त्ररचना (चसू. १.३४) अर्थानां यथास्थानं निवेशनम् (सुसू. ३.१२)

सूद–पु., सूपकारः, अन्नसंस्कारकः (सुसू. ४६.४५४)

सूना–स्त्री., वधस्थानम् (असंसू. ३.४६)

सूप–पु., आहारद्रव्य० यूषः, मुद्गादिनिर्मितं क्वाथ इवान्नं, येन मिश्रितमोदनादि भुज्यते। दालिव्यञ्जनम् (च. सू. २७.२६२)

–**धूपन**–न., वनस्पति० निर्यास० हिङ्गुः (ध. २.३६; पृ. ७७)

–**श्रेष्ठा**–स्त्री., धान्य० मुद्गः (ध. ६.८०; पृ. २२३)

सूपविष्ट–वि., सम्यगुपविष्टः (चसू. ५.४८)

सूपौदन–न., सूपसहितमोदनं भक्तम् (ड. सुसू. ४६.४५४)

सूप्य–वि., सूपयोग्यं धान्यम् (चसू. २७.२३) सूपे साधु (असंसू. ७.२६) सूपे हितम्, शिम्बीधान्यम् (हे. अहसू. ६.२६) मुद्गराजमाषादिपत्राणि (अरु. अहसू. ६.९४)

(**सूप्या**)–स्त्री., धान्य० मसूरिका (ध. ६.९५; पृ. २२६)

–**धान्य**–न., यूषोपयोगि मुद्गकुलत्थादिधान्यम् (चचि. ८.१२८)

–**पर्णी**–स्त्री., वनस्पति० विशेषः (असंउ. २)

–**शाक**–न., माषपर्ण्यादिशाकविशेषः (चसू. २७.९८)

सूप्यान्नविकृत–वि., मुद्गमाषविकारो विकृतिर्वा सूप्यान्नस्य विकारा भक्ष्याः नाम सूप्यान्नसाधिता भक्ष्याः (चसू. २७.२७४)

सूरकन्द–पु., वनस्पति० सूरणः (रापरि. ६.७; पृ.१६९)

सूरण–पु., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुः, ईषत्कषायो रूक्षो गुरुर्विष्टम्भी (सुसू. ४६.३०६-३०७) लघुः (र. २०.२१९) रुच्यो दीपनः पाचनो कफवातलः पित्तहरश्च, (सु) कृमिशूलगुल्मश्वासकासच्छर्यर्शोघ्नः (धपरि. ४.६; पृ. १६८) गुदकीलहरः (सु) प्लीहनाशनः (र. २०.२१९-२१)

हिं.—जङ्गली सुरण.

म.—सूरण.

बं.—ओल.

सूरिका–स्त्री., वनस्पति० सर्षपः (र. १८.४७-५२)

सूरिसत्तम–पु., पण्डितप्रधानः (सुसू. ४६.५३२)

सूर्प–न., मान० शूर्पम्, द्रोणद्वयम्, अष्टचत्वारिंशदधिकद्विसहस्रतोलकाः (र. २८.४८-५२)

–**पर्णी**–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी माषपर्णी वा (चचि. २८.१५१) माषपर्णी (चचि. २८.१५१)

सूर्य–पु., देवता० भास्करः, चक्षुषोऽधिदैवतम्, आकाशस्थो ग्रहविशेषः (सुशा. १.७)

(**सूर्या**)–स्त्री., वनस्पति० इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७१; पृ. ५८)

–**कान्त**–पु., मणि० (चचि. ९.१८) श्वेतमणि० सूर्यकिरणसंपर्केऽस्माद्वह्निर्निष्क्रामति (र. ४.२-३) असौ तिलकालकमषकान्दग्धुमुपयुज्यते (असंउ. ३७)

–**पक्व**–वि., सूर्यातपे पक्वम् (सुचि. १.१०८)

–**पादसंताप**–पुः, आतपोष्मा (चचि. ७.१६३)

–**प्रभा**–स्त्री., आतपः (सुउ. १९.९-१०) पारदयोग० भार्ङ्गीहरबीजभल्लातकभङ्गा त्रिकटुत्रिफला गन्धककेशरयुक्तः कल्पोऽयं जठराग्निप्रदीपनः (र. १९.३९-४१)

–**भक्ता**–स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (ध. ४.९८; पृ. १५३)

-मारुतिक-वि., सूर्यमारुताभ्यां निवृत्तः रसायन-प्रकारः वातातपिकः सुखोपचारा भ्रंशेऽपि देहस्या-बाधकः (असंउ. ४९)

-रस-पु., पारदयोग० पारदो गन्धकस्ताम्रमभ्रकं पिप्पली शुण्ठी मरिचं वत्सनाभमित्यादिना साधितः कल्पोऽयं कासादिघ्नः (र. १३.६७)

-लता-स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (रा. ४.१४४ पृ. १५३)

-वर्त-पु., शिरोरोग० द्र० ' सूर्यावर्त (र. २४.३-५४)

-वल्ली-स्त्री., वनस्पति० पटोलसदृशपत्रा, यस्याः पत्ररसेनाक्तं मांसं स्विन्नमिव भवति, अन्ये ' सूर्यावर्त'माहुः (ड. सुक. २.४४-४६.) अर्कपुष्पी (सुसू. ४५.१२०)

सूर्यातपप्रतापन-न., सूर्यातपेन तापनम् अथवा उष्णीकरणम् (सुसू. ४५-१२)

सूर्यापवृत्ति-स्त्री., सूर्यास्तसमयः (ड. सुउ. २५.१२

सूर्यावर्त-पु., शिरोरोग० एकादशशिरोव्याधिष्वेकः (चचि. ९.७९-८१) पित्तानुबन्धो वातः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु सस्पन्दनां रुजां कुर्यात् । सूर्योदयस्य पश्चाद्रुजा भवति । एषा च रुगामध्याह्नं विवर्धिष्णुः क्रमेण वृद्धिशीला भवति । क्षुद्वतस्तद्विशेषेण भवति । मध्याह्नात्परं कदाचिच्छी-तेन कदाचिदुष्णेन वा सा रुक्प्रशाम्यति । एवंरूपो रोगो नाम्ना सूर्यावर्तः; तत्र बृंहणं नस्यं हितम् (अहसू. २०.३) तच्चिकित्सा नस्यलेप-परिषेककवलग्रहशिरोबस्त्यादयो विधातव्याः (सुउ. २६.३०)

पारदयोग० गन्धकताम्रेत्यादियुक्तः कल्पः, असौ श्वासनाशनः (र. १३.५२-५३)

वनस्पति० आदित्यभक्ता (र. २०.२१३-१४)

(सूर्यावर्ता)-स्त्री., वनस्पति० आदित्यभक्ता (र. ११.५२-५७)

सूर्यावर्तादिगण -पु., द्रव्यगण० सूर्यावर्तककदलीवन्ध्या-कोशातकीसुरदालीशिग्रुवज्रकन्दनीरकणाकाक-माच्यः; इत्ययं सूर्यावर्तादिगणः (र. ३.१३२)

सूर्याह्व-पु., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३; पृ. १३६)

सूर्याह्वय-पु., वनस्पति० अर्कः (ध. ४.१३; पृ. १३६)

सूर्योदय-पु., योग० विषहरः (असंउ. ४०)

सूर्योद्धतप्रमुक्तजल-न., सूर्येण पूर्वमुद्धृतं पश्चात्प्रमुक्तं जलम् (असंसू. ६.४)

सूर्योपराग-पु., सूर्यग्रहणम् (असंसू. ३२.७)

सूषा-स्त्री., वनस्पति० कासमर्दः (अरु. अहसू. ६.७२)

सृक्क-न., शारीर० ओष्ठपार्श्वयोः सन्धिभागः, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.११)

सृक्कन्-न., शारीर० ओष्ठप्रान्तः (सुउ. १६.१०)

सृक्कि-स्त्री., शारीर० सृक्क (चशा. ७.११)

सृक्किणी-स्त्री., शारीर० ओष्ठप्रान्तः (सुउ. ६०.१३)

सृगालविन्ना-स्त्री., वनस्पति० पृश्निपर्णी (इन्दु.असंउ. ४)

सृमर-पु., आनूपमृगः, महाशूकरः (चक. चसू. २७.३९) कूलचरपशुः, अन्ये महाश्वाकारश्चमरानूकः (ड) गतिशीलो मृगभेदः, इति हाराणचन्द्रः (सुशा. ३.२७) तन्मांसगुणाः-कषायानुरसं, वातपित्तोपशमनं, गुरु, शुक्रविवर्धनं च (सुसू. ४६.१०१)

सृष्ट-वि., निर्मितः (सुउ. ३९.१४४)

-दोष-वि., च्युतदोषः (पुरुषः) (ड. सुउ. ३९.१४४)

-पुरीषता-स्त्री., पुरीषोत्सर्गः (सुउ. ३९.८५)

-मूत्रता-स्त्री., मूत्रस्योत्पत्तिः प्रवृत्तिश्च, मूत्रोत्सर्ज-नम् (सुउ. ३९.८५; अहसू. ५.४७)

-मूत्रपुरीष-वि., मूत्रस्य पुरीषस्य च विसर्गकरम् (सुचि. ६.८)

-शकृत्-वि., मलानुलोमनः, पुरीषोत्सर्जनकरः (अहसू. ५.४७)

(सृष्टि)-स्त्री., पारदयोग० गन्धकपारदाभ्रकयुक्तः कल्पः असौ अपस्मारनाशकः, (र. २४.२५) द्रवद्रव्य०, गोऽजाऽविनरनारीणां मूत्रं शोणितं शुक्रं च (र. ११.४७)

सृष्टि-स्त्री., जगत्

-प्रदा-स्त्री., वनस्पति० पुत्रदा (रापरि. ४.२७; पृ. ३३७)

सेक-पु., सेचनम् (सुचि. २.२४) धारासेकः (ड. सुउ. २६.५) परिषेकः (अहसू. ३०.३८)

सेगुरुन्दक-धान्य० जूर्णा० (रा. १६.१६९; पृ. २२९)

सेतुबन्ध-पु., धरणबन्धः (असंशा. १२.४)

सेतुभङ्ग-पु., धरणभङ्गः (असंशा. १२.४)

सेना-स्त्री., ग्रहमातृ० (असंउ. ४)

सेन्दिनी-स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (रा. ७.२५८; पृ. ४२)

सेन्द्रिय-वि., चेतनम् (चशा. १.१३६)

सेलु-स्त्री., वनस्पति० वनमेथिका (ध. ६.११३; असंसू. ७.१२४-१२६; पृ. २३१)

सेवनी–शारीर० सीवनी, तत्संख्या सप्त, पञ्च शिरसि, एका जिह्वायामेका शेफसि तत्र द्वे सेवन्यौ शिरसि शङ्खावाश्रित्य प्रवृत्ते, द्वे कृकाटिके, एकोपरिस्था ऋज्वीति पञ्च (इन्दु. असंशा. ५.८७) जिह्वाधोभागे जिह्वाग्रान्मूलपर्यन्तम् (सुशा. ५.१५) मेढ्राद्गुदद्वारपर्यन्तं गुदद्वाराद्गुदास्थिपर्यन्तं स्त्रीणां तु भगस्थाने या सा योनिद्वाराद्गुदपर्यन्तं गुदात्पश्चाद्गुदास्थिपर्यन्तं च (सुशा. ५.१५) मेहनसीवनीच्छेदः, छेदाद्गुदः प्रादुर्भावो भवति (सुचि. ७.३६)

सेवाली–स्त्री., वनस्पति० आकाशमांसी (रा. १२.९५; पृ. १०५)

सेव्य–पु., वनस्पति० पिप्पलः (ध. ५.७९; पृ. १८५)
न., वनस्पति० उशीरम् (चचि. ६.५०; (सुउ. ४२.११६)

(सेव्या)–स्त्री., वनस्पति० वासन्ती (ध. ५.१३९; पृ. १९८)

सेहुण्ड–पु., वनस्पति० स्नुक् (रा. ८.३५५ पृ. ५६)

सैंहलक–पु., मिश्रधातु० पित्तलः (ध. ६.१९; पृ. २०९)

सैंहली–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (रा. ६.११९ पृ. ८५)

सैकतेष्ट–न., वनस्पति०आर्द्रकम् (ध. २.८४ पृ. ८७)

सैंदुक–न., काष्ठमणि० सिंदुको निर्गुंडी, तत्काष्ठकृतं रुचकं; तत्फलकृतमित्यन्ये (सुउ. ३१.७)

सैन्धव–न., खनिज० लवणम् लवणानामुत्तमम् (चसू. २५.३७) सिन्धुदेशोत्थ–खनिज० (सुसू. ३७.१९) हितत्वेनाभ्यसनीयमेकं द्रव्यम् (चसू. ५.१२) तद्गुणाः– मधुरं; लवणं (रा) शीतम्; स्निग्धम्, लघु, स्वादुपाकि, हृद्यं, वृष्यं, रोचनं, दीपनं, चक्षुष्यं, त्रिदोषघ्नम्(सुसू. ४६.३१४) हृद्रोगनेत्ररोगव्रणारोचकनाशनम् (ध. २.२५; रा. ६.३३; पृ. ७३) हिक्कानाशनम्(सुउ. ५०.२४) इदं कफविलयनं कफच्छेदनं च करोति (असंसू. ११.२२)

हिं.—सेंधानोन.
म.—शेन्दे लोण.
गु.—सिन्धालूण.
बं.—सैन्धवलवण.
ता.—इन्तुप्पु.
देश० (चचि. १.१८)

–सिन्धुतैल–न., तैल० (चसि. ४.१३-१७)

सैन्धवादिचूर्ण–न., योग० तद्गुणाः–रोचनं, दीपनं, बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुच्च (चचि. ११.८५-८७)

सैन्धवादिसिद्धपयस्–न., वाताभिष्यन्दे सेके आश्योतने वा हितकरम् (सुउ. ९.१२-१३)

सैन्धवाद्यञ्जन–न., अञ्जन० शुष्काक्षिपाके उपयुक्तम् (सुउ. ९.२०)

सैरीय–पु., वनस्पति० कुरण्टकः (सुचि. २५.३२)

सैरीयक–पु., न., वनस्पति० श्वेतकुरण्टकः द्र० 'कुरण्टक' (सुसू. ३८.७३; असंउ. २८)

सैरीयादितैल–न., तैल० खलतिपलितघ्नम् (सुचि. २५.३२-३७)

सैरेय–पु., वनस्पति० कुरण्टकः (चसू. १४.३२; ध. १.२७८ पृ. ६३)

सैरेयक–पु., न. वनस्पति० कुरण्टकः (र. २८.८९; ध. १.२७८; सुचि. पृ. ६३)
झिण्टी पु., (र. २८.८९)
कीट० तद्गुणाः–असौ सौम्यः श्लेष्मप्रकोपणश्च कफविकारान् करोति (सुक. ८.१२-१५)

–द्वय–न., वनस्पति० रक्तपुष्पनीलपुष्पकण्टशेलुयाद्वयम् द्र० 'कुरण्टक०' (सुसू. ३८.१०-११)

सैर्यक–पु., वनस्पति० कुरण्टकः (अहसू. १५.१७)

–युग्म–न., वनस्पति० सैरेयकद्वयम् द्र० 'कुरण्टक' (असंसू. १६.१५)

सैहल–न., वनस्पति० त्वक् (ध. २.५०; पृ. ७९)

सोच्छ्वास–वि., अनवगाढः (बन्धः) शिथिलः (सुसू. १८.२३)

सोत्थान–न., अनिरुत्थम्, अमृतम् (र. २८.१५)

–लोहमारण–न., उत्थितं लोहं मुहुर्मुहुस्त्रिफलाक्काथेन पुटनम् (र. २८.१८)

सोपसर्ग–वि., सोपद्रवा (चसू. १३.७१)

सोपान–न., आरोहणम् (असंसू. ४.४०)

सोम–पु., वनस्पति० सोमवल्ली, ओषधीनां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) सोमनामिकाया लताया दश पञ्च च पत्राणि भवन्ति। तानि पत्राणि शुक्लपक्षे, प्रत्यहमेकैकं पत्रं जायते। पौर्णमास्यां तिथौ सोमः पञ्चदशच्छदात्मको भवति। कृष्णपक्षे प्रतिदिनमेकैकं पत्रं शीर्यते। अमावास्यायां तिथौ सोमः पत्रविहीनः केवललतारूपात्मको भवति (सुचि. २९.२०-२२) एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्च चतुर्विंशतिधा भिद्यते। ते चांशुमान् मुञ्जवांश्चन्द्रमा रजतप्रभो

दूर्वासोमः कनीयान् श्वेताक्षः कनकप्रभः प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवान्, स्वयंप्रभो महासोमो गरुडाहृतो गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्करोऽग्निष्टोमो रैवतस्त्रिपदा गायत्र्या युक्त उडुपतिरुच्यते (सुचि. २९.५-८) अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्ते देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे राजते वा पात्रेऽञ्जलिमात्रं, ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्, तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् । निवाते रसायनं पीतवांस्तु तन्मनाः शुचिः आसीत न कथंचन संविशेत् । सायं वा भुक्तवानुपश्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत, तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत्; ततः प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत, तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते, ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं छर्दितवते सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्, ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्यते, स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्विनिर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति, ततः सायं स्नाताय पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्, क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्; ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते, ततः सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत, ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत् । एवं पञ्चमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत, केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्; ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्नायुगास्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत्; ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, ततोऽस्य मांसमाप्याय्यते, त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति; तस्य नवमदिवसात्प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेकः; ततो दशमेऽह्न्येतदेव वितरेत्, ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति; एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत; ततस्त्रयोदशात्प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः, एवमाषोडशाद्वर्तेत; ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकप्रकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः, तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत्पञ्चविंशतिरिति; ततोऽसौ दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा, ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः, स्थिराः स्निग्धा लक्षणसंपन्नाः केशाश्च सूक्ष्मा जायन्ते, त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशा ऊर्ध्वं च मासात्केशान्वापयेत्, वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत्; ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात्केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्थिराः स्निग्धाः; ततस्त्रिरात्रात् प्रथमावसथपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्, ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्य, यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे, सुखोष्णं च पयः परिषेकार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चन्दनमनुलेपार्थे, आमलकरसविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः, क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थे, एवं दशरात्रम्; ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वतत; ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत, किञ्चिदातपवनान् वा सेवेत, पुनश्चान्तः प्रविशेत्, न चात्मानमादर्शेऽप्सु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्; ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेत्, एवं सर्वेषामुपयोगविकल्पः । विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपादयः सोमा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्भक्षयितव्याः । तेषां तु प्रमाणमर्धचतुष्कमुष्टयः (सुचि. २९.१०-१२) सोमगुणाः— विचक्षणः सोममुपयुज्य दशवर्षसहस्राणि नवां तनुं धारयते । अग्नितोयविषशस्त्रास्त्राणि तस्यायुःक्षपणे समर्थानि न भवन्ति । रूपेण कन्दर्प इव, कान्त्याऽपरश्चन्द्र इव महाद्युतिः स भूतानां मनांसि प्रह्लादयति । साङ्गोपाङ्गान् निखिलान् वेदान् तत्वतो विन्दति (सुचि. २९.१४-१९)

गुडूची (ड. सुक. १.३७)

कङ्कोलः (ड. सुचि. १८.३३)

कट्फल (जेज्जटाचार्यः, सुचि. १७.२०–२१)

ब्राह्मी (सुसू. ३७.२४)

बाकुची (र. २०.२०३)

सोमवल्कः (सुक. ६.३)

जलम् (चसू. ५.६)
याग० (असंसू. ९.११५)
देवता० (चचि. ३.८२) चन्द्रमाः, आकाशस्थग्रहः (चसू. ६.५; सुसू.२१.८)
दोष० कफ (सुशा. ४.३)
वि., सह उमया इति० सोमः उमासहितः (देवः शिवः) (चक्र. जेज्जटः, चचि. ३.३१०-११)
प्राणेष्वेकः, सोमश्च सौम्यधातोरोजप्रभृतेः पोषणेन प्राणयति (सुशा. ४.३)
श्लेष्मरसशुक्रादीनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतयाऽवस्थितः (सुशा. ४.३) मनसोऽधिदेवत्वमापन्नः सोम इति

(सोमा)–स्त्री., वनस्पति० सोमः (रापरि. ३.३०; पृ. ३३१)
ब्राह्मी (असंसू. ८.२५; ध. ४.१००; पृ. १५४)
चन्द्रतरुः (असंउ. ४०)

–क्षीरा–स्त्री., बनस्पति० सोमः (रापरि. ३.३०; पृ. ३३१)

–क्षीरी–स्त्री., वनस्पति० सोमः (धपरि. ४.४; पृ. १६८)

–देव–पु., ऋषि० प्राचीनो रसाचार्यः (र. ८.२३९)
रसेन्द्रचूडामणिकर्ता (र. ८.९९)

–नाथ–पु., ऋषि० प्राचीनो रसाचार्यः (र. ५.७२)

–नालयन्त्र–न., यन्त्र० सोमानलयन्त्रम् तदिदमभ्रादिजारणार्थमुपयुज्यते (र. ९.२९)

–राजी–स्त्री., वनस्पति० बाकुची (ध. १.१६५; चसू. २.२४; सुक. ६.१४-२७, प. ३८)

–रोग–पु.,रोग० स्त्रीरोगविशेषः, तत्संप्राप्तिः–व्यवायाधिक्यशोकगरादिकारणैःसर्वशरीरस्थोऽब्धातुःक्षुब्धो भवति, तेनातिश्वेतस्रावो भवति। वेगधारणमपि अशक्यं जायते। तल्लक्षणानि–शिरःशिथिलता, मुखतालुशोषः, मूर्च्छा, जृम्भा, प्रलापोऽतितृष्णाति-बुभुक्षा, रूक्षा त्वक् (मा परि) चरके त्रिदोषप्रदरे ऽन्तर्भावितोऽयं व्याधिः (मा परि.)

–लता–स्त्री.,वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४८; पृ. १५४)

–लतिका–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (रा. ३.१ पृ. ८)

–वल्क–पु., वनस्पति० कट्फलत्वक् (सुसू. ३७.२४, इंदुः असंउ. ४६; ध. १.७३; पृ. २१)
खदिरः (चसू. ४.१५; ध. १.२७ पृ. १२)
रीठाकरञ्जः (रा. ९.१८७)
श्वेतखदिरः (चक.१.२२;सुचि.२९.१२)
विट्खदिरः, (चक्र. चसि. १०.४३) द्र० 'खदिर'
कट्फलः (सुक. ३.९-१०)

–वल्लरी–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. परि. ५.४१; पृ. ३४३)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः–कटुस्तिक्ता मधुरा, शीता, रसायनी, त्रिदोषघ्नी, दाहतृष्णा-विशोषशमनी (धपरि. ४.४; पृ. १६८ रापरि.३.२९; पृ३३१)
वत्सादनी (रा परि. ३.३२ पृ. ३३२)
बाकुची (ध. १.१६५; पृ. ३८)
गुडूची (ध. १.२; सुक. १.५१-५४ पृ. ८)
ब्राह्मी (असंसू. ८.४२)

–सार–पु., सोमवल्कः. खदिरभेदः द्र० 'खदिर' (रा. ८.३४; पृ. १२)

–सृष्टा–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डिका, त्रपुसभेदः, द्र० 'त्रपुस' (ध. १.१८३; पृ. ४३)

–सेनानी–पु., सत्यवाक्प्रभृतीनामेकतमोऽयं प्राचीनो रसाचार्यः (र. ४.४३)

सोमातिपतित–वि., सोमस्यातिपानेन पतितः (शक्रः) (चवि.२४.४)

सोमात्मक–वि., सौम्यम् सोमाधिष्ठितम्, सोमगुण-प्रधानम् (सुसू. १५.२१-२२)

सोमानलयन्त्र–न., यन्त्र० जलमध्यखर्परे बिडयुक्तपारद-सहितां मूषां स्थापयित्वा तदुपरि चाग्निं प्रज्वालये-दित्येतत् अभ्रकादिजारणार्थमुपयुज्यते (र. ९.२९*)

सोमाभिपतित–वि., सोमाभिपतनयोगेन सोमपानाति-योगेन पीडितः (चन्द्रः) (चचि. १(४).४३)

सोमार्हा–स्त्री., वनस्पति० सोमवल्ली (रापरि. ३.२९; पृ. ३३१)

सौकरपुट–न., लेपवेधोपयोगि वराहपुटम् (र. ८.९०)

सौकरी–स्त्री., वनस्पति० वाराहीकन्दः (ध. ४.९२; पृ. १५२)

सौकुमार्य–न., सुकुमारत्वम्, सुकोमलता (अहसू. ५.३७)

सौकुमार्यार्थिन्–वि., सुकुमारत्वकांक्षिणः, सुकुमारस्य भावः सौकुमार्यम्, तस्यार्थी (चसू. १३.४२)

सौक्ष्म्य–न., सूक्ष्मत्वम्, अणुत्वम् (सुउ. ३९.६५)

सौगन्धिक–पु., कफजः क्रिमिविशेषः (चसू. १९.४(९) वनस्पति० शुन्धी, कमलभेदः द्र० 'कमल' (चसू. ४.१५)
नीलपद्मम् (ध. ४.१५०; सुसू. ३८.५२-५३; पृ. १६४)

रत्न० माणिक्यभेदः (चचि. १७.१२६)
खनिज० गन्धकः, गन्धतृणं वा (चक्र. चसू. ३.१०)
नपुंसकविशेषः, षण्ढः, नासायोनिः, यः पूतियोनौ जायेत, योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय बलं लब्ध्वा मैथुनक्षमो जायते सः (सुशा. २.३९; असंशा. २.४४)

सौत्रामणी–स्त्री., यज्ञ० तत्र सुरा हूयते (चचि. २४.३)

सौध–न., सुधाधवलितगृहम्, धवलगृहम् (अहसू. १३.६)
खनिज० रौप्यम् (ध. ६. ५; पृ.२०६)

-पयस्–न., सेहुण्डभवं पयः, तद्गुणः–तीक्ष्णविरेचनम् (सुसू. ४४.७८)

सौप–पु., उपकरणभूतद्रव्यसाधकः, सूपव्यञ्जनादिकारकः, महानसनियुक्तपरिचारकान्यतमोऽयम् (सुक. १.१७-१८)

सौपर्ण–वि., सुपर्णस्येदम् (गारुडचक्षुरिव तिग्मदृष्टिकम्) (सुचि. २७.१२; असंउ. १६)
न., रत्न० गारुत्मतम् (ध. ६.४९; पृ. २१६)
वनस्पति० शुण्ठी (रा. ६.१३०; पृ. ८७)

(सौपर्णी)–स्त्री., वनस्पति० वत्सादनी (रापरि. ३.३२; पृ. ३३२)

सौभाग्य–न., खनिज० सिन्दूरम् (रा. १२.१६१; पृ. ११६)
खनिज० टङ्कणः (र. २.२५)

-लोभ–पु., सौभाग्यस्य लोभः (असंसू. ८.३)

-शुण्ठी–स्त्री., अवलेहविशेषः द्वात्रिंशत्तोलकमानेन जलेनाढकमितं दुग्धं तुलार्धमानां च शर्करां मिश्रयित्वा दर्वीप्रलेप्यवलेहं कुर्यात्तत्र चैलाकण्टकारिकाविडङ्गत्रिकटुजीरकदीप्यकभृङ्गलवङ्गबोलान्प्रत्येकं पलमात्रं, मिशिं पञ्चपलां, धान्यं पलत्रयं शुण्ठीमष्टपलां च चूर्णयित्वा प्रक्षेपयेत् । असाववलेहविशेषः सूतिकारोगान्विशेषतो ज्वरप्लीहमलस्तम्भगुल्मकासश्वासाग्निमान्द्यान्नाशयति (र. २२.११७-२२)

सौभाञ्जन–पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.४०; पृ. १४२)

सौभाञ्जनक–पु., वनस्पति० शोभाञ्जनः द्र० 'शिग्रु' (असंसू. १५.२७)

सौमनस–पु., जातीपुष्पकृतः कषायः (सुउ. ३९.२६९)
न., वनस्पति० जातीफलम् (ध. ३.३५; पृ. १०२)

सौमनसायिनी–स्त्री., वनस्पति० जातिपत्री (कच. ४.१६; रा. १२.६५; पृ. १०२)

सौमनस्य–न., मनसः प्रसन्नत्वम् (चसू. २५.४०; (सुशा. १०.३०)

सौमेख–न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.३; पृ. २०६)

सौम्य–वि., सोमगुणप्रधानः (चसू. ६.५) सोमभूताधिदैवतस्वभावः (सुसू. १.२२)
जलभूयिष्ठम् (सुशा. ३.३)
कफजः (चनि. १.४)
ज्वरस्यैको भेदः, विधिभेदः, द्र० 'ज्वर' (चचि. ३.३२)
पु., वनस्पति० उदुम्बरः (रा. ११.१३७; पृ. १८६)
गुण० शीतः (सुसू. १४.३)
न., भैषज्य० दुग्धम् (ध. ६.१६१; पृ. २३९)

(सौम्या)–स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः– मधुरा, कटुः शीता, पाचनी, यज्ञसाधनी, पित्तदाहनुत्, तृष्णाविशोषशमनी च (रापरि. ३.३१; पृ. ३३२)
रुद्रजटा (रापरि. ३.२४; पृ. ३३१)
सठी (रा. ६.८७; पृ. १९)
हेमा (रापरि. ३.१३; पृ. ३३०)
मल्लिका (रा. १०.२२५; पृ. १९७)
ब्राह्मी (रा. ५.१४७; पृ. १५४.)
शालिपर्णी (ध. १.८७; पृ. २३.)
नागवल्ली (धपरि. ३.१; पृ. १३१)
गुडूची (ध. १.३; पृ. ८१)
क्लीतनकम् यष्टिमधुभेदः द्र० 'यष्टिमधु' (रा. ६.१८५; पृ. ३४)
चूडामणिः, काकमाची–भेदः (रा. ३.४६; पृ. १४०)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७६; पृ. ५८)
तेजोवती (रा. ३.३९३; पृ. ६१)
भैषज्य० मौक्तिकम् (रा. १३.६६; पृ. २१८)

-गन्धा–स्त्री., वनस्पति० शतपत्री (ध. ५.१५१; पृ. २०१)

-धातु–शारीर० रसधातुः (सुचि. २६.१०-११; असंनि. ५.४४)
शुक्रधातुः (सुचि. २६.१०-११)

-मर्मन्–न., सौम्येषु मर्मसु सोमोऽधिकः, वैकल्यकराणि सौम्यानि (सुशा. ६.१६)

सौम्यर्तु–पु., शीतकालः हेमन्तः (सुचि. ३.८)

सौम्याख्यागद–पु., भेषज्य० मनःशिला, शमीपुष्पस्वक्सर्षपकपित्थगोपित्तादियुक्तः योगोऽयम् औषधिविषहरः (असंसू. ८.१०९–११)

सौम्याग्नेयमर्मन्–न., यत्र मर्मसु सोमाग्नी भूयसाऽवतिष्ठतः, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति । यथा कालान्तरप्राणहराणि मर्माणि (सुशा. ६.१६)

सौर–पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२; पृ. ७८)

सौरभ– पु., वनस्पति० तुम्बुरुः (ध. २.४२ पृ. ७८)
न., वनस्पति० निर्यास० बोलम् (रा. ६.११६ पृ. १०८)
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.११७ पृ. २२२)

सौरस–पु., रक्तजकृमिः (चवि. ७.११) चसू १९.४(९)

सौरस्य–न., सौगन्ध्यम् (असंशा. ९.१७)

सौराव–पु., मांसरसस्योपरितनोऽच्छो भागः, तस्य गुणाः–सर्वभूतानां प्रीणनो विशेषान्मुखशोषिणां हितः, क्षुत्तृष्णाऽपहरः, स्वादुः शीतलश्च (सुसू. ४६.३६२-३६३)

सौराष्ट्र–पु., वनस्पति० कुन्दुरुः (रा. १२.१९०; पृ. १२१)
पु., न., देश० काठियावाडनामा (र. ३.६६)

(सौराष्ट्री)–स्त्री., खनिज० स्फटिका (चवि. ७.११४; सुउ. ६२.३१) तद्गुणाः–कटुः, कषाया, केश्या, व्रणरोपणी, नेत्रहितकरी; कण्ठ्या (र. ३.७०) त्रिदोषघ्नी, विषकण्डूविसर्पश्वित्रनाशिनी (ध. ३.१०५; पृ. ११६) उपदंशव्रणे लेपार्थमुपयुज्यते (असंउ. ३९) तस्याः शोधनं सत्त्वपातनं च काञ्जिके क्षिप्ता सा दिनत्रयेण शुद्धा भवति । क्षाराम्लैर्मर्दिता ध्माता तुवरी स्वीयसारं मुञ्चति । सा गोपित्तेन वारशतं भावयेदनन्तरं ध्मापयेत् एवं साऽतिगोपनीयं क्रामणं सत्वं मुञ्चति (र. ३.७१-७३)
वनस्पति० कुन्दुरुः (ध. ३.१३१; पृ. १२१)

सौराष्ट्रिक–वि., सौराष्ट्रदेशविशेषस्थः (लोक०) (चवि. १.१८)
न., खनिज० कांस्यम् (रा. १३.२४; पृ. २१०)

(सौराष्ट्रिका)–स्त्री., खनिज० सौराष्ट्री, तुवरीमृत्तिका (चक्र. चचि. ३०.७८-८०)

सौरि–पु., वनस्पति० आदित्यभक्ता (रा. ४.१४४; पृ १५३)
असनः (ध. ५.१२५; पृ. १९५)

सौरीयक–न., स्थावरविषभेदः, यस्य त्वक्सारो निर्यासश्च विषमयो भवति (सुक. २.५)

सौर्यमारुतिक–वि., वातातपिको (विधिः) असौ सूर्यमारुतसेवयाऽपि क्रियते इति (चचि. १(४)२८)

सौवर्चल–न., खनिज० पञ्चलवणेष्वेकम् (चसू. २७.३०१) तद्गुणाः–लवणं; कटु (सु) उष्णं, लघु, सूक्ष्मं, रुच्यं, सुगन्धि, हृद्यम्; विशदम् (सु) उद्गारशोधि; गुल्मशूलविबन्धघ्नं च (सुसू. ४६.३१७; चसू. १.८८.८९) ऊर्ध्ववातामार्तिनाशनम् (ध. २.३०; पृ. ७४)
हिं.—संचरनमक.
म.—पादेलोण.
गु.—संचललूण.
बं.—संचरलवण.
वनस्पति० सूर्यावर्तशाकम् (चक्र. चचि. २९.५२)

सौवर्ण–वि., सुवर्णस्येदम् (सुउ. १८.६१-६२) स्वर्णस्य कृतमतिसूक्ष्मं चूर्णम् (सुशा. १०.६८-७०)
सुवर्णभस्म (भाप्र. सुशा. १०.६८-७०)

(सौवर्णी)–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (चचि.७.७७)

सौवर्णिका–स्त्री., लूता० तद्दष्टलक्षणानि–ध्यामः सफेनो मत्स्यगन्धकः श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा सुदारूणा मूर्च्छा चात्र भवन्ति । चिकित्साऽसाध्या, कृच्छ्रसाध्या च (सुक. ८.१२२)

सौवीर–न., वनस्पति० बदरभेदः, सौवीरबदरम् (अहसू. ६.१२०; ध. ५.९६ पृ.) द्र० 'बदर' अञ्जनविशेषः, सुवीरानदीभवमञ्जनम् अक्ष्णोर्नित्यं हितं प्रयोजयेत् (च. सू. ५.१५) पित्तविदग्धदष्टौ हितम् (सुउ. १७.१३.१४) तच्च हिमं रक्तपित्तहरं विषहिध्मादिरोगघ्नं, व्रणशोधनरोपणं च (ध. ३.९५१; र. ३१९ पृ. १२५)
हिं.—सफेद सुरमा.
म.—पांढरा सुरमा.
गु.—सुरमो.
बं.—श्वेतसुरमा.
बं.—श्वेतसुरमा.
आसुत० काञ्जिकम् (ध. ६.२४९; पृ. २५०)

–बदर–न., बदरफलम्; तच्च पुरातनं ग्राह्यम्, तद्गुणाः–तृट्शमनं, श्रमघ्नं, दीपनं, लघु, स्निग्धं, मधुरं वातपित्तजिच्च (सुसू. ४६.१४६)

–सार–न., खनिज० स्रोतोञ्जनम् (रा. १३.२२६; पृ. १२७)

सौवीरक–न., आसुत० (सु सू. ४४.३५-४०)
सौवीरक–पु., देश० (चवि. १.१८)
न., आसुत० काञ्जिकम् (चसू. १५.७)
(सुउ. १७.१३-१४; ध. ६. २५१; पृ. २५१)
सौवीराञ्जन–न., अञ्जन० सौवीरम्
(असंसू. १२.२५-२६)
सौवीराञ्जन–न., अञ्जन० सौवीरम् (र. ३.१०८)
सौवीरोदक–न., आसुत० तद्गुणाः– दीपनं, जरणीयं, ग्रहण्यर्शोहितं भेदि हृत्पाण्डुकृमिरोगनुच्च
(चसू. २७.१९१)
सौशृताख्य–पु., नारिकेलपाकः (र. २६.५६-६२)
सौश्रुत–न., सुश्रुतप्रोक्तं तन्त्रम्, सुश्रुतसंहिता
(सुसू. ४.९)
सौषिर्य–वि., सुषिरत्वम् (अरु.) सरन्ध्रत्वम्
(हे. अहसू. १२.५०)
सौसुराद–पु., पुरीषजक्रिमिविशेषः (चवि. ७.१३)
सौहित्य–न., तृप्तिः (चसू. ५.६; सुउ. ४२.९) वैपुल्यम् (चनि. ३.१५; चवि. २.८)
सौहित्यासहता–स्त्री., तृप्त्यक्षमत्वम् (सुउ. ४२.९)
स्कन्द–पु., पुरुषशरीरग्रहविशेषः (असंउ. ३) बालग्रहः कार्तिकेयः स्कन्दग्रहः (कासू. १९)
प्राचीनो रसाचार्यः (र. २२.२९)
–ग्रह–पु., बालग्रह० नवग्रहेष्वेकः (सुउ. २७ ४.५) स्कन्दजुष्ट-लक्षणानि– बालस्याक्षिणी शोफयुक्ते भवतः । स विस्रगन्धी स्तनानभिलाषी वक्त्रमुखः संभ्रमितचित्तो मिलितलोचनोऽल्परोदनो गाढमुष्टिवर्चा हृतचलितपक्ष्मनेत्रः यः, सः स्कन्दग्रहार्तो बालः (सुउ. २७.८; काइ. ११.१४) तत्र वातहरा चिकित्सा कार्या (सुउ. २८.३)
–ग्रहप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. २८.१)
–पितृ–पु., बालग्रह० महादेवः (काइ. १५.१६)
–भगिनी–स्त्री., स्त्रीग्रह० स्कन्दग्रहस्य भगिनी रेवती, षण्मुखी, षष्ठी (का बालग्रहचि.)
स्कन्दन–न., शोणितस्य स्त्यानीकरणम्, रक्तस्तम्भनोपायेष्वेकः (सुसू. १४.३९)
स्कन्दापस्मार–पु., ग्रह० बालग्रहरोगः (काइ. १४.१५) तज्जुष्टलक्षणानि–ग्रहग्रस्तशिशुः कदाचित् संज्ञां प्राप्नोति। कदाचिदसंज्ञां प्राप्नोति। कम्पितवपुः करचरणौ नर्तयतीव शब्दं कुर्वन् मूत्रवर्चसी त्यजति, सजृम्भः फेनं विसृजति। स्कन्दस्य सखा मित्रं, तेन जुष्टस्तत्सखाभिपन्नः (सुउ. २७.९) तल्लक्षणानि–संज्ञानाशः, केशलुञ्चनं, कन्धरानतिर्विनम्य, जृम्भणं, शकृन्मूत्रप्रवर्तनं, फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा, हस्तभ्रूपादनर्तनं, स्तनस्वजिह्वासंदंशः, संरंभो ज्वरो जागरः, पूयशोणितगन्धः (असंउ. ३)
स्कन्दापस्मारप्रतिषेध–पु., अध्यायसंज्ञा०
(सुउ. २९.१)
स्कन्दार्त–वि., स्कन्दग्रहपीडितः (असंउ. ३)
स्कन्दिन्–वि., घनीभूतम् (अहसू. २७.४०)
स्कन्ध–पु., शारीर० बाहुशिरः, बाहोरुपरितनो भागः (चवि. ८.१०७; सुसू. ४६.१३१)
तरोर्मूलादिशाखापर्यन्तभागः (असंचि. २४)
खनिज० पारदः (रा. १३.४३; पृ. २१४)
–घात–पु.; स्कन्धस्य मुष्ट्यादिना हननम् आघातो वा
(अहसू. २८.३९)
–ज–पु., वनस्पति० वटः (ध. ५.७६; पृ. १८४)
–तरु–पु., वनस्पति० नारिकेलः (रा. ११.१०५; पृ. १८३)
–रुह–पु., वनस्पति० वटः (रा. ११.११३; पृ. १८४)
–रोग–पु., स्कन्धस्य रोगः (चसि. २.२२)
स्कन्धांशक–पु., खनिज० पारदः
(रा. १३.४३ पृ. २१४)
स्कन्धाश्रित–वि., स्कन्धः कोष्ठः तदाश्रितम्
(अन्तराधिः) (चसि. ९.३)
स्कन्नत्व–न., घनीभूतत्वम् (अहसू. १२.२८)
स्खलित–न., लुठनम् (पादादेः) (सुसू. २९.४५)
स्तन–पु., शारीर० पयोधरः, षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकम्, द्वौ स्तनौ (चशा. ७.११) पुंसस्तथा नार्याः स्तनावित्ययमुभयोर्विशेषः, नार्याः स्तनौ यौवनागमने पीवरौ भवतः । तावेव प्रसूताया गर्भवत्याः क्षीरपूरितौ भवतः (सुशा. ५.४) बहिर्मुखस्रोतोविशेषः (सुशा. ५.१०) इयं स्तनसंपत्– नात्यूर्ध्वौ, नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ स्तनौ (चशा. ८.५३)
–कीलक–पु., स्तनरोग० शोथशूल–रुजा–दाहसहितः स्पर्शासहः स्तनः (कासू. १९) तच्चिकित्सा–घृतपानं, मर्दनं शीताः सेकाः प्रलेपाश्च शस्यन्ते (कासू. १९)
–द्वेष–पु., लक्षण० स्तनपानस्य द्वेषः (कासू. २५.३)

-पर्यन्त-न., शरीरप्रत्यङ्ग० स्तनान्तयोर्मध्यम् (चवि. ८.११७)

-मण्डल-न., शारीर० स्तनः (चनि. ३.१४)

-मूल-न., मर्म० स्तनमूलमर्म (असंशा. ७.१२)

-मूल-(मर्मन्) न., स्तनयोरधस्तादङ्गुलद्वयमुभयतः स्तनमूले नाम मर्मणी, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते (सुशा ६.२५) वक्षोमर्म (सुशा. ६.१०) स्तनाधस्तात् द्व्यङ्गुलप्रदेशे-स्तनमूलमर्म (ड. सुशा ६.२५) सिरामर्म (सुशा. ६.७) कालान्तरप्राणहरमर्म (सुशा. ६.१०.११) मर्मसंख्या वामदक्षिणभेदेन द्वे; स्तनमूलमर्मणी) द्व्यङ्गुलम् (सुशा. ६.२८) स्तनमूलाख्यं मर्मद्वयं सिरामर्मणी द्व्यङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च (सुशा. ६. २५)

-रोग-पु., रोग० स्त्रीणां स्तनाश्रितव्याधिः (सुनि. १०.१५) चतुःषष्टिसूतिकारोगेष्वेकः, स्तनविद्रधिः (सुनि. १०.२६)

-रोगनिदान-न., अध्यायसंज्ञा० (सुनि. १०.१)

-रोहित-न., मर्म० स्तनरोहितमर्म० (सुशा. ७.१३) स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते (सुशा. ६.२५) वक्षोमर्म (सुशा. ६.६-१०,२५) स्तनचूचुकयोरूर्ध्वम् (सुशा. ६.२५) मांसमर्म (सुशा. ६.७) कालान्तरप्राणहरमर्म (सुशा. ६.१०-११) मर्मसंख्या वामदक्षिणभेदेन द्वे, स्तनरोहितमर्ममानं द्व्यङ्गुलम् (सुशा. ६.६)

-विद्रधि-पु., स्तनरोग० सूतानां गर्भिणीनां वा योषितां विवृताः स्तनशिराः प्राप्य दोषाः सदुग्धे अदुग्धे वा स्तने बाह्यविद्रधिलक्षणं घनं श्वयथुं कुर्वन्ति। नाडीनां सूक्ष्मत्वात्कन्यानामेष विद्रधिर्न जायते (असंनि. १२.२०-२१)

-संपद्-स्त्री., सुष्ठु स्तनः, स्तनसौष्ठवम् (चशा. ८.५३)

-स्तम्भ-पु., लक्षण० स्तनयोः स्तब्धता (काखिल. ११.६४)

स्तनन-न., ध्वनिः (चवि. १८.१२)

स्तनन्धय-वि., स्तनौ धयति पिबति इति स्तन्यपाय्यावस्थात्मकः (बालः) (र. १३.८२-९२)

स्तनयित्नु-पु., मेघः (सुसू. ५.२५)

-घोष-पु., मेघगर्जितम् (सुसू. २.९)

स्तनान्त-पु., स्तनाग्रम्, चूचुकम् (चसि. २.१६)

स्तनान्तर-न., शारीर० स्तनयोर्मध्यम् (चवि. ८.११७; सुसू. ३५.४)

स्तनान्तशूल-पु., लक्षण० स्तनान्तर्भागस्य शूलः (चसि. २.१६)

स्तनान्तशोष-पु., लक्षण० स्तनान्तर्भागस्य शोषः (चसि. २.१६)

स्तनान्तस्तम्भ-पु., लक्षण० स्तनाग्रस्य स्तम्भः (चसि. २.१६)

स्तनितफल-पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.२०; पृ. ३७४)

स्तनोत्थितरोग-पु., रोग० स्तनविद्रधिः (सुचि. १७.४५-४७)

स्तन्य-न., दुग्धम्, स्त्रीदुग्धम्, स्तने भवं स्तन्यम्, रसधातोरुपधातुः, रसात् स्तन्यम् (चवि. १५.१७) कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः पक्वाहारनिमित्तजो मधुरो रसप्रसादः स्तन्यमित्यभिधीयते (सुनि. १०.१८) तल्लक्षणानि पाण्डुरं मधुरमविवर्णं निर्दोषमुदके क्षिप्तमेकीभवति (सुनि. १०.२५) शीतं स्निग्धम् (चसू. १.१०७) उत्पत्तिः स्त्रीणां प्रसूतितस्तृतीये चतुर्थे वाह्नि हृदयस्थानां सिराणां विवृतत्वात् स्तन्यं प्रवर्तते (सुशा. १०.१४; असंउ. १) प्रस्रवणहेतुः तत्र मौलिको हेतुः स्नेहः, सहायकहेतवः-अपत्यस्य स्पर्शनं, दर्शनं, स्मरणं, स्तनपानार्थं ग्रहणम् (सुनि. १०.२२-२३) कार्यम् स्तनयोरापीनत्वजननम्, बालानां पोषणकृच्च (सुसू. १५.५) स्तन्यदुष्टिः-लवणाम्लकटुक्षारसेवनमनःशरीरसंतापादिहेतुभिर्दोषाः क्षीरवहाः सिराः प्राप्य स्तन्यं दूषयन्ति (चचि. ३०.२३२-३६) सा दोषभेदेन त्रिविधा; तत्र वातदुष्टिः-श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनालक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिलं लघ्वतृप्तिकरं कर्शनं वातविकाराणां कारकं वातोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् (चशा. ८.५५) वातसंसृष्टक्षीरलक्षणम्-वैरस्ययुक्तम्, कार्श्यकरं कृच्छ्रेण देहवृद्धिकरं क्षामस्वरत्वजनकं, बद्धविण्मूत्रमारुतत्ववातिकशीर्षरोगपीनसादिकरं, बलह्रासकरं च (चचि. ३०.२३९) पित्तदुष्टिः-कृष्णनीलपीतताम्रावभासं, तिक्ताम्लकटुकानुरसं कुणपरुधिरगन्धिभृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ च पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् (चशा. ८.५५) पित्तसंसृष्टक्षीरलक्षणम् नीलपीतासितादिकं स्तन्यवैवर्ण्यं च, तादृशस्तन्यसेवनात्, शिशुर्विवर्णगात्रः स्विन्नस्तृष्णालुर्भिन्न

विडुष्णशरीरः स्तनपानद्विट् च भवति। प्रकुपितपित्तसंसर्गात् क्षीरं दुर्गन्धि जायते। तत्पानात् पाण्डामयः कामला च जायते (चचि. ३०.२४३, ४४) कफदुष्टिः- अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैल-वसामज्जागन्धि पिच्छिलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीद-च्छ्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् (चशा. ८.५५) कफसंसृष्टक्षीरलक्षणम्- क्षीरमतिस्निग्धं भवति। तत्सेवनात् शिशुश्छर्दनः कुन्थनो लालालुर्निद्राक्लमसमन्वितः श्वासकासप्रसेक-तमकान्वितः शूनवक्त्राक्षो जडश्च भवति। कुपितात् कफसंसर्गात् क्षीरं गुरुतरं भवति। तत्पानाच्च शिशोर्हृद्रोगपीडा जायते तथा क्षीराश्रिता अन्याश्च रोगा जायन्ते (चचि. ३०.२४६-४९) सामान्य-चिकित्सा-स्तन्यशुध्यर्थमादौ स्नेहोपपादितां धात्रीं संस्वेद्य वमनेनोपपादयेत्। सम्यग्वान्तां कृतसंसर्जनां तां स्नेहयित्वा विरेचयेत्। ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत् (चचि. ३०.२५१-५६) लवणानुरसं स्तन्यं विसर्पकोठकण्डूकरम्, तन्तुमत् स्तन्यं दौर्बल्यश्वासकासकरम् (असंउ २) स्तन्यपानापथ्यम्- क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुग-र्भिणीज्वरिताऽतिक्षीणाऽतिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धा हारतर्पितायाः स्तन्यं न पाययेत् (सुशा. १०.३१) स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् (असंउ. १) स्तन्यक्षयलक्षणानि-स्तनयोर्ग्लानता, स्तन्यासंभवः स्तन्याल्पता वा (सुसू. १५.१२) स्तन्यक्षयवती सुराशाल्यन्नमांसानि, गोक्षीरं, शकरां दध्यासवं वाञ्छति (ड. सुसू. १५.२९-३१) क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्तन्यनाशो भवति (सुशा. १०.३०)

वनस्पति० शुक्लजीरकः द्र० 'जीरक' (ध. २.६८)

-कर-वि., स्तन्योत्पादकम् (अहसू. ५.२२)

-क्षय-पु., रोग० स्तन्यहीनता, द्र० 'स्तन' (सुसू. १५.१२)

-जनन-वि., द्रव्यगण० स्तन्योत्पादकः चतुष्के महाकषायेष्वेको गणः, वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालि-कादर्भकुशकाशगुन्द्रोत्कटकतृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति (चसू. ४.१२)

-दुष्टि-स्त्री., रोग० द्र० 'स्तन्य' (चचि. ३०.२५१-६२)

-दोष-पु., रोग० द्र० 'स्तन्य' (अहसू. १८.३)

-नाश-पु., रोग० स्त्रीदुग्धप्रवृत्तिनाशः द्र० 'स्तन्य' (सुशा. १०.३०)

-पर्याप्ति-स्त्री., स्तन्यस्य पर्याप्तिः परि समन्ततो भावेन प्राप्तिः। यावत् स्तनपानस्य योग्यता (ड. सुशा. १०.४८)

-प्रवर्तन-न., स्तन्योत्पादनम् (सुशा. १०.१४)

-मातृ-स्त्री., धात्री (इन्दु. असंउ. ५)

-वहसिरा-स्त्री., शारीर० स्तन्यवाही स्रोतोभेदः (कासू. १९)

-विनिवर्तन-न., रोग० स्तन्यनाशः (काचि. ११)

-विशोधन-न., स्तन्यगतदोषाणां निर्हरणम् (चचि. ३०.२२९)

वि., स्तन्यदुष्टिहरः (अहसू. १०.१६)

-शुद्धि-स्त्री., स्तन्यगतदोषाणां शोधनम् (चचि. ३०.२५१-५२)

-शुद्धिकरवर्ग-पु., द्रव्यगण० पाठानागरसुर-तरुघनाऽमृतासारिवेन्द्रयवमूर्वाः कटुकाकिरात-तिक्ताः, अयं वर्गः स्तन्यशुद्धिकरः (असंसू. १५.२३)

-शोधन-वि., स्त्रीक्षीरप्रसादनः (ड. सुसू. ३८.५४-५५)

द्रव्यगण० दुष्टस्तन्यस्य शोधनार्थमुपयुक्तः, चतुष्के महाकषायवर्गे प्रोक्त एको गणः, पाठामहौषधसुर-दारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिरातितिक्तककटु-रोहिणीसारिवेति दशेमानि द्रव्याणि स्तन्यशोधनानि (चसू. ४.१२)

-संजनन-वि., स्तन्योत्पादकं तस्य वर्धकं वा (भेषजम्) (चचि. ३०.२२९)

-संपद्-स्त्री., सुष्ठु स्तन्यम्, स्तन्यगुणप्रकर्षः द्र० 'स्तन्य' (चशा. ८.५४)

स्तन्यागमोत्थज्वर-पु., रोग० सूतिकाज्वरभेदस्यैको भेदः (काखिल. ११.६३-६५) द्र० 'सूतिकाज्वर'

स्तन्यावतरण-न., स्तन्यस्य प्रथममुन्मुखीभवनम् (ड. सुउ. ३९.२२)

स्तन्याशय-पु., शारीर० आशयविशेषः, स्तन्यसंचय-स्थानम्, क्षीराशयः (चचि. ३०.२४३)

स्तबकफल-पु., वनस्पति० तेजःफलः (रापरि. ११.१७; पृ. ३७४)

स्तबकाह्वकन्दक-पु., वनस्पति० गुच्छाह्वकन्दः (रापरि. ७.६१; पृ. ३५२)

स्तब्ध–वि., क्रियाविरहितः (चसि. १.३२) निश्चलः (सुचि. २५.५)
वर्तुलः (चक्र. चचि. ५.४३)
–कोष्ठ–पु., लक्षण० स्तम्भयुक्तो गतिविरहितः कोष्ठः (चसि. ७.४८)
–गात्रता–स्त्री., जान्वादेरनमनसामर्थ्यम्, गात्रस्तम्भः (सुसू. १५.२४-२६)
–ता–स्त्री., क्रियाहीनत्वम्, निश्चलत्वम् (चसू. ५.९०)
–नेत्र–वि., लक्षण० स्तब्धाक्षः, नेत्रस्तम्भवान् (काखिल. १३.३८)
–पादता–स्त्री., लक्षण० पादस्य स्थैर्यम् (सुशा. ६.२४)
–बाहुता–स्त्री., लक्षण० बाहुक्रियानाशः (सुशा. ६.२६)
–मेढ्र–पु., लक्षण० स्तब्धलिङ्गः अरिष्टलक्षणमिदम् (सुसू. ३२.४)
–रोमता–स्त्री., लक्षण० रोम्णां स्तब्धता (अहसू. ११.२२)
–सक्थिता–स्त्री., लक्षण० ऊरुस्तब्धत्वम् (सुशा. ६.२४)
–सिरत्व–न., लक्षण० अमृदुसिरात्वम् (ड. सुचि. १.७)
–स्नायुत्व–न., लक्षण० अमृदुस्नायुत्वम् (सुचि. १.७)

स्तम्बिनी–स्त्री.,वीरुधः प्रकारविशेषः, वर्तुललता-सन्ततिविटपः, ताश्च विदारीकोलवल्लीशालपर्णी-पृश्नपर्णीप्रभृतयः (ड. सुसू. १.२९)

स्तम्भ–पु., रोग० अशीतिवातविकारेष्वेकः (चसू., २८.२१)
लक्षण० निश्चलीकरणम् (चसू. १३.७५) दण्ड-वत् स्तब्धता (सुचि. ५.६) जडिमा (सुउ. ४३.८) बाह्वरुजङ्घादीनां सङ्कुञ्चनाद्यभावः (अरु.) निष्क्रियत्वम् (हे. अहसू. १२.५१)

स्तम्भन–पु., न., उपक्रम० स्तम्भयतीति स्तम्भनः (चसू. २६.४३(६) स्थिरीकरणम् (सुनि. १.३१) यद्द्रव्यं शीतं, मन्दं, मृदु, श्लक्ष्णं, रूक्षं, सूक्ष्मं, द्रवं, स्थिरं, लघु, तत्स्तम्भनं स्मृतम्; यदौषधं, द्रवं, तन्वसरं, स्वादु, तिक्तं, कषायं, शीतीकरणं तत्सर्वं स्तम्भनम्, स्तम्भनीयरोगाः–पित्तक्षाराग्नि-दाहा वन्यतिसारौ विषस्वेदातियोगाः, युक्तस्तम्भित-लक्षणम्–बलप्राप्तिरामयनाशश्च; अतिस्तम्भित-लक्षणम्–श्यावता; स्तब्धगात्रता, हनुग्रहो हृद्वर्चोनिग्रह उद्वेगः, (चसू. २२.१७, ३२.३३, ३९.४०) त्वक्स्नायु-संकोचकम्पवाग्ग्रहाः (असंसू. २६.२८)
लक्षण० स्तब्धता (सुसू. २२.११)
लेप० अयमस्रातिप्रवृत्तौ समुपयोज्यः (असंउ. ३०)

(स्तम्भनी)–स्त्री., रेवतीग्रहविशेषः (कारेवती. क ४०)

स्तम्भनी–स्त्री.,
–क्रिया–स्त्री., उपक्रम० स्तम्भनकर्म द्र० ' स्तम्भन '. (अहसू. २७.४८)

स्तम्भित–वि., स्तम्भनोपक्रान्तः (अहसू. १७.२०)

स्तम्भिन्–वि., स्तम्भनं कर्तुं शीलमस्येति, स्तम्भन-कारकः द्र० ' स्तम्भन ' (अहसू. १५.२७)

स्तवक्षीरी–स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.८९; पृ. १९)

स्तिमित–वि., अप्रचलितरूपः (ड. सुउ. ३९.१०१-१०२) आर्द्रम्, जडम् (ड. सुसू. ४१.४ (२)) स्तब्धम् (असंनि. ३.३०)
–त्व–लक्षण० स्तब्धत्वम् (चनि. १.२७)
–रुज्–स्त्री., लक्षण० मन्दवेदना (सुनि. १०.१२)

स्तुत्या–स्त्री., वनस्पति० नलिका (रा. १२.८८; पृ. १०४)
खनिज० सौराष्ट्री (रा. १३.१६५; पृ. ११६)

स्तेय–न., चौर्यम् (अहसू. २.२१)

स्तेयीफल–पु., वनस्पति० तेजःफलः (रापरि. ११.१८; पृ. ३७४)

स्तैमित्य–न., लक्षण० स्तेम आर्द्रीभावस्तस्य भावः, आर्द्रपटावगुण्ठितत्वम् (चवि. ८.९६; सुउ. ३९.४९) जाड्यम् मान्द्यम्, बाधिर्यम् (अहसू. १२.५३)
शैत्येन घृतादिषु यद्घनीभवनम् तत् (चवि. ८.९८)
रोग० विंशतिश्लेष्मविकारेष्वेकः (चसू. २०.१७)

स्तोकक–न., वनस्पति० वत्सनाभः (ध. ७.१२८ पृ. ३१६)

स्तोमक्षार–पु., भैषज्य० सर्वक्षारः (रा. ६५७ पृ. ७६)

स्त्यान–वि., सान्द्रम्, घनम् (चसू. १८.७).

स्त्री–स्त्री., वर्धते स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। (चशा. ४.७)
अपत्यानां मूलम्, ' सा रक्षिता ' (असंशा २.६४)

-घृत-न., भैषज्य० तद्गुणाः-लघु, चक्षुष्यं, देहवर्धनं, दीपनं, तर्पणं, रुच्यं, विषनेत्ररोगदाहनाशनम् (ध. ६.१५५ पृ. २३८)
घृतवि० (ध. ६.१५५)
-दधि-न., भैषज्य० मधुरमुष्णं, स्निग्धं, गुरु, बल्यं, सन्तर्पणं, चक्षुष्यम्, (ध. ६.१९८ पृ. २४५)
दधि० (ध. ६.१९८)
-दोष-पु., स्त्रीदत्तगरादिदोषः (चचि. २३.५९)
-नामन्-न., पक्षि० स्त्रीसंज्ञखगः (असंशा. १२.९)
-नित्य-वि., स्त्रीसेवनं नित्यं कर्म यस्य सः, असौ स्नेहयोग्यः (चसू. १३.५२)
-पुंसलिङ्गिन्-वि., स्त्रीपुरुषसाधारणो नासाचक्षुरादिलिङ्गयुक्तो द्विरेता भवति । यानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युपस्थध्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि, तानि चास्य न संभवन्तीति (चशा. २.१८)
-पुष्प-न., स्त्रीणामार्तवम् (र. ३.७६)
-प्रसङ्ग-पु., स्त्रीसंगः, अयं शोषकराणां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०)
-मलापहा-स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रापरि. ५.८; पृ. ३४०.)
-मुखमधुदोहल-पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६२; पृ. २०२)
-विग्रह-पु., नारीदेहः (असंउ. ३)
-व्यापद्-स्त्री., स्त्रीरोगः, स्त्रीनिमित्ता आर्तवदोषकृता व्यापत् (चशा. ४.३०)

स्त्रैण-वि., स्त्रीलोलुपम्, (पैशाचसत्वम्) (चशा. ४.३८(३)), स्त्रीस्वभावयुक्तम् (चशा. ८.२१)

स्थगिका-स्त्री., सविषमक्षिकाविशेषः । अस्या दंशेन मरणमपि भवति (चचि. २३.१५८)
व्रणबन्ध० स्थगिकाबन्धः (सुसू. १८.१७-१८)
ताम्बूलकरङ्कः (सुसू. १८.१७-१८)
-बन्ध-पु., बन्ध० अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकाबन्धो विधेयः (सुसू. १८.१७-१८)
मूत्रवृद्धिरोगे उपयुज्यते (अंसंचि. १५)

स्थण्डिल-न., भूमिः, पूजनस्थानम् (चक्र. चशा. ८.१०)
संस्कृता भूः (सुसू. २.४)

स्थपनि-स्त्री., वनस्पति० स्थपनी (असंसू. १६.२७)

स्थपनी-स्त्री., मर्म० स्थपनीमर्म (असंशा. ७.२३)
भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम तत्रोत्क्षेपवत् (सुशा.६.२७) शिरोमर्म (सुशा.६.६) विशल्यघ्नमर्म (सुशा. ६.११) सिरामर्म (सुशा. ६.७)
मर्मसंख्या एका स्थपनी (सुशा. ६.६)
स्थपनीमर्म मानमर्धाङ्गुलम् (ड. सुशा. ६.२७)
पाठा (असंसू. १६.२७)
नासानेत्रगता सिराविशेषः (असंशा. ६.१९)

स्थलपिण्डा-स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जुरिका (ध. ५.५५; पृ. १७९)

स्थलशृङ्गाटक-पु., वनस्पति० क्षुद्रगोक्षुरः द्र० 'गोक्षुर' (रा. ३.१३२; पृ. २६)

स्थलसंभव-न., भूमिसंभवम् (धान्यम्) (असंसू. ७.३८)

स्थलेरुहा-स्त्री., वनस्पति०द्रग्धा (रापरि.९.२८ पृ.३३६)
कुमारी. (रापरि. ५.१०, पृ, ३४०)

स्थविमन्-पु., लक्षण० स्थूलता, स्थौल्यम् (असंउ. ४९.४०६)

स्थविर-वि., वृद्धः (सुचि. २६.४)
खनिज० शैलेयम् (ध. ३.७३; पृ. ११०)

(स्थविरा)-स्त्री., वनस्पति० महाश्रावणिका (रा. ५.२२०; पृ. ३८)
-जीवक-पु., वृद्धजीवकः, काश्यपसंहितायाः कर्ता (काक षट्कल्याध्यायः ३)

स्थाणु-पु., देवता० शङ्करः (असंनि. १.५)

स्थान-न., वास्तव्यम्, वसतिः (चनि. ७.७ (३)
अधिष्ठानम् (सुसू. ४१.१२) अधिकरणम् (चसू. ३०.७०)
ऊर्ध्वीभूतस्य स्थितिः (ड. सुसू. १९.१२)
स्वमानावस्थानम् (चसू. १७.११२)
कारणम्, तिष्ठति उत्पद्यतेऽस्मादिति स्थानं कारणमिति युक्तम् (चक्र. चसू. १९.३)
शरीरधात्ववकाशविशेषः नाम स्रोतः (चवि. ५.९)
-कोपप्रसाद-वि.,स्थाने उचिते समये प्रसंगे पुरुषे वा कोपः प्रसादश्च यस्य सः (स्थानकोपप्रसादः) (चशा. ४. ३७(५)
-परित्याग-पु., निवासभूमित्यागः (सुसू. ६.२०)
-विभाग-पु., स्थानस्य विभागः, यथा वातादिदोषाणाम् (चसू. २०८)
-संश्रय-पु., संप्राप्तेरवस्थाविशेषः चतुर्थः क्रियाकालः, दोषाणां स्रोतोवैगुण्यात् शरीरस्थाने सङ्गः (सुसू. २१.३३)
-स्थ-वि., आशयस्थः (चवि. ५.९) साम्यावस्थितः' अक्षीणः (सुनि, ११२)

स्थानान्तर–न., स्थलान्तरम् (अहसू. १२.६५)

स्थानापवर्तन–न., स्थानेषु सक्तस्य गर्भस्य गर्भशय्यात उत्तानस्यावाङ्मुखीकरणम् (ड. सुचि. १५.३)

स्थापना–स्त्री., सिद्धमर्थं परं प्रति स्थापयति, साधयतीति स्थापना। प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापनम् (चवि. ८.३१)

स्थापनी–स्त्री., वनस्पति० पाठा (ध. १.७०; पृ. २०)

स्थापनीय–वि., आस्थापनबस्तिप्रयोगयोग्यः (सुचि. ३५.२२)

स्थालक–न., अस्थिभेद० पर्शुकाया मूलस्थानम् (चशा. ७.६)

(स्थालिका)–स्त्री., कीट० मक्षिकाविशेषः, असौ प्राणहरा, तया दष्टस्य कण्डूशोफदाहरुजो भवन्ति, तथा च ज्वरादयश्च भवन्ति। असौ असाध्या (सुक. ८.३५, असंउ. ४३)

स्थालकार्बुद–न., पर्शुकामूले स्थितमर्बुदाकारमस्थि (चशा. ७.६)

स्थाली–स्त्री., वनस्पति० पाटला (ध. १.१२० पृ.२९)

–पाक–पु., स्थालीस्थः पाकः, चरुः (चशा. ८.११)

–यन्त्र–न., यन्त्र० अन्येन शरावेणाऽऽच्छादितमुखस्ताम्रादियुक्तः शरावः, यस्याधस्तादग्निर्दीयते। तेन च ताम्रादिः पच्यते (र. ९.६८)

स्थावर–वि., स्थिरः, क्षितिस्थः यथा वृक्षपाषाणादि; (चसू. २६.३९)

स्थितिशीलः (सुसू. १.२२)

पु., जडो वृक्षपाषाणादिः (चसू. २६.३९) चत्वारः प्रकाराः-- वनस्पतिर्वृक्षो वीरुदौषधिश्च, तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, स्वरादय इत्यादिग्रहणात्स तैलक्षारभस्मकण्टकप्रभृतीनां ग्रहणम् (ड. सुसू. १.२९–३१)

–विष–न., विषप्रकारेष्वेकः द्र० ' विष ' (चचि. २३.१६; सुक. २.५)

–विषविज्ञानीय–वि., अध्यायसंज्ञा० (सुक. २.१)

स्थावरोत्पत्ति–स्त्री., वृक्षोत्पत्तिः, असौ गुल्मेषु कोष्ठकल्पिता अरिष्टभूता (सुसू. २९.६९-७१)

स्थित–वि., झटित्यूर्ध्वं गच्छन् (चक्र. चसि. ६.३३) ऊर्ध्वीभूतः (सुशा. ८.६)

स्थिति–स्त्री., स्थायिभावः (चसू. १८.४४) स्थैर्यम् (सुशा. ३.३३) जीवनरूपा अवस्था (चचि. २८.२२०) अस्तित्वम् (सुशा. १.१५)

ऊर्ध्वस्थितिः, ऊर्ध्वीभावः (सुचि. २४.१२०)

स्थिर–पु., गुण० विंशतिगुणेष्वेकश्चलविपरीतो गुणः (चसू. १.६१) निश्चलः चलप्रतिबन्धकः (चशा. ६.१०) सरविपरीतः पार्थिवद्रव्यगुणः (सुसू. ४१.४ (१) अस्य धारणे शक्तिः (अहसू. १.१८)

वि., कठिनः, दृढः (सुसू. ३२.३)

स्थावरम् (विषम्) (चचि. २३.१३)

(स्थिरा)–स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (चसू. ५.६४; सुउ. ३९.२१९; ध. १.८७; पृ. २३)

पृश्निपर्णी (चसू. ५.६४; अहसू. २०.३७)

–कुसुम–पु., वनस्पति० बकुलः (रा. १०.२६२; पृ. २०२)

–गन्ध–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२३९; पृ. १९९)

(गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० पाटला (रा. ९.१५०; पृ. २९)

केतकी (रापरि. १०.२; पृ. २०४)

–गात्रता–स्त्री., लक्षण० गात्राणां स्थिरता, गात्रस्थैर्यम् (चसू. १३.४५)

–त्व–न., अशैथिल्यम् (चसू. १८.५१) अचलनम् (सुक. ३.४१-४२)

–नयन–वि., चक्षुषः निमीलनोन्मीलनरहितः, निमेषरहितः (ड. सुउ. ६०.८)

–पत्र–पु., वनस्पति० हिन्तालः (रा. ९.९८; पृ.१८२)

–पुष्प–पु., वनस्पति० तिलकः (रा. १०.२६६; पृ. २०२)

चम्पकः (रा. १०.२३९; पृ. १९९)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कूष्माण्डिका (ध. १.१८३; पृ. ४३)

–बन्धन–न., दृढबन्धनम् (सुचि. २२.२९)

–मद–वि., चिरकालमत्तताकारी (सुरासवः) (सुसू. ४५.१८७.१८८)

–मांस–न., अमृदुमांसम् (सुचि. १७३.७४)

–मूल–वि., दृढमूलम् (असंसू. ३९.१२; अहसू. ३०.३३)

–रङ्गा–स्त्री., वनस्पति० नीलिनी (रा.४.३५१;पृ.५५)

–रागा–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (रा. ६.८३, पृ.१८.)

-व्रणता-स्त्री., लक्षण० कठिनव्रणता (सुसू. १२.८)
-शरीर-वि., कठिनशरीरावयवः (सुनि. ८.१०)
-साधनक-पु., वनस्पति० निर्गुण्डी
(रा. ४.११७; पृ. १५०)
-सुप्तकुष्ठ-न., रोग० महाकुष्ठ काकणाख्यम् द्र० 'काकणकुष्ठ' (र.२०.२६)

स्थिरसा-स्त्री., वनस्पति० सागः
(रा परि. ९.६ पृ. २०४)

स्थिरा-स्त्री., वनस्पति० शालिपर्णी (ध. १. पृ. १३)
-द्वय-न., वनस्पति० शालिपर्णी पृश्निपर्णी च
(अहसू. १५.६)

स्थिराङ्गता-स्त्री., लक्षण० कठिणाङ्गता (सुउ. ४२.६७)

स्थिराङ्घ्रिप-पु., वनस्पति० हिन्तालः
(रा. ९.९८ पृ. १८२)

स्थिरात्मता-स्त्री., स्थिरप्रकृतिकत्वम्
(असंसू. ९.३६)

स्थिरादिवर्ग-पु., द्रव्यगण० लघुपञ्चमूलम्, असौ प्रतिरुद्धवाते उपयुक्तः (चचि. २६.२३)

स्थिरीकरण-वि., स्थैर्योत्पादकः (तिक्तरसः)
(चसू. २६.४३)

स्थिरेन्द्रिय-वि., अचलेन्द्रियः (सुसू. ३५.५)

स्थिरोपचितमांस-वि., कठिणस्थिरमांसः (स्त्रीसंयतः)
(ड. सुचि. २४.११३)

स्थूणा-स्त्री., स्तम्भः, धारणम् (सुसू. २१.३)

स्थूणिका-स्त्री., आहारद्रव्य० वटकः, पिष्टकासमर्दकूष्माण्डमूलकादिकृता मुद्गादिकृताश्च, तद्गुणः-विष्टम्भिनी, वातकोपनी च
(सुसू. ४६.२९४,२९५)
-शुष्कशाक-न., आहारद्रव्य० नानाशाकैः कृतो वटकः (सुसू. ४६.२९४)

स्थूल-वि., स्थौल्यव्याधियुक्तः (चसू. १४.१७) मेदस्वी, अष्टौ निन्दितपुरुषान्यतमः (सुसू. १५.३५)
पु., गुण० विंशतिगुणेष्वेकः, उपचयकरो गुणः, सूक्ष्मविपरीतो गुणः (चशा. ६.१०) पार्थिवद्रव्यगुणः (सुसू. ४१.४ (१) अस्य संवरणे शक्तिः
(हे. अहसू. १.१८)
वनस्पति० पनसः (रापरि. ११.९; पृ. ३७३)
धान्य० व्रीहिः (रा. १६.७९; पृ. २२०)

(स्थूला)-स्त्री., वनस्पति० उर्वारुकम्
(ध. १.१७६; पृ. ४९)
कार्पासी (रापरि. ४.४५; पृ. ३३८)

-कङ्गु-पु., वनस्पति० प्रियङ्गुः
(रा. १६.१४४; पृ. २२६)
-कणा-स्त्री., वनस्पति० उपकुञ्ची
(रा. ६.९१ पृ. ९१)
-कण्टक-पु., वनस्पति० जालबर्बुरः
(रापरि. ८.१४ पृ. ३५७)
-कण्टा-स्त्री., वनस्पति० बृहती
(रा. ४.१२०, पृ. २४)
-कण्टाकी-स्त्री., वनस्पति० बृहती
(ध. १.९३ पृ. २४)
-कन्द-पु., वनस्पति० ग्राम्यकन्दः, सकलकन्दः (ड. सुसू. ४६.३०७) लशुनः
(रा. ७.९६; पृ. १४७)
वनस्पति० मुखालुः (रापरि. ७.२२; पृ. ३४९)
हस्तिकन्दः (रा. ७.३५; पृ. ३५०)
-कन्दक-पु., वनस्पति० सूरणः
(रापरि. ७.५; पृ. १६९)
-काच-पु., मणि० स्थूलाकारः काचः (सुउ. ७.२८)
-कुमुद-पु., वनस्पति० करवीरः
(रा. १०.३; पृ.१३४)
-गुद-न., शारीर० त्रिवलीरूपं स्थूलगुदम् पुरीषवहानां स्रोतसां मूलम् (चवि. ५.८)
-चञ्चु-स्त्री., वनस्पति० बृहच्चञ्चुः
(रापरि. ४.२०; पृ. ३३६)
-जीरक-पु., वनस्पति० उपकुञ्ची
(ध. २.५९; पृ. ८१)
-तण्डुल-पु., धान्य० स्थूलशालिः द्र० 'शालि'
(रा. १६.९०; पृ. २२१)
-तण्डुलसंभूत-पु., धान्य० व्रीहिः
(रा. १६,१२०; पृ. २२२)
-ताल-पु., वनस्पति० हिन्तालः
(रा. ९.९७; पृ. १८२)
-त्वचा-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी
(रा. ९.१४८ पृ. २९)
-दण्ड-पु., वनस्पति० महानलः
(ध. ४.१४२; पृ. १६२)
-दर्भ-पु., वनस्पति० मुञ्जः (रा. ४.१३२; पृ. १६०)
-दला-स्त्री., वनस्पति० कुमारी
(रापरि. ५.१२; पृ. ३४०)
-नकुल-पु., प्राणि० नकुलभेदः द्र० 'नकुल'
(चचि. ८.१५२ पृ. ८.१५२)

-नाल-पु., वनस्पति० महानलः (ध. ४. १४२; पृ. १६२)

-नेत्र-न., बस्तिनेत्रदोष० अस्मिन् दुर्ग्रहता कर्षणश्च दोषौ भवतः (चसि. ५.४-७)

-पर्वन्-वि., लक्षण० स्थूलग्रन्थिः (चसू. २१.१५)

-पुष्पा-स्त्री., वनस्पति० झण्डू (रापरि. ५.५२; पृ. ३४४)

-प्रियङ्गुक-पु., वनस्पति० प्रियङ्गुः (रा. १६.१४४; पृ. २२६)

-फल-पु., वनस्पति० शाल्मली (रा. ८.२१२; पृ. १९५)

(-फला)-स्त्री., वनस्पति० शणपुष्पी (रा. ४.२९८; पृ. ४८)

-फेनिल-वि., अतीवफेनयुक्तम् (असंसू. ६.२२)

-मरिच-न., वनस्पति० कङ्कोलम् (रा. १२.६९; पृ. १०२)

-मल-पु., पुरीषमूत्रादयः (असंशा. २.३४)

-मूल-वि., मूलप्रदेशे स्थूलम् (हे. अहसू. ११.११)
न., वनस्पति० चाणाख्यमूलम् (रा. ७.५३, पृ., १४१)

-रुहा-स्त्री., वनस्पति० पद्मिनी (रा. ५.१३१; पृ. १५२)

-लक्ष्य-वि., दानशौण्डः (असंशा. ८.१६)

-वल्कल-पु., वनस्पति० पट्टिकालोध्रः द्र० लोध्र. (ध. ३.१७७; . १२९)

-वैदेही-स्त्री., वनस्पति० श्रेयसी द्र० चविका. (रा. ६.११८; पृ. ८५)

-शर-पु., वनस्पति० शरः (ध. ४.१३५, पृ. १६१)

-शालि-स्त्री., धान्य० व्रीहिभेदः द्र० व्रीहि (रा. १६.९०; पृ. २२१)

-शिम्बी-स्त्री., वनस्पति० असिशिम्बी (रा परि. ७.९७ पृ. ३५५)
वनस्पति० निष्पावः (रा. १६.१७५. पृ. २३०)

-शीर्षा-स्त्री., कीट० पिपीलिकाभेदः, तद्दष्टलक्षणम् श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः द्र० पिपीलिका (सुक. ८.३४)

-सायकमुखाख्य-पु., वनस्पति० स्थूलशरः- (रा. ८.२१२ पृ. १६१)

-स्कन्ध-पु., वनस्पति० लकुचः (रा परि. ९.४४ पृ. ३६७)

-स्रोतस्-न., स्थूलमुखम् स्रोतोविशेषः (चक. १.५)

स्थूलक-पु., वनस्पति० गन्धपलाशः (ध. १.६४; पृ. १९)

-हित-वि., स्थूले स्थूलाय वा हितकरम् (असंसू. ६.११७)

स्थूलाक्ष-वि., विस्फारितनेत्रः (सुउ. ६०.१६)

स्थूलाङ्ग-पु., धान्य० स्थूलशालिः द्र० 'व्रीहि' (रा. १६.९० पृ. २२१)

स्थूलादिकन्दवर्ग-पु., द्रव्यगण० स्थूलसूरणमाणक-प्रभृतयः कन्दाः, तेषां सामान्यगुणाः-ईषत्कषायाः, कटुका रुक्षा विष्टम्भिनो गुरवः, कफवातलाः पित्त-हराश्च (सुसू. ४६.३०६)

स्थूलान्त्र-न., शारीर० बृहदन्त्रम्, पञ्चदश-कोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०; सुनि. १२.६) तदायामः-साधत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि (सुशा. ५.९) कट्यन्त्रम्, गुदान्त्रम्, (सुनि. २.५) पुरीषवहानां स्रोतसां मूलम्-पक्वाशयः (चवि. ५.८)

स्थूलान्त्रप्रतिबद्धा-स्त्री., शारीर० धमनी० (असंशा. ६.३२)

स्थूलाम्र-पु., वनस्पति० आम्रः (रा. ११.९, पृ. १७१)

स्थूलारुष्क-न.,रोग० क्षुद्रकुष्ठ० सन्धिषु स्थूलमूलान्यति-दारुणानि कठिनान्यरूंषि व्रणाः स्युः (सुनि.५.९)

स्थूलास्या-स्त्री., वनस्पति० गन्धपलाशः (रा. ६.८९; पृ. १९)

स्थूलैरण्ड-पु., वनस्पति० एरण्डः (रा. ८.४४९; पृ. ६८)

स्थूलैला-स्त्री., वनस्पति० एलाभेदः, द्र० 'एला' (धनि. २.४६; पृ. ७८)

स्थेमन्-पु., स्थैर्यम् (असंसू. २०.३)

स्थैर्य-न., अचलत्वम्, स्थिरता (सुसू. ४१.४(१)) काठिन्यम् (सुसू. १७.५)
स्तम्भः (ड. सुसू. १५.१३)
वयःस्थापनकारित्वम् (सुसू. ४६.४१-४२)

-कर-वि., स्थिरतां दृढतां च कुर्वाणः (मधुररसः) (चसू. २६.४३(१)))

-कृत्-वि., देहदार्ढ्यकृत् (हे. असंसू. ६.६०)

स्थैर्यक-पु., कीट० श्लेष्मप्रकोपणः (असंउ. ४३)

स्थौणेय-न., वनस्पति० ग्रन्थिपर्णिकम् (ड. सुक. ६.१४-२७; असंउ. ४०) तद्गुणाः--

कटु, तिक्तमुष्णं (चचि. ३.२६७). सुगन्धि, बलदं, पुष्टिदं, त्रिदोषघ्नम् (ध.३.७०;पृ. ११०)
हिं.–थुनेर.
म.—**थुणेर.**
गु.—भरुण्ठ.
बं.—गान्थि आला.

स्थौणेयक–न., वनस्पति०स्थौणेयम् सुगन्धिद्रव्यविशेषः (चचि. ३.२६७; चक. १.२३; सुसू. ३८.२४-२५ ध. ६९, पृ. १०९)

स्थौल्य–न., स्थूलस्य भावः स्थूलता लक्षण० (चसू. १६.१३) उपचितशरीरत्वम् (सुसू. १५.३२)
रोग० अतिस्थौल्यम्, द्र० ' मेदोरोग ' (चसू. २१.३)

स्नपन–न., स्नानम् (असंसू. ८; असंउ. २)
उपक्रम० शोधनम् (र. ३०.५६)
विनिक्षेपः । निर्वापः (र. ८.५६)

स्नातशिरस्–वि., स्नातं परिषिक्तं शिरो येन सः (चसि. २.२१)

स्नातानुलिप्त–वि., पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः (चइ. १२.५)

स्नातुकाम–वि., स्नातुमिच्छति यः (चसि. २.२०)

स्नान–न., जलेन शरीरस्य मार्जनम् (चसि. ५.९४)
स्नानं श्रमहराणां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०; असंसू. १३) स्नानमोजस्करं परम् (चसू. ५.९४)
स्नानगुणकर्म–निद्रादाहश्रमस्वेदकण्डूतृषाहरं मलहरं हृद्यं सर्वेन्द्रियविशोधनं तन्द्रापापशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनं रक्तप्रसादनमग्नेश्च दीपनम् (सुचि. २४.५८) आयुष्यम् (अहसू.२.१६) स्नानाऽयोग्याः–अतिसार– ज्वर-कर्णशूल-वातरोगपीडितेषु तथा आध्मानाऽरोचकाऽजीर्णभोजनेषु च सत्सुस्नानं गर्हितम् । तरुणज्वरे तथा विगतज्वरेऽपि स्नान–निषेधो यावत्प्रकृतिस्थो न भवति (सुउ. ३९.१६०-(सुचि. २४.६२, अहसू. २.१८) शीतजलेनोष्णजलेन वा स्नानं क्रियते तत्राऽधःकायस्योष्णजलेन स्नानं बलावहम् । उत्तमाङ्गस्य शीतजलेन स्नानं केश्यं चक्षुष्यं च भवति (अहसू. २.१७) जातमात्रस्य स्नानार्थं सिद्धजलप्रकारः– क्षीरिवृक्षकषायः, सर्व-गन्धोदकं रूप्यहेमप्रतप्तं वारि कपित्थपत्रकषायो वा इत्येतद्युक्तेन कोष्णेन सिद्धजलेन कालं दोषं विभवं च लक्षयित्वा स्नापयेत् (सुशा. १०.१३)
अवगाहनम् (चसू. २५.४०) जलपूर्णकटाहादौ निमज्जनम् (सुउ. ३९.१५६)
–भू–स्त्री., स्नानभूमिः (असंसू. ३)
–भूमि–स्त्री., स्नानार्थं भूमिः (चसू. १५.६)
वि., स्नानार्थं कृतं गृहम् स्नानस्य भूमिः स्थानं यस्मिन् तद् (सूतिकागारम्) (चशा. ८.३३)

स्नापक–वि., यो रुग्णं स्नापयति, सः । स्नापनोपयुक्तः परिचारकः (चसू. १५.७)

स्नायु–स्त्री., शारीरभाव०मेदस उपधातुः, पितृजो भाव० (चशा. ३.७) ' मेदसः स्नायुसम्भवः ' (चचि.१५) ' मेदसः स्नेहमादाय वायुः स्नायुत्वमाप्नुयात् ', अस्मिन् कर्मणि स्नायूनां खरपाकोऽस्ति (सुशा. ४.३०; चशा. ७.१४) मांसवहानां स्रोतसां स्नायुर्मूलम् (चवि. ५.८)
शारीर० शणाकारोऽवयव० (सुसू. २५.२०-२१)
स्नायुसंख्या–नवस्नायुशतानि, तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् निचिताः, तास्त्रिंशत्, तावत्य एव तलकूर्चगुल्फेषु तावत्य एव जङ्घायाम्, दश जानुनि, चत्वारिंशत् ऊरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत्, षट्त्रिंशद् ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्, एवं नवस्नायुशतानि व्याख्यातानि (सुशा. ५.२९) स्नायुप्रकाराः– प्रतानवत्यः वृत्ताः पृथ्व्यः शुषिराश्चेति चतुर्विधाः स्नायवः, तत्र वृत्ताः स्नायवः कण्डरा इति विज्ञेयाः। आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः स्नायवः । पार्श्वोरसि, तथा पृष्ठे शिरसि च पृथुलाः स्नायवः । स्नायुकर्म–फलकास्तीर्णा बहुभिः बन्धनैर्युता नृयुक्ता सुसमाहिता नौर्यथा अप्सु भारक्षमा भवेत्; एवं अस्मिन् शरीरे यावन्तः सन्धयः, ते बहुभिः स्नायुभिः बद्धाः । तेन च नराः भारसहाः भवन्ति । व्यापादिता स्नायुः यथा शरीरिणं हन्यात् न तथा अस्थीनि पेश्यः सिराः सन्धयो वा व्यापादिताः शरीरिणं हन्युः इति स्नायूनां महत्त्वं विद्यात् (सुशा. ५.२९-३५) तत्र महत्यः स्नायवः कण्डराः स्मृताः (भा. प्र.) ताः षोडश, तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यः हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः (अग्र) प्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनाम् अधोभागगतानां मेढ्रम्,

श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनाम् अधोभागगतानां बिम्बम्, मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च (सुशा. ५.११) प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः (शार्ङ्ग.) कूर्चाः पुनः मांसास्थिसिरास्नायूनां जालकप्रभवाणां सन्ततिविरचिताः (ड. सुशा. ५.१३) षट् कूर्चाः ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु, हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः (सुशा. ५.१३) महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः, पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे (सुशा. ५.१४) मांसस्नायुजालानि चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि, परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि, परस्परगवाक्षितानि चेति यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् (सुशा. ५.१२) स्नायुविकाराः– वेगवान् अनिलः स्नायुप्रतानम् आक्षिपति, तदा मानवः अभ्यंतरं धनुरिव नमति, एष अन्तरायामः। यदा तु वायुः बाह्यस्नायुप्रतानस्थो भवति, तदा बाह्यायामं करोति, इत्येष बहिरायामः। स्नायुप्राप्तश्च वातः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं च करोति

(सुनि. १.५५-५६)

स्नायुविद्धपुरुषलक्षणानि– कौब्ज्यं, शरीरावयवसादः, क्रियास्वशक्तिः तुमुला रुजा, तथैव व्रणस्य चिराद्रोहणम् (सुसू. २५)

–कोथ–पु., स्नाय्वः कोथः। व्रणे यदा शटिता स्नायुर्भवति, तदा तस्यास्तत्र छेदनं कर्तव्यम्

(सुचि. १.३४)

छेद्यरोग० स्नाय्वाः पूतिभावः (सुसू. २५.३-५)

–क्लेद–पु., लक्षण० स्नाय्वाः क्लेदः। तेन व्रणस्य कृच्छ्रत्वं जायते (चचि. २५.३१-३५)

–जाल–न., शारीर० स्नायूनां जालम्। देहे स्नायुजालानि चत्वारि। एकैकमेकस्मिन्मणिबन्धे गुल्फे च (सुशा. ५.१२) स्नायुजालगतशल्येनाऽऽक्षेपकादीनि लक्षणानि भवन्ति (अहसू. २८.५)

–जालोत्क्षेपण–न., लक्षण० स्नायुगतशल्ये स्नायुसमूहस्योर्ध्वं नयनम् (सुसू. २६.१०)

–त्व– न., स्नायुभावः। स्नायुस्वरूपम्

(सुशा. ४.२९)

–दग्ध–न., दाह० अग्निकर्म० लक्षणम्–– कृष्णोन्नतव्रणता। स्रावस्य संनिरोधश्च

(सुसू. १२.८; असंसू. ४०)

–प्रतान–पु., स्नायुविस्तारः। लतावदनेकप्ररोहं स्नायुजालम् (सुनि. १.५७)

–मर्मन्–न., शारीर० स्नायुबहुलं मर्म (सुशा. ६.३) संख्या–सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि (सुशा. ६.४) आण्यश्चतस्रः, द्वौ विटपौ द्वौ कक्षधरौ, चत्वारः कूर्चाः चत्वारि कूर्चशिरांसि, एको बस्तिः चत्वारि क्षिप्राणि, द्वौवंसौ द्वे विधुरे, द्वावुत्क्षेपौ एवं सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि (ड. सुशा. ६.७; असंशा. ७) द्र० मर्म

–महारुज्–वि., स्नायुषु महती पीडा यस्य सः। स वसास्नेहयोग्यः (चसू. १३.४८)

–विद्ध–न., रोग० लक्षणम्-कौब्ज्यम् शरीरावयवसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्चिरं व्रणरोहणं च

(सुसू. ३५.२७)

–संकोच–पु., रोगलक्षण० स्नायूनां संकोचनम् (चसू. ५.९२) स्नायूनां स्तम्भनम्

(अहसू १७.२०)

स्नायुक–न., रोग० शाखासु कुपितो दोषो विसर्पवच्छोथं कृत्वा तत्क्षते भिनत्ति। उष्मयुक्तश्च दोषः स्नायुं विशोष्य तन्तुनिभं श्वेतद्युतिकं वृत्तं जीवं कुर्यात्। स च जीवः शनैः शनैःक्षताद् बहिर्याति। छेदाच्च कोपमुपैति। तस्य पातेन शोथशान्तिर्भवति। किन्तु पुनः सोऽन्यस्मिन् स्थाने सम्भवति। संख्यासम्प्राप्तिः–अयमष्टधा वातेन श्यावरूक्षः सरुक् स्यात्। पित्तान्नीलपीतः सदाहः स्यात्। श्लेष्मणा श्वेतः स्यात्। द्विदोषेण असौ द्विदोषलिङ्गी। सन्निपातेन सर्वलिङ्गः। रक्तेनाऽरक्तकान्तिरित्यष्टविधः।

उपद्रवाः– यदि बाह्वोर्जङ्घयोः स्नायुकस्तन्तुकीटः त्रुट्यते, तदा खञ्जता बाहुसंकोचावुत्पद्येयाताम् (मानि. परि) चिकित्सा विसर्परोगवदत्र चिकित्सा (मानि.) स्नेहस्वेदप्रलेपादि कर्म यथोचितं कुर्यात् (भाप्र) कुम्भीपुष्पाणि भक्षयेत् (र. २५.५४)

स्नाय्वर्मन्–न., नेत्ररोग० नेत्रशुक्लभागगतो रोगः। लक्षणम्–नेत्रस्य शुक्लभागे खरं प्रपाण्डुपिशितं यद्वृद्धिमुपैति तत्स्नाय्वर्म, प्रस्तारिणोऽर्मणः स्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः। विना स्रावं विशुष्कं तत्स्नाय्वर्मेति प्रकीर्तितम्। निमिवचनम् (मानि-) (सु उ. ४.६ साध्यरोगोयम्) सुउ. १.४०)

चिकित्सा–लेखनाञ्जनैरेवोपाचरणीयम्

(सुउ.१५.१७)

स्नाय्वामय–पु., स्नायूनां रोगः (चचि. २९.३९)

स्नाव–न., शारीर० स्नायुः (असंशा. ५)

-बन्धन-न., स्नायुनिबन्धनम् (असंशा. ५)
-मर्मन्-न., स्नायुमर्मन् (असंशा. ७)
स्नावार्मन्-न., नेत्ररोग० स्नाय्वर्म (असंउ. १३)
स्निग्ध-पु., गुण० असौ त्वगिन्द्रियग्राह्यः चक्षुरिन्द्रियग्राह्यश्च(चशा. ६.१०) रूक्षविपरीतः (चसू. १.६१) चिक्कणः (सुसू. ३६.३) विंशतिद्रव्यगुणेष्वेकः (अहसू. १.१८) आप्यद्रव्यगुण० (सुसू. ४१.४(२)) तस्य कर्म-क्लेदने शक्तिः (अहसू. १.१८) वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं च (चशा. ६.१०) स्निग्धगुणः स्नेहकृन्मार्दवकृद्बलवर्णकरश्च (सुसू. ४६.५१६)
वि., प्रीतियुक्तः (सुसू. ३४.२४) मित्रभावयुक्तः (सुक. १.८-११)
पु., वनस्पति० एरण्डभेदः, रक्तैरण्डः (रा. ८.४४७ पृ. ६८)
सरलः (रा. १२.१३६; पृ. १११)
न., खनिजद्रव्य० सुवर्णगैरिकम् (ध. ३.१७०; पृ. १२८)
भैषज्य० सिक्थकम् (रा. १३.१७४; पृ. ११८)
वनस्पति० जवादि (रापरि. १२.६; पृ.३७५)
(स्निग्धा)-स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१; पृ. ३१)
-च्छवि-वि., लक्ष० स्निग्धकान्तिः (बलासप्रकृतिर्नरः) (सुशा. ४.७४)
-तण्डुल-पु., धान्य० षष्टिकः (रा.१६.८४;पृ. २२०)
-तनु-वि., स्निग्धा तनुर्यस्य सः (अहसू. २७.१८)
-दल-पु., वनस्पति० गुच्छकरञ्जः (रा.९.१८४; पृ. १९१)
-दारु-पु., वनस्पति० देवदारुः (रा. १२.१०३; पृ. ४१)
सरलः (ध. ३.७८; पृ. १११)
-पत्र-पु., वनस्पति० घृतकरञ्जः (रा. ९.१७८,पृ. १९१)
-पत्रक-पु., वनस्पति० मञ्जरः (रापरि. ८.५२;पृ. ३६१)
-पत्रा-स्त्री., वनस्पति० शाक० पालक्यम् (रापरि. ७.७२; पृ. ३५३)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० स्वादुपत्रफला, पटोलः (रा. ७.७७; पृ. १७)
मूर्वा (ध. १.१३; पृ. ९)
-पिशित-न., स्निग्धं पिशितम् । मेदुरं मांसम् (सुचि. १४.४)
-फला-स्त्री., वनस्पति० वालुकम् (रा.७.२५०; पृ. ४१)
-भोजिन्-वि., स्नेहयुक्तमन्नं भोक्तुं शीलमस्येति (असंसू. ३)
-मुख-वि., स्निग्धप्रान्तम् मेदुराग्रम् (अहसू. १९.९४)
-मृत्तिका-स्त्री., मृत्तिका० स्निग्धगुणयुक्ता मृत्तिका (चक. १.९)
-राजि-पु., सर्प० वैकरञ्जः । कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जायमानः (सुक. ४.३४;५)
-लक्षण-न., लक्षण० स्निग्धनरस्य लक्षणम् (चसू. १३.६)
-व्यायामबलिन्-वि., स्नेहोपयोगेन व्यायामेन च यस्य बलं सञ्जातम् सः (चसू. २६.१०६)
स्निग्धोष्णोपशय-वि., यस्मिन्स्निग्धमुष्णं चान्नपानादि उपशेते (असंनि. ५)
स्नुक्-स्त्री., वनस्पति० स्नुही (ध. १.२३५)
-क्षीर-न., स्नुहीक्षीरम् (चचि. १३.१४०) (असंसू. ११)
-पयस्-न., स्नुहीक्षीरम् (चसू. २५.४०) (असंसू. १३)
(स्नुग्)-गण पु., गण० श्वेतपीतदुग्धभेदेन त्रिकोणकाण्डादिभेदेन भिन्ना स्नुही । स्नुही भेदसमूहः (र. १०.८८)
स्नुही-स्त्री., वनस्पति० (ध. १-२३५. पृ. ५५)
क्षीरसारवृक्षः (असंक. २) अस्याः क्षीरं तीक्ष्णविरेचनानां श्रेष्ठम् (चसू. २५.४०) गुणाः-तिक्ता, उष्णा गुर्वी कफवातघ्नी दुष्टव्रणाश्मरीदाहकुष्ठप्रमेहघ्नी । अस्याः क्षीरं विषम्, तदाध्मानगुल्मोदरवातघ्नम् (ध. १.२३५; पृ. ५५) (नाड ५.२४, शालि. २९८)
हिं.—सेहुण्ड, थोहर, थुहर.
म.—वई निवडुंग, काटेनिवडुंग, फड्या निवडुंग.
गु.—थोरदाण्डलियो, कटाली, कण्टालो थोर हाथलो तर धारी, नानो परदेशी.
बं.—मन्सासिज, सिजवृक्ष, मनसागाछ.
ता.—हैकली.
फा.—लादनाम.

–काण्ड–न., वनस्पति० स्नुहीभेदः सेहुण्डयष्टिः "कांड्या निवडुंग", इति लोके, काण्डलवणोत्पादने उपयुक्तम् (सुचि. ४.३१)

–क्षीर–न., स्नुहीदुग्धम्। व्रणशोधनद्रव्येषु घृतेषु च उपयुज्यमानेष्वेकम् (सुसू. ३७.१६-१७)

स्नूही–स्त्री., वनस्पति० स्नुही (र. २५.११८)

स्नेह–पु., गुण० मार्दवकरः गुणः, स्निग्धः (चशा. ६.१५) विंशतिगुणेष्वेकः (अहसू. १.१८) पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठो वीर्यसंज्ञको गुणः (सुसू. ४१.११)

द्रव्य० घृततैलादिः (सुचि. ३१.३-४) तैलम् (र. २१.५१) तैलादिस्निग्धद्रव्यम् (चसू. १३.१, अहसू. ५.३९; अहसू. १६.२)

कर्म० स्नैग्ध्यम्, स्नेहनम्, श्लेष्मकर्मस्वेकम् (अहसू. १२.५३) स्नेहनं च अनिलहननं देहमार्दवकरं मलसङ्गनाशनम् (चसि. २.७)

उपक्रम० स्नेहपानम् (सुचि. १.८; सुचि. १.३१) वातोपक्रमेष्वेक उपक्रमः (सुचि. ४.२३; अहसू. १३.१)

शारीरभाव० देहस्य स्निग्धत्वम् । मेदोधातोः कर्म (असंसू. १) अक्षिविट्त्वचां यः स्नेहः स मज्ञो मलः (चचि. १५.१९ सुसू. ४६.५२९) प्रीतिः (सुनि. १०.२३)

स्नेहविधिः, स्नेहनम्, च । स्नेहनं स्नेहद्रव्येण क्रियते । स स्नेहः द्विविधः स्थावरो जङ्गमात्मकश्च । स्थावरात्मकः स्नेहः तैलमतैलं च, जङ्गमात्मकस्तु वसा मज्जा सर्पिरिति (चवि. ८.१५०) ते स्नेहाः पुनश्चतुर्विधाः सर्पिस्तैलवसामज्जानः (चसू. १.८६) 'सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्' (असंसू. २५) जङ्गमेभ्यः स्नेहेषु गव्यं घृतं प्रधानम् । स्थावरेषु च तिलतैलम् (सुचि. ३१.३-४) गुरुलघुत्वम्–घृतात्तैलं गुरु तैलाद्वसा, वसायाश्च मज्जा (असंसू. २५) स्नेहसंज्ञात्रयम्–यमकस्त्रिवृतो महाँश्चेति स्नेहस्य संज्ञात्रयम्। तेन द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां यमकः, त्रिभिः स्नेहैस्त्रिवृतः । चतुर्भिर्महास्नेहः, (अरु. अहसू. १६.४) घृततैलाभ्यां यमकः, घृततैलवसाभिस्त्रिवृतः । घृततैलवसामज्जभिर्महान् (हे अहसू. १६.४) स्नेह्याः– ये स्वेदार्हाः शोधनार्हा मद्यासक्ताः स्त्र्यासक्ता व्यायामसक्ताश्च तथा चिन्तकाः वृद्धाः बालाः अबलाः कृशाः रूक्षाः क्षीणरुधिराः क्षीणशुक्राश्च वातपीडिताश्च नेत्राभिष्यन्दिनस्तिमिरिणः कृच्छ्रोन्मीलिनस्ते सर्वेऽपि स्नेह्याः (अहसू. १६.५-६) रूक्षणानन्तरं प्रयुक्तो यः स्नेहः सोऽसात्म्यतां गतः सन् मलानीरयितुं समर्थो भवति (असंसू. २५) तेषु अपि घृतपानयोग्याः– धीस्मृत्याद्यभिलाषिणां घृतं पानार्थं शस्यते (अहसू. १६.८) तैलपानयोग्याः–लाघवदार्ढ्यार्थी तैलं पिबेत् क्रूरकोष्ठेषु तथा ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्म–मेदो–वातरोगेषु च तैलं पानार्थं हितम् (अहसू. १६.९) वसापानयोग्याः–पौरुषोपचये व्यायामे च स्नेहपानार्थं वसा इष्यते (चसू. १३.१६) तथा च क्षीणधातुषु अग्न्यग्निरोगे वातावृतमार्गे च तथा सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु, दग्धरुजि आहतरुजि भ्रष्टयोनिरोगे दारुणशिरःशूलयोः विशेषेण स्नेहपानार्थं वसा योज्या (अहसू. १६.१०-११) मज्जपानयोग्याः–क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ताः दीप्तवह्नयश्च मज्जपानयोग्याः (सुचि. ३१.१८) स्नेहोपयोगः– उपयोगः द्विविधः बाह्य आभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यः देहाभ्यङ्गोऽवगाहः– शिरोऽभ्यङ्गादिः (सुचि.४.८)आन्तरः पानबस्त्यादिषु (सुचि.४.८)यथा न्यग्रोधादिगणसिद्धः स्नेहः ज्वरदाहनाशने अभ्यङ्गतयाऽवगाहने चोपयुक्तः (सुउ. ३९.२८८–२८९) आभ्यन्तरोपयोगे प्रभूतमांसनिःक्वाथाज्ञाङ्गलानूपजात्रसान्स्नेहभृष्टेषु वा तेषु अतिसंहतां यवागूं वा तिलचूर्णं फाणितं सस्नेहम् । कृशरां भूरिस्नेहां तिलकाम्बलिकं सुखोष्णं सर्पिष्मतीं पेयां क्षैरेयीं सशितां, लवणयुक्तं सर्पिर्वा पयः सद्यः स्निग्धं प्रयोजयेत् (असंसू. २५) भक्तेन सह स्नेहपानम्— ये सुकुमाराः कृशाः वृद्धा बालाः स्नेहद्विट्तृष्णार्ताः तथोष्णकाले सहभक्तेन स्नेहं पाययेत् (सुचि. ३१.३७) स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्ति–उत्तर–बस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः । तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं स्थावरेभ्यस्तिलतैलम् (सुचि. ३१.३-४) 'युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः। नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः' (असंसू. २५; अहसू. १६.१४-१५) स्वस्थस्य स्नेहनार्थं कालभेदेन विविधः स्नेहोपयोगः । प्रावृषि तैलं, शरदि सर्पिः, वसन्ते वसामज्जानौ च युञ्ज्यात् (असंसू. २५; अहसू. १६.१२) सद्यःस्नेहनार्थं लवणोपहिताः स्नेहा उपयुक्ताः (असंसू. २५) स्नेहानां तारतम्यात् दोषघ्नता–तैलाद्वसापित्तघ्नी। सर्पिः पित्तघ्नतमम् ।

तथा सर्पिषो मज्जा वातघ्नतरः वसा वातघ्नतरा तैलं वातघ्नतमम्। मज्जा वातश्लेष्मघ्नः वसा वातश्लेष्मघ्नतरा तैलं वातश्लेष्मघ्नतममित्यवगन्तव्यम्
(अरु. अहसू. १६.३; असंसू. २५) केवलस्नेहपानम् स्नेहनकर्मणि श्रेष्ठः प्रयोगः आशुस्नेहकर्मसाधनात् (असंसू. २५; अहसू. १६.१७) स्नेहपानक्रमः– लघुकोष्ठाय प्रातः काले यथाबलं स्नेहमात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत् (सुचि. ३१.१४) कोष्ठभेदात्स्नेहपानाऽवधिः–मृदौ कोष्ठे त्रिदिनमच्छं स्नेहं पिबेत्। क्रूरे सप्तदिनं यावद्वा स्निग्धलक्षणोत्पत्तिः (अहसू. १६.२९-३०; चसि. १.६) मध्यमकोष्ठापेक्षया पुरुषः स्नेहं चतुःपञ्चषडहानि पिबेत्। सप्तरात्रादनन्तरं स्नेहः सात्म्यीभवति
(सुचि. ३१.३६) अच्छस्नेहमात्रा–सा ह्रस्वमध्योत्तमभेदात्त्रिविधा। या मात्रा प्रयुक्ता जाठराऽबलवशाद्द्वाभ्यां प्रहराभ्यां जरां नाम जरणं याति, सा ह्रस्वा। चतुर्भिर्यामैर्या जीर्यति, सा मध्यमा। अष्टाभिर्यामैर्या जीर्यति सोत्तमा मात्रा (अरु. अहसू. १६.१७-१८; असंसू. २५) दोषादीन्वीक्ष्य ताभ्योऽपि ह्रसीयसीं यामपरिणामिनीं मात्रां परिकल्पयेत् (अहसू.१६.१८) ये नराः प्रभूतस्नेहनित्याः क्षुत्पिपासासहाः, ते प्रभूतस्नेहसात्म्याः (चसू. १३.३१) स्नेहः शमनार्थम्। रोगस्य शमनायोपयुज्यते। स जातबुभुक्षस्य शस्यते। अन्यो बृंहणः, स स्नेहो रसमद्याद्यैः सह शस्यते (अहसू. १६.१९-२०) स्नेहेऽनुपानम्–अच्छपेये सुखपक्तये स्नेहस्य प्रयोगात् पश्चादुष्णं वारि पिबेत्। (अहसू. १६.२३) स्नेहनप्रयोगे भोजननियमः– स्नेहपानात्पूर्वदिने तथा यावन्ति दिनानि स्नेहं पिबति तावत् तथा समाप्ते स्नेहपाने तावन्त्येव दिनानि द्रवमुष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करं स्वल्पमन्नं मात्रया भोजयितव्यम्
(हे. अहसू. १६.२५) स्नेहप्रयोगे विहारनियमाः– उष्णोदकोपचारी ब्रह्मचारी क्षपाशयोऽवेगरोधी स्यात् किंच व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् त्यजेत्। प्रवाततयानयानाध्वभाष्य–अभ्यास–संस्थितिः
नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च यावत्यहानि स्नेहं पिबति तानि तत्संख्याकानि तदनन्तरं च स्नेहपानरहितान्यपि त्यजेत् (अहसू. १६-२६-२८) अस्नेह्याः– अतिमन्दाग्निः तीक्ष्णाग्निः स्थूलो दुर्बलऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरमूर्च्छोच्छर्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः अपप्रसूताश्च। स्नेहनीयाः (असंसू. २५; अहसू. १६.६-८) अजीर्णी मदपीडितः तरुणज्वरी श्रान्तो दत्तबस्तिर्विरिक्तो वान्तोऽकाले प्रसूता च स्त्री, अकाले दुर्दिने चैव स्नेहपानं विवर्जयेत्
(सुचि. ३१.४६-४८) सम्यक्स्निग्धस्य वातानुलोमनमग्नेः प्रदीप्तत्वं वर्चसः स्निग्धत्वं मृदुत्वं च अंगेषु मार्दवं च स्निग्धता च अग्लानिश्च विमलेन्द्रियता, लाघवं स्नेहोद्वेगश्च, इत्येतानि लक्षणानि भवन्ति (असंसू. २५; चसू. १३.६) पच्यमानस्नेहलक्षणम्–तृड्दाहोऽरतिः क्लमः सादो भ्रमः (सुचि. ३१.३३) शिरोरुग्निष्ठीवमूर्च्छार्दीनी जीर्यत्स्नेषजे भवन्ति (असंसू. २५)
यदा जीर्यमाणस्नेहस्य लक्षणानि शान्तिं गच्छन्ति, तदा स्नेहो जीर्ण इति ज्ञायते (ड. सुचि. ३१.५४) जीर्णस्नेहलक्षणम्–अनुलोमाऽनिलस्वास्थ्यक्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभिः स्नेहो जीर्ण इति विजानीयात् (असंसू. २५) जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकपानं कुर्यात्, तेनोद्गारविशुद्धिस्तथा भक्तं प्रति रुचिर्देहे लघुता च भवति, तदा जानीयात्स्नेहो जीर्ण इति (सुचि. ३१.३२-३३; असंसू. १६.२४) जीर्णे स्नेहे परिचर्या– जीर्णस्नेहं नरमुष्णजलेन परिषेचयेत्। क्लिन्नाल्पतण्डुलामुष्णां यवागूं च कामं पाययेत् अग्निं दोषं च वीक्ष्य विलेपीयूषरसादीन् प्रयुञ्जीत (ड. सुचि. ३१.३४-३५) अस्निग्धलक्षणम्– रूक्षं ग्रथितं पुरीषम् अप्रगुणो वायुर्मृदुरग्निः गात्रस्य खरत्वरौक्ष्ये च (चसू. १३.६) अतिस्निग्धलक्षणम्– पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्य चाविपक्वता तन्द्राऽरुचिरुत्क्लेशः (चसू. १३.६) अङ्गसदनं नासास्रावः लालास्रावः प्रवाहिका गुददाहः छर्दिर्मूर्च्छा तृष्णा शुष्कोद्गारः भ्रमश्वासकासादयः स्नेहातिसेवनाद्भवन्ति (असंसू. २५) मिथ्यास्निग्धलक्षणम्– शोफोऽर्शस्तन्द्रा निद्रा विसंज्ञिता कण्डूः कुष्ठं ज्वरोत्क्लेशौ जठरदौर्बल्यमिन्द्रियदौर्बल्यं जाड्यमामवाग्ग्रहादीनि लक्षणानि भवन्ति (असंसू. २५) भ्रमादिका भवन्ति (अहसू. १६.३२-३३) मिथ्यास्नेहेन वातरक्तं प्रकुप्यति (सुनि. १.४१) स्नेहव्यापदि उपक्रमः– क्षुत्तृष्णानिग्रहो वमनं स्वेदः पानान्न-

भेषजे रूक्षद्रव्याणि च देयानि (अहसू. १६.३३-३५) वातावृतस्नेहलक्षणम्- अङ्गमर्द-ज्वर-आध्मान-शीत-स्तम्भ- ऊरुपीडन-पार्श्वरुगादयो भवन्ति (चसि. ४.२६-२८)- पित्तावृते स्नेहे- दाहरागतृष्णामोहतमकश्वास ज्वरादीनि लक्षणानि भवन्ति (चसि. ४.३१) अल्पशनावृतस्नेहे- छर्दिमूर्च्छाऽरुचिग्लानिशूल-निद्रा-ऽङ्गमर्दाः सदाहैरामलिङ्गैश्च संयुतानि लक्षणानि भवन्ति (चसि. ४.३४)

स्नेहफलम्-स्नेहः आशु प्रयोजितः सन् संशुष्कान्-धातून् पुष्णाति बलम् अग्निबलं पुष्टिं प्राणाँश्चाभि-वर्धयेत् (चचि. २८.७९-८२) देहात्कफादयो दोषाः प्रणुद्यन्ते (चसि. ६.११) यो नर आभीक्ष्ण्येन स्नेहमुपसेवते, स दीप्तान्ताग्निः परिशुद्ध-कोष्ठः नूतनधातुः बलवर्णयुक्तो दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुश्च भवति इति प्रदिष्टम् (अहसू. १६.४६)

-क्लान्त-वि., स्नेहपानोद्विग्नः, स्नेहग्लानः (चचि. २८.७६)

-क्लिन्न- वि., स्नेहेनाऽऽप्लुतः, स्नेहपानेनाप्लुतः (अहसू.१७. २९)

-गण्डूष-पु., उपक्रम० मधुरादिसाधितैः स्नेहैः कृतो गण्डूषः (सुचि. ४.२२) असञ्जार्यमात्राप्रमितो गण्डूषः (सुचि. ४०.६२)

-गण्डूषधारण-न., कर्म० (असंसू. ३) स्नेहगण्डूष-धारणं दन्तदार्ढ्यकरं रुचिप्रदं च (सुचि. २४.१४)

-ग्लान-वि., स्नेहेन ग्लानः (चसू. १३.५५)

-तृषा-स्त्री., लक्षण० स्निग्धान्नजा तृष्णा (चचि. २२.५२) स्नेहपानजा तृष्णा (चचि. २२.५२)

-दग्ध-पु., रोग० तप्ततैलघृतादिभिः दग्धत्वम् तच्च दहनं कष्टतरं भवति, स्नेहस्य सूक्ष्ममार्गा-नुसारित्वाद्दूरमनुप्रवेशाच्च (असंसू. ४०) चिकित्सा- तत्र रूक्षं भेषजम् (असंसू. ४०)

-दाह-पु., द्र० 'स्नेहदग्ध' (असंसू. ४०) स्नेहेन दहनम् (असंसू. ४०; अहसू ३०.४८)

-द्रोणी-स्त्री., पात्र० स्नेहपूर्णः कटाहः। शस्त्र-कर्मानन्तरमुदरिणां निवासनार्थम् (असंचि. १७)

-द्विष्-वि., स्नेहं द्वेष्टि इति (अहसू. १६.२०)

-नित्य-वि., स्निग्धाहारादिशीली (अहसू. ७.६०)

-निवृत्ति-स्त्री., बस्तिव्यापद्० स्नेहस्याऽप्रवृत्तिः (अहसू. १९.३१)

-पक्ति-स्त्री., स्नेहपाकः (अहसू. १९.३४) (असंसू. २८)

-परिहार-पु., स्नेहे पीतेऽपथ्यम् यथा शीतोदकादि (अहसू. १६.३९)

-पाक-पु., भैषज्यद्रव्य० स्नेहस्य पाकः। स त्रिधा मृदुमध्यखरभेदेन (चक. १२.१०२) किट्टे कल्कसमे सति मन्दो मृदुर्वा पाकः किट्टे मदनो-पमे मध्यश्चिक्कणो वा पाकः। किट्टे सीदति सति वर्णतः कृष्णे च खरः खरश्चिक्कणो वा पाकः (असंक. ८) स्नेहौषधयोः पृथक्भावमात्रं यस्मि-न्भेषजे तत्तादृशं भेषजं यत्र स्नेहे स मृदुः। स्नेहे सिद्धे सति यत्र मधूच्छिष्टमिव विशदं नाम अपि-च्छिलमङ्गुल्यादौ अविलेपि (पैच्छिल्यगुणाभावाद्) भेषजं भवति, स मध्यमपाकः। यत्र कृष्णमीषद-वसन्नं विशदं चिक्कणं च भेषजं, स खर इति। अत ऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति, स दग्धस्नेहपाकः। तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः। नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः। बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खरपाकः उपयुज्यते (सुचि. ३१.११; चक. १२.१०३-१०४)

-पाककल्प-पु., स्नेहपाकविधिः। स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः तदैक्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः (सुचि. ३१.८) स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रव्यमा-वाप्य विपचेत् (सुचि. ३१.८)

-पान-न., उपक्रम० स्नेहस्य पानम् (सुचि. ३१.१४) द्र० 'स्नेह'

-पानक्रम-पु., स्नेहपानपरिपाटी (सुचि. ३१.१४)

-पायिन्-वि., यः स्नेहनार्थं स्नेहं पिबति सः (अहसू. ६.३०)

-पिचु-पु., उपक्रम० स्नेहयुक्तः पिचुः (चचि. ३०.१०८)

-पीत-वि., येन स्नेहः पीतः (सुचि. ३९.३; अहसू. १९.५३)

-प्रगाढ-वि., स्नेहबहुलः (सुचि. ३७.४५)

-प्रयोग-पु., उपक्रम० स्नेहपानस्य प्रयोगः द्र० 'स्नेह' (अहसू. १६.२६-२८)

-प्रियालबीज-पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२)

-फल-न., स्नेहप्रधानं फलम् तिलैरण्डातसी-बिभीतकादिकम् (सुचि. ४०.४)

स्नेहपानस्य फलम्, द्र० 'स्नेह' (सुचि. ३१.५६)

-फलसार-पु., स्नेहफलानां तिलादीनां सार-स्तदन्तर्गतो मज्जा (सुचि. ४०.४)

-बस्ति-पु., उपक्रम० स्नेहस्य बस्तिः। स्नेहयुक्तः बस्तिः (चसि. ४.३) अनुवासनबस्तिः (अहसू. ४.२९) सिद्धस्नेहाः सर्पिरादयो बस्तिविधिना दीयन्ते, स स्नेहबस्तिः (सुचि. ३८.८८)

-भर्जिता-वि., स्नेहभृष्टा (पेया) (अहसू. १६.४०)

-भावित-वि., स्नेहपानेन स्निग्धः (अहसू. १८.५७)

-मांस-न., स्नेहप्रधानं मांसम्। आनूपप्राणिमांसम् (सुउ. १८.२३)

-मात्रा-स्त्री., स्नेहस्य प्रमाणम् (चसू. १३.२९)

-मिथ्योपचार-पु., स्नेहपाने मिथ्या उपचरणम् (चसू. १३.६४)

-लवण-न., लवण० काण्डलवणम् (सुचि. ४.३१)

-लवणयोग-पु., स्नेहलवणयोः संयोगः; अयम् अग्नौ क्षिप्तः सन्निन्द्रायुधवद्वर्णान् चटचटाशब्दं चोत्पादयति (असंसू. ८)

-वध्य-वि., स्नेहेन वध्यो नाम विनाश्यः शमनीयो वा (व्याधिः) (काखि. ११.८९)

-वमी-स्त्री., वनस्पति० मेदा (रा. ५.१६१)

-वर्ग- पु., स्निग्धद्रव्यसमूहः। येभ्यः स्नेहस्य सम्भवः, तेषां द्रव्याणां समूहः। यथा तिलातस्यौ च। घृतं तैलं वसा च इत्यादीनि स्निग्धद्रव्याणि तथैव कङ्गुणी-करञ्ज- श्रीफल-सिद्धार्थ- सोमराजी-बिभीतक-अतसी- निम्ब- तिल- दन्ती- भल्लातका इत्यादीनि चेति (र. २.१३३)

-वर्ज-वि., स्नेहरहितम् (सुचि. ५.३३)

-वर्ति-स्त्री., स्नेहयुक्ता पट्टवर्तिः (सुचि. २.७१)

-विद्ध-न., वनस्पति० देवदारुः (ध. १.७६)

-विधि-पु., उपक्रम० स्नेहकर्म (चसू. १.९०; अहसू. १६.१२) द्र० 'स्नेह' अध्यायसंज्ञा० (असंसू. २५; अहसू. १६.१)

-विभ्रम-पु., रोग० स्नेहस्य दुरुपयोगाद्विशिष्टो भ्रमः-अव्यवस्था स्नेहमिथ्यायोग इति यावत् (चसू. १३.७६)

-विरेचन-न., उपक्रम० स्नेहयुक्तं विरेचनम् (चक. १२.८३; सुचि. ४.२१) एरण्डतैलादिना विरेचनम् (सुउ. ४९.२०) तद्दक्षस्य योग्यम् (काखि. ७.२९) एरण्डस्नेहः (सुचि.३३.४१)

-व्यापत्ति-स्त्री., स्नेहस्य दुरुपयोगान्मिथ्यायोगाज्जनितो व्याधिः (चसू. १३.७८)

-व्यापत्तिभेषज-न., स्नेहव्यापत्तिजव्याधिनाशनार्थमुपयुक्तं द्रव्यम् (चसू. १३.७८)

-व्यापत्साधन-न., स्नेहपानजन्यरोगे चिकित्सितम् (अहसू. १६.३४)

-व्यापत्सिद्धि-स्त्री., अध्याय० संज्ञा० (चसि. ४.१)

-व्यापद्-स्त्री., स्नेहातियोगादि-समुत्थः विकारः (सुसू. ४५.४४; अहसू. १६.३५; असंसू. २५)

-शर्करा-स्त्री., स्नेहप्रधाना शर्करा, स्निग्धगुणं चूर्णम्। स्नेहस्य संहताऽवस्थितत्वान्मधुशर्करावत्स्नेहशर्करा (चचि. २५.७६)

-शोधनयुक्ति-स्त्री., स्निग्धस्य शोधनोपायः (अहसू. १९.६७)

-समृद्ध-वि., स्नेहसमृद्धः (चसू. १३.७२)

-सात्म्य-वि., स्नेहः सात्म्यः यस्य सः (सुचि. ३३. ४४)

-सार-वि., स्नेह एव सारो बलं यस्य, सः (सुचि. ३१.३)

-सिक्त-वि., स्नेहेनावसेचितः (सुचि. २४.३२)

-सिद्धि-स्त्री., घृततैलादिस्नेहानां सिद्ध्यर्थं क्रियमाणः पाकः। सम्यक्सिद्धस्य लक्षणम्-शब्दफेनयोरुपशमो गन्धवर्णरसादीनां समृद्धिश्च (सुचि. ३१.१२-१३) भैषज्यमङ्गुलिभ्यां गृह्यमाणमनतिमृद्वनतिदारुणमनङ्गुलिग्राहिताविशिष्टं च स्यात् (असंक. ८)

स्नेहन-वि., स्नेहजनकम् (चसू. १.८७) स्नेहयतीति, घृततैलवसादिवत् (सुसू. १४.३)
न., स्नेहविधिः, स्नेहक्रिया (चसू. १३,१२)

-कर्मन्-न., उपक्रम० स्नेहविधिः (असंसू. २४.५-६)

स्नेहयितव्य-वि., स्नेहनीयः, कर्तव्यस्नेहनकर्मा (चसू. ४३.४९)

स्नेहाग्नि-पु., स्नेहेनात्यधिकेनोद्दीप्तोऽग्निः (चसू. १३.७१; असंसू. २५)

स्नेहाचार-पु., स्नेहोपचारे पथ्याऽपथ्यम् (अहसू. १८.२७)

स्नेहाजीर्ण-न., स्नेहस्य अपचनम् (सुचि. ३१.३१)

स्नेहाञ्जन-न., अञ्जन० ताम्रपात्रस्थितं मांसं सर्पिःसैन्धवसंयुतमिति स्नेहाञ्जनमेके आहुः। इदं वाताभिष्यन्दे उपयुक्तम् (सुउ. ९.१६)

स्नेहाध्याय-पु., अध्यायसंज्ञा० (चसू. १३.१; कासू. २२.१)

स्नेहान्वित-वि., घृतादियुक्तम् स्नेहगुणैर्युक्तम् (सुचि. ४.२३)

स्नेहाशय–पु., स्नेहस्थानम्। तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं च (चसू. १३.११) यथा दधिक्षीरं मांसास्थि फल-दारु च (असंसू. २५)

स्नेहोचित–वि., स्नेहसात्म्यः (अहसू. १६.३८)

स्नेहोत्क्लिष्ट–वि., स्नेहेनोत्क्लिष्टः (चसि. ६.९)

स्नेहोत्क्लेश–पु., स्नेहस्य कोपः (असंसू. २८)

स्नेहोत्तम–न., स्नेह० तैलम् (ध. ६.१२५)

स्नेहोद्वेग–पु., लक्षण० स्नेहद्वेषः सम्यक्स्निग्धलक्षणान्यतमम् (अहसू. १६.३१)

स्नेहोपगगण–पु., गण० स्नेहस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्नेहोपगः (चसू. ४.८) तत्र द्रव्याणि-मृद्वीका-मधुक-मधुपर्णी-विदारी-काकोली-क्षीरकाकोली-जीवक-जीवन्ती-शालिपर्णी इति दशद्रव्याणि (चसू. ४.१३(२१); असंसू. १५)

स्नेहोपयौगिक–वि., स्नेहस्योपयोगो यस्मिन् कर्मणि तत् स्नेहोपयौगिकम् (सुचि. ३१.१)

स्नेहोपयौगिक–न., चिकित्सितअध्यायसंज्ञा० स्नेहस्योपयोगो यस्मिन् कर्मणि तत्स्नेहोपयौगिकम् (सुचि. ३१'१)

स्नेहोपसेविन्–वि., आभीक्ष्ण्येन स्नेहं यः सेवते, सः (सुचि. ३१.५६; असंसू. २५; अहसू. १६.४६) द्र०'स्नेह'

स्नेह्य–वि., स्नेहकर्मयोग्यः द्र० 'स्नेह' (चसू. १३.६; अहसू. १६.५-६)

स्नैग्ध्य–न., स्निग्धता (सुसू. ३२.३)

स्नैहिक–वि., स्नेहकृतम् (नावनादिकम्) (चसू. ५.४०)

–**धूम**–पु., धूम० द्र० 'धूम' (चसू. ५.३७)

–**नस्य**–न., स्नेहमयं नस्यम् द्र० 'नस्य' (सूचि.४.२२)

–**फल**–न., स्नेहयुक्तं फलं तिलैरण्डातसीबिभीतकादिकम् (सुचि. ५.७)

स्नैहिकवर्ति–स्त्री., वर्ति० धूमपाने उपयुक्ता स्नेहनकारिका स्नेहयुक्ता वर्तिः (चसू. ५.२६)

स्पन्द–पु., रोगलक्षण० कम्पः (असंशा. ८.३२)

स्पन्दन–न., रोगलक्षण० चलनम् (ड. सुशा. १.१९)

सपीडनगतिः (परिव०) (र. २२. १०१)

वनस्पति० (असंउ. ६)

वि., कम्पनः (चसू. १८.७)

स्पर्श–., गुण० वायवीयगुण० (चशा. ७.१६)

स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यगुणः यथा उष्णादिः (चसू.८.११)

उष्णशीतादिस्वरूपः (सुशा. १.४)

–**तन्मात्र**–न., पञ्चतन्मात्रेष्वेकम्, अनुद्भूतः स्पर्शः (सुशा. १.४)

–**रुज्**–स्त्री., लक्षण० स्पर्शासहत्वम्, स्पर्शनं न सहते इति (चचि. १२.१३)

–**लज्जा**–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (रा. ५.१६०)

–**वात**–पु., रोग० अस्मिन्नङ्गानां तोदनं प्रायशो दाहः स्पर्शाज्ञत्वं मण्डलानि च त्वगुपरि दृश्यन्ते (र. २१.१३)

–**वातारि**–पु., पारदयोग० असौ स्पर्शवातविनाशनः (र. २१.३९-४०)

–**विकार**–पु., रोग० स्पर्शवातः (र. २१.२२)

–**वैगुण्य**–न., लक्षण० स्पर्शाज्ञत्वम् स्पर्शहानिः (सुसू. १५.११)

–**शीत**–वि., स्पर्शे शीतः (असंसू. ७.१८)

–**संकोचपर्णिका**–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (ध. ४.१०९)

–**हानि**–स्त्री., गुह्यरोग० शूकदूषितरक्तोत्था, शूकेन दूषितं यन्मेढ्रे रक्तं तदुद्भवेयम्, अचेतनत्वं मेढ्रे ज़ायते (इन्दु. सुनि. १४.१०, असंउ. ३८)

–**हिम**–वि., स्पर्शे शीतम् (असंसू. ७.२४१)

स्पर्शन–न., शारीर० स्पृशत्यनेनेति (चक्र. चसू. ८.८) स्पर्शनेन्द्रियम् (चशा. ७.१६)

स्पर्शक्रिया (चचि. २९.१२८)

–**घ्न**–वि., स्पर्शनेन्द्रियं हन्तीति (कुष्ठम्) (चचि. ७.३)

स्पर्शनेन्द्रिय–न., शारीर० त्वक्, स्पर्शेन्द्रियम् (अहसू. १२.१)

स्पर्शाज्ञान–न., रोगलक्षण० स्पर्शासंवेदनम्, स्पर्शस्यासंवित्तिः (सुशा. ६.२६)

स्पर्शासहत्व–न., लक्षण० स्पर्शस्यासहत्वम् (सुनि. १५.६)

स्पर्शेन्द्रिय–न., शारीर० त्वगिन्द्रियम्, पञ्चज्ञानेन्द्रियेष्वेकम्, त्वक्, इदं वायवीयमिन्द्रियम्। (सुशा. १.१९)

स्पर्शोद्विज्ञत्व–न., लक्षण० स्पर्शासहत्वम् (सुनि. १.४५)

स्पृक्का–स्त्री., वनस्पति० सुगन्धिद्रव्य० (चचि. २३.७७; सुसू. ३८.२४-२५) तद्गुणाः— कटुः, कषाया, तिक्ता, शीता, सुगन्धिः, कफनाशिनी, तृष्णाविषदाहकुष्ठदुर्गन्धस्वेदकासाश्मरीमूत्रकृच्छ्रप्रमेहनाशिनी च (ध. ३.६२; रा. १२.११३-१५; अहसू. १५.४३)

हिं.— असवरग.
म.— स्पृक्का, शाक.
बं.— पिडिङशाक.
सुगन्धशाक० (भाप्र; र. २८.८६)
लज्जालुः (रा. ५.१५९)

स्पृक्शरीर–न., भोगायतनं शरीरम्, ' नित्यमात्मानं स्पृशति इति स्पृक्; शरीरमातिवाहिकं शरीरम् ' तादृक् स्पृक्शरीरम् इति चक्रः (चशा. ३.१३)

स्पृष्टरोदिका–स्त्री., वनस्पति० लज्जालुः (असंउ. २)

स्प्रष्टृ–पु., वि., स्पर्शनेन्द्रियस्य स्पर्शबोधहेतुः, स्पर्शज्ञापककर्ता (सुशा. ३.४)

स्फटिक–पु., खनिजद्रव्य० रत्न० (चचि. १.४)२२)
तद्गुणाः–चक्षुष्यः, शीतो लेखनो विषसूदनः, पवित्रो धारणीयः, पाप्माऽलक्ष्मीमलापहः (सुसू. ४६.३२९-३३०)
सौराष्ट्री (र. २.१४९)
श्वेतपाषाणः (र. २.१४९)
वनस्पति० निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१)

(स्फटिका)–स्त्री., खनिजद्रव्य० सौराष्ट्री० (र. २३.४७-४८)
–पात्र–न., स्फटिकमयभाजन० रागषाडवसट्टकादिधारणार्थमिदमुपयुज्यते (सुसू. ४६.४५३)

स्फटिकाभ–वि., स्फटिकवर्णयुक्तम्, श्वेतम् (सुशा. २.११-१२)

स्फाटिक–न., स्फटिकस्येदम् (चूर्णम्) (सुउ. १०.१५)

स्फिच्–स्त्री., शारीर० नितम्बः, कट्याः पश्चिमो मांसलो भागः (सुशा. ३.८) षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गेष्वेकोऽवयवः संख्यातो द्वौ स्फिचौ (चशा. ७.११)

(स्फिक्) शूल–पु., लक्षण० स्फिग्भागस्य शूलः (चसि. २.१६)
–शोष–पु., लक्षण० स्फिग्भागस्य शोषः (चसि. २. १६)
–स्तम्भ–पु., लक्षण० स्फिग्भागस्य स्तम्भः (चसि. २.१६)

स्फुट–वि., अभिव्यक्तं, विकसितम् (सुसू. ४५.१९३-१९४)
–फल–पु., वनस्पति० तुम्बरुः (रा. ११.६६)
–स्रोतस्कर–न., स्रोतःशुद्धिकरम् (मद्यं) स्फुटं निर्मलं शुद्धं वा, तथाविधं स्रोतः करोति इति स्फुट स्रोतस्करम् नाम स्रोतोवैमल्यकरम् (सुसू. ४५.१९३-१९४)
–स्रोतोमुख–वि., विकसितस्रोतोमुखः (असंसू. २८.२६)

स्फुटन–न., लक्षण० स्फुटितवद् वेदना (चसू. १७.५८) दरणम् (चसू. ५.९२)

स्फुटिका–स्त्री., खनिजद्रव्य० सौराष्ट्री (र. २९.१०२-१०४)

स्फुटित–वि., बहुधाखण्डीभूतम् (सुसू. ४५.११२) विदीर्णम् (सुनि. १६.३७) भिन्नम्, स्तोकम् (अस्थिभङ्गप्रकारः) (सुनि. १५.१०)
–दन्तता–स्त्री., दन्तविकृति० अस्मिन् विकारे सस्फोटो दन्तो भवति (कासू., २०.६)

स्फुरण–न., लक्षण० स्पन्दनम्, कम्पः (चनि. ३.७) पुनः पुनः चलनम् (सुचि. १.७)

स्फूर्ज–पु., वनस्पति० तिन्दुकः (सुचि. ५.१८) टिण्टुकः (असंचि. २३)

स्फूर्जक–पु., न., वनस्पति० तिन्दुकः (चवि. ८.१४४: ध. ५.४०) लकुचाकारपत्रकाण्डः, स्योनाकः (सुउ. ३९.१८६)

स्फूर्जथु–पु., वनस्पति० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७५)

स्फूर्जन–पु., वनस्पति० तिन्दुकः (ध. ५.४०)

स्फूर्जात–न., वनस्पति० काकतिक्तः (इन्दु. असंचि. १.७७)

स्फोट–पु., लक्षण० स्फुटनम् (यथा त्वचः) (सुनि. ५.२४)
त्वग्रोग० (चसू. १३.३५; अहसू. ७.१९)
विस्फोटः (३.७९)
–बीजक–पु., वनस्पति० भल्लातकः (रा. ११.२०१)
–लता–स्त्री., वनस्पति० कर्णस्फोटा (रापरि. ३.४१)
–शुक्तिज–न., भैषज्यद्रव्य० मौक्तिकम् (ध. ६.६२)

स्फोटन–न., रोगलक्षण० शकलीकरणमिव वेदना (सुउ. ४३.६)

स्मय–पु., (परिव०) विस्मयः (चइ. ११.१८)

स्मर–पु., कामदेवो मदनः (र. ५.१२)
–वृद्धि–स्त्री., वनस्पति० कामवृद्धिः (रापरि. ४.५१)

स्मराधिवास–पु., वनस्पति० अशोकः (रा. १०.२७१)

स्मराम्र–पु., वनस्पति० राजाम्रः (रा. ११.८)

स्मृति–स्त्री., स्मरणम्, स्मरणशक्तिः (चसू. १३.४३) प्रज्ञाभेदः (चशा. १.९८) भूतार्थविज्ञानम् (सुउ. ६१.३) अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः, पूर्वानुभूतस्यार्थस्य स्मरणम्, ' अनुभूतार्थासंप्रमोषः स्मृतिः '

इति योगसूत्रमपि अत्रानुसन्धेयम् (सुशा. १.१७)
स्मृतिशास्त्रजं ज्ञानम् (चवि. ४.४)
-कर-वि., स्मरणकारकम् (अहसू. १४.२८)
-भ्रंश-पु., लक्षण० स्मरणशक्तिभ्रष्टत्वम्, कार्याकार्य-विचाराभावः (चशा. १.१०१) (अत्र स्मृति-विभ्रंशपदमस्ति न केवलं स्मृतिभ्रंश इति (असंनि. ६.११)
-विभ्रंश-पु., लक्षण० कार्याकार्यविचाराभावः, स्मृतिभ्रंशः (असंनि. ६.११)
स्यन्द-पु., रोगलक्षण० श्लेष्मस्रवणम् (सुसू. ४६.४४१-४४२) सर्वोर्ध्वजत्रुगस्रोतः स्यन्दनात् स्यन्दः (असंउ. १९)
नेत्ररोग० (सुउ. १.३०-३१)
स्यन्दन-पु., वनस्पति० तिन्दुकः (चवि. ८.१४४; ध. ५.४०)
तिनिशः (चसू. २५.४९; रापरि. ९.२४)
नेमिवृक्षः (चक्र. चचि. ३.२५८)
रथः (सुसू. ३.५३)
-तैल-न., सिद्धतैल० दोषाणां स्रावकं तैलम्, भगन्दरे शोधनरोपणसवर्णीकरणार्थमुपयुज्यते (सुचि. ८.५१-५२)
स्यूत-वि., सीवनकर्मकृतम् (असंसू. ३८.३९)
स्योनाक-पु., वनस्पति० टिण्टुकः (चचि.१५.१३४-३७; असंउ. ३५; ध. १.११४) तद्गुणाः-कटुरुष्णः अम्लः, दीपनपाचनः हृद्यःरुच्यः, आमवाती-सारकासारुचिबस्तिरोगादिनाशनः (ध. १.११४)
स्रंस-पु., किञ्चित्स्वस्थानचलनम् (चसू. २०.१२) हन्वादेः सन्धेर्भ्रंशः (अरुः) शैथिल्यम् (हे. अहसू. १२.४९)
स्रंसन-न., च्यवनम्, मलरेचनम् (चचि. ३.१७१-७२) मृदु रेचनम् (सुउ. ४२.५६-५७; चसू. १३.७७) द्र० ' विरेचन '
स्रंसिन्-पु., वनस्पति० पूगफलम् (ध. ३.३९)
स्रज्-स्त्री., पुष्पमाला (ड. सुक. १.२६)
स्रव-पु., वनस्पति० लता० मूर्वा (र. २०.१०१)
(स्रवा)-स्त्री., वनस्पति० लता० मूर्वा (र. २०.१०१)
स्रवण-न., लक्षण० लालादीनां स्रावः (चनि. ७.७(३))
स्रवन्तोया-स्त्री., वनस्पति० रुदन्ती (रापरि. ५.१५)
स्रवन्ती-स्त्री., नदी (असंशा. १२.८)
स्रष्टृ-पु., वि., कर्ता, चेतनावान् (सुशा. ३.४)
स्रस्त-वि., भ्रष्टम् (चचि. ३०.१११-१२) अवसन्नम् शिथिलम् (सुउ. ४१.१८-२१)
-कुक्षि-वि., स्रस्तः सन्धिबन्धेभ्यः शिथिलीभूतः कुक्षिः यस्याः सा (सुशा. ३.७-८)
-गुद-न., लक्षण० शिथिलगुदम् (चचि. १९.९)
-पायु-पु., लक्षण० शिथिलगुदम्, स्रस्तगुदम् (असंशा. ११.१६)
-पिण्डिका-स्त्री., लक्षण० शिथिलपिण्डिका (सुसू. ३२.४)
-मुष्क-वि., लक्षण० स्थानच्युताण्डः (सुसू. ३२.४)
-मूर्धजा-वि., शिथिलीभूताः केशा यस्याः, सा (सुशा ३.७-८)
स्रस्ताक्ष-वि., अतिपतितनयनः (सुचि.५.१८) शिथिली-भूतमक्षि नाम नेत्रं यस्य, सः (सुशा. ३.७-८)
स्रस्ताङ्गता-स्त्री., लक्षण० निःसहावयवता, शरीर-शैथिल्यम् (चचि. ३.१०३-१०५) (सुसू. २५-३४,३५)
स्रस्तापान- वि., अधश्च्युतगुदः (ड. सुउ. ४०.९)
स्राव-पु., नेत्ररोग० नेत्रस्रावः (चसू. २०.१५, सुउ. २.५-७)
नासागतरोग० नासास्रावः (असंउ. २३)
लक्षण० स्रवणम् (असंउ. २९)
-गति-स्त्री., स्रावमार्गः (सुचि. ८ २४.)
-स्रावण-न., रोग० स्राव, नासास्रावः (सुसू. ४२.९)
रोगलक्षण० स्रावः (सुसू. ४२.९)
स्राविन्-वि., स्रावयुक्तः (चचि. २५.२०)
स्राविणी (योनि)-स्त्री., योनिरोग० प्रदरः (चचि. ३०.८१.८२)
स्राव्य-वि., स्रवणयोग्यः (सुसू. २५.१२)
स्रुचमुख-न., यन्त्र० स्रुचसदृशं मुखं यस्य तद्यन्त्रम् (असंसू. ३४.१६)
स्रुत्-स्त्री., स्रावः (सुनि. १०.१२)
स्रुत-वि., गलितः, विगतः (असंसू. ६.७)
-क्षार-वि., गलितक्षारः (सुनि. ६.११)
-दोष-वि.,शोधनादिना निष्कासितः दोषः यस्य, सः (पुरुषः) (सुचि. ९.६६)
-रक्त-वि., गलितरक्तः (अहसू. २०.१२)
स्रुतासृक्-वि., स्रुतरक्तः (सुचि. ३९.३)
स्रुति-स्त्री., लक्षण० स्रावः (अहसू. १२.५२)
स्रुव-पु., पात्र० वटपत्राकारो दारुहस्तकः (सुसू. २.४) चालनीसदृशं पात्रम् (र. २८.९४-९८)
-द्रुम-पु., वनस्पति० विकङ्कतः (रा. ९.५४)

-वृक्ष-पु., वनस्पति० विकङ्कतः (असंसू. १६.११; (अहसू. १५.१७)

स्रुवानन-वि., स्रुवस्येवाननं यस्य तद् (कर्णशोधन-शलाकायन्त्रम् (अहसू. २५.३५)

स्रोतनदीभव-न., खनिजद्रव्य० स्रोतोञ्जनम् (रा. १३.२२६)

स्रोतस्-न., स्थूलो वा सूक्ष्मो वा मार्गः छिद्रं वा (सुशा. ४.५९)

शारीर० स्रोतांसि द्विविधानि बहिर्मुखान्यन्तर्मुखानि च । तत्रान्तर्मुखान्येव योगवहानि स्रोतांसि । श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि बहिर्मुखानि नराणां । स्त्रीणां च एतान्येवापराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च (सुशा. ५.१०) स्रोतसां स्वरूपम्-स्रवणात् स्रोतांसि । स्रवणादिति रसादेः पोष्यस्य स्रवणात् (चसू. ३०.१२) स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति अयनार्थेन । सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते । क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति (चवि. ५.३) मूलात्खात् यद् देहे प्रसृतमन्तरं यच्चाभिवाहि सिराधमनीवर्जितं च तत्स्रोतः इति विज्ञेयम् (सुशा. ९.१३) स्वधातुसमवर्णानि वृत्तानि स्थूलान्यणूनि आकृत्या च प्रतानसदृशानि दीर्घाणि च स्रोतांसि सन्ति (चवि. ५.२५) स्रोतसां संख्या प्रकाराश्च-यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन्स्रोतसां प्रकारविशेषाः। अतिबहुत्वात्केचिदपरिसंख्येयानि स्रोतांस्याचक्षते, परिसंख्येयानि पुनरन्ये (चवि. ५.४) तद्यथा-प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति । वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्यनभूतानि (चवि. ५.७) शल्यतन्त्रे तु स्रोतांस्येकादशैव, तानि पुनः प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः शल्यतन्त्रे (सुशा. ९.१२)

शल्यतन्त्रे तु अस्थिमज्जस्वेदवहानां स्रोतसां नोल्लेखः । अत्र डल्हणः- "अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतस्सु सत्स्वष्यनधिकारः । कथम्? तत्रास्थिवहानां सकलानामेव मेदो मूलं मज्जवहानां च । तेषां सकलान्येवास्थीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्धलक्षणं साध्यादिज्ञाननिश्चायकम् । एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति । अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः । अमुमेवार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह येष्वधिकार इति" (ड. सुश. ९.१२) स्रोतसां दुष्टिकारणम्-सामान्येनसर्वेषामेव स्रोतसां वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टाः दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावात् (चवि. ५.९) यः आहारो विहारश्च दोषगुणैः समः धातुभिर्विगुणश्च, सः स्रोतसां प्रदूषकः (चवि. ५.२३) स्रोतसां दुष्टिलक्षणे सामान्येन-अतिप्रवृत्तिः संगो वा स्थिराणां ग्रन्थयोऽपि वा विमार्गगमनं च (चवि. ५.२४) स्रोतोवेधचिकित्सा-स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत् । उद्धृतशल्यं क्षतविधानेनोपचरेत् । (सुशा. ९.१२) कायचिकित्सायां तु स्रोतोरोध एव प्राधान्येन रोगाणां कारणम् । तत्र स्रोतोमुखविशोधनात् दोषाः कोष्ठं यान्ति अनन्तरं यथासन्नं विनिर्हरेत् । एषा शोधनचिकित्सा (चसू. २८.५)

(स्रोतो-) ज-न., खनिज० अञ्जन० स्रोतोञ्जनम् (चक्र. चचि. २०.२९; ध. ३.१५१; पृ. १२५) अञ्जनम् (सुनि. १०.५)

-मार्दवकृत्-वि., स्रोतसां मृदुताकारी (मण्डः) (अहसू. ६.२८)

-मुख-न., शारीर० स्रोतसो मुखम् (चसू. २८.३३)

-रोधस्-न., रोग० स्रोतसां रोधजनितो रोगः, रसप्रदोषजरोगेष्वेकः (चसू. २८.१०; (अहसू. १३.२३)

-लीन-वि., स्रोतोगतम् (अहसू. १७.२९)

-वर्त्मन्-न., शारीर० स्रोतोमुखम् (सुशा. ४.२४)

-विद्ध-वि., यस्य स्रोतोऽवयवविशेषो विद्धः, सः स्रोतसि विद्ध इति वा (सुशा. ९.१२)

-विबन्ध-पु., लक्षण० स्रोतसां बन्धः, स्रोतोऽवरोधः (अहसू. १०.६)

-विमान-न., अध्यायसंज्ञा० (चवि. ५.१)

-विशोधन-न., स्रोतसां शोधनम् (अहसू. ५.६४)

स्रोतोञ्जन-न., खनिज० (सुचि. २४.१८) अञ्जन० पर्णसानद्यां सिन्धुनदे च भवति (ड.) तल्लक्षणम्-वल्मीकशिखराकारम् (सुउ. ६०.४९) भङ्गे कृते सति नीलकमलाभं वर्तते, घृष्टे सति गैरिकच्छायं वर्तते (र. ३.११६) सिन्धुसंभवं स्रोतोञ्जनं विशुद्धं श्रेष्ठं चास्ति । तद्गुणाः- कटु, कषायम्; मधुरम् (र. ३.१११) शीतम्; स्निग्धं, लेखनम् (र.) स्तनवृद्धिकरणम्; नेत्र्यम् (र.) कृमिनाशनम् (रा. १३.२२६-२७; पृ. १२७) दाहकण्डूमलघ्नं, दृष्टिक्लेदरुजापहम् (सुचि. २४.१८-१९) हिध्माविषच्छर्दिज्वरोगनुच्च (र.)

सौवीराञ्जनम् (सुसू. ३८.४६)

स्रोतोद्भव–न., खनिज० स्रोतोञ्जनम् (रा. १३.२२६ पृ. १२७)

स्वगुप्ता–स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (चचि. ११.४५; असंउ. ३७.३१८) लज्जालुः (रा. ५.१६१ पृ. १५६)

स्वच्छ–पु., वनस्पति० बदरम् (रा. ११.१५७ पृ. १८९ न. खनिज० विमलम् (धपरि. ६. ६ पृ. २८९) भैषज्य० मौक्तिकम् (रा. १३. ६७ पृ. २१८)

(स्वच्छा)–स्त्री., वनस्पति० श्वेतदूर्वा (रा. ८२.३० पृ. १६३)

–धातुक–न., खनिज० विमलम् (धपरि. ६.६ पृ. २८९)

स्वच्छन्दभैरव–पु., ऋषि० रसाङ्कुशभैरवप्रभृतीनामेकतमः (र. १-५-९)

पारदादियोग० पारदलोहभस्ममाक्षिकभस्मगन्धकहरितालहरीतकीनिर्गुण्डयग्निमन्थत्रिकटुटङ्कणवत्सनाभान्समभागान्निर्गुण्डीरसेन दिनैकं मुण्डीक्वाथेन च दिनैकं संमर्द्य वटिकाश्चरेत्। असौ सर्ववातान्नाशयेत् (र. २१.१४९-५०)

स्वतन्त्र–न., स्वस्य तन्त्रम् शास्त्रमिति यावत् सुश्रुते स्वतन्त्रं नाम शल्यतन्त्रम् (सुशा. १.२२)

–वृत्ति–वि., वृत्तिर्जीवनम्, स्वतंत्र, स्वाधीनं जीवनं यस्यसः (चशा. ६.२४)

स्वता–स्त्री., ममता (चशा. १.३७,१५२)

स्वदेशरचित–वि., स्वस्मिन्–स्वस्मिन् देशे पाकक्रियासम्पादितम् (भक्ष्यादि) यस्मिन् देशे यद् भक्ष्यादि बाहुल्येनोपयुज्यते, तत् (ड. सुउ. ५७.१२)

स्वन–पु., शब्दः, ध्वनिः (चनि.१.२१; सुसू.२९.३०,३१)

स्वनिताह्वय–पु., वनस्पती० तण्डुलीयकः (रा. ५.१७५; पृ. १५७)

स्वनुगुप्त–वि., कृतरक्षाविधानम् (चक्र. चक. १.१३) सुष्ठु अनुगुप्तम्, सुरक्षितम् (सुचि. २५.२६)

स्वन्त–वि., शोभनोऽन्तो यस्य तत् (आपानम्) (चचि. २४.७५)

स्वपत्–वि., स्वापयुक्तः संविशमानः, स्वापशीलः (चसू. १८.९; सुशा. ४.३६)

स्वपथग–वि., स्वमार्गगतः (अहसू. ८.५५)

स्वप्न–पु., अवस्थाविशेषः, करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः इति वेदान्तिनः निद्रावस्थायामर्धप्रसुप्तस्य पुरुषस्य विपरीतज्ञानम्, नातिप्रसुप्तः पुरुष इन्द्रियेशेन मनसा सफलाँस्तथाऽफलान् स्वप्नाननेकधा पश्यति (चइ. ५.४२) अतिबलैस्त्रिभिर्दोषैर्मनोवहानां स्रोतसां पूर्णत्वाद्दारुणान् स्वप्नान्दारुणे काले पश्यति (चइ. ५.४१) स्वप्नतो भूतात्मा प्रभू रजोयुक्तेन मनसा पूर्वदेहानुभूतान् शुभाशुभार्थान् गृह्णाति (सुशा. ४.३६) करणानां वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते सत्यस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इवोच्यते (सुशा. ४.३७) सर्वेन्द्रियव्युपरतौ यदा विषयेभ्यो मनोऽनुपरतं तदा नानारूपं स्वप्नं प्रपश्यति (असंसू. ९.५६) तत्प्रकाराः– दृष्टः श्रुतोऽनुभूतः प्रार्थितो कल्पितः भाविको दोषजश्चेति सप्तविधः स्वप्नः (चइ. ५.४३) तत्र दृष्टः– यश्चक्षुषा जाग्रदवस्थायां किञ्चिद्वस्तुजातं दृष्ट्वा तदानीं सुप्तावस्थायां तादृशं वस्तुजातं संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते। श्रुतः– यश्च शब्दमात्रेण वस्तुजातं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदानीं सुप्तावस्थायां तादृक्संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते । अनुभूतः–यस्तु जाग्रदवस्थायां तादृगन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते । प्रार्थितः– यथायथमिन्द्रियैरनुभूयते सुप्तावस्थायां यस्मिन्दृष्टे श्रुतेऽनुभूते वा यत्पूर्वं जाग्रदवस्थायां वस्तुजातं मनसाऽभ्यर्थ्यते तथैव च सुप्तावस्थायामन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते । कल्पितः– यस्तु षड्भिः प्रत्यक्षानुमानादिभिर्न दृष्टो नापि श्रुतो नाप्यनुभूतो दृष्टश्रुतानुभूतत्वाभावादत एव न प्रार्थितः, अपि तु केवलं मनसा यथेच्छमुत्प्रेक्ष्य यत्किञ्चनरूपाभिः कल्पनाभिस्ताभिस्ताभिः कल्पितो जाग्रदवस्थायां वस्तुजातोऽन्तःसंवित्तावुपारूढः तदानीं सुप्तावस्थायां तादृगनुभूयते । भाविकः– यश्च दृष्टश्रुतादिभ्यः स्वप्नेभ्योऽन्यो विलक्षणः स्वप्नो यथा दृश्यते सुप्तावस्थायामुत्तरकालं तथैव तत्स्वप्नदर्शिना नरेण तन्मुखावगततदर्थैरन्यैरपि प्रत्यक्षतो दृश्यते । दोषजः–यो वातजः पित्तजः कफजो वा यथायथं दोषगुणानुरूपोऽन्तः संवित्तावनुभूयते (अरु. अहशा. ६.६१) तत्सफलाफलत्वम्–प्रथमपञ्चप्रकारकस्वप्ना अफलाः, प्रथमरात्रे दृष्टः स्वप्नोऽल्पफलो भवति । यं दृष्ट्वा न पुनः सुप्यात् स सद्यो महाफलः स्यात् । अकल्याणं स्वप्नं दृष्ट्वा यः पुनस्त्रैव शुभाकारं सौम्यं स्वप्नं पश्येत्, तस्य शुभं फलं विद्यात् । दिवा दृष्टं सर्वं स्वप्नं तथा रात्रिदृष्टमप्यतिदीर्घमतिह्रस्वं च स्वप्नमफलं विद्यात् । भाविकं दोषजं च स्वप्नं सफलं विदुः (अहशा. ६.६२-६४) तत्र रिष्टस्वप्नाः–

यः स्वप्ने श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि दक्षिणां दिशां याति, स यक्ष्माणमासाद्य जीवितं विमुञ्चति। यः स्वप्ने प्रेतैः सह मद्यं पिबेत्तथा शुना कृष्येत्, स सुघोरं ज्वरमासाद्य जीवितं मुञ्चति। स्वप्ने यो लाक्षारक्ताऽम्बराभमम्बरमन्तिकात्पश्यति स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्तं नीयते। स्वप्ने यो रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् नार्या ह्रियते, स रक्तपित्तं प्राप्य सीदति। स्वप्ने यस्य हृदि दारुणा कण्टकिनी लता जायते, तं क्रूरो गुल्मोऽन्ताय विशति। स्वप्ने यस्य नग्नस्याज्यावसिक्तस्यानर्चिषं वह्निं जुह्वत उरसि पद्मानि जायन्ते, स कुष्ठेन नश्यति। यस्तु स्वप्ने चण्डालैः सह बहुविधं स्नेहं पिबेत्, स प्रमेहेण म्रियते। यः स्वप्ने रक्षोगणैः सह नृत्यन्नम्भसि सीदति, स भृशमुन्मादेन पीडितः परं लोकं याति। यं नरं स्वप्ने नृत्यन्तं मत्तं प्रेत आविश्य हरति, तमपस्मारपुरस्सरो मृत्युर्हरति। यो नरः स्वप्ने शष्कुलीरपूपानपि खादति प्रतिबुद्धः सन्तादृगेव छर्दयति, स न जीवति (चइ. ५.८-४०) यस्य स्वप्ने खरोष्ट्रमार्जारकपिशार्दूलसूकरैः शृगालैर्वा गच्छति स मृत्योर्मुखे वर्तते (अहशा. ६.४६) अशुभस्वप्नाः-स्वप्ने सूर्येन्दुग्रहणेक्षणमक्षिरोगाय भवति। सूर्याचन्द्रमसोः पातदर्शनं दृग्विनाशाय भवति। आतुरेष्वन्यान्यप्यशुभानि दृष्टभूतानि स्वप्नलक्षणानि भवंति-मूर्ध्नि वंशलतादीनां संभवः, पक्षिणां मूर्ध्नि निलयः, मुण्डता, काकगृध्राद्यैः परिवृतत्वम्, प्रेतपिशाचस्त्रीद्विडान्ध्रगवाशनैः परिवृतत्वम्, वेत्रलतावंशतृणकण्टकसङ्कटे सङ्गः, श्वभ्रश्मशानशयनम्, पांसुभस्मनोः पतनम्, जलपङ्कादौ मज्जनम्, स्रोतसा शीघ्रेण हरणम्, नृत्यवादित्रगीतानि, रक्तस्रग्वस्त्रधारणम्, वयोङ्गवृद्धिरभ्यङ्गो, विवाहः श्मश्रुकर्म, पक्वान्नस्नेहमद्याशः, प्रच्छर्दनविरेचने, हिरण्यलोहयोर्लाभोऽनर्थो बन्धपराजयौ, उपानद्युगस्य नाशः, पादचर्मणोः प्रपतनम्, भृशं हर्षः, प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम्, ग्रहनक्षत्रदन्तदैवतचक्षुषां पतनं विनाशो वा, पर्वतस्य भेदनम्, रक्तकुसुमे कानने पापकर्मनिवेशने प्रवेशनम्, चितान्धकारसम्बाधे जनन्यां प्रवेशनम्, प्रासादशैलादेः पातः, मत्स्येन ग्रसनम्, काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणां, रक्ताक्षाणां कृष्णानां च दर्शनमित्यशुभलक्षणानि भवन्ति स्वप्ने। स्वप्ने कृष्णा पापानना, पापाचारा दीर्घकेशनखस्तनी, विरागमाल्यवसना स्त्री दृष्टा चेत् सा कालनिशेव प्रतीयते। (अहशा. ६.४९-५९) शुभस्वप्नाः-यः स्वप्ने देवान्, द्विजान्, गोवृषभान्, जीवतः सुहृदो, नृपान्, साधून्, यशस्विनः पश्येत्, तथैवेद्धं वह्निं, स्वच्छान् जलाशयान्, कन्याः, गौरान् शुक्लवस्त्रान्सुतेजसः कुमारकान्, समन्तात् रुधिरोक्षितं दीप्ततनुं राक्षसं पश्येत् यो वा छत्रादर्शविषामिषं लभते, शुक्लाः सुमनसो वस्त्रममेध्यालेपनं फलं लभते, यः शैलप्रासादफलवृक्षसिंहनरद्विपगोश्वयानान्यारोहेत्, यश्च नदह्रदोदधीन् तरेत्, यस्य वा पूर्वोत्तरेण गमनमगम्यागमनं मृतसम्बाधान्निःसृतिर्दैवैः पितृभिश्चाभिनन्दनं, रोदनं पतितोत्थानं, द्विषतां चावमर्दनम् स्यात् स बह्वायुरारोग्यं वित्तमश्नुते (अहशा. ६. ६२-७१)

-दर्शन-न., स्वप्ने यद्यद् दृष्टंतत् (चवि. ४.८)

-नाश-पु., लक्षण० स्वप्नो निद्रा, तन्नाशः निद्रानाशः (चचि. ५.४१)

-नित्यता-स्त्री., लक्षण० निद्रालुत्वम् (चनि. ७.७(३)

-प्रसङ्ग-पु., निद्राया अधिकं सेवनम् (चसू. २१.३४)

-विपर्यय-पु., रात्रौ जागरणं दिवसे च स्वप्नः (सुसू. ४६.५००) जागरणम्, निद्रानाशः (सुउ. १.२६-२७)

स्वप्नानुवृत्ति-स्त्री., निद्रानुवृत्तिः (चसि. १.४४)

स्वप्नोपघात-पु., स्वप्ने भयङ्करैरभिभवः (इन्दु. असंउ. ४०)

स्वफेनलेहिन्-वि., स्वफेनं विलेढुं शीलमस्येति (सुउ. ६०.१६)

स्वभद्रा-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ९.१४७; पृ.२९)

स्वभाव-पु., प्रकृतिभावः (चशा. ७.१७) द्र० 'प्रकृति' (सुसू. ३२.१) सहजो गुणः (चसू. २७.४; सुसू. ४६.४४३) स्वस्य धर्मः, यथा कण्टकस्य तीक्ष्णता, इक्षोर्माधुर्यं च (सुशा. १.११) निसर्गः (सुशा. ४.३३)

-तस्-अव्य. प्रकृतितः (सुसू. २०.३) हेत्वन्तरनिरपेक्षतया (सुशा. ६.१५)

-नष्ट-न., निसर्गनष्टम् (कासू. १९)

-परिगृहीत-वि., स्वभावसंबद्धः (चसू. ६.५)

-बलप्रवृत्त-पु., रोग० प्रकृतिशक्तिजातो व्याधिः, यथा क्षुत्पिपासादिः (सुसू. २४.७)
-विप्रतिपत्ति-स्त्री., अध्याय० (सुसू. ३२.१)
-व्याधि-पु., स्वभावप्रवृत्तो व्याधिः द्र० 'स्वभावबलप्रवृत्तरोग' (सुचि. २९.१)
-व्याधिप्रतिषेधनीय-वि., अध्याय संज्ञा० (सुचि. २९.१)
-शीत-वि., सहजशीतलम् (चचि. २२.५७)
-संसिद्ध-वि., स्वाभाविकम् (चसू. ३०.२७)
-सिद्ध-वि., प्रकृतिसिद्धः, यथा ताल्वोष्ठजिह्वानां रक्तत्वम् (सुसू. ३२.३)
स्वभावोपरम-पु., स्वभावेनोपरमः, कारणाद्विनाऽपि नाशो भवति (चसू. १६.२७)
स्वभुजोपधान-न., स्वभुजयोरुपधानम्, गण्डुः, उपधानं, कन्दुकः (चक. चसि. ३.१८) अत्र भुजयोरुपधानीकरणमेव इष्यते
स्वभ्यक्त-वि., सुष्ठु अभ्यक्तम् (ड. सुचि. ३.२६)
स्वमणि-पु., रत्न० सूर्यकान्तः (ड. सुउ. ६०.१९)
स्वयम्-अव्य., आत्मार्थे उपयुज्यते (सुसू. ३४.१९-२०)
-कृतिन्-वि., स्वप्रज्ञया चिकित्सायां प्रवृत्तः (वैद्यः) (सुसू. ३४.१९-२०)
-गुप्ता-स्त्री., वनस्पति० कपिकच्छुः (सुउ. ४९.२९; ध. १.१५१)
-गुप्तादिसर्पिस्-न., सिद्धघृत० सर्वमूत्रदोषघ्नं, रक्तदोषघ्नं च (सुउ. ५८.५३-५७)
-प्रभ-पु., सोम० (सुचि. २९.६)
-भुवा-स्त्री., वनस्पति० धूम्रपत्रा (रापरि. ५.८)
-भू-वि., अनाद्यजातः (सुनि. १.५)
पु., ब्रह्मा (सुसू. १.४१)
वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७२)
लिङ्गिनी (रापरि. ३.१६)
स्वयमग्निरस-पु., योग० त्रिकटुत्रिफलैलाजातीफललवङ्गसमभागानां चूर्णं क्षौद्रे आलोडयेत्। मात्रा निष्कद्वयम् क्षयकासनाशकः (र. १३.४६-४७)
स्वर-पु., ध्वनिः (चइ. १४; अहसू. ५.६३)
सप्तसंख्यामानम्, सप्तस्वराणां प्रसिद्धत्वात् स्वरपरमपि सप्तसंख्याभिधायकत्वेन प्रयुज्यते (र. ११ १०३)
-क्षय-पु., रोग० स्वरस्य क्षयः (चचि. १.७१) शोणितविकारः (चसू. २४.१५) लक्षण० मन्दभाषित्वम् (असंनि ३.७)
-ग्रह-पु., रोग० स्वरस्य ग्रहः, स्वरावरोधः (चचि. १६.२४)
-घ्न-पु., गलरोग० तल्लक्षणम्-अतिप्रताम्यमानता, निरंतरं निःश्वसनम्, भिन्नस्वरता, शुष्कविमुक्तकण्ठत्वम्, अनिलमार्गेषु कफरुद्धेषु सत्सु वायुगतस्रोतसोः प्रतान्तत्वम् (सुनि. १६.६१)
-दौर्बल्य-न., लक्षण० स्वरमान्द्यम् (चसू. ४४.१४)
-नाश-पु., लक्षण० स्वरहानिः (असंसू. ३६.७)
-बोधन-वि., स्वरं बोधयति इति स्वर्यम् (चचि. ८.९७)
-भङ्ग-पु., रोग० वैस्वर्यम्, स्वरभेदः (र. २५.४४)
-भेद-पु., रोग० (सुउ. ५३.१) तत्संप्राप्तिः-अत्युच्चभाषणविषाऽतिगीतशीतादिभिः प्रकुपिता पवनादयः, स्वरवहेषु स्रोतस्सु प्रतिष्ठां गताः स्वरं हन्ति। स्वरभेदप्रकाराः-वातजः, पित्तजः, कफजः, सन्निपातजो मेदोजः, क्षयज इति षड्विधः (सुउ. ५३.३) तल्लक्षणम्, तत्र वातजः-कृष्णनयनाननमूत्रवर्चाः सगद्गदस्वरः; रूक्षः, क्षामश्चलस्वरश्च (च.) पित्तजः-पीतवदनाक्षपुरीषमूत्रत्वं, गलदाहः, तालुदाहः वक्तुमसूया च (च.) कफजः-कृच्छ्रान्मन्दं शनैर्भाषणम्-दिवा विशेषः, स्वरस्य खुरखुरायमाणत्वम् (च.) सान्निपातिकः-सर्वदोषजःलक्षणयुक्तोऽस्पष्टवाणीकः मेदोजः-दिग्धगलौष्ठतालुरन्तर्गले चिरेणास्पष्टस्वरोत्पत्तिश्च; क्षयजः-ब्रुवतो मुखाध्दूमवद् उद्गमनम् (सुउ. ५३.३-६) चरकतन्त्रे स्वरभेदस्यान्या एव षड्भेदा उक्ताः-त्रयो दोषजाः, रक्तजः, कासजः पीनसजश्च (चचि. ८.५३-५६) साध्यासाध्यत्वम्, क्षीणवृद्धकृशचिरोत्थितसहजमेदोजसन्निपातजा असाध्याः (सुउ. ५३.७) चिकित्सा-अयं स्वेद्यः (चसू. १४.२०) यथाविधि वमनविरेचनबस्तिभिश्च नस्यावपीडमुखधावनधूमलेहैर्विविधैः कवलग्रहैश्चापकृष्टदोषान् संपादयेत् (सुउ. ५३.८; असंनि. ५) लक्षण० राजयक्ष्मप्रभृतिरोगेषु लक्षणम् (सुउ. ४१.११)
-भेदप्रतिषेध-पु., अध्यायसंज्ञाविशेषः (सुउ. ५३.१)
-भ्रंश-पु., लक्षण० स्वरभेदः (असंनि. ५ १७)
-वहस्रोतस्-न., स्रोतो० स्वरमार्गः शब्दवाहिनी धमनी (डसुउ. ५३.३)

-विशुद्धि-स्त्री., स्वरशुद्धिः (असंसू. २७.१९)
-वैकृत-न., लक्षण० स्वरहानिः (सुशा. ६.२७)
-संख्या-स्त्री., सप्त-संख्या (र. १८.१२२-२३)
-सदन-न., रोग० स्वरभेदः (अहसू. १६.१७)
-साद-पु., रोग० स्वरभेदः द्र० 'स्वरभेद' (असंनि. ५.२३)
-स्कन्द-पु., वनस्पति० प्रियालः (ध. ५.७२ पृ.१८३)
-हटी-स्त्री., वनस्पति० बला (रा. ४.४३२; पृ.६६)
-हन्-पु., कण्ठगतरोग० यस्मिन् दुष्टेन श्लेष्मणा अनिलस्य गती रुद्धा भवति, किंच पुरुषः शुष्ककण्ठो हतस्वरश्च स्यात्। येन च तमः प्रविशन् प्रकर्षेण सक्तं श्वासं मुञ्चति, स व्याधिर्वातात् स्वरहनित्युच्यते (असंउ. २५)
-हानि-स्त्री., लक्षण० स्वरस्य हानिः (चसि. ९.६)

स्वरस-पु., ओषधेः अङ्गरसः, पञ्चविधकषायकल्पनेष्वेकः (चसू. १.७३; चसू. ४.७) आर्द्रद्रव्यपेषणजरसः, तच्चार्द्रद्रव्यं यन्त्रेण पीड्यमानमिष्यते (सुचि. १०.१२)
स्वरसालाभे प्रतिनिधिरूपेण चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत्प्रयोज्यम् (चचि. १(२).१२)
क्वाथः (ड. सुचि. १० १२)

(स्वरसा)-स्त्री., वनस्पति० नाकुली (रा. ७.१५२; पृ. १५४)
-परिपीत-वि., स्वरसः परिपीतो स्वरसभावितः (आमलकः) येन सः (चचि. १(३).३)
-विधि-स्त्री., स्वरसनिर्माणम् (चचि. १(२).१२)

स्वरातुर-वि., स्वरभेदेनार्तो जनः (सुउ. ५३.८)
स्वराधिकार-पु., स्वरवर्णम्, स्वरस्य भेदद्वयम्; प्रकृतिस्वरो विकृतिस्वरश्च (चइ. १.१४)
स्वरामय-पु., रोग० स्वरभेदः (सुचि. १८.१५)
स्वरार्थिन्-वि., स्वरमिच्छन्, स्वरसौष्ठवाभिलाषुकः (असंसू. ६.७४)
स्वरावसाद-पु., लक्षण० स्वरभङ्गः (ड.) स्वरभेदः (सुक. ४.३७)
स्वरूढदन्त-पु., दन्तसंज्ञा० अष्टानां स्वरूढदन्तानां राजदन्ततश्चतुर्थः पञ्चमश्च (कासू. २४.४)
स्वरूप-न., आकृतिः (अहसू. ६.१)
स्वरूपोपमर्द-पु., स्वरूपनाशः (असंशा. ६.६९)
स्वरोपघात-पु., रोग० स्वरभेदः (सुचि. ३३.१५)
लक्षण० स्वरस्योपघातः (चसि. २.८)

स्वर्जिक-पु., खनिजद्रव्य० क्षार० स्वर्जिकाक्षारः (रा. ६.२६; पृ. ७२)
(स्वर्जिका)-स्त्री., खनिजद्रव्य० क्षार० सर्जिकाक्षारः (सुउ. ३९.२५६; असंसू. १२.३७-३९)
-लवण-न., खनिज० क्षारः सर्जिकाक्षारः (चवि. ७.१७)

स्वर्जिक्षार-पु., खनिज० क्षार० सर्जिकाक्षारः (सुउ. ५०.२१; रा. ६.२६; पृ. ७२)

स्वर्ण-न., खनिज० सुवर्णम् (रा. १३.१, पृ. २०६)
वनस्पति० धत्तूरः (र. १२.९७-९८)
-कण-पु., निर्यास० कणगुग्गुलुः (रा. १२.१८६; पृ. १२०)
-क्षीररस-पु., भैषज्य० असौ सुस्निलक्षणकुष्ठविनाशनः (र. २०.१६०-६२)
-क्षीरिणी-स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (चसू ४.९)
-क्षीरी-स्त्री., वनस्पति० स्वर्णक्षीरी, काञ्चनक्षीरी भेदः द्र० 'काञ्चनक्षीरी' (चचि. २७.३६) (रा. ५.३६५, पृ. ५७.)
-गैरिक-पु., न., खनिज० गैरिकभेदः सुवर्णगैरिकम् (असंउ. १४; ध. ३.१६७-७०, पृ. २८)
-जीवन्तिका-स्त्री.,वनस्पति० (रापरि. ३.१४ पृ. ३३०)
-जीवा-स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३ पृ. ३३०)
-दुग्धा-स्त्री. वनस्पति० सर्वक्षीरी, काञ्चनक्षीरीभेदः काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४२ पृ. ५७)
-द्रु-पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३४. पृ. ५२)
-धत्तूर-पु., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (र. १६.१५१-५३)
-धातु-पु., खनिज० सुवर्णगैरिकम् (रा. १३.२३३; पृ. १२१)
-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३; पृ. ३३०)
-पारेवत-न., वनस्पति० महापारेवतम्, पारेवतम् (रा. ११.९०; पृ. १८१)
-पुष्प-पु., वनस्पति० आरग्वधः (रा. ९.३३४; पृ. ५२)
चम्पकः (रा. १०.२३८; पृ. १९९)

-(पुष्पा)-स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१८; पृ.१३६)
वृश्चिकाली (रापरि. ९.९; पृ. ३६४)
-(पुष्पी)-स्त्री., वनस्पति० सातला (रा. ४.३६०; पृ. ५६)
केतकी (रापरि. १० ३; पृ. २०४)
-पुष्पध्वजा-स्त्री., वनस्पति० स्वर्णुली (रापरि. ४.३०; पृ. ३३७)
-पुष्पिका-स्त्री., वनस्पति० कलिहारी (४.७६-७७)
पीतपुष्पा (र. ४.७६-७७)
केतकी (र. ४.७६-७७)
काञ्चनक्षीरी (र. ४.७६-७७)
-फला-स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५; पृ. १४९)
-भृङ्गार-पु. वनस्पति० पीतभृङ्गराजः (रा. ४.२१; पृ.१३६)
-मातृ-स्त्री., वनस्पति० महाजम्बूः (रा. ११.१३०; पृ. १८६)
-यूथिका-स्त्री., वनस्पति० यूथिका (चसि. १०.३१); (ध. ५.१४८; पृ. २००)
-लता-स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१४; पृ. ३३०)
ज्योतिष्मती (रा. ३.३९५, पृ. ६१)
-वर्णी-स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९; पृ. १८)
स्वर्णाह्वा-स्त्री., वनस्पति० सर्वक्षीरी, काञ्चनक्षीरीभेदः (रा. ५.३६५ पृ. ५७)
स्वर्णुली-स्त्री., वनस्पति० तद्गुणाः- कटुका, कषाया, शीता, व्रणापहा च (रापरि. ४.३०; पृ. ३३७)
स्वर्य-वि., स्वराय हितम् (चसू. २७.३१४)
स्वल्पतण्डुला-वि., अष्टांशतण्डुलकृता (यवागू) (ड. सुचि. ३९.७)
स्वल्पफला-स्त्री., वनस्पति० हपुषा (रा.४.१२; पृ. ७०)
स्ववाक्यसिद्धि-स्त्री., स्ववाक्यस्थापनम्, तच्च निर्णयाख्यया तन्त्रयुक्त्या (ड. सुउ. ६५.५)
स्वसंज्ञा-स्त्री., तन्त्रयुक्तिविशेषः या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते सा (चसि. १२.४४) अन्यशास्त्रसामान्या स्वसंज्ञा, यथा मिथुनेन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् (सुउ. ६५.३४)
स्वस्तिक-पु., भक्ष्य० यवादिचूर्णैः कृतोऽधोभागे विस्तीर्ण ऊर्ध्वभागे तीक्ष्णो मध्ये वलित्रयमुद्राङ्कितः, 'मोदकः' (ड. सुउ.६०.३२-३३) स्वस्तिकाकारः, पिष्टविकारः (इन्दु. असंउ. ४)
वनस्पति० शितिवारः (ध. १.१५५; पृ. ३६)
पु., न., व्रणबन्ध० स्वस्तिकबन्धः (सुसू. १८.१७-१८) अंससन्धौ पट्टबन्धनार्थम् उपयुक्तोऽयम् (असंउ. ३२)
मुक्तादाम (सुसू. २९.२७-२९)
मङ्गलविशेषः स्वस्तिकाकारं दूर्वाशकलमण्डितं धवलं दर्पणसक्तं मृण्मयं गोमयकृतं मङ्गल्यमवतारणकार्यं कुर्वते माङ्गलिककृत्स्त्रियः (ड सुसू. २९.२७-२९)
-बन्ध-पु., व्रणबन्ध० स्वस्तिकाकारव्रणबन्ध अयं सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु विधेयः (सुचि. ३.३१) अंससन्धौ पट्टबन्धनार्थमुपयुक्तः (असंउ. ३२)
-यन्त्र-न., यन्त्र० अष्टादशाङ्गुल प्रमाणम्, व्यालादिमुखसदृशं कीलेनाबद्धं, मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गमाकारानुगताभिधानम्, तत्तु चतुर्विंशतिविधम् (सुसू. ७.१० अहसू. २५-६)
स्वस्तिवाचन-न., मङ्गलविधिविशेषः (चसू. १५.९) आशीर्वादोच्चारणम् (सुसू. ५.७) वेदमन्त्रोच्चारपूर्वकं पुण्याहवाचनम् (सुशा. १०.८)
स्वस्तिशब्द-पु., माङ्गल्यबोधकशब्दः (असंशा. १२.८)
स्वस्त्ययन-न., अथर्ववेदचिकित्सा० स्वस्तिवाचनम् (चसू. ३०.२१) शान्तिमन्त्र० (चनि. ७.१६) कल्याणम् (काइ. ३०)
स्वस्थ-वि., अरोगी (चसू., १.२४) स्वस्मिन् नाम आत्मनि आनंदरूपेण तिष्ठतीति । यः समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स एव स्वस्थः (सुसू. १५.४१) समवातपित्तकफः पुरुषः (ड. सुचि. ३८.२९)
-ता-स्त्री., स्वास्थ्यम् (असंसू. २७.१९१)
-वृत्त-न., अरोगस्याहाराचारादिवृत्तम्, स्वस्थस्याचारः (सुउ. १.७; अहसू. २०.१४)
-वृत्ताध्याय-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ६४.१)
-वृत्तानुवृत्ति-स्त्री., स्वस्थवृत्तस्यानुवर्तनम्, स्वस्थवृत्तनरस्य स्वस्थवृत्तानुच्छेदपूर्वका यद्वा तज्ज्ञापिका शरीर-क्रिया (कासू., २४)
-वृत्ति-स्त्री., नीरोगत्वेनानुवर्तनम् (चसू. १.६७) स्वस्थवृत्तम् (चसू. ५.१४)
-हित-न., दोषादीनां साम्यानुवृत्तिहेतुद्रव्यम् (अहसू. १.१६)

स्वस्थानस्थ–वि., स्वे स्थाने स्थितः (दोषः) (चचि. २८.१९८)

स्वाङ्गशीत–वि., अग्निना पक्वं द्रव्यमग्निनिर्वापणानन्तरं तत्रैव स्वतःशीतं जातम् (र. ५.३९-४१)

स्वाङ्गशीतल–न., स्वाङ्गशीतम् (र. ८.६०)

स्वाङ्गुलोन्मित–वि., स्वस्याङ्गुलिभिः परिगणितम् (असंशा. ७.३३)

स्वाचार–वि., शोभनाचारः (ड. सुउ. ६०.१०)

स्वातन्त्र्य–न., स्वकर्मविषये स्वाधिकारत्वम् (सुनि. १.६)

स्वादु–वि., मधुरः (चसू. २७.१३)

पु,. रस० षड्सेऽवेको मधुरः द्र० 'रस' (चसू. १.६५)

वनस्पति० अगरुः (रा. १२.३९)

वनस्पति० जीवकः (ध. १.१२३)

न,, आहारद्रव्य० दुग्धम् (ध. ६.१६१; पृ. २३९)

वनस्पति० गृञ्जनम् (ध. ४.३७; पृ. १४१)

–कण्ट–पु., वनस्पति० क्षुद्रगोक्षुरः, गोक्षुरः (रा. ३.१३२; पृ. २६)

–कण्टक–पु., वनस्पति० गोक्षुरः (चवि, ८.१३५; ध. १.१०२; पृ. २६ सुचि. २२.३२;)

विकङ्कतः (चक्र. चक. १.२२; सुसू. ४२.११; ध. ५.४३; पृ. १७७)

विकण्टकः (रापरि. ११.१९; पृ. ३७४)

कण्टकारिवृक्षः (सुचि. २२.३२)

–कदली–स्त्री., वनस्पति० काष्ठकदली (ध. ४.७९; पृ. १४९)

–कन्द–पु., वनस्पति० मुखालुः (रापरि. ७.२२, पृ. ३४९)

(–कन्दा)–स्त्री., वनस्पति० विदारी (ध. १.१४७.पृ. ३४)

–कफ–पु., वनस्पति० धन्वनः (रापरि. ९.२०पृ. ३६५)

–जल–न., मधुरजलम् (असंसू. ६.९)

–ता–स्त्री., माधुर्यम् (असंसू. ३९.१४)

–तुण्डिका–स्त्री., वनस्पति० मधुरबिम्बी (रा. ७.३०४; पृ. ४८)

–त्रिफला–स्त्री., फलत्रय० द्राक्षा-खर्जूरकाश्मरीफलानां समूहः, द्राक्षादाडिमखर्जूरं वा (ध. ७.३; पृ. २९९)

–पटोली–स्त्री., वनस्पति० पटोल० स्वादुपटोली, द्र० 'पटोल' (रा. ७.७६; पृ. १७)

–पत्रफला–स्त्री., वनस्पति० पटोल० स्वादुपटोली, द्र० 'पटोल' (ध. १.५२; पृ. १७)

–पाका–स्त्री., वनस्पति० काकमाची (रा. ४.३६; पृ. १३८)

द्राक्षा० उत्तरापथिका, द्राक्षा (ध. ५.५८; पृ. १७९)

–पिण्डा–स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरिका (ध, ५.५५; पृ. १७९)

–पूर्वपर्याया–स्त्री., वनस्पति० पटोल० स्वादुपटोलम् द्र० 'पटोल' (रा. ७.७७ पृ.१७)

–फला–स्त्री., वनस्पति० कदली (ध. ४.७५ पृ. १४८)

कोशातकी (रा. ७.२८८; पृ. ४६)

कर्कोटकी ध. १.८७, पृ. ४४.)

–भोजन–न., स्वाद्वन्नसेवनम् (सुसू. ४६. ४८२)

–मज्जा–स्त्री., वनस्पति० अक्षोटः (ध. ५.६०; पृ. १८०)

–मस्तका–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (ध. ५.५३; पृ. १७८)

–मांसी–स्त्री., वनस्पति० काकोली (ध. १.१३२. पृ. ३१)

–मूल–न., वनस्पति० गर्जरम् (ध. ४.६९ पृ. १४७;)

–रस–पु., मधुरो रसः द्र० 'रस' (अहसू. १२.५४)

–(रसा)–स्त्री., वनस्पति० मूर्वा (ध. १.१३; पृ. ९) शतावरी (रा. ४.४३८; पृ. ६७)

–लता–स्त्री., वनस्पति० विदारी (रा. ७.१९४ पृ. ३५)

–विपाक–पु., विपाकेन मधुरः मधुरविपाकः द्र० विपाक (असंसू. १.३८)

–शाक–न., यच्छाकं मधुरं तत्, गुणाः— विड्भेदि, गुरु, रूक्षं, विष्टम्भि, दुर्जरं, सकषायं च (सुसू. ४६.२९६)

–स्कन्द–पु., वनस्पतिवर्ग० मधुरद्रव्यगणः (असंचि. ७)

स्वादुका–स्त्री., वनस्पति० नागदन्ती (रापरि. ५.२७; पृ. ३४२)

स्वाद्वम्ल–पु., वनस्पति० दाडिमः (ध. २.६१. पृ. ८१)

स्वाधार–वि., शोभनाभिधेयम् (चक्र.) अनुभवसिद्धम्, सुप्रतिष्ठितम् (शास्त्रम्) (चवि. ८.३)

स्वाप–पु., लक्षण० सुप्तिः, स्पर्शाज्ञानम् (ड.) विचेतनत्वम् (इन्दु. सुनि. १.३१)

–**शील**–वि., निद्रालुः (सुशा. २.२५)

स्वाभाविक–वि., स्वभावसंभूतः (सुसू. १.२५-(४)) कालपरिणामेन जातो जरामृत्युनिमित्तजो व्याधिः (चशा. १.११५)

स्वायम्भु–स्त्री., वनस्पति० ब्राह्मी (रा. ५.१४८; पृ. १५४)

स्वार्थ–पु., स्वविषयश्चिन्त्यादिः (चसू. ८.५)

स्वास्थ्य–न., स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्, उद्रेजकधातुवैषम्यविरहितधातुसाम्यम् (चसू. ५.१२) स्वस्थता (अहसू. ८.४४) दोषधात्वग्निमलक्रियाणां समता, आत्मेन्द्रियमनसां प्रसन्नता च यस्मिन् सः स्वस्थः तस्य भावः स्वास्थ्यम् (सुसू. १५.४१)

–**कारण**–न., स्वास्थ्यहेतुः (अहसू. १२.७८)

–**रक्षण**–न., स्वास्थ्यस्य रक्षणम् (चसू. ३०.२६)

स्वास्य–पु., वनस्पति० वनबर्बरिका (ध. ४.५८. रा. १०.८८. पृ.१४५)

स्वाहा–अव्य., हविर्दानसमये उच्चार्यमाणः शब्द० (अहसू. १८.१७)

स्त्री., अग्निपत्नी (अहसू. १८.१७)

स्विन्न–वि., स्वेदितः कृतस्वेदनः (अहसू. १७.१५)

–**देह**–वि., स्वेदितवपुः (सुउ. ४०.१०)

स्विन्नोत्सन्न–न., स्विन्नत्वेनोत्सन्नम् (कुष्ठम्) (चचि. ७.५१)

स्वेद–पु., शारीर० मल० मेदसो मलः, घर्मः, रोमकूपेभ्यस्त्वग्भ्रेभ्यो निष्पतदुदकस्वरूपं मलद्रव्यम् (चचि. १५.१८) तत्कार्यम्– शरीरार्द्रता, त्वक्सौकुमार्यञ्च (सुसू. १५.५(२)) स्वेदक्षयलक्षणम्– स्तब्धरोमकूपता, त्वक्शोषः, स्पर्शवैगुण्यम्, स्वेदनाशः (सुसू. १५.११) स्वेदक्षीणोऽभ्यङ्गं, मर्दनं, मद्यं निवातशयनासनं, गुरुप्रावरणमभिकाङ्क्षति (ड. सुसू. १५.२९-३१) वृद्धिलक्षणम्– कण्डूः दौर्गन्ध्यम् (असंसू. १९.८) ऊष्मा (सुसू. १.२२) उपक्रम० शरीरेण सहाग्नेः संयोगः, तापनम्, स्वेदनम् (चसू. १४.३) द्र० ' स्वेदविधि ' (चसू. १.९६)

–**क्षय**–पु., लक्षण० स्वेदमलस्य हानिः द्र० ' स्वेद ' (सुसू. १५.११)

–**क्षीण**–पु., स्वेदक्षयार्तः, द्र० ' स्वेद ' (सुसू. १५.२९-३१)

–**ज**–पु., प्राणि० भुवः शरीरस्य च संस्वेदादूष्मणो जातः, यथा कृमिकीटपिपीलिकादयः (सुसू. १.३०)

–**प्रवाहिन्**–वि., स्वेदं प्रवाहयितुं शीलमस्येति (सुउ. ३९.१७)

–**बीभत्सता**–स्त्री., स्वेदेन घृणा, स्वेदजनिता जुगुप्सा (चसू. ५.९३)

–**भेद**–पु., स्वेदप्रकाराः द्र० ' स्वेद ' (अहसू. १७.१)

–**मुख**–न., शारीर० लोमकूपम् (चसू., ७.४२)

–**वहस्रोतस्**–न., शारीर० स्रोतो० स्वेदवहं स्रोतः द्र० ' स्रोतस् ' (चनि. १.२०)

–**वाहिस्रोतस्**–न., शारीर० स्रोतो० स्वेदवहस्रोतस् (चवि. ५.२२) समानवायुस्थानम् (चचि. २८.८)

–**विधि**–स्त्री., स्वेदविधानाम (चसू.१.९०) उष्णतीक्ष्णस्निग्धसररूक्षसूक्ष्मद्रवस्थिरगुरूणि द्रव्याणि प्रायः स्वेदनीयानि स्वेदोपगानि वा उच्यन्ते(चसू.२२.१६) ' स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् ' (चसू. २२.११) स्वेदभेदाः–अग्निस्वेदोऽनग्निस्वेदश्च स्वेदो द्विविधः; तत्राग्निस्वेद-स्त्रयोदशविधः– सङ्कर-प्रस्तर-नाडी-परिषेका-वगाहन,जेन्ताको-ऽश्मघन-कर्षूकुटी भू,कुम्भिक,कूप,होलाकाः— (चसू. १४.३९-४०) अनग्निस्वेदः–दशविधः– व्यायामोष्णसदनगुरुप्रावरणक्षुधाबहुपानभयक्रोधोपनाहातपयुद्धानि (चसू. १४.६२) सुश्रुते तु चत्वारः स्वेदभेदा उपदिष्टाः– तापोष्णोपनाहद्रवस्वेदाः; तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ उपनाहस्वेदो वातघ्नः, अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति, कफमेदोन्विते वायौ अनग्निस्वेदप्रकारैः स्वेदमुत्पादयेत् । चतुर्विधाः स्वेदाः पुनः सार्वदेहिको देहावयविकश्चेति द्विधा भिद्यते (सुचि. ३२.३,१४-१६) तीव्रमध्यमृदुभेदेन स्वेदस्त्रिविधः–तत्र महास्वेदो महाबले शीतजव्याधिपीडिते च, मध्यमबले मध्यमः, दुर्बले मृदुस्वेदः करणीयः । शीताभिर्मुक्तावलीभिः, शीतलैर्भाजनैः, जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैर्वा स्विद्यतो हृदयं

स्पृशेत् (चसू. १४.५,८-१०) रूक्षस्निग्धभेदेन द्विविधः स्वेदः, वातरोगे स्निग्धस्वेदः, कफरोगे रूक्षस्वेदः, कफवातरोगयोरुभयविधस्वेदौ कर्तव्यौ आमाशयगते वाते रूक्षपूर्वः स्वेदः, पक्वाशयगते वाते स्नेहपूर्वः स्वेदो हितकरः (चसू. १४.६-७) स्वेदकालः–निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धो जीर्णान्नकाले स्वेदमाचरेत् (अहसू. १७.१२) स्वेदकार्यम्–अग्निदीप्तिः, मार्दवं, त्वक्प्रसादः, स्रोतोनिर्मलत्वं, जाड्यतन्द्रापहरणं, सन्धिस्तब्धतापहरणम् (असंसू. २६.१०) स्वेदो मार्दवकराणां श्रेष्ठः (असंसू. १३.३) सम्यक्स्वेदलक्षणम्–शीतशूलोपरमः स्तम्भगौरवनिग्रहो मार्दवोद्भवः (चसू. १४.११) मिथ्यास्वेदलक्षणम्–सम्यक् स्विन्नविपरीतलक्षणानि (सुचि. ३२.२३) स्वेदातियोगलक्षणम्–पित्तास्रकोपतृष्मूर्च्छास्वराङ्गसदनसन्धिपीडाज्वरश्यावरक्तमण्डलदर्शनच्छर्दिभ्रमाः (अहसू. १७.१६-१७) अतिस्विन्नचिकित्सा–ग्रैष्मिकविधिः–मधुरस्निग्धशीतलविधिः (चसू. १४.१३) तूर्णं शीतविधानं करणीयम् (सुचि. ३२.२४) स्वेदविधानम्–येषां नस्यं बस्तिश्च विधातव्यं, ये च शोधनीयास्ते पूर्वं स्वेदनीयाः, हृतशल्योऽनुपद्रवा मूढगर्भाः; काले सम्यक्प्रजाता पश्चात् स्वेद्याः, भगन्दरार्शोऽश्मरीपीडिताः शस्त्रकर्मात्पूर्वं पश्चाच्च स्वेद्याः (सुचि. ३२.१७-१९) स्वेदनीयरोगाः —प्रतिश्यायकासश्वासहिक्कास्वरभेदगलग्रहार्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघातविनामकवातकोष्ठानाहविबन्धविजृम्भकपार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिपादजानूरुजङ्घाग्रहगृध्रसीमूत्रकृच्छ्रमूत्राघातमुष्कमहत्त्वशोथखल्लीवेपथुबातकण्टकसंकोचायामस्तम्भगौरवसुप्तिशूलाख्या रोगाः (चसू. १४.२२-२४) अस्वेद्यरोगाः—कषायमद्यसेवनजन्यविकारा रक्तपित्तातिसारमधुमेहपित्तमेहगुददाहगुदभ्रंशविषजविकाराः स्थौल्यकामलोदराढ्यरोगक्षततिमिरादयो रोगाः श्रान्ततृषित क्षुधितक्रुद्धशोचदुर्बलविशुष्कक्षीणौजस्कगर्भिणीप्रभृतयो रोगिणः (चसू. १४.१६-१९) तथैव षीतदुग्धदधिस्नेहमधुकाः कृतविरेचनाः पुष्पिता, सूता, स्तम्भनीयरोगाः, पित्तरोगिणश्च अस्वेद्याः (अहसू. १७.२१-२४)

–विवेचन–न., स्वेदपृथक्करणम् (सुशा ९.७)

–स्रावण–न., स्वेदविस्रावणम्, स्वेदवहनम् (सुनि. १.१८)

वि., स्वेदं स्रावयति इति स्वेदस्रावणः (सुनि. १.१८)

स्वेदन–न., घर्मोद्गमरूप उपक्रम० द्र० 'स्वेदविधि' (चसू. १४.१३)

वि., स्वेदयति इति स्वेदनमुष्णम्, उष्णस्वेदकरद्रव्यम्, कुक्कुटमदिराकुलत्थादीनि (चक्र. चचि. ३.२७१)

संस्कार० मलशिथिलतापादनार्थं दोलायन्त्रे क्षारैरम्लैरितरैर्वा स्वेदनोपयोगिभिर्द्रव्यैर्द्रव्यस्य पाचनम् (र. ८.६२)

व्यूषणलवणादिभिर्युक्ते दोलायन्त्रस्थिते काञ्जिके दिनत्रयमुत्कथनरूपः पारदसंस्कारः (र. ११.२६)

(स्वेदनी)–वि., स्वेदजननी (चचि. ३.१८३-८४)

–कर्म–उपक्रम० स्वेदविधिः (असंसू. २४.५-६)

स्वेदनी–स्त्री.,

–यन्त्र–न., यन्त्र० मुखबद्धवस्त्रोपरिस्थापिता द्रव्यपचनाय जलेन पूरिता स्थाली (र. ९.५)

स्वेदनीय–वि., स्वेदसाध्यः द्र० 'स्वेद-विधि' (सुचि. ३२.२६)

स्वेदातियोग–पु., स्वेदस्यातियोगः द्र० 'स्वेद' (अहसू. १७.१६-१७)

स्वेदाध्याय–पु., अध्यायसंज्ञा० (चसू. १४.१)

स्वेदाबाध–पु., रोग० अति स्वेदरूपो व्याधिः (चसू. २१.४)

स्वेदाभिवहन–न., स्वेदवहनम् (सुशा. ९.९)

स्वेदावचरणीय–वि., अध्यायसंज्ञा० स्वेदावचारणमधिकृत्य कृतः अध्यायविशेषः (सुचि. ३२.१)

स्वेदावचारण–न., स्वेदोपक्रम योजनम् (ड. सुचि. ३२.१)

स्वेदावरोध–पु., लक्षण० स्वेदानिर्गमनम् (सुउ. ३९.१३-१४)

स्वेदिन्–वि., स्वेदयतीति स्वेदी, घर्मोत्पादकः (अहसू. ६.२८)

स्वेदोपगगण–पु., द्रव्यगण० स्वेदनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्वेदोपगः, महाकषायवर्गे एको गणः शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि द्रव्याणि भवन्ति (चसू. ४.१३)

स्वेद्य–वि., स्वेदसाध्यः स्वेदनार्हः (चसू. १३.५२)

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः

ह

हंस–पु., पक्षि० तन्मांसं गुरूष्णस्निग्धमधुरं बलप्रदं बृंहणं शुक्रलं मारुतनाशनं च (चसू. २७.६६)
हन्ति गच्छतीति हंसः (चसू. २७.४१) असौ मानसालयः (सुशा. ४.७२–७३; अहसू. ७.१५ ध. ६.४५६; पृ. ४७८)
सूर्यः (र. १.८३)

–घृत–न., घृत० इदमूर्ध्वजत्रुरोगेषूपयुक्तम्, अतीव ऊर्ध्वगदापहमित्युक्तम् (चचि. २६.१७५)

–पदी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (चचि. २६.२२०; ध. ४.१११)

–पाक–पु., खनिज० द्वयोरेकतरः प्रवालसदृशः श्वेतरेषो हिङ्गुलभेदः (र. ३.१५५)

–पाकयन्त्र–न., यन्त्र० प्रथमं वालुकापूर्णं खर्परं विधाय तस्योपरि अपरं खर्परं स्थापयेत्। ततः द्वितीये खर्परे ऊर्ध्वमुखे शनैः मृदुवह्निना लवणं बिडं च पचेत्। अत्र अग्नितप्तवालुकया क्षारादीनां पचनमिति मन्दः स्वेदः कृतो भवति। युक्तमस्य यन्त्रस्य हंसपाकमिति नाम। हंसो हि मन्दगतिरेव (र.९.३४–३५)

–पादिका–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६५; पृ. १५६)

–पादी–स्त्री., वनस्पति०
(चसू. ४.१०; सुसू. ३८.४-५) गुणाः–कटुः शीतोष्णा रक्तप्रसादनव्रणरोपणरसायनकरी, दाहविसर्पविषभूतभ्रान्त्यपस्मारहरा च (ध. ४.१११; पृ. १५६)

हिं.—हंसपादी.
म.—लाल लाजाळु.
गु.—हंसराज काळी डांडलीनो.
बं.—गोयालेलता.
फा.—परस्या उशान.
वनस्पति० मण्डूकपर्णी (र. १८.१९८)
रक्तलज्जालुः (र. ११.९०)

–मण्डूरक–न., योग० मण्डूरयोगः मंडूरभ्यूषणत्रिफलामुस्तादिसाधितोऽयं पाण्डुरोगहल्लीमककामलोरुस्तम्भार्शांसि नाशयेत् (र. १९.४५-४८)

–माषा–स्त्री., व० [illegible]० माषपर्णी (रा. ३.१७१; पृ. ३२)

–रुत–न., हंसध्वनिः (सुसू. २९.२७-३१)

हंसाङ्घ्रि–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६७; र. २२.१५९. पृ. १५६)

हंसाण्ड–पु., हंसाः नाम वरटायाः अण्डम्, इदं वाजीकरणार्थमुपयुज्यते (असंउ. ५०)

हंसिर–पु., मूषिक० तेन दष्टस्य लक्षणम्–अन्नविद्वेषः, जृम्भा रोम्णां हर्षणं च, तत्र सुवान्तः नरः आरग्वधादिक्काथं पिबेत् (सुक. ४.१४)

हंसोदक–न., हंससेवायोग्यं उदकं हंसोदकम् 'दिव्यं खात्पतितम् तोयं नाम्ना हंसोदकं शिवम्' (काखिल०) दिवा सूर्यकिरणैस्तप्तं रात्रौ चन्द्रकिरणैः शीतीभूतमहोरात्रं चागस्त्योदयेन निर्विषं स्वच्छं च जातं जलम् (अहसू. ३.५२)

हठ–पु., अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः (सुसू. ४५.११)
वनस्पति० जलकुम्भिका (सुचि. २९.२९)
पारदगन्ध० सम्यक् शुद्धिमकृत्वा बद्धः पारदः असौ सेवितश्चेन्मृत्यवे कल्पते (र. ११.६६)
न., वनस्पति० शैवालम् (र. ३०.४५)

हठाग्नि–पु., वैक्रान्तादिसत्त्वपातनक्षमतापयुताग्निः, तीव्राग्निः (र. २.७१-७३)

हण्डिका–स्त्री., आयतमुखं बृहन्मृत्तिकाभाण्डम् (र.३.१३९)

–यन्त्र–न., यन्त्र० डमरुयन्त्रम्, द्र० 'डमरुयन्त्र' (र. १३.५३)

हत–वि., ताडितः (सुचि. २.७७)

–चूर्णक–पु., खनिज० गौरीपाषाणभेद० सोमलप्रकारः (र. ३.१३८; ध. परि. ६.१४ पृ. २९०)

–नामन्–न., रोग० अर्शांसि (असंचि. १०)

–प्रभ– वि., लक्षण० हतशरीरदीप्तिः (ड.) हतेन्द्रियशक्तिकः (सुउ. ३९.९३)

–मांससिर–वि., लक्षण० नष्टं मांसं शिराश्च यस्मिन सः, (कर्दमविसर्पः) (सुनि. १०.५)

–रव–वि., लक्षण० हतस्वनः ऊर्ध्वश्वासातुरः (ड. सुउ. ५१.१३)

हताधिमन्थ–पु., नेत्ररोग० वायुः सिराणामन्तःस्थितः दृष्टिं प्रतिक्षिपन् हताधिमन्थं जनयेत्, एषा असाध्यः, उपेक्षिताधिमन्थजनितोऽसौ अनेकविध-वेदना युक्तो दृष्टिहरव्रणोपेतश्च जायते । द्र० 'नेत्ररोग.' (सु. उ. ६.२४)

हतेन्द्रिय–वि. लक्षण० हत : श्रुरादिरादिशक्तिकः (गम्भीरज्वरा . .) (ड. सुउ. ३९.९३ ।

हतौजोज्वर–पु., सान्निपातिकज्वरलक्षण० अस्मिन् पित्तानिलसमुच्छ्रयेणोजोविस्रंसनं भवति । गात्रस्तम्भेन शीतेन च ज्वरितो-ऽचेतनः निद्रेच्छुस्तन्द्रालुरनियतजाग्रत्स्वप्नो भवति) तथा च रोमाञ्चितवपुरङ्गसादयुक्तो मन्दसन्तापो मन्दवेदनश्च भवति ज्वरितः । एतादृशं हतौजसं वा ओजोनिरोधजं जानीयात् (सुउ.३९.४३–४५)

हनु–पु., मुखसन्धिः (सुसू. १८.१८) चिबुकम् मुखावयवः (सुशा.५.१९)
भैषज्य० नखम् (ध. ३.५८; पृ. १०७)

–**कम्प**–पु., लक्षण० हनुचलनम्, विषदष्टे लक्षण-मेकम् (चवि. २३,२२९)

–**ग्रह**–पु., लक्षण० संवृतविवृतमुखत्वोभयलक्षितो हनुस्तम्भः (चचि. २८.४९; सुनि. १.५३; चसि. २.२२; अहसू. १७.२०)

–**भेद**–पु., लक्षण० हनोः भेदवद् वेदनाविशेषः (चसू. २०.११)

–**मूलबन्धन**–न., अस्थि० द्वे हनुमूलबन्धने । द्र० 'अस्थि' (चशा. ७.६)

–**मोक्ष**–पु., हनुसंधिविश्लेषः (सुनि. १६.३५) लक्षणम्–वातेन तैस्तैर्भावैः हनुसंधिः विसंहतो भवेत् । स हनुमोक्षो नाम व्याधिरर्दितलक्षणवान् ज्ञेयः (सुनि.१६.३५) तस्य चिकित्सा–वातार्दितोक्तां मस्तिष्कशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहादिकां द्विविधामपि क्रियां कुर्यात् (ड. सुचि. २२.४१)

–**संहनन**–न., लक्षण० हनुसंहतिः सरणाभावः (ड. सुचि. ३४.१२) तस्य चिकित्सा–वमनातियोगे क्वचित् हनुसंहननं भवति । हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात् (सुचि. ३४.१२)

–**संग्रह**–पु., लक्षण० हनुग्रहः (चसू. ५.५९)

–**स्तम्भ**–पु., लक्षण० हनोः स्तम्भः, तत्र चिकित्सा–प्रधमनैस्तीक्ष्णैश्चूर्णैः शिरो विरेचयेत् (सुक. ५.४२-४३; अहसू. ७.२१)

–**स्रंस**–पु., रोगः० वातव्याधि; जिह्वातिलेखनात् शुष्कभक्षणात् अभिघातात् हनुमूलस्थः कुपितो वातः हनू स्रंसयित्वा विवृतास्यतां संवृतास्यतां वा करोति । तेन चर्वणभाषणादि कृच्छ्राद्भवति (असंनि. १५.३२)

हनुकास्थि–न., अस्थि० हन्वस्थि (सुचि. २२.२८)

हन्वस्थि–न., हनुभागे स्थितमस्थि, एकं हन्वस्थि (चशा. ७.६) द्र० 'अस्थि'

हपुषा–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–कटुस्तिक्तोष्णा गुरुर्वात-कफघ्नी अर्शोगुल्मशूलजन्तुप्लीहोदरविबन्धप्रदा-विड्बन्धकरी (सुउ. ५२.३८; ध. २.९; पृ. ७०)
हिं.—हौहवेर.
म.—शेरणी.
गु.—शेरणी.
बं.—हबुषा.

हपुषाद्यघृत–न., घृत० वातगुल्मे उपयुक्तः (चचि. ५.७१-७३)

हपुषाद्यचूर्ण–न., योग० उदरघ्नः (चचि. १३.१३३-३६)

हय–पु., पशु० अश्वः (चसू.१.९४ र. ५.२१)

(हयी)–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०० पृ. ६२)

–**गन्धा**–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (चचि. २८.१७३) (रा. ४.४०१ पृ. ६२)

–**घ्न**–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.१; पृ. १३४)

–**पुच्छिका**–स्त्री., वनस्पति० माषपर्णी (रा. ३.१७० पृ. ३२)

–**प्रिया**–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (रा. ४.४०२; पृ. ६२)

–**भक्षा**–स्त्री., वनस्पति० पिण्डखर्जूरी (ध. ५.५५; पृ. १७२)

–**मार**–पु., वनस्पति० करवीरः (ध. ४.१ पृ. १३४)

–**मारक**–पु., वनस्पति० करवीरः (चसू. ३.१४) असौ पक्वशोथस्य दारणं करोति (सुसू. ३७.१०)

हयारि–वनस्पति० करवीरः (रा.१०.२पृ.१३४)

हयाह्व–पु., वनस्पति० अश्वगन्धा (असं रक्तपित्त चि. ३)

हयेष्ट–पु., वनस्पति० यवः (रा. १६.१२४; पृ. २२३)

हर–पु., शङ्करः (मानि मधुकोश)

–**तेजस्**–न., खनिज० पारदः (रा. १३.४२; पृ. २१४ र. ५.१३८;)

–प्रिय–पु., वनस्पति० करवीरः (रा. १०.३; पृ. १३४)
–वल्लभ–पु., वनस्पति० धत्तूरः (ध. ४.७; पृ. १३५)
–वीर्य–न., खनिज० पारदः (र. २०.३१-३२)
–सृष्टि–पु., खनिज० पारदः (र. १.६०)
हरण–न., उपक्रम० शोधनम् (चनि. २.१६)
हराक्ष–पु., वनस्पति० रुद्राक्षः (रापरि. ११.१५; पृ. ३७४)
हरि–पु., प्राचीनो रसाचार्यः (र. १७.१३६)
वि., वर्ण० हरितम् (सुउ. ४४.१२)
–केशता–स्त्री., लक्षण० कपिलकेशता इदं वारुणकाय-लक्षणान्यतमम् (सुशा. ४.८३)
–क्रान्ता–स्त्री., वनस्पति० विष्णुक्रान्ता (रा. ५.१७३; पृ. १५७; र. ११.११७)
–गन्ध–न., वनस्पति० हरिचन्दनम् (रा. १२.१९; पृ. ९५)
–(गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० अश्वगन्धा (सुउ. ३५.४)
–चन्दन–न., वनस्पति० चन्दनभेदः गुणाः–तिक्तं शीतं पित्तघ्नमाटोपदवथुश्रमशोषाग्निमान्द्यतापहरम् (रा. १२.१९; पृ. ९५)
हिं.—सफेत चन्दन.
म.—सफेत चन्दन.
श्वेतचन्दनम् (चशा. ८.९; सुउ. ४७.५९)
रक्तचन्दनम् (ध. ३.४; पृ. ९४)
वनस्पति० कालीयकम् (ध. ३.८; पृ. ९५)
–जात–पु., वनस्पति० खदिरः (र. ७.१२)
–दर्भ–पु., वनस्पति० शरः (रा. ८.२०९; पृ. १६१)
–दल–न., खनिज० हरितालम् (र. २०.५३)
–द्रु–पु., वनस्पति० गुणाः–तिक्तः शीतलः वान्ति-त्वग्दोषनाशनः मङ्गल्यः पित्तहरः (रापरि. ९.२६; पृ. ३६६)
–नेत्र–न., वनस्पति० पुण्डरीकम् (ध. ४.१४८; पृ. १६४)
–पर्ण–न., वनस्पति० मूलकम् (ध. ४.३३.; पृ. १४०)
–प्रभत्व–न., वर्ण० कपिलत्वम् (चचि. २६.१३२)
–प्रिय–पु., वनस्पति० कदम्बः (ध. ५.१०५; पृ. १९०)
भैषज्य० शङ्खः (रा. १३.२४४; पृ. १३०)
वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२१; पृ. १३६)
बन्धूकः (रापरि. १०.३५; पृ. ३७०)
विष्णुकन्दः (रापरि. ७.४०; पृ. ३५०)
न., वनस्पति० उशीरम् (रा. १२.२५; पृ. ९६)

(–प्रिया)–स्त्री., वनस्पति० खर्जूरी (रा. ११.६५; पृ. १७८)
तुलसी (रा. १०.७८; पृ. १४४)
–मन्थज–न., शाक० चणकपत्रम् (सुसू. ४६.२७७)
–लता–स्त्री., वनस्पति० गुडूची (र. १४.७१)
–वल्लभ–पु., वनस्पति० मुचकुन्दः (रापरि. १०.२५, पृ. ३७०)
(–वल्लभा)–स्त्री., वनस्पति० जपा (रापरि. १०.३९; पृ. ३७१)
–वालुक–न., वनस्पति० एलवालुकम् (ध. ३.७६; पृ. १११)
–वास–पु., वनस्पति० भृङ्गराजः (रा. ४.२१; पृ. १३६)
–वृक्ष–पु., वृक्ष० इन्द्रवृक्षः (सुचि. ११.१०)
–शंकर–पु., पारदयोग० पारदाभ्रकभस्मनी तुल्ये आमलकीक्वाथेन सप्ताहं भावयेत्। असौ माषमात्रो पसेवितः सन् नीलमेहघ्नः (र. १७.१४४)
हरिण–पु., जाङ्गलमृग० असौ ताम्रवर्णः (चक. चसू. २७.४६; अहसू. ६.४३)
(हरिणी)–स्त्री., वनस्पति० मञ्जिष्ठा (रा.६.१५; पृ.१०) पीतयूथिका (इन्दु. असंउ. ४३; ध. ५.१४९)
हरित्–न., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९)
द्र० 'यूथिका'
–पर्ण–न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५१)
हरित–पु., वनस्पति० पलाण्डुः (ध. ४,७१; पृ. १४८)
मुद्गः (ध. ६८१; पृ. २२४)
मन्थानकः (रापरि. ८.५५; पृ. ३६२)
पु., पक्षि० प्रतुदविशेषः (ध. २.१२; पृ. २८६)
द्र० 'प्रतुद'
न., वनस्पति० स्थौणेयकम् (ध. ३.६९; पृ. ११०)
कुरी (रा. १६.१७९; पृ. २३०)
नीलदूर्वा (ध. ४.१४३; पृ. १६३) द्र० 'दूर्वा'
–नेत्र–न., लक्षण० लोचनस्य हरितत्वम् (चसू. २०.१४)
–पत्रिका–स्त्री., वनस्पति० पाची (रापरि. १०.४६; पृ. ३७१)
–मूत्र–न., लक्षण० मूत्रस्य हरितत्वम् (चसू. २०.१४)
–लता–स्त्री., वनस्पति० पाची (रापरि. १०.४६; पृ., ३७१)
–वर्ग–पु., आहारोपयोगी वर्ग० आर्द्रकजम्बीर-मूलकसुरसायवानीधान्यकगृञ्जनकपलाण्डुलशुने-

त्यादि द्रव्याणि हरितान्येव प्रायः भोजने भोजनस्य प्राक् पश्राद्वा उपयुज्यन्ते। अतः इमानि द्रव्याणि हरितानीत्युच्यन्ते (चसू. २७.१७)

-वर्चस्त्व-न., लक्षण० विशः (विष्ठायाः) हरितत्वम् (चसू. २०.१४)

-शाक-पु., वनस्पति० शिग्रुः (ध. ४.३९; पृ.१४२)

-हारिद्रनेत्रत्व-न., लक्षण० नेत्रस्य हरितहारिद्रवर्णयुक्तत्वम् (असंसू. २०.१४)

-हारिद्रमूत्रत्व-न., लक्षण० मूत्रस्य हरितहारिद्रवर्णत्वम् (असंसू. २०.१४)

-हारिद्रशकृत्त्व-न., लक्षण० शकृतः हरितहारिद्रवर्णत्वम् (असंसू. २०.१४)

(हरिता)-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (रा. ११.७७; पृ. १८०)
हरिद्रा (ध. १.५४; पृ. १७)
बलामोटा (धपरि. ४.१; पृ. १६८)
दूर्वा (रा. ८.२२६; पृ. १६३)

-त्व-न., वर्ण० हरितवर्णत्वम् (चनि. १.२४)

(हरिन्)-मणि-पु., रत्न० मरकत (ध. ६.४९)

-मुद्ग-पु., वनस्पति० मुद्गभेदः द्र० 'मुद्ग' (रा. १६.१३०; ध. ६.८१)

(हरिल्)-लोमन्-वि., लक्षण० कपिलकेशः (इ. असंउ. २८)

हरितक-पु., कुठेराद्यः शाकवर्गः (चक्र. चसू. १८.६; सुचि. २३.४; सुसू. १९.१६) द्र० 'हरितवर्ग'

हरितकाख्यवर्ग-पु., हरितवर्गः (असंसू. ७)

हरिताल-न., खनिज० पीतवर्णमिदम् (ध. ७.११९; पृ. ३१५) गुणाः—कटु कषायमुष्णं स्निग्धं पुष्पहृत दीपनकरं वातघ्नं कुष्ठविषकण्डूभूतकेशहृत् वर्णकरं च (ध. ७.११९; पृ. ३१५) भेदाः—पत्रतालं पिण्डतालकं चेति (र. ३.७४) तस्य शोधनम्—कूष्माण्डस्वरसे तथा तिलक्षारजले अथवा सुधासहिते जले स्विन्नं हरितालं शुद्धं भवति। तस्य दोलायन्त्रद्वारा स्वेदनं कार्यम् (र. ३.७८) तस्य मारणविधिः—प्रथमं तालकं क्षौद्रवत् घनत्वमापन्ने पलाशमूलजे कषाये त्रीन् वारान् भाव्यम्। अनन्तरं माहिषे मूत्रे मर्दनं कार्यम्। ततः शरावसंपुटे कृत्वा दशसंख्याकैर्वनोपलैः पुटं देयम्। अथ पुटनानन्तरमपि पेषणं कार्यम्। एवं द्वादशवारं पाच्यं; प्रतिपुटे भावनापि देया। ततः शुद्धं सत् योगेषु प्रयोज्यम्। (र. ३.८२-८३) तस्य सत्त्वपातनम्—तालं टङ्कणं च प्रथमतः समानं ग्राह्यम्। कुलित्थक्काथमहिष्याज्यमधुभिरनन्तरं भावना देया। ततः एतैर्भावितं तालं स्थाल्यां क्षिप्त्वा सच्छिद्रेण शरावेण सम्यक् निरोधं कृत्वा मृदुमध्यादिक्रमपरिवर्धितं वह्निं ज्वालयेत् (र. ३.८४-८६) तस्य उपयोगः— गोमूत्रसंयुक्तमातपे त्र्यहं शोषयेत्। एतद् बृंहणं विषं, विषस्यादौ प्रशस्तम्। वातज्वरे मस्तुना, पित्तज्वरे क्षीरेण, कफज्वरे गोमूत्रेण, सन्निपातजे ज्वरे त्रिफलाम्भसा प्रयोज्यम् (असंउ. ४८) एतत्सेवनातिमात्रेण हृदि दाहः, रसाग्रहः, आनाहः, अम्लवमनं पीतहरिद्रविट्सुतिः मण्डलिसर्पदष्टोक्तविकाराश्च भवन्ति (असंउ. ४०) अशुद्धं तालं आयुर्हानिकरं कफमेहकृत् वातमेहकृत् शरीरमानसंतापकृच्च भवति। तथा तत्स्फोटमङ्गसंकोचं च कुरुते (र. ३.७९) कुष्ठघ्नमेतत् (चचि. ७,१४४) अर्शसि प्रलेपार्थमुपयुक्तम् (चचि. १४.५६) तस्य चूर्णमुपदंशविसर्पाणां शान्तिकरम् (सु. १९.४६) तच्च स्निग्धं कषायकटुकं विषप्रणुच्च (असंसू. १५.२४) व्रणसंशोधनवर्तिः तैलघृतेषूपयुज्यते (सुसू. ३७.१३-१५) धातुविषभेदो वर्तते (सुक. २.५) मूर्धविरेचने धूमप्रयोगे एकं द्रव्यम् (चसू. ५.२६)
हिं.—हरताल.
म.—हरताळ.
गु.—हडताल.
बं.—हरिताल.

हरिताश्म-न., खनिज० तुत्थकम् (रा. १३.२०५; पृ. १२४)

हरिद्रक-पु., कृतान्न० पीतभक्षः (इ. असंउ. ४)

हरिद्रा-स्त्री., वनस्पति० महाकषायवर्गे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) विषघ्नगणे कुष्ठघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) कन्दोऽयं वातसंशमनवर्गोक्तः (सुसू. ३९.७) पीतवर्गीय वनस्पतिः (र. १०.९२) व्यञ्जनोपयोगिनी एषा (र. ११.३७-३९) कुष्ठादिप्रदेहे उपयुक्ता (चसू. ३.३) पार्श्वरुजास्वालेपनार्थमुपयुक्ता (चसू. ३.२५) एषा प्रमेहहराणां श्रेष्ठा (असंसू. १३) पिष्टमेहे उपयुज्यते (सुचि. ११.९) सा त्रिविधा हरिद्रा, कर्पूरहरिद्रा, वनहरिद्रा चेति (सुसू. १४.३५)

त्रिविधहरिद्रागुणाः–तिक्ता कटुरुष्णा वर्णकरी विशोधनी कफवातघ्नी विषकुष्ठव्रणकण्डूमेह-कृमिपीनसारुचिरक्तघ्नी च (ध. १.५४)

हिं.—हलदी.

म.—हळद.

गु.—हलदर.

बं—हलद.

ता.—मञ्चळ.

पिण्डहरिद्रा (सुउ. ४४.१७)

–कृसर–पु., कृताच्च० हरिद्राभिधानः कृसरः (चक. १.१९)

–द्वय–न., हरिद्रा दारुहरिद्रा च (अहसू. १५.३५)

–मेह–पु., पित्तनिमित्तः प्रमेहभेदः (चसू. १९.४(९)

हरिद्रादिगण–पु., द्रव्यगण० हरिद्रादारुहरिद्राकलशी कुटजबीजानि मधुकं चेति, तद्गुणाः–स्तन्यशोधनः आमातीसारशमनः आमसंसृष्टदोषाणां पाचनं कुर्वाणश्च (सुसू. ३८.२७-२८; अहसू. १५.३५)

हरिद्रादिघृत–न., घृत० पाण्डुरोगे उपयुक्तम् (चचि. १६.५३)

हरिद्रादियोग–पु., योग० हरिद्रात्रिफलायोगः, पाण्डु-रोगशमनः (सुउ४४.१७)

हरिद्री–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (रा. ६.७९; पृ. १८)

हरीतकी–स्त्री., वनस्पति० (चसू. ४.१८) औषधे उपयोज्यम्, अङ्गं फलमेव, तद्भेदाः–विजया रोहिणी पूतनाऽमृताऽभया जीवन्ती चेतकीति हरीतक्याः सप्तजातयः । विन्ध्याद्रौ विजया, हिमालये चेतकी, सिन्धुदेशे पूतना, प्रतिष्ठाने रोहिणी, चम्पायाममृता-ऽभया च, सुराष्ट्रदेशे जीवन्ती उत्पद्यते । लक्ष-णानि–विजयाऽलाबुवृत्ता, रोहिणी वृत्ता, पूतना सूक्ष्मास्थिमती, मांसलाऽमृता, पञ्चरेखाऽभया, जीवन्ती स्वर्णवर्णिनी, त्रिरेखा चेतकीति सप्तानां हरीतकीनामाकृतयः । विजया सर्वरोगेषूपयुज्यते । रोहिणी व्रणरोहिणी, पूतना प्रलेपे योज्या, अमृता शोधनाय हिता, अक्षिरोगेऽभया शस्ता, जीवन्ती सर्वरोगहरा, चूर्णार्थे चेतकी शस्ता । सप्तानामपि जातीनां विजया प्रधाना । सा सर्वरोगेषु सुखप्रयोगा सुलभा च । हरीतक्याः पुराणोक्तोत्पत्तिः–इन्द्रस्या-मृतं पिबतः यो बिन्दुः भूमौ पतितस्तस्मात् सप्त-जातिर्हरीतकी समुत्पन्ना (भा. प्र. हरीतक्यादिवर्गः) तद्गुणाः–कषायाऽम्ला कटुका तिक्ता मधुरोष्णा लघुः स्वादुपाका चक्षुष्या लेखनी मेध्या हृद्येन्द्रिय-प्रसादनी वातपित्तकफघ्नी सन्तर्पणकारिणी प्रमेह-कुष्ठव्रणच्छर्दिशोफवातरक्तमूत्रकृच्छ्रनाशिनी च (ध. १.२०५; पृ. ४९) सा वयःस्थापनी पौष्टि-क्यायुष्या दीपनी पाचनी बुद्धीन्द्रियबलप्रदा दोषानुलोमनी त्रिदोषविरेचनी च (चचि. १.२५-३०) वयःस्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८) महाकषायवर्गे कुष्ठघ्नगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.११) हिक्कानिग्रहणगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१४) कासहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) ज्वरहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) पथ्यानां श्रेष्ठा (चसू. २५.४०) हरीतकी स्वादुतिक्तकषायत्वात्पित्तहृत्, कटुतिक्त-कषायत्वात् कफहृदम्लत्वाद्वातहृच्च (भा. प्र. मिश्रप्रकरण. ६.२३) चर्विता हरीतकी अग्निं वर्धयति । पेषिता मलशोधिनी, स्विन्ना संग्रा-हिणी, भृष्टा त्रिदोषघ्नी च । भुक्तस्योपरि योजिता हरीतक्यन्नपानकृतान्दोषान्वातपित्तकफोद्भवांश्च विकारान् आशु हरति । लवणेन युक्ता सा कफं हन्ति । सशर्करा पित्तं हन्ति । घृतेन युक्ता वातजान् रोगान् हन्ति । गुडान्विता च सर्वरोगान् हरति (भा. प्र. मिश्रप्रकरण. ६.३३) अध्वातिखिन्नो बलवर्जितो रूक्षः कृशो लङ्घनकर्शितः पित्ताधिको विमुक्तरक्तस्था गर्भवती नारी अभयां न खादेत् (भा. प्र. मिश्रप्रकरण. ६.३६)

हिं.—हरड.

म.—हिरडा.

गु.—हरडे.

बं.—हरीतकी.

ता.—करक्काय.

–लेह–पु., अवलेह० श्वासकासयोरुपयुक्तः (चचि. १८.१६३)

हरीतक्यादि–पु., योग० त्रिफला हरीतक्यामलकी बिभीतकश्चेति योगघटकद्रव्याणि (सुचि. ७.२६)

हरीश्वर–पु., प्राचीनो रसाचार्यः रसरत्नसमुच्चयकर्ता (र. १.५-९)

हरेणु–पु., धान्य० वर्तुलकलायः शिम्बीधान्येष्वेकम्, स च मधुरः कषायः शीतो लघुः रूक्षणः, कफपित्तयोः शस्तः (चसू. २७.२८; असंउ. १)

वनस्पति० सतीनः (इ. असंउ. १)

स्त्री., वनस्पति० कलायः (ध.६.१०३; पृ. २२८)

धान्य० मसूरिका (ध. ६.९५; पृ. २२६)

वनस्पति० रेणुका (चसू. ३.५)

हरेणुक–पु., वनस्पति० रेणुका (असंसू. १६.९२)
(हरेणुका)–स्त्री., वनस्पति० रेणुका (चसू. ५.२०)
हरेण्वाद्यञ्जन–न., अञ्जन० हरेण्वादियकृद्व्रेण पिष्टमञ्जनं श्लेष्मोपहतदृष्टये नक्तान्धाय हितमित्यर्थः (सुउ. १७.२३)
हरोद्भव–पु., खनिज० पारदः (र. ११.८३)
हर्ताल–न., खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकारः (ध. ६.२८; पृ. २११)
हर्म्य–न., प्रासादः (अहसू. ३.४८)
हर्यक्ष–पु., पशु० सिंहः, पुत्रे हर्यक्षता सामुद्रिकैः स्तुता (चक्र. चशा. ८.९)
हर्ष–न., मनोविकार० आनन्दः (च. वि. ४.८)
लक्षण० सिणसिणिका (चनि. ५.१०) इयं सिणसिणिका वायोरवस्थितत्वेन प्रभावाद्वा क्रियते (चसू. २०.१२)
प्रीति० (चशा. ४.७) पादहर्षः (अहसू. २७.१६) रोमहर्षः (सुसू. ४२.९)
कामः (सुशा. २.४५)
तुष्टिः (सुसू. २७.४)
नेत्ररोग० (सुउ. १.३७) द्र० ' नेत्ररोग '
वनस्पति० मदनः (रा. ८.२३१ पृ. ३९)
–योनि–स्त्री., हर्षकारणम् (चचि. ३०.१३३)
हर्षण–वि., हर्षकरम् (चसू. ३०.१५)
न., लक्षण० वेदना० रोम्णामूर्ध्वीभावः, कण्टकितत्वम् (हे. अहसू. १२.५)
अन्तःशीतकरः वेदनाविशेषः (ड. सुउ. १८.३२)
हलदीका–स्त्री., वनस्पति० हरिद्रा (ध. १.५५; पृ.१७)
हलाहल–न., विष० नीलवर्णः (र. २९.१६) द्र० ' विष '
हलिनी–स्त्री., वनस्पति० कालिकारी (ध. ४.९; पृ. १३५ र. २६.४;)
उद्भिज० लाङ्गली (र.१६.१३८)
हली–स्त्री., वनस्पति० कलिकारी (रा. ४.१७; पृ. १३६)
हलीमक–पु., रोग० पाण्डुरोगभेदः, यदा कुम्भसाह्वः पाण्डुः हरितः पीतः नीलः स्यात्, तदा तं हलीमकं वदन्ति (सुउ. ४४.१२) लक्षणम्–हरितः श्यावपीतकः पाण्डुरोगस्य वर्णः बलोत्साहक्षयस्तन्द्रां मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दः श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः इत्येतानि लक्षणानि वातपित्तजानि सन्ति (चचि. १६.१३२-३३) तस्य चिकित्सा–वातपित्तहरीं क्रियां कुर्यात् (का. हीहाहलीमकचि)
हविस्–न., वनस्पति० शमी (रा. ८.१५२; पृ. १८८)
आहारद्रव्य० घृतम् (ध. ६.१४४ पृ. २३६)
हविष्य–न., हविर्योग्यं द्रव्यम् (सुशा. २.२५)
हव्य–न., देवदेयम्, हवनीयद्रव्यम् (इ. असंउ. ४२)
हसन–न., हास्यम् (सुशा. २.२५)
हसन्तिका–स्त्री., अङ्गारधानिका (चसू. १४.५४)
हसिर–पु., मूषिक० एतद्विषतः अन्नविद्वेषो जृम्भणं रोमहर्षणं च भवति (असंउ. ४६) द्र० ' मूषिक '
हस्त–पु., शारीर० करः, प्रकोष्ठमारभ्याङ्गुल्यन्तो भागः (चवि. ८.११७) पञ्चकर्मेन्द्रियेष्वेकम् (चशा. ७.७) ग्रहणदानादिकर्मसु नियुक्तम् (कर्मेन्द्रियम्) (सुशा. १.४) चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः (सुसू.३५.१२) कलापः, पर्णस्य पुष्पपटलस्य वा विस्तृतो भागः (चवि. ६.१७)
अनुयन्त्र० (अहसू. २५.४०)
नक्षत्र० (असंनि. १)
–स्वेद–पु., स्वेद० पाणिस्वेदः (कासू., २३.२७) द्र० ' स्वेद '
हस्ताभरण–पु., सर्प०मण्डलिभेदः (सुक. ४.३४(२) द्र० ' सर्प '
हस्तिन्–पु., पशु० (चसु. १.९४) गुणाः– उष्णं स्वाद्वम्ललवणं विरूक्षणं लेखनं पित्तप्रकोपणं पुष्टिप्रदं दुर्जरं वह्निमान्द्यकरं कफवातघ्नं च (ध. ६.३७६ पृ. २०५) (सुसू. ४६.९६)
वनस्पति० हस्तिकर्णपलाशः (र. २८.५८)
(हस्तिनी)–स्त्री., करिणी (सुसू. ४५.५८-५९)
(हस्ति)–कक्ष–पु., सविषकीट० कणभभेदः (सुक. ८.२६-२७)
–कन्द–पु., वनस्पति० गुणाः– कटुरुष्णः कफवातघ्नः त्वग्दोषश्रमकुष्ठविषवीसर्पकफवातामयापहश्च (रापरि. ७.३५; पृ. ३५०)
–करञ्जक–पु., वनस्पति० करञ्जभेदः महाकरञ्जः (रा. ९.१८२; पृ.१९२)
–कर्ण–पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३५; पृ. ३५०)
पलाशः (र. २८.६२) महापर्णो भूपलाशः (सुसू. ४५.११५)
गजकर्णाकारैकपत्रः (सुसू. ३९.९)
वनस्पति० एरण्डः (रक्तैरण्डः)
(ध. १.२९६; पृ. ६७)

(कर्णी) स्त्री., वनस्पति० एरण्डः (ध. १.२९६; पृ., ६७)

–कर्णतैल–न., तैल० (सुसू. ४५.११५ द्र० 'कटुतैल'

–कारावी–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (रा. ६.१५० पृ. ९०)

–कोशातकी–स्त्री., वनस्पति० कोशातकीभेदः द्र० 'कोशातकी' (रा. ७.२८४ पृ. ४६)

–घोषा–स्त्री., वनस्पति० कोशातकीभेदः द्र७ 'कोशातकी' (ध. १९० पृ. ४५)

–चारिणी–स्त्री., वनस्पति० करञ्जभेदः पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०९; पृ. १९१)

–दन्त–न., वनस्पति० मूलकम् (रा. ७.५०; पृ. १४०)

(–दन्ती)–स्त्री., वनस्पति० मृगाक्षी (ध. १.२५२; पृ. ५९)

नागदन्ती (चसू. १.७७)

–दन्तक–न., वनस्पति० मूलकम् (ध. ४.३३; पृ. १४०)

–दन्तफला–स्त्री., वनस्पति० उर्वारुकम् (ध. १.१७६; पृ. ४१)

–पत्र–पु., वनस्पति० हस्तिकन्दः (रापरि. ७.३५; पृ. ३५०)

–पर्णिनी–स्त्री., वनस्पति० त्रपुसम् (ध. १.१७५; पृ. ४१)

पर्णी–स्त्री., वनस्पति० कर्कटी (रा. ७.२५२ पृ.४१)

मोरटः (चसू. १.८२-८४)

–पिप्पली–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (चशा. ८.३४; सुसू. ३८.२२-२३)

–मगधा–स्त्री., वनस्पति० गजपिप्पली (ध. २.७८; पृ. ८५)

–मद–पु., भैषज्य० गजमदः, तद्गुणाः–तिक्तः स्निग्धः केश्यः अपस्मारनाशनः विषकुष्ठकंडूव्रणादिनुच्च (रापरि. ६.२०; पृ. ३४६)

–मयूरिका–स्त्री., वनस्पति० अजमोदा (ध. २.९८; पृ. ८९)

–मशक–पु., कीट० मशकभेदः तेन दष्टस्य कण्डूर्दंशः शोफश्च, नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडका दाहपाका भवन्ति (सुक. ८.३६-३७)

–मूत्र–न., गजस्य मूत्रम् (चसू. १.९४) तद्गुणाः–तिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनं तीक्ष्णं क्षारोपयोगि किलासघ्नं च (सुसू. ४५.२२६)

–मेदस्–न., गजमेदः, शाखादमेदसामहिततमम् (चसू. २५.३९)

–मेह–पु., रोग० प्रमेहभेदः वातजोऽयम्, सलसीकं मधुरमवेगं लसीकयैव च विबद्धमनुबद्धमजस्रं मत्तहस्तीव च मेहति (असंनि. १०.२८; चसू. १९.४-(९)) द्र० 'प्रमेह'

–रोध्रक–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३८; पृ. १२९)

–रोहणक–पु., वनस्पति० करञ्जभेदः, पूतिकरञ्जः (ध. ५.१०९; पृ. १९१)

–विष–न., खनिज० कङ्कुष्ठम् (र. २९.९०-९२)

–विषाणिका–स्त्री., वनस्पति० कदली (ध. ४.७५; पृ. १४८)

–शुण्डिका–स्त्री., गजशुंडा हस्तिहस्तः (सुचि. ३२.७)

–शुण्डी–स्त्री., वनस्पति० गुणाः– कटूष्णा सन्निपातज्वरापहा च (रापरि. ५.२०; पृ. ३४१)

–श्यामाक–पु., तृणधान्य० श्यामाकभेदः कषायमधुरलघुवातलशीतसंग्राह्यादिगुणः (चसू. २७.१७; ड. सुसू. ४६.२१)

–हस्त–पु., हस्तिशुण्डिका (सुचि. ३२.७)

हस्तिनी–स्त्री., पशु० करिणी (सुसू. ४६.५८-५९)

–क्षीर–न., हस्तिन्याः क्षीरम्, गुणाः– रसेन मधुरं, कषायानुरसं शीतं गुरु स्निग्धं स्थैर्यकरं चक्षुष्यं वृष्यं बल्यं च (चसू. २७.२२३; सुसू. ४५.५८-५९)

–घृत–न., घृत० हस्तिन्याः घृतम्, गुणाः–कषायं तिक्तं बद्धविण्मूत्रम् अग्निकरं लघु कफकुष्ठविषक्रिमिहरम् (सुसू. ४५.१०४)

–दधि–न., करिणीदधिगुणाः–कषायानुरसम् उष्णं पाके लघु, बलासघ्नं पक्तिनाशनं वर्चोविवर्धनं च (सुसू. ४५.७४; ध. ६.१९७; पृ. २४५)

हस्त्यस्थिक्षार–पु., हस्त्यस्थनः क्षारः, हस्तिमेहे पानार्थमुपयुज्यते (सुचि. ११.९)

हस्त्यालुक–न., कन्द० महाकाष्ठालुकम् (सुसू. ४६.२९८)

हांस–वि., हंसस्येदम् (चसू. १३.८३)

हाटक–न., खनिज० सुवर्णम् (र. २६.५१)

मान० कर्षमानम् (र. २०.९०)

हानव्यदन्त–पु., दन्त० हनुमूले स्थितः, राजदन्ततः षष्ठः सप्तमोऽष्टमश्च हानव्यः (कासू. २०.४)

हायन–पु., शूकधान्य० (चसू. २७.१२) द्र० 'शालि'

हायनक–पु., धान्य० शालिभेदः (चनि. ४.५)

हार–पु., मुक्तावलिः (चवि. ६.१७; अहसू. १३.५-१७)

–**यष्टि**–स्त्री., मौक्तिकमाला (सुउ. ४७.६४)

–**हूरा**– स्त्री., वनपति० उत्तरापथिकाद्राक्षा (रा. ११.७७; पृ. १८०)

हारिद्र–पु., शाक० सर्पच्छत्रानुकारी पीताभासः (अरु. अहसू. ७.४१)

वनस्पति० पलाण्डुः (रा. ७.१०१; पृ. १४८)

–**त्व**–न., वर्ण० पीतत्वम् (चसू. २०.१४)

–**नेत्र**–न., लक्षण० नेत्रस्य पीतवर्णत्वम् (चसू. २०.१४)

–**मूत्र**–न., लक्षण० मूत्रस्य पीतवर्णत्वम् (चसू. २०.१४)

–**मेह**–पु., रोग० प्रमेहभेदः। तल्लक्षणम्–पित्तजोऽयम् कटुकं सदाहं हरिद्राभं मेहति । हारिद्रमेही (असंनि. १०.२३)

–**वर्चस्त्व**–न., लक्षण० पुरीषस्य पीतत्वम् हारिद्रपुरीषता (चसू. २०.१४)

–**वह्नि**–पु., दारुहरिद्राकाष्ठाग्निः (अहसू. ७.४४)

–**शूलक**–न., दारुहरिद्राकाष्ठकृतं शूलम् (मांसभर्जन-पचनसाधनम्) (अहसू. ७.४४)

–**सीसक**–पु., हरिद्राकाष्ठकृतं भट्टित्रकरणकाष्ठम् (चसू. २६.८४)

हारिद्रक–पु., पक्षि० हरिताल (चसू. २६.८४)॥ सन्निपातज्वर० तल्लक्षणानि–देहनखनेत्रकरांघ्रिताप-हारिद्रत्वम्। तथा ष्ठीवनं कासश्च; असौ ज्वरः असाध्यः (मा. ज्वर. २४)

विष० पीतवर्णमिदं विषम् (र. २९.१८)

–**मांस**–न., हरिताल इति ख्यातस्य पक्षिणः मांसम् (चसू. २६.८४)

हारीत–पु., पुनर्वसोरात्रेयस्य शिष्यः, असौ तन्त्रकर्ता (चसू. १.३१)

पक्षि० हरितालः (सुसू. ४६.६७)

हार्य–वि., वनस्पति० विभीतकः (ध. १.२१२; पृ. ५०)

हाला–स्त्री., आसुत० मद्यम् (ध. ६.२५६; पृ. २५१)

हालाहल–न., विषम् (र. २.१२९) कन्दविष० अनेन श्यावत्वं चिरेणोच्छ्वासश्च भवति (असंउ. ४०) द्र०

हाव–पु., स्त्रीणां शृङ्गारचेष्टा (चक्र. चचि. २.१(९))

हास–पु., वनस्पति० शालिः (ध. ६.७०; पृ. २१९)

हास्तिक–वि., हस्तिन इदम् (चसू. १.१०२-१०३)

हास्यफल–पु., वनस्पति० विकण्टकः (रापरि. ११.२०; पृ. ३७४)

हाहा–(अव्य.) हाहाकारः (असंशा. १२.१२)

हिंसा–स्त्री., वधः (सुउ. ६०.५)

–**विहार**–पु., वधक्रीडनम् (ड. सुउ. ६०.२६)

हिंसार्थिन्–वि., मारात्मकः जिघांसुः (चचि. ९.२२)

हिंस्रा–स्त्री., वनस्पति० जटामांसी (चचि. ३०.६२; सुउ. ५१.१८)

हिंस्रादिघृत–न., घृत० श्वासकासारोचकादिव्याधि-समूहहन्तृ (सुउ. ५१.१८-२०)

हिंस्रादितैल–न., सिद्धतैल० तत् वातव्रणनाडी षु संशोधनपूरणरोपणार्थं चोपयुज्यते (सुचि. १७.१९-२०)

हिक्का–स्त्री., रोग० हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का इति शाब्दिकाः (ड. सुउ. ५०.६) तत्स्वरूपम्—सस्वनो वायुः यकृत्प्लीहांत्राणि आक्षिपन् इव मुखादुदेति स घोषवान् वायुरसून् हिनस्ति, ततः हिक्केति नाम (सुउ. ५०.६) संप्राप्तिः-उरःस्थो मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति, कफमुध्दूय हिक्कां करोति (चचि. १७.१७) भेदाः–अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा, महतीति पञ्च हिक्काः (सुउ. ५०.७) पञ्चसु हिक्कास्वन्नजा क्षुद्रजेति हिक्काद्वयं साध्यम्, महाहिक्का गम्भीरा चासाध्ये । सर्वलक्षणसमन्विता यमला असाध्या । तथैव चिरकालसंचितामस्य स्थविरस्य व्यवायिनः व्याधिभिः क्षीणदेहस्य भक्तच्छेदक्षतस्य च हिक्काः असाध्या भवन्ति । हिक्का मृत्युकाले कृतालापा शीघ्रकारिणी नाशाय भवति (अहनि. ४.३०-३१) सामान्यपूर्वरूपाणि कण्ठोरसोर्गुरुत्वं वदनस्य कषायता कुक्षेराटोपश्च (चचि. १७.१९) अरतिः (सुउ. ५०.८) सामान्यचिकित्सा–प्राणायामः उद्वेजनं त्रासनं सूचितोदैः संभ्रम इत्युपायाः हिक्कायां शस्ता (सुउ. ५०.१६)

–**कर**–वि., हिक्कां करोतीति, हिक्काजनकः (रोगः) (चइ. १०.६)

–**नाशक**–पु., पारदादियोग० पारदगन्धकधान्याभ्रक-हरितालमाक्षिका एकैकभागवृध्दया वचाकुष्ठहरि-द्रायवक्षारचित्रकपाठालाङ्गलीत्रिकटुसैन्धवविभीतक-वत्सनाभाश्च एकैकभागा भृङ्गराजरसेन मर्दयितव्याः अयं हिक्कावैस्वर्यकासान्नाशयति (र. १३.७१)

-निग्रहण-वि., हिक्कानाशकम्. तानि च द्रव्याणि शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षरुहाभयापिप्पलीदुरालभाकुलीरशृङ्ग्य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहाणि भवन्ति (चसू. ४.१४)

-प्रतिषेध-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ५०.१)

-श्वासचिकित्सित-न., अध्यायसंज्ञा० (चचि. १७.१)

-स्थान-न., कण्ठस्तनान्तरम् (सुउ. ५०.१९)

हिक्किका-स्त्री., हिक्का (र. २.१७५)

हिङ्गु-न., निर्यास० संज्ञास्थापनगणे, श्वासहरगणे, प्रोक्तमेकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६-१८) गुणाः- कटु उष्णं हृद्यं सरं चक्षुष्यं वातकफघ्नं बन्धशूलकृमिगुल्महृद्रोगोदराध्माननाशकं च (ध. २.३६; पृ. ७७) भेदिनीयवाग्वामुपयुक्तम् (चसू. २.२९) शिरोविरेचनकरम् (सुसू. ३९.६)

हिं.—हींग.

म.—हिंग.

गु.—वघारणी.

बं.—हिंगु.

संज्ञास्थापनगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१८) श्वासहरगणे एकं द्रव्यम् (चसू. ४.१६) शिरोविरेचनार्थमुपयुज्यते (सुसू. ३९.६)

-जटा-स्त्री., वनस्पति० हिङ्गुपत्री (इन्दु. असंउ. ९)

-नाडिका-स्त्री., निर्यास० हिङ्गु (रा. ६.६४; पृ. ७८)

-निर्यास-पु., भैषज्य० छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०) वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३४; पृ. १४) निम्बः (रा. ९.४४; पृ. १३)

-पत्र-पु., वनस्पति० इङ्गुदी (रापरि. ८.१७; पृ. ३५८)

(-पत्री)-स्त्री., वनस्पति० गुणाः-कटुस्तिक्ता उष्णा तीक्ष्णा हृद्यारुच्यापथ्यादीपनपाचनकरी वातकफघ्नी कृमिप्लीहाविबन्धार्शोगुल्मबस्तिशूलहृद्रोगामहरा च (ध. २.३८; पृ. ७७)

-पर्णी-स्त्री., वनस्पति० वंशपत्रिका (चक्र.) उन्मादचिकित्सायामुपयुक्तमेकं द्रव्यम् (चचि. ९.५७)

-शिवाटिका-स्त्री., वनस्पति० वंशपत्रिका (च. चचि. १०. ३७)

हिङ्गुपत्री (इ. असंउ. १०)

हिङ्गुल-न., खनिज० हिङ्गुलो द्विविधः, एकः शुकतुण्डः अपरो हंसपाकश्च । शुकतुण्डः पीतो, हंसपाकः श्वेतरेखः (र. ३.१५५) हिङ्गुलाहृतसूतो गन्धजारितपारदतुल्यगुणो भवति (र. ३.१५८) शृङ्गवेररसेन लकुचस्य स्वरसेन वा सप्तवारं भावयित्वा शोषितो हिङ्गुलः शुद्धो भवति (र. ३.१५९) मेष्याः क्षीरेणाम्लवर्गैश्च सुभावितो हिङ्गुलः साक्षात् वरकुङ्कुमप्रभं सम्पद्यते (र. ३.१६०) हिङ्गुलो जलसहिते पातनायन्त्रे पातितः स्यात्तर्हि तत्सत्त्वं सूतसङ्काशं जायते (र. ३.१६१) गुणाः- मधुरो तिक्तः कटुरुष्णः दीपनरसायनकरः सर्वदोषघ्नः सर्वरोगहरः पुष्टिकरो वृष्यश्च (र. ३.१५७)

हिङ्गुलाकृष्ट-वि., हिङ्गुलादार्द्रकस्वरसमर्दनानन्तरं विद्याधराख्ययन्त्रादाकृष्टः (पारदः) (र. ८.३७)

हिङ्गुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्र-न., यन्त्र० अन्तस्तले निहितशुष्कहिङ्गुलाया विशालमुखाया स्थालिकाया उपरि उत्तानामेव लघुस्थालीं स्थापयित्वा संधिलेपादिना रुध्वा ऊर्ध्वस्थाल्यां किञ्चिच्छीतजलं पुनः पुनर्दद्यात् । अधःचुल्यां वह्निं ज्वालयेत् प्रहरत्रयपर्यन्तम् । एतद्यन्त्रे पारदस्य हिङ्गुलाद्वियुज्योर्ध्वपात्रतले आकृष्टिकरं स्यात् (र. ९.५६-५७)

हिङ्गुलूक-पु., खनिज० हिङ्गुलः (र. १३.९-१२)

हिङ्गूल-न., खनिज० हिङ्गुलः (ध. ६.४०)

हिङ्गुलेश्वर-पु., वृद्धज्वराङ्कुशः (र. १२.४२)

हिङ्ग्वादिचूर्ण-न., हिङ्गु त्रिकटुकपाठाहपुषाऽभयाशठीतिन्तिडीकाऽम्लवेतसाऽजमोदाऽजगन्धादाडिमपुष्करचित्रकादीनां चूर्णमेतत् । पार्श्वहृद्बस्तिशूलवातकफात्मकगुल्माऽनाहमूत्रकृच्छ्रगुदयोनिजशूलग्रहण्यर्शोविकारपाण्डुामयाऽरुचिहिक्काकासश्वासगलग्रहनाशनम् (चचि. ५.७९-८३)

हिज्जुल-पु., वनस्पति निचुलः (रापरि. ८.७०; पृ. ३६३)

हित-पु., वनस्पति० यावनालः (रा. १६.१७१; पृ. २२९)

न., भेषजम् औषधम् (चचि. १.३(१); (चसू. २५.३३)

-चर्या-स्त्री., हितकरं वर्तनम् (अहसू. ११.४५)

-विहार-पु., हितकरो विहारः (अहसू. २७.५१)

हितल-वनस्पति० यावनालः (रा. १६.१७१; पृ. २२९)

हिताहार-पु., योग्याहारः (अहसू. २७.५१) यदाऽ-

हारजातं समश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोति तत् हितमाहारजातम् (चसू. २५.२३)

हिताहितीय–वि., अध्यायसंज्ञा० हिताहितद्रव्याण्यधिकृत्य कृतः (सुसू. २०.१)

हिध्मा–स्त्री., रोग० हिक्का (असंनि. ४.२९) (अहनि. ४.२९-३१)

हिन्ताल–पु., वनस्पति० तालः (रा. ९.९७; चक. १.८; पृ. १८२)

हिम–वि., गुण० शीतः, तस्य स्तम्भने शक्तिः (अहसू. १.१८)

आगन्तुशोथोत्पत्तेरेकं कारणम् (चसू. १८.४)

निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१; अहसू. ३.१; पृ. १०१)

न., वनस्पति० पद्मकम् (ध. ३.१४९; पृ. ११३)

रत्न० मौक्तिकम् (रा. १३.६७; पृ. २१८)

खनिज० वङ्गम् (रा. १३.१४; पृ. २०८)

वनस्पति० चन्दनम् (रा. १२.१०; सुउ. ४२.७१; पृ. ९४)

वनस्पति० वालकम् (र. १७.४३-४५)

वि., शीतवीर्यम् (र. ३.१०९)

(हिमा)–स्त्री., वनस्पति० द्राक्षाभेदः द्र० 'द्राक्षा' (रा. ११.७७; पृ. १८०)

मेदा (रा. ५.१६०; पृ. ३१)

रेणुका (रा. ६.९९; पृ. १०६)

मुस्ता (रा. ६.५९; पृ. १५)

चणिका (रापरि. ८.६५; पृ. २६२)

सूक्ष्मैला (रा. ६.६८; पृ. ७८)

–कर–पु., निर्यास० कर्पूरः (रा. १२.५६; पृ. १०१)

–जलपान–न., शीतजलपानं, तच्च तृष्णासु शर्मकरं भवति (चचि. २२.२२) द्र० 'जल'

–जा–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६३; पृ. ५७)

–त्रय–न, चन्दनत्रयम् मलयजरक्तचन्दन—दारुहरिद्राभेदेन त्रिविधम् (अरु. अहसू. १५.१९)

–दुग्धा–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६२; पृ. ५७)

–द्रुम–पु., वनस्पति० महानिम्बः (रा. ९.४६; पृ. १३)

–भूभृत्–पु., हिमालयपर्वतः (र. २.११२-१३)

असौ औषधिभूमीनां श्रेष्ठः (चसू. २५.४०; सुचि. २९.२७)

–वत्–पु., हिमालयपर्वतः (सुचि. २९.२७)

–वालुक–पु., निर्यास० कर्पूरः (ध. ३.३१; पृ. १०१)

–शर्करा–स्त्री., आहारद्रव्य० शर्कराभेदः मधुरातिक्तोष्णाऽतिपिच्छिलासारिकारुच्यावातघ्नीदाहपित्तास्रदायिनी च (रा. १४.१६३; पृ. ९१)

–संक्षय–पु., ऋतु० वसन्तर्तुः (सुचि. ३०.३१))

–संज्ञितकषाय–पु., कषाय० शीतकषायः (सुउ. ४९.२४)

–साह्वय–पु., ऋतु० हेमन्तः (सुसू. ६.२३)

–स्पर्श–वि., शीतस्पर्शः (अहसू. १०.१०)

हिमांशु–पु., पारदयोग० पारदं कर्षमात्रं रक्तागस्त्यपुष्पस्वरसेन सप्तवारं मर्दयेत् । तथा च श्वेतदूर्वारसेन ततश्च टङ्कणं निष्कद्वयं खदिरसारं कर्पूरं च प्रत्येकं कर्षं तत्र प्रक्षिप्य चन्दनक्वाथेन मर्दयेत् । कलायमात्रा वटकाः कुर्यात् । मात्रा–एकैको वटकः । समयः–प्रातर्मध्याह्ने रात्रौ च । असौ मेहमुखशोषसोमरोगपिटिकादाहतृष्णानाशकः (र. १७.१२२-२७)

हिमाद्रिजा–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६३; पृ. ५७)

हिमागम–पु., ऋतु० हेमन्तर्तुः शीतकालः (चसि. ६.४; अहसू. १३.३४)

हिमानद्ध–वि., हिमसंबद्धः, (डल्हणः) (सुसू. ६.२२)

हिमानी–स्त्री., आहारद्रव्य० शर्कराभेदः हिमशर्करा (रा. १४.१६३; पृ. ९१)

हिमालया–स्त्री., वनस्पति० भूधात्री (रा. ५.१४५; पृ.११३)

हिमाश्रया–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३; पृ. ३३१)

हिमोत्पन्ना–स्त्री., आहारद्रव्य० शर्कराभेदः यावनाली हिमशर्करा (रा. १४.१६३; पृ. ९१)

हिमोद्भवा–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६३; पृ. ५७)

सठी (रा. ६.८७; पृ. १९)

हियावली–स्त्री., वनस्पति० ह्यावली इति दक्षिणे (हजारी) (र. १७.११५)

हिरण्य–न., खनिज० अघटितं सुवर्णम्, घटितमिति चक्रः (चवि. ८. ९)

खनिज० सुवर्णम् (ध. ६.१; पृ. २०५)

-जकिट्ट-न., हिरण्याजातं, यथा सुवर्णकिट्टं, इदं हलीमकव्याधावुपयुज्यते (असंचि. १८)

-पुष्पी-स्त्री., वनस्पति० कलिकारी, स्वर्णकेतकी (ड. सुशा. १०.११)

हिरण्याक्ष-पु., ऋषि० यज्ञःपुरुषविषये विवदमान एकः (चसू. २५.१४)

हिलमोचिका-स्त्री., वनस्पति० वास्तुकम् (रापरि. ७.६२; पृ. ३५२)

हिलिमिलि-पु., मन्त्रे, ह्रां ह्रीम् इति उच्चारणम् (चचि. २३.९४)

हीन-वि., अल्पम् (अहसू. १.१९)

-कर्ण-पु., पञ्चदशकर्णबन्धेष्वेकः, अनधिष्ठानपालिः पर्यन्तयोश्च क्षीणमांसः (सुसू. १६.१०)

-दग्ध-वि., हीनं यथा तथा दग्धः अग्निना क्षारेण वा, यानि हीनातिसम्यग्दग्धलक्षणानि तेष्वन्यतमानि तत्र हीनदग्धलक्षणानि तोदः कण्डूः जाड्यं व्याधिवृद्धिश्च (सुसू. ११.२६)

-दन्तता-स्त्री., अल्पदन्तत्वम् दन्तानां सङ्ख्याऽल्पत्वम् (कासू. २०.६)

-दृष्टिक-वि., अदूरदर्शी (चइ. ३.६)

-योग-पु., अल्पयोगः (अहसू. १२.३६)

-योनि-स्त्री., स्वल्पा योनिः यस्याः सा (बाला) (काखि. ९.१९)

-रूप-वि., दुर्बलः, क्षीणाकृतिः (सुशा. ६.२६)

-विशोधित-वि., हीनशुद्धिशोधितः (सुचि. ३९.१३-१४)

-वीर्य-वि., अल्पवीर्यम् (असंसू. ७.२८)

-वेग-वि., अल्पवेगः (चक. १.१४)

-सत्त्व-वि., अल्पं मनोबलं यस्येति । तल्लक्षणानि-हीनसत्त्वास्तु नात्मना, नापि परैः सत्त्वबलं प्रति शक्नुवन्ते उपस्तम्भयितुम् महाशरीरा अपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते (चवि. ८.११९)

-स्वरता-स्त्री., लक्षण० शब्दह्रस्वत्वम् (सुसू. ३२.४)

हीनोत्तरौष्ठ-वि., लक्षण० स्वभावौष्ठात् अल्पतरौष्ठः (सुउ. ४७.२२)

हीर-न., खनिज० हीरकम् (रा. १३.५८; पृ. २१७)

(हीरा)-स्त्री., वनस्पति० काश्मरी (ध. १.११७; पृ. २८)

हीरक-न., रत्न० गुणाः- रसषट्कोपेतम्, रसायनदेहदार्ढ्यायुष्करं सर्वरोगनाशनम् (ध. ६.५५; पृ. २१६) खनिज० वज्रम् (र. ४.२-३) तस्य द्रुतिविधानम्-वज्रवल्लीजटायाः पिण्डमध्ये हीरकं स्थापयित्वा निरोधयेत् । ततः पोटल्यादिकं कृत्वा काञ्जिकादिपूरितपात्रे दोलाविधिना सप्तदिनपर्यन्तं स्वेदनं कार्यम् । एतादृशविधिना सप्ताहानन्तरं हीरकं द्रुतिं गच्छेत् ।

हिं.— हिरा.

म.— हिरा.

गु.— हिरो.

बं.— हिरे.

फा.— इल्माशः

हुडम्ब-पु., वनस्पति० गोधूमः (ध. ६.९७.पृ;२२७)

हुण्डन-न., शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशः यथा शिरोनासाक्षिप्रभृतीनाम् (चक. चचि. २८.२२)

हुत-न., हविर्द्रव्यम् (चचि. ३. ३१२)

वि., अग्नौ आहुतम् (चचि. ३.३१२)

-भक्ष-पु., हुतं भक्षयतीति हुताशनः, अग्निः (चचि. ३. ३१२)

-भुज्-पु., वनस्पति० चित्रकः सर्वे अग्निपर्यायाः चित्रकाभिधायका इति संकेतोऽत्रानुसन्धेयः (ड. सुउ. ५२.३०)

वह्निः (सुक. १.२९)

-वह-पु., अग्निः (सुचि. ८.२४)

हुताश-पु., वनस्पति० चित्रकः (सुउ. ४१.४७)

हुताशन-पु., जठरोऽग्निः (ड. सुउ. ३९.१७)

वनस्पति० चित्रकः (सुउ. ६१.३२)

हुताशमन्थ-पु., वनस्पति० अग्निमन्थः (र. १२.७४.)

हुताशवेश-पु., ऋषि० अग्निवेशः (चचि. ७.१८०)

हृत्-न., शारीर० हृदयम् (चसू. १७.३; सुसू. ४६.५११)

-कम्प-पु., लक्षण० हृदयस्य कम्पनवत् पीडा (सुसू. १५.९)

-पीडा-स्त्री., लक्षण० हृत्पीडनम् (सुसू. १५.९)

-प्रदोष-पु., हृद्रोगः (चचि. २६.८९)

-प्राप्ति-स्त्री., हृद्रोगः निरूहबस्तेरसम्यक्योग-संभवा व्यापत् वर्तते (चसि. ७.५)

-संशुद्धि-स्त्री., लक्षण० हृदयगतदोषशोधनम् (चसू. ५.३७)

(-स्तम्भ) पु.. लक्षण० हृदयस्य स्तब्धत्वमिवानुभूतिः (चचि. २६.७९)

(हृच्)-शुद्धी-स्त्री., लक्षण० हृदयगौरवाभावः (चसू. १६.५)

-शून्यभाव-पु., लक्षण० हृदि शून्यत्वमिवाभासः (चचि. २६.७९)

-शूल-पु., रोग० हृदयशूलः, कफपित्तावरुद्धो वायुः रसमूर्च्छितो, भूत्वा-हृदिस्थः सन् शूलं कुरुते। अयं शूलः परमुच्छ्वासरोधकः। अस्य व्याधेः हृच्छूल इति नाम, स च रसमारुतसंभवः (सुउ. ४२.१३१-१३२)

-शोष-पु., लक्षण० हृदयशुष्कता (चचि. २६.७९)

(हृद्)-गद-पु., रोग० हृद्रोगः (असंनि. ५.३७; अहसू. ४.२)

-ग्रह-पु., लक्षण० हृदयस्य ग्रहः, हृदयस्य बन्धनवद् वेदनाविशेषः इति हाराणचन्द्रः (चनि. ७.६)

-घट्टन-न., लक्षण० हृदयस्य घट्टनमिव वेदना (चसू. १७.१०१)

-दाह-पु., लक्षण० हृदि दाहः (चसू. १७.३३)

-द्रव-पु., लक्षण० हृन्मार्दवम् द्रवति इति हृदयं धुगधुगिति करोति (चसू. २०.११; १७.६४) हृदि कम्पः; अनुकम्पयेव पीडा हृदयस्य (अहसू. ११.१६)

-धात्री-स्त्री., वनस्पति० हिमावली (रापरि. ६.१८)

-धूमायन-न., (परिव०) लक्षण० हृदयस्य धूमापनम् धूमोद्वमनवत्पीडाविशेषः (असंसू. २७.२०)

-भेद-पु., लक्षण० हृदयस्य भेदनवत् पीडा (चचि. २६.७९)

-रुज्-स्त्री., लक्षण० हृदयस्य रुजा, हृदयस्य वेदना (अहसू. १५.४५)

-रोग-पु., रोग० अस्मिन् कुपिता दोषाः रसं दूषयित्वा हृदयं गत्वा हृद्रोगं कुर्वन्ति (सुउ. ४३.४) चतुर्विधो हृद्रोगः, दोषैस्त्रिभिः, कृमिभिश्च चतुर्थ इति। सुश्रुतमूलवचने हृद्रोगाश्चत्वार एव। डल्हणस्तु कृमिज एव सान्निपातिको हृद्रोग इति वर्णयति। चरके तु पञ्च हृद्रोगाः पृथक्दोषैस्त्रयः संनिपातेन चतुर्थः पञ्चमस्तु कृमिभिरिति। माधवे नाम माधवनिदाने चरकस्यैव मतं स्वीकृतम् (सुउ. ४३.५) वातजो हृद्रोगः-तत्र हृदयस्यायमनं, तोदः, निर्मथनं, दारुणं स्फोट पाटनमित्याद्याकारा वेदना भवन्ति (सुउ. ४३.६) पित्तजो हृद्रोगः-तत्र ऊषा तृषा दाहश्चोषो हृदयक्लमो धूमायनं मूर्च्छा स्वेदः मुखशोष इति पित्तहृद्रोग-लिङ्गानि (सुउ. ४३.७) कफजहृद्रोगे गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिरग्निमार्दवमास्यमाधुर्यमिति लक्षणानि (सुउ. ४३.८) कृमिजो हृद्रोगः-तत्र उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलो हृल्लासस्तमोऽरुचिः श्यावनेत्रता शोष इत्येतानि लिङ्गानि (सुउ. ४३.९) कृमिहीनानां वातादिजानां हृद्रोगस्योपद्रवाः एते-भ्रमः क्लमः सादः शोषश्चेति (सुउ. ४३.१०) कफदुष्टक्षीरगौरवात् तादृशं दुष्टं क्षीरं पिबतः शिशोः हृद्रोगो भवति (चचि. ३०.२४९-५०)

-रोगज-वि., हृद्रोगाज्जातं वैवर्ण्यादि (चचि. २६.७८)

-रोगप्रतिषेध-पु., अध्यायसंज्ञा० (सुउ. ४३.१)

-वल्लिका-स्त्री., वनस्पतिविशेषः (र. १२.१०७)

-विकर्तिका-स्त्री., लक्षण० हृदयपरिकर्तिकाकारा वेदना (चचि. २६.८४)

-विरुद्ध-न., अमनोरुचितम्, अहृद्यम्— (चसू. २६. १००)

-विशोधन- न., उपक्रम० वमनद्वारा हृदयाश्रितानां विषादिदोषाणां निर्हरणम् (च.चि २३. २३९ अहसू. ७.२७)

-व्यथा-स्त्री., लक्षण० हृदयस्य व्यथा (असंसू.५.२३)

हृतदोष-वि., हृतः दोषाः यस्य, सः (चसि. ६.१९-२०)

हृतौजस्-वि., लक्षण० क्षीणौजाः (असंसू. ५.३०) ज्वर० सन्निपातज्वर० अभिन्यासज्वरभेदः (सुउ. ३९.४१-४२)

हृदभिघात-परिव० पु. हृदयाभिघातः (चसि. ९.६)

हृदय-न., शारीर०उरःस्थोऽवयवः (चक. १.५) स्तनयोर्मध्यमधिष्ठाय उरसि आमाशयद्वारं हृदयं तिष्ठति (सुशा. ६.२५) स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् (अहशा. ४.१३) पुण्डरीकेण सदृशं हृदयमधोमुखं तिष्ठति, जाग्रतः तद्विकसति, निमीलति च स्वपतः (सुशा. ४.३२) हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च। दक्षिणतः यकृत् क्लोम च; शोणितकफप्रसादजं, हृदयं, तदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः। तद्विशेषेण चेतनाः स्थानम्। अतस्तस्मिंस्तमसावृते सर्वे प्राणिनः स्वपन्ति (सुशा. ४.३१) मांसपेशीचयरूपं रक्तपद्माकारमधोमुखम् (अरुण. अहसू. १२.१५) गर्भावस्थायां चतुर्थे मासि गर्भहृदयस्याभिव्यक्तिः भवति (सुशा. ३.१८) पुण्डरीकाकारहृदयस्य संबन्धिन्यो नाड्यो हृदय-

मांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृताः इति बृहदारण्यकोपनिषदि। हृदयं रसवहानां स्रोतसां मूलम्, प्राणवहानां स्रोतसां मूलम्, व्यानवायोः स्थानम्, रसस्थानम् (चवि. ५.८) ओजःस्थानम् (अहशा. ३.१३) अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनम् (चनि. ८.४) हृदयमेकं चेतनाधिष्ठानं च (चसू. ३०.३-५-७) हृदयतो रसधातुः शरीरे सर्वतः सिराभिर्निःसरति। स एव सिराभिः हृदयं चैति इति भेलसंहितायाम्। रसो यः स्वच्छतां यातः (फुप्फुसात्) स तत्रैव पुनः अवतिष्ठते। अनंतरं व्यानेन विक्षिप्तः स रसः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते (अरु. अहसू. १२.१५) हृदिस्थितेन व्यानेन रसस्य सर्वदेहे विक्षेपणं भवति (अहसू. १२.६) देहिनां देहे हृदयं सुखदुःखप्रकाशकं तच्च स्वतः पुनः पुनः संकोचविकासांश्च करोति। इति नाडीज्ञाने। प्राणवायुः हृदयधारकः (अहसू. १२.४) उरःस्थोऽवलम्बककफः स्ववीर्यादन्नवीर्यात च हृदयस्यावलम्बनं करोति (अहसू. १२.१५) दशप्राणायनेष्वेकम् (चसू. २९.३) पञ्चदशकोष्ठाङ्गेष्वेकम् (चशा. ७.१०) मनोऽधिष्ठानम् (हे. अहसू. १२.४) मर्म० सिरामर्मेदम्, तस्य स्थानमुरः, तत्रापि स्तनयोर्मध्ये, एतत्संख्ययैकम्, मानतश्चतुरङ्गुलम्, तत्स्वरूपम्-कमलमुकुलाकारमधोमुखं च, एतत्सद्यःप्राणहरं मर्म (सुशा. ६.६)
मनः (चवि. ८.९४)

-कर्षण-न., लक्षण० हृदये आकर्षणवत्पीडा (सुसू. ४२.९)

-क्रम-पु., लक्षण० हृदयस्य दौर्बल्यम्, क्लान्तिः (सुउ. ४३.७)

-क्षणन-न., लक्षण० उरःक्षतम् (का विशेषकल्पाध्यायः)

-ग्रह-पु., लक्षण० हृदयं केनचिदाकर्षणवत् संज्ञा (चनि. ८.६; सुचि. ३४.१०).

-चर-पु., श्लेष्मजक्रिमि० (चवि. ७.१२)
द्र० 'कृमि'

-द्रव-पु., लक्षण० परिश्रान्तस्येव हृदयक्षोभः, च (चचि. २०.२४)

-नाडी-स्त्री., शारीर० मण्डलसन्धिस्थानम् (सुशा. ५.२७)

-प्रलेप-पु., लक्षण० हृदये भूरिभारवत्पीडा (चसू. २१.४६)

-प्रिय-वि., मनःप्रियः (सुसू. ४६.४०७)

-रक्षा-स्त्री., उपक्रम० हृदयरक्षणम् (चक्र. चचि. २३.३२)

-रोधन-न., लक्षण० मनसः क्रियाप्रतिबन्धः (अहसू. ७.२३)

-विकर्षण-न., लक्षण० हृदयस्याकर्षणम् (असंसू. २७.३)

-विबन्ध-पु., लक्षण० हृदयस्यान्तःस्तम्भवत् वेदना (अहसू ४.८)

-शूल-न., लक्षण० हृदये शूलवत् वेदना (असंसू. २७.१०)

-स्पन्दन-न., लक्षण० हृदयस्य गतिः, हृदयस्य स्पन्दनम् (चचि. १६.१२)

हृदशुद्धि- स्त्री., हृदये दोषसंचितिः (सुचि. ३३.२४)

हृदामय-पु., रोग० हृद्रोगः (चचि. २६.९४)

हृदुत्क्लेश-पु. लक्षण० हल्लासः, अचिरादेव वमनसूचिका अवस्था (चचि. २०६ सुउ. ४२.१४३)

(हृन्)-नाल-न., खनिज० तीक्ष्णलोहप्रकाराणामन्यतमम् (र. ५.८०) द्र० 'लोह'

-मोह-पु., लक्षण० हृदो मोहः उन्मादवदल्पा विकृतिः (चसू. २०.११).

(हृल्)-लास-पु., लक्षण० हृदयस्य उत्क्लेशनम् (सुउ. ५६.२१-२२)
थूत्करणम् (ड. सुसू. ३८.५०-५१)

-लासिका-स्त्री.. लक्षण० हल्लासः (चसि. १.४३)

-लेप-पु., लक्षण० हृदिलेपवत् संवेदनाविशेषः (चसि. ७.९)

हृदयाद-पु., कफज-क्रिमि० (चसू. १९.४ (९).६)
द्र० 'कृमि'

हृदयापकर्तिन्-वि., लक्षण० हृदयपरिकर्तनरूपवेदनायुक्तम् (चवि. १.१७)

हृदयापकर्षण-न., लक्षण० हृदयहिंसनम् हृदयविकर्षणम् (चक्र. चसि. २.९)

हृदयापसरण-न., रोग० पीतौषधस्य भेषजोद्गारच्छर्दीनां निग्रहात् वातादयः कुपिता हृदयमुपश्रित्य हृद्ग्रहं घोरमावहन्ति। ततः प्रधानमर्मोपतापात् वेदनाभिरत्यर्थमातुरः पीड्यते। मोहहिध्माकासलालापार्श्वशूलयुतो वेपथुमान्नष्टसंज्ञो दन्तान्कटकटायत्युद्धृताक्षो जिह्वां खादति। तं रोगं हृदयापसरणमाहुः। तस्मै रुग्णाय भिषक् शीघ्रममुद्वर्त्यभ्यङ्गपूर्वं धान्यस्वेदेन परिस्वेद्य तीक्ष्णमवपीड

नस्यं दद्यात् । यष्टीमधुकमिश्रेण तन्दुलाम्बुना वमनम् आचर्यम् । कटुभिर्वा कफोत्तरस्य । ततो दोषशेषं पाचनीयैः पाचयेत् । यथादोषोच्छ्रयं च बस्तीन् वितरेत् (असंक. ३)

हृदयामय–पु., रोग० हृद्रोगः (चसू. १७.६)

हृदयावरण–न., उपक्रम० हृदयरक्षणम् (चचि. २३.४६)

हृदयप्रच्छादनम् (ड. सुक. १.७९)

हृदयावलम्बन–न., हृदयस्य स्वकार्यसामर्थ्यम् (ड. सुसू. २१.१४)

हृदयाविशुद्धि–स्त्री., लक्षण० हृदये दोषशेषत्वम्, हीनदोषापहृतत्वरूपायाः वमनव्यापद्, इदं लक्षणं भवति (सुचि. ३४-८)

हृदयस्य दोषेण युक्तत्वम्, तल्लक्षणं गौरवम् (चसू. १६.७)

हृदयोत्क्लेद–पु., लक्षण० हृल्लासः (सुसू. १५.१४)

हृदयोद्वेष्टन–न., लक्षण० हृदयस्यावमोटनम् (ड. सुउ. ३९.११६)

हृदयोपरोध–पु., लक्षण० हृदये रोधवत् पीडा (चचि. २३.११४)

हृदयावरणम्, लक्षण० (सुउ. ५५.७)

हृदयोपरोधन–न., (परिव०) लक्षण० हृत्पीडा (अहसू. ४.३)

हृदयोपलेप–पु., लक्षण० हृदयस्य स्तैमित्यम्, हृदये लेपवत्प्रतिपत्तिः (चसू. २०.१७)

हृदयोपसरण–न., लक्षण० हृद्ग्रहः (चक. चसू. १५.१३; सुचि. ३४.३)

हृद्य–वि., हृदयाय हितम् (चसू. ४.८) यथा आम्राम्रातकलिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति (चसू. ४.१०; सुचि. २४.२३)

मनोज्ञम् (सुउ. ६०.३४)

वनस्पति० जीरकम् (ध. २.६६; पृ. ८२)

(हृद्या)–स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (रा. ११.१९६; पृ. १२२).

–गन्ध–पु., वनस्पति० बिल्वः (ध. १.१०६; पृ. २६)

न., लवणभेदः काचलवणम् (रा. ६.४५; पृ. ७५)

(–गन्धा)–स्त्री., वनस्पति० जाती (ध. ५.१३७ पृ. १९८)

अजमोदा (रा.६.१५१; पृ. ९०)

–गन्धक–न., वनस्पति० अक्षम् (ध. २.३०; पृ. ७४)

हृष्ट–वि., स्तब्धम् (च. चसि. ९.५४)

–रोमन्–वि., लक्षण० स्तब्धानि रोमाणि यस्य सः (चइ. ६.१६)

हृष्टाङ्ग–वि., लक्षण० उद्धर्षितशरीरः (ड. सुक. ४'४२)

हृष्टाङ्गज–वि., लक्षण० हृष्टरोमा अङ्गजा रोमाणि इति यावत् (चचि. १०.११)

हेतु–पु., निदानम् (चनि. १.३) कारणम् (चसू. १.२४)

उपायः (सुसू. २७.४)

कारकहेतुः (सुसू. ३.१४)

न्यायावयव० उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः । यथा वह्नौ साध्ये, धूमादिति हेतुवचनम् । यथा च नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा, तत्र हेतुरकृतत्वादिति (चवि. ८.३१)

उपलब्धिकारणम् प्रमाणमिति यावत् तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति (चवि. ८.३३)

–प्रतिद्वन्द्व–वि., हेतुप्रत्यनीकम् (चसू. ७.४४)

–मत्–वि., औचित्यादिहेतुनिर्देशोपपन्नम् (चक. चसू. ६.५१)

–विपरीत–वि., निदानविपरीतम् (असंसू. १२.१७)

–विपर्यय–वि., हेतोरभावत्वेन हेतुविपरीतम् (अहसू. ८.२३)

–व्याधिविपरीत–वि., रोगस्यहेतोः विपरीतं तथा रोगस्यापि विपरीतम् (औषधादि) (चवि. २.१३)

हेत्वन्तर–न., तन्त्रयुक्ति० न्याये पदार्थ० प्रकृतहेतौ वाच्ये यद् विकृतहेतुमाह (चवि. ८.६३)

हेत्वर्थ–पु., तन्त्रयुक्ति० हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते । यथा–'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्' इति वातमधिकृत्योक्तम् । तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दं धातूनामिति करोति । तेन यथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते (चसि. १२.४१) यथा–मृत्पिण्डः अद्भिः प्रक्ष्विद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्ष्विद्यते इति (सुउ. ६५.११)

हेतोः प्रयोजनम् (चनि. ८.२५)

हेत्वर्थकारिन्–वि., रक्तपित्तादिव्याध्युत्पादकः (रोगः) (चनि. ८.२४)

हेत्वाभास–पु., न्याये पदार्थ० हेतुवदाभासते इति. (चवि. ८.५९)

हेम–पु., मान० अण्डिका (चक. १२.८८)
माषकः (असंक. ८)
वनस्पति० मञ्जिष्ठा (अहसू. २७.१)

(हेमा)–स्त्री., वनस्पति० गुणाः–मधुरा, शिशिरा, वृष्या चक्षुष्या, बलवर्धिनी, वातपित्तजित्, असृग्दाहजिच्च (रा. परि. ३.१३; पृ. ३३०)

–काञ्चन–न., वनस्पति० नागकेसरम् (ध. २.४८; पृ. ७९)

–कान्ता– स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १५९. पृ. १८)

–किञ्जल्क–न., वनस्पति० नागकेसरम् (रा. ६.७४; पृ.७९)

–केतकी–स्त्री., वनस्पति० केतकीभेदः, सुवर्णकेतकी, द्र० केतकी (रा परि. १०.३ पृ. २०४)

–क्रिया–स्त्री., (सुवर्णक्रिया) (र. २.९८-१००)

–क्षीरी–स्त्री., भैषज्य० कङ्कुष्ठम् (चचि. २५.५३; सुत्रि. ९.१४)
वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४२ पृ. ५७).

–गर्भपोटली–पु., पारदयोग० राजयक्ष्महरः सूत-भस्म द्विनिष्कं, स्वर्ण निष्कैकं, गन्धको निष्कद्वयः इत्येताँश्चित्रककाथेन मर्दयित्वा शोषयित्वा च वराटान्पूरयेत। ततस्तान् मृत्पात्रे गजपुटे पचेत् (र. १४.२६-२८)

–गौर–पु. वनस्पति० किङ्किरातः (ध. ५.१५६; पृ. २०२)

–चूर्ण–न., सुवर्णस्य रजः (चचि. २३.२३९)

–दुग्ध–पु., वनस्पति० उदुम्बरः (ध. ५.८६; पृ. १८६)

(–दुग्धा)–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४०; पृ. ५६; अहसू. १५.२)

(–दुग्धी) स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६५; पृ. ५७)

–प–वि., हेमसेवी नाम हेमचूर्णं सानुपानं पिबन्तीति (चचि. २३.२४०; अहसू. ७.२८)

–पात्र–न., सुवर्णभाण्डम् (असंसू. १०.३६)

–पादी–स्त्री., वनस्पति० हंसपादी (रा. ५.१६६; पृ. १५६)

–पुष्प–पु., वनस्पति० चम्पकः (ध.५.१४२; पृ.१९९)
अशोकः (रां. १०.२७२, पृ. २०३)
आरग्वधः (रा. ९.३३३; पृ. ५२)
आहुल्यम् (रापरि. ४.३४; पृ. ३३७)

–पुष्पक–पु., वनस्पति० लोध्रः (रा. ६.२३९; पृ.१२९)

–पुष्पी–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१४; पृ. ३३०)
स्वर्णुली (रापरि. ४.३०; पृ. ३३७)
मुसलीकन्दः (रापरि. ७.५८; पृ. ३५२)
इन्द्रवारुणी (रा. ३.३७२; पृ. ५८)

–फला–स्त्री., वनस्पति० सुवर्णकदली (रा. ११.११५; पृ. १४९)

–माक्षिक–पु., न., खनिज० सुवर्णमाक्षिकम् (र. २.८२; ध. ३.१४८; पृ. १२४) द्र० 'माक्षिक'

–यूथिका–स्त्री., वनस्पति० यूथिकाभेदः द्र० ' यूथिका ' (रा. १०.१५१; पृ. २००)

–रक्ती–स्त्री., वरलोहेन रक्तीकृतं स्वर्णं हेमरक्ती इति कीर्तितम् तारस्क्ती अपि हेमरक्तीवन्निर्मीयते (र. ८.१२)

–लता–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१४; पृ. ३३०)

–वती–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१३; पृ. ३३०)

–वर्णवती–स्त्री., वनस्पति० दारुहरिद्रा (ध. १.५९; पृ. १८)

–वल्ली–स्त्री., वनस्पति० हेमा (रापरि. ३.१४; पृ. ३३०)

–विमल–पु., खनिज० विमलः (धपरि. ६.७; पृ. २९०)

हेमन्–न., खनिज० सुवर्णम् (चचि. १.(३)-२३)
वनस्पति० नागकेशरम् (चसू. ३.२९)
पद्मकम् (असंउसू. ३०)
धत्तूरः (र. २७.१३)

हेमन्त–पु., ऋतु० शीतलक्षणः ऋतुः (चसू. ६.४) हेमन्ते आचरणविधिः, बलिनो जाठराग्निः हेमन्ते शीतसंरोधात्प्रबलो भवति। स वायुना ईरितः अल्पेन्धनो धातूनपचेत्। अतः हेमन्ते स्वाद्वम्ल-लवणान् रसान् सेवेत। हेमन्ते निशानां दैर्घ्यात् मनुष्यः प्रातरेव बुभुक्षितोऽस्ति। तस्मात् मूत्रो-त्सर्गादिकमवश्यं कार्यं संभाव्य यथोक्तं वातघ्नतैलै-रभ्यङ्गं, मूर्ध्नि तैलविमर्दनं, कुशलैः सार्धं नियुद्धं युक्तितः पादाघातं चानुशीलयेत्। ततः कषाया-पहृतस्नेही यथाविधिस्नातः, सदर्पेण कुङ्कुमेन प्रदि-ग्धोऽगुरुधूपितश्च स्निग्धान् रसान् पलं पुष्टं, गौडं,

मद्यं, मदिरामच्छसुरां च भजेत् । तथैव गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः भजेत् । नवमन्नं वसां तैलं च सेवेत । शौचकार्ये सुखोदकं भजेत् । प्रावराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतं शयनं, लघुभिरुष्णस्वभावैः रोमशिकारल्लीकाप्रायैः प्रावृतः सन् भजेत् । तथैव युक्त्यार्ककिरणान् स्वेदं भजेत् सर्वदा च पादत्राणम् । अङ्गारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारिणः शीतपारुष्यजनितो दोषो न जातु जायते
(अहसू. ३.७-१६; सुउ. ६४.२३-२७)

हेमाङ्ग–न., खनिज० सुवर्णमाक्षिकम् (र. १७.६७-६८)
द्र० 'माक्षिक'

हेमाङ्गत्वच्–स्त्री., चम्पकत्वक् (सुचि. २५.३९)

हेमाद्रि–पु., वाग्भटकृताष्टाङ्गहृदयस्य टीकाकारः, अनेनाष्टाङ्गहृदयस्यायुर्वेदरसायननाम्नी टीका विरचिता
(अहसू. १)

हेमाद्रिरसायन–न., सिद्धौषधि० सुवर्णभस्मामलक्याश्चूर्णं खादिररसेन मर्दयेत् भक्षयेच्च । अनुपानं मधु, तदनु च दुग्धम् । रिष्टलक्षणेष्वागत्स्वपि मानवो जीवत्यस्य प्रयोगात् (र. २६.१५)

हेमाह्व–पु., वनस्पति० चम्पकः (रा. १०.२४० पृ. १९९)

(हेमाह्वा)–स्त्री., वनस्पति० काञ्चनक्षीरी
(ध. १.२४२; पृ. ५७)
वनस्पति० पीतदुग्धा स्वर्णक्षीरी
(र. २०.१६०-६२)

हैम–पु., वनस्पति० किराततिक्तः (ध. १.३३; पृ. १४)
वि., संहतावयवत्वेन स्फटिकशिलाशकलसदृशावयवं हिमं तद्भवम् (जलम्) (सुसू. ४५.७) द्र० 'जल'

(हैमी)–स्त्री., वनस्पति० केतकीभेदः, सुवर्णकेतकी
द्र० 'केतकी' (रापरि. १०.३; पृ. २०४)
काञ्चनक्षीरी (रा. ५.३६३; पृ. ५७)

–वती–स्त्री., वनस्पति० वचा (चक. ४.१६)
(सुसू. ३८.५४-५५)
अतसी (रा. १६.१८७; पृ. २३१)
हरीतकी (ध. १.२०५; पृ. ४९)
काञ्चनक्षीरी (ध. १.२४०; पृ. ५६)
रेणुका (रा. ६.१००; पृ. १०६)
द्राक्षा० उत्तरापथिका द्र० 'द्राक्षा'
(रा. ११.७७; पृ. १८०)

हैयङ्गवीन–न., आहारद्रव्य० नवनीतम् (रा. १४.५१)

हैयङ्गवीनक–न., आहारद्रव्य० नवनीतम्
(रा. १५.२५७; पृ. २४८)

होतृ–पु., जुहोतीति, यज्ञियहवनकर्ता (चसू. ८.१८)
ऋग्वेदवित् (सुसू. ३४.१७-१८)

होम–पु., अथर्ववेदे चिकित्सा० तत्र यज्ञो हवनं च
(चसू. ३०.२१; सुसू. ६.२०)

–धान्य–न., वनस्पति० तिलः (ध. ६.१२२)

होम्य–न., आहारद्रव्य० घृतम् (रा.१५.२०२)

होरा–स्त्री.,जन्मराशिः (सुसू. ३२.४)

होलाकस्वेद–पु., उपक्रम० त्रयोदशस्वेदेष्वेकः, तस्य प्रक्रिया, करीषाणां धीतिकां शयनान्तःप्रमाणेन कुर्यात्; धीतिका नाम शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयविशेषः, तां धीतिकां प्रदीपयेत्, सुदग्धायां विधूमायां च तस्यामुपरि शय्यामुपकल्पयेदभ्यक्तो नरः तत्र स्वपन् स्ववच्छन्नः सुखं स्विद्यतीत्येष होलाकस्वेदः (चसू. १४.६१-६३)

ह्रद–पु., जलाशय० सरः (ड. सुचि. ३०.३०)

ह्रस्व–वि., अदीर्घम् (सुशा. ५.४०)
प्रमाणहीनम् (ड. सुचि. ३६.९)
पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२५)
न., खनिज० कासीसम् (ध.३.१२५)

(ह्रस्वा)–स्त्री., वनस्पति० मुद्गपर्णी (ध. १.१३८)
विष्णुक्रान्ता (ध. ४.११५)
जम्बूः (रा. ११.१३४; पृ. १८६)

–कुम्भ–पु., वनस्पति० कुशः
(रा. ८.२०७; पृ. १६१)

–गवेधुका–स्त्री., वनस्पति० नागबला
(ध. १.२८४; पृ. ६५)

–ग्रीव–वि., लक्षण० उक्ताङ्गुलिप्रमाणात् किञ्चिदूनग्रीवायुक्तः (सुसू. ३५.४)

–जङ्घा–स्त्री., लक्षण० उक्ताङ्गुलिप्रमाणात् किञ्चिदूना जङ्घा (सुसू. ३५.४)

–जाड्य–पु., नेत्ररोग० दिवसेषु कृच्छ्रात् महदपि ह्रस्वं पश्यति, रात्रौ न पश्यति इति
(सुउ. ७.४०) अयमसाध्यः (सुउ. १.३१)

–पर्ण–पु., वनस्पति० प्लक्षः (रा. ११.१२६; पृ.१८५)

–पुष्प–पु., वनस्पति० जलमधूकः
(ध. ५.४८; पृ. १७७)

–फल–पु., वनस्पति० नारिकेलः
(रा. ११.११०; पृ. १८४)

(-फला)-स्त्री., वनस्पति० जम्बूः (रा. ११.१३४; पृ. १८६)

-मूल-न., स्थिरादिपृञ्चकमूलम् (चसि. ३.३८)

इक्षु० रक्तेक्षुः द्र० 'इक्षु' (रा. १४.१८९; अहसू. ६.१६८; पृ. १५९)

-मेढ्र-वि., लक्षण० उक्ताङ्गुलिप्रमाणात् कञ्चिदून-मेढ्रयुक्तः (सुसू. ३५.४)

ह्रस्वाङ्ग-पु., वनस्पति० जीवकः (ध. १.१२३; पृ. ३०)

ह्रस्वैरण्ड-पु., वनस्पति० एरण्डभेदः रक्तैरण्डः द्र० 'एरण्ड' (रा. ८.४४७; पृ. ६८)

ह्री-स्त्री., मनोविकार० लज्जा, ह्रियमपत्रपणेन परीक्षेत (चवि. ४.८)

-बेर-न., वनस्पति० वालकम् (चसू. ५.२१) उशीरम् (सुउ. ३९.३००)

ह्रीयमाण-वि., आकृष्यमाणः (ड. सुउ. ३९.७१)

ह्रेषित-न., वाजिध्वनिः (सुसू. २९.२७-३०)

ह्लादन-वि., ह्लादयति सुखयति इति ह्लादनः सुखकारी (सुसू. ४६.५१५) आश्वासकः (अहसू. १०.२)

ह्लादा-स्त्री., वनस्पति० सल्लकी (ध. ३.१३५; पृ. १२२)

ह्लादिन्-वि., आह्लादकम् आह्लादकरम् (र. ४.१४) सुखजनकम् (हे अहसू. ५.१)

परिशिष्ट

अस्थिगणना—काश्यपसंहिता

३२ दन्ताः
३२ दन्तोलूखलानि
६० पाणिपादांगुलास्थीनि
२० नखाः
२० पाणिपादशलाकाः
४ पाणिपादशलाकाधिष्ठानचतुष्टयम्
२ पाष्ण्र्योः अस्थिनी
४ पादयोः कूर्चाः
२ हस्तमणिकौ (मणकास्थि)
४ अरत्निषु
२ जान्वस्थि
४ जंघयोः
२ ऊरुनलकौ
२ जानुकपालिके
२ अंसौ
२ अंसफलकौ
२ अक्षकौ
२ बाहुनलके
२ श्रोण्यस्थिनी
२ ताल्वस्थिनी
१ जत्रु
१ भगास्थि
१५ ग्रीवास्थीनि
४५ भार्गवास्थीनि पृष्ठयानि
१४ उरसि
१ हन्वस्थि
४ शिरसः कपालास्थीनि
२४ पार्श्वे
२४ पार्श्वास्थिस्थालकानि
२४ स्थालकार्बुदानि
२ शंखौ
२ हनुमूलबंधने
४ ललाटनासिकागंडकूटास्थ्येकं

द्वात्रिंशत्तु मता दन्तास्तावन्त्यूखलिकानि च
पाणिपादांगुलास्थीनि षष्टि स्युर्विंशतिर्नखाः
पाणिपादशलाकास्तु विंशतिः परिकीर्तिताः
पाणिपादशलाकानामधिष्ठानचतुष्टयम्
द्वे पाष्ण्र्योस्थिनी कूर्चाश्चत्वारः पादयोः स्मृताः
द्वावेवहस्तमणिकौ चत्वार्याहुररत्निषु ।
जान्वस्थिनी द्वे संख्याते चत्वार्यस्थीनि जंघयोः
द्वावूरुनलकौ द्वेच ख्याते जानुकपालिके
द्वावंसावंसफलकावपिद्वावेव चाक्षकौ
द्वे बाहुनलके द्वे द्वे श्रोणितालूषकेतथा ।
एकं जत्रूभगास्थ्येकं ग्रीवा पंचदशास्थिकी
भार्गवास्थीनि पृष्ठयानि चत्वारिंशच्च पंच च
चतुर्दशास्थीन्युरसि हन्वस्थ्येकं तु निर्दिशेत्
शिरसस्तुकपालानिचत्वार्याहुर्मनीषिणः
चतुर्विंशतिःपार्श्वे च तावन्ति स्थालकानि च
चतुर्विंशतिरेवाहुःस्थालकार्बुदकानि च
द्वौ शंखौपरिसंख्यातौ द्वे हनुमूलबंधने
ललाटनासिकागंडकूटास्थ्येकंविनिर्दिशेत्
इत्यस्थिसंख्यासामान्यात् वृद्धिर्ह्रासौनिमित्तजौ ॥

आवृतवात—कुपिताभ्यां पित्तश्लेष्मभ्यांधातुभिर्मलैश्च यदा वायोः आवरणं भवति तदा तादृशं वातं आवृतवातमित्याचक्षते । पञ्चानां वायूनामपि परस्परमावरणं सम्भाव्यते । अस्यामवस्थायां आवृतदोषकार्यक्षयः आवरकदोषाणां च कार्यवृद्धिः सम्पद्यते (चचि २८. ५८-८०)

—शेषाभ्यां दोषाभ्यां धातुभिर्मलैश्च आवृतवातलक्षणानि,

१ यदा हि पित्तेन वातः आवृतः भवति तदा दाहः, तृष्णा, शूलः, भ्रमः, तमः, कट्वम्ललवणोष्णै. विदाहः शीतकामता च भवन्ति ।

२ कफेन यदा वातः आवृतो भवति तदा शैत्यं, गुरुत्वं, शूलः लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च भवन्ति । कटुतिक्तकषायै रसै उपशयो भवति ।

३ रक्तेन वाते आवृते त्वङ्मांसाभ्यन्तरे अतीव पीडा दाहश्च भवति । तथैव रागयुक्तः श्वयथुः मण्डलानि च जायन्ते ।

४ मांसेन वायुर्यदाऽऽवृतो भवति तदा – विवर्णाः कठिनाः पिडकाः भवन्ति; अपि च श्वयथुः, हर्षः गात्रेषु पिपीलिकानां संचार इव प्रतीयते ।

५ मेदसावृतवातलक्षणानि – गात्रेषु चलः स्निग्धः मृदुः शीतः शोफ उपद्यते, अरुचिश्चापि संभवति तदा स आढ्यवात इति भण्यते । कृच्छ्रसाध्योऽयम् ।

६ अस्थ्नाऽऽवृते वाते उष्णाभिकांक्षा, पीडनं चापि रुग्ण इच्छति तस्य गात्राणि संभज्यन्ते, सीदन्ति, सूचीभिरिव तुद्यन्ते च ।

७ मज्ना वायुः आवृतश्चेत् विनामः, जृम्भणं, परिवेष्टनम्, शूलं च भवन्ति । पाणिभ्यां पीड्यमाने सुखं लभते ।

८ शुक्रेण वायौ आवृते शुक्रस्य अवेगोऽतिवेगो वा भवति, निष्फलत्वं चापि तस्थ ।

९ अन्नेनावृते वायौ भुक्ते कुक्षौ रुग् भवति जीर्णे च रुग शाम्यति ।

१० मूत्रेण वायौ आवृते मूत्राप्रवृत्तिः, आध्मानं, बस्तौ अनुभूयते ।

११ वर्चसा आवृते वायौ वर्चसस्तीव्रतरो विबन्धः, तत्स्थाने परिकृन्तनमिव पीडा, प्रदत्तस्य स्नेहस्य आशु पचनं, भुक्ते आनद्धत्वं, अन्नेन पीडितं चिरात् दुःखं, शुष्कं च मलप्रवर्तनं श्रोणि वंक्षणपृष्ठेषु रुग, मारुतस्य विलोमत्वं, हृदयं चापि अस्वस्थं भवति ।

सर्वेषामेतेषां सामान्यचिकित्सा-स्रोतसां शुद्धिकारिभिः अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः भोजनैरौषधीभिश्च चिकित्सा अत्र कर्तव्या । सा चिकित्सा कफवाताविरुद्धा वातानुलोमिका च भवितुमर्हति । सर्वस्थानावृते वाते यत् मारुते हितं तदाशु कर्तव्यम् । बलाधिक्यं समीक्ष्य मधुरा: सानुवासना बस्तयः योज्याः मृदु वा स्रंसनं अबलत्वे देयम् । शिलाजतोः गुग्गुलोश्च उपयोगः पयसा रसायनविधिना कार्यः । क्षीरभुक् नरः भार्गवप्रोक्तं लेहं अभ्यसेत् । तथैव अभयामलकीयाध्याये प्रोक्ता एकादश रसायनयोगानां सेवनं हिताशिने गुणावहा भवन्ति । (चचि. २८-६१-७२)

पञ्चनामपि समीरणानामन्योन्यावरणलक्षणानि चिकित्साच—

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ।
व्याने प्राणावृत्ते लिङ्गम् कर्म तत्रोर्ध्वंजत्रुकम् ॥
(चचि २८-२०२)

१ व्याने प्राणेनावृते सति सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं स्मृतिबलक्षयं च भवतः ।

तत्र ऊर्ध्वजत्रुगतविकारवत् चिकित्सा कार्या ॥
स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुसगात्रता ।
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥

२ प्राणेव्यानेन आवृते सति अत्यर्थं स्वेदागमनं, लोमहर्षः । त्वग्दोषः सुसगात्रता च भवन्ति । तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनं देयम् ।

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकता ।
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः ॥

३ समाने प्राणेन आवृते सति जडता, गद्गदत्वं मूकता च भवति । तत्र सयापनाः चतुष्प्रयोगाः स्नेहाः शस्यन्ते ।

सामनेनावृतेऽपाने ग्रहणी पार्श्वहृद्गदाः ।
शूलंचामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते ॥

४ समानेन अपाने आवृते सति ग्रहणी पार्श्वहृद्गदाः आमाशये शूलं चापि जायते-तत्रदीपनंसर्पिःइष्यते शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वास संग्रहः ।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ॥

५ तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा प्राणेन वायुना यदा उदानः आवृतो भवति तदा शिरोग्रहः प्रतिश्यायः निःश्वासोच्छ्वासयोरवरोधः हृद्रोगा मुखशोषश्च भवन्ति । तत्र उर्ध्वजत्रुमाश्रित्य चिकित्सा तथैव आश्वासनं कार्यम् ।
कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा ।
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ॥
सिञ्चेदाश्वासयेच्चेनं सुखं चैवोपपादयेत् ।

६ यदाहि उदानेन प्राणवायुः आवृतो भवति तदा ओजसः बलवर्णयोश्च कार्यनाशः वा मृत्युरपि भवति । तत्र चिकित्सा-रोगिणं शीतेन वारिणा शनैः सिञ्चेत् आश्वासयेत् येन रोगिणं सुखं स्यात् तत् सर्वमुपचरेत् । उर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासाद्यो गदाः । स्युर्वाते तत्र बस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम् ॥

७ उर्ध्वगेन उदानेन वायुना अपाने आवृते सति छर्दिः श्वासादयो विकारा संभवन्ति । तत्र बस्त्यादय उपचाराः वातानुलोमनं च भोज्यं देयम् ।

८ मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार उर्ध्वगेऽपान संवृते ।
वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम् ॥
ऊर्ध्वगः उदानः यदा अपानेन आवृतो भवति तदा मोहः अल्पाग्नित्वं अतिसाराश्च भवंति । तत्र वमनं कारयित्वा दीपनं ग्राहि च औषधं अन्नंच देयम् ।

९ वम्या ध्मानमुदावर्तगुल्मार्ति परिकर्तिकाः ।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ॥

१० व्यानेन यदा अपानः आवृतः स्यात् तदा वमिः आध्मानं उदावर्तः गुल्मः परिकर्तिकाश्च भवन्ति । तत्र स्निग्धोपचारैः अनुलोमनं कार्यम् ।

११ आपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम् । अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं मतम् ॥
यदाहि अपानः व्यानं आवृणोति तदा विण्मूत्ररेतसां अतिप्रवृतिः भवति । तत्र सांग्राहिकी चिकित्सा कार्या.

१२ मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम् ॥
समानेन यदा व्यानः आवृतो भवति तदा मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलापः, अंगसादः अग्नेः ओजसश्च तथा बलस्य क्षयो भवति । तत्र व्यायामः लघुभोजनं च कर्तव्यम् ।

१३ स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम्
उदानेनावृते ध्याने तत्र पथ्यं मितं लघु ॥
यदा हि उदानेन व्यानः आवृतो भवति तदा स्तब्धता, (चचि २८.२०२-२०६) अल्पाग्निता, स्वेदराहित्यं चेष्टाहानिः अक्ष्णोश्च निमीलनं भवति । तत्र पथ्यं मितं च भोजनं देयम् ।

कुम्भीपुट– न., गजपुटम् (र. १६.१३०)

कुम्भीमद– पु., हस्तिमदः (रापरि. ६.२०.)

प्राकृत दोषाणां विकारकर्तृत्वम् तद्यथा-

१ यदा पित्तं प्रकृतिस्थं सदपि मारुतस्य वृद्धिः श्लेष्मणश्च क्षयः स्यात् तदा स च वृद्धः मारुतः प्रकृतिस्थं पित्तं आदाय शरीरे यत्र तत्र विसर्पति, तत्र तत्र भेदः दाहश्च भवति । लक्षणान्येतानि सविकल्पानि भवन्ति । तस्मिन् गात्रदेशे श्रमः दौर्बल्यं च भवतः ।

२ प्राकृतं कफं वृद्धो वायुः पित्तस्यच क्षीणायां अवस्थायां शैत्यं स्तम्भं गुरुत्वंच करोति ।

३ यदाहि वायुः समो भवति, पित्तं वृद्धं श्लेष्माच क्षीणः स्यात् तदा तत् वृद्धं पित्तं समं वायुं संरुध्य दाहं शूलं च कुरुते ।

४ श्लेष्मा हि यदा प्रकृतिस्थः पित्तं वृद्धं वायुश्च क्षीणः भवेत् तदा तत् वृद्धं पित्तं श्लेष्माणं संरुध्य तन्द्रां, गौरवं, ज्वरं च करोति ।

५ यद्याहि वायुः प्राकृतः श्लोष्मावृद्धः पित्तं च क्षीणं स्यात् तदा शैत्यं गौरवं रुजा च भवति ।

६ यदा पित्तं समावस्थायां श्लेष्मा वृद्धः समीरणश्च क्षीणः स्यात् तदा स वृद्धः श्लेष्मा समं पित्तं संरुध्य मृद्वग्नित्वं, शिरोग्रहं च कुरुते । तथैव च निद्रां प्रलापं हृद्रोगं गात्रगौरवं नखादीनां पीतत्वं कफपित्तयोश्च ष्ठीवनमित्यादीनि लक्षाणानि कुरुते ।

७ पित्तं समं श्लेष्मावृद्धः वातश्च क्षीणः यदा स्यात् तदा स वृद्धः श्लेष्मा पित्तेन सह शरीरे चरन् अरोचकं, अविपाकं अङ्गसदनं गौरवं हृल्लासं आस्यस्रवणं पाण्डुतां दूयनं मदं विरेकस्य अनलस्यापि च वैषम्यं उत्पादयति ।

८ श्लेष्मा प्राकृतः मारुतः वृद्धः पित्तं च यदा क्षीणं भवति तदा स वृद्धो मारुतः स्तम्भं, शैत्यं, तोदं च विकल्पेन जनयति । अपि च गौरवं, अग्निमांद्यं भक्ताश्रद्धां, प्रवेपनं नखादीनां शुक्लत्वं गात्रपारुष्यं चोत्पादयति ।

९ यदा हि मारुतः समः स्यात् पित्तं कुपितं कफश्च क्षीणः स्यात् तदा भ्रमः उद्वेष्टनं, तोदः, दाहः, स्फुटनं, वेपनं, अङ्गमर्दं, परिशोषं, दूयनं, धूपनमित्येतानि लक्षणानि सम्भवन्ति ।

१० समः कफः वातपित्तयोः द्वयोरपि क्षीणावस्थायां स्रोतांसि पिधाय चेष्टाप्रणाशं मूर्च्छां वाक्सङ्गं च करोति ।

११ समं पित्तं वातश्लेष्मणोश्च क्षीणावस्थायां देहस्थं ओजः स्रंसयत् ग्लानिं, इन्द्रियदौर्बल्यं, तृष्णां, मूर्च्छां क्रियाक्षयं च करोति ।

१२ वायुः समः पित्तश्लेष्मणोश्च क्षीणावस्थायां मर्माणि अतीव पीडयत् संज्ञां नाशयति कम्पं वा कुरुते ।

ब्रह्मन्—तीर्थ-न., वनस्पति० पुष्करमूलम् (रा. ६. ९३)

—दण्डी-अजदण्डी, कण्टपत्रफला चेत्यपरपर्यायौ। (रापरि. ५. ४७) (रस.र. ११. ५२; २४. ६०; २५. ८७)

गुणाः—कटुः उष्णा कफवातघ्नी शोफापहा च ।

हिं.-ब्रह्मदण्डी, उटकटारा.

म.-ब्रह्मदंडी.

गु.-ब्रह्मदण्डी.

बं.-छगलदडी, वामनदांडी.

लक्ष्मीविलास-पु., पारदयोगः अभ्रकपारदगन्धकमरिचतिन्दुकटङ्कणानि चतुरेक द्विषट्षट्षडभागिकानिभृङ्गराजाऽऽर्द्रकगुञ्जायवानी पुनर्नवानां रसैस्त्रिर्भावयेत् ततश्चार्कपत्रेण संवेष्टय पुटपाकेन पचेत् । योगोऽयं क्षयरोगनाशकः कान्तिवृद्धिकरश्च (र. २६. ५४-५५)

लङ्घन-न., उपक्रम० उत्प्लुत्य गमनम्, गर्तादुत्क्रमणम् वातप्रकोपकारणम्(चवि. ६.१८) (सुचि.२४.९६) (ड. सुसू. २१. १९)

विषमज्वर-पु., ज्वर० गुरवो दोषा सन्ततादिरूपं विषमज्वरं कुर्वन्ति । प्रायोहि रक्तधातुगतादोषाः सततकं मेदोवहाः सिरा रुध्वाऽन्येद्युष्कं, अस्थिमज्जगतास्तृतीयक चतुर्थकौ कुर्वते । (चचि.३.५३.६४) शोणितमाश्रित्यान्येद्युष्कं, मांसस्रोतांस्यनुगतस्तृतीयकं मेदोमार्गं संश्रित्य चतुर्थकं कुर्वते इति एके। (चचि. ३. ६५.६६)

सुश्रुतमतम्—अल्पो दोषोऽन्यतमं धातुं प्राप्य विषमं करुते ज्वरम् । तत्र रसस्थः सन्ततं रक्तस्थः सततं पिशिताश्रितः अन्येद्युष्कं मेदोगत-स्तृतीयकं अस्थिमज्जगतश्चातुर्थकं कुर्यात्
(सुउ. ३९.६६-६८)

स्थानगता विषमज्वरायथा—कफस्थानानि आमाशयोरः कण्ठ—शिरासन्धयप्रभृतीनि समाश्रित्यापि स्वल्पो दोषः विषमज्वरं कुरुते तद्यथा—आमाशययस्थः सततं उरस्थः अन्येद्युष्कं कण्ठस्थस्तृतीयकं शिरस्थश्चातुर्थकं-सन्धिस्थश्च प्रलेपकं करोति ।

(सुउ. उ. ३९. ५१-५२)

चरकप्रतिपादिता विषमज्वरा बहुदोषकृताः अल्पदोषकृतास्तु सुश्रुतेन प्रतिपादिता भवन्ति इत्यत्रावधेयम्

काश्यपमतम्-- अस्थिमज्जगतो वायुः सततमन्येद्युकं तृतीयकं चतुर्थकं च ज्वरं करोति । (काखिल. १. १९-२०)

निरुद्धमार्गो वायुः तं तं दोषं समादाय यथास्थानं प्रपद्य च विषमज्वरं कुरुते ।

सन्धिगतस्तु ज्वरः कश्यपेन नोक्तः ।

सव्यभिचारम्—नाम यत् व्यभिचरणम् अनैकान्तिकमित्यर्थः । —यथा— भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा न ॥ (चवि. ८. ४५)

अनैकान्तिकं चात्रौषधं यौगिकत्वायौगिकात्वाभ्यां संशयजनकमेव, तेन संशयेन सममेकता न शङ्कनीयाऽनैकान्तिकस्य ।

सान्निपातिकज्वराः-- वातपित्तोल्बणे मन्दकफे सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि— भ्रमः, पिपासा, दाहः, गौरवं, शिरसि च अतिरुक् भवति ।

वात श्लेष्मोल्बणे पित्ते अवरे सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि-शैत्यं, कासः, अरुचिः, तन्द्रा, पिपासा, दाहा, रुग. व्यथाचेति ।

मंदवाते पित्तकफोल्बणे सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि-छर्दिः, शैत्यं, मुहुर्दाहः, तृष्णा, मोहः, अस्थिषु च वेदना भवंति ।

वातोल्बणे शेषयोर्द्वयोर्दोषयोरनुगमनं चेत्तदा सान्निपातिके ज्वरे इमानि लक्षणानि भवन्ति । तद्यथा सन्ध्यस्थिषु शिरसि च शूलः प्रलापः, गौरवं भ्रमः तृष्णा, कण्ठस्य शुष्कता चेति ।

पित्तं गरीयसि सान्निपतिके ज्वरे लक्षणानि—रक्त-विण्मूत्रता, दाहः, स्वेदः, तृट्, बलसंक्षयश्चेति, कफोल्बणे सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि—आलस्यः अरुचिः, हृल्लासः, दाहः, वमिः, अरतिः, भ्रमश्चेति हीनवाते पित्तमध्ये श्लेष्माधिके सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि—प्रतिश्यायः छर्दिः, आलस्यं, तन्द्रा, अरुचिः, अग्निमार्दवं च ।

हीनवाते मध्यकफे पित्ताधिके सांनिपातिके ज्वरे लक्षणानि-हरिद्रमूत्रनेत्रत्वं, दाहः, तृष्णा, भ्रमः, अरुचिश्च ।

हीनपित्ते, मध्यकफे, मारुताधिके सान्निपातिके ज्वरे लक्षणानि- शिरोरुग्, वेपथुः, श्वासः, प्रलापः, छर्दिः अरोचकश्च ।

हीनपित्ते वातमध्ये श्लेष्माधिके सांनिपातिके ज्वरे लक्षणानि-- शीतकः, गौरवं, तन्द्रा, प्रलापः, अस्थिषु शिरसिच तीव्रा रुग् भवति ।
कफहीने पित्तमध्ये वाताधिके सांनिपातिके ज्वरे लक्षणानि--श्वासः कासः प्रतिश्यायः मुखशोषः पार्श्वयोः अतिरुक् च ।

कपहीने वातमध्ये पित्ताधिके सान्निपातिकेज्वरे लक्षणानि-वर्चोभेदः अग्निदौर्बल्यं, तृष्णा, दाहः अरुचिः भ्रमश्चेति (चचि. ३. ९१–१०२)

चिकित्सा नियमः–सान्निपातिके ज्वरे क्षीणदोषस्य वर्धनं, उद्रिक्त दोषस्य च क्षपणं कार्यम् । वा कफ-स्थानानुपूर्व्या तुल्य कक्षान् जेतव्यम् ।

आयुर्वेदीय शब्द कोश

॥ संस्कृत ॥

शीर्षक—शुद्धिपत्र

पृष्ठ	स्तंभ	अशुद्ध	शुद्ध
६	४	१७	१०
८	१	अग्र–अभ्या	अभ्या
१२	१	अजगन्धा	अजगर
१४	१	अञ्जन–अञ्जनकी	अञ्जनकी

आयुर्वेदीयशब्दकोश

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
निवेदनम्	२	११	" आयुर्वेदज्ञानकोशः "	" आयुर्वेदस्य ज्ञानकोशः "
		१५	वाज्मयीनः	वाङ्मयिकः
१	३	१८	पराडकर–अकोला	पराडकरः अकोला
१४	— शीर्षक —		आयुर्वेदीय शब्दः कोशः अर्थात् आयुर्वेदीय महाकोशः	आयुर्वेदीयशब्दकोश अर्थात् आयुर्वेदीय-महाकोशः
	१	५	अष्टांगसंग्रह	अष्टांगसंग्रहः
	२	३	काश्यपविमान	काश्यप विमानम्
	२	१०	सुश्रुत सूत्र	सुश्रुतसूत्रम्
१५	१	३	काश्यपः धूम कल्पाध्याय	काश्यपः धूमकल्पाध्यायः
	१	२०	धन्वंतरीय परिशिष्टम् पृष्ठ	धन्वंतरीय परिशिष्टम् पृष्ठम्
	२	१०	मध्यम खण्डः	मध्यमः खण्डः
१६	१	१०	तिथितत्वम्	तिथितत्त्वम्
	३	१०	तिथितत्व	तिथितत्त्व

१७१	२	कपिला	कपिलाशिशपा
१९२	२	कानन	काननदीर्घिका
२१४	१	कुञ्जरक्षारमूल	कुञ्जरा
२२२	२	कुरुवीरक	करुवीरक
२२५	१	कुशापुट	कुशपुट
२३२	२	कृतवेधन	कृतवेधना
२४१	२	कोष्ठीभेद	कोष्ठभेद
२४२	१	कोष्ठीरुजा	कोष्ठरुजा
२४७	२	केशरुह	क्लेद

आयुर्वेदीय शब्द कोश

॥ संस्कृत ॥

शीर्षक—शुद्धिपत्र

पृष्ठ	स्तंभ	अशुद्ध	शुद्ध
६	४	१७	१०
८	१	अग्र–अभ्या	अभ्या
१२	१	अजगन्धा	अजगर
१४	१	अञ्जन–अञ्जनकी	अञ्जनकी
२७	१	अनुपान	अनुपाश्रित
४६	१	अम्ल	अम्लक
५९	२	अलसकः	अलसक
६७	१	[(अश्म)]	(अश्म) कदली
६९	२	[(अश्वत्थी) बला]	[अश्वत्थबला]
८१	२	रसायन	आचाररसायन
१०१	१	आहारविधिविज्ञान	आहारविधिविधान
१०२	२	इंगुदीतैल	इंगुदतैल
१०७	२	ईश्वर	(ईश्वरी)
११३	२	उत्सृष्ट	उत्सृष्टबहिर्वेग
११४	२	उदय	उदयभास्कर
११५	१	उदयन	उदयमार्तण्ड
१२०	२	उद्गार	उद्गारविघातन
१२१	१	विघातनविनिग्रह	उद्गारविनिग्रह
१२४	२	उपकल्पनीयम्	उपकल्पनीय
१३४	१	उलूखल	उलूकमुख
१४५	१	पत्रक्षार	एरण्डपत्रक्षार
१४८	१	ओजस्	ओजस्संख्यात
१५१	१	औदनिक	औदकमांस
१५२	१	और्णिक	औरभ्रपयस्
१५९	२	कटुपर्णि	कटुपर्णी
१६२	२	कण्टाफल	कण्टफल
१६३	१	कण्टाफला	कण्टफला
१६७	१	कदम्बनिर्यात	कदम्बनिर्यास
१७०	२	कपि	कपिकच्छूबीजतैल
१७१	२	कपिला	कपिलाशिंशपा
१९२	२	कानन	काननदीर्घिका
२१४	१	कुञ्जरक्षारमूल	कुञ्जरा
२२२	२	कुरुबीरक	करुवीरक
२२५	१	कुशापुट	कुशपुट
२३२	२	कृतवेधन	कृतवेधना
२४१	२	कोष्ठीमेद	कोष्ठभेद
२४२	१	कोष्ठीरुजा	कोष्ठरुजा
२४७	२	केशरुह	क्लेद

पृष्ठ	स्तंभ	अशुद्ध	शुद्ध
२५३	१	क्षीरबल	क्षीणबल
२५४	१	क्षीरा	क्षीरपलाण्डु
२५४	२	क्षीराशुक्ला	क्षीरशुक्ला
२५५	१	क्षीरासर्पिस्	क्षीरसर्पिस्
२५६	२	क्षुद्राश्वास	क्षुद्रश्वास
२५७	२	क्षुधा	क्षुधाकुशल
२६२	१	खदिरकषाय	[(खदिरी)]
२६४	२	खलि	खलिवर्धन
२८८	१	गरिण्ड	गिरिशा
२८९	१	गुच्छीबुध्ना	गुच्छबुध्ना
३०४	१	ग्रहण	ग्रहकारिका
३०६	२	ग्रीष्म	ग्रीष्मचर्या
३१३	२	चतुष्	चतुष्पददंश
३२०	२	चिञ्चा	चिञ्चासार
३२७	२	चेतस्	चेतस्समवायिन्
३२८	१	चेतिका	चेतोविकार
३३६	१	जनिष्ठा	जना
३४९	२	जीवनीयघृत	जीवन्ती
३५०	१	जीवनीयतैल	जीवनीयघृत
४१८	१	द्वितिक्तादल	द्विदल
४२०	२	घमनी	धमनी
४३२	१	नखर	नखदोष
४७३	२	पद्मकण्टक	[(पद्मा)]
५०३	१	[(पिघानि)]	[(पिधानि)]
५०५	१	पिष्ठिपचन	पिष्टपचन
५०७	२	[(पुटा) पाक]	[पुटपाक]
५०८	१	[(पुटा) पाककल्पना]	[पुटपाककल्पना]
५१०	२	कोकिलत्वविग्रह	पुराणज्वर
५४८	१	बदर	[(बदरी)]
५५२	१	[(भद्रावती)]	[(बलवती)]
५५२	२	वलमोटा	बलमोटा
५६८	२	सुवर्चला	ब्रह्मसुवर्चला
५८८	१	[(मज्ज)]	मज्जपरिपाक
६१८	१	मांसरूहा	मांसरुहा
६५८	१	[(यज्ञिय)]	[(यज्ञिय)-पत्रक]
७६७	१	विरेचन	विरेचनव्यापद्
७९७	१	व्रण	व्रणकेतु
७९७	२	व्रण	व्रणान्त
८५७	१	श्वेतदूवा	श्वेतदूर्वा
८९४	०	७९४	८९४
९२०	२	सुसंयत	सुसंस्कृतबन्ध

आयुर्वेदीय शब्द कोश

॥ संस्कृत ॥

--शब्द शुद्धिपत्र--

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	२३	अहसु	अहसू.
३	२	२६	मूषिकादिदुष्ट	मूषकादिदष्ट
१४	२	२८	गैुणः	गुणैः
२३	तक्ता २ कॉलम	१	अतधिभूम्	अधिभूतम्
२६	१	४०	१४.८	१४८
२७	२	२	अनुबन्धाति	अनुबध्नाति
	२	१६	संशमन	संशमन—
२८	२	१७	पित्तविकारिषु	पित्तविकारेषु
२९	१	२६	साहाय्ये नोपगच्छन्ति	सहायत्वेनोपगच्छन्ति
२९	२	५	जलौकः क्षारा- - -	जलौकाक्षारा
३१	१	२७	शारीर., कोष्ठाङ्ग.	शारीर० कोष्ठाङ्ग०
३१	१	३७	रोगलक्षण,	रोगलक्षण०
३१	२	३१	पिटिका	पिटिका (मा.)
३२	१	९	स्नायुश्रिता	स्नायुश्रितौ
३२	१	१३	आन्त्रालजी	अन्त्रालजी
३३	१	२६	—अन्य	अन्य
३४	१	३३	दृष्टा	दुष्टा
३६	१	२२	तन्त्रयुक्ती०	तन्त्रयुक्ति०
३७	२	३८	भूपुच्छान्तस्थ	भूपुच्छान्तस्था
४०	१	३	(अंसनि. १.५)	(असंनि. १.५)
४०	२	३४	(चसू २०४)	(चसू. २०.४)
४१	१	६	उ	ड
४४	२	३१	उ	ड
४५	२	१३	ध १२०	ध. १.१२०
४६	१	१३	तकं०	तक्र०
४६	१	१४	—अम्लक—	(अम्लक)
४६	१	१५	दाह	दर्दाह
४९	१	२६	६७१	६.७१
४९	१	४०	प्रकोष्ठः	प्रकोष्ठः
४९	१	४०	निष्ठेन	निष्ठिकेन
४९	२	२२	विट	विट्
५१	१	२४	'खवडा' पहा	द्र० अरुंषिका
५१	२	१८	श्लेष्मस्रति—	श्लेष्मस्रुति- - -
५२	१	३५	इन्दु	(इन्दु)

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१	९	ललाटे	ललाटे- -
५५	२	३१	दीर्घैः	दीर्घैः
५५	२	४०	मेदोजानि ।	मेदोजानि
६४	२	३६	पशू०	पशु०
६५	२	१	अदृष्टसमः	अदृष्टसभः
७०	१	४	(घ. ४–१)	(ध. ४.१)
७३	१	१	दुर्बलम्०	दुर्बलम्
७३	१	३०	बिल्व	बिल्वः
७३	१	३४	इक्षु	इक्षुः
७३	२	१	भूताधिपति	भूताधिपतिः
७३	२	१२	असावस्रवणम्	असृजः अतिरिक्तो द्रवः
७३	२	३५	घ	ध
७८	१	१४	त्रिशन	त्रिंशन्
७८	१	३६	वायव्यकीट	वायव्यकीटः
७९	१	२३	++	(चशा. ८.२१)
८०	१	१२	++	(चसू. २७.१८६)
८१	२	६	धूप. का धूपकल्पाध्यायः	धूपः (का धूपकल्पाध्यायः)
८५	१	४	घ	ध
८५	१	१५	घ	ध
८५	२	३२	परी	परि
८७	२	६	पारदबंध०	संस्कृतः पारदः
८८	१	१	इत्युच्यते	इत्युच्यन्ते
९०	१	९	गुग्गुल	गुग्गुलः
९०	१	३०	बालामं	बालाभ्रं
९०	१	३२	पर्यागतामं	पर्यागताभ्रं
९०	१	३८	मलोष्णं	मम्लोष्णं
९०	२	९	समाष्टीलः	समष्टिलः
९१	२	६	आयुज्ञना	आयुर्ज्ञान
९१	२	२५	(कवि. १)	(का. वि. १)
९१	२	२७	कृतवान	कृतवान्
९३	१	७	प्रकृतिः	प्रकृतिः,
९३	१	२३	घ	ध
९४	१	१३	++	(च. चि. २४.१७६)
९४	२	१४	++	वस्त्रम् (सुचि. ३२.५)
९५	२	४०	परपुरशरीर	परपुरप्रवेशः
९७	१	२७	उपक्रम० विशेषः	उपक्रम०
९७	२	६	शर्करा नवमीका एवं नवधा.	शर्करा नवमीका एवं नव,
९७	१	७	एवं नवधान्यासवः	धान्यासवाः—सुरा
९७	२	२०	दशः—	दश—

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
९८	२	३०	व्याधयो ।	व्याधयः
९९	१	१	अमरमल्लिका	अपरमल्लिका
९९	१	३	मुकुन्दा	मुकुन्दा, कोविदारः
९९	१	३	(असंउ. ६)	(असंउ. ६ पृ. १०२)
९९	२	१५	आघात	आघातः
१००	१	६	निष्पेय	निष्पेष्य
१०१	१	२१	तखटं	तरवटं
१०१	२	१३	रस	रसः ।
१०१	२	४०	+	+ इक्षुरः
१०२	१	६	स्नी	स्त्री
१०३	२	१५	(फ. ४.९)	(ध. ४.९)
१०९	१	२०	उज्वल	उज्वलः
११०	१	८	(परिवः)	(परिव०)
११०	१	२६	उत्क्लेषक	उत्क्लेशक
१११	१	७	कर्णक	कर्णिक
१११	१	१७	(१)	(२)
११३	२	४०	मूत्रादिकः	मूत्रादिकः
११८	२	२८	चिकित्सा–सर्ववातहर	+
११८	२	२९	बाष्य	बाष्प
११९	२	३३	पहा	द्र०
१२१	२	१२	स्वरसादेः	स्वरसादे कण्ठस्य
१२२	२	२९	उन्मथ	उन्मन्थ
१२३	१ १ २	३१ ३७ २	विपर्यासाऽनु	विपर्यासादनु
१२४	१	६	कर्मारम्भे वा,	कर्मारम्भे वा ।
१२६	१	२५	पाताद् धा	पातादधा
१२६	२	१८		+ भोजनेऽन्नात्पूर्वमव्यवहितं यन्मूलकादि खाद्यते तदेव मूलाकादि-उपदंश इति व्यपदिश्यते ।
१३०	१	३३	गर्भपः	×
१३१	२	२	(अहको)	(अहको.)
१३३	१	३६	वयस्था	वयसः स्था
१३३	२	९	एरण्ड	एरण्डः
१३३	२	२०	चुल्लका पाठः स्त्री०	स्त्री., चुल्लिका पाठ०
१३३	२	२०	गेहे	लोहे
१३३	२	२२	(चुल्लका)	(चुल्लिका)
१३४	१	३१	उल्लापक	उल्लाप
१३६	१	१३	संप्राप्ति—	संप्राप्तिः—
१३६	२	१५	शलाकायाः कार्पास वेष्टिताग्रम् ।	कार्पासकृतं शलाकाया अग्रवेष्टनम् ।

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
१३७	२	३६	नामा	नाम्ना
१३८	२	१९	ऊरुः ऊरुः संबन्धि	ऊरुः, ऊरुसंबन्धि
१३८	२	२७	हिङनि	हिङ्गूनि
१३९	२	३३	ऋषभ	ऋषभः
१४०	१	१२	सु. ७	सुसू. ७.
१४०	२	६	३	२
१४२	१	२६	एक	एको
१४२	१	२७	दोषाणां स्व	ख
१४३	१	१९	वातरोग	वातरोग०
१४३	२	३१	तृष०	तृण०
१४५	२	२	सुगन्धिद्रव्य,	सुगन्धिद्रव्य०
१४५	२	२९	कण्डु	कण्ठ
१४५	२	३३	×	हिं. इलायची म. वेलची, वेलदोडा गु. एलची कागदी बं. छोटा एलाच फा. हैल हिल हाळ
१४६	२	३०	एणेय	ऐणेय
१४७	१	२३	(पृ. ३	×
१४७	२	८	वनस्पति–	वनस्पति०
१४७	२	२६	(१३. ९)	(सुसू. १३.९)
१४८	२	२०	(रापरि. १०. ९३)	(रापरि. १०. ३९)
१४९	२	२२	अशीतिर्वात	अशीतिवात
१५०	१	२१	पाठयेते	पाटयेते
१५४	२	१९	सरं	असरं
१५५	१	६	×	+ (र. २२. ११७)
१५५	१	३०	शारीर	×
१५५	२	३	कक्षाधार	कक्षाधारः
१५६	१	३८	(३)	(र. ३)
१५६	२	११।१२	तण्डुलभक्तः पीतवर्णो	तण्डुलोपयोगेन कृष्णव्रणत्वक्श्वेता
१५६	२	३६	१७–७३	१७–७२
१५७	१	२६	(असंनि. १०. २०)	(असंनि. १०. ३८)
१५७	१	३४	२०५.६	२०.५
१५८	२	८	पाठ भेदः	×
१५८	२	१४	वातः,	वातः
१५९	१	३५	पिप्पलीमूला	पिप्पलीमूलम्
१६०	१	६	पद्मल	पद्यल

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	१	२४	तृष्णा	तृष्णां
१६०	२	८	वन०	वनस्पति०
१६०	२	४०	सर्पिस	सर्पिस्
१६१	१	१३	लघु	लघुः
१६२	१	२	वनस्पति	वनस्पति०
	१	११	वनस्पति	वनस्पति०
	१	३१	कुण्डक्र	कुण्डक
	२	१६	मनः शिलाप्रकारः	मनःशिलाप्रकारः
	२	१९	निगौरा	निर्गौरा
	२	३२	वनस्पती	वनस्पति०
	२	३७	वनस्पती	वनस्पति०
१६३	१	१	वनस्पती०	वनस्पति०
		४	वनस्पती०	वनस्पति०
		६	वनस्पती०	वनस्पति०
		३६	वनस्पपती०	वनस्पति०
१६४	१	२६	क्षुद्रगोक्षुरगोक्षुरः	क्षुद्रगोक्षुरः
१६४	२	३३	श्लेष्म सेवनेन	श्लेष्मसेवनेन
१६६	१	११	कारी कपिकच्छूः	×
१६६	१	१८	कण्डूयका	कण्डूमका
१६७	१	३	निर्यात	निर्यास
१६७	१	३६	अनुप	आनुप
१६७	२	३४	कणगुग्गुलु	कणगुग्गुलुः
१६७	२	३६	(र. १४१)	(र. १. ४१)
१६८	१	३	७११	७. १११
१६८	२	११	सार्धाङ्गुलः सार्धाङ्गुलौ	सार्धव्यङ्गुलः सार्धव्यङ्गुलौ
१६८	२	२२	कनीनक	कनीनकः
१६९	२	१५	जीव... ... कामवृद्धि	—जीव- - -कामवृद्धिः
१६९	२	३९	(४८२१)	(४८. २१)
१७१	२	५	हिमवत-	हिमवतः
१७१	२	७	दर्शनेः	दर्शने
१७२	१	८	भा (ण्डः)	भाण्डः
१७५	१	२८	. ३३	०६३
१७७	१	२७	अन्य	अस्य
१७८	१	२८	(क.	(का.)
१७९	१	१	कर्णरोग	कर्णरोग०
१७९	२	२०	रूढा	रूढः
१८०	२	३६	पा. सा. ८.१४	८. १५
१८१	२	२९	चक्र (चसू.	(चक्र. चसू.
१८२	१	१७	बस्तिसंस्कारः	बस्त्यादयः संस्काराः (सुसू. २०.१४)
१८२	१	२४	क्रिया	क्रिया-

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
१८२	२	४०	सार्थ	सार्ध
१८५	२	११	बीज	—बीज
१८८	२	१७	×	द्र० काकनासा
१९०	२	९	शुङ्गीं	+
१९१	२	१५	वन० ...(ध. १.१९६)	वनस्पति०– – –(ध. १. १९६)
१९२	१	१ व ६	(उ	ड
१९२	१	१	काणा	(काणा)
१९२	२	१६	तृष्णः	उष्णः
१९२	२	३५	(पिपल्ली)	पिप्पली
१९६	१	६	(सासं. जाति सू.)	(न्याय. अनुप्र)
२०२	१	२०	कूष्माड	कूष्माण्ड
२०३	२	१५	वनस्पती	वनस्पति०
२०४	१	१	खरोमूत्र— — —	खरमूत्र– – –
२०४	१	१०	निदानम्:	निदानम्:—
२०६	२	२४	(सं — — — —	(असं – – –
२०८	१	१६	किक्विस	किक्किसम्
२०८	१	४१	प्रसारणीयो	प्रतिसारणीयो
२१२	२	३८	(४८ असंउ. ४९	(असंउ ८ पृ. २०८)
२१७	२	३०	सध्यूर्ध्व	सन्ध्यूर्ध्व
२२१	२	६	कुम्भीकषण्ड	कुम्भीकषण्डः
२२५	२	२६	संतर्पणाभ्य	संतर्पणापतर्पणाभ्य
२२८	१	७	१४ का.)	१४) (का. कुष्ठचिकित्सा)
२२८	१	१०	वारुणं	वाऽरुणं
२२९	२	२४	फलोपेतो	फलोपेतं
२३१	१	१४	(२६. २६)	(सुचि. २६. २६)
२३३	२	४	२४१	२४. १
२३५	२	२९	कदलीकार	कदली कार
२३६	१	११	राजिमन्थः	राजिमन्तः
२३९	२	२	श्छर्दि	श्छर्दि
२३९	२	२४ २५	रक्तपित्तं – – – विदाहि रक्तपित्तं करोति	कफपित्तं– – –
	२	४१	२०९ – १०)	२०. ९–१० पृ. १०६
२४०	१	२०	६	रा. ६
२४४	२	२८	चूरवो	कुरवो
२४७	१	२९	अतितमां	अतितमा
२४८	२	१८	हृदयावयवम्	हृदयावयवविशेषः
२४९	१	६	निक्षिप्येत्	निक्षिपेत्
२४९	१	११	१७. ७	१७. १७
२४९	१	१८ ते २०	आशुतरविनाशिनी..... स्थायिनी	आशुतरविनाशिनीबुद्धिः न तु बौद्ध-सिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिनी, इन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजं तत्तदिन्दियविशिष्टं ज्ञानम्

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	२	३३	६. ३२	६. २४
२५२	२	३६	७. ५ – २२	(र. ७. ५–२२)
२५५	१	२४	व्रीहि	व्रीहिः
२५५	२	६	अर्कपुष्पी	अर्कपुष्पम्
२५५	२	७	क्षीरम्तुबी	क्षीरतुम्बी
२५५	२	१४	मधुकः	मधूकः
२५७	१	२१	क्षुद्रम्र	क्षुद्रम्
२५७	१	अन्त्य	वह्निर्धनी	वन्हिवर्धनी
२६१	१	६	खड्ड - - - -	खड्डक—
२६१	२	१५	२२६	२३६
२६१	२	१९	कलाया	कलायः
२६१	२	३३	मत्स्य	खादिर
२६३	१	७	(रा. परि. ९. ६)	(रा. ९. ६)
२६४	१	१३	खर्जुर	खर्जूरम्
२६५	२	३४	४०९६ षण्णवत्यधिकचतुः सहस्र,	१६३८४ त्रिशतचतुरशीत्युत्तर-षोडशसहस्र
२६७	२	१२	७०.	.८०
२६७	२	१३	मज्ञाकिनीकन्द (र. १५. २००)	×
२६८	१	३	गण्डमालादि	स्फोटः
२६८	२	८	पर्यायः	×
२७०	१	अन्त्य	पीत,	पीत
२७१	१	४	—कन्दक	गन्ध–कन्दक
२७२	२	२६	१४२	५. १४२
२७५	१	२	(४६. ८५ इ)	(सुसू. ४६. ८५)
२८२	२	१४	पिपल्यं कोठ	पिप्पल्यंकोठ
२८३	२	३६	समधुर	स मधुर
२८४	२	२३	नतु शम्यः — — — — इत्यर्थः	*
२८९	१	१६	रा. चि.	*
२८९	१	२६	– कुटिका	गुटिका
२९६	१	३५ ३६ ३७	रक्तपित्ते (चचि. ४. ७३) समदग्धे (सुसं. १२. १३)	रक्तपित्ते पिपासादाहशमनार्थम् (चचि. ४, ७३) सम्यग्दग्धे आलेपनार्थम् (सुसू. १२. २३)
२९७	२	६	(कोवि. ३)	(कावि. ३)
२९७	२	२३ २४	खादिकायवाः— — — —धूपयुज्यते	खादितायवा– –धूपयुज्यन्ते
२९८	१	४	वैकान्त	वैकान्तम्
२९८	१	२७	मन्यते	मन्यन्ते
२९९	२	१२	सुंउ.	सुउ.
३०३	२	२१	स्तनद्विद्भूत्वं	स्तनद्विद्त्वं
३०८	१	१४	– घनोदय	घनोदय

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
३०८	२	४	सः	सः विद्रधिः
३१२	१	२	(२१ - - - - -)	र. २१ - - - - -)
३१६	१	१२	(२ - - - - -)	(चचि. २ - - - - -)
३१८	१	६	वनस्पति०	वनस्पति० पिप्पलः
३१९	१	१०	असंसू.	असंसू.
३२१	१	२९	मा.	यो.र.
३२१	२	११	विसृता	विस्तृता
३२१	२	२५	४४.४५	४४–४५
३२३	१	सूचना	–" मूल " ह्या शब्दापासून– " फलतैल " ह्या पोट शब्दाच्या मजकुरासह (म्हणजे ओळ १५ ते २९) चित्रांग या मूळ शब्दाच्या अगोदर वाचणे. (म्हणजे पहिल्या ३ ओळी नंतर घेणे.)	
३२३	१	३१	शब्द आध्मान	आध्मानम्
३२३	२	९	कूटयेच्च	कुट्टयेच्च
३२४	१	९	– कारि	– कारित्व
३२४	२	२८	३०	३९
३२५	१	३	वास्तूकः	वास्तुकः
३२५	१	४	च.	सु
३२५	१	२१	(१८.१७)	(सुसू. १८ १७)
३२६	२	९	श्रेष्ठ	श्रेष्ठः
३२६	२	२५	सुस्था	मुस्ता
३२७	१	६	व्रणा	व्रणे
३२७	२	१०	(चेतना)	चेतना
३२७	२	३५	चेतनमयव्यक्तं	चेतनमव्यक्तं
३२८	२	२७	११.१७	११;१७
३२९	१	२	कोरकः	चोरकः
३३२	१	३६	साधुः	साधु
३३३	१	४१	उपदशो	उपदंशो
३३४	१	अंत्य	लता	लूता
३३७	२	७	उदारा	उदरा
३३७	२	१८	जम्बूफलास्थिः	जम्बूफलास्थि
३३८	१	४	१०६९	१०६ – ९
३४४	२	३४	ध. १३ ७ – ८	ध. ५. १३७ – ८
३४८	२	१९	ध. ३	रा. ८
३४९	१	२३	३,२२	१
३५३	१	४	द्विधिधः	द्विविधः
३५५	१	२५	झण्डु	झण्डू
३५५	२	अंत्य	झण्डुः	झण्डूः
३६६	१	२२	असं क्षत –	असं – क्षत –
३६७	२	५	यन्माध्यायस्थ	यन्त्राध्यायोक्त

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
३७०	१	१५	हरितादि	हरितालादि
३८०	१	१५	(ध. . (३१८	(ध. १. ८३)
३८६	१	२०	मण्डला	– मण्डला
३८८	१	२७	रक्तात्रिवृत	रक्तात्रिवृत्
३९२	१	३१	४७	४ – ७
४००	१	२९	तनुपानार्थं	अनुपानार्थं
४०३	२	३१	प्रासादजम्	प्रसादजम्
४०४	२	९	निस्वातः	निःस्वानः
४०९	२	उपान्त्य	देवाह्वय	देवाद्वय
४१२	१	३६	१.९९	१९.९
४१३	२	३५	×	+दोषस्य अग्निः
४१५	२	३४	तिक्त कषाया	तिक्तकषाया
४१६	१	१४	बौद्धव्यौ	बोद्धव्यौ
४१७	२	३	जलक्षेपणी	जलप्रक्षेपणी
४१७	२	२४	द्वारपाल	द्वारपालः
४२३	२	१६	धातु मलो	धातुमलो
४२६	१	३७	जाल	जल
४२८	२	३	तन्नेत्र	तन्नेत्रं
४२८	२	४	कनिष्ठिकङ्गु	कनिष्ठिकाङ्गु
४२८	२	५	त्रिकेशं	त्रिकोशं
४२९	१	३	धूमपानार्थं	धूमपानार्थं
४२९	१	३७	७८३	७ (३)
४२९	२	२३	स्रवन्ति	स्रवन्ती
४३१	१	४	३१६७	३.१६७
४३१	२	२४	१६.	रा. १६
४३३	२	१२	(४.३८८)	(रा. ४.३८८)
४३४	२	२७	गुणः	गुणाः
४३६	२	२१	शिरोविचनं	शिरोविरेचनम्
४३६	२	३८	९५	९.९५
४३७	१	३८	सुचि	सुचि.
४३७	२	२१ २२ २४	असंसृ.	असंउ.
४४०	१	१६	शोफस्या भेदाद्	शोफस्याभेदाद्
४४३	१	३१	वनस्पति	वनस्पति०
४४३	२	१३	वातश्लेष्मा	वातश्लेष्म
४४५	१	११	परलोकादि	परलोकादिः
४४५	१	३०	एकलक्षणम्	एकं लक्षणम्

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
४४७	२	१७	निंदर्शनम्	निदर्शनम्
४४७	२	५	मनसंयोगा	मनःसंयोगा
४४७	२	उपान्त्य	ज्वर स्तैमित्य	ज्वरस्तैमित्य
४५२	१	१	ज.,	न.,
४५२	२	२६	विवरणम्	संख्ययोक्तस्य विवरणम्
४५३	२	२७	लि.	वि.
४५३	२	२१	षष्ठयुक्रमे	षष्ठयुपक्रमे
४५४	१	२५	आवस	आवास
४५५	२	४	९६९	६९
४५६	२	१५	३	रा. ३
४६१	१	३०	नेत्राववयवं	नेत्रावयवं
४६२	२	२३	नगमेष	नैगमेष
४७१	२	१३	१.८	१.११८
४७९	१	९	शष्कुलीका	शष्कुलीकां
४८२	२	२८	१३४२	१३.४२
४८३	२	१	क्षीरपलाण्डु राजपलाण्डुश्चेति	क्षीरपलाण्डुः राजपलाण्डुश्चेति
४८४	२	३३	वायुर्गभस्थस्य	वायुर्गर्भस्थस्य
४८५	१	३५	पुरीषश्चा	पुरीषश्च
४८५	२	३५	कफैर्वृद्धाभिहीन	कफैर्वृद्धहीन
४८८	१	३६	कृष्णा	कृष्ण
४९०	२	२४	मानतश्च	मानतश्च
४९१	२	२४	८४३	८.४३
४९६	१	१२	एतम्	एतत्
४९९	१	३२	श्लष्मलो	श्लेष्मलो
५०१	२	९	सज्जापहेतु	सन्तापहेतु
५०२	१	३२	असंदाह	अंसदाह
५०४	२	४०	र. १७	र. ४०. ७ क
५०५	२	२८	१५४	१.५४
५०७	१	५	(१. १८३).	(ध. १. १८३)
५१०	ते	५१४	पुराणशब्दादारभ्य, क्रमः संयोज्य	पुरतशब्दपर्यन्तं पठनीयः
५२०	१	२०	वस्त्रम् (र. १३. १३. १२)	नौः (र. १३. १३–२२)
५२०	१	२६	कर्पूर०	जलम्
५२१	२	१७	प्रकृतीं	प्रकृतिं
५२१	२	३०	स्त्वन्यभावः	स्त्वन्यथाभावः
५२२	१	२०	नु	×
५२२	१	२२	उक्ताः	अपि उक्ताः
५२७	२	२६	लूषक	लट्टूषक
५३२	२	३७	पिडकाचिकित्सित	–पिडकाचिकित्सित–
५३३	२	४०	असंक	(असंक १)
५३७	२	२९	पुर्व्व	पूर्व

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
५४७	२	१७	१८११ . ८२	१८१-१८२
५४८	२	३२	काष्ठाग्निमृदु	काष्ठाग्निर्मृदुः
५५०	१	१६	पिङ्गलवर्ण	पिङ्गलवर्णः
५५२	२	१७	माणानां	मानानां
५५३	१	७	७८	४८
५५६	२	३३	मूत्रधार	मूत्राधार
५५६	२	४०	मात्रालवण - - - मात्रालवण)	मात्रलवण- - - मात्रलवण
५६२	२	३८	(१६ - ९७)	(रा. १६. ९७)
५६७	१	×	×	बिडालस्येदं बैडालम्
५६८	२	१९	×	× –तीर्थ–न., वनस्पति०
				पुष्करमूलम् (रा. ६. ९३)
				–दण्डी स्त्री., वनस्पति०
				अजदण्डी, कण्टक-पत्रफलाचेत्यपर–
				पर्यायो
				(र. २४. ६०., ११. ५२;
				२५. ८७. रापरि. ५. ४७)
				गुणाः–कटुः उष्णा कफवातघ्नी शोफा-
				पहा च (रापरि. ५. ४७)
				हिं–ब्रह्मदण्डी, उटकटारा
				म.–ब्रह्मदण्डी.
				गु.–ब्रह्मदण्डी, तसंकटो
				बं.–छागलदाँडी, वामनदोंडी
५७०	१	१३	संति	सति
५७०	२	३१	प्रकामति	पक्रामति
५७१	२	१८	पिडका	पिडकाः
५७१	२	३२	जनयति	विसृजति
५७५	१	५	३ . ३५८	ध. ३. १
५७८	१	३०	३ . १०	(रा. ३. १०)
५७८	२	३१	२४ . ९८	(सुचि. २४. ९८)
५७९	१	२८	मरिचमुरं	मरिचमुशीरं
५८०	२	८	भूमि	भूमिं
५८१	२	१३	भविप्यदीश	भविष्यदीश
५८१	२	२९	इस्यङ्गानि	इत्यङ्गानि
५८६	१	२४	भैदः	भेदः
५८६	२	११	सुवि.	सुनि.
५८८	१	२	सार्धपादद्वयम्	मार्जारी, बिडाली, बिडालपदं, कर्ष:
५८८	२	२५	णोद्व	णास्थि
५८९	२	३९	मासा	मांसा
५९१	२	६	मत्स्याक्षक	मत्स्याक्षक
५९२	१	३५	वनस्पती०	वनस्पति०

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
६०४	१	१७	धन्वयास	धन्वयासः
६०५	२	४१	(३ - १०२)	(र. ३. १०२)
६०७	१	२७	मस्म	भस्म
६१५	१	४	२५४	×
६१८	२	३६	उतत्तिः	उत्पत्तिः
६१९	२	९	माञ्जिष्ठायाः	मञ्जिष्ठायाः
६२१	२	२५	बाराही	वाराही
६२२	२	८	कुडवप्रस्थ	कुडवं प्रस्थ
६२४	२	२१	११७	१७१
६२५	१	१४	×	सुगन्धि द्रव्याणां हारः (अहसू. ३०. ४०)
६२५	१	२९	३६२	३. ६२
६२७	२	३	६ . ५ . १	६. ५१
६२८	१	१७	×	अयं सर्वप्राणिभ्यः सामान्यतः पथ्यः (सुसू. २०.५)
६२८	१	३३	अशंशा. ११०	असंशा. ११
६२९	२	२२	११.९.२२	१२१–२२
६३३	२	१६	मुष्कक	मुष्ककः
६३३	१	१९	शुक्रवह	शुक्रवहा
६४१	१	२६	पित्तजानि–	पित्तजानि ।
६४१	१	१	पित्तत्तमः	पित्ततमा
६४३	१	२१	शम्पाका	शम्याका
६४३	१	२९	(४.३९)	(ध. ४. ३९)
६४४	२	१९	×	+ सुतश्रेणी
६४५	२	१३	प्रलेपयेच्च	प्रलेपयेच्च
६४५	१	१७	षेषितं	पेषितं
६४५	१	३६	वनस्पति०	कल्प०
६४६	१	२८	मुद्गर	मुद्गरः
६४७	१	१९	शुण्ठ्य	शुण्ड्य
६५४	२	३१	दामोढया	मोदाढया
६५८	१	३५	युग्मजम्	युग्मम्
६६०	१	३	व १६.१०८	ध. ६. १०८
६६०	१	६	ध	रापरि.
६६०	१	१६	वनस्वति०	वनस्पति०
६६०	२	१२	३९०	३९
६६०	२	४१	बन्धे	बन्धाकृति
६६१	१	२	युक्तः	युक्तः कर्णः
६६३	१	१३	३२७	३. २७
६६३	२	२३	अगरु	अगरुः
६६६	१	१४	सुसू. ४२६–३१	सुशा. ४. २६–३१

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
६७०	२	२०	४१२	१०. ४१२
६७०	२	२९	चूडामणिः	(चूडामणिः)
६७१	२	३०	पर्पट	पर्पटः
६७५	१	३९	ततोच्चाऽन्नात्पानादाचार	ततोऽन्नात्पानादाचाराच्च ।
६७७	१	२९	तस्यशोधनं	अन्ते अपेक्षते
६७७	१	३९	अन्ये	अन्यद्
६७८	१	४	लोहे	लोहैः
६७८	२	२०	१२	रा. १२
६७९	१	३	रसोद्भूत	रसोद्भूत
६७९	२	३२	मका	मक्क, मण्डुआ
६८०	१	१७	राजक्षकः	राजवक्षवकः
६८२	१	२०	वातः–	वात–
६८३	२	३६	८८९	८८
६८४	२	३४	निनिर्मित्तं	निर्निमित्तं
६८६	१	१०	नशिनी	नाशिनी
६९२	१	२१	विहसू.	अहसू.
६९३	२	२०	कपिकच्छू	कपिकच्छुः
६९४	२	अन्त्य	१.३०	१३०
६९६	१	२४	ध. १०७	ध. १.१०७
६९७	१	३९	१४	(अहसू. १४
६९७	२	३३	×	+ उत्प्लुत्य गमनम् (चवि. ६-१८) गर्वाद्युत्क्रमणम् (सुचि. २.४ ९६) वातप्रकोपकारणम् (ड.सुसू. २१.१९)
६९८	१	३४	म. भाषयाम्	म. भाषायाम्
६९८	२	२५	न्यस्य	न्यसे
७००	२	१९	सुसू. २०५	च सू. २.५
७००	२	९	स्तैमित्यादि	स्तैमिर्यादि
७०१	२	७	काक. ११४	का. लशुनकल्प. ११४
७०२	१	२१	(धा.	(ध.
७०२	२	५	लाजाः	लाजा
७०२	१	१७	श्छर्घतीसार	श्छर्द्यतीसार
७०३	२	१५	दर्भश्च	दर्भरश्च
७०३	२	३५	जोतिष्पमत्याः	ज्योतिष्मत्याः
७०४	२	२५	कृतिर्तुर्मु	कृतिर्मु
७०४	२	३३	च्छले	च्छले
७०५	२	१७	सु	सुउ.
७०६	१	२७	कक्षण	लक्षण
७१०	२	२५	स्वादुपारु	स्वादुपाक
७१०	२	२३	मधुक	मधुकम्
७१२	१	१२	(टीका. ५. १०९)	(टीका. र. ५. १०९)
७१६	१	११	पूर्वमेव मुक्तराशिं	पूर्वामेव भुक्तराशिं

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
७१८	१	३	सदृकान्	सट्टकान्
७१८	१	१३ १४	अस्थिसन्धाना	अस्थिसंहारी
७१८	२	३३	मुग्दा	मुद्गा
७२०	१	१२	८६	८६ पृ.
७२०	१	१४	८८	८८ पृ.
७२२	२	५	निम्बबि	निम्बबिम्बी
७२२	२	१८	१-३०	२७-२८
७२५	२	२७	दृसश:	सदृशः
७२५	१	उपान्त्य	सुश्रु.	सुस्रु.
७३१	२	२५	मेदा	मेदा
७३४	१	४	बाग्वहे	वाग्वहे
७३५	१	१०	प्रसादोषचय	प्रसादोपचय
७३५	१	१९	सामर्थ्यकरः	सामर्थ्यकरम्
७३७	२	८	प्रहर्ष	प्रहर्ष
७३८	१	२०	८१७	८. १७
७३८	२	३८	शिरा:	शिरां
७३९	१	३६	४३१	४. ३१
७४०	२	१५	कदाद्वस्ति	कदाचिद्बस्ति
७४४	१	६	वनपति	वनस्पति
७४४	२	३६	९११-२०१	९. ११
७४५	१	१६	वद्धनो	वङ्धनो
७४५	२	२५	,,	,,
७४६	१	३९	बानेय	वानेय
७४६	२	५	आवापहः	आवापः
७४६	२	६	(र.८. ४६)	(र. ८. ५४)
७४७	२	५	मर्मन	मर्मन्
७४७	२	३८	वायुसेक्षु	वायसेक्षु
७४७	२	४०	बाससो	वाससो
७४९	१	७	त्रिफला	त्रिफला
७५१	२	७	सिकत	सिकता
७५२	१	३३	प्राङ्निम्नत्व	प्राङ्निम्नत्व
७५३	१	१	कुर्वन्ती	कुर्वन्ती
७५४	१	७	कारेतीक	कारेवतीक.
७५५	२	८	वि.,	न.,
७५६	२	३३	(कुष्ठघ्न)	(कुष्ठघ्नं)
७५७	२	२५	६१८	६.१८
७५८	२	३३	×	+ विद्रध्यादीनां पाकः (सुउ.३९.८१)
७५९	२	३०	क्षतेः	क्षते
७५९	२	३७	विरुत्रद्धा	विरुद्धा

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
७६५	१	३	कल्प	कल्क
७६७	१	२४	चैन	चैनं
७६९	१	१६	(ध. १. १. २२३)	(ध. १.२२३)
७७२	१	१०	दुषी	दूषी
७८०	२	३	वेद्यके	वैद्यके
७८१	२	३८	त्वक	त्वक्
७८२	२	२३	षड्भुजा	षड्भुजा
७८३	१	१७	अन्यजा	अन्त्रजा
७८७	१	३१	वेपथु	वेपथुं
७८९	१	४	वैदला	वैदलाः
७९२	२	३९	विंशख्यतिसां	विंशतिसंख्या
७९४	१	५	६.५२.८–७	८.५२
७९५	२	७	निभित्त	निमित्तः
७९६	२	२७	१.१.९	१.९
७९७	१	६	मुखे	मुख
७९७	१	९	रतीसारे	रतीसारः
८०१	२	२७	त्तीघ्रा	तीव्रा
८०५	१	२४	मधुक्काथ	मधुकक्काथ
८०६	२	३६	सितो	सिता
८०७	२	३५	चतुविंश	चतुर्विंश
८१३	२	३५	कुष्ठ	कुण्ठ
८१५	२	१५	स्थान्मूल	स्यान्मूल
८१७	१	५	×	+ शाक० काकतिक्ता, तद्गुणाः— तिक्ता कटुविपाका
८१७	२	३५	बातदः	वातदः
८२४	२	१२	मूत्रा	मूत्र
८२८	२	३८	सदृश	सदृश्श
८३२	१	१४	शुकोदुष्टिः	शुक्रदुष्टिः
८३२	२	१५	तुददुष्टि	तद्दुष्टिः
८४२	२	१	मध्यं	मेध्यं
८५६	१	१३	यद्र	यद
८५७	१	७	धान्यं०	धान्य०
८५९	२	३८	संख्याश०	संख्याशब्द०
८६०	२	२२	मेदः	मेदः
८६५	१	३६	पीतश्वेतकुष्ठहर	पीतः श्वेतकुष्ठहरः
८७१	१	१८	गात्रेर्जा	गात्रेजा
८७२	१	२३	श्रावथेत्	श्रावयेत्
८७३	१	९	शुध्यन्ति	शुध्यन्ति
८७३	१	२३	षेय०	पेय०
८७५	२	१५	ध. सू.	चसू.

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
८८०	२	१६	विषयकं:	विषयकं
८८०	२	२२	×	+अवलेखितम् (सुचि. ९.२४; चचि.७.५२)
८८६	२	२	७.	रा ७.
८८८	२	३५	टीकारेण	टीकाकारेण
८८९	२	३१	तद्	तद्–
८९१	२	८	वद्धिः	विद्धिः
८९२	१	४०	×	+ शिकेकाई
८९९	२	३०	ध. ६.५;–पृ.२०६	ध. ६.५; पृष्ठ २०६–
९०२	१	७	श्वेरेत	श्वेत
९०४	१	४	७२०	७.२०
९०८	२	३६	देवदारु	देवदारुः
९११	२	३७	१०७८	१.७८
९१३	१	४०	रा. ९८६ पृ.१८१	रा. ९.८६, पृ. १८१
९१३	२	३	प	पृ.
९१६	१	३७	३.३२	३३२
९१६	२	२४	ग्रष्मी	ग्रैष्मी
९२१	२	१०	खसखसः	खस्खसः
९२२	१	८	४३००	४.३००
९२२	१	१६	खसखसः	खस्खसः
९२३	१	९	३०३१	३०.३१
९२७	२	२२	वतत;	वसत;
९२८	१	२७	ध. १.१६५,	ध. १.१६५, पृ. ३८
९२८	१	२८	प. ३८	×
९२८	२	४२	ध. ४.१५०–––पृ.१६४	ध. ४.१५०; पृ. १६४–
९२९	२	२	कच.	चक.
९३०	२	२१	दारूणा	दारुणा
९३१	२	३०	नार्यः	नार्याः
९३३	१	२७	शकरां	शर्करां
९३४	१	४१	वन्य	वम्य
९३५	२	३७	२०८	२०.८
९३५	२	४२	११२	१.१२
९३६	१	३०	स्वरा	स्वरसा
९३६	२	४१	८; ३	८३
९३८	१	६	झण्डू	झण्डूः
९५४	१	१०	४.	र. ४.
९५६	२	१९	स्वेदविधानाम	स्वेदविधानम्

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
९५७	१	२३	मूढगर्भा ;	मूढगर्भा
९५७	१	२५	स्वेद्याः	स्वेद्या
९५७	१	३०	बात	वात
९६०	१	२	एषा	एष
९६२	१	१९	मरकत	मरकतम्
९६२	१	३९	वैनोपलः	वैनोपलैः
९६२	२	१५	मानसं	मानस
९६२	२	१९	सु. १९	सुचि. १९
९६४	१	३०	कालिकारी	कलिकारी
९६४	१	४०	तस्थ	तस्य
९६६	१	३८	द्र०	द्र० विष
९६६	२	२१	नाडी षु	नाडीषु
९६७	२	४०	यदा ऽ	यदा ऽऽ
९६९	२	३४	हृद्रोगः	हृद्रोगः
९७०	२	३६	स्तस्मिः	स्तस्मिन्–
९७५	१	३	पृश्चक	पश्चक

आयुर्वेदीय महाकोशः

अर्थात्

आयुर्वेदीय शब्दकोशः

(पूरणिका)

संस्कृत - संस्कृत - द्वितीयः खण्डः

संपादकौ

आयुर्वेदाचार्य वेणी माधव शास्त्री जोशी

आयुर्वेदविशारद नारायण हरि जोशी

१९६८

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ

मुंबई

आयुर्वेदीय महाकोशः

अर्थात्

आयुर्वेदीय शब्दकोशः

संस्कृत-संस्कृत द्वितीयः खण्डः

(पूरणिका)

संपादकौ

आयुर्वेदाचार्य वेणीमाधवशास्त्री जोशी

आयुर्वेदविशारद नारायण हरि जोशी

D. Wujastyk
Bangalore
1995

१९६८

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ

मुंबई

प्रकाशक :

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अध्यक्ष :

महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ, मुंबई १

सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

मुद्रक :

लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी,

निर्णय सागर प्रेस,

२६-२८, डॉ. एम्. बी. वेलकर स्ट्रीट,

मुंबई २.

पूरणिका – निवेदनम्

वयमत्र आयुर्वेदीय शब्दकोशस्य महाकोशात्मकस्यान्ते परिशिष्टात्मिकां पूरणिकां संपाद्य वाचकेभ्यो समर्पयामः।आयुर्वेदीय शब्दकोशे सर्वेभ्य आयुर्वेदतंत्रेभ्यः मानवाधिष्ठितां चिकित्सां अवलंब्य प्रणीतेभ्यः परिभाषां संग्राह्यात्र समावेशयामः । हस्त्यश्वादि वैद्यकतंत्रेषु प्रयुक्तानां पारिभाषिक शब्दानां मानवाधिष्ठित चिकित्साश्रित पारिभाषिक शब्दातिरिक्तानां अपि अस्यां पूरणिकायां संग्रहः कृतोऽस्ति । अन्यच्च आयुर्वेदशब्दकोशे असमाविष्टानां केषांचित् मानववैद्यकीय पारिभाषिकशब्दानामपि अस्यां पूरणिकायां उद्धारः कृतोऽस्ति न्यूनतापरिहाराय ।

इयं हि पूरणिका वंगदेशे पंचाशद्वर्षेभ्यः प्राक् मुद्रितस्य सद्यः पुस्तकापणे कुत्रापि अनुपलभ्यमानस्य प्रसिद्धग्रंथालयेष्वपि क्वचिदेव संगृहीतस्य वैद्यकशब्दसिंधुरिति प्रख्यातस्य आलोडनं कृत्वा ते शब्दाः अत्र संगृहीताःये आयुर्वेदीय शब्दकोशे नोपलभ्यन्ते । अत्र तु इदमप्यवधातव्यं यत् वंगदेशीय वर्णोच्चारणव्यत्यासः व–ब– इत्यादि वर्णविषये उपलभ्यमानः तथैवानुसृतः। वैद्यकशब्दसिन्धौ संगृहीतानां बहूनां शब्दानां अन्यत्र प्रसिद्धार्थातिरिक्तार्थविवरणं विस्मयावहं भवति तदपि विवरणं अस्यां पूरणिकायां संगृहीतमास्ति । इत्यादयो बहवो अस्याः पूरणिकाया विशेषा विदुषां संतोषाय भवेयुः इत्याशास्महे ।

लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अध्यक्षः

महाराष्ट्रराज्य साहित्य संस्कृति मंडलस्य

आयुर्वेदशब्दकोशः अर्थात् आयुर्वेद महाकोशः

पूरणिका (सङ्केतसूचिः)

आधारग्रंथाः	संकेताः	आधारग्रंथाः	संकेताः
अध्यायः	अ.	आमावतः	आम. वा., आ. वा.
अगुर्वादितैलं	अगु. तैलं	आमातीसारः	अमातीसा
अग्निमान्द्य	अग्निमा.	आम्रवर्गः	आ. व., आम्र. व.
अरोचकः	अ. च., अरो.	इन्द्रियस्थानं	इ. (न्द्रिय)
अपची	अ. ची.	उत्तरखण्डः उत्तरतन्त्रम् उदरम्	उ.
अजीर्णं	अजी.		
अमरटीकानीलकण्ठः	अ. टी. नी.	उणादिः	उणा.
अमरटीकाभरतः	अ. टी. भ.	उत्कलः	उत्
अमरटीकाभानुदत्तः	अ. टी. भा.	उपदंशः	उ. द.
अमरटीकामथुरेश	अ. टी. म.	उदावर्त्तः	उदा., उ. व.
अमरटीकारमानाथः	अ. टी. र.	उन्मादः	उन्मा.
अमरटीकारायमुकुटः	अ. टी. रा.	उपरसवर्गः	उ. रसव.
अमरटीकारामाश्रमः	अ. टी. रामा.	ऊरुस्तम्भः	ऊ. रत
अमरटीकासारसुन्दरी	अ. टी. सा.	एकार्थवर्गः	एकार्थः
अमरटीकासुभूतिस्वामी	अ. टी. सुभूति. स्वा.	एकाक्षरकोषः	ए. को.
अमरटीकाक्षीरस्वामी	अ. टी. स्वा. (मी.)	एलादिवर्गः	एलादि.
अत्रिसंहिता	अत्रि.	ओष्ठरोगः	ओ. रो.
असृग्दरः	अ. दर.	कर्णाटः	कं.
अनुपानं	अनु. (पा.)	कटिवातः	कटिवा.
अनेकार्थवर्गः	अने. व.	कण्ठगत मुखरोगः	कण्ठ. मु. रो.
अन्नद्रवशूलं	अन्नद्र (व) शू.	कर्णरोगः	कर्णरो.
अपस्मारः	अप (स्मा)	कल्पस्थानं	कल्प.
अम्लपित्तं	अ. पि.	कर्पूरवर्गः	क. व.
अभिन्यासज्वरः	अभि. (न्या). ज्व.	काण्डः	का.
अमरकोषः	अम.	काङ्कायनगुटी	काङ्काय. गु.
अरुणदत्तः	अरुणः, अरु. द.	कालिकापुराणम्	का. पुराणम्
अर्कप्रकाशः (रावणकृतः)	अर्कः (रावणः)	कामला	काम.
अर्कप्रकाशचिकित्सा	अर्क. चि.	कुम्भकामला	कु. काम, कुम्भ.
अर्कादिवर्गः	अर्कादिः	कुसुमावलीटीका	कु. टी., कुसुमा.
अर्धावभेदकः	अर्द्धा. द. (अर्द्धा)	कोङ्कणः	कों.
अलसकः	अल.	क्लीबलिंगं	क्ली.
अन्त्रवृद्धिः	अ. व.	खण्डः	ख.
अश्मरी	अश्म. (री)	गणः	ग.
अतीसारः	अ. (अति, ती) सा.	गलगण्डः	ग. ग.
आरग्वीयः	आ.	गजवैद्यकः	गज. वै.

आधारग्रंथाः	संकेताः	आधारग्रंथाः	संकेताः
भारतम्, भावप्रकाशः	भा.	रोगः	रो.
भावप्रकाशपूर्वभागः	भा. पू.	वर्गः	व.
भावप्रकाशमध्यभागः	भा. म.	वटादिवर्गः	वटा. वै.
भूतोन्मादः	भू. उन्मा.	वम्यार्ह	वम्
भूरिप्रयोगः	भूरि. प्र.	वाग्भटः	वा.
भैषज्यरत्नावली	भैष.	वाजीकरणं	वाजी. क.
महाराष्ट्र	मं.	वातज्वरः	वा. ज्व.
मध्यखण्डः	म.	वातपित्तज्वरः	वा. पि. ज्व.
मदनपालः	मदः	वातरक्तः	वा. र. (रक्त)
मधुमतीटीका	मधु.	वातव्याधिः	वा. व्या.
मधुमेहः	मधु. मे., म. मे.	विमानस्थानं	वि., विमा.
मसूरिका	मसू.	विश्वप्रकाशकोषः	वि., विश्व.
भाषा.	भा.	विजयरक्षितः (व्याख्यामधु-	विज. र., वि. र.
माधवनिदान	मा. नि.	कोषः)	
मिश्रकाध्यायः	मिश्र.	विषमज्वरः	वि. ज्व.
मुखरोगः	मु. रो.	विदग्धाजीर्णः	विदग्धाजी.
मूत्रकृच्छ्रः	मू. कृ.	विद्रधिः	विद्र.
मूत्राघातः	मू. घा.	विलम्बिका	विल.
मूत्ररक्तः	मू. र.	विसूचिका	वि. सू.
मेदिनी	मे.	वृद्धिचिकित्सा	वृ. चि.
योगरत्नाकरः	योग. र., यो. (रत्न. रत्ना.)	बृहत्सुश्रुतम्	बृह. सु.
योनिव्यापत्	यो. (नि) व्या. रो.	वैद्यकचन्द्रिका	वै. चन्द्रिका.
रक्तिका	र.	वैद्यजीवनं	वै. जी.
रक्तातिसारः	रक्तातिः.	वैद्यकनिघण्टु	वै. निघ.
रसेन्द्रचिन्तामणिः	र. चि., रस. चि.	वैद्यकसंग्रहः	वै. सं.
रत्नावली	रत्ना.	अव्ययं	व्य.
रक्तपित्तं	र. पि.	व्याकरणम्	व्याक.
रसमञ्जरी	र. म., रस. म.	व्रणशोथः	व्र. (ण) शो.
रत्नमाला	र. मा.	शरावः	श.
रत्नमालासंग्रहः	र. मा. सं. (ग्रहः)	अर्धशरावः	॥० श.
रसकौमुदी	रस. कौ.	शब्दचन्द्रिका	श. च.
रसप्रदीपः	रस. प्र.	शब्दचिन्तामणिः	श. चि.
रसरत्नाकरः	रस. र.	शब्दकल्पद्रुमः	शब्दकल्प.
रसायनाधिकारे	रसायना.	शब्दमाला	श. मा.
रसेन्द्रसारसंग्रहः	र. सा. सं.	शब्दरत्नावली	श. र.
रसेन्द्रचिन्तामणिः	रसे. चि., रसेन्द्र. चि.	शारीरस्थानं	शा.
राजवल्लभः	राज.	शार्ङ्गधरः	शा. ध., शार्ङ्ग
राजयक्ष्मा	राज. य., रा. य.	शाकवर्गः	शा. व.
राजतरङ्गिणी	रा. तर.	शारीरव्रणः	शा. व्र.
राजनिघण्टुः	रा. नि.	शिरोरोगः	शि. रो., शिरोगे.

आधारग्रंथाः	संकेताः	आधारग्रंथाः	संकेताः
गण्डमाला	ग. मा.	धरणिः	धर.
गुटी (डी)	गु.	धान्यवर्गः	धा. (न्य) व.
गुजरी, गुजराटी	गु. गुर्ज्जः	ध्वजभङ्गः	ध्व. भ.
गुदभ्रंशः	गुदभ्रं.	नानार्था	नाना.
गुडूच्यादिवर्ग	गु. व.	नासारोगः	ना. रो.
ग्रहः	ग्र.	नाडीव्रणः	ना. व्र.
ग्रहणी	ग्रह.	निदानस्थानं	नि.
चरकसंहिता	च. (चर.)	निदानम्	निदा.
चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः	चक्र. द.	नेत्रगतदृष्टिरोगः	ने. दृ. रो.
चक्रपाणिदत्तकृतसंग्रहः	च. द. (सं.)	नेत्ररोगः	ने. रो.
चन्दनादितैलम्	चन्द. तैल.	नेत्रगतवर्त्मरोगः	ने. व. रो.
चरकविमानस्थानम्	च. वि.	नेत्रगतशुक्ररोगः	ने. शु. रो.
चातुर्थकज्वरः	चातु. ज्व.	नेत्रगतसन्धिरोगः	ने. सन्धि. रो.
चिकित्सास्थानं	चि.	पञ्चावः	पं. पञ्चा.
चिकित्साक्रमकलपवल्ली	चि. क्र. क. (वल्ली)	पलं, परिच्छेदः	पं
चूर्णम्	चू.	पथ्यापथ्ये	प. प.
जटाधरः	जटा.	परिभाषाप्रदीप	प. प्र.
जयदत्तः	ज. (जय.) द.	परमदः	प. म. (परमदः)
ज्वरः	ज्व.	पर्य्यायमुक्तावली	प. मु.
ज्वरातिसारः	ज्वराति.	पानाजीर्णः	पा. अजी.
टीका	टी.	पानात्ययः	पाना.
डल्बण	ड.	पित्तज्वरः	पि. ज्व.
तामिळः	ता.	पिप्पल्यादिवर्गः	पि. व.
तालुगतमुखरोगः	तालु. मु. रो.	पुलिंङ्गं	पुं.
तृष्णा	तृ.	पुष्पवर्गः	पु. व.
तेलुगुः, तैलङ्गः	तें.	पूर्वखण्डः, पूर्वभागः	पू.
तैलम्	तै.	प्रत्येकम् प्रयोगः, प्रसारणी	प्र.
अर्द्धतोलकः	॥० तो.	प्रमेहः	प्रमे (हः)
तोलकः	तो.	प्रयोगरत्नाकरः	प्रयोगरत्न.
तोडनानन्दः	तोड.	प्रयोगामृत	प्रयोगा.
त्रिलिङ्गं	त्रि.	प्रहरः	प्रह.
त्रिकाण्डशेषः	त्रिका.	प्राकृतं	प्रा.
दन्तरोगः	दन्तरो.	फलवर्गः	फ. व.
दन्तगतमुखरोगः	द. मु. रो.	फारसी	फा.
दधिवर्गः	द. व.	भागः	भ.
द्रव्यगुणः	द्र. (व्य.) गु.	भगन्दरः	भग.
द्रव्याभिधानं	द्रव्याभि.	भरतद्विरूपकोषः	भ. द्विरूपको.
द्विरूपकोषः	द्वि. (रूपः)	भरतधृतरभसः	भ. रभसः
धन्वन्तरिनिघण्टुः	ध. निघ.	भल्लातकगुडः	भल्लागुडः

आधारग्रंथाः	संकेताः	आधारग्रंथाः	संकेताः
शिरोविरेचनम्	शिरोवि.		
शीतपित्तम्	शी. पि.	सूत्रस्थानं	सू.
शूकदोषः	शू. दो.	सूतिका	सूति.
शेषः	शे.	सूर्यसिद्धान्तः	सूर्यसि.
श्लोकः	श्ल.	स्तवकः	स्त.
श्लीपद	श्ली.	स्त्रीलिङ्गं	स्त्री.
संग्रहः	सं.	स्थानं	स्था.
संग्रहग्रहणी	सं. ग्रहणी.	स्वरभेदः	स्व. भे (द).
सन्निपातः	स. सन्निपा.	हलायुधः	हला.
सन्न्यासज्वरचिकित्सा	सन्न्या. ज्व.	हलीमकाः	हली.
सर्वगतमुखरोगः	सर्व. मु. रो.	हरीतकीवर्गः	ह. व.
सद्योव्रणः	स. व्र.	हारीतः	हा.
साधारण, सान्निपातिक	सा.	हारितोत्तरे अत्रिः	हा. अत्रिः
सारकौमुदी	सा. कौ	हारावलिः (वली)	हारा.
सारसुन्दरी	सा.सु.	हिन्दी	हिं.
सिद्धिस्थानं	सि.	हिक्काश्वासः	हि. श्वा.
सिद्धयोगः	सि. यो.	हृद्रोगः	हृद्रो.
सुश्रुतं	सु.	हेमचंन्द्रः	हे. च.
सुश्रुतटीकाडल्वणः	सु. टी. ड.	हेमाद्रिः, तत्कृतटीका	हेमा.
सुश्रुतनिदानस्थानम्	सुनि.	क्षारपाणिः	क्षार.
सुश्रुतमिश्रकाध्यायः	सु. मि.	H. H. WILSON	WIL.

आयुर्वेदीय - शब्दकोशः–पूरणिका

अंशल–त्रि., मांसलः

अंशुकाय–पु., प्रवालादिः

अंशुपर्णिका–स्त्री., शालपर्णी

अंशुपर्णी–(श. र.) शालिपर्णी

अंशुमतीफला–स्त्री., कदलीवृक्षः (भा. पू.) (१ भ. फ. ब.)

अंशुमत्फला–स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. नि. व. ११)

अंशूदक–न. पु., हंसोदम्। तच्चाहोरात्रं रविचन्द्रकिरणजुष्टत्वात् निर्मलं शैत्यगुणयुक्तं भौमं जलं शरदि प्रशस्तम्। शस्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम्। दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः॥ अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना॥' (सुसू. ४६ अ. वारिव.) (भा. पू.) तस्य गुणाः– बल्यं रसायनं शीतलं लघु च (मद. ८ व.) श्रमघ्नं पित्तोष्णदाहविषमूर्च्छीरक्तमदात्ययेषु हितम् (रा. नि. व. १४)

अंसपारिक–पु., महानिम्बवृक्षः (वै. नि.)

अंहति–स्त्री., रोगः (मे) पीडा (अम रा. नि)

अंह्रि–पु., पादः तरुमूलम् (अम.)

अंह्रिप–पु., वृक्षः (हला.)

अंह्रिस्कन्ध–पु., गुल्फम् (हेच.)

अकच–त्रि., केशशून्यम्

अकरा–स्त्री., आमलकीवृक्षः (श. च.)

अकराकरभ–पु., अकर्करः (शार्ङ्गः अकारादिचूर्ण ६ अ.)

अकराम्भक–पु., अकर्करः (वै. नि.)

अकर्कर–पु., स्वनामख्यातं पण्यद्रव्यम्

अकर्ण–त्रि., बधिरः (हे. च.)

अकर्तन–त्रि., वामनः

अकल्कर–फा. अकर्करहा अकल्करा गुणाः—वीर्योष्णः बलकरः कटुः प्रतिश्यायशोथवातघ्नश्च (वै. नि.) (मद) गुवाकशिरः– भेदनं मदकरं च (च. द.) स्वादु तिक्तं कषायं शुक्रलं मूत्ररोगघ्नं च (राज) निर्यासः–हिमो गुरुः विषाके उष्णः वातघ्नः पित्तकरः क्षारः अम्लः मोहनश्च (ता) हिमो गुरुः आ. को. पू. १ वातघ्नः कृमिहृत्पित्तलश्चेति (रा. नि. व. ११) पूगं सङ्कोचकं कृमिघ्नं च। आमं तत्–कषायं मुखकण्ठशोधनं रेचनं पाचनं रुचिकरं च। शुष्कं पूगं मुखकण्ठशोधनं सरमुदराध्मानहरं श्लेष्मपित्तरक्तामशमनं च। पर्णेन विना खादितं तद्–पाण्डुवातशोषादिरोगजनकं भवति (रा. नि. व. ११)

अकल्य–त्रि., रुग्णः

अकल्ल–पु., अकर्करः (अ. टी. सा. वै. नि.)

अकालकुष्माण्ड–पु., अकालजकुष्माण्डम्

अकालभोजन–न., अप्राप्ते काले अतिप्राक्, कालेऽतीते वा भोजनम्। तच्च गुणैरसामर्थ्यकरं शिरःपीडाविसूचिकादिव्याधिजनकम्। यथा "अप्राप्तकाले भुञ्जानो ह्यसमर्थतनुर्नरः। तांस्तान्व्याधीनवाप्नोति मरणञ्चाधिगच्छति" (भा. पू.)

अकालशयन–न., न यथायोग्यकाले शयनम् (वा. सू. ८) गुणाः– "अकालशयनात् श्लेष्मा प्रतिश्यायः प्रपीनसः। क्षयः शोफः शिरोऽर्तिश्च जायते चाग्निमन्दता" (हा. अत्रि. १ स्थाने २३ अ)

अकुप्य–न., स्वर्णम्। रौप्यम्। (हला)

अकुल–त्रि., निरस्थिद्रव्यम् (चचि. १) लम्बकर्णजटाहीनमध्यमाश्वः यथा "लम्बकर्णोऽजटश्चैव अकुलः परिकीर्तितः।" (जयद. ६)

अकूट–पु., फलवृक्षविशेषः आगइफल इति लोके। (रत्ना)

अकूपार–पु., कच्छपः (त्रिका)

अकोट–पु., गुवाकवृक्षः, फलगुणाः– गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तहरं मोहनं दीपनं रुच्यं मुखवैरस्यहरं च। आर्द्रं तत्-गुरु अभिष्यन्दि अग्निघ्नं दृष्टिघ्नं च। स्विन्नं नाम शुष्कमेव तत् त्रिदोषघ्नम्। पुष्पं-कषायं मधुरं गुरु च स एव निघण्टुः पूगस्याष्टभेदानङ्गीकरोति। शैली-तैल्वण-गौल्य-घोण्टा-चेऊल-वल्लिगुल-चन्द्रापुरीयः चौल्यः इति। तेषु शैली-मधुरा रुच्या कटुकषायाम्ला। तैल्वणं मधुरं लघु दीपनं रसालं च। गौल्यम्-कटु कषायं पाचनं द्रावकं लघु च। घोण्टा कटु-कषायोष्णा दीपनी च। चेउलसंज्ञं कोंकणे

प्रसिद्धं-तच्च सुगन्धि दीपनं पाचनं पुष्टिकरं रसाढ्यं च। वल्लिगुलमपि कोंकण एव प्रसिद्धं त्रिदोषहरं ग्राम्यं दीपनं च। चन्द्रापुरीयं स्वादु कटु कषायं रुच्यं दीपनं पाचनं च। चोलीपूगं आन्ध्रदेशीयं कषायमधुरम्

अक्रान्ता–स्त्री. पु. बृहतीक्षुपे (र. मा.) तस्या गुणाः–उष्णवीर्या पाचनी सङ्ग्राहिणी च (चक्र. द. राज) कटु-तिक्तरसा उष्णा लघुः वातघ्नी ज्वरघ्नी अरोचकामकासघ्नी श्वासहृद्रोगहरी च (रा. नि. व. ४)
हिं.—वरहण्टा, भटकटायी.
म.—क. डोरली, पांढरी वानभण्टी.
उत.—आकान्ति.
ते.—ब्राकुरुचेट्टु.

अक्लिका–स्त्री., नीलीवृक्षः (श. च. हिं–नीली.) सा द्विधा–नीली महानीली च गुणाः–कटुतिक्तोष्णा केश्या कासकफामघ्नी लघुः वातविषोदरगुल्मकृमिज्वरघ्नी च (रा. नि. व. ४) रेचनी मोहभ्रमामवातोदावर्तघ्नी च (भा. पू. १; भ. मद० १ व.)
" महानीली गुणाढ्या स्यात् रङ्गश्रेष्ठा सुवीर्यदा। पूर्वोक्तनीलिका देश्या सगुणा सर्वकर्मसु
(रा. नि. व. ४)

अक्वथितक्षीर–न., आमदुग्धम् तत् श्लेष्मप्रकोपि गुरु च (वै. नि.)

अक्षकारका–स्त्री., घृतकुमारी (वै. नि.)

अक्षकाष्ठ–न., विभीतककाष्ठम् (च. द. पाण्डु. चि.)

अक्षगण–पु., श्रोत्रादीन्द्रियसङ्घातः

अक्षगन्धिनी–स्त्री., अतिबला (वै. नि.)

अक्षधर–पु., शाखोटवृक्षः (भूरिप्र.)

अक्षधूर्त (–र्तिल)–पु., हिं. वैला (हारा)

अक्षपाक–पु., संचललवणम् (वै. नि.)

अक्षपिण्ड–पु., शङ्खपुष्पी (वै. नि.)

अक्षपीड–पु., श्वेतवुन्हा श्वेतवुन्हामूलं (रसेन्द्र. चि. ९ अ)। दुरालभा (सु. चि. ९ अ)

अक्षपीडका(डा)–स्त्री., श्वेतवुन्हा (प. मु.) यवतिक्तलता (रा. नि. व. ३)

अक्षम–पु., स्थूलमूलकम्। वनचटकः (वै. नि.)

अक्षमा–स्त्री., अक्षान्तः। ईर्ष्या (श. र.)

अक्षर–पु., अपामार्गः (हे. च.)

अक्षर–नपुं., जलम्

अक्षरुचक–न., मृत्तिकालवणम् (वै. नि.)

अक्षवीर्यवत्–पु., श्वेतकरवीरः (वै. नि.)

अक्षशिरोधिजा–स्त्री., मन्यास्थशिरा (वै. नि.)

अक्षसस्य–न., कपित्थफलम् (वै. नि.)

अक्षारलवण–न., अकृत्रिमसैन्धवादि। यथा–" गोक्षीरं गोघृतं चैव धान्यं मुद्गास्तिला यवाः। सामुद्रं सैन्धवं चैव अक्षारलवणं स्मृतम्। " (हारलता)

अक्षिक–पु., रञ्जनवृक्षः (रत्ना.)

अक्षिकूट–(कः) पु., ईषिकायाम्
गजाक्षिपुटकम् (हे. च.)

अक्षिकूणित–न., अपाङ्गदृष्टिः

अक्षिगोल–पु., नेत्रतारकः

अक्षिच्छादन–न., अक्षिवर्त्म (रत्ना.)

अक्षिपक्ष्म–न., नेत्रलोमन्

अक्षिपञ्चक–न., श्रोत्रं त्वक् रसना नेत्रं नासा चेति (रा. नि. व. १८)

अक्षिपटल–न., नेत्रपटलम्

अक्षिपीलु–पु., महानिम्बः (वै. नि.)

अक्षिव–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (हिं. शिग्रु) मरिचम् (रा. नि. व. ७) न., सामुद्रलवणम् (अ. टि. भ)

अक्षिविचूर्णित–न., अपाङ्गदृष्टिः (हे. च)

अक्षिहुण्डन–न., नेत्रव्युदासः (मा. नि. विज. र.)

अक्षेय–पु., रक्तार्कः। अर्कमन्दारः (वै. नि.)

अक्षोट–(कः) (की)–(पु., स्त्री.,) गिरिजपीलुः। आखोट इति हिमवति प्रसिद्धः
प्रा.—अक्कोड.
कों.—अखोड.
हिं.—खरोटनासपाती.
तत्पर्यायः–अक्षोटः, अक्षोटकः, आखेटः, पर्वतपीलुः, कर्परालः, कन्दरालः, आक्षोडः (ख), आस्फोटकः इति (शा. र.)
गुणाः–मधुरः बल्यः स्निग्धोष्णः वातपित्तघ्नः रक्तदोषहरः शीतलः कफकोपनश्च (रा. नि. व.११)
मधुरं बल्यं गुरु उष्णं सारकं वातघ्नं च (मद. व. ६)
अक्षोटकोऽपि वातादसदृशः कफपित्तकृत् (भा. मि.)

अक्षोडक–पु., अक्षोटवृक्षः (र. मा.)

अक्षोहार–पु., मधुखर्जूरी (वै. नि.)

अक्ष्य–न., सौवर्चललवणम्

अखट्ट–पु., पियालवृक्षः (हिं. चिरोञ्जी। म. चारोळी)
गुणाः–कफपित्तास्रघ्नः, तत्फलगुणाः–मधुरं स्निग्धं बृंहणं वातपित्तघ्नं गुरु सरं ज्वरदाहतृष्णाहरं च।

तन्मज्ज– मधुरं हृद्यं वृष्यं वातपित्तहरं दुर्जरं स्निग्धं विष्टम्भि आमवर्धनं च। अस्य पक्वं फलम्-वृष्यं गौल्यं अम्लकं गुरु च। तद्बीजं–मधुरं वृष्यं पित्तदाहघ्नं च (रा. नि. व. ११) "चारः पित्तकफास्रघ्नस्तत्फलं मधुरं गुरु। स्निग्धं सरं मरुत्पित्तदाहज्वरतृषापहम्। पियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। हृद्यो-ऽतिदुर्जरः स्निग्धो विष्टम्भी चामवर्धनः॥" (भा. आम्रादि-व.)

अखरोट–पु., अखोटः

अखल–पु., उत्तमवैद्यः (वै. नि.)

अखात–न., देवखातम् (हे. च. का. ४) पुष्करिणी (अम.)

अखिलिका–स्त्री., क्षुद्रकारवेली (हिं. करेली छोटी) कारवल्ली

अग–पु., पर्वतः (हिं. पहाड) अगो द्विविध आग्नेय-सौम्यभेदेन। तयोर्विन्ध्य आग्नेयः, हिमालयः सौम्यः। आग्नेयगिरिजान्यौषधानि अग्निगुण-भूयिष्ठानि, सौम्यगिरिजानि च सोमगुणभूयिष्ठानि। "आग्नेयाः विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिः स्मृतः। अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभिः" (भा.) वृक्षः। सर्पः। सूर्यः (हे. च.)

अगज–पु., तुम्बुरुः। आर्द्रधान्यम् (हिं. आर्द्रधनिया) (मद.) विशेषस्तुम्बुरुशब्दः द्र० वन्दा

अगज–न., शिलाजतु (र. मा.)

अगदङ्कर–(ङ्कार) पु., वैद्यः (रा. नि. व. २०)

अगदनस्य–न., सर्पदष्टादौ नस्यविशेषम् (सु. कल्प.)

अगदाञ्जन–न., विषमूर्च्छितादौ अञ्जनम् (सु. कल्प.)

अगन्धिक–न., सौवर्चललवणम् (भा. मद.) द्र० सौवर्चलम्

अगरा (री)–स्त्री., देवदाली (अ. टी. भ) पीतदेवदाली (भा. रा. नि. व. ३) द्र० देवदाली

अगस्तिकुसुम–पु., बकपुष्पम् (त्रिका)

अगस्तिद्रु–पु., बकवृक्षम् (त्रिका.)

अगस्तिद्रुम ,, ,, ,,

अगस्त्यरस–पु., उदररोगघ्नरसः रस–गन्धक–जैपाल-बीज–लौह–शिलाजतु–ताम्र–हरिद्राणां प्रत्येकं सम-भागः एकत्र त्रिकटुभृङ्गराजार्द्रकनिम्बनिर्गुण्डी-स्वर्णुलीक्वाथैरेकवारं मर्द्यः। अनुपा. गुडहरीतकी, कम्पिल्लचूर्णं वा (र. सा. सं.)

अगाध–न., जलम् (हे. च. ४. का.) छिद्रम् (मे)

अगिर–पु., चित्रकवृक्षः। द्र० चित्रकः

अगुरुगन्ध–न., हिङ्गुः

अगुरुशिंशपा–स्त्री., शिंशपावृक्षः (हिं. शीसव) (अ. टी. स्वामी)

अगुरुसार–पु., कृष्णागुरुवृक्षः। द्र० कृष्णागुरुः। लौहम् (रत्ना. एकार्थः)

अगुरुसारा–स्त्री., शिंशपावृक्षः (भा.)

अगूढ–पु., श्वेतैरण्डः (हिं. एरण्ड) वैनि. द्र० एरण्डः

अगूढगन्ध–न., हिङ्गुः (रा. नि. व. ६) द्र० हिङ्गुः। पलाण्डुः। मृगनाभिः। लशुनः।

अगृद्धि–स्त्री., अनभिलाषः (वा. चि. ७; अ. १०८)

अगौकस्–पु., शरभः। पक्षी। सिंहः (मे.)

अग्निक–पु., इन्द्रगोपकीटविशेषः (सुमिअ) (हेच ४ का) चित्रकवृक्षः (वा. चि. ७. अ.) भल्लातकवृक्षः (भा. पू. १; भ. ह. व.)

अग्निकर्णी–स्त्री., वृक्षविशेषः (वै. नि. २; भ. अभिन्यासज्वरचि.)

अग्निकाष्ठ–न., अगुरुः। अग्निकाष्ठं करीरे स्यात् (रा. नि. व. २३) शमीकाष्ठम् (रा. नि. व. १२)

अग्निकुमारलौह–न., प्लीहाधिकारः रसयोग०। रामठं हिङ्गु। तुत्थहिङ्गुटङ्कणसैन्धव-धान्यजीरकयमानी-मरीचशुण्ठीलवङ्गैलाविडङ्गानां प्रत्येकं १ तो. लौहं सर्वसमं, रसस्य ४ तो, गन्धकस्य च ४ तो,। अनु-पानं घृतं मधु च (र. सा. सं ३३४ योग०)

अग्निगर्भ–पु., अग्निजारवृक्षः (रा. नि. व. ६)

अग्निघृत–न., अग्निमान्द्ये घृतम्। घृतं ४ श. पिप्पल्यादि कल्कद्रव्यं प्रत्येकं ४ तो. दधि ४ श. काञ्जिकं ४ श. शुक्तं ४ श. आर्द्रकरसः ४ श। एभिः यथा-विधि घृतं पचेत् (च. द. अग्निमा. चि.) पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली। हिङ्गु चव्याज-मोदे च पञ्चैव लवणानि च, द्वौ क्षारौ हपुषा चैव दद्याद्धपलोन्मितम्। दधिकाञ्जिकशुक्तानि स्नेह-मात्रासमानि च। आर्द्रकस्य रसप्रस्थं घृतप्रस्थं विपाचयेत्। इति पाठः

अग्निचूड–पु., ताम्रचूडपक्षी (दा. हिं. कोमडा, हिं—मुर्गा) स द्विविधः वन्यग्राम्यभेदेन। तयोर्ग्राम्यः– बृंहणः, वृष्यः, बल्यः, गुरुः, शुक्रकफकृत्, स्निग्धः, उष्ण-वीर्यः, कषायरसश्च। आरण्यः— स्निग्धः, बृंहणः,

श्लेष्मलः. गुरुः, वातपित्तक्षतवमिविषमज्वरनाशकश्च (भा.) तन्मासम् हृद्यं श्लेष्मघ्नं लघु च (रानिव ११) रूक्षं स्वादु कषायं शीतलं च (राज.)

अग्निज–पु., अग्निजारवृक्षः (रा. नि. व. ६) भल्लातकः सुवर्णम्। मांसधातुः

अग्निजननी–स्त्री., भैषज्यमेतदग्निमान्द्योपशमनम् (रस. चि) "पलैकं मूर्छितं सूतं मरिचं हिङ्गुजीरकम्। प्रतिकर्षं वचां शुण्ठीं तत्सर्वं मार्कवद्रवैः। दिनं पिष्ट्वा लिहेन्माषं मधुना वह्निदीप्तये। कर्षैकं भक्षयेच्चानु दाडिमं नागरं गुडैः" मार्कवद्रवैः भृङ्गराजरसैः (प्रयोगा.)

अग्निजातज–पु., अग्निजारवृक्षः (रानिव. ६)

अग्निजिह्विका–स्त्री., लाङ्गलीवृक्षः (रत्ना.) (हिं.-करिहारी) गुणाः–सरा, तिक्ता, कटुका, तुवरा, तीक्ष्णा, उष्णा, पित्तला, सक्षारा, गर्भपातिनी, कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलश्लेष्मकृमिजित्, कफवातघ्नी अन्तःशल्यनिष्कासनी च (भापू. १ भगुव)

अग्नितुण्डीरस–पु., अजीर्णाधिकारे रसयोग०। "शुद्धसूतं विषं गन्धमजमोदा फलत्रिकम्। सर्जिक्षारं यवक्षारं वह्निसैन्धवजीरकम् सौवर्चलं विडङ्गानि सामुद्रं च्यूषणं तथा। विष-मुष्टिसमं सर्वं जम्बीराम्लेन मर्दयेत्। मरिचाभां वटीं खादेत् वह्निमान्द्यप्रशान्तये॥" अत्र वह्निश्चित्रकः, अजमोदा यवानी। विषमुष्टिः, महानिम्बः, अस्य त्वक् पत्रं वा सर्वसमम् (रसासं. १३३ योगः) द्वितीयः–अमृतवरावटकमरिचैर्द्विपञ्चनवभागिकैः कृतैः क्रमशः। वटिका मुद्गसमाना कफपित्ताग्निमान्द्याजीर्णहरा॥ अत्र लिम्पाकरसैर्वटिका कार्या। प्रयोज्या अजीर्णे। अमृतवटीति (भैष.)

अग्निदमनक–पु.,

अग्निदमनी–पु., स्त्री., क्षुद्रकण्टकवृक्षविशेषः। गणिकारीति प्रसिद्धा। दुरालभाभेदः (म. धमासाभेद. अग्निदवणा) (वै. नि.) अस्याः पर्यायाः– वह्निदमनी बहुकण्टका, वल्लिकण्टकाडिका, गुच्छफला, क्षुद्रफला, क्षुद्रकण्टकारी, क्षुद्रदुस्पर्शा, क्षुद्रकण्टकारिका, मर्त्येन्द्रमाता, दमनी। गुणाः–कटूष्णरूक्षत्वं, रुचिकरत्वं, अग्निदीपकत्वम् (रानिव ४) वातगुल्मकफघ्नत्वं प्लीहघ्नत्वं च (वै. नि)

अग्निदीपन–पु., वरुणवृक्षः (भापू १ भ)

अग्निपत्री–स्त्री., अग्निवती इति लोके

अग्निपाली–पु., चित्रकक्षुपम् (मद. २ व)

अग्निप्रस्तर–पु., अग्निजनकपाषाणः
म.—गारगोटी

अग्निबलवृद्धि–स्त्री., जठरानलस्य वृद्धिः (च. द. अर्श चि.)

अग्निबीज–न., सुवर्णम् (त्रिका)

अग्निबीज–पु., अग्निमन्थः

अग्निभ–पु., सुवर्णम् (रानिव. १३)

अग्निभा–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (हिं.-कवुइ) द्र० ज्योतिष्मती

अग्निभु–न., स्वर्णम् जलम्

अग्निमणि–पु., सूर्यकान्तमणिः

अग्निमय–पु., श्वेतवृद्धदारकः (वैनि.) श्वेतबुद्धा

अग्निमुखचूर्ण–न., अग्निमान्द्ये हितम्। हिङ्गु १ भा. वचा १ भा. पिप्पली ३ भा. शुण्ठी ४ भा. यमानी ५ भा. हरीतकी ६ भा. चित्रकः ७ भा. कुष्ठं (भा. च. द. अग्निमा. भि. प्रयोगा.। अजीर्णे। भैष.। सा. कौ.) अन्यत्स्वल्पं बृहच्च उदरे (सा. कौ. रस. र)

अग्निमुखताम्र–पु., रसोऽयमम्लपित्ताधिकारे प्रशमनः। "गन्धकेनाक्षमात्रेण सूततुल्येन निर्मिता। कज्जली या तया लेप्यं ताम्रपत्रं तु तत्समम्। अर्जुनत्वग्रसैः सार्धं पक्वोदुम्बरपल्लवे। आच्छाद्य कृष्णलवणैश्चूर्णैश्चापि च मृण्मये। अन्धमूषागतं ध्मातं तत्सिद्धं भक्षयेन्नरः। शाणकं रक्तिकावृद्ध्या मासमात्रं प्रयोगतः। अम्लपित्तं क्षयं शूलं जरत्पित्तं सुदारुणम्। सप्तरात्रप्रयोगेण शरीरं निर्मलं भवेत् (रस. र.) पञ्चलवणैरिति प्रयोगः

अग्निमुखमण्डूर–न., शोथाधिकारे। मण्डुरस्य १२ प गोमूत्रस्य १२ श.। प्रक्षेपार्थं–पञ्चकोलं देवदारु मुस्तकं त्रिकटु त्रिफला विड्ङ्गश्च। प्रत्येकं चूर्णं १ प.। मात्रा १ तो.। अनु० तक्रम् (भैष)

अग्निमुखरस–पु., रसोऽयं शूलरोगोपशमनः (र. स.। र. सा. सं. २८२; योगः)

अग्निमुखलवण–न., अग्निमान्द्ये हितम्। अत्र–चित्रकमूलं, त्रिफला, दन्तीमूलं, त्रिवृन्मूलं कुष्ठम्; एषां प्रत्येकं चूर्णं समं सर्वसमं सैन्धवमेकत्र स्नुहीक्षीरैः सम्भाव्य तत्काण्डमध्ये दत्त्वा पङ्केनालिप्य मृदावह्नौ क्षिपेत् (भैष)

अग्निमुखलौह–पु., न., अर्शसि हितः । त्रिवृन्मूलादीनां ८ पलम् (रसेन्द्र. । च. द. अर्शः चि)
द्र० 'अग्निलौह'

अग्निरजस्–पु., इन्द्रगोपकीटः

अग्निरज्जु– (हे. च. ४)

अग्निरुहा–स्त्री., मांसरोहिणी (रानिव १२)

अग्निलौह–पु., अग्निमुखापरनामकोऽर्शोघ्नोऽयं रसः (रस. र. अर्शःचि.)

अग्निपक्त्र–पु., भल्लातकवृक्षः (मद. व. १) चित्रकक्षुपः

अग्निवती–स्त्री., आगिया इति लोकप्रसिद्धौषधिविशेषः

अग्निवर्धक–वि., अग्निदीपकं आग्नेयद्रव्यं अग्न्युद्दीपकम् आग्नेयद्रव्यमात्रे मरिचादौ (मरिचादि) (राज)

अग्निवल्ली–स्त्री., लताविशेषः (रसासं)

अग्निवाह–(हः, पु., धूमः (हे. च. ४ का)

अग्निविकार–पु., तन्नामकरोगभेदः स चतुर्भेदः (शार्ङ्ग. पू. ७ अ) द्र० अग्निः

अग्निवर्धन–वि., अग्निवर्धनं, यमानी

अग्निवृद्धि–स्त्री., अग्निदीप्तिः

अग्निशिख–न., सुवर्णम् (रा नि. व. १३)
कुसुम्भपुष्पम्। कुङ्कुमम् (भा. पू., २. भ.; मद. व. ३)

अग्निशिखा–स्त्री., लाङ्गलिकौषधिः (हिं. करिहारी, भा. पू. १ भ. गु. व)

अग्निष्ठ–पु., तण्डुलादिभर्ज्जनार्थं निर्मितं लौहमयपात्रम् ।

अग्निसंस्कार–पु., अग्निदाहकर्म

अग्निसंस्पर्शा–स्त्री., पर्पटीनामसुगन्धद्रव्यम् । सा चोत्तरदेशे प्रसिद्धा (भा. पू. १ भ. क. व.)

अग्निसन्दीपन–वि., अग्निवर्धकं नाम अग्निदीपनम्

अग्निसन्दीपनरस–पु., अग्निमान्द्ये रसः (२ भा.; ४ भा.; भैष.)

अग्निसहाय–पु., वन्यपारावतः । (रानिव–१९) वायुः

अग्निसाध्य–वि., अग्निदाहसाध्यः (च. द. अर्शः-चि.)

अग्निसारा–स्त्री., फलशून्यशाखा (रानिव. २) मञ्जरी

अग्निसुन्दररस–पु., अजीर्णाधिकारे रसः । यथा–टङ्कणं भागमेकञ्च मरिचञ्च द्विभागिकम् । आर्द्रकस्य रसेनैव भावना चात्र दीयते ' ॥ अनु. लवङ्गम् । (प्रयोग०)

अग्निसेवन–न., अग्निसेवा । गुणाः–तदिदं शीतवातस्तम्भ-कफवेपथुघ्नं रक्तपित्तकरं आमाभिष्यन्दपाचनं च (मद. १३ व.)

अग्निहानि–स्त्री., अग्निमान्द्यम् (वा. नि. १३ अ.)

अग्निहोत्र–पु., घृतम् अग्निः च (मे)

अग्न्या–स्त्री., तित्तिरपक्षी गौः (हला.).

अग्न्याशय–पु., पक्वाशयः

अग्रकाण्ड– पु., काण्डाग्रम्

अग्रजङ्घ–स्त्री., जङ्घाग्रभागः (हे. च.)

अग्रधान्य–न., धान्यविशेषः

अग्रपर्णी–स्त्री., शूकशिम्बी (प. मु.) द्र० आत्मगुप्ता अजलोमवृक्षः (र.)

अग्रपाणि–पु., हस्ताग्रम्

अग्रपुष्प–पु., वेतसवृक्षः (प. मु.)

अग्रबीज–पु., बीजाग्रवृक्षमात्रम् । यथा कुरण्टादिः (हे. च.)

अग्रमांस–न., हृदयम् । बुक्क । हृदयान्तर्गतमांसवृद्धि-रूपरोगविशेषः (सु. शा.)

अग्रलोडय–पु., चिञ्चोटकक्षुपः । सोऽयम् गुरुपाकः, शीतलः, अजीर्णकरश्च (राज.)

अग्रलोहिता–स्त्री., चिल्लीशाकम् (रानिव. ७)

अग्रवीहि–स्त्री., प्रसाधिका (र. मा)

अग्रहायण–पु., मार्गशीर्षमासः

अग्रिमा–स्त्री., लवलीवृक्षः । इति गौडे (श. च.)

अग्रु–स्त्री., अङ्गुली

अघन–न., दधि (हला)

अघविष–पु., सर्पः

अघाट–पु., अपामार्गः (रा.)

अघ्ना–स्त्री., गौः

अघ्न्या–स्त्री., स्त्रीगौः

अघोरनृसिंहरस–पु., सान्निपातिकज्वरे रसः । द्र० 'घोरनृसिंहरसः'

अङ्कतिः–पु., वायुः (त्रि) अग्निः, पु., (वि)

अङ्कन–पु., अङ्कोटवृक्षः

अङ्कपाली–स्त्री., धात्री । वेदिकाख्यगन्धद्रव्यविशेषः 'धात्रीवेदिकयोरपि ' (मे. लचतुष्कम्) आलिङ्गनम् (मे.)

अङ्कलेख्य–पु., चिञ्चोडवृक्षः

अङ्कश–पु., क्रोडस्थबालकः

अङ्का–(ङ्क)–स्त्री., मृदङ्गविशेषः (शब्दर.)

अङ्कुर–पु., प्ररोहः (ता. उ. ३६ अ) अस्य पर्यायाः— अभिनवोद्भिद् (अ)। उद्भिदः, पुरोद्भः, अंकुरः

(रा) रोहः (ह)। जलम्। रुधिरम्। लोमन्। मुकुलम्। फलम् (सर्वत्र मे. रत्रिकम्) अभिनवोद्भिदम् (मे)

अङ्कुरक-पु., पक्षिवासस्थानम्।

अङ्कोटक-पु., स्वनामख्यातवृक्षः (हिं. ढेरा भा। रा. नि. व. ९) अस्य पर्यायाः— निकोचकः (अ) निकोठकः (भ), अङ्कोलकः, बोधः, नेदिष्ठः, (दीर्घकीलकः (ज) अङ्कोठः, रामठः (र) कङ्करोलः, धलण्डः दृढकण्टकः (श), कोठरः, रेची, गूढपत्रः, गुप्तस्नेहः, पीतसारः, मदनः, गूढ वल्लिका, पीतः; ताम्रफलः, दीर्घकीलः, गुणाढ्यकः, कोलकः, लम्बकर्णः, गन्धपुष्पः, रोचनः, विशालतैलगर्भः। अस्य गुणाः—कटुः, तीक्ष्णः, स्निग्धः उष्णः, तुवरः, लघुः, रेचनः, कृमिशूलामशोफश्लेष्मविषघ्नश्च। तत्फलगुणाः—शीतलं, स्वादु, श्लेष्मलं, बृंहणं, गुरु, बल्यं, विरेचनं, वातपित्तदाहक्षयास्रजिच्च (मद. व १।) विषलूतादिदोषनुत् वातकफहरं शुद्धिकृच्च (रा. नि. व. ९।) (च. द. अ. सा. चि.)

अङ्कोठवटक-पु., रक्तातिसारे देयवटकः। यथा— पलमङ्कोठमूलस्य पाठां दार्वीञ्च तत्समाम् पिष्ट्वा तण्डुलतोयेन वटकानक्षसंमितान्॥ छायाशुष्कांश्च तान् कुर्यात् तेष्वेकं तण्डुलाम्बुना। पेषयित्वा प्रदद्यात्तं पानाय (भा. म. ख.)

अङ्कोलफलसङ्काश-पु., फलविशेषः इति लोके

अङ्गगौरव-न., शरीरगुरुत्वम् (वा. नि. १३ अ)

अङ्गघात-पु., अङ्गाघातः

अङ्गचय-पु., गुदवृषणयोर्मध्यभागः (वै. नि.)

अङ्गचेष्टा-स्त्री., अङ्गचालनम् (वा. नि. १५ अ)

अङ्गज-न., रक्तम्, मलम् (मे.)

अङ्गज-पु., केशः, रोगः मांसधातुः मदः (वि.)

अङ्गज्वर-पु., राजयक्ष्मा

अङ्गण-न., अङ्गनभूमिः

अङ्गताप-पु., शरीरोष्णता

अङ्गति-पु., वायुः। अग्निः (श.)

अङ्गदरण-न., पित्तजन्यपीडा

अङ्गदाह-पु., गात्रदाहः

अङ्गना-स्त्री., नारी (मे. नत्रिकम्) प्रियङ्गुः (भा.)

अङ्गनाप्रिय-पु., अशोकतरुः (र. मा.) द्रुमोत्पलम् (प. मु.)

अङ्गनाप्रिया-स्त्री., प्रियङ्गुनामगन्धद्रव्यम् (भा. पू. १ भ. क. व.)

अङ्गपाकता-स्त्री., पित्तजन्यरोगः तल्लक्षणम्

अङ्गपीडा-स्त्री., वायुजन्यरोगः तल्लक्षणम् वा

अङ्गपूजित-पु., अश्वतरः (मद. व. व. १२)

अङ्गप्रसारण-न., कायविस्तारः (वा. नि. ४ अ)

अङ्गवली स्त्री., त्रिबली

अङ्गभङ्ग-पु., शरीरस्य भङ्गः (वाउ २ अ) गुदवृषणयोर्मध्यभागः, रोगः, वायुरोगः

अङ्गभेद-पु., वायुरोगः

अङ्गमर्दन-न., गात्रमोटनम्

अङ्गमेजयत्व-न., अङ्गकम्पनम्

अङ्गरक्त-पु., कम्पिल्लके (अम)

अङ्गरक्षिणी-स्त्री., अङ्गत्राणम्

अङ्गरुहा-स्त्री., लोमन्, केशः

अङ्गलाघव-न., कायलघुत्वम् (वा. उ. १९ अ.)

अङ्गलेप-पु., चन्दनादिद्रव्यम्

अङ्गलोड्य-पु., आर्द्रकः, चिञ्चोटकतृणम्

अङ्गव-पु., शुष्कफलम् (श. च)

अङ्गवस्त्रोत्था-स्त्री., श्वेतयमानी

अङ्गविकृति-पु., अपस्मारोगः (रानि व २०)

अङ्गविक्षेप-पु., अङ्गहारः। अङ्गचालनम् (वा. उ. २ अ.)

अङ्गविभ्रंश-पु., कायशैथिल्यरूपवायुजरोगः (भा.)

अङ्गशोथ-पु., कायशोफः

अङ्गशोष-पु., वायुजरोगविशेषः

अङ्गशोषण-न., अङ्गस्य शुष्कता (वा. उ. ३ अ.)

अङ्गसङ्ग-पु., मैथुनम्

अङ्गसुन्दर-पु., दद्रुघ्नवृक्षः (अम.)

अङ्गसुप्ति-स्त्री.. कायस्पर्शाज्ञता, शरीरस्वापः

अङ्गसेन-पु., अगस्तिद्रुमम् (रत्ना.)

अङ्गहर्ष-पु., रोमाञ्चः (वा. नि. ३ अ.)

अङ्गहार-पु., अङ्गचालनम्

अङ्गहीन-वि., विकलाङ्गः काणादिः।

अङ्गारक-पु., कुरुण्टकः। अङ्गारः (मे. कचतुष्कम्) भृगराजः (रा. नि. व. ४; भा. पू. १ भ. गु. व.)

अङ्गारकतैल-न., स्वनामख्यातविषमज्वरघ्नतैलविशेषम् (रस. र. च.द.; च. द. व्रणशो. चि)

अङ्गारकमणि-पु., प्रवालम् (रा. नि. व १३)

अङ्गारकर्कटी-स्त्री., रोटिका (अगाकडी, रोटी, लिटी इति हिन्दी) (वै. नि. भा.)

अङ्गारकुष्ठका–स्त्री., हितावली
अङ्गारधानिका–स्त्री., अङ्गारधारणपात्रम्
अङ्गारधूप–पु., अङ्गारेण यो धूपो हिङ्ग्वादिना प्रसिद्धः (वा. चि. ८ अ)
अङ्गारपरिपाचित–न., शूलादिपक्वमांसम् (वि.) अङ्गारपक्वम्
अङ्गारपर्णी–स्त्री., भार्गी (र सा सं)
अङ्गार–(क) पुष्प (पु.) जीवपुत्रद्रुमम् । जियापुता- इति लोके (श. र.)
अङ्गारपूरिका–स्त्री., रोटकः
अङ्गारमञ्जरी–स्त्री.,
अङ्गारमञ्जी–स्त्री., करञ्जविशेषः (श. र.) महाकरञ्जः (रा नि व. ९)
अङ्गारमणि–पु., प्रवालम्
अङ्गारवर्णी–स्त्री., भार्गी
अङ्गारवल्लरी–स्त्री., करञ्जविशेषः
अङ्गारवल्ली–स्त्री., महाकरञ्जः रक्तकरञ्जश्च । भार्गी (वा. सू. १५ अ) सुरसादि (भा. पू. १. भ) गुञ्जा (भा. पू. अने. व.) कटुकरञ्जः । करञ्ज वल्ली रक्तगुञ्जा (भा. पू. १ भ. गु. व.)
अङ्गारवृक्ष–पु., इङ्गुदीवृक्षः (भा. पू. १ भ. वटा. रत्ना.) पूतञ्जिया इति च
अङ्गारवेणु–पु., रक्तवर्णविशेषः
अङ्गारशकटी–स्त्री., चुल्ली
अङ्गारा–स्त्री., हितावली इङ्गुदीवृक्षः (प. मु.)
अङ्गारिका–स्त्री., इक्षुकाण्डम् किंशुककोरकम् (मे. कचतुष्कम्)
अङ्गारित–न., कंशुक । पलाशकलिकोद्गमः (हारा.)
अङ्गारिता–स्त्री., लतामात्रम् । चुल्ली (मे. तचतुष्कम्)
अङ्गिका–स्त्री., कञ्चुकः
अङ्गुण–पु., वार्ताकी (श. र.)
अङ्गुरि (री)–स्त्री., अङ्गुली पाणिपादाङ्गुली (अ. टी.)
अङ्गुरीय–पु., न., अङ्गुरीयकः
अङ्गुलिकण्टक–पु., नखम्
अङ्गुलितोरण–न., ललाटे चन्दनाद्यङ्कितोऽर्द्धचन्द्रचिह्न- विशेषः
अङ्गुलिपञ्चक–न., कराङ्गुलिपञ्चकं–यथा, अङ्गुष्ठतर्जनी- मध्यमानामिकाकनिष्ठम्
अङ्गुलिफला–स्त्री., श्वेतनिष्पावः (रा. नि.)
अङ्गुलिमान–न., अङ्गुल्या योजनपर्यन्तमानम् । ८ यवैः १ अङ्गुलिः । २४ अङ्गुलिभिः १ हस्तः । ४ हस्तैः १ दण्डः । २००० दण्डैः १ क्रोशः । ४ क्रोशैः १ योजनम् । इति
अङ्गुलिमुख–न., अंगुल्यग्रभागः
अङ्गुलिमोटन–न., अङ्गुलिमर्दनजशब्दः (त्रिका.)
अङ्गुलिसंज्ञा–स्त्री., यवागुः
अङ्गुलिसम्भूत–पु., नखम् (रा. नि. व. १८)
अङ्गुष–पु., नकुलः । बाणः
अङ्गुष्ठाना–स्त्री., अङ्गुष्ठम् अङ्गुलित्राणकम्
अङ्घालजी–स्त्री., अन्ध्रालजीरोगः । द्र० अन्ध्रालजी
अङ्घ्रिग्रन्थिक–न., पिप्पलीमूलम्
अङ्घ्रिजिह्विक–पु., दमनकवृक्षः
अङ्घ्रिनामक–(नामन्)–पु., दमनकवृक्षः । वृक्षमूलम् (रा. नि.व. २ । अम)
अङ्घ्रिप–पु., वृक्षः (रानिव. २ । हला)
अङ्घ्रिपर्णिका–स्त्री., पृश्निपर्णी
अङ्घ्रिपर्णी (भा.पू. १ गु. व)
अङ्घ्रिवल्लि (का) –स्त्री., पृश्निपर्णी (अ.टी.र.)
अङ्घ्रिवल्ली ,, ,, ,, ,,
अङ्घ्रिष–पु., तन्नामकतालुरोगः द्र० अधुष
अङ्घ्रिसन्धि–पु., पादगुल्फः
अङ्घ्रिस्कन्ध–पु.,गुल्फः (हे. च)
अङ्घ्र्य–पु., पादगुल्फः
अचलत्विट्–पु., कोकिलः (श. च)
अचिकुर–पु., चिकुराभावो नाम निष्केशता; खालित्यम्ः
अचिन्त्यज–पु., पारदः (रानिव. १३)
अचिन्त्यशक्तिरस–पु., रसोऽयं नवज्वरे प्रयोज्यः (भैष. ज्व. चि.)
अचिन्त्यात्मन्–पु., परमात्मा
अचिरपल्लव–पु., सप्तपर्णवृक्षः (प. मु.)
अचिरप्रभा–स्त्री., चपला
अचेल–वि., वस्त्रहीनः
अचैतन्य–वि., चैतन्यरहितः
अच्छभल्ल (ल्लुकः)–पु., भल्लूकः (रा. नि. व. १९ रत्ना)
अच्छर्दिका–स्त्री., वान्तिः (रा. नि. व २०)
अच्छल–पु., तिलकल्कः
अच्छिन्नपत्र–पु., शाखोटवृक्षः युक्तपत्रवृक्षमात्रः
अच्छुक–पु., तन्नामकरञ्जनपुष्पवृक्षः, तिनिशवृक्षः (प. मु.)

अजका–स्त्री., अजागलस्तनम् । छागपुरीषम् । तन्नामक-कृष्णगतशोणितजनेत्ररोगविशेषः । आताम्रपिच्छिला-स्रस्रुदाताम्रपिटिकातिरुक् । अजाविट्सदृशोच्छ्राय-काष्ण्यौ वर्ज्यौसृजाऽजका (वा. उ. १० अ)

अजकेशी–स्त्री., नीलीवृक्षः (वै. नि. ।)

अजक्षीर–न., छागदुग्धम् (वा. उ. १६ अ) द्र० 'छागदुग्धम्'

अजक्षीरनाश–पु., शाखोटवृक्षः (रा. नि. व. ९)

अजगन्धिका–स्त्री., वनयमानी । क्षेत्रयमानी (अम. रत्ना.) तत्पर्यायाः–बस्तगन्धा, खरपुष्पा, अविगन्धिका, उग्रगन्धा, ब्रह्मगर्भा, ब्राह्मी, पूतिमयूरिका । गुणाः–कटुः, तीक्ष्णा, रूक्षा, हृद्या, अग्निवर्धनी, दृष्टिह्रास-करी, लघुः, शुक्रवातकफघ्नी च (मद. व. १) वनतुलसी । हिं–ववरी, ववइ । तिलौणि (मद.) रानतुळस, तिळवण, (रा. नि. व. ४) गुणाः–लघुः, रुक्षा, हृद्या, वातकफघ्नी च (मद. व. १) वनयमानी (च. द. वि. ज्व.) " नीलिनीमजग-न्धाञ्च । " फोफान्दी, वनयमानीति (च. सू. ४ अ-च. सू. २ शिरो वि. । वाचि. १५ अ.; उ. २२ अ)

अजगन्धिनी–स्त्री., मेषशृङ्गी (र. मा.)

अजघोष–पु., त्रयोदशविधसन्निपातज्वरान्यतमसन्निपात-ज्वरः । लक्षणम्–छगलकसमानगन्धः स्कन्धरुजा-वान्निरुद्धगलरन्ध्रः । अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान्भवति (भा. म. १ भ)

अजडाफल–न., शुकशिम्बीफलम् (चचि २ अ) कपिकच्छुः (भा. पू. गु. व.) कुमरिचम् (अत्रि.)

अजथ्या–स्त्री., स्वर्णयूथिका । छागसमूहः

अजनामक–न., माक्षिकम् (हे. च.)

अजन्तुजग्ध–त्रि., अकीटभक्षितः (च. द. अ. सा. चि.

अजप्रिया–स्त्री., बदरीवृक्षः (भा. पू. १ भ. फ. व)

अजबला–स्त्री., कृष्णतुलसी

अजभक्ष–पु., बर्बुरीवृक्षः (रा. नि. क्षा.) क्षुद्रदुरालभा (रा. नि. व. ४)

अजमल–पु., गोधूमः (प. मु.)

अजमांस–न., छागमांसम् । द्र० छागमांसम् (वा. सू. ६ अ.)

अजमोदाख्या–स्त्री., वनयमानी । क्षेत्रयमानी (रत्ना.) बृहल्लवङ्गादिचूर्णम् । यमानी (रा. नि.)

अजमोदाद्यवटक–पु., आमवाते हितः । अजयमान्यादि-चूर्णं प्रत्येकं १ पलं, शुण्ठ्याः १० पलानि, वृद्ध-दारकस्य १० पलानि, हरीतक्याः ५ पलानि, सर्वचूर्णसमं च गुडं दत्त्वा एकत्रं विमिश्रयेत् (च. द. आ. वा. चि.)

अजम्भ–पु., भेकः (श. र.)

अजया–स्त्री., विजया (भङ्गा, सिद्धिरिति भाषा) (रा. नि.)

अजर–न., स्वर्णम् (रा. नि. व १३) (–वि.,) जरारहितः

अजरक–न. अजीर्णम् (सि. यो. कास-चि. वृद्धः । च. द. पाण्डु-चि. योगराजे)

अजलम्बन–न., यामुनस्रोतोऽञ्जनम् (श. च.)

अजलोमा–(मी)–पु., शूकशिम्बी (र. मा.) द्र० आत्मगुप्ता । महौषधिविशेषः द्र० औषधिः ।

अजवल्ली–स्त्री., मेषशृङ्गी

अजश्रृङ्गिका–स्त्री., (भा. पू. १ भ. गु. व. ३७१) तिक्तशाकगणीयस्वनामख्यातवृक्षः (रा. नि. व. ९ । सु. सू. ३८अ। मद. व. १। भा. पू. १ भ.गु.व.। सु. सू. ३७ड। भा. ४भ. रेवती ग्रह-चि । सु. सू. ३८ अ) वल्लीपञ्चके (वाचि. ८अ । भा. पू. २भ अने. व.)

अजश्री–स्त्री., फटिकारिका (मा. नि)

अजहा–स्त्री., शुकशिम्बी (अ. टी)

अजाक्षी–स्त्री., काकोदुम्बरिका (रा. नि. व. ११)

अजागर–पु., भृङ्गराजवृक्षः । (श. र) महासर्पः

अजाजिक(का)–पु., पीतजीरकः (रा. नि. व ६)

अजातक–न., छागीतक्रम् गुणाः–अजातक्रं लघु स्निग्धं दाहगुल्मार्शनाशनम् । त्रिदोषशोथग्रहणीपाण्डुरोग-हरं परम् (वै. नि)

अजातदन्त–स्त्री., मासषट्कातीतेऽपि यस्य शिशोर्दन्तो-द्गमो न भवति

अजादुग्ध–न., छागदुग्धम्

अजानय–पु., उत्तमाश्वः (जयदत्तः)

अजानेय–पु., उत्तमाश्वः (जयदत्तः)

अजापक्व–न., पक्वघृतविशेषः

अजापञ्चकम्–न., यक्ष्मरोगे घृतम् । छागघृतं ४ श. छागविष्ठारसः ४ श. छागीदुग्धं ४ श. छागदधि ४ श. छागमूत्रं ४ श. तत्र प्रक्षेपः यवक्षारः ८ पलं, यथाविधि च सर्वमिदं पाच्यम् (च. द. यक्ष्म-चि. ; भैष.)

अजाप्रिया–स्त्री., बदरीवृक्षः (भा. फ. व.)

अजामांस–न., छागमांसम्; गुणाः–लघुः स्निग्धं किञ्चिच्छीतं रुचिप्रदं मधुरं पुष्टिकृद्बल्यं वातपित्तघ्नं च (वै. नि.)

अजाविष्–स्त्री., छागविष्ठा (वा. उ. १० अ.)

अजाह्वा–स्त्री., आत्मगुप्ता (अ. टी. भ.) द्र० अजहा

अजिततैल–न., नेत्ररोगे हितं तैलम्। तिलतैलम् अर्धशरावकं मतान्तरे शरावकम्। आमलकीरसः (४ श. दुग्धं ४ श.) कल्कार्थं यष्टिमधु पलमितम् (च. द. नेत्ररोग-चि.) " अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहः यः साध्यः केवले द्रवे। स्नेहपाकविधौ यत्र प्रमाणं नेरितं क्वचित्। स्नेहस्य कुडवं तत्र पचेत् कल्कपलेन तु॥ " इति (प. प्र.)

अजिनपत्रा–स्त्री., चर्मचयी (रा. नि. व. १९)

अजिनपत्रिका–स्त्री., चर्मचटी (हे. च.) पेचकः

अजिनपत्री–स्त्री., जतुका (रा. नि. व. १९)

अजिनयोनी–पु., हरिणः (प. मु.)

अजिह्म–पु., भेकः (त्रिका)

अजीगर्त–पु., सर्पः

अजीर्णकण्टकरस–पु., रसोऽयमजीर्णे प्रयोज्यः (र. स. र. । र. सा. सं.) (सा. कौ. । भा. । भैष)

अजीर्णजरण–पु., कर्चूरः द्र० कर्चूर

अजीर्णिन्–त्रि., अजीर्णरोगयुक्तः

अजेय–पु., अर्जुनवृक्षः (वै. नि.)

अज्झटा–स्त्री., भूम्यामलकी (हिं–भुइ आम्बरा) (भा. पू. १ भ. गु. व.)

अज्झल–पु., कोकिलः

अञ्चक–न., नेत्रम् (रा. नि. व. १८)

अञ्जन–पु., गृहगोधिका

अञ्जन–पु., ज्येष्ठी नाम प्राणिविशेषः

अञ्जनकर्मन्–न., नेत्रप्रसाधनम्। शुर्मा इति पश्चिमदेशे। " अञ्जनं क्रियते येन तद्द्रव्यं चाञ्जनं स्मृतम् " (भा. पू. ख. २ भ) कज्जलं (हे. च. । सि. यो. कामलाचि. रक्तपित्तचि) स्रोतोऽञ्जनं (भा। सुचि. २५अ) रसाञ्जनं (च. द. अ. सा. चि प्रियङ्ग्वादिः (रक्तपित्ता चि. च ३ अ) प्रदेहषट्के, स्तम्भनयोगे च। (भा बालचि) सौवीराञ्जनं (वा. सू. १५ अ) अञ्जनादिः (सु सू. ३८ अ) द्र० अञ्जनविधि

अञ्जनकेशिका–स्त्री., हट्टविलासिनीनामकगन्धद्रव्यम् उत्तरदेशे प्रसिद्धं नालिकानामगन्धद्रव्यम् (भा. पू. १; भ. क. व.)

अञ्जनकेशी–स्त्री., नलिका नाम गन्धद्रव्यम् (भा. पु. १ भ. क. व.)

अञ्जनगुडिका–स्त्री., विसूचिकायामौषधविशेषः। गुडपुष्परसः, अपामार्गबीजं, अपराजितामूलं, हरिद्रात्रिकटु च। ततः अञ्जनं कर्तव्यम् (च. द. अग्निमान्द्यचि.)

अञ्जनत्रय(त्रितयम्)–न., कालाञ्जनस्रोतोऽञ्जनरसाञ्जनं च " कालाञ्जनसमायुक्तं स्रोतोऽञ्जनरसाञ्जनेषु " (रा. नि. व. २२)

अञ्जनभैरव–पु., सांनिपातिकज्वरे रसः। यथा, " सूततीक्ष्ण-कणा-गन्धमेकांशं जयपालकम्। सर्वैस्त्रिगुणितं जम्भवारिणा च सुपेषितम्। नेत्राञ्जनेन हन्त्याशु सर्वोपद्रवमुद्धतम्॥ " (भैष.) अत्र एकांशमिति प्रत्येकमेकांशम्। तीक्ष्णं तीक्ष्णलौहम् (र. सा. सं. सान्निपाति. ज्व.)

अञ्जनरस–पु., सान्निपातिकज्वरे नस्यम्। इह ईशः पारदः। मरिचचूर्णं समम् (र. सा. सं. ज्व. चि.) अन्यः सान्निपातिकज्वरदाहे। तत्र बाह्लिकं हिङ्गु। रसकं स्फटिकारी

अञ्जनाधिका–स्त्री., कृष्णकार्पासक्षुपः। द्र० कालाञ्जनी अञ्जनी। अञ्जनी लेपकारिणी (हेच. ४ का) क्षुद्रमूषिका

अञ्जनाम्भस्–न., अञ्जनजलम्

अञ्जलिनी–स्त्री., लज्जालुका

अञ्जिष्ठ–पु., सूर्यः (उ)

अञ्जीर–पु., स्वनामख्यातवृक्षः (हिं.–आँजीर) तत्पर्यायः मञ्जलं काकोदुम्बरिकाफलम्। फलगुणाः–शीतलं स्वादु, गुरु, रक्तपित्तवातघ्नं क्रिमिशूलहृत्पीडाकफमुखवैरस्यनाशकं च (मद. व. ६)

अटरूष–पु., वासकवृक्षः (रसासं), सूतिकारिरसे, कन्दर्पसारतैले च प्रयुज्यते (वा. चि. २ अ) द्र० वासकः

अटरूष–पु., वासकवृक्षः (र. मा. । च. द)

अटवी–स्त्री., अरण्यम्

अटवीलता–स्त्री., कुम्भाटवृक्षः। कुम्भाडुया इति (रत्ना)

अटि–पु., शरारिपक्षी (हला)

अट्ट–न., अन्नं शुष्कं च (मे. ट द्विकम्)

अट्ट–पु. क्षौमम्। द्वितल-इष्टकगृहम्

अट्टन–न., अस्त्रभेदः (त्रिका)

अट्टालक–पु., उपरितलगृहम्

अट्टालिका–स्त्री., राजोचितगृहम्

अडगज–पु., चक्रमर्दः। द्र० चक्रमर्दः

अडङ्ग–पु., गोधूमः

अडहु–पु., लकुचवृक्षः

अणुव्रीहि–पु., सूक्ष्मधान्यम् (रा. नि. व. १६)
तत्पर्यायः– प्रसातिका (र)

अण्डक–पु., अण्डकोषे (हे. च.) क्षुद्रडिम्बे

अण्डकोटरपुष्पा–स्त्री., अजाङ्घी नीलवुन्हा इति लोके (रत्ना)

अण्डकोष–पु., कुट्मलः वृषणम् (रा. नि. व. १८)
तत्पर्यायाः– मुष्कः, वृषणः (अ) अण्डं, पेलं, अण्डकः (हे) सीमा (ज) फलकोशकः (त्रि) फलं (के) बीजपेषिका (रा) अण्डकोषलक्षणम्- रेतःसूत्रसमाबद्धं कोशगर्भेऽवतिष्ठते। रेतःस्रावाण्ड-युगलं ग्रन्थ्याभं चाण्डवर्तुलम् भ्रूणस्योदरवेष्टन्याः पण्या उदरगह्वरे। तिष्ठेत्प्राक्स्पर्शनाद्भूमेः कोषमा-याति तद्वयम्। दक्षिणस्मात्स्थूलतरं वामाण्डं निम्न-लम्बिच। वामं रैतसिकं सूत्रं यतो दीर्घतरं परात्। उपर्युपरसंस्थानस्तरद्वन्द्वेन निर्मितः। कोषो रैत-सिके सूत्रे धत्तेऽण्डयुगलं तथा
तनोराभ्यन्तरो रक्तः सङ्कोचनगुणान्वितः। तनोर्बाह्य-श्चर्ममयो लोमभिः कतिभिश्चन। तनोस्तिरश्क-रण्यान्तरेकया भिद्यते द्विधा। तद्गर्भद्वयमध्यान्ते पुंसोऽण्डयुगलं ननु। उदराद्रेतसः सूत्रे पश्चाद्भाग-मवाण्डयोः। नियतं समनुप्राप्ते धरास्नाख्यादि-निर्मिते, अत्रिरिति कश्चित्।

अण्डकोषक–पु., अण्डकोषः (श. र.)

अण्डग–पु., गोधूमः

अण्डजा–स्त्री., शरटः (वि.) सर्पः। मत्स्यः। पक्षी (मे. जत्रिकं) मृगनाभिः (वा. हेमा.)

अण्डपर्ण–पु., मलाण्डतरुः अत्रि.

अण्डपेशी–स्त्री., कोष. । मुष्कम् (हे. च.)

अण्डस्कन्द–पु.,अण्डेषु स्कन्द इव,अश्वस्याण्डरोगविशेषः (जयदत्तः ५० अ)

अण्डालु–पु., मत्स्यः। श. च.

अण्डिनी–स्त्री., सान्निपातिकयोनिरोगविशेषः। लक्षणम्- "अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डिनी भवेत् (सुचि)

अण्डीर–पु., पुरुषः (मे. रत्रिकं)

अण्वस्थि–न., मणिबन्धादिस्थं सूक्ष्मास्थि (सु. शा.)

अण्वी–स्त्री., अङ्गुली

अतन्द्रा–स्त्री., काफि इति ख्यातफलम् (अत्रि.)

अतरुणदार (कः)
हिं.—विधारा.
अतरुणदारुरास्नापुराः (भा. म. १ भ. सन्धिकज्व. चि.)

अतरुणदारु–पु., वृद्धदारकः

अतलस्पृक्–न., जलम् (हे. च. ४ का.)

अतिकटु–वि., निम्बादिद्रव्यम्

अतिकण्ट (कः)–पु., लघुगोक्षुरकः। दुरालभा (मद. व. १)

अतिकृश–वि., अतिदुर्बलः

अतिक्षिप्तसन्धि–पु., सन्धेरतिशयविश्लेषः। सन्धिच्युतं सदुच्चैरवस्थानम्। तेन सन्ध्यस्थ्नोरुभयोरेवाति-क्रान्तता वेदना च (सु. नि. १५ अ.)

अतिगण्ड–पु., न., स्त्री., बृहद्गण्डः (मे. डचतुष्कम्)

अतिगन्धक–पु., हस्तिकर्णपलाशवृक्षः। चम्पकवृक्षः (रा. नि. व. १०)

अतिघूर्णता–स्त्री., अतिनिद्रा (भा. म. ४ भ.) मसूरि-कानि (" तृष्णा-दाहातिघूर्णता) "

अतिचर–पु., पक्षिभेदः। वृक्षविशेषः

अतिचरणा–स्त्री., तन्नामकफजयोनिरोगविशेषः। अति-व्यवायेन शोथयुक्ता योनिरतिचरणोच्यते। "सैवाति-चरणा शोफसंयुक्तातिव्यवायतः। " (वा. उ. ३३ अ.) द्र० अचरणा

अतिच्छत्र–पु., रक्तकोकिलाक्षः (प. मु. रत्ना) छत्रा स्थूलतृणविशेषः

अतिच्छत्रिका–स्त्री., शताह्वा (रा. नि. व. ४; म. द. व २; वा. उ. ६ अ) " अतिच्छत्रा पलङ्कषा " (सि. यो. उन्मादचि. महापैशाचघृते) मधुरिका (च. चि. अ.) छत्रवृक्षः। यस्य मूले पत्रे वा वचाकारः कटुरसश्च। भूततृणम् (रा. नि) विषाणिका (वा. सू. २९ अ) तन्नामकमहौषधिः

अतिजागर–पु., नीलकौञ्चः (रा. नि. व. १९)

अतिजृम्भ–पु., वायुरोगविशेषः (वै. नि)

अतितपस्विनी–स्त्री., गोरक्षमुण्डी (भा. पु. १ भ. गु. व)

अतितीक्ष्ण–वि., मरिचादिः
पु., शोभाञ्जनवृक्षः न., अजमोदा

अतितेजिनी–स्त्री., त्रिपर्णी (मद. व. १)

अतिदीप्य(क)–पु., रक्तचित्रकः (रा. नि. व ६)

अतिदुष्ट–पु., गोक्षुरकः (वै. नि)

अतिपक्वमांस–न., पाकाधिकसिद्धमांसम्। गुणाः–अतिपक्वन्तु यन्मांसं विरसं वातलं गुरु (वै. नि)

अतिपक्वक्षीर–न., अतिशृतघनदुग्धम्। इदमतिगुरु। " भवेद्वरीयोऽतिशृतम् "।
(वा. टी. हेमाद्रौ; क्षारपाणिः)

अतिपत्रा–स्त्री., बला (हिं-खरेटी)

अतिपिच्छ–पु., श्वेतरक्तालुकः (वैनि.)

अतिपिच्छला–स्त्री., कुमारी (वै. नि.)

अतिपिञ्जर–पु., च., दुष्टव्रणः

अतिपीडक– दुष्टव्रणः (च)

अतिबलिका–स्त्री., वाव्यालकः (रानिव ४)
अतिबली

अतिभारग–पु., अश्वतरः

अतिभी-स्त्री.; क्षणप्रभा

अतिभोजन–न., अतिमात्रया भोजनम् गुणाः—तश्च आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्
(सु. सू. ४६ अ.)

अतिमङ्गल्य–पु., बिल्ववृक्षः (रा. नि. व. ११)

अतिमञ्जुला–स्त्री., कण्टकसेवतीवृक्षः
(हिं-सेवती गुलाब भा. पू. १ भ. पु. व. मद व. ३) द्र० सेवती

अतिमण्डल–पु., भूधामनवृक्षः (वै. नि.)

अतिमन्थ–(क) पु., अग्निमन्थक्षुपः

अतियुक्त–त्री., वारंवारं प्रयुक्तम् (भा. म. ख. १; भ. अ. सा.) " स्नेहाद्यैरतियुक्तैः। "

अतिरक्त–पु., हिङ्गुलः (वै. नि.)

अतिरक्ता–स्त्री., जवापुष्पवृक्षः (वै. नि.)

अतिरस–पु., पौण्ड्रकः (श. मा.)

अतिरूक्ष–त्रि., स्नेहशून्यम् (कङ्गुकोद्रवादौ)

अतिरेचक–पु., काकोली (वै. नि.)

अतिरोग–पु., क्षयरोगः। राजयक्ष्मा (रा. नि. व. २०)

अतिरोमश–पु., वन्यच्छागः (हारा.)

अतिरोमशा–स्त्री., नीलवुन्हा ((प. मु.)

अतिलङ्घित–वि., कृतातिलङ्घनः अत्युपवासः। तल्लक्षणम्–पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च। क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः। मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि। देहाग्निबलहानिश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् (चद)

अतिलम्बी–स्त्री., शताह्वा (भा. पू. १ भ.)

अतिलोहितगन्ध–पु., दमनकवृक्षः (प. मु.)

अतिवर्तुल–पु.,कलायविशेष (र. मा.)

अतिविदाहिन्–स्त्री., राजसर्षपादिः

अतिविद्धा– स्त्री., दुष्टव्यधनविशेषः प्रमाणातिरिक्तविद्धा (सु. शा. ८)

अतिबीज–पु., बब्बूलवृक्षः (वै. नि)

अतिबृहत्फल–पु., पनसवृक्षः (भा.पू. १ भ)

अतिव्यथा–स्त्री., अतिशयितयन्त्रणा। पीडा

अतिव्यायाम–पु., व्यायामाधिक्यम् अतिव्यायामो न पथ्यः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिः श्रमः क्लमः। तृष्णा क्षयः प्रतमकः रक्तपित्तञ्च जायते (भा. पू. १ म)

अतिशष्कुली–स्त्री., तिलकृतरोटिका तस्या गुणाः–रूक्षा श्लेष्मपित्तास्रघ्नी गुरुः विष्टम्भिनी अचक्षुष्या च (भा. पू. कृतान्नवर्गः)

अतिशारिवा–स्त्री., अनन्ता (र. मा)

अतिशूक–पु., यवः (प. मु)

अतिशूकज–पु., गोधूमः

अतिश्रुतक्षीर–न., अतिक्वथिते दुग्धे कवलभोज्यवत् सञ्जातः। तत् गुरुतरम्। 'स्यान्निर्जलं श्रुतं द्वित्रिचतुरष्टांशशेषितम्। तथा श्रुततमं सारं गुरु बल्यतमं पयः' (वा. सू. ५ अ. अरु. टी. खरनाद)

अतिशोष–पु., क्षयरोगः

अतिसय्या–स्त्री., वल्लीयष्टिमधु

अतिसर्जन–न., वेधः (मे. नपञ्चकम्)

अतिसान्द्र–पु., राजमाषः (रत्ना)

अतिसाम्या–स्त्री., कृष्णमुखगुञ्जावल्ली, लतायष्टिमधु

अतिसार–किन् त्रि., अतिसाररोगी

अतिसारघ्न–पु., क्षेत्रपर्पटकः (वै. नि)

अतिसारघ्नी–स्त्री., अतिविषा (वै नि)

अतिसारभेषज–न., लोध्रः तद्रोगनिवारक औषधिः

अतिसारवारणरस–पु., अतिसारे प्रयोज्यो रसः। अत्र कृतकर्पूरं पक्वकर्पूरं। खाखसी क्षीरं अहिफेनम् इति ज्ञेयम् (र सा स)

अतिसारस्या–स्त्री., रास्ना (वै. नि.)

अतिसूक्ष्म–वि., अतिशयसूक्ष्मम्

अतिसेवन–न., अधिकमात्रया सेवनम्

अतिसौम्या–स्त्री., वल्लियष्टिमधुकम् (रा नि व. ६)

अतिस्कन्धा–स्त्री., रक्तकुलत्थकः (वै. नि.)

अतिस्थूलवर्त्मन्–पु., दुष्टव्रणविशेषः (च)

अतिस्निग्ध–त्रि., अत्यन्तस्निग्धम् तत्र लक्षणम्–कफप्रसेकः ? शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः लक्षणं तदतिस्निग्धे रूक्षं तत्र प्रदापयेत् (वै. नि.)

अतिस्रवा–स्त्री., मयूरवल्ली (वै. नि.)

अतुल–पु., कफः । तिलकवृक्षः (श. च.)

अतेजस्–स्त्री., छाया (रा. नि. व. २१)

अत्क–पु., अङ्गम् (उणा.)

अत्न–पु., सूर्यः (वै. नि.)

अत्य–पु , अश्वः

अत्यग्नि–पु., क्षुधाधिक्यम् (चद.) भस्मकः (विजर)

अत्यन्तपद्मा–स्त्री., कमलिनी (वै. नि.)

अत्यन्तशोणित–त्रि., अतिरक्तम् (न.)
सुवर्णगैरिकम् (वै. नि.)

अत्यन्तसुकुमार–पु., कन्दलीवृक्षः । कङ्कुनी (रानि. व. १६)

अत्यम्बुपान–न., मात्रातिरिक्तवारिपानम् । लक्षणं यथा–अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नमनम्बुपानाच्च स एव दोषः । तस्मान्नरो वह्निविवर्धनार्थं मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि । इति जलपानलक्षणम् (रा. व. १४)

अत्यम्ल–पु., न., वृक्षाम्लम् (रा. व. ६) वनमातुलुङ्गम्
त्रि., अत्यन्ताम्लरसयुक्तम्

अत्यम्लपर्णी–स्त्री., वल्लीशूरणः लताविशेषा । अम्लालोणिका । गुणाः–अत्यम्लपर्णी तीक्ष्णाम्ला प्लीहशूलविनाशिनी । वातहृद्दीपनी रुच्या गुल्मश्लेष्मामयापहा (रा. नि. व. ३)

अत्यम्ला–स्त्री., मातुलुङ्गवृक्षः वनबीजपूरः (रा. व. ११ रत्ना.) तिन्तिडी (श. र.)

अत्यय–पु., नाशः । दोषः । कृच्छ्रम् (रत्ना. अने. व. मे. यत्रिकम्)

अत्यारक्ता–स्त्री., जपापुष्पवृक्षः

अत्युदीर्णा–स्त्री., दुष्टव्यधनविशेषः यत्र तीक्ष्णमहामुख शस्त्रेण वेधो भवति (शा. ८अ)

अत्यूहा–स्त्री., नीलशेफालिका नीलिका (मे. हत्रिकम्)

अदन–न., भक्षणम्

अदन्त–त्रि., दन्तहीनः

अदल–पु., हिज्जलवृक्षः (श. च.) घृतम्

अदला–स्त्री., घृतकुमारी (रा.)

अदंश–पु., महामूलकम्

अदारिका–स्त्री., वृक्षकमलम् वृक्षोत्पलम् (वै. नि.)

अदृढ–स्त्री., अस्थिरः
न., तृणविशेषम् (वै. नि.)

अद्य–न., धान्यम्

अद्यश्विना–स्त्री. आसन्नप्रसवा गौः

अद्यश्वीना– ,, ,, ,,

अद्रक–पु., महानिम्बवृक्षः (वै. नि.)

अद्रि–पु., पर्वते शैलवृक्षः (मे. रद्विकम्)

अद्रिका–स्त्री., धान्यकम् महानिम्बः (भा. पू. १ गु. व.)

अद्रिभू–स्त्री., आखुपर्णीलता (रा. व. ३)

अद्रिमाषा–स्त्री., वनमाषः (वै. नि)

अद्रिसानुजा–स्त्री., त्रायमाणा (वै. नि)

अद्रिसार–पु., लौहम् (रत्ना)

अद्रेष्क(ष्का)–पु., स्त्री., निम्बविशेषः (भैष. कुष्ठचि.)

अधः–(अव्ययम्) अधोभागः । योनिः (वै. नि.)

अधःकुन्तल–पु., अन्तर्लोमन्

अधःपातन–न., पारदस्य यन्त्रमार्गेणाधःक्षेपणम् (र. सा .सं.)

अधःपुट–पु., चारोलीवृक्षः (वै. नि)

अधःपुष्पी–स्त्री., गोजिह्वाक्षुपः (रा. व. ४) चोरपुष्पीतृणविशेषः । ब्रह्मदण्डी (वै. नि. २ भ)

अधःप्रस्तर–पु., तृणासनम् (वै. नि.)

अधःशल्य–पु., अपामार्गक्षुपः (रा.व. ४; भा.पू. १ भ) श्वेतापामार्गः

अधःशाख–पु., संसाराश्वत्थवृक्षः

अधःशेखर–पु., श्वेतापामार्गः

अनामय–न., आरोग्यम् (रा. व. २०)

अनार्जव–न., रोगः (रा. व. २०)

अधम–पु., अम्लवेतसम्
अधमाङ्ग–न., चरणः (श. च)
अधर–पु., ओष्ठम् (रा. नि. व. १८) न. स्त्रीयोनिः
अधरकण्टक–पु., दुरालभा (वै. नि.)
अधरकण्टिका–स्त्री., क्षुद्रशतावरी (वै. नि)
अधरा–स्त्री., नीचदिक् (वै. नि.)
अधामार्ग–पु., अपामार्गः
अधामार्गव–धामार्गववृक्षः (अ. टी.)
अधिकप्रिय–न., त्वग् (वै. नि.)
अधिकारिन्–पु., पुरुषः (वै. नि.)
अधिजिह्वक–पु., जिह्वागत रोगविशेषः
अधिजिह्वा–स्त्री., जिह्वारोगविशेषः कफशोणितजे । अत्र जिह्वोपरि जिह्वाप्रवत् शोथो जायते । पक्वश्चेदसाध्यः उपजिह्वा जिह्वानिम्नतो भवतीत्यनयोर्भेदः । अश्वस्य जिह्वागतरोगे जिह्वोपरि शोफरूपः (ज. द. २८ अ.)
अधिमुक्तक–पु., माधवीलता (वै. नि.)
अधिमुक्तिका–स्त्री., मुक्तागृहम् । शुक्ति. (वै. नि.)
अधिरूढा–स्त्री., प्रौढा अधिरोहिणी–स्त्री., वंशकाण्डादि-निर्मितरोहणमार्गः
अधीर–पु., अयोग्यवैद्यः (वै. नि.)
अधोंऽशुक–न., परिधेयवस्त्रम् (अम.)
अधोगत–पु., अस्थिभङ्गरोगः (वै. नि.)
अधोघण्टा–स्त्री., अपामार्गः (रत्ना.)
अधोऽङ्ग–न., मलद्वारम्
अधोमर्मन्–न., गुदम् । गुह्यद्वारम् (हे. च.)
अधोजिह्विका–स्त्री., तालुमूलस्थक्षुद्रजिह्वा (हारा) जिह्वाधःशोथरोगः । कफादधस्तादधिजिह्विका चेति (च)
अधोद्वार–न., मलद्वारम् । योनिः (हे. च)
अधोयन्त्र–न., बकयन्त्रम्
अधोवायु–पु., अपानवायुः
अधोरेचन–पु., आरग्वधवृक्षः
अधोऽस्रपित्त–न., अधोगतरक्तपित्तरोगः
अध्यक्ष–पु., क्षीरिकः वृक्षः (श. र.) महार्कवृक्षः । वि.,–प्रत्येकं कर्षार्धमानम् (सि. यो. र. पि. चि.) एलादिगुटिकायाम्
अध्युषित–पु., सर्वाक्षिरोगः । (वि.,) उपविष्टः
अध्वग–पु., उष्ट्रः । अश्वतरः (हेच.)
अध्वगक्षमिन्–पु., खेचरः । पक्षी (वै. नि.)
अध्वगभोज्य(ग्य)–पु., आम्रातकवृक्षः (त्रिका.)
अध्वगवृक्ष–पु., आम्रातकवृक्षः
अध्वजा–स्त्री., स्वर्णुलीक्षुपः (रा. व. ४)
अध्वनिषेवण–न., अध्वचलनम् (वै. नि.)
अध्वरा–स्त्री., मेदा (भा. पू. १ ह. व.).
अध्वसिद्धक–पु., सिन्धुवारवृक्षः (रा. व. ४)
अध्वाण्डशात्रव–पु., श्योणाकवृक्षः हिं––नाऊया श्योनाल. (श. च.)
अनंशुमत्फला–स्त्री., कदलीवृक्षः (जटा.)
अन–न., अन्नम् (उणा.)
अनग्ना–स्त्री., कार्पासी (वै. नि.)
अनघ–पु., गौरसर्षपम् (रा. व. १६)
अनघ्न–पु., गौरसर्षपम् (वै. नि.)
अनङ्ग–(क–न., मनस् (शर.)
अनङ्गसुन्दररस–पु., वाजीकरणाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
अनडुज्जिह्वा–स्त्री., गोजिह्वा (रा. व. ४)
अनडुही–स्त्री., गौः
अनड्वत्–पु., वृषः (भा. पू. । रत्ना.)
अनड्वाही–स्त्री., गौः (हला.)
अनणु–पु., न., सूक्ष्मधान्यम् (वै. नि.)
अनन्तक पु., मूलकम् । नलतृणम् हिं. नरकट (मद. व. १)
अनन्तमूल–न., करालाख्यौषधिः । सुगन्धा वचाभेदः (श. चि.) अनन्ता
अनन्तमूली–स्त्री., दुरालभा । रक्तदुरालभा (वै. नि.)
अनन्तरन्ध्रका–स्त्री.,खर्परपोलिका (वै. नि.)
अनभिलाष–पु., अन्नविद्वेषः । अरोचकम् (रा. व. २०)
अनलनामन्–पु., चित्रकवृक्षः
अनलविवर्धनी–स्त्री., कर्कटिका
अनलिन्–लि–पु., वकवृक्षः (त्रिका.)
अनाक्रान्ता–स्त्री., कण्टकारी (र. मा.)
अनागतार्तवा–स्त्री., (कन्या) अजातरजस्का (रा. व. १८)
अनाचार–पु., असत्कर्म (वै. नि.)
अनातङ्क–वि., अरोगी
अनातप–पु., आतपाभावः
अनातुर–वि., अरोगी
अनामक–न., अर्शोरोगः (श. र.)
अनार्तवजल–न., पौषादिमासचतुष्टयभवे वृष्टिजलम् तच्च वातादिदोषत्रयकोपनम् (भा. पू. वारिवर्गः)

अनार्तवा–स्त्री., रजःशून्या । तन्नामकयोनिव्यापदि अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने (मा. नि)

अनार्यज–न., अगुरुः

अनार्यतिक्त–(क)–पु., भूनिम्बः (अम.)

अनासिक–वि., नासिकाहीनः

अनाह–पु., आनाहरोगः

अनाहार–पु., आहाराभावः

अनिच्छ–त्रि., तृप्तः (वै. नि.)

अनिमिष–पु., मत्स्यः (त्रिका. मे. षचतुष्कम्)

अनिमेष–वि., निमेषशून्यम्

अनिर्माल्या–स्त्री., पिण्डिका । पृक्का (रत्ना.)

अनिर्वाण–पु., कफः (वै. नि.)

अनिलकपित्थक–पु., स्थूलाम्रातकः (वै. नि.)

अनिलकारक–पु., काञ्जिकाभेदः (वै. नि.)

अनिलनिर्यास–पु., प्रियालवृक्षः म–बिबला
म.—बिबला (वै. नि.)

अनिलपर्य्यय–पु., न., वायुरोगः

अनिलभुक्–पु., सर्पः (वै. नि.)

अनिलरस–पु., रसोऽयं पाण्डुरोगे हितः (रस. र.)

अनिलरिपु–पु., एरण्डवृक्षः (वै. नि. २ भ. सन्धि. ज्व. चि. रास्नादिः)

अनिलहर–न., कृष्णागरुः (वै. नि.)

अनिला–स्त्री., नदी । खटिका (र. मा.)

अनिलाजीर्ण–न., वाताजीर्णम् (वा. सू. ८ अ.)

अनिलाटिका–स्त्री., रक्तपुनर्नवा

अनिलामय–पु., वायुरोगः । वातव्याधिः

अनिलारिरस–पु., वातव्याध्यधिकारे रसः (र. सा. सं.)

अनिलोचित–पु., नीलमाषकः (वै. नि.)

अनिष्टा–(ष्ठा)–स्त्री., नागबला (रा.)

अनिःसारा–स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. व. ११; वै. नि.)

अनीकस्थ–त्रि., हस्तिशिक्षाविचक्षणः (मे. षचतुष्कम्)

अनीली–स्त्री., काशतृणम् (र. मा.)

अनुकदली–स्त्री., कदलीविशेषः
म.—लोखंडी केळ

अनुकर्षण–न., पानपात्र (हारा.)

अनुकल्प– अभावे तद्गुणद्रव्यान्तरग्रहणम्

अनुकूलका–स्त्री., लघुदन्ती

अनुकूलिनी–स्त्री., क्षुद्रदन्ती

अनुजा–स्त्री., त्रायमाणलता (रा. व. ५; भा. पू. १ भ. गू. व.)

अनुतक्र–न., तक्रानुपानम् 'जग्ध्वा तक्रं पिबेदनु' (सि. यो. पाण्डचि. वृन्द)

अनुत्क्लेश–पु., उत्क्लेशाभावः (च. सं. विसूचि.)

अनुत्थितविद्धा (शिरा)–स्त्री., दुःस्थानबन्धनात् वेपमानायाः यस्याः शिरायाः शोणितसम्मोहो भवति (सु. शा. ८ अ.)

अनुपज–वि., अनुपदेशजातः ते च कूलेचरकोषस्थमत्स्यप्लवपादिनो भवन्ति

अनुपदीना–स्त्री., उपानत् (हला.)

अनुपालु–पु., पानीयालुकः (रा. व. ७)

अनुपुष्प–पु., शरतृणम् (श. च.) खञ्जतृणम्। वेतसः

अनुबन्धिन्–पु., तृष्णा, हिक्का (मे.)

अनुभास–पु., काकविशेषः (वै. नि.)

अनुभूति–स्त्री., त्रिवृता
हिं.—निसोत्तर.

अनुरुहा–स्त्री., नागरमुस्ता (रा. व. ६)

अनुरेवती–स्त्री., क्षुद्रदन्ती

अनुलास–पु., मयूरपक्षी

अनुलास्य–पु., मयूरपक्षी

अनुल्की–स्त्री., हिक्का । तृष्णा (मे.)

अनुवास–पु., न., सौरभ्यम् स्नेहबस्तिः । स्नेहनम् । धूपनम् (मे.) 'यः स्नेहो दीयते स स्यादनुवासन नामकः' तस्य मात्रा च पलद्वयं तदर्धं वेति (भा.)

अनुवासन–पु., न., सौरभ्यम् स्नेहबस्तिः । स्नेहनम् । धूपनम् (मे) 'यःस्नेहो दीयते स स्यादनुवासन नामकः'। तस्य मात्रा च पलद्वयं तदर्धंवेति (भा)

अनुवासनक–पु., न., सौरभ्यम् स्नेहबस्तिः । स्नेहनम् धूपनम् (मे) 'यः स्नेहो दीयते स स्यादनुवासन-नामकः' । तस्य मात्रा च पलद्वयं तदर्धं वेति (भा.)

अनुवासनबस्ति–पु., स्नेहबस्ति । मात्राबस्तौ

अनुवासाख्य–पु., अनुवासनम् (वै. नि.)

अनुष्णवल्लिका–स्त्री., नीलदूर्वा (रा. व. ८)

अनुष्णवल्ली– ,, ,, ,,

अनुसार्थक–न., सुगन्धद्रव्यविशेषः
म.—छडीला.

अनूचा–न., पु., उत्तमवैद्यः साङ्गवेदाध्यायी

अन्तरापत्या–स्त्री., गर्भिणी

अन्तरि(री)क्ष–न., आकाशः (रा. व. १३)

अन्तरुहा–स्त्री., श्वेतदूर्वा।
अन्तर्जठर–न., कोष्ठः। कुक्षिमध्यः (अम.)
अन्तर्दधन–न., सुराबीजम् (श. च.)
अन्तर्धूम–वि., बद्धमुखहण्डिकाभ्यन्तरे अग्निदग्धे (च. द. ग्रहणी चि.) चित्रकक्षारे
अन्तर्मल–पु., मलान्तर्वृक्षः (कदश्चित्रि)
अन्तर्वमि–स्त्री., अपरिपाकः
अन्तर्विद्रधि–पु., जठरान्तरस्थविद्रधिरोगः (भा.)
अन्तर्वृद्धि–पु., अन्त्रवृद्धिरोगः
अन्तर्वेध–पु., मर्मवेधः। मर्मपीडा
अन्तशय्या–स्त्री., मरणम् (मे.)
अन्तःस्नेहफला–स्त्री., श्वेतकण्टकारि।
अन्तावसायिन्–पु., नापितः (मे.)
अन्तिका–स्त्री., सातला (मे. कत्रिकम्)
अन्त्य–पु., मुस्ता (मे.)
अन्त्यपुष्पा–स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.)
अन्त्रवल्ली–स्त्री., सोमवल्लीलता
अन्त्री–स्त्री., वृद्धदारकलता (अ. टी.)
अन्थक–न., अङ्गारः (रत्ना.)
अन्धक–पु., तुम्बुरी (भा. पू. १ भ. ह. व.)
अन्धकाक–पु., काकाकारः पक्षी (त्रिका.)
अन्धकार–पु., आलोकाभावः तस्य गुणाः–' भयदृष्टितेजोऽवरोधकरः रोगजनकश्च (राज.)
अन्धकूप–पु., मोहः
अन्धता–स्त्री., पित्तरोगः
अन्धमूषिका–स्त्री., देवताडवृक्षः। तृणविशेषः (श. च.)
अन्धाहुली–स्त्री., आहुल्यनामक-शिम्बीफलवनस्पतिविशेषः
अन्धिका–स्त्री., सर्षपः (मे कत्रिकम्) नेत्ररोगविशेषः (श. र.)
अन्धु–पु., कूपम् (त्रिका.)
अन्धुल–पु., शिरीषवृक्षः (श. च.)
अन्नकोष्ठ–पु., तण्डुलधान्यादिरक्षणाधारः
अन्नगन्धि–पु., अतिसाररोगः (त्रिका. (म. हगवण)
अन्नज–न., त्रैदिवससिकान्नमण्डः (म. तीन दिवसांची शिळी पेज)
अन्नजा–स्त्री., हिक्काभेदः (भा.)
अन्नद्रवशूल–पु., न., परिणामशूलम्
अन्नद्रवाख्यशूल–पु., अन्नद्रवशूलम् (मानि.)
अन्ननाडी–स्त्री., अन्नपाकनाडी सा च २० हस्तमिता कलापेशीविनिर्मिता। तदुक्तम्–'हस्तविंशतिप्रमाणा कलापेशीनिर्मिता। अन्नपाकक्रियार्था च पाकनाडी प्रकीर्तिता। ऊर्ध्वांशो मुखनामास्य अधोंऽशो गुदनामकः। कण्ठादामाशयं यावदन्ननाडी तु कथ्यते। ततश्चामाशयस्तस्मात् स्थूलान्तः स्थूलमस्तकः। आमाशयात् समारभ्य भागः प्रथम आन्त्रिकः। ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानं बुधैराद्यैः प्रकीर्तितः। ततः पक्वाशयः प्रोक्तः पक्वान्नपरिधारणात्। स्थूलान्त्रस्याप्यधोभागः सरलो गुदसंज्ञकः। अन्नकिट्टं मलं, सर्वं बहिर्निःसारयत्ययम्। श्वासनाड्याः स्थिता पश्चादन्ननाड्यन्नवाहिनी। अधस्तात् कुण्डलीभूता नाडी चोदरमध्यगा। कण्ठादधोगतिर्नाडी भित्त्वा वक्षःस्थलाश्रयाम्। पेशीमुखद्वयवर्तीं प्रविष्टेयमधोगुहाम्। इत्यादि (आत्रेय.)
अन्नमण्ड–पु., भक्तमण्डः। तस्य गुणाः-क्षुद्बोधनो बस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदः, शोणितवर्धनश्च। ज्वरापहारी कफपित्तहन्ता वायुश्चयेदष्टगुणो हि मण्डः (च. द. अग्निमांद्य चि.)
अन्नमयकोश–पु., शरीरम्
अन्नमल–न., पुरीषम्। मद्यम्
अन्नरस–पु., भक्तमण्डः
अन्नलिप्सा–स्त्री., अन्नभोजनेच्छा। क्षुधा (वै. नि.) प्रकृतिगामिनोऽन्नलिप्सा
अन्नवहा–स्त्री., धमनीयुगलम् याभ्यां धमनीभ्यां भुक्तमन्नमुदरं नीयते (सु. शा. ९) तयोर्मूलमामाशयः, अन्नवाहिधमन्यश्च।
अन्नवाहिस्रोतस्–न., गलनाडी
अन्नविकार–पु., भुक्तविकृतिः
अन्नविपाकनाडी–स्त्री., अन्ननाडी। विचित्रविधिना पक्वमन्नं सत्वानि जीवयेत्
अन्नग्रासो रसैः पिष्टो लालाक्लिन्नोऽन्ननाडिकाम्। श्वासरन्ध्रं नासारन्ध्रञ्चातिक्रम्य सुखं विशेत् निरुणद्ध्युपजिह्वा सा सर्वथा श्वासनाडिकाम्। जिह्वा प्रयाति पश्चाच्च पाकनाडीं ततोऽभितः। किंचिदूर्ध्वमुखी भूत्वा पिण्डं ग्रसति यत्नतः। आद्यरन्ध्रप्रविष्टं चेदन्नं कासैर्विनिर्दिशेत्। द्वितीयगं क्षवथुना क्षणेन प्रकृतेर्बलात्। अतो नैवातित्वरणं श्रेयः पानान्न कर्मणि (आत्रेयः)
अनुबन्धी–पु., तृष्णा हिक्का (मे.)

अन्नाजीर्ण–न., अन्नं भुक्तं तदजीर्णं अन्नाजीर्णम् (भा.म.१ भ.) अन्नातिसारलक्षणे। तन्नामकशूलरोगे

अन्नाद्य–न., अन्नम् (रा. व. २०) धान्यम्

अन्नाशय–पु., उदरम्

अन्यकारुक–पु., शकृत्कीटः (हारा.)

अन्यपुष्ट–पु., कोकिलः

अन्यभृत्–पु., कोकिलः (हला.) काकः (हे. च.)

अन्यभृत–पु., कोकिलः (रत्ना.)

अन्यलोह–न., कांस्यधातुः (वै. नि.)

अन्या–स्त्री., हरीतकी (वै. नि.)

अन्वासन–न., कर्मशाला (हला.) स्नेहबस्तिः ।

अपक्व–वि., आमः । अशृतः । तैले विपर्ययं विद्यात् पक्वे चापक्व एव च (प. प्र.)

अपक्वकदली–स्त्री., अपक्वरम्भाफलं । गुणाः–अपक्वकदलञ्चैव मलस्तम्भकरं मतम्। तिक्तं कषायं रूक्षञ्च रक्तपित्तृषाहरम् । मेहाक्षिरोगरक्तातिसारज्वरविनाशकृत् (वै. नि.)

अपक्वमांस–न., असिद्धमांसगुणाः–अपक्वन्तु भवेन्मांसं रक्तदोषकरं मतम् । वातादिदोषजनकमिति मांसविदां मतम् (वै. नि.)

अपक्ववस्तु–न., असिद्धं अशृतं च वस्तु (र. मा.)

अपक्वक्षीर–न., अपक्वदुग्धम् गुणाः–अभिष्यन्दि गुरु च

अपघन–पु., शरीरावयव । अङ्गम् (अ. म)

अपचार–पु., अजीर्णम्

अपटु–त्रि., रोगी (रा. व. २०)

अपतन्त्र–पु., स्वनामख्यातवातव्याधि

अपतन्त्रक–रोगः (मा. नि)

अपतान –पु., वातव्याधिविशेषः (मा. नि)

अपतानक– ,, ,, ,,

अपत्यशत्रु–पु., कर्कटः (श. च)

अपत्यसिद्धिकृत्–पु., पुत्रजीववृक्षः (वै. नि.)

अपत्रा–स्त्री., पुष्पवृक्षविशेषः नेवती इति महाराष्ट्रादौ ख्यातम् (वै. नि.)

अपथ–न., योनिः (श. र.)

अपथ्यज्वर–पु., कुपथ्यजन्यज्वरः । अपथ्यजे मद्यभवे च हेतुर्हेतुज्वरे पित्तमुदाहरन्ति। दाहश्च शैत्यञ्च शिरोव्यथा च कोष्ठाभिवृद्धिः कथितोदकण्डूः। मलातिपातस्त्वतिबद्धता च अपथ्यदोषेण भवेज्ज्वरे च (वै. नि. २ भ. ज्व.)

अपद–त्रि., पादहीनः । पङ्गुः ।

अपदरुहा–स्त्री., वन्दा वादांगुल (वै. नि.)

अपदरोहिणी–स्त्री., वन्दा वादांगुल (वै. नि.)

अपदेवता–स्त्री., पिशाचादिः

अपयाचित–पु., रोगगः

अपर–न., गजपश्चादर्धम् (मे. रत्रिकम्)

अपराजितधूप–पु., धूपोऽयं सर्वज्वरघ्नः स च गुग्गुलुगन्धतृणवचासर्जनिम्बार्कागुरुदेवदारुकृतः (च. द. ज्व. चि.)

अपलाषिका–स्त्री., पिपासा (हे. च.)

अपवन–न., कृत्रिमवनम् (हे. च.)

अपवरक–पु., गर्भगृहम् (हला.)

अपविषा–स्त्री., निर्विषतृणम् (रा.)

अपस्करः–पु., मलद्वारम् । पुरीषम् (धर.)

अपस्तम्भ (म्भ) मर्मन्–स्त्री., तन्नामकशिरामर्म । तस्य स्थानं वक्षस उभयत्र वायुवाहिनी नाडी (सु. शा. ६ अ.)

अपस्तम्भिनी–स्त्री., शिवलिङ्गिनीलताविशेषः (वै. नि.)

अपस्मारनाशिनी (वटिका)–स्त्री.,अपस्मारे हिता वटिका

अपस्वर–(अव्ययं) स्वभावादपगतः स्वरो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा हीनस्वरमिति यावत् (वा. शा. ५ अ.)

अपांधातु–पु., रसजलमूत्रस्वेदःकफपित्तरक्तादयः (भा. म. १ भ. अतिसार चि.)

अपांपित्त–न., चित्रकवृक्षः (अम.)

अपाक–पु., अजीर्णम् पाकाभाव उदरामयः

अपाकशाक–न., आर्द्रकम् (रा. व. ६)

अपाङ्क–पु.. अपामार्गक्षुपः (श. र.)

अपाटव–न., रोगः जाड्यम् (रा. व. २०)

अपानदेश–पु., गुददेशः (वै. नि.)

अपामार्गजटा–स्त्री., अपामार्गमूलम् (सि. यो.) तृतीयकज्वर (श्रीकण्ठः)। एतत् बन्धनं तृतीयकज्वरे हितम्। अपामार्गस्य मूलञ्च सम्यगक्षालितानन: बध्नीयाद्वामहस्तेन सर्वज्वरविमोक्षणम् (वैद्यकम्)

अपामार्गतैल–न., शिरोरोगहितम् (च. द.)

अपामार्गक्षार–पु., अष्टविधक्षारान्यतमक्षारः । एष गुल्मशूलघ्नः (भा. पू. १ भ. ह. व.)

अपामार्गक्षारतैल–न., कर्णरोगे हितम् (च. द. ; भैष.)

अपालापमर्मन्–न., पृष्ठवंशवक्षःस्थलयोरन्तरालभागः । तथा तयोरेव च पृष्ठोरसोर्ये पार्श्वे, तयोरुपरिभागयोरंसकूटयोरधोऽपालाख्ये द्वे मर्मणी इति ज्ञेयम् (वा. शा. ४अ.)

अपासन–न., मारणम् (अम)

अपुच्छा–स्त्री., शिंशपावृक्षः (श. र.)

अपुष्ट–त्रि., अपरिपक्वम्

अपूप्य–पु., गोधूमः गोधूमचूर्णम् (ज. टा.)

अपूरणी–स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (श. च.) कार्पासवृक्षः

अपेक–पु., दुरालभा

अपोगण्ड–त्रि., वलिभः । विकलाङ्गः पु., शिशुः (मे डचतुष्कम्)

अपोदिका–स्त्री., पूतिकाशाकः (अ. टी.)

अप्र (स्)–न., जलम् ।

अप्पित्त–न., चित्रकवृक्षः (अम.)

अप्रकाण्ड–पु., काण्डरहितो वृक्षः (झिण्टिकादौ) (अम.)

अप्रकृष्ट–पु., काकः (श. र.) त्रिः अधमः

अप्रतिकार्य–त्रि., दुश्चिकित्स्यः

अप्रसवधर्मिन्–त्रि., यः पुरुषः प्रसवधर्मी न भवति सः (सु. शा. १ अ.)

अप्रहत–वि., मालक्षेत्रम् । मालभूमिः । खिलभूमिः (रा. नि. व. २)

अप्रिया–स्त्री., शृङ्गिगमत्स्यः । वोदालीमत्स्यः

अप्रेतराक्षसी–स्त्री., तुलसीवृक्षः (र. मा.)

अप्रोट–पु., भारद्वाजपक्षी (वै. नि.)

अफेनफल–न., अहिफेनफलम् (भैष. स्त्री. रोग. चि.)

अफेल–न., आफूकम् । हिं–अफीम् । (वै. नि.)

अबर–न., अन्तर्वस्त्रम् (मे. र. त्रिकम्)

अबल–पु., वरुणवृक्षः (श. च.)

अबालुक–पु., पानीयालुकः (रा. नि.)

अबिला–स्त्री., मेषी

अब्जकर्णिका–स्त्री., कमलबीजकोशः (वै. नि.)

अब्जकेशर–पु., पद्मकेशरम् (च. द.)

अब्जभोग–पु., कमलकन्दः (श. च.)

अब्दनाद–पु., मेघनादक्षुपः (स्त्री.) शङ्खिनी । भेकी म.तान्दुलजा (वै. नि.)

अब्दसार–पु. कर्पूरभेदः (रा. नि.)

अब्धिज–पु., समुद्रफेनः । (रत्ना जौ) अश्विनी कुमारौ

अब्धिफल–न., समुद्रजातफलम् । महाराष्ट्रादौ ख्यात औषधविशेषः । समुद्रफल इति लोके । गुणाः–फलं समुद्रस्य कटूष्णकारि वातापहं भूतनिरोधकारि त्रिदोषदावानलदोषहारि कफामयश्रान्तिनिरोधकारि (रा. नि.)

अब्भ्र–न., अभ्रधातुः । मुस्ता (रा. नि.)

अभयदा–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि.)

अभयनृसिंहरस–पु., रसोऽयं अतीसारग्रहणीगदयोर्हितः (भैष.)

अभयाद्यमोदक–पु., विरेचनाधिकारे हितः (च. द. विरेचनाधिकारे)

अभयारिष्ट–पु., अर्शोधिकारे हितः (भैष.)

अभयालवण–न., औषधमिदं यकृत्प्लीहाधिकारे देयम् (सा. कौ. रस. भैष.)

अभयावटी–स्त्री., गुल्माधिकारे हिता (र. सा. सं.) एषा वटी भैषज्यरत्नावल्यामुदरे धृता

अभयाष्टक–न., अष्टहरीतकीभक्षणम्(प्रयोगा. रसायन.)

अभिघातज्वर–पु., आघातजन्यागन्तुकज्वरः । अत्र ज्वरे दोषा नारम्भकाः, परन्तु पश्चादनुबन्धिनः स्युः (च.)

अभिज्ञ–त्रि., कुशलः

अभिनवकामेश्वर–पु., वाजीकरणमिदं भेषजम् (रस. र)

अभिन्यास(क)–पु., सन्निपातज्वरविशेषः (मा. नि. ज्वर)

अभिपीडन–न., अभिचारः

अभिमन्थ(मन्युः)–पु., नेत्ररोगः (त्रिका)

अभिमर्द–पु., अवमर्दः

अभिमर्षण–न., यक्षपिशाचादिभूतकृतपीडा (र. मा.)

अभिमानित–न., मैथुनम्(त्रिका)

अभिरूप–पु., बुधः (मे) पचतुष्कम् । वि., रम्यम् (मे)

अभिलकपित्थ–पु., आम्रातकवृक्षः

अभिलाव–पु., छेदः (अम.)

अभिषुविक्रान्त–न., माधवीसुरा (वै. नि.)

अभिष्यन्दिन्–त्रि., दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदजननम् (कुसुमा. टी. ज्वरे) स्रोतःस्राविद्रव्यम् (वा. टी. हेमा.) कफकृत्पदार्थः दध्यादि (भा. मि.)

अभिसार–पु., शकुलिमत्स्यः मत्स्यः (मद. व. १२) बलम् (धर)

अभीक–पु., कामुकः (मे. क त्रिकम्)

अभीरणी–स्त्री., दुन्दुभसर्पः (वै. नि.)

अभीरुपत्री (त्रिका)–स्त्री., शतावरी (अम.)

अभीशु–(षु)–पु., ग्रग्रहः (मे)

अभीष्टगन्धक–पु., माधवीलता । (मदव ३)

अभीष्टा–स्त्री., रेणुकगन्धद्रव्यम् (श. च)

अभुक्त–त्रि., कृतोपवासः । 'अभुक्तस्य दिवा निद्रा पाषाणमपि जीर्यति (वै. नि.)

अभुग्ण–त्रि., अरोगी

अभोजन–न., उपवासः, अमात्रभोजनम् 'अजीर्णे भोजनं येषां जीर्णे येषामभोजनम् । रात्रावभोजनं येषां तेषां नश्यन्ति धातवः (संग्रह)

अभ्यन्त–त्रि., आतुरः (अम.)

अभ्यूष–पु., ईषत्पक्वकलायादिः (अम.)

अभ्रनामक–पु., मुस्ता (श. र)

अभ्रपटल–पु., न., अभ्रकम् (वै. नि)

अभ्रपुष्प–पु., वेतसलता (भा. पू. १ भ. गु. व.) वारिवेतस् (अम.) न., जलम्

अभ्रमांसी–स्त्री., आकाशमांसीलता (रा. नि.)

अभ्ररोह–पु., न., वैडूर्यमणी (रा. नि. व. १३)

अभ्रवटिका–स्त्री., रसविशेषोऽयं ज्वरातिसारगदे प्रयोज्यः (रस. र. । र. सा. सं.) भैषज्यरत्नावल्यामियमेव ग्रहण्यां महाभ्रवटिका उक्ता, इयमेव प्रयोगामृते ग्रहण्यां रसाभ्रवटी

अभ्राह्व–न., कुङ्कुमम् (मद. व. ३)

अम–पु., रोगः त्रि., । पक्कफलादिः (श. र.)

अमङ्गल–पु., एरण्डवृक्षः (श. च.)

अमण्ड–पु., एरण्डवृक्षः (प. मु. हारा)

अमध्यस्थधर्मिणी–स्त्री., चेतनजडोभयधर्ममध्यवर्तिनी न भवति। तस्याः केवलं जडमयत्वात् (सु. शा. १ अ.)

अमरकणा–स्त्री., गजपिप्पली (वै. नि. २ भ पाण्डु चि. भूनिम्बादिगुटी)

अमरकन्द–पु., कन्दविशेषः (वै. नि)

अमरकुसुम–न., लवङ्गम् (वै. नि. क्षयरो. त्रैलोक्यचि. रसे)

अमरज–पु., दुष्खदिरः (रानि.) देवदारुः, नदीवटः (वै. नि. २ म. ग्रन्थ्यादिज्व०)

अमरद्रु–., पु., विट्खदिरवृक्षः

अमरपुष्प–पु., न., पूगफलम् काशतृणम् । आम्रः । केतकः (मे. पपञ्चकम्)

अमरपुष्पक–पु., काशतृणम् (प. मु.) काशभेदः (र. मा.)

अमरपुष्पिका–स्त्री., चोरपुष्पीतृणम् (र. मा.) काशतृणम्

अमरपुष्पी–

अमर (ल) रत्न–न., स्फटिकम् (रा. नि.) काचः

अमरवल्ली–स्त्री., आकाशवल्ली

म.—अमरवेल.

हिं.—अमरवेलि.

(भा. पू. १ भ.गु. व. मद. व. १) सालशेतिख्यातलता गुणाः- वृष्यवल्ली बलकरी परं वृष्या रसायनी । मूत्रकृत्स्वेदजननी पुष्टिदा काश्यवारिणी । औपदंशिकरोगांश्च रक्तदोषं हरेदियम् (वैद्यकनि.)

अमरसर्षप–पु., देवसर्षपः (वै. नि.)

अमरसुन्दरी–स्त्री., ज्वराधिकारे रसः

अमराह्व–न., देवदारुकाष्ठम् (वा सू १५; एलादि. अरुणः)

अमरुफल–न., उत्तरदेशप्रसिद्धफलम्, गुणाः–' अमरोश्च फलं शीतं मलद्रवकरं मतम् । सरं दाहं रक्तपित्तं कामलां मूत्रकृच्छ्रकम् । मूत्राश्मरीञ्च हन्तीति ऋषिभिः परिकीर्तितम् (वै. नि.)

अमरेन्द्रतरु–पु., देवदारुवृक्षः (वै. नि. २ भ ज्व निर्गुण्डीधूपे.)

अमलदीप्ति–पु., कर्पूरः (च. द.)

अमलपत्री–पु., हंसः

अमलमणि–पु., स्फटिकम् (रा. नि. व १३) कर्पूरमणिः ।

अमलरत्न–न., स्फटिकम् (रा. व. १३)

अमलाज्झटा–स्त्री., भूधात्री (अ. टी. भ.)

अमस–पु., रोगः (उ.)

अमानस्य–न., पीडा, दुःखम्

अमूला–स्त्री., अग्निशिखावृक्षः (वै. नि.) अर्कपत्री

अमृतकल्परस–पु., अजीर्णाधिकारे रसविशेषः (र. सा. सं.)

अमृतगुडिका–स्त्री., भैषज्यमिदम् अजीर्णे हितम् (र से. चि.)

अमृतजा–स्त्री., हरीतकी (वै. नि.)

अमृतप्राशावलेह–पु., अयं राजयक्ष्माधिकारे उक्तः (भा. म. ख २ भ.)

अमृतबन्धु–पु., अश्वः (वै. नि.)

अमृतभल्लातकावलेह–पु., कुष्ठाधिकारेऽवलेहः (भा. म. ४ भ. कुष्ठ. चि.)

अमृतभल्लातकी–स्त्री., रसायनोऽयं योगः (रसर. सा. कौ. भैष. कुष्ठाधिकारे च. द. रसायने च. द. विविधाधिकारे)

अमृतमञ्जरी–स्त्री., गोरक्षदुग्धीक्षुपम्। सामान्यज्वरे रसविशेषः। अन्या च कासाधिकारे (र. सा. सं)

अमृतमण्डूर–पु., परिणामशूले देयः (र. स. र.)

अमृतमन्थ–पु., दुग्धादिपरिगोलितः मन्थः (प. मु. २० व)

अमृतयोग–पु., नक्षत्रयोगविशेषः। (अभि० २स्थ ६ अ)

अमृतलतादिघृत–न., पाण्डुरोगाधिकारे घृतम् (भा. म. २ भ)

अमृतवर्तिका–स्त्री., मृत्युञ्जयतन्त्रोक्तरसायनवर्तिः (भैष.)

अमृतवल्लरी–स्त्री., गुडूची (भा. पू. १ भ. गु. व) उपोदकी

अमृतसङ्गम–पु., खर्परिका
म.—कलखापरी. (वै. नि.)

अमृतसञ्जीवनी–स्त्री., गोरक्षदुग्धी (रा. नि. व. ५)

अमृतसहोदर पु., घोटकः (जय. द.)

अमृतसारज–पु., गुडः (रा. नि. व. १४) तवराजखण्डः (रा. नि. व. १४) गुणाः—तृष्णाज्वरदाहरक्तपित्तघ्नः

अमृतसारजा–स्त्री., शर्करा

अमृतसारताम्र–न., रसायनाधिकारे

अमृतसोदर–पु., घोटकः (रा. व. १९)

अमृतहरीतकी–स्त्री., अजीर्णे हिता (सा. कौ.)

अमृतक्षार–पु., नवसागरः (वै. नि.)

अमृताख्यगुग्गुलु–पु., वातरक्ते हितः (च. द. वात. रो. चि.)

अमृताख्यलौह–पु., न., रक्तपित्ताधिकारे लौहः (रस. र. रक्तपित्तचि.)

अमृतागुग्गुलु–पु., राजयक्ष्मणि हितः (चद. । भा. म. ३ भ.)

अमृताङ्कुरलौह–पु., न., उपदंशे लौहविशेषः (र. सा. सं. । रस. र. । प्रयोगा उपदंश. चि. रसे चि. कु. । साकौ)

अमृतादि–पु., कषायद्रव्यसमूहः। अयं विसर्प-विस्फोटके हितः (रस. र. । च. द. विसर्प. चि. भैव. सा. कौ.)

अमृतादिवटी–स्त्री., इयं कफे त्रिदोषेऽग्निमान्द्ये च हिता (भा. म. १ भ. ज्वर चि.)

अमृताद्यघृत–न., वातरक्ते हितम् (भा. म. २ भ.)

अमृताद्यचूर्ण–न., आमवाते हितम्। गुडूचीनागर गोक्षुरसुण्डितिकावरुणचूर्णानि प्रत्येकं समभागानि ग्राह्याणि। (भा. म. २ भ.)

अमृतारिष्ट–न., अरिष्टमिदं विषमज्वरादौ हितम् (भैष.)

अमृतार्णव–पु., रसोऽयम् अतिसारे ज्वरातिसारे च हितः (र. सा-सं. अतिसारचि.)

अमृतार्णवरसा–पु., कासहरोऽयं रसः (रस. र. भैष. र. सा. सं. रसायने)

अमृतार्णवलौह–न., कुष्ठाधिकारे हितम्

अमृतावटिका (गुग्गुलुः)–स्त्री.. सद्योव्रणघ्नी वटिका। व्रणशोथे इति (च. द.)

अमृताष्टक–पु., न., गुडूच्याद्यष्टद्रव्यसिद्धकषायः। एष श्लेष्मपित्तज्वरे हितः (च. द. चि. सा. कौ.)

अमृताह्व–न., अमृताफलम् नास्पाति इति लोके (मद. व. ६) गुणाः–गुरु वातघ्नं स्वादु त्रिदोषघ्नं च। नास्पाति मुद्गलदेशे प्रचुरं लभ्यते (भा.) खर्बूजम् (मद. व. ६)

अमृताह्वयतैल–न., वातरक्ते समुपयोज्यं तैलम् (भा. म. २ भ. वातरोगचि.)

अमृतेश्वररस–पु., अयं रसो यक्ष्मणि हितः

अमृतोत्था–स्त्री., सुधामूला सालम्मिछरीति भाषा (अत्रि.)

अमृतोत्पन्न–न., तुत्थम्। खर्परीतुत्थम् (रा.नि.व.१३)

अमृतोत्पन्ना–स्त्री., गृहमक्षिका (रा. नि. व.)

अमृतोपम–न., खर्परीतुत्थम् (वै. नि.)
म. मोरचूद.

अमृतोपहिता–स्त्री., तोपचिनी इति ख्याते द्रव्यम्

अम्बक–पु., बकुलवृक्षः (जटा)
न., नेत्रे (हे. च.) ताम्रम् (रा. नि. व. १३)

अम्बरद–पु., कार्पासवृक्षः (वै. नि.)

अम्बरा–स्त्री., कार्पासवृक्षः (प. मु.)

अम्बरातक–(रीय) पु., अम्रातकवृक्षः (जटा.)

अम्बरि–(री) ष पु., न., आम्रातकवृक्षः। भर्जनपात्रम् (अम.)

अम्बष्ठ–पु., देशविशेषः। वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातं अपत्यम्

अम्बष्ठादि–पु., पाठादिगणविशेषः (सु. सू. ३८ अ.)

अम्बुक–पु., श्वेतार्कमन्दारः। रक्तैरण्डः

अम्बुकण्टक–पु., नक्रम् (त्रिका.)

अम्बुकन्द–पु., शृङ्गाटकः (वै. नि.)
अम्बुकिरात–(ट)–पु., नक्रम् (त्रिका.)
अम्बुकीश–पु., गोधा । शिशुमारः (त्रिका.)
अम्बुकूर्म–पु., गोधा (वै. नि.)
अम्बुकृष्णा–स्त्री., जलपिप्पलिः (वै. नि.)
अम्बुकेशर–पु., छोलङ्गवृक्षः (र. सा. सं)
अम्बुचामर–पु., शेवालम् (जटा.)
अम्बुचारिणी–स्त्री., स्थलपद्मिनी (हिं स्थलपद्म) (वै. नि.)
अम्बुजामलकी–स्त्री., पानीयामलकः (वै. नि.)
अम्बुट–पु., अश्मन्तकः (रा. नि. व. ९)
म.—आपटा.
अम्बुताल–पु., शैवालम् (त्रिका.)
अम्बुधि–पु., सागरः
अम्बुधिफेन–पु., समुद्रफेनम् (भा.)
अम्बुनामन्–न., हीबेरम् (भा.) वालकम् (भा.)
अम्बुपत्रा–(त्रिका) (पत्री) स्त्री., उच्चटा (र. मा.)
अम्बुमयूरक–पु., जलापामार्गः (वै. नि.)
अम्बुमात्रज–पु., शम्बूकम् (हे. च.)
अम्बुयष्टिका–स्त्री., भार्गी (र. मा.)
अम्बुवल्ली–स्त्री., क्षुद्रकारवेल्ली । जलपिप्पलिः (वै. नि.)
अम्बुवारिणी–स्त्री., स्थलकमलिनी (वै. नि.)
अम्बुवाह–पु., मुस्तकः (चि. क. क. वल्ली. प्रदर. चि.)
अम्बुवेतस–पु., जलवेतस्
म.—लव्हाळे.
अम्बुशिरीषिका–स्त्री., जलशिरीषः (वै. नि.)
अम्बुशिरीषी– ,, ,,
अम्बुशुक्ति–स्त्री., जलशुक्तिः (वै. नि.)
म.—जलशिंपी.
अम्बुसर्पिणी–स्त्री., जलौका
अम्बुसादन–न., निर्मलीबीजम् (वै. नि.)
अम्बुसारा–स्त्री., कदलीवृक्षः (भा. पू. १ भ. फ. व.)
अम्बुसाह्व–पु., कुन्दपुष्पक्षुपः (वै. नि.)
अम्भःपा–पु., चातकपक्षी
अम्भःसार–पु., मुक्ता (वै. नि.)
अम्भःसूः–स्त्री., शम्बूकः (म. धुके) धूमः (हे)
अम्भोजनाल–पु., पद्मनालः (वै. नि.)
अम्भोजा–स्त्री., वल्लीयष्टिमधु (वै. नि.)
अम्भोरुहकेशर–न., पद्मकेशरम् (च. द. रक्तपित्तचि.)
अम्र–पु. आम्रवृक्षः रा. नि. (मात्रिका) हिं. मोहुया अम्लवेतसम् (रा.)
अम्रगन्धहरिद्रा–स्त्री
अम्रहरिद्रा– हिं. आमहलदी
अम्रवेतस–पु., अम्लवेतसम्
अम्रसार–पु., अम्लवेतसम् (रा. नि .व.)
अम्रात–(क.)–पु. आम्रातकवृक्षः हिं. अम्बाडा. म. अंबाड्याचे झाड. (श. मा. त्रिका)
अम्लकरञ्ज–पु., करञ्जविशेषः । तत् फलगुणाः—पिपासाघ्नं गुरु रुचिकरं पित्तकरञ्च (राज.)
अम्लका–स्त्री., पालङ्कः (शाकः) (प. मु. पलाशीलता रा. नि व. ४)
अम्लकूचि–पु., वृक्षविशेषः
अम्लकेशर–पु. मातुलुङ्गम् (पमु.) दाडिमवृक्षः
अम्लकेसरी–पु., अम्लरसनिम्बुकवृक्षः (वै. नि.)
अम्लकोश–(शाक)ः–पु., तिन्तिडीवृक्षः (मद. व. ६)
अम्लगोरस–पु., अम्लतक्रम् (वै. नि.)
अम्लचाङ्गेरी–स्त्री., चाङ्गेरीभेदः (चचि. ३ अगुरुतैले)
अम्लजम्बीर–पु., अम्लरसनिम्बुकवृक्षः (रा. नि. व ११)
म.—इडनिंबू.
अम्लटक–पु., अश्मन्तकः
अम्लत्वक्–पु., प्रियालः
म.—चारोळी
अम्लदोलक–पु., चुक्रम् (वै. नि.)
म.—अंबोती.
अम्लद्रव–पु., बीजपूरादिरसः । (भा. म. १ भ. जिह्वाकज्वरचि.
अम्लद्रव्य–न., बीजपूरादिः । तक्रम् (वै. नि.)
अम्लनिम्बुक–पु., महाम्लनिम्बुकः (वै. नि.)
म.—मोठे इडनिम्बू.
अम्लनिशा–स्त्री., शठी (रा. नि. व. २१)
अम्लपत्र–पु., दण्डालुकः (वै. नि.) अश्मन्तकः (रा. नि. व. ९) क्षुद्रपत्रतुलसीवृक्षः (र. मा.)
अम्लपत्र–न., चुक्रशाकम् (रा. व. ७)
अम्लपत्रा–स्त्री., शुक्रला (प. मु.)
अम्लपनस–पु., लिकुचवृक्षः (वै. नि.)
म.—ओटीचे झाड.
अम्लपर्णिका–स्त्री., वृक्षविशेषः । सुरपर्णी (भा.)
गुणाः–अम्लपर्णी वातकफशूलस्य विनाशिका (वै.नि.)

अम्लपादप-पु., वृक्षाम्लः (वै. नि.)
म.—कोकंबी.
अम्लपित्तान्तकमोदक-पु., अम्लपित्ते योगविशेषः (भैष.)
अम्लपित्तान्तकरस-पु., रसोऽयम् अम्लपित्तघ्नः (रस. चि. र. सा. सं. भैष.)
अम्लपुष्पिका-स्त्री., आरण्यशणवृक्षः (वै. नि.,)
म. रानताग.
अम्लपूर-न., वृक्षाम्लः (रा. व. ६.)
अम्लफल-न., वृक्षाम्लम् (रा. व. ६.)
अम्लफला-स्त्री., कत्थारिका (वै. नि.)
म.—लघुकन्थारी
अम्लभेदन-पु., अम्लवेतसम् (रा. व.) चुक्रम्
अम्लमारीष-पु., अम्लशाकविशेषः हिं.—सारा.
गुणाः-अम्लमारीषको दोषकोपनो मधुरः पटुः (वै. नि.)
अम्लमूलक-न., यूषितकाञ्जिकपक्वमूलकम् (प. प्र. ३ ख. च. द. संग्रहणीचि. बृहच्चुक्र.)
अम्ललोणिका-स्त्री., (अ. टी.) पालङ्कविशेषा (र. मा.)
म.—चुका.
अम्ललोणी-स्त्री., चाङ्गेरी
अम्लवाटा-स्त्री., नागवल्लीभेदः (रा. व. ११)
अम्लवाटिका-,, ,, ,,
अम्लवाटी- ,, ,, ,,
अम्लवातक-(वाडकः)-पु., आम्रातकवृक्षः
अम्लवाष्प-पु., चाङ्गेरी (वै. नी.)
म.—(घेणे.)
अम्लविदुल-पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)
अम्लवीज-न., वृक्षाम्लम् (रा. वै. ६.)
अम्लष्ठा-स्त्री., चाङ्गेरी.
म.—आंबोती.
अम्लसरा-स्त्री., नागवल्लीभेदः (रा. व. ११)
अम्लसार-पु., अम्लवेतसम् (रा. व. ६.) निम्बुकः (रा. व. ११.) हिन्तालवृक्षः (रा. व. ९)
अम्लसार (कम्)-काञ्जिकचुक्रनामक काञ्जिकभेदः (रा. व. १५)
अम्लस्कन्ध-पु., अम्लगणः (वासू. १०.२२)
अम्लस्तम्भनिका-स्त्री., तिन्तिडी (वै. नि.)
अम्लहरिद्रा-स्त्री., शठी (रा. ब. ६)
अम्लाटन-पु., महासहावृक्षः (मे.) गुणाः—' कषायो मधुरस्तिक्त उष्णवीर्यः स्निग्धश्च भा. पू. १ भ. पु. व.)
अम्लाढ्य-पु., करुणनिम्बुकः (पमु.)
अम्लात-पु., अम्लाटनवृक्षः (भा.पू.,१ भ. पु. व.)
अम्लादान-पु., करण्टक (पीयावांसा इति प्रसिद्धे । बाणपुष्प इति गौडे)
अम्लादि-पु., तिंतिडी, (रा.व.६) चुक्र नामक पत्रशाकम् (रा. व. ७)
अम्लादि-पु., तिन्तिडी (रा. व. ६) चुक्रनामकपत्रशाकम् (रा. व. ७)
अम्लान-पु., बन्धुजीवकवृक्षः (त्रिका) झिण्टिकाभेदः अम्लाटनवृक्षः (भा. प. ४ भ. योनिरोगचि) महासहा (मे. नत्रिकम्) महाराजतरणीवृक्षः
अम्लान-पु., बन्धुजीवकवृक्षः, (त्रिका) झिण्टिकाभेदः अम्लाटनवृक्षः । (भा. म. ४ भ. योनि रोग. चि.) महासहा (मे. न. त्रिकम्) महाराज-तरणी वृक्षः (रा. व. १०) (रा. व. १०)
अम्लान-न., पद्मम् (श. र.)
अम्लाना-स्त्री., महासेवतीपुष्पवृक्षः (वै. नि.)
म.—थोररानशेवंती.
अम्लानिनी-स्त्री., पद्मसमूहः । पद्मिनी (त्रिका.)
अम्लाम्ला-स्त्री., चाङ्गेरी (रा. व. ६)
अम्लायनी-स्त्री., मल्लिकाभेदः (वै. नि.)
म.—नेवाळी.
अम्लिकापान-न., तिन्तिडीपानकम् (भा. पू. पानकवर्ग)
अम्लिकावटक-पु., वटकविशेषः (भा.)
अम्लीकाफल-न., तिन्तिडीफलम्, तद्गुणाः-शुष्कं सन्दीपनं भेदनं तृष्णाघ्नं कफवातयोः पथ्यञ्च (वा. सू. ६) अम्लो हि चाम्लफलमविपक्वं तदम्लपित्तामकरं विदाहि वातामये शूलगदे प्रशस्तं पक्वं तथा शीतगुणोपपन्नम् (अत्रि. १७ अ.)
अम्लीय-पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)
अम्लोटक-पु., अश्मन्तकवृक्षः असौ स्वनाम्नैव प्रसिद्धः (हि-आमरोडा) (रत्ना.)
अम्लोटज-पु., चाङ्गेरी (चद चातुर्थकज्वरचि.)
अम्लोत्तम-न., दाडिमः (प. मु.)
अयस्-न., लौहमात्रम् (रत्ना.)

अयस–(च. द. पाण्डुचि.) कान्तलौहम् (प. मु.) मुण्डलौहम् (रा. व. १३.)

अयस्कान्तशिला–स्त्री., लौहचुम्बकम् (वै. नि.)

अयस्कार–पु., जङ्घाग्रभागः (त्रिका.)

अयस्कीट–पु., लौहकीटः (वै. नि.)

अयान–न., स्वभावः (हारा.)

अयुग्मक–पु., सप्तपर्णवृक्षः (वै. नि.)

अयुग्मच्छद–पु., सप्तपर्णवृक्षः (अ. टी.)

अयोच्छिष्ट–न., लौहकिट्टम् (वै. नि.)

अयोमल–न., लौहमलम् (प. मु. सि. यो. पाण्डुचि. वृत. च. द. पाण्डुचि.)

अयोबस्ति–पु,, स्त्री., बस्तिकर्मविशेषः (भा.)

अरक्त–पु., लाक्षा (रा. व. ६)

अरग्वध–पु., महाकर्णिकारः

अरग्वध–न., स्वर्णालुफलम् (सि. यो. बृहदग्निमुखचूर्णे)

अरङ्ग–(गा) (गी) पु., स्त्री., मत्स्यविशेषः (वै. नि) वनस्पति० मधुशिग्रुः (रत्ना)

अरङ्गर–पु., कृत्रिमविषम्

अरङ्गदी–स्त्री., माधवीलता (वै. नि.)

अरजा–स्त्री., घृतकुमारी

अरट्टु–पु., अरलुः (अ. टी.)

अरण–पु., चित्रकः (वै. नि.)

अरणिका–स्त्री., अग्निमन्थः (वा. सू. १५)

अरणीकेतु–पु., महाग्निमन्थः (रा. ब. ९)

अरण्य–पु., कट्फलवृक्षः (श. च.) शालभेदः (वै. नि.)

अरण्य–न., काननम् उद्यानमहावनोपवनप्रमदवनभेदात् तच्चतुर्विधम् । तत्रोद्यानं यत्र रागिणः क्रीडन्ति । नृपालयेषु अन्तःपुरोचितं वनं प्रमदवनम् । उपवनं पुरस्य प्रान्तस्थवनम् (रा. व. २)

अरण्यक–पु., महानिम्बः (वै. नि.)
म.—बकाणनिम्ब.

अरण्यकणा–स्त्री., कटुजीरकम् (वै. नि.) वनपिप्पलिः

अरण्यकर्कटी–स्त्री., वनजातकर्कटी
म.—रानतवसे.
गुणाः– अरण्यकर्कटी चोष्णा रसे तिक्ता च भेदका । पाके कटूकफकृमीपित्तकण्डुज्वरापहा (वै. नि.)

अरण्यकाक–पु., वनकाकः (द्रव्यगुणः) (वै. नि.)

अरण्यकुक्कुट–पु., वनकुक्कुटः तन्मांसगुणाः–' हृद्यं लघु श्लेष्महरञ्च (रा. व. १७) बृंहणं स्निग्धं वीर्योष्णं वातघ्नं गुरु च (मद. व. १२)

अरण्यकोलि–स्त्री., वनबदरम्

अरण्यगवय–पु., वनगवयः । अयं कूलचरजातीयः (सुसू. ४६)

अरण्यघोली (लिका)–स्त्री., वनघोलीति प्रसिद्ध-पत्रशाकम् घोलीशाकम् (रा. व. ६) मन्थनदण्डः

अरण्यचटक–पु., वनचटकः, तन्मांसम्–लघु हितावहं चटकसमगुणञ्च

अरण्यचम्पक–पु., वनचम्पकः । गुणाः– शीतलं लघु शुक्रवृद्धिकरं बलकरञ्च (रा. ग. १०)

अरण्यछाग–पु., वनच्छागः

अरण्यज–पु., तिलकवृक्षः (हे.च.)

अरण्यजार्द्रक–स्त्री., वनार्द्रकम्, गुणाः– तत्र कटु अम्लं रुचिकरं बल्यं आग्नेयं च (रा. व. ६)

अरण्यतुलसी–स्त्री., बनतुलसी । कृष्णबर्बरी
म.—रानतुळस.
वैजयन्ती तुलसी । सा द्विधा ह्रस्वदीर्घभेदात् । गुणाः– ' अरण्यतुलसी चोष्णा कटुका च सुगन्धिका । वात-स्वग्दोषवीसर्पविषञ्चैव विनाशयेत् ' । ' अरण्यतुलसी क्षुद्रा कटूष्णा चोष्णा च तिक्तका । रुच्यग्निदीपनी हृद्या विदाही–लघु–पित्तला । रूक्षा कण्डुविषच्छर्दि-कुष्ठज्वरविनाशिनी । वातं कृमीन् कफं दद्रुं रक्त-दोषं च नाशयेत् । बीजञ्चास्या दाहशोषनाशकं परि-कीर्तितम् ' (वै. नि. द्र. व्य. गु.)

अरण्यत्रपुसक–पु., वन्यत्रपुषम् (वै. नि.)
म.—गोडशेंदनी.

अरण्यत्रपुसी–स्त्री., इन्द्रवारुणी महाकाललता (वै. नि. अपस्मारचि. नस्यम्)

अरण्यधेनु–स्त्री., वनजाता गौः

अरण्यपलाण्डु–पु., वनजातपलाण्डुः । गुणाः–मूत्र-वैरेचनः, श्लेष्महरणोऽत्युग्र एव च । मात्रातिरेका-द्भवति वान्तिकृत्मलभेदनः । अतिमात्रं प्रयुक्तोऽसौ विषवन्मारयेन्नरम् । शोथे श्वासे कासे च मूत्रसङ्गे प्रयुज्यते (अ. त्रि.)

अरण्यपिप्पली–स्त्री., वनपिप्पलीनाम क्षुपः (र. व. ६)

अरण्यमक्षिका–स्त्री., वनमक्षिका (श. र.)

अरण्यमेथी–स्त्री., वनमेथिका (वै. नि.)
म.—रानमेथी.

अरण्यरजनी–स्त्री., वनहरिद्रा (वै. नि.)
म.—रानहळद. बाणपुष्प इति गौडे

अरण्यवायस–पु., अरण्यकाकः (रा. व. १९)
म.—डोमकावळा.
अरण्यशालि–पु., नीवारधान्यम् (रा. व. २३)
म.—देवभात.
अरण्यशुन–पु., वनकुक्कुरः
अरण्यशूरण–पु., वनजशूरणः (रा. व. ७)
म.—गोडा सूरण.
अरण्यश्वा–पु., कपिः । चित्रकव्याघ्रः
अरण्यसम्भूत–पु., कर्कटकः ।
अरण्यहलदीकन्द–पु., **(अरण्यहरिद्रा)**–स्त्री., वनहरिद्रा गुणाः–कुष्ठघ्नः वातरक्तघ्नश्च (भा. पू. १ अ.) इयं कटुः मधुरा रुच्या अग्निदीपनी तिक्ता कुष्ठवातहा सती रक्तदोषविषश्वासकासहिक्काश्च नाशयेत् (वै. नि.)
अरम–पु., नेत्ररोगविशेषः
अरल–पु., शोणाकवृक्षः
अरलुपुटपाक–पु., शोणाकत्वक्कृतपुटपाकः (शार्ङ्ग. म. ख. १ अ.)
अरविन्ददलप्रभ –न., ताम्रम् (वै. नि.)
अरविन्दिनी–स्त्री., पद्मसमूहः (र. मा.)
अराल–पु., सर्जरसः शालवृक्षः मत्तदन्ती (वै. मे.)
अरिपूरिम–पु., विट्खदिरः (वै. नि.)
म.—गन्धी हिंवर.
अरिम–पु., विट्खदिरः (रत्ना, भैष. मुखरो. चि.)
अरिमेदाद्यतैल–न., तदिदं मुखरोगे हितम् (च. द. मुखरोगचि.)
अरिष्टत्रय–न., स्वस्थारिष्टं वेधारिष्टं कीटारिष्टञ्चेति अश्वारिष्टत्रयम् (जयदत्त २३–२५ अ.)
अरिष्टफल–पु., कटुनिम्बवृक्षः (रा. व. ९)
अरिष्टलक्षण–न., मृत्युलक्षणम् । रोगिणो मरणं यस्मादवश्यम्भावि लक्ष्यते । तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टञ्चापि तदुच्यते
अरिष्टाह्व–पु., रीठाकरञ्जः (वै. नि. २ भ. उन्मा. चि.)
अरु (**स्**)–पु., आरग्वधः रक्तखदिरः
न., क्षतव्रणः । मर्म । सन्धिस्थानम् (उ.)
अरुज्–त्रि., सुस्थः
अरुग्ण–त्रि., सुस्थः
अरुर्द्विर्निमेष–स्त्री., नेत्ररोगविशेषः
अरुणकपिश–पु., द्राक्षाभेदः (वै. नि.)
म.—फकीरीद्राक्षा.
अरुणकमल–न., कोकनदम् (रा. व. १०)
अरुणचूड–पु., ताम्रचूडः (वै. नि.)
अरुणतण्डुलीय–न., रक्ततण्डुलीयकः (च. द.)
अरुणनाग–पु., मुद्गशङ्खः (अत्रि.)
अरुणनेत्र–पु., पारावतः (वै. नि.)
अरुणपुष्पी–स्त्री., बन्धुजीवकः (वै. नि.)
म.—रक्तदुपारी.
अरुणमक्षिका–स्त्री., रक्तमक्षिका (वै. नि.)
अरुणलोचन–पु., पारावतः (रा. व. १९)
हिं.—कबूतर.
अरुणसर्प–पु., तक्षकसर्पः (वै. नि.)
अरुणक्षार–पु., हिङ्गुलः (वै. नि.)
अरुणात्मिका–स्त्री., कुमरिचम् (वै. नि.)
म.—लाख.
अरुणाभ–न., वज्रलौहम्
अरुणार्क–पु., रक्तार्कः (प. मु.) (रा. व. १०)
म.—मन्दारु.
गुणाः– सरः वातकुष्ठकण्डूविषव्रणघ्नः प्लीहगुल्मार्शः कफोदरमलकृमिहरश्च । कटुतिक्तोष्णः कफघ्नो मेदोघ्नो विषघ्नः वातकुष्ठव्रणघ्नः शोथकण्डूविसर्पहरश्च । पुष्पगुणाः पुष्पं मधुरं तिक्तं धारकं कृमिकुष्ठकफार्शोविषरक्तपित्तघ्नं गुल्मशोथहरं च (भा. पू. १ भं.)
अरुणोपल–पु., अरुणवर्णमणिविशेषः; पद्मरागः (हे. च.)
अरुष्कर–न., भल्लातकफलम् (च. द. अर्श. चि. भैष. कुष्ठचि. पञ्चतिक्तघृते चसू. ४ कुष्ठघ्नवर्गे)
अरुषा (टा)–स्त्री., भूम्यामलकी (रा. व. ५)
अरोकदन्त–त्रि., कृष्णदन्तम् (वै. नि.)
अककान्ता–स्त्री., आदित्यभक्ता (रा. व. ४. मदव. १.)
अर्कगन्धिका–स्त्री., क्षीरविदारी (प. मु.)
अर्कच्छत्र–न., अर्कमूलम्
अर्कतैल–न., कुष्ठाधिकारे प्रोक्तमिदम् (च. द. कुष्ठचि.)
अर्कदल–पु., आदित्यपत्रक्षुपः (रा. व. ४)
अर्कनामन्–पु., रक्तार्कः (भा.)
अर्कपत्र–पु., आदित्यपत्रक्षुपः (रा. व. ४.)
अर्कपत्रा– स्त्री., **(त्रिका)**–स्त्री., ईश्वरमूलवृक्षः (प. मु. र. मा.)
अर्कपर्ण–पु., रक्तार्कवृक्षः (भा. पू. १ भ.)
म.—सूर्यमन्दार.
अर्कपाद–पु., सूर्यकान्तमणिः । निम्बवृक्षः (वै. नि.)

अर्कपादप–पु., निम्बवृक्षः (त्रि. का.) अर्कक्षुपम्
अर्कपुष्पा–स्त्री., क्षीरकाकोली
अर्कप्रभागुडिका–स्त्री., रसायन० रसायनाधिकारे
अर्कमूर्तिरस–पु., रसोऽयं सान्निपातिकज्वरे प्रयोज्यः (भैष. ज्वरचि.)
अर्कमूल–न., तन्नामकवृक्षमूलम् (च. द. अग्निमान्द्य चि. क्षारगुडे प्रयोज्यम्)
अर्कमूला–स्त्री., ईश्वरमूली (रत्ना.)
अर्कलवण–न., अर्कक्षारः (वै. नि.)
अर्कवल्ली–स्त्री., आदित्यभक्ता (वै. नि.)
अर्कवेद–(ध)–न., तालीशपत्रम् (रा. व. ६.)
अर्कसुता–स्त्री., कृष्णापराजिता (वै. नि.)
अर्कसुधा–स्त्री., अर्कोत्थसुधा । गुणाः–असौ गुल्मरोगस्य नाशनी (वै. नि)
अर्कक्षीर–न., अर्कवृक्षनिर्यासः । गुणाः–कृमिघ्नं व्रणघ्नं कुष्ठार्शोदरेषु च हितम् (रा०) तिक्तलवणमुष्णवीर्यं लघु स्निग्धं गुल्मोदरकुष्ठहरं विरेचने हितं च (भा. पू. १ भ.; च. द. अर्शचि.)
अर्काश्मन्–पु., सूर्यकान्तमणिः (हला.)
अर्काह्व–पु., तालिशपत्रम् । सूर्यकान्तमणि, अर्कवृक्षः (अ. म.)

अर्की–पु., मयूरः (वै. नि.)
म.—मोर.
अर्केश्वररस–पु., रसोऽयं वातव्याध्युपशमनः द्विविधश्च । तृतीयो रक्तपित्ते । चतुर्थः कुष्ठाधिकारे प्रोक्तः
अर्कोपल–पु., सूर्यकान्तमणिः (रा. व. १२)
अर्गट–पु., आर्तगल इति प्रसिद्धः कण्टकवृक्षविशेषः । गुणाः– शीतः व्रणशोधनरोपणश्च (मद. व. ५) तथा 'अर्गटस्तुवरः शीतवीर्यो व्रणशोधनः । व्रणरोपणश्चैव पुष्पमस्य मधु स्मृतम् । तिक्तञ्च ज्वरपित्तघ्नं कफरक्तरुजापहम्' (वै. नि.)
अर्गल–न., मांसम् (वै. नि.)
अर्घट–न., भस्म (हारा.)
अर्घ्य–न., मधुविशेषभूतः आर्घ्यमधु द्र० 'मधु'
अर्घ्याट(ल)–पु., शुकला । शुकला चालुपत्रः स्यादर्घ्यातोऽर्घ्याटलो मतः (द्रव्याभि.)
अर्घ्यात–पु., अर्घ्याटः (द्रव्याभि.)
अर्चिस्–स्त्री., न., कान्तिः । अग्निज्वाला
अर्जकर्ज–पु., असनवृक्षः
अर्जुन–पु., नेत्रशुक्लगतरोगः । लक्षणम् एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति (मा. नि.)
अर्जुन–न., कासतृणम् (र. मा.)
अर्जुनघृत–न., हृद्रोगे हितम् (च. द. हृद्रोगे चि. भेष. भा. रस. स.)
अर्जुनत्वक्–स्त्री., अर्जुनवल्कलम् (च. द. अतिसार. चि.)
अर्जुननामाख्या–स्त्री., अर्जुनवृक्षः
अर्जुनसुधा–स्त्री., अर्जुनोत्थसुधा गुणाः–सुधा ह्यर्जुनजा प्रोक्ता कफस्य च विनाशिनी (वै. नि. द्रव्यगुणे)
अर्जुनाख्य–पु., काशतृणम् (र. मा.) अर्जुनवृक्षः
अर्जुनाद–वि., दर्भकाशखादकः (च. चि. २ अ.)
अर्जुनाद्यघृत–न., इदं प्रमेहे घृतम् उपयोज्यम् (र. मा. ३ भ. मेहचि.)
अर्जुनी–स्त्री., गौः (मे. नचिकं.)
अर्जुनोपम–पु., शाकद्रुमम् (र. मा.) शालवृक्षः (रत्ना.)
अर्ण–पु., शाकवृक्षः (श. च.)
अर्णभव–पु., शङ्खः (वै. नि.)
अर्णव–पु., समुद्रः (रत्ना.)
अर्णवज–पु., समुद्रफेनम् (रत्ना.)
अर्णवजमल–पु., समुद्रफेनम् (रत्ना.)
अर्णस्–न., जलम् (रा. व. १४)
अर्णोद–पु., मुस्तकम् (रा. व. १४)
अर्त्तगल–पु., नीलझिण्टी (सु. द्रव्यस. आगरु इति ख्याते फलवृक्षे । रत्ना.)
अर्थचम्पिका–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (वै. नि.)
अर्थप्रसाद–स्त्री., धामनवृक्षः (वै. नि.)
अर्थसाधक–पु., पुत्रजीववृक्षः (मद. व. १ भा.)
अर्थसिद्ध–(कः)–पु., पुत्रजीववृक्षः । श्वेतनिर्गुण्डी । कृष्णनिर्गुण्डी (रा. व. ४)
अर्दनि–पु., अग्निरोगः (अ. टी. मा. नि.)
अर्धक–पु., जलसर्पः (वै. नि.)
अर्धचोलक–पु., कुर्पासः । (हारा.)
अर्धधारक–न., अस्त्र० । तच्च छेदनभेदनार्थम् (सुसू. ८)
अर्धनारीश्वररस–पु., रसोऽयं सान्निपातिकज्वरे गुञ्जामात्रं नस्यकर्मणि योज्यः । अपरे जीर्णविषमज्वरे नस्यमित्याहुः । तेन तत्क्षणमेव वामाङ्गो ज्वरो नश्यति (भेष.)
अर्धपल–न., कर्षद्वयम् । ४ तो. (प. प्र. १ ख)
अर्धपादा–स्त्री., भूम्यामलकी ।

अर्धपारावत–पु., वनकुक्कुटः । चित्रकण्ठपारावतः । तित्तिरः (अत्रि.)

अर्धपुष्पा–स्त्री., महाबला

अर्धभोजन–न., अर्धाशनम्

अर्धमात्रिक–पु., निरूहणाधिकारे तन्नामकबस्तौ (च. द.)

अर्धवीरच्छा–स्त्री., कृष्णदूर्वा

अर्धश(स)फर–पु., दण्डपालाख्यमत्स्यविशेषः (हारा.)

अर्धशराव–पु., प्रसृतिद्वये । ३२ तो. (प. प्र. १ ख.भा.)

अर्धसह–पु., पेचकः (वै. नि.)
म.—घुबड.

अर्धाशोनजल–न., अर्धाशेन हीनं पक्वं जलम् (रा. व. १४)

अर्धालिग–पु., जलसर्पः

अर्धाशन–न., अर्धभोजनम् (श. च.)

अर्धेन्दु–पु., अतिप्रौढस्त्रीयोनौ अङ्गुलीयोजनम् (मे. दत्रिकं)

अर्धेन्दुशलाका–स्त्री., नासाकपालओष्ठअर्बुदगलतालुकर्णरोगेषु उपयुज्यते (वै. नि.)

अर्धोदकक्षीर–न., अर्धोदकश्रृतदुग्धम् 'अर्धोदकं पयः शिष्टमामाल्लघुतरं स्मृतम्' (हेमाद्रौ क्षारपाणिः)

अर्भ–(क)–पु., बालकः (रा. व.१८) कुशः (मे. कत्रिक) पक्षजातशिशुः (रा. व. १८)

अर्भा–स्त्री., गुग्गुलः । अर्भाचूर्णं सहयुतम् (प्रयोगा. भग्न. चि.)

अर्यमार्य–ःपु., अर्कवृक्षः (रा. व. १०) सूर्यः

अर्व्वण–पु., अश्वः (भा. पू.)

अर्वन्–पु., अश्वः (भा. पू.)

अर्व्वती–स्त्री., वडवा कुम्भदासी (मं.)—मे तत्रिकम्

अर्व्बुद–पु., न., पुरुषः । दशकोटिपरिमाणं, (मे.—तत्रिक) मांसकीलकाकाररोगविशेषः (मा. नि. सुनि. ११; मा. म. ४; भ. मुखरोगचि.)

अर्व्बुदाकार–पु., बहुवारवृक्षः (वै. नि.)

अर्व्बुदाद्रिज–पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
म.—मुरदारशिंग.

अर्व्बुर–न., आहुल्यनामक्षुपः । काश्मीरे तडवड इति प्रसिद्धः (वै. नि. २ भमसंग्रहणी चि. तालिशादिचूर्णे)
म.—तडवड.

अर्श–न., अर्शोरोगः (श. र.)

अर्शकुठाररस–पु., रसोऽयं अर्शसि हितः (रस. र. प्रयोगाः)

अर्शःसूदन–पु., शूरणः

अर्शिन्–त्रि., अर्शोयुक्तः (श. र.)

अर्शोघ्नवल्कला–स्त्री., तेजवलो (वै. नि.)

अर्शोघ्नी– तालमूली (रत्ना. मे. नत्रिकं) भल्लातकः (वै. नि.)

अर्शोज–पु., भगन्दररोगः

अर्शोहररस–पु., रसोऽयं अर्शसि हितः रसवैक्रान्तशुद्धाभ्रकान्तभस्मसगन्धका । तुल्यांशं मर्दयेच्चार्द्रदाडिमोत्थैः रसैस्ततः (रस. र.)

अर्शोहित–पु., भल्लातकवृक्षः (त्रि. का.)

अर्ह–न., सुवर्णम् (वै. नि.)

अर्हा–स्त्री., त्रायमाणालता (वै. नि.)

अलकप्रिय -पु., कृष्णभल्लातकः (मद व.)

अलह्वकाय–पु., कटुनिम्बः (वै. नि.)

अलगण–पु., नेत्ररोगविशेषः (वै. नि.)

अलगर्ध–पु., अलगर्धः (अम.)

अलङ्कारसुवर्ण–न., शृङ्गीकनकम् (हारा)

अलम्बमुष्कक–पु., मुष्ककवृक्षः

अलम्बा–स्त्री., तिक्काला (सुक. २) द्र० पत्रविषम्

अलम्बुजा–स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.)

अलम्बुद–न., वालकम् (वै. नि. क्षयचि. शिवगुटी.)

अलम्बुष–पु., वान्तिरोगः (मे. षचतुष्क) भूकदम्बः (र. मा. रत्न.)

अलम्बुषा–(सा)–स्त्री., लज्जालुकाभेदः (भा. पू. १ भ गुव.) महाश्रावणी (रा. व. ५ वै. नि. वा. व्या. षडशीति) गुग्गुलुः त्र्युषणाद्यलौहः च । लौहमलम् (च. द. १ भ. आमवाते अलम्बुषाचूर्णे)

अलम्बुषाद्यचूर्ण–न., चूर्णम् । आमवाते देयम् (च. द. आमवातचि. भा. रस. र.)

अलम्बोर्ध्वस्तनी–त्रि., यस्याः स्तनौ न लम्बौ नोर्ध्वमुखौ च सा (सु. शा. १०)

अलम्बौष्ठी–त्रि., यस्याः ओष्ठौ लम्बमानौ न भवति सा (सु. शा. १०)

अलमोस–पु., मत्स्यभेदः (वै. नि.)

अलसा–स्त्री., हंसपदीलता (मे. सत्रिकं.)

अलसी–स्त्री., अतसी (वै. नि.)

अलसेलुका–स्त्री., रक्तलज्जालुः (वै. नि.)

अलात–न., अङ्गारकः (रत्ना.)

अलाबुक–पु., अश्वस्य मुखरोगः अत्र मुखदौर्गन्ध्यं तालुशोफः ग्रासग्रहणे विद्वेषश्च भवति (ज. द.)

अलाबुका–स्त्री., कटुदुग्धालाबुनि (भा.)

अलाबुनी–स्त्री., कटुदुग्धालाबुः कटुतुम्बी । मिष्टतुम्बीलता (मदव. ७)

अलाबुविधि–पु., अलब्वारक्तमोक्षणम् (सुसू. १३)

अलाबुयन्त्र–न., यन्त्रविशेषः । लक्षणम्–स्याद्वादशाङ्गुलाऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशाङ्गुला । चतुरङ्गुलवृत्तास्यदीक्षान्तश्लेष्मरक्तहृत् (कश्चित्. अत्रि.)

अलाबुसुहृत्–पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)

अलास–पु., जिह्वास्फोटम् । जिह्वागतमुखरोगः (सु. नि. १६)

अलि–(इन्)–पु., वृश्चिकः । भ्रमरः (मे)

अलिक–न., ललाटम् (हे. च.)

अलिक–पु., न., कपोलः (रा. व. १८) ललाटम् (रत्ना.)

अलिकमत्स्य–पु., अङ्गारः । भिन्नतिलतैलभृष्टमांसम् पिष्टकम्

अलिकुलप्रिया–स्त्री.. काष्टशेवन्ती (वै. नि.)

अलिकुलसङ्कुला–स्त्री., कण्टकशेवती । कुञ्जकावृक्षः (रा. व. १०. भा. पू. १ भ.)

अलिगर्द–पु., जलसर्पः (श. र.)

अलिजिह्वा–(ह्विका)–स्त्री., क्षुद्रजिह्विका (श. र.)

अलिञ्जर–न., फलविशेषः
म.—चिरफोटी.

अलिता–स्त्री., अलक्तकम् । गुणाः–अलितोष्णा तिक्तका स्यात्कफवातव्रणापहा । व्यङ्गारुचिकण्ठरुजं व्रणदोषञ्च नाशयेत् । अन्ये गुणाश्च लाक्षावत्प्रोक्ताः पूर्वमहर्षिभिः (वै. नि.)

अलिपक–पु., भ्रमरः । कोकिलः । कुक्कुरः (सर्वत्र. मे. कचतुष्कम्)

अलिपत्रिका–स्त्री., वृश्चिकाली (रा. व. ५)

अलिप्रिय–न., रक्तोत्पलम् (त्रिका.)
पु., धाराकदम्बवृक्षः । आम्रवृक्षः (श. र.)

अलिप्रिया–स्त्री., पाटलावृक्षः (पमू.)
कदम्बवृक्षः (भा. पू. ११)
भूजम्बूवृक्षः (वै. नि.)

अलिमक–पु., भेकः । कोकिलः । भ्रमरः । पद्मकेश । मधूकवृक्षः (मे. कचतुष्कम्)

अलिमोदा–स्त्री., गणिकारा (रा. व. ९)

अलिम्पक–(म्बक)–पु., कोकिलः । मधुमक्षिका । कुक्कुरः । पद्मकेशरम् (वै. नि.)

अलिवल्लभा–स्त्री., रक्तपाटला भा. पू. १ थ.)

अलिवाहिनी–स्त्री., कोकणदेशप्रसिद्धे केरिका वृक्षः । केवेर इति भाषा (रा. व. १०)

अलिसमाकुल–पु., पुष्पवृक्षविशेषः । दवणसेवन्तीति महाराष्ट्रादौ (वै. नि.)

अलीकमत्स्य–पु., अङ्गारस्विन्नतिलतैलभृष्टमाषपिष्टकः (भा. पू. २ भ)

अलीनक–न., वङ्गम् (हे. च.)

अलीष्ट–पु., तिलकवृक्षः (वै. नि.)

अलु–पु., स्त्री., गलन्तीका आलौ । तुलसी (न) मूलम् (मे. कद्विकम्)

अलुक–न., आलुकसाधारणम् । एतच्च राजालुरक्तराजालुश्वेतकृष्णवन्यकांस्यालुभेदेन बहुविधम् । आलुबोखार इति प्रसिद्धे काबेलदेशीयफलम्, आमिषम्

अलोमश–पु., मत्स्यविशेषः (रा. व. १७)

अलोहित–न., रक्तपद्मम्, ईषद्रक्तपद्मम्

अल्क–पु., वृक्षविशेषः । शरीरावयवः

अल्पकेशिका–स्त्री., भूतकेशी (र. मा. प. मु. रत्ना.)

अल्पकेशी– ,,

अल्पक्षुपा–स्त्री., ह्रस्वलज्जालुका (वै. नि.)

अल्पगन्ध–न., रक्तकैरवम् । रक्तकमलम् (वै. नि.)

अल्पगोधूम–पु., तृणगोधूमः (प. मु. मद. व १०)

अल्पघण्टिका–न., ह्रस्वशणपुष्पी
म.—लघु ताग.

अल्पतनु–त्रि., खर्वः (अम.)

अल्पनायिकाचूर्ण–न., औषधमिदं ग्रहण्यां हितम् (र. चि.)

अल्पपत्र–पु., क्षुद्रपत्रतुलसी (र. मा.)
न., रक्तपद्मम् (र. मा.)

अल्पपत्रक–पु., गिरिजमधूकवृक्षः (रत्ना.)

अल्पपत्री–स्त्री., मिश्रेया मुषली (वै. नि.)

अल्पपद्म–न., रक्तपद्मम् । रक्तोत्पलम् (वै. नि. द्रव्यगुण.)

अल्पपर्णिका–स्त्री., मुद्गपर्णी (वै. नि.)

अल्पपर्णी– ,,

अल्पपुष्पिका–स्त्री., पीतकरवीरः (वै. नि.)

अल्पप्रमाणक–पु., लतापनसः (र. मा.)

अल्पमस्तक–पु., चित्रकक्षुपः (वै. नि.)

अल्पमक्षिका–स्त्री., मक्षिकाविशेषः (वै. नि.)
अल्पमारिष–पु., क्षुद्रमारिषः (भा. पू. १ भ)
अल्परसा–स्त्री., हैमवती (रा. व २३)
अल्पवर्त्तक–पु., तित्तिरः (म. द. व. १२)
अल्पशोफ–पु., सर्वाक्षिरोगः (वै. नि.)
अल्पास्थि–न., परूषकफलम् (रा. व. ११ भा. पू. १ भ)
अल्पिका–स्त्री., वनमक्षिका (हे. च. ४) मुद्गपर्णी (भा. पू. १ भ.)
अल्लक–पु.. कक्कोलविशेषः । धान्यकम् (वै. नि.)
अल्ला–स्त्री., माता । धान्यकम्
अल्लु–न., अलक्तः (म. द. व ६.)
अवकुन्थन–न., आर्तनादः
अवकूलन–न., अम्लावुष्णीकरणम् (च. द. अतिसारचि.) अङ्गारेष्ववकूलयेत्
अवकेशिन्–त्रि., अफलवृक्षः (हे. च.)
अवक्र–पु., सरलवृक्षः
अवक्षिप्तसंधि–पु., सन्धिविश्लेषः । सन्धिच्युतं सत् नीचमुखेनावस्थानम् । सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च
अवक्षेपणी–स्त्री., (वल्गा हेच) (सु. नि. १५ अ)
अवगण्ड–पु., गण्डदेशस्थव्रणः (त्रिका.)
म.—पुटकुळी.
अवगथ–पु., प्रातःस्नानम्
अवगाह–पु., स्नानम् । स्नानगृहम्
अवगाहनस्नानम् । मज्जनपूर्वकस्नानम्
अवगाहस्वेद–पु., अवहगाहनेन स्वेदः (वा. सू. १७)
अवगीर्ण–त्रि., अपानान्निर्गतम् ।
अवगुण्ठन–न., योषितः शिरःप्रावरणम् स्त्रीमुखाच्छादनम् ।
अवगुण्ठित–न., चूर्णितम् (त्रिका.)
अवग्रह–पु., गजललाटदेशः (हा. रा.)
अवग्राह–पु., अवहारकः
अवचूर्ण–न., स्थूलचूर्णम्
अवचूर्णित–त्रि., चूर्णितम्
अवश्चक–त्रि., भक्तिमान् (रोगी) (वै. नि.)
अवट–(टी)–पु., नाडीव्रणः, कूपपः (मे.)
अवटीट–त्रि., नतनासिका (अम.)
अवड–पु., मन्यापृष्ठभागः (वै. नि.)
अवताप–पु., अजाविज्ज्वरः (गजवै.)
अवतारण–न., भूतादिग्रहः वस्त्राञ्चलम् (मे. णपञ्चकम्)
अवतोका–(दा)–स्त्री., स्रवद्गर्भा गौः; पतितगर्भा गौः (हला.)
अवदंश–पु., सुरापानरुचिजनकभक्ष्यद्रव्यम् (हला.) शिग्रुवृक्षः । कृष्णशिग्रुः (वै. नि.)
अवदान–न., उशीरम् (अ. टी.)
अवदान्त–पु., शिग्रुवृक्षः (वै. नि.)
अवदाह–(कम्)–न., लामज्जकतृणम् (भा. पू. १ भ.) वीरणमूलम् (वै. नि.)
म.—पिवळा वाळा.
अवदाहेष्ट–न., वीरणमूलम् (अ. टी.)
अवदाहैष्टकापथ–न., उशीरभेदः (अ. टी. भ.)
अवदोह–पु., दुग्धम् (त्रिका.)
अवध्वंस–पु., अवचूर्णनम् (मे.)
अवध्वस्त–पु., अवचूर्णितम् (मे. तच्चतुष्कं)
अवना (नी)–स्त्री., त्रायमाणा (रा. व. ५)
अवनाट–त्रि., नतनासिका (अम.)
अवनि–वि., अशुष्कम् अशुष्कफलादौ (श. र.)
अवनीसारा–स्त्री., कदली (वै. नि.)
अवन्ति (न्ती) सोम–न., काञ्जिकम् (प. म्) (हारा.) राव १५१ वर्णच्छायाप्रकाशिका त्वक् ।
अवभासिका (नी) स्त्री., सा च व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा (सु. शा. ५ अ.)
अवभ्रट–त्रि., नतनासिका
अवमर्द–(न)–पु., न., पीडनम् (अम.)
अवमोटन–न., आमोटनम् (मा. नि. वातव्या)
अवयवस्थान–न., शरीरम् । अवयविन् (पु.,) पक्षी (वै. नि.)
अवर–न., गजपश्चाज्जङ्घादि (अम.)
अवरदारुक–न., तन्नामकस्थावरविषान्तर्गतपत्रविशेषः (सुक. २)
अवरिका–स्त्री., धान्यकम् (रा. व. ६)
अवरोहक–पु., अश्वगन्धा (मद. व. १)
अवरोहशाखिन्–पु., प्लक्षवृक्षः (रा. व. ११)
अवरोहिका–स्त्री., अश्वगन्धा (रा. व.)
अवरोहिन्–पु., वटवृक्षः (रा. व. ११)
अवलग्न–पु., मध्यप्रदेशः (हलायुधः)
अवला–स्त्री., नारी (रत्ना) प्रियङ्गुः, गलगण्डे प्रयोज्येयम् । ' मधुलोध्रावलासर्ज ' ।
अवलुञ्चन–न., मुण्डनम् । शैथिल्यम् (सुसू. २५)
अवलेप–पु., गर्वः । लेपनम् । भूषणम् (म. प. चतुष्कं)
अवलेहन–न., लेहनम् ।
अवल्क–पु., मेषश्रृङ्गी (वै. नि.)
अवल्गुजबीज–न., सोमराजीबीजम्

अवल्गुजा-स्त्री., कृष्णसोमराजी (भैष. भल्ला. गुडे)
अवशकुथिका-स्त्री., जानुदेशः
अवश्य-पु. स्त्री., तुषारः (भा. म. ४ भ)
अवश्या-पु. स्त्री., ,, ,,
शिरोरोग० अर्धावभेदकः । प्राग्वातावश्यायमैथुनैः जातः (भल्ला गुडे)
अवश्याय-पु., शिशिरम् (च. द. पि. ज्व.) मृद्वीकादि ' अवश्यायस्थितं पाक्यम् तुषारः (भा. म. ४ भ. नासारोगे)
अवष्वाण-न., भक्षणम् (हे. च.)
अवसित-न., मर्दितधान्यम्
अवसेकीम-पु., वटकिः (वै. नि.)
अवस्कंद-पु., अवगाहनस्नानम्
अवस्कयणी-स्त्री., बहुदिनानन्तरप्रसूता गौः
अवस्कर-पु., विष्ठा, गुह्यदेशः (मे. र. चतुष्क)
अवहस्त-पु., हस्तपृष्ठम् (हे. च.)
अवहार-क. पु. ग्राहारण्यजलजन्तुः (मे. र. चतुष्क)
अवाचीन-विपर्यस्तः (मे न चतुष्क)
अवाच्यदेश-पु., योनिः (त्रिका)
अवि-पु., मेषः (भा पू.) स्त्री. कुलत्थिका (र. म.)
अविक-न., हीरकम् (रा.)
अविकमांस-न., मेषमांसम् (वै. नि.)
अविगन्धनी-स्त्री., अजगन्धा तिलोणीबब्बेरीति लोके (रा. व. ४)
अविगन्धिनी-,, ,, ,, ,,
अविगन्धिनीका-,, ,, ,, ,,
अविघ्न-(घ्न)-पु., पानीयामलकः
अवितक्र-न., मेषीतक्रम् । गुणाः— अवितक्रमपथ्यं स्याद्गुल्मदुर्गन्धकारकम् । दीपनं कटुकञ्चोष्णं लेखनं लघु पित्तकृत् । रक्तदोषकरञ्चैव कफवातविनाशकम् (द्रव्यगुणः)
अवित्यज-पु., पारदः । शब्दकल्पद्रुमः (रा. व. १३)
अविदुग्ध-न., आविकक्षीरम् मेषीदुग्धम् (हला)
अविदु (दू) ष्य-न., आविकक्षीरम्
अविद्धकर्णा-स्त्री., पाठा (अ.टी. सा. कौ.) जातीफलावटी । भृङ्गराजः (अ. टी.)
अविद्धकर्णिका-स्त्री., पाठा (अ. टी,) जातीफलावटी
अविद्धा-स्त्री., दुष्टशिराव्यधनम् (सु. शा. ८)
अविपक्ति (त्ति) करचूर्ण-न., अम्लपित्ते उपयोज्यम् (र. सा. सं. । भेष)
अविपट-पु., ऊर्णामयवस्त्रम् । कम्बलादिः
अविभुज्-पु.,व्याघ्रः (वै. नि)
म.—लांडगा.
अविमरीष (स)-न., अविक्षीरम् (हला)
अविमुक्तक-पु., माधवीलता (वै. नि.)
अविमुक्तका-स्त्री., तिन्दुकवृक्षः काकतिन्दुकः (वै. नि.)
म.—टेंभुरणी.
अविमोच-न., आविकक्षीरम्
अविला-स्त्री., मेषी (हे. च.)
अविवृक्ष-पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
अविशिर-न., सूर्यावर्तफलम् (वै. नि,)
अविश्वासा-स्त्री.,चिरप्रसूता गौः (श. च)
अविषा-स्त्री., अतिविषा (रा. व. ६)
अविसोढ-न., अविक्षीरम् (हला.)
अविस्र-त्रि., पूतिगन्धरहितः (च. चि. २ अ.)
अवी-स्त्री., वनकुलत्थः (र. मा.) ऋतुमती स्त्री (हेच.)
अबीजधर्मिन्-त्रि., यो बीजधर्मी न भवति (सुशा.१)
अबीजा-स्त्री., गोस्तनीसदृशगुणद्राक्षा (भा.)
अवीदुग्ध-(न.) मेषी दुग्धम् (च. द.)
अवीमूत्र-न., मेषीमूत्रम् (च. द.)
अवुक- पु., छागः (श. र.)
अवेद्य-पु., गोवत्सः (श. र.)
अवोद-न., आर्द्रकम् (जटा)
अव्यक्ता-स्त्री., कृष्णगोकर्णी
म. काळी-गोकर्णी (वै. नि.)
अव्यङ्ग-त्रि., अविकलाङ्गम् स्त्री., शूकशिम्बी
अव्यजन-त्रि., शृङ्गहीनः (हला.)
अव्यण्ड-पु., स्त्री., भूम्यामलकी, कपिकच्छुः (च. चि. ३. अ)
अव्यथि-पु., अश्वः
अव्यथ्या-स्त्री., हरीतकी (भा. पू. १ भ.)
अव्यया-स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.) (च) (सु. नि. १५ अ)
अव्रणशुक्र-पु., नेत्रस्य कृष्णभागगतरोगविशेषः अभिष्यन्दजः ज्वालायुक्तः शङ्खेन्दुकन्दुसदृशवर्णः नभःस्थतनुमेघाकृतिश्च सुसाध्यः (सु. उ. ५ अ. मानि)

अशकुम्भी–स्त्री., पानीयोपरिजवृक्षः (रमा.)
अश(स)नक–पु., असनपुष्पाकारधान्यविशेषः (सु. सू. ४६ अ.)
अशनपर्णी–पु., स्त्री., विजयसार इति प्रसिद्धवृक्षः (माराटी इति च पश्चिमदेशे) गोकर्णलता (अम.)
अशनपुष्प–पु., अशनपुष्पाकारशालिः (सुसू. ४६)
अशनमल्लिका–स्त्री., आस्फोता (च. द.)
अशना(या)–स्त्री., क्षुधा (हला) शुक्लनिष्पावः (रा. व. ७)
अशनि––पु., हरिकम् (वै. नि.)
अशान्तगन्धाढ्या–स्त्री., आम्रहरिद्रा
अशितलता–स्त्री., नीलदूर्वा (वै. नि.)
अशिशिम्बी–स्त्री., स्वनामख्यातशिम्बीविशेषः (रा. व.७)
अशिश्विका–स्त्री., अनपत्या (श. र.)
अशीता–स्त्री., भूमिकूष्माण्डः (वै. नि.)
अशुक्ला–,, ,, ,,
अशुक्लजा–स्त्री., वोरोधान्यम् (वै. नि.)
अशूकज(क)–पु., मुण्डशालिः (रा. व. १६)
अश्रृत–न., अपक्वम्
अशोकघृत–न., प्रदराधिकारे प्रयोज्यम् (भैष. प्रयोगः असकृदरचि.)
अशोका–स्त्री., कटुरोहिणी (भा. पू. १ भ.)
अशोकारि–पु., कदम्बवृक्षः (श. च.)
अशोथनेत्रपाक–पु., विनाशोथनेत्रपाकः (मा. नि.) अयं कण्डूपदेहाश्रुयुक्तः पक्वोदुम्बरनिभः संरम्भी च भवति
अश्मकर–न., स्वर्णम् (रत्ना.)
अश्मकृच्छ्रहा–स्त्री., वेलन्तरवृक्षः (म. वेलतूर). (वै. नि.)
अश्मगर्भक–पु., तिनिशवृक्षः (मद. व. ५)
अश्मपुष्प–न., शैलजः (अम.)
अश्मभाण्ड–न., लौहभाण्डविशेषः (श. च.) खल्लः इति भाषा
अश्मयोनि–(नी)–स्त्री., नीलमणिः (अ. टी.) अश्मन्तकवृक्षः (मद. व. १०)
अश्मरीघ्न–पु., वरुणवृक्षः (त्रिका.)
म.—वायवरणा.
अश्मरीप्रिय–पु., महाशालीधान्यम् (प. मु.)
अश्मरीभेद–पु., पाषाणभेदवृक्षः (मद. व. १)
अश्मरीभेदन–पु., पाषाणभेदकः (वै. नि.)
अश्मरीशर्करा–स्त्री., तन्नामकरोगविशेषः, शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम् (सु. नि. ३ अ.)
अश्मरीहर–पु., देवधान्यम्, वरुणवृक्षः (.र. मा.)
म.—वायवरणा.
अश्मर्याहरणयन्त्र–न., तदाहरणयन्त्र० । 'अश्मर्याहरणं सर्पफणावद्यन्त्रमग्रतः' (कश्चिदत्रिः)
अश्मसम्भव–न., शिलाजतुः (र. सा.)
अश्मसुता–स्त्री., पाठा (वै. वि.)
म.—पहाडमूळ.
अश्म (हन्)–पु., पाषाणभेदः
अश्महृत्–पु., न., कवाटवक्रक्षुपः (रत्ना) शिलाजतुः
अश्मीर–पु., मूत्रकृच्छ्रः (उणा.)
अश्यामा–स्त्री., श्वेतत्रिवृता
अश्र–न., रुधिरम् (अ. टी.)
अश्रुनाली–स्त्री., भगन्दररोग० (वै. नि.)
अश्वक–पु., कुलिङ्गपक्षी
अश्वकन्दक–पु., अश्वगन्धा (रत्ना)
अश्वकन्दिका–स्त्री., वनस्पतिविशेषः । अश्वगन्धा (र. मा)
अश्वकातरा–स्त्री., हयकातरा
म.—घोडेकाथर.
गुणाः–असौ तिक्ता वातघ्नी दीपनी । काथराव्हयपर्यायैः कथरा वै प्रकीर्तिता । (रा)
अश्वकाथरि–स्त्री., ,,
अश्वक्षुरा (रिका) री– स्त्री., श्वेतापराजीता कृष्णापराजिता (वै. नि.)
अश्वखरज–पु., अश्वतरः (रा)
अश्वगन्धाघृत–न., बालरोगाधिकारे देयम् । पादकल्केऽश्वगन्धायाः क्षीरे दशगुणे पचेत् । द्वितीयं वातव्याधौ देयम् । (च.द. वातव्याधिचि.) । तृतीय चतुर्थे बृहदभिधाने वातव्याधौ वृष्ये च उक्तम् (र. स. र. भैष.)
अश्वगन्धातैल–न., प्रथमं वातव्याधौ हितम् (च. द. प्रयोगा) द्वितीयं रसायनाधिकारे (च. द.)
अश्वगन्धाद्यचूर्ण–न., स्वरभङ्गनाशनमिदम् (र स र)
अश्वगोष्ठ–न., वाजिशाला.
अश्वजीवन–पु., चणकः (वै. नि.)
अश्वतर–पु., अश्वखरजः । सच अश्वायां गर्दभाज्जातः तन्मांसं बल्यं बृंहणं कफपित्तकरञ्च (म द व १२)
अश्वत्थक–न., मल्लिका पुष्पदलम् (वै. नि.)

अश्वत्थफलका–ला. (स्त्री.) हपुषा (हिं. हौ हबर; म. लघुशेरणी) (भा. पू. १ भ)

अश्वत्थभित्–(भेदः) पु., नन्दीवृक्षः (हिं. वालिया-पीपर) (भा. पू. १ भ. वटादिवर्गः)

अश्वत्थिका–(त्थी) (स्त्री.,) क्षुद्रपयोश्वत्थवृक्षः (रा. व. ११) श्रीवल्लीवृक्षः (रा. व. ८)

अश्वदंष्ट्रक–पु., गोक्षुरकः (वै. नि.) हिंस्रजन्तुविशेषः

अश्वदंष्ट्रका–स्त्री., गोक्षुरकः (भा. पू. भ.)

अश्वपर्णिका–(र्णी) स्त्री., भूतकेशीलता

अश्वपाल–पु., अश्वरक्षकः

अश्वपुच्छका–पु., खड्गलता

अश्वपुच्छा–स्त्री., पृश्निपर्णी (रा. व.)

अश्वपुटभावना–स्त्री., द्वात्रिंशत्पलपरिमितद्रव्यस्य भावना (वै. नि.)

अश्वपुत्री–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (रत्ना) द्रवन्ती (वै. नि.)

अश्वबल–स्त्री., मेथिका नारीशाकम्, गुणाः–शाकमाश्व-बलं रूक्षं बद्धविण्मूत्रमारुतम् (सु.)

अश्वबाल–पु., काशतृणम् (स्त्री. का.)

अश्वमाराख्य–पु., श्वेतकरवीरवृक्षः (रा. व. १०)

अश्वमाल–पु., सर्पविशेषः (वै. नि.)

अश्वयान–न., अश्वेन भ्रमणम्। ' घोटकारोहणं वात-पित्ताग्निश्रमकृन्मतम्। मेदोवर्णकफघ्नञ्च हितं तद्बलिनां वरम् (दिनचर्या)

अश्वरक्षक–पु., अश्वपालः

अश्वरिपु–पु., करवीरवृक्षः। महिषः (भा.)

अश्वरोहका–(हा)–स्त्री., अश्वगन्धा

अश्वल–न., क्षुद्रतृणविशेषः। ' अश्वलञ्चतृणं बल्यं रुच्यं पशुहितावहम् (वै. नि.)

अश्वलोमन्–पु., सर्पविशेषः (त्रि. का.)

अश्ववराह–पु., वाराहीकन्दः (वै. नि.)

अश्ववह–(वाह)–पु., अश्ववाहकः (जटा.)

अश्ववारण–पु., गवयः (हे. च.)

अश्ववैद्य–पु., अश्वशास्त्रप्रणेता शालिहोत्रादिः

अश्ववैद्यक–न., अश्वचिकित्साशास्त्रम्। तच्च बहुविधं शालिहोत्रनकुलजयदत्तादिप्रणीतम्

अश्वशाला–स्त्री., मन्दुरा (हला.)

अश्वहा–स्त्री., श्वेतकरवीरवृक्षः (म. द. व. १)

अश्वाक्ष–पु., देवसर्षपः। अम। वृक्षभेदे (रा.)

अश्वातक–न., घोटकीतक्रम्। तस्य गुणाः–अश्वातकं तु तुवरं किञ्चिद्वातकरं मतम्। अग्निदीप्तिकरं रूक्षं नेत्र्यं मूर्च्छाकफापहम् (वै. नि.)

अश्वानादिखुरा (री)–स्त्री., श्वेतापराजिता (रा.व. ३)

अश्वान्तक–पु., श्वेतकरवीरः (रा. व. १०)

अश्वारि–पु., करवीरवृक्षः (भेष. कुष्ठचि.) मरिच्याद्य-तैलम्। महिषः (जटा.)

अश्वासना–स्त्री., ऋद्धिः। घोटका (वै. नि.)

अश्वाह्वा–स्त्री., अश्वगन्धा (वै. नि.) वातव्याधि० शता-वरीतैलं, नारायणतैलं

अश्विज–पु., अश्विनीकुमारौ

अश्विनी–स्त्री., जटामांसी (वै. नि.)

अश्विन्–पु., अश्विनीकुमारद्वये (रत्ना.)

अश्विभेषज–न., लघुमेषशृङ्गी (वै. नि.)

अश्वीघृत–न., घोटकीक्षीरोत्थनवनीतजघृतम्। गुणाः–तच्च कटु मधुरं कषायम् ईषदीपनं गुरु मूर्च्छाहरं वातालपत्वकरञ्च (रा. व. ६)

अश्वीदधि–न., घोटकीदुग्धजातदधिगुणाः–मधुरकषाय-रूक्षं कफरोगमूर्च्छाहरं इषद्वातलं दीपनं नेत्रदोषघ्नं च (रा. व. १६)

म.—घोडीचे दही.

कं.—कुदिरेयसोसरु.

अश्वीनघनीत–न, घोटकीजातनवनीतम्। गुणाः–कषायं कफवातघ्नं चक्षुष्यं कटु उष्णं ईषद्वातलञ्च (रा. व. १६)

अश्वीय–न., अश्वसमूहः (वि.,) अश्वहितम् (मे. यत्रिक.)

अश्वीक्षीर–न., घोटकीदुग्धम् गुणाः–उष्णं रूक्षं बल्यं वातकफघ्नं–एकशफक्षीरमात्रं लवणाम्लं लघु स्वादु च (मद व. ८)

अश्वेता–स्त्री., कृष्णापराजिता। कृष्णातिविषा (वै. नि.) गम्भारीवृक्षः (रा.)

अष्टकद्वरतैल–न., तैलमिदं वातरक्ते ऊरुस्तम्भे च हितम् (च. द. उ. स्त. चि.) अस्नेहदधि अघृततक्रं ग्राह्यम् (रस. र)

अष्टकर्म–न., अष्टादशरसकर्मणां मध्ये स्वेदनादि दीपन-पर्यन्ते सूतस्याष्टविधसंस्करणम्

अष्टका–स्त्री., वृक्षभेदः

अष्टगाध–पु., ऊर्णनाभिः

अष्टगुणमण्ड–पु., भृष्टमुद्गतण्डुलान् चतुर्दश गुणे तोये पक्त्वा, तत्र हिङ्गुसैन्धवधान्यशुण्ठीमरिचपिप्पली-चूर्णानि आसिक्थः गृहीतः मण्डः।

गुणाः-क्षुधावर्धनः बलकरः, बस्तिशोधनश्च (वै. नि.) अन्न तण्डुलस्याष्टभागः मुद्गस्य च चत्वारः ग्राह्याः

अष्टधातु-पु., स्वर्णरौप्यताम्रसीसपित्तलरङ्गकान्तलौह-मुण्डतीक्ष्णलौहेषु (र. सा. स. टी.)

अष्टफल-न., शरावमानम् (भा.)

अष्टपलघृत-न., ग्रहणीरोगे उपयोज्यम् (च. द.)

अष्टपात्-(द)-पु., काश्मीरदेशीयशरभः (मदव. १२) ऊर्णनाभिः (हे. च. ४ का.)

अष्टपादप-पु., वृक्षभेदः (वै. नि.)

अष्टपादिका-स्त्री., शारदमल्लिका (रत्ना) आस्फोता (प. मु. व. ११)

अष्टभाव-पु., स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्च-स्वरभङ्गवैस्वर्य-कम्प-वैवर्ण्याश्रुपातेषु (वै. नि.)

अष्टमङ्गल-पु., पुच्छोरःखुरकेशास्यैः शुक्लः वाजी (हे. च.) ' यस्य पादाः सिताः सर्वे पुच्छं वक्षो मुखं तथा । मूर्द्धजाश्च सिता यस्य तं विद्यात् अष्टमङ्गलम् (ज. द. ३ अ) ब्राह्मणगवाग्निस्वर्ण-घृतसूर्याश्वनृपचारुचर्याः (वै. नि.)

अष्टमङ्गलघृत-न., बालरोगशमनसर्पिः तच्चाष्टौषधि-पक्वं बालानां हितम् । वचाकुष्ठब्राह्मीसर्षप शारिवा-सैन्धवपिप्पलीकल्केनाष्टमं घृतं घृतपाकविधिना पाच्यम् ।

अष्टमधुजाति-स्त्री., माक्षिकभ्रामरक्षौद्रपौत्तिकछात्र-काध्यौद्दालदालेषु मधुप्रकारेषु इयं प्रसिद्धा (वै. नि.)

अष्टमी-स्त्री., क्षीरकाकोली (वै. नि.)

अष्टमूत्र-न., गोच्छागमेषमहिषाश्वहस्त्युष्ट्रगर्दभीमूत्राणि (वै. नि.)

अष्टमूल-न., त्वङ्मांसशिरास्नाय्वस्थिसन्धिकिट्टामर्ममूलेषु (सु. चि. १)

अष्टमौक्तिकस्थान-न., शङ्खहस्तिसर्पमत्स्यमेघवंश-शूकरशुक्तिषु (वै. नि.)

अष्टलौहक-न., लौहसमूहः (रा. व. २२)

अष्टवर्गप्रतिनिधि-पु., मेदादीनामभावे तत्तुल्यगुणद्रव्यं ग्राह्यम्, तच्च मेदामहामेदाभावे शतावरी, जीवकर्ष-भकस्थाने भूमिकूष्माण्डमूलं, काकोलीक्षीर-काकोल्यभावे अश्वगन्धामूलं, ऋद्धिवृद्धिस्थाने वाराहीकन्दं तत्तुल्यगुणं क्षिपेत् (भा. पू. १ भ)

अष्टविधान्न-न., चर्व्यचौष्यलेह्यपेयखाद्यभोज्यभक्ष्य-निष्पेयरूपं भोजनद्रव्यम्

अष्टाङ्ग-न., आयुर्वेदस्य स्थानाष्टकानि तद्यथा-शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनं, वाजीकरणञ्चेति । कायबाल-ग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान् । अष्टावङ्गानि तस्याहुः (वा. सू. १ अ.) द्रव्याभिधानगदनिश्चयशल्य-कायभूतनिग्रहविषनिग्रहरसायनबालचिकित्सा च (वैद्यकम्)

अष्टाङ्गघृत-न., वाजीकरणमिदं घृतम्

अष्टाङ्गधूप-पु., ज्वरघ्नोऽयं धूपः (च. द.)

अष्टाङ्गयोग-पु., योगविशेषः । तद्यथाकट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च (कारवी) । इति (संग्रहः)

अष्टाङ्गरस-पु., अर्शोऽधिकारे देयम् (र. सा. सं)

अष्टाङ्गवैद्यक-न., शालाक्यकायभूतागदबालविषवाजी-रसायनम अष्टाङ्गवैद्यकम्

अष्टाङ्गावलेह-(हिका)-पु., स्त्री., सन्निपातज्वरहिक्का-श्वासादौ हितः (भेष. ज्वर चि.)

अष्टादशधान्य-न.,कलायगोधूमाढकीयवयावनालशालि चणकमसूरातसीमुद्गतिलकुलत्थश्यामाकमाषराज-माषवर्तुलहरिककङ्गुतेरणीः (वै. नि.)

अष्टादशमूल-न., बिल्वाग्निमंथ शोणाकगम्भारीपाठा-पुनर्नवावाट्यालकमाषपर्णी जीवकैरण्डर्षभकजीवन्ती शतावरीशरेक्षुदर्भकासशालिधान्यमूलानि (वै. नि.)

अष्टादशशतिकमहाप्रसारणीतैल-न., इदं वात-व्याधौ देयम् (च. द. वा. व्या. चि.)

अष्टादशाङ्ग-पु., सन्निपातज्वरे कषायविशेषः स चतु-र्विधः, दशमूल्यादिः, भूनिम्बादिः, द्राक्षादिः, मुस्तकादिश्च (च. द. भेष.)

अष्टादशाङ्गलौह-न., पाण्ड्वधिकारे लौहम् (भा. म. २ म.)

अष्टावक्ररस-पु., रसायनाधिकारे रसः (भेष)

अष्टि-(ष्टी) स्त्री. अष्ठ्याम्

अष्टौषधी-स्त्री., ब्रह्मसुवर्चलाऽऽदित्यपर्णीनारीकाष्ठगोधा-सर्पासोमपद्माजनील्य इत्यष्टौ ओषधयः (च. चि. १ अ)

अष्ठि-(ष्ठी) वत् पु., शूकरोगविशेषः (सुनि. १४) जानुष्ठी (रा व १८)

असंक्लिन्न-त्रि., नसम्यगार्द्रम् (भा. पू. १ भ) पिण्डी कृतमसांक्लिन्नम्

असन-छागकर्णवत्पत्रशालवृक्षविशेषःपीतशालइतिप्रसिद्धः (प. मु.) विजयसार इति प्रसिद्धः (भा. पू. १ भ वटादि व) असन इति प्रसिद्धः (र. मा. रत्ना)

असनपर्णिका–(र्णी.) स्त्री. अपराजिता
असरु–पु. भूकदम्बः (श. च.)
असल–न., लौहम् अस्त्रम् (वै. नि.)
असात्म्य–त्रि., प्रकृत्यसुखावहम् (न.,) सात्म्यवैपरीत्यम्
असारदधि–न., गृहीतनवनीतदधि । गुणाः– असारं दधि संग्राहि शीतलं वातलं लघु । विष्टम्भि दीपनं रुच्यं ग्रहणीरोगनाशनम् (भा. पु दधिव)
असारा–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)
असिक–न., चिबुकौष्ठमध्यभागः (हे. च.)
असिक्निका–(क्नी) स्त्री., अवृद्धान्तःपुरःप्रेषी (मे. नत्रिकन्) दासी (जटा.)
असिगण्ड–पु., क्षुद्रोपधानम् (चटा.)
असितक–न., काष्ठागुरुः (भा. भ. २ भ. आ. वा.)
असितकादिचूर्ण–न., आमवाते चूर्णम् । असीतकं मागधिका गुडूची श्यामा वराही गजकर्णशुण्ठी । समा धृताः कृत्स्नमिदं तु चूर्णं पिबेत्तदुष्णोदकमण्ड-यूषैः (भा. नि. म. २ भ.)
असितजफल–पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)
अतसितफल–पु., मधुनारिकेलम् ।
असितवेन–न., श्यामलता (वा. र.) अमृतादिकषायः । रसायनकरी, गुणाश्चान्ये जयन्तीवत् (वै. नि.)
असिताबलमोटा–स्त्री., कृष्णजयन्ती ।
असिवल्ली–स्त्री., नीलदूर्वा (वै. नि.)
असितसार–(क)–पु., तिन्दुकवृक्षः (वै. नि.)
असिताञ्जन–स्त्री., कृष्णकार्पासी (रा. व.) द्र० कालाञ्जनी
असिताभ्रशेखर–पु., नीलीवृक्षः
असितालता–स्त्री., नीलदूर्वा श्यामालता (वै. नि.)
असिदंष्ट्र–(क)–पु., मकरः (त्रिका)
असिधेनु–(का)–स्त्री., छुरिका (हला. हे. च.)
असिन्दत–पु., मकरः कुम्भीरः (वै. नि.)
असिपत्रतृण–न., गुण्डतृणम् (रा. व. ८) गुणाः–शीतं मधुरं कफवातनुत् । रक्तदोषातिसाराणां नाशकं दाहनुत्परम्, द्विप्रकारं दीर्घलघुभेदात्, दीर्घं गुणाधिकम् (वै. नि.)
असिपुच्छा–(क)–पु., जलचरविशेषः (ह. रा.)
असिमेद–पु., खदिरक्षुपः, विट्खदिरः (श. र.)
असुख–न., दुःखम् (हे. च.)
असुधारण–न., जीवनम्, जीवनधारणम् (अम.)
असुभृत्–पु., प्राणिमात्रम्
असुरग्रह–पु., भूतग्रहविशेषः (मा. नि.)
असुरसा–स्त्री., बर्बटी (र. मा.)
असुरा–स्त्री., रजनी । हरिद्रा (मे. रत्रिकम्)
असुराह्व(ह्वा)–न., स्त्री., कांस्यम् (हे. च.)
असुराह्वपतङ्ग–पु., तैलपायितपतङ्गः
असुराह्वविट्–पु., कांस्यमलः (वै. नि. २ भ. ज्व. असुराद्यञ्जने)
असुरी–स्त्री., राजिका (अ. टी. म.)
असुस्थ–वि., रोगयुक्तः
असृक्कर–पु., शरीरस्थरसधातुः (हे. च.)
असृक्प(पा)–पु., स्त्री., जलौका (अ. टी. भ.)
असृक्मद–पु., कोष्ठम् (वै. नि.)
असृगुत्थ–पु., स्त्री.; केसरम्
असृग्दरशैलेन्द्ररस–(सर्वाङ्गसुन्दर)–पु., रक्तप्रदरोक्त-रसे हितः (प्रयोगा अ. दर. चि.)
असृण–न., स्वर्णगैरिकम् वै. नि.) हिं.—सोनगेरु.
असृत–स्त्री., असिद्धम् अपक्वम् (रत्ना.)
असृपाटी–स्त्री., रक्तधारा (अ. टी. सा.)
अस्त–पु., न., मृत्युः (हे. च.)
अस्तमती–स्त्री., शालपर्णी (श. र.)
अस्त्रघात–पु., अस्त्रप्रयोगः (वै. नि.)
अस्त्रचिकित्सक–पु., अस्त्रवैद्यः (सु.)
अस्थिकृत्–पु., मेदोधातुः (हे. च.)
अस्थिगतज्वर–पु., तदाश्रितज्वरः । ' भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च । विक्षेपणञ्च गात्राणां विद्यादस्थिगते ज्वरे ' (वै. नि.) वान्तिह्यौषधं, बस्तिकर्म, अभ्यङ्गोद्वर्षणे चेति तत्र प्रतीकारः ।
अस्थिजननी–स्त्री., वसा, मेदोधातुः (वै. नि.)
अस्थितुण्ड–पु., पक्षिविशेषः (श. मा.)
अस्थिपञ्जर–पु., कङ्कालम् (रा. व. १८)
अस्थिफल–पु., पनसवृक्षः
अस्थिभक्ष–पु., कुक्कुरः । शृगालः (हा. रा.)
अस्थिभक्षा–स्त्री., ओषधिविशेषः । घायमारी इति महाराष्ट्रादौ (वै. नि.)
अस्थि ङ्गला–(लिका)–स्त्री., अस्थिसंहारा । गुणाः– वृष्या, श्लेष्मला, मधुरा, पित्तरक्तानिलघ्नी च (म. द. ७)
अस्थिसन्धानकर–पु., लशुनः (वै. नि.)

अस्थिसन्धानजननी-स्त्री., अस्थिसंहारः (वै. नि.)
अस्थिसन्धिक-पु., अस्थिसंहारा (भेष.)
अस्थिसमुद्भव-पु., मज्जा (वै. नि.)
अस्थिसंहति-स्त्री., अस्थिसंहारा (मंदव. ७)
अस्थिसंहार(कः)-पु., स्वनामख्यातवृक्षः । गुणाः-शीतलः वृष्यः वातघ्नः अस्थिसन्धानकृच्च (मद. व. १) अस्थियोजनः वातश्लेष्महरः उष्णः सरः कृमिघ्नः अर्शोघ्नः नेत्ररोगघ्नः रूक्षः स्वादुः वृष्यः लघुः पित्तलश्च (भा. पू. १ भ.)
हिं.—हरसङ्करी, हरजोडी, हरसङ्कारि.
अस्थिसंहारिका-(री)-स्त्री., अस्थिसंहारः (भा. पू. १ भ.)
अस्थिसंहृत्-पु., अस्थिसंहारः (च.द.)(भेष.भग्न. चि.)
अस्थिसारास्थिता-स्त्री., मज्जा
अस्थिस्नेह-पु., मज्जा (रा. व. १८)
अस्थिस्नेहसंज्ञ-पु., मज्जा (रा. व. १८)
अस्पर्शा-स्त्री., आकाशवल्ली (रा. व. ३)
अस्फोत-पु., काञ्चनवृक्षः (वै. नि.)
अस्मन्त-न., चुली (अ. टी. भ.)
म.—चूल.
अस्मित-वि., विकसतम् (वै. नि.)
अस्रघ्न-पु., तेजबलः (वै. नि.)
अस्रज-न., मांसम् (रा. व. १७)
अस्रजित्-पु., वनस्पतिविशेषः (र. मा.)
अस्रप-पु., जलौका, मत्कुणः (रा. व. १३)
अस्रपत्र-(क)-पु., भेण्डावृक्षः (रा. व. ४)
अस्रपा-स्त्री., जलौका (मे.)
अस्रफला-(ली)-स्त्री., शल्लकीवृक्षः (रा. व. ११)
अस्रमातृका-स्त्री., रसधातुः (रा. व. १८)
अस्ररेणु-पु., सिन्दुरम् (मे.)
अस्रविन्दुच्छदा-स्त्री., लवणाकन्दम् (रा. व. ५)
अस्रवैद्य-पु., अस्रचिकित्सकः ।
अस्रशिम्बी-स्त्री., रक्तशिम्बी (वै. नि.)
अस्रश्रुति-स्त्री., रक्तस्रावः (वै. नि.)
अस्रार्जक-पु., रक्ततुलसीवृक्षः । श्वेततुलसी (वै. नि.)
म.—पांढरी तुळस.
अस्राढ्य-पु., न., कुङ्कुमम् (मद. व. ३)
अस्रु-न., नेत्रवारिः अस्रुनिरोधात् पीनसास्रुत्पत्तिः पीनसादीनामुत्पत्तिः (वा. सू. ४ अ.)
अस्रुक-पु., अक्षीरवृक्षः (रत्ना.)
अस्रुवाहिनी-स्त्री., अश्रुवहधमनीद्वयम् (सु.शा. ८)

अहङ्कार-पु., क्षेत्रज्ञपुरुषस्य चेतने इन्द्रियादिनिखिलशरीरव्यापी योऽहंभावस्तद्विशिष्टप्रवृत्तिरेव । वैकारिकतैजसभूतभेदेन स च त्रिविधः (सु.शा. १)
अहत-न., नवाम्बरम्, नूतनवस्त्रम् (हला.)
अहरदृक्-पु., गृध्रः (वै. नि.)
अहर्पण-पु., मांसम् (हारा.)
अहर्बान्धव-पु., अर्कवृक्षः (हे. च.)
अहर्मणि-पु., अर्कवृक्षः (हे. च.)
अहर्मुख-न., प्रातःकालः ।
अहस्कर-पु., अर्कवृक्षः (हे. च.)
अहस्पति-पु., अर्कवृक्षः । सूर्यः (अम.)
अहिंस्रा-स्त्री., कण्टकपालीवृक्षः (रत्ना.) आमवातप्रलेपे उपयुक्तः; गुणः-विषशोथहरत्वम् (रा.)
अहिक-(का)-पु., स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (श. च.)
म.—सावरी.
अहिकाण्ड-पु., वायुः (हे. च.)
अहिकुटी-पु., भारद्वाजपक्षी (वै. नि.)
अहिगन्धफला-स्त्री., शल्लकीवृक्षः (रा. व. ११)
अहिगन्धा-स्त्री., सर्पगन्धा (वै. नि.)
म.—सापगंध.
अहिच्छत्रा-स्त्री., शताह्वाक्षुपः (रा. व. ४) शर्करा (रा. व. १४)
अहिजाहक-पु., कृकलासः (वै. नि.)
अहिजिह्विका-स्त्री., महाशतावरी (वै. नि.)
अहितद्रव्य-न., स्वभावत एवाहितद्रव्यम् । यथा-शिम्बीधान्येषु ग्रीष्मे माषकलायः फलेषु डहुकः, शाकेषु सर्षपशाकम्, मांसेषु गोमांसम्, वसासु महिषीवसाम्, दुग्धेषु मेषीदुग्धम्, तैलेषु कुसुम्भतैलम्, इक्षुविकारेषु फाणितञ्च (भा. पू. १ भ.)
अहितपदार्थ-पु., वृद्धरमणी, पूतिमांसम्, प्रभातनिद्रा, मैथुनम् ।
अहिताहार-पु., अहितकरद्रव्यभक्षणम्, तस्य गुणः-पीडाजनकत्वम् (वा. सू. ७)
अहित्थ-पु.; वनमेथिका (मद. व. २)
अहिपुत्रक-पु., तरालुः (हारा)
अहिपुष्प-न., नागकेशरपुष्पम् (च. द.) कुम्भीकातैलम् (सु. चि. १७)

अहिफल-(ला)-पु., दीर्घकर्कटिका ।
म.—टरकाकडी.
अहिफेनबीज-न., खसखसबीजविशेषः
अहिफेनवटिका-स्त्री., योगोऽयं रक्तातिसारे उपयुज्यते (र. सा. सं)
अहिफेनासव-पु., आसवोऽयमतीसारविसूच्योर्हितः (भेष.)
अहिभयदा-स्त्री., भूम्यामलकी (रा. व. ५)
अहिभुजू-पु., मयूरः (रा. व. १८) तार्क्ष्यः क्षुद्र-सापसंद इति प्रसिध्दः वृक्षः । नाकुलीनामकमहा-कन्दशाकम् (रा.व . ७) गन्धनाकुली (रा. व. ७)
अहिमर्दना-स्त्री., गन्धनाकुली । अहिलताविशेषः । सापसंद इति पाश्चात्ये (रा. व. ७. १५४ पृ. १५५)
अहिरणि-पु., द्विमुखसर्पः (हा. रा.)
अहिरिपु-पु., मयूरः (रत्ना.)
अहिलोकिका-स्त्री., भूम्यामलकी (वैनि.)
अहिल्या-स्त्री., वनमेथिका (वैनि.)
अहिवल्ली-स्त्री., नागवल्ली (भेष. ध्व. भ. चि.)
अहिविषापहा-स्त्री., अहिलता, म० सापसंद (वैनि.)
अहिस्कन्ध-पु., गुल्फः
अहीन्द्र-पु., शारिवा (च. द यक्ष्म. चि.) (लवङ्गादिचूर्णे)

आ

आकरज-न., रत्नम् (वैनि.)
आकर्णन-न., श्रवणम्
आकर्ष-पु., इन्द्रियम् (मे.)
आकर्षक-पु., शिलाभेदः (श. मा.)
आकली-स्त्री., चटका (वै. नि.)
आकल्प-पु., रोगः (हे. च.)
आकल्पक-पु., तमः मोहः । ग्रन्थिः उल्कलिका (मे. कचतुष्कम्)
आकल्ल-क., पु., अकर्करा (वै. नि.) (२. भ. अरो. चि. आकल्लकादिचूर्णे.)
आकष-पु., निकषप्रस्तरः (श. र.)
आकारकरभ-(भा.) पु., स्त्री., अकराम्भकः (भा. भ. १ भ. ज्वरघ्नी वटिका (शार्ङ्ग.)
आकाशपटल-न., अभ्रधातुः (वै. नि.)
आकाशमूली-स्त्री., जलौषधम्
आकुला-स्त्री.; तप्तापक्वगोधूमादिः (रा. व. १६)
आकूलकृत्-स्त्री., अकर्करा (भा. भ. १ भ. जिह्वक ज्वरचि.)
आकृतिच्छत्रा-स्त्री. स्त्री. जलौषधम् कोषातकीलता (र. मा.)
आक्रीड-पु., ग्रामान्तोद्यानम् (अ. म.)
आक्रोश-(नम्)-पु., न., अभिषङ्गः शापः (हे. च. अम.)
आक्लेदीभाव-पु., आर्द्रकारित्वगुणहेतुः (चद. विदग्धाजीर्ण चि.)
आक्षारणा-स्त्री., मैथुनं प्रत्याक्रोशः (अम)
आक्षिकशीधु-पु.,बिभीतकगुडकृतं धातकीपुष्पकृततीक्ष्ण-मद्यम्; गुणाः--आक्षिकः पाण्डुरोगघ्नः बल्यः संग्राहको लघुः । कषायमधुरः शीधुः पित्तघ्नोऽसृक्-प्रसादनः (सु.सू. ४५.१८६)
आक्षिकी-सुरा-स्त्री., बिभीतकत्वक्शालितण्डुलकृतसुरा । साच पाण्डुशोफार्शःपित्तास्रकफकुष्ठघ्नी किञ्चिद्वातकरी रुक्षा दीपनी रेचनी लघुश्च । (मद. व.८) तिनिश-कृतसुरेति केचित् ।
आक्षिव-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (अ. टी. रा.)
आखुक-पु., मूषिकः । (रत्ना) वन्यमूषिकः (मद. व. १२) शूकरः (हे.च.) देवताडवृक्षः । (र. मा.)
आखुकर्णपर्णिका-स्त्री., क्षुद्रमूषिककर्णी (म.—लघु उंदीरकानी) (वै. नि.)
आखुकर्णी-स्त्री., जलजमूषिककर्णी (रा. व. ३) द्रवन्तीक्षुपः (रा. व. ५) दन्तीभेदः (भा. पू. १भ । वै. नि । रा । सी. यो. कृमि. चि. कृमिघ्न-पूपिकायां श्रीकण्ठ)
आखुगन्धी-स्त्री., कर्पूरहरिद्रा (वै. नि.)
आखुजित्-स्त्री., भूम्यामलकी
आखुपाषाण (कः)-(पु.,) लौहचुम्बकः (रा. व. १३.१९) गुणाः—स्निग्धः पारदस्य नियामकः । लौहभेदकरश्चैव वीर्यकृत् कान्तिवर्धनः । त्रिदोष-सर्वव्याधीनां नाशकः परिकीर्तितः । अशुद्धः स तु विज्ञेयः सप्तधातुविनाशकृत् । दाहं चित्तभयञ्चैव लालास्रावं तथा मृतिम् । अनेकवेदनाश्चैव बहु-व्याधिं तृषां तथा । करोत्यतो मूर्खहस्ते न दातव्यः कदाचन । तत्समीपे नैव वाच्यः प्राणघातकरो ह्यसौ (वै. नि)
आखुफला-स्त्री., ह्रस्वदन्ती (वैनि.)
आखुभुज्-पु., रक्तापामार्गः । बिडालः (मदव. १२)

आखुमांस–न., मूषकमांसम्
आखुविष–न., दारुमोचम् (प. मु.)
आखुविषजित्–पु., सप्तपर्णवृक्षः ।
आखुश्रुति–स्त्री., क्षुद्रमूषिककर्णी
आखेट–(क)–पु., मृगया; व्याधः (अमाशर)
आखोट–(ड)–अक्षोटवृक्षः (रा. व. ११)
आगन्तुकज्वर–पु., अभिघाताद्युत्पन्नः ज्वरः (भा. म. १. भ. ज्व. चि.)
आगन्तुव्रण–पु., सद्योव्रणः
आगारधूमाद्यतैल–न., इदम् उपदंशे हितम् । (च. द. उ. द. चि.)
आगारलोमिका–स्त्री., गृहलोमिका
आग्नेयवायु–पु., अग्निकोणस्थसमीरणः ।
आग्रमास–पु., चित्रकवृक्षः
आग्रहायणिक–पु., अग्रहायणमासः (अम.)
आघाट–पु., अपामार्गः (रा. व. ४)
आघातज्वर–पु., अभिघातजन्यज्वरः ।
आघार–पु., घृतम् (हला.)
आघ्रात–त्रि., शिंघ्रितः (मे.) तृप्तः (हे. च.)
आङ्ग–त्रि., कोमलाङ्गः (त्रिका.)
आङ्गार–न., अङ्गारसमूहः (अ. टी. रा.)
आङ्गिक–पु., अश्वत्थवृक्षः (रा. व. ११)
आचमनक–पु., निष्ठीवनपात्रम्
आचान्तः–वि., कृताचमनम्
आचाम–पु., आचमनम् (श. र.) भक्तमण्डः (रत्ना)
आचारी–स्त्री., हिलमोचिका हुरहुर इति लोके । गुणाः–असौ शोथकुष्ठकफपित्तघ्नी (भा. पु. १ भ)
आचु–पु., आच्छुकवृक्षः (भेष. कन्दर्पसारतैले)
आच्छक–पु., रञ्जनद्रुमम् (र. मा.)
आच्छानफला–स्त्री., रक्तकार्पासः
आच्छादनी–स्त्री., कार्पासी
आच्छुक–पु., स्वनामख्यातवृक्षः हिं.–आल (र. मा.)
आच्छोदन–न., मृगया (अ. म.)
आजनवनीत–न., छागदुग्धजातनवनीतम् गुणाः–मधुरं कषायं त्रिदोषघ्नं चक्षुष्यं दीपनं बल्यं च (रा. व. १५) नवोत्थं नवनीतं क्षयकासघ्नं बल्यं नेत्ररोगघ्नं कफघ्नं दीपनं च (अत्रि. ८ अ)
आजमूत्र–न. छागमूत्रम् (मद व ८)
आजरस–पु., छागमांसक्वाथः (च. द. यक्ष्म चि.
आजवल्लु–पु. वनतुलसी
हिं.–श्वेतबर्बरी.
म.–रानतुळसभेद.
प्रा. आजबला. आजवल्लुः कटुश्चोष्णः शीतो दाहकरः प्रियः । रूक्षो रुच्यो दीपकः स्याल्लघुः पाके च पित्तलः तिक्तश्च मधुरश्चैव सुखप्रसवकारकः । व्रण्यो वातहरश्चैव कफनेत्ररुजापहः । मूत्रकृच्छ्रारुचिविषकामलाकुम्भकामलाः । आनाहवातशूलाग्निमांद्यत्वग्विषरुक्क्रिमीन् । रक्तदोषश्वासकासदद्रुहृत्पार्श्वरुग्ज्वरान् । कण्डूकुष्ठवमींश्चैव नाशयेदिति कीर्तितः । सुगन्धाजवल्लुः प्रोक्तः कटुश्चोष्णश्च तृप्तिकृत् । सुगन्धः पित्तकृन्निद्राजनको वान्तिवातनुत् । ग्रहबाधापार्श्वशूलकासश्वासकफाञ्जयेत् । शोथञ्चाङ्गस्य दौर्गन्ध्यं नाशयेदिति कीर्तितः (वै. नि.)
आजक्षीर–न., छागदुग्धम् आजं गव्यगुणं ग्राहि दीपनं लघु क्षयार्शोऽतीसारप्रदरास्रश्रमज्वरघ्नम् । एतच्च दुग्धं सर्वरोगघ्नम् (मद. व ८) छागं कषायं मधुरं च शीतं ग्राहि लघु पित्तक्षयापहारि । कासज्वराणां रुधिरातिसारे हितं पयश्छागलजं त्रिदोषजित् (अत्रि. ८ अ । वा. टी. हेमाद्रि)
आजानेय–पु., कुलीनाश्वः (शालिहोत्रः)
आञ्जिनेय–पु., जन्तुविशेषः (श. मा.)
आटि–(टी)–पु., स्त्री., शरारिपक्षी (मदव. १२)
म.—बगली पक्षीण
आटीकर–पु., वृषः (वै. नि.)
आडम्बर–पु., नेत्रच्छदम्
आडि–पु., शरारिपक्षी; गुणाः—गुरुः स्निग्धः वातश्लेष्मकोपनः बलकरः शुक्रमेधाग्निवर्धकश्च (रा.)
आडिका (डी) (डीकी) –स्त्री., शरारिपक्षी (मदव. १२) आडी वातविकारकासहननी बल्या वृष्या दीपनी (अत्रि २२ अ)
आढकिक–(कीन)–त्रि., आढकमितवपनयोग्यक्षेत्रम् (अम.)
आढकिका–स्त्री., आढकी
आढकीयूष–पु., न., तुवरीयूषः । गुणः—बल्यम् (रा. व. १६) भवेदाढक्या मधुरञ्च यूषं विशोषणं वातनिवारणञ्च । श्लेष्मापहं पित्तहरं नराणाम् । (अत्रि. १३ अ)
आतञ्चन–न., तर्पणम् (अम.) उपद्रवः निक्षेपः (सु) प्रतीवापः ।
आतन–न., दर्शनम्

आतप–पु., रौद्रः । एतत्सेवनं स्वेदमूर्च्छारक्तवृष्णादाहश्रमकरं पित्तवैवर्ण्यकरञ्च (मद व. १३) असौ कटुः रूक्षः नेत्ररोगकोपनश्च (रा. २१.३८; पृ. ४१६)

आतपतण्डुल–पु., असिद्धतण्डुलः

आतपर्णिका (र्णी)–स्त्री., क्षीरिका

आतपशुष्क–वि., रौद्रशुष्कः

आतर्पण–न., तृप्तिः (मे.)

आतपाभाव–पु., छाया

आतापि–(पी)–पु., चिल्लपक्षी (हला.) (म. शशमारी)

आति–पु., शरारिपक्षी (हला.)

आतृप्य–पु., आता इति प्रसिद्धफलवृक्षः
हिं.–सरीफा.
म.–सिताफळीचे झाड
न., तत्फलम् । फलगुणाः–तृप्तिजनकं रक्तवर्धकं स्वादु शीतलं हृद्यं बल्यं मांसकरं दाहरक्तपित्तवातघ्नञ्च (रा)

आत्मगंधक–पु., गन्धबोलः
म.–रक्त्याबोळ (वै. नि.)

आत्मगन्धिहरिद्रा–स्त्री., कर्पूरहरिद्रा
म. कापूरहळदी (वै. नि.)

आत्मग्राहिन्–वि., कुक्षिम्भरः स्वोदरपूरकः

आत्मघोष–(षा) (पु. स्त्री.) काकः (हारा) कुक्कुटः (श. च.)

आत्मन्–पु., शरीरम् (मे.लत्रिकम्) जीवः । वायुः । अग्निः (हे. च.) मनस् (मे)

आत्मनीन–स्त्री., पथ्यम् आत्महितम् (रा. व. २०; पृ. ३१०) पु. प्राणाधारः । पुत्रः

आत्ममूली–स्त्री., दुरालभा (श. मा.) (म. धमासा)

आत्मम्भरि–त्रि., आद्यूनम् (अम.)

आत्मवत्–त्रि., यत्नवान्, धृतिमान ।

आत्मविज्ञान–न., योगाभ्याससमाधिना परमात्मस्वरूपविज्ञानम् (वा. सू. १ अ; रा. व. ४)

आत्माशिन्–पु., मत्स्यविशेषः (त्रिका)

आत्यूक–पु., वङ्गम्

आत्यूह–पु., दात्यूहः

आत्रेय–पु., शरीरस्थरसधातुः (हे. च.)

आत्रेयिका–(यी)–स्त्री., ऋतुमती स्त्री (हला मे. यत्रिकम्)

आदिकारण–न., निदानम् (अम.)

आदित्यतेजस्–स्त्री., आदित्यभक्ता; ब्राह्मीशाकम् ।

आदित्यपत्र–(क)(त्रा)–पु., स्त्री., आदित्यभक्ताभेदः । गुणाः–कटुः उष्णवीर्यः कफघ्नः वातरोगघ्नः दीपनः जाठरगुल्मघ्नः, अरोचकघ्नश्च (रा. व. ४) अर्कवृक्षः ।

आदित्यपुष्पा–स्त्री., धातकीपुष्पवृक्षः

आदित्यपुष्पिका–(ष्पी)–स्त्री., अर्कवृक्षः (र. मा.)

आदिबलप्रवृत्त–त्रि., शुक्रशोणितान्वयजः । ये रोगाः शुक्रशोणितान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः तेऽपि पुनर्द्विविधा मातृजाः पितृजाश्चेति (सुसू. २४.५) एते आध्यात्मिका इति कथ्यन्ते ।

आदिमा–स्त्री., भूमिः

आदिवृक्ष–पु., अश्मन्तकवृक्षः (म. आपटा)(वै. नि.)

आदीनव–पु., दोषः । (हारा.) क्लेशः (अम.)

आद्यधातु–पु., शरीरस्थरसधातुः । (वै. नि.)

आद्यपुष्प–न., त्रिभागकुङ्कुमोपेतञ्हीबेरचन्दने । (रा. व २२)

आद्यमाषक–पु., पञ्चगुञ्जापरिमितमाषः (अ. म.) ८० गुञ्जाः (वै. नि.)

आद्यमाषा–स्त्री., माषपर्णीलता

आद्या–स्त्री., भूमिः

आद्यून–वि., औदरिकः (अम)

आधानिक–न., गर्भधारणसंस्कारः (त्रिका.)

आधिभोग–पु., अश्वगवाद्युपभोगः ।

आधिमन्यु–पु., ज्वराग्निः (हारा.)

आधिशमी–स्त्री., शमीभेदः (वै. नि.)

आधोरण–पु., हस्तिपकः (हला.)

आध्मान–पु.न.,वातव्याधिविशेषः–आनाहः उदरस्फीतः । स्वरूपं यथा साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् । आध्मानमिति जानीयात् घोरं वातनिरोधजम् । आध्माने लङ्घनं पूर्वं दीपनं पाचनं ततः । फलवर्तिक्रियां कुर्यात् बस्तिकर्म च शोधनम् (सु. नि. १.८८)

आध्मानी–स्त्री., नलिका नाम वणिग्द्रव्यम् (रा. व. १२)

आध्या–(न)–स्त्री., न., स्मृतिः चिन्ता (अम. शर.)

आनन्दपट–न., नवोढावस्त्रम् (हारा.)

आनन्दप्रभव–न., रेतः । वीर्यम् (हे. च.)

आनन्दभैरव–पु., शीताङ्गसन्निपाते रसः (र. सा. सं.)

आनन्दमयकोष–पु., कारणशरीरम् । सुषुप्तिः

आनन्दा–स्त्री., विजया
हिं.—भाङ्ग.

वार्षिकीपुष्पवृक्षः ।
हिं—वेला.
(भा. पू. १ भ मुव.) आरामशीतला
(रा. व. १०-५२; पृ. ३७२) मुद्गपर्णी (वै. नि.)

आनन्दी–स्त्री., आरामशीतला (रा. व. १०)

आनन्दोदयरस–पु., पाण्डुरोगरसः
(भैष. पाण्डुरोगचि.)

आनय–पु., उपनयनम् ।

आनर्त्त–पु., जलम् (मे. तत्रिकम्)

आनाखु–पु., इक्षुतुली (प. मु.)

आनुलोमन–वि., अनुलोमनकरः (च. द. अर्शचि.)

आनूपजल–न., अनूपदेशस्थजलम् । गुणाः– स्वादु स्निग्धं गुरु पित्तहरं पामाकण्डूवातकफज्वरकरञ्च (रा. व. १४-३३२; पृ. २५९)

आनूपजाङ्गलसाधारणमांस–न., रुरुहरिणमृगक्रोडसारङ्गाणां मांसानि । तच्च लघु स्वादु बल्यं वृष्यं रुच्यञ्च (रा. व. १७-३; पृ. ३९१)

अनूपपक्षिमांस–न., सारसहंसचक्रवाकादिमांसम् गुणाः– शीतलं स्निग्धं वातकफघ्नं गुरु च (रा. व. १७-४; पृ. ३९१)

आन्त्रिक–वि., अन्त्रसम्बन्धिनि

आन्दोलन–न., कम्पः

आन्ध्रदेशपूग–न., तद्देशीयपूगफलम् । गुणाः–पाके मधुरं किञ्चिदम्लं तुवरं वातकफघ्नं मुखजाड्यकरञ्च (वै. नि.)

आप–न., जलसमूहः (पु.,) अष्टवस्वन्यतमम् (स्त्री.,) बालकः (अम.)

आपक्व–वि., ईषत्पक्वाः कलायादयः (अम) रोटिका इति केचित् ।

आपगाजल–(वारि)–(सलिलम्)–न., नदीजलम् गुणाः–' नादेयं दीपनं रूक्षं वातलं लघु लेखनम् ' (मदव. ८)

आपण–पु., हट्टः । पण्यविक्रयस्थानं (अम)

आपतिक–पु., श्येनः

आपन–न., मरिचम् (श. च.)

आपनिक–पु., इन्द्रनीलमणिः

आपन्नसत्वा–स्त्री., गर्भवती

आपस्तम्भिनी–स्त्री., लिङ्गिनीलता (रा. व. ३)

आपाक–पु., पोंयान इति कुम्भकारस्य आर्द्रशुष्कमृत्पात्रदाहस्थानम् (जटा.)

आपालि–पु., केशकीटः (अम.)

आपीन–न., ऊधः (हला) सुवर्णमुखी (अम.) (पु.,) कूपः ।

आपुप–(पूप)–पु., पिष्टकः (रत्ना.), आनूपजन्तुमात्रः (रा.)

आपूप्य–पु., शक्तुकम् । चूर्णम् (त्रिका.)

आपूर्यमाण–पु., शुक्लपक्षः

आपूष–न., रङ्गम् (रा. व.१३)

आप्ता–स्त्री., जटा (हारा.)

आफु(फू)क–न., अहिफेनः (भा. पु. १भ)

आब्दिका–स्त्री., तिन्तिडी (श. र.)

आभागुग्गुलु–पु., भग्नाधिकारे, भग्नसन्धाने च हितः । आभाबब्बूलः । ' आभाफलत्रिकव्योषैः सर्वैरेभिः समीकृतैः । तुल्यो गुग्गुलुरायोज्यो भग्नसन्धिप्रसाधकः (च. द. भग्न. चि.)

आभील–न., शरीरपीडा (वै. नि.)

आमक–पु., कूष्माण्डः (अम.)

आमगन्धि–वि., विस्रगन्धयुक्तः (अम.)

आमगन्धिहरिद्रा–स्त्री., आमहरिद्रा (हिं–आमहलदी) (वै. नि)

आमचणक–पु., अपक्वचणकः (कच्चे हरभरे) गुणाः—शीतलः रुच्यः सन्तर्पणः तृष्णादाहहरः गौल्यः अश्मरीशोषघ्नः कषायः ईषत्कटुवीर्यश्च (रा. व.१६.१५८,पृ.२२८)

आमण्ड–(क)–पु., एरण्डवृक्षः (प.मु) शुक्लैरण्डः (रा. व. ८, भा. पू. भ)

आमण्डवास–पु., आसवः (वै. नि.)

आमतिन्तिडि–(डी)–स्त्री., अपक्वतिन्तिडी

आमनस्य–न., वैमनस्यम् दुःखम् पीडा (अम.)

आमपत्रिका–स्त्री., चिल्लीशाकम् (चिविला)(वै.नि)

आमपीनस–न., कफः । कफाक्रमणम्

आमय–पु., न., कृष्णागुरुः (र. मा.) कुष्ठम् (रा. व. ११ सि. यो. अप. चि.) ' शिरीषलशुनामयैः ' (भा. म. १भ. ज्वर. चि.) शालूरपर्ण्यादिमूलामयमधुप्लुता । रोगः । उद्रः । (रा. व. २०)

आमरक्त–न., रक्तामाशयरोगः (मा. नि.) द्र० अतिसारः

आमरस–पु., अपक्वरसः । (सि. यो. अती. चि. श्रीकण्ठः)

आमलकशुण्ठ–पु., काष्ठामलकः । 'मुद्गामलक शुण्ठ्याः' (च. द. ज्वरपञ्चमुष्टिः)

आमलकायस–न., रसायनविशेषः । इदं ब्रह्मरसायनमपि कथ्यते (च. चि. १ पा. उ. ३-६)

आमलक्यादि-पु., तदादिवर्गः । आमलकी हरितकी पिप्पली बिभीतकश्चेति । 'आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः । चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः' (सुसू. ३८;६०-६१)

आमलक्यादिचूर्ण-न., सर्वज्वरे हितम् भेदि दीपनं च । 'आमलं चित्रकं पथ्या पिप्पली सैन्धवं तथा । चूर्णितोऽयं गणो ज्ञेयः सर्वज्वरहरः परः ।' (भा. म. १ भ ज्वरचि.)

आमलच्छद-पु., तालिशपत्रम् (वै. नि.)

आमलाद्यलौह-न., रक्तपित्ते रसविशेषः, अत्र लौहं सर्वचूर्णसमम् । 'आमला पिप्पलीचूर्णं तुल्यया सितया सह । रक्तपित्तहरं लौहं योगराजमिदं स्मृतम् ।' (र. सा. सं.)

आमली-स्त्री., भूम्यामलकी

आमवातगजसिंहमोदक-पु.,प्रयोज्योऽयम् आमवाते । (र. सा. सं.)

आमवातारिगुडिका-(वटिका)-स्त्री., आमवाते रसयोग० । (रस. र.)

आमवातेश्वररस-पु., आमवाते रसः (र. सा. सं.)

आमानुबन्ध- पु., आमसातत्यम् सर्वदा आमसञ्चयः (च. द. ग्रहणी. चि. शुंठ्यादि.)

आमान्न-न., अपक्वान्नम् ।

आमाम्र-न., बालाम्रः । गुणाः— 'कषायमम्लरसं रुच्यं वातपित्तवर्धकञ्च' (भा. पू. १ भ)

आमावस्था-स्त्री., अपक्वावस्था

आमिषकर-न., शोणितम्

आमिषगन्धिनी-स्त्री., पूतना ।

आमिषप्रिय-पु., कङ्कः (रा. व. १८)

आमिषभुज्-वाशिन्-वि., मांसभक्षकः मत्स्यमांसभक्षकः

आमिषस्नेह-पु., वसा

आमिषी-स्त्री., जटामांसी

आमि (मी) क्षा-स्त्री., क्षीरसा तक्रचूर्चिका सान्तानिका तप्ते पक्वे च पयसि दधियोगेन जाता दुग्धविकृतिः शृते क्षीरे दधि क्षिप्तमामिक्षा कथ्यते बुधैः' (हला.)

आमिक्षीय-न., दधि

आमुप-पु.; कण्टकयुक्तवंशविशेषः ।

आमोदक-पु., यमानिका (वै. नि.)

आमोदा-स्त्री., शतावरी शुल्फा

आमोदिन्-वि., मुखवासनम् । कर्पूरादिवटिकाकृतमुखगन्धम् (अ. टी)

आम्बोली-स्त्री., रक्तकुरुण्टकभेदः । कोङ्कणद्देशे स्वनाम्नाख्यातः ।

आम्भसिक-पु., मत्स्यः । वि., जलसम्बन्धीयः

आम्र-पु., स्वनामख्यातवृक्षः । आंबा फल, आम्रः पञ्चविधः साधारणाम्र-कोशाम्र-राजाम्र-महाराजाम्र-रसालाम्राश्च । एषां विशेषाः स्वपर्याये मृग्याः । बालाम्रादिगुणाः—कषायाम्लरसं सुगन्धि कण्ठरोगघ्नम्अग्निकरञ्च । ग्राहि मेहरक्तकफपित्तव्रणघ्नं च (म. द. व. ६) पित्तप्रकोपवातरक्तकरं लवणादिना रुचिकरञ्चेति । बद्धास्थिपित्तानिलकफकरं बालवदेव । पक्वं तत् त्रिदोषशमनं स्वादु पुष्टिकरं गुरु धातुवृद्धिकरं सन्तर्पणं कान्तिकारि तृष्णाश्रमघ्नञ्च (रा. व. १८; वा. सू. १५) न्यग्रोधादिः । तरुपक्वाम्रं गुरुवातहरं मधुराम्लं पित्तप्रकोपनञ्च । कृत्रिमपक्वं पित्तघ्नम् । पर्युषिताम्रं रुच्यं बल्यं वीर्यकरं लघु शीतलं वातपित्तहरं सारकञ्च । गालिताम्ररसः बल्यः गुरुः वातहरः सारकः अहृद्यः अतितर्पणः बृंहणः कफवर्धनश्च । आम्रखण्डम्—गुरु अतिरोचनं दुर्जरं च । दुग्धाम्रं वृष्यं वर्ण्यं स्वादु गुरुशीतलं रुच्यं बृंहणं बल्यञ्च । आम्रातियोगे मन्दाग्नित्वं विषमज्वरं रक्तामयं बद्धगुदोदरं नेत्रामयं च करोति । शुण्ठ्यम्भसोऽनुपानं स्यादाम्राणामतिभक्षणे । जीरकं वा प्रयोक्तव्यं सह सौवर्चलेन च (भा. पू. १ अ.) आपक्वमाम्रं फलमेव शस्तं संग्राहि पित्तासृजि कोपनञ्च । तथा विपक्वं मधुरञ्च चाम्लं भेद्यं सपित्तामयनाशनञ्च (अत्रि. १७ अ)

आम्रगन्धा-स्त्री., कर्पूरहरिद्रा (भा. पू. १ भ)

आम्रत्वचा-स्त्री., आम्रवल्कलम्; गुणः-कषायः (रा. व. ११)

आम्रनिशा-स्त्री., आम्रहरिद्रा (वै. नि.)

आम्रपल्लव-पु., आम्रकिसलयम् (चसू. ४.२) प्रयोज्योऽसौ छर्द्याम् । गुणः-रुच्यः कफपित्तघ्नश्च (भा. पू. १ भ)

आम्रपुष्प-न., आम्रमुकुलम् । गुणाः-रुच्यं दीपनञ्च (रा. व. ११) अतिसारकफपित्तप्रमेहघ्नं रक्तदुष्टिहरं शीतं वातलञ्च (भा. पू. १ भ)

आम्रपेशिका (शी)-स्त्री., शुष्काम्रखण्डः (आंबोशी) गुणाः—अम्ल-मधुरा कषायरसा भेदिका वातकफघ्नी च (भा. पू. १ भ)

आम्रफल–न., आम्रः ।

आम्रफलपानक–न., आम्रफलपानकविशेषः ' आममाम्रजले स्विन्नं मर्दितं दृढपाणिना । सिताशीताम्बुसंयुक्तं कर्पूरमरिचान्वितं, प्रपानकमिदं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्मितं । सद्योरुचिकरं बल्यं शीघ्रमिन्द्रियतर्पणम् ।' (भा. पू. १ भ)

आम्रमय-वि., आम्रकृतः ।

आम्रमूल–न., आम्रशिफागुणाः–सुगन्धि रुच्यं संग्राहि शीतलञ्च (रा. व. ११–१५)

आम्ररसाकृति–पु., रसालाभेदः ।
किंचित्कुङ्कुमसंयुक्ता विमस्तुदधिगालिता । सशर्करं भवेत्पीता पक्वाम्ररससन्निभा । पीता शिखरिणी या सा लघ्वी वर्णवती हि सा । सुरुच्या मधुरा बल्या वातपित्तहरा परेति ।

आम्रलेह–पु., आम्रकृतलेहः । ' तरुणाम्रं भर्जयित्वा मर्दयेत् गुडशर्करे । सैन्धवं मरिचं हिङ्गु भर्जितं तत्र निक्षिपेत्; रुचिकृत् चाम्रलेहोऽयं मधुरस्तृप्तिकारकः । हृद्यः स्निग्धो गुरुश्चोक्तः पाकविद्याविशारदैः (वै. नि.)

आम्रवन्द–पु., आम्रवन्दा (वै. नि.)

आम्रव (वा)ट–पु., आम्रातकः (मद. व. ६)

आम्रबीज–न.,आम्रास्थिः; गुणाः—कषायं छर्द्यतीसारघ्नम् ईषदम्लं मधुरं हृद्यं दाहघ्नञ्च (भा.)

आम्रहरिद्रा–स्त्री ., आम्रनिशा गुणाः.....तिक्ता चाम्ला रुचिप्रदा ।
लघ्वग्निदीपनी चोष्णा तुवरा च सरा मता । कफच्छोग्रव्रणं कासं श्वासं हिक्कां ज्वरं तथा । मुखरोगं रक्तदोषं नाशयेत् ।

आम्रावर्त–पु., आम्रातकः । विधिः—' पक्वाम्ररसः पटे विस्तारितः रौद्रशुष्कः आम्रावर्त उच्यते । गुणाः–तृष्णाच्छर्दिवातपित्तघ्नः सारकः रुच्यः लघुश्च (भा. पू. १ भ.)

आम्ल–पु. तिन्तिडी । अम्लवेतसम्
(मद व. ६ । वै. नि. २ भ वाव्या. प्रत्यष्ठीलाचि.)
त्रि., अम्लरसः । अम्लस्तु पाचनो रुच्यः लघुः पित्तकफप्रदः । लेखनोष्णः क्लेदनश्च बाह्ये शीतलताकरः । स्निग्धोषणः सारकश्च भ्रूसङ्कोचनकारकः । द्विजरोम्णां हर्षदश्च वातनाशकरो मतः । अस्यातिसेवनेनैव तिमिरं दाहतृड्भ्रमाः । ज्वरकण्डूपाण्डुरोगविसर्पस्फोटकुष्ठहृत् (वै. नि.)

आम्लका–स्त्री., नागरदेशप्रसिद्धपलाशीलता (वै. नि.)

आम्लटक–पु., चुक्रक्षुपः (र.मा.)

आम्लपञ्चक–न., अम्लरसयुक्तफलपञ्चकम् यथा–कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रिकाम्लवेतसैः पञ्चाम्लफलम् । जम्बीरनारिङ्गाम्लवेतसतिन्तिडीबीजपूरकमिति वा फलाम्लपञ्चकम् (रा. व. २२)

आम्लपत्रक–पु., चुक्रम् (वै. नि.)

आम्लपत्री–स्त्री., पलाशीलता ।

आम्लपित्त–न., स्वनामख्यातरोगविशेषः

आम्लफल–न., कपित्थफलम् (वै. नि.)

आम्ललोटिका–स्त्री., क्षुद्रचिञ्चा (वै. नि.)

आम्ललोणिका–स्त्री., अम्ललोणिका

आम्लवक्त्रत्व–न., पित्तजन्यरोगविशेषः

आम्लवर्ग–पु., अम्लवर्गः

आम्लवल्ली–स्त्री., आंबटवेल इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धलता । गुणाः–आम्लवल्ली दीपनी स्यात् तीक्ष्णाम्लरुचिदा मता । कफशूलगुल्मवातप्लीहनाशकरी मता (वै. नि.)

आम्लवास्तुक–पु., चुक्रिका (वै. नि.)

आम्लवेतस–पु., अम्लवेतसम्

आम्ला–स्त्री., तिन्तिडिकालिङ्गिनीलता (श. र.) श्रीवल्ली (रा. व. ८)

आम्लातक–पु., आम्रातकः (रत्ना.)

आम्लातकी–स्त्री., पलाशीलता (रा. व. ४)

आम्लानीका–पु., पीतझण्टी क्षुपः ।

आम्ली–(म्ली का) (स्त्री.,) आम्लिका अम्लोद्गारः (श. मा.)

आयतच्छदा–स्त्री., कदलीवृक्षः (म. द. ५)

आयतन–न., अधिष्ठान आश्रयं, हेतुः (भा.)

आयतपत्रा–त्रि., स्त्री., कदलीवृक्षः (त्रि. का.)

आयसमल–न., मण्डुरलौहम् (च. द. पाण्डु चि. । लोहमलः ।

आयस्त–वि., तेजितम् । क्षिप्तम् (मे. तत्रिकम्)

आयामकाञ्जिक–न., ग्रहण्यां हिता (च. द. ग्रहणीचि.) (भेष.)

आयास–पु., श्रान्तः (हे. च.)

आयुस–न., जीवितकालः (जटा) औषधम्, घृतम् (रा. व. १५) वसा (रा. व. १८)

आयुःशेष–पु., मृत्युः

आयुधदीर्घपृष्ठ–पु., सर्पः (हा. रा.)

आयुधधर्मिणी–स्त्री., जयन्तीक्षुपः (श. च.)

आयुर्द्रव्य–न., औषधम् । (र. मा.)

आयुर्योग–पु., औषधम् (रा. व. २०)

आयुर्वेद–पु., ऋग्वेदस्योपवेदविशेषः । अथर्ववेदोपाङ्गे शल्यादिस्थानाष्टकसम्पन्ने धन्वन्तर्यादिप्रणीतचिकित्साशास्त्रे । 'आयुर्हिताहितं व्याधेः निदानं शमनं तथा । विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते' (वैद्यशास्त्रे । (च. सू. १) (सु. सू. १)

आयुर्वेदमय–वि., आयुर्वेदाभिज्ञः ।

आयुर्वेदिन्–पु., वैद्यः (रा. व. २०)

आयुष्कर–वि.,परमायुर्जनकः ।

आयुष्मन्–पु., तृतीययोगे । जीवकमहाक्षुपः (रा. व. ५ वि., दीर्घजीवी

आयुष्य–वि.,पथ्यम् आयुर्हितकरः । (रा. व. २०)

आरक्त–न., रक्तचन्दनम् । वि. सम्यग् रक्तवर्णः

आरक्तपुष्पी–स्त्री., बन्धुजीवकवृक्षः

आरक्ष–गजकुम्भाधोभागः । (हला. । हे. च.) गजकुम्भसन्धिभागः (त्रिका.)

आरग्वधपञ्चक–न., वातकफज्वरे कषायविशेषः । आरग्वधस्तिक्तकरोहिणी च हरीतकीपिप्पलीमूलमुस्ताः (हा. अत्रि. २ स्थानं. २ अ)

आरग्वधादि–अयं द्रव्यवर्गविशेषः (वा. सू. १५ अ) (सु. सू. ३८.६-५)

आरग्वधाद्यतैल–न., योनिव्यापदधिकारे तैलम् (च. द. योनिव्या. चि) कुष्ठरोगे च तैलम् । आरग्वधत्वक् वटत्वक् कुष्ठं हरितालं मनःशिला हरिद्रा दारुहरिद्रा च एषां मिलितपादिककल्केन तैलप्रस्थं विपचेत् (च. द. कुष्ठ. चि)

आरट्टज–पु., तद्देशीयाश्ववि० (जटा.)

आरणाल-(क)–न., काञ्जिकम् (भा. पू. सन्धानव)

आरणि–पु., कुलहण्डके आवर्तः (हारा.)

आरण्यगोमय–पु., वन्यगोमयम् (च.चि. १)

आरण्यपशु–पु., वनजपशुः । स सप्तधा–ऋक्ष–महिष–वानर–सरीसृप–रुरु–पृषत–मृगाः

आरण्यमक्षिका–स्त्री., दंशकम् (रत्ना.)

आरण्यमुद्गा–स्त्री., मुद्गपर्णी (रा. व. ३)

आरण्यनिम्बिका–स्त्री., तुण्डिका (रा. व. १३)

आरण्योपलभस्म–न., वनकरीषभस्म (वै. नि. २ भ. ज्वरभस्मेश्वररसे)

आरति–स्त्री., स्वस्थचित्तत्वम्

आरम्भ–पु., उद्यमम् रलयोरभेदात् आरम्भोऽपि आलम्भसमानार्थकत्वात् वधे रूढो भवितुमर्हति । वधः । दर्पः (मे.)

आरस्य–न., विस्वादः ।

आराग्र–न., अर्धचन्द्राद्यस्त्रमुखम् । 'आराग्रन्तु मुखं तेषां पुष्पपत्रादिभेदतः' (हला)

आराधन–न., पचनम् (मे. नवतुष्कम्)

आरामघोलि-(लिका)–स्त्री., पत्रशाकविशेषः । पश्चिमदेशे प्रसिद्धः । गुणाः–आरामघोलिका चाम्लरूक्षा रुच्यानिलापहा । पित्तश्लेष्मकरी चान्या सूक्ष्मा जीर्णज्वरापहा (रा. व. ७)

आरामवल्लिका–स्त्री., मल्लिकाविशेषः । (रा. व. २३)

आरामुख–न., व्यधनार्थशस्त्रविशेषः । (सु. सू. ८)

आरालिक–पु., पाचकः (अम.)

आरि-(री)–पु., कण्टकवृक्षः । खदिरसारः । गुणाः–कटुः तिक्तोष्णः कफवातघ्नः व्रणकण्ठरोगघ्नः रुच्यः दीपनश्च (रा. व. ८)

आरु–पु., वृक्षविशेषः, कर्कटः (मे. रद्विकं) कूष्माण्डलता अलाबुः

आरुक–न., हिमालयदेशजाते स्वनामकौषधिविशेषः । पत्रपुष्पादिभेदेन तस्य चातुर्जात्यं, सर्वाण्येव गुणैः तुल्यानि । गुणाः–आरकं वातमेहार्शःकफघ्नञ्च (मद व. ६) मधुरं हिमम् अर्शःप्रमेहगुल्मरक्तदोषघ्नञ्च (रा. व. ११) पु., काबेलदेशे आलुबुखार इति ख्यातं खाद्यद्रव्यम् आरुको ग्राहितुवरो हृद्यः शीतो गुरुः स्मृतः । मलावष्टम्भको ग्राही भेदी चोष्णः कफापहः । पित्तहृत्पाचकश्चाम्लो मधुरश्च मुखप्रियः । मुखस्वच्छकरश्चैव मेहगुल्मार्शनुत्परः । रक्तवातरुजां हन्ता स पक्को मधुरो गुरुः । कफपित्तकरश्चोष्णो रुच्यो धातुविवर्धकः (वै. नि.)

आरोग्य–न., रोगनिर्मुक्तः । 'आरोग्यं वह्निवर्धनम्' (रा. व. २०) बलाधिष्ठानमारोग्यम् (चर.)

आरोग्यपञ्चक–न., पथ्यारग्वधतिक्तात्रिवृदामलकाः (भा. म. १ भ ज्व. चि.)

आरोग्यशाला–स्त्री., चिकित्सालयम्

आरोग्याम्बु–न., पादशेषोष्णजलम्, पादशेषन्तु यत्तोयम् आरोग्याम्बु तदुच्यते

आरोह–पु., अवरोहः । वरस्त्रियाः श्रोण्याम् । (रा. व. १८) परिमाणविशेषः (हे. च.) गजाद्यवरोहः (मे. हस्त्रिकम्)

आर्ग्वध–पु., आरग्वधवृक्षः

आदर्यशर्करा–स्त्री., आदर्यमधुकृतशर्करा इयं गुणैरादर्यमधुतुल्या (रा. व. १४)

आर्घ्या-स्त्री., मधुमक्षिकाविशेषः । सा च पीततुण्डा भ्रमरसदृशी (रा. व. १४)

आर्तवी-स्त्री., घोटकी (रा. व. १८)

आर्ति-स्त्री., पीडा, वेदना (रा. व. १८)

आर्द्र-(क) न., मूलविशेषः । (हिं-अदरख,) गुणाः--कफवातघ्नं स्वरकरं विबन्धानाहशूलघ्नं कटूष्णं रुच्यं हृद्यं वृष्यं च (सु.सू.४५ अ) (पु.,) जलमार्जारः

आर्द्र-स्त्री., सजलं वस्तु । तच्च सरसनीरसभेदेन द्विधा । तयोस्तु वास्तुकाद्यम् आर्द्रम् । नीरसमपि स दुग्धगुसरसभेदात् । तयोः वटाश्वत्थाद्यं नीरसम् । सदुग्धमपि द्विधा । मृदुतीक्ष्णभेदेन । तयोः सातलाद्यास्तीक्ष्णाः दुग्धिकाद्याः मृदवः इति । यथा ' आर्द्रं द्रव्यं द्विधा प्रोक्तं सरसं नीरसं तथा । वास्तुकं सार्षपं शाकं निर्गुण्ड्येरण्डमार्षरम् । धत्तूराद्यमिदं सर्वमार्द्रं स्वरसमुच्यते । वटाश्वत्थकरीराद्यम् आर्द्रद्रव्यन्तु नीरसम् । सदुग्धं तु द्विधा प्रोक्तं मृदुतीक्ष्णमिति क्रमात् । सातलावज्रशीहुण्डसौरिण्याद्यास्तु तीक्ष्णकाः । दुग्धिकार्कक्षीरिकाद्या मृदुदुग्धाः प्रकीर्तीताः (प. प्र.) क्लिन्नम् (मे०)

आर्द्रक-न., स्वनामख्यातकन्दशाकविशेषः; गुणाः--शुण्ठीसमगुणं कटुकमपि पाके मधुरं प्राग्भोजनं सलवणं सेवितम् अग्निदीपनं रुचिकरं जिह्वाकण्ठशोधनञ्च भवति । ग्रीष्मे शरदि च न सेव्यम् (भा. पू. १ भ. वा.) आर्द्रकं नागरगुणं भेदनं दीपनं गुरु (म. द. व. १८)

आर्द्रचिक्कण-न., आमचिक्कणगुवाकम् (रा. व. २३)

आर्द्रकस्वरस-पु., आर्द्रकस्य स्वरसः (च. द. ज्व. त्रि. कवलधारणे)

आर्द्रज-न., शुण्ठी (रा. व. ६)

आर्द्रदाडिमनिर्यास- पु., आर्द्रदाडिमफलस्वरसः (सि. यो. अरोच. चि. श्रीकण्ठः)

आर्द्रमरिच-न., आममरिचम् । गुणाः--आर्द्रं तु मरिचं किञ्चिच्चोष्णं पाके रसे मधु । अपित्तलञ्च कटुकं गुरु चाग्निप्रदीपनम् । तिक्तञ्च रुचकं स्वादु कफवातहरं परम् । हृद्रोगञ्च कृमींश्चैव नाशयेत् (वै. नि.)

आर्द्रवटक-पु., भोज्यद्रव्यम् । (भा. पू. १ भ.)

आर्द्रास्य-न., आर्द्रकम्

आलगर्द-पु., अलगर्दः । जलसर्पः । आ. सं. पू. ६

आलदूषक-पु., तन्नामकप्रतुदः (सु. सू. ४६)

आलस्य-न., अलसता, सामर्थ्येऽपि कर्मण्यनुत्साहः (भा. म. १ भ. ज्व. चि.)

आलात-न., अङ्गारः (रा. व. २०)

आलान-न., गजबन्धनस्तम्भः (मे.)

आलाबु(बूः)-स्त्री., अलाब्वाम् (श. र.)

आलावर्त-न., वस्त्रव्यजनम् (हे. च.)

आलास्य-पु., कुम्भीरः (हे. च.)

आलि-पु., वृश्चिकः । भ्रमरः (मे.)

आलिङ्गन-न., आश्लेषः ।

आलिञ्जर-पु., अलिञ्जरः (त्रि. का.)

आलिम्पना-स्त्री., तृप्तिः (त्रि. का.)

आलिवङ्गा-स्त्री., हालिम इति लोके । आशालबीज इति गुर्जरे (वै. नि. २ भ. वा. व्या. कटिवा. चि)

आली-स्त्री., कफोणिः ।

आलूकी-स्त्री., रक्तालुभेदः । या दीर्घा कठिना तन्वी च । गुणाः-बलकृत् स्निग्धा गुर्वी हृदयकफघ्नी विष्टम्भिनी तैलभर्जिताऽत्यन्तरुचिकरी । (भा. पू.१ भ शा. व)

आलेप-(नम्)-पु., न., जातमात्रशोथव्रणादौ यथोक्तौषधलेपः (सु. चि. १)

आलेय-न., पद्मकाष्ठम् (वै. नि.)

आलोक-(नम्)-पु., न., दर्शनम् । दीपः (मे.)

आलोल-पु., कम्पः । वि., कम्पितः । लम्बमानः

आल्लूक-न., आलुकः । हिं.-अलु, आलुबोखार, गुणाः-रसतः शीतं स्वाद्वम्लं वातपित्तकरञ्च (मदव. ६)

आवट्टज-पु., उत्तमाश्वः । पारसीकाश्वः (त्रिका.)

आवपन-न., भाण्डम्, बीजवपनम् (अम.)

आवरक-त्रि., आच्छादकः

आवर्त-पु., भ्रमः (भा. म. ३ भ, उदा. चि.) राजावर्तमणिः । (रा. व. १३) तन्नामकमर्मस्थानम् (सु. शा ६) न., स्वर्णमाक्षिकम् (रा. व. १३)

आवर्तक-पु., कीटविशेषः, तद्दष्टे वायुजन्यरोगा जायन्ते (सु. क. ८ अ) राजावर्तमणिः । (रा. व. १३) न., स्थलपद्मम् । रौप्यमाक्षिकम् (रा. व. १३)

आवर्तकी-स्त्री., स्वनामख्यातलता कोकणादिदेशे आहुली तलाडवल्ली, भगतवल्ली इति च प्रसिद्धा । गुणाः-कषायोष्णा सरा तिक्ता रसायनी वृष्या वातामवातरक्तशोथमेहघ्नी (मदव. १) कषायाम्ला शीतला पित्तहा । (रा. व. ३) बृहद्दन्ती, भद्रदन्ती (रा. व. ६)

आवर्तन–न., आलोडनं दुग्धादीनाम्, धातुगालनम् (अ. टी.)

आवर्तनी–स्त्री-, (हिं.–मरफली) धातुगालनपात्रम् (श. र)

आवर्तपूलिका–स्त्री., पूलिकाभेदः

आवर्तमणि–पु., राजावर्तनामकोपरत्नम् (रा. व. १३)

आवर्तिनी–स्त्री., अजशृङ्गी (र. मा.)

आवलीकन्द–(क)–पु., मालाकन्दः । (रा. व. ७)

आव(ब) ल्य–न., दौर्बल्यम्

आवस्थिक–वि., अवस्थोचिते अवस्थानुसारीणि (सु. चि. ३८)

आबाधा–स्त्री., पीडा (श. र.)

आवारि–न., हट्टगृहम् (उणा.)

आवि–पु., पक्षिणि (वै. नि.)

आविक–पु., कम्बलम् (हे. च. । हला)
वि., मेषसम्बन्धिनि–न., मेषमांसादि । मेषीदुग्धम्

आविकघृत–न., मेषीनवनीतजातघृतम्, गुणाः—तच्च मुखरोगे परं हितम्, दृष्टफलम् । आविकं पित्तकृद्वातशमनं कफकोपनं । गुल्मार्शःकुष्ठरोगे च रक्तपित्ते न शस्यते (अत्रि. ८ अ.)

आविकी–स्त्री., कम्बलम्, शल्लकी (वै. नि.)

आविट–पु., वृक्षविशेषः (म—आपटा)

आविध–पु., वेधनास्त्रम्

आवि–पु., प्रसववेदना–मूत्रकफप्रसेकादीनि (मा. नि. मूढगर्भ)

आविलकन्द–पु., मालाकन्दः (रा. व. १)

आविलमत्स्य–पु., मत्स्यविशेषः । तल्लक्षणम् यथा–शुभ्राङ्गः ताम्रपक्षः स्थूलाङ्गश्च । गुणाः–अतिरुच्यः मधुरः बल्यः वीर्यपुष्टिवर्धनश्च गुणाढ्यश्च

आविला–स्त्री., मत्स्यः, चाङ्गेरी (अम.)

आविवृक्ष–पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)

आविष्ट–वि., प्रेतादिभिर्गृहीतम् (हा. रा.)

आवेशनमन्त्र–पु., येन मन्त्रेण भूतादयः शरीरे विशन्ति (अत्रि. ३ स्था. ५ अ.)

आवेशिक–वि., आगन्तुकः (अम.)

आशन–पु., आसनवृक्षः (द्विरूपकोष)

आशय–पु., आधारः अभिप्रायः । पनसवृक्षः (मे.)
अजीर्णम्, कोष्ठागारम्

आशयफल–न., पनसः (विश्वः)

आशयाश–पु., वायुः । अग्निः (अ. टी.)

आशा–स्त्री., तृष्णा (अम.)

आशाढ–पु., चतुर्थमासः (द्विरूप अ. टी.)

आशापूरसम्भव–पु., भूमिजगुग्गुलः (रा. व. १३)

आशाबन्ध–पु., मर्कटजालम् (मे.)

आशित–वि., भुक्तम् । आशितम् (जटा. न., भोजनम्)

आशितम्भव–न., अग्न्यादौ (पु.,) तृप्तिः (मे)

आशितृ–वि., अतिशयभोक्ता

आशुग–पु., वायुः (अम.)

आशुतीक्ष्णक–न., ताम्रम्

आशुप–पु., वंशविशेषः (श. च.)

आशुपत्री–स्त्री., शल्लकीलता

आशुमण्ड–पु., आशुभक्तमण्डम्; गुणाः–ग्राही मधुरः कफकरः तर्पणः क्षयदोषघ्नः शुक्रवर्धनश्च (अत्रि १. स्थान २३ अ.)

आशुव्रीहि–पु., बोरोधान्यम् (रत्ना.) आशुधान्यम् (अ. टी. भ.)

आशुशुक्षणि–पु., अग्निः (रत्ना).

आशोकुटी–पु., पर्वतः (श. मा.)

आश्रयाश–पु., चित्रकवृक्षः । अग्निः (अम.)

आश्रव–पु., क्लेशः (मे.)

आश्वत्थ–न., अश्वत्थफलम् (अम.)

आश्वयुज–पु., षष्ठमासः । आश्विनः

आश्विन–मासि, अत्र रवेः कन्याराशिस्थितिः

आश्विनेय–पु., अश्विनीकुमारौ (अम.)

आश्वीन–वि., एकेनाश्वेन एकदिनगम्यपन्थः(पथि)(अम.)

आषाढ–पु., स्वनामख्यातचतुर्थमासः । यत्र रवेः मिथुनराशिस्थितिः(अम.) पलाशदण्डः (मे.)

आषाढक–न., पलाशबीजम्

आसङ्गा–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (रा. व. १३)

आसङ्गिनी–स्त्री., चक्रवायुः (त्रि.का)

आसङ्गिगम–पु., कर्णबन्धनाकृतिविशेषः । स चाभ्यन्तरदीर्घैकपालिः (सु. सू. १६)

आसनपर्णी–स्त्री., अपराजिता(म. गोकर्णवल्ली)(वै.नि.)

आसन्द–पु., खट्टाभेदः (मे. द. त्रिकम्)

आसन्दी–स्त्री., लघुखट्टिका (हारा.)

आसन्नकाल–पु., मृत्युकालः ।

आसारण–पु., वृक्षभेदः (भेष.)

आसुति–पु., मद्यसन्धानम् (हे. च.)

आसुर–न., विड्लवणम् (रा. व. ६)(भा. पू. १ भ)
सामुद्रलवणम् (म.द. व. २

आसुरी–स्त्री., चिकित्साविशेषः । आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता (श. च)

आस्कन्दन–न., संशोषणम् (मे. न.त्रिकम्)

आस्तर–पु., करिकम्बलम् (हे. च.)

आस्तिकमति–पु., उत्तमवैद्यः

आस्था–स्त्री., यत्नः । अपेक्षा, आलम्बनम् (मे.थ. द्विक) जलम् (हे. च.)

आस्थागम–पु., जलम् (हे. च.)

आस्पद–न., स्थानम् (हे. च.) प्रतिष्ठा (अम.)

आस्यन्दन–न., अतिकम्पः । स्पन्दनम्

आस्यदेश–पु., मुखमध्यः

आस्यपत्र–न., पद्मम् (श. च.)

आस्यपुष्प–पु., श्वेतकिणिहीवृक्षः (वै. नि.)

आस्यफल–पु., श्वेतधत्तुरवृक्षः (वै. नि.)

आस्यलाङ्गल–पु., शूकरः । वन्यशूकरः

आस्यलोमन्–न., श्मश्रुणि (मे.)

आस्यशाखोट–पु., गुल्मविशेषः । ' वटुदुश्चास्यशाखोटः स पित्तकफनाशनः । वातलश्च कृमिं हन्ति पाण्डु-ताज्वरकामलाः (अत्रि.)

आस्यासव–पु., लाला (हे. च.)

आस्राव–पु., प्रस्रावः

आहक–(ज्वर)–पु., नासाज्वरः । तल्लक्षणम्–' तनुना रक्तशोथेन युक्तो नासापुटान्तरे । गात्रशूलज्वरकरः श्लेष्मणा हि आहकज्वरः । ' (वै. नि.)

आहर–पु., उच्छ्वासः । अन्तर्मुखनिःश्वासः (हे. च.)

आहलीव–न., आसलबीज इति गुजरातदेशे प्रसिद्धम् । गुणाः–आहलीव मतं चोष्णं तिक्तं त्वग्दोषनाशनं । वातं गुल्मं नाशयतीत्येवं प्रोक्तं चिकित्सकैः (वै.नि.)

इ

इ–पु., पुरुषोत्तमः (हला.)

इकट–पु., वंशाङ्कुरः

इक्कट–पु., तृणविशेषः (प. मु.) बदरवृक्षः (रत्ना)

इक्षुकण्डिका–स्त्री., इक्षुकाण्डम् । काकोली भूमि-कूष्माण्डः (वै. नि. । वा. टी. हेमाद्रि)

इक्षुकाश–पु., काशतृणम् (मदव.)

इक्षुकीय–पु., इक्षुयुक्तदेशः

इक्षुगण्डिका–स्त्री., काशतृणम् (वै. नि.)

इक्षुजटा–स्त्री., इक्षुमूलम् (चि. क. क. प्रदरचि.)

इक्षुनेत्र–न., इक्षुमूलम् । येनेक्षुः पुनरुत्पद्यते (रा.व. १४)

इक्षुपत्र (क)–पु., यावनालः

इक्षुपत्री–स्त्री., वचा, शुक्लभूमिकूष्माण्डः

इक्षुपाक–पु., गुडः ।

इक्षुपुङ्खा–स्त्री., शरपुङ्खा (रा. व. ४)

इक्षुप्र–पु., शरतृणम् (रा. वा. ८)

इक्षुभक्षिका–स्त्री., इक्षुरसनिष्कासने यन्त्रम्

इक्षुमद्य–न., इक्षुविकारजमद्यम् ' इक्षुदण्डं मरिचं बदरञ्च तथा दधि । शेषे तु लवणं दत्त्वा इक्षुमद्यं प्रकीर्तितम् ' (वै. नि.)

इक्षुरवी (बी) ज–न., कोकिलाक्षबीजम्

इक्षुरसविकार–पु., इक्षुगुडः

इक्षुरालिका–स्त्री., इक्ष्वालिका (रत्ना । च. २ चि. अ.) बृंहणीवट्यां)

इक्षुविदारिका (री)–स्त्री., भूमिकूष्माण्डः (प. मु)

इक्षुवेष्ट (लः) पु., मुञ्जतृणम् (भा. पू० १भ. गु. क)

इक्षूरक(बीज) न., कोकिलाक्षबीजम्

इक्ष्वालि (क) (का)–वि., इक्षुभक्षकः (च. चि. २)

इक्ष्वाद–पु., काशतृणम् (मद. व १)

इङ्ग–वि., जङ्गमम् (हे. च.)

इङ्गल–पु., इङ्गुदीवृक्षः (वै. नि.)

इङ्गुल–(ली) पु., स्त्री., इङ्गुदीवृक्षः (रा. व. ८ न., हिङ्गुलः (मा. नि. वि. जर.)

इच्छाभेदिन्–पु., भेदकरसविशेषः (र. सा. सं. विरेकाधिकारे)

इच्छुक–पु., मातुलुङ्गवृक्षः (श. च.)

इज्जल–पु., हिज्जलवृक्षः समुद्रफलं इति च लोके । ' शीतलः संग्राही वातकोपनः विशेषेण विषघ्नः (मद. व. ५) कुष्ठहृत् वातकोपनश्च (भा.पू. १ भ.)

इञ्चुक–पु., मत्स्यविशेषः (त्रि. का.)

इटचर–पु., षण्डः (अम.)

इडा–स्त्री., शरीरवामभागस्थनाडी वाममुष्काधःस्था धनुर्वक्रा वामनासिकापर्यन्तगता या नाडी, सा इडा इत्युच्यते (हे. च.)

इडाचिक–स्त्री., वरटा (श. च.) गन्धोली

इडिक–(क्कः) पु., वन्यच्छागः वानरः (हा. रा.)

इड्वर–पु., वृषः (अ. टी.) स्वामी

इत्कटा–स्त्री., सूक्ष्मपत्रिका– दीर्घलोहितयष्टिकाकाष्ट-विशेषः (वा. सू. १५) वेल्लन्तरादिवर्गः

इत्किला–स्त्री., गोरोचनाख्यगन्धद्रव्यम् (श च)

इदङ्कार्या–स्त्री., दुरालभा (श. च.)

इध्म–न., अग्निदीपनकाष्ठम् (अम.)

इनानी–स्त्री., वटपत्रीवृक्षः (रा. व. ५)

इन्दंवर–न., नीलकमलम् । नीलपद्म (श. मा.)

इन्दिन्दिर–पु., भ्रमरः (त्रि. का)
इन्दिरा–स्त्री., लक्ष्मी (त्रिका)
इन्दिरामन्दिर–न., विष्णुः (रा.)
इन्दिरालय–पु., पद्मम् (श. र.)
इन्दिरावर–न., नीलपद्मम् (प. मु. श. र.)
इन्दीवरा (री) स्त्री., शतमूली (प. मु.)
अजशृङ्गी (प. मु) कदलीवृक्षः (वै. नि.)
इन्दीचिर्भटी (रा. व. ३)
इन्दुकान्त–पु., चन्द्रकान्तमणिः (रा. व. १३)
इन्दुचन्दन–न., हरिचन्दनम् (वै. नि)
इन्दुपत्र–पु., भूर्जवृक्षः (संग्रह)
इन्दुपोदकी–स्त्री., वेल्लिका (रा. व. ३२)
इन्दुफल–पु., आम्रातकः (वै. नि)
इन्दुमुखी–स्त्री., पद्मिनी (वै. नि)
इन्दुर–पु., मूषिकः अयं बिलेशयः बिलेशयत्वात् एतन्मांसं वातघ्नं मधुरं बृंहणं बद्धविण्मूत्रं वीर्योष्णञ्च (भा. पू. १ भा.)
इन्दुरकर्णिक (र्णी)–स्त्री., आखुकर्णीलता
इन्दुरसा–स्त्री., पिष्टकभेदः (वै. नि.)
इन्दुरा–स्त्री., सोमराजी (वै. नि)
इन्दुवल्लिका (ल्ली)–स्त्री., सोमलता गुडूची (जटा) सोमराजी यमानी (वै. नि.)
इन्दुशकला–स्त्री., सोमराजी (वै. नि)
इन्द्रकर्णक–पु., रक्तैरण्डः ।
इन्द्रकोष–पु., निर्यूहः । निर्यासः । तमङ्गकम् (हे. च. हला.)
इन्द्रगुप्त–न., उशीरम् (अ. टी. भ.)
इन्द्रचन्दन–न., हरिचन्दनम् । रक्तचन्दनम् (रा. व. १२)
इन्द्रच्छन्द–न., सहस्रगुच्छहारः । (हे. च.)
इन्द्रज–पु., इन्द्रयवः । (वै. नि.) कुटजवृक्षः (वै. नि. अ. सा. चि. कुटजचूर्णे)
इन्द्रजतु–न., शिलाजतुः (वै. नि.)
इन्द्रजम्बूकवत्पात्रा–स्त्री., कृष्णसारिवा (भा. पू. १ भ.)
इन्द्रजिह्वा–स्त्री., लाङ्गलिवृक्षः
इन्द्रतरु–पु., अर्जुनवृक्षः । (वै. नि.)
इन्द्रतूल(क)–न., आकाशे उड्डीयमानसूत्रम् । कार्पासः । अर्कवृक्षतूलकः (त्रिका.)
इन्द्रद्युति–न., चन्दनम् (वै. नि.)
इन्द्रद्रु–(म)–पु., अर्जुनवृक्षः (श. र. अ. म.) कुटजवृक्षः (रा. व. ८) देवदारुवृक्षः (भा. पू. अने.)
इन्द्रपुष्प–न., लवङ्गम् (र. सा. सं. पूर्णचन्द्ररसे)
इन्द्रब्रह्मवटी–स्त्री., अपस्मारे हिता (र. सा. सं.)
इन्द्रभेषज–न., शुण्ठी (श. र.)
इन्द्रमद–पु., तरुगुल्मज्वरः (गजवै.)
इन्द्रमहाकामुक–पु., कुक्कुरः (त्रिका.)
इन्द्रलोहक–न., रौप्यम्
इन्द्रवचा–स्त्री., इन्द्रयवः (रा. व. ८)
इन्द्रवटी–स्त्री., प्रमेहाधिकारे प्रयोज्येयम् । मृतं सूतं वङ्गमर्जुनस्य त्वचान्वितं । तुल्यांशं मर्दयेत् खल्ले शाल्मल्या मूलजद्रवैः (र. सा. सं. का. सौ.)
इन्द्रवि(वृ)द्धा–स्त्री., वातपित्तजन्यक्षुद्ररोगान्तर्गतव्रणरोगविशेषः (मा. नि. ५५.८)
इन्द्रसुत–पुं., अर्जुनवृक्षः (रा. व. ८)
इन्द्रसुरस–(सा) (पु., स्त्री.,) निर्गुण्डीवृक्षः (रत्नाअ)
इन्द्रसुरिष–(स) (पु.,) निर्गुण्डीवृक्षः (र. मा. अ. म.)
इन्द्रस्वरस–पु., पुष्टिजलम् (च. द. अर्शचि.नागार्जुनयोगे)
इन्द्रार्धपादप–पु., क्रमुकवृक्षः (रा. व. ११)
इन्द्राशन–(क) पु., संविदावृक्षः (जातीफलादिवर्ग्याम्) गुञ्जा कुष्ठौषधे (हा. रा.)
इन्द्रियकर्म–न., चक्षुरादीनां शब्दाकर्णनस्पर्शग्रहणरूपदर्शन–रसग्रहण – गन्धग्रहणवचनादानविसर्गमनानन्दाख्यानि (सु. शा. १)
इन्द्रियगोचर–त्रि., इन्द्रियविषयः
इन्द्रियग्राम–पु., शरीरम् (वै. नि.) इन्द्रियसमूहः
इन्द्रियघ्न–पु., चक्षुरोगविशेषः
इन्द्रियज्ञान–न., इन्द्रियजन्यज्ञानम्
इन्द्रियबुद्धी–स्त्री., इन्द्रियजन्यज्ञानम्
इन्द्रियवर्ग–पु., एकादशेन्द्रियाणि इन्द्रियसमूहः
इन्द्रियवैकल्य–न., इन्द्रियदुर्बलता
इन्द्रियसंताप–पु., इन्द्रियवैकृतिः
इन्द्रियस्वाप–न., प्रलयः, निद्राचेष्टानाशः (रा. व. २०)
इन्द्रियागोचर–स्त्री., अतीन्द्रियम्
इन्द्रियायतन–न., शरीरम् (हे. च.)
इन्द्रियार्थ–पु., इन्द्रियजन्यज्ञानविषयम् । यथा–रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः (अम.)
इन्द्रोपल–न., नीलहीरकः (प. मु.)
इभदन्ता–स्त्री., हस्तिशुण्डीवृक्षः । (रत्ना.) नागदन्ती (र. मा)
इभदन्ताह्वा–स्त्री., नागदन्ती (र. मा. रत्ना.)
इभपुष्प–न., नागकेशरम् (भेष. मु. रो. चि.) (बृहत्खदिरवर्ग्याम्)

इभपोटा–स्त्री., करिशावकः
इभबला–स्त्री., नागबला (वै. नि. क्षय चि. वासाद्यघृते ।)
इभमज्जक–पु., पुत्रदात्री लता (वै. नि.)
इभमाचल–पु., सिंहः
इभमूलक–न., हस्तिमूलकम् । गन्धतृणम् (वै. नि)
इभषा–स्त्री., स्वर्णक्षीरी (र. मा.)
इभाख्य–पु., नागकेशरवृक्षः (त्रिका.)
इभावती–स्त्री., वटपत्रीवृक्षः
इभी–स्त्री., हस्तिस्त्री
इभोषणा–स्त्री., गजपिप्पली (श. च)
इभ्या–स्त्री., शल्लकीवृक्षः । करिणी (मे. यद्विकम्)
इरणम्–न., उषरभूमिः (अ. टी. र, रा. व. २)
इरिकील–पु., अङ्कोलवृक्षः (वै. नि)
इरिणम्–न., ऊषरभूमिः (अजय. रा. ब. २)
इर्म्म (म्)–न., व्रणः । क्षतम् (अम.)
इर्वारु–पु., स्त्री., कर्कटीनामफलशाकवि० (प. मु.) रोमशकर्कटीति (ड. सु. सू. ४२ अ. मधुरवर्गः)
इर्वारुशुक्ति (का)–स्त्री., फुटीति ख्यातनिर्भिन्नकर्कटी (हा. रा.)
इर्वालु–पु., स्त्री., कर्कटिका (अ. टी. रा.)
इली–स्त्री., करबालिका (अ. टी. रा.)
इल्लल–पु., पक्षिभेदः (श. च.)
इल्वल–पु., मत्स्यभेदः (मे. लत्रिकम्)
इशि (शी) का–स्त्री., गजाक्षिगोलकः । शरकाण्डम् (अ. टी. भ.)
इषिर–पु., अग्निः
इषुगोलक–पु., कोकिलाक्षवृक्षः
इषुपत्रिका–(त्री)–स्त्री., अर्कमूली (र. मा)
इष्ट–पु., एरण्डवृक्षः (श. च)(न) उशीरम् (अ.टी.भ.)
इष्टा–स्त्री., शमीवृक्षः (रा. व. ८)

ई

ईक्षणिक–पु., स्त्री., हस्तरेखाद्यवलोकनम् (नेन) शुभाशुभकथनजीवी
ईक्षा–स्त्री., दृष्टिः
ईज्या–स्त्री., भूमिः । गौः (वै. नि.)
ईडा–स्त्री., नाडी
ईड्या–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि. ज्वरचि.)
ईप्सितफल–पु., नारिकेलवृक्षः
ईरिण–न., उषरक्षेत्रम् (मे. णत्रिकम्)
ईर्म–न., व्रणः (हारा. क्षतम् (अम.)
ईर्वारु–पु. स्त्री., कर्कटी (श. र.)
ईर्वारुशुक्ति–स्त्री., खर्भूज इति प्रसिद्धफललता (श. र)
ईश–पु., पारदः (अञ्जनरसः) (र. सा. स.) (पञ्चवक्त्ररसः) (वै. नि. ज्वचि.)
ईशलिङ्गिनी–(ङ्गी)–स्त्री., भवलिङ्गीलता (भा. म. ४ भ. यो. व्या. चि.)
ईशा–स्त्री., लाङ्गलदण्डम् (मे. शद्विकं)
ईशादन्त–पु., हस्तिदन्तः (शर) (न्तः न्ती) उदयदन्तिः (हे. च. त्रिका.)
ईशानवायु–पु., तद्दिग्भववातः । सच कटुकः (वै. नि.)
ईशावस–पु., कर्पूरभेदः । गुणाः–भेदी वृष्यो मदापहः अतिशुक्रोन्मादतृषाश्रमकासकृमिक्षयान् स्वेदग्रैवाङ्ग-दाहञ्च नाशयेत्
ईशिर–पु., अग्निः (त्रिका.)
ईश्वरमल्लिका–स्त्री., वकवृक्षः (वै. नि.)
ईश्वरमूलक–पु. न., तरुभेदः (भेष.) (कुष्ठ.) (कन्दर्पसारतैले)
ईष–पु., आश्विनमासः (अ. टी. भ.)
ईषत्पाण्डु–पु., धूसरवर्णः (अम.)
ईषदुष्ण–त्रि., कवोष्णम्
ईषद्दीर्घ–न., वातामफलम् (वै. नि)
ईषद्बीजा–स्त्री., बेदाना इति ख्यातफलवृक्षः
ईषादन्त–पु., दीर्घदन्तराजः (हे. च.)
ईषिकास्त्र–न., अस्त्रविशेषः । येन वासवोऽश्वानां पक्ष-च्छेदं कृतवान् (नकुलः १ अ)
ईष्म–पु., वसन्तकालः (उणा.)
ईहामृग–(वृक)–पु., कोकः (रत्ना.) कुक्कुरवत् हरिण-घातिकपिलवर्णजन्तुविशेषः (रा. व. १८ वृकः) (श. र.)

उ

उकनाह–पु., पीतरक्तवर्णघोटकः (हे. च.) लक्षणम् रक्तपीतकषायोत्थवर्णजो यस्य दृश्यते । उकनाहः स विख्यातो वर्णो वाहस्य देहजः (ज. द. ३. अ)
उकुण–पु., शिरःकीटः
उत्क्लेद–पु., वमिः
उख (ष) र. न., क्षारभूमिः यत्रोप्तं बीजं न रोहति । क्षारमृत्तिका (वै. नि. रा. व. २)
उख (ष) रज–न., पांशुलवणम् रोमकनाम अयस्का-न्तभेदम् लवणम् (रा. व. २०)

उखर्वल–पु., तृणविशेषम् (हिं--उखल) गुणाः–बलदः रुचिजनकः । पशूनां सदा हितश्च

उखल–पु., उखर्वलतृणम् (रा. व. ८)

उख्य–त्रि., उखासंस्कृतम् मांसादि (हिं–हाण्डि)

उग्रनासिक–पु., दीर्घनासिकः (ह. व.)

उग्रपत्रक–पु., महानीली (वै. नि.)

उग्रभा–स्त्री., गोनसवली (वै. नि.)

उग्रवीर्य–न., हिङ्गुः (रा. व. ६)

उङ्कुण–पु., उत्कुणः (श. भा.)

उच्च–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. व. ११) सरलदेवदारः (त्रि.,) उन्नतः

उच्चट–पु., वङ्गम् (वै. नि.)

उच्चटापत्र–पु., क्षुद्रतालिशपत्रम् न., चिञ्चोटकपत्रम्

उच्चटाफल--न., रक्तगुञ्जा (भेष. कुष्ठ. चि. महाभल्लातकगुडे)

उच्चटामूल–न., चिञ्चोटकमूलम् (सु. चि. २६)

उच्चन्द्र–पु., निशाचतुर्थप्रहरः (श. र.)

उच्चल–न., मनः (हे. च.)

उच्चललाटा(टिका)–स्त्री., मरुण्डी (हारा) उच्चललाट-विशिष्टा (त्रिका)

उच्चाटन–स्त्री., उत्खातनम् । षट्कर्मान्तर्गताभिचारकर्म (तन्त्रम्)

उच्चिटिङ्ग–पु., उच्चिटिङ्गनामकीटः

उच्चूल–पु., ध्वजोर्ध्वमुखकूर्चम् (हे. च.)

उच्छिलीन्ध्र–न., गोमयच्छत्राकम् (भागवत)

उच्छिष्टमोदन–न., सिक्थकम् (रा. व.)

उच्छेद–पु., उन्मूलनम्

उज्जासन–न., मारणम् (अम.)

उज्झटा–स्त्री., भूम्यामलकी

उञ्छ–पु., उञ्छशिला (जटा)

उट–पु., शुष्कतृणम् (वै. नि.)

उट्टङ्क–न., मूत्रम् । अस्त्रभेदः ।

उडु–न., उदकम् (अ. टी. भ.)

उडुपप्रिया–स्त्री., कमलिनी (म. द. व. ३)

उडुम्बर–पु., स्त्री., उदुम्बरवृक्षः (अम.) कुष्ठरोगविशेषः (मे.) लक्षणम्–उडुम्बरफलाभासं कुष्ठमौडुम्बरं वदेत् (मा. नि.) ताम्रम् (प. मु.) कर्षमानम् (२ तो.) (प. प्र.)

उडुम्बरदला–स्त्री., दन्तीवृक्षः (रा. व. ६)

उडुम्बरपर्णी–स्त्री., दन्तीवृक्षः (श. च.)

उड्डामररस–पु., पित्तगुल्माधिकारे रसः (रसरगुल्मचि.)

उड्र-(पुष्प)–पु., न., जपापुष्पवृक्षः । जपापुष्पम् (वै. नि.)

उद्र–पु., न., जपापुष्पवृक्षः

उत्कट–पु., उष्णवारणः (हा. रा.)

उत्कण्टक–न., वृक्षभेदः (च. चि. ३)

उत्कलिका–स्त्री., उत्कण्ठा (हा. रा.)

उत्कुट–न., उत्तानशयनम् (हारा.)

उत्कुण–पु., केशकीटः (हे. च.)

उत्खला–स्त्री., सुरानाम गन्धद्रव्यम् (श. च.)

उत्तप्त–न., शुष्कमांसम् त्रि., तप्तः । स्नातः

उत्तमफलिनी–स्त्री., दुग्धिका (प. मु.)

उत्तमवारि–न., तण्डुलोदकम्

उत्तमवैद्य–पु., कृतसाङ्गवेदाध्ययनः वैद्यः

उत्तमाङ्ग–न., मस्तकम् (रा. व. १८ (त्रि.) उत्कृष्टाङ्गम्

उत्तरकाल–पु., भाविकालः

उत्तरङ्ग–न., द्वारस्योपरितिर्यक्काष्ठम् (हला.)

उत्तरायण–न., मकरसंक्रान्तितो मिथुनसंक्रान्ति-समाप्तिपर्यन्तकालः सवितुरुत्तरमार्गगतिरूपः वा कालः । तत्रादानं जानीयात् यतस्तदा नृणां प्रतिदिनं सारमादत्ते, आदित्यपवनयोः भुवः सौम्यगुणहरत्वात् (वा. सू. ३ अ)

उत्तरिणी–स्त्री., उत्तमारणी

उत्तानक–पु., मुस्ताभेदः; उच्चटा (र. मा. रत्ना.)

उत्तानशय–पु., स्तन्यपायिशिशुः अतिशिशुः (अम.)

उत्तानशायी–त्रि., उत्तानशायि (वै.नि.)

उत्ताप–पु., तेजः, उष्णता

उत्तापन–न., उष्णताकरणम्

उत्तार–पु., वमनम्

उत्ताल–पु., मर्कटः (मे. लत्रिकं त्रि.) उत्कटः

उत्तुष–पु., लाजा (हा. रा.)

उत्तेजि (रि) त–न., अश्वस्य मध्यवेगगतिः; इयं चतुर्थ-पञ्चमगतिः

उत्तोलन–न., उत्क्षेपणम्

उत्थित–पु., सरलवृक्षः (रा. व. १२)(त्रि) उत्पन्नम् (मे. तत्रिकम्)

उत्थिताङ्गुलि–पु., चपटः (श. च.)

उत्पलकुष्ठक–पु., कुष्ठौषधिः (वै. नि.)

उत्पलकेसर–न., पद्मकेशरम् (भेष. क्षुद्र)(रो चि.) (कनकतैले)

उत्पलगन्धिक–न., अतिसुरभिचन्दनविशेषः
उत्पलगोपा–स्त्री., श्वेतसारिवा
उत्पलदल–न., तन्नामकारम् छेदने भेदने च। लक्षणं यथा "उत्पलाध्यर्द्धधाराख्ये भेदने छेदने तथा (अ. त्रि.)
उत्पलमृत्–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (च. द. रक्तपित्तचि.)
उत्पलशारिवा–स्त्री., श्यामालता (प. मु)(र. मा.) अनन्तमूलम् (अम.)(भेष. ध्व. भ. चि.)
उत्पलषट्क–न., योगविशेष०। 'उत्पलं धान्यकं शुण्ठी पृश्निपर्णी बलायुतं। बालबिल्वं गवां तक्रेणात्युष्णे न च पेषयेत्। तेन लाजकृतं मण्डं देयमानीय शीतलम्। ज्वरातिसारशमनं हुताशनबलप्रदम् (हा. अत्रि. ३ स्था ३. अ.)
उत्पली–स्त्री., तुषचर्पटी (मे. लत्रिकम्)
उत्पादक–पु., शरभः (हे. च.)
उत्पादशयन–पु., टिट्टिभः (हे. च.)
उत्पादिका–स्त्री., उपजिह्विका (हारा.) हिलमोचिका उपोदिका (त्रिका.) देहिकानामकीटविशेषः (श. च.)
उत्पार–पु., शुद्धघृतम्
उत्पाली–स्त्री., आरोग्यम् (श. च.)
उत्पिञ्जल–त्रि., भृशमाकुलः (हे. च.)
उत्पीड–पु., सुरामण्डः फेनः
उत्प्राण–पु., श्वासः (वै. नि.)
उत्सङ्गपिडिका–स्त्री., नेत्रवर्त्मगतरोगविशेषः नेत्राधोवर्त्मनि सञ्जातपिडका। सा च स्थूला कण्डूमती अधोवर्त्मनि सोत्सङ्गा वर्त्माभ्यन्तरमुखी बहिस्तान्तःपूया च (मा. नि.)
उत्सर्जन–न., दानम् (अ. म.)
उत्सर्जनी–स्त्री., गुदस्य द्वितीया वली। उत्सर्जनी तु तदधः सा सार्द्धाङ्गुलसम्मिता (भा.)
उत्सर्या–स्त्री., प्राप्तप्रजननकालायां गतिः (जटा.)
उत्सव–पु., इच्छाप्रसवः उत्सेकः उत्साहः। क्रोधः (मे. वत्रिकम्)
उत्साहयुक्त–पु., शरभः (मद व. १२)
उत्साही–पु., भक्तरोगी
उत्सिहन–न., नासया ऊर्ध्वश्वासधारणः (वा. सू.)
उत्सुक–त्रि., उत्कण्ठितः व्यग्रः
उत्सूर–पु., सन्ध्याकालः दिनावसानम्
उत्स्मय–पु., मन्दहास्यम् (वै. नि.)
उत्क्षत्तिका–स्त्री., आतङ्कविशेष० (हे. च.)
उदकमञ्जरीरस–पु., रसोऽयं निरामज्वरे देयः, सूतो गन्धष्टङ्कणः सोषणः स्यादेतैस्तुल्या शर्करा मत्स्यपित्तैः। भूयो भूयो भावयेच्च त्रिरात्रं वल्गो देयः शृंगवेरस्य वारा। शर्करास्थाने मनःशिलादानेन चन्द्रशेखररसो भवति
उदकषट्पल(घृत)–न., अर्शोरोगे देयः (च. द. अर्शचि.)
उदकिका–स्त्री., बला नामक्षुपः (रा. व. ४)
उदकी–स्त्री., पाठा (वै. नि. ग्रह. चि. २, अतिविषादि.)
उदकोदर–न., जलोदरनामरोगः
उदक्या–स्त्री., रजःस्वला (अम.)
उदण्डपाल–पु., मत्स्यविशेषः (मे. लपञ्चकम्)
उदद्या–स्त्री., तैलपिपीलिका (रा. व. १८)
उदधिफल–न., समुद्रफेनः (वै. नि.)
उदधिलवण–न., सामुद्रलवणम् (भा. नि)
उदधिशुक्ति–स्त्री., मुक्तास्फोटः
उदधिसम्भव–न., सामुद्रलवणम् (भा. पू. १ भ)
उदन्तिका–स्त्री., तृषिः (हारा.)
उदन्या–स्त्री., पिपासा (रा. व. २०)
उदपर्णी–पु., कुधान्यविशेषः (सु.सू. ३८)
उदमन्थ–पु., उदकप्रधानमन्थः (च. सू. ६) आलोडितसघृतशक्तौ। स च ग्रीष्मे पेयः (भा.)
उदमान–न., वारिमानाढकः
उदम्बर–पु., शरीरजकृमिभेदः (शार्ङ्ग ७ अ)
उदयभास्करकर्पूर– पु., स्वनामख्यातकर्पूरः, स च पक्वः। सदलनिर्दलभेदेन द्विभेदः। गुणाः–पीतः सरः स्वच्छकः सम्प्रोक्तः कठिनः कटुः समुदितः स्याद्दीपकोऽग्नेर्लघुः। श्रीदः पित्तकरः कफकृमिविषान् वातञ्च नासास्रुतिं लालास्रावगलग्रहौ च शमयेत् जिह्वाजडत्वापहः (वै. नि.)
उदरग्रन्थि–पु., अश्मरीरोगः। गुल्मरोगः (हे. च. अन्त्रम् प्लीहा)
उदरनाडी–स्त्री., अन्त्रनाडी
उदरपरीक्षा–स्त्री., जठरपरीक्षा
उदरपिशाच–पु., सर्वान्नभक्षकः (षे. च.)
उदरपीडा–स्त्री– उदरामयः
उदरभङ्ग–पु., अतीसाररोगः
उदररस–पु., उदरस्थपाचकरसः
उधरठ्याधि–पु., उदरामयः
उदरस्फुटा–स्त्री., नागवल्ली (वै. नि.)

उदराग्नि-जठराग्नि; लघुतालीशपत्रम् (वै. नि.)
उदरानलपत्रक-पु.,
उदरामय-पु., अतिसाररोगः
उदरामयकुम्भकेशरी-पु., प्लीहाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
उदरारिस-पु., उदराधिकारे रसः (र. सा. सं.)
उदरावर्त-पु., नाभिः (रा. व. १८)
उदरिणी-स्त्री., गर्भवती (हे. च.)
उदरिल-त्रि., महोदरयुक्तः
उदरी-त्रि., उदरिलः (हे. च.)
उदर्क-पु., धुस्तूरवृक्षः मदनकण्टकः (मे. कत्रिकम्)
उदर्चि-पु., अग्निः (मे.)
उदर्द्द-पु., ज्वरविशेषः
उदलावणिक-त्रि., लवणोदकसिद्धव्यंजनम्
उदात्यूह-पु., जलकाकः (वै. नि.)
उदार-पु., दीर्घशालिः
उदित-पु., निवारः (प. मु.)
उदीक्षण-न., दर्शनम्
उदीच्यकाष्ठ-न., तोपचिनीति ख्यातद्रव्ये (दै. नि)
उदुम्बरच्छदा-स्त्री., हस्त्यदन्तीवृक्षः (रा. व. ६)
उदुम्बरपर्णी-स्त्री., दन्तीवृक्षः (प. मु)(र. मा) लघुदन्तीवृक्षः (भा. पू. १ भ)
उदुम्बरमशक-पु., मूषिकः (वै. नि.)
उदूखलसन्धि-पु., उदूखलाकारग्रीवोर्ध्वगतसन्धि (भा) कक्षावङ्क्षणदशनसन्धिः । (सु. शा. ५)
उद्गम-पु., वान्तिः
उद्गमनी-न., धौतवस्त्रम् (अम.)
उद्गारकमणि-पु., प्रवालम् (पोवळे) (राव १३)
उद्गारण-न., उद्गारकरणम्
उद्गारशोधन-पु. न., श्वेतजीरकम् कृष्णजीरकम् (भा. पू. १ भ)
उद्गारशोधिनी-स्त्री., जीरकम् (वै. नि.)
उद्गाह-पु., उद्गारः (वै. नि.)
उद्ध-पु., देहस्थवायुः (मे. धात्रिकम्) हस्तपुटम् (हे.च.)
उद्धट-न., वार्ताकुपुष्पम् (वै. नि.)
उद्धस-न., मांसम् (हा. रा.)
उद्धाटक-न., घटीयन्त्रम् (हे. च.)
उद्धात-पु., पादस्खलनम् कालभेदः (मे.)(तत्रिकम्) पवनाभ्यासयोगाय कुम्भकादित्रयाणि (विश्व.) (तत्रिकम्) अस्त्रम् (त्रिका)
उद्दंश-पु., मत्कुणः (हे. च) दंशकीटः
उद्दण्डपाल-पु., मत्स्यविशेषः । सर्पविशेषः (मे.)
उद्दानक-पु., शिरीषवृक्षः (रा. व. ८). चुल्ल्याम् (विश्व.)
उद्दाला-स्त्री., आरी इति महाराष्ट्रे
उद्दिष्ट-पु., बदरवृक्षः
उद्दीप-प्र. पु. गुग्गुलः (अ. टी. भ.)
उद्देश-पु., गिरिगण्डकूपम् (हा. रा.) समासकथने । " समासकथनमुद्देशः, यथा शल्यमिति (सु. उ. ६५) उपदेशः " (हा. रा.)
उद्देहिका-स्त्री.; उत्पादिका ' वालवी ' इति ख्यातः महाराष्ट्रीये कीटविशेषः
उद्धम-पु., कष्टश्वासः
उद्धान्त-पु., निर्मदकारि (अम.)
उद्धारा-स्त्री., गुडूची (श. च.)
उध्दूषण-न., रोमाञ्चः (ह. ला.)
उद्धूत-त्रि., परिभुक्तोज्झितः (मे. तत्रिकम्)
उद्धट-पु., कच्छपः
उद्भूत-स्त्री., उत्पन्नः जातः
उद्भेद-पु., अङ्कुरः (रा. व. २)
उद्भ्रम-पु., उद्वेगः (अ.म.)
उद्यव-पु., मिश्रणम् । संयोजनम्
उद्योग-पु., चेष्टा
उद्र-पु., जलमार्जारः (हा. रा.) जलनकुलः (त्रि. का.)
उद्रथ-पु., वृक्षविशेषः ताम्रचूडः म. पाचकः (मे)
उद्राह्व-पु., रक्तचित्रकः (वै. नि.)
उद्रिक्तचित्तता-स्त्री., पानात्ययरोगः मत्तता (रा. व. २०)
उद्वत्सर-पु., संवत्सरः (हे. च.)
उद्वह-पु., पुत्रः । उदानवायुः (स्त्री.,) कन्या
उद्वान्त-पु., निर्मदगजः त्रि., उद्वमितः (मे तत्रिकम्)
उद्वाहनी-स्त्री., वराटकः
उद्विडाल-पु., जलविडालः
उधस्-न., (र.) म् न आपीनम् (हला.)
उध्मान-न., चुल्ली (अ. टी. भ.)
उन्दक-पु., धवलयावनालः (रा. व १६)
उन्दर-पु., मूषिकः
उन्दिरमारी-स्त्री., मूषिकारी तन्नाम्ना कोङ्कणे प्रसिद्धा । गुणाः-मूषकारी तु कटुका नेत्र्या चाखुविषापहा । व्रणदोषं नेत्ररोगं नाशयेदिति च स्मृतम् (रा. व. ४)

उन्दरुपर्णी–स्त्री., आखुकर्णी (रा. व. ३)
उन्दूवर–ताम्रम् (भा.)
उन्न–न., सुरतः । त्रि., क्लिन्नम् (मे. नद्विकम्)
उन्नाह–न., काञ्जिकम् (अम)
उन्मत्तकारिणी–स्त्री., दुग्धिका
उन्मत्ता(हिं–दुधियार)
उन्मत्तरस–पु., शीताङ्गसन्निपाते रसः
(र. सा. सं. शीताङ्गसन्निपातज्वरः)
उन्मन–पु., उन्मादवायुः । द्रोणपरिमाणम्
(प. प्र. १ भ)
उन्मनायित–न., उन्मादः (रा. व. २०)
उन्मन्थक–पु., कर्णपालीगतरोगविशेषः (सु. चि. २५)
उन्मादगजाङ्कुश–पु., उन्मादाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
उन्मादपर्पटीरस–पु., उन्मादाधिकारे रसः (र.सा. सं.)
उन्मादभञ्जनरस–पु., उन्मादाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
उन्मादभञ्जिनी–स्त्री., उन्मादाधिकारे रसविशेषः । (भेष. रसे. चि) उन्मादगजांकुश इति नामान्तरम् ।
उन्मादिनी–स्त्री., विजया
उन्मीलन–न., उन्मेषः (हे. च.)
उपकण्ठ–न., अश्वस्यास्कन्दितः । कण्ठसमीपः (हे. च.)
उपकर्णिका–स्त्री., मूषकर्णिका (वै. नि. २ भ. अर्श. चि. विडङ्गादिचूर्णलेहे)
उपकारिका–स्त्री., पिष्टकभेदः (मे. कपञ्चकम्)
उपकुम्भा–स्त्री., दन्तीवृक्षः (वै. नि.)
उपकूप–पु., दीर्घिका (हे. च.)
उपक्रोष्टा–पु., स्त्री., गर्दभः
उपघातक–पु., आरग्वधवृक्षः (वै. नि.)
उपघ्न–पु., निकटाश्रयः (अम)
उपचक्षु–न., चक्षुःप्रतिनिधिः चष्मा इति भाषायाम् ।
उपचर्या–स्त्री., चिकित्सा, सेवा
उपचार्य–पु., चिकित्सा (हे. च.)
उपचित–त्रि., दग्धम् (मे.)
उपचित्रका–स्त्री., ह्रस्वदन्ती
उपचिल्ली–स्त्री., श्वेतचिल्लीशाकम् (रा. व. ७)
उपतप्त–पु., रोगः (अ. टी. भ.)
उपदन्त–पु., कुस्तुम्बरी
उपदल–न., पुष्पदलम्
उपदी–स्त्री., वन्दाकः (रा. व. ५)
उपदीका–स्त्री., उपजिह्वाख्यकीटः (हे. च.)
उपदेवता–स्त्री., यक्षभूतपिशाचादि

उपदेहिका–स्त्री., उपजिह्वाकीटः (हे. च.)
उपधूपित–त्रि., आसन्नास्तमयः (हा.रा.) आसन्नमरणम्
उपपुष्पिका–स्त्री., हाफीका (हा. रा.)
उपभूती–स्त्री., महानीली (वै. नि.)
उपभोग–पु., भोगः । भोजनाधिकभोगः
उपमाता–स्त्री., धात्री
उपमेत–पु., शालवृक्षः
उपयोग–पु., औषधक्रिया औषधसेवनम् । आनुकूल्यम्
उपरन्ध्र–न., अश्वस्य उदरगह्वरोपरिभागः
उपरोधक–न., गर्भगृहम् (श. च.)
उपलवीरुत्–स्त्री., गुल्मिनी (हे. च.)
उपला–स्त्री., शर्करावालुका (मे.)
उपलाख्यक–पु., दद्रुघ्नवृक्षः
उपलासिता–स्त्री., तृष्णा (वै. नि.)
उपलालिका–स्त्री., खटीशर्करा (वै. नि.)
उपलिङ्ग–न., उपद्रवम् । अरिष्टम् (हे. च.)
उपलेपन–न., गोमयादिलेपनम् (त्रि. का.)
उपलौह–न., स्वर्णादिधातुविशेषः । यथा–स्वर्णं तारं ताम्रनागं रसं कान्तञ्च तीक्ष्णकं । मुण्डान्तमष्टधा लौहं कांस्यारं घोषकं तथा । उपलौहाः समाख्याताः
——(वै. संग्रहे)
उपवन–न., बहिरुद्यानम् (अम.)
उपवनस्थ–पु., तरुष्कः
उपवल्लिका–(ल्ली)–स्त्री., अमृतस्रवा लता (रा. व ३)
उपवर्ह–(ण)–पु., न., उपधानम्
उपवस्त–न., उपवासः (अम.)
उपवाह्य–पु., राजवाहकहस्ती
उपविषपञ्चक– न., स्नुह्यर्ककरवीरलाङ्गलिकुचेलकानि (रा. व. १२) करवीरार्कधुस्तूरलाङ्गलिगुञ्जाहिफेनं वज्रञ्च (प. मु) अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः । गुञ्जाहिफेनधुस्तूरश्चेति सप्त (भा) दुग्धपूर्णपात्रे दोलायन्त्रेण तत् सर्वं शोधितं भवति (र. सा. सं.)
उपविषाणिका–स्त्री., कृष्णातिविषा
उपविष्टक–पु., गर्भजरोगः
उपवीत–न., यज्ञसूत्रम् (अ. म.)
उपवेद–पु., आयुर्वेदः
उपवेश–पु., उपवेशनम्
उपव्याघ्र–पु., चित्रकः (रा. व. १८)
उपशमक्रम–पु., साधारणौषधम् (वै. नि).

उपशान्ति–स्त्री., आरोग्यम्
उपशायिता–स्त्री., रोगमुक्तिसाधनभूतपथ्यम्
उपसन्नवर्तन–न., दुष्टव्रणविशेषः
उपसम्पन्न–न., तृप्तिः (हला) त्रि., निहतः। सुसंस्कृतः (मे. नपञ्चकम्)
उपसंव्यान–न., परिधानवस्त्रम्
उपसत्ति–स्त्री., सेवा (मे. तचतुष्कम्)
उपसर–पु., प्रथमगर्भधारणा
उपसर्या–स्त्री., वर्षप्रसविनी गौः (हला.)
उपस्थपत्र–न., अश्वत्थपत्रकम्। पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपे वा लेपेषु चेति (चरक)
उपाङ्ग–पु., चित्रकः (जटा.)
उपाङ्गचिकित्सा–स्त्री., छिन्नादिप्रतीकारः। यथा– ' छिन्नं भिन्नं तथा भग्नं क्षतं पिच्चितमेव च। तेषां दग्धप्रतीकारः प्रोक्तश्चोपाङ्गसंज्ञकः (अत्रि १ स्था. २ अ)
उपाञ्जन–न., अनुलेपनम्
उपानद्धारण–न., चर्मादिपादुकाधारणम् गुणः– उपानद्धारणं नेत्र्यमायुष्यं पादरोगहृत्। सुखप्रचारमोजस्यं वृष्यञ्च परिकीर्तितम्। पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चंक्रमणं नृणां। अनारोग्यमनायुष्यमिन्द्रियघ्नमदृष्टिदम् (वै. नि.)
उपाश्रय–पु., मत्तहस्ती
उपास–पु., उपवासः
उपासन–न., शुश्रूषा (अम.) आसनम् (मे.)
उपासना–स्त्री., सेवा (अम)
उपास्ति–स्त्री., सेवा (हे. च.)
उपास्थि–न., कोमलास्थि (अम.)
उपेक्षा–स्त्री., त्यागः। अनादरः
उपोदिकातैल–न., क्षुद्ररोगे हितम् (च. द. क्षुद्ररो. चि.)
उपोष–पु., उपवासः।
उपोषण–न., उपवासः।
उप्य–न., वपनक्षेत्रम् (रा. व. २)।
उभयकण्टका–स्त्री., बदरवृक्षः (भा.)
उभयलिङ्गिनी–स्त्री., लिङ्गिनी पञ्च गुडियेति लोके प्रसिद्धा। (चि. क. क. वन्ध्या. चि.)।
उमाकट–पु., उमाधूलिः।
उम्पा (म्पिका) (शालिः), (स्त्री.,) शालिधान्यविशेषः। (रा. व. १६)।
उम्बर–पु., उदुम्बरवृक्षः। गुणाः–स्निग्धः स्वाद्वादिगुणयुक्तः उष्णवीर्यः कफपित्तकरो गुरुश्च। (वा)।
उम्बिका–(म्बा) स्त्री., यमानी। अर्धपक्वतृणानलसंभृष्टयवगोधूममञ्जरीगुणा :–
कफकरत्वं बलकरत्वं लघुत्वं पित्तानिलापहारित्वञ्च; (भा.)
उम्य--न., अतसीक्षेत्रम्। हरिद्राक्षेत्रम् (भ. द्विरूपाक्षरकोषश्च)
उरःक्षतकास--पु., क्षयकासरोगः।
उरग--(ङ्ग)--पु., सर्पः। (न.) शीर्षकम् (म. द.व. १४) नागकेशरवृक्षः।
उरगगृह--न., सर्पगृहम्
उरगारि--पु., क्रौञ्चः
उरगाशन–पु., गरुडः। (जटा.)
उरगेन्द्रसुमन–न., नागकेशरम् (भा. म. ४ अ.)
उरच्छ–पु., गुन्द्रः (भा. पू. १ भ)
उरण–पु., मेषः। (अम.) (न.) रौप्यम्।
उरणा–स्त्री.- मेषी।
उरणाख्य–(क्ष)–(क)–पु., दद्रुघ्नवृक्षः। (अ. टी. स्वा. श. र.)
उरभ्र–पु., मेषपशुः (प. मु.)
उरभ्रमारिका–स्त्री., वातप्रकृतिकीटविशेषः। तद्दष्टे वायुजरोगा भवन्ति (सुकल्प ८ अ)
उरसिज–पु., स्तनम् (रा. व. ८)
उराह–पु., कृष्णजान्वीषत्पाण्डुवर्णाश्च। (ज. द. ३ अ)
उरीहा–स्त्री., कारवेल्लकम्।
उरुकाल–(क)–पु., महाकाललता (त्रिका.)
उरुमाल–पु., फलशाकविशेषः ' उरुमालं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलं। स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत् (वा.)
उरुस्तम्भा–स्त्री., कदलीवृक्षः।
उरोज–पु., स्तनम् (हे. चि.)
उरोघात–पु., हृद्रोगः।
उर्णनाभ–पु., ऊर्णनाभः।
उर्णा–स्त्री., ऊर्णा।
उर्णायु–पु., ऊर्णायुः।
उर्मीकफ–पु., समुद्रफेनः।
उर्व्वा–स्त्री., शीषकम्। (भा. म ३ भ. अश्म) (चि. वरुणगुडे)
उल(लु)प–पु., प्रतानवती लता, सा तु त्रपुषीद्राक्षाताम्बुलीप्रभृतिः।

उलु (लू) पी–पु., शिशुकः (अम.) तदाकारमीनः (श. र) उपल इति ख्यातः मत्स्यः । शिशुमाराकृतिमत्स्यभेदः, स कलिङ्गादिदेशेषु दृश्यते । शोषु इति ख्यातमत्स्यः । भाँगल इति च केचित् । शिशुमार इति सर्वस्वे । चुलपः शिशुमारः स्यात् उलुपी शिश्यकस्तथा (अ. टी. भ)

उलुम्बा–स्त्री., यमानी (वै. नि.)

उलूकपाद–पु., अश्वस्य पादरोगविशेषः लक्षणं–कूर्चमावृत्य यः शोथो जङ्घायामुपजायते । उलूकपादो विज्ञेयः (ज. द. ३८ अ)

उल्कामुखी–स्त्री., शृगालीविशेषः । (हा. रा.)

उल्मुक–न., ज्वलदङ्गारः (हा. रा.)

उल्लस–(**नक**)–पु., न., रोमाञ्चः (हे. च.)

उल्लाघ–पु., रोगमुक्तिः (रा. व. २०) मरिचम्

उल्लोच–पु., चन्द्रातप (हला.)

उशीरादि–पु., तृतीयकज्वरे कषायः ।

उशीरी–स्त्री., क्षुद्रकाशतृणम् । गुणाः—मधुरशीता पित्तदाहक्षयघ्नी च (रा. ब. ८)

उष–पु., गुग्गुलः । रात्रिशेषः । (मे. षट्रिक) क्षारमृत्तिका (श. र)(न) पांशुजलवणम् (प. मु)

उषक–पु., टङ्कणक्षारः (रत्ना.) मृत्तिकालवणम् (प. मु.)

उषरा–स्त्री., क्षारमृत्तिका (रत्ना.)

उषर्बुध–पु., रक्तचित्रकः । (श. च)

उषस्–न. स्त्री., प्रत्यूष (मे. स. त्रिकम्)

उषाकल–पु., कुक्कुटः (त्रिका)

उषाक्षार–पु., टङ्कणम् । क्षारमृत्तिका । (रत्ना.)

उषित–त्रि., दग्धः । व्युषितम् (मे. तत्रिकम्)

उषीर–पुन., वीरणमूलम् (अ. टी. रा)(च. द. र. पि. चि. दूर्वाद्यतैले)

उष्ट्रकण्टक–पु., सकण्टकगुल्मविशेषः (च. द.) गोक्षुरः (मसू. वा. चि.)

उष्ट्रकाण्डिका–(**ण्डी**)–स्त्री., पुष्पवृक्षविशेषः । (म.-उट्कटारा) गुणाः—तिक्ता उष्णा रुच्या हृद्रोगहारी । तद्बीजं मधुरं शीतं वृष्यं संतर्पणञ्च । (रा. व. १०)

उष्ट्रधूसरपुच्छिका–स्त्री., वृश्चिकाली

उष्ट्रपादिका–स्त्री., मदनः

उष्ट्रप्रमाणः–पु., काश्मीरदेशीयशरभः । (मद. व. १२)

उष्ट्रप्रिय–पु., मरुभूमिजातकण्टकवृक्षविशेषः ।

उष्ट्रभक्ष्य–पु., वंशकरीरः । (प. मु)

उष्ट्रशिरोधर–न., उष्ट्रग्रीवभगन्दरः ।

उष्णक–पु., पूगवृक्षः । ज्वरः ग्रीष्मः (त्रि)

उष्णगन्धा–स्त्री., कुलिञ्जनवृक्षः (वै. नि.)

उष्णमल(मूत्र)त्व–न., पित्तजन्यरोगलक्षण०

उष्णवारण–न., छत्रम् (हा. रा.)

उष्णबाष्प–पु., नेत्रजलम् । स्वेदः (वै. नि.)

उष्णविदग्धदृष्टि–पु., दृष्टिगतरोगविशेषः

उष्णसुन्दर–पु., न., बिभीतकवृक्षः । बिभीतकः ।

उष्णस्निग्ध–त्रि., तत् यद्वातघ्नं वस्तु । (सुसू. ४१ अ.)

उष्णा–(**ष्मा**)–स्त्री., क्षयरोगः । सन्तापः । पित्तम् । (वै. नि. रा. व. २०)

उष्णा(भि)गम–पु., ग्रीष्मकालः । (अम.)

उष्णाङ्गत्व–न., पित्तजन्यरोगः ।

उष्णान्न–न., उष्णभक्तम् ।

उष्णाम्बु–न., सुखोदकम् ।

उष्णासह–पु., शरत्कालः ।

उष्णिका–स्त्री., यवागुः ।

उष्णोपगम–पु., ग्रीष्मकालः । (अम.)

उष्मः(कः)–पु., क्षारः (र. मा.) क्षयरोगः (रा. व. २०) ग्रीष्मऋतुः (अम.) वसन्तकालः । उष्णता आतुरः (मे. कत्रिकम्)

उष्मगम–न., लवणसाधारणम् ।

उष्मागम–न., ग्रीष्मकालः । उत्तापः ।

उस्र–(**स्रा**)–पु., स्त्री., वृषः । अर्जुनी उपचित्रा । आखुकर्णी (मे. रद्विकम्)

उक्ष–त्रि., धातः । सिक्तम् ।

उक्षण–न., सेचनम् ।

उक्षतर–पु., महावृक्षः (हे. च.)

उक्षा–न., पु., वृषभः (भा. पू. १ भ.) ऋषभकः (रा. व. ५) ।

उक्षाभद्र–पु., वृषः (वै. नि.)

उक्षाल–पु., वानरः (वै. नि.) ।

ऊ

ऊची–स्त्री., भृष्टद्रव्यम् ।

ऊर्जः–पु., बलम् (चर.) ।

ऊध–आपीनम् । न., (अम.)

ऊध्रस्य–न., दुग्धम् (रा. व. १५)

ऊम्बी–स्त्री., यवगोधूमयोरपक्वमञ्जरी तृणाग्निना भर्जिता उम्बीत्युच्यते । गुणाः–कफदा बल्या लघ्वी पित्तानिलघ्नी च (भा. पू. वै. भ.)

ऊरण–पु., मेषः । (प. मु.)

ऊरुपर्वा–पु., न., जानुः (अ. म.) ।

ऊरुमाण–पु., मायीफलम् (सू. सू. ४६ अ.) उरुमालः ।

ऊर्ज–(क.) पु., कार्तिकमासः । (हे. च.) न., जलम् (श. र.)

ऊर्णनाभ–पु., मर्कटकः (अ. म.)

ऊर्णा–स्त्री., मेषलोम्नि । भ्रूमध्यावर्तः । (मे. णद्विकम्) ।

ऊर्णायु–पु., कम्बलम् । मेषः (प. मु.) ऊर्णनाभिः । (हे. च.)

ऊर्ध्वका–स्त्री., वायुजन्यरोगविशेषः ।

ऊर्ध्वग–पु., अस्थिभङ्गरोगः ।

ऊर्ध्वगुणभूयिष्ठ–त्रि., वमनद्रव्यमात्रम् (सु. सू. ४१ अ)

ऊर्ध्वगुद–पु., गुदोर्ध्वगरोगः ।

ऊर्ध्वग्रह–पु., अश्वस्य ग्रहदोषजन्यरोगविशेषः । तस्य लक्षणं–जिह्वास्यकृष्णत्वं दर्शनस्मरणनाशश्चेति । 'श्यामं जिह्वामुखं यस्य नष्टदृष्टिस्मृतिर्भवेत् । ऊर्ध्वग्रहकृतं दोषं तस्य दीनस्य निर्दिशेत् । (ज. द. ५७ अ.) (सु. सू. ४१ अ.)

ऊर्ध्वजत्रु–न., स्कन्धसन्धेरूर्ध्वभागः ।

ऊर्ध्वजानु–त्रि., ऊर्ध्वजौ । उपरिस्थजानुकः (भा)

ऊर्ध्वतिक्त-(क)–पु., जेपालनिम्बः ।

ऊर्ध्ववर्ति–पु., तन्नामकाश्वशूलरोगः । लक्षणम्–यवसङ्गादनञ्चैव यो वाजी खादितं पुनः । मुखेन प्रोद्विरत्याशु तं विद्यादूर्ध्ववर्तिनम् (ज. द. ४३ अ)

ऊर्ध्वस्थिति–पु., अश्वस्योदावर्तः (त्रि. क)

ऊर्ध्वासित–पु., कारवेल्लम् (त्रि. का)

ऊर्म्मण–पु., द्रोणपरिमाणम्

ऊर्मि–स्त्री., तरङ्गः । दुःखम् वेदना पीडा । वेगः । भङ्गः (मे. म. द्विकम्)

ऊर्मिका--पु., अश्वस्य पादरोगभेदः । 'ऊर्मिकञ्चोर्मिसंस्थानैर्बलिभिः खुरसम्भवैः । (ज. द. ३८ अ)

ऊर्ध्वशोधन–न., अरिष्टकफलम् वमनम् ।

ऊर्व–पु., वाडवाग्निः

ऊर्व्यङ्ग–न., गोमयच्छत्रिका ।

ऊर्षा–स्त्री., देवताडवृक्षः ।

ऊलूक–पु., पेचकः । अयं प्रसहजातीयः । एतन्मांसं उष्णवीर्यम् । एतद्भक्षणात् शोषभस्मकोन्मादाः क्षीणशुक्रता च जायन्ते (भा. पू. १ भ) उलूकपललं भ्रान्तिकरं वातप्रकोपकरञ्च (मद. व)

ऊलूपी–पु., शिशुमारः (अ. टी.)

ऊषरक (ज)– न., औषरकं । पांशुलवणम् । औषरलवणम् रोमकनामायसकान्तभेदः । (रा. व. १३)

ऊषरतृण--न., स्वनामख्याततृणम् । घासविशेषः । गुणाः--- बलदं रुच्यं पशूनां हितं च (रा. व. ८)

ऊषवान्--त्रि., उषरम् (अम.)

ऊषसूत--न., मृत्तिकालवणम् । (सु. सू. ४६)

ऊषक्षार--पु., क्षारमृत्तिका । गुणाः---उष्णोऽनिलक्षः प्रक्लेदी ऊषक्षारो बलापहः । (सु. सू. ४६)

ऊषाकर--पु., कुक्कुटः (श. र.)

ऊषापान--न., प्रत्यूषजलपानम् (भ.)

ऊष्मक--पु., पित्तम् (रा. व.) ग्रीष्मः जेष्ठाषाढौ ग्रीष्मऋतुः

ऊष्मा–उष्णता, क्षयरोगः (वै. नि.)

ऊहिनी--स्त्री., सम्मार्जनी

ऋ

ऋक्थ–न., स्वर्णम् । धनम् । (अम.) (सुसू. ३८)

ऋक्षगन्धा–स्त्री., वृद्धदारकवृक्षः । ऋषिजाङ्गला (र. मा. च. सू. ४ अ. बृहणे) श्वेतभूमिकुष्माण्डम्

ऋक्षगन्धिक–स्त्री., कृष्णभूमिकूष्माण्डम् वृद्धदारकलता (वै. नि.)

ऋक्षविट्–स्त्री., तैलपायीविष्ठा (वै. नि. २१) (अर्श. चि. कृष्णाशिरीषलेपे)

ऋक्षार्हा–महामेदालताक्षुपः (रा. व. ५)

ऋची(जी)ष–न., आष्ट्रम् (हे. च)

ऋजीक–पु., धूमः ।

ऋजुश्रेणी–स्त्री., मूर्वा (रत्ना.)

ऋत–न., जलम् (मे.)

ऋतुजन्म–स्त्री., पुनर्नवा

ऋतुपरीक्षा–स्त्री., आवर्तपरीक्षा तद्यथा, ऋतौ कण्डूयनं योनौ क्वचिदङ्गेच वेदना । बाहुल्यं स्वल्पता वापि चानुबन्धित्वमस्य वा । संरोधः सर्वथा वापि वेद्यान्येतानि यत्नतः । आमयष्वखिलेष्वेव भिषग्भिर्योषितां सदा (अ. त्रि.)

ऋतुराज–पु., वसन्तऋतुः (रा. व. २१)

ऋतुविपर्यय–पु., ऋतुव्यापत् वसन्तादिस्थाने शरदादिधर्मप्रवृत्तिः ।

ऋतुवैषम्य–न., ऋतुचर्याविपरीताचारणम् (भा. म. ४ भ.)

ऋतुशूल–न., ऋतुकाले रजोरोधजन्यशूलरोगः । पुष्पस्य वातादिभिर्हृतत्वं तस्य कारणम् । बहुलं पिच्छिलं स्निग्धं घनं स्रवति शोणितम् । योनौ नाभौ तु शूलानि कृतौ परमदारुणम् (रस. र. यो. व्या. चि.)

ऋतुषट्क–न., हिमशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु ॥ 'चयकोपसमा यस्मिन् दोषाणां सम्भवन्ति हि । ऋतुषट्कं तदाख्यातं रवेराशिषु संक्रमात् (भा.)

ऋतुहरीतकी–स्त्री., ऋतौ ऋतौ हरीतकीभक्षणविधिः । यथा– सिन्धुत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात् । वर्षादिष्वभया सेव्या रसायनगुणैषिणा (च. द.) भट्टारस्तु ग्रीष्ममधिकृत्याह । ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धाम्बरे सार्धं शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे । पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितामित्थं प्राश्य हरीतकीमिव रुजो नश्यन्तु ते शत्रवः (प्रयोगा. वाजी)

ऋद्ध–न., सम्पक्वधान्यम् (अम.) पक्वमर्दितधान्यम् निर्वुषीकृतं धान्यम् (अ. टी.)

ऋषिजाङ्गलिक–(ला) (लिका) (की) (स्त्री.) ऋक्षगन्धा (रत्ना.)

ऋषिश्रेष्ठ–पु., पुण्डरीकवृक्षः ऋद्धिः ।

ऋषिश्रेष्ठा–त्रि., ऋद्धिः । वृद्धिः (वै. नि.)

ऋषिसृष्टा–स्त्री., ऋद्धिः (मद. व १)

ऋषीक–पु., काशतृणम् (मद व १)

ऋष्यगता–स्त्री., माषपर्णी (श. र)

ऋष्यपुष्पी-स्त्री., अतिबला (वै. नि.)

ऋष्याह्वा–स्त्री., नागबला । बला (वै. नि.)

ए

एककन्द–पु., पानीयालुकः । पाणशारु इति प्रसिद्धः कन्दशाकः । (प. मु.)

एकचर–पु., गण्डकः (त्रिका)

एकदृक्(ष्टि)–पु., काकः । (हला.) त्रिकोणम्(हे. च.)

एकपत्र(क)–पु., चण्डालकन्दविशेषः ।

एकपत्री–स्त्री., नागवल्लीलता (वै. नि.)

एकमूल–पु., पुण्डरीकवृक्षः । (वै. नि.)

एकमूला–स्त्री., शालपर्णी । अतसी (संग्रहः)

एकरज–पु., भृङ्गराजवृक्षः । (जटा.)

एकरन्ध्र–पु., नदीवटः । (वै. नि.)

एकवर्षीया–स्त्री., एकहायनी गौः ।

एकविंशतिगुग्गुलु–पु., कुष्ठरोगे उपयुक्तः (च. द. कुष्ठ. चि.)

एकवीरा–स्त्री., वन्ध्याकर्कोटी । गुणाः–एकवीरा स्मृता तिक्ता चात्युष्णा वातहा स्मृता । पक्षाघातं पृष्ठकटीशूलञ्चैव विनाशयेत् (वै. नि.)

एकवृक्ष–पु., गलरोगः । (वै. नि.)

एकशिखा–स्त्री., पाठा (प. मु.)

एकशृङ्ग–पु., गण्डकः (वै. नि.)

एकहस्ती–स्त्री., अश्वस्य शोभनवल्गा भेदः । 'द्विहस्ती चैकहस्ती च शुभगा शोभना मता' । (ज. द. ७ अ)

एकहायनी–स्त्री., एकवर्षीया गौः । (अ.म.)

एकाङ्गी–स्त्री., मुरामांसी–गुणाः—तिक्ता हिमा स्वाद्वी लघुः वातपित्तघ्नी ज्वरभूतरक्तरक्षोघ्नी कुष्ठकासघ्नी च (भा.पू. १ भ.) कटुः कषाया भ्रममूर्च्छातृष्णाविषदाहघ्नी च (रा. व. १२)

एकाण्ड–पु., तन्नामकदोषान्विताश्वः । एकेन लम्बमानेन मुष्कैकाण्डसंज्ञकः (ज. द. ३ अ)

एकादशशतिकमहाप्रसारणीतैल–न., वातव्याधौ उपयुज्यते (प्रयोगा. भेष.)

एकादशायस–पु., ब्रह्मवृध्यधिकारे उपयुक्तः (रस. र. ब्रध्र. चि.)

एकादिवीर–पु., एकवीरवृक्षः (वै. नि.)

एकाष्ठी–स्त्री., कार्पासी, कार्पासबीजकोषः (वै. नि.)

एकाष्ठीका–स्त्री., पाठा (वै. नि.)

एकाह्वा–स्त्री., एकवर्षीया गौः (अम.)

एकाक्ष–पु.,काकः । त्रि., एकनेत्रम् (रा. च.)

एकैषी–स्त्री., पाठा (म.—पहाडमूळ) (वै. नि.)

एकोशि (षि) का–स्त्री., पाठा (र. मा.) बकवृक्षः इति केचित् ।

एड–त्रि., बधिरः (अम.)

एडकघृत–न., एडकनवनीतोत्थघृतम् । गुणाः—अतिगुरुत्वात् वर्ज्यं सुकुमाराणाम् । बुद्धिपाटवकरं बलकरञ्च (रा. व. १५)

एडमूक=त्रि., बधिरः वाक्श्रुतिवर्जितः ।

एडहस्ती–पु., चक्रमर्दः ।

एडुक–त्रि., बधिरः (मे.)

एणक–पु., हरिणः (श. र.) कृष्णसारः ।

एणीदाह-पु., सन्निपातज्वरविशेषः । लक्षणं-परिधावतीव गात्रे रुक्पात्रे भुजङ्गपतङ्गहरिणगणः । वेपथुमतः सदाहस्येणीदाहज्वरार्तस्य (भा. म. १ भ)

एत-पु., हरिणः । (श. र.) घोटकः ।

एतन-पु., निश्वासः (हे. च.)

एता-स्त्री., हरिणी

एधतु-पु., पुरुषः ।

एरङ्ग-(ङ्गी)-पु., स्त्री., मत्स्यभेदः । मंजिष्ठा (चरक.)

एरण्डक-पु., एरण्डः (भरत)

एरण्डज-न., एरण्डतैलम्

एरण्डतैलमूर्च्छा-स्त्री., मूर्च्छाद्रव्याणि-मञ्जिष्ठा मुस्तकं धान्यं त्रिफलाजयन्तीपत्रं

एरण्डमूल-न., एरण्डशिफा (च. द. विषमज्वरचि.)

एरण्डबीज-न., एरण्डफलम्

एरण्डशिफा-स्त्री., एरण्डमूलम् (भा. वा. व्या.)

एरण्डसप्त(द्वादश)क-पु., शूलरोगः ।

एरण्डा-स्त्री., बृहद्दन्तीवृक्षः (म. द. व. १) पिप्पली । (श. च.)

एरण्डादि-पु., तदादिद्रव्यवर्गः । यथा एरण्डसारिवाद्राक्षा शिरीषश्च प्रसारणी । माषमुद्गाख्यपर्णिन्यौ विदारीकन्दकेतकी । एरण्डादिगणो ह्येष वातपित्तविकारनुत् (रसचन्द्रिका)

एर्वारुक-न., कर्कोटकफलम् (र. मा. भेष. क्षुद्ररोगचि.)

एलक-पु., मेषः । (रा. व. १८)

एलङ्ग-पु., मत्स्यविशेषः । गुणाः-मधुरो वृष्यः ग्राही कफवातघ्नः मेधाग्निपुष्टिकरः शीतलः गुरुश्च (रा. व. १८)

एलादिगुडिका-स्त्री., रक्तपित्ते हिता (च. द. (रस. र)

एलादिचूर्ण--न., छर्द्यधिकारे हितम् । (च. द. भैष) पाठः-एलात्वक् मरिचं शुण्ठी पिप्पली नागकेशरं । भागवृद्ध्या चूर्णं तु सितया समम् (रस. र. राजयक्ष्म चि)

एलादितैल-न., वातव्याधौ उपयुज्यते (च. द)

एलादिमन्थ-पु., यक्ष्मरोगः (च. द)

एलान-न., फलविशेषः (रा, व. ११) (म--हिरवे फल)

एलापर्णी-स्त्री., वृक्षविशेषः । रास्ना (भा. पू. १ भ)

एलीका-स्त्री., सूक्ष्मैला (रा. व. ६)

एलीय-पु., एलवालुकः (वै. नि)

एलुक-(काख्या)-न., स्त्री., एलवालुकः (सु. चि. १८ अ.)

एल्व-न., एलवालुकः (सु. चि. १८ अ.)

एषण-पु., शल्लकीवृक्षः वै. नि.)

एषणिका-स्त्री., स्वर्णादिपरिमाणतुला (अम.)

एष्या-स्त्री., आमलकीवृक्षः (रत्ना.)

ऐ

ऐक्षवी-(सुरा) स्त्री., इक्षुरसकृतमद्यम् तन्मद्यगुणाः-शीतलं अतिमादकंच (रा. व. १५)

ऐण-(णेय)- त्रि., एणमृगचर्मादिः ।

ऐणेयक-न., एलवालुकम्

ऐन्द्रयव-पु., इन्द्रयवः (मद)

ऐन्द्रलुप्तिक-पु. इन्दलुप्तरोगः

ऐन्द्रवारुणी-स्त्री., इन्द्रवारुणीलता (मद. १)

ऐन्द्रि-पु., काकः (मे. रद्विकम्)

ऐन्द्रीफल-न., इन्द्रवारुणीफलम् (च. द.) (उ. मा. चि.) पक्वैन्द्रीफलमूत्रजम्)

ऐभी-स्त्री., हस्तीघोषलता

ऐरावतक-पु., हस्तीशुण्डी (च. चि. ३ अ.) नागरङ्गवृक्षः (वै. नि. ।)

ऐरावतपदी-स्त्री., काकजङ्घा (महाज्योतिष्मतीलतायाम्)

ऐरेय-न., मद्यम् (वै. नि.) एलवालुकम् (अम)

ऐलवालुक-न., एलवालुकम् (श. र.)

ऐलेय -न., नलुका एलवालुकम् (अ. म.)

ऐल्वालु-न., एलवालुकम् (मद. व. ३)

ऐशमूल-न., लाङ्गलीमूलम् (रस. र.) (बा. ल. चि)

ऐषिका-स्त्री., पाठा त्रिवृता (वै. नि.)

ओ

ओकण-पु., केशकीटः (श. र)

ओकणि-(नी)-पु., स्त्री., उत्कुणम् (श. र.)

ओकोदनी-स्त्री., यूका (श. र.)

ओक्कणी-स्त्री., उत्कणम् (श. र.)

ओडिका-(डी)-स्त्री., नीवारः (प.मु.) गुणाः-शोषणी रूक्षा कफवायुवृद्धिकरी, पित्तनाशिनी च (रा.)

ओड्र-(क)-पु., जपाकुसुमवृक्षः । (म--जासवन्द) गुणाः संग्राही केशहितश्च (भा. पू. १ भ. पुष्पवर्ग) मलमूत्रस्तम्भनरञ्जनश्च (रा.) कुटुरुष्णः इन्द्रलुप्तहरः विच्छर्दिजन्तुजनकः सूर्याराधनश्च (रा. व. १० । मात्रा ३ मा.)

ओड्रपर्याय-पु., सूर्यकान्तपुष्पवृक्षः स्वनामख्यातः (अम.)

ओड्रपुष्प-न., जवा (पा) कुसुमम् (प. मु)

ओड्रपुष्पा–स्त्री.. जपाकुसुमम् ।
ओढापलङ्कषा–स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.)
ओतु–पु., स्त्री., बिडालम् । (अम.) वनबिडालम् (वै. नि.)
ओद–पु., अन्नम् ।
ओल-(ल्ल)–पु., स्वनामख्यातकन्दशाकवि० (र. मा. भा. पू. १ भ.) गुणाः—अग्निकरः कफघ्नः रुचिकरः लघुः अर्शसि पथ्यः । ग्राम्यकन्दस्तु दोषल इति (रा.)
ओल(ल्ल)कन्द–पु., शूरणम् (र. मा.) वनौल्लः (पानीयभक्तवट्यास्)
ओषण-(णि)–पु., कटुरसः (हे. च.) (णी.) पुरातिशाकम् । गुणाः—कफवायुनाशित्वम् (रा.) पुनर्नवा
ओषधिगण–पु., रासायनिकौषधिगणः । ताः सोमसमवीर्या महौषधयः ख्याताः । तासाञ्च सोमवत् क्रियाशीः स्तुतयः शास्त्रे कथिताः (सु. चि. ३०)
ओषधीश–पु.,.कर्पूरम् (हे. च.)
ओष्ठधर–पु., ओष्ठः ।
ओष्ठप्रान्त–पु., सृक्कभागः (रत्ना.)
ओष्ठफला-(भा)–स्त्री., बिम्बीलता (म.—गोड तोंडली) (वै. नि.)
ओष्ठरञ्जनी–स्त्री., ताम्बूलम् (प. मु.)
ओष्ठा(ष्ठी)–स्त्री., बिम्बी (प. मु.)

औ

औख्य–स्त्री., स्थालीपक्वं अन्नादि ।
औड्रपुष्प–न., जपापुष्पम् (हे. च.)
औदखित(त्क)–न., अर्धजलयुक्तघोलम् (हे. च.)
औदुम्बरच्छद–पु., दन्तिवृक्षः (वै. नि.)
औदुम्बरी–स्त्री., कृमिभेदः ।
औद्दालकशर्करा स्त्री., औद्दालकमधुकृतशर्करा सा गुणैरौद्दालमधुसदृशी (रा. व. १४)
औद्भिद–न., औद्भिदलवणम् (रा.)
औद्भिदजल–न., उद्भिदजातं जलम् प्रस्तरसलिलम्–तस्य गुणाः—मधुरं पित्तशमनं अविदाहि च (रा.) लघु (रा. व. १४) विदार्य भूमिं निम्नां यत् महत्यां धारया स्रवेत् । तन्तोयमौद्भिदं नाम वदन्तीति महर्षयः । औद्भिदं वारि पित्तघ्नं अविदाह्यतिशीतलं । श्रीणनं मधुरं बल्यमीषद्वातकरं लघु (भा. पू. १. वारिव.) वर्षासु औद्भिदं पथ्यम् ।
औद्भिदद्रव्य–न., उद्भिद्य पृथिवीं जायते इत्युद्भित् । तच्च वनस्पतिलतावानस्पत्यौषधात्मकम् (च. सू. १ अ.)
औद्भिदलवण–न., पांशुलवणापरनामधेयलवणम् यद्भूगर्भतः स्वयमुत्पद्यते (च. द. महाषट्पलघृते) गुणाः–क्षारयुक्तं गुरु कटु स्निग्धं शीतं वातघ्नं च (भा. पू. १ भ. ह. व) रुक्षलं सूक्ष्मं लघु वातानुलोमनञ्च (म. द. व. २) तीक्ष्णं उत्क्लेदजनकं क्षारयुक्तं कटु तिक्तं कोष्ठबद्धतानाहशूलघ्नञ्च (रा)
औधस्य–न., पशुदुग्धम् ।
औनीत–न., अश्वरोगविशेषः । (ज. द. ५१ अ.)
औन्दुम्बर–न., ताम्रम् (भा. म. १ अ.)
औपवस्त–न., उपवासः । लङ्घनम् (हे. च.)
औपस्थ्य–न., उपस्थेन्द्रियसुखम्
औपीन–न., उप्यक्षेत्रम् (रा. व. २)
औमीन–न., अतसीक्षेत्रम्
औरिण–न., मृत्तिकालवणम्, यवक्षारः । (वै. नि.)
औरुबुक–न., एरण्डतैलम् (च. द.)
औल–न., श्वेतसूरणम् (वै. नि.)
औलूक–न., उलूकसमूहः (ज. टा.)
औशीर–न., पु., वालकम् चामरदण्डः । आसनम् । (त्रि) उशीरजः (मे. रत्निकम्)
औषण–न., कटुरसः ।
औषधालय–पु., औषधगृहम्
औषधिप्रतिनिधि–पु., यदौषधं न लभ्यते तस्य स्थाने तत्समगुणद्रव्यान्तरग्रहणम् । यथा मेदाभावे ह्यश्वगन्धा, महामेदे च शारिवा । जीवकर्षकाभावे गुडूची वंशरोचना इत्यादि । चित्रकाभावे दन्ती, अपामार्गक्षारो वा, धन्वयासाभावे दुरालभा, तगराभावे कुष्ठं, मूर्वाभावे जिङ्गिनीत्वक्, अर्हिसालक्षणाभावे मानकमयूरपुच्छग्रहणम्, बकुलाभावे कल्हारोत्पलपद्मग्रहणम् नीलोत्पलाभावे कुमुदं, जातीपुष्पाभावे लवङ्गं,अर्कादि क्षीराभावे तत्पत्ररसः, पुष्करमूलाभावे कुष्ठं, लाङ्गलकी ग्रन्थिपर्णाभावे, कुष्ठञ्च ग्राह्यम् (भा. पू १ भ.) चविकाभावे गजपिप्पली, पिप्पलीमूलम्, सोमराज्याभावे चक्रमर्दफलम्, दार्व्याभावे हरिद्रा, रसाञ्जनाभावे दार्वीक्वाथः, सौराष्ट्रमृदाभावे फटिकारी, तालीशाभावे स्वर्णताली, भार्ग्यभावे तालीशं कण्टकारीमूलं वा, रुचकस्याभावे पांशुलवणं, यष्टिमध्वभावे धातकीपुष्पम्, अम्लवेतसाभावे चुक्रं, द्राक्षाभावे गम्भारीफलम्, तदभावे पीतशालपुष्पं, नखाभावे लवङ्गं, कस्तुर्यभावे काकोली, तदभावे जातीपुष्पम्, कर्पूराभावे ग्रन्थिपर्णी, सुगन्धिमुस्तकं वा, कुङ्कुमाभावे

कुसुम्भं, श्रीखण्डचन्दनाभावे कर्पूरम्, तदुभयाभावे रक्तचन्दनं ग्राह्यम्, मध्वभावे जीर्णगुडः, पुरातनाभावे यामचतुष्टयशुष्कः गुडः, क्षीराभावे मौद्गो मासूरश्च रसः, शर्कराभावे खण्डम्, शाल्याभावे षष्टिकं, दाडिमाभावे वृक्षाम्लं, सौराष्ट्रमृदभावे पङ्कपर्पटी, लौहाभावे तन्मलम्, चव्यगजपिप्पल्यभावे पिप्पलीमूलं, मुञ्जतिकाभावे तालमुस्तं ग्राह्यम्। माजुफलमिति केचित् (प. प्र. १ ख.)

औषधीपञ्चामृत–न., गुडूचीगोक्षुरमुसलीमुण्डीशतावर्यादि।

औष्ट्रतक्र–न., उष्ट्रीदुग्धजातघोलम्। गुणाः–औष्ट्रं तक्रन्तु विरसं गुरु हृद्यं च दोषलम् पीनसश्वासकासेषु शस्तमुक्तम् (वै. नि.)

औष्ट्रनवनीत–न., उष्ट्रीदुग्धजातनवनीतम्, गुणाः–लघुपाकं शीतलं व्रणकृमिकफरक्तदोषघ्नं वातघ्नं विषघ्नञ्च (रा. व. १५.११; पृ. ३८५)

औष्ट्रमूत्र–न., उष्ट्रमूत्रम्, गुणाः– उन्मादशोफार्शःकृमिशूलोदरघ्नम् (म. द. व. ८)

औष्ट्रक्षीर–न., उष्ट्रीदुग्धम्

औष्ट्रीघृत–न., उष्ट्रीनवनीतजघृतम्, गुणाः– मधुरं पाके कटुशीतलं कृमिकुष्ठहरं वातकफगुल्मोदरघ्नञ्च (रा. व. १५.२०९; पृ. २३७)

क

क–न., जलम् (रा. व. १४) मुखम् (मे.) केशः (धर.)

कंसक–न., पुष्पकाशीशम् इदं श्वेतवर्णम् (हे. च.)

कंसास्थि–न., कांस्यधातुः (त्रिका.)

कंसोद्भवा–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (हे. च.)

ककन्द–पु., स्वर्णम् (उणा.)

ककरीमुख–पु., केशः (रा. व. १८.१८; पृ. ३९५)

ककारपूर्वद्रव्य–न., ककारपूर्वकद्रव्याणि तानि यथा– कटुकः, कालशाकं, कुष्माण्डं, कर्कटी, कर्कन्धुः, कर्कोटकः, कलिङ्गः, करमर्दः, करीरः, कतकः, कशेरुः, काङ्क्षिकञ्चेति रक्तपित्ते वर्ज्यम् (भा. म. रक्तपित्तचि.)

ककुद्मिनी–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (भा. म. १ भ.)

ककुभ(ला)–पु., स्त्री., चातकः (रा.)

ककुभ(न)क–पु., स्त्री., बालरोगविशेषः

ककुभ–पु., ऋषभकक्षुपः (रा. व. ५.१५९)

ककुभती–स्त्री., कटिः (अम.)
त्रि., ककुद्विशिष्टः

ककुन्दर–न., नितम्बगर्ताधिष्ठाने वैकल्यकरपृष्ठसन्धिमर्मद्वयम्। मेरुदण्डोभयतः पार्श्वजघनबहिर्भागे ईषदधस्तस्य स्थानम्। तत्र स्पर्शज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च (सु. शा. ६.२६) ककुन्दरौ तु सर्वेषां स्यातां जघनकूपकौ (रा. व. १८.४२) वृक्षविशेषः। गुणाः– ककुन्दरः कटुस्तिक्तः उवरघ्नश्लेष्मकृन्मतः। रक्तरुक्फदाहानां तृषायाश्च विनाशनः। अस्यार्द्रमूलञ्च मुखे धारितं मुखदोषनुत् (वै. नि.)

ककुप्–स्त्री., चम्पकमाला, प्रवेणी (मे. भत्रिकम्)

ककुभत्वक्–स्त्री., अर्जुनवृक्षवल्कलम् (च. द. । सि. यो. यक्ष्मचि. ककुभादौ)

ककुभशाखा–स्त्री., भार्गी (रत्ना)

ककुभादनी–स्त्री., नलीनाम गन्धद्रव्यम् (श. च.)

ककुणक–पु., न., शिशोर्नैत्रवर्त्मजरोगः।

कक्खट–त्रि., कठिनम् पु., खटिका (अ. म.)

कक्खटपत्रक–पु., वृक्षविशेषः। तच्छाकगुणाः–मधुरं दुर्जरं गुरुपाकी च (रा. शा. व.)

कक्खटी–स्त्री., खटिका

कगित्थ–पु., कपित्थम् (अ. टी.)

कङ्कट (क)–पु., कदरः (हा. रा.)

कङ्कटेरी–स्त्री., हरिद्रा (वै. नि.)

कङ्कति(ती)का–स्त्री., केशप्रसाधनार्थद्रव्यम्। (अ. म.) अतिबला नागबला (भा. पू. १ भ. गु. व.)

कङ्कत्रोट–(टि) –पु., स्वनामख्यातमत्स्यः। (त्रिका.) (हारा. । जटा.) खल्लीशमत्स्यः।

कङ्कदम्–न., सुवर्णम् (वै. नि.)

कङ्कपुरीषम्–पु., कङ्कविष्ठा इदं दारणम्। (सु. सू. ३६)

कङ्कभोजन–पु., अर्जुनवृक्षः

कङ्कर–न., कक्षरः (हे. च.)

कङ्कराल–पु., पिस्ता इति प्रसिद्धः वृक्षः।

कङ्करोल–पु., निकोचकवृक्षः (श. च.)

कङ्कलोड्य–न., चिञ्चोटकमूलम् (रा.)

कङ्कशत्रु–पु., पृश्निपर्णी (श. च.)

कङ्कशाय–पु., कुक्कुरः।

कङ्का–स्त्री., गोशीर्षचन्दनम्, पद्मगन्धा "गोशीर्षचन्दनकृष्णताम्रमुत्पलगन्धिकम्। कङ्का" (श. मा.)

कङ्काल–पु., शरीरास्थि। समुदितशरीरास्थिसङ्घातः त्वङ्मांसरहितः।

कङ्काबीज–पु., गोशीर्षचन्दनबीजम्।

कङ्किरात–न., कुरुण्टकः (हला.)

कङ्कु–पु., कङ्कुतृणम् (द्विरूपकोश.)
कङ्केरु–पु., काकविशेषः । बकपक्षी (त्रिका.)
कङ्केल्ल–पु., वास्तुशाकः (श. मा.)
कङ्ग (क)–पु., क्लोमम् (हे. च.)
कङ्गु–स्त्री., कङ्गुधान्यम् (अ. टी.)
कङ्गुका–स्त्री., कङ्गुः । प्रियङ्गुः (रत्ना.)
कङ्गुल–पु., हस्तः (श. च.)
कचङ्गल–पु., समुद्रः (त्रिका.)
कचट–न., कञ्चटशाकः (भा. पू. १ भ.) तृणम् । पत्रम् (उणा.)
कचदग्धिका–स्त्री., अलाबुः
कचद्रावी–पु., अम्लवेतसम् (प. मु.)
कचपक्ष–पु., केशसमूहः (अम.)
कचमाल–पु., धूमः । (हारा.)
कचा–स्त्री., हस्ती (मे. चद्विकम्)
कचाकु–पु., बिलेशयः । सर्पः (मे. कत्रिकं)
कचाटुर–पु., पक्षिविशेषः । दात्यूहः
कची–स्त्री., कुचायिबीजम् (रस. र. बालचि.)
कचूरक–न., कचूरम् (वै. नि. २ भ. अर्शचि.) (पिप्पीलीकातैले)
कचेरुक–पु., कशेरुः । (र. मा.)
कचोरा–स्त्री., शालिधान्यविशेषः सा पित्तघ्नी (अत्रि. १५ अ.)
कच्चटम्–न., जलपिप्पली
कच्चर–न., तक्रम् (मे. तत्रिकम्) (त्रि.) मलिनः
कच्चूर–पु., कचुनामककन्दशाकः ।
कच्चोर–न., शठी (प. मु.)
कच्ची–स्त्री., कचुवृक्षः, स्वनामकन्दविशेषः ।
कच्छ(क)–पु., जलप्रायदेशः । तुम्बकद्रुमम् (मे. छद्विक) नन्दीवृक्षः । परिधानाञ्चलः (हे. च.) जलप्रान्तः । (अ. म.)
कच्छकाण्डन–पु., अश्वत्थभेदः
कच्छ(च्छा)(च्छी)(टिका)–स्त्री., कच्छः (श. र.)
कच्छपि–पु., क्षुद्ररोगः । तालुरोगः ।
कच्छपोलि–(का)–स्त्री., जलवेतसम् (वै. नि.)
कच्छा–स्त्री., भद्रामुस्ता
कच्छालङ्कारक–पु., काशतृणम्
कच्छु(च्छू)मती–स्त्री., शूकशिम्बी (श. च.)
कच्छुराल–पु., शेलुवृक्षः ।
कच्छुरी–स्त्री., धातकी

कच्छेष्ट–पु., कच्छपः (रा. व. १९.४५६; पृ. २७४) स्त्री., भद्रमुस्ता
कच्छोर–न., शठी (र. मा.)
कञ्चट–(ड)–पु., न., गजपिप्पली (वै. नि.) जलतण्डुलीयापरनाम–स्वनामख्यातशाकम् (र. मा.) हिं.—चवडाईभेद.
• कलोटिवाशाकम् (च. द.; सि. यो. कञ्चटादि; भा. म. १ भ. शाकवर्ग.)
कञ्चटपत्रक–न., कञ्चटच्छदम्
कञ्चटपल्लव–पु., कञ्चटः (सि. यो.; ग्रहणीची; जम्बादि)
कञ्चटादि–पु., अतिसारे कषायविशेषः (च. द. अतिसारचि.)
कञ्चटावलेह–पु., ग्रहण्याधिकारे उपयुज्यते (च. द. सा. कौ.)
कञ्चन–पु., काञ्चनवृक्षः (वै. नि.)
कञ्चिका–स्त्री., वेणुशाखा (श. च.) क्षुद्रस्फोटः (रा. व. २०)
कञ्चुकालु–पु., सर्पः । कालसर्पः (श. च.)
कञ्चुकि–पु., यवः (रा. व. १९)
कञ्चुलिका–स्त्री., अङ्गरक्षिणी कांचोलि इति भाषा (हे. च. नाना.)
कञ्जक–पु., पक्षिविशेषः (श. च.)
कञ्जन–(ल)–पु., कञ्जकः पक्षी (श. च.)
कञ्जमूल–न., कमलकन्दः (वै. नि.)
कञ्जयोनि–पु., शालुकः । कञ्जस्य पद्मस्य योनिरुत्पत्तिः (श. च.)
कञ्जर–पु., गजः । केशः । स्त्री., धातकी पाटला उदरम् (मे. रत्रिकम्)
कञ्जलिका–स्त्री., अङ्गरक्षिणी (हे. च.)
कञ्जार–पु., जठरम् । गजः (मे. रत्रिकम्)
कञ्जिक–न., काञ्जिकम् (अ. टी. भ.)
कञ्जिका–स्त्री., भार्गी (श. र.)
कटक–पु., न., सामुद्रलवणम् (रत्ना) परिहार्यः । (हा. रा.) हस्तिदन्तमण्डलम् (मे. कत्रिकम्)
कटकी–पु., गजः (श. र.)
कटकोल–पु., निष्ठीवनपात्रम् (त्रिका.)
कटखदिर–पु., काकः । शृगालः (मे)
कटखादक–पु., काचलवणम् । काचकलसः । बलिपुष्टः । जम्बुकः । (मे. कपञ्चकम्)
कटङ्कट–पु., अग्निः । दारुहरिद्रा (भैष. मुखरोगचि. । बृहत्खादिरवटी)

कटङ्कटा–स्त्री., आच्छुकवृक्षः (द्रव्याभि.)

कटङ्कटी–स्त्री., दारुहरिद्रा (वै. नि.)

कटपञ्चक–न., अश्वचालनाय पञ्चविधा भूमिः । एका मण्डलाकारा, द्वितीया चतुरस्रा, तृतीया गोमूत्रा, चतुर्थी अर्धचन्द्रा, पञ्चमी नागपाशा चेति । तदुक्तं नकुलेन । 'धनुरष्टादशे योज्यं वाजीनां मण्डलं क्रमात् । सङ्कोचयेज्जवं यावद्यावत्कटकपञ्चकम् । तदूर्ध्वं मण्डली योज्या गोमूत्रा तदनन्तरम् । ऋजुवर्त्मसु वर्ती च गोमूत्रा सर्वकर्मसु । युज्यमाना न दृश्यते प्रायशो हि विचक्षणैः (ज. द. ७ अ)

कटप्रोथ–पु., स्फिक् । कटिः (श. चि.)

कटभङ्ग–पु., हस्तेन शस्यच्छेदः (हा. रा.)

कटभीत्वक्–स्त्री., कटभीवल्कलम् (च. द. उन्मा)

कटमालिनी–स्त्री., मदिरा (श. च.)

कटसारिका–स्त्री., झिण्टीः (भा. पू. १ भ.)

कटाकु–पु., पक्षिविशेषः । (उणा)

कटाक्ष–पु., अपाङ्गदृष्टिः (अम. अश्वस्य शङ्खकर्णयोरन्तरभागः । (ज. द. २ अ.)

कटायन–न., वीरणम् (श. च.)

कटाहक–पुं., मातुलुङ्गादेरभ्यन्तस्थान्त्रवत् भागः । (अत्रि. सू. १७ अ.)

कटाह्वय–न., पद्मकन्दः (रा. व. १०.२६०)

कटितट–न., नितम्बम्

कटिदेश–पु., कटिः

कटि–(टी) प्रोथ–पु., स्फिच् (रा. व. १८) कटिदेशस्थमांसपिण्डः (अम.)

कटिरोहक–पु., करिपश्चाद्भागारोहकः ।

कटिशीर्षक–पु., कटिदेशः (हला.)

कटिशृङ्खला–स्त्री., कटिकिङ्किनी (हारा.)

कटी (इन्)–पु., हस्ती । खदिरवृक्षः (रा. व. ८) श्रोणिफलकम् (अम.) पिप्पली (मे. टद्विकम्) स्फिक्प्रदेशः (रत्ना.)

कटीकपाल–न., कटीफलकः (विज. र.)

कटीर–पु., न., जघनस्थलम् (जटा.) कटिदेशः (हे. च.) कटिपार्श्वम् (अ. टी.)

कटीरक–पु., नितम्बस्थलम् (रा. व. १८)

कटुकन्दः–पु., शिग्रुवृक्षः । आर्द्रकम् लशुनः (मे. दचतुष्कम्) न., मूलकम् (प. मु.)

कटुकन्दरी–स्त्री., गोविन्दीति कोङ्कणे प्रसिद्धा (प्रा. वाघेंची) गुणाः–कटुकन्दरिका चोष्णा तिक्ता वातकफापहा विसूच्यादीन्नाशयति (वै. नि.)

कटुकशर्करा–स्त्री., पित्तश्लेष्मज्वरे कटुरोहिणीशर्करायोगः ।

कटुकाख्या–स्त्री., कटुकी (सु.)

कटुकाद्यलौह–न., शोथाधिकारे उपयुज्यते (भैष. रस. र. शोथचि.)

कटुकापाली–स्त्री., कण्टकपालीवृक्षः (रत्ना. प. मु.)

कटुकीट–(क)–पु., मशकः (जटा.)

कटुक्काण–पु., टिट्टिभः । (हे च)

कटुङ्कता–स्त्री., नित्यकर्मसमाचारनिष्ठुरत्वम् ।

कटुचतुर्जातक–न., समभागत्वगेलापत्रमरिचानि (रा. व. २२)

कटुच्छद–पु., तगरवृक्षः । (श. र.) सुगन्धार्जकम् (वै. नि.)

कटुजीरक–पु., जीरकम् (रा व ६ पृ ८२)

कटुता(त्व)–स्त्री., न., तीक्ष्णता दौर्गन्ध्यम्

कटुतिक्त–स्त्री., कटुतुम्बी (रा. व. ३)

कटुतिन्दुक–पु., कुचेलकः (श. च.)

कटुतैलमूर्च्छा–स्त्री., सफेनतामतादिदोषनाशार्थमामतैलस्य पाकेन निष्फेनीकृतस्यावतार्य सजलहरिद्रादिवारिक्षेपेण शनैः शनैः शीतलीकरणम्, तेन पाककाले स्फीत्याद्युपद्रवो न जायते । मूर्च्छाद्रव्याणि यथा–आमलकी, हरिद्रा, मुस्ता, बिल्वत्वक्, दाडिमत्वक्, नागकेशरं, कृष्णजीरकं, वालकं, नलुका, बिभीतकञ्च । (भैष. ज्व. चि.)

कटुदुग्धिका–स्त्री., तिक्तालाबु (रा. व. ७)

कटुभङ्ग–पु., शुण्ठी (रा. व. ६)

कटुमञ्जरिक–(का)–पु., स्त्री., शुक्लापामार्गः ।

कटुमोद–न., गन्धराजः (रा. व. १२)

कटुम्भर–स्त्री., प्रसारणी (च. द. वातव्याधि. एकादशशतिकप्रसारणीतैले ।)

कटुर–न., तक्रम् (जटा.)

कटुरा–स्त्री., आर्द्रहरिद्रा

कटुरुणा–स्त्री., त्रिवृता (रत्ना.)

कटुलता–स्त्री., कटुकी (भैष.)

कटुवाष्पिका–स्त्री., महाराष्ट्री

कटुवीजा–स्त्री., पिप्पली (रा. व. ६)

कटुवीरा–स्त्री., कुमरिचम् हिं.—लालमरिच.

गुणाः– कटुवीराग्निजननी दाहिनी बलासघ्नी अजीर्णविसूचीव्रणक्लेदघ्नी । सन्निपातजडीभूतं हतेन्द्रियञ्च नरं जीवयति (अत्रि.)

कटुशृङ्गाट–(ल)–न., चित्रकूटदेशप्रसिद्धगौरसुवर्णशाकम् (रा. व. ७)

कटुत्कट–(क)–न., शुण्ठी । आर्द्रकम् (र. मा.)

कटूदरी–स्त्री., गोविन्दीति कोङ्कणे ख्यातं औषधम् । गुणाः–विषूचीघ्नी कटूष्णा कफवातहा ।

कटोर–न., मृत्पात्रम् (श. च.)

कटोरा–स्त्री., स्वनामख्यातपात्रम् (श. च.)

कटोल–पु., कटुरसः (उणा.)

कट्वरतैल–न., ज्वरे विदाहे च हितम् । सुवर्चिका नागरकुष्ठमूर्वालाक्षानिशालोहितयष्टिकाभिः । तैलं ज्वरे षड्गुणतक्रसिद्धमभ्यञ्जनाच्छीतविदाहनुच्च । (वै. नि.)

कट्तृण–न., गन्धतृणम् (सि. यो. वातव्याधिचि. माषबलादि) सुगन्धरोहिषतृणम् (वा. उ. ३७)

कट्फलादि–पु., कासरोगे कषायविशेषः (च. द. कासचि.)

कट्फलादिपान–न., दीर्घकालानुबन्धि ज्वरे देयम् (भा. म. १ भ. ज्वरचि.)

कट्वम्बरा–स्त्री., प्रसारणी (ज. द.)

कट्वरतैल–न., द्र० कट्वरतैलम् ।

कठर–त्रि., कठिनम् । (जटा)

कठा–स्त्री., करिणी (श. च.)

कठाकु–पु., पक्षी

कठाहक–पु., दात्यूहः (श. र.)

कठीक–त्री., तुलशीवृक्षः । खटिका (वै. नि.)

कठिनपृष्ठ–(क)–पु., कूर्मः (रा. व. १९)

कठिनिका–स्त्री., खटिका (हारा.)

कठिनी–(क)–स्त्री., पु., खटिका (र. मा. प. मु.; त्रिका; मे नत्रिकम्)

कठिनोपल–पु., कौसुम्भीशालिः (रा. व. १६)

कठोर–(ल)–त्रि., कठिनः (अ. टी.)

कडक–न., सामुद्रलवणम् (र. मा.)

कडङ्कर–पु., तुषः (वै. नि.)

कडङ्ग–पु., सुराविशेषः ।

कडम्ब–(क)–पु., कलम्बिशाकम् शाकनाडीका, द्र० कलम्बी ।

कडम्बी–(म्बुका)–स्त्री., कलम्बीशाकम् (श. र.)

कडुहुञ्ची–स्त्री., क्षुद्रकारवेल्लम् (रा. व. ७)

कणगुग्गुलु–पु., श्वेतजीरकम् स्वनामख्यातगुग्गुलः । गुणाः–कटूष्णः सुरभिः वातघ्नः शूलगुल्मोदराध्मानकफघ्नः रसायनश्च (रा. व. १२)

कणजिह्विका–स्त्री., महासमङ्गा । सारिवाबहुपुत्रिका (रा. व. २३)

कणनिर्यास–पु., गुग्गुलः (रत्ना.)

कणप्रिय–पु., सूक्ष्मचटकः (वै. नि.)

कणभक्षक–पु., श्यामचटकः । भारिटः (रा. व. १९)

कणमूल–न., पिप्पलीमूलम् (पञ्चतिक्तघृते.)

कणही–स्त्री., लताशिरीषः (प. मु.)

कणाजटा–स्त्री., पिप्पलीमूलम् (वै. नि. २ भ. अजीर्णवडवानलचूर्णे ।)

कणाटीन्–(र)–(क)–पु., खञ्जनपक्षी (त्रिका. श. र.)

कणादिगण–पु., पिप्पल्यादिगणः (च. द. कफज्वरचि.)

कणादिवटी–स्त्री., श्लीपदाधिकारे उपयुक्ता (र. सा. सं.)

कणादीप्य–पु., श्वेतजीरकम् (रा. व. ६)

कणाद्यलौह–न., अतिसाराधिकारे हितम् (यो. र.; र. मा. सं.; र. चि. ९ अ.)

कणिक–पु., पिप्पली । शुष्कगोधूमचूर्णम् (रा. व. १६)

कणित–न., आर्तनादः (हे. च.)

कणिश–न., शस्यमञ्जरी (अम. हे. च.)

कणी–स्त्री., हयकण्ठलता (श. र.) कणिका (अ.टी. भ.)

कणीची–स्त्री., गुञ्जा । किरांचीति ख्याता । पुष्पितलता शाटकम् (मे.चत्रिकम्)

कणेर–पु., कर्णिकारवृक्षः (उणा.)

कणेरा–स्त्री., हस्ती (श. च.)

कणेरु–पु., कर्णिकारवृक्षः (मे.)

कण्टक-करञ्ज पु., करञ्जभेदः (अ. टी. भ.)

कण्टकर्किंशुक–पु., कण्टकीपारिजातः । म.—पांगारा. (वै. नि.)

कण्टकच्छद–पु., श्वेतकेतकवृक्षः (वै. नि.)

कण्टकत्रय–न., कण्टकारीत्रयम् (रा. व. २२) बृहती, कण्टिकारी, गोक्षुरश्च । गुणाः–कण्टकत्रितयं प्रोक्तं त्रिदोषभ्रमनाशकम् । ज्वरं पित्तञ्च हिक्काञ्च तन्द्रालापञ्च नाशयेत् (वै. नि.)

कण्टकदला–स्त्री., केतकीवृक्षः (वै. नि.)

कण्टकपाली–स्त्री., स्वनामख्यातवृक्षः हिं.—हिनस.

कण्टकफल–(ला)–पु., स्त्री., पनसवृक्षः । (अ.टी.भ.) गोक्षुरः, (र. मा.) कण्टकारी, एरण्डवृक्षः धुस्तूरवृक्षः । देवदाली । कुसुम्भवृक्षः । ब्रह्मदण्डीवृक्षः । करञ्जवृक्षः ।

कण्टकभुक्–पु., उष्ट्रः ।

कण्टकलता–स्त्री., त्रपुषा । कर्कटिका ।

कण्टकवृन्ताकी–स्त्री., वार्ताकी (रा. व. ७)

कण्टकश्रेणी–स्त्री., कण्टकारी (श. च.)

कण्टका–स्त्री., कण्टकारिका । दुरालभा । वनमुद्गम् । कर्कटिका (वै. नि.)

कण्टकागार–पु., शरटः (रा. व. १९) शलकी

कण्टकारित्रय–न., कण्टकारीत्रयम्

कण्टकारीत्रय–न., बृहतीगणिकारी दुरालभा च (रा. व. २२) सिद्धयोगे तु गणिकारीस्थाने गोक्षुरमाह । गुणाः– कण्टकारीत्रयं तन्द्रा प्रलापभ्रमनाशनम् । पित्तं ज्वरं त्रिदोषञ्च नाशयेत् (वै. नि.)

कण्टकारीद्रु–(म)–पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. नि.)

कण्टकारीद्वय–न., बृहतीकण्टकारीति द्वयम् (भा. म. सन्निपातज्वर.)

कण्टकारीफल–न., कण्टकारिकाफलम् । गुणाः– कण्टकारीफलं तिक्तं कटुकं दीपनं लघु । रूक्षोष्णं श्वासकासघ्नं ज्वरानिलकफापहम् (भा. पू. १ भ. शाकवर्गः)

कण्टकार्या–स्त्री., कण्टकारीवृक्षः । (रस. र. बालचि.)

कण्टकार्यादि–पु., पित्तश्लेष्मज्वरे कषायः (च. द. ज्वरचि.)

कण्टकाल–पु., पनसवृक्षः (श. च.)

कण्टकालिका–स्त्री., कण्टकारी (भा. पू. १ भ.)

कण्टकाशन–पु., उष्ट्रः (हे. च.)

कण्टकाष्ठील–पु., कुलिशमत्स्यः । (त्रि. का.)

कण्टकिल–पु., वंशविशेषः ।

कण्टकिला–स्त्री., वेणुविशेषः ।

कण्टकिद्रुम–पु., खादिरवृक्षः । (रत्ना.)

कण्टकिपारिजात–पु., पारिभद्रकः । हिं.—पांगारा. (वै. नि.)

कण्टकिशरपुङ्खा–पु शरपुङ्खाभेदः । इयं कटूष्णा कृमिशूलघ्नी च ।

कण्टकि (किं)शुक–पु., पारिभद्रवृक्षः । (वै. नि.)

कण्टकुरण्ट–पु., पीतझिण्टी (वै. नि.) झिण्टीवृक्षः । (रा. व. १०)

कण्टल–पु., बाबलवृक्षः (श. च. वै. नि.)

कण्टवल्लरी–स्त्री., श्रीवल्लीवृक्षः । वाघेण्टीति कोङ्कणे प्रसिद्धलता (वै. नि.)

कण्टसारका–स्त्री., श्वेतझिण्टी (वै. नि.)

कण्टाकुम्भाडु–पु., कण्टकलताविशेषः । कुमिरके इति भाषा (च. द.)

कण्टाफल–पु., धुस्तूरवृक्षः । (रा. व. १०) पनसवक्षः (रा. व. ११)

कण्टारवी–स्त्री., वासा

कण्टारिका–स्त्री., अग्निदमनीवृक्षः । कण्टकार्या (रा. व. ४)

कण्टार्गल–(र्त्तगला)–पु., स्त्री., नीलझिण्टी (रा. व. १०)

कण्टार्हलता–स्त्री., नीलझिण्टी ।

कण्टाल–पु., मदनवृक्षः (रा. व. ८) पनसवृक्षः ।

कण्टाह्वय–न., पद्मकन्दम् (रा. व. १०)

कण्टिका–स्त्री., अतिबला (वै. नि.)

कण्ठकूजन–न., गलकूजनम् (मा.)

कण्ठग्रह–पु., कण्ठकुब्जकः (भा. म. १ ज्वर) इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ।

कण्ठतलासिक–स्त्री., अश्वबन्धनरज्जुः (श. मा.)

कण्ठनीडक–पु., चिल्लपक्षी (त्रिका.)

कण्ठनीलक–पु., उल्का (श. मा.)

कण्ठपाशक–पु., करिगलवेष्टनरज्जुः (श. मा.)

कण्ठबन्ध–पु., करिकण्ठबन्धनरज्जुः (हे. च.)

कण्ठमणि–पु., ग्रैवेयमणिः (त्रिका.)

कण्ठलता–स्त्री., कण्ठभूषणम् अश्वबन्धनम्

कण्ठशुद्धी–पु., गलस्य कफाद्यलिप्तत्वम्

कण्ठाग्नि–पु., पक्षी (त्रिका.)

कण्ठाल–पु., शूरणम्, उष्ट्रः (मे.)

कण्ठालङ्कार–पु., कासः (रा. व. ८)

कण्ठाला–स्त्री., जालगोणिका (त्रिका.)

कण्ठालु–स्त्री., कण्ठपुङ्खा । त्रिपर्णी नाम कन्दशाकम् ।

कण्ठिका–स्त्री., कण्ठमाला ।

कण्ठी–स्त्री., गलः (अ. टी. भ.) अश्वकण्ठवेष्टनरज्जुः (चर्मादिः) (श. मा.)

कण्ठीरव–पु., प्रसहजातीयः सिंहः । (हारा.) पारावतः (रा. व. ४)

कण्ठीरवी–स्त्री., वासकपुष्पवृक्षः (रा. व. ४)

कण्ठील–पु., क्रमेलकः (मे. लत्रिकम् ।)

कण्ठीला–स्त्री., द्रोणीभेदः (मे. लत्रिकम् ।)

कण्डक–पु., कासामयवृक्षः (वै. नि.)

कण्डनम्–न., निस्तुषीकरणम् (हे. च.)
कण्डरव्रण–पु., व्रणरोगः ।
कण्डवल्ली–स्त्री., काण्डवल्ली (वै. नि.)
कण्डूका–स्त्री., काकतुण्डी (वै. नि.)
कण्डूयना–स्त्री., कण्डूतिः (अम.)
कण्डूया–स्त्री., कण्डूयनम् (रा. व. २०)
कण्डूर–पु., कारवेल्ललता । कुन्दरतृणम् । (रा. व. ३)
कण्डूर–पु., माणकः (प. मु.)
कण्डूरा–स्त्री., शूकशिम्बी ।
कण्डूरा–स्त्री., कपिकच्छुलता । कर्पूरकचोरकन्दः (रा. व. १०) अत्यम्लपर्णी (रा. व. ३)
कण्डोल–पु., उष्ट्रः (उणा.) गोणीभेदः । वंशादिनिर्मितधान्यरक्षणभाण्डम् (अम.)
कण्डोलक–पु., कण्डोलः (हे. च.)
कण्डोलवीणा–(ली)–स्त्री., चण्डालवीणा (अम.)
कण्ड्वोघ–पु., शूककीटः (श. च.)
कत–(क)–पु., निर्मलीफलवृक्षः कासमर्दः । कुचेलकः (र. मा. च. सू. ४ विषघ्नव.) जम्बीरवृक्षः (त्रिका.)
कत्तोय–न., मद्यम् । मैरेयम् (त्रिका.)
कत्सवर–न., स्कन्दः (श. च.)
कथाप्रसङ्ग–पु., विषवैद्यः (हे. च.)
त्रि., वातुलः । (त्रिका)
कथिका–स्त्री., तक्रादिसाधितखाद्यद्रव्यविशेषम्, कढीति महाराष्ट्रे । प्रकरणं यथा-नात्यम्लं मधुरं तक्रं सैन्धवेन तथा युतम् । पिष्टं मरिचं चाणक्यं निक्षिप्य सुनिधाय च । तप्तस्थाल्यां घृतं वाथ तैलं तप्त्वा च निःक्षिपेत् । तस्मिन्निशां रामठं च पश्चात्स्थालीं पिधाय च । तक्रार्धं निक्षिपेत्तस्यां पिधाय च पुनः क्षिपेत्। बुद्बुदोत्पत्तिपर्यन्तं पक्त्वा सा क्थिताभिधा। कथिता पाचनी रुच्यालघ्वी च वन्हिदीपनी । कफानिलविबन्धघ्नी किञ्चित्पित्तप्रकोपिनी । (वै. नि.)
कदन–न., मारणम् (जटा.)
कदन्न–न., कुत्सितान्नम् कदर्यान्नम् (जटा.)
कदम्बका–स्त्री., कलहंसी (वै. नि.)
कदम्बद–पु., सर्षपः (श. च.)
कदम्बपुष्प–पु., हरिद्रुवृक्षः
न., कदम्बकुसुमम्
कदम्बवायु–पु., सुगन्धवायुः ।
कदम्बिका–स्त्री., कदम्बवृक्षः । (वै. नि.)
कदल–(क)–पु., कदलीवृक्षः । पृश्निपर्णी (मे. श. र.)
कदल–न., नराङ्गुरः कपालम् (मे. लत्रिक.)
कदला–स्त्री., कदलीवृक्षः पृश्निपर्णी शाल्मलीवृक्षः । डिम्बिका (मे. लत्रिकम्)
कदलि (ली) क्षता–स्त्री., कर्कटीभेदः (वै. नि.)
कदलीकन्द–पु., रम्भामूलम् । गुणाः–शीतलः कदलीकन्दो बल्यः केश्योऽम्लपित्तजित् ,वन्हिकृद्दाहहारी च मधुरो रुचिकारकः (मद. व. ६)
कदलीकुसुम–न., रम्भापुष्पम् । गुणाः– कदल्याः कुसुमं स्निग्धं मधुरं तुवरं गुरु । वातपित्तहरं शीतं रक्तपित्तक्षयप्रणुत् (वै. नि.)
कदलीजल–न., कदलीरसः, गुणाः– कदल्यास्तु जलं शीतं ग्राहकं मूत्रकृच्छ्रहृत् । मेहं तृषां कर्णरोगं चातिसारञ्च नाशयेत् । अस्रिस्रावं रक्तपित्तं विस्फोटं रक्तपित्तकं। योनिदोषञ्च दाहञ्च नाशयेत्।" सारः कदल्याः संग्राही चाप्रियो गुरुशीतलः । तृट्दाहमूत्रकृच्छ्रातिसारमेहांश्च सोमकम् । अस्रिस्रावं रक्तपित्तं विस्फोटांश्चैव नाशयेत् (वै. नि.)
कदलीदण्ड–(नाल)–पु., थोड इति ख्याते मोचावृक्षगर्भस्थकोमलदण्डवत् भागः (श. च.)
गुणाः–योनिदोषहरो दण्डः कदल्योऽसृग्दरं जयेत् । रक्तपित्तहरः शीतः सुरुच्योऽग्निप्रवर्धनः ।
कदलीमूल–न., कदलीमूलम् । गुणाः– बल्यं वातपित्तघ्नं गुरु च ।
कदलीवल्कल–न., प्रसिद्धकदली त्वच् । गुणाः–तिक्तं कटु लघु वातहरञ्च । (वै. नि.)
कदलीसार–पु., कदलीरसः ।
कदलीक्ष्या–स्त्री., फललताभेदः ।
कदश्व–पु., कुत्सिताश्वः ।
कदाख्य–न., कुष्ठौषधम् (श. च.)
कनककन्दर्परस–पु., वाजीकरणे औषधम् (रस. र.)
कनकचम्पक–पु., चम्पकविशेषः ।
कनकजोद्भव–पु., रालः ।
कनकतैल–न., क्षुद्ररोगाधिकारे तैलम् । यथा-मधुकस्य कषायेन तैलस्य कुडवेन पचेत् । कल्कैः प्रियङ्गुमञ्जिष्ठाचन्दनोत्पलकेशरैः । कनकं नाम तत्तैलं सुखकान्तिकरं परम् । अभीरु नीलिकाव्यङ्गशोधनं परमार्चितम् (च. द.)
कनकपराग–पु., सुवर्णरेणुः ।
कनकपल–पु., सुवर्णादिमापकषोडशमापकाः (हारा.)
कनकप्रसून–पु., धूलिकदम्बः
कनकवतीरस–पु., अर्शोधिकारे रसः । (रस. र.)
कनकबीज–न.,धुस्तूरबीजम् । कनकसुन्दररसे उपयुज्यते ।

कनकसङ्कोचरस–पु., कुष्ठाधिकारे रसः । (रस. र.)
कनकसुन्दररस–पु., ज्वरातिसाराधिकारे रसः (र. सा. सं.)
कनकक्षार–पु., टङ्कणक्षारः । (रा. व. १३)
कनकान्त(र)क–पु., कोविदारवृक्षः । (रा. व. १०)
कनकालुका–स्त्री., सुवर्णभङ्गारः । (हला.)
कनकासव–पु., हिक्काश्वासे आसवः । (भैष.)
कनन–त्रि., काणः (श. च.)
कनिक्या–स्त्री., समिता (श. चि.)
कनीचि–स्त्री., सूरणम् (प. मु.) गुञ्जा ।
कनिष्ठक–न., शूकतृणम् (श. च.)
कनी–स्त्री., कन्या (हे. च.)
कनीचि–स्त्री., गुञ्जालता (श. र.) सपुष्पलता (उणादिकोषः ।)
कनीया–पु., सोमलताभेदः (सु. चि. २८) त्रि., अतुजः (त्रिका.) अत्यल्पम् (मे.)
कनेरा–स्त्री., हस्ती
कन्तु–पु., हृदयम् (वै. नि.)
कन्था–स्त्री., स्यूतकर्पटः (अम.) चीरम् तूलपूर्णगात्रवस्त्रम्
कन्थारी–स्त्री., स्वनामख्यातवृक्षः । फणीनिवर्डुग कोङ्कणे । प्रसिद्धः । गुणाः–कटुतिक्तोष्णा वातकफघ्नी शोथघ्नी दीपनी रुचिकरी रक्तग्रन्थिरुजाघ्नी ज्वरघ्नी च (रा. व. ८.२०-२१; पृ. ३५८)
कन्दक–पु., मुखालुः (रा. व. ७-२२) वनशूरणम् (भैष. कुष्ठचि. कन्दर्पसारतैले ।)
कन्दगुडूची–स्त्री., गुडूचीविशेषः । गुणाः– कन्दोद्भवा गुडूची च कटूष्णा सन्निपातहा । विषघ्नी ज्वरभूतघ्नी वलीपलितनाशिनी (रा. व. ३)
कन्दट–न., शुक्लोत्पलम्
कन्दतृण–न., तृणविशेषः (वै. नि.)
कन्दनालक–स्त्री., गोजिह्वा (वै. नि.)
कन्दपञ्चक–न., तैलकन्दा हि नेत्रकन्दसुकन्दकोऽकन्दरुदन्तीकन्दाः । गुणाः–कन्दस्य पञ्चकं प्रोक्तं ताम्रादिरसमारकं । सर्वरोगहरं प्रोक्तमेतद्वै स्निग्धपञ्चकम् (वै. नि.)
कन्दपत्र–पु., क्षुद्रकारवेल्लकम् । विदारी (रा. व. ७)
कन्दबहुला–स्त्री., त्रिपर्णीनामकन्दः (रा. व. ७)
कन्दर–पु., श्वेतखदिरः । क्षुद्ररोगविशेषः
न., आर्द्रकम् । शुण्ठी (रा. व. ९) गिरिगुहा
कन्दरूल–पु., कटुसुरणम् (वै. नि.)
कन्दरोग–पु., योनिरोगविशेषः (मा. योनिरोगः)
कन्दरोद्भवा–स्त्री., क्षुद्रपाषाणभेदवृक्षः (रा. व. ५)
कन्दर्पकूप–पु., योनिः ।
कन्दर्पज्वर–पु., कामज्वरः
कन्दर्पमुशल–लिङ्गम् (त्रिका.)
कन्दर्पसारतैल–न., कुष्ठाधिकारे तैलम् । (भैष.)
कन्दलता–स्त्री., मालाकन्दः (रा. व. ७) क्षुद्रकारवल्ली
कन्दलीकुसुम–न., शिलीन्ध्रम् (श. च.)
कन्दवर्ग–पु., विदारीकन्दशतावरीकन्दमृणालबिसकशेरुशृंगाटकपिण्डालुमध्वालुहस्त्यालुकाष्ठालुशृङ्गालुरक्तालुकेन्दीवरोत्पलकन्दादि (सु. सू. ४६)
कन्दवर्धन–पु., शूरणम् (रा. व. ७. ६) कटुशूरणम् (वै. नि.)
कन्दविष–न., कन्दजातविषम् । तच्चाष्टविधम्, यथा– शक्तुकं मुस्तकं कौमं दार्वीकं सार्षपं तथा । सैकतं वत्सनाभं च शृङ्गी चैव विशेषतः । इति । एतानि औषधार्थं ग्राह्याणि । अपराणि च दशनामानुरूपाणि न भैषज्यरसायने प्रयोज्यानि । तत्शुद्धिः– विषभागांश्चणकवत् स्थूलान् कृत्वा तु भाजने । तत्र गोमूत्रकं क्षिप्त्वा प्रत्यहं नित्यनूतनं । शोषयेत् त्रिदिनं पूर्वं धृत्वातीवातपे ततः । प्रयोगेषु प्रयुञ्जीत भागमानेन तद्विषम् (श. र.)
कन्दशाक–पु., द्र० कन्दवर्गः ।
कन्दशालिनी–स्त्री., वन्ध्याकर्कोटकी
कन्दसंज्ञ–न., योन्यर्शः (त्रिका.)
कन्दाढ्य–पु., धारणी नाम महाकन्दशाकम् (रा. व. ७ । वै. नि.)
कन्दिरी–स्त्री., लज्जालुका (श. चि.)
कन्दुपक्व–त्रि., जलोपसेकं विना केवलपात्रे अग्निना भृष्टतण्डुलादि । यथा– कन्दपक्वानि तैलानि पायसं दधि शक्तवः । द्विजैरेतानि भोज्यानि शूद्रगेहकृतान्यपीति (स्मृतिः ।)
कन्देक्षु–पु., कासभेदः (वै. नि.)
कन्दोट–पु., न., शुक्लोत्पलम् । कुमुदम् नीलोत्पलम्(श.र.)
कन्दोत–पु., कुमुदम् (त्रिका.) श्वेतपद्मम् (श. र.)
कन्दौषध–न., आर्द्रकम् (वै. नि.)
कन्धर–पु., मारिषशाकः । मेघः ।
न,. ससारस्य दध्नः तक्रं कन्धरमिष्यते (कु. टी. श्रीकण्ठः) सस्नेहं दधि कन्धरम् (सि. यो. षट्कन्धरतैले ।)

कन्धि--स्त्री., ग्रीवा (हारा.)
कन्धुक--पु., भूमिबदरम् । आरण्यबदरम् (वै. नि.)
कन्नम्--न., मूर्च्छा (श. मा.)
कन्यसा--स्त्री., कनिष्ठाङ्गुलिः ।
कन्याट-पु., लम्पटम् (हारा.) आभ्यन्तरगृहम्
कन्युष-न., बस्तपुच्छम् (हारा.) वन्ध्या कर्कोटकीफलम् (भा. पू. १ भ.)
कपटचीडा-स्त्री., चीडानामदेवदारुविशेषः ।
कपटिनी-स्त्री., चीडानामगन्धद्रव्यम् । देवदारुः वा (रा. व. १२)
कपटी-स्त्री., परिमाणभेदः (श. र.)
कपर्दकरस-पु., रक्तपित्ताधिकारे रसः । (र. स. र.)
कपर्दा-स्त्री., वराटकः (वै. नि.)
कपर्दि--स्त्री., कपर्दकः (रा. व. १२)
कपाटिनी--स्त्री., चीडानाम गन्धद्रव्यम्
कपालकुष्ठ-न., महाकुष्ठभेदः, " कृष्णारुणं कपालाभं यद्रुक्षं परुषं तनु । कपालं तोदबाहुल्यं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् (भा. । सु. नि. ५)
कपालनालिका-स्त्री., तर्कुटी (त्रिका.)
कपालास्थि-न., स्वनामख्यातशरीरमध्यस्थकपरसदृशास्थि (सु. शा. ५)
कपिकच्छुफल-न., शूकशिम्बी फलम्
कपिकच्छूरा-स्त्री., शूकशिम्बी (प. मु.)
कपिकन्दुक-न., शिरोऽस्थि (श. च.)
कपिका-स्त्री., नीलसिन्धुवारवृक्षः (रा. व. ४) अर्कवृक्षः (रत्ना)
कपिकोलि-पु., शृगालकोलिका (र. मा.)
कपिचूड-(डा)-पु. स्त्री., आम्रातकवृक्षः (रा. व. ११)
कपिजङ्घिका-स्त्री., तैलपिपीलिका (श. च.)
कपिञ्जला-स्त्री., शालिधान्यविशेषः । सा श्लेष्मकरी (अत्रि. १५ अ.)
कपित्थत्वक्-न., एलावालुकम् (रा. व. ४)
कपित्थपत्रा (र्णी)-स्त्री., वृक्षविशेषः । कपित्थालीति कंवठपत्रीति महाराष्ट्रे (रत्ना.)
गुणाः—कपित्थपत्रा तीक्ष्णोष्णा पाके कटुी च तूवरा । रसे तिक्ता कृमिकफमेदमेहविषं जयेत् । स्नायुरोगं नाशयति । .... (वै. नि.)
कपित्थानी-स्त्री., कपित्थपत्री
कपित्थाम्र-पु., आम्रभेदे । (वै. नि.)
कपित्थार्जक-पु., श्वेतार्जकः तुलसीभेदः । (मद व. ३)
कपित्थास्य-पु., वानरविशेषः गोलाङ्गुलः । (त्रिक.)
कपित्थाष्टकचूर्ण-न., ग्रहण्याधिकारे उपयुज्यते (च. द. वा. टी.)
कपिनामा-पु., शिलारसः (रत्ना.)
कपिप्रभा-स्त्री., शूकशिम्बी (श. र.)
कपिभूत-पु., पारिशाश्वत्थः (वै. नि.)
कपिरस-पु., शिलारसः ।
कपिरसाढ्य-पु., आम्रातकवृक्षः (रा. व. ११)
कपिरोमा-स्त्री., कपिकच्छुः । रेणुका (रा. व. ९)
कपिलच्छाया-स्त्री., मृगनाभिः (भा. म.)
कपिलद्रुम-पु., काक्षीनाम सुगन्धकाष्ठम्
कपिललौह-न., पित्तलम् (हे. च. वै. नि)
कपिलाधिका-स्त्री., तैलपिपीलिका ।
कपिलार्जक-पु., कपिलवर्णतुलसीवृक्षः (वै. नि.)
कपिलोमफला-स्त्री., कपिकच्छुः (रा. व. ३)
कपिलोमा(ला)-स्त्री., रेणुकबीजम् (रा. व. ९)
कपिल्लक-पु., कम्पिल्लकः (वै. नि.)
कपिल्लिका-स्त्री., ओषधिविशेषः (र. मा.)
कपिवदान्य-पु., आम्रातकवृक्षः ।
कपिवल्लिका(ल्ली)-स्त्री., गजपिप्पली । (भा. पू. १ भ.) कपित्थवृक्षः ।
कपिवास-पु., पारिशाश्वत्थः ।
कपिविरोचन(विरोधि)-न., मरिचम् (रा. व. ९)
कपिबीज-न., शूकशिम्बीबीजम् (भेष. कामेश्वरमोदके)
कपिवृक्ष-पु., पारीशाश्वत्थः (वै. नि.)
कपिश-पु., सिल्हकनामगन्धद्रव्यम् । द्राक्षामद्यम्(वै.नि.) त्रि., श्यामवर्णः (मे. शत्रिकम्)
कपा (शी) शिका-स्त्री., सुरा (त्रिका) माधवीलता (मे. शत्रिकम्)
कपिशायन-न., मद्यविशेषः (त्रिका)
कपिशीर्षक-न., हिङ्गुलः (श. च.)
कपिहस्तक-पु., कपिकच्छुः (रस. र)
कपिकच्छु-पु., कपिकच्छुलता (श. र.)
कपीज्य-पु., क्षीरिकावृक्षः (जटा.)
कपीत-पु., श्वेतबुक्षावृक्षः (र. मा.)
कपीन्द्र-पु., हनुमान् (श. र.)
कपोत (क) न., सौवीराञ्जनम् (मे. तत्रिकम्)
कपोतकनिषादी-पु., अश्वस्य वातव्याधिभेदः, लक्षणं यथा—कृच्छ्रादुत्थापितश्चापि पुनर्यो याति मेदिनीं । कपोतकनिषादीति स ज्ञेयः कृच्छ्रजीवनः (जद. ५५ अ)

कपोतचक्र–पु., कवाटचक्रवृक्षः (रत्ना.)
कपोतपर्णी–स्त्री., एला (रा. व. १२)
कपोतवक्रा–क्त्रा–स्त्री., काकमाची (च. द. अरोचक चि. कषाय्यतैले)
कपोतविष्ठा–स्त्री., पारावतपुरीषम्, इयं व्रणदारणी (सु. सू. ३७.१०.)
कपोताङ्घ्री–स्त्री., नलिका गन्धद्रव्यविशेषम् (अम)
कपोताञ्जन–न., नीलाञ्जनम्
कपोताण्डोपमफल–न., निम्बुभेदः (वै. नि.)
कपोतारि–पु., श्येनः (श. र.)
कपोतिका–स्त्री., चाणक्यमूलम्। कोमलमूलकः (वैनि)
कपोलफलक–न., प्रशस्तगण्डस्थलम्
कप्याख्य–पु., सिल्हकः
कप्यास–पु., वानरगुदम्
कफकूर्चिका–स्त्री., लाला (हे. च.)
कफकेतुरस–पु., कफरोगाधिकारे रसः। (र. सा. सं. भैष. कफज्वरचि.)
कफगण्ड–पु., गलरोगः (मा०)
कफगुल्म–पु., श्लेष्मजगुल्मः(च. चि. ५)
कफघ्न–त्रि., श्लेष्मनाशकम्।
कफ(फो)णि–पु., स्त्री., भुजमध्यग्रन्थि (रा. व. १८)
कफनाडी–स्त्री., दन्तमूलगतरोगविशेषः ' दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च यथेरिताः। ज्ञेया कफात् बहु-घनार्जुन-पिच्छिलाऽऽस्रा स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनी प्रवृद्धा (मा. नाडीव्रणनि.)
कफप्रकृति–स्त्री., स्थिरचित्तता स्निग्धकेशत्वादि।
कफमन्दिर–न., मण्डभेदः।
कफरुहा–स्त्री., नागरमुस्ता
कफरोग–पु., कफजन्यरोगः
कफरोहिणी–स्त्री., कफजन्यगलरोगः, लक्षणम्—स्रोतो-निरोधिन्यपि मन्दपाका स्थिराङ्कुरा या कफसम्भवा सा (मा० गलरोग)
कफवर्धक–त्रि., श्लेष्मवर्धकः।
कफवर्धन–पु., पिण्डितगरवृक्षः (त्रिका.) कफवर्धकः।
कफसंशमनवर्ग–पु., कफशान्तिकरद्रव्यगणः (भा. पू. १ भ)
कफसंभव–त्रि., कफोत्थः।
कफस्थान–न., कफाशयः
कफस्राव–पु., नेत्रसन्धिगतरोगविशेषः (मा.)
कफातिसार–पु., कफजन्यातिसारचिकित्सा– श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनं। योज्यश्चातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः। तस्य लक्षणं यथा– शुक्लं सान्द्रं सकफं श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः (मा.)
कफापहा–स्त्री., जीरकम्
कफी(इन्)–त्रि., कफयुक्तः (अम.)
पु., गजः।
कफेलु–त्रि., कफयुक्तः (उणा.)
कफोत्कट–त्रि., कफप्रधानः (च. द.; सान्निपातिकज्वर चि.)
कफोत्क्लिष्ट–पु., नेत्ररोगभेदः। ' कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च। सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः (मा.)
कफोत्क्लेश–पु., कफस्य वमनोपस्थितिः।
कफोदर–न., कफजन्योदररोगः (सु. नि. ७)
कबित्थ–पु., कपित्थम्।
कम्–अव्यय., मस्तकम्
कमठी–स्त्री., कच्छपी
कमण्डलु–(तरुः)–पु., प्लक्षवृक्षः (प. मु.) करकः (मे. चतुष्कं) अश्वत्थभेदः गजहुण्डसहोरा (भा. पू. १ भ वटा. व.)
कमन–पु., अशोकवृक्षः (मे नत्रिकम्) मदनः। (त्रि.,) कामुकः।
कमनच्छद–पु., कङ्कपक्षी (हे. च.) क्रौञ्चपक्षी
कमन्ध–न., जलम् (अ. टी. रा)
कमलकन्द–पु., शालूकः, गुणाः–शालूकः कटुकश्चोक्तः तुवरो मधुरो गुरुः। मलस्तम्भकरो रुच्यो नेत्र्यो वृष्यश्च शीतलः दुर्जरो ग्राहको रक्तपित्तं दाहं तृषां कफं पित्तवातञ्च गुल्मं च पित्तं कासं कृमींस्तथा। मुखरोगं रक्तदोषं नाशयेदिति च स्मृतः
कमलकर्णिका–स्त्री., पद्मबीजकोशः, गुणाः–बीजकोशस्तु मधुरः तुवरः शीतलो लघुः तिक्तो मुखस्वच्छकरो रक्तदोषतृषाहरः (वै. नि.)
कमलकेसर–पु., न., पद्मकिञ्जल्कम्, गुणाः– शीतलः ग्राही मधुरः कटुः रूक्षः गर्भस्थैर्यकरः रुच्यश्च (वै. नि.)
कमलच्छद–पु., कङ्कपक्षी, पद्मदलम्
कमलनाल–न., पद्मनाली (वै. नि.)
कमला–स्त्री., वरा स्त्री (मे. लत्रिकम्) निम्बुकविशेषः (तन्त्रसारः)

कमलाक्ष–पु., कमलबीजम् । गुणाः– स्वादुरुच्यश्च पाचनः कटुकः स्मृतः । शीतलस्तुवरस्तिक्तो गुरुर्विष्टम्भकारकः । गर्भस्थितिकरो रुच्यो वृष्यो वातकरो मतः । कफकृल्लेखनो ग्राही बल्यः पित्तविनाशनः । रक्तरुग्वमिदाहास्रपित्तनाशकरो मतः (वै. नि. छर्दिचि. वमनामृतयोगे)

कमलिनी–स्त्री., पद्मिनी । गुणाः– शीतला गुरुः मधुरा लवणा रूक्षा पित्तासृक्कफघ्नी वातविष्टम्भकारिणी च (भा. पु. १. पुष्प व०) तत्च्छदः– शीतस्तुवरो मधुरो मतः । तिक्तः पाकेऽतिकटुकः लघुर्वै ग्राहको मतः । वातकृत्कफपित्तानां नाशको मुनिभिः स्मृतः । (वै. नि.)

कमलोत्तर–न.,कुसुम्भपुष्पम् (हे. च.)

कमोदपुष्प–न., जलपुष्पविशेषः

कम्पलक्ष्मा–स्त्री., वायुः (श. र.)

कम्पवायु–पु., वायुरोगविशेषः ।
सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वैपथुसंज्ञकः (मा. वातरोग)

कम्पित–न., चलनम् (शर.) (त्रि;) कम्पयुक्तम्

कम्पिला–स्त्री., कुमारी

कम्पिल्लमालक–पु., बकुलभेदः ।

कम्बलिवाह्यक–न.. वृषवाह्यशकटः । (अम.)

कम्बि–स्त्री., दर्वी (श. च.) वंशांशः । (मे. बद्विकम्) वंशाङ्कुरः ।

कम्बुककुसुमा–स्त्री., शङ्खपुष्पी

कम्बुका–स्त्री., अश्वगन्धावृक्षः (र. मा.)

कम्बुग्रीवा–स्त्री., शङ्खाकृतिरेखान्वयाढ्यग्रीवा (रा. व. १८)

कम्बू–स्त्री.. शङ्खः । वलयः ।

कम्बोज–पु., शङ्खविशेषः । हस्तिविशेषः (मे. जत्रिकम्)

कम्ब्वातायी (इन्)–पु., शङ्खचिल्लः ।

कम्भु–न., उशीरम् (रा. व. १२)

कम्र–त्रि., मैथुनेच्छायुक्तः । (अम)

कयस्थ–स्त्री., हरीतकी । काकोली । (अ. टी. स्वा.) सूक्ष्मैला । (च. द. उन्मादचि. महापैशाचघृते)

कयाह–पु., पक्वतालसदृशवर्णाश्वः । लक्षणं यथा–'पक्वतालनिभो वाजी कयाहः परिकीर्तितः (ज. द. ३ भ)

करकच–पु., नखम् (वै. नि.)

करकट–पु., भरद्वाजपक्षी (वै. नि.)

करकण्टक–पु., नखम् (त्रिका.)

करकशालि–पु., रसालेक्षुः ।

करकाजल–न., दिव्यजलभेदम् दिव्यवाय्वग्निसंयोगात्संहताः खात् पतन्ति याः । पाषाणखण्डवच्चापस्ताः कारक्योऽमृतोपमाः । करकाजं जलं रूक्षं विशदं गुरु च स्थिरं । दारुणं शीतलं सान्द्रं पित्तहृत्कफवायुकृत् (वैद्यके)

करकाम्बु–न., करकजलम् (वै. नि)

करकाम्भा–पु., नारिकेलवृक्षः (त्रिका.) (न.,) करजलम्

करकुड्मल–न., कराङ्गुली ।

करकृष्णा–स्त्री., जीरकम् (वै. नि.)

करग्रह–पु., विवाहः (त्रिका.) करग्रहणम् ।

करघर्षण–पु., दधिमन्थनदण्डः (श. च.)

करघर्षी–स्त्री., क्षुद्रमन्थानदण्डः । हिं–छोटीरयी ।

करङ्क–पु., मस्तकम् (विश्व कत्रिकम्) अशस्यनारिकेलफलास्थिः (श. च) कङ्कालः (रा. व. १८)

करङ्कीभूत–त्रि., अस्थिमात्रेण स्थितः । (भा. म ४ गर्भचि.)

करजाख्य–पु.,नखीनामगन्धद्रव्यम् । (रत्ना)

करज्योडि–पु., हस्तज्योडी महाकन्दशाकम् । (रा. व. ७) काष्ठपाषाणभेदः ।

करज्योडिकन्द–पु., तन्नामकवृक्षकन्दः । (रा. व. ७) रसबन्धकृत् वृष्यश्च ।

करञ्जी–स्त्री., महाकरञ्जवृक्षः (श. च.) गुणाः– स्तम्भनी तिक्ता तुवरी कटुपाका वीर्योष्णा पित्तार्शोवमिकृमिकुष्ठप्रमेहघ्नी च (भा. पू. १ भ) करञ्जवल्ली हिं.—अरारि.

करणत्राण–न., मस्तकम् (हे. च.)

करणाधिप–पु., जीवः ।

करण्टक–पु., पद्मकन्दः ।

करण्टु–पु., लोणिकाशाकम् (प. मु.)

करण्ड–पु., मधुकोषः । दलाढकः । कारण्डी (मे. डत्रिकम्) कारण्डवपक्षी (हारा.)

करण्डफल–पु., कपित्थवृक्षः (रा. व. ११)

करण्डा–स्त्री., यकृत् । कालखण्डम्

करण्डी (इन्)–पु., मत्स्यः (त्रिका.)

करतल–पु., हस्ततलम् (रा. व. १८)

करतृण–न., श्वेतकेतकः ।

करतोय–न.. वर्षीयजलम्

करद्रुम–पु., कारस्करवृक्षः (रा. व. ९)

करपत्रवान्–पु., तालवृक्षः (श. च.)
करपल्लव–पु., अङ्गुली (शब्दकल्प)
करपात्र(त्रिका)–न., स्त्री., जलक्रीडा (हारा.)
करपा(बालिका)–स्त्री., एकधारास्त्रम् (अ. टी. सा.)
करबडावल्ली–.स्त्री, अत्यम्लपर्णी (रा. व. ३)
हिं.—वल्लीपूरण.
करबाल–पु., नखम् (श. मा.) खड्गः ।
करभञ्जि(ण्डि)का–स्त्री., महाकरञ्जः (भा. पू. १ भ)
लताकरञ्जः ।
हिं.—अरारि.
करभप्रिय–पु., क्षुद्रपीलुवृक्षः
करभवारुणी–स्त्री., उष्ट्रकण्टकगुल्मः (रस. र. वाजी)
करभीर–पु., सिंहः (श. र.)
करमट्ट–पु., गुवाकवृक्षः (त्रि. का.)
करमध्य–न., कर्षः २ तो (प. प्र. १ ख)
करमर्दक–(का. पु. त्रि.) करमर्दवृक्षः (लताविशेषः)
करमर्दी–पु. स्त्री., करञ्जवृक्षः करमर्दवृक्षः (रत्ना.)
करमाल–पु., खतमालः धूमः (हे. च.)
करमूल–न., मणिबन्धः (रा. व. १८)
करम्बी–स्त्री., कलम्बीशाकम्
करम्भक–पु., श्वेतकिणिही
कररी–स्त्री., करिदन्तमूलम् (हला)
कररेखा–स्त्री., करस्थ रेखा (रा. व. १९)
करल–पु., कपित्थवृक्षः
करवालिका–स्त्री., करपालिका
करवी–स्त्री., हिङ्गुपत्री
करवीरका–स्त्री., मनःशीला
करवीरणी–स्त्री., करवीरुणी ककरखिरुणी इति कोङ्कणदेशे प्रसिद्धे पुष्पवृक्षविशेषः या रक्तपुष्पा ग्रीष्मे जायते । गुणाः–तिक्ता चोष्णा कटुर्वी च कफवातविषापहा । आध्मानवातं छर्दिञ्च ऊर्ध्व-श्वासकृमीञ्जयेत् (वै. नि. रा. व. १०)
करवीराद्यतैल–न., भगन्दराधिकारे तैलम् (च. द. रस. र.) अन्यत् नासारोगे (च. द.)
करवीरानुजा–स्त्री., आढकी
करवीरिका–स्त्री., मनःशिला (र. सा. स)
करशाखा–स्त्री., अङ्गुलिः (रा. व. १८)
करशीकर–पु., वमनम् । करिशुण्डनिर्गतजलकणः (हला.)
करशूक–पु., नखः (त्रिका.)
करशोथ–पु., हस्तशोथः ।
करसम्भव–न., रोमकलवणम् (रत्ना.)
करसाद–पु., हस्तदौर्बल्यम्
कराग्र–न., करिपुष्करम् (हला.)
कराग्रपल्लव–पु., अङ्गुलिः ।
कराघात–पु., वृद्धाङ्गुलिः ।
कराङ्कण–न., हट्टः (हारा.)
कराचीन–पु., खञ्जनः ।
करामर्द–पु., करमर्दवृक्षः ।
कराम्बुक–पु., पानीयामलकवृक्षः ।
कारायिका–स्त्री., पक्षिभेदः । क्षुद्रबकः । (वै. नि.)
करालकलिका–स्त्री., कुन्दपुष्पवृक्षः (प. मु.)
करालत्रिपुटा–स्त्री.,लङ्कानाम शिम्बीधान्यम् । (रा.व.१६)
करालाङ्क–न., विडङ्गम् (वै. नि.)
करालास्य–त्रि., दन्तुरवदनः ।
करालिक–पु., वृक्षः । (हे. च.)
कराली–स्त्री., अग्निजिह्वा (पु.,)(लिन्) महादोषान्वि-ताश्वः (यस्य नीचत ऊर्ध्वं वा एको दन्तुरो दन्तो जायते स कराली (ज. द. ३ अ.)
करिक–पु., विट्खदिरः ।
करिकणावल्ली–स्त्री., चविकालता ।
करिकवल–पु., विधानः (हारा.)
करिका–स्त्री., कारीवृक्षः (रा. व. ८) नखक्षतम्
करिकुम्भ–पु., गजकुम्भः
करिकुम्भक–पु., नागकेशरचूर्णम् (हारा.)
करिकुसुम्भ–पु., नागकेशरवृक्षः । नागकेशरचूर्णम् । (हला)
करिकृष्णा–स्त्री., गजपिप्पली ।
करिकेसर–न., नागकेसरम् (वै. नि. श्वासचि.)
क्षुद्रावलेहः
करिचर्म–न. गजचर्म ।
करिज–पु., गजशावकः (श. मा.)
करिणी–स्त्री. हस्ती (अम.)
करिदन्त–पु., गजवदनम्
करिदन्ताभ–पु., मूलकम्
करिदमन–पु., नागदमनः । (भैष; स्त्रीरोगचि.)
करिदारक–पु.,सिंहः (श. र.)
करिनासिका–स्त्री., यन्त्रविशेषः ।
करिपर्णपलाश–पु., हस्तिकर्णपलाशः (भैष. अम्लपि. चि.सर्वतोभद्ररसे)
करिपिप्पली–स्त्री., गजपिप्पली (प. मु.) (भा. पू. १ भ.)

करिपोत–पु., करिशावकः । (हला.) ।
करिभ–पु., अश्वत्थवृक्षः । चैत्यवृक्षः (त्रिका.)
करिमाचल–पु., गजमाचलः । सिंहः (त्रिका.)
करियाद–पु., जलहस्ती ।
करिशावक–पु., दशवर्षपर्यन्तः हस्तिशिशुः
करिस्कन्ध–पु., गजांसस्थलम्
करी (इन्) पु., हस्ती (रत्ना.)
करीरकुण–पु., करीरफलकालः
करीरफल -न., करीरबीजम् । 'टोंट' इतिख्यातफलम् ।
करीरा–स्त्री., हस्तिदन्तमूलम् क्षीरिका (उणा.) मनःशिला (हे. च.)
करीरिका–स्त्री., हस्तिदन्तमूलम् (त्रि. का.)
करीरी–स्त्री., हस्तिदन्तमूलम् क्षीरिका (मे. रत्रिकम्)
करीषाग्नि–पु., गोमयाग्निः (हा. रा.)
करुण–पु.. फलितवृक्षः । करुणस्तु रसे वृक्षः (मे.) मल्लिकावृक्षः (हे. च.) स्वनामख्यातनिम्बुकवृक्षः (प. मु.) गुणाः– कफवाय्वाममेदोघ्नं पित्तकोपनञ्च (राज. ३. प.)
करुण (णा) मल्ली–स्त्री., नवमल्लिका (श. च.)
करुणा–स्त्री., दया, छगलाक्षः (वै. नि.)
करुणी–स्त्री., ग्रीष्मपुष्पी । पुष्पवृक्षविशेषः (रा व १०.)
करुषक–न., फलविशेषः
करेट–पु., नखम् (त्रिका.)
करेटव्या–स्त्री., धनेच्छूपक्षी
करेटु–(का) (पु.,) कर्कटेरी (रत्ना.) नखम् (त्रिका.)
करेडुक–पु., करेटुपक्षी । कर्कटः
करेणुक–न., कर्णिकारफलम् । तच्च विषमयमिति ज्ञेयम्
करेणुभू–पु., पालकाख्यमुनिः (त्रिका.)
करेणुसुत–पु., पालकमुनिः (त्रिका)
करेनर (वर)–पु., मूषिकः । सिल्हकम् (वै. नि.; रा. व. १२)
करोट–(टि)–(का)(टी)–पु., स्त्री., शिरोऽस्थि (रा. व. १८)
करोद्वेजन–पु., कृष्णसर्षपः (वै. नि.)
कर्कचिर्भिटिका(टी)–स्त्री., चिर्भिटा । कर्कटीभेदः (रा. व. ७)
कर्कटकास्थि–न., कुलीरकास्थि ।
कर्कटकी–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (वा. चि. ३) कर्कटी ।
कर्कटचरण–पु., कुलीरकपादः (रस. र. बाल. चि.)
कर्कटच्छदा–स्त्री., पीतघोषा (वै. नि.)
कर्कटवल्ली–स्त्री., गजपिप्पली । शूकशिम्बी । अपामार्गः (वै. नि.)
कर्कटादिलेह–पु., बालरोगे उपयुज्यः (रस. र. बाल. चि. भैष.)
कर्कटीबीज–न., कर्कटीफलबीजम् (च. द. अश्म. चि. कुशावलेहे)
कर्कटु–पु., करेटुपक्षी (श. र.)
कर्कड–पु., खटिका (र. मा.)
कर्कन्धुकी–स्त्री., बदरीभेदः (मद. व. ६) क्षुद्रबदरवृक्षः (र. मा.)
कर्कफल–पु., कर्कटवृक्षः (रा. व. ११)
कर्कर–पु., कङ्करः । मुद्गरः (हारा.) अस्थि (न.) चूर्णजनकपाषाणखण्डः । घुटिं । दर्पणम् (हारा.) तरुणपशुः (हला.)
कर्करट–पु., पक्षिविशेषः
कर्कराङ्ग–पु., कालकण्ठपक्षी ।
कर्कराटु–(क)–पु., कटाक्षः (जटा.) कर्करेटुपक्षी (श. रा.)
कर्करान्ध (न्धु) क–पु., अन्धकूपः । (त्रिका.)
कर्कराल–पु., चूर्णकुन्तलः (हे. च)
कर्कराक्ष–पु., खञ्जनपक्षी (हारा.)
कर्करिका–स्त्री., चक्षुःखर्जा
कर्करी (रि) क–स्त्री., सनालजलपात्रम् (अम.)(उणा.) तण्डुलधावनपात्रम् । गलन्तिका । भाण्डविशेषः । दर्पणः (मे रात्रिकम्)
कर्करेटु–पु., करेटुपक्षी (रत्ना.)
कर्कवल्ली–स्त्री., अपामार्गवृक्षः । गजपिप्पली शूकशिम्बी (वै. नि.)
कर्कशच्छदा–स्त्री., घोषा । दग्धावृक्षः । (रा. व. ९)
कर्कशदल–पु., पटोलफलवृक्षः ।
कर्कशिका–स्त्री., वनकोली (र. मा.)
कर्कसार–न., दधिशक्तुः (हारा)
कर्काक–पु., कर्कटिका
कर्कारु–स्त्री., कुष्माण्डीलता
कर्केधुकी–स्त्री., भूबदरी ।
कर्कोटकीफल–न., घोषाफलम् । वृत्तकुष्माण्डझिङ्गाफलम् (वै. नि) कर्कोटकफलम् ।
कर्कोटपत्र–न., कर्कोटदलम् । एतद्वमने हितम् (वा. ज्व. चि. १ अ)
कर्कोटमूल–न., कर्कोटकमूलम् । (सि. यो. कास० चि) नस्यं कर्कोटमूलं स्यात् (च. द. पाण्डु. चि०)

कर्कोटिका–स्त्री., कुष्माण्डीलता कर्कोटकः (रा. व. ७)
कर्कोटिकाकन्दरज–न., खेकसामूलचूर्णम् । (भा. म. १भ शीतलाङ्ग सा. ज्वरचि०)

कर्कोल–न., कङ्कोलः (रा. व. १२)
कर्चरिका (री) स्त्री., कचुडीति प्रसिद्धः पिष्टकभेदः (पाकराजः)
कर्चु (र्चू) र–न., सुवर्णम् (मे. रत्रिकम्) हरितालविशेषः ।
कर्णकिट्ट–न., कर्णमलः
कर्णकीटा (टी)–कर्णजलौका शतपदी (हे. च.)
कर्णगूथ–पु., कर्णमलः (हारा.)
कर्णजलूका–स्त्री., कर्णजलौका (श. र.)
कर्णजलौका–स्त्री., पु., शतपदी (हिं–कान खजूरा) (हे. च. अ. टी. भ.)
कर्णजार्श–न., कर्णार्शोरोगः (सु. नि. २) 'प्रकुपिता दोषाः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेषु अर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं पूतिकर्णता च'।
कर्णजाह–न., कर्णमूलम्
कर्णजित्–पु., गुडाकेशः
कर्णजीरक–न., क्षुद्रजीरकम्
कर्णज्योति–स्त्री., कर्णस्फोटा (वै. नि.)
कर्णदुन्दुभि–स्त्री., शतपदी (श. मा.)
कर्णधारिणी–स्त्री., हस्ती
कर्णपात्रक––पु., कर्णबाह्यभागविशेषः
कर्णपुत्रिका–स्त्री., कर्णशष्कुली । मोरटलता
कर्ण (कीर्ण) पुष्प–पु., नीलझिण्टी मोरटम् (रा व ३)
कर्णपूर–पु., बालग्रहः (र. मा.) शिरीषवृक्षः नीलोत्पलम् (मे) अशोकवृक्षः (रा. व. १०) नदीवृक्षः (त्रिका)
कर्णफल–पु., मत्स्यविशेषः । गुणाः––अजीर्णकफकरः । (रा. ३ प.)
कर्णभूषण–(न. पु.) अशोकवृक्षः । नागकेशरः । (प. मु.)
कर्णमुद्गर–पु., मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
कर्णमल–न. कर्णगूथः (हारा.)
कर्णमोचक–पु., कर्णस्फोटा (वै. नि.) (२ भ. रक्तपित्तचि. दूर्वाद्यतैले)
कर्णमोटा–पु., स्त्री., बर्बूरवृक्षः (वै. नि.)
कर्णमोरट–पु., कर्णस्फोटा (रसेन्द्र.) (चि. सूर्यपातक-ताम्रे) काणछिद्राद्वयम्––जलस्थलभवः कर्णमोरटः (सा. कौ. दूर्वाद्यतैलम्)
कर्णलतिका–स्त्री., कर्णपाली (हे. च.)
कर्णवंश–पु., मज्जः । (हारा.)
कर्णवर्जित–पु., सर्पः । (श. च.) (त्रि.) कर्णहीनः
कर्णवश–पु., मत्स्यविशेषः । तत्स्य लक्षणम्–वृत्तः गोलः कृष्णः शल्कवांश्च । तन्मांसगुणाः––दीपनं पाचनं पथ्यं वृष्यं बलपुष्टिकरञ्च (वैद्यकम्)
कर्णविधि–पु., कर्णस्वेदनादिः । तद्विधिः यथा–स्वेदयेत् कर्णदेशन्तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः । मूत्रैः स्नेहैरसैरुष्णैः श्रोत्ररन्ध्रं प्रपूरयेत् । कर्णं च पूरितं रक्षेत् शतं पञ्चशतानि वा । सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्र-कण्ठशिरोगदे । मूत्राद्यैः पूरणङ्कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते । तैलाद्यैः पूरणङ्कर्णं भास्करेऽस्तमुपागते (भा)
कर्णशष्कुली–स्त्री., कर्णगोलकः कर्णमध्यवर्ती । आकाशम् (हे. च.)
कर्णशूली–त्रि., कर्णशूलयुक्तः
कर्णशेखर–पु., शालवृक्षः ।
कर्णसमीप–पु., शङ्खदेशः (रा. व. १८)
कर्णसूटी–स्त्री., कीटविशेषः ।
कर्णाख्य–पु., श्वेतझिण्टी (वै. नि.)
कर्णाञ्जलि–पु., कर्णशष्कुली ।
कर्णान्दु–(न्दू)–स्त्री., कर्णपाली (हे. च)
कर्णारा–स्त्री., कर्णवेधनी ।
कर्णिकारिका–स्त्री., हारिद्रावृक्षः (वै. नि.)
कर्णिकी–(इन्)–पु., गजः (जटा.)
कर्णिन–त्रि., विवृद्धकर्णः ।
कर्णीरथ–पु., स्कन्धवाह्ययानम् (अ. टी. भ.)
कर्णीवान्–पु., आरग्वधवृक्षः ।
कर्णेजपमन्त्र–पु., विषनाशनमन्त्रविशेषः 'ॐ हर हर नीलग्रीवश्वेताङ्गसङ्गजटाग्रमण्डितखण्डेन्दुस्फूर्तमन्त्र-रूपाय विषमुपसंहर उपसंहर हर हर हर नास्ति विषं नास्ति विषं नास्ति विषं उच्छिरे उच्छिरे उच्छिरे।' इति कर्णे जपमन्त्रेण वारं वारं तालुमुखं सिञ्चेत् शीतवारिणा वारषट्कम् (अत्रि ३ स्थान अ.५६)
कर्णेन्द्रिय–न., श्रवणेन्द्रियम् (सुशा. १ अ.)
कर्णोर्ण (णा)–न., स्त्री., कर्णरोम (सु. शा. १)
कर्तन–न., छेदनम् (मे. नत्रिकम्) तर्कूटम् (त्रिका.)
कर्तरीयुग–न., सिन्धुवारद्वयम्
कर्द–पु., कर्दमम् (श. र.)
कर्दट–पु., करहाटः । पङ्कम् (मे. टत्रिकम्) मृणालम् । जलतृणमात्रम्
कर्दन–न., कुक्षिशब्दः । (हे. च.)

कर्दम–न., गन्धराजः (रा. व. १२)
कर्दमाटक–पु., विष्ठादिनिक्षेपस्थानम् (श. र)
कर्द्रमी–स्त्री., मुद्गरवृक्षः (रा. व. १०)
कर्पट (क)–पु., लक्तकः । लत्ता इति लोके ।
कर्परांश–पु., मृत्कपालखण्डम् (श. र.)
कर्परी–स्त्री., क्काथोद्भवतुत्थम् । तुत्थाञ्जनम्
कर्परीतुत्थ–न., खर्परम् । कर्परिकातुत्थम् रसकम् । (हिं–खपरियाथोथा) कपरीतुत्थकं तुत्थादन्यत् तद्रसकं स्मृतं । ये गुणास्तुत्थके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्मृताः (वैद्यकम्)
कर्पास (क)-पु., स्वनामख्यातक्षुपः । (हे. च. मद. व १)
कर्पासफल–न., कार्पासबीजम् । गुणाः—कर्पासफलमित्युक्तं कषायं मधुरं गुरु । वातश्लेष्महरं रुच्यं विशेषेणास्थिवर्जितम्
कर्पासी–स्त्री., कर्पासवृक्षः (मद. व. १)
कर्पूरतुलसी–स्त्री., कर्पूरगन्धितुलसीभेदम् (वै. नि.)
कर्पूरतैल–न., कर्पूरस्नेहः । गुणाः–कटूष्णत्वं वातरोगघ्नत्वं कफामहरत्वं दन्तदार्ढ्यकरत्वं पित्तहरत्वं च (रा. व. १५)
कर्पूरनालिका–स्त्री., पक्वान्नविशेषः । घृताढ्या समितया कृत्वा लम्बपुटं ततः । लवङ्गोषणकर्पूरयुतं सितयान्वितं । पचेदाज्येन सिद्धैषा ज्ञेया कर्पूरनालिका । संयावसदृशो ज्ञेया गुणैः कर्पूरनालिका ।
कर्पूरमणि–पु., पाषाणभेदः गुणाः–मणिः कर्पूरकस्तिक्तः कटुश्चोष्णो व्रणापहः । त्वग्दोषवातदोषादीन् नाशयेत् (रा. व. १३)
कर्पूररस–पु., रसविशेषक० (भैष. अतिसार चि.) रसकर्पूरतत्करणविधिः (भा.)
कर्पूरहरिद्रा–स्त्री., स्वनामख्यातद्रव्यम् । गुणाः–'शीतला वातला मधुरा पित्तघ्नी तिक्ता सर्वकण्डूघ्नी च (भा.. पू. १. भ.)
कर्पूरा–स्त्री., तरटी
कर्पूरादितैल–न., योनिरोगे हितम् । पाठः– कर्पूरभल्लातकशङ्खचूर्णं क्षारो यवानाञ्च मनःशिला च । तैलं विपक्वं हरितालमिश्रं रोमाणि निर्मूलयति क्षणेन ' कर्पूरादिभिः कल्कसिद्धे हरितालचूर्णं पादिकं प्रक्षेपम् ।
कर्पूराश्मा–पु., उपरत्नविशेषः (हिं–कर्पूरचीनी) स्फटिकम् (वै. नि)
कर्ब–पु., मूषिकः
कर्बर–पु., पुण्ड्रकेक्षुः । (रा व. १४) स्वर्णम् धुस्तूरवृक्षः, व्याघ्रः (मे. रत्रिकम्)
कर्बरी–स्त्री., शृगाली, व्याघ्रः (मे. रत्रिकम्) हिङ्गुपत्री (ज. टा.)
कर्मकरी–स्त्री., मूर्वा (वै. नि.) बिम्बीकालता (मे. रचतुष्कम्)
कर्मज–पु., वटवृक्षः (जटा.)
कर्ममूल–न., कुशः (श. च.) शरतृणम् ।
कर्मरङ्ग–पु., स्वनामख्यातवृक्षः । फलगुणाः– अम्लत्वं उष्णत्वं वातहरत्वं पित्तजनकत्वं । पक्वस्य मधुराम्लत्वं बलपुष्टिरुचिकरत्वं च (रा. व. ११.१४; पृ. ३७४) कटुपाकित्वं अम्लपित्तकारित्वं तीक्ष्णत्वञ्च (रा. ३ प.) कर्मारस्य फलञ्चामं ग्राह्यम्लं वातनाशनं । उष्णं पित्तकरञ्चैव तत्पक्वं मधुरं मतम् ॥ अम्लञ्च बलपुष्टीनां रुचेश्चैव तु वर्धकम् ' (वै. नि.) ' कर्मरङ्गं हिमं ग्राहि स्वाद्वम्लं कफवातहृत् ' (भा.)

म.—कर्मराचे झाड.

कर्मविपाक–पु., पूर्वजन्मकृतशुभाशुभफलभूतरोगादि ।
कर्मार्ह–पु., मनुष्यः ।
कर्मारक–पु., शाखोटवृक्षः ।
कर्व–पु., मूषकः । कामम् (उणा.)
कर्वर–पु., व्याघ्रः (मे.)
कर्वरी–स्त्री., हिङ्गुपत्री ।
कर्श्य–पु., कर्चूरः (रा. व. ६)
हिं.—कचूर.
कर्षिणी–स्त्री., अतसीवृक्षः (उणा.)
कर्षफला–स्त्री., आमलकीवृक्षः (रत्ना.)
कर्षार्ध–न., तोलकपरिमाणम् (प. प्र. १ ख.)
कर्षिका–स्त्री., काशबीजम् (वै. नि.)
कर्षिणी–स्त्री., क्षीरिणीक्षुपः (रा. व. ५; वै. नि.)
कलक–पु., शकुलमत्स्यः (हे. च.) वेतसवृक्षः
कलकण्ठ–पु., हंसः । पारावतः । कोकिलः (मे. ठचतुष्क) शूकः (प. मु.)
कलकफल–पु., दाडिमवृक्षः ।
कलकल–पु., सर्जनिर्यासः (मे. लचतुष्क)
कलघण्टिका–स्त्री., कृष्णशारिवा (भा. पू. १ भ,)
कलघोष–पु., कोकिलः (श. र.)
कलङ्क–पु., लौहमलम् क्रोडः । अपवादः (मे. कत्रिकम्) मत्स्यभेदः (वै. नि.)

कलङ्कष–पु., सिंहः (श. मा.)
कलङ्की–त्रि., लौहमलयुक्तम्
कलज–पु., कुक्कुटः (वै. नि.)
कलञ्ज–पु., ताम्रकूटम् (हिं.– तमाकू, सुरती) धूम्रपर्णी धूमपानगुणा :– कलञ्जसंवेष्टनधूमपानात् स्याद्दन्त-शुद्धिर्मुखरोगहानिः । कफघ्नामज्वरहानिकृच्च गान्धर्वविद्याप्रणवैकसेव्यम् (इति विष्णुसिद्धान्त-सारावली) संख्याविशेषे यथा :– सञ्ज्ञाली प्रोच्यते गुञ्जा सा तिस्रो रूपकं भवेत् । रूपकैर्दशभिः प्रोक्तः कञ्जली नाम नामतः (युक्तिकल्पद्रुमः)
कलत्र–न., श्रोणी (रा, व. १८) भार्या (मे. रत्रिकम्) भगः (त्रिका.)
कलधूत–न., रौप्यम् (रा. व. १३)
कलध्वनि–पु., मयूरः । पारावतः । कोकिलः
कलन–पु., वेतसम् (रा. व. ९) न., एकमासिकगर्भः । गर्भवेष्टनम् (हला)
कलनाद–पु., कलहंसः (वै. नि.)
कलन्धु–पु., घोलीशाकम् (रा. व. ७)
कलभवल्लभ–पु., पीलुवृक्षः (रा. व. ११)
कलभवल्लभा–स्त्री., पिकीम् (रा. व. २२)
कलम्बशाली–स्त्री., शालिधान्यविशेषः
कलम्बिक–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)
कलम्बिका–स्त्री., कलम्बीशाकम् (श. र.) ग्रीवा पश्चाद्भागी
कलम्बिकी–स्त्री., पक्षिभेदः (वै. नि.)
कलम्बु–(म्बू), पु., स्त्री., कलम्बीशाकम् (श. र.)
कलम्बुका–स्त्री., जलजशाकविशेषः (भेष.) (शूलचि.शम्बूकादिगुडौ)
कलम्बुट–न.. हैयङ्गवीनम् । नवनीतम् (हारा.)
कलयञ्ज–पु., सर्जरसः । (वै. नि.)
कलरव–पु., गृहपारावतः (अम.) कोकिला (रा. व. १९) वनकपोतः (वै. नि.)
कललजोद्भव–पु., शालवृक्षः । (रा. व. ९)
कलह–पु. मुण्डी । (हिं.—मुण्डीरो) (वा. सू. १५) । खड्गम् । (मे)
कलहंसक–न., अरोचकाधिकारे कवलमात्रम् । अस्य कवले धृते मुखवैशद्यं रुचिश्च भवति । (च. द.) (अरोचकचि. । रस. र.)
कलहनाशन–पु., कुटजवृक्षः । पूतीकरञ्जः ।
कलहप्रिया–स्त्री., सारिका (रा. व. १९)
कलहाकुला–स्त्री., शारिका (वै. नि.)
कलाकुल– न., विषम् (रा. व. ९)
कलाङ्कुर–पु., सारसपक्षी (त्रि. का.)
कलाङ्गुलि–पु., शालिधान्यविशेषः । (च. सू. २७)
कलाचिका (ची) स्त्री., प्रकोष्ठः । कफोणेरधो मणिबन्धपर्यन्तम् (हे. च.) अश्वस्य जानुनोऽग्रिमः भागः । (ज. द. २ अ.)
कलाजाजी–स्त्री., कारवी । कृष्णजीरकः । (हिं–कलौंजी मंगरैला)
कलाटीन–पु., खञ्जनपक्षी (हा. रा.)
कलाद–पु., स्वर्णकारः । (त्रिका.)
कलाधिक–पु., कुक्कुटः ।
कलानुनादी–पु., कलविङ्कः । चटकः । चातकः । भ्रमरः । (मे. नषट्कम्)
कलापक–पु., करिकण्ठबन्धः ।
कलामक–पु., कलमधान्यम् । (हे. च)
कलायक–पु., कलमशालिः (रा. व. १६) गुणाः— किञ्चित्कषाया मधुरा प्रदिष्टा रक्तप्रशान्ति जनयन्ति बल्याः । किञ्चित् सवातं विनिहन्ति पित्तं कलायका मुद्गसमानरूपा (अत्रि. १५ अ)
कलायका–स्त्री., मत्स्याक्षी । गण्डदूर्वा । (वै. नि)
कलायसूप–पु., कलायकृतयूषः । गुणाः–कलायसूपः कथितो लघु ग्राही सुशीतलः । रुच्यो मेध्यः पाककाले स्वाद्वम्लगदपित्तनुत् । अरोचकहरश्चासौ कफनाशकरो मतः (वै. नि)
कलारुहा–स्त्री., स्वर्णकेतकीवृक्षः ।
कलालाप–पु., भ्रमरः (रा. व. ९)
कलाविक–पु., कुक्कुटः (त्रिका)
कलाविघल–पु., चटकः (श. र.)
कलिकार–पु., धूम्याटः । पीतमस्तकपक्षी । करञ्जवृक्षः (म.) जलपिप्पली (वै. नि.)
कलिकारक–पु., पूतिकरञ्जः । लट्वाकरञ्जः । (अम.)
कलिकारिका–स्त्री., लाङ्गलीवृक्षः (वै. नि.)
कलिकोत्तम–न., पु., लवङ्गम्, गन्धशालौ ।
कलिङ्गद्रु–पु., कुटजवृक्षः (भा. म. १ भ. कास चि) कलिङ्गद्रुफलं रजः ।
कलिङ्गशुण्ठी–न., तद्देशजशुण्ठीविशेषः । गुणाः— तिक्ता बलकरी अग्निदीपनी अजीर्णहरी बालकातिसारघ्नी। सा यवक्षारयुता गर्भिण्या वान्तिं हरेत् (अत्रि)
कलिङ्गा–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (र. मा.) श्वेतत्रिवृता (श. च.)

कलिङ्गादिकषाय–पु., 'कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणीं' इत्येतद्द्रव्यकृतकषायः । स च सन्ततादीनां शमनः (वा. चि. १ अ.) कषायोऽयं पित्तज्वरघ्नः (च. द. पित्तज्वर चि.)

कलिङ्गाद्यगुडिका–स्त्री., ज्वरातिसारे हिता (च. द. भैष.)

कलिञ्ज–पु., कुलिञ्जनः (वै. नि. २भ. जिह्वकज्वर. चि.)

कलिन्द–पु., सूर्यः । बिभीतकवृक्षः (रा. व. २३) भेलकवृक्षः । सरलदेवदारः (वै. नि.)

कलिन्दक–पु., कर्कारी । तरबुजः (वै. नि.)

कलिप्रद–पु., मद्यशाला (वै. नि.)

कलिप्रिय–पु., वानरः (श. र.)

कलिफल–न., बिभीतकफलम् (च. द.)

कलिम–पु., शिरीषवृक्षः (वै. नि.)

कलिमार–(कः)–पु., पूतिकरञ्जः । कण्टककरञ्जः (अ. टी. र.)

कलियुगालय–पु., बिभीतकवृक्षः (भा. पू. १ भ.)

कलियुगावास–पु., बिभीतकतरुः (भा.)

कलिवृक्ष–पु., बिभीतकवृक्षः (हे. च.)

कलिहारी–स्त्री., लाङ्गली (भा. पू. १ भ. वै. नि. वातव्याधि–महाविषगर्भतैले) हिं.—करिहारी.

कली–स्त्री., कलिका (अ. टी. भ.)

कलुषमञ्जरी–स्त्री., जिङ्गिनी (वै. नि.)

कल्पक–पु., नापितः (श. मा.) कर्चूरः (भा. पू. १ भ.)

कल्पतरु–पु., कल्पवृक्षः । क्रमुकवृक्षः (रा. व. ११) तन्नामकज्वरघ्नरसः (भैष. ज्वरचि)

कल्पद्रु–(म)–पु., कल्पतरुः । ह्रस्वारग्वधवृक्षः

कल्पनी–स्त्री., कर्तरी (हे. च.)

कल्पपादप–पु., कल्पवृक्षः । बिभीतकवृक्षः

कल्पवृक्ष–पु., बिभीतकवृक्षः । कल्पपादपः (अम. रत्ना.)

कल्पा–स्त्री., श्वेतजातीवृक्षः । मद्यम् (वै. नि.)

कल्पान्त–पु., प्रलयकालः (अम.)

कल्मष–न., पापम् । करपुच्छम् (त्रि. का.)

कल्य–न., सुरा (हला.)

कल्यजग्धि–स्त्री., प्रातर्भोजनम् (जटा.)

कल्यद्रुम–पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)

कल्यवर्त–पु., प्रातराशः (त्रि. का.)

कल्या–स्त्री., मद्यम् (मे. यद्विक.) हरीतकी (श. र.)

कल्याङ्ग–पु., पर्पटक्षुपः (रा. व. ५)

कल्याणलेह–पु., वातव्याध्यधिकारे हिक्कायां उपयुज्यते श्वासे च (च. द. वातव्याधिचि. रस. र. भैष.)

कल्याणसुन्दराभ्र–न., राजयक्ष्मणि रसः (भैष.)

कल्लु–पु., बधिरः (त्रिका.)

कल्लुता–(त्व)–न., बाधिर्यम् । स्वरभेदः (हे. च.)

कवचपत्र–न., भूर्जपत्रम् (श. च.)

कवचीयन्त्रम्–न., औषधपाकार्थं यन्त्रविशेषः । नातिह्रस्वां काचकूपीं न चातिमहतीं दृढां वाससा कर्दमार्क्तेन परिवृत्य समन्ततः । संलिप्य मृदुमृत्स्नाभिः शोषयेद्भानुरश्मिना । निधाय भेषजं तत्र मुखमाच्छादयेत्ततः । कठिन्या दृढया वापि पचेद्यन्त्रविधानतः । कवचीयन्त्रमेतद्धि रसादिपचने मतम् (आत्रेय.)

कवड–पु., कवलः । (रत्ना.)

कवडग्रह–पु., कर्षः । (प. प्र. १ ख. च. द) (खदिरादिवटि)

कवयि–(यी)–स्त्री., मत्स्यविशेषः । गुणाः—मधुरा स्निग्धा कषाया रुच्या ईषत्पित्तकरी बल्या वातघ्नी च (भा. हारा.)

कवर–पु., स्त्री., कबरी (त्रिका.) लवणम् अम्लम् (मे. हे. च.) सामुद्रलवणम् (र. मा.)

कवरा (री)–स्त्री., बर्बरी (श. र.) बर्बूरवृक्षः वनतुलसी (अम.) । रक्तकरवीरः । मनःशिला । हिङ्गुपत्री । (रा. व. ९)

कवरीक–पु., सुगन्धपत्रवृक्षविशेषः । यथा—कस्तूरिकाश्चेडगन्धः कवरीकः स्वनामकः । (इति द्रव्याभिधानम्)

कवरीकला–स्त्री., मनःशिला ।

कवरीकूटक–पु., कवरी (त्रिका.)

कवली–स्त्री., बदरीवृक्षः (हला.)

कवस–पु., कण्टकगुल्मः ।

कवाटच (ब) क्र–न., स्वनामख्यातवृक्षः ।

कवाडवक्र–पु., कवाटवक्रवृक्षः (र. मा)

कवार–न., पद्मम् (त्रिका.) (पु.;) पक्षिविशेषः (वै. नि.)

कविञ्जक–पु., पक्षिविशेषः ।

कवि (ग) त्थ–पु., कपित्थवृक्षः (अ. टी.)

कवेल–न., उत्पलम् (श. च.)

कशिपु–पु., भक्तम् । वस्त्रम् (रा. व. २०)

कश्मल–न., मूर्च्छा मोहः । (अ. म) पापम् (शब्दरं.)

कश्मीरज–(न्म)–न., पु., कुङ्कुमम् । (अ. टी. रा.)

कश्य–न., मद्यम् । पु., अश्वः । (मे यद्विकम् ।) कषार्होऽश्वः । (हे. च.) अश्वमध्यभागः । (वै. नि.)
कषण–पु., शलाटुः । कण्डूयनम् । (त्रि.) अपक्वम् । (श. च.)
कषपाषाण–पु., स्पर्शमणिः ।
कषायकृत्–पु., रक्तरोध्रः (जटा.)
कषायजल–न., प्लक्षाश्वात्थोदुम्बरं शिरीषवटसिद्धजलम्
कषायनित्य–पु., नित्यमतिमात्रककषायरससेवी (च)
कषायवृक्ष–पु., वटामलकादिकषायत्वक् फलवृक्षः । (च. चि. ४ अ.)
कषाया–स्त्री., रक्तदुरालभा । क्षुद्रदुरालभा (रा. व. ४) आम्रातकः । खर्जुरीवृक्षः (वै. नि.)
कषिका–स्त्री., पक्षिजातिः । (उणा.)
कषेरुका–स्त्री., कशेरुका । (अ. टी. रा.)
कष्टकारक–पु., पीडाकरः । (त्रिका.)
कष्टि–स्त्री., पीडा (वै. नि.)
कष्ठीर–न., रङ्गम् । (रत्ना.)
कसका–स्त्री., कासमर्दः । (वै. नि. २ भ. कुलत्थादिघृते)
कसन-मर्दन–(पु., कासमर्दवृक्षः (वै. नि.)
कसनोत्पाटन–पु., वासकवृक्षः । (श. च.)
कसिपु–पु., अन्नम् (जटा.)
कसेरुका–स्त्री., कसेरुः । (रा. व. ८) पृष्ठास्थि (रा. व. १८)
कस्तीर–न., पिच्चटम् । वङ्कः । (हे. च.)
कस्तीर्ण–न., रङ्गम् (प. मु.)
कस्तूरि (री)क–पु., करवीरवृक्षः ।
कस्तूरिमृगाण्डज–पु., मृगनाभिः (रत्ना.)
कस्तूरीभैरवरस–पु., शीताङ्गसन्निपाते रसः (रसर. ज्वरचि. भैष.)
कस्तूरीमल्लिका–स्त्री., मृगनाभिः (वै. नि.) मल्लिका-पुष्पवृक्षभेदः (या मृगमदवासा भवति) गुणैः वार्षिकादितुल्या (रा. व. १०)
कस्तूरीमोदक–पु., प्रमेहाधिकारे हितः (र. सा. स.)
कस्तूरीहरिण–पु., मृगनाभिहरिणः (वै. नि.)
कस्य–न., सुरा (हला.)
कह्लक–न., कह्लारः (भा. पू. १ भ. गु. व.)
कह्लाराद्यघृत–न., हृद्रोगाधिकारे उपयुज्यते (र. स. र.)
कह्व–पु., बकपक्षी (अम.)
कांसिका–स्त्री., मुद्गपर्णी (रा. व. ३)
कांसी–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (प. मु) कांस्यधातुः ।
कांसीय–न., कांस्यधातुः (रा. व. १३)
कांस्यपिष्टीरस–पु., पाण्डुरोगाधिकार उपयुक्तः (र. चि. ९)
कांस्यालुक–न., कासालुकः ।
काककङ्गु–पु., चीनक इति प्रसिद्धधान्यम् सर्जरसः (वै. नि.)
काककण्टक–पु., जलचरपक्षिविशेषः ।
काककर्कटी–स्त्री., खर्जूरीवृक्षः (भा)
काककला–स्त्री., काकजङ्घावृक्षः (जटा.)
काककुङ्कल–न., नीलपद्मम् (वै. नि.)
काकचिञ्चा (ञ्चि)(ञ्ची)–स्त्री., गुञ्जा (त्रिका.) रक्तगुञ्जा (भा. पू. १ भ. गु. व)
काकच्छद–(दि)–(र्दि)–पु., खञ्जनपक्षी (श. र.) चाषपक्षी (त्रिका.)
काकजानुक–स्त्री., काकजङ्घा । (भैष. स्त्री. रोग. चि.-रस. र. प्रदरे)
काकडुम्बुर–पु., कृष्णडुम्बुरः ।
काकणघ्नवटी–स्त्री., कुष्ठघ्नौषधविशेषः (रस. र)
काकणन्तक–पु., सिन्दूरम् (वै. नि.)
काकण्डा–स्त्री., काकनासा (रा. व. ३)
काकनामा–पु., बकवृक्षः (र. मा.)
काकन्ती–स्त्री., कृष्णशिम्बी (र.मा)
काकन्दी–स्त्री., चिञ्चा
काकपर्णी–स्त्री., मुद्गपर्णी (भा.)
काकपक्ष–पु., शिखण्डकः (अ. म.)
काकपुच्छ–(ष्ट)–पु., कोकिलः (श. र.)(हे. च)
काकपुष्प–न., ग्रन्थिपर्णम् । सुगन्धतृणम् (वै. नि.)
काकबन्ध्या–स्त्री., एकमात्रप्रसवा नारी
काकभण्डी–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (वै. नि.)
काकभाण्डी–स्त्री., महाकरञ्जवृक्षः (रा. व. ९) लघुरक्तमाक्षिका (वै. नि.)
काकभीरु–पु., पेचकः (रत्ना. त्रिका.)
काकमर्द-क–पु., महाकाललता (प. मु.)
काकमांस–न., वायसमांसम्
काकमाचीतैल–न., अर्शोषिकादौ हितम्
काकयव–पु., शस्यहीनधान्यम् (महा. भा.)
काकयान–न., कोङ्कणदेशख्याते हासानामवृक्षविशेषः (वै. नि.)
काकरिपु–पु., उलूकः
काकरुहा–स्त्री., वृन्दावृक्षः (त्रि. का.)
काकरूक–पु., उलूकः निम्बवृक्षः (त्रि.,) भीतः स्त्रीजितः (मे. कचतुष्कन्)

काकलीरव–पु., कोकिलः (रा. व. १९)
काकवल्लभा–स्त्री., काकजम्बूवृक्षः (रा. व. ११)
काकवल्लरी–स्त्री., स्वर्णवल्ली (भा. पू. १ भ.) पीतकाञ्चनम् (वै. नि.)
काकविष्ठा–स्त्री., काकमलः
काकवृन्ता–स्त्री., रक्तकुलत्थः (वै. नि.)
काकशालि–पु., कृष्णशालिधान्यम् (वै. नि.)
काकशीर्ष–पु., बकवृक्षः (प. मु.)
काकसस्य–पु., तन्नामकपक्षिविशेषः (वै. नि.)
काकसादी–पु., अशुभलक्षणाश्वः (आग्नेय)
काका–स्त्री., श्वेतत्रिवृत् । काकोडुम्बरिका काकोली काकजङ्घा। गुञ्जालता मलपूवृक्षः। काकमाची (मे. कद्विकम्)
काकाङ्घा(ङ्घी)–स्त्री., काकनासा (भा. पू. १ भ.) काकजङ्घा (वै. नि.)
काकाञ्ची–स्त्री., काकजङ्घा (श. र.)
काकाण्ड–पु., काकतिन्दुकः। महानिम्बः (रा. व. ९)
काकाण्डफल–न., शूकरशिम्बीफलम्
काकानन्ती–स्त्री., रक्तगुञ्जा (भा. पू. १ भ.)
काकायु–पु., स्वर्णवल्ली (भा. पू. १ भ.)
काकारि–पु., पेचकः (हे. च.)
काकाल–पु., द्रोणकाकः। (श. र.) वत्सनाभविषम् (हे. च.)
काकास्या–स्त्री., महाश्वेतकाकमाची
काकाक्षा–स्त्री., काकनासा (रा. व. ३)
काकु–स्त्री., जिह्वा (त्रि. का.)
काकुद्(द)–स्त्री., तालु (रा. व. १८)
काकुदी–पु., काकुदावर्तः महादोषान्विताश्वः। 'आवर्ता यस्य काकुदि काकुदी स उदाहृतः' (ज. द. ३ अ.)
काकुरुत–न., विकृतशब्दम्।
काकेष्ट–पु., निम्बवृक्षः (रा. व. ९)
काकेष्टा–स्त्री., रेणुका काकमाची (वै. नि.)
काकोचिक-(ची)–पु., स्त्री., काऊचीति प्रसिद्धमत्स्यविशेषः (हा. रा.)
काकोदुम्बरिकाफल–न., अञ्जीरम् (वै. नि.)
काकोनालक–पु., प्लवज्ञातीयपक्षी । गुणाः– प्लववत्।
काकोल–पु., न., द्रोणकाकः (हला.) काकोली (धरणि) कृष्णवर्णस्थावरविषभेदः (रत्ना.) काकोलमुग्रतेजः स्यात् कृष्णच्छवि महाविषम् (वै. नि.) सर्पः। वनशूकरः। (श. र.)

काकोल्यादिघृत–(न.,) वातरक्ते घृतम् उपयुक्तम् (रस. र.)
काग–पु., काकः (जटा.)
कागद–पु., कागज इत्यारबीयभाषाप्रसिद्ध शणपत्रम्।
काङ्कायनगुडिका–स्त्री., गुल्मरोगे दृष्टफलौषधम् (च. द. रस. र.)
काङ्कायनमोदक–पु., अर्शोरोगे हितः (च. द.) (अर्श.चि.)
काङ्गा–स्त्री., वचा (श. च.)
काङ्क्षत्–पु., कौञ्चपक्षी। (वै. नि.)
काचक–पु., न., काचलवणम्, स्फटिकम्, काचमणिः, (वै. नि.)
काचज–पु., काचलवणम्; (वै. नि.)
काचतिन्तिडी–स्त्री., आमतिन्तिडी
काचभव–पु., काचलवणम् (वै. नि.)
काचभाजन–न., काचनिर्मितपात्रम्।
काचमालिका–स्त्री., मद्यम् (त्रिका.)
काचलवण–न., स्वनामख्यातलवणम्। काचलवणं इति महाराष्ट्रकर्णाटदेशे ख्यातम् (म–बांगडखार) गुणाः–रुच्यं ईषत् क्षारं पित्तलं दाहकं कफवातघ्नं गुल्मशूलनुच्च (रा. व. ९)
काचबकयन्त्र–न., अर्कादिनिष्कासनार्थे काचनिर्मितबकयन्त्रम्
काचबिन्दु–पु., नेत्ररोगविशेषः।
काचस्थाली–स्त्री., काचपात्रम्। पाटलावृक्षः। (अम.) (प. मु.) श्वेतपाटलः। (वै. नि.)
काचा–स्त्री., काचमणिः। काचा तु सारका लघ्वी व्रणनेत्रहितावहा। लेखनी शूलहृत्प्रोक्ता.....।' (वै. नि.) वयोनिरूपिका अश्वस्य दन्तेषु पञ्चदशाब्दादारभ्य सप्तदशपर्यन्तं जाता सर्षपाकाराः शुभ्रा रेखाः (च. द. ४ अ.)
काचाह्वा–स्त्री., हरिद्रा (वै. नि. २ भ. अप. चि.)
काचि (जि घ)–पु., काञ्चनम्। मूषिकः (मे. घत्रिकम्) शिम्बीधान्यादि (वै. नि.)
काचिञ्चिक-(लिन्दि)–पु., काकचिञ्चा।
काचित–त्रि., शिक्यारोपितम् (पदार्थम्) (अम.)
काचिम–पु., देवकुलोद्भववृक्षः (त्रिका.)
काजूत–पु., जांबीक्षुपः महाराष्ट्रादौ ख्यातः। गुणाः–तुवरः मधुरोष्णो लघुः स्मृतः। धातुवृद्धिकरो वातकफगुल्मोदरज्वरान्। कृमिव्रणाश्मिमान्द्यानि कुष्ठञ्च श्वेतकुष्ठकम्। संग्रहण्यर्शमानाहान् नाशयेत् ...(वै. नि.)

काञ्चज–न., काचलवणम् (वै. नि.)
काञ्चनकारिणी–स्त्री., शतमूली (श. च.)
काञ्चनगुडिका–स्त्री., गलगण्डाधिकारे हिता (रस. र.)
काञ्चनपत्रिका–स्त्री., कृष्णसुशली (वै. नि.)
काञ्चनपुष्पिका–स्त्री., पीतजाती (रा. व. ४)
काञ्चनभूषा–स्त्री., स्वर्णगैरिकम् (वै. नि.)
काञ्चनमाक्षिक–पु., स्वर्णमाक्षिकम् महाद्रावकः ।
काञ्चनमोहनरस–पु., गुल्माधिकारे रसः (रस. र.)
काञ्चनसूप–पु., काञ्चननामकद्विदलधान्यसाधितं सूपम्
काञ्चनाभ्ररस–पु., यक्ष्माधिकारे रसः (र. सा. सं.)
काञ्चनारगुग्गुलु– पु., गण्डमालागलगण्डापच्यर्बुदादौ हितः (भा.)
काञ्चनाल–पु., श्वेतकाञ्चनवृक्षः (र. मा.) आरग्वधवृक्षः (वै. नि.)
काञ्चनाह्वय–पु., नागचम्पकवृक्षः नागकेशरवृक्षः (अम.) पद्मकेसरम् (वै. नि.)
काञ्चनीया–हरितालः (श. चि.) गोरोचना (रा. व. १२)
काञ्ची–स्त्री., रसना (उणा.) गुञ्जा (वै. नि.)
काञ्चिक–न., काञ्जिकम् (हे. च.)
काञ्ची–स्त्री., गुञ्जा (हे. च.) रसना (अम.)
काञ्चीपद–न., जघनदेशः (हला.)
काञ्जिकवटक–पु,, खाद्यद्रव्यविशेषम् (भा.)
काञ्जिकषट्पलघृत–न., आमवाते घृतम् हितम् (च. द)
काञ्जितैलम्–न., काञ्जिकविशेषः (रा. व. १५)
काञ्जिपत्रक–स्त्री., कृष्णदन्तीक्षुपः
काञ्जी–स्त्री., महाद्रोणपुष्पी (रा. व. ५) काञ्जिकम् (अ. टी.) भार्गी (र. मा.)
काटुक–न., कटुता
काठ–पु., पाषाणः (त्रि. का.)
काठिन–पु., खर्जूरवृक्षः
काठिन्यफल–पु., कपित्थवृक्षः (रा. व. ११)
काठोडुम्बर–पु., काष्ठोदुम्बरिका (र. सा. स. कुष्ठ. चि)
काणभाग–पु., त्रिभागः (भैष. कालाग्निभैरवरसे)
काणु (णू) क–पु., करटः । हंसभेदः । कुक्कुटः । वायसः (उणा.)
काणेय–(र)–त्रि., काणः । एकनेत्रास्त्रेयः पुत्रः
काण्डकण्ट (क)–पु., अपामार्गक्षुपः (रा. व. ४) श्वेतापामार्गः (वै. नि.)
काण्डका–स्त्री., करालत्रिपुटा वालुकीनामकर्कटी । आलाबुः (रा. व. १६)
काण्डका (की) र–न., गुवाकः (श. मा.)
काण्डखेट–त्रि., अधमः (हला.)
काण्डणी–स्त्री., सूक्ष्मपर्णीलता
काण्डतिक्त–(क)–पु., किराततिक्तः । (रा. व. ९)
काण्डनी–स्त्री., रामदूती नागवल्ली
काण्डनील–पु., लोध्रम् । (रा. व. ६)
काण्डपट–पु., तिरस्करिणी (हे. च.)
काण्डपुष्प–न., 'दोना' इति प्रसिद्धः सुगन्धपुष्पविशेषः (श. च)
काण्डभङ्ग–पु., अस्थिभङ्गः
काण्डमध्या–स्त्री., काण्डवल्ली (वै. नि.)
काण्डव–पु., केमुकवृक्षकन्दः (वै. नि.)
काण्डहिता–स्त्री., लोध्रवृक्षः (वै. नि.)
काण्डा–स्त्री., मुषली (प. मु.)
काण्डिनी–स्त्री., हस्तिशुण्डीलता । (प. मु.)
काण्डीरा–(री)–स्त्री., मञ्जिष्ठा (र. मा.) कारवेल्लकः । अमृतस्रवा (वै. नि.)
काण्डेरी–स्त्री., नागदन्तीवृक्षः (र. मा.)
काण्डेरुहा–(स्त्री., कटुकी (र. मा.)
काण्डोल–पु., उष्ट्रः ।
कातर–(ल) पु., मत्स्यविशेषः (श. र.) गुणाः–मधुरो गुरुः त्रिदोषघ्नश्च (राज. १९)
कातोली–स्त्री., कोहलसुरा । यवमाषादिपिष्टोत्था कातोली कोहला सुरा (वाचस्पति)
कात्यायनी–स्त्री., काषायवस्त्रम् । (मे. नवतुष्कम्)
कादम्बकर–पु., कदम्बवृक्षः (वै. नि.)
कादम्बर–पु., न., नानाद्रव्यकदम्बकृतं मद्यम् ' नानाद्रव्यकदम्बेन मद्यं कादम्बरं स्मृतम् । (राज) गुणाः—मधुरं पित्तभ्रममदघ्नञ्च (रा. व. १४) कदम्बपुष्पोत्थमद्ये (मे) न,. दधिसारः (हे. च.) शीधुः (विश्व.)
कादम्बरीबीज–न., सुराबीजम् (र. मा.)
कादिर–न., खदिरसारः (रा. व. ८)
काद्रवेय–पु., सर्पः । रङ्गम् (मे.)
कानक–न., जैपालबीजम् । धुस्तूरबीजम् । (द्रव्याभिधानम्)
कानकचूर्ण–न., मुखरोगे हितम् । " गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् । तेजोव्हा त्रिफला लौहं चित्रकञ्चेति चूर्णितम् । सक्षौद्रं धारयेदास्ये (सा. कौ.)
काननारी–पु., शमीवृक्षः (श. च.)

काननौका–पु., कपिः । वानरः ।
कानीन–पु., लोध्रवृक्षः (श. च.)
कान्तपक्षी–(इन्) पु., मयूरः । (श. च.)
कान्तपाषाण–पु., चुम्बकनामप्रस्तरः । गुणाः– शीतो लेखनो विषदोषहा । मेदं पाण्डुं क्षयं कण्डूं मोहं मूर्च्छाञ्च नाशयेत् (वै. नि.)
कान्ताङ्घ्रि(चरण)दोहद–पु., अशोकवृक्षः (त्रिका.)
कान्ताराश्मज–न., कान्तलौहम् (वै. नि.)
कान्तारेक्षु–पु., इक्षुविशेषः (भा.)
कान्तालक–पु., नन्दीवृक्षः (वै. नि.)
कान्तिद–न., पित्तम् (श. च.)
कान्तिदायक–न., कालीयकचन्दनवृक्षः (जटा.) (त्रि.,) शोभादायकम् ।
कान्तिवृक्ष–पु., महासर्जवृक्षः (वै. नि.)
कान्तोली–स्त्री., कुष्माण्डसुरा (वै. नि.)
कान्द–न., पक्वान्नविशेषः (श. च.)
कान्दर्पिक–न., वाजीकरणम् (श. च.)
कान्दविक–त्रि., आपूपिकः (अम.)
कान्दाविष–न., विषभेदः (श. च.)
कान्यजा–स्त्री., नलीनामगन्धद्रव्यम् (श. च.)
कापथ–न., उशीरम् (अ. टी. भ.)
कापाल–न., अष्टादशकुष्ठान्तर्गतवातिककुष्ठम् (पु.,) कण्टकलता । कालियाकडा इति लोके (र. मा.) कपालास्थि । कर्कटीभेदः (वै. नि.)
कापाला–स्त्री., रक्तत्रिसन्धिका (वै. नि.)
कापालि–पु., स्त्री., अहिंस्रा (रत्ना.)
कापाली–स्त्री., विडङ्गम् (रा. व. ६) कण्टकपाली (प. मु.)
कापिकेक्षण–पु., कोकिलाक्षक्षुपः (रा. व. ५)
कापित्थ–न., कपित्थफलम्
काप्पिश–न., द्राक्षामद्यविशेषः (हे. च.)
कापिशायन–न., मद्यविशेषः । मधु (हला. जटा.) द्राक्षाकृतमद्यम् (वै. नि.)
कापिशायन–त्रि., द्राक्षानिर्मितम्
कापिशायनी–स्त्री., द्राक्षा । (वै. नि.)
कापोतवक्रक–पु., कपोतवङ्का । अयं शिरीषसदृशस्वल्पपत्रः (च. द. वीरतरादौ)
कापोताञ्जन–न., सौवीराञ्जनम् । स्रोतोऽञ्जनम् (भा अम.)
काफल–पु., कट्फलवृक्षः (श. र. अत्रि) (२ स्थान २ अ)
काबाबशर्करा–स्त्री., विडङ्गवत् फलविशेषः । मुस्तकादिमोदकः)
कामकला (वटी)–स्त्री., वातरक्ते हिता । (रस. र)
कामकलाख्यरस–पु., वाजीकरणौषधम् (रस. र. वाजी. चि.)
कामगा–स्त्री., कोकिला (वै. नि.)
कामचारिणी–स्त्री-, सुगन्धलताविशेषः (वै. नि.)
कामचारी (इन्)–पु., कलविङ्कः (श. र)
कामजान–(नि)–पु., कोकिलः (त्रिका.)
कामतरु–पु., वन्दाकवृक्षः ।
कामताल–पु., कोकिलः (त्रिका.)
कामदीपकरस–पु., वाजीकरणौषधविशेषः (रस. र.)
कामदूतरस–पु., वाजीकरणे हितः (रस. र.)
कामदूता–स्त्री., मनःशिला (वै. नि.)
कामदूति–(का)(ती)–स्त्री., मनःशिला पाटलावृक्षः (श. र) कोकिला । (का) नागदन्तीक्षुपः (प. मु.)
कामदेवघृत–न., रक्तपित्ते हितम् (रक्तपित्तचि.) (रस. र.)
कामना–स्त्री., वन्दाकः (वै. नि.)
कामनीडा–स्त्री., कस्तूरिका (वै. नि.)
कामपर्णिका (र्णी) स्त्री., आढुल्यक्षुपः (वै. नि.)
कामपा (फ) ल–पु., महाराजचूतः (रा. र. ११)
कामप्रियकरी–अश्वगंन्धा (वै. नि.)
कामफला–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)
काममलोलुप (भ)–पु., सद्वैद्यः (वै. नि.)
कामयाना–स्त्री., गर्भिणी
कामराजमोदक–पु., बाजीकरणौषधम्
कामरूपी (इन्) पु., शूकरः
कामरूपोद्भवा–स्त्री., कृष्णकस्तूरी
कामलता–स्त्री., लताविशेषा । शिश्नम् (हे. च.)
कामलिका–स्त्री., कङ्गुधान्यम् (श. चि.)
कामली (इन्)–त्रि., कामलारोगी
कामवल्लभा–स्त्री., ज्योत्स्ना (रा व २१)
कामवृद्धि–पु., स्त्री., कामजा नाम महाक्षुपः
कामवृन्ता–स्त्री., पाटलावृक्षः (श. मा.)
कामसख–पु., वसन्तकालः (रा. व. २१)
कामाग्निसन्दीपनरस–पु., वृष्याधिकारे रसः (भेष. । रस. र. । प्रयोगा. । सा. कौ.)
कामाङ्कुश–पु., नखम् । शिश्नम् (त्रिका)
कामाङ्गनायकरस–पु., वाजीकरणौषधम् (रस. र.)
कामाची -स्त्री., लघुकाकमाची
कामान्ध–पु., कोकिलः (रा. व. १९)

कामान्धा–स्त्री., कस्तूरी (रा. व. १२)
कामायु–पु., गृध्रः (वै. नि.)
कामालिका–स्त्री., मद्यम् (वै. नि.)
कामाल्लु–पु., रक्तकाञ्चनम् (श. च.)
कामाह्व–पु., राजान्नः (भा.)
कामिक–पु., कारण्डवपक्षी (श. र.)
कामिनीदर्पघ्न–पु., ध्वजभङ्गे रसः (भेष. ध्वजभ.)
कामिनीपुष्प–पु., वृक्षविशेषः ।
कामिनीप्रिया–स्त्री., मद्यसामान्यम् (रा. व. १४)
कामिनीश–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (श. च.)
कामीकजीव–पु., कामजवृक्षः (वै. नि.)
कामीन–(ल)–पु., रामपूगः (त्रिका.)
कामुक–पु., अशोकवृक्षः । पुन्नागवृक्षः । माधवीलता (मे.) चटकः (रा. व. १९) चक्रवाकः । कपोतः (वै. नि) (त्रि.,) कामातुरः ।
कामुककान्ता–स्त्री., अतिमुक्तकलता (रा. व. १०)
कामुका(की)–स्त्री., रक्तमञ्जरी । अतिमुक्तकलता (च. सू. १५ अ.) बकः (त्रि.,) वृषस्यन्ती (अम.)
कामुद्रा–स्त्री., मुद्गपर्णी (रत्ना.)
काम्पिल्य–(ल्ल)–पु., न., गुण्डारोचनी नाम सुगन्धद्रव्यम् । गुणाः–कफपित्तरक्तदोषकृमिगुल्मोदरव्रणप्रमेहानाहविषाश्मरीरोगघ्नः । रेचकः कटुरुष्णवीर्यश्च (भा. पू. १ भ.) म. कमिला, कपिला ।
काम्पिल्लिका–स्त्री., गुण्डारोचनिका (हा. रा.)
काम्पील–(क)–पु.,गुण्डारोचनी (श. र र. मा.)
काम्बुका–स्त्री., अश्वगन्धा (र. मा.)
काम्बोज–पु., तद्देशजघोटकः (ज. द.) श्वेतखदिरः । पुन्नागवृक्षः । कट्फलम् (मे. जत्रिकम्) वरुणवृक्षः। न., पद्मकाष्ठम् (वै. नि.)
काम्य–पु., असनवृक्षः (वै. नि.)
काम्यक–न., काष्ठविशेषः (वै. नि.)
काम्ल–त्रि., ईषदम्लम् ।
कायफल–न., कट्फलः । (वै. नि.)
कायमान–न., तृणकुटी (त्रिका.) देहपरिमाणम्
कायवाल–पु., कृकलासः (वै. नि.)
कायसौख्य–न., शरीरसुखम्
कायस्थादिधूपन–न., शीतज्वरे हितम्। (भा. म. १ भ ज्वरचि.)
कायस्थाली–स्त्री., रक्तपाटलवृक्षः (वै. नि.)
कायस्थिका–स्त्री., काकोली (भा. पू. १ भ)
कायिक–त्रि., शारीरकः
कारज–पु., गजबालकः (वै. नि.)
कारञ्जसुधा–स्त्री., करञ्जचूर्णम् । गुणः—कारञ्जा तु रुचिप्रदा (वै. नि.)
कारणशरीर–न., सत्वप्रधाने अज्ञानम्
कारणा–स्त्री., गाढवेदना दुःखम् (अम.)
कारन्धमी (इन्)–त्रि., धातुपरीक्षकः (हारा.)
कारमिहिका–स्त्री., कर्पूरः (रा. व. १२)
कारव–पु., काकः (त्रिका.)
कारवारि–न., करकाजलम् । गुणाः— कारोदकं तु विशदं गुरु रूक्षं स्थिरं घनं । कफकृद्वातलं चातिशीतं पित्तविनाशकम् (वै. नि.)
कारव्यादि–पु., कषायभेदः । कषायोऽयं अभिन्यासज्वरे हितः (भेष.)
कारस्कराटिका–स्त्री., कर्णजलौका (त्रि. का.)
कारा–स्त्री., पीडा । दुःखम् (हा. रा.)
कारायिका–स्त्री., सारसा । बलाका (जटा.)
कारिवेल्ल–पु., कठिल्लकवृक्षः (हे. च.)
कारी–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः । कण्टकारी, आकर्षकारीति द्विधा (मः— करीकार) गुणाः—कषाया मधुरा पित्तघ्नी दीपनी संग्राहिणी रुच्या गुरुः । कण्ठशोधनी (रा. व. ८.२५ पृ. ३५८) एतत्फलं तु तुवरं पट्वम्लं दोषघ्नं च । (वै. नि)
कारीरम्–न., करीरफलम् ।
कारुक–पु., कर्मरङ्गवृक्षः ।
कारुककर्म–न., सूपकारकर्म
कारुज–पु., हस्तिशिशुः । वामलूरः (मे) नागकेशरम् । फेनः । गैरिकम् (हे. च.)
कारुण्डिका(ण्डी)–स्त्री., जलौका (हारा. श. च.)
कारुण्यसागर–पु., ज्वरातिसाराधिकारे रसः (र. सा. सं.)
कारोत(त्त)र–पु., सुरामण्डः (अम.)
कार्कण–पु., वनकुक्कुटः (वै. नि.)
कार्ण–न., कर्णमलः (त्रि.,) कर्णसम्बन्धीयम् ।
कार्तिकशालि–पु., कार्तिकपक्वशालिधान्यभेदः ।
कार्तिकिक–पु., कार्तिकमासः (वै. नि.)
कार्पट–पु., जतुः (मे.)
कार्पासकी–स्त्री., कार्पासी (भा. पू. १ भ.)
कार्पासतैल–न., नाडीव्रणे हितम् । पाठः– कार्पासमूलरजनीकल्कं दत्त्वा जले श्रृतं तैलं । पूरणमात्राच्चिरजं नाडीव्रणमाशु नाशयति (रस. र.)

कार्पासनासिका–स्त्री., तर्कः ।
कार्मरी–स्त्री., वंशरोचना (रा. व. ६)
कार्यद्वेष–पु., आलस्यम् (रा. व. २०)
कार्यपुट(ध्वनि)–पु., क्षपणकः (त्रि.,) उन्मत्तः । अनर्थकरः (हारा.)
काश्मरी–स्त्री., काश्मरीवृक्षः (अ. टी. भ.)
काश्मर्(र्म)र्य–पु., गाम्भारीवृक्षः ।
काश्यहरलौह–पु., रसायनाधिकारे हितम् (र. सा. सं.)
कार्षापण–पु., न., कर्षपरिमाणम् (मे.)
कार्ष्ण–पु., कृष्णसारमृगः (न.,) कृष्णमृगचर्म (वै. नि)
कार्ष्णा–स्त्री., लघुशतावरी (वै. नि.)
कार्ष्णी–स्त्री., शतावरी (रा. व. ४ अम.)
कार्ष्यवन–न., शालवनम्
कार्ष्यु–पु., सर्जतरुः (अम.) कृष्णसारमृगः
कालक–पु., न., जलसर्पः (श. र.) जतुकम् (अम.) कालशाकः (भा. शाकवर्गः) यकृत् (हे. च.) नेत्रतारका । शस्यभेदः
कालकण्टक–पु., गिलोड्यफलवृक्षः (सु. सू. ४२)
कालकचु–स्त्री., कचुभेदः
कालकचूर्ण–न., मुखरोगे हितः (च. द.)
कालकण्टकरस–पु., वातव्याधौ रसः (र. चि. ९ अ)
कालकण्ठ (क) –पु., शीतशालः । मयूरः । खञ्जनः कलविङ्कः (मे.) जलकुक्कुटः । कासमर्दवृक्षः । अन्धकाकः (वै. नि.) (क) दात्यूहः (अम.)
कालकन्द–पु., महाकन्दः (रत्ना.)
कालकन्दक–पु., जलसर्पः (श. र.)
कालकन्या–स्त्री., जरा
कालकमुष्क–पु., कृष्णपुष्पघण्टापाटलिका (च. द. अर्शचि. क्षारविधाने)
कालकर्म (क्रिया) न., स्त्री., मृत्युः
कालकलाय–पु., कृष्णकलायः ।
कालकस्तूरी–स्त्री., कस्तूरीवृक्षविशेषः ।
कालकूटजोद्भव– पु., रालः (वै. नि.)
कालकृत् (त) पु., सूर्यः (त्रिका, शर.)
कालकेशी–स्त्री., नीली ।
कालकोठ–पु., पानशारु इति प्रसिद्धः कन्दशाकविशेषः (प. मु.)
कालक्लीतक–पु., नीलीवृक्षः ।
कालखञ्ज–(न)–न., यकृत् (हे. च)
कालखण्ड–न., यकृत् (रा. व. १८) यकृत्रोगभेदः (वै. नि.)
कालगन्ध–पु., सर्पविशेषः ।
कालग्रन्थि–पु., संवत्सरः (हा. रा.)
कालङ्कत–पु., सुवर्णमुखी (वै. नि.) कासमर्दः ।
कालज्ञ–पु., कुक्कुटः (रा. व. १९.४५८)
कालज्ञान–न., चिकित्साशास्त्रविशेषः येन कालो ज्ञायते रुग्विनिश्चयशास्त्रविशेषः शम्भुनाथकृतः ।
कालतिन्दुक–पु., कुपीलुः ।
कालतुण्ड–न., कृष्णागुरुः (वै. नि.)
कालत्रय–न., वर्तमानभूतभविष्याणि
कालदोला–स्त्री., नीलीवृक्षः (भा)
कालधर्म–(र्मन्)–पु., मृत्युः (अ. म)
कालपत्री–स्त्री., तालीशपत्रम्
कालपर्ण–पु., तगरवृक्षः (श. र)
कालपर्णिका (र्णी)–स्त्री., कृष्ण त्रिवृत् (भा. पू. ११ भ.)
कालपाशी–स्त्री., श्यामलता ।
कालपीलुक–पु., कुपीलुः (भा.)
कालपृष्ठ–पु., मृगविशेषः । कङ्कपक्षी (मेठचतुष्कम्)
कालपेषी–स्त्री., शामलता (रत्ना.)
कालप्रभात–न., शरदृतुः
कालप्रिया–स्त्री., अश्वगन्धा (रा. व. ४)
कालबाल–(लुक)–पु., कङ्कुष्टः (प. मु.)
कालभण्डी–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (वै. नि.)
कालभाण्डिका–स्त्री., मञ्जिष्ठा ।
कालभृत्–पु., सूर्यः ।
कालमान–(ल)(क)–पु., कृष्णपत्रक्षुद्रतुलसी (प. मु.) कृष्णमल्लिका । वर्बरिका इति लोके (सु. सू. ३७; भा. पू. १ भ.; च. चि. ३ अ. वा. सुरसादिः)
कालमारिष–पु., बृहत्पत्रतण्डुलीयशाकम् क्षुद्रमारिषः (भेष. च. द. अम्लपित्तचि. अभ्रशुद्धौ र. मा.)
कालमुख–पु., वानरः (रा. व. १९)
कालमेशिका–स्त्री., मञ्जिष्ठा (अ. टी. रा.)
कालवङ्क–पु., कालियालडा इति ख्यातः क्षुपः (रसेन्द्र चि. क्षुधावतीगुडौ)
कालवानर–पु., कृष्णमुखवानरः (रा. व. १९)
कालवाहन–पु., महिषः (वै. नि.)
कालविषाणिक–स्त्री., काकोलीक्षीरकाकोलीः (वा. उ.)
कालवीजक–पु., महानिम्बवृक्षः । काकतिन्दुकः (वै.नि.)
कालवृन्ताक–पु., पेटिका ।
कालवृन्ती–स्त्री., पाटलावृक्षः (रा. व. १०)
कालवेला–स्त्री., शनैश्चरवेला ।

कालसङ्कर्षा–स्त्री., नववर्षीयकन्या ।
कालसर्प–पु., कृष्णसर्पः (त्रिका.)
कालसार–न., पीतचन्दनम् । कलंवक इति लोके । (भा. पू. १ भ.) पु., कृष्णसारमृगः कृष्णागुरुः तिन्दुकः (वै. नि.) हरितालकः ।
कालस्कन्ध–पु., तिन्दुकवृक्षः गुणाः– कालस्कन्धश्च मधुरो बल्यो वृष्यो गुरुः स्मृतः । धातुवृद्धिकरः शीतः श्रमदाहकफापहः । पित्तशोथञ्च विस्फोटं पित्तञ्चैव विनाशयेत् (वै. नि.) विट्खदिरः । (रा. व. ८) जीवकद्रुमः तमालपत्रकवृक्षः (वै. नि.) काकतालः (मे.)
कालस्थाली–स्त्री., पाटलवृक्षः (भा पू १ भ)
कालहीन–पु., लोध्रवृक्षः ।
कालागु (गु)रु–न., कृष्णागुरुः (रा व १२)
कालाग्निभैरव–पु., ज्वरेरसः (भैष. ज्वरचि. रस. कौ.)
कालाग्निरस–पु., भगन्दरे रसः (रस. र.)
कालाग्निरुद्ररस–पु., कुष्ठाधिकारे रसः (रस. र. ज्वरचि.)
कालाजाजी–स्त्री., कृष्णजीरकम् । मङ्गरैला च (भा. म. १ आगन्तुज्वरचि.)
कालाण्डज–पु., कोकिलः
कालानुसारिणी–स्त्री., पिण्डितगरः । श्वेतशारिवा
कालान्तकरस–पु., कासाधिकारे रसः
कालान्तरविष–पु., न., मूषिकादिः । लूतादिः (हे. च.)
कालाप–पु., शिरःकेशः । सर्पफणा (धरणि)
कालाह्व–पु., काकतुण्डी, काकतिन्दुकः (वै. नि.)
कालि (ली) क–पु., जलकुक्कुटः । क्रौञ्चपक्षी (श. र.) (न.,) कृष्णचन्दनम्
कालिकाशाक–पु., कालशाकः (वै. नि.)
कालिकास्थि–न., नेत्रास्थिविशेषः । (वै. नि.)
कालिङ्कत–पु. कासमर्दवृक्षः । (प. मु.)
कालिङ्गिका–(ङ्गी)–स्त्री., त्रिवृत् (रा. व. ६) राजकर्कटी (मे गत्रिकम्)
कालिन्दीसू–पु., सूर्यः । (त्रिका.)
कालीक–पु., क्रौञ्चः (श. र.)
कालीची–स्त्री., यमविचारभूमिः (त्रिका.)
कालीतनय–पु., महिषः । (हे. च.)
कालीयका–स्त्री., दारुहरिद्रा । (भैष)
कालीयक्षोद–पु., कुङ्कुमम्
कालीयागुरु–न., कृष्णागुरु । कलम्बकटु इति लोके । (भा. उ. वाजी. च. चन्दनादितैले)
कालीरसा–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)
कालोड्य–न., कमलबीजम्
कालोल–पु., द्रोणकाकः । विषभेदः (मे.)
काल्प–(ल्य)–(क)–पु., गन्धशठी (प. मु.) व्याघ्रनखम् (वै. नि.) आमहरिद्रा (श. र.)
काल्य–न., प्रत्यूषः । (हे. च.)
काल्या–स्त्री., गर्भग्रहणप्राप्तकालायां रजःस्वला गौः । प्रतिवर्षप्रसवशीला गौः (हला.)
कावार–न., शैवालः । (हारा.)
कावारी–स्त्री., तृणादिच्छत्रम् (त्रिका)
कावृक–पु., कुक्कुटः । पीतमस्तकपक्षी
कावेर–न., कुङ्कुमम् (जटा)
कावेरी–स्त्री., पु., हरिद्रा (मे. त्रिकम्) स्वनामप्रसिद्धा भारतवर्षीयदाक्षिणात्यनदी । एतज्जलं स्वादु श्रमघ्नं लघु दीपनं दद्रुकुष्ठघ्नं मेधाबुद्धिरुचिप्रदञ्च (रा.व १४)
काशनाशन–पु., कर्कटशृङ्गी (रत्ना.)
काशपुष्पक–न., स्थावरविषान्तर्गतकन्दविषम् (वाउ ३५ अ)
काशमर्द–पु., कासमर्दक्षुपः (अ. टी. रा)
काशा (शी)–स्त्री., काशतृणम् (अ. टी. भ)
काशाल्मलि–स्त्री., कूटशाल्मली (जटा)
काशि–धन्वन्तरिपिता सुहोत्रः
काशिकन्या–स्त्री., काशितनया
काशि(शी)काप्रिय–पु., दिवोदासः धन्वन्तरिः (श. र
काशिग्रह–पु., अश्वस्य दुष्टग्रहविशेषः । लक्षणं यथा— अकस्माद्यस्य लोमानि शीर्यन्ते यश्च लङ्गति । शूनपश्चिमपादस्य तस्य काशिग्रहं वदेत् (ज. द. ५७ अ)
काशिल–त्रि., काशतृणमयः । काशनिर्मितम्
काशी–त्रि., कासरोगी (राज.)
काशीशत्रितय–न., काशीशधातुः काशीशपुष्पम्, काशीशम् (भैष. ग्रीहचि. महाद्रावके)
काशीशाद्यतैल–न., स्त्रीरोगे हितम् (च. द)
काशीसम्भूत–पु., पारदः (र. सा. सं. पार्वतीरसे)
काशूकार–पु., गुवाकवृक्षः (वै. नि)
काशेक्षुः–पु., काशः (भा. पू. १ भ)
काश्मीरजा–स्त्री., अतिविषा (मे.)
काश्मीरपुष्प–न., गाम्भारीकुसुमम् (सुचि. २५ अ.)
काश्मीरफल–न., गाम्भारीफलम् (च. द. रक्तपि. चि. शतावरीघृते)

काश्मीरा–स्त्री., कपीलद्राक्षा (रा. व. ११) अतिविषा (प. मु.) स्थलपद्मिनी (वै. नि.)

काश्य–पु., काशिराजः (न.,) मद्यम् (रा. व. १४)

काश्वरी–स्त्री., ह्रस्वगाम्भारीवृक्षः (द्विरूपकोषः भरतः)

काष्ठक–न., कृष्णागुरुः (वै. नि.) अगरुः काष्ठागुरुः (रा. व. १२)

काष्ठकीट–पु., घुणः (हे. च.)

काष्ठकु (कूटः) (टक: कुट्ट)–पु., पक्षिविशेषः (त्रिका.) गुणाः— तथा लघुर्वातहरः काष्ठकूटोऽग्निवर्धनः । वातश्लेष्माधिको ज्ञेयः शीतलः शुक्रवर्धनः । अश्मरीं हन्ति विशदो बलकृत् मांसलक्षणः (अत्रि. २१ अ.)

काष्ठतन्तु–पु., काष्ठकृमिः (हारा.)

काष्ठतक्षक–पु., काष्ठतन्तुः (श. र.)

काष्ठधात्रीफल–न., क्षुद्रामलकफलम् । गुणाः– कषायं कटु शीतलं रक्तपित्तघ्नञ्च (रा. व. ११)

काष्ठपुष्प–पु., केतकीवृक्षः (प. मु.)

काष्ठमल्लिका–स्त्री., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः ।

काष्ठमार्जारिका–स्त्री., काष्ठबिडालिका (भैष.)

काष्ठलेखक–पु., घुणः (हारा.)

काष्ठवास्तुक–पु., वास्तुकशाकभेदः ।

काष्ठविवर–न., तरुकोटरम् (श. चि.)

काष्ठशारिवा–स्त्री., उत्तरापथप्रसिद्धे शारिवाभेदः अनन्ता (मद. व. १)

काष्ठशालि–पु., रक्तशालिः (रा. व. १६)

काष्ठामलकी–स्त्री., काष्ठधात्री

काष्ठाशन–पु., घुणः

काष्ठील–पु., राजार्कः (रा. व. १०) कुलिशमत्स्यः (त्रिका.)

काष्ठीला (लिका)–स्त्री., राजार्कः (वै. नि.) कदलीवृक्षः (रा. व. १२)

काष्ठोदुम्बरिका–स्त्री., काकोदुम्बरिका

कासघ्नधूम–पु., पञ्चविधधूमपानान्यतमः धूमः । येन पीतेन कासो नश्यति, तस्योपकरणं बृहती कण्टकारीत्रिकटुकासमर्दहिङ्गुनिर्गुण्डीवज्रवनशिलाप्रभृतीनि कासहराणि द्रव्याणि, तैः कल्कीकृतैः धूम्रपानम् (सू. चि. ४०.४)

कासजित्–स्त्री., भार्गी (रा. व. ६)

कासनाशिका–स्त्री., अरुणत्रिवृत् (रा. व. ६) कर्कटशृङ्गी (प. मु.)

कासन्दीवटिका–स्त्री., कफघ्नौषधम् । वेशवारविशेषः । गुणाः—हृद्या रुच्याग्निजननी वातमलानुलोमनी वातश्लेष्मघ्नी च (राज.)

कासभञ्जन–पु., पटोलः (भा. पू. १ भ.)

कासमर्दकपत्र–न., कासमर्दकदलम्

कासमर्ददल–न., कासमर्दकदलम्

कासमर्दिका–स्त्री., कासमर्दः (वै. नि)

कासर–पु., महिषः (हारा.)

कासरोग–पु., रोगविशेषः

काससंहारभैरव–पु., कासाधिकारे उपयुक्तः (र. सा. सं.)

कासहा–पु., कण्टकारीकृतः पिप्पलीचूर्णसहितः कासहरक्वाथः । तन्नामकधूम्रपानम् । तत्र धूमनाडी १६ अङ्गुलिमिता । धूमद्रव्यं च क्षुद्रकोषणं भाव्यम् (भा.)

कासान्तकरस–पु., कासाधिकारे हितः (र. सा.सं.)

कासार–न., स्वनामरुख्यातपक्वान्नविशेषः (पु.,) सरोवरः (वै. नि.)

कासिका–स्त्री., कफः । वनमुद्गः (वै. नि.)

कासिमृत्तिका–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (रा. व. १३)

कासीय–न., कांस्यम् (वै. नि.)

कासु(स्क)न्द–पु., कासमर्दः (भैष. कुष्ठ. चि. कन्दर्पसारतैले)

कासुम्भी–पु., कौसुम्भीशालिः (रा. व. १६)

कासूर–पु., महिषः (हला.)

कासू–स्त्री., विकलवाक्यम् (मे. सत्रिकम्) रोगः (हे. च.)

कासेक्षु–पु., ह्रस्वकासतृणम् (वै. नि.)

कासोली–स्त्री., अतिबला (वै. नि.)

कास्तीर–न., तीक्ष्णलौहम् (र. मा.)

काहलापुष्प–पु., श्वेतधुस्तूरवृक्षः (रा. व. १०)

काही–स्त्री., कुटजवृक्षः (रा. व. ९)

काक्ष–पु., न., अपाङ्गदर्शनम् ।

काक्षी–स्त्री., गोपीचन्दनम् । सौराष्ट्रमृत्तिका (र. मा.) तुवरिका (हे. च.)

काक्षीरी–स्त्री., वंशलोचनाभेदः (रत्ना.)

काक्षीव–(क)–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (अम., श. र.)

किंशा(सा)रु–पु., न., शस्यशूकम् (अम.) रोटकः । बाणः । कङ्कपक्षी (मे. त्रिकम्)

किंशुकादिगण–पु., त्रिदोषहरद्रव्यसमूहः (र. सा. सं.)

किंशुलुक–पु., हस्तिकर्णपलाशः (श. र.)

किकि–पु., चाषः (श. मा.) नारिकेलवृक्षः (रा. व. ११)

किकि (की) दि (दी) (व) (वि)–पु., चाषः सुवर्णचातकः (भरत । श. मा) (अम.)

किकिदीधिति–पु., कुक्कुटः (हला.)
किकिर–पु., कोकिलः पक्षी । अश्वः (वै. नि.)
किकी (इन्) –पु., चाषः
किखि–पु., वानरः (स्त्री.,) लघुशृगालः (हे. च. त्रि. का)
किङ्किनि (नी)–(पु., स्त्री.,) विकङ्कतवृक्षः (रा. व. ९) (भैष. शिरोरोग चि. किङ्किनीतैले) आम्लद्राक्षा (वै. नि.)
किङ्किर–पु., विकङ्कतवृक्षः (रा. व. ९) कोकिलः घोटकः न., करिकुम्भ बृहत्कृष्ण मक्षिका (शब्दकल्प)
कङ्किरा–(री)–स्त्री., रक्तम् (सारस्वतः) विकङ्कत-वृक्षः
किङ्किराल (य)–पु., बर्बूरवृक्षः)
किङ्किरी–पु., विकङ्कतवृक्षः (जटा.)
किङ्किलास–पु., अशोकवृक्षः (प. मु.)
किञ्चन–पु., हस्तिकर्णपलाशः (श. र.) वस्तु (वै. नि.)
किञ्चित्–त्रि, चतुर्थांशः (वै. नि.)
किञ्चित्पाणि–पु., कर्षमितमानम्
किञ्चिदुष्ण–त्रि., ईषदुष्णम्
किञ्चिलिक–पु.,
किञ्चलिक–गण्डूपदः
किञ्चलुक–त्रिका.
किञ्जल–पु., पद्मकेसरम् (श. च.) किञ्जल्कमात्रम् ।
किञ्जवालुक–न. कङ्कुष्ठः । पार्वतीयमृत्तिकाविशेषः ।
किटि–(टी)–पु., वनशूकरः । (अम्) वाराहीकन्दः ।
किटिदंष्ट्रा–स्त्री., शूकरदंष्ट्रा (वै. नि.)
किटिमूलक–(लाभ)–पु., वाराहीकन्दः । शूकरकन्दः (वै. नि.)
किट्टवर्जित–न., शुक्रम् (हे. च.)
किट्टाल–पु., लौहगूथम् । ताम्रकलशः । (मे. लत्रिकन्) न., ताम्रम् (वै. नि.)
किट्टिभ–न., द्रवद्रव्यविशेषः ।
किणि–स्त्री., अपामार्गक्षुपः (श. र.)
किण्वमूलक–पु., बकुलवृक्षः । (वै. नि.)
किण्वी–पु., अश्वः ।
कितवराज–पु., धुस्तूरवृक्षः (वै. नि. २ भ) (तृष्णाचि.)
किनी–स्त्री., ह्रस्वबृहती ।
किन्तनु–पु., ऊर्णनाभिः (त्रिका.)
किन्दी (न्धी) (इन्)–पु., घोटकः (त्रिका.)
किम्भरा–स्त्री., नलीनामगन्धद्रव्यम्
कियाह–पु., शृगालः । रक्तवर्णाश्वः । ' पक्वतालनिभो वाजी कियाहः परिकीर्तितः । ' (ज. द. ३ अ ! हे. च.)
किर–पु., वराहः । (अम.)
किरटा–स्त्री., कुसुम्भबीजम् (वै. नि.)
किरमाल–पु., आरग्वधवृक्षः । (सु. चि. ९ अ)
किराटिक–स्त्री., सारिका
किरातकान्त–न., कोङ्कणप्रसिद्धे शबरचन्दनम् (रा. १२)
किराततिक्तादि–पु., वातपित्तज्वरे
किरातादि–
कषायविशेषः । ' किराततिक्तामृता द्राक्षामामलकीं शठीं । निष्काथ्यं पित्तानिलजे काथंतं सगुडं पिबेत् । अयं चतुर्भद्रकोऽपि उच्यते । (भा. म, १ अ.)
किरातादिचूर्ण–न., दुर्जलदोषजज्वरे हितम् (भा. म. १. भ. ज्वरचि.)
किरातिनी–स्त्री., जटामांसी (श. र.)
किरि–पु., शूकरः (रत्ना.) वाराहीकन्दः (वै. नि.)
किरीट–पु., कुसुम्भवृक्षः (वै. नि.)
किर्मी–स्त्री., पलाशवृक्षः (मे. मद्विकम्)
किर्मीर–(त्वक्)–पु., कर्बूरः । नागरङ्गवृक्षः (मे. त्रिका.)
किर्याणी–स्त्री., वनशूकरः
किलपादिका–स्त्री., क्षुद्रलज्जालुका (वै. नि.)
किलाटी (इन्) पु., वंशः । एरण्डवृक्षः (हा. रा.) स्त्री., क्षीरविकृतिः (हे. च.)
किलात–त्रि., वामनः । ह्रस्वः ।
किलाल–न., गोमूत्रम् (वै. नि.)
किलासघ्न–पु., कर्कोटकः (हे. च.)
किलासनाशन–पु., किलासघ्नः ।
किलि–व्य., कण्ठकूजितम्
किलिञ्च–न., सूक्ष्मकाष्ठम् (जटा.)
किलिञ्चन–पु., गलः, मीनभेदः (वै. नि.)
किल्वी–पु., घोटकः (त्रिका.)
किशरा–स्त्री., कृशरा (द्विरूपकोष)
किशरोमा–पु., शूकशिम्बी (वै. नि.)
किशल(य)–पु., न., कोमलपल्लवम् (त्रिका.)
किशोर–पु., घोटकशिशुः (रत्ना.) तरुणावस्था । शिशुः । तैलपर्णी (मे. त्रिकम्) सूर्यः ।

किष्कुपर्वा–पु., इक्षुः । वंशः । नलः (मे.)
किसर–न., सुगन्धद्रव्यविशेषः ।
कीकट–(क)–पु., घोटकः (विश्व.) तद्देशजाश्वः ।
कीकटी(इन्)–पु., वन्यवराहः (वै. नि.)
कीकश–(स)–., न., कृमिजातिः (मे.) अस्थिः (रा. व. १८)
कीकसमुख–(सास्य)–पु., पक्षी (हारा.)
कीकि–पु., चाषः (अ. टी.)
कीटगर्दभक–पु., सौम्यकीटविशेषः । तेन दष्टे श्लेष्मजन्यरोगा जायन्ते ।
कीटज–न., ख्यातद्रव्यविशेषः ।
कीटनामा–स्त्री., रक्तलज्जालुका (वै. नि.)
कीटपादिका(दी)–स्त्री., हंसपादीलता (रा. व. ५) रक्तलज्जालुका (रा. व. ५) रक्तलज्जालुका (वै. नि.)
कीटमणि–पु., पतङ्गम् । खद्योतः ।
कीटमाता(री) स्त्री., हंसपादीलता (रा. व. ५) रक्तलज्जालुका (वै. नि.)
कीटमेष–पु., मृगचरा इति प्रसिद्धकीटः । अयं नदीतीरे सिकतामध्ये जायते ।
कीटरिपु–(शत्रु)–(हारि)–(टारः)–पु., पु. न. विडङ्गः (वै. नि.) (संग्रहणीचि. कल्याणगुडे)
कीटारिरस–पु., कृमिघ्नमौषधम् ।
कीटारिघ्न–न., अश्वस्य कीटवेधरोगः (ज. द. २५ अ)
कीडेर–पु., तण्डुलीयशाकम् (भा.)
कीतनीका–स्त्री., यष्टिमधु (वै. नि.)
कीन–न., मांसधातुः (वै. नि.)
कीनाश–पु., वानरविशेषः (अ. टी. स्वा.)
कीरक–पु., वृक्षभेदः । धरणिः ।
कीरट–(टा)–पु. स्त्री., वङ्गधातुः (वै. नि.)
कीरतनुफल–स्त्री., तूलकवृक्षः (वै. नि.)
कीरनासा–स्त्री., शुकनासा (वै. नि.)
कीरमणि–पु., धूम्याटः (वै. नि.)
कीर्ति–स्त्री., यशम् । पङ्कः (विश्व.)
कीर्तिशेष–पु., मरणम् (जटा.)
कीलक–पु., कक्कोलः (वै. नि.)
कीलशायी–पु., कुक्कुरः (हे. च)
कीलसंस्पर्श–पु., तिन्दुकवृक्षः (श. च.)
कीश–पु., वानरः (हला.) पक्षी । (श. र) सूर्यः (वै. नि.)
कीशपर्ण–(र्णी)–पु., स्त्री., अपामार्गवृक्षः । (श. र. अ. म.)
कीशफल–न., कक्कोलः (वै. नि)

कु

कुक–पु., चक्रवाकपक्षी (वै. नि.)
कुकुभ–न., मद्यविशेषः । (श. च.)
कुक (कु) र–पु., ग्रन्थिपर्णीलता (त्रि.,) रोगादिना कुञ्चितहस्तः ।
कुकाञ्चन–न., पित्तलम् (प. मु.)
कुकुट–पु., सितावरवृक्षः । शाल्मलीवृक्षः । (रा. व. ४)
कुकु (कू) टी–स्त्री., ऋषभकः । शाल्मलीवृक्षः (रा. व. ८)
कुकु (र) द्रु–पु., कुकुरद्रुमम् (वै. नि.)
कुकुन्दनी–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (वै. नि.)
कुकुन्दरमेचक–पु., गोरक्षतण्डुली (रस. र. स्तनरोगचि.)
कुकुभ–पु., कुक्कुभपक्षी (वै. नि.)
कुकुरजिह्वा–स्त्री., मत्स्यविशेषः
कुकुरुन्द–पु., कुक्कुरद्रुमम् । (वै. नि.)
कुकुवाक्–पु. कुकुभपक्षी (वै. नि.)
कुकूट–न., मयूरपिच्छम् (वै. नि.)
कुकूल (क)–न. पु. अपां बाष्पस्वेदः, गोशकृतादिचूर्णसन्ताप इत्यन्ये, अपूपपचनार्थं मृण्मयपात्रम् (अहसू. ६.४२ हेमाद्रिः)
कुकोल–न., कोलीवृक्षः । (श. च.)
कुक्कुटपादप–(पादी)–पु., देवसर्षपः, गुणाः– सरा कुक्कुटपाद्युक्ता मूले रक्ता च रूक्षदा । गन्धे चोग्रा सन्निपातकफवातनाशिनी (वै. नि.) कटूष्णः कफघ्नः कृमिदोषघ्नः रुच्यः मुखरोगघ्नश्च । (रा. व. ९)
कुक्कुटपुटभावना–स्त्री., मिलितपलद्वयरसेन भावनां दत्त्वा कुक्कुटपुटेन शोषणम् । (वैद्यकम्)
कुक्कुटमञ्जरी–स्त्री., चविका (रा. व. ९)
कुक्कुटमर्दका–(स्त्री.,) आरामशीतला (वै. नि.)
कुक्कुटमस्तक–न., चव्यम् (रा. व. ६) मरिचभेदः (वै. नि.)
कुक्कुटशिख–पु., कुसुम्भवृक्षः (श. च.)
कुक्कुटा–स्त्री., पीतझिण्टी (वै. नि.)
कुक्कुटाण्डसम–पु., तदाकारवर्णवार्ताकी (वै. नि.)
कुक्कुटाभ–(हि) पु., कुक्कुटसदृशवर्णचरणसर्पभेदः कुक्कुटाहिरिति लोके (हे. च.) (न) कुक्कुटडिम्बकपालः । व्रणोत्सादने हितम् (सु. सू. ३१ अ.)
कुक्कुटीमूल–न., शाल्मलीमूलम् (ज. द.)
कुक्कुटोरग–पु., गोणससर्पः

कुक्कुरद्र–पु., वृक्षविशेषः; गुणाः– कटुत्वं तिक्तत्वं ज्वरशोणितकफघ्नत्वं (ज. द.) तन्मूलमार्द्रं मुखे धृतं मुखशोषहृच्च (भा.)

कुक्कुरमेञ्जुका–(ण्डुक) स्त्री., गोरक्षतण्डुली

कुक्कुरी–पु., कुक्कुरपत्नी (श. र.)

कुक्कुवाक–पु., सारङ्गमृगः (रा. व. १९)

कुक्ष–पु., कुक्षिः (उणा.)

कुक्षि–स्त्री., उदर (रत्ना.)

कुक्षिम्भरी–त्रि., स्वोदरपूरकः (अम.)

कुग्राम–पु., कुत्सितग्रामम्, धनिनः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः । पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ' ।

कुङ्कुमरेणु–पु., स्त्री., कुङ्कुमगुण्डकः

कुङ्कुमशालि–पु., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषः । गुणाः— मधुरः शीतलः रक्तपित्तातिसारघ्नश्च । (रा. व. १९)

कुङ्कुमा–स्त्री., शाल्मलिवृक्षः (वै. नि.)

कुङ्कुमागुरुक– पीतरक्तं हरिचन्दनम् गुणाः– शीतस्तिक्तः पित्तश्रमापहः । शोषश्च दवथुश्चैव नाशयेदिति कीर्तितः । स्वर्गिभोग्यो मनुष्याणां दुर्लभः परिकीर्तितः (वै. नि.)

कुङ्कुमाद्यतैल–न., नीलिकापिडकादौ हितम् । (च. द. रस. र.)

कुङ्गनी–स्त्री., महाज्योतिष्मतीलता (रा. व. ३)

कुचण्डिका (ण्डी) स्त्री., मूर्वा (श. च.)

कुचतटाग्र–न., चूचकम्

कुचमुख (चाग्र)–न., चूचकम् (अम.)

कुचाङ्केरी–स्त्री., चुक्रम् (र. मा)

कुचि–पु., अष्टमुष्टिपरिमितमानम् (वै. नि.)

कुचिक–पु., मत्स्यविशेषः । एतद्दृष्टे गौर्म्रियते ।

कुचिकर्ण–पु., तन्नामककर्णरोगभेदः । तच्च वातादभ्यन्तरे शष्कुलौ सङ्कुचिता भवति (वा. उ. १७ अ)

कुचिल–न. कुचेलम् (वै. नि. २ भ. वा. व्या.) (समीरगजकेसरीरसे)

कुचुटक–पु., जलशाकविशेषः (वै. नि.)

कुचेलिका (ली)–स्त्री., पाठा (प. मु. रा. व. ९)

कुच्छ–न., कुमुदम् । श्वेतपद्मम्

कुच्छाया–न., शरीरम् (वै. नि.)

कुच्छुट–पु., बब्बूलवृक्षः (वै. नि.)

कुज्जि (ञ्झ) श–पु., कुडिशमत्स्यः ।

कुञ्झटि–(का)(टी)–स्त्री., कुञ्झटिका (श. र.)

कुञ्झिका (ञ्झी) स्त्री., कुञ्झटिका (श. र.)

कुञ्ज–पु., न., निकुञ्जः । हनुदेशः । हस्तिदन्तः (मे. ज्ञद्विकम्)

कुञ्जप्रिय–पु., जवा (पा) वृक्षः (वै. नि.)

कुञ्जरपादप–पु., कुन्दुरकवृक्षः (वै. नि.)

कुञ्जरपिप्पली–स्त्री., गजपिप्पली (वै. नि.)

कुञ्जरपुट–पु., गजपुटः (र. सा. स.)

कुञ्जरा(री)स्त्री., धातकीवृक्षः (र. मा.) पाटलवृक्षः (मे. त्रिक.) (री) हस्तिनी (श. च.)

कुञ्जरारति पु., शरभः (हे. च.)

कुञ्जरालुक–न., आलुकविशेषः (श. च.)

कुञ्जराशन–पु., अश्वत्थवृक्षः (अम.)

कुञ्जरिका–स्त्री., सल्लकीवृक्षः (वै. नि.)

कुञ्जल–पु., लशुनभेदः (न.,) काञ्जिकम् ।

कुट–पु., न., कोटः । घटः (मे.) चित्रकवृक्षः (हे. च.)

कुटङ्क(क)–पु., गृहाच्छादनम्(क) (अ. टी.) कुटीरम् (अ. टी.)

कुटजक्षीर–न., रक्तातीसारे प्रशस्तम् (भा. म. १ भ. अतिसारचि.)

कुटजपुटपाक–पु., सन्निपातरक्तातिसारे हितः (भा. भ. १ भ. रक्तातिसारचि. सा. कौ. भैष.)

कुटजमल्ली–स्त्री., वृक्षविशेषः ।

कुटजलेह–पु., अर्शोरोगे हितः (च. द. अर्श. चि.)

कुटजसुधा–स्त्री., कुटजचूर्णम् । कौटजा शोषनाशिनी (वै. नि.)

कुटजादिक्वाथ–पु., रक्तातीसारे हितः (भा. म. १ भ. रक्तातीसारे भैष.)

कुटजाद्यघृत–न., अर्शोरोगे हितम् (च. द. अर्श. चि.)

कुटजावलेह–पु., अतीसारे हितः (च. द. अतिसार चि.)

कुटजाष्टक–न., अतीसारे औषधम् (च. द.)

कुटजाष्टकावलेह–पु., अतीसारे हितः (भा. म. १ भ.)

कुटनी–स्त्री., महाज्योतिष्मतीलता (मे.)

कुटम्बक–न.,सुगन्धरोहिषतृणम् (वै. नि.)

कुटरवाहिनी–स्त्री., श्वेतत्रिवृतम् (वै. नि.)

कुटरु–पु., पटगृहम् । कानात् (उणा.)

कुटल–न., पटलम् (हारा.)

कुटामोद–पु., गन्धमार्जाराण्डम् (वै. नि.)

कुटिचर–पु., जलशूकरः । (श. र.)

कुटि (ठि) ञ्जर–(पु.,) पत्रशाकविशेषः । वनवास्तुकः गुणाः—कुटिञ्जरः स्वादुपाकः क्षारी रूक्षणः

शीतलः । गुरुर्मेलस्तम्भकरो दोषोत्पादनकारकः (वै. नि .)

कुटि (टी) र–न., क्षुद्रगृहम् (जटा.)

कुटिलपुष्पिका–स्त्री., तगरपादिकः । (प. मु.) स्पृक्का नामगन्धद्रव्यम् (रा. व. १२)

कुटीका–स्त्री., भूशयमृगः । (च. सू. ४ अ)

कुट्टल (क)–न., नीलोत्पलम् (रा. व. १०)

कुट्टार–न., सुरतम् (मे.)

कुट्टितमांस–न.,मांसव्यञ्जनभेदः (श. चि.)

कुठ–पु., चित्रकक्षुपः (रा. व. ९) वृक्षः (अम.)

कुठर–पु., दण्डविष्कम्भः । (अम.)

कुठाकु–पु., पक्षिविशेषः (हिं. खुटक्बढ़ैया) (उणा. विश्व.)

कुठाटक–पु., कुठारः (जटा.)

कुठार–पु., कुठेरकवृक्षः (र. सा. स.) अस्त्रविशेषम्

कुठारकतैल–न., शारीरव्रणादौ तैलम् (रस. र.)

कुठारु–पु., कुठेरकवृक्षः । कोशः (मे.) वानरः

कुठि–पु., वृक्षः (उणा.)

कुठिक–पु., कुष्ठौषधम् (हारा.)

कुठिल्लक–पु., रक्तपुनर्नवा (वै. नि.)

कुठेरज–पु., श्वेततुलसी (श. र.)

कुठेरु–पु., चामरवातः (त्रि. का.)

कुडप–(व) पु., परिमाणविशेषः

कुडली–पु., काञ्जनारभेदः (मद. व. १)

कुडिश–पु. मत्स्यविशेषः; गुणाः– मधुरो वृष्यः कषायो दीपनः लघुः स्निग्धः वाते पथ्यः रोचनो बल्यः कोष्ठबन्धकरश्च (रा.)

कुड्य–न., विलेपनम् (मे)

कुड्यकीटक–पु., स्त्री., गृहगोधिका

कुड्यमत्सी (त्स्य) (श. र. । च. शा. ८ अ)

कुणक–पु., बालकः । सद्योजातशिशुः (श. चि.)

कुणपा (पी) स्त्री., विट्शारिका (हा. रा.)

कुणारी–स्त्री., कुष्ठरोगविहितभक्ष्यद्रव्यम् यवपर्पटीति ख्यातम् (सु. चि. १० अ) कोणाडिकेति कश्चित् पठति ।

कुणाल–पु., पक्षिविशेषः

कुण्ट–न., अर्जकः गुण्ठतृणम् (वै. नि.)

कुण्टक–त्रि., स्थूलम् (श. मा.)

कुण्टकुरण्ट–न., झिण्टी (वै. नि.)

कुण्डगोलक–न., काञ्जिकम् (हे. च.)

कुण्डङ्ग–(क)–पु., कुञ्जः (हे. च.)

कुण्डलपत्र–पु., दना इति ख्यातवृक्षः (वै. नि.)

कुण्डलिका–नी (स्त्री.,) जिलेबी इति ख्यातमिष्टान्नम् तन्निर्माणविधिः—गोधूमप्रस्थद्वितयस्य कृत्वा सूक्ष्माः कणाः प्रस्थमिताः सुनिस्तुषाः दुग्धेन क्लिन्नास्तु तथैव भाण्डे यावदग्लत्वमुपेयुरीषत् । उद्धृत्य दुग्धेन द्रवं सुघृष्य सच्छिद्रपात्रेण च श्रीफलस्य । धारां घृते कुण्डलिकाकृतिं सृजन् पचेदथोद्धृत्य सुशर्करायाः । पाके निमज्जितामाहुः सर्वे कुण्डलिकाभिधां । सा शुक्रला हृद्यवृष्या इंद्रियाणां सुतृप्तिदा । पुष्टिकान्तिकरी बल्या द्वितीयास्याकृतिर्मता (वै. नि) (गुडूच्यां रा. व. ३)

कुण्डलिनायक–पु., पिङ्गलसर्पः ।

कुण्डलीचालन–पु., सर्पिणीवृक्षः ।

कुण्डिका–स्त्री., कमण्डलुः (हे. च) पिठरम् (श, च)

कुण्डी–स्त्री., शक्रयूथिका (वै. नि.) (इन्) पु., अश्वः

कुण्डीर–पु., मनुष्यः (धरणी)

कुतक–पु., रसाञ्जनम् (प. मु.)

कुतप–.पु, न., दर्भविशेषः छागकम्बलम् (मे.) वृषः । अग्निः । सूर्यः (हे. च.) दिवसस्याष्टममुहूर्तः । (त्रि.) ईषदुष्णम्

कुतपसप्तक–न., कृष्णतिलः । रौप्यम् । दर्भः । ऊर्णावस्त्रम् (वै. नि.)

कुतु–प–पु., न., चर्मपात्रम् ।

कुतुम्बा(म्बिका)–स्त्री., द्रोणपुष्पीक्षुपः (रा. व. ६)

कुतुम्बुरु–न., कुत्सिततिन्दुकीफलम्

कुतूणक–पु., बालरोगविशेषः ।

कुत्सला–स्त्री., नीलीवृक्षः (श. च.)

कुत्सशिम्बि(कुत्सा)–स्त्री., शिम्बीभेदः (वै. नि.)

कुत्सितशाल्मली–स्त्री., कृष्णशाल्मली ।

कुथित–त्रि., पूतियुक्तः (सू. चि.)

कुदलि–पु., अश्मन्तकवृक्षः ।

कुदेह–(क)–पु., कुत्सितदेहः ।

कुद्दल–पु., गिरिकाञ्चनम्

कुद्दार(ल)–अश्मन्तकवृक्षः । कोविदारवृक्षयः (र. मा. रा. व. ९,१०) आरग्धवृक्षः (वै. नि.) कोद्रवधान्यम् (प. मु.)

कुद्रव–(वल)–पु., कोद्रवः (वै. नि.)

कुधर–पु., पर्वतः (रा. व. २)

कुनट-पु., पृथुशिम्बश्योनाकवृक्षः (रा. व. ९) पीतलोध्रः (वै. नि.)
कुनली (इन्)-पु., वकवृक्षः (त्रिका.)
कुनाल-पु., कोकिलः ।
कुनालिक-पु., कोकिलः ।
कुनाशक-पु., दुरालभा रक्तयवासः (अम.)
कुन्तलोशीर-न., ह्रीबेरम् (रा. व. १०)
कुन्ती-स्त्री., गुग्गुलवृक्षः (मे. तत्रिकं शल्लकीवृक्षः ।
कुन्दम-पु., मार्जारः (त्रिका.)
कुन्दरिका-स्त्री., सल्लकी (रा. व. ११)
कुन्दसाह्वा-कुन्दा-स्त्री. श्वेतयूथिका (वै. नि.)
कुन्दाल-पु., महारग्वधवृक्षः । (वै. नि.)
कुन्दिनी-स्त्री., पद्मसमूहः (त्रिका.)
कुन्दु-स्त्री., कुन्दुरुस्त्री कुन्दुरु नाम गन्धद्रव्यम् । (रा.व. १२) (च. द.वातव्याधि एकादशशती प्रसारणीतैल) पु., मूषिकः (श. र.)
कुन्दुकुन्दुक-पु., कुन्दरुस्त्री (रा. व. १२.)
कुन्दुखोटी-स्त्री. कुन्दुरुस्त्री (भैष)
कुप-पु., भारद्वाजपक्षी
कुपथ्य-न., अस्वास्थ्यकरं पथ्यम् ।
कुपनस-पु., पनसवृक्षः । (प. मु.)
कुपाणि-त्रि., कुकरः वक्रहस्तः (हिं. टुण्डा.) (जटा.)
कुपिनी-स्त्री., खालुई इति गौडभाषाप्रसिद्धायां स्वल्पमत्स्यधान्यम् । (श. र.)
कुपिन्द-पु., वस्त्रनिर्माता (वै. नि.)
कुपि (पी) लु-पु., काकपीलुः । कारस्करवृक्षः । (रा. व. ९)
कुप्यधौत-न., रौप्यम् (रा. व. १३)
कुप्यलवण-न., लवणविशेषः (च. वि. ८)
कुप्यशाल-पु., धातुद्रव्यनिर्माणशाला
कुबाहुल-पु., उष्ट्रः (श. च)
कुबेरनेत्र-(राक्ष) पु., पाटलावृक्षः लताकरञ्जः (वै. नि.)
कुब्जका-स्त्री., कुब्जकवृक्षः गुल्लाबः (रा. व. १० म. द)
कुब्जकिरात-पु., **कुब्जवामन**- } कुब्जः
कुब्जपुष्प-न., पीतझिण्टी (र. मा.)
कुब्जप्रसारणी तैल-न., वातव्याध्यधिकारे हितम् (च. द.)
कुब्जा-स्त्री., वनचटका (वै. नि.)
कुभुक्त-न., कदर्यान्नम्
कुमरिच-पु., मरिचवृक्षविशेषः (हिं-लालमरिच) उतनोकोमरिच
कुमारकल्याणकघृत-न., बालरोगाधिकारे हितम्(च.द.)
कुमारभृत्या-स्त्री., गर्भिण्याः परिचर्यां । बालतन्त्रम् (त्रिका.)
कुमारललिता-स्त्री., शिशुक्रीडा
कुमारवाही (इन्) पु., मयूरः (श. र.)
कुमारीकन्द-पु., मयूर्याः कन्दः (वै. नि. २ कामलाचि. नस्ये)
कुमुख-.पु, शूकरः
कुमुदक-पु., प्रपौण्डरीकः (वै. नि.)
कुमुदघ्नी-स्त्री., तन्नामकस्थावरविषम् यस्य क्षीरे विषं वर्तते (सु. क. २ अ)
कुमुदप्रिय-पु., कर्पूरः । चन्द्रः । वै. नि
कुमुदबान्धव- ,, ,,
कुमुदसुहृत्-,, ,, ,,
कुमुदरागा-स्त्री., धानकीवृक्षः (वै. नि.)
कुमुदवीज-न., कुमुद्वतीबीजम् । हिं-मेढवेरा गुणाः—स्वादु गुरु रूक्षं हिमं च । (भा.)
कुमुदाभिख्य-न., रूप्यम् (हे. च)
कुमुदिका-स्त्री., कुमुदिनी (अम्) कट्फलवृक्षः (भा.पू.१भ)
कुमुदिनीबीज-न., कुमुदबीजम् (वै. नि.)
कुमुदेश्वररस-पु., यक्ष्माधिकारे हितम् (र. सा. सं)
कुमुद्वतीबीज-न., कुमुदबीजम् । भवेत्कुमुद्वतीबीजं स्वादु रूक्षं हिमं गुरु । (वैद्यकम्)
कुमुद्वान्-त्रि., कुमुदविशिष्टः ।
कुम्प-पु., बाहुकण्ठः (जटा.)
कुम्भकरेचना-स्त्री., जेपालवृक्षः । (वै. नि.)
कुम्भकार-पु., कुक्कुभपक्षी (हे. च.)
कुम्भकारकुक्कुट-पु., क्षुद्रकुक्कुटविशेषः ।
कुम्भकालुक-न., घोलः (वै. नि.)
कुम्भज-पु., वकवृक्षः (प. मु.)
कुम्बडिका-स्त्री., कूष्माण्डशालिः । (रा. व. १६)
कुम्भपर्णी-स्त्री., कूष्माण्डीलता
कुम्भपुटा-स्त्री., श्वेतत्रिवृत् (वै. नि.)
कुम्भपुष्पी-स्त्री., रक्तपाटलावृक्षः (वै. नि.)
कुम्भरेता-पु., अग्निः ।
कुम्भला-स्त्री., मुण्डिरी (र. मा.)
कुम्भवारुणी-स्त्री., मुण्डिरीभेदः (प. मु.)
कुम्भशालि-पु., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषः । गुणाः-मधुरा, स्निग्धा, वातपित्तघ्नी च (रा. व. १९)

कुम्भसन्धि-पु., करिकुम्भद्वयमध्यभागः (त्रिका.)

कुम्भा-स्त्री., उखा कट्फलवृक्षः । पृश्निपर्णी । पाटलावृक्षः (मे.) द्रोणपुष्पी (वै. नि.) श्वेतत्रिवृत् । तुम्बी (वै. नि.)

कुम्भाख्या-स्त्री., रक्तपाटला ।

कुम्भाट-.पु, कुम्भाडुया इति ख्यातः वृक्षः (रत्ना.)

कुम्भारी (द्री)(र्द्री)-स्त्री., कूष्माण्डी (वै. नि.)

कुम्भालाबु-स्त्री., महादुग्धालाबुः (वै. नि.)

कुम्भिकाद्यतैल-न., नाडीव्रणाधिकारे हितम् (रस.र.)

कुम्भितित्तिर-पु., तित्तिरपक्षिभेदः (वै. नि.)

कुम्भिपाकी-स्त्री., कट्फलवृक्षः (भा.)

कुम्भिल-पु., शालमत्स्यः (मे. लत्रिकम्)

कुम्भीपाक-पु., सन्निपातज्वरभेदः । घोणाविवरझरद्रक्तु शोणासितलोहितं सान्द्रम् । विलुठन्मस्तकमभितः कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् (भा. म. १ भ.)

कुम्भीरमक्षिका-स्त्री., मक्षिकाविशेषः । (हा. रा.)

कुम्भीरवल्क-पु., कायफलवृक्षः । (वै. नि.)

कुम्भीवृक्षफल-न., कायफलम् (वै. नि.)

कुम्भोद्भवतरु-पु., अगस्तिवृक्षः । (भा. म. १ भ.) (चित्तविभ्रमज्वरचि.)

कुम्भोलु-(लूक)-पु., पेचकभेदः ।

कुम्भोलूखलक-पु., गुग्गुलुः । (वै. नि.)

कुयव-पु,, कुत्सित यवः ।

कुरका-स्त्री., सल्लकीवृक्षः (रा. व. ११)

कुरङ्ग (ङ्ग) र-पु., सारसपक्षी (हे. च.) (हारा.) क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)

कुरङ्गम-पु., हरिणविशेषः । (त्रिका.)

कुरङ्गमांस-न., मृगविशेषस्य मांसम् एतन्मांसं रक्तपित्ते हितम् । तथा कफघ्नं मधुरं पित्तघ्नं मांसवर्धकं च। (सि. यो. रक्तपित्त) (चि. खण्डकाद्यघृते)

कुरङ्गी-स्त्री., कुरङ्गपत्नी

कुरचिल्ल-पु., कर्कटः (हे. च.)

कुरण्टमूल-न., पीतपुष्पझिण्टीमूलम् (भा. म. ४ अ योनिरोगचि.)

कुरण्टी-स्त्री., सिंहपिप्पली (वै. नि.)

कुरण्ड-पु., मुष्कवृद्धिरोगः (हे. च. । मा.) अक्षोटवृक्षः (वै. नि.) गुर्जरदेशरूयातं साकुरण्डवृक्षः । रा. व. ६)

कुरण्डक-पु., मदनवृक्षः । श्वेतमदनः । (वै. नि.) कुरण्टक वृक्षः । (अ. टी.) (च. द. माषतैले)

कुरण्ड(ण्डि)का स्त्री., वृक्षविशेषः । गुणाः- सरा रुच्या गुर्वी चाग्निप्रदीपनी । नाशिनी कफवातानां वैद्यैस्तु परिकीर्तिता । बृहत्कुरण्डिका शीता पाके माध्वी कटुः स्मृता । तिक्ता क्षारा च रूक्षा च सरा वृष्या जडा मता । वातला पित्तला बस्तौ वातकारी कफापहा । रक्तदोषं मूत्रकृच्छ्रं नाशयेदिति कीर्तिता (वै. नि.)

कुरर्व-पु., पारावतः (वै. नि.)

कुरल-पु., उत्क्रोशः (हला.) चूर्णकुन्तले (धरणी)

कुरस-पु., आसवम् । मद्यविशेषम् (हारा.) कुत्सितरसः त्रि., कुरसयुक्तः ।

कुरसा-स्त्री., गोजिह्वालता (श. च.)

कुराल-पु., कुलाहघोटकः । ईषत्पाण्डुकृष्णजङ्घघोटकः (हे. च.)

कुराह- ,, ,, ,, ,,

कुरीर-न., मैथुनम् (उणा.)

कुरुकन्दक-न., मूलकम् (श. मा.)

कुरुचिल्ल-पु., कर्कटः (वै. नि.)

कुरुटी(इन्)-पु., अश्वः ।

कुरुण्टका-स्त्री., पीतझिण्टी (च. द. अश्मरीचि.)

कुरुनाश-पु., उष्ट्रः (वै. नि.) पीतझिण्टी (सु. सू. ३८ अ.)

कुरुम्ब-न., पु., कुलपालकः । नागरङ्गविशेषः (श. च.)

कुरुम्बा(म्बिका)-स्त्री., द्रोणपुष्पी (रा. व. ५)

कुरुम्बी-स्त्री., सैंहलीवृक्षः (रा. व. ५)

कुरुरी-पु., } कुररपक्षी । भालस्थ-

कुरुल-पु., } चूर्णकुन्तल (हे. च) (वै. नि)

कुरुविल्व-(ल्ल)(क)-पु., नागरमुस्ता (ज.द.१२ अ.) पद्मरागमणिः (त्रिका.) वनकुलत्थः । (रत्ना.)

कुरुविस्त-पु., सुवर्णपलम् (अ. म.)

कुरुप्य-न., रङ्गम् (रा. व. १२)

कुर्कुट-पु., कुक्कुटः ।

कुर्कुर-पु., ग्राम्यमृगः । (अ. टी. रा.)

कुर्चिका-स्त्री., सूची । (त्रिका.)

कुर्णक-न., पटोललता । (श. चि.)

कुर्णज-पु., कुलिञ्जनवृक्षः । गन्धमूलम् (रा. व. ६)

कुर्पर-पु., कफौणिः (हे. च.)

कुर्पास-(क)-पु., स्त्रीणां स्तनाच्छादनवस्त्रम् (अम.)

कुल-न., बदरम् । देहः । कृष्णाञ्जनम् (त्रिका.)

कुलका-स्त्री., पटोललतिका (भैष. अम्लपित्त. चि० क्षुधावतीगुडौ) मनःशिला कन्दर्पसारतैलम्

कुलकृत्–पु., अकर्करः (वै. नि. जिह्वक. ज्वर. चि)
कुलक्षया–स्त्री., कर्पूरशठी (वै. नि.) कपिकच्छुः (श. च.)
कुलङ्ग–पु., कृष्णसर्पविशेषः (वै. नि.)
कुलङ्गी–स्त्री., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
कुलटी–स्त्री., मनःशिला (र. मा.)
कुलत्तृण–न., दमनकः (प. मु.)
कुलत्थगुड–पु., हिक्काश्वासाधिकारे हितः (र. स. र.)
कुलत्थषट्पलघृत–न., हिक्काश्वासाधिकारे हितम् (रस. र.)
कुलत्थसूप–पु., भृष्टकुलत्थसिद्धयूषः गुणाः– कुलत्थसूपो वातघ्नः कटुः पाके कषायकः । कफाविरोधी शुक्राश्मकरोष्मश्वासकासनुत् । शुक्राश्मरीहरः पित्तकारकः कथितो नृभिः (वै. नि.)
कुलत्था–स्त्री., कुलत्थाञ्जनम् (रा. व. १३) वनकुलत्थिका (म. रानकुळीथ) गुणाः–कटुः तिक्ता अर्शःशूलघ्नी विबन्धाध्मानघ्नी चक्षुष्या व्रणरोपणी च (रा. व. ५)
कुलत्थाञ्जन–न., स्वनामख्याताञ्जनविशेषम् (हिं–कालाशुर्मा खापरिआ) गुणाः– कुलत्थिका तु चक्षुष्या कषाया कटुका हिमा । विषविस्फोटकण्डूर्तिव्रणदोषनिबर्हिणी (रा. व. १३)
कुलत्थादिलेप–पु., कर्णमूलशोथे हितो लेपः । कुलत्थः कट्फलं शुण्ठी कृष्णजीरकञ्च समभागं जलेन पेषयित्वा ईषदुष्णो लेपः (भा. म. १. भ. ज्वरचि.)
कुलत्थान्न–न., तत्कृतभक्तम्, गुणाः–कुलत्थान्नन्तु मधुरं तुवरं रूक्षमुष्णकं । लघु तृप्तिकरं पाके कटुकञ्चाग्निदीपनम् । कफवातकृमिश्वासनाशनं परिकीर्तितम् (वै. नि.)
कुलनाश–पु., उष्ट्रः (हे. च.)
कुलपालक–न., कुरुम्बम् (श. च.)
कुलभृत्या–स्त्री., गर्भिणीपर्युपासना (जटा.)
कुलयी–स्त्री., वृक्षविशेषः । गुणाः—
कुली–शीतला स्वादुः वातकृत् गुरुश्च । ' कुलयी शीतला स्वादुः वातला कफकृद्गुरुः ' (वै. नि.)
कुलवधूरस–पु., सन्निपातज्वरे हितम् (रसा. सं.) पारदशीषकताम्रमनःशिलातुत्थकानि द्रव्याणि । इन्द्रवारुणीरसेन चणकाभा वटी कार्या (वै. रत्नावली)
कुलराह–(क)–पु., सेराहापरनामा पीयूषवर्णोश्वः । ' कुलराहस्तु सेराहः सुरराहकः ' (ज. द. ३ अ.)
कुलर्क–पु., तालमर्दनः । (हारा.)
कुलसौरभ–न., मरुबकवृक्षः । (हिं.–मरुआ) (श. मा.)
कुलहण्ट–(ण्डक)–पु., जलावर्तः (हारा.)
कुलहला–स्त्री., गोरक्षमुण्डीक्षुपः । (वै. नि.)
कुला–स्त्री., मनःशिला (वै. नि.) शूकशिम्बी
कुलाक्षिका(क्षता)–स्त्री., शून्या ।
कुलाट–पु., क्षुद्रमत्स्यविशेषः । (श. मा.)
कुलाय–पु., पक्षिनीडम् । स्थानमात्रम् (मे.) (न.) शरीरम् ।
कुलायस्थ–पु., पक्षी (श. च.)
कुलायिका–स्त्री., पक्षिशाला (त्रिका)
कुलासक–पु., दुरालभा (प. मु.)
कुलाह–(क)–पु., ईषत्पीतवर्णकृष्णजानुघोटकः (हे. च.) ईषत्पीतः कुलाहस्तु यो भवेत्कृष्णजानुकः (ज. द. ३ अ.) रक्तकोकिलाक्षः । गुणाः— आमवातघ्नः रक्तरोगघ्नश्च (रा.) कृकलासः (श. र.)
कुलि–(ली)–चविका (रत्ना.) कण्टकारी (मे.) पु., काञ्चनारभेदः (म. द. व. १) हस्तः (त्रिका.) चटकः (वै. नि.)
कुलिक–पु., कण्टकपालीवृक्षः (भैष.) अश्ववर्णशालः (रत्ना.)
कुलिकच्छ–पु., नन्दीवृक्षः (प. मु.)
कुलिका–स्त्री., मेषशृङ्गी ।
कुलिङ्गा(ङ्गी)–स्त्री., कुलिङ्गपक्षिस्त्री, कर्कटशृङ्गीवृक्षः (प. मु. च. सू. ४ अ.)
कुलित्था–स्त्री., रक्तकुलत्थः (वै. नि.)
कुलित्थिका–स्त्री., वनकुलत्थः । त्रिवृता । मसूरिकादेवी (वै. नि.)
कुलिशतरु–पु., अश्वकर्णशाललता (रा. व. ९)
कुलिशद्रुम–पु., स्नुहीवृक्षः (वै. नि.) हिं.—महूर.
कुलिशमत्स्य–पु., कुडिशमत्स्यः (रा.)
कुलीनक–पु., वनमुद्गम् । कर्कटः (प. मु.)
कुलीनस–न., जलम् (हे. च.)
कुलीयक–न., नेत्रसन्धिः (वै. नि.)
कुलीरविषाणिका(णी)–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (भा. पू. १ भ.)
कुलीरात्–पु., कर्कटशिशुः (त्रिका.)
कुलुक–न., जिह्वामलः (..

कुलुकगुञ्जा-स्त्री., उल्काग्निः (हारा.)
कुलूल-न., तुषानलः (मे.)
कुलोत्कट-पु., कुलीनघोटकः (श. च.)
कुलोत्थिका-स्त्री., कुलत्थः (वै. नि.)
कुल्फ-पु., कुल्फः । रोगः (उणा.)
कुल्मास-न., पु., कुल्माषः ।
कुल्य-न., अस्थि । द्रोणाष्टकपरिमाणम् । आमिषम् । कीकसः (मे.)
कुल्वक-न., जिह्वामलः (वै. नि.)
कुव-न., वारिजपुष्पमात्रम् । पद्मम् (हे. च.)
कुवकालुका-स्त्री., घोलीशाकम् (रा. व. ६)
कुवङ्ग-न., शीषकम् (रा. व. १३)
कुवञ्जक-न., वैक्रान्तमणिः (रा. व. १३)
कुवर-पु., तुवररसः (अ. टी) (च. सू. ४ अ.)
कुवलकी-स्त्री., शल्लकीवृक्षः (वै. नि.)
कुवलकुण-पु., कोलिफलकालः ।
कुवला-स्त्री., मुक्ताविशेषा ।
कुवली-स्त्री., कोलिवृक्षः (हे. च.)
कुविड-न., विड्लवणम् (रा. व. २३)
कुवृत्तिकृत्-पु., पूतिका करञ्जभेदः (श. च)
कुवेणी-स्त्री., मत्स्यधानिका (अ. म.)
कुवेल-न., कुवलयः (हे. च.)
कुवैद्य-पु., कुत्सितवैद्यः ।
कुशनामा-पु., उष्ट्रः (हे. च.)
कुशप-पु., पानपात्रविशेषः (उणा.)
कुशपुष्प-न., ग्रन्थिपर्णी (प. मु.)
कुशमुत्तोली-स्त्री., कुशमयी मुटिका कुशानां रचनाविशेषो मुत्तोलीत्युच्यते (वा. क. १ अ)
कुशमूल-न., दर्भमूलम् । गुणाः- हिमं रुच्यं मधुरं पित्तघ्नं रक्तज्वरतृष्णाश्वासकामलाहृच्च (रा. व. ८)
कुशरीर-पु., महाशालवृक्षः (वै. नि.) (त्रि.) कुत्सितशरीरम्
कुशल-त्रि., निपुणः (पु.,) कुक्कुरः (हे. च.) महाजलरेतस् । मत्स्यभेदः (वै. नि.) (न.,) पर्याप्तम् (अम.)
कुशली-त्रि., अश्मन्तकवृक्षः क्षुद्राम्लिका (भा. पू. १ भ. (शाकवर्ग) कुमारी (वै. नि.)
कुशस्त्र-न., कुत्सितास्त्रम्
कुशाक्ष-पु., वानरः (श. मा.)
कुशादिशालिपर्ण्य-न., तृणपञ्चकमूलम् विदारिगन्धादिगणे च (सि. यो. दाहचि.)
कुशाद्यघृत-न., अश्मर्यधिकारे हितम् (च. द. अश्मरीचि.)
कुशाद्यतैल (घृत)-न., दाहाधिकारे हितम् (च. द. दाहचि. रस. र.)
कुशाल्मली-(ली)-पु., स्त्री., रक्तरोहितकः । रोहितकवृक्षः
कुशावलेह-पु., प्रमेहाधिकारे औषधविशेषः (च. द.)
कुशिंशपा-स्त्री., कपिलवर्णशिंशपा (रा. व. ९)
कुशि (षि) त-त्रि., जलमिश्रितम् (उणा.)
कुशिम्बि-(म्बी) पु., स्त्री., शिम्बीविशेषः, गुणाः- ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च बलप्रदा । पित्तनिबर्हणा च (वैद्यकं)
कुशी-पु., फालः लौहविकारः (मे.)
कुशीद-न., फालरक्तचन्दनमुण्डमालातंत्रम्
कुशीपु-पु., अन्नम् (वै. नि.)
कुशूल-पु., तुषाग्निः (जटा) अन्नकोष्ठम्, धान्यकोष्ठम् (हला.)
कुशेशय-पु., न., पद्मम् (प. मु) कर्णिकारः (श. च.) सारसपक्षी (अम.)
कुषक-पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)
कुषाकु-पु., वानरः । अग्निः । (विश्वः) । अर्कः । (मे.)
कुष्ठकण्टक-पु., खदिरवृक्षः (वै. नि.)
कुष्ठकालानलरस-पु., कुष्ठे हितः (र. चि. ८ अ.)
कुष्ठगन्धा (न्धिनी)-स्त्री., अश्वगन्धा (भा. पू. १ भ.)
कुष्ठगन्धि-न., एलवालुकम् (अम.)
कुष्ठदलनरस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः । (रस. र.)
कुष्ठनोदन-पु., रक्तखदिरवृक्षः (वै. नि)
कुष्ठवैरी (इन्)-पु., वृक्षविशेषः । चालमोगरा इति भाषा । गुणाः— कुष्ठवैरी शैलरोही महागदमहीरुहः । वैवस्वतद्रुमः स स्याद्वलकृत् च रसायनः । पामाविचर्चिकाकंडूसिध्मदद्रुविपादिकाः । हन्त्यामवातं वातामं कुष्ठानि च विशेषतः (अत्रि)
कुष्ठशैलेन्द्रवज्ररस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः । (रस. र.)
कुष्ठहन्त्री-स्त्री., बाकुची (रा. व. ४)
कुष्ठहरतालेश्वर-पु., कुष्ठाधिकारे रसः । (र. सा. सं.)
कुष्ठहा-पु., पटोलवृक्षः (भा. पू. १ भ. शाकवर्ग)
कुष्ठहृत्-स्त्री., खदिरवृक्षः (त्रिका.)
कुष्ठाद्युद्वर्तन-न., कुष्ठरोगे उद्वर्षणम् (च. द.)
कुष्ठान्तकरस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः (रस. र.)

कुष्ठिक–न., अश्वस्य किणाधोमध्यभागः। 'किणं तत्रैव मध्यस्थमधोभागे च कुष्ठिकम्।' (ज. द. २ अ.)

कुष्णीष–पु., सरीसृपज्वरः (गज. वै.)

कुष्मल–न., छेदनम् (उणा.)

कुसिम्बी–स्त्री., रक्तशिम्बीलता (रा. व. १६)

कुसुमफल–न., जातीफलम्। (वै. नि.)

कुसुममध्य–न., भव्यफलम्। (श. च.)

कुसुमवती–स्त्री., रजःस्वला

कुसुमसार–पु., मधु। 'घृतकुसुमसारलीढः (च. द. यक्ष्मचि. गर्भचि.)

कुसुमा–स्त्री., मालीपुष्पवृक्षः। रक्तपाटला। जातीपुष्पवृक्षः। रक्तपाटला। (रत्ना.)

कुसुमाकर–पु., वसन्तसमयः।

कुसुमात्मक–न., कुङ्कुमम् (हारा.) पु., केशः (वै. नि.)

कुसुमाधिप–पु., चम्पकवृक्षः (श. र.)

कुसुमाधिराज–(राट्)–पु., महानागकेशरचम्पकवृक्षः (त्रि. का.)

कुसुमावली–स्त्री., वृन्दकृतसिद्धयोगटीका

कुसुमोदर–न., भव्यफलम् (प. मु.)

कुसुम्भपत्र–न., कुसुम्भशाकम्

कुसुम्भला–स्त्री., दारुहरिद्रा (वै. नि.,)

कुस्वप्न–पु., कुत्सितस्वप्नम्

कुहकस्वन–कुहकस्वर– पु., वनकुक्कुटः (हे. च.)

कुहन–त्री., ईर्ष्यालुः (हारा.) पु., मूषिकः सर्पः (हे. च.) (न.,) मृद्भाण्डविशेषः काचपात्रम् (मे.)

कुहली–पु., सज्जिततास्बूलः पूगपुष्पिका (त्रिका.)

कुहा–स्त्री., गोपघोण्टा (वै. नि.) कुटुकी (श. च.) बदरवृक्षः (भा.)

कुहुक–न., ग्रन्थिपर्णी (श. चि.)

कुहूक–(कण्ठ)–(मुख)–(ख)– पु. कोकिलः (त्रि. का.) स्त्री., कोकिला (वै. नि.)

कुहेडिका (डी) लिका–स्त्री., कुब्झका (हारा. त्रिका)

कू

कूकुर–कुक्कुरः (वै. नि)

कूच–पु., कुचः। स्तनम् (उणा.)

कूची–स्त्री., तक्रकूर्चिका दुग्धकूर्चिका (वै. नि.)

कूटक–पु., न., मुरानाम गन्धद्रव्यम्

कूटगृह–न., जेन्ताकगृहम् (च. शा. ३ अ.)

कूटज–पु.,कुटजवृक्षः (भा. पू. १ भ.) श्वेतकुटजः (वै. नि.)

कूटजीव–पु., पुत्रजीववृक्षः (रा. व. ९)

कूटतूला–स्त्री., कुत्सिततूला।

कूटपाक–पु., सन्निपातः। पैत्तिकज्वरः (वै. नि)

कूटपालक–पु., पित्तज्वरः। कुलालस्य पवनः (हाराः)

कूटप (पू) र्व–पु., हस्तिनस्त्रिदोषज्वरः (त्रिका.)

कूटमान–न., कुत्सितमानम्।

कूटलमस्तक–पु., चविका। (वै. नि.)

कूटार्थसिद्धिकृत्–पु., पुत्रञ्जीववृक्षः

कूणि–त्रि., रोगादिना कुब्जितकरः। (अ. टी)

कूणिका–स्त्री., पशुशृङ्गम् (हे. च.)

कूथन–न., कुन्थनम् (वै. नि.)

कूदाल–पु., कुदालवृक्षः। (अ. टी. र.)

कूपकच्छप–पु., कूपस्थकच्छपः।

कूपज–पु., केशः, लोमन्

कूपजल–न., कूपसलिलम्। निर्झरजलम्।

कूपदर्दुर–पु., कूपस्थभेकः।

कूपमण्डूक–पु., ,,

कूपाङ्क(ङ्ग)–पु., रोमाञ्चः (श. र.)

कूपिका–स्त्री., नदीजलगतोपलम् (मे.)

कूपी–स्त्री. पात्रविशेषः, कपिकच्छुः (वै. नि.)

कूपोदक–न., कूपजलम्।

कूप्य–न., रौप्यम्। माणिक्यम्।

कूभ(म)–न., अल्पसरोवरः (जटा.)

कूर–पु., अन्नम्। भक्तम् (रा. व. २०)

कूर्चपर्णी–स्त्री., मेषशृङ्गी (वै. नि.)

कूर्चभाक्–न., भूर्जपत्रम् (वै. नि.)

कूर्चमर्म–न., तन्नामकस्नायुमर्मषट्कम्।

कूर्चल–पु., प्राणिनां पुनर्दन्तोद्भेदकालः।

कूर्चिकापिण्ड–पु., किलाटः (र. मा.)

कूर्दन–न., शिशुक्रिडा (अम.)

कूर्प–न., भ्रुवोर्मध्यभागः।

कूर्पास–(क)–पु., स्त्री., अर्धतोलकः। चोलः। स्त्रीणां कञ्चुलिका (हे. च.)

कूर्मपृष्ठ–पु., अम्लानवृक्षः (श. च.) न., कूर्मपृष्ठदेशः।

कूर्मपृष्ठक–न., शरावः (श. च.) हिं.—सकोरा.

कूर्मपृष्ठास्थि–न., कच्छपास्थिः एतत्स्वेदः वातव्याधिहरः ।

कूल–न., तीरम् । तटम् (अम.) जलाशयः ।

कूलक–न., पु., पटोलपत्रम् (सि. यो. ज्वरचि.) पटोलः (भा., पू. १ भ. शाकवर्ग)

कूला–स्त्री., ह्रस्व दन्तीवृक्षः (वै. नि.)

कूलाल–न., एलाकरवीरम् (रत्ना.)

कूलिका–स्त्री. औषधिविशेषः, तन्मूलनस्येन कालदष्टोऽपि जीवति (च. द.)

कूवर–पु., कुब्जकः

कूष्माण्डकघृत–न., अपस्मारधिकारे हितम् (च. द. अपस्मारचि.)

कूष्माण्डकशिफा–स्त्री., कूष्माण्डमूलम् (वै. नि.) (श्वा. चि.)

कूष्माण्डखण्ड–न., रक्तपित्ताधिकारे घृतम् (वा. चि. ३ अ.)

कूष्माण्डगुडकल्याणक–न., ग्रहण्यधिकारे हितम् (च. द. ग्रहणीचि.)

कूष्माण्डग्रह–पु., भूतग्रहविशेषः । लक्षणं— बहुप्रलापं कृष्णास्यं प्रविलम्बितयायिनम् । शूनप्रलम्बवृषणं कूष्माण्डाधिष्ठितं वदेत् ' (वा. उ. ४ अ.)

कूष्माण्डनाडिका(डी)–स्त्री., कुष्माण्डस्य नालम् गुणाः– कुष्माण्डनाडिका गुर्वी शर्कराश्मरिनाशिनी

कूष्माण्डवटक–पु., कुष्माण्डकृतवटकः, यथा– कूष्माण्डं कर्तयित्वास्य जलं निष्कास्य यत्नतः । कुस्तुम्बरुनिशामाषचूर्णं सतिलसैन्धवं । निक्षिप्य वटकाः कार्या आतपे शोषयेत्ततः । रुचिदा वातहन्तारस्तिलतैले सुपाचिताः (वै. नि.)

कूष्माण्डशालि–पु., स्त्री., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषः । गुणाः—मधुरा गुरुः सुगन्धा पीता दुर्जरा स्थूलतण्डुला कोमला च । (रा. व. १६)

कूष्माण्डसुरा–स्त्री., कुष्माण्डकृतसुराविशेषः गुणाः—कुष्माण्डस्य सुरा गुर्वी धातुवर्धनकारिणी । अग्निमान्द्यकरी वृष्या प्रोक्ता दृष्टिप्रदा बुधैः । (वै. नि.)

कूष्माण्डक्षार–पु., कूष्माण्डभस्मोत्थक्षारः कूष्माण्डं तनु कृत्वा तु क्षिप्त्वा घर्मे विशोषयेत् । स्थाल्यां निक्षिप्य तत्सर्वं पिधानेन पिधाय च । चुल्ल्यां निवेश्य वह्निञ्च ज्वालयेत् कुशलो जनः । यदा तत्र भवेद्भस्म किन्त्वङ्गारो दृढो भवेत् । तदा निर्वापयेच्छीतं सर्वथा चूर्णितन्तु तत् । (भा. प्र. ३ शूलचि.)

कूष्माण्डी–स्त्री., कर्कोटकी, कूष्माण्डलता (रा. व. ७)

कूष्माण्डोन्माद–पु., भूतोन्मादभेदः । स च कूष्माण्डग्रहजातः । (शार्ङ्ग. पू. ७ अ. वा. उ. ४ अ.)

कृ

कृकषा–स्त्री., कङ्कणहारिकपक्षी

कृकालिका–स्त्री., पक्षिभेदः ।

कृकुकुत्स्या–स्त्री., मर्कटः । (वै. नि.)

कृक्कर–पु., करीरः । (रा. व. ८)

कृच्छ्रहर–पु.. पाषाणभेदः (वै. नि.)

कृणञ्ज–पु., कुणञ्जरः ।

कृतक–(**ण्टक**)–न., रसाञ्जनम् (रा. व. १३) बिडलवणम् (रा. व. ६)

कृतक–त्रि., कृत्रिमम् (उणा.)

कृतच्छाया–स्त्री., श्वेतकोषातकी (रा. व. ३)

कृतज्ञ–पु., कुक्कुरः (मे.)

कृतत्राणा–स्त्री., त्रायमाणा (रा. व. ५)

कृतपिण्डीत–(क)–(पु.,) शिलारसः (वै. नि.)

कृतफला–स्त्री., कोलशिम्बी (रा. व. ७)

कृतबन्धन–न., कोषातकफलम् (भा. म. ४ भ. प्रसूता चि.)

कृतरस–पु., स्नेहशुण्ठ्यादियुक्तः कृतः तद्विपरीतः च अकृतः मांसरसः । (वा. टी.)

कृतवेध–(क)–पु., कोषातकी (र. मा.)

कृताख्ययूषः–पु., लवणस्नेहकटुकादिकृतयूषः । अयं च गुरुगुणः (वैद्यके)

कृताञ्जलि–स्त्री., लज्जावती लता

कृतान्त–पु., यमः (अम.)

कृतान्ता–स्त्री., रेणुकानाम गन्धद्रव्यम्

कृतालय–पु., भेकः । मण्डूकः । (त्रिका.)

कृति–स्त्री., करणम् । हिंसा (मे.) (**का**) –स्त्री., भूर्जवृक्षः । (नकुलः १२ अ.)

कृती (इन्)–त्रि., कुशलः ।

कृत्तिवास–पु., शिवः (अ. म)

कृत्योन्माद–पु., कृत्याजातभूतोन्मादः रोगः (शार्ङ्ग.)

कृत्रिमधूपक–पु., षोडशाङ्गधूपः (अम.)

कृत्रिमरत्न–न., काचम् (वै. नि.)

कृन्तन–न., छेदनम्

कृपणा–स्त्री., सविषकीटविशेषः । (सु. क. ८)

कृपाणिका (णी) स्त्री., कर्तरी । कुरिका (मे)

कृपीट–न., उदरम् । तोयम् (मे.) वनम् काष्ठम् (श. र.)

कृपीटपाल–पु., वायुः (श. र.)

कृपीटयोनि–पु., अग्निः (हे. च.)

कृमिक–न.; पूगफलम् (पु.,) क्षुद्रकृमिः ।

कृमिकण्टक–न., विडङ्गम् । उदुम्बरः । (हे. च.)

कृमिका–.स्त्री., ग्रन्थिपर्णी । राजिका । शोथः (वै. नि.)

कृमिकालानलरस–पु., कृम्यधिकारे हितः (र. सा. स)

कृमिकुम्भा–स्त्री., महाकाललता

कृमिकोश (ष)–पु., फलविशेषः । तच्च संग्राहि तिक्तं रक्तरोधनं ज्वरार्शःप्रदरातीसारघ्नं कण्ठरोगघ्नं च (वै. चन्द्रिका)

कृमिगुहा–स्त्री., इन्द्रवारुणीलता

कृमिघातिनी–(गुडी)–स्त्री., कृमौ रसः (र. चि)

कृमिघ्नरस–पु., कृम्यधिकारे रसः । विडङ्गं पलाशबीजं; निम्बबीजं रससिन्दुरं, एषां चूर्णं समम् (र. सा. सं)

कृमिघ्ना (घ्नी) स्त्री., हरिद्रा लाक्षा विडङ्गम् (वै. नि.) धूमपत्रा (रा. व. ५) सोमराजी (श. च.)

कृमिद्रव–पु., लाक्षा (वै. नि.)

कृमिनाशनी–स्त्री., अजमोदा (वै. नि.)

कृमिपाना (मा)–स्त्री., लाक्षा (वै. नि.)

कृमिफल–पु., उदुम्बरवृक्षः

कृमिमक्षिका–स्त्री., कृमितुल्यमक्षिका

कृमिमुद्गर–पु., कृमिघ्नरसः (भैष.)

कृमिरिपु–पु., वि., विडङ्गम् (श. र.)

कृमिलक–कृमिविशिष्टः

कृमिला–स्त्री., अनेकप्रसवा बहुसन्तानप्रसवा (हे. च.) (स्त्री.,) कृमियुक्तः

कृमिविनाशरस–पु., कृम्यधिकारे रसः (र. सा. सं.)

कृमिवृक्ष–पु., कोषाम्रः (भा.)

कृमिशङ्ख–(पु., न.,) जीवशङ्खः अयं रसवीर्याद्यैः शङ्खसदृशः (रा. व. १८)

कृमिशत्रु–पु., विडङ्गम् (प. मु. वै. नि. २) (स्त्री. ज्वरसि) पारिजातकः ।

कृमिशात्रव–पु., विट्खदिरः

कृमिशुक्ति–(सूः) शु–स्त्री. जलशुक्तिः (रा. व. १३) मत्स्यभेदः (वै. नि.)

कृमिशल–(क)–पु. वल्मीकः (श. र.)

कृमिहन्त्री–(हा)–स्त्री विडङ्गम् (वै नि.)

कृमिहररस–पु., कृम्यधिकारे (र. सा. सं.)

कृशरोमा–स्त्री., शूकशिम्बी (वै. नि.)

कृशला–स्त्री., शिरःकेशः (श. च.)

कृशशाक–(ख)–पु., पर्पटकः (रा. व. ५)

कृशाकु–पु., उष्णकरणम् (वै. नि.)

कृशाङ्गी–स्त्री., प्रियङ्गुलता (श. च)

कृशाक्ष–पु., ऊर्णनाभिः (वै. नि.)

कृशीबल–पु., काकजङ्घागुल्मः (र. मा.)

कृशोदरी–स्त्री., श्वेतसारिवा (भा. पू. १ भ.)

कृष–पु.. अरण्यम् (हे. च.)

कृषक–पु.. फालकर्षकः (त्रिका.) वृषः (श. च.)

कृषिलौह–पु., मुण्डलोहम् (रा. व. १२)

कृष्णक–पु., कृष्णमुद्गः ।

कृष्णकदली–स्त्री., महाराष्ट्रप्रसिद्धः कदलीविशेषः । गुणाः–'कृष्णा तु कदली रुच्या तुवरा मधुरा लघु । वायोर्धातोर्वृद्धिकरी मेहपित्ततृषाहरा ' (वै. नि.)

कृष्णकन्द–न., रक्तोत्पलम् (त्रिका.)

कृष्णकरवीर–पु., कृष्णपुष्पकरवीरवृक्षः, गुणः–करवीरतुल्यः (रा. व. १०)

कृष्णक(के)लि–पु., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः । गुलालफुल इति गौडीयाः । तस्याः शाखा रक्ततण्डुलीयनालवत् ग्रन्थियुक्ता च । पत्रं ताम्बूलवत् परं क्षुद्रं भवति । तत्पुष्पं श्वेतरक्तपाटलापीताभं युक्तपञ्चदलं षट्केसरमध्यं इषद्गन्धं सायाह्ने विकसति प्रायेण सुलभं । बीजञ्च तस्य कृष्णं मरिचाभञ्च (वै .नि.)

कृष्णका–स्त्री., राजिका (प. मु.)

कृष्णकाक–पु., द्रोणकाकः (हला.)

कृष्णकातरा–स्त्री., रक्तगुञ्जा । (वै. नि.)

कृष्णकाय–पु., महिषः (वै. नि.)

कृष्णकुटज–पु.; कृष्णपुष्पकुटजवृक्षः (वै. नि.) (अतिसार चि० कुटजपुटपाके)

कृष्णकुलत्थ–(क)–पु., कुलत्थभेदः गुणः–कृष्णकुलत्थको ग्राही रक्तपित्तकरो मतः । रसे च तुवरः पाके कटुकफहरो मतः । वातशुक्राश्मरीगुल्म पीनसश्वासजित् । आनाहगुदकीलार्शोमेदोधातुविनाशकः (वै. नि.)

कृष्णकुलथिका–स्त्री., वनकुलत्थकः (वै. नि)

कृष्णकुसुम–पु., कृष्णकरवीरः (वै. नि.)

कृष्णगर्भ–पु., कट्फलवृक्षः (रा. व. १०)
कृष्णगल–पु., कुक्कुभपक्षी (वै. नि.)
कृष्णगोकर्णी–स्त्री.,कृष्णकुसुममूर्वालता(हिं.–काला मुरहरा म–सुपली) गुणाः—कृष्णा गोकर्णिका तिक्ता रसे स्निग्धा त्रिदोषहा । शीतवीर्या वातपित्तज्वर-दाहश्रमापहा । अतिकासश्वासकफकुष्टजन्यक्षयापहा अन्ये गुणास्तु सुश्वेतगोकर्णीसदृशा मताः (वै. नि.)
कृष्णचणक–पु., कृष्णवर्णचणकक्षुपः । (म–करियाचणा) गुणाः—मधुरः कासपित्तघ्नः पित्तातिसारकासघ्न-बल्यः रसायनश्च (रा. व. १९)
कृष्णचञ्चुक–पु., चणकवृक्षः (रा, व. १६)
कृष्णचटक–पु., श्यामाकपक्षीः
कृष्णचन्दन–न., पीतचन्दनम् (प' मु)
कृष्णचूडा–स्त्री., स्वनामख्यात पुष्पवृक्षः गुलतुरा इति यवनाः । तत् पुष्पं पीतरक्तवर्णं दीर्घवृन्तं दशदल-मिषत्सुगन्धं वर्षास्वेव प्रचुरं भवति । काञ्चनशिम्बी-तुल्यमिति । (कल्पद्रुमः) । रक्तगुञ्जा । (रा व. ३)
कृष्णचूरक–पु., चणकवृक्षः । (प. मु.)
कृष्णजटा–स्त्री., पिप्पलीमूलम् (वै. नि. २ भ.) (वातव्या. पक्षवध. चि.)
कृष्णजयन्ती–स्त्री. कृष्णजयन्ती क्षुपः । सा रसायनी । (रा. व. ४)
कृष्णजिह्व–पु., अशुभाश्वः (ज. द. ३ अ.)
कृष्णजीर–(क) पु., स्वनामख्यातजीरकवृक्ष । (म–काळेजिरे) (हिं–मङ्गरइल) तद्विविधं स्थूल-सूक्ष्मभेदेन । गुणाः—कृष्णजीरः च चक्षुष्यं रुच्य-ञ्चोष्णं सुगन्धिकं । ग्राहकं कटुकं रूक्षं दीपकं जीर्ण-जूर्तिनुत् । कफं शोथं शिरोरोगं कुष्ठञ्चैव विनाशयेत् । (वै. नि.) जरणा कटुरुष्णा च कफ शोफनिकृन्तनी रुच्या जीर्णज्वरघ्नी च चक्षुष्या ग्राहिणी परा (रा. व. ९) तैलं मूलकतैलवत् जीरकभेदे (हिं–सहाजीरा, कलोंजी) (भा. म. ४ भ) (नासारोगचि.)
कृष्णताम्बूलवल्ली–स्त्री., कृष्णनालनागवल्ली । गुणाः—तिक्तोष्णा कटुका मता । कषाया च मलस्तम्भकारिणी दाहकारिणी । मुखजाड्यकरी प्रोक्ता— (वै. नि.)
कृष्णताम्र–न., गोशीर्षचन्दनम् (शमा)
कृष्णतार–पु., हरिणः । (रा. व. १९)
कृष्णतिल–पु., स्वनामख्यातक्षुपः । (रा. व. १६)
कृष्णतीक्ष्णा–स्त्री., कृष्णजीरकः (वै. नि.)
कृष्णतुलसी–स्त्री., कृष्णपत्रतुलसी; गुणाः–' कासवात-कृमिवमिभूतघ्नी ' (रा. व. १०)
कृष्णत्रिवृत्–(ता) स्त्री., कृष्णमूल त्रिवृत् गुणाः–श्वेताया ईषत् हीनगुणा विशेषस्तु तीव्रविरेचनी मूर्च्छादाहमत्तताभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षता जननी च (भा. पू. १ भ.)
कृष्णत्वक्–पु., बकुलवृक्षः (वै. नि.)
कृष्णदन्ता–स्त्री., काश्मरीवृक्ष
कृष्णदेह–पु., भ्रमरः
कृष्णधान्य–कृष्णवर्णषष्टिकाधान्यः श्यामाकः (वै. नि. च. सू. २७)
कृष्णपर्णी–स्त्री., कृष्णतुलसी (र. मा.)
कृष्णपल्लवा–स्त्री., कृष्णकलंबी (प. मु.)
कृष्णपिण्डितक–(रु) पु., पियार इति प्रसिद्धः फलविशेषः (रत्ना.)
कृष्णपिपीलिका (ली) –स्त्री., कृष्णवर्णपिपीलिका (रा. व. १९)
कृष्णपुच्छ–पु., शृङ्गहीनः हरिणतुल्यवन्यजन्तुविशेषः कोङ्कणप्रसिद्धः (हिं.–लोमडी) (वै. नि.)
कृष्णपुष्प–न., कृष्णधुस्तूरकः (रा. व. १०)
कृष्णपुष्पी–स्त्री., प्रियङ्गुवृक्षः (श. च.)
कृष्णपूतिफला–स्त्री., सोमराजी (रत्ना.)
कृष्णप्रिय–स्त्री., कदम्बवृक्षः (वै. नि.)
कृष्णफल–(फलपाक) करमर्दवृक्षः (हिं–करोंदा) (अ. टी. पु. । द्विकोष)
कृष्णबीज–पु., रक्तशिग्रुः । (जटा.) (न) कालि-ङ्गम् (रा. व. ७)
कृष्णभस्म–न., पारदस्य भस्मीकरणेन कृष्णतापादनम् (र. सा. सं. दृश्या)
कृष्णभूकूष्माण्ड–पु., कृष्णवृन्तपत्रभूमिकूष्माण्डः (श. चि.)
कृष्णभूभवा–स्त्री., कारवेल्लिका (वै. नि.)
कृष्णभूम–(मि)–पु., स्त्री., कृष्णमृण्मयः देशः (हे. च. रा. व, २)
कृष्णभूषण–न., मरिचम् (वै. नि.)
कृष्णमदन–पु., कृष्णवर्णमदनवृक्षः । गुणाः—कृष्णः श्वेतस्तु मदनः शीतलो मधुरः स्मृतः कटुस्तिक्तश्च तुवरः वान्तिकृत् कफनाशनः । पक्वामाशयशुद्धेश्च कारकः पित्तनाशकः (वै. नि.)
कृष्णमधुरज्वर–पु., मधुरज्वरभेदः (वै. नि.)
कृष्णमक्षिका–स्त्री., मक्षिकाविशेषः (वै. नि.)

कृष्णमालुक–पु., कृष्णार्जकः (रा. व. १०)

कृष्णमाष–पु., कृष्णकलायः । गुणाः—कृष्णमाषो बलकरो रुच्यो दोषत्रयापहः (वै. नि.)

कृष्णमुख–पु., वानरः (वै. नि.)

कृष्णमुखा–स्त्री., कृष्णशारिवा (वै. नि.)

कृष्णमुखी–स्त्री., अलगर्दजलौका (सु. सू. १३)

कृष्णमृग–पु., कृष्णहरिणः (वै. नि.)

कृष्णमृत्तिक–पु., कृष्णभूमिः (हे. च.)

कृष्णमेह–पु., तन्नामकप्रमेहरोगः (भा. मा. नि.)

कृष्णरङ्ग–न., शीसधातुः (वै. नि.)

कृष्णरम्भा–स्त्री., रम्भाविशेषा (वै. नि.)

कृष्णरस–पु., पारदस्य कृष्णीकरणम् तत्प्रकरणम्—लौहपात्रेऽथवा ताम्रे पलैकं शुद्धगन्धकं । मृद्वग्निना द्रुते तस्मिन् शुद्धसूतं पलत्रयं । क्षिप्त्वा च चालयेत्किंचिल्लौहदर्व्या पुनः पुनः । गोमये कदलीपत्रं तस्योपरि च ढालयेत् । इत्येवंगन्धबद्धन्तु सर्वरोगेषु योजयेत् (अ. त्रि.)

कृष्णराज–पु., कृष्णशिग्रुवृक्षः ।

कृष्णराजिका–स्त्री., कृष्णसर्षपः (वै. नि.)

कृष्णरुहा–स्त्री., जतुकालता (वै. नि.)

कृष्णल–(क)–पु., रक्तिका । घुंघुंटी, चिरमुटी, इति च पाश्चात्ये । गुञ्जा । कृष्णगुञ्जा (वै. नि.)

कृष्णला–स्त्री., श्वेतजिह्वालता (भा. पू. १ भ.) जिव्हालता (रां. व. ३) भुजाढकी (प. मु.) कृष्णजिह्वा (वै. नि.)

कृष्णवक्त्र–पु., श्याममुखवानरः । (हला.)

कृष्णवनालुक–न., वनजकृष्णालुकविशेषः । गुणाः–कृष्णं वनालुकं रुच्यं महासिद्धिकरं परम् । मुखजाड्यहरं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः (वै. नि.,)

कृष्णवर्ण–पु., वाराहमदनवृक्षः । (रा. व. ८) कस्तूरिका । मुस्ता । रीठाकरञ्जः । कालशाकम् मत्स्यभेदः । न., जलम् । लवङ्गम् । कृष्णागुरु (वै. नि.) स्त्री., (र्णा)-असाध्यसविषलूताविशेषा । (सु. क. ८. अ.)

कृष्णवर्त्मा–पु., अग्निः । चित्रकवृक्षः । (अम) भल्लातकवृक्षः । (वै. नि.)

कृष्णवल्मीक–पु., न., कृष्णवर्णवल्मीकम्

कृष्णवानर–पु., गोलाङ्गुलः वानरः (रा व. १९)

कृष्णवार्ताकु–पु., कृष्णवर्णवार्ताकी । (रस. र. ज्वरातिसारे । ग्रहणीकवाटरसे)

कृष्णवालुक–न., कङ्कुष्ठम् (वै. नि.)

कृष्णवेत्र–पु., केलेलता । इति प्रसिद्धलता (भैष. महाभल्लातकगुडे । रस र. वज्रकघृते)

कृष्णवो(बो)ल–पु., कृष्णच्छविबोलभेदः । गुणाः–कृष्णवोलः कटुः शीतः भेदको रसशोधनः । शूलाध्मानकफान्वातकृमिगुल्मौ च नाशयेत् (वै. नि.)

कृष्णशठ–पु., दुर्लक्षणाश्वः (ज. द.)

कृष्णशार–पु., स्वनामप्रसिद्धः मृगः (अ. टीं. र.)

कृष्णशारिवा–स्त्री., कृष्णसारिवा ।

कृष्णशिखिक–न., अगुरुकाष्ठम् (वै. नि.)

कृष्णशिम्बा–स्त्री., कुलत्थभेदः (वै. नि.)

कृष्णशिम्बिका(म्बी)–स्त्री., कृष्णवर्णा शिम्बिका (र. मा.)

कृष्णश्वेता–स्त्री., पाटलवृक्षः । गाम्भारीवृक्षः

कृष्णसंज्ञक–न., सौवर्चललवणम् (वै. नि.)

कृष्णसख–पु., अर्जुनवृक्षः ।

कृष्णसखी–स्त्री., जीरकम् (श. च.)

कृष्णसर्जन–पु अश्वकर्णशालवृक्षः (वै. नि.)

कृष्णसारका–स्त्री., कृष्णशिंशपावृक्षः (हारा.)

कृष्णसारमांस–न., स्वनामख्यातमृगमांसम्; गुणाः–रक्तपित्ते हितम् । संग्राहि रुचिकरं बलकरं ज्वरघ्नं च (राज.)

कृष्णसारिवा–स्त्री., श्यामालता छलहेण्टापत्रसदृशच्छदा चन्दनगन्धा कालवेलि इति लोके (भा. पू. १ भ.) गुणाः– कृष्णा तु सारिवा शीता वृष्या तु मधुरावृता । कफघ्नी चैव सम्प्रोक्ता गुणाश्चान्ये तु पूर्ववत् (वै. नि.)

कृष्णसूक्ष्मफल–स्त्री., सारिवाभेदः । गुणाः– स्वादुः स्निग्धा गुरुः शुक्रजननी अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशिनी दोषत्रयघ्नी रक्तदोषप्रदरज्वरातीसारघ्नी च (वै. नि.)

कृष्णस्कन्ध–पु., तमालवृक्षः (अ. टी. भ.)

कृष्णस्रोत–न., रसाञ्जनम् (रत्ना.)

कृष्णाङ्ग–न., जीरकभेदः (हिं. कलौंजी) (वै. नि.)

कृष्णाजाजी–स्त्री., कृष्णजीरकः (च. द. संग्रहणी) (चि.)

कृष्णाढकी–स्त्री., कृष्णपुष्पाढकी गुणाः– कृष्णा तु तुवरी बल्या चाग्निदीप्तिकरी मता। पित्तदाहप्रशमनी ऋषिभिः परिकीर्तिता (वै. नि.)

कृष्णातण्डुल–न., पिप्पलीबीजम् (सि. यो. छर्दि. चि)
कृष्णादिगण–पु., पिप्पल्यादिद्रव्यगणः (वा.)
कृष्णाद्यतैल–न., नेत्ररोगे हितम् (च. द.)
कृष्णाद्यमोदक–पु., श्लीपदाधिकारे हितम् (रस. र.) (सा. कौ.)
कृष्णाद्यलोह–न., शूललौहम् (र. चि. ९ अ.) (रस. र.)
कृष्णाभा–स्त्री., कालाञ्जनी। ष्णकार्पासः (रा. व. ४)
कृष्णाभ्र–न., नीलाभ्रम्
कृष्णामिष–न., लौहम् (हे. च.)
कृष्णामूल–न., पिप्पलीमूलम् (वै. नि.)
कृष्णार्चि–पु., अग्निः। चित्रकवृक्षः (वै. नि.)
कृष्णार्जक–पु., कृष्णपत्रक्षुद्रतुलसी (म. काळा-आजवला) (रा. व. १०)
कृष्णावास–पु., अश्वत्थवृक्षः (हे. च.)
कृष्णिका–स्त्री., राजिका (अम.)
कृष्णी–पु., रात्रिः
कृष्णीकरण–न., श्वेतादेः कृष्णतासम्पादनम् (सु.चि. १अ)
कृष्णेन्द्रिय–न., कदम्बः (वै. नि.)
कृसर–पु., तुल्यतिलान्नम्। तिलतण्डुलसम्पक्वः कृसरः सोऽभिधीयते (हे. च.)
कृसरा (यवागू)–स्त्री., यवागुभेदः। लक्षणगुणाः— तिलतण्डुलमाषाणामथवा तिलतण्डुलात् षड्गुणञ्च जलं दत्त्वा साधनीया यवागुका। सा जरा दुर्जरा बल्या मदपुष्टिप्रदा मता। कफपित्तमलस्तम्भशुक्र-कृद्वातनाशिनी। (वै. नि.)
क्लृप्तधूप–पु., सिल्हकः (जटा)

के

केकर–पु., निम्नोन्नताक्षिपुरुषः (हिं–ऐंचाताना) (अम.)
केका–स्त्री., मयूरवाणी (अम.)
केका (क) (का) (ण)–पु., तद्देशजाताश्वः।
केकाबल–पु., मयूरः
केकिक–(की)–पु., स्त्री., मयूरः (रत्ना)
केचुक–पु., न., तन्नामकवृक्षः (त्रिका.) केमुकः
केचुकाकन्द–पु., केचुकः। (सु. चि. ९)
केतकफल–न., कुचेलकम् (च. द. अश्मरी.) (चि. कषा. घृते) केतकीफलम्। तच्च त्रिदोषविषघ्नम् (च. सू. २७ अ.)
केतकाद्यतैल–न., वातव्याध्यधिकारे उपयुक्तम् (च. द. वातव्या. चि.)
केतन–न., चिह्नम्। स्थानम् (हे. च.)
केतुग्रहवल्लभ–वैडूर्यरत्नम् (भा. पू. १ भ.)
केतुरत्न–पु., वैडूर्यमणिः (प. मु.)
केदारक–पु., केदारजातषष्टिकधान्यजातिभेदः (सु.सू.४६)
केदारजल–न., तद्देशस्थजलम्। गुणाः—विपाके स्वादु गुरु दोषदञ्च। तदेव बद्धमुक्तं बिशेषेण दोषदं भवेत् (रा. व. १४)
केदारभूमि–स्त्री., मालक्षेत्रम्
केदारशालि–पु., केदारक्षेत्रजशालिधान्यम् गुणाः– मधुरा वृष्या बल्याः पित्तवर्धनाः। ईषत् कषाया अल्पमला गुर्व्यः कफघ्नाश्च। (रा.व.१६) धान्यं–मधुरं शीतलं रुचिकरं स्तन्यवर्धनम्। (वै. नि.) केदारप्रभवा रूक्षा वातपित्तविनाशिन्यः रक्तपित्तविकारघ्नाः वातलाः कफकारकाः। (अत्रि. १५ अ.)
केना (नी)–स्त्री., पत्रशाकविशेषः। गुणाः– मधुरा शीता रुच्या स्तन्यवर्धनी च। (वै. नि.)
केन्दु–(क)-(र)–पु., तिन्दुकः (श. र. । श. च.)
केमुक–का– त्रि., केबुककन्दः उत्तरदेशख्यातः (हिं–कोबी) केमुआ (र. प्र. त्रिकट्वाद्यमोदके) गुणाः— मधुरा वृष्या कटुपाका तिक्ता शीता लघुपाचिका दीपनी ग्राहिणी हृद्या वातला कफपित्तज्वरघ्नी प्रमेह-कुष्ठकासघ्नी रक्तरोगघ्नी पित्तभ्रमं पिपासाञ्च नाश-येत् (वै. नि.) केमुकं कटुकं पाके तिक्तं ग्राहि हिमं लघु। दीपनं पाचनं हृद्यं कफपित्तज्वरापहम् : कुष्ठकासप्रमेहास्रनाशनं वातलं कटु (भा. पू. १ भ) कफपित्तघ्नं रोचनं अग्निदीपनं च (राज.) मधुरं रूक्षमच्छं शीतलं भेदकं ग्राहकं रुच्यं गुरु पित्त-कफघ्नं वातघ्नं च (वै. नि.)
केलट–न., कुसुम्भबीजम् (वै. नि.)
केलटक–पु., केमुककन्दः (वै. नि.)
केलास–पु., स्फटिकमणिः (वै. नि.)
केलिक–(किल) पु., अशोकवृक्षः (वै. नि.)
केलिकिण-(कीर्ण)–पु., उष्ट्रः (वै. नि. हे. च.)
केलिपिक–पु., कोकिलः।
केलिवृक्ष–पु., केलिकदम्बः।
केवलद्रव्य–न., मरिचः (श. र.)
केवा(विका)–स्त्री., केवार इति कोङ्कणदेशे ख्यातः। पुष्पवृक्षविशेषः। गुणाः– मधुरा शीतला दाहपित्त-श्रमघ्नी वातश्लेष्मघ्नी छर्दिघ्नी च (रा. व. १०)
केशकार–पु., इक्षुविशेषः।
हिं.— कुशियार.

केशकारी–स्त्री., रोहिणी (वै. नि.)
केशकीट–पु., उकुणः ।
केशगर्भक–पु., कवरी (त्रिका.)
केशच्छित्–पु., नापितः (श. मा.)
केशट–पु., उकुणः । छागः (मे.) श्योनाकवृक्षः (त्रिका.)
केशधृत्–पु., मस्तकम् । भूतकेशः (श. च.)
केशनाम–न., ह्रीबेरम् (अम.)
केशपक्ष–पु., केशसमूहः (अम.)
केशपर्णी–स्त्री., अपामार्गवृक्षः । रक्तापामार्गः (भा.पू.१भ.)
केशपाश–पु., केशभारः (अम.)
केशपाशी–स्त्री., शिरोमध्यस्थशिखा ।
केशमार्जक (न)–न., कङ्कतिका ।
केशयन्त्र–न., उपविषादिशोधनार्थम् यन्त्रविशेषः । लक्षणं यथा– 'धान्यपूरितसुस्थाल्यां सुमुञ्चायां मुखोपरि । सुदुग्धैर्नारिकेलस्य खर्परे विसमर्दयेत् । केशो दुग्धे प्लुतो यस्मात् केशयन्त्रं तथा स्मृतम् (वै. चन्द्रिका)
केशर–स्त्री., नागरमुस्ता (रा. व. ९)
केशरङ्गिनी–स्त्री., सहदेवीलता ।
केशरञ्जन–पु., भृङ्गराजः (रा. व. ४) नीलझिण्टी (वै. नि.)
केशरपाक–पु., वाजीकरणपाकविशेषः
केशराग–पु., भृङ्गराजवृक्षः (भा. गण्डमालाचि)
केशराज–पु., स्वनामख्यातः शाकविशेषः (हिं–भेगरीय) गुणाः–तिक्तोष्णः चक्षुष्यः केशरञ्जनः कफामशोथश्वित्रघ्नः, तत्र नीली रसायनी । आग्नेयः केश्यः चक्षुर्हितः पाण्डुकफघ्नः रसायनश्च (राज. । भृंगराज)
केशराह्वय–न., वालकम् (सु. चि. ९ अ)
केशवप्रिया–स्त्री., गोरोचना (प. मु.)
केशवायुध–पु., आम्रवृक्षः (श. मा.)
केशवालय (वास)–पु., अश्वत्थवृक्षः (त्रिका. जय)
केशशौक्ल्य–न., पलितम् (रा. व. १८)
केशा–स्त्री., जटामांसी (वै. नि.)
केशाख्य–न., ह्रीबेरम् (रत्ना. भैष.) (अचिन्त्यशक्तिरसे)
केशापह–पु., शमीवृक्षः (वै. नि.)
केशारी–पु., नागकेशरः (वै. नि.,)
केशाली–पु., भृङ्गराजः (वै. नि.)
केशाह्व–न., बालकम् (वै. नि.)
केशिनी–स्त्री., जटामांसी (रा. व. १२) वन्ध्या (वै. नि.)
केसरीसुत–पु., हनूमान् (हे. च.)
केसरोच्चटा–स्त्री., मुस्ता । नागरमुस्ता
कैङ्कक–पु., गरगण्ड इति ख्यातः वृक्षः (सुस्र. ३६)
कैटज–पु., कुटजवृक्षः (भा. पू. १ भ.)
कैतव–न., कुमुदम् । वैडूर्यमणिः । (रा. व. १३) राजिका । (त्रिका.)
कैपीला–स्त्री., कृष्णत्रिवृता । (वै. नि.)
कैरली–स्त्री., विडङ्गः । (रा. व. ६)
कैरविका–स्त्री., कुमुदिनी (भा. पू. १ भ.)
कैरविणीफल–स्त्री., कुमुदबीजम् (हिं–भेट) (भा.)
कैराट–(क)–पु., करवीरवृक्षः । स्थावरविषभेदः । (हे. च.)
कैरातचन्दन–पु., न., जातिपीतचन्दनम् कोङ्कणे ख्यातम् गुणाः–शीतलश्च तिक्तः कान्तिकरो मतः । विचर्चिकाकुष्ठकण्डूकफदद्रुविषापहः । रक्तपित्तकृमिव्यङ्गपित्ततृट्ज्वरदाहहाः (वै. नि.,)
कैराल–न., विडङ्गम्
कैराली–स्त्री., भूनिम्बः । विडङ्गम् (रा. व. ६)
कैवर्त–पु., महानिम्बः (वै. नि.)
कैवर्तम (मु) स्त (क)–न., कैवर्तिका जलजमुस्ता। गुणाः–हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिकरं कफघ्न पित्तघ्नं रक्तदोषवीसर्पकुष्ठकण्डूघ्नञ्च । इदन्तु वितुन्नकनाम्नो वृक्षस्य त्वक् मुस्तकाकृतिः । " मुस्तावत्पेलवपुटं शुक्राभं स्यात् वितुन्नकमिति ' (भा. पू. १ भ.)
कैवर्तिका (र्ती)–स्त्री., मालवे स्वनामख्यातजलमुस्ता । गुणाः–लघु वृष्या कषाया कफघ्नी कासश्वासघ्नी मन्दाग्निहरी च । (रा. व. ३)
कैवल–न., विडङ्गः । (र. मा.)
कैशोर–न., एकादशाब्दात् पञ्चदशपर्यन्तम् वयः (रा. व. १८)
कैशोरको गुग्गुलु–पु., वातरक्ते हितः (च. द. सा. कौ.)
कैषि(षी)का–स्त्री., आम्रातकः । शरमूलमिति केचित् (च. चि. ३ अ.)
कैषी–स्त्री., पाठा (वै. नि.)

को

कोक–पु., खर्जूरीवृक्षः । जेष्ठिका । भेक :(मे.) ईडामृगः (रा. व. १९) चक्रवाकः (त्रिका.)
कोकड–पु., चमरपुच्छम्। बिलेशयमृगः कहुण्डारइतिभाषा
कोकवाच ,, तन्मांस गुणाः –श्वासानिलकासहर पित्तदाहकरश्च (रा. व. १९)

कोकदेव–पु., कपोतः (रा. व. १९)
कोकाह–पु., पाण्डुवर्णघोटकः । कर्कः इति नामधेयः शुक्लाश्वः (ज. द. ३ अ.)
कोकिलनयन–पु., कोकिलाक्षक्षुपः (अ. टी. र.)
कोकिलावर्ति–(र्ती)– नेत्ररोगे वर्तिविशेष (च. द.)
कोकिलाक्षी–स्त्री., कोकिलाक्षबीजम् (श. र.) हिं.— तालमखाना,
कोकुराह–पु., मुखपुण्ड्रकयुक्तश्वेताश्वः (ज. द. ३ अ.)
कोङ्क(ङ्का)ण–पु., कोङ्कणदेशजोत्तमाश्वः ।
कोचिला–स्त्री., कुचेलकम् (भैष. ज्वरचि. पानीयवट्याम्.)
कोट–पु., कोठरोगः । गुवाकवृक्षः (त्रिका.)
कोटज–पु., कुटजवृक्षः (रा. व. ९)
कोटरवासिनी–स्त्री., श्वेतत्रिवृता (वै. नि.)
कोट(ट्ट)वी–स्त्री., नग्नस्त्री (अम.)
कोटिबालिका–स्त्री., सरटः (वै. नि.)
कोटिर–पु., नकुलः । इन्द्रगोपकीटः (मे.)
कोटि (टी) वर्षा–स्त्री., पिडिङ्गशाकम् (श. र)
कोटिवृक्षक–पु., कुटजवृक्षः (मद. व. १)
कोटिश–पु., लोष्टभेदनः (भरत.)
कोटीर–पु., जटा (त्रिका.)
कोटोडुम्बर–पु., यज्ञोदुम्बरः (भैष. स्त्री.)(रोग. चि.)
कोट्टार–पु., कूपम् (हारा.) पुष्करिण्याः पाटकः (मे.)
कोठर–पु., अङ्कोलवृक्षः (रा. व. ९)
कोण–पु., अस्त्राद्यग्रभागः (अम.)
कोणकुण–पु., उत्कूणः (हे. च.)
कोदकार–पु., अश्वाकारमृगभेदः (वै. नि.)
कोदण्ड–पु., भ्रूः (मे.)
कोद्रवमण्ड–पु., कोद्रवधान्यकृतमण्डम्, गुणाः—मूर्च्छा ग्लानिजननः (वै. नि.)
कोद्रविक–न., सौवर्चललवणम् (वै. नि.)
कोद्रुभक्त–पु., कोद्रवान्नम् (म–हरकाचा भात.) गुणाः—कोद्रुभक्तो रुचिकरो मधुरस्तु प्रमेहहा । मूत्रदोषतृषाच्छर्दिकफवातामदाहनुत् ।
कोनफल–न', रक्तालुः (वै. नि.)
कोना (नी) ल–वर्तिकाख्यजलपक्षी (वै. नि.)
कोपना–स्त्री., रक्तकरवीरः (वै. नि.)
कोपलता–स्त्री., कर्णस्फोटलता (रा. व. ३)
कोपिन–(पी)-पु., जलकपोतः (रा. व. १९)
कोम–न., पिपासास्थानम् (अ. टी.)
कोमलक–न., मृणालम् (श. र.) पद्मकाष्ठम् (वै. नि.)
कोमलकदल–न., बालकदलफलम् (म. कोवळे केळे) गुणाः– शीतमधुरकषायरुच्याम्लपित्तघ्नञ्च (वै. नि.)
कोमलदल–न., पद्मम् (वै. नि.)
कोमलनारिकेल–न., बालनारिकेलः
कोमलप्रसव–पु., श्वेतझिण्टी (वै. नि.)
कोमलवल्कला–स्त्री., लवलीवृक्षः (भा.)
कोमला–स्त्री., क्षीरिका (श. च.) क्षीरिणी । खर्जूरिका (वै. नि.)
कोमलेक्षु–पु., इक्षुविशेषः; गुणाः कोमलेक्षुर्मेदकफमेहकारी च कीर्तितः । तरुणस्तु मधु प्रोक्तः किञ्चित्कटुश्च वातहः । पित्तं नाशयत्येवं स वृद्धोवीर्यवर्धकः रक्तपित्तहरो बल्यो क्षतनाशकरो मतः (वै. नि.)
कोमासिका–स्त्री., जालिका [हारा.]
कोरकवृक्ष–इङ्गुदीवृक्षः (वै. नि.)
कोरजी–स्त्री., सौराष्ट्रिका (वै. नि.)
कोरण्टी–स्त्री., बदरीवृक्षः (मद. व. ६)
कोरिमद–पु., कासमर्दः (प. मु.)
कोलकर्कटिका (टी)–स्त्री., मधुखर्जूरिका (रा. व. ११)
कोलका–स्त्री., शुक्रशुकशिम्बी [वै. नि.]
कोलगजिनी–स्त्री., गजपिप्पली [वै. नि.]
कोलङ्क–आमलकवृक्षः (वै. नि.)
कोलदल–न., नखीनामगन्धद्रव्यम् । (अम.)
कोलनाशिका–स्त्री., वह्निनीवृक्षः । (हारा.)
कोलपुच्छ–पु., कङ्कपक्षी (हा. रा.)
कोलबालुक–पु., कङ्कुष्ठः । (वै. नि.)
कोलशिम्बि–(म्बी)–स्त्री., कपिकच्छुः । (म. द. व. १)
कोलात्मज–पु., बदरफलम् । (वै. नि.)
कोलादिमण्डूर–न., परिणामशूले हितम् ।
कोलास्थि–न., बदरास्थि । (सि. यो. छर्दितचि.)
कोलाहल–पु., भूकदम्बः । (वै. नि.)
कोलि–(ली) पु., स्त्री., बदरीवृक्षः (त्रिका.) (अ. टी. भ.)
कोलिका–स्त्री., घण्टाबदरः । (वै. नि.)
कोविद- पु., तिलकवृक्षः । (वै. नि.)
कोशकाली–स्त्री., जलचरपक्षिभेदः । (वै. नि.)
कोशकृत्–पु., कोषकारः । (वै. नि.) कृष्णेक्षुः (भा)
कोशफल–न., त्रपुषी। देवदाली घोण्टा (रा. व. २३) कक्कोलः । (अम.) बदरः । (वै. नि.)

कोशस्थमांस—न., शङ्खशुक्त्यादिमांसम् , गुणाः—मधुरं शीतलं स्निग्धं शुक्रकरं वृष्यं विड्वर्धकं बलवृद्धिकरं वातपित्तघ्नं च । (वै. नि.)

कोशा—स्त्री., मद्यम् (वै. नि.,)

कोशाङ्ग—न., इत्कटः (हा. रा.)

कोशिला—स्त्री., मुद्गपर्णी (वै. नि.)

कोष—(क)--पु., स्त्री., जातीकोषः । पात्रम् (मे) कुड्मशलः । वृषणः । (श. र.) शिस्नम् । अण्डम् । कृताकृतस्वर्णरौप्यम् (अम.) योनिः । शिम्बी (हे. च.) पनसादिफलस्यान्तम् (धरणि.)

कोषकारज--न., कौषेयः (रत्ना.)

कोषचक्षु-- पु., सारसपक्षी (श. मा.)

कोषफल--न., कर्पूरगन्धिककोलः (भा. पू. १ भ.) घोषकलता (जटा.)

कोषफला--स्त्री., पीतदेवताडवृक्षः (र. व. ३) पीतघोषा (प. मु.) लिम्पाकः ।

कोषला (ह्वा)--स्त्री., जीवशाकम् (प. मु.)

कोषवृद्धि--कुरण्डः (श. र.) वृद्धिरोगः

कोषा (षिन्)--स्त्री., पु., पादुका (श. र.) शुङ्गा (हे. च.) आम्रवृक्षः (श. मा.)

कोषाम्बी--स्त्री., महाकोषातकी (प. मु.)

कोष्ठपुष्पा--स्त्री., क्षीरमूर्वा (वै. नि.)

कोष्ठसन्ताप--पु., अन्तर्दाहः (रा. व. २०)

कोष्ठाग्नि--पु., पाचकाग्निर्नाम योऽग्निर्जठरे अन्नं पचति । (निदानम्)

कोष्ण--न., ईषदुष्णम् (रत्ना.)

कोहली--स्त्री., कूष्माण्डसुरा गुणौ—बृंहणी गुर्वी च (वै.नि)

कौ

कौकिल्य--पु., कोकिलावृक्षः (वै. नि.)

कौकृत्य--न., अनुतापः (त्रिका.)

कौक्कुटिक-पु., अदूरप्रेरिताक्षः (मे.) पक्षिविशेषः(वै.नि.)

कौक्कुटिकन्दलः-पु., सर्पविशेषः (त्रिका.)

कौङ्क(ङ्किण)--पु., कोङ्कणदेशः (श. र.)

कौककिक--त्रि., मांसविक्रेता (श. र.)

कौटजलेह--पु., अर्शोधिकारे लेहः (सा. कौ.)

कौटजबीज--न., इन्द्रयवः ।

कौटिक-त्रि., मांसविक्रेता

कौटी--न., कुटजवृक्षः (वै. नि.)

कौणप--त्रि., कुणपगन्धः (च. इ. १ अ)

कौतुक-न.,भोजनकालः (हे. च.) हर्षः । विवाहसूत्रम् (मे.)

कौद्रविक--न., सौवर्चललवणम् (रा. व. ६)

कौबी(वी)रा--स्त्री., भूम्यामलकी ।

कौबेरग्रह--पु.,अश्वजातेर्दुष्टग्रहविशेषः।लक्षणम्-स्विन्नाङ्गो वेपमानश्च जानुभ्यां यश्च तिष्ठति । कौबेरग्रहसंजुष्टं तं विद्यात्कष्टजीवनम् (ज, द. ५७ अ.)

कौमुद--पु., कार्तिकमासः (त्रिका.)

कौमुदीजीवन--पु., चकोरपक्षी (वै. नि.)

कौलत्थीन--पु., कुलत्थोत्पादकं (क्षेत्रम् अ. टी. भ.)

कौलीन--न., गुह्यम् । उपस्थम् (मे.)

कौलीरा--स्त्री., कर्कटशृङ्गी (रा. व. ६)

कौल्माषीण--त्रि., कुल्माषोत्पादकं (क्षेत्रादि. अ. टी. रा.)

कौवल--न., कोलीफलम् (द्विरूपकोषः)

कौशिकफल--पु., नालिकेरवृक्षः (शर.)

कौशिका--स्त्री., ग्रन्थिपर्णीक्षुपः । सुरा (वै. नि.) पानपात्रम् (हे. च.)

कौशिकारातिं(कारि)--पु., काकः (रा. व. २९)

कौशिक्य(क्या)--पु., स्त्री., शाखोटवृक्षः (रा. व. ९) गुणाः— पित्तला चोष्णा तिक्ता वातविनाशिनी (वै. नि.)

कौशिर--न., नखीनामगन्धद्रव्यम् ।

कौष--न., कमलम् (वै. नि.)

कौषिक--पु., कौशिकः । अहितुण्डिका (रत्ना.)

कौसिद्य--न., तन्द्रा आलस्यम् (हे. च.)

कौसुम--न., पु., पुष्पाञ्जनम् (रा. व. २२)

कौसुम्भतैल--न., कुसुम्भबीजोद्भवतैलम् । तच्च कटु सक्षारं वातघ्नं कफपित्तहरं च । (वा. टी.)

कौसुम्भशुण्डिका--स्त्री., स्वनामख्यातशालिः ।

कौसुम्भीशाली--गुणाः— लघुपाकः वातपित्तघ्नश्च (रा. व. १९)

कौस्त--न., दशाद्धिकघृतम् (रत्ना.)

क्र

क्रकचपात्(पाद)--पु., कृकलासः (हारा.)

क्रकचपृष्ठी--स्त्री., कवयीमत्स्यः (हारा.)

क्रकण--पु., तित्तिरपक्षी । क्रकरपक्षी

क्रकराट्--पु., भरद्वाजपक्षी (वै. नि.)

क्रक्रौञ्च--पु., पक्षिविशेषः । (वै. नि.)

ऋतुपशु–पु., घोटकः । (हारा.)
ऋथनक–न., श्वेतागुरुकाष्ठम् (श. च.)
ऋन्दन–पु., बिडालम् (श. मा.) न., रोदनम् । (श. र.)
ऋमण--पु., चरणम् । (हे. च.)
ऋमिकण्टक–न., विडङ्गः । उदुम्बरः । (मे.)
ऋ (क्रि) मिज–न., अगुरुकाष्ठम् (अम.)
ऋ (क्रि) मिजा–स्त्री., लाक्षा (र. मा)
ऋमिरिपु– (शत्रु)–पु., विडङ्गम् (र. मा.) प्रवालतरुः (वै. नि)
ऋमीलक–पु., वनमुद्गः । (प. मु.)
ऋमु–पु., गुवाकवृक्षः । (भ.)
ऋमुकफल–न., गुवाकः (रा. व. ११) सन्धिबन्ध विश्लेषकरत्वात् विकाशि । (शार्ङ्ग)
ऋमुकी–स्त्री., गुवाकः । (श. र.)
ऋमेल–क–पु., उष्ट्रः (प. मु. । हला.)
ऋमोद्वेग–पु., वृषः (वै. नि.)
ऋयशीर्ष–न., कपिशीर्षम् (त्रिका.)
ऋयारोह–पु., हट्टः (त्रिका.)
ऋयिक–(**ऋयी**) पु., क्रेतरः (अम.)
ऋव्य–न., मांसम् (रा. व. १७)
ऋव्यघातन–पु., खगः (श. च.)
ऋव्यात्–पु., राक्षसः । मांसाशी (मे)
ऋव्याद–पु., राक्षसः (अम.) श्येनपक्षी सिंहः
ऋशिमा–पु., कृशता
ऋशीयान्–त्रि. अतिकृशम् । क्षीणम्
क्रान्ति–स्त्री., सूर्यगत्यर्थं खगोलमध्यस्थतिर्यग्गोलरेखा (सूर्यसि.)
क्रान्तु–पु., पक्षी (उणा.)
क्रामक–पु., क्रमुकमूलम् (र. सा. सं) लौहपुटपाकम् ।
क्रिमिरिपु–(**शत्रु**) पु., (विडङ्गम्) (सा. कौ. बाहुशालगुडे) प्रवालम् । पालिधावृक्षः (श. च.)
क्रिमिशात्रव–पु., विट्खदिरः (श. च.)
क्रिमिशिरोरोग–पु., कृमिजशिरोरोगः (मा. नि.)
क्रिमिशैल–पु., वल्मीकं (त्रिका.)
क्रिमिहर–न., मरिचम् । विडङ्गम् कृष्णलवणम् (वै. नि.) (त्रि.,) क्रिमिघ्नम्)
क्रियातियोग–पु., वमनाद्यतियोगः (भा. म. ३. ख. कासचि.)
क्रियाबस्ति--स्त्री., वमनादिपञ्चकर्मसु प्रयोज्योबस्तिः (च) आ. सं. श. पू. १३
क्रियासाधन–न., चिकित्सासाधनम्
क्रियेन्द्रिय--न., कर्मेन्द्रियम् वाक्पाण्यादि (हे. च.)
क्रीडारत्न–न., मैथुनम् (त्रिका.)
क्रुङ् (श्च)--पु., बकपक्षी (रत्ना.)
क्रुत् (धा)--स्त्री., क्रोधः (अम.)
क्रुश्वा-- पु., शृगालः (उणा.)
क्रूरक--पु., रक्तपुनर्नवा (रा.व. ९)
क्रूरदर्शना--स्त्री., श्वेतकाकमाची (वै. नि.)
क्रूरधूर्त--पु., कृष्णधुस्तूरः (रा. व. १०)
क्रूररव-पु., काकः । कर्करेटपक्षी (वै. नि.) द्रोणकाकः
क्रूररावी--पु., ,, ,, (रा. व. १९)
क्रूरलोचन--पु., शनैश्चरः (हा. रा.)
क्रूरव–पु., शृगालः (वै. नि.)
क्रूरा–स्त्री., रक्तपुनर्नवा । (रा. व. ५)
क्रूरालापी–स्त्री., द्रोणकाकः (वै. नि.)
क्रोञ्च–पु., क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)
क्रोडकन्द–पु., वाराहीकन्दः (वै. नि.)
क्रोडकशे (से) (रु) (क)–पु., भद्रमुस्ता (वै. नि.)
क्रोडचूडा–स्त्री., मण्डूकपर्णी (रा. व. ५)
क्रोडपर्णी–स्त्री., कण्टकारिका (श. च.)
क्रोडपाद–पु., कच्छपः (हे. च.)
क्रोडपुच्छी–स्त्री., पृश्निपर्णी
क्रोडा (डी)–स्त्री., वाराहीकन्दः (रा. व. ७)
क्रोडाङ्घ्रि–पु., कच्छपः (त्रिका.)
क्रोडीकन्या–स्त्री., वाराहीकन्दः (वै. नि.)
क्रोडीमुख–पु., गण्डकः । (रा. व. १९)
क्रोथ–पु., हननः । (हे. च.)
क्रोधज–पु., मोहः (गीता)
क्रोधज्वर–पु., क्रोधजन्यज्वरः ।
क्रोधना–स्त्री., ग्रन्थिपर्णीलता
क्रोधमूर्च्छित–पु., चोरानामकगन्धद्रव्यम् (श. र.) त्रि., अतिक्रुद्धः
क्रोधी–पु., महिषः (रा. व. १९) (त्रि.,) क्रुद्धम्
क्रोश–पु., ४००० हस्तपरिमाणम्
क्रोष्टा (ष्टुक)–पु., शृगालः, शृगालकोली
क्रोष्टुघण्टिका–स्त्री., अस्थिसंहारकः (मद. व. १)
क्रोष्टुविन्ना–स्त्री., पृश्निपर्णी (र. मा.) वृक्षविशेषः (अ. टी. भ.)
क्रोष्टुहित–पु., चोरानामगन्धद्रव्यम्
क्रोष्टू–स्त्री., वृश्चिकाली (प. मु.)

क्रोष्टेक्षु–पु., पुण्ड्रकेक्षुः श्वेतेक्षुः
क्रोष्ट्री–स्त्री., शुक्लभूमिकूष्माण्डः (अम.) लाङ्गलिका । शृगाली । पिप्पली (मे) वाराहीकन्दः (रा. व. ७) वृश्चिकाली (रत्ना.)
क्रौञ्चनायक–पु., पद्मबीजम् (वै. नि.)
क्रौञ्चलोहित–न., हिङ्गुलः (वै. नि.)
क्लमथ–पु., आयासः (अम.)
क्लान्ति–स्त्री., क्लमः
क्लिन्नाक्ष–त्रि., श्लेष्मादिना क्लिन्नचक्षुः न., (क्षि)–क्लिन्ननेत्रम् (अ. म.)
क्लिशित-क्लिष्ट–त्रि–., क्लेशयुक्तः (अ. म.)
क्लिष्टि–स्त्री., क्लेशः सेवा (धरणि)
क्लेदा (दु)–पु., चन्द्रः सन्निपातः (उणा.)
क्लेश–पु., दुःखम् । क्रोधः । व्यवसायः (मे.)
क्लैतिक–न., मद्यविशेषः (श. च.)
कङ्गु–पु., कङ्गुः (हे. च.)
कणन–पु., जलाधारविशेषः (त्रिका.)
कणितेक्षण–पु., गृध्रः (वै. नि.)
कथन–न., क्काथकरणम्
कथिका–स्त्री., क्काथः (वै. नि.)
कथित–त्रि., पक्वः । सृतः (पाचनादौ) (प. अ.) (न) माधवीमद्यम् । क्काथः । कषायः ।
कथितजल–न., उष्णोदकम् पारिभाषिकं नाम
कथितद्रव्य–न., अरिष्टम् (वै. नि.)
काथोद्भव–न., कर्परीतुत्थकम् कृत्रिमरसाञ्जनम् । कुलत्थाञ्जनम् (अ. म.)

क्ष

क्षणनिःश्वास–पु. शिशुमारः (श. र.)
क्षणरामी (इन्)–पु,. पारावतः (श. मा.)
क्षतकास–पु., पञ्चकासान्तर्गतकासरोगभेदः ।
क्षतकृत्–पु., भल्लातकवृक्षः (वै. नि.)
क्षतघ्न–पु., भूकदम्बः (श. च.)
क्षतविध्वंसी (इन्)–पु., वृद्धदारकलता (श. च.)
क्षतक्षीरी–स्त्री., तूलकः पु., इन् अर्कवृक्षः (वै. नि.)
क्षत्रपादप– (वृक्ष) पु., क्षीरिणीवृक्षः (वै. नि.) मुचुकुन्दवृक्षः (रा. व. १०)
क्षत्रिणी–स्त्री., मञ्जिष्ठा (रा, व. ९)
क्षपाकर–पु., **क्षपापति**– } कर्पूरः (अम.)
क्षमादंश–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (रा. व. ७)
क्षयकास–पु., धातुक्षयजकासरोगः (मा. नि.)
क्षयज्वर–पु., धातुक्षयजन्यज्वरः । राजयक्ष्मज्वरः (च. द. ज्वरचि.)
क्षयतरु–पु., नन्दीवृक्षः (भा.)
क्षयथु–पु., क्षयरोगः
क्षयनाशिनी–स्त्री., जीवन्तीलता (प. मु.)
क्षर–न., जलम् (मे.)
क्षवका–स्त्री., सर्षपवृक्षः (वै. नि.)
क्षवतरु–पु., नन्दीवृक्षः (वै. नि.)
क्षवपत्र–न., क्षवकपत्रम् (च. द. परिणामशूलचि.) स्त्री., द्रोणपुष्पी (रा. व. ७)
क्षवस्तम्भ–पु., क्षवथुनिग्रहः (सा. कौ.)
क्षवा–स्त्री., सर्षपवृक्षः (वै. नि.)
क्षामदंश–पु., शिग्रुः (रा. व. ७)
क्षामास्य–न., अहितपथ्यादिः (श. च.)
क्षारदशक–न., दशविधक्षाराः, ते च शिग्रूमूलकपलाशाचुक्रिकाचित्रकार्द्रकनिम्बकेल्यापामार्गमोचाजाता इति (रा. व. १२)
क्षारदाह–पु., क्षारवृक्षभस्मजक्षारेण दाहः (ज. द. १४ अ)
क्षारद्रु–पु., घण्टापाटलावृक्षः (र. मा.)
क्षारद्वय (युग्म)–न., सर्जियवक्षारः । सर्जिकायावशूकश्च क्षारद्वयमुदाहृतम् (भा.) ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ सर्जिका यावशूकजौ (शार्ङ्ग. म. ६ अ.)
क्षारपत्र (क)–पु., न., बास्तुकशाकम् (भा. पू. १ भ. हे. च.) पालङ्कीशाकम् (बै. नि.)
क्षारमध्य–पु., अपामार्गवृक्षः (वै. नि.)
क्षारमृत्–पु., उषरभूमिः (रा. व. २)
क्षारराज–पु., टङ्कणक्षारः (र. सा. सं.)
क्षारबस्ति–पु. न. निरूहबस्तिभेदः (च. द. निरुहबस्ति.)
क्षारसप्तक–न., सप्तक्षाराः सर्जिक्षारो यवक्षारष्टङ्कणश्च सुवर्चिका । पलाशसौर्यशिखरी क्षारसप्तकमीरितम् (रावण.)
क्षारसर्पि–न., क्षारपक्वघृतम्
क्षाराच्छ–न., सामुद्रलवणम् (हा. रा.)
क्षारिका=स्त्री., क्षुधा (हा. रा.)
क्षारोत्तम–पु., घण्टापाटलिका
क्षितिक्षम–पु., खदिरवृक्षः (रा. व. ८)

क्षितितलविधि-पु., पातालयन्त्रम् (प्र. र. सा. सं. शृङ्गाराभ्ररसे)
क्षितिनाग-पु., भूनागः (रा. व. १३)
क्षिप्त-त्रि., परस्मादस्थ उपरिगतम् अस्थि (भा. म. ३. भ. भग्नाधिकारे)
क्षीणकर-पु., कृशताजनकः
क्षीरक-पु., क्षीरमोरटलता
क्षीरकंचुकी-स्त्री., क्षीरीशवृक्षः (प. मु.)
क्षीरकण्ठ-(क) पु., शिशुः (हे. च. । त्रि. का.)
क्षीरकन्द-पु., क्षीरविदारी
क्षीरक्षव-पु., दुग्धपाषाणः (रा. व. १३)
क्षीरजल-न., क्षीरमिश्रजलम्(सि.यो.)(तृष्णाचि. श्रीकण्ठ)
क्षीरदल-पु., अर्कवृक्षः (रा. व. १०)
क्षीररस-पु., क्षीरसारः ।
क्षीरवान्-पु., क्षीरमोरटः (प. मु.)
क्षीरव्यापत्-स्त्री, अश्वस्यातिमात्रक्षीरभोजनजन्यविकारः लक्षणं यथा-क्षीरव्यापद् गृहीतोऽश्वो मन्दं पिबति खादति । निद्रालुर्वेदनार्तश्च ध्यायी गुरुशिरा भवेत् (ज. द. ६१ अ)
क्षीरशर-पु., दुग्धसरः । आमिक्षा (हे. च.)
क्षीरसन्तालिका-स्त्री., दुग्धविकारः, गुणाः- वृष्या स्निग्धा पित्तानिलघ्नी च (राज.)
क्षीरसार-पु., नवनीतम्; गुणाः- ईषत् श्लेष्मकरं गौल्यं पित्तघ्नं तर्पणं गुरु । पुष्टिश्चैवाभिधा तस्य क्षीरसारस्तु क्षीरसः । (रा. व. १५)
क्षीरस्फटिक-पु., स्फटिकविशेषः क्षीरतैलस्फटिकाभ्यामन्यौ च (स्फटिकाविमौ)
क्षीराङ्क-पु., सरलद्रवः (त्रिका.)
क्षीराब्धिज-न., सामुद्रलवणम् मुक्ता (मे.)
क्षीरामय-पु., स्तन्यदोषः (रस. र. बाल) चि.
क्षीराविका-(वी) स्त्री. दुग्धिका
क्षीराह्व-पु., सरलवृक्षः (त्रिका)
क्षीरिकन्द-पु., भूमिकूष्माण्डः (वै. नि.) (श्वासचि. राजिकादिगुटयाम्)
क्षीरिकषाय-पु., वटादिक्षीरवृक्षकषायः (सि. यो. दाहचि. श्रीकण्ठ.)
क्षीरीश-पु., स्वनामख्यातह्रस्ववृक्षः क्षीरकञ्चुकीति लोके (प. मु.)
क्षीरेयी-स्त्री., पायसम् (हला.)
क्षीरोदन-न., क्षीरपक्वान्नम् (नकुल ११ अ.)
क्षुज्जनिका-स्त्री., राजिका (भा. पू. १. भ. धा. व)
क्षुण-पु., रीठाकरञ्जवृक्षः (श. च.)
क्षुतक-पु., राजिका । रक्तसर्षपः (रा. व. १९)
क्षुतकरी-स्त्री., सर्पकङ्कालिका (श. च.)
क्षुता-स्त्री., छिक्किका (श र)
क्षुताभिजनन-(क) न. पु. कृष्णसर्षपः [भा. पू. १ भ. धा. व.)
क्षुद्र-पु., कैटर्यः (प मु) रक्तपुनर्नवा (वै. नि.) तण्डुलावयवः (उणा.) डहुकः (श. र.)
क्षुद्रक-श्वासरोगभेदः । कृमिशङ्खः (वै. नि.)
क्षुद्रकण्टकी-स्त्री., बृहती.
क्षुद्रकण्टिका-स्त्री., कण्टकारी (रा व ४) बृहती
क्षुद्रकन्द-पु. शृङ्गाटकः (प. मु.)
क्षुद्रकम्बु-पु. क्षुद्रकारवेली (वै. नि.) क्षुद्रशङ्खः (हे. च.)
क्षुद्रक्षुर-पु., क्षुद्रगोक्षुरः (रा. व. ४)
क्षुद्रखर्जूरी-स्त्री., भूखर्जुरीका
क्षुद्रगोधूम-पु., सूक्ष्मगोधूमः (वै. नि.)
क्षुद्रघोली-स्त्री., चिविल्लिका (रा. व. ७)
क्षुद्रचुञ्चु-पु., स्वनामख्यातह्रस्वक्षुपः । (म-लहानचञ्चु, नाड्चञ्चु) गुणाः-मधुरः कटुः उष्णः कषायः दीपनः शूलगुल्मार्शोविबन्धघ्नश्च (रा. व. ४)
क्षुद्रचूड-पु., सचूडक्षुद्रपक्षी (श. च.)
क्षुद्रजम्बू-स्त्री., जलजम्बुः (हिं-जामुनी नदीजामुनी) गुणाः -जम्बूः संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित् (भा.)
क्षुद्रजीर-पु., क्षुद्रजीरकम्ः ।
क्षुद्रतण्डुल-पु,. विडङ्गः (वै. नि.)
क्षुद्रदंशिका (शी)-स्त्री., क्षुद्रदंशः (जटा.)
क्षुद्रद्रु-पु., कुमरिचवृक्षः (प. मु.)
क्षुद्रधान्य-न., कुधान्यापरनामतृणधान्यम् । तानि यथा श्यामाकः कोद्रवः कङ्गुर्मर्कटी कपिकच्छुरा क्षुद्रधान्यमिदं प्रोक्तम्... । (अत्रि.)
क्षुद्रधान्यमण्ड-पु., न., कुधान्यकृतमण्डः । गुणाः— अन्येषां क्षुद्रधान्यानां मण्डं वातहरं स्मृतम् (अत्रि. १२ अ.)
क्षुद्रधान्याम्ल-न., क्षुद्रधान्यकृतकाञ्जिकविशेषम् गुणाः —तद्वच्च क्षुद्रधान्याम्लं वातलं पित्तकारकं । करोति श्लीपदं गुल्मं प्रतिश्यायादिकोपनम् (अत्रि. १२ अ)
क्षुद्रनासिक-त्रि., नतनासिका । (हे. च.)
क्षुद्रपञ्चक-पु., स्वल्पपञ्चमूलम् (सू. चि. २४ अ.)
क्षुद्रपत्रा-स्त्री., चाङ्गेरी (हारा.) लघु ब्राह्मी (रा. व. ५)

क्षुद्रपत्रिका–स्त्री., श्वेतपुनर्नवा (वै. नि.)
क्षुद्रपत्री–स्त्री., वचा (रा. व. ९)
क्षुद्रपनस–पु., लकुचवृक्षः (भा.)
क्षुद्रपाटला–स्त्री., मुष्ककवृक्षः (वै. नि.)
क्षुद्रपाषाणभेद–(दा) पु. स्त्री. ह्रस्वपाषाणभेदक्षुपः। गुणाः–व्रणकृच्छ्राश्मरीघ्नः (रा. व. ५)
क्षुद्रफलक–पु , जीवनवृक्षः (श. च.)
क्षुद्रभण्टाकी–स्त्री., बृहतीक्षुपः (वै. नि.)
क्षुद्रमत्स्य–पु., मुरलादिमत्स्यः (वै. नि.)
क्षुद्रमूषिका स्त्री., अञ्जनिका (जटा.)
क्षुद्रमोरट–पु., क्षुद्रमोरटः (वै. नि.)
क्षुद्रमोरटक–पु., टङ्कद्वयम् (प. प्र. १ ख)
क्षुद्रवंशा–स्त्री., वराहक्रान्ता (शब्दकल्प)
क्षुद्रवज्रक–न., वैक्रान्तमणिः (प. मु.)
क्षुद्रवर्वणा–स्त्री., वराटा (रा. व. १९)
क्षुद्रवारुणी–स्त्री., तुषधान्यकृतवारुणीमद्यम् । यथा–सर्वं संक्षुद्य यत्नेन वितुषीकृत्य यत्नतः । तक्रे वा क्वचिदम्ले वा आकीटं तद्विनिःक्षिपेत् ! ततो निष्काशयेदर्कं भवेत् सा क्षुद्रवारुणी । गुणाः–क्षुधादिवर्धकं बलवर्धकञ्च (अर्कचि.)
क्षुद्रवार्ताकी–स्त्री., बृहती (अम.)
क्षुद्रशङ्ख–शङ्खविशेषः (रा. त्रि. व. १६)
क्षुद्रशार्दूल–पु., चित्रकव्याघ्रः (रा. व. १९)
क्षुद्रशीर्ष–पु., मयूरशिखा (श. च.)
क्षुद्रशुक्ति–स्त्री., ह्रस्वशुक्तिः (रा. व. १३)
क्षुद्रश्यामा–स्त्री., कृष्णकटभीवृक्षः (रा. व. ९)
क्षुद्रश्लेष्मान्तक–पु., ह्रस्वश्लेष्मातकवृक्षः (रा. व ११)
क्षुद्रस्फोटा–स्त्री., क्षुद्रस्फोटकाः (रा. व. २०)
क्षुद्रहिङ्गुलिका (ली)–स्त्री., कण्टकारी (श. च.)
क्षुद्राण्डमत्स्यसंघात–पु., पोताधानः (अम.)
क्षुद्रादि–पु., कण्टकार्यादिद्रव्यचतुष्टयकृतकषायः वातश्लेष्मज्वरेहितः (च. द. ज्वरचि.) अन्यः सामान्यज्वरे हितः । यथा—क्षुद्रामृताभ्यां सह नागरेण सपौष्करञ्चैव किराततिक्तम् । पिबेत् कषायन्त्विह पञ्चतिक्तम् (सं.)
क्षुद्राफल–न., बृहतीकलम् (र. सा. सं.) (गन्धकयोगे)
क्षुद्रामलकसंज्ञ–पु., कर्कटवृक्षः (रा. व. ११)
क्षुद्राम्बुपणस–पु., डहुकफलः (त्रिका.)
क्षुद्राम्लपनस–पु., लकुचवृक्षः (त्रिका.)
क्षुद्रोदुम्बरिका–स्त्री., काकोदुम्बरिका
क्षुद्रापोदकनाम्नि–स्त्री., क्षुद्रोपोदकी
क्षुद्रोपोदकी–स्त्री.,क्षुद्रपत्रोपोदकी (रा. व. ७)
क्षुद्रोलूक–क्षुद्रपेचकः (रा. व. १९)
क्षुद्रिबोधन–पु., क्षवकवृक्षः (वा. सू. १५ अ.) (सुरसादिगण)
क्षुधित–वि., जातक्षुधः (अम.)
क्षुप–पु.,क्षुद्रवृक्षः । गुल्मः (अम.)
क्षुपडोडमुष्टि–पु., विषमुष्टिः (रा. व. ४)
क्षुरकबीज–न., कोकिलाक्षबीजम् (प्र. भीमनाथरसे । भैष. वाजी. चि. रतिवल्लभमोदक)
क्षुरबीज–न., कोकिलाक्षबीजम्. शतावरीमोदकः (च.द. वातरक्तचि. अमृताद्यघृत)
क्षुरभाण्ड–न., नापितस्य क्षुररक्षेणाधारः (शब्दकल्प)
क्षुरमर्दी (इन्)–पु., नापितः (हे. च.)
क्षुरिका–स्त्री., पालङ्कशाकम् (प. मु.)
क्षुरिणी–स्त्री., वराहक्रान्ता (श. च.)
क्षुरी (इन्)–पु., स्त्री., (णी) क्षौरकारः तत्पत्रञ्च (अम.) स्त्री., छुरिका (हे. च.)
क्षेडकन्द–पु., करवीरवृक्षः [प. मु.]
क्षेत्रपर्पटी–स्त्री., पर्पटकः [शब्दकल्प]
क्षेत्रयमानिका–स्त्री., वनयमानी [त्रिका.]
क्षेत्रवित्–पु., परमार्थतत्त्वज्ञानी जीवात्मा [भागवतन]
क्षेत्रसंभूत–पु., कुन्दुरुतृणम् [रा. व. ८]
क्षेत्रामलकी–स्त्री., भूम्यामलकी [श. मा.] मुषली [प. मु.]
क्षेत्रिय–न., शाकम् । घासम् , परदेहचिकित्सा (मे.)
क्षेमङ्करी–स्त्री., शङ्करचिल्ली (शब्दकल्प)
क्षे (म) माफला–स्त्री., उदुम्बरवृक्षः [श. च.]
क्षेमिका–स्त्री., हरिद्रा (च. चि.) (३ अ. अगुरुतैले)
क्षोदित–न., चूर्णम् श. च. ((त्रि.) चूर्णितम्
क्षौम–न., अतसीवस्त्रम् (अम.) (सु. चि. १ अ.)
क्षौणीध्रज–न., शैलजः (भैष.) वातव्याधिचि. (गन्धद्रव्यकथने)
क्षौद्र–पु., चम्पकवृक्षः । (ज. द. । श. च.)
क्षौद्रसाह्वय–न., वटमाक्षिकम् (वा. उ. ३५ अ.)
क्षौद्रेय–न., सिक्थम् (रा. व. १३)
क्षौमी–स्त्री., अतसी (र. मा.)
क्षौर–न., मुण्डनकर्म (हे. च.) गुणाः—केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम् । (रा. ।)
क्ष्वेडन–न., वेणुघोषतुल्यस्वरः

ख

खक्खट–पु., खडिका (अ. टी. रा.)
खखास–पु., वृक्षभेदः (प्रयोगा. उ. मा. चि.) (मदनरसे)
खखोल्क–पु., सूर्यः (वै. नि.)
खगम–पु., पक्षी
खगवक्त्र–पु., लकुचवृक्षः (श. च.)
खगशत्रु–पु., पृश्निपर्णी (श. च.)
खगस्थान–न., वृक्षकोटरः (श. च.)
खगान्तक–पु., धूम्याटपक्षी । (वै. नि.) श्येनः (रा. व. १९)
खगेन्द्र–पु., गृध्रः (वै. नि.)
खगो (ग्ग) ड–पु., स्वनामख्याततृणविशेषम् (र.मा.)
खग्गट–पु., कोकिलाक्षवृक्षः (वै. नि.)
खङ्गाह–पु., खङ्गाहापरनाम्नः श्वेतपीताश्वः । खङ्गाहश्वेतपीतकः (ज. द. ३ अ.)
खचमस–पु., चन्द्रः (त्रिका.)
खचर–पु., न., पक्षी । वायुः । सूर्यः; । (वै. नि.)
खजप–न., घृतम् (उणा.)
खजल–न., तुषारः (त्रिका.) आकाशजलम् तत्तु अगस्त्योदयात् प्राक् न सेव्यम् । यथा–'वर्षासु चरन्ति घनैः सहोरगाः वियति कीटलूताश्च । तद्विषजुष्टमपेयं जलमगस्त्योदयात् पूर्वम् (राज.)
खजाक–पु., पक्षी. (उणा.)
खज्योति–पु., खद्योतः (रा. व. १९)
खञ्जकारि–पु., सुखा शिम्बीधान्यविशेषः (रा. व. १९)
खञ्जखेट–(ल)–पु., खञ्जनपक्षी (श. मा. त्रि. का.)
खञ्जना(निका)–स्त्री., क्षुद्रखञ्जनतिः जाता हापुत्रिका (मे.)
खञ्जनाकृति–पु., खञ्जना (श. च.)
खट(टि)क–पु., कुब्जितपाणि (श. मा.)
खटखादक–पु., काकः । काचपात्रम्, शृगालः (वै. नि.) (त्रि.,) भक्षकः ।
खटाल–पु., तण्डुलीयवृक्षः (वै. नि.)
खटी–स्त्री., कठिनी; गुणाः– मधुरा तिक्ता शीतला पित्तदाहव्रणदोषघ्नी कफरक्तनेत्ररोगहरी च (रा. व. १३) 'खटिका दाहजिच्छीता मधुरा विषशोथजित् । लेपादेतद्गुणा प्रोक्ता भक्षिता मृत्तिकासमा । खटी गौरखटी द्वे च गुणैस्तुल्ये प्रकीर्तिते (भा. पू. १ भ.)
खट्टन–पु., खर्वः (हे. च.)
खट्टा–स्त्री., खट्वा (श. च.)
खट्टाश(शी)स–पु., स्त्री., सुगन्धमार्जारः । यस्याण्डेन तैलं सुवासितं क्रियते (त्रिका. जटा.) तस्याण्डं खाटाशी इति उच्यते । शुद्धो मृगनाभिसमो भवति (च. द. भैष. वातव्याधि.चि.)
खट्टिक–पु., शाकुनिकम् (श. मा.) महिषीक्षीरफेनः ।
खट्टिका–स्त्री., क्षुद्रखट्टा (त्रिका.)
खट्टेरक–त्रि., खर्वः (श. मा.)
खट्वाबन्ध–पु., न., व्रणबन्धनाकृतिविशेषः (सु. उ.)
खडिका (डी)–स्त्री., खटिका (जटा.) शुक्लमृत्तिका (श. च.)
खडु–पु., मृतशय्या (उणा.)
खड्गकोष–(पत्र)–पु., खड्गलता (श. च.)
खड्गट–पु., बृहत्काशतृणम् (हारा)
खड्गधेनु–स्त्री., गण्डक छुरिका (मे.)
खड्गमांस (ङ्गामिष)–न., गण्डकमांसम्
खड्गिक–पु., महिषीक्षीरफेनः । (मे.)
खड्गिमार–पु., खड्गकोषलता (श. च.)
खडडक–पु., देवताडवृक्षः (प. मु.)
खण्डकर्ण–पु., आलुविशेषः । गुणाः–कटुपाकीखण्डकर्णः कफपित्तविनाशनः । (रा. ३ प.) शाकविशेषः (च.द.)
खण्डका–स्त्री., यवासशर्करा विशेषः । (वै. नि.)
खण्डकाद्यलौह–न., रक्तपित्ते हितम् । (रस. र.)
खण्डकालु (क)–न., खण्डकर्णालुकः । (श. च.)
खण्डकूष्माण्ड–न. पु., **खण्डकूष्माण्डावलेह**– } रक्तपित्तहितम् (भा.) खण्डशः कृतं निष्कुलीकृतं पुराणकूष्माण्डशस्यम्
खण्डखर्जूर–न., स्वनामख्यातपक्वान्नविशेषः ।
खण्डज–पु., खण्डः । गुडः (जा) यवासशर्करा (रा. व. १४)
खण्डजोद्भव–पु., तवराजोद्भवखण्डः (रा. व. १४)
खण्डधारा–स्त्री., कर्तरी [श. मा.]
खण्डन–पु., छेदनम् । भेदनम्
खण्डनील–पु., खण्डकर्णालुकः (र. मा.)
खण्डपरशु–(र्शु) पु., खण्डामलकभैषजम् ?
खण्डपाल–पु., मोदकः (हारा.)
खण्डपाश–पु., धातकीपुष्पशर्कराजातं मद्यम् (वै. नि.)
खण्डपिप्पली–स्त्री., अम्लपित्ते पिप्पलीखण्डः प्रशस्तः (भैष.)
खण्डर–पु., यवासशर्करा
खण्डराजी–स्त्री., बाकुची (वै. नि.)

खण्डवल्ली–स्त्री., काण्डवल्ली (वै. नि.)
खण्डविकार–पु., शर्करा (वै. नि.)
खण्डविन्दु–पु., सर्पजातिभेदः (अत्रि. ५६ अ ३ स्थान)
खण्डशाखा–स्त्री., महिषवल्ली [रा. व. ३]
खण्डशुण्ठी–[शुण्ठीखण्ड] स्त्री., अम्लपित्ते हिता (रस. र.)
खण्डाम्र–क न., वाजीकरणौषधभेदः (वै. नि.)
खण्डाली–स्त्रीं., तैलमानपात्रम् (वै. नि.)
खण्डितकर्ण–पु., खण्डकर्णालुः खारकोण इति ख्यातशाकः (रसेन्द्रगुडो)
खण्डी–(इन्) पु., वनमुद्गः (हे. च.)
खण्डीर–पु., पीतमुद्गः (हे. च.)
खण्डोपल–पु., खडीशर्करा
खतमाल–पु., धूमः (मे.)
खदन–न., भोजनम्
खदिका–स्त्री., खधि ।
खदिरवल्लरी–स्त्री., अरिखदिरः । (हिं–मट्टिकफल । (क्ली) द्रुमोत्पलम् (वै. नि.)
खदिरा–स्त्री., लज्जालुकालता (रा. व. ५)
खदिरादिपञ्चतिक्तकघृत–न., कुष्ठे घृतम् हितम्(रसर.)
खदिराष्टक–पु., मसूराधिकारे कषायः । खदिरत्रिफलारिष्टपटोलामृतवासकैः काथोऽष्टकाङ्गो जयति रोमान्तिकामसूरिकाः । (च. द.)
खदिरिका–स्त्री., लाक्षा (रा. व. ९) लज्जालुका(वै. नि.)
खदिरी–स्त्री., वराहक्रान्ता (प. मु.)
खदिरीबीज–न., अशोकबीजम्(च. द.) 'जलेन खदिरीबीजम्'
खदिरोपम–पु., बर्बूरकवृक्षः (वै. नि.) कदरम्(र. मा.)
खदूरक–पु., वामनः ।
खनक–पु., मूषिकः (त्रिका.) वनमूषिकः । (वै. नि.)
खनिजौषध–न., रसोपरसधातुलवणरत्नानि पञ्चविधानिखनिजद्रव्याणि । (वैद्यकम्)
खनित्र–न., अस्त्रविशेषम् (अम.)
खनिसम्भव–पु., स्वर्णम् (वै. नि.)खनिजम् ।
खपुष्प–पु., पनसवृक्षः (वै. नि.)
खभ्रान्ति–पु., चिल्लपक्षी (त्रिका.)
खमणि–पु., सूर्यः (वै. नि.)
खमीलन–न,, तन्द्रा (श. र.)
खमूलि–(का)–स्त्री., कुम्भिका (श. र.)
खरकुटि–(टी)–स्त्री., नापितशाला (त्रिका.)
खरको (क्का) ण–पु., तित्तिरपक्षी (हे. च.)
खरगृह (ग्रह)–न., गर्दभशाला (त्रिका) गेहम् (श. र.)
खरघातन–पु., नागकेशरवृक्षः (श. च.)
खरच्छद–पु., उलूकनामतृणम् इक्षुरनामक्षुद्रक्षुपः (र. मा.) कुन्दुरुतृणम् (रा. व. ८) भूमीसहवृक्षः (भा.) शाकवृक्षः । शाकोटवृक्षः रक्तापामार्गः (वै.नि.)
खरच्छदा–स्त्री., त्रिपुरमल्लिका (प. मु.) चिविल्लिका (रा. व. ५)
खरटी–स्त्री., रङ्गधातुः (वै. नि.)
खरतुण्वक–पु., लज्जालुका (भा.)
खरत्वक्–स्त्री., अलम्बुषा लज्जालुकाभेदः (भा.)
खरदंष्ट्रा–स्त्री., गोक्षुरक्षुपः (ज. द.)
खरदण्ड–न., पद्मम् (धरणि)
खरदला–स्त्री., श्यामालता काष्ठोदुम्बरः । (श. च.)
खरदूषण–पु., न., धुस्तूरवृक्षः (फलम् च) (श. च.)
खरधन्विका–स्त्री., गोरक्षतण्डुला (प. मु.)
खरनादिनी–स्त्री., रेणुकः । (श. च.)
खरपत्रक–पु., तिलवृक्षः । (श. च.)
खरपल्लव–पु., शाखोटकवृक्षः । (प. मु.)
खरपाच्य–पु., कपित्थवृक्षः ।
खरपात्र–न., लौहपात्रः । (त्रिका.)
खरपादाढ्य–पु., कपित्थवृक्षः । (श. च.)
खरप्रिय–पु., पारावतः । (श. मा.)
खरराह–पु., मुखपुण्ड्रेकण युक्तः खङ्गाहाश्वः । खरराहः खङ्गाहः (ज द ३ अ.)
खररोमा–पु., नागविशेषः ।
खरवल्लिका–स्त्री., **खरवल्लरिका**– } गोरक्षतण्डुला (रमा)
खरशब्द–पु. कुररपक्षी (रा. व. १९)
खरशाक–पु., भार्गी (भा.)
खरसोन्द–पु., लौहपात्रभेदः (त्रिका.)
खरस्पर्शा–स्त्री.,पीतदेवदाली (भा.त्रि.) (शं.) गोजिह्वादिवत्खरः (मा. नि.)
खरस्वरा–स्त्री., वनमल्लिका (र. मा.)
खरा–स्त्री., पीतदेवताडः । (भा.)
खरागरी–स्त्री., पीतदेवताडवृक्षः । (अ. टी. रा.)
खराग्नि–पु., अर्कनिष्कासनार्थं तीक्ष्णाग्निविशेषः । (रावण)
खरिका–स्त्री., नेपालजचूर्णाकृतिकस्तूरीभेदः (रा. व. १२) द्र० कस्तूरी ।
खरु–पु., घोटकः दन्तः (त्रि.,) श्वेतः (त्रिका.)

खरुवक–पु., श्वेतमरुवकवृक्षः (वै. नि.)
खर्जिका–स्त्री., अवदंशम् (श. च.)
खर्जु-र्जू पु., पिण्डीखर्जूरवृक्षः उणा. खर्जु. (रा. व. २०)
खर्जूरफलक–पु., गोधूमविशेषः (वै. नि.) खजूरीफलम्
खर्परतुत्थ–न., खर्परीतुत्थम् (वै. नि.)
खर्परवटिका–स्त्री., ग्रहण्यधिकारेहिता (र. कौ. मेष)
खर्पराल–पु., अश्वत्थविशेषम् [म. लाखी पिंपरी] (वै. नि.)
खर्परिका (री) तुत्थक–न., नेत्रप्रसाधनविशेषम् तुत्थाञ्जनम् कृत्रिमरसाञ्जनम्, गुणाः– कटु तिक्तं चक्षुष्यं रसायनं त्वग्दोषघ्नं दीपनं बलपुष्टिकरञ्च (रा. व. १३) खर्परम् (म. कलखापरी)
खर्परीयक–न., खर्परीतुत्थम् खर्परम् (वै. नि.)
खर्परीरसक–खर्परीतुत्थम् (रा.व.) खर्परम् (वै.नि.)
खर्बशाख–स्त्री., वामनः (हे.च.)
खर्बु [र्बू] रा–पु., न., नदीनिष्पावः [रा. व. १६]
खर्बु [र्बू] र–स्त्री., तरदीवृक्षः [रा. व. ८]
खर्बूज–न., तन्नामकफलविशेषः । गुणाः—मूत्रलं बल्यं कोष्ठशुद्धिकरं गुरु । स्निग्धं स्वादुतरं शीतं वृष्यं पित्तानिलापहम् । तेषु यच्चाम्लं मधुरं सक्षारञ्च रसाद्भवेत् । रक्तपित्तकरं तत्तु मूत्रकृच्छ्रकरं परम् (भा.)
खलकाम्बलिक–पु., तिलकल्कः (वै. नि.)
खलमूर्ति–पु., पारदः (श. च.)
खलयूष–पु.' खण्डयूषः ।
खलाधारा–स्त्री., तैलपायिका (जटा.)
खलिद्रुम–पु., सरलदेवदारुः (वै. नि.)
खलि (ली) न–पु., न., खली (अ टी रा)
खलिनी–स्त्री., कृष्णतालमूली (वै.नि.) खलसमूहः (अम.)
खलिश–पु., मत्स्यविशेषः (हारा.) गुणाः—ग्राहित्वं कषायत्वं वायुकोपनत्वं रूक्षत्वं लघुत्वं शूलहरत्वं किञ्चिदामघ्नत्वञ्च (राज. ३. प.) (रा. व. १९)
खलेशय– ,, ,, ,, ,,
खलुरेष–पु., मृगविशेषः (श. च.)
खलेधानी–स्त्री.,खले पशुबन्धनदारुः (जटा.)
खलेबाली–स्त्री., खले गोबन्धनकाष्ठम् (हे. च.)
खल्लकी–स्त्री., शर्करा (वै. नि.)
खल्लि (ल्ली) ट–त्रि., खली (श. र.) (त्रिका.)
खल्वट–पु., कासरोगः (वै. नि.)
खल्वाट–पु., खली (हे. च.)
खल्वुका–स्त्री., नाभिशङ्खः । (र. सा. सं.)
खवल्ली–स्त्री., आकाशवल्ली (रा. व. ३)
खवारि–न., आन्तरिक्षोदकम् । (रा. व. १४)
खवास्प–पु., हिमम् । (हारा.)
खशब्दाङ्कुर–पु., न., वैदूर्यमणिः (रा. व. १३)
खशा–स्त्री., मुरामांसी । म–मरवा । (श. च.)
खशोट–पु., खलिसमत्स्यः (त्रिका.)
खश्वास–पु., वायुः (त्रिका.)
खस–पु., पामा । वीरणमूलम् (वै. नि. वातव्याधिचि.)
खसकन्द–पु., वाराहीकन्दः । (वै. नि.) क्षीरीशवृक्षः (प. मु.) क्षीरकञ्चुकीवृक्षः । (र. मा.)
खसगन्ध–पु., क्षीरकञ्चुकी (रमा.)
खसतिल–पु., खस्खसः । गुणाः–तिलभेदः खसतिलः कासश्वासहरः स्मृतः । (भा.)
खसफल–न., खस्खसम् (वै. नि.)
खसम्भवा–स्त्री., आकाशमांसी (रा. व. १२)
खसर्पणवटी–स्त्री., ग्रहण्यधिकारे हितम् द्र०खर्परवटिका।
खसबीज–न., खस्खसम् (हिं–खाखसदाना) गुणाः–बल्यं वृष्यं सगुरु कफकरं वातशमनञ्च (भा.)
खस्खससार–(क्षीर)–पु. न. अहिफेनम् (वै. नि.)
खस्फटिक–पु., चन्द्रकान्तमणिः । सूर्यकान्तमणिः । (वै. नि.)
खाखस–(तिल)–पु., खसतिलः ।
खाखसतिलोद्भूत–न., खस्खसम् (वै. नि.)
खाजिक–पु., लाजा (हारा.)
खाटि–स्त्री., किणम् (मे.)
खाड (ण्ड) व–पु., मधुराम्ललवणनानासुगन्धिद्रव्यकृतखाद्यविशेषम् (शिवदास.) द्वीपान्तरखर्जूरम् (वै. नि.)
खादनकोष्ठक–न., अश्वस्य द्विहस्तोन्नतभोजनपात्रम् (नकुल. १८ अ.)
खादिरसार–पु., खदिरः । गुणाः—कटुत्वं तिक्तत्वं उष्णत्वं कफवातव्रणकण्ठामनाशित्वं रुचिकरत्वं दीपनत्वं च (रा. व. ८)
खाद्यपत्री–स्त्री., खदिरवृक्षः (रा. व. ८)
खानि–स्त्री., खनिः (हे. च.)
खानिक–न., कुड्यच्छेदः (त्रि. का.) रत्नम् (वै. नि.)
खानोदक–पु., नारिकेलः (त्रिका.)
खापगा–स्त्री., गङ्गा (हे. च.)
खार–पु., खारीपरिमाणम्
खार्जूरसुरा–स्त्री.,खर्जूरधातकीपुष्पकृतसुराविशेषा (वै.नि.) खर्जूरमद्यम्

खाश्मरी–स्त्री., गाम्भारीवृक्षः (वै. नि.)
खिखि–पु., शृगालविशेषः (मे.)
खिङ्खिर–पु., खिखौ (मे.) वारिवालकम् (विश्व. हे. च)
खिच्चा–स्त्री., खेचरिकान्नम् (वै. नि.)
खिदिर–पु., चन्द्रः (वै. नि.)
खिद्र–पु., रोगः (उणा.)
खिरहिट्टि–पु., महासमङ्गानाम क्षुपः । (रा. व. ४)
खिलाह–पु., पाण्डुकेसरपुच्छः कपिलवर्णाश्वः (ज.द.३ अ)
खुङ्गाह–पु., श्वेतपीतवर्णाश्वः खङ्गाहः श्वेतपीतकः (ज. द. ३ अ)
खुज्जा (ञ्जा) क–पु., देवताडवृक्षः (र. मा.)
खुडक–पु., गुल्फः (सु. नि. १ अ.)
खुड्डाकपद्मकतैल–न., वातरक्ते तैलम् (रस. र. । च. चि. २८ अ.)
खुरणस–त्रि., चिपिटनासः (अ. म.)
खुरसाना–स्त्री., खोरासनीयमानी (वै. नि.) पुं., खोरासानदेशीयोत्तमाश्वः ' ताजिकाः खुरसानाश्च तुषाराश्वोत्तमा हयाः (नकुल)
खुराक–पु., यवनालः पशुः (वै. नि.)
खुरालिक–पु., नापितभण्डी उपधानम् (मे)
खुरासनी-वचा–स्त्री., तद्देशीयवचा (**म श्वेतवेखण्ड**) (वै. नि.)
खुरासानी-यमानी–स्त्री., यमानीभेदः खुरमाण इति महाराष्ट्रादौ (वै. नि.)
खुरिकापत्र–पु., केनी नामकंपत्रशाकम् **म. केनी** (वै.नि.)
खुलक–पु., जङ्घापादयोः सन्धिः (सु. चि १८ अ.)
खुल(ल्व) का स्त्री., नाभिशङ्खः (र.सा. सं)
खुल्ल–न., नखीनामगन्धद्रव्यम् (श. च.)
खुल्लक–स्त्री., स्वल्पम् (अ. टी.)
खेगमन–पु., कालकण्ठपक्षी श. मा.
खेचरा–स्त्री., आकाशवल्ली (वै. नि.)
खेचराञ्जन–न., काशीषम् (वै. नि.)
खेचरान्न–न., खेचरिका (पाकराजः)
खेदिनी–स्त्री., अशनपर्णीवृक्षः (श. च.)
खेला–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः । गुणाः—मधुरा शीता स्तन्यदा रुचिकृच्च (रा. व. ५)
खेसर–पु.,अश्वतरः (रा. व. १९)
खोङ्गा (ङ्गा) ह–पु., श्वेतपिङ्गलवर्णाश्वः (हे. च.)
खोटि. (टी)–पु., स्त्री., कन्दुरखोटी । (च. द. वातव्याधिचि.) पालङ्कीवृक्षः (श. च.)
खोड- र - (ल) –त्रि., खञ्जः (अम.)
खोरक–पु., गर्दभज्वरः (गजवै.)
खोलक–पु., वल्मीकम्। शिरस्त्राणम् (त्रिका.) पूगकोश (मे.)
खोली–स्त्री., तूणम् (श. मा.)

ग

गगनमारकगण–पु., अभ्रकमारकद्रव्यम् ।
गगनसुन्दर–पु., ग्रहण्यां रसः हितः (र. चि. भैष.)
गगनस्पर्श–पु., वायुः । (वै. नि.)
गगनादिलौह–न., सोमरोगे हितम् । (र. सा. सं.)
गगनादिवटी–स्त्री., वातरोगे हिता । (र. सा. सं.)
गङ्गका (ङ्गा) का–स्त्री., स्वनामख्याता नदी । तज्जलगुणाः–शीतं स्वच्छं स्वादु अतिरोचकं पथ्यं पावनं तृष्णामोहघ्नं दीपनं प्रज्ञाकरञ्च । (रा. व. १४)
लज्जालुका (वै. नि.)
गङ्गाचिल्ली–स्त्री., चिल्लविशेषः । (हारा.)
गङ्गाटेय–पु., चिङ्गटमत्स्यः (त्रिका.) द्र. चिङ्गटः ।
गङ्गाधरकाथ–पु.,अतीसारे कच्चटाद्यपरनामकषायः ।(भा.)
गङ्गाधरचूर्ण–(बृहत्)न., अतीसारे औषधम्(भा.म.१भ.)
गच्छ–पु., वृक्षाः । (हे. च.)
गजकन्द–पु., हस्तिकन्द नाम महाकन्दशाकम्
गजकर्णा (र्णी)–स्त्री., करिकर्णवत्पत्रकन्दशाकविशेषम् (हिं–हस्तिकर्णा । गुणाः–तिक्ता उष्णा वातकफहरा पाके स्वादुः शीतज्वरघ्नी पाण्डुशोथकृमिप्लीहगुल्मानाहोदरघ्नी वनशूरणवत् ग्रहण्यर्शोघ्नी च । (भा. पू. १ भ.) (शाकवर्गः) आखुकर्णी लता (रा. व. ३)
गजकुसुम–पु., न., नागकेशरवृक्षः तत्पुष्पं च (भैष. मुखरोगचि. अरिमेदागुडौ)
गजकेश (स) र–पु., नागकेशरम् (सि.यो. छर्दिचि. एलादिगुडौ)
गजकेश (स) रीरस–पु., आमज्वरादौ रसः (रस. कौ.)
गजजाति–स्त्री., हस्तिजातिः सा त्रिधा भद्रः मन्द्रः मृगश्चेति
गजदन्त–पु.. करिदन्तः (वै. नि.) एतन्मशी श्वित्रघ्नी
गजदन्तवत्–न., मूलकम् (वै. नि.)
गजदन्तिका–स्त्री., हस्तिदन्ता (वा. उ. ३६ अ.)
गजद्रुम (पादप) पु., नन्दीवृक्षः (हिं. बालिया पिंपळ.)
गजप्रिया–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (हे. च.)
गजबला–स्त्री., गोरक्षी
गजमदहरणी–स्त्री., शिवलिङ्गिनी लता (वै. नि.)
गजमाचल (मोटन)–पु., सिंहः (हारा. । श. मा.)
गजमुक्ता–स्त्री., करिगण्डस्थमुक्ता (वै. नि.)

गजल (ले) ण्ड–पु., हस्तिविष्ठा (भैष. कुष्ठचि । सु. चि. ९ अ)

गजवाजिप्रिया–स्त्री., भूमिकूष्माडम् (वै. नि.)

गजवैद्यक–न., पालकाप्य (व्य) कृत गजचिकित्सा-शास्त्रम् (चरकः)

गजादन–पु., अश्वत्थवृक्षः (र. मा.)

गजादिनामा–स्त्री., गजपिप्पली (सु. चि. १८ अ)

गजारि–पु., गजमादनशल्लकीवृक्षः चन्द्रः (हड्ड चन्द्रः)

गजाह्व–पु., न., नागकेशरवृक्षःतत्पुष्पञ्च (च. द. अर्शचि. बाहुशालगुडे)

गजाह्वया–स्त्री., यूथिकाक्षुपः (रा. व. १०) गजपिप्पली (भा. पू. १ भ.)

गजोपकुल्या–स्त्री., गजपिप्पली (वै. नि. २ भ. ग्रहणी. चि. । भैष. कुष्ठ. चि.)

गजोपम–पु., कुमारिः (वै. नि.):

गञ्जा (ह्वा) (ञ्जिका)–स्त्री., मद्यभाण्डम् (श. र.) मदिरागृहम् (अम.) रत्नखनिः (मे.) गुञ्जा (वै. नि.) गांजा इति प्रसिद्ध वणिक्द्रव्यम्

गञ्जायिका–स्त्री., शक्राशनम्

गड–(क)–पु., मत्स्यभेदः (मे) गुणाः—मधुरः रूक्षः कषायः शीतः लघुश्च । (राज. ३ प.) (न.,) साम्भरलवणम् (रा. व. ६)

गडलवण–न., शाम्भरदेशजलवणम्, गुणाः—लवणं ईषदम्लं मलघ्नं उष्णं दीपनं कफवातार्शोघ्नं कोष्ठशोधनञ्च (रा. व. ६)

गडाख्य(आदि) लवण–न., शाम्भरलवणम् (रा. व. ६)

गडि–पु., तरुणवृक्षः (रा. व. १९)

गडिश–पु., तन्नामकमत्स्यविशेषः । गडिशो मधुरो ग्राही बल्यो वह्निप्रदो गुरुः (राज. ३ प.)

गडु-(डू.)–पु., पृष्ठग्रन्थिः (रा. व. २०) गलगण्डः । पृष्ठगुडः । स च घाटामस्तकयोर्मध्ये मांसवृद्धिः । (अम.) शल्याख्यम् (शर.) किञ्चुलकः । (त्रिका.) मन्यास्तम्भरोगः । (वै. नि.) (त्रि.) कुब्जः । (मे)

गडूर-(ल)–त्रि., कुब्जः । (श. र.)

गड्या (द्या) ण (ल) क–न., ४८ अथवा ६४ रक्तिकामाने । लीलावती (वैद्यकम्) शाणषट्कम् शताधिकदिनवतिरक्तिकासु वा । ' त्रिभिः शाणैर्भवेत्तोलाषड्भिर्गद्याणकं विदुः ' । (तोडनानन्दः)

गणकर्णिका–स्त्री., इन्द्रावारुणी (रा. व. ३)

गणपीठक–न., वक्षस् (श. च.)

गणरूपी (इन्)–पु., श्वेतार्कः । (रमा) अर्कवृक्षः (वै. नि.) रक्तार्कः । (रा. व. १०)

गणवतीसुत–पु., दिवोदासः । ' धन्वन्तरिर्दिवोदासः काशिराजः सुधोद्भवः । पालिकाख्या गणवती करेणरुचिरासुतः । ' पालकाप्ये । (त्रिका.)

गणेरुक-(का)–पु., स्त्री., गणिकारिपुष्पवृक्षः (वै. नि.)

गणेश (कुसुम)–पु., रक्तकरवीरवृक्षः । (रा. व. १०)

गणेशप्रिय–पु., रक्तकरवीरः । ' गणेशप्रियमूलानि ' । (अर्कप्रकाशः)

गण्डकारी–स्त्री., वराहक्रान्ता । श्वेतलज्जालुका (र. मा.) खदिरीवृक्षः । (अम.) काकजङ्घा । शल्लकीवृक्षः । (श. च. ।)

गण्डकी–स्त्री., इक्षुदण्डः । (नकुल. १२ अ.)

गण्डकुसुम–न., गजमदः (हारा.)

गण्डगात्र–न., आतापिफलम् (हिं-शरीफा । म–शीताफल) गुणाः—गण्डगात्रं हिमं वृष्यं वातपित्तनिषूदनं । श्लेष्मलं तर्षशमनं वान्त्युत्क्लेशनिपीडनम् (अत्रि. । श.च.)

गण्डगोपालिका–स्त्री., आम्रवाटिकास्थकीटविशेषः (हिं-गण्डगुयारि)

गण्डफलक–पु., प्रशस्तगण्डस्थलम् (वै. नि.)

गण्डरोग–पु., अश्वस्य मुखरोगविशेषः गण्डाभ्यन्तरगो गण्डः गण्डरोग इति स्मृतः (ज. द. २९ अ.)

गण्डशैल–पु., ललाटम् (हे. च.)

गण्डस्थल–न., कपोलदेशः (वै. नि.)

गण्डाङ्ग–पु., खड्गी (श. च.)

गण्डारि–पु., कोविदारवृक्षः (भा.) मत्स्यविशेषः (वै.नि.)

गण्डि–पु., त्रपुषम् । कण्ठमणिः । तरुशाखा (वै. नि.) तरुकाण्डम् (हे. च.)

गण्डीराद्यतैल–न., मण्डलकिटिभादिकुष्ठरोगेषु हितम् (च. द.)

गण्डीरिका (री)–स्त्री., स्नुहीवृक्षः (रा. व. ८ । च. द. गण्डीराद्यतैल) मञ्जिष्ठा (प. मु.) शाकविशेषः (भा. म. प्रमेहचि.) इक्षुः । रक्तकाञ्चनवृक्षः (वै. नि. संग्रहणीचि.) चाङ्गेरीघृतम्

गण्डु–स्त्री., ग्रन्थिः (वै. नि.) उपधानम् (जटा.)

गण्डूपदभव–न., शीषकम् (हे. च.)

गण्डूपदाद्यतैल–न., व्रणरोगे हितम् (च. द.)

गण्डूपदी–स्त्री., जलपिप्पली (वै. नि.) क्षुद्रकिञ्चुलुका (अम.)

गण्डूली–स्त्री., गण्डदूर्वा (वै. नि.)
गण्डोल–पु., न., गुडः (त्रिका.) शर्करा ग्रासः (वै. नि.)
गतार्तवा–स्त्री., निवृत्तरजस्कावृद्धा स्त्री (रा. व. १८)
गदघ्न–पु., नन्दीवृक्षः (वै. नि.)
गदनिश्चय–पु., माधवीयरोगनिश्चयकग्रन्थः
गदमुरारि–पु., प्रौढामज्वरे रसः (र. सा. सं)
गदविनोदनिघण्टु–पु., वैद्यकनिघण्टुभेदः
गदहर–(री) इन्–पु., वैद्यः (वै. नि.)
गदाख्य–न., कुष्ठम् (र. मा.)
गदागदौ–पु., द्वि., अश्विनीकुमारौ (त्रिका.)
गदाग्रणी–पु., क्षयरोगः (रा. व. २०)
गदारति–पु., औषधम् (रा. व. २०)
गदार्तिका–स्त्री., गोजिह्वा
गदाह्व (य) न., कुष्ठम् (श. र.)
गदी (इन्)–पु., रोगी (वै. नि.)
गन्ता–त्रि., संवरणशीलः (सु. शा. ३ अ.)
गन्धककज्जलि–पु., सन्निपातज्वरे देयः (रस. र.)
गन्धककली–स्त्री., प्रियङ्गुः (च. द. विषचि.) चम्पककलिका
गन्धकाष्ठ–न., अगरुकाष्ठम् (त्रिका.) शबरचन्दनम्। ईषत्पीतचन्दनम् (रा. व. १२) कृष्णागुरुः (वै. नि.)
गन्धकी–स्त्री., सल्लकी (च. द. वातव्याधि एकादशशती प्र. तैले)
गन्धकेलिका–स्त्री.. कस्तुरी (रा. व. १२) गन्धमालती (वै. नि.)
गन्धकोलिका–स्त्री., गन्धमालतीतुल्ये गन्धद्रव्यविशेषम्, गुणाः– स्निग्धोष्णा कफहृत्तिक्ता सुगन्धा गन्धकोलिका। गन्धकोलिकया तुल्या विज्ञेया गन्धमालती (भा. क. व.)
गन्धखेड–क–न., गन्धवीरणः एतच्च सुगन्धि ईषत्तिक्तं रसायनं स्निग्धं मधुरं शीतलं कफपित्तश्रमहरञ्च (रा. व. ८)
गन्धगृहा–स्त्री., मुरामांसी (वै. नि.)
गन्धग्राही–स्त्री., नासिका (वै. नि.)
गन्धजात–न., तेजपत्रम् (श. र.)
गन्धज्ञा–स्त्री., नासा (हे. च.)
गन्धतुलसी–स्त्री., सुगन्धतुलसीक्षुपः (प. मु.)
गन्धत्वक्–स्त्री., एलावालुकः (रा. व. ४.)
गन्धद्रावक–न., अर्कौ कृतौषधविशेषः साधनविधिः यथा–काशीशं गन्धकं वापि सन्दहेद्यन्त्रयोगतः। सोरकञ्चापि सन्दह्य द्वयोर्धूमं विमिश्रयेत्। शीषपात्रेऽम्बुबाष्पेण द्रावकं तेन जायते। निर्जलं तन्न सेवेत परं दाहकरं हि तत्। चतुर्दशगुणैस्तोयैर्युतं बिन्दुमितं पिबेत् (अनि.)
गन्धधूलि–(ली)–स्त्री., कस्तूरी (हे. च.)
गन्धनकुल–पु., छुच्छुन्दरिः (हारा.)
गन्धनालिका (ली)–स्त्री., नासिका
गन्धनिलया–स्त्री., नवमल्लिका (म–बटमोगरा.)(श. च.)
गन्धपर्ण–न., काकपुष्पम्
गन्धपलाशजा (शिनी)–स्त्री., वंशलोचनभेदः (वै.नि.)
गन्धपलाशिका (शी)–स्त्री., गन्धशठी तन्नामकसुगन्धद्रव्यम्। गन्धपलाशी काश्मीरे प्रसिद्धा। (म–कापूरकाचरी, आंबेहळद)(रा. व. ६)
गन्धपल्लवा–स्त्री., गन्धपलाशी (वै. नि.)
गन्धपिण्डिका–स्त्री., गन्धकजारणमारणार्थं सगन्धकपिष्टी (र. चि. ५ अ.)
गन्धपिण्डीर–पु., कृष्णमदनवृक्षः (वै. नि.)(म–काळेगेळ)
गन्धपिशाचिका–स्त्री., धूपः (हे. च.) छुच्छुन्दरिः
गन्धपूतना–स्त्री., पूतनाभेदः
गन्धफणिज्जक–पु., रक्ततुलसीवृक्षः (र. मा.)
गन्धवधू–स्त्री., शठी (म–कापूरकाचरी, कचोरा) चिरानामगन्धद्रव्यम् चीडानाम देवदारुभेदः (रा.व. २२)
गन्धबन्धु–पु., आम्रवृक्षः (रा. व. २३)
गन्धभद्रा–स्त्री., प्रसारणी (म–गन्धलीलता)(श. च.)
गन्धभाण्ड–पु., गर्दभाण्डवृक्षः (श. र.) आम्रातकः (च. सू. ४ अ.)
गन्धभेदक–पु., कटकः। काचकः। लौहम् तिलकम्। (रा. व. २३)
गन्धमातृका–स्त्री., गन्धमात्रेति प्रसिद्धं वणिग्द्रव्यम् (भैष. स्त्रीरोग. उत्पलादि)
गन्धमार्जार–पु., लोमशमार्जारः। मार्जारी नामौषधी।
गन्धमार्जारवीर्य–न., गन्धमार्जाराण्डोद्भवा कस्तूरिः। गुणाः–वीर्यकृत्कफवातहृत् कण्डूकुष्ठहरं नेत्र्यं सुगन्धं स्वेदगन्धनुत् (भा.)
गन्धमालती–स्त्री., गन्धकोकिलानामगन्धद्रव्यविशेषम् (भा.)
गन्धमुण्ड–पु., पारीषाश्वत्थ. । (भा.)

गन्धमूषिक–(षिका) षी–पु., स्त्री., छुच्छुन्दरः । (त्रिका. । हे. च.)
गन्धमृग–पु., खट्टाशः । (म–जवादी मांजर)(श. मा.)
गन्धमृत्पुष्प–पु., कदम्बवृक्षः (वै. नि.)
गन्धमैथुन–पु., वृषभः । (त्रिका.)
गन्धराजतैल–न.. वातव्याधौ तैलम् (रस. र.)
गन्धराजी–स्त्री., नखी (श. च.)
गन्धर्वगन्ध–(न्धा)–पु., स्त्री., अश्वगन्धा । (भा. म. ४ भ. स्नायुरोगे । उ. ख. वाजी)
गन्धर्वभूषण–न., सिन्दूरम् (वै. नि.)
गन्धर्वलता–स्त्री., प्रियङ्गुः । (भा. म. १ भ.) (रक्तष्ठीबीचि.)
गन्धर्वशाका–स्त्री., भार्गी (र. मा.)
गन्धर्वहस्तकतैल–न., ब्रह्मवृध्द्याधिकारे तैलम् । (रस. र.)
गन्धर्वा–स्त्री., कोकिला ।
गन्धलोलुपा–स्त्री., मक्षिका । (श. र.)
गन्धवर्णा–स्त्री., महाबला (वै. नि.)
गन्धव (वा) हा–स्त्री., नासिका (रा. व. १८ । हे. च.)
गन्धवासिनी–स्त्री., मुरामांसी (वै. नि.)
गन्धवाही–(इन्)–पु., वायुः (रा. व. २१)
गन्धविह्वल–पु., गोधूमः । (वै. नि.)
गन्धवीज–पु., कुलिञ्जनवृक्षः । (वै. नि.)
(जा)–स्त्री., मेथिका (रा. व. ६)
गन्धवीरा–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (वै. नि.)
गन्धवेधिका–स्त्री., कस्तूरी (वै. नि.)
गन्धव्याकूल–न., कक्कोलः (श. च.)
गन्धशटी–स्त्री., स्वनामख्यातौषधम् । गन्धपलाशी (श. र.)
गन्धशाक–न., गौरसुवर्णशाकम् (रा. व. ७)
गन्धशुण्डिनी–स्त्री., छुच्छुन्दरी । (रा. व. १९)
गन्धशेखर–पु., कस्तूरी (हारा.)
गन्धसम्भवा–स्त्री., सगन्धशालिः (रा. व. १६)
गन्धसारण–पु., बृहन्नखी (र. मा.)
गन्धसूत्री–स्त्री., आम्रातकः (म–आंबाडी)
गन्धसूयी–स्त्री., क्षुद्रछुच्छुन्दरी (वै. नि.)
गन्धसेवि–न., रोहिषतृणम् (वै. नि.)
गन्धसोम–न., कुमुदम् । श्वेतकमलम् (त्रिका.)
गन्धाखु–पु., छुच्छुन्दरी (हारा.)
गन्धागुरु–न., मङ्गल्यागुरुः (वै. नि.)
गन्धाजीव–पु., गन्धवणिक् (जटा)
गन्धादि–न., तृणकेशरम् (वै. नि.)
गन्धान्न–पु., गन्धशालिः (प. मु.)
गन्धामृतरस–पु., वाजीकरणाधिकारे हितः (रस. र.)
गन्धारि–(री)–स्त्री., दुरालभा रक्तदुरालभा । गन्धपलाशी आमहरिद्रा (वै. नि.)
गन्धाला–स्त्री., अग्निमन्थक्षुपः (वै. नि.)
गन्धाश्व–पु., अश्वगन्धा (भेष. कुष्ठचि.)
गन्धाष्टक–न., सुगन्धाष्टद्रव्यगणः तच्च नानाविधम् । तत्र मांसादियूषसुगन्धीकरणार्थं यथा–जातीपत्रलवङ्गत्वगेलानागकेसरमरिचमृगनाभयः (रावणः) देवतादितुष्ट्यर्थं यथा–चन्दनकर्पूरनागकेशरवालकनागरमुस्तादेवदारुगोरोचनाकुसुमानि । तथा चन्दनागुरुकर्पूररोचनाकुङ्कममृगमदचन्दनह्रीबेराणि गणपतिप्रीत्यर्थम् । चन्दनागुरुकर्पूरतमालह्रीबेरकुङ्कमकुशीदकुष्ठानि शिवस्य । चन्दनागुरुकर्पूरचोरकुङ्कमरोचनाः । जटामांसीकपियुता शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः । चन्दनागुरुह्रीबेरकुष्ठकुङ्कमसेव्यकाः । जटामांसी मुरा चेति विष्णोर्गन्धाष्टकं विदुः ।
गन्धाह्वा–स्त्री., प्रियङ्गुः (सु. चि. ९ अ.)
गन्धि–न., तृणकुङ्कुमम् (रा. व. १२)
गन्धिक–पु., गन्धकम् (भा.)
गन्धिरस–पु., गोपकः ।
गन्धिला–स्त्री., मुस्ता । (रा. व. ६.)
गन्धी (इन्) पु., कस्तूरीमृगः (वै. नि.)
गन्धोग्रा–स्त्री., वचा (च. द. वातव्याधिचि.)
गन्धोतु–पु., सुगन्धमार्जारः (त्रिका.)
गन्धोत्तमा–स्त्री., मदिरा (अम.)
गन्धोलि–ली–स्त्री., शठी (श. र.) वराटी (अम.) मक्षिकाविशेषा । कर्कटीभेदः (वै. नि.)
गन्धौषध–न., सुगन्धिद्रव्यरूपौषधम् अगुरुकुष्ठादौ (सि. यो. वातव्याधिचि. । च. सू. ३)
गभोलिक–पु., मसूरः (हारा.)
गमूच्छा–स्त्री., मरुया इतिख्याततृणम् (र. मा.)
गम्भीरक–पु., फणिज्जकवृक्षः
गम्भीरज्वर–पु., अन्तर्वेगान्तर्दाहयुक्तज्वरः (मा.)
गम्भीरदृष्टि–पु., नेत्ररोगविशेषः (वै. नि.)
गम्भीरपाक–पु., अन्तःपाकः (वै. नि.)
गरन्नी–स्त्री., मत्स्यविशेषः, गुणाः–मधुरा कषाया वातपित्तकफघ्नी रुचिबलवीर्यकरी दीपनी लघुश्च (भा.)

गरजध्वज–न., अभ्रकम्–(वाचस्पति.)
गरण–न., निगरणम् । वमनम्
गरद–न., विषम् । गरलः (रा. व. ६.) (त्रि.,) विषदायी ।
गरदिग्ध–त्रि., कृत्रिमविषलिप्तम् (च. सि. २ अ.)
गरनाशिनी–स्त्री., देवदालिका (म. देवडांगरी) (वै. नि.)
गरभ–पु., गर्भः (हे. च.)
गरला–स्त्री., मधुमक्षिका (वै. नि.)
गरव्रत–पु., मयूरः (श. र.)
गरहा–स्त्री., कालशाकम् (त्रिका.)
गरा (री)–स्त्री., देवताडवृक्षः (अ. टी. स्वा) निगरणम् (धरणी)
गरात्मक–पु., न., शोभाञ्जनवृक्षः तद्बीजं च (श. च.)
गराधिका–स्त्री., लाक्षा (र. मा.)
गरारिवटिका–स्त्री., कासे हिता । (प्रयोगा. कास. चि.)
गरुडवलि–पु., बालरोगशान्त्यर्थं बलिविशेषः । ॐ नमो भगवते गरुडाय त्र्यम्बकाय- -स्वाहा (च.द. बालचि.)
गरुडशालि–पु., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषम् (रा. व. १६) गुणाः—गरुडान्त्रा च वातघ्नी पित्तमूत्रमदापहा ।
गरुडाङ्कित–न., मरकतमणिः (जटा.)
गरुडी–स्त्री., गुडूची (रस. र. विषचि.)
गरुडोत्ती (द्री) र्णं–न., मरकतमणिः (रा. व. १३)
गरुत्–पु., पक्ष्म (अम.)
गरुद्योधी (इन्)–पु., भारतीपक्षी (त्रिका.) लावः (वै. नि.)
गर्गरी–स्त्री., मन्थनी । दधिमन्थनपात्रम् (अम.) कलसः
गर्गाट–पु., गर्गरमत्स्यः (हारा.)
गर्जक–पु., मत्स्यविशेषः ।
गर्जरी–स्त्री., रक्तलशुनः (वै. नि.)
गर्त–पु., श्वश्रम् (जटा)कुकुन्दरः । (मे.) रोगविशेषः । (श. र.)
गर्तकलम्बुका–स्त्री., गण्डदूर्वा मत्स्याक्षी (वै. नि.)
गर्ताटक–पु., वनमूषिकः । (वै. नि.)
गर्तिका–स्त्री., तन्तुशाला (हे. च.)
गर्दभगद–पु.,ज्वालागर्दभरोगः । (रा. व. २०)
गर्दभगन्धिका–स्त्री., भार्गी (वै. नि.)
गर्दभमांस–न., गर्दभस्य पिशितम् (रा. व. १७)
गर्दभाह्वय–पु., कुमुदम् । षण्डः । (हे. च.)
गर्द्द–पु., गर्दभाण्डवृक्षः । (श. च.)
गर्भक–न., रजनीद्वयम् (हे. च.)
गर्भकण्टक–पु., पनसवृक्षः । (वै. नि.).
गर्भकर–पु., पुत्रजीववृक्षः । (भा.)
गर्भघातिनी–स्त्री., लाङ्गलीनाम क्षुपः (रा. व. ४)
गर्भचिन्तामणि–पु., गर्भाधिकारे रसः । स चतुर्विधः (१) सूतिकाविनोदरसे तुत्थस्थाने स्वर्णदानेन चिन्तामणिर्भवति । र. सा. सं. (२) यः–जातीफलं टङ्कणं त्रिकटु हिङ्गुल प्र. समभागः । जम्बीररसेन वटी कार्या । (३) यः–रसः रौप्यं लौहं प्र. २ तो. अभ्रं ६ तो. (मतान्तरे ४ तो.) कर्पूरं वङ्गं ताम्रं जातीफलं जयित्री गोक्षुरबीजं शतावरी बला गोरक्षतण्डुला प्र. १ तो. जलेन वटी कार्या। (४) चतुर्थः रसः गन्धकः स्वर्णं लौहं रौप्यमाक्षिकं हरतालं वङ्गं अभ्रं प्र. समभागः ब्राह्मीवासाभृङ्गराजक्षेत्रपर्पटी दशमूलानां प्रत्येकं रसेन ७ भावना देयाः (बृहत्-चिन्तामणिः)
गर्भचर्या–स्त्री., गर्भोपचारकर्म
गर्भनाश–पु., गर्भपातः
गर्भनाशना–स्त्री., अरिष्टकवृक्षः (वै. नि.)
गर्भनुत्–पु., लाङ्गलिका (म. कळलावी) (भा.)
गर्भपरिस्रव–गर्भवेष्टनम्
गर्भपाकी–इन्–पु., षष्टिकव्रीहिः (हे. च.)
गर्भपात–पु., गर्भपातः
गर्भपातक–पु., रक्तशोभाञ्जनवृक्षः (जटा.)
गर्भपीयूषवल्लीरस–पु., स्त्रीरोगाधिकारे रसः (भैष.) बृहत्गर्भचिन्तामणिः
गर्भपोषण–न., गर्भपुष्टिकरणम्
गर्भभाण्डक–पु., प्लक्षवृक्षः (म. द. व. ५)
गर्भविनोदरस–पु., सूतिकाधिकारे रसः (र. सा. सं)
गर्भविलासतैल–न., गर्भाधिकारे गर्भस्थापनतैलम् (भैष.)
गर्भविलासरस–पु., गर्भिणीज्वरे रसः (र. चि. ९. अ.)
गर्भविस्राविणी–स्त्री., एला (वै. नि,)
गर्भस्थान–न., गर्भाशयः । अन्तःपुरम् (वै. नि.)
गर्भागार–न. पु., शयनगृहम् अन्तर्गृहम् । गर्भाशय): (रा. व. १८)
गर्भाम्भ–पु., गर्भस्थजलं (वाउ. १ अ.)
गर्भारि–पु., सूक्ष्मैला (रा. व. ६)

गर्भाष्टम-पु., गर्भजननमासादष्टममासः (त्रिका.)
गर्भिण्यवेक्षण-न., कुमारभृत्या गर्भिणीपरिचर्या
गर्भी (इन्)-पु., पुत्रञ्जीववृक्षः
गर्मुत्-पु., तृणधान्यविशेषम् (अम.) सुवर्णम्। नलम्(मे)
गलक-पु., गडकमत्स्यः (श. र.)
गलकम्बल-सास्ना (अम.)
गलग्राह-पु., मकरः (वै. नि.)
गलत्कुष्ठारिरस-पु., कुष्ठे रसः । (र. सा. सं.)
गलन्तिका-स्त्री., कर्करी (अम.)
गलमेखला-स्त्री., गलसूत्रम् (हा. रा.)
गलव्रत-पु., मयूरः (त्रिका.)
गलशोथ-पु., गलस्फोतः (भैष. ज्वरचि.)
गलस्तन-पु., गलगण्डरोगः (रा. व. २०) छागगलस्थस्तनम् (वै. नि.)
गल (ले)स्तनी-स्त्री., छागी (वै. नि.)
गला-स्त्री., अलम्बुषा (भा.)
गलाङ्कुर-पु., रोहिणीत्यपर्यायः गलरोगविशेषः
गलानि (वि) ल-पु., गङ्गाटेयमत्स्यः (त्रिका.)
गलायुक-पु., गलरोगभेदः (वा. उ. २१ अ.)
गलितकुष्ठ-न., गलत्कुष्ठम्
गलितदन्त-त्रि., दन्तहीनः ।
गलेगण्ड-पु., मर्कटपक्षी (त्रिका.) गलगण्डरोगः (रा. व. २०)
गलोद्भव-पु., रोचमानाश्वः (त्रिका.)
गलुचातुरी-स्त्री., उपधानविशेषः (जटा.)
गल्लिर-पु., उन्मन्थनामकर्णपालीगतरोगः ।
गल्वर्क-पु.,वैदूर्यमणिः । इन्द्रनीलमणिः । (त्रिका.) सुरापानपात्रम्
गवराज-पु., महावृषः (श. च.)
गवाची (टी)-स्त्री., पङ्कालमत्स्यः । गुणाः—अजीर्णकारित्वं गुरुत्वं श्लेष्मकोपनत्वञ्च (राज. ३ प.)
गवादन-न., घासः (श. च.)
गवालूक-पु., गवा ।
गवाषिका-स्त्री., लाक्षा (र. मा.)
गवाक्ष-पु., गोक्षुरकः (नै. नि.) वातायनम् (अम.)
गवाक्षिका-स्त्री., गवाक्षी (र. मा.)
गविन-पु., कोकडनामकबिलेशयमृगः। जविन इत्यपि पाठः (रा. व. १९)
गवेडु-स्त्री., धान्यविशेषः
गवेरि (रु) क-न., गैरिकम् (त्रिका.)
गवेश (शि) क-स्त्री., गोरक्षीवृक्षः (श. च.)
गव्यघृत-न., गव्यनवनीतजातघृतम्,गुणाः—बुद्धिकान्तिस्मृतिदं बलमेधावर्धकं पुष्टिकरं वातश्लेष्मघ्नं पाकमधुरं वृष्यं देहस्थैर्यकरञ्च । (रा. व. १५)
गव्यतक्र-न., गोदुग्धभवघोलम्। गुणाः- 'गव्यं त्रिदोषशमनं पथ्ये श्रेष्ठं तदुच्यते । दीपनं रुचिकृन्मेध्यं अर्शोदरविकारजित् ' (अत्रि. ८ अ.)
गव्यदधि-न., गोदुग्धजातदधिगुणाः अतिपवित्रं शीतलं स्निग्धं दीपनं मधुरं बल्यं अरोचकघ्नं ग्राहि वातरोगघ्नं च (रा. व. १५) अम्लं स्वादुरसं ग्राहि गुरूष्णं वातरोगजित् । स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं रुचिवर्धनं । वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुजाकरम् (अत्रि. ८ अ.)
गव्यनवनीत-न., गोदुग्धजनवनीतम् सर्वदोषघ्नं बलकृत् पुष्टिवर्धनञ्च (रा. व. १५)
गव्यमांस-न., गोमांसम् (सु. सू. ४६)
गव्या-स्त्री., गोरोचना (रा. व. १२)
गव्यूति-पु., स्त्री., क्रोशद्वयम् (हे. च.)
गहन-न., वनम् । दुःखम्, पीडा (वै. नि.)
गाक्षीरी-स्त्री., क्षीरशुक्ला
गाङ्गट (क) पु., मत्स्यविशेषः (श. र.)
गाङ्गटेय-पु., गाङ्गटमत्स्यः (श. र.)
गाङ्गेरिका-स्त्री., नागबला (वै. नि.)
गाङ्गेष्टी-स्त्री., कटशर्करालता (हारा.)
गाजर-न., गृञ्जनम् (भा. पू. १ भ. शाक (वर्गः)
गाञ्जि (ञ्जी) काय-पु., वर्तिकपक्षी
गाढ-न., बहुकालजातम् । बद्धमूलम् सान्द्रम् (सु. नि. ६ अ.)
गात्रघर्षण-न., शरीरमार्जनम्
गात्रभङ्गा-स्त्री., शूकशिम्बी (श. च.) गन्धशठी (वै. नि.)
गात्रमार्जनी-स्त्री., अङ्गमार्जनार्थवस्त्रम् ।
गात्रशोष-पु., पूतना नाम बालरोगविशेषः ।
गात्रसङ्कोची-(इन्)-पु., जाहकजन्तुः । कृष्णकृकालसः (रा. व. १९) गोनससर्पः । (वै. नि.)
गात्रसम्प्लव-पु., प्लवजातीयपक्षी हंसादिः । (वै. नि.)
गात्रानुलेपनी-स्त्री., गात्रानुलेपनयोग्ये घृष्टपिष्टसुगन्धि द्रव्यम् (अम)
गाधा-पु., स्थानम् । लाभेच्छा (हे. च.)
गानिनी वचा । (वै. नि.)
गान्धार-न., गन्धरसः (त्रिका) पु. सिन्दूरः (मे.)

गान्धिक–पु,, कीटविशेषः । (श. र.) लेखकः । (नाना.)
गाम्भारिका (री) स्त्री., गम्भारीवृक्षः । (म–सीवनी तें-गम्भारी) (प. मु.)
गायत्र्य–पु., सोमलताभेदः (सु. चि. २९ अ.)
गारित्र–न., धान्यविशेषम् (वै. नि.) ओदनम् (उणा.)
गारुडिक–पु., विषवैद्यः (श. र.)
गार्जर–न., गर्जरमूलम् (रा. व. ७)
गार्द्ध–त्रि., आर्द्रनम् । न., (र्द्ध) आर्द्रनता
गार्भ–(र्भिक)– त्रि., गर्भसम्बन्धिः ।
गालफल–न., मदनफलम् (वै. नि.)
गाहित–त्रि., कम्पितम् । स्नातम् (वै. नि.)
गिरजातेज–न., अभ्रधातुः (वै. नि.)
गिरण–न., भक्षणम् (वै. नि.)
गिरिक–पु., गिरिनिम्बः (वै. नि.)
गिरिका–स्त्री., बालमूषिका (अम.)
गिरिकाण–त्रि., गिरिरोगेणैकचक्षुहीनः (उणा.)
गिरिकौटजफल–न., इन्द्रयवम् (वै. नि. २भ. अतिसार चि. मुस्तादिचूर्णम्)
गिरिगोचर–पु., श्वेतमर्कटः (वै. नि.)
गिरिजतु (न्म)–न., शिलाजतुः (रा. व. १३)(वै,नि.-क्षयचि. सूर्यप्रभागुडी.)
गिरिजामल–न., अभ्रधातुः (अ. टी. रा.)
गिरिजावीज–न., गन्धकम् (भैष.)(ग्रहणीकवाटरसे.)
गिरिजाद्भय -न., शिलाजतुः (वै. नि.)
गिरिज्वर–पु., वज्रम् (श. र.)
गिरिपत्र–न., गिरिनिम्बः (हिं.–बकाणनिम्ब)(वै. नि,)
गिरिपादिका–स्त्री., कपिकच्छुः (वै. नि.)
गिरिप्रिया–स्त्री., चमरीगौः (रा. व. १९)
गिरिभित्–न., पाषाणभेदक्षुपः (भा.)
गिरिमनोहर–पु., आरग्वधवृक्षः । (वै. नि.)
गिरिमान–पु., गजः (श. र.)
गिरिमाल–पु., आरग्वधवृक्षः (वै. नि.)
गिरिमालपञ्चक–न., आरग्वधाद्यपरनामयोगविशेषः (सि. यो. वातकफज्वरचि.)
गिरिमेद–पु., विट्खदिरः (र.मा.) इरिमेद इत्यपि पाठः
गिरिशान्तक–पु., लौहमारकत्रिफलादिगणः (र. सा. सं.)
गिरिशायी (इन्)–पु., पार्वतपक्षीविशेषः
गिरिशालाद्व–पु., प्रतुदः (सु. सू. ४६)
गिरि (श) **शालिनी**–स्त्री., अपराजिता (पुराणम्)
गिरिशेखर–पु., महाबकुलः (वै. नि.)
गिरिसानुगा–स्त्री., त्रायमाणा (वै. नि.)
गिरिसिन्दु (न्धु) **क**–पु., कृष्णनिर्गुण्डी (वै. नि.)
गिरिस्वेद–पु , शिलाजतुः (वै. नि.)
गिल–पु., जम्भीरवृक्षः (श. च.)
गिलग्राह–पु., नक्रः (वै. नि.)
गिलन–न., गलाधःकरणम् । भक्षणम्
गुग्गुलुवटक–(आदित्यपाक)–पु., वातव्याधौ हितः । (च. द. प. प्र.)
गुच्छक–पु., गुच्छकन्दः । तैलशारु इति लोके (गज. वै.) रीठाकरञ्जवृक्षः (रा. व. ९)(न.,) ग्रन्थिपर्णी (भा.)
गुच्छकच्छद–पु., ग्रन्थिपर्णी (वै. नि.)
गुच्छकन्द–पु., कन्दशाकम् तैलसारु इति लोके (म–कुलीहाल.) (क–मुकुलियागड्डे) गुणाः—मधुरः शीतलः वृष्यः दाहघ्नः तर्पणः (रा. व. ७)
गुच्छगुल्मिका–स्त्री., स्नुहीवृक्षविशेषः
गुच्छसंघा–स्त्री., क्षुद्रधातकी (वै. नि.)
गुच्छाल–पु., भूतृणम् (रा. व. ८) भूकदम्बम्(प.मु.)
गुञ्ज–पु., गुच्छः (श. र.)
गुञ्जकृत्–पु., भ्रमरः (श. र.)
गुञ्जरत्नमाला–स्त्री., वैद्यकग्रन्थभेदः
गुञ्जागर्भरस–पु., हृद्रोगे रसः (र. चि.)
गुञ्जातैल–न., कुष्ठे, गण्डमालायां तैलम् (भा. सा. कौ.)
गुञ्जाभद्ररस–पु., ऊरुस्तम्भे हृद्रोगे रसः (र. चि.)
गुञ्जिका–स्त्री., गुञ्जात्रियवपरिमाणम् (श. च.)
गुटिक–पु., मत्स्यण्डी (ज. द. १२ अ.)
गुण्ठ–पु., तृणविशेषः (रा. व. ८) सुगन्धरोहिषतृणम् (वै. नि.) दाक्षिणात्याश्वः (ज. द. ६ अ.)
गुडक–पु., गुडपक्वौषधमात्रम् (प. प्र.)
गुडकाष्ठ–पु., इक्षुः (वै. नि.)
गुडकुष्माण्डक–न., वाजीकरणाधिकारे प्रशस्तम् (रस. र.)
गुडखण्ड–पु., गुडकृतखण्डः
गुडगडा–स्त्री., यावनालशर्करा (रा. व. १४)
गुडची–स्त्री., गुडूची (अ. टी. भ.)
गुडचुक्र–न., गुडकृतचुक्रविशेषः (भा.)
गुडत्वक्–स्त्री–स्वनामख्यातगन्धद्रव्यम् गुणाः– तच्च-लघूष्ण स्वादु तिक्तं रूक्षं पित्तवर्धकं अरुचिकण्डूहृद्व्-स्तिवातार्शःकृमिपीनसघ्नञ्च (भा.) कफशुक्रामवातघ्नं मधुरं कटु चेति । (राज.)
गुडत्वच्–न., गुडत्वक् । जातीकोषः । (श. च.)

गुडदारु-न., इक्षुः । (त्रिका.)

गुडपाक-पु., औषधस्य गुडपाकः । तल्लक्षणम्-' यदा दर्वीप्रलेपः स्यात् यदा वा तन्तुली भवेत् । तोयपूर्णे च पात्रे तु क्षिप्तौ न प्लवते गुडः । क्षिप्तस्तु निश्चलस्तिष्ठेत्पतितस्तु न शीर्यते । एष पाको गुडादीनां सर्वेषां परिकीर्तितः । सुखमर्दः सुखस्पर्शो गन्धवर्णरसान्वितः । पीडितो भजते मुद्रां गुडपाकः सुपाकतः । गुडवत् गुग्गुलोः पाकः रसगन्धविशेषतः । श्रेष्ठमध्यमहीनेषु द्वादशाष्टचतुष्टयैः । माषकैः गुग्गुलोर्मात्रां व्याधिं वीक्ष्य प्रयोजयेत् । रसक्रियाद्या ये लेहा गुडाश्चैव प्रकीर्तिताः । तेषां बिन्दुर्जले न्यस्तो न शीर्येत् पाकलक्षणम् । (प. प्र. ३ खण्डः)

गुडपात्रक-पु., इक्षुः (वै. नि.)

गुडपिप्पली-स्त्री., जीर्णज्वरे शस्तम् । पिप्पलीचूर्णं १ भा. गुडस्यच भागद्वयं मर्दयित्वा गुडपिप्पलीकल्पः कार्यः । अन्यः कल्पः (भैष.)

गुडपुष्पसार-पु., मधूक पुष्प सारः (च. द.)

गुडफला-स्त्री., ह्रस्वकाकमाची । (वै. नि.)

गुडमण्डूर-न., अन्नद्रवशूले हितम् । पुराणगुडः १ प. आमलकीचूर्णं १ प. हरीतकीचूर्णं १ प. शुद्धमण्डूरं ३ प. घृतमधुभ्यां संमर्द्य २ तो. भोजनाद्यमध्यावसानेषु सेव्यम् । (रस. र.)

गुडमूल-पु., स्वल्पमारिषशाकम् (श. च.) इक्षुः (भा.)

गुडयोगफला-स्त्री., मधुरालाबुः (वै. नि.)

गुडल-न., गौडी मदिरा (श. च.)

गुडवीज-पु., मसूरः (रा. व. १९)

गुडशिग्रु-पु., रक्तशोभाञ्जनः (श. च.)

गुडशुक्त-न., सतैलगुडाम्बुना कन्दशाखादि एकत्र संहितमम्लरसं गुडशुक्तमुच्यते (प. प्र. ३ ख.) गुडाम्बुना सतैलेन सन्धानकाञ्जिकन्तु यत् । कन्दशाकफलैर्युक्तङ्गुडशुक्तं तदुच्यते (शार्ङ्ग.)

गुडाका-स्त्री., निद्रा ।

गुडाख्या-स्त्री., स्नुहीवृक्षः (रा. व. ८)

गुडादिवटिका-स्त्री., शोथे रसः (भा.)

गुडाम्बु-न., गुडकृतजलम् (वा. चि. ६) ' गुडयोगाद्गुडाम्बु स्यात् गुडवर्णरसान्वितम् (प. प्र. ३ ख.)

गुडाष्टक-न., उदावर्ते अजीर्णे च हितम् ।

गुडासव-पु., गुडकृतासवम् (च. सू. २७)

गुडी-स्त्री., स्नुहीवृक्षः ।

गुडूचीसत्व-न., गुडूची (भैष.)

गुडूच्यादिलौह-पु., वातरक्ते रसः (र. चि.)

गुडेर(क)-पु., घासः । ग्रासः (उणा.)

गुडोदक-न., गुडाम्बु ।

गुडुक-पु., गरुडशालिः (रा. व. १६)

गुणमहौदधि-पु., कासाधिकारे हितम् (र. कौ.)

गुणवतीवर्ति-स्त्री., व्रणरोगे हिता ।

गुणवत्तरा-स्त्री., जीवन्तीशाकम् (प. मु.)

गुणा-स्त्री., दूर्वा मांसरोहिणी । मद्यसामान्यम् (रा. व. ८।१२।१४

गुण्डक-पु., चूर्णम् (भैष.)

गुण्डता-स्त्री., यावनालशर्करा (रा. व. १४)

गुण्डस-पु., सर्पजातिभेदः (अत्रि. ३ स्थान.)

गुण्डा-स्त्री., काशतृणभेदम् (रा. व. ८)

गुण्डाफली-स्त्री., देवदाली (वै. नि.)

गुण्डारोचनिका (नी)-स्त्री., स्वनामख्यातगन्धद्रव्यम् (र. मा.)

गुण्डिक-पु., तण्डुलादिचूर्णम्)

गुत्थ-पु., गवेधुका (र. मा. भा. म.) (अश्म. चि.) गुडूची (च. द. अतिसारचि.)

गुत्थक-न., ग्रन्थिपर्णी (र. मा.)

गुत्स-पु., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (मे.) गुच्छम्

गुत्सपुष्प-पु., सप्तच्छदवृक्षः (जटा.)

गुदजघ्न-पु., कटुशूरणः (वै. नि.)

गुदजारि-पु., देवताडवृक्षः (वै. नि.)

गुदवलि-स्त्री., शङ्खावर्तवत् गजतालुसवर्णाः पायुस्थवलित्रयम्

गुदामय-पु., अर्शः (र. सा. सं.)

गुदामयहर-पु., कटुशूरणम् (वै. नि.)

गुन्थफल-पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)

गुन्दगुच्छक-पु., गुच्छकरञ्जः (वै. नि.)

गुन्दा (द्रा) ल-पु., जीवञ्जीवः (हे. च.)

गुन्द्रक-पु., गुन्द्रशरः (प. मु. भा. म. अश्म. चि.)

गुन्द्रमूला-स्त्री., एरकातृणम् (भा.) मुस्तकतृणम् (वै.नि.)

गुप्तगन्धि-स्त्री., एलवालुकः ।

गुप्तपत्रक-पु., मध्वालुकः । (प. मु.)

गुप्तबीज-न., तृणम् (वै. नि.)

गुप्ताफल-न., शूकशिम्बीबीजम् (सु. चि. २६)

गुप्तृटी-स्त्री., तृणधान्यभेदः । गुणाः-श्यामकवत्, (च. सू. २७)

गुरुगन्धिक-न., अगुरुः (वै. नि.)

गुरुगुण–त्रि., यच्चिरेण पक्वं तद्गुरुगुणम् (वा. टी. हेमाद्रिः)
गुरुघ्न–पु., गौरसर्षपः । (रा. व. १६)
गुरुण्टक–पु., तिलमयूरः (त्रिका.)
गुरुपञ्चमूली–स्त्री., बृहत्पञ्चमूली–सा विल्वश्योनाक-गाम्भारीपाटलागणकारिका इति पञ्चमूलात्मिका वातकफे हिता ।
गुरुपत्र–न., वङ्गम् (हे. च.)
गुरुपत्रा–स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः । (श. र.)
गुरुपाक–त्रि., यः पक्वः विण्मूत्रे सृजति श्लेष्माणञ्च करोति स गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोरक्लेशेनानुमेयम्' (सु. सू. ४१–११.)
गुरुपुष्प–पु., क्रमुकवृक्षः (वै. नि.)
गुरुरत्न–न., पुष्परागमणिः । (रा. व. १३)
गुरुवर्चोघ्न–पु., लिम्पाकवृक्षः (श. च.)
गुरुवीज–पु., मसूरः । (रा. व. १६)
गुरुशिंशपा–स्त्री., शिंशपावृक्षः (वै. नि.)
गुरुश्रेष्ठ–न., वङ्गधातुः । (वै. नि.)
गुरुस्कन्ध–पु., क्षीरिणी वृक्षः (वै. नि.)
गुरुस्वेद–पु., अश्वस्यस्वेदविशेषः । 'यत्र क्राथेन यः स्वेदः गुरुस्वेदः स उच्यते । (ज. द. १८ अ.)
गुर्वर्चन–न., पूज्यार्चनम्, गुणाः– स्वर्ग्यं यशस्यामायुष्यं अलक्ष्मीकविनाशनम् । धनधान्यकरं नित्यं गुरुदेव-द्विजार्चनम् (राज. २. प.)
गुर्विणी–स्त्री., गर्भवती (रा. व. १८)
गुर्वी–स्त्री., गुवाकवृक्षः । गर्भिणी (मे.)
गुल–पु., गुडः (मे.)
गुलक–पु., गुण्ठतृणम् (वै. नि.)
गुलञ्चकन्द–पु., गुच्छकन्दः (म. कुलीहाल) गुणाः– मधुरत्वं शीतलत्वं वृष्यत्वं तर्पणत्वं दाहघ्नत्वं च (रा. व. ७)
गुला–स्त्री., स्नुहीवृक्षः (मे.)
गुलिकालवण–न., गुटिकालवणम् (वै. नि.)
गुलुच्छ–पु., पुष्पस्तबकम् (त्रिका.)
गुलोरिका–गुम्फः (वै. नि.)
गुल्मकालानलरस–पु., गुल्माधिकारे रसः (र. सा. सं.)
गुल्मगण–पु., गुल्मवृक्षाणां वर्गः । यथा–बलाचतुष्टयं पर्णी पञ्चकञ्चाग्निमन्थकः । पाठाद्वयासाद्वार्ताकी कोकिलाक्षो गणो द्विधा । अपामार्गद्वयं मूर्वा त्राहिमान शरपुङ्खिका । काकनासा काकजङ्घा मेष-शृङ्गी च भृङ्गकम् । वन्ध्याकर्कोटकी त्रेधा बर्बरी तुलसी द्विधा । वज्रदन्ती द्विधा जाली नाम्ना गुल्मगणस्त्वयम् (अर्कः)
गुल्मगवेधुका–स्त्री., गवेधुका (प. मु.) देवधान्यम् (र. मा.)
गुल्मघ्न–न., हिङ्गुः (रा. व. ६)
गुल्मशार्दूलरस–पु., गुल्मे रसः । रसगन्धकलौहगुग्गुल-त्रिवृतापिप्पलीशुण्ठीशठीधान्यकजीरकानि प्र. ८ तो. जैपालबीजं ४ तो. संचूर्ण्य घृतेन वटी कार्या । मात्रा २ र. (र. सा. सं.)
गुल्मिक–पु., रक्तकरवीरः ।
गुल्मिनी–स्त्री., उलुपः । विस्तृतलता (अम.)
गुल्य–त्रि., मधुरः (हे. च.)
गुवाक–पु., स्वनामख्यातवृक्षः
हिं.—सुपारि.
गुणाः–कषायत्वं शीतलत्वं दीपनत्वं गुरुपाकित्वञ्च (राज.)
गु(गू)ष्टि–स्त्री., गाम्भारीवृक्षः (वै. नि.)
गुहिन–न., वनम् (श. र.)
गुहिल–न., धनः (उणा.)
गुहेर–पु., लौहकारः (उणा.)
गू–पु., विष्ठा
गूढकामी(इन्)–पु., काकः (वै. नि.)
गूढगर्भक–पु., गर्भजरोगविशेषः (वै. नि.)
गूढनीड–पु., खञ्जरीटपक्षी (श. मा.)
गूढपथ–पु., अन्तरात्मा (हे. च.)
गूढपात्(द)–पु., सर्पः (अम. । श. र.) कच्छपः (वै. नि.)
गूढफला–स्त्री., गृध्रनखी (वै. नि.)
गूढमैथुन–पु., काकः (वै. नि.)
गूढवर्चा–पु., भेकः (त्रिका.)
गूढवल्लिका(ली)–स्त्री., अङ्कोलवृक्षः (रा. व. २३)
गूढाङ्ग–पु., कच्छपः (रा. व. १९) उपस्थम् (वै. नि.)
गूढाङ्घ्रि–पु., सर्पः (रा. व. १९)
गूथ–न., विष्ठा (अम.)
गूथलक्त–पु., पक्षिविशेषः (श. च.)
गून–त्रि., कृतपुरीषोत्सर्गः (अम.)
गूवाक–पु., गुवाकः (श. र.)
गूषणा–स्त्री., मयूरपिच्छचन्द्रका (श. च.)
गृञ्जर–पु., गर्जरम् (वै. नि.)

गृण्डीव–पु., महाशृगालः (हे. च.)
गृधू–पु., अपानः (उणा.)
गृध्रनखीद्वय–न., श्वेतलोहितपुष्पभेदौ अहिंस्राद्वयम् । कालीयकद्वयम् । 'द्वे गृध्रनख्यौ राम्रा च' (सि. यो. च. द. वा. व्या. वाजिगन्धाधिकषाये)
गृध्राकार–पु., भाषपक्षी (वै. नि.)
गृहकच्छप–पु., पेषणशिला (श. र.)
गृहकर्ता–पु., धूसरवर्णोऽतिसूक्ष्मचटकः (रा. व. १)
गृहाकरी(इन्)–पु., कीटविशेषः ।
गृहकूलक–पु., चिचिण्डी (भा. पू. १ भ.)
गृहचटक–पु., गृहपालितचटकः, गुणाः– गृहस्य चटको वृष्यः बलशुक्रविवर्धनः । सर्वदोषहरश्चापि दीपनो मांसवर्धनः (अत्रि. २३ अ.) रक्तपित्तहरो वेश्मकुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः (सु. सू. ४६)
गृहचूल्लिमृत्–स्त्री., चुल्लीमृत्तिका (चि. क. क.)
गृहणी–स्त्री., पलाण्डुः (वै. नि.) काञ्जिकम् (त्रिका.)
गृहधूमाद्यतैल–न., नासारोगे तैलम् । गृहधूमकणादारुक्षारनक्राह्वसैन्धवैः । सिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नासार्शसां हितम् (रस. र.)
गृहनाशन–पु., कपोतः (रा. व. १९)
गृहनीड-पु., चटकपक्षी (हारा.)
गृहपुत्रिका–स्त्री., घृतकुमारिः (भैष.)(कुष्ठचि. कन्दर्पसारतैल.) त्रायमाणा (सा. कौ.)
गृहबलिप्रिय–पु., चटकः । काकः (वै. नि.) बकः(श.र.)
गृहबलिभुक्–,, ,, ,, ,,
गृहमणि–पु., प्रदीपः (त्रि.का.)
गृहमाक्षिका–स्त्री., चर्मचटी (त्रिका.)
गृहमृग–पु., कुक्कुरः (हे. च.)
गृहशायी (इन्)–पु., पारावतः (वै. नि.)
गृहाम्बु (म्ल)–न., काञ्जिकम् (त्रिका)(च.द.गर्भचि.)
गृहा (हो) लिका–स्त्री., जेष्ठी (हारा.) (हे. च.)
गृहाशया–स्त्री., ताम्बूलीलता (श. च.) पूगीवृक्षः (वै.नि.)
गृहाश्मा–पु., पेषणशिला
गृहिणी–स्त्री., काञ्जीकम् (त्रिका.) भार्या (हे. च.)
गृह्य–न., गुदम् (मे.)
गृह्यक–पु., गृहासक्तमृगादिः (अम.)
गेहपक्षी–पु., पारावतः (वै. नि.)
गैरी–स्त्री., लाङ्गलिकवृक्षः (रा. मा.)
गोकण्टी–स्त्री., गोपघण्टा (वै. नि)
गोकर्णा–स्त्री., अश्वगन्धा (वै. नि.)

गोकिरा (री) टिका (टी)–स्त्री., सारिका (हे. च. रा. व. १८)
गोकि (की) ल–पु., मुषलम् (हारा.)
गोकुलिक–स्त्री., काणः (वै. नि.)
गोकृत–न., गोमयः (श. च.)
गोखरी(खुर)–पु., गोक्षुरक्षुपः (श. र.)
गोग्रन्थि–पु., गोजिह्विकौषधम् (मे.) करीषम् । शुष्कगोमयम् (त्रिका)
गोघृत–न., गव्यघृतम्, गुणाः–विपाके मधुरं शीतलं वातपित्तविषघ्नं चक्षुष्यं बल्यं श्रेष्ठं च (सुसू. ४६) वर्षोपलम् (त्रिका.)
गोचर्म–न., गोत्वक्
गोचर्मकण्टक–पु., पर्पटकः (वै. नि.)
गोच्छगल–पु., न., गोमयः (वै. नि.)
गोच्छाल–पु., अलम्बुषक्षुपः ।
गोच्छाला–स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.)
गोजागरिक–पु., कण्टकारीक्षुपः (मे.)
गोजीकाण–पु., मध्यमाश्वः ।
गोड–पु., नाभौ संवृद्धमांसगुडकः ।
गोडम्बी–स्त्री., भल्लातकबीजम् (वै. नि.)
गोडवास्तुक–पु., वास्तुकशाकविशेषः (वै. नि.)
गोडुम्ब–पु., कालिङ्गलता (मे.)
गोडुम्बा(म्बिका)–स्त्री., फलशाकलताविशेषः ।
गोणा–स्त्री., मनःशिला (रा. व. १३)
गोणी–स्त्री., द्रोणीपरिमाणम् (प. प्र.)
गोण्ड–पु., गोडः ।
गोतैल–न., गोवसा (भैष. क्षुद्र रो. चि.)
गोत्र–न., कुलम् । गव्यम् (त्रिका.) शरीरम् घत्रम् (वै. नि.)
गोत्रद्रुम–(पुष्प)(क)(विटपी)(वृक्ष)–पु., धन्वनवृक्षः (वै. नि.)
गोत्रभृत्–पु., पर्वतः (रा. व. २)
गोत्रेघ्र–न., शीषकम् ।
गोद–पु., मस्तकस्नेहः । मस्तिष्कम् (हे. च.)
गोदन्ता–स्त्री., दारुमोचभेदः (प. मु.) तन्नामकहरितालः (भैष. प्लीहचि. शङ्खद्रावके.)
गोदावरी–स्त्री., विन्ध्यस्य दक्षिणप्रसिद्धभारतीयनद्याम् । तज्जलगुणाः– पित्तरोगहरं रक्तदोषहरं वातहरं पथ्यम् अतिदीपनं पापघ्नं कुष्ठादिदुष्टरोगघ्नं तृष्णाहरञ्च (रा. व. १४)

गोदुग्धदा–स्त्री., चणकाख्यतृणम् (रा. व. ८)
गोदुग्धा–स्त्री., गोडुम्बा । इन्द्रवारुणीलता । चिर्भटिका (वै. नि.)

गोद्रव–पु., गोमूत्रम् (रा. व. १५)
गोधज–पु., गोधा (वै. नि.)
गोधावल्ली–स्त्री., हंसपदीलता (प. मु.)
गोधासुत–पु., गोधेरः, अयं चतुष्पात् (वा. उ. १६ अ.)
गोधि–पु., ललाटम् (रा. व. १८) गोधा (श. र.)
गोधिका–स्त्री., गोधा (अम.)
गोधिकात्मज (सुत)–पु., गोधाशिशुवदाकारकोटरस्थ-स्थलगोधा (सा. सु.)
गोधिकासूदन–पु., गौधेरकः (वै. नि.)
गोधूमक्षीरिका-स्त्री., गोधूमपायसः । गुणाः-गोधूम-पायसो बल्यः कफभेदकरो गुरुः । शीतलः पित्तशमनो वातकृच्छ्रकृवर्धनः । (वैद्यकम्)
गोधूमचूर्ण–न., चूर्णीकृतगोधूमः गोधूमगुणम् ।
गोधूमफल–न., गोधूमः (वै. नि.)
गोधूममण्ड–पु., गोधूमकृतमण्डः । गुणाः–' तद्वद्गोधूम-संभूतं मधुरं पित्तवारणम् ' । (अत्रि. १२ अ.)
गोधूमसौवीर–न., गोधूमजातकाञ्जिकम् (वै. नि.)
गोधूमाद्यघृत–न., रसायनाधिकारे हितम् (च. द.)
गोधूमिका(मी)–लि., गोलोमिका (रा. व. ५)
गोनन्दी–स्त्री., सारसपक्षी (हारा.)
गोनिष्यन्द(नीर)-पु., न., गोमूत्रम् (रा. व. १५)
गोपति–पु., ऋषभकौषधम् (रा. व. ५) वृषः (मे.)
गोपदल–पु., गुवाकवृक्षः (त्रिका.)
गोपबधू–स्त्री., शारिवा कृष्णशारिवा (भा. पू. १ भ.)
गोपभद्र–न., शालूकः (श. च.)
गोपरस–पु., बोलः (श. र.)
गोपाङ्गना–स्त्री., श्वेतसारिवा
गोपानीय–न., गोमूत्रम् (वै. नि.)
गोपालप(पु)त्रिका–स्त्री., चिर्भिटा गोपालपत्रिकामूलम् (वै. नि. २ भ. विषमज्वरचि.)
गोपालिका–स्त्री., इन्द्रगोपकीटकभेदः (हे. च.)
गोपिका–स्त्री., कृष्णशारिवा (वै. नि.)
गोपित्तजा–स्त्री., गोरोचना (वै. नि.)
गोपिनी–स्त्री., श्यामालता (श. च.)
गोपीचन्दन–न., सौराष्ट्रमृत्तिका शुभ्रमृत्तिका (वै. नि.)
गोपीजल–पु., गुल्माधिकारे रसः । जैपालाष्टौ द्विको गन्धः शुण्ठीमरिचचित्रकम् । एकः सूतो ससौभाग्यो गोपीजल इति स्मृतः ॥ (र. सा. सं.)
गोपीवल्लभ–पु., प्रवालः । (प. म.)
गोपुच्छ–पु., वानरविशेषः । गवां लाङ्गुलम् (वै. नि.)
गोपुरीष–न., गोमयः (रा. व. १५)
गोपुष्प–न., परिपेलवतृणम् (रा. व. ८)
गोप्रिय–न., पलालम् (वै. नि.)
गोप्रेरक–पु., पक्षिविशेषः । कालवट इति महाराष्ट्रे (वै.नि.)
गोबन्धना (नी)–स्त्री., गोवल्ली पीतपुष्पदण्डोत्पला (र. मा.)
गोबल्य–पु., श्वेतयावनालः (वै. नि.)
गोबालधी–स्त्री., चमरीमृगः (वै. नि.)
गोभण्डीर–पु., जलकुक्कुभपक्षी (त्रिका.)
गोभिरामा–स्त्री., रामतरणी (वै. नि.)
गोभी–स्त्री., गोजिह्वा (वै. नि.)
गोमत–न., रक्तबोलः (वै. नि.)
गोमतल्लिका–स्त्री., सुशीला गौः । गोश्रेष्ठा । (हला.)
गोमयचूर्णीय–त्रि., गोमयचूर्णमधिकृत्य कृतं चरकीयाध्यायः (च. इन्द्रिय. १२ अ.)
गोमयच्छत्र–न., करकम् (त्रिका.)
गोमयच्छत्रिका–स्त्री., गोमयच्छत्रम् (हारा.)
गोमयतैल-न.,नेत्ररोगे तिमिरे च तैलम् । गवां शकृत्क्वाथविपक्वमुत्तमं हितञ्च तैलं तिमिरेषु नस्ततः (भैष.
गोमयप्रिय–न., भूतृणम् (र. मा.) बालकः (वै. नि.)
गोमयाद्यघृत–न., तिमिराख्यनेत्ररोगे घृतम् (रस. र.)
गोमयोत्था–स्त्री., गोमयजातकीटः ।
गोमयोद्भव–पु., आरग्वधः (श. च.)
गोमर्द–पु., सारसपक्षी (त्रिका.)
गोमल–न., गोमयः (रा. व. १५)
गोमाक्षी–स्त्री., कर्णस्फोटा (वै. नि.)
गोमी (इन्)–पु., शृगालः (मे.)
गोमीन–पु., मत्स्यविशेषः ।
गोमूत्रबीजक–पु., रक्तबीजासनवृक्षः । (रा. व. ९)
गोमूत्राभ–पु., मन्दविषवृश्चिकभेदः । (सु. क. ८ अ.)
गोमूत्रिका–स्त्री., स्वनामख्याततृणम्, तांबडु,गोढवि इति पश्चिमदेशे । गुणाः—मधुरा वृष्या गोदुग्धदा (रा. व. ८)
गोमूत्री– स्त्री., रक्तकुलत्थिका (वै. नि.)
गोमेदसन्निभा–स्त्री., दुग्धपाषाणः । (प. मु.)

गोऽम्बु (म्भ)-पु., गोमूत्रम् (रा. व. १५)
गोरक-पु., विषधरसर्पविशेषः (अत्रि.)
गोरण्टक-पु., कोङ्कणदेशप्रसिद्धो निकण्टकवृक्षः ।
गोरसज-न., पादजलेन त्रिभागदधिकृततक्रम् (रा. व. १५)
गोरक्षजम्बू-स्त्री., घोण्टाबदरीवृक्षः (जटा) बला (वै. नि.) गोधूमः । **गोरक्षतण्डुला** (वै. नि.)
गोरक्षतण्डुला-स्त्री., नागबला (प. मु.)
गोरक्षदुग्धा (ग्धी)-स्त्री., गोरक्षीनाम क्षुद्रक्षुपः । गुणाः- मधुरा शीतला वृष्या यश्यकरो रसे सिद्धदा (रा. व. ५)
गोराटी (ण्टिका) (रिका) स्त्री., शारिकापक्षी (हे. च. । रा. व. १९)
गोरुची-स्त्री., गोरोचना (वै. नि.)
गोरोच-न., हरितालः (रा. व. १३)
गोर्द-न., शिरोमलः (अम.)
गोलवत-न., पुष्पप्रियङ्गुः (हिं.-फुलप्रियङ्गु)
गोलाङ्गुल-पु., कपिः (त्रिका.)
गोलास-पु., गोमयच्छत्रकम् (हा. रा.)
गोली-स्त्री., गोजिह्वा (वै. नि.)
गोवत्सारि-पु., ईहामृगः (रा. व. १९)
गोवर्णी-स्त्री., अश्वगन्धा (वै. नि.)
गोवशा-स्त्री., वन्ध्या गौः ।
गोवारि-न., गोमूत्रम् (वा. उ. ३६)
गोविट्-न., गोमय (अम.)
गोविन्दिनी-स्त्री., प्रियङ्गुः (रा. व. १२)
गोविराटी-स्त्री., सारिकापक्षी (वै. नि.)
गोविषाणाह्वा-स्त्री., बब्बुलवृक्षः (वै. नि. हिक्का. चि. धूमे)
गोविष्ठा-स्त्री., गोमयः (रा. व. १५)
गोवृष-पु., वृषः (श. र)
गोवेष्ट-न., शीषकम् (प. मु.)
गोषाङ्वल-पु., ग्रन्थिपर्णी(वै. नि.)
गोष्ठकुक्कुट-(गोचर)-पु., भासः । काकविशेषः (वै. नि.)
गोष्ठीश्वर-पु., उष्ट्रज्वरः (गज. वै.)
गोस-पु., रक्तगन्धबोलः (मे.)
गोसङ्ग(र्ग)-पु., प्रभातम् (हारा. च. इन्द्रिय. ८ अ.)
गोसदृक्ष-पु., गवयमृगः (हे. च.)
गोसशश-पु., रक्तबोलः (अ. टी. रा.)
गोस्तना-स्त्री., द्राक्षा (अ. टी.च. द. सि. यो. रक्तपि. चि.) ' पथ्याखर्जूरगोस्तनाः '
गोस्तनाकारा-स्त्री., मधुखर्जूरीवृक्षः (वै. नि.)
गोस्तनीभव-पु., द्राक्षासवः (वै. नि.)
गोस्रव-पु., अनामिकाङ्गुष्ठयुतकरविस्तारः (रा. व. १८) गोमूत्रम् (रा. व. १५)
गोहन (ह्लु)-न., गोमयम् (र. मा.)
गोहरीतकी-स्त्री., बिल्ववृक्षः (प. मु.)
गोहित-घोषालता बिल्ववृक्षः (श. च.)
गोहिर-पु., अधमजातीयाश्वः (नकुल.) न., पादमूलम् (हे. च.)
गोक्षीर-पु., गोक्षुरकः (रा. व. ४) न., गोदुग्धम्
गोक्षुरादिगण-पु., लौहमारकवर्गभेदः । गोक्षुरः क्षुरको व्याघ्री सिंहपुच्छी कुशिम्बिका । गोक्षुरादिरिति प्रोक्तो वातश्लेष्महरोगणः (रस. च.)
गोक्षुराद्यघृत-न., मूत्राघाते घृतम् (च. चि. ८ अ.)
गोक्षुरी-स्त्री., गोक्षुरः (रा. व. ४ अ.)
गोक्षुरु-पु., गोक्षुरः । कृकलासः ।
गौ-पु., स्त्री., स्वनामख्यातपशुः (अम.) पु., स्वर्गम् (मे.) चणिकातृणम् (रा. व. ८) ऋषभकः (रा. व. ५) न., लोमन् (अ. टी. भानु.) स्त्री., नेत्रम् । वाक्यम् । रोहिणीजलम् (मे.) भूमिः । (त्रिका.)
गौड (र) वास्तुक-पु., न., चिल्लीशाकम् । बृहत्पत्र-रक्तवास्तुकम् (रा. व. ७)(भा.पू. १ भ. शाकव.)
गौडारस-पु., शूले रसः (रस. र.)
गौडासव-पु., गुडकृतासवः । धातकीसगुडैर्मद्यभेदः गौडः प्रकीर्तितः (तोड. द्रव्यगुणमाला.)
गौडी-स्त्री., गुडकृतमद्यम् (त्रिका.) धातकीरसगुडादि-कृताम्लमद्यम् । गुणाः-तीक्ष्णा उष्णा मधुरा वातघ्नी पित्तजननी बलकरी दीपनी पथ्या कान्तिजननी तर्पणी च (रा. व. १४)
गौडी कषाया मधुराम्लशीता सन्दीपनी शूलमला-पहन्त्री । हृद्या त्रिदोषं शमयत्यजीर्णं पाण्डवाम-यार्शःश्वसनं निहन्ति (अत्रि. १९ अ)
गौणबिम्बी-स्त्री., बिम्बीभेदः (वै. नि.)
गौणी-स्त्री., लोणिकाशाकम् (प. मु.) मनःशिला (र. सा. सं.)
गौण्य-पु., कशेरुकः ।
गौधार-(धेय)-(धेर)-(क)-पु., गोधिकात्मजः । गोधा इति ख्यातम् (सु. क. ८ अ.)
गौरक-पु., गिरिमृत्तिका (वै. नि.) (ज्वरचि. लाक्षा-तैले) लावपक्षी (वै. नि.)

गौरकदम्ब(क)-पु., हारिद्रकः (भा. म. ४ भ.) (रेवतीग्रहचि.)
गौरखटी-स्त्री., श्वेतखटिका (वै. नि.)
गौरचणक-पु., धवलचणकवृक्षः
म.—श्वेतचणा.
गुणाः-मधुरः बल्यः रोचनः वातकरः पित्तघ्नः शीतलः गुरुः च (रा. व. १६)
गौरत्वक्-पु., इक्षुदीवृक्षः (रा. व. ८)
गौरद्रु-पु., हरिद्रावृक्षः (वै. नि.)
गौरधान्य-न., शालिधान्यविशेषम् (च. सू. २७)
गौरपाषाण-न., श्वेतखटिका (वै. नि.)
गौरमाल्य-पु., गिरिजमधूकवृक्षः
गौरवर्णवती-स्त्री., हरिद्रा (वै. नि.)
गौरव्रीहि-पु., गौरशालिः (वै. नि.)
गौरशाक-पु., मधूकवृक्षभेदः (र. मा.)
गौरशाखी (इन्)-पु., जलमधूकः (वै. नि.)
गौरसुवर्णशाक--पु., न., चित्रकूटदेशे स्वनामप्रसिद्ध-शाकविशेषम्, गुणाः-शीतलं कफपित्तज्वरघ्नं दाहारुचिभ्रान्तिरक्तश्रमघ्नं च (रा. व. ७)
गौराजाजी-स्त्री., श्वेतजीरकम् (रा. व. ६)
गौराट-पु.. श्वेतखदिरः । (वै. नि.)
गौराटिका-स्त्री., शारिकापक्षी (वै. नि.)
गौराद्यघृत-(तैलञ्च)-न., व्रणे हितम् । (च. द.)
गौरार्द्रक-पु., स्थावरविषभेदः । (हे. च.)
गौराभ-पु., हरिद्रावृक्षः (वै. नि.)
गौरास्य-पु., नीलवानरः । (रा. व. १९)
गौरिका-स्त्री., जलमधूकः । (सु. चि. ३० अ.) (अलस. चि.) शारिकापक्षी (वै. नि.) अष्टवर्षीयकन्या (श. र.)
गौरिणी-स्त्री., तेरणश्रुपः । (वै. नि.)
गौरि (री) ल-पु., राजिका, लौहकिट्टम्। लौहचूर्णम् (मे)
गौरीकेश-पु., न. अभ्रधातुः । (प. मु.)
गौरीरज-न., गन्धकम् (चि. क. कल्प)
गौर्जर-पु., मेषशृङ्गी
गौर्य-न., तमालपत्रम् (वै. नि. अर्कचि.) (गणसंख्याशतके)
गौर्यश्मा-पु., शुक्लपाषाणः । (व. नि.)
गौर्यामल-न., अभ्रकम् (अ. टी. स्वा.)
गौलिक-पु., कालमुष्ककवृक्षः (रा. व. ११)
गौल्य-न., चिक्कणपूगफलम् (न.) मद्यविशेषम् । (स्त्री.,) बिम्बीलता (वै. नि.)

ग्रन्थिका-स्त्री., ग्रन्थिपर्णी, वचा (वै. नि.)
ग्रन्थिकोष-पु., ग्रन्थिपर्णी (च. द.) (वा. व्या. चि.)
ग्रन्थिखेटी-स्त्री., गन्धमात्रा
ग्रन्थितक-पु., शूकरोगः (वै. नि.)
ग्रन्थिनी-स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)
ग्रन्थिभा-स्त्री., अस्थिसंहारवृक्षः (वै. नि.)
ग्रन्थिमत्फल न., क्षुद्रकण्टालिका
ग्रन्थिमान्-पु., अस्थिसंहारवृक्षः (प. मु.)
ग्रन्थिवर्ही (न)-पु., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (श. च.)
ग्रन्थिसंवृता-स्त्री., नकुला (वै. नि.)
ग्रहजित्-पु., चीडानामदेवदारुभेदः (रा. व. १८)
ग्रहणीगजेन्द्रवटिका-स्त्री., ग्रहण्यधिकारे रसः (रस. र.)
ग्रहणीरुक्-स्त्री., संग्रहग्रहणी (अम.)
ग्रहणीवज्रक्वाट-पु., ग्रहण्यां रसः (र. चि.)
ग्रहणीशार्दूलवटिका-स्त्री., ग्रहण्यां हिता (भैष.)
ग्रहणीहर-न., लवङ्गम् (श. च.) त्रि., ग्रहणीहरद्रव्यमात्रा ।
ग्रहद्रुम-पु., शाकतरुः
ग्रहनाश (शन)-पु., सप्तपर्णवृक्षः (र. मा.)
ग्रहपति-पु., अर्कवृक्षः (अम.)
ग्रहभीतिजित्-पु., न., चीडानाम गन्धद्रव्यम् [रा. व. १२]
ग्रहागम-पु., भूतसञ्चारः [रा. व. २०]
ग्रहाङ्ग-न., स्वर्णरजतताम्रत्रपुकृष्णलोहम् [रा. व. २२]
ग्रहापहा-स्त्री., गोरोचना (वै. नि.)
ग्रहामय-पु., ग्रहपीडा (रा. व. २०)
ग्रहाशी(इन्)-पु., सप्तपर्णवृक्षः (श. र.)
ग्रहाह्वय-पु., भूताङ्कुशवृक्षः (रा. व. ९)
ग्राम(म्य)कन्द-पु., ग्रामजौल्लः । कचुरिति ख्यातं कन्दशाकम् (र. मा.)
ग्रामकोल-पु., ग्रामशूकरः (वै. नि.)
ग्रामक्रोड-पु., ग्रामशूकरः (वै. नि.)
ग्रामजनिष्पावी-स्त्री., नखनिष्पावी (रा. व. ७)
ग्रामजा-स्त्री., खर्जूरवृक्षः (प. मु.)
ग्रामणी-पु., नीली (हे. च.)
ग्राम(म्य ,मद्गुरिका-स्त्री., शृङ्गीमत्स्यः (मे. हारा.)
ग्राम(म्य)मृग-पु., कुक्कुरः (श. र.) गवादिग्रामवासिपशुवर्गः (सु. सू. ४६)
ग्रामिणी-स्त्री., नीलीवृक्षः (जटा.)

ग्रामीण–पु., ग्राम्यकुक्कुरः (रा. व. १९) काकः । कुक्कुरः (मे.)
ग्राम्यकर्कटी–स्त्री., कूष्माण्डम् (त्रिका.)
ग्राम्यकुङ्कुम–न., कुसुम्भः (त्रिका.)
ग्राम्यकोशा–स्त्री., हस्तिकोशातकी (रा. व. ७)
ग्राम्यवराह–पु., ग्रामशूकरः । गुणाः– तन्मांसं मेदोबलवीर्यवर्धकं वनवराहमांसाद्गुरु च (रा. व. १७)
ग्राम्यशूकर–पु., ग्राम्यवराहः (रा. व. १७)
ग्राम्याश्व–पु., गर्दभः (त्रिका.)
ग्राम्योदक–न., ग्राम्यजलम् (वै. नि.)
ग्रावारि–पु., पाषाणभेदः (प. मु.)
ग्राहलोमशा–स्त्री., वचा (रा. म. ६)
ग्राहिबस्ति–पु., निरूहबस्तिभेदः । सच अम्बष्ठादिप्रियङ्ग्वादिक्काथेन क्षौद्रघृतयुक्तेन साध्यते (सु.)
ग्राह्य–पु., अम्लवेतसम् (प. मु.)
ग्रीवी (इन्)–पु., स्त्री., **विनी**–ऊष्ट्रः । (जटा.)
ग्रीष्मकर्कटी–स्त्री., ग्रीष्मजकर्कटीविशेषः । (वै. नि.)
ग्रीष्मका–स्त्री., पुष्पविशेषम् (वै. नि.)
ग्रीष्मसुन्दरक–पु., सूक्ष्मपत्रशाकविशेषः । गुणाः—तिक्तं रुचिकरं कफपित्तदोषघ्नञ्च (राज. ३ प.)
ग्रीष्महासा–स्त्री., इन्द्रतुलकः (त्रिका.)
ग्रीष्मा–स्त्री., लोध्रवृक्षः (वै.नि.) नवमल्लिका(रा.व. १०)
ग्लान–त्रि., रोगी (रा. व. २०)
ग्लाना–स्त्री., बलदीनता (हे. च.) रोगः (रा.)
ग्लास्नु त्रि., रोगी (रा. व. २०) ग्लानः (अम.)
ग्लौ–पु., कर्पूरः (अम.)

घ

घट–पु., कलसः । (अम.) द्रोणपरिमाणम् । (६४ श.) (प. मु.) करिगण्डस्थलम् (मे.) कुम्भपरिमाणम् द्रोणविंशतिः ।
घटक–पु., विना पुष्पं फलवान् वृक्षः । उदुम्बरादिः ।
घटदेशज–न., गडलवणम् । (रा. व. ६)
घटा–स्त्री., मधुरकर्कटिका । (मद. व. ६)
घटाभिधा–स्त्री., घटाकारशुक्लालाबूभेदः । कुम्भतुम्बी (वै. नि.)
घटालाबु–(बू)–स्त्री., कटुतुम्बी (रा. व. ७)
घटालिका–स्त्री., मधुरकर्कटी (मद. व.)
घटिक–न., नितम्बम् (श. च.)
घटिकालवण–न., बिडलवणम् (वै. नि.)
घटीयन्त्रग्रहणी–स्त्री., ग्रहणीरोगभेदः (मा.)
घट्टगा–स्त्री., दाक्षिणात्यनदीविशेषा । एतत् जलं गुणैः कृष्णासदृशम् । स्वादुतरं, पथ्यं कान्तिदञ्च । (रा. व. १४)
घण्ट–पु., शाकादिसिद्धव्यञ्जनविशेषम् । गुणाः–बल्यः रुचिकरः वातघ्नश्च । (राज.)
घण्टक–पु., क्षुद्रक्षुपविशेषः । (सा. कौ.) तस्य मूलम्) गुणाः–कफघ्नं कटुपाकि पित्तकरञ्च । (राज. - घण्टापाटलवृक्षः (ज. द.)
घण्टकर्ण–पु., क्षुद्रक्षुपविशेषः (भैष.)(अम्लपित्तचि.)
घण्टाक–पु., घण्टापाटलिवृक्षः (ज. द.) जालिनी (वै. नि.)
घण्टाकर्ण–पु., घण्टकक्षुपः (प. मु. ग्रहणी) (चि. नित्यानंदरसे)
घण्टापाटलि–स्त्री., स्वनामख्यातवृक्षः (हिं.—मोरवा.) (प. मु.)
घण्टारवा–स्त्री., वनशणवृक्षः (हिं.—झनझनिया.) (भ.)
घण्टालिका–स्त्री., मधुरमातुलुङ्गवृक्षः । (मद. व. ६)
घण्टाली–स्त्री., कोशातकी (रा. व. ३)
घण्टाशब्द–न., कांस्यधातुः (हे. च.)
घण्टाशीता–स्त्री., अतिबला (रा. व. ४)
घण्टाशीला–स्त्री., महाशणवृक्षः (वै. नि.)
घण्टिक–पु., पादिजलजन्तुविशेषः ।
घण्टिका–स्त्री., सूक्ष्मजिह्वा (रा. व. १८) (गलशुण्डिकारोगे.) (रा. व. २०) शणपुष्पी (वै. नि. २ भ.)(अपस्मारचि. द्राक्षावलेहे.) कुमरिचम् (वै. नि.)
घण्टिनीबीज–न., जैपालबीजम् (रा. व. ६)
घण्टु–पु., करिकण्ठभूषणम् (उणा.) उष्णता (वै. नि.)
घण्ड–पु., मधुमक्षिका, भ्रमरः (उणा.)
घन–पु., मुस्ता । (रा. व. २३. सि. यो.)(कास. चि. पथ्यादिगुडौ.) नागरमुस्ता (च. द. पित्त. चि.) (विश्वादि.) शरीरम् (रा. व. १८) अभ्रकम् । मेघः (रा. व. २३) वङ्गम् । गुडः (वै. नि.) त्वक् (रा. व. १२) न., लौह (हे. च.) वल्कलम् (रा. व. २) त्रि., निबिडम् (अ. म.)
घनकाल–पु., वर्षाऋतुः (श. र.)
घनगोलक–पु.,स्वर्णं, रौप्यं च। संश्लिष्टरजतसुवर्णम्(हे.च)
घनचन्दनादि–पु., वातपित्तज्वरे कषायः घनचन्दनपर्पटकं कटुकं समृणालपटोलदलं सजलं, शृतशीतसितायुतपित्तहरं ज्वरछर्दितृषारुचिदाहहरम्। (सा. कौ.)

घनजम्बाल–पु., चुलुकः (त्रिका.)
घनता(तो)ल–पु., चातकपक्षी । सारङ्गपक्षी(जटा.त्रिका.)
घनत्वक्–पु., शुक्लरोधः (वै. नि.)
घनध्वनि–पु., मुस्ता (र. सा. सं. रसनियामके)
घनपल्लव–पु., शिग्रुवृक्षः (वै. नि.)
घनपाषाण्ड–पु., मयूरः (श. मा.)
घनप्रभ–पु., राजावर्तमणिः (वै. नि.)
घनप्रिया–स्त्री., काकजम्बूवृक्षः (रा. व. ११) नदीजम्बूः (वै. नि.)
घनफेनिला–स्त्री., काकमाची (वै. नि.)
घनमूला–स्त्री., काकमाची । क्षीरमूर्वाविशेषः (वै. नि.)
घनरूपा–स्त्री., खटीशर्करा (वै. नि.)
घनवास–पु., कूष्माण्डः (हारा.)
घनशृङ्गी–स्त्री., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
घनसंज्ञा–स्त्री.,मुस्ता (वै. नि.)
घनसून–पु., मोरटलता (रा. व. ३)
घनस्कन्ध–पु., कोशाम्रवृक्षः (रा. व. १२)
घनाकर–पु., वर्षा (वै. नि.)
घनाग्निसह–न., उत्तमकांस्यम् (वै. नि.)
घनाघटा–स्त्री., काकजङ्घा (श. च.)
घनाघन–पु., मत्तहस्ती (अम.)
घनाघना–स्त्री., काकमाची (श. च.)
घनामय–पु., खर्जूरवृक्षः (त्रिका.)
घनामल–पु., पुनर्नवा । चन्दनवटः (वै. नि.) वास्तुकशाकम् (त्रिका.)
घनाराव–पु., चातकपक्षी (वै. नि.)
घनावहा–स्त्री., काकमाची । कर्णस्फोटा (प. मु.)
घनाश्रय–पु., आकाशम्
घनाह्वय–न., अभ्रधातुः (प. मु.)
घनोद्भव–पु., लौहकिट्टम् (वै. नि.)
घनोपल–पु., करका (हे. च.)
घरट्ट–पु., पेषणयन्त्रम्
घर्घट–पु., मत्स्यभेदः (श. र.)
घर्घर–पु., पेचकः (त्रिका.) तुषानलः (हे. च.) (क) नदविशेषः । तज्जलं रुच्यं शीतलं दीपनं पथ्यं बल्यं क्षीणाङ्गपुष्टिकरञ्च (रा. व. १४) त्रि. स्वरविशेषः
घर्घरिका–स्त्री., घर्घरनदः । भृष्टधान्यम् क्षुद्रघण्टिका (हे. च.)
घर्घूर्घा (घा)–स्त्री., तन्नामककीटः । यमकीटः (र. मा)
घर्मचर्चिका–स्त्री., घर्मचिका ' स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा । ततः स्वेदः प्रवर्तते दुर्गन्धा चर्मचर्चिका । राजिकाकृतिरुष्णोत्थायतो घर्मचर्चिका (प्रयोगा.)
घर्मज–पु., जवादिकस्तूरिका (वै. नि.)
घर्मपय–न., घर्मजलम् । उष्णोदकम् (वै. नि.)
घर्मविचर्चिका–स्त्री., घर्मचर्चिका
घर्मान्तकामुकी–स्त्री., पक्षिविशेषः
घर्माम्भ–न., घर्मः (रा. व. १८)
घर्षणाल–पु., मुशलम् । शिलापुत्रम् (त्रिका.)
घसि–पु., अन्नम् । आहारः (हे. च.)
घाट–पु., घाटा (श. र.)
घाण्टिक–पु., धुस्तूरवृक्षः ।
घातकृच्छ्र–न., मूत्रकृच्छ्ररोगः (नि.)
घा (ति) पक्षी (इन्)–पु., श्येनपक्षी (हारा.)
घार–पु., प्रोक्षणम् (हे. च.)
घार्तिक–पु., घृतपूरम् (हे. च.)
घास–पु., तृणम् । शष्पम् (अम.)
घु–स्त्री., नासा (वै. नि.)
घुघुकृत्–पु., वनकपोतः (वै. नि.)
घुघुलारव–पु., पारावतः (वै. नि.)
घुट–पु., पादग्रन्थिः (हे. च)
घुटि–(टी)(क)–(का)–पु., स्त्री., जङ्घांघ्रिसन्धिग्रन्थिः जङ्घाङ्घ्रिसन्धिग्रन्थौ तु घुटिका गुल्फ इत्यपि (हे. च. रा. व. १८.)
घुणदयिता–स्त्री., अतिविषा (वै.नि.) (ज्व. चि. अर्कादि.)' पञ्चोषणघुणदयिता ।
घुणवल्लभा–स्त्री., कृष्णातिविषा (भा.)
घुणा–स्त्री., कालातिविषा
घुण्ट–(क)–पु., गुल्फः (श. मा. हे. च.)
घुण्टा–स्त्री., क्षुद्रबदरः (वै. नि.)
घुण्टिक–न., वनकरीषम् (श. च.)
घुण्ड–पु., भ्रमरः (उणा.)
घुलञ्च–पु., गवेधुका (र. मा.)
घुलघुलाख–पु., पारावतभेदः (रा. व. १९)
घूक–पु., उलूकः (हे. च.)
घूकारि–पु., काकः (हे. च.)
घूर्ण–पु., ग्रीष्मसुन्दरकः (श. च.)
घूर्णि–स्त्रि., चूर्णनम् (हे. च.)
घृणावास–पु., कूष्माण्डः (त्रिका.)
घृणि–(णी)–पु., वनशूकरः (वै. नि.) अश्वरोगविशेषः । तेनाश्वस्य नासाभ्यन्तरे व्रणपिडकशोफा भवन्ति । " नासिकाभ्यन्तरे यस्य

पिडकानां समुद्भवः । व्रणं वा यदि वा शोथः तस्य विद्यात् घृणीरुजम् (ज. द. ३८. अ.)

घृतकरञ्ज–पु., करञ्जविशेषः । गुणाः कटूष्णः वातघ्नः व्रणनाशनः त्वग्दोषघ्नः अर्शोघ्नश्च । (रा. व. ९.)

घृतका–स्त्री., घृतकुमारिः (वै. नि.)

घृतकुमारिका (री)–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः

घृतपशु–पु., घृतम् (वै. नि.)

घृतमण्डा–स्त्री., मधूलिः (र. मा. श. च.) रक्तलज्जालुका (वै. नि.)

घृतवर–पु., घृतपूरः । मोहनभोगः (हे. च.)

घृता–स्त्री., काकजङ्घा (श. च.) काकतुण्डिका (वै. नि.)

घृताङ्क–पु., सरलद्रवः (त्रिका.)

घृताची (र्भं) संभवा–स्त्री., स्थूलैला (रा. व. घ.)

घृताभ्यङ्ग–पु., घृतमर्दनम् । तत्र विधिनिषेधौ ।–वाते पित्ते कफे रक्ते सन्निपाते कृशाङ्गके । मदमूर्च्छाप्रलापेषु तृष्णादाहज्वरेषु च । सन्तप्ते सन्तते जीर्णे ह्यध्वश्रान्ते विशेषतः । बालमध्यमजीर्णानां घृताभ्यङ्गः प्रशस्यते । गुल्मप्लीहाग्निसदनकामलासातिसारेषु । श्वासकासोदरच्छर्दिपाण्डुसर्वाङ्गशोथिषु। विद्रधौ पार्श्वशूलेषु गण्डमालार्बुदादिषु । शीतज्वरे प्रमेहे च घृताभ्यङ्गो न शस्यते (वृद्धाः ।)

घृताह्वा–पु., वृकधूपः कृत्रिमधूपः (त्रिका.)

घृतिला–स्त्री., पृश्निपर्णी (प. मु.)

घृतेली–स्त्री., तैलपायिका (हे. च.)

घृष्टतल–पु., अश्वस्य पादरोगविशेषः । लक्षणं यथा–घृष्टं भूमौ तलं यस्य ताम्रीभवति वाजिनः । तस्य घृष्टतलो नाम पादरोगः प्रकीर्तितः (ज. द. ३८ अ.)

घृष्टि–पु., शूकरः (प. मु.) **ष्टी**–स्त्री., वराहक्रान्ता । वाराहीकन्दः (अम.)
घर्षणम् अपराजिता (मे.)

घृष्टिला–स्त्री., पृश्निपर्णी (र. मा.)

घृष्वि–पु., वनवराहः (वै. नि.)

घेञ्चुलिका–स्त्री., क्रौञ्चादनः (र. मा.)

घोट–(क)–पु., अश्वः (प. मु.)

घोटकारि–पु., महिषः (वै. नि.)

घोटकीदुग्ध–न., अश्वीदुग्धम् । गुणाः–रूक्षमग्लं लवणं दीपनं लघु देहस्थैर्यकरं बल्यं गौरवकान्तिकृच्च (रा. व. १५)

घोटगल–पु., कासतृणम् (वै. नि.)

घोटिका–स्त्री., वडवा । बृहल्लोणीशाकम् । शाकगुणाः–कटूष्णं मधुरं वातव्रणकण्डूकुष्ठरक्तशोथघ्नं च (रा. व. ५)

घोणक–पु., गोनससर्पः (वै. नि.)

घोणसा–स्त्री., लताविशेषः (वै. नि.)

घोणान्तभेदन–पु., आरण्यशूकरः (वै. नि)

घोणी(इन्)–पु., शूकरः, वनशूकरः (प. मु.)

घोण्टाख्य(स्थ)–पु., मदनवृक्षः (रा. व. ८)

घोनस–पु., गोनससर्पः । तिलित्ससर्पः । (हे. च.)

घोरकुष्ठहा–स्त्री., हितालीति ख्यातलता (वै. नि.)

घोरण्ट–पु., पूगवृक्षः (म. द. व. ६)

घोरदर्शन–पु., उलूकः । तरक्षुः । (रा. व. १९)

घोरनारसिंहरस–पु., सन्निपातज्वरे रसः (भैष.) विषमाख्यं कुचेलकः ।

घोरप्रदा–स्त्री., गोधा (वै. नि.)

घोरराक्षस–(राक्षी)–पु., शृगालः (त्रिका.)

घोलवटक–पु., घोलकृतवटकः (वै. नि.)

घोषक–पु., कोशातकी । हस्तिघोषालता (भा. पू. १. भ. शाकव.)

घोषका–स्त्री., घोषालता (वै. नि.)

घोषकाकृति–पु., घोषा (र. मा.)

घोषण–पु., कोकिलः (श. र.)

घोषयित्नु–पु., कोकिलः (त्रिका.)

घोषवती–स्त्री., शताह्वा (वै. नि.)

घोषा–स्त्री., शताह्वाक्षुपः (रा. व. ४) कर्कटशृङ्गी (रा व ६) विडङ्गम् (वै. नि.)

घोषातकी–स्त्रीश्वेतघोषातकी (र. मा.)

घोषित–पु., शिशुमारः । (वै.नि.)

घोषिल–पु., वनशूकरः । (वै. नि.)

घ्राणतर्पण–त्रि., घ्राणेन्द्रियतृप्तिजनकः (अम.)

घ्राणदुःखदा–स्त्री., छिक्किनी (भा.) नासारोगः । (वै.नि.)

घ्राणेन्द्रिय—न., नासिका (वै. नि.)

घ्राणोदक—न., नासारन्ध्रेण प्रातः निशीथोदकपानम् । गुणाः–तार्क्ष्यनेत्रत्वं स्वर्गाचार्यसदृशबलशालित्वं बुद्धिमत्त्वमश्विनीकुमारसदृशत्वं शिरोरोगनाशित्वं वलीपलितविहीनत्वञ्च । (रा. व. १४.)

घ्राति–स्त्री., नासिका (श. च.)

च

च–पु., कच्छपः (मे.)

चक्रकर–पु., स्थलचक्रवाकः (वै. नि.)

चक्रकारक– पु., नखीनामगन्धद्रव्यम् (वै. नि.)
चक्रकुल्या–स्त्री., पृश्निपर्णी (श. च.) कृष्णतुलसी (वै. नि.)
चक्रगुच्छ–पु., अशोकवृक्षः (श. च.)
चक्रगुल्म–पु., उष्ट्रः (वै. नि.)
चक्रदन्ता (न्ती)–स्त्री., जैपालवृक्षः (प. मु.)
चक्रधर–पु., सर्पः (त्रिका.)
चक्रधार–न., अर्धधारास्त्राविशेषः (सु. सू. टी. उ. ८ अ)
चक्रनामा (न्)–पु., माक्षिकधातुः । नखीभेदः । (प. मु.)
चक्रपक्षाट–पु., चक्रमर्दक्षुपः (श. च.)
चक्र-परिव्याध–पु., आरग्वधवृक्षः ।
चक्रपर्णा(र्णी)–स्त्री., कृष्णतुलसी (वै. नि.) पृश्निपर्णी (श. च.)
चक्रपाणि–पु., स्वनामख्यातप्रकृष्टसंग्रहादिकारः । स गौडराजस्य पाकशालाध्यक्ष आसीत् ' गौडाधिनाथ-रसवत्यधिकारिपत्रम् ' (च. द.)
चक्रबन्धना–स्त्री.. वनमल्लिका (वै. नि.)
चक्रबाला–स्त्री., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.)
चक्रबालिक–पु., अश्वस्य पादरोगभेदः । ' क्लिद्यन्ते वलयो यस्य खुरसन्धिसमुद्भवाः । अक्लिन्नावाथ सरुजः तं विद्याच्चक्रबालिकम् (ज. द.)
चक्रमण्डली (इन्)–पु., मण्डलिसर्पजातिभेदः (हे. च.)
चक्रमर्द–(क)–पु., स्वनामख्यातक्षुपः लघुः स्वादुः रूक्षः वातपित्तघ्नः हृद्यः हिमः कफश्वासदद्रुकुष्ठकृमिहरश्च। तत्फलम्–उष्णं कुष्ठकण्डूददुविषवातघ्नं गुल्म-कासकृमिश्वासघ्नं कटु च । तत्पत्रम्–अम्लं ददुघ्नं वातकफघ्नं कण्डूकासकृमिश्वासकुष्ठघ्नञ्च (भा.)(दे) कच्चटभेदः (श. च.)
चक्रमुख–पु., शूकरः (वै. नि.)
चक्ररथ–पु., चक्रवाकपक्षी ।
चक्ररद(दंष्ट्र)–पु., शूकरः । वनशूकरः (वै. नि.)
चक्ररेणुका–स्त्री., रक्तकरवीरः (वै. नि.)
चक्रल–पु., रक्तकुलत्थः (वै. नि.)
चक्रला–स्त्री., उच्चटा (अम.) नागरमुस्ता (वै. नि.)
चक्रवल्लरी–स्त्री., स्नुहीभेदः (वै. नि.)
चक्रवीज–न., जैपालबीजम् (रा. व. ६)
चक्रश्रेणी–स्त्री., अजशृङ्गी (र. मा.)
चक्रसंज्ञ–न., वङ्गम् (हे. च.)
चक्राङ्का–स्त्री., नागरमुस्ता (रा. व. ६) सुदर्शना पद्मगुडूची (वै. नि.)
चक्राङ्ग–पु., हंसः (अम.)
चक्राट–पु., विषवैद्यः (मे.)
चक्राधिवासी–पु., नागरङ्गवृक्षः (त्रि. का.)
चक्रालु–पु., महारसालाम्रः (वै. नि.)
चक्रिक–पु., रक्तकुलत्थः (वै. नि.)
चक्रिपत्नी–स्त्री., चक्रवाकस्त्रीः । श्वेततुलसी (वै. नि.)
चक्रीवान्–पु., गर्दभः (अम.) चक्रवाकः (वै. नि.)
चक्रेन्द्रक–पु., देवसर्षपवृक्षः (वै. नि.)
चक्रेश्वरी–स्त्री., वत्सनाडीका (वै. नि.)
चक्रोत्थ–पु., कुक्कुटपादीलता (वै. नि.)
चङ्क (ङ्कु)र–पु., वृक्षः (मे)
चचण्डी–स्त्री., क्षुद्रजिह्वा (वै. नि.)
चचेण्डा–स्त्री., चिचिण्डागुणाः– शोषरोगे हितं पटोलाद्धीनगुणञ्च (मद.)
चञ्चत्कुठाररस–पु., अर्शसि हितः (र. सा. सं.)
चञ्चरी (इन्)–पु. स्त्री. लघुमक्षिका भ्रमर (वै. नि.)
चञ्चरीक–पु., भ्रमरः (त्रिका.)
चञ्चलतैल–न., शिलारसः (त्रिका.)
चञ्चला–स्त्री., पिप्पली (श. च.)
चञ्चिमूचि–पु., कारण्डवपक्षी (त्रिका.)
चञ्चुलु–पु., रक्तैरण्डः (वै. नि.)
चञ्चुसूचि (क)–पु., पक्षिविशेषः । कारण्डवपक्षी (त्रिका. हे. च.)
चञ्चू–स्त्री., पक्षितुण्डः (हे. च.)
चट (टि) **काशि** (शी) **र**–पु., पिप्पलीमूलम् (रा. व. ६)
चटाफल–पु., नारिकेलवृक्षः (श. र.)
चटु–पु., उदरम् (मे.)
चट्टिका–स्त्री., जलौका (वै. नि.)
चट्ट–पु., लौहपात्रविशेषम् ।
चण–(क)–पु., स्वनामख्यातशिम्बीधान्यम् । गुणाः— रक्तपित्ते हितम् (सि. यो. रक्तपि० चि.) रक्ते कफे पीनसके च कण्ठे गलामये वातरुजे सपित्ते । शीत-प्रतिश्यायकृमीन् निहन्ति शुष्कस्तथार्द्रश्चणकः प्रशस्तः (अत्रि. १५ अ.) मधुरः रूक्षः मेहघ्नः वात-पित्तकरः दीप्तिवर्णकरः बलकरः रुच्यः आध्मान-करश्च । तद्यूषगुणाः—मधुरः कषायः कफघ्नः वात-विकारकरः श्वासोर्ध्वकासपीनसघ्नः बलदीपनश्च । (रा. व. १६) कषायः कटुकश्चोष्णो वातघ्न कफदो-षकृत् । रक्तपित्तं निहन्त्याशु चणानां यूष उच्यते।

अङ्गारभृष्टतैलभृष्टश्च तद्गुण एव । आर्द्रभृष्टः बल्यो रुचिकरश्च । शुष्कभृष्टस्तु रूक्षो वातकुष्ठप्रकोपनः । स्विन्नः पित्तघ्नः कफघ्नश्च । तत्सूपः क्षोभकरः । आर्द्रोऽतिकोमलः रुच्यः पित्तशुक्रहरः शीतलश्च (भा. पू. १ भ. धान्यव०) तत्शाकं रुच्यं दुर्जरं कफवातकृत् अम्लं विष्टम्भजनकं पित्तघ्नं दन्तशोथहरञ्च (भा. शाकव०) पर्युषितचणकजलगुणाः— शीतं प्रातःपीतं पित्तरसहरं पुष्टिदं सन्तर्पणञ्च (रा. व. १६)

चणकरोटिका–स्त्री., चणकचूर्णकृतरोटिका । गुणाः— रूक्षा विष्टम्भकरी गुरुः श्लेष्मपित्तरक्तघ्नी च (भा)

चणकलोणी–स्त्री., चणाकम्लम् (वै. नि.)

चणकशक्तु–पु., चणककृतशुक्तिः ।

चणकक्षार–पु., चणकपुष्पम् (रस. कौ. क्व्यादरसे)

चणकपत्रक–(पत्री)–पु., स्त्री., रुदन्तीवृक्षः । रोदन्तीति उत्कलः (रा. व. ५) गोक्षुरकः (वै. नि.)

चणकाम्लक–न., पिप्पलीमूलम् । चणकक्षारः, गुणाः— चणकाम्लकमत्यम्लं दीपनं दन्तहर्षणं लवणानुरसं रुच्यं शूलाजीर्णविबन्धनुत् (भा. र. सा. सं.) (अम्लवर्गे)

चणकाम्लवा–न., क्षेत्रस्थफलवच्चणकपत्रशीतलजलम् (रत्ना.)

चणक्य–न., चाणक्यमूलम् (वैद्यकम्)

चण्डका–स्त्री., वचा

चण्डचुक्रा–स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः (वै. नि.)

चण्डरुद्रिका– स्त्री., रसजारणादिज्ञानम्

चण्डाख्या–स्त्री., दारुहरिद्रा

चण्डात–(क)–पु., करवीरः (अम.) रुदन्तीवृक्षः (वै. नि.)

चण्डाल–(क)–पु., रक्तकरवीरः । तण्डुलीयशाकम् (वै. नि.)

चण्डालिका–स्त्री., रक्तकरवीरः । चण्डालवल्लकी

चण्डी–स्त्री., चिडादेवदारुः । शिवलिङ्गी (रा. व. अ.)

चण्डीकुसुम–पु., रक्तकरवीरवृक्षः (रा. व. १०)

चण्डीलता–पु., ग्रन्थिपर्णभेदः (वै. नि.) हिं.—चोरा.

चण्डु–पु., मूषिकः (श. च.)

चण्डेश्वररस–पु., नवज्वरे रसः (रस. कौ.)

चतुर–पु., काकः (हे. च.)

चतुरङ्ग–पु., कलायभेदः (वै. नि.)

चतुरङ्गा–स्त्री., घोटिकावृक्षः (रा. व. ८)

चतुरङ्गावलेह–पु., ज्वरे अवलेहः । स. च समभागद्राक्षामलकशुण्ठीमधुकृतः (भा.)

चतुरूर्ध्वपात–पु., शरभमृगः (वै. नि.)

चतुरूषण–न., कणाम्लसहितम्, त्र्यूषणम् । त्र्योषस्येव गुणाः प्रोक्ता अधिकाश्चतुरूषणे (वैद्यकम्)

चतुर्गति–पु., कच्छपः (हे. च.)

चतुर्थक–पु., विषमज्वरभेदः । चातुर्थिकज्वरः ।

चतुर्थिका–स्त्री., पलमानम् । ४ वा ८ तो (प. प्र.)

चतुर्दंष्ट्रा–स्त्री., गोक्षुरक्षुपः (वै. नि.)

चतुर्दल–पु., सुनिषन्नशाकः (भा.)

चतुर्दशाङ्ग–पु., सान्निपातिकज्वरे कषायभेदः (सा. कौ.)

चतुर्दशी–स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. नि.)

चतुर्द्रव–पु., चतुर्गुणद्रवद्रव्यम् (सि. यो.)

चतुर्धारी–स्त्री., चतुर्धारकाण्डवल्ली (वै. नि.)

चतुर्भङ्गा–स्त्री., शुक्लवृद्धदारकः (वै. नि.)

चतुर्भद्रिकावलेह–पु., चातुर्भद्रावलेहः ।

चतुर्मुख–पु., वातव्याधौ रसविशेषः (र. सा. सं.)

चतुर्वर्ण–पु., कलायभेदः (वै. नि.)

चतुर्बीज–न., मेथिकादिबीजचतुष्टयम् । मेथिका चन्द्रसूरश्च कालाजाजी यवानिका । एकचतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम् । तच्चूर्णभक्षितं नित्यं निहन्ति नयनामयम् । अजीर्णं शूलमाध्मानं पार्श्वशूलं कटिव्यथाम् (भा.)

चतुश्छद–(दा)–पु., स्त्री., चाङ्गेरी सुनिषणकः (वै.नि.)

चतुष्की–स्त्री., मशकहरी

चतुष्कुवलय–न., कुवलयस्य नालकन्ददलकेसरम् (वा. उ. ३८ अ. सिद्धरसायनघृतम्)

चतुष्पदा–स्त्री., भेण्डा (वै. नि.) जलजपुष्पविशेषम् (अर्कचि.)

चतुष्पर्णी–स्त्री., क्षुद्राम्लिका (रा. व. च.)

चतुष्पुटोदर–पु.,पीतपुष्पकरवीरवृक्षः (वै. नि.)

चतुस्सम–पु., आमज्वरयोगाविशेषः । हरीतकीलवङ्गसैन्धवयवानीसमभागेषु । मिलितचन्दनागुरुकस्तुरिकुङ्कुमेषु (ह. च.) गुणाः–आमशूलविबन्धघ्नं पाचनं दोषशोषनुत् (च.) आमातिसारशूले जातीफलं लवङ्गं जीरकं टङ्कणं समभागचूर्णं माक्षिकसितासहितं लिह्यात् ।

चत्वाल–पु., दर्भभेदः । गर्भाशयः (वै. नि.)
चदिर–पु.,हस्ती । कर्पूरम् । सर्पः (उणा.)
चन–पु., भक्तम् (वै. नि.)
चन्दक–पु., मत्स्यविशेषः । गुणाः–तन्मांसं अनभिष्यन्दि मधुरं बलकरं च (रा. व. १९.)
चन्दनगोपी–स्त्री., शारिवाविशेषः (रा. व. १२.)
चन्दनद्रुम–पु., रक्तचन्दनवृक्षः, सर्जः (वै. नि.)
चन्दनपुष्प–न,. लवङ्गम् (रा. व. १२)
चन्दनमूल–न., चन्दनतरुमूलम् । इदं जङ्गमविषघ्नम् । (नकुलः १६ अ.)
चन्दनमूलिका–स्त्री., कृष्णसारिवा (वै. नि.)
चन्दनादिलौह–जीर्णज्वरहितः (र. सा. सं.)
चन्दनाम्बु–न., सुगन्धजलभेदः । (वैद्यकम्)
चन्दिर–पु., कर्पूरम् (उणा.) हस्तिनि (मे.)
चन्द्रक–पु., मत्स्यविशेषः । गुणाः–चन्द्रकस्त्वनभिष्यन्दो मधुरो बलवर्धनः । (राज. ३ प.) मेचकः । (अ. म.) नखम् (श. च.) न., श्वेतमरिचम् (रा. व. ६) चन्द्रकम् (स्त्री,.) मेथिका । कपिकच्छुः । (वै. नि.)
चन्द्रकवान्–पु., मयूरः । (वै. नि.)
चन्द्रकान्ति–न., रूप्यम् । (वै. नि.)
चन्द्रगोलिका–स्त्री., चन्द्रकमीनः । (वै. नि.)
चन्द्रचञ्चल–पु., खलिशमत्स्यः (त्रिका.) चन्द्रकमत्स्यः । (जटा.)
चन्द्रजोपल–पु., चन्द्रकान्तमणिः (रा. व. १३)
चन्द्रट–पु., त्रिंशच्छलोकी व्याख्याकारः ।
चन्द्रतरु–पु., महासोमवल्ली (वै. नि.)
चन्द्रद्युति–न., चन्दनम् (वै. नि.)
चन्द्रनामा (न्)–पु., कर्पूरम् । (वै. नि.)
चन्द्रपुष्प–न., रौप्यम् (वै. नि.)
चन्द्रभस्म–न., कर्पूरम् (त्रिका.)
चन्द्रभा–स्त्री., श्वेतकण्टकारी ।
चन्द्रभागा–स्त्री., भारतवर्षीयनदीविशेषः । तज्जलगुणाः-सुशीतलं पित्तदाहघ्नं वातकरञ्च (रा. व. १४)
चन्द्रमणि–पु., चन्द्रकान्तमणिः । (हे. च.)
चन्द्रमल्लिका(ल्ली)–स्त्री., मल्लिकाभेदः ।
चन्द्रमसी–स्त्री., योनिमध्यस्थनाडीविशेषः । या चापरा चान्द्रमसी च नाडी कन्दर्पगर्भे भवति प्रधाना । सा सुन्दरी योषितमेव सूते.....(भा.)
चन्द्रमा–पु., सोमलताभेदः । (सु. चि .२९)
चन्द्ररश्मिन्–पु., चकोरपक्षी (वै. नि.)
चन्द्रराजी–स्त्री., बाकुची (रा. व. ४)
चन्द्ररुक्–न., चन्द्रकमत्स्यः । (वै. नि.)
चन्द्रलता–स्त्री., एलालता (वै. नि.)
चन्द्रविहङ्गम–पु., बकपक्षी (त्रिका.) सारसपक्षी (वै. नि.)
चन्द्रशकला–स्त्री., बाकुची (वै. नि.)
चन्द्रशालिका–स्त्री., प्रासादशिरोगृहम् (हारा.)
चन्द्रशेखररस–पु., शीताङ्गसन्निपातज्वरे रसः । (र. सा. सं.)
चन्द्रसंज्ञ–पु., कर्पूरम् (अम.)
चन्द्रसम्भवा–स्त्री., सूक्ष्मैला (श. च.)
चन्द्रापुरपूग–न., तत्स्थानजातपूगफलम् (रा. व. ११)
चन्द्रामृतरस(लौहञ्च)–पु., राजयक्ष्माधिकारे रसः (र. सा. सं.)
चन्द्राश्मा–(न्द्रिकाद्राव)–पु., चन्द्रकान्तमणिः (रा. व. १३.)
चन्द्रिकापायी(इन्)–पु., चकोरः (रा. व. १९)
चन्द्रिल–पु., नापितः । वास्तुकशाकम् (मे.)
चन्द्री–स्त्री., बाकुची (रा. व. ४)
चन्द्रेष्ट–न., कुमुदपुष्पम् (वै. नि.)
चन्द्रोदयमकरध्वज–(रस)–पु., रसायनाधिकारे रसः (रस. र.) तत् बृहद्ध्वजभङ्गाधिकारे हितम् स्वरूपः– ध्वजभङ्गे रसः (भैष.)
चन्द्रोदयवर्ति–स्त्री., नेत्ररोगे हिता ।
चन्द्रोपल–पु., चन्द्रकान्तमणिः (हे. च.)
चपलाजटा(मूल)–स्त्री., पिप्पलीमूलम् (वै. नि.) (२ भ. कासचि. मञ्जिष्ठाद्यचूर्णे.)
चपेट–पु., तलम् (रा. व. १८)
चमट–पु., स्थूलगोधूमः (वै. नि.)
चमत्कार–पु., अपामार्गः (श. र.)
चमरपुच्छ–पु., कोकडमृगः (रा. व. १९)
चमस–पु., पर्पटः । पिष्टभेदः । लड्डुकः । अजयपालः ।**(सी)** –स्त्री., मुद्गमसूरादिपिष्टके तच्चूर्णञ्च । चूर्णं यच्छुष्कमाषाणां चमसी साभिधीयते (भा.)
चमरु–पु., हरिणभेदः (अम.)
चम्पककलिका–स्त्री., चम्पककोरकः (रा. व. १०)
चम्पकागद–पु., लूताकीटादिविषहरोऽगदभेदः । यथा– ' हरिद्राद्वयपत्तङ्गमञ्जिष्ठानतकेसरैः । सक्षौद्रसर्पिः '
(वा. उ. ३७ अ.)

चम्पकालु(सु)-पु., पनसवृक्षः (श. र.)
चम्पालु ,, ,, ,,
चम्पकुन्द-पु., मत्स्यविशेषः, गुणाः- चम्पकुन्दो गुरुर्वृष्यः मधुरो वातपित्तजित् । शुक्रलो बलकृत् प्रोक्तः स्नेहनः श्लेष्मकोपनः (रा. ३ अ.)
चम्पकोल-(ष)-पु., पनसवृक्षः ।
चम्पल-पु., महानागकेशरचम्पकः (त्रिका.)
चरट-पु., खञ्जरीटपक्षी (श. मा.)
चरणग्रन्थि-पु., पदगुल्फः (हे. च.)
चरतिपत्रिका-स्त्री., रास्ना (वै. नि.)
चरप्रिय-न., मरिचम् (अम.)
चरित्रा-स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः (श. र.)
चरुका-स्त्री., तृणधान्यभेदः । गुणाः—श्यामाकवत् (च. सू. २७ अ.)
चरुव्रण-पु., चित्रपूपः । रोटिका (त्रिका.)
चर्चरीका- स्त्री., पु., शाकम् । महाकालः (मे.)
चर्चा-स्त्री., नियमापरित्यागः ।
चर्भट-पु., कर्कटिकालता (हला.)
चर्म (कण्टक)-पु., त्वक् (रा. व. १८) पर्पटकः (वै. नि.) (जिह्वकज्वरचि.)
चर्मकारतरु-पु., शुक्रमदनवृक्षः (वै. नि.)
चर्मकारालु-(क)-पु., वाराहीकन्दः (वै. नि.)
चर्मकारिका (री)-स्त्री., चर्मकषा (मे. ज. द.)
चर्मकी(इन्)-स्त्री., पु., चर्मपक्षी । (रा. व. १९)
चर्मघटिका-स्त्री., जलौका (वै. नि.)
चर्मचट (टि) **का** (टी)-स्त्री., चर्मचटी
चर्मचित्रक-न., श्वित्रकुष्ठम् (रा. व. २०)
चर्मज-न., रक्तधातुः । लोमन् (रा. व. २०)
चर्मजा-स्त्री., मसूरिकाभेदः । चामरगोटीति लोके (भा.)
चर्मटी-स्त्री., जलौका (वै. नि.)
चर्मण्वती-स्त्री., कदलीवृक्षः (मे.)
चर्मतरङ्ग-पु., त्वक्सङ्कोचम् (रा. व. १८) चर्मकीलरोगः (वै. नि.)
चर्मदूषिका-स्त्री., चर्मरोगविशेषः । (रा. व.) खर्जुः (वै. नि.)
चर्मद्रुम-पु., भूर्जवृक्षः (रा. व. २३)
चर्मनाशक-पु., चन्द्रशूरः (भा.)
चर्मपत्रा (त्री)-स्त्री., पु., (त्र) (क्ष)-चर्मचटिका (जटा. । रा. व. १९)
चर्मपिडका-स्त्री., मसूरिकारोगभेदः (मा. नि.)
चर्मप्रभेदिका-स्त्री., चर्मप्रभेदनाख्यम् (अम.)
चर्मबन्धन-न., मरिचम् (वै. नि.)
चर्मबिन्दुका-स्त्री., शीतपित्तोदर्दकोठरोगेषु उपयोज्या (वै. नि.)
चर्मव्रण-पु., चर्मरोगभेदः । लूतारोगादिः (वै. नि.)
चर्मसम्भवा-स्त्री., एला (हारा.)
चर्मसा-स्त्री., जलौका (वै. नि.)
चर्मसार-पु., शरीरस्थरसधातुः (रा. व. १८)
चर्महन्त्री-स्त्री., चन्द्रशूरः (भा.)
चर्माभ-पु., रसधातुः (रा. व. १८)
चर्मारक-पु., शुक्रहिङ्गुलम् (वै. नि.)
चर्माह्वय-पु., पर्पटकः (वै. नि.)
चर्मी (इन्) पु., भूर्जपत्रवृक्षः (अम.) भृङ्गरीटः (श. र.। चर्मचटकः (वै. नि.)
चर्वण-न., अष्टविधान्नान्यतमं अन्नम् (रा. व. २०) भक्षणम् । दन्तैर्भक्षणम् (हे. च.)
चर्वित-पु., दन्तैर्भक्षितम् (अम.)
चर्षिणी-पु., मनुष्यः (वै.नि.)
चलघ्नी-स्त्री., स्पृक्का (वै. नि.)
चलचञ्चु-पु., चकोरः (हे. च.)
चलत्पूर्णिका-स्त्री., चन्द्रकमत्स्यः (त्रिका.)
चलदङ्ग-क पु., मत्स्यभेदः । गुणाः- ' चलदङ्गोऽनभिष्यन्दी हितो वाते च रोचनः (राज ३ प.)
चलदल-पु., अश्वत्थवृक्षः (मद. व. ५) (रा. व. ११)
चलद्रुम-पु., गोक्षुरक्षुपः (वै. नि.)
चलन-न., कम्पनम् । भ्रमणम् (मे.) पु., हरिणः (जटा. पादः (हे. च.)
चलपुच्छ-पु., खञ्जरीटः (वै. नि.)
चला-स्त्री., सिल्हकम् (र. मा.)
चलाचला-स्त्री., काकः (रा व १९) त्रि चञ्चलः (अम)
चलातङ्क-पु., वातव्याधिः (रा व २०)
चलापह-पु., वरुणवृक्षः । रक्तकुलत्थः (वै. नि.)
चलु-पु., गण्डूषः (हे. च.)
चलुक-पु., प्रसृतिमानम् (मे.)
चवि-(वी) स्त्री., चविका (श. र.)
चव्या-स्त्री., कार्पासी (रा. व. ४) चव्यम् (रा. व. ६) वचा (मे.) पिप्पली (वै. नि.)
चषति-पु., जीर्णता । भक्षणम् (उणा.)
चक्षण-न., अवदंशः (हे. च.)

चक्षु-न., नेत्रम् (रा व १८) मेषशृङ्गी (र. मा.)
चक्षुपुष्प-पु., पाठा (प. मु.)
चक्षुक-पु., तिनिशवृक्षः (प. मु.)
चक्षुर्धावन-न., नेत्रधावनम् ।
चक्षुर्बहुल-पु., न., मेषशृङ्गी (र. मा.)
चाकचिच्या-स्त्री., श्वेतवुह्वा (र. मा.)
चाक्षुक-पु., तिनिशवृक्षः (प. मु.)
चाङ्ग-पु., चाङ्गेरी (अटी. रा.)
चाङ्गेरीसदृशपत्र-पु., सुनिषण्णशाकम्
(भा. पू. १ भ. शाकवर्गः)
चाटकैर-पु., चटकशिशुः (वै. नि.)
चाटुकर्ता-पु., पारावतः (वै. नि.)
चाणक्य (मूलक)-न., चणकमूली, मूलकभेदः
म.—थोर मुळा.
गुणाः-उष्णं कटुकं रुच्यं दीपनं गुरु ग्राहि कफवातकृमिगुल्मघ्नम् (रा. व. ७)
चाण्डाला (लिनी)-स्त्री., लिङ्गिनी
(रा. व. ३ र. सा. सं. रसमारकवर्गे)
चातक-पु., तन्नामकपक्षी
हिं.—तोक्या.
गुणाः-तन्मांसं लघु शीतलं रक्तपित्तकफघ्नं अग्निकरञ्च (राज.) वृष्यं बलपुष्टिदञ्च (रा. व. १९)
चातुर्भद्रपञ्चमूल-न., तत्पञ्चमूलः किराततिक्तादिगणे सान्निपातिकज्वरे योगविशेषः (सि. यो.)
चातुर्भद्रावलेहिका-स्त्री., कासश्वासहरे कफघ्नेऽवलेहभेदः, कट्फलं पौष्करं शृङ्गी कृष्णा च मधुना सह । 'घनकृष्णारुणाशृङ्गीचूर्णं क्षौद्रेण संयुतं । शिशोर्ज्वरातिसारघ्नम् (च. द.)
चान्द्र-न., रौप्यम्
पु., चन्द्रकान्तमणिः (हे. च.)
चान्द्रक-न., शुण्ठी (रा. व. ६)
चान्द्रा-स्त्री., अतिविषा (रा. व. घ.)
चान्द्राख्य-न., आर्द्रकम् (रा. व. घ.)
चामरपुष्प-(क)-पु., गुवाकवृक्षः । आम्रवृक्षः । केतकवृक्षः (क) काशः (मे.)
चामली-स्त्री., अन्नमण्डः (प. मु.)
चारणी-स्त्री., करवीरपुष्पवृक्षः । स्थलपद्मिनी (वै. नि.)
चारवायु-पु., शीतलसुरभिवातः (त्रिका.)
चारबीज-न., पियालवीजम् (हिं-चारदाना रा व ११)
चारिणी-स्त्री., करुणीपुष्पवृक्षः (रा. व. १०.)
चारित्रा-स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः (श. र.)
चारिल-पु., शशघाती (सु. सू. ७ अ.)
चारिवाक्-स्त्री., अजशृङ्गी (वै. नि.)
चारी-स्त्री., हिलमोचिका (भा. पू. १ भ.) शाकवर्गे
चारुक्-पु., शरबीजम् । गुणाः-चारुको मधुरो रूक्षो रक्तपित्तकफापहः ।
चारुकेशा-स्त्री., वनमल्लिका (वै. नि.
चारुदारु-पु., प्लक्षवृक्षः (वै. नि.)
चारुधाम-न., आम्रहरिद्रा (वै. नि.)
चारुनालक-न., रक्तपद्मम् ।
चारुपत्रिका-(त्री)-स्त्री., प्रसारिणी (रा. व. ५ मद.न.१)
चारुयूथी-स्त्री., शुक्लयूथिका (वै. नि.)
चारुलोचन-पु., हरिणः (त्रिका.)
चारुवर्तिनी-स्त्री., लाक्षा (वै. नि.)
चारुवृक्ष-पु., प्लक्षवृक्षः (मद. व. ५)
चारुशिला-स्त्री., रत्नम् (त्रिका.)
चिक(क्क)-पु., छुछुन्दरी (त्रिका.) (क्क) न., गुवाकः (वै. नि.)
चिक (कु) र-पु., केशः (रा. व. १८) वृक्षभेदः (त्रिका.)
चिकित्साकलिका-स्त्री., वैद्यकसंग्रहविशेषः ।
चिकित्साञ्जन-न., वैद्यकग्रन्थभेदः विद्यापतिकृतः ।
चिकित्सादीपक-पु., धन्वन्तरिकृतचिकित्साग्रन्थः ।
चिकित्सादीपिका-स्त्री., वङ्गसेनकृतचिकित्सासंग्रहः ।
चिकित्सामृत-न., चिकित्सासंग्रहभेदः ।
चिकित्सार्णव-पु., सदानन्दशुक्लकृतचिकित्साशास्त्रम् ।
चिकित्स्य-त्रि., चिकित्सार्हः । तद्गुणाः- 'निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः सत्त्वेन चक्षुषा । चिकित्स्यो भिषजां रोगी वैद्यभक्तो जितेन्द्रियः (भा.)
चिकूल-पु., दन्तीवृक्षः (वै. नि.)
चिक्किणा-स्त्री., पूगवृक्षः (वै. नि.)
चिङ्गट(ड)-पु., मत्स्यभेदः । गुणाः— 'चिङ्गटस्तु गुरुर्ग्राही मधुरो बलवर्धनः । मेदःपित्तास्रजिद्वृष्यो रोचनः कफवातलः (राज. ३ प. श. मा.)
चिङ्गटी-स्त्री., क्षुद्रचिङ्गटा, गुणाः—मधुरा हृद्या वातघ्नी गुरुः श्लेष्मकरी च (राज. ३ प.)
चिचण्ड (ण्डा) (ण्डिका)-पु., स्त्री., फलशाकविशेषः गुणाः--वातपित्तघ्नः बल्यः पथ्यः रुचिप्रदः शोषे हितः गुणैः पटोलत ईषद्धीनश्च (भा. पू. १ भ.) (शाकवर्गे) शोषरोगे हितं पटोलान्न्यूनगुणः (मद.)

चिचि–पु., चित्रकवृक्षः । गुणाः--दीपनः पाचनः आमपाचनश्च (शार्ङ्ग.)

चिञ्चिटिङ्ग–पु., वायव्यकीटविशेषः । (सु. कल्प. ८ अ.)

चिञ्चातैल–न., तिन्तिडीबीजभवंतैलम्, गुणाः--कटुपाकं लेखनं वातकफघ्नं रुच्यं नातिशीतलं कषायञ्च (रा. व. १५)

चिञ्चितिका–स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः (च. सू. २६ अ.)

चिञ्ची–स्त्री., गुञ्जा ।

चिञ्चोट (क)–पु., मुस्ताकृतिलघुकेसरी मूलशाकविषः । गुणैः—कसेरुतुल्यः (भा. पू. १ भ. शाकवर्गे.) गुणाः—गुरुत्वं अजीर्णकरत्वं शीतलत्वञ्च (राज३प)

चिटिका–स्त्री., आरामशीतला (वै. नि.)

चित्तभ्रमसन्निपात–पु., स्वनामख्यातसन्निपातज्वरविशेषः, यथा–गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्यतिच । दाहव्यथाभयार्तो नरस्तु चित्तविभ्रमे ज्वरे भवति । (भा. म. १ भ.)

चित्तविप्लव–पु., उन्मादः (हे. च. अम.)

चित्रकजीवी–पु., जीवकः (वै. नि.)

चित्रकण्टक–पु , गोक्षुरकः (वै. नि.)

चित्रकण्ठ–पु., पारावतः । जटा. । सारसपक्षी (वै. नि.)

चित्रकन्धर–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)

चित्रकर्मा–पु., तिनिशवृक्षः (श. च.)

चित्रकाण्डाली–स्त्री., गोनसवल्ली (वै. नि.)

चित्रकाद्यलौह–न., शोथाधिकारे (सा. कौ.)

चित्रकाय–पु., चित्रकव्याघ्रः (रा. व. १९)

चित्रकूला–स्त्री., ह्रस्वदन्तीवृक्षः (वै. नि.)

चित्रकृत्–पु., तिनिशवृक्षः (अम.)

चित्रकोल–पु., आञ्जनेयः (त्रिका.)

चित्रगन्धा–स्त्री., शुकनासा (वै. नि.)

चित्रगुडिका–स्त्री., वातग्रहणी (च. द. भा.)

चित्रग्रीव–पु., सारसपक्षी (वै. नि.)

चित्रट–न., वङ्गम् (वै. नि.)

चित्रतनु–पु., लावपक्षी (वै. नि.)

चित्रदण्डक–पु., शूरणक्षुपः (र सा. सं.) वनशूरणः । कार्पासवृक्षः (वै. नि.)

चित्रदेवी–स्त्री., महेन्द्रवारुणीलता (रा. व. ३)

चित्रदेह–पु., लावपक्षी (वै. नि.)

चित्रनेत्रा–स्त्री., सारिका (हारा.)

चित्रपत्रक–पु., मयूरः (वै. नि.)

चित्रपत्री–स्त्री., महाराष्ट्रीनामक्षुपः जलपिप्पलिः (रा. व. ४) पृश्निपर्णी (वै. नि.)

चित्रपदा–स्त्री., गोधापदी लता (श. मा.)

चित्रपाठी (लि)–पु., चित्रकः (वै. नि.)

चित्रपादा–स्त्री., शारिका (हारा.)

चित्रपिच्छ (क)–पु., मयूरः (त्रिका.) (च. चि २७ अ.)

चित्रपुङ्ख–पु., शरः (त्रिका.)

चित्रप्रिया–स्त्री., हरितालः (वै. नि.)

चित्रमृग–पु., चित्रवर्णमृगः (च.)

चित्रमेखल–पु.,मयूरः (त्रिका.)

चित्ररञ्जक–न., वङ्गम् (वै. नि.)

चित्रलेखिनी–स्त्री., तूलिका (हारा.)

चित्रलोचना–स्त्री., शारिकापक्षी (जटा.)

चित्रवदाल–पु., मत्स्यभेदः (जटा.)

चित्रवर्तिनी–स्त्री., रेणुकबीजम् (वै. नि.)

चित्रवीज–पु., रक्तैरण्डः (रा. व.)

चित्रवीर्य–पु., रक्तैरण्डः (रा. व.)

चित्रव्याघ्र–पु., चित्रकव्याघ्रः (रा. व. १९)

चित्रशोक–पु., अशोकवृक्षः (वै. नि.)

चित्रसर्प–पु., मालुधानसपः (श. र.)

चित्रसारा–स्त्री., हरितालः (वै. नि.)

चित्रक्षुप–पु., द्रोणपुष्पी (रा. व. ५)

चित्रांशु–पु., गुग्गुलुः (ज. द. १२ अ.)

चित्राक्षी–स्त्री., शारिका (त्रि. का.)

चित्रान्न–न., खेचरान्नम् (वै. नि.)

चित्रापूप–पु., अपूपविशेषः (त्रि. का.)

चित्राम्बररस–पु., ग्रहण्यां हितः ।

चित्राली–स्त्री., तिलकुसुमम् ।

चित्रिक–पु., चैत्रमासः (श. र.)

चित्रौदन–न., विचित्रान्नम्

चिन्तामणिचतुर्मुख–पु., वातव्याधौ रसः । (भैष.)

चिन्तामणिरस– पु., जीर्णज्वरे रसः (र. सा. सं.)

चिन्तिडा (डी)–स्त्री., तिन्तिडी (द्वि. कोषः)

चिन्न–पु., चीनधान्यम् (श. च.)

चिपिटक–पु., पृथुकः (हिं.–चूडा) (त्रिका.) गुणाः–गुरुः स्निग्धः बृंहणः कफवर्धनश्च (राज.)

चिपुट–पु., चिपिटकः (रुद्रकोष.)

चिप्पट–न., वङ्गम् (वै. नि.)

चिम–पट्टशाकम् (श. मा.)

चिमि (क)–पु., तिमिमत्स्यः पट्टशाकम् (श. मा.) शुकपक्षी (श. र.)

चिमचिमी–स्त्री., वातपीडा झिनझिनीति लोके।
चिरजीवक–पु., असनवृक्षः। जीवकवृक्षः (वै. नि.)
चिरज्वर–पु., दीर्घकालानुबन्धी ज्वरः
चिरन्तन–स्त्री., पुष्करमूलम् (वै. नि.)
चिरपत्रा (त्री)–स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः (वै. नि.)
चिरपत्रिका–स्त्री., चञ्चुकशाकम् (वै. नि.)
चिरपर्ण–पु., सर्जवृक्षः (वै. नि)
चिरपोटा–स्त्री., वासुकभेदः (वै. नि.)
चिरमेही–स्त्री., गर्दभः (त्रिका. हे. चं.)
चिरम्भण–पु., चिल्लपक्षी (त्रिका.)
चिरा–स्त्री., स्वनामख्यातगन्धद्रव्यम्, जलौका (वै. नि.)
चिराटिका–स्त्री., श्वेतपुनर्नवा (रा. व ९) लौहचटका (भैष. शूलचि. विद्याधराभ्रे) घटिका (वैद्यक-संग्रहः)
चिरातच्छद–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)
चिरातिक्त–पु., चिरतिक्तकः
चिरायु–पु., तालवृक्षः (रा. व. ९) काकः (वै. नि.)
चिरि–पु., चिल्लपक्षी (वै. नि.) शुकपक्षी (त्रिका.)
चिरिण्टी–स्त्री., शङ्खपुष्पी (रा. व ३)
चिरिपत्र–पु., क्षुद्रकारवेल्लम् (वै. नि.)
चिरिल्ला–पु., महामत्स्यभेदः (वै. नि.)
चिरिबिल्व–पु., करञ्जवृक्षः (अ. टी. भ.)
चिरु–न., बाहुसन्धिः (च. श.)
चिर्भटी–स्त्री., राजसुषवी (प. मु.) फलशाकविशेषम्। गुणाः–बाल्ये तिक्ता ईषदम्ला च, पाके दीपनी। शुष्का रूक्षा श्लेष्मवातारुचिघ्नी जाड्यघ्नी रोचनी दीपनी च (रा. व. ७) चिर्भिटं मधुरं रुच्यं गुरु पित्तकफापहम्। अनुष्णं ग्राहि विष्टम्भि पक्वन्तूष्णं च पित्तलम् (भा. पू. १ भ. शाकवर्ग.) पुष्पञ्च चिर्भटश्चैव दोषत्रयकरं स्मृतम्। अपक्वं जीर्णकफकृत् पक्वं किञ्चिद्विशिष्यते (अत्रि. १६ अ.)
चिलमीलिका–स्त्री., खद्योतः (मे.)
चिलि(ली)चि(ची)म(मि)–पु., मत्स्यभेदः।
चिलिमीलक-(लिका)–पु., स्त्री., चिलिचिममत्स्यः। (अ. टी. भ.)
चिलिम्ब–पु., प्लक्षवृक्षः। (वै. नि.)
चिल्लका–स्त्री., झिल्लिका (श. च.)
चिल्लभक्ष्या–स्त्री., वखीनामकद्रव्यम् (श. रा.)
चिवि(वु)–चिवुकः (ज. टा. । भ.)
चिविट–पु., चिपिटः (अ. टी.)
चिविल्लिका–स्त्री., पत्रशाकविशेषः।
म-चिविली
गुणाः–कटुः कषाया ज्वरे अतीसारे च हिता रसायनी च (रा. व. ५.)
चिवुक–पु., मुचुकुन्दवृक्षः (रा. व. १०.)
न., ओष्ठाधरभागः (रा. व. १८)
चीडागन्ध–पु., श्रीवेष्टनामकगन्धद्रव्यम् (रा. व. १२)
चीनवङ्ग–न., शीषकम् (रा. व. १३)
चीनाकर्कटी–स्त्री., चित्रकूटदेशप्रसिद्धस्वनामख्यातकर्कटिका, गुणाः– रुच्यं शीतलं पित्तदाहशोषघ्नं मधुरं तृप्तिदं हृद्यञ्च (रा. व. ७)
चीनीचोप–पु., तोपचीनी इति ख्यातवर्णिद्रव्यम् (भैष. वाजी.)
चीरि–स्त्री., नेत्रांशुकः (श. र.)
चीरिका (री)–स्त्री., झिल्ली (हे. च.)
चीरितच्छदा (त्रिका)–स्त्री., पालङ्कशाकम् (भा.)
चीरुक–न., चे ऊर इति ख्यातफलम्। गुणाः–रुचिकरं, दाहकरं कफकरं पित्तकरं अम्लञ्च। (राज. ३प.)
चीर्णपर्ण–पु., निम्बवृक्षः। खर्जूरवृक्षः (मे.)
चीलिका–स्त्री., चीरिका (श. र.)
चीलुका–स्त्री., झिल्ली (श. र.)
चील्लिका–स्त्री.,–चिल्लीशाकम् (वै. नि.)
चीवर–स्त्री., शाकविशेषः। (उणा.)
चुक्रक–न., चुक्रम् (प. मु.) गुणाः– दुर्जरं भेदि वातघ्नं पित्तकरं गुरु च (राज. ३प.) पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)
चुक्रकेतु–पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)
चुक्रचण्डिका–स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः। (मद. व. ६)
चुक्रवेतस–पु., अम्लवेतसम् (वै. नि.)
चुक्रवेधक–न., काञ्जीविशेषम् (रा. व. १०)
चुक्रशाक–पु., चुक्रपालङ्कः (वै. नि.)
चुचुन्दर–पु., छुछुन्दरः (वै. नि.)
चुञ्चुपत्र–पु., चुञ्चुक्षुपः (रा. व. ४)
चुञ्चुर–पु., चुञ्चुक्षुपः (रा. व. ४)
चुण्टा (ण्टी)–स्त्री., कृत्रिमजलाशयभेदः (हे. च.)
कूपम् (त्रिका.)
चुत–(ति)–पु., स्त्री., अपानद्वारम्ः (श. र.)
चुरी–स्त्री., उपकूपम्। स्वल्पजलाशयः (हे. च.)
चुलुम्प–पु., बाललालनम् (जटा.)
चुलुम्पा–नी., छागिः (त्रिका.)

चुलुम्पी–पु., शिशुमाराकृतिमत्स्यः । उत्पलमत्स्यः (श.र.)
चुल्ल–पु., क्लिन्ननेत्रतारोगः ।
चुल्लकी–स्त्री., शिशुमारः । कीलीभेदः (मे.) । (श. र.)
चुल्लि–स्त्री., पाकार्थमग्निस्थानम् (अ. टी.)
चुल्लिकालवण–न., लवणविशेषः (वै. नि.)
चुल्ली–स्त्री., गुवाक्पुष्पम् (च. द. वा. व्या. महाराजप्र तैले) चिता (मे.)
चुवुक–पु., अधरोष्ठाधोभागः, मुखम् (वै. नि.)
चुस्त–पु., न., स्थालीपक्कमांसम्–पनसफलस्यासारभागः (लिङ्ग सं. भः) कूपः । त्रिका) मयूरशिखा (अम.)
चूडा–स्त्री., मस्तकम् । श्वेतगुञ्जा (वै. नि.)
चुडाल–न., मस्तकम् (श. र.)
स्त्री., श्वेतगुञ्जा (रा. व. २) उच्चटा (अम. ज. द. अ.) नागरमुस्ता (रा. व. ६)
चूर्णकील–पु., अश्वस्य पादरोगभेदः । सूक्ष्मचूर्णतलश्चैव चूर्णकीलः (ज. द. ३८ अ.)
चूर्णकुन्तल–पु., अलकः (अम.)
चूर्णखण्ड–पु., स्त्री., कङ्करः (हारा.)
चूर्णमशी–स्त्री., मसीविशेषा । कृष्णसर्पो दह्यमानो यदा कृष्णत्वं गच्छति तदा चूर्णमसीत्युच्यते (सु. चि. ९ अ.)
चूर्णशाकाङ्क–पु., गौरसुवर्णशाकः (रा. ७)
चूर्णि–(र्णी)–स्त्री., कपर्दकः (उणा. मे.)
चूर्णिका–स्त्री., सक्तुः ।
चूर्धर–पु., ऋषभकः (रा. व. ५)
चूल(क)–पु., केशः ।
चूलिक–न., लोचिका (श. च.) गुणाः– ग्राहि वातश्लेष्मघ्नं पाके किञ्चिदम्लकारि रूक्षं आमग्रहणीकासघ्नम् (वैद्यचन्द्रिका.)
चूषा–स्त्री., चूषणम् । कक्षा (अम.)
चेउलपूग–न., कोङ्कणदेशख्यातं पूगफलविशेषम् (रा. व. ११)
चेतनिका–स्त्री., चेतकीहरीतकी (रा. व. ११)
चेदार–पु., सरटः (वै. नि.)
चेलकत्वक्–स्त्री., गुवाक्पुष्पत्वक् (च. द. वा. व्या. चि.)
चेलान(ल)–पु., लतापणसः । गुणाः– गुरु मधुरं विष्टम्भि कफवातकरञ्च (राज. ३ प.)
चेलीम–पु.,मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
चेष्टक–पु., तपस्विमत्स्यः (वै. नि.)
चेष्टानाश–पु., इन्द्रियस्रापः । प्रलयः (रा. व. २०)
चैतसघृत–न., उन्मादे घृतविशेषः, गुणाः–सर्वचेतोविकाराणां शमनं परमं मतम् । (सा. कौ.) भैष. (च. द. । भा. ।)
चैत्यद्रु–पु., अश्वत्थवृक्षः (प. मु. । रा. व. ११ । र. मा.)
चैत्र–(क)–पु., चित्रानक्षत्रयुक्तमासः ।
चैत्रवृक्ष–पु., आम्रवृक्षः (वै. नि.)
चोक–(ख)–न., स्वर्णक्षीरीमूलम् । ' कटुपर्णी हैमवती हेमक्षीरी हिमावती हेमाह्वा पीतदुग्धा च तन्मूलं चोकमुच्यते ' (भा.)
चोचक–न., वल्कलः (श. र.)
चोदनी–स्त्री., दुरालभा (वै. नि.)
चोरकण्टक–पु., शङ्खिनीवृक्षः (वै. नि.)
चोरका–स्त्री., चोरपुष्पी (च. द.; उन्मादचि. महापैशाचघृते.)
चोरपुष्पिका–(ष्पी)–स्त्री., शङ्खिनी (श. र । वा. व्या. महाप्र. तले.)
चोरभण्टि(ण्डि)का–स्त्री., वार्ताकी (वै. नि.)
चोरशुण्ठी–स्त्री., श्वेतकिणिही ।
चोरस्नायु–स्त्री., श्वेतकाकजङ्घा, काकनासा (रा. व. ३)
चोरा–स्त्री., चोरपुष्पी (श. च.)
चोलक–स्त्री., वल्कलम् (श. र.)
चोलकी–पु., शङ्खिनी (वै. नि.) करीरः । नारङ्गम् । किष्कुपर्वं (मे.)
चोलण्डुक–पु., शिरोवेष्टनम् (त्रिका.)
चोलीपूग–न., आन्ध्रदेशभवपूगफलम् (म.—चोली पोफळ) (रा. व. ११)
चोष्य–न., अष्टविधान्नान्यतममन्नम् । (रा. व. २०)
चौरिक–पु., चोरानामगन्धद्रव्यम् । चोरपुष्पी (च. द.-वा. व्या. चि. अष्टादशशतीप्र तैल.)
चौरी–स्त्री., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (वै. नि.)
च्युति–स्त्री., भगः (हे. च.) पायुः (श. र.)
च्युरव–पु., कफजकृमिभेदः (च. वि. ७)

छ

छग–पु., छागः (त्रिका.)
छगला–स्त्री., वृद्धदारकलता (श. र.)
छगलाङ्घी (ण्डी)–स्त्री., वृद्धदारकलता । (र. मा. सु.-सू. ३९ अ.) छगलान्त्रीलता (अ. टी. र.)
छगली–स्त्री., वृद्धदारकः (प. मु.) छागिः (विश्व.)
छच्छिका–स्त्री., सनवनीततक्रम् (वै. नि.)

छटाफल–पु., नारिकेलवृक्षः । तालवृक्षः । (वै. नि.) गुवाकवृक्षः (त्रिका.)

छत्र–(क)–पु., रक्तकोकिलाक्षवृक्षः । मूलेन पत्रेण वचाकारवृक्षः (र. मा.) अलकाकः । मत्स्यरङ्गपक्षिणि (श. च.) भूतृणे (रा. व. ८)

छत्रपत्र (क)–न., स्थलपद्मम् (त्रिका.) पु., भूर्जपत्रवृक्षः (र. मा.) सप्तपर्णवृक्षः । मानकम् ।

छत्रपर्पटी–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (प. मु.)

छत्रपुष्पी–स्त्री., स्थूलशताह्वा (वै. नि.)

छत्रवृक्ष–पु., स्वनामख्यातवृक्षः (र. मा.)

छत्राङ्ग–न., हरितालविशेषः (प. मु.)

छत्रातिच्छत्र–(त्रा)–पु., स्त्री., सुगन्धाख्यतृणविशेषः । स जलजः छत्राकारश्च भवति । काश्मीरस्थदिव्यसरसि दृश्यते (श. र.) (त्रे)–द्रोणपुष्पीद्वये (सि. यो. उन्मा. चि. पैशाचघृते । श्रीकण्ठः)

छत्रिका–स्त्री., शिलीन्ध्रः । सा नानास्थानभेदेन बहुधा । गुणाः—शीता कषाया स्वादुः पिच्छिला छर्द्यतिसारज्वरकफरोगकरी गुरुश्च । पलालजा तु स्वादुपाका रूक्षा च । तथा रेणुजगोष्ठजशुचिस्थानकाष्ठजश्वेतछत्रिकाश्च दोषकर्यः निन्दिताश्च (राज.)

छत्री (इन्)–पु., सप्तपर्णवृक्षः (वै. नि.) नापितः (श. र.) (त्रि) छत्रविशिष्टम्

छदपत्र–पु., भूर्जवृक्षः (र. मा.)

छदवल्लभ–पु., ग्रन्थिपर्णमूलः (वै. नि.)

छद्मद्विज–पु., कङ्कपक्षी (मे.)

छद्वर–पु., दन्तः (वै. नि.)

छमि–पु., ऊर्णनाभिः (वै. नि.)

छरिषा–स्त्री., दारुहरिद्रा (वै. नि.)

छर्द–न., वमनवेगः । वमनम् (हे. च.)

छर्दिकारिपु–पु., सूक्ष्मैला (श. च.)

छर्दिघ्नरिपु– ,, (वै. नि.)

छर्द्यापनिका(नी)–स्त्री., कर्कटिका (वै. नि.)

छविपत्रक–पु., वृश्चिकाली (भेष. कुष्ठ.) (चि. कन्दर्पसारतैले.)

छागकण–पु., सर्जतरुः । शाकतरुः (वै. नि.)

छागघृत–न., छागीनवनीतजघृतम् । गुणाः– चक्षुष्यं दीपनं बलवर्धनं कासश्वासकफरोगराजयक्ष्मसु हितञ्च (रा. व. १५) (पृ. २३७)

छागण–पु., करीषाग्निः (त्रिका.)

छागदधि–न., छागीदुग्धकृतदधि गुणाः– वातकफघ्नं लघु उष्णं नेत्ररोगे हितम् अर्शः श्वासकासघ्नम् । रुच्यं दीपनं पाचनञ्च (रा. व. १५; २४० पृ. २४) आजं दधि भवेच्चोष्णं क्षयवातविनाशनं । दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्निप्रदीपनम् । विपाके मधुरं वृष्यं रक्तपित्तप्रसादनं । शस्तं प्राभातिकं प्रोक्तं वातपित्तनिबर्हणम् (अत्रि. ८ अ)

छागदुग्ध–न., अजादुग्धम् (म.शेळीचे दूध) गुणाः– कषायं मधुरं शीतं ग्राही लघु पित्तक्षयापहारि कासज्वरघ्नं रुधिरातिसारे हितं त्रिदोषघ्नञ्च (अत्रि. ८ अ.) लघुकायत्वात् नानाद्रव्यनिषेवणात् नात्यम्बुपानात् व्यायामात् सर्वव्याधिहरं क्षीणाजदुग्धं गोदुग्धवीर्यादधिकगुणं क्षीणदेहेषु पथ्यतमम् (रा. व. १५।२१७)

छागनवनीत–न., छागीदुग्धोत्थनवनीतं । गुणाः– लघु मधुरं कषायं त्रिदोषघ्नं चक्षुष्यं दीपनं बल्यं सदा हितञ्च । प्रत्यग्रनवनीतंक्षयकासनेत्ररोगकफघ्नं बल्यं अतिदीपनम् (रा. व. १५; पृ. ३८५)

छागभोजी (इन्) पु., ईहामृगः । वृकः (रा. व. १९) त्रि. छागभक्षकः

छागमांस–न., छागलमांसम् (सि. यो.) गुणाः– लघु स्निग्धं नातिशीतं रुचिप्रदं निर्दोषं वातपित्तघ्नं मधुरं बलदं पुष्टिदञ्च छागपोतभवं मांसं लघु शीतलं प्रमेहघ्नम् । तृणचारिच्छागपोतमासं ईषल्लघु बलदञ्च (रा. व. १७-४०५; पृ. २६८) छागमांसं परं हृद्यं बृंहणं बलवर्धनं । स्निग्धं मृद्वग्निभिष्यन्दि नात्युष्णं धातुसाम्यकृत् (राज.) निष्कासिताण्डच्छागमांसगुणाः–कफकृत् गुरु स्रोतःशुद्धिकरं बलकरं मांसवर्धकम् वातपित्तघ्नञ्च । वृद्धच्छागमांसगुणाः–वातलं रूक्षञ्च । तदण्डं रुचिप्रदम (भा.) शुक्रवर्धकमिति दृष्टफलम् ।

छागलान्त–रि.–पु., ईहामृगः (रा. व. १९)

छागलाक्ष–पु., मल्लिकाकुसुमम् (प. मु.)

छागशकृत्–न., छागविष्ठा

छागशत्रु–पु., ईहामृगः (वै. नि.)

छागशृङ्गी–स्त्री., अजशृङ्गी (भा.म.) (३म.मूत्रकृच्छ्र चि.)

छागाद्यघृत–न., (यक्ष्मरोगे हितम् (सा. कौ. च. द)

छागिका (गी) स्त्री., छागस्त्रीमांसगुणाः–मधुरं शीतलं ग्राहि दीपनं रक्तपित्तहरं क्षयकासहरं कषायं लघु अतिसारज्वरघ्नञ्च । अप्रसूतामांसं पीनसघ्नं शुष्ककासेऽरुचौ शोषे च हितं अग्निदीपनञ्च (भा.)

छागीतक्र–न., छागीघोलः । गुणः– छागलं लघु सस्निग्धं त्रिदोषशमनं परं । गुल्मार्शोग्रहणीशूलपाण्ड्वामयविनाशनम् (अत्रि. ८ अ.)

छागीक्षीरविनाशन–पु., शाखोटवृक्षः

छात्रदर्शन–न., प्रत्यग्रघृतम् । हैयङ्गवीनघृतम् (श. च.)

छात्रशर्करा–स्त्री., छात्रमधुकृतशर्करा । गुणैः–छात्रमधुसदृशा (रा. व. १४. २७६ पृ. २४९)

छायातरु–पु., छायाप्रधानवृक्षः वटादिः (त्रिका.)

छायामित्र–न., छत्रम् (श. र.)

छायावृक्ष–पु., अश्वत्थवृक्षः (वे. नि.)

छिक्क (ण) क्का–न., स्त्री. क्षवथुः (वै. नि.)

छिक्कणी–स्त्री., छिक्किनी (भा.)

छिक्कर–पु., जाङ्गलजीवविशेषः ।
गुणाः–छिक्करो लघु बृंही च मधुरो दोषनाशनः । तुल्यो हरिणमांसेन ज्वरेष्वपि प्रशस्यते (अत्रि.२०अ)

छिक्किका–(नी)–स्त्री., स्वनामख्यातलता । (हिं–माकछिकनी) ।
गुणाः– कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वन्हिपित्तकृत् । वातरक्तहरी कुष्ठकृमि वातकफापहा च । (भा.)

छिक्किपत्रा–स्त्री., छिक्किनी (वै. नि.)

छित्ति–पु., करञ्जवृक्षः (श. च.)

छिन्नपत्रिका (त्रि)–स्त्री., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.)

छिन्नपुष्पा–स्त्री., तिलकवृक्षः (वै. नि.)

छिन्नरूढशाली–पु., रोपितशालिः

छिन्नवेशिका–स्त्रीं., पाठा (श. च.)

छिलिहिण्ट (ण्ड)–(ण्टी)–पु., स्त्री., पातालगारुडीलता (हिं–छिरिहिटा) (मद. । भा.)

छुर–न., कपिकच्छूमूलम् (वै. नि.)

छुरा–स्त्री., सुधा (हारा.)

छुरिक–पु., सप्तपर्णवृक्षः (प. मु.)

छुरिका–स्त्री., वन्ध्या गौः पालङ्कशाकः (भा.) अस्त्रभेदम् ।

छेक–पु., गृहासक्तपक्षी । मृगः (मे.)

छेलु–पु., सोमराजी

छोटिका–स्त्री., अङ्गुलिध्वनिः (भा.) हिं.—चुटकी.

छोद–पु., चूर्णम् (सि. यो. दाह. चि.) ' चन्दनच्छोदवारिणा ' ।

छोलङ्ग–पु., मातुलुङ्गवृक्षः (प. मु.)

छोहारा–स्त्री., शुष्कमहाखर्जूरम् । ' खजूरी गोस्तनाकारा परदिपादिहागता । जायते पश्चिमे देशे सा छोहारेति कीर्त्यते (भा.)

ज

ज–पु., मृत्युञ्जयः (मे.) विषम् । तेजः (श. र.)

जकुट–न., वार्ताकुपुष्पम् (अत्रि. ३ स्थान ५६ अ.)

जक्षण–न., भक्षणम् (रा. व. २०.५५; पृ. ४१२)

जक्ष्म–(क्ष्मा)(न्)–पु., क्षयरोगः (अ. टी. भ.)

जगत्–न., सौराष्ट्रमृत्तिका

जगदुन्मादका–स्त्री., सुरा (वै. नि.)

जगन्धु–पु., अग्निः । कीटभेदः (विश्व. । श. र.)

जग्धि–स्त्री., भोजनम् (रा. व. २०)

जघनकूपक–पु., सन्धिखल्लद्वयम् (हला.)

जघनेफला–स्त्री., काकोदुम्बरिका (अम. ज. द. १२ अ.)

जङ्गमकुटी–स्त्री., तृणादिच्छत्रम् । (त्रिका.)

जङ्गल–न., मांसम् । निर्जनदेशः (त्रिका.)

जङ्गाल–न., रञ्जनद्रव्यभेदः । (अर्श. चि. ९ शतकं.)

जङ्गुल–न., विषम् । (त्रिका.) जालिनीफलम् (श. र.)

जङ्घापर्व–न., ऊरुमध्यस्थपर्वम् (वै. नि.)

जङ्घाशूल–न., वातव्याधिभेदः (नि.)

जटर–पु., उदरम् (द्विकोष.)

जटान्ता–स्त्री., जटामांसी । भूम्यामलकी (वै. नि.)

जटामांस्यादि–पु., कफरोगे तदादिसुरभिद्रव्यगणः । जटामांसी –नखी–पत्री– लवङ्ग –तगर –शिलारस–गन्धपाषाणानि (रा. व.)

जटायु–पु., गुग्गुलुः (प. मु.)

जटु (डु) ल–पु., पिप्लुः (अम. हे. च.)

जठरघ्न–पु., जलोदरः (रा. व. २०)

जठरज्वाला–स्त्री., उदरशूलः (वै. नि.)

जठरनुत्–पु., आरग्वधवृक्षः (श. च.)

जठ (ड) री–स्त्री., गर्मौटिकातृणम् (रा. व. ८)

जडसम्भव–न., शीतलजलम् (वै. नि.)

जडा–स्त्री., शूकशिम्बी (प. मु.) भूम्यामलकी (र. मा.)

जतुक–न., हिङ्गुः (भा.)

जतुकारी–स्त्री., जन्तुकालता (रा. व. ३)अलक्तकः(वै.नि.)

जतुकाह्वा–स्त्री., लाक्षा (वै. नि)

जतु (न्तु) कृत्–स्त्री., जनीनामगन्धद्रव्यम् (अम.) लाक्षा (वै. नि.)

जतुकृष्णा–स्त्री., पर्पटीनामगन्धद्रव्यम् जन्तुकालता (भा.)

जतुनी–स्त्री., चर्मचटिका (त्रिका.)

जतुपत्रिका–स्त्री., चाङ्गेरी । क्षुद्रपाषाणभेदः (वै. नि.)
जतुरस–पु., अलक्तकः (रा. व. ६)
जतुशिला–स्त्री., शिलाजतु (वै. नि. २ भ; कृमि. चि. विडङ्गादितैले.)
जतूका–स्त्री., अजिनपत्रा (श. र.) जनीवृक्षः (अम.) वास्तूकभेदः (वै. नि.)
जत्रुक–न., स्कन्धकक्षयोः सन्धिः । (रा. व. ६)
जत्रुस्थि–न., स्कन्धकक्षासन्ध्यस्थि । ते च द्वे (च. शा. ७ अ.)
जन–पु., लोकः । मनुष्यः (अम.)
जनकारी–(इन्)–पु , अलक्तकः (रा. व. ६)
जनत्रा–स्त्री., छत्रम् (वै. नि.)
जनन–न., जन्म । उत्पत्तिः (मे.)
जनप्रिया–स्त्री., कुस्तुम्बरी (रा. व. २२)
जनरञ्जक–पु., वनवास्तुकः (वै. नि.)
जनरञ्जनी–स्त्री., जन्तुकालता जनीनामसुगन्धद्रव्यम् (वै. नि.)
जनाशन–पु., ईहामृगः वृकः (रा. व. १९)
जनि–(नी)–स्त्री., वास्तुकः (वै. नि.) उत्पत्तिः (अम.) स्वनामख्यातगन्धद्रव्यम् (अ. टी. रा.) जन्तुका । कटुका (रा. व. ६) नी–स्त्री., सातला (वै. नि.)
जनिनीलिका–स्त्री., महानीली (रा. व. ४)
जनोत्रम–पु., शाकवृक्षः (प. मु.)
जन्तव–न., विडङ्गम् (वै. नि. २ भ. अर्श. चि.)
जन्तुक–पु., हिङ्गु; (ज. द. १२ अ.) जन्तुका (वै. नि.)
जन्तुका–स्त्री., लाक्षा (रा. व. ६) मालवदेशप्रसिद्ध-स्वनामख्यातलता (हिं.—पापडी) गुणाः—शिशिरा तिक्ता रक्तपित्तकफघ्नी दाहतृष्णावमीहरा रुचिकृत् दीपनी च (रा. व. ३) नाडीहिङ्गुः । पत्रदात्री । भ्रमरी त्वक् (रा. व. २३)
जन्तुतन्तु–पु., शणबीजम् । (वै. नि.)
जन्तुपादप–पु., कोषाम्रवृक्षः (रा. व. ११)
जन्तुमत्फल–पु., उदुम्बरवृक्षः । (वै. नि.)
जन्तुला–स्त्री., जन्तुकालता (वै. नि.) काशतृणम् (त्रिका)
जन्तुवृक्ष–पु., कोशाम्रवृक्षः । उदुम्बरवृक्षः । (वै. नि.)
जन्तुशत्रु–पु., विडङ्गम् (चि. क. क. केशरञ्जने)
जन्तुहनन (रण)–न., विडङ्गम् (वै. नि.)
जन्मवर्त्म–न., भगम् (त्रिका.)
जपाकुसुमसन्निभ–न., हिङ्गुलम् (वै. नि.)
जपापुष्प (प्रसून)–न., जवा । तत्र अगर्भसम्पादन-गुणम् । (चि. क.क. गर्भचिकित्सा)
जपारक्त–न., जवापुष्पम् पु., जपावृक्षः
जमन–न., भोजनम् (अ. टी. भ.)
जम्ब–पु., जम्बीरवृक्षः (र. सा. सं.)
जम्बा–स्त्री., जम्बूफलम् (अम.)
जम्बाल–पु., केतकवृक्षः । (श. र.) शैवालम् । पङ्कम् (त्रिका । हारा.) (न.) सुगन्धतृणम् (वै. नि.)
जम्बुडिका–स्त्री., स्विन्नः माषः । (रावणकुमारतन्त्रे)
जम्बु (म्बू) ल–पु , केतकवृक्षः ।
जम्बुवनज–न., श्वेतजवापुष्पम् ।
जम्भका–स्त्री., जृम्भा । (रा. व. २०)
जम्भला–स्त्री. सुखप्रसवस्मरण राक्षसीविशेषा । 'समुद्र-स्योत्तरे तीरे जम्भला नाम राक्षसी । तस्याः स्मरणमात्रेण विशल्या गर्भिणी भवेत्।'(राजमार्तण्डः) तुलकः (वै. नि.)
जम्भा–स्त्री., जृम्भा कश्चित् (रा. व. ११)
जम्भी(इन्)–जम्बीरवृक्षः (श. च)
जयकारिका–स्त्री., लज्जालुका (वै. नि.)
जयतरु–पु., नन्दीवृक्षः ।
जयद्रुम–पु., वन्दा (वै. नि.)
जयनाल–पु., यावनालः (वै. नि.)
जयमङ्गलरस–पु., विषमज्वरघ्ने औषधविशेषः (सा. कौ. र. चि. रसकौ.)
जयाञ्जन(मल)–न., स्रोतोऽञ्जनविशेषम् जहरपाथर इति पश्चिमदेशे । ' स्रोतोञ्जनं नदीजञ्च कृष्ण-स्रोतोजयाञ्जनम् ' (प. मु.)
जयापुष्प–न., जपापुष्पम् (वै. नि.)
जयावटी–स्त्री., ज्वराधिकारे हिता (र. चि. रस. कौ.)
जयाश्रया–स्त्री., गर्मूटिकातृणम्
जरक–न., पु., हिङ्गुः ।
जरठ–पु., पाण्डुः । कठिनः (मे.) जीर्णः (हे. च)
जरडी–स्त्री., गर्मूटिकातृणम् (रा. व. ८) हिं.—जहूर.
जरती–स्त्री., वृद्धा (रा. व. ८)
जरत्पित्तशूल–न., परिणामशूलम् । ' वान्तमात्रे जर-त्पित्ते शूलमाशु प्रशाम्यति, ' (रस. र.)
जरन्त–पु., महिषः (उणा.)
जरमान–., पु., मनुष्यः(उणा)
जराक्लैब्य–न., जराजन्यक्लैब्यरोगविशेषः (च. चि. ३०-१७६-१८०)
जरायुदोष–पु., गर्भजरोगभेदः वै. नि.)

जरालक्ष्म–न., पलितम्– (रा. व. १८)
जरूथ–न., मांसम् (त्रिका.)
जर्जरीक–त्रि., बहुच्छिद्रद्रव्यम् (मे.)
जर्ण–त्रि., जीर्णः (हे. च.)
जर्त–(र्तृ)–पु., करिणि । योनिः (उणा.)
जलकण्टक–पु., शृङ्गाटकः (कुम्भीरः (हारा.)
जलकदली–स्त्री., स्वनामख्यातजलजकन्दविशेषः (प. मु.)
जलकन्द–पु., शृङ्गाटकः (न्दा)–स्त्री., जलकदली (प. म.)
जलकपि–पु., शिशुमारः (हारा.)
जलकपोत–(क)–पु., जलपक्षी (वै. नि.)
जलकरङ्क–पु., नारिकेलफलम् । पद्मम् । शङ्खः (त्रिका. । हारा.)
जलकर्णा–स्त्री., कर्णमोटा (च. द. यक्ष्म. चि.) (रशेन्द्रगुडौ)
जलकल्क–पु., जम्बालः (हारा.)
जलकाक–पु., जलपक्षिविशेषः । तन्मांसगुणाः—स्निग्धं गुरु हिमं वातहरम् (रा. व. १७)
जलकाङ्क–(ङ्क्षि)–पु., स्त्री., हस्ती (हारा.)
जलकामा–स्त्री., अन्धाहुली (वै. नि.)
जलकिराट–पु., नक्रः । शिशुमारः (हारा.)
जलकुकुट–पु., डहुकाः । कारण्डवः (वै. नि.)
जलकुक्कुभ–पु., जलकुक्कुटः (हे. च.)
जलकुक्कुटी–स्त्री., गङ्गाचिल्लीपक्षी (हारा.)
जलकुण्डल–पु., शेवालम् (भूरिप्र.)
जलकुब्जका–स्त्री., शृङ्गाटकः । कुम्भीरः (वै. नि.)
जलकूपी–स्त्री., पुष्करिणी (हारा.)
जलकूर्म–पु., शिशुमारः (त्रिका.)
जलकेश–पु., शैवालम् (हारा.)
जलगुल्म–पु., क्षुद्रसरोवरः (मे) कच्छपः (हारा.)
जलगोजक–न., पिस्ता इति ख्याते काबेलदेशजेफलम् (वै. नि.)
जलङ्ग–पु., महाकालः (रा. व.)
जलजन्तु–पु., जलवासिप्राणिमात्रः (अभ.)
जलजन्तुका–स्त्री., जलौका (भ.)
जलजम्बूका–स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः (भा.)
जलजसुमना–स्त्री.,श ङ्खपुष्पी (वै. नि.)
जलजा–स्त्री., वल्ली, यष्टिमधु (वै. नि.)
जलजात–पु., जलवेतसम् (वै. नि.)
जलजाता–स्त्री., कुङ्कुमशालिः (रा. व. १६)
जलजिह्व–पु., शिशुमारः । कुम्भीरः (हारा.)
जलजीविनी–स्त्री., जलौका (वै. नि.)
जलडिम्ब–पु., शुक्तिः । शम्बूकः (हारा.)
जलतण्डुलीय–न., काचटः (भा.)
जलतापिक (तापी)–पु., मत्स्यविशेषः ।
जलताल–पु., इक्षीशमत्स्यः (त्रिका.)
जलतिक्त (क्ति) का–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (रा. व. ११)
जलत्रा–स्त्री., छत्रम् (हारा.)
जलदागम–पु., वर्षाकालः (रा. व. २१)
जलदाशन–पु., शाकम् । शालवृक्षः (श. च.)
जलधर–पु., मुस्ता । (अम. । च. द. अति.) (चि. कच्चटादि–तिनिशवृक्षः (रा व ९.)
जलधराधर–पु., पीतोशीरम् (वै. नि.)
जलनकुल–पु., जलमार्जारम् (त्रिका.)
जलनेत्र–पु., जलमधुकः (वै. नि.)
जलपत्रिका–स्त्री., पद्मिनी (वै. नि.)
जलपक्षी–पु., हंसादिजलचरपक्षी, तन्मांसम् स्निग्धं हिमं, गुरु (रा. व. १७)
जलपाक–पु., परिपाकः कर्षं गृहीत्वा द्रव्यस्य क्काथयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि । अर्धं श्रृतं प्रयोक्तव्यं जलपाके स्वयं विधिः (वा. चि. २ अ.)
जलपादप–पु., हंसः (वै. नि.)
जलपारावत–पु., जलकपोतः (रा. व. १९)
जलपिप्पली–स्त्री., महाराष्ट्रीक्षुपः (हिं.—पाणिसगा जलपिपरी) (रा. व. ४) गुणाः– जलपिप्पलिका हृद्या चक्षुष्या शुक्रला लघुः । संग्राहिणी हिमा रूक्षा रक्तदाहव्रणापहा कटुपाकरसा रुच्या कषाया वह्निवर्धिनी (भा. पू. गुणवर्गे) कटुः तीक्ष्णा कषाया मलशुद्धिकरी व्रणकीटादिदोषरसदोषघ्नी च (रा. व. ४)
जलपुष्प–न., जलजातपुष्पम् । यथा अष्टधा कमलानि स्युर्जलवासी चतुष्पदा जलजीवी च कुम्भीका जलपुष्पगणस्त्वयम् (अर्क.)
जलपृष्ठजा–स्त्री., शैवालः (श. च.)
जलप्रद–पु., न., पीतवालकः (वै. नि.)
जलप्राणी–पु., जलजन्तुः (वै. नि.)
जलप्राय–न., अनूपदेशः (अम.)
जलप्रिय–पु., धन्याकम् (रा. व. ६) चातकपक्षी (श र) मत्स्यः स्त्री., हिलमोचिका (प. मु.)
जलप्लव–पु., जलमार्जारः

जलफल–न., शृङ्गाटकः [भा.]
जलफेन–पु., समुद्रफेनः (वै. नि.)
जलब्राह्मी–स्त्री., वाकुची (वै. नि.) मोचिका (त्रिका.)
जलभू–पु., स्त्री., कच्चटः (श. च.)
जलमद्गु–पु., मत्स्यरङ्कपक्षी (हारा.)
जलमक्षिका–स्त्री., वारिमक्षिका, जलकृमिः (त्रिका.)
जलमार्जार–पु., जलबिडालम् (त्रि. का.)
जलमूर्तिका–स्त्री., करका (श. च.)
जलमीन–पु., मत्स्यभेदः (वै. नि.)
जलमोद–न., उशीरम् (रा. व. १२)
जलयष्टि–पु., वल्लीयष्टिमधु (वै. नि.)
जलरङ्क(ञ्क)–पु., बकपक्षी (हे. च.)
जलरङ्कु–पु., हरिणः (वै. नि.) दात्यूहपक्षी (हारा.)
जलरण्ड–पु., जलसर्पभेदः । जलबिन्दुः (हे. च. । श. र.)
जलरस–पु., लवणम् (हा. रा.) सौवर्चलेलवणम् । क्षारलवणम् (हा. रा.)
जलरुट्(ह)–न., पद्मम् (हे. च.)
जलरुहा–स्त्री., कुङ्कुमशालिः (रा. व. १६)
जलरूप–पु., मकरः (त्रिका.)
जलवरण्ट–पु., जलवसन्तरोगः (हारा.)
जलवल्कल–पु., कुम्भिका (हारा.)
जलवायस–पु., जलकाकः (हे. च.)
जलबिडाल–पु.,जलमार्जारः (हा. रा.)
जलबिन्दुजा–स्त्री., यावनालीशर्करा (रा. ब. १४)
जलबिल्व–पु.; कर्कटः । पञ्चाङ्गम् । जलवल्कलम् (हारा.)
जलवृश्चिक–पु., इच्छाकमत्स्यः (हारा.)
जलव्यध–पु., कङ्कत्रोटमत्स्यभेदः (हारा.)
जलव्याल–पु., जलसर्पः (अम.)
जलशिरीष–(षिका)–पु., स्त्री., शिरीषभेदः (हिं.—टिंटिनी) गुणाः—त्रिदोषविषकुष्ठार्शोहरी वारिशिरीषिकः (भा.)
जलशुचि–पु., शृङ्गाटकः ।
जलशूकर–पु., शिशुमारः (हारा.) कुम्भीः (हे. च.)
जलशूक–न., शैवालम्
जलश्यामाक–पु., तृणधान्यविशेषः
जलसर्पिणी–स्त्री., जलौका (हे. च.)
जलसूकर–पु., कुम्भीरः । वनशूकरः (वै. नि.)
जलसूचि–पु., कौञ्चपक्षी । कङ्कत्रोटमत्स्यः (जटा.) शृङ्गाटकः । शिशुमारः (मे.) काकः । (हे. च.) स्त्री., जलौका
जलहास–पु., समुद्रफेनः (त्रिका.)
जलाका–स्त्री., जलौका (श. र.)
जलाक्षी–स्त्री., जलपिप्पली (श. र.)
जलाखु–पु., जलमूषकः (त्रिका.)
जलाख्या–स्त्री., जलमधूकवृक्षः (वै. नि.)
जलाञ्जल–न., शैवालम् (मे.)
जलाटन–पु., कङ्कपक्षी (जलाटनी स्त्री., जलौका. मे.)
जलाटनी–स्त्री., जलौका (मे)
जलाण्टक–पु., शिशुमारः । नक्रराजः (हारा.)
जलाण्डक–न., रोहितादिशिशुः (हारा.)
जलात्मिका–स्त्री., जलौका
जलाबु (म्बु) का–स्त्री., जलौका (श. र.)
जलार्द्र–(र्द्रा) पु., स्त्री., आर्द्रवस्त्रम् (त्रिका.) (हे. च.) आर्द्रतालवृन्तम् (माघ.)
जलार्बुद–पु., वातकफजौष्ठरोगः । जलबुद्बुदवत् वातकफादोष्ठे जलार्बुदम् ' (वा. उ. २१. अ.)
जलालु (लो) का–स्त्री., जलौका (श. र.)
जलाशय–पु., सरोवरः शृङ्गाटकः । न., उशीरम् (अम.) लाभजकः (रा.व. ८)
जलाष्ठीला–स्त्री., पुष्करिणी (हारा.) जलाह्व (य) न., वालकम् । उत्पलम् (रा. व. १०)
जलि–(का)–स्त्री जलौका (अ. टी. भ.)
जलेच्छया–स्त्री., हस्तिशुण्डीवृक्षः (श. र.)
जलेजात (रुह)–न., पद्मम् (श. र.)
जलेवाह–पु., जलकुक्कुटः (वै. नि.)
जलोका–स्त्री., जलायुका (हारा. अम.)
जलोदरारिरस–पु., जलोदराधिकारे रसः ।
जलोरगी–स्त्री., जलौका (अ. टी.)
जलोलुका–स्त्री., पद्मबीजम् (रा. व. १०.)
जलौक–पु., जलवेतसम् (वै. नि.)
जलौकाविधि–पु., तया रक्तमोक्षणकार्यम्
जलौदन–न,. सजलान्नम् (भा. कुष्ठ. चि.)
जवन–पु., अश्वः श्रीकारिहरिणः (रा. व. १९)
जवनाल–पु., न., धान्यविशेषः तद्बीजगुणाः–स्वादु शीतलं वातलं कफपित्तघ्नञ्च (राज)
जवली–स्त्री., कषायफलवृक्षः । तस्याः फलगुणाः–कषायं कफपित्तघ्नं क्वचित्तिक्तं रुचिप्रदम् । हृद्यं सुगन्धि विशदं जवलीफलमुच्यते (सु.)
जवस–न., तृणम् । घासः (श. र.)
जवसाह्वा–स्त्री., यमानी (मद. व. २)

जवानी–स्त्री., यमानी (मद. व. २)
जवापुष्प–न., ओडूपुष्पम् (श. र.)
जवाह्वा–स्त्री., यमानी (मद. व. २)
जविन–पु., बिलेशयमृगविशेषः ।
जत्री(इन्)–पु., अश्वः । उष्ट्रः (रा. व. १९)
जसद–न., यशदम् (वै. नि.)
जहा–स्त्री., मुण्डितिका (श. च.)
जाघनी–स्त्री., ऊरुः (त्रिका.)
जाङ्गलयकृत्–न., जाङ्गलपशुयकृत् तच्च रक्तपित्तहरम् (वा. चि. २)
जाङ्गला(ली)–स्त्री., शूकशिम्बी (मे.)
जाङ्गुड–न., कुङ्कुमम् (त्रिका.)
जाङ्गुलि–पु., मद्यविशेषः (श. र.) (**ली**)–स्त्री.,विषविद्या (हे. च.)
जाङ्गिक(काह्वया)–पु., श्रीकारिवृक्षः उष्ट्रः (रा. व. १९) त्रि., जङ्गाजीवी ।
जाजी–स्त्री., जीरकः (भा. म. ४ भ. प्रद. चि.)
जाटलि–पु., पटोललता (अम.)
जाठर–पु., जठरानलः (वै. नि.)
जाठरग्रन्थि–पु., गुल्मरोगः (रा. व. २०)
जातकध्वनि–पु., जलौका (वै. नि.)
जातरूप–न., सुवर्णम् धुस्तूरम् (रा. व १३; पृ. २०६)
जातरूपप्रभ–हरितालम् (वै. नि.)
जातापत्या–स्त्री., प्रसूता स्त्री (अम.)
जातिज–न., जातीफलम् (वै. नि.)
जातिपत्रिका(त्री)(र्णी)–स्त्री., जातिफलत्वक्। गुणाः– कटुतिक्तसुरभिः कफजाड्यहरी मुखवैशद्यजननी च (रा. व. १२) दुर्गन्धहरी (राज.) ' जातीफलस्य त्वक् प्रोक्ता जातीपत्री भिषग्वरैः । जातीपत्री लघुः स्वादुः कटूष्णा रुचिवर्णकृत् । कफकासवमिश्वास-तृष्णाकृमिविषापहा (भा.)
जाति(ती)फलत्वक्–स्त्री., जातीपत्री (वै. नि.)
जाति(ती)सुत–पु., जातीफलम् (वै. नि.)
जातिहिङ्गुलक–न., हिङ्गुलम् (वै. नि.)
जातीकन्द–पु., जातीमूलम् (सु. सू. मिश्र. अ.)
जातीको(श)ष–न., जातीफलम् (वै. नि.)
जातीकोषफल–न., जातीपत्री जातीफलं च (वै. नि. अजीर्णचि. वहिरसे.)
जातीजात–न., जातीकोषफलम् (वै. नि.)
जातीतैल–न., कर्णरोगाधिकारे उपयोज्यम्, जातीपत्ररसे तैलं विपक्वं पूतिकर्णजित् (सा. कौ.)
जातीदल–न., जातीकोषः (वै. नि. २भ. रक्तपि. चि. कर्पूरादिचूर्णे जातीपत्रे)
जातीद्वय–न., जातीकोषफलम् । जीवकद्वयमिति तालि-शादिचूर्णे (वृद्धोपदेशः ।)
जातीपत्रिकाप(त्री)(र्णी)–स्त्री., जातीकोषः (भा. उ. वाजीकरणे.)
जातीफला–स्त्री., आमलकीवृक्षः (रा. व. ११)
जातीफलादिवटी–स्त्री., अजीर्णे वटी (र. सा. सं.)
जातीफलाद्या(वटिका)–स्त्री., ग्रहण्यधिकारे हितम् (र. सा. सं.)
जात्युत्पल–न., श्वेतरक्तकमलम् (वै. नि.)
जामाता–पु., गजपिप्पली (प. मु.) सूर्यावर्तः (भैष. अम्लपित्त. चि. क्षुधावत्याम्.)
जाम्बवती–स्त्री., नागदमनी (रा. व. ५)
जाम्बौष्ठ–न., जम्बवौष्ठम् (सु. चि. १९ अ.)
जायक–न., कलिया इति ख्यातं पीतसुगन्धिचन्दनम्
जाया–स्त्री., शमीवृक्षः (वै. नि. २ भ. कर्णकज्व. चि.)
जायाघ्न–न., तिलकालकम् (वै. नि. २ भ.)
जायानुजीवी (इन्)–पु., बकपक्षी । (मे.)
जायु–पु., औषधम् (रा. व. २०)
जारगर्भा–स्त्री., क्षुद्ररोगविशेषः (वै. नि.)
जारणबीज–न., रसजारणार्थं बीजद्रव्यभेदः (र. चि.)
जारी–स्त्री., जाडीति ख्याते औषधविशेषम् (मे.)
जालकारक–पु., मर्कटः (हे. च.)
जालकिनी–स्त्री., मेषी (त्रिका.)
जालपात्–पु., हंसः (त्रिका.)
जालमोटा–स्त्री., शुक्लयूथिका (वै. नि.)
जालवर्बूरक–पु., बर्बूरकवृक्षभेदः । (रा. व. ८)
जालबब्बूलिका–स्त्री., बब्बूलवृक्षः (वै. नि.)
जालविन्दुजा–स्त्री., यावनालीशर्करा (रा. व. १४)
जालसंज्ञक–पु., शुक्लगतनेत्ररोगविशेषः। (सु. उ. ४ अ.)
जालि–स्त्री., खाद्यद्रव्यविशेषः (हिं.–जारी) 'आममाम्रफलं पिष्टं राजिकालवणान्वितम्। भृष्टहिङ्गुयुतं पूतं घोलितं जालिरुच्यते।' गुणाः–जिह्वाकण्डूघ्नी कण्ठशोधनी रोचनी दीपनी च (भा.)
जालिका–की–स्त्री., कोषातकी (रा. व. ३.) जलौका, लौहम् वस्त्रभिदि (मे.)
जालिनीफल–न., घोषाफलम् (च. द.) पाण्डुचि, गुणाः– शिरोरोगपाण्डुरोगहरं क्षवकरञ्च (अत्रि.)

जाली–स्त्री., पटोललता (रा. व. ७) घोषा प. म ज्योत्मनी (अम.)
जावक–पु., अलक्तकम् (वै. नि.)
जाषक–न., कालीयचन्दनम् (अ. टी. सा.)
जाहकध्वनी–पु., घोङ्कः । जलौका (हारा.)
जिगतू–पु., उच्छ्वासः । प्राणवायुः (उणा.)
जिघत्सा–स्त्री., क्षुधा (हे. च.)
जिनयोनि–पु., हरिणः (श. र.)
जिम्भमोहन–पु., भेकः (श. र.)
जिम्भशल्य–पु., खदिरः (रा. व. ८; पृ., ११)
जिम्भा-म्भिका–स्त्री., जृम्भिका (रा. व. २०)
जिवाजिव–पु., जीवञ्जीवपक्षी (श. र.)
जिविं–पु., पक्षी (उणा.)
जिह्मग–पु., सर्पः । जिह्मकसन्निपातः
जिह्माप–पु., बिडालः । कुक्कुरः भल्लूकः, (श. र.)
जिह्वमस–न., रसनामलः (त्रिका.)
जिह्वरद–पु., पक्षी (हारा.)
जिह्वालिद्–पु., कुक्कुरः (वै., नि.)
जीन–पु., वृद्धः (रा- व. १८-१२ पृ. ३९५)
जीमूतमूल–न., शठी (प. मु.)
जीमूताह्वा–स्त्री., देवदाली । जलमुस्ता (वै. नि.)
जीरकादिमोदक–पु., ग्रहण्यां हितः
जीरकाद्यघृत–न., व्रणशोथे हितम् (च. द.)
जीर्णफञ्जी–स्त्री., कृष्णवृद्धदारकः (रा. व. ३)
जीर्णवाल–(लुक)–पु., कृष्णवृद्धदारकः (रा. व. ३) स्थूलजीरकः (रा. व. ६)
जीर्वि–पु., शरीरम् । कायः (संक्षिप्त, उणा.)
जीवकद्रुम–पु., जियतषष्ठीति ख्यातः द्रुमः (प. मु.)
जीवकादि–पु., जीवनीयगणः (च. सू. ४ रा. व. २२.१४ पृ. ३०२)
जीवजी (ञ्जी) व–पु., प्लवजातीयचकोरपक्षी (त्रिका.) वृक्षभेदः (मे.)
जीवत्तोका–स्त्री., जीवत्पुत्रिका
जीवथ–पु., मयूरः । कच्छपः । प्राणः (उणा.)
जीवद–पु., वैद्यः । जीवकः (वै. नि.)
जीवद्वन्द्व–न., जीवकः । ऋषभकश्च ।
जीवन–पु., वातः । जीवकक्षुपः (रा. व. ५-१५५ पृ. ३०) वैद्यः ।
न., अन्नम् (रा.व. २०-८५ पृ. ३११) जलम् । प्राणधारणम् (मे.) मज्जा (रा. व. १८.) सद्योघृतम् (श. च.) दुग्धम् शरीरजीवयोः संयोगः (त्रि.,) आयुर्वर्धनम् ।
जीवनक–त., अन्नम् (हे. च.)
जीवनदशक–न., जीवनीयगणोक्तदशद्रव्याणि (वा. सू. १५ अ.)
जीवना–स्त्री., सिंहपिप्पली (रा. व. ६) मेदा (मे.) जीवन्तीलता (अम.)
जीवनाघात–न., वत्सनाभविषम् (श. च.)
जीवनार्ह–न., दुग्धं । धान्यम् (वै. नि.)
जीवनीया–स्त्री., स्वर्णजीवन्ती (रा. व. ३) हरीतकी (मद. व. १)
जीवनौषध–न., जीवनीयौषधम् (अम.) अन्नम् (वै. नि.)
जीवन्त्यादिवर्ग–पु.,जीवनीयगणः (वा. सू. १५)
जीवपुत्रक–पु., इङ्गुदीवृक्षः (श. र.) हिङ्गुवृक्षः (वै. नि.)
जीवपुष्पा–स्त्री., बृहत्जीवन्ती (रा. व. ७)
जीवमन्दीर–न., शरीरम् (श. र.)
जीवरत्न–न., पुष्परागमणिः (पमु.)
जीववती–स्त्री., क्षीरकाकोली (वै. नि.)
जीववत्सा–स्त्री., जीवत्पुत्री (च. शा. ८) (अ.)
जीववृक्ष–पु., जीवकवृक्षः । जीयापुता इति लोके । द्रव्याभिधानम् ।
जीवसंज्ञ–पु., कामवृद्धिक्षुपः (रा. व. ४. ५१; पृ. ३३९.)
जीवसाधन–न., धान्यम् (रा. व. ६)
जीवस्थान–न.,मर्म (रा. व. १८. ५३; पृ. ४००) हृदयम् (वै. नि.)
जीवागार–न. मर्मस्थानम् (रा. व. १८. ५३. ५४)
जीवातु–पु., जीवनीयौषधम् । अन्नम् (मे.)
जीवात्मा–देहः (हे. च.)
जीवाधार–पु., क्षेत्रम् (हे. च.)
जीवापगम–पु., षड्धातुवियोगः । (चशा. ४ अ.)
जीवाला–स्त्री., सैंहलीपिप्पली (रा. व. ५)
जीवितकाल–पु., आयुः (अम.)
जीवितज्ञा–स्त्री., शरीरान्तःस्थनाडी शिरा (रा. व. १८)
जीविता–स्त्री., जलपिप्पली (वै. नि.)
जुगुप्सित–न., श्वेतलशुनम् (वै. नि.)
जुग्ध–पु., न., यवनालः (वै. नि.)
जुङ्गा–स्त्री., वृद्धदारकलता (प. मु.)
जुष्कक–पु., यूषः (श. च.)

जूटिका–स्त्री., कर्पूरविशेषः (रा. व. १२)
जूनाख्य–पु., उलूकतृणम् (प. मु.)
जूष–पु., न., क्वाथः (भ.)
जूषण–न., धातकीपुष्पम् (श. च.)
जेमन–न., लेपः (वै. नि) आहारः (अम.)
जैत्री–स्त्री., जयन्तीवृक्षः (श. र.)
जैवातृक–पु., कर्पूरः । चन्द्रः (अम.) दर्भम्, औषधम् (हे. च.)
त्रि., क्रूरः । दीर्घायुः (त्रिका.)
जोङ्गट–पु., गर्भिण्यभिलाषः (हारा.)
जोङ्गल–पु., कृष्णवृद्धदारकः (वै. नि.)
जोन्ताला–स्त्री., (ल)–पु., देवधान्यम् (हे. च.)
जोषिका–स्त्री., नवाङ्कुरः (वै. नि.) जालिका (श. र.)
ज्ञानेन्द्रिय–न., नेत्रादिषड्बुद्धीन्द्रियाणि ।
ज्येष्ठतोयाम्ल–न., काञ्जिकम् ।
ज्येष्ठामूलीय–पु., जेष्ठमासः (वै. नि.)
ज्येष्ठाम्बु(म्भ)–न., तण्डुलोदकः (च. द. उन्माद. चि.)
" श्वेताजेष्ठाम्बुनिर्मितम् । " मण्डः (त्रिका. वा. उ. ३६ अ.)
ज्येष्ठी–स्त्री., गृहगोधा (त्रिका.)
ज्येष्ठीमधु–न., यष्टिमधु (वै. नि.)
ज्योतिःसोम–न., रक्तचन्दनम् (मद.)
ज्योतिरिङ्ग(ण)–पु., खद्योतः (श. र.) धूम्याटपक्षी (वै. नि.)
ज्योतिर्वीज–न., खद्योतः (त्रिका.)
ज्योतिष्मतीतैल–न., तत्फलोत्थतैलम्, गुणाः—तिक्तोष्णं वातघ्नं पित्तघ्नं मेधाप्रज्ञाबुद्धिवर्धनञ्च (रा. व. १५)
ज्योत्स्नाप्रिय–पु., चकोरः (हे. च.)
ज्वरकुञ्जरपारीन्द्ररस–पु., विषमज्वरे रसः (र. सा. सं.)
ज्वरघ्न–पु., वास्तूकभेदः (स्त्री.,) गुडूची (रा.व. ७-२३) मञ्जिष्ठा वास्तूकः (वै. नि.)
ज्वरघ्नी (वटिका)–स्त्री., ज्वरे रसः (रस. र,)
ज्वरपत्रिशती–स्त्री., ज्वरनिदानचिकित्सासङ्ग्रहः शार्ङ्गधरकृतः ।
ज्वरनाशन–पु., पर्पटकः (स्त्री.,) (**शिनी**) मञ्जिष्ठा । गुडूची
ज्वराङ्गी–स्त्री., भद्रदन्ती (रा. व. ६)
ज्वरातङ्क–पु., ज्वररोगः (रा. व. २०)
ज्वराधिष्ठान–न', शरीर मनश्च : केवलं समनस्कश्च ज्वराधिष्ठानमुच्यते (च. चि. ३ अ.)
ज्वरान्तकरस–पु., ज्वरे रसः (रस. कौ.)
ज्वरारि–पु., गुडूची (रा. व. २३) ज्वरे रसविशेषः (भैष. । रस. कौ.)
ज्वरारि (अभ्र)–न., जीर्णज्वरे रसः (र. सा. सं.)
ज्वराशनि–पु., विषमज्वरे रसः (र. सा. सं.)
ज्वरी (इन्)–त्रि., ज्वरयुक्तः
ज्वलत्प्रभा(न्ति)–स्त्री., कृष्णसर्षपः (वै. नि.)
ज्वलनात्मा (त्मा)–पु., सूर्यकान्तमणिः (प. मु. । रा. व. १२)
ज्वाला–स्त्री., धातकीवृक्षः । चित्रकवृक्षः (वै. नि.) दग्धान्नम् (श. च.)
ज्वालाखरगद–पु., जालगर्दभकरोगः (रा. व. २०)
ज्वालगर्दभक–पु., जालगर्दभकरोगः ।
ज्वालानलरस–पु., जीर्णाधिकारे रसः (र. सा. सं. भा.)
ज्वालामरिचक–पु., कटुवीरा
ज्वालानलरस–पु., जीर्णाधिकारे रसः (र. सा. सं. भा.)
ज्वालामरिचक–पु., कटुवीरा
ज्वालामुखरस–पु., ग्रहण्यधिकारे हितः (रस. कौ.)
ज्वालारासभक–पु., जालगर्दभकरोगः (रा. व. २०)

झ

झटा (आमला)–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि. मा. नि.)
झम्पाक (रु) पु., वानरः । मर्कटः (वै. नि.; श. र.)
झम्पाशी (इन्) पु., जलकाकः (श. र.) जलरङ्गः (जटा.)
झम्पी (इन्)–पु., वानरः (श. र.)
झर्झरीक–पु., शरीरम् (उणा.)
झला–स्त्री., झिल्लिका (वै. नि.)
झलि–स्त्री., क्रमुकः (वै. नि.)
झल्लकण्ठ–पु.. पारावतः (हारा.)
झल्लिका–स्त्री., उद्वर्तनपटः मलश्च (मे.)
झष–पु., मत्स्य (अम.) जलचरभेदः (वा. उ. ५. अ.)
झषलोचना–स्त्री., मत्स्याक्षी (वै. नि.)
झषाशन–पु., शिशुमारः (त्रिका.)
झाट–पु., व्रणमार्जनम् (मे.)
झाटल–पु., घण्टापाटला (अम.)
झाटा (आमला)–स्त्री., भूम्यामलकी (श. च.) जातीपुष्पवृक्षः (वै. नि.)

झामक–न., दग्धेष्टका (हारा.)
झालि–स्त्री., व्यञ्जनभेदः (भा.)
झावु–(क)–(का)–पु., स्त्री., वृक्षविशेषः । (श. र.)
झिङ्गाक–न., कर्कटीभेदः । फलशाकविशेषः (राज. ३ प.)
झिङ्गिनी (ङ्गी)(ङ्गी)–स्त्री., जिङ्गिनी (वै. नि.)
झिल्लिकण्ठ–पु., पारावतः (त्रिका.)
झूनि–पु., क्रमुकः (मे.)
झेण्डू–स्त्री., तन्नामकक्षुपः (रा. व. ५)
झोड–पु., क्रमुकवृक्षः (भूरिप्र.)

ट

टगर–पु.. टङ्गणक्षारः (त्रि.) केकराक्षः । (मे.)
टङ्क (क)–पु., मान० डरणम्, शाणमानम् ।
टङ्कदेशज–(शीय)–पु., न., वास्तूकशाकविशेषः(प मु)
टङ्कनल–पु., आम्रम् (वै. नि.)
टङ्का–स्त्री., जङ्घा (मे.)
टङ्कानक–पु., वृक्षविशेषः । ब्रह्मदारुवृक्षः (श. च.)
टङ्कारी–स्त्री., स्वनाम्नैव प्रसिद्धः क्षुपविशेषः । टेकारीति भाषा गुणाः—टङ्कारी वातजित्तिक्ता श्लेष्मघ्नी दीपनी लघुः । शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम् (भा.)
टङ्कण–(न)–पु., न., खनिजोपरसविशेषः (हिं.—म—टङ्कणक्षार) (र. स. र. ग्रहणीकवाटरसे)
टङ्काण–(क)–पु., वृक्षविशेषः (श. र.)
टङ्किणी–स्त्री., पाठा (श. च.)
टट्टनी–स्त्री., गृहगोधिका (त्रिका.)
टण्टुक–पु., पीतलोध्रः (वै. नि.)
टलन–न., हृद्रोगः (वै. नि.)
टार–पु., अश्वः (हे. च.)
टिटि (ट्टि) भ–(क)–पु., पक्षिविशेषः ।
टिण्टिनिका (नी)–स्त्री., जलशिरीषः (भा.)
टिण्डिश–पु., डिण्डिशः (हिं—ढेंडशी (भा.)
टीटिभक–पु., टिट्टिभपक्षी (श. र.)
टुण्टुका–स्त्री., पाठा । टङ्गिणीवृक्षः (श. च.)
टुनाका–स्त्री., तालमूली (श. च.)
टेन्दुक–पु., श्योनाकवृक्षः (वैद्यकम्)
टेर–(क)–त्रि., काणः । वक्रनेत्रः (श. र.)
टोलाफल–पु., मधूकवृक्षः (वै. नि.)

ठ

ठ–पु., शिवः ।
ठक्कदेशीय–पु., वास्तूकः (त्रिका.)

ड

डण्डमत्स्य–मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
डमरुयन्त्र–न., औषधपाकार्थं डमरुकारयन्त्रविशेषः
डल्लुक–न., वंशनिर्मितपात्रम्
डल्वण–पु., निबन्धसंग्रहकारः ।
डहु–(हू)–पु., लकुचवृक्षः (श. र.) फलगुणाः गुरु विष्टम्भि त्रिदोषशुक्रदोषकरञ्च ।
डालिम–पु . दालिम्बवृक्षः (अ. टी. भ.)
डाहुक–पु., हरिणविशेषः (वै. नि.) दात्यूहपक्षी (जटा.)
डिण्ड–(ण्डिक)–पु., रक्तैरण्डः (वै. नि.)
डिण्डिम–पु., करञ्जवृक्षः (वै. नि.)
डिण्डि (ण्डी) र–पु., समुद्रफेनः (हे. च. नकुल १३अ)
डिण्डिश–पु., फलशाकविशेषः । (म—ढेंडशेफल) (वै. नि. २ भ. अतिसा. पथ्य। भा. पू. १ अ.) (शाकवर्गे.)
डितिका–स्त्री., बालरोगः (वै. नि.)
डिम्ब–(म्भ)–पु., शिशुः (रा. व. १८) उदररोगः । मूत्राशयः (वै. नि.) फुफ्फुसः । (हारा.) अण्डम् (मे.)
डिम्बिका–स्त्री., जलमक्षिका (वै. नि.) शोणाकवृक्षः । कामुकी । (श. र.)
डिम्भा–स्त्री., अतिबाला (रा. व. १८)
डुङ्गरी–स्त्री., अलाबूभेदः (वै. नि.)
डुण्डु–पु., द्विमुखसर्पः (त्रिका.)
डुण्डुभ–जलसर्पः (अम.)
डुण्डुल–पु., क्षुद्रपेचकः (रा. व. १९)
डुन्दुक–पु., हरिणभेदः । पक्षिभेदः (वै. नि)
डुलि–स्त्री.. कच्छपी (अम.)
डुलिका–स्त्री., खञ्जरीटाकारपक्षिविशेषः ।
डुली–स्त्री., चिल्लीशाकः (रा. व. ७)
डोडी–स्त्री., जीवन्तीक्षुपम् । गुणाः–मलबद्धकारी वातला रुच्या दुर्बला च (राज.)
डोडि(ण्डि)का–स्त्री., फलशाकविशेषः गुणाः– पुष्टिकरी रुच्या दीपनी लघुः पित्तकफशोकघ्नी कृमिगुल्मघ्नी च (भा. पू. १ भ. शाकव.)
हिं.—करेरुका,
म.—हरणदोडी.
डोरडी–स्त्री., बृहती (रा. व. ४)
डोडाफल–न., फलविशेषः (वै. नि. २भ. वा. व्या.)

ढ

ढक्क–पु., अभिलाषः ।
ढङ्कण–न., शैवालम् (वै. नि)
ढ(ढा)मरा–स्त्री., हंसः ।
ढिण्ढिणिका(णी)–स्त्री.,जलशिरीषः (वै. नि.)
ढोलसमुद्रिका–स्त्री., ढोलसमुद्र इति ख्यात वृक्षविशेषः । सा कीटादिविषहरी (अत्रि.)

त

तकिल(ला)–न., स्त्री., औषधम् (वै. नि. उणा.)
तक्कोल–न., कक्कोलम् (वै. नि.)
तक्रपर्याया–स्त्री., तक्राक्षुपः (रा. व. ४)
तक्रभित्–पु., कपित्थवृक्षः (वै. नि.)
तक्रमास–न., यवनदेशप्रसिद्धव्यञ्जनविशेषः । ' एसनी ' इति पारस्यभाषा । तत्साधनावधिः पाकपात्रे घृतं दत्त्वा हरिद्राहिङ्गु भर्जयेत् । छागादेः सकलस्यापि खण्डान्यष्टौ च भर्जयेत् । सिद्धयोग्यं जलं दत्त्वा पचेन्मृदुतरं यथा । जीरकादियुते तक्रे मांसखण्डानि धारयेत् । गुणाः– तक्रमांसन्तु वातघ्नं लघु रुच्यं बलप्रदं कफघ्नं पित्तलङ्किंचित्सर्वाहरास्य पाचनम् (भा.)
तक्रा–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपा । गुणाः– कटुः कृमिघ्नी व्रणघ्नी च (रा. व. ४)
तज्वी–स्त्री., हिङ्गुपत्री (रा. व. ६.)
तडागज–पु., कालकोष्टः (प. मु.)
तडित्वान्–पु., मुस्तकः (अम.)
तण्डक–पु., फेनः । खञ्जनपक्षी (मे.) रोगः (वै. नि.)
तण्डुरीण–पु., कीटसामान्यः (वै नि.) तण्डुलजलम्
तण्डु (न्दु) लधावन–न., तण्डुलोदकम् (रा. व. १५; वै. नि.)
तण्डु (न्दु) ला–स्त्री., विडङ्गा (रा. व. ६) महासमङ्गा
तण्डुलु–स्त्री., विडङ्गा (श. र.)
तण्डु (न्दु) लेर (क)–पु., तण्डुलीयशाकः (भा. पू १ भ. शाकव.)
तण्डुलौघ–पु., वेष्टकवंशः (श. च.)
तत–पु., वायुः (वै. नि.)
ततपत्री–स्त्री., कदलीवृक्षः (श. च.)
तत्काललवण–न., सौवर्चललवणम् (वै. नि.)
तत्पद–पु., अश्वत्थवृक्षः (वै. नि.)
तत्फल–पु., श्वेतपद्मम् । चौरानामगन्धद्रव्यम् (धरणि)

रोहिषतृणम् (वै. नि.)
तद्रुप्य–न., दधिद्रवः (रा. व. १५. २४५;)
तनय–पु., पुत्रः । (स्त्री) कन्या कृष्णतुलसी (श. च.) पृश्निपर्णी (वै. नि. तनुक–न., धातकीपुष्पम् । विभीतकः । त्वक् (वै. नि.)
तनुकूप–पु., रोमकूपः (वै. नि.)
तनुच्छाय–पु., ज्वालावर्बूरकवृक्षः
तनुपत्र–पु., इक्षुदीवृक्षः ।
तनुभस्त्रा–स्त्री., नासिका (श. र)
तनुरस–पु., स्वेदः (हारा.)
तनुवीज–पु., राजबदरम् (रा. व. ११.)
तनुव्रण–पु.,वल्मीकनामरोगः (श. र.)
तनु (नू) हृद–पु., पायुः । गुदम् (त्रिका.)
तनून–पु., वायुः (वै. नि.)
तनूनप–न., घृतम् (श. च.)
तनूनपात्–पु., चित्रकवृक्षः । अग्निः (अम.)
तनोनु–पु., षष्टिकशालिः (वै. नि.)
तन्तुकी–स्त्री., शिरा । शरीरान्तर्नाडी (रा. व. १८, १९) नाडीशाकभेदः । राजिका । (वै. नि.)
तन्तुकीट–पु., कीटविशेषः (जटा.)
तन्तुण–(नाग)–पु., ग्राहः (हे. च.)
तन्तुनाभ–पु., ऊर्णनाभिः
तन्तुनिर्यास–पु., तालवृक्षः (श. र.)
तन्तुभ–पु., श्वेतसर्षपक्षुपः (प. मु.)
तन्तुर (ल)–न., मृणालम् (श. र.) (हे. च.)
तन्तुवाप (य)–पु., लूता (अम.)
तन्तुविग्रह–स्त्री., कदलीवृक्षः (त्रिका.)
तन्तुसार–पु., गुवाकवृक्षः (त्रिका.)
तन्त्रवाय–पु., लूता (अ. टी.)
तन्द्राकफ–पु., तज्जनक श्लैष्मिक रोगभेदः (मा.)
तन्नि (न्वि)–स्त्री., चक्रकुल्यावनस्पतिः (र. मा.)
तपःकर–पु., तपस्विमत्स्यः ।
तपनकर–पु., शालिधान्यभेदः (वा. सु. ६.)
तपनच्छद–पु., आदित्यपत्रक्षुपः (रा. व. ४.)
तपनतनया (येष्टा)–स्त्री., महाशमीवृक्षः (रा. व. ८ । वै. नि.)
तपनमणि–पु., सूर्यकान्तमणिः (रा. व. १३)
तपनी–स्त्री., पाठा
तपस्विपत्र–पु., मदनकवृक्षः (रा. व. १०)

तपा-पु., ग्रीष्मर्तुः (अ. टी.) माधमासः (मे.) शरद् (च. सू. १ । च. द.)
तपात्यय-पु., वर्षाकालः (हे. च.)
तप्तखल-पु., छागशकृन्मिश्रतुषाग्नौ उष्णीकृतखलः । तद्यथा-' अजाशकृत्तुषाग्निञ्च चालयित्वा भुवि क्षिपेत् । तस्योपरि स्थितः खल्लः तप्तखल्ल इति स्मृतः (अत्रि.)
तप्तराजतैल-न., शिरोरोगे तैलम् (भैष.)
तप्ताम्भ-न., उष्णसलिलम्
तभ-पु., छागः (अ. टी.)
तमका-स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि.)
तमर-न., शीषधातुः । वङ्गम् (हे. च.)
तमराज-पु., शर्करविकारः । ' नवात् गुड ' इति भाषा गुणाः-तृष्णाज्वरदाहरक्तपित्तघ्नः (राज.)
तमस्विनी-स्त्री., निशा । हरिद्रा (अम.)
तमा-स्त्री., भूधात्री । काकोली (हे. च.)
रात्रि- तमालवृक्षः (श. च.)
तमालका (की)-स्त्री., भूधात्री (वै. नि.)
तमालच्छद- न., तेजपत्रम् (वै. नि.)
तमाह्वय- न., तालीशपत्रम् (वै. नि.)
तमिस्रा-स्त्री., हरिद्रा
तमोज्योति (भित्)-पु., खद्योतः (वै. नि.) (श र.)
तमोमणि-पु., गोमेदरत्नम् (वै. नि.) खद्योतः (वै. नि.)
तमोविकार-पु., रोगः (रा. व. २०)
तमोव्रण-पुं., वल्मीकम् (त्रि. का.)
तम्पा-स्त्री., गौः (हे. च.)
तम्बुरु-पु., तुम्बुरुः (रा. व. ११)
तर-पु., वृक्षः (भूरिप्र.)
तरणि-पु., अर्कपत्रवृक्षः (अ. म.) ताम्रम् स्त्री., कण्टकसेवती (रा. व. १०) घृतकुमारिः (अ. म.)
तरणिरत्न-न., माणिक्यम् (रा. व. १३)
तरणी-स्त्री., घृतकुमारी (प. मु) ह्रस्वदन्तीक्षुपः (रा. व. ६) पद्मचारिणी (श. च.) स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः (म—तरणी) (क-चेंवडे) गुणाः—शीतला स्निग्धा पित्तदाहज्वरघ्नी मधुरा मुखपाकहरी तृष्णार्छर्दिघ्नी च । राजातरणी कषाया कफकरी चक्षुष्या हृद्या सुगन्धिश्च (रा. व. १०)
तरणीवल्ली-स्त्री., कण्टकशतपुत्रीपुष्पवृक्षः (वै. नि.)
तरन्-पु., कारण्डवपक्षी
तरत्सल-पु., तृणाग्निः
तरदी-स्त्री., तरटी (रा. वै. ८)
तरन्त-पु., पक्षिविशेषः । भेकः ।
तरम्बुज-न., पु., तरभुज इतिख्यातफलम् (हिं.—तरमूजा) (प. मु.) तद्वृक्षः (वै. नि.) बीजं शैत्यकरम् ।
तरल-पु., माणिक्यम् (रा. वै. १३) श्वेतधुस्तूरकः । हारमध्यमणिः (वै. नि.) (ला) स्त्री., यवागुः (त्रिका.) काञ्जिकम् । मद्यविशेषः (मे) मधुमक्षिका (हे. च.)
तरस-(तर) (स्)-न., मांसम् । बलम् । वेगः (त्रिका.)
तरिता-स्त्री., रसोनः । तर्जनी (श. च.) गृञ्जनः । ' तारिका तरिता तथा ' (कुलार्णवतन्त्रे)
तरी-स्त्री., धूमः (त्रिका)
तरुकूणि-पु., वाग्गुदपक्षी (त्रि. का.)
तरुज-पु., श्वेतखदिरः (प. मु.)
तरुजीवन-न., तरुमूलम् (श. च.)
तरुट-पु., नीलोत्पलमूलम् । (राज. ३ प.)(च.सू.२७अ.)
तरुणज्वरारिरस-पु., ज्वरे मलशुद्धिकरज्वरलाघवकररसविशेषः पारदगन्धकविषजैपालबीजानि समभागानि कुमारीरसेन एकत्र मर्द्यानि (सा. कौ.)
तरुणदारु-पु., पृद्धदारुः (वै. नि. सन्धिक.) (ज्वरचि.)
तरुणपीतिका-स्त्री., मनःशिला (वै. नि.)
तरुणाभास-पु., कर्कटी (वै. नि.)
तरुणीकटाक्षमाल-पु., तिलकक्षुपः (रा. वै. १०)
तरुतू (दू) लिका-स्त्री., वादुली (हारा.)
तरुनख-पु., कण्टकः (हारा.)
तरुभुक्-पु., वन्दाकः (वै. नि.)
तरुमालिनी-स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि.)
तरुमृग-पु., वानरः (वै. नि.)
तरुराग-न., कोमलपत्रम् (हारा.)
तरुशायी (इन्)-पु., पक्षी (हारा.)
तरुसार-पु., कर्पूरः (हारा.)
तरुट-पु., कमलमूलम् । उत्पलकन्दः : गुणाः—गुरुः विष्टम्भिः शीतलश्च (राज.)
तर्किण-(ला)-पु., चक्रमर्दक्षुपः (प. मु.) (वै. नि.)
तर्कुपीठी-स्त्री., वर्तनी (त्रिका.)
तर्कुशाण-पु., शाणकः (त्रिका.)
तर्जनी-स्त्री., प्रदेशिन्यामङ्गुलिः (रा. वै. १८) सा तु गर्भस्य चतुर्थमासि भवति ।

तर्ण–(क)–पु., शालिधान्यविशेषः । काश्मिरे आजव इति प्रसिद्धः । तूर्णकः इति अरुणदत्तः, गोवत्सः (अम.)

तर्दक–पु., काष्ठदर्वी (ज. द. १३अ.)

तर्दू–स्त्री., काष्ठदर्वी (अम.)

तर्पणकषाय–पु., पञ्चमांशावशिष्टकषायः । तर्पणपञ्चमांशके' (रा. वै. २०) यत्र यत्र तर्पणकषायविधिस्तत्र तत्रैव कल्पनीयम् ।

तर्पिणी–स्त्री., पद्मचारिणी (श. च.)

तर्वट–पु., चक्रमर्दः (रा. वै. २३)

तर्क्षु–पु., तरक्षुमृगः (श. र.)

तर्क्ष्य–पु., यवक्षारः (र. मा.)

तलक–न., पुष्करिणी (हिं–ताहाव) (वै. नि.)

तलसारक–न., अश्वस्य वक्षःस्थलरज्जुः । तङ्ग इति भाषा (हे. च.)

तला–स्त्री., गोधा (अम.)

तलामणि–पु., प्रवालः (त्रिका.)

तलिका–स्त्री., तलसारकः (हे. च.)

तलित (मांस.)–संतलितमांसम् । यथा 'शुद्धमांसविधानेन मांसं सम्यक् प्रसाधनम् । पुनस्तदाज्ये संभृष्टं तलितं प्रोच्यते बुधैः । गुणाः–तलितं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवृद्धिकृत् । तर्पणं लघु सुस्निग्धं रोचनं दृढताकरम् (भा.)

तलिन (म)–न.,–शय्या (त्रि.,) तुच्छः (हारा.) दुर्बलम् (हे. च, म.)

तलेक्षण–पु., शूकरः (वै. नि.)

तल्पकीट–पु., कीटभेदः ।

तल्पन–न., पृष्ठवंशमांसम् (हारा.) हस्तिपृष्ठम् (वै. नि.)

तल्ल–पु., तडागः (वै. नि.)

तवराज–पु., यवासशर्करा 'मेना' इति भाषा (रा. व. १४. वै. नि. क्षय. चि. तवराजचूर्णे)

तवराजखण्ड–पु., यवासशर्कराजातखण्डः (म. खण्ड-तवराज मैनारखाण्ड) गुणाः–दाहहरः तापशान्तिकरः तृप्तिजनकः मूर्च्छामोहहरः श्वासघ्नः इन्द्रियतर्पणः शीतलः सुमधुरश्च (रा. व. १४.)

तवराजोद्भव–पु., तवराजखण्डः, नवात् इति ख्याते मिष्टान्ने (वै. नि.)

तवराजोद्भवखण्ड–पु., तवराजखण्डः । (रा. व. १४.)

तवर्णकृत्–पु., शरटः (वै. नि.)

तवक्षीर्यैकपत्रिका–स्त्री., आमहरिद्रा

तवीष–पु., सुवर्णम् (मे.)

तसर–पु., सूत्रवेष्टनम् (उणा.)

तस्करस्नायु–पु., काकनासा (रा. ब. ३)

तस्करी–स्त्री., काकनासिलता

तक्षण–न., कृशीकरणम् ।

तक्षणी–स्त्री., अस्त्रविशेषम् (त्रिका.)

ताड–पु., कृष्णतालः । हिन्तालः । श्रीतालः । कण्टकतालः (वै. नि.)

ताडाकाफल–न., स्थूलैला (प. मु.)

ताडि–(डी)–स्त्री., तालरसः । गुणाः–तालजं तरुणं तोयमतीव मदकृन्मतम् । अम्लीभूतं तदा तु स्यात्पित्तकृद्वातदोषहृत् (भा.) (आसव.) वृक्षविशेषः (अ. टी. भ.)

ताण्डव–न., तृणविशेषः (मे.)

तातन–पु., खञ्जरीटपक्षी (त्रिका.)

तातल–पु., रोगः । पाकः (मे.)

तानीयक–पु., यावतालवृक्षः (वै. नि.)

तानूर–पु., बहुवारवृक्ष. (वै. नि.)

तापक–पु., ज्वरः (श. र.)

तापसतरु–पु., इङ्गुदीवृक्षः (अम.) पुत्रजीववृक्षः (सु. सू. ३८)

तापसद्रुमसन्निभा–स्त्री., पुत्रदात्रीक्षुपः (रा. व. ४)

तापसा–स्त्री., द्राक्षा (वै. नि.)

तापसेष्ट–पु., प्रियालवृक्षः (रा. व. ११)

तापसेक्षु–पु., इक्षुविशेषः (सु. सू. ४५ अ.)

तापहरी–स्त्री., व्यञ्जनविशेषः । तत्साधनविधिः - घृते हरिद्रासंयुक्ते माषजा मज्जयेद्वटीः । तण्डुलांश्चापि निर्धौतान् सहैव परिभर्जयेत् । सिद्धयोग्यं जलं प्रक्षिप्य कुशलैः पचेत् । लवणार्द्रकहिङ्गूनि मात्रया तत्र निक्षिपेत् । एषां सिद्धिसमायाता प्रोक्ता तापहरी बुधैः । भवेत्तापहरी बल्या वृष्या श्लेष्माणमाचरेत् । बृंहणी तर्पणी रुच्या गुर्वी पित्तहरी स्मृता (भा.)

तापिनी–स्त्री., भारतवर्षीयनदीविशेषः, साच पश्चिमदेशे प्रसिद्धा । तज्जलं वेत्रवतीजलतुल्यगुणम् (रा. व. १४; पृ. ३८३)

ताप्युत्थसंज्ञक–न., माक्षिकधातुः (रमा.)

तामर–न., घृतम् । जलम् (भ. रुद्र)

ताम्बूलकरङ्क–पु., ताम्बूलपात्रम् (हे. च.)

ताम्बूलपत्र (र्ण) कन्द-पु., कन्दशाकः । पिण्डालुः (रा. व. ७) गुणाः- शुक्रलो विशदः लघुश्च (अत्रि.)

ताम्बूलपर्णिका(र्णी)-स्त्री., नागवल्लीलता (वै. नि.)

ताम्बूलराग-पु., मसूरः (हारा.)

ताम्रकल्प-पु., स्त्रीहाधिकारे कल्पविशेषः (र. सा. सं)

ताम्रकिलि-(कृमि)-पु., इन्द्रगोपकीटः (हारा.)

ताम्रकुट्टक (कूट)-पु., कलञ्जः । ताम्रकूटः (तन्त्रम्) हिं.—तमाकु.

ताम्रचक्षु-पु., कपोतः (वै. नि.)

ताम्रतुण्ड-पु,, श्वेतमर्कटः (वै. नि.)

ताम्रत्रपुज-न., कांस्यधातुः (भा.)

ताम्रदुग्धा-स्त्री., गोरक्षदुग्धीनामक्षुपः ।

ताम्रद्रु-पु., रक्तचन्दनवृक्षः (वै. नि.)

ताम्रधातु-पु., गिरिमृत्तिका (वै. नि.)

ताम्रपत्रक-पु., आवर्तकीलता (वै. नि.)

ताम्रपत्री-स्त्री., हंसपादीनामक्षुपः (रा. व. ५)

ताम्रपर्णी-स्त्री., गन्धमुण्डः (प. मु.) मञ्जिष्ठा (वै. नि)

ताम्रपल्लव-पु., अशोकवृक्षः (रा. व. १०)

ताम्रपाकी (इन्)-पु., प्लक्षवृक्षः, गर्दभाण्डवृक्षः (र. मा.)

ताम्रपादी-स्त्री.,रक्तलज्जालुका । हंसपादी (रा. व. ३)

ताम्रप्रयोग-पु., उदरे हितः । (रस. र.)

ताम्रमृग-पु., हरिणः (वै. नि.)

ताम्ररसायनी-स्त्री., दुग्धिका (वै. नि.)

ताम्रवर्णा-स्त्री., जपावृक्षः ।

ताम्रवृन्त-पु., स्त्री., (न्ता) रक्तकुलत्थः । (त्रिका. । हे. च.)

ताम्रवृक्ष-पु., कुलत्थः । रक्तचन्दनम् (र. मा.)

ताम्रशालि-पु., रक्तशालिः । (प. मु.)

ताम्रशिखी (इन्)-पु., स्त्री., ताम्रचूडः । (जटा.)

ताम्रसार (क)-न., रक्तचन्दनम् (प. मु.) रक्तखदिरः (रा. व. ८)

ताम्रार्ध-न., कांस्यम् (त्रिका.) (वै, नि.)

ताम्राक्ष-पु., कोकिलः । (त्रिका.) (रा. व. १९) चकोरपक्षी, कोकिला । (वै. नि.)

ताम्रोपधातु-पु., तुत्थकम् । (भा)

तारकेश्वररस-पु., प्रमेहाधिकारे रसः । (रस. र.)

तारज-न., रौप्यमाक्षिकम् (वै. नि.)

तारतालकीबीज-न., रसजारणार्थं बीजभेदः। (र. चि. ३ अ.)

तारबीज-न., रौप्यादिकृततरसनिबन्धनबीजम् (र. चि. अ.)

ताराभ-पु., यशदभेदः । (वै. नि.)

तारारि-पु., माक्षिकधातुः । विडमाक्षिकम् (हे. च.)

तारारिष्ट-न., रौप्यारिष्टम् (र. चि. ३ अ.)

तारिका-स्त्री., ताडी (तन्त्रम्)

तारिणी-स्त्री., माता । अक्षिमध्यभागः (त्रिका.)

तारीष-न., पु., स्वर्णम् (वै. नि. । मे.)

तारुण्य-न., यौवनम् (अम.)

तारुण्यपिडका-स्त्री., मुखदूषिका (भैष क्षुद्ररोगचि.)

तारेश्वररस-पु., राजयक्ष्मणि रसः । (रस. कौ.)

तार्क्ष्यनायक-पु., गरुडः (रा. व. १९)

तालकन्द-पु., तालवृक्षस्य कन्दः ।

तालकरीर-पु., तालाङ्कुरम् (च. द. अमृतसारलौहे)

तालकाफल-न., स्थूलैला (ज. द. १२ अ.)

तालकाभ-न., नीलरङ्गम् (वै. नि.)

तालकी-स्त्री., ताडी (त्रिका.)

तालजटा-स्त्री., तालवृक्षस्य जटा (चि. क.क. सोमरोगचि.)

तालती-स्त्री., तालसूरा (त्रिका.)

तालपत्र-न., तालच्छदः । मेथिका (वै. नि.)

तालपत्रिका-स्त्री., तालमूली (रा. व. ७)

तालपर्ण-न., मुरानाम गन्धद्रव्यम् (श. च.)

तालपुष्प (क)-न., तालजटा प्रपौण्डकरीकः (श. र.)

तालमण्डिका-स्त्री., तालरसमद्यम् । गुणाः- ' श्लेष्मदोषकरी वृष्या वातला श्लेमवर्धनी । कासहृल्लासविध्वंसकरणी तालमण्डिका । पूर्णे कषायपित्ते च योगयुक्ता सुरा हिता । बहुदोषहरा चैव श्लेष्मरोगे विशेषतः (अत्रि. १९ अ.)

तालर (ल) ण्ड-पु., तालजटा (र. सा. सं.)

तालसत्व-न., हरितालभस्म (रस. चि.)

तालाख्या-स्त्री., मुरामांसी (श. च.)

तालाङ्क-पु., शाकभेदः (हे. च.)

तालि-स्त्री., तालभेदः (वै. नि.) भूम्यामलकी (र. मा.)

तालिशादिमोदक-पु., यक्ष्माधिकारे हितः (सा. कौ.)

तालुजिह्व-पु., कुम्भीरः (हे. च.)

तालूर्बुद-न., पु., तालुशोथरोगः । लक्षणम्-पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं विद्याद्रक्तार्बुदं पित्तलिङ्गम् (भा.)

तिक्तकर्कोटकी-स्त्री., तिक्तकर्कटिका (श. चि.)

तिक्तका-स्त्री., तुम्बी । कुटुतुम्बी (प. मु.) काकजङ्घा करञ्जलता चञ्चुशाकः (वै. नि.)

तिक्तगन्धा-स्त्री., राजिका (वै. नि.)

तिक्तगन्धिका-स्त्री., वराहक्रान्ता (श. मा.)

तिक्तगुञ्जा-स्त्री., करञ्जवृक्षः (हारा.)
तिक्ततुम्बी-स्त्री., कटुतुम्बी (प. मु.)
तिक्तधातु-पु., पित्तम् (रा. व. २१)
तिक्तनित्य-त्रि., तिक्तभक्षणशीलः (च. द.)
तिक्तपत्र-(त्री)-पु., स्त्री., कर्कोटकवृक्षः (हे. च.) (भेष. उपदंशचि.)
तिक्तपर्वा-स्त्री., गुडूची । यष्टिमधु । हिलमोचिका (मे) ब्राह्मीभेदः । दूर्वा (जटा.)
तिक्तभद्र-(क)-पु., पटोललता (श. च.)
तिक्तवर्ग-पु., तिक्तरसद्रव्यगणः (सु. सू. ४६ अ)
तिक्तवल्ली-स्त्री., मूर्वा (र. मा.)
तिक्तवार्ताकु-पु., वार्ताकुभेदः (हिं.—तीत् भण्टा) (ज. द. १२ अ)
तिक्तशाकद्रुम -पु., वरुणवृक्षः (वै. नि.)
तिक्ताख्या-स्त्री., कटुतुण्डीलता (रा. व. ३)
तिक्ताङ्गा-स्त्री., पातालगारुडीलता (रा. व. ३)
तिक्तामृता-स्त्री., गुडूची (वै नि.)
तिक्तोत्तमा-स्त्री., पटोलः (वै. नि.)
तिङ्गुद-पु., इङ्गुदीवृक्षः (वै. नि.)
तिण्टी-स्त्री., श्योणाकः । त्रिवृता (श. च.)
तितिभ-पु., इन्द्रगोपकीटः (हे. च.)
तितिल-न., तिलपिञ्चटम् (वै. नि.)
तिदिश-पु., डिण्डिशः (वै. नि.)
तिनाशक-पु., तिनिशवृक्षः (श. र.)
तिन्दिश-पु., टिण्डिशवृक्षः (रा. व. ७.)
तिन्दुकाकृतिफल-पु., द्वीपान्तरखर्जूरी । (वै. नि.)
तिन्दुकाभफल- ,, ,, ,,
तिन्दुकास्थि-न., तिन्दुकबीजम् ।
तिन्दुज-(क)-पु., लोध्रवृक्षः । (र. मा. । श. र.)
तिन्दुल-पु., तिन्दुकवृक्षः (श. र.)
तिन्दुवीज-न., केवुकवीजम् (र. चि. कृमि. चि.)
तिमिङ्गिलगिल-पु., राघवमत्स्यः । अयं तिमिङ्गिलभक्षकः
तिमिरा-स्त्री., हरिद्रा (भैष. वातरक्तचि.)(विषतिन्दुकतैल)
तिमिरि-पु., मत्स्यभेदः (वै. नि.)
तिमिरी (इन्)-पु., इन्द्रगोपकीटः (वै. नि.)
तिमिष-पु., कूष्माण्डलता (त्रिका.) ग्राम्यकर्कटिका(त्रिका). तरम्बुजलता । नाटाम्रः (हारा.)
तिमी-स्त्री., तिमिमत्स्यः (द्विरूपकोष.)
तिमीरक-पु., नखरञ्जकवृक्षः (प. मु.)
तिरिजह्विक-पु., पारिजातवृक्षः (प. मु.)
तिरिट-पु., इक्षुदण्डः (वै. नि.)
तिरिटि-पु., इक्षुग्रन्थिः (श. मा.)
तिरिणीकण्ठ-पु., पारिजातवृक्षः (वै. नि.)
तिरिम-(रिय)-पु., शालिधान्यभेदः । गुणाः—मधुरः स्निग्धः शीतलः दाहपित्तघ्नः त्रिदोषघ्नः रुच्यः पथ्यश्च (रा. व. १६)
तिरीट-पु., लोध्रवृक्षः (प. मु. रा. व. ६.)(भैष.नेत्ररोगचि.)
तिरीपशालि-पु., मासत्रयपक्वशालिधान्यम् । (वै. नि.)
तिर्यग्गा-स्त्री., पूतनीशाका (प. मु.)
तिर्यग्गामी (इन्)-पु , कर्कटः (वै. नि.)
तिर्यग्यवोट्-न., यवधान्यम् (वै. नि.)
तिर्यग्यान-पु., कर्कटः (त्रिका.)
तिलकट-पु., तिलपुष्पपरेणुः । तिलचूर्णम् (वै. नि.)
तिलकत्वक्-स्त्री., तिलवल्कलम् । गुणाः—कषाया उष्णा पुंस्त्वघ्नी दन्तदोषहरी कृमिशोफव्रणघ्नी । (रा. व. १०)
तिलकाश्रय-पु., ललाटम् (शब्दार्थकल्पतरुः)
तिलकिट्ट-न., तिलकल्कः । गुणः— लेखनं रूक्षं विष्टम्भि दृष्टिदोषकरञ्च (भा. पू. १ भ.)
तिलच्छक-पु., ईहामृगः (वै. नि.)
तिलजटा-स्त्री., तिलमञ्जरी । दुग्धेनैतत् क्वाथः आखु-विषहरः (वा. उ. ३८ अ.)
तिलजा-स्त्री., तिलवासिनी शालिः (रा. व. १६)
तिलतण्डुलक-न., आलिङ्गनम् (श. मा.)
तिलनामा-स्त्री., तिलवासिनी शालिः (रा. व. १६.)
तिलनालभूति-स्त्री.; तिलनालक्षारः । गुणः-अश्मरीघ्नः (च. द. अश्मरीचि.)
तिलनी-स्त्री., तिलवासिनी शालिः (रा. व. १६.)
तिलपर्ण-पु., न., श्रीवेष्टम् (रा. व. १२.)
तिलपिञ्चिट-न., तिलपिष्टकः । (कश्चित्)
तिलपिञ्ज-पु., श्वेततिलकवृक्षः निष्फलतिलवृक्षः (अम.)
तिलपिण्डी-स्त्री., तिलकल्कः (प. मु.)
तिलपुष्पक-पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)
तिलपेज-पु., तिलपिच्चम् (वै. नि.)
तिलभाविनी-स्त्री., जातीपुष्पवृक्षः (रा. व. १०)
तिलमयूर-पु., पक्षिभेदः (त्रि.का.)
तिलमोदक-पु., तिलड्डुकम् (वै. नि.)
तिलरस-पु., तिलतैलम् (वै. नि.)

तिलवासिनी(सी)-स्त्री., पु., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषः (रा. व. १६)
तिलशालि-पु., तिलवासीशालिः ।
तिलश्राणा-स्त्री., कृषरा (प मु.)
तिलस्नेह-पु., तिलतैलम् (शब्दकल्पद्रुम.)
तिलाङ्कितदल-पु., तैलकन्दः (रा. व. ७)
तिलापत्र्या-स्त्री., कृष्णजीरकः (श. च.)
तिलिस्स-पु., गोनाससर्पः (अम.)
तिलौदन-न., तिलान्नम् (हारा.)
तिल्य-न., तिलक्षेत्रम् ।
तिल्ल(ल्व)(क)-पु., मरुवकवृक्षः (र. मा.) रोध्रवृक्षः (अम.) अधःसंशमनम् । इङ्गुदीवृक्षः (वै. नि.)
तिल्वकतरु-पु., लोध्रवृक्षः (वै. नि.)
तिल्वनी-स्त्री., कर्णस्फोटा (वै. नि.)
तिष्यपुष्पा(फला)-स्त्री., आमलकीवृक्षः (श.च. अम.)
तिष्या-स्त्री., आमलकीवृक्षः (श. र.)
तिस्रा-स्त्री., शङ्खपुष्पीलता (वै. नि.)
तिहा(न्)-पु., तण्डुलः (त्रि., रोगी (उणा.)
तीर-पु., न., वज्रम् (मे.)
तीरण-पु., करञ्जिका (वै. नि.)
तीर्णपदी-स्त्री., मुशलीकन्दः (श. च.)
तीर्थ-न., स्त्रीरजः (मे.) योनिः (हे. च.) अग्निः । निदानम् (उणा.)
स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. व. ११)
तीर्थवाकू-केशः (हे. च.)
तीर्थसेवी(इन्)-पु., वकपक्षी (रा. व. १६)
तीव्रवेदना-स्त्री., अतिवेदना
तीव्रसन्ताप-पु., श्येनपक्षी (वै. नि.)
तीक्ष्णक-पु., सिद्धार्थः (रा. व. १६)
तीक्ष्णकल्क-पु., रेचनाख्यधूमपानकल्कः सच चूषणादिः (भा.) कुस्तुम्बुरुवृक्षः (रा. व.)
तीक्ष्णकील-क-पु., अकर्करः । शुक्लमदनवृक्षः
तीक्ष्णगन्धोग्रा-स्त्री., शुक्लवचा (वै. नि.)
तीक्ष्णगुणकर्म-न., तीक्ष्णद्रव्यगुण क्रिया तत् दाहपाककरं स्रावणं मृदु च (सु.)
तीक्ष्णतरु-पु., पीलुवृक्षः (वै. नि.)
तीक्ष्णतैल-न., मद्यम । सर्जरसः । स्नुहीक्षारम् (श. र.) ज्योतिष्मतीतैलम् (रस. र.)
तीक्ष्णत्वक्-पु., तुम्बुरी (वै. नि.)
तीक्ष्णदंष्ट्र-(क)-पु., व्याघ्रः । चित्रव्याघ्रः (रा. व. १९)
तीक्ष्णदग्धा-स्त्री., कोङ्कणेख्याते यावनालवृक्षः
तीक्ष्णद्रु-पु., पीलुवृक्षः (वै. नि.)
तीक्ष्णप्रिय-पु., यवः (वै. नि.)
तीक्ष्णरस-पु., यवक्षारः (र. मा.)
तुङ्गक-पु., पुन्नागवृक्षः (श. र.) वृद्धदारकवृक्षः । पद्मकेसरम् (वै. नि.)
तुङ्गकेशर-पु., पुन्नागवृक्षः (प. मु.)
तुङ्गभद्रा-स्त्री., दक्षिणदेशप्रसिद्धनदी
तुङ्गवृक्ष-पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)
तुङ्गस्कन्धफल-पु., नारिकेलवृक्षः (भा. आम्रवर्ग)
तुङ्गाक्षीरी-स्त्री., वंशलोचना (वै. नि.)
तुच्छद्रु-पु., एरण्डवृक्षः । (श. च.)
तुच्छधान्यक-न., नीवारधान्यम् । पुलाकः । (वै. नि.)
तुच्छा-स्त्री., नीलीवृक्षः । तुत्थकम् । (भा.)
तुडुम-पु., मूषकः । (त्रिका.)
तुडी-स्त्री., आढकी (रमा.)
तुण-(णि)-(क)-पु., नन्दिवृक्षः । (अ. टी. खा.)
तुण्डकी-स्त्री., करञ्जवल्ली । (वै. नि.)
तुण्डाहतदष्टक-न., अदंष्ट्राकृतदंशः । (वा. उ. ३६ अ.)
तुण्डिकेरुफला-स्त्री., तन्नामकगलरोगविशेषः । (वै.नि.)
तुण्डिकेशी-स्त्री., बिम्बिका । (अ. टी.)
तुण्डिभ-(ल)-त्रि., पुष्टः । बृहन्नाभियुक्तः । (अम.)
तुत्थनी-स्त्री., एला । शिवलिङ्गिवी । (वै. नि.)
तुन्तुभ-पु., सर्षपवृक्षः । (भापू१ भ. धान्य व.)
तुन्दकूपिका (पी) स्त्री., नाभिः (हे. च. त्रिका.)
तुन्दपरिमार्ज-(मृज)-स्त्री., अलसः । (अ. टी. र.)
तुन्दि-न., उदरः । स्त्री., नाभिः (त्रिका.)
तुन्दिक-पु., पृथूदरमानुषः । (स्त्री.,) नाभिः । (श. र.)
तुन्दिकर-पु., नाभिः (त्रिका.)
तुन्दिभ-(ल)-स्त्री., हृष्टपुष्टः । (श. र.)
तुन्दी-स्त्री., नाभिः (श. र.)
तुन्न-(क)-पु., वृक्षविशेषः । तूणीवृक्षः । हिं.-महानीम, तुन् उत्महालिम्बु । पं-द्रावी । (अम.) (त्रि.) पीडितः ।
तुन्नकारिका-स्त्री., भूम्यामलकी (वै.. नि.)
तुभ-पु., बर्करः (वै. नि.)
तुमुल-पु., बिभीतकवृक्षः ।
तुम्बक-न., धन्याकम् । कन्दर्पसारतैलम्
तुम्बा-स्त्री., आलाबुः (प. मु.) तिक्ततुम्बी (वै. नि.)
तुम्बीतैल-न., गलगण्डाधिकारे तैलम् । (च. द.)

तुम्बीपुष्प-न., अलाबुपुष्पम् । लताम्बुजः । (हारा.)
तुम्बुक-पु., न., अलाबुः । (हड्डचन्द्रः ।)
तुम्बुर-(री)-पु., स्त्री., तुम्बुरुवृक्षः (र. मा.) आर्द्रधान्यकम् (त्रिका.) कुक्कुरखी (मे.)
तुरग(ङ्ग)द्विष(द्वेषि)णी-स्त्री., महिषी (रा. व. १९, वै. नि)
तुरगशिफा-स्त्री., अश्वगन्धामूलम् (च. द. वा. व्या. चि.)
तुरङ्ग(म)-पु., घोटकः (अम.) चित्तम्. (श. र.) न., गन्धकः (र. सा. सं.)
तुरङ्गक-पु., हस्तिघोषा (र. मा.)
तुरङ्गरिपु(ङ्गारि)-स्त्री., अश्वगन्धा (वै. नि. । म.द.व. १ । प. मु.) घोण्टा (रा. व. ८)
तुलसीच्छद(पत्र)-न., बृहत्तालीशपत्रम् (वै. नि.)
तुलसीद्वेषा-स्त्री., बर्बरी (र. मा.)
तुलाकोटि(टी)-स्त्री., परिमाणभेदः । अर्बुदम् । (हे. च.) कोटिसंख्या (वै. नि.)
तुलाबीज-न., गुञ्जा (त्रिका.)
तुलिका-स्त्री., हापुत्रिकापक्षी (त्रिका.)
तुल्यार्थता-स्त्री., एकसामान्यरूपार्थानुयोगिता (च. सू. १ अ.)
तुवरीमृत्-स्त्री., सौराष्ट्र मृत्तिका (रा. व. १३)
तुवरीशिम्ब-पु., चक्रमर्दवृक्षः (श. च.)
तुवि-स्त्री. तुम्बी (श. मा.)
तुषजल-न., तुषोदकम् । अभावे काञ्जिकम् । (सी. यो. बृहच्चुक्रसन्धाने)
तुषधान्य-न., तुषः (र. मा.) रक्तशाल्यादिः (वै. नि. कङ्ग्वादिकुधान्यवर्गे) ' कङ्गुश्रीनः कोद्रवश्च श्यामाको वनकोद्रवः । शणबीजं वंशबीजं गवेधुश्च प्रसाधिका तावन्त्येतानि चोक्तानि तुषधान्यानि वै नव ।
तुषसौवीरक-न., सतुषयवकाञ्जिकम् । तुषोदकम् (वै. नि.)
तुषस्वेद-पु., वातव्याधौ अश्वस्य स्वेदविशेषः ' सुतप्तकाञ्जिकैः स्विन्नं बुसं बध्वा पू तं भिषक् । तुपस्वेदं तुरङ्गस्य धान्यैर्वापि प्रदापयेत् ' (ज. द १८ अ.)
तुषानल-पु., तुषाग्निः (वै. नि.)
तुषारकाल-पु., शरत्कालः (वै. नि.)
तुषारगौर-पु, कर्पूरः । भीससेनी कर्पूरः । चीनकर्पूरः (वै. नि.)
तुषाराम्बु-न., नीहारजलम्
तुषोल्ली-न., तुषोदकम् । सौवीरकाञ्जिकः (रा. व. १५)
तुषोदक-न., सतुषयवकाञ्जिकम् (हारा.) सौविरकाञ्जिकम् (रा. व. १५).
तुस-पु., तुषः (अ. टी. रा.)
तुहिनांशु-पु., कर्पूरः (रा. व. १२)
तुहिनांशुतैल-न., कर्पूरतैलम् (रा. व. १५)
तूण-पु., तूणीकवृक्षः ।
तूतक-न., तुत्थम् (श. च.)
तूरी-स्त्री., शुक्लधुस्तूरकः (भा.)
तूर्णि-स्त्री., विष्ठा (उणा. । मनसि. । वै. नि.)
तूलक-न., कार्पासः (हे. च.)
तूलग्रन्थिसमा-स्त्री., ऋद्धिनामकौषधिः (वै. नि.)
तूलनालिका (ली)-स्त्री., पिञ्जिका
तूलपिचु-पु., कार्पासः । तूलम् (अ. टी. भ.)
तूल (लि) फला-स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (र. मा.)
तूलवती (शय्या)-स्त्री., तूलशय्या (भा.)
तूलशर्करा-स्त्री., कार्पासबीजम् (श. मा.)
तूला (ली)-स्त्री., रक्तकार्पासी (रा. व. ४) नीलीवृक्षः (भा.) वर्तिः (श. र.)
तूलि-(लि (ली) का)-स्त्री., नीली । रक्तकार्पासी (वै. नि.) चित्रलेखनी (अम.) वीरणादिशलाका शय्योपकरणम् (मे.) वर्तिः (श. र.)
तुवर-पु., तुवरकः ।
तूस्त-न., धूलिः (मे.) सूक्ष्मम् (श. र.)
तूस्व-न., जातीफलम् (श. च.)
तृणकतैल-न., कुष्ठाधिकारे तैलम् (रस. र.)
तृणकूर्म-पु., श्वेतालाबुः (वै. नि. श. मा.)
तृणकेतकी-स्त्री., वंशलोचनविशेषः (वै. नि.)
तृणकेसर-न., तृणकुङ्कुमम् (रा. व. १२)
तृणगन्धा-स्त्री., वृद्धदारकलता (वै. नि.)
तृणगोधा-स्त्री., सरटः । कृकलासः (मे.) तृणजलौका (शब्दकल्पः)
तृणगोधूम-पु., स्वनामख्यातगोधूमः (प. मु.)
तृणग्राही (इन्)-पु., नीलहीरकः (प. मु.) नीलमणिः (रा. व.)
तृणचर-पु., गोमेदमणिः (वै. नि.)
तृणद्रुम-पु., तालवृक्षः । केतकीवृक्षः । पूगवृक्षः । खर्जूरीवृक्षः । ताडीद्रुमः । नारिकेलवृक्षः । हिन्तालवृक्षः । एषां मज्जानिर्यासाः लघवः शीतला वृष्या मोहना हृद्या तृषातापहराश्च (रा. व. ९)

तृणध्वज–पु., बल्वजा (रा. व. ८) वंशः (अम.)
तृणपञ्चमूलाद्यघृत–न., अश्मर्यधिकारे घृतम् (भा.)
तृणपर्ण–न., पु., चीनाखड इति प्रसिद्धतृणम् (रसा. र. महाभल्लातकगुडे)
तृणमणि–पु., नीलहीरकः (हारा.)
तृणमुद्ग–पु., श्यामाकधान्यम् (प. मु.)
तृणमुस्तिका–स्त्री., मुस्ततृणम् । मुस्ता (रस. र. रसमारणे)
तृणराजाह्व(य)–पु., तालवृक्षः (रा. व. ११)
तृणवल्ल (ल्व) जा–स्त्री., बल्वजा (रा. व. ८)
तृणवृक्ष–पु., नारिकेलवृक्षः । तालवृक्षः । पूगवृक्षः केतकीवृक्षः । खर्जूरीवृक्षः (रा. व. ९ वै. नि.)
तृणशिम्बी–स्त्री., निष्पावः (प., मु.)
तृणशीत–पु., देवताडवृक्षः (वै. नि.) न., कत्तृणम् । गन्धतृणम् (र. मा.)
तृणशोणित–न., तृणकुङ्कुमम् (रा. व. १९)
तृणषट्पद–पु., कीटविशेषः । वरोलः (त्रिका.)
तृणसारा–स्त्री., कदली (हारा.)
तृणाख्य–(ह्य)–न., पर्वततृणम् (रा. व. ८)
तृणाङ्घ्रिप–पु., मन्थानकतृणम् (रा. व. ११)
तृणाञ्जन–पु., कृकलासः (त्रिका.)
तृणाधिप–पु., मन्थानकतृणम् (रा. व. ८)
तृणान्न–न., देवधान्यम् । नीवारधान्यम् (भा. पू. १ भ. धान्यव.)
तृणारि–पु., पर्पटकः (वै. नि.)
तृणावर्त–पु., गुण्डासिनीतृणम् (वै. नि.)
तृणोलुप–न., उपलतृणम् (वा. उ. ३७ अ.)
तृणौक–पु., तृणच्छादितगृहम् (हे. च.)
तृणौषध–न., एलवालुकः (श. च.)
तृष्मान्–त्रि., तृष्णायुक्तः (वा. चि. ६ अ,)
तृतीय(या)प्रकृति–पु., नपुंसकः (अ. टी.)
तृप(फ)ला–स्त्री., लता । त्रिफला (उणा. त्रिका.)
तृप्र–पु., घृतम् (उणा.)
तृफु–पु., सर्पः (उणा.)
तृवृता–स्त्री., त्रिवृत् शुक्लत्रिवृता (वा. चि. २ अ.)
तृषती–स्त्री., शूंकशिम्बी (प. मु.)
तृषाभू–स्त्री., मूत्राशयः । क्लोमन् (श. च.)
तृषा(ह)क–न., जलम् (श. च. वै. नि.)
तृषाहा–स्त्री., शताह्वा । मधुरिका (श. च.)
तृषितोत्तरा–स्त्री., गोकर्णीनामलता (वै. नि.) अशनपर्णीलता (श. च.)
तृष्णक्–त्रि., तृष्णावान् (वा. ज्व. चि. १ अ.) लुब्धः (अम.)
तेजन (क) शरः (प. मु.) (वंश. भा.) मुञ्जातृणम् उपलतृणम् (ज. द. १२ अ । रा. व. ८) न., भोजनम् (रा. व. २०)
तेजपत्र–न., स्वनामख्यातपत्रम् (प. मु.)
तेजल–पु., कपिञ्जलपक्षी (रा. व. १९)
तेजसाह्वय–न., मुञ्जतृणम् (वै नि.)
तेजस्कर–त्रि., तेजोवर्धकः
तेजोमन्थ–पु., हस्वाग्निमन्थक्षुपः (प. मु.)
तेजोमय–न., पित्तम् (वै. नि.)
तेजोवीज–न., मज्जा (वै. नि.)
तेमन–न., आर्द्रीकरणम् (मे.) व्यञ्जनम् व्यञ्जनं सूपशाकादिमिष्टान्नं तेमनं स्मृतम् (रा. व. २०)
तेमनी–स्त्री., चुल्लीभेदः (हे. च.)
तैजसावर्धिनी–स्त्री., स्वर्णादिपाकमूषा (अम.)
तैतील–पु., खड्गी (मे.)
तैत्तिर–पु., तित्तिरपक्षी (रा. व. १९) गण्डकः (मे.)
तैलक–न., अल्पपरिमाणतैलम्
तैलकल्कज–पु., तैलकिट्टः (रा. व. १६)
तैलकिट्ट–न., पिण्याकः । गुणाः–कटुकं गौल्यं कफवातप्रमेहघ्नञ्च (रा व १९)
तैलचो (चौ) रिका–स्त्री., तैलपायिका (श. र.)
तैलधान्य–न., तिलादिबीजवर्गः । यथा ' तिलातसी च तोरी च त्रिविधश्चापि सर्षपः । द्विधा राजी खाखसश्च बीजं कौसुम्भसंभवम् । एतानि तैलधान्यानि पठितानि च पूर्ववत् (अर्क.)
तैलनी–स्त्री., तिलकिट्टम् (वै. नि.)
तैलपञ्चक–न., द्रव्यपञ्चकसिद्धतैलम् । यथा– ' तैलं प्रसन्नागोमूत्रमारनालं यवाम्लजः । गुल्मजाठरमानाहपीतमेकत्र साधयेत् (च.)
तैलपर्ण–(क)–पु., न., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (भा.) चन्दनवृक्षः । (वै. नि.)
तैलपर्णिक–न., तैलचन्दनम् । तत्तु शीतलं धवलं तिलपर्णतरुजातञ्च (भ.) हरिचन्दनम् (अम.)
तैलपर्णी–स्त्री., लवणखोटी । देवदारुनिर्यासः (प. मु.) रक्तचन्दनम् । चन्दनम् । शिलारसः (मे.)
तैलपा–स्त्री., पेचकः । तैलपायी (रा. व. १९)
तैलपातन–न., सर्वबीजात्तैलनिःसारणम् । यथा–'सपक्वतालपत्राणां रसमादाय भावयेत् । समस्तबीजचूर्णं

यदुक्तानुक्तं पृथक् पृथक् । आतपे मुञ्चेत् साध्यासाध्यं न संशयः । (र. चि. ७ अ.)

तैलपायिका–स्त्री., तैलपायी (अम.)

तैलपिञ्ज–पु., अरण्यतिलकवृक्षः । (वै. नि.)

तैलपिपीलिका–स्त्री , तैलपायिपिपीलिकाभेदः (रा. व. ११)

तैलपोत–पु., तैलपिचुः । (च. द.)

तैलमाली–स्त्री., वर्तिः (शमा.)

तैलमूर्च्छा–स्त्री., तैलस्य मूर्च्छना । (भैष.)

तैलसाधन–न., कस्तूरिका । (वै. नि.) काकोली (श. च.)

तैलस्फटिक–पु.. तृणमणिः । (हे. च.)

तैलस्यन्दा–स्त्री., भूमिकूष्माण्डः । काकोली । श्वेतापराजिता । (वै. नि.)

तैलाङ्ग–पु., बकुलवृक्षः । (प. मु.)

तैलाटी–स्त्री., तृणषट्पदम् । वरटा । (हे. च.)

तैलाम्बुका–स्त्री., तैलचोरिका (जटा.)

तैलिनी–स्त्री., तैलपायिका (रा. व. १९ दशवर्तिः श. मा.)

तैलिशाला–स्त्री., तैलिकगृहम् (हे. च.)

तैलिन–न., तिलक्षेत्रम् (रा. व. २.)

तैल्वणपूग–न., पूगफलविशेषः (रा. व. ११)

तैष–पु., पौषमासः (अम.)

तोक–पु., बालकः (त्रिका.)

तोकक–पु., चाषपक्षी (वै. नि) चातकपक्षी (अम.)

तोका–(कय)–पु., अपक्वयवः । हरितनिःशूकक्षुद्रयवः (भा. पू. १ भ. धा. व.) पल्लवाद्यङ्कुरः (भागवतम्)

तोक्ष–न., कर्णमलः । (त्रिका.)

तोडिमत्स्य–पु., मत्स्यविशेषः (वै. नि.)

तोमरधर–पु., अग्निः (वै. नि.)

तोमरिका–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (श. र.)

तोयकुम्भा–पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)

तोयगर्भ–स्त्री., शैवालः (वै. नि.)

तोयज–पु., उशीरम् । लामज्जकः (वै. नि.)

तोयडिम्ब–पु., घनोपलम् (हारा.)

तोयधर–पु., मुस्ता । नागरमुस्ता सुनिषण्णशाकः । मेघः (मे.)

तोयधिप्रिय–न., लवङ्गम् (श. च.)

तोयपाषाणजमल–न., खर्परम् (वै. नि.)

तोयपुष्पी–स्त्री., पाटलवृक्षः (श. मा.)

तोयप्रष्ठा–स्त्री., पाटलवृक्षः (वै. नि.)

तोयप्रसादन(फल)–न., कतकफलम् (र. मा.)

तोयमञ्जरी–स्त्री., जलापामार्गः (वै. नि.)

तोयमल–न., समुद्रफेनः (वै. नि.)

तोयवती–स्त्री., अमृतवल्ली (वै. नि.)

तोयवृत्ति–पु., जलापामार्गः (वै. नि.)

तोयवृक्ष–पु., शैवालः (वै. नि.)

तोयशाला–स्त्री., वारिशाला

तोयशुक्तिका–स्त्री., जलशुक्तिः (रा. व. १९)

तोयशूक–पु., शैवालः (वै. नि.)

तोयसर्पिका–स्त्री., भेकी (वै. नि.)

तोयसूचक–पु., मण्डूकः (शब्दार्थकल्प.)

तोयस्राव–पु., अश्वस्य नेत्रतो जलस्रावरोगः । अजस्रं पश्यतां व्यश्रु स्वच्छं स्रवति चक्षुषः । तोयस्रावीति तं विद्यात् विकारं मारुतात्मकम् (ज. द. ३० अ.) जलस्रावः ।

तोयाधिवासिनी–स्त्री., पाटलवृक्षः । (वै. नि.)

तोयापामार्ग–पु., जलापामार्गः । (वै. नि.)

तोयोद्भवा–स्त्री., जलापामार्गः । (वै. नि.)

त्रपुटी–स्त्री., सूक्ष्मैला (र. मा.)

त्रपुल–न.. रङ्गम् । वङ्गम् (भ. द्वि.)

त्रपुसिनी–स्त्री., कर्कटिका (वै. नि.)

त्रयी–स्त्री., सोमराजी (श. च.)

त्रयोदशाङ्गगुग्गुल–पु., वातव्याधौ । (सा. कौ.)

त्रसरेणु–पु., त्रिंशत्परमाण्वात्मकमागधमानम् । स जालान्तरगतरविकिरणेषु दृश्यते । त्रसरेणुस्तु विज्ञेयः त्रिंशता परमाणवः (प. प्र. २ ख.)

त्राण–न., त्रायमाणालता (मे.)

त्रायमाणादि–पु., पित्तज्वरघ्नसिद्धकषायभेदः (च. द. ज्वरचि.) ' त्रायमाणा च मधुकं पिप्पली मूलमेव च । किराततिक्तकं मुस्तं मधुकं सबिभीतकम्

त्रासदुष्ट–कुक्कुरदष्टरोगभेदः (वा. उ. ३८ अ.)

त्रिंशत्पत्र–न., कुमुदपुष्पम् (श. मा.)

त्रिक–न., त्रिफला । त्रिकटुः त्रिमदः (सुखबोधः) । कटिप्रान्तभागः (रा, व. १८.)

त्रिकट–पु., शृङ्गाटकः । गोक्षुरकम् (श. र.)

त्रिकटुगुडिका–स्त्री., प्रमेहपिडका ' त्रिकटु त्रिफला गुग्गुलुः प्रत्येकं समभागः । गोक्षुरक्काथेन मर्द्या ।

त्रिकट्वादिवर्ति–स्त्री., नेत्ररोगाधिकारे वर्तिः (र.स. र.)

त्रिकण्टका–स्त्री., त्रिवृता (ज. द. ११. अ.)

त्रिकण्टकादिघृत–मूत्रकृच्छ्राधिकारे घृतम् (भै. ष.)

त्रिकण्टकाख्य–(क)–पु., शृङ्गाटकः (वै. नि.)

त्रिकत्रय–न., समत्रिकटुत्रिफलात्रिमदाः

त्रिकत्रयादिलौह–न.. पाण्डुरोगे हितम् (सा. कौ.)

त्रिकर्ष (र्षिक)–न., नागरातिविषामुस्ता (रा. व. २२)

त्रिकसन्ध्यस्थि–न.. त्रिकास्थि (च. शा. ७ अ.)
त्रिकूटाह्वय–न., काचलवणम् (वै. नि.)
त्रिकोण–न., योनिः । शृङ्गाटकः ।
पु., त्रिधारतृणम् (वै. नि.)
त्रिकोणफल–न., शृङ्गाटकः (भा.)
पु.,–त्रिधारतृणम् (वै. नि.)
त्रिकोणा–स्त्री., योनिः । शृङ्गाटकः (वै. नि.)
त्रिक्षार–न., क्षारत्रयम् (रा. व. २१.) समयवक्षार-सर्जिकाक्षारटङ्कणक्षाराः । कामाग्निसन्दीपने रसे (च. द.)
त्रिक्षुर–पु.. श्वेतकोकिलाक्षवृक्षः (र. मा.)
त्रिक्षुरी–स्त्री., गोक्षुरः (वै. नि. २ भ. र. पि. चि.) (कूष्माण्डावलेहे)
त्रिख–न., कर्कटिका (वै. नि.) त्रपुषम् (श. च.)
त्रिगर्ता–स्त्री., मुक्ता (वै. नि.) घुर्घुरिका (मे)
त्रिगुणाख्यरस–पु., वातव्याधौ रसः (रस. कौ.) अन्ये शूले हितः (र. सा. सं.)
त्रिजटा–स्त्री., बिल्ववृक्षः । तन्त्रम् ।
त्रिण–न., तृणम् (श. र.)
त्रितय–न., सन्निपातः (भा. म. ४ भ.) (शिरोदो. चि.)
त्रिदला–स्त्री., गोधापदीलता (प. मु.) रक्तलज्जालुका (वै. नि.) यष्टिमधु (ज. द. १२ अ.)
त्रिद (दा) लिका–स्त्री., चर्मकषा (श. च.)
त्रिदशगोप–पु., इन्द्रगोपकीटः (वै. नि.)
त्रिदशदारु–न., देवदारुकाष्ठः (चि. क. क.) (स्त्रीरोग. चि.)
त्रिदशवरभोज्य–न., अमृतम् (चि. क्र. क.) (केशररसे)
त्रिदशसर्षप–पु., देवसर्षपवृक्षः (वै. नि.)
त्रिदशहार–पु., अमृतम् (हारा.)
त्रिदिवा–स्त्री., एला । गङ्गा (वै. नि.)
त्रिदीप्य–न., यमानीत्रयम् । यमानी खोरासानी अजमोदा च (वै. नि. २ भ. अर्शचि.) भस्मकवटी
त्रिदोषज–त्रि., त्रिदोषजनितम् ।
त्रिदोषदावानलकालमेघ–पु , सन्निपातज्वरे रसः ।
त्रिदोषदावानलरस–पु., ज्वराधिकारे रसः (भैष.)
त्रिदोषरोहिणी–स्त्री., त्रैदोषिकगलरोगविशेषः (वै. नि.)
त्रिदोषसम–न., समदोषत्रयम् (रा. व. २२)
त्रिदोषसम्भव–पु., सन्निपातः (वै. नि.)
त्रिदोषहारी(रस)–पु., ज्वराधिकारे रसः (र. चि. ९)
त्रिधातु–पु., गणपती (त्रिका.)
न., धातुत्रयम् ।
त्रिधारकाण्डवल्ली–स्त्री., त्रिधारकारवेल्ली ।
त्रिधारस्नुही–स्त्री., त्रिधारवज्रीवृक्षः (रा. व. ८)
त्रिनेत्ररस–पु., पित्तकासे रसः (रस. र.) अपरः—परिणामशूले (रस. र.) अन्यः शोथेः वृष्याधिकारे अन्यः (र. चि. ९ अ.) अपरः सन्निपातज्वरे (र. चि. ९ अ.) अन्यश्च सन्निपातज्वरे (भा.) अपरः ऊरुस्तम्भे (रस. र.) अपरं मूत्रकृच्छ्रे (र. सा. सं.)
त्रिपत्रक–पु., पलाशवृक्षः हे. च.)
त्रिपदी–स्त्री., हंसपदीलता (प. मु. ; रा. व. ५)
त्रिपर्णा–स्त्री., वनकार्पासी । पृश्निपर्णी (र. मा.) वनगुञ्जा (वै. नि.,) तिलपर्णिकाकन्दः (रा. व. ७) शालपर्णी (भा. म. ख. १ भ.)
त्रिपला–स्त्री., त्रिफला (भ. द्वि.)
त्रिपात्–पु., ज्वरः (वैद्यकम्)
त्रिपाद–पु., ग्रन्थिपर्णमूलम् (वै. नि.)
त्रिपिवा (इन्) पु., लम्बकर्णछागः (वै. नि.)
त्रिपुटकी–स्त्री., श्वेतत्रिवृत् (वै. नि.)
त्रिपुटीफल–पु., एरण्डवृक्षः [हारा]
त्रिपुरभैरवरस–पु., ज्वरे रसः (भा. म. ज्वर. चि.)
त्रिपुरमल्लिका (मालिका)–स्त्री.. मल्लिका (रा. व २०)
त्रिपुषा–स्त्री., त्रपुषा । कृष्णत्रिवृत् (श. च.) (न.,) त्रपुषफलम् त्रपुषीबीजम् । कुशावलेहः
त्रिपुष्पा–स्त्री., अतिबला (वै. नि.)
त्रिफलाद्यघृत–न., नेत्ररोगाधिकारे घृतम् (सा. को.) इदं मध्यमम् । अपरं घृतम् (रस. र.) इदं बृहत् । स्वल्पं सन्ध्यायां तिमिरनाशार्थं पेयम् । अन्यत् योनिरोगे योज्यम् (भा.)
त्रिबलि–स्त्री., जठरावयवविशेषः (भूरिप्र)
त्रिबलिक–न., गुदद्वारम् । पायुः (हे. च.)
त्रिभङ्गी (ण्टी) (ण्डी)–स्त्री., त्रिवृता (प. मु.)
त्रिभण्ड–(द्र)–न., मैथुनम् । सुरतः (त्रि. का.)
त्रिमद–पु., विडङ्गमुस्तचित्रकाः । विडङ्गमुस्तचित्रैश्च त्रिमदः (प. प्र. ३ ख. त्रिकत्रयलौह.)
त्रिमदद्वितय–न.. त्रिमदखिफला चेति द्वयम् । प्रयोगामृते (ग्रहणी. चि. कणादिलौहे.)
त्रिमल्लभट्ट–पु., योगतरङ्गिणीकारः ।
त्रियष्टि–स्त्री., पर्पटकः (प. मु.)

त्रियामा–स्त्री., हरिद्रा (रा. व. ६)
त्रिलिङ्गगति–स्त्री., त्रिदोषजनाडी (भा. म.४ मुखरोगचि.) त्रिलिङ्गगतिसौषिरी ।
त्रिवर्गद्वितय–न., त्रिफलात्रिमदः (रस. र. कणाद्यलौहे)
त्रिवर्णकृत्–पु., शरटः (वै. नि.)
त्रिवल्ली–स्त्री.. इन्दीवरी (वै. नि.)
त्रिविक्रमरस–अश्मर्यधिकारे रसः । (रस. र.)
त्रिविधायतन–न., इन्द्रियार्थातियोग कर्मातियोगकालातियोगरूपेषु रोगाणां त्रिविधकारणानि । (च.सू.११)
त्रिवीज–पु., श्यामाकः (रा. व. १६)
त्रिवृतादिगण-पु., तदाद्यधोभागहरद्रव्यसमूहः (सुसू.३८)
त्रिवृतिका–स्त्री., त्रिवृता (रा. व. ६)
त्रिवृत्पत्र–न., वटपत्रम् (रस. र.) वह्निभल्लातके ।
त्रिवृत्पर्णी–स्त्री., हिलमोचिका (श. च.)
त्रिवृन्त–पु.. पलाशवृक्षः (वै. नि.)
त्रिशङ्कु–पु., चातकपक्षी । (त्रिका.) सुगन्धमार्जारः । (वै. नि.) बिडालः । शलभः । (मे.) खद्योतः । (श. मा.)
त्रिशतपत्र–न., पुण्डरीकम् । (वै. नि.)
त्रिशर्करा–स्त्री., गुडोत्पन्ना हिमोत्था मधुरा चेति मिलितशर्करा । 'गुडोत्पन्ना हिमोत्था मधुरा चेति मिश्रिता, त्रिशर्करा । (रा. व. २२)
त्रिशृङ्गी (इन्)–पु., रोहितमत्स्यः । (शब्दकल्पतरुः)
त्रिसन्धि–स्त्री., पुष्पवृक्षविशेषः । यस्य कुसुमानि सन्धिकाले एव विकसन्ति । सा रक्तसितासितकुसुमभेदात् त्रिधा । परन्तु गुणैस्तुल्या । गुणाः–कफकासहरा रुच्या त्वक्दोषघ्नी च ।
त्रिसन्धिपुष्पदा–स्त्री., त्रिसन्धिवृक्षः । (वै. नि.)
त्रिसन्धी–स्त्री.. शुक्लत्रिसन्धिः । (वै. नि.)
त्रिसन्ध्य–न., त्रिसन्धिपुष्पम् (राव. १०)
त्रिसन्ध्या–स्त्री.. त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः । (वै. नि.)
त्रिसर–पु., तिलौदनः । (वै. नि. । हे. च.)
त्रिसरा–स्त्री., कृसरा । तिलतण्डुलमाषैश्च कृसरा त्रिसरेति (प. प्र. ३ ख.)
त्रिसरी–पु., यस्याश्चस्य सर्वाङ्गं भिन्नवर्णं केवलं शिरः कृष्णं स त्रिसरी । 'अन्यवर्णस्य वाहस्य शिरः कृष्णं यदा भवेत् । त्रिसरी नाम स प्रोक्तः भर्तुः कुलविनाशनः । (ज. द. ३ अ.)
त्रिसवन–न., त्रिसन्ध्यस्नानम् (च. शा. ५ अ.)
त्रिसिता–स्त्री., त्रिशर्करा (रा. व. २२)
त्रुटिवीज–पु., कच्चीवृक्षः (श. म.)
त्रैकटु–न., त्रिकटुकम् (चि. क. क. स्त्री.) (चि. मक्कल-शूले)
त्रैफल–न., त्रिफला (श. चि.)
त्रैलोक्यचिन्तामणिरस–पु., ज्वराधिकारे रसः (भैष.)
त्रैलोक्यविजयापत्र–न., विजयापत्रम् (मदनमोदके.) लक्ष्मीविलासरसे ।
त्रोटि–(टी)–स्त्री., पक्षिचञ्चुः । कट्फलम् । पक्षी । मत्स्यभेदः (वै. नि.)
त्र्यक्षफल–(ला)-पु., स्त्री., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)
त्र्यक्षर–पु., नागवीटः (त्रिका.)
त्र्यञ्जन–न., अञ्जनत्रितयम् (रा. व २२)
त्र्यूषणाद्यमण्डूर–न., पाण्डु रोगेहितम् । (भैष.)
त्र्यूषणाद्यलौह–न., स्थौल्याधिकारे । (रस. र.)
त्र्यूष्ण–न., त्र्यूषणम् (वै. नि.)
त्वककण्डूर–पु., व्रणः (हारा.)
त्वककन्द–पु., वनशूरणः (भैष. ग्रहणी. चि.)
त्वक्क्षीर–न., तक्षीरम् । वंशलोचना (वै. नि. २ भ' कास. चि.)
त्वक्क्षीरी–स्त्री., क्षीरशुक्ला, वंशरोचना (रा. व. ६)
त्वक्छद–पु., क्षीरीवृक्षः (र. मा.)
त्वक्तरङ्ग–(क)-पु., बला (रा. व. १८)
त्वक्पञ्चक-न., न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलानि (रा. व. २२)
त्वक्पत्री–स्त्री., हिङ्गुपत्री हिङ्गुवृक्षः । तमालपत्रः (वै. नि.) कारवी (मे.)
त्वक्पुष्प–न., रोमाञ्चः (त्रि. का.) किलासः (हे. च.)
त्वक्पुष्पिका–स्त्री., शिम्बी । श्वित्रकुष्ठम् (त्रि. का.)
त्वक्पुष्पी–स्त्री., श्वित्ररोगः किलासम् (जटा.)
त्वक्शून्यता–स्त्री., स्पर्शाज्ञता स्पृश्यमाना त्वचा या तु शीतोष्णं मृदु कर्कशम् । न जानाति बुधैस्त्वक्सा शून्येति परिकीर्त्यते (निदा.)
त्वक्सारनिर्यासविष–न., स्थावरविषभेदः । यस्य त्वक्सारः निर्यासश्च विषम् । (सु. क. २ अ.)
त्वक्सारभेदिनी-स्त्री.. क्षुद्रचुञ्चुक्षुपः (रा. व. ४)
त्वक्स्वाद्वी–स्त्री., त्वक्सारः (वै. नि.)
त्वक्स्वाप–पु., स्पर्शाज्ञता (नि. दा.)
त्वगङ्कुर–पु., रोमाञ्चः (त्रिका.)
त्वगाक्षीरा(री)–स्त्री., वंशलोचना (जटा. । अम.)
त्वगूर्मि–स्त्री., बला । मांसलोलता (रा. व. १८)
त्वग्ज–न., रक्तधातुः । केशः । रोमन् (रा. व. १८)

त्वग्दोषापहा–स्त्री., सोमराजी (रा. व. ४)
त्वग्मी–स्त्री., चर्मचटकः (वै. नि.)
त्वचाङ्ग–पु., नागरङ्गवृक्षः (रा. व. ११)
त्वचापत्र–पु., हिङ्गुवृक्षः
न., त्वचा (श. र.)
त्वञ्चिसार–पु., वंशः (म. द. व. ७)
त्वञ्चिसुगन्धा–स्त्री., क्षुद्रैला (हारा.)
त्वच्यगण–पु., त्वक्प्रसाधनवर्गे तैलादिः । यथा–तैलन्तु नवधा प्रोक्तं बाकुची चक्रमर्दकम् । स्थौणेयं पर्पटी स्पृक्का त्वच्योऽयं गण उच्यते ।
त्वरारोह–पु., पारावतः (वै. नि.)
त्वष्ट (ष्ट्र)–न., ताम्रम् (वै. नि.)
त्वाच–न., त्वक्तैलम् । गुणाः —'वह्निमांद्यानिलहराध्माना-क्षेपनाशनम् । वान्त्युत्क्लेशप्रशमनं सङ्ग्राहि दशनार्तिभित् । त्वाचं तैलं रजःस्रावि तोये क्षिप्तं निमज्जति ' (अत्रि.)

थ

थ–पु., पर्वतः (मे.) रोगविशेषः भक्षणम् (श. र)
थुत्कार–पु., निष्ठीवनत्यागानुकरणशब्दः ।
थुथुकृत्–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)
थोडन–न., आच्छादनम् (वै. नि.)
थौनेयक–पु., ग्रन्थिपर्णी (च. चि. ३ अ. अणुतैले; च. द. विष. चि.)

द

दंशक–पु., कर्कटः । कुक्कुरः (वै. नि.)
मक्षिका (हारा.)
दंशन–न., दन्तेन कर्तनम् (हे. च)
दंशनाशिनी–स्त्री.. तैलकीटम् (वै. नि.)
दंशभीरु(क)–पु., स्त्री., मत्कुणः । महिषः (त्रिका.)
दंशवदन–पु., कङ्कपक्षी (वै. नि.)
दंशिका–स्त्री., वनमक्षिकाविशेषा (वै. नि.)
दंशी(इन्)–पु., स्त्री., कुक्कुरः (वै. नि.) वनमक्षिका । क्षुद्रदंशः (अम.)
दंष्ट्र–पु., शूकरः (प. मु.)
दंष्ट्रक–न., सर्पदंशविशेषः ।
दंष्ट्रायुध(ष्ट्रास्त्र)–पु., वनशूकरः (वै. नि.)
दंष्ट्रिका–स्त्री., दाढिका (हे. च.)
दक्ष–पु.. कुक्कुटः (त्रि. का. । सि, यो) (कासचि, दशमूलघृते) वृक्षभेदः (विश्व.)
दक्षाण्डत्वक्–स्त्री., कुक्कुटाण्डत्वक् (भेष.) (नेत्र. चि. । भा. म. ४ भ. कर्णरो. चि.)
दक्षाय्य–पु., गृध्रः (वै. नि.)
दक्षिणदेशजा–स्त्री., लताकस्तूरी (श. चि.)
दक्षिणवायु–पु., मलयमारुतः (सु. सू.)
दक्षिणायन–न., रवेर्दक्षिणतो गतिः । यदा रविः कर्कटराश्यवस्थितो भवति तदा तदारभते । तच्च श्रावणादि मासषट्के भवति । कर्कटावस्थिते भानौ दक्षिणायनमुच्यते ' (सु. सू.)
दक्षिणावर्तकी–स्त्री., वृश्चिकाली (रा. व.) मेषशृङ्गी (वै. नि.)
दक्षिणावर्तफला–स्त्री., वृध्यौषधम् (वै. नि.)
दक्षिणावर्ता–स्त्री., मेषशृङ्गी (रा. व. ६)
दक्षेय–पु., गृध्रः (वै. नि.)
दग्धक–पु., महाशतावरी (रा. व. ७)
दग्धकाक–पु., डोमकाकः (हे. च.)
दग्धभूमिजशालि–पु., दग्धक्षेत्रजशालिः, गुणाः— दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः । किञ्चित्सतिक्ता मधुराः पाचना बलवर्धनाः (रा. व. १६) दग्धग्रामाचले जाताः शालयो लघु-पाकिनः । सुपथ्या बद्धविण्मूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षिणः (अत्रि. १५ अ.)
दग्धमत्स्य–पु., अग्निदग्धमीनः । तस्य विवरणम्—पला-लैर्वेष्टितो मत्स्यः कर्दमेन च लेपितः । दग्धोऽङ्गारे सलवणो दग्धमत्स्यः प्रकीर्तितः । (वैद्यकम्) गुणाः– दग्धमत्स्यो गुरुर्बृष्यो बृंहणः प्राणवर्धनः । क्षीण शुष्काश्च ये केचित् भग्नजर्जरिताश्च ये । नित्यं स्त्री सेविनो ये च क्षीणतेजस एव च । दग्धमत्स्यो हितस्त्वेषां सतैललवणान्वितः । तस्माद्धीनगुणः किञ्चिद्दृष्टमत्स्य उदाहृतः (राज.)
दग्धवर्णक–पु., रोहिषतृणम् (वै. नि.)
दग्धहीर–न., वैक्रान्तमणिः (भैष. ज्वर. चि.) पानीय-भक्तवटी ।
दग्धास्य-(स्याह्व)–पु.. कुमरिचक्षुपः । (प. मु.)
दग्धाह्व–पु., तिलकपुष्पवृक्षः (वै. नि.)
दग्धेष्टका–स्त्री., अग्निदग्धेष्टका (हारा.)
दण्डकाक–पु., स्वनामख्यातकाकः (हे. च.)
दण्डपात–(ती)(इन्)–पु.. सन्निपातज्वरविशेषः । लक्षणम्–नक्तंदिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढ-धीर्नभसः । उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति (भा. म.१ भ.)

दण्डपाल-पु., अर्धशफरमत्स्यविशेषः (हारा.)

दण्डपालक-पु., दण्डमत्स्यः । शकुलमत्स्यः (हारा.)

दण्डपाली-स्त्री.,-तुलायन्त्रम् (च. सू. १५)

दण्डबालाध-पु., हस्ती (श. र.)

दण्डमत्स्य-पु., स्वनामख्यातमत्स्यः (हिं.-दण्डारी)
गुणाः-दण्डमत्स्यो रसे तिक्तः पित्तरक्तकफं हरेत् । वातसाधारणः प्रोक्तः शुक्रलो बलवर्धनः [भा.]
कफवायुपित्तघ्नः तिक्तः लघुश्च (राज. ३ प.)

दण्डमातङ्ग-पु., तगरः । पिण्डीतगरः (वै. नि.)

दण्डयाम-पु., दिवसः (वै. नि.)

दण्डहस्त-स्त्री., (इन्)-पु., तगरपुष्पम् (रा. व. १०; २२) पिण्डीतगरः (वै. नि.)

दण्डा-स्त्री., नागबला [वै. नि.]

दण्डालु-पु., स्वनामख्यातालुविशेषः (प. मु.)
ताम्बूलपात्रा दण्डालुरिति द्रव्याभिधानम् ।

दण्डिका-स्त्री., श्योणाकवृक्षः (वै. नि.)

दण्डोत्पल-न., वृक्षविशेषः [**म. सहदेवी**] (हि.-डानिकुनुहे] तच्च पीतश्वेतरक्तपुष्पभेदेन त्रिधा-भवति (र. मा.) गुणाः-श्वासकासक्षयघ्नम् अग्नि-दीप्तिकरञ्च [राज.,)

दत्-पु., दन्तः [श. च,]

दद्रुघ्नपत्र-न,. दद्रुमर्दपत्रम् (श. चि.)

दद्रु (द्रू) **ण-त्रि** दद्रुरोगी (अम.) [अ टी र]

दद्रुनाशिनी-स्त्री., वृक्षविशेषः । तैलिनीकीटः (रा., व.)

दद्रुमर्दी (इन्)-पु., दद्रुघ्नवृक्षविशेषः (हिं.-दादमर्दन)
'अगदो दद्रुमर्दी स्यात् कीटारिश्चन्द्रसुन्दरः । इति किञ्चित्तन्त्रम् ।'

दद्रुरोगी (इन्)-पु.. दद्रुरोगः (अ. टी. भ.)

दधिक-पु., श्रीवेष्टकवृक्षः (हिं-शालाइ) (ज. द. १२ अ.)

दधिकूर्चिका-स्त्री., दध्ना सह पक्के पयसि (र. मा.)
दध्नासह पयः पक्वं सा भवेत् दधिकूर्चिका । (प. प्र. ३ ख.) अत्र दधि दुग्धं समानं भाव्यम् ।
गुणाः—वातघ्नी ग्राहिणी रूक्षा दुर्जरा दधिकूर्चिका । (राज.)

दधिचार-पु., दधिमन्थनदण्डः (हारा)

दधिजल-न., मस्तु । नवनीतम् (रा. ब. १५)

दधित्थाख्य (ह्व)-पु., धूपविशेषः । सरलद्रवः । लोबान इति लोके (र. मा.)

दधिनाम (क)-न.. कपित्थफलम् (सि. यो. हिक्काश्वास चि.)
काशीशं दधिनाम च ।
पु., (मा) कपित्थवृक्षः (च. द.)

दधिपूप (क)-पु., दधिवटकः (वै. नि.)

दधिमण्डातक-न., दधिमस्तु (च. चि. १८ अ.-पञ्चकोलघृते)

दधिलेह-पु., दधिसरः (र. मा.)

दधिवटी-स्त्री., शोथे हिता (भैष.)

दधिवास्तुका-स्त्री., गोदन्तहरितालः दुरालभाभेदः (वै. नि.)

दधिशोण-पु., शुक्लवानरः । दर्वीकरसर्पविशेषः (सु. कल्प ४ अ.) गोलाङ्गूलवानरः (त्रिका.)

दधिसक्तव-पु.. बहु. व.; दध्युपसिक्तसक्तुः (अ.म.)

दधिसक्तु-पु., रसाला ।

दधिसार-न., नवनीतम् (हे. च.)

दधिस्नेह-पु.. दध्नः स्नेहभागः । दधिसरः (वै. नि.)

दधिस्रद्धा-स्त्री., लवणखोटी (श. चि.)

दधिस्वेद-पु.. तक्रम् (जटा.)

दधिचा (च्य) **स्थि**-न., हीरकः (त्रिका.)

दध्यग्र-न., दधिसरः (वै. नि.)

दध्यङ्ग-पु., सरलद्रवः (त्रिका.)

दध्यानि-स्त्री., कटुकी (वै. नि.)

दध्याली-स्त्री., सुदर्शनालता (हिं.-मदनमस्तु) (र. मा.)

दन्तकडमडि-पु., तन्नामकबालरोगः । यत्र बालकः निद्रितोऽपि दन्तशब्दं करोति (रस. र. बालचि.)

दन्तकराल-पु., दन्तरोगभेदः (वा. उ. २१ अ.)

दन्तकर्षण-पु., निम्बूवृक्षः (श. र.)

दन्तकेतु-पु., लघुनिम्बूवृक्षः ।

दन्तघर्षण-न., दन्तमार्जनम्

दन्तघात-पु.. निम्बूवृक्षः, शिशोः दन्तकडमडिरोगः (वै. नि.)

दन्तच्छदोपमा-स्त्री., कुन्दरुः । बिम्बी (वै. नि.)

दन्तपत्रक-न., कुन्दपुष्पम् (श. च.)

दन्तपातनयन्त्र-न., दन्तोत्पाटनयन्त्रम् 'शरपुङ्खमुखं दन्तपातनमुच्यते । (अत्रि.)

दन्तपाली-स्त्री., शिशोः दन्तरोगः । (वा. उ. २ अ.)

दन्तपीठक-न., दन्तवेष्टम् (ज. द, २ अ.)

दन्तपुष्प-पु., अश्वत्थवृक्षः । (वै. नि.) (न.,) कतक-फलम् । (श. च.)

दन्तभाग-पु., हस्त्यग्रभागः । (अम.)

दन्तमल-न., दशनमलः । हारा.)

दन्तमूलिका-स्त्री., दन्तीवृक्षः । (श. र.)

दन्तरञ्जन–न., काशीषम् (र. सा. सं.)
दन्तरोगी (इन्)–पु., दन्तरोगयुक्तः
दन्तवल–पु., हस्ती (वै. नि.)
दन्तवस्त्र–(वास) न., पु., ओष्ठम् (रा. व. १८)
दन्तवीज–(क)-(जा)-पु., स्त्री., दाडिमवृक्षः ।
दन्तशट–पु., दन्तशठः । (अ. टी. भ.)
दन्तशब्द–पु., ग्रहजुष्टबालकस्य दन्तपीडनरोगः । लक्षणम् 'ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते ।(मा.)
दन्तशाण–न., दन्तघर्षणम् । दन्तनिश्रुकणद्रव्यम् । (त्रिका.)
दन्तशिरा–स्त्री., दन्तवेष्टम् । (श. र.)
दन्तशोफ–पु., दन्तार्बुदरोगः । (रा. व. २०)
दन्तहर्षक–(ण)–पु., जम्बीरवृक्षः । (त्रिका. । जटा.)
दन्तायुध–पु., वनशूकरः (त्रिका.)
दन्तार्बुद–पु., न., दन्तरोगविशेषः (रा. व. २०)
दन्तावल–पु,, करी (अम.)
दन्तिका(जा)–स्त्री., दन्तीवृक्षः (अम. शर.)
दन्तिला–स्त्री., नागदन्ती (सु. सू. ३७ अ.)
दन्तीफल–न., पिप्पली । दन्तीबीजम् (वै. नि.)
दन्तीफलासमाकृति–पु., पिस्तावृक्षः (वै. नि.)
दन्तीहरीतकीगुड–पु., गुल्माधिकारे हितः (रस. र.)
दन्तुर–त्रि., उच्चदन्तः । नतानतः (मे.)
दन्तुरच्छद(त्वक्)–पु., मातुलुङ्गवृक्षः (रा. व. ११
दन्तोज्ज्वला–स्त्री., श्वेतजातीपुष्पवृक्षः ।
दन्तोद्भेद–पु., बालदन्तोद्गमः । दन्तोद्भेदः शिशोः सर्वरोगाणां कारणं स्मृतम् । विशेषात् ज्वरविड्-भेदकासच्छर्दिशिरोरुजाम् । अभिष्यन्दस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते (भा. म. ४ ख. भ,)
दन्तोलूखल–न., दन्ताधिष्ठानास्थि तानि ३२; (च. शा. ७ अ.)
दन्दश–पु., दन्तः (वै. नि.)
दन्दशूल–पु., सर्पः (वै. नि.)
दमनी–स्त्रीं., अग्निदमनीनामक्षुपः (रा. व. ४.) नागदमनी (वै. नि.)
दम्भफल–पु., सेववृक्षः (वै. नि.)
दम्भीर–पु., लावपक्षी । महिषः (वै. नि.)
दम्य–पु., षण्डः । वृषः (वै. नि.)
दरकण्टिक–स्त्री.. शतावरी (रा. व. ४.)
दर्दराम्र–पु., मीनाम्लीनः । व्यञ्जनविशेषः (श. मा.)
दर्दरीक–पु.. भेकः । मेघः (उणा.)
दर्दुरच्छदा–स्त्री., ब्रह्मीक्षुपः (वै. नि.)
दर्दुरदला–स्त्री., मण्डूकपर्णी । सा च ब्रह्मी वरम्भीति महाराष्ट्रे ख्याता (भ. म. १भ. चित्तभ्रम ज्वरचि.)
दर्दुरपर्णी–स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. नि.)
दर्द्रू (र्दु)–पु., लकुचवृक्षः (रा. व. ९)
महाकुष्ठभेद (मनि.)–स्त्री., दद्रुरोगः (उणा.)
दर्द्रुघ्नपत्र–न., पत्रशाकविशेषः । चक्रमर्दपत्रम् ।
दर्द्रु (र्द्रू) ण–त्रि., दद्रुरोगी (अ. टी. भ.)
दर्द्रु (र्द्रू) रोगी (इन्)–त्रि., दद्रुरोगयुक्तः ।
दर्भपत्रक–पु., काशतृणम् (वै. नि.)
दर्पा–स्त्री., कस्तूरी (वै. नि.)
दर्भक–पु., अश्वस्य पादरोगविशेषः । लक्षणम्–' मण्डूक्या विवरं यस्य दर्भमुञ्जकरं भवेत् । तस्य दर्भक इत्युक्तो व्याधिः कष्ट चिकित्सितः (ज. द. ३८ अ)
दर्भर–पु., लावपक्षी (वै. नि.)
दर्भवट–न., अन्तर्गृहम् (त्रिका)
दर्भाह्वय–पु., मुञ्जतृणम् (रा. व. ८)
दर्विपत्रिका–स्त्री., गोजिह्वा (ज. द. १२)
दर्श–पु.. अवलोकनम् (मे.)
दर्शत–सूर्यः । चन्द्रः (उणा.)
दर्शनी–स्त्री., तैलकीटकः (वै. नि.)
दर्शनीय–पु., अर्कवृक्षः श्वेतार्कः । (वै. नि.)
दर्शनोज्ज्वला–स्त्री., श्वेतजातीवृक्षः (वै. नि.)
दर्शविपत्–पु.. चन्द्रः (हारा.)
दलकोमल–न., पद्मम् (वै. नि.)
दलकोष–पु., मल्लिकापुष्पवृक्षः (वै. नि.)
दलनिर्मोक–पु., भूर्जवृक्षः (श. मा.)
दलप–पु., सुवर्णम् (उणा.)
दल (अर्ध) लाङ्गलक–पु., तदाकारच्छेदविशेषः । यः एकस्मिन् पार्श्वे छेदः स दललाङ्गलकाख्यः (वा. उ. २८ अ.) ह्रस्वमेकतरं यश्च सोऽर्धलाङ्गलकः स्मृतः । (सु. चि. ८)
दलशालिनी–स्त्री., कञ्चुकशाकः (वै. नि.)
दलसायसी–स्त्री., श्वेततुलसीवृक्षः । (वै. नि.)
दलसारिणी–स्त्री.. केसुववृक्षः । (र. मा.)
दलसूचि–पु., कण्टकवृक्षः । कण्टकः (हारा.)
दलस्रसा–स्त्री., पत्रशिरा (हे. च.)
दलहीनफला–स्त्री., सुलेमानीखर्जूरी (भा.)
दला–स्त्री., नागबला (प. मु.) अजमोदा (रा. व. ६)

दलाग्रलोहिता–स्त्री., चिल्लीनामपत्रशाकः (रा. व ७) पलाशलोहिताऽपि पठ्यते ।

दलाढक–पु., नागकेशरवृक्षः गैरिकः । समुद्रफेनः । आरण्यतिलकवृक्षः । काकः । पृश्निपर्णी । चक्रवाकः (मे.) करिकर्णः । कुन्दवृक्षः । शिरीषवृक्षः (हे. च.)

दलाढकी–स्त्री., फणीज्झकवृक्षः (वै. नि.) पृश्निपर्णी (मे.)

दलाढ्यक–पु., कुन्दपुष्पवृक्षः । (वै. नि.) पङ्ककर्वटः (त्रिका.)

दलामल–न., मूर्वा । वकवृक्षः । दमनकवृक्षः । मदनवृक्षः । (श. र.)

दलाह्व–न., तमालपत्रम् (म. द. व. ३)

दलिक–न., काष्ठम् (हे. च.)

दलेगन्ध–पु., सप्तपर्णवृक्षः (त्रिका.)

दवगन्धक–न., कतृणम् (रा. व. ८)

दशजटा–स्त्री., दशमूलम् (वै. नि. २ भ. वा. व्या. चि. रास्नादिचूर्णे)

दशनवास–न., ओष्ठः (अम.)

दशनवीज–पु., दाडिमवृक्षः ।

दशनाढ्या–स्त्री., चाङ्गेरी । चुक्रशाकः (श. च.)

दशनोच्छिष्ट–पु., निःश्वासः (मे.)

दशपु(पू)र–न., जलमुस्ता कैवर्तकमुस्ता (अम. अः टी. भ.)

दशमूत्रक–न., दशविधमूत्रम् । हस्तिमहिषोष्ट्रगवाजमेषाश्वगर्दभनरनारीणां मूत्रम् (रा. व. २२)

दशमूलतैल–न., कर्णरोगे तैलम् । (सा. कौ.)

दशरथ–पु., शरीरम् (वै. नि.)

दशशतकरदुग्ध–न., अर्कक्षीरम् (वै. नि. २ भ) (कर्णकज्वरचि.)

दशशताङ्घ्रि–स्त्री., शतावरी (वै. नि.)

दशशाक–पु., त्वक्पत्रमूलफलदण्डाङ्कुरपुष्पकपिकच्छूपर्पटकुमारीषु ।

दशसारवटी–स्त्री., वातव्याधौवटी । (र. सा. सं.)

दशा–स्त्री., बालाद्यवस्था । बाल्य यौवन प्रौढवार्धक्यादिः । अश्वस्य क्षेत्रफलदशविधकालपरिमाणम् । सा च समाद्वयं सद्वादशदिनं वर्षत्रयं ज्ञेयम् । ' वासराः-सप्तति द्वौ च वर्षाणाञ्च तथा त्रयं दशाप्रमाणं वाहानां शालिहोत्रेण कीर्तितम् (ज. द. ५. अ.)

दशाङ्गगुग्गुलु–पु , मेदोरोगे हितः (भा.)

दशाङ्गधूप–पु., दशविधद्रव्यकृतधूपविशेषः (वा. उ. ३ अ.) अयं धूपः सर्वग्रहजित् ।

दशाङ्गुल–पु., खर्बूजा (भा.)

दशानिक–पु., दन्तीवृक्षः (श. च.)

दशारुहा–स्त्री., कैवर्तमुस्ता (रा. व. ६)

दस्रौ–पु., (द्वि) अश्विनीकुमारौ (अम.)

दहनकेतन–पु., धूमः (हे. च.)

दहनी–स्त्री., मूर्वा (रा. व. ३)

दहनोपल–पु., सूर्यकान्तमणिः (हे. च.)

दहर–पु., कुक्कुटः । बालकः । मूषिकः (मे)

दाक्षायण–न., स्वर्णम् (वै. नि.)

दाक्षाय (या) णी–स्त्री., दन्तीक्षुपः (र. मा.)

दाक्षिणात्य–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. व. ११)

दाडक–पु., दन्तः (शब्दार्थकल्पतरुः)

दाडिमत्वक्–स्त्री., दाडिमफलवल्कलम् (सि. यो. अ. सा. चि. उत्पलादि.)

दाडिमपत्र (पुष्प) क–पु., रोहितकवृक्षः (रा. व. ८)

दाडिमप्रिय–पु., कीरः (श. र.)

दाडिमभक्षण–पु., शूकपक्षी (श. च.)

दाडिमी–स्त्री., दाडिमवृक्षः । (वै., नि.)

दाडिमीरस–पु., दाडिमाम्बु । (च. द.)

दाडिमीविष–न., दारुमोचनामकविषभेदः । (प. मु.)

दाडि (डी) म्ब–पु., दाडिमवृक्षः । (प. मु.)

दाढा–स्त्री., दंष्ट्राभेदः । (हे. च.)

दाढिका–स्त्री., दाडी इति ख्यातः मुखावयवः । (हे. च.)

दात्यौह–पु., जलकाकः । दात्यूहः । (श. र.)

दात्र–न., अस्त्रविशेषम् । (भा. भ. ३ भ. अन्नद्रवशूलचि)

दाधिक–पु., दधिसम्बन्धि दधिसंस्कृतभक्ष्यम् (भा. भ. ३ भ. अन्नद्रवशूलचि.)

दामन–पु., दमनकवृक्षः । वै. नि.)

दामबन्ध–(न)–न., व्रणबन्धविशेषः लक्षणं ' दामाकृतिश्चतुष्पादो बन्धः स्यात् दामसंज्ञितः । (सू. सू. १८ अ.) दाम अनेकगोबन्धनी रज्जुः । तदाकार चतुष्पादयुक्तः दामबन्धः । (च. द.)

दामाञ्चल–न., अश्वादेः पादबन्धनरज्जुः । (हे. च.)

दामोदर–पु., व्याध्यर्गलाख्यवैद्यकग्रन्थप्रणेता

दाम्भिक–त्रि., वाचालः । पु., वक्रम् (रा. व. १९)

दायक–पु., बालकः । (मे.) पुत्रम् । (हे. च.)

दारकर्म–न., विवाहः । (त्रिका.)

दारद–पु., हिङ्गुलः (त्रिका.) पारदः (मे.) दरददेशीयं विषम् । विषमात्रम् (अम.)

दारबलिभुक्–पु., वकपक्षी (रा. व. १९.)

दारुक–न., देवदारुः (रा. व. १२) (वा. व्या. चि.) तैलदेवदारुः । शोणपित्तलम् (वै. नि.)

दारुगन्धा–स्त्री., चांडानामक देवदारुभेदः (रा. व.१२)
दारुफल–न., पेस्ता इति ख्यातफलम् (वै. नि.)
दारुमूषा–स्त्री., दार्मुंज इति प्रसिद्ध स्थावरविषभेदः (भा. म. १भ. ज्वरचि.)
दारुमोच–पु., स्वनामख्यातविषभेदः (प. मु.)
दारुविष–न., दारुमोचविषम् । भवेदाखुविषं दारुविषं पाषाणसंज्ञकम् । तज्जेदाः शृङ्गगोदन्तदाडिमीस्फटिकादयः (प. मु.)
दारुसिता–स्त्री., दारुचिनीति ख्याता मधुरत्वग् (हिं–डालचिनी) गुणाः—उक्ता दारुसीता स्वाद्वी तिक्ता चानिलपित्तहृत् । सुरभिः शुक्रला वर्ण्या मुखशोषतृषापहा (भा. उ. वाजीचि.)
दारुहस्तक–पु., दर्वी (सु. सू. ७अ.)
दार्वण्ड–पु., मयूरः (वै. नि.)
दार्वाघाट (त)–पु., काष्ठकुक्कुटपक्षी (अम. । श. र.)
दार्विपत्रिका–स्त्री,, दार्वीशाकः (र. मा.)
दार्वीत्वक्–स्त्री., दारुहरिद्रात्वग् (सि. यो. कासचि. मण्डूरवटके 'दार्वीत्वक्त्रिफलाव्योष' त्वच एव प्राशस्त्यम् । अभावे काष्ठम् (श्रीकण्ठ)
दार्व्य–न., रसाञ्जनम् (वै. नि.)
दालशर्करा–स्त्री., दालकमधुकृतशर्करा सा तन्मधुतुल्यगुणा (रा. व. १४)
दालन–स्त्री., स्थावरविषभेदः (हे. च.)
दालिका–स्त्री., दाली, महाकालः (भा.)
दालिम–पु., दाडिमवृक्षः (अ. टी. भ.)
दास–पु., नीलझिण्टी उष्ट्रः (वै. नि.)
दासिक–स्त्री., दासीकुरण्टकम् (श. चि.)
दासेर–(क) पु., उष्ट्रः (मे.)
दास्यादि–पु., विषमज्वरे कषायभेदः (भैष.)
दाहकर्षित–त्रि., दाहपीडितः ।
दाहज्वर–पु., दाहपूर्वकज्वरः (मा.)
दाहदा–स्त्री., नागवल्लीलता (वै. नि.)
दाहनिःश्वास–पु., सुगन्धार्जकवृक्षः (वै. नि.)
दाहसर–न., श्मशानम् (त्रिका.)
दाहहरण–न., उशीरम् (श. व.)
दिक्क–पु., करिशावकः (श. र.)
दिक्पालसंख्या–स्त्री., अष्टसंख्या (भा. ज्व. कल्पतरौ)
दिग्धविद्ध–त्रि., विषाक्तबाणविद्धम् । (च. द. विष. चि.)
दिङ्क–पु., लिख्या (शब्दकल्पतरु.)
दित–त्रि., छिन्नम् (अम.)
दिनकेशान्तक–पु., वटपत्रपाषाणभेदः (वै. नि.)
दिनदुःखित–पु., चक्रवाकः । स्त्री., तत्पत्नी (श. र.)
दिनमणि–पु., सूर्यः (त्रिका.)
दिनादि–पु., प्रभातम् (रा. व. ११)
दिनान्त–पु., सायंकालः (अम.)
दिनेश–पु., सूर्यः । अर्कवृक्षः (वै. नि. २ भ. वा. व्या. चि. शतपुष्पालेपे.)
दिनेशपुष्प–न.. कैरवपुष्पम् (चि. क्र. क. प्रदरचि.)
दिलीर–न., शिलीन्ध्रः (हारा.)
दिवस–पु., न., दिनम् ।
दिवसमुख–न., प्रभातम् (हला.)
दिवाकर–पु., काकः । सूर्यपद्मम् (श. च.) अर्कवृक्षः (अम.)
दिवाकीर्ति–पु., पेचकः । नापितः (हे. च.)
दिवाटन–पु., काकः (शब्दार्थकल्पः)
दिवान्ध–पु., पेचकः (रा. व. २३) त्रि., दृष्टिरोगयुक्तः । लक्षणम्–' प्राप्ते तृतीयं पटलञ्च दोषे दिवा न पश्येत् निशि वीक्षते सः । रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्तात्पभावादपि तानि पश्येत् ' (मा.) (**न्धा**)–स्त्री., वल्गुलापक्षी (रा. व. १९)
दिवान्धकी(न्धिका)–स्त्री., छुछुन्दरिः (वै. नि.)
दिवाभीत(ति)–पु., पेचकः (त्रिका. श. र.) न., श्वेतपद्मम् (वै. नि.)
दिवामध्य–न., मध्याह्नः । (हे. च.)
दिवास्वापा–स्त्री., पक्षिविशेषः । वल्गुला इति लोके (रा. व. १९)
दिवि–पु., चाषपक्षी (श. मा.)
दिवी–स्त्री., उपजिह्विकाकीटः (हारा.)
दिवोका–पु., चातकः (मे.) हरिणः । (वै. नि.)
दिवोद्भवा–स्त्री., एला (शब्दार्थकल्पतरुः)
दिव्यचक्षु–पु., वानरः (श. मा.) उपचक्षुः । सुगन्धभेदः (मे.)
दिव्यपञ्चामृत–न., समभागगव्यघृतदधिदुग्धमधुशर्कराच (रा. व. २२)
दिव्यपुष्पिका–स्त्री., देवद्रोणक्षुपः । महाद्रोणी (वै. नि.) रक्तार्कवृक्षः ।
दिव्यान्न–न., उत्तमान्नम् (वै. नि.)

दिष्ट–न., दारुहरिद्रा । (श. मा.)
दिष्टान्त–पु., मृत्युः (अ. म.)
दिष्टि–स्त्री., परिमाणम् (मे.)
दीधिका–स्त्री., त्रिंशतधनुःपरिमितजलाशयः (त्रिका.)
दीदिवि–न., अन्नम् (प. मु.)
दीन–न., तगरपादिकः (रा. व. १०)
दीना–स्त्री., छुछुन्दरिः (वै. नि.) मूषिका । (त्रिका.)
दीपकर्पूरज–पु., कर्पूरः (वै. नि.)
दीपकिट्ट–न., दीपकज्जलम् (श. मा.)
दीपकूपी (खोरी)–स्त्री., दीपमतिः (च. मा.)
दीपतरु–पु., सरलतरुः, सरलदेवदारुः (रा. व. १२)
दीपध्वज–पु., कज्जलम् (जटा.)
दीपनीयौषध–न., आग्नेयौषधम्, पञ्चकोलादिः (सि. यो. मदा. चि. । च. द.)
दीपपुष्प–पु., चम्पकवृक्षः (रा. व. १०)
दीपशिखा–स्त्री., कज्जलम् (शब्दार्थकल्पः)
दीपसंज्ञ–पु., चित्रकवृक्षः (वै. नि.)
दीप्यभस्म–न., दग्धदीपशिखा (रस. र. स्तनरोगचि.)
दीप्तकंस–न., शुद्धकांस्यधातुः (रा. व. १३)
दीप्तजिह्वा–स्त्री., उल्कामुखीशृगाली (त्रिका)
दीप्तपिङ्गल–पु., सिंहः (रा. व. १९)
दीप्तपुष्पा–स्त्री., लाङ्गलीवृक्षः (वै. नि.)
दीप्तरस–पु., किञ्जुलकः (श. च.)
दीप्तलोचन–पु., बिडालः (रा. व. १९)
दीप्तलोह–न., कांस्यधातुः (प. मु.)
दीप्ताङ्ग(क्ष)–पु., बिडालः (श. र.) मयूरः (श. र.)
दीप्तानल–न., सुवर्णम् (रा. व. १३)
दीप्तिक–पु., दुग्धपाषाणम् (वै. नि.)
दीप्तोपल–पु., सूर्यकान्तमणिः (प. मु.)
दीप्यका–स्त्री., यमानी, अजमोदा (भा. पू. १ भ.)
दीप्यवल्ली–स्त्री., अजमोदा (वै. नि.)
दीर्घक–न., .पु, कृष्णजीरकः (मद. व. २) शरवृक्षः) श्वेतजीरकः । उशीरः उष्ट्रः । शाकवृक्षः (वै. नि.)
दीर्घकण्ठ–(क)–पु., बकपक्षी (श. च.)
दीर्घकन्धर–पु., बकपक्षी (रा. व. १९) बकस्त्री (वै. नि.)
दीर्घकेश–(शी)–पु., भल्लूकः (रा. व. १९)
दीर्घकोशा (षा)–स्त्री., पङ्कशुक्तिः (हारा.) गण्डूपदी (वै. नि.)
दीर्घकोशि(षी)का(शी)–स्त्री.,पङ्कशुक्तिः गण्डूपदी(वै.नि.)
दीर्घखरच्छद–पु.,इत्कटः (प. मु.)
दीर्घगति–पु., उष्ट्रः (रा. व. १९)
दीर्घगोधूम–पु.,महागोधूमः (वै. नि.)
दीर्घग्रीव–पु., उष्ट्रः (हे. च.) नीलक्रौञ्चपक्षी (रा. व. ९)
दीर्घघाटिक–पु., उष्ट्रः । बकः (वै. नि..)
दीर्घचञ्चु–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)
दीर्घजङ्गल–पु., मत्स्यविशेषः (श. मा.)
दीर्घजङ्घ–पु., उष्ट्रः (जटा.) बकपक्षी (वै. नि.)
दीर्घतन्वी–स्त्री., आलुकभेदः (वै. नि.)
दीर्घतिमिषा–स्त्री., कर्कटिका (श. मा.)
दीर्घदल–पु., मालाकन्दः । श्यामाकः (वै. नि.)
दीर्घद्रु–पु., तालवृक्षः (श. च.)
दीर्घपर्वा–पु.,इक्षुः (वै. नि.)
दीर्घपलाण्डु–पु., विष्णुकन्दः । राजपलाण्डुः । तालवृक्षः (रा. व. ७.९) हरितकुशतृणम् । कुचेलवृक्षः (भा.)
दीर्घपक्ष–पु., मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
दीर्घपात(द्)–पु., क्रौञ्चबकः । कङ्कपक्षी (त्रिका. । हे. च.)
दीर्घपृष्ठ–पु., सर्पः (अम.)
दीर्घबाला–स्त्री., चमरीमृगः (वै. नि.)
दीर्घबालुक–पु., वृद्धदारकलता (रा. व. ३)
दीर्घमारुत–पु., हस्ती (त्रिका.)
दीर्घमूली–स्त्री., दुरालभा (श. मा.)
दीर्घरत(द)–पु., शूकरः (त्रिका.)
दीर्घरसन–पु., सर्पः (श. च.)
दीर्घरोमा–पु., भल्लूकः (वै. नि.)
दीर्घलता–स्त्री., व्याघ्रघण्टा (वै. नि.)
दीर्घलोहितयष्टिका–स्त्री., रक्तेक्षुः (वै. नि.)
दीर्घवंश–पु., नलः (रा. व. ८)
दीर्घवक्त्र–पु., हस्ती (श. मा.)
दीर्घवल्लिका–स्त्री., कुम्भीरः (शब्दार्थकल्पः)
दीर्घवर्षाभू–स्त्री., श्वेतपुनर्नवा
दीर्घवीजा–स्त्री., अलाबुः । शिम्बीभेदः (प. मु.)
दीर्घवृक्ष–पु., तालवृक्षः । लताशालवृक्षः (वै. नि.)
दीर्घवृन्तफला–स्त्री., दुग्धालाबुः । (वै. नि.)
दीर्घवृन्ता(न्तिका)–स्त्री., इन्दीवरालता (रा. व. ३) कपर्दकभेदः (र. सा. सं.) एलापर्णी (श. च.)
दीर्घशिम्बा–स्त्री., शिम्बीविशेषः (प. मु.)
दीर्घसमुश्रय–पु., नलतृणम् (प. मु.)
दीर्घसस्य–पु., तिन्दुकवृक्षः (वै. नि.)
दीर्घसुरत–पु., कुक्कुरः । शूकरः (त्रिका.)
दीर्घस्कन्ध–पु., तालवृक्षः (रा. व. ९)
दीर्घा–स्त्री., पृश्निपर्णी (रा. व. ४)
दीर्घाङ्कुर–पु., राजशालिः (वै. नि.)
दीर्घाङ्गी–स्त्री., शालपर्णी (भा. पू. १ भ.)

दीर्घाङ्घ्रि-स्त्री., शालपर्णी (वै. नि.)
दीर्घाध्वग-पु., उष्ट्रः (त्रिका.)
दीर्घायुध-पु., वनशूकरः (श. मा.)
दीर्घायुष्य-पुं., जीवकः (मे.) श्वेतमंदारार्कः (रा. व. १०)
दीर्घार्लक-पु., महाश्वेतार्कवृक्षः (रा. व. १०)
दीर्घिका-स्त्री., हिङ्गुपत्री (रा. व. ६) गोजिह्वा। त्रिंशतधनुपरिमितजलाशयम्, तज्जलं गुरु कटु क्षारं पित्तकरं कफवातघ्नञ्च (रा. व. १४)
दीवि-पु., चाषपक्षी (श. मा.)
दुःखकोद्रवा-स्त्री., मसूरिकाभेदः। किञ्चिदुष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः। एषा भवति बालानां मुखं शुष्यति च स्वयम्।
दुःखत्रय-न., आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च इति। ' त्रिविधं दुःखम् (सु. सू. २४)
दुःखदशन-पु., गृध्रपक्षी (वै. नि.)
दुःखदिर-पु., विट्खदिरः (रा. व. ८.)
दुःसहा-स्त्री., नागदमनी (रा. व. ५.)
दुग्धकन्दगण-पु., दुग्धप्रधानः अश्वगन्धादिद्रव्यगणः। यथा अश्वगन्धा मुशली विदारी व शतावरी। क्षीरवातहरा
दुग्धकपिका-स्त्री., घृतदुग्धमिश्रिततण्डुलचूर्णकृतपिष्टकविशेषः (भा.)
दुग्धक्षीरिका-स्त्री., दुग्धतण्डुलघृतशर्कराकृतपायसः। दुग्धाष्टमांशभागेन तण्डुलान् घृतसंस्कृतान्। शुद्धेऽर्धपक्वे दुग्धे तु क्षिप्ता सिद्धा हि क्षीरिका। पायसं शर्करायुक्तं घृतप्रक्षेपणाद्भवेत्। गुणाः—सा गुरुर्वातकृद्बल्या मलावष्टम्भका तथा। अरुचिं मेदवृद्धिञ्च कफमग्नेश्च मन्दताम्। कृत्वा च रक्तपित्तं हि वातपित्तञ्च नाशयेत् (द्रव्यगुणाः)
दुग्धताली-न., दुग्धसारः। दुग्धाम्रः। क्षीरफेनः (मे.)
दुग्धत्रय-न., गोमहिषछागदुग्धानि (र. सा. सं.)
दुग्धपाचन-त्रि., दुग्धपाककरः (न.,) दुग्धपाकपात्रम् (हारा.)
दुग्धपाषाण (क)-पु., खटिकाविशेषः (हिं-शिरगोला) गुणाः-रुच्य ईषदुष्णः ज्वरपित्तहृद्रोगकासशूलाध्मानहरश्च (रा. व. १३)
दुग्धपाषाणिका-स्त्री., दुग्धपाषाणम् (रा. व. ३)
दुग्धपुच्छी-स्त्री., वृक्षविशेषः (श. च,)
दुग्धफेन (क)-पु., न., क्षीरफेनः (रा. व. १५) 'कृष्णगोऽश्वपयः फेनमज्जानां वेति शस्यते। मन्दाग्नीनां कृशानाञ्च विशेषादतिसारिणाम्। उत्साहः। दीपनं बल्यं मधुरं वातनाशनम्। सद्यो बलकरञ्चैव तच्च क्षीरविलोडितम्। क्षीणज्वरातिसारे च सामे च विषमज्वरे। मन्दाग्नौ कफमाश्रित्य पयःफेनं प्रशस्यते। क्षीरं गवांक्षीरफेनं तक्रं वा हितमेव च। पक्वान्नभक्षणाद्वापि ग्रहणी तस्य नश्यति। ताम्बूलं नैव सेवेत क्षीरं पीत्वा तु मानवः। यावत्तच्च द्रवेत् क्षीरं भुक्तान्ताद्वापि शस्यते (अत्रि.)
दुग्धवटी-स्त्री., शोथे वटी। विषं हिङ्गुलं धुस्तूरबीजं समभागं गृहीत्वा धुस्तूरपत्ररसेन प्रहरं मर्दयित्वा मुद्गमाना वटी कार्या (भैष.)
दुग्धसन्तानिका-स्त्री., दुग्धसरः (वै. नि.)
दुग्धाक्ष-पु., क्षीरस्फटिकः (शब्दार्थकल्पतरु.)
दुग्धा (ग्धी)-स्त्री., क्षीरिका (र. मा. भैष. क्षुद्ररो. चि.) काकोली। पलाशीलता। शारिवा (वै. नि.) दुग्धपाषाणः (रा. व. १३)
दुग्धाम्र-न., दुग्धताली, गुणाः—दुग्धाम्रं शीतलं स्वादु वृष्यं वर्णकरं गुरु। वातपित्तापहं रुच्यं बृंहणं बलवर्धनम् (रा. व. १५)
दुग्धाश्मा-पु., दुग्धपाषाणः (रा. व. १३)
दुग्धिनि (नी) का (नी)-स्त्री., रक्तापामार्गक्षुपः (रा. व. ४) शुक्लदुग्धालाबुः (वा. उ. ३७ अ.)
दुच्छक-पु., सुरामांसी (मे.) तालीशपत्रम् (वै. नि.)
दुडि-(लि)-स्त्री., कच्छपिका (अ. टी. रा. । मे.)
दुण्डुभ-पु., सर्पभेदः। (उणा.)
दुद्रुम-पु., कन्दविशेषः। हरितपलाण्डुः। (अम.)
दुन्दुमार-पु., बिडालः। (वै. नि.)
दुम्बक-पु., स्वनामख्यातमेषः। (वै. नि.)
दुरिष्टकृत्-पु., अभिचारकर्तरि।
दुरूराह-पु., पुण्ड्रकयुक्तदुष्कुलाहाश्वः। (ज. द. ३)
दुरोह-पु., नागकेशरवृक्षः। (वै. नि.)
दुर्गकारक-पु., तरुभेदः (श. मा.)
दुर्गन्धास्य-पु., मुखरोगभेदः।
दुर्गन्धि-पु., आम्रवृक्षः। दुर्गन्धः। (न.,) सौवर्चललवणम् (वै. नि.)
दुर्गपुष्पी (इन्)-पु., वनस्पतिभेदः। केशपुष्टा इति लोके (श. च.)
दुर्गलङ्घन-पु., उष्ट्रः। (हे. च.)
दुर्गा-स्त्री., श्यामपक्षी। (रा. व. २३) कृष्णचटकः। कृष्णशारिवा। नीली (मे.) कोकिला। (वै. नि.) अपराजिता (श. च.)

दुर्गाह्व–पु., भूमिजगुग्गुलुः । (रा. व. १२)
दुर्ग्रहा–स्त्री., मुस्ता । (रा. व. २३) अपामार्गः । (भा. पू. १ भ.)
दुर्घटा–स्त्री., पृष्ठग्रन्थिः । (वै. नि.)
दुर्घोष–पु., भल्लूकः । (रा. व. १९)
दुर्जर–त्रि., दुष्पचः । (वै. नि.)
दुर्जरफल–न., कर्कटिका । (वै. नि.)
दुर्जलजेता (रस)–पु., ज्वरे रसः । (भा. म. १ भ.)
दुर्दर्प–पु., भल्लातकवृक्षः
दुर्दिता–स्त्री., लताभेदः ।
दुर्दुम–स्त्री., हरित्पलाण्डुः (रा. व. ७)
दुर्नाम्नी–स्त्री., अर्शोरोगः (श. र.)
दुर्बला–स्त्री., जलशिरीषः (भा.)
दुर्भर–पु., पिप्पलवृक्षः (वै. नि.)
दुर्भरा–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (वै. नि.)
दुर्भिक्षा–स्त्री., काकजङ्घा (वै. नि.)
दुर्मांषा–स्त्री., शुक्लगुञ्जा (मद. व. २.)
दुर्मुख–पु., वानरः, घोटकः, सर्पः (त्रिका.)
दुर्मुखा–स्त्री., शुक्लगुञ्जा (वै. नि.)
दुर्मोका–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (वै. नि.)
दुर्मोहा–स्त्री., काकादनीलता (रा. व. ३.) रक्तगुञ्जा (वै. नि.)
दुर्लभ–पु., कर्चूरः (रा. व. ६ वै. नि. श्वासरोग चि. श्वासकालेश्वरे)
दुर्लभा–स्त्री., जीवन्ती (प. मु.) श्वेतकण्टका (रा.व.४.) रक्तदुरालभा (वै. नि. १२ मधुरज्वरचि मधुकादिः) शठी
दुर्वर्ण (क)–न., रौप्यम् (प. मु.) एलावालुकम् (रा. व. ४.)
दुर्विधेया–स्त्री., कर्पूरशठी (वै. नि.)
दुश्च (ष्क) र–पु., भल्लूकः (रा. व. १९) शम्बूकः (हारा.)
दुश्चर्मा–पु., त्वग्दोषरोगः ते च शीतपित्तोदर्दकोठरोगाः (रा. व. २०.)
दुष्कुलीन–पु., चोरकनामगन्धद्रव्यम् (रा. व. १२, श. र.)
दुष्खदिर–पु., अरिमेदः । गुणाः– कटुतिक्तोष्णः रक्तव्रणकण्डूविषवीसर्पज्वरकुष्ठोन्मादभूतघ्नश्च (रा. व. ८)
दुष्टान्न–न., विषादिदुष्टं अन्नम् (भा. अम्लपित्तचि.)
दुस्फोट–पु., दुष्टव्रणः । शस्त्रभेदः (हे. च.)
दू–पु., रोगः (वै. नि.)
दूतघ्नी–स्त्री., कदम्बपुष्पी (श. च.)
दूति (ती) का–स्त्री., सारिका (रा. वः १९) श्वेतकण्टका (वै. नि.)
दूती–स्त्री., रक्तपाटला । शारिकापक्षी (रा. व. १९; वै. नि.)
दूरग [म,]–पु., उष्ट्रः, गर्दभः (रा. व. १९) (वै. नि.)
दूरज–न., वैदूर्यमणिः (भा.)
दूरदर्शी (दृक्)–पु., गृध्रः (त्रिका.) पण्डितः (हे. च.)
दूरमूला–स्त्री., मुञ्जः । दुरालभा (वै. नि.)
दूरेरितेक्षण–त्रि., केकरः (श. मा.)
दूर्य–न., त्रिष्ठा (वै. नि.)
दूर्वादिवर्ग–पु., अयं वर्गः पित्तघ्नः न्यग्रोधपद्मकादिवत् (वा. सू. १५ अ.)
दूर्वाद्यघृत–न., रक्तपित्ते घृतम् (भैष. । भा.)
दूलक–न., तूलकः (र. स. र. बाल. चि.)
दूलि (ली) का–स्त्री., नीली (श. र.)
दूष्यजल–न., विण्मूत्रादिदुष्टवारि (रा. व. १४)
दृक्–न., छिद्रम् (उणा.)
दृक्कट–पु., इत्कटः (त्रिका.)
दृक्कर्ण–पु.,सर्पः (हे. च.)
दृक्प्रसाद–पु., स्त्री., कुलत्थः (रा. व. ५) कुलत्थाञ्जनम् (रा. व. १३)
दृक्श्रुति–पु., सर्पः (हला.)
दृक्सेक–पु., आश्रोतनम् (वै. नि.)
दृक्योनि–पु., ईर्ष्यकक्लीबः (निदा.)
दृक्-विष–पु., सर्पः (हे च.)
दृक्व्याधिहत–न., रक्ताञ्जनम् (वै. नि.)
दृढकण्टक (का)–पु., खर्जूरवृक्षः (वै. नि.) अङ्कोटवृक्षः (श. च.)
दृढगर्भ–न., हीरकः (प. मु.)
दृढदंशक–पु., जलचरविशेषः (वै. नि.) (शब्दार्थकल्पतरुः)
दृढनीर–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. ब. ११)
दृढपदी–स्त्री., वन्दाकः (रा. व. ५)
दृढपुष्पा–स्त्री., गुलुच्छकन्दः (वै. नि.)
दृढपृष्ठक–पु., कच्छपः (रा. व. १९)
दृढबन्धिनी–स्त्री., श्यामालता (श. च.)

दृढबालुक–न., एलबालुकः (रा. व. ४.) (वै. नि.)
दृढभार्गवक–न., हीरकः (रा. व. १३.)
दृढमाला–स्त्री., भूधात्री (वै. नि.) (भा.)
दृढरङ्गदा (ङ्गा)–स्त्री., स्फटिकारिका (रा. व. १३.)
दृढरजा–स्त्री., प्रौढस्त्री (वै. नि.)
दृढलोमा (न्)–पु., स्त्री., शूकरः (श. च.)
दृढवल्ल–पु.,मुञ्जतृणम् (वै. नि.)
दृढवीज–पु., बर्बूरवृक्षः । चक्रमर्दः (रा. व. ८.) नारिकेलवृक्षः । बदरवृक्षः (रा. व. ११.)
दृढवृन्त (क्ष)–पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)
दृढसूत्रिका–स्त्री., मूर्वा (श. च.)
दृढस्थिति–नारिकेलवृक्षः (रा. व. ११.)
दृढा–स्त्री., मुषली (प. मु.) भूधात्री (वै. नि.)
दृढाङ्ग–न., हीरकः (रा. व. १३.)
दृढारङ्गा–स्त्री., स्फटिकारिका (भा.)
दृढेक्षुर–पु., मुञ्जतृणम् (वै. नि.)
दृत (ता)–न., स्त्री., जीरकः (वै. नि.) (श. च.)
दृतिधारक–पु., तरुभेदः (श. च.)
दृतिहरि–पु., कुक्कुरः (व्याक.)
दृम्भू (म्फू)–स्त्री., सर्पः (मे.) वज्रः । सूर्यः (हे. चि.
दृशा–स्त्री., चक्षुः (श. च.)
दृशाकाङ्क्ष्य–न., पद्मम् (श. च.)
दृशि–(शी)–स्त्री., लोचनम् (श. च.)
दृशोपम–न., श्वेतपद्मम् (श. च)
दृश्या–स्त्री., कपिकच्छुः (वै. नि.)
दृष(ड्भे)द–पु., करञ्योडिपाषाणभेदः (वै. नि.) हिं.—हाथाजोडी.
दृष्टरजा–स्त्री., प्राप्तवयस्का मध्यमा स्त्री ।
दृष्टिकृत् (त)–न., स्थलपद्मम् (श. च. श. र.)
दृष्टिपूतना–स्त्री., बालानां स्त्रीग्रहविशेषः । अन्धपूतना (वा. उ. ३ अ.)
दृष्टिबन्धु–पु., खद्योतः (श. र.)
दृष्टियोनि–पु., ईर्ष्यकक्लीबः (सु.)
दृष्टिरोग–पु., नेत्ररोगः ।
दृष्टिवर्त्म–न., नेत्रवर्त्म ।
दृष्टिसन्धि–पु., नेत्रकोणः (वै. नि.)
देवकर्दम–पु., पञ्चसुगन्धिः । समभागश्रीखण्डचन्दनागुरुकर्पूरकुङ्कुमं च (रा. व. २२)
देवकुक्कुटक–पु., सुनिषण्णकशाकभेदः (वम् कुरडु) गुणाः– शीतो वृष्यः मूत्ररोगहरः अश्मरीनाशकः (वै. नि.)
देवकुतुम्बक–पु., महाद्रोणपुष्पी (वै. नि.)
देवकुम्भ(म्भा)(म्भी)–पु., स्त्री., स्वनामख्यातवृक्षविशेषः । गन्धप्रसारणी कुस्वेति कोङ्कणे (वम्–शेतवड) गुणाः– कटुः तिक्तः मेध्यः पारदशोधकः पिशाचबाधाकफघ्नः वाताग्निमान्द्यघ्नः द्रोणपुष्पीगुणश्च (वै. नि.) हिं.—तुम्बा.
देवग्रह–पु., भूतग्रहविशेषः (निदा.)
देवचिकित्सकौ–पु., अश्विनीकुमारौ । (हला.)
देवजग्ध (क)–न., रोहिषतृणम् । कत्तृणम् (अम.)
देवट्टी–स्त्री., चिल्लपक्षिविशेषः (हारा.)
देवतरणी–स्त्री., राजतरणीपुष्पवृक्षः । (वै. नि.)
देवतरु–पु., अश्वत्थवृक्षः । चैत्यवृक्षः । (त्रिका.) विकङ्कतवृक्षः (वै. नि.) मन्दारवृक्षः । पारिजातवृक्षः । हरिचन्दनम् (अम.)
देवता–स्त्री., धुस्तूरवृक्षः (वै. नि.)
देवताकुसुम–न., लवङ्गम् । देवहुली इति ख्याते गन्धद्रव्यम् (च. द.)
देवताण्ड–पु., देवदालीवृक्षः (मद. व. १)
देवतामणि–पु., महामेदः (वै. नि.)
देवदग्ध–न., रोहिषतृणम् (श. चि.) रोहितकभेदः (वै. नि.)
देवदण्डोत्पला–स्त्री., नागबला (वै. नि.)
देवदानी–स्त्री., देवदाली, पीतघोषा । (र. मा.)
देवदीप–पु., नेत्रम् (वै. नि.)
देवद्रोणी–स्त्री., महाद्रोणपुष्पी ।
देवन (ना)ल–पु., महानलः । गुणाः– अतिमधुरः वृष्यः ईषत्कषायः रसकार्ये शस्तः नलादधिकगुणश्च (रा. व. ८)
देवपत्नी–स्त्री., रक्तालौ । मध्वालौ (त्रिका.)
देवपत्रिका–स्त्री., स्पृक्का (वै. नि.)
देवपुष्प–न., लवङ्गम् (वै. नि.)(जीर्णज्वरचि. लवङ्गादिकषाये.)
देवपुष्पी–स्त्री., वृक्षविशेषः । देवहुली इति लोके (च. द. वा. व्य. चि.)
देवभवन–न., अश्वत्थवृक्षः (श. च.)
देवमर्त्या–स्त्री., महामेदा (वै. नि.)
देवमातृका–स्त्री., वृष्टयम्बुपालितः देशः (रा. व. २)
देवमानक–पु., कौस्तुभमणिः (श. र.)
देवमास(क)–पु., गर्भाष्टमो मासः (त्रिका.)

देवमिस–., पु., अर्जुनवृक्षः (वै. नि.)
देवराजाशनाख्य–पु., संविदा (रस. र.)
देवरात–पु., सारसपक्षिभेदः (शब्दार्थकल्पः)
देवलता–स्त्री., वटपत्रवल्लिका
देववल्लभ–पु., पुन्नागवृक्षः (अम.)
देववृक्ष–पु., गुग्गुलवृक्षः (मे.) गोपघोण्टा (वै. नि.) सप्तपर्णवृक्षः (त्रिका.) मन्दारवृक्षः (मे.)
देवशालि–पु., शालिधान्यविशेषः । (वै. नि.)
देवसृष्टा–स्त्री., मदिरा (हे. च.)
देवा–स्त्री., अशनपर्णी पद्मचारिणी (श. च.)
देवात्मा–पु., अश्वत्थवृक्षः (श. च.)
देवाद्वय––न., एका सहदेवा, द्वितीया विश्वेदेवा। (वा. सू. १५ अ. विदार्यादौ)
देवानांप्रिय–पु., छागः (त्रिका.)
देवाभीष्टा–स्त्री., पूगवृक्षः (वै. नि.) ताम्बूली(श. च.)
देवावास–पु., अश्वत्थवृक्षः । चैत्यवृक्षः । (त्रिका.)
देविता–पु., धुस्तूरवृक्षः । (भा.)
देवीलता–स्त्री., अनन्तमूलम् (ज. द. १४ अ.)
देवीवीज–न., गन्धकः । (भैष. ज. चि.) (चक्रीरसे)
देव्या–स्त्री., मुरामांसी, ब्राह्मीक्षुपः । (वै. नि.)
देशसमाख्यवीज–न., इन्द्रयवः । (वै. नि.)
देशिनी–स्त्री., तर्जनी (श. र.)
देहकोष–(**चर्म**)–पु., त्वग् (वै. नि.) पक्षः । (श. च.)
देहक्षय–पु., रोगः (श. च.)
देहत्वक्–स्त्री., चर्म (वै. नि.)
देहदुर्गन्धता–स्त्री., शरीरदौर्गन्ध्यम् । तन्नाशकमौषधं यथा–अर्जुनपुष्पं जम्बूपत्रं लोध्रञ्चेति समभागं लिम्पेत् (पुराणम्)
देहधारक–न., अस्थि । (हे. च.) आहारम् (वै. नि.)
देहधि–पु., पक्षः । (श. च.)
देहधृक्–पु., वायुः । (वै. नि.)
देहभृत्–पु., जीवः । प्राणी (वै. नि.)
देहयात्रा–स्त्री., मृत्युः । अन्तम् । भोजनम् । (त्रिका.)
देहला–स्त्री., सुरा । (वै. नि.)
देहवल्कल–न., वसा । (रा. व. १८)
देहसार–पु., मज्जा । (रा. व. १८)
देहिका–स्त्री., उपजिह्विकाकीटः (त्रिका.)
दैत्य–पु., लौहम्।
दैत्यग्रह–पु., असुरग्रहः (वा. उ. उन्मादचि.)
दैत्यमेदज–पु., भूमिजगुग्गुलुः माहिषाक्षगुग्गुलुः (रा. व. १२.)
दैत्यरक्तक–न., हिङ्गुलम् (र. सा. सं.)
दैत्येन्द्र–पु., गन्धकम् (भैष. पञ्चाननरसे)
दैत्येन्द्ररक्त–न., हिङ्गुलम् (सा. कौ. त्रिदोष्रनीहाररसे)
दैवाच्छिद्र–न., कर्मच्छिद्रम् (वा. उ. १४ अ.)
दैवदारु–न., देवदारुः (र. मा.)
दैवदीप–पु., लोचनम् (त्रिका.)
दैवी–स्त्री., बलिपूजादिरूपे चिकित्साविशेषः, यथा –' आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।' (वैद्यकम्)
दैवोदासि–पु., दिवोदासापत्यम् (श. चि.)
दो–पु., बाहुः (रा. व. १८)
दो (शिखर)–पु., स्कन्धम् (रा. व. १८)
दोण्डिका (ण्डि)–स्त्री., तरदीलता कोषातकी (वै. नि.)
दोध–पु., गोवत्सः । (छन्दःशास्त्रम्)
दोर्गडु–त्रि., बाहुकुण्ठः (त्रि. का .)
दोर्दण्ड–पु., बाहुः (भूरिप्र.)
दोर्मध्य–न., बाहुमध्यभागः (शब्दार्थकल्पः)
दोर्मूल–न., बाहुमूलम् (वै., नि.)
दोला(लिका)–स्त्री., नीलीवृक्षः (वै. नि.) क्रीडार्थं काष्ठादिमयः हिन्दोलकः । तत् भ्रमणगुणाः—वातकोपनत्वं अङ्गस्थैर्यबलाग्निकारित्वञ्च (रा. ज.)
दोलायन्त्र–न., रसस्वेदनार्थं यन्त्रविशेषम् (भा.)
दोषज्ञ–पु., वैद्यः । चिकित्सकः (हे. च.) (त्रि.) दोषवेत्ता
दोषत्र (त्रित) य–न., मिलितवातपित्तकफः (रा. व. २२)
दोषशमबस्ति–पु., निरूहबस्तिभेदः । यथा–' प्रियङ्गुः मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम् । सक्षीरं शस्यते बस्तिः दोषाणां शमनः परम् ' (भा.)
दोहरबस्ति–पु., तन्नामकनिरूहबस्तिः । ' शताह्वा मधुकं बिल्वं कौटजं फलमेव च । सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ' (भा.)
दोषा–स्त्री,, बाहुः (रा. व. १८)
दोषा (षो) त्क्लेशी–स्त्री., वनबर्बरिका (रा. व. १०)
दोषातिलक–पु., दीपः (त्रिका.)
दोषान्ध–पु., दृष्टिरोगभेदः (वा. उ. १२ अ)
दोषिक–पु., रोगः (श. च.)
दोह–पु., दोहनम् । दोहनपात्रम् । दुग्धम् (वै. नि.)
दोहज–न., दुग्धम् [शब्दार्थकल्पतरुः]
दोहदलक्षण–न., गर्भधारणम् । गर्भः वयःसन्धिः (मे.)
दोहदवती–स्त्री., गर्भवती स्त्री (हे. च.)

दोहनी-स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.) दोहनभाण्डम् (त्रिका.)
दोहलवती-स्त्री., दोहदवती (शब्दार्थकल्पतरुः)
दोहली-स्त्री., अशोकवृक्षः (रा. व. १०)
दोहापनय (पयन)-पु., न., गव्यदुग्धम् (त्रिका. । वै. नि.)
दौग्धिक-न., दुग्धिकामूलम् (वा. उ. ३७ अ.)
दौण्डिका-स्त्री., कोषातकी (वै. नि.)
दौर्वीण-न., इष्टपर्णम् । दूर्वारसः (मे.)
दौलेय—पु., कच्छपः (हे. च.)
दौष्कुलेय-न., ग्रन्थिपर्णमूलम् (वै. नि.)
द्युक-पु., पेचकः (वै. नि.)
द्युकारि-पु., काकः (वै. नि.)
द्युग-पु., पक्षी (रा. व. १९)
द्युतरु-पु., कल्पतरुः (वै. नि.)
द्यु(ति)मणि-पु., अर्कवृक्षः (अम. र. सा. सं. विद्याधररसे) **मारिततास्रम्** (भा. म. १ भ. ज्वरचि. त्रिपुरभैरवरसे.)
द्युतबीज-न., कपर्दकः (त्रिका.)
द्युम्न-न., बलम् (मे.)
द्योतन-न., दर्शनम् (हे. च.)
द्योत्र-न., बीजम् (उणा.)
द्योभूमि-पु., पक्षी (श. च.)
द्र(द्रा)प्स(प्स्य)-न., तरलदधि (अम. अ. टी. भ.)
द्रवज-पु., शर्करा (रा. व. १४)
द्रवत्पत्री-स्त्री., शिग्रुडीवृक्षः (रा. व. ४)
द्रवशूल-पु., अन्नद्रवशूलम् ।
द्रवा-स्त्री., मेदा (रा. व. ५)
द्रविण-न., सुवर्णम् । रत्नम्, बलम् (अम. मे.)
द्रविणनाशन-न., शिग्रुवृक्षः (श. र.)
द्रवीकरण-न., तरलतापादनम् ।
द्रव्यकल्क-पु., द्रवदि पेषितद्रव्यम् ।
द्रव्यगुणाकर-पु., स्त्री., **द्रव्यरत्नावली** ,, ,, } द्रव्यसंग्रहविशेषः ।
द्रव्यसंग्रह-पु., करचरणहरीतक्यादिद्रव्यसंक्षेपः (च. सू. १ अ.)
द्रव्याभिधान-न., औषधादीनां नामसंग्रहः ।
द्राक्षाफल-पु., पियालवृक्षः (वै. नि.)
द्राक्षायणी-स्त्री., दन्तीवृक्षः (प. मु.)
द्राक्षारिष्ट-पु., यक्ष्माधिकारे अरिष्टविशेषः (भैष.)
द्राक्षासम्भूत—पु., द्राक्षासवः (वै. नि.)
द्राक्षासुरा—स्त्री., द्राक्षाकृतमद्यम् (चसू. २७ अ.)
द्राक्षोत्था-स्त्री., द्राक्षासवः (वै. नि.)
द्राण-त्रि., सुप्तः ।
द्राघिष्ठास्य-पु., भल्लकः (रा. व. १९)
द्राप-पु., पङ्कः । (शब्दार्थकल्पः)
द्रावकर—न., श्वेतटङ्कणम् (रा. व. ६)
द्रावकवर्ग-पु., द्रवकरद्रव्यपञ्चकम् । गुञ्जाटङ्कणमध्वाज्यगुडा द्रावकपञ्चकाः (र. सा. सं.)
द्रावण (फल)-न., कतकफलम् (र. मा.)
द्राविका-स्त्री., लाला (श. र.)
द्राविडभूतिक-(मिज)-पु., आमहरिद्रा (श. र.)
द्राविडोद्भव-पु., सुगन्धतृणम् । सुगन्धप्रियङ्गुः । **(वा)**—स्त्री., एला (वै. नि.)
द्राविण-पु., टङ्कणम् (र. सा. सं.)
द्राविणी—स्त्री., काकजङ्घा । काकमाची (वै. नि.)
द्रु—स्त्री., स्वर्णम् (वै. नि.)
द्रुक-(का)—पु., (स्त्री.) **निम्बवृक्षः** (हिं.-बकाणनिम्ब) (भा. म. ४ भ. महाभल्लातके) **ओकडा इति ख्यातः क्षुपः** (च. द. दार्व्यादिकषाये) **सरलाद्रेका मृता यासकैः** ।
द्रुकिलिम-न., देवदारुः (प. मु.)
द्रु (द्रू)घन-पु., भूमिचम्पकवृक्षः (श. च.)
द्रु (द्रू)ण—पु., भ्रमरम् । वृश्चिकः धूम्याटपक्षी (हे. च.) मधुमक्षिका (वै. नि.)
द्रुणी—स्त्री., कर्णजलायुका । कच्छपिका (अम. भ.)
द्रुतमांस—न., शशादिहरणादयः स्वयं द्रुतगमनात् द्रुतसंज्ञकाः स्मृताः । तेषां मांसे गुणाः ' पथ्यं लघु बल्यं वीर्यकारि च (रा. व. १७)
द्रुनख—पु., कण्टकम् (त्रिका.)
द्रुमकिल—पु., देवदारुवृक्षः (वै. नि.)
द्रुमग—पु., स्वल्पजलदेशः (वै. नि.)
द्रुमत्वक्—स्त्री., कुटजवल्कलम् (च. द. कुष्ठ. चि.)
द्रुमध्वज—पु., तालवृक्षः (वै. नि.)
द्रुमनख-पु., कण्टकम् (हारा.) पारिजातवृक्षः (मे.)
द्रुमनिर्यास—पु., तरुनिर्यूहः (वै. नि.)
द्रुमर—पु., कण्टकम् (हारा.)
द्रुमशय—पु., वानरः (वै. नि.)
द्रुमश्रेष्ठ—पु., तालवृक्षः (वै. नि.)
द्रुमामय—पु., लाक्षा (प. मु.)

द्रुमारि–पु., हस्ती (वै. नि.)
द्रुमाशय–पु., सरटः (रा. व. १९.)
द्रुमोत्पल–पु., कर्णिकारवृक्षः (अम.) ऋतुशूले हितः ।
द्रुयव–न., परिमाणम् (वै. नि.)
द्रुसल्लक–पु., पियालवृक्षः (श. र.)
द्रोणकाक–पु., तन्नामककाकः (अम.)
द्रोणकुतुम्बका–स्त्री., देवकुम्भा देवद्रोणी (वै. नि.)
द्रोणगन्धिका–स्त्री., रास्ना (जटा.)
द्रोणपर्णी–स्त्री., द्रोणपुष्पी ।
द्रोणपुष्पिका–स्त्री., द्रोणपुष्पी ((वै. नि.)
द्रोणपुष्पी–स्त्री., घलघसा हलकषा दण्डकलस इति ख्यातः क्षेत्रजद्रुस्वक्षुपः । द्रोणपुष्पीति भाषा (र. मा.) (म. कुंबा) (हिं-गुम्मा) गुणाः–कटूष्णा रुच्या वातकफघ्नी अग्निमान्द्यकरी पथ्या च । (रा. व. ५ । च. द. सि. यो. काम. चि. अञ्जने) 'अञ्जनं कामलार्तानां द्रोणपुष्पीरसः शुभः । द्रोणपुष्पीरसोऽप्येवं निहन्ति विषमज्वरम् (शार्ङ्ग. म. ख. १ अ.) कफार्शःकामलाकृमिशोषघ्नी (राज.) द्रोणपुष्पी गुरुः स्वादुपाका कट्वी भेदनी कफामकामलाशोथतमकश्वासकृमिघ्नी च (भा.)
द्रोणपुष्पीदल–न., द्रोणपुष्पीपत्रम् । गुणाः–स्वादु रुच्यं गुरु पित्तकरं भेदनं कामलाशोथमेहज्वरहरम् । कटु च (भा. पू. १ भ. शा. वर्ग.)
द्रोणा–स्त्री., द्रोणपुष्पी (भा. वा. उ.) (१६ अ.) इन्दीवरालता (वै. नि.)
द्रोणिका–स्त्री., नीली (श. र.)
द्रोणिनी–स्त्री., उत्तरिणी (वै. नि.)
द्रोणीदल–पु., केतकीपुष्पवृक्षः (हारा.)
द्रोणील–पु., केतकवृक्षः (वै. नि.)
द्रन्द्रग–पु., चक्रवाकः (वै. नि.)
द्रन्द्रगद–पु., द्रन्द्वजरोगः ।
द्रन्द्रचर (चारी)–पु., चक्रवाकपक्षी (हे. च. । त्रिका.)
द्रन्द्रचरीसहाय–पु., चक्रवाकपक्षी (वै. नि.)
द्रन्द्रजदोषोत्थ–पु., विषमज्वरः (रा. व. २० । द्विदोषरोगः (त्रि.,) द्विदोषोत्थः (मा. ज्व. नि.)
द्रयाग्नि–पु., चित्रकवृक्षः (श. च.)
द्रादशपत्रिका–स्त्री., शताह्वारव्यक्षुपः ।
द्रादशाङ्गकाथ–पु., सन्निपातज्वरे कषायः । दशमूलीकषायस्तु पिप्पली पौष्करान्वितः सन्निपातज्वरे देयः श्वासकाससमन्विते (भा. म. ११.)
द्रादशाङ्गुल–पु., वितस्ती (अम.)
द्रादशात्मा–पु., सूर्यः । अर्कवृक्षः (अम.)
द्रादशायसक–पु., ऊरुस्तम्भाधिकारे रसः । त्रिनेत्राख्यरस एव (रस. र.)
द्रादशायु–पु., कुक्कुरः (श. मा.)
द्रार–न.,उपायः । निर्गमम् (त्रिका.)
द्रारका–स्त्री., कार्पासी (वै. नि.)
द्रारदारु–पु., शाकवृक्षः (वै. नि) भूमीसहवृक्षः (भा.)
द्रारबलिभुक्–पु., काकविशेषः (त्रिका.)
द्रिक–पु., काकः (त्रिका.) चक्रवाकः (मे.)
द्रिककार–पु., काकः (श. र.)
द्रिकपृष्ठ–पु., उष्ट्रः (हे. च.)
द्रिकाकोली–स्त्री., काकोलीक्षीरकाकोली च (वा. ऊ. २ अ.)
द्रिक्षीर–न., गव्याजदुग्धे (च. द. यक्ष्म चि. सार्पेर्गुडे)
द्रिखुरी (इन्)–पु., गोखुरवत् द्विधाविभक्तखुराशुभाश्वः । 'द्रिखुरं गोखुराकारङ्कुरैर्विद्याद्विचक्षणः । अथवा सीवनीयुक्तैर्निम्नमध्यैस्तु निर्दिशेत् ' (ज. द. ३ अ.)
द्रिचित्रक–न., श्वेतरक्तचित्रकौ । (सि. यो. अग्निमान्द्यचि.)
द्रिजकेतु–पु., जम्बीरविशेषः । (वै. नि.)
द्रिजन्मा–(मन्)–पु., पक्षी-दन्तः । (श. र.) आर्द्रधान्यम् । मौक्तिकम् । अण्डजः । (वै. नि.)
द्रिजभक्त–(त्रि.) वैद्ये भक्तिमान् रोगी (वै. नि.)
द्रिजयष्टि–(ष्टिका) स्त्री., भार्गी (वै. नि. २ भ. वा. व्या. चि.)
द्रिजशत–पु., राजमाषः । (श. च.)
द्रिजस्नेह–पु., पलाशवृक्षः । (वै. नि.)
द्रिजाङ्गिका (ङ्गी)–स्त्री., कटुकी । (रा. व. ६)
द्रिजाति–पु., दन्तः । अण्डजः । पक्षी । (मे.)
द्रिजायनी–स्त्री., यज्ञोपवीतम् (त्रिका.)
द्रिजालय–पु., तरुकोटरः । (श. च.)
द्रिजिह्व–पु., सर्पः (अम.) अधिजिह्वनामकः कण्ठरोगः । (सु. नि. १६ अ.)
द्रिजेन्द्रक–पु., निम्बूवृक्षः । (वै. नि.)
द्रितीयत्रिफला–स्त्री., द्राक्षाखर्जूरगाम्भारीफलानि (वै. नि.)
द्रितीयाभा–स्त्री., वृक्षविशेषः । दारुहरिद्रा (श. च.)

द्विधागति-पु., शिशुमारः । (वै. नि.) कुम्भीरः । (हे. च.)
द्विधातु-त्रि., द्विप्रकृतिकः ।
द्विधात्मक-न., जातीफलम् (वै. नि.)
द्विधालेख्य-पु., हिन्तालवृक्षः (रा. व. ९)
द्विप-पु., हस्ती (प. मु.) नागकेशरवृक्षः (वै. नि.)
द्विपत्रक-पु., चण्डालकन्दः (वै. नि.)
द्विपद-पु., मनुष्यः । पक्षी (प्रश्नसारः)
द्विपबला-स्त्री., नागबला (वै. नि. वा. व्या. चि. शतावरी तैले.)
द्विपमद-पु., करिमदजलम् ।
द्विपर्णी-स्त्री., शालपर्णी पृश्निपर्णी चेति (च. द. ग्रह चि.)
द्विपाख्य-पु., नागकेशरवृक्षः (प. मु.)
द्विपादिक-पु., नागकेशरवृक्षः (प. मु.)
द्विपायी(इन्)-पु., करी (हारा.)
द्विपिनख-पु., व्याघ्रनखम् (रा. व. १२)
द्विपी(इन्)-पु., चित्रकभेदः (च. वि. ८ अ)
द्विपुट-पु., पुष्पश्रुपविशेषः (श. चि.)
द्विपुटी-स्त्री., मल्लिका (मे.)
द्विपुनर्नव-न., शुक्लोहितलताभेदेन पुनर्नवाद्वयम् (सि. यो. कामला. चि. व्योषाद्यघृते) 'त्रिफला द्विपुनर्नवम्'।
द्विब्राह्मी-स्त्री., ह्रस्वदीर्घब्राह्मीद्वयम् (सु. शा. १० अ.)
द्विमाष-न., मुद्गपर्णी माषपर्णी च । (च. द. उन्माद चि. महाकल्याणकघृते)
द्विमुखा-स्त्री., झारिका । जलौका (हला.)
द्विमुखोरग-पु., द्विमुखसर्पः (जटा.)
द्विरजनी-स्त्री., हरिद्रा । दारुहरिद्रा । सि. यो. कामला. चि. व्योषाद्यघृते.)
द्विरदपिप्पली-स्त्री., गजपिप्पली (वै. नि. २ भ. वा. व्या. चि. द्वात्रिंशक गुग्गुलौ.)
द्विरदान्त-(क)-पु., सिंहः (रा. व १९)
द्विरदारति-पु., शरभः (वै. नि.)
द्विरदाशन-पु., अश्वत्थवृक्षः (वै. नि.)
द्विरसन-पु., सर्पः (त्रिका.)
द्विराप-पु., हस्ती (श मा.)
द्विरेता-पु., गर्दभः (वै. नि.) स्त्रीपुंचिह्नाङ्गनपुंसकः (च.शा. २ अ.)
द्विलग्नक-पु., दुश्चर्म (हें. च.)
द्विवर्षा (र्षिका)-स्त्री., द्विहायनी गौः (अम.। हे. च.)
द्विविष-न., पाण्डुकृष्णातिविषाः (वै.नि.२भ.वा.व्या.चि.)
द्विवृन्त-पु., नखरञ्जकक्षुपः (प. मु.)
द्विशृङ्गिका-स्त्री., मेवशृङ्गी (वै. नि.)
द्वीशृङ्गी (इन्)-पु., मत्स्यविशेषः
द्विषा-स्त्री., एला
द्विस्विन्नान्न-न., सिद्धतण्डुलः (पुराणम्)
द्वीपसम्भव-पु., कक्कोलवृक्षः । जीरकः । (वा)-स्त्री.) महाखर्जूरवृक्षः ।
द्वीपान्तरवचा-स्त्री., तोपचिनीति ख्यातं मूलम् । गुणाः-'द्वीपान्तरवचा किञ्चित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिविबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी । वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम् । व्यपोहति विशेषेण फिरङ्गामयनाशिनी (भा.)
द्वीपिनी-स्त्री., वटपत्रपाषाणभेदः (वै. नि.)
द्वीपिपलाश-पु., हस्तिकर्णपलाशः (वा. सु. १५ अ; मुष्ककादि)
द्वीप्य-पु., काकः न., कक्कोलः (वै.नि.)
द्वीप्या-स्त्री., शतावरी (रा. व. ४) पिण्डीखर्जूरवृक्षः (रा. व. ११)
द्वेष्य-न., कङ्कोलः (रा. व. १२)
द्वैमातृक-पु., नदीवृष्टयम्बुपालितः देशः (रा. व २)
द्वैषणीया-स्त्री., नागवल्लीविशेष होसयले हलेय इति घोरसमुद्रदेशे ख्याता । ह्वेसनीया इति पुस्तकान्तरे पाठः (रा व ११)
द्व्यन्तर-पु., जातिद्वयसम्भूतः सर्पः (सु. कल्प. टी.)
द्व्यष्ट-न., ताम्रम् (अम.)
द्व्यहिक (हीन)-पु., एकदिनान्तरज्वरः (मा. नि)

ध

धट-(क)-पु., धववृक्षः (वै. नि.) तुलामानम् (अम.) १४ वल्लमाना (लीलावती)
धटी-स्त्री., वल्कलम् (वै. नि.) जीर्णवस्त्रखण्डम्
धन-पु., न., मरिचः । अर्थः (वै.नि.) स्नेहपात्रम् (श.र.)
धनक-न., धान्यकम् (वै. नि. २ भ. सर्वज्वरचि. गुडूच्यादि.)
धनञ्छ(ञ्छू)-पु., स्त्री., पक्षिविशेषः (त्रिका.)
धनद-पु., हिज्जलवृक्षः (रापरि. ८.७ पृ. ३६३) (पाठान्तरात्)
धनदाक्षी-स्त्री., पाटलवृक्षः (रा. व. १०) लताकरञ्जः (रा. व. ८.४ पृ. ३५८)
धनपिशाची(चिका)-स्त्री., तृष्णा (त्रिका. हारा.)

धनसू-पु., धूम्याटपक्षी (वै. नि.)

धनस्य(स्व)(क)-पु., गोक्षुरकवृक्षः (श. च.)

धनहर-पु., ग्रन्थिपर्णवृक्षः, पारसीकयमानी (वै. नि.)

धनह(हा)री-स्त्री., पारसीकयमानी । ग्रन्थिपर्णभेदः (अम.)

धनहृत्-पु., चण्डालकन्दः (वै. नि.)

धना (नी)-स्त्री., आर्द्रधान्यकः (वै. नि.) धान्यकः (वै. नि. २ भ. व्या. चि. षडशीतिगुग्गुलौ अत्रि २ स्थान २ अ)

धनीयक-न., आर्द्रधान्यकः । धान्यकः (श. र.)

धनु (प)(ष्प) ट-पु., प्रियालवृक्षः (रा. व. ११ अम.)

धनुःशाखा-स्त्री., मूर्वा (श. च.)

धनुश्श्रेणी-स्त्री., मूर्वा (प. मु.) महेन्द्रवारुणी (रा. व ३)

धनुर्गुणा-स्त्री., मूर्वा (श. च.)

धनुर्माला-स्त्री., मूर्वा (श. च.)

धनुर्यास-पु., दुरालभा (प. मु.)

धनुर्वीज-पु., भल्लातकवृक्षः (रा. व. ११)

धनुर्वृक्ष-पु., धमन्यवृक्षः (र. मा.)(रा. व. ९) वंशः । भल्लातकवृक्षः । अश्वत्थवृक्षः (रा. व. ११)

धनुष-पु.,कुक्कुरः (वै. नि.)

धनेयक-न., धन्याकः (अ. टी. भ.)

धन्यवृक्ष-पु., अश्वत्थवृक्षः (वै. नि.)

धन्याक-न., स्वनामख्यातपण्यद्रव्यम् (प. मु.)(हिं— धनिया) गुणाः—तुवरं स्निग्धम् अवृष्यं मूत्रलं लघुतिक्तं कटूष्णवीर्यं दीपनं पाचनं ज्वरघ्नं रोचकं ग्राहि स्वादुपाकं त्रिदोषघ्नं तृष्णादाहवमिश्वासकास-कार्श्यकृमिघ्नञ्च । आर्द्रं तत् गुणसंपन्नं स्वादु विशेषतः पित्तघ्नञ्च(भा. पू. १ भ.)(मद. व. २)

धन्वक-पु., धामनवृक्षः । (च. द. मेह. चि.)

धन्वङ्ग-पु., धामनवृक्षः । गुणाः—धन्वङ्गः कफपित्तास्र-कासहृत्तुवरो लघुः बृंहणो बलकृद्वृक्षः सन्धिकृद्व्रण-रोपणः (भा. म. २ भ. प्रमेह. चि.) वंशः (वै. नि.)

धन्वचारी-त्रि., निर्जलदेशचारी (वा. चि. ७ अ.)

धन्वतरु-पु., सोमवल्ली (वै. नि.)

धन्वदुर्ग-न., निर्जलदेशः (पुराणम्)

धन्वन्तरिग्रस्ता-स्त्री., कटुकी (श. च.)

धन्वन्तरिपञ्चक-न., धन्वन्तरिकृतग्रन्थविशेषः ।

धन्वमांस-न., निर्जलदेशपशुमांसम् (वा. चि. अ. १३ अ.)

धन्वा (न)-पु., मरुभूमिः (रा. व. २.)(च. चि. १अ)

धन्वामिष-न., जाङ्गलपशुमांसम् ।

धन्वी (इन्)-पु., दुरालभा (रा. व. ४.) अर्जुनवृक्षः (रा. व. ९.) बकुलवृक्षः (रा. व. १०.)

धमि-स्त्री,, अन्त्रम् । धमनी (हारा.)

धयन-न., पानम् (रा. व. २०.)

धर-पु., कार्पासतूलकः (मे.)

धरणीधर-पु., पर्वतः । कच्छपः (रा. व. १९.)

धरणीबन्ध-पु., अरिष्टबन्धनम् (च. द. विषचि.)

धराकदम्ब (क)-पु., कदम्बवृक्षः (हारा.)

धराङ्कुर-पु., भूच्छत्राक (वै. नि.)

धराजकूष्माण्ड-पु., भूमिकूष्माण्डः (चि. क. क. स्त्री-रोग. चि.)

धरिमा(न्)-पु., तुला । आकरः (वै. नि.)

धरुण-पु., जलम् (मे.)

धर्तूर-पु., शुक्लधुस्तूरः (वै. नि.)

धर्मघ्न-पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)

धर्मण-पु.. धमन्यवृक्षः (र. मा.) सर्पभेदः (मे.)

धर्मद्रेषी(इन्)-पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)

धर्मपात्र-पु.,न., उदुम्बरवृक्षः (श. च.)

धर्मसू-पु., धूम्याटपक्षी (श. र.)

धर्ष-(र्षित)-पु.,न., मैथुनम् (त्रिका.)

धलण्ड-(क)-पु.. स्वनामःख्यातवृक्षः (श. च.)

धवनी-स्त्री., पृश्निपर्णी (वै. नि.)

धवलपक्ष-(क्षी)(दून्)-पु., हंसः (रा. व. १९ ४७५ पृ. २७८)

धवलपाटली-स्त्री., शुक्लपाटली (रा. व. १० पृ. ३६९)

धवलमृत्तिका-स्त्री., खटिका (रा. व. १३. १४ पृ. ३७६)

धवलशारिवा-स्त्री., शुक्लशारिवा (वै. नि.)

धवली-स्त्री., शुक्लगौः (अम.)

धवित्र-न., मृगचर्मनिर्मितव्यजनम् (अम.)

धाक-पु., वृषः (न.,) अन्नम् (उणा.)

धातक्यादिचूर्ण-न., बालरोगाधिकारे औषधम् । ' धातकी बिल्वधन्याकलोध्रेन्द्रयव वालकम् । लेहः क्षौद्रेण बालानां ज्वरातीसारवान्तिजित् । ' (सा.कौ.)

धाता-पु., स्रष्टा । शरीरादिसंयोगस्य धारणहेतुः (सु. शा. ३ अ.)

धातुकी-स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.)

धातुक्षयकास-पु. धातुक्षयकरकासरोगः (निदाने)

धातुग्राही-(इन्)-पु., खर्परः (वै. नि.)

धातुघ्न–न., काञ्जिकम् (हे. च.)
धातुचेतनकर–(न.) दुग्धम्। आमलकः द्विदलम् (वै.नि.)
धातुद्रावक–न., टङ्कणक्षारः (वै. नि.)
धातुनाशन–न., काञ्जिकः (त्रिका.)
धातुप–पु., शुक्रम् । रसः (श. च.)
धातुपाक–पु., रसादिधातुऱ्हासः, तल्लक्षणम्–"निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्। (वैद्यकम्)
धातुपुष्पिका–(ष्पी)-स्त्री., धातकीवृक्षः (प. मु. भा.)
धातुमल–पु., शीषकः । रसादिमलः । 'मलिनीकरणान्मलः (वैद्यकम्) 'कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च। नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलः (भा.)
धातुमारिणी–स्त्री., टङ्कणक्षारः (श. च.)
धातुमारी (इन्)–पु., गन्धकः (वै. नि.)
धातुराज–क–पु., न., वीर्यम् (वै. नि.) (श. च.)
धातुवादी (इन्)–पु., खनिजविद्याभिज्ञः ।
धातुविद्–स्त्री., शीषकम् (वै. नि.)
धातुवृद्धि–स्त्री., रसादिवृद्धिः रसादिधातुसाम्यम् (च. सू. १३ अ.)
धातुवृद्धिकर–पु., धातुवर्धकद्रव्यम्। अश्वगन्धामुषली-शतावरी च ।
धातुवैरी (इन्)–पु., गन्धकः (श. च.)
धातुशेखर–न., धातुकाशीषम् (हे. च.)
धातुशोधन–न., शीषकम् (वै. नि.)
धातुशोधनकरी–स्त्री., हरीतकी (वै. नि.)
धातुसम्भव–न., शीषकम् (वै. नि.)
धातुस्तम्भनकर–न., जातिफलम् (वै. नि.)
धातुहा (न)–पु., गन्धकः (वै. नि.)
धातूपल–पु., खडिकादयः (वै. नि.)
धात्रीलौह–न., शूलाधिकारे (सा. कौ.) पाण्डौ हितम् । वाजीकरणे हितम् (रस. र.) अन्यः पित्तरोगे हितम् (रसा. सं.)
धात्रीषट्पलकघृत–न., गुल्मे घृतम् (रस. र. । भैष.)
धात्रेयि (यी) का–स्त्री., आमलकी (रा. व. ११.३२६ पृ. ५१) उपमाता
धात्र्यादि–पु., चातुर्थिकज्वरघ्ने धात्रीमुस्तामृतक्षौद्रकृतः कषाय (वा. चि. १ अ.)
धानाका–स्त्री., धान्यकः (वा. सू. १५ अ.)
धानाचूर्ण–न., भृष्टयवादिचूर्णम् (हे. च.)
धानिका–स्त्री., धान्यकः (वै. नि. अतिसारचि. यवान्यादौ)
धानुष्का–स्त्री., अपामार्गवृक्षः (श. च)
धान्धा–स्त्री., एला (श. च)
धान्यकञ्चुकी (इन्)–पु., धान्यत्वक्गुणाः–धान्यगुणयुक्तः (रा. व १६)
धान्यकतण्डुल–पु., कण्डितधान्यकतण्डुलः (भा. म. १ भ. अन्तकज्वरचि. धान्यकक्काथे)
धान्यकल्क–पु., तुषः ।
धान्यचतुष्क–न., अतिसारे धान्यमुस्तकबालकबिल्वकषायविशेषः । (वैद्यकसं.)
धान्यचमस–पु., चिपीटकः (त्रिका.)
धान्यतुषोद–न., धान्यतुषकृतसन्धानविशेषम् । एतद्भावे काञ्जिकम् (सि. यो. अजीर्णचि.)
धान्यतैल–न.,गोधूमयावनालव्रीहियवादिजतैलम्। गुणाः–त्रिदोषशमनं कण्डूकुष्ठादिहरं चक्षुष्यञ्च (रा. व. १५.५ पृ. ३८६)
धान्यपञ्चक–न., आमशूलादौ कषायः। 'धान्यकं नागरं मुस्तं वालकं बिल्वमेव वा। आमशूलविबन्धघ्नं पाचनं वह्निदीपनम् (वैद्यकसं.)
धान्यपटोल–पु., न., पित्तश्लेष्मज्वरे योगविशेषः । (सि. यो. ज्वरचि.)
धान्यपानक–न., धान्यकृतपानकविशेषम्। तस्य साधनविधिः–शिलायां साधु सम्पिष्टं धान्यकं वस्त्रगालितं। शर्करोदकसंयुक्तं कर्पूरादिसुसंस्कृतम्। नूतने मृण्मये पात्रे स्थितं पित्तहरं परम् (भा.)
धान्यपिप्पली–स्त्री., आमज्वरे । ज्वरे दीपनी पाचनी च (यो. रत्ना.)
धान्यमण्ड–पु., न., धान्यकृतमण्डः । गुणाः–धान्यमण्डं पित्तहरं श्रमघ्नञ्चाश्मरीहरं। वातलं रक्तशमनं ग्राहि सन्दीपनं परम्। (अत्रि. १२ अ)
धान्यमद्य–न., धान्यकृतमद्यम्। गुणाः–गुरु विष्टम्भि च (राव. १४.३०१-३०५; पृ. २५४)
धान्यबीज–न., धन्याकः (रा. व. ६)
धान्यशाक–न., धान्यकशाकम् । (र. चि.) (९ अ.)
धान्यशीर्षक–न., धान्यकणिशः । (जटा.)
धान्याक–न., धान्यकः । (मद. २ व. वै. नि. २ भ. छर्दिचि.)
धान्याग्र–न., धान्यकणिशः ।

धान्याम्बव-न., मधुजम्बीरसन्धानविशेषः । मधुभाण्डं जम्बीररसैरापूर्य धान्यराशौ मासं स्थापयेत (वै. नि.)

धान्यारि-पु., वनमूषकः । (रा. व. १९-५८ पृ. २७४)

धाम(न्)-न., शरीरम् (अम.) जन्म

धामनी-स्त्री., शोणितवाहिशिरा (श. च.)

धाराङ्कुर-पु., लघुवृष्टिः । शीकरः । घनोपलम् (मे.)

धाराट-पु., चातकविहङ्गः । घोटकः । (श. र.)

धारायन्त्र-न.,वारिसेचनयन्त्रम्। सुगन्धवारिरक्षणपात्रम् (अत्रि.)

धारासत्त्व-न., गुडूचीस्वरसः । (वै. नि.) (२ भ क्षयचि. सेवन्तीपाके)

धारास्नुही-स्त्री., त्रिधारस्नुही (रा. व. ८-३५८ पृ. ५६)

धारिणी-स्त्री., शाल्मलीवृक्षः । (श. च.)

धारी (इन्)-पु., पीलुवृक्षः । (जटा.)

धारु-त्रि., स्तन्यपायी । (जटा.)

धार्तराष्ट्रपदी-स्त्री., हंसपादीलता । रक्तलज्जालुका (वै. नि.) (रा. व. ५-१६८ पृ. १५६)

धावनिका-स्त्री., कण्टकारी (प. मु.) (वै. नि. २ भ. भुग्ननेत्रसन्निपातज्वरचि.)

धीति-स्त्री., पिपासा (हे. च.)

धीन्द्रिय-न., ज्ञानेन्द्रियम् । तच्च मनः नेत्रं श्रोत्रं त्वक् रसना घ्राणञ्चेति षट् (अम.)

धीमोदिनी-स्त्री., मद्यम् (रा. व. १४.)

धीरस्कन्ध-पु., वनशूकरः (वै. नि.) महिषः (हे. च)

धीरावी-स्त्री., पीतशिंशपा (वै. नि.)

धीवरी-स्त्री., शतमूली (वै. नि.)

धीहरा-स्त्री., कुन्दरुः (वै. नि.)

धुक (का)-पु., स्त्री., भूमिबदरवृक्षः (वै. नि.)

धुकन्धुक-न., बदरीफलम् (मद. व. ६.)

धुकी-स्त्री., भूबदरः । हस्तिकोली (मद. व. ६.)

धुन्धुमार-पु., इन्द्रगोपनामकीटविशेषः । गृहधूमः (मे.)

धुरणीफल-पु., मुद्गवृक्षः (प. मु.)

धुरन्धर-पु., धववृक्षः (प. मु. र. मा.)

धुर्द्धर-धूर्य-पु., ऋषभकः (रा. व. ५.)

धुस्तूरतैल-न., कर्णरोगाधिकारे पक्कतैलम् । पाठः—निशागन्धपले पक्वं कटु तैलं पलाष्टकम् । धुस्तूरपत्ररसे कर्णनाडीजिदुत्तमम् (सा. कौ. ईदृगेव रसरत्नाकरे गन्धकतैलम्)

धूक-पु., वायुः । बकुलवृक्षः । बिडालः (वै. नि.,)

धूनक (न)-पु., शालनिर्यासः (त्रिका.) (न.,) कम्पनम्

धूनराज-पु., वृक्षविशेषः । रुमिमस्तुकीनः पश्चिमदेशे । गुणाः- मूत्रलः ग्राही कफघ्नः दन्तरोगघ्नो बल्यः मेहासृग्दरघ्नश्च (अत्रि.)

धूनि-स्त्री., कम्पनम् (व्याक.)

धूपक-न., तूलाकाष्टम् (रा. व. ९)

धूपद्रुम-पु., रक्तखदिरः (रा. व. ८)

धूपसरला-स्त्री., धूपाङ्गसरलवृक्षविशेषः (वै. नि.)

धूमजांगज-न., वज्रकक्षारः (रा. व. ६)

धूमनाडी-स्त्री., प्रायोगिकादिधूमप्रयोगार्थं नलाकारयन्त्रम् । लक्षणं-धूमनाडी भवेत् तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका । कनिष्ठिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा (भा.)

धूममहिषी-स्त्री.. नीहारः (त्रिका.)

धूममृत्तिका-स्त्री., स्वर्णशोधनयोग्यकृष्णमृत्तिका (श. चि.)

धूमयोनि-पु., मुस्तकः (अम.)

धूमरज-न., गृहधूमम् (भैष. कर्णरोगचि.)

धूमस-पु., शाकतरुः (वै. नि.)

धूमसी-स्त्री., मुद्गद्विदलादिकृतरोटिका, प्रणाली यथा-माषाणां दालयस्तोये स्थापितस्त्यक्तकञ्चुकाः । आतपे शोषिता पात्रे पिष्टास्ता धूमसी स्मृता । धूमसी रुचिरा सैव प्रोक्ता भुर्भुरिका बुधैः । भुर्भुरी कफपित्तघ्नी किञ्चित् वातकरी स्मृता (भा.)

धूमा (ङ्ग)-स्त्री., पु., कृष्णशिंशपा (वै. नि.)

धूमोद्गार-पु., पित्तजरोगभेदः (भा.)

धूम्या(श्रा)ट-पु., कुलिङ्गपक्षी (अम.)

धूम्रकृत्-पु., धूस्तूरवृक्षः । (श. मा.)

धूम्रपत्रिका-स्त्री., धूम्रपत्री (रा. व. २३) गन्धतृणम् । गन्धतृणभेदः (वै. नि.)

धूम्रलोचन-पु., कपोतः (रा. व. १९)

धूम्रशूल-पु., उष्ट्रः (वै. नि.)

धूम्रा-स्त्री., शशाण्डुली (रा. व. ७)

धूम्राक्षी-स्त्री., धूम्रमुक्ता (वै. नि.)

धूर्तक-पु., केलिकदम्बः (प. मु.) शृगालः (श. र.)

धूर्तजन्तु-पु., मनुष्यः (श. च.)

धूर्तमानुष्या-स्त्री., रास्ना (श. च.)

धूर्ता-स्त्री., शुक्लकण्टकारी

धूलक-न., विषम् (श. च.)

धूलि-पु., परागः । गर्दभः । पार्थिवरजः (अम.)
धूलिका-स्त्री., धूली । पुष्परागः । (वै. नि) कुञ्झटिका (श. र.)
धूलिगुच्छ-पु., पिष्टातकः (त्रिका.)
धूलिजङ्घ-पु., काकः (वै. नि.)
धूसरच्छदा-स्त्री., श्वेतबुध्ना (प. मु.)
धूसरमुद्ग-पु., धूसरवर्णमुद्गविशेषः । (म-धूसरमूग) गुणाः- रसवीर्यविपाकेषु हरिन्मुद्गसमः कषायः मधुरः रुच्यः पित्तकृत् वातविबन्धकृच्च (रा. व. १६)
धूसरा-स्त्री., पाण्डुरफलीनामक्षुपः (रा. व.५)
धूसराह्वय-पु., गर्दभः (वै. नि.)
धूसरी-स्त्री., गर्दभी
धेनुकारी-पु., नागकेसरवृक्षः (वै. नि.)
धेनुदुग्धकर-पु., मजरतृणम् (रा. व. ८.)
धेनुमक्षिका-स्त्री., गोमक्षिका (वै. नि.)
धोडा -पु., डुण्डुभः (श. र.)
धौतकौशेय-न., धौतकोषजम् । पत्रोर्णम् (श. र.)
धौतखण्डी-स्त्री., खण्डशर्करा (वै. नि.)
धौतमत-न., रक्तबोलः (वै. नि.)
धौतशिल-न., स्फटिकम् (त्रिका.)
धौर- पु. धववृक्षः (भा.)
ध्वंस-पु., मद्यविकाररोगः । लक्षणं यथा-' श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता । तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् (च)
ध्वंसी-स्त्री., मानविशेषः । त्र्यसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना ध्वंसी निगद्यते । (प. प्र. १ ख.) (पु.,) (इन्)-गिरिजपीलुः । (श. र.)
ध्वजप्रहरण-पु., वायुः । (श. र.)
ध्वजी (इन्)-पु., मयूरः ! (रा. व. १९.) सर्पः (मे)
ध्वनिग्रह-पु. कर्णः । (त्रिका·)
ध्वनिबोधक (न)-न. सुगन्धरोहिषतृणम् (वै. नि.)
ध्वाङ्क्षपुष्ट-पु., कोकिलः (हारा.)
ध्वान्तवित्त-पु., खद्योतम् (श. र.)
ध्वान्तशात्रव-पु., इयोनाकवृक्षः (श. च.)
ध्वान्तोन्मेष-पु., खद्योतः (त्रिका.)

न

न-पु., रत्नम् (ए. को.)
नकुलारि-यु., बिडालः (वै. नि.)
नक्तचारी (इन्)-पु., पेचकः । बिडालः (त्रिका.)
नक्तमूलक-न., करञ्जमूलम् । (पु.) महाकरञ्जः (वै. नि.)
नक्तान्ध-त्रि. रात्र्यन्धः । रात्र्यन्धाश्रस्य लक्षणम्-' दिवा पश्यति यः स्वच्छं रात्रौ नैव च पश्यति । नक्तान्ध इति तं विद्यात् विकारं पवनोद्भवम् (ज. द. ३० अ.)
नक्ताह्व-पु., करञ्जवृक्षः । (भैष. नेत्ररोगचि.) ' नक्ताह्वबीजवर्तिः (च द व्र शो चि । भा. वातरक्त चि.) त्रिफलागुग्गुलादौ ।
नक्र-न., नासिका (मे.)
नक्रराज-(ट्)-पु., महाशिशुमारः ग्रहः । (त्रिका.)
नक्रा-स्त्री., मक्षिकादंशसूची नासिका (श. र.)
नक्षत्रकान्तिविस्तार-पु., धवलयावनालाख्यशिम्बीधान्यभेदः (रा व १६)
नक्षत्रमालिनी-स्त्री., जातीपुष्पवृक्षः (वै. नि.)
नक्षत्रेश-पु., कर्पूरः (अम.) शुक्तिः (त्रिका) खण्डः (हे. च.)
नक्षुद्र-त्रि., ह्रस्वनासिकः (हे. च.)
नखकुट्ट-पु., नापितः (त्रिका.)
नखगु (पु) च्छ (अ) फला-स्त्री., वृत्तनिष्पाविका (रा. व. ७.)
नखनामा-पु., नीलवृक्षः (वै. नि.)
नखनिकृन्तन-पु., नखच्छेदनास्त्रम् । (श. चि.)
नखनिष्पाव-(विका)-पु., स्त्री., शिम्बीभेदः (रा. व.७)
नखपुङ्खी (ष्पी)-स्त्री., स्पृक्का (रा. व. १२-११४ पृ. १०८)
नखपूर्विका-स्त्री., शिम्बीधान्यविशेषः निष्पावी (रा. व. ७-९९ पृ. ३५६)
नखरञ्जक-पु., नखरञ्जिनीवृक्षः । ' तिमिरः कोकदन्ता च द्विदन्तो नखरञ्जकः (वै. द्रव्याभि.)
नखरञ्ज (अ) नी-स्त्री., वृक्षविशेषः (वै. द्रव्याभि.) नखकृन्तनी (उद्भटः)
नखरायुध-नखायुध-पु., नखशस्त्रजन्तुमात्रः सिंहः । ताम्रचूडः । व्याघ्रः । (रा. व. १९-४४२-८४ पृ. २६९) शशकशल्लकीगोधामार्जाराद्याः ' (अत्रि.) (२० अ.)
नखराह्व-पु., श्वेतकरवीरवृक्षः (रा. व. १०)
नखरी-स्त्री., नखीनामगन्धद्रव्यम् (श. मा.) लघुशिम्बी (वै. नि.)
नखविष्किर-पु., नखायुधपक्षिमात्रः (श. चि.)
नखाङ्क-न., नखीनामगन्धद्रव्यम् । (श. र.) नखक्षतम् ।
नखाङ्कुर-पु., नखम् (वै. नि.)
नखाङ्ग-न., नलीनामगन्धद्रव्यम् (र. मा.)

नखाभ्यङ्ग–पु., नखे तैलमर्दनम् । 'तद्विशेषो नखाभ्यङ्गः शिरोनासास्थि (क्षि) तापजित् (प्रयोगपारिजातः)

नखालि–पु., क्षुद्रशङ्खः (श. च.)

नखालु–पु., नीलीवृक्षः (रा. व. ९)

नखाशी(इन्)–पु., पेचकः (त्रिका.)

नखी–स्त्री., स्वल्पनखाख्यगन्धद्रव्यम्, नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता (भा.) सा रक्षोघ्नीति (राजवल्लभः) नखी पञ्चविधा प्रोक्ता गन्धाढ्या गन्धवत् परैः । काचिद्वदरपत्राभा तथोत्पलदलोपमा । काचिदश्वखुराभा च गजकर्णसमा तथा । वराहकर्णसङ्काशा पञ्चमी परिकीर्तिता (च. द. टी.) तत्र वराहकर्णाभा न ग्राह्या । सा द्विधा एका शङ्खनखा अन्या शुक्ताढ्या बदरीच्छदा (र. मा.) गुणाः— ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठघ्नी लघुः उष्णा वर्ण्या शुक्रला स्वादुः व्रणविषालक्ष्मी मुखदौर्गन्ध्यहारी पाके रसे च कटु (भा.) उष्णा कटुः विषघ्नी कुष्ठकण्डूव्रणघ्नी भूतविद्रावणी च (रा. व. १२)

नखीत्रय–न., त्रिविधनखी । नखी, उत्पलपत्राभा, अश्वखुराभा चेति (च. द. वा. व्या. चि.)(महाराजप्रसारणीतैल.)

नखीद्वय–न., कानागड, कुरकराणी, इति द्वये (च. द.-वा. ज्व. चि.)

नगकर्णी–स्त्री., श्वेतापराजिता (वै. नि.)

नगगन्धा–स्त्री., रास्ना (वै. नि.)

नगज–पु., हस्ती (अ. टी. सा.)

नगणा–स्त्री., पारावतपदी (र. मा.)

नगपति–पु., तालवृक्षः (वै. नि.)

नगपर्यायकर्णी–स्त्री., अपराजिता (वै. नि.)

नगभू–पु., पाषाणभेदः (रा. व. ५)

नगभेदन–पु., करञ्योडिपाषाणभेदः । (वै. नि.)

नगमाला–पु., शालिधान्यभेदः । गुणाः–शालिवत् (अर्क. चि.)

नगरघात–पु., हस्ती (व्याकरणम्.)

नगराह्व–न., शुण्ठी (रा. व. ६. १३०)

नगरीवक पु., काकः (त्रिका.)

नगरौषधि–स्त्री., कदलीवृक्षः (श. च.)

नगाटन पु., वानरः (त्रिका.)

नगाश्रय–पु., हस्तिकन्दनामकं महाकन्दशाकम् (रा. व. ७.)

नगौका–पु., सिंहः (मे.) काकः (श. च.)

नघ्नह्व–पु., स्फीता । नानाद्रव्यकृतसुराबीजम् । वाखर इति लोके (भ).

नघ्निका–स्त्री., अनागतार्तवकन्या ।

नटपत्रिका–स्त्री., वार्ताकुवृक्षः (वै. नि.)

नटपर्ण–न., त्वक् (वै. नि.)

नटभूषण–न., हरितालः (र. मा.)

नटसंज्ञक–पु., हरितालः (त्रिका.)

नडकीय (प्राय)–त्रि., नलमयप्रदेशः (हे. च.)

नडमीन–पु., चिलिचिममत्स्यः

नतद्रुम–पु., लताशालः (र. मा.)

नतनाडिका–स्त्री., प्रहरद्वयात् मध्यरात्रिपर्यंतं कालः (वै. नि.)

नतनासिक–त्रि., क्षुद्रनासायुक्तम् (अम.)

नताङ्गी–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (मद. व. १.)

नदनु–पु., सिंहः (श. मा.)

नदीकुठेरक–पु., नन्दीवृक्षः (रा. व. १२.)

नदीकूलप्रिय–जलवेतसः (जटा.)

नदीजा–स्त्री., जलशुक्तिः (वै. नि.)

नदीनिष्पाव–पु., शिम्बिधान्यविशेषः ।

नदीबहल–पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)

नदीभव–पु., क्षुद्रशङ्खः (वै. नि.)

नदीमातृक–पु., देशभेदः । यो नद्यम्बुभिः पाल्यते । 'नद्यम्बुभिर्भृतोधान्यैः नदीमातृक उच्यते' (रा. व. २)

नदीया–स्त्री., अग्निमन्थः (रा. व. ९)

नद्य–न., कृष्णाञ्जनम् (वै. नि.)

नध्री–स्त्री., चर्मबन्धनी । चर्मरज्जुः (श. च.)

नन्दक–पु., नन्दीवृक्षः । कुन्दरुः । भेकः (त्रिका.)

नन्दकि–स्त्री., पिप्पली (श. च.)

नन्दगोपिता–स्त्री., रास्ना (श. च.)

नन्दनविष–न., तन्नामकवृक्षस्य त्वक्सारनिर्यासविषम् (सु. कल्प. २ अ.)

नन्दा–स्त्री., सुरसा (प. मु.) योनिरोगविशेषः । बालस्य तन्नामकमातृकाग्रहः । तया च प्रथमे दिने मासि वर्षे वा बाल आक्रान्तो भवति । तेन च ज्वरादि-भवति (च. द.)

नन्दा (न्द्या)वर्त–पु., तगरपुष्पवृक्षः (र. मा.) मत्स्यविशेषः । गुणाः– नन्दावर्तस्तु संग्राही कफ-पित्तविनाशनः (रा. ३ अ.)

नन्दिद्रु–पु., धववृक्षः (भा.)
नन्दिनक–पु.. धववृक्षः (वै. नि.)
नन्दिपादक–पु., नन्दिवृक्षः (वै. नि.)
नन्दिवृष्य–पु., कलायः (वै. नि.)
नन्दीकामुक–पु., पानीयामलकः (वै. नि)
नन्दीवरल–पु., सागरशृङ्गकमत्स्यकः (वै. नि.)
नन्दीवर्त–पु., तगरः (वै. नि.)
नभ–न., कमलम् (रा. व. १०)
नभःक्रान्ती (इन्)–पु., सिंहः (श. मा.)
नभःसङ्गम–पु., पक्षी (अम.)
नभश्चमश–पु., चित्रापूपः (मे.)
नभा–पु., श्रावणमासः । घ्राणम् । बिसतन्तुः (मे.) पलितशीर्षम् (धरणी)
नभोऽम्बुप–पु., चातकपक्षी (हे. च.)
नभोरेणु–पु., नीहारः (त्रिका.)
नभोलय–पु., धूमम् (श. र.)
नम्र (क)–पु , वेतसवृक्षः (मद. व. ५.)(भा.)
नयनचन्द्रलौह–पु., नेत्ररोगे लौहः (भैष.)
नयनचिन्तक–त्रि., दृष्टिविज्ञानकुशलः (भा.ने.रो.चि.)
नयनप्रसाद–पु., कतकवृक्षः [वै. नि.]
नयनशोणाञ्जन न., नेत्ररोगे अञ्जनम् [भा.]
नयनापाङ्ग–पु., नेत्रप्रान्तः (अम.)
नयनी–स्त्री., कनीनिकाविकारः (श. च.)
नयनोपान्त–पु., अपाङ्गम् (रा. व. १८)
नयनोर्ध्वगरोमराजि–स्त्री., भ्रूः (रा. व. १८)
नयनौषध–न., श्वेतधातुकाशीषः (हे. च.)
नरङ्ग–न., शिश्नम् । पु., वरण्डकः । (उणा.)
नरनामिका(नी)–स्त्री., श्मश्रुमती स्त्रीः (श. र. । त्रिका.)
नरप्रिय–पु., नीलीवृक्षः (रा. व. ९) पारावतः (वै. नि.)
नरमालिनि(नी)–स्त्री., श्मश्रुमती स्त्री (हे. च.)
नरमूत्र–न., मानुषमूत्रम्, ' गुणाः–आमघ्नं कृमिविषघ्नं तिक्तोष्णं लवणं रूक्षं भूतघ्नं त्वक्दोषहरं वातहरञ्च । (रा. व. १५) ' मानुषं क्षारकटुकं तिक्तोष्णं लघु चोच्यते । चक्षुरोगहरं बल्यं दीपनं कफनाशनम् ' । ' अप्रसूताया घनं मूत्रं प्रसूताया घनं लघु । न किं गुणविशेषः स्यात् समता पाकवीर्ययोः (अत्रि. ९ अ.)
नरवल्लभ–पु., कपोतः [वै. नि.]
नरवृक्ष–पु., नीलीवृक्षः [रा. व. ९]
नरसादर–पु., नरसारः (भैष.) महाशङ्खद्रावकः ।
नरसार–पु., निशादल इति ख्यातं द्रव्यम् । हिं.—नौसादर. तत्करणविधिः–' औष्ट्रं बा माहिषं 'गव्यं पुरीषं भस्मतां गतम् । क्षारपाकविधानेन नृसारसिद्धिरुच्यते । गुणाः—पटुप्रवृत्तिरशीलानां स्रावणः शोथहृत् हिमः । यकृद्दोषे ज्वरे प्लीह्नि शिरःशूलेऽर्बुदादिषु । स्तनरोगे रक्तपित्ते कासे भग्नामये तथा । योनिव्यापत्सु च ज्ञेयो सुखावहः (र. सा. सं.)
नरसिंहरूपज्वर–पु., विषमज्वरभेदः । ' विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते । तेनार्द्धशीतलं देहमर्धमुष्णं प्रजायते । (निदानम्)
नरहरि–पु., राजनिघण्टुकारः ।
नरी–स्त्री., मानुषी (जटा.) त्वचा । (वै. नि.)
नरेन्द्रद्रुम–पु., आरग्वधवृक्षः । (भैष.) (कुष्ठ. चि. । च. द. कुष्ठ. चि.)
नरेन्द्राह्व–पु., न., काष्ठागुरु । (वै. नि.)
नर्कुटक–न., नासिका । (हे. च.)
नर्तनप्रिय–पु., मयूरः । (वै. नि.)
नर्तापहारक–पु., धूलीकदम्बः । (वै. नि.,)
नर्मट–पु., खर्परम् ।
नर्मठ–पु., कुचाग्रम् (श. र.) मैथुनम् (वै. नि.)
नर्मदा–स्त्री., भारतवर्षीयनदीविशेषा । सा विन्ध्यपादवाहिनी । तज्जलगुणाः–' लघु शीतलं पथ्यं कफपित्तप्रकोपकरं सर्वरोगघ्नं रुच्यं मधुरञ्च (रा. व. १४)
स्पृक्का । (हे. च.)
नर्मरा–स्त्री., सरला । निष्फला । भस्त्रा (मे.)
नलकिनी–स्त्री., जानुदेशः । जान्वस्थि जङ्घा (हे. च.)
नलदम्बु–पु., निम्बवृक्षः । (भूरिप्र.)
नलदाम्बु–न., उशीरजलम् (वै. नि.)
नलपट्टिका–स्त्री., नलनिर्मितपट्टिका । (हारा.)
नलमीन–पु., चिलिचिममत्स्यः । (अम.) गुणः–कफकरत्वम् ।
नलमूल–न., वीरणमूलम् । (सु. सू. ३६ अ.)
नलित–पु., तिक्तपट्टशाकः । तत् पत्रं तिक्तं पित्तघ्नं शुक्रलञ्च (राज.)
नलुका–स्त्री., नलिका । जातीवृक्षः (वै. नि.)
नलोत्तम–पु., देवनलः (रा. व. ८)
नल्वकी(इन्)–पु., नलः (भैष. यो. ण्या. चि.)
नल्ववर्त्मगा–स्त्री,. काकनासा (श. च.)

नवकार्षिकगुग्गुल-पु., भगन्दरे हितः । 'त्रिफला-पुरकृष्णाभिस्त्रिपञ्चैकांशयोजिता । गुडिका शोथ-गुल्मार्शोभगन्दरवतां हिता (रस. र. भा.)

नवज्वरहरि (वटी)-स्त्री., नवज्वरे रसः । (भा.)

नवज्वरेभसिंह-पु., नवज्वरे रसः । (र. सा. सं.)

नवदल-न., कोमलपत्रम् (हेमचन्द्र)
पद्मकेशरसमीपस्थदलम् (अम.)

नवनीताह्वयगन्ध-पु., आमलासार वालाउया गन्धक इति लोके ख्यातः गन्धकः । (र. सा. सं. नेत्रा-शनिरसे)

नवपल्लव-पु., कोमलपल्लवम् (भूरित्र.)

नवफलिका-स्त्री., अचिरजातरजस्का स्त्री (मे.)

नवयौवना-स्त्री., युवती (हारा.)

नवरत्न-न., वज्रमौक्तिकमाणिक्यमरकत-गोमेद-पद्मराग-वैदूर्य-प्रवालानि नवमणयः (प. मु.) तद्दैवतानि सूर्यादयः । तद्धारणविधिः-वैदूर्यं धारयेत् सूर्ये नीलञ्च मृगलाञ्छने । आवनेयेऽपि माणिक्यं पद्मरागं शशाङ्कजे । गुरौ मुक्ता भृगौ वज्रं शनौ नीलं विदुर्बुधाः (दीपिका)

नवरत्नदेवता-त्रि., वज्रादिरत्नानामधिष्ठातृदैवतम् । द्र० नवरत्नम् ।

नववल्लभ-न., दाहागुरुः (रा. व. १२)

नवविधान्न-न.. सूपशाकव्यञ्जनमिष्टौदनोपदंशवित-र्दिशसन्धानरोचनानि (वै. नि.)

नवशस्य-न., नवीनधान्यम् (वै. नि.)

नवसागर-न., वज्रक्षारः (वै. नि. २ भ.)
(क्षय चि क्षयकेसरिरसे)

नवसूतिका-स्त्री., नवप्रसूता (वा. उ - ३३ अ.)

नवाङ्ग-न., वातपित्तज्वरे विश्वादिनवद्रव्यजकषायः । 'विश्वामृताद्वभूनिम्बैः पञ्चमूलीसमन्वितैः । कृतः कषायो हन्त्याशु वातपित्तोद्भवं ज्वरम् (सा. कौ.) अन्यत् त्रिकटुत्रिफला चित्रकमुस्तविडङ्गकृतकषायः (च. द. द्वन्द्वज्व. चि)

नवान्न-न., नूतनान्नम् (अम.)

नवाम्बर-न., नूतनवस्त्रम् (अम)

नशाक-पु., काकसदृशपक्षिविशेषः (वै. नि.)
काकभेदः (उणा.)

नश्यत्प्रसूतिका-स्त्री., मृतवत्सा (हे. च.)

नष्टचेष्टता-स्त्री., मूर्च्छा

नस् (सा)-स्त्री., नासिका

नस्यलर्क-पु., मत्स्यजातिज्वरः । (गज वै.)

नहुषाख्य-न., तगरपुष्पम् (रा व १०)

नाकन-पु., वंशधान्यविशेषः (प. मु.)

नाकु-पु., वल्मीकमृत्तिका (भैष. आमवातचि. स्वेदे.)

नागकर्णी-स्त्री., आखुकर्णीलता (रा. व. ३.) श्वेतापराजिता (शचि)

नागकुसुम-न., नागकेशरपुष्पम् (वै नि २ भ ज्वर चि चन्दनबलातैल)

नागकृष्णा-स्त्री., गजपिप्पली (वै नि)

नागजिह्वीका-स्त्री., मनःशिला (वै नि)

नागजीवन-न., वङ्गम् (हे च)

नागजीवनशत्रु-पु., हरितालः (वै. नि.)

नागदन्त-(क) पु., हस्तिदन्तः (मे.)

नागदल-न., नागदमनी (भैष तप्तराजतैले । पर्णे)

नागदलोपम-पु., परूषकवृक्षः (प. मु.)

नागदा-स्त्री हरीतकी (रसा. सं. स्वच्छन्दभैरवरसे)

नागद्रु-पु., वृक्षविशेषः । गेरचिकाडा (श. च.)

नागनामक-न., सीसकम् (भा.)

नागनामा (न्)-पु., श्वेततुलसीवृक्षः कृष्णतुलसीवृक्षः ।

नागपत्र-न., ताम्बूलदलम् (वै. नि. श्वास चि. त्रिकटु-वटी.)

नागपत्रा-स्त्री., नागदमनी (भा.)

नागपर्णी-स्त्री., नागवल्लीलता (वै. नि.)

नागपर्यायकर्णी-स्त्री., श्वेतापराजिता (रा. व. ३)

नागपुटभावना-स्त्री., षोडशपलेन भावना (वै. नि.)

नागपुरीषच्छत्र-न., गजपुरीषजातछत्राकम् (वा. उ. ३७ अ.)

नागपुष्पक-पु., कपित्थवृक्ष । स्वर्णयूथिका । कूष्माण्डः (रा. व. १३) पुन्नागवृक्षः । नागकेसरवृक्षः (वै. नि.)

नागपुष्पा-स्त्री., नागदमनी मनःशिला (वै नि.)

नागपुष्पी-स्त्री., नागदमनी (भा) स्वर्णयूथिका (रा. व. १०) पुष्पवृक्षविशेषः । गुणाः-'नागिनी रेचनी तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कफपित्तनुत् । विनिहन्ति विषं शूलं योनिदोषवमिकृमीन् (भा. अक. चि.)

नागफण-पु., वृक्षविशेषः ।

नागफेन-न., अहिफेनः (वै. नि.) (२ भ. अतिसारचि, कुङ्कुमवटी.)

नागवधूप्रिय-पु., सल्लकीनिर्यासः (वै. नि.)

नागबन्धु-पु., उदुम्बरवृक्षः (श.चि.) अश्वत्थवृक्षः (श.च.)

नागबलातैल–न., वातरक्ते तैलम् । (च. द.)
नागभृत्-पु., डुण्डुभसर्पः (त्रिका)
नागमती-स्त्री., कृष्णतुलसी (वै. नि.)
नागमाता-स्त्री., शारिवा (वै. नि.) मनःशिला (हे. च.) मनसादेवी (श. र.)
नागमार-पु., भृङ्गराजः । केशराजः (त्रिका.) (त्रि) हस्तिमारकः
नागर-न., मुस्ता (मे.)(च. सू. २ अ.) शुण्ठी (रा. व. ६ । भा. । वा. सू. १५ अ. वचादिव)(वा. चि १ अ दुरालभादि.) शुण्ठी । हरीतकी । (च. द.-सन्निपातज्वर. चि. षडङ्गपानीये । च. सू. ४ अ.) नागरङ्गवृक्षः (श. र.)
नागरक–पु.. नागरङ्गवृक्षः (वै. नि.)
नागरक्त–न., सिन्दूरम् (हें. च.)
नागरघन-पु., नागरमुस्ता (रा. व. ६)
नागरमुस्तक-(स्ता)–न., स्त्री., नागरदेशप्रसिद्धमुस्ता (हिं.–नागरमोथा) गुणाः—तिक्ता कटुः कषाया शीतला कफघ्नी पित्तज्वरातिसाराऽरुचितृष्णा-दाहघ्नी भ्रमघ्नी च (रा व. ६)
नागरी-स्त्री., स्नुहीवृक्षः (श. च.)
नागरीकन्या-स्त्री., वन्ध्याकर्कोटकी (वै. नि.)
नागरुक–पु., नागरङ्गवृक्षः (श. र.)
नागरोत्था-स्त्री., नागरमुस्ता ।
नागवल्लरी–स्त्री., नागवल्ली (भा.)
नागवारिक–पु., मयूरः । करीन्द्रः ।
नागवीज–न., शीसकृतरसवेधक वीजविशेषम् । माक्षिकेण हतं ताम्रं नागञ्च रञ्जयेत् मुहुः । तं नागं वाहयेद्वीजे द्विषोडशगुणानिह । वीजन्त्विदं वरं श्रेष्ठं नागवीजं प्रकीर्तितम् (र. चि. ३ अ.)
नागवृन्ता (न्तिका)-स्त्री., वृश्चिकालीक्षुपः (प. मु.)
नागश्रीवल्लभ-पु., सल्लकीनिर्यासः । (वै. नि.)
नागसत्व-पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
नागसम्भव-न., सिन्दूरम् (अम.)
नागसिन्दूर–न., सीसकृतसिन्दूरम् (रस. चि. ६अ.)
नागसुगन्धा-स्त्री., रास्ना । सर्पगन्धा (अ. टी. भ. स्व)
नागारण्य-पु., नागकेसरः (त्रिका. अत्रि. २स्थान २अ)
नागान्तक–पु., मयूरः । गरुडः। (अम.)
नागार्जुनयोग-पु., अर्शप्रभृति योगेषु योगविशेषः [च. द.]
नागार्जुनवटिका–स्त्री., नेत्ररोगे हितः । त्रिफलाव्योष-सिन्धुत्थयष्टितुत्थरसाञ्जनम् । प्रपौण्डरीकं जन्तुघ्नं लोध्रं ताम्रं चतुर्दश । द्रव्याण्येतानि संक्षुद्य वर्तिः कार्या नताम्बुना (रस.र.) (नताम्बु तगरवारि)
नागार्जुनाभ्र–न., हृद्रोगे औषधम् (रसा. स.)
नागार्जुनी-स्त्री., दुग्धिका (वै. नि.)
नागालाबु-स्त्री., न., कुम्भतुम्बी ।
नागी-स्त्री., वन्ध्याकर्कोटकी (वै. नि. २ भ. जीर्णज्व. चि. कल्याणघृते.)
नागेश्वररस–पु., गुल्मे रसः (भैष.)
नाटाम्र–पु., कालिङ्गकलता ।
नाडिक–न., कालशाकः (भा. पू. १ भ., शा. व.)
नाडिचीर–न., निर्वेष्टनम् (हारा.)
नाडिन्धम–पु., स्वर्णकारः (त्रिका.)
नाडिपत्र–न., नाडीचशाकः (श. मा.)
नाडीक–पु., पट्टशाक (हिं.-पटुआ.) (भा. पू. १ भ.-शा. व.) तत्पत्रं तिक्तमधुरभेदेन द्विविधम् । तयोस्तिक्तं कृमिकुष्ठहरं, मधुरं पिच्छिलं शीतं विष्टम्भि कफवातकृच्च । शुष्कपत्रं नलितमित्युच्यते ज्वरघ्नं पित्तकफज्वरघ्नञ्च । तज्जलञ्च पित्तघ्नं रोचनं व्यञ्जने हितञ्च (राज.) न., कालशाकः । गुणाः—कालशाकं सरं रुच्यं वातकृत्कफशोथहृत् । बल्यं रुचिकरं मेध्यं रक्तपित्तहरं हिमम् (भा.)
नाडीकलापक–पु., सर्पाक्षी (भा.)
नाडीकेर-(ल)-पु., नारिकेलवृक्षः (शर.)
नाडीच–पु., तिक्तपट्टशाकः (भैष.) (क्षुद्ररोगचि.) पेचुकः (त्रिका.)
नाडीचक्र–न., नाडीनिर्याणकग्रन्थः
नाडीचरण–पु., पक्षी (त्रिका.)
नाडीचवीज–न., नलिताबीजम् (भैष.)(पृथ्वीसारतैल)
नाडीजङ्घ–पु., काकः (त्रिका.)
नाडीतरङ्ग–पु., काकोलविषम् (मे.)
नाडीनक्षत्र–न., जन्मनक्षत्रम् (वै. नि.)
नाडीनिदान–न., नाडीज्ञानसंग्रहभेदः
नाडीपरीक्षा–स्त्री., शङ्करसेनकृतनाडीज्ञानशास्त्रम्, नाडी-प्रकाशम्
नाडीशाक–पु. न., (क) पट्टशाकः नालिता । गुणाः–'कोठकृमिविनाशनम् । मधुरं पिच्छिलं शीतं विष्टम्भि कफवातकृत् । तच्छुष्कं जलदोषघ्नं पित्त-श्लेष्मामवातकृत् (राज. ३ प. कूष्माण्डादौ)
नाथहरि–पु., पशुः (व्याक.)
नापितशाला (लिका)-स्त्री., नापितभवनम् । (त्रि.का.)

नाभक-पु., हरीतकीवृक्षः (वै. नि.)
नाभिकण्टक-पु., नाभिरोगः (श. र.)
नाभिगुडक-पु., नाभौ गुडकवत् ग्रन्थिः (त्रिका.)
नाभिगोलक-पु., नाभिगुडकः (जटा)
नाभिच्छेदन-न., नाडिकाच्छेदनम् (च.)
नाभिपाक-पु., नाभिशोथः ।
नाभिलाष-पु., अनिच्छा (वै. नि.)
नाभी-स्त्री., नाभिः (श. र.)
नाभील-न., स्त्रीकटिसन्धिः । नाभिगुडकः (मे.) पीडा । नाभिकूपः (हे. च.) अण्डसन्धिः (वै. नि.)
नाभ्यभ्यङ्ग-पु., नाभौ तैलमर्दनम् ।
नायिका-स्त्री., पिण्डिकातः किञ्चित् स्थूलः कस्तूरीभेदः (रा. व. १२)
नार-पु., गोवासः । जलम् (मे.) शुण्ठी (त्रिका.)
नारकीट-पु., अश्मकीटविशेषः (मे.)
नारकेर-पु., नारिकेलवृक्षः (जटा.)
नारङ्ग-पु., नागरङ्गवृक्षः । फलगुणाः- 'मधुराम्लं गुरु उष्णं रोचनं वातामकृमिशूलश्रमघ्नं बल्यं रुच्यं' (रा. व. ११ मद. व. ६) 'नारङ्गजं स्वादुगुणोपपन्नं सन्दीपनं रोचकमर्शसाञ्च । त्रिदोषहृत् शूलकृमीन्निहन्ति मन्दाग्निकासश्वसनापहारि' (अत्रि. १७ अ. मरिचयूषेपिप्पलीरसे. मे.)
नारङ्गवर्णक-न., गृञ्जनम् (भा. पू. १ भ. शा. व.)
नारदा-स्त्री., इक्षुमूलम् । मूर्वा (वै. नि.)
नारा-स्त्री., जलम् (श. र.)
नाराचचूर्ण-न., उदावर्ताधिकारे चूर्णम् (सा. कौ.)
नाराचिका-स्त्री., स्वर्णतोलनयन्त्रम् । (श. र.)
नारायणतैल-न., वातव्यधौ तैलविशेषः (रस. र.)
नारिकेरक्षीरिका-स्त्री., नारिकेलक्षीरम्
नारिकेलक्षीरी-स्त्री., नारिकेलदुग्धशर्कराकृतमिष्टान्नम् । 'नारिकेलं तनूकृत्य छिन्नं पयसि गोः क्षिपेत् । सिताघृताज्यसंयुक्तं तत् पचेत् मृदुनाग्निना । गुणाः— नारिकेलोद्भवा क्षीरी स्निग्धाऽपित्तातिपुष्टदा । गुर्वी सुमधुरा वृष्या रक्तपित्तानिलापहा (भा.)
नारिकेलखण्ड-न., शूलाधिकारे औषधम् । इदं पित्तशूले (सा. कौ.) (रस. र. । भैष.) अन्यत् अम्लपित्ते च हितम् । (रस. र.)
नारिकेलजल-न., प्रसिद्धं, रक्तपित्ते हितं । (सि. यो.- रक्तपित्त. चि.)
नारिकेललवण-न., सजलनारिकेलमध्ये सैन्धवलवणं पूरयित्वा तन्नारिकेलं मृदावेष्टय शोषयेत् । अथ आ. श. सं. पू. २२ दग्ध्वा तन्मध्यालवणं ग्राह्यम् । मात्रा-४ माषाः (भैष.)
नारिकेलामृत-न., अम्लपित्ताधिकारे औषधम् (रस.-र. । भैष.)
नारीघृत-न., नारीदुग्धोत्थघृतम्, गुणाः—'कफेऽनिले योनिदोषे रोगेष्वन्येषु तद्धितम् । चक्षुष्यमार्तं स्त्रीणाञ्च सर्पिः स्यादमृतोपमम् । (अत्रि. ८ अ.) चक्षुष्यं पथ्यं सर्वरोगघ्नं मंदाग्निदीपनं रुच्यं पाके लघु विषघ्नञ्च (रा. व. १५)
नारीच-न., शाकविशेषः । तद्विविधं तिक्तं मधुरं च । तिक्तं रक्तपित्तघ्नं कृमिकुष्ठहरञ्च । मधुरं पिच्छिलं शीतलं विष्टम्भि कफवातकरञ्च । (राज.)
नारीपय-न., नारीदुग्धम् ।
नारीवल्लभा-स्त्री., गन्धप्रियङ्गुः (वै. नि.)
नारीक्षीर-न., मानुषीक्षीरम् ।
नार्यङ्ग-पु., नागरङ्गवृक्षः (शर.)
नार्यतिक्त-पु., किराततिक्तकम् (वै. नि.)
नाला-स्त्री., नलः । स्तम्बः (अम. भ.)
नालावती-स्त्री., नागवल्लीलता (प. मु.)
नालि-स्त्री., नलकास्थि । नाडीशिरा (द्वि. को.)
नालिकिनी-स्त्री., कमलिनी (अ. टी. र)
नालिजङ्घ-पु., द्रोणकाकः (हारा.)
नालिता-स्त्री., स्वनामख्यातपत्रशाकः (प. मु.) गुणाः- नाडीचवत् ।
नालीक-पु., पद्मः । मृणालम् । शरः । न., पद्मषण्डः (मे.)
नालीकिनी-स्त्री., पद्मसमूहम् (श. र.)
नालीव्रण-पु., नाडीव्रणः (श. र.)
नाल्यपुष्पी-स्त्री., महाशणक्षुपः (प. मु.)
नासत्यौ-पु., अश्विनीकुमारौ (अम.)
नासाच्छिन्नी-स्त्री., पूर्णिका नाम पक्षिविशेषः (त्रिका.)
नासालु-पु., जातिफलवृक्षः (वै. नि.) कट्फलवृक्षः (शच.)
नासिकन्धम-त्रि., नासिकया निःश्वासग्राहि (व्याक.)
नासिकन्धय-त्रि., नासापथेन पानशीलम् (व्याक.)
नासिकामल-न., सिंघाणम् (रा. व. १८)
नासिकाशब्द-पु., नासाशब्दम्
नासिक्य-न., नासा (त्रिका)
नासिक्यौ-पु., अश्विनीकुमारद्वयम् । (हे. च.)

नास्तित-(द)-पु., आम्रवृक्षः (श. च.)
निःशल्या-स्त्री., ह्रस्वदन्तीक्षुपः (रा. व. ६)
निःशूक-पु., मुण्डशालिधान्यम् (रा. व. १६)
निःश्रेणि-स्त्री., वनखर्जूरिका (मे.)
निःश्रेणिका-स्त्री., कोङ्कणप्रसिद्धतृणविशेषः, गुणाः-विरसा उष्णा पशूनामबलप्रदा ।
निःश्वसन(सित)-न., निःश्वासः ।
निःसरण-न., निर्गमनम् (हे. च.)
निःसारक-त्रि., रेचकः ।
निःस्राव-पु., भक्तसमुद्भवमण्डः (हे. च)
निकष-पु , स्पर्शमणिः (अ. टी. भ. .)
निकारण-न., मारणम् (अम.)
निकुञ्चिकाम्ला-स्त्री., निकुञ्चिका नाम श्रीवल्लीतुल्यगुण-कण्टकवृक्षः । निकुञ्चकम् (रा. व. ८)
निकुम्भाख्यबीज-न., जयपालबीजम् (रा. व. ६)
निकृतल-पु., गन्धकः (वै. नि.)
निकेतन-पु., जलवेतसः (वै. नि.) पलाण्डुः (श. च.)
निक्षा-स्त्री., लिखा (उणादिकोषः)
निखण्डिका-स्त्री., गुडूचीकन्दः ।
निखर्व-पु., वामनः (हे. च.)
निगड-पु., धातुजारणबीजविशेषः । स्नुह्यर्कक्षीरं पलाश-बीजं गुग्गुलुः प्रत्येकं समं सैन्धवद्विगुणेन सह मर्दयित्वा विधेयः (र. चि. २ अ.)
निगन्धिक-पु., सुवर्णचम्पकः (वै. नि.)
निगर-पु., भोजनम् (रा. व. २०)
निगरण-न., भोजनम् (रा. व. २०) पु., गलः (मे.)
निगार-पु., भक्षणम् (अम.)
निगाल-पु., गलः (रा. व. १८) अश्वस्य घण्टाबन्ध-समीपस्थदेशः (च. द. २ अ.)
निगालवान्-पु., अश्वः (अम.)
निगु-पु., मनः (त्रिका.) मलः । मूलम् (उणा.)
निगूढ-पु., वनमुद्गः (हे. च.) त्रि., गुप्तम् ।
निघण्टुराज-पु., नरहरिकृतराजनिघण्टुः ।
निघृष्व-पु., खुरः । वराहः (उणा.)
निचयात्मक-पु., सान्निपातिकः ।
निच्चिकी-स्त्री., उत्तमा गौः (अ. टी. भ.)
निचुलबीज-न., हिज्जलबीजम्
निचोलक-पु., कञ्चुलिका (वै. नि.)
निण्डिला(का)-स्त्री., त्रिवृता (वै. नि.) कलायभेदः (श. च.)
नित्यनाथ-पु., रसरत्नाकरग्रन्थकारः ।
नित्ययुक्-त्रि., आमोक्षं चित्तानुसरणम् । पदार्थानुसारि (च, शा. २ अ.)
नित्या-स्त्री., मनसादेवी (तन्त्रम्)
निद-न., विषम् (श. च.)
निदद्रु-पु., मनुष्यः (श. च.)
निदिग्धा-स्त्री., कण्टकारी (रा. व. ४) एला (श. च.)
निदिग्धिकागण-पु., निदिग्धिकादिसिद्धकषायः (च. द. वातपित्तज्वरचि.)
निदेश-पु., भाजनम् (धरणी)
निद्रागौरव-न., निद्राबाहुल्यम् (भा.)
निद्रासञ्जनन-न., श्लेष्मा (श. मा.)
निधमन-पु., निम्बवृक्षः (रा. व. ९)
निधि-पु., नलिका (रा. व. १२) जीवकौषधम् (श. च.)
निधुवन-न., सुरतः (अम.)
निध्यान-न., दर्शनम् (अम.)
निनन्दु-स्त्री., मृतवत्सा (हे. च.)
निन्दु (न्द्य) तल-त्रि., निन्दितहस्तः (श. र.)
निप-पु., कदम्बवृक्षः ।
निपाक-पु., रन्धनम् । पाकः (श. र.)
निपुण-पु., चिकित्सकः (सु. नि. १३ अ)
निफला-स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (भा.)
निफालन-न., दर्शनम् (वै. नि.)
निफेन-न., अहिफेनः (रा. व. ६.)
निभालन-न., दर्शनम् (त्रिका.)
निमज्जथु-पु., शयनम् । निद्रा (वै. नि.)
निमर्दक-पु., मांसस्य विविधव्यञ्जनप्रकारः (वा चि. ७)
निमित्तकृत्-पु., काकः (रा. व. १९)
निमेषरुक्-पु., खद्योतः (त्रिका.)
निम्बपञ्चक-न., पञ्चनिम्बः (रा. व. २२)
निम्बुकपानक-न., निम्बुरसकृतप्रपानकम् (भा.)
नियत-पु., गन्धकः (र. सा. सं. वसन्ततिलकेरसे.)
नियामकगण-पु., रसनियामकद्रव्यसमूहः (र. सा. सं)
नियोद्धा-पु., कुक्कुटः (रा. व. १९)
निरया-स्त्री., सर्षपषष्ठांशमानम् (प. मु.)
निरन्नता-स्त्री., उपवासः ।
निरशन-न., अनशनम् (व्याक.)
निरसन-न., निष्ठीवनम् (अम.)
निरसा-स्त्री., निःप्रोणिकातृणम् (रा. व. ८)

निरातङ्क–पु., रोगमुक्तिः ।

निरापशालि–पु., जलशून्यक्षेत्रे वृष्टयम्बुसञ्जातशालिधान्यविशेषम् । (म.–रूपशालि) गुणाः– मधुरः स्निग्धः शीतलः पित्तदाहघ्नः त्रिदोषघ्नः रुच्यः पथ्यः सर्वरोगघ्नश्च (रा. व. १६)

निरामालु–पु., कपित्थवृक्षः (श. च.)

निरुत्थीकरण–न., मृतलौहस्य मित्रपञ्चकादिभिः पाकेन मारणम् (र. सा. सं.)

निरुद्धगुद–(पायु)–पु., तन्नामकक्षुद्ररोगः (सु. नि. १३)

निरोप्यशालि–पु., वापितशालिः । गुणाः–लघवा शीघ्रपाका, गुणोत्तरा विदाहिनः दोषघ्ना बल्या मूत्रवर्धनाश्च (रा. व. १६)

निर्ऋति–स्त्री., बालस्य तन्नामकमातृकाग्रहविशेषः । यया दशमे दिने मासि वर्षे वा बालो गृह्यते । तेन तस्य ज्वरगात्रोद्वेजनादि भवति (च. द. बालरो. चि.)

निर्गन्धपुष्पी–त्रि., शाल्मलीवृक्षः (श. च.)

निर्जर–त्रि., जरारहितः न., सुधा (श. र.)

निर्जरा–स्त्री., गुडूची । तालपर्णी (मे.)

निर्झर–पु., गजः (श. च.) तुषानलः (मे.) शैलनिसृतजलप्रवाहः ।

निर्णायन–न., गजापाङ्गम् (श. र.)

निर्णेजक–पु., रजकः (अम.)

निर्णेजन–न., क्षालनम् । धावनम् ।

निर्दर–न., तरुसारः । वृक्षनिर्यासः (मे.)

निर्दिग्ध–त्रि., बलवान् । मांसलम् (हे. च.)

निर्भर्त्सन(ना)-न., स्त्री., अलक्तकम्, लाक्षा (रा. व. ६)

निर्भिन्नचिर्भिट–पु., फुटिका (श. चि.)

निम(र्मे)ध्या–स्त्री., नलिकानामगन्धद्रव्यम् (रा. व. १२)

निर्मलोपल–पु., स्फटिकम् (रा. व. १३)

निर्मुट–पु., वनस्पतिविशेषः (त्रिका.) खर्परम् (हारा.)

निर्याण–न., गजापाङ्गदेशः (श. च.)

निर्यासी(इन्)–पु., शाखोटवृक्षः (प. मु.)

निर्यूष–पु., निर्यासः (श. मा.)

निर्व्व(र्व)यनी–स्त्री., अहिनिर्मोकः (हे. च. वै. नि.)

निर्विषा [षी]–स्त्री., केदारदेशोत्पन्नौषधविशेषः । निर्विषा इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धा । गुणाः—कटुः शीता कफवातरक्तघ्नी बहुविषघ्नी व्रणरोपणी च (रा. व. ६)

निर्वीजा–स्त्री., काकली द्राक्षा (रा. व. ११)

निर्वेष्टन–न., नाडीचीरम् (हारा.)

निर्व्यथन–न., छिद्रम् (अम.)

निर्हारगृह(स्थान)–न., निर्हारभवनम् । शल्योत्पाटनगृहम् (स्मृति.)

निर्हारी(इन्)-त्रि., दूरगामिगन्धम् (अम.)

निलिम्पा–स्त्री., दोहनभाण्डम् । स्त्रीगौः । (त्रिका.)

निवन्ध–पु., अश्वस्य ककुदंसभागः । (ज. द. २ अ.)

निवृत्तसंज्ञ–न., गुह्यरोगभेदः (वा. उ. ३३ अ.)

निशल्या–स्त्री., ह्रस्वदन्तीक्षुपः (रा. व. ६)

निशाकर–पु., कुक्कुटः (श. र.)

निशाख्या–स्त्री., हरिद्रा (रा. व. ६)

निशाचरी–स्त्री., केशिनीनामगन्धतृणम् (जटा.)

निशाट–पु., पेचकः (हे. च.)

निशाटन–पु., पेचकः (हला.)

निशादि–पु., हरिद्रादिगणः (वा. उ. २ अ·)

निशान्ध–पु., राज्यन्धम् । स्त्री., जतुकालता (रा. व. ३)

निशापति–पु., कर्पूरः (अम.)

निशापुष्प–न., उत्पलम् (रा. व. १०)

निशाभङ्गा–स्त्री., दुग्धपुच्छी (श. च.)

निशामूषा–स्त्री., अन्धमूषा(रस. र. हिङ्क्वादि.)

निशामृग–पु., शृगालः (श.. र.)

निशालौह–न., पाण्डुरोगे लौहम् । लौहचूर्णम् निशायुग्मं त्रिफलारोहिणीयुतम् । प्रलिह्यात् मधुसर्पिर्भ्यां कामलापाण्डुशान्तये (र. सा. सं.)

निशावेदी(इन्)–पु., कुक्कुटः (हे. च.)

निशाहास–पु., शुक्लपक्षः (त्रिका.)

निशाह्वा–स्त्री., हरिद्रा (अम.)

निशिक्रन्द–पु., बालानां रात्रिरोदनरोगः । ' छुच्छुन्दरुमलो मांसी हरिद्रा बिल्वपत्रकम् । सनिर्गुण्डी दलं धूमात् निशिक्रन्दोऽस्ति नो शिशोः (रस. र. बा. चि.)

निशिपुष्पा (ष्पिका) (ष्पी)–स्त्री., शेफालिकावृक्षः (त्रिका. श. र.)

निशुम्भन–न., मारणम् (हला.)

निशैत–पु., बकपक्षी (त्रिका.)

निशोत्रा–स्त्री., श्वेतत्रिवृत् । त्रिवृत् । (वै. नि. २ भ.-अ. चि. शुण्ठ्यादिगुटी.)

निश्चलाङ्ग–पु., बकः (रा. व. १९)

निश्शुक्रण–न., दन्तशाणः (त्रिका.)

निषङ्गथि–पु., तृणविशेषः । स्कन्धः (उणा.)

निषणक–न., आसनम् । सुनिषणकशाकः (श. र.)
निषादग्रह–पु., ग्रहविशेषः (वा. उ. ४ अ.)
निषादी(इन्)–पु., हस्तिपकः (अम.)
निषेक–पु., सेकः । निःष्यन्दः । गर्भाधानसंस्कारः (भ.)
निष्कण्ठ–पु., वरुणवृक्षः (श. च.)
निष्कल–पु., वीर्यहीनः (मे.)
निष्कला(ली)–स्त्री., वृद्धा । (रा. व. १८) निवृत्तरजस्का (श. र.)
निष्कुटि–स्त्री., एला । सूक्ष्मैला (रा. व. ६)
निष्कुम्भ–पु., दन्तीवृक्षः (अ. टी. रा.)
निष्ठान–न., व्यञ्जनम् (अम.)
निष्ठीवन–न., मुखेन श्लेष्मादीनां वमनम् (च. द. संनिपातज्वरचि.) नस्यं निष्ठीवनस्तथा ।
निष्ठेव–(न)–पु., न., निष्ठीवनम् (अम.)
निष्पक्व–त्रि., क्वथितः (अम.) अतिपक्वव्यञ्जनादिः ।
निष्पत्राकृति–स्त्री., अतिपीडा । (हे. च.)
निष्फली–स्त्री., निष्फला वन्ध्याकर्कोटी (श. र.)
निसारा–स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. व. ११)
निसिन्धु–पु., निर्गुण्डीवृक्षः
निसुन्धार–पु., निर्गुण्डीवृक्षः (भैष.) (ज्वरचि. पानीय वट्याम्.)
निस्तान्त्रक–पु., कोष्ठगतरोगभेदः, वृद्धिरोगः (वै. नि.)
निस्तनी–स्त्री., वटकः । वडि (श. च.)
निस्तर्हण–न., मारणम् (अम.)
निस्तल(ला)–त्रि., वर्तुलम् (अ. म.)
पु., तलप्रदेशः (हे. च.)
निस्तुषक्षीर–पु., गोधूमः (रा. व. १६)
निस्तुषरत्न–न., स्फटिकम् (रा. व. १३)
निस्तुषित–त्रि., त्वग्रहितम् (मे.)
निस्तुषोपल–न., स्फटिकम् । (प मु.)
निःत्रुटी–स्त्री., एला (वै. नि.)
निस्त्रैणपुष्पिक–पु., राजधुस्तूरकः (रा. व. ११)
निस्नेह-(हा)–पु., स्त्री., अतसीवृक्षः (त्रिका.)
निस्नेहफला–स्त्री., श्वेतकण्टकारी (रा. व. ४)
निस्पन्द–पु., स्पन्दनम् (त्रिका.)
निस्पृहा–स्त्री., अमूलवनस्पती (वै. नि.)
अग्निशिखावृक्षः (श. च.)
निस्सारक–पु., प्रवाहिकारोगः (च. द. रक्तातिसारे.)
निहाका–स्त्री., गोधिका (अम.)
नीक–पु., वृक्षभेदः (उणा.)
नीचक–त्रि., हस्तः (श. र.)
नीचका–स्त्री., उत्तमा गौ (अ. टी. भ.)
नीचकदम्ब–पु., गोरक्षमुण्डी । महाश्रावणिका (वै. नि.)
नीचकुलिश–न., वैक्रान्तरत्नम् (प. मु.)
नीचग–न., जलम् (वै. नि.)
नीचभोज्य–पु., पलाण्डुः (श. च.)
नीड–पु., न., पक्षिकुलायम् ।
नीडज–पु., पक्षिसामान्यम् ।
नीडोद्भव– (हे. च; अम.)
नीत–न., धान्यम् । शस्यम् (वै. नि.)
नीथ–न., जलम् (उणा.)
नीपराज–पु., राजकदम्बवृक्षः (वै. नि.)
नीरजा–स्त्री., अजातरजस्कास्त्री
नीरप्रिय–पु., जलवेतसम् (वै. नि.)
नीरवृक्ष–पु., जलमधूकवृक्षः (वै. नि.)
नीरस–पु., दाडिम्बवृक्षः (हारा.) (त्रि.,) रसहीनः
नीराखु–पु., जलमार्जारः (हारा.)
नीरिन्दु–पु., अश्वशाखोटवृक्षः (श, र.)
नीलक–न., कृष्णलवणम् । कांस्यम् । जलम् । गन्धबोलः (वै. नि.) कान्तलौहम् (रा. व. ३.)
नीलक–पु., नीलभृङ्गराजः (रा. व. ४) नीलबीजम् नीलबीजासनवृक्षः (रा. व. ९) कृष्णसारमृगः । भल्लातकवृक्षः (वै. नि.)
नीलकणा–स्त्री., कृष्णजीरकः (रा. व. ६.) जीरकः
नीलकण्टक–पु., चातकपक्षी (वै. नि.) मयूरः (अम.)
नीलकलम्बी–स्त्री., स्वनामख्यातलता (हिं.-कालादाना) अस्या बीजचूर्णं विरेचने हितम् ।
नीलक्रौञ्च–पु., नीलवर्णक्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)
नीलगिरिकर्णिका–स्त्री., नीलापराजिता (रा. व. ३.)
नीलगिरिजा–स्त्री., विष्णुकान्ता आस्फोता (कोषान्तरम्)
नीलङ्गु–पु., कृमिविशेषः कीटमात्रः शृगालः (भ. द्विको.)
नीलचर्म–न., परूषकफलम् (रा. व. ११.)
नीलच्छवि–पु., ककुभपक्षी (वै. नि.)
नीलज–न., नीललौहम् (रा. व. १३.)
नीलधातु–पु., खटिका (र. मा.)
नीलनिर्गुण्डी–स्त्री., नीलपुष्पसिन्धुवारवृक्षः, गुणाः–कटूष्णा तिक्ता रूक्षा कासघ्नी श्लेष्मशोफवायुप्रदराध्मानहरी (रा. व. ४)
नीलपर्ण–न., परूषकफलम् (रा. व. ११)

नीलपर्णी-स्त्री., विदारीवृक्षः (र.मा.) वन्दाकवृक्षः (वै.नि.)
नीलपिच्छ-पु., रणगृध्रः (रा. व. १७)
नीलपीत-पु., महाविषवृश्चिकभेदः (सु. कल्प. ८)
नीलपुष्पक-पु., नीलनिर्गुण्डीवृक्षः (वै. नि.)
नीलपृष्ठ-पु., मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
नीलपृष्ठा-स्त्री., नीलीवृक्षः (भा. म. १ भ.)
नीलभण्ट-पु., पियालवृक्षः (प. मु.)
नीलभूमिमलक्षार-पु., खर्परधातुः (वै. नि.)
नीलमकुष्ठ-पु., नीलवनमुद्गः (नकुल, ११ अ.)
नीलमणि-पु., स्वनामख्यातमणिः । गुणाः-तिक्तोष्णः कफपित्तवातघ्नः धारणात् शुभदश्च ।
नीलमण्डल-न , परूषकफलम् ।
पु., तद्वृक्षः (रा. व. ११)
नीलमयूर-पु., मयूरभेदः । गुणाः-मेधावृद्धिं स्रोतसाञ्च करोत्युत्पाटनं शिखी । स वातलोऽतिबलकृत् पुनः किञ्चिद्रसायनम् । (अत्रि. २१ अ.)
नीलमक्षिका-स्त्री., पृथुकृष्णमक्षिका ।
नीलमीलिक-पु., खद्योतः (श. म.)
नीलमृत्तिका-स्त्री., कृष्णमृत्तिका । पुष्पकासीसः (रा. व. १३)
नीलयष्टिका-स्त्री., कृष्णेक्षुः । कृष्णकुटजः (वै. नि.)
नीलरत्न-न., नीलमणिः (रा. व. १३)
नीलरास्ना-स्त्री., नीलपुष्परास्ना (र. मा.)
नीलरूपक-पु., प्लक्षवृक्षः (वै. नि.)
नीललोहिता-स्त्री., भूजम्बूवृक्षः (श. च.)
नीलवटी-स्त्री., नीलवटी (चि. क. क. केशरञ्जन.)
नीलवल्ली स्त्री., वन्दाकः (र. मा.)
नीलवीज-पु., स्वनामख्यातासनवृक्षः गुणाः-वीजवृक्षौ कटुशीतौ कषायौ कुष्ठघ्नौ सारकौ कण्डूदद्रुघ्नौ । तयोरसितः श्रेष्ठः (रा. व. ९)
नीलवुह्ना-स्त्री., छगलान्त्री (प. मु.)
नीलवृषा-स्त्री., वार्ताकी (रा. व. ७)
नीलशिम्बिका-स्त्री., शिम्बीभेदः (वै. नि.)
नीलशुक-पु., महाविषवृश्चिकजातिभेदः (सु. क. ८ अ)
नीलशोधनी-स्त्री., नीली (वै. नि.)
नीलषष्टिक-पु., षष्टिकशालिविशेषः, गुणाः- गुणैः गौरषष्टिकात् किञ्चिदूनः (रा. व. १६)
नीलसस्य-न., बाजरा इति ख्यातशस्यम् ।
नीलसहाचर-पु., नीलपुष्पझिण्टी (भा. म. ४ भ. मुखरोगचि.)
नीलस्यन्दा-स्त्री., नीलापराजिता (रा. व. ७)
नीलाक्ष-पु., हंसः (वै. नि.)
नीला-स्त्री., नीलीक्षुपः (नकुल १५ अ.) नीलपुनर्नवा लाक्षा (रा. व. ४, ५, ६,) स्पृक्का । कृष्णजीरकः (वै. नि.) नीलमक्षिका
नीलाख्या-पु., नीलमणिः (वै. नि.)
नीलाङ्ग-पु., नीलक्रौञ्चपक्षी पारावतः (वै. नि.) सारस चाषः (रा. व. १९)
नीलाङ्गु-पु., स्त्री., नीलमक्षिका [द्वि.] क्रिमिः [अम.
नीलाञ्जनच्छदा-स्त्री., जम्बूवृक्षः (वै. नि.)
नीलाण्डक-पु., रोहितमत्स्यः (वै. नि.)
नीलाद्रिकरणी-स्त्री., नीलापराजिता (रा. व. ३)
नीलाम्बुज(म्ब)-न., नीलपद्मम् (प. मु.)
नीलाशी-स्त्री., नीलनिर्गुण्डी (वै. नि.)
नीलाश्मज-न., तुत्थकम् (वै. नि.)
नीलासन-पु., नीलबीजासनभेदः गुणाः—कटुः शीतः कषायः कुष्ठकण्डुदद्रुघ्नः सारकश्च (रा. व. ९)
नीलाह्वा-स्त्री., कृष्णापराजिता (वै. नि.)
नीलीफल-न., श्रीफलम् (सु. चि. १७ अ.)
नीलीवृक्षाकृति-स्त्री., शरपुङ्खा । (वै. नि.)
नीलोत्पल-न., नीलकमलम् । नीलकुमुदम् । गुणाः-अतिस्वादु शीतलं सुरभि सुखकृत् पाकेऽतितिक्तं रक्तपित्तघ्नं च (रा. व. १०) नीलोत्पलमतिस्वादु शीतं सुखकरं मतम् । पाकेऽतितिक्तं सुरभि रक्तपित्तस्य नाशकम् । (द्रव्यगुण. । च. अर्श. चि.) तन्मूलगुणाः—गुरु विष्टम्भि शीतलञ्च (राज. ३ प.)
नीलोत्पलिनी(ली)-स्त्री., नीलकमलिनी कुमुदिनी (रा. व. १०)
नीलोदर-पु., महाविषवृश्चिकजातिभेदः (सु. कल्प ८अ.)
नीलोपल-पु., नीलमणिः (रा. व. १३)
नीवर-न., जलम् (वै. नि.)
नीवारतुण्डिका-स्त्री., नीवारः (र. मा.)
नुत्त-पु., क्षुद्रपनसवृक्षः । लकुचवृक्षः (वै. नि.)
नुद-पु., ब्रह्मदारुवृक्षः । अश्वत्थभेदः (अम.)
नूतनगुड-पु., अभिनवगुडः । गुणाः- दाहघ्नः तापघ्नः रसनेन्द्रियतर्पणः शीतः सुमधुरश्च (रा. व. १४)
नृदन्ता(न्ती)-स्त्री., महामेदा (वै. नि.)
नृपवल्लभघृत(तैल)-न., नेत्ररोगे घृतं तैलं च । तैलनस्यं घृतसेवनं च (भैष. रस. र.)
नृपामय-पु., राजयक्ष्मा । क्षयरोगः (रा. व. २०)
नृमाण-न., पादात् ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिः (रा. व. १८)

नृसार–पु., निषादल इति ख्यातं द्रव्यम्। महाद्रावकः।

नेत्रकर्म (प्रसाधन)–न., सप्तविधनेत्रोपचाराः। यथा 'सेकश्चाश्रोतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणस्तथा। पुटपाकोऽञ्जनं नेत्रे यथावस्थं प्रयोजयेत् (तोड। भा.)

नेत्रच्छद–पु., नेत्रावरणम् (अम.)

नेत्रधावन–न., चक्षुर्धावनम् (राज. १ प.)

नेत्रपर्यन्त–पु., अपाङ्गदेशः (रा. व. १८)

नेत्रपाषाण–पु., कटुका (र. मा.)

नेत्रपिण्ड–पु., बिडालः। नेत्रगोलकः (रा.)

नेत्रभूषण–न., कृष्णाञ्जनम् (वै. नि.)

नेत्रमङ्गलकारी (इन्)–पु., खर्परधातुः (वै. नि.)

नेत्रमल–न., पिच्चटः (वै. नि.)

नेत्ररोग–न., नेत्रपक्ष्म (वै. नि.)

नेत्रवती–स्त्री., पश्चिमदेशप्रसिद्धभारतवर्षीयनदी, एतज्जलगुणाः– समधुरं कान्तिजनकं वृष्यं पुष्टिकरं दीपनं पाचनं बल्यञ्च (रा. व. १४)

नेत्रवर्त्मबन्ध–पु., नेत्ररोगविशेषः

नेत्रवस्ति–पु., नेत्रे वस्तिदानप्रकरणम्। नेत्रक्षेत्रं परित्यज्य सार्धञ्च द्वयमङ्गुलम्। सर्वतश्चापि चमसीं जलं दत्त्वा प्रमर्दयेत्। तेन पिण्डेनालवालं दृढं सन्धिविवर्जितम्। कृत्वालवालं दक्प्रान्ते शुक्लभागं द्रवेण वै। पूरयेच्च यथापक्ष्म पूरितश्चैव जायते। नेत्रे पलं प्रकुर्वीत विकासस्तु तथैव च। स्वस्थे कफे सन्धिरोगे मात्रा पञ्चशतं विदुः। कफे वाते कृष्णरोगे मात्रा सप्तशतं मता। दृष्टिरोगेष्वष्टशतं अधिमन्थे सहस्रकम्। शुक्रेऽतिकुटिले ह्रस्वे स्याद्वादशशती मता। पित्तरोगे नवशतं सहस्रं वातरोगिणाम्। एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं चेष्यतेऽथवा। द्रवञ्चापाङ्गतो नीत्वा नीलद्रव्यं विलोक्य च। सुखं निरीक्षयेत्। पश्चात् नेत्रबस्तिविधिस्त्वयम्। निवृत्तिव्याधिशान्तिश्च। क्रियालाघवमेव च। सम्यक् रोगे सुखसुप्तिर्वैशद्यं वर्णपाटवम्। शोकाश्रुपातगुरुता स्नैग्ध्ये स्यादतितर्पितम्। रूक्षाविलं सरक्तञ्च नेत्रं स्यात् हीनतर्पितम्। रूक्षे स्निग्धः क्रमश्चात्र प्रयोज्यः सम्प्रदायतः [तोड। सु. उ. १८ अ.]

नेत्रविभूषण–न., नीलाञ्जनम् [वै. नि.)

नेत्रवैमल्यकारी-(इन्) पु., खर्परधातुः [वै. नि.)

नेत्रामयहर–पु., स्त्री.,खर्परः (वै. नि.)

नेत्राम्बु–न., अश्रु (अम.)

नेत्रार्श–न., अक्षिजातार्शः तत्र वर्त्मावरोधः वेदनास्रावो दर्शननाशश्च (सु. नि. २अ.)

नेत्रास्थि–न., नयनाधिष्ठाने घोणाख्यास्थित्रयम् (च. शा. ७अ.)

नेत्री–स्त्री., नाभिः (श. र.)

नेत्रोपम–पु., वाताभः (भा.)

नेत्रोपमफल– पु., वातामवृक्षः (भा.)

नेत्र्यवर्ग–पु., चक्षुर्हितकरद्रव्यगणम् यथा–'द्विधा रसाञ्जनं प्रोक्तं त्रिफला लोध्रकद्वयम् कुमारिका च विमला गणोऽयं नेत्र्यसंज्ञकः (अर्क. चि.)

नेदिष्ठ–पु., अङ्कोटवृक्षः (जटा.)

नेपा–स्त्री., नवमल्लिका [रा. व. १०] कस्तूरी [वा. उ. ५अ.] मनःशिला [वै. नि. हिक्का. चि. धूमे.]

नेपालमूलक–न., गजदन्ताकारे मूलकभेदः (भा. पू. १ भ. शा. व.)

नेपालशृङ्गी–स्त्री., नेपालदेशीयशृङ्गीविषम्, गुणाः–नेपालशृङ्गी नैपाली हन्ति सा कफजान् गदान्। वातजान्निखिलांश्चापि सन्निपातोद्भवं ज्वरम् आमवातं महाघोरं हृद्रोगमपि दारुणम् (अत्रि.)

नेपालीय–न., ताम्रम् (वै नि.)

नैकुम्भ–न., जैपालबीजम् (सा. कौ.)

नैगमेषापहृत–पु., नागोदरः (सु. शा. १०अ.)

नैचिकी स्त्री., उत्तमा गौः (अम.)

नैदानिक–पु., निदानशास्त्रकुशलः।

नैपालिक–न., ताम्रधातुः (रा. व. १३)

नैयग्रोध–न., वटवृक्षफलम् (अम.)

नैर्झरजल–न., निर्झरवारि शैलसानुस्रवद्वारिप्रवाहे निर्झरो झरः। सतु प्रस्रवणश्चापि तत्रत्यं नैर्झरं जलम् (भा.)

न्यक्कारुका–स्त्री., पतङ्गविशेषः। विष्ठाकीटः (हारा.)

न्यग्रोधपरिमण्डला–स्त्री., सुन्दरी स्त्री (श. मा.)

न्यग्रोधपुटपाक–पु., वटकल्पादिसाध्यपुटपाकः। यथा–न्यग्रोधादेश्च कल्केन पूरयेद्गौरतित्तिरेः। निरन्त्रमुदरं सम्यक् पुटपाकेन तत्पचेत्। अस्य रसो मधुना सर्वातिसारे हितः (शार्ङ्ग. म. ख. १ अ.)

न्यग्रोधी–स्त्री., द्रवन्ती (रा. व. ५)

न्यङ्कुभूरुह–पु., आरग्वधवृक्षः (वै. नि.) शोणाकवृक्षः (त्रिका.)

न्यक्ष–पु., गण्डकः।

न्याक्य–न., भर्जिततण्डुलः (श. च.)
न्याद–पु., भोजनम् । आहारः (अम.)
न्यूनपञ्चाशद्भाव-पु., जन्मन उन्मादग्रस्तः (का. पुराणम्.)
न्यूनाङ्ग–त्रि., हीनाङ्गः । खञ्जः ।
न्यूनेन्द्रिय–त्रि., असम्पूर्णेन्द्रियम् खञ्जः

प

पक्टी–स्त्री., प्लक्षवृक्षः (वै. नि.)
पक्व (क्त) पौड–पु., वर्धनवृक्षः (हिं.—पखौडा.)
गुणाः– दृष्टयञ्जनविधौ शस्तः कटुः जीर्णज्वरघ्नश्च (रा. व. ८)
पक्ता-त्रि., स्वयंपाककर्ता पु., अग्निः ।
पक्वकृत्–पु., निम्बवृक्षः (श. च.)
त्रि., पाचकः (वै. नि.)
पक्वपात्र–न., पक्वशरावः (वा. उ. ५ अ.)
पक्वमांस–न., पक्वसिद्धमांसम् । गुणाः– हितं बलवर्धनं वीर्यवर्धनञ्च (रा. व. १७) बृहद्बदरम् (मद. व. ६)
पक्ववारि–न., उष्णजलम् । काञ्जिकम् (श. च.)
पक्वशस्यसमोन्नति–पु., राजकदम्बः (वै. नि.)
पक्वेष्टका–स्त्री., दग्धेष्टका (वै. संग्रह.)
पखौण्ड (पौड)–पु., पक्वपौडवृक्षः (रा. व. ८)
पङ्ककर्वट–पु., कोमलकर्दमः (त्रिका.)
पङ्ककीर–पु., कोयष्टिकपक्षी (त्रिका.)
पङ्ककीड–पु., ग्राम्यशूकरः (वै. नि.)
पंङ्कगडक–पु., पङ्कालमत्स्यः क्षुद्रमत्स्यभेदः (त्रिका.)
पङ्कगति–पु., पङ्कालमत्स्यः (श. मा.)
पङ्कग्राह–पु., शिशुमारः (वै. नि.) मकरः (हारा.)
पङ्कजात–पु., भृङ्गराजक्षुपः (वै. नि.)
पङ्कजिनी–स्त्री., पद्मालयम् । कमलिनी (वै. नि.)
पङ्कपर्पटी–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (र. मा.)
पङ्कमण्डूक–पु., जलशुक्तिः (वै. नि.) शम्बूकः (हारा.)
पङ्कवारि–न., काञ्जिकम् (वै. नि.)
पङ्कवास–पु., कर्कटः (रा. व. १९)
पङ्कशुक्ति–स्त्री., शुक्तिः (त्रिका.)
पङ्कश (षू, सू) रण–पु., पद्मकन्दः (त्रिका.)
पङ्कार–पु., जलजवृक्षविशेषः । कण्टकसेवन्ती (मे.)
पङ्कीर–पु., टिट्टिभपक्षी (वै. नि.)
पङ्क्तिचर–पु., कुररपक्षी (रा. व. १९) क्रौञ्चपक्षी (श. च.)
पङ्क्तिशूल–पु., परिणामशूलः ।
पङ्गुत्व (ल्य) हारिणी–स्त्री., शिगृडीक्षुपः (रा. व. ४)
पङ्गुल्य–न., पङ्गुभावः (रा. व. ४)
पच्चा–स्त्री., पाकः (अम.)
पचेलुक–पु., पाचकः (त्रिका.)
पच्यमानज्वर–पु., ज्वरविशेषः । लक्षणम् ' ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा छर्द्यतीसारविड्ग्रहाः । मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् (भा.)
पञ्च–पु., तिक्तपटोलः (वै. नि.)
पञ्चकद्वय–न., जीवनपञ्चमूलं ह्रस्वपञ्चमूलं च (वा. सू. १५ अ.)
पञ्चकन्दा–पु., पञ्चसिद्धौषधिविशेषः
तेच तैलकन्दक्रोडकन्दसुधाकन्दरुदन्तीसर्पाक्ष्यात्मका- (रा. व. २२)
पञ्चकपित्थ–न., कपित्थस्य मूलस्वक् पत्रफलपुष्पाणि (वा. उ. ३८ अ.)
पञ्चकषाय–पु.,वचावासापटोलप्रियङ्गुनिम्बात्मकद्रव्यवर्गः (भा. म. ४ भ. यो. व्या. चि. । चूर्णैः पञ्चकषायजैः । भेष. कर्णरोगचि.)
पञ्चकीर–पु., जलकुक्कुभः (त्रिका.)
पञ्चजटा–स्त्री.; पञ्चमूलम् (च. द.)
पञ्चतत्त्व–न., क्षित्यप्तेजोमरुत् व्योमानि पञ्चभूतानि । मद्यमांसमत्स्यमुद्रामैथुनानि (तन्त्रम्.)
पञ्चतिक्तघृत–न., कुष्ठाधिकारे घृतम् । (भैष.) अन्यत् विस्फोटाधिकारे (रस. र.)
पञ्चतिक्तघृतगुग्गुल–पु., कुष्ठे हितः (सा. कौ.)
पञ्चतृण–न., कुशकाशशरदर्भेक्षुस्वल्पतृणपञ्चमूलानि एषां मूलं तृषादाहपित्तासृक्मूत्रसङ्गहृत् (भा.)
पञ्चथ–पु., कोकिलः (वै. नि.)
पञ्चनख–व्याघ्रः (रा. व. १९) कच्छपः (जटा.) गजः (त्रिका.) व्याघ्रशरभशार्दूलगोधाकच्छपशरटसिंहाः । भक्ष्यपञ्चनखाः –शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पञ्चमः (स्मृति.)
पञ्चनखर–पु., गोधा (वै. नि.)
पञ्चनिदान–न., रोगज्ञानस्य पञ्चविधप्रकाराः, यथा– निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा । संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् (मा.)
पञ्चपत्र–पु., चण्डालकन्दः (रा. व.)
पञ्चपत्रिका–स्त्री., गोरक्षी (रा. व. ५)

पञ्चपल्लव–न., आम्रजम्बूकपित्थबीजपूरबिल्वपल्लवानि । 'आम्रजम्बूकपित्थानां बीजपूरकबिल्वयोः । गन्धकर्मणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम् । (प. प्र. ३. प.)

पञ्चप्राणा–पु., प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः । पञ्चविधदेहान्तर्वायवः (सु.)

पञ्चबला–स्त्री., बलातिबलानागफला राजबलामहाबला च (वै. नि.)

पञ्चबुद्धीन्द्रिय–न., पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि स्पर्शनं रसनं घ्राणं दर्शनं श्रोत्रञ्चेति (च.)

पञ्चभद्र–न. पु. गुडूची पर्पटमुस्तकिराततिक्त विश्वभेषजानि (सि. यो. च. द. ज्व. चि.)

पञ्चमकार–न., मद्यमांसमत्स्यमुद्रामैथुनरूपं प्रकारपञ्चकम् (तन्त्रम्)

पञ्चमास्य–पु., कोकिलः (श. र.)

पञ्चमुख–पु., सिंहः । पिङ्गलसिंहः (रा. व. १९)

पञ्चमूत्र–न., मूत्रपञ्चकम् । तञ्च गर्दभीगोमेषीच्छागीमहिषीजमिश्रितमूत्रान् (रा, व. २२.)

पञ्चमूल्यादि–पु., ज्वरातिसारे कषायः (च. द.)

पञ्चरत्न–न., स्वर्णमौक्तिकमाणिक्यहीरकराजपट्टाः । कनकं हीरकं नीलं पद्मरागञ्चमौक्तिकम् । पञ्चरत्नमिति प्रोक्तमृषिभिः पूर्वदर्शिभिः

पञ्चरसलोह–न., वर्तलोहम् (वै. नि.)

पञ्चरसा–स्त्री., हरीतकी (मद. व. १)

पञ्चलक्षण–न., वातपित्तकफसन्निपातागन्तूनां लक्षणयुक्तम् । व्रणस्य-गन्धवर्णस्रावेदनाकृतिरूपलक्षणयुक्तम् (सु. चि. १ अ.)

पञ्चवक्त्ररस–पु., रसोऽयं सन्निपातज्वरे हितः । गन्धेशटङ्कमरिचं विषं धत्तूरजैर्द्रवैः । दिनं सम्मर्दितं शुष्कं पञ्चवक्त्रो रसो भवेत् । आर्द्रकस्य रसेनैष दातव्यो रक्तिकामतः (भा.)

पञ्चवटी–स्त्री., बिल्वाश्वत्थवटाशोकोदुम्बराः (वै. नि.)

पञ्चवर्णक–पु., धुस्तूरवृक्षः (वै. नि.)

पञ्चवेतस–न., न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलानि । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः । सर्वैरेकत्र मिलितैः पञ्चवेतसमुच्यते । (रा. व. २२) शिरीषपिप्पलवटप्लक्षवेतसानि (वा. उ. ३६ अ.) गुणाः–त्वक्पञ्चकं हिम ग्राहि व्रणशोथविसर्पजित् (भा.)

पञ्चबीज– न., कर्कटीत्रपुषदाडिमपद्मकपिकच्छुजपञ्चबीजानि । राजिकाजमोदाजीरकतिलखसूखसश्च ।

पञ्चशस्य–न., धान्यतिलमुद्गयवश्वेतसर्षपाणि ।

पञ्चशाख–पु., हस्तः (रा. व. १८)

पञ्चशिख–पु., सिंहः (त्रिका.)

पञ्चसर्पिणी–ओषधिविशेषः । मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चसर्पिणी ।

पञ्चसाराम्बु–न., खर्जुराद्यम्बुः मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा (वा. चि. २ अ.)

पञ्चसुगन्धिक–न., कर्पूरकङ्कोललवङ्गजातीफलपूगाः (रा. व. २२)

पञ्चक्षार–न., यवपलाशसर्जतिलमुष्ककजक्षाराः । यवमुष्ककसर्जानां पलाशतिलयोस्तथा । क्षारैश्च पञ्चभिः प्रोक्तं पञ्चक्षाराभिधो गणः (रा. व. २२) पञ्चलवणानि (वै. नि.)

पञ्चक्षीरवृक्ष–पु., वटाश्वत्थोदुम्बरपर्कटीगर्दभाण्डाः । पर्कटीत्यश्वत्थभेदः । उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो वेतसः प्लक्ष एव च (प. प्र. ३ अ.) वेतसोऽत्र गन्धमुण्ड इति उत्तरदेशे प्रसिद्धः ।

पञ्चाङ्गगुप्त–पु., कच्छपः (त्रिका.)

पञ्चाङ्गिकपञ्चगण–पु., स्वल्पमहत्तृणवल्लीकण्टकसंज्ञानिपञ्चमूलानि (सि. यो. तृष्णाचि.)

पञ्चाज्य–न., छागदध्यादिपञ्चकम् । (वै. नि. २ भ. जीर्णज्वरचि.)

पञ्चात्मा–पु., शरीरान्तर्वायुः यथा–प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः (निदा.)

पञ्चाननरस–पु., हृद्रोगाधिकारे रसः । (रस. चि.)

पञ्चामृतपर्पटी–स्त्री., ग्रहण्यधिकारे हिता । (रस. र.)

पञ्चामृतपिण्ड–पु., अश्वस्य बलपुष्टिकरपिण्डविशेषः । कटुका च जयन्ती च भ्रामरी सुरसाघनः । पञ्चामृतमयः पिण्डः– – –(नकुल.)

पञ्चामृतयूष–पु., कुलत्थादिपञ्चद्रव्यकृतयूषविशेषः । यथा कुलित्थमुद्गाढकीमाषाणां निष्पावयुक्तश्च कृतो हि यूषः । सन्दीपनः पाचनधातुवृद्धिकरो लघुः स्यादरुचिप्रणाशः । ज्वरं बलासं क्षयमङ्गमर्दं क्षीयेत पञ्चामृतयूषकोऽयम् (वै. नि.)

पञ्चारविन्द–न., अरविन्दस्य मृणालबिसकेसरपत्रबीजानि (वा. उ. ३९ अ.)

पञ्चावस्था–त्रि., मृतम्

पञ्चास्य–पु., सिंहः (अम.)

पञ्चोपविष–न., स्नुह्यर्ककरवीरलाङ्गलिविषमुष्टिकाः च (रा. व. २२)

पञ्चोषण–न., पञ्चकोलम्। पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशुण्ठीच (वै. नि. ज्वरचि. अर्कादि)

पञ्चोष्माण–पु., शरीरान्तःपञ्चविधपाचकाग्नयः यथा भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसा पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्त्यमी। पार्थिवा पार्थियानेव शेषाः शेषांश्च देहगान् (सा. कौ.)

पञ्जर (ल)–पु., कोलकन्दः (रा. व. ७) न., शरीरम् शरीरास्थिसमूहः (त्रिका.)

पञ्जरास्थि–न., पञ्जरस्य चतुर्विंशत्यस्थीनि (त्रिका.)

पट–न, भूतृणम् (र. मा.) पु., कार्पासम् (वै. नि.) प्रियालवृक्षः (मे. रस. र. बालचि.)

पटच्चर–न., जीर्णवस्त्रम्

पटद–(दा) पु., स्त्री., कार्पासक्षुपः (र. मा.)

पटरक–पु., गुन्द्रतृणम् (रा. व. ८)

पटालुका–स्त्री., जलौका (वै. नि.)

पटि–स्त्री., कुम्भिकावृक्षः (मे)

पटीर–न., मूलकः (भा. म. ३ भ. अश्म. चि) चन्दनम् (प. मु) पु., खदिरवृक्षः उदरम् (उणा) वंशलोचनम्। सन्धिवायुः (वै. नि.)

पटु (क)–पु., पटोललता (प. मु.) कारवेल्ली (रा. व. ३) शिशुः (रा. व. १८) चीनकर्पूरः चोरकनामगन्धद्रव्यम् (रा. व. १२) लवणम् (मे.) न., पटोलपत्रम् (त्रिश्व) पांशुजलवणम् (प. म.) जीरकम्। वचा छिक्किनी (वै. नि.) पटोलविशेषः (त्रि.) रोगमुक्तः (रा. व. २०)

पटुतूलक–न., लवणतृणम् (रा. व. ८)

पटुत्रय–न., लवणत्रयम्। विटसैन्धवसौवर्चलानि (वै. नि. २ भ. संग्रहणीचि.)

पटुपत्रिका–स्त्री., क्षीरिका क्षुद्रचञ्चुक्षुपः (रा. व. ४)

पटुपर्णिका–स्त्री., क्षीरिणीक्षुपः (रा. व. ४)

पटुभेदनिका–स्त्री., कृष्णजीरकः (रा. व. ६.)

पटुलिका–स्त्री., नागवल्लीभेदः। पोटकुलिकेति आन्ध्रे (रा. व. ११)

पटूत्तम्–न., सैन्धवलवणम् (रा. व. ६)

पटेरक–न., मुस्तकतृणम् (वै. सं.)

पटोटज–न., छत्राकम् (श. र.)

पटोल–पु., स्वनामख्यातफलशाकविशेषः। पटोलस्य भवेन्मूलं विरेचनकरं सुखात्। नालं श्लेष्महरं पत्रं पित्तहारि फलं पुनः। दोषत्रयहरं प्रोक्तं तद्वत्तिक्ता पटोलिका (भा.) फलं रक्तपित्तघ्नम् (सि. यो. रक्तपित्तचि.) पत्रं पित्तघ्नं, फलं त्रिदोषघ्नं मूलं विरेचनम् (रा. व. ७.) न., पाण्डुफलम् (वा. सू. १५ अ.)

पटोलपत्र–न., वल्लीशाकभेदः (रा. व. ७)

पट्टर (ङ्ग) रञ्जक (न क) म् रागम्–न. पु., पत्राङ्गचन्दनम् (रा. व. १२)

पट्टशाक–पु., शाकविशेषः (हिं–पटुवा) गुणाः– रक्तपित्तहरः विष्टम्भी वातकोपनश्च (भा.)

पट्टिक–पु., ताम्रवर्णरोध्रः (अ. टी. रा.)

पट्टिका(ख्य)–स्त्री., पु., ताम्ररोध्रः (अम.)

पट्टिल–पु., वृक्षविशेषः (जटा.)

पट्टिलोध्र(क)–पु., पट्टिकालोध्रम् (श. र.)

पण–पु., कपर्दः (वै. नि.) (२ भ. मधुरज्वरचि.) विण्मक्षिकाकषायः पञ्चगुञ्जामानम् (प. प्र.)

पणदा–पण्यान्धा (रा. व. २३)

पणश–(स)–पु., कण्टालुफलवृक्षः। गुणाः–फलं मधुरं पिच्छिलं गुरु हृद्यं बलवीर्यवृद्धिकरं श्रमदाहशोषघ्नं रुचिकरं ग्राहि दुर्जरञ्च। तत्बीजं ईषत्कषायं मधुरं वातलं गुरु तत्फलविकारघ्नंत्वग्दोषघ्नञ्च। बालपणसफलन्तु नीरसं हृद्यं च। मध्यपक्वं तत् दीपनं रुचिदं लवणादियुक्तञ्च (रा. व. ११) पक्वफलं रक्तवर्धकं मधुरं शीतलं दुर्जरं वातपित्तघ्नं श्लेष्मशुक्रबलकरञ्च। तत् बीजं रक्तपित्तघ्नं स्वादु फलतुल्यगुणञ्च। तदपक्वफलं कषायं स्वादु वातलं शीतलञ्च। (राज.) तन्मज्जगुणाः–शुक्रलं त्रिदोषघ्नं विशेषेण गुल्मिनां न हितम् (रा. व. ११) अस्य क्वाथः मांसग्रन्थिशोफे, तन्मज्जा अण्डवृद्धौ, कोमलपल्लवः चर्मरोगे च हितः।

पणास्थिक–न., वराटकः (त्रिका. । हे. च.)

पणिकावर्त–पु., राजावर्तमणिः (प. मु.)

पण्ड–(क)–पु., नपुंसकम् (अम.)

पण्या–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता। (वै. नि.)

पतग–पु., पक्षी (अम.)

पतङ्गिका–स्त्री., पुत्तिकानाममधुमक्षिका (अम.)

पतत्र–न., पक्षः (अम.)

पतत्रि(त्री)–पक्षी (अम.)

पतद्गीरु–पु., श्येनः पक्षी (श. र.)

पतम(स)पु., पक्षी, पतङ्गः (उणा.)

पति–पु., मूलम्। गतिः (अम.)

पतिम्बरा–स्त्री., कृष्णजीरकम् (श. च.)

पतिश्याय–पु., प्रतिश्यायः (द्वि.)
पतेर–पु., पक्षी । आढकम् (उणा.)
पत्–पु., पादः (रा. व. १८)
पत्रक–पु., पलाशवृक्षः (रा. व. २३)
पत्रकल्क–न., गन्धवृद्ध्यर्थम् उष्ण एव सम्पिष्य पक्वतैले यत् कर्पूरमृगनाभ्यादिकं दीयते (च. द. वातव्याधि-चि. महासुगन्धितैले)
पत्रगुप्त–पु., स्नुहीवृक्षभेदः (श. च.)
पत्रघ(ध)ना–स्त्री., सातला सेहुण्डः (रा. व. ८)
पत्रजासव–पु., पटोलतालपत्रोत्थासवः (च. सू. २५ अ.)
पत्रतालक–न., वंशपत्रहरितालः (वै. नि.)
पत्रदारक–पु., क्रकचः (त्रिका.)
पत्रनाडिका–स्त्री., ताम्बूलीशिरा । **पत्रशिरा** (जटा.)
पत्रनामक–न., तेजपत्रम् (वै. नि.)
पत्रपरशु–पु., अस्त्रविशेषम् (हला.)
पत्रपाल–पु., बृहत्छुरिका (हे. च.)
पत्रपाली–स्त्री., अस्त्रविशेषम् (हला.)
पत्रपिशाचिका–स्त्री., वारित्रा (त्रिका.) (हारा.)
पत्रपुष्प–रक्ततुलसीवृक्षः (श. च.)
पत्रपुष्पक–पु., भूर्जवृक्षः (श. मा.)
पत्रपुष्पा–स्त्री., तुलसीवृक्षविशेषः (श. मा.) क्षुद्रपत्रतुलसी (र. मा.)
पत्रमाल–पु , वेतसवृक्षः (वै. नि.)
पत्रयौवन–न., नवाङ्कुरः (जटा.)
पत्ररथ–पु., पक्षी (अम.)
पत्रल–न.. पत्तलदुग्धम् (वै. नि.) द्रप्सः (हे. च.)
पत्रशिरा–स्त्री., पर्णनाडी (हारा.)
पत्रशृङ्गी–स्त्री., मूषिककर्णिका (वै. नि.)
पत्रसूचि–पु., कण्टकः (त्रिका.)
पत्रहिम–न., हिमम् । दुर्दिनम् (त्रिका.)
पत्राख्य–., न., तेजपत्रम् (श. च.) तालिशपत्रम् (रा. व. ६)
पत्राम्ला–स्त्री., चुक्रिका (भा.)
पत्रावलि–(ली)–स्त्री., गैरिकम् (श.च.) ईश्वरीलता (वै. नि.)
पत्रिका–न., तेजपत्रम् ।
पत्रिकाख्य–पु., कर्पूरभेदः (रा. व. १२)
पत्रिकापत्र–न., तालिशपत्रम् (वै. नि.)
पत्रिणी–स्त्री., नवाङ्कुरः, पल्लवम् (श. च.)
पत्रैला–स्त्री., एला (वै. नि.)
पत्रोपस्कर–पु., कासमर्दक्षुपः (हारा.)
पत्रोल्लास–पु., पुष्पकलिका (वै. नि.)
पथिका–स्त्री., कृष्णद्राक्षा (रा. व ११)
पथ्यकरी–स्त्री., रक्तकशालिः (रा. व १६)
पथ्यका–स्त्री., मेथिका (वै. नि.)
पथ्यभोजन–न., हितभोजनम् (भा.)
पथ्या–स्त्री., हरीतकी (भा. पू. १ भ.) रा. व. ११. । च. द. वि. ज्व. चातुर्थके ।) चिर्भटा । वन्ध्या-कर्कोटकी । मृगादनी (रा. व. २२)
पथ्यापथ्यविधि–पु., रोगाणां पथ्यापथ्य निर्णयग्रन्थः ।
पदन्–न., पादः (रा. व. १८) । वाक्यम् । वस्तु (मे.)
पदक–न., निष्कासितस्वर्णम् (वै. नि.)
पदन्यास–पु., गोक्षुरक्षुपः (श. च.)
पदरथी (इन्)–पु., पादुका (त्रिका.)
पदरोहिणी–स्त्री., वन्दाकः (वै. नि.)
पदवी–स्त्री., झिण्टीक्षुपः । नागबला (वै. नि.)
पदाक–पु., सर्पः (वै. नि.)
पदारोही(इन्)–पु., वटवृक्षः (म. द. व. ५)
पदेन्द्राभ–पु., विष्किरपक्षिभेदः (च. सू. २७ अ. ।)
पद्धिम–न., पादशीतला (व्याक.)
पद्मक–न., पद्मकाष्ठम् (धरणि) गुणाः– पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातलं लघु । विसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तजित् । गर्भ-संस्थापनं रुच्यं वमिव्रणतृषाप्रणुत् (भा. ।) शीतलं तिक्तं रक्तपित्तघ्नं मोहदाहज्वरभ्रान्तिकुष्ठविस्फोटघ्नञ्च (रा. व. १२.) कुष्ठम् (रा. व. १२.) (च. सू, ४ अ.) तन्नामकलूतादिकीटविषघ्नागदे (वा. उ. ३७ अ.)
पद्मकर्णिका–स्त्री., कमलकर्णिका । (वै. नि.)
पद्मकाह्वय–न., पद्मकाष्ठम् । (च. द. वा. व्या. चि. (एकादशशतीमहाप्रसारणीतैले)
पद्मकी (इन्)–पु., भूर्जवृक्षः । (श. मा.)
पद्मगन्धक (गन्धि)–न., पद्मकाष्ठम् । (भा.)
पद्मचारटी–स्त्री., स्थलकमलिनी । (वै. नि.) नवनीत-खोटी । (च. द. वि. विष. चि.)
पद्मदर्शन–पु., सर्जरसः । (वै. नि.) श्रीवासः । लोबान इति भाषा (श. च.)
पद्मनाडिका–स्त्री., स्थलपद्मिनी (वै. नि.)
पद्मनेत्र–पु.,जलचरपक्षिभेदः (रा. व. १०)
पद्मपत्रा–स्त्री., स्थलपद्मिनी (वै. नि.)

पद्मपर्ण–न., पद्मपत्रम् (वै. नि.) पुष्करमूलम् (अ. टी.)
पद्मपुष्करज–न., पुष्करमूलम् । (रा. व. ६.)
पद्मपुष्प–पु., पारिभद्रकवृक्षः । पिकाङ्गपक्षी (वै. नि.) कर्णिकारवृक्षः । (श. च.)
पद्ममुखी–स्त्री., कण्टकारी (वै. नि.) दुरालभा (श. च.)
पद्मरेणु–पु., पद्मकेसरम् । (वै. नि.)
पद्मलाञ्छन– पुं., सूर्यः (मे.)
पद्मवर्ण–त्रि., लोहितवर्णः (भा. ४ भ.)
पद्मवर्णक–न., पद्मकाष्ठम् (वै. नि.) पुष्करमूलम् (जटा.)
पद्मवीजाभ–न., मखान्नफलम् माखना इति भाषा (भा.)
पद्मशायिनी–स्त्री.,जलचरपक्षिभेदः (वै. नि.)
पद्माकर–पु., तड़ागः (अम.)
पद्माट–पु., चक्रमर्दक्षुपः (अम.) (भैष. मुखरोगचि. बृ. खदिरवट्याम् (न.) तत् बीजम् (महाभल्लातकगुडे.)
पद्मान्तर–न., पद्मपत्रम् (वै. नि.)
पद्मालया–स्त्री.,लवङ्गलता (अम.)
पद्मावती–स्त्री., स्थलपद्मिनी (जटा.) मनसादेवी) श. र.)
पद्माह्व (य)–न., पद्मकाष्ठम् (भा. वै. नि. २ भ सर्व– (ज्वरचि. सुदर्शनचूर्णे च. द. मुखरोगचि बृ. खदिरवटयाम्)
पद्माह्वया (ह्वा)–स्त्री., स्थलपद्मिनी (रा. व. ५.)
पद्मी (इन्)–पु., गजः (अम.)
पद्मोत्तम (र) विकास–पु., कुसुम्भपुष्पवृक्षः (र. मा.)
पद्मोत्तर–पुं.. न., कुसुम्भवृक्षः ततपुष्पम् (रा. व. ४. स्त्री., कुसुम्भबीजम् वै. नि.)
पद्मोद्भवा–स्त्री., मनसादेवी (पुराणम्)
पनश (स)–पु., बहिःकण्टकमहाफलवृक्षः पणसवृक्षः भा. मण्डलिसर्पविशेषः (सुकल्प. ४. अ.)
पनसतालिका–स्त्री., कण्टकीफलवृक्षः (श. मा.)
पन्नगकेशर–पु., नागकेशरवृक्षः (रा. व. ६.)
पन्नद्धा (ध्री)–स्त्री., चर्मपादुका (हे. च. । त्रिका.)
पप्पूर–पु., शालिञ्जशाकः (वा. चि. १अ.)
पपीता–स्त्री., स्वनामख्यातफलविशेषः (हिं.—पपया) गुणः—ह्रीहृद्यी
पपु– स्त्री., उपमाता । धात्री (उणा.)
पमरा–स्त्री., सल्लकीनामगन्धद्रव्यम् (राज.)
पयःपालिनी–स्त्री., वालकम् । उशीरम् । (वै. नि. २भ. वि. ज्वर चि०)
पयःपेटी–स्त्री., नारिकेलः (प. मु. ।)
पयःप्रसाद (दि)–न., निर्मलीबीजम् । (भा.)
पयःसात्म्य–न., तक्रम् (वै. नि.)
पयस्य–पु., बिडालः (श. च.) न., पयोविकारः घृतादिः (अम)
पयस्वल–पु., छागः (रा. व. १९.)
पयस्वी–स्त्री., क्षीरकाकोली (वै. नि.)
पया–स्त्री., शुण्ठी (वै. नि.)
पयोद–पु., मुस्तकम् (भैष. बृ.) किङ्किणी तेले । (च. द.) शूलचि. नारिकेलखण्डे)
पयोर–पु., खदिरवृक्षः (श. च.)
पयोलता–स्त्री., क्षीरविदारी (रा. व. ७)
पयोष्णी–स्त्री.,भारतवर्षीयानदी, सा च विन्ध्याचलदक्षिणे-प्रसिद्धा । जलगुणाः– सर्वरोगघ्नं रुच्यं पवित्रं लघु बलकान्तिजनकं पापघ्नं सुखदञ्च (रा. व. १४)
परक–पु., केशराजः (वै. नि.)
परग्रन्थि–पु., सन्धिः सन्धिस्थानम् अङ्गुलिपर्वम् । पर्वावधिः (हारा.)
परञ्ज–पु., फेनः । तैलनिष्पेषणयन्त्रम् । छुरिकाफलम् (मे.)
परदृक्-पु., काकः (वै. नि.)
परद्रव्यहा–स्त्री., ग्रन्थिपर्णी (वै. नि.)
परपत्रिका–स्त्री., क्षुद्रचञ्चुक्षुपः (रा. व. ४)
परपुष्टमहोत्सव–पु , आम्रवृक्षः (वै. नि.)
परपृष्टा–स्त्री., कोकिला (वै. नि.)
परमपूतिक–पु., अहिफेनः (प. मु.)
परमा–स्त्री., सुगन्धद्रव्यविशेषः । गन्धशठी तदालेपनं ज्वरघ्नं रक्षोघ्नं च (रा. च. द. वा. व्या. चि. महाराजप्रसारणीतैले.)
परमायु–न., जीवितकालः । यथाशतं वर्षाणि विंशत्या निशाभिः पञ्चभिः सह । परमायुरिदं प्रोक्तं नराणां करिणामिह (श. मा.)
परमायुध–पु., असनवृक्षः (श. च.)
परमृत्यु–पु., काकः (त्रिका.)
परमेष्ठ–पु., महानिम्बवृक्षः (र. मा.)
पररु–पु., नीलभृङ्गराजः (त्रिका.)
परला–स्त्री., पटोलवृक्षः (रस. र. कुष्ठ. शैलेन्द्ररसे)
परलोकैषणा–स्त्री., परलोकस्य गवेषणा (च. सू. ११ अ)
परश–न., प्रस्तरविशेषः (पुराणम्)
परशुच्छिन्न–पु., स्त्री., कुठारिया इति ख्यातः वृक्षः । (संग्रहः) लोहक्षालनम् । कन्दगुडूची

परशुराम–पु., रसराजशिरोमणिकारः ।
पराञ्ज–पु., तैलनिष्पीडनयन्त्रम् । फेनः । (श. र.)
परात्प्रिय–पु., उलपतृणम् (श. च.) कासतृणम् (वै. नि)
परादिगुण–पु., परापरत्वादिः । परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च । विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिणाममथापि च । संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः । (च. सू.)
परानसा–स्त्री., औषधप्रयोगः । चिकित्सा (श. च.)
परान्न–न., पलान्नम् । (पाकराजः)
परापर–न., परुषकफलम् (भा.)
पराभिध–न., कुङ्कुमम् (वै. नि.)
परामृत–न , वर्षोपलम् (त्रिका.)
पारु–पु., कारवेल्लकः (त्रिका.)
पारुक–पु., पाषाणः (त्रिका.)
परावत–न. परुषकफलम् (रा. व. ११.)
परावेदी– स्त्री., बृहती (कोषान्तरम्)
परासङ्ग–पु., अवरोधः । शोणितरोधः (सु. सू. ३३ अ.)
परिकर्म–., न., अभ्यङ्गम् । परिचर्याकरणम् (वै., नि.) कुङ्कुमादिना कायप्रसाधनम् (अम. भ.)
परिक्रमसह–पु. छागः (त्रिका.)
परिगर्भिक–(भव)–पु., बालरोगविशेषः । मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि । श्वासाग्निसादवमथुतन्द्राकासारुचिभ्रमैः । युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः परिगर्भिकम् रोगं परिभवाख्यञ्च तत्र युञ्जीत दीपनम् (भा.)
परिघ–पु., तन्नामकमूढगर्भविशेषः । यत्र गर्भः परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् (सु. नि. ८.)
परिचरकर्म–न., सेवाकार्यम् ।
परिचर्या–स्त्री., सेवा (अम. शर.)
परिणत–त्रि., परिपक्वः (अम.)
परिणामज (शूल)–न., पक्तिशूलम् (रा. व. २०.)
परिताप–पु., रोगः (वै. नि.) कम्पः (विश्वः) उष्णता (च.)
परितिक्त–पु., निम्बवृक्षः (वै. नि.)
परिपाकिनी–स्त्री., त्रिवृता (श. च.)
परिपुष्करा–स्त्री., कर्कटीभेदः । गोडुम्बा
परिपोषण–न., हिङ्गुः (ज. द. १२ अ.)
परिभाषा–स्त्री., वैद्यकमानादिविषयकग्रन्थः
परिमल–पु , सुगन्धः मैथुनम् । विमर्दनम् (अम. भ.)
परिवृंहित–न., वृद्धिः त्रि., परिवर्द्धितम्
परिवेषण–न., भोजनार्थं भोजनपात्रे अन्नादिदानम्
परिव्राजी–स्त्री., श्रावणीमहाक्षुपः (रा. व.५)
परिशुष्क(मांस)–न.' पक्वमांसभेदः ' मांसं बहुघृतैर्भृष्टं सिक्तञ्चेच्चाम्बुना मुहुः । जीरकाद्यैः समायुक्तं परिशुष्कं तदुच्यते (शच.) (राज.)
परिश्रु(श्रु)त––न., सुरा (वै., नि.)
परिषेकस्वेद–पु., स्वेदविशेषः (च. सू. १४ अ.)
परिसर्या–स्त्री., सेवा (वै. नि.)
परिस्यन्द–पु., क्षरणम् । स्पन्दः । बिन्दुशः क्षरणम् (अम. भ.)
परिस्रुतदधि–न., वस्त्रगालितदधि । गुणाः—वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं पित्तघ्नञ्च (सु. सू. ४५ अ.)
परिक्षेपी (इन्)–पु., वातपित्तजभगन्दरः । ' वातपित्तात्परिक्षेपौ परिक्षिप्यं गुदं गतिः । जायते परिततस्त्र प्राकारपरिखेव च ।
परीति–पु., पुष्पाञ्जनम् (वै. नि.)
परीर–पु., कारवेल्लः । न., तत्फलम् (उणा.)
परीवर्त–पु., कच्छपः (वै. नि.)
परीष्टि–स्त्री., परिचर्या (मे.)
परुहार–पु., अश्वः (श. मा.)
परुस्–न., परूषकफलम् (रा. व. ११) ग्रन्थिः (अम.)
परेष्टुका–स्त्री., बहुवत्सा गौः (अम.)
परैधित–पु., कोकिलः (श. मा)
परोट–पु., घृतसिद्धरोटिकाभेदः (वै. नि.)
परोष्णी–स्त्री., तैलपायिका ।
पर्कट–पु., पश्चात्तापः । क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)
पर्कटि–(टी)–स्त्री., प्लक्षवृक्षः (भा.)
पर्णक–पु., सुनिषण्णशाकः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
पर्णकार–पु., वारजीवी ।
पर्णखण्ड–पु., ताम्बूलखण्डः । वनस्पतिविशेषः (श. च.)
पर्णपिण्डित–पु., मदनवृक्षः (वै. नि.)
पर्णभोजन–पु., छागपशुः (त्रिका.) त्रि., पत्रभोजिमात्रः ।
पर्णमाचल–पु., कर्मरङ्गवृक्षः (श. मा.)
पर्णमूल–न., ताम्बूलमूलम् (रा. ज ३ प.)
पर्णशिरा–स्त्री., ताम्बूलपत्रशिरा ।
पर्णासि–पु., पद्मम् । वारिगृहम् । शाकः (उणा.)
पर्णाक–पु., सुनिषण्णकशाकः (वै. नि.)
पर्णासि–पु., कृष्णार्जकः (वै. नि.)

पर्णिनीद्वय–न., माषपर्णी मुद्गपर्णी चेति (सि. यो. रक्तातिसारचि. कुटजादौ.)

पर्णीचतुष्क–न., शालिपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी माषपर्णी च (च. द. वा. व्या. चि. मध्यनारायणतैले.)

पर्णीर–न., हीबेरम् (वै. नि.)

पर्द (न्)–पु., न., अपानवायुत्यागः (वै. नि.) केशसमूहः (उणा. हे. च.)

पर्प–न., नवतृणम् (उणा.)

पर्पटादि–पु., पर्पटचन्दनोदीच्यनागरसिद्धकषायः । 'एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरविनाशनः । किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यनागरैः ।
(चि. द. पित्तज्वरचि. भा.)

पर्पटी–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिकापरनामसुगन्धद्रव्यम् (हे. च.) पद्मावती, पपरी इति च उत्तरदेशप्रसिद्धं द्रव्यम् । गुणाः– पर्पटी तुवरा तिक्ता शिशिरा वर्णकृल्लघुः । विषव्रणहरी कण्डूकफपित्तास्रकुष्ठनुत् (भा.) नलद्वयमानम् (प. प्र.) पिष्टकभेदः (उणा.)

पर्पटीरस–पु., श्लेष्मज्वरे रसः (रस. कौ. र. सा. सं.)

पर्प (र्व) रीण–पर्वम् (श. र.)
पु., पर्णवृन्तरसः । पर्णशिरा (मे.) पत्रचूर्णरसः (श. र.)

पर्पिक–पु., स्त्री., खञ्जः (व्याक.)

पर्यंग–पु., कटाहः (च. सू. १५ अ.)

पर्यय–पु., क्रमोल्लङ्घनम् । व्यतिक्रमम् । (अम.)

पर्यायमुक्तावलि–स्त्री., द्रव्याभिधानविशेषः ।

पर्व–न., वंशग्रन्थिः । (अम) अङ्गुल्यादिग्रन्थिः । (मे.)

पर्वक–न., जानुदेशः । (श. च.)

पर्वणिका (णी) स्त्री., नेत्रसन्धिरोगः । लक्षणम्–ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना रक्ताज्ञेया पर्वणी बृत्तशोफा (सु. उ. २) शाकविशेषः । सा च हस्तिशुण्डीति लोके (च. सू. २७ अ.)

पर्वतकाक–पु., द्रोणकाकः (हे. च.)

पर्वतजा–स्त्री., गिरिजाम्लद्राक्षाविशेषः । यहारीति लोके । गुणाः–द्राक्षा पर्वतजा लघ्वी साम्ला श्लेष्माम्ल पित्तकृत् (भा.)

पर्वतनिम्ब–पु., महानिम्बः ।

पर्वतभेद–पु., करञ्योडिपाषाणभेदः । (भा. म. ३ भ. मू. क्र. चि.)

पर्वतभेदी (इन्)–पु., पाषाणभेदः । (च. द. मू. र. चि.)

पर्वताश्रय–पु., महासिंहः । (रा. व. १९)

पर्वताह्वय–पु., धाराकदम्बवृक्षः (वै. नि.)

पर्वपुष्पिका (ष्पी)–स्त्री., हस्तिशुण्डी । (वा. सू. १५ अ.) तच्छाकगुणः वातपित्तहरः । (च. सू. २७ अ.)

पर्वभेद–पु., सन्धिभङ्गरोगः । तथा सन्धिवेदनायां यथा चालने भङ्गशङ्का जायते । (च. द. ज्वरचि.)

पर्वमूला–स्त्री., श्वेता (रा. व. ५)

पर्वयोनि–पु., इक्षुः । वेतसम् । वंशः (हे. च.)

पर्वरुट्–पु., दाडिमवृक्षः (त्रिका.)

पर्ववल्ली–स्त्री., वल्लीदूर्वा मालादूर्वा (रा. व. ८)

पर्वसन्धि–पु., अङ्गुलिसन्धिः (रा. व. १८)

पर्वित–पु., पर्वतमत्स्यः (श. र.)

पलङ्क–पु., निष्पावः । (रा. व. २३)

पलङ्कर–पु., पित्तम् (त्रिका.) ।

पललज्वर–पु., पित्तम् (हारा.) ।

पलाशय–पु.,अजीर्णम् (त्रिका.) गण्डरोगः । (श. र.)

पलाग्नि–पु., पित्तम् (हारा.)

पलान्न–न., समांसवेशवारादिसिद्धभक्तः ।

पलाप–पु., करिगण्डः (श. मा.)

पलापहा–स्त्री., नेत्राञ्जनम् ।

पलालदोहद–पु., आम्रवृक्षः (श. मा.)

पलाशक–पु., शठी (जटा) लाक्षा (रा. व. २३.) किंशुकम् (सु. सू. ३८ अ. मुष्ककादिः) पलाशवृक्षः (श. र.)

पलाशगन्धजा–स्त्री., वंशलोचनाभेदः । (वै. नि.)

पलाशच्छदन–न., तमालपत्रम् (वै. नि.)

पलाशतरुशोणित–न., पु., **पलाशनिर्यास**– } तद्वृक्षनिर्यासः ।
गुणाः–पलाशभवनिर्यासो ग्राही च क्षपयेत् ध्रुवम् । ग्रहणीं मुखजान् व्याधीन् कासान् स्वेदातिनिर्गमम् । केचित् (भैष ने. रो. चि.)

पलाशन–पु., शारिका (त्रिका.)

पलाशपत्री(र्णी)वल्ली–स्त्री., अश्वगन्धा (रा. व. ४) पलाशीलता (वै. नि.)

पलाशलोहिता–स्त्री., चिल्लीशाकः (रा. व. ७)

पलाशबीज–न., पलाशबीजः (रा. व. १०.) गुणाः—अतिसारे शकृद्रक्तहरम् (वा. चि. ८ अ.)

पलाशाख्य–(ख्या)–पु., स्त्री., नाडीहिङ्गुः (रा. व. ६)

पलाशाम्भा–स्त्री., यमानिका (वै. नि.)

पलिक्नी–स्त्री., वृद्धा (अम) बालगर्भिणी (त्रिका.)

पलिघ–पु., काचकलसः (मे.)

पलितग्रह–पु., पुष्पवृक्षविशेषः (वै. नि.)
पलिनी–स्त्री., कृष्णोदुम्बरः (वै. नि.)
पली–स्त्री., गृहमक्षिका (वै. नि.)
पल्यशन–पु., वृश्चिकः (वै. नि.)
पल्लवक–पु., मत्स्यविशेषः (हला.)
पल्लवाद–पु., हरिणमृगः (वै. नि.)
पल्लवाधार–पु., शाखा (श. च.)
पल्लवाह्वय–न., तालिशपत्रम् ।
पल्लवित–न., लाक्षारङ्गम् (मे.)
पल्लवी ((इन्)–पु., वृक्षः (श. मा.)
पल्लिका–स्त्री., सरटः । गोधा (वै. नि.) गृहगोधिका (रा. व. १९)
पल्ली–स्त्री., गृहगोधा (रा. व.)
पल्लूर–न., शुष्कमांसम् । पथ्यापथ्यम्
पल्व–पु., राशिः (च. चि. १ भ.) (भल्लातकक्षीरे)
पल्वलावास–पु., कच्छपः (रा, व. १९)
पल्वलोदक–न., पल्वलजलम् ।
पव–पु., वायुः (श, च.) निष्पावः । धान्यादीनां निर्बुशीकरणम् (श. म.) न., गोमयं (श. च.)
पवनद्विष–पु., गुग्गुलुः (वै. नि.) निष्पावः (मे.)
पवनरिपु–पु., एरण्डवृक्षः (रा. ब. ८.)
पवनरिपुजटा–स्त्री., एरण्डमूलम् (वै. नि.)
पवनव्याधि–पु., वायुरोगः (त्रिका.)
पवनाल–पु., देवधान्यम् । गुणाः–हिमः स्वादुः लोहितः श्लेष्मपित्तकृत् अवृष्यः तुवरो रूक्षः क्लेदकृच्च (भा. पू. १ भ धान्यव.)
पवनाश–(न)–पु., सर्षपः (हला. अम.) शीषकम् (र. सा. सं.)
पवनाशनाश–पु., मयूरः (वै. नि.) गरुडः (हला.)
पवनी–स्त्री., वनबीजपूरकम् (रा. व. ११.)
पवनाम्बुज–पु., परुषकवृक्षः (न) तत् फलम् (श. च.)
पवमान–पु., वायुः (रा. व. २१.)
पवारु–पु., कारवेल्लम् (त्रिका.)
पवित–न., मरिचम् (रा. व. ६.)
पशु–पु., जन्तुभेदः (अम.) उदुम्बरवृक्षः (श. च.) छागः (त्रिका.) स ग्राम्यारण्यभेदेन चतुर्दशविध गौरविरजोऽश्वोऽश्वतरः गर्दभः मनुष्यश्चेति सप्तः ग्राम्याः । महिषवानरऋक्षसरीसृपरुरुपृषतमृगाश्चेति सप्तारण्याः । मांसगुणाः–लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् (राज.)
पशुपल्वल–न., कैवर्तकमुस्तम् (श. च.)
पशुमोहनकारिका–स्त्री., चन्द्रशूरः (भा.)
पशुराज–(ट्)–पु., सिंहः (श. च.)
पशुहरीतकी–स्त्री., आम्रातकफलम् (त्रिका)
पश्चाद्रुज–पु., बालानां व्रणरोगविशेषः ।
'दुष्टमम्लादिभिर्मातुः स्तन्यं सम्पिबतः शिशोः । यदा प्रकुपितं पित्तं गुदं समभिधावति । तदा सञ्जायते तत्र जलौकोदरसन्निभः । व्रणः सदाह आरक्तः ज्वरकार्श्यकरः परः । हरितं पीतकं वापि वर्चस्तेन भवेत् ध्रुवम् । व्रणः पश्चाद्रुजो नाम व्याधिः परम दारुणः (रस. र. बाल. चि.)
पद्म–पु., न., बिन्दुजालम् । पद्मम् (त्रिका.)
पद्मीका–स्त्री., वारिपर्णी (श. मा.)
पक्षच्चर–पु., हस्ती (मे.)
पक्षति–पु., पक्षमूलम् (अम.)
पक्षधर–पु., पक्षी (वै. नि.)
पक्षपत्र–पु., सोमलता (वै. नि.)
पक्षभाग–पु., पार्श्वभागः । गजपार्श्व भागः ।
पक्षमार्जार–पु., पक्षविडालः (वै. नि.)
पक्षमूल–न., पक्षतिः (अभ.)
पक्षवधवात–पु., वातव्याधिविशेषः (मा.)
पक्षवाहन–पु., पक्षी (श. च.)
पक्षविन्दु–पु., क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)
पक्षसुन्दर–पु., लोध्रवृक्षः (हारा.)
पक्षालु–पु., पक्षी (श. च.)
पक्षिणी–स्त्री., वनकार्पासी (वै. नि.)
पक्षिपात–पु., पतङ्गज्वरः (गजवै.)
पक्षिराजशालि–पुं., स्वनामख्यातशालिधान्यविशेषः (रा. व. १६.)
पक्षिलावण्य–पुं., पक्षिराजशालिः (रा. व. १६)
पक्षिशाला–स्त्री., पक्षिकुलायः (त्रि. का.)
पक्षिसिंह–पुं., गरुडः (त्रिका.)
पक्षी (इन्)–पुं., माक्षिकधातुः
(र. सा. सं.) विहङ्गमः स चतुर्विधः विष्किरप्रतुदप्रसहप्लवभेदेन । तत्र कपोतपारावतादयः प्रतुदाः । काककङ्ककुररादयः प्रसहाः । हंस सारसक्रौञ्चादयः प्लवाः । तत्र विष्किरा लावतित्तिरकपिञ्जलादयः । आनूपमांसगुणाः–धान्याः कूलचरा ये तु तेषां मांसं लघूत्तमम् । आनूपं बलकृन्मांसं स्निग्धं गुरुतरं स्मृतम् (भा. पू. २ भ) स्थूलकायपक्षिमांस-

गुणाः-' गुरुभक्षा बहुभुजो ये चोपचितमेदसः। एकदेहेऽपि पूर्वार्धं मृगाणां पक्षिणां परम् ॥ उत्तरोत्तरं तदङ्गगुरुत्वम् । यथा ' सर्वेषाञ्च शिरःस्कन्धश्रोहचर्मयकृद्वृदम् । पादपुच्छास्तु मस्तिष्कमुष्ककक्रोडाः समेहनाः। धातवः शोणिताद्याश्च गुरवः स्युःपरं परम् (राज.)

पक्ष्मघात-पुं., पक्ष्मगतनेत्ररोगभेदः पक्षवधरोगः (निदान.)

पक्ष्मयूका-स्त्री., पक्ष्मगतकीटः (वै. नि.)

पक्ष्मरोध-पुं., पक्ष्मगतरोगविशेषः (वा. उ. ८ अ.)

पक्ष्मार्श-न., नेत्रवर्त्मार्शोरोगः (निदान)

पक्षोत्सङ्ग-पु., पक्ष्मशोथरोगः (निदान)

पाशव-पुं., पांशुलवणम् (रा. व. ६)

पांशुका-स्त्री., रजस्वला (वै. नि.)

पांशुकासीस-न., धातुकाशीशम् (भा.)

पांशुखुर-पु., अश्वस्य पादतलस्थरोगः । लक्षणं यथा—' पांशुभिः शर्कराभिश्च पूर्यते यस्य कोटरम् । तले यस्य विजानीयात् रोगं पांशुखुरं भिषक् (ज. द. ३६ अ.)

पांशुचत्वर-न., पांशुधानः (श. मा.)

पांशुचन्दन-पु., शिवम् (त्रिका.)

पांशुतामर-पु., क्षुद्रकर्कटिका दूर्वामयप्रदेशः (मे.) पटभवनम् (जटा.)

पांशुपट्ट-न., पांशुलवणम् (र. सा. सं. रसप्रकरणे.)

पांशुपत्रम्-न., वास्तूकः (श. मा.)

पांशुभव-न., मृत्तिकालवणः (वै. नि.)

पांशुभिक्षा-स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.)

पांशुर-पु., खञ्जनघोटकः । दंशकः (हारा.)

पांशुल-पु., शिवः । पूतिकरञ्जः (श. च.)

पांशुला-स्त्री., केतकीवृक्षः । रजस्वला (रा. व. १०.१८)

पांशुक्षार-पु., क्षारमृत्तिका (वै. नि.)

पांसुक (ज)-न., पांशुलवणम् । मृत्तिकालवणम् (च. द. सन्निपातज्व. चि. कर्णमूलशोथे.)

पांसुजक्षार-पु., मृत्तिकालवणम् (वै. नि.)

पांसुल-पु., केतकवृक्षः । लावपक्षी (वै. नि.)

पाककृष्ण-(फल)-पु., पानीयामलकः (श. च.) करञ्जवृक्षः (वै. नि.)

पाकज-न., परिणामशूलः (रा. व. २०) बिडलवणम् (रा. व. ६) कुष्ठौषधम् (वै. नि.)

पाकनाडी-स्त्री., अन्नपाचकनाडी

पाकपात्र-न., हण्डिकादिः ।

पाकपुटी-स्त्री., कुम्भशाला

पाकफल-पु., पानीयामलकः (श. च.) अम्लकरञ्जः (अम.)

पाकभाण्ड-न., पाकपात्रम् ।

पाकरञ्जन-न., तेजपत्रम् (श. च.)

पाकलि-(ली)-स्त्री., कर्कटिका (श. मा.)

पाकशाला-स्त्री., रन्धनशाला (जटा. सु. कल्प. १ अ.)

पाकशुल्क(ल्का)-पु., स्त्री., कठिनी (प. मु.)

पाकारि-पु., श्वेतकाञ्चनम् (प. मु. र. मा.)

पाकुक-पु., सूपकारः (उणा.)

पाक्या-स्त्री., सर्जिक्षारः । यवक्षारः सौवर्चललवणम् । मृत्तिकालवणम् (वै. नि.)

पाक्यापटु-न., पाक्यलवणम् (वै. नि.)

पाक्याह्व-पु., यवक्षारः (अम.)

पागल-पु., वातुलः ।

पाचका-स्त्री., कर्कटिका (वै. नि.)

पाचनक-पु., टङ्कणक्षारः (हे. च.)

पाचल-पु., अग्निः (श. र.) पाकशक्तिः । वायुः (शर.) न., पाचनम् (मे.)

पाज (स्)-न., बलम् (उणा.)

पाञ्चजन्य-पु., शङ्खः, । मत्स्यभेदः अग्निः (मे.)

पाञ्चाल-पु., देशविशेषः । 'कुरुक्षेत्रात् पश्चिमे तु तथोत्तरभागतः । इन्द्रप्रस्थान्महेशानि दशयोजनकद्वये पाञ्चालदेशः—" (शक्तिसङ्गमतन्त्रम्)

पाञ्चाली-स्त्री., पिप्पली (वै. नि.)

पाट-(क)-पु., विस्तारः (कः) वितस्ती ।

पाटलच्छद-(द्रुम)-पु., सुरपुन्नागवृक्षः (रा. व. १०)

पाटलादि-पु., बिल्वादिदशमूलकषायः । अयं शोथहरकषायः (चसू. ४ अ.)

पाटलापुष्प-पु., सुरपुन्नागवृक्षः ।

पाटलापुष्पसन्निभ-न., पद्मकाष्ठम् (रा. व. १२)

पाटलाभ-पु., रक्तालुकः (वै. नि.)

पाटलिका-स्त्री., रक्तकरवीरवृक्षः

पाटलिपिण्डिका-स्त्री., महाश्वेतकिणिहीवृक्षः (वै. नि.)

पाटलीकुसुम-(पुष्प)-पु., पुन्नागपुष्पवृक्षः (वै. नि)

पाटलोपम-पु., सर्जरसः (वै. नि.)

पाटलोपल-न., माणिक्यम् । (वै. नि.)

पाटहिका-स्त्री., गुञ्जा (हारा.)

पाटी (इन्)-पु., पाठीनमत्स्यः (वै. नि.)

पाटीर–पु., न., यंशलोचनम्। वङ्गम्। चन्दनवृक्षः। वायुरोगभेदः (वै. नि.)

पाटेयक–न., लवणविशेषः (च चि. ८ अ.)

पाठक–पु., चित्रकवृक्षः (वै. नि.)

पाठमञ्जरी–(शालिनी)–स्त्री., सारिकापक्षी (श. मा.)

पाठा(ठी) कुट–(ठ)–पु., चित्रकवृक्षः (रा. व. १०)

पाठादशक–न., स्तन्यशोधकगणभेदः 'पाठाशुण्ठी-देवदारुमुस्तामूर्वागुडूचीन्द्रयवकिराततिक्तकटु-रोहिणीसारिवेतिस्तन्यशोधनाः' (च, सू. ४ अ.)

पाठाद्वय–न., पाठापाटला च (वै. नि. कास चि. त्र्यूषणाद्यघृते.)

पाठान–पु. गुग्गुलुः। मत्स्यभेदः (वै. नि.)

पाठासप्तक–पु.. पाठादिसप्तद्रव्यसिद्धकषायः। स च किरातनागरमुस्तगुडूची पाठोदीच्योशीरद्रव्य-साधितः (च. द. पि. श्लै. ज्वरचिकित्सा)

पाडिनी–स्त्री., मृद्भाण्डम् (वै. नि.)

पाणिनी–स्त्री., नीलापराजिता (वै. नि.)

पाणिन्धय–पु., पाणिना पानकर्ता।

पाणिपृष्ठ–न., करपृष्ठः (च. शा. ४ अ.)

पाणिभुक्–पु., उदुम्बरवृक्षः। (श. च.)

पाणिमणिका–स्त्री., मणिबन्धास्थि, तानि संख्यया चत्वारि (च. शा. ७ अ.)

पाणिमानिक–(का)–पु., तोलकद्वयम्। कर्षः वा (प. प्र. १ ख.)

पाणियालु–पु., स्वनामख्यातकन्दशाक विशेषः। रक्तालुः। गुणाः–त्रिदोषघ्नः–सन्तर्पणकरश्च (रा. व. ७)

पाणीतल–न., तोलकद्वयम्। (श. मा.)

पाणीसर्या–स्त्री., बल्वजतृणम् (रा. व. ८)

पाण्डर–न., गैरिकम्। कुन्दपुष्पः। (पु.,) कुरुबकवृक्षः। (वै. नि.)

पाण्डरपुष्पिका–स्त्री., शीतलावृक्षः। (श. च.)

पाण्डि–पु., लौहविशेषः। (रा. व. १३)

पाण्डुक–पु., पाण्डुरोगः (श. र.) तिक्तपटोलः। सर्जरसः (वै. नि.) पाण्डुशालिधान्यम् (सु. सू. ४६ अ. अर्क. चि.) न., अन्नम् (वै. नि.)

पाण्डुकण्टक–पु., अपामार्गः (रा. व. ४)

पाण्डुकम्बल–पु., प्रस्तरभेदः। (मे)

पाण्डुकर्कशा–स्त्री., औषधिविशेषम्। (वै. नि.)

पाण्डुनाग–पु., पुन्नागवृक्षः। (वै. नि.)

पाण्डुपुत्रा–स्त्री., कर्कटिका। (वै. नि.)

पाण्डुप्रहारिणी–स्त्री., शिग्रुडीवृक्षः। (वै. नि.)

पाण्डुमत्स्य–पु., शुक्लमत्स्यः।

पाण्डुमृत् (त्तिका)–स्त्री., पाण्डुवर्णमृत्तिका। (रा. व. २) खटिका। (रा. व. १३)

पाण्डुरङ्ग–पु., पट्टरङ्गः गुणाः–कृमिश्लेष्मपित्तनाशित्वं लघुत्वञ्च। (राज.)

पाण्डुरच्छद–पु., केतकवृक्षः (प. मु.)

पाण्डुरा–स्त्री., माषपर्णी (रा. व. ३.) शुक्लयूथिका। कर्कटिका (वै. नि.)

पाण्डुरागप्रिय–पु., बकुलवृक्षः (वै. नि.)

पाण्डुलोमशा–(मा) माषपर्णी (जटा. रमा.)

पाण्डुशर्करा–स्त्री., तन्नामकरोगविशेषः।

पाण्डुसूदनरस–पु., पाण्डुरोगघ्नरसविशेषः (रस. र.। भैष.।)

पाता (ऋ)–पु., गन्धपत्रम् (श. च.)।

पातालयन्त्र–न., भेषजपाकयन्त्रविशेषम्। लक्षणं यथा-ऊर्ध्वमापस्तले वह्निर्मध्ये तु रससंग्रहः। पाताल-यन्त्रमेतद्धि शोधयेत् सूतकादिकम् (रसग्रन्थः)

पातालगरुडाह्वय–पु., पातालगरुडी लता। (वै. नि.)

पातालनृपति–पु., शीसकम् (रसकौ.।) (भैष. वा. वार. चि. द्वादशायसे। रस. र.।)

पातिक–पु., शिशुमारः (वै. नि.)

पात्रट–त्रि., कृशाङ्गः (वै नि.) (पु.,) कर्पटकः (श. र.)

पात्रटीर–पु., काकः (श. र.) लोहकीटः, क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.) कङ्कपक्षी (श. र.)

पाथिस्–न., लोचनम् (उणा.)

पादगण्डि (ण्डी) र–पु., श्लीपदरोगः (त्रिका.)

पादचत्वर–पु., छागः। अश्वत्थवृक्षः। सैकतम् (मे)

पादपुष्पक–पु., भूमिचम्पकवृक्षः (वै. नि.)

पादपृष्ठ–न., पादपृष्ठभागः। ते च द्वे (च. शा. ७ अ.)

पादमूल–न., चरणाधोभागः (हे. च.)

पादरोग–पु., पादगतरोगः। चिप्पोपनखकुनखादिः (सु. नि. १३.)

पादरोहिणी–स्त्री., वन्दा (वै. नि.)

पादरोही (इन्) पु., वटवृक्षः (वै. नि.)

पादवल्मीक–न., श्लीपदरोगः (रा. व. २०.)

पादविदारिका–स्त्री., अश्वस्य पादरोगविशेषः। लक्षणम्-पार्ष्णिजा पिण्डिका यस्य दृश्यते तीव्रवेदना। तस्य विद्याद्विषग्व्याधिं घोरं पादविदारिकाम् (ज. द. ३९ अ.)

पादविरजा–स्त्री., चर्मपादुका (वै. नि.)
पादवृक्ष–पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
पादशलाका–स्त्री., शलाकावत् पादास्थीवि । ते च. द्वे (च. शा. ७ अ.)
पादशाखा–स्त्री., पादाग्रम् (वै. नि.)
पादशिष्टजल–न., चतुर्थांशावशिष्टपक्वजलम् । तद्गुणः–त्रिदोषनाशित्वं (रा. व. १४.)
पादशृङ्ग–स्त्री., मेषशृङ्गी । (वै. नि.)
पादशोथ–पु., पादगतशोफः । यथा 'अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः । पुरुषं हन्ति नारीन्तु मुखजो गुह्यजो द्वयम् (मा. नि.)
पादस्फोट–पु., पादरोगविशेषः (रा व. २०.)
पादहीनजल–न., चतुर्थांशेन हीनम् पक्वजलम् वातजरोगमात्रे हितम् (रा. व. १४.)
पादहीना–स्त्री., आकाशलता (वै नि.)
पादाग्र–न,, प्रपदम्, 'पादाग्रं प्रपदं मतम्' (रा. व. १८.)
पादाभ्यङ्ग–पु. पादयोस्तैलमर्दनम् । स्रोतसां मार्दवकरः कफवातविनाशनः । धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः । निद्राकरो देहसुखः स्वरव्यः पादरोगहा। पादत्वङ् मृदुकर्ता च पादाभ्यङ्गः प्रशस्यते (तोड.)
पादू–स्त्री., पादुका (अम.)
पादोत्पल–पु., द्रुमोत्पलवृक्षः (वै. नि.)
पानकर्पूर–पु., स्वनामख्यातवृक्षः ।
पानगोष्ठिका–स्त्री., सुरापानालयम् । (अम.)
पानपात्र–न., सुरापानपात्रम् (अम.)
पानभाजन–न., सुरापानपात्रम् (त्रिका.)
पानवणिक्–पु., शौण्डिकः (हे. च.)
पानमात्रा–स्त्री., सुरापाने प्रशस्तमात्रा । यथा ' यावन्न चलते दृष्टिः यावन्न क्षोभते मनः । पानमात्रा परा तावत् विपरीता विषोपमा (शौनकः)
पानस–न., पनसमद्यम् (जटा.)
पानील–न., पानपात्रम् (श. च.)
पानीयकुक्कुट–पु., जलकुक्कुटः (वै. नि.)
पानीयचूर्णिका–स्त्री., वालुका (वै. नि.)
पानीयतण्डुल–(ली)–न., स्त्री., कच्चाटशाकः (वै. नि.)
पानीयनकुल–पु., जलबिडालः (हे. च.)
पानीयपृष्ठज–पु., स्त्री., कुम्भीका (प. मु. र. मा.)
पानीयफल–न., मखान्नम् (भा. मु.)
हिं.—मखाना.
पानीयभक्तवटिका–स्त्री., ग्रहण्यधिकारे रसः ।

पानीयमूलक–न., सोमराजबीजम् (श. च.)
पानीयवर्णिका–स्त्री., वालुका (रा. व. ४)
पानीयशारु–पु.,पानीयकन्दभेदः (उत्– पाणिसारु प. मु.)
पानीयशाला(लिका)–स्त्री., उदकशाला (अम. वै. नि.)
पानीयशिरीषिका–स्त्री., जलशिरीषः (वै. नि.)
पानीयाभा(भ्रा)–स्त्री., बल्वजा (रा. व. ८)
पानीयामलक–न., स्वनामख्यातक्षुपः (र. मा.) गुणाः–त्रिदोषघ्नं ज्वरघ्नञ्च (भा.) अम्लं स्वादु मलवर्धकं त्रिदोषज्वरघ्नं मुखशोधनञ्च (राज.)
पापघ्न–पु., तिलः (रा. व. १६)
पापघ्नी–स्त्री., तुलसीवृक्षः (वै. नि.)
पापशमनी–स्त्री., शमीवृक्षः (रा. व. ८)
पापोदक–न., विष्ठाकृमिकीटादियुक्तजलम् (अत्रि.)
पामघ्न–पु., गन्धकः (र. मा.)
पामघ्नी–स्त्री., कटुकी (रा. व. ६)
पामन–त्रि., कच्छुरोगी (अम.)
पामन्–न., पामरोगः (अम.)
पामरोद्धारा–स्त्री., गुडूची (श. च.)
पामारि–पु., गन्धकः (हे. च. र. सा. सं.)
पाय (य्य)–न., जलम् (विश्व.) परिमाणम् (अम.) पानम् (उणा.)
पार–पु., पारदः (अ. टी. सा.)
पारक् (ज्)–पु., सुवर्णम् (उणा.)
पारटीट–पु., प्रस्तरः (त्रिका.)
पारत–पु., पारदः (हे. च.)
पारतन्त्र्य–न., पराधीनता (मा. नि.)
पारदबन्धन–न., सारलौहम् (वै. नि.)
पारशव–न., लौहम् (वै. नि.)
पारश्वय–न., सुवर्णम् (वै. नि.)
पारसीकयमानी–स्त्री., तद्देशीययमानीविशेषा । खोरासनीयमानी । किरमानी ओवा इति महाराष्ट्रादौ (सि. यो. च. द. कृमिचि.) गुणाः–पारसीकथमानी तु यमानीसदृशी गुणैः । विशेषात् पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादनी गुरुः (भा.)पारसीकयमानी तु तिक्तोष्णा कटुचोषणा । अग्निदीप्तिकरी वृष्या लघ्वी चैव प्रकीर्तिता । त्रिदोषाजीर्णकृमीनुत् शूलामस्य च नाशिनी (वै. नि.)
पारसीकवचा– स्त्री., श्वेतवचा खोरासनी वचा । गुणाः—हैमवत्युदिता तद्वत् वातं हन्ति विशेषतः (भा.)

पारसीकाश्व–पु., तद्देशजघोटकः ।
पारापत–पु., कपोतः (अ. टी. र.)
पारारुक–पु., प्रस्तरः (श. र.)
पारावतकलिका–स्त्री., महाज्योतिष्मतीलता (वै. नि.)
पारावतशकृत्–न., कपोतविष्ठा, गुणाः—ग्रथितरक्तदोषघ्नम् (वा. चि. २ अ.)
पारावताङ्घ्रि–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (प. मु. र. सा. सं.) महाज्योतिष्मतीलता (रा. व. ३) काकजङ्घा (रा. व. ४)
पारावताङ्घ्रिपिच्छ–पु., वङ्गदेशीयपारावतः ।
पारावती–स्त्री., लवलीफलम् (मे.)
पारावर–पु., भूधामनवृक्षः (वै. नि.)
पारि–न., सुरापानपात्रम् (त्रिका.)
पारिणाम–त्रि., वयःपरिणतिजन्यम् (वा. उ. ३९ अ.)
पारि(री) न्द्र–पु., सिंहः । अजगरसर्पः (हे. च. । त्रिका.)
पारिभद्रकजटा–स्त्री., पालिधामूलम् (च. द. गुल्म च.) ' व्याघ्रीकिंशुकपारिभद्रकजटा । '
पारिभद्ररस–पु., दद्रुकुष्ठे हितः (रस चि.)
पारिभ(भा) व्य–न., कुष्ठम् (प. मु.)
पारिश–(स)–पु., अश्वत्थवृक्षः (भा.) (वै. नि.)
पारिहार्य–न., कुष्ठौषधम् (वै. नि.)
पारी–स्त्री., जातीपत्री (वै. नि.) दोहनी पानपात्रम् (त्रिका.) परागः (विश्वः)
पारीश(ष)–पु., प्लक्षवृक्षः । गर्दभाण्डवृक्षः । ह्रस्वप्लक्षभेदः । अश्वत्थविशेषः । गजदन्तसहोरा इति लोके हिं.—परशपिपुल.
गुणाः–पारिषो दुजरः स्निग्धः कृमिशुक्रकफप्रदः । फलेऽम्लो मधुरो मूले कषायस्वादुमज्जकः (भा.)
पारुष–पु. नखम् (वै. नि.)
पारु(रू)षकतैल–न., वातरक्ते तैलम् ।
पार्घट–न., भस्म (हारा.)
पार्थकी–स्त्री., क्षीरशुक्ला (श. चि.)
पार्थवल्क–पु., अर्जुनत्वक् । अर्जुनघृते प्रयोज्या ।
पार्थिवज–न., अर्जुनत्वक् (च. द. हृद्रोगचि.)
पार्वण–पु., हरिणभेदः (श. च.)
पार्वतीयसम्भूत–पु., गन्धकः (र. सा. सं. पार्वतीरसे)
पार्श्वक–न., पार्श्वास्थि (रा. व. १८)
पार्श्वपिप्पल–न., पु., हरीतकीभेदः । पारीषवृक्षः । गजहड इति पश्चिमदेशे (भा. म. ४ भ. योनिरोगचि. चि. क. क. वन्ध्याप्रतिकारे)
पार्श्वसंहति–स्त्री , पार्श्वभागः (भा.)
पार्श्वारुण–पु., बालरोगभेदः (वै. नि.)
पार्श्वास्थि (कास्थि)–न., चतुर्विंशति पञ्जरास्थीनि (रा. व. १८ । च. शा. ७ अ.)
पार्श्वोदरप्रिय–पुं., कर्कटः (हे. च.)
पाल–पुं., चित्रकवृक्षः (वै. नि.) निष्ठीवनपात्रम् (हे. च.)
पालकविष–न., तन्नामकस्थावरकन्दविषम् (सु. कल्प.- २ अ.)
पालकाप्य–पुं., चरकोक्त., मुनिविशेषः (च.) धन्वन्तरिः (त्रिका.)
पालङ्की–स्त्री., कुन्दरुः (अ. टी. भ.) उपोदिका । पालङ्कः
पालघ्न–(घ्न्य)–पुं., छत्राकः (अम) जलतृणम् । छत्रातिच्छत्रम् (श. र.)
पालन–न., नवप्रसूतायाः गोःदुग्धम् (श. च.)
पालनिका (ल [लि] नी)–स्त्री.,त्रायमाणा (रा. व. ५- वा. चि. १. अ.)
पालास–पुं., पलासवृक्षः (वै. नि.)
पालिंहिर–पुं., मण्डलीसर्पभेदः (सु. कल्प. ४ अ.)
पालिधा–स्त्री , पारिभद्रवृक्षः (जयमङ्गलरसे)
पालि (ली)शोष–पुं., कर्णरोगविशेषः (वा. उ. १७ अ)
पालीकुट–पुं., चित्रकवृक्षः (वै. नि.)
पावकमणि–पुं., सूर्यकान्तमणिः (वै. नि.)
पावकमन्थन–पुं., अग्निमन्थक्षुपः (वै. नि.)
पावकारणि–पुं., अग्निमन्थक्षुपः (प. मु.)
पावकाह्व–पुं., अग्निमन्थः (वै. नि.)
पावकोष्मा (न)–पुं., सूर्यकान्तमणिः (वै. नि.)
पावास–पु., क्षुद्रपणसः (वै. नि.)
पाशवपालन–न., वासः (श. च.)
पाशी (इन्)–पु., वरुणवृक्षः (अम. रस. र. उदरचि) वह्निभल्लातकरसे)
पाश्चात्याकरसम्भव–न., शाम्बरलवणम्
पाषाणकुट्ट (न्द) क–पु., पाषाणभेदकः (वै. नि.)
पाषाणजतु–न., शिलाजतु (भैष. शोथचि. रसाभ्रमण्डूरे)
पाषाणभित्–पु., पाषाणभेदः (र. मा.) कुलत्थः । (एरण्डसप्तके) करञ्जोडिपाषाणभेदः (वै. नि.)
पाषाणरोग–पु., अश्मरीरोगः (चद. अश्मरीचि)
पाषाणवज्रकरस–पु., अश्मर्यधिकारे रसः (रस. र.)
पाषाणविष–न., दारुमोचभेदः (प. मु.)
पाषाणसम्भववल्ली–स्त्री., प्रवालम् (वै. नि.)
पिकदेव- / पिकप्रिय- पु., आम्रवृक्षः (वै. नि.)

पिकप्रिया–स्त्री., महाजम्बूवृक्षः । (रा. व. ११)
पिकबन्धु–पु., आम्रवृक्षः (त्रिका.)
पिकभक्षका(क्ष्या)–स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः (रा. व. ११)
पिकमहोत्सव–पु.,आम्रवृक्षः (वै. नि.)।
पिकवल्लभ–पु., आम्रवृक्षः (भा.)
पिकाङ्ग–पु., चातकपक्षी (श. च.)।
पिकाक्ष–पु., कोकिलाक्षः (रा. व. २३)। रोचनी वनस्पतिः (श. च.)
पिकुरस–पु., मद्यम् (वै. नि.)
पिङ्क–पु., करिपोतः (श. मा.)
पिङ्ग–न., शोणपित्तलम् (वै. नि.) बालकः । हरितालः । पु., वनमूषिकः । (रा. ब. १०. १३. १९ त्रि., पिङ्गलवर्णः
पिङ्गकपिशा–स्त्री., तैलपायिका (हे. च.)
पिङ्गचक्षु–पु., कुम्भीरः । (हे. च.)
पिङ्गभास–पु., गौधेरकजातिभेदः । (सु. कल्प. ८ अ.)
पिङ्गलाक्ष–पु., पिङ्गलापक्षी (वै. नि.)
पिङ्गलिका–स्त्री., बकपक्षी (जटा.) मक्षिकाविशेषः (सु. कल्प. ८)
पिङ्गवर्णक–न., गर्जरमूला (वै. नि.)
पिङ्गस्फटिक–पु., गोमेदमणिः (रा. व. १३)
पिङ्गा–स्त्री., वंशम् । वंशलोचनम् (रा. व. ६) शमीवृक्षः (र. मा.) हिङ्गुः (मे) गोरोचना (रा. व. १२) हरिद्रा (रा. व. २३) रक्तवाहिनाडी (वै. नि.)
पिङ्गाण–पु., काचः (वै. नि.)
पिङ्गाश–पु., मत्स्यविशेषः । न., स्वर्णम् (मे.)
पिङ्गाशी–स्त्री., नीलीवृक्षः (मे.)
पिङ्गास्य–पु., पिङ्गाशमत्स्यः (श. र.)
पिङ्गाह्व–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)
पिङ्गी–स्त्री., शमीवृक्षः (प. भु.)
पिच (चि) ण्ड–पु., उदरम् (रा. व. १८) पशुपृष्ठभागः (हे. च.)
पिचव्य–(व्या)–पु. स्त्री., कार्पासी (हे. च.)
पिचिण्डिका–स्त्री., इन्द्रबस्तिः (हे. च.)
पिचिण्डिल–त्रि., लम्बोदरः ।
पिचुतु (तू) ल–न., कार्पासी (त्रि. का.)
पिचुल–पु., झावुकवृक्षः (अम.) कार्पासवृक्षः । जलकाकः । तिलकवृक्षः । हिजलवृक्षः (मे.) तूलम् (अ. टी. सा.)
पिच्चक (ट)–न., वङ्गम् (प. मु.) (रा. व. १२) शीषकम् (मे.)
पिच्चटक–पु., नेत्ररोगः (मे.)
पिच्छ–(क)–पु., मोचरसः (अम.) लाङ्गुलम् (मे.) न., मयूरपिच्छम् (अम.)
पिच्छपादी–त्रि., तन्नामकपादरोगाक्रान्तः (अश्वः) 'रोमान्तः शूयते यस्य समन्ताच्चैव पच्यते । क्लेदश्च पिच्छिलो यस्य पिच्छपादीति तं विदुः (ज. द. ३९ अ.)
पिच्छभार–पु., मयूरपिच्छम् । (वै. नि.)
पिच्छल–पु., मोचरसः । आकाशवल्ली । बहुवारवृक्षः । (वै. नि.)
पिच्छलच्छदा (दला)–स्त्री., उपोदिका । बदरीवृक्षः ।
पिच्छलत्वक्–पु., नागरङ्गवृक्षः । स्त्री., नागरङ्गवल्कलम् (वै. नि.)
पिच्छलवाण–पु., रणगृध्रः । (रा. व. १९)
पिच्छिलतिका–स्त्री., शिंशपावृक्षः । (श. च.)
पिच्छिलक–पु., धन्वनवृक्षः । (रा. व. ९) शाल्मलीवृक्षः । (वै. नि.)
पिच्छिलगुणकर्म–न., पिच्छिलद्रव्यस्थ गुणकर्म । तच्च बल्यं सन्धानं श्लेष्मलं गुरु । (सु.)
पिच्छिलच्छदा–स्त्री., उपोदकी (प. मु.)
पिच्छिलत्वक्–पु., धन्वनवृक्षः । (प. मु.) (र. मा.) नागरङ्गवृक्षः । (त्रिका)
पिच्छिलबस्ति–स्त्री., निरूहबस्तिभेदः । (भा.)
पिञ्ज–पु., कर्पूरः । (रा. व. १२) न., बलम् (मे.)
पिञ्जक–न., हरितालः । (र. सा. सं.)
पिञ्जट–पु., पिच्चटरोगः । (श. र.)
पिञ्जन–न., तूलधनुः । (त्रिका.)
पिञ्जल–न,, हरितालम् (प. मु.) कुशपत्रम् (धरणी) पु., जलवेतसम् । (वै. नि.)
पिञ्जा–स्त्री., हरिद्रा, तूलकः (मे.)
पिञ्जिका–स्त्री., तूलनालिका (त्रिका.)
पिञ्जूल–पु., तूलवर्तिका (वै. नि)
पिञ्जूष–पु., कर्णगूथम् (हे. च.)
पिञ्जेट–पु., नेत्रमलः (श. र.)
पिटक–पु., विस्फोटकः (मे.)
पिट (टि) का–स्त्री., पिडका (रा. व. २०) मसूरिका (वैद्यकम्)
पिटङ्काकी–स्त्री., कटुवृन्दावनः (वै. नि.)

पिटङ्काश–पु., मत्स्यभेदः । पर्वतोर्मिमत्स्यः (श. कल्प.)
पिटङ्कोटि (की)–स्त्री., इन्द्रवारुणीलता (प. मु.)
पिट्टक (का)–न., स्त्री., दन्तकिट्टकः (श. र.)
पिठ–पु., पीडा ।
पिडकालिका–स्त्री., नेत्रमलः (च. रक्तपित्त. नि.)
पिण्डक–पु., पिण्डमूलकः । पिण्डालुः (रा. व. ७) ' पिण्डको वातलः श्लेष्मी ग्राही वृष्यो महागुरुः ' (अत्रि. १६ अ.) शिलारसः । (ल.) न., गन्धबोलः । तीक्ष्णलौहम् (रा. व. ६।१३) नवनीतम् अन्नम् ।
पिण्डखर्जूर–पु., स्वनामख्यातवृक्षः (प. मु.)
पिण्डगो (ड) स–पु., गन्धबोलः (भा. अ. टी. रा.)
पिण्डतगर–पु., तगरपुष्पम् (वै. नि.)
पिण्डपाद–(द्य)–पु., हस्ती (त्रिका.)
पिण्डपुष्प–न., अशोकपुष्पम् । जपापुष्पम् (वै. नि.) पद्मपुष्पम् (मे.) तगरपुष्पम् (श. र.) पु., दाडिमवृक्षः (त्रिका.)
पिण्डपुष्पक–पु., शाकविशेषः । वास्तूकः (श. मा.)
पिण्डयोनि–स्त्री., योनिरोगभेदः (च. द. योनिरोगचि.)
पिण्डवीज–पु., कर्णिकारवृक्षः (रा. व. ९)
पिण्डशर्करा–स्त्री., खटीशर्करा (वै. नि.)
पिण्डहरिद्रा–स्त्री., ग्रन्थिहरिद्रा (वै. नि.)
पिण्डा–स्त्री., कस्तूरीभेदः । सा कुलत्थिकायाः क्वचित् स्थूला (रा. व. १२) हरिद्रा । वंशपत्रीतृणम् (भा.) खर्जूरीवृक्षः । पिण्डायासः (रा. व. १३)
पिण्डात–पु., सिल्हकः (र. मा.) गन्धरसः (रस. र. पिप्पल्यादिलौहे.)
पिण्डापा–स्त्री., नाडीहिङ्गुः ।
पिण्डाभ्र–न., करका (श. मा.)
पिण्डाम्ल–न., चाङ्गेरीलिकुचाम्लवेतसजम्बीरकर्पूरनारङ्गफलषाडवसमभागमिश्रितम् (रा. व. २२)
पिण्डार–पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. नि. २ भ.) ज्वरवृक्षविशेषः (मे.) कृष्णमदनवृक्षः न., फलशाकविशेषः । फलगुणाः–' पिण्डारं शीतलं बल्यं पित्तघ्नं रुचिकारकम् । पाके लघु विशेषेण विषशान्तिकरं लघु (भा. पू. १ भ. शा. व. ज्योतिष्मतीनस्ये.)
पिण्डाह्व–न., तगरपादुकम् (र. सा. सं.)
पिण्डितैल–न., शिलारसः (वै. नि.)
पिण्डिनी–स्त्री., गिरिकर्णिका (रा. व. २३.)
पिण्डिरिका–स्त्री., मञ्जिष्ठा, तण्डुलीयकम् (वै. नि.)
पिण्डिला–स्त्री., कर्कटीभेदः । गोडुम्बा । (श. च.)
पिण्डितकफल–न., कृष्णमदनफलम् पाण्डुवर्णमदनफलम् (सु. चि. २५अ.) मरुबकफलम् (वै. नि.)
पिण्डितरु–पु., महापिण्डिवृक्षः (रा. व. ९.)
पिण्डीर–पु., दाडिमवृक्षः (त्रिका.) समुद्रफेनः (अ. टी. रा. । नकुल १३अ.)
पिण्डोद्भवा–स्त्री., सुरा (वै. नि.)
पिप्या (का)–स्त्री., ज्योजिष्मतीलता । (प. मु. वै. नि.)
पितृतर्पण–न., तिलः (रा. व. १६.)
पितृप्रसू–स्त्री., सायङ्कालः (अम.)
पितृभोजन–पु., माषः (रा. व. १६.)
पित्तकफज्वर–पु., पित्तश्लेष्मज्वरः
पित्तकर–(कृत्)–त्रि., पित्तजनक द्रव्यम् । वंशकरीरादिः
पित्तघ्नी–स्त्री., गुडूची (श.च.)
पित्तप्रवर्तन– (न.,) ऊर्ध्वाधोमार्गेण पित्तनिर्गमम् ।
पित्तरेता–त्रि., पित्तभूयिष्ठशुक्रम् (रस. र. मूत्राघातचि.)
पित्तवर्ग–पु., पञ्चविधपित्तानि । तानि च मत्स्यगवाश्वरुरुबर्हिजानि । मतान्तरे वाराहच्छागमाहिषमात्स्यमायूरजानि ।
पित्तस्राव–पु., नेत्रसन्धिगतरोगः । यथा ' पीतभासं नीलमुष्णं जलाभं पित्तस्रावं स स्रवेत् सन्धिमध्यात् (सु. उ. २अ.)
पित्तहा–पु, पर्पटकः (त्रि.,) पित्तघ्नम् (वै. नि.)
पित्तानुबंध–पुं., पित्तानुबलः (वा. चि. ३ अ.)
पित्ताण्ड–पु., अश्वस्य अण्डस्कन्दरोगः (ज. द. ५० अ.
पित्तिका–स्त्री., शतपदीभेदः (सु. कल्प. ८ अ.)
पित्रर्ह–पु., माषकलायः (मे.)
पिनस–पु., नासारोगः। अपीनसम् (निदा.)
पिपासु–त्रि., तृष्णातुरः ।
पिपिली–स्त्री., पिपीलिका (वै. नि.)
पिप्पटा–स्त्री., शर्करा गुडशर्करा (त्रि का.)
पिप्पलपर्णी–स्त्री., मेषशृङ्गी ।
पिप्पलीखण्ड–पु., खण्डपिप्पली ।
पिपल्याद्यलेह–पु., हिक्कायाम् कासे च लेहः । पिप्पल्यामलकीद्राक्षाकोलास्थिममधुशर्करा विडङ्गपुष्करैर्युक्तो लेहो हन्ति सुदुर्जयम् । (र. स. चि. । रस. र.) अन्यः उदरे पिप्पलीमूलपिण्डाभत्रिकत्रयेन्दुसैन्धवैः । योजितो नियतं हन्ति लेहः सर्वोदरामयम् । पिण्डाभः गन्धरसः । इन्दुः कर्पूरं । सर्वसमं लौहचूर्णं ग्राह्यम् (रस. र.)

पिप्पिका–स्त्री., दन्तमलः (त्रिका.)
पियारक–न., स्वनामख्यातफलम् । (अर्क.)
पियालास्थिज–पु., पियालफलमज्जा ।
(भैष. शूलचि. पूगखण्डे)
पिलुक–पु., पीलुवृक्षः (श. र.)
पिलुनी(पर्णी)–स्त्री., मूर्वा (र. मा.)
पिल्लुका–स्त्री., करेणुका (श. मा.)
पिशाचघ्न–पु., श्वेतसर्षपम् (प. मु.)
पिशाचद्रु(वृक्ष)–पु., शाखोटवृक्षः (त्रिका. । रमा.)
पिशितरोहिणी–स्त्री., मांसरोहिणी (वै. नि.)
पिशितोदक–न., कुङ्कुमम् (वै नि.)
पिशिनी (पिशि)–स्त्री., जटामांसी (रा. व. १२)
पिशितक–पु., गोधूमः ।
पिशु(ना)–स्त्री., स्पृक्का (रा. व. ११) **ना**–ग्रन्थिपर्णी (वै. नि.)
पिष्टपाकभृत्–न., पिष्टपचनपात्रम् (अम. हे. च.)
पिष्टपाचक–त्रि., पिष्टकपाककारी ।
पिष्टपायस–पु., स्त्री., कृशरा (प. मु.)
पिष्टपूर–पु., घृतभर्जितगोधूमकृतखाद्यद्रव्यम् (त्रिका.)
पिष्टयोनि–स्त्री., खर्परपोलिका (वै. नि.)
पिष्टवर्ति–स्त्री., मुद्गादिकृतपिष्टकभेदः ।
पिष्टवान्–त्रि., शुक्रम् (भा. ने. रो. चि.)
पिष्टवैकृत–न., पिष्टान्नम् (वै. नि.)
पिष्टसौरभ–न., चन्दनम् (हारा.)
पिष्टात–पु., किङ्किरातः (त्रिका.)
पिस्त–न., पेस्ता इति प्रसिद्धं काबेलदेशीयफलम् । गुणाः– उष्णं दौर्बल्यहरं । अस्य वल्कलं अजीर्णे-हितम् ।
पीच–पु., अधरचिबुकम् (वै. नि.)
पीडा–स्त्री., पीडनम् (अम.) शारीरादिबहुविधरोगः (सु.)
पीडाभङ्गीरस–पु., शूलाधिकारे रसः (रस. चि.)
पीतकटुकी–स्त्री., पीतरोहिणी (प. मु.)
पीतकदली–स्त्री., स्वर्णकदली (वै. नि.)
पीतकन्द–न., गर्जरमूलम् (रा. व. ७)
पीतकरवीर–पु., पीतपुष्पकरवीरवृक्षः । गुणैः साधारण करवीरतुल्यः (रा. व. १०)
पीतकाञ्चन–पु., पीतपुष्पकाञ्चनभेदः । गुणाः–पीतस्तु काञ्चनो ग्राही दीपनो व्रणरोपणः । तुवरो मूत्रकृच्छ्रस्य कफवात्वोश्च नाशनः (वै नि.)
पीतकायता–स्त्री., पित्तजरोगः ।
पीतकावेर–न., कुङ्कुमम् । पित्तलम् । (मे.)
पीतकूष्माण्ड–न., वैदेशिककूष्माण्डः । गुणाः–' अपरं पीतकूष्माण्डं गुरु पित्तकरं परम् । अग्निमान्द्यकरं स्वादु श्लेष्मलं वातकोपनम् । (आत्रेयः)
पीतगन्धक–पु., गन्धकः (वै. नि.)
पीतघोषा–स्त्री., पीतपुष्पघोषालता (प. मु.)
पीतचम्पक–पु., स्वर्णचम्पकम् । (जटा.)
पीतजाति–स्त्री., स्वर्णजातिवृक्षः (वै. नि.)
पीतझिण्टी–स्त्री., पीतपुष्पझिण्टीक्षुपः । (वै. नि.)
पीततण्डुलिका–स्त्री., सर्जवृक्षः । (वै. नि.)
पीतदन्तता–स्त्री., पित्तजन्यदन्तरोगः ।
पीतदुग्धा–स्त्री., स्वर्णक्षीरी (हिं–चौक) क्षीरिणी (रा. व. ५) (वै. नि.)
पीतद्रुम–पु., हरिद्रावृक्षः (वा चि. ६)
पीतनखता–स्त्री., पित्तजन्यनखरोगः (वै. नि.)
पीतनाश–पु., क्षुद्रपणसः (वै. नि.)
पीतनी–स्त्री., शालपर्णी (मद.)
पीतनेत्रता–स्त्री., पित्तजनेत्ररोगः (भा.)
पीतपराग–पु., पद्मकेसरम् (वै. नि.)
पीतपर्णी–स्त्री., वृश्चिकाली (श. च.)
पीतपाकी (इन्)–पु., वाट्यालकभेदः (च. चि ८ अ.)
पीतपाठी (इन्)–पु., चित्रकवृक्षः (वै. नि.)
पीतपादप–पु., पृथुशिम्बश्योणाकवृक्षः (रा. व. ९.) पीतलोध्रवृक्षः (वै. नि.)
पीतपादा–स्त्री., सारिका (हे. च.)
पीतपिष्ट–न., शीषकम् (वै. नि.)
पीतपुष्पका–स्त्री., कर्कटीभेदः (वै. नि.)
पीतपृष्ठा–स्त्री., वराटिकाभेदः (रा. व. १३)
पीतप्रसव–पु., पीतकरवीरवृक्षः (रा. व. १०)
पीतफेन–पु., अरिष्टकवृक्षः (वै. नि.)
पीतबलि–पु., गन्धकः (वै. नि.)
पीतबालुका–स्त्री., हरिद्रा (त्रिका.)
पीतभस्म–न., भस्मीकरणेन पारदस्य पीतीकरणम् (र. सा. सं.)
पीतमणि–पु., पुष्परागमणिः (रा. व. १३)
पीतमण्डलदर्शन–पु., पित्तजन्यरोगः (निदा.)
पीतमण्डूक–पु., स्वर्णमण्डूकः (वै. नि.)
पीतमस्तक–पु., वृद्धश्येनपक्षी (वै. नि.)
पीतमुण्ड–पु., हरिणभेदः (वै. नि.)

पीतमूली–स्त्री., रेचकमूलविशेषः । रेउचिनि इति लोके । 'गन्धिनी पीतमूली च बल्या सा मृदुरेचनी । हन्त्यजीर्णमतीसारं वह्निमान्द्यमरोचकम् । विट्सङ्गं शीतपित्तञ्च दुष्टव्रणविरोहणी (अर्वाचीनाः)

पीतरत्न (क)–न., मणिविशेषः । पोखराज इति लोके (भा. पू. १ भ. रत्न. व.)

पीतरस–पु., कशेरुः (प. मु.)

पीतरोहिणी–स्त्री., पीतकटुकी (प. मु.) काश्मरी (भा.)

पीतल (क)–न., रीतिः । (रा. व. १३) पीतवर्णः । (वै. नि.)

पीतलोह–न. पित्तलम् । (हे. च.)

पीतवल्ली–स्त्री., आकाशलता । (वै. नि.)

पीतबीजा–स्त्री., मेथिका (रा. व. ६)

पीतशा (सा) ल-(क)–पु., असनवृक्षः । अस्य त्वक्-क्काथः उदरामयघ्नः प्रलेपः नाडीव्रणे हितः ।

पीतशालि–पु., सूक्ष्मशालिः । (रा. व. १६)

पीतसहाचर–पु., पीतझिण्टी । (च. द. वा. व्वा. म. प्रसारणीतैले)

पीतसारि–न., स्रोतोञ्जनम् (श. च.)

पीतस्कन्ध–पु., शूकरः । (वै. नि.)

पीतस्फटिक–पु., पुष्परागमणिः । (प. मु.)

पीतस्फोट-(टा)–पु., स्त्री., पीतवर्णस्फोटकः । वै. नि. पामा (रा. व. २०-१५)

पीताभ्र–न., पीतवर्णाभ्रभेदः । (रा. व. १३)

पीतावलोकन–पु., पित्तजन्यदृष्टिरोगः

पीताश्मा (इन्)–पु., पुष्परागमणिः (रा. व. १३)

पीति–स्त्री., पानम् । (रा.व. २०) पु., अश्वः (अम) करिशुण्डी (श. च.)

पीतिनी–स्त्री., शालपर्णीक्षुपः (रा. व. ४)

पीती(इन्)–पु., अश्वः (अम.)

पीथ–न., घृतम् (उणा.) जलम् (हे. च.)

पीनद्रु–पु., सरलवृक्षः (रा. व. १२)

पीनसा–स्त्री., कर्कटी (रा. व. ७)

पीनस्कन्ध–पु., वनशूकरः । महिषः (वै. नि.)

पीपरि–पु., ह्रस्वप्लक्षः (रा. व. ११)

पीयु–पु., काकः । पेचकः (त्रिका.) न., स्वर्णम् ।

पीयूषसिन्धुरस–पु., अर्शोधिकारे रसः (रस. चि.)

पीयूषोत्था–स्त्री., शालुंमिश्रि इति ख्यातं द्रव्यम्, इयं बल्या ।

पीलक–पु., पिपीलिका (हे. च.)

पीला–स्त्री., पिपीलिका (वै. नि.)

पीलुपत्रा–स्त्री., क्षीरमोरटी (वै. नि.)

पीलूषणा–स्त्री., पीलूफलम् (वै. नि.)

पीवा–स्त्री., जलम् (उणा.)

पुंजातुक–पु., जीवनवृक्षः (हारा.)

पुंध्वज–पु., मूषिकः (वै. नि.)

पुंलक्षणा–स्त्री., पुरुषलक्षणा नपुंसकस्त्री (वै. नि.)

पुंलिङ्ग–पु., शिस्नम् (हे. च.)

पुंवत्सा–स्त्री., पुरुषप्रसविनी (च. शा. ८ अ.)

पुंवृष–पु., गन्धमूषिकः (त्रिका.)

पुंश्चल–त्रि.,कच्छूरोगी (मे.)

पुंश्चिह्न–न., शिश्नम्

पुंस्त्वदा–स्त्री., लक्षणाकन्दः (वै. नि.)

पुंस्त्वनाशन–पु., तृणभेदः (वै. नि.)

पुक्कसी–स्त्री., नीली (शर.) पुष्पकलिका (मे.)

पुङ्ख-(क)–पु., शरमूलम् । शरपुङ्खामूलम् (रस. चि.)

पुङ्खिका–स्त्री., शरपुङ्खा (वै. नि.)

पुङ्गव–पु., ऋषभकः (रा. व. ५.)

पुच्छ–पु., न., लाङ्गूलम् (अम.) पिच्छम् (उणा.)

पुच्छटी–स्त्री., अङ्गुलीमोटनम् (त्रिका.)

पुच्छदा–स्त्री.,लक्षणाकन्दः (रा. व. ८.)

पुच्छफल–पु., बदरीवृक्षः (प. मु.)

पुच्छमूल–न., पुच्छमूलतः मांसलभागः (ज. द. २अ.)

पुच्छा (च्छिका)–स्त्री., माषपर्णी (वै. नि.)

पुच्छाधोभागलोहित–पु., पेचकः (वै. नि.)

पुच्छी (इन्)पु., अर्कवृक्षः (रा. व. १०)कुक्कुटः (श. च.)

पुञ्जदल–न., सुनिषण्णशाकः (प. मु.)

पुटकिनी–स्त्री., पद्मिनी (हे. च.)

पुटग्रीव–पु., ताम्रकुण्डम् (मे.)

पुटपत्री–स्त्री., पत्रशाकभेदः (भैष. उपदंश चि.)

पुटराग–न., पत्राङ्गचन्दनम् (रा. व. १२)

पुटलौह–न., रुचकलौहम् (विदुरी) (प. सु.)

पुटस्राव–पु., नासास्रावरोगः (वै.नि.)

पुटस्वेद–पु., वालुकापुटकैः स्वेदः (ज. द. १८ अ.)

पुटालु–पु., कोलकन्दः (रा. व. ७.)

पुण्ड-(क.)–पु., तिलकवृक्षः (जटा.)

पुण्डराह्व–पु., पुण्डरिकवृक्षः (वै. नि.)

पुण्डरी-(इन्)–पु., पुण्डरीकः (वै. नि.)

पुण्ड्रका–स्त्री., माधवीलता । तिलकवृक्षः । शुक्लजाती-पुष्पवृक्षः (वै. नि.)

पुण्ड्रशर्करा–स्त्री., पुण्ड्रेक्षुभवशर्करा गुणाः–स्निग्धा क्षीणे क्षयेऽरोचके च हिता (रा. व. १४.) पञ्चविधेक्षु शर्करा) वै. नि.)

पुण्ड्रसाह्व–पु., पुण्डरीकवृक्षः (वै. नि.)

पुण्यगन्ध–पु., महानागकेशरचम्पकवृक्षः (त्रिका.) (स्त्री., स्वर्णयूथिका (वै. नि.)

पुण्यदर्शन–पु., चाषपक्षी (रा. व. १९.)

पुण्यफल–पु., उद्यानम् (श. मा.)

पुण्यसागर–पु., पुष्करमूलम् (वै. नि.)

पुत्रजननी–स्त्री., पुत्रदात्रीलता (वै. नि.)

पुत्रपिच्चट–न., रङ्गम् (र. मा.)

पुत्रमञ्जरि–(री)–स्त्री., पुत्रदात्री (भा. म. ४भ. योनि.-रोगचि.

पुत्रशृङ्गी–स्त्री., अजशृङ्गी (रा. व. ९)

पुत्रश्रेणिका–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. नि.)

पुनःखुरी (इन्)–पु., अश्वस्य पादरोगभेदः । लक्षणं–'प्रसरन्ति खुरा यस्य अथवा पादुकोपमाः । पुनः-खुरीति तं विद्यादश्वं विह्वलगामिनम् (ज. द. ३९. अ.)

पुनर्नवागुग्गुलु–पु., वातरक्ते गुग्गुलुः (भा.)

पुनर्नवाद्यघृत–न., शोथाधिकारे घृतम् (रस. र.)

पुनर्नवाष्टक–पु., शोथे कषायः । 'पुनर्नवानिम्बपटोल-शुण्ठीतिक्तामृतादार्व्यभयाकषायः । सर्वाङ्गशोथोदर पार्श्वशूलश्वासान्वितं पाण्डुगदं निहन्ति (भैष. शोथ. चि.)

पुन्नाग–न., पुन्नागपुष्पम् । देववल्लभं राजचम्पकमिति लोके (सु. सू. ३८ अ. एलादिः ड.)

पुन्नागपुष्प–न., पुन्नागकुसुमम् (वै. नि.)

पुप्फुल–पु., जठरवातः (निदा.)

पुप्फुस–पु., वामपार्श्वस्थमलाशयः । कोष्ठम् (श. च.)

पुमान्–पु., पुन्नागवृक्षः, (रा. व. १०) पुरुषः (च.)

पुरश्छद–पु., उलपः । स्तनाग्रम् (वै. नि.)

पुरट–न., सुवर्णम् (विदाधमाधवः)

पुरन्दर–न., चविका (श. च.) मरिचम् (वै. नि.)

पुरा–स्त्री., सुगन्धद्रव्यम् । मुरामांसी (रा. व. १२)

पुराणकिट्ट–न., लौहमलः (वै. नि.) (पाण्डु. चि.-मदेभसिंहसूते.)

पुरातनगुड–पु., प्राचीनगुडः । गुणाः–पित्तघ्नः वातरोगघ्नः त्रिदोषघ्नः रुच्यः हृद्यः संयोगेन ज्वरहरः तापघ्नः विण्मूत्रशोधनः अग्निकरः पाण्डुप्रमेहघ्नः स्निग्धः स्वादुतरः लघुः श्रमघ्नः पथ्यश्च (रा. व. १४)

पुरातनधान्य–न., संवत्सराद्युषितं धान्यम् । तच्च लघु अनभिष्यन्दि । उक्तञ्च 'वर्षातीतं सर्वमन्नं परित्यजति गौरवम् । ' (वा. सू. ६ हेमाद्रिः)

पुरीतत्–न., अन्त्रम् (रा. व. १८)

पुरीमोह–पु , धुस्तूरवृक्षः (श. मा.)

पुरीषकृमि–पु., विष्ठाजातकृमिः (मा. नि.)

पुरीषण–पु., विष्ठा (त्रि. का.)

पुरीषम–पु., माषः (त्रिका.)

पुरीषसङ्ग–पु., मलरोधः (च. सिद्धि. २ अ.)

पुरीषोष्णता–स्त्री., पित्तजन्यरोगः (भा.)

पुरुद–न., स्वर्णम् (भैष. भग. चि.)(व्रणगजाङ्कुशे)

पुरुदंशक–पु., हंसः (त्रिका.)

पुरुषक्षीरमोरट–पु., मोरटा (वै. नि.)

पुरुषव्याधि–पु., उपदंशः (भा.)

पुरुहूत–पु., इन्द्रयवः (वै. नि.)

पुरोगति–पु., कुक्कुरः । (धरणि)

पुरोडास(डाश)–पु. घृतम् । (त्रिका.) पिष्टकचमसी । सोमलतारसः । (हे. च.)

पुरोद्भवा–स्त्री., महामेदा । (र. मा.)

पुलाकी(इन्)–पु., वृक्षः । (हे. च.)

पुलिकिर–पु., सर्पः (वै. नि.)

पुलोमा–स्त्री., वचा (वै. नि.)

पुलोमही–स्त्री., अहिफेनः (वै. नि.)

पुषा–स्त्री., लाङ्गलीवृक्षः । (श. च.)

पुष्करक–न., पुष्करमूलम् । (चि. क. क. १ स्तबकः)

पुष्करणी–स्त्री., क्षुद्रजलाशयः (वै. नि.)

पुष्करव्याघ्र–पु., गृध्रः (वै. नि.)

पुष्करसागर–पु., पुकरमूलम् । (वै. नि.)

पुष्करस्रजौ–पु., अश्विनीकुमारौ । (श. र.)

पुष्कराङ्गिज (क)–न., पुष्करमूलम् । (वै. नि.)

पुष्कराद्य–न., पुष्करमूलम् (वै. नि.)

पुष्कराद्या–स्त्री., स्थलपद्मिनी (रा. व. ५)

पुष्करुह–न., पुष्करमूलम् (वै. नि.)

पुष्कलक–पु., गन्धमृगः (मे.)

पुष्पकीट–पु., भ्रमरः । (त्रिका.)

पुष्पगण–पु., पुष्पवर्गः । यथा चतुर्धा स्थलपद्मानि सेवती गुलदावती । नेपाली च गुलाबश्च गुलाबासश्च दण्डिनी । जाती यूथी राजवल्ली क्षुद्रयूथी त्रिधा मता । चम्पको नागचम्पश्च बकुलश्च कदम्बकः । कुन्दश्च शिवमल्ली च द्विकुब्जः केतकी द्विधा ।

किङ्किरातः कर्णिकारी द्वाशोकी बाणपुष्पकम् । कुरुण्टकश्चतुर्धा च तिलकोमुचकुन्दकः बन्धूकश्च चतुर्धा स्याज्जपा द्वेधा वसुन्धरी । अगस्तिर्दमनो मारुः पपरी बहुवर्णिका । द्विःपाटल सूर्यमुखी द्वाशः पुष्पगणस्त्वयम् (अर्कचि.)

पुष्पगन्ध–पु., यवनालवृक्षः । वेतसवृक्षः (वै. नि.)

पुष्पगवेधुका–स्त्री., नागबला (वै. नि.)

पुष्पघातक–पु., वंशः (श. मा.)

पुष्पचामर–पु., दमनवृक्षः (त्रिका.) केतकवृक्षः (श. मा.)

पुष्पजासव–पु., पद्मादिदशपुष्पोत्थासवानि । ' पद्मोत्पल-नलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधूकप्रियङ्गु-धातकीपुष्पदशमाः पुष्पासवा भवन्ति '
(च सू २५ अ)

पुष्पद–पु., वृक्षः (हे. च.)

पुष्पनि(लि)क्ष–पु., भ्रमरः (श. च.)

पुष्पन्धय–पु., भ्रमरः । (रा. व. १९)

पुष्पपथ–पु., योनिः । भगः (त्रिका.)

पुष्पपाण्डु–पु., मण्डलिसर्पभेदः । (सु. कल्प. ४ अ.)

पुष्पपिण्ड–पु., अशोकवृक्षः (वै. नि.)

पुष्पफलशाक–पु., पुष्पशाकफलशाकमात्रः । अलाब्वादिः । ' पित्तघ्नान्यनिलं कुर्यात् तथा मन्दकफानि च । सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च '।

पुष्पमञ्जरी–स्त्री., घृतकरञ्जः । (वै. नि.)

पुष्पमास–पु., वसन्तसमयः । (रा. व. २१)

पुष्पमृत्यु–पु., देवनलवृक्षः । (वै. नि.)

पुष्परक्त–पु., सूर्यमणिवृक्षः । (श. च.)

पुष्परज–न., मकरन्दः । पुष्पपरागः । (वै. नि.)

पुष्परसाढ्य (य)–न., मधु (रा. व. १४)

पुष्परसोद्भव–न., मधु (वै. नि.)

पुष्परेणु–पु., पुष्परागः (श. र.)

पुष्परोचन–पु., नागकेसरवृक्षः । (त्रिका)

पुष्पवती–स्त्री., रजस्वला (अम.)

पुष्पवर्षिणी–स्त्री., निर्गुण्डी (वै. नि.)

पुष्पवल्लभ–पु., मल्लिकापुष्पवृक्षः । (प. मु.)

पुष्पशर्करा–स्त्री., पुष्पोद्भूतशर्करा गुणाः–स्वादुः हृद्या शीतला गुरुः पित्तरक्तघ्नी च । (वै. नि.)

पुष्पसमय–पु., वसन्तकालः । (अम.)

पुष्पसिता–स्त्री., सितशर्करा । (वै. नि.)

पुष्पहासा–स्त्री., ऋतुमती स्त्री (श. च.)

पुष्पहीना–स्त्री., उदुम्बरवृक्षः । (श. च.) रजःशून्या (हे. च.)

पुष्पा (ह्वा)–स्त्री., बृहच्छतपुष्पा

पुष्पान्ता–स्त्री., धातकीवृक्षः । (वै. नि.)

पुष्पाम्भ–(र्क)–न., पु., सेवत्यादिपुष्पोत्थार्कः । 'सेवन्ती शतपत्री च वासन्ती गुलदावदी । चामला यूथिका चम्पा बकुलश्च कदम्बकः । छादयेत् केतकी-पत्रैः ग्राह्याऽर्को गुरुमार्गतः ।
पुष्पार्क इति विख्यातो मरिचैः सहितं पिबेत् । गुणाः– मण्डलैकप्रयोगेण क्लीबोऽपि पुरुषायते । रोगानीकन्तु यक्ष्माणं हन्यात् (अर्क. चि.)

पुष्पिका–स्त्री., दन्तमलः (हारा.) मूत्रमार्गः । रक्तार्क-वृक्षः (र. मा.) लिङ्गमलः (हे. च.)

पुष्पिणी–स्त्री., धातकीवृक्षः । तूलकः । स्वर्णकेतकी (वै. नि.)

पुष्पी–स्त्री., स्वर्णकेतकीवृक्षः (रा. व. १९)

पुष्पेन्द्रा–स्त्री., माधवीलता (वै. नि.)

पुष्पेभ–पु., नागकेसरवृक्षः (वै. नि.)

पुष्पोद्भवा–स्त्री., पुष्पशर्करा (वै. नि.)

पुष्यलक–पु., कस्तूरीमृगः (मे.)

पुस्तकशिम्बिका– स्त्री., पुस्तशिम्बी (वै. नि.)

पुस्तकाख्या– ,, ,, ,,

पुस्तमय– त्रि., वस्त्ररचितः (सुसू. ९)

पुस्तशिम्बी–स्त्री., शिम्बीलताभेदः

पुस्फुस–पु., फुस्फुसरोगः ।

पूगपीठ–न., निष्ठीवनपात्रम् (त्रिका.)

पूगपुष्पिका–स्त्री., विवाहपुष्पम् (त्रिका.)

पूगमण्ड–पु., क्षुद्रवृक्षः (वै. नि.)

पूगरोट (क)–पु., हिन्तालवृक्षः (त्रिका.) खर्जूरविशेषः (वै. नि.)–वोट इत्यपि पाठो दृश्यते ।

पूगी (इन्)–पु., गुवाकवृक्षः (मद. १ व) (**गी**)–स्त्री., गुवाकम् ।

पूगीफल–न., गुवाकम् (वै. नि.)

पूजनी–स्त्री.,–चटका (भ.)

पूततृण–(**दर्भ**)–पु., सितदर्भः (रा. व. ८)

पूतन–पु., गुदकुन्दरोगः (वा. उ. २. अ.)

पूतनी–स्त्री., स्वनामख्यातसुगन्धशाकः । पुदिना इति सर्वत्र । (प. मु.) गुणाः– कामलाहरी, अरोचकघ्नी मूर्च्छाघ्नी वमिघ्नी । शुष्कवृक्षः–स्निग्धताकरः आग्नेयः उत्तेजकश्च । बालरोगविशेषः (सु. उ. २७ अ.)

पूतिक–न., पुरीषम् (रा. व. १८)

पूति (ती) क–पु., करञ्जविशेषः

पूतीकजा–स्त्री., गन्धमार्जाराण्डम् (वै. नि.)
पूतिकण्टक–पु., इङ्गुदीवृक्षः (वै. नि.)
पूतिकन्या–स्त्री., पूतिका (प. मु.)
पूति (ती) का–स्त्री., करजवृक्षः उपोदका (अ. टी. भ.)
पूतिकामक्षिका–स्त्री., पृथुमधुमक्षिकाविशेषः (वै. नि.)
पूतिकामुख–पु., शम्बूकम् (श. मा.)
पूतिकाह्व–पु., पूतिकरञ्जः (वै. नि.)
पूतिकेसर–पु., गन्धमार्जारः खाटासीति लोके । चन्दनादितैले प्रयोज्यः
पूततैला–स्त्री., ज्योतिष्मतीलता (र. सा. सं. भैष. ज्वरकुञ्जरपारीन्द्ररसे)
पूतिद–पु., तरुबिडालः (वै. नि.)
पूतिदला–स्त्री., तेजपत्रम् (च. द. वातव्याधिचि. एलातैले)
पूतिपल्लवा–स्त्री., राजसुषवी (प. मु.)
पूतिपुष्प–पु., इङ्गुदीवृक्षः (प. मु.)
पूतिपुष्पिका–स्त्री., मधुमातुलुङ्गवृक्षः (प. मु.)
पूतिमज्जा–स्त्री., इङ्गुदीवृक्षः ।
पूतिमूषिका–स्त्री., छुछुन्दरी ।
पूतियुग्दला–स्त्री., गन्धतृणम् । रोहिषतृणम् (वै. नि.)
पूतिरक्त–पु., नासारोगभेदः (निदा.)
पूतिवर्वरी–स्त्री. वनतुलसी (वै. नि.)
पूतिवात–पु., बिल्ववृक्षः (र. मा.)
पूतिवृक्ष–पु., श्योणाकवृक्षः (प. मु.)
पूतिशाक–पु., बकवृक्षः (प. मु.)
पूतिशारिजा–स्त्री.,–गन्धरवट्टासः (त्रिका.)
पूती–स्त्री., पूतीकरञ्जः ।
पूत्यण्ड–पु., कस्तूरीमृगः (मे. ।) गन्धकीटः (मे. ।)
पूपला–स्त्री., पिष्टकविशेषः (हे. च.)
पूयारि–पु., निम्बवृक्षः (श. च.)
पूयास–न., पूयम् (वै. नि.)
पूर (रि) णी–स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (अम.,)
पूरि (ली) का–स्त्री., पूरभरितापूप, तत्साधनं यथा- 'माषाणां पिष्टिकां युञ्जात् लवणार्द्रकहिङ्गुभिः । तया पिष्टिकया पूर्णा समिता कृतपोलिका । ततस्तैलेन पक्वा सा पूरिका कथिता बुधैः । गुणाः– रुच्या स्वाद्वी गुरुः स्निग्धा बल्या पित्तास्रदूषिका । चक्षुस्तेजोहरी चोष्णा पाके वातविनाशिनी । तथैव घृतपक्वापि चक्षुष्या रस ? (रक्त) पित्तहृत् (भा. पू. २भ.)
पूरित–न., अन्यम् (वै. नि.)
पूरुष–पु., मनुष्यः । पुरुषः (वै. नि.)
पूर्णक–पु., ताम्रचूडः (मे. ।)
पूर्णकोषा–स्त्री., यवपिष्टमयभक्ष्यद्रव्यम् (सु. चि. १०अ.)
पूर्णगर्भा–स्त्री., पूरणपोलिका । वै. नि.).
पूर्णचन्द्र (र्णाभ्र) रस–पु., अहण्यां रसः (रस. चि. भैष.)
पूर्णिका–स्त्री., नासाछिन्नी पक्षी । (त्रिका.)
पूर्य (र्व)–पु., तूतवृक्षः (वै. नि.)
पूर्वसन्ध्या–स्त्री., प्रातःकालः ।
पूर्वाग्र–पु., लाजा । (श. चि.)
पूलक–पु., कटिप्रोथः ।
पूष–पु., पौषमासः । ब्रह्मदारुवृक्षः (अम.)
पूषक–पु., पारिशवृक्षः (रा. व. ९)
पूषा–स्त्री., पाठा (रा. व. ९)
पृक्का–स्त्री., पिडिङ्गनामशाकः (प. मु.) (हिं–पुरी) (भा. पू. १ अ.) (सु. सू. ३८ अ.) एलादिः । पृक्कापुष्पम् (च. द. वातव्याधिचि. म. प्रसारणीतैले । अष्टादशशतिकप्रसारणीतैले) लताकस्तूरी (वै. नि.)
पृथक्छद–पु., अक्षोटवृक्षः (वै. नि.)
पृथक्त्वचा–स्त्री., मूर्वा (र. मा.)
पृथक्पत्र–पु., सप्तपर्णवृक्षः (वै. नि.)
पृथगालु–पु., पिण्डालुः (प. मु.)
पृथिका–स्त्री., शतपदी (श. मा.)
पृथिवीकन्द–पु., भूकन्दः (वै. नि.)
पृथिवीगुणा–पु., अस्थिचर्मनखमांसरोमाणि (रस. र. ज्वरचि.)
पृथिवीपति–पु., ऋषभकौषधम् (मे.)
पृथिवीभव–न., मृत्तिकाक्षारः (वै. नि.)
पृथु–स्त्री., हिङ्गुपत्री (रा. व. ६) कृष्णजीरकः (प. मु. भा.) स्थूलकृष्णजीरकः । गुणाः— 'कटुतिक्तोष्णा वातगुल्मघ्नी आध्मानहरी दीपनी च।' पुनर्नवा । मेदा । धारिणी (रा. व. २३) तरुबुध्नः (रा. व. २) अहिफेनः (श. र.)
पृथुकन्द–न., तृणविशेषः (वै. नि.) (विश्व)
पृथुकालुकी–स्त्री., रक्तालुभेदः (भा. पू. १ अ.)
पृथुकील–पु., राजबदरः (रा. व. ११)
पृथुकृष्ण–पु., जीरकः (वै. नि.)
पृथुगन्धा–स्त्री., गन्धशठी (वै. नि.)
पृथुरोमा–स्त्री., मत्स्यभेदः (अर्क. चि.)
पृथुशिरा–स्त्री., कृष्णजलौका (सु. सू. १३)

पृथुशृङ्गक–पु., मेषविशेषः (वै. नि.)
पृथुस्कन्ध–पु., वनशूकरः (रा. व. १९)
पृथूदर–पु., मेषः (हारा.)
पृथ्वीकुवरक–पु , श्वेतमन्दारार्कः (रा. व. १०)
पृदाकु–पु., हस्ती । वृक्षः (उणा.) सर्पः (अम.) वृश्चिकः । व्याघ्रः (मे.)
पृश्नि–(श्नी)–स्त्री., पृश्निपर्णी (श. र. । सु. चि. १७ अ.)
पृश्निका–स्त्री., जलवृक्षविशेषः ।
पृषन्ति–पु., जलबिन्दुः ।
पृष्ठग्रन्थि–पु., गडुरोगः (रा. व. २०)
पृष्ठचक्षु–पु., कर्कटः (वै. नि.)
पृष्ठदृष्टि–पु., भल्लूकः (रा. व. १९)
पृष्ठरूक्ष–न., मरिचम् (वै. नि.)
पृष्ठशृङ्ग–पु., आरण्यछागः (हे. च.)
पृष्ठशृङ्गी (इन्)–पु., महिषः (श. र.) नपुंसकः (मे.) मेषः (वै. नि.)
पृष्ठक्षिति–पु., नन्दिवृक्षः (वै. नि.)
पृष्ठ्य–पु., अश्वः (अम.) न., पृष्ठास्थिसमूहः (वै. नि.)
पृष्णि–स्त्री., पार्ष्णिभागः (उणा.)
पेच–(क)–पु., उलूकपक्षी (अम. श. र.)
पेचकी (इन्)–पु., करी (श. र.)
पेचिल–पु., द्विरदः (त्रिका.)
पेचु–(क)–पु., मुचुकुन्दवृक्षः । केसुकवृक्षः (र. मा.) नाडीचशाकः । पेचुकः (त्रिका.)
पेचुका–स्त्री., पेचुकः । केसुकः (र. मा.)
पेचुनी(ली)–स्त्री., पेचुकशाकः (त्रिका.) केसुकः (र. मा.)
पेटक–(टिका)(टी)–पु., स्त्री., कुबेराक्षी (र. मा. भैष. बालचि. च. द. ' पेटी पाठामूलात् ')
पेड–न., घृतम् । अमृतम् (उणा.)
पेडा–स्त्री., पेटिका । वनालुकः (वै. नि.)
पेय–न., अष्टविधान्नान्यतमम् (रा. व. २०) जलम् (मे.) दुग्धम् (श. च.)
पेयु(यू)ष–पु., न., नवप्रसूतायाः गोः सप्तदिनाभ्यन्तरीणदुग्धम् । ' आसप्तरात्रप्रसवात् क्षीरं पेयुषमुच्यते, (र. मा.) प्रत्यग्रघृतम् (वै. नि.)
पेर(रो)ज–न., स्वनामख्यातोपरत्नविशेषः । पेरोजा इति पारस्ये । तच्चभस्माङ्ग हरितभेदेन द्विविधम् । गुणाः– अतिकषायं मधुरं अतिदीपनं शूलादिहरं तत्संयोगेन स्थावरजङ्गमोभयविधविषं हन्याच्च (रा. व. १३.)
पेल–न., अण्डकोषः (हे. च.) सूक्ष्मांशः (वै. नि.)
पेली(इन्)–पु., घोटकः । (वै. नि.)
पेलुवास–पु.,कालसरः । (वै. नि.)
पेशकृत्–पु., कीटविशेषः । (वै. नि.) पेशस्कृत् इति (शब्दकल्पद्रुम.)
पेशि–स्त्री., डिम्बम् (अम.) । आढकादिद्विदला (वै. नि.) आम्रादिशलाटुः । खण्डीकृत आर्द्रकशलाटुः । 'हरितार्द्रकस्य शस्त्रकृत्तान्त्रा दीर्घाकारा अवयवाः पेशयः उच्यन्ते । (वा. चि. ७.)
पेशिकोष–पु., अण्डम् । (अटी.)
पेश्यण्ड–न., मांसगोलकः (वै. नि.)
पेहिता–स्त्री., प्रसारणी (वै. नि.)
पैङ्गि–पु., ऋषिविशेषः (च.)
पैज(ऋजुष)–पु., कर्णम् । (हे. च.)
पैठर–न., स्थाली पक्वमांसादिः । (अम.)
पैत्तिकी–स्त्री., योनिव्यापद्विशेषः (वा. उ. ३३ अ.)
पैष्टी–स्त्री., विविधधान्यविकारजातं अम्लमद्यम् । गुणाः– कटूष्णा तीक्ष्णा मधुरा अतिदीपनी च । (रा. व. १४. ।) पैष्टी सन्दीपनी रुच्या कफकृद्वातनाशिनी । पित्तला पाण्डुरोगाणां कारिणी बहुधा मता (अत्रि. १९ अ.)
पोगण्ड–पु., अपोगण्डः । (हला.)
पोटाहिका–स्त्री., गुझा (वै. नि.)
पोटिक–पु., विस्फोटकः (कश्चित्)
पोडु––पु., कपालास्थितलम् । (रा. व. १८.)
पोताण्ड–पु., अश्वस्य मुष्करोगभेदः । ' शूनौ पक्वौ तुरङ्गस्य मुष्कौ यस्य सवेदनौ । त्रिकस्तम्भेन युक्तस्य तस्य पोताण्डमादिशेत् । (ज. द. ५०अ.)
पोताधान–न., शिशुमीनपुंस्त्रः । गुणाः-पोतधानन्तु सर्वेषां सुस्निग्धं लघुरोचनम् (राज. ३प.)
पोतास–पु., कर्पूरविशेषः (रा. व १२.)
पोत्र–न., वस्त्रम् । शूकरमुखाग्रभागः (मे.)
पोत्रायुध–पु., शूकरः (रा. व. १९.)
पोत्रिदंष्ट्राज–न., शूकरदन्तजरत्नम् (वै. नि.)
पोत्री (इन्)–पु., शूकरः (वै. नि.)
पोदिका–स्त्री., कलम्बीशाकः (प. मु.)
पोल (क)–पु., कटिप्रोथम् (अ. टी. भ.)
पोलिका (ली)–स्त्री., पिष्टकभेदः । (त्रिका.) यथा ' कुर्यात् समितयातीव तन्वी पर्पटिका ततः । स्वेदयेत्तप्तके तान्तु पोलिकां तां जगुर्बुधाः । गुणाः– मण्डकवत् (भा.)

पोषयित्नु-पु., कोकिलः (उणा.)
पोष्टा (ष्ट्र)-पु., पूतिकरञ्जः (श. च.)
पौगण्ड-न.,पौगण्डावस्था। तच्च षष्ठाब्दात् दशमाब्द-पर्यन्तम् (रा. व. १८)
पौतव-न., परिमाणम् (अ. टी. भ.)
पौतिनासिक्य-न.,नासिकारोगः, पीनसम् (निदा.)
पौत्रिक-न., पुत्रिका नाम मक्षिकाभिरायोजितं घृतवर्ण-मधु (जटा.) अन्नजा मक्षिकाः पिङ्गाः पुत्रिका इति कीर्तिताः। तज्जातं मधु धीमद्भिः पौत्रिकं समुदाहृतम्। गुणाः- रूक्षं उष्णं रक्तपित्तदाहघ्नं घृतवर्णञ्च (रा. व. १४)
पौत्रिकशर्करा-स्त्री., पौत्रिकमधुकृतशर्कराः, गुणाः-तन्मधुतुल्याः (रा. व. १४)
पौनर्णव-पु., सन्निपातज्वरभेदः। 'उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तात् नितान्तमुच्छ्वसिति। तं पौनर्णवजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात्
(भल्लुकीतन्त्रम्)
पौरस-पु , नखीनामगन्धद्रव्यम् (वै. नि.)
पौरोगव-पु., पाकशालाध्यक्षः (अम.)
पौली-स्त्री., पोलिका। पाकावस्थागतयवादिः (अम.)
पौष-पु., वर्षस्य नवमः मासः (अम.)
पौष्करमूल-पौष्कराह्व- } न., पुष्करमूलम् (मद. व. १)
पौष्प-न., पुष्परेणुः (वै. नि.)
पौष्प (ष्पि) क न., पुष्पाञ्जनम् (रा. व. १३ वै. नि)
प्रकर-न., अगरुकाष्ठम् (मे.)
प्रकशी-स्त्री., शूकरोगः (निदा.)
प्रकाण्ड-पु., तरोः स्कन्धपर्यन्तभागः (रा. व. २)
प्रकाण्डर-पु., वृक्षः (श. च.)
प्रकाश (क) ज्ञाता पु., कुक्कुटः (श. च.)
प्रकीर्ण-पु., न., पूतिकरञ्जः (रा. व. ९।) चामरम् (त्रिका.) अश्वः (मे.)
प्रकुल-न., सुन्दरदेहः (त्रिका.)
प्रकृतिभोजन-न., स्वाभाविकाहारः (च. सू. १५ अ.)
प्रक्रिया-स्त्री., औषधादिक्रिया। चिकित्सा
प्रक्वथित-त्रि., शृतम्। प्रमथ्यारूपेण शृतम् (वा. चि. ८ अ.)
प्रखर-पु., सन्नाहः (त्रिका.) कुक्कुरः अश्वतरः (मे.)
प्रगण्ड-पु., कूर्परांसमध्यभागः (रा. व. १९)
प्रगतजानु-(क)-त्रि., दूरगतजानुः
प्रगन्ध-पु., पर्पटकः (रा. व. ५)
प्रग्राह-पु., तूलासूत्रम् (मे.)
प्रघण-पु., ताम्रपात्रम्। लौहमुद्गरः (मे.)
प्रघन-पु., मुद्गजातिभेदः (वै. नि.)
प्रचण्डमूर्ति-पु., वरुणवृक्षः (वै. नि.)
प्रचय-पु., उच्छ्रयः (भा.)
प्रचला-स्त्री., सरटः (वै. नि.)
प्रचलाकी (इन्)-पु., सर्पः। मयूरः (त्रि. का.)
प्रचलाङ्ग-पु., मयूरशिखा (वै. नि.)
प्रचलित-पु., सद्योव्रणविशेषः (वै. नि.)
प्रचार-पु., अक्ष्णस्य श्लैष्मिकाक्षिरोगः। प्रच्छादयति यद्दृष्टिं मांसं पर्यन्तवर्धितम्। प्रचारकाख्यं तं विद्या-न्नेत्ररोगं कफान्वितम्। (ज. द. ३० अ.)
प्रचेतसी-स्त्री., कट्फलवृक्षः। (रा. व. ९)
प्रचेल-न., पीतचन्दनम्। (श. च.) पीतमुद्गः (वै. नि.)
प्रचेलक-पु., अश्वः (श. मा.)
प्रचेलुक-पु., मानभेदः (त्रिका.)
प्रचोद(दि)नी-स्त्री., कण्टकारी (अम.) दुरालभा (वै. नि.)
प्रच्छर्दिका-स्त्री., वान्तिः (हे. च.)
प्रच्छादन-न., नेत्रच्छदः (ज. द. २ अ.) उत्तरीयवस्त्रम् (हे. च.)
प्रजल्प-पु., अतिभाषणम् (वै. नि)
प्रजादान-न., रौप्यम् (श. च.)
प्रजाहित-न., जलम् (श. मा.)
प्रज्ञविप्रिय-पु., षष्टिकधान्यम् (रा. व. १६)
प्रणा(ना)लस-पु., जीवशाकः। वास्तुकः (प. मु.)
प्रणालिका(ली)-स्त्री., जलनिर्गममार्गः। नस्यनलिका (च. द. नस्याधिकारे)
प्रतना(नी)-स्त्री., गोजिह्वा (रा. व. ४) वाक्यालक (वै. नि.)
प्रतल-पु., संहतविसृताङ्गुलिकरः। (रा. व. १८.)
प्रतापतपन (रस)-पु., सन्निपातज्वराधिकारे रसः (रस. कौ.)
प्रतापस-पु., श्वेतार्कः (अम.)
प्रतिकीर्ण-पु., मलादिव्याप्तः (च. इं.)
प्रतिघ-पु., मूर्च्छा (श. र.)
प्रतिघ्न-न.. अङ्गम् (श. च.)
प्रतिजिह्वा (ह्विका)-स्त्री., मूलजिह्वा (रा. व. १८. त्रिका.)

प्रतिपर्णशिफा–स्त्री., द्रवन्ती। (रा. व. ५.)
प्रतिबला–स्त्री., अतिबला (चि. क. क. प्रदरचि.)
प्रतिमा (न)–स्त्री., न., करिणो दन्तद्वयमध्यवर्तिशुण्डाभागः। गजदन्तबन्धः (त्रिका.)
प्रतिमूषिका–स्त्री., छुछुन्दरी (वै. नि.)
प्रतियत्न–पु., रचना (त्रिका.)
प्रतिरम्भ–पु., सन्तापः (निदा.)
प्रतिबिम्बदर्शक–पु., दर्पणम् (वै. नि.)
प्रतिविष्णुक–पु.,मुचुकुन्दवृक्षः (रा. व. १०.) क्षीरिणीभेदः (वै. नि.)
प्रतिबीज–न., तारनागाभ्रहेमकृतपारदनिबन्धनद्रव्यम्। 'नागाभ्रं वाहयेत्तारे हेम्नि च द्वादशे गुणे। प्रतिबीजमिदं पारदस्य निबन्धनम् (र. चि. ३ अ.)
प्रतिसमाधान–न., रोगमुक्तकरणम्। (वै. नि.)
प्रतिसर–पु., व्रणशुद्धिः। प्रभातकालः (वै. नि.)
प्रतिसारी(इन्)–त्रि., सारकद्रव्यमात्रम्। (वै. नि.)
प्रतिश्रुत्–स्त्री., छिक्का (वै. नि.)
प्रतीक–पु., शरीरावयवः (रा. व. १८) पटोलम् (भा. पू. १ भ. शा. व.) विलोमन् (मे.)
प्रतुण्डक–पु., जीवकशाकः (वै. नि.)
प्रत्यग्रगन्धा–स्त्री., स्वर्णयूथिका (वै. नि.)
प्रत्यङ्गिरा–स्त्री., कण्टकशिरीषवृक्षः।(च. द. भैष. विष.चि)
प्रत्यवसान–न., भोजनम् (र. मा.)(रा. व. २०)
प्रत्यश्मा(न्)–पु., गिरिमृत्तिका (त्रिका.)
प्रत्यानाह–पु., आनाहवातः (निदा.)
प्रत्युद्वार–पु., वायुजन्यरोगभेदः (वै. नि.)
प्रत्यु(त्यू)ष–पु., न., प्रभातम् (अ. टी. भ.)
प्रथमकुसुम–पु., शुक्लमरुबकवृक्षः (वै. नि.)
प्रथमनवनीत–न., प्रसवात् शतदिनानन्तरजातनवनीतम् (वै. नि.)
प्रथितालुकी–स्त्री., रक्तालुभेदः (भा.)
प्रदरान्तकलौह–न., प्रदराधिकारे लौहविशेषः (रस.र.)
प्रदिग्धमांस–न., पक्वमांसव्यञ्जनविशेषः।
प्रदीपन–पु., चित्रकवृक्षः (वै. नि. २ भ. अर्शचि. राजवल्लभरसे) स्थावरविषभेदः। लक्षणं यथा 'वर्णतो लोहितो यः स्याद्दीप्तिमान्दहनप्रभः। महादाहकरः पूर्वैः कथितः स प्रदीपनः (भा.)
प्रदीप्ता–स्त्री., लाङ्गलिका (वै. नि.)
प्रनाल(श)क–पु., वास्तूकशाकः जीवशाकः (वै. नि.)
प्रपादिक–पु., मयूरः (वै. नि.)
प्रपुन्नाट–पु., चक्रमर्दक्षुपः (रा. व. ४)
प्रपुन्नाटच्छद–पु., चणकवृक्षः (वै.नि.) चक्रमर्दपत्रम्।
प्रपुराणघृत–न., अतिपुरातनघृतम्। लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम् (सि. यो. उन्मादचि.)
प्रपुराणधान्य–न., पुराणधान्यकम् (च. चि. ५ अ.)
प्रपूरिका–स्त्री., कण्टकारी (श. च.)
प्रपोटक–पु., अश्वस्य पादरोगभेदः। 'प्रपोटकं विजानीयात् ग्रन्थिभिः कूर्चसम्भवैः। आमण्डकास्थिसङ्काशैः ग्रन्थिभिश्चातिकण्टकैः। (ज. द. ३८)
प्रबल–त्रि., बलवान्। पु., पल्लवम्। (श. मा.) स्त्री., प्रसारणीलता (वै. नि.)
प्रबलाकी (इन्)–पु., सर्पः। (विश्व)
प्रबाल–पु., न., स्वनामख्यातरत्नभेदः। गुणाः–'मधुरः अम्लः कफपित्तादिदोषघ्नः। स्त्रीवीर्यकान्तिकरः धारणात् माङ्गल्यश्च'। सूक्ष्मः घनः शिराहीनः वृत्तः–शुभकरः। गौरः कृष्णरूक्षः श्वेतः वक्रसूक्ष्मः अशुभकरः। (रा. व. १३) 'सारकः शीतलः कषायः स्वादुः वान्तिकरः चक्षुष्यश्च (राज) किशलयम् (मे.)
प्रबालफल–न., रक्तचन्दनम्। (भा.)
प्रबालिक–पु., जीवशाकः। (रा. व. ७)
प्रबोधिका–स्त्री., कुक्कुटी (वै. नि.)
प्रभाकर–पु., अर्कवृक्षः। (अम.)
प्रभाकरक्षीर–न., अर्कक्षीरम्। (वै. नि.) (२ भ. कर्णकज्वरचि.)
प्रभाकीट–पु., खद्योतः। (रा. व. १९)
प्रभाञ्जन–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (त्रिका)
प्रभात–न., प्रातःकालः। तत्र द्रष्टव्यं यथा 'वैद्यः पुरोहितो मन्त्री दैवज्ञोऽत्र चतुर्थकः। प्रभातकाले द्रष्टव्यो नित्यं स्वश्रियमिच्छता।
प्रभाभास–पु., कालविशेषः (वै. नि.)
प्रभूततीक्ष्णगन्धा–स्त्री., राजिका
प्रभृति–स्त्री., प्रकृष्टायोजनम् (च. सू. १६ अ.)
प्रमेषजा–स्त्री., काकोदुम्बरिका (रा. व. ११)
प्रमथ–पु., घोटकः (श. र.) स्त्री., (था) हरीतकी (म. द. व. १) पीडा।
प्रमथित–न., नवनीतम्। निर्जलतक्रम् (रा. व. १५)
प्रमद–पु., न., धस्तूरवृक्षः। तत्फलं च (श. च.) त्रि., मत्तः– स्त्री., प्रियङ्गुः (चि. क. क. ४)(स्तबक.)
प्रमदिनी–स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.)
प्रमित–त्रि., अन्यूनातिरिक्तम् (वै. नि.)

प्रमीला–स्त्री., तन्द्रा (रा. व. २०)
प्रमीलिका–स्त्री., तन्द्रा विसूच्यां शिरोरोगादौ (सि. यो. विसूचि. श्रीकण्ठः.)
प्रमुख–पु., पुन्नागवृक्षः (श. च.)
प्रमोचनी–स्त्री., गोडुम्बा (जटा.)
प्रमोदसट्टक–न., कृतान्नभेदः । यथा 'सान्द्रं दधि मरीचं पिप्पलिशुण्ठीलवङ्गकर्पूरम् । एषां चूर्णं साकं शर्करया मर्द्य शुद्धवस्त्रेण गालयित्वा क्षिपेत्तस्मिन् पक्वदाडिमबीजकम् । प्रमोदसट्टकं ह्येतत्वद्वर्धमानगुणैः समम् (वै. नि. द्रव्यगुण.)
प्रयस्त–त्रि., सुसंस्कृतम् (त्रिका.)
प्रयोगबस्ति–स्त्री., रसायने वाजीकर्मणि च प्रयोज्यः बस्तिविशेषः । स अष्टविधः, तद्विधिः यथा- आदावेकः स्नेहबस्तिः, ततः त्रयो निरूहबस्तयः । ततश्च चत्वारः स्नेहबस्तयः कार्याः (च. सि. १ अ.)
प्ररूढ–पु., जठरम् । (मे.) त्रि., बद्धमूलम् जातम् (श. र.)
प्ररोही(इन्)–पु., नन्दिवृक्षः (भा.)
प्रलम्बक–पु., सुगन्धतृणम् । (वै. नि.)
प्रलम्बाण्ड–त्रि., लम्बमानकोषः (हे. च.)
प्रलापहा(न्)–पु., कुलत्थाञ्जनम् । (रा. व. १३)
प्रलीनता–स्त्री., प्रलयः । इन्द्रियस्वापः । (रा. व. २०)
प्रलेह–पु., व्यञ्जनविशेषः (पाकराज)
प्रलोभनी–स्त्री., बालुका (वै. नि.) प्रलेहः । कोरमा, दम्पोखता (पाकराज)
प्रवट–पु., गोधूमः । (वै. नि.)
प्रवया–पु., स्त्री., वृद्धः । (रा. व. १८)
प्रवरा–स्त्री., पलाशवृक्षः (वै. नि.)
प्रवाहोत्था–स्त्री., वालुका (वै. नि.)
प्रविर–न., पीतचन्दनम् । (श. च.)
प्रविलम्बि–न., सद्योव्रणभेदः । प्रविलम्बि सशेषास्थि (वा. उ. २६ अ.)
प्रविषा–स्त्री., अतिविषा (अम.)
प्रवेट–पु., यवः (त्रिका.)
प्रवेल–पु., पीतमुद्गः । (हे. च.)
प्रवेष्ट–पु., बाहुः । (रा. व. १८) बाहुनिम्नभागः (श. च.) करिदन्तमांसम् (हारा.)
प्रशस्या–स्त्री., आढकी (वै. नि.)
प्रश्नि (श्नी)–स्त्री., पृश्निपर्णी (द्विकोष.) कुंभिका (त्रि. का.)
प्रष्टा (ष्ठा)– रु–पु., गुदकुन्दरोगः (वा. उ. २अ.)
प्रष्ठौही–स्त्री., प्रथमगर्भिणी गौः (भ.)
प्रसन्नान्ध–पु., अश्वस्य नेत्ररोगविशेषः । लक्षणं यथा– शुद्धस्तु चक्षुषा रूपं नैव पश्यति यो हयः । प्रसन्नान्धः स विज्ञेयो नैव शक्यश्चिकित्सितम् (ज. द. ३० अ.)
प्रसन्नरा–स्त्री., मद्यविशेषम् (अ. टी. भ.)
प्रसवक–पु., पियालवृक्षः (श. मा.)
प्रसवबन्धन–न., पुष्पवृन्तम् (अम.)
प्रसवस्थली–स्त्री., माता (नाटकम्.)
प्रसहन–पु., प्रसहपशुः (रा. व. १९.)
प्रसहा–स्त्री., लताबृहतिका (र. मा.)
प्रसादक–पु., देवधान्यम् । वास्तुकः (वै. नि.)
प्रसादधातु–पु., गुर्वादिद्रव्यान्तगुणसमुदायः रसादि-शुक्रान्तद्रव्यधातुसमुदायः च (च. शा. ६अ.)
प्रसादनाञ्जन–न., नेत्राञ्जनविशेषम् । 'मधुरस्नेहसम्पन्न-मञ्जनन्तु प्रसादनम् (तोड.)
प्रसदनमन्त्र–पु., माहेश्वरमन्त्रः । यथा 'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रैं ह्रौं शिवाय स्वाहा । (रस. र. विपरीतमल्लतैल.)
प्रसाधनी–स्त्री., कङ्कतिका (अम.) भङ्गा (मे.)
प्रसित–न., पूयः (श. च.)
प्रसू–स्त्री., कदलीवृक्षः । लता (मे.) घोटकी (अम.)
प्रसूका–स्त्री., अश्वी (रा. व. १९)
प्रसूत–न., पुष्पम् (मे.)
प्रसूता–स्त्री., घोटकी । कृतप्रसवा । (अम.)
प्रसूनरससम्भव–स्त्री., पुष्पशर्करा (वै. नि.)
प्रस्कन्दिका–स्त्री., संग्रहग्रहणीरोगः (निदान.)
प्रस्कन्न–पु., अश्वस्य रोगविशेषः, लक्षणं 'गुरु यस्य भवेद्वक्षः स्तब्धगात्रपरिक्रमः । कुब्जीभूतेन पृष्ठेन यो वाजी याति बद्धवत् (ज. द. ४५ अ.)
प्रस्तरभेद–पु., पाषाणभेदः । (भैष. मूत्रकृच्छ्र. चि. त्रिकण्टकादिचूर्णे.)
प्रस्तरोद्भूत–न., प्रस्तरजलम् (वै. नि.)
प्रस्तरोपल–पु., चन्द्रकान्तमणिः (प. मु.)
प्रस्तर्य–न., प्रस्तरोदकम् (वै. नि.)
प्रस्तान्न–न., पुरातनतण्डुलः ।
प्रस्तार–पु., शय्या । तृणवनम् । (हे. च.)
प्रस्थपुष्प–पु., श्वेतमरुवकवृक्षः, क्षुद्रपत्रमरुवकः (अम.) जम्बीरवृक्षः (अ. टी. भ.)
प्रस्थवान्–न., पर्वतः (रा. व. २)
प्रस्थिका–स्त्री., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.) माचिका (भा.)
प्रस्फोटन–न., पचनम् (हे. च.) सूर्पः (अम.)

प्रस्रव–पु., दुग्धम् (वै. नि.)
प्रस्रवणजल–न., निर्झरसलिलम्, गुणाः– ' स्वच्छं मधुरं लघु रोचनं दीपनकृच्च (रा. व. १४)
प्रस्रुतदधि–न., वस्त्रगालितदधि (वै. नि.)
प्रहर–पु., दिवसाष्टमभागः (अम.)
प्रहरकुटुम्बी–स्त्री., कुटुम्बिनीक्षुपः (रा. व. ५)
प्रहर्ष(र्षि)णी–स्त्री., हरिद्रा (हारा.)
प्रहस्त–पु., संहतविस्तृताङ्गुलिकरः । चपेटम् (रा. व. ८)
प्रहारवल्ली–स्त्री., मांसरोहिणी (भा.)
प्रहिता–स्त्री., प्रसारणी (वै. नि.)
प्रहीरजा–स्त्री., कुटुम्बिनीक्षुपः (रा. व. ५)
प्रहृष्टक–पु., काकः (वै. नि.)
प्रहेण(ल)क–न., पिष्टकभेदः (हारा.)
प्राकृतज्वर–पु., वसन्तशरद्भवोज्वरः (च. चि. ३)
प्राकृतदोष–पु., प्रकृतिसम्पन्नवातादिः । वर्षाशिशिरयोः वायुःकोपः, ग्रीष्मशरदोः पित्तकोपः, हेमन्तवसन्तयोः कफकोपः इति (च. सू. १० अ.)
प्राक्फल–न., पणसवृक्षः (जटा.)
प्राक्भाग–पु., कायपूर्वभागः (वै. नि.)
प्राग्राट–न., अघनदधि (त्रिका.)
प्राचिका–स्त्री., श्येनपक्षिणी (वै. नि.)
प्राचीनपनस–पु., बिल्ववृक्षः (त्रिका.)
प्राचीनाकरक–पु., मधुरजम्बीरवृक्षः (रा. व. ११)
प्राच्यकशेरु(क)–पु., कशेरुः (श. चि.)
प्राणक–पु., जीवकौषधम् (मे.)
प्राणथ–पु., बलवान् पुरुषः । वायुः (उणा.)
प्राणदा(गुडिका)–स्त्री., अर्शसि गुडिका (च. द.)
प्राणन–न., जीवनम् (जटा.)
पु., गलः (श. च.)
प्राणना–स्त्री., हरीतकी । ऋद्धिः । (वै. नि.)
प्राणन्त–पु., रसाञ्जनम् (उणा.)
प्राणन्ती–स्त्री., हिक्का । क्षवथुः । (उणा.)
प्राणपिण्ड–पु., सुगन्धबोलः (वै. नि.)
प्राणप्रिया–स्त्री., ऋद्धिः (प. मु.)
प्राणसंयम–पु., श्वासनिरोधः (वै. नि.)
प्राणसद्म–न., शरीरम् (वै. नि.)
प्राणापानौ–पु., द्वि, अश्विनीकुमारौ ।
प्राणिमाता–स्त्री., पुत्रदात्रीक्षुपः । (रा. व. ४.)
प्राणेश्वररस–पु., सन्निपातज्वरे रसः (र. सा. सं.)
प्राणैषणा–स्त्री., जीवनरक्षणोपायगवेषणा । सा च स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तिरूपा आतुरस्य च विकारप्रशमनेऽत्तवधानतारूपा प्राणानुपालनस्य दीर्घायुष्ट्वावाप्तिः । (च. सू. ११.)
प्राण्यङ्ग–न., प्राणिनो अङ्गमात्रं मांसास्थ्यादिः (सि. यो. ग्रहचि.)
प्रात–न., प्रभातम् (अम.)
प्रातःकृत्य–न., प्रातरनुष्ठेयकर्म (च.)
प्रातःस्नान–न., प्राभातिकावगाहनम्
प्रातर्भोक्ता–पु., काकः (श. च.)
प्रातर्भोजन–न., प्रातःकालीनभोजनम् (जटा. त्रिका.)
प्रातर्विकस्वरा–स्त्री., मल्लिकाभेदः । या प्रातर्विकसति गुणैर्वार्षिकतुल्या (रा. व. १०.)
प्राभृत–न., उपढौकनम् (अम.)
प्रामाघ–पु., वासकवृक्षः (श. च.)
प्राय–न., वयः (हे. च.)
प्रायोगिक–पु., शमनधूमपानम् । (भा.) स्नेहिकधूमः (वा. चि. ५ अ.)
प्रावट–पु., यवः (जय.)
प्रावारकीट–पु., कीटविशेषः (जटा.)
प्रावृज्ज–पु., पुनर्नवा (रत्नि. ९ अ)
प्रावृट्–स्त्री., वर्षाकालः । पुनर्नवा (च. द. अमृतसारलौहे
प्रावृडत्यय–पु., शरत्समयः (रा व २१)
प्रावृत–न., प्रकृष्टावरणम् (भ.)
प्रावृषा–स्त्री., वर्षाकालः (त्रिका.)
प्रावृषायणी–स्त्री., रक्तपुनर्नवा (प. मु.)
प्रावृषिक–पु., मयूरः (धरणी)
प्राशन–न., भक्षणम् । लेहनम् । अन्नम् (रा. व. २०)
प्राशित–पु., भक्षितम् (जटा.)
प्रासादकुक्कुट–पु., कपोतः (जटा.)
प्रासादमण्डना–स्त्री., हरितालः (वै. नि.)
प्राह्ण–पु., प्रातःकालः । पूर्वाह्णः (अम.)
प्रियकाम्य–पु., पीतशालवृक्षः (वै. नि.)
प्रियकोशल–पु., पियालवृक्षः अक्किकावृक्षः (प. मु.)
प्रियतम–पु., मयूरशिखा (श. च.)
प्रियदर्शनी–स्त्री., शारिकापक्षी
प्रियदा–स्त्री., स्वर्णजातिः (वै. नि.)
प्रियवर्णा–(र्णी) स्त्री., पियङ्गुलता (जटा.)
प्रियवादिनी–स्त्री., शारिका (वै. नि.)
प्रियसख–पु., खदिरवृक्षः (श. च.)
प्रियसन्देश–पु., चम्पकवृक्षः (श. च.)
प्रियाह्वा–स्त्री., कङ्गुणिका (वा. ल. ५अ.)

प्रीणन–पु.,खड्गीमृगः (रा. व. १९.)
प्रीहा (न)–स्त्री., पु., प्लीहा (द्वि. कोष.)
प्रुष्ट–न., दुग्धम् (वै. नि.)
प्रेक्षण–न., चक्षुः (श. र.)
प्रेक्षणकूट–पु., चक्षुर्गोलकः (मा. नि. पाण्डौ.)
प्रेक्षा–स्त्री., तरुशाखा (श. न.)
प्रेङ्खित–न., कम्पितः (अम.)
प्रेतग्रह–पु., भूतग्रहविशेषः (वाउ.)
प्रेतजिह्वा–स्त्री., स्तब्धतादिलक्षणयुक्ता जिह्वा। अरिष्टलक्षणभेदः (च. इ. ८अ.)
प्रेतराक्षसी–स्त्री., सुरसा (प. मु.)
प्रेमपातन–न.,नेत्रजलम् (श. च.)
प्रेयोपत्य–पु., क्रौञ्चपक्षी (वै. नि.)
प्रेष्ठा–स्त्री., जङ्घा (श. च.)
प्रोज्जासन–न., मारणम् (हे. च.)
प्रोच्छन–न., लोपनम् (तन्त्रम्.)
प्रोत्प (क) ल–पु., तालवृक्षभेदः (श. मा.)
प्रोथ–पु., प्रपाणोर्ध्वभागः (ज. द. २अ.) कटी (मे.) स्फिक् (उणा.)
प्रोर्णुनाव–पु., सन्निपातज्वरविशेषः । यथा–उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्निताम्तमुच्छ्वसिति । तं प्रोर्णुनावं विचित्रकष्टं विजानीयात् (भा. म. १भ.)
प्रोल्लाधित–त्रि., रोगमुक्तः (वै. नि.)
प्रोष–पु., सन्तापः (रा. व. २०)
प्रोषितप्रिया–स्त्री., कुब्जकवृक्षः (रा. व. २३) फलिनी। प्रियङ्गुः । वार्षिकमल्लिका (रा. व. २३)
प्रोष्ठी–स्त्री., क्षुद्रशफरीमत्स्यः । 'प्रोष्ठी तिक्ता कटुः स्वादुः शुक्रला कफवातजित् (राज. ३५)
प्रोह–पु., गजचरणपर्व (त्रिका.)
प्रौढा–स्त्री., दृष्टार्तवस्त्री (रा. व.)
प्लवगति–पु., भेकः (श. च.)
प्लवङ्गम–पु. वानरः (प. मु.) भेकः (अम.)
प्लवधान्य–न., परिपेलवृणम्
प्लाक्ष–न., प्लक्षफलम् (अम.)
प्लावग–पु., मर्कटः (वै. नि.)
प्लावी (इन्)–पु., पक्षी (वै. नि.)
प्लुतगति–पु., शशकः (वै. नि.)
प्लुष–पु., अग्निदाहः (व्याकरणम्)
प्सा–स्त्री., भक्षणम् (त्रिका.)
प्स्तान–न.,भक्षणम् । भक्तम् (हे. च.)

फ

फ–पु., जृम्भानिस्फारः (विश्व.) झञ्झावातः (मे.)
फञ्जि(पु)त्रिका–स्त्री., आखुपर्णी (प. मु.) (पुत्रिका)–वनस्पतिभेदः (वै. नि.)
फञ्जीकर–पु., फञ्जी (वै. नि.)
फञ्जादिपञ्चक–न., फञ्जिका जीवनी पद्मा तर्कारी चुञ्चुक इति वनजपत्रशाकवर्गः । गुणाः–वातहारित्वं ग्राहित्वं दीपनत्वं रुच्यत्वञ्च । भेण्डा कुणञ्जरः त्रिपुटश्च इत्यपि तद्वर्गमध्ये गण्यते । वर्गोऽयं दीपनः पाचनः रुच्यः बलवर्णकरश्च । त्रिदोषशमनः पथ्यः ग्राही वृष्यश्च (रा. व. ७)
फट–(टा)–पु., स्त्री., अहिफणा (अम.)(जटा.)
फटिकारी–स्त्री., स्वनामख्यातक्षारविशेषः (हिं–फिटुकरी) गुणाः—संग्राहिणी सङ्कोचकरी अपूतिकरी बालविसूच्याम् उदरामये नासारक्तस्रावे च हिता। "फटी च कटुका स्निग्धा कषाया प्रदरापहा । मेहकृच्छ्रवमीशोषदोषघ्नी दृढरङ्गदा (रा. व. १३)
फण(णा)क(ध)र–पु., सर्पः (श. र.)
फणभृत्–पु., सर्पः (हे. च.)
फणाभर–(वान्)–पु., (हारा.)
फणि–पु., विषम् (र. सा. सं. गदमुरारिरसे.)
फणिका–स्त्री., कृष्णोदुम्बरिका (वै. नि.)
फणिके(श)सर–न., नागकेसरपुष्पम् । (रा. व. ६)
फणिखेल–पु., लावपक्षी (वै. नि.)
फणिजिह्विका–स्त्री., श्वेतसारिवा। महाशतावरी (रा.व.४)
फणिप्रिय–पु., वायुः । (श. र.)
फणिफेन–पु., अहिफेनः (रत्ना.)
फणिभारिका–स्त्री., कृष्णोदुम्बरवृक्षः । (वै. नि.)
फणिहारी–(इन्)–पु., कपिकच्छुः । (वै. नि.)
फणी (इन्) पु., मरुवकवृक्षः । क्षुद्रपत्रतुलसी । श्वेतचन्दनम् (च. द. वातव्याधिचि महासुगन्धतैले) सर्पः । स्त्री., (नी)–सर्पिणी । सर्पस्त्री । (रा. व. ५)
फरङ्गरोग–पु., फिरङ्गरोगः ।
फरेन्द्र–पु., जम्बूवृक्षः । (वै. नि.)
फर्फरी–स्त्री., कराग्रम् (वै. नि.)
फलकण्टक–पु., पर्पटकः (वै. नि.) स्त्री. (का)–इन्दीवरा
फलकर्कशा–स्त्री., वनबदरवृक्षः । (संग्रहः)
फलकी (इन्)–पु., मत्स्यविशेषः (त्रिका)
फलकृष्ण–पु., करञ्जवृक्षः । (वै. नि.) पानीयामलकम् (श. च.)

फलकेशर-पु., नारिकेलवृक्षः । (जटा.)
फलङ्कषा-(स्त्री.,) महाश्रावणिका (रा. व. ५)
फलग्रहि-पु., फलितवृक्षः । (अ. टी. भ.)
फलग्राही (इन्)-पु., वृक्षः । (धरणिः)
फलघृत-न., पक्वघृतविशेषम् । तत् योनिरोगमात्रे हितम् (भा. म. ४ भ. योनिरोगचि. च. द. योनिव्यापदचि)
फलचमस-न., वटवृक्षवल्कलम् (वै. नि.)
फलत्रिकादि-पु., पाण्डौ कषायः । ' फलत्रिकामृता-वासातिक्तभूनिम्बनिम्बजः । क्काथः क्षौद्रयुतो हन्यात् पाण्डुरोगं सकामलम् (रस. र.)
फलद-पु., वृक्षः (धरणि.)
फलद्रुम-पु., फलितवृक्षः (वै. नि.)
फलपञ्चाम्ल-न., अम्लफलपञ्चकम् (रा. व. २२)
फलपाकी(इन्)-पु., गर्दभाण्डवृक्षः (र. मा.)
फलपुच्छ-पु., कन्दशाकविशेषः । वरण्डालुः (त्रिका.)
फलप्रिय-पु., द्रोणकाकः (रा. व. १९)
फलमत्स्या-स्त्री., गृहकन्या (वै. नि.)
फलमुण्ड-पु., नारिकेलवृक्षः (श. र.)
फलमुद्गरिका-स्त्री., खर्जूरवृक्षविशेषः (श. मा.)
फलयुग्मा-स्त्री., इन्दीवरा (वै. नि.)
फलराज-पु., खर्बूजेति ख्यातः फलशाकः (वै. नि.)
फलवर्तुल-पु., तरम्बुजवृक्षः (रा. व. ७)
फलवान्-त्रि., फलितः (अम.)
फलविरेचन-न., हरीतकी ' मृद्वीकाथ विडङ्गानि खर्जू-राणि परूषकम् । आरग्वधोऽथामलकं हरीतक्यो बिभीतकम् । कम्पिलकोपचित्रे च त्रपुषञ्च मुकूलकम् । नीलिका बकुलं पीलु भवेत् फलविरेचनम् (वा. चि. ६ अ. अरुण.)
फलशाक-न., फलप्रधानवृक्षवर्गः । यथा-'कूष्माण्ड-कालिङ्गकालिङ्गचिर्भटं पटोलयुग्मञ्च तथा च तुण्डी । बीजारण्यकर्कोटककारवेल्लं कोषातकी बालुफलानि चैव ' (अत्रि १६. अ.)
फलश्रेष्ठ-पु., आम्रवृक्षः (श. च.)
फलश्रेष्ठा-स्त्री., त्रिफला (वै. नि.)
फलस-पु., पणसवृक्षः (अटीभ.)
फलसम्बद्ध-पु., उदुम्बरवृक्षः (वै. नि.)
फलसम्भारा-स्त्री., कृष्णोदुम्बरिका
फलाक्षी-स्त्री., क्षीरिणीवृक्षः (वै. नि.)
फलात्मिका-स्त्री., कारवेल्ली (वै. नि.)
फलादन-पु., लकुचवृक्षः (प. मु.)
शुकपक्षी (हे. च.) (त्रि.,) फलभक्षकः
फलाध्यक्ष- त्रि., राजादनवृक्षः (भा.)
फलानालु-(पु.,) पानशारु इति प्रसिद्धः कन्दशाकः (प. मु.) वृक्षाम्लम् (रा. व. ६)
फलान्त-पु., वंशः (शमा.)
फलान्न-न., फलोपकरणकृतान्नम् ।-गुणाः-फलान्नं स्यात् रुचिकरं गुरु फलसमं गुणैः । (वै.नि. वृक्षाम्ले। रा.व.११.)
फलाम्बु-न., द्राक्षादिसिद्धजलम् । (वा चि २ अ.)
फलाम्लपञ्चक- न., जम्बीरनागरङ्गाम्लवेतसचिञ्चा-मातुलुङ्गश्च
फलासव-पु., द्राक्षाखर्जूरादिफलोद्भवषड्विंशत्यासवानि (च. सू. २५ अ.)
फलास्थि-पु., नारिकेलवृक्षः (वै. नि.)
फलित-पु., वृक्षः । स्त्री., रजस्वला
फली-स्त्री., मुषली । प्रियङ्गुवृक्षः (प. मु.) शुकनासा (वै. नि.) आम्रातकवृक्षः। फलिमत्स्यः (श. मा.)
फलीश-पु., पारिशपिप्पलम् (वै. नि.)
फलूष-पु., लताविशेषा (उणा.)
फलेग्राहि-(ही) (इन्)-पु., फलितवृक्षः (श. र.)
फलेन्द्र-पु., स्त्री., राजजम्बुवृक्षः (भा.)
फलेपाकी-स्त्री.. गन्धमुण्डः (प. मु.)
फलेपुष्पा-स्त्री., द्रोणपुष्पी (भा.)
फलोत्पत्ति-पु., आम्रवृक्षः (श. च.)
फलोनि-स्त्री., स्त्रीयोनिः (वै. नि.)
फल्गुन-(नाल)-पु., फाल्गुनमासः (अ. टी. भ.)
फल्गुफल-न., काकोदुम्बरिकाफलम् (सि. यो. रक्तपित्तचि. सिद्धतमयोगे)
फल्गुमूल-न. काकोदुम्बरिकामूलम् (सि. यो. मूर्च्छा चि. बृहत्पञ्चगव्यघृते)
फल्य-न., पुष्पम् । पुष्पकलिका
फल्लकिन्-पु., मत्स्यविशेषः (श. मा.)
फाटकी-स्त्री., स्फटी (रा. व. १३)
फालखला-स्त्री., भारतीपक्षी (त्रिका,)
फाल्गुनप्रिय-पु., शङ्खः (वै. नि.)
फाल्गुनानुज-पु., वसन्तर्तुः (हारा.)
फाल्गुनिक-पु., फाल्गुनमासः (अम.)
फिङ्गक-पु., नक्रः । पक्षिविशेषः (श. मा.)
फिरङ्ग-पु , स्वनामकरोगः (भा.)
फिरङ्गरोटी-स्त्री., रोटिकाभेदः । सा तु तालस्याथवा खर्जूरस्य रसेन मधुरिकाजलेन वा मिश्रिता गोधूम-कणिका अधिककालमुत्तमं सम्मर्दिता स्थूलगोला-कारेण निर्मिता तन्दूरपाकेन निष्पादिता भवति (पाकराजः)

फिरङ्गिणी–स्त्री., तद्देशीया स्त्री (भा.)
फुक–पु., पक्षी (श. च.)
फुट–पु., सर्पफणा (हे. च.)
फुल्लफाल–पु., सूर्पवातः (त्रिका.)
फुल्लरीक–पु., सर्पः (उणा.)
फुल्ललोचन–पु., हरिणविशेषः (श. च.)
फेण(न)का–स्त्री., अरिष्टकवृक्षः (वै. नि.)जलपक्वतण्डुलचूर्णम् (श. च.)
फेण(न)वाही(इन्)–पु., वस्त्रम् (श. मा.)
फेणा(ना)भ्र–न., बुद्बुदः (हारा.)
फेणा(ना)श्मभस्म–न., तन्नामकधातुविषम् । शृङ्गी विषम् (सु. कल्प. २ अ.)
फेणि(नि)का–(णी,नी)–स्त्री., पक्वान्नविशेषः (भा.)
फेर(ण्ड)–पु., शालावृक्षः । (रा. व. १९)
फेरव–पु., शृगालः (रा. व. १८)
फेरु–पु., शृगालः (रा. व. १८)
फेल(क)–त्रि., उच्छिष्टः (श. र.)
फेला(लिः,ली)–स्त्री., भुक्तावशिष्टम् (अम. जटा श. रा)
फोग–पु., शाकविशेषः (वै. नि.)

ब

बकदर्शी (इन्)–पु., पारावतः (वै. नि.)
बकपुष्पा–स्त्री., शिवलिङ्गिनी (वै. नि.)
बकेरुका–स्त्री., बलाका (त्रिका.)
बकोट–पु., बकपक्षी (त्रिका.)
बटु–पु., त्रिवर्षशिशुः (रा. व. १८.)
बडवा–स्त्री., घोटकी (अम.)
बडवासुतौ–पु., अश्विनीकुमारौ (श. च.)
बणिग्बन्धु–पु., नीलीवृक्षः (श. च.)
बणिग्वह–पु., उष्ट्रः (श. च.)
बदरत्रय–न., बृहद्बदरक्षुद्रबदरशृगालकोलिका च (च. सू. ४अ. विरेचने) सौवीरकोलकर्कन्धु च (भा.)
बदरा–स्त्री., आदित्यभक्ता (रा. व. ४.) कार्पासी (प. मु.) वराक्रान्ता एलापर्णी (मे.) वाराहीकन्दः श्वेतविदारी (वै. नि.) विष्णुक्रान्ता (विश्व.)
बदरामलक–न., पानीयामलकः (हारा.)
बदरास्थि–न., बदरबीजम् (संग्रहः)
बदरास्थिमज्जा–पु., स्त्री., तन्मज्जा । गुणाः—' वृष्यः वीर्यबलप्रदश्च (म. द. ब. ६.)
बदरि–स्त्री., बदरीवृक्षः (श. च.)
बदरीच्छद–पु., स्त्री., नखीनामगन्धद्रव्यम् (वै. नि.)
बदरीच्छदा–स्त्री., हस्तिकोलिवृक्षः । शङ्खनखी (र. मा.)

बदरीपल्लव–पु., न , कोलिकोमलपल्लवम् (च. द. पित्तज्वरे शिरोलेपे)
बदरीफला–स्त्री., नीलशेफालिका (श. मा.)
बद्धमूलक–पु., क्षीरमूर्वा (वै. नि.)
बद्धरसाम्र(ल)–पु., राजाम्रवृक्षविशेषः कोमलफलगुणाः–अम्लं कटु पित्तदाहकरञ्च । पक्वस्य गुणाः–स्वादु मधुरं पुष्टिवीर्यबलप्रदञ्च । (रा. व. ११)
बद्धवल्क–पु., दारुचिनीति ख्यातं मधुरद्रव्यम् (वै. नि.)
बद्धशिखा–स्त्री., लशुनः (वै. नि.) उच्चटा (पु.,) शिशुः (मे.)
बद्धामयपति–पु., ऋषभकौषधम् (वै. नि.)
बधू–स्त्री., नारी । पृक्का (अम.) शारिवा (मे.)
बधूत्सवप्रसव–पु., रक्तझिण्टी
बध्र(क)–न., शीर्षकः (अम.)
बन्दफल–पु., करञ्जवृक्षः (श. चि.)
बन्दूक–न., बन्धुजीवक्षुपः । गुणाः– बन्दूक श्लेष्मलं ग्राहि च (राज. ५ प)
बन्धकी–स्त्री., पुंश्चली (अम.) करिणी (मे.)
बन्धु (बन्धू) क–पु., स्त्री., बन्धुजीवक्षुपः (र. मा. । रा. व. १० । भा. म. ४ भ उ. चि.) पीतशालः (मे.)
बन्धुकपुष्प (क) पु., बीजकवृक्षः (रा. व. ९) श्योणाकवृक्षः (च. द. उषकादौ)
बन्धुरा–पु., बहुः । शक्तः (मे.)
बन्धुल–पु., बन्धुजीववृक्षः (श. र.)
बन्धुवेतस–पु., जलवेतसम् (वै. नि.)
बन्धूलि–पु., बन्धुजीववृक्षः (श. र.)
बन्ध्या–स्त्री., बन्ध्याकर्कोटकी (रा. व. ३) अप्रजस्त्री (मे.) वायुजन्यः स्त्रीयोनिरोगविशेषः । तस्यां नारी नष्टार्तवा भवति । ' बन्ध्या नष्टार्तवा ज्ञेया ' (भा. म. ४ भ.) ह्रीबेरम् (श. च.)
बन्ध्याकर्कोटकी–स्त्री., तिक्तकर्कोटकी (सा. कौ. विषाधिकारे) गुणाः– लघ्वी कफनुत् व्रणशोधिनी सर्पदमनी तीक्ष्णा विसर्पविषघ्नी च (भा. पू. गु. व.) तिक्ता कटुः उष्णा कफघ्नी स्थावरादि विषहरी च (रा. व. ३)
बन्ध्याकार्पासी–स्त्री., वनकार्पासी ।
बब्बु(ब्बू)र(ल) निर्यास–पु., बब्बूरनिर्यासः (वै. नि.)
बभ्भराली–स्त्री., मक्षिका (वै. नि.)
बरम्–न., पु., कुङ्कुमम् । बालकः । त्वक् । आर्द्रकः (रा. व. ६.१२)

बलकन्द–पु., मालाकन्दः (रा. व. ७)
बलकर–न., अस्थि (वै. नि.)
त्रि., बलजनकम् ।
बलजम्–न., फलम् (मे.) पु., मज्जधातौ (वै. नि.)
बलजा–स्त्री., आरबीयमल्लिका । यूथिका (मे.)
बलदेव–पु., वायुः (मे.)
बलपाण्डुकर–पु., कुन्दवृक्षः (वै. नि.)
बलपुच्छक––पु., काकः (वै. नि.)
बलपृष्ठक–पु., रोहितमत्स्यम् (वै. नि.)
बलभद्र–पु., क्षुद्रकदम्बवृक्षः (रा. व. २३) लोध्रवृक्षः (श. च.) गवयमृगः (रा. व.) (त्रि.,) बलवान् ।
बलमोटा–स्त्री., वृक्षविशेषः । बलामोटा शेंवरी इति लोके । गुणाः– कटु तिक्ता शीता जयदा कण्ठशोधनी लघु कफघ्नी मदगन्धिः मूत्रकृच्छ्रविषपित्तवातभूतघ्नी च (रा. व. ४; वै. नि.)
बलवर्धिनी–स्त्री., जीवकः (जटा.)
बलवल्लभा–स्त्री., सुरा (वै. नि.)
बलवसा–स्त्री., गन्धकः ।
बलवान्–पु., आहारः कफः । शणबीजम् (त्रि.,) बलिष्ठम्
बलहा (न्)–पु., कफः (श. र.)
बलाट–पु., मुद्गविशेषः (वै. नि.)
बलात्मिका–स्त्री., हस्तिशुण्डीक्षुपः (श. र.) सूर्यकमलम् (वै. नि.)
बलाधिष्ठान–न., बलाधानम् (च. सू. १ अ.)
बलापञ्चक–न., बलातिबला नागबला महाबला राजबला च (वै. नि.)
बलाय–पु., वरुणवृक्षः (श. च.)
बलालक–पु., पानीयामलकः (श. च.)
बलासघ्नी–स्त्री., तेजोवती (वै. नि.)
बलाह–न., जलम् (वै. नि.)
बलिचन्दन–न., रक्तचन्दनम् (वै. नि.)
बलिनी–स्त्री., वाट्यालकः (श. च.)
बलिपुष्ट–पु., काकः (अम.)
बलिप्रिय–पु., लोध्रवृक्षः (श. च.) कदम्बवृक्षः (वै. नि.)
बलिभ–पु., वृद्धपुरुषः (अम.)
बलिमान्–त्रि., जराजन्यबलियुक्तः (अ. टी. भ.)
बलिमुख–पु., वानरः (अ. टी. र.)
बलिष्ठ–पु., उष्ट्रः (रा. व. १९.)
बलीन–पु., वृश्चिकः (वै. नि.)
बलीयान् (स्)–पु., गर्दभः (वै. नि.)
बलीशक–पु., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.).
बलोत्तमा (त्तरा)–स्त्री., बला (रा. व. ४. वै. नि.)
बल्याख्यपञ्चमूल–न., बलाश्वगन्धाशिग्रुडीपाषाणभेदातिबला अन्या–हरिद्रागुडूचीविदारीशारिवामेषशृङ्गी । (वै. नि.)
बल्लव–पु., पाचकः (त्रिका.)
बष्कय–पु., एकवर्षदेशीयवत्सः । (वै. नि.)
बष्कय (यि) नी–स्त्री., बहुदिनप्रसूता गौः (अम. टी. भ.)
बस्तक–न., शाकम्भरलवणम् (वै. नि.)
बस्तगन्धक–पु., अरण्यतुलसीवृक्षः । (रा. व. ४. वै. नि. २भ. वातव्याधिचि.)
बस्तगन्धाकृति–स्त्री., पुत्रदात्री लता । (वै. नि.)
बस्ताम्बु–न., छागमूत्रम् (भा. म. चित्तविभ्रमचि.)
बहलदल–पु., कृष्णशोभाञ्जनम् (वै. नि.)
बहलाङ्ग–पु., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
बहिःकुटीचर–पु., कुलीरकः त्रि. का.)
बहिर्गलगण्ड–पु., गलरोगभेदः । स च त्रिविधः—वातजकफजमेदोजभेदात् (वा. उ. २१)
बहिर्मृजा–स्त्री., स्नानादिना बहिः शुद्धिः (वा. चि. ५ अ)
बहुक–पु., हरिणविशेषः (वै. नि.) अर्कः । दात्यूहः । जलखातकः । कर्कटः (मे.)
बहुकन्या–स्त्री., गृहकन्या (रा. व. ५)
बहुकर–पु., उष्ट्रः (त्रिका.) (त्रि.,) सम्मार्जकम् (अम.) स्त्री., सम्मार्जनी (हे. च.)
बहुगुडा (हा)–स्त्री., कण्ठकारी (हा.) भूम्यामलकी
बहुग्रन्थि–पु., झाबुकवृक्षः (श. च.)
बहुच्छद–पु., सप्तपर्णवृक्षः (वै. नि.)
बहुतरकणिश–रागिधान्यम् (रा. व. १६)
बहुतृण–पु.,मुञ्जतृणम् (वै. नि.)
बहुत्वक्–पु., सप्तपर्णवृक्षः (वै. नि.)
बहुत्वक्क–पु., भूर्जवृक्षः (श. मा. । हे. च.)
बहुदल–पु., रागिनामतृणधान्यम् । (रा. व. १६) स्त्री.. (ला) चिञ्चोटकक्षुपः (वै. नि.)
बहुदुग्धिका–स्त्री., स्नुहीवृक्षः (श. च.)
बहुधूप–पु., सर्जवृक्षः (वै. नि.)
बहुध्वज–पु., शूकरः (वै. नि.)
बहुनाडिक–पु., देहः (व्याक.)

बहुप (पु) ट–पु, भूर्जवृक्षः (वै. नि) (वा. सू. १५ अ.)
बहुपर्णिका–स्त्री., आखुकर्णी (रा. व. अ.)
बहुपर्वा–(न्) पु., वंशः । (वै. नि.)
बहुपुत्र–पु., सप्तपर्णवृक्षः (श. च.)
बहुपुत्री–स्त्री., शतावरी । भूम्यामलकी (प. मु.) बृहती (रा. व. ४ च. द. यक्ष्मा चि. बलाद्यघृते)
बहुप्रिय–पु., यवतृणम् (प. मु.)
बहुबल–पु., सिंहः । (रा. व. १९.)
बहुबल्क–पु., प्रियालवृक्षः (रा. व. ११)
बहुमल–पु., शीषकः । (रमा.)
बहुमूत्रता–स्त्री., बहुमूत्ररोगः । (निदा.)
बहुमूर्ति–स्त्री., वनकार्पासी (श. च.)
बहुरेणु–पु., श्वेतकिणिहीवृक्षः (वै. नि.)
बहुरोमन्–पु.,मेषः । (हारा.) वन्यछागः । वानरः (वै. नि.)
बहुलाङ्गक–पु., मेषश्रृङ्गलता (वै. नि.)
बहुलिङ्ग–स्त्री., इत्कटः (प. मु.)
बहुलोहसङ्करभव–न., स्वर्णः (वै. नि.)
बहुवल्कल–पु., प्रियालवृक्षः (रा. व. ११)
बहुवल्ली–स्त्री., लताबृहतिका (रा. व. ४)
बहुवार–(क) पु., भव्यफलवृक्षः । (भा. आम्रवर्ग)
बहुविषाण–पु., शम्बरमृगः (वै. नि.)
बहुविस्तीर्णा–स्त्री., कुचिकावृक्षः । (श. च.)
बहुबीजा–स्त्री., सीताफलः (श. च.)
बहुशत्रु–पु., चटकपक्षी (श. च.)
बहुसन्तति–पु., वंशभेदः (श. च.)
बहुसिक्थ–त्रि., बहुसारविशिष्टः ।
बहुसू–स्त्री., वराहपत्नी । (श. र.) बहुप्रसवा स्त्रीः
बहुसूति–स्त्री., बष्कयणी गौः (अम.) बहुसन्तान-प्रसविनी स्त्रीः
बहुस्रवा–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (श. च.) लज्जालुका (वै. नि.)
बहुस्राव–पु., स्नुहीवृक्षः । (वै. नि.)
बहुस्वन–पु., शङ्खः । पेचकः । (वै. नि.)
बहुक्षार–पु., सावान् इति ख्यातद्रव्यम् (वै. नि.)
बह्वपत्य–पु., कुक्कुटः । मूषिकः । शूकरः । (रा. व. १९) मुञ्जतृणम् (वै. नि.)
बह्वी–स्त्री., मत्स्याक्षी (वै. नि.)
बाडस–पु., मत्स्यः (वै. नि.)
बाडवेयौ–पु., अश्विनीकुमारौ (श. मा.)
बाणपत्रा (क्षा)–स्त्री., कङ्कपक्षी (वै. नि.)
बाणपुष्प–पु., नीलझिण्टी (भा.)
बाणलवण–न., पञ्चलवणम् (वै. नि. शीतज्वर. चि.)
बाणी–स्त्री., नीलझिण्टी ।
बाणीरज–न., कुष्ठौषधम् (रा. व. १२.)
बातिङ्गन–पु., वार्ताकी (र. मा.)
बादरङ्ग–पु., अश्वत्थवृक्षः (वै. नि.)
बादरा (री)–स्त्री., कार्पासी (प. मु. श. र.) मेषशृङ्गी (वै. नि.)
बाधक–पु., स्त्रीरोगभेदः (रस. र.)
बाधा–स्त्री., पीडा (अम.)
बाबली–स्त्री., बर्ब्बूरवृक्षः (वै. नि. २ अ. अतिसारचि.)
बारकीर–पु., यूका (मे.)
बार्वटीर–पु., यशदम् । आम्रास्थि । अङ्कुरः (हे. च.) वज्रम् (वै. नि.)
बालकुटजावलेह–पु., बालरोगाधिकारे अवलेहः (रस. र.)
बालकृमि–पु., उत्कुणः । केशकीटः (जटा.)
बालकेशी–स्त्री., तृणविशेषः (वै. नि)
बालगर्भिणी–स्त्री., प्रथमगर्भिणी (जटा.)
बालच (चा)तुर्भद्रिका–स्त्री., बालरोगे अवलेह-विशेषः । (च. द.) ' घनकृष्णारुणाशृङ्गी चूर्णं क्षौद्रेण संयुतम् । शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं कासश्वास-वमीहरम् (रस. र.)
बालचिकित्सा–स्त्री., कौमारभृत्यम् ' गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा । बालानां रोगशमनं क्रिया बालचिकित्सितम् । (वैद्य. सं २ अ.)
बालजीवन–न., दुग्धम् (वै. नि.)
बालतनय–) पु., खदिरवृक्षः ।
बालदलक–) बालकपुत्रः । (अ. टी. भ.)
बालतन्त्र–न., कुमारभृत्यम् । धात्रीविद्या (त्रिका.)
बालतृण–न., नवतृणम् । (अम.)
बालधि–पु., सकेशलाङ्गुलम् (अम.)
बालनख–पु., व्याघ्रनखः । (वै. नि.)
बालपत्रा (त्री)–स्त्री., दुरालभा । खदिरवृक्षः (वै. नि.)
बालपर्णी–स्त्री., मेथिका (वै. नि.)
बालभ–पु., सुदन्तगजः । (रा. व. १९)
बालभद्रक–पु., खनिजविषभेदः (श. च.)
बालमत्स्य–पु., मत्स्यविशेषः । लक्षणं यथा–' नाति-स्थूलो वृत्तमुखः शल्कहीनः दण्डवान् श्मश्रुयुक्तः दीर्घकायः सन्ध्यायां रात्रिशेषे च सञ्चरणशीलः । गुणाः–पथ्यः बल्यः वृष्यश्च । (रा. व. १७)

बालमूलक–न., अचिरजातकोमल–मूलकम् । गुणाः–कोष्णं तिक्तं तीक्ष्णं मधुरं कटुरसं जीर्णं तत् मूत्रदोषघ्नं श्वासार्शः कास-गुल्मक्षयनेत्ररोगघ्नं कण्ठ्यं बल्यं रुच्यं मलविकृतिघ्नं उष्णं शोषप्रदम् । आमं तत्संग्राहि रुच्यं वातकफघ्नम् । पक्वं तत् कटूष्णं पित्तदाहप्रकोपकरंच । वेशवारेण भुक्तंतत् बलकृत् हृद्रोगशूलप्रशमनञ्च (रा. व. ७)

बालमूलिका–स्त्री., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.)

बालमूषिका–स्त्री., छुछुन्दरी क्षुद्रमूषिका (अम.)

बालमृग–पु., हरिणादिमृगवर्गः (अर्क. चि.)

बालरस–पु., बालज्वराधिकारे रसः । (रस. र.)

बालराज–न., वैदूर्यमणिः (श. र.)

बालरोग–पु., शिशूनां रोगः ।

बालवत्स–पु., कपोतः (वै. नि.)

बालवाय (ज)–न., वैदूर्यमणिः (त्रिका.)

बालवाह्य–पु., वन्यछागः (हारा.)

बालवैद्य–पु., बालचिकित्सकः (निदा.)

बालसूर्य–पु., प्राभातिकसूर्यः । वन्यछागः (वै. नि.)

बालसूर्य (क)–न., वैदूर्यमणिः (त्रिका.)

बालाङ्घ्रि–पु., शरपुङ्खा (रस. र. विपरीतमल्लतैले.)

बालाश्म–न., बालुका (भा. म. ३ भ. उदर. चि.)

बालाक्षी–स्त्री., केशपुष्टवनस्पतिः (श. च.)

बालिका–स्त्री., एला (श. र.) अम्बष्ठा (रा. व. ५) कुमारी । मुषली । कन्या । कर्णभूषणम् । शर्करा ।

बलि(ली)श–पु., शिशुः (मे.) मूत्रकृच्छ्ररोगः (श. र.) न., उपधानम् (श. मा.)

बालु(का)–पु., स्त्री., कर्पूरः (श. च.)(वै. नि.) श्वासचि. शुण्ठ्यादिचूर्णे । चिर्भटिका (जटा.) सिकता । गुणाः–लेखनी शीता व्रणोरःक्षतनाशिनी (भा.) तन्नामकयन्त्रम् (का.) एलवालुकम् (उणा. श. च.)

बालुक–न., एलवालुकम् (अम.) शाकविशेषः (वै. नि. २ भ. अर्श. चि.) आलुकफलम् । पानीयालुकः (वै. नि. २ भ. अर्शचि. पथ्यागुडे)

बालुकागड–पु., मत्स्यविशेषः (हारा.)

बालुकात्मिका–स्त्री., शर्करा (श. च.)

बालुकायन्त्र–न., औषधपाकार्थयन्त्रम् भाण्डे वितस्ति गम्भीरे मध्ये निहितकूपके । कूपिकाकण्ठपर्यन्तं वालुकाभिश्च पूरिते । भेषजङ्कूपिकासंस्थं वह्निना यत्र पच्यते । वालुकायंत्रम् (भा.)

बालुकास्वेद–पु., तप्तवालुकाभिः स्वेदम् (भा.)

बालुकिन–न. हिङ्गुलः (श. चि.)

बालुकि(ङ्की)–स्त्री., क्षेत्रकर्कटिका (त्रिका.) बालुकी मधुरा शीता आध्मानहृच्छ्रमापहा । पित्तास्रशमनी रुच्या कुरुते कासपीनसौ । शरद्वर्षजा सा दोषकरी, हेमन्तजा पित्तहरा रुच्या । अर्धपक्वा पीनसकरी,पक्वा अतिमधुरा । (रा. व. ७)

बालुकैल–न., इलायां भूम्यां बालुकाजातं लवणम् (च. वि. ८ अ.)

बालुङ्किका–(ङ्की) त्रि.. कर्कटी (श. र.)

बालूक–पु.. विषभेदः

बालेय–पु., गर्दभः (त्रिका.) चाणक्यमूलम् (रा. व. ७) मुस्तकः (ज. द. १२) अङ्गारवल्ली (विश्व)

बालेयशाक–पु., भार्गी (अम.)

बालैल–स्त्री., एला (वै. नि.)

बाल्वङ्गिरा–स्त्री., इर्वारुलता (हारा)

बाष्कल–न., रौप्यम् (वै. नि.)

बाष्पक–पु., मारिषशाकः (वै. नि.)

बाह (हा) पु., स्त्री., बाहुः (अ. टी. र.)

बाहुकुण्ठ–पु., दोर्गण्डौ (त्रिका)

बाहुज–पु., स्वयं जाततिलम् (मे.)

बाहुमूल– न., कक्षः

बाहुल–पु., कार्तिकमासः (अम)

बाह्वस्थि–न., बाहुनलकः (च. शा. ७ अ)

बीभत्स–(त्सु) पु., अर्जुनवृक्षः (वै. नि.)

बुक्का (न्) पु., अग्रमांसम् (अ. टी भ.) वक्षोधः-पार्श्वभागः (च. सू. १७)

बुद्धिदात्री–स्त्री., बुध्यौषधिः (वै. नि.)

बुधा–स्त्री., जटामांसी (श. च.)

बुध्न–पु., मूलशिफा (रा. व. २) गुदम् (वै. नि.)

बुली–स्त्री., स्त्रीगुह्याङ्गम् (हे. च.)

बुष–न., तुषः (नकुलः १३ अ)

बुस्त–न., कण्टाफलस्यासारभागः (अम.)

बूक्क–न., बुक्कम् । हृदयम् (अ. टी. र.)

बृक्क(न्)–न. मूत्राशयः । तच्च द्वयं रक्तमेदः प्रसादजम् (सु. शा. ४अ.) नाडीव्रणः । (रा. व. २०)

बृहत्फल–पु., चचेण्डा (मद. ३व.)

बेटक–पु., मत्स्यविशेषः (श. र.)

बेट्टचन्दन–न., श्रीखण्डचन्दनान्यतरम् । 'मलयाद्रि-समीपस्थाः पर्वता बेट्टसंज्ञिताः तज्जातं चन्दनं यत्तु बेट्टवाच्यं क्वचिन्मते ।' तच्चातिशीतं दाहपित्तज्वरघ्नं तिक्तं छर्दिमोहतृष्णाकुष्ठतिमिरोत्कासघ्नंच (रा. व. १२.)

बोटवृद्धा-
बोटस्था- } स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.)
बोधनी–स्त्री., वृद्धौषधम् (र. मा.) पिप्पली (मे.)
बोधितरु-(द्रुम)-(पादप)–पु., अश्वत्थवृक्षः (मद. व. ५. अम.)

ब्रह्मकुशा–स्त्री., अजमोदा (भा.)
ब्रह्मजटा–स्त्री., दमनकवृक्षः । (रा. व. १०.)
ब्रह्मजा–स्त्री., ब्राह्मी (रा. व. २३.)
ब्रह्मणिका–स्त्री., अग्निप्रकृतिकीटभेदः (सु. क. ८अ.)
ब्रह्मण्य–पु., मुञ्जतृणम् (रा. व. ८.) पारिशाश्वत्थः (अम.)
ब्रह्मत्वक्–पु., सप्तपर्णवृक्षः । (वै. नि.) ब्राह्मणयष्टिका (श. च.)

ब्रह्मदण्ड–पु., यमानी (वै. नि.)
ब्रह्मदर्भ-(र्भा)–पु., स्त्री., यमानी (भा. भैष. अग्निसन्दीपनरसे)
ब्रह्मनिष्ठ–पु., पारिशपिप्पलः (वै. नि.)
ब्रह्मपत्र–न., पलाशपत्रम् (शङ्कल्पद्रुम)
ब्रह्मपर्णी–स्त्री., पृश्निपर्णी (रा. व. १३)
ब्रह्मपुत्र–पु., विषभेदः (प. मु.) तत्स्वरूपम्:– वर्णतः कपिलो यः स्यात्तथा भवति सारतः । ब्रह्मपुत्रः स विज्ञेयः जायते मलयाचले । ब्राह्मणः पाण्डुरस्तेषु क्षत्रियो लोहितप्रभः । वैश्यः पीतः सितः शूद्रो विष उक्तश्चतुर्विधः (भा.)
ब्रह्मपुत्री–स्त्री., भार्गी (रा. व. २३) वाराहीकन्दः (रा. व. ७)

ब्रह्मपुष्प–पु., फणिज्जकक्षुपः (ज. द.)
ब्रह्मभद्रा–स्त्री., त्रायमाणा (वै. नि.)
ब्रह्मभूमिजा–स्त्री., सैंहलीपिप्पलिः (रा. व. ६)
ब्रह्ममुण्डकी–स्त्री., ब्राह्मी (वै. नि.)
ब्रह्मयष्टि–स्त्री., भार्गी (प. मु.)
ब्रह्मरन्ध्र–न., उत्तमाङ्गम् (तन्त्रम्)
ब्रह्मरस–पु., वातरक्ताधिकारेहितः (रस. कौ.) 'पलाश-बीजचूर्णञ्च गोघृतेन समन्वितं । तुल्यं तुल्यं मृतं शुल्बं स्निग्धे भाण्डे निधापयेत् । वर्धयेच्च यथाशक्तिः अयं ब्रह्मरसो महान् ।
ब्रह्मरूपिणी–स्त्री., बन्दा (वै. नि.)
ब्रह्मवटी–स्त्री., उदराधिकारे औषधम् (रस. र.)
ब्रह्मवर्धन–न., ताम्रम् (हे. च.)
ब्रह्मशल्य–पु., बर्बूरवृक्षः । कदरः (र. मा.)
ब्रह्मसोमा–स्त्री., ब्राह्मी । श्वेतवृद्धदारकः (वै. नि.)
ब्रह्मस्थान–न., तूलकाष्ठम् (वै. नि.)
ब्रह्माग्र (त्म)भू–पु., घोटकः (श. मा.)
ब्रह्माणी–स्त्री., रेणुकः (र. मा.) राजरीतिः (रा. व. १३)
ब्रह्माण्ड– पु., कृष्णपिण्डारुभेदः (प. मु.)
ब्रह्माम्भ–न., गोमूत्रम् (वै. नि.)
ब्रह्मी–स्त्री., स्वनामख्यातशाकः (च. सू. ४ अ.) फञ्जिका (मे.) पङ्कालमत्स्यः (त्रि. का.)
ब्रह्मीघृत–न., स्वरभङ्गाधिकारे पक्वघृतम् (च. द. रस. र.)
ब्रह्मोपनेता (तृ)–पु., पलाशवृक्षः (रा. व. १०)
ब्राह्मपिङ्गा–स्त्री., रौप्यम् (वै. नि.)
ब्राह्मीकन्द–पु., वाराहीनाममहाकन्दशाकः (रा. व. ७)
ब्रुवद्भावी–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)

—भ—

भ–पु , भ्रमरः (एकाक्षरकोषः)
भक्किका–स्त्री., भल्लीकीटः (वै. नि.)
भक्तकर–पु., दशाङ्गादिकृत्रिमधूपः । (श. च.) (कार)–त्रि., पाचकः (हे. च.)
भक्तछन्द–पु., क्षुधा । आकाङ्क्षा । (च. द. अर्शचि. नागार्जुनयोगे ।)
भक्तजा–स्त्री., अमृतम् । (वै. नि.)
भक्तमण्ड–पु., अन्नमण्डः (अम.)
भक्तविपाकवटी–स्त्री., अग्निमान्द्यादौ हिता.(रस. कौ.)
भक्तिका–स्त्री., आरामशीतला (वै. नि.)
भक्षकण्टक–पु., क्षुद्रगोक्षुरकः (रा. व. ४)
भक्षण–न., भोजनम् (त्रिका.)
भक्षणीय–त्रि., भक्ष्यद्रव्यमात्रम् (वै. नि.)
भक्षालावु–स्त्री., शुक्लालाबुः । (रा. व. ७)
भगफल–न., योनिकन्दरोगः (च. द. योनिव्या. चि.)
भगाल–न., नरमस्तकम् । मनुष्यकरोटी
भग्नसन्धिक–पु., सन्धिभग्नरोगविशेषः न., घोलः (श. च.)
भग्नास्थिसन्धानकर–पु., लशुनः (वै. नि.)
भङ्गारी–स्त्री., गोधा (वै. नि.) दंशम् (त्रिका.)
भङ्गवासा–स्त्री., हरिद्रा (श. र.)
भङ्गान–पु., मत्स्यविशेषः ।
भङ्गारी–स्त्री., गोधा (वै. नि.) दंशः । (त्रिका.)
भङ्गिका–स्त्री., भङ्गा (वै. नि.)
भङ्गिनी–स्त्री., जिङ्गिनी (वै. नि.)
भङ्गील–न., भङ्गाक्षेत्रम् (रा. व. २)

भङ्ग्य–न., भङ्गाक्षेत्रम् (रा. व. २)
भञ्जरु-पु., देवकुलोद्भवद्रुमम् (त्रिका.)
भटा-स्त्री., इन्द्रवारुणीलता (र. मा.)
भटित्र-न., शूलपक्वमांसादिः (अम.)
भण्टक-पु., मारिषक्षुपः (वै. नि.)
भण्टा-स्त्री., चिञ्चोटकः । वार्ताकी (वै. नि.)
भण्डुक-पु., श्योणाकवृक्षः (र. मा.)
भण्डक-पु., खञ्जरीटपक्षी (जटा.)
भण्डीक-पु., शिरीषवृक्षः (रा. व. ९)
भण्डीतक-पु., भेण्डा (वै. नि.)
भण्डीतकी-स्त्री., मञ्जिष्ठा (भा.)
भण्डीरतिलका (लतिका)-स्त्री., मञ्जिष्ठा (रा.व.६)
भण्डील-पु., शिरीषवृक्षः । (वै. नि.)
स्त्री., मञ्जिष्ठा ।
भण्डूक-पु., मत्स्यभेदः । गुणाः– मधुरः शीतः वृष्यः श्लेष्मकरः गुरुः विष्टम्भि रक्तपित्तहरश्च (भा.)
श्योणाकवृक्षः (र. मा)
भद्रक–न., नागरमुस्ता (श. मा.; वै. नि. २ भ. क्षय.चि)
सूर्यप्रभागुटी । इन्द्रयवः । सरलदेवदारुकाष्ठम् । पद्मम् (वै. नि.)
पु., देवदारुवृक्षः (वै. नि.)
भद्रका-स्त्री., इन्द्रयवः (रा. व. ९)
भद्रकार्पासिका-स्त्री., रक्तकार्पासी (वै. नि.)
भद्रकाह्वया-स्त्री., भद्रमुस्ता (च. द. अतिसारचि.)
भद्रगन्धिका-स्त्री., प्रसारणी (वै. नि.) मुस्ता (र. मा.)
भद्रघन-पु., भद्रमुस्तम् (विसू. चि.) पिपासा । नागरमुस्ता (वै. नि. २ भ. अजीर्णचि.)
भद्रचन्दनसारिवा–स्त्री., कृष्णसारिवा (वै. नि.)
भद्रचूड-पु., लङ्काशिग्रु इति ख्यातः वृक्षः (वै. नि.)
भद्रज-पु., इन्द्रयवः (रा. व. ९)
भद्रतरुणी-स्त्री., कुब्जकवृक्षः (रा. व. १०)
भद्रनामा-पु., पक्षिविशेषः (वै. नि) काष्ठकुट्टपक्षी (त्रिका.)
भद्रनामिका–स्त्री., त्रायमाणा (प. मु.)
भद्रवचा–स्त्री., इन्द्रयवः (रा. व. ९)
भद्रव (व) ला–स्त्री., बला नाम क्षुपः (रा. व. ४)
काकोदुम्बरिका । प्रसारिणी (रा. व. ५)
गाम्भारीवृक्षः (वै. नि.)
भद्रमल्लिका (ल्ली)–स्त्री., काष्ठमल्लिका (प. मु.)
गवाक्षी (श. मा.)
भद्रमुञ्ज-पु., मुञ्जतृणभेदः
भद्रयोगदिवस-पु., पुष्यानक्षत्रयुक्तदिनम् (च. द. विष. चि.)
भद्रवत्–न., देवदारुः (रा. व. १२)
भद्रवर्मा (न्) पु., नवमल्लिका (श. च.)
भद्रवल्लिका–स्त्री., अनन्ता (र. मा.) प्रसारणी (वै. नि.)
भद्रशिफा–स्त्री., हरिद्रा (रा. व. ६)
भद्र (द्रा) श्रिय–न., श्वेतचन्दनम् (र. मा. श. च. । च. द. वातव्याधि म. प्रसारणीतैले) (च. चि. ३।४ अ.)
भद्रसर–न., चन्दनसामान्यम् (प. मु.)
भद्रहंस-पु., नागरमुस्ता (वै. नि.)
भद्राकरण–न., क्षौरकर्म (हे. च.)
भद्राख्य-पु., देवदारुवृक्षः (च. द. उपदंशचि.)
भद्रालपत्रिका–स्त्री., प्रसारणी (श. मा.)
भद्राली–स्त्री., प्रसारणी (श. मा.)
भद्रावती–स्त्री., कट्फलवृक्षः (रा. व. ९.)
भद्राह्व-पु., मुस्तकः (भा. म. ३भ. अश्मचि.)
भद्रिका–स्त्री., गुञ्जा (वै. नि.)
भद्रोत्कट–पु., भद्रमुस्ता (र. मा.) जातीफलादिः (भैष. स्त्रीरोगचि.) भादाकड इति ख्यातः वृक्षः (च. द. गर्भाधिकारे)
भन्दिल–न., कम्पः (उणा.)
भम्भ-पु., धूमः (त्रिका.) मक्षिका (त्रिका.)
भम्भरालिका-स्त्री., दंशमक्षिका (त्रिका.)
भयङ्कर-पु., रणगृध्रः (रा. व. १९. त्रि.) भयावहः ।
भयानक-पु., व्याघ्रः (मे.) (त्रि.,) भयङ्करः ।
भयावहा–स्त्री., रात्रिः (वै. नि.)
भर-पु., द्विसहस्रपलपरिमाणम् (वै. नि.)
भरण्ड-पु., वृषः । क्रमः (उणा.)
भरण्याह्वा–स्त्री., पर्वपुष्पी रामदूतीति लोके (श. च.)
भरद्वाजी–स्त्री., वनकार्पासी (र. मा.)
भरु-पु., स्वर्णम् (मे.)
भरुज-पु., क्षुद्रशृगालः (श. च.)
भरुटक–न., भर्जितमांसम् (हे. च.)
भरोद्वह-पु., धवतरुः (वै. नि.)
भर्ग-पु., पाककरणम्, भर्जनम् (व्याक) कल्कः (भैष. वातव्याधीचि. महाविष्णुतैले.)
भर्गपर्वणी–स्त्री., भार्गी (वै. नि.)
भर्म–न., स्वर्णः । धुस्तूरः (अम.) नाभिः (विश्व. द्विरू.)
भर्मगैरिक–न., स्वर्णगैरिकम् (वै. नि.)
भर्मयूथी–स्त्री., स्वर्णयूथिका (वै. नि.)

भर्त्सपत्रिका–स्त्री., महानीली (रा. व. ४.)
भलता–स्त्री., प्रसारणी (वै. नि.) आकाशलता (श र.)
भल्ल–पु., सन्निपातविशेषः । भल्लातकवृक्षः । भल्लूकः । (अम.)
भल्लकिमत्स्य–पु., मत्स्यविशेषः, गुणाः–'भल्लकी मधुरः शीतो वृष्यः श्लेष्मकरो गुरुः' (राज. ३प.)
भल्लपुच्छी–स्त्री., गोरक्षतण्डुला (श. च.)
भल्लातकगुड–पु., अर्शोरोगे पक्वगुडः । (च. द.)
भल्लातकफलमज्जा -स्त्री., गोडुम्बा
भल्लि–(ल्लिका)(ल्ली)–स्त्री., भल्लातकवृक्षः (रा. व. २३. श. र. च.)
भल्लु–पु., पित्तश्लेष्मोल्बणसन्निपातज्वरविशेषः (भा) अफल्गुरिति तन्त्रान्तरे नाम ।
भवलिङ्गी–स्त्री., शिवलिङ्गिनीलता पञ्चगुरिया इति पश्चिमदेशे ख्याता (भा. भ. ४भ. योनिरोगचि.)
भवात्मजा–स्त्री., मनसादेवी (श. मा.)
भविल–पु., षण्डः । (वै. नि.)
भव्यफल–न., बहुवारफलम् । (वै. नि. रक्त–पित्तचि.)
भव्या–स्त्री., गजपिप्पली (मे)
भष (क)–पु., कुक्कुरः । **(का)** कुक्कुरी (र. मा. । अम.)
भषत्–न., अन्तःकरणम् (वै. नि.)
भसत्–न., काष्ठम् । जघनम् । अश्वमांसम् । (उणा.) पु., (द्)–कारण्डवपक्षी । ध्रुवम् । (उणा.) योनिः (मे.)
भसरा–स्त्री., मधुमक्षिका । शालनिर्यासः (वै. नि.)
भसराल–पु., बृहन्मक्षिका (वै. नि.)
भस्त्र (स्त्रा) का–(स्त्रा, स्त्री) –स्त्री., चर्मदतिः (श. र.)
भस्मकाग्नि–पु., तन्नामकरोगविशेषः । (मा. नि.)
भस्मगन्धा (न्धिका)–स्त्री., रेणुकबीजम् (भा. जटा.)
भस्मगन्धिनी–स्त्री., रेणुकबीजम् (वै. नि.)
भस्मतूल–न., हिमम् (मे)
भस्ममेह–पु., शर्करामेहः । (निदा.)
भस्मवर्ण–पु., भासपक्षी (वै. नि.)
भस्मवेध (क)-पु., कर्पूरः । (श. र.)
भस्मसूत–पु., रससिन्दूरः । (र. सा. सं. वृ. ज्व. चूडामणिरसे)
भस्माङ्ग–पु., कपोतः । (वै. नि.)
भस्माह्वय–पु., कर्पूरः (त्रिका.)
भाकु(कू)ट–पु., मत्स्यविशेषः (मे.) गुणाः–' भाकुटो मधुरः शीतः वृष्यः श्लेष्मकरो गुरुः । आमवातकरो ह्यद्यो वातपित्तहरो मतः । (राज. ३ प.)
भाक्त–न., धान्यम् (वै. नि.)
भाग–पु., कालपरिमाणविशेषः अंशः (अम.)
भाण्डिका–स्त्री., वार्ताकी (श. चि.)
भाण्डकमुष्टिका–स्त्री., बृहज्जलाधारः (त्रिका.)
भाण्डकारी–स्त्री., मञ्जिष्ठा (वै. नि.)
भाण्डपुष्प–पु., सर्पविशेषः (त्रिका.)
भाण्डरञ्जनमृत्तिका–स्त्री., रञ्जनमृत् (सं. रसकर्पूरप्रकरणे)
भाण्डि–पु., नापितस्य क्षुराद्याधारः (शब्दकल्पद्रुमः)
भाण्डिल–पु., नापितः (श. मा.)
भाण्डीर–पु., क्षुपविशेषः (हिं. भाण्ड्) वटवृक्षः (जटा.)
भाण्डीरलतिका–स्त्री., मञ्जिष्ठा (रा. व. ६)
भाद्र–(पद)–(पदा)–पु., स्त्री., भाद्रमासः (अम.)
भाद्रविक–पु., चीनधान्यम् (प. मु.)
भानुपाक–पु., सूर्यरश्मिभिः लौहस्य पाकः (र. सा. सं)
भारङ्गिका(ङ्गी)–स्त्री., भार्गी (रा. व. ६ नकुल. १२ अ.)
भारटी–स्त्री., नीलीवृक्षः (वै. नि.)
भारती–स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (रा. व. ५ भा. म. १ भ. प्रलापकज्वरचि. चि. क. क. स्त्रीरोगचि.) भारद्वाजपक्षी (त्रिका.)
भारथ(य) पु., भारद्वाजपक्षी (श. च.)
भारवाह–पु., गर्दभः (वै. नि.)
भारवी–स्त्री., तुलसीवृक्षः (वै. नि.)
भारवृक्ष–पु., काक्षीनामकगन्धद्रव्यम् (श. च.)
भारशृङ्ग–पु., मृगविशेषः । मांसगुणाः–' कफजनकं गुरु स्निग्धं बल्यं वृष्यं पुष्टिकरं किञ्चित्वातकरं सरञ्च (रा. व. १७)
भारि–पु., सिंहः (हे. च.)
भारिक–पु., गर्दभः ।
भारिट–पु., श्यामचटकः (रा. व. १९)
भार्गवप्रिय–पु., हीरकः (शब्दकल्पद्रुमः)
भार्गवाग्रणी–स्त्री., भार्गी (वै. नि.)
भार्गीगुड–पु., श्वासाधिकारे हितः (भा. भैष.)
भार्ग्यादि–पु., विषमज्वरे कषायभेदः (भैष. ज्व. चि.)
भार्द्राजी–स्त्री., वनकार्पासी (श. र.)
भार्या–स्त्री., पत्निः (श. र.)
भार्याटिक–पु., हरिणविशेषः (मे.)
भार्यारु–पु., मृगभेदः (मे.)
भाल–न., गण्डस्थलम् (रा. व. १८) तेजस् (मे.)
भालदर्शन–न., सिन्दुरम् (श. च.)

भालाङ्ग-पु., रोहितमत्स्यः (त्रिका.) शाकविशेषः । कच्छपः (मे)

भालु (लू लु लू) क पु., भल्लूकः (अ. टी. भ.) शृगाल (वै. नि.)

भासन्त-पु., काकभेदः । भासपक्षी (मे)

भासा स्त्री., कुमारी (वै. नि.)

भास्करप्रिय-पु., माणिक्यविशेषः (रस. चि.)

भास्करलवण-न., ग्रहण्यधिकारे औषधम् (रस. र. भ)

भास्करशिफा-स्त्री., अर्कमूलम् (वै. नि.) (वातव्या. चि. विषगर्भतैले.)

भास्वन्मूल-न., अर्कमूलम् (भा. म. १ भ.) शीताङ्गसन्निपातज्वर. चि.)

भास्वान्-पु., ताम्रम् (र. चि. ३ अ.) अर्कवृक्षः (अम.)

भिक्षुक-पु., गोक्षुरः (रा. व. २३.)

भिण्डा (ण्डी)-स्त्री., भेण्डाक्षुपः (रा. व. ४)

भिण्डितक-पु., भेण्डाक्षुपः (रा. व. ४)

भित्तीखा (पा) तन-पु., महामूषिकः (रा. व. १९)

भिदि (र) (दु द्र) पु., न., वज्रम् (अ. टी. भ. । त्रिका. रा.व. १३ । क्षयरोगचि. त्रैलाक्यचिन्तामणिरसे)

भिन्नखुर-पु., अश्वस्य पादरोगभेदः । यथा विन्द्याद्भिन्नखुरश्चैव यस्यान्यो जायते खुरः । (ज. द. ३९अ.)

भिन्नगात्रिका-स्त्री., कर्कटिका (श. च)

भिन्नभिन्नात्मा(न्)-पु., चणकवृक्षः । (श. च.)

भिन्नयोजनी-स्त्री., पाषाणभेदकवृक्षः । (भा.)

भिन्नवर्ति-पु., अश्वस्य शूलरोगभेदः । यथा 'अतीसारेण संयुक्तं शूलं यस्योपजायते । भिन्नवर्तिन्तु तं विद्यात्तुरङ्गं दीनचेष्टितम् । (ज. द. ४३ अ.)

भिन्नवल्कल-पु., गुच्छकन्दः । तैलसारु इति ख्याते कन्दशाके (प. मु.)

भिन्नविट्कता-स्त्री., पित्तजन्य मज्जभेदरोगः (निदानम्)

भिरिटिक-पु., वृद्धशृगालः (वै. नि.)

भिरिण्टि (ण्डि)का-स्त्री., श्वेतगुञ्जालता । रा. व. ३) अन्धाहुली (वै. नि.)

भिलु(तरु)-पु., लोध्रवृक्षः (रा. व. ६)

भिलुगवी-स्त्री., वन्यागोः (रा. व. १९)

भिल्लीशावरक-पु., चम्पकरोध्रः (रा. व ६.)

भिषग्भद्रा-स्त्री., भद्रदन्तिका (रा. व. ६)

भिष्मिकाटा(ष्टा)-स्त्री., दग्धान्नम् । (अ. टी. सा.)

भिस्सट-पु., पद्मकन्दः (वै. नि.)

भिस्स(स्सि)टा-स्त्री., भिष्मिका (अम. अ. टी. सा.)

भिस्सा-स्त्री., अन्नम् (अम.)

भिस्साण्ड-न., शालूकः (भा. पू. १भ. शा. व.)

भीमनाद-पु., सिंहः (श. च.)

भीमरथी-स्त्री., कृष्णसंज्ञका काचित् नदी । तज्जलं कृष्णाजलतुल्यम् । लोकानां वयः कालभेदे । स च कालः सप्तसप्ततितमवर्षस्य सप्तममासिक सप्तमरात्रिरिति यथा ' सप्तसप्ततिके वर्षे सप्तमे मासि सप्तमी । रात्रिर्भीमरथीनाम नराणां दुरतिक्रमा (श. मा.)

भीमविक्रान्त-न., द्राक्षामद्यम् (वै. नि.) पु., सिंहः (त्रिका.)

भीमसेन-पु., तन्नामककर्पूरः । गुणाः-'वातपित्तघ्नः रसे पाके च मधुरः शीतलः बृंहणः बल्यश्च (भा. र.-व. १२.)

भीमा-स्त्री., रोचनाख्यसुगन्धिद्रव्यम् (श. च.)

भीरुचेता (स)-पु., हरिणः (वै. नि.)

भीरुपत्रिका (त्री) स्त्री., शतावरी (प. मु.)

भीरुहृदय-पु.,-मृगः (जटा.)

भीलभूषणा-स्त्री., गुञ्जा (रा. व. ७.)

भील्लुक-पु., भल्लुकः (श. र.)

भीष्म-न., अन्नम् (प. मु.)

भीष्मगन्धक-पु., माधवीलता (वै. नि.)

भुक्तशेष-त्रि., उच्छिष्टम् (वै. नि.)

भुक्ति-स्त्री., उपभोगः । नखम् (वै. नि.) भोजनम् (श. र.)

भुक्तिप्रद-पु., मुद्गः (रा. व. १६)

भुग्न-त्रि., रोगादिना वक्रीकृतम् (अम.)

भुग्नदृक्-(नेत्र)-पु., तन्नामकसन्निपातज्वरविशेषः (भा. ज्वरचि.)

भुग्नी-स्त्री., भूनागः (रा. व. १३)

भुजकोटर-पु., कक्षदेशः (हे. च.)

भुजगोपभोजी (इन्)-पु., मयूरः (रा. व. १९)

भुजङ्गघातिनी-स्त्री., सर्पकङ्कालिका (रा. व. १३)

भुजङ्गदमनी-स्त्री., नाकुलीकन्दः, नागदमनी (वै. नि.)

भुजङ्गदर्शिनी-स्त्री., नागदमनी (वै. नि.)

भुजङ्गदारण-पु., मयूरः, रास्ना (वै. नि.)

भुजङ्गभुक् (ज)-मयूरः (अम.)

भुजङ्गभोजी (इन्)-पु., राजसर्पः (हे. च.)

भुजङ्गलता-स्त्री., नागवल्ली (रा. व. ११)

भुजङ्गवल्ली-स्त्री., नागवल्लीलता (र. सा. सं. भैष. चिन्तामणिरसे)

भुजङ्गाख्य-पु., नागकेशरवृक्षः ।

भुजङ्गान्तक–(शन)–पु., मयूरः गृध्रः (वै. नि.)
भुजङ्गाक्षी–स्त्री., सर्पाक्षी । रास्ना (अम.)
भुजङ्गी–स्त्री., सर्पिणी (वै. नि.)
भुजमध्य–न., कूर्परः (रा. व. १८)
भुजमस्तक न., स्कन्धदेशः (वै. नि.)
भुजशिर–न., स्कन्धदेशः (अम.)
भुजा–स्त्री., बाहुः (रा. व. । १८ त्रिका.)
भुजाकण्ट–पु., हस्तनखम् (हे. च.)
भुजागम–पु., वृक्षः (वै. नि.)
भुजाढकी–स्त्री.,कलायविशेषः (र. मा.) नीलनिर्गुण्डी । शेफालिका (रा. व. ४)
भुजादल–पु., करः (त्रिका.)
भुजान्तर–न., वक्षः (रा. व. १८) क्रोडम् (अम.)
भुजिष्य–पु., रोगः (उणा.)
भुर्ज–पु., भूर्जपत्रवृक्षः (रा. व. ९)
भूक–पु., न., छिद्रम्, अन्धकारः (मे.) (श. मा.)
भूकदम्बा(बिका)–स्त्री., गोरक्षमुण्डी (वै. नि.)
भूकाक–पु., नीलकपोतः । क्षुद्रकङ्कः (श. र.)
भूकुम्बक–पु., कुलहलः (वा. सू. १५ अ.) (सुरसादि)
भूकुम्भी–स्त्री., भूपाटली (रा. व. ५)
भूकूष्माण्ड–न., भूमिकूष्माण्डः (भैष. (ध्वजभङ्गचि.)
भूकूष्माण्डी–स्त्री., विदारीकन्दः (रा. व. ७)
भूकेश–पु., वटवृक्षः । शैवालः (मे.)
भूकेसी–स्त्री., अवल्गुजनामकवृक्षविशेषः ।
भूगन्धा–स्त्री., मुरानामगन्धद्रव्यम् (श. चि.)
भूगर–न., विषम् (रा. व. ६)
भूचणक–पु., वृक्षभेदः, एतत्तैलं कोशाम्रतैलगुणम् । हिं.—मुंफली.
भूचम्पक–पु., भूमिचम्पकक्षुपः (वै. नि.)
भूच्छत्र–न., छत्राकः (वै. नि.)
भूजन्तु–पु., भूनागः (रा. व. १३)
भूतकेसरा–स्त्री., मेथिका (वै. नि.)
भूतक्रान्ति–स्त्री., भूतोन्मादः । भूतसञ्चारः (रा. व. २०)
भूतगन्धा–स्त्री., मुरामांसी (जटा.)
भूततृण–पु., विषभेदः (र. मा.) गन्धतृणविशेषः (रा. व. ८)
भूतपति–पु., कृष्णतुलसीवृक्षः (वै नि.)
भूतपत्री–स्त्री., तुलसीवृक्षः (रा. व. १०)
भूतपादप–पु., भव्यफलवृक्षः (वै. नि)
भूत(ति)पुष्प–पु., इयोणाकवृक्षः (वै. नि.)
भूतबन्ध–पु., पिशाचबन्धनम् (वै. नि.)

भूतभैरवरस–पु., अपस्माराधिकारे रसः (भा. म. २ अ.)
भूतमारी–स्त्री., चिडा नाम गन्धद्रव्यम् । देवदारुभेदः (रा. व. १२)
भूतयज्ञ–पु., भूतेभ्यो बलिहरणम् (हारीत)
भूतलिका–स्त्री., स्पृक्का नाम गन्धद्रव्यम् (रा. व. २०)
भूतविक्रिया–स्त्री., अपस्माररोगः (रा. व. २०)
भूतवेशी (श्या)–स्त्री., श्वेतशेफालिकावृक्षः (प. मु.) निर्गुण्डी (वै. नि.)
भूतशिखाग्रणी–स्त्री., सुगन्धजटामांसी (वै. नि.)
भूतशिखी–स्त्री., सुगन्धजटामांसी (वै. नि.)
भूतशिफा–स्त्री., सुगन्धजटामांसी (वै. नि.)
भूतसञ्चार–पु.. ग्रहावेशः भूतोन्मादः (रा. व. २०.)
भूतहा (न्)–पु., भूर्जवृक्षः (वै. नि.)
भूतहास–पु., सन्निपातज्वरविशेषः (भा. म. १ भ.)
भूतावास–पु., बिभीतकवृक्षः (रा. व. ११.) शरीरम् । (वै. नि.)
भूताविष्ट–त्रि., पिशाचग्रस्तः ।
भूतावेश–पु., भूतसञ्चारः ।
भूतावेशा (शी)–स्त्री., निर्गुण्डीवृक्षः । (वै. नि.)
भूतावेश्यालता–स्त्री., तुलसीवृक्षः । (वै. नि.)
भूतिपुष्पिका–स्त्री., शुक्लकेतकवृक्षः (वै. नि.)
भूतिसित–न., रौप्यधातुः (रा. व. १३.)
भूतेष्टा–स्त्री., कृष्णतुलसी (वै. नि.)
भूतोन्माद–पु., भूतावेशजन्योन्मादः (निदानम्)
भूत्तम–न., स्वर्णम् (हे. च.)
भूदराश्रया–स्त्री., मूषिकाकर्णी ।
भूदरीरोद्भवा–स्त्री., आखुकर्णीलता
भूदर्या–स्त्री., मूषिकपर्णी (वै. नि.)
भूनिम्बादिकषाय–पु., भूनिम्बगुडूचीमुस्तनागरकृत-कषायः । गुणाः–ज्वरे दोषपाचनः ज्वरादिघ्नश्च (वा. चि. १ अ.)
भूनीप–पु., भूकदम्बः (रा. व. ५)
भूपत्र–न., मृत्तिकाक्षारः (वै. नि.)
भूपद–पु., वृक्षः (श. च.)
भूपर्णी–स्त्री., भूपीठरिका (वै. नि.)
भूपलाश–पु., आस्फोतगुल्मम् (र. मा.)
भूपाला(ली)–स्त्री., घोषा (वै. नि.)
भूपिठरिका(री)–स्त्री., सोनामुखीति ख्यातलता (वै. नि.)
भूपत्री–स्त्री., भूपिठरी (वै. नि.)
भूपुष्प–पु., भूमिचम्पकवृक्षः (वै. नि.)

भूपेष्ट-पु., राजादनीवृक्षः (रा. व. ११)
भूफल-पु., मुद्गः । हरितमुद्गः (रा. व. १६)
भूभुक्ता-स्त्री., भूमिखर्जूरिका (रा. व. ११)
भूभृत्-पु., पर्वतः (रा. व. २)
भूमण्डली-स्त्री., मल्लिकावृक्षः, वनस्पतिभेदः (वै. नि.)
भूमण्डिनी-स्त्री., मल्लिका (वै. नि.)
भूमिकदम्बिका-स्त्री., मुण्डी, गोरक्षमुण्डी (रा. व. ५)
भूमिकालिका-स्त्री., गोधूमिकाशाकः । (वै. नि.)
भूमिकूष्माण्ड-पु., विदारीकन्दः । (प. मु.)
भूमिगम-पु.,उष्ट्रः । (वै. नि.)
भूमिचम्पक-पु., भूचम्पकः । (हिं-चण्डमूल) (श. च) अस्य मूलं व्रणपाककरम् ।
भूमिच्छत्र (न) न., भूमित्थच्छत्रशाकः । संस्वेदजशाकः । (वै. नि. भा. पू. १ भ. शा. व.)
भूमिजगुग्गुलु-पु., आशापुरगुग्गुलुः । भूमिजगुग्गुलः काशीदेशे प्रसिद्धः । गुणाः-सौरभ्यदः तिक्तकटूष्णः कफवातघ्नः भूतघ्नः मेध्यः सुगन्धिश्च । (रा. व. ७।१३)
भूमिजम्बूका-स्त्री., नागरङ्गवृक्षः । क्षुद्रजम्बूवृक्षः । (अम.)
भूमिदण्डा-स्त्री., मल्लिका पुष्पवृक्षः । (वै. नि.)
भूमिपिशाच-पु., तालवृक्षः । (हारा.)
भूमिपुत्र-पु., श्योणाकः । (वै. नि.)
भूमिमण्ड-पु., आस्फोतकलता अष्टपादिका इति लोके (र. मा.)
भूमिमण्डा-स्त्री., शारदमल्लिका (वै. नि.)
भूमिलता-स्त्री., शङ्खपुष्पीलता (वै. नि.) किञ्चुलुका (भैष वीर्यस्तम्भेः । च. द. वृष्य चि.)
भूमिलवण-न., मृत्तिकालवणम् (वै. नि.)
भूमिलेपन-न., गोमयः । (श. च.)
भूमिवल्ली-स्त्री., मार्कण्डिकालता (भा.)
भूमिशय-पु., वनचटकः (रा. व. १९.)
भूमिसम्पुट-पु., शरावादिः (वै. नि. कास. चि.)
भूमिसर-पु., श्यामाकतृणम् (वै. नि.)
भूमिस्पृक्-पु., मानुषः (मे.) अन्धः । खञ्जः (श. र.)
भूमिस्फोट-पु., भूच्छत्राकः (वै. नि.)
भूमिषण्ड-पु., शारदमल्लिका (रत्ना.)
भूम्याडुली-स्त्री., अपराजिता (रा. व. २३.)
भूम्युदराश्रया-स्त्री., मूषिककर्णीलता (वै. नि.)
भूरिग (म)-पु., गर्दभः (रा. व. १९.)
भूरिधर-पु., गर्दभः (रा. व. १९.)
भूरिनिष्क-न., स्वर्णः (रा. व. १३.)
भूरिप्रेमा (न)-पु., चक्रवाकपक्षी (रा. व. १९.)
भूरिफेना-स्त्री., चर्मकषा (र. मा.) सागुवृक्षः (वै.नि.)
भूरिमाय (यु)-पु., शृगालः (अम.) स्त्री., (या-यु) शृगाली (रा. व. १९.)
भूरिमूलिका-स्त्री., अम्बष्ठा (वै. नि.)
भूरिरस-पु., इक्षुवृक्षः (भा.)
भूरिलझा-स्त्री., श्वेतापराजिता (वै. नि.)
भूरुण्डी-स्त्री., हस्तिशुण्डीवृक्षः (अम.) महाकरञ्जः । आदित्यभक्ता (वै. नि.)
भूरोह-पु., किञ्चुलुकः (भैष. भग. चि.)
भूलता-स्त्री., किञ्चुलुकः (वै. नि.)
भूशमी-स्त्री., हस्वशमीवृक्षः (वै. नि.)
भूषि (सु) ता-स्त्री., अङ्कोलवृक्षः (वै. नि.)
भूस्थ--पु., गण्डूपदी । मनुष्यः (वै. नि.)
भूस्पृक्-पु., मानुषः (हे. च.)
भूक्षित्-पु., शूकरः (त्रिका.)
भृगुभवा-स्त्री., भार्गी (रा. व. ६)
भृगूद्भवा-स्त्री., भार्गी (रा. व. ६)
भृङ्गक-पु., धूस्याटः
भृङ्गचुली-स्त्री., भृङ्गाह्वा (म. भ्रमरमाली) गुणाः-कटूष्णा तिक्ता दीपनरोचनी च (रा. व. ७)
भृङ्गज-न., अगरुकाष्ठम् (र. मा.)
भृङ्गपर्णिका-स्त्री., सूक्ष्मैला (श. च.)
भृङ्गबन्धु-पु., कुन्दवृक्षः कदम्बवृक्षः (वै. नि.)
भृङ्गमोही (इन्)-पु., चम्पकवृक्षः (रा. व. १०) स्वर्णचम्पकः (वै. नि.)
भृङ्गरा-स्त्री., भृङ्गराजः । केशराजः
भृङ्गरि (री) ट-पु., लौहः (रस. र. रसायने)
भृङ्गरोल-पु., कीटविशेषः (त्रिका.)
भृङ्गसुहृत्-पु., कुन्दपुष्पवृक्षः ।
भृङ्गसोदर-पु., केशराजः । (वै. नि.)
भृङ्गारिका(री) स्त्री., झिल्लीकीटः । (अम. हे. च.)
भृङ्गार्क-पु., भृगराजवृक्षः । (वै. नि.)
भृङ्गिका-स्त्री., इन्द्रगोपकीटः (वै. नि.)
भृङ्गिणी-स्त्री., वटीवृक्षः । (रा. व. ११)
भृङ्गि(ङ्गे)रिटि-स्त्री., भृङ्गः (त्रिका.)
भृङ्गी-स्त्री., अतिविषा । वटीवृक्षः (रा. व. ११) भृङ्गः (वै. नि. २ भ अन्तकज्वरचि. शुण्ठ्यादि) तन्नामकमक्षिका । इन्द्रगोपकीटः (वै. नि.) (इन्)-वटवृक्षः (रा. व. ११)

भृङ्गीगृह–न., भृङ्गीमक्षिकागृहम्। (वै. नि. २ भ. रक्तपित्तचि. नस्ये.)
भृङ्गीफल–न., आम्रातकवृक्षः। (रा. व. ११)
भृङ्गेष्ट–पु., आम्रवृक्षः (वै. नि.)
भृज्जन–पु., भर्जनपात्रम् (उणा.)
भृषत्–पु., स्त्री., पाषाणः (श. र.)
भृष्टकुलत्थ–पु., भर्जितकुलत्थकः। सज्वरे स्वेदोद्गमहरः (सा. कौ. ज्वरचि.)
भृष्टचणक–पु., भर्जितचणकः।
गुणाः—रुच्यः वातघ्नः रक्तदोषकृत् वीर्योष्णः लघुः कफघ्नः शैत्यापहारकश्च (रा. व. १६)
भृष्टतण्डुलान्न–न., भर्जिततण्डुलस्यान्नम्। गुणाः—भृष्टतण्डुलजञ्चान्नं लघु वह्निप्रदीपनम्।
भृष्टमत्स्य–पु., भर्जितमत्स्यः।
भृष्टमांस–न., घृतादिभर्जितमांसम्, गुणाः—विदाहि रक्तवातादिदोषकृच्च (रा. व. ७, १७)
भृष्टयव–पु., भर्जितयवः। धाना, चिपिटकः (प. मु.)
भृष्टान्न–न., भृष्टतण्डुलः (श. च.)
मेकट–पु., मत्स्यभेदः (भ. द्वि.)
भेकनि–(नी)–स्त्री., मत्स्यभेदः। गुणाः—' सद्योबलकरं श्रमतृष्णाप्रमेहक्षयकुष्ठच्छर्दिघ्नञ्च (राज.)
भेकपर्णी–स्त्री., मण्डूकपर्णी (सा. कौ. रास्नादिलौहे.)
भेकभुक्–पु., सर्पः (त्रिका.)
भेकमूत्र–न., मण्डूकमूत्रम् (र. सा. सं.) (वज्रशोधने)
भेकराज–पु., महाभेकः। भृङ्गराजः (वै. नि.)
भेकी–स्त्री., मण्डूकपर्णी (र. मा.) भेकपत्नी (अम.)
भेटुलि–पु., वाममत्स्यः (सु. सू. ७ अ.)
भेडी–स्त्री., मेषी।
भेदिज्वराङ्कुश–पु., ज्वराधिकारे रसः (रस. कौ.)
भेरुण्ड–न., गर्भधारणः (श. र.) त्रि., भयानकः।
भेषजाङ्ग–न., औषधानुपानम् (श. च.)
भैरवीवचा–स्त्री., स्वनामख्यातवचा (प. मु.)
भैषज्यसार–पु., उपेन्द्रमिश्रकृतसंग्रहः।
भोगगृह–न., वासगृहम् (हे. च.)
भोगधर–पु., सर्पः (वै. नि.)
भोगपिशाचिका–स्त्री., क्षुधा (हारा.)
भोगवान्–पु., सर्पः (मे.)
भोगावास–पु., वासगृहम् (हारा.)
भोगिभुक्–पु., गरुडः। मयूरः (वै. नि.)
भोग्य–न., धान्यम् (रा व. १६)
भोग्यार्ह–न., शालिधान्यम् (रा. व.)
भोजनक–पु., नदीभल्लातकः (प. मु.)
भोजनपात्र–न., स्वर्णादिनिर्मिताहारपात्रम् (पाकराजः)
भोजनार्ह–शालिधान्यम् (प. मु.)
भोजनीय–न., भोजद्रव्यमात्रम्।
भोजराज–पु., अश्वशास्त्रकारः।
भोजराजशुक्र–पु., रससुधानिधिकारे हितः।
भोज्य–न., अष्टविधान्नान्यतमं अन्नम् (रा. व. २०)
भोज्यसम्भव–पु., शरीरस्थरसधातुः।
भोलि–पु., उष्ट्रः (त्रिका.)
भौमसर्प–पु., पृथ्वीजातसर्पदंष्ट्राविषम् (सुकल्प ३ अ.)
भौर्जग्रन्थि–पु., भूर्जग्रन्थिः। (च. सू. ३)
भ्रमणी–स्त्री., जलौका (वै. नि.)
भ्रमत्कुटी–स्त्री., तृणादिच्छत्रम् (त्रिका.)
भ्रमरकीट–पु., कुम्भीरकीटः। अग्निप्रकृतिकीटः (सु. कल्प. ८ अ.)
भ्रमरत्वचा–स्त्री., भ्रमरच्छल्ली (रा. व. ७)
भ्रमरप्रिय–पु., धाराकदम्बः (र. मा.)
भ्रमरभारी–स्त्री भ्रमरारिपुष्पवृक्षः (रा. व. १०)
भ्रमरालम्ब–पु., भूतृणम् (रा. व. ८)
भ्रमि–स्त्री., मूर्च्छा।
भ्रमिका–स्त्री., धातकीवृक्षः (वै. नि.)
भ्रस्थु–पु., नासारोगभेदः (निदानम्)
भ्रामरशर्करा–स्त्री., भ्रामरमधुकृतशर्करा। गुणाः—' भ्रामरमधुतुल्याः ' (रा. व. १४)
भ्रामरी–स्त्री., पुत्रदात्रीलता (रा. व. ३ नकुल. १३ अ.)
भ्रामित–त्रि., रोगी (रा. व. २०)
भ्रामिताक्ष–पु., अश्वस्य वातव्याधिविशेषः। लक्षणं यथा—' वक्रः पश्चिमकायेन मण्डलैर्यो विचेष्टते। मन्दग्रासश्च दीनश्च भ्रामिताक्षो रजोवृतः (ज द.५५ अ.)
भ्राष्ट–पु., न., भर्जनपात्रम् (अम.)
भ्राष्ट्रजा–स्त्री., खर्परपोलिका।
भ्रुकुटि–स्त्री., भ्रूः (वै. नि.)
भ्रूण(क)–पु., बालकः। गर्भः (अम.) ह्रीबेरम् (रस. र. तिक्तकघृते)

म

म–पु., ब्रह्म (एका. कोषः) विषम् (मे.)
मकरध्वज–पु., रसायनाधिकारे औषधविशेषः (र. स. सं)
मकरन्दज–न., ह्रीबेरम् (प. मु.)
मकरन्दवती–स्त्री., पाटलपुष्पवृक्षः (श. च.)

मकराकर–पु., कण्टककरञ्जाः (श. च.)
मकरी–स्त्री., सन्निपातज्वरविशेषः ।
मकुर–(ल)–पु., बकुलवृक्षः । कोरकः (हे. च. श. र.)
मकु(कू)लक–पु., दन्तीवृक्षः (अ. टी. र. च. सू. २७ अ.)
मकूल–न., शिलाजतुः (श. र.)
मक्कोल–पु., खटिका (त्रिका.)
मखप्रभु–पु., बृहत्सोमलता (वै. नि.)
मखान्न–न., पद्मबीजसदृशबीजम् । (हिं–मखाना) ' मखान्नं पद्मबीजाभं पानीयफलमित्यपि' । गुणाः–मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत् (भा.)
मगधजा–स्त्री., पिप्पली (वै. नि. विज्वरचि.)
मघ–न., औषधम् । पुष्पविशेषः । (श. र.)
मघा (घी)–स्त्री., औषधविशेषम् (धरणि) धान्यविशेषः (मे.)
मङ्क (क्षु) ण–न., जङ्घात्राणम् (हारा.)
मङ्गलागुरु–न., मङ्गल्यागुरुः (रा. व. १२.)
मङ्गल्यक–पु., मसूरकलायः (भा. पू. १भ. धा. व.)
मङ्गल्यकुसुमा–स्त्री., शङ्खपुष्पी (भा.)
मङ्गल्यनामधेया–स्त्री., जीवन्तीवृक्षः (जटा.)
मङ्गल्यपुष्पी–स्त्री., शङ्खपुष्पी
मङ्गल्यागुरु–न., स्वनाम्ना केदारदेशे प्रसिद्धागुरु । गुणाः–'शीतलं गन्धाढ्यं योगवाहिकञ्च (रा.व.१२)
मङ्गल्यावल्ली–स्त्री., त्रायमाणलता (रा. व. ५.)
मङ्गुर–पु., मत्स्यविशेषः (वै. नि.)
मच्छ–पु., मत्स्यसामान्यः (श. र.)
मज्जकृत्–न., अस्थि (हे. च.)
मज्जगतज्वर–पु., तदाश्रितज्वरविशेषः । ' तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा । अन्तर्दाहो महाश्वासः मर्मच्छेदश्च मज्जगे । मज्जशुक्रे क्रिया नोक्ता मरणं तत्र भाषितम् (वै. नि.)
मज्जदमनी–स्त्री., वन्ध्याकर्कोटिकी (वै. नि.)
मज्जफल–न., माजूफलमिति प्रसिद्धं वणिग्द्रव्यम् ।
मज्जसमुद्भव–न., शुक्रम् । (हे. च.)
मज्जामेह–पु., मज्जागतप्रमेहः । (निदा.)
मज्जारजा–पु., गुग्गुलुः । (वै. नि.)
मज्जासार–न., जातीफलम् । (रा. व. १२)
मञ्जिका–स्त्री., लक्षणाकन्दः । बकस्त्री (वै. नि.)
मञ्चकाश्रय–पु., मक्षिका; मत्कुणः । (रा. व. १९)
मञ्जर–न.,मुक्ता (श. र.) तिलकवृक्षः (श. र.) मञ्जरी (त्रिका.)
मञ्जा–स्त्री., वृन्तम् । छागी (हे. च.)
मञ्जि–(ञ्जी)–स्त्री., मञ्जरी (त्रिका)
मञ्जिफला–स्त्री., कदली वृक्षः । (वै. नि.)
मञ्जिष्ठादितैल–न., क्षुद्ररोगाधिकारे तैलम् (रस. र.)
मञ्जगमना–स्त्री., हंसी (रा. व.१९)
मञ्जघोष–पु., कपोतः । (वै. नि.)
मञ्जुपाठक–पु., शुकपक्षी (रा. व. १९)
मञ्जुल–पु., जलरङ्गपक्षी (मे.) तित्तिरपक्षी । हरिणभेदः । अञ्जीर वृक्षः । (वै. नि.) न., अञ्जीरम् (राज) स्त्री., मञ्जिष्ठा
मट्ट (ड) क–पु., शस्यविशेषः (जटा.)
मणिकण्ठ–पु.,चासपक्षी । (वै. नि.)
मणिकानन–न., मानम् । कण्ठः । (श. र.)
मणितारक–पु., सारसः (रा. व. १९)
मणितुण्ड–पु., तृषा (वै. नि.)
मणिपूर–न., आमाशयकुण्डम् ।
मणिभावर–पु., सारसः । (वै. नि.)
मणिमन्दिर–न., मुक्तागृहम् (वै. नि.)
मणिराम–पु., ग्रन्थरत्नमालाकर्ता
मणिवर–पु., हीरकमणिः (भा.)
मणिबीज–पु., दाडिमवृक्षः (रा. व. ११) जीरकः (वै. नि.)
मणिचक–न., चन्द्रवर्णरौप्यम् । (त्रिका.) पु., चन्द्रकान्तमणिः (वै. नि.) मत्स्यरङ्गपक्षी । (हारा.)
मणिवक–न., पुष्पम् (हे. च.)
मण्टपी–स्त्री., क्षुद्रोपोदिका (रा. व. ७)
मण्डूर–न., मण्डूरम् । (वै. नि)
मण्ठ(क)–पु., बटकाकारपिष्टकविशेषः (हिं.—माँडा) यथा ' समितां मर्दयेदाज्यैर्जलेनापि च सन्नयेत् । अस्यास्तु वटकङ्कृत्वा पचेत्सर्पिषि नीरसम् । एलालवङ्गकर्पूरमरिचाद्यैरलंकृते । मज्जयित्वा सिता पाके ततस्तञ्च समुद्धरेत् । अयं प्रकारः संसिद्धो मण्ठ इत्यभिधीयते । गुणाः–' मण्ठस्तु बृंहणो वृष्यो बल्यः समधुरो गुरुः । पित्तानिलहरो रुच्यो दीक्षाग्नीनां सुपूजितः (रा. व. १७)
मण्ड–न., पु., सारः । पिच्छम् । दध्याद्यग्रसरः । न., मस्तु (मे.)
मण्डप–पु., माधवीलता (वै. नि.)
मण्डपा–स्त्री., निष्पावः (रा. व. १६)
मण्डयन्त–पु., अन्नम् (उणा.)

मण्डरी-स्त्री., घुर्घुरिका (हारा.)
मण्डलच्छदा-स्त्री., शुक्लपुनर्नवा (वै. नि.)
मण्डलशुक्लभाक्-पु., अनारस इति ख्यातः वृक्षः (वै. नि.)
मण्डा-स्त्री., मेथिका (प. मु.) मद्यम् (हा. रा.) आमलकी (मे.)
मण्डूकता-(ताप) - स्त्री., पु., अश्वस्य पादरोग-विशेषः । लक्षणं-यथा मण्डूकतापो मण्डूक्यां व्रणे-नाश्वस्य जायते । अभिघातसमुत्थेन दुष्टकर्दमकेन च (ज. द. ३८ अ)
मण्डूका-स्त्री., मञ्जिष्ठा (श. मा.) मण्डूकपर्णी (प. मु.) आदित्यभक्ता (रा. व. ४.)
मतङ्ग (रा) ज.-पु., हस्ती (अम.)
मतिविभ्रंश-पु., बुद्धिवैपरीत्यम् । (श. र.)
मतिविभ्रान्ति-पु., उन्मादरोगः (रा. व. २०)
मत्क-पु., मत्कुणः (श. मा.)
मत्कुणारि-पु., शणवृक्षः भङ्गा (श. मा.)
मत्तकाशिनी-स्त्री., उन्मत्तस्त्री (अम.)
मत्तकीश-पु., हस्ती (अम.)
मत्तवारण-न., पुगफूलचूर्णः (श. मा.) कुन्दवृक्षवृति (मे) पु., मत्तहस्ती
मत्ताख्य-पु., कोकिलः (वै. नि.)
मत्सग (घ) ण्ट-पु., मत्स्यशल्कम् । समत्स्यव्यञ्जन-भेदः (श. च.)
मत्सर-पु., मक्षिका (त्रिका.)
मत्स्यकाली-(ष्टी)-स्त्री., उपोदिका (वै. नि.)
मत्स्यगन्धि-स्त्री., मत्स्याक्षी (का)-शुकनासा (वै. नि.)
मत्स्यघण्ट-पु., व्यञ्जनाविशेषः (श. च.)
मत्स्यण्डीफलित-न., खटीशर्करा (वै. नि.)
मत्स्यनाशक-(नाशन)-पु., मत्स्यरङ्गपक्षी । कुररपक्षी (त्रिका. । हे. च.)
मत्स्यपित्त--न., मीनपित्तम् । तच्छुद्धिः ' मत्स्यादि पित्तं संशुष्कं निम्बद्रावैर्विभावितम् । दिनान्तं शुद्धिमायाति सत्यं गुरुवचो यथा।' (सा. कौ.)
मत्स्यपुटपाक-पु., पुटेन मत्स्यपाकभेदः । तत्साधनं दग्धमत्स्यतुल्यमेव ।
मत्स्यभि(वि) न्ना-स्त्री., कटुकी (रा. व. ६)
मत्स्यरङ्क (ङ्ग) (क)-पु., जलकाकः (हारा.)
मत्स्यराज-पु., रोहितमत्स्यम् (त्रिका.) 'मुद्गरो रोहितः श्रेष्ठः शकुलश्च विशेषतः । मत्स्यराज इति प्रोक्तः (र. स. चि. ८ ज.)
मत्स्यर्क-पु., शफरीमत्स्यः (च. शा. ८ अ.)
मत्स्यवेधनी-स्त्री., मीनरङ्गः (जटा) बडिशः (श. र.)
मत्स्यशकल-न., मीनशल्कम् । मत्स्यचर्म । (भा. म. कुष्ठचि.) स्त्री., कटुकी (भा. म.) (१ भ. चित्तविभ्रमज्व. चि.)
मत्स्यसन्तानिका-पु., मत्स्यव्यञ्जनभेदः । यथा 'दग्धेऽङ्गारे सलवणो वेशवारैरुपस्कृतः । सार्द्रकःकटुतैलेन मत्स्यसन्तानिका भवेत् ।
मत्स्याङ्गी-गण्डदूर्वा (रा. व. ८) हिलमोचिका (त्रिका.)
मत्स्याशन-पु., मत्स्यरङ्गम् (त्रिका.)
मत्स्यी-स्त्री., जटामांसी (वै. नि.; वातव्याधिचि. शतावरीतैले.) स्त्रीमत्स्यजातिः (व्याक.)
मत्स्यौदन-न., मीनपक्वभक्तः । गुणाः- 'मत्स्योदनं कफकरं त्रिदोषकरणं तथा । अग्निमान्द्यकरं प्रोक्तं चतुरैर्मत्स्यभक्षकैः (वै. नि.)
मथुरानाथ-पु., वैद्यामृतलहरी नाम संग्रहकारः ।
मदकर-पु., धुस्तूरवृक्षः स्त्री., (रा) धातकीवृक्षः (री) -सुरा (वै. नि.)
मदकृद्द्रुम-पु., तालवृक्षः (वै. नि.)
मदगन्ध-पु., सप्तपर्णवृक्षः (रा. व. १२) स्त्री., अतसीक्षुपः (प. मु.) मद्यम् (रा.व. १४)
मदगमन-पु., महिषः (वै. नि.)
मदनकाकुरव-पु., पारावतः (रा. व. ११)
मदनपाठक-पु., कोकिलः (रा. व. १९)
मदनमृग-पु., कस्तूरीमृगः (वै. नि.)
मदनमोदनी-स्त्री., गणिकारिका (वै. नि.)
मदनरिपु-पु., मदनफलम् (वै. नि.)
मदनशलाका-स्त्री., सारिका, कामोन्मादकौषधम् (त्रिका.) कोकिला (श. र.)
मदनसारिका-स्त्री., सारिका (जटा.)
मदना-स्त्री., कस्तूरी । धातकी सुरा (हेच.)
मदनाङ्कुश-शिश्नम् (त्रिका.) नखम् (वै. नि.)
मदनालय-पु., स्त्रीयोनिः । पद्मम् (वै. नि.)
मदभञ्जिनी-स्त्री., शतमूली (श. च.)
मदयित्नु-न., मद्यम् (मे.)
मदरोग-पु., मदात्ययरोगः (रा. व. २०)
मदव्याधि-पु., पानात्ययरोगः (रा. व. २०)
मदसार-पु., तूलवृक्षः (रा. व. ९)
मदस्थान-न., सुरापानस्थानम् (त्रिका.)
मदा-धातकीवृक्षः (वै. नि. अति. चि.) शुण्टीचूर्णे, कुटजचूर्णे ग्रहणीचि. पाठादिचूर्णे) कस्तूरी (चिक्र.) क. प्रदरचि.

मदार–पु., शूकरः । मृगनाभिः । (वै. नि.) गजः (विश्व)
मदार्मद-फलिकमत्स्यः । राजग्रीवमत्स्यः (त्रिका.)
मदालापी(इन्)–पु., कोकिलः (शमा.)
मदाह्व-पु., कस्तूरी (त्रिका.)
मदिर–पु., रक्तखदिरः (श. च.) मत्तखञ्जनः (श. र.)
मदिष्ठा–स्त्री., मद्यम् (हे. च.)
मदोत्कट–पु., मत्तगजः । कपोतः (वै. नि.)
मदोद्रेक–पु., महानिम्बः (रा. व. ९.)
मद्गुरसी–स्त्री., शृङ्गीमत्स्यः (श. र.)
मद्यदोहद–पु., बकुलवृक्षः (वै. नि.)
मद्यपङ्क-पु., मेदकः (हे. च.)
मद्यपाशन–न., पिपासाजनकद्रव्यम् (वै. नि.) पानरुचकभक्ष्यद्रव्यम् (हे. च.)
मद्यमण्ड–पु., मद्यफेनम् । सुरामण्डः (अम.)
मद्ययोनि–स्त्री., सर्जवृक्षः (वै. नि.)
मद्यश्रेष्ठ–न., द्राक्षासुरा (वै. नि.)
मद्यसन्धान–न., सुरानिष्काशनार्थं फल वंशाङ्कुरादीनां सुचिरसंस्थापनम् (हे. च.)
मद्यहेतु–पु., धातकीवृक्षः (वै. नि.)
मद्यामोद–पु., बकुलवृक्षः (रा. व. १.)
मद्योत्तम–न.,माध्वी सुरा (वै. नि.)
मधुकच्छदा–स्त्री., मयूरशिखा (वै. नि.)
मधुकण्ठ–पु., कोकिलः (त्रिका.)
मधुकन्द–पु., आलुकभेदः (वै. नि.)
मधुकर–पु., मधुरजम्बीरः, अपामार्गः (वै. नि.) भृङ्गराजवृक्षः (श. मा.) भ्रमरः (अम.)
मधुकरप्रिय–पु., आम्रवृक्षः (रा. व. ११.)
मधुकसार–पु., गुडपुष्पघृक्षसारः ।
मधु (धू) कसुरा–स्त्री., मधुकमद्यम् । गुणाः–वातपित्तकरं रूक्षं कषायं विशदं गुरु । श्लेष्मलं भेदनं ग्राहि मूत्रकृच्छ्रशिरोऽर्तिनुत् । (अत्रि. १९अ.)
मधुकादिघृत–न., कासाधिकारे घृतम्
मधुकाश्रय–पु., मधूच्छिष्टः (वै. नि.)
मधुकाष्ठ–पु., मधूकवृक्षः (वै. नि.)
मधुकुकुटिका (टी)–स्त्री., मातुलुङ्गवृक्षः । जम्बीरभेदः । महूर इति भाषा । गुणाः–'मधुकुकुटिका शीता श्लेष्मलास्यप्रसादनी (रज. ३ प.)
मधुकृत्–स्त्री., मधुमक्षिका (हे. च.)
मधुकेशट–पु., भ्रमरः (त्रिका.)
मधुकोदक–न., यष्टिमधुकसिद्धजलम् । इदं तृष्णाहरम् । (सि. यो. तृष्णाचि.)
मधुकोष–पु., क्षौद्रपटलः (श. च.) छागमुष्कः (श. कल्पद्रुम.)
मधुक्रम–पु., मध्वाशयः (श. च.)
मधुक्षरा–स्त्री., शिम्बीभेदः (प. मु.)
मधुक्षीर–(री) पु., स्त्री., खर्जूरवृक्षः । (हारा)
मधुगन्धप्रसूनक–पु., अर्जुनवृक्षः (वै. नि.)
मधुगायन–पु., कोकिलः (रा. व. १९.)
मधुगुञ्जन–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (श. मा)
मधुघातक–पु., पक्षिविशेषः (वै. नि.)
मधुघोष–पु., कोकिलः (श. मा.)
मधुच्छद–पु., मयूरशिखा (भा.)
मधुजीरक–पु., जीरकभेदः (हिं. सोंफ.)
मधुजीवन–पु., बिभीतकवृक्षः वै. नि.)
मधुतैलबस्ति–पु., निरूहवस्तिभेदः (भा.)
मधुत्रय–न., घृतमधुशर्करा (रा. व. २२. भा. म. ४ भ. कुष्ठचि)
मधुदूत–पु., आम्रवृक्षः (भा.) कोकिलः (वै. नि.)
मधुदूती–स्त्री., पाटलवृक्षः (भा.
मधुद्र–पु., भ्रमरः (त्रिका.)
मधुद्रुम–पु., मधूकवृक्षः (र. मा.) आम्रातकवृक्षः । अम्बष्ठा (वै. नि.)
मधुधूलि–स्त्री., खण्डशर्करा (हे. च.)
मधुनिष्पाव–पु., मुकुटशिम्बी (प. मु.) गुणाः– रुच्यः मधुरः ईषत् कषायः शीतलः वातलो बल्यः आध्मानकरः गुरुः पुष्टिकरश्च (रा. व. १६)
मधुनी–स्त्री., क्षुपविशेषः (र. मा. अत्रि. स्थान २ अ.)
मधुपञ्जर–पु., बकुलवृक्षः (प. मु.)
मधुपालिका–स्त्री., गाम्भारीवृक्षः (श. मा.)
मधुप्रिय–पु., भूमिजम्बुवृक्षः (जटा.)
मधुबहुला–स्त्री., वासन्तीलता (रा. व. १०) शुक्लयूथिका (वै. नि.)
मधुमत्त–(त्ता)–पु., स्त्री., महाकरञ्जवृक्षः (रा. व. ९)
मधुमल्ली–स्त्री., मालतीलता (श. मा.)
मधुमक्षिका–स्त्री., मक्षिकाविशेषः (अम.)
मधुमाधवक–पु., पलाशवृक्षः (वै. नि.)
मधुमाध्वीक–न., मधुकपुष्पमद्यम् (वै. नि.) मद्यम् (अ. टी. भ.)
मधुमानी–स्त्री., मधुनः अष्टपलानि (सि. यो. कासचि. वासाकूष्माण्डे)
मधुमालती–स्त्री., मालतीपुष्पवृक्षः (वैद्य.)
मधुमाक्षिक–न., स्वर्णमाक्षिकम् (भा.)

मधुमूल–न., रक्तालुकम् (श. च.)
मधुयोनि–स्त्री., कपिलद्राक्षा (वै. नि.)
मधुर–न., वङ्गम् (रा. व. १३) मधुरिका वल्लीयष्टिमधु (रा. व. ६) सिक्थकम् (रा. व. १३) विषम् (त्रिका.)
मधुरकूष्माण्ड–न., कुष्माण्डम् (संग्रह.)
मधुरजम्बीर–पु., जम्बीरविशेषः (म––साखरलिंबु) गुणाः–' मधुरः शीतलः कफपित्तघ्नः शोफघ्नः तर्पणः वृष्यः श्रमघ्नः पुष्टिकारकश्च (रा. व. ११ पृ. १७२)
मधुरजीवकादि–पु., जीवन्तीमधुकयुक्तजीवकादिगणः (रा. व. २२)
मधुरजीवनीय–पु., जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ मधुकं सहे जीवन्ती चेति द्रव्यगणम् (च.)
मधुरज्वर–पु., मन्थरापरनामकज्वरविशेषः (वै. नि.)
मधुरवल्ली–स्त्री., मधुबीजपूरद्रुमम् (रा. व. ११ पृ. १७२)
मधुरवाताम–पु., मिष्टवातामम् ।
मधुरस्रवा–स्त्री., मूर्वा । पिण्डीखर्जूरिका (रा. व. ११)
मधुराकर–पु., इक्षुः (प. मु.)
मधुराजालुक–न., मिष्टरसालभेदः । गुणाः– ' मधुराजालुकं शीतं मधुरं वायुकारकम् । पाके कटु च विज्ञेयं रुचिदं दाहपित्तनुत् । शोषतृट्कफनुत् प्रोक्तमस्य कन्दस्तु शीतलः । अग्निमान्द्यमलस्तम्भकृत् पित्तनुत्परः (वै. नि.)
मधुरादिफलत्रय–न., मधुरत्रिफला (रा. व. २२)
मधुराम्लफल–पु., पियालवृक्षः (र. मा.)
मधुराम्ल (क)–पु., आम्रातकवृक्षः (श. च.) दाडिमवृक्षः । नागरङ्गवृक्षः (वै. नि.)
मधुराम्लरस–पु., नागरङ्गवृक्षः (वै. नि.)
मधुरालाप–स्त्री., शारिका (रा. व. १९)
मधुरालाबु–(नी)–स्त्री., मिष्टालाबुः (रा. व. ७)
मधुरालिक–स्त्री., क्षुद्रमत्स्यविशेषः अरुचिपथ्यापथ्यम् ।
मधुरासव–पु., आम्रम् (वै. नि.)
मधुरास्य–स्त्री., मुखलिप्तता मुखस्य मिष्टता (मा. व. नि.)
मधुरी–स्त्री., आम्रवृक्षः (वै. नि.) मधुरिका (च. द.-वातव्याधिचि. प्रसारणीतैले.)
मधुलग्न–पु., रक्तशिग्रुवृक्षः ।
मधुलता–स्त्री., शूलीतृणम् (रा. व. ८) वल्लीयष्टिमधु
मधुबला–स्त्री., कोकिलः (श. च.)
मधुवासिनी–स्त्री., लघुधातकीवृक्षः (वै. नि.)
मधुविट्–स्त्री., मधुच्छिष्टः (वै. नि.)
मधुबीज–पु., दाडिमवृक्षः (रा. व. ११)
मधुबीजपूर–पु., मधुरमातुलुङ्गवृक्षः (रा. व. ११)
मधुशाख–पु., मधूकवृक्षः (श. च.)
मधुशिता–स्त्री., श्वेतनिष्पावः (रा. व. १६)
मधुश्वास–पु., जीवन्तीलता (रा. व. ३)
मधुष्ठील–पु., मधूकवृक्षः
मधुसन्धान–न., मद्यम् (वै. नि.)
मधुसम्भवा–स्त्री., कपिलद्राक्षा
मधुसिक्थक–पु., मधूच्छिष्टम् (भा. म. ४ भ पादस्फोटचि. स्थावरविषभेदः (हे. च.)
मधुसूदन–पु., भ्रमरम् (त्रिका.)
मधुसूदनी–स्त्री., पालङ्कीशाका (हे. च.)
मधुस्नेह–पु., मधूच्छिष्टम् (वै.नि.) स्त्री., चोव (तोप) चीनीतिख्याते पुष्टिछरौषधम् (वै. नि.)
मधुस्राव–पु., मोरटलता (रा. व.१३) मधूकवृक्षः (भा.)
मधुस्वर–पु., कोकिलः (श. र.)
मधूकशर्करा–स्त्री., मधूकफाणितम् ।
मधूलि–स्त्री., मालकाकडी इति ख्यातमौषधम् (प. मु.)
मधूलिक–पु., इक्षुः । आसवविशेषः । गुणाः–श्लेष्मलस्तु मधूलिकः । (च. सू. २७)
मधूवक–(षित)–न., मधूच्छिष्टम् (वै. नि.)
मध्यगन्ध–पु., आम्रवृक्षः (श. च.)
मध्यजम्बू–स्त्री., मधुजम्बू वृक्षः ।
मध्यदेशभवा–स्त्री., वक्रकशालिः । (रा. व. १६)
मध्यन्दिन–पु., बन्धुजीवपुष्पवृक्षः । (रा. व. १०) न., मध्याह्न ।
मध्यपाक–पु., तैलादीनां नातिमृदुखरपाकविशेषः (च. द.)
मध्यपुष्प–पु., जलवेतसम् (मद. व. ५)
मध्यमकदल–न., अर्ध पुष्टकदली फलम् । गुणाः– ईषत्कटु मधुरं गुर्वग्निमान्द्यकरञ्च । (वै. नि.)
मध्यमनारायणतैल–न., वातव्याध्यधिकारे तैलम् । (भैष.)
मध्यमनिष्पावा–स्त्री., एकोनविंशतिधरणम् । (सु. चि. ३१ अ.)
मध्यमाग्नि–पु., अर्कार्थमग्नितापविशेषः । मुष्टिमेयकाष्टचतुरंशेन योऽग्निः तद्विगुणेन काष्ठेन मध्यमाग्निरुच्यते । (अर्कचि.)

मध्ययव–पु., षट्श्वेतसर्षपपरिमाणम् (शब्दकल्पद्रुमः)
मध्यवासिनी–स्त्री., धातकीवृक्षः (र. मा.)
मध्यसत्त्व–त्रि., पुरुषभेदः । यः परानात्मनि उपनिधाय संस्तम्भयति आत्मनात्मानं, परैश्चापि संस्तभ्यते (च. वि. ८ अ)
मध्यस्थल–न., कटिदेशः (उद्भटः)
मध्या–स्त्री., नाभिः (वै. नि.) मध्यमाङ्गुलिः (हे. च.)
मध्वल–पु., अतिपानम् । मधुवारः । (श. च.)
मध्वाधार–पु., मधुक्रमम् । (वै. नि.)
मध्विजा–स्त्री., मद्यम् (हे. च.)
मनसा–स्त्री. सर्पदुहिता देवी । ' कन्या च सा भगवती कश्यपस्य च मानसी । तेनेयं मनसा देवी मनसा याच दीव्यति (पुराणम्)
मनाका–स्त्री., हस्ती (उणा.)
मनीषा–स्त्री., बुद्धिः
मनुज–पु., मानुषः ।
मनोजवा–स्त्री., (अग्निजिह्वावृक्षः जटा.)
मनोभवागार–पु. योनिः
मनोरथ–पु., इच्छा;
मनोविभ्रम–पु., चित्तविभ्रमः (निदानम्)
मन्त्रजिह्व–पु., अग्निः (हेमचन्द्रः)
मन्थज–न., नवनीतम् (र. मा.)
मन्थर–पु., वैशाखमासः हरिणः नवनीतम् (वै. नि.) कुसुम्भम् (मे) फलम् चि. जडः (श. र.)
मन्थरज्वर–पु., ज्वरविशेषः (हिं–मतीज्वर)
लक्षणम्-ज्वरो दाहो भ्रमोमोहोह्यतीसारो वमिस्तृषा । अनिद्रा मुखशोषश्च तालुजिह्वे चशुष्यतः । ग्रीवायां परिदृश्यन्ते स्फोटकाः सर्षपोपमाः । घृताशनात्स्वेद-रोधात् मन्थरो जायते नृणाम् ॥ (योगरत्नाकर.)
मन्थराधि–पु., मध्यकायम् (चशा ७.)
मन्थरु–पु., चामरवायुः (त्रिका.)
मन्थसार–पु., नवनीतम् (वैनिघण्टु)
मन्था–स्त्री., मेथिका (रा.नि. ६)
मन्थिर–पु., समुद्रः,
मन्थ्य–पु., सक्तुः (वै. निघ.)
मन्दगमना–स्त्री., महिषस्त्री (वै. नि.)
मन्दज–वि., मन्दजातम् (चसू. १८)
मन्दसानु–पु., स्वप्नः (उणा.)
मन्दरोत्थ–न., शिलाजतुः (वै. नि.)
मन्दर–पु., मन्दारवृक्षः (मे) तन्नामकलूतादिकीट-विषघ्नागदविशेषः । अपामार्गमनोह्वालदार्वीध्यामक-गैरिकैः । नतैलाकुष्ठमरिचयष्ट्याह्वघृतभाक्षिकैः ॥ (वाउ ३७.) मुकुरः ।
मन्दारफलिका–स्त्री., काकोदुम्बरिका (वै.नि.)
मन्दारी–स्त्री., रक्तार्कः (सु. चि. १९)
मन्दारु–पु., धातकीपुष्पवृक्षः (वैनिघ)
मन्दालक–न., खटिका (वैनिघ)
मन्दिकुकुर–पु., मत्स्यविशेषः (वैनिघ)
मन्दिर–पु., जानुपश्चाद्भागः (हेच.)
मन्दिरपशु–पु.' बिडालः (श. च.)
मन्दिरा–स्त्री., शय्यासनविशेषः (मे)
मन्दुरा–स्त्री., शय्यासनविशेषः (मे.)
मन्दोष्ण–वि., ईषदुष्णम् (अम.)
मन्द्रपुष्प–पु., जपावृक्षः (वैनिघ.)
मन्मथ–पु., कपित्थवृक्षः पशु.) (आम्रवृक्षः (वैनिघ.) आम्रातवृक्षः । (चिक्रकः) । शठी (वैनिघ)
मन्मथशठी–स्त्री., कर्पूरशठी (वै. नि.)
मन्मन–पु., गद्गदध्वनिः (त्रिका.)
मन्याचाली–पु., अश्वस्य वातव्याधिलक्षणम्–स्तब्धा-यांग्रीवायां स्फुरणम् (जद. ५५.)
मन्यु–पु., शोकः (अम.)अहङ्कारः (श. र.)
मन्युमणी–स्त्री., भेकपर्णी (भैषज्य विद्याधराभ्रे)
मन्वाद्यम्–न., धान्यम् (वै. नि.)
मप (पु)ष्ट (क)–पु., वनमुद्गः (अ. टी. भ.)
मय–पु., उष्ट्रः (त्रिका.) अश्वतरम् । (यी)–स्त्री., उष्ट्री; चिकित्सा (श. च.)
मयट–पु., पर्णकुटी (हारा.)
मयन–पु., मदनवृक्षः (रानि. ८; न.) मधूच्छिष्टम्
मयु–पु., अश्वः (त्रिका.) मृगः (मे.)
मयूरका–स्त्री., अम्बष्ठा (वै. नि.)
मयूरचटक–पु., कुक्कुटः ।
मयूरचूडा–स्त्री., मयूरशिखा (वै. नि.)
मयूरटभावना–स्त्री., पलचतुष्टयेन भावना (परिभाषा.)
मयूरपुच्छ–न., चन्द्रकः (भा. म. १ भ. सन्तत।दिज्वर-चि. माहेश्वरधूपे.)
मयूरविदला–स्त्री., अम्बष्ठा (वै. नि.)
मयूर(वि)शिखा–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः गुणाः–' स्वादुरसा मूत्रकृच्छ्रघ्नी बालग्रहनाशिनी वशीकरणी च (रा, व. ५)
मयूरा–स्त्री., कृष्णतुलसी । अममोदा (वै. नि.)
मयूरालासक–पु., प्रावृट्कालः (रा. व. २१)

मयूराक्षेपियन्त्र–न., सुराश्रोतनयन्त्रविशेषः (भैष. मृतसञ्जीवनीसुरा)
मयूरी–स्त्री., अजमोदा, मयूरस्त्री।
मर–पु., विषम् (वै. नि.)
मरक्त–न., मरकतमणिः (श. र.)
मरट–पु., खदिरविशेषः (वै. नि.)
मरन्द–(क) पु., पुष्पमधु पुष्परेणुः (श. र.)
मराकाली–स्त्री., वृश्चिकाली क्षुपः (र. मा.)
मरार–पु., शस्यरक्षणस्थानम् (जटा.)
मराल–क–पु., राजहंसः। हंसः (रा. व. १९) घोटकः कारण्डवपक्षी। कज्जलम् (शब्दकल्पे सारस्वतः) (त्रि., मसृणम् (त्रिका) स्त्री., हंसी
मरि (री) च पत्रक पु., देवदारुवृक्षः
मरीचसदृश–पु., देवदारुवृक्षः सरलवृक्षः
मरिच सदृश–पु., कक्कोलवृक्षः (वै. नि.)
मरिचाद्य तैल–न., कुष्ठाधिकारे तैलम्।
मरीचिका–स्त्री., मृगतृष्णिका (वै. नि.)
मरुजाता–स्त्री., कपिकच्छूलता (वै. नि.)
मरुटा(ण्डा)–स्त्री., उच्चल्लाटस्त्री
मरुत–पु., घण्टापाटली (श. च.)
मरुत्कर–पु., राजमाषः (श. च.)
मरुत्कार–(क्रिया.) (पु., स्त्री.,) अपानवायुः। (शब्दकल्पद्रुमे)
मरुत्पुत्री–स्त्री., वननिर्गुण्डी (वै. नि.)
मरुत्प्रिय–पु., उष्ट्रः (हे. च.)
मरुत्प्लव–पु., सिंहः (त्रिका.)
मरुदिष्ट–पु., गुग्गुलुः (रा. व. १२)
मरुदूर्वा–स्त्री., (रा. व. ४)
मरुद्रथ–पु., अश्वः (त्रिका.)
मरुद्रुम–पु., विट्खदिरः (रमा.)
मरुद्विप–पु., उष्ट्रः (त्रिका.)
मरुन्माला–स्त्री., स्पृक्का (अम.)
मरुपुष्पी–स्त्री., हेमपुष्पी (रमा.)
मरुप्रिय–पु., उष्ट्रः (हे. च.)
मरुभूरुह–पु., करीरवृक्षः (भा.)
मरुल–पु., हंसविशेषः कारण्डव। (हे. च.)
मरूक–पु., हरिणभेदः, मयूरः, शठी (उणा.)
मरूद्भवा–स्त्री.–दुरालभाविशेषः (प. मु.) कार्पासी क्षुद्रखदिरः (रा. व. ४. ८) पु., यवासः रा. व. ४)
मरोलि(क)–पु., मकरमत्स्यः (त्रिका. शर.)

मर्क–पु., शरीरम् (उणाः) मर्कटः (शरः)
मर्कक–उर्णनाभिः। (वै. नि.) गलगण्डपक्षी (श. र.)
मर्कटपिप्पली–स्त्री., अपामार्गः (रा. व. ४)
मर्कटप्रिय–पु., क्षीरवृक्षः (श. मा.)
मर्कटवासा–उर्णनाभिजालम् (श. र.)
मर्कटशीर्ष–न., हिङ्गुलः (र. मा.)
मर्कटाख्य–न., कपिकच्छूबीजम् (वै. नि. २ भ. क्षयचि.-गुडूच्यादिमोदके)
मर्कटाम्र–पु., राजाम्रः (भा.)
मर्कटास्य–न., ताम्रम् (हे. च.)
मर्कटिकाफल–म., कपिकच्छूफलम्।
मर्केटेन्दु–पु.,काकतिन्दुकः (श. च.)
मर्कर–पु., भृङ्गराजः (श. र.)
स्त्री., (री)–निष्फलस्त्री (विश्व.)
मर्त्यकदली–स्त्री., कदलीविशेषः।
मर्त्येन्द्रमाता–स्त्री., अभिदमनीक्षुपः (रा. व. ४)
मर्मधाम–न., मर्मस्थानम् (अ. म. ४. भ. मसूरी चि.)
मर्मव्रण–पु., नाडीव्रणः (रा. व. २०)
मर्मस्थान–न.' जीवस्थानम्। यत्र घातेन प्राणसंशयो भवेत् (रा. व. १८) (भा.)
मर्मिक–त्रि., मर्मवित् (जटा.)
मलङ्गी–स्त्री., मत्स्यभेदः। गुणाः–' मलङ्गी मधुरा ह्रद्या वातघ्नी श्लेष्मला गुरुः (रा.ज. ३ प.)
मलधातु–पु., शरीराबाधकरभावः (च. शा. ६ अ.)
मलपाक–पु., दोषपाकः, वातादीनां पाकावस्था पूर्णावस्था वा। तल्लक्षणम्–' दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणाञ्च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम् (वैद्यकम्)
मलभुक्–पु., काकः (श. र.)
मलभेदि(न्)–पु., रौप्यम्
स्त्री., कटुका (रा. व. ६)
मलयतपना–स्त्री., भल्लातकवृक्षः। (वै. नि.)
मलयद्रुम–पु., मदनवृक्षः (द्वि. कोष.)
मलरोधन–न., विष्टम्भः। आनाहरोगः (रा. व. २०)
मलवेग–पु., अतीसाररोगः (रा. व. २०)
मलशैत्य–न., तन्नामकश्लेष्मजरोगः (भा.)
मलहर–पु., जैपालवृक्षः (भैष. आमवातचि. सैन्धवाद्यतैल)
मला–स्त्री., भूम्यामलकी (श. च.) आमहरिद्रा (वै. नि.) नाभिनाला (त्रिका.)
मलाकर्षी(इन्)–पु., हड्डीकः (श. मा.)

मलाख्यकिट्ट–न., भुक्ताहारस्यान्यतरभागः । यतः मूत्र-पुरिषाद्युत्पत्तिर्भवति । (च. सू. २८ अ.)
मलाज्ञातक–पु., गन्धमार्जारः । (वै. नि.)
मलायन–न., मलहारः । गुदौपस्थादिः (च. द. स्वस्थवृत्ते)
मलावरोध–पु., मलविष्टम्भः ।
मलिनाम्बु–न., मत्स्यः (हे. च.)
मलिष्ठा–स्त्री., सञ्जातरजस्का ।
मल्लूक–पु., कीटविशेषः (उणा.)
मल्लखण्ड–पु., गुडशर्करा (वै. नि.)
मल्लज–न., मरिचम् (जटा.)
मल्लतरु–पु., पियालवृक्षः (रा. व. ११.)
मल्लवाह–पु., ताम्रवर्णतृणविशेषः । पल्लिवाहतृणम् (रा. व. ८.)
मल्ला–स्त्री., मल्लिकापुष्पवृक्षः (श. रा.)
मल्लिकाख्या–स्त्री., त्रिपूरमल्लिका (र. मा.)
मल्लिकागन्ध–न.,मङ्गलागुरुकाष्ठम् (रा. व. १२.)
मल्लिकाद्वय–न., मल्लिका आफरमल्लिका चेति (च.-द. कुष्ठचि.)
मल्लिगन्धि–न., अगुरुकाष्ठम् (श. च.)
मल्लिनाथ–पु., कल्पतरुनामसंग्रहकारः ।
मल्लिनी–न., अतिमुक्तकपुष्पवृक्षः (रा. व. १०)
मल्लिपत्र–न., छत्राकः (त्रिका.)
मशकी (इन्)–पु., उदुम्बरवृक्षः (हे. च.)
मशख–पु., मशकनामक क्षुद्ररोगभेदः (भा.)
मशच्छद–पु., तृणविशेषः (वै. नि.)
मशहरी–स्त्री., मशकवारणार्थं वस्त्रगृहम् । (जटा.)
मशुन–पु., कुक्कुरः (श. मा.)
मसन–न., सोमराजी (श. च.)
मसरा–स्त्री., मसूरः (जटा.)
मसि (सी) का–स्त्री., जटामांसी (वै. नि.) शेफालिका (श. र.)
मसिवर्धन–न., गन्धरसः । बोलः । (त्रिका.)
मसीना–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः । (श. च.)
मसीनिका–स्त्री., शेफालिकावृन्तः (श. र.)
मसूरघृत–न., अहण्यां घृतम् । (च. द.)
मसूरयूष–पु., न., मसूरकृतक्काथः । मसूरयूषः । संग्राही बृंही स्वादुः प्रमेहजित् । (द्रव्यगुणः)
मसूरसूप–पु., भर्जित मसूरकृतयूषः । गुणाः– 'मसूरसूपः संग्राही शीतलो मधुरो लघुः । कफपित्तास्रजित् वर्ण्यो विषमज्वरनाशनः । (द्रव्यगुणः)
मसूराभा–स्त्री., मसूरिकारोगः । (रा. व. २०)
मसूरीहररस–पु., मसूर्यधिकारे रसः । (रस. र.)
मसृणा–स्त्री., अतसी (मे.)
मस्करी–स्त्री., देवकुरुण्टकः । (वै. नि.)
मस्तकस्नेह–पु., मस्तिष्कम् (हे. च.)
मस्तकारण्य–पु., वृक्षाग्रम् (श. च.)
मस्तकी–स्त्री., गुहाबदरीफलम् । रुमिमुस्तकीति लोके (भैष. वाजीकरणचि.)
मस्तकोद्भव–न., मस्तिष्कम् (रा. व. १८.)
मस्तदारु–पु., देवदारुवृक्षः (भा.)
मस्तमूलक–न., ग्रीवा (श. च.) मस्तकस्नेहः (वै. नि.)
मह–न., तेजस् (मे.)
महतिक्रान्ता–स्त्री., बृहती (रा. व. ४.)
महत्तेजा–पु., पारदः (वै. नि.)
महत्पत्र–पु., मालाकन्दः (वै. नि.)
महत्फला–स्त्री., राजकोषातकी (वै. नि.) महेन्द्रवारुणी (रा. व. ३.)
महद्बल–पु., मधुरवास्तुकः (वै. नि.)
महद्वारुणी–स्त्री., महेन्द्रवारुणी
महद्वृक्ष–पु., वटवृक्षः (वै. नि.)
महर्षि–पु., कपिकच्छुः (वै. नि.)
महर्षिका–स्त्री., शुक्लकण्टकारी (वै. नि.)
महा–स्त्री., गोरक्षी (श. च.)
महाकण्टकिनी–स्त्री., विश्वसारकः (श. च.)
महाकण्टा–स्त्री., शेवन्तीवृक्षः (वै. नि.)
महाकदम्ब–पु., केलिकदम्बः (प. मु.)
महाकपित्थ–पु., बिल्ववृक्षः (प. मु.)
महाकरञ्ज–पु., करञ्जविशेषः (सुसू. ३८) गुणाः– महाकरञ्जकस्तीक्ष्णः कटुश्चोष्णश्च तिक्तकः । कण्डू-विचर्चिकाकुष्टत्वव्रुग्विषव्रणापहः (रा. व. ९)
महाकर्णिकार–पु., आरग्वधवृक्षः (रा. व. ९)
महाकल्याणगुड–पु., द्र० कल्याणगुडः (भा.)
महाकिराततिक्तक–पु., बृहत्किरात तिक्तकः (कश्चित् निघण्टुः)
महाकुमारिका–री–स्त्री., महाशेवन्तीवृक्षः (वै. नि.)
महाकृष्णा–स्त्री., कृष्णापराजिता (वै. नि.)
महाकोशफला–स्त्री., देवदालीलता (रा. व. ७)
हाक्लीतन (निका)–पु., स्त्री., शालपर्णी
महागदमहीरुह–पु., चालमुगरा इति ख्यातः वृक्ष (अत्रि.)

महागन्धक–न., बोलः (रा. व. ६) कुङ्कुमागुरुचन्दनम् (रा. व. १२) अतिसारोदरामयग्रहणीघ्नरसविशेषः (सा. कौ. भेष.)

महागवय–(**गव**)–पु., बृहद्गवयमृगः (रा. व. १९)

महागुहक–पु., क्रमः (वै. नि.)

महागोधूम–पु., बृहद्गोधूमः (भा. धा. व.)

महागोपा–स्त्री., शारिवा (वै. नि.)

महाग्रीव–(**वी**) (इन्)–पु., उष्ट्रः । (रा. व. १९)

महाघूर्णा–स्त्री., द्राक्षामद्यम् । सुरा (श. च.)

महाच्छद–पु., देवताडवृक्षः (रमा.)

महाज–पु., महाछागः (रा. व. १९)

महाजम्बीर–पु., बृहज्जम्बीरवृक्षः । (हिंवडनिमु) अस्य त्वक् दीपनी वातघ्नी च । तैलं वातघ्नं । यूषः उदारामयघ्नः रक्तातिसारे पामादौ च हितः

महाज्योतिष्मती–स्त्री., स्वनामख्यातलता हिं–बडी मालकांगोणी । गुणाः–' तिक्ततरा रूक्षा किञ्चित्कटुः वातकफघ्नी दाहकरी दीपनी मेधाप्रज्ञाकरी च (रा. व. ३)

महाढ्य–पु., कदम्बवृक्षः (रा. व. १०)

महातङ्क–पु., मदात्ययरोगः (रा. व. २०) महाव्याधिः ।

महातरु–पु., स्नुहीवृक्षः (श. च.)

महाताली–स्त्री., आवर्तकीलता (रा. व. ३)

महातीक्ष्णा–स्त्री., भल्लातकवृक्षः (रा. व. ११)

महातुम्बी–स्त्री., महालाबुः (वै. नि.)

महादन्ता–स्त्री., नागबला (रा. व. ४)

महादीर्घ–पु., सरलदेवदारः (वै. नि.)

महादुग्धा–स्त्री., वनस्पतिभेदः (वै. नि.)

महादेवमणि–पु., महामेदा (वै. नि.)

महाद्रावक–पु., यकृत्प्लीहाधिकारे औषधविशेषः (रत्नमालासंग्रहः)

महाद्रु–पु., शुकशिम्बी (र. मा.)

महाधात्री–स्त्री., आमलकीवृक्षः (वै. नि. वातव्याधिघ्नि.) वातविध्वंसनरसे.)

महानन्दा–स्त्री., आरामशीतला (रा. व. १०) मद्यम् (रा. व. १४)

महानय–पु., उष्ट्रः (वै. नि.)

महानसाध्यक्ष–पु., रसवत्यधिकारिपुरुषः (सु.क.१अ.)

महानसिकवोढा–त्रि., राजपाकशालाधिकृतपुरुषः (सु. क. १. अ.)

महानाग–पु., सुरपुन्नागवृक्षः (वै. नि.)

महानाडी–स्त्री., कण्डरा (रा. व. १८)

महानाद–पु., शङ्खः । उष्ट्रः (रा. व. १८) गजः (मे.) कर्णः । सिंहः (हे. च.)

महानारायणतैल–न., वातव्याधौ तैलम् (भैष । भा.)

महानेमि–पु., काकः (वै. नि.)

महान्–पु., वाराहमदनवृक्षः । कालदमनवृक्षः (रा. व. ८ उष्ट्रः (रा. व. १९) महाषष्टिक शालिः (वै. नि.)

महापञ्चमूल–न., बिल्वाग्निमन्थश्योणाकपाटली गणिकारिका च (रा. व. २२ । सु. सू. ४०. अ) एतत् कषायः तिक्तानुरसो वातं शमयेदुष्णवीर्यत्वात् (सु. सू. ४० अ.)

महापञ्चविष– न., शृङ्गीविषकालकूटमुस्तकवत्सनाभसक्तुकविषैः समभागिकयोगः (रा. व. १२)

महापिण्डीतरु–पु., वृक्षविशेषः । श्वेतपिण्डीतरुः । गुणाः –कषायोष्णः त्रिदोषघ्नः चर्मरोगघ्नः रक्तदोषघ्नश्च (रा. व. ९)

महापुरुष–पु., महामेदा (वै. नि.)

महाप्रहारवटी–स्त्री., मांसरोहिणी । (वै. नि.)

महाप्राण–(**स**)–पु., द्रोणकाकः । (रा. व. १०)

महाफेणा–स्त्री., समुद्रफेणः । (श. च.) हिण्डीरः ।

महाबर्बरिका–स्त्री., भार्गी । (वै. नि.)

महाबिज–पु., पारदः । (वै. नि.)

महाभल्लातकगुड–पु., कुष्ठाधिकारे औषधम् (भैष. भा.)

महाभीता–स्त्री., लज्जालुका (वै. नि.)

महाभीरु–पु., गोपालिकाख्यकीटः (हे. च.)

महाभ्रवटिका–स्त्री., राजयक्ष्माधिकारे रसः । (रस.र.)

महामण्डूक– पु., मण्डूकविशेषः । पीतमण्डूकः । (रा. व. १९)

महामत्ता–स्त्री., महाकरञ्जवृक्षः । (रा. व. ९)

महामधुफला–स्त्री., पीतवर्णालाबूविशेषः (वै. नि.)

महामनस् (ना)–पु., महासिंहः (रा. व. १९.)

महामांस–न., नरादिमांसम् ।

महामार्जारगन्धिका–स्त्री., वनमुद्गः (वै. नि.)

महामाष–पु., राजमाषः (भा. पू. १ भ. धा. व.)

महामुख–पु., कुम्भीरः (हे. च.)

महामुण्ड–न., बोलनामगन्धद्रव्यम् । (रा. व. १६.)

महामूर्द्धा (र्द्धन्)–स्त्री., ऋद्धिः वृद्धिः (वै. नि.)

महामूषिक–पु., बृहन्मूषिकः (रा. व. १९.)

महामृगाङ्क–पु., यक्ष्माधिकारेरसः (रस. कौ.)

महामेद–पु., महामेदा (र. मा.) निम्बवृक्षः (वै.नि.)
महाम्ल–न., तिन्तिडीकः (जटा.)
महारजन–न., कुसुम्भपुष्पः (अम.) सुवर्णम् (मे.)
महारतिवल्लभमोदक–पु., वाजीकरणाधिकारे औषधम् (भैष.)
महारसाष्टक–न., पारदाभ्रकहिङ्गुलवैक्रान्तस्वर्णमाक्षिक-रूप्यमाक्षिकशङ्खकान्तलौहेषु ' दरदः पारदः शङ्खः वैक्रान्तं कान्तमभ्रकम् । माक्षिकं विमलञ्चेति स्युरेतेऽष्टौ महारसाः । (रा. व. २२)
महाराज–पु., नखम् (हे. च.)
महारूप–पु., रालः (वै. नि.)
महारोग–पु., महाव्याधिः (वैद्यकम्) उन्मादादिरोगाः । यथा ' उन्मादः त्वग्दोषः राजयक्ष्मा श्वासः मधुमेहः भगन्दरः । उदरः अश्मरी चेति (नारदस्मृतिः)
महार्घ–पु., महासोमलता (वै. नि.) लावपक्षी (विश्व.)
महार्घ–पु. महार्द्रकम् (श. च.)
महार्द्रक–न., शुण्ठी (वै. नि. २ भ दुर्जलज्वरचि.) स्थूलार्द्रकम् । वनार्द्रकम् । गुणाः–' महार्द्रं दीपनं ग्राहि रूक्षं वातकफापहम् (रा. व. ३ प)
महालिकटभी–स्त्री., श्वेतकिनिहीवृक्षः (रा. व. ९)
महालोध्र–पु., शबरलोध्रः (र. मा.)
महालोभल–पु., काकः । (रा. व. १९)
महावप–पु., महामेदा (श. च.)
महावरा–स्त्री., मूर्वा । दूर्वा (श. र.)
महावल्कः–पु., जातिफलवृक्षः (वै. नि.)
महावस–पु., शिशुमारः (हे. च.)
महावार्ताकिनी–स्त्री., महावार्ताकुवृक्षः । (वै. नि.)
महावास्तु–न., महायतनम् । (भा. म. कुष्ठचि.)
महावास्तुपरिग्रह–पु., व्यापकतया प्रशस्तस्थानग्राहि (भा. गुल्म. चि.)
महावील–न., अन्तःकरणम् (वै. नि.) आकाशम् (जटा.)
महाविहङ्ग–पु., गरुडः (च. द.)
महावीज–पु., पियालवृक्षः (न.) बिटपः तत्तुमुष्कवङ्क्षणयोरन्तरम् (हे. च.)
महावृषा (ष्या)–स्त्री., मुशलीभेदः । (वै. नि.)
महावृ (बृ) हती–स्त्री., महावार्ताकी
महाव्याधि–पु., कुष्ठादिमहारोगाः । (निदानम्)
महाव्रण–न., दुष्टव्रणः (शब्दकल्पे वाराहीतन्त्रम्)
महाशठ–पु., पीतधुस्तूरवृक्षः । (रा. व. १०.)
महाशणपुष्पिका-(ष्पी)–स्त्री.,शणपुष्पी नाम क्षुपविशेषः हिं.–फुणफुणा. । गुणाः—'कषाया उष्णा रसनियामका मोहनस्तम्भनादौ शस्ता (रा. व. ४.)
महाशणा–स्त्री., आरण्यशणः (वै. नि.)
महाशफर–पु., पार्वतमीनः
महाशल्क–पु., महाचिङ्गटमत्स्यः (हारा.)
महाशिता–स्त्री., शतावरी (श. च.) वनस्पतिविशेषः (वै. नि.)
महाशुक्ति–स्त्री., मुक्तागृहम् (रा. व. १३)
महाश्रय–पु., अक्षोटवृक्षः (वै. नि.)
महाश्वेतघण्टी–स्त्री., महाशणपुष्पी वृक्षः (वै. नि.)
महासंवितिकाफल–न., काबेलदेशीयसेवफलम् (वै. नि.)
महासफर–पु.. पार्वतमत्स्यः बृहत् प्रोष्टीमत्स्यः, गुणाः–तिक्तः पित्तकफघ्नः शीतलः मधुरः रुच्यः वातभूयिष्ठश्च (भा.)
महासिंह–पु., शरभापरनाम सिंहः (रा. व. १९)
महासीता–स्त्री., महाशणपुष्पी (रा. व. ७)
महासिद्धिकर–पु., कृष्णवनालुकम् (वै. नि.)
महासुख–न., मैथुनम् (त्रिका.)
महासुगन्धषट्क–न., चन्दनकस्तूरी कर्पूर कृष्णागुरुः मूर्वाकुङ्कुमानि (वै. नि.)
महासुगन्धि तैल–न., मेदोरोगे तैलम् (भा.)
महासूक्ष्मा–स्त्री., वालुका (रा. व. १३)
महास्नायु–स्त्री., रक्तवहमहानाडी (श. च.)
महाहवि–न., गव्यघृतम् (श. चि.)
महाह्वा–स्त्री., शूकशिम्बी (प. मु.)
महाक्षीरा–स्त्री., महिषी (वै. नि.)
महिका–स्त्री., हिम (अम.)
महिञ्जक–पु., मूषिकः (वै. नि.)
महिलाह्वया–स्त्री., प्रियङ्गुलता (अम.)
महिषकन्द–पु., श्वेतालुकम् (रा. व. ७)
महिषमत्स्य–पु., मत्स्यविशेषः । तल्लक्षणगुणाः–' कृष्णः दीर्घकायः बलवान् महाशकश्च । तन्मांसं दीपनं बलवीर्यकरञ्च (रा. व. १७)
महिषमस्तक–पु., शालीधान्यविशेषः (भा. पू. १ भ. धा. व.)
महिषवल्ली–स्त्री., स्वनामख्यातसोमवल्लीसमलताविशेषः हिं छिरहिट्टी म. महिषवेली ।-गुणाः-रसवीर्यविपाकेषुसोमवल्ली समा ' (रा. व. ३)
महिषतक्र–न., महिषीघोलः, गुणाः--महिषं कफकृत् किञ्चिद्वृनं शोफकरं नृणाम् । शस्तं प्लीहार्शोग्रहणीदोषेऽतीसारिणामपि (अत्रि. ८ अ.)

महीपद–पु., किञ्जुलकः (वै. नि.)
महीलता–स्त्री., गण्डूपदी (अम.)
महेन्द्रकदली–स्त्री., कदलीवृक्षविशेषः । गुणाः–' उष्णा वातासृग्दरपित्तघ्नी च ' (रा. व. ११)
महेन्द्रलोह–न., अगरुकाष्ठम् (वै. नि.)
महेन्द्राणी–स्त्री., इन्द्रचिर्भटी (श. र.)
महेन्द्री–स्त्री., महेन्द्रवारुणीलता (रा. व. ३)
महेलिका (ला)–स्त्री., स्थूलैला (वै. नि.)
महेशबन्धु–पुं, श्रीफलवृक्षः (श. च.)
महेश्वर–पु., श्वेतमन्दारः । विश्वकोषप्रणेता न., स्वर्णम् (रस. कौ. ज्वरान्तकरसे.)
महोक्ष–पु., महावृषः (अम.)
महोदधिवटी–स्त्री., अजीर्णाधिकारे औषधम् (रस. र.)
महोद्रेक–पु., महानिम्बः (वै. नि.)
महोन्नत–पु., तालवृक्षः (भा.) नारिकेलवृक्षः । धाराकदम्बः (वै. नि.)
महोन्मद–पु., मत्स्यविशेषः (श. र.) मदः ।
महोरग–न., तगरपादिकः (प. मु.) पु., महासर्पः ।
मांसकर्णी–स्त्री., वरट्यादिकीटः । वक्त्रशुङ्गम् (वा. उ.)
मांसकारि–न., रक्तम् । (हे. च.)
मांसकीलक–पु., तन्नामकगुह्यरोगभेदः अर्शोभेदः वा । लक्षणं यथा–' अन्तर्बहिर्वा मेढ्रस्य कण्डूला मांसकीलकाः । पिच्छिलास्रस्रवा योनौ तद्वच्च छत्रसन्निभाः । तेऽर्शांस्युपेक्षया घ्नन्ति मेढ्रपुंस्त्वभगार्तवम् । (वा. उ. ३३.)
मांसकेशी (इन्)–पु., पादरोगभेदयुक्तः अश्वः । 'केशाकाराणि मांसानि यस्य स्युस्तलजानि च । मांसकेशीति तं विद्यात् (ज. द. ३९ अ.)
मांसखुर–पु., पादरोगविशेषयुक्तः अश्वः । लक्षणं यथा–' बहुमांसखुरश्चैव ज्ञेयो मांसखुरो हयः । (ज. द. ३९ अ.)
मांसगज्वर–पु., ज्वरविशेषः । पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता । उष्मान्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ' । चिकित्सा–तीक्ष्णविरेचनादि । (निदा)
मांसग्रन्थि–पु., मांसजग्रन्थिरोगः । लक्षणम्–'मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत् । स्निग्धं महान्तं कठिनं शिरानद्धं कफाकृतिम् । (वा. उ. २९ अ.)
मांसज–न., मेदोधातुः । (हे. च.)
मांसजाति–स्त्री., मृगविष्किरप्रतुदप्रसहबिलेशयमहामृगजलचरमत्स्याद्याः अष्टविधाः । मांसजातीयः (प. म.)
मांसतेज–पु., मेदोधातुः (हे. च.)
मांसदलन–पु., प्लीहघ्नवृक्षः । रक्तरोहितकवृक्षः (श.च.)
मांसपचन–न., मांसपाकः ।
मांसपुष्पिका–स्त्री., भ्रमरारिपुष्पवृक्षः । भ्रमरमारी इति मालवे प्रसिद्धा (रा. व. १०.)
मांसफल–पु., तरम्बुजवल्ली (रा. व. ७.)
मांसफला–स्त्री., वार्ताकी (रा. व. ७.)
मांसरक्ता–स्त्री., रोहिणी (वै. नि.)
मांसलिप्त–न., अस्थि (वै. नि.)
मांसवारुणी–स्त्री., हरिणादिमांसकृतं वारुणीमद्यम् । तत्करणविधिः—'एषां मांसन्तु कणशः कृत्वा पूर्वद्रवे न्यसेत् । संस्थाप्य मण्डलं पश्चादर्कं निष्काशयेत्ततः । एवं सर्वत्र मांसस्य वारुणीकरणक्रिया । पूर्वद्रवः तक्रादि । मण्डलं ४८ दिनानि (रावणः)
मांससङ्कोच–पु., मांसस्य शठितभावः (भा. म. ४ भ. विस्फोट. चि.)
मांससमुद्भवा–स्त्री., वसा (वै. नि.)
मांससर्पि–पु., राजयक्ष्मणि घृतम् (वा. चि. ५अ.)
मांसस्नेह–पु., मेदोधातुः (रा. व. १८.) वसा (वै. नि.)
मांसहासा–स्त्री., चर्म (श. र.)
मांसारि–पु., अम्लवेतसम् ।
मांसार्बुद–न., शूकरोगविशेषः ' मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससम्भवम् (सु. नि. १४.) अर्बुदविशेषः (सु. नि. ११.)
मांसावद (दा) रण–न., मांसभेदनम् (वा. उ. ३७ अ.)
मांसाह्वया–स्त्री., जटामांसी (सु. चि. २ अ.)
मांसिका–स्त्री., जटामांसी (चि. क. क. स्त्रीरोगचि.)
मांसेष्टा–स्त्री., वल्गुला (रा. व. ४)
मांसौदन–न., मांससिद्धौदनम् । गुणाः–' मांसौदनं धातुवृद्धिकरं स्निग्धं गुरु स्मृतम् (च.)
माकरा–स्त्री., मरुवकवृक्षः (र. मा.)
माक्ष–न., सौवर्चललवणम् (प. मु.)
माक्षिकश्रेष्ठा–स्त्री., रूप्यमाक्षिकम् (प. मु.)
माक्षिकान्त–न., माधवीमद्यम् (वै. नि.)
माक्षिकाश्रय–न., सिक्थकम् (रा. व. १३.)
माक्षिकी–स्त्री., सुवर्णमाक्षिकम् (नकुल. १६अ.)
मागधिमूल–न., पिप्पलीमूलम् (प्र. बाहुशालगुडे द्रष्टव्यम्)
मागधीजटा–स्त्री., पिप्पलीमूलम् (वै. नि.)
मागधीशिफा–स्त्री., पिप्पलीमूलम् (सर्व ज्वरचि. त्रिभुवनकीर्तिरसे.)

मागधेया–स्त्री., स्वर्णजीवन्ती (वै. नि.)
माघमा–स्त्री., कर्कटः (वै. नि.)
माघवती–] स्त्री., पूर्वदिग् (रा. व. ११)
माघोनी–]
माच्य–न., कुन्दपुष्पम् (र. मा.)
माङ्गल्यकाया–स्त्री., दूर्वा
माङ्गल्यकुसुमा–स्त्री., शङ्खपुष्पी (वै. नि.)
माङ्गल्यप्रवरा–स्त्री., वचा (वै. नि.)
माङ्गल्यागुरु–पु., अगुरुभेदः । केदारदेशे प्रसिद्धः, । गुणाः–' शीतगुणः स सुगन्धिर्योगवहः श्रेष्ठश्च (रा. व. १२)
माची–स्त्री., काकमाचीक्षुपः (वै. नि.)
माचीपत्र–न., सुरपर्णनामपत्रशाकः । (रा. व. १०)
माजल–पु., चाषनामकपक्षिविशेषः ।
माटी–स्त्री., पर्णदलशिरा (वै. नि.)
माठ–पु., सुनिषण्णकशाकः (वै. नि.)
माढि(ढी)–स्त्रीं., पत्राङ्कुरः । दन्तवेष्टभागः । (अ. टी. भ.) पर्णशिरा (हे. च.) दन्तशिरा (श. र.)
माण(क)–पु., स्वनामख्यातः कन्दविशेषः (प. मु.) (हिं.—मानकन्द.) गुणाः–' माणकः स्यान्महापत्रः कथ्यते तद्गुणा अथ । माणकः शोथहृत् शीतः पित्तरक्तहरो लघुः । (भा. पू. १ भ. शा. व.)
माणकघृत–न., शोथेघृतम् (भा.)
माणतुण्डिका–स्त्री., जलचरपक्षिविशेषः (च.सू.२७ अ)
माणवक–पु., सप्तवर्षीयबालकः । (रा. व. १८) दीपान्तरखर्जूरिका (वै. नि.) मनुष्यः । हारभेदः । (त्रिका.) कुत्सितपुरुषः (मे.) वटः (हे. च.) गोणकः (च. सू. १५)
माणिक्यकदली–स्त्री., कदलीविशेषः ।
माण्डविक–पु., तद्देशजमध्यमाश्वः । ' केक्कनाकारदेहस्तु भवेन्माण्डविको हयः (ज. द. ६ अ.)
माण्डूक–न., वङ्गधातुः (रा. व. १३) अहिफेनः (भैष. अभयनृसिंहरसे)
माण्डूकी–स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. नि.)
मातङ्गकृष्णा–स्त्री , गजपिप्पली (वै.नि. २भ.वातव्याधिपक्षवधचि.)
मातङ्गमकर–पु., महामत्स्यविशेषः । (रा. व. १९.)
मातर–पु., कृमः (वै. नि.)
माता–स्त्री., जननी (अम) आखुकर्णीलता इन्द्रवारुणीलता (रा. व. ३.) जटामांसी (रा. व १२) महाश्रावणिका (रा. व. ५) घृतकुमारी (वै नि.) गौः (मे.)
माताङ्गा–स्त्री., नागबला (वै. नि.)
मातुलद्रुम–पु., धुस्तूरवृक्षः । शाल्मलीवृक्षः (वै. नि.)
मातुलपत्रक–पु., धुस्तूरफलम् (अम.)
मातुलपुष्प–न., धुस्तूरपुष्पम् (वै. नि.)
मातुलानी–स्त्री., प्रियङ्गुलता (श. च.) शणबीजम् (हे. च.) भङ्गा, कलायः । (मे.)
मातुलाहि–पु., सर्पविशेषः (अम.)
मातुली–स्त्री., शणबीजम् । भङ्गा (श. च.)
मातुलुङ्गशिफा– स्त्री., मातुलुङ्गमूलम् । (च. द. कफज्वर चि.)
मातृकाकुन्द–पु., शिशोर्गुदजव्रणविशेषः (वा. उ. २अ.)
मातृकावह–] पु., पर्दकीटः (प्रयोगा.)
मातृवाहक–] च. (द. ग. ग. चि.)
मातृमण्डल–न., नेत्रयोर्मध्यभागः, तत्तु आसन्नमरणो न पश्यति (स्मृतिः)
मातृवाहिनी–स्त्री., वल्गुलापक्षी (रा. व. १९)
मातृसिंही–स्त्री., वासकवृक्षः (श. र)
मादक–पु., अहिफेनः (प. मु.) हरिणभेदः (वै. नि.) दात्यूहपक्षि (श. मा.)
माधवकर–पु., रुग्विनिश्चयग्रन्थकारः । रसकौमुदीकारः च।
माधविका–स्त्री., मालतीलता (अ. टी. भ.)
माधवीमूल–न., माधवीलतामूलम् । (रस. र. स्तनरोग-चि.) 'घोलेन माधवीमूलं पीतं स्त्रीमध्यकार्श्यकृत्।
माधवीलता–स्त्री., स्वनामख्यातलता, गुरुविन्द, माधवी, इन्द्रगोचे, इति महाराष्ट्रकर्णाटदेशयोः प्रसिद्धा। गुणाः–' कटुका तिक्ता कषाया मदगन्धयुक्ता पित्तकासव्रणघ्नी दाहशोषघ्नी च (रा. व. १०) मधुरा शीता लघ्वी दोषत्रयघ्नी च। (भा.)
माधुर–न., मल्लिकापुष्पम् (त्रिका.)
माधुरी–स्त्री., अजमोदा (रा. व. ६) द्राक्षासवः मधुरता (वै. नि.)
माधूकसार–पु., मधूकपुष्परसः मधु वा (वा. सू. १५ अ. शिरोविरेचने)
माध्वक–न., माध्वीकम् (वै. नि.)
माध्वाम्र–पु., बहुरसालाम्रवृक्षः (रा. व. ११)
माध्वीमधुरा–स्त्री., मधुखर्जूरिका (रा. व. ११.)
माध्वी शर्करा–स्त्री., मधूशर्करा सा अष्टविधा मधूनामष्टविधत्वात् । गुणा अपि तत्तन्मधुतुल्या भवन्ति (रा. व. १४.)

माध्वीसीता–स्त्री., मधुशर्करा (रा. व. १४.)
मानकक्षार–पु., माणकदण्डपत्रक्षारः (भैष.)
मानत–पु., पर्पटकः (वै. नि.)
मानधानिका–स्त्री., त्रपुषी (श. मा.)
मानभाण्ड–न., परिमाणभाण्डम् (च. सू. १५अ.)
मानमूताफल–पु., पटोलवृक्षः (वै.नि.)
मानव–पु., मनुष्यः (अम.)
मानवकोत्तम–पु., शिशुः (रा. व. १८.)
मानसक्लैब्य–न., चित्तसम्भूतक्लैब्यम् (सु. चि. २६.)
मानसज्वर–पु., य आदौ मनसि जायते वैचित्यादिः । लक्षणम्–' वैचित्यमरतिर्ग्लानिः मनसस्तापलक्षणम् (च. चि. ३अ.)
मानसालय(सौका)–पु., हंसः (रा. व. १९.)
मानिनी–स्त्री., लक्षणाकन्दः (रा. व. ७.)
मानिमन्थ–न., सैन्धवलवणम् (भेष. कुष्ठचि.)'मानिमन्थञ्च तुल्यांशम् '।
मानी (इन्)–पु., सिंहः (रा. व. १९.) स्त्री., (नी) शरावमितम् (भेष.)
मानुषी–स्त्री., औषधनिर्माणकार्यम् चिकित्साभेदः (श. च.) नारी (अम.)
मानुषी दधि–न., मानुषीदुग्धजातदधि । गुणाः–विपाके मधुरं बल्यं अम्लं गुरु सन्तर्पणं चक्षुष्यं ग्रहदोषघ्नञ्च (रा. व. १५)
मानुषीक्षीर–न., मानुषीस्तनदुग्धम्, गुणा :- मधुरं कषायं हिमं लघु चक्षुष्यं दीपनं पथ्यं पाचनं रोचनञ्च (रा. व. १५) सञ्जीवनं बृंहणमेव सात्म्यं सन्तर्पणं नेत्ररुजापहञ्च । पित्तस्य रक्तस्य च नाशनञ्च नारीपयः स्नेहनमेव शस्तम् (अत्रि. ८ अ.)
माम्बिका–स्त्री., अम्बष्ठा (रा. व. ४)
मायाद–पु., कुम्भीरः (त्रिका.)
मायी–स्त्री., हिलमोचिका (र. मा.)
मायु–पु., पित्तम् (रा. व. २१) (त्रिका. प्र. रविसुन्दररसे)
मायूरा–स्त्री., काकोदुम्बरिका (वै. नि.)
मायूरादिपक्ष व्यजन–न., मयूरपक्षवस्त्रवेत्रादिव्यजनम् । 'मायूरा वस्त्रजावैत्रा वाता दोषत्रयापहाः (राज २ प.)
मार–पु., मृतः (मे.) धुस्तूरवृक्षः (श. च.)
मारकवर्ग–पु., रसमर्दकद्रव्यगणः (र. सा. सं.)
मारङ्गा–स्त्री., मेदा (रा. व. ५)
मारजातक–पु., मार्जारः (वै. नि.)
मारट–न., इक्षुमूलम् (वै. नि.)
मारारिनारीरज–पु., गन्धकः (भा. ज्वरचि. कल्पतरौ)
मारीचपत्रका–स्त्री., सरलदेवदारुः सर्जतरुः (वै. नि.)
मारीचवल्ली–स्त्री., मरिचवृक्षः (वै. नि.)
मारुण्ड–पु., सर्पाण्डम् (मे.)
मारुता–स्त्री., स्पृक्का (वै. नि.)
मार्क–पु., भृङ्गराजः (र. मा.)
मार्कटपिप्पली–स्त्री., कपिपिप्पली (रा. व. ४)
मार्गवाहिनी–स्त्री., क्षुद्रनाडी (वै. नि.)
मार्जारकण्ठ–पु., मयूरः (श. र.)
मार्जारपाद–पु., अश्वभेदः । यस्याश्वस्य पादे कूर्चे च स्ववर्णभिन्नवर्णा रेखा भवेत् । स च भर्तुरमङ्गलकर (ज. द. ३ अ.)
मार्जारिका–स्त्री., कस्तूरी (वै. नि.)
मार्जारीय–पु., बिडालः (मे.)
मार्जाल–पु., बिडालः (द्वि. कोष.)
मार्जिता–स्त्री., दधिशक्तुः (प. मु.) शिखरिणी (वै. नि.)
मार्तण्ड–पु., अर्कवृक्षः (अम.) शूकरः (मे.) स्वर्णमाक्षिकम् (वै. नि.)
मार्तण्डमूल–न., अर्कमूलम् (वै. नि. २ भ. ज्वरचिं निर्गुण्डीधूपे. .
मार्द्वीकमद्य–न., द्राक्षाकृतमद्यम् ' मृद्वीकाभिः कृतं मद्यं मार्द्वीकमिति चोच्यते । मृद्वीकानां सुपक्वानां यः स्वयं गालितः पटात् । रसस्तेन हि तन्मद्यं कषायरहितेन यत् । मार्द्वीकं कापिशं भीमविक्रान्तं कापिशायनम् (तोड. वृद्धशौनकः)
मार्षक–पु., मधुरवास्तुकः (रा. व. ७.)
मार्ष्टि–स्त्री., तैलमर्दनम् (वै. नि.)
मालक–न.. स्थलपद्मम् (जटा.)
मालतीजात–पु., टङ्कणक्षारः (र. सा. सं.)
मालतीतीरज–पु., टङ्कणम् (हे. च.)
मालतीमूल–न., मालतीशिफा, इदं जङ्गमविषहरम् (नकुल १६ अ.)
मालतृण–न., तृणसामान्यम्, । तृणविशेषम् (वै. नि.)
मालवा–स्त्री., उपोदकी (भा. पू. १ भ. शा. व.)
मालविटपी (इन्)–पु., कुम्भीवृक्षः (वै. नि.)
मालसी–स्त्री., केशपुष्पवृक्षः (श. र.)

मालाफल-
मालामणि- } न., पु., रुद्राक्षः (वै. नि.)

मालारिष्टा-स्त्री., पाचीनामसुगन्धपत्रम् (रा. व. १०)

मालाश्रेष्ठतमा-स्त्री., तुलसीवृक्षः (वै. नि.)

मालिक-पु., पक्षिविशेषः (मे.) रञ्जकम् (श. र.) स्त्री., (**का**)-द्राक्षामद्यम् (वै. नि.) मल्लिका-विशेषः । मद्यम् (हारा.) ससला (मे.) अतसी (श. च.)

मालिनी-स्त्री., अग्निशिखावृक्षः । दुरालभा (श. च.)

मालुक-पु., कृष्णार्जकम् । ईषच्छ्वेतराजहंसः (वै. नि.)

मालुकाच्छद-(पत्र)-पु., अश्मन्तकवृक्षः (वै. नि.)

मालुधान-पु., मातुलाहिसर्पः । (अम.) स्त्री., (**नी**)-लताभेदः (वै. नि.)

मालूरमूल-न., बिल्वमूलम् (भा. म. १ भ.-जिह्मकज्वरचि.)

मालेया-स्त्री., स्थूलैला (प. मु.)

माल्यक-पु., मदवृक्षः (वै. नि.)

माल्या-स्त्री., तृणभेदः (वै. नि.)

माषकलाय-पु.,माषव्रीहिः (अ. टी. भ.)

माषतैल-न., वातव्याधौ तैलम् (सा. कौ. भैष.-बृहन्माषतैलम्)

माषयोनि-पु., पापड इति ख्यातखाद्यद्रव्यम् (वै. नि.)

माषरा-स्त्री., अन्नमण्डः (प. मु.)

माषद-पु., कच्छपः (श. र.)

माषान्न-न., माषकृतान्नम् । गुणाः- 'माषान्नं दुर्जरं प्रोक्तं मांसवृद्धिकरं गुरु । वातनाशकरं वृष्यं (वै. नि.)

माषेण्डरी-स्त्री., माषपिष्टविकृतिः (च. द. शूल. चि.)

मासज्ञ-पु., हरिणविशेषः (वै. नि.) दात्यूहपक्षी

मासद्व्योद्भव-(वा)-पु., स्त्री., षष्टिकशालिधान्यम् । गौरषष्टिकः (रा. ब. १६)

मासन-न., ओषधिबीजविशेषः (श. च.)

मासमान-न., माषपरिमाणम् ।

मासर-पु., काञ्जिकम् (वै. नि.) भक्तसमुद्भवमण्डः (अम.)

मासवर्तिका-स्त्री., सर्षपीनामक्षुपविशेषः ।

माहिषघृत-न., महिषीक्षीरजातघृतम् । घृतमिदं तीक्ष्णकभस्मकादिरोगेषु हितम् । (सि. यो. अग्नि-मान्द्यचि ।) गुणाः—' वातश्लेष्मघ्नं बलकरं वर्णकरं अर्शोग्रहणीहरं दीपनं चक्षुष्यं च (रा. व. १५)

माहिषदधि-न., महिषी दुग्धकृतं दधि । गुणाः—मधुरं स्निग्धं रक्तपित्तघ्नं श्लेष्मलं बलशोणितवर्धनं वृष्यं श्रमघ्नं शोधनञ्च (रा. व. १५)

माहिषनवनीत-न., महिषीदुग्धजातं नवनीतम् । गुणाः—' कषायं मधुरं शीतं वृष्यं बल्यं ग्राहि पित्तघ्नं पुष्टिदञ्च (रा. व. १५) ' माहिषी नव-नीतेन स्तनपीडा स्थिरा भवेत् । (र. स. र. स्तन. रोग चि.)

माहिषमूत्र-न., महिषजलम् गुणाः—' कटु उष्णम् आनाहशोषगुल्मरोगघ्नं कुष्ठकण्डूतिशूलोदर रोगघ्नञ्च (रा. व. १५)

माहिषवल्लरी(ल्लिका)-स्त्री., कृष्णवृद्धदारकः । ल्लिका-श्वेतवृद्धदारकः (वै. नि.)

माहिषवल्ली-स्त्री., लघुसोमलता (वै. नि.)

माहिषाक्ष-पु., माहिषाक्षगुग्गुलुः (वै. नि.)

माहेय-पु., प्रवालः (वै. नि.)

मिताशन-त्रि., परिमिताहारः, परिमितभोजी (च.)

मित्रपञ्चक-न., घृत-मधु-गुञ्जा-टङ्कण-गुग्गुलुः (र.-सा. सं.)

मिथ्याचार-पु., शास्त्रोक्तविधिभ्रष्टाचारः (सु. नि. ५अ.)

मिथ्योपचार-पु., प्रवातादिसेवनरूपानुचिताचरणम् (भा.)

मिरा-स्त्री., मूर्वा (रा. व. ३.)

मिलपत्र-पु., अश्मन्तकवृक्षः (वै. नि.)

मिश्रज-पु., खेसरः (रा. व. १९.)

मिश्रवनफला-स्त्री., वार्ता (रा. व. ७.)

मिश्रीतुत्थ-न., खर्पर (वै. नि.)

मिश्रोदन-न., खेचरिका (संग्रहः)

मिषिका-स्त्री., मधुरिका शताह्वा (श. र.)

मिष्ट-त्रि., मधुररसः (भा.)

मिष्टनिम्ब-पु., निम्बवृक्षभेदः । (वै. नि.)

मिष्टनिम्बू-स्त्री., मधुरजम्बीरः । मधुनिम्बुकः । गुणाः—'मिष्टनिम्बूफलं स्वादु गुरु मारुतपित्तनुत् । गररोग-विषध्वंसि कफोत्क्लेशि च रक्तहृत् । शोषारुचितृषा-च्छर्दिहरं बल्यञ्च बृंहणम् (भा.)

मिष्टपाक-पु., मिष्टान्नम् । मधुररसविपक्वफलादिः (पाकराजः)

मिष्टरस-पु., स्वादुपाकरसद्रव्यम् । तद्गुणौ श्लेष्मकृत् वातपित्तहरौ (सु.)

मिष्टान्न-न., मधुरान्नम् । परान्नादिः । (हला.)

मिहिर–पु., अर्कवृक्षः (अम. वै. नि. २भ. क्षय. चि. त्रैलोक्यचिन्तामणिरस न., ताम्रम् (वै. नि.)

मीनक–न., नयनाञ्जनविशेषः (उणा.)

मीनकाक्ष–(नाक्ष)–पु., शुक्लकरवीरः (वै. नि.)

मीनघाती (इन्)–पु., बकपक्षी (रा. व. १९.)

मीनपित्त–न., कटुकी (वै. नि.)

मीनर–पु., हारकः (त्रिका.)

मीनरङ्क (ङ्ग)–पु., मत्स्यरङ्कपक्षी (त्रिका.) जलकाकः (वै. नि.)

मीनाम्रीण–पु., खञ्जरीटपक्षी (वै. नि.) दर्दुराम्रः (मे)

मीलक–पु., रोहितमत्स्यः (वै. नि.)

मीलन–न., नेत्रमुद्रणम् (निदा. व्याक्.)

मीर–पु., पानीयम् (उणा.)

मीवा (न्)–स्त्री., उदरकृमिः । शीकरम्; सारम् (उणा)

मीशान–पु., महारग्वधवृक्षः (वै. नि.)

मुकन्द–(क)–पु., पलाण्डुः (अ. टी. भ.) षष्टिक-व्रीहिविशेषः । कुधान्यभेदः (भा. सु.सू. ४६ अ.) गुणाः कङ्कुवत् (च. सु. २७. अ.)

मुकुर–पु., मल्लिकापुष्पवृक्षः (विश्व.) बकुलवृक्षः । आदर्शः (मे.) बदरवृक्षः (श. र.)

मुकुल–पु., ईषद्विकसितकलिका । स्थूलकलिका (अम.) जैपालवृक्षः । 'पिस्ता इति ख्यातः । फलवृक्षः । आत्मा । शरीरम् (धरणि)

मुकुष्ट–(क)–पु., वनमुद्गः (र. मा. च. द. ज्वरचि.) 'कुलत्थान् समुकुष्टकान् ।' गुणाः– शीतलः ग्राही कफपित्तज्वरघ्नश्च (राज.)

मुक्तचण्डा–स्त्री., चिञ्चा (वै. नि.)

मुक्तचक्षु–पु., सिंहः (श. मा.)

मुक्तपालेवत–पु., द्वैपखर्जूरीवृक्षः (वै. नि.)

मुक्त (क्ता) माता–स्त्री., शुक्तिः (वै. नि.)

मुक्तरसा–स्त्री., रास्ना (र. मा.)

मुक्त (क्ता) वास–पु., शुक्तिः (श. च.)

मुक्तशृङ्ग–पु., रोहितकमत्स्यः (वै. नि.)

मुक्तागार–न., शुक्तिः (श. च.)

मुक्ताप्रसू–पु., शुक्तिः (प. मु.)

मुक्ताशुक्ति–स्त्री., मुक्तायोनिशुक्तिः, मुक्तागृहम् । गुणाः– कटु स्निग्धा श्वासहृद्रोगहारिणी । शूलप्रशमनी रुच्या मधुरा दीपनी परा (रा. व. १३)

मुक्तास्फोट(टा)–पु., स्त्री. मुक्तागृहम् (अम.)

मुक्तिप्रद–पु., हारिद्रमुद्गः (वै. नि.)

मुक्तिमुक्त–पु., शिलारसः (र. मा.)

मुक्षक–पु., मुष्ककवृक्षः (अरुण.)

मुखचीरी(इन्)–स्त्री., पु., पलाण्डूः (श. चि.) जिह्वा (श. मा.)

मुखज–पु., दन्तः (वै. नि.)

मुखधौता–स्त्री., भार्गी (श. च.)

मुखपूरण–न., गण्डूषः (च)

मुखप्रसेक–पु., श्लेष्मजमुखव्याधिः (भा.)

मुखभूषण–न., ताम्बूल (निदा.)

मुखमोदा–स्त्री., शोभाञ्जनवृक्षः (रा. व. ७)

मुखर–पु., शङ्खः, काकः (रा. व. १९)

मुखलाङ्गल–पु., शूकरः (जटा.)

मुखलिप्तता (लेप)–पु.. मुखरोगः (भा.)

मुखवल्लभ–पु., दाडिमवृक्षः (श. मा.)

मुखवासन–त्रि., मुखसुरभिकरणद्रव्यमात्रम् (अम.)

मुखविलुण्ठिका–स्त्री., छागी (श. र.)

मुखविष्ठा–स्त्री., तैलपायिका (हे. च.)

मुखवैदल–पु., तन्नामकवायव्यकीटः (सु. क. ८ अ.)

मुखव्यङ्ग–पु., गण्डगतक्षुद्ररोगः (निदा.)

मुखशुद्धि–स्त्री., मुखशोधनम्

मुखशोधन–न., त्वक् (रा. व. ६)

मुखसम्भव–न., पुष्करमूलम् (वै. नि.)

मुखसिञ्चनमन्त्र–पु., पीतविषस्य मुखसिञ्चनार्थं जलस्य मन्त्रपूतकरणमन्त्रम् । 'ओं हर हर नीलकण्ठ अमृतं प्लावय प्लावय हुङ्कारेण विषं ग्रस ग्रस क्ष्रीङ्कारेण हर हर हौङ्कारेण अमृतं प्लावय प्लावय हर हर नास्ति विषम् उच्छिरे (अत्रि. ३ स्थान. ५६ अ.)

मुखसुर–न., तालुसुरा (त्रिका.) अधरामृतम्

मुखसूची–स्त्री., आम्रातकवृक्षः (वै. नि.)

मुखार्जक–पु., अर्जकवृक्षः (रा. व. १०)

मुखास्त्र–पु., कर्कटः (त्रिका.)

मुखिक–पु., मुष्ककवृक्षः (वै. नि.)

मुगूह–पु., हरिणविशेषः । (वै. नि.) दात्यूहपक्षी (भूरिप्र.)

मुचक–पु., लाक्षा (वै. नि.)

मुचलिन्द–पु., मुचुकुन्दनवृक्षः । तिलकवृक्षः (क)–राजादनवृक्षः (वै. नि.)

मुचुक–पु., पिचुकः । मदनवृक्षभेद (प. मु.)

मुञ्जक (जाल)–पु., न., अश्वस्य कृमिजन्याक्षिरोगः । 'एकेन मुञ्जमाख्यातं बहुभिर्मुञ्जजालकं । कृमिभिः

पटलान्तस्थैर्विद्यान्नेत्ररुजाद्वयमिति । प्रथमं तैलवर्णाभं द्वितीयं स्फटिकप्रभम् । रक्ताभञ्च तृतीयञ्च चतुर्थं तैलमुच्यते । प्रथमं पटलं साध्यं द्वितीयञ्च तथा भवेत् । तृतीयं कृच्छ्रसाध्यं स्याच्चतुर्थं नैव सिध्यति (ज. द. ३० अ.)

मुञ्जतृण–न., मुञ्जम् (रा. व. ९)

मुञ्जमणि–पु., पुष्परागमणिः (भा.)

मुञ्ज (ञ्जा) र–न., शालूककन्दः (श. मा.) मृणालः (वै. नि.)

मुञ्जातकफल–न., मुञ्जातकबीजम् (च. द. वृष्य चि.) गोधूमाद्यघृते) अभावे तालमस्तकं देयम् ।

मुण्डक(ज)–न., मुण्डलौहः (रा. व. १३) पु.. (क)–नापितः (हे. च.)

मुण्डकिट्ट–पु., न., मुण्डलौहभेदः । मण्डूरलौहः (र. सा. सं.)

मुण्डन–न., वपनम् । केशच्छेदनम् (हे. च.)

मुण्डफल–पु., नारिकेलवृक्षः (श. र.)

मुण्डलौह–न., लौहविशेषः । तच्च मृदु किट्टकठोरमिति त्रिधा (रा. व. १३)

मुण्डित–न., लौहम् (रा. व. १३)

मुण्डिनी–स्त्री., कस्तूरीमृगः (वै. नि.)

मुण्डीरिका (री)–स्त्री., मुण्डितिका, अलम्बुषा (प. मु.)

मुण्डीवृक्षानुकारक–पु., मुचुकुन्दवृक्षः

मुत् (दा)–स्त्री., वृद्ध्यौषधिः (रा. व. ५.)

मुदिर–पु., भेकः (उणा.)

मुदी–स्त्री., ह्रस्वगाम्भारीवृक्षः । ज्योत्स्ना (वै. नि.)

मुद्गदला–स्त्री., मुद्गपर्णी (चि. क्र. क. प्रदरचि.)

मुद्गभुक् (भोजी)–पु., घोटकः (त्रिका. रा. व. १९.)

मुद्गमोदक–पु., पक्वान्नभेदः । गुणाः– लघुः ग्राही त्रिदोषघ्नः चक्षुष्यः स्वादुः ज्वरघ्नः बल्यः शीतलः रुच्यश्च । तत्साधनविधिः यथा– 'मुद्गानां धूमसीं सम्यक् गोलयेन्निर्मलाम्बुना । कटाहस्थघृतस्योर्ध्वं झर्झरं स्थापयेत्ततः । धूमसीन्तु द्रवीभूतां प्रक्षिपेत् झर्झरोपरि । पतन्ति बिन्दवस्तस्मात् तान् सुपक्वान् समुद्धरेत् । सितापाकेन संयोज्य कुर्यात् युक्तेन मोदकान् (भा.)

मुद्गवटक–पु., मुद्गकृतवटकः । गुणाः– मौद्गो वटो गुरू रुच्यो वातपित्तास्रदो मतः । श्लेष्मलः पुष्टिबलकृत् शुक्रलो बलदोऽल्पतृट् (वै. नि.)

मुद्गष्ट (क)–पु., वनमुद्गः (श. र. अम.)

मुद्गार्द्रवटक–पु., वटकविशेषः । मुद्गपिष्टीविरचितान् वटकांस्तैलपाचितान् । हस्तेन चूर्णयेत् सम्यक् तस्मिंश्चूर्णे विनिक्षिपेत् । भृष्टं हिङ्गार्द्रकं सूक्ष्मं मरिचं जीरकं तथा । निम्बुरसं यवानीञ्च युक्त्या सर्वं विमिश्रयेत् । मुद्गपिष्टिं पचेत्सम्यक् स्थाल्यामङ्गारकोपरि । तस्यास्तु गोलकं कुर्यात् तन्मध्ये पूरणङ्क्षिपेत् तैले तान् गोलकान् पक्त्वा कथितायां निमज्जयेत् । गुणाः– 'मुद्गार्द्रवटका रुच्या लघवो बलकारकाः । दीपनास्तर्पणाः पथ्यास्त्रिदोषेषु प्रपूजिताः' (भा.)

मुद्राशङ्ख–न., स्वनामख्यातखनिजदार्थः । गुणौ–सङ्कोचनम् आवरकञ्च ।

मुनिका–स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. नि.)

मुनिच्छद–पु.,सप्तपर्णवृक्षः (रा. व. १२)

मुनिनिर्मित–पु., डिण्डिशो रुचिकृच्छ्रेदी पित्तश्लेष्मापहः स्मृतः । सुशीतो वातलो रूक्षो मूत्रलश्चाश्मरीहरः (भा. पू. १ भ. शा. व.)

मुनिपत्र–पु., दमनकवृक्षः (वै. नि.)

मुनिपादप–पु., वकवृक्षः (प. मु.)

मुनिपित्तल–न., ताम्रम् (त्रिका.)

मुनिपुत्र–पु., दमनकवृक्षः (भा.) खञ्जनपक्षी (त्रिका.)

मुनिपुष्प–न., पु., अगस्तिपुष्पम् (शब्दकल्पः)

मुनिपूग–पु., पूगवृक्षभेदः (त्रिका.)

मुनिफल–पु., अगस्तिफलकोषः (वै. नि.)

मुनिभेषज–न., हरीतकी, लङ्घनम् । वकवृक्षः (मे.)

मुनिभोजन–न., श्यामाकधान्यम् । नीवारः (वै. नि.)

मुनिवर–पु., पुण्डरीकवृक्षः (वै. नि. कासचि. पर्पटीरसे)

मुनिवल्लभ–पु., प्रियालवृक्षः (वै. नि.)

मुनिवृक्ष–पु., अगस्तिवृक्षः (प. मु.)

मुनिशस्त्र–न., श्वेतदर्भः (वै. नि.)

मुनिसुत–पु., दमनकवृक्षः (भा.)

मुनिह्रय–पु., समष्टिलक्षुपः (रा. व. ४)

मुनीन्द्र–पु., अगस्तिवृक्षः । लोध्रवृक्षः (वै. नि.)

मुनीष्ट–न., नीवारधान्यम् (प. मु.)

मुमूर्षा–स्त्री., मरणेच्छा ।

मुरगण्ड–पु., वरण्डः (जटा.)

मुरङ्गिका–स्त्री., मूर्वा (वै. नि.)

मुरजफल–पु., पणसवृक्षः (त्रिका.)

मुर्भिणी–स्त्री., अङ्गारधानिका (श. च.)

मुर्मुर–पु., तुषाग्निः (मे.)

मुशटी-स्त्री., श्वेतकङ्गुः (हे. च.)
मुश(ष)लीकन्द-पु., तालमूली (वै. नि.)
मुषक-पु., मूषिकः (वै. नि.)
मुषा-स्त्री., स्वर्णादिगालनपात्रम् (अ. टी. रा.)
मुष्कर-पु.,महाण्डकोषमनुष्यः (हे. च.)
मुष्कशून्य-पु., षण्डः (श. मा.)
मुष्ट-त्रि., मर्दितम्
मुष्टि-पु. स्त्री., अन्तर्नखमुष्टिः (भा. प. ४भ. कर्णदो चि.
अन्तर्नखमुष्टिमुष्णः यष्टिमधुकषायः
(सु. सू. ४३ अ.)
मुष्टिन्धय-पु., बालकः (त्रिका.)
मुष्टिप्रमाणबदर-न.,सेवफलम् (भा.)
मुष्टियोग-पु.,'उद्धृत्य मुष्टिनाच्छाद्य सुगुप्तं यन्निधापयेत् । तं मुष्टियोगमित्याहुर्विबुधा भिषगीश्वराः । इति परिभाषान्तरम्
मुष्ठक-पु., राजसर्षपः (र. मा.)
मुस्तकादि-पु.,विषमज्वरे कषायभेदः 'मुस्तामलकगुडूची-विश्वौषधकण्टकारिकाक्वथः । पीतः सकणाचूर्णः समधुविषमज्वरं हन्ति (भैष. ज्वरचि.)
मुस्तद्वय-न., नागरमुस्तकैवर्तिमुस्तद्वयम् (च. द. वात-व्याधिचि. महाप्रसारणीतैले)
मुस्ताकृति-स्त्री., शठी (वै. नि.)
मुस्ताद-पु., शूकरः (जटा.)
मुस्ताभ-न., नागरमुस्ता (र. मा.)
मूढि-स्त्री., मूर्च्छा (रा. व. २०.)
मूत्रकोश- पु., मूत्राशयः (ज. द. २अ.)
मूत्रदशक-न., दशविधमूत्राणि हस्तिमेषोष्ट्रगवाजमहिष-घोटकगर्दभमानुषीमानुषजातानि (रा. व. २२.)
मूत्रनिरोध-पु., मूत्ररोधरोगः (निदा.)
मूत्रपञ्चक-न., पञ्चविधमूत्राणि । गवामजानां मेषीणां महिषीणाञ्च मिश्रितम् । मूत्रेण गर्दभीनाञ्च तन्मतं मूत्रपञ्चकम् (रा. व. २२.)
मूत्रपतन-पु.. गन्धमार्जारः (रा. व. १९.)
मूत्रपथ-पु., योनिः (वै. नि.)
मूत्रपुट-न., बस्तिः । नाभेरधोभागः (हे. च.)
मूत्रबीजक-पु., असनवृक्षः (वै. नि.)
मूत्रशोधनिका-स्त्री., चिर्भटिका वनकर्कटीविशेषः (नै.वि.)
मूत्रशौकल्य-न., श्लेष्मजन्यमूत्ररोगः (भा.)
मूत्रक्षय-पु., मूत्राघातभेदः । ' रूक्षस्यक्रान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ । मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् (मा. नि.)
मूत्रातीत-पु., मूत्राघातभेदः । तस्य लक्षणम्—'चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते । मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते (मा. नि.)'
मूत्राधिक्य-न., श्लेष्मजन्यमूत्रबाहुल्यरोगः (भा.)
मूत्राष्ट (क)-न., गोऽजाविमहिषाश्वानां खरोष्ट्रकरिणां तथा । मूत्राष्टकमिति ख्यातं सर्वशास्त्रेषु सम्मतम् (प. प्र. ३ ख. भा. म. ४ भ. बालचि.)
मूत्रोष्णता-स्त्री., पित्तजन्यमूत्ररोग. (भा.)
मूर्धकर्णी (र्णिरी)-स्त्री., छत्रम् (हारा.)
मूर्धखोल-पु., जलत्राणा (त्रिका)
मूर्धज-पु., न., केशः (रा. व. १८) स्त्री., (जा) बालकः (भा. म. १ भ. चित्तविभ्रमज्वरचि.)
मूर्धपुष्प-पु., शिरीषवृक्षः (श. मा. श. च.)
मूर्धरस-पु., अन्नफेनः
मूर्धवेष्टन-न., उष्णीषः (हे. च.)
मूर्धा (न्)-पु., मस्तकम् (रा. व. १८)
मूलकक्षार-पु., शुष्कमूलकक्षारः (च. द. ग्रन्थिचि.)
मूलकच्छद-पु., कृष्णशिग्रुः (वै. नि.)
मूलकपोता-स्त्री., बालमूलकम् (वा. चि. ८ अ.)
मूलकबीज-न., मूलकशस्यम् (भा.)
मूलकमूला-स्त्री., क्षीरीशवृक्षः क्षीरकाकोली (प. मु.)
मूलकर्कटी-स्त्री., कृष्णोदुम्बरम् (वै. नि.)
मूलकविष-न., कन्दविषभेदः (सु. क. २ अ.)
मूलकशाक-पु., मूलकपत्रम्
मूलजिह्वा-स्त्री., सूक्ष्मजिह्वाधोवर्ति जिह्वामूलम् (रा. व. १८)
मूलपर्णी-स्त्री., मण्डूकपर्णी (प. मु.)
मूलफल(ला)-पु., स्त्री., पनसवृक्षः (वै. नि.)
मूलरस-पु., मोरटलता (र. मा.)
मूलवीर-न., पुष्करमूलम् (मद. १ व.)
मूलवृक्ष-पु., शाल्मलीवृक्षः (रा. व. ८)
मूलशो (सा) धन-पु., पुण्डरीकवृक्षः । (वै. नि.)
मूलाधार-पु., गुह्यलिङ्गयोर्मध्ये अङ्गुलिद्वयमितस्थानम् (तन्त्रम्)
मूलाह्वय-न., मूलकम् (रा. व. ७)
मूलिका-स्त्री., मूलकम् । मूलसमूहः । मूलौषधम् (रस. र. रसशोधने.) क्षीरिका (वै. नि.)
मूलिकामूल-न., क्षीरिकामूलम् । (वै. नि. २ भ. सर्वज्वरचि.)
मूलिनीवर्ग-पु., प्रशस्तमूलानामुद्भिदां षोडषगणः । ' हस्तिदन्ती (नागदन्ती) हैमवती (श्वेतवचा)

श्यामा त्रिवृदधोगुडा । सप्तला श्वेतश्यामा च प्रत्यक्-श्रेणी गवाक्ष्यपि । ज्योतिष्मती च बिम्बी च शण-पुष्पी विषाणिका । अश्वगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चाथ षोडश ' । एषु शणपुष्पी हैमवती बिम्बी च छर्दने । श्वेता ज्योतिष्मती च शीर्षविरेचने । शिष्टाः ११ विरेचने योज्याः (च. सू. १ अ.)

मूलेर–न., पु., जटामांसी (उणा.)

मूश (ष) ली–स्त्री., तालमूली (वै. नि.)

मूष (षि) ककर्णी (पर्णिका)–स्त्री., आखुकर्णीलता (रा. व. ३५)

मूषकयुग्म–न., ह्रस्वदीर्घमूषाकर्णीद्वयम् (वै. नि. शीतज्वरचि. तालकादिशीतारिरसे)

मूषकशत्रु–पु., बिडालः (वै. नि.)

मूषकश्र (श्रा) वणी–स्त्री., मूषिककर्णी (वै. नि.)

मूषाक (प)र्णी –स्त्री., आखुकर्णी (श. र.)

मूषातुत्थ–न., नीलतुत्थकम् (हे. च.)

मूषिकतैल–न., योनिकन्द तैलम् (सा. कौ.)

मूषिकरुहा–स्त्री., मूषिकलोमन् (सु. क. १अ.)

मूषिकाद्यतैल–न., गुदभ्रंशेतैलम्

मूषिकारति–पु., बिडालः (रा. व. १९.)

मूषिकारि–पु., मूषिकघ्नौषधविशेषः, उन्दिरमारी इति पश्चिमदेशे ख्यातः । गुणाः—' मूषिकारिस्तु कटुको नेत्र्यश्चाखुविषापहः । व्रणदोषं नेत्ररोगं नाशयेदिति च स्मृतम् ' (वै. नि.)

मूषिकाह्वय–पु., आखुकर्णी (रा. व. ४,५.)

मूषी (का)–स्त्री., मूषिकः । बृहदुन्दरः (रा. व. १९.)

मूषीका–पु., मूषिकः (श. र.)

मूषीककर्णी–स्त्री., आखुकर्णी (श. र.)

मृगक्षीर–न., मृगीदुग्धम् (व्याक.)

मृगखुरी–स्त्री., हरिणखुरम् (वै. नि.)

मृगगन्धा–स्त्री., मुद्गपर्णी (वै. नि)

मृगघर्मज–न., जवादिगन्धद्रव्यम् । गन्धराजः (रा.-व. १२.)

मृगचिर्भिटा–स्त्री., मधुचिर्भटिका (वै. नि.)

मृगचेटक–पु., गन्धमार्जारः (श. मा.)

मृगजरस–पु., रक्तपित्ताधिकारे रसः (र. स. र.)

मृगजहु–पु., हरिणबालकः (वै. नि.)

मृगजा–स्त्री., कस्तूरी (वै. नि.)

मृगजृम्भ–पु., अश्वस्य वातव्याधिविशेषः, लक्षणं यथा–' मृगरोगी यदा वाजी जृम्भवान् जायते मुहुः । मृगजृम्भं तदा तस्य व्याधिं समुपलक्षयेत् (ज. द. ५५ अ.)

मृगदंशक–पु., कुक्कुरः (अम.)

मृगधूर्तक–पु., शृगालः (रा. व. १९)

मृगनाभ्याद्यवलेह–पु., स्वरभेदे हितः (भा.)

मृगपति–पु., सिंहः (रा. व. १८)

मृगपालिका–स्त्री., कस्तूरीमृगः (वै. नि.)

मृगमदवासा–स्त्री., कस्तूरीमल्लिका (रा. व. १०)

मृगमालारस–पु., प्रमेहाधिकारे रसः (रस. र.)

मृगयु–पु., शृगालः (मे)

मृगराज–(ट्)–पु., सिंहः (श. र.)

मृगराटिका–स्त्री., जीवन्ती (रा. व. ७.)

मृगरिपु–पु., सिंहः (रा. व. १९)

मृगरोग–पु.,मृगज्वरः (ग. ज. वै.) भूर्युपद्रवजनके सान्निपातिकाश्वरोगविशेषः । लक्षणं यथा–' नासासन्धानसंयुक्ता जायन्ते भूर्युपद्रवाः । नित्य-घासाभिलाषो च हीयते बलमांसयोः । मृगरोगः स विख्यातो व्याधिःकष्ट चिकित्सितः । षण्मा-सान्यन्तरे वाऽथ परलोकं प्रयाति च । बहुदुःखो भवेदश्वो मृगरोगप्रपीडितः यावदुच्छ्वासते जन्तुस्तावत् कुर्यात् प्रतिक्रियाम् (ज. द. २६ अ.) ' सन्त्रासी चैव यः पूर्वं पुनः स्वस्थो भृशम्भवेत् प्रस्विन्नाङ्गस्य तस्याशु मृगरोगं समादिशेत् (ज. द. ५५ अ)

मृगलण्डिका–स्त्री., फलविशेषः (च. सू. २३ अ.)

मृगलोमज–न., राङ्कवः (अम.)

मृगवल्लभ–पु., कुन्दुरुतृणम् (रा. व. ८)

मृगश्रृङ्ग–न,, हरिणश्रृङ्गम् । एतद्भस्म हृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम्

मृगाङ्क–पु., कर्पूरः (अ. म.)

मृगाङ्क (ङ्ग)(ज)–पु., कस्तूरी (र सा सं बृहच्चडामणिरसे)

मृगाङ्कमुकुटार्ह–पु., देवकर्दमम् (रा. व. २२)

मृगाङ्करस–पु., राजयक्ष्माधिकारे रसः (रस. चि. ९ अ.)

मृगाङ्गजा–स्त्री., मृगनाभिः (र. सा. सं. बृहज्ज्वर-चूडामणिरसे) मधुचिर्भटिका इन्द्रवारुणीलता (वै. नि.)

मृगाजिन–न., कृष्णमृगचर्म (वै. नि.)

मृगात्–(दन)–पु., सिंहः । तरक्षुः (रा. व. १९)

मृगान्तक–पु., चित्रकव्याघ्रः (रा. व. १९)

मृगारति–पु., कुक्कुरः (श. मा.)

मृगी–स्त्री., कस्तूरिका (वै. नि.) पीतवर्णसितोदर वराटकभेदः (रा. व. १३) मृगस्त्री । दुग्धगुणाः–छागीदुग्धगुणतुल्यम् (भा. अपस्मारारोगे)

मृगेक्षणा–स्त्री., मधुचिर्भटिका (रा. व. ७)

मृगेन्द्र–पु., सिंहः (अम.)

मृगेन्द्रकुटिलोद्भूत–न., सिंहदंशनजन्यविषम् (र. सा. सं रसप्रयोगे)

मृगेन्द्रचटक–पु., मृगयादक्षश्येनपक्षी (जटा.)

मृडङ्कण–पु., बालकः (उणा.)

मृडीक–पु., हरिणः (व्याक.)

मृणालमूल–न., पद्मकन्दम् (श. र. भा. पू. १ भ.)

मृण्मरु–पु., पाषाणः (त्रिका.)

मृतक–न., शरः (हे. च.)

मृतकान्तक–पु., शृगालः (हारा.)

मृतजीव–पु., तिलकक्षुपः (रा. व. १०)

मृतमत्त–पु., शृगालः (त्रिका.)

मृतवत्सा–स्त्री., मृतसन्ततिका, लक्षणं यथा–'गर्भे सन्धानमात्रं वा पक्षात् मासाच्च वत्सरात् । म्रियते द्विस्त्रिवर्षाद्वा यस्याः सा मृतवत्सका (प्रयोगा. मृतवत्साचि.)

मृतसूत–पु., रससिन्दूरः (र. सा. सं. चूडामणिरसे.)

मृतामद–न., तुत्थकम् (श. च.)

मृत्कांस्य–न., शरावः (त्रिका.)

मृत्किरा–स्त्री., घुर्घुरिका (त्रिका.)

मृत्खलिनी–स्त्री., चर्मकषा (श. च.)

मृत्तिकालवण–न., क्षारमृत्तिका (वै. नि.)

मृत्पाण्डु–पु., मृत्तिकाभक्षणजन्यपाण्डुरोगः (निदा.)

मृत्पिण्ड–न., पु., लोष्ट्रम् (रस. र. बालचि.)

मृत्फली–स्त्री., कुष्ठौषधम् (हारा.)

मृत्या–स्त्री., व्याधिः (रा. व. २०)

मृत्युपुष्प–पु., इक्षुः (प. मु.) देवनलः (**पुष्पा**)–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. नि.)

मृत्युफल–पु., महाकाललता (**ला**)–कदलीवृक्षः (मे.)

मृत्युबीज–पु., वंशः (त्रिका.)

मृत्युभृत्य–पु., रोगः (रा. व. २०)

मृत्युवञ्चन–पु., दण्डकाक; बिल्ववृक्षः (मे.)

मृत्युसूति–स्त्री., कर्कटस्त्री (वै. नि.)

मृत्स–त्रि., पिच्छिलः (सु. नि. ६)

मृदङ्कुर–पु., हरितकपोतः (हे. च.)

मृदङ्गफलिनी–स्त्री., कोशातकी (रा. व. ३)

मृदङ्गी–स्त्री., कोषातकी (र. मा.)

मृदाह्वया–स्त्री., सौराष्ट्रमृत्तिका (हे. च.)

मृदिनी–स्त्री., मृत्स्ना (वै. नि.)

मृदुकण्टक–पु., श्वेतझिण्टी (वै. नि.)

मृदुकण्टफला–स्त्री., कर्कटीलता (प. मु.)

मृदुकृष्णायस–न., सीसधातुः (रा. व. १३)

मृदुखुर–पु., अश्वस्य पादरोगविशेषः । लक्षणं मृदुखुरश्च विख्यातो मृदुर्यस्य खुरो भवेत् ' (ज. द. ३९ अ.)

मृदुगमना–स्त्री., हंसी (रा. व. १९)

मृदुचर्मी(इन्)–पु., भूर्जवृक्षः (रा. व. ९)

मृदुताल–पु.,श्रीतालः (रा. व. ९)

मृदुत्वक् (च्)–पु., भूर्जवृक्षः (अम.)

मृदुन्नक–न., स्वर्णम् (श. च.)

मृदुबीज–पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. नि.)

मृदुल–न., अक्षीरफलम् । जलम् (श. र.) (त्रि.) कोमलम् (स्त्री.,)-(**ला**) सुलेमानी खर्जूरवृक्षः (भा.)

मृदुलोमक-(वान्) पु., शशकः (हे. च.)

मृदुसार–न., तूलकाष्ठम् पु., पारिशाश्वत्थः (रा. व. ९.)

मृदूत्पल–न., नीलपद्मम् (श. च.)

मृद्वङ्ग–पु., मत्स्यभेदः (उणा.)

मृद्वङ्ग–न., वङ्गधातुः (र. मा. त्रिका.) पु., वनवास्तुकः (वै. नि.)

मृद्वीकादि–पु.. द्राक्षादिसिद्धकषायः । मृद्वीका मधुकं निम्बं कटुकारोहिणी समा । अवश्यायस्थितं पाक्यमेतत्पित्तज्वरापहम् (च. द्र. पि. ज्वर. चि.)

मृद्वीकादिकषाय–पु., स्नेहोपगकषायः । 'मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्यः (च. सू. ४अ.)

मृद्वीकासव–पु., द्राक्षासवः

मृषाध्यायी (इन्)–पु., वकः (रा. व. १९.)

मृषालक–पु,, आम्रवृक्षः (श. च.)

मृष्टेरुक–त्रि., मिष्टान्नभक्षकः

मेक–पु., छागः (रा. व. १९.)

मेघकफ–पु., करका (हारा.)

मेघचिन्तक–
मेघजीवक– } पु., चातकपक्षी (श. च.)

मेघजीवन–पु., चातकः (रा. व.) तालवृक्षः । चाषः

मेघनादानुलासक (लासी)–पु., मयूरः (रा. व. १९. अम.)

मेघनामा-पु., मुस्तकम् (अम.) तण्डुलीयशाकः (वै. नि.)
मेघनीलक-पु., तालीशपत्रम् (वै. नि.)
मेघपुष्पी-स्त्री., वेतसम् । जलम् (अम.) करका
मेघफल-पु., विकङ्कतफलवृक्षः (रा. व. ११)
मेघभूति-पु., वज्रम् (श. र.)
मेघवर्णा-स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः । नदीजम्बूवृक्षः (वै. नि.) नीलीवृक्षः (श. च.)
मेघसुहृत्-पु., मयूरः (हे. च.)
मेघस्कन्दी- (इन्)-पु., महासिंहः (रा. व. १९)
मेघस्वनाङ्कुर-पु., वैदूर्यमणिः (प. मु.)
मेघाख्य-न., मुस्तकम् (र. मा.)
मेघागम-पु., धाराकदम्बः (रा. व. ९) वर्षाकालः (श. र.)
मेघानन्द-(न्दा)-पु., स्त्री., मयूरः । बलाका (रा. व. १९-२३).
मेघानन्दी (इन्)-पु., मयूरः (रा. व. १९)
मेघान्त-पु., शरत्कालः (रा. व. २१)
मेघाभा-स्त्री., भूजम्बूवृक्षः (वै. नि.)
मेघास्थि-न., करका (त्रिका.)
मेघाह्व-पु., अभ्रकम् । उशीरम् (वै. नि.) (२ भ. चित्तभ्रमसन्निपात चि.)
मेचकाञ्जन-न., कृष्णाञ्जनम् (वै. नि.)
मेटुला-स्त्री., आमलकी
मेठ-पु., मेषः (प. मु.)
मेढिका-स्त्री., ह्रस्वमेषशृङ्गी (वै. नि.)
मेढ्रशृङ्गी-स्त्री., मेषशृङ्गी (प. मु.)
मेढ्रास्थि-न., लिङ्गास्थि (च. शा. ७.)
मेण्ढ-पु., मेषः (श. र.)
मेथीमोदक-पु., वाजीकरणाध्यायः । पाठः—' त्रिकटु-त्रिफलामुस्तजीरकद्वयधान्यकम् । कट्फलं पौष्करं शृङ्गी यमानी सैन्धवं बिडम्। तालीशकेशरं पत्रं त्वगेला च फलं तथा । यावन्त्येतानि चूर्णानि तावदेव च मेथिका । संचूर्ण्य गुण्डकङ्कार्यं पुरातन-गुडेनतु । घृतेन मधुना मिश्रं खादेदग्निबलं प्रति' (रस. र.)
मेदकोद्भवा-स्त्री., मेदा (र. मा.)
मेदगज्वर-पु., तदाश्रितज्वरः । लक्षणम् ' भृशं स्वेद-स्तृषा मूर्च्छा प्रलापछर्दिरेव च । दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदस्थे चासहिष्णुता । (मा. नि.)
मेदज-., भूमिजगुग्गुलुः (रा. व. १२.)
मेदभव-पु , मेदधातुः (वै. नि.)
मेदसमुद्भव-न., अस्थि स्त्री., (वा) वसा (वै. नि.)
मेदस्कृत-पु., मांसम् (हे. च.)
मेदोगण्ड-पु., गलरोगभेदः (निदा.)
मेदोदाह-पु., पुरलाक्षादिभिर्वर्तिमष्टाङ्गुलाङ्कृत्वा तया दाहः (ज. द. १४अ.)
मेदोद्भवा-स्त्री., मेदा (रा. व. ५.)
मेदोरोहिणी-स्त्री., गलरोगविशेषः (निदा.)
मेदोवती-स्त्री., मेदा (रा. व. ५.)
मेदोवृद्धी-स्त्री., देहस्थौल्यम् । अण्डवृद्धिः (निदा.)
मेधाकरी-स्त्री., शङ्खपुष्पी (वै. नि.) ब्राह्मीक्षुपः । (वै. संग्रहः)
मेधाजनन-न., कृष्णसर्षपः (वै. नि.)
मेधायु-स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. नि.)
मेधि-पु., धान्यमर्दनस्थाने पशुबन्धनार्थन्यस्तदारुः (भ)
मेधिका-स्त्री., तन्नामकवृक्षः
मेन्धिका-(न्धी)-स्त्री., मेदुदीति ख्यातः वृक्षः । (कोषान्तरम्)
मेरुक-पु., मूषिकः । (वै. नि.) यक्षधूपः (श. च.)
मेरुपादज-न., रौप्यम् (वै. नि.)
मेलान्धु-स्त्री., मत्स्याधारः (जटा.)
मेषकम्बल-पु., मेषलोमकृतकम्बलम्
मेषकुसुम-पु., चक्रमर्दः (वै. नि.)
मेषपुष्पा-स्त्री., मेषशृङ्गी (वै. नि.)
मेषलोचन-पु., चक्रमर्दवृक्षः (भा.)
मेषवल्ली-स्त्री., मेषशृङ्गी (भा.)
मेषा-स्त्री., सूक्ष्मैला (श. च.)
मेषारण्य-पु., बालग्रहविशेषः
मेषालु-पु., बर्बरावनस्पतिः (श. च.)
मेषिका-स्त्री., मेषपत्री (श. र.)
मेहकुलान्तकरस-पु., वसामेहे औषधम् (भैष.)
मेहघ्नी-स्त्री., हरिद्रा (प. मु)
मेहनाशिनी-स्त्री., श्वेतापराजिता (वै. नि.)
मेहहररस-पु., प्रमेहाधिकारे रसः (रस. चि. ९ अ.)
मैत्री-स्त्री., मित्रता । अनुराधा । सर्वप्राणिष्वात्मबुद्धिः (च. सू. १ अ.)
मैत्रीपर त्रि., मैत्रीप्रधानम् (च. सू. चक्रदत्तटीका.)
मैरेयाम्बु-न., काञ्जिकभेदः (च. द. विद्रधिचि.)
मैला-स्त्री., नीलीवृक्षः (वै. नि.)

मोचन–न., मोक्षणम् । विस्रावणम् (भा. म. कुष्ठचि.) (**नी**)–स्त्री., कण्टकारी (जटा.)
मोचपुष्पा–स्त्री., वन्ध्या स्त्री (रा. व. १८) **कदलीवृक्षः**
मोचाट–पु., कृष्णजीरकम् (अम.) **कदलीवृक्षः** कदल्यस्थि (मे.) **चन्दनवृक्षः** (वै. नि.)
मोचारस–पु., कदलीस्तम्भजलम् (भा. म. ४भ. मसूरिकाचि. शीतलाधिकारे)
मोचास्राव–पु., मोचरसः (वै. नि.)
मोचाह्व–पु., शाल्मलीवेष्टकः (सि. यो. रक्तार्शचि.) " समङ्गोत्पलमोचाह्वतिरीटतिलचन्दनैः " (वै. नि.)
मोचिका–स्त्री., मत्स्यभेदः (वै. नि.)
मोचिनी–स्त्री., कण्टकारी (वै. नि.)
मोचिलिन्दा–स्त्री., राजादनवृक्षः (वै. नि.)
मोची–स्त्री., हिलमोचिका (रमा.)
मोछिकायन्त्र–न., सुराश्रोतनयन्त्रम् (भैष. मृतसञ्जीवनीरसे)
मोटन–न., आक्षेपः (जटा.)
मोण–पु., शुष्कफलम् (वै. नि.) नक्रः । मक्षिका । सर्पकरण्डः (मे.)
मोथ–पु., मुस्तकम् । कोषान्तरम् ।
मोद–पु., आम्रवृक्षः । सुरभिगन्धः (वै. नि.)
मोददायिनी–स्त्री., जातीपुष्पवृक्षः (प. मु.)
मोदन–न., सिक्थम् (रा. व. १३) पु., मदनवृक्षः (सौभाग्यशुण्ठीमोदके)
मोदमोदिनी–स्त्री., जम्बूवृक्षः (रा. व. ११)
मोदाख्य–पु., आम्रवृक्षः (रा. व. ११)
मोर्व–पु., मूर्वा (वै. नि.)
मोहकारी (**इन्**)–पु., माड इति कोङ्कणे ख्यातः वृक्षविशेषः (रा. व. ९)
मोहनभोग–पु., द्र० लप्सिका ।
मोहना (**नी**)–स्त्री., त्रिपुरमल्लिका (रत्ना.) वृत्तमल्लिका (रा. व. १०) उपोदिका (रा. व. ७)
मौकुलि–(**ली**) (**इन्**)–पु., द्रोणकाकः (वै. नि.) काकः (हे. च.)
मौक्तिकप्रसवा–स्त्री., मुक्ताशुक्तिः (रा. व. १३)
मौक्तिकशुक्ति–स्त्री., मुक्ताशुक्तिः (रा. व. १३)
मौक्तिकसम्पुट–पु., मुक्ताशुक्तिः (प. मु.)
मौक्तिकसम्भव–स्त्री., शुक्लाञ्जनम् (वै. नि.)
मौक्तिकस्थान–न., शुक्तिशूकरशङ्खसर्पभेकमत्स्यवेणुगजेषु (वैद्यकम्)
मौग्धिक–पु., पुष्पवृक्षः (वै. नि.)
मौद्गदल–न., मुद्गदाली (वा. चि. ६ अ.)
मौद्गलि–पु., द्रोणकाकः (वै. नि.) काकः (त्रिका.)
मौन–न., मूकता (अम.)
मौर्वी–स्त्री., मेषशृङ्गी अजशृङ्गी (र. मा.) तीक्ष्णशृङ्खी इति प्रसिद्धौषधिः (प. मु.)
मौलक–त्रि., मूलाकरजः । (च. वि. ८ अ)
मौली–पु., स्त्री., मस्तकम् (रा. व. १८)
मौषली–स्त्री., मुषली (वै. नि. २ भ. गुडूच्यादिमोदके)
म्रातन–न., कैवर्तमुस्तकः (श. च.)
म्लाना–स्त्री., रजस्वला
म्लेच्छदारुक–न., चोबाचीनीति ख्यातद्रव्यम् (वै. नि.)
म्लेच्छाश–पु., म्लेच्छभोजनम्, गोधूमः (वै. नि.)
म्लेच्छास्य–न., ताम्रधातुः । (र. मा.)

य

यकृदात्मिक–स्त्री., तैलपायिका (श. च.)
यकृद्दैरी–पु., रक्तरोहीतकवृक्षः (श. च.)
यक्षकर्दम–पु., कर्पूरादिकृतगन्धानुलेपनम् । स च समभाग कर्पूरागुरुकस्तुरी कङ्कोलात्मकः । 'कर्पूरागुरुकस्तुरीकङ्कोलैर्यक्षधूपकः । चन्दनागुरुक्षकुरङ्गनाभिकाचन्द्रचन्दनसमांशसम्भृतम् । त्र्यक्षक्षजनपरैकगोचरं यक्षकर्दममिमं प्रचक्षते (रा. व. २२)
यक्षरस–पु., पुष्पमद्यम् (त्रिका.)
यक्षामलक–न., पिण्डीखर्जूरफलम् (श. मा.)
यक्षोदुम्बरक–न., अश्वत्थफलम् (त्रिका.)
यक्ष्मघ्नी–स्त्री.. द्राक्षा (श. मा.)
यजा–स्त्री., कृष्णतुलसीवृक्षः (वै. नि. ६ अ.)
यज्ञज्ञातृ–पु., महासोमलता (वै. नि.)
यज्ञधूप–पु., सर्जवृक्षः (रा. व. ९)
यज्ञनेतृ–पु., महासोमलता (वै. नि.)
यज्ञपशु–पु., घोटकः (शमा.)
यज्ञपादप–पु., विकङ्कतवृक्षः
यज्ञफल–पु., उदुम्बरवृक्षः
यज्ञसंस्तर–पु., शुक्लदर्भः (वै. नि.)
यज्ञसाधनी–स्त्री., सोमलता (वै. नि.)
यज्ञसार–पु., यज्ञोदुम्बरः (रानि. ११)
यज्ञसूत्र–न,, यज्ञोपवीतम्
यज्ञिक–पु , पलाशवृक्षः (वै. नि.)
यज्ञीयब्रह्मपादप–पु.. विकङ्कतवृक्षः (रानि. ९)

यज्ञेष्ट–न., दीर्घरोहिषतृणम् (रा. ८)
यज्ञोदुम्बर–पु., उदुम्बरवृक्षः
यति–पु., अगस्तिवृक्षः (वै. नि.) जितेन्द्रियम् (अम.)
यत्नसाध्य–वि., यत्नेन आरोग्यार्हः पक्षी
यथेष्टचारिन्–वि., पक्षी (श. च.) स्वेच्छाचारी
यन्त्रगृह–न., तैलनिष्पीडनयन्त्रगृहम् (श. च.)
यन्त्रगोल–पु., कलायभेदः (श. च.)
यन्त्रणबास–न., क्षतबन्धनशाठकः (अहचि. ८)
यन्त्रापीड–पु., सन्निपातज्वरभेदः । लक्षणम् रक्तपीतवर्णत्वं यन्त्रेण गात्रनिष्पीडमिव वेदना (भाम. १)
यमकबन्ध–पु., यमलनामव्रणबन्धनभेदः (सू. १८)
यमकीट–पु., भूकीटः (चिका.)
यमदग्नि–पु., ऋषिविशेषः (च.)
यमदूतक–पु., काकः (श. र.)
यमदूतिका–स्त्री., तिन्तिडी (अम.)
यमप्रिय–पु., वटवृक्षः (शर.)
यमरथ–पु., महिषः (वै. नि.)
यमलपत्रक–पु., अश्मन्तकः, कोविदारः (रानि. ९)
यमवाहक–पु., महिषः (त्रिका.)
यमवृक्ष–पु., शाल्मलीवृक्षः (रानि. ८)
यमानीतैल–न., यमानीसम्भवतैलम्
यमानीद्वय–न., यमानी, वनयमानी च (वै. नि. २)
यमुना–स्त्री., नदीः (रानि. १४)
ययु–पु., घोटकः (मे)
यवकण्टक–पु., पर्पटकः (वै. नि.)
यवकलश–पु., इन्द्रयवः (वै. नि.)
यवकाञ्जिक–न.. यवसहितकाञ्जिकम्
यवक्षोद–पु., यवचूर्णम् (हे. च.)
यवगण्ड–पु., सुखव्रणः (श. र.)
यवगोधूमसम्भव–न., एतन्मिश्रकाञ्जिकम् (वै. नि.)
यवजोद्भव–न., तवक्षीरः
यवतैल–न., यवचूर्णादिसाधिततैलविशेषं ज्वरदाहमहावेगाङ्गप्रहर्षणनाशनम्
यवनप्रिय–न., मरिचम् (हे. च.)
यवनभोजन–पु., न., मरिचम् (चि. क. क.) (प्रदचि.)
यवनक–पु., गोधूमः (वै. नि.)
यवनालज–पु., यवक्षारः (हे. च.)
यवनी–स्त्री., यवानी (मे.)
यवपटोल–पु., ज्वरः । कषायभेदः गुणाः–तृष्णादाहहरः पित्तज्वरनाशनश्च (च. चि.)
यवफलाङ्कुर–पु., वंशाङ्कुरम् (रानि. ७)
यवभोज्य–न., यवाहारः (नकुल. १७)
यवमण्ड–पु., यवकृतमण्डः (वै. नि.)
यवमद्य–न., यवकृतमद्यम् । गुणाः–गुरु विष्टम्भदायकम् (रानि. १४)
यवयवागुका–स्त्री., यवकृतयवागुः (प. मु.)
यवयवागू–स्त्री., यवसिद्धयवागुः
यवलक–पु., पक्षिविशेषः । अयं मधुरलघुशीतकषायः (सु. सू. ४६)
यवलास–पु., यवक्षारः (श. र.)
यववर्णाभ–पु., सविषमण्डूकजातीयकीटः । तदृष्टे दंशकण्डूः पीतफेणागमश्च (सु. क. ८ अ.)
यवविकृति–स्त्री., प्रमेहहितेयवकृतापूपादिः (वा. चि. १२अ.)
यवशक्तु–पु., भृष्टयवकृतचूर्णम् । 'यवानां शक्तवो रूक्षा लेखनावह्निदीपना वातलाः कफरोगघ्ना वातवर्चोऽनुलोमनाः । (राज. ३प.)
यवशर्करा–स्त्री., सिद्धयवकृतशर्करा । गुणाः–'पित्तश्रमतृष्णाघ्नी वृष्या रेचनी विदाहमूर्च्छाभ्रान्तिघ्नी च (च.)
यवश्वेता–स्त्री., यवशर्करा (वै. नि.)
यवसाह्वया–स्त्री., यमानी (भा. पू.) पारसीकयमानी (वै. नि.)
यवसौवीर–न., यवकाञ्जिकम् । (वै. नि.)
यवाग्र–न., यवतुषः (वै. नि. २ भ. पाण्डु चि. पञ्चकोलघृते.)
यवानीक–पु., यमानीभेदः (वा. चि. ६अ.)
यवानीशाक–न., यमानीदलम् (हिं.—जवाईन्)
यवान्न–न., यवकृतभक्तम् (वै. नि.)
यवाम्ल–न., यवकाञ्जिकम् । गुणाः—' जातं यवाम्लं कटुकं विपाके वातापहं श्लेष्महरं सरक्तम् । पित्तप्रकोपं कुरुते सभेदि विदूषणं पित्तगदासृजोश्च (अत्रि. ११ अ.)
यवासा–स्त्री., गुण्डासिनीतृणम् (रा. व. ८.)
यवोद्भवा–पु., यवक्षारः (रा. व. ६.)
यवोद्भूता–स्त्री., यवशर्करा (वै. नि.)
यशद–न., धातुविशेषः । यशदं वङ्गसदृशं रीतिहेतुश्च तन्मतम् । गुणाः—' यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं

कफपित्तहृत् । चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डु श्वासञ्च नाशयेत् (भा. पू. १भ. धा. व.)

यष्टि (ष्टी) पुष्प-पु., पुत्रञ्जीववृक्षः (भा.)

यष्टिमधुका-स्त्री., यष्टिमधु (अम.)

यष्टीकर्ण-पु., तन्नामककर्णबन्धनाकृतिः (सु. सू. १६अ,)

याज-पु., अन्नम् (हे. च.)

याजक-पु., पलाशवृक्षः (रा. व. १०) कुशतृणम् (श. र.) रक्तखदिरवृक्षः (रा. व. ८.) अश्वत्थवृक्षः (रा. व. ११)

याजुष-पु., तित्तिरपक्षी (वै. नि.)

यातना-स्त्री., अतितीव्रवेदना (अम.)

यातयाम-पु., वृद्धः (रा. व. १८) त्रि., जीर्णम् (अम.) उज्झितम् (मे.)

याद-न., जलजन्तुः (अम.)

यादोनिवास-पु., जलम् (हे. च.)

यामघोष-पु., कुक्कुटः (श. मा.) (षा)-स्त्री., घटिकायन्त्रम् (त्रिका.)

यामनादी (इन्)-पु., कुक्कुटः (वै. नि.)

यामिनीचर-पु., गुग्गुलुः । पेचकः (वै. नि.)

यामिनीपति-पु., कर्पूरः (मे.) चन्द्रः (श. र.)

यामुनेष्टक-न., शीषधातुः (जटा.)

याम्यज्वर-पु., प्रवृद्धहीनमध्यवातादिजनितसन्निपातज्वरः । लक्षणम्-'हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुप्फुसाः । पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्धाधः पूयशोणितः निर्गमः । शीर्णदन्तश्च मृत्युश्चा तत्राप्येतद्विशेषतः भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्तितः (भा. म. १ भ.)

याम्यदिग्भवा-स्त्री., तमालपत्री (वै. नि.)

याम्यद्रुम-पु , शाल्मलिवृक्षः (वै. नि)

यावनक-पु., रक्तैरण्डः (वै. नि.)

यावनालनिभ-(भा)-पु., यावनालः (रा. व. ८)

यावनालरसजगुड-पु., तद्रसजातगुडः । गुणाः-क्षारः कटुः समधुरः कफवातघ्नः पित्तलः नित्यसेवनेन कण्डूकुष्ठजननः रक्तदाहघ्नश्च (वै. नि.)

यावनालशर-पु., यावनालस्य शरः । हि.-जोहुरली । गुणा-ईषन्मधुरः रुच्यः शीतल पित्ततृष्णाहरः पशूनामबलप्रदश्च (रा. व. १६)

याविक-पु., यवनालः (प. मु.)

याव्य-पु., यवक्षारः (वै. नि.)

यासा-स्त्री., मदनशलाकापक्षी (श. मा. सि. यो. कासचि.)

युक्तश्रेयसी-स्त्री., गन्धरास्ना (रा. व. ६)

युगच्छद-पु., आपटा इति ख्यातः वृक्षः (वै. नि. उन्मादचि.)

युगन्धर-पु., यावनालः (वै. नि.)

युगन्धरभक्त-न., पु., यावनालभक्तम् । गुणाः-'अप्रसाधितभक्तो युगन्धराणां भक्तश्च घनोविशदो मधुरश्च । कफे त्रिदोषशमने च कथ्यते कासे च श्वासात्मक एव सः स्मृतः (अत्रि. २३ अ.)

युगन्धराम्ल-न., यावनालकृतकाञ्जिकम्, गुणाः- युगन्धराम्लं कफवातहन्तृ शूलामयानां जरणप्रकर्तृ । तीक्ष्णं तथाम्लं श्रमदोषहन्तृ मेहार्शसोः रक्तहितं मतञ्च (अत्रि. ११ अ.)

युगप(पा)(त्र)(क)-पु., रक्तकाञ्चनवृक्षः (प. मु. अम.) अश्मन्तकः । लोध्रः (वै. नि.)

युगपत्रिका-स्त्री., शिंशपावृक्षः, सर्षपवृक्षः (त्रिका.)

युगपात्रिका-स्त्री., शिंशपावृक्षः (त्रिका.)

युगभृङ्गराज-पु., भृङ्गराजः केशराजश्च (संग्रहः)

युगाक्षिगन्धा-स्त्री., वृद्धदारकलता (प. मु.)

युग्बला-स्त्री., सुगन्धतृणम्, रोहिषतृणम् (वै. नि.)

युग्मकण्टका-स्त्री., बदरीवृक्षः (मद. व. ६)

युग्मपत्रिका-स्त्री., शिंशपावृक्षः

युग्मपर्ण-पु., रक्तकाञ्चनवृक्षः (रा. व. १०) सप्तपर्णवृक्षः (रा. व. १२) (पर्णा)-स्त्री., वृश्चिकालीक्षुपः (श. चि.)

युग्मफलिनी-स्त्री., दुग्धिका (प. मु.)

युग्माञ्जन-न., अञ्जनद्वयम् । एकं स्रोतोऽञ्जनं अपरं सौवीरमिति(अरुणः वा. सू. १५ अ. प्रियङ्ग्वादिवर्गः)

युग्या-स्त्री., ऋद्धिः । वृद्धिः (वै. नि.)

युजौ-पु., द्वि., अश्विनीकुमारौ (त्रिका.)

युञ्जातक-पु., वृक्षविशेषः । गुणाः-'बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः । वातपित्तहरः स्वादुः वृष्यो युञ्जातकः परम् (च. सू. २७ अ.)

युद्धसार-पु., अश्वः (श. च.)

युधिष्ठिरराज-पु., कङ्कपक्षी (त्रिका.)

युयु-पु.. घोटकः (हला.)

युयुक्खुर-पु., क्षुद्रव्याघ्रः (श. च.)

युवगण्ड-पु., पोगण्डः (त्रिका.) यूनो गण्डस्थव्रणः (श. र.)

युवा (न्)-पु., षोडशमारभ्य पञ्चाशत्पर्यन्तवयस्कः (रा. व. १८)

युवावस्था-स्त्री., यूवः (रा. व. १८)

यू-स्त्री., मुद्गादिद्विदलधान्यकृतयूषः (हे. च.)

यूकाण्ड–पु., लिखा (वै. नि.)
यूकारी–स्त्री., लाङ्गलिका (वै. नि.)
यूकावास–पु., शाखोटवृक्षः । (रा. व. ९)
यूथप–पु., सुनिषण्णशाकः । (वै. नि.)
यूथा–स्त्री., पाठा (वै. नि.)
यूथिकापत्र–पु., तालीशपत्रम् (वै. नि.)
यूथी–स्त्री , यूथिका (श. र.) शुक्लयूथिका (वै. नि.)
यूपलक्ष्य–पु., पक्षी (श. मा.) **योक**–न., यूकावृन्दम् (सि. यो. कृमिचि.)
योगचिन्तामणि–पु., चिकित्सासंग्रहविशेषः श्रीहर्षसूरिकृतः
योगतरङ्गिनी–स्त्री., वैद्यकचिकित्सासंग्रहविशेषः त्रिमल्लभट्टकृतः
योगनाविक–पु., मत्स्यविशेषः । (हारा.)
योगरत्नाकर–पु., चिकित्साग्रन्थविशेषः
योगशतक–न., चिकित्सासंग्रहग्रन्थः, लक्ष्मीदासकृतः
योगसार (क)–पु., नागरङ्गवृक्षः
योगा (गी) रङ्ग–पु., नागरङ्गवृक्षः (रा. व. ११)
योगी (गे) ष्ट–न., शीषधातुः । (र. मा. । रा. व. १३)
योजनगन्धा (न्धिका)–स्त्री., कस्तूरी (मे. अजयपाल)
योजनपर्णी–स्त्री., मञ्जिष्ठा (प. मु.)
योजनमल्लिका–स्त्री., आस्फोता (भैष. ज्वरचि. पानीयवटी)
योनल–पु., यावनालः (हे. च.)
योनिरञ्जन–पु., योनिदोषभेदः (निदा.)
योनिशूलघ्नी–स्त्री., शतपुष्पा
योन्यर्श–न., योनिकन्दरोगः (निदा.)
योषित्प्रिया–स्त्री., हरिद्रा
यौगन्धरान्न–न., यावनालकृतान्नम् । गुणाः– योगन्धरं गुरुघनं कासश्वासप्रवृत्तिकृत् (वै. नि.)
यौतव–न., परिमाणः (अम.)
यौवन–पु., यावनालः (प. मु.)
यौवनकण्टक–पु., न., युवगण्डरोगः (श. मा.)

र

रक–पु., सूर्यकान्तमणिः (वै. नि.)
रकण–पु., कोकिलाक्षक्षुपः (रा. व. ४)
रक्तक–पु., लोहितवर्णः (मे) बन्धुजीववृक्षः (प. मु.) रक्तझिण्टी (मे) रक्तशिग्रुवृक्षः (पमु.) रक्तैरण्डवृक्षः (वै. नि. २ भ. जिह्वकज्वर चि.) पत्राङ्गचन्दनवृक्षः (रा. व १२)
रक्तकङ्कु–पु., धूनकः (वै. नि.)
रक्तकण्टा–स्त्री., विकङ्कतवृक्षः (वै. नि.)
रक्तकदली–स्त्री., लोहितकदली (वै. नि.)
रक्तकन्दल–पु., रक्तप्रवालद्रुमः (त्रिका.)
रक्तकमल–न., रक्तवर्णपद्मम् (रा. व. १०)
रक्तकम्बल–न., कल्हारः
रक्तकरवीरक–पु., रक्तपुष्पकरवीरवृक्षः (हिं-लालकनेल) गुणाः–' कटुः तीक्ष्णः शोषकः त्वग्दोषव्रणकण्डूकुष्ठघ्नः विषघ्नश्च (वै. नि.)
रक्तका–स्त्री., पानीयामलकः (वै. नि.)
रक्तकाञ्चन–पु., काञ्चनारवृक्षः हिं.-कचनार-(पमु.)
रक्तकुमुद–न., रक्तकैरवम् । (जटा.)
रक्तकुरण्टक–पु., रक्तझिण्टी, गुणाः–तिक्तो वर्ण्यः उष्णः कटुः शोथघ्नः ज्वरघ्नः, तथा वातरोगं कफं रक्तरोगं पित्तं आध्मानं शूलं श्वासं कासञ्च नाशयेत् (वै. नि.)
रक्तकृमिजा–स्त्री., लाक्षा (वै. नि.)
रक्तकैरव–न., रक्तकुमुदम् (जटा.)
रक्तकोकनद–न., रक्तोत्पलम् (जटा.)
रक्तकोप–पु., शोणितप्रकोपः, रक्तविकारः (नकुल. १० अ.)
रक्तखदिर–पु., रक्तवर्णखदिरवृक्षः । गुणाः– ' कटूष्णः तिक्तः कषायः गुरुः आमवातघ्नः वातरक्तहरः-व्रणभूतज्वरघ्नश्च (रा. व. ८)
रक्तखाण्डव–पु., द्वैपखर्जूरवृक्षः (वै. नि.)
रक्तगतज्वर–पु., रक्तधातुगतज्वरः, लक्षणं यथा–रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ । प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् (मा. नि.)
रक्तगन्धा–स्त्री., अश्वगन्धा (वै. नि.)
रक्तगर्भा–स्त्री., नखरञ्जनीवृक्षः (वै. नि.)
रक्तगैरिक–न., स्वर्णगैरिकः (वै. नि.)
रक्तग्रीव–पु., कपोतः (वै. नि.)
रक्तघ्न–पु., रोहितकवृक्षः (जटा.) (घ्नी)–ग्रन्थिदूर्वा (श. च.)
रक्तचिल्लिका–स्त्री., मधुरवास्तुकः (वै. नि.)
रक्तजकृमि–पु., रक्तजन्यकृमिरोगः (मा. नि.)
रक्तजन्तुक–पु., भूनागः (रा. व. १३.) लोहितप्राणिमात्रः
रक्तजिह्व–पु., सिंहः (श. मा.)
रक्तझाबुक–पु., स्वनामख्यातवृक्षः (श. चि.)

रक्तझिण्टी–स्त्री., रक्तपुष्पझिण्टीक्षुपः (अम.)
रक्ततर–न.,स्वर्णगैरिकम् (वै. नि.)
रक्ततुण्ड–(क)–पु., सारसः, शुकः, भृनागः (रा. व. १३)
रक्ततृण–न., तृणविशेषः (वै. नि. स्त्री.,(णा)–गोमूत्रिका-तृणम् (रा. व. ८.)
रक्तत्रिवृत्–स्त्री., रक्तमूलत्रिवृत्, गुणाः–तिक्ता कटूष्णा रोचनी ग्रहणीमलविष्टम्भहरी (रा. व. ६.)
रक्तदृक्–पु., स्त्री., कपोतः
रक्तद्रुम–पु., रक्तबीजासनवृक्षः (रा. व. ९.)
रक्तनाडी–स्त्री., दन्तमूलगतरक्तजनाडीरोगविशेषः
रक्तनासिक–पु., पेचकः (श. र.)
रक्तनिर्यास–पु., रक्तबीजासनवृक्षः (रा. व. ९.)
रक्तनील–पु., महाविषवृश्चिकविशेषः (सु. क. ८अ.)
रक्तनेत्र–पु., सारसः, कपोतः (वै. नि.)
रक्तनेत्रत्व–न., रक्तविकारजनेत्ररोगः (निदा.)
रक्तपदी–स्त्री., क्षुद्रवृक्षविशेषः (जटा.)
रक्तपर्ण–पु., रक्तपुनर्नवा (वै. नि.)
रक्तपा–स्त्री., जलौका (मे.)
रक्तपाका (की)–स्त्री., लताबृहतीक्षुपः (र. मा.)
रक्तपात्री–स्त्री., जलौका (श. र.)
रक्तपाद–पु., शुकः (हे. च.) हंसः (वै. नि.)
रक्तपायिनी–स्त्री., जलौका (रा. व. १९.) मत्कुणः (वै. नि.)
रक्तपायी (इन्)–पु., मत्कुणः (व्याक.)
रक्तपारद–न., हिङ्गुलम्
रक्तपाषाण–पु., गिरिमृत्तिका
रक्तपिण्ड–न., जपापुष्पवृक्षः । रक्तालुः (वै. नि.) चीनदेशीय गुलाबपुष्पम्
रक्तपित्त–न., तन्नामकरोगभेदः (निदा.) पु., हारीतपक्षी
रक्तपित्तहा–स्त्री., ग्रन्थिदूर्वा
रक्तपित्तान्तकरस–पु., रक्तपित्ताधिकारे रसः (र. सा. सं)
रक्तपीटिकादर्शन–न., रक्तजविकारः (निदा.)
रक्तपीतफला–स्त्री., मधुरबिम्बिका (वै.नि.)
रक्तपुनर्नवा–स्त्री., स्वनामख्यातपत्रशाकक्षुपः (म–रक्त-घेंदुलि) गुणाः–' तिक्ता सारणी शोथघ्नी रक्तप्रदरघ्नी पाण्डुपित्तघ्नी च ' (रा. व. ५.)
रक्तपूर्वक–पु., रक्तापामार्गः (वै. नि.)
रक्तपोस्त–पु., रक्तखसखसवृक्षः (हिं.–लालपुस्ता) (कोषान्तरम्)
रक्तप्रतिश्याय–पु., दुष्टरक्तजप्रतिश्यायरोगः (मा. नि.)
रक्तप्रवृत्ति–पु., पित्तजरोगः (भा.)
रक्तफेनज–पु., फुप्फुसः । वामपार्श्वस्थक्लोमन् (हे. च.)
रक्तबभ्रु–पु., महावृश्चिकविशेषः (सु. क. ८ अ)
रक्तबाल(लु)क(का)–न., स्त्री., सिन्दूरः (हारा. त्रिका.)
रक्तबिन्दुच्छदा–स्त्री., पुत्रदात्री शुक्लकण्टका (वै. नि)
रक्तभस्म–न., रससिन्दूरादिकरणम् (एतत्साधनप्रणाली र. सा. संग्रहे मृग्या)
रक्तमञ्जर–पु., वेतसलता (त्रिका.) निम्बवृक्षः (वै. नि.)
रक्तमञ्जरी–स्त्री., रक्तकरवीरः (वै. नि)
रक्तमण्डलिका–स्त्री., रक्तलज्जालुका
रक्तमण्डूक–पु., रक्तवर्णमण्डूकजातीयकीटः सुकल्प. ८अ.)
रक्तमत्स्य–पु.. रक्तवर्णमत्स्यविशेषः । तल्लक्षणगुणाः–'यो रक्ताङ्गो नातिदीर्घो न चाल्पो नातिस्थूलः रक्तमत्स्यः स चोक्तः । शीतो रुच्यः पुष्टिकृद्दीपनोऽसौ नाशं धत्ते दोषत्रयस्य ' (रा. व. १७)
रक्तमरिच–न., मरिचभेदः (हिं–लालमरिच) (वै. नि.)
रक्तमातृका–स्त्री., रसधातुः (वै. नि.)
रक्तमिलातक–पु., रक्ताभ्नानपुष्पवृक्षः (रा. व. १०)
रक्तमुख–पु., रोहितमत्स्यम् । षष्टिकधान्यम् (वै. नि.)
रक्तमूत्रता–स्त्री., रक्तप्रस्रावरोगः (निदा.)
रक्तमूर्धा (न्)–पु., सारसपक्षी
रक्तमृत्–स्त्री., गैरिकम् (वै. नि.)
रक्तरङ्गा–स्त्री., मेइदीति ख्यातः वृक्षः (वै. नि.)
रक्तरस–पु., रक्तासनवृक्षः (वै. नि.)
रक्तरसा–स्त्री., रास्ना (वै. नि.)
रक्तरसोन–पु., लोहितरसोनः । गुणाः–' मधुरः कटुः बलकरः । पत्रं तिक्तम् । अस्थि सलवणञ्च (रा. व. ७) पत्रं मधुरं क्षारं नालो मधुरपित्तलः कषायः इति (मद. व. ७)
रक्तराजालुक–न., रक्तवर्णालुकभेदः एतच्च किञ्चिदुष्णं आग्नेयं वातकफहरञ्च (द्रव्यगुणः)
रक्तरेणुका–स्त्री., पलाशकलिका (श. मा.)
रक्तरोहितक–पु., (हिं–रक्तरोहिडा)
रक्तलशुन–पु., रक्तरसोनः (रा. व. ७)
रक्तलोचन–पु., कपोतः (हे. च. । भा.)
रक्तवटी–स्त्री., मसूरिका (जटा.)
रक्तवरटी–स्त्री., मसूरिका (जटा.)
रक्तवर्ण–पु., इन्द्रगोपकीटः (रा. व. १९) गोमेदमणिः प्रवालः । कम्पिल्लकः । (वै. नि.)

रक्तवर्तक–पु., विष्किरपक्षिविशेषः (च. सू. २७ अ.)
रक्तवर्त्मा–पु., कुक्कुटः (वै. नि.)
रक्तवर्धन–पु., वार्ताकी (श. च.)
रक्तवल्ली–स्त्री., पीतपुष्पदण्डोत्पलः
रक्तवास्तुक–पु., शोणवास्तुकशाकः (वै. नि.)
रक्तविकार–पु., रक्तजरोगः (वै. नि.)
रक्तवृन्तक–पु., रक्तपुनर्नवा (वै. नि.)
रक्तवृन्ता–स्त्री., शेफालिकावृक्षः (प. मु.)
रक्तशमन–न., कम्पिल्लकः (वै. नि.)
रक्तशालुक–(का)-पु., स्त्री., रक्तकमलकन्दः (वै. नि.)
रक्तशाल्मलि–पु., रक्तपुष्पशाल्मलिवृक्षः (वै. नि.)
रक्तशासन–न., सिन्दूरः (हारा.)
रक्तशिम्बी–स्त्री., शिम्बीभेदः (वै. नि.)
रक्तशृङ्गिक–न., विषम् (रा व. ६.)
रक्तशेखर–पु., पुन्नागवृक्षः (र. मा.)
रक्तश्रीखण्डक–न., रक्तचन्दनम् (वै. नि. २ भ. वातघ्न्याधिचि. महारास्नादौ)
रक्तश्वेत–पु., तद्वर्णमहाविषवृश्चिकभेदः (सु. कल्प. ८ अ.)
रक्तष्ठीविसन्निपात–पु., स्वनामख्यातसन्निपातविशेषः (निदा.)
रक्तसंज्ञ(सङ्कोचपिशुन)-न., कुङ्कुमम् (त्रिका.)
रक्तसंवरण–न., कृष्णाञ्जनम् (वै. नि.)
रक्तसन्दंशिका–स्त्री., जलौका (रा. व. १९)
रक्तसन्ध्यक–न., रक्तकल्हारः (अम.) रक्तोत्पलम् (वै. नि.)
रक्तसरोरुह–न., रक्तपद्मम् (अम.)
रक्तसार–न., रक्तचन्दनम्–(प. मु. रा. व. १२ रस. र. च. द. मेह. चि. न्यग्रोधादिपञ्चके) पत्तङ्गचन्दनम् (प. मु.) (पु.,) अम्लवेतसः (रा. व. ६) रक्तखदिरवृक्षः (रा. व. ८) (सुचि. ८ अ.) रक्तबीजासनवृक्षः (रा. व. ९) रक्तशिंशपा वाराहीकन्दः (वै. नि.)
रक्तसू–पु., शरीरस्थरक्तधातुः (रा. व. १८)
रक्तसौगन्धिक । न., रक्तकल्हारपुष्पम् (जटा.)
रक्तस्थज्वर–पु., रक्तगतज्वरविशेषः (मानि.)
रक्तहर–पु., भल्लातकः (वै. नि.) (त्रि.,) रक्तघ्नद्रव्यमात्रम्
रक्ता–स्त्री., गुञ्जा (रा. व. ३ सुचि. ३७ असु. कल्प ५ अ.) लाक्षा । मञ्जिष्ठा (रा. व. ६।२३ शिम्बीभेदः । प. मु.) उष्ट्रकाण्डीनामक्षुपः (रा .व. १०) लक्षणाकन्दः । वचा (वै. नि.) रक्तवर्णशतपदी (सुकल्प ८ अ.) कृच्छ्रसाध्यलूताविशेषः, कर्णशिराभेदः (वा. उ. १ अ.)
रक्ताक्त–न., रक्तचन्दनम् (जटा.)
रक्ताख्यात (क)–पु., रक्तापामार्गः (वै. नि.)
रक्ताञ्जना–स्त्री., रक्ताञ्जनिका (च. द. क्षारतैले)
रक्ताढकी–पु., रक्तपुष्पाढकी, गुणाः–' रुच्या बल्या पित्ततापादिहरी च (रा. व. १६.)
रक्ताण्ड–पु., अश्वस्य अण्डरोगभेदः (ज. द. ५०अ.)
रक्ताधार–पु., चर्म (रा. व. १८.)
रक्तापराजिता–स्त्री., रक्तपुष्पापराजिता
रक्ताब्ज (क)–न., रक्तकमलम् (वै. नि.)
रक्ताभ्र–न., रक्तवर्णाभ्रकम् (रा. व. १३.)
रक्तारि–पु., महाराष्ट्रीक्षुपः (प. मु.)
रक्तार्क–पु., अरुणार्कवृक्षः (मद. व. १. रा. व. १०.)
रक्तार्ति–स्त्री., शोणितामयः (रा. व. २०.)
रक्तार्म (न)–स्त्री., नेत्ररोगभेदः । ' पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते (मा. नि.)
रक्तार्श–न., रक्तजन्यगुदजरोगः (मा. नि.)
रक्ता (लता)–स्त्री., मञ्जिष्ठा (सु. कल्प. ५अ.)
रक्तावसेचन–न. रक्तमोक्षणम् (च. चि. ३अ.)
रक्ताश्वमारपुष्प–न., रक्तकरवीरपुष्पम् (सि. यो. विषमज्वरे.)
रक्ताश्वारि–पु., रक्तकरवीरवृक्षः (रावणकृते शतके.)
रक्ताक्षी–स्त्री., गुग्गुलुः (वै. नि. २भ. अतिसारचि.)
रक्तेक्षुशर्करा–स्त्री., रक्तेक्षुकृतशर्करा । गुणः–पित्तघ्नी (रा. व. १४.)
रक्तोच्चटा–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (भा.)
रक्तोपल–न., गिरिमृत्तिका (हारा.)
रक्तौदन–न. रक्तशाल्यादिभक्तम् । अलक्तक रञ्जितभक्तम् (च. द. बालचि.)
रक्षगन्ध–(क)–पु., श्वेतालुः, गुग्गुलुः (वै. नि.)
रक्षणा–(णी)-रक–पु., मूत्रकृच्छ्ररोगः (श. र.)
रक्षणि–(णी)–स्त्री., त्रायमाणालता (रा. नि. व. ५)
रक्षापत्र–पु., भूर्जवृक्षः (रा. नि. व. ९.) न., भूर्जत्वक् श्वेतसर्षपम् (वै नि.)
रक्षाबीज–पु., रीठाकरञ्जः (वै. निघ.)
रक्षारेणुत्कर–पु., शुष्कगोमयभस्मचूर्णप्रक्षेपः (भा. म. ४ भ. मसूरिका. चि. शीतलाधिकारे.)
रक्षिताफल–न., सर्षपम् (वै. नि.)

रक्षोभूत–पु., श्वेतसर्षपवृक्षः (प. मु,)
रघुनाथ–पु., वैद्यविलासनामग्रन्थकारः
रङ्कु–पु., मत्स्यरङ्गः (वै. नि.) शबलपृष्ठहरिणविशेषः (रा. व. १९.)
रङ्गज–न., सिन्दूरम् (र. मा.)
रङ्गदलिका–स्त्री., नागवल्लीलता (वै. नि.)
रङ्गदा–स्त्री., स्फटिका (भा.)
रङ्गदढा–स्त्री., स्फटिका (रा. व. १३.)
रङ्गबीज–न., रूप्यम् (त्रिका.)
रङ्गमाणिक्य–न., माणिक्यरत्नम् (रा. व. १३)
रङ्गलता–स्त्री., आवर्तकीलता, गुणः– शूलघ्नी (केचित्)
रङ्गलासिनी–स्त्री., शेफालिकावृक्षः (श. च.)
रङ्गसदृश–न., यशदम् (भा.)
रङ्गक्षार–पु., टङ्कणक्षारः (वै. नि.)
रङ्गा–स्त्री., जवावृक्षः (वै. नि.)
रङ्गाङ्गा–स्त्री., फटिकारिका (रा. व. १३)
रङ्गारि–पु., करवीरवृक्षः (र. मा.)
रङ्गाष्ठालुक–न., स्वनामख्यातं आलुकम् (त्रिका.)
रजःशय–पु., कुक्कुरः (श. मा.)
रजःसार–न., कर्पूरम्
रजःसारथी–पु., वायुः
रजतोपम–न., रौप्यमाक्षिकम् (वै. नि.)
रजनि–स्त्री., वास्तुकः, रात्रिः, हरिद्रा
रजनिपुष्प–न., हरिद्रापुष्पम्
रजनीगन्धा–स्त्री., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः
रजनीजल–न., नीहारः
रजनीहासा–स्त्री., शेफालिकापुष्पवृक्षः (श. र.)
रजसानु–पु., मनस्, हृदयम्
रजस्वर्ण–पु., पीतधुस्तूरकः (वै. नि.)
रजस्वल–पु., पारदः (वै. नि.)
रञ्जनकेशी–स्त्री., नीलीवृक्षः (वै. नि.)
रञ्जनगण–पु., रञ्जनद्रव्यवर्गः । ' चतुर्विधा हरिद्रा स्यात पत्तङ्गं रक्तचन्दनम् । नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठा-लाक्षामहद्विकिंशुकम् ' (रा. नि. व. ६)
रञ्जनद्रु–(म)–पु., अच्छुकवृक्षः
रञ्जनीपुष्प–पु., पूतिकरञ्जः (रा. नि. व. १९)
रण–पु., दुम्बामेषः (वै. नि.)
रणघण्टासमाकृति–पु., महाशणम्
रणपक्षी (इन्)–पु., रणगृध्रः
रणमुष्टि–पु., विषमुष्टिक्षुपः (रा. नि. ४)
रणमूर्द्धजा–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (रा. नि.)
रणरण–पु., भ्रमरः, उत्कण्टा
रणालङ्करण–पु., कङ्कपक्षी (रा. व. १९)
रण्डक–पु., अफलवृक्षः
रतकोल–पु., कुक्कुरः (त्रि. का.)
रतज्वर–पु., काकः
रतनारीच–पु., कुक्कुरः (वै. नि.)
रतनिधि–पु., खञ्जनः
रतव्रण–पु., कुक्कुरः
रतशायी–(इन्)–पु., कुक्कुरः
रताङ्घ्री–स्त्री., कुञ्झटिका
रतान्दुक–पु., कुक्कुरः
रतामर्द–पु., कुक्कुरः
रति–स्त्री., प्रीतिः । सुरतम् । गुह्यदेशम्ः
रतिकुहर–न., भगः
रतिक्रिया–स्त्री., मैथुनम्
रतिगृह–न., भगम् (त्रिका.)
रतिचर्य्या–स्त्री., स्त्रीसेवा (जटा.)
रतिमन्दिर–न., योनिः
रतिरथ–पु., नखम्
रतिलक्षण–न., रतिक्रिया
रतिवल्लभमोदक–पु., वाजीकरणाधिकारे औषधम् (रस. र.)
रतिसत्वरा–स्त्री., पृक्का (श. च.)
रतिसाधन–न., शिश्नम् (वै. नि.)
रतोद्वह–पु., कोकिलः (श. मा.)
रत्नकन्दल–पु., प्रवालः (श. र.)
रत्नगर्भपोट्टलिरस–पु., यक्ष्माधिकारे रसः (र. सा. सं । भैष.)
रत्नगिरिरस–पु., ज्वराधिकारे रसः (रस. चि.)
रत्नजाति–स्त्री., श्वेतरक्तनीलपीतवर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य-शूद्राः
रत्ननायक–पु., माणिक्यम् (रा. नि. व. १२)
रत्ननिधि–पु., खञ्जनपक्षी (त्रिका.)
रत्नमाला–स्त्री., वैद्यकचिकित्साशास्त्रभेदः
रत्नमुख्य–न., हीरकः (हे. च.)
रत्नराट्–पु., माणिक्यं (रा. नि. व. १३)
रत्नावली–स्त्री., राधामाधवकृतद्रव्याभिधानम्
रत्नि–पु., स्त्री., बद्धमुष्टिहस्तः (अ. म.)
रत्यङ्ग–न., योनिः (श. र.)
रथचरण–पु., चक्रवाकः (श. र.)

रथद्रु–पु., तिनिशवृक्षः (अ. म.)
रथपर्य्याय–पु., वेत्रलता (श. च.) तिनिशवृक्षः (अम.)
रथाङ्गाह्वयनायक–पु., चक्रवाकः (अम.)
रथाभ्र–पु., वेतसवृक्षः (अम.)
रथाभ्रपुष्प–पु., वेतसवृक्षः (अम.)
रथी (इन्) पु., चक्रवाकः (वै. नि.)
रदच्छद–पु., ओष्ठम् (रा. नि. व. १८.)
रदद्रु–पु., अश्वशाखोटवृक्षः
रदनच्छद–पु., ओष्ठम् (रा. नि. व. १८.)
रदनी (इन्)–पु., हस्ती (हला)
रदायुध–पु., शूकरः
रदी (इन्)–पु., हस्ती
रन्तिदेव–पु., कुक्करः (श. र.)
रन्धन–न., पाककरणम् (व्याक.)
रन्धित–त्रि. पाचितम् न., कृतरन्धनद्रव्यम्
रन्ध्र–न. दूषणम् । च्छिद्रम् (मे.)
रन्ध्रबभ्रु–पु., उन्दुरी (त्रिका.)
रभस–पु., वेगः । पौर्व्वापर्यविचारः (अरुणः)
रम–पु., रक्ताशोकवृक्षः (मे.)
रमठ–न., हिङ्गु (उणा.)
रमठध्वनि–पु., हिङ्गु (श. च.) मैथुनम्
रमणा (णी)–स्त्री., प्रियङ्गुः, नारी
रमति–पु., काकः (श. र.)
रमाप्रिय–न., पद्मम् (श. च.) पु., दारुचीनीति ख्यातं मिष्टत्वग् (वै. नि.)
रमावेष्ट–पु., श्रीवासचन्दनम् (रा. नि. व. १२.)
रम्यकक्षीर–पु., महानिम्बः (रा. नि. व. ९.)
रम्यामली–स्त्री., भूधात्री (रा. नि. व. ५.)
रराटी–स्त्री., ललाटम् (पुराणम्)
रवण–न., कांस्यम् पु., उष्ट्रः (हे. च.) कोकिलः (उणा.)
रवथ–पु., कोकिलः (उणा.)
रविकान्त–पु., सूर्यकान्तमणिः (रा. नि. व. १३.) सूर्य्यावर्त्तक्षुपः (वै. नि.)
रविग्रह–पु., अश्वस्य ग्रहविशेषः (ज. द.)
रविजप्रिय–पु., नीलकान्तमणिः (वै. नि.)
रविजल–न., अर्कमूलरसः (वै. संग्रहपञ्चामृतरसे.)
रविदुग्ध–न., अर्कक्षीरः (र. सा. सं. त्रैलोक्यचिन्तामणिरसे)
रविद्रुम–पु., सदापुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १३.)
रविनाथ–पु., बन्धूकवृक्ष न., पद्मम् (श. च.)
रविपत्र–पु., आदित्यपत्रक्षुपः (रा. नि. व. ४)
रविप्रिया–स्त्री., सूर्य्यावर्तक्षुपः (र. मा.)
रविभक्ता–स्त्री., सूर्य्यावर्तक्षुपः (र. सा. सं.)
रविमूल–न., अर्कमूलम् (र. सा. सं. ज्वरचूडामणे.)
रविरत्न (क)–न., माणिक्यम् (रा. नि. व. १३.)
रविलोह–न., ताम्रम् (रा. नि.)
रविवल्लभ–पु., भृङ्गराजवृक्षः (वै. निघ.)
रविवल्ली–स्त्री., आदित्यभक्ता, ब्राह्मीक्षुपः
रविसंज्ञक–न., ताम्रम् (श. च.)
रविसुन्दररस–पु., सर्वज्वराधिकारे रसः
रविस्पर्शा–स्त्री., ह्रस्वमेषशृङ्गी (वै.)
रवीन्द्र–न., पद्मम् (धरणिः)
रश–पु., वंशः
रशना–स्त्री., जिह्वा (श. र.)
रशील–पु., कर्मरङ्गवृक्षः (प.)
रश्मिजात–न., रूप्यम् (वै. नि.)
रश्मिपति–पु., आदित्यक्षुपः (रा. नि. व. ४)
रसकर्पूर–न., पारदस्य श्वेतभस्मीकरणम् (चन्द्रिकाकारः) (र. सा. सं.) गुणाः—फिरङ्गरोगघ्नं दीपनं पुष्टिकरं बलवीर्यकारकं कुष्ठघ्नं व्रणघ्नं च.
रसकल्पलता–स्त्री., वैद्यकरसग्रन्थः
रसकेसर–न., कर्पूरम् (हारा.)
रसकेसरी (इन्)–पु., खर्परधातुः
रसगुडिका–स्त्री., कासाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
रसघा–स्त्री., तिक्तगुञ्जाकरञ्जः
रसचंद्रिकावटी–स्त्री., शिरोरोगे हिता (र. सा. सं.)
रसचूडामणि–पु., ज्वराधिकारे रसः (रस. चि.)
रसज्ञा–स्त्री., जिह्वा (रा. नि. व. १८)
रसज्येष्ठ–पु., मधुररसः (हे. च.)
रसतालक–न., रसगन्धतालादिकृतयन्त्रपक्वौषधभेदः(भै.)
रसतालेश्वर–पु., कुष्ठाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
रसतेज (स्)– न., रक्तम् (हे. च.)
रसदा–स्त्री., रसनिर्गुण्डी (वै. नि.)
रसद्रावी (इन्) पु., मधुरजम्बीरम् (रा. नि. व. १८)
रसनापद–न., नितम्बम् (रा. नि. व. १८)
रसनायक–पु., पारदः (श. र.)
रसनालिट्(हः)–पु., कुक्कुरः (हे. च.)
रसनिर्यास–पु., रालवृक्षः (वै. निघ)
रसनेत्रिका–स्त्री., मनःशिला (हे. च.)

रसनेष्ट–पु., इक्षुः (प. मु.)
रसपर्पटिका–स्त्री., ग्रहण्याद्यधिकारे औषधम् (भैष.)
रसप्रदीप–पु., रामचन्द्रकृतः वैद्यकरसग्रन्थः
रसबन्धकर–पु., सोमलता (वै. निघ)
रसभाव–पु., रसधर्म्मः, स्निग्धतादिः (राज. ४ प.)
रसमञ्जरी–स्त्री., शालिनाथकृतरसग्रन्थः
रसमञ्जरीभाष्य–न., शेषचिन्तामणिकृतरसमञ्जरी-भाष्यम्
रसमणि–पु., हरिहरकृतरसग्रन्थः
रसमण्डुर न., परिणामशूले औषधम् (र. स. र.)
रसमर्द्दन–न., पारदस्य चूर्णीकरणं मारणं वा
रसमाणिक्य–न., कुष्ठाधिकारे औषधम्। मात्रा २ र.
रसमारण–न., मारणद्रव्यैः पारदस्य मर्दनम् (र. सा. सं.)
रसमैत्री–स्त्री., मधुराम्लं लवणाम्लं कटुतिक्तकं, कटु-लवणं, तिक्तलवणं चेति सोच्यते
रसराजशिरोमणि–पु., परशुरामकृतो रसग्रन्थः
रसललना–स्त्री., जिह्वा
रसवती–स्त्री., पाकशाला (अम.)
रसवर्णक–पु., दाडिमपुष्पादिद्रव्यगणः (रा. नि. व.१२)
रसवीर्यकृत्–पु., सोमलता (वै. नि. घ.)
रसवेधक न., स्वर्णम् (वै. निघ.)
रसशङ्कर–पु., रसग्रन्थदभेदः
रसशार्द्दूल–पु., सूतिकोपचारे रसः (र. सा. सं.)
रसशेषाजीर्ण–न., रसशेषजन्याजीर्णरोगभेदः
रसशोणितसम्भव–न., मांसधातुः (वै. निघ.)
रसशोधन–न., टङ्कणम् (हे. च.) पादरस्य सीसकादि-दोषसंस्कणम्
रससंरक्षण–न., रसस्य शोधनमूर्च्छनबन्धनमारणरूपं कर्म्मचतुष्टयम् (र. सा. सं.)
रससंकेतकलिका–स्त्री., शतद्वयश्लोकात्मकरसग्रन्थः
रससंग्रहसिध्दान्त–पु., वैद्यकरसग्रन्थविशेषः
रससंभव–न., रक्तम् (वै. निघ.)
रससार–पु., वैद्यकरसग्रन्थविशेषः। मधु (नकुल १२ अ.)
रससिन्दूर–न., रसगन्धकयोः सिन्दूरीकरणम् (र. चि. २ अ.)
रससुधाकर–पु., वैद्यकरसग्रन्थविशेषः
रससुधानिधि–पु., रसग्रन्थभेदः भोजराजशूक्रकृतः
रससू–पु., रसधातुः (वै. निघ.)
रसस्राव–पु., अम्लवेतसम् (वै. निघ.)
रसाखन–पु., कुक्कुटः (श. च.)
रसाङ्का– स्त्री., जिह्वा। अलिजिह्विका।
रसाञ्जनादिचूर्ण–न., ज्वरातिसारे औषधम्। (रस. र.)
रसाढ्य–पु., आम्रातकवृक्षः (रा. नि. व. ६)
रसाढ्या–स्त्री., रास्ना (रा. नि. व. ११)
रसादान–न., रसशोषणम् (हे. च. रसग्रहणे)
रसाधिकार–पु., हरिहरकृतः वैद्यकरसग्रन्थः।
रसानुग–त्रि., रसदूषकः, रसानुसारी
रसाभुग्न–न., बोलनामगन्धद्रव्यम् (रा. नि. व. ६)
रसाभ्रगुडिका–स्त्री., रसायनाधिकारे औषधम् (रस. र.)
रसाभ्रवटी–स्त्री., ग्रहण्यधिकारे औषधम् (र. सा. सं.)
रसामृतरस–पु., रक्तपित्ताधिकारे रसः (र. सा. सं.)
रसायनाफला–स्त्री., हरीतकीवृक्षः (त्रिका.)
रसायनामृतलौह–न., ज्वरातिसारे लौहम्
रसालशर्करा–स्त्री., रसालेक्षुरसकृतशर्करा (रा. नि. व. १४)
रसालसा–स्त्री., पुण्ड्रकेक्षुः। गोधूमः। कुन्दुरुतृणम्। नाडी (श. च.)
रसालाम्र–पु., महाराजाम्रः (रा. नि. व. ११)
रसालिका–स्त्री., सप्तला (वै. निघ.)
रसालिहा–स्त्री., पृश्निपर्णी (श. च.)
रसाली (इन्)–पु., कृष्णचणकेक्षुः
रसालेक्षुली–पु., करङ्कशालिनामेक्षुः (रा. नि. व. १४)
रसालोला–स्त्री., जिह्वा
रसाश्वासा–स्त्री., पलाशीलता (रा.)
रसाष्टक–न., महारसाष्टकम्। पारददरदाभ्रककान्तलौह-विमलमाक्षिकवैक्रान्तशङ्खश्च (वै. निघ.)
रसास्वादी–(इन्)–पु., भ्रमरः
रसाह्व–पु., लवणखोटी (र. मा.)
रसिकालु–पु., नीलालुः (वै. निघ.)
रसुन–पु., लशुनः (श. च)
रसेन्द्रगुडिका–स्त्री., कासे यक्ष्मणि वा रसविशेषः
रसोदर–न., हिङ्गुलः (रा. नि. व. १३)
रसोनपिण्ड–पु., ऊरुस्तम्भधिकारे औषधम्
रसोनाष्टक–न.,वातव्याध्यधिकारे औषधम्
रसोपल–न., मौक्तिकम्(त्रिका.)
रस्य–न., मांसधातुः (वै. निघ.) रक्तम् (श. च.)
रा–पु , स्त्री., काञ्चनम् (श. र. । अम.)
राका–स्त्री., दुष्टरजस्का कन्या (हारा.) पूर्णिमा। कच्छूरोगः (मे.)

राक्षम्-न., पर्कटीफलम् (अम.)
राक्षसभोजन-न., मांसम् । राक्षसग्रहः ।
राक्षसीकन्द-पु., चन्डालकन्दः (वै. निघ.)
राक्षा (क्ष्या)-स्त्री., लाक्षा (अम.)
रागचूर्ण-पु., खदिरवृक्षः (मे.) फल्गुचूर्णम् । (श.र.) लाक्षारसः (रा. नि. व. ६.)
रागद-पु., तैरणीक्षुपः (रा. नि. व. ४) लाक्षारसः
रागदृक्-पु., माणिक्यम् (रा. नि. व. १३.)
रागपुष्पी-स्त्री., ओड्रपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १०)
रागयुक् (ज्)-पु., माक्षिकम्
रागलता-स्त्री., उपस्थम्
रागसारा-स्त्री., मनःशिला (वै. निघ.)
रागसूत्र-न., पट्टवस्त्रम् (मे.)
रागी (तरु)-पु., अशोकवृक्षः
रागीष्ट-न., सुगन्धरोहिषतृणम् (वै. निघ.)
राघव-पु., तिमिङ्गिलमत्स्यः (मे.) बृहदाकारमत्स्यभेदः
राङ्कव-पु., तरुकण्टकः (हारा.)
राङ्कव-न., पशुलोमजातवस्त्रादिः (अम.)
राङ्कण-न., रङ्कणपुष्पम् (राज. ५प.)
राजक-पु., कृष्णागुरुः (वै. निघ.)
राजकदम्ब-पु., कदम्बविशेषः (जटा.)
राजकर्कटी-स्त्री., चीनकर्कटी (रा. नी. व. ७)
राजकार्श-पु., शालवृक्षः
राजकाष्ठ-न., पतङ्गचन्दनः (वै. निघ.)
राजकुलक-पु., पटोललता (प. मु.)
राजकूष्माण्ड-पु., वार्त्ताकी (जटा.)
राजग्रीव-पु., मत्स्यविशेषः (त्रिका.)
राजघास-पु., तृणभेदः
राजचम्पक-न., पुन्नागपुष्पम् (सुसु. ३८ अ.)
राजचिह्नक-न., शिश्नम् (श. च.)
राजजक्ष्मा-पु., स्वनामख्यातरोगः
राजजीरक-न., जीरकभेदः
राजतरणी-स्त्री., पुष्पविशेषः । महातरणीपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १०)
राजताल-पु., गुवाकवृक्षः (त्रिका.) नारिकेलः (वै. निघ.)
राजतालेश्वर-पु., कुष्ठाधिकारे रसः
राजतिमिश-पु., चेलानम् । सुखाशः
राजदन्त-पु., दशनानामग्रस्थदन्तचतुष्टयम् (त्रिका.)
राजधत्तु(स्)रक-पु., पीतधुस्तूरवृक्षः (वै. निघ.)
राजधूर्त्त-पु., पीतधुस्तूरः (वै. निघ.)
राजनग-पु., राजगिरिशाकः (वै. निघ.)
राजनिम्बूक-पु., निम्बूविशेषः (वै. निघ.)
राजनील-न., मरकतमणिः (श. र.)
राजनीलिका-स्त्री., महानीली (रा. नि. व. ४)
राजन्य(न्या)-पु., स्त्री., राजादनवृक्षः (जटा.)
राजन्यावर्त(क)-पु., राजावर्तमणिः (रा. नि. व. १३)
राजपटोल-पु., मधुपटोलः (रमा.)
राजपटोलिका(ली)-स्त्री., मधुरपटोली (रा. नि. व. ३)
राजपट्ट-पु., न., कान्तपाषाणः (त्रिका.)
राजपट्टिका-स्त्री., चातकः (हारा.)
राजपत्नी-स्त्री., प्रसारणी लता (रा. नि. व. ५)
राजपुत्रिका-स्त्री., शरारिपक्षी (जटा.)
राजपुष्प-पु., नागकेशरवृक्षः (श. च.)
राजपूज्य-न., स्वर्णम् (वै. निघ.)
राजफणिज्झक-पु., नागरङ्गवृक्षः (श. मा.)
राजफल्गु-पु., कृष्णोदुम्बरवृक्षः (वै. निघ.)
राजभक्त-न.. नृपभोजान्नपानादि च
राजभट्टिका-स्त्री., हापुत्रीपक्षी (जटा.)
राजभद्रक-पु., पारिभद्रकवृक्षः । निम्बवृक्षः । कुष्ठम् । कुन्दुरकम् [रा. नि. २३)
राजभोग-पु., शालिधान्यविशेषः (रावणः)
राजभोग्य-न., जातीकोषः पु.. प्रियालवृक्षः (श. च.) त्रि. राजभोगार्हः
राजमण्डूक-पु., महामण्डूकः (रा नि. व. ११)
राजमान्य-न., पटोलः (वै. निघ.)
राजयोग्य-न., चंदनम् (वै. निघ.)
राजरङ्ग-न., रजतम् (श. र.)
राजराजेश्वररस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
राजलक्ष्मी-स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. नि. व. ११.)
राजवर्त-पु., राजवर्तमणिः (भा. म. कर्णरो.चि.)
राजवल्ली-स्त्री., कारवेल्लकः (र. मा.)
राजवासन-पु., भृङ्गराजपक्षी
राजवाह-पु., घोटकः (श. च.)
राजशण-पु., पाट इति ख्यातवृक्षः
राजशाली-पु., राजभोग्यशालिधान्यविशेषः
राजशिम्बी-स्त्री., श्वेतशिम्बी निष्पावः (वै. निघ.)
राजशुक-पु., पक्षिविशेषः (रा. नि. व. १९)
राजशूकज-न., शालिधान्यम् (प. मु.)
राजशृङ्ग-पु., मद्गुरमत्स्यः (हे. च.)

राजसफर–पु., इल्लिषमत्स्यः (हारा.)
राजसर्प–पु., सर्पविशेषः (त्रिका.)
राजसारस–पु., मयूरः (श. मा.)
राजसी–स्त्री., श्वेततुलसी (वै. निघ.)
राजसुषवी–स्त्री., कारवेल्लभेदः (प. मु.)
राजसैरेयक–पु., नीलझिण्टी
राजस्कन्ध–पु., घोटकः (त्रिका.)
राजस्वर्ण–पु., राजधुस्तूरवृक्षः (रा नि व १०)
राजहास–(क)–पु., मत्स्यविशेषः
राजाग्र–पु., राजगिरिशाकः (वै. नि.)
राजातन–पु., पीतशालवृक्षः (रा. नि. व.)
राजात्यावर्त्तक–पु., राजावर्तः
राजादनफल–पु., क्षीरिणीवृक्षः (वै. निघ.)
राजालाबु–स्त्री., स्वादुतुम्बी (मद.)
राजालुक–पु., महाकन्दः (हारा.)
राजाहि–पु., द्विमुखसर्पः (त्रिका.)
राजिचित्र–पु., राजिमच्छर्पविशेषः (सु. कल्प. ४)
राजिफला–स्त्री., चीनकर्कटीलता (रा. नि. व. ७)
राजिभ–पु., दुण्डुभसर्पः (वै. निघ.)
राजिमत्फला–स्त्री., मधुकोषातकी (भा. पू. १ भ.)
राजिल–पु., डुण्डुभसर्पः
राजील–पु., राजसर्षपः (वै. निघ.)
राजेन्द्र–पु., राजगिराशाकः (वै. नि.)
राजेय–पु., पटोलः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
राटि–(डि)–पु., शरारिपक्षी (अम.)
राठपुष्प–न., मदनपुष्पम् (वा. उ. २ अ.)
रात्रिजल–न., कुञ्जटिका (श. मा.)
रात्रिजागर–पु., क्रुरः (हे. च.)
रात्रिनामिका–स्त्री., हरिद्रा
रात्रिपुष्प–न., उत्पलम् (रा. नि. व. १०)
रात्रिवियोगी (इन्)–पु., चक्रवाकपक्षी
रात्रिविश्लेषगामिन्–पु., चक्रवाकपक्षी (रा. नि. व. १९)
रात्रिहास–पु., श्वेतोत्पलम् (श. र.)
रात्रिवेद (दी) **इन्**–पु., कुक्कुटः (त्रिका.)
राधवङ्क–पु., करका
राद्ध–त्रि., पक्वः (हे. च.) न., ह्यन्तरभुक्तः आन्तरभुक्तः वा (त्रिका.)
राधा–स्त्री., विष्णुक्रान्ता । आमलकी (भै)
राधामाधव–पु., वैद्यरत्नावलीकारः
रामक–पु., जलपामार्गः (वै. निघ,)
रामकन्द–पु., शमीवृक्षः (प. मु.)
रामकर्पूरक–पु., कतृणम् (श. र.)
रामकोशा(षा) तकी–स्त्री., महाशुककोशातकी (वै. नि.)
रामगुवाक–पु., रामपूगवृक्षः
रामचन्द्र–पु., रसप्रदीपकारः । चिन्तामणिकारः
रामच्छर्दनक–पु., मदनवृक्षः (भा.)
रामजननी–स्त्री., रेणुका
रामतरुणी–स्त्री., तरुणीपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १०)
रामदूतिका (ती)–स्त्री., नागदन्ती (र. मा.) नागपुष्पी (भा) तुलसीविशेषः
रामपूग–पु., गुवाकवृक्षविशेषः (त्रिका)
रामभद्रा–स्त्री., गान्धारीवृक्षः (वै. नि.)
रामलवण–न., शाकम्भरिलवणम् (र. मा.)
रामबाणरस–पु., अजीर्णाधिकारे रसः (चि. भा.)
रामशे (से) न (क)–पु., भूनिम्बः
रामाटरूष–पु., वासाभेदः
रामाप्रिय–पु., त्वक्
रामावक्षोजोपम–पु., चक्रवाकः
रामोदुम्बरिकाफल–न., अञ्जीरफलम् (वै. निघ.)
रायण–न., पीडा (श. र.)
रालकार्य–पु., शालवृक्षः (रा. नि. व. ९.)
रालतैल–न., शालवृक्षभवतैलम्
रालनिर्यास–पु., सालवृक्षः
रालिका–स्त्री., धूनकः (वै. निघ.)
रावण–पु., वृक्षविशेषः (वै. निघ.)
राषभी–स्त्री , कपिकच्छुः (वै. नि.)
राष्ट्रक–न., वैदूर्यमणिः (प. मु.)
राष्ट्री–स्त्री., महाराष्ट्रीलता (रा. नि. व. २३)
रास–पु., शृङ्खलकः । क्रीडा (त्रिका.)
रासना–स्त्री., रास्ना । त्रिकटुकादिचूर्णम्
रासभवन्दिनी–स्त्री., मल्लिकापुष्पवृक्षः (श.)
रास्नागुग्गुलु–पु., वातव्याधौ औषधम् (चचि. २८)
रास्नादशमूल–न., वातव्याधौ कषायः (रस. र.)
रास्नादि–पु., रास्नावृक्षादनीदेवदारुसरलैलवालुककृतकषायः
रास्नादिलौह–न., राजयक्ष्माधिकारे श्वासकासेच लौहम्
रास्नापञ्चक–पु., उरुस्तम्भाधिकारे कषायः (रस. र.)
रास्नासप्तक–न., उरुस्तम्भाधिकारे पाचनम् (रस. र.)
रास्निका–स्त्री., रास्ना (भा.)

राहुरत्न–न., गोमेदक रत्नम् (रा. नि. व. १३)
राहूच्छिष्ट–पु., लशुनः (त्रिका.)
राहूत्सृष्ट–पु., रशोनः (हारा.)
रिङ्ख (ङ्ग)ण–न., स्खलनम् (अम.)
रिठा (करञ्ज)–पु., स्त्री.,रीठाकरञ्जः
रिपुघातिनी–स्त्री., गुञ्जाविशेषः (श. च.)
रिबु–पु., रक्तैरण्डः (वै. निघ.)
रिमेद–पु., अरिमेदः (रा. नि. व. ८)
रिरी–स्त्री पित्तलम् (हे. च.)
रिश्य–(स्प)–पु., हरिणविशेषः (त्रिका.)
रिष्टक–पु., रक्तशिग्रुवृक्षः (शर)
रिक्षा–स्त्री., निक्षा । यूका (हे. च.)
रीढक–पु., पृष्ठास्थि (हे. च.)
रीति (का) कुसुम (पुष्प) न., पुष्पाञ्जनम् (रा.नि.व.१०)
रीतिहेतु–पु., यशदम् (भा.)
रुक्षा–स्त्री., सुराविशेषः (प. प्र. ३ ख.)
रुक्प्रतिक्रिया–स्त्री., रोगशमनोपायः चिकित्सा (रा नि व २०)
रुक्मवन्ती–स्त्री., शालिधान्यविशेषः
रुक्षदधि–न., निःस्नेहदधि (वै. निघ.)
रुक्षपत्र–पु., शाखोटवृक्षः (रा. नि. व. ९)
रुक्सञ्च(न्)–न., मलः
रुग्दाह–पु., तन्नामकसन्निपातज्वरविशेषः (वै. निघ. भा.)
रुग्म–न., स्वर्णम्
रुचिकर–पु., नागरङ्गवृक्षः (वै. निघ.)
रुचित–त्रि., मिष्टवस्तु (उणा.)
रुचिप्रदा–स्त्री., मधुरबिम्बी (वै. निघ.)
रुचिफल–न., अमृतफलम्
रुचिराञ्जन–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (रा. नि. व. ७)
रुचिरासुत–पु., पालकाप्यनामगजवैद्यककारः (त्रिका.)
रुण्डक–न., अगुरुकाष्ठम् (वै. निघ.)
रुण्डी–स्त्री., कुन्दुरुः (रा. नि. व. ८)
रुदथ–पु., कुक्कुरः (उणा)
रुद्रक–पु., महाबकुलवृक्षः
रुद्रदारु–पु., तैलदेवदारुः (वै. निघ.)
रुद्रनिर्माल्य–न., शिवनिर्माल्यं, पुष्पादि
रुद्रपर्पटी–स्त्री., कासाधिकारे औषधम् (रस. र.)
रुद्रप्रिय–पु., बकुलवृक्षः (रा. नि. व. ८)
रुद्रभट्ट–पु., वैद्यजीवनग्रन्थकारः । सन्निपातकलिकाकारः
रुद्रमाल्य–पु., बिल्ववृक्षः (वै. निघ.)
रुधिरक्षरा–स्त्री., लोहितक्षरा नाम योनिव्यापत्
रुधिराख्य–न., इन्द्रनीलतुल्यमणिभेदः (पुराणम्)
रुधिराशय–पु., यकृत् प्लीहा च
रुपिका–स्त्री., आदित्यपुष्पिका (सुनि १७ अ.)
रुमा–स्त्री., तन्नामक्षारसमुद्रः (मे.)
रुमाभव–न., रुमानदीभवलवणम् (वै. निघ.)
रुरुमाण–पु., वरुणवृक्षः (वै. निघ.)
रुवुक्–पु., एरण्डवृक्षः (र. मा.)
रुबुबीज–न., एरण्डबीजम् (भैष. वातरक्त चि.)
रुष्कर–पु., भल्लातकवृक्षः (वै. निघ.)
रुहक–न., छिद्रम् (श. च.)
रुहदर्भ–पु., हरितकुशः (रा. नि. व. ८)
रुह्वा (न)–पु., वृक्षः
रूक्षगुणकर्म्म–न., अमार्दवकरत्वम् बलवर्णघ्नत्वंच (सु.)
रूक्षणात्मिका–स्त्री., कृष्णचणकवृक्षः । लङ्घनामशिम्बी-धान्यम् (रा. नि. व. १६)
रूक्षपत्र–पु., शाखोटवृक्षः (रा. नि. व. ९)
रूक्षप्रिय–पु., ऋषभौषधम् (रा. नि. व. ५)
रूक्षस्वादुफल–पु., धन्वनवृक्षः (रा. नि. व. ९)
रूढक–न., पिप्पलीमूलम् (वै. निघ.)
रूढमल्लिका–स्त्री., अङ्कोलवृक्षः (वै. निघ.)
रूपक–न., रौप्यधातुः (रा. नि. व. १३)
रूपनाशन–पु., पेचकः (श. र.)
रूपशङ्ख (सिख)–पु., वङ्गम् (वै. निघ.)
रूप्यमाक्षिक–न., तारमाक्षिकम् (प. सु.)
रूप्योद्भव–न., रौप्यमाक्षिकम् (वै. निघ.)
रूमीमुस्तकी–स्त्री., गुहाबदरीवृक्षः (भैष)
रूवुक–पु., एरण्डवृक्षः (श. मा.)
रूषक–पु., वासावृक्षः (जटा.)
रूषण–न., रजोगुणः (रा. नि. व. २१)
रूषिका–स्त्री., अर्कवृक्षः (च.)
रेकण–पु., स्वर्णम् (उणा.)
रेणुरूषित–पु., गर्दभः (त्रिका.)
रेणुवास–पु., भ्रमरः (त्रिका.)
रेणुसार (क)–पु., कर्पूरः (त्रिका.)
रेतजा–स्त्री., वालुका (भा.)
रेतन–न., शुक्रम् (श. च.)
रेत्य–न., पित्तलम् (अ. टी. नीलकण्ठ)
रेत्र–न., शुक्रः, पारदः (भे) पियूषं पटवासचूर्णं

रेवट–न., दक्षिणावर्तशङ्खः । शिग्रुतैलम्, कदलीफलम् (अजयपाल) पु., शूकरः । वातुलः । विषवैद्यः (अजयपालः) रामपूगः (त्रिका.)
रेवतीभव–पु., शनैश्चरग्रहः (हे. च.)
रेवा–स्त्री., नीलीवृक्षः
रोक–न., छिद्रम् (अम.)
रोगकाष्ठ–न., पत्राङ्गचन्दनम् (रा. नि. व. १२)
रोगज्ञ–पु., वैद्यः (रा. नि. व. २०)
रोगपति–पु., ज्वरः (वै. निघ.)
रोगप्रे (श्रे) ष्ठ–पु., ज्वरः (रा. नि. व. २)
रोगभू–स्त्री., शरीरम् (श. च.)
रोगमुरारी–पु., नवज्वरे रसः (रस. कौ.)
रोगशान्तक–पु., चिकित्सकः (श. च.)
रोगशिल्पी (इन्)–पु., स्वर्णुलीवृक्षः (जटा.)
रोगह–न., औषधम्
रोगहरद्रव्य–न., मधुरादि रोगनाशकद्रव्यम् (धन्वतरी)
रोगहारी (इन्)–पु., वैद्यः (रा. नि. व. २०)
रोगहेतु–पु., रोगनिदानम् (रा. नि. व. २०)
रोगाधीश–पु., राजयक्ष्मा (रा नि व २०)
रोगासन–पु., ज्वरः (वै. निघ.)
रोगाह्वय–न., कुष्ठौषधम् (वै. निघ)
रोगितरु–पु., अशोकवृक्षः (रा. नि. व १०)
रोगिवल्लभ–न., ओषधप्रलेपादिः (श. च.)
रोगोदक–न., मलिनदुर्गन्धादियुक्तं रोगजनकजलम्
रोग्य–न., रोगहितम् । रोगयोग्यम् अपथ्यम् (श. च.)
रोचकद्वय–न.. लवणद्वयम् । विट्सैन्धवम् (वै. निघ ज्व. चि. चन्दनबलातैले)
रोची–स्त्री., पत्रशाकविशेषः, हिलमोचिका (श. र)
रोटिका–स्त्री., गोधूममाषादिकृतपिष्टकविशेषः
रोदिका–स्त्री., लज्जालुका (कोषान्तरम्)
रोदिनी–स्त्री., रक्तदुरालभा (वै. निघ.)
रोधिनी–स्त्री., लज्जालुः (वै निघ)
रोध्रपुष्पिणी–स्त्री., धातकीवृक्षः (रा. नि. व. ६)
रोप–पु., रोपणम् (मे. न.) छिद्रम् (हे. च.)
रोपणीवर्त्ति–पु., कुसुमाभिधनेत्राञ्जनवर्त्तिभेदः (भा.-नेत्ररो.)
रोप्यशालि पु., छिन्ना पुनरुप्ता शालिः (रा. नि. व. १९)
रोप्यातिरोप्य–पु., रोप्यशालिः (राज.)
रोम–न., पत्रम् (म. द. व. ३) जलम् (श. च)
रोमकर्ण–पु., शशकः (वै. निघ.)
रोमकाख्य–न., शाम्भरलवणम् । मृत्तिकालवणम् कान्तलौहम् (वै. निघ.)
रोमगुच्छ (क)–न., चामरः (हे. च.)
रोमतक्षरी–स्त्री., अरोमा स्त्री (रस. र.)
रोमद्वीप–पु., कृमिः (वै. निघ)
रोमन्थ–पु., पशूनां चर्वितचर्वणम् (अम.)
रोमभूमि–स्त्री., चर्म्म (रा. नि. व. १८)
रोमलता–स्त्री., रोमराजी (श. च.)
रोम (क) लवण–न., शाम्भरलवणम् सौवर्चललवणम् (र. मा.)
रोमविकार–पु., रोमाञ्चः (हला.)
रोमशपत्रा–स्त्री., देवताडवृक्षः
रोमशफल–पु., डिण्डिशवृक्षः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
रोमशमूलिका–स्त्री., हरिद्रा (वै. निघ.)
रोमशुक–न., स्थौणेयकः
रोमहरण–न., हरितालम् (र. सा. सं.)
रोमाख्य–न., शाम्भरलवणम् (वै. निघ.)
रोमान्ती–स्त्री., क्षुद्रमसूरिकारोगभेदः (मा. नि.)
रोमाली–स्त्री., रोमराजिका वयःसन्धिः (श. मा.)
रोमालुविटपी (इन्)–पु., कोङ्कणदेशप्रसिद्धकुम्भीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
रोमावली–स्त्री., नाभेरूर्ध्वं रोमराजी (हे. च.)
रोमाश्रयफला–स्त्री., झिञ्झिरीटाक्षुपः (रा. नि. व. ४)
रोमेश्वर–पु., वैद्यामृतग्रन्थकारः
रोल–पु., आर्द्रशुण्ठी । फलविशेषः पानीयामलकम् (श. च.) तालीशपत्रम् (कश्चित्)
रोलम्ब–पु., भ्रमरः (त्रिका.)
रोषण–पु., परूषकवृक्षः । पारदः । निकषोपलम् (मे.) ऊषरभूमिः (हे. च.)
रोषिणी–स्त्री., लज्जालुका (वै. निघ)
रोह–पु., अङ्कुरः (हे. च.)
रोहणद्रुम–पु., चन्दनवृक्षः । मलयागुरुः (वै. निघ.)
रोहन्त–पु., वृक्षः । तरुविशेषः (उणा.)
रोहन्ती–स्त्री., लतामात्रम् । लताविशेषः (उणा.)
रोहि–पु., वृक्षः बीजम् (उणा.)
रोहिका–पु., वनरोहिनाममृगः (अत्रि. २२ अ.)
रोहिकाप्रिय–पु., महाकरञ्जः (वै. निघ.)
रोहिणेय–पु., मरकतमणिः (रा. नि. व. १३)
रोहित्–पु., रोहितमत्स्यः । श्रीखण्डचन्दनम् (त्रिका.) सूर्यः । वर्णभेदः स्त्री., लताभेदः (मे.)
रोहिता–स्त्री., मञ्जिष्ठा (वै. निघ.)

रोहितेय-पु., रोहितकवृक्षः (रत्नकोषः)
रोहितकलौह-न., प्लीहाधिकारे औषधम् (र. सा. सं.)
रौक्ष-न., रुक्षता (सु.,)
रौक्ष्य-न., वायुगुणभूयिष्ठत्वम् । स्नेहराहित्यम् (सु.)
रौद्ररस-पु., अर्बुदाधिकारे रसः
रौप्यमल-न., रौप्यमाक्षिकम् (वै. निघ.)
रौप्यमाक्षिक-न., स्वनामख्यातोपधातुः
रौम (क)-न., रोमकलवणम् (र. मा.)
रौहिट-पु., रोहिषमृगः (अ. टी. भ.)
रौहिण-पु., रक्तचन्दनम् । चन्दनवृक्षः (त्रिका.)
रौहिष (षेय)-न., कतृणम् ।रोहिषतृणम् । पु., रोहित-मत्स्यः । मृगविशेषः (अम.) स्त्री., (षी) दूर्वामृगी (उणा.)
रौही-(इन्)-पु., रोहितकवृक्षः

ल

लक्तकर्म (न्)-स्त्री., रक्तवर्णलोध्रः (श. च.)
लक्ष-न., मौक्तिकम्
लक्ष्मणाजटा-स्त्री., लक्ष्मणामूलम्
लक्ष्मीग्रह-न., रक्तोत्पलम् (त्रिका.)
लक्ष्मीदास-पु., योगशतकग्रन्थप्रणेता
लक्ष्मीपति-पु., लवङ्गवृक्षः । पूगवृक्षः (विश्व.)
लक्ष्मीपुत्र-पु., घोटकः (मे.)
लक्ष्मीपुष्प-पु., पद्मरागमणिः (हे. च.)
लक्ष्मीश्रेष्ठा-स्त्री., स्थलपद्मिनी (वै. निघ.)
लग्निका-स्त्री., नग्निका (अ. टी.)
लघुकण-पु., शुक्लजीरकः (वै. निघ.)
लघुकण्टका-स्त्री., लज्जालुः (वै. निघ.)
लघुकर्कन्धु-पु., स्त्री , (न्धू) भूमिबदरम् (वै. निघ.)
लघुकाम-पु., छागः (त्रिका । श. र.)
लघुगर्ग-पु., गर्गरमत्स्यः । त्रिकण्टकमत्स्यः (त्रिका.)
लघुगोधूम-पु., ह्रस्वगोधूमः (रा. नि. व. १९)
लघुचन्दन-न., काष्ठागुरुः (वै. निघ.)
लघुचेतकी-स्त्री., बालहरीतकी (वै. निघ.)
लघुच्छदा-स्त्री., महाशतावरी (वै. निघ.)
लघुज (ङ्ग) ल-पु., लावपक्षी (त्रिका.)
लघुदन्ती-स्त्री., क्षुद्रदन्ती (भा.)
लघुनाम (न)-न., अगुरुः (श. च.)
लघुनिदान-न., सुरजितकृतसंक्षिप्तनिदानम् । ग्रन्थः ।
लघुपञ्चमूल-न., स्त्री., (ली) स्वल्पपञ्चमूलम् । शालपर्णी-पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारी गोक्षुरकृतकषायः (रा. नि. व. १२)
लघुपर्वा (न)-पु., उदुम्बरवृक्षः (वै. निघ.)
लघुपाकी (इन्)-पु., चीनधान्यम् (प. मु.)
लघुफल-पु., लघूदुम्बरः (वै. निघ.)
लघुवदर-पु., क्षुद्रफलबदरवृक्षः (रा. नि. व. ११)
लघुवदरी-स्त्री., भूवदरी (रा. नि. व. ११)
लघुभण्टी-स्त्री., चिच्चिटकः (वै. निघ.)
लघुमांस-पु., तित्तिरिपक्षी (त्रिका.)
लघुमूलक-न., ह्रस्वमूलकः, नेपालमूलकम् (भा.)
लघुलता-स्त्री., कारवेल्लकः । अनन्ता (वै. निघ.)
लघुलय-स्त्री., वीरणमूलम् (अम.) पीतोशीरम् (वै.-निघ. वा. व्या. चि. एलादितैले)
लघुशंख-पु., क्षुद्रशङ्खः (वै. निघ.)
लघुश्लेष्मातक-पु., शेलुवृक्षः (वै. निघ)
लघुसोमवल्ली-स्त्री., लघुसोमलता (म.) तानसेरासहि (वै. निघ.)
लघूदुम्बरिका-स्त्री., क्षुद्रोदुम्बरवृक्षः (रा. नि. ११)
लघ्वानन्दरस-पु., पाण्डूधिकारे रसः (र. सा. सं.)
लघ्वारग्वध-पु., आरग्वधवृक्षविशेषः
लङ्काधिपेश्वररस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः (रस. र.)
लङ्का (ङ्को) पि (यि, रि) का-स्त्री., पृक्का (श. र.)
लङ्कास्थायी-पु., स्नुहीभेदः (श. च.)
लङ्केश्वररस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः (रस. र.)
लङ्घित-न., अश्वस्य रोगभेदः (ज. द. ३२ अ.)
लङ्गूल-न., लाङ्गूलम् (उणा.)
लङ्गेष्टालुक-न., रङ्गेष्टालुः (त्रिका.)
लजकारिका-स्त्री., लज्जालुकालता (श. मा.)
लज्जका-स्त्री., वनकार्पासी (वै. निघ.)
लज्जरी-स्त्री., लज्जालुका (वै. निघ.)
लज्जिरी-स्त्री., लज्जालुका (रा. नि. व. ५)
लञ्ज-पु., पादशाखा, कच्छ (हे. च.)
लटपर्ण-न., त्वग् (रा. नि. व. १२)
लटषक-पु., प्रतुदपक्षिविशेषः (च. सू. २० अ.)
लट्ट-पु., अश्वः (उणा.) स्त्री., (ट्टा) करञ्जभेदः (त्रिका.) कुसुम्भवृक्षः (हे. च.) ग्राम्यचटकः (मे. चसू. ३७ अ.) भ्रमरः
लठ-न., विष्ठा
लड्डुक-पु., मिष्टान्नभेदः (श. च.)
लण्ड-(न., स्त्री., (ण्डा) । पुरीषः (भूरि प्र.) ।
लताजिह्व-पु., सर्पः (श. मा.)
लतातरु-पु., तालवृक्षः । निम्बूवृक्षः (श मा.) लताशालवृक्षः (त्रिका.)

लतादुम–पु., लताशालः (र. मा.)
लतापनस–पु., तरम्बुजलता (त्रिका.)
लतापर्णी–स्त्री., तालमूली । मधुरिका (वै. निघ.)
लतापृक्का–स्त्री., स्पृक्का (श. र.)
लताप्रतानिनी–स्त्री., शाखाप्रच्यवल्लता (अम.)
लताफल–न., पटोलः (ब्रह्मवै. पु.)
लताबृहतिका–स्त्री., बृहतीलता (प. मु.)
लताभद्रा–स्त्री., भद्रालीलता (श. मा.)
लतामरुत्–स्त्री., स्पृक्का (श. र.)
लतामाधवी–स्त्री., माधवीलता (श. र.)
लतायष्टि (ष्टी)–स्त्री., मञ्जिष्ठा (श. मा.)
लतायावक–न., तरुप्रवालः (हारा.)
लतारसन–पु., सर्पः (हारा.)
लतालक–पु., गजः (त्रिका.)
लतावृक्ष–पु., शल्लकीवृक्षः (वै. निघ.)
लताशङ्कुतरु–पु., लताशालवृक्षः (त्रिका.)
लताशङ्ख–पु., शालवृक्षः (श. र.)
लताशिरीष–पु., वल्लीशिरीषः (प. मु.)
लतिका–स्त्री., यमकलता (व्याक.)
लत्तिका–स्त्री., ज्येष्ठा । गोधा (उणा.)
लपन–न., मुखम् (रा. नि. व. १८)
लम्फ–पु., उल्लम्फनम्
लम्बन–पु., कफः (श. च.)
लम्बिका–स्त्री., सूक्ष्मजिह्वा (रा. नि. व. १८)
लम्बित–न., मांसधातुः (वै. निघ.)
लबो (म्बौ) ष्ठ–पु., उष्ट्रः (रा. नि. व. १९)
ललज्जिह्व–पु., उष्ट्रः । कुक्कुरः (मे.) स्त्री. (ह्वा) महासमङ्गा (रा. नि. व. ४)
ललदम्बु–पु., पुष्पभेदः लिम्पाकः (जटा.) न., उदकविशेषः (वै. निघ. हिक्का. चि.)
ललाक–पु., शिश्नम् (श. च.)
ललाटरेखा–स्त्री., दीर्घजीवनसूचककपालस्थरेखा
ललाटास्थि–न., कपालास्थिद्वयम् (च. शा. ७ अ.)
ललाम–न., अश्वः । शृङ्गम् (चिन्हम्)
लवङ्गकन्दपत्रा–स्त्री., लघुतालीशपत्रम् (वै. नि. घ.)
लवङ्गतैल–न., लवङ्गोत्थतैलम्
लवङ्गलता–स्त्री., पुष्पवृक्षविशेषः (जयदेव)
लवङ्गादिचूर्ण–न., राजयक्ष्माधिकारे चूर्णौषधम् (रस. र.)
लवणख (खा) पु., लवणाकारः (हे. च.)
लवणत्रय–न., विट्सैन्धवरुचकानि (रा. नि. व. २२)
लवणनित्य–त्रि., नित्यं लवणरसास्वादनशीलः (च)
लवणमद–पु., लवणक्षारः (रा. नि. व. ६)
लवणव्यापत्–स्त्री., अश्वस्य अतिमात्रलवणभक्षणजन्यव्यापत् (ज. द. ६० अ.)
लवणारज–न., लोणारक्षारः (रा. नि. व. ६)
लवणी–स्त्री., आतृष्यफलजातीयफलवृक्षः
लवणोत्तमाद्यचूर्ण–न., अर्शोविनाशकं चूर्णम्
लवणोत्था–स्त्री., ह्रस्वज्योतिष्मतीलता (वै. निघ.)
लवणोद–पु., लवणसमुद्रः (अम.)
लवनी–स्त्री., छेदनम् (अम.) ग्रीष्मजफलभेदः (श. च.)
लसा–स्त्री., हरिद्रा (हारा.) आम्रहरिद्रा (वै. निघ.)
लसान्द्र–पु., राजमाषः (र. मा.)
लाक्षातरु–पु., पलाशवृक्षः (श. मा.)
लाक्षापुष्पा–स्त्री., शतपत्री
लागजीर–(क)–पु., शङ्खजीरकम् (वै. निघ.)
लाङ्गलिक–पु., स्थावरविषभेदः (हे. च.)
लाङ्गली (इन्)–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. नि. ११) सर्पः (श. च.)
लाङ्गलीशाक–पु., जलजशाकविशेषः (राज ३ प.)
लाङ्गु–पु., शिश्नम्
लाजभक्त–पु., खधिभक्तः (वै. निघ.)
लाञ्छल–न., धान्यम् (वै. निघ.)
लालसा–स्त्री., गार्भिणीदोहदः (हे. च.)
लालसीक–न., पिच्छिलम् (श. र.)
लालिक पु., महिषः (हे. च.)
लावणिकतैल–न., तैलविशेषः
लावु–(बू) (का)–पु., स्त्री., अलावुः (श. र.)
लास–पु., यूषः (श. च.)
लासक–पु., मयूरः (मे.)
लासिका–स्त्री., सुखस्रावः
लास्फोटनी–स्त्री., आस्फोटनी । वेधनिका (अ. टी. रा.)
लाह्वा–स्त्री., पेचकः (वै. निघ.)
लिकोच (ठ) क–पु., अङ्कोटवृक्षः
लिक्षा (ख्या)–स्त्री., केशकीटभेदः (प. प्र.)
लिङ्गक–पु., कपित्थवृक्षः (श. च.)
लिङ्गरोग–पु , उपदंशः (भा.)
लिङ्गवर्धन–पु., कपित्थवृक्षः (श. च.)
लिङ्गवर्द्धिनी–स्त्री., अपामार्गवृक्षः (श. च.)
लिङ्गसम्भवा–स्त्री., लिङ्गिनीलता (रा. नि, व. ३)
लिङ्गलिका–स्त्री., क्षुद्रमूषकः (हारा.)

लिप्त–पु., विषलिप्तः (मे.)
लिम्पाक–पु., जम्बीरवृक्षविशेषः (राज. ३ प.)
लीका–स्त्री., ह्रस्वमूषिकमारी (वै. निघ.)
लुङ्मांस–न., मातुलुङ्गमांसम् (वै निघ.)
लुङ्गाम्ल–न., मातुलुङ्गाम्लम् (र. सा. सं.)
लुङ्गुषः–पु., मातुलुङ्गवृक्षः (रमा.)
लुण्टक–पु., शाकविशेषः (श. च.)
लुण्ठन–न., लुठनम् (श. र.)
लुण्ठाक–पु., काकः (त्रिका.)
लुण्डिका–स्त्री., लोमादिगोलकः (भैष.)
लुब्धक–पु., चौरनामगन्धद्रव्यम् (वै. निघ.)
लुलाप (य) कान्ता–स्त्री., महिषी (रा. नि. व.)
लुषभ–पु., मत्तहस्ती
लूतिका–स्त्री., लूता (श. र.)
लून–त्रि., च्छिन्नम् (अम.)
लूनक–पु., पशुः
लूम–न., लाङ्गुलम् (अम.)
लूमविष–पु., पुच्छदंशकप्राणिमात्रम् वृश्चिकादिः (हे. च.)
लेख–पु., तालवृक्षः (प. मु.)
लेण्ड–न., लण्डा (भूरिप्र)
लेनीतक–पु., औत्तरापथिक पाषाणभेदः (सि. यो. च्छर्दि. चि.)
लेश–पु., स्वल्पः
लेहिन–पु., टंकणक्षारः (हे. च.)
लेह्य–न., अष्टविधान्नान्यतमान्नम् (रा. नि. व. २०) अमृतम् (श. मा.) (चि.) लेहनयोग्यः
लोकतुषार–पु., कर्पूरः (रा. नि. व. १२)
लोकस्कंद–पु., तमालवृक्षः (वै. निघ.)
लोकहिता–स्त्री., तुत्थाञ्जनम् । कुलत्था (रा. नि. व. ५)
लोचक–पु., नेत्रकनीनिका कज्जलम् । कदली । भुवः शिथिलचर्म (मे.) मांसलडुकः । बदरीवृक्षः नीलवस्त्र निर्मितिः (त्रिका.) अहिनिर्मोकः (श.र.)
लोचकर्कट–पु., लोचमस्तकम् (अ. टी. खा.)
लोचनामय–पु., नेत्ररोगः (त्रिका.)
लोचमस्तक–पु., अजमोदा (भा.) मयूरशिखा (अम.)
लोचशिर–पु., अजमोदा (वै. निघ.)
लोचिका–स्त्री., लुचीति ख्यातं खाद्यद्रव्यम्
लोटा (टिका)–स्त्री., चुक्रा (वै. नि.)
लोणक–न., लवणम् (वै. निघ.)
लोणाम्ला–स्त्री., क्षुद्राम्लिका (रा. नि. व. ५)
लोणार–न., लवणक्षारः (रा. नि. व. ६)
लोणी–स्त्री., पत्रशाकभेदः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
लोत (त्र)–पु., न., लवणम् नेत्रजलम् (त्रिका.) चिन्हम् (उणा.)
लोतनी–स्त्री., महाश्रावणिका
लोध्रपुष्पक–पु., शालिधान्यविशेषः (भा. पू. भ. धी. व)
लोध्रवल–न., तन्नामकं चक्रपाणिदत्तस्य कुलम् त्रि., (ली)– तत्कुलसम्भूतम् (च. द.)
लोध्रवृक्ष–पु., मधूकवृक्षः । रोध्रवृक्षः (वै. निघ.)
लोध्रादि–पु., पित्तज्वरघ्नकषायः (च. द. पि. ज्व. चि.)
लोपा (शि) कि–स्त्री., धूर्तशृगालिका (श. मा.)
लोपाशक–शृगालः (हारा.)
लोभन–न., मांसम् (वै. निघ.)
लोभ्य–पु., हरितालः (वै. निघ.) शिम्बीधान्यभेदः मुद्गः (हे. च.)
लोमकर्कटी–स्त्री., अजमोदा (वै. निघ.)
लोमकर्ण–पु., शशकः (हे. च.)
लोमघ्न–न., इन्द्रलुप्तरोगः त्रि., लोमपातनम् (निदा.)
लोमफल–न., भव्यफलम् (रा. नि. ब. ११)
लोमविष–पु., व्याघ्रादिः (हे. च.)
लोमशकाण्डा–स्त्री., कर्कटिका (रा. नि. व. ७)
लोमशपर्णिनी–स्त्री.. माषपर्णी (प. मु.)
लोमशमार्जार–पु., गन्धमार्जारः (रा. नि. व. १९)
लोमहत्–पु., हरितालः (हे. च.)
लोमालिका–स्त्री., शृगालिका (त्रिका.)
लोलजिह्वा–स्त्री., महाबला (वै. निघ.)
लोलान्ध–पु., अपस्माररोगः (रा. नि. व. २०)
लोलिका–स्त्री., हंसीविशेषः । चाङ्गेरी (जटा.)
लोलिनी–स्त्री., नीलवुह्या
लोलिम्बराज–पु., वैद्यजीवनग्रन्थकारः
लोष्ट्रराज– पु., रौप्यम् (वै. निघ.)
लोहकण्टक–पु., मदनवृक्षः (श. च.)
लोहकर्ष (क)–पु., लौहचुम्बकम् (भा.)
लोहकान्त (क)–न., कान्तलौहम् (प. सु.) लौहचुम्बकम् (वै. निघ.)
लोहपञ्चक–न., स्वर्णरौप्यताम्रवङ्गशीषंच स्वर्णरौप्यताम्रत्रपुकान्तलौहंवा
लोहपत्रिका–स्त्री., शालिञ्चशाकः
लोहराज–न., रौप्यम्

लोहरुण्डक–पु., मदनवृक्षः (वै. निघ.)
लोहल–पु., अस्फुटभाषा (अम.)
लोहवर–न., स्वर्णम् (त्रिका.)
लोहविट् (ष्ठा)–पु., लोहमलः (वै. निघ.)
लोहशुद्धिद–पु., टङ्कणक्षारः (हे. च.)
लोहश्लेष्मण–पु., टङ्कणक्षारः (हे. च.)
लोहसार–पु., सारलौहम् (वै. निघ.)
लोहसिंहान (निका)–न., स्त्री., लोहकिट्टः (भा.)
लोहहृत्–पु., हरितालः (वै. निघ.)
लोहाख्य–न., अगुरुकाष्ठम् (र. मा.)
लोहि–न., शुक्लटङ्गणम् (रा. नि. व. ६)
लोहिका–स्त्री., लौहपात्रविशेषः (त्रिका.)
लोहितकन्द–पु., पलाण्डुः
लोहितकुस्तुम्बुरुधान्य–न., तुरवयावनालः
लोहितज–न., हरिचन्दनम्
लोहितपुष्पक–पु., दाडिमवृक्षः (भा.)
लोहितमृत्तिका–स्त्री., गैरिकमृत्तिका । रक्तमृत्तिका (प. मु.)
लोहितयष्टिका–स्त्री., मञ्जिष्ठा
लोहितलता–स्त्री., मञ्जिष्ठा (संग्रहः)
लोहितशिग्रु–पु., रक्तपुष्पशिग्रुः (वै. निघ.)
लोहितानन–पु., नकुलः (रा. नि. व. १९)
लोहिताभ–पु., रक्ताभमहाविषवृश्चिकविशेषः (सुकल्प)
लोहिताय(यस)–न., ताम्रम् (त्रिका.)
लोहित्याज–पु., तृणधान्यभेदः
लोही(इन्)–पु., रोहितकवृक्षः
लोहोच्छिष्ट–न., लोहकिट्टम् (वै. निघ.)
लोहोत्तम–न., स्वर्णम् (हे. च.)
लोहोत्थ–न., मण्डुरः (वै. निघ.)
लौहकान्तक–न., कान्तलौहम् (रा. नि. व १३)
लौहकिट्ट–न., मण्डुरः (प. मु.)
लौहज–न., वर्तलौहः (रा. नि. व १३) मण्डुरः (र. मा.)
लौहदाह–पु., अश्वस्य वायुप्रकोपादौ दग्धलौहशलाकया दाहकरणम् (ज. द. १४ अ)
लौहपत्री–स्त्री., लौहचटका (सा. कौ.) लौहमारणम्
लौहपुरीष–न., लौहमलः । मण्डुरम्
लौहभाण्ड–पु., अश्मभालः (श. च.) (न.,) लौहनिर्मितभाण्डम्
लौहभू–स्त्री., लौहपात्रविशेषः (श. च.)
लौहमेकीवीज–न., रसजारणवीजभेदः (र.स.चि.३ अ.)
लौहविशुद्धिद–पु., टङ्कणक्षारः (र. सा. सं. टङ्कणशुद्धिः)
लौहसार–पु., सारलौहः

व

व–पु., वायुः । बाहुः । व्याघ्रः । वस्त्रम् । शालूकः । (त्रि.) बलवान्
वंशकञ्ज–न., कृष्णागुरुकाष्ठम् (वै. निघ.)
वंशकफ–न., शाल्मलीतूलकम् । वंशतूलम् यद्वृक्षादेव वायुना नीतं नभसि उड्डीयते (हारा.)
वंशकार–पु., गन्धकः (वै. निघ.)
वंशकुटजा–स्त्री., कृष्णकुटजः (वै. निघ.)
वंशतैल–न., अरूंषिकारोगे तैलम् (रस. र.)
वंशत्वक्(च्)–स्त्री., वंशत्वग् तद्गुणः रजःस्रावकारि
वंशदूर्वा–स्त्री., कटुका । शतपर्वा, किंशुका (रा. नि. व. २३.)
वंशनेत्र–न., इक्षुमूलम्
वंशपत्र–पु., नलः (रा. नि. व. ७)
वंशपत्रिका–स्त्री., वेणुदलम्
वंशपुष्पा–स्त्री., सहदेवा (रा. नि. व. ४)
वंशपूरक–न., इक्षुमूलम् (रा. नि. व. १४)
वंशमूल–न., इक्षुमूलम् (रा. नि. व. १४)
वंशबीज–पु., वेणुयवः (रा. नि. व. १६)
वंशयव–पु., वेणुयवः (रा. नि. व. १६)
वंशवर्धिनी–स्त्री., वंशलोचना (वै. नि.)
वंशव्यजनवायु–पु., वंशकृततालवृन्तवायुः । गुणाः वंशव्यजनजोवायुः रूक्षोष्णोवातपित्तदः (राज. २ प,)
वंशशलाका–स्त्री., वीरणमूलम् । वंशनिर्मितशलाका (हें. च.)
वंशिक–पु., न., कृष्णेक्षुः (वै. निघ.) अगुरुकाष्ठम् (अम.) (स्त्री.,) (का)–पिप्पली (वै. नि.)
वंशी–स्त्री., वंशलोचना (वै. निघ. रभ. संग्रहणी. चि. जातीफलादिचूर्णे) वंशः । कर्षचतुष्टयम् । ८ तो. (रा. नि. ब. २१) त्रसरेणुमानम् - त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते (भा)
वंशोद्भवा–स्त्री., वंशरोचना (वै. निघ. र. पि. चि. वासाखण्डे)
वंश्य–न., वंशलोचनम् (वै. निघ. २ भ. क्षय. चि. सूर्यप्रभावट्यां)
वक–पु., अगस्तिवृक्षः (रा. नि. व. १७)
वकचिञ्चिका–स्त्री. मत्स्यविशेषः (हारा.)

वकपुष्प-(ष्पा, ष्पी) (पु., स्त्री.,) अगस्तिवृक्षः (श. र.)
वकाची-स्त्री., वकचिञ्चिकामस्यः (हारा.)
वकु (कू) ल-पु., स्वनामख्यातवृक्षः (रा. नि.व. १०)
वकुलपुष्प-न., बकुलकुसुमम् (अम.)
वकुला-स्त्री., कटुकी (रा. नि. व. ६)
वकुली-स्त्री., काकोली (श. च.)
वकुश-पु., पर्णमृगभेदः
वकेरुका-स्त्री., बलाका (मे.)
वकोट-पु., वकः (त्रिका)
वक्कम-पु., मद्यविशेषः (सु. सू. ४५ अ.)
वक्त्रकटुता-स्त्री., मुखस्य कटुता, मुखवैरस्यम् (मा. नि.)
वक्त्रखुर-पु., दन्तः (त्रिका.)
वक्त्रपट्ट-पु., अश्वस्य चणकभोजनपात्रम् (हे. च.)
वक्त्रभेदी-(इन्) पु., तिक्तरसः (हे. च.)
वक्त्रालु-पु., वाराहीकन्दः (वै. निघ.)
वक्रगुल्फ-पु., उष्ट्रः (वै. निघ.)
वक्रग्रीव-पु., उष्ट्रः (त्रिका.)
वक्रचुञ्चु-पु., शुकपक्षी
वक्रतुण्ड-पु., शुकपक्षी (श. र.)
वक्रदंष्ट्र-पु., शूकरः (वै. निघ.)
वक्रदन्ती-स्त्री., ह्रस्वदन्ती (वै. निघ.)
वक्रनक्र-पु., शुकपक्षी (मे.)
वक्रनासिक-पु., पेचकः (त्रिका.)
वक्रपुच्छ-पु., कुक्कुरः (त्रिका.)
वक्रपुष्पिका-स्त्रीं., लाङ्गलिका (वै. नि.घ.)
वक्रबालधि-पु., कुक्कुरः (हे. च.)
वक्रलाङ्गुल-पु., कुक्कुरः (हे. च.) त्रि., वक्रपुच्छ-युक्तम्
वक्रवक्त्र-पु., शूकरः (श. र.)
वक्रशल्या-स्त्री., कुटुम्बिनीक्षुपः (रा. नि. व. ५) कटुतुम्बी । रक्तलाङ्गलिका (वै. निघ.)
वक्रा-स्त्री., कर्कटशृङ्गी (मद. व. ३) स्पृक्का (वै. निघ.)
वक्राग्र-न., कवाटवक्रवृक्षः (र. मा.)
वक्राङ्ग-पु., हंसः (हे. च.) त्रि. कुटिलाङ्गम्
वङ्गसेन-पु., अगस्तिवृक्षः (त्रिका.)
वङ्क्रि-पु., न., (क्रि)-पर्शुकम् । पार्श्वास्थि (उणा.)
वङ्क्रिल-पु., कण्टकः (त्रिका.)
वङ्क्षण-पु., सक्थिसन्धिः (रा. नि. व १८)
वङ्क्षणानाह-पु., वङ्क्षणयोराकर्षणवत्पीडा (भा. म. ३ भ.)
वङ्गज-न., सिन्दूरः (र. मा.)
वङ्गन-पु., वार्ताकुवृक्षः
वङ्गमल-पु., न., शीषधातुः (वै. निघ.)
वङ्गशुल्वज-न., कांस्यधातुः (हे. च.)
वङ्गसदृश-न., यशदम् (वै. निघ.)
वङ्गसेन--(क)-पु., वकवृक्षः (त्रिका.)
वङ्गारि-पु., हरितालः (हे. च.)
वङ्गावलेह-पु., मेहे अवलेहः (रस. चि.)
वचण्डा (ण्डी)-स्त्री., शारिका (त्रिका.) वर्तिः (श. र.)
वचर-पु., कुक्कुटः (मे.)
वचाद्यघृत-न., गण्डमालाद्यधिकारे घृतम् (रस. र.)
वचोगृह (ग्रह)-न., पु., श्रवणेन्द्रियम् (वै. निघ.)
वज्रकाञ्जिक-न., प्रसूतिचिकित्साधिकारे औषधम् (रस. र.)
वज्रगोप-पु., इन्द्रगोपकीटः (वै. निघ.)
वज्रचञ्चु-पु., गृध्रपक्षी (वै. निघ.)
वज्रचर्म्मा (न्)-पु., गण्डकः (रा. नि. व. १९)
वज्रतुण्ड-पु., स्नुहीवृक्षः । गृध्रः (वै. निघ.) मशकः (रा. नि.व. १९)
वज्रदण्डक-पु., स्नुहीवृक्षः (वै. निघ.)
वज्रदन्त-पु., शूकरः (त्रिका.) मूषिकः (श. मा.) अस्थिसंहारः (र. मा.)
वज्रदशन-पु., उन्दूरः (हे. च.)
वज्रद्रु (म)-पु., स्नुहीवृक्षः (अम. । श. र.)
वज्रपाषाण-पु., दुग्धपाषाणम्, शिरगोला (वै. निघ.)
वज्रपुष्प-न., तिलपुष्पम् । शतपुष्पा (वै. निघ.)
वज्रभूमिरज-न-, वैक्रान्तमणिः (वै. निघ.)
वज्रभृङ्गी-स्त्री., मधुरतृणविशेषः (वै. निघ.)
वज्रमण्डूर-न., पाण्डुरोगे औषधम् (रस. र.)
वज्ररद-पु., शूकरः (त्रिका.)
वज्रलौहक-न., कान्तलौहम् (वै. निघ.)
वज्रवल्लरी-स्त्री., अस्थिसंहारलता (हारा.)
वज्रशल्य-पु., शल्लकीमृगः (रा. नि. व. १९)
वज्रशृङ्खलिका-स्त्री., वज्रास्थि (वमू. विखरा.)
वज्राख्य-न., दुग्धपाषाणः पु., सेहुण्डवृक्षः (सु.चि.६अ.)
बज्राङ्क-पु., सर्पः (रा. नी. व. १९) अस्थिसंहारः (भा.) स्त्री., (ङ्गी.) गवेधुका (श. च.)
वज्राभ-पु., शुक्लगोदन्तमणिः । दुग्धपाषाणः (रा.नि.व.१३)
वज्राभ-पु., न., अभ्रविशेषः । लक्षणं यथा-'यदञ्जननिभं क्षिप्तं न वह्नौ विकृतिं व्रजेत् । वज्रसंज्ञं हि तद्योज्यमभ्रं सर्वत्र नेतरत् (रस. चि. ४ अ.)

वज्रास्थि (श्रृंखला)-स्त्री., कोकिलाक्षक्षुपः(रा.नि.व.४)
वज्राहिका-स्त्री., कपिकच्छुः (वै. निघ.)
वज्राह्व-न., तगरपादुकम् (वै. निघ.)
वञ्च (ञ्चु) क-श्रृगालः (अम.)
वञ्चथ (थू)-पु., कोकिलपक्षी
वञ्चुलप्रिय-पु., वेतसवृक्षः (र. मा.)
वञ्चुला-स्त्री., बहुदुग्धा गौः (हे. च.)
वटकाकार-पु., पक्षिविशेषः । वटपक्षी (वै. निघ.)
वट(ठ) र-पु., कुक्कुटः (श. र.) वैद्यः (हे. च.)
वट (प्र) रोह-पु., वटाङ्कुरम् (वै. निघ. रभ. तृष्णा. चि. च. द.) बृहत्खदिरवटी
वटशुङ्गा-स्त्री., वटाङ्कुरम् (भा. क्षुद्ररो. चि.)
वटाग्रज-पु., वटशुङ्गा (रस. र. बालचि.)
वटि-स्त्री., वटकः (प. प्र. १ अ.) उपजिह्विका (हारा.)
वटिका-स्त्री., वटकः (प. प्र. १ ख.)
वटु (क)-पु., कुटन्नटवृक्षः । बालकः (श. र.)
वडा-स्त्री., पिष्टकविशेषः (श. च.)
वडिश(शी)-न., स्त्री., मत्स्यधारणयन्त्रम् (अम.) (श. र.) ऋषिविशेषः (च.)
वण्ट-पु., खर्वः (मे.)
वण्ठर-पु., नूतनतालाङ्कुरः । कुक्कुरलाङ्गुलम्
वण्ड-पु., षण्डपुरुषः । अनावृतमेढ्रम् (हे. च.) (त्रि.) लाङ्गुलादिरहितः
वतू-पु., नेत्ररोगः (उणा.)
वत्स-न., वक्षः (अम.) पुष्पकाशीषम् । (पु.) गोवत्सः । पुत्रः । वर्षः । (त्रिका.) इन्द्रयवः
वत्सकण्टक-पु., पर्पटकः
वत्सभक्षक-पु., ईहामृगः (वै. निघ.)
वत्सरान्तक-पु., फाल्गुनमासः (रा. नि. व. २१)
वत्सा-स्त्री., वसा (रा. नि. व. १८)
वत्साक्षी-स्त्री., गोडुम्बा (जटा.)
वत्सादन-पु., ईहामृगः । वृकः (रा. नि. व. १९)
वत्साह्व-(य)-पु., कुटजवृक्षः
वदद्रु-पु., आस्यशाखोटवृक्षः (अत्रि.)
वदाम-न., वातामफलम् (रा. नि. व. ११)
वदाल-(क)- पु., मत्स्यविशेषः (त्रिका.)
वधक-पु., व्याधौ । मृत्युः (उणा.)
वधाङ्गक-न., विषम् (वै. निघ.)
वधिर-पु., भूस्तृण (त्रि.) श्रुतिशक्तिहीनः
वधूटशयन-न., वातायनम्
वनकचु-पु., कचुविशेषः
वनकणा-स्त्री., वनपिप्पली (वै. निघ.) जलपिप्पली
वनकण्डूल-पु., मधुरशूरणः (वै. निघ.)
वनकर्कटी-स्त्री., आरण्यकर्कटी (र. सा. सं.)
वनकर्कोट-न., अरण्यकर्कटिका (मैसा विषाधिकारे)
वनकर्णिका-स्त्री., सल्लकीवृक्षः (वै. निघ.)
वनकाक-पु., द्रोणकाकपक्षी
वनकुक्कुट-पु., वन्यताम्रचूडः (रा. नि. व. १९)
वनकुण्डली-(इन्)-पु., वनशूरणः (वै. निघ.)
वनकुलत्थिका-(त्थी)-स्त्री., अरण्यजातकुलत्थी
वनकुसुम्भ-पु., अरण्यजातकुसुम्भवृक्षः
वनकेन्द्राणी-स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. निघ.)
वनकोलि-स्त्री., वनजबदरीवृक्षः
वनगज-पु., वन्यकरी
वनगौ-स्त्री., अरण्यभवा गौः । गवयः (रा. नि. व. १९)
वनघोली-स्त्री.,अरण्यजातघोलीशाकः
वनचटक-पु., अरण्यजातचटकपक्षी
वनचन्दन-न., अगुरुः । देवदारुः
वनचम्पक-पु., वनचम्पकवृक्षः (रा. नि. व. १०)
वनचिचिण्डा-स्त्री., अरण्यचिचिण्डा
वनच्छाग-पु., वानरः
वनजताम्रचूड-पु., वन्यकुक्कुटः
वनजवृत्तिका-स्त्री., ह्रस्वमेषशृङ्गी
वनजीर-पु., वनजातजीरकः, कटुजीरकः (रा. नि. ६)
वनतण्डुली-स्त्री., तण्डुलीयभेदः
वनतरु-पु., अर्जुनवृक्षः (वै. निघ.)
वनतिक्ता (क्तिका)-स्त्री.,वनतिक्तिका, पाठा (र. मा.)
वनत्रपुष-(क)-पु., आरण्यत्रपुषम् । इन्द्रवारुणी (वै. निघ.)
वनद्रु-पु., चारवृक्षः (रा. नि. व. ११)
वनद्रुम-पु., अर्जुनवृक्षः, काष्ठागुरुः (वै. निघ.)
वनधेनु-पु., अरण्यभवा गौः (रा. नि. व. १९)
वनपलाण्डु-पु., म० -रानकांदा (रा. नि. व. ७)
वनपल्लव-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (जटा.)
वनपिप्पली-स्त्री., वनोद्भवपिप्पली (रा. नि. व. ६)
वनपीत-पु., भूमिजगुग्गुलुः कणगुग्गुलुः (वै. निघ.)
वनपूतिका-स्त्री., आरण्यपूतिका
वनभद्रिका-स्त्री., भद्रबला (शब्दकल्पद्रुमः)
वनभुक्-पु., कोकिला (वै. नि.)
वनभूषणा-स्त्री,.कोकिला (वै. निघ.)
वनमञ्जरी-स्त्री., वननिर्गुण्डी (वै. निघ.)

वनमक्षिका–स्त्री., क्षुद्रदंशः । दंशः (अम.)
वनमार्जार–पु., वनविडालः (वै. निघ.)
वनमाष–पु., माषपर्णी
वनमूर्धजा–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (रा. नि. ब. ६)
वनयमानी–स्त्री., स्वनामख्यातह्रस्वक्षुपः (प. मु.)
वनर–पु., वानरः
वनराज–पु., अश्मन्तकवृक्षः (वै. निघ.) सिंहः
वनराट–पु., वटवृक्षः (वै. निघ.)
वनवल्लभा–स्त्री., निःश्रेणिकावृक्षः (रा. नि. व. ८)
वनवाताम–पु., वातामभेदः
वनवास–पु., मधूकवृक्षः (वै. निघ)
वनवासन -पु., खट्टासः (त्रिका.)
वनविडाल-पु., वनमार्जारः (वै. निघ.)
वनव्रीहि–पु., देवधान्यम्, नीवारः (हे. च.)
वनशिम्बिका–स्त्री., अरण्यशिम्बी (भैष. शिरोरो. चि. बृहद्दशमूलतैले)
वनशू (सू) करी–स्त्री., कपिकच्छुः (रा. नि. व. ३) वनवाराही (रा. नि. व. ७)
वनशू (सू)रण–पु., आरण्यशूरणः (रा. नि. व. ७)
वनशोभन–न., पद्मम् (श. च.)
वनश्वा (न्)–पु., गन्धमार्जारः । व्याघ्रः (मे.) शृगालः (त्रिका.)
वनषण्ढी–स्त्री., पद्मिनी (वै. निघ.)
वनसङ्कट–पु., मसूरः (श. च.)
वनसम्भव–न., कैवर्तमुस्तकः
वनसरोजिनी–स्त्री., वनकार्पासी (श. र.)
वनस्थ–पु., मृगः (श. च.)
वनस्नेहफला–स्त्री., ह्रस्वबृहती (वै. निघ.)
वनारवु (क)–पु., शशकः । खड्गाशः । मुद्गः (त्रिका.)
वनाशज–पु., वन्यच्छागलः (हे .च.)
वनाट्टु–पु., नीलमक्षिका (श. मा.)
वनादिदमन–पु., वन्यदमनकः
वनामल–पु., कृष्णपाकफलद्रुमः, करमर्दकः (श. मा.)
वनायु–पु., हरिणः (वै. निघ.)
वनायुज–पु., तद्देशीयोत्तमाश्वः (ज. द.)
वनारिष्टा–स्त्री., वनहरिद्रा (रा. नि. व. ७)
वनालक्त–न., गैरिकम् (वै. निघ.)
वनालिका–स्त्री., हस्तिशुण्डी (हारा.)
वनालुक–न., वनालुः
वनासय–पु., द्रोणकाकः
वनाहेर–पु., शूकरः (त्रिका.)
वनिता–स्त्री., प्रियङ्गु (र. सा. सं. पूर्णचन्द्ररसे) कस्तूरीमोदकः (च. द. यक्ष्म चि. चन्दनादितैले) नारी
वनितावल्लभा–स्त्री., प्रियङ्गुः (वै. निघ.)
वनेक्षुद्रा–स्त्री., करञ्जवृक्षः (प. मु.) पानीयामलकः (रमा.)
वनेभवा–स्त्री., शाकविशेषः (वै. निघ.)
वनेरुहा–स्त्री., त्रिपर्णीकन्दः (वै. निघ.)
वनेसर्ज–पु., असनवृक्षः (प. मु.)
वनोत्सव–पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
वन्दन–न., मुखम् (श. च. । वै. निघ.)
वन्दनी–स्त्री., गोरोचना (वै. निघ.)
वन्दाका (की)–स्त्री., वन्दा
वन्दारु–पु., वृन्दाकः (वै. निघ.)
वन्धफला–स्त्री., रक्तकार्पासी (वै. निघ.)
वन्धा–(स्त्री.,) गोरोचना (भा.) वन्दा (श. च.)
वन्यकर्कटी–स्त्री., वनजातकर्कटीभेदः
वन्यजा–स्त्री., वनोपोदकी (वै. निघ.)
वन्यदमन–पु., वनदमनक्षुपः (रा. नि. व. १०)
वन्यधान्य–न., नीवारः (प. मु.)
वन्यसहचरी–स्त्री., पीतझिण्टी (रा. नि. व. १०)
वन्योपोदकी–स्त्री., वनजोपोदकी (रा. नि. व. ७)
वपरु–पु., केशराजः (त्रिका.)
वपा–स्त्री., मेदोधातुः (रा. नि. व. १८)
वपावह–न., मेदस्थानरूपकोष्ठाङ्गम् (च. शा. ७ अ.)
वपुःस्रव–पु., शरीरस्थरसधातुः (रा. नि. व. १८)
वपुर्वीर्य–न., शुक्रधातुः (वै. निघ.)
वपुषा–स्त्री., हपुषा (भा.)
वपुष्टमा–स्त्री., स्थलपद्मिनी (जटा.)
वप्र (विप्रक)–न., शीर्षधातुः (हे. च.)
वप्रा–स्त्री., मञ्जिष्ठा
वप्री–स्त्री., वल्मीकम् (हला.)
वभ्रु–पु., मण्डलीसर्पभेदः (सु. कल्प. ४अ.) वातपित्तोल्बणज्वरः (भा.)
वभ्रुधातु–पु., सुवर्णगैरिकम् (रा. नि. व. १३)
वम–(थु)–पु., वमिरोगः (रा. नि. व. २०) करिशुण्डाग्रशीकरम्
वमनकल्प–पु., वमनार्थं मदनादिनानायोगयोजनविधिः तत्र मदनकल्प एव शस्तः (सु. सू. ४३ अ.)
वमनीया–स्त्री., मक्षिका (रा. नि. व. १९)
वम्भ–पु., वंशः (श. र.)
वम्रीकूट–पु.' वल्मीकम्

वयःसंस्थापनी–स्त्री., ब्राह्मी (वै. निघ.)
वयस्या–स्त्री., आमलकी, गुडुची (भा. ४ भ. नैगमेय. चि.)
वयोवङ्ग–न., शीषधातुः (कश्चित् । रा. नि. व. ३)
वरकन्दा–स्त्री., क्षीरीशवृक्षः (प. मु.)
वरकोद्रव–पु., कोविदारवृक्षः (र. मा.)
वरकोल–न., राजवदरः
वरक्षक–पु., श्यामाकः (वै. निघ.)
वरचन्दन–न., कालीयचन्दनम् । देवदारुः (मे.)
वरटीवान्त–न., मधु
वरट्टिका–स्त्री. कुसुम्भवीजम्
वरणा–स्त्री., तुवरी (नकुल १३ अ.)
वरण्ड–(क)–पु., यौवनकण्टकम् (मे. श. र.)
वरण्डा–स्त्री., शारिका
वरण्डालु–पु., एरण्डवृक्षः । कन्दशाकविशेषः (त्रिका.)
वरत्करी–स्त्री., वेणुनामगन्धद्रव्यम् (श. च.)
वरत्रा–स्त्री., करिबन्धनरज्जुः (अ. टी. भ.)
वरदायिनी–स्त्री., सुवर्चला (वै. निघ.)
वरपर्णाख्य–पु., क्षीरकञ्जुकीवृक्षः (र. मा.)
वरफल–पु., नारिकेलवृक्षः
वरमुखी–स्त्री., रेणुका
वरम्बरा–स्त्री., पृश्निपर्णी (श. च.)
वरल–पु., वरटः (श. मा.)
वरलन्ध–पु , चम्पकवृक्षः (प. मु.) रक्तकाञ्चनः नागकेसरचम्पकः (त्रिका.)
वारवाण–पु.,जाङ्गलजीवविशेषः (अचि. २० अ.)
वरवाल्लीक–न., श्रेष्ठकुङ्कुमम् (अ. टी.)
वरवेल–पु., वीरतरुः । स चतुर्विधः श्वेतकृष्णनीलरक्तभेदेन (वै.निघ.)
वरशीत–न., त्वक् (वै. निघ.)
वरश्रेणी–स्त्री., हस्वमूर्वा (वै. निघ.)
वराङ्गक–न., त्वक् (अम.)
वराङ्गदल–न., प्रियङ्गुपत्रम् (च. चि. ३ अ.)
वराङ्गवल्कल–त्वक् (र. सा. सं. ज्वरान्तक. लौहे.)
वराटकविष–न., तन्नामकत्वक्सारनिर्यासविषम् (सु. कल्प. २ अ.)
वराटकरजा–(स)–पु., स्त्री., नागकेशरवृक्षः (श. मा.)
वराण–पु., वरुणवृक्षः (श. र.)
वरादन–न., राजादनफलम् (श. च.)
वरान्न–न., भर्जितधान्यद्विदलकृतश्रेष्ठान्नम्
वराभिध–पु., अम्लवेतसः (रा. नि. व. ६)
वराम्र–पु., करमर्दवृक्षः (र. मा.)
वरायु–(स)–न., पानीयाम्लकः
वरारक–न., हीरकः (हे. च.)
वरारोह–पु,, पक्षिविशेषः (वै. निघ.) अवरोहः (विश्व.) स्त्री. (हा)–कटी । नारी (हे. च.)
वरार्ध्दक–न., भागैककुङ्कुमं भागैकचन्दनं भागैकह्रीवेरं वरार्ध्दकमुच्यते (रा. नि. व. २२)
वराल(क)–न.,पु., लवङ्गम् (अष्टाङ्गसारसङ्ग्रहे) (वै. निघ. २ भ. व्या. चि.)
वराशि–(सि)पु., स्थूलवस्त्रम् (श. र. जटा. धरणी)
वरासन–न., ओड्रपुष्पम् (श. मा.)
वरासी–स्त्री., मलिनवस्त्रम् (श. मा.)
वराहक–पु., हीरकः । शिशुमारः (वै. नि.)
वराहकाली(इन्)–पु., सूर्यमणिपुष्पवृक्षः (हारा) (स्त्री) (ली)–आदित्यभक्ता (वै. निघ.)
वराहक्रान्ता–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः (प. मु.) वाराहीकन्दः (अ. टी. भ.)
वराहदंष्ट्रा–स्त्री., क्षुद्ररोगविशेषः (मा. नि.)
वराहनामा(न्)–पु., वाराहीकन्दः (श. मा.) वराहक्रान्ता
वराहनिर्यूह–पु., वराहमांसरसः (च. सू. २अ.)
वराहपित्त–न., शूकरपित्तम् (सा. कौ.)
वराहपुट–न., औषधपाकार्थं पुटभेदः
वराहशिम्बी–स्त्री., शूकरभोज्यशिम्बी (चि. क. क. बन्ध्याप्रतीकारे.)
वराहाङ्गी–स्त्री., क्षुद्रदन्ती (वै. निघ.)
वरिवस्या–स्त्री., शुश्रूषा (अम.)
वरिशी–स्त्री., वडिशम् (श. र.)
वरिषा–स्त्री., वर्षर्तुः
वरिषाप्रिय–पु., चातकपक्षी (श. र.)
वरिष्ठ–न., ताम्रम् । (र. मा.) उशीरम् (वै. निघ.) मरिचम् (मे.) पु., नागरङ्गवृक्षः (रा. नि. व.११ तित्तिरपक्षी (मे.) स्त्री., (ष्ठा)–हरिद्रा (वै. निघ.) आदित्यभक्ता (रा. नि. व. ४.)
वरिहिष्ट–न., उशीरम् । बालकम् (सु. चि. १८ अ.)
वरिहिष्टमूल–न., उशीरमूलम् (सु. चि. १८ अ.)
वरुणग्रह–पु., तन्नामक अश्वस्य ग्रहविशेषः (ज.द.५७.)
वरूथ–न., मर्म्म (मे.)
वरोट–न., मरुबकपुष्पम् (श. मा.)
वरोत्पल–न., श्वेतरक्तपद्मम् (वै. निघ.)
वरोल–पु., वरटः । भृङ्गरोलः (त्रिका.)
वरौषधी–स्त्री., आदित्यभक्ता । ब्राह्मीशाकः (वै. निघ.)
वर्कणा–स्त्री., तरुणच्छागी (सु. चि. १ अ.)

वर्कर-पु., पशुजातीयतृणम् (अम.) छागः (त्रिका.) मेषशावकः (अ. टी. भ.)
वर्ग-पु., गणः (सु. कल्प. ५ अ.)
वर्गचर-पु., पाठीनमत्स्यः (वै. निघ.)
वर्च्च (स)-न., रूपम् । विष्ठा । तेजः (मे.)
वर्च्चक-पु., न., विष्ठा (अम.)
वर्ज-पु., कपर्दकः
वर्जन-न., मारणम् (हे. च.)
वर्णकण्ट-न., तुत्थम् (वै. निघ.)
वर्णकृत्-न., पीतवर्णचन्दनम् (वै. निघ.)
वर्णद-न., कालीयचन्दनम् (जटा.)
वर्णपुष्प (क)-पु., राजतरुणीपुष्पवृक्षः (म. रक्तकोरण्टा रा. नि. व. १०)
वर्णभू-स्त्री., स्थौणेयकः (वै. निघ.)
वर्णमातृका-स्त्री., वाग्देवता
वर्णमृत्तिका-स्त्री., मृत्तिकाविशेषः (रस चि ६ अ)
वर्णरे (ले)खा-स्त्री., खटिका (त्रिका.)
वर्णलेखिका-स्त्री., कठिनी (त्रिका.)
वर्णलोहक-न., राजपित्तलम् (वै. निघ.)
वर्णशाक-पु., न., गौरसुवर्णशाकः (वै. निघ.)
वर्णसि-पु., जलम् (उणा.)
वर्णा-स्त्री., आढकी (हे. च.)
वर्णार्ह-पु., हरितमुद्गः (रा. नि. व. १६)
वर्णि-न., स्वर्णम् (सिद्धान्तकौमुदी)
वर्णिका-स्त्री., कठिनी (हारा.)
वर्णोज्वल-न., हरितालः । गन्धकम्
वर्तकी-स्त्री., सप्तला (वै. निघ.)
वर्त्तनी-स्त्री., तर्कुपीठिका (त्रिका.) (पेषणे श. र.)
वर्त्ति (र्त्ती) क-पु., वन्यचटकः । बर्त्तिकपक्षी
वर्तिनी-स्त्री., पिष्टकविशेषः (च. चि. २ अ.) तित्तिरपक्षी (वै. निघ.) वर्तकपक्षी (अम.)
वर्ती-स्त्री., वर्तिका (प. प्र. लेपनचूर्णे) पु., (इन्) वनचटकः (वै. निघ.)
वर्तुलफल-न., कालिङ्गकफलम् (वै. निघ.)
वर्त्मकुन्द-पु., अक्ष्णस्य नेत्ररोगभेदः (ज. द.)
वर्त्मनिमेष-पु., नेत्रवर्त्मगतरोगविशेषः (मा. नि.)
वर्त्ममाक्षिक-न., स्वर्णमाक्षिकम् (वै निघ.)
वर्त्मार्बुद-न., नेत्ररोगभेदः (सु. उ. ३ अ.)
वर्द्ध-न., शोषकम् (हे. च.)
वर्द्ध- (क) पु., ब्राह्मणयष्टिका (जटा. अम.)
वर्द्धमानपिप्पली-स्त्री., योगविशेषः (रस. र.)
वर्द्धमानसट्टक न., सट्टकभेदः (वै. निघ.)
वर्ध्द्र-न., चर्म (उणा. स्त्री) (र्ध्द्री)-चर्मरज्जुः (अम.)
वर्ष-पु., रूपम् (उणा.)
वर्म-पु., पर्षटकः (भा. म. १ भ. ज्व. चि. विश्वादियोगे)
वर्मण-पु., नागरङ्गवृक्षः (त्रिका)
वर्म्मूष-पु., मत्स्यविशेषः (राज. ३ प.)
वर्य्या-स्त्री., भुजाढ़की (प. मु.) आढकी (रा. नि. व. १६) युवती । स्त्री
वर्व्वट-(टी)-पु., स्त्री., स्वनामख्यातकलायः
वर्व्वणा-स्त्री., नीलमक्षिका (अम.)
वर्व्वर-पु., मत्स्यविशेषः (रा. नि. व. १७) स्वनामख्यातकण्टकवृक्षः
वर्व्वरक-पु., विन्ध्योत्तरप्रसिद्धे नदः । तत् जलं शोणजलसहशगुणम् (रा. नि व. १४) न., वर्व्वरचन्दनम् । स्त्री., (का)-भार्गी (वै. निघ.)
वर्व्वरगन्ध-पु., श्वेतरक्तमिश्रचन्दनविशेषः (वै. निघ.)
बर्व्वरा-(री)-स्त्री., भार्गी कर्णस्फोटा (वै. निघ.) वनतुलसी (भा) शाकविशेषः । पुष्पविशेषः (मे.) मक्षिकाभेदः (श. र.)
वर्व्वराह्वय-न., वर्व्बरचन्दनम् (वै. निघ.)
वर्व्वरीक-पु., बोलः (वै. निघ.) भार्गी (उणा.) तुलसीभेदः (श. च. महाकाले । हे. च.)
वर्व्वरीगन्धा-स्त्री., कर्णस्फोटा । वनतुलसी (वै. निघ.)
वर्व्वरोत्थ न., वर्व्वरचन्दनम् (वै. निघ.)
वर्व्वा-स्त्री., वर्व्वरिका (श. च.)
वर्व्वूर(क)-पु., वव्वूलवृक्षः (रा. नि. व. ८)
वर्षकरी-स्त्री., झिण्टी (हे. च.)
वर्षकाली-स्त्री., जीरकः (वै. निघ.)
वर्षण-न., वर्षोपलम् (त्रिका.) वृष्टिः (श. र.)
वर्षपाकी(इन्)पु., आम्रातकवृक्षः (हे. च.)
वर्षप्रिय-पु., चातकपक्षी
वर्षवर-पु., नपुंसकः । षण्डः (अम.)
वर्षाघोष-पु., महाभेकः (रा. नि. व. १९)
वर्षाङ्गी-स्त्री., पुनर्नवा (श. र.)
वर्षाभूशाक-पु., पुनर्नवाशाकः (रा. निव. ७)
वर्षाभ्वी-स्त्री. । भेकपत्री, पुनर्नवा
वर्षामद-पु., मयूरः (शब्दकल्प.)
वर्षाम्भःपारणव्रत-पु., चातकपक्षी
वर्षाल-पु., स्पृक्का (वै. निघ.)

वर्षालङ्कायिका–स्त्री., स्पृक्का (अ. टी. भ.)
वर्षावती–स्त्री., भूकीटविशेषः । भेकपत्नी (अम.) पुनर्नवा (अमरमाला)
वर्षावसान–पु.,शरत्कालः (रा. नि. व, २१)
वर्षाह्वा–स्त्री., पुनर्नवा (च. द. शूल. चि.) राममण्डूरे
वर्षोपल–पु., मेघोद्भवशिला (अम.)
वर्ष्म–न., शरीरम् (रा. नि. व.१८) प्रमाणम् (अम.)
वर्ष्म(न्)–न., शरीरम् (द्विरूपकोषः)
वर्ह–पु.,न., मयूरपुच्छम् (अम.) ग्रन्थिपर्णभेदः (भरत) पत्रम् (श. र.)
वर्हण–न., तगरपुष्पम् । पिण्डीतगरः (रा. नि. व. १०) पत्रम् (श. र.)
वर्हनेत्र–न., मयूरपुच्छचन्द्रकम् (वै. निघ.)
वर्हपुष्प–पु., शिरीषवृक्षः (रा. नि. व. ९) नीलझिण्टी (रा. नि. व. १०) ग्रन्थिपर्णः (वै. निघ.)
वर्हभार–पु., मयूरपुच्छम् (वै. निघ.)
वर्हि–पु., चित्रकवृक्षः (अम.) अग्निः (मे.) मयूरः (वै. निघ.) पु., न., (स)–दर्भः । कुशः (त्रिका.) ग्रन्थिपर्णः (श. र.)
वर्हिकुसुम–न., ग्रन्थिपर्णक्षुपः (श. र.)
वर्हिण–पु., मयूरः (अम.) न., तगरः । पिण्डीतगरः (वै. निघ.)
वर्ही (इन्)–पु., कुशतृणम् (प. मु.) मयूरः (अम.)
वल–न., व्यायामगम्यशक्तिः (सु. सू. १० अ.)
वलाक–पु., वकजातिः (भ.) स्त्री., (का) क्षुद्रबकपक्षी (च. सू. २७ अ.)
वलिग्रह–पु., अश्वस्य ग्रहविशेषः (ज. द. ५७ अ.)
वलित्रय–न., प्रवाहिणी संवरणी विसर्जनी चेति त्रिविध-गुदस्थवली (मा. नि. अर्श. चि.) विद्यात् गुद-वलित्रयम्
वलिर–पु., केकरः (अम.)
वलूक–न., पद्ममूलम् पु., पक्षिभेदः (उणा.)
वल्का–स्त्री., शुक्लपाषाणभेदः (रा. नि. व.५) तेजोवती (वै. निघ.)
वल्कली (इन्)–पु., श्वेतरोध्रवृक्षः (वै. निघ.)
वल्करोध्र–पु., पट्टिकारोध्रः (रा. नि. व. ६)
वल्कवान्–पु., मत्स्यः (त्रिका.)
वल्कील–पु., कण्टकः (श. र.)
वल्की (इन्)–पु., बिभीतकवृक्षः (वै. नि.)
वल्कुत–न., वल्कलम् (श. च.)
वल्गु–पु., छागः (मे.)
वल्गुक–न., चन्दनम् (शब्दकल्पे, अजयः)
वल्गुपत्र–पु., वनमुद्गः (श. च.)
वल्गुपोदकी–स्त्री., राजगिराशाकः (वै. निघ.)
वल्गुला(ली)–स्त्री., सोमराजी (रा. नि. व. २३) प्रतुदपक्षिविशेषः (रा. नि. व. १९ सु. सू. ४६ अ.)
वल्गुलिका–स्त्री., तैलपायिका
वल्भण–न., भक्षणम्
वल्मीकि–पु., वल्मीकम् (श. मा.)
वल्मीकूट–न., वल्मीकम् (हे. च.)
वल्य–पु., तार्क्ष्यः (न) त्वक् (रा. नि. व. ६) स्त्री (ल्या)–पातालगरुडीलता (त्रि.) बलकरः
वल्यावर्त–पु., मत्स्यभेदः
वल्लगुणपूग–न., कोङ्कणदेशीयपूगफलविशेषः (रा. नि. व. ११)
वल्लभ–पु., सुलक्षणाश्वः । कृष्णागुरुः । राजशिग्बी (भा. पू. १भ. धा. व.) वैद्यवल्लभनामग्रन्थकारः
वल्लभी–स्त्री., मेथिका
वल्लभेन्द्र–पु., वैद्यचिन्तामणिग्रन्थकारः
वल्लव–पु., पाचकः (त्रिका.)
वल्लिजविष–न., पुष्पविषभेदः (सु. कल्प. २अ.)
वल्लिशाकटपोतिका–स्त्री., मूलपोतिका (रा. नि. व. ७)
वल्लि(ल्ली)शू(सू)रण-(णा)–पु., स्त्री., अत्यम्लपर्णी (रा. नि. व. ३)
वल्लीखदिर–पु.,आरुकनामखदिरभेदः (वै. निघ.)
वल्लीगड–पु., मत्स्यविशेषः (राज ३प.)
वल्लीपञ्चमूल–न., लतापञ्चमूलम् ।विदारीसारिवारजनी-गुडूच्योऽजशृङ्गीचेति (सु. सू. ३८अ.)
वल्लीपलाशकन्द–स्त्री., भूमिकूष्माण्डः (वै. निघ.)
वल्लुर–पु., ऋषभकः (प. मु.) न., मञ्जरी । निर्जल-स्थानम् (हे. च.)
वल्लुया–स्त्री., अश्वगन्धा (मद. व. १) धात्रीवृक्षः (हारा) प्रसारिणी (रा. नि. व. ५)
वल्वक–न., वास्तूकभेदः (प. मु.)
वल्वज–पु., उलपः (श. च. । अम.)
वल्वजा–स्त्री., तृणविशेषः
वव्बू (बो) ल–पु., वर्व्वुरवृक्षः (भा.)
वव्वूलनिर्यास–पु., वर्व्वुरवृक्षनिर्यासः
वशा–स्त्री., वन्ध्या करिणी (मे.)
वशाद्यक–पु., शिशुमारः (श. र.)
वशा (सा) पायी (इन्)–पु., कुक्कुरः (श. मा.)
वशाक्षार–पु., क्षारः (र. मा.)

वशिका–स्त्री., अगुरुः (श. च.)
वशिजाता–स्त्री., पुत्रदात्रीलता (वै. निघ.)
वशिनी–स्त्री., शमिवृक्षः । वृन्दा (श. च.) लज्जालुका
वशीकरण–न., मणिमन्त्रौषधैरायत्तीकरणम्
वश्य–न., लवङ्गम् (श. च.)
वश्या–स्त्री., नीलापराजिता (मद. व. १) गोरोचन (वै. निघ.)
वषट्फल–न., कक्कोलः (रा. नि. व. १२)
वसनाह्वय–पु., तेजपत्रम्
वसन्तकुसुम–पु., वृक्षविशेषः' वसन्तकुसुमः शेलुशयितो द्विजकुत्सितः' (श. मा.)
वसन्तघोषी (इन्)–पु., कोकिलः (वै. निघ.)
वसन्ततिलक–पु., वाजीकरणाधिकारे रसः
वसन्तद्रु–पु., आम्रवृक्षः (त्रिका.)
बसन्तमण्डन–न., सिन्दूरः । रक्तपद्मम् (वै. नि.घ)
वसन्तललना–स्त्री., शुक्लयूथी (वै. नि. घ.)
वसन्तव्रत–पु., मसूरकः (वै. निघ.)
वसन्तार्त्त–पु., बिभीतकवृक्षः (वै. निघ.)
वसाड्य–पु., शिशुमारः (त्रिका.)
वसारोह–न., छत्रिका (हारा.)
वसिर–न., सामुद्रलवणम् (धरणिः) गजपिप्पली (अ. टी. सु. सू. ३८ अ.)
वसी (इन्)–पु., जलनकुलम्
वसुक–न., वकपुष्पम् (द्विका.)
वसुकोदर–न., तालिशपत्रम् (रा. नि. व. ६.)
वसुक्षार–पुं., सूतिकालवणम् (वै. नि. घ.)
वसुचारुक–न., स्वर्णम् (वै. नि. घ.)
वसुद्रुम–पु., उदुम्बरवृक्षः (वै. निघ.)
वसुधांशु–पु., पाण्डुलवणम्
वसुस्थिति–पु., निर्गुण्डीवृक्षः (वै. नि.)
वसुहट्ट–(क)-पु., वकवृक्षः (प. मु. श. मा.)
वसूत्तम–न., रौप्यम् (वै. निघ.)
वस्कयनीक्षीर–न., प्रवृद्धवत्सायाः क्षीरम् (सुचि. १ अ.)
वस्कराटिका–स्त्री., वृश्चिकः (हारा.)
वस्तक–न., कृत्रिमलवणम्
वस्तपथ–पु., छागदुग्धम्
वस्तमूत्र–न., छागमूत्रम्
वस्तास्त्री–स्त्री., छागलान्त्रीवृक्षः
वस्ताम्बु–न., छागीमूत्रम्
वस्तिमल–न., मूत्रम् (हे. च.)
वस्तिवात–पु., स्वनामख्यातवातव्याधिः
वस्तिशीर्ष–न., देहप्रत्यङ्गविशेषः (च. शा. ७. अ.)
वस्तिशूल–न., वस्तिवेदना (निदा.)
वस्तिशोधन–न., मदनफलम् । बस्तिशोधक द्रव्यमात्रम् (वै. निघ.) पु., मदनवृक्षः (रा. नि. व. ८)
वस्तूकी–स्त्री., श्वेतचिल्लीशाकः (रा. नि. व. ७)
वस्त्याशय–पु., मूत्राशयः
वस्त्रधारण–न., वस्त्रपरिधानम् (राज. २ प.)
वस्त्ररञ्जिनी–स्त्री., मञ्जिष्ठा (वै. निघ.)
वस्त्रागधृत्–पु., नीलकाशीषम् (वै. निघ.)
वस्त्र–न., वसा (रा. नि. व. १८) चर्म (अ. ची. रा.) वसनम् (विश्व.)
वस्त्र (स्त्र) सा–स्त्री., वसा (रा. नि. व. १८) शरीरान्तःशिरादिः । स्नायुः (त्रिका. । अम.)
वह–पु., घोटकः त्रि., वृषस्कन्धः (अम.)
वहलगन्ध–न., सम्बरचन्दनम् (रा. नि. व. १२)
वहलचक्षु–पु., मेषशृङ्गी (प. मु.)
वहला–स्त्री., शताह्वा (रा. नि. व. ४) स्थूलैला (भा.) सीतोपलादिलेहे)
वहा–स्त्री., गन्धरास्ना (प. मु.)
वहिः कुटीचर–पु., कर्कटः (त्रिका)
वहिरङ्ग–पु., शरीरावयवः
वहिरिन्द्रिय–न., चक्षुःकर्णादिवाह्येन्द्रियेषु चक्षुःकर्ण-नासाजिह्वात्वक्च, वाक्–पाणिपायुपादोपस्थ श्च
वहुलवहुरस–पु., इक्षुः (वा. सू. १५ अ.)
वहेडुक–पु., विभीतकवृक्षः (रा. नि. व. ११)
वह्निकरी–स्त्री., धातकीवृक्षः (श. र.)
वह्निगन्ध–पु., रालः (श. र.)
वह्निगर्भ–पु., वंशः (श. र.)
वह्निगर्भा–स्त्री., शमीवृक्षः (श. च.)
वह्निचक्रा–स्त्री., कलिकारीवृक्षः
वह्निजिह्वा–स्त्री., लाङ्गलिका (र. मा.)
वह्निदग्ध–न., अग्निदग्धरोगः (निदा.)
वह्निदीपक–पु., कुसुम्भवृक्षः (श. र.)
वह्निनामा (न्)–पु., अजमोदा (रा. नि. व. ६)
वह्निनिर्मथना–स्त्री., अग्निमन्थवृक्षः (वै. निघ.)
वह्निनी–स्त्री., जटामांसी (र. मा.)
वह्निभूतिक–न., रौप्यम् (वै. निघ.)
वह्निभाग्य–न., घृतम् (श. च.)
वह्निमारक–न., जलम् (श. च.)

वह्निरुचि–स्त्री., महाज्योतिष्मतीलता (वै. निघ.)
वह्निवक्त्रा–स्त्री., लाङ्गलिका (भा.)
वह्निवर्ण–न., रक्तोत्पलम् (श. च.)
वह्निवल्लभ–पु., सर्जरसः, धूनकः (त्रिका.)
वह्निशिखर–पु., लोचमस्तकम् । कुङ्कुमम् । रुद्रजटा (श. र.)
वह्निसंज्ञक–पु., चित्रकवृक्षः (अम.)
वह्निसख–पु., जीरकवृक्षः (रा. नि. व. ६) वायुः
वह्निसम्भूत–न., स्वर्णम् (वै. निघ.)
वा (र)–न., जलम् (अम.)
वाकिटि–पु., शिशुमारः (व्याक.)
वाकुचिका–स्त्री., वाकुची (वै. निघ.)
वाकुल–न., बकुलफलम् (राज.)
वाक्का–स्त्री., प्रतुदपक्षिविशेषः (च. सू. २७ अ.)
वाक्शल्या–स्त्री., कुटुम्बिनीक्षुपः (वै. निघ.)
वागर–पु., वृकः (हे. च.)
वागुजारल–पु., **वागुञ्जाल**–पु., } नादेयमत्स्यभेदः (वम्.) वागूस- मत्स्यः (सु. सू. ४६ अ.)
वागुजी–स्त्री., सोमराजी (प. मु. । र. सा. सं.) (महामृत्युञ्जयरसे)
वागुण–पु., कर्मरङ्गवृक्षः (श. मा.) (न.) कर्मरङ्गः
वागु(ग्गु)लिक–त्रि., राज्ञां ताम्बूलदाता (हारा.)
वागुश–पु., वागुञ्जालमत्स्यः (वै. निघ.)
वाग्गुद–पु., पक्षिविशेषः (त्रिका.)
वाग्गुलि–पु., ताम्बुली (हारा.)
वाग्दल–न., ओष्ठाधरः (त्रिका.)
वाग्बिलासी(इन्)–पु., कपोतः (वै. निघ.)
वाचन(क)–न., प्रहेणकाख्यापिष्टकभेदः
वाचस्पतिवल्लभ–पु., पुष्परागमणिः (भा)
वाज–न., घृतम् । अन्नम् । जलम् । शुक्रम् (भैष.) (पु.,) पक्षती (मे.)
वाजशल–पु., पट्टशाकः (श. मा.)
वाजिखुरा–स्त्री., कृष्णापराजिता (वै. निघ.)
वाजिदन्त–(क)–पु., स्त्री., वासकवृक्षः (प. मु.)
वाजिनामा–स्त्री., अश्वगन्धा (वै. निघ.)
वाजिपुत्री–स्त्री., सल्लकीवृक्षः (वै. निघ.)
वाजिपृष्ठ–पु., अम्लानवृक्षः (श. च.)
वाजिप्रिय–(या)–पु., स्त्री., यवः, भूमिकुष्माण्डः (वै. निघ.)
वाजिभक्ष्य–पु., चणकः (रा. नि. व. १६) मुद्गः (वै. निघ.)
वाजिभोजन–पु., मुद्गवृक्षः (रा. नि. व. १६)
वाजिमन्थ–पु., चणकवृक्षः । मुद्गवृक्षः (वै. निघ.)
वाजिमान्(त्)–पु., पटोलः
वाजीकरी–स्त्री., अश्वगन्धा (मद. व. १)
वाटीदीर्घ(इन्)–पु., इक्षटक्षुपः (र. मा.)
वाट्यक–न., भृष्टयवः (श. च.)
वाट्यपुष्प–न., चन्दनम् । कुङ्कुमम् (वै. निघ.)
वाट्यमण्ड–पु., निस्तुषदरदलितयवः (राज. ३ प.)
वाट्याल–पु., वाट्यालकः (श. र.)
वाट्यालक–पु., पीतपुष्पबला (भा.) बला (र. मा.च. द. वा. ब्या. चि.)
वाट्याल (लि) का–स्त्री., लघुवाट्यालकः । महाबला (वै. निघ.)
वाट्याला (ली)–स्त्री., लघुवाट्यालकः (श. र.) महाबला (वै. निघ.)
वाट्याह्व–न., पुष्करमूलम् (वै. निघ.)
वाठ–पु., मदनफलवृक्षः
वाडवाग्निरस–पु., स्थौल्याधिकारे रसः (रस. र.)
वातक–पु., अशनपर्णीवृक्षः, गोकर्णी (अम.)
वातकफज्वर–पु., वायुश्लेष्मजन्यज्वरः (मा. नि.)
वातकर्म (न्)–न., अपानवायुनिःसरणम् । पर्दनम् (बराहपु.)
वातकास–पु., वायुजन्यकासरोगः
वातकी–स्त्री., शेफालिकावृक्षः (रा. नि. व. ४ पु.) (न्)–वातरोगी (अम.)
वातकुम्भ–पु., करिगण्डाधोभागः
वातकेतु–पु., धूलिः (त्रिका.)
वातगण्ड–पु., वातजगलगण्डरोगः (निदा.)
वातगुल्म–पु., वातुलः (त्रिका.) वायुजन्यगुल्मरोगः (निदा.)
वातङ्गिनी–स्त्री., वार्ताकी (सु.भद्रदार्वादिगणः)
वातचटक–पु., तित्तिरः
वातज–त्रि., वातिकः (रा. नि. व. २०)
वातनाडी–स्त्री., दन्तमूलगतरोगः (मा. नि.)
वातपाण्डु–पु., वायुजन्यपाण्डुः
वातपित्तघ्न–पु., वातपित्तनाशकं गुरुपाकद्रव्यमात्रम् (सु. सू. ४१ अ.)
वातपित्तजशूल–न., वातपित्तजनितशूलरोगः
वातपित्तज्वर–पु., वातपित्तप्रधानः ज्वरः
वातप्रमी–पु., द्रुतगामिहरिणः (अम.) घोटकः नकुलः (उणा)

वातप्रशमनी–स्त्री., आरुकम् (वै. निघ)
वातफुल्लान्त्र–न., वातरोगः । उदराध्मानम् । फुस्फुसः (भूरिप्र)
वातमृग–पु., द्रुतगामिहरिणः (जटा.)
वातरक्तघ्न–पु., कुक्कुरद्रुमः (श. च.)
वातरक्तान्तकरस–पु., वातरक्ताधिकारे रसः (रस. र.)
वातरक्तारि–पु., गुडूची (श. च.)
वातरङ्ग–पु., अश्वत्थवृक्षः (श. र. त्रिका.)
वातरायण–पु., सरलवृक्षः (श. र.) करपात्रम् काण्डम् । उन्मत्तः (मे.)
वातरोहिणी–स्त्री., गलरोगभेदः (सु. नि. १६ अ.)
वातविसर्प–पु., वायुजन्यविसर्पः (मा. नि.)
वातवैरी–पु., वातादवृक्षः (भा.) रक्तैरण्डः (वै. निघ)
वातशीर्ष–न., बस्तिस्थानम् । स्त्रियो गर्भस्थानम् (रा. नि. व. १८)
वातस्तम्भनिका–स्त्री., चिञ्चा (वै. निघ.)
वातहर–पु., वातनाशकः
वातहरवर्ग–पु., वातघ्नद्रव्यगणः (रा. नि. व. ९)
वाताट–पु., जाङ्गलमृगविशेषः । वातमृगः (श. र.)
वातातिसार–पु.,वायुजन्यातिसारः (निदा.)
वाताद(म)पु., वातामवृक्षः
वाताद(म)तैल–न., वातामफललेहः
वाताभिष्यन्द–पु., सर्वगताक्षिरोगभेदः (वा. उ. १५अ)
वातामोदा–स्त्री., कस्तूरी (श. मा.)
वातायु–पु., हरिणः । वातमृगः (अम.)
वातारिगुग्गुलु–पु.. वातव्याधौ औषधम् (रस. र.)
वातारितण्डुला–स्त्री., विडङ्गः (रा. नि. व. ६)
वातासह–पु., वातुलः (श. र.)
वाताम्र–न., वातरक्तम् (निदा.)
वातिकप्रिय–पु., अम्लवेतसः (वै. निघ.)
वातिकरक्तपित्त–न., वायुजन्यरक्तपित्तम्
वातिगम–पु., वार्ताकुवृक्षः (श. र.)
वातिङ्गन–पु., वार्ताकुवृक्षः (र. मा.)
वातीक–पु., पक्षिविशेषः । अयं विष्किरो लघुः शीतमधुरकषायश्च (सु. सू. ४६अ.)
वातीय–न., काञ्जिकम् (श. च.)
वातु(तू)ल–पु., कङ्कुनीनामतृणधान्यम् (रा. नि. व. ६)
वातुलि–पु., तरुतूलिका (हारा.)
वातूक–पु., मत्स्यविशेषः (रा. नि. व. १७)
वातोना–स्त्री., गोजिह्वा
वातोल्वण–त्रि., वाताधिकः
वात्सीपुत्र–पु., नापितः (त्रिका)
वादर–न., कार्पासजवस्त्रादिः (स्त्री.,)(रा) कार्पासी (श. र.)
वादराङ्ग–पु., अश्वत्थवृक्षः
वादल–न., मधुयष्टिका (श. च.)
वादलीय–पु., रन्ध्रवंशः (रा. नि. व. ७)
वादाम–न., स्वनामख्यातफलम् (राज.)
वादाल–पु., मत्स्यविशेषः (हे. च.)
वादिर–न., शृगालकोली (श. च.)
वादुलि–पु., चर्मचटी (च. द.)
वाद्यपुष्पिका–स्त्री., अतिबला
वाधन–त्रि., वाधाजनकः । सद्यःप्राणहरः (च. चि. १ अ)
वाधपुष्पी–स्त्री., प्रियङ्गुः (ज. द.)
वाधा–स्त्री., भङ्गवत्पीडा (मा. नि.)
वाधिर्य–न., वातव्याधिविशेषः
वान–पु., शुष्कम् (न.,) शुष्कफलम् (मे.) गोदुग्धजतवक्षीरम् (रा.नि.व६)
वानरीबीज–न., शुकशिम्बीवीजम् (सा. कौ. शतावरीमोदके)
वानल–कृष्णवर्वरकः (श. च.)
वाना–स्त्री., वर्त्तिकपक्षी (जटा.)
वानी (ने) य–न., कैवर्तमुस्तकः (अम.)
वानीरक–पु., मुञ्जतृणम् (रा. नि. व. ८)
वान्तारि–पु., स्त्री., भार्गी
वान्ति–स्त्री., छर्दिः (र. मा.)
वान्तिका (दा)–स्त्री. कटुकी (श, च.वै. निघ.)
वान्तिकृत्–पु., मदनवृक्षः
वान्तिशोधनी–स्त्री. जीरकः (वै. निघ)
वाप (प्र) वोल–न., मरकतमणिः
वापित–न., अरोपितधान्यम्
वापीह–पु., चातकपक्षी (त्रिका.)
वाप्यक्षीर–न., सामुद्रलवणम् (रा. नि. व. ६)
वाभट–पु., अष्टाङ्गहृदयेतिख्यातवैद्यकसंहिताप्रणेता शास्त्रदर्पणनिघण्टुकारः
वाम–न., वास्तूकशाकः (जटा.) पु., पयोधरः सव्यम् (मे.) स्त्री., मा., कृष्णचटका (वै. निघ.) नारी
वामट्टक् (श्)–स्त्री., नारी
वामलूर–पु., वल्मीकम् (अम.)
वामसंज्ञ–पु., कर्पूरभेदः (वै. निघ)

वामस्कन्ध–पु., शूकरः (वै. निघ.)
वामाङ्घ्रिघातन–पु., अशोकवृक्षः
वामापीडन–पु., अशोकवृक्षः
वामावर्तफल–स्त्री., ऋद्धि (वै. निघ)
वायन–न., पिष्टान्नविशेषः (त्रिका.)
वायसजङ्घा–स्त्री., काकजङ्घा (वै. निघ.) (२ भ. जीर्णज्व चि.)
वायसारति–पु., पेचकः (अम.)
वायसीवल्ली–स्त्री., करञ्जवल्ली (वै. नि.)
वायुकेतु–पु., धूलिः (हारा.)
वायुगण्ड–पु., अजीर्णम् (त्रिका.)
वायुगुल्म–पु., वायुदोषजन्यगुल्मरोगः (मा. नि.)
वायुफल–न., करका (मे.)
वायुभक्ष्य–पु., सर्पः (रा. नि. व. १७)
वायुवाह–पु., धूमः (हेच.)
वायुवाहिनी–स्त्री., वातसञ्चारिणीशिरा (सु.)
वायुव्यवस्था–स्त्री., ऋतुविशेषे वायोरवस्था यथा वसन्ते दक्षिणः वर्षायां पश्चिमः, शरद्युत्तरः, हेमन्ते शिशिरे च पूर्व इति
वायुष–पु., मस्स्यविशेषः (राज. ३ प.)
वार–न., जलम् । पत्रम् । मदिरापात्रम् (हे. च.) (पु.) कुञ्जकवृक्षः (त्रिका.)
वारक–न., ह्रीवेरम् । कण्ठस्थानम् (हारा.)
वारकीर–पु., जलौका (मे.)
वारङ्ग–पु., पक्षी (त्रिका.)
वारटा–स्त्री., हंसी (हे. च.)
वारणकणा–स्त्री., गजपिप्पली (वै. निघ.)
वारणपिप्पली–स्त्री., गजपिप्पली (वै. निघ. २ भ. चातुज्व, दार्व्यादिः । भैष शोथचि. त्रिकट्वादिलौहे च. द. कुब्जप्रसारणीतैले.)
वारणवल्लभा–स्त्री., कदलीवृक्षः (त्रिका.)
वारणवुषा(सा)–स्त्री., कदलीवृक्षः (अम.)
वारला–स्त्री., वराटः (हे. च.) कदलीवृक्षः (भा.) हंसी (हे. च.)
वारलीक–पु.. वल्वजातृणम् (श. र.)
वारवु(वृ)षा–स्त्री., कदलीवृक्षः (श. र.)
वारष–पु., मत्स्यविशेषः (वै. निघ.)
वारा–स्त्री., काकमाची (रा. नि. व. ४)
वारासन–न., **वास्सदन**–न., } भाण्डभेदः (त्रिका.)
वाराहक–पु., प्राणहरकीटभेदः (सु. कल्प ८अ.)
वाराहदशनाह्वय–पु., शूकरदंष्ट्रकनामक्षुद्ररोगः (भा.-म. ४भ.)
वाराहपत्री–स्त्री., अश्वगन्धा (रा. नि. व. ४)
वाराहपुटभावना–स्त्री., अष्टपल (करीष)कृतभावना (वै. निघ.)
वाराहाङ्घ्री–स्त्री., दन्तीवृक्षः (भा.)
वारिकण्टक–पु., शृङ्गाटकः (त्रिका.)
वारिकफ–पु., समुद्रफेनः (वै. निघ.)
वारिकर्णिका–स्त्री., कुम्भिका (श. र.)
वारिकर्पूर–पु., इल्लीषमत्स्यः (त्रिका.)
वारिकुब्ज–(क)–पु., शृङ्गाटकः (श. र.)
वारिकृमि–पु., जलौका
वारिचामर–न.. शैवालम् (त्रिका.)
वारित्रा–स्त्री., जलत्राणा (त्रिका.)
वारिद–न., ह्रीवेरम् (श. र. च. द. कास. चि.)
वारिद–पु., मुस्ता (रा. नि. वा. ६ भा. म. वाजी. रति-वल्लभपूगपाके) मेघः (मे.)
वारिधर–पु., भद्रमुस्ता (वै. नि.घ)
वारिपर्णी–स्त्री., शैवालम्, कुम्भिका (राज.)
वारिपालिका–स्त्री., आकाशमूलिका (श. मा.)
वारिप्रवाह–पु., वारिनिर्झरः (श. मा.)
वारिप्रश्नी–स्त्री., वारिपर्णी (श. मा.)
वारिप्रसादन–न., कतकफलम् (वै. निघ.)
वारिबदर–(रा)–स्त्री., प्राचीनामलकः (त्रिका.)
वारिबालक–न., ह्रीवेरम् (हारा.)
वारिब्राह्मी–स्त्री., जलब्राह्मीक्षुपः (वै. निघ.)
वारिभक्तवटिका–स्त्री., अजीर्णाधिकारे वटी । (रस. र)
वारिमान–न., पाचनादौ जलदानपरिमाणम् । (प.प्र.१अ)
वारिमूली–स्त्री., कुम्भिका वारिपर्णी (श. र.)
वारिवदर–न., करमर्दकः (हिं–करोदा. जठा.)
वारिवल्लभा–स्त्री.,विदारी (रा. नि. व. ७)
वारिवल्ली–स्त्री., कारवल्ली (मद.)
वारिशिरीषिका–स्त्री., जलशिरीषः (वै. निघ.)
वारिशुक्ति–स्त्री., जलशुक्तिः (वै. निघ.)
वारुज–पु., गौरसुवर्णशाकः (वै. निघ.)
वारुणात्मजा–स्त्री-, मद्यम् (वै. निघ.)
वारुणीयन्त्र–न., मद्यसाधनार्थं यन्त्रभेदः
वारुणीरस–न., मद्यम्
वारुण्ड–पु., कर्णगूथः । नेत्रमलः (मे.)
वारूषक–पु., मत्स्यविशेषः (रा. व. १७)

वारेन्द्रपत्र–न., सुगन्धवर्गीयपत्रविशेषः
वार्क्षि–पु., ऋषिविशेषः (च)
वार्च्च–पु., हंसः (व्याक.)
वार्त्त–न., आरोग्यम् (रा, नि. व. २०)
वार्त्तक–पु., वार्त्ताकी (मे) वर्त्तक पक्षी (भा.)
वार्ती(इन्)–त्रि., निरामयः (रा. नि. व. २०)
वार्द्दर–न., काकचिञ्चा (मे) गुञ्जा, दक्षिणावर्तशंखः (मे) आम्रबीजम् । जलम् (विश्व)भारतीपक्षी
वार्द्दल–न., दुर्दिनम् (मे)
वार्द्धक(क्य)–पु., वृध्दावस्था (मे.)
वार्द्धिकरा–स्त्री., गुडूची (रा. नि. व. ३)
वार्द्धिफेन–न., समुद्रफेनः
वार्द्धिभव–न., दक्षिणावर्तशङ्खः, आम्रवीजम् । जलम् द्रोणीलवणम् (रा. नि. व. ६)
वार्द्धिवृक्ष–पु., पिप्पली (वै. निघ.)
वार्द्धिसम्भव–न., द्रोणीलवणम् (वै. निघ.) आम्रवीजम्
वार्द्धेय-न., द्रोणीलवणम् (रा. नि. व. ७)
वार्ध्रीणस-पु., गण्डकः । नीलग्रीवरक्तशीर्ष पक्षिविशेषः (का पुराणम्.)
वार्भट–पु., कुम्भीरः (त्रिका) शिशुमारः (वै. निघ.)
वार्युद्भव–न., कमलम् (धनञ्जयः)
वार्य्योक–पु., जलौका (सु. कल्प. ५ अ.)
वार्व्वाणा–स्त्री., नीलमक्षिका (श. र.)
वार्षिला–स्त्री., करका (श. च.)
वार्हत–न., वृहतीफलम् (अम. वासु. १५ अ.) क्षुद्रवार्ताकीफलम् (अम.)
वालधिप्रिय–पु., चमरीमृगः (रा. नि. व. १९)
वालकली–स्त्री., मदिरा । गौडीमद्यम्
वावय–पु., तुलसीभेदः (श. र.)
वावरी-स्त्री., वर्बूरवृक्षः (भैष. मृतसञ्जीवनीसुरा)
वावल–पु., वब्बूलवृक्षः
वाशा(शिका)–स्त्री., वासकवृक्षः (श. र.)
वाशिर–पु , अपामार्गवृक्षः
वाशुरा–स्त्री., रात्रिः (उणा)
वाष्प–पु., अश्रु (अम.) उष्मा (मे.)
वासका–स्त्री., स्वनामप्रसिद्धपुष्पशाकवृक्षः
वासगृह–न., मध्यभवनम् (अम.) वासभवनम्
वासत–पु., गर्दभः (श. र.)
वासतेयी–स्त्री., रात्रिः (त्रिका)
वासपुष्पा–स्त्री., चन्द्रशूरः (भा.)
वासयोग–पु., चूर्णम् (अम.)
वासर–पु., दिवसः (अम.)
वासाकुष्माण्डखण्ड–पु., रक्तपित्तकासे औषधम्
वासावासिका–स्त्री., वासकवृक्षः
वासास्रवा–स्त्री., ह्रस्वमूर्वा (वै. निघ.)
वासि–पु., कुठारभेदः (उणा.)
वासिका–स्त्री., वासकवृक्षः (श. र.)
वासिकार–न., शुद्धशूल्यमांसम्
वासिनी–स्त्री., शुक्लझिण्टी
वासिष्ठ–न., रुधिरम् (हे. च.)
वासिष्ठलेह–पु., कासाधिकारे औषधम् (वा. चि. ३ अ)
वासिष्टी–स्त्री., वासिष्ठकृतवैद्यकम्
वासी–स्त्री., तक्षणी (वै. निघ. त्रिका.)
वासुकी–स्त्री., बिल्ववृक्षः (वै. निघ.)
वासुदेवप्रियङ्करी–स्त्री., शतावरी (रा. नि. व. ४)
वास्तुकशाकट–न., वास्तुकशाकक्षेत्रम् (रा.नि. व. २)
वास्तुकाकारा–स्त्री., पट्टशाकः (वै. निघ.)
वास्तुकालिङ्ग–पु., तरम्बुजलता (प. मु.)
वास्तुपुष्पा–स्त्री., चन्द्रशूरः (भा.)
वास्तुरुजा–स्त्री., स्फोटपिडकाधिष्ठानवेदना (भा. म. ४. भ.)
वास्तवस्तूक–न., वास्तुशाकः (रा. नि. व. १४)
वास्प–पु., लौहः, उष्मा (कश्चित्) न., नेत्रजलम्
वास्पसेक–पु., रोदनम् (भा. म. ४ भ. नासारोग)
वास्पस्वेद–पु., गुल्मे स्वेदविशेषः (रस. र.)
वास्पेय–पु., नागकेशरवृक्षः (र. मा.)
वाहद्विषन्–पु., महिषः (प मु.)
वाहश्रेष्ठ–पु , घोटकः (रा. नि. व. ११)
वाहस–पु., सुनिषण्णकशाकः (मे.)
वाहित्थ–न., करिगण्डाधोभागः (अम.)
वाहुवार–पु., श्लेष्मान्तकवृक्षः (रा. नि. व. ११)
वाह्यकी–स्त्री., अग्निप्रकृतिकीटभेदः (सु. कल्प ८ अ)
वाह्यद्रुती–पु., रसस्य संस्कारविशेषः (रस. चि. ३ अ)
वाह्यायाम–पु., धनुस्तम्भाख्यवातव्याधिभेदः (सु. नि. अ.)

वि–पु., पक्षी
विक–न , सद्यःप्रसूताया गोः क्षीरम् (श. चि.)
वीकङ्क–पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. निघ.)
विकङ्कट–पु., गोक्षुरक्षुपः (श. मा.)
विकटविषाण–पु., सम्बरमृगः (वै. निघ.)
विकटशृङ्ग–पु., सम्बरमृगः (वै. निघ.)
विकर–पु., रोगः (श. च.)

विकरणी–स्त्री., तिन्दुकवृक्षः
विकर्णक–पु., ग्रन्थिपर्णभेदः
विकर्णरोमा (न)–पु., ग्रन्थिपर्णभेदः
विकर्णसंज्ञ–पु., ग्रन्थिपर्णभेदः (वम्–भटोरा.)
विकर्त्तन–पु., अर्कवृक्षः (अम.)
विकलपाणिक–त्रि., विकलहस्तः (हला.)
विकलाङ्ग–त्रि., पङ्गुकायः
विकषा–स्त्री , मञ्जिष्ठा (प. मु.)
विकाल–पु., सायाह्न (श. र.)
विकालिका–स्त्री., मानरन्ध्रा (त्रिका.)
विकाशि–न., तद्गुणविशिष्टद्रव्यभेदः (भा.)
विकीर्ण (क) म् (का)–न., स्त्री., ग्रन्थिपर्णभेदः (वै. निघ.) **विक्षिप्तः**
विकीर्णफल–(क)–पु., रक्तार्कः (वै. निघ.)
विकीर्णसंज्ञ–न.. स्थौणेयकः (रा. नि. व. १२)
विकुम्भ–पु., कनकवृक्षः (रस. कौ. ज्वरारिरसे.)
विकूणिका–स्त्री.. नासिका (हे. च.)
विक्रम–पु., पादः (रा. नि. व. १८)
विक्रमी (इन्)–पु., सिंहः (रा. नि. व. १९)
विक्रिया–स्त्री., विकारः (अम.)
विक्षत–पु., क्षतरोगः
विक्षाव–पु., छिक्का (वै. निघ.) **कासः (भा)**
विख (खु)–(ख्य)–त्रि., अनासिकः (हे. च.)
विगतसूतिका–स्त्री., पुनरार्तवदर्शनपर्यन्तंप्रसूतिः यस्याः (सु. शा. १०अ.)
विगतार्तवा–स्त्री., निवृत्तरजस्का (श. र.)
विगिर–पु., विस्किरपक्षिभेदः (अर्क. र.चि. ४र्थ. शतके.)
विग्र–त्रि., अनासिकः (हे. च.)
विग्रहावर–न., पृष्ठम् (श. च.)
विघट्ट–न., वङ्गम् (वै. निघ.)
विघट्टिकाकन्द–पु., गुदकन्दरोगः
विघण्टा (ण्टिका)–स्त्री., गुलच्छकन्दः (रा. नि. व. ७)
विघस–न., भोजनम् (रा. नि. व. २०) सिक्थम्। पु., भोजनशेषम् (अम.)
विघ्न–पु., अम्लकरञ्जः । उपद्रवादिः
विघ्नप्रिय–न., यवकृतयवागुः (प. मु.)
विघ्नेशवाहन–पु., महामूषिकः (रा. नि. व. १९)
विङ्ग–पु., खुरः (त्रिका.)
विचकिल–पु., दमनकवृक्षः (भा. म. ३ भ. मेद. चि.) मल्लिकावृक्षः (वै. निघ.)
विचण्डिका–स्त्री., रक्तकरवीरवृक्षः (वै. निघ.)
विचक्षु–त्रि., विमनः (त्रिका.)
विचित्रकवुरा (वर्णा)–स्त्री., सविषजलौका(सु.सू.१३अ.)
विचित्राङ्ग–पु., मयूरः (श. र.) व्याघ्रः (श. च.)
विचित्रान्न–पु., खेचरिका
विच्छत्रक–पु., सुनिषण्णकशाकः (ज. द.)
विच्छर्दिका–स्त्री., वमनम् (रा. नि. व. २०)
विच्छल–पु., वेतसलता (र. मा.)
विच्छाय–पु., मणिः
विच्छत्ति–पु., कषायः त्रिका.)
विजनन–न., उत्पत्तिः । प्रसवः
विजपिल–न., पङ्कः (हला)
विजयचूर्ण–न., अर्शसि औषधम् (च. द.)
विजयन्ती–स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. निघ.)
विजयाबन्ध–पु., अपराजिताबन्धनम् (वै. निघ.)
विजयावह–पु , सर्षपः (वै. निघ.)
विजायनी–स्त्री., नवमल्लिका (वै. निघ.)
विजिल–न., दधिप्रकारः । ईषत्सरसव्यञ्जनादि (अम.)
विजिविल–न., विजिलम् (अ. टी. रा. । श. र.)
विजृम्भित–न., चेष्टा (मे.)
विज्ञबुद्धि–स्त्री., जटामांसी (श. च.)
विज्जुलि (ल्लि) का–स्त्री., जन्तुकालता (रा. नि. ३)
विज्ञामर–न., चक्षुषः शुक्लक्षेत्रम् (कश्चित्)
विट–पु., खदिरः । मूषिकः (वै. निघ.) लवणभेदः (मे.) नागरङ्गवृक्षः (श. मा.)
विटमाक्षिक–पु., धातुमाक्षिकम् (हे. च.)
विटलवण–न., विडलवणम् (रा. नि. व. ६)
विटवल्लभा–स्त्री., पाटलीवृक्षः (रा. नि. व. १०)
विटि–स्त्री., पीतचन्दनम् (श. मा.)
विट्–स्त्री., विष्ठा (रा. नि. व. १८ का. नि.)
विट्कता–स्त्री., विष्ठा (मा. ज्वनि.)
विट्खदिर–पु., अरिमेदखदिरवृक्षः विष्ठागन्धखदिरः (भा.)
विट्घात–पु., मूत्राघातः
विट्चर–पु., ग्राम्यशूकरः (अम.)
विट्प्रिय–पु., शिशुमारः (वै. निघ.)
विट्सङ्ग–पु., पुरीषाप्रवृत्तिः (भा. अ. सा. चि.)
विट्सारिका–स्त्री., सारिकाभेदः (जटा.)
विडङ्गादिचूर्ण–न., कासाधिकारः । तत्पाठः– ' विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गुसैन्धवम्। भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया (वा. चि. ३ अ.)

विडार-पु., मार्जारः । सुगन्धमार्जारः न., हरितालः (हे. च.)

विडालक-पु., तदाख्यनेत्ररोगभेदः ' विडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते ' (भा.)

विडालपदक-न., कर्षः, तो. २ (प. प्र. १ ख.)

विडालास्थि-न., मार्जारास्थि (वा. उ. २८.)

विडालिका-स्त्री., भूमिकूष्माण्डः (रा. नि. व. ७)

विडुल-पु.,वेतसवृक्षः (हे. च.)

विड्लवण(न्धि)-न., विडलवणम् (प. मु.)

विड्ग्रह-पु., बद्धकोष्ठता (निदा.)

विड्भेद-पु., पित्तजन्यरोगः (भा.)

विड्लवण-न., विडलवणम् (र. मा.)

विड्वराह-पु., ग्राम्यशूकरः (जटा.)

विड्वल-पु., गोपकः (प. मु.)

विड्विघात-पु., मूत्राघातरोगविशेषः (मा. नि.)

विड्विभेद-पु., विड्विघातरोगभेदः (मा. नि.)

विण्मार्ग-पु., गुदम् (वा. चि. २ अ.)

वितानमूलक-न., कोङ्कणदेशप्रसिद्धं वीरणमूलम् (रा. नि. व. ९)

वितुन्न-न., सुनिषण्णकः (अम.) शेवालः (मे.)

वित्रास-न., हिङ्गुलः

वित्सन-पु., वृषभः (श. च.)

विथ्या-स्त्री., गोजिह्वा (श. च.)

विदंश-पु., व्यञ्जनम् (रा. नि. व. २०)

विद-पु., तिलकवृक्षः (वै. निघ.)

विदग्धाम्लदृष्टि-स्त्री., दृष्टिगतरोमभेदः (वा. उ. १२ अ.)

विदन्ता-स्त्री., वराटकभेदः (रा. नि. व. १३)

विदर-न., विश्वसारकः (श. च.) पु., स्फोटनम् (अम.)

विदरण-न., षिद्रधिः (रा. नि. व. २०)

विदलान्न-न., दाली यथा-' यवगोधूमचणका माषो मुद्गाढकौ तथा । मकुष्ठकः कुलत्थश्च मसूरस्त्रिपुटस्तथा । निष्पावकः कलायश्च विदलान्नं प्रकीर्तितम् (अत्रि. १५ अ.)

विदलित-न., मज्जरक्तपरिप्लुतसद्योव्रणः (वा. उ. २६ अ.)

विदारीद्वय-न., कुष्माण्डभूमिकुष्माण्डद्वयम् (वै. निघ.) (क्षय. चि. शिवगुट्याम्.)

विदारु-पु., कृकलासः (त्रिका.)

विदिक्चङ्ग-पु., हरिद्राङ्गपक्षी (श. च.)

विदु (द्व)-पु., करिगण्डमध्यावकाशः (अ. टी.) अश्वस्य कर्णाधः षडङ्गुलः भागः (ज. द. २ अ.)

विदूरज-न., वैदूर्यमणिः (रा. नि. व. १३)

विदूररत्न-न., वैदूर्यमणिः

विद्धकर्ण-पु., अविद्धकर्णा (भ. द्विरूपकोषः)

विद्धकर्णा (र्णिका, र्णी)-स्त्री., पाठा (भ. द्विरूपकोषः । अम. । रा. नि. व. ६)

विद्धपर्कटी-स्त्री., तिक्तगुञ्जा

विद्धमाक्षिक-न., मद्यम् (वै. निघ.)

विद्यादल-भूर्जवृक्षः (श. मा.)

विद्याधररस-पु., गुल्मे रसः

विद्याधराभ्र-न., शूलाधिकारे औषधम्

विद्यापति-पु., चिकित्साज्ञनप्रणेता

विद्युत्प्रिय-न., कांस्यधातुः (हे. च.)

विद्र-न., छिद्रम् (श. च.)

विद्रधिका-स्त्री., प्रमेहपिडका (सु. नि. ६. अ.)

विद्रधिघ्न (नाशन) पु., शिग्रुवृक्षः शोभाञ्जनवृक्षः (त्रिका)

विद्रुम-पु., प्रबालः (रा. नि. व. १३.) पल्लवम्

विद्रुमफल(ला)-पु., स्त्री., मधुरकुन्दरः (वै. निघ.)

विद्रुमलता (तिका)-स्त्री., नलीनामगन्धद्रव्यम् (अम. रा. नि. व. १२)

विद्रुमवाक्-स्त्री., मधुरकुन्दरः (वै. निघ.)

विद्रुल-पु., वेतसवृक्षः (वै. निघ.)

विद्वान्-पु., वैद्यः (रा. नि. व. २०)

विध-(धा)-पु., स्त्री., ऋद्धिः । हस्त्यन्नम् । वेधनम् (भ. रभसः । मे. । त्रिका.)

विधन-न., मधूच्छिष्टम् (वै. निघ.)

विधवन-न., कम्पनम् (व्याक)

विधस-न., मधूच्छिष्टम् (वै. निघ.)

विधाता-(तृण)-पु., मद्यम् (रा. नि. व. १४)

विधात्री-स्त्री., पिप्पली (श. च.)

विधानिका-स्त्री., बृहती (वै. निघ.)

विधु-पु., कर्पूरः (मे.)

विधु (धू) ति-स्त्री., कम्पनम्

विधु (धू) नन-न., कम्पनम्

विधुफलगुध्वर-पु., सन्निपातज्वरभेदः (भा.)

विधुबन (ल)-न., कंपनम् (जटा. अम.)

विनद-पु., सप्तपर्णवृक्षः (श. च.)

विनया-स्त्री., वाट्यालकः (मे)

विनस–पु., नासाहीनः (जटा.)
विनारुहा–स्त्री., त्रिपर्णिकाकन्दः (रा. नि. व. ७)
विनाश–पु., नाशः (अम.) (क)–त्रि., गतनासिकः (जटा.)
विनाशोन्मुख–न., पक्कम् (अम.)
विनिपात–पु., दैवादिव्यसनम् (मे.)
विनीय–पु., कल्कः (र. मा.)
विन्दु–पु., परिणामभेदः । जलकणा (अम.) भ्रुवोर्मध्यभागः (मे.)
विन्दुचित्रक–पु., मृगविशेषः (श. र.)
विन्दुपत्र–पु., भूर्जवृक्षः (रा. नि. व. ९)
विन्दुफल–न., मौक्तिकम्
विन्दुराजि–पु., राजिमच्छर्पविशेषः (सु. कल्प. ४)
विन्ध्यजात–पु., विभीतकवृक्षः (वै. निघ.)
विन्ध्यवासियोग–पु., राजयक्ष्माधिकारे योगः (रस. र.)
विन्ध्या–स्त्री., लवलीवृक्षः (मे.) एला (हे. च)
विन्याक–पु., सप्तपर्णवृक्षः (श. च.)
विन्विनी–स्त्री., अक्षितारकम्
विपत्ति–स्त्री., विपद् (अम.)
विपदापहा–स्त्री., वनकुलत्थः (वै. निघ.)
विपन्न–पु., सर्पः (मे.) त्रि., विपद्ग्रस्तः
विपरीतमल्लतैल–न., शारीरव्रणाद्यधिकारे तैलम् (कल्क. प्र. १ प.)
विपर्णक–पु., पलाशवृक्षः (श. च.)
विपाण्डुरा–स्त्री., महामेदा (प. मु.)
विपाशा–स्त्री., भारतीयनदीविशेषः (रा. नि. व. ४)
विपिनद्रु–पु., कालशाकः (वै. निघ.)
विपिननृप–पु., आरग्वधवृक्षः (रस. र. ज्व. चि.)
विपुलरस–पु., इक्षुः । कोषान्तरम्
विपूय–पु., बहुपूयता (भा. म. कुष्ठचि.) मुञ्जतृणम् (व्याक.)
विप्रदह–पु., फलमूलादिशुष्कद्रव्यम् (श. च.)
विप्रप्रिय–पु., पलाशवृक्षः (रा. नि. व. २३)
विप्रलम्बी (लोभी) (इन्)–पु., देववर्वूरकः (रा. नि. १०)
विफल–पु., वन्ध्याकर्कोटिका (वै. निघ.)
विबन्धबन्ध–पु., पृष्ठोदरोरःस्थव्रणबन्धनविशेषः
विबन्धवर्ति–स्त्री., अश्वस्य शूलरोगभेदः (ज. द. ४३)
विभाकर–पु., चित्रकवृक्षः । अर्कवृक्षः (अम.) सूर्यः
विभाण्डिका–स्त्री., आढुल्यक्षुपः (वै. निघ.)
विभात–पु., न., प्रभातम्
विभावरी–स्त्री., हरिद्रा (रा. नि. व. ६) मेदा (र. मा.) रात्रिः (अम.)
विभावरीयुग–न., हरिद्रादारुहरिद्रे (भा. १ भ.-ज्व. चि.)
विभावसु–पु., चित्रकवृक्षः । अर्कवृक्षः (मे.) अग्निः सूर्यः (अम.) चन्द्रः (हे. च.)
विमर्द–पु., चक्रमर्दक्षुपः (रा. नि. व. ४) घृतसुक्तकान्वितद्रव्यम् (वा. उ. ३९ अ.)
विमलजाता–स्त्री., स्रावितेन द्रवीकृतखण्डादिः (सु. सू. ४५ अ.)
विमलमणि–पु., कर्पूरमणिः (रा. नि. १३)
विमलाशन–पु., शिरीषवृक्षः (र. मा.)
विमुक्त–पु., माधवीलता
विम्बिनी–स्त्री., नेत्रकनीनिका (रा. नि. व. १८)
विम्बु–स्त्री., गुवाकः (कश्चित्)
विम्लापन–न., अङ्गुल्यादिविमर्दनेन शोथविलायनम् (सुचि. १ अ.)
वियच्चारी (इन्)–पु., चक्रवाकपक्षी (श. मा.)
विरजा–त्रि., विगतार्तवा (जटा.)
विरजा–स्त्री., दूर्वा (हरा.) गन्धविरजा (भैष. बाजीपल्लवसारतैले.) कपित्थालीवृक्षः (र. मा.)
विरठ–पु., तिलकवृक्षः (वै. निघ.)
विरण–न , वीरणमूलः (प. मु. रस. व. वा' व्या. चि.) (गंधराजतैले.)
विरदा–स्त्री., अश्वगन्धा (कश्चित्)
विरलद्रवा–स्त्री., विरलद्रवयवागुः (जटा.)
विरा–स्त्री., मद्यम् (रा. नि. व. १४)
विराटक–न., कान्तपाषाणः (र. सा. सं,)
विराटज–पु., राजपट्टमणिः (त्रिका.)
विरान्तक–पु., अर्जुनवृक्षः (वै. निघ.)
विराध (धा) न–न., पीडा (श. र.)
विराल–पु., विडालः (अ. टी.)
विरुक्–पु., ईहामृगः (रा. नि. व. १९)
विरुद्धता–स्त्री., विरुद्धं नाम यत् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विपरीतम् (च. वि. ८ अ.)
विरुद्धा (ध्य) शन–न., विरुद्धभोजनम् (राज. ३ अ.)
विरूपाक्ष–पु., अश्वस्य दुष्टग्रहभेदः (ज. द. ५७ अ.)
विरूपी (इन्)–पु., जाहकः (रा. नि. व. १९)
विरूक्षण–न., रूक्षीकरणम् (वा. उ. ३२ अ.)
विरेकी (इन्)–पु., कम्पिल्लकम् (वै. निघ.)

विरेचक–पु., विरेककारी
विलया–स्त्री., बला (र. मा.)
विललला–स्त्री., श्वेतबला
विलवास–पु., जाहकजन्तुः (रा. नि. व. १९)
विलाल–पु., विडालः (अ. टी.)
विलासिनी–स्त्री., हरिद्रा (रा. नि. व. ६) शङ्खपुष्पी (वै. निघ.)
विलिखा–स्त्री., मत्स्यभेदः (इल्लीश इति कश्चित् वै. निघ.)
विलेप (न)–पु., न., सुगन्धलेपनद्रव्यम् (अम.)
विलेप्य–पु., यवागुः (श. र.) स्त्री., **विलेपी** (च. द. वमने.)
विलोटक–पु., वल्लीगडमत्स्यः (श. च.)
विलोडन–न., आलोडनम् वायुजन्यव्रणवेदनाविशेषः (सु. सू. २२ अ)
विलोमी–स्त्री., आमलकी (मे.)
विल्ल–न., विडङ्ग (प. मु.) हिङ्गुः (श. र.)
विल्लक–न., विषम् (प. मु.)
विल्लमूला–स्त्री., वाराहीकन्दः (श. च.)
विवर्तितसन्धि–पु., सन्धिमुक्तभग्नरोगविशेषः (सु. नि. १६)
विवस्वान्–पु., अर्कवृक्ष (अम.)
विविधविषापहा–स्त्री., निर्विषीवृक्षः (अम.)
विश–न., रौप्यम् (वै. निघ.) मृणालम् (अ. टी. रा.) (सु. चि. ११ अ.) पु., मनुष्यः
विशद–न., काशीषम् (वै. निघ.) पु., निर्मलम् (मे)
विशर्द्धन–न., गुदेकुत्सित शब्दकरणम् (सु. नि. ३ अ)
विशल्यकरणी–स्त्री.. ओषधिविशेषम् (रामायणम्)
विशल्यकृत्–पु., भूपलाशः आस्फोतकः (र. मा.)
विशाकर–पु., हस्वदन्ती (रा. नि. व. ६) हस्तिशुण्डी (प. मु.) पाटलावृक्षः (भा. म. ४ भ. गर्भचि) भद्रचूडवृक्षः (श. च.)
विशाख–पु., पुनर्नवा (रा. नि. व. ५) स्कन्दापस्मारः (सुउ. ३७ अ.)
विशाखग्रह–पु , विल्ववृक्षः (वै. निघ.)
विशाखज–पु., नागरङ्गवृक्षः (श. च.)
विशाखपत्र–पु., बालरोगभेदः (निदा.)
विशाखा–(खका)स्त्री.,–श्वेतरक्तपुनर्नवा (वै. निघ. २) (भ. वा. व्या. चि.) षडशीतिगुंगुलौ) कृष्णापराजिता (वै. निघ.) कठिल्लकवृक्षः (मे.) तन्नामनक्षत्रम् (अम.)
विशाचिका–स्त्री., माषपर्णी
विशालतैल गर्भ–पु., आङ्कोटवृक्षः (रा. नि. व. ९)
विशालत्वक्–पु., सप्तपर्णवृक्षः
विशिखपुङ्खा–शरपुङ्खा (भा. म. ४ भ. वन्ध्याप्रतीकारे)
विशिष्ट पत्र–पु., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (हारा.)
विशोधनी बीज–न., जैपालीबीजम् (वैद्यकम्)
विश्राम–पु., आयासग्रहणम् (राज. २ प.)
विश्लेषण–न.. वायुजन्यव्रणवेदना (सुसु. २२ अ) पृथक्करणम्
विश्वकद्रु–पु., मृगयानिपुणकुक्कुरः (अम.)
विश्वका–स्त्री., गङ्गाचिल्ली (हारा.)
विश्वक्सेना–स्त्री., प्रियङ्गुलता (कश्चित्)
विश्वग्वायु–पु., सर्वतोगामिवायुः (राज.)
विश्वची–स्त्री., तदाख्यवातव्याधिविशेषः द्र० विश्वाची
विश्वजा–स्त्री., शुण्ठी (सा. कौ. वा. ज्व. चि.)
विश्वतुलसी–स्त्री., तुलसीभेदः । मधुरतुलसी (कश्चित्)
विश्वमदा–स्त्री., अग्निजिह्वालता
विश्वरोचन–पु., पेचुकः (त्रिका.) नाडीचशाकः
विश्ववर्णा–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
विश्वसारक–न., विदरवृक्षः (श. च.)
विश्वस्था–स्त्री., शतावरी (रा. नि. व. ४)
विश्वादि–पु , कषायविशेषः (च. द. पि. ज्व. चि.)
विश्वामित्रप्रिय–पु., नारिकेलवृक्षः (श. र.)
विश्वाह्वा–स्त्री., शुण्ठी (वै. स. बाहुशाल गुड)
विश्वोर–पु., रक्तार्क (र. मा.)
विषकङ्खाखोलिका (ली) स्त्री., वृक्षविशेषः (नकुल १६ अ)
विषकण्टका (किनी, की)–स्त्री., वन्ध्याकर्कोटिका (रा. नि. व. ३.)
विषकण्टालिका (ली) स्त्री., विषकण्टालीति प्रसिद्ध-वृक्षः (र. सा. सं. स्वच्छन्दभैरवरसे)
विषकण्ठी–स्त्री., बलाका (रा. नि. व. १९)
विषगन्धक–पु., हस्वसुगन्धतृणम् (वै. निघ.)
विषगन्धा–स्त्री., कृष्णगोकर्णी (वै. निघ.)
विषग्रन्थि–पु., मृणालपर्व (च. द. यक्ष्म चि.) (बलाद्यघृते)
विषघा–स्त्रीं., गुडूची (श. च.)
विषधाती–(इन्) पु , शिरीषवृक्षः (श. मा.)
विषचक्रक–पु., चकोरपक्षी (वै. निघ.)

विषजिह्व–पु., देवताडवृक्षः (र. मा.)
विषज्वर–पु., तन्नामकागन्तुज्वरः (श. र.)
विषण्ड–न., मृणालम् (श. र.)
विषतन्त्र–न., तन्नामसर्पादिविषोपशमनतन्त्रभेदः (वैद्य सं. २ अ.)
विषतरु–पु., कुचेलकवृक्षः (भैष. वातरक्तचि.) (विषतिन्दुकतैल)
विषतिन्दुकज–न., मधुरतिन्दुकफलम् (र. सा. सं) (त्रैलोक्यडम्बररसे । गलत्कुष्ठारिरसे)
विषदंश–(क)–पु., मार्जारः (वै. निघ.)
विषदंष्ट्रा–स्त्री., सर्पकङ्कालिका (प. मु.) (र. सा. सं) नागदमनी (वै. निघ.)
विषदन्त–(क)–पु., विडालः (वै. निघ.) सर्पः (श. च.)
विषदमूला–स्त्री., बहुमूलमाकन्दी (रा. नि. व. ७)
विपदर्शनमृत्युक–पु., चातकपक्षी (हे. च.)
विषधर–पु., सर्पः (अम.)
विषधर्मा–स्त्री., शुकशिम्बी (श. च.)
विषध्वंसी (इन्)–पु., नागरमुस्ता (वै. निघ.)
विषनाशन–पु., शिरीषवृक्षः (प. मु.) माणकम् (प. मु.)
विषनाशिनी–स्त्री., सर्पकङ्काली (श. च.) बन्ध्याकर्कोटिका (वै. निघ.)
विषनुत्–पु., श्योणाकवृक्षः (श. च.)
विषभिषक्–पु., विषवैद्यः (हे. च.)
विषभुजङ्ग पु., विषधरसर्पः (वैद्यकम्)
विषमाधुर–न., शृङ्गीविषम् (भैष. ज्व. चि. पानीयवट्याम्.)
विषमाधूक–न., द्रव्यविशेषः । विगमा इतिलोके (भैष. शिरो. रोचि. किङ्किणीतैले.)
विषमुष्कक–पु., मदनवृक्षः (वै. निघ.)
विषमूला–स्त्री., शिरामलकम् (प. मु.)
विषमृत्यु–पु., जीवञ्जीवपक्षी (त्रिका.)
विषमच्छद–पु., सप्तपर्णवृक्षः (प. मु.)
विषमज्वराङ्कुशलौह–न., विषमज्वरे औषधम् (रस. चि.)
विषमज्वरान्तकरस–पु., विषमज्वरे पुटपक्वम् औषधम्
विषमभोजन–न., विषमाशनम् (मा. नि.)
विषमवल्कल–पु., करुणनिम्बुकः (प. मु.)
विषमवेग–पु., न्यूनाधिकवेगः (मा. नि.)
विषमा–स्त्री., सौवीरबदरम् (भा.)
विषमाशुकर–पु., ग्रन्थिपर्णमूलम् (वै. निघ.)
विषमोभयकण्टक–पु., घण्टाबदरः (वै. निघ.)
विषयि–न., इन्द्रियम्
विषयेन्द्रिय–न., शब्दादिग्राहकेन्द्रियाणि (रा. नि. व. १८)
विषरूपा–स्त्री., अतिविषा (रा. नि. व. ६) महानिम्बुकः बृहदलम्बुषा । कर्कोटी (वा. सू. १५ अ.) सुरसादिः (अरुणः)
विषरोग–पु., विषजन्यरोगमात्रम्
विषल–न., विषम् (श. च.)
विषलिप्तक–न., विषसञ्चरणम् (वा. उ. २६ अ.)
विषवज्रपात–पु., रसः (रस. र. विष. चि.)
विषवर्त्म (न्)–न. नेत्रवर्त्मगतरोगविशेषः (भा.)
विषविद्या–स्त्री., विषघ्नमन्त्रभेदः । विषविज्ञानशास्त्रम्
विषवृक्ष–पु., उदुम्बरवृक्षः (प. मु.)
विषवैद्य–पु., विषमन्त्राभिज्ञः वैद्यः (अम.)
विषसैरिणी–स्त्री., निर्विषा (रा. नि. व. ६)
विषशाल्मूक–पु., पद्मकन्दः
विषशूक–पु., भृङ्गरोलः
विषशोकापह–पु., तण्डुलीयवृक्षः (वै. निघ.)
विषसंयोग–पु., सिन्दूरम् (वै. निघ.)
विषसूचक–पु., चकोरपक्षी (हे. च.)
विषसृक्का (क्कन्)–पु., भृङ्गरोलः (त्रिका)
विषस्फोट–पु., स्फोटकभेदः (भा.)
विषहर–पु., ग्रन्थिपर्णभेदः (त्रि.,) विषघ्नौषधादिः
विषहरा (हा)–स्त्री., देवदालीलता (रा. नि. व. ३) निर्विषा (रा. नि. व. ६)
विषहरी–स्त्री., मनसादेवी (श. र.)
विषहरीवर्त्ति–स्त्री., विषे हिता (रस. चि.)
विषहारक–पु., भूकदम्बः (वै. निघ.)
विषहारिणी–स्त्री., निर्विषा (वै. निघ.)
विषा–स्त्री., अतिविषा (रा. नि. व. ६)
विषाख्या–स्त्री–शुक्लकन्दातिविषा (वा. सू. १५ अ. । मुस्तादिः (वा. उ. ५ अ.)
विषाङ्कर–पु., शल्याख्यम् (त्रिका)
विषानन–पु., सर्पः (श. मा.)
विषान्न–न., सर्षपादिः
विषाभावा–स्त्री., निर्विषा (रा. नि. व. ६)
विषायुध–पु., सर्पः (श. र.)
विषार–पु. सर्पः (श. च.)
विषारति–पु., कृष्णधुस्तूरवृक्षः (रा. नि. व. १०)

विषारि-पु., महाचुञ्चुशाकः (रा. नि. व. ४) घृतकरञ्जः (रा. नि व. ९)
विषाला-स्त्री., मत्स्यविशेषः (अत्रि. २२ अ.)
विषास्य-पु., सर्पः (श. र.)
विषास्या-स्त्री., भल्लातकवृक्षः । (श. च.)
विषौषधी-स्त्री., नागदन्ती । हस्तिशुण्डी (र. मा.)
विष्कल-पु., ग्राम्यवराहः (रा. नि. व. १९)
विष्कलन-न., भोजनम् (त्रिका.)
विष्टर-पु., अर्कवृक्षः (रा. नि. व. १० वृक्षः (त्रिका.)
विष्टरा-स्त्री., गुण्डासिनीतृणम् (रा. नि. व. ८)
विष्टाभुक्-(शी)-पु., ग्राम्यशूकरः (वै. निघ.)
विष्टारुहा-(स्त्री.,) सुवर्णकेतकी (रा. नि. व. १०)
विष्ठेष्टा-स्त्री., हरिद्रा (वै. निघ.)
विष्णुतैल-न., वातव्याधौ तैलम् । पाठः- ' शालपर्णी पृश्निपर्णी बला गोरक्षतण्डुला । एरण्डस्य च मूलानि बृहत्योः पूतिकस्य च । शतावरी सहचरं पचेदेतैः पलोन्मितैः । तैलप्रस्थं पयो दत्वा गव्यं वाजं चतुर्गुणम् (रस. र.)
विष्णुपद-न., आकाशम् (अम.) पद्मम् (हे. च.)
विष्णुपर्णिका-स्त्री., पृश्निपर्णी (वै. निघ.)
विष्णुपर्णी-स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
विष्णुप्रिया (हिता)-स्त्री., तुलसीवृक्षः (वै. निघ.)
विष्णुलिङ्गी-स्त्री., वर्तिकापक्षी (त्रिका.)
विष्णुवल्लभा-स्त्री., तुलसीवृक्षः (रा. नि. व. १०) अग्निशिखा (श. च.)
विष्वग्वायु-पु., घूर्णितवातः (राज. २प.)
विसङ्कट-पु., इङ्गुदीवृक्षः (रा. नि. व. ८) सिंहः (श. च.)

विसर्पघ्न-पु., मधूच्छिष्टम्
विसर्पज्वर-पु., तज्जन्यागन्तुज्वरः
विसर्पण-न., कायसञ्चरणम् । तन्तुव्रण विटपादेः विसर्पणम् (भ.)
विसार-पु., मत्स्यः (अम.) (रा. नि. व. ४)
विसुन्दल-पु., सिन्दुवारवृक्षः (निसिन्दा.)
विस्तारी (इन्)-पु., वटवृक्षः (वै. निघ.)
विस्तीर्णपर्ण-न., माणकन्दः (श. च.)
विस्फा (स्फु) रक-पु., वातोल्बणसन्निपातज्वरः (भा. म. १ भ.)
विस्फुरणी-स्त्री., **विस्फूर्जनी**-स्त्री., } तिन्दुकवृक्षः (वै. निघ.)
विस्फुरित-न., काण्डभग्नास्थि भङ्गभेदः
विस्फोटज्वर-पु., तज्जन्यागन्तुज्वरः
विस्रगन्ध-(न्धा, न्धि)-पु., स्त्री., पलाण्डुः (रा. नि. व.) गोदन्तहरितालः (हे. च.) हबुषा (रा. नि. व. ४)
विस्रगन्धक-पु., गोदन्तहरितालः (रा. नि. व. २३.)
विस्रसा-स्त्री., जरा (अम.)
विरस्रा-स्त्री., हबुषा (रा. नि. व. ४)
विस्राव-पु., अन्नमण्डम् (वै. निघ.)
विहग-(ङ्गम)-पु., पक्षी (अम.)
विहङ्ग--न., स्वर्णमाक्षिकम् (रस. कौ.) (ज्वरान्तकरसे)
विहङ्गमा-स्त्री., भारयष्टी (शर.)
विहायस-पु., पक्षी न., आकाशम् (त्रिका.)
वीक्ष-पु., दृष्टिः (व्याक.)
वीजकर-पु., माषव्रीहिः (वै. निघ.)
वीजका-स्त्री., कपिलद्राक्षा (वै. निघ.)
बीजकाह्व-पु., मातुलुङ्गवृक्षः (वै. निघ.)
वीजकृत्-न., वाजीकरणम् (रा. नि. व. २०)
वीजकोश-(ष)-पु., पद्मकर्णिका
वीजगुप्ति-स्त्री., धान्यादिकञ्चुकी । शिम्बी (रा. नि. व. १६)
वीजद्रुम-पु., असनवृक्षः (रा. नि. व. २३)
वीजपूरफल-न., मातुलुङ्गफलम् (म. द. व. ६)
वीजपेशिका-स्त्री., वृषणम् (रा. नि. व. १८)
वीजमातृका-स्त्री., पद्मबीजम् (हारा.)
वीजरत्न-(वर)-पु., न., माषकलायः (हे. च.)
वीजरुह-पु., शालिधान्यादिः (हे. च.)
वीजाख्य-पु., जैपालवृक्षः (न.) तद्बीजम्
वीजाविक-पु., उष्ट्रः (वै. निघ.)
वीजोदक-न., करका (मे.)
वीटि (टी)-स्त्री., ताम्बुललता सज्विततास्बूलम् । (शब्दकल्पद्रुमः)
वीतन-पु., कूकपार्श्वयोः
वीतशोक-पु., अशोकतरुः (श. मा.)
वीति-.पु, घोटकः (हे. च.)
वीतिका-स्त्री., यष्टिमधु । नीलिका (वै. निघ.)
वीरतण्डुलनामा(न-) पु., तण्डुलीयशाकक्षुपः(कश्चित्)
वीरनायक-पु., उशीरम् (वै. निघ.)
वीरपत्रा (त्री)- स्त्री., विजया (रा नि व ६) धारणीनाममहाकन्दः (रा. नि. व. ७)
वीरपादप-पु., बिल्वान्तरवृक्षः (वै. निघ.)

वीरपुष्पा (ष्पी)– स्त्री., बाह्यालकभेदः । महाबला (वै. निघ.) सिन्दूरपुष्पीवृक्षः (रा. नि. व. १०)
वीरभद्र–पु., वीरणम् (भे)
वीरभद्रक–न., वीरणम् (जटा.)
वीरभद्ररस–पु., सन्निपातज्वरे रसः (रस. चि.)
वीरवती–स्त्री., मांसरोहिणी (भा.)
वीरवल्ली–स्त्री., देवदाली (वै निघ.)
वीरवेतस–पु., अम्लवेतसः (रा. नि. व. ६)
वीरशाक–पु., वास्तूकशाकः (वै. निघ.)
वीरसिंह–पु., वीरसिंहावलोकनप्रणेता
वीरसिंहावलोकन–न., वीरसिंहकृतवैद्यकग्रन्थः
वीराम्ल–पु., अम्लवेतसः (रा. नि. व. ६)
वीरायतच्छदा–स्त्री., कदलीवृक्षः (वै. निघ.)
वीररुक–न., आरुकम् (रा. नि. व. ११)
वीरास्राव–पु., कुमारीनिर्यासः
वीरी–स्त्री., ब्रह्मरौती
वीरुपत्रिका–स्त्री., चुञ्चुशाकः (रा. नि. व. ४)
वीरेश्वररस–पु., पित्तश्लेष्मज्वरे रसः
वीर्य्या–स्त्री., वीर्यम् (अ. टी. भ.)
वीहा–स्त्री., वनकुलत्थः (वै. निघ.)
वृंहणीयवर्ग–पु., बृंहणाय हिते कषायवर्गः (च. सू. ४ अ.)
वृकदंश–पु., कुक्कुरः (हे. च.)
वृकदन्ती–स्त्री., पाठा (वै. निघ.)
वृकधूप (क)–पु., बहुसुगन्धद्रव्यकृतसुगन्धधूपः (अम) सरलद्रवः (अम.)
वृकधूर्त्त–पु., शृगालः (हारा.)
वृकाक्षी–पु., त्रिवृत् (र. मा.)
वृकारांति (रि)–पु., कुक्कुरः (रा. नि, व. १९)
वृकि (की)–स्त्री., पाठा (वै. निघ.) (२ भ. वा. व्या. चि. महारास्नादौ.)
वृक्का–स्त्री., नागदमनी । महासमङ्गा
वृक्ष–पु., तरुः (रा. नि. व.) धववृक्षः (र. मा.)
वृक्षक–पु., श्वेतकुटजवृक्षः (र. मा. च. कल्प. अ.) नन्दिवृक्षः (धन्वतरि.)
वृक्षकवीज–न., इन्द्रयवः
वृक्षचर– पु., वानरः (धनञ्जयः)
वृक्षतपन–पु., कर्णिकारवृक्षः (वै. निघ.)
वृक्षधूमक – न., शैवालः (वै. निघ.)
वृक्षनाथ–पु , वटवृक्षः (श. च.)
वृक्षपाक–पु., वटवृक्षः (श. च.)
वृक्षभक्षा–स्त्री., बन्दा (भा.)
वृक्षभेदी–(इन्) पु., वृक्षादनः (अम.) अश्वत्थवृक्षः (कश्चित्)
वृक्षमूद्भू–पु., जलवेतसम् (श. च.)
वृक्षराज– पु., महामेदा, द्वीपान्तरवचा (वै. निघ.)
वृक्षवान्–पु. पर्वतः (रा. नि. व. २)
वृक्षवीरा–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
वृक्षामय–पु., लाक्षा (वै. निघ.)
वृक्षायुर्वेद– पु., वृक्षरोपणपोषणादिशास्त्रम्
वृक्षार्हा–स्त्री., महामेदा (रा. नि. व. ५)
वृक्षाश्रयी (इन्) पु.. क्षुद्रोलूकः (रा. नि. व. १९)
वृक्षोत्पल–पु., द्रुमोत्पलम् (र. मा.)
वृजन–पु., केशः (उणा.)
वृजिन–पु., न., केशः (मे.)न., शोणितम् रक्तचर्म(हेच.)
वृतपत्रा–स्त्री., पुत्रदात्रीलता
वृतिङ्कर–पु., विकङ्कतवृक्षः
वृत्तक–न., वेत्रम् (वै. निघ.)
वृत्तका–स्त्री., उपोदकी (वै. निघ.)
वृत्तकोष–पु., पीतदेवदाली (भा.)
वृत्ततुम्बी–स्त्री., वृत्तालाबुः (वैं. निघ.)
वृत्ततृण–न., गुण्डतृणम् (वै. निघ.)
वृत्तनिष्पाविका–स्त्री., नखनिष्पावी, ह्रस्वशिम्बी (रा. नि. व. ७)
वृत्तपत्र–पु., उत्तमशाकविशेषः (प. मु.)
वृत्तपर्णिका–स्त्री., अजान्त्रीलता (रा. नी. ३)
वृत्तपक्ष–पु., क्षुद्रशङ्खः (वै. निघ.)
वृत्तभोजन–पु., गण्डीरः (श. च.)
वृत्तयुग्म–पु., वातामवृक्षः (वै. निघ.)
वृत्ता–स्त्री., मांसरोहिणी । प्रियङ्गुलता (रा. नि. व. १२) श्वेतनिष्पावः (रा. नि. व. १६) झिञ्झिरीटाक्षुपः (रा. नि. व. ४) नागदमनी (रा. नि. व. ५) रेणुका (रा, नि. व. ६ । वै. निघ. २ भ. वा. व्या. चि. वातारिरसे.) हस्तिकोशातकी (रा. नि. व. ७)
वृत्तिस्थ–पु., कृकलासः (रा. नि. व. १९)
वृत्तेर्वारु–पु., खर्मूजावृक्षः (रा. नि. व. ७)
वृत्रभोजन–पु., गण्डीरशाकः
वृथार्तवा–स्त्री., वन्ध्यास्त्री (रा. नि. व. १८)
वृद्धकण्ट–(क)–पु., इङ्गुदीवृक्षः (वै. निघ.)
वृद्धकर्णिका–स्त्री., पाठा (रा. नि. व. ६)
वृद्धकाक–पु., द्रोणकाकः (हे. च.)
वृद्धकोटरपुष्पी–स्त्री., नीलबुह्मा । वृद्धदारकः

वृद्धतिक्ता-स्त्री., पाठा (वै. नि. घ.)
वृद्धत्व-न., वार्द्धक्यम् (अम.)
वृद्धदारक-पु., वृद्धदारु श्वेतरक्तभेदेनद्विधा (रानिव३)
वृद्धदारकादिलौह-न , ऊरुस्तम्भाधिकारे औषधम् (रस. र.)
वृद्धधूप-पु., वृद्धदारुः, श्वेतरक्तभेदेनद्विधा (रानिव. ३)
वृद्धधूमा-स्त्री., श्लेष्मातकवृक्षः (वै. निघ.)
वृद्धनाभि-त्रि., उच्चनाभिः (अम.)
वृद्ध (द्धि) बला-स्त्री., महासमङ्गा (रा. नि. व. ४) महाबला (वै. निघ.)
वृद्धराज-पु., अम्लवेतसः (कश्चित्)
वृद्धवाहन-पु., आम्रवृक्षः (कश्चित्)
वृद्धविभीतक-पु., आम्रातकवृक्षः (श. मा.)
वृद्धसूत्रक-न., इन्द्रतूलकम् (हारा.)
वृद्धा स्त्री., पञ्चाशतोर्ध्वा प्राचीना (भा.) महाश्रावणिका (रा नि. व ५) अङ्गुष्ठः (श. र.)
वृद्धाङ्गुलि-स्त्री., अङ्गुष्ठाङ्गुलिः (श. र.)
वृद्धिका-स्त्री. शुद्धपुष्पी । अर्कपुष्पी (वै. निघ) ऋद्धिः (श. मा.)
वृद्धिद-पु., जीवकनामहस्वक्षुपः (रा. नि. व. ५) वाराहीकन्दः (रा. नि. व. ७)
वृद्धिभाक्-स्त्री., वृद्धौषधिः (नकुल १० अ.)
वृद्धैला-स्त्री., स्थूलैला (वै. निघ.)
वृधसान-पु., मनुष्यः (उणा.)
वृन्तिका-स्त्री., कटुका (श. च.)
वृन्दा-स्त्री., तुलसीवृक्षः (श. र.) वृक्षोपरिजातलता (वै. नि.)
वृवूक-न., जलम्
वृश-पु., वासकवृक्षः (अ. टी. भ.) उन्दरुः (श. र.) स्त्री., वासा (उणा.)
वृश्चि-पु.,रक्तपुनर्नवा (वै. निघ. कास. चि. कण्टकारीघृते)
वृश्चिकप्रिया-स्त्री., पूतिका (श. मा.)
वृश्चिकविषापहा-स्त्री., महारास्ना नाकुली (वै. निघ.)
वृश्चिकाहिविषापहा-स्त्री., नाकुली (वै. निघ.)
वृश्चिपत्री (र्णी)-स्त्री., वृश्चिकाली (प. मु. र. मा.) लघुमेषशृंङ्गी (वै. निघ.)
वृश्री-स्त्री., वृश्चीरक्षुपः (वा. चि. ३ अ.)
वृश्रीद्वय-न., वृश्चीरयुगलम् । श्वेतरक्तपुनर्नवाद्वयम् (चि. क. क. १ स्त. ३ अ.)
वृषगन्धा(न्धिका)-स्त्री., छगलान्त्री (रा. नि. व. ३) अतिबला (वै. निघ.)
वृषदंश(क)-पु., बिडालः (अम.)
वृषध्वाङ्क्षा(ङ्क्षी)-स्त्री., नागरमुस्ता (रा. नि. व. ६)
वृषनाशन-पु., विडङ्गः (श. मा.)
वृषपत्रिका-स्त्री., वसान्त्री (रा. नि. व, ३)
वृषपर्णी-स्त्री., आखुकर्णीलता (प. मु.) कृष्णदन्ती (र. म.)
वृषपर्वा-(न्)-पु., कशेरुः (विश्व.)
वृषभध्वजा-स्त्री., महादन्तीवृक्षः (वै. निघ.)
वृषभपल्लव-पु., वासावृक्षः (वै. निघ. २ भ. क्षय. चि. वसन्तकुसुमाकररसे.)
वृषमूल-न., वासामूलम् (वातरक्त. चि. रुदतैले)
वृषल-पु., गृञ्जनः घोटकः (मे.)
वृषलोचन-पु., मूषिकः (हे, च)
वृषवीभत्स-पु., कपिकच्छूभेदः (वै. निघ.)
वृषसार-पु., शुक्लवटः । देवकुम्भाख्यवृक्षभेदः (वै. निघ.)
वृषाकी (इन्)-पु., भृङ्गरोलः (श. मा.)
वृषस्यन्ती-स्त्री.. अतिकामुका (अम.)
वृषा (न्)-पु., घोटकः । वृक्षः (हे. च.) कर्णः (मे.)
वृषाकपायी-स्त्री.. शतावरी, जीवन्ती (मे.)
वृषाकर-पु., माषः (रा. नि व. १६)
वृषाङ्क-पु., पानीयभल्लातकः । षण्ढः (मे.)
वृषादनी-स्त्री., इन्द्रवारुणी
वृषायण-पु., चटकपक्षी (हारा.)
वृषाहार-पु., विडालः (हारा,)
वृषी (इन्)-पु., मयूरः (श. मा.)
वृष्टिका-स्त्री., अरण्यशणपुष्पी
वृष्टिकाल-पु., वर्षर्तुः
वृष्टिघ्नी-स्त्री., क्षुद्रैला (श. च.)
वृष्टिजीवन-पु., चातकपक्षी
वृष्टिभू-पु., भेकः (हारा.)
वृष्णि-पु., मेषः (अम')
वृष्यचण्डी-स्त्री., महामूषिककर्णी (वै. निघ.)
वृष्यपर्णी-स्त्री., भूमिकूष्माण्डः (वै. निघ.)
वृष्यफला-स्त्री., आमलकीवृक्षः (वै. निघ.)
वृहच्चित्त-पु., फलपूरम् (श. च.)
वृहच्छतावरीघृत-न., असृग्दराधिकारे घृतम् (च. द. असृग्दर. चि.)
वृहच्छफरी-स्त्री., महाप्रोष्टीविशेषः (राज.)
वृहच्छल्क-पु., चिङ्गटमत्स्यः (जटा.)
वृहच्छालपर्णी-स्त्री., महाशालपर्णी
वृहज्जीरक-न., स्थूलजीरकः (भा. वाजी. चि.)

वृहतिका-स्त्री., वार्त्ताकी
वृहत्कालशाक-पु., महाकासमर्दः (त्रिका.)
वृहत्काश पु., खग्गडतृणम् (प. मु.)
वृहत्कुक्षि-त्रि., तुन्दिलः (अम.)
वृहत्खर्जूरिका-स्त्री., राजखर्जूरिका (वै. निघ.)
वृहत्गोधूम-पु., महागोधूमः
वृहत्तृण-पु., वंशतृणम् (श. च.)
वृहत्त्वच-पु., निम्बवृक्षः (प. मु.)
वृहत्धुस्तूरक-पु., राजधुस्तूरः
वृहत्पञ्चमूल-न., बिल्वाग्निमन्थटुण्टुक- (श्योणाक) पाठाकाश्मरीच (सु. सू. ३८ अ.)
वृहत्पत्रा-स्त्री., त्रिपर्णिका (रा. नि. व. ७) कासमर्दक्षुपः (वै. निघ.)
वृहत्पर्णी-स्त्री., महाशणपुष्पीविशेषः (रा. नि. ४.)
वृहत्पाटलि-(**ली**)-पु., स्त्री., धुस्तूरवृक्षः (त्रिका.)
वृहत्पाद-पु., वटवृक्षः (श. च.)
वृहत्पारे (**ले**) **वत**-न., महापारेवतफलम् (रा. नि. व. ११)
वृहत्पाली (**न**)-पु., वनजीरकक्षुपः (रा. नि. ११)
वृहत्पुष्प-पु., महाकूष्माण्डः (वै. निघ.)
वृहत्फल-न., कूष्माण्डः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
वृहद्गुल-पु., कर्मरङ्गवृक्षः (श. च.)
वृहदेला-स्त्री., स्थूलैला (रा. नि. व. ६)
वृहद्वोल-न., तरम्बुजः (श. च.)
वृहद्वन्ती-स्त्री., एरण्डपत्रविटपदन्तीविशेषः
वृहद्द्रोणी-स्त्री., द्रोणीपरिमाणम् (१२८ श.)
वृहद्धान्य-पु., क्षेत्रेक्षुः । महाशालिः (प. मु.)
वृहद्वर-न., महाकोलीफलम् (मद. ब. ६)
वृहद्वला-स्त्री., महाबला (सि. यो. उन्मा. चि.-चैतसघृते) शुक्रोध्रः । लज्जालुका (वै. निघ.)
वृहद्भण्डी-स्त्री., त्रायमाणालता (प्रयोग.) (कनकतैले.)
वृहद्भानु-पु., अग्निः, चित्रकवृक्षः (अम.)
वृहद्भाव-(**वी**) (**इन्**)-पु., क्षुद्रपेचकः (रा. नि. व. १९)
वृहद्भूर्ण-पु., माक्षिकनामोपधातुः (र. सा. सं.)
वृहद्वल्कल-पु., पट्टिकालोध्रम् (रा. नि. व. ६) सप्तपर्णवृक्षः (वै. निघ.)
वृहद्वल्ली-स्त्री., कारवल्ली (मद.)
वृहद्वात-पु., देवधान्यम् (र. मा.)
वृहद्वीज-पु., आम्रातकवृक्षः
वृहन्नल-पु., महापोटगलः (मे.)
वृहन्निम्ब-पु., महानिम्बः (वै. निघ.)
वृहन्नीली-स्त्री., महानीलीवृक्षः
वृहन्मरीच-पु., मरीचः (वै. निघ.)
वृहल्लोनी-स्त्री., लोनीशाकभेदः (ज. द. ५७ अ.)
वेकट-पु., मत्स्यभेदः (मे.)
वेगनाशन-पु., श्लेष्मा (श. र.)
वेगनिरोध-पु., वेगाविधारणम् (निदानम्)
वेगिहरिण-पु., श्रीकारिमृगः (रा. नि. व. १९)
वेजानी-स्त्री., सोमराजी
वेट्टचन्दन-न., श्रीखण्डचन्दनान्यतरचन्दनम् (रा. नि. व. १२.)
वेढमिका-स्त्री., रोटिकाविशेषः (भा.)
वेणि-स्त्री., देवदाली (बा. कल्प १ अ.)
वेणिवेधनी-स्त्री., जलौका
वेणीग (**मूलक**)-न., उशीरः (रा. नि. व. १२)
वेणीफल-न., देवदालीफलम् (वै. निघ. २ भ. कामलानस्ये)
वेणीर-पु., अरिष्टम् (श. च.)
वेणुकर्कर-पु., करीरवृक्षः (त्रिका.)
वेणुनिःसृत-पु., इक्षुः (वै. निघ.)
वेतन-न.-रौप्यम् (श. च.)
वेतसी-स्त्री., वेतसवृक्षः (श. र.)
वेतालग्रह-पु., भूतग्रहविशेषः (वा. उ. ४ अ.)
वेतालरस-पु., कुष्ठाधिकारे रसः (र. सा. सं.)
वेत्रक-पु., रामशरः (वै. निघ.)
वेत्रमूला-स्त्री., शङ्खिनी (वै. निघ.)
वेत्रविष-न., तन्नामकपुष्पविषभेदः (सु. कल्प. २. अ.)
वेत्राग्र-न., नाडीशाकविशेषः (राज. ३ प.)
वेदनाधिष्ठान-न., मनोदेहेन्द्रियादिः
वेदयिता-त्रि., मनसः प्रवर्त्तकः (सु. शा. ३ अ.)
वेदार-पु., कृकलासः (त्रिका.)
वेदि-स्त्री., परिष्कृतभूमिः (अम. न.) अम्बष्ठा (श. च.)
वेदिक-पु., श्वेतधुस्तूरकः (वै. निघ.)
वेधनिका-स्त्री., छिद्रकरणार्थास्त्रभेदः (अम.)
वेधफल-पु.,करञ्जवृक्षः (रानि व९)
वेधमुख्यक-पु., गन्धशठी हरिद्रा (अमभ)
वेधस-न., अङ्गुष्ठमूलम् (श. च.)
वेधा-(स्) श्वेतार्कवृक्षः (श. च.)
वेर-न., कुङ्कुमम् (त्रिका.) वार्त्ताकम् (त्रिका.) शरीरम् (मे.)

वेरक–न., कर्पूरः (हारा.)
वेलन–न., हिङ्गुः (ज. द.)
वेलाजलपान–न., वेलायां वारिपानम् (रा. नि. व १४)
वेलाज्वर–पु., ज्वरविशेषः (ज्व. नि.)
वेलिभुक्प्रिय–पु., सुगन्धाम्रः (श. र.)
वेल्लगिरिका–स्त्री.. प्रियङ्गुः (वै. निघ.)
वेल्लज–न., मरिचम् (भा. पू. १ भ.)
वेल्लन–न., मरिचम् (प. मु.) लुण्ठनम् (त्रिका.) रोटीवेलनार्थं वर्तुलकाष्ठम् (भा.)
वेल्लनी–स्त्री., वल्लीदूर्वा (रा. नि. व. ८)
वेल्लन्तरादिगणः–पु., तदादिद्रव्यवर्गः (वा. सू. १५ अ.)
वेल्लभव–न., मरिचम् (वै. निघ. कास. चि. त्रिकटुचूर्णे)
वेल्लरी–स्त्री., कृष्णवृद्धदारकः (वै. निघ.) (२ भ.) (वा.व्या. चि. एरण्डपाके) वल्लीदूर्वा (वै. निघ.)
वेल्लि–स्त्री., लता (श. र.)
वेल्लिका–स्त्री., इन्दूपोदकी (रा. नि. व. २३)
वेल्लिकाख्या–स्त्री., विल्बशलाटु : (श. च.)
वेशन–न., द्विदलचूर्णम्
वेशन्त–पु., क्षुद्रसरोवरम् (अ. म.)
वेशर–अश्वतरः (त्रिका.)
वेशवारीकृत–पु., पिष्टम् (वा. चि. ५ अ.)
वेशीजाता–स्त्री., पुत्रदात्रीलता
वेश्मकलिङ्ग–पु., चटकपक्षी (राज.)
वेश्मकूल–पु., चचेण्डा (मद. । रा. नि. व. ७)
वेश्मनकुल–पु., छुछुन्दरी (त्रिका.)
वेश्मरस–पु., मोचरसः (वै. निघ.)
वेश्या–स्त्री., पाठा (श. च.)
वेश्याचार्य–पु., पीठमर्दवृक्षः
वेषण–पु., कासमर्दवृक्षः (हारा.)
वेषणा–स्त्री., वितुन्नकवृक्षः (र. मा.)
वेषवार–पु., वेशवारः (अ. टी. रा.)
वेषिका–स्त्री , जातीपुष्पवृक्षः
वेष्टवंश–पु., कण्टककिणेत्यपरनामवंशभेदः (श. च.)
वेष्टा–स्त्री., हरीतकी (वै. निघ.)
वेष्प–पु., पानीयम्
वेसन–न., द्विदलचूर्णम् (भा.)
वेसनमोदक–पु., वेसनकृतलड्डुकभेदः (भा.)
वैकङ्कत–पु., श्रुवावृक्षः (श. र.) न., वैकङ्कतफलम्
वैकतिक–पु , मणिकारः (हे. च.)
वैकुण्ठाश्रमी (इन्)– पु., वैद्यवल्लभनामग्रन्थकारः
वैकृतज्वर–पु., अप्रकृतकालजातो वातज्वरः (मा. नि.)
वैजनन–पु., प्रसवमासः (अम.)
वैजपाणि-पु., ऋषिविशेषः (च.)
वैजिक–न., शिग्रुतैलम् (मे.) पु., सद्योजाताङ्कुरः (मे.) आत्मा (श. मा.)
वैडालशकृत् न.. विडालविष्ठा (च. द. ज्व. चि. धूपे.)
वैतंसिक–पु., मांसविक्रेता (अम.)
वैतरणवस्ति–पु., निरूहवस्तिभेदः (च. द.) (निरूहवस्तौ)
वैतस–पु., अम्लवेतसम् (जटा.)
वैदलान्न–न., वैदलयुक्तभक्तम् (वै. निघ.)
वैदलिकशिम्ब–पु., वैदलिकशिम्बी
वैदारिक–पु., हीनमध्यप्रवृद्धवातादिजनितसन्निपातज्वरः
वैदिका–स्त्री– , भूमिजम्बूवृक्षः (वै. निघ.)
वैदुल–न., वेतसमूलम् (सु. चि. १. अ.)
वैदूर्यवर्ण–त्रि., कृष्णवर्णः (भा.)
वैद्यक–न., वैद्यस्य कर्म । अष्टाङ्गचिकित्साशास्त्रम् । दशाङ्गवैद्यशास्त्रम् (वै. निघ.)
वैद्यचिन्तामणि–पु., वल्लभेन्द्रकृतवैद्यकग्रन्थः
वैद्यजीवन–न., लोलिम्बराजकृतवैद्यकग्रन्थः । रुद्रटकृतः च
वैद्यतोषसंग्रह–पु., भीमसेनकृतचिकित्सासंग्रहः
वैद्यत्रिंशट्टीका-स्त्री., चन्द्रकृतत्रिंशच्छ्लोकीटीका
वैद्यदर्पण न., वैद्यकसंग्रहः
वैद्यबन्धु–पु., आरग्वधवृक्षः (श. च.)
वैद्यमनोरमा–स्त्री., वैद्यकग्रन्थभेदः
वैद्यमाता–स्त्री., वासा (अम.)
वैद्यरसायन–न., रसायनग्रन्थविशेषः
वैद्यवल्लभ–पु., उदयरुचिकृतवैद्यकग्रन्थः
वैद्यविनोद–पु., शङ्करकृतवैद्यकग्रन्थः
वैद्यविलास–पु , रघुनाथकृतवैद्यकशास्त्रम्
वैद्यवृन्द–पु., नारायणकृतवैद्यशास्त्रम्
वैद्यसार–पु., हर्षकीर्तिरचितवैद्यकम्
वैद्यसिंही-स्त्री., वासा (श. र.)
वैद्यहितोपदेश– पु., श्रीकण्ठकृतं तथा शिवपण्डितकृतं च चिकित्साशास्त्रम्
वैद्या–स्त्री., काकोली (श. च.)
वैद्यामृत-न., नारायणदासकृतं रामेश्वरकृतं च वैद्यशास्त्रम्
वैद्यामृतलहरी–स्त्री., मथुरानाथकृतःवैद्यक ग्रन्थः
वैद्यावतंश–पु., लोलिम्बराजकृतवैद्यकम्

वैपरीत्यलज्जालु-पु , स्त्री., लघुलज्जालुका (रा. नि.व. ५)
वैपादिक-न., कुष्ठरोगभेदः (मा. नि.)
वैराट-पु., इन्द्रगोपकीटः
वैरातङ्ग-पु., अर्जुनवृक्षः (रा. नि. व. ९)
वैरोचनरस-पु , अजीर्णादौ रसः (रस. र.)
वैवस्वतद्रुम- पु., कुष्ठवैरिवृक्षः (अत्रि.)
वैशाख-पु., मन्थनदण्डः । वर्षस्य प्रथमः मासः (अम.) रक्तपुनर्नवा (वै. निघ.)
वैशिकी-स्त्री., वमनविरेचनादिषु चतुर्विध शोधनेषु एकम् (च. द. वमनाधिकारे)
वैश्या-स्त्री., हरिद्रा (वै. निघ.)
वैश्रवणालय-पु., वटवृक्षः (हे. च.)
वैश्रवणोदय-पु., वटवृक्षः (र मा.)
वैश्वानररस-पु., उदराधिकारे रसः (रस. चि.)
वैष्किर-त्रि., विकीर्य भक्षणशीलः कुक्कुटादिः (वा. चि. ६ अ.)
वैसारिण-पु., मत्स्यः (अम.)
वोड-पु., गुवाकवृक्षः (श. र.)
वोड्र-पु., गोनससर्पः । मत्स्यविशेषः (मे.)
वोढ-पु., कदम्बवृक्षः (वै. निघ.)
वोण्ट-पु., वृन्तम् (श. र.)
वोद-पु., आर्द्रम्
वोदाल-पु., मत्स्यविशेषः (शर्)
वोपदेव-पु., हृदयदीपकसिद्धमन्त्रशतश्लोकीप्रणेता
वोरट-पु., कुन्दवृक्षः-(त्रिका.)
वोरव-पु., तन्नामकव्रीहिधान्यभेदः (राज. ३ प.)
व्यडम्बक-पु., एरण्डवृक्षः (अम. सं. कनकतैले)
व्यण्डा-स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
व्यतिक्रम-पु.,क्रमविपर्ययः
व्यथा-स्त्री., वेदना
व्यवहारिक-(का)-पु., स्त्री., इङ्गुदीवृक्षः । सम्मार्जनी (मे.)
व्याघ्रकर-पु., रक्तैरण्डः (वै. निघ.)
व्याघ्रखड्ग-पु., व्याघ्रनखम् (वै. निघ.)
व्याघ्रघण्टा (ण्टी)-स्त्री., कोङ्कणे प्रसिद्धलताविशेष. (वै. निघ.) वाघांटी
व्याघ्रतरु-पु., रक्तैरण्डः (वै. निघ.)
व्याघ्रनखी-स्त्री., व्याघ्रनखः (भा. ४ भ. प्रद. चि.)
व्याघ्रनायक(सेवक)-पु., शालावृकः (रा. नि. व. १९)
व्याघ्रपात् (द)-पु.,विकङ्कतवृक्षः (रा. नि. व. ११)
व्याघ्रपुच्छ-पु., एरण्डवृक्षः (अम.)
व्याघ्रपुष्प-पु., व्याघ्रनखः (वै. निघ.)
व्याघ्रहस्त-पु., रक्तैरण्डः (रा. नि. व. ८)
व्याघ्राङ्घ्रिज-पु., व्याघ्रनखम् (वै. निघ.)
व्याघ्राट-पु.,भरद्वाजपक्षी (अम.)
व्याघ्रादनी-स्त्री., त्रिवृता (प. मु.)
व्याघ्रायुध-न., व्याघ्रनखम् (वै. निघ.)
व्याघ्रास्य-पु., विडालः
व्याघ्री-स्त्री., कण्टकारी (प. मु.) वराटिकाभेदः (रा. नि. व. १३) व्याघ्रपत्नी । व्याघ्रनखी (च. द. वा. व्या. चि.)
व्याघ्रीयुक् (युग)-स्त्री., न., बृहती । कण्टकारी च
व्याड-पु., सर्पः । हिंस्रः (अम.)
व्याडम्ब-पु., रक्तैरण्डः (वै. निघ.)
व्याडायुध-न., नखीनामगन्धद्रव्यम्
व्याधभीत-पु., मृगः
व्याधिघ्न (जित्)-पु., आरग्वधवृक्षः (ज. द.)
व्याधिनाशन-पु., द्वीपान्तरवचा (वै. निघ.)
व्याध्यर्गल-पु., दामोदरकृतवैद्यकग्रन्थः
व्याप-न., कुष्ठौषधम् (अम.)
व्यामण-न., व्याममम्
व्यालकरज-पु., व्याघ्रनखम् (रा. नि. व. १२)
व्यालपत्र-पु., एर्वारुकलता (कश्चित्)
व्यालप्रहरण-न., व्याघ्रनखम् (वै. निघ.)
व्यालमृग-पु., चित्रकव्याघ्रः (भारतम्)
व्यालम्ब-पु., रक्तैरण्डः (वैद्यकम्)
व्यालवल्लरी-स्त्री., नागवल्ली (वै. निघ.)
व्यालवेणी-स्त्री., देवदाली (वै. निघ.)
व्यासदीपप्रजा-स्त्री., वन्ध्याकर्कटी (वै. निघ.)
व्युष्ट-न., प्रभातम् । पर्युषितम्। फलम् (हे. च.) (त्रि.) उषितम् । दग्धम् (मे)
व्योमचारी (इन्)-पु., पक्षी (मे.)
व्योमनासिका-स्त्री., भारतीपक्षी (त्रिका.)
व्योमपूर-न., सुगन्धतृणम् (वै. निघ.)
व्योषाद्यगुग्गुलु-पु., स्थौल्यरोगे गुग्गुलुः (रस. र.)
व्योषाद्यघृत-न., अर्शसि घृतम्
व्योषाद्यचूर्ण-न., रक्तार्शसि रक्तातिसारे च हितम्
व्योषाद्यलौह-न., विद्रध्यधिकारे लौहम् (रस. चि.)
व्रजभू-पु., केलिकदम्बवृक्षः (श. च.)
व्रणकृत्-पु',भल्लातकवृक्षः (र. मा.)

व्रणघ्नी-स्त्री , लघुकारवेल्लकम् (वै. निघ.)
व्रणजिता-स्त्री.,मुण्डी (वै. निघ.)
व्रणद्विट्-पु., ब्राह्मणयष्टिका (श. च.)
व्रणरोपणरस-पु., क्षुद्ररोगाधिकारे औषधविशेषः (रस. चि.)
व्रणशुक्र-न., नेत्रतारकगतरोगविशेषः (भा.)
व्रणशोथ-पु., व्रणनिमित्तश्चयथुः (मा. नि.)
व्रणह पु., एरण्डवृक्षः (श.च.) स्त्री., (हा) गुडूची (शर)
व्रणहरी-स्त्री., लाङ्गलिकौषधम् (वै. निघ.)
व्रणोपक्रम-पु., व्रणचिकित्सा (सु. चि. १ अ.)
व्रत-न., ईप्सितकामनियमः (च. सू. १ अ.)
व्रतति-(ती)-स्त्री., लता (अम.)
व्रतादेश-पु., उपनयनम्, स्मृतिः
व्रतोपायन-न., प्रहेणकाख्वापिष्टकभेदः
व्रश्चन-न., छेदनम् पु., स्वर्णादिछेदकं अस्त्रम् (अम.)
व्रीडा-स्त्री., वनकुलस्थिका (प. मु.) लज्जा
व्रीहिकाञ्चन-पु., मसूरवृक्षः (त्रिका.)
व्रीहितुण्डिका-स्त्री., देवधान्यम् (वै. निघ.)
व्रीहिधान्य-न., षष्टिकादिधान्यम् (वै. निघ.)
व्रीहिभेद-पु., चीनाकधान्यम् (र. मा.)
व्रीहिराजिक-पु., चीनाकधान्यम् कङ्गुधान्यम् (मे.)
व्रीहिश्रेष्ठ-पु., शालिधान्यम् (रा. नि. व. १६)
व्रीह्यास्य-न., व्रीहिमुखास्त्रभेदः (च. द.)

श

शंब-पु., मुषलाग्रस्थलौहमण्डलम् (धरणिः)
शंवर-न., जलम् (अम)
शकटाख्य(क)-पु., धववृक्षः (र. मा.)
शकुनज्ञा-स्त्री.. क्षुद्रगृहगोधिका (त्रिका.)
शकुनिप्रपा-स्त्री., पक्षिपानीयशाला (हारा.)
शकुन्त (न्ति)-पु. पक्षी (अम) काकभेदः, कुकुटभेदः (वै. निघ.) भासपक्षी (उणा.) कीटविशेषः (मे.) (वै. निघ)
शकुल-पु., मत्स्यविशेषः (राज. ३ प.)
शकुलगण्ड-पु., मत्स्यविशेषः (त्रिका.)
शकुला-स्त्री., कटुरोहिणी (रा. नि. व. ६)
शकुलार्भक-पु., गडकमत्स्यः (अम.)
शकुलाक्षक-(का)-पु., स्त्री., श्वेतदूर्वा (अम.)
शकृत्करि-(री)-पु., स्त्री., गोवत्सः (त्रिका.)
शकृत्कार-पु., मलत्यागकारकः (व्याक.)
शकृद्द्वार- न., मलद्वारम् (हे. च.)
शकृद्भव-त्रि., द्रवरूपः (भा. म. ४भ. तालुकण्टकचि)
शक्कर (रि)-पु., वृषः (हे. च. । त्रिका.)
शक्तव-पु., भृष्टयवादिचूर्णम्
शक्तिक-पु,, गन्धकः (रस. र. रस. कौ. भैष.) (द्वादशायसे.)
शक्तिपर्ण-पु., सप्तपर्णवृक्षः (जटा.)
शक्तुक-पु., तन्नामकविषभेदः (भा. पू. १ म.) (विष. व.) न., शक्तुः (भा. कौ.)
शक्तुपिण्डी-स्त्री., शक्तुकृतपिण्डाकारभोजनद्रव्यम् (राज. ३ प.)
शक्तुफला (ली)-स्त्री., शमीवृक्षः (अम.)
शक्त्ववलेहिका-स्त्री., शक्तुकृतावलेहिका (रा. ज. ३प)
शक्रचापसमुद्भवा-स्त्री., अलाबुः (वै. निघ.)
शक्रज-(जातः) पु., काकः (त्रिका.)
शक्रजा-स्त्री., इन्द्रवारुणी (सु. चि. ३८ अ.)
शक्रदारु-पु., शालवृक्षः । तैलदेवदारुवृक्षः (वै. नि. घ)
शक्रद्रुम-पु., वकुलवृक्षः (भा. म. १ भ. ज्वरोपद्रवचि.-द्वात्रिंशत्क्वाथे) तैलदेवदारुः (भा.)
शक्रनेमी-स्त्री., ह्रस्वमेषशृङ्गी । शुक्लकुटजवृक्षः, देवदारुवृक्षः (वै. नि. घ)
शक्रपर्याय-पु., कुटजवृक्षः (प. मु.)
शक्रपुष्प-न., इन्द्रयवः (वै. निघ. जीव. चि. लवङ्गादिकषाये)
शक्रपुष्पा(ष्पी)-स्त्री., नागदमनी (र. मा.) लाङ्गलीवृक्षः (अम.)
शक्रपुष्पिका-स्त्री., अग्निशिखावृक्षः (र. मा.)
शक्रभूभवा-स्त्री., इन्द्रवारुणी (श. च.)
शक्रभूरुह-पु., कुटजवृक्षः (वै. नि. घ)
शक्रमूर्द्धा (न्)-पु., बल्मीकम् (त्रिका.)
शक्रवीज-न., इन्द्रयवः
शक्रशाखी (इन्)-पु., कुटजवृक्षः (भा.)
शक्रशिरा-पु., वल्मीकम् (रा. नि. व. १३)
शक्रसुधा-स्त्री., कुन्दुरुखोटी । (श. च.)
शक्रसृष्टा-स्त्री., हरीतकी (त्रिका.)
शक्राख्य-पु., उलूकः, पेचकः (त्रिका.)
शक्राणी-स्त्री., निर्गुण्डी
शक्रासन-न., भङ्गा (राज.) (पु.) विजयावृक्षः (प. मु.) कुटजवृक्षः (श. च.) इन्द्रयवः (वै. निघ) (२ भ. दुर्जलज्व. चि. ज्ञानोदयरसे)

शक्रेन्द्र–पु., इन्द्रगोपकीटः (वै. निघ.)
(अर्शः चि. त्रिफलागुग्गुलौ)
शक्वरी–स्त्री., अङ्गुलिः (उणा.)
शक्व (न)–पु., गजः (उणा.)
शङ्करप्रिय–पु , द्रोणपुष्पी (प. मु.) तित्तिरपक्षी (शब्दकल्पद्रुमः)
शङ्करमत (लौह)–न., अर्शसि लौहम् (भा.)
शङ्करशुक्र–न., पारदः (भा. ज्व. चि. कल्पतरौ)
शङ्करस्वेद–पु., आमवातहरे स्वेदविशेषः (ज. द. १८ अ.)
'शकृता महिषाश्वानां गोमयेन तथैव च । अग्नितप्तेन यः स्वेदः शङ्करस्वेद उच्यते
शङ्करावास–पु., भीमसेनीकर्पूरः (रा. नि. व. १२)
शङ्कराह्वया–स्त्री., हस्वशमीवृक्षः (वै. निघ.)
शङ्कर्ण–पु., गर्दभः (त्रिका.)
शङ्कुचि–पु., मत्स्यविशेषः (श. र.)
शङ्कुतरु–(वृक्ष)–पु., शालवृक्षः (श. र.)
शङ्कुला स्त्री., यन्त्रिका (शब्दकल्पः) उत्पलपत्रम् (उणा)
शङ्कोच–(चि)–पु , मत्स्यविशेषः (ज. टा.)
शङ्खकन्द–पु., शङ्खालुः (प. मु.)
शङ्खकुसुमा–स्त्री., शङ्खपुष्पी (रा. नि. व. ३)
शङ्खचरी (चर्ची)–स्त्री., ललाटिका (त्रिका. श. र.)
शङ्खज–पु., पारावताण्डाकारस्थूलमौक्तिकम् (शब्दकल्पः)
शङ्खद्रावक–पु., प्लीहयकृदधिकारे द्रावकविशेषः (भैष)
शङ्खधरा–स्त्री., हिलमोचिका (भा. पू.) (१ भ. शा. व.)
शङ्खधवला–स्त्री., शुक्लयूथिका (वै. निघ.)
शङ्खनाम्नी–स्त्री., शङ्खपुष्पी (वै. निघ.)
शङ्खपाल–पु., स्वनामप्रसिद्धः दर्वीकरमहासर्पः (सु. कल्प. ४ अ.)
शङ्खमुख–पु., कुम्भीरः (हे. च.)
शङ्खवटी–स्त्री., अग्निमान्द्ये शूलाधिकारे च हिता वटी (रस. चि. । भैष)
शङ्खविष–न., विषभेदः
शङ्खसङ्काश–पु., शङ्खालुः (वै. निघ.)
शङ्खाख्य–पु., वृहन्नखम् (र. मा.)
शङ्खावर्त–पु., शम्बूकावर्तभगन्दररोगः (सु. शा. ५ अ)
शङ्खास्थि–न., मस्तकस्थास्थिद्वयम् (च. शा. ७ अ.) पृष्ठास्थि (रा. नि. व. १८)
शङ्खाहुली–स्त्री., शङ्खपुष्पी (रा. नि. व. ३)
शङ्खाह्वया–स्त्री., शङ्खपुष्पीलता (रा. नि. व. ३)
शङ्खिन–पु., शिरीषवृक्षः (वै. निघ.)
शङ्खिनिका–स्त्री., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (वै. निघ.)
शङ्खिनीवास–पु., शाखोट वृक्षः (श. च.)
शङ्खोदधिमल–पु., समुद्रफेनः (वै. निघ.)
शङ्खोदरी–स्त्री., तृणविशेषम्
शट्टक–न., सघृतजलमिश्रितशालिचूर्णम् (भा.)
शठाङ्गा–स्त्री., अम्बष्ठा (रा. नि. व. ४)
शठिका–स्त्री., स्वनामख्यातमूलम्
शठीरूपा–स्त्री., कन्दगुडूची (वै. नि.)
शट्यादि–पु.. त्रिदोषज्वरे कषायविशेषः (च. द. ज्व चि.)
शणकन्द–पु., चर्मकषा (रस. र. उद. चि. वह्निभल्लातकरसे)
शणघण्टा–स्त्री., शणपुष्पी (रा. नि. व. ४)
शणपर्णी–स्त्री., असपर्णी (श. र.)
शणपुष्पिका–स्त्री.. शणपुष्पी । आढकी (भा. पू. १ भ. धा. व.)
शणमूल–न., शणशिफा (सु.सू. ३६ अ.)
शणाल (लुक)–पु., आरग्वधवृक्षः (श. र.)
शणिका–स्त्री., शणपुष्पी (रा. नि. व. ४)
शण्ड–न., पद्मिनी (श. र.) पु., नपुंसकः (अम.)
शण्ढ–पु., क्लीबः (अ. टी. भ.) वन्ध्यपुरुषः (जटा.) अन्तर्महल्लिकः (अम.)
शतकीम्भ(क)म्–न., स्वर्णम् (वै. निघ.)
शतक्रतुद्रुम–पु.,कृष्णकुटजवृक्षः (वै. निघ.)
शतक्रतुयव–पु., इन्द्रयवः (वै. निघ.)
शतखण्ड–न., सुवर्णम् (श. च.)
शतच्छद–पु , काष्ठकुक्कुटपक्षी (त्रिका.)
शतजटा–स्त्री., शतमूली (चि. क. क.)
शतदन्तिका–स्त्री., नागदन्ती (रा. नि. ब ५)
शतदलमल्लिका–स्त्री., स्वनामख्यातपुष्पक्षुपः (प. मु.)
शतदला–स्त्री., शतपत्रीपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १० ।
शतद्रु–पु., नदीविशेषा (रा. नि. व. १४)
शतधा–स्त्री.,दूर्वा
शतपद्म–न., श्वेतकमलम् (र. मा.)
शतपात् (द्)–स्त्री., शतपदी (जटा.)
शतपादिका–स्त्री., काकोली (जटा.) कर्णजलौका (श.र.)
शतपुत्री–स्त्री., ह्रस्वशतमूली (र. सा. सं.) लघुघोषा (वै. निघ.)
शतपोनक–पु., शतपोनकनामभगन्दरविशेषः । शुक्ररोगः (कश्चित्)
शतपोरक(पौर)–पु., इक्षुविशेषः (सु. सू. ४५ अ.)
शतप्रास–पु., करवीरवृक्षः (अम.)

शतफल-पु., वंशः
शतभीरु-स्त्री., मल्लिकापुष्पवृक्षः (अम.)
शतभेदक (न)-पु., अम्लवेतसः (मद. व. ६)
शतमान-पु., रूप्यमलः । आढकमानम् (अम भ.)
शतमूला-स्त्री., नीलदूर्वा (रा. नि. व. ८) महाशतमूली (रा. नि. व. ४) वचा (रा नि. व. ६)
शतवेधनी-स्त्री., चुक्रिका
शतश्लोकी-वोपदेवकृतं चन्द्रकलानामकं द्रव्यगुणशास्त्रम्
शतश्लोकीटीका-स्त्री., कृष्णदत्तकृतशतश्लोकीटीका
शतस्रुता-स्त्री., शतावरी (रस. र. शिरोरो. चि. वरुणाद्य घृते)
शताक्षी-स्त्री., शताह्वा रात्रिः (श. च.)
शताङ्ग-पु., तिनिशवृक्षः (रा. नि व. ९)
शताङ्गुल-पु., तालवृक्षः (कश्चित्)
शतायुष-पु.. मनुष्यः (वै. निघ.)
शतारु-(स) (रुषी) न., स्त्री., कुष्ठरोगभेदः (भा. कुष्ठ चि.)
शतावरीमण्डूर-न., परिणामशूले मण्डूरम्
शताह्वाद्वय-न., शतपुष्पामधुरिकाद्वयम् (च. सू. ३)
शत्र-न., बलम् (त्रिका.)
शत्रि-(द्रि)-पु., गजः (उणा.)
शत्रुद्रुम-पु., अम्लवेतसः (कश्चित्.)
शत्रुभूमिज-पु., नीलाञ्जनम् (वै. निघ.)
शद-पु., शाकफलादिः (व्याक.)
शनकावलि-पु , स्त्री., गजपिप्पली (श. च.)
शनपर्णी-स्त्री., कटुकी (श. च.)
शनिप्रिय-न., नीलकान्तमणिः (शब्दकल्पद्रुमः)
शनीरुह-पु., महिषः (वै. निघ.)
शप्त- पु., तृणविशेषम् (अम.)
शब्दग्रह-पु., कर्णः (अम.)
शब्दभेदी (इन्)-पु., मलद्वारम् (शब्दकल्पः)
शब्दमाल-पु., रन्ध्रवंशः (वै. निघ.)
शब्दरोचन-न., तृणम् (वै. निघ,)
शब्दाट्य-न., श्रेष्ठकांस्यधातुः (वैनिघ.)
शब्दाधिष्ठान-न., श्रवणेन्द्रियम् (त्रिका.)
शमठ-पु., शाकविशेषः । तूदभेदः (वै. निघ.)
शमल-न., विष्ठा (अम.)
शमि-स्त्री., शिम्बी (हेच.)
शमिका-स्त्री., महाशमीवृक्षः(वै. निघ.)
शमि (मी) ज(जा)-पु., स्त्री., रक्तकुलत्थकः (जा) -शिम्बीधान्यम् (भा. पू. १ भ. धा. वा.)
शमि (मी) र-पु., ह्रस्वशमीवृक्षः (वै. निघ.)
शमिला-स्त्री., जातीपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
शमीधान्य-न., शिम्बीधान्यम् । माषादिः ·मुद्गराज-माषतिलकुलत्थाः (च)
शमीपात्रा-स्त्री., लज्जालुकालता (रा. नि. व. ५)
शमीरकन्द-पु., वाराहीकन्दः (कोषान्तरम्)
शम्पदा-स्त्री., वृद्धिः (वै. निघ.)
शम्पात-पु., आरग्वधवृक्षः (श. र.)
शम्ब-(व) रकन्द-पु., वाराहीकन्दः (रा. नि. व. ७.)
शम्ब(व)रचन्दन-न., वर्वरचन्दनम् । (रा. नि.व. १२)
शम्ब (व) रदेशज-पु., शुक्लरोध्रः (वै. निघ.)
शम्ब (व) राहार-पु., वनबदरः (वै. निघ.)
शम्ब (व) री-स्त्री., आखुकर्णीलता (रा. नि. व.२३) श्रुतश्रेणीक्षुपः (रा. नि. व. ४)
शम्बरीगन्धा-स्त्री., वनतुलसी (वै. निघ.)
शम्ब (व) रोद्भव-पु., शुक्ललोध्रः (वा. उ. ३२ अ.)
शम्बु-पु., शम्बूकः (हड्डचन्द्र.)
शम्बुक-पु., शम्बूकः (श. र.)
शम्बूकपुष्पी-स्त्री., शङ्खपुष्पी (भा. पू. १ भ. चित्तभ्रम. चि.)
शम्बूकाद्यतैल-न., कर्णरोगे तैलम् (रस. र.)
शम्भुकेतन-पु., पीतलोध्रः (वै. निघ.)
शम्भुतेज-न., पारदः (र. सा. सं.)
शम्भुप्रिया-स्त्री., आमलकी (श. र.)
शम्भुवीज-न., पारदः
शम्भोःकण्ठविभूषण-न., विषम् (भैष. पञ्चाननरसे)
शय-पु., हस्तः (रा.नि.व. १८) सर्पः (मे.)निद्रा (विश्वः)
शयथ पु., सर्पविशेषः । वराहः । मीनः मृत्युः (उणा.) (त्रि.), गाढनिद्रितः (हे. च.)
शयानक-पु., कृकलासः (हे.च.) सर्पः (उणा.)
शयामूत्र-न., शय्यामूत्रम् (वै. निघ.)
शयालु-पु., कुक्कुरः (त्रिका.) शृगालः (त्रि.) अलसम्
शयित-पु., अजगरः । शलि (शमा.) (त्रि.) (अम.)
शयु-पु., अजगरनाम सर्पजातिः (अ. म.)
शय्यामूत्र-न., शिशोस्तन्नामकरोगः (र.स.र.बाल. चि.)
शरखड्गक-पु., खागतृणम् (प. मु.)
शरजम्-न.,नवनीतम् (शद्वकल्पः ।) हैयङ्गवीनघृतम् (हे. च.)
शरट-पु., कुशुम्भशाकः (रमा.) पूकतिरञ्जः (प. मु.) कृकलासः-(अटि.) स्त्री., (टी.,)-खदिरपर्णी (वै. निघ. जीर्णज्व. चि.)

शरणा-(णी) स्त्री., प्रसारणी (म. द. व ३) (श. र.) जयंती (शा)
शरण्ड-पु., पक्षी (श. र.) गृहगोधा, कृकलासः (मे.)
शरत्कामी (इन्)-पु., कुक्कुरः (श. र.)
शरदन्त-पु., शरः । हेमन्तकालः (रा. नि. व. २१)
शरदा-स्त्री., वत्सरः (शरद्कालः)
शरदुदाशय-न , शरत्कालिकसरोवरम् (भागवतम्)
शरदुद्भव-पु., वृत्तपत्रशाकविशेषः (र. सा. सं.)
शरबीज-न., शरधान्यम् (वै. निघ.)
शरभूमिज-पु., गन्धकः
शरमल्ल-पु., शारिकाभेदः । मयनभेदः (श. च.)
शरल-पु., सरलवृक्षः (शब्दकल्पः)
शरलपृष्ठक-पु., पर्वतमृगः
शरलक-न., जलम् (श. च.)
शराटि-(डि) (ति)-पु., अटिनामकपक्षी (श. र. अ. टी. र. मा.)
शराटिका-स्त्री., शरारिपक्षी । खदिरपर्णी (वै. निघ.)
शरादिपञ्चमूल-न., शरादि पञ्चद्रव्यकृतकषायः (च. द. अश्म चि. शरादिघृते)
शरादिपञ्चमूलाद्यघृत-न., अश्मर्याः घृतम् (च. द. अश्म. चि.)
शरालि-(का) ली-स्त्री., शरारिपक्षी (श. र.)
शरार्द्ध-न., अर्द्धशरावपरिमाणम् (प. प्र.)
शराविला-स्त्री., प्रमेहपीडकाभेदः (सु. नि. ६ अ.)
शरित-पु., श्लेष्मातकवृक्षः जयन्ती (श. र.)
शरिमा-(न्)-पु.,) प्रसवः
शरी-स्त्री., मेथीतृणम् (भा.) शरपुष्पनलः
शरीरज-पु., रोगः (धरणिः त्रि.,) देहमार्जनम्
शरीर (परि) मार्जन-न., देहमार्जनम् (राज २ प.
शरीरसंस्कार-पु., देहस्य पवित्रीकरणम्
शरीरावरण-न., त्वक् (रा. नि. व. १८)
शरीरास्थि-न., कङ्कालः (रा. नि. व. १८)
शरेष्ट-पु., आम्रवृक्षः (ज. टा.)
शरोटिका-स्त्री., लज्जालुका (वै. निघ.)
शरीरोपस्तम्भ-पु., शरीरधारकस्तम्भः (च. सू. ११ अ)
शर्करकन्द-पु., वालुकाविशेषः
शर्करजा-स्त्री., मधुशर्करा (रा. नि. व. १४)
शर्कराक्ष-पु., ऋषिविशेषः (च.)
शर्करालेह-पु., रसायनाधिकारे लेहः (रस. र.)
शर्करासुरभि-पु., शर्करासवः (वै. निघ.)

शर्करोदक-न., सिताजलम् (भा.)
शर्द्ध-(न)-पु., न., मरुत्करः । अपानवायुः (व्याकरणम्)
शर्द्धग्रह-पु., शिम्बादिः । माषः (व्याक.) (त्रि.,) मलद्वारेण वायुत्यागी
शर्मणी-स्त्री., ब्राह्मीक्षुपः (वै. निघ.)
शर्मरा-स्त्री., दारुहरिद्रा (धरणी.)
शर्माख्य-पु., मसूरः (प. मु.)
शर्वरीद्वय-न., हरिद्रादारुहरिद्राच (भैष.) (क्षुद्ररो. चि.)
शर्षप-पु., सर्षपः
शल-पु., न., तालवृक्षः (वै. निघ.) उष्ट्रः (हे. च.) शल्लकीकण्टकः (अम.)
शलक-पु., तालवृक्षः । शल्लकीकण्टकः (वै. निघ.) मर्कटकः (त्रिका.)
शलङ्ग-पु., लवणविशेषः (उणा.)
शलभोलि-पु., उष्ट्रः (हे. च.)
शललो-स्त्री., शल्लकीकण्टकः (अम.)
शलाकाधिष्ठानास्थि-स्त्री., पाणिपादयोः शलाकाख्याधारभूतानि अस्थीनि । तानि ४ (च. शा. ७ अ.)
शलाट-पु.,शकटपरिमाणम् । द्विसहस्रपलानि (हे. च.)
शलालु-न., सुगन्धद्रव्यविशेषः (व्याक.)
शली-स्त्री., क्षुद्रशल्लकीमृगः (रा. नि. व. १७)
शल्क-न., खण्डः (अम.) मत्स्यत्वक् (कोषान्तरम्) वल्कलम् (अम.)
शल्कल-न., मत्स्यशल्कः । तरुवल्कलम् (व्याक.)
शल्कली (इन्)-पु., मत्स्यः (श. र.)
शल्पदा-स्त्री., मेदा
शल्पपर्णिका-स्त्री., मेदा
शल्मलि(ली)-पु., शाल्मलिवृक्षः (लिक) रक्तरोहितकवृक्षः (रानि. व. ८)
शल्मलिक-पु., रक्तरोहितकः
शल्यकण्ठ-पु., सल्लकीमृगः (श. च.)
शल्यचिकित्सा-स्त्री., अस्त्रचिकित्सा
शल्यतन्त्र-न., सौश्रुताष्टविधतन्त्रान्यतमतन्त्रम् (सु. सू. १ अ.)
शल्यमृग-पु., शल्लकीमृगः
शल्यलोम-(न्)- न., शल्लकीरोमन् (रानि. व; १९)
शल्या-स्त्री , मेदा (रानि व. ५) विकङ्कतवृक्षः नागबल्ली लता (वै. निघ.)
शल्योद्धरण-न., विद्धशल्योत्पाटनम् (वै. सं. २ अ.)
शल्लु-पु., भेकः (श. र.)

शल्लकीत्वक्-स्त्री., सिल्हकीवृक्षत्वक् (च. सू. ४ अ).
शल्लकीद्रव(रस)-पु., सिल्हकः (जटा. च. द. बा.) (व्या. चि. अष्टादशशतीप्रसारणीतैले)
शल्ली-स्त्री., सल्लकीवृक्षः । सल्लकीमृगः (वै. निघ.)
शव-न., लौहम् । जलम् (मे.)
शवकाम्य-पु., कुक्कुरः (श. र.)
शवर-पु., पानीयम् । हस्तः
शवरलोध्र-पु., शावरलोध्रः
शवल-पु., चित्रकक्षुपः (रा. नि. व. ६) (ला, ली) स्त्री.,-शवलवर्णा गौः (अ. टी. भ.) कबूरवर्णः
शशधर-कर्पूरः (रा. नि. व. १२)
शशभृत्-पु., कर्पूरः (हे. च. भैष. वा. व्या.) (गन्धद्रव्यकथने)
शशलोम-(न्) न., शशकरोमन् (अम.)
शशाङ्कलेखा-स्त्री., सोमराजी (च. द. कुष्ठ. चि.) गुडूची
शशाद (न) पु., श्येनपक्षी (रा. नि. व. १९)
शशिपर्णी-स्त्री., पटोलः (वै. निघ.)
शशिपुष्प-न,. पद्मम् (वै. निघ.)
शशिप्रभ-न., मुक्ता (रा. नि. व. १३) कुमुदपुष्प (श. मा.) स्त्री., ज्योत्स्ना (जटा.)
शशोण-न., शशकलोम (अम.)
शष्कुल-पु., करञ्जवृक्षः (श. र.)
शस्त-पु., प्रशस्तः न., शरीरम् (त्रिका.)
शस्त्रक-न., लौहः (प. मु.)
शस्त्रचूर्ण-न., लौहकिट्टम् (वै. निघ.)
शस्त्री (इन्)-त्रि., शस्त्रधारी, स्त्री., छुरिका (मे.)
शस्यध्वंसी (इन्) पु., तुन्नवृक्षः (श. च.)
शस्यमञ्जरी- स्त्री., धान्यादिकणिशः (अम.)
शस्यशूक न., शस्यशुङ्गम् (अम.)
शस्यसम्बर(रण)-पु,. अश्वकर्णनामलताशालिः (रा. नि. व. १९)
शस्यारु-(वन) पु., ह्रस्वशमीवृक्षः (श. र.)
शाकटमुख-न,. पटवासः (वै. निघ.)
शाकटाख्य-पु., धववृक्षः (र. मा.)
शाकटीन-पु., २० तुलापरिमाणम् २००० पलानि (हे. च. प. प्र.)
शाकतरु-पु., शाकवृक्षः (श. मा.)
शाकद्रुम-पु., वरुणवृक्षः (वै. निघ.)
शाकपाकी (इन्) पु., सुनिषण्णकः (वैनिघ.)
शाकमत्स्य-न., मत्स्यव्यञ्जनभेदः (राज.)
शाकबालेय-पु., ब्रह्मयष्टी (श. र.)
शाकम्भरीभव-न., रोमकलवणम् (भा.)
शाकम्भरीय-न., रोमकलवणम्
शाकवर-पु., जीवशाकः (प. मु.) स्त्री., (रा) जीवन्तीशाकः (वै. निघ.)
शाकवल्ली-स्त्री., लताकरञ्जकः (वै. निघ.)
शाकविन्द-(ल्व)-(क)-पु., वार्ताकुवृक्षः (जटा । त्रिका)
शाकवृक्ष-पु., स्वनामख्यातवृक्षः
शाकशाकट (किन्) म्न., शाकक्षेत्रम् (रा. नि. व. ५)
शाकशाल-पु., महानिम्बः (वै. निघ.)
शाकश्रेष्ठ-पु., वास्तुकक्षुपः (शर.)
शाका-स्त्री., हरीतकी (शब्दकल्पः)
शाकाख्य-न., व्यञ्जनयोग्यफलमूलपत्रपुष्पादिः
शाकाम्लभेदन-न., चुक्रनामककाञ्जिकभेदः (रा. नि. व. १५)
शाकालावु-स्त्री., राजालावुकः (रा. नि. व. ७)
शाखापित्त-न., हस्तपादांसमूलदाहः । मुखताल्वोष्ठादिषु सदाहदवथुः (रा. नि. व. २०)
शाखामृग-पु., कपिः (प. मु.)
शाखाम्ला-स्त्री., तिन्तिडीवृक्षः (रा. नि. व. ६)
शाखारोग-पु., रक्तादिधातुजेषु त्वग्जेषु च वीसर्पगुल्मादि रोगः (च. सू. ११ अ.)
शाखाशिफा-स्त्री., शाखाजातशिफा (वै. निघ.)
शाखी(इन्)-पु. वृक्षः, (अम)
शाङ्कर-पु., सोमलताभेदः (सु. चि. २९ अ.) वृषः (त्रिका स्त्री.,) (री)-शमीवृक्षः (वै. निघ.)
शाङ्कित-पु., ग्रन्थिपर्णभेदः (वै. निघ.)
शाङ्कुची-स्त्री., शाङ्कोचमत्स्यः (श. च.)
शाङ्कुष्ठा-स्त्री., गुञ्जा (र. मा.)
शाञ्जी-स्त्री., शालिञ्जशाकः (रस. चि. ९ अ.)
शाटिका-स्त्री., शटी (अ. टी. भ.)
शाडल-पु., नीलदूर्वा (वै. निघ.)
शात-पु., शाणितः । कृशः पु., धुस्तूरवृक्षः (अम.)
शातकौम्भ-न., सुवर्णम् (भ. द्वि.)
शातपत्रक-पु., चन्द्रप्रकाशः (श. च.)
शातभीरु-पु., मदनमालीनाममल्लिकावृक्षः (र.मा.)
शातला-स्त्री., स्वनामप्रसिद्धसेहुण्डभेदः,पीतसेहुण्डः (भा)
शाद-पु., कर्दमः । कोमलतृणम् (अम.)
शाद्वलाभ-पु., मन्दविषवृश्चिकभेदः (सु. कल्प. ८ अ.)

शान–पु., ४ माषकः (प. प्र. १ ख.)
शानपाद–पु., चन्दनपीठिका (भारत.)
शानी–स्त्री., इन्द्रवारुणी (श. च.)
शान्त्वति–स्त्री., भार्गी
शापटिक–पु., मयूरः (शब्दकल्पः)
शाबरवल्कल–न., लोध्रत्वक् (वा. चि. ९अ.)
शामील–न., भस्म (सा. कौ.)
शाम्बर (रिक)–पु., लोध्रवृक्षः (वै. निघ.)
शाम्बरी–स्त्री., मूषिकमारी (वै. निघ.)
शायकपुङ्खा–स्त्री., शरपुङ्खा
शायिका–स्त्री., निद्रा
शारदजल–न., शरत्कालीनजलम्
शारदमल्लिका–स्त्री., शरत्कालभवमल्लिका (रत्ना.)
शारदयावनाल–पु., शारदीययावनालः (रा. नि. १६)
शारदी(इन्)–पु., सप्तपर्णवृक्षः (अम.) कञ्चटशाकः (र. मा.) अपराजिता (जद.)
शारिवा–स्त्री., स्वनाप्रसिद्धलता (सु. सू. ३८ अ.)
शारीरगुण–पु., दैहिकगुणसमष्टिः (च. सू. १ अ.)
शारीरग्रन्थ–पु., श्रीमुखविरचितशारीरशास्त्रम्
शारीरज्वर–पु., देहगतज्वरः (च. चि. ३ अ.)
शार्क–पु., शर्करा. (श. र.)
शार्कक–पु., दुग्धफेनः । शर्करापिण्डः (मे.)
शार्करमद्य–शीधु–न., पु., शर्कराधातकीसिद्धमद्यम् (रा. नि. व. १४)
शार्करिल–पु., शर्करान्वितभूमिजः, शर्कराभूयिष्ठम् (व्याक)
शार्ङ्गधर–पु., स्वनामख्यातचिकित्सासंग्रहकारः, ज्वरत्रिशतीकारः
शार्ङ्गधरदीपिका–स्त्री., आढमल्लकृतः शार्ङ्गधरटीकाविशेषः
शार्ङ्गवेरिक–पु., शुण्ठीसमानवर्णः । स्थावरविषभेदः (अत्रि. ३ स्थान. ५६. अ.)
शार्दूलकन्द–पु., अरण्यपलाण्डुः
शार्दूलज–व्याघ्रनखम् (वै. निघ.)
शार्वरी–स्त्री., रात्रिः (अ. टी. भः) रोध्रः (वै. निघ.)
शालक–न., नाडीशाकम् (वै. निघ.)
शालज–पु., शालमत्स्यः (श. र.)
शालञ्च–पु., शालिञ्चशाकः
शालद्वय–न., शालपीतशालद्वयम् (सा. कौ. शिलाजतुशोधने)
शालपत्र–समपत्री–स्त्री.,–शालपर्णी (प. मु.)
शालपर्णिका–स्त्री., मुरा (वै. निघ.)
शालपर्ण्यादि–पु., तदादिद्रव्यगणः
शालमर्कट–पु., दाडिमवृक्षः (वै. निघ.)
शालव–पु., लोध्रवृक्षः (श. र.)
शालवर्ग–पु., शालशारादिवर्गः (भा.)
शालवेष्ट–पु., शालनिर्यासः (त्रिका.)
शालशाक–न., शालवृक्षः (सु. सु. ३८. अ.) हिङ्गुवृक्षः (विश्व)
शाला–स्त्री., तरुशाखा । गृहम् (त्रिका.)
शालाककूटक–न., चाणक्यमूलकम्
शालाकी (इन्) पु., अस्त्रवैद्यः
शालाद्वार–पु., कर्मकारशालाग्निः (रस. चि.) (९ अ. शालकाष्ठाङ्गारे)
शालाजिर–पु., शरावः (त्रिका.)
शालाञ्चि–पु., शाकभेदः (श. र.)
शालानी–स्त्री., विदारी (श. र.)
शालामृग–पु., शृगालः (हारा.)
शालिज (जाहकः)–पु., खट्टाशाण्डः (च. द. व्या. चि.)
शालिजाहक–पु., खट्टाशाण्ड (च. द. वा. व्या. चि.)
शालिञ्च (ञ्ची) पु. स्त्री., स्वनामख्यातशाकभेदः (राज. ३ प.)
शालिनाथ–पु., रसमञ्जरीकारः
शालिनी–स्त्री., पद्मकन्दः (रा. नि. व. १०) मेथिका (वै. निघ.)
शालिमूल–न., हैमन्तिकधान्यमूलम् (च. चि. ३ अ)
शालिराट्–पु., महाशालिः, राजशालिः (प. मु.)
शालिशक्तु–पु., शालिधान्यकृतसक्तुकः (च. सू. २७ अ.)
शालिहोत्र–पु., तन्नामकाश्वशास्त्रप्रणेता ऋषिविशेषः । घोटकः (त्रिका.)
शालिहोत्र–न., नकुलकृतअश्ववैद्यकम्
शाली–स्त्री., कृष्णजीरकः (रा. नि. व. ६) मेथिका शालपर्णी । दुरालभा (वै. निघ.)
शालु–न., शालूकः (श. र.) पु., भेकः (हे. च.) चोरकनामगन्धद्रव्यम् (मे.)
शालूर–पु., भेकः (अम.) पद्मकन्दः (वै. निघ.)
शालूरक–पु., पुरीषजकृमिभेदः (च. वि ७ अ.)
शालूरपर्णी–स्त्री., ब्राह्मीशाकः (भा. म. १ भ.) (जिह्वकज्वर. चि.)
शाल्मलिनी–स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (श. र.)
शाल्मलीकण्टक–पु., प्रसिद्धः (वा. उ. २२ अ.)
शाल्मलीकल्प–पु., वैद्यशास्त्रान्तर्गतचिकित्साकल्पभेदः (ज. द.)

शाल्मलीसत्वनिर्यास–पु., मोचरसः (भैष.) (ध्वजभ. चि.)
शाल्वणस्वेद-पु., वातव्याधौ स्वेदविशेषः
शावक–पु., शिशुः (रा. नि. व. १८)
शावर–पु., शवरलोध्रः (मे.)
शावरकरोध्र-पु., अक्षिभेषजापरसंज्ञः । स्वनामख्यातवृक्षः (वा. सू. १३ अ.)
शावरभेदाख्य (क्ष)–न., ताम्रम् (हे. च.)
शावरी–स्त्री., शुकशिम्बी (मे.)
शाष्कुल–त्रि., मांसाशी (हे. च.)
शिकतावलम्बन–न., जलस्य शीतलीकरणोपायाविशेषः (सु. सू. ४५ अ)
शिक्थ–न., मधूच्छिष्टम् (रा. नि. व. १३)
शिक्षा–स्त्री., वेदाङ्गविशेषः (र. मा.) श्योणाकवृक्षः (श. मा.)
शिखण्ड (क)–पु., मयूरपुच्छम् (अम.) काकदक्षः (मे.)
शिखण्डिक-पु., कुक्कुटः (भा.) स्त्री., **का**-गुञ्जा
शिखण्डिनी–स्त्री., गुञ्जालता (प. मु. र. सा. सं.) (रसप्रकरणे) यूथिका (र. मा.) मयूरी
शिखण्डि (इन्)-पु., मयूरः । मयूरपुच्छम् (मे.) कुक्कुटः (हे. च.) स्त्री., गुञ्जालता (रा. नि. व. ३) स्वर्णयूथिका (रा. नि. व. १०)
शिखरा–स्त्री., मूर्वा (श. च.)
शिखरिचरण–न., अपामार्गमूलम् (वै. निघ. २ भ.) उन्मा. चि.)
शिखरिज–पु., अपामार्गः (भैष. ने. रो. चि. भार. म. ४ भ.)
शिखरिलोहित–पु., भूकदम्बः (श. च.)
शिखाचल-पु., मयूरः (त्रिका.)
शिखाधर (धार)–पु., मयूरः (त्रिका.)
शिखामूल–न., गृञ्जनम् (रा. नि. व. ७)
शिखाल–पु., मयूरः (वै. निघ.)
शिखालु-पु., मयूरशिखा (रा. नि. व. ५)
शिखावती–स्त्री., मूर्वा (श. च.)
शिखावर-पु., पणसवृक्षः (श. मा.)
शिखावला–स्त्री., मयूरशिखा (रा. नि. व, ५) मेथिका (वै. निघ.)
शिखावान्–पु., चित्रकवृक्षः (अम.) भाषपक्षी (वै. निघ.)
शिखावृक्ष–पु., उच्चदीपाधारः
शिखिकुन्द–पु., कुन्दुरुखोटी (कश्चित्)
शिखिग्रीव–(वा.) न. स्त्री. तुत्थकम् (अम.) कान्तपाषाणः । चुम्बकः (र. सा. सं.)
शिखिध्वज–पु., धूमः (त्रिका) मयूरः (वै. निघ.)
शिखिनीफल–पु., शिरीषवृक्षः
शिखिपुच्छम्–न., मयूरपुच्छम् (श. र.)
शिखिपुच्छभूति–स्त्री., पुच्छभस्म (च. द. हिक्का श्वास. चि.)
शिखिमण्डल–पु., वरुणवृक्षः (श. र.)
शिखिमन्थ–पु., गणिकारिका (रस. र.)
शिखिमोटा–स्त्री., अजमोदा (रा. नि. व. ६)
शिखियूप–पु., श्रीकारिमृगः (रा. नि. व.१९)
शिखिवर्धक–पु., कूष्माण्डः (श. र.)
शिखिवाडवरस–पु., गुल्माधिकारे रसः (रस. र.)
शिखिहिण्टी–स्त्री., महाबलाक्षुपः (वै. निघ.)
शिखिवभ्रु–पु., सितावरीक्षुपः (रा. नि. व. ४)
शिगूडि–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः (रा. नि. व. ४)
शिग्रुपुष्प–न., शोभाञ्जन पुष्पम् (भा.)
शिग्रुफल–न., शोभाञ्जन फलम्
शिग्रूद्भव–न., शिग्रुबीजम् (वै. निघ.)
शिङ्घाणक–पु., कफः । नासामलः (उणा) वाजिनो नासागतरोगविशेषः (ज. द.)
शिङ्घाण (णिका)–न., (स्त्री.) काचपात्रम् (त्रिका.) लोहमलः नासामलः (मे.)
शिङ्घित–त्रि.,घ्रातम् (श. र.)
शिङ्घिनी–स्त्री., नासिका
शित–पु., वृषः (त्रि,.) कृशः (विश्व.)
शितकर–पु., कर्पूरः (रा. नि. व. १२)
शितकर्णी–स्त्री., बासा (रा. नि. व. ४)
शितच्छत्रा–स्त्री., शताह्वा (वै. निघ.)
शितद्रु पु., स्त्री., क्षीरमोरटः (र. मा.) शतद्रुनदी (अक.)
शितनिर्गुण्डी–स्त्री., कृष्णनिर्गुण्डी (रस. र. वाल. चि.)
शितपर्ण–पु., क्षुद्रमुस्तकम् (वै. निघ.)
शितपुष्प–पु., शिरीषवृक्षः (रा. नि. व. ६)
शितपुष्पक–न., काशतृणम् (रा. नि. व. ८)
शितशाक–पु., शालिञ्जशाकः (प. मु.)
शितशिव–न., सैन्धवलवणम् (वै. निघ.) मिश्रेया स्त्री., शताह्वा (वै. निघ.)

शितशिंशपा–स्त्री., श्वेतशिंशपा (रा. नि. व. ९.)
शितशूक–पु., यवः (त्रिका.) गोधूमः (त्रिका.)
शितसार–पु., तिन्दुकवृक्षः (अम.)
शितादिकर्णी–स्त्री., श्वेतापराजिता (रा. नि. व. २३)
शितावार–पु., सुनिषण्णकः (जटा.)
शितिच्छद–पु., हंसः (श. र.)
शितिपक्ष–पु., हंसः (श. र.)
शितिमारक–न., शालिञ्चशाकः
शितिसार (क)–पु., तिन्दुकवृक्ष (अम.)
शितिसिम्बिनी–स्त्री., श्यामालता
शिपि–पु.. चर्म
शिफ–पु., मूलम् (अटी. विद्याविनोदः)
शिफाक(कन्द)–पु., पद्ममूलम् (श. च.)
शिफाधर–पु., शाखा (श. च.) मयूरः
शिमृडी–स्त्री., स्वनामख्यातक्षुपः
शिम्बिक–पु., कृष्णमुद्गः (हे. च.)
शिम्बीभव–पु., शिम्बीधान्यम् (भा. पू. १ भ.)
शिरःखण्ड–न., कपालास्थि (वै. निघ.)
शिरःपीडा–स्त्री., शिरोरोगः (निदा.)
शिरःफल–पु., नारिकेलवृक्षः (त्रिका.)
शिरज–पु., केशः (श. र.)
शिरसिज (रो-रुहः)–पु., केशः (रा. नि. व. १८)
शिरा–स्त्री., धमनी (रा. नि. व. १८)
शिराजपिडका–स्त्री., शुक्लगतनेत्ररोगः (सु. ३ ४ अ.)
शिराजाल–पु., शुक्लगतनेत्ररोगः (भा.)
शिराग्रन्थि–पु., वातेन शिरासंकोचेन ग्रन्थिरोगभेदः (वा. उ. २९ अ.)
शिराप्रहर्ष–पु., सर्वगताक्षिरोगः (मा. नि.)
शिराफल–पु., नारिकेलवृक्षः (श. च.)
शिरामलक–पु., स्वनामख्यातवृक्षः (प. मु.)
शिरामोक्ष–पु., रक्तमोक्षणम् (नकुल १४ अ.)
शिरायाम–पु., शिरायाः प्रसरणवत्पीडा (मा. नि.)
शिरायु–पु., भल्लूकः (रा. नि. व. १९)
शिराल–न., कर्मरङ्गफलम्
शिरावृत्त–न., शीषकम् (रा. नि. व. १९)
शिरावेध(व्यधा)–पु., शोणितदुष्टिजन्यरोगेषु शिरायां वेधनम्
शिरोत्पात–पु., सर्वगताक्षिरोगः (मा. नि)
शिरोधि–स्त्री., कन्धरा (रा. नि. व. १८)
शिरोधिजा–स्त्री., शिरा (रा. नि. व. १८)
शिरोभ्यङ्ग–पु., मस्तकाभ्यङ्ग; (सु. चि. २४ अ.)
शिरोमर्म्म-(न्) पु., शूकरः (हे. च.)
शिरोऽर्ति–स्त्री., शिरःपीडा (मा. नि.)
शिरोवल्ली स्त्री., मयूरशिखा (श. च.)
शिरोवृत्तफल–पु., रक्तापामार्गक्षुपः (भा.)
शिरोऽस्थि–न., करोटी (रा. नि. व. १८)
शिलाजतुलेह–पु., प्रमेहाधिकारे लेहः (रस. र.)
शिलाजा–स्त्री., श्वेतशिलानामपाषाणभेदः (रा. नि. व. ५)
शिलाञ्जनी–स्त्री., कालाञ्जनी (रा. नि. व. ४)
शिलाटक–पु., विलेपनम् (मे.)
शिलाटिका–स्त्री., रक्तपुनर्नवा
शिलात्मिका–स्त्री., मूषिका (श. च.)
शिलाद्रुद्रु–न., शैलेयः
शिलापुत्र–लोडा इति ख्याते प्रस्तरखण्डः (श. र.)
शिलाभव–न., शैलेयः (जटा.)
शिलाभिष्यन्द–पु., शिलाजतुकः (वै. निघ.)
शिलामल–पु., शिलाजतुः (वै. निघ.)
शिलारस–पु., स्वनामख्यातखनिजगन्धद्रव्यविशेषः
शिलाव्याधि–पु., शिलाजतु (त्रिका.)
शिलासन–न., शैलेयः (श. र.)
शिलासार–पु., लौहः (हे. च.)
शिलास्वेद–पु., शिलाजतु (वै. निघ.)
शिलाह्वा–स्त्री., (भा. म. ३ अश्मचि.) मनःशिला (र. सा. सं. बृहच्चिन्तामणिरसे.) कुण्डली (रा. नि. व. २३) न., शिलाजतु
शिलाक्षार–पु., चूर्णकः (वै. निघ.)
शिलि–भूर्जवृक्षः (श. मा.)
शिलिगर्भजा–स्त्री., पाषाणभेदकः (रा. नि. व. ५)
शिलिन्द–पु., मत्स्यविशेषः (राज. ३ प.)
शिली–स्त्री., गण्डूपदी (मे.)
शिलि (ली)न्ध्र (क) पु., भूच्छत्राकः । छत्रिका (मे.)
शिलीन्ध्रपुष्प–न., कदलीपुष्पम् (मे)
शिलीन्ध्री–स्त्री., किञ्चुलिका । मृत्तिका (मे)
शिलीपद–पु., श्लीपदरोगः (श. र.)
शिलीमुख–पु., भ्रमरः (अम.)
शिलु–पु., बहुवारवृक्षः (वै. निघ.)
शिलेय–न., शैलेयः (श. र.)
शिलोद्भिदा–स्त्री., पाषाणभेदः (भा. म. ३. प.)
शिल्ली–स्त्री., शल्लकीवृक्षः

शिवतेज–न., पारदः (शब्दकल्प.)
शिवधातु–पु., पारदः, गोदन्तमणिः (शब्दक.)
शिवधूप–पु., महिषाक्षगुग्गुलुः (वै. निघ.)
शिवनामा–(न्) पु., पारदः (र. सा. सं)
शिवनिर्माल्य–न., पुष्पादिः (रावणकृतकुमारतन्त्रम्)
शिवपण्डित–पु., वैद्यकहितोपदेशकारः
शिवपुत्र–पु., पारदः (वै. निघ.)
शिवप्रीति–पु., विल्ववृक्षः (वै. निघ.)
शिवब्रह्म स्त्री., ब्रह्मीशाकभेदः, शङ्खपुष्पी (प. मु.)
शिवरस–पु., व्यहात्पर्युषितान्नोदकरसः स्वनाम्ना महाराष्ट्रकर्णाटकदेशे ख्यातः
शिवलिङ्गी–स्त्री., लिङ्गिनीलता (रा नि. व. ३)
शिवशित–पु., कफः (वै. निघ.)
शिवसाधन–न., शालिधान्यम् (प. मु.)
शिवाख्या–स्त्री., वल्लीदूर्वा (रा. नि. व. ८)
शिवाघृत–न., उन्मादे घृतविशेषः (वै. निघ.)
शिवाङ्ग–न., रुद्राक्षः (रा. नि. व. १०)
शिवात्मक–न., सैन्धवलवणम्(रा. नि. व. ६)
शिवानी–स्त्री., जयन्तीवृक्षः (श. च.)
शिवापीड–पु., अगस्तिवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शिवाप्रिय–पु., छागः (त्रिका.)
शिवामूल–न., दूर्वामूलम् (रत्नमाला. सं. बालग्रह. चि.)
शिवारति–पु., कुक्कुरः (र. मा.)
शिवालय–पु., रक्ततुलसीवृक्षः (श. च.) न., श्मशानम् (हारा.)
शिवालु–पु., शालावृकः (रा. नि. व. १९)
शिवास्मृति–स्त्री., जयन्तीवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शिवालिहाद–पु., अगस्तिवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शिवाह्वय–पु., पारदः (भा.)श्वेतार्कः । वटवृक्षः (वै. निघ.)
शिवि–पु., भूर्जवृक्षः (मे.)
शिविका–स्त्री., खाद्यद्रव्यभेदः (वै. निघ.)
शिविर–पु., तृणधान्यभेदः (च. सू. २७ अ.)
शिवेश–पु., शृगालः (वै. निघ.)
शिशुक–पु., शिशुमारः (अम.) मण्डलिसर्पविशेषः सु. कल्प. ४ अ.) बालकः (मे.) वृक्षभेदः (हे. च.)
शिशुगन्धा–स्त्री., मल्लिकाविशेषः (श. मा.)
शिशुमाराकृति–पु., मत्स्यभेदः
शिशुवाह (ह्य) क–पु., वन्यछागः (हे. च.)
शि – ., न., लिङ्गम् (रा. नि. व. १८)
शिष्ट–पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
शिह्व (क)–पु.,शिलारसः । (श. च. र. मा.)
शीघ्रकारी (इन्)–पु., त्रिदोषसन्निपातज्वरः (भा. म. १ म.)
शीघ्रग–पु., सन्निपातज्वरविशेषः (भा. म.)
शीघ्रचेतन–पु., कुक्कुरः (श. मा.)
शीघ्रजन्मा–(न्)–पु., कण्टकरञ्जः (श. र.)
शीघ्रजीर्ण (र्शीर्ण)–पु., तण्डुलीयकशाकः (श. मा.)
शीघ्रप्ररोही (इन्) पु., शणवृक्षः (वै. निघ.)
शीघ्रा -स्त्री., दन्तीवृक्षः (रा. नि. व. ६)
शीतकणा–स्त्री., श्वेतजीरकः (वै. निघ.)
शीतकाल–पु., हेमन्ते ऋतुः (मे.)
शीतकुम्भ–पु., करवीरवृक्षः (र. मा.)
शीतकूर्चिका–स्त्री., लघुवाट्यालकः (वै. नि.)
शीतकेशरीरस–पु., रसप्रदीपोक्ते शीतज्वरे रसः(भा.)
शीतक्षार–न., श्वेतटङ्कणम् (रा. नि. व. ६)
शीतगुणकर्म्म (न्) गुणाः–ह्लादनत्वं मूर्च्छातृष्णाक्लेददाहघ्नत्वं च (सु. सू.)
शीतचम्पक–पु., दर्पणम् (मे.)
शीतच्छाय–पु., वटवृक्षः (वै. निघ.)
शीतदन्तिका–स्त्री., नागदन्ती (रा. नि. व. २०)
शीतदीप्य–न., श्वेतजीरकः (वै. निघ.)
शीतद्रु–पु., क्षीरमोरटः (प. मु.)
शीतपत्रा–स्त्री., श्वेतलज्जालुका (वै. निघ)
शीतपर्णी–स्त्री., अर्कपुष्पिका (र. भा.)
शीतपल्लवा–स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः (र. मा.)
शीतपाकी–स्त्री., काकोली (प. मु.) गुञ्जा (रा. नि. व. ३) वाट्यालकः (श. र.)
शीतपूर्वकज्वर–पु., विषमज्वरभेदः (मा. नि.)
शीतबला–स्त्री., महासमङ्गा (रा. नि. व. ४)
शीतमयूखे–पु., कर्पूरः (मे.)
शीतमरीचि–पु., कर्पूरः (श. र.)
शीतमूलक–न., उशीरः (रा. नि. व. ८)
शीतरश्मि–पु., कर्पूरः (वै. निघ.)
शीतरुह–न., श्वेतरक्तपद्मम् (वै. निघ.)
शीतलजल–न., उत्पलम् (रा. नि. व. १०)
शीतलता–स्त्री., हिमत्वम् । चित्रकूटदेशख्यातामृतवल्ली (वै. निघ.)
शीतलत्व–न., जडता, हिमत्वम् (रा. नि. व. २०)
शीतलप्रद–पु., चन्दनवृक्षः (शब्दकल्पः)
शीतलवातक–पु., असनपर्णी (श. र.)

शीतलि (ली) स्त्री., पाताडीति प्रसिद्धः जलजवृक्षभेदः (रा. नि. व. ८)
शीतवर-पु., सुनिषण्णकशाकः (वै. निघ.)
शीतवल्लभ-पु., पर्पटकः (वै. निघ.)
शीतवासा-स्त्री., यूथिका (वै. निघ.)
शीतवीज-न., तदाख्यसूक्ष्मबीजभेदः
शीतवृक्षा-स्त्री., सुवर्चला (वै. निघ.)
शीतशूक-पु., यवः (भ. पू. १भ. धा. व.)
शीतांशुतैल-न., कर्पूरतैलम् (रा. नि. व. १५)
शीताद-पु., दन्तवेष्टगतरोगविशेषः (सु. नि. १६ अ)
शीताद्य-पु., विषमज्वरः (रा. नि. व. २०)
शीताभ-पु.,न., कर्पूरः (वै. निघ.)
शीताबला-स्त्री., महासमङ्गा (रा. नि. व. ४)
शीताश्मा (न्)-पु., चन्द्रकान्तमणिः (रा. नि. व. १३)
शीतेच्छा-स्त्री., पित्तजन्यरोगः (भा.)
शीतोत्तम-न., जलम् (श. च.)
शीधुगन्ध-पु., वकुलवृक्षः (त्रिका.)
शीफालिक-स्त्री., शेफालिकावृक्षः (अ. टी. भ.)
शीमूल-पु., शाल्मलिवृक्षः (रस. चि. ९ अ.)
शीर-पु., नागरङ्गवृक्षः (वै. नि.घ) अजगरसर्पः (श. र.)
शीरिका-स्त्री., वंशपत्रीतृणविशेषः (वै. निघ.)
शीर्णदल-पु., निम्बवृक्षः (रा. नि. व, २३)
शीर्णपत्र-पु., कर्णिकारवृक्षः (श. च.) पट्टिकालोध्रः (वै. निघ.) निम्बवृक्षः (रा. नि. व. ९)
शीर्णपुष्पिका-स्त्री., अवाक्पुष्पी (श. च.)
शीर्णमाला-स्त्री., पृश्निपर्णी (श. च.)
शीर्षक-न., शरीरावयवः, मस्तकम्, मस्तकास्थि (रा. नि. व. १८) अगुरुकाष्ठम् उष्णीषम् नारिकेलः (वै. निघ.)
शीवल न., शैलेयः। शैवालः (मे.)
शीष-न., कासीसम् (रा. नि. व. १३)
शीषक-न., शीषधातुः (प. मु.)
शीहुण्ड-पु., स्नुहीवृक्षः
शुकद्रुम-पु., शिरीषवृक्षः (श. मा.)
शुकनामा-स्त्री., शुकतुण्डी। शुकजिह्वा (र. मा.)
शुकनासिका-स्त्री श्योणाकवृक्षः
शुकपत्र-पु., गन्धकः (वै. नि. घ)
शुकपत्रक्ष-पु., गन्धकः (वै. निघ.)
शुकपुष्प-न., स्थौणेयकः (भा.) पु., शिरीषवृक्षः (रा. नि. व. ११) गन्धकः (वै. नि. घ)
शुकरोग-पु., शूकरोगः
शुकवर्ण-पु., ग्रन्थिपर्णभेदः (वै. निघ.)
शुकवृक्ष-पु., शिरीषवृक्षः (वै. नि. घ)
शुकशा क-पु., महानिम्बः (वै. नि.घ)
शुकशिम्बा (म्बि) (म्बी)-स्त्री., शूकशिम्बी (श. र.)
शुकशीर्षा-स्त्री., तालीशपत्रम्। स्थौणेयकः, तेजपत्रम् (वै. निघ.)
शुकादन-पु., दाडिमवृक्षः (श. च.)
शुकानना-स्त्री., शुकाख्या (प. मु.)
शुक्तिपुटोपम-न., वातादः (वै. निघ.)
शुक्तिमणी-पु., मुक्ता (वै. निघ.)
शुक्तावीज-न., मुक्ता (वै. नि.घ)
शुक्त्यङ्गी-स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. नि. घ)
शुक्रभुक-पु., मयूरः (श. च.)
शुक्रभू-स्त्री., मज्जा (श. च.) अस्थिसारः
शुक्रमाता-स्त्री., भार्गी (वै. निघ.)
शुक्रमातृका (वटिका)-स्त्री., प्रमेहे औषधम् (रस. र)
शुक्रला-स्त्री., उच्चटा (प. मु.) आमलकवृक्षः
शुक्रसङ्ग-पु., शुक्रोधः (भा.)
शुक्रकृच्छ्र-न., मूत्रकृच्छ्ररोगः (निदा.)
शुक्रगतज्वर-पु., तदाश्रितज्वरः (मा. नी.)
शुक्रपुष्प-कुरुवकशाकः (प. मु.) स्त्री., श्वेतापराजिता (वै. निघ)
शुक्रा-स्त्री., वंशलोचना (रा. नि. व. ६.)
शुक्राङ्ग पु, मयूरः (जटा.)
शुक्राल्पता-स्त्री., पित्तजरोगः (भा.)
शुक्लक-पु, क्षीरिणीवृक्षः (वै. निघ.)
शुक्लकण्ठ (क) पु., दात्यूहपक्षी (श. मा.)
शुक्लकुष्ठ-न., श्वित्रम्। गारुडम्
शुक्लतुलसी-स्त्री., श्वेततुलसी (संग्रहः)
शुक्लदुग्ध-पु., जलजवृक्षभेदः, शृङ्गाटकः (श. च.)
शुक्लधातु-पु., कठिनी (हे. च.)
शुक्लपद्म-न., श्वेतपद्मम्
शुक्लपृष्ठक-पु., सिन्धवारकवृक्षः (श. च.)
शुक्लफल-पु., रक्तार्कवृक्षः
शुक्लफला-स्त्री., शमीवृक्षः (वै. निघ)
शुक्लफेन-पु., समुद्रफेनः (वै. निघ.)
शुक्लभण्डी-स्त्री., शुक्लत्रिवृत् (वै. निघ.)
शुक्लमञ्जरी-स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. निघ.)
शुक्लमुद्ग-पु., शुभ्रमुद्गः

शुक्रमूल–न., श्वेतलशुनः (वै. निघ.)
शुक्रला–स्त्री., उच्चटा (र. मा.) आमलकः
शुक्रवंश–पु., श्वेतवंशः (रा. नि. व. ८)
शुक्रवायस–पु., बकपक्षी (त्रिका.)
शुक्रवृहती–स्त्री., श्वेतवृहती (भैष.अ. पि. चि. पानीय-भक्तवट्याम्)
शुक्रसारङ्ग–पु., शुक्रचातकः (च. सू. २७ अ.)
शुक्राङ्ग–पु., द्वीपान्तरवचा (वै. नि.)
शुक्राक्ष–पु., प्लवजातीयसंघातचरपक्षी (सु. सू.४६ अ.)
शुक्राजाजी–स्त्री., श्वेतजीरकः (वै. निघ.)
शुक्रापाङ्ग–पु., मयूरः (हे. च.)
शुक्राम्ल–न., अम्लशाकम् (रा. नि. व. ७)
शुक्राहिफेन–पु., शुक्रपुष्पाहिफेनवृक्षः
शुक्रौदन–न., आतपान्नम् (रा. नि. व. १६)
शुक्रोपला–स्त्री., शर्करा (र. मा.)
शुङ्गी(इन्)–पु., प्लक्षवृक्षः, वटवृक्षः (जटा.)
शुचिद्रुम–पु., अश्वत्थवृक्षः (रा. नि. व. ११)
शुचिमल्लिका–स्त्री., नवमल्लिका (रा. नि. व. ११)
शुचिव्रत–पु., प्रपौण्डरीकम् (वै. निघ.)
शुटीरता(टीर्य्य)–स्त्री., न., वीर्यम् (त्रिका.)
शुण्टि(ण्टी)–पु., स्त्री., शुष्कार्द्रकः (अम.)
शुण्ठ–न., गुण्डासिनीतृणम् (वै. निघ.)
शुण्ठघृत–न., ग्रहण्याम् आमवाते च घृतम् (च. द. भा.)
शुण्ठ्य–न , शुण्ठी (श. च.)
शुण्डरोह–पु., भूतृणम् (रा. नि. व. ८)
शुण्डा–स्त्री., गलशुण्डीनामरोगः (रा. नि. व. २०)
शुण्डार–पु.. करिशुण्डाकारः वकयन्त्रभेदः
शुण्डाल–पु., गजः (धनञ्जयः)
शुण्डिका–स्त्री., स्फोटकः (रा. नि. व. २०) उपजिह्विका (शब्दकल्पः)
शुण्डिनी–स्त्री., छुछुन्दरी (रा. नि. व. १९)
शुजङ्घ–पु., गर्दभः (त्रिका.)
शुद्धमांस–न., मांसव्यञ्जनम् । पक्वमांसम्
शुद्धवल्लिका–स्त्री., गुडूची (श. च.)
शुद्धा–स्त्री., कुटजबीजम् (वै. निघ.)
शुद्धान्तपालक–पु., नपुंसकः (श. च.)
शुद्धिकन्द–पु., लशुनः (वै. नि.)
शुन (क)–पु., कुक्कुरः (श. टी. भ.)
शुनि–पु., कुक्कुरः (हेच.) (नी) स्त्री., कुष्माण्डी (रा. नी. व. ७)
शुभग–पु., टङ्कणक्षारः (र. सा. सं.)
शुभाकिनी–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
शुभाञ्जन–पु., रक्तशिग्रुवृक्षः (र. मा.)
शुभेक्षण–पु., मत्स्यः (वै. नि.)
शुभ्रतरु–पु.. शिरीषवृक्षः (प. मु.)
शुभ्रपुङ्खा–स्त्री., श्वेतशरपुङ्खा (रा. नि. व. ४)
शुभ्रवेष्ट पु., श्वेताशाल्मली (वै. निघ.)
शुभ्रसर्षप–पु., श्वेतसर्षपः (वै. निघ.)
शुभ्रिका–स्त्री., मधुशर्करा (वै. निघ.,)
शुल्कवायस–पु., वकपक्षी (त्रिका.)
शुल्या–स्त्री., सुनिषण्णकशाकः (वै. निघ.)
शुल्ब (ल्व)(क–)न.,–ताम्रम् (प. मु.) सूतादिगुट्याम्
शुल्वपत्र–न., ताम्रपत्रम् (रस. चि.)
शुल्वरिपु–पु., गन्धकः (हे. च.)
शुल्वशत्रु–पु., गन्धकः (वै निघ)
शुल्वारि–पु.,गन्धकः (हे. च.)
शुश्रूषा–स्त्री., सेवा (त्रिका)
शुषणी–स्त्री., स्वनामख्यातशाकः (राज. ३प.)
शुषवी–स्त्री., कारवेल्ललता
शुषिर–न., लवङ्गम् (प. मु.) पु., मूषिकः (मे.) स्त्री., नलीनामगन्धद्रव्यम् (अम.) छिद्रम्
शुषिराख्य–पु., रन्ध्रवंशः
शुष्कगोमय–पु., वनकरीषः
शुष्कनी–स्त्री., शुष्कमांसम्
शुष्कपत्र–न., शुष्कपट्टशाकः (राज. ३ प.)
शुष्कमत्स्य–पु., सलवणः रौद्रशोषितमत्स्यः (शब्दकल्प)
शुष्कमुख–पु., मुखशोषयुक्तः (वा. चि. ९अ.)
शुष्कमूल–न., रौद्रशोषितमूलकः (वा. चि. ७ अ.)
शुष्कमूलकाद्यतैल–न., शोथाधिकारे तैलम् (रस. र.)
शुष्कमूलाद्यघृत–न., उदावर्ताधिकारे घृतम् (रस. र.)
शुष्कली–स्त्री., शुष्कमांसम् (शब्दकल्पः)
शुष्कवृक्ष–पु., धववृक्षः (रा. नि. व. ९)
शुष्कव्रण–पु., योनिकन्दरोगः (त्रिका. किणे. त्रिका.)
शुष्काङ्ग–पु., धववृक्षः (वैद्यकम्)
शुष्काङ्गी–स्त्री., बलाका (वै. निघ.) गोधिका (श. च.)
शुष्कार्द्रम्–न., शुण्ठी (श. च.)
शुष्म–न., तेजः (मे.)
शुष्मा (न्)–पु., चित्रकवृक्षः (अम.) अग्निः
शूकक–पु., रसः (मे.) यवः
शूककीट–(क)–पु., ऊर्णादिभक्षकशूकयुक्तकीटविशेषः (अम.)

शूकतृण–न., तृणविशेषम् (रा. नि. व. ८)
शूकपाक्य–पु., यवक्षारः (संग्रहः)
शूकपिण्डि-(**ण्डी**)–स्त्री., शूकशिम्बी (श. मा.)
शूकरकन्द–पु., वाराहीकन्दः (रा. नि. व. ७)
शूकरक्रान्ता–स्त्री., वराहक्रान्ता
शूकरपादिका–स्त्री., कोलाशिम्बी (रा. नि. व. ३)
शूकरशिम्बी–स्त्री., कोलशिम्बी (भा. म. ४ भ.)
शूकराक्रान्त–स्त्री., वराहक्रान्ता (श. र.)
शूकरेष्ट–पु., कशेरुः (रा. नि. ब. ८)
शूकला–स्त्री., शालिधान्यविशेषः (अत्रि. १५. अ.)
शूकवती–स्त्री., कपिकच्छुः (श. च.)
शूकवृन्त -पु., कीटविशेषः (सु. कल्प. ८ अ.)
शूका–स्त्री., कपिकच्छूलता (श. च.)
शूकाक्ष–पु., शिरीषवृक्षः (आयुर्वेदसारे सा. ज्वरे.)
शूकाक्षबीज–न., शिरीषबीजम् (आयुर्वेदसारे)
शूकापूट्ट–पु., तृणमणिः (हारा.)
शूकाभपुष्प–पु., शिरीषवृक्षः (वै. निघ.)
शूतिपर्ण–पु., आरग्वधवृक्षः (श. र.)
शूद्रार्त्ता–स्त्री., प्रियङ्गुलता (श. च.)
शूनक–त्रि., शोथयुक्तः (मा. नि.)
शूनकचञ्चुक–पु., क्षुद्रचञ्चुक्षुपः (वै. निघ.)
शूपकार–पु., शूद्रपाचकः (पुराणम्)
शूरक–पु., कोकिलावृक्षः
शूरण–पु., वङ्गदेशजस्वनामख्यातकन्दशाकविशेषः
शूरणपिण्डिका–स्त्री., अर्शसि औषधम् (च. द.)
शूरणमोदक–पु., स्वल्पाख्येऽर्शोघ्नौषधविशेषः (भा.)
शूरणोद्भुज–पु., पक्षिविशेषः (श. र.)
शूरा–स्त्री., क्षीरकाकोली (वै. निघ.)
शूरिमृग–पु., वराहादिः (अत्रि. २९ अ.)
शूर्पश्रुति–पु., गजः (हारा.)
शूलग्रन्थि–पु., वल्मीदूर्वा
शूलघातन–न., मण्डूरलौहम् (श. च.)
शूलद्विट–न , हिङ्गु (र. मा.)
शूलनाशन–न., सौवर्चललवणम् (हे. च.)
हिङ्गुः, पुष्करमूलम् (वै. निघ.)
शूलवज्रिणी (**वटिका**)–स्त्री., शूलाधिकारे औषधम्
शूलशत्रु–पु., एरण्डवृक्षः (श. र.)
शूलशब्द–पु., उदरमध्यः गुडगुडाशब्दः
शूलहरम्–न., पुष्करमूलम् (वै. निघ.)
शूलहृत्–पु., हिङ्गु (रा. नि. व. ६.)
शूलाकृत–न., शूलविद्धदग्धं पक्वमांसम् (अम.) त्रि.,
शूलारि–पु., इङ्गुदीवृक्षः (रा. नि. ब. ८)
शूलिक–पु., शशकः (हे. च.) न., शूलविद्धपक्वमांसम् (श. च.)
शूलिन–पु., भाण्डीरपुष्पवृक्षः (शमा.) उदुम्बरवृक्षः
शूली (इन्)–त्रि., शूलरोगवान् पु., शशकः (भा.)
शूलोत्था–स्त्री., सोमराजी
शूल्यपाक–पु., शूलविद्धं कृत्वाऽङ्गारपक्वमांसादि(पाकराजः)
शृगालकण्टक–पु., वृक्षविशेषः (श. च.)
शृगालकोलि–पु., कर्कन्धुवृक्षः (प. मु.) क्षुद्रबदरः (र. मा.)
शृगालजम्बु(म्बू)–स्त्री., गोडुम्बा । घोण्टाफलम् (मे.)-
शृङ्खलक–पु., उष्ट्रः (रा. नि. व. १९.)
शृङ्खला (ली)–स्त्री., कोकिलाक्षक्षुपः (रा. नि. व. ४.)
शृङ्गज–न., अगुरुकाष्ठम्
शृङ्गधूम–पु., फिङ्गापक्षी (वै. निघ.)
शृङ्गनाभ–न., विषभेदः (प. मु.)
शृङ्गनाम्नी–स्त्री., कर्कटशृङ्गी (मद. व. १.)
शृङ्गमोही (इन्)–पु., चम्पकवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शृङ्गरीटका–स्त्री., स्वर्णजीवन्ती
शृङ्गवेराभमूलक–पु., गुन्दातृणम् (भा.)
शृङ्गाराभ्र–न., वाजिरसायनाधिकारे औषधम् (रस. र.)
शृङ्गारी (इन्)–पु., माणिक्यम् (रा. नि. व. १३.)
शृङ्गारुहा–स्त्री., शृङ्गाटकम् (वै. निघ.)
शृङ्गाह्व (ह्वा)–पु., (स्त्री.) जीवकः (रा. नि. व. ५.) शृङ्गाटकम् (वै. निघ.)
शृङ्गि–स्त्री., तन्नामप्रसिद्धमत्स्यः (राज. ३प.)
शृङ्गिण–पु., मेषः (हे. च.) सशृङ्गमृगवर्गः (अत्रि. २०)
शृङ्गिणी–स्त्री., मल्लिकापुष्पवृक्षः । ज्योतिष्मतीलता (मे) अतिविषा (रा. नि. व. ६.) नदीवट (वै. निघ.) गौः (अम.)
शृङ्गयादि–पु., बालरोगे लेहः (च. द.)
शृत–पु., तोयक्षिप्तद्रव्यादग्निपाचितात निःसृतकषायः (प. प्र, १ ख.)
शृतशीतजल–न., पक्वशीतलजलम् (रा. नि. व. १४)
शृधु-(धू) स्त्री., पायुः (विश्व.)
शेखरिक–पु., अपामार्गः
शेखरी–स्त्री., बन्दकः (रा. नि. व. ५)
शेट–पु.. करण्डः (त्रिका.)
शेप–पु., शेफस्
शेपाल–पु., शेवालम् (श. र.)

शेफालि–स्त्री., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. ४)
शेलक–पु., बहुवारवृक्षः (वै. निघ.)
शेलुत्वक्–पु., बहुवारवृक्षत्वक् (भैष. शोथ. चि. बृहच्छुष्कमूलाद्यतैले)
शेलुष–पु., क्षुद्रशेलुः (वै. निघ.)
शेवाली–स्त्री., आकाशमांसी (रा. नि. ब. १२)
शेषचिन्तामणि–पु., रसमञ्जरीटीकाकारः
शैखरी–स्त्री., वन्दा
शैखरेय–पु., अपामार्गः (शब्दकल्पः)
शैत्यबीज–न., शीतबीजम्
शैम्ब–न., शिम्बीधान्यम् (वै. निघ.)
शैरेयक–पु., नीलझिण्टी (र. मा.)
शैलक–न., शैलजनामगन्धद्रव्यम् (रा. नि. व. १२)
शैलगन्ध–न., शाबरचन्दनम् (रा. नि. व. १२)
शैलगर्भजा–स्त्री., करञ्जोडिपाषाणभेदविशेषः (वै.निघ.)
शैलजा–स्त्री., गजपिप्पली (रा. नि. व. २३) सैंहली-पिप्पली (रा. नि. व. ६) श्वेतवर्णपाषाणभेदः (वै. निघ.)
शैलजात–न., शैलजः (च. द. मदनमोदके)
शैलधातुज–न., शिलाजतु (भा.)
शैलनिर्यास–पु., शिलाजतु (भा.)
शैलपत्र–पु., बिल्ववृक्षः (रा. नि. व. ११)
शैलमल्ली–स्त्री., कोरैआ इति प्रसिद्धवृक्षः (भा. म. १ भ. ज्व. चि. श्वास. चि. दशाङ्ग)
शैलरोही(इन्)–पु., कुष्ठवैरिवृक्षः (अत्रि.)
शैलवीज–पु., भल्लातकवृक्षः (रा. नि. व. ११)
शैलाख्य(ज)–न., शैलजः (रमा.)
शैलाह्व–न., शिलाजतुः (रा. नि. व. १३)
शैलू(क)–पु., बहुवारवृक्षः (वै. निघ.)
शैलूषभूषण–न., हरितालः (भैष ज्व. चि.)
शैलेय–न., पु., शैलजनामगन्धद्रव्यम्
शैलोत्थगरल–न., पाषाणघातजन्यविषम् (र. सा. सं. रसाध्याये.)
शैल्यमेथिका–स्त्री., लिङ्गिनीलता (वै. निघ)
शैवमल्लिका–स्त्री., लिङ्गिनीलता (रा. निघ. ३)
शैशिर–पु., श्यामचटकः (रा. नि. व. १९) बदरवृक्षः वै. निघ.)
शैशोरिक–न., शीतबीजम्
शोक(दोष)घ्न–पु., अशोकवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शोकज्वर–पु., शोकजन्यज्वरः (मा. नि.)
शोकारि–पु., कदम्बवृक्षः (श. च.)
शोचिष्केश–पु., चित्रकवृक्षः (अम.)
शोटीर्य–न., वीर्यम् (श. र.)
शोठ– पु,. पारावतः (श. र.)
शोणपुष्प (क)–पु., कोबिदारवृक्षः (रा. नि. व. १०)
शोणफलिनी–स्त्री., पीतपुष्पकाञ्चनवृक्षः (वै. निघ.)
शोणरत्न–न., माणिक्यम् (रा. नि. व.१३) पद्मरागमणिः (अम.)
शोणा स्त्री., रक्तझिण्टी (वै. निघ.)
शोणाक–पु., श्योणाकवृक्षः (अम.)
शोणितचन्दन–न., रक्तचन्दनम् (रा. नि. व. १२.
शोणितमोक्षण न., रक्तमोक्षणम्
शोणितसंभव–न., मांसधातुः (वैद्यकम्)
शोणिताभिध–न., कुङ्कुमम् (वै. निघ.)
शोणिताह्वय–न., कुङ्कुमम् (र. मा.)
शोणितोत्पल–न., रक्तोत्पलम् (वै. निघ.)
शोणोपल–पु., माणिक्यम् (रा. नि.व. १३)
शोथक–न., कङ्कुष्ठम् (रा. नि. व. १३)
शोथघ्नी–स्त्री., रक्तपुनर्नवा (अम.) शालपर्णी (रा. नि. व. ४)
शोथजनेत्रपाक–पु., सर्वाक्षिरोगः (निदा.)
शोथजि(ह्)त्–पु., भल्लातकवृक्षः (प. मु.) पुनर्नवा (त्रिका.)
शोथजिह्म पु , पुनर्नवा (त्रिका.)
शोथारि–पु., पुनर्नवा (रस. र. वह्निभल्लातकरसे)
शोथोदरारिलेह–पु., उदराधिकारे औषधम्(भैष.रस.र.)
शोधनीबीज–न., जैपालबीजम् (रा. नि. व. ६)
शोफकर–पु., भल्लातकः (वै. निघ.)
शोफकृत्–पु., भल्लातकवृक्षः (भा.)
शोफारि–पु., हस्तिकन्दः (वै. निघ.)
शोभन–न., पद्मम् (श. च.) कङ्कुष्ठम् (वै. निघ.) कुङ्कुमम् (त्रि.) सुन्दरम्
शोभनक–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (श. च.)
शोभनानन–पु., सुगन्धार्जकः (वै. निघ.)
शोभनीया–स्त्री., गोरक्षमुण्डी । महामुण्डी (वै. निघ.)
शोषसम्भव–न., पिप्पलीमूलम् (रा. नि. व. ६)
शोषहा–(न्)–पु., जलापामार्गः (वै. निघ.)
शौकरी–स्त्री., वाराहीकन्दः (वै. निघ.)
शौक्तिकेय–न., मुक्ता (प. मु.)
शौक्तिकेय–पु., विषम् (प. मु.) सोमलता (वै. निघ) विषभेदः (अम.)

शौक्लय–न., शुक्लता (अम.)
शौग्र–न., शोभाञ्जनबीजम् (वै. निघ.)
शौटीर्य–न., शौण्डीरम् । वीर्यम् (श. र.)
शौण्ठी–स्त्री., पिप्पली (रा. नि. व. २३.) कृष्णकटभी-वृक्षः (रा. नि. व. ९)
शौण्ड (ण्डी)–पु., स्त्री., देवधान्यम्, कुक्कुटः (वै. निघ.) स्त्री., पिप्पलीमूलम् (वै. निघ.)
शौण्डिक–न., पिप्पलीमूलम् (वै. निघ.)
शौण्डिकप्रिय–पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
शौधिका–स्त्री., रक्तकः (हे. च.)
शौभ–पु., गुवाकवृक्षः (शमा.)
शौभाञ्जन–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (भ. द्वि.)
शौरिप्रिय–न., नीलहीरकः (प. मु.)
शौरिरत्न–न., नीलमणिः (रा. नि. व. १३.)
शौल्फ–न., शुलुफाशाकः (शब्दकल्पः)
शौल्यशीत–पु., क्षेत्रेक्षुः (प. मु.)
शौष्कल–पु., मत्स्यमांसभक्षकः (अम.)
श्मन्–न., मुखम् (भ.)
श्मश्रुमुखी–स्त्री., श्मश्रुयुक्तानारी (श. र.)
श्मश्रुशेखर–पु., नारिकेलवृक्षः (वै. निघ.)
श्यामकण्ठ–पु., मयूरः (हला) श्यामकण्ठपक्षी (शब्दकल्पः)
श्यामचटक–पु., भारिटपक्षी
श्यामचूडा–स्त्री., कृष्णचटका (वै. निघ.)
श्यामपत्र पु., तमालवृक्षः (श. च.) (स्त्री. जम्बूवृक्षः (वै. निघ.)
श्यामपर्ण–पु., शिरीषवृक्षः (वै. निघ.)
श्यामपर्णी–स्त्री., 'चा' इति प्रसिद्धः श्लेष्मार्यपरनामधेयः वृक्षभेदः
श्यामभूषण–न., मरिचम्
श्यामृमग–पु., कृष्णवर्णहरिणः (च).
श्यामलचूडा–स्त्री., रक्तगुञ्जा (रा. नि. व. ३.)
श्यामलता–स्त्री., श्यामानामलता (प. मु.)
श्यामलाल–पु., सङ्क्लेपरत्नावलीकारः
श्यामलालु–पु., नीलालुकम् (रा. नि. व. ७.)
श्यामबीज–न., कालादानेतिख्याते वणिग्द्रव्यविशेषः
श्यामा–स्त्री., दृष्टार्तवा मध्यमा स्त्री (रा. नि. व. १८.)
श्यामसर्प–पु., कृष्णसर्पः (चि. क्र. क. १ स्त.)
श्यामाङ्गी–स्त्री., नीलदूर्वा (वै. निघ.)
श्यामाढकी–स्त्री., कृष्णपुष्पाढकी
श्यामाम्ली–स्त्री., नीलाम्ली (रा. नि. व. ४.)
श्यामालता–स्त्री., कृष्णशारिवा
श्यामाह्वा–स्त्री., पिप्पली (वै. निघ.)
श्यामेक्षु–पु., कृष्णेक्षुः (रा. नि. व. १४)
श्यावतैल–न., कर्पूरतैलम्
श्यावास्यता–स्त्री., मुखकृष्णता (निदा)
श्येतकोलक–पु., मत्स्यविशेषः (हारा.)
श्येनाहत–पु., सोमलता (वै. निघ.)
श्येनी–स्त्री., श्येनास्त्री (शब्दकल्पः)
श्रपित–त्रि. पक्वम् । पाचितम् । घृतदुग्धजलभिन्नपक्वद्रव्यम् (जटा.)
श्रपिता–स्त्री., काञ्जिकम् (शब्दकल्पः)
श्रमणा–स्त्री., सुदर्शना । मुण्डी । मांसी (मे.)
श्रव(सू)–पु., श्रवणेन्द्रियम् (रा. नि. व. १८)
श्रवणविभ्रम–पु., अन्यथाश्रवणम् (वैद्यकम्)
श्रवणी–स्त्री., प्रपौण्डरीकनामगन्धद्रव्यम् (रा. नि. व. १२)
श्राण–न., पक्वम् (मे.) घृतजलदुग्धभिन्नपक्वद्रव्यम् (जटा.) स्त्री., (णा) यवागुः (पसु.)
श्राद्धशाक–न., कालशाकः । नाडीचशाकः
श्रान्तोपचार–पु., अश्वस्य श्रान्तौ उपचारविधानम्
श्राव–पु., श्रीवासः (भा.)
श्रावक–पु., काकः (त्रिका.)
श्रावा–स्त्री., अन्नमण्डः (प. मु.)
श्रीकर–न., रक्तोत्पलम् (त्रिका.)पु., शालवृक्षः (वै. निघ)
श्रीकारी–(इन्) पु., मृगविशेषः (रा. नि. व. १९)
श्रीकुक्कुट–पु., तिलसर्षपपिण्याकजः मालवदेशप्रसिद्धः अम्लखडकविशेषः (वा. चि. १२ अ.)
श्रीगन्ध–न., श्वेतचन्दनम् (वै. निघ. २ भ. दाह. चि. पुनर्नवातैले.)
श्रीग्रह–पु., पक्षिपानीयशाला (हारा.)
श्रीधनम्–न., दधि (जटा.)
श्रीचन्दन–न., श्वेतचन्दनम् (वै. निघ. २ भ. अप. चि. द्राक्षावलेहे.)
श्रीचमरी–स्त्री., चमरीमृगः (वै. निघ.)
श्रीतरु–पु., शालवृक्षः (वै. निघ.)
श्रीधात्री–स्त्री., शिरामलकः (रस. कौ. महामृत्युञ्जयरसे)
श्रीपदी–स्त्री., वार्षिकीमल्लिका (भा.)
श्रीपर्ण–न., पद्म (रा. नि. व. १०) पु., गणिकारिका (अम. । च. वि. ८अ.

श्रीपिष्ट-पु., सरलवृक्षनिर्यासः (अ. टी. रा. मा.) लवणखोटी (कश्चित्)
श्रीपुत्र-पु., घोटकः (त्रिका.) अश्वत्थवृक्षः
श्रीपुष्पमञ्जरी-स्त्री., प्रपौण्डरीकः (रा. नि. व. १२)
श्रीप्रसूनक-न., लवङ्गम् (वै. निघ.)
श्रीफलशलाटु-पु., बिल्वशलाटुः (सा. कौ. ग्रहणी चि.)
श्रीबाहुशालगुड-अर्शोधिकारे पक्वगुडः (च. द.)
श्रीबीज-पु., तालवृक्षः (वै. निघ.)
श्रीभद्र-पु., मुस्ता (श. र.)
श्रीभ्राता-स्त्री., घोटकः (रा. नि. व. १९)
श्रीमञ्जरी-स्त्री., तुलसीवृक्षः (वै. निघ.)
श्रीमत्-न., तिलपुष्पम् (वै. निघ.) स्त्री., [ती] मुण्डीरी (वै. निघ.)
श्रीमदनानन्दमोदक-पु., ध्वजभङ्गे औषधम्
श्रीमलापहा-स्त्री., धूम्रपत्रा (रा. नि. व. ५)
श्रीमस्तक-पु., रक्तेष्टालुकः । रसोनः (त्रिका.)
श्रीमुख-पु,. शारीरकग्रन्थकारः
श्रीलता-स्त्री., महाज्योतिष्मतीलता (रा. नि. व. २)
श्रीवाससार-पु.. कपित्थपर्णीवृक्षनिर्यासः
श्रीवासा (स्) पु., सरलद्रव्यम्
श्रीवृक्ष(क)-पु., अश्वत्थवृक्षः (हें. च.) बिल्ववृक्षः (शब्दकल्पः)
श्रीवेष्टफल-न., सरलवृक्षफलम् (वै. निघ.)
श्रीसंज्ञ-न., लवङ्गम् (अम.)
श्रीसम्पदा-स्त्री., ऋद्धिः (रा. नि. व. ५)
श्रीहर्षसूरि-पु.; योगचिन्तामणिकारः
श्रीहस्तिनी-स्त्री., हस्तिशुण्डी (जटा.)
श्रुग्वारु-पु., विकङ्कतवृक्षः (र. मा.)
श्रुतश्रेणी-स्त्री., द्रवन्तीवृक्षः (भा.)
श्रुति-स्त्री., श्रवणेन्द्रियम् (रा. नि. व. १८)
श्रुतिकट-पु., सर्पः (मे.)
श्रुतिमूल-न., कर्णमूलम् (संग्रहः)
श्रुतिवर्जित-पु., बधिरः (जटा.)
श्रुतिवेध-पु., कर्णवेधः (शब्दकल्पः)
श्रुतिसार-पु., वैद्यकग्रन्थभेदः
श्रुतिस्फोटा-स्त्री., कर्णस्फोटालता (रा. नि. व. ३)
श्रुव-पु., अश्वस्य शिरोऽधः केशान्तभागः (ज. द. २ अ.) स्त्री., (वा)-मूर्वा (रा. नि. व. ३)
श्रुवावृक्ष-पु., विकङ्कतवृक्षः (रा. नि. व. ११)
श्रेणि (णी)-स्त्री., लाजमण्डः (प.मु.) समानशिल्पसंहत्तिः (मे.) सेकपात्रम् (विश्व.)
श्रेणिवला-स्त्री., निःश्रेणिकातृणम्
श्रेय-स्त्री., जीवकः (वै. निघ.)
श्रेष्ठकाष्ठ-पु., शाकवृक्षः (रा. नि. व. ९)
श्रेष्ठमल्लिका-स्त्री., शतदलमल्लिका (प. मु.)
श्रेष्ठलवण-न., सैन्धवलवणम् (वै. निघ.)
श्रेष्ठवृक्ष-पु., वरुणवृक्षः (रा. निव. ९.) कृष्णागुरुवृक्षः (वै. निघ.)
श्रेष्ठवेधिका-स्त्री., कस्तूरी (वै. निघ.)
श्रेष्ठव्रीहि-पु., षष्टिकशालिः (वै. निघ.)
श्रेष्ठाम्बु-न., तण्डुलोदकम् (वा. उ. ३७ अ.)
श्रोण-त्रि., खञ्जः (अम.) (स्त्री.,) (णा) काञ्जिकम् (शब्दकल्पः)
श्रोणिफल-न , वरस्त्रीणां प्रशस्तनितम्बः (रा. नि. व. १८)
श्रोणिफलकास्थि-न.,नितम्बभगास्थीनि (च.शा. ७अ.)
श्रोत-(स्)-न., कर्णम् (त्रिका.) इन्द्रियम् (हे. च.) शिरा (सु.)
श्रोतोज-न., सौवीराञ्जनम् (रा. नि. व. १३)
श्रोतोद्भव-न., श्रोतोऽञ्जनम् (रा. नि. व. १३)
श्रौत्र-न., श्रवणेन्द्रियम्, कर्णम् (अम.)
श्र्याह्व-पु., नवनीतखोटी (च. सू. ३ अ.) प्रदेहः (न.) कमलम् (शब्दकल्पः)
श्लक्ष्णक (का)-न., स्त्री., पूगफलम् (रा नि. व. ११) (का)-कृष्णापराजिता (वै. निघ.)
श्लक्ष्णत्वक्-पु., अश्मन्तकवृक्षः (रा. नि. व. ९)
श्लीपदप्रभव-पु., आम्रवृक्षः (श. मा.)
श्लीपदापह-पु., पुत्रजीववृक्षः (त्रिका.)
श्लीष्ट-पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
श्लेष्मकोष्ठ-पु., अश्वरोगभेदः (ज. द. ४६ अ.)
श्लेष्मघ्न-पु., श्लेष्महरं द्रव्यम् (सु. सू ४१ अ.)
श्लेष्मघ्ना (घ्नि)-स्त्री., त्रिपुरमल्लिका (त्रिका.) कतकी (विश्व) ज्योतिष्मतीलता (जटा) त्रिकटुः (श. र)
श्लेष्मज्वर-पु., कफजन्यज्वरः (निदा.)
श्लेष्मण-पु., कफः (भा.)
श्लेष्मनाडी-स्त्री., दन्तमूलगतरोगः
श्लेष्मपाण्डु-पु., श्लेष्मजन्यपाण्डुरोगः
श्लेष्मलफल-पु., बहुवारवृक्षः (वै. निघ.)
श्लेष्मविसर्प-पु., कफजन्यविसर्पः (निदा.)
श्लेष्मसंभूत-त्रि., श्लेष्मजः (रा. नि. व. २०)
श्लेष्मस्राव-पु., नेत्रसन्धिगतरोगविशेषः (सु.उ.२ अ.)
श्लेष्महृ-पु., पनसवृक्षः (वै. निघ.) कट्फलवृक्षः (श. च.)

श्लेष्महन्त्री-स्त्री., देवदालीलता (वै. निघ.)
श्लेष्माट-पु., शेलुवृक्षः
श्लेष्माणा-स्त्री., वृक्षविशेषः (श. मा.)
श्लेष्मातकसदृशपत्र-पु., पनसवृक्षः
श्लेष्मान्तक-पु., शेलुवृक्षः (रा. नि. व. ११)
श्लेष्मारि-पु., पार्वत्यक्षुद्रवृक्षभेदः
श्लेष्मोल्वण-पु., श्लेष्माधिकः (वा. चि. ७ अ.)
श्लैष्मिकरक्तपित्त-न., कफजन्यरक्तपित्तम् (मा. नि.)
श्लैष्मिकी-स्त्री., श्लेष्मजन्ययोनिव्यापद् (वा. उ. ३३ अ.)
श्वचिल्ली-स्त्री., कुक्कुरचिल्लीक्षुपः (वै. निघ.)
श्वदंष्ट्रक-पु., गोक्षुरक्षुपः (रा. नि. व. ४)
श्वधूत-पु., शृगालः (श. र.)
श्वनक-पु., कुक्कुरः (प. मु.)
श्वनिशम् (शा)-न., स्त्री., मत्तकुक्कुरनिशा (जटा.)
श्वपुच्छ-पु., वृश्चिकः
श्वफल-पु., चूर्णम् । बीजपूरम् (र. मा.)
श्वभीरु-पु., शृगालः (श. मा.)
श्वभ्र-न., पु., छिद्रम् (अम.)
श्वयाचि-(ची)-स्त्री., रोगः । पीडा (व्याक.)
श्वसनाशन-पु., सर्पः (हारा.)
श्वसनेश्वर-पु., अर्जुनवृक्षः (श. च.)
श्वसनोत्सुक-पु., सर्पः (श. च.)
श्वसित-न., निःश्वासः (हे. च.)
श्वसुन-पु., कासालुः (रा.नि.व.७) क्षतघ्नवृक्षः(श. च.)
श्वादन्त-पु., कुक्कुरदन्तः (व्याक.)
श्वान-पु., कुक्कुरः स्त्री., (नी)-सारमेया (श. र.)
श्वानचिल्लिका-(ल्ली)-स्त्री., शुनकचिल्लीशाकः (वै. निघ.)
श्वावलिका-स्त्री., धन्याकम् (रा. नि. व. ६)
श्वावित्-पु., शशकः । शल्लकीमृगः (भा.) शल्लकीवृक्षः (त्रिका.)
श्वास-पु., स्वनामख्यातरोगविशेषः (ज. द. ३५ अ.)
श्वासकास-पु., प्रसिद्धरोगद्वयम् (निदा.)
श्वासभक्ष-पु., वर्वूरकवृक्षः (रा. नि. व. ८)
श्वासहेति-स्त्री., निद्रा (हे. च.)
श्वित्रघ्नी-स्त्री., वृश्चिकाली (श. च.)
श्वेतकटभी-स्त्री., शुक्लकटभीवृक्षः (वा. उ. ३८ अ.) श्वेतगुञ्जा (वा. उ. ५ अ.)
श्वेतकण्टक-पु., श्वेतलज्जालुका (वै. निघ.)
श्वेतकण्टकारिका (री)-स्त्री., शुभ्रपुष्पकण्टकारी (रा. नि. व. ४)
श्वेतकपोत-पु., दर्विकरसर्पविशेषः (सु. कल्प. ४ अ.)
श्वेतकमल-न., श्वेतपद्मम् (रा. नि. व. १०)
श्वेतकरवीर-पु., शुक्लपुष्पकरवीरवृक्षः
श्वेतकाक-पु., शुक्लकाकः । रावणकृतकार्मणशतकम्
श्वेतकाञ्चन-पु., शुक्लपुष्पकाञ्चनवृक्षः (प. मु.)
श्वेतकाष्ठा-स्त्री., श्वेतपाटली (वै. निघ.)
श्वेतकिणिही-स्त्री., शुक्लकटभीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
श्वेतकुश-पु., शुक्लदर्भः (रा. नि. व. ८)
श्वेतकुमुमा-स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. निघ.)
श्वेतकृष्णा-स्त्री., कीटजातिभेदः (सु. कल्प. ८)
श्वेतकेश-पु., रक्तशिग्रुः (जटा.)
श्वेतकोल-पु., शफरमत्स्यः (त्रिका.)
श्वेतखदिर-पु., शुक्लखदिरवृक्षः (भा.)
श्वेतगण्डा-स्त्री.. श्वेतदूर्वा (वै. निघ.)
श्वेतगरुत्-पु., राजहंसः (अम.)
श्वेतघोषा-स्त्री., श्वेतक्षोपातकी (वै. निघ.)
श्वेतचरण-पु., प्लवचरजलजपक्षिविशेषः (सु. सू. ४६अ.)
श्वेतचरणक-पु., शुक्लचरणकः
श्वेतच्छद-पु., गन्धपत्रम् (श. च.) हंसः (हला)
श्वेतजयन्ती-स्त्री., शुकजयन्तीवृक्षः (भैष.) (कुष्ठचि)
श्वेतजरण-पु., शुक्लजीरकः (वै. निघ.)
श्वेततण्डुलमण्ड-न., पु., आतपतण्डुलसिद्धमण्डः (अत्रि. १२ अ.)
श्वेततुलसी-स्त्री., शुभ्रपत्रतुलसीवृक्षः (प. मु.)
श्वेतत्रिवृत्-स्त्री., शुक्लमूलत्रिवृत् (भा.)
श्वेतदन्ता-स्त्री., नागदन्ती (वै. निघ.)
श्वेतदर्भ-पु., शुक्लदर्भः (वै. निघ.)
श्वेतधातु-पु., दुग्धपाषाणः (रा. नि. व. १२)
श्वेतधामा-न् पु., कर्पूरः, समुद्रफेनः (मे)
श्वेतधूनक-न., शुक्लधूनकम् (रस. र.) (ज्वराति. चि. ग्रहणीकपाटरसे)
श्वेतनाडी-स्त्री., खटिका (वै. निघ.) श्वेतापराजिता (च. सू. २ अ.)
श्वेतपटल-न., यशदधातुः (वै. निघ.)
श्वेतपर्ण-पु., श्वेतार्जकः (प. मु.) स्त्री., (र्णा) वारिपर्णी (र. मा.)
श्वेतपणास-पु., श्वेततुलसी (प. मु.)
श्वेतपाटला-स्त्री., शुक्लपुष्पपाटलवृक्षः (जटा.)
श्वेतपारावत-पु., शुभ्रकपोतः (वै. निघ.)
श्वेतपाषाण-पु., शुभ्रप्रस्तरः (र. सा. सं.) रसप्रकरणे स्फटिका (वै. निघ.)

श्वेतपिङ्ग–ल–पु., सिंहः (त्रिका.)
श्वेतपुङ्खा–स्त्री., शुक्लशरपुङ्खा (रा. नि. व. ४)
श्वेतपुनर्नवा–स्त्री., शुभ्रपुनर्नवा (भा.)
श्वेतपुष्पा–स्त्री., कोषातकीलता (र.मा.) श्वेतगोकर्णिका (वै. निघ.) नागदन्ती (रा. नि. व. ५) मृगेर्वारुः (रा. नि. व. ७)
श्वेतपूरिका– स्त्री., खाद्यद्रव्यभेदः (वै. निघ.)
श्वेतप्रसूनक–पु., शाकवृक्षः (श. मा.)
श्वेतभण्टिका–स्त्री., शुक्लवार्ताकी (वै. निघ.)
श्वेतभण्डा–स्त्री., श्वेतापराजिता (र. मा.)
श्वेतभृङ्गराज–पु., शुक्लपुष्पभृङ्गराजः
श्वेतमञ्जरी–स्त्री., चुञ्चुक्षुपः (वै. निघ.)
श्वेतमृग–पु., भूशयमृगविशेषः (च.)
श्वेतयूथिका–स्त्री., शुक्लयूथिका (वै. निघ.)
श्वेतरञ्जन–न., शीषकन् (शब्दकल्पः.)
श्वेतरत्न–न., स्फटिकः (प. मु.)
श्वेतराजि–(जी) स्त्री., चिचिण्डः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
श्वेतराजिका–स्त्री., श्वेतपीतसर्षपम्, राजिका (रा. नि. व. १६)
श्वेतरास्ना–स्त्री., श्वेतपुष्परास्नाविशेषः
श्वेतलक्ष्मणा–स्त्री., श्वेतकण्टकारी (वै. निघ.)
श्वेतवर्णक–न., श्वेतरक्तचन्दनम् (वै. निघ.)
श्वेतवर्वरक–न., वर्वरचन्दनम् (रा. नि. व. १२)
श्वेतवर्वरिका–स्त्री., शुभ्रतुलसी (रा. नि. व. १०) रावणकृतसप्तमशतकम्
श्वेतवल्कल–पु., उदुम्बरवृक्षः (जटा.)
श्वेतवल्ली–स्त्री., शुक्लवास्तुकम् (वै. निघ.)
श्वेतविट्कृता–स्त्री., कफाधिक्यजन्यशुक्लपुरीषता (वै. निघ.)
श्वेतवीज–पु., श्वेतकुलत्थः (रा. नि. व. १६)
श्वेतवुल्ली–स्त्री., स्वनामख्यातलताविशेषः
श्वेतवृन्ताक–पु., शुक्लवार्ताकी (वै. निघ.)
श्वेतवृक्ष–पु., वरुणवृक्षः (प. मु.)
श्वेतवेतस–पु., जलवेतसः (वै. निघ.)
श्वेतशरपुङ्खा–स्त्री., शुक्लपुष्पशरपुङ्खा (रा. नि. व. ४)
श्वेतशा(सा)रिवा–स्त्री., शारिवाभेदः
श्वेतशाल्मलि–पु., शुक्लपुष्पकिंशुकवृक्षः
श्वेतशिम्बा(विः) (बीकः)–स्त्री., राजशिम्बी (र. मा.)
श्वेतशिला–स्त्री., श्वेतपाषाणभेदः (रा. नि. व. ८)
श्वेतशुङ्ग–पु., यवः (जटा.)
श्वेतशूक–पु., यवः (रा. नि. व. २३)
श्वेतशूरण–पु., वनशूरणनामकन्दशाकः (रा. नि. व. ७)
श्वेतशेफालिका–स्त्री., शुक्लशेफालिकावृक्षः (संग्रहः)
श्वेतश्रेष्ठ–पु., चन्दनवृक्षः (वै. नि.)
श्वेतसर्ज–पु., श्वेतधूनकम् (संग्रहः)
श्वेतसर्षप–पु., शुक्लसर्षपः (प. मु.)
श्वेतसिंही–स्त्री., श्वेतबृहती (रा. नि. व. ४)
श्वेतहनु–पु., राजिमत्सर्पविशेषः (सु. कल्प ४ अ.)
श्वेतहर–पु., महाशालवृक्षः (वै. निघ.)
श्वेताक्षुद्रा–स्त्री., श्वेतकण्टकारी (वै. निघ.)
श्वेताञ्जन–न., शुक्लाञ्जनम्ः (वै. निघ.)
श्वेताढकी–स्त्री., श्वेतपुष्पाढकी (रा. नि. व. १६)
श्वेतात्रिवृत्–स्त्री., शुक्लमूलत्रिवृत् (भा.)
श्वेताद्रिकर्णिका–स्त्री., शुक्लगिरिकर्णिका (वा. उ. ५ अ.)
श्वेतापराजिता–स्त्री., शुक्लपुष्पापराजिता (रा. नि. व. ३)
श्वेताभद्रा–स्त्री., श्वेतगोकर्णी (वै. निघ.)
श्वेताभ्र–स्त्री., श्वेतवर्णाभ्रः (रा. नि. व. १३
श्वेताम्ब(ब)र–पु. सुनिषण्णकशाकः (रा. नि. व. ४)
श्वेतारिरस–पु, श्वेतकुष्ठघ्नो रसः (रस. चि.)
श्वेतालु–पु., शुक्लवर्णालुकः । महिषकन्दः (रा. नि.व. ७)
श्वेतावलोकन–पु., शुक्लनेत्रतारूपकफजन्यरोगविशेषः (निदा.)
श्वेताश्व–पु. कैटर्यः (पमु.)
श्वेताह्वा–स्त्री., शुक्लगोकर्णी (वै. निघ.) सितपाटला (रा. नि. व. १०)
श्वेतोत्पल–न., शुक्लकुमुदपुष्पम्
श्वेतोन्मत्त–पु., शुक्लपुष्पधुस्तूरवृक्षः

ष

ष–पु., केशः (एका.)
षटि–(टी)–स्त्री., शठी (वा. चि. ६ अ.)
षट्क (कटु)–न., त्रिकटुचव्यचित्रकपिप्पलीमूलं च (वै. निघ.)
षट्कनिघंटु–पु, वैद्यकनिघण्टुभेदः
षट्कोण–न., हीरकम् (वै. निघ.)
षट्चरण (पद)–पु., भ्रमरः (हला.) यूका (रा. नि. व. १९)
षट्चरणयोग– पु., षड्धरणयोगः (सि. यो.) (वा. व्या. चि.)
षट्पदघाती (इन्)–पु., स्वर्णचम्पकः (वै. निघ.)
षट्पददल–(प्रिय)–पु., सुरपुन्नागवृक्षः (वै. निघ.)
षट्प (पा) दा (दी)–स्त्री., कीटभेदः (हे. च.)
षट्पदाधार–कदम्बवृक्षः (वै. निघ.)

षट्पदालय-पु., सुरपुन्नागवृक्षः (वै. निघ.)
षट्पदीभक्ष-पु., गङ्गापतङ्गभक्षणजन्याश्वरोगः (ज. द.)
षट्भद्रिका-स्त्री., बालरोगघ्नं औषधम् (वा.)
षट्लवण-न., मृल्लवणोपेतानि पञ्चलवणानि (रा. नि. व. २२)
षट्लौहसम्भव-न., शिलाजतुः (वै. निघ.)
षड्ग-पु., मण्डलिसर्पविशेषः (सु. कल्प. ४)
षडङ्गयूष-पु., षडङ्गपानीयम् (भैष.)
षड्षण-न., समरिचपञ्चकोलम् (भा. प. १ भ.)
षड्गुणबलिजारितमकरध्वज- पु., षडगुणगन्धक जारितरसेन साधितः मकरध्वजः
षडग्रन्थिका-स्त्री., आमहरिद्रा (अम.)
षड्सनिघण्टु-पु., वैद्यकग्रन्थविशेषः
षड्रेखा-स्त्री., षड्भुजा
षड्विन्दुतैल-न., शिरःपीडायां तैलम् (भैष.)
षण्डाल (ला ली)-पु., स्त्री., तैलमानभेदः
षष्टिकान्न-न., षष्टिकभक्तम्
षष्टिवासरज-पु., षष्टिकशालिधान्यम् (रा. नि. व. १६)
षष्टिशालि-पु., षष्टिकशालिः (रा. नि. व. १६)
षष्टिहायन-पु., षष्टिकशालिः, हस्ती
षष्ठालुकाल-न., द्व्यन्तरद्व्यन्तरभुक्तम् (त्रिका.)
षोडशाङ्घ्रि-पु., कर्कटः
षोडशावर्त-पु., शङ्खः

स

स-पु., सर्पः । पक्षी
संज्ञ-न., पीतकाष्ठम् । भावुकादिसप्तपीतकाष्ठम् (श.च.)
संय-न., अस्थिकङ्कालः (श. च.)
संयम-पु., भयम् (भा. म. ४ भ. ने. रो. चि.)
संयमन-न., निरोधः (मे.)
संयुक्ता-स्त्री., आवर्तकीलता (रा. नि. व. ३)
संलपन-न., प्रलापः (सु. सू. २५ अ.)
संलय-पु., निद्रा (हे. च.)
संवर-पु., सञ्चयः । मत्स्यभेदः । हरिणभेदः । न., जलम् (शब्दकल्पः)
संवर्ण-न., शिङ्घानकः
संवर्त्ति-(का)-स्त्री., पद्मस्य केशरसमीपस्थजलम् (भा.)
संवर्द्धक-न., त्रि., वृद्धिकारकः । दीपनम् (हे. च.)
संवहन-न., शरीरमर्दनम् (वा. चि. ७ अ.)
संवाटिका-स्त्री., शृङ्गाटकः (जटा.)
संवित्तिकाफल-न., सेवफलम् (वै. निघ.)
संवित्ति-स्त्री., चेतना (श. र.)
संविषा-स्त्री., अतिविषा (श. च.)
संवीत-पु., श्वेतकिणिहि (वै. निघ.)
संवेदन-पु., छिक्किका (वै. निघ.)
संवेश-पु., निद्रा (अम.)
संयमशमहेतु-पु., संशयच्छेदनहेतुः (च. वि. ८ अ.)
संशोषी-(इन्)-पु., सन्निपातज्वरविशेषः
संश्यान-स्त्री., शीतेन सङ्कुचितम् (व्याक.)
संसारमार्ग-पु., भगः (त्रिका.)
संस्काल-पु.. भेषः (त्रिका.)
संस्वेदजशाक-न., शिलिन्ध्रकम् (भा.)
संहितच्छत्रिका-स्त्री., शतपुष्पा, मिश्रेया
सकट-पु., शाखोटवृक्षः (शब्दकल्पः)
सकण्टक-पु., शैवालः (श. च.)
पूतिकरञ्जः (र. मा.)
सकण्डूक-पु., कर्णपालीगतरोगः (सु. सू. १६ अ.)
सकलप्रिय-पु., चणकवृक्षः
सकललक्षण-न., शालनिर्यासः (बै. निघ.)
सकुल-(ली [इन्])- पु., शीलमत्स्यः (श. र.)
सकुलादनी-स्त्री., महाराष्ट्रीलता (रा. नि. व ४) कटुकी (ज. द.) वृश्चिकः स्त्री., काकवन्ध्या। सिंही रा. नि. व. २३)
सकृत्पज (जा)-पु., स्त्री., काकः (अम.) वृश्चिकः (स्त्री.,) काकवन्ध्या । सिंही (रा. नि. व. २३)
सकृद्गर्भ-पु., अश्वतरः (रा. नि. व. १९)
सक्तुफलाली-स्त्री., शमीवृक्षः (अम.)
सक्थिमर्म-न., ऊरुमर्म (सु. शा. ६ अ)
सगन्धा-स्त्री., सुगन्धशालिः (रा. नि. व. १६)
सग्धि-स्त्री., सहभोजनम् (अम.)
सङ्कटाक्ष-पु., धववृक्षः
सङ्कटी-स्त्री., उपोदिका (वै. निघ.)
सङ्कराशिग्रह-पु., अश्वस्य दुष्टग्रहभेदः (ज. द. ५७ अ.)
संक्लेद-पु., आर्द्रता
संक्लेद-पु., आर्द्रता । क्लिन्नता
सङ्कोचपिशुन-न.. कुङ्कुमम् (भा.)
सङ्क्षपरत्नावली-स्त्री., श्यामलालकृतद्रव्याभिधानम्
सङ्खपुष्पी-स्त्री. धातकीवृक्षः (सं.)
सङ्खिनी-स्त्री., चोरपुष्पी (च. सू. ४ अ.)
संङ्ख्यानिनादटीका-स्त्री., संख्यानिदानस्यटीका
सङ्कर-पु., विषम् (मे.)(न.) शमीवृक्षफलम् (मे.)

सङ्गम-पु., मैथुनम् । मिलनम्
सङ्गिनी-स्त्री., चोरपुष्पी
सग्रहक-त्रि., भिन्नमलसन्धारकः (च. सू. ४ अ.)
सग्रहण-स्त्री., संग्रहग्रहणी (निदा.)
सङ्ग्राहक-त्रि., अनिलगुणभूयिष्ठद्रव्यम् (सु. सू. ४१ अ.)
सङ्घचारी(इन्)-पु., मत्स्यमात्रः (हे. च.)
सङ्घट्टा-स्त्री., लता
सङ्घाटिका-स्त्री., शृङ्गाटकलता (मे. घ्राणे विश्वः)
सचर-पु., श्वेतझिण्टी (वै. निघ.)
सचिल्लक-त्रि., कुदर्शनम्, क्लिन्नचक्षुः (श. र.)
सचिव-पु., कृष्णधुस्तूरः (रा. नि. व. १०)
सचिवामय-पु., पाण्डुरोगः । विसर्पः (रा. नि. व.)
सचेष्ट-पु., आम्रवृक्षः (श. मा.) त्रि., चेष्टान्वितम्
सच्चरा-स्त्री., हरिद्रा (श. च.)
सञ्चर-पु., शरीरम् (हे. च.)
सञ्चल-न., सौवर्चललवणम्
सञ्चलन-न., कल्पनम् (शब्दकल्पः)
सञ्चान-पु., श्येनपक्षी (शब्दकल्पः)
सञ्चारिका-स्त्री., घ्राणम् (मे.)
सञ्चाली-स्त्री., गुञ्जा (शब्दकल्पः)
सञ्जित्रा-स्त्री., मूषिककर्णी (शर.)
सञ्जर-पु., सन्तापः (रा. नि. व. २०)
सञ्जा-स्त्री., छागी (श. र.)
सञ्जीवनागद-पु., सर्पदष्टे अगदविशेषः (सु.कल्प५ अ.)
सटा-स्त्री., जटा । केशरम् (मे.) न., जटा (शर.)
सटि-स्त्री., शठी (श. र.)
सण्ड-पु., नपुंसकः (अ. टी.)
सण्डिश-पु., सन्दंशम् (शब्दकल्पः)
सतसा-नागवल्लीभेदः (रा. नि. व. ११)
सतिक्तका-स्त्री., चुञ्चुशाकः (भा. पू. १ भ.)
सती-स्त्री., सौराष्ट्रमृद् (हे. च.)
सतील(क)-पु., वंशः (हारा.) **सतीनकः** (रा. नि. व. १६) स्त्री., **ला**-विष्णुक्रान्ता (रा. नि. व. ५) कलायभेदः
सतेर-पु., तुषः (उणा.)
सत्कदम्ब-पु., केलिकदम्बवृक्षः (श. च.)
सत्काञ्चनार-पु., रक्तकाञ्चनम् (श. च.)
सत्काण्ड-पु., श्येनपक्षी (श. च.)
सत्त्वशुद्धि-स्त्री., धातुसारस्य निर्मलीकरणम् (र. स.) चि. ६ अ.)
सत्त्वावजय-त्रि., शरीरस्याहितकरूपादिभ्यः मनोवृत्तिव्यावर्तकं औषधम् (च. सू. ११ अ.)
सत्त्वादिस्थान-न., हृदयम् (च.)
सत्पत्र न., पद्मस्य कोमलदलम् (श. च.)
सत्यफल-पु., बिल्ववृक्षः (रा. नि. व. ११)
सत्यवती-स्त्री., शमीवृक्षः, ब्राह्मी (वै. निघ.)
सत्यवाक्-पु., काकः (त्रिका.)
सत्याह्वा-स्त्री., ब्राह्मी (वै. निघ.)
सत्वक्-स्त्री., शिरा (रा. नि. व. १८)
सत्सार-पु., वृक्षविशेषः (शब्दकल्पः)
सत्सुकन्दक-पु., अष्टविधस्थावरविषान्यतमविषम् (अत्रि ३ स्थान ५६ अ.)
सथुत्कार-न., थुत्कारसहितवचनम् (हे. च.)
सदंशक-पु., कर्कटः (रा. नि. व. १८)
सदंशवदन-पु., कङ्कपक्षी (रा. नि. व. १८)
सदञ्जन-न., पुष्पाञ्जनम् (श. च.)
सदाकुसुम-न., धातकीवृक्षः (वै. निघ.)
सदागतिशत्रु-पु., एरण्डवृक्षः (चि. क. क. स्त्री. रो. चि अपरापातने)
सदातोया-स्त्री., एलापर्णी (श. च.)
सदानर्त-पु., खञ्जनपक्षी (श. च.)
सदापुर-पु., कैवर्तमुस्ता (वै. निघ.)
सदामण्डलपत्रक-पु., श्वेतपुनर्नवा (वै. निघ.)
सदारुह-पु., बिल्ववृक्षः (वै. निघ.)
सदृशस्पन्दन-न., निष्पन्दम् (त्रिका.)
सद्यःप्राणकर-त्रि., सद्योहतमृगादिमांसनवान्नादिः
सद्यःप्रीणन-न., आहारः (वैद्यकम्)
सद्यःशाखा-स्त्री., शुकशिम्बी (श. च.)
सद्योमांस-न., अभिनवमांसम् (चाणक्यः)
सन-पु., घण्टापाटलवृक्षः (श. च.)
सनपर्णी-स्त्री., अपराजिता (श. र.) आसनपर्णीवृक्षः
सनाभा-स्त्री., श्वेतपाटलः (वै. निघ.)
सनायक-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (श. च.)
सनिष्ठेव-न., अम्बुकृतः (अम.)
सन्ततज्वर-पु., निरन्तरज्वरः
सन्तमक-पु., तमकश्वासः (सु. उ. ५१ अ.)
सन्तर्पण-न., द्राक्षादाडिमखर्जूरीकदलीघृतमधुशर्करायुक्तं लाजचूर्णम् (रा. नि. व. २२) अतिभोजनम् सु. सू. ४४ अ.) अतितृप्तिः, रसादिवर्द्धकनवान्नमद्यातिसेवनम् (च. द. ज्व चि.)

सन्तान-पु., कल्पवृक्षः (अम.) स्त्री., (ना) नीलापराजिता (वै. निघ.)
सन्तानच्छेदिका-स्त्री.. नीलापराजिता (वै. निघ.)
सन्दंशिका-स्त्री., सन्दंशयन्त्रम् (मे.)
सन्दाह-पु., सम्यग्दाहः, तालवोष्ठमुखदाहः(रा.नि.व.२०)
सन्दीप्य-पु., मयूरशिखावृक्षः (श. च.)
सन्दष्टभोजन-न., संयोगविरुद्धभोजनम् (मा. नि. ग्रहणीचि.)
सन्धानिका-स्त्री., भोज्यद्रव्ये विशेषम्
सन्धानी-स्त्री., सन्धानम् (श. र.)
सन्धारणीय— स्त्री.,संग्रहणम् (च. सू. ४ अ.)
सन्धिग-पु., स्वनामख्यातसन्निपातज्वरविशेषः (भा. म. १ भ.)
सन्धिका (जा) स्त्री., त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः (रा.नि. व.१०) मद्यसन्धानम् (श. र.)
सन्धिकुसुमा-स्त्री., त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः (वै. निघ.) मद्यसन्धानम् (श. र.)
सन्धिनी-स्त्री., वृषाकाङ्क्षिणी गौः (भ.) अकालदुग्धा
सन्धिभङ्ग-पु., अस्थिभङ्गः (वैद्यकम्)
सन्धिमुक्तभग्न-न., द्विविधभग्नरोगान्यतरं भग्नम् (सु. नि. १५ अ.)
सन्धिला-स्त्री., मदिरा (मे.)
सन्नकद्रु-स्त्री., पियालवृक्षः (अम.)
सन्नाहमक्षिका-स्त्री., विरेचकमक्षिकाविशेषः (अर्क चि. रावणकृतनवमशतके).
सन्निकृष्ट-पु., सन्निकर्षविशिष्टः (मानि.)
सन्निपातकलिका-स्त्री., अश्विनीकृतसन्निपातचिकित्सा रुद्रटकृता चान्या
सन्निपातनाडी-स्त्री., दन्तमूलगतरोगः (मानि.)
सन्निपातहृत्(हर)-पु., नेपालनिम्बः (वै. निघ.)
सन्निपातपट-पु., वैद्यकग्रन्थभेदः
सन्निपातमृत्युञ्जयरस-पु., सन्निपातज्वरे रसः (भैष.)
सन्निपातसूर्यरस-पु., सन्निपातज्वरे रसः (भैष)
सपत्नारि-पु , वंशभेदः
सपत्रकृत-त्रि., पीडितः दुस्थापितः शराहतमृगादिः (शब्दकल्प)
सपत्राकृति-स्त्री., अतिपीडनम् (हे. च.)
सपत्राकरण-न., अतिपीडनम्। अतिवेदना (हला.)
सपादमत्स्य-पु., पादविशिष्टमत्स्यविशेषः
सपीतिका-स्त्री., राजकोशातकी (रा. नि. व. ७)
सपुष्पका-स्त्री., तिलवासिनीशालिः
सपूजका-स्त्री., तिलवासिनीशालिः (रा. नि. व. १६)
सप्तदल-पु., सप्तपर्णवृक्षः । सारथीनामगन्धद्रव्यम्
सप्तदलपुष्प-न., मुद्गरपुष्पम् । सप्तच्छदपुष्पम् (रस. र. बाल. चि.)
सप्तधातु-पु., शरीरस्थरसादिधातवः रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणिधातवः (रा. नि. व. २२)
सप्तनाडिका-स्त्री., शृङ्गाटकः (वै. निघ.)
सप्तनामा-स्त्री., आदित्यभक्ता (रा. नि. व. ४)
सप्तप्रस्थमाषतैल न.,वातव्याधौ तैलं माषतैलं वा(रस.र.)
सप्तभद्र-पु., शिरीषवृक्षः (श. च.)
सप्तमुष्टिकयूष-पु., यूषविशेषः
सप्तरक्त-न., शरीरस्य बहिःस्थाःरक्तवर्णाः सप्तविधावयवाः (सामुद्रकम्)
सप्तविंशतिकगुग्गुलु-पु., भगन्दरे पक्वगुग्गुलुविशेषः
सप्ताङ्गगुग्गुलु-पु., नाडीव्रणे औषधम् (सा. कौ.)
सप्तामृतलौह-न.. नेत्ररोगे औषधम् (सा. कौ.)
सप्तार्चि-पु., चित्रकवृक्षः, अग्निः (अम.)
सप्ताश्व-पु., अर्कवृक्षः (अम.) श्वेतरोहीतकवृक्षः (रा. नि. व. ८) सूर्यः
सप्ताह्वा-स्त्री., सप्तपर्णवृक्षः (भैष.)
सप्ति-पु., अश्वः (अम.)
सफर-पु.. प्रोष्टीमत्स्यः (अ. टी. भ.)
सफरी-स्त्री., प्रोष्टीमत्स्यः (भा.)
समकश्रवण-पु., शालविशेषः (वै. निघ.)
समकृत्-पु., कफः (वै. निघ.)
समकोल-पु., सर्पः (त्रिका.)
समकाथ-पु., अष्टमांशावशिष्टकाथः (रा. नि.व. २०)
समङ्गिका-स्त्री., लज्जालुका (चि. क्र. क.) (गर्भाधिकारे)
समठ-पु., न., शमठाख्यशाकभेदः
समण्ठ-पु., फलशाकविशेषः त्रपुषादिः
समत्र (त्रित) यम् (त्रयी)-(न., स्त्री.,) हरीतकीनागरगुडानां सममागः (रा. नि. व. २२)
समनृपति-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (रस. र. बाल-चि. नागार्जुनचूर्णे)
समन्तदुग्धा-स्त्री., स्नुहीवृक्षः (प. मु.)
समन्वितकारी (इन्)-पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
समप्रकृति-स्त्री., समधातुप्रकृतिः (अत्रि. ५ अ.)
समयोनि-पु., कफः (वै. निघ.)
समल-न., विष्ठा (श. र.) (त्रि.) मलिनम् रजतताम्रत्रपुलौहेषु (च. सू. १ अ.)

समशर्करचूर्ण-न., ग्रहण्यादौ कासाधिकारे च चूर्णम् (रस. र. अजी. चि.)

समष्टि (ष्टी) ला-स्त्री., कटुशूरणम् । नद्याम्रः (वै. निघ.) गण्डीरः (अम.) शमठनामशाकविशेषः (सर्वानन्दः)

समालम्ब (म्बी)-पु., सुगन्धरोहिषतृणम् (रा.नि. व ८)

समालम्भ-पु., कुङ्कुमादिलेपनम (अम.)

समालम्भन-न., कषायः । कुङ्कुमादिविलेपनम् (त्रिका.)

समासवान्-पु., तुन्नवृक्षः (श. च.)

समाह्वा-स्त्री., गोजिह्वा (श. च.)

समित-(ता)-पु., स्त्री., गोधूमचूर्णम् (भा. । हेव.)

समिदुत्तम-पु., पलाशवृक्षः (वै. निघ.)

समिद्वर-पु., पलाशवृक्षः (वै. निघ.)

समीचक-पु., मैथुनम् (शब्दकल्पः)

समीची-स्त्री., स्त्रीमृगः

समीच्छदा-स्त्री., वराहक्रान्ता

समीद-पु , गोधूमचूर्णम (शब्दकल्पः)

समीनिका-स्त्री., प्रतिवर्षप्रसवा गौः (श. र.)

समोर-पु., शमीवृक्षः (रा. नि. व. ८)

समीरणा-स्त्री., गर्भाशयस्थितनाडीविशेषः

समुत्क्रोशा-स्त्री., कुररीपक्षी (श. र.)

समुत्क्लिष्ट-त्रि., स्वस्थानात् चलितं, बहिर्नीतम् (वा.चि. १ अ. अरुणः)

समुद्गीरण-न., वमनम् (वै. निघ.)

समुद्रकफ-पु., समुद्रफेनः (त्रिका.)

समुद्रकान्ता-स्त्री., स्पृक्का (रा. नि. व. १२)

समुद्रगृह-न., जलयन्त्रगृहम् (त्रिका.)

समुद्रज-न., सामुद्रलवणम् (रस चि)

समुद्रजल-न., सागरसलिलम्

समुद्रनवनीत-न., अमृतम्

समुद्रपुष्प-न., कपित्थपुष्पम् (वै. निघ.)

समुद्रफल (क)-न., स्वनामख्यातवृक्षफलम्. कपित्थफलम् (वै. निघ.)

समुद्रफेण-(न) पु., न., घनीभूतसागरोत्थफेनपुञ्जः (वै. निघ.)

समुद्रमण्डूकी-स्त्री., जसशुक्तिः (सु. चि. १ अ.)

समुद्रलवण-न., सामुद्रलवणम् (भा.)

समुद्रशोष-पु., हिज्जलवृक्षः (वै. निघ.)

समुद्रा-स्त्री., शमीवृक्षः । शठी (रा. नि. व. ८)

समुद्रान्त-न., जातीफलम् (श. च.) पु., दुरालभा (रा. नि. व. ४) जातीफलवृक्षः (श. र.) स्त्री., (न्ता)-दुरालभा (अम.) स्पृक्का (मे) कार्पासः (रा. नि. व. ४) (भैष. शिरोरो. चि.-बृहत्किङ्किणीतैले)

समुद्रारु पु., तिमिङ्गिलमीनः । कुम्भीरः (मे.)

समुन्न (न)-न.. आर्द्रता (अम.)

समूर-(रु)-पु., मृगभेदः । सम्बरमृगः (हे. च.)

समूह पु., सान्निपातिकः (रा. नि. व. २०)

समूहगन्ध-न , गन्धराजः (रा. नि. व. १२)

समूहनी-स्त्री., सम्मार्जनी (हे. च.)

समूहक्षार-पु., सर्वक्षारः, मलशोधकक्षारद्रव्यम् (वै. निघ.)

समोदक-न., अर्धजलघोलम् (अम.)

सम्पत् स्त्री., वृद्धिनामौषधम्

सम्पदाह्वा-स्त्री., ऋद्धिः (प. मु.)

सम्पाव-पु., न., रोटिकाभेदः

सम्पुट-न., कुरुवकवृक्षः (शब्दकल्पः)

सम्पुटाङ्ग-न., भव्यफलम् (प. मु.)

सम्फाल-पु., मेघः (हे. च.)

सम्बर-न., जलम् (जटा. अम.)

सम्बर-पु., मृगभेदः । मत्स्यविशेषः (मे.) स्त्री., री-शतावरी (श. र.) मण्डूकपर्णी (अम.)

सम्बाधन-पु., न., भगः (मे.)

सम्भिदा-स्त्री., विजया

सम्भिदामञ्जरी-स्त्री., गञ्जिका

सम्भरोद्भव-न., गाडलवणम् (रानि. व. ६)

सम्भव्य-पु., कपित्थवृक्षः (श. च.)

सम्मार्जक(नी) पु., स्त्री., मार्जनी (श. र.)

सम्मार्जन-न., शोधनम् (र. मा.)

सम्मिलितद्रुम-पु., रक्तपुनर्नवा (रा. नि. व. ५)

सम्मूर्च्छन-न., मूर्च्छा । मिश्रणम्

सम्मोहक-पु., प्रवृद्धमध्यहीनवातादिजसन्निपातज्वरः (भा. म. १ भ. ज्व. चि.)

सम्यक्संहित-त्रि., सम्यक्योजितम् (भा. म. ३भ.)

सम्यक्क्षार-पु., टङ्कणक्षारः (र. सा. सं.)

सम्यग्दग्ध-न., अग्निदाहविशेषः दाहप्रयोजने यथायोग्यदाहः (सु. सू.)

सरःकाक-पु., हंसः (त्रिका.) स्त्री., (की) हंसी (श. र.)

सरघा-स्त्री., मधुमक्षिका (अम.)

सरङ्ग-पु., पक्षी (उणा.)
सरजा-(स्) स्का) -स्त्री., ऋतुमती स्त्री (त्रिका.)
सरटु-पु., कृकलासः (उणा.)
सरण न., माधवीमद्यम् (वै. निघ.) लोहमलः (हे. च.) स्त्री., (णा) प्रसारणी (रा. नि. व ५) विवृता (श.मा.) श्वेतत्रिवृत् । स्वर्णजीवन्ती (वै. निघ.)
सरणि-स्त्री., प्रसारणी (रा. नि. व ५)
सरण्ड-पु., कृकलासः (मे.) कामुकः । पक्षी (श. र.)
सरण्यु-पु.,जलम्। वायुः । मेघः (श. र.) अग्निः वसन्तः (उणा)
सरत्नि-पु., अरत्निः बद्धमुष्टिहस्तः (रा. नि. व. १८)
सरपत्रिका-स्त्री., पद्मपत्रम् (श. र.)
सरलतृण-न , सुगन्धतृणम् (वै. निघ.)
सरलद्रव-पु., धूपविशेषः, सरलवृक्षसारः (अम.)
सरलनिर्यास-पु., धूपविशेषः, सरलवृक्षसारः (अम.)
सरसम्प्रत-न., वज्रीवृक्षः (श. च.)
सरसिका-स्त्री., हिङ्गुपत्रिका (श. च.)
सरसीक-पु., सारसपक्षी (श. र.)
सरसीरुह-न., पद्मम् (अम.)
सराव-पु., शरावमानम् (भ. द्विरुपको.)
सरिका-स्त्री.,हिङ्गुपत्री (श. च.)
सरित्पतिकफ-पु., समुद्रफेनः (भा. म. ४ भ.) ने. रो. चि. नयनशोध्याञ्जने.)
सरिल-न., जलम् (अ. टी. भ.)
सरिषप-पु., सर्षपवृक्षः (त्रिका.)
सरोज-न., पद्मम् (हे. च.)
सरोजन्म (न्)-न., पद्मम् (हे. च.)
सरोजिनी-स्त्री., कमलिनी । पद्मम् (मे.)
सरोत्सव-पु., वकपक्षी । सारसपक्षी (श. र.)
सरोऽमृत-न., सरोवरजलम् (वै. निघ.)
सरोरुह-न., पद्मम् (हे. च.)
सरोवर-पु.. सरः
सर्क-पु,. मनः (उणा.)
सर्ग-पु., आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं सुखम्
सर्जगन्धा-स्त्री., रास्ना (र. मा.)
सर्जनामा (न्)-पु., सर्ज्जतरुः (सु. चि. १ अ.)
सर्जमणि-पु., शाल्मलीवेष्टः (त्रिका.)
सर्जशाल-पु., शालवृक्षः (र. मा.)
सर्जाख्य-(ह्व)-पु., सर्ज्जरसः (भैष. क्षुद्ररो. चि. मा. भ. ४ अ.)
सर्जी--स्त्री., सज्जिक्षारः (प. मु.)
सर्ज्य-पु., सर्ज्जरसः (र. मा.)
सर्पकङ्कालिका (ली)-स्त्री., स्वनामख्यातलता (र. मा.) गन्धरास्ना (प. मु.)
सर्पकञ्चुक-पु., सर्पनिर्म्मोकः
सर्पगन्धिनी-स्त्री., गन्धरास्ना (रा. नि. व. ७)
सर्पतृण-पु., नकुलः (हे. च.)
सर्पदंष्ट्र-पु., दन्तीवृक्षः (श. च.)
सर्पदंष्ट्रा-स्त्री., वृश्चिकाली (वै. निघ.)
सर्पदंष्ट्रिका-स्त्री., मेषशृङ्गी
सर्पदन्ता-स्त्री., सिंहपिप्पली (रा. नि. व. ६)
सर्पदष्टक-न., सर्पदंशनम् (सु. कल्प. ४ अ.)
सर्पनामा-स्त्री., सर्पाक्षी (प. मु.)
सर्पनेत्रा-स्त्री., सुगन्धरास्ना । सर्पाक्षी (रा. नि. व. ७)
सर्पपुष्पी-स्त्री., वन्ध्याकर्कोटकी । नागदन्ती (रा. नि. व.५)
सर्पप्रिय-पु., चन्दनवृक्षः (वै. निघ.)
सर्पफेण (न)-न., अहिफेनः (वै. निघ. २ भ.)
सर्पभक्षक-पु., नाकुलीकन्दः । मयूरः (हे. च.)
सर्पभुक्-पु., मयूरः (हे. च.) गृध्रः । राजसर्पः नाकुलीकन्दः (रा. नि. व. ७)
सर्पमाला-स्त्री., सर्पकङ्कालिकाभेदः (र. मा.)
सर्पमाला-स्त्री., नागवल्लीलता (रा. नि. व. ३)
सर्पलोचना-स्त्री., सर्पाक्षी (वा. उ. ३७ अ.) गन्धरास्ना (वै. निघ.)
सर्पविष-न., सर्पगरलः (बा. उ. ३६ अ.)
सर्पसहा-स्त्री., सर्पाक्षी (प. मु.)
सर्पसुगन्धिका-स्त्री., सर्पगन्धा (वै. निघ.)
सर्पहा (न्)-पु., नकुलः (हे. च.)
सर्पी-स्त्री., तन्नामकौषधम् (चचि. १ अ.)
सर्पाख्य-पु., नागकेशरवृक्षः (र. मा.) महिषकन्दः (रा. नि. व. ७) श्वेतालुकम् (वै. निघ.)
सर्पारि-पु., नकुलः । मयूरः (रा. नि. व. १९)
सर्पाशन-पु., मयूरः (हला.)
सर्पास्र-न., नासाकर्णार्शच्छेदनयोग्यः अस्त्रभेदः
सर्पि-(स्)-न., दुग्धसम्भूतस्नेहः, घृतम् (रा. नि. व. १५)
सर्पिका-स्त्री., गोकर्णीलता (वै. निघ.)
सर्पिर्गर्भ-न., नवनीतकम् (वै. निघ.)
सर्पिष-न., घृतम् (वै. निघ.)
सर्पी-स्त्री., भुजंगी (श. र.)
सर्पी-(र्पिष्ट)-न., श्रीखण्डचन्दनम् (र. मा. जटा.)
सर्व्वग-पु., जीवः । आत्मा (श. मा. न.) जलम् (मे.)

सर्व्वगा–स्त्री., प्रियङ्गुलता (श. च.)
सर्व्वग्रन्थि–पु., पिप्पलीमूलम् (रा. नि. व. ६)
सर्व्वग्रहापहा–स्त्री., नागदमनी (वै. निघ.)
सर्व्वजगत्प्रिया–स्त्री., ऋद्धिः वृद्धिः (वै. निघ.)
सर्व्वज्वरहरलौहः–पु., विषमज्वरे रसविशेषः (सा कौ.)
सर्व्वतःशुभा–स्त्री., पिप्पलीमूलम् । प्रियङ्गुः (श. च.)
सर्व्वतोभद्र–पु., निम्बवृक्षः (रा. नि. व. ९) न., आसनपर्यङ्काकारेण अश्मरीच्छेदनम् (सु. चि. ८ अ.)
सर्व्वतोभद्रलौह– न., अम्लपित्तकासश्वासादिनाशक-औषधविशेषः (भैषः)
सर्व्वधातुक–न., ताम्रम् (वै. निघ.)
सर्व्वपाचक–पु., टङ्कणक्षारः (वै. निघ.)
सर्व्वभक्ष्या–स्त्री., छागी (हे. च.)
सर्व्वभूमिक–पु., दारुचिनीतिख्यातपण्यद्रव्यम् (वै.निघ.)
सर्व्वमूल्य–न., (त्रिका..) कपर्दकः
सर्व्वयूष–पु.,गोरसधान्याम्लफलाम्लैरेकत्रमिलीतैर्यो रसो भवति गुरुतरः (वै. निघ.,)
सर्व्वरस–पु., धूनकः (अम.) लवणरसः (हे. च. स्त्री.) **(सा.)**–लाजमण्डः (प. मु.) न., औषरलवणम् (हे. च.)
सर्व्वरसोत्तम–पु., लवणरसः (हे. च.)
सर्व्वलौह–न., ताम्रम् (वै. निघ.)
सर्व्ववर्चस–न., ताम्रम् (वै. निघ.)
सर्व्ववर्णिका–स्त्री., गाम्भारीवृक्षः (जटा.)
सर्व्वसंसर्गलवण–न., औषरलबणम् (रा. नि. व ६)
सर्व्वसङ्गत–पु., क्षिप्रवृद्धिधान्यविशेषः । षष्टिकधान्यम् (श. च.)
सर्व्वसाधन–न., स्वर्णम् (वै. निघ.)
सर्व्वसिद्धि–पु., श्रीफलम् (श. च.)
सर्व्वस्नेह–पु., चतुःस्नेहाः (सि. यो. वा. व्या. चि. शाल्वणभेदे)
सर्व्वाक्ष–पु., रुद्राक्षवृक्षः (वै. निघ. न.) रुद्राक्षफलम्
सर्व्वाक्षी–स्त्री., दुग्धिका (वै. निघ.)
सर्व्वाख्य–पु., पारदः (रस. कौ. भैष. वा. र. चि. द्वादशायसे)
सर्व्वाङ्गकम्पारिरस–पु., वातव्याध्यधिकारे रसः (रस. र.)
सर्व्वाङ्गसुन्दर–पु., रसोऽयं विरेचनाधिकारोक्तः (र. सा. सं)
सर्व्वाङ्गसुन्दरी–स्त्री., वैद्यकग्रन्थविशेषः
सर्व्वान्नीन–त्रि., सर्वान्नभक्षकः (वा. चि. १अ.)
सर्व्वायनी–स्त्री., श्वेतत्रिवृता (वै. निघ)
सर्व्वाम्ल–न., सर्वविधप्रशस्ताम्लद्रव्येषु, काञ्जिका-सुरा-सौवीरक दधिमस्त्वादिषु (सि. यो. शाल्वणभेदे)
सर्व्वौषध(धि)गणः–पु.,कुष्ठाद्योषधिवर्गः (रा.नि.व.२२)
सर्षपनाल–न., सर्षपदण्डः नालशाकमिदम् । (भा.)
सर्षपा–स्त्री., सर्वौषधिगणः
सर्षपाः–स्त्री.,श्वेतसर्षपः (वै. निघ.)
सर्षपोद्भूत–न., श्वेतसर्षपः (वै. निघ.)
सल–न., जलम् (अ. टी. भ.)
सलकटुक–पु., वृत्तपत्रशाकः (प. मु.)
सलपत्र–न., दारुशर्करा (वै. निघ.)
सलिलकुन्तल–पु , न., शेवालः (त्रिका)
सलिलग्रह–पु., अश्वस्य ग्रहभेदः (ज. द. ५७ अ.)
सलिलधर–पु., मुस्ता (वै. निघ.)
सल्लकद्रु–पु.. प्रियालवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सल्ली–स्त्री., स्वनामख्यातफलशाकलता (रा. नि. व. ११) सल्लक्यादिस्वरसः (सु. सू. २५ अ.)
सवर–न., जलम् (त्रिका.)
सवररोध्र–न., श्वेतरोध्रः (प. मु.)
सवहा–स्त्री., त्रिवृता (अ. टी. भ.)
सवित्र–न., प्रसवकरणम् (व्याक.) स्त्री., त्री., धात्री (अत्रि.)
सविभाल–न., नखीनामगन्धद्रव्यम् (वै. निघ.)
सवीर्या–स्त्री., शतावरी (रा. नि. व. ४)
सव्य–न., वामकायः (अम.)
सशल्य (ल्या, स्या)–(पु., स्त्री.,) भल्लूफः (रा. नि. व. १९) नागदन्ती (र. मा.)
सशाक–पु,. आर्द्रकम् (रा. नि. व. ६)
ससत्त्वा–स्त्री., गर्भवती स्त्री., (श. र.)
ससिद्ध–पु., सर्जवृक्षः (रा. नि. व. ९)
सत्यमारी (इन्)–पु., महामूषिकः (रा. नि. व. १९)
सस्यसंब(त्स)र– पु., लघुशालवृक्षः (अम.) सल्लकीवृक्षः (वै. निघ).
सस्यसंवरण–पु., अश्वकर्णशालः (रा नि. व. ९)
सहजकृति–न., सुवर्णम् (वै. निघ.)
सहजरस–पु., स्वरसः (रस. चि. ९ अ.)
सहण्डुक–न., मांसकृतव्यञ्जनविशेषः (भा.)
सहद्रक–न., सहण्डुकमांसम्

सहपान–न., एकत्रपानम् (हे. च)
सहभादली–स्त्री., प्रसारणी (भैष. आमवातचि.)
सहभोजन–न., एकत्रभोजनम् (अम.)
सहरसा–स्त्री., मुद्गपर्णी (श. र.)
सहसानु–पु., मयूरः (उणा.)
सहस्रजित्–स्त्री., कस्तूरी (वै. निघ.)
सहस्रदंष्ट्री(इन्)–पु., मत्स्यविशेषः (श. र.)
सहस्रधौता त्रि., सहस्रवारं क्षालितं घृतादिः (वा. चि. १ अ.)
सहस्रनुत्–पु., अम्लवेतसः (भा. पू. १ भ.)
सहस्रपाद–पु., कारण्डवपक्षी (मे.)
सहस्रभित्–न., अम्लवेतसम् (भा.)
सहस्ररसा–स्त्री., मुद्गपर्णी (श. र.)
सहस्रवेध-धि–न., चुक्रनामकाम्लिकभेदः (रा. नि. व. १५)
सहस्रवेधपाषाण–पु., हिङ्गुप्रस्तरः (वै. निघ.)
सहस्रवेधिका–स्त्री., मृगनाभिः (वै. निघ.)
सहस्राङ्गी–स्त्री., ह्रस्वपीलुवृक्षः (वै. निघ.)
सहस्रा(स्री) स्त्री., अम्बष्ठा (भा.) मयूरशिखा (वै. निघ.)
सहस्राह्वि–पु., मयूरशिखा
सहार–पु., आम्रवृक्षः (उणा.)
सहासार–पु., वीरास्रावः
सक्षीरा–स्त्री., क्षीरिणीवृक्षः (वै. निघ.)
सागरक–न., सामुद्रलवणम् (वै. निघ.)
सागरगामिनी–स्त्री., सूक्ष्मैला (रा. नि. व. ६)
सागरजमल–पु., समुद्रफेनः (वै. निघ.)
सागरफेन–पु., समुद्रफेनः
सागरोत्थ–न., सामुद्रलवणम् (रा नि. व. ६)
सागरोद्भव–पु., शङ्खः (वै. निघ.)
साङ्कृत्य–पु., ऋषिविशेषः (च.)
साङ्कुष्ठा–स्त्री., गुञ्जालता (र. मा.)
साङ्घातिक–त्रि., मारात्मकः
साचिक्षार–पु., स्वर्जिकाक्षारः
साचिवाटिका–स्त्री., पुनर्नवा (र. मा.)
साञ्जन–पु., गृहगोधा । कृकलासः (श. च.)
सातीलक–पु., कलायभेदः (अ. टी. भ.)
साधारणमृग–पु., जाङ्गलानूपोभयदेशचारिजन्तुः । शूकरादिः (अत्रि २० अ.)
साधिका–स्त्री., सुषुप्तिः (हे. च.)
साधुपुष्प–न., स्थलपद्मम् (श. मा.)
साधुरसा–स्त्री., मदिरा
साधुवृत्त–त्रि., हिताहारविहारकारि
साध्वस–न., भयम् (अम.) लज्जा
साध्वी–स्त्री., मेदा (रा. नि. व. ५) दुग्धपाषाणः (प. मु.)
सानसि–पु., सुवर्णम् (उणा.)
सानुबाधन–त्रि., कालान्तरप्राणहरः (च. सू. १ अ.)
सानुमानक–पु., पुण्डरीकवृक्षः (वै. निघ.)
सान्दृष्टिक–न., तात्कालिकफलम् (वै. निघ.)
सान्द्रपुष्प–पु., विभीतकवृक्षः (श. च.)
सान्ध्यकुसुमा–स्त्री., त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १०)
सान्नाय्य–न., घृतम् । हविः (त्रिका.)
सान्निपातिक–पु., त्रिदोषजरोगः (रा. नि. व. २१) त्रि., त्रिदोषसम्बन्धि ।
सान्निपातिकी–स्त्री., सन्निपातजन्ययोनिरोगः (वा. उ. ३३ अ.)
साब्दी–स्त्री., द्राक्षाविशेषः (शब्दकल्पः)
सामज (योनि)–पु., गजः (मे.)
सामत्रय–न., हरीतकी शुण्ठी गुडूची च (वै. निघ.)
सामवात–पु., आमयुक्तवातरोगः (मा. नि.)
सामान्य–न., एकत्वबुद्धिकरजातिः (च. सू. १ अ.)
सामिचन्द्र–पु., योनिरन्ध्रावरकं छदाख्यचर्म
सामुद्रक–पु., संपुटम् (वा. उ, ३९ अ.)
सामुद्रसन्धि–पु., ग्रीवोर्ध्वगतसन्धिः (भा.) अंसपीठ-गुदयोनिनितम्बेषु सन्धिः (सु. शा. ५ अ.)
सामुद्राद्यचूर्ण–न., उदराधिकारे चूर्णम् (सा. कौ.)
साम्ब(म्भ,न्ध्रा)–न., गाढलवणम् (रा. नि. व.६)
साम्भरी–स्त्री., रक्तलोध्रवृक्षः (श. च.)
सायङ्काल–पु., सायाह्नः
सायोद्भिदुरा–स्त्री., मल्लिकाविशेष; (रा. नि. व. १०)
सारखदिर–पु., दुःखदिरः (रा. नि. व. ८)
सारगन्ध–पु., चन्दनवृक्षः (श. च.)
सारतरु–पु., कदलीवृक्षः (धनञ्जय) खदिरवृक्षः (वै. निघ.)
सारण्ड–पु., सर्पाण्डम् (जटा.)
सारपादप–पु., धामनवृक्षः (श. र.)
सारफल–पु., साराम्लम् (वै. निघ.)
सारबन्धका–स्त्री., मेथिका (वै. निघ.)
सारभाण्ड–न., कस्तूरीमृगाण्डम् (शब्दकल्प.)
सारमण्डूक–पु., मण्डूकजातीयकीटः (सु. कल्प. ८ अ.)
सारमेय–पु., कुक्कुरः (पमु.) (स्त्री.,) कुक्कुरी (श. र.)

सारलोह–न., लोहसारः (भा. पू. १ भ. धा. व.)
सारवर्ग–पु..क्षीरवृक्षवर्गः (भा म ३ भ. प्रमेहचि)
सारवृक्ष–पु., धामनवृक्षः (वै. निघ.)
सारशल्य–पु., श्वेतखदिरः (वै. निघ.)
सारसंग्रह–पु.,वैद्यकग्रन्थभेदः चक्रपाणिकृतः
सारसंग्रहनिघण्टु–पु., वैद्यकनिघण्टुभेदः
सारसजल–न., सरोवरजलम् (वै. निघ.)
सारसाम्बु–न., सरोवरजलम् (वै. निघ.)
सारसैन्धव–न., सैन्धवम् (च. द. रतिवल्लभमोदके)
सारा–स्त्रीं., कृष्णत्रिवृता (श. र.) सातला (वै. निघ.) दूर्वा (श. च.)
सारामुख–पु., स्वादुपाकरसयुक्तंकृष्णशूकधान्यम् (वा. सू. ६ अ.)
सारास्ल–न., निम्बुभेदः (वै. निघ.)
साराल–पु., तिलः (श. च.)
सारिका–स्त्री., पक्षिविशेषः (अम.)
सारोद्धार–पु., वैद्यकग्रन्थविशेषः
सारोष्ट्रिक–पु., सौराष्ट्रदेशजविषम् (अ. टी. भ.)
सार्ङ्गवेर–न., शुण्ठी (रा. नि. व. ६)
सार्ज–पु., सर्जरसः (रमा.)
सार्द्र–पु., आर्द्रः (अम.)
सार्वभौम–पु., गजः (त्रिका.)
सार्षपतैल–न., सर्षपजतैलम्
सालज(क)–पु., सर्जरसः (प.मु.) सर्जतरुः (रा नि.व.९)
सालनिर्यास–पु., सर्जरसः (र. मा.)
सालपर्णी (र्णिका)–स्त्री., अंशुमती (श. र.)
सालपुष्प–न., स्थलपद्मपुष्पम् (श. र.) प्रपौण्डरीकः
सालरस–पु., शालनिर्यासः (रा. नि. व. १२)
सालवेष्ट–पु., सर्जरसः (शब्दकल्प. :)
सालसार–पु., शालभेदः (सु. सू. ३८ अ.)
सालावृक–पु., कुकुर शृगालः (शब्दकल्पः)
सालिमकन्द–पु., कार्वलदेशीयकन्दभेदः (वै. निघ.)
सालूर–पु., भेकः (श. र.)
सालेय–पु., मधुरिका (अ. टी. भ.)
सालिवक–पु., पक्षिविशेषः (श. च.)
सावर–पु., लोध्रविशेषः (श. र.) लोध्रः, तदाख्य-मृगभेदः
सावर्णलक्ष्य–न., चर्म (श. र.)
साशयन्दक–पु., गृहगोधा (शब्दकल्पः)
साशूक–पु., कम्बलम् (हारा.)
सास्थिताम्रार्द्ध–न., कांस्यम् (त्रिका.)
सास्ना–स्त्री., गोगलकम्बलम् (अम.) रास्ना (वै. निघ)
सास्राव–त्रि., अश्रुयुक्तम् स्रावयुक्तम् (मा. नि.)
सिंहकेश (स)र–पु., वकुलवृक्षः सिंहजटा (त्रिका)
सिंहचित्रा–स्त्री., माषपर्णी (वै. निघ.)
सिंहच्छदा–स्त्री., श्वेतदूर्वा (रा. नि. व. ८)
सिंहतुण्ड–पु., सेहुण्डवृक्षः, स्नुहीवृक्षः (रा.नि. व. ८)
सिंहनादगुग्गुलु–पु., आमवाते औषधम् (रस. र.)
सिंहनादिका–स्त्री., दुरालभा (श. च.)
सिंहपत्रा–स्त्री., माषपर्णी (वै. निघ.)
सिंहपर्णी–स्त्री., वासकवृक्षः (रा. नि. व. ४)
सिंहपिप्पली–स्त्री., सैंहलीपिप्पली (रा. नि. व. ६)
सिंहपुष्पी–स्त्री., पृश्निपर्णी (रा. नि. व. ४)
सिंहलस्थान–पु., तालतरुसदृशतरुः (श. मा.)
सिंहलाङ्गुली–स्त्री.,पृश्निपर्णी
सिंहवदना–स्त्री., सिंहमुखी
सिंहवल्लभा–स्त्री., आटरूषवृक्षः (वै. निघ.)
सिंहविक्रान्त–पु., अश्वः (हारा)
सिंहवृन्ता–स्त्री., माषपर्णी (वै. निघ,)
सिंहा–स्त्री., बृहती (वै निघ) नाडी (रा. नि. व. १८)
सिंहाण–न., लौहमले (प. मु.) नासामलः (श. र.)
सिंहानन–पु , वासकवृक्षः (भा. म. १ भ. कण्ठकुब्ज ज्व. चि.)
सिंहामृतघृत–न., अर्शसि घृतम् (च. द.)
सिंहाली–स्त्री., सिंहली पिप्पली (वै. निघ.)
सिंहासन–न., लौहकिट्टम् (वै. निघ.)
सिंहास्य–पु., वासकवृक्ष (र. मा.)
सिंहास्यदल–न., वासकपत्रम्
सिंहास्यादु–पु., शोथे कषायविशेषः (भैष. शोथ चि.)
सिंहीफल न., बृहतीफलम् (च. द. वृष्याधिकारे अश्व-गन्धाघृते)
सिंहीलता–स्त्री., लताबृहती (भा.) मुद्गपर्णी (रा. नि. व. ३)
सिकटी–स्त्री., स्वनामप्रसिद्धलताभेदः (मा. नि.)
सिकतिल–पु., सिकतामयभूमिः (रा. नि. व. २)
सिक्कासि–पु., उत्कासिका (प्रयोगा. श्वास. चि.)
सिक्ता–स्त्री., वालुका (वै. निघ.) । श्वेतकण्टकारी (त्रि.) आर्द्रा
सिक्थ–पु., स्फटिकः (शब्दकल्पः)
सिङ्घान–पु., कुरण्डवृद्धिः (त्रिका.)
सिङ्घिनी स्त्री., नासिका (रा. नि. व. १८)
सिञ्चिता–स्त्री., पिप्पली । (श. च.)

सिञ्चितिका–स्त्री., सेव इति प्रसिद्धफलम् (वै. निघ)
सितकङ्कु–स्त्री., सर्जरसः (वै. निघ.) न., श्वेतकङ्कुधान्यम्
सितकटभी–स्त्री., श्वेतकटभीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
सितकण्टकी–स्त्री., श्वेतपुष्पकण्टकारी (रा. नि. व. ४)
सितकण्ठ–पु., दात्यूहपक्षी (श. र.)
सितकर–पु., भीमसेनीकर्पूरः (रा. नि. व. १२) स्त्री., रा. नीलदूर्वा (वै. निघ.)
सितकर्णी–स्त्री., वासकवृक्षः । (रा. नि. व. १०)
सितकल्याणघृत न., स्त्रीरोगाधिकारे घृतम्
सितकाञ्चन–पु., श्वेतपुष्पकाञ्चनवृक्ष (र. मा.)
सितकारिका–स्त्री., ह्रस्ववाट्यालकः (वै. निघ.)
सितकुम्भी–स्त्री., श्वेतपाटला (रा. नि. व. १०)
सितक्षार–पु., श्वेतटङ्कणम् (वै. निघ.)
सितगुञ्जा–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (रा. नि. व. २३)
सितचन्दन–न., श्रीखण्डचन्दनम् (च. द. खदिरवटी)
सितचिल्ली–स्त्री., श्वेतवास्तुकः (वै. निघ.)
सितचिह्न–पु., वल्लीगडकमत्स्यः (हारा.)
सितच्छत्रा–स्त्री., शतपुष्पा (अम.)
सितच्छद–पु., रक्तपुष्पशोभाञ्जनम् (वै. निघ.) हंसः (हे. च.)
सितज–पु., मधुशर्करा (रा. नि. व. २३)
सितजफल–पु., मधुनारिकेलवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सितजलज–न., श्वेतपद्मम् (वै. निघ.)
सितजात्रक–पु., बहुरसालाम्रवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सितजाशर्करा स्त्री., मधुजातशर्करा
सितजीरक–न., शुक्लजीरकः (भैष. बाल. चि.)
सितदीप्य–पु., श्वेतयमानी श्वेतजीरकः (रा. नि. व. ६)
सितदूर्वा–स्त्री., श्वेतदूर्वा (प. मु.)
सितद्रु(म)–पु., सारटभेदः (र. मा.) अर्जुनवृक्षः (वै. निघ.)
सितधातु पु., खटिका (रा नि व. १३)
सितपक्ष–पु., शुक्लपक्षः (शब्दकल्पः) हंसः (श. र.)
सितपद्म–न., श्वेतपद्मम् (वै. निघ.)
सितपर्णि–स्त्री., अर्कपुष्पिका (र. मा.)
सितपाटला–स्त्री., शुक्लपाटलवृक्षः । (रा. नि व १०)
सितपुङ्खा–स्त्री., श्वेतपुष्पशरपुङ्खा (रा. नि व. ४)
सितमाष–पु., राजमाषः (हा. रा.)
सितमोघा–स्त्री., श्वेतपाटलवृक्षः (वै. निघ.)
सितरज–पु., कर्पूरः (वै. निघ.)
सितराग–पु., रौप्यम् (वै. निघ.)
सितलशुन–पु., शुक्लरसोनः (वै. निघ.)
सितलता–स्त्री., अमृतस्रवालता
सितवर्णा–स्त्री., क्षीरिणीवृक्ष (प. मु.)
सितवर्षा–स्त्री., क्षीरिणीवृक्षः
सितवल्लरी–स्त्री., भूमिजम्बूवृक्षः (प. मु.)
सितवार(क)–पु., शालिञ्चवृक्षः (र. मा.)
सितशारिक–पु., सिंहलीपिप्पली (वै. निघ.)
सितशर्करा–स्त्री., धवलशर्करा (वै. निघ. क्षय. चि. लघुशिवगुट्यां)
सितशा(सा)यका–स्त्री. श्वेतपुष्पशरपुङ्खा
सितशिंशपा स्त्री., श्वेतपुष्पशाल्मकीवृक्षः श्वेतशिंशपा (वै. निघ. रा. नि. व. ९)
सितशिम्बिक–पु., गोधूमः (हे. च.)
सितशिम्बी–स्त्री., श्वेतशिम्बी (वै. निघ.)
सितशि–(सि)व–न., सैन्धवलवणम् (वै. निघ.)। स्त्री., शमीवृक्षः (प. मु.)
सितशूक–पु., यवः (प. मु. रा. नि व. १६)
सितशू(सू)रण–पु., श्वेतशूरणः (रा. नि. व. ७)
सितसर्षप–पु., गौरसर्षपः, सिद्धार्थः (रा नि. व. १६)
सितसार(क) पु., शालिञ्चशाकः
सितसूर्या–स्त्री., शुक्लसूर्यावर्तः (वै. सं. मू. कृ. चि.)
सितांशु पु., कर्पूरः । (शब्दकल्पः)
सितांशुतैल न., कर्पूरतैलम् (रा. नि. व. १५)
सिताख्य–पु., श्वेतमरिचः (वै. निघ.) श्वेतदूर्वा (रा. नि. व. ८)
सिताग्र–पु., कण्टकः (हारा.)
सिताङ्ग–पु, वालुकागडमत्स्यः (हारा.)
सितात्रय–स्त्री., त्रिशर्करा (रा. नि. व. २२)
सितादि–पु., गुडः (रा. नि व. ४)
सितानन–पु., बिल्ववृक्षः । (वै. निघ.)
सितापाङ्ग पु., मयूरः (त्रिका)
सिताफल–न., स्वनामख्यातफलम्
सिताभ–पु., कर्पूरः (अ. टी. रा.)
सिताम्बुज–न., श्वेतकमलम् (अम.)
सितार्क(क)–पु., श्वेतार्कवृक्षः (रा. नि. व. १०)
सितालिकटभी–स्त्री., श्वेतकिणिहीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
सितालिका–स्त्री., पङ्कशुक्तः (हारा.)
सितावर–पु., सुनिषण्णकः (रा. नि. व. ४)
सितावरी स्त्री., वाकुची (रा. नि. व. ४)

सिताश्मज–न., पाषाणोदकम् (वै. नि)
सितासित–त्रि., श्वेतकृष्णमिश्रवर्णः
सितासिता–स्त्री., वाकुची (वै. निघ)
सिताह्वया–स्त्री., श्वेततुलसी (रा. नि. व. १०) श्वेतपाटलवृक्षः (वै. निघ.)
सिति–पु., सुनिषण्णकशाकः (वै. निघ.) त्रि., श्वेतवर्णः कृष्णवर्णः
सितिकण्ठ–पु., दात्यूहपक्षी
सितिसारक–पु., शालिञ्चशाकः (च. द. अश्म चि.)
सितोच्चटा–स्त्री., श्वेतगुञ्जा (वै. निघ.)
सितोत्पला–न., श्वेतोत्पलम् (वै. निघ)
सितोदर–स्त्री., वराटिकाभेदः (रा. नि. व. १३)
सितोद्भव–न., श्वेतचन्दनम् (शब्दकल्पः)
सितोपल–न., शुक्लखडिका (त्रिका.) पु., स्फटिकः (रा. नि. व. १३)
सितोपलादिलेह–पु., राजयक्ष्माधिकारे लेहः
सिद्धखण्ड–पु., तवराजोद्भवखण्डः
सिद्धजल–न., काञ्जिकम् (हारा.) पक्वजलम्
सिद्धधातु–पु., पारदः (त्रिका.)
सिद्धनामक–पु., अश्मन्तकवृक्षः (वै. निघ.)
सिद्धप्राणेश्वर–पु., ज्वरातिसारे औषधम् (रस. चि. भैष.)
सिद्धमन्त्रप्रकाश–पु., वोपदेवकृतमन्त्रशास्त्रम्
सिद्धमोदक–पु., तवराजखण्डः (रा. नि. व. १४)
सिद्धयोगशतक–न. वृन्दकृतः प्रसिद्धवैद्यकसंग्रहभेदः
सिद्धरस–पु., पारदः (शब्दकल्पे अजयपालः) खनिजधात्वादिः (मे.)
सिद्धसलिल–न., काञ्जिकम् (हारा.)
सिद्धार्थयुग्म–न., पीतगौरसर्षपः कृष्णगौरसर्षपश्च (वा. ड. ५ अ.)
सिद्धिली–स्त्री., क्षुद्रपिपीलिका (शब्दकल्पः)
सिद्धसाधक–न., श्वेतसर्षपः (रा. नि. व. १६) दमनकवृक्षः (वै. निघ.)
सिद्धोदक–न., काञ्जिकम् (हारा.)
सिद्धौषधि–पु., औषधिवर्गभेदः (रा. नि. व. २२)
सिध्मपुष्पिका–स्त्री., सिध्मरोगभेदः (त्रि. र.)
सिध्मल–त्रि., सिध्मकुष्ठार्तः (त्रिका.)
सिध्मला–स्त्री., शुष्कमीनः (त्रिका.) कुष्ठरोगी (वै. निघ.) मत्स्यविकृतिः (मे.)
सिध्मवान्–त्रि., सिध्मरोगी (वै. निघ.)
सिध्मा–स्त्री., किलासरोगः (हे. च.)
सिध्र–पु., वृक्षः (उणा.)
सिध्रका–स्त्री., सीधु इति ख्यातः वृक्षविशेषः
सिन–पु., ग्रासः (व्याक) न., शरीरम् (उणा.) स्त्री., (नी) एकनेत्रम् (शब्दकल्पः)
सिन्दुर–न., सिन्दूरम् (वै. निघ.)
सिन्दुवारच्छदा–स्त्री., वननिर्गुण्डी (वै. निघ.)
सिन्दु(न्धु)सहा–स्त्री., कृष्णनिर्गुण्डी (वै. निघ.)
सिन्दूरकारण–न., शीषधातुः (हे. च.)
सिन्दूरतिलका–स्त्री., नारी
सिन्दूरा–स्त्री., श्वेतनिर्गुण्डी (वै. निघ.)
सिन्धुक–पु., नीलसिन्धुवारवृक्षः (रा. नि. व. ४) श्वेतसिन्धुवारवृक्षः (श. च.)
सिन्धुकफ–पु., समुद्रफेनः (श. र.)
सिन्धुकर–न., श्वेतटङ्कणः (रा. नि. व. ६)
सिन्धुजन्म–न., सैन्धवलवणम् (अम. जटा.)
सिन्धुजात–न., मुक्ता (वै. निघ.)
सिन्धुदेशज–न., सैन्धवलवणम्
सिन्धुपुत्र–पु., मर्कटेन्दुवृक्षः
सिन्धुपुत्री–स्त्री., मौक्तिकशुक्तिः (वै. निघ.)
सिन्धुफल–पु., अग्निजारवृक्षः
सिन्धुमन्थज–न., सैन्धवलवणम् (र. मा.)
सिन्धुर–पु., हस्ती (हे. च.) निर्गुण्डीवृक्षः (र. सा. सं. जातीफलायाम्)
सिन्धुरद्वेषी (इन्)–पु., सिंहः (व्याक.)
सिन्धुलताग्र–न., प्रबालम् (वै. निघ.)
सिन्धुवल्यग्र–न., प्रबालम् (वै. निघ.)
सिन्धुलवण–न., सामुद्रलवणम् । सैन्धवलवणम् (र. मा.)
सिन्धुवारदल–न., निर्गुण्डीपत्रम् (च. द. कफज्व. चि.)
सिन्धुवारिका–स्त्री., सिन्दुवारवृक्षः
सिन्धुवेषण–पु., गाम्भारीवृक्षः (श. च.)
सिन्धूत्पलव–पु., अग्निजातवृक्षः (वै. निघ.)
सिन्धूपल–न., सैन्धवलवणम् (हारा.)
सिप्र–(त्र)–पु., घर्मः । स्वेदः (मे.)–स्त्री., (प्रा) महिषी
सिम्बा (म्बिः)–स्त्री., शमीधान्यम् (भ. द्विरूपको.) शिम्बी (भ.) नखीनामगन्धद्रव्यम् (रा. नि. व. १२)
सिम्बिजा–स्त्री., सिम्बिधान्यम् (भा.)
सिम्बितिका–स्त्री., सेववृक्षः (सु. सू. ४६ अ.)

सिम्बी-स्त्री., निष्पावी (रा. नि.व. ७) मुद्गपर्णी (रा. नि. व. ३०)
सिर-पु., पिप्पलीमूलम् (हे. च.)
सिरामातृका-स्त्री., तन्नामकोर्ध्वजत्रुमर्म (सु. शा. ६ अ.)
सिरिष्टिका-स्त्री., कुटुम्बिनीवृक्षः
सिरी-स्त्री., लाङ्गलिकालता (वै. निघ.)
सिली-स्त्री., गण्डूपदी पु., शिलिन्दमत्स्यः
सिलीन्ध्र-पु., मत्स्यविशेषः (वै. निघ.)
सिल्लकी-स्त्री., सल्लकीवृक्षः (अ. टी. भ.)
सिविका-स्त्री., सेवफलम् (वै. निघ.)
सिवितिकाफल-न., सेवफलम् (भा.)
सिहली-स्त्री., सिउलिलीप इति ख्यातं द्रव्यम् (प. मु.)
सिहुण्ड-पु., स्नुहीवृक्षः (अम.)
सिल्हकी-स्त्री., सल्लकी (श. र.)
सिल्हभूमिका-स्त्री., सल्लकी (श. र.)
सिल्हसार-पु., शिलारसः (वै. निघ.)
सिल्हहास- पु., सिल्हकः (रा. नि. व. १२)
सिह्वार- पु , गर्भतैलम् । शिलारसः (वै. निघ.)
सीत -पु., वेतसवृक्षः (वै. निघ.)
सीतजाम्र-पु., महाम्रवृक्षः (वै. निघ.)
सीतफेण-(न)-पु., रीठाकरञ्जः (वै. निघ.)
सीता-स्त्री., महासमङ्गा (रा. नि. व. ४) मदिरा
सीताफलं-न., आतृप्याख्यफलविशेषः (वै. निघ.)
सीतीलक-पु., सतीलकः । शिम्बीधान्यविशेषः (अ. टी. रा.)
सीतोत्थ-न., श्वेतमरिचः (रा. नि. व. ६)
सीत्य-न., धान्यम् । शस्यम् (हे. च.)
सीद्य-न., आलस्यम्
सीधुपर्णी-स्त्री., गाम्भारीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
सीधुपुष्प-पु., वकुलवृक्षः (रा. नि. व. १० कदम्बवृक्षे रा. नि. व. ९) स्त्री., (ष्पी)-धातकीवृक्षः (रा. नि. व. ६)
सीधुराक्ष-पु., मातुलुङ्गवृक्षः (वै. निघ.)
सीधुराक्षिक-न., काशीषम् (वै. निघ.)
सीधुवृक्ष-पु., स्नुहीवृक्षः (वै. निघ.)
सीधु (धू) संज्ञ-पु., वकुलवृक्षः (रा. नि. व. १०)
सीधूकफाणित-न., मधूकपुष्पोत्थफाणितम् (वै. निघ.)
सीधूरसा-स्त्री., आमलकी (वै. निघ.)
सीध्र-न., पायुः (शब्दकल्पः)
सीमा (अन्)-पु., अण्डकोषः (जटा.)
सीविक-पु., सूक्ष्मकृमिः । वल्मीकः । वृक्षविशेषः (उणा.)
सीमीक-पु., वृक्षविशेषः (शब्दकल्पः)
सीर-पु., अर्कवृक्षः (अम.)
सीरक-पु., शिशुमारकः (श. मा.)
सीरी (इन्)-पु., स्थूलदर्भः
सीलन्द (न्ध)-पु., मत्स्यभेदः (भा.)
सीषपत्रक-न., सीसधातुपत्रम् (हे. च.)
सीषभस्मन्-न., नागभस्म
सीसज-न., सिन्दूरम्
सीसपत्रक-न., सीसकम्
सीसोपधातु-पु., सिन्दूरम् (भा.)
सुकटु-पु., शिरीषवृक्षः (वै. निघ.)
सुकण्डु-पु., कण्डूरोगः (श. र.)
सुकन्दकरण-पु., श्वेतपलाण्डुः (वै. निघ.)
सुकर्णा-स्त्री., आखुकर्णीलता (रा. नि. व. ३)
सुकर्णिका-स्त्री., मूषिककर्णी (श. र.) महाबला (वै. निघ.)
सुकाण्डिका-स्त्री., कारवेल्ललता (रा. नि. व. ३)
सुकार्पास-पु., रक्तकार्पासी (र. सा. सं.) (चन्द्रोदयेरसे)
सुकुन्द-पु., सल्लकीनिर्यासः (वै. निघ.)
सुकुमारिका-स्त्री., कदलीवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सुकेश (स) र-पु , बीजपूरवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सुकेशिनी-स्त्री., शङ्खिनी (वै. निघ.)
सुकोमला-स्त्री., सिन्दूरपुष्पी वृक्षः
सुकोली-स्त्री., क्षीरकाकोली बदरीवृक्षः (र. मा.)
सुकोषा-स्त्री., कोशातकी (रा. नि. व. ७)
सुकोषक-पु., कोषाम्रः (भा.)
सुक्ता-(क्तिका) स्त्री., तिन्तिडी (वै. निघ.)
सुकुडिचन्दन-न., स्वनामख्यात श्रीखण्डचन्दनान्यतर-चन्दनम् (रा. नि. व. १२)
सुखङ्करी-स्त्री., जीवन्तीलता (रा. नि. व. ३)
सुखदायिनी-स्त्री., रोहिणी (वै. निघ.)
सुखभक्ष-पु., श्वेतशिग्रुः (रा. नि. व. ७)
सुखमोद-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (रा. नि. व. ७)
सुखमोदा-स्त्री., सल्लकीवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सुखर-पु., सारसपक्षी (वै. निघ.)
सुखवर्चक-पु., सर्जिक्षारः (अम.)
सुखवास-पु., तरम्बुजः (त्रिका.)

सुखवासन-पु., सुखवासनसुगन्धद्रव्यम् (श. र.)
सुखा-स्त्री., बृद्धिनामौषधम् (वै. निघ.)
सुखात्मक-पु., शुक्लमरुवकवृक्षः (वै. निघ.)
सुखार्जक-पु., सर्जिक्षारः (रा. नि. व. ६)
सुखाश (क) (स)-पु., चेलालफलवृक्षः (त्रिका.)
राजतिनिशः-(श. मा.,) सुखभोजनम् (मे.)
सुग-न., विष्ठा (श. च.)
सुगन्धक-पु., गन्धतुलसी (प. मु.) धरणी-
कन्दः-वै. निघ., रक्ततुलसी (र. मा.) बृहद्गन्धतृणम् (सु. सू. ३८ अ.) गन्धकः (र. मा.) द्रोणपुष्पी ।
नागरङ्गवृक्षः (त्रिका.) कर्कोटकः (हे. च.)
शालिधान्यभेदः
सुगन्धगन्धक-पु., गन्धकः (वै. निघ.)
सुगन्धचन्द्री-स्त्री., सुगन्धशठी (वै. निघ.)
सुगन्धतृण-न.तृणभेदः (रा. नि. व. ८)
सुगन्धतैलनिर्यास-पु., यवादिनामगन्धद्रव्यम् (रा. नि. व. १२) (वै. सं.)
सुगन्धत्रय-न., चन्दनबालकनागकेसरं च
सुगन्धत्रिफला-स्त्री., जातिफललवङ्गैलाश्च (वै. निघ.)
पूगजातीफललवङ्गाः (रा. नि. व. २२)
सुगन्धफल-न., कक्कोलम् (वै. निघ.)
सुगन्धमुख्या-स्त्री , कस्तूरिका (वै. निघ.)
सुगन्धमूत्रपतन-पु., सुगन्धमार्जारः (वै निघ.)
सुगन्धमूषिका स्त्री., छुछुन्दरी (वै. निघ.)
सुगन्धवल्कल-न. त्वग् (वै. निघ.)
सुगन्धवैरजात्य-न. रोहिषतृणम् (वै. निघ.)
सुगन्धशालि-पु., स्वनामकशालिधान्यविशेषः (रा. नि. व. १६)
सुगन्धषट्क-न. जातीफलककोललवङ्गवालक कर्पूरपूगाः (वै. निघ.)
सुगन्धसार-पु., शाकवृक्षः (वै. निघ.)
सुगन्धिकुसुम-पु., पीतपुष्पकरवीरः (रा. नि व.)
(न.,) सुगन्धपुष्पम् (स्त्री.,) स्पृक्का (जटा.)
सुगन्धिकृत्- पु., शिलारसः (वै. निघ.)
सुगन्धिपुष्प-पु., राजकदम्बवृक्षः (वै. निघ.)
सुगन्धिमूषिका-स्त्री., मूषिकविशेषः (रा. नि. व. १९)
सुगर-न., हिङ्गुलः (रा. नि. व. १३)
सुगर्भक-न., त्रपुषः (वै निघ.)
सुगुण्डा-स्त्री., गुण्डासिनीतृणम् (रा. नि. व. ८)
सुगुप्ता-स्त्री., कपिकच्छुः (प. मु.)
सुग्रीव-पु., राजहंसः (शब्दकल्पः)
सुच(चु)टी-स्त्री,. यन्त्रविशेषः
सुचन्दन-न., पत्राङ्गचन्दनम् (रा नि. व. १२)
सुचक्षु-पु., उदुम्बरवृक्षः
सुचित्रक-पु., मत्स्यरङ्गपक्षी
सुचिक्रका-स्त्री., तिन्तिडी
सुच्छिद्रिका-स्त्री., महामेदा (वै. निघ.)
सुजल-न., कमलम् (रा. नि. व. १०) निर्दोषजलम्
सुजातका-स्त्री., कुङ्कुमशालिः (रा. नि. व १६)
सुतङ्गी-स्त्री., महोपोदिका (वै. निघ.)
सुतर्कारी-स्त्री., देवदालीलता (रा. नि. व. ३)
सुतिन्तिड-पु., तिन्तिडीवृक्षः (वै. निघ.)
सुतृङ्ग-स्त्री., नारिकेलवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सुतूर्य-पु., उलूकः (र. मा.)
सुतेजन-पु , धनुर्वृक्षः । (भा.)
सुदण्डिका (दण्डा)-स्त्री., गोरक्षी (रा. नि. व. ५)
ब्रह्मदण्डी (वै. निघ.)
सुदधि-न., कपित्थफलम् (वै. निघ.)
सुदन्तिका-स्त्री., गौः (वै. निघ.)
सुदमन-पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.)
सुदर्शन-पु., मत्स्यभेदः (रा. नि. व. ४) मत्स्यः (भा.)
सुदर्शनचूर्ण-न., विषमज्वरे औषधविशेषः
सुदर्शना-स्त्री., स्वनामख्यातलता (भा.)
सुदीर्घ-पु., चिचिण्डकः (भा. पू. १ भ. शा. व.)
सुदीर्घचर्मा-स्त्री., आसनपर्णी (श. च.)
सुदीर्घफला-स्त्री., बृहत्कर्कटिका (वै. निघ.)
सुदीर्घफलिका-स्त्री., दीर्घवृन्ताकभेदः (र. मा.)
सुदूरमूल-पु., यासशुपः (रा. नि. व. ४)
सुदृश-पु., मृगः
सुदृष्टि-(क)-पु., गृध्रः (वै. निघ.)
सुधांशु-पु., कर्पूरः
सुधांशुतैल-न., कर्पूरतैलम् (रा. नि. व. १५)
सुधांशुरत्न-न., मौक्तिकम् (रा. नि. व. १३)
सुधाक(धा)र-पु., कर्पूरः । चन्द्रः
सुधाक्षार-पु., चूर्णक्षारः (वै. निघ.)
सुधाङ्ग-पु., कर्पूरः
सुधानिधिरस-पु., रक्तपित्ते औषधम् (रस. चि.)
सुधापाणि-पु., धन्वन्तरी (शब्दकल्पः)
सुधापाषाण-पु., शुक्लखडिका (वै. निघ.)
सुधाभूति-पु., कर्पूरः
सुधामूली-स्त्री., सालममिछरीति ख्यातः कन्दभेदः
सुधामोदक-पु., यवासशर्करा (रा. नि. व. १४)

सुधामोदकज-पु., तवराजखण्डः (रा. नि. व. १४)
सुधालता-स्त्री., गुरुडवल्ली । गडूचीभेदः (वै. निघ. २ भ ज्व. चि.)
सुधावास-पु., त्रपुषफलम् (भ.) कर्कटिका (वै. निघ.)
सुधासूति-पु., पद्मम् (श. र.)
सुधाह्वय-पु., चूर्णकः (वै. निघ.)
सुधूम-पु., अगुरुसारः । स्वादुनामगन्धसारः (रा. नि. व. १२)
सुधोद्भव-पु., धन्वन्तरिः (त्रिका.) स्त्री., (वा) हरीतकी (त्रिका.) गुडूची (वै. निघ.)
सुनख-पु., कुक्कुरः (वै. निघ.)
सुनयन-पु., मृगः (श. च.) स्त्री., (ना) नारी
सुनाकृत-पु , कर्पूरः (श. च.)
सुनाद-पु., शङ्खः (वै. निघ.)
सुनाभा-स्त्री., श्वेतकिणिही
सुनामा-स्त्री., ब्राह्मी (वै. निघ.)
सुनामिका-स्त्री., त्रायमाणा लता (वै. निघ.)
सुनार-पु., चटकपक्षी । कुक्कुरीस्तन्यम् (मे.)
सुनालक-पु., वकपुष्पवृक्षः (श. च.)
सुनिर्घोषा-स्त्री., जिङ्गिनी (वै. निघ.)
सुनिर्यासा-स्त्री., जिङ्गिनी (भा.)
सुनिषण्णकच्छदा (पत्रिका)-स्त्री., चाङ्गेरी (वै. निघ.)
सुनेपाली-स्त्री., पिण्डीखर्जूरभेदः (भा.)
सुपक्व-पु., सुगन्धाम्रः (श. च.)
सुपत्रिन्-पु., पक्षी (वै. निघ.)
सुपथ्य-पु., आम्रवृक्षः (वै. निघ.) स्त्री., (थ्या) श्वेतचिल्लीशाकः । लघुवास्तुकः (रा. नि. व. ७)
सुपद्मा-स्त्री., वचा (श. च.)
सुपर्णाख्य-पु., नागकेशरवृक्षः (प. मु.)
सुपर्वा-(न्)-पु., वंशः । धूमः । पर्व (मे.) स्त्री., श्वेतदूर्वा (रा. नि. व. ८)
सुपुत्र-पु., जीवकद्रुमः (प. मु.) पुत्रजीववृक्षः
सुपुत्रिका-स्त्री., जतुकालता (रा. नि. व. ३)
सुपूर-पु., चूर्णकविशेषः । मातुलुङ्गवृक्षः (रा.नि. व.११)
सुप्तजन-पु., अर्धरात्रम् (जटा.)
सुप्तज्ञान-न., स्वप्नम् (जटा.)
सुप्रतिष्ठ-पु., उदुम्बरवृक्षः (र. मा.)
सुप्रतिष्ठा स्त्री., मद्यसामान्यम् (रा. नि. व. १४)
सुप्रतिष्ठिता-स्त्री., महाजम्बूवृक्षः (वै. निघ.)
सुप्रतीका-स्त्री., मद्यम् (वै. निघ.)
सुबन्ध-पु., तिलः (श. च.)
सुभगाह्वया-स्त्री., कैवर्तिका लता (रा. नि. व. ३) शालपर्णी (रा. नि. व. ४) हरिद्रा (रा. नि. व. ६) सुवर्णकदली (रा. नि. व. ११) तुलसीवृक्षः (रा. नि. व. १०) नीलदूर्वा (रा. नि. व. ८)
सुभङ्ग-पु., नारिकेलवृक्षः (जटा.)
सुभ(भा)ञ्जन-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (भा.) (द्विरूपको.)
सुभद्र-(क)-पु., बिल्ववृक्षः (श. च.) निम्बवृक्षः (वै. निघ.)
सुभद्राणी(ली)-स्त्री., त्रायमाणा लता (र. मा.)
सुभीर-(क)-पु., पलाशवृक्षः (हारा.)
सुभूतिक-पु., बिल्ववृक्षः (रा. नि. व. ११)
सुभ्रु(भ्रू)-स्त्री., नारी
सुम-न., पुष्पम् (अ. टी. भ.)
सुमकरन्द-पु , कुन्दवृक्षः (वै. निघ.)
सुमञ्जरी-स्त्री , कृष्णतुलसी (वै. निघ.)
सुमति-स्त्री., शारिका (वै. निघ.)
सुमधुर-पु., जीवशाकः (रा. नि. व. ७) गोधूमः (वै. निघ.)
सुमनःप्रबाल-(पल्लव)-पु., जातीपल्लवम् (च. द.)
सुमनोरज-(स्)-न., पुष्परजस् (अम.)
सुमेखल-पु., मुञ्जतृणम् (रा. नि. व. ८)
सुम्पलुण्ठ-पु., कर्पूरः (श. च.)
सुरकन्द-पु., कटुशूरणः (वै. निघ.)
सुरगण्ड-पु., अन्तर्विद्रधिविशेषः (निदा.)
सुरगोप-पु., इन्द्रगोपकीटः (च. द. स्त्री रो. चि.)
सुरज-न., लवणक्षारः (कश्चित्)
सुरजःफल-पु., पनसवृक्ष (शब्दकल्पः)
सुरजित-पु., लघुनिदाननामग्रन्थकर्ता
सुरञ्जन-पु., गुवाकवृक्षः (त्रिका.)
सुरञ्जी-स्त्री., श्वेतकाकमाची (वै. निघ.)
सुरतरु-पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. निघ.) देवदारुवृक्षः (रा. नि. व. १२)
सुरतोषक-पु., कौस्तुभमणिः
सुरत्न-न., स्वर्णम् । माणिक्यम् (वै. निघ.)
सुरथकर्णिका-स्त्री., पुन्नागवृक्षः (वै. निघ.)
सुरदुन्दुभी-स्त्री., तुलसीवृक्षः (रा. नि. व. १०)
सुरनायिका-स्त्री., कर्पूरहरिद्रा
सुरनिर्गन्ध-न., पत्रकम् (रा. नि. व. ६)
सुरपत्री-स्त्री., सुगन्धपत्रशाकविशेषः (रा. नि. व. १०)

सुरपर्णिक–पु., सुरपुन्नागवृक्षः (रा. नि. व. २०) पुन्नागवृक्षः (वै. निघ.)
सुरपादप–पु., कल्पवृक्षः । देवदारुः (भूरिप्र.)
सुरभिका–स्त्री., स्वर्णकदली (रा. नि. व. ११)
सुरभिकान्ता–स्त्री., वासन्तीपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
सुरभिच्छद–पु., कपित्थवृक्षः (वै. निघ.)
सुरभित्रिफला–स्त्री., सुगन्धित्रिफला (रा. नि. व. २२)
सुरभिदारु (क)–पु., सरलदेवदारुवृक्षः (रा. नि. व. १२)
सुरभिनिम्बु–पु., सुगन्धनिम्बुकभेदः
सुरभिमञ्जरी–स्त्री., श्वेततुलसी (वै. निघ.)
सुरभिवल्कल–न., गुडत्वक् (श. र.)
सुरभिशाक–पु., सुगन्धशाकभेदः (रा. नि. व. १०)
सुरभीजल (मूत्र) न., गोमूत्रम् (अत्रि. ९ अ.)
सुरभीरसा–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (अ. टी. भ.)
सुरभूरुह–पु., देवदारुवृक्षः (भा.)
सुरमुङ्ग–पु., सुरपुन्नागवृक्षः (रा. नि. व. १०)
सुरमेदस (म्भ) मुद्भवा–स्त्री., महामेदा (वै. निघ.)
सुररक्तज–पु., वैक्रान्तमणिः (वै. निघ.)
सुरवल्ली–स्त्री., तुलसीवृक्षः (रा. नि. व. १०) सुरकुञ्जरपारीन्द्ररसः
सुरवृक्ष–पु., देवदारुवृक्षः (वै. निघ.)
सुरशाखी–इन्–पु., कल्पवृक्षः (जटा.)
सुरश्रेष्ठ–पु., श्वेतकरवीरः (वै. निघ.)
सुरसमिध्–स्त्री., देवकाष्ठम् (चि. क्र. क.) स्तबकः
सुरसयुग–न., गौरकृष्णतुलसीद्वया (वा. सु. १५ अ.)
सुरसाग्र–न., सिंधुवारमञ्जरी (च. द.) (विष. चि.)
सुरसाग्रणी–स्त्री., श्वेततुलसी (वै. निघ.)
सुरसाष्ट–पु., तरुवर्गभेदः (श. च.)
सुरसुन्दरीगुडिका–स्त्री., रसायनाधिकारे औषधभेदः (रस.)
सुराकर–पु., नारिकेलवृक्षः (शब्दकल्पः)
सुराकिट्ट– न., सुरावीजः (भा. म. ४ भ.)
सुरागा (गिणी)–स्त्री., मनःशिला (वै. निघ.)
सुराज–पु., गोधूमः (वै. निघ.)
सुराजक–पु., भृङ्गराजः (श. मा.)
सुरापान–न., मद्यपानम् । अवदंशः (श. र.)
सुराभाग–पु., सुराया अग्रभागः (श. च.)
सुराल–पु., श्रेष्ठसर्जरसः (वा. सू. १५ अ.) (विरेचने)
सुरालिका–स्त्री., सातला (वै. निघ.)
सुरावीज–न., सुराकिण्वम् । पक्वसारमेदकः
सुरुङ्ग–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (श. मा.)
सुरुद्रि–स्त्री., भारतवर्षीयनदीविशेषा (रा. नि. व. १४)
सुरूहक–पु ., गर्दभाश्वः (हे. च.)
सुरेन्द्रा–स्त्री., ह्रस्वेन्द्रवारुणी (वै. निघ.)
सुरेभ–न., वङ्गः (त्रिका.)
सुरेवट–पु., पूगवृक्षः रामपूगः (त्रिका.)
सुरोत्तर–पु., चन्दनवृक्षः (श. र.)
सुरोद्भव–न., पद्मकाष्ठम् (वै. निघ.)
सुरोहिष–न., सुगन्धरोहिषतृणम् (वै. निघ.)
सुलङ्घन–न., सुष्ठु लङ्घनम् (सु.)
सुलेमानी–स्त्री.,स्वनामख्याते पिण्डीखर्जूरभेदः (भा.)
सुलोकिनी–स्त्री., भूम्यामलकी (वै. निघ.)
सुलोचन–पु., सुरङ्गमृगः (रा. नि. व. १९) चकोरः (वै. निघ.)
सुलोमनी–स्त्री., जटामांसी (वै. निघ.)
सुलोमशा–काकजङ्घा (रा. नि. व. ४) जटामांसी (वै. निघ.)
सुलोम्या–स्त्री.., मांसरोहिणीभेदः (रा. वि. व. १२) ताम्रवल्लीलता मालवे प्रसिद्धा (रा. नि. व. ३)
सुलोमी–स्त्री., आखुकर्णीलता (वै. निघ.)
सुलोहक–न., पित्तलम् (हे. च.)
सुवया (स्)–स्त्री., दृष्टार्तवा मध्यमा स्त्री
सुवर्चक–पु., सर्जिकाक्षारः (जटा.)
सुवर्ची–स्त्री., सर्जिकाक्षारः (रा. नि. व. ६)
सुवर्णकमल–न., रक्तपद्मम् (वै. निघ.)
सुवर्णक्षीरिणी–स्त्री., स्वर्णक्षीरी (रा. नि. व. ५) कङ्कुष्ठः (सु. सू. ३८ अ.)
सुवर्णघ्न–न., वङ्गधातुः (वै. निघ.)
सुवर्णजाति– स्त्री., भूमिजलौहसङ्करजरसवेधज–सहज–कृति–खनिसम्भवज–वह्निजरसेन्द्रजतद्वेधजाः (वै. निघ.)
सुवर्णतिलका–स्त्री., ज्योतिष्मती लता (वै. निघ.)
सुवर्णदुग्धी–स्त्री., स्वर्णक्षीरिणीनामक्षुपः (रा. नि. व. ५)
सुवर्णप्रसव–न., एलवालुकम् (वै. निघ.)
सुवर्णमाक्षिक–न., स्वर्णमाक्षिकम् (रा. नि व.)
सुवर्णमित्र–न., टङ्कणक्षारः (वै. निघ.)
सुवर्णयूथिका (थी) स्त्री., स्वर्णयूथिका (रा. नि. व. १०)

सुवर्णवर्णा (र्णी)–स्त्री., हरिद्रा (श. च.) कपर्दकभेदः (रा. नि. व. १३) जीवन्ती (प. मु.)
सुवर्णबीज–न., कनकधुत्तूरबीजम्
सुवर्णसंज्ञ–न., सुवर्णकर्षः
सुवर्णसिन्दूर–न., स्वर्णसिन्दूरम् (र. सा. सं.)
सुवर्णाख्य पु., नागकेशरवृक्षः (र. मा.)
सुवर्णाभ–पु., राजावर्तमणिः (वै. निघ.)
सुवर्णारि–न., सीसकम्
सुवर्तुल–न., तरम्बुजः (वै. निघ.)
सुवल्लि (ल्ली.)–स्त्री., सोमराजी (अ. टी. भ.) पुत्रदात्रीलता कटुकवल्ली (रा. नि. व ३)
सुवसन्तक–पु., वासन्तीं पुष्पलता
सुवासरा–(स्त्री.,) चन्द्रशूरः (भा. नि.)
सुवासिनी–स्त्री., पितृभवनस्था नारी, चिरण्टी (अम.)
सुविद–पु., तिलकवृक्षः (वै. निघ.)
सुवीज–पु., बदरवृक्षः (रा. नि. व. ११) (न.) सुन्दरबीजः
सुवीर–(र्या)– पु., एकवीरवृक्षः(रा. नि. व. ८) बदरीवृक्षः (वै. निघ.) (न.) (क) सौवीराञ्जनम् (र. मा.) बदरः कृष्णाञ्जनम् (वै. निघ.)
सुवृत्त–पु., शूरणकन्दः (रा. नि. व. ७)मरिचः (वै निघ.)
सुशक्या–स्त्री., शुकनासा (प. मु.)
सुश (ष, स) वी–स्त्री., कृष्णजीरकः कारवेल्लम् पानीयवल्ली (अम)
सुशीतला–स्त्री., ह्रस्वत्रपुषलता (भा.) कर्कटिका (वै. निघ.) (न.,) गन्धतृणम् (र. मा. अम.) नागदमनी (प. मु.)
सुशी (षी) म–पु., शैत्यम्, चन्द्रमणिः (जटा.) हिमम् । शीतलम्, सर्पविशेषः (मे.)
सुशीविका–स्त्री., वाराहीकन्दः (श. च.)
सुशुल्का– स्त्री., शुक्लजातीपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
सुशुभञ्जन–न., रक्तशोभाञ्जनवृक्षः (प. मु.)
सुश्वेत न., खण्डः (भा.)
सुषि–पु., छिद्रम् (अ. टी. भ.)
सुषिराख्य–पु., रन्ध्रवंशः (रा. नि. व. ७)
सुषीम–पु., सर्पभेदः । चन्द्रकान्तमणिः
सुषुप्ति–स्त्री., सत्वप्रधानम् अज्ञानम् आनन्दमयकोशः (वेदान्त) गाढनिद्रा
सुषुम्ना–स्त्री., शरीरान्तर्नाडीविशेषः (तन्त्रम्)
सुषेणा–स्त्री., त्रिवृता (रा. नि. व. ६)
सुषेणिका–स्त्री., कृष्णत्रिवृता (अम.)
सुषेवी–स्त्री., सुषवीजीरकः
सुष्ठुन्धा–स्त्री., मदिरा (वै. निघ.)
सुसन्धिजा–स्त्री., त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
सुसर्पण–पु., पारदः (रस. कौ.)
सुसारवत्–न., स्फटिकम् (त्रिका.)
सुसिकता–स्त्री., सुशर्करा (रा. नि. व. १४.)
सुसिर–पु., दन्तमूलगतरोगविशेषः (वा. उ. २१ अ.)
सुसीता–स्त्री., शतपत्री (वै. निघ.)
सुस्तनी–स्त्री., दृष्टार्तवा कन्या (रा. नि. व. १८)
सुस्थ–पु., स्वस्थः आरोग्यवान् (च. सु. १ अ.)
सुस्थता–स्त्री., स्वास्थ्यं, सुखम्, आरोग्यम् (श. च.)
सुस्थित–पु., अश्वस्य तन्नामकग्रहः (ज. द. ५७ अ.)
सुस्रा–स्त्री., शिम्बीधान्यविशेषः (रा. नि. व. १६)
सुस्वन–पु., शङ्खः (वै. निघ.)
सुस्वरा–स्त्री., ब्राह्मीशाकः (प. मु.)
सुहिता–स्त्री., रुद्रजटा (रा. नि. व. ३) अग्निजिह्वावृक्षः
सुहृत्राणा–स्त्री., त्रायमाणालता (वै. निघ.)
सूक–पु., उत्पलम् । वातम् (मे.)
सूकराह्वय–पु., न., ग्रन्थिपर्णवृक्षः (वै. निघ.)
सूक्ता–स्त्री., शारिकापक्षी (त्रिका.)
सूक्ष्मकृष्णफला–स्त्री., क्षुद्रजम्बूवृक्षः (र. मा.)
सूक्ष्मजिह्वा–स्त्री., तालुन उर्ध्वदेशवर्ति क्षुद्रजिह्वा (रा. नि. व १८)
सूक्ष्मजीरक–पु., क्षुद्रजीरकः
सूक्ष्मदल–पु., देवशिरीषः (रा. नि. व. ९) स्त्री., (ला)–दुरालभा (रा. नि. व. ४)
सूक्ष्मदारु–न., सूक्ष्मकाष्ठफलकः (त्रि. का.)
सूक्ष्मपत्रिका–स्त्री., क्षुद्रोपोदकी (रा. नि. व. ७) शताह्वा (रा. नि. व. ४) आकाशमांसी (रा. नि. व. १२) दुरालभा, लघुब्राह्मी (रा. नि. व. ४)
सूक्ष्मपर्णा–स्त्री., क्षुद्रशणपुष्पिका (रा. नि. व. ४) जीर्णफञ्जी, बृहती (रा. नि. व. ४)
सूक्ष्मपिंडीतक–पु., क्षुद्रमदनवृक्षः (वै. निघ.)
सूक्ष्ममक्षिका–स्त्री., मशकः (रा. नि. व. १९)
सूक्ष्मवस्त्र–न., श्लक्ष्णवसनम् (शब्दकल्प.)
सूक्ष्मवीज–पु., खसखसः (रा. नि. व. ४)
सूक्ष्मशरीर–न., ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं बुद्धिमनसी चेति सप्तदशावयवाः (वेदान्तसार.)
सूक्ष्मशर्करा–स्त्री., वालुका (रा. नि. व. १४.)

सूक्ष्मशाक–पु., जालवर्वूरकः (रा. नि. व. ८)
सूक्ष्मषट्चरण–पु.,पक्ष्माश्रयो कुणविशेषः(रा.नि.व.१९)
सूक्ष्मस्फोट–पु., विचर्चिका (रा. नि. व. २०)
सूक्ष्माम्ल–पु., क्षुद्राम्लः (वा. चि. १ अ.)
सूक्ष्माह्वा–स्त्री., महामेदा (वै. निघ.)
सूक्ष्मौषध–न., तैलादिः (वा.)
सूचि–स्त्री., सेवनी (अम.)
सूचिका स्त्री., करिशुण्डा। सूची (शब्दकल्प.)
सूचिपर्ण–पु., शितावरक्षुपः (रा. नि. व. ४)
सूचिपुष्प–पु., केतकवृक्षः (प. मु.)
सूचिरोमा (न्)–पु., शूकरः (त्रिका.)
सूचिवदन–पु., मशकः, नकुलः (रा. नि. व. १९)
सूचीदल–पु., शितावरशाकक्षुपः (रा. नि. व. ४)
सूचीपत्रक (पर्ण)–पु., इक्षुविशेषः (सु. सू. ४५ अ.)
सूचीपुष्प–पु., केतकीवृक्षः (र. मा.)
सूचीवक्त्रा–स्त्री., योनिव्यापद्विशेषः (वा. उ. ३३ अ.)
सूचीरोमा (न्)–पु., शूकरः (त्रिका.)
सूचीवृक–पु., मृगविशेषः (वै. निघ.)
सूचोग्र–पु., तदाख्यगलरोगभेदः
सूच्य–पु., स्वल्पगोधूमः (वै. निघ.)
सूच्यग्र (स्थूलक) पु., उलुपतृणम् (र. मा.)
सूच्यास्य–पु., मूषिकः (हे. च.)
सूतका–स्त्री., सद्यःप्रसूता स्त्री (वै. निघ.)
सूतकागृह–न., प्रसवगृहम् (अ. टी. भ.)
सूतखोट–पु., रसजारणबीजम् । पारदजारणार्थं सिक्थकवद्व्यम् रसपिष्टी (रस चि. ३ अ)
सूतमातृका–स्त्री., कुमारी (सा. कौ, अभ्रमारणे)
सूतसूर्य–पु., कृकलासः (वै. नि.)
सूतिकागृ (गे)ह–न., प्रसवगृहम् (सु. शा. १० अ.)
सूतिकाभवन–न., सूतिकागारः (हारा.)
सूतिकारिरस–पु., सूतिकारोगेरसः (रस. कौ.)
सूतिकावास–पु., सूतिकागारः(शब्दकल्पे) (शुद्धितत्त्वम्)
सूतिकाविनोदरस–पु., सूतिकारोगे रसः
सूतिकाषष्ठी–स्त्री., जातसन्तानस्य षष्ठदिने सूतिकागारे पूजनीयदेवीविशेषा
सूति (ती) गृह–न., सूतिकाभवनम् (श. र)
सूति (ती) मास–पु., प्रसवमासः नवमो दशमो वा मासः (जटा.)
सूत्कट–न., गुडत्वक्
सूत्पर–न., घर्घरशब्दः । सुरासन्धानम् (श. च.)
सूत्या–स्त्री., सोमलतारसपानम् (भ.)
सूत्रकण्ठ पु., नकुलः । वनकपोतः । पारावतः खञ्जरीटः (मे.)
सूत्रखण्डमोदक–पु., खण्डलड्डुकविशेषः (वै. निघ.)
सूत्रपुष्प–पु., कार्पासवृक्षः (त्रिका.)
सूत्रमध्यभू पु., यक्षधूपः कुन्दुरुः (श. च.)
सूत्रवर्ति–स्त्री., सूत्रकृतवर्तिः (भा. म. ना. व्र चि.)
सूत्राङ्ग–न., उत्तमकांस्यम् (वै. निघ.)
सूत्री(इन्)–पु., काकः (त्रिका.)
सूदज–पु., उपजिह्विका (वै. निघ.)
सूदशाला–स्त्री., पाकशाला (हे. च.)
सूदाध्यक्ष–पु., पाकशालाध्यक्षः । रसवत्यधिकारिवैद्यः (हे. च.)
सून–न., पुष्पम् । प्रसवम् (मे)
सूनु–पु., सूर्यः । पुत्रः (मे) अर्कवृक्षः (अम.)
सूपकार–पु., पाचकः (नीतिशास्त्रम्)
सूपधूपम्–न., हिङ्गुः (रा. नि. व. ६)
सूपपर्णी–स्त्री., मुद्गपर्णी (रा. नि. व. ३.)
सूपश्रेष्ठ–पु., मुद्गः (रा. नि. व. १६)
सूपाङ्ग–न., हिङ्गु (रा. नि. व. ६)
सूमम्–न., क्षीरम् (मे) जलम् (श. र.)
सूर–पु , मसूरः (रा. नि. व. १६) अर्कवृक्षः (अम.)
सूरणवटक–पु., शूरणकृतवटकः (वै. निघ.)
सूरसाधन–पु., सर्षपः (प. मु.)
सूरसाधनक–पु., सिन्धुवारवृक्षः (रा. नि. व. ४)
सूरि–स्त्री., भुजङ्गघातीवृक्षः । राजसर्षपः
सूरी– स्त्री., राजसर्षपः (र. मा.)
सूर्यकान्ता (न्ति)–स्त्री., आदित्यपर्णीनामौषधम् । पुष्पवृक्षविशेषः (श. र.)
सूर्क्ष्य–पु., माषः (श. र.)
सूर्यनामका–स्त्री., सूर्यावर्तक्षुपः (वै. निघ.) पु., अर्कवृक्षः (ज. द.)
सूर्यपत्र–पु., अर्कपत्रवृक्षः (रा. नि. व. ४) पु., अर्कवृक्षः (सं) व्रणराक्षसतैले सूर्यावर्तक्षुपः (वै. निघ.)
सूर्यपर्णी–स्त्री., अर्कपत्रा (रा. नि. व. २३)
सूर्यपर्यायनाम–न., ताम्रम् (बै. निघ.)
सूर्यपाद–पु., सूर्यकिरणम् । सूर्यकान्तमणिः । निम्बवृक्षः (वै. निघ.)

सूर्यपुष्पक–पु., अर्कवृक्षः (वै. निघ.)
सूर्यप्रिया–स्त्री., पद्मिनी (वै. निघ.)
सूर्यभक्त–(क)–पु., बन्धूकवृक्षः (मे.)
सूर्यमणि–पु., पुष्पवृक्षविशेषः (श. र.)
सूर्यकान्तमणि. (हे. च.)
सूर्यमुखी–स्त्री., पुष्पवृक्षविशेषः (भूरिप्र.)
सूर्यवल्लभा–स्त्री., आदित्यभक्ता (रा. नि. व. ४)
पद्मिनी (वै नि. घ.)
सूर्यवृक्ष–पु., अर्कवृक्षः (वै. निघ.) अर्कपुष्पी (ज. द.)
सूर्यसंज्ञ–न., ताम्रम्, कुङ्कुमम् (त्रिका.)
सूर्याख्य–पु., सूर्यकान्तमणिः (व. निघ.)
सूर्याङ्ग–न., ताम्रधातुः
सूर्याश्मा (न्)–पु, सूर्यकान्तमणिः (हे. च.)
सूर्योदयरस–पु., शिरोरोगाधिकारे रसः (र. स. र.)
सृक–पु., वायुः पद्मम् कैरवम् (उणा.)
सृकण्डु–स्त्री., कण्डूयनम् (श. र.)
सृका (गा) ल–पु., शृगालः (श. च.)
सृक्का–स्त्री., अनन्ता (ज. द.)
सृज (जि) काक्षार–पु., सर्जिकाक्षारः (अ. टी. र.)
सृञ्जा–स्त्री., छागी (त्रिका.)
सृणि–(णी) का–स्त्री., लाला (रा. नि. व. १८)
सृत्वा–स्त्री., वीसर्परोगः वृद्धिः (उणा.)
सृपाटिका (टी) स्त्री., पक्षिचञ्चुः । मानविशेषः (वै.निघ.)
सृक्षी–स्त्री., वृध्यौषधम् । पर्पटकः (वै. निघ.)
सृष्टिकृत्–पु., पर्पटकक्षुपः (रा. नि. व. ४)
सेका–स्त्री., श्यामालता (वै. निघ.)
सेकिम–न., मूलकः (हे. च.)
सेगुडी–स्त्री., क्षुद्रक्षुपविशेषः (वै. निघ.)
सेटु–पु., धवलयावनालः (रा. नि. व. १६) नाटाम्रः (हारा)
सेतु (क)–पु., वरुणवृक्षः (अम.)
सेतुभेदी(इन्)–पु., दन्तीवृक्षः (श. च.)
सेतुवृक्ष–पु., वरुणवृक्षः (अम.)
सेत्र–न., स्नायुः । शृङ्खलः (व्याक.)
सेनिका–स्त्री., शतपुष्पी (वै. निघ.)
सेन्दु–पु., लतापनसः (त्रिका.)
सेन्धा स्त्री., सल्लकीवृक्षः (भा.)
सेफ–पु., शेफस् (जटा.)
सेफाली–स्त्री., सिन्धुवारवृक्षः (रा. नि. व. २३)
शेफालिका
सेमन्ती–स्त्री., पुष्पवृक्षभेदः (शब्दकल्पः)
सेमश–पु., मेषः (त्रिका.)
सेरीपूग–न., महाराष्ट्रकर्णाटकयोः खेरीति ख्यातं पूगम् (रा. नि. व. ११)
सेल्लुक–पु., पीतरोध्रः (वै. निघ.)
सेव(वि)–न., काबेलदेशीयतन्नामकफलविशेषः (रा. नि. व. ११)
सेवकाल–(लु)–पु., दुग्धपेयावृक्षः (श. च.)
सेवती(न्तिका)(न्ती)–स्त्री., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षः (भा.)
सेवनमोदक–पु., बसनमोदकाख्यलड्डुकभेदः
सेविका स्त्री., मिष्टान्नभेदः (भा.)
सेवित–न., सेविफलम् (रा. नि. व. ११)
सैंहल–न., सुवर्णपित्तलम् । त्वक् (वै. निघ.)
सैकत–न., हिङ्गुलः (वै. निघ.)
सैक्य–न , शोणपित्तलम् (वै. निघ.)
सैन्धवादितैल–न., भगन्दराधिकारे तैलम् (रस.र.)
सैन्धी स्त्री., मद्यविशेषः तालरसकृतमद्यम् (वै. निघ.)
सैमन्तिक–न., सिन्दूरः (शब्दकल्पः)
सैरिभ–पु., महिषः (प. मु.)
सैरी–स्त्री., लाङ्गलिका (प. मु.)
सैरीयकद्वय–न., नीलपीतझिण्टीद्वया (सु. सू. ३८ अ.)
सैर्य–पु., श्वेतझिण्टीक्षुपः (वै. निघ.)
सैवाल–न., जलनीली (शब्दकल्पः)
सैह्लिक–पु., शिलारसः (सं.)
सोनह–पु., लसुनः (श. र.)
सोन्माद–त्रि., क्षिप्तः । उन्मत्तः (अ. टी. भ.)
सोभाञ्जन–पु., शोभाञ्जनवृक्षः (अ. टी. भ.)
सोमक–पु., सोमरोगः (निदा.)
सोमखण्डा–स्त्री., सोमराजी (वै. निघ.)
सोमगन्धक–न., रक्तोत्पलम् (वै निघ)
सोमगा–स्त्री., सोमराजी (वै. निघ.)
सोमगृष्टि (ष्टी) का–स्त्री., कूष्माण्डलता (वै. निघ.)
सोमग्रह–पु., अश्वस्य ग्रहविशेषः (ज. द. ५ अ.)
सोमघृत–न., गर्भोत्पादनघृतम् (भैष.)
सोमज–न., दुग्धम् (हे. च.)
सोमदा–स्त्री., गन्धशठी (वै. निघ.)
सोमद्भव–पु., हस्ती (वै. निघ.)
सोमनाथरस–पु., प्रमेहः । सोमरोगाधिकारे च रसविशेषः ।
सोमपत्र–पु., उलुपतृणम् (श. च.)
सोमपादप–पु , कायफलवृक्षः (वै. निघ.)
सोमप्रिय–पु., कुमुदपुष्पम् (वै निघ.)
सोमबन्धु–पु., कुमुदम् (श. र.)

सोममणि–पु., चन्द्रकान्तमणिः (भूरिप्र.)
सोमयोनि–पु., पीतचन्दनवृक्षः (श. र.)
सोमराजिका–स्त्री., सोमराजी (श. र.)
सोमराट्–पु., सोमराजी
सोमवल्कल–पु., कट्फलवृक्षः, श्वेतखदिरः (वै. निघ.)
सोमवल्लिका–स्त्री., सोमलता (भ.) सोमराजी (अम.)
सोमवृक्ष–पु., कट्फलवृक्षः (र. मा.) श्वेतखदिरः (रा. नि. व. ८)
सोमशकला–स्त्री., शशाण्डुली (रा. नि. व. ७)
सोमशल्य–पु., श्वेतखदिरः (रा. नि. व. ८)
सोमसंज्ञ–न., कर्पूरः (र. मा.)
सोमसट्टक–पु , सट्टकभेदः (द्रव्य. गु.)
सोमसम्भवा–स्त्री., गन्धशटी (वै. नि. घ.)
सोमस्कन्ध–पु., श्वेतखदिरः (वै. नि. घ.)
सोमाख्य–न., रक्तकैरवः (र. मा.)
सोमाह्वा–स्त्री., महासोमलता (रा. नि. व. ३.)
सोमाल–पु., सुकुमारः (हारा.)
सोरक–न., मृत्क्षारभेदः (अत्रि. गन्धद्रावके.)
सोहरा–स्त्री., सोरा इति ख्यातं पण्यद्रव्यं (भैष. प्लीहचि. महाशंखद्रावके)
सौलिकेय–पु., तदाख्यविषभेदः
सौख्य–न., आरोग्यं, सुखम् (हे. च.)
सौगन्ध–न.,कत्तृणम्, सुगन्धतृणम् (श. र.) (त्रि.) शुभगन्धम्
सौगन्धपत्रक–पु., श्वेतार्जकः (वै. निघ.)
सौगन्धिपत्रक–पु , श्वेतार्जकः (वै. निघ.)
सौण्डी–स्त्री., पिप्पली (श. च.)
सौध–पु., न., रौप्यम् (रा. नि. व. १३) राजभवनम् (अम.) पु., शुक्लखडिका (रा. नि. व. १४) स्त्री., धा–स्नुहीवृक्षः (च. द. ग्रन्थिरो. चि.)
सौधभूषण–न., चूर्णकम् (वै. नि.)
सौभद्रेय–पु., विभीतकवृक्षः (श. र.)
सौभाग्यचिन्तामणि–पु., विषमज्वरे औषधम् (सा. कौ.)
सौभाग्यमण्डन–न., हरितालः (वै. निघ.)
सौभिक्ष–पु., अश्वस्य शूलरोगभेदः (ज. द. ४३ अ.)
सौमनस (स्य) फल–न., जातीफलम् (वै. निघ.)
सौमनसा (स्या) स्त्री., जातीपत्री (रा. नि. व. १२)
सौमनस्यफला–स्त्री., महाजातिपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
सौमनस्यायनी–स्त्री., मालतीपुष्पकलिका (त्रिका.)
सौमित्र–न., ग्रन्थिपर्णभेदः (वै. निघ.)
सौमेरुक–न., सुवर्णम् (रा. नि. व. १३)
सौम्यगन्धी–स्त्री., शतपत्री (रा. नि. व. १०)
सौम्यगन्धिक–न., श्वेतरक्तकमलम् (वै. निघ.)
सौम्यज्वर–पु., ज्वरभेदः (च. सू. ३ अ.)
सौम्यलता–स्त्री., ब्राह्मी
सौरज–पु., तुम्बुरुफलवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सौरभेयी–स्त्री., गाङ्गी गन्धपत्रा
सौरवनज–पु., तुम्बुरुवृक्षः (रा. नि. व. ११)
सौराष्ट्रक–न., पञ्चलौहः (हे. च.) कांस्यधातुः (प. मु.)
सौराष्ट्रमृत्तिका–स्त्री., सौराष्ट्री। अभावः (रा. नि. व. १३)
सौराष्ट्रसम्भूता–स्त्री., फटिकारिका (वै. निघ.)
सौरिक–पु , भल्लातकवृक्षः (वै. निघ.)
सौरिरत्न न., नीलमणिः (रा. नि. व १३)
सौरी–स्त्री., आदित्यभक्ता पु.–री–(इन्)–भल्लातकः (वै. निघ.)
सौरेय–(क)–पु., शुक्लपुष्पझिण्टी (भा.)
सौल्विक–पु., ताम्रकुट्टकः (अ. टी.)
सौवर्णभेदिनी–स्त्री., प्रियङ्गुः (श. मा.)
सौविद(दल्ल)–पु.. अन्तःपुरिकाया रक्षकः (अ. म.)
सौवीरज–न., नीलाञ्जनम् (वै. निघ.)
सौबीरा–स्त्री., क्षीरकाकोली (वै. निघ.)
सौवीरिका–स्त्री., क्षुद्रबदरीभेदः (मद. व. ६)
स्कन्द(न्ध)तरु–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. नि. व. ११)
स्कन्दसखा– पु., स्कन्दापस्मारः (सु. सू. ३७ अ.)
स्कन्दांशक–पु., पारदः (रा. नि. व. १३)
स्कन्धदेश–पु., हस्तिस्कन्धः। स्कन्धप्रदेशः (अम.)
स्कन्धफल–पु., नारिकेलवृक्षः (रा. नि. व. १०) उदुम्बरवृक्षः (श. च.) स्त्री.,(ला)-खर्जूरवृक्षः (भा.)
स्कन्धबन्धना–स्त्री., मधुरिका
स्कन्धमल्लक–पु., कङ्कपक्षी (हे. च.)
स्कन्धवदना–स्त्री., मधुरिका (श. च.)
स्कन्धशृङ्ग पु , महिषः (शृङ्गकल्पः)
स्कन्धी(इन)–पु., वृक्षः (र. मा.)
स्कोटिका–स्त्री., हापुत्रिका, खञ्जनिका (त्रिका.)
स्तनपायिका–स्त्री., बालिका (रा. नि. व. १८)
स्तनपीडा–स्त्री., स्तनरोगः (निदा.)
स्तनमुख–न., पु , चूचकः (रा. नि. व. १८)
स्तनवृन्त–न., चूचकः (हे. च.)
स्तनशिखा–स्त्री., चूचकः (हे. च.)
स्तनव्रण–पु., स्तनोपरिजातक्षतम् (रस. र. स्तनरो. चि.)

स्तनशोष-पु., स्तनशुष्कतारोगविशेषः (च. द. स्त्रीरो. चि.)
स्तनाग्र—स्तनवृन्तम् । चूचुकः
स्तनितोद्भव-पु., उदुम्बरवृक्षः । विकण्टकवृक्षः (रा. नि. व. ११)
स्तन्या-स्त्री., कलम्बीशाकः (प. मु.)
स्तब्धरोमा (अन्)-पु., शूकरः (अम.)
स्तभ-पु., छागः (श. र.)
स्तम्ब-पु., रोहितकवृक्षः । प्रकाण्डहीनतरुमात्रम् (अम.) तृणादीनां गुच्छम् (चामरः)
स्तम्बक-पु., क्षवकवृक्षः (वै. निघ.)
स्तम्बकरि-पु., धान्यम् (अम.) धान्यमात्रम् (श. र.)
स्तम्बेरम-पु., हस्ती (प. मु.)
स्तम्भक-पु., रक्तबोलः (वै. निघ.)
स्तवक (काह्व) कन्द-(क)-पु., गुलुच्छकन्दः (रा. नि. व. ७)
स्तवकफल-पु., तेजोवती (वै. निघ.)
स्तवकमञ्जरी-स्त्री., अशोकवृक्षः (वै. निघ.)
स्तवकशालिनी-स्त्री., घृतकुमारी (प. मु.)
स्तवकाह्व-पु., स्तवकः, गुच्छम्
स्तीर-न., वङ्गम् (वै. निघ.)
स्तीर्वि-पु., रुधिरम् । तृणजातः (उणा.)
स्तुटि-पु., भरद्वाजपक्षीः (वै. नि. घ.)
स्तुनक-पु., छागः (श. च.)
स्तुभ-पु., छागः (अ. टी. भ.) छागी (भा.)
स्तूप-पु., एकत्रसञ्चितः पदार्थः । राशिः
स्तूपक-पु., वटकादिभक्ष्यद्रव्यम् (वै. निघ.)
स्तेम-पु., आर्द्रीभावः (अम.)
स्तेयफल-पु., तेजःफलम्
स्तेयी(इन्)-पु., वनमूषिकः (वै. निघ.)
स्तोक-पु., चातकपक्षी (रा. नि. व. १९)
स्तोम-न., शस्यं मस्तकम् (शब्दकल्पः)
स्त्येन-अमृतम् (उणा.)
स्त्रीचित्तहारी (इन्)-पु., शोभाञ्जनवृक्षः (त्रिका)
स्त्रीचिह्न-न., योनिः (जटा.)
स्त्रीदुग्ध-न., नारीदुग्धम्
स्त्रीधर्म-पु., स्त्रीरजः (हे. च.)
स्त्रीधर्मिणी-स्त्री., रजस्वला (अम.)
स्त्रीनवनीत-न., मानुषीस्तन्यजातनवनीतम् (रा. नि. व. १५)
स्त्रीनिरीक्षणदोहद-पु., तिलकपुष्पवृक्षः (वै. निघ.)
स्त्रीपुंसलक्षणा-स्त्री., पोटास्त्री (अम.)
स्त्रीप्रिय-पु., आम्रवृक्षः (त्रिका.)
स्त्रीबीज-पु., श्यामाकतृणम् (वै. निघ.)
स्त्रीरञ्जन-न., ताम्बूलः (शब्दकल्पः)
स्त्रीरोग-पु, विंशतिविधयोनिरोगः
स्त्रीसंसर्ग-पु., स्त्रीसेवा
स्त्रीसुख-पु., शिग्रुवृक्षः (वै. निघ.)
स्थगु-न., कुब्जभागः (शब्दकल्पः)
स्थपुट-न., विषमोन्नतम् (हारा.)
स्थलकन्द-पु., आरण्यशूरणम् (र. मा.)
स्थलकमल-न., स्थलपद्मम् (रा. नि. व. १०)
स्थलकुमुद-पु., श्वेतकरवीरवृक्षः (रा. नि. व. १०)
स्थलजा-स्त्री., वल्लीयष्टिमधु (वै. निघ.)
स्थलतण्डुलगन्ध-पु., पक्षिराजशालिः (रा. नि. व. १६)
स्थलपद्म (क)-न., स्वनामख्यातपुष्पवृक्षविशेषः (भा.)
स्थलपद्मक-पु., मानकः (र. मा.)
स्थलपद्मिनी(ब्री)-स्त्री., स्थलपद्मवृक्षः
स्थलपुष्पा-स्त्री., क्षेण्डुकक्षुपः (रा. नि. व. ५)
स्थ (स्थू) लभण्टा (की)-स्त्री., बृहतिका (वै. निघ.)
स्थ (स्थू) लमञ्जरी-स्त्री., अपामार्गः (र. मा.)
स्थलमर्कट-पु., करमर्दकवृक्षः (वै. निघ.)
स्थ (स्थू) लरुहा-स्त्री., स्थलपद्मिनी (रा. नि. व. ५)
स्थविका-स्त्री., मक्षिकाभेदः (सु. कल्प. ८ अ)
स्थविरदारु-न.,वृद्धदारुः (भा. म. १ भ. सन्धिकर्ज. चि.)
स्थाणुकर्णी-स्त्री., महेन्द्रवारुणीलता (रा. नि. व. ३)
स्थाणुरोग-पु., अश्वत्थ पादरोगविशेषः (ज. द. ३९ अ.)
स्थानक-न., आलवालम् (हे. च.) फेणः (शब्दकल्पः)
स्थानचञ्चला-स्त्री., वर्वरीवृक्षः (श. च.)
स्थानमृग-पु., कर्कटः मत्स्यः कच्छपः मकरः (वै. निघ.)
स्थाल-न., सुवर्णादिपात्रम् (अम.)
स्थालिकास्थि-न., अर्बुदाकारास्थि (च. शा.)
स्थालिद्रुम-पु., नन्दीवृक्षः (वै. निघ.)
स्थालिपर्णी-स्त्री., आरण्यगुञ्जा (वै. निघ.)
स्थालीपक्व-न., स्थालीपाचितान्नादिः (शब्दकल्पः)
स्थालीवृक्ष-पु., अश्वत्थविशेषः (भा.)
स्थावरादि-पु., वत्सनाभविशेषः (रा. नि. व. ६.)
स्थिक-पु., कटिप्रोथम् । स्फिग् (श. र.)
स्थिरक-पु., शाकवृक्षः (वै. निघ.)
स्थिरच्छद-(दा)-पु., स्त्री., भूर्जवृक्षः (र. मा.)
स्थिरच्छाय-पु., वटादौ, छायातरुः (त्रिका.)

स्थिरजिह्व-पु., मत्स्यः (हे. च.)
स्थिरजीविका (ता)-स्त्री., शाल्मलीवृक्षः
स्थिरदंष्ट्र-पु., सर्पः (मे.)
स्थिरपुष्पी (इन्)-पु., तिलकपुष्पवृक्षः (रा. नि. व. १०)
स्थिरमुद्रा-स्त्री., रक्तकुलत्थः (वै. निघ.)
स्थिरयोनि-पु., छायावृक्षः (शब्दकल्पः)
स्थिरराष्ट्र-पु., माषपर्णी (वै. निघ.)
स्थिरशाल्मली-स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (वै. निघ.)
स्थिरसार-पु., शाकवृक्षः
स्थिरादि-पु., स्वल्पपञ्चमूली (च. द. परिणामशूले)
स्थिरायु-पु., शाल्मलीवृक्षः (अम.)
स्थूर-पु., वृषः (उणा.) मनुष्यः (व्याक.)
स्थूलक-पु., तृणविशेषम्
स्थूलकण्टकिका-स्त्री., शाल्मलीवृक्षः (श. च.)
स्थूलकण्टफल-पु., पणसवृक्षः (वै. निघ.)
स्थूलकण्टाली (ण्टी)-स्त्री., बृहती (रा. नि. व. ४)
स्थूलका-स्त्री., आम्रहरिद्रा (वै. निघ.)
स्थूलग्रन्थि-स्त्री., महाभरिवचा (वै. निघ.)
स्थूलचम्पक-पु., श्वेतचम्पकः (वै. निघ.)
स्थूलतिक्ता-स्त्री., दार्वी (वै. निघ.)
स्थूलतिन्दुक-पु., काकतिन्दुकः (वै. निघ.)
स्थूलनास (सिक)-पु., शूकरः (हे. च.)
स्थूलनिम्बु (क)-पु., महानिम्बुवृक्षः (वै. निघ.)
स्थूलनील-पु., रणगृध्रः (वै. निघ.)
स्थूलपट्ट-पु., कार्पासः (श. र.)
स्थूलपट्टाक-पु., स्थूलवस्त्रम् (श. र.)
स्थूलपत्र-पु., दमनकक्षुपः (रा. नि. व. १०)
सप्तपर्णवृक्षः (वै. निघ.)
स्थूलपर्णा-स्त्री., सप्तपर्णवृक्षः (वै. निघ.)
स्थूलपाद-पु., गजः (त्रि.) श्लीपदरोगी (वै. नि.घ)
स्थूलपुष्प-पु., बकवृक्षः (र. मा.) क्षुण्टक्षुपः (रा. नि. व. ५)
स्थूलपुष्पी-स्त्री., यवतिक्ता लता (रा. नि. व. २३)
स्थूलप्रियङ्गु-पु., वरकाख्यधान्यम् (वै. निघ.)
स्थूलभण्टाकी-स्त्री., महाबृहतीक्षुपः (मद. व. १)
स्थूलमूल (क)-न., चाणक्यमूलकः (रा. नि. व. ७)
स्थूलवर्त्म (न्)-न., दुष्टव्रणरोगभेदः
स्थूलवर्त्मकृत् स्त्री., भार्गी (श. च.)
स्थूलवर्बूरिका-स्त्री., महाबर्बूरवृक्षः (शार्ङ्ग. म. १ भ.)
स्थूलवृक्ष-पु., महाबकुलवृक्षः (वै. निघ.)
स्थूलवृक्षफल-पु., स्निग्धपिण्डीतकवृक्षः (रा. नि. व.८)
स्थूलशिम्ब-पु., अग्निशिम्बी (रा. नि. व. ७)
स्थूलशीर्षिका-स्त्री., महामस्तकपिपीलिका, क्षुद्रपिपीलिका (हे. च.)
स्थूलषट्पद-पु., वरोलः (वै. निघ.)
स्थूलांशा-स्त्री., गन्धपत्रा (रा. नि. व. १०.)
स्थूलाङ्गी-स्त्री., स्थूलशालिः (वै. निघ.)
स्थूलाजाजी-स्त्री., स्थूलजीरकः (मद. व. २.)
स्थूलाम्र-पु., महाराजचूतवृक्षः (रा. नि. व. ११)
स्थूलास्य-पु., सर्पः (श. च.)
स्थूली (इन्)-पु., उष्ट्रः (शब्दकल्पः)
स्थूलोच्चय-पु., मुखव्रणम् (मे.)
स्नव-पु., क्षरणः (अम.)
स्नसा-स्त्री., वस्त्रसा (हे. च.)
स्नानतृण-न., कुशतृणम् (श. र.)
स्नायूर्मन्-न., शुक्लगतनेत्ररोगभेदः (सु. उ. ४. अ.)
स्नाव्री-स्त्री.,अंसद्रव्यम् (वा. शा. ४ अ.)
स्निग्धकरञ्जक-पु., गुच्छकरञ्जः (वै. निघ.)
स्निग्धच्छद-पु., वटवृक्षः (वै. निघ.) (दा.) (स्त्री.) बदरीवृक्षः (वै निघ.)
स्निग्धतण्डुला-स्त्री., षष्टिकशालिधान्यम् (प. मु.)
स्निग्धनिर्मल-न., उत्तमकांस्यम् (वै. निघ.)
स्निग्धपत्री-स्त्री., बदरीवृक्षः (जटा.) पालङ्कशाकः (रा. नि. व. ७) लोणिका (वै. निघ.) गाम्भारीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
स्निग्धपर्णिका-स्त्री., मूर्वा (रा. नि. व. ३) पृश्निपर्णी (वै. निघ.)
स्निग्धपिण्डीतक-पु., मदनवृक्षविशेषः (रा. नि.व.८)
स्निग्धमज्जक-पु., वातामवृक्षः (वै. निघ.)
स्नु-स्त्री., स्नायुः
स्नुक्च्छद-पु., क्षीरीशवृक्षः (प. मु.) क्षीरकञ्चुकीवृक्षः (र. मा.)
स्नुकच्छदोपम-पु., वाराहीकन्दः (वै. निघ.)
स्नुग्दल-न., मनसापत्रम् (रस. र. बाल. चि.) पु., स्नुहीवृक्षः (श. च.)
स्नुषी-स्त्री., पुत्रभार्या (वा. चि. ९ अ.)
स्नुहा (हि)-स्त्री., स्वनामख्यातक्षीरसारवृक्षः (र. मा.)
स्नुहाद्यतैल-न., खालित्ये तैलम् (रस. र.)
स्नुहीदल-न., स्नुहीवृक्षपत्रम्
स्नुहीबीज-न., स्नुहीवृक्षबीजम् (सं. कनकतैले.)
स्नुह्य-न., उत्पलम् (त्रिका.)

स्नेहकर-पु., शालवृक्षः (वै. निघ.)
स्नेहगर्भ-पु., तिलक्षुपः (प. मु.)
स्नेहचतुष्टय-न., सर्पिस्तैलवसामज्जा च (प. प्र. ३ ख.)
स्नेहपिण्डीतक-पु., पीतमदनवृक्षः (वै. निघ.)
स्नेहपूरफल-पु., तिलक्षुपः (वै. निघ.)
स्नेहभू-पु., कफः (हे. च.)
स्नेहमुख्य-न., तिलः (वै. निघ.)
स्नेहरङ्ग-पु., तिलः (श. र.)
स्नेहवती-स्त्री., मेदा (रा. नि. व. ५)
स्नेहवृक्ष-पु., देवदारुः (वै. निघ.)
स्नेहवीज-पु., पियालवृक्षः (रा. नि. व. ११)
स्नेहा (न्) (ह्)-पु., चन्द्रः । रोगः (उणा)
स्पन्दनाह्वय-पु., तिन्दुकवृक्षः
स्परिश-पु., स्पर्शम् (शब्दकल्पः)
स्पर्शमणि-पु., मणिविशेषः (शब्दकल्पः)
स्पर्शमणिप्रभव-न., स्वर्णम् (श. र.)
स्पर्शशुद्धा-स्त्री., शतमूली (श. च.)
स्पर्शस्यन्द-पु.. भेकः (शब्दकल्पः)
स्पृशा-स्त्री., सर्पकङ्कालिकावृक्षः (श. च.)
(शा. शी.) कण्टकारी (ज. द.)
स्पष्टरोदनिका-स्त्री., समङ्गा (सु. चि. २)
स्पृष्टास्पृष्टि-व्य., परस्परस्पर्शनम् (शब्दकल्पः)
स्पृष्टि-स्त्री., स्पर्शनम् (अम.)
स्पृहा-स्त्री., इच्छा भुजङ्गघातिनीवृक्षः
स्पृह्य-पु., मातुलुङ्गवृक्षः (श. च.)
स्फट-(टा)-पु., स्त्री., सर्पफणा (अम.)
स्फटिकविष-न., दारुमोचभेदः (सं.)
स्फटिकाख्या स्त्री., स्फटिकारिका (भा.) (सं. रसकर्पूरे)
स्फटिकात्मा (न्)-पु.. स्फटिकम् (श च.)
स्फटिकाद्रिभिद-पु., कर्पूरः (शब्दकल्पः)
स्फटिकाभ्र-पु., कर्पूरः (रा. नि. व. १२)
स्फटिकारि-पु., स्वनामख्यातखनिजोपरसः
(भा. पू. १ भ. उ. रसव.)
स्फटिकोपम-पु., कर्पूरः । यशदः ।
चन्द्रकान्तमणिः (वै. निघ.)
स्फटिकोपल-पु., स्फटिकम् (वै. निघ.)
स्फटि-स्त्री., स्फटिकारी (भा.)
स्फाट (टी) क-न., स्फटिकम् (श. र.)
स्फाटिकोपल-पु., स्फटिकम् (त्रि. का.)
स्फिक्घातनक-पु., कट्फलवृक्षः (श. च.)
स्फुट-न., ज्योतिष्मतीपत्रम् (च. द. बाल. चि.)
स्फुटत्वचा-स्त्री., ज्योतिष्मती (वै. निघ.)
स्फुटबन्धना (नी) स्त्री., पारावतपदी (प. मु.)
स्फुटवल्कली-स्त्री.. पारावतपादी (र. मा.)
स्फुटि-(टी)-स्त्री., स्फुटितकर्कटिका
पादस्फोटरोगः (हा. रा. श. र.)
स्फुत्क (त्का)र-पु., अग्निः (श. च.) फुत्कारः
स्फूर्जनतरु-पु., नन्दीवृक्षः (वै. निघ.)
स्फूर्ति-स्त्री., स्फूरणम् । कम्पनम् (व्याक.)
स्फोटक-पु., पक्षिविशेषः । विस्फोटकः (रा. नि. व. २०)
स्फोटकर-पु.. भल्लातकवृक्षः (वै. निघ.)
स्फोटहेतु-(क)-पु., भल्लातकवृक्षः (वै निघ.)
स्फोटा-स्त्री., फणा (शब्दकल्पः)
स्फोटिका-स्त्री., स्फोटकः । हापुत्रिकापक्षी (त्रिका.)
स्फोटिनी-स्त्री., कर्कटिकालता (वै. निघ.)
स्फोता-स्त्री., श्वेतोत्पलशारिवा (भा. पू. १ भ.)
स्मरकूपक-(पिका)-पु., स्त्री., भगः
स्मरगृह (च्छत्र)-न., भगः । योनिः (जटा.)
स्मरण-न., स्मृतिः (हे. च,)
स्मरणापत्यतर्पक-पु., कच्छपः (शब्दकल्पः)
स्मरध्वज-न., योनिः (श. र.) शिश्नः
स्मरमन्दिर-न., भगः (रा. नि. व. १८)
स्मरलेखनी-स्त्री., सारिकापक्षी (श. र.)
स्मरसंज्ञ-पु., कामवृक्षः (रा. नि. व. ४)
स्मरस्तम्भ-पु, लिङ्गम् (त्रिका.)
स्मरस्मरा-वनमल्लिका (रत्ना.)
स्मरस्मर्य-पु., गर्दभः (त्रिका.)
स्मरागार-न., भगः योनिः (त्रिका.)
स्मराङ्कुश-पु., लिङ्गम् (त्रिका.) नखम् ।
स्मरासव-पु., तालसुरा (शब्दकल्प) लाला (त्रिका.)
स्मारणी-स्त्री., ब्राह्मी (वै. निघ.)
स्मृतिहेता-स्त्री., शङ्खपुष्पी लता (वै. निघ.)
स्मेरविष्किर-पु., मयूरः (शब्दकल्पः)
स्यद-पु., वेगः (अम.)
स्यन्दनद्रु-(म) पु., तिनिशद्रुमः
(रा. नि. व. ९)
स्यन्दनाह्वय-पु., तिनिशवृक्षः तिन्दुकवृक्षः (वै. निघ.)
स्यन्दनि-पु.,तिनिशवृक्षः
स्यन्द-(न्दि) नी-स्त्री., मुखलाला (रा. नि. व. १८)
तिनिशवृक्षः (र. सा. सं.) मूत्रवहनाडी (कश्चित्)
स्यन्दिता-स्त्री., तिन्दुकवृक्षः

स्यमीक-पु., वल्मीकम् । तरुभेदः (मे.) (स्त्री) का-नीलिका (मे.)

स्रम-न., जलम् (उणा.)

स्रंसिनीफल-पु., शिरीषवृक्षः (श. मा.)

स्रध्दू-स्त्री., अपानवायुनिःसरणम् । वातकर्म (शब्दकल्प)

स्रवद्गर्भा-स्त्री., पतितगर्भा गौः (अम.)

स्रवन्तीपतिफेन-पु., समुद्रफेणः (सं. प्लीह) (चि. महाद्रावके)

स्रावक न., मरिचः (श. च.)

स्रावणिका (णी) स्त्री., ऋद्धिः (शब्दकल्पः) मुण्डीरी (भा. म. कुष्ठ. चि.)

स्राव्युदर-न., परिस्राव्युदरनाम्ना प्रसिद्धः क्षतोदररोगः

स्रुद्दारु-पु., विकङ्कतवृक्षः (र. मा.)

स्रुघ्नी-स्त्री., खर्जिकाक्षारः (हे. च.)

स्रुता-स्त्री., हिङ्गुपत्री (श. च.)

स्रुवतरु-पु., विकङ्कतवृक्षः (वै. निघ.)

स्रुवा-स्त्री., शल्लकीवृक्षः (मे.) मूर्वा (प. मु.)

स्रोतःपाक-पु., मुखनासिकादिस्रावः (मा. नि.)

स्व-पु., आत्मा न., सत्त्वम् (त्रिका.)

स्वकुलक्षय-पु., मत्स्यः (हे. च.)

स्वगृह-पु., कलिकारपक्षी (जटा.)

स्वग्रह-पु., बालरोगभेदः (निदा.)

स्वच्छधातु-पु., कर्पूरकमणिः । रौप्यमाक्षिकम् (वै. निघ.)

स्वच्छपत्र-न., अभ्रकधातुः (हे. च.)

स्वच्छवालुका-न., विमलधातुः (रा. नि. व. १३)

स्वच्छमणि-पु., स्फटिकम् (रा. नि. व. १३)

स्वत्र-पु., अन्धमनुष्यः (शब्दकल्प)

स्वदन-न., भोजनम् (हे. च.) लौहम् (रा. नि. व. १३)

स्वदि-स्त्री., भक्षणम् (रा. नि. व. २०)

स्वधाप्रिय-पु., कृष्णतिलः (श. र.)

स्वधालता-स्त्री., लताभेदः

स्वनोत्साह-पु., खड्गी (श. र.)

स्वपन-न., निद्रा (श. र.)

स्वपिण्डा-स्त्री., पिण्डखर्जूरः (रा. नि. व. ११)

स्वप्नकृत्-न., सुनिषण्णकशाकः

स्वप्नक्-त्रि., निद्रालुः (अम.)

स्वप्नदोष-पु., स्वप्ने रेतस्खलनम् (शब्दकल्पः)

स्वप्ननित्य-त्रि., नित्यं निद्रागमनशीलः स्वप्नदर्शनशीलः (च. शा. ८ अ.)

स्वयम्भुव-पु., वनमुद्गः (वै. निघ.)

स्वरभङ्गिन्-पु., पक्षिविशेषः (श. र.)

स्वरसादि-त्रि., कषायः (वै. निघ.)

स्वरामक-पु., अक्षोटवृक्षः (वै. निघ.)

स्वरालु-पु., वचा (श. च.)

स्वरु-पु., वृश्चिकभेदः (शब्दकल्पः)

स्वर्गपुष्प-न., लवङ्गम् (वै. निघ.)

स्वर्गलोकेश-पु., शरीरम् (जटा.)

सर्ज-(क्षार)-पु., सर्जिक्षारः (च. द. परिणामशूले.)

सर्जिकापाक्य-पु., सर्जिक्षारः (वै. निघ.)

सर्जी (न्)-पु., सर्जिक्षारः (रा. नि. व. ६)

स्वर्णक-न., धत्तूरफलम् (भैष. शिरो. रो. चि. किंकिणीतैले.)

स्वर्णकण्डू-स्त्री., सर्जरसः (वै. निघ.)

स्वर्णकदली-स्त्री., स्वर्णवर्णकदलीफलम्

स्वर्णकमल-न., रक्तपद्मम् (वै. निघ.)

स्वर्णकेतकी स्त्री., रक्तकेतकीवृक्षः (रा. नि. व. १०)

स्वर्णचातक-पु., चाषपक्षी

स्वर्णचूड-पु., पक्षिविशेषः (जटा.)

स्वर्णज-न., स्वर्णमाक्षिकम् (वै. निघ.) वङ्गम् (हे.च.)

स्वर्णजातिका (ती)-स्त्री., पीतजातीपुष्पवृक्षः (वै.निघ.)

स्वर्णदी-स्त्री.,स्वर्णगङ्गा(अम)वृश्चिकाली(रा. नि. व. ५)

स्वर्णनिभ-न., स्वर्णगैरिकम् (वै. निघ.)

स्वर्णपत्र-न., पत्तलसुवर्णपत्रम् (रस. चि.)

स्वर्णपत्रिका-स्त्री., सुवर्णमुखी (भैष. शूल. चि. हरीतकीखण्डे)

स्वर्णपर्पटी-स्त्री., ग्रहण्यधिकारे रसः (भैष.)

स्वर्णपाचक-पु., टङ्कणक्षारः (र. मा.)

स्वर्णबीज-न., धत्तूरबीजम् (वै. निघ.)

स्वर्णभूमि-स्त्री., मधुरवल्कलम् (वै. निघ.)

स्वर्णभूषण-न., आरग्वधवृक्षः, स्वर्णगैरिकम् (वै. निघ.)

स्वर्णमण्डन-न., स्वर्णगैरिकम् (वै. निघ.)

स्वर्णमाक्षिक-न., स्वनामख्यातोपधातुविशेषः (योगर.)

स्वर्णयूथी-स्त्री., पीतयूथिका (श. र.)

स्वर्णरीति-(ती)-पु., स्त्री., राजपित्तलम् (वै. निघ.)

स्वर्णवङ्ग-न., मेहनाशक औषधविशेषः (भै.)

स्वर्णवर्ण-पु., कणगुग्गुलुः (रा. नि. व. १२.) वंशपत्रहरितालः । स्वर्णगैरिकम् (वै. निघ.)

स्वर्णवल्कल-पु., श्योणाकवृक्षः (श. च.)

स्वर्णवल्ली-स्त्री., स्वर्णलता (भा.) स्वर्णुलीवृक्षः (वै. निघ.) स्वर्णजीवन्ती (रा. नि. व. ३)

स्वर्णशेफालिका-स्त्री., पीतशेफालिका (चि. क. क. स्त्रीरो. चि.) आरग्वधवृक्षः (श. मा.)
स्वर्णसिन्दूर-न., रससिन्दूरविशेषः (रै. ष.)
स्वर्णहालि-पु., चतुरङ्गुलौ (च. सू. ३ अ.)
स्वर्णाङ्ग-पु., महारग्वधवृक्षः (रा. नि. व. ९)
स्वर्णाभ-न., हरितालः (वै. निघ.)
स्वर्णाभा-स्त्री., पीतपुष्पयूथिका (वै. निघ.)
स्वर्णारि-पु., शीषकम् (वै. निघ.) बन्धकः
स्वर्णिका-स्त्री., धन्याकम् (वै. निघ.)
स्वर्भानव-पु., गोमेदरत्नम् (रा. नि. व. १३)
स्वर्यक-पु., तिन्दुकवृक्षः
स्वर्वैद्यौ-पु., अश्विनीकुमारौ (अ म.)
स्वल्प-पु., नखीनामगन्धद्रव्यम् (वै. निघ.)
स्वल्पकन्द-पु., कसेरुः (वै. निघ.)
स्वल्पकाष्ठ-पु., न., श्वेतालुः (वै. निघ.)
स्वल्पकेशर-री (इन्)पु; कोविदारवृक्षः (रा. नि. व. १०)
स्वल्पकेशी-स्त्री., भूतकेशः (श. च.)
स्वल्पघण्टा-स्त्री., आरण्यशणवृक्षः (वै. निघ.)
स्वल्पचटका-पु., क्षुद्रचटकः (वै. निघ.)
स्वल्पजम्बूक-पु., क्षुद्रशृगालः (वै. निघ.)
स्वल्पतरु-पु., वेसुवकंदः (वै. निघ.)
स्वल्पपत्रक-पु., गौरशाकः मधूर्का शेषः (र. मा.)
स्वल्परूपा-स्त्री., आरण्यशणवृक्षः (वै. निघ.)
स्वल्पवर्तुल-पु., कलावृक्षः (वै. निघ.)
स्वल्पवल्कला-स्त्री., तेजोवती (वै. निघ.)
स्वल्पविटप-पु., वेसुवकन्दः (वै. निघ.)
स्वल्पशब्दा-स्त्री., ह्रस्वशणवृक्षः (वै. निघ.)
स्वल्पशृगाल-पु., रोहितवमृगः (वै. निघ.)
स्वल्पसङ्घातवीर्य-पु., स्वल्पचटकः (वै. निघ.)
स्ववहा-स्त्री., त्रिवृत (च. सू. ४ अ.)
स्वसंज्ञा-स्त्री., अन्यशास्त्रासामान्यसंज्ञा (सुउ. ६५ अ.)
स्वसा (सृ)-स्त्री., तेजोवती (वै. निघ.)
स्वस्ति-न., पुष्पम् (वै. निघ.)
स्वस्थारिष्ट-पु., अश्वस्य मृत्युचिह्नम् (ज. द. २३ अ.)
स्वाक्ष-पु., शल्कीनिर्यासः (वै. निघ.)
स्वाद (न)-पु., न., आस्वादः। रसग्रहणम् (ज. द. २३ अ.)
स्वादुकोषातकी-स्त्री., मधुरकोशातकी (वै. निघ.)
स्वादुखण्ड-पु., गुडः, खण्डः (श. र.)
स्वादुगन्धच्छदा-स्त्री., कृष्णतुलसी (वै. निघ.)
स्वादुगन्धा-स्त्री., रक्तशोभाञ्जनवृक्षः (र. मा.) भूमिकूष्माण्डः (जटा.)
स्वादुगन्धि-पु., रक्तशिग्रुः (वै. निघ.)
स्वादुतिक्त-न., पीलुफलम् (वै. निघ.)
स्वादुतिक्तफल-पु., ऐरावतीवृक्षः (वै. निघ.)
स्वादुपटोलिका-स्त्री., मधुरपटोललता (वै. निघ.)
स्वादुपर्णी-स्त्री., दुग्धिका (रा. नि. व. ५)
स्वादुपाकफला-स्त्री., काकमाचिका (वै. निघ.)
स्वादुपारे (ले) वत-पु., द्वीपान्तरखर्जूरीवृक्षः (वै. निघ.)
स्वादुपुष्प (ष्पी)-पु., स्त्री., कृष्णकटभीवृक्षः (रा. नि. व. ९)
स्वादुपुष्पिका-स्त्री., दुग्धिका (वै. निघ.)
स्वादुफल-न., बदरीफलम् (श. र.) पु., धन्वनवृक्षः (रा. नि. व. ९)
स्वादुबीज-पु., अश्वत्थवृक्षः (वै. निघ.)
स्वादुमाषा-स्त्री., माषपर्णी (वै. निघ.)
स्वादुल-पु., क्षीरमूर्वा (वै. निघ.)
स्वादुलुङ्गी-स्त्री., मधुककर्कटिका। स्वादुमातुलुङ्गः (वै. निघ.)
स्वादुवीर्य-पु., पियालवृक्षः (वै. निघ.)
स्वादुशुण्ठी-स्त्री., श्वेतविण्ही (वै. निघ.)
स्वादुशुद्धी-(स्वच्छ) न., पार्वतलवणम् (शब्दकल्प.)
स्वादुसिञ्झितिकाफल-न., कावेलदेशीयफलम् (वै. निघ.)
स्वाद्वगुरु-पु., मधुररसागुरुवृक्षभेदः (राज.)
स्वाद्वन्न-न., खादुरसान्नम् (भा.)
स्वाद्वी-स्त्री., द्राक्षा कपिलद्राक्षा (अम.) चिर्भटिका (वै. निघ.) क्षुद्रखर्जूरीवृक्षः (भा.) गुडत्वग्
स्वाध्याय-पु., वेदाभ्यासः (वै. निघ.)
स्वान्त-न., मनः (रा. नि. व. १८)
स्वापतेय-न., द्रव्यम् (वै. निघ.)
स्वापाश्रय-न., शयनशय्या (च. सू. १५ अ.)
स्वामी (इन्) पु., पारदः (वै. निघ.)
स्वाम्युपकारक-पु., अश्वः (शब्दकल्पः)
स्वायम्भुवगुग्गुलु-पु., वातरक्ताधिकारोक्तपक्वगुग्गुलुः (रस. र.)
स्वायम्भुवी-स्त्री., ब्राह्मीशाकः (वै. निघ.)

स्वारामगुच्छक-न., ग्रन्थिपर्णम्
स्वेदक-पु., अयस्कान्तभेदः (रा. नि. व. ३)
स्वेदचूषक-पु., शीतलवायुः (शब्दकल्पः)
स्वेदजल-न., घर्मम् । बाष्पजनितफलम्
स्वेदजशाक-न., शाकभेदः (राज.)
स्वेदनयन्त्र-न., पारदस्वेदनयन्त्रम् (भा.)
स्वेदनाश-पु., वायुः (वै. निघ.)
स्वेदमाता (तृ)-स्त्री., शरीरस्थरसधातुः (रा. नि. व. २८)
स्वेदस्राव-पु., पित्तजरोगः (निदा.)
स्वेदाप्रवर्त्तन-न., घर्मातिशयः । घर्मनिग्रहः (मा. नि.)
स्वैरणी-स्त्री., वल्गुलापक्षी
स्वैरिता-स्त्री., स्वच्छन्दता (अम.)
स्वोरस-पु., स्वरसः । शिलापिष्टकल्कः (श. च.)

ह

ह-पु., जलम्, रक्तम् (एकाक्ष. को.)
हंसक-पु., राजहंसः (श. च.)
हंसकूट-पु., ककुदः (शब्दकल्पः)
हंसदाहन-न., अगुरुः (श. च.)
हंसपद-न., कर्षः (प. प्र. १ ख.)
हंसपाकाग्नि-पु., हंसपाकयन्त्रेण पाकयोग्याग्निः (रस. चि. ३ अ.)
हंसपाद (क)-न., हिङ्गुलः (हला.) सिन्दूरः (वै. निघ.)
हंसयोषिता-स्त्री., राजहंसी (वै. निघ.)
हंसलोमश-न., कासीसम् (रा. नि. व. १३)
हंसवती-स्त्री., हंसपदी (जटा.)
हंसवीज-न., हंसडिम्बम् (रा. नि. व. १९)
हंसाभिमुख्य-रौप्यधातुः (रा. नि. व. १३)
हंसाह्वया-स्त्री., हंसपादी (सु. चि. ८ अ.) (च. द. ग्रन्थि. चि. अमृताद्यतैले)
हंसिका (सी)-स्त्री., हंसपत्री (श. र.) मुद्गपर्णी (वै. निघ.) वराटकभेदः (रा. नि. व. २३)
हक्षि-स्त्री., क्षुधा (जटा.)
हक्षिका-स्त्री., भार्गी
हक्षी-स्त्री., जिह्विनी (वै. निघ.)
हटतृण-न., शैवालः (सू. सु. ४५ अ.)
हट (ठ) पर्णी (र्णि) स्त्री., न., शैवालः (श. र.)
हट्टविलासिनी-स्त्री., नखीनाम गन्धद्रव्यम् (अम.) हरिद्रा (भा.)
हठालु-स्त्री., कुम्भिका (श. च.)
हठी-स्त्री., वारिपर्णी (धरणिः)
हड्डु-न., अस्थि (श. च.)
हड्डुज-न., मज्जा (श. च.)
हण्डी-स्त्री, मृत्पात्रविशेषः (शब्दकल्पः)
हण्डिकासुत-पु., क्षुद्रहण्डिका (त्रिका.)
हत्नु-पु, व्याधिः, शास्त्रम् (उणा.)
हदन-न., विष्ठात्यागः (व्याक.)
हनील-पु., केतकी (र. मा.)
हन्तु-पु., मृत्युः । वृषः
हन्न-त्रि., कृतपुरीषोत्सर्गः (अम.)
हमल-पु., कृकलासः (वै. नि. घ.)
हयकातरा (रिका)-स्त्री., अश्वकातरिकावृक्षः (रा. नि. व. ५)
हयग्नी-स्त्री., तेजोवती (वै. निघ.)
हयपुच्छी-स्त्री., माषपर्णी (अम.)
हयप्रिय-पु., यवः (हे. च.) श्वेतकरवीरः (रा. नि. व.)
हयभङ्ग्या-स्त्री., पिण्डीखर्जूरिका (वै. नि.घ.)
हयमारण-पु., अश्वत्थवृक्षः (श. च.)
हयवरप्रिय-पु., कदम्बवृक्षः (वै निघ.)
हयवाहनशङ्कर-पु., रक्तकांचनवृक्षः (श. च.)
हयवैरि-पु., महिषः (वै. निघ.)
हयशाला-स्त्री., अश्वशाला
हया-स्त्री., अश्वगन्धा (रा. नि. व ४) घोटकी (जटा) खर्जूरिका
हयागार-पु., अश्वशाला (नकुल ७ अ.)
हयानन्द-पु., मुद्गः (रा. नि. व. १६)
हयायुर्वेद-पु., अश्ववैद्यकशास्त्रम्
हयाशना-स्त्री., शल्लकीवृक्षः (श. च.)
हयाह्वता-स्त्री., अश्वगन्धा (वै. निघ.)
हयाह्वा-स्त्री., अश्वगन्धा (वै. निघ.)
हय्यङ्गवीन-न., सद्योजातघृतम् (वै. निघ.)
हरज-पु., पारदः (भैष. ध्व. भ.)
हरहूरा-स्त्री., हारहूरा । द्राक्षा (शब्दकल्पः)
हरिक्रान्त-पु., घोटकः (त्रिका.)
हरिग्रह-पु., अश्वस्य ग्रहविशेषः (ज. द. ५७)
हरिजीवक-पु., चणकवृक्षः (वै. निघ.)
हरिणाक्षी-स्त्री., हट्टविलासिनीनामगन्धद्रव्यम् (श. च.)
हरितक-न., शाकः । आर्द्रकादिः (अम.)
हरितच्छद-पु., श्वेतशिग्रुः (मद. व. ७)
हरितयव पु. निःशूकयवः (वै. निघ.)
हरितक्षेत्रा-स्त्री., गङ्गापत्री (रा. नि. व. १०)

हरिताक्ष–पु., अश्वस्य दुष्टग्रहभेदः (ज. द. ५७)
हरितालिका (ली) स्त्री., दूर्वा (त्रिका.)
खड्गलता (विश्व.)
हरित्कन्द–पु., कन्दविशेषः (वै. निघ.)
हरिद्गर्भ–पु., हरिद्वर्णकुशः । शरपत्रकुशः
(रा. नि. व. ८)
हरिदश्व–पु., सूर्यः । अर्कवृक्षः (अम.)
हरिद्दर्भ–पु., कुशभेदः (भा.)
हरिद्रव–पु., नागकेशरचूर्णम् (त्रिका.)
हरिद्राङ्ग–पु., हरितालपक्षी (श. च.)
हरिद्रापञ्चक–न., हरिद्राम्रहरिद्रादारुहरिद्राइटी-
विकङ्कतानि (वै. निघ.)
हरिद्रापत्रकण्टका–स्त्री., दार्वी (वै. निघ.)
हरिनामा (न्)–पु., मुद्गः (त्रिका.)
हरिभद्र–न., एलवालुकम् (प. मु.)
हरिभद्रक (भव्यक)–न., कुष्ठौषधम् (वै. निघ.)
हरिमन्थ–पु., अग्निमन्थः (प. मु.) चणकः
(रा. नि. व. १६)
हरिमन्थक (ज)–पु., चणकः (अ. टी. भ.)
कृष्णमुद्गः (हे. च.)
हरिमुद्ग–पु., शारदमुद्गविशेषः
हरिमूला–स्त्री., शालपर्णी (वै. निघ.)
हरियाल–पु., हरितालपक्षी
हरिलोचन–पु., कर्कटः (त्रिका.) पेचकः (शब्दकल्पः)
हरिवासुक–न., एलवालुकम्
हरिवीज–न., हरितालः (जटा.)
हरिहर–पु., रसाधिकाररसमणिकारः
हरीतकीतैल–न., हरीतकीफलोद्भवतैलम्
(रा. नि. व. १५)
हरीतकीवीज–न., हरीतक्यस्थि (वै. निघ.)
हरीन्द्रवैशेषिक–पु., वैद्यकग्रन्थभेदः (स्त्री.) (का)
रेणुका (च. सू. २ अ.) शिरोविरोचनम् ।
निर्गुण्डी कम्पिल्लकः (वै. निघ. हिक्का चि. नस्ये.)
हरीषा (सा)–स्त्री., मांसव्यञ्जनभेदः
हर्म्म (न्)–न., जृम्भा (श. र.)
हर्म्मुट–पु., कच्छपः (शब्दकल्पः)
हर्य्य–पु., बिभीतकवृक्षः (वै. निघ.)
हर्षकीर्ति–पु., वैद्यकसारग्रन्थकारः
हर्ष (र्षि) णी–स्त्री., कपिकच्छुः (वै. निघ.)
भङ्गा (शब्दकल्पः)
हर्षणीक्रिया–स्त्री., सुरापानजन्यहर्षोत्पादकक्रिया
(वा. चि. ७ अ.)
हर्षयित्नु–पु., पुत्रः (न) स्वर्णम् (मे.) (त्रि) हर्षजनकः
हर्षसम्भव–न., शुक्रम् (वै. निघ.)
हर्षुल–पु., मृगः
हलच्छद–पु. कृष्णशिग्रुः (वै. निघ.)
हलराक्ष–न., आहुल्यक्षुपः (रा. नि. व. ४)
हललोमश–न., वासीसम् (रा. नि. व. १३)
हला–स्त्री., मद्यम् जलम्, (अनेकार्थकोष)
लाङ्गलकीवृक्षः (भैष. कुष्ठ. चि.)
हलिनक–पु., केतकवृक्षः (राज. ६ प.)
हलनीप्रिय–पु., कदम्बवृक्षः (प. मु.)
हलिप्रिय–पु., कदम्बवृक्षः (अम.)
हलिप्रिया–स्त्री., मदिरा (रा. नि. व. १४)
हलीन–पु., शाकवृक्षः (श. च.) केतकवृक्षः (प. मु.)
हलीमल–पु., पाण्डुरोगभेदः (मा. नि.)
हल्लक–न., रक्तकद्वारम्
हवि–पु., अग्निमन्थवृक्षः (र. मा.)
हविमण्डला–स्त्री. रक्तलज्जालुका (वै. निघ.)
हविर्गन्धा–स्त्री., शमीवृक्षः (रा. नि. व. ८)
हविर्मन्थ–पु., गणिकारिका (र. मा.)
हवुषा–स्त्री., स्वनामख्यातफलम् (रा. नि. व. ४)
हसन्ती–स्त्री., मल्लिका (मे.)
हस्तज्योडि (डी)–स्त्री., स्वनामख्यातमहाकन्दशाकः
(रा. नि. व. ७)
हस्तपर्ण–पु., रक्तैरण्डम् (वै. निघ.)
हस्तपुच्छ–न., करपुच्छम् (त्रिका.)
हस्तमान–न., आमध्याङ्गुलिकूर्परं विस्तृतं पाणिः
(रा. नि. व. १८)
हस्तसन्धि–स्त्री., मणिबन्धः
हस्ताङ्गुलि–पु., कराङ्गुली (भूरि प्र.)
हस्ताञ्जन–पु., पर्खाण्डवृक्षः (वै. निघ.)
हस्तामलक–न., करस्थामलकीफलम् (शब्दकल्पः)
हस्तिकर्णक–पु., किंशुकवृक्षः (श. र.)
हस्तिकर्णदल–पु., हस्तिकर्णपलाशः (प. मु.)
हस्तिकृष्णा–स्त्री., गजपिप्पली (वै. निघ.)
हस्तिकोल–पु., राजबदरः (वै. निघ.)
हस्तिकोलि (ली)–पु., स्त्री., बदरीभेदः (प. मु.)
हस्तिघोषातकी–स्त्री., हस्तिघोषा (र. मा.)
हस्तिनीदुग्ध–न., हस्तिनीजातक्षीरम् (रा. नि. व. १५.)

हस्तिनीनवनीत-न., हस्तिनीदुग्धभवनवनीतम् (रा. नि. व. १५)
हस्तिपर्ण-पु., महाकोषातकी (भा. पू. १ भ. शा. व.)
हस्तिपर्णिका-स्त्री., राजकोषातकी (रा. नि. व. ७)
हस्तिपात्-(द्) पु., पिण्डालुः (प. मु.)
हस्तिबुषा-स्त्री., कदलीवृक्षः (भा.)
हस्तिरुचि-पु., वैद्यवल्लभनामग्रन्थकारः
हस्तिलोध्रक-पु., लोध्रवृक्षः (रा. नि. व. ६)
हस्तिवारुणी-स्त्री., महाकरञ्जः (वै. निघ.)
हस्तिशुण्डा-स्त्री., स्वनामख्यातक्षुद्रक्षुपः (वै. निघ.)
हस्त्यायुर्वेद-पु., पालकीयगजचिकित्साशास्त्रम्
हस्त्यालुक-न., दीर्घालुकभेदः
हहल-न., हलाहलविषम् (श. च.)
हाङ्कर-पु., नक्रः । जलजन्तुविशेषः (श. च.)
हाटकमाक्षिक-न., स्वर्णमाक्षिकम् (वै. निघ.)
हानव्य-पु., हनुभवदन्तः (वै. निघ.)
हानु (लु) पु., दन्तः (त्रिका.)
हापुत्रिका-(त्री) स्त्री., स्वनामख्यातपक्षी (त्रिका.)
हाफिका-स्त्री., जृम्भा (हारा.)
हाफु-पु., अहिफेनः (प. मु.)
हारा-स्त्री., गाम्भारीवृक्षः
हारिकण्ठ-पु., कोकिलः (मे)
हारित (क)-पु., हारीतपक्षी (जटा.)
हारितक-न., शाकः (श. र.)
हारिद्रसंनिपात-पु., संनिपातज्वरभेदः (वै. निघ.)
हारिद्रु-पु., हरिद्रावृक्षः (वै. निघ.)
हारी (इन्) पु., कदम्बवृक्षः कोकिलः
(री)-स्त्री., मुक्ता (श. र.)
हार्यवृक्ष-पु., बिभीतकवृक्षः (रा. नि. व. ११)
हालह(हा)ल-न., विषभेदः (श. र.)
हालाहालगणा (हली) स्त्री., मद्यम् (वै. निघ.)
हालाहलधर-पु., सर्पः (श. र.)
हालाहला- स्त्री., क्षुद्रमूषिका (जटा.)
हालिनी-स्त्री., अञ्जनिका (हे, च.)
हाली-स्त्री., तालादिमद्यम् (रा.नि व १४) मद्यम् (अम.)
हालु-पु., दन्तः
हाह (हा) ल-न., हलाहलविषम् (श. च.)
हिंसारु-(सीर)-पु., व्याघ्रः (त्रिका.)
हिंसालुक-पु., स्वादुकुक्कुरः (हारा.)
हिंस्राह्वा स्त्री., जटामांसी (रा. नि. व. १२)
हिङ्गुफला-स्त्री., हिङ्गुपत्री (वै. निघ.)
हिङ्गुलिका-स्त्री., कण्टकारी (श. च.)
हिङ्गुली (इन्)-पु., हिङ्गुलः (स्त्री.,) वार्ताकी (प.मु.) बृहती (भा.)
हिङ्गुलु-पु., न., हिङ्गुलः (अम.)
हिङ्गुलोत्थरस-पु., हिङ्गुलनिष्काशितपारदः (र. सा.सं.)
हिज्ज-(ल)-पु., स्वनामख्यातवृक्षः (श. च.)
हिण्डि(ण्डी)र-पु., समुद्रफेनः (प. मु.) वार्ताकौ (मे.) दाडिमवृक्षः (वै. निघ.) रुचकः (उणा.)
हितक-पु., शिशुः (रा. नि. व. १९)
हितलोहित-पु, तुबरयावनालः (रा. नि. व. १६)
हितावली-स्त्री., स्वनामख्यातवृक्षः (रा. नि. व. ९)
हितावल्ली-स्त्री., हितावलीवृक्षः (वै. निघ.)
हिताहित-न., पथ्यापथ्यम् (च. सू. १ अ.)
हिन्दोलन-न., भेषजेन गर्भपातनम् (सु. नि. ८ अ.)
हिमऋतु-पु., हेमन्तकालः
हिमक-पु., विकङ्कतवृक्षः (रा. नि. व. ४)
हिमकूट-पु., शिशिर ऋतुः (रा. नि. व. २१)
हिमञ्झटि-पु., कुञ्झटिका
हिमतैल-न., कर्पूरतैलम् (रा. नि. व. १५)
हिमपुष्प-पु., आरग्वधवृक्षः
हिमपूति त्रि., उद्भटदुर्गन्धः (भा. म. ४ भ.)
हिमयुत-पु., भीमसेनीकर्पूरः (वै. निघ.)
हिमविधि-पु., द्रव्यपलं षट्पलजले क्षिप्तं विशोषितं हिम इत्युच्यते । स एव शीतकषायः ।
पाने च तस्य मानं पलद्वयम् (भा.)
हिमसंहति-स्त्री., हिमराशिः (अम.)
हिमहारक-पु., हिन्तालवृक्षः (श. र.)
हिमांश्वभिख्य-न., रौप्यम् (हे. च.)
हिमाद्रिजा-स्त्री., क्षीरिणी (रा. नि. व. ५)
हिमाब्द-न., उत्पलम् (रा. नि. व. १०)
हिमारिति-पु., चित्रकक्षुपः । अर्कवृक्षः (अम.)
हिमाली-स्त्री., यावनालीशर्करा (रा. नि. व. १४)
हिमावती (नी)-स्त्री., स्वनामख्यातौषधम् स्वर्णक्षीरी (वै. निघ.)
हिमाह्व (य)-पु., कर्पूरः (त्रिका.)
हिमिका-स्त्री., वर्षोपलम् । हिमसङ्घातः शिशिरबिन्दुः (शब्दकल्पः)
हिमोत्तरा-स्त्री., कपिलद्राक्षा (रा. नि. व. ११)
हिमोत्था-स्त्री., यावनालीशर्करा. (रा. नि. व. १४)
हिमोदक-न., हिमजलम् (वै. निघ.)

हिमोपम–पु , प्रवालः (वै. निघ.)
हिरणम्–न.,स्वर्णम्। रजतम् । धुत्तूरः । वराटकः(त्रिका.)
हिरण्यकोष–पु., स्वर्णम्, रौप्यम् (वै. निघ.)
हिरण्यरेता– (स्) चित्रकवृक्षः (अम.)
हिरण्यक्षीरा–स्त्री., ब्रह्मसुवर्चलानामौषधम् (सु. चि. ३० अ.)
हिरण्यक्षीरि–स्त्री., स्वर्णक्षीरी
हिलमुची–स्त्री., हिलमोचिका (प. मु.)
हिलमोचि–स्त्री., हिलमोचिका (प. मु.)
हिल्ल–पु., शरारिनामपक्षिविशेषः
हीनाङ्ग–पु., बिकलाङ्गः (जटा.)
हीनाङ्गी–स्त्री., क्षुद्रपिपीलिका (हे. च.)
हीन्ताल–पु., हिन्तालवृक्षः (अ. टी.)
हील–न., शुक्रम्
हीलक–न., गौडीमद्यम्
हुड-(डु)–पु., मेषः (त्रिका.) स्त्री., मेषी
हुडिका–स्त्री., अङ्कोलवृक्षः (वै. निघ.)
हुडुक्क–पु., दात्यूहपक्षी (मे.)
हुडुम्ब–पु., भ्रष्टचिपिटः (श. मा.)
हुण्ड–पु., व्याघ्रः, ग्राम्यशूकरः (शब्दकल्पः)
हुताशनरस–पु., अग्निमान्द्ये रसः (भा.)
हूरव–पु., शृगालः (त्रिका.)
हूलु–पु., मेषः
हृच्छूल–न.,वक्षः शूलम् (निदा.)
हृतगन्धा–स्त्री., कुस्तुम्बरी (वै. निघ.)
हृत्पद्म–पु., हृदयम्
हृत्पाषाण–पु., मनःशिला (भैष. कुष्ठ. चि.) (षडबिन्दुतैले)
हृदयदीपक–पु., वोपदेवकृतवैद्यकग्रन्थः
हृदयस्थान–न., वक्षः (हे. च.)
हृदयात्मा–(न्)–पु., कङ्कपक्षी (श. च.)
हृदयादक–पु., कफजकृमिः (निदा.)
हृदयोपशरण–न., हृदयोपद्रवणम् (च. सू. १५ अ.)
हृद्ग्रन्थि (न्थ)–पु., विद्रधिरोगः (रा. नि. व. २०)
हृद्यगन्धि–न., कणजीरकम् (र. मा.)
हृद्वर्ग–पु., हृदयहिते महाकषायवर्गः (च. सू. ४ अ.)
हृद्रुक्–पु., हृदयरोगः (रा. नि. व. २०)
हृद्रोगवैरी (इन्) पु., अर्जुनवृक्षः (श. च.)
हृद्व्रण्टक–पु., आमाशयः, जठरम् (श. च.)
हृद्व्रण–पु., विद्रधिः (रा. नि. व. २०)
हृल्लक्ष्मी–स्त्री., क्षुद्रतुलसी (वै. निघ.)
हृल्लास–पु., उपस्थितवमनत्ववत् उत्क्लेशः (भा.)
हृषीक–न., कर्मेन्द्रियम् (अम.)
हेक्का–स्त्री., हिक्का (हे. च.)
हेतुविपर्यस्तार्थकारी (त्रि.) हेतुविपरीतार्थकारि (मा. नि.)
हेतुव्याधिविपर्यस्तार्थकारी (इन्) (त्रि.) हेतुविपरीतार्थकारि व्याधिविपरीतार्थकारि हेतुव्याध्युभयविपरीतार्थकारि च औषधादिः (मा. नि.)
हेमकन्दल– पु. प्रवालः (हे. च.)
हेमकान्ति–स्त्री., दारुहरिद्रा (वै. निघ.)
हेमकृष्टि–स्त्री., स्वर्णकर्षणयोगः (रस. चि. ३ अ.)
हेमगन्धिनी–स्त्री., रेणुकनामगन्धद्रव्यम् (र. मा.)
हेमजीवन्ती–स्त्री., पीतजीवन्ती (रा. नि. व. ३)
हेमतार (क)–न., तुत्थम् (हे. च.)
हेमदुग्धी (इन्)–पु., यज्ञडुम्बुरवृक्षः (श. र.)
हेमधान्यक–पु., तिलवृक्षः (प. मु.)
हेमनिधि–पु., पारदः (वै. निघ.)
हेमन्तनाथ–पु., कपित्थवृक्षः (श. च.)
हेमपत्र–न., धुत्तूरफलम् (वै. निघ.) नागकेसरपुष्पम् (च. द. दाह. चि.) पद्मकाष्ठम् (वै. निघ.) स्वर्णपत्रम्
हेमपत्रिका (त्री)–स्त्री., स्वर्णपत्रिका
हेमपद्मक–न., पद्मकाष्ठम् (वै. निघ.)
हेमपुष्पिका–स्त्री., स्वर्णयूथिका (वै. निघ.)
हेमबल–न., मौक्तिकम् (रा. नि. व. १३)
हेमबीज–न., धुस्तूरबीजम् (वै. निघ.)
हेममांसी–स्त्री., जटामांसी
हेममित्र–न., स्फटिकारिका (प. मु.)
हेमरागिणी–स्त्री., हरिद्रा (त्रिका.)
हेमलता–स्त्री., मधुनिष्पावः (प. मु.) कृकलासः (मे.)
हेमवल्ली–स्त्री., स्वर्णजीवन्ती (रा. नि. व. ३)
हेमशिखा–स्त्री., स्वर्णक्षीरी (प. मु.)
हेमशोधिनी–स्त्री., स्फटिकारिका (वै. निघ.)
हेमसार–न., तुत्थकम् (र. सा. सं. ज्वरकुञ्जरपारीन्द्ररसे) स्वर्णमाक्षिकम् (प्र. कस्तूरीभैरवरसे)
हेमाख्य–न., स्वर्णगैरिकम् (वै. निघ.)
हेमाङ्गा (ङ्गी)–स्त्री., स्वर्णक्षीरिणी (वै. निघ.)
हेमाद्रिजरणा–स्त्री., स्वर्णक्षीरिणी (र. मा.)
हेमाद्रिजा–स्त्री., स्वर्णक्षीरी (प. मु.)
हेमाभ–न., यशदः, नागकेसरम् (वै. निघ.)

हेर–न., हरिद्रा
हेरु–स्त्री., महाशतावरी
हेरम्ब–पु., महिषः (मे.)
हेलञ्जी–स्त्री., हिलमोचिका (श. च.)
हेषी (इन्)–पु., अश्वः (त्रिका.)
हेसनीया–स्त्री., नागबल्लीभेदः (रा. नि. व. १२)
हैमकान्ता–स्त्री., दार्वी (वै. निघ.)
हैमन–न., पु., शीतर्तुः (श. र.)
हैमन–पु., हेमन्तकालजषष्टिकधान्यम् (वै. निघ.)
हैमन्तबीज–न., रक्तान्नादिबीजम् (वै. निघ.)
हैमान्नबीज–न., रक्तान्नादिबीजम् (वै. निघ.)
हैमन्तिक–पु., न., हेमन्तकालिकशालिधान्यम्
हैमपुष्पी–स्त्री., मुषली (वै. निघ.)
हैमल–पु., न., हेमन्तकालः (केचित्)
हैमा–स्त्री., स्वर्णकेतकी (रा. नि. व. १०)
पीतयूथिका क्षीरिणी (रा. नि. व. ५) वटपत्री
होगल–पु., होगला इति ख्यातं तृणम् (चसू. ३ अ.)
होतानिका–स्त्री., वरकधान्यम्
होत्र–न., हविः (त्रिका.)
होमी–पु,, घृतम् (मे.) जलम् (श. र.)
होलक–पु., तृणाग्निदग्धार्धपक्वशमीधान्यम् (भा.)
हौम्य–न., घृतम् (रा. नि. व. १५)
हौम्यधान्यम्–न., तिलः (रा नि व १६)
ह्रेष्टाम्बु–न., तण्डुलोदकम् (प. प्र. ३ ख.)
ह्रदग्रह–पु., कुम्भीरः (त्रिका)
ह्रदा–स्त्री , शल्लकीवृक्षः
ह्रसल्लक– प्रियालवृक्षः
ह्रस्वक–पु., पूगवृक्षः (र. मा.)
ह्रस्वकन्द–पु., तैलतारुरिति ख्यातः कन्दः (प. मु.)
ह्रस्वकर्कन्ध–स्त्री., वनबदरः (वै निघ.)
ह्रस्वकुश–पु., श्वेतकुशः (रा. नि. व. ८)
ह्रस्वगर्भ–पु., कुशः (र. मा.)
ह्रस्वजम्बु–म्बू पु., क्षुद्रजम्बूवृक्षः (र. मा.)
ह्रस्वदृष्टि– पु., तन्नामकदृष्टिरोगः (मा. नि.)
ह्रस्वत्रिफला–स्त्री., गाम्भारीफलखर्जूरपरूषकफलानि (प. प्र. ३ ख.)
ह्रस्वतण्डुल–पु., क्षुद्रण्डुलः, राजान्नम् (रा. नि. व. १६)
ह्रस्वदर्भ–पु., श्वेतकुशः (रा. नि व. ८)
ह्रस्वदा–स्त्री.,शल्लकीवृक्षः (रा. नि व. ९)
ह्रस्वपञ्चमूल–न., बृहती-कण्टकारी शालिपर्णी पृश्निपर्णी गोक्षुरश्चेति पञ्च (वा. सू. १५ अ.)
ह्रस्वपत्रक–पु., गिरिजमधूकवृक्षः (जटा.)
ह्रस्वपत्रिका–स्त्री., अश्वत्थिका (रा. नि. व. ११)
ह्रस्वपर्वा (न्)–पु., कृष्णेक्षुः (वै. निघ.)
ह्रस्वप्लक्ष–पु., क्षुद्रप्लक्षवृक्षः (रा. नि. व ११)
ह्रस्वबदर–न., पु., क्षुद्रबदरः (मद. व. ६)
ह्रस्ववृक्ष–पु., कुशः (प. मु.)
ह्रस्वशाखाशिफ–पु., क्षुपः (अम.)
ह्रस्वाग्नि–पु., अर्कवृक्षः चित्रकवृक्षभेदः (श. च.)
ह्रस्वोत्पल–न., कह्लारपद्मम् (वै. निघ.)
ह्रादिनी–स्त्री.,शल्लकीवृक्षः (श. र.)
ह्रीबेर–न., बालकः (श. र.)
ह्रीकु–पु., जतुकः त्रपुधातुः (उणा.)
ह्रीविल (क)–न ह्रीबेरम् (अ. टी. भ.)
ह्रीवीरादि–पु., ज्वरातिसारे कषायः (च. द.)
ह्लादिनी–स्त्री., शल्लकीवृक्षः (वै. निघ.)
ह्लीकु–पु.,जतुः त्रपुषः (अ. टी.)

आयुर्वेदीय शब्दकोशः पूरणिका

शीर्षक—शुद्धिपत्र

पृष्ठ	स्तंभ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७	२	अवल्गुजा	अवल्गुजबीज
२८	१	अवल्गुजबीज	अवल्गुजा
२९	२	अश्वत्थफलका	अश्वत्थक
३०	१	अश्वत्थभित्	अत्थत्थफलका
४३	२	ईदीवर	इन्दंवर
४८	शीर्षक	आयुर्वेदीय शब्दकोशः	आयुर्वेदीयशब्दकोशः-पूरणिका
७८	१	सङ्कर्षा	सङ्कर्षा
१०५	२	गण्डूषदी	गण्डूपदी
१०९	२	गान्धिक	गान्धार
११०	१	गाम्भारिका	गान्धिक
१३७	२	तपस्विप	तपस्विपत्र
१८३	२	षाटी	पाटी
१८५	२	पारसाकवचा	पारसीकवचा
१८८	२	पिपल्याद्यलेह	पिप्पल्याद्यलेह

पुरवणी कोशः

– शुद्धिपत्र –

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१ व २	सूचना		**अकलकर** शब्दांतर्गतं (मद) गुवाकशिरः– पर्णेनबिना– (रा. नि. व. ११) वर्णनमेतत् अग्रे **अकोट** शब्दांतर्गतस्प ' गुवाकवृक्ष, "मधुर गुरु च" वचनादनंतर पठनीयम् ।
१	२	८	सा.	वा.
१	२	३३	चौल्यः	चील्यः
२	१	२	वल्लिगुल	वल्लीगुल्ल
२	१	११	वानभण्टी	वनभण्टी
४	१	२६	वरावटक	वराट
५	१	५	×	+इन्द्रगोपकीटः
५	१	९	पक्त्र	वक्त्र
५	१	१४	हः	हुः
५	१	१७	वर्धन	विवर्धन
५	२	३७	ङ्क	(ङ्की)
५	२	३८	(ता)	(वा)
६	२	३५	भृगराजः	भृङ्गराजः
७	१	११	×	+करञ्जविशेषः
७	२	२६	खालित्यम्ः	खालित्यम्
८	२	८	वुद्धः	वृन्दः
९	१	३५	रक्तपित्ता	रक्तपित्त
१०	२	३६	अटरूष	अटरूषक
११	१	२१	तश्च	तच्च
१३	१	१८	शुक्ति–	शुक्ति
१४	२	२	पाण्ड	पाण्डु
१५	१	२	कोष्टेः	कोष्ठः
१५	१	३६	दिवससिका	दिवसिका
१६	१	१५	रूक्षश्च	रूक्षञ्च
१६	१	२४	शरीरावयव	शरीरावयवः
१६	१	२८	वातव्याधि	वातव्याधिः
१८	२	३	×	+ वातव्याधिः
२१	१	२८	घेणे	आंबट माठ
२२	१	१०	वुत्	वृन्द
२४	२	२५	द्रव्यस	द्रव्यसं
२५	२	२८	व्या	व्या)
२५	२	२९	षडशीति) गुग्गुलुः	षडशीति गुग्गुलुः
२७	२	शीर्षक	अवल्गुजा	अवल्गुजबीज
३१	१	३५	शरावती	शतावरी
३१	२	१९	तेरणीः	तेरण्यः

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३१	२	३८	सांक्लन्नम्	संक्लिन्नम्
३१	१	१२	(चटा)	(जटा)
३२	२	३७	अस्थिङ्खला	अस्थिशृङ्खला
३३	१	२१	विकसतम्	विकसितम्
३४	२	१७	रुक्षा	रूक्षा
३८	१	३३	सान्ता	सन्ता
३९	१	३	माम्र	माम्रं
४१	१	१२	स	स—
४१	१	१६	स्वरस	सरस
४१	२	१३	लाके	लोके
४४	१	३४	लाङ्गलि	लाङ्गली
४४	२	२७	बुद्धी	बुद्धि
४५	१	३२	(नेन)	×
४८	१	१	लघुतालीशपत्रम्	×
४८	१	२	×	+ लघुतालीशपत्रम्
४८	२	२१	वालवी	वाळवी
४८	२	३४	(र) म् न	×
५१	२	२५	धातः	धौतम
५७	२	१०	ग्रहणीची	ग्रहणी चि
६०	१	११	शलकी	शल्लकी
६०	१	४१	बाबल	वावल
६१	२	३८	मापकाः	माषकाः
६३	१	२	आरण्व	आरण्य
६३	२	२	ग्रहण्या	ग्रहण्य
६५	१	१	स्वादुरुच्यश्च	स्वादू रुच्यश्च
६५	२	९	करजलं	करकजलम्
६८	२	३	तत्स्य	तस्य
६९	१	१३	भेदम्	भेदः
७०	१	२०	पिकीम्	पिकी
७३	१	३९	स्थात्	स्यात्
७३	२	३६	रोपित म्(पदार्थम्)	रोपितः पदार्थः
७६	२	५	प्रधाने	प्रधानम्
७७	१	१	तर्कः	तर्कुः + सूत्रनिर्माण यन्त्रम्
७७	२	२१	कङ्कुष्ठः	कङ्कुष्टः
७७	२	३६	क्षीरकाकोलीः	क्षीरकाकोल्यौ
७८	२	१३	असिद्धा	प्रसिद्धा
७९	१	३४	हिङ्गिगुत्व	हिङ्गिगुदीत्व
८०	१	२१	किञ्चिलिक–पु	किञ्चिलिक, किञ्चुलिक, किञ्चुलुक –पु. गण्डूपदः (त्रिका)
		२२	किञ्चिलिक–	
		२३	किञ्चलुक–त्रिका,	

पान	स्तंभ	ओळ	अशुध्द	शुध्द
८०	२	९	प्रसिद्धे	प्रसिद्धं
८२	१	१५	सारघ्नश्च	सारघ्नश्च
८३	१	३१	(त्स्य)	(त्स्य) गृहगोधिका
८३	२	३७	आरग्ध	आरग्वध
			वृक्षयः	वृक्षः
८४	१	२०	पथ्यम्	' अपथ्यम्
८४	१	२३	प्रसिद्धायाम्	प्रसिद्धम
८६	१	३३	कुलयी	कुलयी }
		३४	कुली	कुली }
८६	२	अन्त्य		(हे. च)
८७	२	६	कुशाल्मली	कुशाल्मलि
८८	२	३५	क्रिडा	क्रीडा
९०	१	३६	(स्त्री. ज्वरसि)	(स्त्री) (ज्वरचि.)
	१	अन्त्य	कृमिशल	कृमिशैल
९४	२	३८	कोकड	कोकड }
		३९	कोकवाच	कोकवाच }
९४	१	१३	शोधनाथम्	शोधनार्थम
९४	२	१५	दाहहाः	दाहहः
९४	२	२०	कफाघ्न	कफघ्नं
९५	१	५	विशेष	विशेषः
९६	१	८	कुड्मशलः	कुड्मलः
९६	१	अन्त्य	काटी	कौटी
९८	२	२२	क्षारः	क्षारौ
९८	२	३१	निरुह	निरूह
९९	२	१६	खर्जुरीका	खर्जुरिका
१०१	२	१४	गण्डक	गण्डका
१०२	१	१६	खधि	खधिः
१०४	२	१९	वुक्षा	वृक्षः
१०५	१	८	चंद्र	×
१०६	२	अन्त्य	पारीषाश्वत्थ	पारीषाश्वत्थः
१०९	१	३५	(नै. नि.)	(वै. नि.)
११०	२	३७	लघूष्ण	लघूष्णं
११२	१	अन्त्य	त्राहिमान	त्राहिमान्
११३	२	२८	घत्रम्	छत्रम्
११४	१	१५	कफभेद	कफमेद
१२०	२	१६	भ्रमर	भ्रमरः
१२१	१	१२	चणाकम्लम्	चणकाम्लम्
१२१	२	२३	एकच्चतुष्टय	एकच्चतुष्टयं
१२१	२	३५	योगा	योग
१२२	१	१२	हितः	हितम्

पान	स्तंभ	ओळ	अशुध्द	शुध्द
१२५	२	१९	धानसपः	धानसर्पः
१२६	१	८	वासुक	वास्तूक
१२६	१	३८	वखी	नरवी
१२८	२	२४	मासं	मांसं
१२९	२	२	परदि	परद्वी
१३२	२	१९	लाभज्जकः	लामज्जकः
१३३	२	७	पत्रिकाप	पत्रिका
१३४	१	१ व २	प. म. ज्योतमनी	(पमु.) ज्योत्स्ना
१३४	१	१२	जिवज्जीव	जीवञ्जीव
१३४	२	३	त.,	न.,
१३४	२	१५	इङ्गूगुती	इगुदी
१३५	२	३४	मत्स्य	मत्स्यः
१३७	१	१३	मास	मांस
१३७	१	१४	वधिः	विधिः
१३७	१	१९	पित्तलङ्किचित्सर्वाहरास्य	पित्तलं किंचित्सर्वाहारस्य
१३८	१	१	ग्रीष्मतु	ग्रीष्मर्तुः
१४१	२	११	ट्र	दर
१४१	२	उपान्त्य	लड्डक	लड्डक
१४२	१	२५	बाकू	वाक
१४२	१	३७	मद्यम	मद्यम्
१४२	१	३७	क्षार	क्षीर
१४२	२	१२	तुच्छद्रुं	तुच्छद्रुः
१४२	२	२३	लिङ्गिवी	लिङ्गिनी
१४३	१	३३	पू तं	पूतं
१४५	२	२३	त्रिशंता परमाणवः	त्रिंशद्भिः परमाणुभिः
१४६	२	६	शोथेः	शोथे
१४६	२	९	अपरम्	अपरः
१४८	१	१२	ताम्नम्	ताम्रम्
१४८	२	३०	द्दष्ट	द्रुष्ट
१५०	२	६	भेद (मनि.)	भेदः (मानि.
१५०	२	७	दर्द्रुघ्न	दद्रुघ्न
१५२	१	२६	व्रक्षा	वृक्षः
१५४	१	अन्त्य	उत्साहः	उत्साह
१५४	२	११	सन्त	सन्ता
१६०	२	३	मेव	मेष-
१६१	२	११	भूच्छत्राक	भूच्छत्राकः
१६२	१	३८	कषाय	कषायः
१६३	२	२४	बुधै	बुधैः
१६४	२	८	ग्रहः	ग्राहः
१६७	२	२८	वृक्ष	वृक्षः

पान	स्तंभ	ओळ	अशुध्द	शुध्द
१६८	२	३	नागर्जुना	नागार्जुना
१६८	२	१४	पट्टशाक	पट्टशाकः
१६९	१	२८	व्यधौ	व्याधौ
१७२	२	१३	रजरका न्त्री	रजस्का स्त्री
१७३	२	३	जीरफः	जीरकः
१७६	१	७	नागफला	नागबला
१७६	१	१८	मूत्रान्	मूत्रम्
१७६	१	२६	व्रणस्य	व्रणस्य
१७६	१	३८	हिम	हिमं
१७६	२	६	द्यम्बुः	द्यम्बु
१७७	१	४	सनाभसा	सनाभसाः
१७७	१	६	पार्थिबा	पार्थिवाः
			पार्थियानवे	पार्थिवानेव
१७७	१	१०	विंशल्य	विंशत्य
१७९	१	१४	चक्रमर्द	चक्रमर्द
१७९	२	२२	परपृष्ठा	परपुष्टा
१८०	१	१६	परुषक	परूषक
१८०	२	२	भोजनार्थ	भोजनार्थं
१८१	१	३४	श्लेष्माम्ल	श्लेष्माम्ल
१८२	१	३१	परूषक	परूषक
१८२	१	३८	सप्तः	सप्त
१८३	२	३६	घृक्षः	वृक्षः
१८४	२	१६	यन्य	यन्त्र
१८५	१	३	पादास्थीवि	पादास्थीनि
१८५	२	३४	थमानीं	यमानी
१८६	१	१९	षारावर	पारावर
१८६	२	८	चरकोक्त;	चरकोक्तः
१८८	१	३२	ज्वर–	×
१८८	१	अन्त्य	षिण्डिरिका	षिण्डिरिका
१८८	२	८	जोजिष्मति	ज्योतिष्मति
१८८	२	१३	जनक	जनकं
१८८	२	१६	निर्गमम्	निर्गमः
१८८	२	३५	पिपल्याद्य	पिप्पल्याद्य
१८८	२	३६	ममधु	मधु
१९०	२	३४	स्त्राव	स्त्राव
१९०	२	३८	पुण्डरिक	पुण्डरीक
१९२	१	२१	ष्वादिः	ष्वादिः
१९३	१	४	करज	करञ्ज
१९३	१	३१	शात्मली	शाल्मली
१९३	१	३२	अन्यम्	अन्त्रम्

पान	स्तंभ	ओळ	अशुध्द	शुध्द
१९३	२	३६	पृथकील	पृथुकील
१९४	२	७	खण्डीकृत्	खण्डीकृतः
१९७	२	१७	प्रसदन	प्रसादन
१९८	१	१६	वायुः कोपः	वायुकोपः
१९८	२	अन्त्य	वा. ल.	वा.ड.
१९९	२	१९	×	+ सर्पः
२०१	१	१४	शालावृक्षः	शालावृकः
२०३	१	१६	मेषशृङ्ग	मेषशृङ्गी
२०३	१	१८	स्वर्णः	स्वर्णम्
२०३	१	२९ ३१	स्त्रीः	स्त्री
२०४	२	१२	भार्गी	भार्गी
२०६	२	१	पुष्या	पुष्य
२०८	१	४	शृगाल	शृगालः
२०८	२	२१	भीष्म	भीष्म
२०९	१	२७	कोशाम्न	कोशाम्र
२१०	२	३३	भृगराज	भृङ्गराज
२१३	१	२०	वृति	वृतिः
२१३	२	१	मस्त्यः	मत्स्यः
२१३	२	५	ज्रव.	ज्वर.
२१४	१	३७	ष्लेष्म	श्लेष्म
२१५	२	३	मधुच्छिष्टः	मधूच्छिष्टः
२१५	२	१७	पुष्टिछरौषधम्	पुष्टिकरौषधम्
२१५	२	३३	पुष्ट	पुष्ट
२१५	२	४०	तद्वि	तद्वि
२१६	२	१	भाक्षिकैः	माक्षिकैः
२१६	२	१४	पसु.	(पसु.)
२१६	२	३२	अममोदा	अजमोदा
२१७	१	३६	कारण्डव	कारण्डवः
२१७	२	११	म	न.,
२१७	२	२२	हृद्य	हृद्या
२१८	२	४०	हाक्लीतन	महाक्लीतन
२१८	२	४१	वृक्ष	वृक्षः
२२१	१	१	किङ्मुलुकः	किञ्चुलुकः
२२१	१	२२	अन्तबहिर्वा	अन्तर्बहिर्वा
२२१	१	२८	विद्यातू	विद्यात्
२२१	२	१४	तक्रादि	तक्रादिः
२२३	१	२६	रोचनञ्चं	रोचनञ्च
२२३	२	१४	मङ्गालकर	मङ्गलकरः
२२४	२	२७	खर्पर	खर्परम्

पान	स्तंभ	ओळ	अशुध्द	शुध्द
२२५	१	२	रस	रसः
२२५	१	११	खञ्च	खञ्ज
२२५	१	३८	कटु	कटुः
२२५	२	४	पलाण्डूः	पलाण्डुः
२२५	२	१०	ताम्बूल	ताम्बूलम्
२२५	२	११	शोभाजन	शोभाञ्जन
२२५	२	३८	भेद	भेदः
२२६	१	शीर्षक	मुञ्जक	मुञ्जतृण
२२६	२	१		मुद्ग
२२८	२	१८	व्याधिः कष्ट चिकित्सितः	व्याधिः कष्टचिकित्सितः
२२८	२	२०	दुच्छ्वासते	दुच्छ्वसते
२२९	१	१८	गर्भ सन्धान	गर्भसन्धान
२३०	१	३१	कटुफलम्	कट्फलम्
२३०	१	३९	छर्दि	श्छर्दि
२३०	२	८	मेदोद्भवा	मेदोद्भवा
२३२	१	३०	सुख	मुख
२३३	१	१	पाण्डु	पाण्डुं
२३३	२	२५	तत्रष्ये	तत्राप्ये
२३३	२	४०	युवावस्था	युवावस्थ
२३३	२	४०	युवः	युवा
२३४	१	२३	मैष	भैष
२३४	२	२	वृक्ष	वृक्षः
२३४	२	३३	दूवा	दूर्वा
२३५	२	१२	सुकल्प	(सुकल्प
२३५	२	२०	मत्स्यम्	मत्स्यः
२३५	२	२५	मेइदी	मेहदी
२३८	१	४१	वृक्ष	वृक्षः
२३९	२	२३	ग्रन्थद	ग्रन्थ
२३९	२	१३	षित्ता	पित्त
२३९	२	१५	ज्अरा	ज्वरा
२४०	१	११	मरख्या	मख्या
२४०	१	४०	तूराजधत्तु (स)	धु(तू) स्तू
२४१	२	२८	क्कुरः	कुक्कुरः
२४३	२	३७	करञ्ज	करञ्जः
२४४	१	१७	पाण्डू	पाण्डु
२४६	१	३५	रोंगः	रोगः
२४९	१	३७	व्याधौ	व्याधिः
२४९	१	३९	भूस्तृण	भूस्तृणं
२५१	१	३६	नागफेशर	नागकेशर
२५२	२	१२	वृक्ष	वृक्षः

पृष्ठ	स्तंभ	ओळ	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	२	२७	धृक्षः	वृक्षः
२५३	१	५	मण्डूरे	मण्डूरः
२५४	१	३	शमि	शमी
२५४	१	६	गोरोचन	गोरोचनम्
२५४	१	२३	नकुलम्	नकुलः
२५४	२	८	वस्त्र	वस्त्र
२५४	२	२४	पस्थ	पस्थश्च
२५५	१	२८	कारव्या	कारव्य
२५७	१	४	ऋद्धि	ऋद्धिः
२५७	१	२०	मस्स्य	मत्स्य
२५८	२	१३	घृक्षः	वृक्षः
२५९	२	२४	वृक्ष	वृक्षः
२५९	२	३०	विट्ट	विट्
२५९	२	३१	विट्ट	विट्
२५९	२	३३	विट्ट	विट्
२६०	१	२६	रोम	रोग
२६०	१	२९	षिद्रधिः	विद्रधिः
२६३	२	३४	शल्यास्त्रम्	शल्यास्त्रम्
२६४	१	३४	(निसिन्दा)	निसिन्दा
२६४	२	३२	पार्श्वयोः	पार्श्वे
२६५	१	२१	हिते	हितः
२६६	१	२९	उन्दरुः	उन्दुरुः
२६६	१	३६	शृङ्गी	शृङ्गी
२६८	२	३३	वैद्यसिंही	वैद्यसिंही
२६९	१	१६	विकीर्य	विकीर्य
२६९	२	३५	स्थोल्य	स्थौल्य
२७०	१	१४	कारव्या	कारव्य
२७२	२	४	(च)	च
२७२	२	१३	कर्णी	कर्णी
२७३	१	२४	प्रमेह्व	प्रमेह
२७३	२	१९	भूतांनि	भूतानि
२७५	१	१७	स्वनाप्र	स्वनामप्र
२७५	२	१७	खट्टाशाण्ड;	खट्टाशाण्डः
२७६	१	११	पाया	पाय
२७८	१	९	ब्रत्थी	ब्रह्मी
२७८	१	१३	कफः	कफः
२७८	१	४१	शि–; न,	शिश्न–न;

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७८	२	३१	मयूखे	मयूख
२७९	२	२८	वृक्ष	वृक्षः
२८०	१	२९	जिहिका	जिव्हिका
२८१	२	३०	वट	वटः
२८२	१	१	वृक्ष	वृक्षः
२८३	१	३६	ख्याते	ख्यातः
२८३	२	१४	श्रव (सू)	श्रवस्
२८३	२	२७	सर्षष	सर्षप
२८७	२	११	शिलिन्ध्र	शिलिन्ध्र
२८८	१	३	सग्रहक	सङ्ग्रहक
२८८	१	४	सग्रहण	सङ्ग्रहण
२८८	२	३०	वृक्ष	वृक्षः
२८८	२	३४	कृतः	कृतम्
२८९	२	१२	सप्तरक्त	सप्तरक्त
२८९	२	२६	सर्पः	सर्पः
२९०	१	३१	पुप्प	पुष्प
२९०	१	३८	शोप	शोष
२९०	२	२२	भदः	भेदः
२९१	१	१२	षद्म	पद्म
२९१	१	१५	धूष	धूप
२९१	२	२६	सर्पसु	सर्पसु
२९२	१	२	पिप्प	पिप्प
२९२	१	२५	सर्व्व	सर्व्व
२९२	२	९	सर्षपाः	सर्षपा
२९४	१	३१	कुकुरः	कुक्कुरः
२९५	२	४	वृक्ष	वृक्षः
३००	१	२९	द्वया	द्वयम्
३००	२	१५	ख्याते	ख्यातः
३०१	१	११	वासन्तीं	वासन्ती
३०१	२	३९	सप्ता	सप्त
३०५	१	१०	गुच्छम्	गुच्छः
३०५	१	२०	गुच्छम्	गुच्छः
३०६	१	१५	पणख	पनस

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्तिः	अशुध्दम्	शुध्दम्
३०६	२	१६	स्नात्री	स्नात्नी
३०६	२	२७	योनि	योनिः
३०७	२	३१	पु पी	पुष्पी
३०८	२	१	मुद्रः	मुद्गः
३०९	१	३०	त्रिवृत	त्रिवृत्
३१०	२	३९	शिग्रु	शिग्रूः
३१२	२	५	शित	सित्
३१३	१	शीर्षक	हिभोपम	हिमोपम
३१३	१	१६	मेषः	मेषः
३१३	१	१६	मेषी	मेषी
३१३	१	२४	मेषः	मेषः
३१३	२	२६	निध	निघ
३१४	२	८	क्षुद्रण्डुलः	क्षुद्रतण्डुलः
३१४	२	१०	शालिपणी	शालिपर्णी

श्यामाककोद्रवजम्॥शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैरेणमांसैश्च ॥ १४५ ॥ ओदनमद्यादम्लैरीषत्सुगन्धैश्च ॥

मटर, मूग, अरहर और मसूर, इनका किंचित् खट्टे और सुगंधियुक्त किये हुए यूषके साथ, औटाये हुए दूधके साथ और खरगोश, हिरन, लवा, तीतर और काले हिरनके मासके साथ शाली चावलोंका, समेका और कोदोका भात खाय तो रुधिरसंबंधी बवासीर नष्ट होजाती है ॥ १४५ ॥

अथ समंगादिदुग्धम् ।

समंगोत्पलमोचाकतिरीटोत्पलचन्दनैः ॥ सिद्धं छागीपयो दद्याद्रुदज शोणितात्मके ॥ १४६ ॥

समंगा लज्जालूः । मोचाको मोचरसः । तिरीटो लोध्रः । चन्दनं रक्तम् । इति समंगादिदुग्धम् ॥

लज्जावती, कमल, मोचरस, लोध और लालचदन, इनको बकरीके दूधमें औटाकर उस दूधको पीनेसे रुधिरकी बवासीर दूर होती है ॥ १४६ ॥

अथ क्षारसूत्रम् ।

भावितं रजनीचूर्णस्नुहीक्षीरैः पुनःपुनः ॥ बन्धनात्सदृढं सूत्रं छिनत्त्यर्शो भगन्दरम् ॥ १४७ ॥

हलदीके चूर्ण और थूहरके दूधमें सूतको बारंबार भावना देकर उस सूतसे गुदाके अंकुरोंको दृढ बाधनेसे बवासीर और भगदर नष्ट होजाते हैं ॥ १४७ ॥

अथ नासिकाद्यर्शश्चिकित्सा ।

नासानाभिसमुत्थेषु तथा मेढ्रादिजेष्वपि॥ त्रिष्वप्यर्शःसु कुर्वीत तत्रतत्र यथोचितम् ॥ १४८ ॥

नाक, नाभि और लिंग आदिमें उत्पन्न हुई बवासीरकी चिकित्सा यथायोग्य करनी चाहिये ॥ १४८ ॥

अथ चर्मकीलचिकित्सा ।

चर्मकीलन्तु संछिद्य दहेत्क्षारेण चाग्निना ॥

चर्मकीलको प्रथम काटकर क्षार अथवा अग्निसे जलादेना चाहिये ॥

अथार्शोऽपथ्यानि ।

वेगावरोधं स्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटकासनम् ॥ ॥ १४९ ॥ यथास्वं दोषलं चान्नमर्शसः परिवर्जयेत् ॥ १५० ॥

इत्यर्शोधिकारः ।

मल मूत्रादिके वेगोंको रोकना, स्त्रीका स्पर्श, हाथी घोडे आदिकी सवारी, उकरू बैठना और जिस जिस दोषकी अधिकतावाली बवासीर हो उस उस दोषको बढानेवाला अन्न, इन सबको त्यागदेवै ॥ १४९ ॥ १५० ॥

इति अर्शोऽधिकारः सम्पूर्णः ।

अथ जठराग्निविकाराऽधिकारः ।

तत्र सन्निकृष्टनिदानपूर्वकजठराग्निविकारसमस्थिती ।

कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥ मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ॥ १ ॥

जठराग्नि कफकी अधिकतासे मद होती है, पित्तकी अधिकतासे तीक्ष्ण होती है, वातकी अधिकतासे विषम होती है और तीनों दोषोंकी समतासे समहोती है, इस प्रकार जठराग्नि चार पकारकी होती है ॥ १ ॥

अथ मदाग्निलक्षणम् ।

स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्मात्रा भुक्ता विपच्यते ॥ छर्दिः सादः प्रसेकः स्याच्छिरोजठरगौरवम् ॥ २ ॥

मन्दाग्निवाले मनुष्यको थोडा भोजन किया हुआ भी नहीं पचताहै, वमन होती है, ग्लानि रहती है, लार गिरती है, शिर और पेटमें भारीपन रहताहै ॥ २ ॥

अथ तीक्ष्णाग्निलक्षणम् ।

मात्रातिमात्राप्यशिता तीक्ष्णाग्नेः पच्यते सुखम् ॥ अत एव हि केनापि मतस्तीक्ष्णाग्निरुत्तमः ॥ ३ ॥

तीक्ष्ण अग्निवाले मनुष्यको बहुत भोजन किया हुआ भी सहजमें पच जाताहै, इसकारण कोई वैद्य तीक्ष्ण अग्निको उत्तम मानतेहैं ॥ ३ ॥

अथ विषमाग्निलक्षणम् ।

अशिता खलु मात्रापि विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते ॥ ४ ॥ तस्याध्मानगुदावर्तं शूलं जठरगौरवम् ॥ प्रवाहणमतीसारस्तथा स्यादन्त्रकूजनम् ॥ ५ ॥

विषम अग्निवाले मनुष्यको किया हुआ भोजन कभी अच्छे प्रकारसे पचजाताहै और कभी नहीं पचजाताहै, विषमाग्निमें अफरा, उदावर्त, शूल, पेटमें भारीपन, अधोवायुके त्यागते समय कफयुक्त विष्ठाका गिरना, अतीसार और आँतोंका गडगडाहट, यह सब लक्षण होतेहैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ समाग्निलक्षणम् ।

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ॥ सोऽग्निरुत्तम एतेषु न तीक्ष्णस्तूत्तमो मतः ॥ ६ ॥

समाग्निवाले मनुष्यको परिमाणका किया हुआ भोजन अच्छे प्रकारसे पच जाताहै, चारों प्रकारकी अग्निमें समाग्नि उत्तम और तीक्ष्णाग्नि उत्तम नहीं है ॥ ६ ॥

स मधुरस्निग्धादिभोज्यः समाग्निः उत्तमः। तर्हि कथं तीक्ष्णाग्नेर्विकारमध्ये गणना ? उच्यते, समोऽग्निः क्षुधाविघातात् आशु एव तथा विकारं न करोति । तीक्ष्णस्तु स्वल्पकालमपि क्षुधाविघातादाशैव पैत्तिकान् विकारान् कुरुते ॥

तीक्ष्णः पित्तसमुत्थानान्विषमो वातहेतुकान् ॥ तथा करोति मन्दाग्निर्विकारान् कफसम्भवान् ॥ ७ ॥

मधुर और स्निग्ध आदि भोजन करनेपर भी जो अग्नि समान रहती है उसको भी उत्तम जानना ।

शंका-जिसमें किया हुआ भोजन अच्छे प्रकारसे पचजाताहै उसको उत्तम कहतेहैं, फिर तीक्ष्ण अग्निको विकारोंमें क्यों गणना है ?

समाधान-समान अग्निवाला मनुष्य भूख लगनेपर यदि थोडी देरतक भोजन नहीं करै तो वह कुछ विकार नहीं करती और तीक्ष्ण अग्नि तो भूखके समय भोजन न मिलनेपर तत्काल पित्तके विकारोंको उत्पन्न करतीहै, इसकारण तीक्ष्ण अग्निको विकारोंमें कहा है। कहा भी है कि-"तीक्ष्ण अग्नि पित्तसम्बन्धी और विषम अग्नि वातसबधी विकारोंको उत्पन्न करैहै और मन्दाग्नि कफके विकारोंको उत्पन्न करै है" ॥ ७ ॥

अथ भस्मकरोगनिदानम् ।

बह्वीतिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ ॥ अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात् ॥ तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ॥ ८ ॥

अत्यंत तीक्ष्ण और रूक्ष अन्नको भोजन करनेवाले मनुष्योंके कफ क्षीण होकर वात और पित्तकी वृद्धि होकर जठराग्नि अत्यंत बढकर वातके साथ मिलकर जो कुछ भोजन किया जाताहै उसको क्षणमात्रमें भस्म करदेती है, इसीलिये इस अग्निरूप रोगको भस्मक कहतेहैं, इसमें भूख लगनेपर जो भोजन न मिलै तो रस रक्तादि धातुओंको भस्म करने लगताहै ॥ ८ ॥

अथ भस्मकोपद्रवारिष्टे ।

तृट्स्वेददाहमूर्च्छादीन्कृत्वेषोऽत्यग्निसम्भवात् ॥ पक्त्वान्नमाशु धात्वादीन्स क्षिप्रं नाशयेद् ध्रुवम् ॥ ९ ॥

यह भस्मक रोग अग्निकी अत्यत अधिकतासे तृषा, पसीना, दाह और मूर्च्छा आदिको उत्पन्न करके अन्नको तत्काल पचाकर शीघ्रही धातुओंका नाश करैहै ॥ ९ ॥

अथाजीर्णविप्रकृष्टनिदानम् ।

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ॥ कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥ १० ॥

सन्धारणात् क्षुधामूत्रपुरीषादीनाम् । स्वप्नविपर्ययात् दिवाशयनाद्रात्रौ जागरणात्

लघु चापि इति अपिशब्दात् स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि। अन्यच्च—

तृष्णाभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन॥प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ ११ ॥

परिप्लुतेन व्याप्तेन ॥

अत्यन्त जल पीनेसे, विषम (कभी कम, कभी ज्यादे) भोजन करनेसे, क्षुधा, मूत्र और मलादिके वेगोको रोकनेसे, दिनमें सोनेसे और रातमें जागनेसे, मनुष्योंके समयपर, स्वभावके अनुसार, हलका और स्निग्ध, उष्ण भोजन किया हुआ भी अन्न पचता नही है ॥ १० ॥

और भी कारण कहते हैं कि—तृषासे, भयसे और क्रोधसे तथा लोभसे, रोग और दीनतासे पीडित अथवा द्वेषसे संयुक्त मनुष्योंके किया हुआ भोजन अच्छे प्रकार नही पचताहै ॥ ११ ॥

अथ बहुभोजनमेवाजीर्णहेतुस्तच्चानेकरोगकारणमित्याह।

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ॥ रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १२ ॥

अनात्मवन्तः अबुद्धिमन्तः। रोगानीकस्य विषूच्यादेर्मूलं कारणम् ॥

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् ॥ तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥ १३ ॥

अजीर्णविनाशाद्विनश्यति । रोगसंघातः रोगसमूहः ॥

जो मूर्ख मनुष्य पशुओंकी समान अप्रमाण (अन्धाधुन्ध) भोजन करतेहैं उनके विषूचिकादि रोगोंका मूल कारणरूप अजीर्ण उत्पन्न होताहै। और भी लिखाहै कि—प्रायः आहारकी विषमतासे मनुष्योंके अजीर्ण रोग उत्पन्न होताहै, उस अजीर्णके होनेसे रोगोंका समूह उत्पन्न होताहै और उस अजीर्णके नष्ट होनेसे वे सब रोग नष्ट होजातेहैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथाजीर्णसामान्यलक्षणम्।

ग्लानिर्गौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः ॥ विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥ १४ ॥

मारुतमूढता वायोरवरोधः विबंधः मलाप्रवृत्तिः ॥

ग्लानि, भारीपन, विष्टम्भ, भ्रम, अधोवायुका रुकना और मलका अवरोध अथवा प्रवृत्ति, यह अजीर्णके सामान्य लक्षण है ॥ १४ ॥

अथसन्निकृष्टकारणसहिताजीर्णभेदाः।

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ॥ अजीर्णं केचिदीक्षन्ते चतुर्थं रसशेषतः ॥ १५ ॥

त्रिभिरित्येकशो न तु मिलितैः। केचित्तु सुश्रुतादयः। रसशषतः भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो यो द्रवः स रसः सोपि पच्यते भुक्तस्य सारभूतो यो द्रवः स चापक्वः सारःरसशेषः तस्माच्चतुर्थमजीर्णम्। ननु आमाजीर्णाद्रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते—आमं मधुरतां गतमपक्वमन्नमेव। रसशेषस्तु भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो यो द्रवः स चापक्व इति भेदः ॥

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ॥ वदन्ति षष्ठञ्चाजीर्ण प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ १६ ॥

निर्दोषं गौरवभ्रमशूलादिदोषाऽजनकम्। दिनपाकि च अहोरात्रेण पाक यातीति स्वभावः। यत्तु मात्राकालसात्म्यादिदोषादिनान्तरे पाकं याति तद्दिनपाकि । अत एव याममध्ये न भोक्तव्यमिति वचनम् ॥

प्राकृतमविकारकम् । प्रतिवासरं प्रतिदिनभावि । भुक्तं यावन्न जीर्णं तावदजीर्णमित्युच्यते । एतदभिधानस्य प्रयोजनं पाकार्थं वामपार्श्वे शयनं प्रियशब्दसेवनादिकम् । न चात्राहारस्य निषेधः । "प्रातराशे त्वजीर्णे तु सायमाशो न दुष्यति" इति वचनेन सायमाशस्यावश्यं कर्तव्यत्वात् ॥

कफसे आमाजीर्ण, पित्तसे विदग्धाजीर्ण और वातकी अधिकतासे विष्टब्धाजीर्ण होताहै, कितनेक सुश्रुतादि आचार्य कहतेहैं कि–"कियेहुए भोजनका पका हुआ अन्नादिकका जो साररूप द्रव भाग है, उस द्रवभागमें भी पकते पकते जो अपक्व (कच्चा) भाग शेष रहजाताहै उसको रसशेष कहतेहैं और उस रसशेषमें चौथा रसाजीर्ण होताहै" ।

शंका–फिर आमाजीर्ण और रसशेषाजीर्णमें भेदही क्या है ? ।

समाधान–मधुरतासे युक्त जो अपक्व अन्न है उससे उत्पन्न हुए अजीर्णको आमाजीर्ण कहतेहैं, भोजन किये पश्चात् पकेहुए अन्नका साररूप द्रवभाग अपक्व रहगया हो उससे उत्पन्न हुए अजीर्णको रसशेषाजीर्ण कहतेहैं, इस कारण आमाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण परस्पर भिन्न हैं ।

कितनेक आचार्य कहतेहैं कि–"भारीपन, भ्रम और शूल इत्यादि दोषोंको नहीं उत्पन्न करनेवाला जो अन्न मात्रा काल तथा सात्म्य आदि दोषोंसे उस दिन नहीं पचै, किन्तु दूसरे दिन पचै, यह दिनपाकी पाचवॉ अजीर्ण है" इसलिये इस अजीर्णमें भोजनके बाद एक प्रहरतक भोजन नहीं करना चाहिये ऐसा कहा है ।

कितनेक वैद्य कहतेहैं कि–"विकारोंको उत्पन्न नहीं करनेवाला जो अजीर्ण है वह प्रतिदिन रहताहै अर्थात् कियाहुआ भोजन जबतक पचै तबतक उसकी अजीर्ण संज्ञा है यह छटा अजीर्ण है । इस छटे अजीर्ण कहनेका प्रयोजन यही है कि–इसके पचानेको बाई करवट लेकर लेटना, लोटपोटकर सोना और मिष्ट गायन कथा आदि प्रिय शब्द सुनना चाहिये । क्योंकि प्रातःकाल भोजन करनेसे उत्पन्न हुए अजीर्णमें सन्ध्याके समय भोजन करना कुछ हानिकारक नहीं है इस वचनानुसार रात्रिमें अवश्य भोजन करना चाहिये ॥ १५॥१६ ॥

अथामाजीर्णलक्षणम् ।

तत्राम गुरुतोत्क्लेशः शोथो गण्डाक्षिकूटगः ॥ उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धं प्रवर्तते ॥ १७ ॥

गुरुता उदराङ्गयोः । उत्क्लेशः उपस्थितवमनमिव । अक्षिकूटोऽक्षिपुटकः ॥

आमाजीर्णमें पेट और अंगोंमें भारीपन होताहै, वमन होनेकी इच्छा होताहै, गाल और आंखोंके पलकोंपर सूजन और जैसा भोजन किया हो उसीके अनुसार डकार आतीहै ॥ १७ ॥

अथ विदग्धाजीर्णलक्षणम् ।

विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः ॥ उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ १८ ॥

विविधा रुजः ऊष्मोषदाहादयः ॥

विदग्धाजीर्णमें भ्रम होताहै, तृषा लगतीहै, मूर्च्छा होतीहै, पित्तके कारण सन्ताप, चोप और दाहादिक अनेक प्रकारकी व्यथा होती है, धुएँ युक्त खट्टी डकार आतीहै, पसीना और दाह होताहै ॥ १८ ॥

अथ विष्टब्धाजीर्णलक्षणम् ।

विष्टब्धशूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः ॥ मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ १९ ॥

वातवेदनाः तोदभेदादयः । स्तम्भोऽङ्गानाम् । मोहो मूर्च्छा ॥

विष्टब्धाजीर्णमें शूल, अफारा, तोडने भेदने (छेदने) सरीखी अनेक वायुकी पीडा होतीहै, मल और वायुका अवरोध, शरीरका जकडना, अंगोंमें पीडा और मूर्च्छा होतीहै ॥ १९ ॥

अथ रसशेषाजीर्णलक्षणम् ।

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिर्गौरवे॥२०॥

रसशेषाजीर्णमें हृदयके अशुद्ध होनेसे और भारापन होनेसे अन्नमें अरुचि होतीहै ॥ २० ॥

अथाजीर्णोपद्रवाः।

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः॥ उपद्रवा भवन्त्येते मरणञ्चाप्यजीर्णतः॥ २१॥

अजीर्णसे मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, लारका गिरना, ग्लानि और भ्रम, ये सब उपद्रव होतेहैं और मरण भी होताहै॥ २१॥

अथोक्ताजीर्णे विषूच्यादिरोगाः।

आमं विदग्धं विष्टब्धमित्यजीर्णं यदीरितम्॥ विषूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका॥ २२॥

नात्र यथासंख्यम्। तदा विष्टब्धाद्विलम्बिका भवितुमर्हति। सा च कफवाताभ्यां भवतीति एकैकतोऽजीर्णाद्विषूच्यादित्रयोत्पत्तिः॥

आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण, ये जो तीन प्रकारके अजीर्ण कहेहैं, इनसे विषूचिका, अलसक और विलम्बिका महारोग होतेहैं। इनमें आमाजीर्णसे विषूचिका, विदग्धाजीर्णसे अलसक और विष्टब्धाजीर्णसे विलम्बिका होतीहै, यह अनुक्रम नही मानना चाहिये परन्तु एक एक अजीर्णसे विसूची आदि तीनों रोग होतेहैं, यदि अनुक्रम लियाजाय तो पित्तसम्बन्धी विष्टब्धाजीर्णसे विलम्बिका होनी चाहिये सो ठीक नहीं, क्योंकि विलम्बिका कफ और वायुसे होतीहै, इस कारण यह अनुक्रम नहीं लेना चाहिये॥ २२॥

अथ विसूचिकार्थः।

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन्सन्तिष्ठतेऽनिलः॥ यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥ २३॥

जिस रोगमें अजीर्णके कारण वायु शरीरमे सुई छेदनेके सी पीडा करतीहै उस रोगको वैद्य विसूचिका (हैजा) कहतेहैं (सूची नाम सुईका है)॥२३॥

अथ विसूचिकानिदानम्।

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः॥ मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः॥ २४॥

परिमाणका भोजन करनेवाले और आयुर्वेदको जाननेवाले मनुष्योंको विसूचिका रोग नहीं उत्पन्न होताहै. किन्तु जिन मूर्ख मनुष्योंके मन और इन्द्रियें वशमे नही हैं और भोजनमे अत्यन्त आशक्त हैं उनको यह विसूचिका उत्पन्न होतीहै॥ २४॥

अथ विसूचिकालक्षणम्।

मूर्च्छातिसारौ वमथुः पिपासा शूलं भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः॥ वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥ २५॥

उद्वेष्टनं हस्तपादयोः। शिरसो भेदः शिरःशूलम्॥

विसूचिकामें मूर्च्छा अतीसार (दस्तोंका होना) वमन, तृषा, शूल, हाथ पावोंका जकडना, जम्भाई, दाह, शरीरके वर्णका बदलजाना, कम्प, हृदयमे पीडा और शिरमे पीडा होतीहै॥ २५॥

अथ विसूचिकोपद्रवाः।

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता॥ अमी उपद्रवा घोरा विसूच्या पञ्च दारुणाः॥ २६॥

अमी निद्रानाशादयः उपद्रवाः। सर्वेषामेव रोगाणां घोरा भयंकराः। विसूच्याः पञ्च दारुणाः विसूच्यास्तु पञ्चापि यदि स्युस्तदा दारुणाः प्राणभयंकराः॥

निद्राका नाश, बेकली, कम्प, मूत्राघात (मूत्रका अवरोध) और मूर्च्छा, ये पाचों उपद्रव सब रोगोमें भयकर हैं, परन्तु विसूचिकामें उत्पन्न होय तो अत्यन्त दारुण हैं, अर्थात् ये पाचों होजायें तो प्राण जानेका भय होता है॥ २६॥

अथालसकलक्षणम्।

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यत्यथ कूजति॥ निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ २७॥ वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं

भवेदपि ॥ तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु ॥ २८ ॥

आनह्यते आध्मायते । प्रताम्यति ताड्यति । कूजति आर्तनादं करोति । कुक्षौ अजीर्णे न निरुद्धो मारुत उपरि धावति हृदयकण्ठादिकं गच्छतीत्यर्थः । काश्यपस्त्वाह—

नाधो याति न चाप्यूर्द्धमाहारो यन्न पच्यते ॥ कोष्ठे स्थितोऽलसीभूतस्ततोऽसावलसः स्मृतः ॥ २९ ॥

पेट अत्यन्त अफरजाय, अंगोंको पटकै, पीडाके मारे चिल्लावै, पेटमें अजीर्णसे रुकी हुई वायु छाती और कंठ आदि ऊपरके भागोंमें जावै, मल और वायुका अत्यन्त अवरोध हो, तृषा हो और डकार आवै, ये सब लक्षण जिसके हों उसके अलसकरोग उत्पन्नहुआ जानना ॥२७॥२८॥

काश्यपमुनि कहतेहैं कि—"किया हुआ भोजन न तो ऊपरको वमनद्वारा निकले, न नीचे दस्तोंके द्वारा निकलै और जठराग्निसे पकै भी नहीं, किन्तु कोठेमें स्थिर होकर रहताहै, इसकारण इस रोगको अलसक कहतेहैं" ॥ २९ ॥

अथ विसूचिकालसकारिष्टे ।

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ॥ क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ३० ॥

सर्वा विमुक्ताः शिथिलीभूताः सन्धयो यस्य सः ॥

जिसके दांत, होंठ और नख काले पडगये हों, संज्ञा नष्ट होगई हो, वमनसे पीडित हो, आंखें गडगई हों, स्वर क्षीण होगयाहो और सम्पूर्ण सन्धिबन्धन ढीले पडगयेहों, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होताहै ॥ ३० ॥

अथ विलम्बिकालक्षणम् ।

दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्द्धमधश्च यत्र ॥ विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥ ३१ ॥

भृशदुश्चिकित्स्यां प्रत्याख्येयामनुपचरणीयाम् । इदमसाध्यश्चेति जैयटः ॥

जिसमें भोजन कियाहुआ दुष्ट आहार, कफ और वायुके कारण मुखके द्वारा और गुदाके द्वारा नहीं निकलै उसको विद्वान् वैद्य विलम्बिका कहतेहैं, यह विलम्बिका रोग चिकित्सा करनेमें अत्यन्त कठिन है इस लिये इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

अथ जीर्णाहारलक्षणम् ।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ॥ लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥ ३२ ॥

डकार शुद्ध आवै, चित्तमें उत्साह हो, मल मूत्रादिक ठीक उतरै, शरीरमें हलकापन हो, भूख और प्यास ठीक लगै, यह जीर्ण आहारके लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

अथाजीर्णचिकित्सा ।

हरीतकी तथा शुण्ठी भक्ष्यमाणा गुडेन च ॥ सैन्धवेन युता वा स्यात्सातत्येनाग्निदीपनी ॥ ३३ ॥ गुडेन शुण्ठीमथचोपकुल्यां पथ्यां तृतीयामथ दाडिमं वा ॥ आमेष्वजीर्णेषु गुदामयेषु वर्चोविबन्धेषु च नित्यमद्यात् ॥ ३४ ॥ व्योषं दन्ती त्रिवृच्चित्रं कृष्णामूलं विचूर्णितम् ॥ तच्चूर्णं गुडसम्मिश्रं भक्षयेत्प्रातरुत्थितः ॥ ३५ ॥ एतद्गुडाष्टकं नाम बलवर्णाग्निवर्द्धनम् ॥ शोथोदावर्तशूलघ्नं प्लीहपाण्ड्वामयापहम् ॥ ३६ ॥ सर्वचूर्णसमो गुडो देयः ॥

दहनाजमोदसैन्धवनागरमरिचानि चाम्लतक्रेण ॥ सप्ताहादग्निकरं पाण्डुशोनाशनं परमम् ॥ ३७ ॥ तत्रामे वमनं कार्यं विदग्धे लंघनं हितम् ॥ विष्टब्धे स्वेदनं शस्तं रसशेषे शयीत च ॥ ३८ ॥ वचालवणतोयेन वान्तिरामे प्रशस्यते ॥ कणासिन्धुवचाकल्कं पीत्वा च शिशिराम्भसा ॥ ३९ ॥

जलमत्र शरावमात्रम् । वचा कर्षार्द्धमिता । द्वयोश्चूर्णमुष्णेन जलेन पिबेत् । कणादिकल्कं वा पीत्वा वान्तिरामे प्रशस्यते । इत्यनेनान्वयः ॥

धान्यनागरसिद्धं वा तोयं दद्याद्विचक्षणः॥ आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं वस्तिशोधनम् ॥ ४० ॥ भवेद्यदा प्रातरजीर्णशङ्का तदाभयां नागरसैन्धवाभ्याम् ॥ विचूर्णितां शीतजलेन भुक्त्वा भुञ्जीतशंकं मितमन्नकाले ॥ ४१ ॥ विदह्यते यस्य तु भुक्तमात्रं दन्दह्यते हृच्च गलश्च यस्य ॥ द्राक्षां सितामाक्षिकसम्प्रयुक्तां लीढ्वाऽभयां चापि सुखं लभेत ॥ ४२ ॥

हरड और सोंठ, इन दोनोंको पीसकर गुडमें मिलाकर भक्षण करनेसे, अथवा सैंधेनमकके साथ भक्षण करनेसे जठराग्नि अत्यन्त दीपन होतीहै ॥ ३३ ॥

आमाजीर्ण, ववासीर और मलबन्धमें नित्य गुडके साथ सोंठ, पीपल, हरड, अथवा अनारका सेवन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सोंठ, मिरच, पीपल, जमालगोटेकी जड, निसोत, चीता और पीपलामूल, इन सबको समानभाग लेकर कूट पीसकर चूर्ण करै और सब चूर्णकी बराबर गुड मिलावै इस गुडाष्टकको प्रातःकाल उठकर भक्षण करै यह बल, वर्ण और अग्निको दीपन करैहै, तथा सूजन, उदावर्त, शूल प्लीहा और पाडुरोगको नष्ट करैहै ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

चीता, अजमोद, सैंधानिमक, सोंठ और मिरच, इनका चूर्ण करके खट्टे मट्ठेके साथ पियै तौ सात दिनमें अग्निकी वृद्धि होतीहै, पाडुरोग और बवासीरको नष्ट करैहै ॥ ३७ ॥

आमाजीर्णमे वमन करानी चाहिये, विदग्धाजीर्णमे लघन कराने चाहिये, विष्टब्धाजीर्णमें सेक आदिसे स्वेदन कराना चाहिये और रसशेषाजीर्णमें शयन कराना चाहिये ॥ ३८ ॥

आमाजीर्णमे आधा तोला वच और यथायोग्य सैंधानोन दोनोको पीसकर ३२ तोले गरम जलमे डालकर पियै और वमन करै तो आमाजीर्ण दूर होय ॥

पीपल, सैंधानिमक और वच इनका कल्क बनाकर शीतल जलमे मिलाकर पियै, इससे वमन होगी, यह आमाजीर्णमे अत्यन्त हितकारी है ॥ ३९ ॥

जो चतुर वैद्य आमाजीर्णमे धनियॉ और सोंठका क्वाथ पिलाताहै, उससे आमाजीर्ण शांत होजाताहै यह प्रयोग शूलको नष्ट करैहै और आमाशयको शुद्ध करैहै ॥ ४० ॥

जो प्रातःकाल अजीर्णकी शका होय तो हरड, सोंठ और सैंधानिमक इनका चूर्ण करके शीतल जलके साथ पिये और जब भोजनका समय होय तब शकाको छोडकर परिमाणका भोजन करै ॥ ४१ ॥

जिसके भोजन करतेही अन्नका विदग्धपाक होकर हृदय और कण्ठमे दाह होय तो वह सहत और मिश्रीके साथ दाख और हरडको चाटे, इससे सुखकी प्राप्ति होती है४२॥

अथ हिंग्वष्टकम् ।

त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे समधरणधृतानामष्टमो हिंगुभागः ॥ प्रथमकवलभुक्तं सर्पिषा चूर्णमेतज्जनयति जठराग्निं वातरोगांश्च हन्ति ॥ ४३ ॥

सोंठ, मिरच, पीपल, अजमोद, सैंधानिमक, जीरा और कालाजीरा, यह सब समान भाग और आठवाँ भाग भुनी हींग लेवै, सबका एकत्र चूर्ण करके घीमें मिलाकर भोजनके प्रथम ग्रासमें खानेसे जठराग्नि दीपन होती है और वात सबधी रोग नष्ट होजाते हैं ॥ ४३ ॥

अथ बृहदग्निमुखचूर्णम् ।

द्वौ क्षारौ चित्रकं पाठा करञ्जं लवणानि च ॥ सूक्ष्मैलापत्रकं भार्ङ्गी क्रिमिघ्नं हिंगुपौष्करम् ॥ ४४ ॥ शटी दार्वी त्रिवृन्मुस्तं वचा चेन्द्रयवास्तथा ॥ वृक्षाम्लं जीरकं धात्री श्रेयसी चोपकुञ्चिका ॥ ४५ ॥ अम्लवेतसमम्लीका यवानी देवदारु च ॥ अभयातिविषा श्यामा हपुषाग्रवधं समम् ॥ ४६ ॥ तिलमुष्क-

कांशिग्रूणां कोकिलाक्षपलाशयोः ॥ क्षाराणि लौहकिट्टञ्च तप्तं गोमूत्रसेचितम् ॥ ॥ ४७ ॥ सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा तु समभागानि कारयेत् ॥ मातुलुङ्गरसेनैव भावयेद्दिवसत्रयम् ॥ ४८ ॥ दिनत्रयन्तु शुक्तेन तथार्द्रकरसेन च ॥ अत्यग्निकारकं चूर्णं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम् ॥ ४९ ॥ उपयुक्तं विधानेन नाशयत्यचिराद्गदान् ॥ अजीर्णमथ गुल्मञ्च प्लीहानं गुदजानि च ॥ ५० ॥ उदराण्यन्त्रवृद्धिञ्च अष्ठीलां वातशोणितम् ॥ प्रणुदत्युल्वणान्दोषान्नष्टाग्निं च प्रदीपयेत् ॥ ५१ ॥

द्वौ क्षारौ स्वर्जिका यवक्षारश्च । लवणानि पञ्च । वृक्षाम्लं वृषाम्बिल इति लोके । श्रेयसी हरीतकी । उपकुञ्चिका मगरैला इति लोके । अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यम् । श्यामा त्रिवृत् । मुष्ककः घण्टापारुल् इति लोके । कोकिलाक्षः कोइलपा इति लोके ॥

जवाखार, सज्जी, चीता, पाढ, करंज, पांचो निमक, तेजपात, भारंगी, वायविडंग, हींग, पोहकरमूल, कचूर, दारुहल्दी, निसोत, नागरमोथा, वच, इन्द्रजौ, विषखपरा, जीरा, आमले, हरड, कलौंजी, अमलवेत, इमली, अजवायन, देवदारु, छोटी हरड, अतीस, फूलप्रियंगु, हाऊबेर और अमलतास ये सब समान भाग ले, तिल, मोरवा, सहँजना तालमखाना और ढाक, इन सबका खार और अग्निम तपाकर गोमूत्रमें बुझाया हुआ लोहेका मैल, इन सबको समान भाग लेकर बारीक चूर्ण करके बिजौरेके रसकी तीन दिनतक भावना देवै, पश्चात् तीन दिन तक सिरकेमें और तीन दिन तक अदरखके रसमें खरल करै तो अग्निमुख चूर्ण तैयार हो । यह अग्निमुख चूर्ण अत्यन्त अग्निप्रदीपक दीप्ताग्निके समान है । इसको विधिपूर्वक सेवन करनेसे बहुत दिनके अजीर्ण, गुल्म, प्लीहा, बवासीर, उदररोग, अन्त्रवृद्धि, अष्ठीला और वात रक्त रोग नष्ट होतेहैं । यह चूर्ण उल्वण हुए दोषोंको शमन करैहै और नष्ट हुई अग्निको दीपन करैहै ॥ ४४-५१ ॥

अथ वैश्वानरक्षारः ।

स्नुह्यर्कचित्रकैरण्डवरुणं सपुनर्नवम् ॥ तिलापामार्गकदलीपलाशं तिन्तिडी तथा ॥ ५२ ॥ गृहीत्वा ज्वालयेदेतत्सर्वं भस्माखिलं यथा ॥ जलाढके विपक्तव्यं यावत्पादावशेषितम् ॥ ५३ ॥ सुप्रसन्नं विनिस्राव्य लवणप्रस्थसंयुतम् ॥ पक्वं निर्धूमकठिनं सूक्ष्मचूर्णीकृतं पुनः ॥ ५४ ॥ यवानीजीरकव्योषसूक्ष्मजीरकहिंगुभिः ॥ शीतोदकेन तच्चूर्णं पिबेत्प्रातर्हि मात्रया ॥ ॥ ५५ ॥ तस्मिञ्जीर्णेऽन्नमश्नीयाद्यूषैर्जाङ्गलजैरसैः ॥ ईषदम्लैः सलवणैः सुखोष्णैर्वह्निदीपनैः ॥ ५६ ॥ एतेनाग्निर्विवर्द्धेत बलमारोग्यमेव च ॥ तत्रानुपानं शस्तं हि तक्रं वा भोजने हितम् ॥ ५७ ॥ मन्दाग्न्यशोविकारेषु वातश्लेष्मामयेषु च ॥ सर्वांगशोथरोगेषु शूलगुल्मोदरेषु च ॥ अश्मर्यां शर्करायाञ्च विण्मूत्रानिलरोगिषु ॥ ५८ ॥

थूहर, आक, चीता, अडू, वरना, पुनर्नवा, तिल, चिरचिटा, केला, ढाक और इमली, इन सबकी लकडियोंको लेकर विधिपूर्वक जलाकर ६४ तोले भस्मको ग्रहण करै, फिर इस भस्मको २५६ तोले जलमें डालकर पकावै जब चौथाई भाग जल शेष रहै तब उतारकर वस्त्रसे छान लेवै फिर उस निर्मल क्षार जलमें १२८ तोले सैंधानिमक डालकर पकावै, जब पकते पकते निर्धूम और कठिन होजाय तब उतार लेवै, फिर उसका बारीक चूर्ण करके उसमें अजवायन, जीरा, सोंठ, मिरच, पीपल, कलौंजी और हींग, इनका चूर्ण मिलाकर प्रातःकाल शीतल जलके साथ खाय, जब इसकी मात्रा पचजाय तब कुछेक खट्टा, नमकीन, कुछेक गरम और अग्निको दीपन करनेवाले यूषके साथ और जंगली जीवोंके मांसके रसके साथ भोजन करै । इस प्रकार करनेसे अग्निकी वृद्धि होतीहै, बल और आयु बढतीहै, भोजन करनेके पश्चात् तक्र (छाछ) का पीना अथवा भोजनके साथ तक्रका पीना, इस प्रयोगमें हितकारी है । यह वैश्वा-

नर क्षार मन्दाग्नि, ववासीर, वात और कफसंबंधी रोग, सम्पूर्ण शरीरगत सूजन, शूल, गुल्म, उदररोग, पथरी, शर्करा, विष्ठा और मूत्रके रोग तथा वातके रोगोंमे हितकारी है ॥ ५२–५८ ॥

अथ लवणभास्करः ।

सामुद्रलवणं कार्यमष्टकर्षमितं बुधैः ॥ सौवर्चलं पञ्चकर्षं विडसैन्धवधान्यकम् ५९ ॥ पिप्पली पिप्पलीमूलं पत्रकं कृष्णजीरकम् ॥ तालीशं केशरं चव्यमम्लवेतसकं तथा ॥ ६० ॥ द्विकर्षमात्राण्येतानि प्रत्येकं कारयेद्बुधः ॥ मरिचं जीरकं विश्वमेकैकं कर्षमात्रकम् ॥ ६१ ॥ दाडिमं स्याच्चतुष्कर्षं त्वगेला चार्द्धकर्षिका ॥ एतच्चूर्णीकृतं सर्वं लवणं भास्कराभिधम् ॥ ६२ ॥ भक्षयेच्छाणमानन्तु तक्रमस्तुककाञ्जिकैः ॥ वातश्लेष्मभवं गुल्मं प्लीहानमुदरं क्षयम् ॥ ६३ ॥ अर्शांसि ग्रहणीं कुष्ठं विबन्धञ्च भगन्दरम् ॥ शूलं शोथं श्वासकासामदोषांश्चापि हृद्रुजम् ॥ ६४ ॥ अश्मरीं शर्कराञ्चापि पाण्डुरोगं क्रिमीनपि ॥ मन्दाग्निं नाशयेदेतद्दीपनं पाचनं परम् ॥ ॥ ६५ ॥ हिताय सर्वलोकानां भास्करेण विनिर्मितम् ॥ हन्यात्सर्वाण्यजीर्णानि भुक्तमात्रमसंशयम् ॥ ६६ ॥

अत्र दाडिमस्य बीजानां कर्षचतुष्टयं देयम् ॥

समुद्रलवण ८ तोले, कालानिमक ५ तोले, विरियासचरनिमक २ तोले, सैंधानिमक २ तोले, धनिया २ तोले, पीपल २ तोले, पीपलामूल २ तोले, तेजपात २ तोले, काला जीरा २ तोले, तालीसपत्र २ तोले, नागकेशर २ तोले, चव्य २ तोले, अमल वेत २ तोले, कालीमिरच १ तोला, जीरा १ तोला, सोंठ १ तोला, अनारके बीज ४ तोले, दालचीनी ६ मासे और इलायचीके दाने ६ मासे लेवै, इन सबको एकत्र पीसकर, चूर्ण कर लेवै, इसको 'लवणभास्कर' कहतेहैं। इस लवणभास्कर चूर्णको तक्र दहीकी मलाई और कॉजीके साथ २४ रत्ती प्रमाण खाना चाहिये। इस लवणको खानेसे ववासीर, सग्रहणी, कोढ, मलबध, भगन्दर, वात और कफजनित गुल्म, प्लीहा, उदररोग, क्षयरोग, शूल, सूजन, श्वास, खाँसी, आम सबधी दोष, हृदयके रोग, पथरी, शर्करा, पाण्डुरोग, कृमि और अग्निकी मन्दता, नष्ट होतीहै। यह निमक–पाचन करनेमें और अग्निको दीपन करनेमे अत्यत उत्तम है। और सब लोकोके हितके लिये श्रीसूर्यनारायणने बनाया है। इस लवणको भक्षण करनेसे तत्काल अजीर्ण नष्ट होजाताहै, सन्देह नहीं ॥ ५९–६६ ॥

अथ वडवानलचूर्णम् ।

सैन्धवसमूलमगधाचव्यानलनागरं पथ्या ॥ क्रमवृद्धमग्निवृद्धौ वडवानलनाम चूर्णं स्यात् ॥ ६७ ॥

सैधानिमक १ भाग, पीपलामूल २ भाग, पीपल ३ भाग, चव्य ४ भाग, चीता ५ भाग, सोंठ ६ भाग, हरड सात ७ भाग लेव, सबको एकत्र कूट पीसकर चूर्ण करलेवै, इस चूर्णको वडवानलचूर्ण कहतेहै, इसको भक्षण करनेसे जठराग्नि अत्यत दीपन होतीहै ॥ ६७ ॥

अथ द्वितीयवडवानलचूर्णम् ।

पथ्यानागरकृष्णाकरञ्जबिल्वाग्निभिः सितातुल्यः ॥ वडवानल इव जरयति बहु गुर्वतिभोजनं चूर्णम् ॥ ६८ ॥

हरड, सोठ, पीपल, करज, बेलगिरी और चीता इन सबका एकत्र चूर्णकरके और सब चूर्णकी समान खाँड मिलाकर भक्षण करै तो यह वडवानल(समुद्रकी अग्निकी) समान बहुत भोजन किये हुएको भी शीघ्र पचादेता है ॥ ६८ ॥

अथ समशर्करचूर्णम् ।

एलात्वङ्नागपुष्पाणां मात्रोत्तरविवर्द्धिता ॥ मरिचं पिप्पली शुण्ठी चतुष्पञ्चोत्तरोत्तरा ॥ ६९ ॥ द्रव्याण्येतानि यावन्ति तावती सितशर्करा ॥ चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यमग्निसन्दीपनं परम् ॥ ७० ॥

इलायची एकभाग, दालचीनी २ भाग, नागकेसर ३ भाग, काली मिर्च ४ भाग, पीपल ५ भाग और सोंठ ६ भाग लेवै, सबका एकत्र चूर्णकरके सब चूर्णकी बराबर खाँड मिलावै, इसको भक्षण करनेसे जठराग्नि अत्यंत दीपन होतीहै ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अथाजीर्णे ।

रसेन्द्रचिंतामणिरसरत्नप्रदीपोक्त-क्रव्यादरसः ।

द्विपलं गन्धकं शुद्धं पलमेकन्तु पारदम् ॥ मृतलोहं तथा ताम्रं कर्षद्वयमितं पृथक् ॥ ॥ ७१ ॥ संचूर्ण्य सर्वं सम्मिश्रं द्रावयित्वाऽग्नियोगतः ॥ सम्यग् द्रुतं समस्तं तत्पञ्चांगुलदले क्षिपेत ॥ ७२ ॥ पुनः सञ्चूर्ण्य तत्सर्वं लोहपात्रे निधापयेत् ॥ जम्बीरस्य रसं तत्र पूतं पलशतं क्षिपेत् ॥ ७३ ॥ चुल्ल्यां निवेश्य तद्यत्नान्मृदुना वह्निना पचेत् ॥ रसे तस्मिन्घनीभूते तत्संशोष्य विचूर्णयेत् ॥ ७४ ॥ पञ्चकोलकषायस्य चुक्रेण सहितस्य च ॥ भावना तत्र दातव्या पश्चात्संशोषयेच्छनैः ॥ ७५ ॥ भृष्टटंकणचूर्णेन तुल्येन सह मेलयेत् ॥ मरिचेनापि तुल्येन तदर्द्धेन विडेन च ॥ ७६ ॥ भावयेत्सप्तकृत्वस्तु चणकाम्लजलेन च ॥ ततः संशोष्य संपिष्य कूप्यमध्ये निधापयेत् ॥ ७७ ॥ रसः क्रव्यादनामायं भैरवानन्दयोगिना॥ उक्तः सिहलराजाय बहुमांसाशिने पुरा॥ ॥ ७८ ॥ भक्षयेद्भोजनस्यान्ते माषद्वयमितं रसम् ॥ भक्षयित्वा रसं पश्चात्पिबेत्तक्रं ससैन्धवम् ॥ ७९ ॥ अत्यर्थं गुरु यद्भुक्तमतिमात्रमथापि च ॥ तत्सर्वं जीर्यति क्षिप्रं रसस्यैतस्य भक्षणात् ॥ ८० ॥ शूलं गुल्मञ्च विष्टम्भं प्लीहानमुदरं तथा ॥ रसः क्रव्यादनामाऽयं विनिहन्ति न संशयः ॥ ८१ ॥

इति क्रव्यादरसोऽजीर्णे रसेन्द्रचिन्तामणौ रसरत्नप्रदीपे च ॥

शुद्ध गंधक ८ तोले, शुद्धपारा ४ तोले, माराहुआ लोहा २ तोले और माराहुआ ताँबा २ तोले लेवै, इन सबको एकत्र करके अग्निके योगसे पिघलाकर अदरकके पत्तेपर डाल देवै पश्चात् उसका चूर्णकरके लोहेके बासनमें डालकर ४०० तोले नीबूका रस डालदेवै, फिर उसको चूल्हेपर चढाकर यत्न पूर्वक मंद मंद आगसे पकावै, जब पकते पकते रस गाढा होजाय तब उसको सुखाकर चूर्ण करलेवै । इस चूर्णको पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता और सोंठ) के क्वाथकी और चूकेके रसकी भावना देकर धीरे धीरे सुखालेवै, फिर इस चूर्णमें बराबर भुना सुहागा, सुहागेकी बराबर मिरचेका चूर्ण और मिर्चोंके चूर्णसे आधा बिटलवणका चूर्ण मिलावै पश्चात् इस चूर्णको चनेके खारकी सात भावना देकर सुखालेवै, फिर पीसकर शीशीमें भरकर रखदेवै, इसको क्रव्याद रस कहतेहैं । यह क्रव्याद रस पूर्वकालमें भैरवानन्द योगीने बहुत मांसको खानेवाले सिंहलद्वीपके राजाके लिये कहाथा, भोजन करनेके पश्चात् बारह (१२) रत्तीप्रमाण इसको खाना चाहिये और ऊपरसे सेंधेनिमकके साथ तक्रको पिये, अत्यंत भारी और अधिक भोजन किया हुआ इस रसको भक्षण करनेसे तत्काल पच जाताहै, यह क्रव्यादरस-शूल, गुल्म, मलबन्ध, प्लीहा और उदरके समस्त रोगोंको नि संदेह दूर करैहै ॥७१-८१॥

अथ ज्वालानलरसः ।

क्षारत्रयं सूतगन्धौ पञ्चकोलमिदं समम्॥ सर्वैस्तुल्या जया भृष्टा तदर्द्धा शिग्रुजा जटा ॥ ८२ ॥ एतत्सर्वं जयाशिग्रुवह्नीनां केवलैर्द्रवैः ॥ भावयेत्त्रिदिनं घर्मे ततो लघुपुटे पचेत् ॥ ८३ ॥ मार्कवस्य द्रवैर्वृष्टो रसो ज्वालानलो भवेत्॥ निष्कोऽस्य मधुना लीढोऽनुपानं गुडनागरम् ॥८४॥हन्त्यजीर्णमतीसारं ग्रहणीमग्निमार्दवम्॥श्लेष्महृल्लासवमनमालस्यमरुचिं जयेत् ॥८५॥

अथ पञ्चकोलम्।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः८६ जया अत्र विजया। मार्कवः भृङ्गराजः॥

जवाखार, सज्जीखार, सुहागा, पारा, गंधक और पंचकोल, ये सब समान भाग लेवै और सबकी समान भुनी हुई भाँग लेवै और भाँगसे आधाभाग सैंजिनेकी जड लेवै, इन सबको तीनदिनतक भाँग, सैंजिना और चीता इनके रसोंकी तीनदिनतक धूपमें भावना देवै, पश्चात् लघुपुटमें पकावै, फिर निकालकर भाँगरेके रसमें पीसलेवै तो ज्वालानलनामक रस सिद्ध होताहै, इसको २४ रत्तीप्रमाण सहतके साथ चाटै और ऊपरसे गुड तथा सोंठका अनुपान करै, इससे अजीर्ण, अतीसार, सग्रहणी, अग्निकी मदता, कफ, उबकाई, वमन, आलस्य और अरुचि नष्ट होजातीहै॥ ऊपर जो पंचकोल कहा है वह पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता और सोंठ, इन पाँचोंको समझना॥ ८२–८६॥

अथाग्निकुमाररसः।

टंकणं रसगन्धौ च समं भागत्रयं विषात्॥ कपर्दः स्वर्जिकाक्षारो मागधी विश्वभेषजम्॥ ८७॥ पृथक्पृथक्कर्षमात्रं वसुभागमिहोषणम्॥ जम्बीराम्लैर्दिनं पृष्टं भवेदग्निकुमारकः॥ विषूचीशूलवातादिवह्निमान्द्यप्रशान्तये॥ ८८॥

क्षारो यवक्षारः। अग्निकुमारो विसूच्यामजीर्णे रसरत्नप्रदीपे, रसेन्द्रचिन्तामणौ च॥

सुहागा १ तोला, पारा १ तोला, गधक १ तोला, वत्सनाभ ३ तोला, कौडी एक तोला, सज्जी १ तोला, पीपल १ तोला, सोंठ १ तोला और कालीमिर्च ८ तोले लेवै, इन सबको एकत्र करके एकदिनतक नींबूके रसमें खरल करै तो 'अग्निकुमार' रस, सिद्ध होताहै। यह रस विसूचिका, शूल, वायु आदि और अग्निकी मंदताको नष्ट करै है॥ यह रसरत्नप्रदीपमें तथा रसेन्द्रचिन्तामणिमें विसूचिकी और अजीर्णपर कहा है॥ ८७॥ ८८॥

अथ रामबाणरसः।

पारदामृतलवङ्गगन्धकं भागयुग्ममरिचेन मिश्रितम्॥ तत्र जातिफलमर्द्धभागिकं तिन्तिडीफलरसेन मर्दितम्॥ ८९॥ वह्निमान्द्यदशवक्त्रनाशनो रामबाण इति विश्रुतो रसः॥ संग्रहग्रहणिकुम्भकर्णकमामवातखरदूषणं जयेत्॥ ९०॥ दीयते तु मरिचानुपानतः सद्य एव जठराग्निदीपनः॥ रोचनः कफकुलान्तकारकः श्वासकासवमिजन्तुनाशनः॥ ९१॥

पारदभागः १। विषभागः १। लवङ्गभागः १। गन्धकभागः १। मरिचभागः२। जातीफलार्धभागः॥

पारा १ भाग, वत्सनाभ १, भाग, लौंग १ भाग, गंधक १ भाग, कालीमिर्च २ भाग और जायफल आधाभाग लेवै, इन सबको एकत्र करके इमलीके रसमें खरल करै तो 'रामबाण' रस सिद्ध होताहै। यह रामबाण नामवाला रस अग्निकी मंदतारूप रावणको नष्ट करैहै, संग्रहणी तथा ग्रहणीरूप कुम्भकर्णको जीतैहै और आमवातरूपी खरदूषणका नाश करैहै, यह मिर्चके अनुपानसे सेवन किया हुआ तत्काल जठराग्निको दीपन करैहै, रुचिको उत्पन्न करैहै, कफके समूहको नष्ट करैहै और श्वास, खाँसी, वमन तथा कृमिको भी दूरकरैहै॥ ८९–९१॥

अथ शंखवटी।

पलं चिञ्चासारं पलमितमिदं पञ्चलवणं द्वयं सम्यक्पिष्टं भवति लघुनिम्बूफलरसैः॥ ततः पिष्टे तस्मिन्पलपरिमितं शङ्खशकलं क्षिपेद्वारान्सप्त द्रवमिह च तेनैव विधिना॥ ९२॥ पलप्रमाणं कटुकत्रयञ्च पलार्द्धमानं वचाहिंगुभागः॥ विषं पलद्वादशभागयुक्तं तावद्रसो गन्धक एष चोक्तः॥ ९३॥ बदरास्थिप्रमाणेन वटीमेतस्य कारयेत्॥ भक्षयेत्सेवया साम्यात्सर्वाजीर्णप्रशान्तये॥ ९४॥ सर्वोदरेषु शूलेषु विसूच्यां विविधेषु च॥ अग्निमान्द्येषु गुल्मेषु सदा शङ्खवटी हिता॥ ९५॥

इति शंखवटीरसः। रसरत्नप्रदीपे॥

इमलीका खार ४ तोले और पाँचों नमक ४ तोले लेकर कागजी नीबूके रसमें पीस लेवै, फिर इस रसमें चार तोले शखका टुकडा सातवार तपा तपाकर नीबूके रसमें बुझाकर मिला देवै, पश्चात् इसमें चार तोले त्रिकुटा, दो तोले वच और हींग, वत्सनाभ १२ पल, वत्सनाभकी बराबर पारा और पारेकी बराबर गन्धक लेवै, इन सबको एकत्र मिलाकर बेरकी गुठलीकी समान गोली बनावे । इन गोलियोंको सेवन करनेसे सब प्रकारके अजीर्ण शात होतेहैं । यह शखवटी सर्वप्रकारके उदररोगोंपर शूलपर, विसूचिकापर, अग्निकी विविधप्रकारकी मदतापर और गुल्म रोगपर सदैव हितकारी है ॥ ९२–९५ ॥

अथ बृहच्छंखवटी ।

स्नुह्यर्कचिञ्चापामार्गरम्भातिलपलाशजान् ॥ लवणानाददीतैषां प्रत्येकं कर्षमात्रया ॥ ९६ ॥ लवणानि पृथक्पञ्च ग्राह्याणि पलमात्रया ॥ स्वर्जिका च यवक्षारष्टंकनं त्रितयं पलम् ॥ ९७ ॥ सर्वं त्रयोदशपलं सूक्ष्मं चूर्णं विधाय च ॥ निम्बूफलरसे प्रस्थसम्मिते तत्परिक्षिपेत् ॥ ९८ ॥ तत्र शङ्खस्य शकलं पलं वह्नौ प्रताप्य तु ॥ वारान्निर्वापयेत्सप्त सर्वं द्रवति तद्यथा ॥ ९९ ॥ नागरं त्रिपलं ग्राह्यं मरिचन्तु पलद्वयम् ॥ पिप्पली पलमाना स्यात्पलार्द्धं भृष्टहिंगुतः ॥ १०० ॥ ग्रन्थिकं चित्रकश्चापि यवानी जीरकं तथा ॥ जातीफलं लवङ्गञ्च पृथक्कर्षद्वयोन्मितम् ॥१०१॥ रसो गन्धो विषं चापि टंकणश्च मनःशिला॥ एतानि कर्षमात्राणि सर्वं संचूर्ण्य मिश्रयेत् ॥ १०२ ॥ शरावार्द्धेन चुक्रेण वटिकां तस्य कारयेत् ॥ माषप्रमाणा सैद्यैर्बृहच्छंखवटी स्मृता ॥ १०३ ॥ सर्वाजीर्णप्रशमनी सर्वशूलनिवारिणी॥ विसूच्यलसकादीनां द्वौ भवति नाशनौ ॥ १०४ ॥

थूहरका खार ४ तोले, इमलीका खार ४ तोले, आकका खार ४ तोले, चिरचिटेका खार ४ तोले, केलेका खार ४ तोले, तिलका खार ४ तोले, ढाकका खार ४ तोले, पाँचों नमक २० तोले, जवाखार, सज्जीखार और सुहागा, ये तीनों ४ तोले, इसप्रकार ५२ तोले द्रव्य लेकर बारीक चूर्ण करके ६४ तोले नीबूके रसमें डालदेवै, पश्चात् ८ तोले भर शखके टुकडेको अग्निमें तपा तपाकर सातवार इस रसमें बुझा देवै, कि-जिससे यह द्रवरूप होजावै, फिर सोंठ १२ तोले, काली मिरच ८ तोले, पीपल ४ तोले, भुनी हींग २ तोले, पीपलामूल २ तोले, चीता २ तोले, अजवायन २ तोले, जीरा २ तोले, जायफल २ तोले, लौंग २ तोले, पारा १ तोला, गन्धक १ तोला, वत्सनाभ १ तोला, सुहागा १ तोला, और एक तोला मैनशिल, सबको एकत्र पीसकर पूर्वोक्तरसमें मिलादेवै, फिर १६ तोले चूकेका रस मिलाकर उडदकी समान गोलियाँ बनावै । इन गोलियोंको बृहत् शखवटी कहतेहैं । यह गोली सब प्रकारके अजीर्णको शात करतीहै । सब प्रकारके शूलोंको नष्ट करतीहै और विसूची तथा अलसक आदि रोगोंको तत्काल दूर करतीहै ॥ ९६–१०४ ॥

अथाजीर्णकंटकरसः ।

टंकणकणामृतानां सहिगुलानां समं भागम् ॥ मरिचस्य भागयुगलं निम्बूनीरैर्वटी कार्या ॥ १०५ ॥ वटिकां कलायसदृशीमेकां द्वे वा समश्नीयात् ॥ सत्यमजीर्णं शान्त्यै वह्नेर्वृद्ध्यै कफध्वस्त्यै ॥ १०६ ॥

सुहागा, पीपल, वत्सनाभ और सिग्रफ, इन सबको समान भाग ले और कालीमिरच दो भाग डालकर नीबूके रससे मटरकी समान गोलियाँ बना लेवै । इनमेंसे एक अथवा दो गोली खानेसे अजीर्ण शात होजाताहै, अग्निकी वृद्धि होतीहै और कफका नाश होताहै यह सत्य है ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

अथ विसूचिकाचिकित्सा ।

जलपीतमपामार्गं शूलं हन्याद्विसूचिकाम् ॥ सतैलं कारवेल्यम्बु नाशयेद्धि विसूचिकाम् ॥ १०७ ॥ बालमूल-

स्य तु क्काथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ॥ विसूचीनाशनःश्रेष्ठोजठराग्निविवर्द्धनः॥ १०८॥ विल्वनागरनिक्काथो हन्याच्छर्दिंविसूचिकाम् ॥ बिल्वनागरकैटर्यक्काथस्तदधिको गुणः ॥ १०९ ॥

कैटर्यः कट्फलः ॥

व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे मूलं समावाप्य च मातुलुङ्ग्याः ॥ छायाविशुष्का वटिका कृता सा हन्याद्विसूचीं नयनाञ्जनेन ॥ ११० ॥

अनुभूतमिदम् ॥

अपामार्गस्य पत्राणि मरिचानि समानि च ॥ अश्वस्य लालया पिष्टाञ्जनाद्धन्ति विसूचिकाम् ॥ १११ ॥ विसूच्यामतिवृद्धायां तक्रं दधिसमं जलम् ॥ नारिकेलाम्बु पेयं वा प्राणत्राणाय योजयेत् ॥ ॥ ११२ ॥ त्वक्पत्रकैरण्डकशिग्रुकुष्ठैरम्लप्रपिष्टैःसवचाशताह्वैः ॥ उद्वर्तनं खल्वि विसूचिकाघ्नं तैलं विपक्वञ्च तदर्थकारि ॥ ॥ ११३ ॥ कुष्ठसैन्धवयोः कल्कं चुक्रं तैले तु साधितम् ॥ विसूच्यां मर्दनं तेन खल्वी शूलनिवारणम् ॥ ११४ ॥ पिपासायां तथोत्क्लेशे लवंगस्याम्बु शस्यते ॥ जातीफलस्य वा पीतं श्रृतं भद्रघनस्य वा ॥ ११५ ॥

चिरचिटेको जलमें घोटकर पीनेसे विसूचिकाका शूल दूर होताहै।

करेलेके रसमे तेल मिलाकर पीनेसे विसूचिका नष्ट होतीहै।

छोटी मूलीके क्काथमे पीपलका चूर्ण डालकर पीनेसे विसूचिका नष्ट होतीहै और जठराग्नि दीपन होतीहै।

बेलगिरी और सोंठका क्काथ बनाकर पीनेसे वमन और विसूचिका दूर होतीहै। बेलगिरी, सोंठ और जायफल, इनका क्काथ ऊपरके क्काथसे अधिक गुणोंवाला है। सोंठ, मिर्च, पीपल, करजके फल, हलदी, दारुहलदी और बिजौरे नींबूकी जड, इन सबको एकत्र पीसकर गोली बनाकर छायामे सुखादेवै, इस गोलीको नेत्रोंमें आँजनेसे विसूचिका नष्ट होजातीहै, यह हमने अपने आप अनुभव कियाहै।

चिरचिटेके पत्ते और काली मिरच समान भाग लेकर घोडेकी लारमे पीसकर नेत्रोंमें ऑजनेसे विसूचिका नष्ट होजातीहै।

विसूचिका अत्यंत बढगई होय तो उसकी प्राणरक्षाके लिये दही छाछमे बराबरका जल मिलाकर अथवा नारियलका जल मिलाकर पिलावै।

दालचीनी, तेजपात, अड, सैंजिना, कूठ, वच और सोया, इनको नींबूके रसमे पीसकर शरीरमें लगानेसे खल्वी और विसूचिका नष्ट होजातीहै और इन्ही पदार्थोंके द्वारा तेलको पकाकर लेप करनेसे भी खल्वी तथा विसूचिका नष्ट होजातीहै।

कूठ और सैंधानिमक इनका कल्क बनाकर चूकेके रसमे तेलको सिद्ध करै, इस तेलका मर्दन (मालिश) करनेसे खल्वी और विसूचिका (हैजा) एव शूल नष्ट होजाताहै।

जो विसूचिकामें तृषा होय तो अथवा उत्क्लेश होय तो लौंगका पानी पिलावै, अथवा जायफलका क्काथ पिलावै, किवा भद्रमोथेका क्काथ पिलावै ॥ १०७–११५ ॥

अथोत्क्लेशलक्षणम् ।

उत्क्लिश्यान्नञ्च निर्गच्छेत्प्रसेकष्ठीवनेरितम् ॥ हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥ ११६ ॥

जिस मनुष्यको उबकाई आवै और अन्न न निकलै और मुखसे पानी बहै वा थूकनेके साथ उत्क्लेशित हो, अन्न न निकलै और हृदयमें पीडा होने लगे उसको उत्क्लेशरोग कहतेहैं ॥ ११६ ॥

अथ दारुषट्कम् ।

सरुग्वानद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥ दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिंगुसैन्धवैः॥ ११७॥

हैमवती श्वेतवचा ॥

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमार्तं जठरे निहन्यात् । स्वेदो घटैर्वाप्यथ वाष्पपूर्णैरुष्णैस्तथान्यैरपि पिण्डतापैः॥ ११८॥

देवदारु, सफेद वच, कूट, सौंफ, हींग और सैंधानिमक इन सब औषधियोंको काजीमें पीसकर जिस मनुष्यके उदरमें पीडा होय अथवा पेट फूल गया हो उसपर लेप करना चाहिये ॥ ११७ ॥

जौका आटा और जवाखार मिलाकर मट्ठेमें पकावे, उसको गरम गरम लेकर उदरपर लेप करै, अथवा स्वेदन करै तो उदरकी पीडा शान्त होतीहै । बाफसे भरेहुए घडेके स्वेद लेनेसे अथवा अन्य उष्ण पदार्थोंके सेकनेसे उदरपीडाकी शान्ति होतीहै ॥ ११८ ॥

अथालसकविलम्बिकयोश्चिकित्सा।

विलम्बिकालसकयोरयमेव क्रियाक्रमः ॥ अत एव तयोरुक्तं पृथङ् नहि चिकित्सितम् ॥ ११९ ॥

जो चिकित्सा विसूचिकाकी कही है, वही चिकित्सा विलम्बिका और अलसक रोगमें करनी चाहिये, इसी लिये हमने उनकी अलग अलग औषधि नहीं लिखी ॥ ११९ ॥

अथ भस्मकरोगचिकित्सा ।

तं भस्मकं गरुस्निग्धसान्द्रमन्दहिमस्थिरैः॥ अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं पित्तघ्नैश्च विरेचनैः ॥ ॥ १२० ॥ अत्युद्धताग्निशान्त्यै माहिषदधिदुग्धसर्पींषि ॥ संसेवेत यवागूं समपिष्टे पयसि सर्पिषा सिद्धाम् ॥ १२१ ॥ असकृत्पित्तहरणं पायसं प्रतिभोजनम् ॥ श्यामात्रिवृद्धिपक्कञ्च पयो दद्याद्विरेचनम् ॥ १२२ ॥ यत्किञ्चिन्मधुरं मेध्यं श्लेष्मलं गुरु भोजनम् ॥ सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ॥ १२३ ॥ सिततण्डुलसितकमलं छागक्षीरेण पायसं सिद्धम् ॥ भुक्त्वा च तेन पुरुषो दशदिवसात्तुच्छभोजनो भवति ॥ १२४ ॥

भारी, स्निग्ध, कठोर, मन्द, शीतल और स्थिर, इस प्रकारके गुणयुक्त अन्न तथा पानीसे और पित्तनाशक पदार्थ अथवा विरेचन (जुलाब) करानेसे भस्मक रोग शान्त होताहै । अत्यत बढीहुई जठराग्निको शमन करनेके लिये भैंसका दूध, दही और घृत परमोत्तम है । अथवा घृत और सहत मिलाकर यवागूका सेवन करनेसे भस्मक रोग शान्त होताहै । अथवा चावलोंका चूर्ण और दूध सम भाग लेकर घृतमें पाक करी हुई वस्तुका भोजन करै, अथवा सदैव पित्तनाशक द्रव्योंका देना और खीर आदिका खाना अत्यत हितकारी है । काली निसातको दूधमें पकाकर विरेचनके लिये पिलावे तो सर्व दुःखहारी है । मधुर पदार्थ पित्त, कफकारी और भारी भोजन भस्माग्निवालेको परम हितकारी है और भोजन करनेके उपरान्त दिनमें सोना भी सुखसाधक है । सफेद चावल और सफेद कमलको बकरीके दूधमें खीर बनाकर खानेसे दशदिनमें अल्पभोजन करने लगेगा ॥ १२०–१२४ ॥

अथ द्रव्यविशेषाजीर्णे पाचनद्रव्यम्।

अलं पनसपाकाय फलं कन्दलसम्भवम्॥ कन्दलस्य तु पाकाय बुधैरपि घृतं हितम्॥ घृतस्य परिपाकाय जम्बीरस्य रसो हितः॥ ॥ १२५ ॥ नारिकेलफलतालबीजयोः पाचकं सपदि तण्डुलं विदुः ॥ क्षीरमेव सहकारपाचनं क्षारमज्जनि हरीतकी हिता ॥ १२६॥ मधूकमालूरनृपादनानां परूषखर्जूरकपित्थकानाम्॥ पाकाय पेयं पिचुमन्दबीजं घृतेऽपि तक्रेऽपि तदेव पथ्यम्॥ ॥ १२७ ॥ खर्जूरशृंगाटकयोः प्रशस्तं विश्वौषधं कुत्र च भद्रमुस्तम् ॥ यज्ञांगवोधिद्रुफलेषु शस्तं प्लक्षे तथा पर्युषितं प्रपीतम् ॥ १२८ ॥ तण्डुलेषु च पयः स्वस्थो दीपकन्तु चिपिटे कणायुतम् ॥ षष्टिका दधिजलेन जीर्यते कर्कटी च सुमनेषु जीर्यति ॥ १२९ ॥

सुमनेषु गोधूमेषु जीर्यति ॥

गोधूममाषहरिमन्थसतीनमुद्गपाको भवेज्झटिति मातुलपुत्रकेण ॥ खर्जूरिकाविसकशेरुसितासु शस्तं शृंगाटके

मधुफलेष्वपि भद्रमुस्तम् ॥ १३० ॥
मातुलपुत्रकं धत्तूरफलम् ॥

कंगुश्यामाकनीवाराः कुलत्थाश्चाविलम्बितम् ॥ दध्नो जलेन जीर्यन्ति वैदलः काञ्जिकेन तु ॥ १३१ ॥ पिष्टान्नं शीतलं वारि कृशरां सैन्धवं पचेत् ॥ माषेण्डरीं निम्बुफलं पायसं मुद्गयूषकः ॥ १३२ ॥ वटो वेसवाराँल्लवङ्गेन फेनः समं पर्पटः शिग्रुबीजेन याति ॥ कणामूलतो लड्डुकापूपसट्टादिपाको भवेच्छष्कुलीमण्डयोश्च ॥ १३३ ॥

वेसवारो वगस इति लोके । तद्यथा—स्नेहो निशा हिंगुलवंगकैलाधान्याकजीरार्द्रकनागराणि ॥ अम्लोषणं सैन्धवचूर्णमन्ने यथोचितं संस्कृतये प्रणीतम् ॥ इति । सट्टा सट्टकपानविशेषः । मण्डं माण्डेति लोके ॥

किमत्र चित्रं बहुमत्स्यमांसभोजी सुखी काञ्जिकपानतः स्यात् ॥ इत्यद्भुतं केवलवह्निपक्को मांसेन मत्स्यः परिपाकमेति ॥ ॥ १३४ ॥ आममाम्रफलं मत्स्यं तद्बीजं पिशिते हितम् ॥ कूर्ममांसं यवक्षारः शीघ्रं पाकमुपैति हि ॥ १३५ ॥ कपोतपारावतनीलकण्ठकपिञ्जलानां पिशितानि भुक्त्वा॥ काशस्य मूलं परिपिष्य पीतं सुखी भवेन्नात्र बहुशो हि दृष्टम् ॥ १३६ ॥
कपोतो धवलः पाण्डुः ॥

मांसानि सर्वाण्यपि यान्ति पाकं क्षारेण सद्यस्तिलनालजेन ॥ चञ्चूकसिद्धार्थकवास्तुकानां गायत्रिसारक्वथितेन पाकः ॥ १३७ ॥

चञ्चूकः चेचू इति लोके । गायत्री खदिरः ॥

पालङ्किकाकेबुककारवल्लीवार्ताकुवंशांकुरमूलकानाम् ॥ उपैति कालाम्बु पटोलकानां सिद्धार्थको मेघरवश्च पक्त्वा॥ १३८॥
मेघरवः चौरा इति लोके ॥

विपच्यते शूरणकं गुडेन तथालुकं तण्डुलधावनेन ॥ पिण्डालुकं जीर्यति कोरदूषात्कशेरुपाकः किल नागरेण ॥ १३९ ॥ लवणस्तण्डुलतोयात्सर्पिर्जम्बीरकाद्यम्लात् मरिचादपि तच्छीघ्रं पाकं यात्येव काञ्जिकात्तैलम् ॥ १४० ॥ क्षीरं जीर्यति तक्रेण तद्वद्व्यं कोष्णमण्डकात् ॥ माहिषं मणिमन्थेन शंखचूर्णेन तद्दधि ॥ १४१ ॥
मण्डकः मांड इति लोके ॥

रसालं जीर्यति व्योषात्खण्डं नागरभक्षणात् ॥ सिता नागरमुस्तेन तथेक्षुश्चार्द्रिकाद्रसात् ॥ १४२ ॥ जरामिरा गैरिकचन्दनाभ्यामभ्येति शीघ्रं मुनिभिः प्रदिष्टम् ॥ उष्णेन शीतं शिशिरेण चोष्णं जीर्णो भवेत्क्षारगणस्तथाम्लैः ॥ १४३ ॥
इरा मदिरा ॥

तप्तंतप्तं हेम वा तारमयौ तोये क्षिप्तं सप्तकृत्वस्तदम्भः ॥ पीत्वाजीर्णं तोयजातं निहन्यात्तत्र क्षौद्रं भद्रमुस्तं विशेषात्१४४॥
तत्र तोयाजीर्णे ॥

इति जठराग्निविकाराधिकारः ।

कटहरके अजीर्णमे केलेकी फली खानी उत्तम है और केलेके अजीर्णमें घृत खाना हितकारी है, घृतके अजीर्णमे जम्भीरी नींबूका रस श्रेष्ठ है, नारियल और तालके बीजोके परिपाकके लिये चावल अच्छे हैं, आमके पचानेके लिये दूध श्रेष्ठ है, चिरौंजीके पचानेको हरड ठीक है, महुआ, बेल, खिरनी, फालसे, खजूर और कैथ, इनके परिपाकके लिये नीमकी निबौलियोको घोटकर पीना परमोत्तम है, घी और मट्ठेके अजीर्णमे भी नीमकी निबौलियोका रस फल-